नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रान्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य के लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेदभाष्यम्

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(अथ प्रथमं मण्डलम्)

(१-११२ सूक्तम्)

[प्रथमो भागः]

भाष्यकार

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

वेदरत्न, वेदमार्तण्ड

प्रकाशक

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धमार्थ न्यास

ब्यानियां पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२२३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)– ३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६७०४४८
चलभाष : ०९४१४०३४०७२, ०९८८७४५२९५९

संस्करण : २००९ ई० (ऋषि दयानन्द के बलिदान का १२५वाँ वर्ष)

मूल्य : ३५०.०० रुपये

प्राप्ति–स्थान :
१. **टङ्कारा साहित्य सदन,** ३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली–११० ००६, चलभाष : ०९३५०९९३४५५
२. **सुबोध पॉकेट बुक्स** २/४२४०–ए, अंसारी रोड, नई दिल्ली–२ चलभाष : ०९८१०००५९६३
३. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी, बरेली (उ०प्र०) चलभाष : ०९८९७८८०९३०
४. **श्री वैदिकानन्द,** श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान आश्रम न्यास, वैदिक सदन, भँवरकुँआ, इन्दौर–४५२ ००१, चलभाष: ०९३०२३६७२००
५. **गणेशदास–गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेम–मणि निवास, नया बाजार दिल्ली–११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२
६. **श्री दयारामजी पोद्दार,** झारखण्ड राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ, राँची (झारखण्ड)–८३४ ००१, चलभाष : ०९८३५७६५७४३

लेजर टाईपसेटिंग : आर्य लेजर प्रिंटस, हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक : राधा प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली – ११० ०३१

वेदनिधि के सहयोगी

स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द
सरस्वती, नई दिल्ली

आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी
होशंगाबाद (म०प्र०)

श्री हरिश्चन्द्र साहित्यार्थी
दाहोद, (गुजरात)

प्रिय गोपेश, आपकी स्मृति में-
श्रीमती गरिमा गोयल-श्री गणेशदास गोयल

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी
आगरा (उ०प्र०)

श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल

श्री मित्रावसु
माडल टाउन, दिल्ली

श्रीमती मृदुला गुप्ता
योजना विहार, दिल्ली

श्री कृष्ण चोपड़ा
सोलिहल (यू०के०)
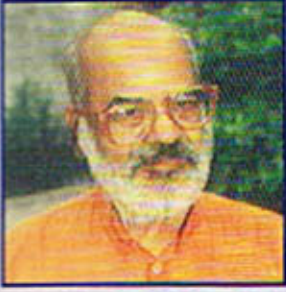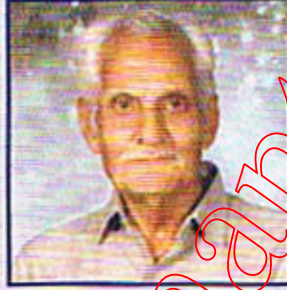
श्री गोपालचन्द्र
बरमिंघम (यू०के०)

आर्यसमाज (वैदिक मिशन)
वैस्ट मिडलेण्ड्स,
बरमिंघम (यू०के०)

डॉ० श्री सुधीर आनन्द
अमेरिका

भूमिका

वेद हमारी संस्कृति के मूलाधार हैं। वेद परमात्मा की दिव्यवाणी है। वे हमारे प्राण और जीवन-सर्वस्व हैं। प्राचीन और अर्वाचीन ऋषि-मुनियों ने वेदों की महिमा के गीत गाये हैं। महर्षि मनु ने कहा है—**वेदश्चक्षुः सनातनम्** [मनु० १२।९४]। वेद मानवमात्र के लिए सनातन चक्षुः हैं। भागवतपुराण में कहा है—**वेदो नारायणः साक्षात्** [६।१।४०]। वेद साक्षात् भगवान् ही है। गरुड़पुराण में कहा है—वेदाच्छास्त्रं परं नास्ति [गरुड़० उ० ख० ब्र० का० १०।५५]। वेद से बढ़कर संसार में कोई शास्त्र नहीं है। तुलसीदास ने भी लिखा है—**बन्दउ चारिउ वेद** [मानस० बाल० १५ ङ०]—मैं चारों वेदों की वन्दना करता हूँ।

वेद सृष्टि के आदि में 'अग्नि' आदि चार ऋषियों को प्रदत्त दिव्य ज्ञान हैं। वेद मानवमात्र के लिए हैं। वेद की शिक्षाएँ सार्वभौम, सार्वजनीन और सार्वकालिक हैं।

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। —ऋ० १०।५३।६

मननशील बनो और दिव्य सन्तानों का निर्माण करो।

धियो यो नः प्रचोदयात्। —ऋ० ३।६२।१०

हे प्रभो! हम सबकी बुद्धियों, कर्मों व वाणियों को श्रेष्ठ मार्ग में प्रेरित कीजिए।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। —ऋ० १।८९।८

हम कानों से कल्याणकारी वचन ही सुनें और आँखों से भद्र दर्शन करें।

कितने उदात्त और सबके लिए कल्याणप्रद उपदेश हैं ये! वैदिक संस्कृति वस्तुतः विश्व की पहली संस्कृति है—

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा॥ —यजुः० ७।१४

यह संस्कृति केवल भारतीयों द्वारा नहीं, मानवमात्र द्वारा और सम्पूर्ण विश्व द्वारा वरणीय संस्कृति है। वेद प्रभु-प्रदत्त ज्ञान है। परमात्मा ने अपने अमृत पुत्रों को क्या सन्देश, उपदेश और प्रेरणाएँ दी हैं, इन्हें जानने के लिए वेद का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अपने आत्म-उत्थान के लिए, पारिवारिक कल्याण के लिए, समाज-निर्माण के लिए, विश्वशान्ति के लिए वेद का स्वाध्याय परम कल्याणकारक है।

वेद में क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि वेद में क्या नहीं है? महर्षि मनु के शब्दों में—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति। —मनु० १२।९७

भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ हुआ, हो रहा है और होगा, वह सब वेद से ही प्रसिद्ध होता है। वेद में आध्यात्मिक ज्ञान तो है ही भौतिक विज्ञान की भी पराकाष्ठा है। वेद में धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, वास्तुविज्ञान [गृह-निर्माण], कला-कौशल-विज्ञान, वायुयानविज्ञान, जलयानविज्ञान, वस्त्रवयनविज्ञान, मार्ग [सड़क]-निर्माणविज्ञान, शरीरविज्ञान, आत्मविज्ञान, योगविज्ञान, मनोविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, औषधविज्ञान, पशुविज्ञान, यज्ञविज्ञान,

कृषिविज्ञान, मन्त्रविज्ञान आदि मनुष्य जीवन के लिए उपयोगी सभी कुछ है।

संसार प्रभु-प्रदत्त वेदज्ञान को भूल चुका था। १९वीं शताब्दी में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद का पुनः प्रचार और प्रसार किया। उनका उद्घोष था—'वेद की ओर लौटो'। आर्यसमाज के नियमों में उन्होंने लिखा—'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'

हमने महर्षि के वास्तविक सन्देश को भुलाकर स्कूल खोले, भवन बनाये, चिकित्सालय और वाचनालय खोले, परन्तु परम धर्म की ओर ध्यान नहीं दिया। शिकायत यह होती रही कि वेद बहुत कठिन हैं, समझ में नहीं आते। पं० श्री हरिशरणजी सिद्धान्तालङ्कार ने इस ओर ध्यान दिया। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर वेदों के पठन-पाठन में घोर परिश्रम किया। आपने चारों वेदों का अत्यन्त सरल भाषा में भाष्य किया। भाष्य क्या वेदों की विस्तृत व्याख्या लिख दी। कठिन समझे जानेवाले वेदों को अत्यन्त सरल बना दिया, जिससे प्रत्येक व्यक्ति इन्हें पढ़ और समझ सके।

इस व्याख्या के सम्बन्ध में पाठक कुछ बातों को समझ लें—

१. यह भाष्य न होकर वेदों की विस्तृत व्याख्या है। वेद का ज्ञान प्रभु ने सृष्टि के आदि में दिया था। उस समय राजा और ऋषि-मुनि नहीं थे, अतः वेद में इतिहास नहीं है। यह व्याख्या बीसवीं शताब्दी में लिखी गई है, अतः व्याख्या में कहीं उपनिषद् के प्रमाण हैं, कहीं गीता से अपनी व्याख्या को समर्थित किया है, कहीं महापुरुषों के वचनों से। पाठक इसी दृष्टिकोण से इसे पढ़ें।

२. ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं हैं, द्रष्टा हैं। मतभेद हो सकते हैं, परन्तु ऐसी मान्यता भी है कि वेदमन्त्रों पर जिन ऋषियों के नाम दिये हुए हैं, वे भी अर्थ में सहायक हैं। 'ऋषि कहता है'— ऐसे वाक्य आते हैं। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि मन्त्रद्रष्टा [मन्त्र के अर्थों का साक्षात्कार करनेवाला ऋषि] कहता है। आज भी कोई भी व्यक्ति उन गुणों को जीवन में धारण करके ऋषि बन सकता है।

वेद के अर्थ अनेक प्रक्रियाओं में होते हैं। दो प्रक्रियाएँ हैं—पारमार्थिक और व्यावहारिक। इस भाष्य में इन्हीं प्रक्रियाओं में अर्थ किया गया है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस भाष्य से वेदों को पढ़ने और समझने में पाठकों को सुविधा एवं सरलता होगी।

विदुषामनुचर :
—जगदीश्वरानन्द सरस्वती

"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेदभाष्यम्

अथ प्रथमं मण्डलम्

प्रथमाष्टकेप्रथमोऽध्यायः

अथ प्रथमोऽनुवाकः

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जकः**॥

पुरोहित-ईडन

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्। होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥ १ ॥

१. **अग्निम्**=उस (अगि गतौ) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले, सब जीवों की उन्नति के साधक, अग्रणी प्रभु को **ईळे**=मैं उपासित करता हूँ—उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ (ईड–ईद उपासना) जो प्रभु २. **पुरोहितम्**=(पुरः हितम्) पहले से ही रखे हुए हैं, अर्थात् जो बनने से=सृष्टि से पूर्व ही विद्यमान हैं। जो बने कभी नहीं—'स्वयं-भू' हैं—अपने आप होनेवाले हैं—'खुद् आ' हैं। अथवा जो प्रभु हम जीवों के पुरः=सामने हितम्=एक आदर्श (Model) के रूप में विद्यमान हैं। उनके अनुरूप हमें अपने को बनाना है। ३. **यज्ञस्य देवम्**=वे प्रभु अपनी वेदवाणी में यज्ञों का प्रकाश करनेवाले हैं। हमारे सब कर्तव्य-कर्मों का प्रभु ने वेद में प्रतिपादन किया है। **एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।** —गीता ४. **ऋत्विजम्**=ऋतौ–ऋतौ यजनीयम्—समय-समय पर, प्रत्येक ऋतु में वे प्रभु पूजा के योग्य हैं। उस प्रभु का ही हमें उपासन करना चाहिए। उसके पूजन से उसकी शक्ति का हममें प्रवाह होता है। हम घर के व आजीविकोपार्जन के कार्यों की समाप्ति पर स्वाध्यायश्रान्त होकर प्रभु के नाम का जप करने लगें **तज्जपस्तदर्थभावनम्।** —योग० १।२८। दिन में दुनिया के कार्यों से अवकाश न मिले तो रात्रि के समय प्रभु-नाम-जप करते हुए निद्रा की गोद में जाएँ ताकि सारी रात्रि प्रभु-सम्पर्क बना रहे—स्वप्न भी प्रभु का ही आएँ और उस स्वप्नगत प्रभु-दर्शन को हम जाग्रत में भी न भूलें, ऐसा प्रयत्न करें (**'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा'**। —योग० १।३८) ५. **होतारम्**—(हु दान, अदन) वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं—प्रलय के समय सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ले-लेनेवाले हैं। (**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इथा वेद यत्र सः**—कठ० १। २। २५)। प्रभु ने हमारे हित के लिए सब आवश्यक पदार्थ हमें प्राप्त कराये हैं। ६. **रत्नधातमम्**=रमणीय वस्तुओं के धारण करनेवालों में वे सर्वोत्तम हैं। प्रभु ने शरीरों के अन्दर इस प्रकार व्यवस्था की है कि खाये हुए अन्न से रस-रुधिर-मांस-मेदस्-अस्थि-मज्जा-वीर्य'—इन सात धातुओं का क्रमशः निर्माण होता है। ये सात धातुएँ ही

सात रत्न हैं। इनकी उपयोगिता व महत्त्व शरीरशास्त्र में प्रसिद्ध है। इनके कारण शरीर रमणीय बना है, अतः ये ही रत्न हैं। प्रभु ने प्रत्येक शरीररूप घर में इन सात रत्नों की स्थापना की है। (दमे-दमे सप्त रत्ना दधाना—ऋ० ६। ७४। १)। इस रत्न-धातमम् प्रभु की हम स्तुति करें।

भावार्थ—मैं 'अग्नि-पुरोहित-यज्ञ के देव-ऋत्विज्-होता व रत्नधाता' प्रभु की स्तुति करता हूँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पूर्व व नूतन ऋषियों से ईड्य

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त । स दे॒वाँ एह व॑क्षति ॥ २ ॥

१. गत मन्त्र में वर्णित **ईड्यः**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले—अग्रणी प्रभु **ऋषिभिः**=(ऋषय द्रष्टारः) तत्त्वदर्शियों से **ईड्यः**=स्तुति के योग्य होते हैं, अर्थात् वस्तुतः प्रभु का स्तवन ये ऋषि=तत्त्वद्रष्टा ही करते हैं। वे तत्त्व-द्रष्टा जो **पूर्वेभिः**=(पृ पालनपूरणयोः) अपना रक्षण करते हैं—अपने को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते तथा अपनी न्यूनताओं को दूर करते रहते हैं, अर्थात् अपना 'पूरण' करने का ध्यान करते हैं। **उत**=और **नूतनैः**=(नू to Praise, to go) जो प्रशंसात्मक शब्द ही बोलते हैं—जो कभी निन्दा नहीं करते तथा जो सदा गतिशील हैं—जिनका जीवन क्रियामय है। संक्षेप में भाव यह है कि प्रभु का स्तवन वे करते हैं जो (क) तत्त्वद्रष्टा हैं, (ख) अपने शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देते, (ग) अपनी न्यूनताओं को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, (घ) जो प्रशंसात्मक शब्द बोलते हैं—कटु, निन्दात्मक शब्द नहीं बोलते, तथा (ङ) सदा क्रियात्मक जीवन बिताते हैं। २. **सः**=वह प्रभु ही इस प्रकार उपासित होकर **इह**=इस मानव-जीवन में हमें **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवक्षति**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्रभु-उपासना का लाभ यह होता है कि हममें दिव्यगुणों की वृद्धि होती है।

भावार्थ—१. प्रभु का सच्चा उपासक वह है, जो ज्ञान प्राप्त करता है, नीरोग व निर्मल है तथा प्रशंसात्मक मधुर शब्द ही बोलता है और क्रियाशील है। २. प्रभु की उपासना का लाभ यह है कि हम में दिव्यगुणों की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कैसा रयिः

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त् पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे । य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

१. इस मन्त्र में ऋषियों द्वारा 'अग्नि-स्तवन' का उल्लेख हुआ है। उस प्रभु के उपासन से मनुष्य सांसारिक दृष्टि से असफल हो जाता हो—ऐसी बात नहीं। यदि प्रभु की उपासना करेंगे तो क्या लक्ष्मी के दर्शन नहीं होंगे? लक्ष्मी तो वहाँ है ही, इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **अग्निना**=अग्नि से **रयिम्**=धन को **अश्नवत्**=प्राप्त करता है। संसार में सामान्यतः देखा यह जाता है कि धन मनुष्य को कुछ अवनति की ओर ले-जाता है, परन्तु प्रभु का स्मरण करते हुए जो धन प्राप्त होता है, उस धन की यह विशेषता है कि २. **दिवे-दिवे**=दिन-प्रतिदिन **पोषम् एव**=यह हमारे पोषण का ही कारण बनता है। इससे हमारा किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। यह धन मुझे निधन=मृत्यु की ओर न ले-जाकर जीवन की ओर ले-जाता है। ३. इस धन को प्राप्त करके मैं **यशसम्**=यशवाला बनता हूँ। धन के अभिमान में मैं ऐसे कार्य नहीं कर बैठता जो कार्य मेरे अपयश का कारण बनें, प्रत्युत यज्ञादि में धन का विनियोग करके

यशस्वी होता हूँ। ४. हम प्रभु-उपासना से वह धन प्राप्त करते हैं जो **वीरवत्तमम्**=अत्यधिक शक्तिसम्पन्न बनाता है। सामान्यतः धनी पुरुष नौकरों से कार्य कराता हुआ आराम (हराम) का जीवन बिताने लगता है, परिणामतः वह निर्बल हो जाता है। 'क्रिया' ही शक्ति को जन्म देती है और क्रिया का अभाव शक्तिक्षय का हेतु होता है। तुलना में बायें हाथ की निर्बलता का हेतु यही है कि वह दाहिने की अपेक्षा कम कार्य करता है। प्रभु-स्मरण के साथ प्राप्त होनेवाला धन हमें क्रियाशील बनाये रहकर वीर बनाता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक उस धन को प्राप्त करता है जो (क) उसके पोषण का कारण बनता है, (ख) उसको यशस्वी बनाता है, (ग) उसमें वीरता को जन्म देता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ-रक्षा

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥ ४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार अग्नि का स्तोता धन को प्राप्त करके उस धन का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में करता है, परन्तु 'उन यज्ञों का भी उसे गर्व न हो जाए', इसके लिए वह प्रभु-स्मरण करता हुआ कहता है कि **अग्ने**=हे, सारे कर्मों के संचालक प्रभो! **यम्**=जिस **अध्वरम्**=हिंसा से शून्य **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्म को **विश्वतः**=सब ओर से **परिभूः**=(to surround, to take care of, to govern) व्याप्त करनेवाले, रक्षा करनेवाले व व्यवस्थित करनेवाले आप हो, **सः**=वही यज्ञ **इत्**=निश्चय से **देवेषु**=देवताओं में **गच्छति**=प्राप्त होता है, अर्थात् यज्ञ तो प्रभु ही करते हैं, परन्तु देव उस यज्ञ का माध्यम बन जाते हैं, (**निमित्तमात्रं भव**—गीता) २. वास्तविकता यही है कि संसार में सारे उत्तम कर्म उस प्रभु द्वारा सम्पन्न हो रहे हैं (जीव माध्यम-मात्र है, परन्तु अज्ञानवश हमें उन उत्तम कर्मों का गर्व हो जाता है और यह गर्व ही उन कर्मों की उत्तमता को समाप्त कर देता है। **'दानं दमश्च यज्ञश्च'** इन शब्दों में यज्ञ दैवीसम्पत्ति में परिगणित हुआ है। यज्ञ देवों में ही होता है (परन्तु यही यज्ञ अभिमानयुक्त होकर किया जाने पर आसुर हो जाता है, असुर उन यज्ञों का गर्व करते हैं और कहते हैं कि **'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः'** यज्ञ करूँगा—खूब (यश मिलेगा, अतः) आनन्द होगा, इस प्रकार ये असुर आत्मकर्तृत्व के अज्ञान से मूढ बने रहते हैं। **'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्'** (गीता)—ये असुर केवल नाम के लिए दम्भपूर्वक यज्ञों का ढोंग करते हैं। देव यज्ञ करते हैं और उसे प्रभु-समर्पण कर देते हैं—**'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्'** (गीता)—देव सब क्रियाओं को प्रभु-अर्पण करके कर्तृत्व के अहंकार से बचे रहते हैं। इसप्रकार निर्मम व निरहंकार होकर ही वे प्रभु को प्राप्त करते व शान्त जीवनवाले होते हैं—**'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति'** (गीता)।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो और हम उन सब यज्ञों को प्रभु से होता हुआ जानें। उत्तम कर्म करें, परन्तु उनका गर्व न हो। यही 'देव' बनने का मार्ग है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देव का देवों के साथ आगमन

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत्॥ ५॥

१. गतमन्त्र की भावना को प्रकट करते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=सबको गति देनेवाले वे प्रभु ही **होताः**=सब यज्ञों के करनेवाले हैं। प्रभुकृपा से ही हम उन यज्ञों के माध्यम बनते हैं और उन यज्ञों को पूर्ण होता हुआ देखते हैं। सृष्टि-यज्ञ के होता तो वे सर्वमहान् प्रभु स्पष्ट ही हैं। २. **कविक्रतुः**=क्रान्तदर्शी होते हुए वे सब कर्मों के करनेवाले हैं (कविः क्रान्तदर्शी), इसीलिए उनके सृष्टि आदि कर्मों में अपूर्णता नहीं है **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'**=प्रभु पूर्ण हैं, अतः यह सृष्टियज्ञ पूर्ण होना ही था। हमें अज्ञानवश कई बार इस सृष्टि में कई न्यूनताएँ प्रतीत होने लगती हैं। भूकम्प आदि का आना घातक लगता है। शरीर में कई ग्रन्थियाँ (glands) निष्प्रयोजन प्रतीत होती हैं। कितने ही प्राणियों व पौधों का उपयोग हमें अज्ञात है, परन्तु जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता जाएगा, उतना-उतना हमें संसार पूर्ण प्रतीत होगा। ३. **सत्यः**=वे प्रभु सत्य हैं—सत्यस्वरूप हैं अथवा **'सत्सु भवः'**=सज्जनों में उनका निवास है। सर्वव्यापकता के नाते सर्वत्र होते हुए भी वे सज्जनहृदयों में प्रकाशित होते हैं। ४. **चित्रश्रवस्तमः**=(चित् र) वे प्रभु सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान देनेवाले हैं। ज्ञान देने का उनका प्रकार भी अद्भुत है। हृदयस्थ होते हुए वे बिना किसी प्रयास के पवित्र हृदयों को प्रकाशित कर देते हैं। वे प्रभु **श्रवस्तमः**=अत्यन्त कीर्तिमान् हैं अथवा वे प्रभु सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं (श्रवस्=श्रुति, ज्ञान), निरतिशय ज्ञान के अधिष्ठान ब्रह्म ही तो हैं। ५. (क) वे **देवः**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्योतिर्मय प्रभु **देवेभिः**=देवताओं के साथ **आगमत्**=आते हैं अर्थात् हृदय में प्रभु का वास होने पर सब दिव्यगुण हममें स्वतः प्रादुर्भूत हो जाते हैं। (ख) अथवा **देवेभिः**=दिव्यगुणों के द्वारा **देवः**=वे प्रभु हममें **आगमत्**=आते हैं, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम अपने आचरण को देव-सदृश बनाएँ—हमारे व्यवहार असुरों-जैसे न हों। हम जितना-जितना दिव्यता को अपनाएँगे उतना-उतना प्रभु के समीप होते जाएँगे।

भावार्थ—वे प्रभु 'अग्नि-होता-कविक्रतु-सत्य-चित्रश्रवस्तम व देव' हैं। वे प्रभु दिव्यगुणों के धारण के द्वारा प्राप्त होते हैं, अथवा जितना-जितना हम प्रभु को धारण करने का प्रयत्न करते हैं, उतना-उतना हम दिव्यगुणोंवाले बनते जाते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दाश्वान् का कल्याण

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

१. हे अङ्ग=सम्पूर्ण वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभो! (अगि गतौ-गति=प्राप्ति) **अग्ने**=सबके अग्रणी प्रभो! आप **यत्**=जो यह नियम करते हैं कि **दाशुषे**=दाश्वान् (दाशृ दाने) के लिए, देनेवाले के लिए अथवा आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए [वस्तुतः धन को देकर ही तो हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, Mammon (धनदेव) व God (महादेव) दोनों की उपासना इकट्ठे थोड़े हुआ करती है! इस दाश्वान् के लिए] **त्वम्** (Thou)=आप **भद्रम्**=कल्याण को **'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्'**=वित्त-गृह-पशुरूप भद्र को **करिष्यसि**=करेंगे **तव**=आपका **तत्**=यह नियम **इत्**=निश्चय से **सत्यम्**=सत्य है और इस नियम के द्वारा उस दाश्वान् के अंग-प्रत्यंगों में रस का—जीवनीशक्ति का संचार करते हुए आप सचमुच **'अंगिरः'**=(अंगिरस्) अंगों में रस का संचार करनेवाले हैं, जीवन देनेवाले हैं। २. एक बालक माता-पिता के प्रति अपना अर्पण कर देता है—अपनी इच्छा को उनकी इच्छा में मिला देता है तो माता-पिता उसका अधिक ध्यान करते हैं और उसका उत्तम निर्माण करते हैं। इसी प्रकार जब एक दाश्वान् पुरुष प्रभु के प्रति अपने को अर्पित कर

देता है तो प्रभु का वह अधिक प्रिय होता है और प्रभु उसे सब आभ्युदयिक वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं। जीव की अल्पज्ञता से जीव द्वारा धारण किया गया ऐसा कोई व्रत टूट भी जाए, तदपि परमात्मा का व्रत उसके पूर्ण ज्ञान के कारण टूट नहीं जाता। जीव अल्पज्ञता से कोई ग़लत वस्तु भी दे देता है, परन्तु प्रभु ठीक ही वस्तु देते हैं।

भावार्थ—प्रभु दाश्वान् का कल्याण करते हैं—यह उनका सत्य व्रत है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के समीप

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्। नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि॥ ७॥

१. गतमन्त्र में वर्णित समर्पण को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—हे **अग्ने**=हमें सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **दोषावस्तः**=रात्रि और दिन, अर्थात् प्रातः सन्धिवेला और सायं सन्धिवेला में **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **नमः भरन्तः**=पूजा को प्राप्त करते हुए (**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**—गीता १८।४६) **त्वा, उप**=अपके समीप **एमसि**=(आ इमसि) सर्वथा प्राप्त होते हैं। २. प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में उपस्थित होना मानव के लिए इसलिए आवश्यक है कि इससे (क) पवित्रता की भावना बनी रहती है (ख) शक्ति का सञ्चार होता है (ग) जीवन का उद्देश्य धन ही नहीं बनता और परिणामतः पारस्परिक प्रेम विनष्ट नहीं होता। ३. वस्तुतः जैसे शरीर के लिए भोजन है, जैसे मस्तिष्क के लिए स्वाध्याय है, उसी प्रकार हृदय के लिए यह 'दैनिक ध्यान' है। जैसे भोजन के बिना शरीर निर्बल होकर रोगाक्रान्त हो जाता है, स्वाध्याय के बिना मस्तिष्क दुर्बल होकर ठीक विचार नहीं कर पाता, उसी प्रकार उपासना के बिना हृदय मलिन होकर वासनाओं से अभिभूत हो जाता है। ४. भोजन शरीर को सबल बनाता है, स्वाध्याय मस्तिष्क को तथा उपासना हृदय को बलवान् बनाने के लिए आवश्यक है।

भावार्थ=हम प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करनेवाले बनें। दिनभर प्रज्ञापूर्वक कार्यों को करते हुए हम उन्हें प्रभु-चरणों में अर्पित करें। प्रातः शक्ति की याचना करें कि हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करनेवाले बन पाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**यवमध्या विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्ज**॥

प्रभु-दर्शन

राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम्। वर्ध॑मानं॒ स्वे दमे॑॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु के समीप उपस्थित होने से हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनेंगे और देखेंगे कि वे प्रभु **राजन्तम्**=(राजृ दीप्तौ) देदीप्यमान हैं, आदित्यवर्ण हैं, सहस्रों सूर्यों की दीप्ति के समान उनकी दीप्ति है तथा (राज to regulate) वे प्रभु ही सारे संसार को व्यवस्थित कर रहे हैं। उस प्रभु के प्रशासन में ही ये सब ग्रह-नक्षत्र व नदियाँ गति कर रही हैं २. **अध्वराणां गोपाम्**=वे प्रभु ही सब हिंसारहित यज्ञों के रक्षक हैं। प्रभु की कृपा से ही सब उत्तम कार्य पूर्ण हुआ करते हैं। 'विजय-मात्र' उस प्रभु की कृपा का ही परिणाम है। ३. **ऋतस्य दीदिविम्**=सत्य के प्रकाशक हैं। वेदज्ञान द्वारा प्रभु ने सब सत्य विद्याओं का प्रकाश किया है, हमारे सत्य कर्तव्यों का उन वेदों में प्रतिपादन किया है। ४. वे प्रभु **स्वे दमे**=अपने स्थान में अथवा अपने पूर्ण दान्तरूप में (दमन में) **वर्धमानम्**=सदा से बढ़े हुए हैं। वस्तुतः वृद्धि दमन के अनुपात में होती है, जितना दमन उतनी वृद्धि। आदमी तो

आदमी बनता ही दमन से है। हम इन इन्द्रियों को वश में करते हैं, मन का दमन करते हैं और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। प्रभु में दमन की पराकाष्ठा है, अतः वृद्धि की भी वहाँ चरम सीमा है। ५. प्रभु को इस रूप में देखकर स्तोता को भी ध्यान आता है कि वह (क) ज्ञान से देदीप्यमान बनने का प्रयत्न करे—अपने जीवन को नियमित बनाये। (ख) उसका जीवन सदा यज्ञमय हो। (ग) सत्य के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील हो। (घ) मन व इन्द्रियों के दमन से शक्तियों की वृद्धि करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु देदीप्यमान, यज्ञों के रक्षक, ऋत के प्रकाशक व सदा से बढ़े हुए हैं। हम भी अपने जीवन को इसी प्रकार का बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पिता-पुत्र के लिए

स नः पितेवं सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार स्तोता प्रभु-दर्शन करता हुआ कहता है कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **सः**=वह आप **नः**=हमें, **सूनवे पिता इव**=पुत्र के लिए पिता की भाँति, **सूपायनः**=(सु+उप—अयनः) सुगमता से समीप होनेवाले, **भव**=होओ। पुत्र को पिता से भय नहीं लगता, वहाँ वह प्रेम का अनुभव करता है और निःशङ्क होकर पिता की गोद में पहुँचने की करता है। इसी प्रकार हम भी आपकी गोद में आ सकें। (सु—उपायन) पिता-पुत्र के लिए उत्तमोत्तम उपहार प्राप्त कराता है, आप भी हमें जीवन में उन्नति के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराइए। वस्तुतः आप तो प्राप्त कराते ही हैं, हम भी उन वस्तुओं का ठीक-ठीक प्रयोग करनेवाले बनें। २. हे प्रभो! सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराके **नः**=हमें **स्वस्तये** (सु—अस्ति)=कल्याण के लिए, उत्तम स्थिति के लिए, **सचस्व**=संगत कीजिए। इन वस्तुओं का ठीक प्रयोग कर हम उन्नति को प्राप्त हों अथवा आप हमें प्राप्त होओ ताकि हमारी उत्तम स्थिति बनी रहे। प्रभु से दूर होते ही हम प्रायः मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं। प्रभु-स्मरण जीवन की घड़ियों को पथभ्रष्ट (Derailed) नहीं होने देता। जैसे पिता की दृष्टि में रहनेवाले बालक का आचरण ठीक बना रहता है, उसी प्रकार प्रभु के सामीप्य में हमारा जीवन उत्तम मार्ग में ही स्थित रहता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए उसी प्रकार सुगमता से प्राप्त होने योग्य हों जैसे पिता पुत्र के लिए। प्रभु के साथ हमारा मेल हो ताकि हमारी जीवन-स्थिति उत्तम बनी रहे।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त का सार प्रथम व अन्तिम मन्त्र से स्पष्ट है। जीव प्रभु की उपासना करता है—अग्निमीळे और चाहता है कि प्रभु उसके लिए इस प्रकार सुगमता से प्राप्त होने योग्य हों जैसे पुत्र के लिए पिता।

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सौम्यता व सद्गुण अथवा इस सोम से उस सोम की प्राप्ति

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ १॥

१. पिछले सूक्त में प्रभु का नाम 'अग्नि' था। वह शब्द 'अगि गतौ' से बना था। यहाँ

'वायु' शब्द 'वा गतौ' से बनकर प्रभु का प्रतिपादन कर रहा है। प्रभु गति के द्वारा (वा गतिगन्धनयो:) सब बुराइयों का **गन्धन**=हिंसन कर रहे हैं। वस्तुत: गति ही बुराई को समाप्त करनेवाली है। हे **वायो**=गति द्वारा दुरितों का विध्वंस करनेवाले प्रभो! **आयाहि**=आप आइए, हमारे हृदय-आसन पर बैठिए। २. **दर्शत**=आप सचमुच दर्शनीय हैं। हे **दर्शत**=दर्शनीय प्रभो! मैं तो यही चाहता हूँ कि मेरा हृदय आपका प्रतिभान हो और वहाँ मैं आपके दर्शन करता रहूँ। आपकी दृष्टि से मैं कभी ओझल न हो जाऊँ, सदा आपकी कृपादृष्टि का पात्र बना हुआ मैं पवित्र बना रहूँ। ३. आपके दर्शन के लिए ही **इमे सोमा:**=ये सोमकण **अरंकृता:**=(अरं वारण=रोकना) रोके गये हैं—शरीर में ही इनका निरोध किया गया है। शरीर में निरुद्ध हुए-हुए ये सोमकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। दीप्त ज्ञानाग्नि हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है (दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:। —कठ० १।३।१२) ४. वस्तुत: उन सोमकणों की रक्षा भी तो आपके स्मरण से ही होती है; अत: **तेषां पाहि**=उन सोमकणों की आप रक्षा कीजिए। हृदय में आप होंगे तो 'काम' न होगा। जहाँ महादेव वहाँ कामदेव भस्म हो ही जाते हैं। यह काम ही तो सोम के संयम में बाधक था। यह गया और सोमकण शरीर में निरुद्ध हुए। ५. हे **वायो**=आप **हवम् श्रुधि**=हमारी इस प्रार्थना व पुकार को अवश्य सुनिए। **इमे सोमा अरंकृता:**=इस वाक्य का यह अर्थ भी है कि ये सौम्यता से सम्पन्न आपके भक्त विद्यादि गुणों से अलंकृत हुए हैं। **तेषां पाहि**=इनकी आपने ही तो रक्षा करनी है। हम सौम्य बनें, सद्गुणों से अलंकृत हों और उस प्रभु से प्राप्त होनेवाली रक्षा के पात्र बनें।

भावार्थ—हम शरीर में सोमकणों की रक्षा करें, ये ही हमारे जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करेंगे और हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएँगे।

ऋषि:—**मधुच्छन्दा:**॥ देवता—**वायु:**॥ छन्द:—**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

अहर्विद्

वाय॑ उ॒क्थेभि॑र्जरन्ते॒ त्वाम॒च्छा ज॑रि॒तार॑:। सु॒तसो॑मा अह॒र्विद॑:॥ २॥

१. हे **वायो**=गति के द्वारा सब दुरितों को दूर करनेवाले प्रभो! पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार सोमकणों का शरीर में ही संयम करनेवाले व्यक्ति **उक्थेभि:**=स्तोत्रों के द्वारा **जरन्ते**=आपका स्तवन करते हैं। जहाँ प्रभु का स्तवन होता है, वहाँ ही तो आसुर वृत्तियाँ नहीं पनप पातीं। प्रभु-स्तवन की भूमि वासनाओं के लिए ऊसर होती है। २. **जरितार:**=ये स्तोता लोग **त्वाम् अच्छा**=आपकी ओर बढ़ते हैं। इनकी भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति कम और कम होती जाती है, परिणामत: ये आपके समीप होते जाते हैं। ३. इस आपके सान्निध्य के कारण ही ये **सुतसोमा:**=सोम का सवन और उत्पादन करनेवाले बनते हैं। अपने शरीर में इन सोमकणों को ये सुरक्षित कर पाते हैं। ४. सोमकणों का उत्पादन करते हुए ये (क) **अहर्विद:**=(अहन्=दिन) समय को समझनेवाले हैं। यौवन में जैसी इन सोमकणों की उत्पत्ति होती है, वैसी वार्द्धक्य में न होगी—इस बात को समझते हुए ये यौवन में ही सोम की रक्षा करनेवाले बनते हैं। (ख) '**अहर्विद:**=शब्द का अर्थ एक दिन में ही पूर्ण हो जानेवाले यज्ञों का 'अह:' नाम मानकर यह भी किया जा सकता है कि सुतसोम व्यक्ति यज्ञों के अभिज्ञ होते हैं और यज्ञमय जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं। अयज्ञिय, अपवित्र भावनाओं से बचे रहने का यही तो सर्वोत्तम साधन है।

भावार्थ—हम वायु नाम से प्रभु का स्मरण करें, प्रभु की ओर चलें, सोमकणों का

सवन व उत्पादन करें और उनकी रक्षा के समय को समझें। हमारा जीवन यज्ञों से परिचयवाला हो ताकि अयज्ञिय भावनाओं से हम बचे रहें।

ऋषि:—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वायु की धेना

वायो॒ तव॑ प्रपृञ्च॒ती धेना॑ जिगाति दा॒शुषे॑। उ॒रू॒ची सोम॑पीतये॥ ३॥

१. हे **वायो**=(गति, ज्ञान) सम्पूर्ण ज्ञानों के भण्डार व सम्पूर्ण ज्ञानों को देनेवाले प्रभो! **तव**=आपकी **धेना**=वेदवाणी **दाशुषे**=समर्पण करनेवाले के लिए **जिगाति**=प्राप्त होती है। वस्तुतः अध्यापक से दिया जाता हुआ ज्ञान उसी विद्यार्थी को प्राप्त होता है जो कि अध्यापक के प्रति अपना अर्पण करता है, जिसका सारा कार्यक्रम अध्यापक के निर्देश के अनुसार चलता है। हमारा जीवन प्रभु के निर्देश के अनुसार चलेगा तो हमें भी प्रभु से दिया जाता हुआ ज्ञान प्राप्त होगा। २. वह वेदज्ञान कैसा है, इसका प्रतिपादन धेना के दो विशेषणों के द्वारा यहाँ किया जा रहा है—(क) **प्रपृञ्चती**=प्रकृष्ट सम्पर्क को उत्पन्न करनेवाली यह वेदवाणी है, अर्थात् इसके अध्ययन से हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जो हमें प्रकृति की ओर झुकाववाला न बनाकर प्रभु के सम्पर्कवाला बनाता है। (ख) **उरूची**=(उरु अञ्च) विशाल प्रदेशों में यह गतिवाली है। ऋग्वेद यदि प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) का मुख्यतः प्रतिपादन करता है तो यजुर्वेद कर्मवेद है। यह मनोविज्ञान व सामाजिक विज्ञानों का प्रतिपादक है। साम अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) को लेता है और अथर्व युद्ध-विद्या व आयुर्वेद (Science of War तथा Science of Medicine) को अपना विषय बनाता है। इस प्रकार यह वेदवाणी सचमुच उरूची है। ३. इस वेदवाणी के पठन से जहाँ हमारा ज्ञान बढ़ता है वहाँ यह **सोमपीतये**=सोम की पीति के लिए होती है, इसके स्वाध्याय से शरीर में सोम का रक्षण होता है। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और इस प्रकार उचित व्यय होकर यह हमारे विकास में सहायक होता है। एवं, स्वाध्याय सोमपान में सहायक होता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और तीव्रबुद्धि बनकर हम अधिक ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। एवं, हमारे शरीर में सोमपान व स्वाध्याय का परस्पर भावन चलता है। स्वाध्याय से सोम की रक्षा होती है, सोमरक्षण से स्वाध्याय की योग्यता बढ़ती है।

भावार्थ—वेदवाणी प्रभु के प्रति समर्पण करनेवाले को प्राप्त होती है। यह प्रभु-सम्पर्क को बढ़ाती है, व्यापक ज्ञान को देती है। सोमपान के लिए—शरीर में शक्ति को सुरक्षित करने के लिए यह स्वाध्याय सहायक है।

ऋषि:—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रवायू**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञानैश्वर्य व गतिशीलता

इन्द्र॑वायू इ॒मे सु॒ता उप॒ प्रयो॑भि॒रा ग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि॥ ४॥

१. **इन्द्रवायू**=(इन्द्रश्च वायुश्च) इन्द्र 'जितेन्द्रिय' पुरुष है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ऐसा बनने के लिए ही यह **वायु**=सतत क्रियाशील हुआ है। जितेन्द्रिय बनकर यह क्रियाशीलता से सब बुराइयों का संहार करता है। प्रभु इनसे कहते हैं कि **इन्द्र-वायू**=हे जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुषो! **इमे सुताः**=ये सोम तुम्हारे लिए उत्पन्न किये गये हैं, इनके रक्षण से ही तुम्हें

इस जीवन में उन्नति को सिद्ध करना है। २. इनका रक्षण करते हुए **प्रयोभिः**=पयस् food सात्त्विक भोजन, Pleasure, delight मनः प्रसाद, Sacrifice त्याग-सात्त्विक अन्नों के सेवन से, मनःप्रसादरूप तप के साधन से तथा त्याग की वृत्ति से **उप आगतम्**=आप मेरे समीप आओ। प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम भोजन को सात्त्विक करें, मन को सदा प्रसन्न रक्खें, मन में राग-द्वेष न हो तथा लोभ के विपरीत त्याग की वृतिवाले बनें। ३. प्रभु कहते हैं कि **इन्दवः**=सुरक्षित हुए-हुए ये सोमकण **वाम्**=आप दोनों की-इन्द्र व वायु की **हि**=निश्चय से **उशन्ति**=कामना करते हैं, अर्थात् सुरक्षित हुए-हुए ये सोमकण मनुष्य को 'इन्द्र व वायु' बनाते हैं, इन्हीं के कारण ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है, बुद्धि सूक्ष्म बनती है और हम ज्ञानरूप परमैश्वर्य से दीप्त होनेवाले 'इन्द्र' बनते हैं और इन्हीं की सुरक्षा से हमारे जीवन में रोग नहीं आ पाते और हम क्रियाशील बने रहते हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार हम स्वाध्याय के द्वारा सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह सुरक्षित सोम हमें ज्ञानरूप परमैश्वर्य की प्राप्ति कराता है तथा सदा गतिशील बनाये रखता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रवायू**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उषःकालरूप धन=प्रातः जागरण

वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू। तावा यातमुप द्रवत्॥ ५॥

१. पिछले मन्त्र में 'इन्द्रवायू' इस प्रकार इन्द्र का पहले और वायु का पीछे उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में 'वायो इन्द्रः च' इन शब्दों में वायु को पहले रक्खा है और इन्द्र को पीछे। यह केवल इसीलिए कि 'वायु व इन्द्र' दोनों का समान महत्त्व समझा जाए। जितना क्रियाशीलता का महत्त्व है उतना ही महत्त्व जितेन्द्रियता का भी है। साथ ही इन दोनों में कार्य-कारणभाव भी इस प्रकार है कि क्रियाशीलता जितेन्द्रियता के लिए सहायक है और जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशील होता है। शक्ति-सम्पन्न होने के कारण उसे कर्म में आनन्द आता है। हे **वायो**=क्रियाशील पुरुष! तू और **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सुतानाम्**=शरीर में उत्पन्न किये गये इन सोमों का **चेतथः**=संज्ञान प्राप्त करते हो, तुम इनके महत्त्व को समझते हो और इसीलिए इनकी रक्षा के लिए सदा सचेत रहते हो। २. इस सचेत रहने में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुम **वाजिनीवसू**=(वाजिनी=उषः-नि०) उषःकालरूप धनवाले बनते हो। इस उषःकाल में तुम सोये नहीं रह जाते। ब्रह्मचर्य के दृष्टिकोण से यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यही समय ब्राह्ममुहूर्त भी कहलाता है। यह समय प्रभु से मिलने का समय होता है, इस समय सोये रह जाना कितने महान् धन का विनाश है! यह काल तो (उष दाहे) सब बुराइयों का दहन कर देनेवाला है। इस समय जागकर उत्तम कर्मों में निवास करना, सन्ध्या-स्वाध्याय आदि में लगे रहना ही ठीक है। ३. प्रभु इन उषःकालरूप धनवाले वायु व इन्द्र से कहते हैं कि **तौ**=वे तुम दोनों **द्रवत्**=शीघ्रता से दौड़ते हुए **उप आयतम्**=मेरे समीप आ जाओ। उषःकाल में जागनेवालों को अवश्य प्रभु-प्राप्ति होती है। प्रसंगवश ब्रह्मचर्य में यह उषःजागरण सहायक होता है और इस प्रकार इसका महत्त्व अत्यन्त बढ़ जाता है।

भावार्थ—हमें सोम की रक्षा के महत्त्व को समझना चाहिए। हम प्रातः जागरण के अभ्यासी बनें और प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रवायू**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पवित्र व प्रकाशमय हृदय

वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्। मक्ष्वि१त्था धिया नरा॥ ६॥

१. गतमन्त्र के सोमरक्षण का ही प्रसंग आरम्भ करते हुए कहते हैं कि हे **वायो**=क्रियाशील पुरुष! तू **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष—तुम दोनों ही **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले के, अर्थात् सोमकणों की रक्षा से शरीर को 'ज्ञानयुक्त व अनामय', अर्थात् ज्ञानी व नीरोग बनानेवाले के **निष्कृतम्**=पूर्णरूप से संस्कृत किये हुए हृदय को, उस हृदय को जिसमें से कि सब बुराइयों को निकाल दिया गया है, ऐसे शुद्ध हृदय को **उप आयातम्**=समीपता से प्राप्त करो, अर्थात् प्रभु-उपासना करते हुए हृदय को 'निष्कृत' पूर्ण पवित्र बना पाओ। २. **इत्था**=सचमुच इस प्रकार ही तुम **मक्षु**=शीघ्र **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **नरा** (नृ नये)=(नेतारौ) अपने को अग्रस्थान में प्राप्त करानेवाले होओगे। आगे बढ़ने का मार्ग यही है कि हम (क) क्रियाशील व जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करें (वायु+इन्द्र) (ख) सोम का सम्पादन करें, सोमकणों की रक्षा करें, (ग) हृदय को संस्कृत करें, प्रकाशमय बनाएँ, प्रसंगवश शरीर को भी नीरोग रक्खें, (घ) ज्ञान-पूर्वक कर्मों को करते चलें।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा सम्पूर्ण शरीर को संस्कृत करें। शरीर नीरोग हो तो मन पवित्र व प्रकाशमय बनता है। ऐसा बनकर हम ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते चलें, यही उन्नति का मार्ग है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पूतदक्ष व रिशादस

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥ ७॥

१. **मित्रम्**=स्नेह के देवता को **हुवे**=मैं पुकारता हूँ, अर्थात् मैं यह अराधना करता हूँ कि मेरे हृदय में 'मित्र' का निवास हो, अर्थात् सदा स्नेह की भावना से मैं भी सभी के साथ प्रेम से वर्तनेवाला बनूँ। यह स्नेह की भावना वह है जोकि **पूतदक्षम्**=हमारे बलों को पवित्र करनेवाली है। स्नेह की भावना होने पर भोजन से उत्तम रस आदि धातुओं का निर्माण होता है, इस प्रकार बल की वृद्धि होती है। २. **च**=और **वरुणम्**=द्वेष-निवारण के देवता को पुकारता हूँ। मैं प्रयत्न करता हूँ कि मेरे हृदय में किसी के प्रति द्वेष न हो। यह वरुण देवता **रिशादसम्**=(रिश हिंसक, अद्=खा जाना) हिंसकों को खा जानेवाला है, अर्थात् द्वेष के न होने पर हमारा शरीर हिंसक तत्त्वों का शिकार नहीं होता। द्वेष से तो मनुष्य अन्दर-ही-अन्दर जलता चला जाता है। हृदय में द्वेष की भावना की प्रबलता के समय खाया हुआ अन्न विषों को जन्म देता है, न कि रक्त आदि धातुओं को। इसी दृष्टिकोण से प्रसन्न मन से भोजन करने का महत्त्व अति स्पष्ट है। मनु लिखते हैं **'दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च'** इसी का अनुवाद इन शब्दों में किसी कवि ने किया है कि—**'अश्नीयात्तन्मना भूत्वा प्रसन्नेन मनसा सदा।'** ३. ये मित्र व वरुण, अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता **घृताचीम्** (घृ=क्षरण, दीप्ति)=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त करानेवाले **धियम्**=ज्ञानपूर्वक कर्मों को **साधन्ता**=सिद्ध करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता जहाँ हमारे शरीरों को मलों के शोधन द्वारा शुद्ध व नीरोग बनाते हैं, वहाँ ये दोनों देव दीप्ति के द्वारा मस्तिष्क को भी उज्ज्वल करते हैं।

भावार्थ—स्नेह व द्वेषनिवारण के द्वारा हम अपने जीवनों को पवित्र व उज्ज्वल बनाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ऋत का वर्धन

ऋतेन॑ मि॒त्राव॑रुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं॑ बृ॒हन्त॑माशाथे॥ ८॥

१. गतमन्त्र के **मित्रावरुणौ**=मित्र व वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवन में **ऋतेन**= ऋत के साथ **बृहन्तं क्रतुम्**=वृद्धि के कारणभूत उत्तम कार्यों व संकल्पों को **आशाथे**=व्याप्त करते हैं। ऋत का अभिप्राय इंग्लिश के राइट (right) शब्द से आया है। 'ठीक' व ऋत वही है जो उचित स्थान में किया जाए, अतः अभिप्राय यह हुआ कि स्नेह व द्वेषाभाव के न होने पर हममें ऋत की वृद्धि होती है, हम प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर ही करते हैं और इसके साथ हमारे सब कार्य वृद्धि के कारणभूत होते हैं। २. वस्तुतः ये मित्र और वरुण देव हैं ही **ऋतावृधौ**=ऋत का सदा वर्धन करनेवाले तथा **ऋतस्पृशौ**=ऋतयुक्त कार्यों का ही स्पर्श करनेवाले। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर 'अनृत' का सम्भव ही नहीं रहता, हमारे सब कार्यों में ऋत का समावेश हो जाता है। अनृत कार्यों में संकुचितता है, ऋत के कार्यों में विशालता। 'अनृत' के साथ अपवित्रता व ह्रास का सम्बन्ध है तथा ऋत पवित्र व उन्नतिशील है। ऋतवाले कार्य सदा वृद्धि के कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम मित्र व वरुण की आराधना द्वारा ऋतयुक्त कार्यों को करते हुए वर्धमान हों, सदा वृद्धि को प्राप्त करते चलें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कवि-तुविजात-उरुक्षय

क॒वी नो॑ मि॒त्राव॑रु॑णा तुविजा॒ता उ॑रु॒क्षया॑। दक्षं॑ दधाते अ॒पस॑म्॥ ९॥

१. मन्त्रसंख्या सात में 'मित्र व वरुण' को बलवर्धक व हिंसा का नाशक कहा था। उसी भाव को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि **मित्रावरुणा**=ये स्नेह व निर्द्वेषता **नः**=हमारे लिए **दक्षम्**=बल को तथा **अपसम्**=व्यापक व उदार कर्म को, गत मन्त्र के 'बृहत्क्रतु' को **दधाते**=धारण करते हैं। हम अपने जीवन में सदा व्यापक कर्मों को करनेवाले होते हैं, जब कि हम द्वेष से ऊपर उठकर कार्य करते हैं। हमारे कर्म शक्तिशाली होते हैं, जबकि वे प्रेम से प्रेरित होते हैं। मित्र-देवता वा स्नेह हममें 'दक्ष' का धारण कराता है तो 'वरुण' निर्द्वेषता हमारे कर्मों को अपस=व्यापक (अप् व्याप्तौ) बनाती है। २. ये मित्रावरुण **कवी**=क्रान्तदर्शी हैं, हमारी बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। यह सूक्ष्म बुद्धि ही तो हमें अन्ततः प्रभुदर्शन के योग्य बनाती है। ३. **तुविजाता**=('तुवि बहु, बहूनामुपकारकतया समुत्पन्नौ'—सायण) ये मित्र और वरुण तो मानो बहुतों के उपकारक के रूप में ही उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् इन दो भावनाओं के होने पर इनके कार्य अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करनेवाले होते हैं, इनके कार्य स्वार्थ के संकुचित दृष्टिकोण से न होकर परार्थ की विशाल भावना से प्रेरित होते हैं। ४. **उरुक्षया**=ये विशाल निवासवाले (क्षि निवासे) होते हैं, ये विशालता में ही निवास करते हैं, ये कभी भी संकुचित भावनाओं को अपने में उत्पन्न नहीं होने देते, परिणामतः ये विशाल गतिवाले (क्षि=गति) होते हैं, इनके कार्य उदार होते हैं।

भावार्थ—हम मित्र और वरुण की उपासना से 'कवि, तुविजात व उरुक्षय' बनें।

विशेष—इस द्वितीय सूक्त में जीव प्रभु को 'वायु' नाम से स्मरण करता हुआ प्रभु की वेदवाणी को प्राप्त करने की कामना करता है (१-३)। प्रभु जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनने के लिए कहते हैं और सोमकणों की रक्षा का ध्यान कराते हैं (४-६)। जीव अपने जीवन में स्नेह व निर्द्वेषता का व्रत लेता है और बहुतों का उपकारक व उदार बनकर जीने का निश्चय करता है (७-९)।

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्रवत्पाणी-शुभस्पती

अश्विना यज्वरीरिषो द्रवत्पाणी शुभस्पती। पुरुभुजा चनस्यतम्॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यज्वरीः**=मुझे यज्ञशील बनानेवाले, सात्त्विक **इषः**=अन्नों को **चनस्यतम्**=खाने की इच्छा करो। सात्त्विक अन्नों के सेवन से ही बुद्धि सात्त्विक बनेगी। सात्त्विक बुद्धि के होने पर ही हमारा जीवन यज्ञशील होगा। २. इन सात्त्विक अन्नों के सेवन से सात्त्विक होने पर ये हमारे प्राणापान **द्रवत्पाणी**=गतिशील हाथोंवाले हों, अर्थात् हमारा जीवन क्रियाशील हो, अकर्मण्यता से हम दूर रहें। उस क्रियाशील जीवन में हम **शुभस्पती**=सदा शुभकर्मों के पति बनें। हमारी क्रियाशीलता शुभ कर्मों में प्रकट हो। क्रियाशीलता का अभिप्राय चपलता व दुष्टता न हो। **पुरुभुजा**=हम बहुतों का पालन करनेवाले बनें। शुभ का अभिप्राय यही तो है कि वह कार्य अधिक-से-अधिक लोगों का पालन करनेवाला हो। 'यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा'=अधिक-से-अधिक लोगों का जिससे हित हो, वही सत्य है, वही शुभ है। ३. प्राणापान को 'अश्विना' शब्द से स्मरण इसलिए किया गया है कि ये 'न श्वः'=यह निश्चित नहीं कि ये कल भी रहेंगे, अथवा 'अश् व्याप्तौ' ये क्रिया में व्याप्त रहते हैं। इन्हीं के कारण भूख लगती है, अतः मन्त्र में कहा है कि तुम्हें सात्त्विक अन्नों की ही कामना करनी है।

भावार्थ—हमारे प्राणापान सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें ताकि हम क्रियाशील बनें, शुभकर्म करें, बहुतों का पालन करनेवाले कार्यों को ही करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पुरुदंससा नरा

अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया। धिष्ण्या वनतं गिरः॥ २॥

१. **अश्विना**=हे प्राणापानो! **पुरुदंससा**=आप पालक व पूरक (पृ पालनपूरणयोः) कर्मों के करनेवाले होओ। गतमन्त्र की भावना के अनुसार हमारे प्राणापान क्रियाशील हैं, ये क्रियाएँ बहुतों का पालन व पूरण करनेवाली हों। २. इस प्रकार पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में लगे हुए ये प्राणापान **नरा**=हमें आगे और आगे ले-चलनेवाले हों, हमारी उन्नति का कारण बनें। ३. ये प्राणापान **धिष्ण्या**=(बुद्धिमन्तौ-सा०) उत्तम बुद्धिवाले हों। इन प्राणापान की साधना से सोम की रक्षा होकर हमारी बुद्धि तीव्र बनती है। ४. इस प्रकार तीव्र बुद्धिवाले **शवीरया**=(गतियुक्त्या—अप्रतिहतप्रसरया) जो किसी भी विषय के ग्रहण में कुण्ठित नहीं होती ऐसी **धिया**=बुद्धि से **गिरः**=इन ज्ञान की वाणियों का **वनतम्**=सेवन करो, अर्थात् हम प्राणसाधना से तीव्र बुद्धि बनें और उस बुद्धि से ज्ञान की वाणियों का उपासन करें। हम

बुद्धि को व्यर्थ के विचारों में प्रयुक्त करनेवाले न हो जाएँ।

भावार्थ—प्राणापान 'पुरुदंसस्' हैं, ये हमें उत्तम बुद्धि-सम्पन्न बनाकर ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले बनाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वासना-विनाश

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः। आ यातं रुद्रवर्तनी॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित अश्विना को ही यहाँ **दस्रा**=नाम से स्मरण किया गया है। 'दसु उपक्षये' ये मन के काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं और शरीर के रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। २. **नासत्या**=ये असत्य से रहित हैं, सत्य का ही प्रणयन करनेवाले हैं, अर्थात् प्राणसाधना के होने पर हमारे जीवन से असत्य दूर हो जाता है। शरीर में रोग 'असत्य' हैं, मन में राग-द्वेष 'असत्य' हैं, बुद्धि में मन्दता 'असत्य' है। ये प्राणापान इस सम्पूर्ण असत्य को दूर करनेवाले हैं। ३. हे प्राणापानो! तुम्हारे द्वारा ही ये सोमकण **सुताः**=शरीर में उत्पादित किये जाते हैं। प्राणापानों से ही इनका शरीर में रक्षण होता है। रक्षित हुए-हुए ये सोम **युवाकवः**=(यु मिश्रण-अमिश्रण)=हमें अशुभ से दूर करते हैं और शुभ से हमारा सम्पर्क कराते हैं। इस प्रकार **वृक्तबर्हिषः** (वृक्तानि=मूलैर्विर्जितानि—सा०)=ये वासनाओं की जड़ों को भी हृदयान्तरिक्ष में से उखाड़ फेंकते हैं और हृदयों को बड़ा निर्मल बना देते हैं। ४. हे प्राणापानो! इस प्रकार सोमरक्षा के द्वारा वासनाओं व रोगों से संग्राम करनेवाले **रुद्रवर्तनी** (रोदयन्ति)=शत्रुओं को रुलानेवालों के मार्गोंवाले तुम **आयातम्**=हमें प्राप्त होओ। प्राणापानों का मार्ग वह हो जोकि रुद्रों का मार्ग है। रुद्र शत्रुओं को रुलानेवाले हैं। ये प्राणापान भी हमारे वासनात्मक शत्रुओं को रुलानेवाले हैं। इनके द्वारा हमारे हृदयदेश से काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु समूल नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से सब वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

साक्षात्कार

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला जीवात्मा प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयाहि**=आप आइए। प्राणसाधना से वासनाओं को विनष्ट करके मैंने अपने हृदय को आपके निवास के योग्य बनाया है। २. हे **चित्रभानो**=(चित् र) ज्ञान को देनेवाली दीप्तिवाले प्रभो! **इमे**=ये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकण **त्वायवः**=आपकी कामनावाले हैं। ये आपके दर्शन के लिए ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाकर उसे दीप्त कर रहे हैं। ये सोमकण **अण्वीभिः**=सूक्ष्म बुद्धियों के साथ **तना**=सदा **पूतासः**=पवित्रता को सिद्ध करनेवाले हैं। सोम की रक्षा से जहाँ बुद्धि सूक्ष्म बनती है वहाँ हृदय पवित्र होता है और इस प्रकार ये सोम हमें प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाते हैं। इसी को काव्यमयी भाषा में इस प्रकार कहते हैं कि—ये सोम प्रभु की कामनावाले हैं। ३. प्रभु को जब हम सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा अपने पवित्र हृदय में देख पाते हैं तब हम प्रकाश-ही-प्रकाश को अनुभव करते हैं। वे प्रभु 'चित्रभानु' तो हैं ही, उनकी दीप्ति भी अद्भुत है, वह शब्दों का विषय नहीं है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम सोम की रक्षा द्वारा बुद्धि को सूक्ष्म बनाएँ, हृदय को पवित्र करें

और आपका दर्शन करते हुए आपके अद्भुत प्रकाश का साक्षात्कार करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

बुद्धि का सम्पादन

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः॥ ५॥

१. गतमन्त्र में जीव द्वारा की गई प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि—हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **आयाहि**=तू मेरे समीप आ। २. मेरे समीप आने के लिए ही तू **धिया इषितः**=बुद्धि से प्रेरित होता है, तू सारे कार्यों को बुद्धिपूर्वक करता है अथवा बुद्धि को प्राप्त करने के हेतु से तू प्रेरित होता है, तेरी चेष्टाएँ बुद्धि को प्राप्त करने के लिए होती हैं। सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा ही तो तू ब्रह्माण्ड में मेरी महिमा को देख पाएगा। ३. **विप्रजूतः**=तू अपने ब्रह्मचर्यकाल में ज्ञानी आचार्यों से प्रेरित हुआ है (जु=प्रेरणे), वर्तमान में भी ज्ञानियों के सम्पर्क में रहने के कारण तू सदा उनसे उत्तम ज्ञान की प्रेरणा प्राप्त करता रहता है। ४. तू **सुतावतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले, संयम द्वारा सोम की रक्षा करनेवाले **वाघतः**=मेधावी पुरुष के ज्ञान का वहन करनेवाले विद्वान् व्यक्ति के **ब्रह्माणि**=ज्ञानों को **उप**=समीप रहकर प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) हमारी प्रत्येक चेष्टा बुद्धि-प्राप्ति को लक्ष्य करके हो, (ख) हमें ज्ञानी पुरुषों से प्रेरणा मिलती रहे तथा (ग) हम संयमी विद्वान् पुरुषों के समीप रहकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक अन्न-सेवन

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **तूतुजानः**=शीघ्रता करता हुआ अथवा (तुज् हिंसायाम्) सब वासनाओं की हिंसा करता हुआ **आयाहि**=मेरे समीप प्राप्त हो। वासना-विनाश ही तो प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। २. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले! तू **ब्रह्माणि उप**=सदा ज्ञानों के समीप रहनेवाला हो, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाला बन। यह ज्ञान ही तो वासनाओं का विनाश करेगा। ३. **सुते**=सोम की उत्पत्ति के निमित्त **नः**=हमारे दिये हुए **चनः**=इस अन्न को **दधिष्व**=तू धारण करनेवाला बन। अन्न ही तेरा भोजन हो 'व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्' इस मन्त्रवर्णन के अनुसार तू चावल, जौ, उड़द व तिल आदि का प्रयोग कर। मांस तेरा भोजन न बन जाए। उससे तू अपनी बुद्धि को राजस् बनाकर वैषयिक वृत्तिवाला बन जाएगा तब सोमरक्षा का कार्य सम्भव न होगा। एवं, तू (क) सात्त्विक भोजन कर। (ख) उससे तू सूक्ष्म बुद्धिवाला होकर ज्ञान प्राप्त करेगा। (ग) ज्ञानप्राप्ति से वासना-विनाश होकर तू प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनेगा।

भावार्थ—हम प्रभु को प्राप्त करेंगे यदि वासना-विनाश कर पाएँगे। वासना-विनाश तभी होगा यदि हमारा ज्ञान दीप्त होगा। ज्ञान-दीप्ति के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन आवश्यक है। 'मन से वासनासंहार, मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में सात्त्विक भोजन' यही प्रभु दर्शन का मार्ग है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शरीर, मन व बुद्धि का स्वास्थ्य

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वेदेवास आ गत। दाश्वांसो दाशुषः सुतम्॥ ७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार सात्त्विक भोजन से जीवन को सात्त्विक बनाकर यह प्रार्थना करता है कि **विश्वेदेवासः**=हे सब दिव्यगुणो! तुम **आगत**=मुझे प्राप्त होओ। ये दिव्यगुण **ओमासः**=रक्षण करनेवाले हैं, शरीर को रोगों से बचाते हैं, मन की मलिनता दूर करते हैं और बुद्धि में मन्दता को नहीं आने देते। ये दिव्यगुण **चर्षणीधृतः**=मनुष्यों को धारण करनेवाले हैं। 'चर्षणयः कर्षणयः' कृषि करनेवालों की, अर्थात् श्रमशील जीवन बितानेवालों की रक्षा करनेवाले हैं। दिव्यगुणों का सम्बन्ध है ही श्रमशीलता के साथ। आलस्य के साथ दुर्गुण रहते हैं, न कि दिव्यगुण। २. हे विश्वेदेवो! आप **दाश्वांसः** (दातारः)=सब-कुछ देनेवाले हो। आप **दाशुषः**=दाश्वान्—देने के स्वभाववाले के **सुतम्**=सोमनिष्पादनरूप यज्ञ को प्राप्त होते हो, अर्थात् जब एक व्यक्ति दान की वृत्तिवाला बनकर लोभ के नाश से व्यसनवृक्ष को समाप्त करता है तब वह अपने शरीर में सोम का रक्षण कर पाता है। यह उसका 'सुतम्'=सोमनिष्पादनरूप यज्ञ होता है। इस यज्ञ में सब देव उपस्थित होते हैं, अर्थात् सोमरक्षण होने पर मनुष्य में दिव्यगुणों का विकास होता है।

भावार्थ—दिव्यगुण हमारा रक्षण करते हैं (ओमासः)। ये श्रमशील व संयमी पुरुष को प्राप्त होते हैं (चर्षणीधृतः)। ये दिव्यगुण शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य को देनेवाले हैं (दाश्वांसः)।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अनालस्य व कर्मशीलता

विश्वेदेवासो अप्तुरः सुतमा गन्त तूर्णयः। उस्रा इव स्वसराणि॥ ८॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **विश्वेदेवासः**=सब दिव्यगुण **सुतम्**=सोमनिष्पादनरूप यज्ञ में **आगन्त**=आते हैं, अर्थात् शरीर में सोमकणों की रक्षा करने पर हममें दिव्यगुणों का विकास होता है। २. ये विश्वेदेव **अप्तुरः** (अप्सु तुतुरति, तुर त्वरणे)=कर्मों को शीघ्रता से करनेवाले होते हैं, अर्थात् क्रियाशील होते हैं। **तूर्णयः**=त्वरावाले, आलस्य से शून्य ये देव होते हैं। वस्तुतः दिव्यगुणों का सम्भव क्रियामयता व आलस्यशून्यता में ही है। अकर्मण्यता व आलस्य सब दुर्गुणों के लिए गद्देदार आसन का काम करते हैं। यह आलस्य ही विलास के लिए उर्वराभूमि प्रमाणित होता है। ३. क्रियामयता, आलस्यशून्यता व इनके द्वारा सोम का संरक्षण होने पर सब दिव्यगुण इस प्रकार निश्चय से हमें प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे कि **उस्रा**=किरणें **स्वसराणि**=दिनों को प्राप्त होती हैं। 'दिन निकले और सूर्य-किरणें भूमि पर न पड़ें' यह सम्भव नहीं, इसी प्रकार हम 'अप्तुर, तूर्णि व सुतसम्पादक' बनें और हमें दिव्यगुण प्राप्त न हो, यह असम्भव है।

भावार्थ—दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) क्रियाशील बनें, (ख) आलस्यशून्य हों, (ग) वीर्यरक्षणरूप 'सुत' यज्ञ को करनेवाले हों।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अशोषण-अद्रोह

विश्वेदेवासो अस्रिध एहिमायासो अद्रुहः। मेधं जुषन्त वह्नयः॥ ९॥

१. गतमन्त्र में वर्णित प्रकार से प्राप्त हुए-हुए **विश्वेदेवासः**=सब दिव्यगुण **अस्रिधः**=क्षय से रहित हैं। ये मनुष्य को क्षीण न होने देनेवाले हैं अथवा शोषण से रहित हैं। ये मनुष्य में औरों के शोषण, परन्तु अपने पोषण की वृति को जन्म देनेवाले नहीं हैं। ३. **एहिमायासः** (आ ईहते इति एहिः, माया प्रज्ञा)=समन्तात् क्रियाशील प्रज्ञावाले हैं, अर्थात् ये प्रज्ञा-सम्पादन करते हैं और इनकी प्रज्ञा शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से अथवा व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व विश्व के दृष्टिकोण से क्रियाशील होती है। ये बुद्धिपूर्वक इस प्रकार का प्रयत्न करते हैं कि 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का स्वास्थ्य बढ़े तथा 'व्यक्ति, समाज व विश्व' सभी का कल्याण-साधन हो। ३. **अद्रुहः**=ये विश्वेदेव द्रोह की भावना से रहित होते हैं। दिव्यगुणों का यही तो मुख्य लक्षण है कि वहाँ किसी के प्रति द्रोह की भावना नहीं, किसी की जिघांसा नहीं, सबके कल्याण की भावना ही वहाँ काम करती है। ४. ये दिव्यगुण, **वह्नयः** (वोढारः)=कार्यभार का वहन करनेवाले होते हैं। अपने कर्तव्य-कर्मों के भार को सहर्ष स्वीकार करते हैं और उन कर्मों को सफलता तक पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। ५. **मेधम्**=(मेधृ संगमे) अपने कार्यों में संगमन की भावना का **जुषन्त**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। 'सं गच्छध्वम्' प्रभु के इस निर्देश को सम्यक्तया जीवन में क्रियान्वित करते हैं। 'येन देवा न वियन्ति'=देवलोग तो विरुद्ध दिशाओं मे चला ही नहीं करते, वे तो मिलकर ही चलते हैं। वस्तुतः इस मेल व ऐक्य के कारण ही वे मृत्यु को जीतनेवाले होते हैं। इनसे विपरीत वृत्तिवाले असुर 'मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्'=एक-दूसरे के कार्य को विहत (नष्ट) करते हुए मृत्यु के मार्ग का अनुक्रमण करते हैं।

भावार्थ—देवताओं में हिंसा व द्रोह नहीं होते। ये मिलकर चलते हैं। कार्यों को समाप्ति तक ले-जानेवाले होते हैं। इनकी प्रज्ञा व्यापक, उन्नतिवाले कर्मों को सिद्ध करती है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः॥ देवता—सरस्वती॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सरस्वती की आराधना का फल

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हममें दिव्यगुणों का विकास हो इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वाध्यायशील बनकर सरस्वती=ज्ञानाधिदेवता की आराधना करें, इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **नः**=हमारे लिए **पावका**=पवित्रता की देनेवाली हो। इस सरस्वती की आराधना से, नैत्यिक स्वाध्याय से हमारा जीवन पवित्र हो। (**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**=ज्ञान ही अनुपम पवित्रता का सम्पादन करनेवाला है।) सारी मलिनता अज्ञानजन्य है, अतएव अज्ञान ही सारे क्लेशों का क्षेत्र है। वस्तुतः अज्ञान ही क्लेश है और ज्ञान ही सुख व स्वर्ग है। २. यह ज्ञान पवित्रता के सम्पादन से जहाँ पारलौकिक निःश्रेयस (मोक्ष) का साधन बनता है, वहाँ यह सरस्वती **वाजेभिर्वाजिनीवती** (अन्नैरन्नवती—यास्क)=अन्नों से अन्नवाली है, अर्थात् प्रशस्त अन्नों को प्राप्त करानेवाली है, इसलिए लौकिक दृष्टिकोण से यह अभ्युदय की साधिका है। इस सरस्वती की आराधना से मनुष्य उन सात्त्विक अन्नों को

प्राप्त करनेवाला होता है, जो उसे शक्तिशाली बनाते हैं, त्याग की भावनावाला बनाते हैं (वाज=शक्ति, त्याग)। ३. इस सरस्वती की आराधना करनेवाला **धियावसुः**=(कर्मवसुः निरु०) ज्ञानपूर्वक कर्मों से धन का सम्पादन करनेवाला व्यक्ति **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् (क) स्वाध्यायशील पुरुष ज्ञानी तो बनता ही है, (ख) वह ज्ञान प्राप्त करके प्रत्येक कर्म को प्रज्ञापूर्वक करता है, (ग) इन कर्मों के द्वारा ही वह धन कमाने का ध्यान करता है और (घ) धनार्जन करके वह यज्ञों की ही कामनावाला होता है, उस धन का विनियोग यज्ञों में ही करता है, विलास की वृत्तिवाला नहीं बन जाता।

भावार्थ—स्वाध्याय मनुष्य को पवित्र बनाता है, उत्तम धनों को प्राप्त कराता है। यह स्वाध्यायशील पुरुष प्रज्ञापूर्वक कर्मों से धनार्जन करके उस धन का यज्ञों में विनियोग करता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूनृत-सुमति-यज्ञ

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥ ११॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सरस्वती की आराधना **सूनृतानाम्** (सु ऊन् ऋत)=उत्तम, दुःख का परिहाण करनेवाली, सत्यवाणियों की **चोदयित्री**=प्रेरिका है, अर्थात् स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति ऐसी ही वाणी बोलता है जोकि शोभन होती है, दूसरों के दुःखों को दूर करनेवाली होती है तथा यथार्थ होती है। २. यह **सरस्वती**=ज्ञान का निरूपण करनेवाली वेदवाणी **सुमतीनाम्**=उत्तम मतियों, विचारों को **चेतन्ती**=चेतानेवाली होती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति के मस्तिष्क में कभी कुमति व कुविचार नहीं उपजते; उसे ऐसे विचार सूझते ही नहीं। ३. **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता अपने उपासक के अन्दर **यज्ञं दधे**=यज्ञ को धारण करती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति कभी अयज्ञिय कर्मों को नहीं करता।

भावार्थ—सरस्वती का आराधक मुख से सूनृत वाणी ही बोलता है, मस्तिष्क में कुविचारों को नहीं आने देता, हाथों को यज्ञात्मक उत्तम कर्मों में लगाये रखता है। एवं, यह सरस्वती आराधक की 'वाणी, मस्तिष्क व हाथ' सभी को पवित्र बनाती है। इससे आराधक के विचार, उच्चार व आचार सभी पवित्र बनते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान का महान् समुद्र

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति॥ १२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आराधक के 'विचार, उच्चार व आचार' को पवित्र करनेवाली यह **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **महो अर्णः**=एक महान् जल है। ज्ञान-प्रवाह से बहने के कारण जलरूप है। यह सरस्वती ज्ञान का समुद्र ही है। २. यह सरस्वती **केतुना**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा **प्रचेतयति**=आराधक को प्रकृष्ट चेतना प्राप्त कराती है, उसके हृदयान्तरिक्ष को ज्ञान के प्रकाश से उद्द्योतित कर देती है। ३. यह **सरस्वती**=वेदवाणी **विश्वा धियः**=सम्पूर्ण ज्ञानों को **विराजति**=विशेषरूप से दीप्त करती है, अर्थात् यह सब सत्यविद्याओं का आगार है, ज्ञानों का कोश है। प्रभु ने मानव-उन्नति के लिए आवश्यक प्रत्येक सत्यज्ञान का इसमें प्रकाश किया है। उस पूर्ण प्रभु का दिया हुआ यह ज्ञान सचमुच पूर्ण ही है। इस महान् ज्ञान-समुद्र में तैरनेवाला पुरुष एक अद्भुत आनन्द प्राप्त करता है। संसार के सभी आनन्दों में इस आनन्द का स्थान

सर्वोच्च है।

भावार्थ—वेदवाणी ज्ञान का समुद्र है, सब सत्य-विद्याओं का मूल है। यह अपने प्रकाश से आराधक के हृदय को प्रकृष्ट चेतना प्राप्त कराती है।

विशेष—इस तृतीय सूक्त का आरम्भ द्वितीय सूक्त की समाप्ति पर वर्णित 'मित्रावरुण' की ही आराधना से होता है। 'मित्रावरुण' यह प्राणापान का भी नाम है। प्राणशक्ति मित्र है तो अपान वरुण है। प्राणशक्ति के होने पर मनुष्य मित्रता व स्नेह की वृत्तिवाला होता है। अपान के ठीक कार्य करने पर द्वेष भी मनुष्य से दूर रहता है। कोष्ठबद्धता की वृत्तिवाले ईर्ष्यालु, द्वेषी व चिड़चिड़े होते हैं। प्राणापान की साधना से मनुष्य शुभ वृत्तिवाला बनता है (१)। इस साधना से अशुभ वासनाएँ दूर होती हैं (३)। इनको दूर करके मनुष्य प्रभु के साक्षात्कार के योग्य होता है (४)। उसके अन्दर उत्तरोत्तर दिव्यगुणों की वृद्धि होती है (७)। इन दिव्यगुणों के विकास के लिए ही वह सरस्वती की आराधना करता है, ज्ञान का पुजारी बनता है (१०)। यह सरस्वती की आराधना, ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु की उपासना उसे 'सुरूप' बनाती है। इस वर्णन से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुरूपकृत्नु का आह्वान

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥ १॥

१. गत सूक्त की समाप्ति पर सरस्वती व ज्ञान-समुद्र का उल्लेख था। उस ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले 'इन्द्र' (इदि परमैश्वर्ये) की आराधना करते हुए कहते हैं कि उस **सुरूपकृत्नुम्**=ज्ञान के द्वारा उत्तम रूप का निर्माण करनेवाले प्रभु को **द्यविद्यवि**=प्रतिदिन **जुहूमसि**=पुकारते हैं। उस प्रभु की प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं जो प्रभु कि हमारी वाणी को सूनृतवचनों का उच्चारण करनेवाली बनाकर 'सुरूप' बना देते हैं। जो प्रभु हमारे मस्तिष्कों व मनों को सुमतियों, सुविचारों का चिन्तन करनेवाला बनाकर वस्तुतः सुरूप कर देते हैं और जो प्रभु हमारे हाथों से सदा यज्ञों का सम्पादन कराते हुए उन्हें भी अत्यन्त 'सुरूपता' प्रदान करते हैं। २. हम उस 'सुरूपकृत्नु' प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए पुकारते हैं। ये प्रभु हमें क्रोध से बचाकर कड़वी वाणी को बोलने से बचाते हैं, ये प्रभु हमें काम-वासनाओं से बचाकर सदा सुविचारवाला बनाते हैं और ये प्रभु हमें लोभ से बचाकर यज्ञियवृत्तिवाला बनाते हैं। ३. इस काम, क्रोध व लोभ से रक्षा करनेवाले प्रभु को हम इस प्रकार पुकारते हैं **इव**=जैसेकि **गोदुहे**=एक ग्वाले के लिए, गोदोहन करनेवाले के लिए **सुदुघाम्**=उत्तमता से दोहन करने योग्य गौ को लाते हैं। जैसे गौ उस गोधुक् के लिए उत्तम दुग्ध का प्रपूरण करती है उसी प्रकार यह प्रभु भी आराधक के लिए उत्तम ज्ञान का पूरण करते हैं। दुग्ध जैसे शरीर का पोषण करता है उसी प्रकार यह ज्ञान आत्मा (आध्यात्मिकता) का पोषण करता है।

भावार्थ—उस सुरूपकृत्नु प्रभु की हम प्रतिदिन आराधना करें ताकि हमारी वाणी, मस्तिष्क, मन व हाथ सभी सुन्दर बनें। हमारी वाणी में क्रोध की झलक न हो, मन में काम का राज्य न हो और हाथ लोभ से असत्कार्यों में प्रवृत्त न हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दया–दमन–दान

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब। गोदा इद्रेवतो मदः ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र में **मधुच्छन्दाः**=अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाले भक्त की पुकार को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **नः**=हमारे **सवना**=यज्ञों को **उप**=समीपता से **आगहि**=प्राप्त हो। वेद में प्रतिपादित यज्ञात्मक कर्मों का तू करनेवाला बन। यही तेरे द्वारा मेरी सच्ची आराधना होगी। २. हे **सोमपाः**=सोम का पान करनेवाले! सोमकणों को शरीर में सुरक्षित रखनेवाले जीव! तू **सोमस्य**=इस सोम का **पिब**=पान कर। वस्तुतः सबसे बड़ा यज्ञ तो है ही यह कि हम इन सोमकणों की ज्ञानाग्नि में आहुति दें। ये सोमकण ज्ञानाग्नि को प्रचण्ड बनानेवाले हों। ३. प्रभु कहते हैं कि—हे मधुच्छन्दः! तू इस बात को न भूलना कि **रेवतः**=धनवाले का **मदः**=हर्ष **इत्**=निश्चय से **गोदाः**=गौ आदि धनों के देने में ही है, अर्थात् दान में ही धनवान् का वास्तविक आनन्द निहित है। ४. एवं प्रभु के आराधक के लिए तीन निर्देश हैं—(क) वह यज्ञात्मक कर्मों में लगा रहकर क्रोध से ऊपर उठे, (ख) सोमपान को ध्येय बनाकर काम से ऊपर उठकर संयमी जीवनवाला हो तथा (ग) लोभ से ऊपर उठे और दान में ही आनन्द को जाने। क्रोध से ऊपर उठना ही 'दया' है, काम से ऊपर उठना 'दमन' है और लोभ से ऊपर उठना ही 'दान' है। ये ही तीन निर्देश प्रजापति ने असुरों, मनुष्यों व देवों को दिये थे। ये ही उपनिषद् के तीन 'द' हैं—'दया, दमन तथा दान'।

भावार्थ—हम यज्ञात्मक जीवनवाले हों, सोमपान करें, दान में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आचार्य व अन्तेवासी

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्। मा नो अति ख्य आ गहि ॥ ३ ॥

१. प्रभु के उपरितन निर्देशों को सुनकर उनको पाल सकने के लिए शान्ति की याचना करता हुआ जीव प्रार्थना करता है कि **अथा**=अब इस सोम का पान करने की कामनावाले हम साधक **ते**=आपकी **अन्तमानाम्**=अन्तिकतम, अत्यन्त समीप वर्तमान, अर्थात् आपके हमारे हृदयों में स्थित होने के कारण अधिक-से-अधिक समीप विद्यमान **सुमतीनाम्**=उत्तम मतियों, ज्ञानों व विचारों का **विद्याम**=हम ज्ञान प्राप्त करें। हृदयस्थ आपसे दिये जा रहे ज्ञान के प्रकाश हम देखें, अर्थात् अपने ही अन्दर विद्यमान आपके ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करने के लिए हम सदा प्रयत्नशील हों। यही प्रयत्न पूर्वमन्त्र में 'यज्ञ, सोमपान व दान' से संकेतित हुआ है। हम यज्ञशील होंगे, वीर्य की रक्षा के लिए संयमी जीवनवाले बनेंगे और यज्ञवृत्ति को अपनाकर लोभ से ऊपर उठेंगे तो अन्तःस्थित आपके प्रकाश को क्यों न देखेंगे? २. हे प्रभो! आप **नः**=हमें **अति**=लाँघकर दूसरों को ही **मा ख्यः**=ज्ञान देनेवाले न हों, अर्थात् हम आपके इस ज्ञान-दान के अयोग्य न समझे जाएँ। हम सर्वप्रथम आपसे ज्ञान प्राप्त करें। ३. **आगहि**=आप हमें अवश्य प्राप्त होओ। हम सदा प्रभु से ज्ञानप्राप्ति के अभिलाषी बने रहेंगे, तभी हमें प्रभु-सम्पर्क सुलभ रहेगा। प्रभु का मेल और किस कार्य के लिए होगा? प्रभु आचार्य होंगे, मैं उनका विद्यार्थी होऊँगा, तभी सुमतियों का लाभ हो पाएगा और हम उस प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान से वञ्चित न होंगे।

प्राप्त करनेवाला होता है, जो उसे शक्तिशाली बनाते हैं, त्याग की भावनावाला बनाते हैं (वाज=शक्ति, त्याग)। ३. इस सरस्वती की आराधना करनेवाला **धियावसुः**=(कर्मवसुः निरु०) ज्ञानपूर्वक कर्मों से धन का सम्पादन करनेवाला व्यक्ति **यज्ञं वष्टु**=यज्ञ की कामना करे, अर्थात् (क) स्वाध्यायशील पुरुष ज्ञानी तो बनता ही है, (ख) वह ज्ञान प्राप्त करके प्रत्येक कर्म को प्रज्ञापूर्वक करता है, (ग) इन कर्मों के द्वारा ही वह धन कमाने का ध्यान करता है और (घ) धनार्जन करके वह यज्ञों की ही कामनावाला होता है, उस धन का विनियोग यज्ञों में ही करता है, विलास की वृत्तिवाला नहीं बन जाता।

भावार्थ—स्वाध्याय मनुष्य को पवित्र बनाता है, उत्तम धनों को प्राप्त कराता है। यह स्वाध्यायशील पुरुष प्रज्ञापूर्वक कर्मों से धनार्जन करके उस धन का यज्ञों में विनियोग करता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूनृत-सुमति-यज्ञ

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥ ११॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सरस्वती की आराधना **सूनृतानाम्** (सु ऊन् ऋत)=उत्तम, दुःख का परिहाण करनेवाली, सत्यवाणियों की **चोदयित्री**=प्रेरिका है, अर्थात् स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति ऐसी ही वाणी बोलता है जोकि शोभन होती है, दूसरों के दुःखों को दूर करनेवाली होती है तथा यथार्थ होती है। २. यह **सरस्वती**=ज्ञान का निरूपण करनेवाली वेदवाणी **सुमतीनाम्**=उत्तम मतियों, विचारों को **चेतन्ती**=चेतानेवाली होती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति के मस्तिष्क में कभी कुमति व कुविचार नहीं उपजते; उसे ऐसे विचार सूझते ही नहीं। ३. **सरस्वती**=यह ज्ञानाधिदेवता अपने उपासक के अन्दर **यज्ञं दधे**=यज्ञ को धारण करती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति कभी अयज्ञिय कर्मों को नहीं करता।

भावार्थ—सरस्वती का आराधक मुख से सूनृत वाणी ही बोलता है, मस्तिष्क में कुविचारों को नहीं आने देता, हाथों को यज्ञात्मक उत्तम कर्मों में लगाये रखता है। एवं, यह सरस्वती आराधक की 'वाणी, मस्तिष्क व हाथ' सभी को पवित्र बनाती है। इससे आराधक के विचार, उच्चार व आचार सभी पवित्र बनते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान का महान् समुद्र

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति॥ १२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आराधक के 'विचार, उच्चार व आचार' को पवित्र करनेवाली यह **सरस्वती**=ज्ञानाधिदेवता **महो अर्णः**=एक महान् जल है। ज्ञान-प्रवाह से बहने के कारण जलरूप है। यह सरस्वती ज्ञान का समुद्र ही है। २. यह सरस्वती **केतुना**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा **प्रचेतयति**=आराधक को प्रकृष्ट चेतना प्राप्त कराती है, उसके हृदयान्तरिक्ष को ज्ञान के प्रकाश से उद्द्योतित कर देती है। ३. यह **सरस्वती**=वेदवाणी **विश्वा धियः**=सम्पूर्ण ज्ञानों को **विराजति**=विशेषरूप से दीप्त करती है, अर्थात् यह सब सत्यविद्याओं का आगार है, ज्ञानों का कोश है। प्रभु ने मानव-उन्नति के लिए आवश्यक प्रत्येक सत्यज्ञान का इसमें प्रकाश किया है। उस पूर्ण प्रभु का दिया हुआ यह ज्ञान सचमुच पूर्ण ही है। इस महान् ज्ञान-समुद्र में तैरनेवाला पुरुष एक अद्भुत आनन्द प्राप्त करता है। संसार के सभी आनन्दों में इस आनन्द का स्थान

सर्वोच्च है।

भावार्थ—वेदवाणी ज्ञान का समुद्र है, सब सत्य-विद्याओं का मूल है। यह अपने प्रकाश से आराधक के हृदय को प्रकृष्ट चेतना प्राप्त कराती है।

विशेष—इस तृतीय सूक्त का आरम्भ द्वितीय सूक्त की समाप्ति पर वर्णित 'मित्रावरुण' की ही आराधना से होता है। 'मित्रावरुण' यह प्राणापान का भी नाम है। प्राणशक्ति मित्र है तो अपान वरुण है। प्राणशक्ति के होने पर मनुष्य मित्रता व स्नेह की वृत्तिवाला होता है। अपान के ठीक कार्य करने पर द्वेष भी मनुष्य से दूर रहता है। कोष्ठबद्धता की वृत्तिवाले ईर्ष्यालु, द्वेषी व चिड़चिड़े होते हैं। प्राणापान की साधना से मनुष्य शुभ वृत्तिवाला बनता है (१)। इस साधना से अशुभ वासनाएँ दूर होती हैं (३)। इनको दूर करके मनुष्य प्रभु के साक्षात्कार के योग्य होता है (४)। उसके अन्दर उत्तरोत्तर दिव्यगुणों की वृद्धि होती है (७)। इन दिव्यगुणों के विकास के लिए ही वह सरस्वती की आराधना करता है, ज्ञान का पुजारी बनता है (१०)। यह सरस्वती की आराधना, ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु की उपासना उसे 'सुरूप' बनाती है। इस वर्णन से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुरूपकृत्नु का आह्वान

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥ १॥

१. गत सूक्त की समाप्ति पर सरस्वती व ज्ञान-समुद्र का उल्लेख था। उस ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले 'इन्द्र' (इदि परमैश्वर्ये) की आराधना करते हुए कहते हैं कि उस **सुरूपकृत्नुम्**=ज्ञान के द्वारा उत्तम रूप का निर्माण करनेवाले प्रभु को **द्यविद्यवि**=प्रतिदिन **जुहूमसि**=पुकारते हैं। उस प्रभु की प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं जो प्रभु कि हमारी वाणी को सूनृतवचनों का उच्चारण करनेवाली बनाकर 'सुरूप' बना देते हैं। जो प्रभु हमारे मस्तिष्कों व मनों को सुमतियों, सुविचारों का चिन्तन करनेवाला बनाकर वस्तुतः सुरूप कर देते हैं और जो प्रभु हमारे हाथों से सदा यज्ञों का सम्पादन कराते हुए उन्हें भी अत्यन्त 'सुरूपता' प्रदान करते हैं। २. हम उस 'सुरूपकृत्नु' प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए पुकारते हैं। ये प्रभु हमें क्रोध से बचाकर कड़वी वाणी को बोलने से बचाते हैं, ये प्रभु हमें काम-वासनाओं से बचाकर सदा सुविचारवाला बनाते हैं और ये प्रभु हमें लोभ से बचाकर यज्ञियवृत्तिवाला बनाते हैं। ३. इस काम, क्रोध व लोभ से रक्षा करनेवाले प्रभु को हम इस प्रकार पुकारते हैं **इव**=जैसेकि **गोदुहे**=एक ग्वाले के लिए, गोदोहन करनेवाले के लिए **सुदुघाम्**=उत्तमता से दोहन करने योग्य गौ को लाते हैं। जैसे गौ उस गोधुक् के लिए उत्तम दुग्ध का प्रपूरण करती है उसी प्रकार यह प्रभु भी आराधक के लिए उत्तम ज्ञान का पूरण करते हैं। दुग्ध जैसे शरीर का पोषण करता है उसी प्रकार यह ज्ञान आत्मा (आध्यात्मिकता) का पोषण करता है।

भावार्थ—उस सुरूपकृत्नु प्रभु की हम प्रतिदिन आराधना करें ताकि हमारी वाणी, मस्तिष्क, मन व हाथ सभी सुन्दर बनें। हमारी वाणी में क्रोध की झलक न हो, मन में काम का राज्य न हो और हाथ लोभ से असत्कार्यों में प्रवृत्त न हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दया-दमन-दान

उप॑ नः॒ सव॒ना ग॑हि॒ सोम॑स्य सोमपाः पिब। गो॒दा इद्रे॒वतो॒ मदः॑ ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र में **मधुच्छन्दाः**=अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाले भक्त की पुकार को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **नः**=हमारे **सवना**=यज्ञों को **उप**=समीपता से **आगहि**=प्राप्त हो। वेद में प्रतिपादित यज्ञात्मक कर्मों का तू करनेवाला बन। यही तेरे द्वारा मेरी सच्ची आराधना होगी। २. हे **सोमपाः**=सोम का पान करनेवाले! सोमकणों को शरीर में सुरक्षित रखनेवाले जीव! तू **सोमस्य**=इस सोम का **पिब**=पान कर। वस्तुतः सबसे बड़ा यज्ञ तो है ही यह कि हम इन सोमकणों की ज्ञानाग्नि में आहुति दें। ये सोमकण ज्ञानाग्नि को प्रचण्ड बनानेवाले हों। ३. प्रभु कहते हैं कि—हे मधुच्छन्दः! तू इस बात को न भूलना कि **रेवतः**=धनवाले का **मदः**=हर्ष **इत्**=निश्चय से **गोदाः**=गौ आदि धनों के देने में ही है, अर्थात् दान में ही धनवान् का वास्तविक आनन्द निहित है। ४. एवं प्रभु के आराधक के लिए तीन निर्देश हैं—(क) वह यज्ञात्मक कर्मों में लगा रहकर क्रोध से ऊपर उठे, (ख) सोमपान को ध्येय बनाकर काम से ऊपर उठकर संयमी जीवनवाला हो तथा (ग) लोभ से ऊपर उठे और दान में ही आनन्द को जाने। क्रोध से ऊपर उठना ही 'दया' है, काम से ऊपर उठना 'दमन' है और लोभ से ऊपर उठना ही 'दान' है। ये ही तीन निर्देश प्रजापति ने असुरों, मनुष्यों व देवों को दिये थे। ये ही उपनिषद् के तीन 'द' हैं—'दया, दमन तथा दान'।

भावार्थ—हम यज्ञात्मक जीवनवाले हों, सोमपान करें, दान में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आचार्य व अन्तेवासी

अथा॑ ते॒ अन्त॑मानां वि॒द्याम॑ सुमती॒नाम्। मा नो॒ अति॑ ख्य॒ आ ग॑हि ॥ ३ ॥

१. प्रभु के उपरितन निर्देशों को सुनकर उनको पाल सकने के लिए शान्ति की याचना करता हुआ जीव प्रार्थना करता है कि **अथा**=अब इस सोम का पान करने की कामनावाले हम साधक **ते**=आपकी **अन्तमानाम्**=अन्तिकतम, अत्यन्त समीप वर्तमान, अर्थात् आपके हमारे हृदयों में स्थित होने के कारण अधिक-से-अधिक समीप विद्यमान **सुमतीनाम्**=उत्तम मतियों, ज्ञानों व विचारों का **विद्याम**=हम ज्ञान प्राप्त करें। हृदयस्थ आपसे दिये जा रहे ज्ञान के प्रकाश हम देखें, अर्थात् अपने ही अन्दर विद्यमान आपके ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करने के लिए हम सदा प्रयत्नशील हों। यही प्रयत्न पूर्वमन्त्र में 'यज्ञ, सोमपान व दान' से संकेतित हुआ है। हम यज्ञशील होंगे, वीर्य की रक्षा के लिए संयमी जीवनवाले बनेंगे और यज्ञवृत्ति को अपनाकर लोभ से ऊपर उठेंगे तो अन्तःस्थित आपके प्रकाश को क्यों न देखेंगे? २. हे प्रभो! आप **नः**=हमें **अति**=लाँघकर दूसरों को ही **मा ख्यः**=ज्ञान देनेवाले न हों, अर्थात् हम आपके इस ज्ञान-दान के अयोग्य न समझे जाएँ। हम सर्वप्रथम आपसे ज्ञान प्राप्त करें। ३. **आगहि**=आप हमें अवश्य प्राप्त होओ। हम सदा प्रभु से ज्ञानप्राप्ति के अभिलाषी बने रहेंगे, तभी हमें प्रभु-सम्पर्क सुलभ रहेगा। प्रभु का मेल और किस कार्य के लिए होगा? प्रभु आचार्य होंगे, मैं उनका विद्यार्थी होऊँगा, तभी सुमतियों का लाभ हो पाएगा और हम उस प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान से वञ्चित न होंगे।

भावार्थ—प्रभु आचार्य हों, मैं उनका विद्यार्थी=अन्तेवासी बनकर सुमति का लाभ करूँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'विग्र व अस्तृत' विपश्चित्

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आ वरम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र में ज्ञान देने की प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **परेहि** (परा इहि)=विषयों व सांसारिक कामों से दूर होकर तू **विग्रम्**=मेधावी **अस्तृतम्**=काम-क्रोधादि से अहिंसित पुरुष को प्राप्त हो, अर्थात् एक ज्ञानी-संयमी पुरुष के समीप पहुँचकर तू ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न कर। २. इस **विपश्चितम्** (वि-पश्-चित्)=प्रकृति के सौन्दर्य को बारीकी से देखकर प्रभु की महिमा के चिन्तन करनेवाले ज्ञानी पुरुष से **इन्द्रम्**=परमात्मा-विषय में **पृच्छा**=ज्ञान प्राप्त करने की कामना कर। ३. उस विपश्चित् से तू प्रश्न कर **यः**=जो **ते**=तेरे लिए तथा तेरे सब **सखिभ्यः**=समान ज्ञानप्राप्ति की कामनावाले मित्रों के लिए **वरम्**=इस वरणीय श्रेष्ठ ज्ञान-धन को **आ** (नयति)=प्राप्त करता है, आचार्य विद्यार्थी का उपनयन करता है और उसके लिए ज्ञान का आनयन (प्रापण) करता है।

भावार्थ—हम विषयों से ऊपर उठें और वर (ज्ञानोत्कृष्ट) पुरुषों के समीप पहुँचकर ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

व्यर्थ के कार्यों से दूर

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद् दुवः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के उपदेश के अनुसार हम ज्ञानी-संयमी पुरुषों के समीप पहुँचकर ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो प्रयत्न करें ही, **उत**=और इसके साथ ही हम **निदः**=निन्दाओं को (भावे क्विप्) **नो ब्रवन्तु**=न बोलें। हमारे मुखों से कभी निन्दात्मक शब्दों का उच्चारण न हो, वेदों के 'सूक्ता ब्रूहि' इस उपदेश का पालन करते हुए हम भद्र ही शब्द बोलें। 'ऋचं प्रपद्ये'—'मैं सूक्तात्मक स्तुतिरूप काव्यों को ही बोलता हूँ', यह हमारा व्रत हो। २. प्रभु कहते हैं कि **अन्यतः**=दूसरे कामों से, अर्थात् अनावश्यक, अनुपयोगी कार्यों से **चित्**=निश्चयपूर्वक **निः आरत**=बाहर गति करनेवाले होओ, अर्थात् ताश खेलते रहना या गपशप मारते रहना आदि कार्यों से निश्चयपूर्वक बचो। ३. जब भी कभी अवकाश हो, अर्थात् घर के कार्यों को हम कर चुके हों, स्वाध्याय से श्रान्त हो गये हों तो हम **इत्**=निश्चयपूर्वक **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **दुवः**=परिचर्या को **दधानाः**=धारण करनेवाले हों, प्रभु चिन्तन करनेवाले हों।

भावार्थ—(क) हम कभी इधर-उधर निन्दा न करते फिरें, (ख) व्यर्थ के कार्यों से दूर रहने का ध्यान करें और अवकाश के क्षणों में सदा प्रभु की परिचर्या करनेवाले बनें, प्रभु का ही नाम जपें, उसी के अर्थ का भावन (चिन्तन) करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुभग कृष्टि (A Fortunate Labourer)

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥ ६॥

१. हे **दस्म**=शत्रुओं का क्षय करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से हमारा जीवन गत मन्त्र के अनुसार इस प्रकार भद्रता को लिये हुए हो कि **अरिः**=शत्रु भी **नः**=हमें **सुभगान्**=उत्तम भाग्यशाली अथवा उत्तम ज्ञानादि-धनसम्पन्न **वोचेयुः**=कहें। हमारी भद्रता उनके हृदयों को भी प्रभावित करे। **'गुणैर्हि सर्वत्र पदं निधीयते'** के अनुसार हममें गुण होंगे तो शत्रु-हृदयों में वे क्यों प्रभाव पैदा न करेंगे? २. **उत**=और **कृष्टयः**=कर्षणशील, श्रमशील बनकर हम **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **शर्मणि**=सुख में—आनन्द में **इत्**=निश्चय से **स्याम**=निवास करनेवाले हों। प्रभु की ओर से आनन्द का लाभ उन्हें ही होता है जो श्रमशील बनते हैं। अकर्मण्यता के साथ आनन्द का सम्बन्ध नहीं है ३. यहाँ मन्त्र में 'दस्म' शब्द शत्रुओं के नाशक का वाचक होकर स्पष्टतया यह संकेत कर रहा है कि प्रभुकृपा से हमारे काम-क्रोधादि शत्रु नष्ट हो जाएँ और हम सुन्दर जीवनवाले बनकर सचमुच सौभाग्यशाली बन जाएँ।

भावार्थ—हम क्रोधादि से दूर होकर भद्र जीवन बिताते हुए शत्रुओं से भी सौभाग्यशाली समझे जाएँ तथा श्रमशील बनकर प्रभु के आनन्द में भागी हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम-भरण

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्। पतयन्मन्दयत् सखम्॥ ७॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति 'प्रभु के आनन्द में हम हों' इस भाव से हुई थी। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आशवे** (अशूङ् व्याप्तौ) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होनेवाले उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **ईम्**=निश्चय से **आशुम्**=सम्पूर्ण रुधिर में, दही में घृत की भाँति तथा तिलों में तेल की भाँति व्याप्त होनेवाले इस सोम को—वीर्य को **आभर**=सब प्रकार से अपने में धारण करने का प्रयत्न कर। २. **यज्ञश्रियम्**=यह सोम (**'पुरुषो वाव यज्ञः'**) इस यज्ञरूप पुरुष की श्री का कारण है, इसी के कारण शरीर की सारी शोभा है। ३. **नृमादनम्**=यह उन्नतिशील नरों को आनन्दित करनेवाला है, अर्थात् इसके शरीर में व्याप्त होने पर मनुष्य सब क्षेत्रों में उन्नति कर पाता है और आनन्दमय मनोवृत्तिवाला बना रहता है, चिड़चिड़े स्वभाव का नहीं होता। ४. **पतयत्** (पतयन्तम्-कर्मणि व्याप्नुवन्तम्-सा०)=सोम के शरीर में व्याप्त होने पर मनुष्य क्रियाशील होता है, सोम की रक्षा ही पुरुष को कर्मशूर बनाती है। ५. **मन्दयत् सखम्**=उस आनन्दित करनेवाले प्रभु में यह सोम सखिभूत है, अर्थात् परमात्मप्राप्ति का यह प्रमुख साधन बनता है और प्रभु-प्राप्ति द्वारा अद्भुत आनन्द प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—सोम शरीर में व्याप्त होता है तो प्रभुप्राप्ति का साधन बनता है, यज्ञरूप पुरुष की शोभा का कारण होता है, उन्नति का साधन होते हुए आनन्दित करता है। यह सोम मनुष्य को कर्मशूर बनाता है और आनन्दित करनेवाले प्रभु का सखिभूत है।

सूचना—'यज्ञश्रियम्' यह विशेषण इस बात की सूचना दे रहा है कि सोम की रक्षा करने पर मनुष्य का जीवन यज्ञमय होता है, ये यज्ञ उसके जीवन की शोभा का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वृत्र-हनन

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः। प्रावो वाजेषु वाजिनम्॥ ८॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो! आप **अस्य पीत्वा**=इस सोम की रक्षा करके **वृत्राणाम्**=ज्ञान पर आवरणरूप कामादि के **घनः**=मारनेवाले **अभवः**=होते हो। हम प्रभु का नाम स्मरण करते हैं और उस नामस्मरण से कामादि वासनाओं का विनाश होता है। इस प्रकार प्रभु इस सोम की रक्षा व पान करानेवाले होते हैं। सोम की रक्षा होने पर मनुष्य क्रोधादि का शिकार नहीं होता एवं सोम वृत्रों के विनाश का साधन बनता है। २. हे प्रभो! आप **वाजेषु** (वाज-युद्ध)=इन वासनासंग्रामों में **वाजिनम्**=(वाज=अन्न) प्रशस्त अन्नवाले को **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हो। जब एक मनुष्य सात्त्विक अन्न का सेवन करता है तब उसकी बुद्धि व मन भी सात्त्विक बनते हैं। यह पुरुष 'वाजिन्' कहलाता है। इस 'वाजिन्' की संग्राम में अवश्य विजय होती है। 'वाजिनम्' का अर्थ 'बलवान् को' भी है। 'सोमपान से वृत्रविनाश', 'वृत्रविनाश से वाजी बनना' तथा 'वाजी का संग्राम में विजय' यह क्रम मन्त्र में प्रतिपादित है। बलवान् की विजय होती है, प्रभु इसकी रक्षा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-नामस्मरण से हम वासनाओं से ऊपर उठते हैं, शरीर में सोम का व्यापन कर पाते हैं और शक्तिशाली बनकर संग्रामों में प्रभु द्वारा रक्षित होते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धन-संभजन

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो। धनानामिन्द्र सातये॥ ९ ॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व कर्मवाले प्रभो! **वाजेषु**=काम-क्रोधादि के साथ संग्रामों में **वाजिनम्**=प्रशस्त शक्ति को देनेवाले **तं त्वा**=उस आपको हम **वाजयामः**=अर्चित करते हैं (वाजयति=अर्चति-निरु०)। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति इस अध्यात्म-संग्राम में प्रभु के उपासन से ही शक्ति को प्राप्त करता है, जीव स्वयं इन प्रबल शत्रुओं को जीत नहीं सकता। (**'त्वया स्विद् युजा वयम्'** प्रभुरूप मित्र के साथ ही हम इनको जीत पाते हैं)। २. हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! इन कामादि शत्रुओं को जीतकर **धनानां सातये**=धनों की प्राप्ति के लिए भी हम आपकी ही अर्चना करते हैं। आपने ही हमें वे सब वस्तुएँ प्राप्त करानी हैं जिनसे कि मनुष्य धन्य बनता है। 'शरीर का स्वास्थ्य, मन का नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता' ये सब प्रभु-कृपा से ही हमें प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें अध्यात्मसंग्रामों में विजयी बनाते हैं और धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कार्य-पारण

यो रायो३वनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा। तस्मा इन्द्राय गायत॥ १० ॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर धन-साति (प्राप्ति) के लिए प्रभु-अर्चना का उल्लेख है। उसी भाव से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि **यः**=जो **रायः**=धनों का **अवनिः**=रक्षक व स्वामी अथवा धन के (अव=भागदुघ) उचित भाग का सबके लिए पूरण करनेवाला है **तस्मा इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **गायत**=गान करो, उसका अर्चन करो। २. वे प्रभु **महान्** (मह पूजायाम्)=सभी से पूजा के योग्य हैं, **सुपारः**=सुगमता से कार्यों को पार लगानेवाले हैं, अर्थात् सब कार्यों को सुगमता वे प्रभु ही पूर्ण कराया करते हैं। ३.

सुन्वतः=यज्ञशील पुरुष के **सखा**=वे मित्र हैं अथवा सोमसम्पादन करनेवाले के, वीर्य का शरीर में ही संयम करनेवाले के वे प्रभु मित्र हैं। प्रभु की प्राप्ति उन्हीं को होती है जो शरीर में सोम की रक्षा करते हैं और यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—धन देनेवाले वे प्रभु ही हैं, अतः उन्हीं का गायन करना चाहिए।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ सुरूपकृत्नु प्रभु की प्रार्थना से हुआ है। १. उसके लिए प्रभु ने कुछ बातें कही हैं—(क) यज्ञों के करनेवाले बनो, (ख) सोम की रक्षा करो, (ग) दान देने में आनन्द का अनुभव करो। २. (घ) ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करो, ४. (ङ) निन्दा मत करो, (च) व्यर्थ के कामों से बचो, (छ) प्रभु की परिचर्या करो, क्योंकि (५) वे प्रभु ही महान्, सुपार व यज्ञशीलों के सखा हैं। अब उस प्रभु के सम्मिलित गान के लिए निर्देश करते हुए कहते हैं कि—

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सामूहिक कीर्तन (Congregational Prayers)

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखायः स्तोमवाहसः॥ १॥

१. हे **स्तोमवाहसः**=प्रभु के स्तोमों को धारण करनेवाले **सखायः**=मित्रो! **आ तु एताः**=आप निश्चय से आइए तो और आकर **निषीदत**=अपने-अपने आसनों पर (नि) नम्रता से बैठिए और **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अभिप्रगायत**=गायन करिए। मन में तथा वाणी से भी उस प्रभु के नाम का ही जप कीजिए। २. 'स्तोमवाहसः' शब्द प्रभु के स्तवनों को अपनी क्रियाओं में अनूदित (to carry out) करनेवालों को संकेत कर रहा है। ये दयालु शब्द से प्रभु का स्मरण करते हैं और दयालु बनने का प्रयत्न करते हैं। 'सखायः' शब्द इनके तुल्य विचारवाला होने का उल्लेख कर रहा है। ऐसे ही व्यक्ति मिलके आसनों पर बैठकर प्रभु का गायन करते हैं। यह प्रभुगायन मनुष्य के जीवन को दीप्त करनेवाला होता है। इनकी मित्रता का मूल सम्मिलित प्रभु-स्तवन होता है। यह कितना सुन्दर आधार है! प्रभु-गायन का सबसे महान् परिणाम तो यही है कि हम अपनी सब सफलताओं में प्रभु का हाथ देखें, सब कार्यों को प्रभु की शक्ति से होते हुए अनुभव करें और विजय के अभिमान में फूल न जाएँ।

भावार्थ—हम प्रतिदिन सम्मिलित होकर प्रभु-गुणगान करने के शीलवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

पालकों का पालक

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते॥ २॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार एकत्र होकर प्रभु-गायन करते हुए उपासक कहते हैं कि पुरूणाम् (पॄ पालनपूरणयोः)=पालकों में **पुरूतमम्**=सर्वाधिक उस पालक प्रभु का हम गायन करते हैं जो प्रभु 'पुरूतम'=(पुरून् बहून् शत्रून्) तमयति ग्लापयति हमारे काम-क्रोधादि शतशः शत्रुओं को क्षीण करते हैं। २. और वस्तुतः इन शत्रुओं को क्षीण करके ही तो प्रभु वरणीय धनों को हमें प्राप्त करते हैं। ३. हम उस **वार्याणाम्**=वरणीय धनों के **ईशानम्**=स्वामी का कीर्तन करते हैं जो प्रभु **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले हैं। ४. उस प्रभु का वस्तुतः स्तवन तो **सोमे सुते**=सोम का अभिषव करने पर **सचा**=उस प्रभु से मेल

होने पर ही होता है। हम शरीर में सोम का सम्पादन करें, उस सोम को शरीर में सुरक्षित करनेवाले बनें तब यह सोम उस प्रभु से हमारा मेल करानेवाला होगा और यही प्रभु का सच्चा स्तवन होगा। 'इस सोम से उस सोम को प्राप्त करना' जीवन की यही सर्वमहान् सफलता है।

भावार्थ—(क) वह प्रभु पालकों में सर्वोत्तम पालक हैं। (ख) वरणीय वस्तुओं के ईशान हैं। (ग) उस प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम सोम के रक्षण से बुद्धि को सूक्ष्म करके प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

धन व अन्नादि के दाता

स घा नो योग आ भुवत्स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः॥ ३॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'वरणीय वस्तुओं का ईशान' कहा है। उसी का विस्तार (स्पष्टीकरण) करते हुए कहते हैं कि **सः**=वे प्रभु ही **घा**=निश्चय से **नः**=हमारे **योगे**=अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के विषय (सम्बन्ध) में **आभुवत्**=साधक होते हैं। प्रभु-कृपा से ही हमें सब आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं। 'अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति' योग है। इस योग में प्रभु ही हमारे सहायक होते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **राये**=धन के लिए **आभुवत्**=सहायक होते हैं। सब धनों का विजय करनेवाले वे प्रभु ही हैं। ३. **सः**=वे प्रभु ही **पुरन्ध्याम्** (बहुविधायां बुद्धौ-सा०)=पालन व पूरण करनेवाली बहुविध बुद्धि की प्राप्ति में भी **वाजेभिः**=उत्तम सात्त्विक अन्नों के साथ **आगमत्**=प्राप्त होते हैं। इन अन्नों के सेवन से हमारी बुद्धि भी सात्त्विक बनती है। इस सात्त्विक बुद्धि के होने पर हमें धनों की प्राप्ति, अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति में कभी गर्व नहीं होता, हम इन्हें उस प्रभु का वरदान ही जानते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु 'योग-धन-पुरन्धि व वाजों' को हमें प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अध्यात्म-संग्राम में विजय का उपाय

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः। तस्मा इन्द्राय गायत॥ ४॥

१. जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं और प्रभु हमारे हृदयों में स्थित होते हैं तब काम-क्रोधादि हमपर आक्रमण नहीं करते। मन्त्र में कहते हैं कि **यस्य**=जिसके **संस्थे**=हृदय-देश में स्थित होने पर **शत्रवः**=काम-क्रोधादि शत्रु **समत्सु**=अध्यात्म-संग्रामों में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **न**=नहीं **वृण्वते**=आक्रमण के लिए चुनते, अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियों पर क्रोधादि आक्रमण नहीं करते **तस्मा इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **गायत**=मिलकर गान करो। २. प्रभु का गायन जहाँ भी होता है वहाँ काम-क्रोधादि का प्रवेश नहीं होता। प्रभु-स्मरण कामादि रोगों का सर्वोत्तम औषध है। यह शरीर में से व्याधियों को दूर करता है तो मन को आधियों से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु का गायन करने से अध्यात्म-संग्राम में कामादि शत्रु हमारी इन्द्रियों पर आक्रमण नहीं कर पाते एवं प्रभु-स्मरण ही आध्यात्म-संग्राम में हमें विजयी बनाता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शुचि-दीप्त व नैरोग्य

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये। सोमासो दध्याशिरः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब इन्द्रियों पर वासनाओं का आक्रमण न होगा तब हम सोम की रक्षा कर पाएँगे। **इमे सुताः**=ये उत्पन्न हुए-हुए सोमकण **सुतपाव्ने**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकणों की रक्षा करनेवाले के लिए और इन सोमकणों को अपने शरीर में ही व्याप्त करनेवाले के लिए (पी लेनेवाले के लिए) **शुचयः**=पवित्रता करनेवाले होते हैं। ये हमारे जीवनों को पवित्र वृत्तिवाला बनाते हैं। हम संसार में अपवित्र साधनों से धनादि अर्जन करनेवाले नहीं बनते। टेढ़े-मेढ़े साधनों के प्रयोग की ओर हमारा झुकाव ही नहीं होता। असंयम के साथ आर्थिक अपवित्रता बढ़ती है। २. ये सोम **वीतये** (वी to shine)=चमकने के लिए, प्रकाश के लिए **यन्ति**=हमें प्राप्त होते हैं। इनकी रक्षा के द्वारा हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ३. **सोमासः**=ये सोम **दध्याशिरः** (धत्ते इति दधि, आशृणाति)=हमारे शरीरों का धारण करनेवाले होते हैं और शरीर में होनेवाले दोषों को अंग-प्रत्यंग से (आ= समन्तात्) नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार ये सोम जहाँ मन में अपवित्र भावनाओं को नहीं आने देते वहाँ मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं और शरीरों को स्वस्थ बनाते हैं।

भावार्थ—हम सुतपावा बनें—उत्पन्न सोमकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले बनें। इससे हमारे मन शुद्ध होंगे, मस्तिष्क शान्त व कान्त=ज्ञानदीप्त बनेंगे और शरीर बलसम्पन्न व दोषशून्य होंगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वृद्धि व ज्येष्ठता

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः। इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो॥ ६॥

१. गतमन्त्र की भावना को ही पुष्ट करते हुए कहते हैं—हे **सुक्रतो**=उत्तम कर्म-संकल्प व ज्ञानवाले जीव! **त्वम्**=तू **सुतस्य**=इस उत्पन्न सोम की **पीतये**=रक्षा के लिए हो, अर्थात् सोम की रक्षा का तू दृढ़ निश्चय कर। २. इससे तू **सद्यः**=शीघ्र ही **वृद्धः**=सब शक्तियों के दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ **अजायथाः**=होगा। तेरे शरीर, मन व बुद्धि सभी विकसित शक्तियोंवाले होंगे। शरीर बलवान् व नीरोग बनेगा, मन पवित्र व निश्चल होगा तथा बुद्धि सूक्ष्म व दीप्त होगी। ३. हे **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व करनेवाले और अतएव तीनों कालों में—बाल्य, यौवन व स्थविरभाव में सोम का पान करनेवाले (शरीर में वीर्य की रक्षा करनेवाले) जीव! तू **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठता के लिए होगा, अर्थात् ब्राह्मण बनकर ज्ञान से ज्येष्ठ बनेगा, क्षत्रिय बनकर बल से बढ़ा हुआ सोम होगा और वैश्य के रूप में धन-धान्य से समृद्धि को प्राप्त करेगा। सब प्रकार की ज्येष्ठता का मूल यह सोम ही है, अतः इसका तू पान व रक्षण करनेवाला बन।

भावार्थ—सोम की शरीर में ही रक्षा हमारी वृद्धि व ज्येष्ठता का मूल है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रकृष्ट चेतना

आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः। शं ते सन्तु प्रचेतसे॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष, आसुरी वृत्तियों का संहार करनेवाले पुरुष! **सोमासः**=ये सोमकण **त्वा आविशन्तु**=तुझमें सर्वथा समन्तात् प्रवेश करें, ये तेरे शरीर में व्याप्त हो जाएँ। २. ये सोमकण **आशवः** (अश्नुवते)=तुझे सदा कर्मों में व्याप्त करनेवाले हैं। इनके सुरक्षित होने पर तुझे अकर्मण्यता नहीं घेर सकती। सोमी पुरुष आलसी तो हो ही नहीं सकता। ३. हे **गिर्वणः**=सोम-रक्षण के उद्देश्य से ही ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले पुरुष! ये सुरक्षित हुए-हुए सोमकण **ते शं सन्तु**=तुझे शान्ति देनेवाले हों। इनके सुरक्षित होने पर शरीर नीरोग, मन निर्मल व मस्तिष्क ज्ञान दीप्त होता है, अतः ये शान्ति प्राप्त करानेवाले होते ही हैं। ४. **प्रचेतसे**=ये तेरी प्रकृष्ट चेतना के लिए हों। तू इनकी रक्षा से सदा आत्मस्मरणवाला हो, 'मैं कौन हूँ, मैं यहाँ क्यों आया हूँ'—ये बातें तुझे भूल न जाएँ। इस प्रकृष्ट चेतना के न रहने पर ही तो हमारे जीवन का कार्यक्रम अस्तव्यस्त (ऊटपटाँग) हो जाया करता है, उस समय हमारे जीवनों में 'प्रभु' का स्थान 'धन' ले लेता है, 'योग' का स्थान 'भोग' को मिल जाता है, 'प्रेम' के स्थान में 'ईर्ष्या-द्वेष' आ जाते हैं, 'नम्रता' 'अभिमान' द्वारा समाप्त कर दी जाती है, हम अपने को ही ईश्वर मानने लगते हैं। इन सब बातों के परिणामस्वरूप यह संसार घोर नरक बन जाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित किये गये ये सोमकण हमें क्रियाशील, शान्त व प्रकृष्ट चेतना-युक्त बनाते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्तोम-उक्थ-गीः

त्वां स्तोमा॑ अवीवृधन् त्वामु॒क्था श॑तक्रतो। त्वां वर्धन्तु नो॒ गिरः॑ ॥ ८ ॥

१. गत तीन मन्त्रों में सोम-पान व शरीर में सोम की रक्षा के लाभों का वर्णन हुआ है। उस सोम-रक्षा के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात वासना को जीतना है। वासना को जीतने के लिए आवश्यक है कि हमारा सारा समय प्रभु-स्तवन के साथ कार्यों में व्याप्त हो। सो 'मधुच्छन्दाः' (मन्त्र का ऋषि) कहता है कि हे **शतक्रतो**=अनन्त कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको **स्तोमाः**=हम साम-गों के स्तुति-समूह **अवीवृधन्**=बढ़ानेवाले हों। हृदय में भक्ति का निवास है, भक्ति-प्रधान पुरुष प्रभु का स्तवन करता है तो ये स्तुतियाँ 'स्तोम' कहलाती हैं। यह भक्त साम-मन्त्रों से प्रभु के गुणों का कीर्तन करता है। २. मस्तिष्क में ज्ञान का निवास है। ज्ञानप्रधान पुरुष सूर्य, चन्द्र, तारागण व ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों में प्रभु की महिमा देखता है। उस-उस पदार्थ की रचना का सौन्दर्य रचयिता की महत्ता को प्रकट करता है और यह ज्ञानी कह उठता है कि ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी सभी आपकी महिमा को कह रहे हैं।' इस ज्ञानी के **उक्थाः**=ये स्तुतिवचन भी, आपकी महिमा के प्रतिपादक वाक्य भी, हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको बढ़ानेवाले हों। ३. हाथों में कर्म का निवास है। यज्ञादि कर्मों में व्याप्त हाथोंवाले कर्मकाण्डी भी अग्नि व अग्नि में डाले गये पदार्थों की महत्ता व विचित्रता का ध्यान करते हुए प्रभु की महिमा का ही उद्गिरण (उच्चारण) करते हैं। **नः**=हम कर्मकाण्डियों की **गिरः**=वे महिमोच्चारण करनेवाली वाणियाँ भी हे प्रभो! **त्वां वर्धन्तु**=आपको ही बढ़ानेवाली हों।

भावार्थ—भक्तों के स्तोम, ज्ञानियों के उक्थ (व शस्त्र) तथा कर्मकाण्डियों की गिराएँ—सभी प्रभु की महिमा का वर्धन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सम्पूर्ण बल

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्। यस्मिन् विश्वानि पौंस्या॥ १॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का स्तवन करनेवाला सदा अपनी रक्षा कर पाता है। यह वासनाओं का शिकार होने से बचा रहता है। वासनाओं से बचकर वह सोम-रक्षण कर पाता है। यह **अक्षित-ऊतिः**=न नष्ट हुए-हुए रक्षणवाला, अर्थात् सदा सोम की रक्षा करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इयम्**=इस **सहस्रिणम्**=(स हस्) सदा हास्य व प्रसन्नता को देनेवाले **वाजम्**=अन्न का **सनेत्**=सेवन करे, **यस्मिन्**=जिस सात्त्विक अन्न में **विश्वानि**=सब **पौंस्या**=बल हैं। २. मनुष्य को चाहिए कि उस अन्न का सेवन करे जो सुख व प्रीति का बढ़ानेवाला है (सहस्रिणम्) तथा बल की वृद्धि करनेवाला है (पौंस्या)। गीता में सुख, प्रीति व बल आदि के बढ़ानेवाले अन्न को ही सात्त्विक अन्न कहा है। इस सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला सात्त्विक वृत्तियों की वृद्धि से सोम की रक्षा सुगमता से कर पाता है।

भावार्थ—हम उस अन्न का सेवन करें जो सुख-प्रीति-विवर्धक हो तथा बल को बढ़ानेवाला हो। यही अन्न हमें सोम के पान के योग्य बनाते हैं और हमारा जीवन आनन्दमय व शक्तिसम्पन्न बनता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अनभिद्रोह

मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः। ईशानो यवया वधम्॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! गतमन्त्र के अनुसार तू सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से सोम का रक्षण करनेवाला बनकर प्रयत्न कर कि **मर्ताः**=विषयों के पीछे मरनेवाले मनुष्य **नः**=हमारे **तनूनाम्**=इन शरीरों के **मा अभिद्रुहन्**=हनन करने की इच्छा न करें (द्रुह्=जिघांसा), मनुष्य विषयों के प्रति लालायित होता है और ये भोगविलास उसके शरीर को रोगों का घर बनाकर नष्ट कर देते हैं। सो हम मर्त न बनें, विषयों के पीछे न मरें, इनकी आपातरमणीयता (Brightness only in appearance) को समझकर इनमें न फँसें और इनसे ऊपर उठें। २. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले जीव! तू **ईशानः**=इन्द्रियों का मालिक, नकि दास बनता हुआ **वधम् यवया**=वध को अपने से दूर कर। वध को, विषयों का शिकार बन जाने को, दूर करने का उपाय एक ही है कि—हम 'ईशान' बनें, जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रियता के लिए हम सदा 'गिर्वणः' ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले हों। इनसे हमें विषयों की तुच्छता का आभास मिलेगा। हम विषयों के पीछे न मरेंगे और प्रभु से दिये गये इन शरीरों की सम्यक्तया रक्षा कर पाएँगे। ये शरीर 'देव-मन्दिर' हैं, 'ऋषियों के आश्रम' हैं। इन्हें पवित्र व सुरक्षित रखना हमारा कर्तव्य है।

भावार्थ—हम स्वाध्यायशील व जितेन्द्रिय (गिर्वणः-ईशानः) बनकर विषयों से ऊपर उठें और प्रभु से दिये गये इन शरीरों को असमय में ही नष्ट न होने दें।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ मिलकर प्रभु का गायन करने के निर्देश से होता है (१), वे प्रभु ही पालकों के पालक हैं (३), प्रभु के हृदयस्थ होने पर कामादि शत्रु हमारी इन्द्रियों को आक्रान्त नहीं कर सकते (४), इस प्रकार प्रभु-स्तवन सोम के रक्षण में सहायक

होता है। सोम-रक्षण करनेवाले को सात्त्विक अन्न को ही सेवन करना है (९), और ईशान=इन्द्रियों का स्वामी बनकर उसे शरीरों को असमय में नष्ट नहीं होने देना (१०)। इन सुरक्षित शरीरों को (शरीर, मन व बुद्धि को) हम किन कार्यों में लगाएँ? इस जिज्ञासा का उत्तर अगले सूक्त में देते हैं—

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्यादि के ज्ञान में मन का लगाना

यु॒ञ्जन्ति॑ ब्र॒ध्नम॑रु॒षं चर॑न्तं॒ परि॑ त॒स्थुषः॑। रोच॑न्ते रोच॒ना दि॒वि॥ १ ॥

१. गतमन्त्र में ईशान बनने के लिए कहा था। ईशान बनने के लिए, अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकने के लिए ये अभ्यासी लोग अपने मन आदि को **ब्रध्नं युञ्जन्ति**=ब्रध्न में लगाते हैं। [**'असौ वा आदित्यो ब्रध्नः'** (ब्रा०) आदित्य व सूर्य ही ब्रध्न है] ये अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को सूर्य के अध्ययन में लगाते हैं, सूर्य का विज्ञान प्राप्त करके जहाँ सूर्य से उचित लाभ प्राप्त करते हैं वहाँ सूर्य में प्रभु की महिमा को भी देखते हैं। २. **अरुषं युञ्जन्ति** (अग्निर्वा अरुषः)=ये अपने मन को अग्नि में लगाते हैं। अग्नि के विज्ञान में लगा हुआ मन प्रसंगवश विषयों में जाने से बचा रहता है और अग्नि का ठीक उपयोग करता हुआ यह अग्निविद्यावित् पुरुष अग्नि में प्रभु-माहात्म्य का दर्शन करता है। ३. **चरन्तं** (युञ्जन्ति), (वायुर्वै चरन्)=ये अपने मनों को वायु के ज्ञान की प्राप्ति में लगाते हैं। वायु का ज्ञान इनके स्वास्थ्य को पुष्ट करता है और इन्हें प्रभु की महिमा का स्मरण कराता है। ४. **परितस्थुषः** (युञ्जन्ति), **'इमे वै लोकाः परितस्थुषः'**=यह मधुच्छन्दा अपने मन आदि को विषयों में जाने से रोकने के लिए इन लोकों के ज्ञान की प्राप्ति में लगाता है। अग्निदेवता का स्थान यह 'पृथिवीलोक' है, वायुदेवता का स्थान 'अन्तरिक्षलोक' है और सूर्यदेवता का स्थान 'द्युलोक' है। एक ज्ञानी पुरुष जहाँ सूर्य, अग्नि व वायु के ज्ञान की प्राप्ति का ध्यान करता है वहाँ वह इनके अधिष्ठानभूत लोकों का भी ज्ञान प्राप्त करता है। इस ज्ञान में लगा रहकर उसका मन विषयों में नहीं जाता। ५. अन्त में यह अपने मन आदि को **रोचना ('नक्षत्राणि वै रोचना दिवि')**=इन देदीप्यमान नक्षत्रों में लगाता है जो नक्षत्र **दिवि रोचन्ते**=द्युलोक में चमकते हैं। ये आकाश को आच्छादित करनेवाले (व्राः) तारे उस प्रभु का ही स्तवन कर रहे हैं (अभ्यनूषत)। इन तारों के प्रकाश में प्रभु का प्रकाश दिखता है। इस प्रकार यह ज्ञानी ज्ञानप्राप्ति में लगा हुआ जहाँ सूर्य, अग्नि, वायु, द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व नक्षत्रों में प्रभु की महिमा को देखकर प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है वहाँ इन्द्रियों का ईशान भी बना रहता है। इसका मन विषयों में जाने से बचा रहता है।

भावार्थ—हम अपने मनों को सूर्यादि प्रभु की विभूतियों के ज्ञान के प्राप्त करने में लगाये रक्खें ताकि वे विषय-प्रवण हों ही न।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रथ-योजन

यु॒ञ्जन्त्य॑स्य॒ काम्या॒ हरी॒ विप॑क्षसा॒ रथे॑। शोणा॑ धृ॒ष्णू नृ॒वाह॑सा॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो व्यक्ति मन आदि को सूर्यादि के ज्ञान की प्राप्ति में लगाते

हैं, वे इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाले होते हैं और वे इन **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **रथे**=शरीररूप रथ में **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। वे इन इन्द्रियरूप घोड़ों को सदा चरने के लिए ही खुला नहीं छोड़े रखते, अर्थात् 'इन्द्रियाँ विषयों में ही चरती रहें' ऐसा नहीं होता। २. इनकी ये इन्द्रियाँ **अस्य काम्या**=इस प्रभु की प्राप्ति की कामनावाली होती हैं। उनका लक्ष्य प्रभु तक पहुँचना होता है। ३. **विपक्षसा** (पक्ष परिग्रहे)=ये इन्द्रियरूप घोड़े विशिष्ट परिग्रहवाले होते हैं। इन्होंने एक विशेष लक्ष्य स्वीकार किया होता है। उस लक्ष्य तक तो इन्हें पहुँचना ही है, अतः ये विषयों के चरने में ही समय को कैसे विनष्ट कर सकते हैं? ४. विशिष्ट उद्देश्य के कारण **शोणा**=ये तेजस्वी होते हैं। इनकी तेजस्विता इनके रक्तवर्ण में प्रकट हो रही होती है। ५. **धृष्णु**=ये शत्रुओं का धर्षण करनेवाले होते हैं, मार्ग में आये विघ्नों को दूर करके ये सदा आगे बढ़ते चलते हैं। ६. **नृवाहसा**=ये अपने को आगे ले-चलनेवाले मनुष्यों को (नृ) लक्ष्यस्थान तक पहुँचानेवाले होते हैं। मनुष्य में अग्रगति की भावना हो। फिर इस मनुष्य की इन्द्रियाँ विषयों में न भटककर आगे और आगे बढ़ती चलती हैं।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियरूप अश्व विषयों को चरते न रहकर रथ में जुतकर हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-भक्त के तीन लक्षण

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ ३ ॥

१. जो व्यक्ति इन्द्रियों को शरीर-रथ में जोतकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलता है (अस्य काम्या ६. २) वह **अकेतवे**=ज्ञानरहित के लिए **केतुं कृण्वन्**=ज्ञान को करनेवाला बनता है, अर्थात् ज्ञानप्रसार को यह अपने जीवन का ध्येय बना लेता है। २. हे **मर्याः**= मनुष्यो! यह प्रभुभक्त **अपेशसे** (पेशस् brightness, lustre)=न दीप्तिवाले के लिए **पेशः**=दीप्ति को **कृण्वन्**=करता हुआ होता है। उन्हें स्वास्थ्य का ज्ञान देकर स्वास्थ्य की दीप्ति प्राप्त कराता है और पारस्परिक व्यवहार के तरीकों को समझकर पारस्परिक प्रेम की वृद्धि के द्वारा और संघर्षों की कमी के द्वारा भी उनकी दीप्ति को यह बढ़ानेवाला होता है। ३. यह सदा **उषद्भिः**=उषःकालों के साथ ही **सम् अजायथाः**=(जन् to rise, spring up) उठ खड़ा होता है। उषःकाल में यह सोया नहीं रह जाता। इसे यह अच्छी प्रकार पता है कि प्रातः सोये हुओं के तेज को उदय होता हुआ सूर्य हर लेता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति १. अज्ञानियों को ज्ञान देता है, २. प्रसाद व दीप्ति से रहितों को दीप्ति प्राप्त कराने का प्रयत्न करता है, ३. सदा उषःकाल में उठ खड़ा होता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-नामस्मरण

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम् ॥ ४ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित जीवन को बितानेवाले व्यक्ति **आत्**=इसके बाद **अह**=ही (अनन्तरमेव सा०) उषःकाल में उठे और उठते ही **स्वधाम् अनु** (स्व+धा)=आत्मतत्त्व को धारण करने का लक्ष्य करके **पुनः**=फिर **गर्भत्वम्**=उस प्रभु के गर्भ में होने की भावना को

एरिरे=अपने में प्रेरित करते हैं, (अर्थात् इस प्रकार चिन्तन करने लगते हैं कि **'अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि'**=हे अमृत परमात्मन्! आप ही हमारे उपस्तरण हो और आप ही हमारे अपिधान हो, आप ही हमारे सब ओर हो, हम आपकी अमृत-गोद में छिपे हुए हैं, उसी प्रकार जैसे कि माता की गोद में शिशु। आपसे रक्षित हमें भय ही किस बात का? इस स्थिति में न तो हमें रोग सता सकते हैं और न ही काम-क्रोध आदि आक्रान्त कर सकते हैं। २. हम तो **यज्ञियम् नाम**=आपके पवित्र नाम को **दधानाः**=धारण किये हुए हैं। सदा आपके नाम का जप करते हैं और यह नाम का जप व उसका चिन्तान हमें शान्त, सशक्त व पवित्र बनाये रखता है।

भावार्थ—हम उठते ही आत्मतत्त्व को धारण करने के लिए इस भावना को अपने में प्रेरित करें कि हम प्रभु की अमृतमयी गोद में हैं और उस प्रभु के पवित्र नाम का जप व अर्थचिन्तन करने में अपने अवकाश को बिताने का ध्यान करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**मरुत इन्द्रश्च**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वासना-विनाश

वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः। अविन्द उस्रिया अनु॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपने मन को वश में करने के लिए और उस मन को 'प्रभु-नामस्मरण' में लगाने के लिए आवश्यक है कि हम प्राणसाधना करें। यह प्राणसाधना ही चित्तवृतिनिरोध का एकमात्र साधन है। जब जीवात्मा काम-क्रोध-लोभ आदि वृत्तियों के साथ संग्राम कर रहा होता है तब वह स्वयं 'इन्द्र' कहलाता है। वह इस युद्ध में सेनापति होता है और प्राण=मरुत् होते हैं इस इन्द्र के सैनिक। इन्द्र ने इन मरुतों के द्वारा विजय प्राप्त करनी है। ये मरुत् इन कामादि प्रबलतम भावनाओं को भी नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले होते हैं। ये वासनाएँ कहीं भी हृदयगुहा में छिपी हों, मरुत् उन्हें नष्ट करते ही हैं। इन वासनाओं के नष्ट होने पर हृदय में प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है। २. मन्त्र में इसी अर्थ का प्रतिपादन इन शब्दों में हुआ है कि—हे **इन्द्र**=इन्द्रियों को वश में करने के लिए यत्नशील जीव! **वीळुचित्**=अत्यन्त प्रबल भी **गुहाचित्**=कहीं हृदय-गुहा में छिपकर बैठी हुई भी इन वासनाओं को **आरुजत्नुभिः**=सब प्रकार से पूर्णतया नष्ट करनेवाले और इस प्रकार **वह्निभिः**=लक्ष्य-स्थान तक ले-जानेवाले इन मरुतों (प्राणों) से युक्त होकर तू **उस्रियाः**= ज्ञानरश्मियों (Light) को **अन्वविन्दः**=प्राप्त करता है। ३. यहाँ मन्त्र में 'मरुत्' शब्द नहीं पढ़ा गया। मन्त्र का देवता 'मरुतः' है, अतः मरुत् का ग्रहण आवश्यक ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, हृदयान्धकार दूर होता है और प्रकाश का प्रसार हो जाता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-स्तवन

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः। महामनूषत श्रुतम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रकाश को देखनेवाले व्यक्ति **देवयन्तः** (देवमात्मन इच्छन्तः)=उस प्रभु को प्राप्त करने की कामनावाले **गिरः** (स्तोतारः)=स्तोता लोग **यथामतिम्**=यथार्थ ज्ञानवाले **विदद्वसुम्**=सब वसुओं, निवास के लिए आवश्यक वसुओं के प्राप्त करानेवाले **महाम्**=सर्वमहान् **श्रुतम्**=सर्वज्ञत्वादि गुणों से प्रसिद्ध प्रभु को **अच्छ**=लक्ष्य करके **अनूषत**=स्तवन करते हैं। २.

प्रभु के स्तवन से प्रभु के उस-उस गुण में रुचिवाले होकर हम भी उन गुणों को धारण करनेवाले बनते हैं और इस प्रकार दिव्यगुणों को अपनाते हुए हम उस देव के अधिकाधिक समीप होते जाते हैं। ३. हम इस जीवन में यह अनुभव कर पाते हैं कि हम पुरुषार्थ में कमी न आने दें तो प्रभु हमें निवास के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते ही हैं। ४. जितना-जितना उस प्रभु का व प्रभु से बनाई गई इस सृष्टि का हम चिन्तन करते हैं, हमें प्रभु उतने ही अधिक महान् प्रतीत होते हैं। हमें इस सृष्टि में उनकी सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता का आभास मिलने लगता है। इसप्रकार हम प्रभु के अधिक समीप हो जाते हैं, हमें कण-कण में उनकी सत्ता दिखने लगती है और हम हृदयस्थ उस प्रभु से प्रकाश प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**मरुत इन्द्रश्च**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आनन्द व दीप्ति

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे सञ्जग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार निरन्तर प्रभु-स्तवन से तू **अबिभ्युषा**=भय के लवलेश से भी शून्य **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **संजग्मानः**=मेल को प्राप्त होता हुआ **हि**=निश्चय से **संदृक्षसे**=प्रभु की उपासना में उन्नत होता चलता है। २. यह स्वाभाविक ही है कि उस भीतिरहित प्रभु से मेल होने के कारण तेरा जीवन भी भय से मुक्त हो जाए तथा उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का सान्निध्य तुझे भी ऐश्वर्यशाली बना दे। ३. इस प्रकार निर्भय व ऐश्वर्यसम्पन्न होने पर उस प्रभु की समीपता में दोनों ही **मन्दू**=सदा प्रसन्न दिखते हो। प्रभु तो सदा आनन्दमय हैं ही, जीव भी प्रभु के सान्निध्य में आनन्दमय प्रतीत होता है, निर्भयता में ही आनन्द है। ४. प्रभु की समीपता होने पर तुम दोनों **समानवर्चसा**=तुल्य दीप्तिवाले दिखते हो, जैसे होता अग्नि-सान्निध्य में अग्नि-जैसा हो जाता है उसी प्रकार जीव प्रभु के सान्निध्य में प्रभु-जैसा हो जाता है। इनका ऐश्वर्य वेदान्तदर्शन के शब्दों में परमात्मा-जैसा ही हो जाता है। बस, इतनी ही तो कमी रह जाती है कि ये नयी सृष्टि का निर्माण नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभु-सान्निध्य से हम भीति-रहित, ऐश्वर्यसम्पन्न होकर प्रभु-जैसे ही हो जाएँगे और आनन्दमय व प्रभु-तुल्य दीप्तिवाले दिखेंगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सहस्युक्त अर्चन

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति। गणैरिन्द्रस्य काम्यैः॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना करनेवाला **मखः** (मख गतौ)=गतिशील, कर्मशील पुरुष मरुतों (प्राणों) के साथ उस प्रभु की **सहस्वत्**= (बलोपेतं यथास्यात्तथा) सबल **अर्चति**=अर्चना करता है। प्रभु की अर्चना की वस्तुतः पहचान ही यह है कि उपासक में 'सहस्' की उत्पत्ति हुई या नहीं, प्रभु 'सहोऽसि' सहस् के पुञ्ज हैं, उनके उपासक में सहस् की उत्पत्ति होनी ही चाहिए। २. जिन प्राणों की साधना करता हुआ इन्द्र प्रभु की अर्चना करता है, वे प्राण **अनवद्यैः**=अवद्य=निन्दा व पाप से रहित हैं। सामान्यतः प्राणसाधन से वासनाओं का विनाश होता है और परिणामतः मानवजीवन में पाप नहीं होते। ३. **अभिद्युभिः**=ये प्राण आकाश (द्यु) की ओर ले-जानेवाले हैं। वासनाविनाश का यह परिणाम स्वाभाविक है। वासना 'वृत्र'

है, ज्ञान पर परदे के रूप में है। परदा हटा और ज्ञान का प्रकाश हुआ। ४. **गणैः** (गण संख्याने)=ये प्राण गण हैं, संख्यान के योग्य हैं, प्रशंसनीय हैं, (गण to praise) और **इन्द्रस्य काम्यैः**=जीवात्मा के चाहने योग्य हैं। चाहनेयोग्य प्राण तो वही हैं जो मनुष्य को उत्तम जीवनवाला बनने में सहायक होते हैं, जो उसे उत्कर्ष की ओर ले-जाते हुए परमात्मा से मिलानेवाले हैं। ५. इस प्रकार प्राणसाधना के साथ जीवन में चलनेवाला व्यक्ति पवित्र कर्मोंवाला होता हुआ यज्ञशील होता है। वह यज्ञरूप हो जाता है। इसी से प्रस्तुत में उसे 'मखः' कहा गया है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवनवाले बनकर हम प्राण-साधना द्वारा प्रभु का अर्चन करें और प्रभु के 'सहस्' से सहस्वान् बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सर्वव्यापक प्रभु में

अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि। समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ९ ॥

१. गतमन्त्र का आराधक आराधना करते हुए प्रभु से कहता है कि—**परिज्मन्**=हे चारों ओर गये हुए=सर्वव्यापिन्! **आगहि**=आप हमें प्राप्त होओ। **अतः**=इस पृथिवीलोक से **दिवः वा**=या द्युलोक से तथा **रोचनात् अधि**=इस चन्द्र व विद्युत् की दीप्तिवाले अन्तरिक्ष से **आगहि**=आप हमें प्राप्त होओ, अर्थात् पृथिवीस्थ अग्नि आदि देवों का चिन्तन करता हुआ मैं उन देवों में आपसे स्थापित किये गये देवता का दर्शन करूँ। इसी प्रकार अन्तरिक्ष के देवों में मैं आपकी महिमा को देखूँ तथा द्युलोक के देवों में मुझे आपका प्रकाश मिले। मैं सर्वत्र आपकी महिमा का दर्शन करूँ। मुझे पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक सभी स्थानों से आप प्राप्त हों। २. इस प्रकार प्रभु की महिमा देखनेवाले **गिरः**=(स्तोतारः) स्तोता लोग **अस्मिन्**=इस परमात्मा में **समृञ्जते**=अपने जीवन को सुभूषित करते हैं (ऋज to decorate), उस परमात्मा का स्तवन करते हुए ये स्तोता अपने जीवन को उस प्रभु के अनुरूप बनाने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार इनका जीवन अधिक और अधिक सुन्दर बनता चलता है।

भावार्थ—उस सर्वव्यापी प्रभु की महिमा को हम प्रत्येक लोक में देखें। सदा अपने को उस प्रभु में स्थित देखते हुए ये प्रभु-स्तवन करते हैं और अपने जीवन को गुणालंकृत करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

त्रिलोकी का धन

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि। इन्द्रं महो वा रजसः ॥ १० ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सब लोकों में प्रभु की महिमा को देखता हुआ भक्त कहता है कि—हम **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **इतः पार्थिवात् अधि सातिम्**=इस पार्थिव लोक से धनदान को **ईमहे**=माँगते हैं। वे प्रभु हमें इस पार्थिव लोक के धन को देनेवाले हों। पार्थिव लोक का धन 'इस पृथिवीरूप शरीर की दृढ़ता' ही है। (सो हम चाहते हैं कि प्रभुकृपा से हमारा शरीर वज्रतुल्य हो **'अश्मा भवतु नस्तनूः'** अथवा **'इत्थं वज्रमाददे'**=हमारा शरीर पत्थर की तरह दृढ़ हो अथवा उत्तम भोजन व व्यायाम के द्वारा हम शरीर को वज्रतुल्य बनाएँ।) २. हम उस प्रभु से **दिवःवा**=द्युलोक का धन माँगते हैं। द्युलोक का धन दीप्ति है। हमारा मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान से दीप्त हो। द्युलोक में सूर्य चमकता है हमारे मस्तिष्क

में भी ज्ञान का सूर्य चमके। ३. हम **महो वा रजसः**=इस महान् अन्तरिक्ष से धनदान माँगते हैं, जैसे अन्तरिक्ष चन्द्र की शीतल किरणों से ज्योत्स्नामय हो रहा है उसी प्रकार हमारा हृदयान्तरिक्ष प्रेम की स्निग्धभावना से शीतल रस को प्रवाहित करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभुभक्त चाहता है कि उसका शरीर दृढ़ हो, मस्तिष्क उज्ज्वल हो तथा हृदय प्रेम की स्निग्ध-भावना से पूर्ण हो।

विशेष—इस छठे सूक्त का प्रारम्भ मन को सूर्यादि के ज्ञान की प्राप्ति में लगाकर विषयों में जाने से रोकने के साथ होता है (१)। यह मनस्वी पुरुष ज्ञान के प्रकाश को तथा सौन्दर्य को फैलाता हुआ प्रातःकाल उठता है (२)। और अपने को सदा प्रभु-गर्भ में अनुभव करता हुआ प्रभु के पवित्र नाम का स्मरण करता है (३)। वासनाओं को प्राण-निरोध द्वारा नष्ट करता हुआ यह प्रकाश की किरणों को देखता है (४)। प्रभु-स्तवन करता हुआ, प्रभु से संगत होकर, प्रभु के समान आनन्दमय व दीप्तियुक्त यह दिखता है (५)। प्रभु की अर्चना करता है और चाहता है कि प्रभु-कृपा से उसे शरीर, मस्तिष्क व हृदय का धन प्राप्त हो (६)। इन धनों की प्राप्ति के लिए ही 'ऋग्-यजु-साम-वाणियों से प्रभु की अर्चना करता है, इस भावना के साथ सातवाँ सूक्त प्रारम्भ होता है—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'ऋग्-यजुः-साम' द्वारा उपासन

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत॥ १॥

१. **गाथिनः**=गीयमान (गाये जानेवाले) साम-मन्त्रों से युक्त प्रभु के उद्गाता **इत्**=निश्चय से **इन्द्रम्**=उस शत्रुओं का विदारण करनेवाले, परमैश्वर्यसम्पन्न प्रभु का **बृहत्**=खूब ही **अनूषत**=स्तवन करते हैं। साममन्त्रों से प्रभु का स्तवन करते हुए ये भक्त अपने हृदयों को साम (शान्ति) से युक्त करनेवाले होते हैं। २. **आर्किणः**=ऋग्रूप मन्त्रों से युक्त प्रभु के होता **अर्केभिः**=ऋग्रूप मन्त्रों से उसी **इन्द्रम्**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले इन्द्र का खूब स्तवन करते हैं। ऋचाओं से प्रभु का स्तवन करते हुए ये होता अपने मस्तिष्क में ऋग्-विज्ञान को भरनेवाले होते हैं। ३. अध्वर्यु लोग **इन्द्रम्**=उस सब बलयुक्त कर्मों को करनेवाले प्रभु को ही **वाणीः** (वाणाभिः तृतीयार्थे प्रथमा)=यजूरूप वाणियों से **अनूषत**=स्तुति करते हैं। इन यजू-रूप वाणियों से प्रभु का स्तवन करते हुए ये अध्वर्यु लोग अपने हाथों से यज्ञात्मक कर्मों को ही करते हैं। ये यज्ञात्मक कर्म इन्हें सबल बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—गाथी साममन्त्रों से, अर्की ऋग्रूप मन्त्रों से तथा अध्वर्यु यजुर्वाणियों से उस इन्द्र का ही स्तवन करते हैं। इससे इनके मनों में शान्ति, मस्तिष्क में दीप्त व हाथों में यज्ञात्मक उत्तम कर्म व कर्म द्वारा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वज्री हिरण्ययः

इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का स्तवन करने पर **इन्द्रः**=शत्रुओं का विदारण

करनेवाला जीव **इत्**=निश्चय से **वचोयुजा** (वचोयुजा-वचसा युज्येते इति)=वेद के निर्देश के अनुसार कार्यों में व्यापृत होनेवाले **हर्योः**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों का **सचा**=समवेत करनेवाला होता है (षच समवाये), इनके साथ-साथ चलता है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ जैसा ज्ञान देती हैं कर्मेन्द्रियाँ उसी प्रकार कार्य करती हैं। इनका परस्पर विरोध नहीं होता ('**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः**'=मैं धर्म को जानता तो हूँ, परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती' ऐसा उसे नहीं कहना पड़ता। ज्ञान के अनुसार ही उसके सारे कार्य होते हैं)। २. इस प्रकार निज जीवन में ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का समन्वय करके चलता हुआ यह 'मधुच्छन्दाः' **आ, संमिश्लः**=समाज में सब ओर उत्तमता से मेल करनेवाला होता है, किसी से इसका वैर-विरोध नहीं होता। ३. **इन्द्रः**=वह जितेन्द्रिय पुरुष **वज्री**=शरीर में वज्रतुल्य दृढ़तावाला होता है और **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला होता है। 'दृढ़ शरीर' व 'दीप्तमस्तिष्क' बनकर यह आदर्शपुरुष बनने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना का जीवन में यह परिणाम दिखता है—१. ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का परस्पर समन्वय, ज्ञान के अनुसार कर्म करना। २. समाज में उचित मेल से चलना। ३. दृढ़ शरीर होना। ४. दीप्तमस्तिष्क बनना।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य व मेघ

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत्॥ ३॥

१. प्रभु का उपासक प्रभु के उपकारों का स्मरण करता हुआ कहता है कि **इन्द्रः**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभु ने **दीर्घाय चक्षसे**=दीर्घ दृष्टि के लिए, दूर-दूर तक आँख का व्यापार हो सकने के लिए **सूर्यम्**=सूर्य को **दिवि**=द्युलोक में **आरोहयत्**=आरूढ़ किया। द्युलोक का मुख्य देव सूर्य है। यह सारे जगत् को प्रकाशित करता है। इसी प्रकाश में आँख अपने व्यापार करने में समर्थ होती है। २. उस प्रभु ने ही **गोभिः**=जलों के हेतु से **अद्रिम्**=मेघ को **वि ऐरयत्**=विशेष रूप से प्रेरित किया है। यदि मेघों की व्यवस्था न होती तो सारा पानी समुद्र तक पहुँचकर मनुष्य के लिए दुर्लभ हो जाता। मेघों द्वारा यह पानी फिर से पर्वतशिखरों पर पहुँचकर नदियों के रूप में प्रवाहित होता है और भूमि की सिंचाई के लिए उपयुक्त होकर अन्न की उत्पत्ति का कारण बनता है। एवं, प्रभु के अनन्त उपकारों में 'द्युलोक में सूर्य का स्थापन' और 'अन्तरिक्ष में मेघों का निर्माण' ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ३. अध्यात्म में जीव को भी चाहिए कि अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-सूर्य को उदित करे और हृदयान्तरिक्ष में प्रेम के मेघ को उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील हो। जैसे सूर्य से पार्थिव जल अन्तरिक्ष में पहुँचता है और मेघरूप हो सबपर बरसता है, उसी प्रकार अध्यात्म में ज्ञान-सूर्य से पार्थिव वस्तुओं के प्रति होनेवाला प्रेम हृदय-अन्तरिक्ष में पहुँचकर फिर से सब प्राणियों के लिए बरसने लगता है।

भावार्थ—द्युलोक का सूर्य तथा अन्तरिक्षलोक के मेघ, ये परमेश्वर की महान् विभूतियाँ हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वाज व सहस्रप्रधन

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः॥ ४॥

१. वैदिक साहित्य में छोटे युद्ध 'वाज' कहलाते हैं तथा बड़े 'सहस्रप्रधन' कहे जाते हैं। संसार में शक्ति की प्राप्ति के लिए जो संग्राम होता है वह 'वाज' है और अध्यात्म-जीवन को सुन्दर बनाने के लिए काम, क्रोध, लोभादि के साथ होनेवाला युद्ध 'सहस्रप्रधन' है। प्रभु से भक्त प्रार्थना करते हैं कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें वाजेषु=धनादि की प्राप्ति के निमित्त होनेवाले इन संग्रामों में **अव**=सुरक्षित करिए। आपकी कृपा से हम धनों का विजय करके अभ्युदयशाली बनें। २. आप हमें अध्यात्म-संग्रामों में **च**=भी जोकि **सहस्रप्रधनेषु**= (स+हस्+प्र+धन) आनन्दयुक्त प्रकृष्ट धनों की प्राप्ति के कारणभूत हैं, जिनमें विजयी बनकर हम मन को वशीभूत (दमन) करके काम के स्थान में प्रेम को प्राप्त करते हैं, क्रोध का स्थान 'दया' को देते हैं और लोभ का स्थान 'दान' ले लेता है, उन सहस्रप्रधनों में भी आप हमारी रक्षा करिए। ३. हे **उग्र**=तेजस्वी प्रभो! आप **उग्राभिः ऊतिभिः**=अपने तेजपूर्ण, प्रबल रक्षणों से इन युद्धों में हमें विजयी बनाइए। विजय तो आपको ही करनी है, हम अकेले इन कामादि को क्या जीतेंगे?

भावार्थ—प्रभु-कृपा से वाजों में विजयी बनकर हम अभ्युदय को प्राप्त करें और सहस्रप्रधनों में भी विजयी होकर निःश्रेयस की साधना करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

महाधन व अर्भ

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे। युजं वृत्रेषु वज्रिणम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र का 'सहस्रप्रधन' यहाँ 'महाधन' है और गतमन्त्र का 'वाज' यहाँ 'अर्भ' कहा गया है। **इन्द्रम्**=उस सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले, परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **वयम्**=हम **महाधने**='दमन-दया-दान' रूप महाधनों की प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु-कृपा से ही मैं काम को जीतकर मन को शान्त करूँगा, उसी की कृपा से मैं क्रोध को जीतकर दया को अपनाऊँगा और लोभ को जीतकर दान की वृत्तिवाला भी तो प्रभु की कृपा से ही बनूँगा। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **अर्भे**=छोटे धनों के निमित्त अर्थात् इन सांसारिक धनों की प्राप्ति के निमित्त हम **हवामहे**=प्रार्थना करते हैं। इन सब धनों के स्वामी भी तो वे प्रभु ही हैं। ३. **युजम्**=हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो सदा हमारा साथ देनेवाले हैं। संसार में अन्य मित्र साथ छोड़ भी जाएँगे तो भी ये प्रभु हमारे साथ होंगे। वे सदा हमारे 'युज्' हैं और प्रभु **वृत्रेषु**=हमारे ज्ञान पर परदा डालनेवाली वासनाओं पर **वज्रिणम्**=वज्र का प्रहार करनेवाले हैं, अर्थात् प्रभु-स्मरण से हमारी वासनाएँ नष्ट होंगी और हमारा ज्ञान दीप्त होगा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें अध्यात्मसम्पत्ति व बाह्य समृद्धि दोनों ही प्राप्त हों। प्रभु हमारे सतत सखा हैं, उन्हीं की कृपा से हमारी वासनाएँ नष्ट होती हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

चरु का अपावरण

स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि। अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः॥ ६॥

१. **सः**=वे आप, जोकि 'वाज व सहस्रप्रधनों' में हमें विजय प्राप्त कराते हैं (४), जो 'महाधन व अल्पधनों'=सम्पत्ति व समृद्धि के देनेवाले हैं (५), **नः**=हमारे लिए हे **वृषन्**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभो! हे **सत्रादावन्**=सदा, सब इष्ट-धनों को साथ ही देनेवाले प्रभो!

अमुं चरुम्=उस अपने ज्ञान के कोश को **अपावृधि**=खोलिए। 'ब्रह्मचर्य' शब्द में ब्रह्म=ज्ञान के चर=भक्षण का संकेत है। आचार्य विविध विषयों के ज्ञान का चरण=भक्षण कराते हैं। जिसका चरण=भक्षण किया जाए वह ज्ञान 'चरु' है। इसका अपावरण, इसका प्रकट करना है (Exposition)। **'यस्मात् कोशादुदभराम वेदम्'**—इन शब्दों में वेद ज्ञान का कोश है, इस कोश को प्रभु-कृपा से हम खोल पाएँगे तभी अपने ज्ञान का विस्तार कर पाएँगे। २. हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए आप **अप्रतिष्कुतः**=प्रतिशब्द से रहित हों, आप हमारे लिए 'न' इस शब्द का तो उच्चारण कीजिए ही नहीं, अर्थात् हमारी प्रार्थना सदा आपसे सुनी जाए। प्रभो! आप तो 'सत्रा-दावन्' सदा देनेवाले हैं। हम सदा आपके दान के पात्र बनें।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारे लिए ज्ञान का कोष खुला तो हमारे सब मनोरथ पूर्ण हो ही जाएँगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अनन्त दान-सान्त स्तवन

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः। न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्॥ ७॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'सत्रादावन्' कहा है-सदा सब वस्तुओं के देनेवाले वे प्रभु हैं। **तुञ्जे तुञ्जे**=(दाने-दाने) उनके प्रत्येक दान के प्रसंग में, इस **वज्रिणः**=सदा क्रियाशील (वज् गतौ) अथवा वृत्रों पर वज्र का प्रहार करनेवाले, अर्थात् ज्ञान के आवरणभूत काम, क्रोध, लोभ को विनष्ट करनेवाले **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **ये**=जो **उत्तरे**=उत्कृष्ट **स्तोमाः**=स्तुतियाँ की जाती हैं, उन स्तुतियों से **अस्य**=इस प्रभु की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **न विन्धे**=(न विन्दामि) नहीं प्राप्त करता हूँ, अर्थात् कितने भी उत्कृष्ट मेरे स्तोम हों, वे प्रभु की स्तुति की समाप्ति को प्राप्त नहीं कर पाते, अर्थात् मैं कभी भी प्रभु की पूर्ण स्तुति नहीं कर सकता। २. प्रभु के दान अनन्त हैं, मेरी स्तुति तो सान्त ही होगी, अतः यह नहीं हो सकता कि मैं प्रभु के दानों की पूर्ण स्तुति कर सकूँ। प्रभु देते-देते नहीं हारते, मैं स्तुति करते हुए हार जाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु के दान अनन्त हैं। मैं प्रभु के इन दानों का पूर्णतया स्तवन कैसे कर सकता हूँ? मेरी शक्ति सीमित है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गौवें व गोपाल

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा। ईशानो अप्रतिष्कुतः॥ ८॥

१. वे प्रभु **वृषा**=शक्तिशाली हैं, सब प्रजाओं पर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। २. वे प्रभु हमें इस प्रकार प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे **यूथा**=(यूथानि) भेड़ों के झुण्डों को **वंसगः**=(वननीयगतिः) सुन्दर गतिवाला गडरिया प्राप्त होता है। प्रजाएँ बाइबिल के शब्दों में Sheep (भेड़) हैं और प्रभु Shepherd (चरवाहा)। सम्भवतः यह भावना वेद के इन्हीं शब्दों से गई होगी। ३. वे प्रभु **कृष्टीः**=श्रमशील, कृषि इत्यादि कार्यों में व्यापृत जीवों को **ओजसा**=ओज के हेतु से **इयर्ति**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् जब हम प्रभु के सान्निध्य को प्राप्त कर पाते हैं तब हम ओजस्विता का अनुभव करते हैं। ४. **ईशानः**=वे प्रभु ईशान हैं, सम्पूर्ण ऐश्वर्य के अधिष्ठाता हैं और साथ ही **अप्रतिष्कुतः**=प्रतिशब्द से रहित हैं, कभी 'न' करनेवाले नहीं हैं। प्रभु के दरबार में हमारी प्रार्थना अस्वीकृत होगी, ऐसी सम्भावना नहीं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

श्रम व धनप्राप्ति (चर्षणियों के लिए वसु)

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति। इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्॥ ९॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जो **एकः**=अकेले ही **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के तथा **वसूनाम्**=निवास के लिए सब आवश्यक धनों के **इरज्यति**=ईश हैं। प्रभु को अपने कार्यों के लिए किसी अन्य की सहायता नहीं लेनी होती। वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सब कार्यों को सदा स्वयं कर रहे हैं। २. प्रभु को यही बात प्रिय है कि 'मनुष्य श्रमशील हो'। चर्षणि, अर्थात् कर्षणि व कृषि आदि श्रमयुक्त कार्यों के करनेवाले व्यक्ति ही प्रभु की कृपा के पात्र होते हैं। इन्हें प्रभु सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं। यह भावना 'चर्षणीनां व वसूनां' शब्दों का साथ-साथ प्रयोग करके व्यक्त की जा रही है। ३. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **पञ्च**=पाँचों **क्षितीनाम्**=मनुष्यों के ईश हैं। मानव-समाज 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच वर्गों में विभक्त है। प्रभु सभी के ईश हैं, सभी का कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सब मनुष्यों के ईश हैं। श्रमशील पुरुषों के लिए वसु=धन प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु ही हमारे एकमात्र मित्र हों, 'असाधारण मित्र'

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः॥ १०॥

१. संसार में मनुष्य ही मनुष्य की सहायता करता है। सम्बन्धी एक-दूसरे के लिए सहायक होते हैं, परन्तु ये सब सम्बन्ध व सहायताएँ एक सीमा के बाद समाप्त हो जाती हैं। जब हमारा कोई भी सहायक नहीं रहता, उस समय प्रभु ही हमारे सहायक होते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि—**विश्वतः जनेभ्यः**=सब लोगों से **परि**=परे, अर्थात् जब संसार में कोई भी अन्य व्यक्ति हमारा साथी नहीं रह जाता तब **वः**=तुम सबके कल्याण के लिए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली पुरुष, परमात्मा को **हवामहे**=पुकारते हैं। जब सारा संसार हमारा साथ नहीं देता, तब भी प्रभु हमारे साथ होते हैं। २. ये प्रभु **अस्माकम्**=हमारे **केवलः**=असाधारण मित्र हों। हम सब संसार से अधिक प्रभु को चाहें—'**आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्**'=आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए हम सम्पूर्ण पृथिवी का त्याग कर सकें। एक ओर ब्रह्माण्ड के सब पदार्थ हों और दूसरी ओर 'आत्मतत्त्व' तो हम कठोपनिषद् के नचिकेता की तरह संसार के सब प्रलोभनों को छोड़ सकें और प्रभु का ही वरण करें। प्रभु मिलेंगे तो प्रकृति तो मिल ही जाएगी। विष्णु के हम अतिथि बनें तो लक्ष्मी हमें भोजन कराएगी ही। प्रभु के प्राप्त होने पर सब-कुछ प्राप्त हो जाएगा, अतः यही कामना सर्वश्रेष्ठ है कि-'**अस्माकमस्तु केवलः**'=बस हमें प्रभु प्राप्त हो जाएँ।

भावार्थ—जब हमारा कोई सहायक नहीं होता तब ये प्रभु हमारे सहायक होते हैं। बस, हम प्रभु-प्राप्ति की ही कामना करें।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ प्रभु-स्तवन से होता है (१)। द्युलोक में उदय होता हुआ सूर्य, बरसता हुआ मेघ, दोनों प्रभु की अद्भुत विभूतियाँ हैं (३)। प्रभु ही हमें विजयी बनाते हैं (४)। हमारे लिए ज्ञान का अपावरण करते हैं (६)। प्रभु के अनन्त दान हैं, हम उनकी स्तुतियाँ कहाँ कर सकते हैं (७)। ठीक बात तो यह है कि हम गौवें हैं और प्रभु हमारे

गोपाल हैं (८)। वे हमारा पालन करते हैं तथा सब वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं (९)। बस, प्रभु की ही कामना करनी ठीक है (१०)। 'वे प्रभु ही हमें वर्षिष्ठ (सर्वोत्तम) धन प्राप्त कराएँगे' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

अथ तृतीयोऽनुवाकः

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वर्षिष्ठ रयि

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर॥ १॥

१. **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **रयिम्**=धन को **आभर**=सब प्रकार से, सब उत्तम मार्गों से—कृषि, पशुपालन व वाणिज्य आदि उत्तम साधनों से प्राप्त कराइए। धन के बिना यह संसार चल नहीं सकता। इसमें छोटे-से-छोटा कार्य भी धन से ही साध्य होता है। यह ठीक है कि धन का आकर्षण इस प्रकार का हो जाता है कि हम इसके दास बन जाते हैं और अपने सब प्रकार के ह्रास का कारण हो जाते हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि वह धन २. **सानसिम्**=सम्भजनीय हो, समविभागपूर्वक सेवन के योग्य हो। हम सारे धन को स्वयं अपने भोगों में ही व्यय न कर दें, सबके साथ बाँटकर खाना सीखें। **'केवलाघो भवति केवलादी'** इस बात को हम न भूलें कि अकेले खानेवाला शुद्ध पाप को सेवन करता है। ३. **सजित्वानम्**=यह धन सदा जयशील हो, इस धन के द्वारा हम दारिद्र्य के कष्टों को दूर करनेवाले हों। घर में पोषण व वस्त्रादि की कमी न हो, उचित अन्नादि को प्राप्त कराके यह धन हमारे क्षुधादि रोगों को दूर करनेवाला हो, यह धन हमें आवश्यक भोजन के अभाव में क्षीणशक्तिवाला न होने दे। हमारी सांसारिक आवश्यकताओं का यह विजय करनेवाला हो। ४. **सदासहम्**=यह धन हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं का भी पराभव करनेवाला हो। हम धन के दास बनकर वासनाओं का शिकार न हो जाएँ। ५. **वर्षिष्ठम्**=यह धन अतिशयेन संवृद्ध हो। यह बढ़ा हुआ धन हमें बढ़ानेवाला हो, हमारे जीवन में सुखों की वर्षा करनेवाला हो। वस्तुतः पिछले मन्त्र के अन्तिम शब्दों में जब हम प्रभु को ही अपना असाधारण मित्र बनाएँगे तब 'वर्षिष्ठ' धन को प्राप्त करेंगे ही।

भावार्थ—प्रभु हमें 'सानसि, सजित्वा, सदासह, वर्षिष्ठ' धन को प्राप्त कराएँ। यह धन हामरा रक्षण करेगा।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

राष्ट्र-रक्षा के लिए धन-द्वारा पैदल व अश्वारोही सेना का संग्रह

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै। त्वोतासो न्यर्वता॥ २॥

१. धन का सबसे महत्त्वपूर्ण विनियोग 'राष्ट्ररक्षा' में होता है। इसे आदर्श स्थिति तो न कहना चाहिए, परन्तु वस्तुस्थिति यही है कि आधी राष्ट्रीय आय राष्ट्ररक्षा में ही व्ययित हो जाती है, अतः प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि उस 'वर्षिष्ठ रयि' को दीजिए, खूब बढ़े हुए धन को दीजिए **येन**=जिस धन के द्वारा एकत्र किये हुए पैदल सैनिकों के **नि**=नितरां, अत्यधिक **मुष्टिहत्यया**=(मुष्टिप्रहारेण) मुक्कों के प्रहार से **वृत्रा**=शत्रुओं को **नि रुणधामहै**=निरुद्ध कर

दें। २. और हे प्रभो! **त्वा**=आपसे **ऊतासः**=रक्षित हुए हम **अर्वता**=अपने घोड़ों से शत्रुओं को **नि** (रुणधामहै)=रोकनेवाले बनें अर्थात् हमारे राष्ट्रकोष में इतना धन हो कि हम पैदल सेना व अश्वसेना को समुचित संख्या में रख सकें और पदातियुद्ध व अश्वयुद्ध के द्वारा शत्रुओं का विनाश करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र को प्रभु वर्षिष्ठ=अतिप्रवृद्ध धन दें, ताकि अधिक संख्या में सेना के द्वारा शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा की जा सके।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दृढ़ शस्त्र

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ही प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हमें 'वर्षिष्ठ धन' को इसलिए प्राप्त कराइए कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! **त्वा**=आपसे **ऊतासः**=रक्षित किये गये **वयं**=हम **घना**=दृढ़ **वज्रम्**=अस्त्रों को **आददीमहि**=ले सकें। अस्त्रों को खरीदने के लिए हमारे राष्ट्रकोष में पर्याप्त धन हो। 'प्रकर्षशस्त्रा हि रणे जयश्रीः' युद्ध में जयश्री तो शस्त्रों की उत्कृष्टता पर ही आश्रित हैं। शस्त्र ही न होंगे तो सैनिक क्या कर लेगें? बिना उपकरण के कार्यसिद्धि नहीं होती। २. हे प्रभो! धन से उत्कृष्ट अस्त्रों का हम संग्रह करें और **युधि**=युद्ध में **स्पृधः**=स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को **संजयेम**=पूरी तरह जीत लें। विजय के लिए जहाँ सैनिकों की शक्ति व उत्साह का महत्त्व है, वहाँ शस्त्रास्त्र का भी उतना ही महत्त्व है। वास्तविकता तो यह है कि शस्त्रास्त्रों की उत्तमता सैनिकों की उत्साहवृद्धि का कारण बनती है। इन शस्त्रास्त्रों के खरीदने के लिए धन आवश्यक ही है।

भावार्थ—हमें इतना धन मिले कि हम उत्तम शस्त्रों का क्रय करके स्पर्धा करती हुई शत्रु-सेनाओं को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शत्रु-पराभव

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः ॥ ४ ॥

१. **वयं**=हम **शूरेभिः**=शूरवीर सैनिकों द्वारा **अस्तृभिः**=(असु क्षेपणे) जो अस्त्रों के फेंकने में अत्यन्त कुशल हैं, उन सैनिकों द्वारा, हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विदारण करनेवाले प्रभो! **त्वया युजा**=सहायभूत आपके साथ **वयं**=हम **पृतन्यतः**=सेना के द्वारा संग्राम की कामनावाले शत्रुओं को **सासह्याम**=पूर्ण रूप से पराभूत कर सकें। २. यहाँ मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि विजय के लिए (क) सैनिकों का वीर होना सर्वप्रमुख बात है (शूरेभिः), वे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हों (शृ हिंसायाम्) उनमें कायरता का नामोनिशान भी न हो। (ख) उनके पास अस्त्र-शस्त्रों की कमी न हो और साथ ही अस्त्रों के प्रयोग में वे प्रवीण हों (अस्तृभिः)। (ग) तीसरी बात यह है कि हमें प्रभु का साहाय्य प्राप्त हो (त्वया युजा), इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि हमारा पक्ष धर्म का हो, हम अन्याय्य बात को लेकर युद्ध के लिए न उतारू हो जाएँ। दुर्योधन का पक्ष अधर्म का था, इसीलिए उधर उत्साह व उमंग न थी। पाण्डव धर्मयुद्ध के लिए प्रवृत्त हुए, अब उनकी उत्साहपूर्ण शंखध्वनि ने कौरवों के दिलों को दहला दिया। ३. (घ) 'पृतन्यतः' शब्द से यह भावना भी व्यक्त हो रही है कि यथासम्भव

रक्षणात्मक युद्ध ही लड़ना ठीक है, आक्रमणात्मक युद्ध वेद को अभीष्ट नहीं। महाभारत में व्यास अर्जुन से गाण्डीव तब उठवाते हैं जबकि कौरवों ने अस्त्र-शस्त्राक्रमण शुरू कर दिया-'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः'। चाहिए तो यह था कि 'मेषुः पप्तद् इन्द्रस्यहन्यागते' सेनापति के दिन के आ जाने पर भी, अर्थात् रणांगण में दोनों सेनाओं के तैनात हो जाने पर भी बाण न गिरे, अर्थात् युद्ध को रोकने के लिए यत्न किया जाए। युद्ध तो विवशता की अवस्था में ही करना है।

भावार्थ—हम नाना शस्त्र-सञ्चालन में प्रवीण सैनिकों द्वारा प्रभु के आशीर्वाद से राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को पूर्णरूप से कुचल सकें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विस्तृत सैन्य

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे। द्यौर्न प्रथिना शवः॥ ५॥

१. **इन्द्र**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **महान्**=महान् हैं, महनीय और पूजनीय हैं। **नु च**=और **परः**=सर्वोत्कृष्ट हैं। उस प्रभु की महिमा अनन्त है, वे अनिर्वचनीय महिमावाले हैं, उनकी महिमा का वर्णन शब्दों से परे है। २. इसी प्रकार प्रभु-कृपा से हमारे राष्ट्र का **इन्द्रः**=मुख्य सेनापति भी **महान्**=शरीर से सशक्त तथा **परः**=गुणों से उत्कृष्ट हो। इस **वज्रिणे**=दृढ़ वज्रादि अस्त्रोंवाले सेनापति के लिए **महित्वम्**=दोनों प्रकार की महिमा व आधिक्य **अस्तु**=हो। (क) इसका शरीर सबल हो, (ख) गुणों से यह उत्कृष्ट हो (महान्+परः) अथवा इसके सैनिक शूर हों और अस्त्र चलाने में निपुण हों। ३. इसका **शवः**=सेनारूप बल भी **प्रथिना**=विस्तार से **द्यौः न**=द्युलोक के समान हो, अर्थात् जैसे द्युलोक विस्तृत है उसी प्रकार इसकी सेना भी विशाल हो। इस विशाल सेना से शत्रुओं के हृदय में भय का संचार करनेवाला हो और बिना युद्ध के ही समस्याओं को हल कर सकनेवाला हो।

भावार्थ—सेनापति सशक्त शरीरवाला वा वीरत्वादि गुणों से उत्कृष्ट हो। उसमें दोनों प्रकार का आधिक्य हो और उसका सैन्यबल विशाल हो।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धनप्राप्ति व बुद्धिवर्धन के संग्राम में विजय

समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ। विप्रासो वा धियायवः॥ ६॥

१. गतमन्त्रों में बारम्बार विजय की प्रार्थना है। विजय **वा**=या तो वे प्राप्त करते हैं **ये**=जो **समोहे**=संग्राम में उस (इन्द्रम्=) शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले प्रभु को **आशत**=स्तुति से व्याप्त करते हैं, अर्थात् जो निरन्तर प्रभु-स्मरण करते हुए संग्राम को जारी रखते हैं, वे अवश्य ही विजय प्राप्त करते हैं। गीता में अर्जुन को उपदेश दिया गया है कि-**'मामनुस्मर युध्य च'**, अर्थात् उस 'अस्मद्' शब्द वाच्य प्रभु का स्मरण कर और युद्ध करता चल, इस प्रकार तू अवश्य विजयी होगा। २. **तोकस्य**=(तु=पूर्ति, तौतिः पूरणार्थकः) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक धन की **सनितौ**=प्राप्ति में भी वे ही **नरः**=मनुष्य विजयी होते हैं **ये**=जो **आशत**=प्रभु को स्तुति से व्याप्त करते हैं। प्रभुस्मरणपूर्वक पुरुषार्थ करने पर **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'**=हम धनों के पति बनते ही हैं। प्रभु-विस्मरण होने पर धन के लिए किये गये प्रयत्न हमें चक्कर में डाल देते हैं। ३. **वा**=या **धियायवः**=प्रज्ञा की

कामनावाले वे ही **विप्रासः**=ब्राह्मण अपने बुद्धि व विज्ञान-प्राप्तिरूप कार्य में विजयी होते हैं **ये**=जोकि **आशत**=उस प्रभु को स्तुति से व्याप्त करते हैं, अर्थात् प्रभु-स्तवन करने पर ही बुद्धि भी पवित्र होती है और हमारे ज्ञान के वर्धन का कारण बनती है।

भावार्थ—क्षत्रिय संग्राम में, वैश्य धन-प्राप्ति में तथा ब्राह्मण प्रज्ञा-सम्पादन में प्रभु-स्तवन से ही विजय का लाभ करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम-पायी

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते। उर्वीरापो न काकुदः॥ ७॥

१. विजय-लाभ के लिए यह भी आवश्यक है कि हम सोमपान करनेवाले बनें। प्रभुस्तवन से वासना का क्षय होकर ही सोमपान सम्भव होता है और **यः कुक्षिः**=जो उदर **सोमपातमः**=अधिक-से-अधिक सोम का पान करनेवाला होता है, अर्थात् सोम को अपने में पूर्णतया सुरक्षित करता है, वही **समुद्रः इव**=अन्तरिक्ष के समुद्र की भाँति **पिन्वते**=सेचन करनेवाला होता है (समुद्र जैसे मुघरूप होकर सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है, इसी प्रकार यह संयमी पुरुष भी सभी को सुखी करने का प्रयत्न करता है। पृथिवीस्थ समुद्र की तरह मेघाच्छन्न अन्तरिक्ष भी समुद्र ही होता है—(समुद्र इति अन्तरिक्षनाम—नि० १.३)। २. इस सोमपान करनेवाले के **आपः**=कर्म **उर्वीः**=विशाल होते हैं। यह संकुचित कर्मों को न करके व्यापक कर्मों को करनेवाला होता है। 'उदारं धर्ममित्याहुः' इस लक्षण के अनुसार इसके सब कर्म उदार होने से धर्मरूप होते हैं। संकुचित स्वार्थ की वृत्ति से होनेवाले कर्मों में ही अधर्म होता है। ३. यह कर्मवीर पुरुष **न काकुदः**=बहुत बोलनेवाला नहीं होता। (काकुत् इति वाङ्नाम निघण्टौ)। यह कर्मवीर होता है नकि वाग्वीर। वस्तुतः अशक्त पुरुष बोलता अधिक है, जैसेकि एक मरियल कुत्ता भौंकता अधिक है। वीरपुरुष मौन रहकर कर्म पर बल देता है।

भावार्थ—सोमपायी के तीन लक्षण हैं-(क) यह अन्तरिक्ष में होनेवाले मेघ की भाँति सबपर सुखों की वर्षा करता है (ख) इसके कार्य उदार होते हैं, (ग) यह बोलता कम है, कर्मवीर होता है न कि वाग्वीर।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूनृता-वेदवाणी

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे॥ ८॥

१. **एवा**=गतमन्त्र के अनुसार सोमपायी बनने पर **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस 'इन्द्र' ज्ञानरूप परमैश्वर्यशाली प्रभु की **सूनृता**=(सु ऊन ऋत) उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा 'ऋत' बिल्कुल ठीक सत्यज्ञान के देनेवाली वेदवाणी **विरप्शी**=विविध सत्यविद्याओं का प्रतिपादन करनेवाली होती है (रप् लप्=व्यक्तायां वाचि)। इस वेदवाणी में सोम का रक्षण करनेवाला व्यक्ति सब सत्यविद्याओं का ज्ञान प्राप्त करता है। २. **गो-मती**=यह वेदवाणी उस सोमपायी के लिए गौ आदि धनों के देनेवाली होती है। इस वेदवाणी में उसके लिए केवल ज्ञान नहीं मिलता अपितु गौवें भी होती हैं, अर्थात् यह उसे जीवन के लिए आवश्यक गवादि धन को जुटाने के भी योग्य बनाती है। **मही**=(मह पूजायाम्) यह वेदवाणी उसकी मानस-वृत्ति को पूजावाला करती है, अर्थात् जहाँ इसका मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण होता है वहाँ इसके हाथ

धन कमानेवाले होते हैं और इसका हृदय पूजा की भावना से ओतप्रोत होता है। यह वेदवाणी **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, दान देनेवाले के लिए, अर्थात् लोभ की वृत्ति से ऊपर उठे हुए पुरुष के लिए **पक्वा शाखा न**=परिपक्व शाखा के समान होती है, अर्थात् जैसे कि एक पूर्ण परिपक्व शाखा से विविध फलों की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार दाश्वान् के लिए वेदवाणी विविध इष्टफलों को देनेवाली होती है। इस वेदवाणी से उसे 'क्षीर, सर्पिः, मधु, उदक (सामवेद १२९९), पुण्यभक्ष व अमृतत्व (१३०३)' प्राप्त होता है। अथर्व के शब्दों में 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण, ब्रह्मवर्चस् व अमृतत्व' को यह देनेवाली है।

भावार्थ—वेदवाणी (क) सर्वसत्यविद्याओं की प्रतिपादक (ख) धनों को देनेवाली (ग) पूजा की वृत्ति को प्राप्त करानेवाली तथा (घ) इष्टफलों को देनेवाली है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विभूतियाँ व ऊतियाँ (ऐश्वर्य व रक्षण)

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते। सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **एवा हि**=इस प्रकार निश्चय से **ते**=तेरी **विभूतयः**=ऐश्वर्य हैं। २. ये आपके ऐश्वर्य **मावते**=(मा—प्रमा—ज्ञान) ज्ञानवाले **दाशुषे**=दान की वृत्तिवाले पुरुष के लिए **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **ऊतयः**=रक्षारूप **सन्ति**= होते हैं। ऐश्वर्य अज्ञानी व लोभी पुरुष के ह्रास व विनाश का कारण बनता है, परन्तु यही ऐश्वर्य ज्ञानी, निर्लोभी पुरुष की निरन्तर उन्नति का कारण बनता है। यह उसकी आवश्यकताओं को सुन्दरता से पूर्ण करता हुआ अभावजन्य कष्टों से उसे बचाता है एवं ऐश्वर्य 'मावान्, दाश्वान्' का ही कल्याण करता है। अज्ञानी, लोभी पुरुष को तो यह उच्छृङ्खल ही बना देता है। ३. गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणी पक्वशाखा के तुल्य होती हुई सब इष्ट ऐश्वर्यों को देती है। ये ऐश्वर्य उसी का कल्याण करते हैं, जो ज्ञानी व दानी बनता है।

भावार्थ—मैं 'मावान् व दाश्वान्' बनूँ, ताकि प्रभु की विभूतियाँ मेरे लिए ऊतियाँ (रक्षक) हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**वर्धमाना गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम व उक्थ

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या। इन्द्राय सोमपीतये॥ १०॥

१. **एवा हि**=इस प्रकार निश्चय से **अस्य**=इस ऐश्वर्यों व रक्षणोंवाले इन्द्र के **स्तोमः**=साम—साध्य गायन **च**=और **उक्थम्**=ऋङ्मन्त्रों से साध्य विज्ञानप्रधान स्तवन **काम्या**=कामयितव्य हैं, चाहने योग्य हैं और **शंस्या**=शंसन के योग्य हैं। साम—मन्त्रों द्वारा प्रभु के गुणों का ही कीर्तन करना चाहिए तथा ऋङ्मन्त्रों द्वारा सृष्टि के पदार्थों में रचनासौन्दर्य के दर्शन से उस प्रभु की महिमा का ही शंसन करना चाहिए। २. ये स्तोम व उक्थ भक्तिप्रधान व विज्ञानप्रधान स्तवन, हृदय व मस्तिष्क से होनेवाला उपासन **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए होगा और **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए होगा। प्रभु—स्तवन सदा वासनाओं का विनाशक है, परिणामतः सोम के पान व रक्षण में सहायक है और सोम की रक्षा के द्वारा यह हमें प्रभु की प्राप्ति करानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का गायन व स्तवन—कथन ही हमारे कामयितव्य व शंसनीय है।

ये ही हमें परमैश्वर्य प्राप्त करानेवाले हैं और सोम के रक्षण में सहायक हैं।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ उस धन की प्रार्थना से होता है जोकि संविभागपूर्वक सेवन किया जाए तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता हुआ वासनाओं को दूर रखे (१)। तथा यह धन राष्ट्र में इतनी प्रचुर मात्रा में हो कि उससे पैदल व अश्वारोही सेना रक्खी जा सके (२)। उत्तम शस्त्रों का क्रय किया जा सके (३)। तथा सुशिक्षित सैनिकों द्वारा शत्रुओं के आक्रमण से राष्ट्र की रक्षा की जा सके (४)। वस्तुतः उस प्रभु की कृपा से ही युद्ध में विजय होती है (६)। सैनिकों की वीरता के लिए संयमी जीवन आवश्यक है (७)। साथ ही वेदज्ञान तो प्राप्त करना ही चाहिए (८)। इस सुरक्षित राष्ट्र में हम ज्ञानी व दानी बनकर प्रभु के ऐश्वर्यों व रक्षणों के पात्र बनें (९)। सदा प्रभु का स्तवन कर सोम-रक्षण करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें (१०)। इस प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम के रक्षण के निर्देश से ही अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ओजसा अभिष्टिः

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ अभिष्टिरोजसा॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व करनेवाले जीव! तू **आ इहि**=मेरी ओर आ, **अन्धसा**=इस आध्यातव्य=अत्यन्त ध्यान देने योग्य सोम से **मत्सि**=तू आनन्द का अनुभव कर। सोम के रक्षण के द्वारा तू नीरोग, निर्द्वेष व निर्विकल्प होकर एक अद्भुत हर्ष का अनुभव करेगा। २. इन **विश्वेभिः सोमपर्वभिः**=सोम के शरीर में ही पूरणों के द्वारा **महान्**=तू बड़ा बनता है। यदि हम शरीर में ही इस सोम के व्याप्त करने को १०० अंक दें तो १ प्रतिशत रक्षण करनेवाला असुर्यलोक में जन्म लेता है, १५ प्रतिशत रक्षा करनेवाला मर्त्यलोक व पृथिवीलोक में, ५० प्रतिशत रक्षण करनेवाला चन्द्रलोक में, ७५ प्रतिशत रक्षण करनेवाला द्युलोक में तथा ९९ प्रतिशत रक्षण करनेवाला स्वर्लोक में जन्म को प्राप्त करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'सोम का शरीर में पूरण' मनुष्य को महान् बनानेवाला है। ३. इस प्रकार महान् **ओजसा**=पराक्रम के द्वारा **अभिष्टिः**= शत्रुओं का अभिभव करनेवाला बन (शत्रूणामभिभविता)। सोम से मनुष्य सशक्त बनता है। तेज से लेकर सहस् तक सभी बल परमात्मा से ही प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्राप्ति सोम के रक्षण से होती है। हम उतने ही महान् बन पाते हैं जितना हम सोम का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें, आनन्दमय मनवाले हों। सोम के पूरण से महान् बनकर ओजस्विता से शत्रु का दमन करें और प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मन्दि चक्रि (हर्ष व क्रियाशीलता)

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने। चक्रिं विश्वानि चक्रये॥ २॥

१. **ईम्**=निश्चय से **सुते**=उत्पन्न होने पर **एनम्**=इस सोम को **आसृजता**=(पुनरभ्युन्नयत—सा०) सारे शरीर में उन्नयन (ले-जाने) का प्रयत्न करो। जीव का मूलभूत कर्त्तव्य है कि वह आहार से रसादि क्रम से सप्तम स्थान में उत्पन्न हुए इस सोम का शरीर

में ही समवाय करने का प्रयत्न करे। यही संयम है, यही ब्रह्मचर्य है। २. यह सोम **मन्दिने**=(मन्दते: स्तुतिकर्मण:) स्तुति करनेवाले, स्तवनशील **इन्द्राय**= जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **मन्दिम्**=आनन्द व हर्ष को देनेवाला है। और **विश्वानि**=सब कर्त्तव्यकर्मों को **चक्रये**=करने के स्वभाववाले जीव के लिए **चक्रिम्**=यह क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला है। ३. सोम के रक्षण व शरीर में ही अभ्युन्नयन के दो परिणाम सुव्यक्त हैं-(क) एक तो यह सोम सब रोगों को दूर करके स्वास्थ्य के द्वारा मन को आनन्दयुक्त करता है (मन्दिम्) तथा शक्ति की वृद्धि के द्वारा यह सोम उसे अनथक कार्य करनेवाला बनाता है।

भावार्थ-हम उत्पन्न सोम का शरीर में ही अभ्युन्नयन करें, यह हमें हर्षित करेगा व क्रियाशील बनाएगा।

ऋषि:-**मधुच्छन्दा:**॥ देवता-**इन्द्र:**॥ छन्द:-**निचृद्गायत्री**॥ स्वर:-**षड्ज:**॥

हनु व नासिका का ठीक व्यापार

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभि: स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे। सचैषु सवनेष्वा॥ ३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि सोम की रक्षा करने से जीवन 'आनन्दमय व क्रियामय' बनता है। इस जीव से प्रभु कहते हैं कि हे **सुशिप्र**=(शिप्रे हनू नासिके वा-नि० ६। १७) शोभन हनुओं व शोभन नासिकावाले, अर्थात् हनुओं व नासिका के उत्तम व्यापारवाले, भोजन को खूब चबाकर सेवन करनेवाले तथा प्राणायाम द्वारा प्राणायाम की उत्तम गतिवाले जीव! तू **मन्दिभि:**=आनन्द को देनेवाले **स्तोमेभि:**=प्रभु-स्तवनों से **मत्स्वा**=एक मस्ती का अनुभव कर, तेरा हृदय उल्लास से परिपूर्ण हो जाए। वस्तुत: जब हम भोजन को ठीक चबाकर खाएँगे तब भोजन का परिपाक ठीक प्रकार से होकर वीर्य का निर्माण उत्तमता से होगा। अब इसके बाद नासिका का व्यापार, अर्थात् प्राणापान की गति होगी, अर्थात् प्राण-साधना सुन्दरता से चलेगी तो इस वीर्य का शरीर में रक्षण ठीक ढंग से होगा। इसी रक्षण-कार्य में प्रभु-स्तवन भी हमारे लिए सहायक होगा। उस समय हमें तो ये स्तोत्र अच्छे भी लगेंगे। असंयमी जीवन में प्रभु-स्तवन की रुचि ही नहीं होती। २. हे **विश्वचर्षणे**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले स्तोत:! तू **एषु सवनेषु**=जीवन के इन प्रात: सवन (बाल्य) माध्यन्दिनसवन (यौवन) तथा सायंतनसवन (वार्धक्य) में **सचा**=(सह) सदा सोम के साथ रहता हुआ अथवा 'षच् समवाये' सोम का अपने में समवाय=मेल करता हुआ **आ** (गच्छ)=तू हमारे प्रति आ।

भावार्थ-'चबाकर भोजन करना' भोजन के परिपाक एवं वीर्य-निर्माण में सहायक है और प्राणायाम वीर्य-रक्षण में। वीर्य का रक्षण होने पर मनुष्य को प्रभु-स्तवन में आनन्द अनुभव होता है। यह व्यक्ति स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठकर सभी का ध्यान करता है और बाल्य, यौवन व वार्धक्य में सोम के साथ रहता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषि:-**मधुच्छन्दा:**॥ देवता-**इन्द्र:**॥ छन्द:-**गायत्री**॥ स्वर:-**षड्ज:**॥

वृषभ-पति (वर्षक-पालक)

असृग्रमिन्द्र ते गिर: प्रति त्वामुदहासत। अजोषा वृषभं पतिम्॥ ४॥

१. जीव प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है कि हे **इन्द्र**=मेरे सब वासनारूप शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **ते गिर:**=तेरे स्तुति-वचनों को **असृग्रम्**=बनाता हूँ। प्रभु के स्तवन के लिए यज्ञरूप वाणियों को 'गिर:' कहते हैं। कर्मप्रधान स्तुति इन 'गिर' नामक वाणियों से ही

होती है। गत मन्त्र का 'विश्वचर्षणिः' विश्व-हित के दृष्टिकोण से कार्यों को करता हुआ इन स्तुतियों का निर्माण करता है। २. ये स्तुतियाँ **वृषभम्**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले **पतिम्**=सबके पालक **त्वाम्**=आपके प्रति **उदहासत**=उद्‌गत होकर प्राप्त होती हैं। कर्मप्रधान स्तुतियाँ करनेवाला यह व्यक्ति लोकहित का साधन करनेवाले उन कर्मों का गर्व नहीं करता। उन कर्मों से होनेवाले सुख का वर्षक वह प्रभु को ही समझता है। उन कर्मों के द्वारा प्रभु ही लोक-पालन कर रहे हैं, ऐसा उसका निश्चय होता है। वह प्रभु को ही 'वृषभ व पति' समझता है। ३. **अजोषाः**=हे प्रभो! आपने उन वाणियों का प्रीतिपूर्वक सेवन किया है, ये मेरी कर्मप्रधान गिराएँ आपको प्रसन्न करनेवाली हैं।

भावार्थ—हम कर्मों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें, उन कर्मों से होनेवाले सुख का वर्षण व पालनकर्त्ता प्रभु को ही जानें। इन स्तुतिगिराओं से प्रभु को प्रीणित करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विभु-प्रभु (पूरक-प्रभावजनक)

सं चौदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम्। असदित्ते विभु प्रभु॥ ५॥

१. गतमन्त्र का कर्मप्रधान स्तोता कर्मों की सिद्धि के लिए धन की याचना करता हुआ कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **अर्वाग्**=हमारी ओर **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान के वर्धक **राधः**=कार्यों के साधक धन को **संचोदय**=प्रेरित कीजिए। प्रभु-कृपा से हमें धन प्राप्त हो, वह धन हमारे लोकहित के लिए किये जानेवाले कार्यों का साधक हो (राधसिद्धौ)। २. **वरेण्यम्**=यह धन सचमुच वरने योग्य हो, श्रेष्ठ हो, श्रेष्ठ साधनों से ही कमाया गया हो। ३. हे प्रभो! **ते**=आपकी कृपा से ही वह धन **असत्**=प्राप्त हुआ करता है जोकि **विभु**=आवश्यक भोग्य वस्तुओं को जुटाने के लिए पर्याप्त होता है (भोगाय यावत् पर्याप्तम्-सा०) और **प्रभु**=प्रभावजनक होता है। यह धन तो प्रभो! **इत्**=निश्चय से **ते**= आपका ही है। आपके ही धन से आपकी ही दी हुई शक्तियों से ये सब कार्य हुआ करते हैं, अतः ये सब तो आपके ही हैं, मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें वह धन प्राप्त कराइए जो (क) कर्मों का साधक हो (राधः), (ख) चाहने योग्य हो, असद् उपायों से जिसका अर्जन न हुआ हो, (ग) जो आवश्यक भोग्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाला हो (विभु), (घ) जो हमारे प्रभाव व सामर्थ्य को बढ़ानेवाला हो (प्रभु)। इस धन से हम लोकहित के कार्यों को सिद्ध करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रभस्वान्-यशस्वान्

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः। तुविद्युम्न यशस्वतः॥ ६॥

१. हे **तुविद्युम्न**=प्रभूत-धन **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्, शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! **अस्मान्**=हमें **तत्र राये**=वहाँ धन के लिए **सु चोदय**=उत्तमता से प्रेरित कीजिए, अर्थात् आपकी कृपा से हम धन को प्राप्त करनेवाले बनें। यहाँ 'तुविद्युम्न' सम्बोधन स्पष्ट करता है कि हम भी प्रभूत धनवाले बनें तथा 'इन्द्र' सम्बोधन इस बात का संकेत करता है कि इस धन को प्राप्त करके हम शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले बनें। २. किस प्रकार से हम लोगों को धन प्राप्त हो? **रभस्वतः**=(उद्योगिनः) उद्योगवाले जो हम हैं तथा साथ ही **यशस्वतः**=यशवाले जो

हम हैं, अर्थात् हम क्रियाशील हों और हमारी क्रियाएँ यशस्वती हों, उत्तम हों। इन यशोजनक क्रियाओं को करते हुए अपने प्रशस्त पुरुषार्थों से धन-प्राप्ति के अधिकारी बनें।

भावार्थ-हम प्रशस्त पुरुषार्थ-सम्पन्न होकर उस तुविद्युम्न इन्द्र के प्रभूत ऐश्वर्यवाले प्रभु के धनों के पात्र बनें।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

'विश्वायु अक्षित' धन

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम्॥ ७॥

१. **हे इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **श्रवः**=उस धन को **सं धेहि**= प्राप्त कराइए जो धन कि (क) **गोमत्**=उत्तम गौवोंवाला हो, अर्थात् जिस धन से हम घर में उत्तम गौ आदि पशुओं को रख सकें, (ख) **वाजवत्**=जो धन अन्नवाला हो, जिस धन से हम घर में पौष्टिक अन्नों को जुटा सकें, (ग) **पृथु**=जो धन हमारी शक्तियों का विस्तार करनेवाला हो, (घ) **बृहत्**=जो वृद्धि का कारणभूत हो, (ङ) **विश्वायुः**=जो हमारे पूर्ण जीवन का कारण बने, जिससे हम शरीर में स्वास्थ्य का, मन में नैर्मल्य का व बुद्धि में तीव्रता का सम्पादन करनेवाले बन सकें अथवा जो हमें पूरे सौ वर्ष तक चलानेवाला हो, तथा (च) **अक्षितम्**=जो धन हमारी किसी प्रकार की क्षीणता का कारण न बने।

भावार्थ-प्रभु-कृपा से हमें 'गोमत्-वाजवत्-पृथु-बृहत्-विश्वायु व अक्षित श्रव=धन की प्राप्ति हो।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

धन, रथ व अन्न

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्। इन्द्र ता रथिनीरिषः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **श्रवः**=उस धन को **धेहि**=धारण कराइए, जो धन (क) **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत है (ख) **द्युम्नम्**=ज्योतिर्मय है (ग) **सहस्रसातमम्**=सहस्र संख्याक दानों से युक्त है। २. इस प्रकार के धनों को तो हमें प्राप्त कराइए ही, हे प्रभो! **ताः**=उन **रथिनीः**=बहुत-से रथों से युक्त **इषः**=अन्नों को **धेहि**=धारण कराइए। ३. धन वही ठीक है जोकि (क) वृद्धि का कारणभूत हो, अर्थात् हमें विषय-वासनाओं में फँसाकर ह्रास की ओर ले-जानेवाला न हो। (ख) यह धन हमें अपना दास बनाकर कहीं हमें मूर्ख ही न बना दे। यह हमारी ज्ञान-ज्योति का बढ़ानेवाला हो तथा (ग) साथ ही हम इस धन का खूब दान करनेवाले बनें। लालच में पड़कर हम इसके पहरेदार ही न बन जाएँ। इस प्रकार के धन के साथ हमारे पास आने-जाने के लिए वाहनों की कमी न हो तथा वाञ्छनीय अन्नों की कभी न्यूनता न हो।

भावार्थ-हमें प्रभु-कृपा से 'बृहत्-द्युम्न-सहस्रसातम' धन प्राप्त हो तथा रथों के साथ अन्नों की कमी न हो।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

वसुपति व ऋग्मिय प्रभु

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्। होम गन्तारमूतये॥ ९॥

१. हम **गीर्भिः गृणन्तः**=यजूरूप वाणियों से प्रभु का स्तवन करते हुए **वसोः ऊतये**=धनों के रक्षण के लिए अथवा धनों से आवश्यकताओं की पूर्तियों के द्वारा आत्मरक्षण के लिए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **होम**=पुकारते हैं जो प्रभु २. **वसुपतिम्**=सब धनों के स्वामी हैं, वे ही धनों को देकर हमें आत्मरक्षण के योग्य बनाया करते हैं, ३. **ऋग्मियम्**=ऋचाओं के द्वारा स्तुति के योग्य हैं अथवा इन विज्ञानात्मक ऋचाओं का निर्माण करनेवाले हैं (ऋचो मिमिते-सा०)। वैज्ञानिक लोग सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान प्राप्त करते हुए उन पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखते हैं और ऋचाओं द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं। ये प्रभु ही सृष्टि के प्रारम्भ में ऋचाओं के द्वारा विज्ञान का उपदेश दे रहे हैं। ४. **गन्तारम्**=ये प्रभु अपने सब स्तोताओं को प्राप्त होनेवाले हैं, प्रभु को ज्ञानी भक्त आत्मतुल्य प्रिय हैं, परन्तु वे प्रभु आर्त्त भक्तों को प्राप्त नहीं होते हों, ऐसी नाता नहीं, वे उन्हें प्राप्त होकर उनके कष्टों का निवारण करनेवाले हैं। वसुपति होने से निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराके प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। 'ऋग्मिय' होने से ज्ञान देकर पदार्थों के गलत प्रयोग से हमें बचाते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु 'वसुपति व ऋग्मिय' हैं। हम स्तुति द्वारा प्रभु को पुकारते हैं तो वे वसुओं के प्रापण द्वारा हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शत्रुशोषक बल की अर्चना

सुतेसु॑ते॒ न्यो॑कसे बृ॒हद् बृ॑ह॒त एदृरिः। इन्द्रा॑य शू॒षम॑र्चति॥ १०॥

१. **बृहत्**=वृद्धि को प्राप्त करनेवाला **अरिः**=(इयर्ति) क्रियाशील व्यक्ति **सुते-सुते**=प्रत्येक सोम-सम्पादन-कार्य के होने पर **न्योकसे**=निश्चितरूप से हममें निवास करनेवाले **बृहते**=सदा से वृद्ध **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिए **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल की **अर्चति**=अर्चना करता है। २. मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि प्रभु को वही प्राप्त करता है जोकि (क) वृद्धि को प्राप्त करनेवाला क्रियाशाली व्यक्ति है, उन्नतिशील है तथा निरन्तर गतिशील है, (ख) सोम का सम्पादन करनेवाला है (सुत न्योक्से) तथा (ग) बल का सम्पादन करता है (शूष), निर्बल को तो प्रभु प्राप्त ही नहीं होते (**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**)।

भावार्थ—हम सोम का सम्पादन करें, वर्धनशील व क्रियाशील जीवनवाले बनें, शक्ति की अर्चना करें, कामादि शत्रुओं का शोषण करके प्रभु को प्राप्त हों।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ सोमरक्षण द्वारा आनन्द को प्राप्त करने से होता है (१)। यह सोम का रक्षक मस्ती में प्रभु का स्तवन करता है (४)। प्रभु से उत्कृष्ट धन की याचना करता है (५-८)। प्रभु-प्राप्ति के लिए सोमरक्षण करता हुआ बल की अर्चना करता है (१०)। 'सबल बनकर प्रभु को प्राप्त करता हैं और प्रभु का ही गायन करता है' इस भावना से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

गायन-अर्चन-उद्यमन

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ १॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **गायत्रिणः**=साममन्त्रों से आपके गुणों का गायन करनेवाले उद्गाता **गायन्ति**=गाते हैं। आपके गुणों का स्तवन करते हुए उन गुणों को ही अपना जीवनादर्श बनाते हैं और आप जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं। २. **अर्किणः**=पूजा के साधनभूत ऋक्-मन्त्रोंवाले होता लोग इन ऋचाओं से पदार्थों के विज्ञान को प्राप्त करके उन पदार्थों में आपकी महिमा को देखते हुए **अर्कम्**=अर्चना के योग्य आपकी **अर्चन्ति**=पूजा करते हैं। आपकी महिमा को देखते हुए वे आपके प्रति नतमस्तक होते हुए और नम्रता के भाव को धारण कर अभिमान का नाश करनेवाले बनते हैं। ३. हे **शतक्रतो! ब्राह्मणः**=आपकी महिमा के दर्शन से आपका ज्ञान प्राप्त करनेवाले ये लोग **त्वा**=आपको इस प्रकार **उद्येमिरे**=उन्नति को प्राप्त करते हैं, अर्थात् अपने अन्दर आपकी भावना को इस प्रकार निरन्तर बढ़ाते हैं **इव**=जैसेकि ये ज्ञानी पुरुष **वंशम्**=अपने कुल को उन्नत करते हैं अथवा जैसे एक उद्देश्य से चलनेवाले लोग अपने झण्डे के बाँस को ऊँचा करते हैं, उसी प्रकार ये ज्ञानी लोग आपको अपने जीवन की पताका बनाते हैं, आपके चारों ओर इनकी सब क्रियाएँ केन्द्रित होती हैं। इनका लक्ष्य केवल आपको प्राप्त करना ही हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का गुणगान करें, उसी का अर्चन करें और प्रभु को ही अपने जीवन की पताका बनाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

पर्वत-शिखर से पर्वत-शिखर पर

यत्सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम्।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को जीवन का लक्ष्य बनाकर जब हम जीवन-यात्रा में चलेंगे तब 'मार्ग में विघ्न न आएँगे', ऐसी तो कल्पना ही न करनी चाहिए। '**श्रेयांसि बहु विघ्नानि**'=विघ्न कल्याणों में ही हुआ करते हैं-'दुर्ग पथस्तत् कवयो वदन्ति' धर्म का मार्ग दुर्गम तो है ही। परन्तु प्रभु को लक्ष्य बनाकर **यत्**=जब यह 'मधुच्छन्दा' आगे बढ़ता है तब **सानोः**=एक पर्वतशिखर से **सानुम्**=दूसरे पर्वत शिखर पर **आरुहत्**=आरूढ़ होता है, अर्थात् एक के बाद दूसरी बाधा को जीतकर आगे बढ़ता चलता है तथा **भूरि**=खूब ही **कर्त्वम्**=अपने कर्त्तव्यों को **अस्पष्ट**=स्पृष्ट करता है, अर्थात् प्रारम्भ करता है, संक्षेप में जब यह विघ्नबाधाओं से न घबराकर उनको जीतता हुआ आगे बढ़ता चलता है २. **तद्**=(तदा) तब यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष विघ्नबाधाओं से न घबरानेवाला पुरुष **अर्थम्**=अपने पुरुषार्थ को, लक्ष्य को **चेतति**=जान पाता है, अर्थात् लक्ष्य तक पहुँच जाता है, मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को यह प्राप्त कर पाता है। नियम यही तो है कि '**यो यदर्थं कामयते घटतेऽपि च। अवश्यं**

तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते' जो जिस अर्थ की कामना करता है, जिसके लिए पुरुषार्थ भी करता है, उसे वह अवश्य पाता है, यदि ऊबकर रुक नहीं जाता। ३. यह परम पुरुषार्थ का साधक पुरुष **वृष्णिः**=शक्तिशाली व सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला बनकर **यूथेन**=प्राणगणों के साथ-मरुत् रूप अपने सैनिकों के साथ **एजति**=शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगा देता है। प्राणसाधना के द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण की आशंका जाती रहती है और इस प्रकार निर्विघ्नता से मनुष्य लक्ष्य-स्थान पर पहुँच जाता है।

भावार्थ-'विघ्नों को दूर कर आगे बढ़ते चलना तथा कर्त्तव्यों को करना' यही पुरुषार्थ-प्राप्ति का मार्ग है। यह साधक प्राणसाधना से कामादि शत्रुओं को कम्पित कर दूर कर देता है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

केशिना-वृषणा (प्रकाश+शक्ति)

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर॥ ३॥

१. प्रभु 'मधुच्छन्दा' से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! तू **हि**=निश्चय से **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **युक्ष्वा**=शरीर-रूप रथ में जोत, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगी रहें और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञात्मक कर्मों में व्याप्त रहें। २. ये इन्द्रियरूप घोड़े **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले हैं (**केश**=a ray of light), **वृषणा**=शक्तिशाली हैं ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशवाली हैं तो कर्मेन्द्रियाँ शक्तिशाली हैं। ३. ये दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ **कक्ष्यप्रा**=कक्ष्य का पूरण किये हुए हैं, कमर कसे हुए हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने के लिए कटिबद्ध हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति द्वारा 'प्रकाश' को सिद्ध करने के लिए कटिबद्ध हैं और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों से शक्तिवर्धन के लिए दृढ़ हैं। ४. **अथा**=अब इस प्रकार इन्द्रियों को ज्ञान व यज्ञरूप स्वकार्यों में लगाकर हे **सोमपाः**=सोम (शक्ति) का पान करनेवाले जीव! **नः**=हमारी **गिराम्**=वाणियों को **उपश्रुतिम्**=आचार्य के समीपस्थ होकर सुननेवाला **चर**=बन। सोम का पान कर, इस सोम से ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके इन वेदवाणियों को सुनने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ-इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करें और जीव सोमपान करता हुआ प्रभु की वाणियों को सुनने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**भुरिगुष्णिक्**॥ स्वरः-**ऋषभः**॥

ब्रह्म+यज्ञ=ज्ञान+कर्म

एहि स्तोमाँ अभि स्वराभि गृणीह्या रुव।
ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय॥ ४॥

१. गतमन्त्र की अन्तिम पंक्ति 'गिरामुपश्रुतिं चर' का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि **आ इहि**=तू आचार्य के समीप आ, अथवा उपासना में प्रभु के समीप स्थित हो और **स्तोमान्**=उद्गाता से प्रयुक्त किये जानेवाले साममन्त्रों का **अभिस्वर**=सस्वर गायन कर, **अभिगृणीहि**=अध्वर्युप्रयुक्त यजूरूप मन्त्रों का उच्चारण कर तथा होतृ-प्रयुक्त ऋग्-रूप उक्थों का, प्रभु-महिमा के प्रतिपादक वाक्यों का **आरुव**=समन्तात् प्रतिपादन कर (रु=शब्दे)। २. हे **वसो**=स्तोम, गिर् व उक्थों के, उक्थों के उच्चारण के द्वारा उत्तम निवासवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय

पुरुष! तू **नः**=हमारे दिये हुए इस **ब्रह्म**=ज्ञान को, वेदज्ञान को तथा **यज्ञं च**=वेद में प्रतिपादित यज्ञों को **सचा**=साथ-साथ **वर्धय**=बढ़ा, अर्थात् तेरे जीवन में ज्ञान व कर्म का मेल हो, 'कर्मशून्य ज्ञान व्यर्थ है तथा ज्ञानशून्य कर्म अपवित्र हो जाता है'-इस बात को हृदयंगम करके तू इन दोनों का मेल करने का प्रयत्न कर। तू यदि पक्षी हो तो ज्ञान और कर्म तेरे दाएँ-बाएँ पंख हों। जैसे एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं, इसी प्रकार अकेले ज्ञान वा कर्म से सिद्धि का सम्भव नहीं। इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध प्रभु-स्तवन की प्रेरणा दे रहा है और उत्तरार्ध ज्ञान और उत्तम कर्मों के लिए प्रेरित कर रहा है। इस प्रकार इस मन्त्र में 'भक्ति, ज्ञान व कर्म' सभी का सुन्दर संकेत समाविष्ट हुआ है।

भावार्थ-हम 'साम, यजुः व ऋग्'-रूप मन्त्रों का गायन व उच्चारण करके अपने ज्ञान को बढ़ाएँ और अपने कर्त्तव्यों को जानकर ज्ञानपूर्वक उनके करनेवाले बनें।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

सुत व सख्य (सोम-सम्पादन व मैत्री)

उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे।
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च॥५॥

१. उस **इन्द्राय**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु के लिए **पुरुनिष्षिधे**=(बहूनां शत्रूणां निषेधकारिणे) काम, क्रोध, लोभादि शत्रु-समूह को रोकने को लिए उसकी **उक्थम्**=महिमा के प्रतिपादक ऋग्-रूप स्तुतिवचनों का **शंस्यम्**=शंसन करना चाहिए। हमें प्रभु की स्तुति करनी चाहिए, प्रभु-कृपा से ही हमारे कामादि शत्रुओं का संहार होगा और इस प्रकार यह उक्थों का शंसन **वर्धनम्**=हमारी वृद्धि का कारण बनेगा। प्रभु का स्तवन सदा मनुष्य की वृद्धि का कारण होता है। इस स्तवन से मनुष्य के सामने एक ऊँचा लक्ष्य उपस्थित होता है। उस लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ मनुष्य उन्नत होता ही है। २. हमें यह उक्थ-शंसन (स्तवन) इसलिए भी करना चाहिए **यथा**=जिससे **सुतेषु**='वासनाविनाश' के द्वारा सोम के सम्पादनों के होने पर अर्थात् शक्ति को सुरक्षित करने पर **च**=तथा **सख्येषु**-प्रभु की मित्रता के होने पर **शक्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः**=हमारे लिए **रारणत्**=खूब ही उपदेश देते हैं। हृदयस्थ प्रभु की वाणियों को सुनने के लिए आवश्यक है कि हम सोम की रक्षा करें और सोम की रक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हुए उस प्रभु के मित्र बनें। इस प्रकार इस 'सुत और सख्य' के होने पर प्रभु इन वाणियों का **रारणत्**=खूब ही उच्चारण कर रहे होंगे और हम 'श्रुत्कर्ण' बनकर इन वाणियों को सुन रहे होंगे।

भावार्थ-हम प्रभु की महिमा का गायन करें। यह गायन हमारा वर्धन करनेवाला है, यह हमारी वासनाओं को भी विनष्ट करता है। हमारे लिए अब सोमरक्षा (सुत) का सम्भव होता है और हम प्रभु के मित्र बनकर उसकी ज्ञान की वाणियों को सुनते हैं।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

मित्रता-धन-शक्ति

तमित् सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये।
स शक्र उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः॥६॥

१. गतमन्त्र में जिस प्रभु ने हमारे लिए रारणत्=वेदवाणियों का उपदेश किया है **तम्**

इत्=उस प्रभु को ही **सखित्वे**=मित्रता के निमित्त **ईमहे**=प्राप्त करने के लिए चेष्टा करते हैं। वस्तुतः संसार में हमारे सच्चे मित्र प्रभु ही हैं, प्रभु की मित्रता में ही हमारा कल्याण है। इससे भिन्न मित्रताएँ कुछ स्वार्थ को लिये हुए हैं। प्रभु की ही मित्रता पूर्ण निष्काम है, अतः यही मित्रता हमारे सर्वहितों को सिद्ध करनेवाली है। २. **तम्**=उस अपने सच्चे मित्र से ही **राये**=धन के लिए हम याचना करते हैं (ईमहे)। 'लक्ष्मीपति' प्रभु ही तो हैं। वस्तुतः सम्पत्ति को देनेवाले उनसे भिन्न और हैं ही कौन? ३. **तम्**=उस प्रभु को ही **सुवीर्ये**=उत्तम शक्ति की प्राप्ति के निमित्त भी **ईमहे**=प्रार्थना करते हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभु ही हममें शक्ति का आधान कर सकेंगे। ४. **सः शक्रः**=वे प्रभु शक्र हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, वे ही सब-कुछ करने में समर्थ हैं **उत**=और **नः**=हमें भी **शकत्**=शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। लोहा भी अग्नि के समीप आकर जैसे अग्नि की तेजस्विता से लाल-लाल हो जाता है उसी प्रकार प्रभु की समीपता से हमें भी शक्ति प्राप्त होगी। चुम्बक-सान्निध्य से सामान्य लोहे में भी चुम्बकीय शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार प्रभु की उपासना से उपासक भी प्रभाव-सम्पन्न हो उठता है। ५. **इन्द्रः**=ये परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **वसु**=सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक धनों को **दयमानः**=हमें देनेवाले होते हैं। प्रभुकृपा से जहाँ हमें शक्ति प्राप्त होती है वहाँ शक्ति के साथ धन भी प्राप्त होता है जिससे कि हम सांसारिक आवश्यकताओं को भी सुचारुरूपेण पूर्ण कर सकें।

भावार्थ—हम प्रभु से मित्रता, धन व सुवीर्य की याचना करें। वे प्रभु हमें शक्तिशाली बनाते हुए निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

यशः+राधः

सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद् यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥ ७॥

१. **'यशो वै हिरण्यम्'** (ऐ० ७.८)—इस ऐतरेय वाक्य के अनुसार प्रभु जब हमारे मित्र बनते हैं तो **यशः**=(हिरण्यम्), ज्योति (Splendour) को भी प्राप्त कराते हैं। यह ज्ञान की ज्योति **सुविवृतम्**=उत्तम विवरणवाली होती है। इसमें हमारे कर्त्तव्यों का सुन्दरता से प्रतिपादन किया हुआ है, **सुनिरजम्**=(सु निः अज) यह उत्तमता से सब बुराइयों को हमसे बाहर फेंकनेवाली होती है। इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करके हम सदा अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर चलते हैं और बुराइयों से बचे रहते हैं। हे **इन्द्र**=सूर्य के समान देदीप्यमान कान्तिवाले प्रभो! यह ज्ञान-ज्योति **इत्**=निश्चय से **त्वादातम्**=आपसे शुद्ध की गई है (त्वा=त्वया, दैप शोधने) 'शुक्रम् उच्चरत्' यह तो पूर्ण शुद्ध ही उच्चारण की गई है, अर्थात् उस प्रभु ने ही वेदवाणी के रूप में वह ज्योति प्राप्त कराई है (क) जिसमें हमारे कर्त्तव्य स्पष्ट दिखते हैं, (ख) जो हमारी बुराइयों को परे फेंकती है तथा (ग) पूर्ण शुद्ध है। २. हे प्रभो! अब आप कृपा करके **गवाम्**=इन्द्रियों के इस **व्रजम्**=बाड़े को भी **अपवृधि**=खोल डालिए; इन्द्रियों के द्वार खुलेंगे अर्थात् इन इन्द्रियों की शक्ति का विकास होगा तो हम उस ज्ञान की ज्योति को सम्यक् ग्रहण कर पाएँगे। ३. हे **अद्रिवः**=आदरणीय व वज्र के द्वारा सब विघ्नों को दूर करनेवाले प्रभो! **राधः**=कार्यों के साधन के लिए आवश्यक धनों को **कृणुष्व**=हमें प्राप्त कराइए। इसके बिना भी हमारी जीवन-यात्रा का पूर्ण होना सम्भव न होगा।

भावार्थ—प्रभु उस ज्योति को दें जोकि—'सुविवृत, सुनिरज व शुद्ध' है। हमारी इन्द्रियों

की शक्ति का विकास करें तथा आवश्यक धनों को देने की कृपा करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

स्वर्वतीः अपः (स्वर्ग्य कर्म)

नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः।
जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि॥ ८॥

१. हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार 'ज्ञान, शक्ति व धन' को प्राप्त कराने के द्वारा **ऋघायमाणम्**=हमारे सब शत्रुओं का वध करते हुए **त्वा**=आपको **उभे रोदसी**=ये दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक **नहि इन्वतः**=व्याप्त नहीं कर सकते—सारा संसार भी आपको घेरकर उस शत्रुवधरूप कर्म से रोक नहीं सकता। वस्तुतः जब प्रभु-कृपा होती है तब सारा संसार भी हमारे प्रतिकूल होकर हमारा कुछ बिगाड़ नहीं पाता और प्रभु की अनुकूलता न होने पर संसार की अनुकूलता हमारा कुछ साध भी नहीं सकती। २. हे प्रभो! आप ही हमारे शत्रुओं का संहार करके **स्वर्वतीः**=स्वर्गलोक को प्राप्त करानेवाले **अपः**=कर्मों को **जेषः**=विजय कराते हो। आपकी ही कृपा से हम उन कर्मों को कर पाते हैं जिनके परिणामस्वरूप हम स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। प्रत्येक उत्तम कर्म प्रभु-कृपा से ही सम्पन्न होता है। प्रभु-प्रदत्त शक्ति के बिना क्या हम कभी किसी कार्य को कर सकते हैं? अज्ञानवश हमें कर्तृत्व का अहंकार हो जाया करता है। ३. हे प्रभो! आप ही कृपा करके **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गाः**=वेदवाणियों को **सन्धूनुहि**=सम्यक् प्रेरित करिए। इन वेदवाणियों से ही तो हम उस ज्ञान को प्राप्त करेंगे, जो हमें जीवन में मार्ग का दर्शन कराएगा।

भावार्थ—प्रभु हमारे कामादि शत्रुओं का नाश करें, हमें शक्ति दें कि हम स्वर्गलोक को प्राप्त करानेवाले कर्मों को कर सकें, वेदवाणी की प्रेरणा को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

श्रुत्कर्ण बनना

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्॥ ९॥

१. पिछले मन्त्र की **'सं गा अस्मभ्यं धूनुहि'** इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं कि **आश्रुत्कर्ण**=सब प्रकार से सुननेवाले हैं कान जिसके, ऐसे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **हवम्**=मेरे आह्वान को **श्रुधि**=सुन। जैसे पिता पुत्र को किसी बात के लिए कहे और पुत्र अनसुना कर दे तो कहते हैं कि इसे तो कुछ कहना व्यर्थ है, यह तो सब सुझावों को बहिरे कानों से अनसुना कर देता है, इसी प्रकार प्रभु की प्रेरणा को हम सामान्यतः सुनते नहीं। प्रभु कहते हैं कि 'मैं प्रेरणा करता रहूँ तू सुने ही ना' ऐसा नहीं तू मेरी प्रेरणा को सुन। २. और **नु**=शीघ्र ही **मे गिरः**=इन वेदवाणियों को **दधिष्व**=धारण कर, इनको चित्त में स्थान दे। ३. **युजः**=सदा तेरे साथ रहनेवाला जो मैं तेरा साथी हूँ उस **मम**=मेरे **इमं स्तोमम्**=इन साम-मन्त्रों द्वारा किये जानेवाले स्तवन् को **चित्**=निश्चय **अन्तरम्**=अपने अधिक समीप **कृष्वा**=कर अर्थात् तुझे प्रभु-स्तवन प्रियतम वस्तु हो, अन्य सब वस्तुओं से इसका स्थान तेरे जीवन में सर्वाधिक हो, तभी तो तू उन कर्मों को करनेवाला होगा जो तुझे स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले हों, तभी तू कामादि शत्रुओं का संहार कर पाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें, प्रभु की वाणियों को चित्त में धारण करें, प्रभु-स्तवन हमें सर्वाधिक प्रिय हो।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वृषन्तम

विद्मा हि त्वा वृषन्तमं वाजेषु हवनश्रुतम्।
वृषन्तमस्य हूमह ऊतिं सहस्रसातमाम्॥ १०॥

१. प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला 'मधुच्छन्दा' कहता है कि हे प्रभो! हम **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको **वृषन्तमम्**=सब सुखों के सर्वाधिक वर्षक **विद्म**=जानते हैं। आप ही हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं, आपको छोड़कर कोई भी ऐसी शक्ति नहीं रखता कि हमारी सब कामनाओं को पूर्ण कर सके। २. आपको ही हम **वाजेषु**=सब संग्रामों में **हवनश्रुतम्**=हमारी पुकार सुननेवाला समझते हैं। संग्रामों के अवसर पर आप ही हमारे सहायक होते हैं। आपके साहाय्य के बिना इन संग्रामों में जीतना सम्भव ही नहीं होता। ३. **वृषन्तमस्य**=सब कामों के वर्षक आपकी **सहस्रसातमाम्**=हजारों धनों के देनेवाले **ऊतिम्**=रक्षण को **हूमहे**=हम प्रार्थित करते हैं। आपके द्वारा किये जानेवाले रक्षण की हम याचना करते हैं, वह रक्षण ही हमें हजारों धनों का प्राप्त करानेवाला होगा।

भावार्थ—प्रभु वृषन्तम हैं, अध्यात्म-संग्रामों में प्रभु ही हमें विजयी बनाता है। प्रभु का रक्षण हमें प्राप्त हुआ तो धनों की हमें कोई कमी न रह जाएगी।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

कौशिक इन्द्र

आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब।
नव्यमायुः प्र सू तिर कृधी सहस्रसामृषिम्॥ ११॥

१. जीव की प्रार्थना को सुनकर 'वृषन्तम' प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! हे **कौशिक**=(कुशिक=a ploughshare कुशिकं विन्दति कौशिकः) हल को अपनानेवाले अर्थात् कृषि आदि श्रमसाध्य कर्मों में प्रवृत्तिवाले जीव! **मन्दसानः**=सदा प्रसन्न रहता हुआ, शोक-क्रोधादि से क्षुब्ध न होता हुआ तू **तु**=(क्षिप्रम्) शीघ्र ही **नः**=हमारे अथवा हमारी प्राप्ति के साधनभूत इस **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **आ पिब**=सारे शरीर में समन्तात् व्याप्त करने का प्रयत्न कर। सोम की रक्षा के लिए तीन बातें आवश्यक हैं-(क) जितेन्द्रियता (इन्द्र), (ख) श्रमसाध्य कर्मों में लगे रहना (कौशिक), (ग) सदा प्रसन्न रहना (मन्दसानः)। इस सोमरक्षण से सर्वमहान् लाभ यह है कि यह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है। २. इस सोम की रक्षा के द्वारा **नव्यम् आयुः**=स्तुत्य, प्रशंसनीय जीवन को **प्रसुतिर**=(प्रकर्षेण सुष्ठु वर्धय) खूब बढ़ानेवाला हो। सब रोगों के नष्ट होने से तेरा शरीर पूर्ण नीरोग होगा, वासनाओं के नष्ट हो जाने से मन निर्मल हो आवरणों के दूर होने से ज्ञान-दीप्त होगा और इस प्रकार तेरा जीवन सचमुच प्रशंसनीय-नया-सा बन जाएगा। ३. इस सोम के रक्षण से तू अपने को **सहस्रसाम्**=सहस्रसंख्याक धनों का सम्भजन करनेवाला तथा **ऋषिम्**=तत्त्वद्रष्टा **कृधि**=बना, अर्थात् सोम की रक्षा के द्वारा तेरी शक्ति की वृद्धि होगी। बढ़ी हुई शक्ति से तू धनों को समुचित रूप से कमानेवाला बनेगा तथा तेरे मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि दीप्त होकर तुझे ऋषि-कोटि

में प्रविष्ट करानेवाली होगी।

भावार्थ—'जितेन्द्रियता, श्रमशीलता व मनःप्रसाद' मनुष्य को सोमरक्षण के योग्य बनाते हैं। सोमरक्षण से नीरोगता द्वारा जीवन स्तुत्य बनता है, मनुष्य की सुपथ से धनार्जन की क्षमता बढ़ती है और वह तत्त्वद्रष्टा बनकर ऋषि कहलाता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वर—**गान्धारः**॥

ज्ञान का वातावरण

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः॥ १२॥

१. प्रभु ही जीव से कह रहे हैं कि हे **गिर्वणः**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाले जीव! **इमा गिरः**=ये वाणियाँ ही **त्वा विश्वतः परि भवन्तु**=तुझे चारों ओर से घेरे रहें। तू केन्द्र हो, तेरे चारों ओर ज्ञान की वाणियाँ हों, मनुष्य का सर्वोच्च आनन्द इसी में है कि ज्ञान के वातावरण में रहे। २. ये ज्ञान की वाणियाँ **वृद्धायुम् अनु**=बढ़ी हुई आयुवाले तेरे दीर्घायुष्य के अनुपात में ही **वृद्धयः**=बढ़नेवाली हों। तेरी आयु बढ़ती जाए तो आयुष्य की वृद्धि के साथ ये वाणियाँ भी बढ़ती जाएँ, अर्थात् तेरा ज्ञान आयुष्य-वृद्धि के साथ बढ़नेवाला हो। ३. **जुष्टयः**=प्रीतिपूर्वक प्रभु का सेवन जिनसे किया जाता है वे ये ज्ञान की वाणियाँ तुझे **जुष्टाः**=प्रिय **भवन्तु**=हों। तू इनका प्रेमपूर्वक का सेवन करनेवाला हो। ज्ञान में तुझे आनन्द का अनुभव हो। ये ज्ञान की वाणियाँ ही प्रभु का उत्कृष्ट उपासन हो जाती हैं।

भावार्थ—हमारा सारा वातावरण ज्ञान-प्रधान हो। आयुष्य के साथ हमारा ज्ञान बढ़ता जाए और हमें ज्ञानयज्ञ के द्वारा प्रभु की उपासना प्रिय हो।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ प्रभुगुण-गायन से होता है। प्रभु को ही हम अपनी जीवन-यात्रा की पताका बनाते हैं (१)। विघ्नों को पार करते हुए, कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए मोक्षरूप अर्थ को सिद्ध करते हैं (२)। वेदवाणियों को सुनते हुए (३)। ज्ञान व यज्ञ का अपने में वर्धन करते हैं (४)। प्रभु की मित्रता में (६) निर्मल ज्ञान को प्राप्त करते हैं (७)। जितेन्द्रिय व श्रमशील बनकर सोम की रक्षा करते हैं (११)। ज्ञान के वातावरण में रहते हुए ज्ञान-यज्ञ से प्रभु का उपासन करनेवाले बनते हैं (१२)। 'अब हमारी सब वाणियाँ प्रभु का ही वर्धन करनेवाली होती हैं' इन शब्दों से ११ वाँ सूक्त प्रारम्भ होता है। यह सूक्त 'जेता मधुच्छन्दा' का है-जो मधुच्छन्दा का पुत्र बनकर, अर्थात् अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला बनकर 'विजेता'=जयशील बनता है।

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

रथियों में सर्वोत्तम रथी

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम्॥ १॥

१. **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **विश्वा गिरः**=सब वेदवाणियाँ **अवीवृधन्**=बढ़ाती हैं, प्रभु की ही महिमा का प्रतिपादन करती हैं। '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' इस उपनिषद्-

वाक्य में यही तो कहा गया है कि सम्पूर्ण वेदवाणियाँ उस जानने योग्य (प्राप्त करने योग्य) परमात्मा का ही वर्णन करती हैं। **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'** यह मन्त्रभाग भी यही कह रहा है कि सारी ऋचाएँ उस सर्वमहान् अक्षर, आकाशवत् व्यापक परमात्मा में ही स्थित हैं। २. वे प्रभु **समुद्रव्यचसम्**=(समुद्र=अन्तरिक्ष) आकाश के समान विस्तारवाले हैं। वस्तुतः प्रभु ही आकाश हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभु में ही स्थित है। ३. **रथीनां रथीतमम्**=रथ के संचालकों में सर्वोत्तम रथसंचालक हैं। जबतक कृष्ण अर्जुन का रथ संचालन करते हैं तबतक अर्जुन की विजय-ही-विजय होती है, इसी प्रकार हमारे शरीररूप रथ की बागडोर भी प्रभु के हाथ में रहेगी तो हम भी विजय-ही-विजय करते हुए आगे बढ़ते चलेंगे। ४. **वाजानां पतिम्**=वे प्रभु सब वाजों=शक्तियों के पति हैं। प्रभु के सम्पर्क में हमें भी शक्ति प्राप्त होती है। ५. **सत्पतिम्**=शक्ति देकर प्रभु सज्जनों के रक्षक हैं। हम भी 'सत्' बनेंगे तो अवश्य प्रभु की रक्षा के पात्र होंगे।

भावार्थ-सम्पूर्ण वेदवाणियाँ प्रभु का गायन करती हैं। वे प्रभु आकाश के समान व्यापक हैं, सर्वोत्तम रथसंचालक हैं, शक्तियों के स्वामी हैं और सज्जनों के रक्षक हैं।

ऋषिः-**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

अपराजित जेता

सुख्ये तं इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **शवसस्पते**=बल के स्वामिन्! **वाजिनः**=सब अन्नों व बलों के पति **ते**=आपकी **सख्ये**=मित्रता में हम **मा भेम**=मत भयभीत हों। वस्तुतः एक सामान्य मित्र से भी मनुष्य की शक्ति दुगुनी हो जाती है। प्रभु-रूप मित्र से तो मनुष्य-शक्ति सहस्रों गुणा हो जाती है। उस प्रभु का प्रत्येक कार्य शक्तिशाली है, सब बलों के वे स्वामी हैं, सब शक्तिप्रद अन्नों के वे भण्डार हैं, उस प्रभु की मित्रता में कमी ही किस बात की रह जाती है? वहाँ किसी शत्रु का भय नहीं, किसी अभाव का डर नहीं। २. हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अभि**=लक्ष्य करके **प्रणोनुमः**=हम प्रकृष्ट स्तवन करते हैं। 'अभि' में यह भावना भी निहित है कि प्रातः-सायं, दिन के आरम्भ में भी और दिन की समाप्ति पर भी हम आपका स्तवन करते हैं। हमारा सारा जीवन ही स्तवन-रूप होता है। ३. **जेतारम्**=आप ही हमें दिन-भर के सभी कार्यों में विजय प्राप्त कराया करते हैं, आपकी कृपा से ही हमारे कार्य सफल होते हैं। **अपराजितम्**=आप कभी पराजित नहीं होते। आपकी शरण में रहनेवाला मैं भी कभी पराजय का मुख नहीं देखता। प्रभु की ही शक्ति प्रभु ही की विजय है। 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि' सब विजय व सब उद्योग प्रभु ही की विभूति हैं।

भावार्थ-प्रभु की मित्रता में हम निर्भय बनते हैं, प्रभु-कृपा से सदा विजयी व अपराजित होते हैं। जेता ही सूक्त का ऋषि है।

ऋषिः-**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

रातयः-ऊतयः

पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः।
यदी वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम्॥ ३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु को मित्र बनाते हैं तो उस **इन्द्रस्य**=प्रभु के **रातयः**=दान **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले होते हैं अथवा प्रथम स्थान के अर्थात् सर्वोत्कृष्ट होते हैं (पूर्व=प्रथम)। अन्य मित्र शक्ति की कमी के कारण हमारी सब आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते व अज्ञानवश हमें गलत वस्तु भी दे सकते हैं, परन्तु प्रभु अपनी शक्ति व ज्ञान की पूर्णता के कारण हमें सर्वोत्तम वस्तुएँ ही प्राप्त कराया करते हैं २. और **यदि**=जब आवश्यक होता है तो **गोमतः**=गो-दुग्ध से युक्त **वाजस्य**=अन्न के **ऊतयः**=सहायता-रूप में दान तो **न विदस्यन्ति**=कभी नष्ट होते ही नहीं। 'प्रभु हमें आवश्यक अन्न भी प्राप्त न कराएँ', ऐसा नहीं हो सकता। 'मोटर न मिले, कोठियाँ न मिलें' यह सम्भव है, पर अन्न न मिले यह कैसे हो सकता है? और वह अन्न भी रूखा-सूखा नहीं, गो-दुग्धयुक्त अन्न प्राप्त होता है। महाभारत के 'यमस्तु अन्नरसे प्रादात्' ये शब्द स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि अन्न व रस की कभी कमी न होगी। ३. वे प्रभु **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **मघम्**=पापशून्य ऐश्वर्य को **मंहते**=प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः प्रभु-स्तवन से अन्ततः निःश्रेयस तो प्राप्त होता ही है, अभ्युदय की भी कमी नहीं रहती।

भावार्थ-प्रभु के दान सर्वोत्कृष्ट हैं, उसके गोरस-युक्त अन्न के साहाय्य तो कभी नष्ट होते ही नहीं, प्रभु के स्तोताओं को पवित्र ऐश्वर्य भी प्राप्त होता है।

ऋषिः-**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

प्रभु-भक्त की गुण-चतुष्टयी

पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥४॥

१. प्रभु-भक्त सदा **अजायत**=होता है, विकसित होता हुआ निम्न गुणोंवाला बनता है। यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय होता है और इन्द्रियों के जीतने के कारण ही सिद्धि को प्राप्त करता है (सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति) सारे दोष इन्द्रियों की गुलामी के कारण ही तो थे। (इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्) अब निर्दोष जीवनवाला बनकर यह जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठता है। इसी बात को इस रूप में कहते हैं कि **पुरां भिन्दुः**=यह शरीररूप पुरियों का विदारण करनेवाला होता है। 'स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीर' ही असुरों के 'त्रिपुर' हैं। इनका विदारण करनेवाला यह सचमुच 'त्रिपुरारि' होता है। २. यह **विश्वस्य**=सब **कर्मणः**=कर्त्तव्य-कर्मों का **धर्ता**=धारण करनेवाला होता है, अर्थात् इसके जीवन में कभी अकर्मण्यता को स्थान नहीं मिलता, इसी का यह परिणाम है कि यह **युवा**=(यु=मिश्रण-अमिश्रण) अच्छाइयों को अपने साथ मिलानेवाला व बुराइयों को अपने से पृथक् करनेवाला होता है। आलस्य व क्रिया का अभाव शतशः दोषों का जनक होता है। ३. यह **वज्री**=वज्रवाला होता है। इस वज्र से ही इन्द्र वृत्र का विनाश करता है। इन्द्र 'जीवात्मा' हैं, वज्र=(वज गतौ) उसका सतत क्रियाशील जीवन है। इस क्रियाशील जीवनरूप वज्र से ही वह ज्ञान की आवरणभूत कामवासना को विनष्ट करता है। इस प्रकार यह **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है। ४. यह **पुरुष्टुतः**=खूब स्तुतिवाला होता है। वास्तविकता तो यह है कि यह श्वास-प्रश्वास लेते हुए भी प्रभु-स्तवन कर रहा होता है। इसका जीवन प्रभु-स्तवन द्वारा प्रभु से जुड़ जाता है और इसके जीवन में प्रभु की शक्ति का प्रवाह होने से यह **अमितौजाः**=अ-मित=बहुत अधिक ओज- (शक्ति)-वाला होता है। प्रभु जैसा ही हो जाता है, अतः इसकी शक्ति अमित तो होनी ही है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर जन्म-मरण पर विजय पाएँ। हम कर्मनिष्ठ बनकर गुणों का ग्रहण व दोषों का अपाकरण करें, हम क्रियामय वज्र को लेकर ज्ञान के आवरण-भूत काम को नष्ट कर क्रान्तदर्शी (कवि) बनें तथा सदा प्रभु-स्तवन से प्रभु-मित्र बनकर अनन्त शक्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

'वल' असुर का संहार

त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः॥ ५॥

१. हृदय-रूप गुफा वा बिल में प्रभु का अधिष्ठान होने से वहाँ सारा ज्ञान विद्यमान है। इस हृदय-गुहा में ये ज्ञान की रश्मियाँ ही 'गावः' गौवें हैं। यह बिल गोमान् है। इसपर कामवासना का एक पर्दा-सा पड़ जाया करता है, यह 'वल' (veil) कहलाता है। गत मन्त्र का 'पुरुष्टुत' इस पर्दे को दूर कर देता है और उसके दूर होते ही ज्ञान-रश्मियों के प्रकाश से हमारा जीवन जगमगा उठता है। उस जीवन में देवताओं का निवास होता है। मन्त्र में कहते हैं कि-हे **अद्रिवः**=वज्रवाले (अद्रि=वज्र) आदरणीय जीव! **त्वम्**=तू **गोमतः**=इस ज्ञान की रश्मियोंवाले **वलस्य**=ज्ञान पर पर्दे के रूप में पड़े हुए काम-रूप वृत्र को **बिलम्**=इस हृदय-रूप गुहा को, जिसपर कि कुछ देर के लिए इस काम (=वल) ने ही अधिकार कर लिया है **अपावः**=वज्र के प्रहार से काम को नष्ट करके खोल डालता है। 'क्रियाशील जीवन' ही वज्र है, इस वज्र से इन्द्र=जीव काम को नष्ट कर डालता है। इस बिल के खुलते ही, काम-रूप पर्दे के हटते ही ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है और २. **त्वाम्**=इस बल नामक असुर का नाश करनेवाले को **देवाः**=सब दिव्यवृत्तियाँ **आविषुः**=व्याप्त कर लेती हैं, तेरा जीवन दिव्यतामय हो जाता है। ये देव **अबिभ्युषः**=भय से रहित हैं। दिव्यवृत्तियों का प्रारम्भ 'अभय' से ही होता है। ये देव **तुज्यमानसः**=(to guard, to protect) सदा रक्षित किये जाने योग्य हैं। असुरों के सतत आक्रमण से इनके नाश का भय बना ही रहता है।

भावार्थ—हम 'वल'=ज्ञान के आवरणभूत काम का संहार कर हृदय को ज्ञान-रश्मियों से द्योतित करें और जीवन को दिव्यवृत्तियों से व्याप्त करें। इस असुर का संहार करके ही हम सब 'जेता' बनते हैं।

ऋषिः—**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

शूर व सिन्धु

तवाहं शूर रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुमावदन्।
उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः॥ ६॥

१. गत मन्त्र का 'जेता' वल का विदारण करनेवाला प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **शूर**=मेरे शत्रुओं के शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अहम्**=मैं **तव**=तेरे **रातिभिः**=दानों से **सिन्धुम्**=(स्यन्दते) सब दानों के प्रवाह जिनसे चलते हैं उन आपको **आवदन्**=प्रत्येक विजय में प्रशंसित करता हुआ **प्रत्यायम्**=प्राप्त होता हूँ। मैं इन विजयों को अपना न समझकर आपसे होती हुई ही जानता हूँ। २. **गिर्वणः**=गिराओं का सेवन करनेवाले अथवा इन वाणियों से उपासन करनेवाले **उपातिष्ठन्त**=आपकी उपासना करते हैं। ३. और ये **कारवः**=कलात्मक प्रकार से कार्यों को

करनेवाले **ते**=(तव) आपकी **तस्य**=उस विजय को **विदुः**=जानते हैं। उनको विजय का गर्व नहीं होता, वे स्पष्ट समझते हैं कि आपकी ही शक्ति उनके माध्यम से उस विजय को कर रही है।

भावार्थ–प्रभु ही शूर हैं, हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हैं। वे ही 'सिन्धु' हैं, सारे दानप्रवाह उनसे ही चलते हैं। प्रभु की दी हुई शक्तियों से ही मनुष्य विजयी होता है, अतः 'कारू' पुरुष इस विजय को प्रभु का ही समझते हैं।

ऋषिः–**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः–**गान्धारः**॥

शुष्ण का संहार

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः।
विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर॥७॥

१. हे **इन्द्र**=सब असुरों के (आसुरवृत्तियों के) संहार करनेवाले प्रभो! **मायिनम्**=नानाविध कपटों से युक्त, अशोभनीय रूपों के धारण करनेवाले **शुष्णम्**=विरहाग्नि में सुखा देनेवाले इस काम-रूप असुर को **त्वम्**=आप ही **मायाभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा **अवातिरः**=सुदूर हिंसित करनेवाले हो। प्रभु के बिना इस शोषक काम को कौन नष्ट कर सकता है? मनुष्य के लिए इसे नष्ट कर सकना सम्भव नहीं। इसे प्रभु ही जीतते हैं। महादेव की ज्ञान-ज्वाला (माया) में ही कामदेव भस्म होता है। २. **मेधिराः**=मेधावी लोग **ते**=आपकी **तस्य**=इस शुष्ण-नामक असुर पर विजय को **विदुः**=जानते हैं। वे समझते हैं कि यह विजय आपकी ही है। ३. हे प्रभो! आप **तेषाम्**=उन मेधावी पुरुषों के **श्रवांसि**=ज्ञानों व यशों को **उत्तिर**=बढ़ानेवाले होओ। आपकी कृपा से उनका ज्ञान व निरभिमानता के कारण यश बढ़ता ही जाए।

भावार्थ–प्रभु ही इस अत्यन्त मायावी काम को नष्ट करते हैं। मेधावी लोग इस बात को समझते हैं और इस विजय का गर्व न कर निरभिमान बने रहते हैं। इनका ज्ञान व यश बढ़ता चलता है।

ऋषिः–**जेता माधुच्छन्दसः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः–**गान्धारः**॥

सहस्रों व लाखों दान

इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमा अनूषत।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः॥८॥

१. **स्तोमाः**=साममन्त्रों द्वारा प्रभु का गायन करनेवाले लोग **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली परमात्मा की ही **अभ्यनूषत**=स्तुति करते हैं, उस इन्द्र की जो कि **ओजसा ईशानम्**=अपनी ओजस्विता से सबके ईशान, वश में करनेवाले हैं। वस्तुतः 'इन्द्र हो और ओजस्वी न हो' यह नहीं हो सकता। साथ ही 'ओजस्वी हो और ईशान न हो' यह भी असम्भव है। इस प्रकार प्रभु इन्द्र हैं, ओजस्वी हैं और ईशान हैं। ईशान वे प्रभु हैं **यस्य**=जिनके **रातयः**=दान **सहस्रम्**=हज़ारों हैं, **उत वा**=हज़ारों ही क्या प्रत्युत **भूयसीः सन्ति**=इनसे भी अधिक ही हैं। सोचना तो यह होगा कि प्रभु ने हमें क्या नहीं दिया? ऐसा सोचने पर हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि प्रभु के दान अनन्त हैं। इन अनन्त दानों से ही वे हमें उस-उस क्षेत्र में विजयी कराते हैं।

भावार्थ–प्रभु इन्द्र ओजस्वी व ईशान हैं। उनके दान अनन्त हैं।

विशेष–इस सूक्त में 'जेता' (मन्त्र का ऋषि) प्रभु को ही जीवन-रथ का सारथि

मानकर चलता है (१)। उसकी मित्रता में वह अभय अनुभव करता है (२)। प्रभु के रक्षण में पूर्ण विश्वास के साथ चलता है, प्रभु उसे सब मघों के देनेवाले हैं (३)। प्रभु के रक्षण में वह अनन्त शक्तिवाला बन जाता है, (४)। प्रभु के साहाय्य में 'वल' व 'शुष्ण' का संहार करता है (५-७)। इन सब विजयों को वह प्रभु की ही मानता है, उनका उसे अहंकार नहीं होता (८)। अब उस प्रभु को वह अपने जीवन-यज्ञ का संचालक समझते हुए कहता है कि-

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

[१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अग्नि-वरण

अ॒ग्निं दू॒तं वृ॑णीमहे॒ होता॑रं वि॒श्ववे॑दसम्। अ॒स्य य॒ज्ञस्य॑ सु॒क्रतु॑म्॥ १ ॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि काण्व' है। यह मेधा के साथ अपनी सब क्रियाओं को करता है (मेधया अतति)। यह संसार में प्रकृति व परमात्मा का वरण (चुनाव) उपस्थित होने पर परमात्मा का ही चुनाव करता है और कहता है कि हम तो **अग्निम्**=उन सब उन्नतियों के साधक अग्रणी प्रभु का ही **वृणीमहे**=वरण करते हैं। वे प्रभु **दूतम्**=(दु=उपतापे) हमारे मलों को तपस्या की अग्नि में तपाकर शुद्ध करनेवाले हैं २. **होतारम्**=वे हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। ३. **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों के मालिक हैं। ४. **अस्य यज्ञस्य**=इस मेरे जीवन-यज्ञ के **सुक्रतुम्**=उत्तम कर्ता हैं। प्रभु-कृपा से ही हमारा जीवन-यज्ञ चलता है, प्रभु-कृपा के बिना यह जीवन यज्ञमय नहीं रह सकता।

भावार्थ—प्रभु 'अग्नि, दूत, होता, विश्ववेदस् व जीवन-यज्ञ' के सुक्रतु हैं। हम उस प्रभु का ही वरण करते हैं। प्रभु-वरण से आवश्यक प्राकृतिक भोग तो प्राप्त हो ही जाते हैं, प्रकृति में फँसने से होनेवाली दुर्गति से हम बच जाते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पुरुप्रिय का आह्वान

अ॒ग्निम॑ग्निं॒ हवी॑मभिः॒ सदा॑ हवन्त वि॒श्पति॑म्। ह॒व्य॒वाहं॑ पुरुप्रि॒यम्॥ २ ॥

१. जो भी संसार में समझदारी से चलते हैं वे **अग्निम्**=अग्रणी परमात्मा को और **अग्निम्**=उस परमात्मा को ही **हवीमभिः**=आह्वान (पुकारने) के साधनभूत मन्त्रों से **सदा**=हमेशा **हवन्त**=पुकारते हैं। प्रकृति का चुनाव करने से मनुष्य घाटे में ही रहता है। ठीक-ठीक बात तो यह है कि कुछ अपने ज्ञान को भी खो बैठता है। २. एक 'मेधातिथि' (समझ से चलनेवाला) जानता है कि वे प्रभु **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पति=पालक व रक्षक हैं और जब प्रभु रक्षक हैं तब हमें भय ही किस बात का? ३. वे प्रभु **हव्यवाहम्**= सब हव्य=पवित्र, यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। ४. **पुरुप्रियम्**=वे प्रभु पालक व पूरक हैं। हव्यपदार्थों के प्रापण से वे हमारा रक्षण करते हैं और हमारी सब न्यूनताओं को दूर करते हैं, अतएव वे प्रभु प्रिय हैं, सभी को तृप्त करनेवाले व अच्छे लगनेवाले हैं। एक प्रभु-भक्त को अन्त में प्रभु के अतिरिक्त कुछ रुचता नहीं। प्रभुदर्शन व प्राप्ति में वह भक्त एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्रभु 'विश्पति, हव्यवाह व पुरुप्रिय' हैं। उस अग्नि नामवाले प्रभु को ही मेधातिथि लोग पुकारते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवों का आवाहन

अग्ने॑ दे॒वाँ इ॒हा व॑ह जज्ञा॒नो वृ॒क्तब॑र्हिषे। असि॒ होता॑ न॒ ईड्यः॑ ॥ ३ ॥

१. हे **अग्ने**=हमारी सम्पूर्ण अग्रगति के साधक प्रभो! **इह**=इस जीवन में **वृक्तबर्हिषे**=जिसने अपने हृदयान्तरिक्ष को सब वासनाओं से वर्जित (वृक्त) किया है, उस पवित्रहृदय पुरुष के लिए **देवान्**=सर्व दिव्यगुणों को **आवह**=प्राप्त कराइए। वासनाशून्य हृदय दिव्यगुणों के बीजों को बोने के लिए एक उर्वर क्षेत्र के रूप में तैयार किया गया है, उसमें ये उत्तम बीज न बोये जाएँगे तो यहाँ फिर वासनाओं के झाड़-झंखाड़ों के उग आने की आशंका तो है ही। २. हे प्रभो! आप ही **होता**=हमारे लिए इन गुणों को पुकारनेवाले हैं अथवा सब अच्छाइयों के आप ही देनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही हम अपने जीवन-मार्ग में आगे और आगे बढ़ते हैं। ३. **नः ईड्यः**=आप ही हमसे स्तुति करने योग्य हैं, आपको ही हम अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। हम आप तक पहुँच सकें, अतः हम आपके ही गुणों का ध्यान करते हैं। ४. हे प्रभो! **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होते हुए आप हममें दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाले हैं। महादेव के आने पर देव तो आएँगे ही। प्रभु का प्रकाश होने पर वहाँ से अन्धकार में पनपनेवाले आसुर-भाव नष्ट हो जाते हैं। महादेव की तृतीय नेत्रज्योति से कामदेव भस्म हो जाते हैं, तो मेरे हृदय में भी महादेव के प्रकट होने पर काम का भस्म हो जाना निश्चित ही है और तब सब दिव्यगुणों का विकास क्यों न होगा?

भावार्थ—हे प्रभो! हृदयों में प्रकट होते हुए आप सब दिव्यगुणों का प्रादुर्भाव करिए। आप ही को तो हमें सब अच्छाइयों को प्राप्त कराना है, आप ही हमारे स्तुत्य हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विबोधन

ताँ उ॑श॒तो वि बो॑धय॒ यद॑ग्ने॒ यासि॑ दू॒त्य॑म्। दे॒वैरा स॑त्सि ब॒र्हिषि॑ ॥ ४ ॥

१. गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार 'प्रभु अपने भक्तों का दिव्यगुणों के साथ सम्बन्ध करते हैं' इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! सब देवों के अग्रणी प्रभो! **उशतः**=आपकी कामनावाले **तान्**=उन हम सबको **विबोधय**=विशिष्ट रूप से बोधवाला कीजिए। हमारे हृदयों को आप प्रकाशित कीजिए। हे अग्ने **यत्**=जो आप **दूत्यम्**=दूत-कर्म को **यासि**=प्राप्त होते हैं। अन्य दूत औरों के सन्देश को वहन किया करते हैं, आप अपने सन्देश को ही हमें प्राप्त कराते हैं, अथवा काव्यमय भाषा में कह सकते हैं कि आप इन सूर्यादि देवों के सन्देश को हम तक पहुँचा रहे हैं। हमें इन सूर्यादि देवों के साथ किस प्रकार वर्तना है, यही मानो उनका सन्देश है। प्रभु इस सन्देश को हमें वेद के द्वारा प्राप्त करा रहे हैं। उसे सुनकर हम अपने जीवन को अधिकाधिक उन्नत व सुखी कर सकते हैं। २. जब हम प्रभु के इस सन्देश को सुनते हैं, जब हमारे हृदय प्रकाशमय होते हैं तब हे प्रभो! **देवैः**=सब दिव्यगुणों के साथ **बर्हिषि**=हमारे वासनाशून्य हृदयों में **आसत्सि**=आप विराजमान होते हो।

भावार्थ—हममें प्रभु-प्राप्ति की कामना हो, हम प्रभु के सन्देश को सुनें, प्रभु हमारे

हृदयों में अवश्य विराजमान होंगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रक्षो-दहन

घृताहवन दीदिवः प्रति ष्म रिषतो दह। अग्ने त्वं रक्षस्विनः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विबोधन के होने पर हमारे हृदय घृत=मलों के क्षरण के द्वारा ज्ञान की दीप्तिवाले बनते हैं (घृ क्षरणदीप्त्योः)। हे **घृताहवन**=(घृतेन आहूयते) मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति के द्वारा आहूयमान प्रभो! प्रभु को पुकारने का अधिकार उसी को है जोकि अपने हृदयों के मलों को दूर करता है और ज्ञान को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील होता है। **दीदिवः**=हे दीप्ति से युक्त प्रभो! सहस्रों सूर्यों की दीप्ति के समान दीप्तिवाले परमात्मन्! आप **रिषतः**=हिंसा करनेवाले काम-क्रोधादि भावों को **प्रतिदह स्म**=निश्चय से दग्ध कीजिए। एक-एक वासना को विनष्ट करनेवाले आप हूजिए। २. हे **अग्ने**=सब दोषों को दग्ध करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप हममें विद्यमान **रक्षस्विनः**=क्रूरता आदि राक्षसी भावनाओं को **प्रतिदह**=दग्ध करनेवाले होइए। कोई भी राक्षसीभाव हमारे अन्दर जीवित न रहे। इनको विनष्ट करके हम दिव्य भावनाओं को अपने में विकसित करनेवाले हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आप अग्नि हैं, हिंसक व राक्षसी वृत्तियों को आप भस्म करनेवाले हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

क्रमिक आश्रम

अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः॥ ६॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में 'अग्नि' से मुख्यतया प्रभु का ग्रहण होता है। प्रभु के सम्पर्क में आने पर भक्त-जीव भी अग्नि-तुल्य बन जाता है। समाज में ये ब्रह्म के उपासक 'ब्राह्मण' अग्नि कहलाते हैं। इन्हीं ज्ञानाग्नि से दीप्त ब्राह्मणों को आचार्य पदवी पर अधिष्ठित होकर अपने अन्तेवासियों में भी ज्ञानाग्नि को दीप्त करना होता है। इसी बात को मन्त्र में इस रूप में कहते हैं कि **अग्निना अग्निः समिध्यते**=ज्ञानाग्नि से दीप्त 'अग्नि' नामक आचार्य से विद्यार्थी में **अग्नि**=ज्ञानाग्नि **समिध्यते**=दीप्त की जाती है। विद्यार्थी भी ज्ञान को प्राप्त करके 'अग्नि' नाम से कहलाने योग्य हो जाता है। वस्तुतः जीवन के प्रथमाश्रम में यही सबसे महान् कार्य हैं कि ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य से ज्ञान को प्राप्त करके हम भी 'अग्नि' बनने का प्रयत्न करें। २. अब द्वितीयाश्रम में हम **कविः**=क्रान्तदर्शी बनें, वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझें, आपातरमणीय विषयों के अन्दर हम फँस न जाएँ तथा व्यावहारिक सम्बन्धों को असली मानकर कहीं हम दुःखी न बन जाएँ, अपितु इन सम्बन्धों की व्यावहारिकता को समझते हुए हम **गृहपतिः**=एक सुन्दर घर का निर्माण करें। **युवा**=हमारा प्रयत्न हो कि बुराइयों को दूर करके (यु=अमिश्रण) अच्छाइयों का वहाँ मिश्रण (यु=मिश्रण) करनेवाले बनें। ३. इस प्रकार इस उत्तम घर के निर्माण के बाद गृहस्थ के कर्त्तव्यों से मुक्त होकर वानप्रस्थ होते हुए हम **हव्यवाट्**=हवि के योग्य पदार्थों का ही वहन करनेवाले बनें। मनु ने लिखा है कि—घर के अन्य परिच्छदों को छोड़कर **'अग्निहोत्रं समादाय'** यज्ञ-सम्बन्धी वस्तुओं को लेकर वनस्थ हो जाए। वानप्रस्थ में भी **एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद् विधिपूर्वकम्**=इन महायज्ञों को तो उसे करना ही है। सो वानप्रस्थ में इसका मुख्य कर्त्तव्य इन हवि के उपर्युक्त कर्मों को न नष्ट होने देना

है। ४. अब संन्यस्त होते हुए यह **जुह्वास्यः**= चम्मच के तुल्य मुखवाला होता है। जैसे चम्मच यज्ञाग्नि में घृत आदि के प्रक्षेप का साधन होता है, उसी प्रकार इसका मुख प्रजा-रूप अग्नि में ज्ञानरूप घृत की आहुति देनेवाला बनता है। एक संन्यासी यत्र-तत्र विचरता हुआ प्रजा में ज्ञान का प्रसार करता है। इसी में जीवन-यात्रा की पूर्ति है।

भावार्थ-प्रथमाश्रम में अपने में ज्ञान को समिद्ध करते हुए हम द्वितीयाश्रम में उत्तम 'गृहपति' बनें। वानप्रस्थ बनकर यज्ञों का वहन करते हुए 'तुरीयाश्रम' में ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनें।

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

सत्यधर्मा प्रभु का स्तवन

कविमग्निमुपं स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥ ७॥

१. मनुष्यमात्र को उसके मौलिक कर्त्तव्य का संकेत करते हुए कहते हैं कि **कविम्**=उस क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु की **उपस्तुहि**=उपासना व स्तुति कर, जो प्रभु **अग्निम्**=तेरी सब उन्नतियों को सिद्ध करनेवाले हैं, **सत्यधर्माणम्**=सत्य के द्वारा सबका धारण करनेवाले हैं, **अध्वरे देवम्**=(अ+ध्वर) हिंसाशून्य जीवन में अथवा कुटिलता से रहित जीवन में प्रकाश करनेवाले हैं तथा **अमीवचातनम्**=रोगों का विनाश करनेवाले हैं। २. वे 'अमीवचातन' प्रभु हमारे अन्नमयकोश को नीरोग बनाते हैं। वे 'देव' प्रभु हमारी इन्द्रियों को प्रकाशमय करते हैं। जहाँ हमारी कर्मेन्द्रियाँ अकुटिल (अ+ध्वर) कर्मों को करनेवाली होती हैं, वहाँ ज्ञानेन्द्रियाँ सदा उस-उस विषय का प्रकाश करती हैं। प्रभु 'सत्यधर्मा' हैं। सत्य के द्वारा वे हमारे मानस को पवित्र करते हैं और अन्ततः 'कवि' प्रभु हमारे विज्ञानमयकोश को भी ज्ञानदीप्त करके हमें क्रान्तदर्शी बनाते हैं। इस प्रकार ये प्रभु 'अग्नि'-हमारे 'अग्रणी'=आगे ले-चलनेवाले हैं। एवं, इस प्रभु की उपासना हमें नीरोग, कार्यक्षम, सत्य के द्वारा पवित्र मानसवाला तथा क्रान्तदर्शी बनाएगी।

भावार्थ-हम 'कवि, अग्नि, सत्यधर्मा, अध्वरे देव, अमीवचातन' प्रभु का स्तवन करें।

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

हविष्पति बनना

यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति। तस्य स्म प्राविता भव॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यः**=जो भी **हविष्पतिः**=दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञशेष के सेवन द्वारा **दूतम्**=भक्तों को तप की अग्नि में सन्तप्त करनेवाले हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले, ज्ञानाग्नि से दीप्त, ज्ञान से औरों को द्योतित करनेवाले प्रभो! जो **त्वाम्**=आपको **सपर्यति**=पूजता है, **तस्य**=उसके **प्राविता भव** (स्म)=अवश्य रक्षक होइए। २. प्रभु 'अग्नि' हैं, सबके अग्रेणी-आगे ले-चलनेवाले हैं। प्रभु 'देव' हैं, सब कुछ दान देनेवाले, स्वयं ज्ञान से दीप्त व औरों को ज्ञान से द्योतित करनेवाले हैं। प्रभु 'दूत' हैं, भक्तों को तप की अग्नि में तपाकर उनके सब दोषों को दूर करनेवाले हैं। ३. इस प्रभु की उपासना 'हविष्पति' बनने से होती है। **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा हम प्रभु का पूजन करें। 'हु दानादनयोः' दानपूर्वक अदन ही 'हवन' है। दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति 'हविष्पति' है। यज्ञमय जीवन से ही प्रभुपूजन होता है-'**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**' प्रभु यज्ञरूप हैं, उस प्रभु की पूजा यज्ञ से ही होती है। यज्ञशेष को खानेवाला 'हविष्पति' है, यही प्रभु की उपासना करता है। प्रभु हमारी रक्षा करेंगे।

भावार्थ—हविष्पति बनकर हम प्रभु का उपासन करें, प्रभु हमारी रक्षा करेंगे।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

हविष्मान् होना

यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति। तस्मै पावक मृळय॥ ९॥

१. **य:**=जो भी उपासक **हविष्मान्**=हविवाला, दानपूर्वक अदन करनेवाला बनकर **देववीतये**=सब दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **अग्निम्**=सब देवों के अग्रणी महादेव नामवाले आपको **आविवासति**=सदा उपासित करता है, हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **तस्मै**=उसके लिए **मृळय**=आप जीवन को सुखी करनेवाले होइए। २. प्रभु अग्नि हैं, सब देवों के अग्रणी हैं, देव 'देव' हैं तो प्रभु 'महादेव' हैं। सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। प्रभु पावक हैं, वे उपास्य के जीवन को पवित्र करनेवाले हैं। वस्तुत: प्रभु की उपासना से हमें सब दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। सब बुराइयों को समाप्त करने का मार्ग 'प्रभु का उपासन' ही है। ३. प्रभु की उपासना उपासक को 'हविष्मान्' बनाती है। वह व्यक्ति प्रभु का स्तोता कहलाता है जो प्राकृतिक भोगों में नहीं फँसता, त्यागपूर्वक ही पदार्थों का प्रयोग करता है। इस हविष्मान् के जीवन को प्रभु कल्याणमय करते हैं।

भावार्थ—'अग्नि व पावक' प्रभु की हम त्यागपूर्वक पदार्थों के प्रयोग से उपासना करें, वे प्रभु हमारे कल्याण को सिद्ध करेंगे।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

दिव्यता-यज्ञ-हवि

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ इहा वह। उप यज्ञं हविश्च नः॥ १०॥

१. हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **दीदिव:**=ज्योतिर्मय परमात्मन्! **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **स:**=वह आप **न:**=हमें पवित्र बनाकर (पावक) **इह**=इस मानव-जीवन में **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवह**=सब प्रकार से प्राप्त कराइए। प्रभु पावक हैं, हमारे जीवनों को पवित्र बनाकर हमें दिव्यता को प्राप्त कराते हैं। २. हे ज्ञान से दीप्त प्रभो! (दीदिव:) आप हमें भी अपने ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराइए और **न:**=हमें **यज्ञम् उप** (आवह)=यज्ञ के समीप प्राप्त कराइए, अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर, आपकी कृपा से हमारा जीवन यज्ञमय हो। ज्ञान के अभाव में ही विलास-प्रवणता बढ़ती है। ३. हे प्रभो! आप हमारी सब उन्नतियों के साधक हो (अग्ने)। आप हमें जहाँ यज्ञिय जीवनवाला बनाएँ **च**=वहाँ उसके साथ ही **हवि:**=दानपूर्वक अदन के भाव को भी प्राप्त कराइए। दानपूर्वक अदन करते हुए हम इस संसार के विषयों से बद्ध नहीं होते और हम जीवन में आगे बढ़ते चलते हैं, 'अ-सित'=विषयों से अ-बद्ध पुरुष ही प्राची=(प्र-अञ्चु) अग्रगति का रक्षक होता है।

भावार्थ—पावक प्रभु हमारे जीवनों को दिव्यगुणयुक्त बनाते हैं, प्रकाश के पुञ्ज प्रभु हमें यज्ञिय जीवनवाला करते हैं और अग्नि नामवाले वे प्रभु हमें हविर्मय जीवनवाला बनाकर उन्नति-पथ पर अग्रसर करते हैं।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

रयि-वीर्य-इष

स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा। रयिं वीरवतीमिषम्॥ ११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारे जीवन में 'दिव्यता, यज्ञ व हवि' को स्थान मिलता है तब हम सचमुच अपने जीवन (गया:=प्राणों) का उत्तम त्राण (त्र=रक्षा) व रक्षण करते हैं। इस प्राणशक्ति का रक्षण जीवन में प्रभु का उत्कृष्ट स्तवन होता है। हम प्रभु से दिये गये इस शरीर का रक्षण करते हुए प्रभु का ही आदर कर रहे होते हैं। प्रभु की वस्तु का रक्षण प्रभु का सच्चा स्तवन है, अतः कहते हैं कि **नवीयसा**=(नु स्तुतौ) स्तुत्यतर इस **गायत्रेण**=प्राणों के रक्षण से **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **रयिम्**=धनों को **आभर**=सब प्रकार से भरनेवाले होइए तथा **वीरवतीम्**=वीरतावाले **इषम्**=अन्न को भी **आभर**=सब प्रकार से दीजिए। अथवा **वीरवती**=वीर्य व शक्ति से युक्त **रयिम्**=धन को दीजिए और साथ ही **इषम्**=प्रेरणा प्राप्त कराइए, ताकि हम उस शक्ति व धन का सदा ठीक से प्रयोग करें, मद में आकर शक्ति व धन का दुरुपयोग न कर बैठें। २. यहाँ मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि प्रभु का उत्कृष्ट स्तवन यही है कि हम प्रभु के दिये हुए शरीर को प्राणशक्ति के रक्षण के द्वारा सुरक्षित रखें। इसके सुरक्षण के लिए ही मन्त्र में 'धन, वीर्य व उत्तम अन्न अथवा उत्तम प्रेरणा' के लिए प्रार्थना की गई है।

भावार्थ—शरीर की प्राणशक्ति का रक्षण करते हुए हम प्रभु का सुन्दर स्तवन करें, प्रभु हमें धन, वीर्य व इष=अन्न व प्रेरणा प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शुक्रशोचिः—देवहूति (ज्ञानज्योति व दिव्यता)

अग्ने॑ शु॒क्रेण॑ शो॒चिषा॒ विश्वा॑भिर्दे॒वहू॑तिभिः। इ॒मं स्तोमं॑ जुषस्व नः ॥ १२ ॥

१. गतमन्त्रों में 'मेधातिथि काण्व' की प्रार्थना सुनकर प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले मेधातिथि! तू **शुक्रेण शोचिषा**=निर्मल ज्ञानदीप्ति के हेतु से तथा **विश्वाभिः**=सब **देवहूतिभिः**=देवताओं के आह्वान के हेतु से अर्थात् दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त **इमम्**=इस **नः**=हमारे **स्तोमम्**=स्तुति-समूह को, इन मन्त्रों के द्वारा किये जानेवाले गुणों के गायन को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला बन। २. प्रभु-भक्ति से उच्च लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न होकर हमारे जीवन को उन्नत करती है। हमें अशुभ बातों की ओर से हटाकर यह प्रभु-भक्ति उत्कृष्ट गुणों को धारण कराती है। एवं हमारे जीवन में प्रभु-भक्ति से देवों का आह्वान होता है, हमारे हृदय-मन्दिर में इन दिव्यगुणों का प्रतिष्ठापन होता है। ३. प्रभुभक्ति से ही वासनाओं का विनाश होकर हमारी ज्ञान की ज्योति (शोचिः) भी चमक उठती है (शुक्र)। एवं, प्रभु के आदेश के अनुसार हम सोमों का सेवन करनेवाले बनें। इससे हमारे ज्ञान की ज्योति भी चमकेगी और हमारे अन्दर दिव्यगुणों का स्थापन होगा।

भावार्थ—प्रभुभक्ति हमारी दिव्यता व ज्ञानज्योति का वर्धन करती है।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ प्रभु-वरण से होता है (१)। वे प्रभु हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते हैं तो वहाँ सब दिव्यगुण भी पनपते हैं, (३-४)। प्रभु हमारी घातक वासनाओं को व राक्षसी भावों को दग्ध कर देते हैं (५), अतः हमें, चाहिए कि दानपूर्वक अदन की वृत्ति को अपनाकर हम प्रभु का पूजन करें, प्रभु हमारी रक्षा करेंगे (८)। वे हमारे जीवन को सुखी बनाएँगे, (९)। प्रभुकृपा से हमें दिव्यता, यज्ञ व हविर्मय जीवन प्राप्त होगा, (१०)। वे प्रभु हमें रयि, वीर्य व इष प्राप्त कराएँगे (११)। अब दिव्यगुणों के आह्वान की प्रार्थना से ही अग्रिम सूक्त का प्रारम्भ होता है। यहाँ 'देवहूति' (१२.१२) शब्द का स्थान 'सुसमिद्धः' (१३.१) ने

ले-लिया है। जब प्रभु का प्रादुर्भाव व प्रकाश होगा तभी दिव्यगुणों की प्राप्ति होगी (जनी प्रादुर्भावे, इन्ध=दीप्तौ)।

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इध्मः समिद्धो वाऽग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुसमिद्ध अग्नि (पवित्रता व प्रभु-प्राप्ति)

सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते। होतः पावक यक्षि च॥ १॥

१. पिछले सूक्त के तृतीय मन्त्र में कहा था कि 'अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानः'। यहाँ भी कहते हैं कि 'सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने'। शेष शब्द वही के वही हैं, केवल 'जज्ञानः' का स्थान 'सुसमिद्धः' ने ले लिया है, अर्थ समान है। **सुसमिद्धः**=खूब दीप्त होते हुए, हमारे हृदयों में प्रकाश करते हुए **अग्ने**=हे सब देवों के अग्रणी प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवह**=प्राप्त कराइए। जब हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश होगा तो वहाँ दिव्यगुणों का विकास होगा ही। २. हे प्रभो! आप **हविष्मते**=प्रशस्त हविवाले के लिए, अर्थात् उस पुरुष के लिए जो सदा दानपूर्वक ही अदन करता है, देवों को प्राप्त कराएँगे ही। देवों का मूल गुण व स्वभाव यही है कि वे देनेवाले हैं (देवो दानात्-निरु०), देकर बचे हुए को ही वे खाते हैं। इस प्रकार भोगवृत्ति से ऊपर उठने के कारण ही उनमें दिव्यगुणों का विकास होता है। २. हे **होतः**=सब दिव्य भावों को प्राप्त करानेवाले **पावक**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभो! आप हमें देव तो बनाते ही हैं **च**=और आप हमें **यक्षि**=अपने साथ संगत कीजिए। जितना-जितना हमारा प्रभु से मेल होगा उतना-उतना हमारा जीवन अधिक पवित्र होगा। जितना-जितना जीवन पवित्र होगा उतना-उतना प्रभु के हम अधिक समीप होंगे। इस प्रकार पवित्रता व प्रभु-प्राप्ति में परस्पर भावन है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में पवित्रता व प्रभु-प्राप्ति का परस्पर भावन चले। ये दोनों बातें हमें ऊँचा उठानेवाली हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**तनूनपात्**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तनूनपात् (माधुर्यमय मेल)

मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे। अद्या कृणुहि वीतये॥ २॥

१. उसी प्रार्थना को कुछ विस्तार से करते हुए मेधातिथि (=ज्ञानपूर्वक जीवन-यात्रा को चलानेवाला व्यक्ति) कहता है कि हे **तनूनपात्**=हमारे शरीरों को न पतित होने देनेवाले प्रभो! हे क्रान्तदर्शिन् प्रभो! आप **मधुमन्तं यज्ञम्**=इस अत्यन्त माधुर्यवाले संगतीकरण को, हमारे अपने से मेल को **अद्या कृणुहि**=आज ही कीजिए। २. इस मेल का माधुर्य इस बात में है कि **देवेषु**=यह देवों के निमित्त होता है। इस मेल से हममें सब दिव्यगुणों का विकास होता है। आपके साथ सब देवों का आना स्वाभाविक ही है। सब देव आपका ही तो अनुगमन करते हैं। ३. **वीतये**=यह मेल 'वीति' के लिए होता है (वी=गति) हमारे जीवनों में प्रकृष्ट गति का कारण होता है; (वी=प्रजनन) यह प्रकृष्ट गुणों को, विकास को उत्पन्न करता है; (वी=कान्ति) इस मेल से हमारे जीवनों में एक अद्भूत कान्ति आ जाती है; (वी=असन) यह मेल हमसे सब दुर्गुणों को दूर फेंकनेवाला होता है और (वी=खादने) हमारा आपसे यह मेल हमारी सब राक्षसी वृत्तियों का अन्त करनेवाला होता है। इस प्रकार यह मेल सचमुच मधुरतम होता है।

भावार्थ–प्रभु हमारे उत्थान का कारण हैं। प्रभु से मेल हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का विकास करता है तथा बुराइयों का नाश करके दीप्ति लाता है। इस प्रकार यह मेल अत्यन्त मधुर है।

ऋषि:–**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता–**नराशंस:**॥ छन्द:–**गायत्री**॥ स्वर:–**षड्ज:**॥

हविष्कृत् मधुजिह्व

नरा॒शंस॑मि॒ह प्रि॒यम॒स्मिन् य॒ज्ञ उप॑ ह्वये। मधु॑जिह्वं हवि॒ष्कृत॑म्॥ ३॥

१. **अस्मिन् यज्ञे**=गतमन्त्र में वर्णित **'मधुमान् यज्ञ'**=माधुर्य मेल के निमित्त **इह**=इस मानव-जीवन में प्रभु को **उपह्वये**=पुकारता हूँ, जो प्रभु **नराशंसम्**=मनुष्यों से शंसन के योग्य हैं। प्रभु का शंसन (गुणों का उच्चारण) ही हमारी उन्नति का कारण बनकर हमें 'नर' बनाता है, (नृ नये) यही हमें उन्नति-पथ पर आगे ले-चलता है, ३. **प्रियम्**=(प्रीणाति) वे प्रभु हमें प्रीणित करनेवाले हैं। प्रभु की प्राप्ति ही एक अनिर्वचनीय आनन्द के द्वारा तृप्ति को देनेवाली है, ४. **मधुजिह्वम्**=वे प्रभु माधुर्यमय जिह्वावाले हैं, अर्थात् हृदयस्थ होकर अत्यन्त मधुरता से निरन्तर सत्प्रेरणा दे रहे हैं, ५. और इस प्रेरणा के द्वारा **हविष्कृतम्**=हमारे जीवनों में हवि को करनेवाले हैं। प्रभु के मेल में हम उस आनन्द का अनुभव करते हैं जिसके सामने संसार के सब भोग अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं, अत: इन भोगों के आकर्षण के समाप्त हो जाने से हमारा जीवन हविर्मय हो जाता है। उस समय हम स्वाद के लिए न खाकर क्षुधारूप रोग की निवृत्ति के लिए खा रहे होते हैं।

भावार्थ–हम 'नराशंस-प्रिय, मधुजिह्व, हविष्कृत' प्रभु का आह्वान करें, ताकि उस प्रभु से हमारा मेल हो सके।

ऋषि:–**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता–**इळ:**॥ छन्द:–**गायत्री**॥ स्वर:–**षड्ज:**॥

सुखतम-रथ

अग्ने॑ सु॒खत॑मे॒ रथे॑ दे॒वाँ ई॑ळि॒त आ व॑ह। असि॒ होता॒ मनु॑र्हितः॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! आप **ईळित:**=हमसे स्तुति किये हुए **सुखतमे रथे**=इस अत्यन्त उत्तम इन्द्रिय-(ख)-रूप घोड़ेवाले शरीररूप रथ में **देवान्**=देवों को **आवह**=सब प्रकार से प्राप्त कराइए। जिस समय हम इस शरीर का रोगादि के आक्रमण से रक्षण करते हैं और एक-एक इन्द्रिय की शक्ति को क्षीण नहीं होने देते, उस समय हम प्रभु की इस धरोहर की रक्षा करने से प्रभु की सच्ची उपासना कर रहे होते हैं। इस पूर्ण स्वस्थ शरीर में और इन्द्रियों की शक्ति का उत्तम विकास होने पर प्रभु हमारे हृदयों में दिव्यगुणों का विकास करते हैं। यही देवों का आह्वान है। शरीर अस्वस्थ हो, इन्द्रियाँ जीर्ण शक्तिशाली हों, तो वह शरीर दिव्यगुणों का अधिष्ठान बनने की योग्यता नहीं रखता। २. हे प्रभो! आप **होता**=सब अच्छाइयों के दाता हो, आपकी कृपा से ही सब दिव्यगुण प्राप्त हुआ करते हैं। ३. **मनुर्हित:**=(मनुना मन्त्रेण हित:) ज्ञान के द्वारा आप कल्याण करनेवाले हैं। प्रभु का कल्याण करने का प्रकार यही है कि वे ज्ञान देते हैं और मार्ग के स्पष्ट होने से हमारा उसपर चलना सुगम हो जाता है। मार्ग पर चलनेवाला कभी अवसाद व विनाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ–हम शरीर-रथ को उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनाएँ। यही हमारा प्रभु-पूजन होगा। आराधित प्रभु हमें दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाले होंगे। सब अच्छाइयों के देनेवाले वे प्रभु ही तो हैं। वे प्रभु ज्ञान के द्वारा आराधक का कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**बर्हिः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

बर्हिः (निर्मल हृदय)

स्तृणीत बर्हिरानुषग् घृतपृष्ठं मनीषिणः। यत्रामृतस्य चक्षणम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार स्वस्थ शरीर में तथा उत्तम इन्द्रियों के होने पर हे **मनीषिणः**=बुद्धि द्वारा मन पर शासन करनेवाले विद्वानो! तुम **घृतपृष्ठम्**=निर्मल व देदीप्यमान पृष्ठवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **आनुषक्**=निरन्तर **स्तृणीत**=बिछाओ। जैसे विद्वान् अतिथि के बैठने के लिए कमरे में निर्मल बिस्तर (आसन्) को बिछाया जाता है, इसी प्रकार इस शरीर-रूप घर में जोकि उत्तम इन्द्रिय-रूप उपकरणों से सुसज्जित है, उत्तम हृदयरूप आसन को बिछाना है। इस आसन पर किसी प्रकार का मल न हो, यह **घृतपृष्ठ**=देदीप्यमान पृष्ठवाला हो। बर्हिः की भावना भी यही है कि जिसमें से वासनाओं का उद्-बर्हण कर दिया गया है। २. यह हृदयरूप आसन वह है **यत्र**=जहाँ प्रभु आकर विराजमान होते हैं और **अमृतस्य**=उस अमृत प्रभु का जीव को **चक्षणम्**=दर्शन हुआ करता है। पवित्र हृदय में ही प्रभु का प्रकाश होता है। 'प्रभु सर्वव्यापक है' यह बात ठीक है, यह ठीक ही है कि वे पाषाणादि में भी हैं, परन्तु वहाँ जीव को प्रभु का दर्शन इसलिए नहीं होता कि उन पाषाणादि में जीव नहीं है। द्रष्टा नहीं है तो देखेगा कौन? हृदय में दर्शनीय प्रभु भी हैं और द्रष्टा जीव भी है, अब इस हृदयस्थली में ही प्रभु का दर्शन होता है। होता तभी है जब यह स्थली अत्यन्त निर्मल होती है।

भावार्थ—हम मनीषी बनकर हृदय को निर्मल बनाएँ। इस निर्मल हृदय में ही प्रभुदर्शन होगा।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**देवीर्द्वारः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ऋतावृध् द्वार

वि श्रयन्तामृतावृधो द्वारो देवीरसश्चतः। अद्या नूनं च यष्टवे॥ ६॥

१. इस शरीररूप नगरी में इन्द्रियाँ ही द्वार हैं-**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या**' यह शरीररूप देवनगरी आठ चक्रोंवाली व नौ द्वारोंवाली है। **'पुरमेकादशद्वारम्'** यह शरीररूप पुर ११ द्वारोंवाला है-'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' ये सात द्वार हैं, दो अधोद्वार (पायु व उपस्थ) मिलकर ये ९ हो जाते हैं, नाभि व ब्रह्मरन्ध्र के मिलने पर इनकी संख्या ११ हो जाती है। ये **द्वारः**=इन्द्रिय-द्वार **विश्रयन्ताम्**=विशेषरूप से पुरुष का आश्रय करनेवाले हों। ये द्वार पुरुष में **ऋतावृधः**=ऋत का वर्धन करनेवाले हों, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय ठीक कार्य करनेवाली हो। ये द्वार **देवीः**=प्रकाशमय हों—(दिव् द्युति)। एक-एक ज्ञानेन्द्रिय अपने-अपने विषय का ठीक प्रकार से प्रकाश करे। **असश्चतः**=(सश्च, to stick, cling) ये इन्द्रिय-द्वार विषयों से चिपक न जाएँ। आसक्ति ही तो सब उन्नतियों व विकासों को समाप्त करनेवाली है। २. इस प्रकार ऋत का वर्धन करनेवाले=नियमितता से कार्यों को करनेवाले प्रकाशमय (देवीः) अनासक्त होकर विषयों में विचरनेवाले इन्द्रिय-द्वार इसलिए हमारा आश्रय व सेवन करें कि हम **अद्या**=आज से ही, अभी से ही **नूनम्**=निश्चयपूर्वक **यष्टवे**=यज्ञ के लिए हों—हमारा जीवन यज्ञशील हो जाए। ३. इन्द्रियों के 'ऋतावृध्' होने का अभिप्राय यही तो है कि वे यज्ञ में प्रवृत्त हैं, **असश्चतः**=वे भोगों से निवृत्त हैं, अतएव

देवी:=प्रकाशमय हैं। ऐसे ही इन्द्रिय-द्वार हमारे जीवन को यज्ञमय बनाने में सहायक होते हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ 'ऋतावृध्' देवी तथा 'असश्चत्' हों, ताकि हमारा जीवन अभी से यज्ञमय हो जाए।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**उषासानक्ता**॥ छन्द:—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

नक्तोषासा (रात-दिन)

नक्तोषासा सुपेशसास्मिन् यज्ञ उप ह्वये। इदं नो बर्हिरासदे॥ ७॥

१. इस सूक्त के मन्त्र १, २ तथा ३ में प्रभु से जीव के मेल को 'यज्ञ' कहा गया है। 'यज संगतीकरण'=जीव का प्रभु से मेल। **अस्मिन् यज्ञे**=इस मेल के निमित्त मैं **सुपेशसा**=उत्तम रूपवाले **नक्तोषासा**=दिन व रात को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। पेशस् शब्द का अर्थ=आकृति है। मेरा एक-एक दिन-रात इस प्रकार का हो जोकि मेरे जीवन को सुन्दर आकृतिवाला बनाये। २. मैं ऐसे ही दिन-रात को **न:**=हमारे **इदं बर्हि:**=इस पवित्र हृदय में **आसदे**=आसीन होने के लिए (उपह्वये)=पुकारता हूँ। मेरे हृदय में सदा इस बात का विचार हो कि मेरा प्रत्येक दिन व प्रत्येक रात सुन्दर बीते। ये दिन-रात मेरे जीवन को अधिकाधिक सुन्दर बनानेवाले हों। मैं दिनदूनी रात चौगुनी उन्नति करता चलूँ। यह उन्नति ही तो प्रभु से मेरा मेल करानेवाली होगी।

भावार्थ—मेरा प्रत्येक दिन मुझे और अधिक सुन्दर जीवनवाला बनानेवाला हो। मेरे हृदय से यह भावना दूर न हो कि नक्त=रात्रि (नज् to be modest, bashful) मुझे उचित लज्जाशील=ह्रीनिषेव बनाये, अर्थात् मैं पापकर्म करने में संकोच करूँ, सब लज्जा को परे फेंककर पापप्रवत्त न हो जाऊँ तथा उषस् (उष् दाहे) मुझे सब पापवृत्तियों का दहन करनेवाला बनाये। ऐसा होने पर प्रभु से मेरा मेल (=यज्ञ) क्यों न होगा?

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**दैव्यौ होतारौ, प्रचेतसौ**॥ छन्द:—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

दैव्या होतारा (प्राणापान)

ता सुजिह्वा उप ह्वये होतारा दैव्या कवी। यज्ञं नो यक्षतामिमम्॥ ८॥

१. ऐतरेय २।४ में **'प्राणापानौ वा दैव्या होतार:'** इन शब्दों में प्राणापान को 'दैव्य होता' कहा है। ये उस देव=प्रभु की प्राप्ति के साधक हैं अत: 'दैव्य' हैं, ये अधिक-से-अधिक दानपूर्वक अदन करनेवाले हैं सो होता हैं। शरीर में प्राणापान के द्वारा ही सब अन्न का ग्रहण होता है तथा इस अन्न का पाचन भी प्राणापान से युक्त वैश्वानर अग्नि (जठराग्नि) करती है-**'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित:,। प्राणापानसमायुक्त: पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥'** परन्तु प्राणापान इससे उत्पन्न धातुओं का अंग-प्रत्यंग के पोषण के लिए दान कर देते हैं। स्वयं तो ये प्राणापान इस शरीर में पहरेदार का ही काम करते हैं—सदा जागरित रहते हैं। इन **दैव्या होतारा**=प्राणापानों को **उपह्वये**=मैं पुकारता हूँ, इनकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ। २. **ता**=वे प्राणापान **सुजिह्वा**=उत्तम जिह्वावाले हैं। प्राणापान की शक्ति के ठीक होने पर मेरे मुख से कड़वे शब्द नहीं निकलते। इनकी शक्ति के क्षीण होने पर ही मैं चिड़चिड़े स्वभाववाला बन जाता हूँ और अपशब्द बोलने लगता हूँ। ३. ये प्राणापान **कवी**=क्रान्तदर्शी हैं, ये मेरी बुद्धि

को तीव्र बनाकर मुझे तत्त्वद्रष्टा बनाते हैं। ४. ये प्राणापान **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=प्रभु से मेल को **यक्षताम्**=करनेवाले हों। प्राणापान द्वारा कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होकर सुषुम्णा नाड़ी से उसका ऊर्ध्वगमन होता है और मेरुदण्ड के शिखर पर स्थित इन्द्र से इसका मेल हो जाता है। यही रहस्यमयी भाषा में 'पार्वती व प्रभु' का परिणय है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना करने पर हम मधुरभाषी, तत्त्वद्रष्टा व प्रभु से मेलवाले बनते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**तिस्रो देव्यः—सरस्वतीळाभारत्यः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इडा-सरस्वती-मही

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करने पर हमारी वाणी मधुर होती है। यही 'मधुरवाणी' प्रस्तुत मन्त्र में 'इडा' देवी है। प्राणसाधना का द्वितीय लाभ गतमन्त्र के अनुसार यह है कि हम कवि, तत्त्वद्रष्टा, तीव्र बुद्धिवाले बनते हैं। यही 'सरस्वती' की आराधना है। प्राणसाधना का तृतीय लाभ 'प्रभु से मेल=यज्ञ' है। यही 'मही' (मह पूजायाम्)=परमेश्वर की उपासना है। इस 'मही' का ही अन्य मन्त्रों में 'भारती' नाम है, भारती की भावना है—'धारण-पोषण' करना। वस्तुतः लोकों का भरण व पोषण, लोकहित में लगे रहना ही परमेश्वर की सच्ची उपासना है। ये **तिस्रः देवीः**=तीनों दिव्य भावनाएँ **मयोभुवः**=हमारे कल्याण का भावन करनेवाली हैं। **इडा**=मधुरवाणी हमारे सामाजिक कष्टों को दूर करती है, **सरस्वती**=तत्त्वज्ञान हमारे लिए प्राकृतिक पदार्थों को सुखद बना देता है तथा **मही**=प्रभुपूजा हमें **अमितौजा**=अनन्त शक्तिवाला बनाकर कल्याणयुक्त करती है। ३. ये तीनों दिव्य भावनाएँ **अस्रिधः**=क्षय व शोषण से रहित हुई-हुई **बर्हिः सीदन्तु**=मेरे हृदय में आसीन हों, अर्थात् मैं इनको न भूलूँ और ये मुझसे उपासित होकर मुझे क्षय व शोषण से बचाएँ। इनकी उपासना मुझे सब प्रकार से अहिंसित करे।

भावार्थ—मैं 'इडा, सरस्वती व मही' को अपने हृदय में स्थान दूँ। ये मेरा कल्याण करनेवाली हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**त्वष्टा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

त्वष्टा-अग्रिय-विश्वरूप

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये। अस्माकमस्तु केवलः॥ १०॥

१. **इह**=इस जीवन में मैं उस प्रभु को **उपह्वये**=पुकारता हूँ, जो प्रभु **त्वष्टारम्**=(त्विष् दीप्तौ) स्वयं ज्ञान से दीप्त हैं और हमें ज्ञान से द्योतित करनेवाले हैं, अथवा (त्वक्षतेर्वा करोति कर्मणः) सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेवाले हैं, सब सूर्यादि देवों के शिल्पी हैं। हमारे जीवनों को भी उत्तम रूप देनेवाले हैं। २. **अग्रियम्**=वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'। ३. **विश्वरूपम्**=ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थों का निरूपण करनेवाले हैं। वेद में प्रभु ने तृण से लेकर सूर्यपर्यन्त सब वस्तुओं का प्रतिपादन किया है। उस ज्ञान को प्राप्त करके हम इन सब पदार्थों से सुख का साधन कर सकते हैं। ४. **अस्माकम्**=हमारा यह **के-वलः**=आनन्द में विचरण करनेवाला प्रभु ही **अस्तु**=हो। हम प्रकृति के दास न बन जाएँ।

यदि बन गये तो प्रकृति की जड़ता को ही प्राप्त करेंगे, अपनी अल्प चेतना को भी खो बैठेंगे। प्रभु-भक्त बनकर उस आनन्दमय प्रभु के आनन्द में भागी होंगे। एवं, हमारा तो वह प्रभु ही हो, उसी के हम उपासक बनें।

भावार्थ-प्रभु 'त्वष्टा, अग्रिय व विश्वरूप' हैं। हम उस प्रभु के ही होकर रहें।

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**वनस्पतिः**॥ छन्दः-**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

चैतन्य

अव॑ सृजा वनस्पते॒ देव॑ दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः। प्र दा॒तुर॑स्तु॒ चेत॑नम्॥ ११॥

१. हे **वनस्पते**=ज्ञान की रश्मियों के स्वामिन् **देव**=सब ज्ञानादि पदार्थों के देनेवाले प्रभो! **देवेभ्यः**=आपकी उपासना से, गतमन्त्र के अनुसार (अस्माकमस्तु केवलः) आनन्दस्वरूप आपके ही भक्त बनने से दिव्य वृत्तियों को प्राप्त करनेवाले हम लोगों के लिए **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को **अवसृजा**=उत्पन्न कीजिए। आपकी कृपा से आपके दिये हुए ज्ञान के कारण हममें 'हविः' की भावना उत्पन्न हो! हम सदा यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले हों। देव 'हविर्भुक्' ही तो होते हैं। २. हे प्रभो! आपकी कृपा से **दातुः**=देनेवाले का **प्रचेतनम्**=प्रकृष्ट चैतन्य **अस्तु**=हो, अर्थात् दान देकर बचे हुए, अमृत का सेवन करनेवाले की स्मृति सदा स्थिर रहे, वह आत्मस्वरूप को भूले नहीं। इस स्मृतिभ्रंश से ही तो बुद्धि का नाश होकर हमारा नाश हो जाया करता है। स्मृति स्थिर रहेगी तो बुद्धि अविकल होगी और बुद्धि के न चले जाने से हम भी यूँ ही चले न जाएँगे।

भावार्थ-ज्ञानरश्मियों का पति प्रभु हममें यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति को उत्पन्न करे। इस दानशील पुरुष की स्मृति स्थिर रहे। 'मैं कौन हूँ' इस बात को भूल न जाए।

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**स्वाहाकृतयः**॥ छन्दः-**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

यज्वा का घर

स्वाहा॑ य॒ज्ञं कृ॑णोत॒नेन्द्रा॑य॒ यज्व॑नो गृ॒हे। तत्र॑ दे॒वाँ उप॑ ह्वये॥ १२॥

१. गतमन्त्र में प्रार्थना थी कि हे प्रभो! आप हमारे जीवनों में 'हविः' की सृष्टि कीजिए। इसी हवि के सर्जन के लिए प्रभु कहते हैं कि-**स्वाहा यज्ञम्**=(स्व+हा) स्वार्थत्यागरूप यज्ञ को **कृणोतन**=करनेवाले बनो। **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यवाले प्रभु को पाने के लिए तुम **यज्वनः**=विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले के **गृहे**=घर में यज्ञों के करनेवाले होओ। शास्त्र-विधान के अनुसार यज्ञ करनेवाला व्यक्ति 'यज्वा' कहलाता है। यज्वा अपने घर में स्वार्थत्यागरूप यज्ञों को सदा करनेवाला बनता है। इन यज्ञों से ही तो वह यज्ञरूप प्रभु की उपासना करता है-'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः', इस उपासना से वह उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को पाने का अधिकारी बनता है। २. प्रभु कहते हैं कि **तत्र**=वहाँ इस यज्ञशील के घर में **देवान्**=सब देवों को, मैं **उपह्वये**=पुकारता हूँ, अर्थात् इस यज्ञशील के घर में दिव्यगुणों का वास होता है।

भावार्थ-मनुष्य यज्ञशील बने। यज्ञशील पुरुष के घर में ही दिव्यगुणों का वास होता है। उसी को प्रभु प्राप्त होते हैं। यज्ञों से ही तो यज्ञरूप प्रभु आराधित होते हैं।

विशेष-इस सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि जब प्रभु की ज्योति जगती है तब दिव्यगुण आते हैं (१)। प्रभु से जीव का मेल ही 'मधुमान्' यज्ञ है (२)। देवों का आगमन

स्वस्थ शरीर में ही होता है (३)। निर्मल हृदय में अमृत प्रभु का दर्शन होता है (४), अतः हम दिन-रात अपने जीवन का सुन्दर निर्माण करें (६)। प्राणसाधना द्वारा प्रभु से मेल के लिए यत्नशील हों (७)। हमारे जीवनों में मधुरवाणी, विद्या की आराधना व प्रभु की पूजा की भावना हो (८)। प्रभु का ही हम वरण करें (९)। त्यागशील बनकर चैतन्य को स्थिर रक्खें (१०) और यज्ञशील बनकर दिव्यगुणोंवाले हों (१२)।

अब अगले सूक्त में इन्हीं शब्दों से प्रारम्भ करते हैं कि प्रभु से हमारा मेल हो और हमें दिव्य गुणों की प्राप्ति हो—

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-परिचर्या व स्तवन

ऐभिरग्ने दुवो गिरो विश्वेभिः सोमपीतये। देवेभिर्याहि यक्षि च॥ १॥

१. हे **अग्ने**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभो! आप **एभिः विश्वेभिः देवेभिः**=इन सब दिव्यगुणों के हेतु से **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए **दुवः**=हमारी परिचर्याओं के प्रति **आयाहि**=आइए **च**=और **गिरः**=हम स्तुति करनेवालों को **यक्षि**=अपने साथ संगत कीजिए। २. मन्त्रार्थ से ये बातें स्पष्ट हैं कि-(क) दिव्यगुणों की वृद्धि के लिए सोम का पान आवश्यक है; वीर्य के कण ही सोम हैं, इनका शरीर में व्यापन ही इनका पान है। ये सोमकण ही शरीर को स्वस्थ बनाते हैं, ये ही मन को निर्मल रखते हैं और बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। इस प्रकार ये सोमकण सब अच्छाइयों के वर्धन करनेवाले होते हैं। (ख) यह भी स्पष्ट है कि सोम की रक्षा के लिए प्रभु की हम परिचर्या करें, अनन्य भक्ति व स्तवन के द्वारा प्रभु से हमारा मेल हो। यह प्रभु-परिचर्या व स्तवन जितना-जितना हमें प्रभु के समीप करता है, उतना-उतना ही वासनाओं से दूर भी करता है। वासनाओं से दूर होकर हम सोम का रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-परिचर्या व स्तवन से प्रभु के साथ संगत हों। जिससे वासना-विनाश द्वारा हम सोम का रक्षण कर सकें। यह सोमरक्षण हममें सब दिव्यगुणों के वर्धन के लिए हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का कण्वकृत स्तवन

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः। देवेभिरग्न आ गहि॥ २॥

१. हे प्रभो! गतमन्त्र के भाव को समझनेवाले **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **त्वा**=आपको ही **आ**=सब ओर से **अहूषत**=पुकारते हैं और हे **विप्र**=हमारा विशेष रूप से पूरण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **धियः**=बुद्धिपूर्वक होनेवाले कर्मों की **गृणन्ति**=स्तुति करते हैं, अर्थात् मेधावी पुरुष चारों ओर आपकी महिमा को देखते हुए आपका ही स्तवन करते हैं, उन्हें सब दिशाओं में आपकी ही विभूतियाँ दिखती हैं। ये हिमाच्छादित पर्वत-समुद्र-रसा (पृथिवी) उन्हें आपकी महिमा का गायन करते प्रतीत होते हैं। सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों में आपका ही स्तवन हो रहा होता है। आपके एक-एक कार्य में पूर्ण बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है। २. हे **अग्ने**=हमारे अग्रणी प्रभो! आप **देवेभिः**=सब दिव्यगुणों के साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, वे हमें प्राप्त हों और इससे सब दिव्यगुणों का हममें

निवास हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवालय

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्। आदित्यान् मारुतं गणम्॥ ३॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि देवों के साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइए। उन देवों का ही परिगणन करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो! आप हमें **इन्द्रवायू**=इन्द्र व वायु को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से हम इन्द्रियों के अधिष्ठाता, पूर्ण जितेन्द्रिय बन पाएँ। इस जितेन्द्रियता के लिए ही वायु बनें, (वा गतिगन्धनयोः) गतिशीलता के द्वारा सब वासनाओं का गन्धन वा हिंसन करनेवाले हों। वासना-विनाश के बिना जितेन्द्रियता सम्भव नहीं। वासना-विनाश ही जितेन्द्रियता है। २. **बृहस्पतिम्**=आप हमें बृहस्पति को प्राप्त कराइए, अर्थात् आपका अनुग्रह हमें जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनने का सामर्थ्य दे। ३. **मित्राग्निम्**=अब हम मित्र व अग्नि को प्राप्त करें। यह ज्ञान हमें सबके साथ एकत्व का दर्शन कराता हुआ स्नेह करनेवाला (मित्र) बनाये और इस प्रकार उन्नति पर आगे बढ़ानेवाला हो (अग्नि)। ४. इस जीवन-यात्रा में आगे बढ़नेवाले हमें आप **पूषणं भगम्**=पूषा व भग को प्राप्त कराइए। हम उचितरूप से अपना पोषण करनेवाले हों। हम शरीर, मन व बुद्धि का ठीक विकास करनेवाले हों उसके लिए आवश्यक **भगम्**=ऐश्वर्य को उचित मात्रा में संगृहीत कर सकें। ५. **आदित्यान्**=आप हमें आदित्यों को प्राप्त कराइए। ये आदित्य (आदानात्) उचित वस्तुओं का आदान करते हुए आगे बढ़ते चलते हैं। हम भी समाज में जिस-जिसके भी सम्पर्क में आयें उस-उससे अच्छाइयों को ही ग्रहण करनेवाले हों। बुराई को न देखते हुए हम आगे बढ़ते चलें। ६. **मारुतं गणम्**=हम प्राणों के गण को प्राप्त करें। शरीर में भिन्न-भिन्न कर्मों को करनेवाला यह ४९ मरुतों=प्राणों का समूह हमारे इस शरीर गृह को पूर्णरूप से स्वस्थ रखे।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषा, भग व मरुद्गण' का निवास हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्दु-भरण

प्र वो भ्रियन्त इन्दवो मत्सरा मादयिष्णवः। द्रप्सा मध्वश्चमूषदः॥ ४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित देवों के निवास के लिए कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे लिए ये **इन्दवः**=शक्ति को देनेवाले **द्रप्साः**=बिन्दुरूप ये सोमकण **प्रभ्रियन्ते**=प्रकर्षेण भृत होते हैं। ये तुम्हारे अन्दर धारण किये जाते हैं। ये सोम **मत्सराः** (मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः)=एक विशेष तृप्ति को देनेवाले हैं, **मादयिष्णवः**=ये जीवन में एक अनुपम उल्लास के जनक हैं। **मध्वः**=(मधुराः) जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले हैं तथा **चमूषदः**=(चम्बौ द्यावापृथिव्यौ, नि० ३.३०) द्यावापृथिवी के हेतु से शरीर में रहनेवाले हैं। मस्तिष्क ही द्युलोक है, शरीर ही पृथिवी है। इस सोम से जहाँ शरीर स्वस्थ व दृढ़ बनता है वहाँ मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है एवं यह सोम 'द्यावापृथिवी' में स्थित होता है। इसके रक्षण से एक मनुष्य ज्ञान में ऋषियों के तुल्य तथा बल में एक मल्ल के समान बनता है। २. एवं, मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं-(क) जब शरीर में सोम की रक्षा की जाती है तब ये सोमकण हमें शक्तिशाली बनाते हैं (इन्दवः);

(ख) मन में एक तृप्ति का अनुभव कराते हुए उल्लास को पैदा करते हैं (मत्सराः); (ग) हमारी वाणी व व्यवहार में 'माधुर्य को प्रवाहित करते हैं (मध्वः); (घ) ये हमें शरीर से मल्ल के समान व मस्तिष्क से एक ऋषि के तुल्य बनानेवाले हैं (चमूषदः)।

भावार्थ—हम शरीर में सोमकणों का प्रकर्षेण भरण करें। ये सोमकण 'इन्दु, मत्सर, मादयिष्णु, मधु व चमूषद' हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उपासक के लक्षण

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः। हविष्मन्तो अरंकृतः॥ ५॥

१. गतमन्त्र में सोमकणों के रक्षण का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों से करते हैं कि—हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले ही **ईडते**=उपासित करते हैं। आपकी सच्ची उपासना तो वे ही करते हैं जोकि इन सोमकणों के रक्षण द्वारा अपने शरीरों को रोगों से बचाते हैं तथा मनों को वासनाओं से सुरक्षित रखते हैं। २. आपके उपासक वे हैं जो **कण्वासः**=कण-कण करके ज्ञान को ग्रहण करते हैं। ये ज्ञान का संचय करनेवाले मेधावी पुरुष ही प्रभु के सच्चे उपासक होते हैं। ज्ञान-यज्ञ से ये प्रभु का पूजन कर रहे होते हैं। ३. **वृक्तबर्हिषः**=उपासक वे हैं जो वृक्तबर्हिष बने हैं, जिन्होंने हृदय को वासना से शून्य किया है और अतएव उस हृदयवाले हैं, जिसमें से वासना को उखाड़ दिया गया है। (बृह् उद्बह्=उत्पाटन) ४. हे प्रभो! आपके उपासक वे हैं जो **हविष्मन्तः**=हविवाले हैं—दानपूर्वक अदन करनेवाले हैं (हु दानादनयोः)। यह दानपूर्वक अदन ही उन्हें पापवृत्ति से बचाये रखता है। ५. हविष्मान् बनकर **अरंकृतः**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करनेवाले व्यक्ति प्रभु के उपासक हैं। 'प्रभु की उपासना करें' और 'जीवन में दुर्गुणों का भण्डार बना रहे' ये तो विरोधी बातें हैं। प्रभु के उपासन के साथ मैल का सम्बन्ध ही नहीं।

भावार्थ—'अवस्यु, कण्व, वृक्तबर्हिष व अरंकृत' ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उपासक कौन?

घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः। आ देवान्त्सोमपीतये॥ ६॥

१. गतमन्त्र के उपासकों का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि **घृतपृष्ठाः**=(घृत=दीप्ति पृष्ठ=Support) दीप्ति ही जिनका आधार है (ऋ० २। १३। ४, द०)। उपासक वे हैं जो जीवन में ज्ञान को ही आधार बनाकर चलते हैं। २. **मनोयुजः**=मन को विषयों से विनिवृत्त करके आत्मतत्त्व में लगाने का प्रयत्न करते हैं। ३. **ये**=जो सब कार्यों को करते हुए **त्वा वहन्ति**=आपका वहन करते हैं, अर्थात् आपके वरण के साथ ही सब कार्यों को करते हैं। ४. प्रभु-स्मरण के साथ कार्यों को करने के कारण ही ये **वह्नयः**=(वोढारः) कार्य को समाप्ति तक ले-चलनेवाले होते हैं। ५. ये उपासक अपने में **देवान् आवहन्ति**=दिव्यगुणों को धारण करते हैं ताकि **सोमपीतये**=ये सोम का रक्षण व पान कर सकें। यह सोमपान ही तो वस्तुतः प्रभु-उपासना का मौलिक उपाय है। इस सोम के रक्षण से हम उस सोम नामक प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-उपासक 'घृतपृष्ठ, मनोयुज् व वह्नि होते हैं। ये दिव्यगुणों को धारण करते

हैं ताकि सोम का पान कर सकें। सोमपान ही हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषि:—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधु-पान

तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि। मध्वः सुजिह्व पायय॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=प्रभो! **तान्**=गतमन्त्रों में वर्णित उन उपासकों को **यजत्रान्**=यज्ञों के द्वारा अपना त्राण करनेवाले **ऋतावृधः**=अपने जीवन में ऋत का वर्धन करनेवाले, अर्थात् बड़े व्यवस्थित जीवनवाले तथा **पत्नीवतः**=उत्तम पत्नीवाले **कृधि**=कीजिए। पत्नी वही है जिसका सम्बन्ध यज्ञ के लिए होता है। पत्नी के स्वभाव पर यह बात निर्भर है कि घर में यज्ञिय वृत्ति का वर्णन होता है या भोगवृत्ति का। २. हे **सुजिह्व**= उत्तम जिह्वावाले प्रभो! अर्थात् उत्तम ज्ञान के देनेवाले प्रभो! (अपाणिपादो जवनो ग्रहीता-वे प्रभु 'अजिह्व व वक्ता' हैं) आप **मध्वः**=मधुर ज्ञानरस का हमें **पायय**=पान कराइए। अथवा सब अन्नों के सारभूत इस सोमरूप मधु का पान करनेवाला बनाइए। वस्तुतः यह सोमपान ही पूर्वार्ध में वर्णित बातों को जीवन में घटाने के योग्य बनाता है। इसके होने पर ही हमारा जीवन यज्ञशील होकर अपना त्राण करनेवाला बनता है। यह सोमपान ही हमें ऋतु के पालन की क्षमता प्राप्त कराता है और इस सोमपान से ही पति-पत्नी का सम्बन्ध वास्तविक सम्बन्ध बन पाता है।

भावार्थ—हम प्रभु-कृपा से अपने जीवन में यज्ञ व ऋतु का वर्धन करें, उत्तम पत्नीवाले हों, सोम की रक्षा के लिए दिव्यगुणों को बढ़ाएँ।

ऋषि:—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यजत्र ईड्य

ये यजत्रा य ईड्यास्ते ते पिबन्तु जिह्वया। मधोरग्ने वषट्कृति॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आपकी कृपा से **वषट्कृति**=स्वाहकार से युक्त इस जीवन में, स्वार्थ त्यागवाले यज्ञमय जीवन में **ते ते**=वे वे व्यक्ति **जिह्वया**=जिह्वा से **मधोः पिबन्तु**=मधुर रसों का ही पान करें **ये**=जो **यजत्राः**=यज्ञों द्वारा अपना त्राण करनेवाले हैं और **ये**=जो **ईड्याः**=(ईड्=स्तुति, तत्र साधुः) प्रभुस्तवन में उत्तम हैं। २. यजत्र व ईड्य वे ही बनते हैं जो मधुर, सात्त्विक अन्न-रस का ही सेवन करते हैं और जीवन को यज्ञमय बनाते हैं। 'जिह्वा सात्त्विक मधुर अन्नों का ही सेवन करे और हमारा जीवन सदा स्वार्थत्याग की भावनावाला हो' बस, प्रभु का सर्वोत्तम स्तवन यही है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से भोजन में हमारी रुचि सात्त्विक अन्नों की ओर हो और यज्ञों द्वारा हम अपने शरीर व मन का रोगों व वासनाओं से त्राण करनेवाले बनें।

ऋषि:—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रातः सत्संग

आकीं सूर्यस्य रोचनाद् विश्वान् देवाँ उषर्बुधः। विप्रो होतेह वक्षति॥ ९॥

१. **विप्रः**=(वि+प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **इह**=इस जीवन में **सूर्यस्य रोचनात्**=सूर्य के चमकते ही **आकीम्**= (समन्तात् १।१४।९, द०) सब ओर से **विश्वान्**=सब **उषर्बुधः**=प्रातः काल में जागनेवाले **देवान्**=विद्वानों

को **वक्षति**=लाता है, अर्थात् '**उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत**' उठो, जागो, श्रेष्ठों को प्राप्त करके ज्ञान प्राप्त करो' इस उपनिषद् के उपदेश के अनुसार यह अपनी न्यूनताओं को दूर करने की कामनावाला (**विप्रः**) दानशील (**होता**) पुरुष सूर्योदय होते ही अपने जीवन में विद्वानों के सम्पर्क का प्रयत्न करता है। उनसे उत्तम ज्ञान का श्रवण करके मननपूर्वक उस ज्ञान को अपने जीवन का अंग बनाकर उन्नत होता है। 'उषर्बुधः' शब्द का अर्थ 'प्रातःकाल जागनेवाले' तो है ही, साथ ही इस शब्द की भावना भी स्मरणीय है कि ये विद्वान् इस उषःकाल में ज्ञान के प्रचार द्वारा लोगों का उद्बोधन करते हैं। इन प्रातःकालीन सत्संगों का लाभ यही है कि हमारा जीवन सदा सत्प्रेरणा से प्रेरित होकर उत्तम मार्ग पर ही गमन करनेवाला होता है।

भावार्थ–सूर्योदय होते ही उषर्बुध देवों के सम्पर्क में आकर हम ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः–**विराड्गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

दिव्यता का निधान 'सोम'

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **तू विश्वेभिः**=सब दिव्यगुणों के हेतु से **इन्द्रेण**=इन्द्रियों के अधिष्ठातृत्व के दृष्टिकोण से **वायुना**=गतिशीलता के द्वारा सब बुराइयों के संहार के दृष्टिकोण से तथा **मित्रस्य धामभिः**=सूर्य के तेजों के दृष्टिकोण से **सोम्यं मधु**=इस सोमसम्बन्धी मधु का **पिब**=पान कर। (२) यदि हमें दिव्यगुणों को अपने में विकसित करना है, यदि सब असुरों का संहार करनेवाला इन्द्र बनना है, यदि क्रियाशील जीवन बनाकर हमें बुराइयों का संहार करना है और यदि हमें सूर्य के समान तेजस्वी बनना है तो इस सबके लिए उपाय एक ही है कि शरीर में उत्पन्न हुई-हुई सोमशक्ति का पान करें। इस बात को भूलें नहीं कि सब अच्छाइयाँ व दिव्यताएँ इस सोम में ही निहित हैं।

भावार्थ–हम सोम का पान करें। सोम को ही सब दिव्यताओं का निधान समझें।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः–**विराड्गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

अध्वर

त्वं होता मनुर्हितोऽग्ने यज्ञेषु सीदसि। सेमं नो अध्वरं यज॥ ११॥

१. सोम की रक्षा के लिए जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने त्वं होता**=हे प्रभो! आप ही हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं **मनुर्हितः**=ज्ञान के द्वारा आप ही हमारा कल्याण करनेवाले हैं। प्रभु जिसका कल्याण करते हैं उसे सद्बुद्धि व उत्तम ज्ञान प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! आप **यज्ञेषु सीदसि**=यज्ञों में आसीन होते हैं। हमारा जीवन यज्ञमय होता है तो उसमें भी आपका निवास होता है। वस्तुतः तो आपकी कृपा से ही वे यज्ञ चल रहे होते हैं। ३. **सः**=वे आप **नः**=हमारे **इमम्**=इस **अध्वरम्**=हिंसारहित जीवन-यज्ञ को **यज**=पूर्ण करनेवाले होओ। आपकी कृपा से ही यह जीवन-यज्ञ बना रहेगा और सरलता से पूर्ण हो सकेगा; आपसे अलग होते ही मेरा यह जीवन 'अध्वर' न रहकर छल-छिद्र व कपट-जाल से भर जाता है और चार दिन की प्रतीयमान चमक के बाद वहाँ अन्धकार-ही-अन्धकार आ जाता है।

भावार्थ–प्रभु होता हैं, मनुर्हित हैं, वे मेरे जीवन-यज्ञ को चलानेवाले हों, जिससे यह

अध्वर बना रहे।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवागमन

युक्ष्वा ह्यरुषी रथे हरितो देव रोहितः। ताभिर्देवाँ इहा वह॥ १२॥

१. गतमन्त्र की प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि हे **देव**=दिव्यगुणों को प्राप्त करनेवाले! तू **रथे**=इस शरीररूपी रथ में **हि**=निश्चय से **अरुषीः**=(गतिमतीः) अत्यन्त तीव्र गतिवाली **हरितः**=सब दुःखों का हरण करनेवाली **रोहितः**=वृद्धि की कारणभूत इन्द्रियाश्वों को **युक्ष्वा**=जोत और **ताभिः**=इन इन्द्रियरूपी घोड़ों से **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **देवान्**=देवों को **आवह**=प्राप्त कर। २. जब हम इस शरीर को रथ समझेंगे, रथ समझकर इसे ठीक रखने का प्रयत्न करेंगे और इसमें जुतनेवाले इन्द्रियाश्वों को गतिशील, लक्ष्य तक पहुँचानेवाले व वृद्धि के कारणभूत बनाएँगे तो हमारी जीवन-यात्रा क्यों न पूर्ण होगी? उस समय हमारे जीवन में देवों का आगमन होगा, अर्थात् हमारा जीवन-यज्ञ ठीकरूप से पूर्ण होगा, इसमें दिव्यता का विकास होगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व अरुषी, हरित् व रोहित हों। वे हमारे जीवन में देवों को लानेवाले हों।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ प्रभु-परिचर्या व स्तवन से होता है। ये शरीर में सोम (शक्ति) की रक्षा के लिए आवश्यक हैं (१)। ये सोमकण शरीर में व्याप्त होने पर शक्ति देते हैं, तृप्ति का अनुभव कराते हैं, हर्ष के जनक हैं (४)। प्रभु यज्ञशील पुरुषों को इन सोमकणों के पान में सहायक होते हैं (७)। इनके पान करनेवाला व्यक्ति जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता हुआ अपने में दिव्यता को बढ़ानेवाला होता है (१२)। 'इस सोमपान को समय पर ही, अर्थात् युवावस्था में ही कर लेना आवश्यक है', इन शब्दों से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ऋतवः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र का सोमपान (मत्सरासः, तदोकसः)

इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वा विशन्त्विन्दवः। मत्सरासस्तदोकसः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **ऋतुना**=समय व्यतीत होने से पहले, अर्थात् समय रहते **सोमं पिब**=सोम का पान करनेवाला बन। आहार से उत्पन्न सोमकणों को अपने शरीर में ही सुरक्षित करनेवाला बन। २. **इन्दवः**=ये शक्ति देनेवाले सोमकण **त्वा**=तुझमें **आविशन्तु**=समन्तात् प्रविष्ट हों, अर्थात् रुधिर के साथ तेरे सारे शरीर में व्याप्त होनेवाले हों। शरीर में व्याप्त होकर ही ये रोगकृमियों का संहार करनेवाले होते हैं। ३. रोगों को नष्ट करके, हमें स्वस्थ बनाकर ये सोमकण **मत्सरासः**=एक अद्भूत तृप्ति के देनेवाले होते हैं। हम इन सोमकणों के कारण जीवन में उल्लास का अनुभव करते हैं। ४. **तदोकसः**=ये सोमकण प्रभुरूप गृहवाले होते हैं, अर्थात् जब एक व्यक्ति जितेन्द्रिय बनकर इन सोमकणों की रक्षा करता है तब इन सोमकणों से उसकी बुद्धि तीव्र होती है, तीव्रबुद्धि से यह सोमपायी प्रभु का दर्शन करता है, एवं ये सोमकण प्रभुरूप गृह में पहुँचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम यौवन में ही सोम के रक्षक बनते हैं तो ये सोमकण हमें नीरोग बनाकर

हर्ष प्राप्त कराते हैं और प्रभु का दर्शन कराने में सहायक होते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**भूरिग्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मरुतों का सोमपान

मरु॑तः पिब॑त ऋ॒तुना॑ पो॒त्राद् य॒ज्ञं पु॑नीतन। यू॒यं हि ष्ठा सु॑दानवः॥ २॥

१. गतमन्त्र में **ऋतुना**=समय रहते सोमपान का उल्लेख था। वह प्रस्तुत मन्त्र में भी है। इसका अभिप्राय यह है कि सोम का उत्पादन जिस अवस्था में अत्यधिक होता है, उस यौवन में ही इसकी रक्षा की भी अत्यन्त आवश्यकता होती है। जीवन के चरमकाल में तो वैसे ही कुछ शान्ति हो जाती है, अतः हमें सोपान का विचार 'प्रातः व माध्यन्दिनसवन' बाल्य (प्रथमावस्था) व यौवन में पूर्णरूप से करना चाहिएँ **'प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इत्युच्यते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते॥** प्रथम अवस्था में जो शान्त हुआ, शान्त तो वही हुआ, धातुओं के क्षीण होने पर तो शान्ति किसे नहीं हो जाती? अतः कहते हैं कि **मरुतः**=हे प्राणो! **ऋतुना**=समय रहते **सोमम्**=सोम को **पिबत**=पीने का ध्यान करो। उत्पन्न सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित रखने के लिए प्राणसाधना अत्यन्त उपयोगी है। प्राणसाधना के द्वारा ये वीर्यकण ऊर्ध्वगतिवाले होकर शरीर में ही व्याप्त हो जाते हैं, यही मरुतों का सोमपान है। २. हे मरुतो! यह सोम शरीर को नीरोग और मन को निर्मल बनाकर जीवन को पवित्र करनेवाला है। इस **पोत्रात्**=पवित्र करनेवाले सोम से **यज्ञम्**=हमारे जीवन-यज्ञ को **पुनीतन**=तुम पवित्र कर दो। प्राणसाधना से सोम शरीर में व्याप्त होगा और जीवन को पवित्र कर देगा। ३. इस प्रकार हे मरुतो! **यूयम्**=तुम **हि**=निश्चय से **सुदानवः**=(**स्थ**) उत्तमता से बुराइयों के काटनेवाले (दाप् लवणे) हो। ४. पिछले मन्त्र में 'इन्द्र' शब्द के द्वारा जितेन्द्रियता का संकेत किया गया था, प्रस्तुत मन्त्र में 'मरुतः' से प्राणसाधना का निर्देश है। सोम के शरीर में ही व्यापन के लिए जितेन्द्रियता व प्राणसाधना दोनों ही आवश्यक हैं।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा हम सोम को शरीर में ही व्याप्त करें। यह सुरक्षित सोम हमारे जीवनों को पवित्र करेगा।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**त्वष्टा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नेष्टा का सोमपान

अ॒भि य॒ज्ञं गृ॑णीहि नो॒ ग्नावो॒ नेष्टः॒ पिब॑ ऋ॒तुना॑। त्वं हि र॑त्न॒धा असि॑॥ ३॥

१. 'ग्ना' शब्द छन्दों का वाचक है—**'छन्दाँसि वै ग्नाः छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति'** [शत० ५।५।४।७]। इन छन्दोंवाला ग्नावा है। उसे सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **ग्नावः**=हे ज्ञान की वाणियोंवाले विद्वन्! **नः**=हमें **यज्ञम् अभि**=यज्ञ का लक्ष्य करके **गृणीहि**=उपदेश दीजिए। हमारा जीवन यज्ञमय होगा तो हम विलास के मार्ग में न जाकर इस सोम के रक्षण के लिए अधिक समर्थ होंगे। २. हे **नेष्टः**=(नेनेक्ति) जीवन को शुद्ध करनेवाले विद्वन्! **ऋतुना**=समय रहते **पिब**=तू सोम का पान करनेवाला बन। ३. हे नेष्टः! **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **रत्नधा असि**=रमणीय पदार्थों का धारण करनेवाला है। सोम के रक्षण से शरीर अत्यन्त रमणीय बन जाता है। नीरोगता, निर्मलता और बुद्धि की तीव्रता, ये सब-के-सब सोमरक्षण से ही साध्य होते हैं। इस सोमरक्षण के लिए यह अपने जीवन को यज्ञ की ओर ले-चलता है, वेदवाणियों का अध्ययन करता है, जीवन को शुद्ध बनाता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, जीवन के शोधन के लिए समय रहते सोमपान करनेवाले बनें और इस प्रकार जीवन को रमणीय बनाएँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अग्नि का सोमपान

अग्ने॑ दे॒वाँ इ॒हा व॑ह सा॒दया॒ योनि॑षु त्रि॒षु। परि॑ भूष॒ पिब॑ ऋ॒तुना॑॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **इह**=इस मानव-जीवन में **देवान्**=देवों का **आवह**=आवाहन करनेवाला बन। तू अपने जीवन में दिव्य गुणों को धारण कर। वस्तुतः अच्छाइयों को धारण करना ही आगे बढ़ना है। २. तू **त्रिषु योनिषु**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप तीनों स्थानों में इन देवों को **सादया**=बिठा। ये तीनों स्थान प्रमाद करने पर असुरों के निवासस्थान बन जाते हैं। **'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते'** इस गीता (३.४०) के वाक्य के अनुसार इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही काम के अधिष्ठान बनते हैं। प्रगतिशील जीव इन तीनों को देवों का अधिष्ठान बनाता है, अब खाली न होने के कारण ये असुरों के अधिष्ठान नहीं बनते। ३. इस प्रकार इन तीन स्थानों में देवों को बैठाकर तू **परिभूष**=अपने जीवन को अलंकृत कर। ४. इस सबके लिए तू **ऋतुना पिब**=समय रहते सोमपान करनेवाला बन।

भावार्थ—प्रगतिशील जीव वह है जो इन्द्रियों, मन व बुद्धि को दैवी सम्पत्ति से सुरक्षित करता है। ऐसा करने के लिए वह सोमपान करता है। शक्ति की रक्षा ही सोमपान है।

सूचना—शक्ति की रक्षा होने पर इस व्यक्ति के जीवन में, प्राणों में अभय व तेज का विकास होता है। इसका मन सत्त्वसंशुद्धि, दम, सत्य, अक्रोध, शान्ति, अलोलुपत्व, क्षमा व तृप्ति से युक्त होता है। इन्द्रियाँ ज्ञान व योग की व्यवस्थितिवाली होती हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगी रहती हैं तो कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग चलता है। इसके हाथ में 'दान, यज्ञ, अहिंसा, त्याग, अचापल्य व शौच=पवित्रता' रहते हैं तो इसकी वाणी स्वाध्याय व अपैशुन्य से शोभित होती है। इसका शरीर तपस्वी है और हृदय 'सरलता, दया, मार्दव, ह्री, अद्रोह व नातिमानिता से' सुभूषित है। इस प्रकार अग्नि ने अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को देवों का अधिष्ठान बनाया है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ब्राह्मणराधस् (ब्रह्म-सम्बन्धी सम्पत्ति)

ब्रा॒ह्म॒णादि॑न्द्र॒ राध॑सः॒ पिबा॒ सोम॑मृ॒तूँरनु॑। तवेद्धि स॒ख्यमस्तृ॑तम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र में सोमपान से दैवी सम्पति की प्राप्ति का उल्लेख था। उस दैवी सम्पति को प्राप्त करके यह सोमपान करनेवाला 'ब्राह्मसम्पत्ति' को प्राप्त करता है। हे **इन्द्र**= जितेन्द्रिय पुरुष! तू **ब्राह्मणात्**=ब्रह्म-सम्बन्धी **राधसः**=धन के दृष्टिकोण से-ब्रह्मसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए **ऋतून् अनु**=समय का ध्यान करके **सोमम् पिब**=सोम का पान कर। यौवन में ही शक्ति का सञ्चय करने से हमें इस जीवन में ही अवश्य ब्रह्मसम्पत्ति प्राप्त होगी। २. ऐसा होने पर **तव**=तेरा **इत् हि**=निश्चय से **सख्यम्**=ब्रह्म के साथ सख्य **अस्तृतम्**=अविच्छिन्न होता है—तू ब्रह्म से निरन्तर मैत्रीवाला होता है। जो भी व्यक्ति शरीर में इस सोम की रक्षा करता है, वह उस सोमप्रापक प्रभु से अभिन्न मैत्रीवाला होता है। यही ब्रह्मसम्बन्धी सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति को प्राप्त करने के उद्देश्य से हमें समय से सोम की शरीर में रक्षा करनी चाहिए।

भावार्थ–शरीर में शक्ति के रक्षण से ब्राह्मीसम्पत्ति प्राप्त होती है। इस सम्पत्ति को प्राप्त करके जीव 'ब्रह्म इव' हो जाता है।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

यौवन में यज्ञ

युवं दक्षं धृतव्रत मित्रावरुण दूळभम्। ऋतुना यज्ञमाशाथे ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र में यह स्पष्ट था कि हम यौवन में ही संयमी जीवन बनाने का प्रयास करेंगे तो इस मानव-जीवन में प्रभु की अविच्छिन्न मित्रता को प्राप्त कर सकेंगे। इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हमें यज्ञों को बूढ़ा होकर ही नहीं करना–धर्म बुढ़ापे के लिए नहीं है, अपितु यौवन में ही हमें जीवन को यज्ञमय बनाना है। हे **धृतव्रता**=धारण किया है व्रत जिन्होंने ऐसे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण देवो–स्नेह और निर्द्वेषता के दिव्य गुणो! **युवम्**=आप दोनों **ऋतुना**=समय से, अर्थात् समय बीतने से पूर्व ही **यज्ञम्**=यज्ञ को **आशाथे**=प्राप्त करते हो। जो यज्ञ **दक्षम्**=बल की वृद्धि करनेवाला है और **दूळभम्**=हिंसित होनेवाला नहीं है। २. यहाँ मन्त्रार्थ में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं–(क) जिन्होंने व्रत धारण किया है ऐसे मित्रावरुण हमें जीवन में यज्ञ को प्राप्त करानेवाले हों। वस्तुतः मनुष्य का सर्वमहान् व्रत यही होना चाहिए कि 'मैं स्नेह से चलूँगा' (मित्र), 'किसी से द्वेष न करूँगा' (वरुण)। यह व्रत हमारे जीवन में शक्ति को बढ़ानेवाला होता है (दक्षम्) और यह व्रत हमें हिंसा से बचानेवाला है (दूळभम्)। (ख) यदि हम यौवन में ही 'स्नेह व निर्द्वेषता' के व्रत को धारण करते हैं तो यह हमारा उचित समय पर होनेवाला यज्ञ हो जाता है। वृद्धावस्था में जाकर हम निर्द्वेषता व स्नेह का पाठ पढ़े तो क्या पढ़े? जीवन तो अयज्ञिय ही बीत गया।

भावार्थ–हम यौवन में ही स्नेह व निर्द्वेषता का व्रत धारण करें। यह हमारे बल का वर्धक व हमें हिंसित न होने देनेवाला होगा।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**द्रविणोदाः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

यज्ञों में देवोपासन

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु देवमीळते ॥ ७ ॥

१. **द्रविणोदाः**=द्रविण व धन को देनेवाले और धन को देने के लिए ही **द्रविणसः**=धन को चाहनेवाले **ग्रावहस्तासः**=स्तुति (ग्रावा) जिनके हाथों में है, अर्थात् यज्ञादि के द्वारा व अपने नियत कर्म को करने के द्वारा प्रभु का क्रियात्मक स्तवन करनेवाले **अध्वरे**=इस हिंसारहित जीवन में उन-उन **यज्ञेषु**=यज्ञों में **देवम्**=यज्ञों के प्रकाशक व यज्ञों के साधनार्थ शक्ति देनेवाले प्रभु को **ईळते**=उपासित करते हैं। २. प्रभु के उपासक वे हैं (क) जो जीवन को अध्वर–हिंसारहित बनाते हैं। (ख) जो धन देने के लिए ही धन की कामना करते हैं (द्रविणोदाः, द्रविणसः)। (ग) जो हाथों से प्रभु की स्तुति करते हैं, अर्थात् जिनका स्तवन शब्दिक न होकर क्रियात्मक होता है, जो प्रभु के गुणों का ही कीर्तन नहीं करते रहते अपितु प्रभु के निर्देशों का पालन भी करते हैं (ग्रावहस्तासः)। (घ) इन यज्ञों को करते हुए इन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ ही वे मानते हैं, अर्थात् इन यज्ञों का गर्व नहीं करते।

भावार्थ–हम धनों का दान करें। स्वधर्मपालन द्वारा प्रभुस्तवन करें। उत्तम कर्मों में सब सफलता को प्रभु से होता हुआ जानें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**द्रविणोदाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवनिमित्त धन

द्रविणोदा ददातु नो वसूनि यानि शृण्विरे। देवेषु ता वनामहे॥ ८॥

१. **द्रविणोदाः**=सब धनों को देनेवाले प्रभु **नः**=हमें **वसूनि ददातु**=उन धनों को दें **यानि शृण्विरे**=जो खूब सुने जाते हैं, अर्थात् जिस धन को हम खूब दान के रूप में देते हैं और इस प्रकार यश को प्राप्त करते हैं। २. **ता**=उन धनों को हम **देवेषु**=देवों के निमित्त **वनामहे**=सेवित करते हैं, अर्थात् इन धनों को भोगविलास में व्यय न करके विद्वानों को लोकहित के कार्यों के लिए देते हैं तथा यज्ञादि द्वारा वायु आदि देवों की शुद्धि के लिए उनका विनियोग करते हैं। इन धनों को दान में देकर, लोभ को जीतने से, हम व्यसनों के मूलभूत इस लोभ को नष्ट करके दिव्यगुणों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये धन हमारे यश—ही—यश का कारण बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वे धन दें जो कि दानरूप में दिये जाकर हमारे यश का कारण बनें और हमारे दिव्य गुणों का वर्धन करनेवाले हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**द्रविणोदाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दान व प्रतिष्ठा

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत॥ ९॥

१. गतमन्त्र में धनों को देवों के निमित्त, न कि भोग के निमित्त प्राप्त करने का उल्लेख था। उसी बात को समर्थित करते हुए कहते हैं कि **द्रविणोदाः**=धनों का देनेवाला ही **पिपीषति**=सोम के पान की कामना करता है, चूँकि धन को न देकर अपने भोग में ही उसका व्यय करनेवाला तो वासनाओं का शिकार होकर सोम को अपव्ययित कर बैठता है। वह सोम का शरीर में ही व्यापन नहीं कर पाता। २. अतः प्रभु अपने मित्र जीवों को निर्देश करते हैं कि **जुहोतन**=इस धन की लोककल्याण के यज्ञ में आहुति दो **च**=और **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। दान देने से प्रतिष्ठा तो प्राप्त होगी ही, उसके साथ हमारा व्यसनों से बचाव होकर कल्याण भी होगा। हमारे शरीर, मन व बुद्धि सब अधिक स्वस्थ होंगे। ३. प्रभु कहते हैं कि **नेष्ट्रात्**=नेष्टा बनने के दृष्टिकोण से 'नी नये' अपने को आगे ले—चलने के विचार से **ऋतुभिः**=समय रहते, यौवन में ही **इष्यत**=इस सोमपान की कामना करो। यौवन में ही संयमी बनकर सोम का शरीर में व्यापन करो ताकि शरीर, मन व बुद्धि सभी क्षेत्रों में तुम आगे बढ़ सको—सभी शक्तियों का तुममें विकास हो।

भावार्थ—धन का दान करनेवाला ही सोमपान करता है, दान की प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है। आगे बढ़ने के दृष्टिकोण से समय रहते सोम के रक्षण की कामना करनी ही चाहिए।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**द्रविणोदाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तुरीयोपासन

यत्त्वा तुरीयमृतुभिर्द्रविणोदो यजामहे। अध स्मा नो ददिर्भव॥ १०॥

१. 'पृथिवीलोक' प्रथम लोक है, 'अन्तरिक्ष' द्वितीय, 'द्युलोक' तृतीय तथा 'ब्रह्म' तुरीय है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **द्रविणोदः**=धन के देनेवाले प्रभो! **यत्**=जो **तुरीयम्**=
'पृष्ठात्पृथिव्याहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिर—

गामहम्। इस मन्त्र में वर्णित तुरीय आपको **ऋतुभिः**=समय रहते, यौवन में ही, न कि समय के बीतने पर वार्धक्य में **यजामहे**=उपासित करते हैं। **अध**=अब **नः**=हमारे लिए **ददिः**=खूब देनेवाले **भव स्मा**=होओ, हम जितना भी माँगें आप अधिक ही देनेवाले हों। २. जब इस जीवन में हम शरीर की नीरोगता (पृथिवी), मानस की पवित्रता (अन्तरिक्ष) व मस्तिष्क की दीप्तता (द्युलोक) का सम्पादन करके आत्मा द्वारा एकत्त्वदर्शन, अर्थात् सर्वत्र उस देदीप्यमान ज्योति के व्यापन (स्वर्ज्योति) को अनुभव करने का प्रयास करते हैं तब हमारे योग-क्षेम के लिए आवश्यक सब धनों को वे प्रभु ही देते हैं। वे 'द्रविणोदा' हैं, सब धनों को देनेवाले हैं। नित्याभियुक्तों के पालन का उत्तरदायित्व तो है ही उनपर।

भावार्थ–हम उस तुरीय प्रभु का उपासन करें, वे प्रभु हमें सब धनों को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**अश्विनौ**॥ छन्दः–**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

अश्विनीदेवों का मधुपान

अश्विना पिबतं मधु दीद्यग्नी शुचिव्रता। ऋतुना यज्ञवाहसा॥ ११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम तुरीय ब्रह्म का उपासन करनेवाले हों। होंगे तब जबकि हम यौवन में ही सोम को सुरक्षित करनेवाले बनेंगे। इस सोमरक्षण के लिए मुख्य साधन प्राणायाम है, अतः यह प्राणसाधना करनेवाला प्रार्थना करता है कि **अश्विना**=हे प्राणापानो! **मधु पिबतम्**=आप सब अन्नों के सारभूत इस सोम का पान करो। जैसे शहद सब पुष्परसों का सारभूत होता है, वैसे ही यह सोम सब खाये गये भोजनों का साररूप है। प्राणसाधना से इसकी शरीर में ऊर्ध्वगति होती है। २. इस सोम की ऊर्ध्वगति के द्वारा ये प्राणापान **दीद्यग्नी**=ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले होते हैं। ज्ञानाग्नि का ईंधन यह सोम ही तो है। ३. इन सोमकणों के द्वारा ही ये प्राणापान **शुचिव्रता**=पवित्र व्रतोंवाले होते हैं। सोम का संयम होने पर अशुभ वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं, मन की मैल दूर हो जाती और यह संयमी पुरुष लोकहित की पवित्र भावनाओं को लेकर जीवन में चलता है एवं पवित्र व्रतोंवाला होता है। ४. इस प्रकार हे प्राणापानो! आप मेरे जीवन में **ऋतुना**=समय से, अर्थात् यौवन में ही **यज्ञवाहसा**=यज्ञों का धारण करनेवाले होते हो। 'मुझे धर्म की रुचि बुढ़ापे में ही प्राप्त हो'–सो नहीं। यदि ऐसा होता तब तो मेरी कितनी दयनीय स्थिति होती, चूँकि जब शक्ति थी तब धर्मरुचि नहीं थी और अब धर्मरुचि आई तो शक्ति नहीं रही। ये प्राणापान सोम के संयम द्वारा मेरे यौवन में ही यज्ञों का प्रणयन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ–प्राण-साधना से सोम का संयम होने पर मेरे मस्तिष्क में दीप्त ज्ञानाग्नि होती है, मेरे हृदय में पवित्र व्रत होते हैं और मेरे हाथ यज्ञों का वहन करनेवाले।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

यज्ञशील गृह

गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि। देवान् देवयते यज॥ १२॥

१. हे **सन्त्य**=दान में उत्तम (सनने साधुः) सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभो! आप **गार्हपत्येन**=गृहपतित्व के दृष्टिकोण से, इसलिए कि मैं घर का उत्तम रक्षण कर सकूँ, घर को बहुत ही उत्तम बना सकूँ, मुझमें **ऋतुना**=समय से, अर्थात् यौवन का समय न बीत जाने पर ही **यज्ञनीः असि**=यज्ञों को प्राप्त करानेवाले हैं। घर वही सुन्दर बनता है जोकि

यज्ञशील पुरुषों से युक्त हो। वैदिक संस्कृति में तो पत्नी का सम्बन्ध यज्ञों के साधन के लिए ही माना गया है—**पत्युर्नो यज्ञसंयोगे** [अष्टा० ४।१।३३]। २. हे प्रभो! **देवयते**=देवों की भावना को अपनानेवाले मेरे लिए **देवान् यज**=दिव्यगुणों को मेरे साथ संगत कीजिए। इन दिव्य गुणों को अपनाते हुए मैं सर्वमहान् देव आपको भी प्राप्त कर सकूँगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हममें यज्ञ की वृत्ति हो, हमारा घर सुन्दर बने। उस प्रभुदेव को प्राप्त करने की कामनावाले हम दिव्यगुणों को अपनाएँ।

विशेष—इस सूक्त में मुख्यभाव यौवन में ही संयमी बनकर सोम का पान करना—शक्ति की रक्षा करना है। इसके लिए प्रथम उपाय इन्द्र बनना, अर्थात् जितेन्द्रियता है (१), दूसरा साधन प्राणसाधना है (२), तीसरा साधन उत्तम कर्मों में लगे रहकर आगे बढ़ना है (३) ऐसा करने पर हम शरीर, मन व बुद्धि में उत्तम गुणों को स्थापित कर पाएँगे (४)। इसी से हम ब्रह्मसम्पत्ति को भी प्राप्त करेंगे (५)। ये ब्रह्म हमें सब धनों को देंगे, हम उन धनों का विनियोग दानादि उत्तम कर्मों में करेंगे (९)। हम धन में आसक्त न होकर उस प्रभु का ही उपासन करेंगे (१०)। हमारा जीवन पवित्र बनेगा (११), घर सुन्दर बनेगा (१२)। 'इस सुन्दर घर में हम उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का ही आवाहन करेंगे' इस भावना से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

हरयः सूरचक्षसः

आ त्वा वहन्तु हरयो वृषणं सोमपीतये। इन्द्र त्वा सूरचक्षसः ॥ १ ॥

१. गत सूक्त के अन्तिम मन्त्र के अनुसार घर को उत्तम बनाकर, उस सुन्दर यज्ञों व देवों के अधिष्ठानभूत घर में हे **इन्द्र**=परमैश्वर्ययुक्त प्रभो! **वृषणम्**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले **त्वा**=आपको **हरयः**=औरों के दुःखों का हरण करनेवाले, यज्ञों का आहरण करनेवाले पुरुष तथा **सूरचक्षसः**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाशवाले पुरुष **त्वा**=आपको ही **आवहन्तु**=सब प्रकार से प्राप्त करने का प्रयत्न करें। २. **सोमपीतये**=सोम की रक्षा के लिए यह आपका आवहन अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ आप हैं, वहाँ काम नहीं। जहाँ काम नहीं, वहीं सोमपान भी सम्भव है। इस सोमपान से ही तो मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा को ठीक प्रकार से पूर्ण करता हुआ जीवन को सुखी बना सकता है। ३. प्रभु के आवहन के लिए आवश्यक है कि हम 'हरयः सूरचक्षसः' बनें—औरों के दुःखों को हरण करनेवाले बनें। गीता [१२।४] के शब्दों में **सर्वभूतहिते रताः**=सब प्राणियों के हित में लगे हुए पुरुष ही प्रभु के भक्ततम होते हैं, तथा **सूरचक्षसः**=दीप्त ज्ञानाग्निवाले पुरुष ही कामग्नि को भस्म करके प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनते हैं।

भावार्थ—हम पर-दुःखहरण व ज्ञानार्जन करके प्रभु-दर्शन के योग्य बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धाना घृत

इमा धाना घृतस्नुवो हरी इहोप वक्षतः। इन्द्रं सुखतमे रथे ॥ २ ॥

१. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सुखतमे रथे**=(सु+ख+तम) जिसमें एक-एक इन्द्रिय अत्यन्त उत्तम है, ऐसे शरीररूप रथ में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को

उपवक्षतः=समीप प्राप्त कराते हैं। प्रभु का दर्शन स्वस्थ शरीर में ही होता है—उस शरीर में कि जिसमें कोई भी इन्द्रिय जीर्णशक्ति नहीं हो गई। वस्तुतः हमारी सर्वमहान् प्रभु की अर्चना यही है कि हम उसके दिये हुए इस शरीररूप रथ को विकृत न होने दें और इस रथ में जुतनेवाले इन्द्रियाश्वों को अक्षीणशक्ति बनाये रक्खें। २. **इह**=हमारे इस जीवन में **इमाः**=ये इन्द्रियरूप घोड़ियाँ कर्मेन्द्रियों के रूप में **धानाः**=सदा लोकों को धारण करनेवाली हों, ये धारणात्मक कर्मों को ही करनेवाली हों तथा ज्ञानेन्द्रियों के रूप में ये **घृतस्नुवः**=ज्ञान की दीप्ति को चारों ओर प्रस्तुत करनेवाली हों। स्वयं ज्ञानदीप्त होकर ये चारों ओर ज्ञान के प्रकाश को ही फैलाएँ। ३. वस्तुतः जिस दिन हमारी कर्मेन्द्रियाँ धारणात्मक कर्मों में लगी होंगी और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का प्रसार कर रही होंगी उस दिन प्रभु का दर्शन होगा।

भावार्थ—हम धारणात्मक कर्मों में व्याप्त इन्द्रियोंवाले हों, ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का प्रसार करें और इस प्रकार प्रभु-प्राप्ति के पात्र बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र का आह्वान

इन्द्रं प्रातर्हवामह इन्द्रं प्रयत्यध्वरे। इन्द्रं सोमस्य पीतये॥ ३॥

१. हम उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **प्रातः**=इस जीवन के बाल्यकाल में **हवामहे**=पुकारते हैं। **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **अध्वरे प्रयति**=इस जीवन-यज्ञ के आगे चलने पर, अर्थात् यौवन में व प्रौढ़ता में पुकारते हैं। २. सर्वदा प्रभु का स्मरण इसलिए आवश्यक है कि इस सम्पूर्ण जीवन में प्रभु को ही हमारे लिए इन कामादि वासनाओं को पराभूत करना है। इन वासनाओं को पराभूत करके ही हम अपनी शक्ति की रक्षा कर पाते हैं, अतः कहते हैं कि **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही हम **सोमस्य पीतये**=सोम की रक्षा के लिए पुकारते हैं। प्रभु का नाम-स्मरण ही वासना-विनाश का कारण बन जाता है और हम शरीर में शक्ति की रक्षा कर पाते हैं।

भावार्थ—हम जीवन के प्रातः, मध्याह्न व सायं-सभी कालों में इन्द्र का स्मरण करते हैं ताकि वासनाओं को पराभूत करके शक्ति का रक्षण कर सकें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

केशी हरी

उप नः सुतमा गहि हरिभिरिन्द्र केशिभिः। सुते हि त्वा हवामहे॥ ४॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले जीव! तू **केशिभिः**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **हरिभिः**=इन्द्रियरूप घोड़ों से युक्त हुआ **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पादित इस सोम को **उप+आगहि**=समीपता से प्राप्त हो, अर्थात् अपने अवकाश के समय को सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगाता हुआ तू इस सोम का रक्षण करनेवाला बन। २. **सुते**=इस सोम का सम्पादन करने पर **हि**=ही **त्वा**=तुझे **हवामहे**=हम अपने समीप बुलाते हैं। जैसे पुत्र कोई उत्तम कार्य करता है तो पिता उसे अपने समीप बुलाकर आशीर्वाद देते हैं, इसी प्रकार हम ज्ञान-प्राप्ति आदि उत्तम कर्मों मे लगे रहकर अन्न से रसादि के क्रम में उत्पादित सोम को शरीर में ही सुरक्षित करते हैं तो प्रभु को प्रीणित करनेवाले होते हैं। प्रसन्न हुए-हुए प्रभु हमें अपने समीप बुलाते हैं। प्रभु-प्राप्ति के पात्र हम तभी बनते हैं जब हम सोम का रक्षण करते

हैं।

भावार्थ–हम ज्ञान-प्राप्ति को महत्त्व दें, यह हमें सोमरक्षण के योग्य बनाएगी। सोम का रक्षण होने पर हम प्रभु को पाएँगे।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

आदेशत्रयी

सेमं नः स्तोममा गह्युपेदं सवनं सुतम्। गौरो न तृषितः पिब॥ ५॥

१. प्रभु जीव को प्रस्तुत मन्त्र में तीन आदेश देते हैं–**सः**=वह तू **नः**=हमारे **इमम् स्तोमम्**=इस स्तोम–स्तुतिसमूह को **आगहि**=ग्रहण करनेवाला बन, अर्थात् 'सर्वज्ञता, न्यायकारिता, दयालुत्व' आदि जिन गुणों से तू मेरा स्तवन करता है, उन गुणों को तू अपने जीवन में ग्रहण करनेवाला हो। जब तू स्वयं अधिक-से-अधिक ज्ञानी बनने का प्रयत्न करेगा, न्यायशील होगा व दयालु स्वभाववाला बनेगा, तभी तू मेरा सच्चा स्तवन कर रहा होगा। यह तुझसे की जानेवाली मेरी 'दृश्य भक्ति' होगी। इस 'दृशीक-स्तोम' का ही महत्त्व है। केवल 'श्रव्यभक्ति' जो तेरे जीवन का अङ्ग नहीं बनती, वह तो व्यर्थ ही है। २. प्रभु का दूसरा आदेश यह है कि तू **इदम् सवनम्**=इस यज्ञ के **उप**=सदा समीप रहनेवाला हो। तेरा जीवन यज्ञों से व्याप्त हुआ-हुआ हो। तेरे जीवन के सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय होकर तेरे 'शतक्रतु' नाम को चरितार्थ करें। ३. **तृषितः गौरः नः**=प्यासे मृग की तरह तू **सुतम् पिब**=इस उत्पन्न सोम का पान करनेवाला बन। प्यासे मृग को पानी पीने की तीव्र अभिलाषा होती है, उसी प्रकार तुझमें इस सोम के पान की उत्कट आकांक्षा हो। तुझे सोमपान के बिना शान्ति ही न मिले, तेरे लिए यह सोमपान ही रुचिकर हो।

भावार्थ–(क) हम प्रभु के गुणों को धारण करें, (ख) जीवन को यज्ञमय बनाएँ, (ग) सोम के रक्षण के लिए उग्र प्रयत्नवाले हों।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**इन्द्रः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

शक्ति व सहिष्णुता

इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि बर्हिषि। ताँ इन्द्र सहसे पिब॥ ६॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम आदेश को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–**इमे सोमासः**=ये सोमकण, सुरक्षित होने पर, शरीर में ही इनका व्यापन होने पर **इन्दवः**= (इन्द, to be powerful) तुझे शक्तिशाली बनानेवाले हैं। ये ही तो सम्पूर्ण शक्ति के मूल हैं। २. ये **सुतासः**=उत्पन्न किये गये सोमकण **अधि बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में ही होते हैं, अर्थात् जब हृदय वासना से रहित होता है तभी इन सोमकणों की शरीर में उत्पत्ति व स्थिति होती है। हृदय के वासनाओं से भरे होने पर भोजन से कुछ विष उत्पन्न होते हैं जो शक्ति के ह्रास का कारण बनते हैं। शोक, मोह, क्रोधादि के भाव वीर्यरक्षा के लिए सहायक न होकर अत्यन्त नाशक होते हैं। ब्रह्मचारी के लिए इनसे ऊपर उठना नितान्त आवश्यक है। ३. प्रभु कहते हैं कि–हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सहसे**=सहनशक्ति की प्राप्ति के लिए **तान्**=उन सोमकणों को **पिब**=पीनेवाला बन। जितना-जितना हम इस सोम का रक्षण करते हैं, उतना-उतना ही हम सहस्वाले बनते हैं, हममें शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस सोम का रक्षण न होने से ही चिड़चिड़ापन या खीज उठना, झट क्रोध में आ जाने की वृत्ति उत्पन्न होती है।

भावार्थ—हमारे शरीर में सुरक्षित सोमकण बल व सहनशक्ति को उत्पन्न करते हैं। इनका रक्षण हृदय के वासनाशून्य होने पर ही होता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोमपान का साधन

अ॒यं ते॒ स्तोमो॑ अग्रि॒यो हृ॑दि॒स्पृग॑स्तु॒ शंत॑मः। अथा॒ सोमं॑ सु॒तं पि॑ब॥ ७॥

१. गतमन्त्र में सोमपान का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। सोमपान से शक्ति व सहस् की उत्पत्ति होती है। इस सोमपान का महत्त्वपूर्ण साधन यह है कि हम सदा प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें ताकि हमारे हृदय वासनाशून्य हों। वासनाशून्य हृदय में ही सोम का निवास है, अतः प्रभु कहते हैं कि—**अयम्**=यह **ते**=तुझसे किया जानेवाला **स्तोमः**=स्तुतिसमूह **ते अग्रियः**=तेरे (अग्रेभवः) आगे होनेवाला **अस्तु**=हो, अर्थात् यह सदा तेरे सामने आदर्शवाक्य (motto) के रूप में हो, तुझे यह ध्यान हो कि मुझे ऐसा ही बनना है। यह स्तोम तेरे लिए **हृदिस्पृक्, अस्तु**=हृदय को स्पर्श करनेवाला हो, तेरे हृदय में यह समा जाए। तेरी यह प्रबल कामना हो कि तुझे ऐसा ही बनना है। **शन्तमः**=यह स्तोम तूझे अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला हो। इस लक्ष्य का ध्यान आने पर तुझे हृदय में अच्छा प्रतीत हो। **अथा**=अब ऐसा हो सकने के लिए तू **सुतम् पिब**=आहार से उत्पन्न हुए इस सोम का पान कर। इस सोम के पान से ही उस महान् लक्ष्य की—प्रभु जैसा ही बन जाने की सिद्धि सम्भव होगी। यह महान् लक्ष्य स्वयं सोम के रक्षण में सहायक होता है और रक्षित हुआ-हुआ सोम हमें महान् लक्ष्य को प्राप्त करानेवाला बनता है। लक्ष्य सोमरक्षण के लिए होता है, सोमरक्षण लक्ष्यप्राप्ति के लिए होता है। इस सोम (वीर्य) ने ही हमें उस सोम (प्रभु)-जैसा बनाना है।

भावार्थ—प्रभु के स्तोम (स्तुतिवाक्य) को हम अपने जीवन का आदर्शवाक्य बनाएँ। यह हमारे हृदय में स्थिर हो जाए और हमें शान्ति देनेवाला हो। हम इसकी प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ व सोमपान

विश्व॒मित्सव॑नं सु॒तमिन्द्रो॒ मदा॑य गच्छति। वृ॒त्र॒हा सोम॑पीतये॥ ८॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष **इत्**=निश्चय से **विश्वम्**=चौबीसों घण्टों में प्रविष्ट होनेवाले, सदा चलनेवाले **सवनम्**=यज्ञ को **गच्छति**=प्राप्त होता है, अर्थात् यह निरन्तर यज्ञशील बना रहता है। यज्ञों में लगा रहने से ही यह वासनाओं का शिकार नहीं होता, अपितु यह **वृत्रहा**=यज्ञों में व्याप्त जीवनवाला होकर वृत्र का विनाश करनेवाला होता है, ज्ञान पर आवरणरूप से आ जानेवाले काम का वह विध्वंस करता है और काम-विध्वंस से ही **सोमपीतये**=सोम के पीने के लिए होता है, शरीर में शक्ति का संरक्षण कर पाता है। २. यह यज्ञों में लगा रहनेवाला, यज्ञों में लगे रहकर वासना का विध्वंस करनेवाला, वासना-विध्वसं से सोम का रक्षण करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **मदाय गच्छति**=हर्ष को प्राप्त होता है। जीवन का उल्लास सोम की सुरक्षा में ही है, सोम की रक्षा के लिए वासना-विनाश आवश्यक है। वासना-विनाश का उपाय यही है कि हम यज्ञों व उत्तम कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—'यज्ञव्यापृति, वासनाविध्वंस, सोमरक्षण व हर्ष-प्राप्ति' इनमें क्रमिक

कार्यकारण-भाव चलता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शतक्रतु

सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो। स्तवाम त्वा स्वाध्यः॥ ९॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारी **इमम् कामम्**=इस इच्छा को **आपृण**=सर्वथा पूरित करो कि **गोभिः**=ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा (गमयन्ति अर्थान्) तथा **अश्वैः**=कर्मेन्द्रियों के द्वारा (अश्नुवते कर्मसु) **स्वाध्यः**=(सुष्ठु सर्वतो ध्यानयुक्ताः) सब ओर से इन्द्रियों को एकाग्र करके चिन्तन करनेवाले हम **त्वा**=आपका ही **स्तवाम**=स्तवन करें। २. संसार में इस मानवजीवन के मिलने पर इससे उत्तम सौभाग्य की बात नहीं हो सकती कि हम 'प्रभुध्यान-प्रवण चित्तवृतिवाले' बनें, अतः मन्त्र में यही प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो! आप यह कृपा करें कि हम एकाग्रता से आपका स्तवन करनेवाले बनें। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करती हुई उन पदार्थों में आपकी महिमा को देखनेवाली हों। हमारी कर्मेन्द्रियाँ आपके निर्देशों को क्रियान्वित करने में लगी रहें। हमारी चित्तवृत्तियाँ आपके ही स्वरूप का चिन्तन करें। ३. ऐसा होने पर ही हे शतक्रतो प्रभो! हम भी आपके अधिकाधिक समीप पहुँचते हुए कुछ अंशों में 'शतक्रतु' बन पाएँगे। यही हमारे जीवन का चरम सौन्दर्य होगा।

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ व चित्तवृत्तियाँ प्रभुस्तवन करनेवाली हों। यह स्तवन हमें भी शतक्रतु बनानेवाला हो।

विशेषः—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्रभु का दर्शन उन्हें होता है जो पर-दुःख-हरण में प्रवृत्त होते हैं और सूर्य के समान दीप्तज्ञानवाले बनते हैं (१)। हमारी कर्मेन्द्रियाँ धारणात्मक कर्मों में लगें और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का प्रसार करें (२)। हम सदा प्रभु का स्मरण करें (३)। प्रभुस्तुति को जीवन में अनूदित कर, यज्ञशील हों और सोम के पान की हममें अभिलाषा हो (५)। ये सोम ही तो हमें शक्ति व सहिष्णुता प्राप्त कराएँगे (६)। इस सोम के रक्षण के लिए हमें प्रभुस्तवन प्रिय हो (७)। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रभु की महिमा को देखें, कर्मेन्द्रियाँ प्रभु-प्रतिपादित यज्ञों के करनेवाली हों, चित्तवृत्तियाँ प्रभुचिन्तन में लीन हों (९)। इसके लिए हम इन्द्र और वरुण का उपासन करें, अर्थात् 'जितेन्द्रिय व व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले बनें'—इन शब्दों से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

जितेन्द्रियता व व्रतबन्धन

इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे। ता नो मृळात ईदृशे॥ १॥

१. **अहम्**=मैं **सम्राजोः**=उत्तम दीप्तिवाले **इन्द्रावरुणयोः**=इन्द्र और वरुण के **अवः**=रक्षण का **आवृणे**=सर्वथा वरण करता हूँ। मुझे इन्द्र और वरुण का रक्षण प्राप्त हो। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का प्रतीक है। यह असुरों का संहार करनेवाला है, सब आसुरी वृत्तियों को यह समाप्त कर देता है। जितेन्द्रिय होने पर हम वासनाओं के शिकार नहीं होते। 'वरुण' पाशी है, पाशों से जकड़नेवाला है। जब हम अपने को ही व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं तब हम वरुण बनते हैं।

यह व्रतबन्धन ही हमें श्रेष्ठ=वरुण बनाता है (वरुणो नाम वर: श्रेष्ठ)। इस व्रतबन्धन से ही हम 'प्रचेता:' प्रकृष्ट ज्ञानवाले बनते हैं। इसी से हम 'अप्पति:' (अपां रेतसां पति:) सोमकणों के रक्षणवाले होते हैं। हम इन्द्र व वरुण के रक्षण का वरण करते हैं, अर्थात् जितेन्द्रिय व व्रतों के बन्धनवाले बनकर आत्मरक्षण करनेवाले होते हैं। ये इन्द्र और वरुण सम्राट् हैं, हमारे जीवनों को व्यवस्थित व दीप्त करनेवाले हैं। २. **ईदृशे**=ऐसा होने पर, अर्थात् जब हम इनके रक्षण का वरण करते हैं तब **ता:**=वे दोनों **न:**=हमें **मृळात:**=सुखी करते हैं। सुख-प्राप्ति का मार्ग ही यह है कि हम इन्द्रियों के दास न हों तथा सदा व्रतों के बन्धन में अपने-आपको बाँधकर ले-चलें। ऐसा होने पर हमारा जीवन सुखी तो होगा ही, यह जीवन चमक भी उठेगा।

भावार्थ-जीवन को दीप्त व सुखी बनाने के लिए आवश्यक है कि हम जितेन्द्रिय बनें तथा जीवन को व्रतों के बन्धन में बाँधकर चलें।

ऋषि:-**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता-**इन्द्रावरुणौ**॥ छन्द:-**यवमध्या विराड्गायत्री**॥ स्वर:-**षड्ज:**॥

विप्र-मावान्-चर्षणि

गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावत:। धर्तारा चर्षणीनाम्॥ २॥

१. इन्द्र और वरुण **हि**=निश्चय से **विप्रस्य**=(वि+प्रा) अपना विशेषरूप से पूर्ण करनेवाले तथा **मा-वत:**=ज्ञानी के (मा=प्रमा=ज्ञान) **अवसे**=रक्षण के लिए **हवम्**=पुकार को **गन्तारा:**=जानेवाले होते हैं, अर्थात् ज्ञानी व अपनी न्यूनताओं को दूर करने के लिए यत्नशील पुरुष का रक्षण इन्द्र और वरुण ही करते हैं। ऐसा पुरुष जब इन्हें पुकारता है तब ये सदा उपस्थित होते हैं। जितेन्द्रियता इसके दोषों व न्यूनताओं को दूर करके इसका पूरण करेगी तथा व्रतों का बन्धन-ब्रह्मचर्यादि व्रतों का धारण इसे ज्ञान-परिपूर्ण करेगा। इस प्रकार इन्द्र इसे 'विप्र' बनाएगा तो वरुण 'मा-वान्'। २. ये इन्द्र और वरुण **चर्षणीनाम्**=(कर्षणीनाम्) श्रमशील शक्तियों के **धर्तारा**=धारण करनेवाले होते हैं। जितेन्द्रियता व व्रती बनना श्रमशीलता के बिना नहीं हो सकता। आलस्य में लेटनेवाला व्यक्ति न तो जितेन्द्रिय ही बन सकता है (इन्द्र), न व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाला (वरुण)।

भावार्थ-इन्द्र और वरुण की कृपा-पात्रता के लिए हम विप्र, मावान् व चर्षणि बनें। अपना विशेषरूप से पूरण करें, ज्ञानवान् बनें, श्रमशील हों।

ऋषि:-**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता-**इन्द्रावरुणौ**॥ छन्द:-**गायत्री**॥ स्वर:-**षड्ज:**॥

अनुकाम तर्पण

अनुकामं तर्पयेथामिन्द्रावरुण राय आ। ता वां नेदिष्ठमीमहे॥ ३॥

१. हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण देवो! आप हमें **अनुकामम्**=इच्छा के अनुसार **राय:**=धन से **आतर्पयेथाम्**=सर्वथा तृप्त कीजिये। जितेन्द्रियता व व्रतबन्धन जहाँ हमारी अध्यात्म-उन्नति का कारण बनते हैं वहाँ लौकिक अभ्युदय को भी प्राप्त करानेवाले होते हैं। ये अनुकाम धन का लाभ कराते हैं, अर्थात् आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुपात में ये धन अवश्य देते हैं। जितेन्द्रिय व व्रती पुरुष सांसारिक दृष्टिकोण से भी कभी असफल नहीं होता। २. **ता वाम्**=उन आप दोनों को, अर्थात् इन्द्र और वरुण को हम **नेदिष्ठम्**=अत्यन्त समीप **ईमहे**=चाहते हैं। जितेन्द्रियता व व्रतों के बन्धन की भावना मुझसे कभी दूर न हो। जितेन्द्रियता मुझे नीरोग और बलवान् बनाएगी और व्रतबन्धन मुझे व्यसनों के बन्धन से मुक्ति दिलाएगा।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व व्रतबन्धन मुझे इच्छानुसार धन की प्राप्ति करानेवाले होते हैं। ये सदा मेरे समीप हों, मैं जितेन्द्रिय व व्रती बनूँ।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ**॥ छन्द:—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

शची सुमति

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाव्नाम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब जितेन्द्रियता व व्रतबन्धन हमारे समीप होते हैं तब हम **हि**=निश्चय से **शचीनाम्**=शक्तियों का **युवाकु**=अपने साथ मिश्रण करनेवाले होते हैं। 'यु' धातु से आकु प्रत्यय 'अत्यधिकता', अर्थ में आया है, जैसे हिन्दी में 'लड़ाकू'=खूब लड़नेवाला, वैसे युवाकु=खूब मिश्रित करनेवाला। हम जितेन्द्रिय बनते हैं तो शक्ति का अपने साथ खूब ही सम्पर्क करनेवाले होते हैं। २. इसी प्रकार हम **सुमतीनाम्**=उत्तम मतियों, बुद्धियों का **युवाकु**=अपने साथ सम्पर्क करनेवाले हों। व्रतों का बन्धन हमारे जीवन को पवित्र बनाकर हमें निर्मल बुद्धिवाला बनाता है। ३. शक्ति व सुमति को प्राप्त करके हम **वाजदाव्नाम्**=अन्न के देनेवालों में **भूयाम**=हों। निर्बल व्यक्ति में दान की वृत्ति नहीं होती तथा सशक्त होने पर भी यदि विचारशक्ति ठीक न हो तो मनुष्य देनेवाला नहीं होता। दान तभी होता है जब 'शक्ति व सुमति' हो। अन्न का देनेवाला व्यक्ति भोगवृत्तिवाला नहीं बनता, परिणामत: उसकी शक्ति भी सुरक्षित रहती है और मति भी विकृत नहीं होती।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व व्रती बनकर शक्ति व सुमति को प्राप्त करें तथा दानशील बनें।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ**॥ छन्द:—**भुरिगार्चीगायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

ऋतु व उक्थ्य

इन्द्र: सहस्रदाव्नां वरुण: शंस्यानाम्। क्रतुर्भवत्युक्थ्य:॥ ५॥

१. **इन्द्र:**=जितेन्द्रिय पुरुष, भोगासक्त न होने के कारण, अपनी आवश्यकताओं को न्यून रखने के कारण **सहस्रदाव्नाम्**=हज़ारों धनों के दानों का **क्रतु:**=करनेवाला **भवति**=होता है। जब जितेन्द्रियता का अभाव होता है तब मनुष्य की आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं, आवश्यकताएँ बढ़ने के साथ दान देना सम्भव नहीं रहता। दान की बात तो दूर रही, ऐसा व्यक्ति अन्याय-मार्गों से धनार्जन का प्रयत्न करता है। जितेन्द्रिय ही दान दे सकता है। यही हज़ारों की संख्या में धनों का दान करनेवाला होता है। २. **वरुण:**=अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला **शंस्यानाम्**=प्रशंसनीय व्यक्तियों में भी **उक्थ्य**=स्तुत्य **भवति**=होता है। जितना-जितना हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं, उतना-उतना ही हमारा जीवन सुन्दर होता चलता है। जीवन का सौन्दर्य बिना व्रतों के सम्भव नहीं। एक जलधारा किनारों के अन्दर चलती हुई सुन्दर प्रतीत होती है, इसी प्रकार मानव-जीवन भी मर्यादाओं में—व्रतों के बन्धन में चलता हुआ सुन्दरतम होता है। वह जीवन प्रशंसनीयों में भी प्रशंसनीय होता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बन हज़ारों का दान करनेवाले हों और वरुण=अपने को व्रतों में बाँधनेवाले बनकर प्रशस्य जीवनवाले हों।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ**॥ छन्द:—**निचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

धन की प्राप्ति-वर्धन-दान

तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि। स्यादुत प्ररेचनम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित इन्द्र और वरुण को ही सम्बोधित करके कहते हैं कि **तयोः**=उन इन्द्र और वरुण के **इत्**=ही **अवसा**=रक्षण से **वयम्**=हम **सनेम**=उत्तम ऐश्वर्यों का सम्भजन करनेवाले हों, अर्थात् जितेन्द्रिय व व्रती बनकर हम इस प्रकार पुरुषार्थ करें कि हम धनों को प्राप्त करनेवाले हों। ये धन हमारे दैनन्दिन व्ययों की पूर्ति के लिए तो पर्याप्त हों ही। २. **च**=और हम आकस्मिक व्ययों के लिए **निधीमहि**=इन धनों को सुरक्षित भी रख सकें। हमारी निधि खाली न होकर धन से परिपूर्ण हो। ३. **उत** और **प्रेरेचनम् स्यात्**=इन धनों का प्रेरेचन भी होता रहे, अर्थात् ये धन हमारी निधि में ही स्थिर होकर न रह जाएँ, हम इन्हें दान में भी देते रहें। समय-समय पर यज्ञों, लोकहित के कार्यों के द्वारा इनका व्यय होता ही रहे और इस प्रकार कोश समय-समय पर शुद्ध होता रहे।

भावार्थ-जितेन्द्रिय व व्रती बनकर हम धनों को प्राप्त करें, जोड़ें और दान में दें। अप्राप्त की प्राप्ति ही प्रथम पुरुषार्थ है, प्राप्त का रक्षण व वर्धन द्वितीय व तृतीय पुरुषार्थ हैं और वृद्धि (बढ़े हुए) का दान-यही चौथा पुरुषार्थ है।

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**इन्द्रावरुणौ**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

उत्तम विजय (ज्ञान+धन+विजय)

इन्द्रा॑वरुण वा॒म॒हं हु॑वे चि॒त्राय॒ राध॑से। अ॒स्मान्त्सु जि॒ग्युष॑स्कृतम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्रावरुण**=इन्द्र व वरुण देवो! **अहम्**=मैं **वाम्**=आप दोनों को **हुवे**=पुकारता हूँ। मैं प्रार्थना करता हूँ कि मैं इन्द्र=जितेन्द्रिय बन सकूँ तथा **वरुण**=अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधकर श्रेष्ठ जीवनवाला बनूँ। २. मैं ऐसा इसलिए बनना चाहता हूँ कि **चित्राय**=(चित्+र) ये दोनों वृत्तियाँ मेरे लिए ज्ञान देनेवाली हों। जितेन्द्रिय पुरुष सदा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। **राधसे**=कार्यों को सिद्ध करनेवाले धन के लिए मैं इन्द्र व वरुण को पुकारता हूँ। जितेन्द्रिय व व्रती बनकर मैं आवश्यक धन को संगृहीत करने में समर्थ होता ही हूँ। ३. हे इन्द्र व वरुण देवो! आप **अस्मान्**=हमें **सुजिग्युषः**=उत्तम विजय को प्राप्त करनेवाला **कृतम्**=करो। आपकी कृपा से मैं सदा विजयी बनूँ। वस्तुतः इन्द्रियों पर विजय करनेवाला पुरुष त्रिभुवन-विजेता बनता है, इसका कहीं पराजय नहीं होता। 'वरुण' स्वयं अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला होकर कभी शत्रुओं से बद्ध नहीं होता। यह सब शत्रुओं का बाधन करनेवाला होता है।

भावार्थ-जितेन्द्रियता व व्रतों का बन्धन हमें ज्ञान, धन व विजय प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**इन्द्रावरुणौ**॥ छन्दः-**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

संविभाग व सुख

इन्द्रा॑वरुणा॒ नू नु वां॒ सिषा॑सन्तीषु धी॒ष्वा। अ॒स्मभ्यं॒ शर्म॑ यच्छतम्॥ ८॥

१. हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र व वरुणदेवो! **वाम्**=आप दोनों **नू नु**=(अतिशयेन क्षिप्रम्) शीघ्र ही **सिषासन्तीषु**=संविभाग की कामनावाली, बाँटकर खाने की इच्छावाली **धीषु**=बुद्धियों के होने पर **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शर्म**=सुख को **आयच्छतम्**=समन्तात् प्राप्त कराओ। २. जब मनुष्य जितेन्द्रिय व व्रतमय जीवनवाला होता है तब वह कभी भी सब-कुछ अकेला खा जानेवाला नहीं होता। वह 'केवलादी' नहीं बनता और इसलिए 'केवलाघ' (Sin Incarnate) नहीं होता। वह अवश्य ही संविभागी होता है। उसकी बुद्धि सदा संविभाग के

विचार की ओर झुकती है। ३. जब मनुष्य की बुद्धि संविभाग के विचारवाली हो जाती है तब उसका जीवन अवश्य सुन्दर बनता है। जिस समाज व राष्ट्र में इस संविभााग की बुद्धिवाले पुरुषों का बाहुल्य होता है, उस समाज व राष्ट्र का सदा कल्याण ही होता है। संविभाग के होने पर हीनभोजन व अतिभोजन का प्रश्न नहीं रहता। ऐसा होने पर कोई अतिभोजी (overfed) व कोई हीनभोजी (underfed) नहीं होता, अतः वहाँ बीमारी भी समाप्त हो जाती है। मनुष्यों में संविभाग की भावना आते ही सामाजिक कष्टों का अन्त हो जाता है। सत्य बात तो यह है कि यही विचार युद्धों का भी अन्त कर देता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय और व्रती होंगे तो हममें संविभाग की बुद्धि उत्पन्न होगी। इस बुद्धि के होने पर कष्टों व युद्धों का अन्त होकर सर्वत्र कल्याण का प्रसार होगा।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्रावरुण व सधस्तुति

प्र वामश्नोतु सुष्टुतिरिन्द्रावरुण यां हुवे। यामृधाथे सधस्तुतिम्॥ ९॥

१. **इन्द्रावरुण**=हे इन्द्र व वरुणदेवो! **वाम्**=आप दोनों को वह **सुष्टुतिः**=उत्तम स्तुति **अश्नोतु**=प्राप्त करे **याम्**=जिस-जिस स्तुति को **हुवे**=मैं करता हूँ और **याम्**=जिस **सधस्तुतिम्**=दोनों की साथ-साथ स्तुति को आप **ऋधाथे**=बढ़ाते हो। २. इन्द्र और वरुण देवों की उत्तम स्तुति यही है कि हम उनके गुणों को अपने अन्दर धारण करें। 'इन्द्र' सब शत्रुओं को पराजित करनेवाला है, हम भी काम, क्रोध, लोभादि सब शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें। 'वरुण' पाशी है। हम भी पाशी बनें और इन व्रतरूप पाशों से अपने को बाँधनेवाले बनें। 'कामादि का संहार व सत्यादि व्रतों में अपने को बाँधना'—ये दोनों बातें सदा साथ-साथ ही चलती हैं, ये एक-दूसरे की पोषक हैं, अतः इन्द्र और वरुण की सम्मिलित स्तुति ही हमारे वर्धन का कारण है। 'इन्द्र' बनने के लिए 'वरुण' बनना आवश्यक है, 'वरुण' बनने के लिए 'इन्द्र' बनना। जितेन्द्रियता के लिए व्रती होना आवश्यक है और व्रती होने के लिए जितेन्द्रिय होना। यही इनकी सधस्तुति है। इसी में हमारा वर्धन, उन्नति है।

भावार्थ—हम अपने इस साधना के जीवन में जितेन्द्रिय बनने के लिए व्रती बनें, व्रती बनने के लिए जितेन्द्रिय हों। इस प्रकार हम अपने जीवनों में इन्द्रावरुण की सधस्तुति करनेवाले हों।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि जितेन्द्रियता और व्रतमय जीवन मुझे दीप्त जीवनवाला बनाएँ (१)। जितेन्द्रिय व व्रती पुरुष वे ही बनते हैं जो न्यूनता के पूरण करने की कामनावाले हों (विप्र), ज्ञानी हों (मा-वान्), श्रमशील हों (चर्षणि), (२) जितेन्द्रिय व व्रती पुरुष आवश्यक धन का भी अर्जन कर पाता है (३)। ये अपने में शक्ति व मति का मिश्रण करते हुए अत्यन्त दानी होते हैं (४)। जितेन्द्रिय पुरुष हजारों का दान करता है तो व्रती अत्यन्त प्रशस्त जीवनवाला होता है (५)। इन दोनों भावनाओं से मनुष्य धन प्राप्त करते हैं, जोड़ते हैं और देते हैं (६)। इन जितेन्द्रियता व व्रतमयता से मुनष्य ज्ञान, धन व विजय प्राप्त करते हैं (७)। इन भावनाओं के होने पर मनुष्य में संविभाग- वाली बुद्धि होती है, यही मनुष्य का कल्याण करती है (८), अतः हम अपने जीवनों में इन्द्र और वरुण की साथ-साथ स्तुति करें (९)। ऐसा होने पर प्रभु हमें सौम्य, गतिशील, दृढ़विश्वासी व मेधावी बनाएँगे'—इन शब्दों के साथ अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

अथ पञ्चमोऽनुवाकः

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोमा-स्वरण-कक्षीवान्-औशिज (विद्यार्थी)

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः॥ १॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो मैं इन्द्रावरुण की सधस्तुति करता हूँ, अर्थात् जितेन्द्रिय व व्रती बनने का प्रयत्न करता हूँ उस मुझे हे **ब्रह्मणस्पते**=वेदज्ञान के रक्षक प्रभो! **सोमानं कृणुहि**=सोम बना दो, मुझे आप अत्यन्त सौम्य स्वभाव का बना दो। इस सौम्य स्वभाववाला बनने के लिए ही मैं सोम की रक्षा करनेवाला बनूँ। २. **स्वरणम् कृणुहि**=आप मुझे (स्वृ शब्दे) उत्तम ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला बनाइए तथा (सुश्चरणम्) उत्तम गतिवाला बनाइए। वस्तुतः उन ज्ञान की वाणियों के अनुसार ही मेरी क्रिया व चालचलन हो। ३. **कक्षीवन्तम्**=(कक्ष्यावन्तम्) मेखलावाला, अर्थात् दृढ़निश्चयी मुझे बनाइए। ४. मुझे ऐसा बनाइए **यः**=जो **औशिजः**=उशिक्पुत्र होऊँ, अर्थात् अत्यन्त मेधावी होऊँ (नि० ३।१५)। ५. पिछले मन्त्र के साथ मिलाकर प्रस्तुत मन्त्र की भावना यह है कि जब एक विद्यार्थी जितेन्द्रिय व व्रती बनता है तब ब्रह्मणस्पति आचार्य उस विद्यार्थी को सौम्य, स्वरण, दृढ़निश्चयी व मेधावी बनाता है।

भावार्थ—आचार्य मुझे 'सौम्य, उत्तम गतिवाला, दृढ़निश्चयी व मेधावी' बनाए।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रेवान्, अमीवहा, वसुवित्-पुष्टिवर्धन व तुर (आचार्य)

यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः॥ २॥

१. गतमन्त्र के ब्रह्मणस्पति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—**यः**=जो **रेवान्**=धनवाला है, अर्थात् निर्धनता के कष्ट से पीड़ित नहीं, जिसके सामने सदा आर्थिक समस्या उपस्थित नहीं रहती, क्योंकि उस अवस्था में उसका ध्यान आर्थिक समस्या को सुलझाने में ही रहेगा, न कि पढ़ाने की ओर। २. **यः**=जो **अमीवहा**=रोगों को नष्ट करनेवाला है, अर्थात् जिसका शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं। रोगों से आक्रान्त शरीरवाला आचार्य न तो नियमित रूप से ज्ञान ही दे सकता है और न विद्यार्थियों के स्वास्थ्य को ठीक रख सकता है। ३. **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों को जिसने प्राप्त किया हुआ है, अतएव **पुष्टिवर्धनः**=शरीर, मन व मस्तिष्क के पोषण को बढ़ानेवाला है। ४. **सः**=ऐसा आचार्य **नः**=हमें **सिषक्तु**=प्राप्त हो, **यः**=जोकि **तुरः**=हमारी सब कमियों को दूर करनेवाला है (तुर्वि हिंसायाम्) अथवा जो (तुर त्वरणे) शीघ्रता से सब कार्यों को करनेवाला है।

भावार्थ—आचार्य वही उत्तम है जोकि निर्धनता से पीड़ित नहीं, स्वस्थ है, निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त किये हुए है, शरीर, मन व मस्तिष्क की पुष्टि करनेवाला तथा आलस्यशून्य है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कुप्रभाव से बचना

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य। रक्षा णो ब्रह्मणस्पते॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आचार्य के गुणों से सम्पन्न ब्रह्मणस्पति जहाँ विद्यार्थियों को उचित ज्ञान देता है वहाँ उन्हें उपद्रवी पुरुषों के मिथ्याशंसनों से भी बचाता है। 'अरे मांस खाने में क्या खराबी है, यह तो बड़ा पौष्टिक है, मृगया तो बड़ा सुन्दर व्यायाम है'—इत्यादि प्रकार से त्याज्य बातों का भी अच्छे रूप में शंसन करनेवाले पुरुष अपरिपक्व बुद्धिवालों पर ग़लत प्रभाव डाल सकते हैं, आचार्य विद्यार्थी की इन प्रभावों से रक्षा करे, अतः मन्त्र में कहते हैं कि—**नः**=हमें **अररुषः**=(ऋ+अरुः) उपद्रव करने के लिए गति करनेवाले **मर्त्यस्य**=सांसारिक विषयों के पीछे मरनेवाले पुरुष की **धूर्तिः**=हिंसक, विनाशकारी **शंसः**=बुराइयों का अच्छे रूप में शंसन **मा प्रणक्**=मत प्राप्त हो (सम्प्रणक्तु)। हम इन पुरुषों के सम्पर्क में ही न आएँ, इनकी बातों के प्रभाव से बचें। २. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! आचार्य! **नः**=हमें **रक्ष**=आप सुरक्षित कीजिए। आपकी कृपा से हम ऐसे पुरुषों के प्रभाव में न आएँ। ऐसे पुरुषों की बातों को पूर्वपक्ष के रूप में रखके आचार्य हमारे मस्तिष्क में उनके उत्तरपक्ष को अंकित कर दें, जिससे हम परिपक्व विचारोंवाले होकर बहकाये न जा सकें।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी का रक्षण करे और उपद्रवी पुरुषों के नाशक विचारों से उसे प्रभावित न होने दे।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिरिन्द्रश्च सोमश्च**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, सोम (आचार्य)

स घा वीरो न रिष्यति यमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः। सोमो हिनोति मर्त्यम्॥ ४॥

१. वस्तुतः **सः**=वह **वीरः**=वीर विद्यार्थी **घा**=निश्चय से **न रिष्यति**=कभी हिंसित नहीं होता **यम्**=जिस **मर्त्यम्**=मरणधर्मा पुरुष को **इन्द्रः**=इन्द्र, **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी तथा **सोमः**=सोम **हिनोति**=बढ़ाता है। २. सामान्यतः एक विद्यार्थी का अपरिपक्व मन प्रभाव को शीघ्र ग्रहण करनेवाला होता है। वह किसी भी बात से प्रभावित हो सकता है। कुसंग में फँसकर वह वैषयिक भावों से शीघ्र आक्रान्त हो जाता है, अतः उसे यहाँ **मर्त्यः**=मर जानेवाला कहा है, परन्तु यही विद्यार्थी जब जितेन्द्रिय (इन्द्र), ज्ञानी (ब्रह्मणस्पति) व नातिमानी—निरभिमानी (सोम) आचार्य के सम्पर्क में आता है तब यह दूषित विचारों का शिकार नहीं होता। आचार्य इसके ज्ञान को इतना बढ़ा देते हैं कि वह कुविचारों के प्रभाव से ऊपर उठ जाता है, अवाञ्छनीय भावों से लड़ने के लिए उसमें पर्याप्त वीरता उत्पन्न हो जाती है। ३. आचार्य का सर्वप्रथम गुण 'इन्द्र' शब्द से व्यक्त हो रहा है—वह पूर्ण जितेन्द्रिय है, वह इन्द्रियों का दास नहीं, उसे किसी विषय का चस्का नहीं लगा हुआ, आसुरी वृत्तियों का संहार करके वह दैवी सम्पत्ति का स्वामी बना है। ४. आचार्य का द्वितीय गुण 'ब्रह्मणस्पति' शब्द के साथ व्यक्त हो रहा है। वह ज्ञान का पति है। ज्ञान का पति होकर ही तो वह विद्यार्थी को ज्ञान दे पाता है। ५. उसका तीसरा महत्त्वपूर्ण गुण 'सोम' शब्द से व्यक्त किया जा रहा है। वह जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनकर अत्यन्त सौम्य है। उसमें विनीतता है। यह विनीतता ही तो दैवी सम्पत्ति की पराकाष्ठा है। दैवी सम्पत् की समाप्ति 'नातिमानिता' पर ही है। जितेन्द्रियता के द्वारा वह ज्ञानी

बनता है, ज्ञान को प्राप्त करके विनीत होता है। जितेन्द्रियता ज्ञान का साधन है और विनीतता ज्ञान का परिणाम। इस आचार्य के शिक्षण में विद्यार्थी वीर बनता है और हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—जितेन्द्रिय, ज्ञानी, विनीत आचार्य विद्यार्थी को वीर व हिंसित न होनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिसोमेन्द्रदक्षिणाः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान, सौम्यता, जितेन्द्रियता व दान

त्वं तं ब्र॑ह्मणस्पते॒ सोम॒ इन्द्र॑श्च॒ मर्त्य॑म्। दक्षि॑णा पा॒त्वंह॑सः॥ ५॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! आचार्य! **त्वम्**=आप तो **तम्, मर्त्यम्**=उस कोमल स्वभाव, अतएव किसी भी प्रभाव से आक्रान्त हो जानेवाले इस मरणधर्मा अबोध बालक को **अंहसः**=पाप से **पातु**=रक्षित करो। **सोमः**=सोम रक्षित करे **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्र रक्षित करे, अर्थात् सौम्यता और जितेन्द्रियता इसे पापों से बचानेवाली हों। ब्रह्मचर्यकाल में आचार्य इसे ज्ञान तो देता ही है, साथ ही जितेन्द्रिय व सौम्य बनाने का प्रयत्न करता है। ये सब बातें उसे पाप से बचाने में सहायक हो जाती हैं। २. गृहस्थ में प्रवेश करने पर **दक्षिणा**=यह देने की वृत्ति उसे पाप से बचानेवाली हो। यह दान देने की वृत्ति सदा मनुष्य की उन्नति का कारण बनती है। दान के साथ पाप का सम्बन्ध नहीं। दान का अर्थ ही देना तथा पाप का काटना (दाप लवणे) है। यह दान की वृत्ति हमारे जीवन को शुद्ध बना देती है (दैप् शोधने)।

भावार्थ—ज्ञान, सौम्यता, जितेन्द्रियता व दान की वृत्ति मनुष्य का पापों से रक्षण करती है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**सदसस्पतिः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मेधा की याचना

सद॑स॒स्पति॒मद्भु॑तं प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम्य॑म्। स॒निं मे॒धाम॑यासिषम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र का ऋषि, जिसने पाप से अपने रक्षण के लिए आचार्य से 'ज्ञान, सौम्यता व जितेन्द्रियता' का ग्रहण करके गृहस्थ में दक्षिणा=दानवृत्ति को स्वीकार किया था और यज्ञमय जीवन बिताते हुए यथासम्भव पापों से अपना रक्षण किया था, वह वनस्थ होता हुआ प्रभु से 'मेधा' की याचना करता है—**मेधाम्**=बुद्धि को **अयासिषम्**=माँगता हूँ, प्राप्त करता हूँ। उस प्रभु से मैं बुद्धि को प्राप्त करता हूँ जो कि **सदसस्पतिम्**=(सदसी द्यावापृथिव्योर्नाम, नि० ३.३०) द्युलोक और पृथिवीलोक के, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। वे मुझे भी बुद्धि देकर रक्षित करते हैं। **अद्भुतम्**=वे प्रभु अद्भुत हैं, संसार में उस प्रभु की उपमा मिलना सम्भव ही नहीं। **प्रियम्**=(प्रीणाति) वे हमें उत्तमोत्तम पदार्थों को देकर प्रीणित करनेवाले हैं। **इन्द्रस्य काम्यम्**=जितेन्द्रिय पुरुष से चाहने योग्य हैं तथा **सनिम्**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। इस प्रभु से ही मैं मेधा को प्राप्त करता हूँ और इस मेधा द्वारा इस संसार के बीहड़ मार्ग में अपना रक्षण करता हुआ आगे बढ़ता हूँ। २. मेधा के अभाव में हमारा जीवन विचित्र-सा बन जाता है। वहाँ चहल-पहल होती है, चमक-दमक होती है, उसकी रोशनी में आँखें चुँधिया जाती हैं, परन्तु एक अनासक्त भाव से देखनेवाले को भर्तृहरि के शब्दों में वहाँ 'मोह, प्रमाद-मदिरा व उन्मत्तता' ही दिखाई देती है। एक महात्मा के शब्दों में हम थोड़ी देर भौंक-भाँककर मृत्यु की शान्ति में चले जाते हैं, वास्तव में यह कोई जीवन नहीं होता, अतः

मैं प्रभु से इस मेधा को ही प्राप्त करता हूँ जिससे मेरा जीवन सरल व पूर्ण स्वस्थ बना रहे। ३. इस मेधा को प्राप्त करके मैं भी 'सदसस्पति'=द्युलोक व पृथिवीलोक का पति बनूँ, मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ रक्खूँ, अद्भुत बनूँ। इस जीवन में अभूतपूर्व उन्नति करनेवाला बनूँ। प्रियम्=प्रिय स्वभाववाला होऊँ और औरों से चाहने योग्य बनूँ, औरों को मेरे सम्पर्क में आनन्द का अनुभव हो। सनि=सदा देनेवाला बनूँ। देकर बचे हुए को खाना ही तो वास्तविक संस्कृति है।

भावार्थ—प्रभु से बुद्धि को प्राप्त करके मैं अपने जीवन को कभी वासना-विहिंसित न होने दूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**सदसस्पतिः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अहंकार-शून्यता

यस्मा॑दृ॒ते न सिध्य॑ति य॒ज्ञो वि॑प॒श्चित॑श्च॒न। स धी॒नां योग॑मिन्वति॥ ७॥

१. गतमन्त्र का मेधावी पुरुष विनीत होता है। वह कभी भी किसी कार्य की सफलता का अहंकार नहीं करता। वह समझता है कि **यस्मात् ऋते**=जिस सदसस्पति=ब्रह्माण्ड के स्वामी के बिना **विपश्चितः चन**=बड़े-से-बड़े ज्ञानी का भी **यज्ञः**=कोई भी लोकसंग्रहात्मक उत्तम कार्य **न सिध्यति**=सिद्ध नहीं होता **सः**=वह प्रभु ही **धीनाम्**=हमारे प्रज्ञापूर्वक किये जानेवाले कर्मों के **योगम् इन्वति**=सम्बन्ध को व्याप्त करता है, अर्थात् वे प्रभु ही हमारे प्रत्येक कर्म को सफल किया करते हैं। प्रभु के सहाय्य के बिना किसी प्रकार की सफलता मिलना सम्भव ही नहीं। बड़े-से-बड़ा ज्ञानी भी उस प्रभु के सहाय्य के बिना अपने यज्ञों को सफल नहीं कर सकता। २. मेधा की प्राप्ति का सर्वप्रमुख परिणाम हमारे जीवनों में यही होता है कि हमारा अहंकार नष्ट हो जाता है। 'अज्ञान व अहंकार' पर्यायवाची शब्द हैं। किसी ने कितना सत्य कहा है कि—'**अहंभावो दयाभावो ज्ञानस्य चरमावधिः**'—ज्ञान की चरम सीमा निरहंकृती ही है। ज्ञानी पुरुष प्रत्येक कार्य की सफलता में प्रभु का हाथ देखता है। ज्ञानी विजय का गर्व न कर सब कर्मों को प्रभु-अर्पण करके चलता है।

भावार्थ—विजयमात्र प्रभु की है। वही हमारे प्रज्ञापूर्वक कर्मों में व्याप्त होते हैं। वे ही उन्हें सफल करते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**सदसस्पतिः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवत्व-प्राप्ति

आदृ॑ध्नोति ह॒विष्कृ॑तिं॒ प्राञ्चं॑ कृणोत्यध्व॒रम्। होत्रा॑ दे॒वेषु॑ गच्छति॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमारे सब यज्ञात्मक कर्मों को सफल करनेवाले प्रभु **आत्**=हमारे अहंकारशून्य होते ही **हविष्कृतिम्**=हवि के करनेवाले हमें **ऋध्नोति**=बढ़ाते हैं। वेद के आदेश के अनुसार हमें हविर्मय जीवनवाला बनना है, त्यागपूर्वक उपभोग करना है [**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**], 'केवलादी' नहीं बनना [**केवलाघो भवति केवलादी**], केवल अपने पेट के लिए ही पकानेवाला नहीं बन जाना [**अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्**]। पाँचों यज्ञों को करके यज्ञशेष 'अमृत' का ही सेवन करनेवाला बनना है [**अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः**]। जब हम इस प्रकार हवि का सेवन करनेवाले 'हविष्कृति' बनते हैं तब प्रभु हमारा वर्धन करते हैं। हवि से ही तो प्रभु का पूजन होता है [**हविषा विधेम**]। इस पूजन से

प्रसन्न हुए-हुए प्रभु हमें उन्नत करनेवाले होते हैं। २. इस हविष्कृति से किये जानेवाले **अध्वरम्**=हिंसाशून्य यज्ञों को वे प्रभु ही **प्राञ्चम्**=[प्र, अञ्च] आगे बढ़नेवाला **कृणोति**=करते हैं। हमारे यज्ञ हमारे ही प्रयत्न से थोड़े पूर्ण हो जाते हैं, इन्हें तो प्रभुकृपा ही पूर्ण करती है। ३. यह यज्ञों को करनेवाला 'हविष्कृति' **होत्रा**=वेदवाणी से [होत्रा=वाङ्नाम नि०] अथवा इस [हु दानादन] दानपूर्वक अदन से **देवेषु गच्छति**=देवों में प्राप्त होता है। दिव्यगुणों को प्राप्त होता हुआ यह मनुष्यों से ऊपर उठ जाता है और देव बन जाता है।

भावार्थ-हमारा जीवन हविर्मय हो। इस हवि से हम मर्त्यत्व से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त करें।

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**सदसस्पतिर्नराशंसो वा**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

प्रभु-दर्शन

नराशंसं सुधृष्टमुमपश्यं सुप्रथस्तमम्। दिवो न सद्ममखसम्॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'होत्रा देवेषु गच्छति' होता बनने के द्वारा-दानपूर्वक अदन करनेवाला 'हविष्कृति' बनने से मनुष्य देवत्व को प्राप्त होता है। यह हविष्कृति कहता है कि मैं अधिकाधिक देवत्व को प्राप्त होता हुआ अन्ततः उस प्रभु का **अपश्यम्**=साक्षात्कार करता हूँ, जो प्रभु **नराशंसम्**=सब उन्नति के पथ पर बढ़नेवाले पुरुषों से शंसन के योग्य हैं। वस्तुतः प्रभु-शंसन से ही उन्नति होती है। २. **सुधृष्टमम्**=जो प्रभु [शोभनं धृष्णोति] उत्तमता से शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं। हम प्रभु का शंसन करते हैं तो वे प्रभु हमारी कामादि वासनाओं को नष्ट करते हैं। जहाँ प्रभु-शंसन चलता है वहाँ वासनाओं का दहन हो जाता है। ३. **सप्रथस्तमम्**=वे प्रभु अत्यन्त विस्तारवाले हैं [प्रथ विस्तारे]। हम जितना-जितना अपने हृदयों को विस्तृत करते हैं, उतना-उतना पवित्र होते जाते हैं ४. **दिवो न**=प्रकाश की भाँति वे प्रभु **सद्ममखसम्**=[सद्म=घर, मख=यज्ञ] यज्ञरूप गृहवाले हैं अर्थात् उस प्रभु का निवास दो स्थानों पर होता है-एक जहाँ ज्ञान का प्रकाश हो और दूसरे जहाँ जीवन यज्ञमय हो। यदि हम ज्ञान को प्राप्त करते और यज्ञों को अपनाते हैं तो हम प्रभु के निवासस्थान बनते हैं, तब हम प्रभु का साक्षात्कार कर रहे होते हैं।

भावार्थ-हम देवत्व को प्राप्त होते हुए प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

विशेष-सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि ज्ञानी आचार्य हमें 'सौम्य, गतिशील, दृढ़निश्चयी व मेधावी बनाए' (१)। आचार्य 'अदरिद्र, नीरोग, उत्तम निवासवाले, सब दृष्टिकोणों से पुष्ट व आलस्यशून्य हों' (२)। वे हमें उपद्रवी पुरुषों की मिथ्या बातों से बचाएँ (३), हममें जितेन्द्रियता, ज्ञान व सौम्यता को उत्पन्न करें (४)। ज्ञान, जितेन्द्रियता, सौम्यता व दानवृत्ति हमें पाप से बचाएँ (५)। प्रभु से हम मेधा की ही याचना करें (६)। प्रभु की कृपा से ही हमारे यज्ञ पूर्ण होते हैं (७)। यज्ञमय जीवनवाले को प्रभु बढ़ाते हैं (८)। तब हम देव बनते हुए अन्ततः प्रभु-दर्शन करनेवाले होते हैं (९)। 'ये प्रभु हमें क्या प्रेरणा देते हैं?' इस कथन से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है-

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**अग्निर्मरुतश्च**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

तीन निर्देश

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ १॥

१. गतमन्त्र के प्रभु-दर्शन करनेवाले जीव को प्रभु कहते हैं कि तू **त्यम्, चारुम्, अध्वरम्, प्रति**=उस सुन्दर यज्ञ के प्रति **प्रहूयसे**=बुलाया जाता है। जैसे एक पिता पुत्र को बैठकर पढ़ने के लिए बुलाता है, इसी प्रकार प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे यज्ञ के लिए बुलाता हूँ, उस सुन्दर यज्ञ के लिए जिसके द्वारा तुझे इस संसार में फूलना-फलना है और जो यज्ञ तेरी सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है। २. तू मुझसे **गोपीथाय**=[गाव:=वाच:] ज्ञान की वाणियों के पान के लिए 'प्रहूयसे'=बुलाया जाता है। तू नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला बन। ज्ञान के अभाव में मनुष्य की वृत्ति यज्ञात्मक न होकर भोगप्रवण हो जाती है। 'जीवन यज्ञमय बना रहे', इसके लिए ज्ञान-प्राप्ति आवश्यक है। ज्ञानी यज्ञशील होता है एवं ज्ञान प्रवृत्ति का साधन हो जाता है। ३. प्रभु तीसरी बात कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **आगहि**=हमारे समीप आनेवाला बन। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति-निरोध होगा और चित्तवृत्ति-निरोध ही प्रभु का दर्शन करनेवाला होगा। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही द्रष्टा स्व स्वरूप में अवस्थित होता है और प्रभु-दर्शन करता है।

भावार्थ—प्रभु के तीन निर्देश हैं-(क) यज्ञमय जीवनवाला बन, (ख) ज्ञान का पान कर और (ग) प्राणसाधना को अपना।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**अग्निर्मरुतश्च**॥ छन्द:—**निचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

तेज व प्रज्ञान

नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं पर:। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ २॥

१. प्रभु कहते हैं कि जब तू गतमन्त्र में वर्णित तीन निर्देशों का पालन करता है, तू यज्ञ, ज्ञान व प्राणसाधना को अपनाता है तब तेरी इतनी उन्नति होती है कि **नहि देव:**=न तो देव **न: मर्त्य:**=न मनुष्य **तव**=तेरे **मह:**=तेज व **क्रतुम्**=प्रज्ञान को लाँघकर **पर:**=उत्कृष्ट होता है, अर्थात् तेज व ज्ञान के दृष्टिकोण से तेरी बराबरी कोई भी नहीं कर पाता, न देव, न मनुष्य। (क) यज्ञमय जीवन हमें भोगवृत्ति से ऊपर उठाता है और हमारी तेजस्विता का कारण बनता है। भोग ही शक्ति को जीर्ण करते हैं **'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेज:'** [कठो० १।१।२६]। (ख) नैत्यिक स्वाध्याय हमारे ज्ञान की सतत वृद्धि का कारण बनता है। २. इन दोनों वृत्तियों को जगाने के लिए प्राणसाधना की आवश्यकता है, अत: प्रभु कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **आगहि**=हमारे समीप आनेवाला बन। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होकर आत्मदर्शन होता है। चित्तवृत्ति के निरोध का प्रासंगिक लाभ यह भी है कि भोगवृत्ति न रहने से जीवन यज्ञमय बनता है तथा हमारी रुचि ज्ञानप्रवण होती है। परिणामत: हम अद्भुत तेज व प्रकाश को प्राप्त करके देवों व मर्त्यों में आगे बढ़नेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा यज्ञों व स्वाध्याय को अपनाएँ और अद्वितीय तेजस्वी व ज्ञानी बनने का प्रयत्न करें।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**अग्निर्मरुतश्च**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

उत्कृष्ट कर्म, दिव्यता व अद्रोह

ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि प्राणसाधना से मनुष्य देवों व मर्त्यों को तेजस्विता व प्रज्ञान

में लाँघ जाता है। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये वे व्यक्ति होते हैं **ये**=जो **महो रजसः**=उत्कृष्ट रजोगुण को **विदुः**=प्राप्त करते हैं। **'रजः कर्मणि भारत'** (गीता १४।९) इस वाक्य के अनुसार रजोगुण का परिणाम कर्म है। रजःप्रधान ब्रह्मा ही सृष्टिनिर्माणात्मक कर्म को करते हैं। ये भी उत्कृष्ट रजोगुणवाले होकर सदा लोकसंग्रहात्मक कर्मों में लगे रहते हैं २. **विश्वेदेवासः**=ये विश्वेदेव बनते हैं, अर्थात् सब दिव्यगुणों को अपने अन्दर धारण करने का प्रयत्न करते हैं। सारी दैवी सम्पत्ति को अपनाकर 'विश्वेदेव' बनते हैं। ३. इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि **अद्रुहः**=ये कभी द्रोह नहीं करते। इनमें किसी के प्रति क्रोध का लवलेश भी नहीं होता। प्रभु के सर्वोत्तम भक्त वे ही होते हैं जोकि **'सर्वभूतहिते रताः'**=सब प्राणियों का हित करनेवाले होते हैं। ४. प्रभु इनसे कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **आगहि**=तू यहाँ मेरे समीप आनेवाला बन। उत्कृष्ट कर्मों में लगकर, दैवी सम्पत्ति को अपनाकर और द्रोह से ऊपर उठकर ही तू मुझे पाएगा और यह सब-कुछ प्राण-साधना से होगा।

भावार्थ-प्रभु का भक्त कर्मशील, दिव्य वृत्तिवाला और द्रोहशून्य जीवनवाला होता है। यह प्राणसाधना से ऐसा बनने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**अग्निर्मरुतश्च**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

ओजस्विता

य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ४॥

१. प्राणसाधकों का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि ये वे व्यक्ति होते हैं **ये**=जो **उग्राः**=(Noble) अत्यन्त तेजस्वी व श्रेष्ठ होते हैं। २. ये लोग **अर्कम्**=उस अर्चना के योग्य प्रभु का **आनृचुः**=पूजन करते हैं। ३. और इस पूजन के परिणामस्वरूप ये **ओजसा, अनाधृष्टासः**=ओज के कारण शत्रुओं से कभी पराजित नहीं किये जाते। ४. इस सारी बात का ध्यान करते हुए ही प्रभु जीव से कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **आगहि**=हमारे समीप आनेवाला हो। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति को एकाग्र करके आत्मस्वरूप में स्थित होकर परमात्मदर्शन करनेवाला बन।

भावार्थ-प्राणसाधना से मनुष्य तेजस्वी बनता है। प्रभु का अर्चन करता हुआ अपने ओज के कारण कभी शत्रुओं से पराभूत नहीं होता।

ऋषिः-**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता-**अग्निर्मरुतश्च**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

तेजस्वी रूप

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ५॥

१. उन्हीं प्राणसाधकों के लिए कहते हैं कि ये वे हैं **ये**=जो **शुभ्राः**=अत्यन्त शुद्ध चरित्रवाले हैं। इनके कर्म सदा उज्ज्वल होते हैं। ये कभी निकृष्ट कर्मों से अपने को मलिन नहीं करते। इनके इन्द्रियदोष दग्ध हो जाते हैं। २. इसीलिए **घोरवर्पसः**=तेजस्वी रूपवाले होते हैं। **सुक्षत्रासः**=उत्तम बलवाले होते हैं, उस शक्तिवाले होते हैं जोकि इनका क्षतों से त्राण करती है। ३. उस उत्तम क्षत्रवाले होकर ये **रिशादसः**=हिंसक वृत्तियों को नष्ट कर डालनेवाले होते हैं अथवा हिंसकों का नाश कर डालते हैं। ४. इन सब बातों का विचार करके **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **आगहि**=प्रभु को प्राप्त होनेवाला हो।

भावार्थ–प्राणसाधना करनेवाला शुद्ध चरित्र, तेजस्वी शक्तिवाला, उत्तम बलवाला व हिंसकों का नाश करनेवाला बनता है।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**अग्निर्मरुतश्च**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

स्वर्गलोक

ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ६॥

१. ये प्राणसाधक वे होते हैं **ये**=जो **नाकस्य**=(न, अकः)=जहाँ दुःख का लवलेश नहीं, उस स्वर्गलोक के **अधिरोचने**=अत्यन्त दीप्तिवाले, अधिक चमकवाले **दिवि**=प्रकाशमय लोक में **देवासः**=दिव्य वृत्तिवाले **आसते**=आसीन होते हैं, अतः हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=प्राणों से, प्राणसाधना से **आगहि**=प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो। २. प्राणसाधना से इन्द्रिय–दोष दूर होकर मानवजीवन पवित्र बनता है, मनुष्य की वृत्तियाँ दिव्य हो जाती हैं और देव बनकर ये सदा प्रकाशमय लोक में रहते हैं, उस प्रकाशमय लोक में जोकि दुःख के सम्पर्क से रहित व दीप्तिमय है। इनका अगला जन्म होता है तो उस नाकलोक में होता है जोकि द्युलोक में स्थित है (**दिवो नाकस्य पृष्ठात्**)। इस लोक से भी ऊपर उठकर अन्ततः ये उस स्वर्ज्योति को प्राप्त करते हैं, स्वयं देदीप्यमान ब्रह्म को ये प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ–प्राणसाधक पुरुष देव बनकर द्युलोकस्थ अत्यन्त दीप्तिमय स्वर्गलोक में पहुँचते हैं। वहाँ से भी ऊपर उठकर प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**अग्निर्मरुतश्च**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

पर्वतों व समुद्रों का पराभव

य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ, अर्थात् प्राणों की साधना के द्वारा **आगहि**=प्रभु के समीप प्राप्त हो। २. ये प्राणसाधना करनेवाले पुरुष वे हैं **ये**=जोकि **पर्वतान्**=पर्वतों को भी **ईंखयन्ति**=हिला देते हैं। **अर्णवम्**=जलों से परिपूर्ण **समुद्रम्**=समुद्र को भी **तिरः**=तिरस्कृत करके आगे बढ़ते हैं, अर्थात् इन प्राणसाधकों को अपनी उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ते समय पर्वत व समुद्र रोक नहीं पाते। पर्वत भी मार्ग में आ जाए तो ये उसे हिला देते हैं और समुद्र भी इनके मार्ग को अवरुद्ध नहीं करता। समुद्र की भी परवाह न करके ये आगे ही बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ–प्राणसाधक पर्वत के समान ऊँची व समुद्र के समान गहरी विपत्तियों से भी विचलित नहीं होते। वे सब विघ्नों को जीतकर आगे बढ़ते जाते हैं।

ऋषिः–**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता–**अग्निर्मरुतश्च**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

प्रकाश व ओज

आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी पुरुष! तू उन **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **आगहि**=प्रभु के समीप प्राप्त हो, **ये**=जो साधक के जीवन को **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से **आतन्वन्ति**=समन्तात् आच्छादित कर देते हैं। प्राणसाधक के जीवन में चारों ओर ज्ञानरश्मियों का विस्तार होता है। प्राणायाम के द्वारा 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' की उत्पत्ति होती है, उस बुद्धि का विकास होता है जो सत्य का ही पोषण करती है एवं प्राणसाधक के जीवन में रश्मियों का प्रकाश–ही–प्रकाश होता है।

२. ये प्राण मनुष्य को ऐसा ओजस्वी बनाते हैं कि यह **ओजसा**=ओज के द्वारा **समुद्रम्**=समुद्र को भी **तिरः**=तिरस्कृत करनेवाला होता है, समुद्र से भी इसकी शक्ति अधिक होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन प्रकाशमय व ओजस्वी बनता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्मरुतश्च**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम की पूर्व-पीति

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु। मरुद्भिरग्न आ गहि॥ ९॥

१. सूक्त के अन्तिम मन्त्र में प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं **सोम्यम् मधु**=इस सोम=वीर्य-सम्बन्धी मधु को **पूर्वपीतये**=प्रथमाश्रम में ही अथवा जीवन के पूर्वभाग में ही पीने के लिए, शरीर के अन्दर ही व्याप्त करने के लिए **त्वा, अभि**=तुझे लक्ष्य करके **सृजामि**=उत्पन्न करता हूँ। यह सोम खाये हुए भोजन के सार का भी सार है, उसी प्रकार जैसे कि शहद कितनी ही ओषधियों का सार है। जीवन के प्रथमाश्रम में ही इसके पान का सर्वाधिक महत्त्व है। प्रभु ने हमारा लक्ष्य करके, अर्थात् हमारी उन्नति के लिए इस सोम की सृष्टि की है। २. प्राणसाधना से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है और शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमारी सब प्रकार की उन्नतियों का मूल बनता है, अतः कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **आगहि**=हमें प्राप्त होनेवाला हो। इस प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होगी, उससे ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और उस दीप्त ज्ञानाग्नि के प्रकाश में हम प्रभुदर्शन कर सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रथमाश्रम में ही सोम का पान करें। वीर्य-रक्षा से ही हमारी सब प्रकार की उन्नतियाँ सम्भव होंगी। अग्नि बनकर हम इन प्राणों के सहाय्य से प्रभु को प्राप्त करेंगे।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ प्रभु के तीन निर्देशों से हुआ है—(क) यज्ञशील बनो, (ख) ज्ञान का पान करो, (ग) प्राणसाधना करो (१)। यह प्राणसाधना तुम्हें तेज व प्रज्ञान के दृष्टिकोण से देवों व मर्त्यों से ऊपर उठाएगी (२)। तुम उत्तम क्रियाशील, दिव्यवृत्ति व द्रोहशून्य बनोगे (३)। तेजस्वी प्रभुपूजक व अदम्यशक्ति होओगे (४)। शुद्धचरित्र, तेजस्वी, उत्तम बलवाले और हिंसकों के नाशक बनोगे (५)। देव बनकर स्वर्गलोक में स्थित होओगे (६)। पर्वतों व समुद्रों की भी परवाह न करके आगे बढ़ोगे (७)। प्रकाश व ओज से पूर्ण बनोगे (८)। सोम्य मधु का प्रथमाश्रम में ही पान करके प्रभु को पानेवाले बनोगे। अब ये प्रभु को पानेवाले दिव्य जन्म की प्राप्ति के लिए प्रभुस्तवन करते हैं—

॥ इति प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः॥

अथ प्रथमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रत्नधातम स्तोम

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया। अकारि रत्नधातमः॥ १॥

इस सूक्त का देवता 'ऋभवः' हैं। 'ऋभु' शब्द का अर्थ यास्क इस रूप में करते हैं कि **'उरु भान्ति, ऋतेन भान्ति, ऋतेन भवन्तीति वा'** [नि० ११।१५।२] खूब देदीप्यमान होते हैं, ऋत=सत्य से चमकते हैं अथवा सदा ऋत=व्यवस्था से चलते हैं, सब कामों को ठीक समय व स्थान पर करते हैं। वस्तुतः इसीलिए ये अपने जीवन को दिव्य बना पाते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि **'ऋभवो हि मनुष्याः सन्तः तपसा देवत्वं प्राप्ताः'**—ये मनुष्य होते हुए भी तप से देवत्व को प्राप्त हुए हैं। २. मन्त्र में कहते हैं कि **विप्रेभिः**=विशेष रूप से अपना पूर्ण करने की कामनावाले इन पुरुषों से **देवाय जन्मने**=दिव्य जन्म की प्राप्ति के लिए, जीवन को दिव्य बनाने के लिए **आसया**=मुख से **अयम् स्तोमः**=यह प्रभु का स्तवन **अकारि**=किया जाता है। ये सदा प्रभु का स्तवन करते हैं। यह स्तवन ही तो इनके सामने जीवन के लक्ष्य को उपस्थित करता है, जिसकी ओर निरन्तर बढ़ते हुए ये अपने जीवन में कमी नहीं आने देते और ऊँचा उठते जाते हैं। ३. यह सोम **रत्नधातमः**=इनके जीवन में रमणीयतम तत्त्वों को धारण करनेवाला होता है, इनके जीवन को बड़ा ही सुन्दर बना देता है।

भावार्थ—विप्र लोग मुख से प्रभु के गुणों का उच्चारण करते हैं। यह गुणगायन उनके जीवन को दिव्य बनाता है। उनमें रमणीयतम तत्त्वों को धारण कराता है। ये लोग मनुष्य से देव बन जाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शान्तिमय यज्ञ

य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी। शमीभिर्यज्ञमाशत॥ २॥

१. गतमन्त्र के 'ऋभु' वे हैं **ये**=जोकि **मनसा**=मन के द्वारा **वचोयुजा**=वेदवाणी के अनुसार कर्मों में व्यापृत होनेवाले **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **ततक्षुः**=बनाते हैं। ये इन्द्रियाँ घोड़े हैं तो मन ही इनकी लगाम है। ये घोड़े उस मार्ग पर ही चलते हैं जिसका कि वेद निर्देश करता है, अतः ये 'वचोयुजा' हैं। इनका मार्ग वही है जोकि प्रभु की ओर ले-जाता है (इन्द्राय)। इस प्रकार मनरूपी लगाम से मार्ग पर चलनेवाले ये इन्द्रियरूप अश्व हमें अपनी जीवन-यात्रा को लक्ष्य पर पहुँचानेवाले होते हैं। यह लक्ष्य 'इन्द्र' है—वह परमैश्वर्यशाली प्रभु है। २. इस लक्ष्य की ओर बढ़नेवाले ये ऋभु **शमीभिः**=शान्तिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से **यज्ञम्**=यज्ञ को **आशत**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् शान्तिपूर्वक यज्ञरूप उत्तम कर्मों में—लोकसंग्रहात्मक कर्मों में लगे रहते हैं। इन कर्मों के द्वारा ही इनका प्रभुपूजन चलता है। इन्हीं से ये प्रभु को पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—मन के द्वारा हम इन्द्रियों को वश में करके वेदप्रेरित मार्ग में चलें और शान्तिपूर्वक यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ऋभवः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'सुखरथ' व 'सर्वदुघा धेनु'

तक्षन्नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्। तक्षन्धेनुं सबर्दुघाम्॥ ३॥

१. ऋभु लोग **नासत्याभ्याम्**=प्राणापानों के द्वारा, अर्थात् प्राणसाधना के द्वारा **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **सुखम्**=(ख=इन्द्रिय) एक-एक उत्तम इन्द्रियरूप अश्ववाला **तक्षन्**=बनाते हैं तथा **परिज्मानम्**=सब ओर गतिवाला बनाते हैं, अर्थात् इनके जीवन में आलस्य नहीं होता। ये अपने इन्द्रियाश्वों को निर्बल व क्षीणशक्ति नहीं होने देते। यह सब ये प्राणसाधना के द्वारा कर पाते हैं। 'प्राणायाम' इनके नैत्यिक जीवन का कार्यक्रम हो जाता है। २. इन प्राणापानों के द्वारा ही ये ऋभु **धेनुम्**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणीरूप गौ को **सबर्दुघाम्**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली बनाते हैं। प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और वह बुद्धि वेद के गूढार्थ को समझनेवाली बनती है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम शरीररूपी रथ को उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनाएँ और इसी साधना से तीव्रबुद्धि होकर ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ऋभवः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सत्यमन्त्र, ऋजूयु

युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः। ऋभवो विष्ट्यक्रत॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना से 'सुखरथ' व 'सबर्दुघा धेनु' को बनाने के बाद **ऋभवः**=ये खूब चमकनेवाले वा ऋत से दीप्त होनेवाले **सत्यमन्त्राः**=सत्यरूप मन्त्रवाले अथवा सदा ही सत्य ज्ञानवाले तथा, **ऋजूयवः**=सरल आचरणवाले (ऋजु=आत्मानं कामयन्ते) लोग **विष्टी**=कर्मों में व्यापन के द्वारा **पितरा**=अपने मस्तिष्करूप पितृस्थानीय द्युलोक को तथा शरीररूप मातृस्थानीय पृथिवीलोक को **पुनः**=फिर **युवाना**=बुराइयों से अमिश्रित तथा अच्छाइयों से मिश्रित **अक्रत**=करते हैं। २. हमें 'ऋभु, सत्यमन्त्र व ऋजूयु' बनना चाहिए। मस्तिष्क में खूब चमकनेवाले, मन में सत्य का विचार करनेवाले तथा सरल आचरणवाले बनकर ही हम उन्नति-पथ पर चल रहे होते हैं। ३. 'विष्टी' शब्द से यह स्पष्ट है कि उन्नति हमारी तभी तक स्थिर रहेगी जब तक कि हम कर्मों में व्याप्त जीवनवाले होंगे। अकर्मण्यता ही सब अवनतियों व अपवित्रताओं का मूल है। ४. उन्नति का अभिप्राय मस्तिष्क व शरीर को अच्छाइयों से युक्त व बुराइयों से रहित करना है—यही पितरों को युवा करना है। 'द्यौष्पिता पृथिवी माता' द्युलोक पिता और पृथिवी ही माता है। 'मूर्ध्नो द्यौ', 'पृथिवी शरीरम्'=मस्तिष्क ही द्युलोक है, शरीर ही पृथिवी है। इनको युवा बनाने का अभिप्राय क्रमशः इनमें से जड़ता व रोगों को दूर करके इनमें तीव्रता व नीरोगता की स्थापना है।

भावार्थ—ऋभु 'सत्यमन्त्र व ऋजूयु' होते हैं। वे कर्मों में व्याप्त रहकर मस्तिष्क व शरीर को निर्दोष व सगुण बनाने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ऋभवः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'मरुत्वान् इन्द्र' व 'राजा आदित्य'

सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता। आदित्येभिश्च राजभिः॥ ५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'पितरों को युवा बनाने' के लिए यह आवश्यक है कि **वः**=तुम्हें **मदासः**=हर्ष के कारणभूत सोमकण **समग्मत**=प्राप्त हों, सोमकणों के साथ हमारा मेल हो। वस्तुतः उन्नतिमात्र के मूल में यह सोमकणों की रक्षा ही है। इसके बिना किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। २. यह सोमकणों के साथ मेल हो कैसे? उसके लिए कहते हैं कि **इन्द्रेण च मरुत्वता**=मरुतोंवाले इन्द्र के द्वारा। इन्द्र उस पुरुष को कहते हैं—जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इस इन्द्रियों के अधिष्ठातृत्व के लिए ही वह प्रशस्त प्राणों- (मरुतों)-वाला बना है। प्राणसाधना के बिना इन्द्रियाँ वशीभूत नहीं होती। इन्द्रियों के वशीभूत हुए बिना सोम की रक्षा भी सम्भव नहीं। ३. इसके अतिरिक्त यह सोमकणों का मेल **आदित्येभिः च राजभिः**=देदीप्यमान आदित्यों से होता है। आदित्य वे हैं जो निरन्तर अपने अन्दर ज्ञान का ग्रहण करते हैं। 'प्रकृति' का ज्ञान प्राप्त करके वे वसु=उत्तम निवासवाले बनते हैं। 'प्रकृति+जीव' का ज्ञान प्राप्त करके ये रुद्र बनते हैं। **'रोरूयमाणो द्रवति'**-निरन्तर अपने कर्तव्य-कर्मों की रट लगाते हुए उन्हें करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं और अब प्रभु का भी ज्ञान प्राप्त करके सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करनेवाले ये 'आदित्य' बनते हैं। सूर्य के समान ज्ञान से चमकते हुए ये सूर्य के समान ही व्यवस्थित (regulated) जीवनवाले होते हैं और सोम की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। ४. 'मरुत्वान् इन्द्र'=प्राणसाधना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष है और 'राजा आदित्य'=पराविद्या से दीप्त होनेवाला, व्यवस्थित जीवनवाला ज्ञानी पुरुष है। ये ही अपने साथ सोमकणों का संगम कर पाते हैं। सोम-रक्षा के मुख्य यही उपाय हैं—(क) प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रियता, (ख) व्यवस्थित जीवन द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना।

भावार्थ—'मरुत्वान् इन्द्र' तथा 'राजा आदित्य' बनकर हम अपने अन्दर सोमकणों की रक्षा करनेवाले बनें। इनके रक्षण से ही जीवन उल्लासमय होगा।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ऋभवः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

एक के चार

उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ऋभु सोम का रक्षण करते हैं, **उत**=और **त्वष्टुः देवस्य**=त्वष्टा देव के, प्रभु ही त्वष्टा हैं **'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तकर्मणः'**=वे सब ज्ञानों से दीप्त हैं, **'त्विक्षतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः'**=वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड के रचनेवाले हैं, हमारे इन शरीररूप पिण्डों के बनानेवाले भी वे प्रभु ही हैं, उस त्वष्टा देव के **निष्कृतम्**=(निःशेषेण सम्पादितम्) पूर्णरूप से बनाये हुए, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है **त्यम्**=उस **नवम्**=नवीन अथवा स्तुत्य **चमसम्**=इस शरीररूप पात्र को ये ऋभु **पुनः**=फिर **चतुरः**= चतुर्धाविभक्त **अकर्त**=कर देते हैं। २. शरीररूप पात्र एक है। भिन्न-भिन्न अङ्गों से बना हुआ यह एक शरीर है जैसे भिन्न-भिन्न प्रान्तों से बना हुआ एक राष्ट्र होता है। यद्यपि यह शरीर एक है, तो भी ये ऋभु इस शरीर को चार भागों में बाँटकर चार साधनाएँ करते हैं-(क) ये शरीर के मुख के भाग को 'ब्रह्माण्ड' बनाते हैं, ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करनेवाला बनाते हैं। इस भाग में स्थित इनकी सभी इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्तिरूप कार्य में लगी रहती हैं। (ख) भुजाओं व छाती के भाग को ये 'क्षत्रिय' बनाते हैं। भुजाओं में बल का सम्पादन करके ये रक्षा के कार्य में तत्पर होते हैं। (ग) इनका उदरभाग जैसे शरीर में सब रुधिर का निर्माण करता है, उसी प्रकार ये 'धन' के उत्पादन के लिए प्रयत्नशील होते हैं, इस प्रकार उनका यह शरीरभाग 'वैश्य' हो जाता है।

(घ) निरन्तर श्रम करते हुए पाँवों से यह 'शूद्र' होता है, 'शु द्रवति' शीघ्रता से यह कर्म करनेवाला होता है। ३. इस प्रकार इस शरीर के अङ्ग क्रमशः 'ज्ञान, बल, धन व श्रम' का अर्जन करते हुए इस एक शरीरवाले होते हुए को चारवाला कर देते हैं—यही है एक का चार कर देना।

भावार्थ—ऋभु प्रभु के बनाये इस पूर्ण व स्तुत्य शरीर को एक होते हुए को भी ज्ञान, बल, धन व श्रम का अर्जन करनेवाला बनाकर चतुर्धा विभक्त कर देते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ऋभवः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

एकविंश बनना

ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते। एकमेकं सुशस्तिभिः॥ ७॥

१. प्रभु इन ज्ञान, बल, धन व श्रम का अर्जन करनेवाले ऋभुओं से कहते हैं कि **नः**=हमारी **त्रिः, आ** (वृत्तानि)=तीन बार आवृत्त **साप्तानि**=सात जो **रत्नानि**=रमणीय तत्त्व, अर्थात् ३×७=२१ रमणीय शक्तियाँ **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए हैं, उनको **धत्तन**=धारण करो। अथर्व के प्रथम मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः' में शरीर को धारण करनेवाले इक्कीस तत्त्वों का उल्लेख है, ये २१ तत्त्व प्रभु के हैं, प्रभु ही इनका निर्माण करनेवाले हैं। प्रभु ने इनका निर्माण किया उसी पुरुष के लिए है जोकि 'सुन्वत्' है, सोमाभिषव करनेवाला है। शरीर में सोम (वीर्यकणों) का सम्पादन व रक्षण करनेवाला है। २. इन इक्कीस तत्त्वों को धारण करके ही हम अपने जीवन को पूर्ण बना पाते हैं, अतः प्रभु कहते हैं कि **एकम्, एकम्**=इनमें से एक-एक को **सुशस्तिभिः**=उत्तम शंसनों के द्वारा धारण करने का ध्यान करो। हम प्रभुस्मरण करते हुए इन इक्कीस तत्त्वों को धारण करनेवाले बनते हैं तो सच्चा प्रभुस्तवन करते हैं। 'एकविंश एव (स्तोमः) सर्वम्' [गो० पू० ५।१५]। २१ तत्त्वों का धारण प्रभु का पूर्ण स्तवन है। 'एकविंशो वै स्वर्गो लोकः' [श० १०।५।४।६] २१ तत्त्वों को धारण करने पर हमारा जीवन स्वर्ग बन जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें और सोमरक्षण द्वारा जीवन के इक्कीस तत्त्वों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**ऋभवः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ग्रहणीय अंश का ग्रहण

अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया। भागं देवेषु यज्ञियम्॥ ८॥

१. गतमन्त्र में २१ तत्त्वों के धारण का उल्लेख है। **अधारयन्त**=इन्होंने धारण किया, अतः ये **वह्नयः**=(वह to carry, वहन करना) धारण करनेवाले कहलाये। २. सब शक्तियों को धारण करके ये ऋभु **देवेषु**=विद्वानों में **यज्ञियं भागम्**=संगतीकरण योग्य उत्तम सेवनीय अंश को **सुकृत्यया**=उत्तम कर्मों के द्वारा **अयजन्त**=सेवित करते हैं। ये विद्वानों के सम्पर्क में आकर, उनके जीवन में जो भी बातें ग्रहण करने योग्य होती हैं, उन्हें ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उत्तमताओं को ग्रहण करते हुए ये सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। ३. देवों के संगतीकरण योग्य सेवनीय अंशों के ग्रहण से ही तो हमारा जीवन दिव्य बनेगा। इस दिव्य जन्म के लिए ही ऋभुओं का सारा स्तवन था।

भावार्थ—इस शरीर में इक्कीस प्रकार के बलों को धारण करके देवों के ग्रहणीय

अंशों का ग्रहण करें ताकि हम उत्तम कर्मोंवाले हों।

इस सूक्त का आरम्भ 'देवजन्म' के लिए ऋभुओं के प्रभु-स्तवन से हुआ है (१)। ये ऋभु मनरूप लगाम से इन्द्रिरूप घोड़ों को वश में करके वेदमार्ग पर चलते हैं (२)। प्राणसाधना से शरीर को स्वस्थ व ज्ञानयुक्त करते हैं (३)। सत्य विचारवाले व सरल आचरणवाले होते हैं (४)। प्राणसाधना व ज्ञानरुचि से सोम की रक्षा करते हैं। (५)। शरीर में स्थित होकर ज्ञान, बल, धन व श्रम का अर्जन करनेवाले बनते हैं (६)। शरीर की इक्कीस शक्तियों के धारण के लिए यत्नशील होते हैं (७)। देवों के यज्ञियांशों को ग्रहण कर ये उत्तम कर्मों में लगे रहते हैं (८)। ऐसा करने से ये प्रकाश व बल (अग्नि व इन्द्र) की ठीक आराधना कर पाते हैं। प्रकाश और बल ही देवों के मुख्य गुण हैं—

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

बल व प्रकाश

इहेन्द्राग्नी उप ह्वये तयोरित्स्तोममुश्मसि। ता सोमं सोमपातमा ॥ १ ॥

१. **इह**=इस मानवजीवन में **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्निदेव की **उपह्वये**=उपासना करता हूँ। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है और 'अग्नि' प्रकाश का। मैं अपने मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश को धारण करने का प्रयत्न करता हूँ तो शरीर में बल को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. **तयोः**=उन इन्द्र और अग्नि से ही **स्तोमम्**=स्तुति को **उश्मसि**=चाहते हैं। इन्द्र और अग्नि को ही अपने जीवन का आदर्श बनाते हैं। मैं इन्द्र और अग्नि का ही उपासक बनता हूँ। मेरी एक ही कामना है कि मेरा मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल हो और शरीर बल-सम्पन्न बने। ३. **ता**=ये अग्नि और इन्द्र ही **सोमपातमा**=अतिशयेन सोम का पान करनेवाले हैं। ये ही **सोमम्**=सोम को पीनेवाले हों। व्यायाम के द्वारा शरीर के बल सम्पादन में सोम का व्यय हो तथा स्वाध्याय के द्वारा मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करने में यह व्ययित हो। यही 'इन्द्राग्नी' का सोमपान होगा।

भावार्थ—मैं शरीर में सोम का व्यय बल व प्रकाश के सम्पादन में करूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ-अलंकृति, प्राणरक्षण

ता यज्ञेषु प्र शंसतेन्द्राग्नी शुम्भता नरः। ता गायत्रेषु गायत ॥ २ ॥

१. **ता**=उन इन्द्र और अग्नि को ही **यज्ञेषु**=लोकहित के कर्मों में **प्रशंसत**=प्रशंसित करो। वस्तुतः हम उतना-उतना ही यज्ञ कर पाते हैं जितना-जितना कि हमारे अन्दर इन्द्र व अग्नि-तत्त्व होते हैं। कोई भी यज्ञ बल व प्रकाश के बिना सम्भव नहीं। २.हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! आप **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवालों को **शुम्भता**=अलंकृत कर दो। इन्द्राग्नी की कृपा से जीवन में सब सद्गुणों का वास होता है और हमारा जीवन अंलकृत हो उठता है। हे मनुष्यो! **गायत्रेषु**=प्राणरक्षण के यज्ञों (गयाः प्राणाः, त्रा=रक्षण) में **ता**=इन इन्द्राग्नी का ही **गायत**=गान करो। वस्तुतः प्राणरक्षण के मौलिक आधार इन्द्र और अग्नि ही हैं। बल और प्रकाश मेरे जीवन की रक्षा करते हैं।

भावार्थ—सब यज्ञ बल और प्रकाश के द्वारा ही सम्पन्न हुआ करते हैं। ये ही मानव-जीवन को सब सद्गुणों से सुभूषित करते हैं और वस्तुतः प्राण-रक्षण की निर्भरता भी इन दो तत्त्वों पर ही है एवं इन्द्राग्नी हमारे जीवनों को यज्ञमय, गुणालंकृत व सुरक्षित प्राण-शक्तिवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्रशस्ति व सोमपान

ता मित्रस्य प्रशस्तय इन्द्राग्नी ता हवामहे। सोमपा सोमपीतये॥ ३॥

१. **ता इन्द्राग्नी**=इन बल व प्रकाश के तत्त्वों को **मित्रस्य**=उस (मित्र) सब रोगों व पापों से बचानेवाला अथवा (मिद् स्नेहने) सर्वाधिक स्नेह करनेवाले प्रभु की **प्रशस्तये**=प्रशस्ति के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। बल व प्रकाश के तत्त्वों के होने पर ही हम प्रभु का सच्चा उपासन कर पाते हैं। कठोपनिषद् [मु० ३।२।४] का **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**'-यह वाक्य स्पष्ट कह रहा है कि निर्बल ने क्या प्रभुउपासना करनी? तथा '**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' यह गीता [७।१८] का वाक्य ज्ञानी को ही परमात्मा का सर्वोत्तम भक्त मानता है। (२) **ता**=उन इन्द्राग्नी को हम **हवामहे**=पुकारते हैं, यतः ये **सोमपा**=हमारे शरीरों में सोम का रक्षण करनेवाले हैं, **सोमपीतये**=सोम के पान व रक्षण के लिए हम इनकी आराधना करते हैं। सोम का व्यय बल व प्रकाश के सम्पादन में ही तो होता है।

भावार्थ—हम बल व प्रकाश के तत्त्वों की याचना करते हैं, क्योंकि इन्हीं से हम अपने मित्र प्रभु को प्रशंसित करेंगे और सोम की रक्षा कर पाएँगे। एक भक्त 'निर्बल व मूर्ख हो' इसमें प्रभु की भी निन्दा ही है कि क्या प्रभु-भक्त ऐसे ही हुआ करते हैं?

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ व सोम के समीप

उग्रा सन्ता हवामह उपेदं सवनं सुतम्। इन्द्राग्नी एह गच्छताम्॥ ४॥

१. ये **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवता जोकि **उग्रा सन्ता**=तेजस्वी व उदात्त होती हुई सदा **इदम्**=इस **सवनम्**=यज्ञ के तथा **सुतम्**=सोम-सम्पादन के **उप**=समीप रहती हैं, उनको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। बल व प्रकाश के होने पर मनुष्य यज्ञशील जीवनवाला होता है और उत्पन्न हुए-हुए सोम का रक्षण करता है। २. **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवता **इह**=इस मानव-जीवन में **आगच्छताम्**=मुझे प्राप्त हों। जिस समय मनुष्य शरीर में बल व मस्तिष्क में प्रकाशवाला होता है, उस समय यज्ञशील जीवनवाला तो होता ही है, साथ ही भोगों के दोषों को देखता हुआ वह उनमें फँसता नहीं है, अपितु सोम का रक्षण करनेवाला बनता है। इस सोम-रक्षण से ही वस्तुतः उसका बल व प्रकाश बढ़ता है।

भावार्थ—इन्द्राग्नी की उपासना से तेजस्वी बनकर हम यज्ञशील बनें और सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

राक्षसों का समूल विनाश

ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्। अप्रजाः सन्त्वत्रिणः॥ ५॥

१. **ता वे इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि **महान्ता**=महान् हैं, महनीय हैं, पूजनीय हैं, अपने

उपासक को महान् बनानेवाले हैं। २. **सदस्पती**=शरीररूप गृह के रक्षक हैं। भौतिक दृष्टिकोण से 'रक्षण' बल के द्वारा होता है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रक्षण 'प्रकाश' के कारण होता है। ३. ये इन्द्र व अग्नि **रक्षः**=सब राक्षसीभावों को **उब्जतम्**=क्रूरतारहित करके आर्जवयुक्त कर देते हैं। इन्द्र व अग्नि के प्रभाव से 'काम' प्रेम में परिवर्तित हो जाता है, क्रोध का स्थान करुणा ले लेती है और लोभ का परिवर्तन दान के रूप में हो जाता है। ४. इन इन्द्राग्नी के प्रभाव से **अत्रिणः**=(अद्) मनुष्य को खा जानेवाले, नष्ट कर देनेवाले राक्षसीभाव **अप्रजाः सन्तु**=प्रजाशून्य हो जाएँ अर्थात् इन राक्षसी भावों का अन्त हो जाता है। इनका अन्त इन्द्राग्नी की कृपा से होगा। बल व प्रकाश हमारे भावों को निर्मल करते हैं। निर्बलता व अज्ञान में वासनाएँ बढ़ती हैं।

भावार्थ—इन्द्र व अग्नि हमें महनीय बनाते हैं, हमारे शरीररूप घर की रक्षा करते हैं और राक्षसी भावों को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्राग्नी**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सत्य व चेतना

तेन॑ स॒त्येन॑ जागृत॒मधि॑ प्रचे॒तुने॑ प॒दे। इन्द्रा॑ग्नी॒ शर्म॑ यच्छतम्॥ ६॥

१. राक्षसी भावों को नष्ट करके ये **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवता **तेन सत्येन**=उस सत्य से **जागृतम्**=हमारे अन्दर जागरित रहें। राक्षसी भावों की भस्म पर ही सत्य का भवन स्थित होता है। २. ये इन्द्राग्नी हमें **प्रचेतुने पदे अधि**=प्रकृष्ट चेतनावाले स्थान में अधिक्येन स्थापित करें। इन देवों की कृपा से हमारी स्मृति नष्ट न हो। ३. इस प्रकार ये इन्द्र और अग्नि हमारे राक्षसीभावों को नष्ट तथा हमारी स्मृति को स्थिर करके **शर्म यच्छतम्**=सुख के देनेवाले हों। बल व प्रकाश से ही मनुष्य का कल्याण होता है।

भावार्थ—इन्द्र व अग्नि की कृपा से हममें सत्य का जागरण हो, स्मृति की स्थिरता हो। हम अपने स्वरूप व कर्तव्य को भूल न जाएँ और अपने कल्याण को सिद्ध कर सकें।

सूक्त का आरम्भ बल व प्रकाश के देवता के स्तवन से होता है (१)। ये ही देवता हमारे जीवन को यज्ञमय, प्रशंसनीय व सुरक्षित प्राणवाला बनाते हैं (२)। इनके द्वारा हम प्रभु-स्तवन व सोमपान करनेवाले बनते हैं (३)। इनसे हम तेजस्वी, यज्ञशील, सोम के रक्षक बनें (४)। ये ही देवता हमारे राक्षसीभावों को दिव्यभावों में परिवर्तित करते हैं (५)। हममें सत्य का जागरण व स्मृति की स्थापना करके हमारा कल्याण करते हैं (६)। इस स्मृति के परिणामस्वरूप हम अपना जीवन प्राणसाधनामय बनाते हैं—

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्राणापान का विबोधन

प्रा॒त॒र्युजा॒ वि बो॑धया॒श्विना॒वेह ग॑च्छताम्। अ॒स्य सोम॑स्य पी॒तये॑॥ १॥

१. प्राण और अपान सदा इकट्ठे रहनेवाले हैं, अतः ये 'युजा' हैं। शरीर में इनका कार्य सदा सम्मिलित रूप में चलता है। प्राण ठीक न हों तो अपान भी दूषित हो जाता है और अपान

के कार्य के ठीक न होने पर प्राण में कमी आ जाती है। ये प्राणापान वैसे तो सदा जागरित रहते हैं—हमारे सो जाने पर भी इनका कार्य चलता ही रहता है, परन्तु प्रभु कहते हैं कि—**प्रातः**=सवेरे-सवेरे ही **अश्विनौ**=इन प्राणापानों को जोकि **युजा**=मिलकर कार्य करते हैं **वि बोधय**=जागरित कर, इनको विशिष्ट कार्यों में लगनेवाला बन। उठते ही हम उत्तम कार्यों में प्रवृत्त हो जाएँ। २. **अस्य सोमस्य पीतये**=इस सोम के पान के लिए ये प्राणापान **इह**=इस शरीर में **आगच्छताम्**=तुझे प्राप्त हों, अर्थात् प्राणसाधना के द्वारा तू इस सोम को ऊर्ध्वगति करनेवाला बन। प्राण सोम को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले होते हैं। इसी से तो ये प्राण बलवर्धक होते हैं और ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान से ही शरीर में सब क्रियाएँ होती हैं और सोम की ऊर्ध्वगति होकर शरीर में उसका व्यापन होता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्राणसाधना का लाभ

या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा। अश्विना ता हवामहे॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्राणापान की साधना से सोम का शरीर में ही व्यापन होता है। शरीर में सोम के व्यापन से शरीर सब रोगों से रहित हो जाता है, इन्द्रियाँ निर्दोष हो जाती हैं, मन दिव्य भावनाओं से भर जाता है और ज्ञानज्योति चमक उठती है, अतः कहते हैं कि **या उभा**=प्राणापान ये दोनों **सुरथा**=उत्तम शरीररूप रथवाले हैं, अर्थात् जिससे रथ सब प्रकार के रोगरूप (रुजो भंगे) टूट-फूट से रहित हो जाता है। प्राणशक्ति के साथ रोगों का निवास नहीं होता। प्राणशक्ति [vitality] की न्यूनता से ही रोग आक्रमण करते हैं। २. ये प्राणापान **रथीतमा**=बड़ी उत्तमता से शरीररूप रथ का सञ्चालन करनेवाले हैं। इन्द्रियरूप घोड़े इस शरीर-रथ में जुते हैं। ये घोड़े ही इस रथ को खींचते हैं। प्राणसाधना से इन इन्द्रियाश्वों के सब दोष दग्ध हो जाते हैं, अतः ये रथ को बड़ी उत्तमता से ले-चलनेवाले हैं। ३. **देवाः**=ये प्राणापान मन के असुर-भावों को समाप्त करके दिव्य भावनाओं से परिपूर्ण करते हैं। ४. **दिविस्पृशा**=ये प्राणापान द्युलोक से स्पृष्ट होनेवाले हैं, अर्थात् मस्तिष्क को उसी प्रकार ज्ञानोज्ज्वल करनेवाले हैं जैसे कि सूर्यादि से द्युलोक उज्ज्वल होता है। **ता अश्विना**=उन प्राणापानों को **हवामहे**=हम पुकारते हैं। 'हमारे प्राणापान इस प्रकार के हों' ऐसी हम प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर नीरोग होता है, इन्द्रियाँ निर्दोष बनती हैं, मन दिव्य भावनाओं से भर जाता है, मस्तिष्क प्रकाश का स्पर्श करनेवाला होता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधुमती कशा

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्॥ ३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **या**=जो **वाम्**=आप दोनों की **मधुमती**=अत्यन्त माधुर्यवाली तथा **सूनृतावती**=उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा सत्य **कशा**=वाणी है, **तया**=उस वाणी से **यज्ञम्**=हमारे इस जीवन-यज्ञ को **मिमिक्षतम्**=सिक्त कर दो, अर्थात् हम सदा मधुर, सूनृत वाणी ही बोलनेवाले हों। २. प्राणसाधना से सभी इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं। वाणी

के मौलिक दोष कटुता व अनृतता ही हैं। ये दोनों दोष दूर होकर वाणी मधुर व सत्य बन जाती है। प्राणशक्ति के क्षीण होने पर ही चिड़चिड़ापन व स्वभाव में कटुता आती है, तभी मनुष्य कुछ अपशब्द बोलने लगता है। प्राणशक्ति के ठीक होने पर वाणी की मिठास ठीक बनी रहती है। प्राणशक्ति-सम्पन्न पुरुष सदा उत्तम, सुखद सत्यवाणी ही बोलता है।

भावार्थ—हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनकर सदा मधुमती, सूनृत वाणी ही बोलें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के घर में

नहि वामस्ति दूरके यत्रा रथेन गच्छथः। अश्विना सोमिनो गृहम्॥ ४॥

१. हम प्राणसाधना करते हुए मन्त्रों के अनुसार (क) सोम-रक्षा में समर्थ होते हैं। (ख) शरीर को नीरोग बनाते हैं। (ग) इन्द्रियों को निर्दोष, (घ) मन को दिव्य, (ङ) तथा मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं। (च) इसके साथ हमारी वाणी मधुर व सूनृत हो जाती है। इन सब साधनाओं का यह परिणाम होना ही चाहिए कि हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। इसी बात को प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्रा**=जहाँ **सोमिनः**=इस सोम का उत्पादन करनेवाले प्रभु के **गृहम्**=घर को **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **गच्छथः**=जाते हो तो वह **वाम्**=आपके लिए **दूरके नहि अस्ति**=दूर नहीं है। (२) मन्त्रार्थ में प्रभु को 'सोमी' शब्द से स्मरण करना भी बड़ा भावपूर्ण है। प्रभु सोमी हैं, सोम को हममें उत्पादित करते हैं। इस सोम को यदि हम शरीर में सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, तो इस प्रयत्न से हम प्रभु का आदर कर रहे होते हैं। प्रभु की प्राप्ति इस सोम-रक्षण के बिना सम्भव नहीं है। इस सोम का रक्षण प्राणसाधना से होता है, अतः कहा गया कि ये प्राणापान ही सोमी प्रभु के घर में हमें ले-जानेवाले होते हैं, उनके लिए यह कार्य कठिन नहीं है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम की रक्षा करके हम उस सोमी प्रभु के घर में पहुँचनेवाले होंगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सविता का आह्वान

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये। स चेत्ता देवता पदम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र का प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति ब्रह्मलोक [सोमिगृह] में पहुँचकर प्रभु का स्तवन करता है कि **हिरण्यपाणिम्**=हितरमणीय रक्षणवाले **सवितारम्**= सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के उत्पादक व सबके प्रेरक उस प्रभु को **ऊतये**=रक्षण के लिए **उपह्वये**=पुकारता हूँ। यह आकाश में उदित होनेवाला सूर्य भी 'हिरण्यपाणि' है, हाथ में स्वर्ण को लिये हुए है। यह अपने किरणरूप हाथों से हममें स्वर्ण को प्रक्षिप्त [Inject] करने का प्रयत्न करता है। इसकी किरणों को हम छाती पर लेते हैं तो ये रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली होती हैं। सूर्य भी **सविता**=सबको जगाकर कर्म में लगने की प्रेरणा देता है। यह सविता उस सविता की ही विभूति है। २. **सः**=वे प्रभु **चेत्ता**=संज्ञानवाले हैं। प्रभु के ज्ञान में किसी प्रकार की कमी नहीं। **देवता**=वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं, ज्ञान से दीप्त हैं। और पवित्र हृदयवालों को ज्ञान से द्योतित करनेवाले हैं। **पदम्—पद्यते योगिभिर्यस्मात्तस्मात्पद उदाहृतः**=शान्त चित्तवाले मुनियों से जानने योग्य हैं, अथवा सबका अन्तिम लक्ष्यस्थान हैं। प्रभु तक पहुँचकर ही जीवन यात्रा का अन्त होगा।

भावार्थ—प्रभु 'हिरण्यपाणि, सविता, चेत्ता, देवता व पद' हैं, उन्हें मैं अपनी रक्षा के लिए पुकारता हूँ। [**सूचना**–पद का अर्थ 'गतिशील' भी है—प्रभु सदा क्रियाशील हैं।]

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कर्म व अपतन

अपां नपातमवसे सवितारमुप स्तुहि। तस्य व्रतान्युश्मसि॥ ६॥

१. **अपाम्**=प्रजाओं के अथवा कर्मों के **न पातम्**=न गिरने देनेवाले **सवितारम्**=उत्पादक व प्रेरक प्रभु की **अवसे**=रक्षण के लिए **उपस्तुहि**=समीपता से स्तुति करनेवाला बन। वे प्रभु अपने रक्षण के कार्य में कभी ढील तो करते ही नहीं, क्रिया उनके लिए स्वाभाविक ही है। 'अपाम्' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं 'प्रजा व कर्म'। प्रभु इन दोनों को गिरने नहीं देते। यदि इन्हें समन्वित करके कहा जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा कि 'कर्मों के द्वारा प्रजाओं को न गिरने देनेवाले' अर्थात् कर्म ही अपतन का साधन है। २. **तस्य**=उस प्रभु के **व्रतानि**=पुण्यकर्मों को **उश्मसि**=हम भी चाहते हैं, अर्थात् हमारी भी यही कामना है कि हम भी प्रभु की भाँति ही ज्ञानी, दिव्य व गतिशील बनें।

भावार्थ—हम भी प्रभु की भाँति क्रियाशील और सब प्रजाओं के रक्षक बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धन का विभाग

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्॥ ७॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि प्रभु प्रजाओं का पतन नहीं होने देते। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वे प्रभु धन का उचित विभाग करते हैं और वस्तुतः यह धन का विभाग ही प्रजा की रक्षा करनेवाला होता है। जिस प्रकार शरीर में रुधिर के किसी एक स्थान में एकत्र होने से शरीर विकृत हो जाता है, उसी प्रकार समाज के शरीर में भी धन के कुछ स्थानों पर केन्द्रित होने पर विकार आ जाता है। इसलिए कहते हैं कि **विभक्तारम्**=धन का उचित विभाग करनेवाले उस प्रभु को **हवामहे**=हम पुकारते हैं जो प्रभु **वसोः**=निवास के लिए आवश्यक धन को देनेवाले हैं। कैसे धन को? **चित्रस्य**= [चित्+र] जो धन हमें ज्ञान का देनेवाला है, न कि हमारे ज्ञान को नष्ट करनेवाला है; तथा **राधसः**=जो धन हमारे कर्मों को सिद्ध करनेवाला है? **सवितारम्**=उस प्रभु को जो सम्पूर्ण धनों को उत्पन्न करनेवाले हैं और उन्हें सर्वत्र प्रेरित करनेवाले हैं तथा **नृचक्षसम्**=[नृन् चष्टे=look after] सभी लोकों का पालन करनेवाले हैं। जैसे एक माता सभी बच्चों का ध्यान करती है, वे प्रभु भी सभी की माता हैं और सबके पालन-पोषण का ध्यान करते हैं।

भावार्थ—सबके पालक उस प्रभु की हम प्रार्थना करें। वे प्रभु ही सब धनों के उत्पादक व विभाजक हैं। प्रभु से दिया गया धन हमारे निवास को उत्तम बनाता है, हमारे ज्ञान के अनुकूल होता है तथा कार्यों का साधक है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

जीवन की शोभा

सखाय आ नि षीदत सविता स्तोम्यो नु नः। दाता राधांसि शुम्भति॥ ८॥

१. **सखायः**=मित्रो! **आनिषीदत**=सब ओर से आकर नम्रता से बैठो। **सविता**=सारे

ब्रह्माण्ड का उत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **नु**=अब **नः**=हम सबका **स्तोम्यः**=स्तुति करने योग्य है। उस प्रभु का स्तवन ही हमारे लिए इस संसार में वह आश्रय है जो हमें विषयों में फँसने से बचाता है। २. वह स्तुत्य प्रभु **राधांसि दाता**=सब धनों के देनेवाले हैं। प्रभु ही उन धनों को प्राप्त कराते हैं जो हमें इस जीवन में सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराके जीवन-यात्रा में सफलता प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। ३. वे प्रभु इस प्रकार इन धनों के द्वारा सफल बनाकर **शुम्भति**=हमारे जीवनों को शोभायुक्त करते हैं। जीवन की शोभा सफलता में ही है। सफलता के लिए सब आवश्यक उपकरणों को जुटाने के लिए धन की आवश्यकता है। इस धन के देनेवाले वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, क्योंकि प्रभु ही आवश्यक धन देकर हमें सफलता प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को शोभायुक्त करते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवपत्नी आवहन

अग्ने॒ पत्नी॑रि॒हा व॑ह दे॒वाना॑मुश॒तीरुप॑। त्वष्टा॑रं॒ सोम॑पीतये॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील व्यक्ति! तू **इह**=इस मानव-जीवन में **उशतीः**=भले को चाहनेवाली **देवानां पत्नीः**=देवपत्नियों को **उपावह**=समीप प्राप्त करनेवाला हो। शरीर में सब देवों का निवास है—**'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते'** [अ० ११।८।३२] इसमें सब देव इस प्रकार रहते हैं जैसे गोशाला में गौवें। इन सब देवों की शक्तियाँ ही उनकी पत्नियाँ कहलाती हैं। इनके होने पर मनुष्य-जीवन सुखी हो पाता है, अतः उन सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों व इन्द्रियों की शक्ति की प्रार्थना की गई है। (२) इन शक्तियों की प्राप्ति के लिए ही तू **त्वष्टरम्**=उस सबके निर्माता व दीप्ति के पुञ्ज प्रभु को पुकार, ताकि **सोमपीतये**=सोम की तू रक्षा कर सके। त्वष्टा की पुकार हमें भी त्वष्टा बनाएगी और जब हम निर्माण के कार्यों में लगे होंगे अथवा ज्ञानप्राप्ति में लगकर दीप्ति का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करेंगे तो सब प्रकार के विलासों से बचकर सोम का रक्षण कर पाएँगे। इस सोम के रक्षण से हमारे सब अङ्ग सबल होंगे। यह अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति ही देवपत्नी है। इन देवपत्नियों का यहाँ जीवन-यज्ञ में प्राप्त कराने का यही साधन है कि हम प्रभु-उपासन के द्वारा सोम का रक्षण करें।

भावार्थ—हे प्रगतिशील जीव! तू त्वष्टा का उपासक बनकर निर्माण के कार्यों और ज्ञान-प्राप्ति में लग। इससे तू सोम का रक्षण कर पाएगा और सोम-रक्षण से सब इन्द्रियों की शक्ति को प्राप्त करनेवाला होगा।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'होत्रा-भारती-वरूत्री' व 'धिषणा'

आ ग्ना अ॑ग्न इ॒हाव॑से॒ होत्रां॑ यविष्ठ॒ भार॑तीम्। वरू॑त्रीं धि॒षणां॑ वह॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इह**=इस जीवन में **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **ग्नाः**=देवपत्नियों को **आवह**=प्राप्त करा। सब इन्द्रियाँ यहाँ देव हैं, मन व बुद्धि देव हैं। इनकी शक्तियाँ ही इनकी पत्नियाँ हैं। इन्हें इस जीवन-यज्ञ में प्राप्त करना आवश्यक है। इनके होने पर ही यहाँ सुख है। इनके अभाव में यह जीवन नरक-सा बन जाता है। २. हे **यविष्ठ**=युवतम! अपने साथ अच्छाइयों को अधिक-से-अधिक जोड़नेवाले व बुराइयों को दूर करनेवाले जीव!

तू **होत्राम्**=होत्रा को, **भारतीम्**=भारती को **वरूत्रीम्**=वरुत्री को तथा **धिषणाम्**=धिषणा को **वह**=धारण कर। (क) 'होत्रा' अग्निपत्नी है। यही यहाँ शरीर में जाठराग्नि है, जिसमें हव्य पदार्थों को ही भोजन के रूप में डाला जाता है। इन सब पदार्थों को भी यह दानपूर्वक यज्ञशेष के रूप में ही सेवन करती है। परिणामतः शरीर नीरोग बना रहता है। (ख) 'भारती' [**भरतस्यादित्यस्य पत्नी**]। यह भरत अर्थात् भरण-पोषण करनेवाले आदित्य की पत्नी है। **'प्राणाः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'** के अनुसार सूर्य अपने किरणरूप हाथों में प्राणशक्ति लेकर हमें प्राप्त होता है और सब इन्द्रियों को प्राणशक्ति से परिपूर्ण करता है और इस प्रकार इन्द्रियों को कार्यक्षम बनाता है। (ग) 'वरुत्री' यह द्वेष के निवारण की देवता मनोमय कोष को मलिन नहीं होने देती और (घ) 'धिषणा' तो है ही बुद्धि का नाम। यह विज्ञानमय कोष को धारण करती है। इस प्रकार ये देवपत्नियाँ हमारे सब कोषों को सुन्दर बनानेवाली हैं।

भावार्थ—'होत्रा-भारती-वरुत्री व धिषणा' का आवहन हमारा रक्षण करनेवाला हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**देव्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अच्छिन्नपत्रा देवपत्नियाँ

अभि नो देवीरवसा महः शर्मणा नृपत्नीः। अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम्॥ ११॥

१. **नः**=हमें **अवसा**=रक्षण के हेतु से तथा **महः शर्मणा**=[महस्=तेज] तेजस्वितायुक्त सुख के हेतु से **देवीः**=देवपत्नियाँ **अभिसचन्ताम्**=आभिमुख्येन प्राप्त हों, सेवन करनेवाली हों। सब अङ्गों की शक्तियाँ ही देवपत्नियाँ हैं। इनके होने पर ही हमारा रोगों से रक्षण होता है और इनके होने पर ही हम तेजस्वी व सुखी होते हैं। (२) ये देवपत्नियाँ **नृपत्नीः**=मनुष्यों का पालन व रक्षण करनेवाली हैं। **अच्छिन्नपत्राः**=इनका गमन अच्छिन्न होता है, इनकी क्रियाशीलता विच्छिन्न नहीं होती, अर्थात् ये देवपत्नियाँ अपना कार्य अश्रान्तभाव से करती जाती हैं। इनका कार्य मनुष्यों का रक्षण व इन्हें तेजस्वितायुक्त सुख प्राप्त कराना ही है।

भावार्थ—हमारा निरन्तर पालन करनेवाली व हमें तेजस्वी व सुखी बनानेवाली देवपत्नियाँ=इन्द्रियशक्तियाँ हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्राणीवरुणान्यग्नाय्यः**॥
छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्राणी-वरुणानी-अग्नायी

इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये॥ १२॥

१. **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति व कल्याण के लिए तथा **सोमपीतये**=सोम के पान, अर्थात् शक्ति की रक्षा के लिए **इन्द्राणीम्**=इन्द्राणी को, **वरुणानीम्**=वरुणपत्नी वरुणानी को तथा **अग्नायीम्**=अग्निपत्नी को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। (२) 'इन्द्राणी' इन्द्र की पत्नी है। इन्द्र सब असुरों का संहार करनेवाला है। इस असुर-संहारिणी शक्ति को ही यहाँ 'इन्द्राणी' कहा गया है। असुरों का अग्रणी 'वृत्र' है। यह ज्ञान पर आवरण डालनेवाला काम ही है। **'आवृतं ज्ञानमेतेन।'** इस काम को प्रचण्ड ज्ञानाग्नि ही दग्ध करती है एवं ज्ञानाग्नि की कोशभूत यह बुद्धि ही इन्द्राणी है। (३) मन में किसी प्रकार के द्वेषादि मलिन भावों को न आने देनेवाली वरुणानी है। यह अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधकर द्वेषादि से अपने को शून्य बनाती है। (४) 'अग्नायी' अग्निपत्नी है। यही जाठराग्नि है। यह दीप्त

रहकर शरीरों के स्वास्थ्य का कारण होती है। इस प्रकार इन देवपत्नियों से हमारी स्थिति उत्तम तो होती ही है, साथ ही इनकी कृपा से शरीर में सोम का रक्षण भी होता है।

भावार्थ—इन्द्राणी, वरुणानी व अग्नायी को हम स्वस्ति व सोमपीति के लिए पुकारते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्यौः, पृथिवी

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः॥ १३॥

१. शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है और यह अन्नमयकोश ही पृथिवी है। **मही द्यौः**=ज्ञान से परिपूर्ण यह महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क **च**=तथा **मही**=महनीय **पृथिवी**=शरीर स्वास्थ्य व बल के कारण उचित प्रभाव को डालनेवाला शरीर—ये दोनों **नः**=हमारे **इमम्**= इस जीवन-यज्ञ को **मिमिक्षताम्**=सुख से सिक्त कर दें। जीवन को सुखी बनाने के लिए आवश्यक है कि मस्तिष्क भी ठीक हो तथा शरीर भी पूर्ण स्वस्थ हो। (२) ये महनीय मस्तिष्क व शरीर **नः**=हमें **भरीमभिः**=सब प्रकार की शक्तियों के भरण-पोषण से **पिपृताम्**=पालित व पूरित करें। इनके द्वारा हम अपना भरण-पोषण ठीक से कर सकें।

भावार्थ—सब प्रकार की शक्तियों के ठीक विकास के लिए शरीर व मस्तिष्क दोनों का स्वस्थ होना आवश्यक है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गन्धर्व का ध्रुवपद

तयोरिद् घृतवत्पयो विप्रा रिहन्ति धीतिभिः। गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे॥ १४॥

१. शरीर में हृदय को 'गन्धर्व का ध्रुवपद' कहते हैं। [**गां वेदवाचं धरति**] वेदवाणी को धारण करनेवाले प्रभु को गन्धर्व कहते हैं। हृदय उस गन्धर्व का 'ध्रुवपद' है, स्थिर-स्थान है। प्रभु का जब भी दर्शन होगा, इस हृदय में ही होगा। संसार में-संसार के पदार्थों में—प्रभु की महिमा दिखती है, हृदय में प्रभु का दर्शन होता है, अतः इस **गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे**=हृदयान्तरिक्ष के प्रभु का निवासस्थान होने पर **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले समझदार लोग **धीतिभिः**=[धेट् पाने] सोम के पान के द्वारा—शरीर में शक्ति के संयम के द्वारा **तयोः**=उन द्युलोक व पृथिवीलोक के—मस्तिष्क व शरीर के **घृतवत्**=[घृ क्षरणदीप्त्योः] मलों के क्षरण व ज्ञान-दीप्तिवाले **पयः**=आप्यायन—वर्धन को **इत्**=निश्चय से **रिहन्ति**=आस्वादित करते हैं [They enjoy it]। मलों के क्षरण से शरीर का आप्यायन होता है और दीप्ति से मस्तिष्क का। इसलिए इस **पयः**=आप्यायन को 'घृतवत्' कहा है। हमारा हृदय प्रभु का ध्रुवपद बनता है तो वहाँ कामवासना भस्मीभूत हो जाती है। इस वासना के भस्मीभूत होने से शरीर में सोम का रक्षण (पान=धीति) होता है। इस रक्षण से शरीर निर्मल व नीरोग होता है व मस्तिष्क दीप्त।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का नियतवास होने पर सोमपान के द्वारा शरीर व मस्तिष्क क्रमशः मलरहित व दीप्त होते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**पृथिवी**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुखद शरीर (स्योना पृथिवी)

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथः॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हृदय के प्रभु का निवास बनने पर **पृथिवि**=हे शरीर! तू **स्योना**=सुखद **भव**=हो। एक बालक के कष्ट तभी से आरम्भ होते हैं जब वह माता से वियुक्त होता है, इसी प्रकार हमारे भी कष्ट तभी आरम्भ होते हैं जब हम प्रभु से दूर होते हैं। मेरा हृदय प्रभु का ध्रुवपद है तो उस अमृतप्रभु के रक्षण में मुझे कष्ट कैसे हो सकता है? (२) मेरा यह पृथिवीरूप शरीर **अनृक्षरा**=कण्टकों से रहित हो [अक्षर:=कण्टक]। इसमें सुख के विनाशक तत्त्वों का अभाव हो। इन कण्टकों के अभाव में मैं निरन्तर उन्नतिशील बनूँ। (३) **निवेशनी**=यह शरीररूपी पृथिवी सब दिव्य शक्तियों [देवपत्नियों] की निवासस्थानभूत हो। (४) इस प्रकार यह शरीर हमें **सप्रथ:**=सब शक्तियों के विस्तार से युक्त **शर्म**=शरण [गृह] को **यच्छ**=दें, अर्थात् यह शरीर मेरा ऐसा घर हो जिसमें सब शक्तियों का उचित विस्तार हो।

भावार्थ—यह शरीररूपी पृथिवी 'सुखद-कण्टकरहित-उत्तम निवासवाली व विस्तृत शक्तियों की शरणभूत' हो।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**विष्णुर्देवो वा**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

पृथिवी के सप्तधाम

अतो॑ दे॒वा अ॑वन्तु नो॒ यतो॒ विष्णु॑र्विचक्र॒मे। पृ॒थि॒व्याः स॒प्त धाम॑भिः॥ १६॥

१. जब जीव शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों की उन्नतियों को करनेवाला होता है, तब वह इस व्यापक उन्नति के कारण—तीन कदमों को रखने के कारण 'विष्णु' कहलाता है। **यत:**=क्योंकि **विष्णु:**=इस व्यापक उन्नति करनेवाले ने **पृथिव्या:**=इस शरीररूप पृथिवी के **सप्त**=सात **धामभि:**=तेजों के हेतु से **विचक्रमे**=विशेष पुरुषार्थ किया है, **अत:**=इसलिए **देवा:**=संसार के सूर्यादि सब देव **न:**=हमें **अवन्तु**=रक्षित करें। २. स्वास्थ्य का अभिप्राय यही होता है कि बाह्य देवों की शरीर के अन्त:स्थित देवांशों से अनुकूलता हो। जब तक यह अनुकूलता रहती है, रोग नहीं आते। इस अनुकूलता के समाप्त होते ही रोग शरीर को घेरने लगते हैं। ३. इन 'जल-वायु' आदि देवों के अनुकूल न होने पर शरीर में 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, मेदस् व वीर्य' आदि सप्त धातुओं का ठीक निर्माण नहीं होता। ये सात धातुएँ ही यहाँ मन्त्र में 'पृथिवी के सात धाम=तेज' कहे गये हैं। सारी उन्नति इन रसादि के ठीक निर्माण पर ही निर्भर करती है, इसलिए व्यापक उन्नति करनेवाला इस पृथिवी=इन सातों तेजों को ठीक करने का प्रयत्न करता है। ४. जो भी ऐसा प्रयत्न करते हैं वे देवों के रक्षण के पात्र होते हैं।

भावार्थ—हम पृथिवी=शरीर के सातों धामों के द्वारा 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की व्यापक उन्नति करें और देवों के रक्षण के पात्र हों।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**विष्णु:**॥ छन्द:—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

तीन कदम

इ॒दं विष्णु॒र्वि च॑क्रमे त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम्। समू॑ळ्हमस्य पांसु॒रे॥ १७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **विष्णु:**=व्यापक उन्नति करनेवाले जीव ने **इदम्**=यह **विचक्रमे**=विशेष पुरुषार्थ किया है कि **त्रेधा**=तीन प्रकार से **पदम्**=कदम को **निदधे**=रक्खा है। केवल शरीर, केवल मन व केवल मस्तिष्क की उन्नति न करके उसने तीनों की ही उन्नति की है—शरीर को नीरोग बनाया है, मन को निर्मल और मस्तिष्क को निशित=तीव्र बुद्धिवाला।

इस प्रकार त्रिविध उन्नति करते हुए **अस्य**=इस जीव ने **पांसुरे**=इस धूलि से बने शरीर में—इस पार्थिव देह में **सम् ऊढम्**=कर्त्तव्य का सम्यक् वहन किया है। जैसे ब्रह्माण्ड की त्रिलोकी में पृथिवी में अग्नि का निवास है, इसी प्रकार इस विष्णु ने भी इस शरीर में शक्ति की रक्षा के द्वारा 'प्राणाग्नि' को स्थापित किया है। बाह्य अन्तरिक्ष में जैसे चन्द्रमा की स्थिति है, उसी प्रकार इसने अपने हृदयान्तरिक्ष में (चदि आह्लादे) आह्लाद-मन:प्रसाद को स्थापित किया है। द्युलोक सूर्य से उज्ज्वल है। इसका मस्तिष्करूप द्युलोक भी ज्ञानसूर्य से उज्ज्वल हुआ है। इस प्रकार इस विष्णु ने स्वकर्तव्य को सम्यक् निबाहा है।

भावार्थ—इस पार्थिव शरीर में कर्तव्य का निर्वहण यही है कि हम नीरोगता, निर्मलता व निशितातारूप तीन कदमों को रखनेवाले हों।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**विष्णु:**॥ छन्द:—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

धर्मों का धारण

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥ १८॥

१. इस जीव ने **त्रीणि पदा विचक्रमे**=तीन कदमों को विशेष रूप से रखा है (क) यह **विष्णु:** [विष्लृ व्याप्तौ]=हृदय में व्यापकतावाला बना है—इसने अपने मन को विशाल बनाया है। सारी अपवित्रता 'संकोच' के साथ ही तो रहती है। (ख) **गोपा:**=यह इन्द्रियरूप गौवों की रक्षा करनेवाला ग्वाला बना है। (ग) **अदाभ्य:**=यह रोगों व रोगकृमियों से हिंसित नहीं होता। यह अपने शरीर को नीरोग रखने का प्रयत्न करता है। अस्वस्थ शरीर में किसी भी धर्म का पालन सम्भव नहीं होता। २. इस प्रकार जब जीव तीन कदम रखता है तो **अत:**=इन तीन कदमों को रखने के कारण **धर्माणि**=धर्मों को **धारयन्**=धारण करता हुआ होता है। वेद में यज्ञ ही प्रथम धर्म माना गया है। यज्ञ से तीन भावनाएँ हैं—'देवपूजा- संगतीकरण-दान', अर्थात् 'बड़ों का आदर, बराबरवालों से प्रेम तथा छोटों को दयापूर्वक कुछ देना' ही महान् धर्म है। जो व्यक्ति 'विष्णु, गोपा व अदाभ्य' बनता है वह इन धर्मों का सम्यक् पालन कर पाता है। मन की व्यापकता-इन्द्रियों की आत्मवश्यता व शरीर की नीरोगता के बिना किसी भी धर्म का पालन सम्भव नहीं, अत: आवश्यक है कि हम 'विष्णु, गोपा व अदाभ्य' बनें।

भावार्थ—विशालहृदय, वशेन्द्रिय व नीरोग बनकर हम धर्मों का पालन करनेवाले हों। बड़ों का आदर करें, बराबरवालों से प्रेम से वर्तें, छोटों के प्रति दया की वृत्ति रखें।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**विष्णु:**॥ छन्द:—**निचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

सायुज्य मुक्ति

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ १९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो व्यापक उन्नति करनेवाला विष्णु है उस **विष्णो:**=विष्णु के **कर्माणि**=कर्मों को **पश्यत**=देखो। प्रभु कहते हैं कि अपने सामने तुम विष्णु के कर्मों को ही आदर्श के रूप में रक्खो। २. उसके कर्मों की उत्कृष्टता का कारण यही है कि **यत:**=क्योंकि वह **व्रतानि**=अपने कर्तव्य-कर्मों को **पस्पशे**=बारीकी से देखता है—अपने कर्मों की आलोचना करता हुआ वह उनके दोषों को दूर कर देता है। ३. वस्तुत: अपने इन पार्थिव कर्मों के द्वारा ही वह **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **युज्य:**=सदा साथ रहनेवाला **सखा**=मित्र बनता है।

जो व्यक्ति आत्मालोचन करता हुआ अपने जीवन व अपने कर्मों को पवित्र बनाएगा, वही प्रभु को पानेवाला होगा और इसी के कर्म लोगों के सामने आदर्श के रूप में होते हैं।

भावार्थ—व्यापक उन्नति करनेवाला पुरुष अपने कार्यों की सूक्ष्म आलोचना करता रहता है—उन कर्मों में आनेवाली अपवित्रता को दूर करके वह प्रभु का सयुज मित्र बनता है।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**विष्णु:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

विष्णु का परमपद

तद्विष्णोः पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑। दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम्॥ २०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आत्मनिरीक्षण करते हुए और अपने कर्मों को पवित्र बनाते हुए **सूरय:**=ज्ञानी लोग—प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलनेवाले लोग **तत् विष्णो:**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **परमं पदम्**=सर्वोत्कृष्ट स्थान को **सदा**=सदा वैसे **पश्यन्ति**=देखते हैं **इव**=जैसे **दिवि**=द्युलोक में **आततं चक्षु:**=उस समन्तात् विस्तृत चक्षु=सूर्य को देखते हैं। २. **आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्**' [ऐत० १।४] सूर्य ही चक्षु का रूप धारण करके आँख में रहता है—आँख सूर्य का छोटा रूप है। इसके विपरीत सूर्य का चक्षु विस्तृत रूप है—सूर्य 'आतत-चक्षु' है। यह सूर्य जितना स्पष्ट दीखता है, इतना ही स्पष्ट ज्ञानी लोग प्रभु के पद को देखते हैं। ३. पूर्वमन्त्र में व्यापक उन्नति करनेवाले जीव को भी विष्णु कहा है। परमात्मा को उससे भिन्न करने के लिए 'तद् विष्णु:' वह सर्वत्र विस्तृत (तनु विस्तारे) विष्णु कहा गया है। इस विष्णु=जीव ने उस विष्णु=प्रभु को देखना है। उसे देखने के लिए 'सूरि' बनना आवश्यक है। 'विष्णुर्भूत्वा यजेद् विष्णुम्' विष्णु बनकर ही विष्णु का उपासन होता है।

भावार्थ—हम विष्णु बनेंगे तो उस विष्णु—सर्वव्यापक प्रभु के दर्शन इस प्रकार स्पष्ट कर पाएँगे जैसे सूर्य के।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**विष्णु:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

विप्र-विपन्यु-जागृवान्

तद्विप्रा॑सो विप॒न्यवो॑ जागृ॒वांसः॒ समि॑न्धते। विष्णो॒र्यत्प॑र॒मं प॒दम्॥ २१॥

१. गतमन्त्र के भाव को ही और बढ़ाकर कहते हैं कि **तद् विष्णो:**=उस सर्वव्यापक प्रभु का **यत् परमं पदम्**=जो सर्वोत्कृष्ट रूप है उसे वे ही **समिन्धते**=सम्यक्तया दीप्त करते हैं, अर्थात् जान व प्राप्त कर पाते हैं जोकि (क) **विप्रास:**=विशेष रूप से अपना पूरण करने का प्रयत्न करते हैं जो आत्मालोचन करते हुए अपनी न्यूनताओं को ढूँढ निकालते हैं और उन्हें उसी प्रकार नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं जैसे एक मृगयु मृग को ढूँढकर इनका संहार करने के लिए यत्नशील होता है। इन 'काम: पशु: क्रोध: पशु:' काम-क्रोधादि पशुओं को ढूँढकर इनका संहार करना ही सच्चा मृगयु बनना है। इसी प्रकार तो हमारा पूरण होगा। (ख) **विपन्यव:**=प्रभु को वे पाते हैं जोकि विशिष्ट स्तुति करनेवाले होते हैं [पन=स्तुतौ]। विशिष्ट स्तुति यह है कि ये सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त होते हैं। यह प्रभु की दृश्य भक्ति होती है—यही विशिष्ट स्तुति है। (ग) **जागृवांस:**=प्रभु को वे पाते हैं जोकि सदा जागनेवाले हैं, कभी असावधान व प्रमत्त नहीं होते, क्योंकि प्रमाद ही सब न्यूनताओं व पतनों का कारण होता है।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन 'विप्र-विपन्यु-जागृवान्' ही कर पाते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ प्राणसाधना द्वारा सोमपान करके (१) सोमी प्रभु के घर में पहुँचने

से होता है (४)। ये प्रभु ही सविता है—सदा उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाले हैं (५)। वे प्रभु ही सब धनों को देनेवाले हैं (८)। हम अपने जीवनों को सब इन्द्रियों की शक्ति के वर्धन से सुन्दर बनाएँ (९)। मस्तिष्क व शरीर को ठीक बनाकर जीवन को सुखमय करें (१२)। शरीर, मन व मस्तिष्क की त्रिविध उन्नति करते हुए त्रिविक्रम विष्णु बनें (१७)। विष्णु बनकर ही उस महान् विष्णु के सच्चे उपासक होंगे (२१)। 'ऐसा बन सकें', इसके लिए उपाय यही है कि हम शरीर में उत्पन्न सोमकणों की रक्षा करनेवाले बनें।

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वायु का सोमपान

ती॒व्राः सोमा॑स॒ आ ग॑ह्या॒शीर्व॑न्तः सु॒ता इ॒मे। वायो॒ तान्प्रस्थि॑तान्पिब॥ १॥

१. यहाँ जीव को 'वायो' कहकर सम्बोधित किया गया है। [वा गतिगन्धनयोः] हे गति व क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाले जीव! **सोमासः**=ये शरीर में उत्पन्न होनेवाले सोम-[वीर्य]-कण **तीव्राः**=बड़े तीव्र और तेजस्विता को देनेवाले हैं। **आगहि**=तू इन्हें सर्वथा ग्रहण करनेवाला बन। २. **सुताः**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए **इमे**=ये सोमकण **आशीर्वन्तः**=इच्छाओंवाले हैं [आशीः-इच्छा]। ये सोमकण हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। ३. प्राणादि की साधना के द्वारा **प्रस्थितान्**=प्रकृष्ट मार्ग की ओर चलते हुए [**उत्तरवेदिं प्रति आनीतात्**-सा०] शरीर में मस्तिष्क ही उत्तरवेदी है। मस्तिष्क की ओर लाये हुए **तान्**=उन सोमकणों को हे **वायो**=जीव! तू **पिब**=पीनेवाला बन। प्राणसाधना से इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। यही सोम का प्रस्थान है। इन सोमकणों को जब हम शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करते हैं तब ये हमारी सब ऐहिक और आमुष्मिक कामनाओं को पूर्ण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोमकण तेजस्विता को देनेवाले हैं, सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। इनका पान वही कर पाता है जो 'वायु' बनता है—गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रवायू**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र और वायु का सोमपान [जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता]

उ॒भा दे॒वा दि॑वि॒स्पृशे॑न्द्रवा॒यू ह॑वामहे। अ॒स्य सोम॑स्य पी॒तये॑॥ २॥

१. **उभा देवा**=दोनों देवों **दिविस्पृशा**=प्रकाश में स्पर्श करनेवाले **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु को **हवामहे**=हम पुकारते हैं, **अस्य सोमस्य पीतये**=इस सोम के पान के लिए। १. इन्द्र देवता बल का प्रतीक है। उसका बल इस कारण है कि वह सब देवों का राजा है, सब इन्द्रियों पर शासन करनेवाला है। इन्द्र की मौलिक भावना जितेन्द्रियता की ही है। जितेन्द्रियता सोमपान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अजितेन्द्रियता का सोमरक्षण से क्या सम्बन्ध? ३. 'वायु'=[वा गतिगन्धनयोः] गतिशीलता का प्रतीक है। निरन्तर गति से वह बुराई का गन्धन व संहार करता है। जो मनुष्य सदा क्रियामय जीवनवाला होता है उसमें ही वासनाओं के उत्पन्न होने की आशंका नहीं होती, परिणामतः वह अपने सोम की रक्षा कर पाता है। ४. इस प्रकार इन्द्र और वायु मनुष्य को सोमपान के योग्य बनाते हैं। इस सोम के रक्षण से मनोवृत्तियाँ दिव्य बनती हैं, अतः ये 'इन्द्र और वायु देव' कहलाते हैं। सोम शरीर की अन्तर्वेदि=मस्तिष्क की ओर

प्रस्थित हुआ-हुआ ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और परिणामतः मनुष्य ज्ञान को स्पर्श करनेवाला होता है, अतः इन्द्र और वायु 'दिवस्पृश्' है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर शरीर में सोम का रक्षण करें ताकि हमारी वृत्तियाँ दिव्य हों और हम ज्ञानदीप्त बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रवायू**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान व ज्ञानपूर्वक कार्य

इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये। सहस्राक्षा धियस्पती॥ ३॥

१. **विप्रा**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले मेधावी लोग **मनोजुवा**=मन के समान वेगवाले अथवा मन को सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायुदेव को **ऊतये**=रक्षा के लिए **हवन्ते**=पुकारते हैं। इन्द्र और वायु के पुकारने का अभिप्राय है—'जितेन्द्रिय व क्रियाशील' बनने का निश्चय व दृढ़ संकल्प। ये दोनों भावनाएँ मनुष्य को सदा उत्तम मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती हैं। इनके कारण मनुष्य आलस्य से शून्य तथा अत्यन्त वेगसम्पन्न बना रहता है। २. ये इन्द्र और वायु **सहस्राक्षा**=अनन्त आँखोंवाले, अर्थात् अत्यधिक ज्ञानवाले तथा **धियस्पती**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के पति हैं। जितेन्द्रियता ज्ञानवृद्धि का कारण बनती है और वायु की आराधना मनुष्य को सदा कर्मों में व्याप्त रहने का उपदेश करती है। 'इन्द्र' का उपासक मूर्ख नहीं होता तथा वायु का आराधक अकर्मण्य नहीं हो सकता। ये ज्ञान और कर्म हमारा पूरण करते हैं, हमें विप्र बनाते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र और वायु के उपासक बनकर अत्यधिक ज्ञानवाले व ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मित्र और वरुण का सोमपान [स्नेह व अद्वेष]

मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये। जज्ञाना पूतदक्षसा॥ ४॥

१. **वयम्**=हम **मित्रम्**=स्नेह के देवता को तथा **वरुणम्**=द्वेषनिवारण के देवता को **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। वस्तुतः स्नेह व अद्वेष—ये सोम की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। 'स्नेह' विकृत होकर काम हो जाता है, द्वेष विकृत होकर 'क्रोध' हो जाता है। काम और क्रोध सोम का सर्वाधिक विनाश करनेवाले हैं। काम और क्रोध की अग्नि में सोम भस्म हो जाता है। सोम को नष्ट करके काम-क्रोध हमें भी नष्ट कर देते हैं। २. यदि मित्र और वरुण की आराधना से हम काम व क्रोध को जीत लेते हैं तो ये स्नेह व अद्वेष **जज्ञाना**=हमारी शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले होते हैं और **पूतदक्षसा**=हमें शुद्ध बलवाला बनाते हैं। ३. इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि जैसे सोम के रक्षण के लिए जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता आवश्यक थी [मन्त्र संख्या २] उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार सोम के रक्षण के लिए 'स्नेह व अद्वेष' भी आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम स्नेह व अद्वेष के उपासक बनकर काम-क्रोध से ऊपर उठें और अपनी शक्ति की रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ऋत+ज्योतिः

ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती। ता मित्रावरुणा हुवे॥ ५॥

१. मैं **ता**=उन **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण को, स्नेह व अद्वेष को **हुवे**=पुकारता हूँ, **यौ**=जो **ऋतेन**=ठीक समय व ठीक स्थान पर कार्य करने से **ऋतावृधौ**=मुझमें ऋत का वर्धन करनेवाले हैं—मेरे जीवन में सत्य के पनपाने का कारण बनते हैं और **ऋतस्य**=सत्य के तथा **ज्योतिषः**=ज्ञान के **पती**=रक्षक हैं। २. जिस समय मनुष्य अपने व्यवहारों को स्नेह व अद्वेषपूर्वक करता है उस समय उसके जीवन में (क) ऋत होता है—उसके सब कार्य समय व स्थान की दृष्टि से ठीक होते हैं, उसके जीवन में व्यवस्था होती है। (ख) इस व्यवस्था के कारण उसमें ऋत का, सत्य का व यज्ञ का वर्धन होता है। उसके कार्य सत्य होते हैं, सत्य कार्य वे होते हैं जो यज्ञात्मक हैं—अधिक-से-अधिक भूतों=प्राणियों का हित करनेवाले हैं। **यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा** [महाभारत]। (ग) व्यवस्था व सत्य को धारण करनेवाला यह पुरुष सत्य व ज्ञान का पति बनता है। उसके मन में 'सत्य' की स्थिति होती है और मस्तिष्क में 'ज्ञान' की।

भावार्थ—हम मित्र व वरुण की आराधना करें-स्नेह व अद्वेष को जीवन का सूत्र बनाएँ। ऐसा करने पर हमारे जीवनों में (क) व्यवस्था (ख) यज्ञात्मक कर्म (ग) सत्य व (घ) ज्ञान का परितोषण होगा। हम अनृत को छोड़ सत्य को अपना रहे होंगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अद्वेष व स्नेह

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुराधसः॥ ६॥

१. **वरुणः**=द्वेष-निवारण का देवता, अद्वेष की भावना **प्राविता**=प्रकर्षेण रक्षक **भुवत्**=हो, अर्थात् इस जीवन-यज्ञ में द्वेष से ऊपर उठकर हम अपनी शक्तियों का रक्षण करनेवाले बनें, द्वेषाग्नि में हम जलते न रहें। २. **मित्रः**=स्नेह का देवता, सबके प्रति स्नेह की भावना **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब प्रकार के रक्षणों के द्वारा हमें सुरक्षित करे। स्नेह के कारण शक्ति का वर्धन होता है। अद्वेष से शक्ति नष्ट नहीं होती, स्नेह से वह शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार से वरुण व मित्र=अद्वेष व स्नेह **नः**=हमें **सुराधसः**=उत्तम सम्पत्तियोंवाले अथवा उत्तम सफलताओंवाले **करताम्**=करें। इस संसार में द्वेष से ऊपर उठकर स्नेह से बरतते हुए ही हम उत्तम साफल्य को प्राप्त कर सकते हैं। मनुजी ने **'शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह'**—'सूखे वैर और विवाद को किसी के साथ न करें' इन शब्दों में ऐहिक व आमुष्मिक उन्नति के सुन्दर सूत्र का संकेत किया है। **'अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम'** इस वैदिक सूक्ति में भी यही कहा है कि 'संसार में किसी से द्वेष न करो'। हीन स्थितिवाले पर भी करुणा ही करनी है, क्रूरदृष्टि नहीं।

भावार्थ—हम अद्वेष व स्नेह को अपनाकर अपनी शक्तियों का रक्षण करें और उत्तम साफल्य को सिद्ध करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रो मरुत्वान्**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मरुत्वान् इन्द्र

मरुत्वन्तं हवामह इन्द्रमा सोमपीतये। सजूर्गणेन तृम्पतु॥ ७॥

१. आध्यात्मिक प्रकरण में 'इन्द्र' जीवात्मा है और 'मरुत्' प्राण हैं। आधिदैविक जगत् में 'इन्द्र' सूर्य था और 'मरुतः' वायुएँ थीं। आधिभौतिक क्षेत्र में 'इन्द्र' राजा है और 'मरुत्' उसके सैनिक। जैसे राजा सैनिकों के द्वारा ही विजय प्राप्त करता है और जैसे सूर्य विविध वायुओं के प्रकारों से ही शोधन व प्राणसंचार का कार्य करता है उसी प्रकार जीवात्मा भी प्राणसाधना से ही वासनाओं पर विजय पाता है। २. इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **मरुत्वन्तम् इन्द्रम्**=प्राणापानोंवाले इन्द्र को—जितेन्द्रिय पुरुष को **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए, शरीर में ही शक्ति के संरक्षण के लिए **आ, हवामहे**=सब प्रकार से पुकारते हैं, अर्थात् हमारी एक ही कामना है कि हम जितेन्द्रिय बनकर प्राणसाधना द्वारा वासनाओं पर विजय पाएँ और सोम का नाश न होने दें। यह 'इन्द्र' **गणेन**=मरुतों के गण के **सजूः**=साथ प्रीतिपूर्वक उत्तम कर्मों का सेवन करता हुआ **तृम्पतु**=सोम के पान से तृप्ति का अनुभव करे—जीवन में आनन्द प्राप्त करे। वस्तुतः इन प्राणों की साधना के बिना सोमपान सम्भव भी तो नहीं। सोमपान तो जब भी होगा, इनके साथ ही होगा।

भावार्थ—हम प्रशस्त प्राणोंवाले बनें। इस प्राणगण के साथ शरीर में सोम का रक्षण करते हुए तृप्ति का अनुभव करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रो मरुत्वान्**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'देवासः पूषरातयः'

इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा देवासः पूषरातयः। विश्वे मम श्रुता हवम्॥ ८॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्रज्येष्ठाः**=इन्द्र जिनमें श्रेष्ठ है ऐसे **मरुद्गणाः**=प्राणसमूहो! **विश्वे**=तुम सब **मम**=मेरी **हवम्**=इस पुकार को—आवाज़ को **श्रुत**=सुनो। **देवासः**=तुम्हें देव बनना है, **पूषरातयः**=दान को पोषण करनेवाला बनना है **'पूषा रातिर्येषाम्'**-जिनका दान निरन्तर बढ़ रहा है, ऐसा बनना है और दानवृत्ति को बढ़ाते हुए 'पूषराति' होना है। 'अरातित्व'=न देने की वृत्ति हमारी सब दिव्यताओं को समाप्त कर देती है। लोभ सब व्यसनों को पनपानेवाला होता है। 'असुर अपने ही मुख में आहुति देते हैं—वे कभी किसी दूसरे को नहीं खिलाते। यह अदान ही उनके असुरत्व का कारण है। वे देते तो देव बन जाते। देव क्या बन जाते, देव तो वे थे ही, 'पूर्वदेवाः' उनका नाम ही है—देते रहते तो असुर न बनते। 'देवासः पूषरातयः' देव निरन्तर दान व पोषण करते हैं। देव यही प्रार्थना करते हैं कि—**'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत्'**—हे प्रभो! ऐसी कृपा कीजिए कि हमारे परिवार के सभी व्यक्ति सत्संग से उत्तम मनवाले हों और हमारे ये पुरुष सदा दानवृत्तिवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधक जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु का आदेश है कि दानवृत्ति का पोषण करते हुए देव बने रहो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रो मरुत्वान्**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुदानु

हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा। मा नो दुःशंस ईशत॥ ९॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **सुदानवः**=दान के उत्तम गुण से युक्त मरुद्गणो! **सहसा**=सहनशक्ति के पुञ्ज तुम **इन्द्रेण युजा**=जितेन्द्रिय पुरुष के साथ मिलकर **वृत्रम्**=ज्ञान पर आवरण बने हुए इस काम को **हत**=नष्ट कर दो। जितेन्द्रिय पुरुष शक्ति का पुञ्ज तो बनता ही है, अतः उसे 'सहस्' कहा है। यह प्राणसाधना करके सब वासनाओं को दग्ध करता है। इसके जीवन में वासनाओं के शिरोमणि वृत्र का संहार हो जाता है, परन्तु यह होता तभी है जब मनुष्य 'सुदानु' बना रहता है। शोभन दान के गुण से युक्त होकर ही यह वृत्र का विनाश करता है। 'सुदानु' के दोनों ही अर्थ हैं—(क) उत्तम देनेवाला, (ख) उत्तमता से शत्रुओं को काटनेवाला (दाप् लवने)। २. सुदानु कहता है कि इस वृत्र के विनाश होने पर **दुःशंस**=कोई भी दुःशंस पुरुष, बुराई को अच्छाई के रूप में चित्रित करनेवाला व्यक्ति **नः**=हमारा **मा ईशत**=शासन करनेवाला न हो। हम उसकी बातों में आकर बुराई को स्वीकार न कर लें।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि हम 'काम' का विध्वंस करें, जिससे कोई दुःशंस व्यक्ति हमें बहकाकर धर्मविचलित न कर दे।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तेजस्विता व ज्ञानदीप्ति

विश्वान्देवान्हवामहे मरुतः सोमपीतये। उग्रा हि पृश्निमातरः॥ १०॥

१. हम अपने जीवनों में **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए, अर्थात् शरीर में वीर्य की रक्षा के लिए **विश्वान् देवान्**=सब दिव्यगुणों को **हवामहे**=पुकारते हैं। राक्षसीभाव ही सोम के विनाशक होते हैं। २. इन देवों में हम विशेषकर **मरुतः**=मरुतों को **हवामहे**=पुकारते हैं। शरीर में प्राण ही मरुत हैं। इन प्राणों को पुकारने का अभिप्राय 'प्राणों की साधना' से है। मैं नियमपूर्वक प्राणसाधना व प्राणायाम करता हूँ। यह प्राणसाधना मुझे ऊर्ध्वरेतस् बनाती है। ३. इस ऊर्ध्वरेतस् बनने से मेरी शक्ति भी बढ़ती है और ज्ञान का प्रकाश भी, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ये मरुत् **उग्राः**=तेजस्वी हैं तथा **हि**=निश्चय से **पृश्निमातरः**=उस हृदयान्तरिक्ष के निर्माण करनेवाले हैं जोकि **'संस्प्रष्टाभासं ज्योतिषाम्'** [निरु० २।१५] विविध ज्ञानों की दीप्ति से युक्त है।

भावार्थ—हम दिव्यगुणों को धारण करें। विशेषतः प्राणसाधना अवश्य करें। इन प्राणों के साहाय्य से ही हम ऊर्ध्वरेतस् बनते हैं और इस प्रकार ये प्राण हमें तेजस्वी व विज्ञान-दीप्तिमय हृदय-अन्तरिक्षवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मरुतों की गर्जना

जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया। यच्छुभं याथना नरः॥ ११॥

१. गतमन्त्र में प्राणायाम के महत्त्व का कुछ उल्लेख था। जिस समय प्राणायाम करते हैं उस समय **मरुताम्**=प्राणों की **तन्यतुः**=ध्वनि इस प्रकार होती है **इव**=जैसे **जयताम्**=विजयी सैनिकों की ध्वनि होती। जैसे विजेता शत्रुओं पर विजय पाते हैं, उसी प्रकार ये मरुत् भी

वासनाओं पर विजय पाते हैं। २. इनकी यह ध्वनि भी **धृष्णुया**=धाष्ट्र्ययुक्त होती हुई **एति**=प्राप्त होती है। इनकी ध्वनि से भी शत्रुओं का धर्षण होता है। रेचक प्राणायाम में जोर से श्वास को बाहर फेंकते समय जो ध्वनि होती है उस समय श्वास के बाहर होने के साथ वासनाएँ भी बाहर फेंक दी जाती हैं। श्वास-प्रश्वास की ध्वनि से ही ये काम-क्रोधादि शत्रु भयभीत हो भाग उठते हैं। ३. यह वह समय होता है **यत्**=जब **नरः**=हे मनुष्यो! आप लोग **शुभं याथन**=शुभ मार्ग पर ही चलते हो। प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दग्ध होकर उनकी वृत्ति शान्त बन जाती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना में श्वास-प्रश्वास का शब्द भी कामादि शत्रुओं का धर्षण कर उन्हें दूर भगा देता है और हम शुभ मार्ग से जीवन-यात्रा में आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देदीप्यमान प्रकाश

हस्कारा॒द्वि॒द्युत॒स्पर्य॑तो॒ जा॒ता अ॑वन्तु नः। म॒रुतो॑ मृळयन्तु नः॥ १२॥

१. गतमन्त्र में शुभमार्ग पर चलने का उल्लेख है। अतः=उस शुभ मार्ग पर चलने से **हस्कारात्**=दीप्ति को करनेवाले **विद्युतः**=विशेषेण दीप्यमान ज्ञानज्योति के **परि**=लक्ष्य से **जाताः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए ये मरुत् **नः**=हमें **अवन्तु**=रक्षित करें। जब हम शुभ मार्ग पर चलते हैं तो हमारी प्राणशक्ति का विकास होता है। प्राणसाधना से हममें शुभ मार्ग पर चलने की वृत्ति उत्पन्न होती है और शुभमार्ग पर चलने से प्राणशक्ति का पोषण होता है। ये प्राण विकसित शक्तिवाले होकर सोमरक्षण के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं। ज्ञानाग्नि की दीप्ति के द्वारा ये प्राण हमारा रक्षण करते हैं। २. ये रक्षण करनेवाले **मरुतः**=प्राण **नः**=हमें **मृळयन्तु**=सुखी करें। प्राणों के स्वास्थ्य पर ही सारा सुख निर्भर करता है। प्राणशक्ति की क्षीणता में ऐहिक व आमुष्मिक सब सुख समाप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—प्राणशक्ति के विकास से ज्ञानदीप्ति की वृद्धि होती है और हमारा जीवन सुखमय होता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पूषा-आघृणि [शरीर में पुष्टि, मस्तिष्क में दीप्ति]

आ पू॑षञ्चि॒त्रब॑र्हिष॒माघृ॑णे ध॒रुणं॑ दि॒वः। आजा॑ न॒ष्टं यथा॑ प॒शुम्॥ १३॥

१. गतमन्त्रों में प्राणसाधना के द्वारा शरीर में सोम के संयम से एक व्यक्ति शरीर से पुष्ट बनता है, अतः 'पूषा' होता है। यही मस्तिष्क में देदीप्यमान ज्ञानवाला होता है, अतः यह 'आघृणि' रश्मियुक्त बनता है। इसका अन्तिम उद्देश्य प्रभु को पाना ही होना चाहिए, अतः मन्त्र में कहते हैं—हे **पूषन्**=एक-एक अंग के पोषण को प्राप्त करनेवाले जीव! **आघृणे**=सर्वतः देदीप्यमान ज्ञान की किरणोंवाले साधक! तू **चित्रबर्हिषम्**=हृदयान्तरिक्ष को उत्तम संज्ञायुक्त करनेवाले [**चित्रं बर्हिः यस्मात्**], **दिवः धरुणम्**=सम्पूर्ण प्रकाश के धारक, सर्वज्ञ प्रभु को **आ अज**=सर्वथा प्राप्त हो [अज=गतौ]। तेरे सम्पूर्ण प्रयत्न प्रभु-प्राप्ति के लिए हैं, यही तेरा ध्येय है। २. **यथा**=जैसे एक माता **नष्टं पशुम्**=अदृष्ट हुए-हुए पशु को तन, मन, धन से-पूर्ण प्रयास से ढूँढने में लग जाती है उसी प्रकार तू भी उस सर्वद्रष्टा (पश्यतीति पशुः, अभिचाकशीति) प्रभु को जो तेरे हृदयक्षेत्र में ही कहीं विलुप्त हो गया है, ढूँढने का प्रयत्न

कर और उसे सर्वथा प्राप्त कर ही। तुझे उसे प्राप्त किये बिना शान्ति न मिले। तू उसकी प्राप्ति के लिए अविरतश्रमवाला बन [आ अज]। ३. वस्तुत: 'पूषन्' व 'आघृणे'—इन सम्बोधनों में प्रभु-प्राप्ति के उपायों का संकेत हो गया है। प्रभु को प्राप्त वही कर सकता है जो शरीर को सबल और मस्तिष्क को दीप्त बनाता है।

भावार्थ—हम 'पूषा व आघृणि' बनकर 'चित्रबर्हिष् व दिवो धरुण' प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

प्रभु-प्राप्ति

पूषा राजा॑नमाघृ॑णिरप॑गूळ्हं॒ गुहा॑ हि॒तम्। अवि॑न्दच्चि॒त्रब॑र्हिषम्॥ १४॥

१. **पूषा**=अपनी शक्तियों का पोषण करनेवाला **आघृणि**=देदीप्यमान ज्ञान-रश्मियोंवाला साधक ही **अविन्दत्**=उस प्रभु को पाता है जोकि २. **राजानम्**=ज्ञान से देदीप्यमान हैं अथवा सारे ब्रह्माण्ड को शासित कर रहे हैं, **अपगूळ्हम्**=देदीप्यमान होते हुए भी जो हम सांसारिक विषयों में आसक्त पुरुषों से दूर छिपे हुए हैं, परन्तु 'गुहाहितम्' हैं, हमारी ही हृदयरूपी गुफा में छिपे हुए और वहाँ स्थित हुए **चित्रबर्हिषम्**=हमारे हृदयों को [चित्+र] ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण व वासनाशून्य [उद्बर्हण-उत्पाटन] कर रहे हैं। ३. जब शक्ति व ज्ञान की साधना करते हुए हम 'पूषा व आघृणि' बनेंगे तब उस **गुहा हितम्**=हमारे ही अन्दर छिपकर बैठे हुए प्रभु को हम अवश्य पा सकेंगे और उस दिन हमारा हृदय संज्ञानवाला व वासनाओं से शून्य हो जाएगा।

भावार्थ—'पूषा व आघृणि' बनकर हम उस प्रभु को प्राप्त करें जो 'राजा, अपगूढ, गुहाहितं और चित्रबर्हिष्' हैं।

ऋषि:—**मेधातिथि: काण्व:**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

भक्त के जीवन की तीन बातें

उ॒तो स मह्य॒मिन्दु॑भि॒: षड्यु॒क्ताँ अ॑नु॒सेषि॑धत्। गोभि॒र्यवं॒ न च॑र्कृषत्॥ १५॥

१. गतमन्त्र में पूषा व आघृणि बनकर प्रभु-प्राप्ति का संकेत हुआ था। जब मैं प्रभु को प्राप्त करूँ तो **उत**+**उ**=और निश्चय से **स:**=वे प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **इन्दुभि:**=['सोमा वा इन्दु:' शत० २।२।३।२३] इन सोमकणों के द्वारा **षट्**=[यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह] मन से युक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों को जोकि **युक्तान्**=योगयुक्त व एकाग्र और स्थिर हो गई हैं, उनको **अनुसेषिधत्**=प्राप्त कराता है। प्रभु को प्राप्त करके ही मन व इन्द्रियाँ स्थिर होती हैं, उससे पूर्व तो वे भटकती ही रहती हैं। सान्त विषयों में इनके स्थिर होने का सम्भव ही नहीं। उन विषयों के आगे-पीछे को उन्होंने देखा, उन विषयों की नवीनता समाप्त हुई और ये उनसे हटकर अन्यत्र चलीं। प्रभु अनन्त हैं, वहाँ पहुँचकर न ये अन्त ही पाती हैं और न अन्यत्र जाने का प्रसंग आता है। यह इन्द्रियों की स्थिरता और पवित्रता सोम की रक्षा के द्वारा होती है। २. [न इति अर्थे]। **न**=और वे प्रभु **गोभि:**=बैलों के द्वारा **यवम्**= यवादि धान्यों की **चर्कृषत्**=कृषि मुझसे कराते हैं, अर्थात् वे प्रभु मुझे ऐसी प्रेरणा देते हैं कि मैं कृषि को अपनाता हूँ और द्यूत से दूर भागता हूँ। '**अक्षैर्मा दीव्य: कृषिमित् कृषस्व**'-'पाशों से मत खेलो, खेती ही करो'—इस वेदोपदेश को मैं जीवन में अनुदित करता=घटाता हूँ। ३. यहाँ मन्त्रार्थ के उत्तरार्द्ध से यह बात स्पष्ट है कि (क) खेती बैलों से होनी ही ठीक है, ट्रैक्टर्स से नहीं। ऊबड़-खाबड़ भूमि को ट्रैक्टर्स से एक बार ठीक बेशक कर लिया जाए, परन्तु उनके द्वारा सदा खेती करना उपयोगी नहीं।

बैलों से खेती होने पर खेत छोटे-छोटे होते हैं, क्यारियों की मुंडेरों पर लगी झाड़ियों पर चिड़ियाँ आदि बसेरा करती हैं। ये खेती के विध्वंसक कीटों को समाप्त करके कृषि की रक्षा करती हैं। ट्रैक्टर्स से जुतनेवाले खेत मीलों-मील चले जाने से इन पक्षियों के लिए सुविधाजनक आश्रय प्राप्त नहीं होता, परिणामतः विध्वंसक कीटों से खेतियाँ नष्ट कर दी जाती हैं। बैलों से खेतों के जोते जाने पर स्वाभाविक खाद भी भूमि को मिलता रहता है। ट्रैक्टर्स से जोतने पर खेतों में कृत्रिम खादों की आवश्यकता होती है। (ख) दूसरी बात यह भी संकेतित हो रही है कि खेती जौ इत्यादि उपयोगी धान्यों की ही होनी ठीक है, तम्बाकू आदि की नहीं।

भावार्थ—उपासक का जीवन तीन बातों से युक्त होता है—(क) वह सोम की रक्षा करता है, (ख) इन्द्रियों व मन को प्रभु में स्थिर करता है, (ग) यवादि की कृषि करता हुआ जीविका का उपार्जन करता है। ये कर्षणि=चर्षणि ही प्रभु को प्यारे होते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उन्नति+माधुर्य

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः॥ १६॥

१. उल्लिखित मन्त्र के अनुसार जब मनुष्य कृषि आदि सात्त्विक कर्मों को अपनाता है तो इन **अध्वरीयताम्**=[अध्वर] हिंसाशून्य कर्मों को अपनानेवाले लोगों की **अम्बयः**=माताएँ तथा **जामयः**=बहिनें **अध्वभिः यन्ति**=मार्गों से चलती हैं, अर्थात् इनके घरों में सदाचरण बना रहता है, सबकी वृत्ति सुन्दर बनी रहती है। गीता [१।४१] में **'अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः'**—इन शब्दों में कहा गया है कि 'अधर्म का प्राबल्य होने पर कुलीन स्त्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं।' परन्तु इन अध्वरों के अपनानेवाले लोगों के घरों में ऐसी आशंका नहीं रहती। इन अध्वरों के अपनानेवालों की माताएँ व बहिनें सदा मार्ग पर चलती हैं, मार्ग से विचलित नहीं होतीं। २. ये अपने जीवनों में **मधुना**=मधु के साथ **पयः**=दूध का **पृञ्चतीः**=सम्पर्क करती हुई होती हैं। इनका भोजन यवों के साथ दूध व शहद होता है। अथवा ये **पयः**=आप्यायन को—अपने वर्धन को, अपनी उन्नतियों को **मधुना पृञ्चतीः**=मधु से सम्पृक्त करती हुई होती हैं। उन्नत होकर ये मधुर बनी रहती हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों की माताएँ व बहिनें सदा सुमार्ग से चलती हैं और अपनी उन्नति को माधुर्य से जोड़े रखती हैं। इनका भोजन यव, मधु व दूध आदि सात्त्विक पदार्थ होते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्यकिरणोंवाले जल

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ १७॥

१. गतमन्त्र में खाने के पदार्थों में जौ, शहद व दूध का उल्लेख हुआ है। अब पेयरूप में जलों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **ताः**=वे जल **नः**=हमारे **अध्वरम्**=इस हिंसाशून्य जीवन-यज्ञ को **हिन्वन्तु**=बढ़ानेवाले हों। **याः अमूः**=जो वे जल **उपसूर्ये**=हमारे सूर्य के समीप हैं **वा**=या **याभिः सह**=जिनके साथ **सूर्यः**=सूर्य है, अर्थात् वे जल हमें प्राप्त हों जो सूर्य-किरणों के सम्पर्क में रहते हैं। ऐसे जलों में प्राणदायी तत्त्वों की अधिकता का होना स्वाभाविक है। २. 'उपसूर्य' शब्द मेघ के जलों की ओर भी निर्देश करता है। सूर्य-किरणों द्वारा अन्तरिक्ष में पहुँचकर जो जल बरसते हैं वे मेघजल 'अमृत' कहलाते हैं। ये हमारे जीवनों को

एकदम नीरोग बनानेवाले हैं, अतएव 'अमृत' हैं। ये जल हमें प्राप्त होंगे तो इन सात्त्विक जलों के सेवन से हमारी वृत्ति भी सात्त्विक बनेगी और हमारा जीवन सचमुच 'अध्वर' होगा।

भावार्थ—हम सूर्यकिरणों के सम्पर्कवाले सात्त्विक जलों के प्रयोग से हिंसाशून्य जीवन-यज्ञवाले बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गौवों के पान के लिए जल

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः॥ १८॥

१. गतमन्त्र के **देवीः अपः**=दिव्य गुणोंवाले जलों को उस स्थान पर **उपह्वये**=पुकारते हैं **यत्र**=जहाँ **नः**=हमारी **गावः**=गौएँ **पिबन्ति**=इन जलों का पान करती हैं। स्थान-स्थान पर गौ आदि पशुओं के लिए शुद्ध जल पी सकने की व्यवस्था होनी ही चाहिए। वेद कहता है कि **'शुद्धा आपः सुप्रपाणे पिबन्ति'**=हमारी गौएँ उत्तम पानस्थलों में शुद्ध जलों को पीनेवाली हों। जल का प्रभाव दूध पर निश्चित रूप से होना ही है, अतः उनके लिए शुद्ध जल का अत्यधिक महत्त्व है। २. 'गावः' शब्द का अर्थ 'भूमियाँ' भी है। हम जलों को **सिन्धुभ्यः**=नदियों व नहरों के द्वारा वहाँ पुकारते हैं **यत्र**=जहाँ कि **नः गावः**=हमारी भूमियाँ **हविः कर्त्वम्**=यज्ञिय अन्नों को उत्पन्न करने के लिए इनको **पिबन्ति**=पीती हैं। इन नहरों द्वारा भूमि की सिंचाई करके हम यज्ञिय अन्नों को उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—जलों को नहरों के द्वारा हम उन स्थलों में पहुँचाएँ जहाँ कि हमारी भूमियाँ इन जलों से सिक्त होकर हविरूप अन्नों को उत्पन्न करें तथा हम ऐसी व्यवस्था करें कि गौओं को शुद्धजल सुप्राप्य हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

जलों में अमृतत्व

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः॥ १९॥

१. **अप्सु अन्तः**=जलों में **अमृतम्**=अमृतत्व है, **अप्सु**=जलों में **भेषजम्**=औषध है अर्थात् जलों के ठीक प्रयोग से मनुष्य दीर्घजीवी-सौ वर्ष तक जीनेवाला बनता है और इन जलों के द्वारा सब रोगों का निवारण हो सकता है। इनका तो नाम ही वारि [रोगान्निवारयति] है—ये रोगों को दूर करते हैं। वेद में इनका नाम 'भेषज' भी है—ये औषध हैं। २. **उत**=और **अपाम्**=इन जलों के **प्रशस्तये**=[प्रशस्तिभिः—अथर्व०] प्रशंसनीय गुण-धर्मों से **देवाः**=देव **वाजिनः**=शक्तिशाली **भवत**=होते हैं। देव इन जलों का ठीक रूप से प्रयोग करते हैं। उनके लिए मेघजल ही मद्य होता है। संस्कृत में इसे 'अमर वारुणी' नाम ही दे दिया गया है। ये देव जलों का ठीक प्रयोग करते हुए शक्ति का सम्पादन करते हैं। आसुरी वृत्तिवाले लोग जल के प्रयोग से दूर होकर उनके लाभों से वंचित रह जाते हैं।

भावार्थ—जल अमृत हैं, भेषज हैं। ये हमें शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

गर्म पानी [जल+अग्नि]

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः॥ २०॥

१. **सोमः**=सोमादि ओषधियों के गुणों के पूर्णतया ज्ञाता उस सर्वमहान् वैद्य प्रभु ने **मे**=मुझे **अब्रवीत्**=कहा कि **अप्सु-अन्तः**=जलों में **विश्वानि भेषजा**=सब औषध विद्यमान हैं, अर्थात् ये जल रोगमात्र के औषध हैं। 'ज़ल घातने' धातु से बनकर इसी भाव को कह रहा है कि जल सब रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। २. **च**=और सोम ने मुझे यह भी कहा कि **अग्निं विश्व-शं-भुवम्**=अग्नि सब शक्तियों को देनेवाली है। जब यह जल में प्रविष्ट होती है और जल को गर्म कर देती है तब यह गर्मजल रोगमात्र को शमन करनेवाला होता है और मनुष्य को शान्ति प्राप्त कराता है। ३. **च**=और अग्नि से मिलने पर **आपः**=जल **विश्वभेषजीः**=सभी रोगों के भेषज हैं। इस प्रकार ये जल 'ज'=जन्म से 'ल'=लयपर्यन्त उपयोगी हैं। ये 'आपः' हैं, हमारे जीवन में व्याप्त रहकर कार्य करनेवाले हैं। यहाँ मन्त्र के तृतीय चरण का सायणकृत अर्थ यह है कि सोम ने इन सब शक्तियों को देनेवाली अग्नि को भी जलों में कहा है, अर्थात् जलों में उस अग्नि का निवास है जो विविध कल्याणों को करनेवाली है। वस्तुतः यहाँ सूर्य-रश्मियों के द्वारा भावित जलों में विद्यमान विविध प्रभावयुक्त जीवनदायी विद्युतों की ओर संकेत है। यह हमारे नाना यन्त्रों का संचालन करनेवाली है और इस प्रकार कितने ही कष्टों का प्रतिकार कर देती है।

भावार्थ—जलों में सब औषध हैं और जब अग्नि जलों के साथ मिल जाती है तब यह सब कल्याण-ही-कल्याण करनेवाली होती है, तब जल रोगमात्र को दूर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**प्रतिष्ठा**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रोगनिवारण व दीर्घजीवन

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ २१॥

१. **आपः**=हे जलो! **मम तन्वे**=मेरे शरीर के लिए **वरूथम्**=रोगों के निवारक **भेषजम्**=औषध को **पृणीत**=[पूरयत] पूरित करो, अर्थात् जलों के समुचित प्रयोग से हम रोगमात्र को शरीर पर आक्रमण करने से रोक सकते हैं। २. इस प्रकार रोगों को दूर करके ये जल हमारे **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यम् दृशे**=सूर्य के दर्शन के लिए होते हैं। जलों का 'उषःपान' [प्रातःकाल उठने पर दाँत व जीभ साफ करने के बाद जल पीना], धीमे-धीमे पीना, भोजन के प्रारम्भ व अन्त में न पीकर बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा बार-बार पीना, सामान्यतः गर्म जल का पीने के लिए प्रयोग करना, स्नान के लिए ठण्डे जल का spunging के रूप में प्रयोग करना'—इन नियमों का पालन करने पर जल रोगों को नहीं आने देते।

भावार्थ—जल रोगनिवारक औषध को प्राप्त कराते हैं और हमारे दीर्घजीवन के लिए होते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मानस रोगनिवारण

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥ २२॥

१. **आपः**=हे जलो! **यत् किञ्च**=जो कुछ भी **दुरितम्** अशुभ आचरण **मयि**=मेरे जीवन में है **इदम्**=इसको **प्रवहत**=बहाकर दूर ले-जाओ। जल शरीर के रोगों को ही दूर करते हों, सो नहीं, इनका मानस रोगों पर भी प्रभाव पड़ता है। क्रोध में आये हुए मनुष्य को अब तक ठण्डा पानी पीने के लिए देने की प्रथा है। पानी रोगों को ही नहीं, क्रोध को भी दूर कर

देता है। वस्तुतः स्वास्थ्य को प्राप्त कराके जल मन को भी स्वस्थ बनाते हैं। मन के स्वस्थ होने पर सब दुरित दूर ही रहते हैं। २. हे जलो! **यद् वा**=और जो **अहम्**=मैं **अभिदुद्रोह**=किसी के प्रति द्रोह करता हूँ, ये जल उस द्रोह-भाव को भी दूर करें। हमारे मनों में किसी की जिघांसा की भावना न हो। ३. **यद् वा**=और जो मैं **शेपे**=क्रोध में आक्रोश कर बैठता हूँ, किसी को शाप देने लगता हूँ, उस वृत्ति को भी दूर करो **उत**=और **अनृतम्**=मेरे जीवन में न चाहते हुए भी आ जानेवाले असत्य को भी मुझसे दूर करो।

भावार्थ—जल शारीरिक रोगों की औषध तो है ही, ये मानस रोगों को भी दूर करनेवाले हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

पयस्वान् अग्नि

आपो॑ अ॒द्यान्व॑चारिषं॒ रसे॑न॒ सम॑गस्महि।
पय॑स्वानग्न॒ आ ग॑हि॒ तं मा॒ सं सृ॑ज॒ वर्च॑सा॥ २३॥

१. **अद्य**=आज **आपः अनु अचारिषम्**=जलों को शास्त्रविधि के अनुसार-प्रभु के निर्देश के अनुसार सेवित करता हूँ और **रसेन**=रस से **समगस्महि**=हम सङ्गत होते हैं। जलों को रस लेकर पीना ही उनका सर्वोत्तम पीने का प्रकार है। गटागट पानी को अन्दर डाल देना ठीक नहीं है। २. हे **पयस्वान्**=प्रशस्त जलों से युक्त **अग्ने**=अग्निदेव **आगहि**=तुम मुझे प्राप्त होओ। यहाँ स्पष्ट ही सूर्य-रश्मियों से भावित जल का संकेत है, अर्थात् रश्मियों के रंगों से सभी प्रकार के रोग कट जाते हैं, क्योंकि कुछ रंग ठण्डे, कुछ गर्म और कुछ समप्रभावी होते हैं। यहाँ जल को अग्निवाला नहीं कहा, अपितु अग्नि को जलवाला कहा गया है। यह अग्नि अन्दर के मलों को भस्म करेगा, जल उनको बहा-ले जाएगा। हे जलयुक्त अग्ने! **तम् मा**=शास्त्रविधि के अनुसार तेरा सेवन करनेवाले मुझको **वर्चसा**=वर्चस् से **संसृज**=संसृष्ट कर, मुझे वर्चस्वी बना। वर्चस् वह शक्ति है जोकि रोगों से मुक़ाबला करती है और रोगकृमियों के नाश से रोगों को समूल नष्ट करके हमें तेजोयुक्त करती है।

भावार्थ—'पयस्वान् अग्नि' के ठीक प्रयोग से हम वर्चस्वी बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः काण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वर्चस्-प्रजा व आयुष्य

सं मा॑ग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा।
वि॒द्युर्मे॑ अस्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात्स॒ह ऋषि॑भिः॥ २४॥

१. हे **अग्ने**=अग्निदेव! गतमन्त्र में वर्णित पयस्वान् अग्ने! **मा**=मुझे **वर्चसा**=वर्चस् से **संसृज**=संसृष्ट कीजिए, **प्रजया संसृज**=उत्तम प्रजा से संसृष्ट कीजिए, **आयुषा संसृज**= उत्तम आयु व दीर्घजीवन से संसृष्ट कीजिए। सूर्य-रश्मि-भावित जल के ठीक प्रयोग से 'वर्चस्, प्रजा व आयुष्य' की प्राप्ति होती है। २. सूक्त की समाप्ति पर केवल 'अग्ने' शब्द के प्रयोग से यहाँ 'परमात्मा' का ग्रहण भी उचित हो सकता है कि हे प्रभो! मुझे वर्चस्, प्रजा व आयुष्य से संसृष्ट कीजिए। यह प्रार्थना सुनकर प्रभु कहते हैं कि **मे**=मेरे **अस्य**=इस 'वर्चस्, प्रजा व आयुष्य' को **देवाः**=देव लोग ही **विद्युः**=जानें, अर्थात् देव=जलाग्नि-गुण-ज्ञाता बनकर ही कोई

व्यक्ति इस प्रकार वर्चस्वी, प्रजावान् व दीर्घायु बन सकता है। ऐसा बनने के लिए मन में दिव्य भावनाओं का होना आवश्यक है। विपरीताग्नियाँ मनुष्य को अन्दर-ही-अन्दर जला देती हैं। ३. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **ऋषिभिः सह**=[**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**—यजुः०। **कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**—अथर्व०] श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के साथ **विद्यात्**=इन वर्चस्, प्रजा व आयुष्य वर्द्धक जलाग्नि-विज्ञान को जानें। इनकी प्राप्ति के लिए जितेन्द्रिय और ज्ञानप्रधान बनना आवश्यक है।

भावार्थ—देव बनकर मैं वर्चस्वी बनूँ। इन्द्र बनकर मैं प्रजावान् बनूँ और ऋषि बनकर मैं दीर्घायु को प्राप्त करूँ।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ प्राणसाधना द्वारा तथा क्रियाशील बने रहकर सोमपान करने से हुआ है (१)। इस सोमपान के लिए जितेन्द्रिय बनना आवश्यक है (२)। स्नेह व अद्वेष इस सोमपान में सहायक हैं (४)। इन्द्र [जीवात्मा] मरुतों [प्राणों] के साथ सोमपान द्वारा आनन्दित होता है (६)। इन प्राणों ने ही सब आसुरी भावनाओं को पराजित करना है (११)। हम इस सात्त्विक वृत्ति के लिए जौ-शहद-दूधादि का प्रयोग करें (१५-१६)। और जलों के ठीक प्रयोग से नीरोगता व निर्मलता को प्राप्त करते हुए (२१-२३) वर्चस्, प्रजा व आयुष्य से संयुक्त हों (२४)। इस प्रकार जीवन को उत्तम बनाकर प्रजापति के नाम का मनन करें।

अथ षष्ठोऽनुवाकः

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**प्रजापतिः**॥
छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

क-कतम

कस्य॑ नू॒नं क॑त॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑।
को नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात्पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च॥ १॥

१. **नूनम्**=अब जीवन को नीरोग व निर्मल बनाकर हम **कस्य**=उस अनिर्वचनीय प्रजापति के **अमृतानाम्**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले देवों में **कतमस्य**=अत्यन्त आनन्दमय **देवस्य**=सब दिव्य गुणों से युक्त प्रभु के **चारु नाम**=सुन्दर नाम का **मनामहे**=अभ्यास व उच्चारण करते हैं। प्रभु का यह नाम-स्मरण मुझे निर्मल व नीरोग बनाये रक्खेगा। २. **कः**=वह अनिर्वचनीय प्रभु **नः**=हमें **मह्यै+अदितये**=महनीय=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अखण्डन व जीवन के लिए **पुनः**=फिर **दात्**=देता है, ताकि मैं **पितरम् च**=पिता को और **मातरम् च**=माता को **दृशेयम्**=देख सकूँ। ३. विषयों में फँसकर हमारा दृष्टिकोण बड़ा विचित्र हो जाता है, हमारा ज्ञान लुप्त-सा हो जाता है और हम उस सबके माता-पिता प्रभु को तो देख ही क्या पाते हैं, सांसारिक माता-पिता को भी नहीं देखते; केवल अपने सुख का ही ध्यान करते हैं। उस समय हमारा जीवन महनीय नहीं रहता, उसका सब सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। ४. यदि हम प्रभु-नामस्मरण से पृथक् नहीं हो जाते तो हमें जन्म मिलता भी है तो बड़ा सुन्दर। इस जीवन को प्राप्त करके हमारा प्रयत्न सबके माता-पिता प्रभु के दर्शन के लिए होता है।

भावार्थ—हम 'क-कतम' देव के सुन्दर नाम का स्मरण करते हैं, ताकि हमें महनीय जीवन ही प्राप्त हो।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः॥ देवता—अग्निः॥
छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'अग्नि' नाम का स्मरण

अ॒ग्नेर्व॒यं प्र॑थ॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑।
स नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात्पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च॥ २॥

१. गतमन्त्र की भावना को ही पुनः कहते हैं कि **वयम्**=हम **अग्नेः**=अग्नि के, सारे संसार के अग्रणी उस प्रभु के **अमृतानां प्रथमस्य**=देवताओं में प्रथम स्थान में स्थित प्रभु के **देवस्य**=दिव्यगुणों से युक्त, प्रकाशमय, सब-कुछ देनेवाले प्रभु के **चारु नाम**=सुन्दर नाम का **मनामहे**=उच्चारण करते हैं, अर्थात् प्रभु का स्मरण करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **मह्या अदितये**=महनीय, उत्कृष्ट जन्म के **दात्**=देनेवाले हैं, जिससे उस उत्कृष्ट जीवन में हम **पुनः**=फिर **पितरम् च**=पिता को और **मातरम् च**=माता को **दृशेयम्**=देखनेवाले बनें। जिस समय एक बालक माता-पिता की आँखों से ओझल होता है, उसी समय वह मार्गभ्रष्ट हुआ करता है। इसी प्रकार हमारे जीवनों में भी हम प्रभु को भूले और भटके। प्रभु का स्मरण हमें भटकने से बचाता है। ३. यह संसार इतना चमकीला व आकर्षक है कि इसमें न फँसना कठिन ही है। बस, प्रभु का नामस्मरण ही हमें वह शक्ति प्राप्त कराता है कि हम इस संसार में उलझते नहीं।

भावार्थ—हम 'अग्नि' नामक प्रभु का स्मरण करते हुए निरन्तर आगे बढ़ें और विषयासक्ति से सदा बचे रहें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः॥ देवता—सविता भगो वा॥
छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वार्य-वस्तुओं के ईशान

अ॒भि त्वा॑ देव सवित॒रीशा॑नं॒ वार्या॑णाम्। सदा॑वन्भा॒गमी॑महे॥ ३॥

१. हे **देव**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! **सवितः**=हृदयस्थरूपेण सदा उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हम गत मन्त्रों के अनुसार 'क-कतम-अग्नि व प्रथम देव' आदि नामों से आपका स्मरण करते हुए **त्वा अभि**=आपकी ओर ही आते हैं। हम आपसे दूर नहीं होते। २. हे **सदावन्**=[सदा-अवन्] सदा रक्षा करनेवाले प्रभो! **वार्याणाम् ईशानम्**=वरणीय वस्तुओं के स्वामी आपको **भागम्**=भजनीय धन के लिए **ईमहे**=प्रार्थना करते हैं। आप हमें रक्षा के लिए आवश्यक वरणीय पदार्थ प्राप्त कराएँगे ही। ३. इन धनों को प्राप्त करते हुए हम इस बात को भूल न जाएँ कि इनके स्वामी आप ही हैं, हमें इन धनों का गर्व न हो जाए। इनमें फँसकर हम आपको ही न भूल जाएँ। यदि दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ तो ये धन हमारे निधन का ही कारण होंगे।

भावार्थ—हे प्रभो! हम सदा आपको अपना लक्ष्य रखें। आपसे ही भजनीय धन को प्राप्त करें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः॥ देवता—सविता भगो वा॥
छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उत्तम धन

यश्चि॒द्धि त॑ इ॒त्था भगः॑ शशमा॒नः पु॒रा नि॒दः। अ॒द्वे॒षो हस्त॑योर्द॒धे॥ ४॥

१. हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं **हस्तयोः दधे**=हाथों में धारण करता हूँ, उस धन को (क) **यः भगः**=जो धन कि **चित् हि**=पूर्ण निश्चय से **इत्था ते**=सचमुच तेरा ही है, अर्थात् जिस धन के स्वाभाविक प्रभु तो आप ही हैं। मैं तो उस धन को आपका मानता हुआ अपने को उसका रक्षकमात्र (Trustee) समझता हूँ। (ख) **शशमानः**=[शस्यमानः] जो धन सदा प्रशंसित किया जाता है, अर्थात् जो निन्दनीय नहीं है अथवा जो धन प्लुत गतिवाला है, अर्थात् आलस्यशून्य क्रियाशीलता के द्वारा प्राप्त किया गया है। २. (ग) **पुरा निदः**=जो निन्दा से पहले है, अर्थात् जो कभी निन्दित नहीं होता, अर्थात् जिसे हम निन्दनीय उपायों से तो कमाते ही नहीं, जिसे हम निन्द्य प्रकार से व्यय भी नहीं करते। (घ) **अद्वेषः**=जिस धन में किसी प्रकार का द्वेष नहीं है, जिस धन के कारण हमारा आपस में प्रेम नष्ट नहीं हो जाता। ३. स्पष्ट है कि उत्तम धन वही है कि जो हमें स्वामित्व के गर्ववाला नहीं कर देता, जो पुरुषार्थ से प्राप्त किया जाता है, जो कभी लोकनिन्दा का पात्र नहीं बनता तथा जिसके कारण परस्पर प्रीति में कमी नहीं आ जाती।

भावार्थ—हम धनों का गर्व न करें, पुरुषार्थ से उन्हें प्राप्त करें, अनिन्द्य प्रकार से प्रयुक्त करें, उन्हें प्रीतिवर्धन का साधन बनाएँ।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**सविता भगो वा**॥
छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धन के शिखर पर

भगभक्तस्य ते वयमुदशेम तवावसा। मूर्धानं राय आरभे॥ ५॥

१. हे [सवितः]=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **भगभक्तस्य**=धनों का विभाग करनेवाले **ते**=आपका **वयम्**=हम **उद् अशेम**=उत्कर्षेण व्यापन करें, अर्थात् हम इन धनों में आसक्त होने से ऊपर उठकर आपके उपासक बनें। २. हे प्रभो! **तव, अवसा**=आपके रक्षण से ही तो मैं **रायः**=धन के **मूर्धानम्**=शिखर को **आरभे**=(to reach or attain to) प्राप्त करता हूँ, धन पर आरूढ़ होता हूँ और धन पर आरूढ़ होकर अपनी जीवन-यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण कर सकता हूँ। धन का पति बनकर लक्ष्मी-पति विष्णु के समान बननेवाला होता हूँ। ३. आपके रक्षण से दूर होते ही यह धन मुझपर सवार हो जाता है और मैं लक्ष्मी का वाहन उल्लू बन जाता हूँ, मेरा ज्ञान नष्ट हो जाता है और मेरा अन्त निधन=मृत्यु में होता है। मैं जीवनभर धन का दास बना रहता हूँ, धन-निर्माण का यन्त्र-सा (Money-making machine) हो जाता हूँ, अतः हे प्रभो! मुझे आपका रक्षण सदा प्राप्त हो और मैं धन के शिखर पर रहूँ।

भावार्थ—हम धनों के विभक्ता प्रभु का उपासन करें, प्रभु-रक्षण से धन के शिखर पर हों।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

अनन्त बल, सहनशक्ति व ज्ञान

नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।
नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्॥ ६॥

१. 'शुन:शेप' वरुण का स्तवन करता हुआ कहता है कि हे प्रभो! **ते क्षत्रम्**=तेरे बल को, **सहः**=सहनशक्ति को व **मन्युम्**=ज्ञान को **अमी**=ये **पतयन्तः**=उड़ते हुए **वयश्चन**=पक्षी भी **नहि आपुः**=नहीं प्राप्त कर सकते। उड़ते हुए पक्षी यदि प्रभु के बल, सहनशक्ति व ज्ञान के ओर-छोर को पाने की कामना करें तो यह उनके लिए सम्भव नहीं है। उस प्रभु का बल, शक्ति व ज्ञान सब अनन्त है। २. **इमाः**=ये **अनिमिषम्**=बिना पलक मारे, निरन्तर **चरन्तीः**=चलते हुए **आपः**=जल भी **न**=आपकी शक्ति व ज्ञान के अन्त को नहीं प्राप्त कर सकते। ३. **वातस्य**=वायु के **अभ्वम्**=वेग को **ये**=जो **प्रमिनन्ति**=हिंसित करते हैं, अर्थात् उससे भी अधिक वेगवान् होते हैं, वे भी **न**=प्रभु के बल व ज्ञान का अन्त नहीं पा सकते।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति का ज्ञान अनन्त है; पक्षियों की उड़ान, जलों के निरन्तर प्रवाह व वायु के वेगों से उनके ओर-छोर का पाना सम्भव नहीं।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का विद्युद्दीप=सूर्य

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः॥७॥

१. वह **राजा**=सारे संसार को व्यवस्था में चलानेवाला **पूतदक्षः**=पवित्र बलवाला अथवा हमारे बलों को पवित्र करनेवाला **वरुणः**=सबका नियामक प्रभु **अबुध्ने**=मूलरहित अन्तरिक्ष प्रदेश में **वनस्य**=वननीय तेज के सेवन के योग्य रश्मियों के **स्तूपम्**=संघभूत सूर्य को धारण करता है। २. इस सूर्य की रश्मियों **नीचीनाः**=[नि अञ्चन्ति] नीचे की ओर आनेवाली होकर **स्थुः**=उस सूर्य में ठहरती हैं। **एषाम्**=इनका **बुध्नः**=मूल **उपरि**=ऊपर है। ऊपर से जैसे कोई विद्युद्दीप [Torch] के प्रकाश को नीचे की ओर छोड़े उसी प्रकार यह सूर्य प्रभु की Torch [विद्युद्दीप] ही तो है। प्रभु इससे किरणों को नीचे इस पृथिवीलोक पर छोड़ता है। ३. छोड़ता इसलिए है कि **अस्मे अन्तः**=हमारे अन्दर **केतवः**=[प्रज्ञापकाः प्राणाः, सा०] प्रकाश की किरणें व प्राणदायी तत्त्व, रोगनाशक तत्त्व **निहिताः स्युः**=स्थापित हों। सूर्यकिरणें केवल प्रकाश प्राप्त कराएँ, ऐसी बात नहीं है, ये किरणें हमारे अन्दर प्राणदायी तत्त्वों को भी स्थापित करती हैं। वस्तुतः सूर्य तो है ही प्राण—'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**।' तेल मलकर सूर्य-किरणों में बैठा जाए तो सारी त्वचा के साथ-साथ 'विटामिन डी' पैदा हो जाता है।

भावार्थ—सूर्य भी एक अद्भुत वस्तु है। यह प्रभु का मानो विद्युद्दीप है। इसकी किरणें नीचे आ रही हैं। ये हमें प्रकाश व प्राणशक्ति प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हृदय रोगों का प्रतिकार [चिकित्सा]

उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।
अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्॥८॥

१. **राजा वरुणः**=उस नियामक वरुण ने **सूर्याय अन्वेतवा उ**=सूर्य के चलने के लिए **हि**=निश्चय से **उरुम्**=विशाल **पन्थाम्**=मार्ग को **चकार**=बनाया है। लगभग ६० करोड़ मील

का यह मार्ग है जिसमें सूर्य गति करता है। २. **उ**=और **अपदे**=जहाँ पाँव रखने का स्थान नहीं है उस आकाश में **पादा प्रति धातवे**=पाँव को रखने के लिए **अकः**=उस प्रभु ने व्यवस्था की है और यह सूर्य जब इस ज्योतिश्चक्र में अगला-अगला कदम रखता है तो उस दिन को हम लोक में संक्रान्ति कहते हैं। ३. **उत**=और यह सूर्य **हृदयाविधः**=हृदय को विद्ध करनेवाली बीमारियों को **चित्**=निश्चय से **अपवक्ता**=झिड़ककर दूर भगा देनेवाला है। सूर्याभिमुख होकर प्रभु का ध्यान करने से छाती पर पड़नेवाली सूर्य-किरणें हृदय के सब रोगों को दूर करती हैं। **'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निमरोचन् हन्तु रश्मिभिः।'** उदय होता हुआ सूर्य कृमियों को नष्ट करता है और अस्त होता हुआ सूर्य भी रश्मियों से कृमियों को नष्ट करे।

भावार्थ—प्रभु द्वारा आकाश में स्थापित सूर्य हृदय के रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

औषध व औषधज्ञान

शतं ते राजन्भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥ ९॥

१. **राजन्**=सबको व्यवस्थित करनेवाले प्रभो! **ते**=आपकी **भिषजः**=ओषधियाँ **शतम्**=सैकड़ों हैं, **सहस्रम्** हजारों हैं। प्रभु के बनाये हुए सभी वानस्पतिक पदार्थ औषधरूप हैं। २. परन्तु इन ओषधियों का समुचित प्रयोग ज्ञान के बिना सम्भव नहीं, अतः कहते हैं कि-हे प्रभो! **ते**=आपका **उर्वी**=विशाल **गभीरा**=गम्भीर **सुमतिः**=उत्तम ज्ञान भी **अस्तु**=हमें प्राप्त हो। ३. ज्ञान के द्वारा इन औषधों का ठीक प्रयोग करवाकर हे प्रभो! आप **निर्ऋतिम्**=रोगादि के कारण होनेवाली दुर्गति को **पराचैः**=पराङ्मुख गमनों से **दूरे बाधस्व**=हमसे दूर ही रोक दीजिए। रोग हमारे पास फटकें ही नहीं। दूसरे शब्दों में ये औषधद्रव्य रोगों का प्रतिकार [cure] ही नहीं करते, वे उन्हें आने से रोकनेवाले भी हैं [Preventive]। ४. हे प्रभो! इस ज्ञान के द्वारा **कृतं चित् एनः**=उस पाप को जिसका कि हमें कुछ अभ्यास-सा पड़ गया है, **अस्मत्**=हमसे **प्रमुमुग्धि**=छुड़ा दीजिए। ज्ञान हमारे शारीरिक रोगों का ही निवर्तक न हो, यह हमारे मानस रोगों को भी दूर करनेवाला हो।

भावार्थ—हमें वरुण के औषध-द्रव्य प्राप्त हों, साथ ही गम्भीर ज्ञान प्राप्त हो। ज्ञान द्वारा औषध-प्रयोग से हम शारीरिक कष्टों को अपने से दूर करें और अभ्यस्त अशुभवृत्तियों को भी छोड़ पाएँ।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सृष्टि का वैचित्र्य

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥ १०॥

१. संसार में एक-एक वस्तु अद्भुत है। प्रभु की बनाई हुई प्रत्येक कृति उसकी विभूति है, परन्तु प्रकृति-निरीक्षण करनेवाले को यह विचित्र प्रतीत होता है कि **अमी ये**=जो वे **ऋक्षाः**=तारे **उच्चा निहितासः**=ऊपर आकाश में रखे हुए हैं **नक्तं ददृश्रे**=अरे, रात को

दिखते थे, ये सब तारे **दिवा**=दिन में **कुह चित्**=कहाँ **ईयुः**=चले गये? ये तो अब दिख नहीं रहे, यह हुआ क्या? रात में सारे आकाश को इन्होंने आवृत किया हुआ था। टिमटिमाते हुए ये तारे उस प्रभु का स्तवन कर रहे थे, ये गये कहाँ? २. इस प्रश्न का स्वयं उत्तर देते हुए वह अपने से कहता है कि **वरुणस्य**=उस सारे ब्रह्माण्ड के नियामक प्रभु के **व्रतानि**=व्रत **अदब्धानि**=अहिंसित हैं। प्रभु के नियमों को कौन तोड़ सकता है? देखो न, यह **विचाकशत्**=अत्यन्त चमकता हुआ **चन्द्रमा**=चाँद **नक्तम्**=रात्रि में **एति**=फिर आ जाता है।

भावार्थ—यह सारा काव्य कितना सुन्दर है कि रात में चमकते तारे न जाने दिन में कहाँ छिप जाते हैं और फिर रात में चमकता हुआ चन्द्रमा उदय हो जाता है।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुकृपा व दीर्घायुष्य

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः॥ ११॥

१. स्तुति करते हुए भक्त कहता है कि **ब्रह्मणा**=स्तोत्रो से **वन्दमानः**=स्तवन करता हुआ मैं **त्वा**=आपसे **तत् यामि**=यही याचना करता हूँ और **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **हविर्भिः**=दानपूर्वक अदन से **तत् आशास्ते**=वही बात कहता है कि हे **वरुण**=सारे ब्रह्माण्ड के नियामक प्रभो! **इह**=इस जीवन में **अहेळमानः**=हमपर किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए **बोधि**=हमारा ध्यान करिए [Look after us] और हे **उरुशंस**=खूब स्तुति के योग्य प्रभो! **नः आयु**=हमारी आयु को **मा प्रमोषीः**=मत चुराने दीजिए, अर्थात् हमारी आयु को चूने मत दीजिए, क्षीण मत होने दीजिए। २. हम यज्ञों व ज्ञानों को इसीलिए प्राप्त करते हैं कि हम वरुण के क्रोध-पात्र न हों और हमारा जीवन दीर्घ हो।

भावार्थ—हम मन्त्रों व ज्ञानों से तथा यजमान बनकर हवियों से प्रभु की अर्चना करते हुए यही चाहते हैं कि हम प्रभु के प्रिय बने रहें और दीर्घायु हों।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुस्तवन व मुक्ति

तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ वि चष्टे।
शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु॥ १२॥

१. **तत् इत्**=यह वरुण स्तवन की बात ही **नक्तम्**=रात्रि में **तत् दिवा**=उसी स्तवन की बात को दिन में **मह्यम्**=मुझे **आहुः**=सब विद्वान् कहते हैं, अर्थात् दिन-रात सभी विद्वान् यही कहते हैं कि 'वरुण का ही स्तवन करना चाहिए।' २. **अयम्**=यह **हृदः केतः**=मेरे अपने हृदय का ज्ञान भी **तत्**=इसी वरुणस्तवन की बात को **आविचष्टे**=बारम्बार कहता है। ३. अतः मैं तो यही कहता हूँ कि **शुनःशेपः**=अपने-आपको सुखी बनाने की इच्छावाला यह पुरुष **गृभीतः**=इन विषयों से पकड़ा हुआ **यम्**=जिस वरुण को **अह्वत्**=पुकारता है, **सः वरुणः राजा**=वह नियामक प्रभु **अस्मान्**=हमें **मुमोक्तु**=इन विषयों से मुक्त करे। ४. संसार के

विषय इतने अधिक आकर्षक व प्रबल हैं प्रभु-कृपा से ही हम इनके बन्धनों से छूट सकते हैं, अतः हम निरन्तर प्रभु-स्तवन करते हुए इनसे बचने के लिए प्रयत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभुस्तवन ही हमें विषय-बन्धन से छुड़ा सकता है।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

तीन बन्धन

शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः ।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान् ॥ १३ ॥

१. 'संसार' शब्द 'सृ गतौ' धातु से बना है। 'जगत्' 'गम् गतौ' से तथा 'द्रु' 'द्रु गतौ' से। एवं 'द्रु' का अभिप्राय यहाँ संसार है। संसार के तीन 'पद'=स्थान 'सत्त्व, रज व तम' हैं। ये तीनों मनुष्य को बाँधते हैं। इनके बन्धन से पीड़ित होकर वह '**शुनःशेपः**'=सुख के निर्माण को चाहनेवाला पुरुष **हि**=निश्चय से **त्रिषु द्रुपदेषु**=इन तीनों संसार के स्थानों में **बद्धः**=बँधा हुआ **गृभीतः**=उनसे जकड़ा हुआ **आदित्यम्**=उस आदित्य को [**अविद्यमाना- दितिर्यस्मात्**] जिससे खण्डन का सम्भव ही नहीं उस वरुण को **अह्वत्**=पुकारता है। मनुष्य विवश होने पर तो प्रभु का स्मरण अवश्य करता है। २. जब वह 'शुनःशेप' पुकारता है तब **राजा वरुणः**=वह व्यवस्थापक प्रभु **एनम्**=इस बद्ध पुरुष को **अवससृज्यात्**=इन बन्धनों से छुड़ाए। ३. यह बन्धनों से छूटा हुआ **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **अदब्धः**=स्वयं विषयों से हिंसित न होता हुआ **पाशान्**=सब जालों को **विमुमोक्तु**=छुड़ा दे। प्रभु ने इसे मुक्त किया। यह ज्ञान देकर औरों को मुक्त करनेवाला बने। इस प्रकार यह थोड़ा-सा प्रभु-ऋण से अनृण हो जाएगा अथवा प्रभु के निर्देशों का पालन करता हुआ प्रभु का प्रिय बन पाएगा।

भावार्थ—प्रभु हमें बन्धन-मुक्त करें तथा हम औरों को बन्धन-मुक्त करने का प्रयास करें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु के क्रोध से बचना व पापों से दूर होना

अव ते हेळो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः ।
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि ॥ १४ ॥

१. हे **वरुण**=सब बन्धनों के निवारण करनेवाले प्रभो! **ते हेळः**=आपके क्रोध को **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा अथवा नम्रता-धारण के द्वारा **अव ईमहे**=दूर हुआ- हुआ चाहते हैं अथवा दूर करते हैं। २. **यज्ञेभिः**=देवपूजा, संगतीकरण व दानों के द्वारा **अव** [ईमहे]=आपके क्रोध को दूर करते हैं तथा ३. **हविर्भिः**=सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तियों से **अव**=आपके क्रोध को हटाते हैं ४. हे **क्षयन्**=हमारे अन्दर निवास करते हुए सब गतियों के करनेवाले प्रभो! हे **असुर, अस्मभ्यम्**=हमारी सब बुराइयों को परे फेंकनेवाले प्रभो! अथवा प्राणशक्ति का हममें सञ्चार करनेवाले प्रभो! [असून् राति] **प्रचेतः**=प्रकृष्ट चेतनावाले प्रभो! **राजन्**=हमारे जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले प्रभो! **कृतानि**=अभ्यस्त **एनांसि**=पापों को **शिश्रथः**=शिथिल करने की कृपा करिए। वस्तुतः पापों को ढीला करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) गतिशील बनें (क्षयन्), (ख) प्राणशक्ति सम्पन्न हों (असुर), (ग) ज्ञान को बढ़ाने का प्रयत्न करें

(प्रचेत:), (घ) जीवन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न करें [राजन्]।

भावार्थ—हम नम्रता, यज्ञ व हवि द्वारा प्रभु के क्रोध को दूर करें। गतिशील, प्राणशक्ति-सम्पन्न, ज्ञानी व व्यवस्थित जीवनवाले बनकर हम अपनी पाप करने की आदत को दूर करें।

ऋषि:—**शुन:शेप आजीगर्ति: कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरात:**॥ देवता—**वरुण:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

'उत्तमाधम मध्यम' पाश

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ १५॥

१. हे **वरुण**=सब पापों का विनाश करनेवाले प्रभो! **उत्तमम्, पाशम्**=सत्त्व गुण के उत्कृष्ट पाश को, 'सत्त्वं सुखे संजयति', 'सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ', अर्थात् सुख व ज्ञान के संग को **उत् श्रथाय**=हमें उनसे ऊपर उठाकर ढीला कर दो, अर्थात् हम आपकी कृपा से सुखसङ्ग व ज्ञानसङ्ग से भी ऊपर उठें। २. **अधमम् पाशम्**=तमोगुण के प्रमाद, आलस्य व निद्रा रूप बन्धन को **अवश्रथाय**=हम से दूर [away] कीजिए। ३. आप कृपा करके **मध्यम् पाशम्**=रजोगुण के कर्मसङ्ग को [रज: कर्मणि भारत] भी **विश्रथाय**=विशेष रूप से ढीला कीजिए। हम कर्म के अभिमान से ऊपर उठें। हम अहंकारविमूढात्मा बनकर अपने को ही कर्त्ता न मानते रहें। ४. इस प्रकार सब बन्धनों के ढीले हो जाने पर **अथा**=अब **वयम्**=हम हे **आदित्य**=हमें खण्डन व विनाश से बचानेवाले प्रभो! **तव व्रते**=आपके व्रतों में चलते हुए **अनागस:**=निष्पाप होकर **अदितये**=अविनाश व मोक्ष के लिए **स्याम**=हों। यहाँ 'आदित्य' वरुण का ही नाम है। 'वरुण' हमें व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधने का निर्देश करते हैं। हमारा जीवन व्रती होगा तो ये उत्तम, मध्यम व अधम सभी पाश टूट सकेंगे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे सारे बन्धन ढीले हो जाएँ, इसके लिए हम अपने-आपको व्रतों के बन्धन में बाँधें।

सूक्त का आरम्भ प्रभु के नामस्मरण से होता है, जो प्रभु हमें महनीय जीवन प्राप्त कराते हैं (१), वे प्रभु ही हमें भजनीय धनों को भी देते हैं (३)। उस प्रभु का बल, सहनशक्ति व ज्ञान अनन्त है (६)। सूर्य प्रभु का वह विद्युद्दीप [Torch] है, जिससे कि किरणों के द्वारा वे प्रकाश व प्राण-शक्ति को नीचे भेजते हैं (७)। सूर्यकिरणें हृदयरोग को दूर करनेवाली हैं (८)। एक-एक वनस्पति औषध है, इनका ज्ञान प्राप्त करके हम इनके उपयोग से आधि-व्याधियों से ऊपर उठते हैं (९)। क्या तारे क्या चन्द्र-ये प्रभु की अद्भुत विभूतियाँ हैं (१०)। हम प्रभु से यही चाहते हैं कि हम प्रभु के क्रोध के पात्र न बनें (११)। वस्तुत: प्रभु ही हमें पापों से मुक्त करेंगे (१२)। वे ही हमारे त्रिविध बन्धनों को ढीला करेंगे (१५)। अब कहते हैं कि हम प्रभु के व्रतों को तोड़ते भी हैं तो हे प्रभो! आपकी ही तो प्रजा हैं। आप ही तो हमें ठीक करेंगे—

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषि:—**शुन:शेप आजीगर्ति:**॥ देवता—**वरुण:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

स्खलनशीलो मनुष्य: To err is human

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि॥ १॥

१. हे **वरुण**=सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! **देव**=सब पापों पर विजय करनेवाले प्रभो! [दिव् विजिगीषा]। **यत् चित् हि**=जिस किसी भी **व्रतम्**=व्रत को हम **द्यविद्यवि**=प्रतिदिन **प्रमिनीमसि**=हिंसित करते व तोड़ते हैं, वह सब **ते विशः यथा**=जैसे तेरी प्रजाएँ हों, इस रूप में ही तो करते हैं। २. जैसे एक राजा व्रतों को तोड़नेवाली प्रजाओं को, उनके प्रमादादि दोषों को दूर करके धर्मयुक्त जीवनवाला बनाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार प्रभु भी अपनी प्रजाओं के दोषों को उत्तम प्रेरणादि उपायों से दूर करते हैं। ३. मनुष्य में एक स्वाभाविक न्यूनता व अल्पता है, उसके कारण उससे ग़लती हो जाती है। प्रभुकृपा ही हमें उन ग़लतियों से बचाती है।

भावार्थ—मनुष्य स्खलनशील है, प्रभुकृपा ही उसे पाप से बचाती है।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

न घृणा न क्रोध

मा नो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः। मा हृणानस्य मन्यवे॥ २॥

हे वरुण! **नः**=हमें **जिहीळानस्य**=घृणा करनेवाले के **वधाय**=वध के लिए अथवा **हत्नवे**=मारपीट के लिए **मा रीरधः**=मत सिद्ध कीजिए और **हृणानस्य**=क्रोध करनेवाले के **मन्यवे**=क्रोध के लिए भी **नः**=हमें **मा रीरधः**=मत सिद्ध कीजिए, अर्थात् घृणा करनेवाले लोग औरों के वध व घातपात में लगे रहते हैं। हम उनकी भाँति घृणा से परिपूर्ण हृदयवाले होकर औरों का वध व घातपात न करते रहें और न ही क्रोधी बनकर सदा औरों पर क्रोध बरसाते रहें।

भावार्थ—हम घृणा व क्रोध से ऊपर उठें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु में मन को बाँधना

वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न सन्दितम्। गीर्भिर्वरुण सीमहि॥ ३॥

१. भक्त वरुण से कहता है कि उसने **मृळीकाय**=सुख के लिए **मनः**=अपने मन को **ते**=तेरे साथ **सन्दितम्**=बाँधा है, उसी प्रकार **न**=जैसेकि **रथी**=रथवान् **अश्वम्**= घोड़े को रथ के साथ बाँधता है। २. हे **वरुण**=सब कष्टों को रोकनेवाले प्रभो! **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा अथवा स्तुति-वाणियों के द्वारा हम मन को आपके साथ **विसीमहि**=विशेषरूप से बाँधते हैं। कल्याण इसी में है कि हम अपने मन को प्रभु के साथ जोड़ें। जोड़ने का साधन यही है कि हम ज्ञान व स्तुति की वाणियों को अपनाएँ।

भावार्थ—हम अपने मनों को ज्ञान व स्तुतिवाणियों के द्वारा प्रभु से जोड़ें—यही सुखप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उत्तम जीवन की प्राप्ति

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये। वयो न वसतीरुप॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब मैं अपने मन को प्रभु के साथ बाँधता हूँ तब **मे**=मेरी **विमन्यवः**=क्रोध से रहित बुद्धियाँ **वस्यः**=अतिशयेन वसुमान्, अर्थात् उत्तम निवासक तत्त्वोंवाले जीवन की **इष्टये**=प्राप्ति के लिए **हि**=निश्चयपूर्वक **परापतन्ति**=विषयों से पराङ्मुख होकर

आपकी ओर आती हैं। २. मेरी वृत्तियाँ उसी प्रकार हे वरुण! आपकी ओर आती हैं **न**=जैसे कि **वयः**=पक्षी **वसतीः उप**=अपने निवासस्थानों की ओर आते हैं। पक्षी थक-थकाकर अथवा किसी से भयभीत होकर घोंसले की ओर आता है, इसी प्रकार जीव में विषयों से एक श्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, उनमें आनन्द के स्थान में अब क्षीणता के कारण निर्वेद उत्पन्न हो जाता है अथवा वह इन विषयों से भयभीत हो उठता है और उस समय उसकी वृत्तियाँ इन विषयों से पराङ्मुख होकर प्रभु की ओर दौड़ती हैं, उस समय ही मनुष्य को वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है और उसका जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ—मेरी वृत्तियाँ विषय-पराङ्मुख होकर प्रभु की ओर चलें। इसी में जीवन की उत्तमता तथा सच्ची शान्ति है।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

बल, उन्नति व ज्ञान

कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे। मृळीकायोरुचक्षसम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र का विषय-पराङ्मुख व्यक्ति कहता है कि हमारे जीवन में **कदा**=कब वह दिन आएगा जबकि हम **वरुणम्**=उस सब कष्टों का वारण करनेवाले प्रभु को **मृळीकाय**=जीवन को सुखी बनाने के लिए **आकरामहे**=सर्वथा प्राप्त करनेवाले होंगे, जोकि **क्षत्रश्रियम्**=बल का सेवन करनेवाले हैं [क्षत्रं श्रयति], अर्थात् मनुष्य को सबल करनेवाले हैं, **नरम्**=(नेतारम्) हम सबको आगे ले-चलनेवाले हैं और **उरुचक्षसम्**=बहुतों के देखनेवाले हैं [बहूनां द्रष्टारम्] अथवा विस्तृत ज्ञानवाले हैं। २. जब भी ये प्रभु हमें प्राप्त होंगे, उसी दिन हमारा जीवन सबल, उन्नतिवाला व ज्ञान से परिपूर्ण होकर वास्तविक सुख से युक्त होगा।

भावार्थ—हम बल, उन्नति व ज्ञान की साधना करके ही वरुण का आराधन कर पाते हैं।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

समान, धृतव्रत, दाश्वान्

तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः। धृतव्रताय दाशुषे॥ ६॥

१. एक घर में पति-पत्नी **इत्**=निश्चय से **तत्**=उस सर्वव्यापक **समानम्**=[सम्, आनयति] सम्यक् सोत्साहित व प्राणित करनेवाले प्रभु को ही **आशाते**=व्याप्त करते हैं अर्थात् सदा प्रत्येक कार्य को करते हुए प्रभु का स्मरण करते हैं उस प्रभु को भूलते नहीं। २. **वेनन्ता**=ये दोनों उस प्रभु की ही कामनावाले होते हैं **न प्रयुच्छतः**=ये प्रमाद कभी नहीं करते। ३. प्रमादरहित होकर ये उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही मार्ग पर निरन्तर बढ़ते हैं जो प्रभु **धृतव्रताय**=सब व्रतों का धारण करनेवाले हैं तथा **दाशुषे**=दाश्वान्—सब-कुछ देनेवाले हैं।

भावार्थ—वह 'वरुण' नामक प्रभु 'समान, धृतव्रत व दाश्वान्' हैं। हमें प्रमादरहित होकर उस प्रभु की प्राप्ति की प्रबल कामना से मार्ग पर बढ़ते चलना चाहिए।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अन्तरिक्ष व समुद्र में भी

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम उस प्रभु की ओर चलते हैं **यः**=जोकि **अन्तरिक्षेण पतताम्**=आकाशमार्ग से जाते हुए **वीनाम्**=पक्षियों के **पदम्**=गन्तव्य मार्ग को **वेद**=जानता है

और २. **समुद्रियः**=समुद्र में गति करनेवाली **नावः**=नौकाओं को भी **वेद**=जानता है, स्थल की बातों का तो कहना ही क्या! ३. वे वरुण 'स्थल, जल व नभ' सबमें व्याप्त हैं। वस्तुतः सर्वव्यापक होने के कारण उनसे कुछ भी छिपा नहीं है। स्थान के दृष्टिकोण से वे प्रभु अनवच्छिन्न हैं, दिशाएँ उन्हें अविच्छिन्न नहीं कर सकतीं।

भावार्थ—जल, स्थल व अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त वे प्रभु सभी को जानते हैं। उस प्रभु से हम कुछ छिपा नहीं सकते। मन, वाणी और कर्म से पाप होने पर वह वरुण हमें जकड़ता ही है। आकाश में उड़कर या नाव में भागकर हम उस बन्धन से बच नहीं पाते।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सब समयों में

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते॥ ८॥

१. **धृतव्रतः**=सब व्रतों का धारण करनेवाला यह वरुण **द्वादश**=बारह **प्रजावतः**=उत्तम-उत्तम पदार्थों की उत्पत्तिवाले **मासः**=महीनों को **वेद**=जानता है और २. वह तेरहवाँ मास **यः**=जो 'अंहस्पति' नामवाला **उपजायते**=गौणरूप से प्रति तृतीय व चतुर्थ वर्ष में इन बारह के समीप उत्पन्न हो जाता है उस मलमास को भी वह वरुण **वेद**=जानता है। ३. गत मन्त्र में उस प्रभु के स्थान से अनवच्छन्न होने का प्रतिपादन था। प्रस्तुत मन्त्र में उस प्रभु की समय से भी अनविच्छिन्नता का प्रतिपादन हुआ है। कोई भी मास प्रभु के ज्ञान से बाहर नहीं है। हम किसी भी स्थान पर किसी भी समय पर कुछ करेंगे तो वे प्रभु जानेंगे ही। प्रभु के ज्ञान से कोई भी वस्तु बाहर नहीं है।

भावार्थ—वे प्रभु काल से भी अनवच्छिन्न हैं।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अलंघनीय

वेद वातस्य वर्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः। वेदा ये अध्यासते॥ ९॥

१. वह वरुण **उरोः**=अत्यन्त विस्तीर्ण **ऋष्वस्य**=महान् **बृहतः**=सब वृद्धियों के कारणभूत व गुणों के दृष्टिकोण से उत्कृष्ट **वातस्य**=वायु के **वर्तनिम्**=मार्ग को भी **वेद**= जानता है। वायु अपनी तीव्र-से-तीव्र गति से चलता हुआ उस प्रभु से दूर नहीं भाग सकता। २. **ये**=जो **अधि आसते**=वेगादि गुणों के कारण वायु से भी अधिष्ठित हैं, अर्थात् वायु को भी अतिक्रान्त कर गये हैं, उन्हें भी वे प्रभु **वेद**=जानते हैं।

भावार्थ—तीव्र-से-तीव्र गति से—वायुवेग से अथवा वायु से भी अधिक वेग से जाते हुए पदार्थ प्रभु को लाँघ नहीं सकते।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का साम्राज्य

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्या३स्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥ १०॥

१. वह **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा, शोभनप्रज्ञावाले **वरुणः**=सब अव्यवस्थाओं का निवारण करनेवाले प्रभु **धृतव्रतः**=सब व्रतों के धारण करनेवाले होकर **पस्त्यासु**=सब प्रजाओं में **साम्राज्याय**=साम्राज्य के लिए **निषसाद**=निषण्ण हैं। प्रभु हृदयस्थरूपेण सबका नियमन कर रहे हैं। [**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।**

—गीता १८।६१] हृदयस्थ होकर शरीररूप यन्त्रारूढ़ सब प्राणियों को अपनी माया से प्रभु घुमा रहे हैं। प्रभु के नियमों का कोई उल्लंघन नहीं कर पाता। यदि कोई असत्य बोलता है तो वरुण के पाशों से बँधता ही है, उन पाशों से वह बच नहीं सकता।

भावार्थ—अन्तर्यामिरूपेण प्रभु सबका नियमन कर रहे हैं। प्रभु की मर्यादाओं का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विभूतियाँ

अतो॒ विश्वा॒न्यद्भु॑ता चिकि॒त्वाँ अ॒भि प॑श्यति। कृ॒तानि॒ या च॒ कर्त्वा॑॥ ११॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि इस ब्रह्माण्ड को वह वरुण ही शासित कर रहे हैं। वे ही सम्राट् हैं। संसार के सब पदार्थों का निर्माण करनेवाले भी वे ही हैं। **चिकित्वान्**=ज्ञानी पुरुष **विश्वानि**=सब **कृतानि**=उत्पन्न हुए-हुए **या च कर्त्वा**=और जो आगे उत्पन्न होनेवाले हैं उन **अद्भुता**=अद्भुत पदार्थों को **अतः**=उस परमात्मा से ही होता हुआ **अभिपश्यति**=सर्वतः देखता है। २. सूर्य, चन्द्र, तारों में प्रभु के नेत्र का ही अंश चमक रहा है—'**तेजस्तेजस्विनामहम्**' सब तेजस्वियों का तेज प्रभु ही हैं—'**यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावाच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवः**॥' [गीता १०।४२] सब विभूति व श्रीवाले पदार्थ उस प्रभु के तेजोंश से ही तो हुए हैं। ३. प्रभु की इन विभूतियों में प्रभु की महिमा को देखता हुआ 'शुनःशेप' प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है।

भावार्थ—सूर्य, चन्द्र, तारे आदि सब अद्भुत पदार्थ उस वरुण की ही विभूतियाँ हैं।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुमार्गयुक्त जीवन

स नो॑ वि॒श्वाहा॑ सु॒क्रतु॑रादि॒त्यः सु॒पथा॑ करत्। प्र ण॒ आयूं॑षि तारिषत्॥ १२॥

१. **सः**=वह सारे ब्रह्माण्ड का निर्माता **सुक्रतुः**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाला आदित्यः=जीव को खण्डन से बचानेवाला वरुण **नः**=हमें **विश्वाहा** सदा **सुपथा**=उत्तम मार्ग से युक्त **करत्**=करे, अर्थात् वरुण की प्रेरणा व दण्डादि व्यवस्था से हम कुमार्ग से बचकर सदा सुमार्ग पर चलनेवाले बनें। २. इस प्रकार सुमार्ग पर चलते हुए **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को वे **प्रतारिषत्**=खूब दीर्घ करनेवाले हों। उत्तम आचरण व दीर्घजीवन का सम्बन्ध है ही '**आचारल्लभते ह्यायुः**=सदाचार से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है', ऐसा मनु कहते हैं।

भावार्थ—वरुण की प्रेरणा व व्यवस्था से हम सुपथ से चलते हुए दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुपथ

बिभ्र॑द् द्रा॒पिं हि॑र॒ण्ययं॒ वरु॑णो वस्त नि॒र्णिज॑म्। परि॒ स्पशो॒ नि षे॑दिरे॥ १३॥

१. गतमन्त्र में सुपथ से चलने का संकेत था, प्रस्तुत मन्त्र में उस सुपथ का संकेत करते हैं—**वरुणः**=वरुण का उपासक, द्वेष का निवारण करनेवाला पुरुष [यहाँ 'वरुण' शब्द वरुण के उपासक के लिए है। वरुण का उपासक भी 'वरुण' है] **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय **द्रापिम्**=कवच को **बिभ्रद्**=धारण करता हुआ होता है। 'ज्ञान' ही वह ज्योतिर्मय कवच है।

'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' इस वेदवाक्य में ज्ञान को आन्तर कवच कहा है। यह वासनाओं के आक्रमण से मनुष्य की रक्षा करता है, एवं ज्ञान-प्राप्ति सुपथ की पहली सीढ़ी है। २. **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला व्यक्ति **निर्णिजम्**=अति शुद्ध हृदय को **वस्ते**=धारण करता है। द्वेष ही तो मन की मैल है। इसे दूर करके यह शुद्ध मन को धारण करता है। यह 'मनःशुद्धि' सुपथ की दूसरी सीढ़ी है। ३. **स्पशः**=[**हिरण्यस्पर्शिनो रश्मयः**-सा०] ज्ञान-ज्योति का स्पर्श करनेवाली ज्ञानेन्द्रियों की रश्मियाँ **परिनिषेदिरे**=इसके चारों ओर निषण्ण होती हैं, अर्थात् यह इन्द्रियों को शुद्ध बनाकर उन्हें ज्ञान-प्राप्ति में लगाता है, एवं 'ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना' सुपथ की तीसरी सीढ़ी है। संक्षेप में 'बुद्धि, मन व इन्द्रियों' का शोधन, इन्हें असुरों का निवासस्थान न बनने देना ही 'सुपथ' है। इस सुपथ का आक्रमण करके ही हम दीर्घजीवी होंगे।

भावार्थ—ज्ञान हमारा दीप्तिमय कवच हो, ज्ञान द्वारा हम मन को निर्मल करें और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति के कार्य में व्यापृत रहें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरुण कौन बना : दम्भ, द्रोह, दर्प का विनाश

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम्। न देवमभिमातयः॥ १४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सुपथ पर चलनेवाले लोग जीवन को श्रेष्ठ बना पाते हैं। श्रेष्ठ को ही 'वरुण' कहते हैं। यह 'वरुण' वह है जिसे **दिप्सवः**=दम्भ की इच्छावाले लोग **न**, **दिप्सन्ति**=दम्भ का शिकार बनाने की कामना नहीं करते, अर्थात् इसके सम्पर्क में आकर धोखा करनेवालों की धोखा करने की वृत्ति नष्ट हो जाती है। वे भी इसके जीवन से सरलता की शिक्षा लेते हैं। २. **जनानाम्**=लोगों से **द्रुह्वाणः**=द्रोह करनेवाले भी इसके सम्पर्क में आकर द्रोह से ऊपर उठ जाते हैं। यह किसी के प्रति मन में द्रोह की भावना नहीं रखता, परिणामतः 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'—इसमें अहिंसा की प्रतिष्ठा होने के कारण इसके समीप आकर लोग भी वैर को त्याग देते हैं। ३. **देवम्**=इस दिव्य वृत्तिवाले को **अभिमातयः**=अभिमान आदि शत्रुभूत वृत्तियाँ भी **न**=पीड़ित नहीं कर पातीं, अर्थात् यह श्रेष्ठ जीवनवाला बनकर भी सब प्रकार के दर्प से ऊपर होता है और यही तो दिव्यता की शोभा है कि उसमें अभिमान का लेश भी नहीं होता।

भावार्थ—हम 'दम्भ, द्रोह व दर्प' से उठकर वरुण बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यशस्वी होता

उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या। अस्माकमुदरेष्वा॥ १५॥

१. वरुण का उपासक वरुण का स्तवन करते हुए कहता है कि **उत**=और वरुण वे हैं **यः**=जोकि **मानुषेषु**=मनुष्यों में **यशः**=हमारे यश को **असामि**=पूर्ण **आचक्रे**=करते हैं। गत मन्त्र के अनुसार वरुण की उपासना करते हुए हम वरुण-जैसे ही बनते हैं और 'दम्भ, द्रोह व दर्प' से ऊपर उठते हैं, ऐसा बनने पर हमारा जीवन यशस्वी बनता है। यह सब वरुण की कृपा से ही होता है। २. वे वरुण **अस्माकम्**=हम सबके **उदरेषु**=अन्दर **आ**=सर्वत्र विद्यमान हैं। उस वरुण के दर्शन के लिए हमें कहीं इधर-उधर थोड़े ही जाना है। वे तो अन्दर ही

विद्यमान हैं। ये प्रभु ही वस्तुतः हमें पूर्ण यशस्वी बनाते हैं। इस वरुण को अन्दर अनुभव करने पर ही हम दम्भादि आसुर वृत्तियों से हिंसित नहीं होते। 'पुराण' की भाषा में ये अन्तःस्थ वरुण 'दम्भासुर, द्रोहासुर व दर्पासुर' का ध्वंस कर देते हैं और परिणामतः हम 'देव' बन जाते हैं।

भावार्थ—'दम्भ, द्रोह व दर्प' से ऊपर उठकर हम देव बनें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरुण की ही कामना

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु। इच्छन्तीरुरुचक्षसम्॥ १६॥

१. **उरुचक्षसम्**=अनन्त व विस्तीर्ण ज्ञानवाले उस वरुण को **इच्छन्ति**=चाहती हुई **मे**=मेरी **धीतयः**=चित्तवृत्तियाँ **परा यन्ति**=विषयों से पराङ्मुख होकर हृदयदेश की ओर जाती हैं। मेरी वृत्तियाँ हृदयदेश की ओर उसी प्रकार जाती हैं **न**=जैसेकि **गावः**=गौएँ **गव्यूतीः**, **अनु**=चरागाहों को लक्ष्य करके जाती हैं। २. भूख लगी होने पर गौओं को चरागाह के अतिरिक्त कुछ सूझता नहीं। वे इधर-उधर ध्यान न करती हुई चरागाह की ओर ही बढ़ती हैं, इसी प्रकार मेरी चित्तवृत्तियाँ भी उस प्रभु की ओर ही बढ़ती हैं। उस प्रभु के सिवाय मेरी यह वृत्ति अन्यत्र नहीं जाती, उस प्रभु पर पहुँचकर ही विश्रान्त होती है।

भावार्थ—हम विषयों से पृथक् होकर अपनी वृत्ति को 'वरुण' में ही लगाएँ। उसी का वरण करें और 'वरुण' ही बन जाएँ।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरुण से वार्तालाप

सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम्। होतेव क्षदसे प्रियम्॥ १७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वरुण का ही वरण करनेवाला प्रभु से कहता है कि हे प्रभो! **नु**=अब, जबकि मैं दम्भादि से ऊपर उठा हूँ (१४)। आपकी कृपा से यशस्वी जीवनवाला बना हूँ (१५) और मेरा ध्यान आपमें ही लगा है (१६), **सं वोचावहै**=आप और मैं मिलकर बातचीत करनेवाले हों। २. एक समय वह था ही जबकि ब्रह्मलोक में रहते हुए मैं आपसे उसी प्रकार बात करता था जैसे कि पुत्र पिता से। दुर्भाग्यवश मैं आपसे दूर भटक गया। 'देवलोक व देवयोनिलोक' में से होता हुआ यहाँ 'मर्त्यलोक' में आ गया। मेरी वृत्तियाँ यहाँ विषय-प्रवण हो गईं और मैं आपको भूल गया। ३. विषयों के चंगुल से निकलकर, दम्भादि का ध्वंस करके आज मैं **पुनः**=फिर आपके समीप आया हूँ, जिससे हम फिर परस्पर बात करनेवाले हो सकें। **यतः**=क्योंकि **मे मधु आभृतम्**=अब मुझमें माधुर्य ही माधुर्य भर गया है, कड़वाहट से मैं ऊपर उठ गया हूँ। न मैं किसी को धोखा देता हूँ [मुझमें दम्भ नहीं], न किसी से द्रोह करता हूँ, न ही दर्प को अपने में आने देता हूँ। माधुर्य से पूर्ण होकर आपसे बात कर सकने की योग्यता का मैंने सम्पादन किया है। ४. मुझे पूर्ण विश्वास है कि **होता इव**=सब-कुछ देनेवाले की भाँति आप ही यह उत्कृष्ट वृत्ति भी मुझे प्राप्त कराते हैं और **प्रियम्**=आपका प्रिय बना हुआ जो मैं हूँ, उसकी आप **क्षदसे**=[to protect, to cover] अपनी गोद में छिपाकर रक्षा करते हो। अब मुझपर दम्भादि का आक्रमण सम्भव ही नहीं रहता।

भावार्थ—हम अपने जीवन में माधुर्य भरकर प्रभु से बात करने के अधिकारी बनें और उस प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विश्वदर्शत का दर्शन

दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि। एता जुषत मे गिरः॥ १८॥

१. वरुण का भक्त कहता है कि **नु**=निश्चय से अब मैंने **विश्वदर्शतम्**=सबसे देखने योग्य उस वरुण को **दर्शम्**=देखा है। २. मैंने इस जीवन-यात्रा के **रथम्**=वाहनभूत उस प्रभु को **अधिक्षमि**=इस पार्थिव शरीर में ही **दर्शम्**=देखा है। सब चित्तवृत्तियों को विषयों से निवृत्त करके ज्योंहि मैं अन्तर्मुख यात्रा करनेवाला बना त्यों ही **दर्शम्**=उस प्रभु को मैंने देखा है। ३. इस प्रभु ने **मे**=मेरी **एताः**=इन **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **जुषत**=प्रीतिपूर्वक ग्रहण किया है, अर्थात् मेरी ये वाणियाँ प्रभु को प्रीणित करनेवाली हुई हैं। ४. वे प्रभु विश्वदर्शत हैं, सबसे देखने योग्य हैं अथवा सम्पूर्ण विश्व में प्रभु की महिमा दिखती है। वे प्रभु ही विश्वरूप हैं। ५. प्रभु का दर्शन शरीर में, हृदय में होता है। हृदय वह स्थान है जहाँ कि आत्मा व परमात्मा दोनों स्थित हैं। उस प्रभु का दर्शन इस भक्त को स्तुति के लिए प्रेरित करता है। यह भक्त स्तुतिवाणियों का उच्चारण करता है। उस प्रभु का दर्शन इस भक्त को स्तुति के लिए प्रेरित करता है।

भावार्थ—उस विश्वदर्शत प्रभु का मैं हृदय में दर्शन करूँ और उसके लिए स्तुतिवाणियों का उच्चारण करता हुआ उसे आराधित करूँ।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्तुतिवाणियाँ

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय। त्वामवस्युरा चके॥ १९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का दर्शन करनेवाला निवेदन करता है कि हे **वरुण**= सब कष्टों व पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! **मे**=मेरी **इमम्, हवम्**=इस पुकार को **श्रुधी**=सुनिए **च**=और **अद्या**=आज ही **मृळय**=मुझे सुखी कीजिए। जीव की सब कामनाएँ अन्ततोगत्वा इसीलिए हैं कि वह कष्टों को दूर करके कल्याण व शान्ति को प्राप्त कर सके। 'गृह, प्रजा, पशुधन' आदि की कामना कष्टनिवारण के लिए होती है। २. हे प्रभो! **अवस्युः**=अपने रक्षण की कामनावाला मैं **त्वाम्**=आपको **आ चके**=[कै शब्दे] स्तुत करता हूँ। मैं वासनाओं से अपनी रक्षा करने के लिए आपकी स्तुतिवाणियों का उच्चारण करता हूँ। जहाँ आपका स्तवन होता है वहाँ वासनाओं का प्रवेश नहीं होता, प्रवेश क्या, वासनाएँ वहाँ भस्मीभूत हो जाती हैं। इनकी भस्म पर ही कल्याण के भवन का निर्माण होता है। प्रभु वासनाविनाश द्वारा ही हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारी पुकार को सुनकर वासनाविनाश द्वारा हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मेधिर की उपासना

त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि। स यामनि प्रति श्रुधि॥ २०॥

१. हे **मेधिर**=मेधा के देनेवाले वरुण! **त्वम्**=आप ही **दिवः च**=इस द्युलोक और अन्तरिक्ष के **ग्मः च**=और इस पृथिवीलोक के तथा **विश्वस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के **राजसि**=क्षेम व कल्याण करनेवाले हो। सारा ब्रह्माण्ड आपके ही शासन में चल रहा है। २. **सः**=वे आप **यामनि**=क्षेम व कल्याण के प्राप्त कराने में [या प्रापणे] **प्रतिश्रुधि**=हमारी प्रार्थना का 'हाँ'

में उत्तर दीजिए, अर्थात् हमारी प्रार्थना को अवश्य स्वीकार कीजिए। ३. प्रभु मेधिर हैं। मेधा देकर ही वे हमारा कल्याण करते हैं। इस मेधा से ही वे हमारे जीवन को दीप्त बनाते हैं। वस्तुतः प्रभु का रक्षण-प्रकार यही है कि वे बुद्धि दे देते हैं। इस बुद्धि से ठीक मार्ग पर चलते हुए हम अपनी मङ्गल की कामना को पूर्ण कर पाते हैं।

भावार्थ—बुद्धि के अनुसार चलते हुए हम जीवन को मङ्गलमय बनाएँ।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पाश-विमुक्त उत्तम जीवन

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे॥ २१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम बुद्धिपूर्वक चलेंगे तो इस प्रार्थना के योग्य बनेंगे कि हे वरुण! आप **नः**=हमारे **उत्तमं पाशम्**=उत्कृष्ट पाश को अर्थात् सात्त्विक बन्धन को भी **मुमुग्धि**=छिन्न करने की कृपा कीजिए। आपकी कृपा से प्रकृति का सत्त्वगुण मुझे सुखसङ्ग व ज्ञानसङ्ग से बाँध न सके। आप ही मुझे इससे मुक्त करने का सामर्थ्य रखते हैं। २. हे वरुण! **मध्यमं पाशम्**=रजोगुण नामक मध्यमपाश को भी **विचृत**=विच्छिन्न कीजिए। यह भी अपने कर्मसङ्ग से मुझे बाँधनेवाला न हो। 'मैं एक भी क्षण शान्त होकर न बैठ सकूँ', ऐसी स्थिति न हो जाए। ३. हे प्रभो! **अधमानि**= तमोगुण-जनित प्रमाद, आलस्य व निद्रारूप अधम पाशों को भी **अव**=आप मुझसे दूर कीजिए। मैं कभी भी प्रमाद, आलस्य व निद्रा का शिकार न हो जाऊँ। ४. यह सब आप इसलिए करने की कृपा कीजिए जिससे **जीवसे**=मैं अपना जीवन उत्तम बना सकूँ। जीवन-उत्कर्ष के लिए, जीवन में निरन्तर आगे बढ़ने के लिए 'सात्त्विक, राजस् व तामस्' सभी बन्धनों से मुक्त होना आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से मेरी बन्धनत्रयी नष्ट हो और मैं उत्तम जीवनवाला बनूँ।

विशेष—सूक्त इन शब्दों से आरम्भ होता है कि हम ग़लती करते हैं तो भी हैं तो प्रभु की ही प्रजा (१)। प्रभु हमें घृणा व क्रोध से ऊपर उठाएँ (२)। हम अपने मनों को प्रभु से जोड़ने का यत्न करें (३)। हमारी चित्तवृत्तियाँ प्रभु में ही लगें (४)। वे प्रभु 'क्षत्रश्री, नर व उरुचक्षा' हैं (५)। उस प्रभु की ही मेरे प्राण व अपान प्राप्त करने का प्रयत्न करें (६)। उस प्रभु से कोई स्थान व समय छिपा नहीं (७-८)। सब प्रजाओं में स्थित होकर वे उनका शासन कर रहे हैं (१०)। सभी अद्भुत वस्तुओं के वे ही कर्ता हैं (११)। वे प्रभु ही हमें सुपथ से चलाकर दीर्घजीवी करें (१२)। हम ज्ञानमय कवच को धारण करें, हृदय को शुद्ध रखें (१३)। दम्भ, द्रोह व दर्प से ऊपर उठें (१४)। प्रभु-कृपा से यशस्वी बनें (१५)। प्रभु से मिलकर बात कर सकने के लिए जीवन को माधुर्य से भरें (१७)। उस विश्वदर्शत का दर्शन करते हुए (१८), उसी से कल्याण की प्रार्थना करें (१९)। वे प्रभु ही हमें मेधा देंगे (२०) और बन्धनत्रयी से मुक्त करके कल्याणभागी बनाएँगे (२१)। अब प्रभु जीव को निर्देश देते हैं कि—

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सहयज्ञाः प्रजाः

वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जां पते। सेमं नो अध्वरं यज॥ १॥

१. प्रभु 'बन्धनत्रयी से मुक्ति की प्रार्थना करनेवाले' जीव से कहते हैं कि हे **मियेध्य**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने के योग्य, **ऊर्जाम्पते**=बलों व प्राणशक्तियों की रक्षा करनेवाले जीव! तू **वस्त्राणि वसिष्वा हि**=इन शरीररूप वस्त्रों को धारण कर और इन वस्त्रों को धारण करनेवाला **सः**=वह तू **नः**=हमारे **इमम्**=इस वेदों में प्रतिपादित **अध्वरम्**=यज्ञात्मक कर्म को **यज**=अपने साथ संगत करनेवाला बन। 'अध्वर' वे कर्म हैं जोकि औरों की हिंसा न करके कल्याण-ही-कल्याण करनेवाले हैं। २. जीव को चाहिए कि वह अपने शरीर को वस्त्र समझें। मलिन वस्त्र स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त न होकर हानिकर होता है। इसी प्रकार यह रोगी शरीर हमारी उन्नति का साधक नहीं हो सकता। शरीर को स्वस्थ बनाकर हमें उसमें शक्तियों का रक्षण करना है। शक्तियों का रक्षण करके उन शक्तियों का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में करना है। प्रभु ने हमें जन्म दिया, शरीररूप वस्त्र दिया और साथ ही यज्ञ भी प्रदान कर कहा कि इसी से तूने फूलना-फलना है।

भावार्थ—हम वस्त्ररूप इन शरीरों को धारण करके शक्तियों को सुरक्षित रक्खें, उन्हें वासनाओं से विनष्ट न होने दें और यज्ञों में लगे रहें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु की यविष्ठता

नि नो॒ होता॒ वरे॑ण्यः॒ सदा॑ यविष्ठ॒ मन्म॑भिः। अग्ने॑ दि॒वित्म॑ता॒ वचः॑ ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र की प्रेरणा को सुनकर 'शुनःशेप' प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **यविष्ठ**=हमारे दुरितों को दूर करके भद्रों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले प्रभो! आप ही **नि** (सीद)=हमारे हृदयों में निषण्ण होओ। आप ही निश्चय से **नः**=हमारे लिए **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं, **वरेण्य**=आप ही वरण के योग्य हैं। आपका वरण करके हमें क्या प्राप्त नहीं हो जाता? २. हे प्रभो! आप **सदा**=सदा **मन्मभिः**=मननीय स्तोत्रों द्वारा, विचारपूर्वक किये गये स्तवनों से तथा **दिवित्मता, वचः**=ज्योतिर्मय वचनों से [वचसा] प्राप्त करने योग्य हैं, अर्थात् ज्ञान की वाणियों के ग्रहण से तथा विचारपूर्वक की गई स्तुतियों से हम आपको अपने हृदयों में बिठा पाते हैं। उस समय हमें ऐसा अनुभव होता है कि हमें सब प्राप्य वस्तुएँ प्राप्त हो गई हैं [होता] और हमें वह आनन्द अनुभव होता है जो इन सांसारिक वस्तुओं में प्राप्य न था। आपको प्राप्त करके मुझसे सब अशुभ दूर हो जाते हैं और मैं शुभों को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—ज्ञान व स्तवन के द्वारा प्रभु को प्राप्त करके हम अशुभों से दूर व शुभों के समीप हो सकें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**प्रतिष्ठागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पिता, बन्धु व मित्र

आ हि ष्मा॑ सू॒नवे॑ पि॒तापि॒र्यज॑त्या॒पये॑। सखा॒ सख्ये॒ वरे॑ण्यः ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'होता' कहा है। प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं। उसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि **हि**=निश्चय से जैसे **पिता सूनवे**=पिता पुत्र के लिए **आयजति स्म**=सब-कुछ देता है और **आपिः**=बन्धु **आपये**=अपने बन्धु के लिए सब-कुछ देता है तथा **सखा**=मित्र के लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाला होता है, उसी प्रकार आप

हमें सब-कुछ देते हैं। आप ही हमारे पिता, बन्धु व मित्र हैं। २. वस्तुतः इसीलिए आप ही **वरेण्यः**=वरने के योग्य हैं। मुझे इस प्रकार की सुमति दीजिए कि मैं आपका अनुरूप पुत्र बनने का प्रयत्न करूँ। आपको ही अपना बन्धु व मित्र समझूँ। मेरे सब कार्य आपके बन्धुत्व और मित्रता के योग्य हों।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे पिता, बन्धु व मित्र हैं, अतः वे ही वरणीय हैं।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अद्वेष, प्रेम व दान

आ नो॑ ब॒र्ही रि॒शाद॑सो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा। सीद॑न्तु॒ मनु॑षो यथा॥ ४॥

१. गतमन्त्र के 'पिता, बन्धु व मित्रभूत' प्रभु से 'शुनःशेप' प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे **बर्हिः**=हृदयान्तरिक्ष में **रिशादसः**=हिंसक तत्त्व को समाप्त करनेवाले [उसे खा जानेवाले] **वरुणः, मित्रः अर्यमा**=वरुण, मित्र और अर्यमा **आसीदन्तु**=आकर विराजमान हों **यथा**=जैसे **मनुषः**=किसी भी विचारशील पुरुष के हृदय में आसीन होते हैं। २. सब विचारशील पुरुष अपने हृदयों में 'वरुण, मित्र और अर्यमा' को आसीन करते हैं। हम भी इन देवों को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करें। 'वरुण' द्वेष के निवारण का प्रतीक है। हम द्वेष से शून्य हों, किसी से हमारा वैर न हो। 'मित्र' स्नेह का प्रतीक है। हम सबके साथ स्नेह करनेवाले हों। **'अर्यमा इति तमाहुर्यो ददाति'**, इस [तै० १।१।२।४] वाक्य के अनुसार अर्यमा में देने की भावना है, हम सदा दानशील हों। ३. विचारशील पुरुष किसी से द्वेष नहीं करता। वह सबके प्रति स्नेह की भावनावाला होता है और उसमें दान की भावना सदा बनी रहती है। हम भी इस प्रकार विचारशील बनें और इन भावनाओं को हृदयस्थ करें।

भावार्थ—विचारशील बनकर हम 'अद्वेष, प्रेम व दानवृत्ति' को अपनानेवाले हों।

सूचना—यास्क ने अर्यमा का अर्थ 'अरीन् नियच्छति' [नि० ११।२३] किया है, अतः हम लोभादि शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु की मित्रता

पूर्व्य॑ होतर॒स्य नो॒ मन्द॑स्व स॒ख्यस्य॑ च। इ॒मा उ॒ षु श्रु॑धी॒ गिरः॑॥ ५॥

हे **पूर्व्य**=सृष्टि से पूर्व होनेवाले प्रभो! [हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे], अर्थात् कभी न उत्पन्न होनेवाले, सनातन 'स्वयम्भू' नामवाले परमात्मन्! हे **होतः**=सब आवश्यक वस्तुओं को प्रदान करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **अस्य**=गतमन्त्र में वर्णित अपने हृदय में 'वरुण, मित्र व अर्यमा' को आसीन करने के प्रयत्न को **च**=और **सख्यस्य**=आपके मित्र बनने के भाव को जानकर **मन्दस्व**=आप प्रसन्न हों, अर्थात् हम आपको अपने इन कर्मों से प्रसन्न कर सकें। २. **उ**=और आप **सु**=उत्तमता से उच्चारण की गई **इमाः**=इन **गिरः**=स्तुति-वाणियों को **श्रुधि**=सुनिए। इन वाणियों में की गई आराधना हमारी उन्नति का कारण बने।

भावार्थ—हम प्रभु के मित्र बनें, प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें प्रभु के गुणों को स्वजीवन में अनूदित करने की प्रेरणा दे। यह व्यर्थ न हो, सुना जाए।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

एक-एक देव का यजन

यच्चिद्धि शश्वता तना देवंदेवं यजामहे। त्वे इद्धूयते हविः ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! **यत् चित् हि**=यह जो निश्चय से **शश्वता**=[शश प्लुतगतौ] आलस्यशून्य, क्रियाशीलतावाले **तना**=[तनु विस्तारे] शक्तियों के विस्तार से **देवं देवम्**=एक-एक दिव्यगुण को **यजामहे**=अपने साथ संगत करते हैं। यह सब **त्वे इत्**=आपमें ही **हविः हूयते**=हवि डाली जाती है, अर्थात् यह आपका ही यज्ञ और उपासन होता है। २. प्रभु का सच्चा उपासन यही है कि हम एक-एक उत्तम गुण को अपने में धारण करने का प्रयत्न करें। देवों को अपनाकर ही हम महादेव के समीप पहुँचते हैं। ३. दिव्यगुणों को धारण करने का उपाय यह है कि हम शक्तियों का विस्तार करें [तना], वीर बनें। वीरता के साथ ही virtue=गुणों का वास है। शक्तियों के विस्तार के लिए क्रियाशीलता की आवश्यकता है। क्रिया ही शक्ति की जननी है। क्रिया के अभाव में प्रत्येक अंग निर्बल पड़ जाता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता से सब अंगों की शक्ति का वर्धन करें। शक्ति-वृद्धि से हममें दिव्यगुणों का विकास होगा। यह दिव्यगुणों का अपने साथ=संग करना ही सच्चा प्रभु-पूजन होगा।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

हमें प्रभु ही प्रिय हों

प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः। प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥ ७ ॥

१. संसार में दिव्यता की ओर चलने के लिए आवश्यक है कि **नः**=हमें वे प्रभु ही **प्रियः अस्तु**=प्रिय हों। हमारी रुचि प्रभु-प्राप्ति की ही हो। हम उस प्रभु को ही **विश्पतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक जानें। 'हमारे भी रक्षक वे प्रभु ही हैं', ऐसा समझ हम प्रभु को प्राप्त करने की ही कामनावाले हों। २. वे प्रभु ही **होता**=हमें सब-कुछ देनेवाले हैं, वे ही हमारे जीवन-यज्ञ के चलानेवाले हैं। ३. **मन्द्रः**=वे प्रभु स्वयं आनन्दमय हैं, हमें आनन्द देनेवाले हैं, अतः वे ही **वरेण्यः**=वरने के योग्य हैं। इस संसार में प्रकृति का चुनाव करके हम अपने जीवनों को आनन्दमय नहीं बना सकते। प्रकृति में स्वयं आनन्द नहीं, वह हमें क्या आनन्द प्राप्त कराएगी! आननद तो आनन्दमय प्रभु को पाने में ही है। ४. **वयम्**=हम **स्वग्नयः**=उत्तम मातारूप दक्षिणाग्निवाले, उत्तम पितारूप गार्हपत्य अग्निवाले तथा उत्तम आचार्यरूप आहवनीय अग्निवाले बनकर **प्रियाः**=उस प्रभु के प्रिय हों। जब हम 'स्वग्नि' नहीं होते, हमें उत्तम माता, पिता और आचार्य प्राप्त नहीं होते तो हम प्रकृति की ओर झुकाववाले होकर विषयों में फँसकर अपनी शक्तियों को जीर्ण कर लेते हैं। निर्बल होकर हम प्रभु के प्रिय कैसे हो सकते हैं!

भावार्थ—हम प्रभु को 'विश्पति, होता, मन्द्र व वरेणय' जानें। उत्तम माता, पिता व आचार्य से सुशिक्षित होकर प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

उत्तम अग्नियोंवाले

स्वग्नयो हि वार्यं देवासो दधिरे च नः। स्वग्नयो मनामहे ॥ ८ ॥

१. **नः**=हममें से जो भी **हि**=निश्चय से **स्वग्नयः**=उत्तम माता-पिता व आचार्यरूप

अग्निवाले होते हैं वे **वार्यम्**=वरणीय उत्तम गुणों को और अन्ततः वरणीय उस प्रभु को **दधिरे**=अपने में धारण करते हैं **च**=और उत्तम गुणों को धारण करके ये लोग **देवासः**=देव बन जाते हैं। ये सामान्य मनुष्यों की श्रेणी से ऊपर उठकर देवकोटि में पहुँच जाते हैं। २. ये देव बननेवाले **स्वग्नयः**=उत्तम माता, पिता व आचार्यवाले हम, हे प्रभो! **मनामहे**=आपकी ही प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करनेवाले पुरुष ही वरणीय गुणों को धारण करके देव बनते हैं और सदा प्रभु का उपासन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

परस्पर भावन

अथा न उभयेषाममृत मर्त्यानाम्। मिथः सन्तु प्रशस्तयः॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य से शिक्षित होने पर **अथा**=अब **नः**=हमारी **अमृतमर्त्यानाम्**='अमृत' कभी न बुझनेवाली ज्ञानाग्नि और यज्ञ करनेवाले जो हम मर्त्य हैं **उभयेषाम्**=इन दोनों की **मिथः**=परस्पर **प्रशस्तयः**=प्रशस्तियाँ **सन्तु**=हों, अर्थात्=हमारे जीवन यज्ञमय हों और इस प्रकार देवों से प्रशंसा के योग्य हों तथा वाय्वादि देव भी हमें उत्तम अन्नादि प्राप्त करानेवाले हों और हम उन देवों के अनुग्रह का प्रशंसन करें। २. गीता में मनुष्य को कहा गया है कि **'देवान् भावयतानेन'**=तुम यज्ञ द्वारा देवों का आदर करो **'ते देवा भावयन्तु वः'**=वे देव अन्नादि के प्रापण से तुम्हारा आदर करें। इस प्रकार **'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्य'**=परस्पर भावना करते हुए तुम उत्कृष्ट कल्याण को प्राप्त करोगे। कालिदास ने लिखा है कि मृत्युलोक का राजा दिलीप यज्ञों के द्वारा इस पृथिवीलोक को खाली करके द्युलोक को भर रहा था तथा द्युलोक का राजा इन्द्र वृष्टि द्वारा द्युलोक को खाली करके पृथिवीलोक को भरने में लगा था। इस प्रकार दोनों मिलकर दोनों लोकों का सुन्दरता से धारण कर रहे थे। यही 'अमृत' व मर्त्यों' की परस्पर प्रशस्ति है।

भावार्थ—हम यज्ञों से देवों को प्रीणित करें। देव वृष्टि द्वारा अन्नादि देकर हमें प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ, ज्ञान व पूजा

विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः। चनो धाः सहसो यहो॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सहसो यहो**=बल के पुत्र अर्थात् पुञ्ज प्रभो! आप **विश्वेभिः**=सब **अग्निभिः**=माता, पिता व आचार्यरूप अग्नियों के द्वारा **इमम् यज्ञम्**=इस यज्ञ को, यज्ञ की भावना को, **इदम् वचः**=इन ज्ञान के वचनों को तथा **चनः**=सात्त्विक अन्न को, उस अन्न को जोकि [**चायृ पूजा-निशामनयोः**]=हममें प्रभु की पूजा और प्रभु की प्रेरणा को सुनने की प्रवृत्ति पैदा करता है, **धाः**=धारण कीजिए। २. माता हमें सात्त्विक अन्न का सेवन कराके सात्त्विक वृत्तिवाला बनाये, हमारा झुकाव प्रभुपूजा की ओर करे। पिता हममें यज्ञिय भावना को भरनेवाले हों तथा आचार्य हमें ज्ञान से परिपूर्ण कर दें। इस प्रकार हमारा जीवन 'यज्ञ, ज्ञान व पूजा की वृत्ति' से परिपूर्ण हो जाए।

भावार्थ—हमारा जीवन 'यज्ञ ज्ञान व पूजा' से युक्त हो। इसी प्रकार हम प्रभु की भाँति

शक्ति को धारण करनेवाले हो जाएँ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्रभु के इस आदेश से होता है कि शरीर-वस्त्र को धारण करके जीवन में यज्ञ का प्रणयन करो (१)। स्तोत्रों व ज्ञान की वाणियों से प्रभु को अपने हृदय में निषण्ण करो (२)। वे प्रभु ही पिता, बन्धु व सखा हैं (३)। प्रभु से यही आराधना करो कि 'हम अद्वेष, स्नेह व दानवृत्ति' को अपने जीवन में धारण कर सकें (४)। प्रभु हमारी इस मित्रता से प्रसन्न हों (५)। हम दिव्य गुणों को धारण करते हुए सच्चा प्रभु-पूजन करें (६)। हमें प्रभु ही प्रिय हों (७)। उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके हम वरणीय गुणों को धारण करें (८)। यज्ञों को करते हुए हम देवों से प्रशंसनीय हों (९) और माता-पिता व आचार्य द्वारा 'यज्ञ, ज्ञान व पूजावृत्ति' को प्राप्त करें (१०)। अब कहते हैं कि हम प्रभु का वन्दन करें ताकि हमारे पाप दूर हों—

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-वन्दन

अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम्॥ १॥

१. **अग्निम्**=उस उन्नति के साधक प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कार द्वारा अथवा नम्रता से **वन्दध्या**=मैं वन्दन करता हूँ। हे प्रभो! उन **त्वा**=आपको जो **वारवन्तं अश्वं न**=मेरे लिए बालोंवाले घोड़े के समान हो। जैसे एक घोड़ा पूँछ के बालों से मक्खी-मच्छर आदि को हटाता रहता है उसी प्रकार से प्रभु हमारे रोगों और पापों से हमें हटाते रहते हैं। हमारे रोगों व पापों को दूर करके प्रभु ही हमारे जीवन-यज्ञों को चलाते हैं। **अध्वराणां सम्राजन्तम्**=आप सब अध्वरों के सम्राट् हैं, सब यज्ञों में आपकी ही दीप्ति है, आप ही सब यज्ञों की व्यवस्था करनेवाले हैं। इन यज्ञों के द्वारा प्रभु हमें इस जीवन-यात्रा में आगे और आगे ले-चलते हैं।

भावार्थ—हम अध्वरों के सम्राट्, पापों को दूर करनेवाले उस अग्नि नामक प्रभु का नतमस्तक होकर वन्दन करते हैं।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कल्याणकारी प्रभु

स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः। मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात्॥ २॥

१. **सः**=वे प्रभु **घा**=निश्चय से **नः**=हमारे **सूनुः**=प्रेरणा देनेवाले हैं (षू प्रेरणे)। २. केवल प्रेरणा ही नहीं **शवसा**=शक्ति के द्वारा **पृथुप्रगामा**=विस्तृत गति देनेवाले हैं। वे हमें शक्ति देते हैं कि हम विशाल कर्मों को करनेवाले बनें। ३. इस प्रकार वे प्रभु **सुशेवः**=उत्तम कल्याण करनेवाले हैं। 'उत्तम प्रेरणा, शक्ति व विशाल कर्मों के लिए गति' ये सब बातें मिलकर हमारा कल्याण करनेवाली सिद्ध होती हैं। ४. इस मार्ग से चलाकर वे प्रभु **अस्माकम्**=हमपर **मीढ्वान्**=सुखों की खूब वर्षा करनेवाले **बभूयात्**=हों।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा देने, शक्ति देकर कार्यों को करानेवाले, सुख देनेवाले व सब कल्याणों की वर्षा करनेवाले हैं।

ऋषि:—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रक्षक-प्रभु

स नो॑ दू॒राच्चा॒साच्च॒ नि मर्त्या॑दघा॒योः । पा॒हि सद॒मिद्वि॒श्वायु॑ः ॥ ३ ॥

१. **सः**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'सुशेव व मीढ्वान्' प्रभु **नः**=हमें **दूरात्**=दूर से भी **च**=और **आसात्**=समीप से भी **अघायोः मर्त्यात्**=अघ व पाप को चाहनेवाले मनुष्य से **निपाहि**=हमें निश्चित रूप से बचाएँ। हम किसी भी अघायु पुरुष के शिकार न बन जाएँ। ऐसा पुरुष हमपर प्रबल होकर हमें पाप की ओर ले-जानेवाला न हो जाए। २. हे प्रभो! आपकी कृपा से **सदम् इत्**=सदा ही **विश्वायुः**=मैं पूर्ण जीवन=आयुवाला बनूँ। शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति करके मैं अपने जीवन की अपूर्णता को दूर करूँ। शरीर से स्वस्थ बनूँ, मृत्यु से अमरता की ओर चलूँ, नीरोग होऊँ। मन से निर्मल बनूँ, असत्य से सत्य की ओर चलूँ, सत्य से मेरा मन शुद्ध हो। मेरा मस्तिष्क तीव्र ज्ञानाग्निवाला हो, तमस् से मैं सदा ज्योति की ओर जानेवाला होऊँ, ज्ञान मेरे मस्तिष्क को पवित्र रक्खे। इस प्रकार मैं 'विश्वायु व पूर्ण जीवनवाला' बनकर जीवन से यह प्रकट करूँ कि प्रभु-कृपा से मैं अघायु पुरुषों का शिकार नहीं बना।

भावार्थ—प्रभु क्या दूर क्या समीप, सर्वत्र अघायु पुरुषों से हमारी रक्षा करते हैं। इस रक्षा के परिणामस्वरूप ही हम पूर्ण जीवनवाले बन पाते हैं।

ऋषि:—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सनि-गायत्र व नव्यान्

इ॒मम् षु त्वम॒स्माकं॑ स॒निं गा॑य॒त्रं नव्यां॑सम् । अग्ने॑ दे॒वेषु॒ प्र वो॑चः ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने**=हमारे जीवनों को उन्नत करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्माकम्**=हमारे **देवेषु**=इन्द्रिय, मन व बुद्धि आदि उपकरणों में **ऊ षु**=निश्चयपूर्वक उत्तमता से **सनिं, गायत्रं नव्यांसम्**=सनि, गायत्र व नव्यान् का **प्रवोचः**=प्रवचन कीजिए, अर्थात् हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि 'सनि, गायत्र व नव्यान्' का उच्चारण करें, हमारी इन्द्रियों में इनका प्रकाश हो। २. **सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'**—इस अथर्व-मन्त्र के अनुसार शरीर में सब देवों का निवास है। अग्नि वाणी का रूप धारण करके मुख में रह रही है तो सूर्य चक्षु का रूप धारण करके आँख में रहता है और दिशाएँ श्रोत्ररूप में कानों में निवास करती हैं, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में रहता है। इसी प्रकार बाह्य देव उस-उस रूप में शरीर में भी निवास कर रहे हैं। ३. ये देव 'सनि' का प्रवचन करें, संविभाग की वृत्तिवाले हों, सब स्वयं खा जानेवाले न हों। ये गायत्र को करें, अर्थात् 'गयाः प्राणाः, तान् त्रायते' प्राणशक्ति का रक्षण करनेवाले हों, कोई भी ऐसा कार्य न करें जिससे कि प्राणशक्ति में किसी भी प्रकार की कमी आये। ये 'नव्यान्' हों 'नु स्तुतौ' स्तुति करनेवाले हों, अतिशयित स्तुतिवाले हों। इनकी स्तुति श्रव्य न होकर दृश्य ही तो होगी। यह दृश्य स्तुति ही प्रभु को प्रिय है। इस दृश्य स्तुति का रूप सर्वभूतहित है; एवं हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि (क) सबके साथ बाँटकर खाएँ (ख) प्राणशक्ति को धारण करनेवाली हों (ग) और लोकहित करते हुए प्रभु के दृशीक स्तोत्र को सिद्ध करें।

भावार्थ—हम बाँटकर खानेवाले हों, प्राणशक्ति का रक्षण करें, उत्कृष्ट स्तवन करनेवाले हों।

ऋषि:—शुन:शेप आजीगर्तिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः

त्रिविध वाज

आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु। शिक्षा वस्वो अन्तमस्य॥ ५॥

१. हे प्रभो! आप **नः**=हमें **परमेषु वाजेषु**=(वाज=Wealth, power) उत्कृष्ट धनों में **आ भज**=सब ओर से भागी बनाइए। 'अध्यात्म सम्पत्ति' ही उत्कृष्ट धन है। प्रभु-कृपा से यह अध्यात्म-सम्पत्ति, गीता के शब्दों में 'दैवी सम्पत्ति' हमें प्राप्त हो। वस्तुतः मनुष्य की यही सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है। वेदान्त में 'शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा व समाधान' नाम से यह षट्क सम्पत्ति के रूप में चित्रित हुई है। **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः, धीर्विद्या सत्यमक्रोधः**-इन शब्दों में मनु ने इस सम्पत्ति का धर्म के १० लक्षणों में परिगणन किया है। २. हे प्रभो! आप **मध्यमेषु वाजेषु**=मध्यम धनों में भी आ (भज) हमें भागी बनाइए। शरीर का स्वास्थ्य व शिष्टाचार आदि-आदि सब मध्यम धन हैं। ये वस्तुतः संसार में उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक हैं। उत्कृष्ट धन 'निःश्रेयस' के साधक हैं तो मध्यम धन 'अभ्युदय' के जनक हैं। हे प्रभो! **अन्तमस्य** (अन्तिकतमस्य)=इस भौतिक जीवन की पूर्ति के लिए, भूलोक के अति समीपवर्ती इन पार्थिव **वसवः**=धनों को **शिक्ष**=देने का अनुग्रह कीजिए। ये रुपया-पैसा सबसे निचले स्थान पर होनेवाला धन है, परन्तु यह धन भी आवश्यक ही है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें उत्तम अध्यात्म-धन 'शम-दम' आदि की प्राप्ति कराइए। मध्यम धन जोकि स्वास्थ्यादि के रूप में है, उसे दीजिए और इस तृतीय स्थान में स्थित हिरण्यरूप धन को भी आप प्राप्त कराइए।

ऋषि:—शुन:शेप आजीगर्तिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दान व धनलाभ

विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ। सद्यो दाशुषे क्षरसि॥ ६॥

१. हे **चित्रभानो**=अद्भुत दीप्तिवाले प्रभो! **सिन्धोः ऊर्मौ**=समुद्र की लहरों पर और **उपाके**=अति समीप अर्थात् सर्वत्र, मनुष्य कहीं भी हो, आप उसके लिए **आ**=सर्वथा **विभक्तासि**=धनों के देनेवाले हैं। 'प्रभु के समीप हम पहुँचेंगे तभी वे धन प्राप्त कराएँगे-ऐसी बात नहीं है। वे प्रभु तो हिमालय के शिखरों पर, समुद्र की लहरों पर कहीं भी हम हों, यदि हम पात्र हैं तो हमें धन की प्राप्ति कराते ही हैं २. हे प्रभो! **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए-दान देनेवाले के लिए आप **सद्यः**=शीघ्र ही **क्षरसि**=देते हैं। धन का मुख्य प्रयोजन तो उसका उचित स्थानों में देना ही है। यदि एक मनुष्य दान करता है तो प्रभु उसे पात्र समझ धन प्राप्त कराते ही हैं—**'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्'** दान दिये हुए धन को तो सप्तगुणित करके हम प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम कहीं भी हों, प्रभु हमें आवश्यक धन प्राप्त कराते ही हैं। जो दान देते हैं, उसे प्रभु देते हैं।

ऋषि:—शुन:शेप आजीगर्तिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

संग्राम-विजय

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यं मर्त्यम्**=जिस भी मनुष्य को **पृत्सु**=संग्रामों में **अवा**=आप रक्षित करते हो अथवा **वाजेषु**=शक्तियों की प्राप्ति के निमित्त **यम्**=जिस भी व्यक्ति को

जुना:=आप प्रेरित करते हो **स:**=वह व्यक्ति **शश्वती:**=प्लुत गतिवाली **इष:**=प्रेरणाओं को **यन्ता**=अपने जीवन में धारण करता है (यम् to substain) अथवा (यम् to exhibit, to show) अपने जीवन में घटाकर दिखाता है। २. प्रभु की प्रत्येक प्रेरणा अन्ततः मनुष्य को आलस्यशून्य क्रिया के लिए प्रेरित करती है, शश्वती है। इन प्रेरणाओं को अपने जीवन में वही ला पाता है जो वासनाओं के साथ संग्राम में विजय प्राप्त करता है और शक्ति का सञ्चय करता है। यह विजय और शक्तिसञ्चय प्रभु-कृपा से ही होती है।

भावार्थ—हम प्रभु-कृपा से वासना-संग्राम में विजयी बनें, शक्ति का सञ्चय करें और प्रभु की प्रेरणाओं को जीवन में अनूदित करें।

ऋषि:—**शुन:शेप आजीगर्ति:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

अनाक्रमणीयता

नकिरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित्। वाजो अस्ति श्रवाय्य:॥ ८॥

१. हे **सहन्त्य**=हमारे सब शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो! **अस्य कयस्य चित्**-(कं यातीति कय:) इस आनन्दस्वरूप प्रभु की ओर चलनेवाले किसी भी पुरुष का **न कि: पर्येता**=कोई भी अभिभव करनेवाला नहीं है, अर्थात् प्रभुभक्त को कोई भी वासना आक्रान्त नहीं कर सकती। २. प्रभु के सम्पर्क के कारण इस 'कय' का **वाज:**=बल **श्रवाय्य:**=प्रशंसा के योग्य **अस्ति**=होता है, इसकी शक्ति की सर्वत्र प्रशंसा होती है। वस्तुत: जब मनुष्य वासनाओं से आक्रान्त हो जाता है तभी वह अपनी शक्ति को क्षीण कर बैठता है। भोग शक्ति को जीर्ण करके शरीर को रोगी बना देते हैं और जीवन का सब आनन्द समाप्त हो जाता है। यह मनुष्य 'क-य' नहीं रहता। प्रभु अपने भक्त का कवच बनते हैं। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' और इसे शत्रुओं से अनाक्रमणीय बना देते हैं।

भावार्थ—हम प्रभुभक्त बनें, वासनाओं से अनाक्रमणीय होकर प्रशस्त बलवाले हों।

ऋषि:—**शुन:शेप आजीगर्ति:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

क्रियाशीलता व सत्सङ्ग

स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता। विप्रेभिरस्तु सनिता॥ ९॥

१. प्रभुभक्त सदा क्रियाशील होता है। सदा श्रमशील होने से यह 'विश्वचर्षणि:' कहलाता है। 'विश्वस्मिन् चर्षणि:' **स विश्वचर्षणि:**=यह सदा क्रियाशील प्रभुभक्त **अर्वद्भि**=अपने इन्द्रियरूप अश्वों से **वाजम्**=संग्राम को **तरुता**=तैर जानेवाला **अस्तु**=हो। श्रमशील को वासनाएँ आक्रान्त ही नहीं कर पातीं। २. यह विश्वचर्षणि **विप्रेभि:**=ज्ञानी विद्वानों के साथ **सनिता**=संभजन करनेवाला **अस्तु**=हो, अर्थात् इनके सङ्ग में रहनेवाला हो। ज्ञानियों के सङ्ग में रहकर यह अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ अपने जीवन को पवित्र बना पाएगा।

भावार्थ—क्रियाशीलता व सत्सङ्ग—दो उपायों से हम जीवन-यात्रा को ठीक से पूरा कर पाते हैं।

ऋषि:—**शुन:शेप आजीगर्ति:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

दृशीक स्तोम

जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥ १०॥

१. हे **जराबोध**=बुढ़ापे में चेतनेवाले जीव! **विशे विशे यज्ञियाय**=प्रत्येक प्राणी के लिए पूजनीय अथवा प्रत्येक प्राणी के साथ सम्पर्कवाले **रुद्राय**=(रुत्-र) सदा हृदयस्थ रूपेण उत्तम प्रेरणा देनेवाले प्रभु के लिए **तत् दृशीकं स्तोमम्**=उस आँख से दिखनेवाले स्तुतिसमूह को **विविड्ढि**=(विषलृ व्याप्तौ) अपने जीवन में व्याप्त कर। २. सामान्यतः मनुष्य बाल्यकाल में खेलता रह जाता है और यौवन में विषय-प्रवण बना रहता है, वार्धक्य में आकर उसे प्रभु-स्तवन का ध्यान आता है, अतः उसे जराबोध कहा गया है। प्रभु कहते हैं कि तू प्रभुस्तवन को जीवनभर प्राप्त करनेवाला बन (विविड्ढि)। तेरा यह स्तोम सदा चले। ३. यह स्तोम दृशीक हो—आँखों से दिखे। तू केवल श्रव्यभक्ति व कीर्तन ही न करता रह जाए। प्राणियों की सेवा ही उस प्रभु का 'दृशीक स्तोम' हैं। वे प्रभु सब प्राणियों के अन्दर विद्यमान हैं। उन प्राणियों का हित करते हुए हम अन्तःशरीरस्थ उस प्रभु को ही प्रीणित कर रहे होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य बुढ़ापे में ही जाकर न चेते। यह सदा इस प्रभु का दृश्य भजन करनेवाला हो। प्राणियों का हित ही प्रभु का दृशीक स्तोम है।

ऋषिः—**शुनःशेष आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धी+वाज

स नो॑ म॒हाँ अ॑निमा॒नो धू॒मके॑तुः पुरुश्च॒न्द्रः। धि॒ये वाजा॑य हिन्वतु॥ ११॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **महान्**=(मह पूजायाम्) पूजा के योग्य हैं, **अनिमानः**=वे स्थान, समय व किसी भी अन्य दृष्टिकोण से सीमित नहीं हैं। **'दिक् कालाद्यनवच्छिन्न'** वे प्रभु हैं। असीम होने के कारण ही वे हमारे ज्ञान व विषय नहीं बनते। प्रभु को हम पूरा-पूरा माप नहीं सकते। २. **धूमकेतुः**=(धूमः केतुः यस्य)=उस प्रभु का दिया हुआ ज्ञान वासनाओं को कम्पित करके दूर-दूर भगानेवाला है (धू कम्पने), ज्ञान में वासनाओं का विध्वंस हो जाता है। इस वासना-विध्वंस के द्वारा ही **पुरुश्चन्द्रः**=वे प्रभु पुरु-चन्द्र=पालन व पूरण करनेवाले तथा आह्लादित करनेवाले हैं। वासनाओं की उपस्थिति में पूर्णता का होना असम्भव है; और अपूर्णता में आनन्द सम्भव नहीं। ये प्रभु हमें **धिये**=बुद्धि के लिए तथा **वाजाय**=शक्ति के लिए **हिन्वन्तु**=प्रेरित करें। प्रभु-कृपा से हमारा ज्ञान व हमारी शक्ति बढ़े। मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो तो शरीर शक्ति से भरा हो। शरीर से हम मल्ल हों तो मस्तिष्क से ऋषि (Body of an athlete and the soul of a sage)।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि व शक्ति दें ताकि हम जीवन को पूर्णता की ओर ले-चलें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रेवान् विश्पतिः

स रे॒वाँइ॑व वि॒श्पति॒र्दैव्यः॑ के॒तुः शृ॑णोतु नः। उ॒क्थैर॒ग्निर्बृ॒हद्भा॑नुः॥ १२॥

१. **सः**=वे प्रभु **रेवान् विश्पतिः इव**=मानो एक धन-सम्पन्न प्रजापालक हैं। प्रभु प्रजाओं के रक्षण करनेवाले हैं। इस प्रभु का कोश कभी खाली नहीं होता, अतः उसके सामने प्रजारक्षण की समस्या कभी नहीं उठती। २. वे प्रभु **दैव्यः**=देवताओं से प्राप्त करने योग्य हैं अथवा देवों का हित करनेवाले हैं। हम देव बनेंगे तभी प्रभु को—'महादेव' को प्राप्त कर सकेंगे और तभी प्रभु से किये जानेवाले कल्याण के पात्र होंगे। ३. **केतुः**=वे प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं और ज्ञान के द्वारा हमारे सब रोगों को दूर करनेवाले हैं (कित रोगापनयने)। ये प्रभु **नः**=हमारी

प्रार्थना को **शृणोतु**=सुनें। ४. वे प्रभु **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **अग्निः**=हमें आगे ले-चलनेवाले होते हैं। **बृहद्भानुः**=वृद्धि के कारण ज्ञान को प्राप्त कराते हैं। वेदों में प्रतिपादित उक्थ हमारी उन्नति व ज्ञानवृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारी प्रार्थनाओं को सुनें और वह ज्ञान प्राप्त कराएँ जो हमारी उन्नति का कारण हो।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

बृहद्भानु का जीवन-नम्रता, यज्ञ, आज्ञापालन

नमो॑ म॒हद्भ्यो॒ नमो॑ अर्भ॒केभ्यो॒ नमो॒ युव॑भ्यो॒ नम॑ आशि॒नेभ्यः॑।
यजा॑म दे॒वान्यदि॑ श॒क्नवा॑म॒ मा ज्याय॑सः॒ शंस॒मा वृ॑क्षि देवाः॥ १३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु के उक्थों के द्वारा हमारा ज्ञान बढ़ाया जाता है तब हमारा जीवन नम्रता, यज्ञ व आज्ञापालन से युक्त होता है। मन्त्र में कहते हैं कि हम **महद्भ्यः नमः**=बड़ों के लिए नमस्कार करते हैं, **अर्भकेभ्यः नमः**=छोटों के लिए नमस्कार करते हैं, **युवभ्यः नमः**=अवस्था के दृष्टिकोण से नौजवानों के लिए नमस्कार करते हैं और **आशिनेभ्यः**=जो अवस्था को बहुत-कुछ व्याप्त कर चुके हैं, उन वृद्धों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं, अर्थात् बड़े-छोटे, नौजवान-वृद्ध सभी के साथ नम्रता से वर्तते हैं। हमारे वर्ताव में अभिमान की गन्ध भी नहीं होती। २. और **शक्नवाम**=यदि समर्थ होते हैं तो **देवान् यजाम**=देवताओं का यजन करते हैं। शक्ति के अनुसार देव-यज्ञ को अवश्य करते ही हैं अर्थात् सारा ही नहीं खा लेते। यज्ञ करके यज्ञशेष=अमृत का ही सेवन करते हैं। ३. और हे **देवाः**=दिव्य शक्तियो! आप सबकी हमपर ऐसी कृपा हो कि हम **ज्यायसः शंसम्**=बड़े के कहने को **मा आवृक्षि**=किसी भी प्रकार तोड़ें नहीं। जैसा बड़े कहें वैसा ही हम करें, उनकी आज्ञा को अवश्य मानें।

भावार्थ—हमारा जीवन नम्रता, यज्ञ व आज्ञाकारिता से परिपूर्ण होकर शोभान्वित हो जाए।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्रभु-वन्दन द्वारा पाप के दूरीकरण से होता है (१)। वे प्रभु ही प्रेरक व सुखों के वर्षक हैं (२)। वे अघायु पुरुषों से हमारा रक्षण करते हैं (३)। हमारे जीवन में 'संविभाग, प्राणरक्षण व स्तवन' की भावना को भरते हैं (४)। उत्तम, मध्यम व अन्त्य सब धनों को प्राप्त कराते हैं (५)। हम जहाँ कहीं भी हों वे प्रभु हमें आवश्यक धन देते ही हैं (६)। संग्रामों में वे ही रक्षा करते हैं (७)। प्रभु से रक्षित पुरुष का बल प्रशंसनीय होता है (८)। यह व्यक्ति संसार-सागर को तैर जाता है (९)। हमें चाहिए कि हम बुढ़ापे ही में न चेतें, सदा प्रभुस्तवन करनेवाले बनें (१०)। वे प्रभु हमें बुद्धि व बल दें (११)। प्रभु से रक्षित होकर व ज्ञान प्राप्त करके (१२) हम नम्र, यज्ञशील व आज्ञाकारी बनें (१३)। इस सबके लिए सोम का रक्षण आवश्यक है, अतः सोमसवन व रक्षण से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रयज्ञसोमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ग्राव-पृथुबुध्नः

यत्र॒ ग्रावा॑ पृ॒थुबु॑ध्न ऊ॒र्ध्वो भव॑ति॒ सोत॑वे। उ॒लूख॑लसुताना॒मवे॒द्विन्द्र जल्गुलः॥ १॥

१. **यत्र**=जहाँ, अर्थात् जिस समय **ग्रावा**=(गृणाति स्तुतिकर्मणा) प्रभु का स्तवन

करनेवाला **पृथुबुध्नः**=विशाल मूलवाला, अर्थात् जो शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों की उन्नति करके अपनी उन्नति के मूल को विशाल बनाता है, उस समय यह **सोतवे**=सोम के अभिषव=उत्पादन के लिए **ऊर्ध्वः भवति**=उद्यत होता है, उठ खड़ा होता है, क्योंकि सारी उन्नति होती तो सोमाभिषव से ही है; सोम के अभाव में उन्नति सम्भव ही नहीं। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व करनेवाले जीव! तू **उलूखलसुतानाम्**=(अन्तरिक्षं वा उलूखलम्। शत० ७।५।१।२६) हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न किये गये इन सोमकणों को **अव इत्**=निश्चय से स्वकीयत्वेन जानकर, पूर्णरूप से अपना समझकर **अव जल्गुलः**=अपने अन्दर ही भक्षण कर, इन सोमकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बन। ३. जैसे सोमलता का रस ऊखल में उत्पन्न किया जाता है, इसी प्रकार अन्न से उत्पन्न होनेवाले सोम के अभिषव का मूल हृदय है। यह सोम हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न होता है। इस सोम के रक्षण से हृदय-अन्तरिक्ष में ही सोम-प्रभु का दर्शन होगा। इस सोम का भक्षण—शरीरों में ही व्यापन इसलिए आवश्यक है कि इसके बिना किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं होती और न ही वृत्ति प्रभुस्तवन की ओर होती है। 'ग्रावा-पृथुबुध्नः' के लिए यह सोमाभिषव आवश्यक है।

भावार्थ—हम सोम का उत्पादन व शरीर में ही व्यापन करें ताकि हमारी प्रवृत्ति प्रभु-स्तवन की ओर हो और हम शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से उन्नत हों।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रयज्ञसोमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

दो अधिषवण फलक

यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥ २॥

१. **यत्र**=जहाँ—जिस शरीर में **द्वौ जघनौ इव**=दो जाँघों की भाँति **अधिषवण्या कृता**=मस्तिष्क और हृदय सोम के उत्पादन के योग्य किये गये हैं। वस्तुतः 'मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करना तथा हृदय में प्रभुभक्ति की भावना को जगाना'—ये दो मुख्य साधन हैं सोम के शरीर में पान के, इसीलिए मस्तिष्क व हृदय को 'अधिषवण्या' कहा है। २. यहाँ 'दो जाँघों की भाँति' यह उपमा इसलिए दी गई है कि जैसे चलते समय दोनो टाँगें चलती हैं और दोनों ही समान रूप से पुष्ट होती हैं, इसी प्रकार शरीर में मस्तिष्क व हृदय दोनों को ही समानरूप से पुष्ट करने की आवश्यकता है। भुजाओं में भी दायीं व बायीं में अन्तर है, पर टाँगें सामान्यतया समानरूप से कार्य करती हैं और समानरूप से पुष्ट होती हैं, इसी प्रकार मस्तिष्क व हृदय की स्थिति होनी चाहिए। ज्ञान व भक्ति दोनों का समान महत्त्व होना चाहिए। ये दोनों मानो अधिषवण फलकों की भाँति हैं। ३. इनसे शरीर में सोम का उत्पादन व रक्षण होता है। **उलूखलसुतानाम्**=हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न इन सोमकणों को **अव इत् उ**=अपना जानकर निश्चय से **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष **जल्गुलः**=तू भक्षण कर। सोमकणों को शरीर में सुरक्षित रखने से मस्तिष्क व हृदय दोनों का उत्तमता से पोषण होगा।

भावार्थ—शरीर में सोम के सम्पादन व व्यापन के लिए स्वाध्याय द्वारा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का प्रज्वलन तथा हृदय में श्रद्धापूर्वक प्रभुभजन आवश्यक है।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रयज्ञसोमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अपच्यव और उपच्यव

यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥ ३॥

१. **यत्र**=जिस घर में नारी एक प्रगतिशील स्त्री **अपच्यवम्**=हृदय से

'अप'=दूर मस्तिष्क में जाने का **च**=और **उपच्यवम्**=हृदय में परमेश्वर के समीप उपस्थित होने का **शिक्षते**=अभ्यास करती है। उन **उलूखलसुतानाम्**=हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न हुए-हुए सोमकणों को **अव इत् उ**=स्वकीयत्वेन जानकर ही हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **जल्गुलः**=तू भक्षण कर। २. 'अपच्चव'=मस्तिष्क की ओर जाता है और 'उपच्यव' हृदय की ओर आता है। ज्ञान प्राप्त करना ही मस्तिष्क की ओर जाना है और भक्तिप्रवण होना ही हृदय की ओर आना है। ज्ञान व भक्ति दोनों का विकास सोम के होने पर ही सम्भव है। इस दृष्टिकोण से सोमपान का विशेष महत्त्व है ३. नारी शब्द का प्रयोग इसलिए है कि स्त्री को भी ज्ञान व भक्ति दोनों का अपने में समन्वय करने का प्रयास करना है। इस स्थान पर नारी शब्द इसलिए भी अधिक उपयुक्त हो जाता है कि नारी ने ही बाह्य सोमलता के रस का अभिषव करते हुए उलूखल से दूर व समीप अपने हाथ को बारम्बार लाना है।

भावार्थ—स्त्रियों को भी रक्षण के द्वारा ज्ञान व भक्ति का विकास करना चाहिए।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रयज्ञसोमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

हृदयमन्थन से मस्तिष्क का संयम

यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥ ४ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **रश्मीन्**=ज्ञान की किरणों को अथवा इन्द्रियों की लगामों को **यमितवा इव**=काबू-सा करने के लिए **मन्थाम्**=मन्थन को **विबध्नते**=विशेषरूप से बाँधते हैं, अर्थात् हृदय में प्रभु का विचार करते हैं, प्रभु के नाम का जप व उसका अर्थ-भावन करते हैं—**'तज्जपः, तदर्थभावनम्'**, उस समय **उलूखलसुतानाम्**=हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न हुए-हुए इन सोमकणों का **अव इत् उ**=स्वकीयत्वेन ग्रहण करके हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **जल्गुलः**=भक्षण कर, अर्थात् इन सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न कर। २. मस्तिष्क में ज्ञान की रश्मियाँ हों, हृदय में प्रभु का चिन्तन, प्रभु के गुणों का मन्थन हो। यह प्रभु-गुण-मन्थन ज्ञान-रश्मियों का संयम करनेवाला हो, अर्थात् भक्ति से रहित होकर यह ज्ञान कहीं विध्वंसक अस्त्रों के निर्माण में ही न लग जाए। इस सबके लिए आवश्यक है कि हम सोम का शरीर में रक्षण करें। ४. यह सोम ही हमारे मस्तिष्कों को उज्ज्वल व हृदयों को निर्मल बनाता है। सोम का रक्षण होने पर ज्ञान-रश्मियाँ हृदय के मन्थन से संयत रहती हैं।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण द्वारा अपनी ज्ञान-रश्मियों को हृदय में प्रभु के मन्थन से संयत करनेवाले हों; वे रश्मियाँ हमारी ही आँखों को न चुँधिया दें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रयज्ञसोमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

विजेता का भेरीनाद

यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ ५ ॥

१. अध्यात्म में शरीर ही 'गृह' है, 'उलूखल' हृदय है। प्रभु ने प्रत्येक शरीर में इसकी स्थापना की है। उस हृदय में हमें उस ज्योतिर्मय प्रभु के नामों का उच्चारण करना है जिससे हम वासनाओं को पराजित करके विजय-दुन्दुभि बजा सकें। २. मन्त्र में कहते हैं कि **उलूखलक**=हे सुन्दर हृदयान्तरिक्ष! **यत्**=जो **चित् हि**= निश्चय से **त्वम्**=तू **गृहे गृहे**=प्रत्येक शरीररूप गृह में **युज्यसे**=प्रभु से युक्त किया जाता है, अतः **इह**=इस मानव-जीवन में तू

द्युमत्तमम्=उस निरतिशय ज्योतिवाले प्रभु को **वद**=कह, अर्थात् उसके नामों का उच्चारण कर। यह नामोच्चारण तेरे लिए इस प्रकार हो **इव**=जैसे **जयताम्**=विजयशील पुरुष का **दुन्दुभिः**=भेरीनाद हो।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में हृदय की स्थापना की है। हमें चाहिए कि हृदय में प्रभु के नाम का स्मरण करें और सदा वासनाओं को जीतनेवाले हों।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रयज्ञसोमाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सर्वप्रथम कार्य-'प्राणायाम'

उत स्म ते वनस्पते वातो वि वात्यग्रमित्।
अथो इन्द्राय पातवे सुनु सोममुलूखल॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हृदय में प्रभु के नाम का स्मरण करने पर वासना विनष्ट होती है और ज्ञान का प्रकाश चमकता है। इस ज्ञान के प्रकाशवाले व्यक्ति को यहाँ 'वनस्पति' कहा गया है। यह प्रतिदिन प्रातः सर्वप्रथम कार्य यह करता है कि प्राणायाम द्वारा शरीर में वायु का विशिष्ट सञ्चार करने के लिए यत्नशील होता है **उत**=और हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन्! **ते**=तेरे जीवन में **इत् अग्रम्**=निश्चय से सर्वप्रथम **वातः**=वायु **वि-वाति स्म**=विशिष्ट रूप से गति करती है। प्राणसाधना के द्वारा तू वायु का सारे शरीर में उत्तमता से सञ्चार करता है। २. **अथ उ**=और अब हे **उलूखल**=हृदयान्तरिक्ष! तू इस **इन्द्राय**=प्राणसाधना करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पातवे**=शरीर में ही व्याप्त करने के लिए **सोमं सुनु**=सोम का सवन कर। हमारे शरीरों में सोम का सम्पादन हो और साथ ही उसका शरीर में ही व्यापन हो। इस व्यापन के लिए प्राणायाम ही सर्वोत्तम उपाय है, इसीलिए यह ज्ञानी पुरुष प्राणायाम को जीवन के दैनिक कार्यक्रम में सर्वप्राथमिकता देता है।

भावार्थ—हमें ज्ञानवान् बनकर प्राणायाम को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहिए। इसके होने पर ही उत्पन्न हुआ सोम शरीर में ही व्याप्त होगा और हमें सचमुच इन्द्र=शक्तिशाली बनाएगा।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रयज्ञसोमाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'यज्ञ-शक्ति' व 'उच्च विहरण'

आयजी वाजसातमा ता ह्यु१च्चा विजर्भृतः। हरी इवान्धांसि बप्सता॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम का प्राणसाधना द्वारा शरीर में व्यापन करनेवाले पति-पत्नी **आयजी**=सोम को सर्वथा अपने साथ संगत करनेवाले व यज्ञशील होते हैं। २. इस सोम को अपने साथ सङ्गत करने के कारण ही ये **वाजसातमा**=अधिक-से-अधिक शक्ति का सम्भजन करनेवाले होते हैं, अर्थात् शक्तिशाली बनते हैं। ३. शक्ति-सम्पन्न बनकर **ता**=वे **हि**=निश्चय से **उच्चा विजर्भृतः**=उत्कृष्ट विहार करते हैं, अर्थात् उस समय इनका प्रत्येक कार्य उत्कर्ष को लिये हुए होता है। इनके कार्यों में नीचता (meanness) नहीं होती, इनके कर्म उदार ही होते हैं। ४. इस प्रकार ये उत्साह व शीघ्रता से कार्य करते हैं **इव**=जैसे **अन्धांसि**=अन्नों को **बप्सता**=भक्षण करनेवाले **हरी**=घोड़े। जिन घोड़ों को अन्न व भोजन ठीक मिलता है वे जिस प्रकार खूब हृष्ट-पुष्ट होकर वेग से मार्ग का आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार ये यज्ञशील, शक्तिसम्पन्न, उत्कृष्ट विहरण करनेवाले पुरुष अनालस्य होकर क्रियाशील होते हैं।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी यज्ञशील, शक्तिसम्पन्न व उत्कृष्ट कर्मों में विहरण

करनेवाले बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

माधुर्यमय जीवन

ता नो॑ अ॒द्य व॑न॒स्पती॑ ऋ॒ष्वावृ॒ष्वेभिः॑ सो॒तृभिः॑। इन्द्रा॑य॒ मधु॑मत्सुतम्॥ ८॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे मनुष्यो! **वः**=तुममें से **अद्य**=आज **ता**=वे पति-पत्नी जोकि **वनस्पती**=ज्ञान की रश्मियों के पति बने हैं और अतएव **ऋष्वौ**=महान् बने हैं (नि० ३।३), वे **ऋष्वेभिः**=महान् **सोतृभिः**=सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुषों के सम्पर्क में रहकर **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **मधुमत्**=माधुर्य से युक्त इस सोम का **सुतम्**=अभिषव व सम्पादन करें। २. सोम को यहाँ 'मधुमत्' कहा है। सोम के रक्षण से जीवन में सचमुच माधुर्य उत्पन्न होता है। इसके रक्षण से उन्नतिपथ पर बढ़ता हुआ जीव अन्ततः प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है। ३. इसका पान करनेवाले नर-नारी 'वनस्पती'=ज्ञान की रश्मियों के पति व बड़े ज्ञानी बनते हैं और जीवन में ऋष्व व महान् होते हैं। ४. इस सोम के रक्षण के लिए यह भी आवश्यक है कि हम महान् (ऋष्व) व सोमसम्पादन करनेवाले पुरुषों के सम्पर्क में ही रहें।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम शरीर में सोम का रक्षण करते हुए सदा जीवन को माधुर्यमय बनाएँ।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रयज्ञसोमाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

चमुओं में सोम का भरण

उच्छि॒ष्टं च॒म्वो॑र्भर॒ सोमं॑ प॒वित्र॒ आ सृ॑ज। नि धे॑हि॒ गोरधि॑ त्व॒चि॥ ९॥

१. हमें चाहिए कि सोम को नष्ट न होने दें। यह शरीर का सर्वोत्तम रत्न है। शरीर की टूट-फूट को ठीक करने में जितना इसका विनियोग हो जाए उससे **उच्छिष्टम्**=बचे हुए सोम को **चम्वोः**=(चम्वो द्यावापृथिव्योर्नाम, नि० ३।३०) द्यावापृथिवी के निमित्त, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के निमित्त (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) **भर**=शरीर में ही तू संभृत कर। यह सुरक्षित सोम तेरा वह कोश होगा जिसके द्वारा तू अपनी ज्ञानाग्नि में सदा समिधा डालता हुआ ज्ञानाग्नि को चमका सकेगा और रोगनाश द्वारा शरीर को पुष्ट बना सकेगा। २. **सोमम्**=सोम को **पवित्रे**=मन की पवित्रता के निमित्त तू **आसृज**=शरीर में चारों ओर व्याप्त करनेवाला बन। सोमरक्षण से शक्ति की वृद्धि होती है और मन में भी द्वेष-ईर्ष्यादि की हीन भावनाएँ नहीं उत्पन्न होतीं। ३. तू इस सोम को **गोः**=ज्ञानरश्मि के **अधि**=आधिक्येन **त्वचि**=सम्पर्क के (touch=त्वच्) निमित्त **निधेहि**=निश्चित रूप से सुरक्षित रख।

भावार्थ—सोम को नष्ट न होने देकर शरीर में ही धारण करना चाहिए, जिससे हमारा मस्तिष्क व शरीर सुन्दर बने, मन पवित्र हो और हम ज्ञान-किरणों के खूब सम्पर्क में हों।

विशेष—सारे सूक्त की मूलभावना यही है कि हम सोम का रक्षण करें। इससे हम प्रभु के स्तोता व व्यापक उन्नतिवाले बनेंगे (१)। हमारे ज्ञान व हमारी भक्ति दोनों का ही पोषण होगा (२)। हृदय में प्रभु के नाम का मन्थन हमारी ज्ञानरश्मियों को संयत करेगा (५)। हम यज्ञशील, शक्तिशाली व उच्च विहरणवाले बनेंगे (७)। इसके रक्षण से ही हमारा जीवन शंसनीय बनेगा—

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पंचमः**॥

अनाशस्त से प्रशस्त

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ताइव स्मसि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ १॥

१. हे **सत्य**=सत्यस्वरूप प्रभो! **सोमपा**=हमारे सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो **चित् हि**=निश्चय से **अनाशस्ताः इव**=अप्रशस्त-से जीवनवाले **स्मसि**=हम हैं, अतः हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **तु**=तो **आ**=सब प्रकार से **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=(स+हस्) मनःप्रसाद से युक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **शंसय**=प्रशस्त बनाइए। हे प्रभो! आप **तुवीमघ**=महान् ऐश्वर्यवाले हो, आपके ऐश्वर्य का अन्त नहीं है। आपके ऐश्वर्य में भागी बनकर मैं भी प्रशस्त जीवनवाला बनूँ। २. हे प्रभो! आप 'सत्य' हो, मैं भी सत्य के द्वारा मन को पवित्र करनेवाला बनूँ। आपका स्मरण मुझे सोम-रक्षण के योग्य बनाता है, अतः आप ही मेरे 'सोमपाः' हैं। 'इन्द्र' नाम से आपका स्मरण करता हुआ मैं भी इन्द्र=जितेन्द्रिय बनूँ ताकि आपकी भाँति ही 'तुवीमघः' महान् ऐश्वर्यवाला होऊँ। इन्द्रियों को जीतकर ही तो मनुष्य त्रिभुवन का विजेता बनता है—**'इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया'**—ये रामायण में मन्दोदरी के मुख से कहे गये शब्द ठीक ही हैं। ३. सोमरक्षण से पूर्व हमारा जीवन अप्रशस्त-सा होता है। सोम का रक्षण करने पर इन्द्रियों के दोष दूर होकर वे शुद्ध व शुभ्र हो जाती हैं। शरीर के एक-एक अङ्ग के पूर्ण स्वस्थ होने से एक-एक अङ्ग प्रसादयुक्त होता है। प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आप इन शुभ्र व प्रसन्न इन्द्रियों से हमारे जीवन को शंसनीय बना दीजिए। ४. 'गो' शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है चूँकि ये 'गमयन्ति अर्थान्' अर्थों का बोध देती हैं तथा 'अश्व' शब्द कर्मेन्द्रियों का वाचक है, चूँकि 'अश्नुवते कर्मसु'—ये कर्मों में व्याप्त रहती हैं। इनके शुद्ध व प्रसन्न होने से हमारा जीवन अप्रशस्त न रहकर प्रशस्त हो जाता है।

भावार्थ—वे सत्य, सोमपा प्रभु हमारे अनाशस्त जीवनों को शुभ्र व प्रसन्न इन्द्रियों के द्वारा प्रशस्त बनाने की कृपा करें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पंचमः**॥

स्वकर्मों द्वारा

शिप्रिन्वाजानां पते शचीवस्तव दंसना ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ २॥

१. गतमन्त्र की प्रार्थना को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं—**शिप्रिन्**=उत्तम हनु व नासिकावाले! 'हनु' शब्द जबड़ों के लिए प्रयुक्त होता है। यह व्यक्ति जोकि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करता है, वह शोभन हनुवाला व शिप्री है। इस प्रकार 'नासिका' शब्द यहाँ प्राणों का प्रतीक है। जो व्यक्ति नियमित रूप से प्राणसाधना करता है वह भी 'शिप्रिन्' है। सात्त्विक भोजन व प्राणायाम के द्वारा ही **वाजानां पते**=हे ऐश्वर्यों के स्वामिन्! तथा **शचीवः**=उत्तम प्रज्ञा व कर्मोंवाले **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **तव दंसना**=तेरे कर्मों से ही तू **नः**=हमारी,

हमसे दी गई इन **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्त्रेषु**=प्रसादयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=अपने जीवन को प्रशंसनीय बना और इस प्रकार **तुवीमघ**=महान् ऐश्वर्योंवाला हो। २. यहाँ 'तव दंसना' शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभु कहते हैं कि तुझे अपने कर्मों से ही अपने को प्रशस्त बनाना है। अपने पुरुषार्थ से ही तुझे मेरे द्वारा दी गई इन्द्रियों को शुद्ध व प्रसन्न रखना है। ऐसा करके ही तू अपने ऐश्वर्यों को बढ़ा रहा होगा। प्रवृद्ध ऐश्वर्यवाला होकर तू तुवीमघ होगा। ३. उन कर्मों का संकेत सम्बोधन-पदों से हो रहा है (क) **शिप्रिन्**=उत्तम सात्त्विक भोजन करना है तथा प्राणसाधना बड़े नियमित रूप से करनी है। (ख) **वाजानां पते**=अपनी शक्तियों का रक्षण करना है तथा (ग) **शचीवः**=उत्तम प्रज्ञा व कर्मवाला बनना है।

भावार्थ—'शिप्री, वाजानां पति व शचीवान्' बनकर हम अपनी इन्द्रियों को शुद्ध व प्रसन्न बनाएँ।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पंचमः**॥

आत्मालोचन व स्वाध्याय

नि ष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ३ ॥

१. उत्तम जीवन के लिए यह आवश्यक है कि हम अपना ही आत्मालोचन करें और अपने जीवनों की कमी को दूर करने का प्रयत्न करें। इसी के लिए स्वाध्याय द्वारा अपने बोध को बढ़ाएँ। घर में पति-पत्नी हैं। वे एक-दूसरे के ही दोषों को देखेंगे तो प्रेम की इतिश्री होकर घर नरक बन जाएगा। स्कूल में अध्यापक व विद्यार्थी ऐसा ही करने लगें तो शिक्षा का वातावरण समाप्त हो जाएगा। राष्ट्र में राजा और प्रजा परस्पर दोष देखने लगें तो राष्ट्र अवनत होकर शत्रुओं से पादाक्रान्त कर लिया जाएगा, अतः मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि **मिथूदृशा**=एक दूसरे को ही देखनेवालों को **निष्वापया**=निश्चित रूप से सुला दीजिए, अर्थात् हम एक-दूसरे को ही देखने में न लगे रहें, अपने ही जीवन का आलोचन करनेवाले बनें। २. **अबुध्यमाने**=जो प्रतिदिन स्वाध्याय के द्वारा अपने बोध को बढ़ाते नहीं वे **सस्ताम्**=(सम् Cease) समाप्त हो जाएँ हम नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। ३. प्रभु से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=प्रभो! आत्मालोचन व स्वाध्याय करनेवाले **नः**=हमें आप **शुभ्रेषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=प्रसादयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसायुक्त जीवनवाला बनाइए। **तुवीमघ**=आप तो महान् ऐश्वर्यवाले हैं, हमें भी अपने ही समान ऐश्वर्ययुक्त कीजिए।

भावार्थ—हम अपना ही आलोचन करें, औरों की आलोचना न करते रहें, हम स्वाध्यायशील बनें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पंचमः**॥

अदान का त्याग, दान का स्वीकार

ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से **त्या**=वे **अरातयः**=दान न देने की वृत्तियाँ **ससन्तु**=हमारे जीवनों में से समाप्त हो जाएँ और **शूर**=हे सब शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **रातयः**=दान की वृत्तियाँ **बोधन्तु**=जागें, अर्थात् हम न देने की

वृत्ति को समाप्त करके देने की वृत्ति का अपने में पोषण करें। यह दानवृत्ति ही सब बुराइयों का दान=(दाप् लवणे) खण्डन करती है और यही वृत्ति जीवन का दान=(दैप् शोधने) शोधन करती है। २. हे प्रभो! आप इस दानवृत्ति से **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=आनन्दयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों व **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=सर्वतः प्रशंसनीय बना दीजिए। **तुविमघ**=हे प्रभो! आप महान् ऐश्वर्यवाले हैं, जीवन को शुद्ध बनाकर मैं भी आपका ही अंश=छोटा रूप बन जाऊँगा।

भावार्थ—हम अदानवृत्ति से दूर रहें और दान की भावना ही हमारे जीवन में सदा जाग्रत् रहे।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पंचमः**॥

गर्दभ-हिंसन

समिन्द्र गर्दुभं मृण नुवन्तं पापयामुया ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सब इन्द्रियों के ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **अमुया पापया**=उस पापयुक्त सदा अशुभ शब्दों को बोलनेवाली वाणी से **नुवन्तम्**=शब्द करते हुए, बकवास करते हुए **गर्दभम्**=इस गधे को—नासमझ को **सं-मृण**=पूर्णतया नष्ट कर दो (मृण हिंसायाम्), अर्थात् प्रभु-कृपा से हम कभी भी अशुभ शब्दों को बोलनेवाले न हों, गधे के समान न बनें। समझदार बनकर सदा शुभ शब्द ही बोलें। औरों के अवगुणों को प्रकट करते हुए हम सचमुच नासमझी का काम कर रहे होते हैं। व्यर्थ के वैर-विरोध को तो इससे बढ़ाते ही हैं। यह पाप-कथा हमारे अपने अकल्याण का कारण हो जाती है—**'कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः'**। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=सदा प्रसन्न **गोषु अश्वेषु**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंनीय जीवनवाला बना दीजिए। **तुवीमघ**= आप महान् ऐश्वर्यवाले हैं, मैं भी आपके समान ही 'तुवीमघ' बनने का प्रयत्न करूँ। उसका मार्ग यही है कि मैं औरों की निन्दा न करता फिरूँ, अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाऊँ।

भावार्थ—यह वाणी पापमय है जो औरों की अपकीर्ति ही प्रकट करती रहती है; हम ऐसा करनेवाले गधे न बनें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पंचमः**॥

कुटिलता

पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि ।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ ६॥

१. **कुण्डृणाच्या**=(कुडि दाहे, कुण्ड् भावे क्विप्, ऋण=ऋ गतौ, अञ्च गतौ) दहनात्मक कुटिलगति से चलनेवाली **वातः**=वायु **वनात्**=वन से भी **अधिदूरम्**=अधिक दूर होकर **पताति**=चलती है, अर्थात् हमारे जीवन से यह कोसों दूर होती है। हमारे मस्तिष्कों में ऐसी हवा नहीं भर जाती जिसमें दहनात्मकता है, कुटिलता है। हम 'कुटिलता, क्रूरता व क्रोध' से दूर रहते हैं। जैसे आँधी आती है और सब छप्परों को उड़ाकर ले जाती है, इस प्रकार हमारे जीवनों में क्रोध की आँधी किसी और की हिंसा करनेवाली नहीं होती। २. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **तु**=तो **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=सम्प्रसादवाली

गोषु अश्वेषु=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=सब प्रकार से प्रशस्त जीवनवाला बनाइए। **तुवीमघ**=आपका ऐश्वर्य महान् है, मैं भी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाकर अध्यात्म-ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—कुटिलगति से चलनेवाली हवा हमसे दूर रहे, अर्थात् हम कुटिल न बनें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पंचमः**॥

क्रूरता व क्रोध

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम्।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **सर्वम्**=सब **परिक्रोशम्**=(Cursing, क्रुश=कोसना) गाली देने की वृत्ति को **जहि**=नष्ट कर दीजिए। हम किसी के लिए अपशब्दों का प्रयोग न करें। निन्दात्मक वचन हमसे दूर ही रहें। २. **कृकदाश्वम्**=(कृ हिंसायाम्) हिंसा करने की वृत्ति को **जम्भया**=नष्ट कर दीजिए। हम किसी की भी हिंसा करने में प्रवृत्त न हों। हम क्रोधभरे शब्दों और क्रूरकर्मों से दूर ही रहें। ३. हे **इन्द्र**=शत्रुनाशक प्रभो! आप **तु**=निश्चय से **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=सम्प्रसादयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसनीय जीवनवाला कीजिए। **तुवीमघ**=आप अनन्त ऐश्वर्यवाले हैं, हम भी क्रोध व क्रूरता को दूर करके अध्यात्म-सम्पत्तिवाले बनें।

भावार्थ—हम क्रोध व क्रूरता से ऊपर उठें।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ अप्रशस्त जीवन को प्रशस्त जीवन बनाने के निश्चय से होता है (१)। प्रभु कहते हैं कि तेरे अपने ही प्रयत्न तुझे प्रशस्त जीवनवाला बनाएँगे (२)। जीव प्रभु से कहता है कि आप ऐसी कृपा कीजिए कि हम औरों के ही दोष न देखते रहें और स्वाध्यायशील बनें (३)। हममें 'न देने की वृत्ति' समाप्त होकर दानभाव जागरित हो जाए (४)। हम अशुभ वाणी से एक गधे की भाँति औरों की निन्दा ही न करते रहें (५)। कुटिलता की हवा हमसे दूर ही रहे (६)। हम न क्रोध से अपशब्द बोलें, न किसी के प्रति क्रूर हों (७) ऐसा बनने के लिए हम अपने को सोम से सिक्त करने का प्रयत्न करें—

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र-क्रिवि-शतक्रतु-मंहिष्ठ

आ व इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम्। मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः॥ १॥

१. प्रभु अपने इन सुपुत्र जीवों से कहते हैं कि **वाजयन्तः**=(शतृ नदी, स्त्रैणादिक शतृ प्रत्यय से एकवचन) शक्तिशाली बनाने की कामना करते हुए मैं **वः**=तुममें से **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष को और **यथा क्रिविम्**=जितना- जितना वह क्रियाशील है (कृ करणे) अथवा जितना-जितना वह वासनाओं का छेदन करनेवाला है (कृती छेदने) उतना ही **मंहिष्ठम्**=वृद्धिशील पुरुष अथवा दानशील पुरुष को तथा **शतक्रतुम्**=सौ के सौ वर्ष यज्ञों में व्यतीत करनेवाले पुरुष को **इन्दुभिः**=(बिन्दुभिः) सोमकणों से **सिञ्चे**=सींचता हूँ। २. यहाँ मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट है कि शक्तिशाली बनने के लिए आवश्यक है कि सोमकणों का सेचन

व व्यापन शरीर में ही हो। इनका अपव्यय ही हमें जीर्ण-शीर्ण करता है। ३. इन सोमकणों का व्यापन उन्हीं के शरीरों में होता है जोकि (क) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रियता ही वस्तुतः मूल वस्तु है। यही 'ब्रह्मचर्य' शब्द से कही जाती है; प्रभु की ओर चलना (ब्रह्म-चर) यही है। इसी के द्वारा हम प्रभु तक पहुँचेंगे। (ख) **क्रिविम्**=हम सदा क्रियाशील बने रहें और इस क्रियाशीलता के द्वारा (कृती) वासनाओं का छेदन करनेवाले बनें। वासनाओं के साथ सोमरक्षण का शाश्वतिक विरोध है। (ग) हमारे सौ के सौ वर्ष यज्ञों में व्यतीत हों, हमारा जीवन यज्ञमय हो। (घ) **मंहिष्ठिम्**=हम 'वृद्धि' को जीवन का सूत्र बनाएँ तथा खूब दानशील हों। दान ही दिव्यताओं का वर्धन करता है—**देवो दानात्** (यास्क)।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'इन्द्र, क्रिवि, शतक्रतु व मंहिष्ठि' बनें और इस बात के पात्र हों कि प्रभु हमें सोमकणों से सिक्त कर दें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पवित्रता व नीरोगता

शतं वा यः शुचीनां सहस्त्रं वा समाशिराम्। एदु निम्नं न रीयते॥ २॥

१. प्रभु कहते है कि हे जीवो! इस बात का ध्यान करो कि **यः**=जो सोम **शतं शुचीनाम्**=सैकड़ों पवित्रताओं का कारण है **वा**=तथा **सहस्त्रं समाशिराम्**=(सम् आ-शृ-हिंसायाम्) जो सम्यक्तया समन्तात् वासनाओं, हज़ारों बुराइयों को व रोग-कृमियों को शीर्ण करनेवाला है, वह सोम **आ इत् उ**=निश्चयपूर्वक सब प्रकार से **निम्नम्**=नीचे की ओर **न रीयते**=नहीं जाता है (री गतौ), अर्थात् तुम इस बात के लिए दृढ़संकल्प बनो कि ये सोमकण शरीर में ही व्याप्त हों, तुम ऊर्ध्वरेतस् बनो। २. सब मानस-पवित्रताएँ (शुचि), सब शरीर की नीरोगताएँ (समाशिर्) इस ऊर्ध्वरेतस् बनने पर ही निर्भर करती हैं। इसका अपव्यय हुआ तो मानस पवित्रताएँ भी गईं और शरीर भी विविध रोगों का शिकार हुआ।

भावार्थ—हम इस बात का पूर्ण ध्यान करें कि सोम का अपव्यय न हो ताकि हम पवित्र व नीरोग बने रहें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति, हर्ष व विशालता

सं यन्मदाय शुष्मिण एना ह्यस्योदरे। समुद्रो न व्यचो दधे॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'सोम' वह है **यत्**=जोकि **शुष्मिणे**=शत्रुशोषक बलवाले पुरुष के लिए **सं मदाय**=उत्कृष्ट हर्ष के लिए होता है, अर्थात् यह सोम उसे बलवान् बनाता है और हर्ष प्राप्त कराता है। इस सोम के रक्षण के अभाव में, भोग-विलास के कारण इसकी अधोगति होने पर न तो हममें शक्ति रहती है, न उल्लास; जीवन का सब आनन्द समाप्त हो जाता है। २. **एना हि**=इस सोम के द्वारा ही **अस्य उदरे**= इसके मध्यदेश में, अर्थात् हृदयान्तरिक्ष में **समुद्रो न**=समुद्र के समान **व्यचः**=विस्तार **दधे**=धारण किया जाता है। जैसे समुद्र विशाल है, उसी प्रकार इसका हृदय विशाल होता है।

भावार्थ—सोम के सुरक्षित होने पर हम बल, हर्ष व विशालता को अपने में धारण करते हैं।

ऋषि:—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुख व ज्ञान

अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे॥ ४॥

१. हे जीव! **अयम्**=यह सोम **उ**=निश्चय से **ते**=तेरा है, तू **सम् अतसि**=सम्यक् इसकी ओर जाता है, अर्थात् इसे प्राप्त व सुरक्षित रखने के लिए तेरे सतत प्रयत्न होते हैं। २. **कपोतः**=(क+पोत) यह तेरे लिए आनन्द की नौका के समान है (पोत=boat)। तेरे सब उल्लास इसपर निर्भर करते हैं। शरीर में इसका रक्षण ही सब आनन्दों का मूल है। ३. इसका रक्षण होने पर **नः**=हमारे **तत्**=उस **गर्भधिम्**=अपने अन्दर सम्पूर्ण ज्ञान को धारण करनेवाले **वचः**=वेदस्थ वाक्यों को **चित्**=निश्चय से **ओहसे**=प्राप्त होता है, **आ ऊहसे**=सम्यक्तया समझनेवाला होता है। इस सोम के रक्षण से ही हमारी ज्ञानाग्नि समिद्ध होती है, बुद्धि तीव्र होती है और हम अर्थ गौरव से पूर्ण वेदवाक्यों को समझ पाते हैं। ये वेद वाक्य 'गर्भधि' हैं—अपने गर्भ में सम्पूर्ण ज्ञान को धारण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम सोमरस के लिए सतत प्रयत्नशील हों, ये हमें सुखी व ज्ञान से परिपूर्ण करनेवाले होते हैं।

ऋषि:—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विभूति व सूनृत वाणी

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता॥ ५॥

१. सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष से ही प्रभु कहते हैं कि **वीर**=(वि+ईर) शत्रुओं व रोगों को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले! **राधानां पते**=सफलताओं के स्वामिन्! सोमरक्षण करनेवाला कभी संसार में असफल नहीं होता। **गिर्वाहः**=(गिर् वह् असुन्) वेदवाणियों को धारण करने वाले! **यस्य ते**=जिस तेरा **स्तोत्रम्**=प्रभु-स्तवन होता है, उस तेरी **विभूतिः**=विशिष्ट ऐश्वर्यशालिता हो तथा **सूनृता अस्तु**=तेरी वाणी उत्तम—दुःखों का परिहाण करनेवाली व ऋत हो, अथवा तेरी सारी विभूति ही सूनृत हो। २. गतमन्त्रों में वर्णित सोमरक्षण के परिणामस्वरूप मनुष्य (क) 'वीर' बनता है, यह शत्रुओं को कम्पित करनेवाला होता है। (ख) 'राधानां पति'-यह कभी असफल नहीं होता, संसार में सदा सफल होता है तथा (ग) 'गिर्वाहस्'-ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाला होता है। ३. इस प्रकार 'वीर, राधानां पति व गिर्वाहस्' बनकर यदि यह प्रभु-स्तवन करनेवाला बनता है तो इसे 'विभूति व सूनृता वाणी' प्राप्त होती है—इसका ऐश्वर्य विशिष्ट होता है और साथ ही यह सदा सूनृत वाणी का बोलनेवाला होता है। विभूति इसे गर्वित नहीं कर देती, 'सोम' इसे 'सौम्य' बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम वीर, सफल व ज्ञानी बनें। प्रभु-स्तवन से अलग न होते हुए विभूति व सूनृता वाणीवाले हों। सूनृता वाणी हमारी विभूति का अलंकार बन जाए।

ऋषि:—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु-रक्षण

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो। समन्येषु ब्रवावहै॥ ६॥

१. गतमन्त्रों में दी गई प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **अस्मिन् वाजे**=इस संग्राम में **नः ऊतये**=हमारे

रक्षण के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठा**=ऊपर खड़े होइए, अर्थात् आपका रक्षण हमें सदा प्राप्त हो। आपके रक्षण के बिना हम किसी भी संग्राम में जीत नहीं सकते। **अन्येषु**=अन्य सब कार्यों में भी **सं ब्रवावहै**=हम मिलकर बातचीत करें-आपकी प्रेरणा के अनुसार ही हम सब कार्यों को करनेवाले बनें। वस्तुतः आपकी प्रेरणा के अनुसार सब कार्य करते रहने पर संकटों के आने का प्रसङ्ग ही नहीं रहता और संसार में आ जानेवाले सभी संग्रामों में हमारी विजय होती है। ३. 'प्रभु से बात करके कार्य करना' यह मानव के जीवन की बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। वास्तव में प्रभु पिता हैं, हम पुत्र। हमें प्रभु से पूछकर ही कार्य करना चाहिए। ऐसा करने पर पुत्र कभी भटकता नहीं।

भावार्थ—प्रभु की सहायता से हम संग्रामों में विजयी हों। प्रभु-प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति-वर्धन

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ७॥

१. **योगेयोगे**=प्रत्येक मेल के होने पर, अर्थात् जितना-जितना प्रभु से हमारा मेल बढ़ता है उतना-उतना **तवस्तरम्**=हमारे बलों को बढ़ानेवाले (तवस्=बल, त=बढ़ाना **'प्रतिरा न आयुः'**) उस प्रभु को **वाजेवाजे**=उस-उस शक्ति की प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=हम पुकारते हैं। सब शक्तियों के स्रोत वे प्रभु ही हैं। जितना-जितना हमारा प्रभु से मेल होगा उतनी-उतनी हमारी शक्ति बढ़ेगी। प्रत्येक शक्ति की प्राप्ति के लिए हमें प्रभु को ही पुकारना है, प्रभु से ही शक्ति मिलती है। २. **सखायः**=प्रभु के मित्र बनकर **ऊतये**=रक्षा के लिए हम **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्रार्थना करते हैं। प्रभु रक्षण करनेवाले हों तो सारा संसार हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता और प्रभु का रक्षण हमें प्राप्त न हो तो संसार की कोई शक्ति हमें बचा नहीं सकती।

भावार्थ—प्रभु से हम अपना मेल बढ़ाएँ ताकि हमारी शक्ति बढ़े, संग्रामों में हम विजयी बनें। सखा बनकर प्रभु को ही रक्षण के लिए पुकारें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रक्षण व शक्ति की प्राप्ति

आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्त्रिणीभिरूतिभिः। वाजेभिरुप नो हवम्॥ ८॥

१. **यदि श्रवत्**=यदि प्रभु हमारी पुकार को सुनते हैं, अर्थात् यदि हमारी प्रवृत्ति प्रभु-प्रार्थनाप्रवण होती है तो वे प्रभु **सहस्त्रिणीभिः ऊतिभिः**=हज़ारों रक्षणों के साथ तथा **वाजेभिः**=रक्षण योग्य बनानेवाली शक्तियों के साथ **नः**=हमारी **हवम्**=पुकार के **उप**=समीप **घा**=निश्चय से **आगमत्**=आते हैं। प्रभु के रक्षण में कमी नहीं है, हमारी प्रार्थना में ही कमी है। प्रभु हमारी प्रार्थना न सुनें सो बात नहीं, हम प्रार्थना-प्रवण होते ही नहीं। प्रभु के रक्षण के प्रकार तो हज़ारों हैं। विविध घटनाओं से हमारा रक्षण प्रभु द्वारा हो रहा है। ३. प्रभु मुख्य रूप से शक्ति देकर ही हमारा रक्षण करते हैं (वाजेभिः)। प्रभु शक्ति देते हैं, उस शक्ति का प्रयोग हमें स्वयं करना होता है। इसी से जीवों की योग्यता बढ़ती है।

भावार्थ—हम प्रार्थना करें, प्रभु अवश्य सुनते हैं और शतशः प्रकारों से हमारा रक्षण

करते हैं। वे प्रभु शक्तियों के देनेवाले हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

घर की ओर

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्। यं ते पूर्वं पिता हुवे॥ ९॥

१. हम इस जीवन-यात्रा में हैं, हमारा घर ब्रह्मलोक है। उस घर में हम अपने पिता प्रभु के साथ सानन्द रहते थे। यात्रा पर चले और देवलोक-'देवयोनि (अन्तरिक्ष), मर्त्यलोक व असुर्यलोक' आदि में समय-समय पर भ्रमण करते रहे। अब हम **प्रत्नस्य ओकसः अनु**=उस सनातन गृह का लक्ष्य करके—उस प्रभु को **हुवे**=पुकारते हैं, जो प्रभु **तु वि प्रतिम्**=प्रत्येक दृष्टिकोण से महान् हैं; वस्तुतः प्रत्येक गुण की पराकाष्ठा ही हैं। जहाँ निरतिशय ज्ञान है, वे ही तो प्रभु हैं। इसी प्रकार जहाँ निरतिशय बल है, निरतिशय व्यापकता है, वे ही तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक प्रभु हैं। वे प्रभु **नरम्**=(नृ नये) हमें आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। २. वे आगे ले-चलनेवाले प्रभु ही हमारे पिता हैं। आज हम कुछ ठोकर लगने पर उस सनातन घर की याद करने लगे हैं। वेद कहता है कि मनुष्यो! वही तो तेरा घर है **यम्**=जिसकी ओर **ते पिता**=तेरे पिता तो **पूर्वम्**=पहले ही तुझे आने के लिए **हुवे**=पुकार रहे हैं। प्रभु तो सदा हमें इस यात्रा में अपने को यात्री समझते हुए यहाँ ही फँसकर न रह जाने के लिए प्रेरणा देते ही रहते हैं। यहाँ के चमकीले पदार्थ हमें ऐसा आकृष्ट करते हैं कि हम इनका आनन्द लेने लगते हैं और पिता व घर को भूल जाते हैं; कभी-कभी कष्ट आने पर हमें उनका स्मरण आता है। प्रभु तो सदा प्रेरणा देते ही रहते हैं।

भावार्थ—हम ब्रह्मलोक को अपने घर का लक्ष्य करके प्रभु से यही आराधना करें कि हम यात्रा को पूर्ण करके घर लौट सकें। वस्तुतः प्रभु की प्रेरणा को हम सुनते रहें, वे हमें सदा लौट आने की प्रेरणा देते ही रहते हैं।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

घर की याद

तं त्वा वयं विश्ववारा शास्महे पुरुहूत। सखे वसो जरितृभ्यः॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार घर का स्मरण आने पर जीव प्रार्थना करता है कि **वयम्**=हम **तम् त्वा**=उन आपको ही **आशास्महे**=चाहते हैं, जो आप **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए—आपको न भूल जानेवालों के लिए **विश्ववार**=सब रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारने योग्य हैं अथवा जिन आपका पुकारना पालन व पूरण करनेवाला है (पॄ पालनपूरणयोः), **सखे**=जो आप सच्चे मित्र हैं तथा **वसो**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. प्रभु की प्राप्ति ही हमें 'आप्तकाम' बनानेवाली है, वही तृप्ति है। इन सांसारिक विषयों में 'अनुतृषुलता' है, ये तृप्ति देनेवाले नहीं हैं। इनसे उत्तरोत्तर प्यास बढ़ती है, तृप्ति नहीं होती। हम उस 'विश्ववार' प्रभु की ही कामना करें। उनकी प्राप्ति ही हमारी पालन व पूरण करेगी, वे ही पुरुहूत हैं। प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र (सखा) हैं और हमें उत्तम निवासवाला बनाते हैं (वसो)।

भावार्थ—हे विश्ववार, पुरुहूत, सखे, वसो! हम आपको ही पुकारते हैं।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शिप्री-सोमपा-सखा

अस्माकं शिप्रिणीनां सोमपाः सोमपाव्नाम्। सखे वज्रिन्त्सखीनाम्॥ ११॥

१. हे **सखे**=सखिभूत प्रभो! **वज्रिन्**=वज्र (क्रियाशीलता) के द्वारा हमारे सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **अस्माकम्**=हम **शिप्रिणीनाम्**=उत्तम जबड़े व नासिकावालों को, अर्थात् सात्त्विक भोजन का सेवन करनेवाले तथा प्राणसाधना के अभ्यासियों का **सोमपाव्नाम्**=सात्त्विक भोजन व प्राणायाम द्वारा अपने सोम की रक्षा करनेवालों का और इस सोमपान के द्वारा **सखीनाम्**=आपकी मित्रता को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हम लोगों के **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले आप ही हैं। २. इस सोमपान का सम्भव आपकी कृपा से ही होता है। सोम के रक्षण का साधन 'शिप्रिन्' बनाना है और इसका परिणाम आपका सख्य है। 'शिप्रिन्' बनकर हम सोम का रक्षण करते हैं और आपके सखित्व को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम 'शिप्रिन्' बनकर सोमपावन् हों और प्रभु के सखा बनें।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु की ही कामना

तथा तदस्तु सोमपाः सखे वज्रिन्तथा कृणु। यथा त उश्मसीष्टये॥ १२॥

१. हे **सखे**=हम सबके निःस्वार्थ व सच्चे मित्र प्रभो! हे **वज्रिन्**=हमारे शत्रुओं के नाश के लिए हाथ में वज्र लिये हुए प्रभो! **सोमपाः**=आप ही हमारे सोम का रक्षण करनेवाले हैं, आपकी कृपा से ही सोम का रक्षण होता है। आपकी कृपा से **तत्**=वह बात **तथा अस्तु**=उस प्रकार से पूर्ण हो, उस प्रकार से हो क्या? तथा **कृणु**=आप ऐसा कर ही दीजिए कि **यथा**=जिससे **ते**=आपकी ही **उश्मसि**=कामना करते हैं ताकि **इष्टये**=सब इष्टों की प्राप्ति हो सके। २. कहा जाता है कि प्रभु-कृपा से सब वातावरण ठीक बन जाता है। यहाँ मन्त्र में आराधक प्रभु से कहता है कि 'सारा वातावरण ठीक बन जाए', इतना ही नहीं, आप बस ऐसा कर ही दीजिए कि हम प्रकृति के सुखों से विमुख हो आपकी ओर झुकें। ३. आपकी ओर झुकते ही हमारी सब इष्ट कामनाएँ पूर्ण हो जाएँगी। आपको पाया तो सब-कुछ पा लिया। आपको पा लेने पर कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता। 'विष्णु' प्रसन्न हुए तो 'लक्ष्मी' तो प्रसन्न हो ही गई।

भावार्थ—प्रभु-कृपा हो और ऐसा वातावरण बने कि हमारा झुकाव प्रभु की ओर हो जाए।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सधमाद अन्न व धन

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम॥ १३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **इन्द्रे**=उस प्रभु के हमारे होने पर, जब प्रभु की ही कामना करेंगे और प्रभु को अपनाएँगे तब **रेवतीः**=प्रशस्त धनोंवाले **तुविवाजः**=प्रभूत अन्न **नः**=हमारे **सन्तु**=हों, जो अन्न कि **सधमादः**=साथ मिलकर हमें आनन्द देनेवाले हों, अर्थात् जिन अन्नों व धनों को हम स्वयं ही सारा-का-सारा खा न जाएँ, औरों के साथ बाँटकर ही उसका उपभोग करें। २. ये अन्न **क्षुमन्तः**=भूखवाले हों अर्थात् इन अन्नों का हम इस रूप में सेवन करें कि इनके अतियोग से हमारी भूख ही न समाप्त हो जाए। ये अन्न ऐसे हों कि **याभिः**=जिनसे नीरोग

रहते हुए हम **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु-प्रवण व्यक्ति को वे अन्न व धन प्राप्त होते हैं जिनका वह औरों के साथ मिलकर उपभोग करता है और जो अन्न व धन उसे अपने में आसक्त कर अतियोग से रुग्ण नहीं कर देते, परिणामतः उनसे वह आनन्द को ही प्राप्त करता है।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

त्रिविध उन्नति

आ घ त्वावान्त्मनाप्तः स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः। ऋणोरक्षं न चक्र्योः॥ १४॥

१. हे **स्तोतृभ्यः धृष्णो**=स्तोताओं के लिए उनके शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! जो व्यक्ति **त्वावान्**=आप-जैसा बनने का प्रयत्न करता है और **त्मना आप्तः**=आत्मतत्त्व की प्राप्ति से सब-कुछ प्राप्त मानता है, यह **इयानः**=(ईङ् गतौ) सदा गतिशील होता हुआ **घ**=निश्चय से **चक्र्योः**=(चक्रयोः) चक्रों में **अक्षं न**=अक्ष की भाँति मस्तिष्क व शरीर (द्युलोक व पृथिवीलोक) के बीच में हृदय (अन्तरिक्ष) को **आ ऋणोः**=प्राप्त करता है (आ ऋणोति)। जैसे चक्र व अक्ष सब साथ-साथ चलते हैं उसी प्रकार यह स्तोता मस्तिष्क, शरीर व हृदय सबकी साथ-साथ उन्नति करता है। ३. उन्नति कर वही पाता है जोकि क्रियाशील होता है (इयानः)। यह ठीक है कि यह व्यक्ति प्रभु का स्तवन करता है और प्रभु ही मार्ग में आनेवाले शत्रुओं का संहार करते हैं। स्तोताओं के लिए शत्रुधर्षण का काम प्रभु का ही है। ४. स्तोता वह है जो प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करता है (त्वावान्) तथा आत्मा से ही तृप्ति का अनुभव करता है, उसी से अपने को कृतकृत्य मानता है (त्मनाप्तः)।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें, प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का संहार करेंगे और हम मस्तिष्क, शरीर व हृदय—सभी की उन्नति कर पाएँगे।

ऋषिः—**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रज्ञा, वाणी व कर्म

आ यद्दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम्। ऋणोरक्षं न शचीभिः॥ १५॥

१. हे **शतक्रतो**=सैकड़ों प्रज्ञाओं व कर्मोंवाले प्रभो! आप **जरितॄणाम्**=स्तोताओं को **यत्**=जो **दुवः**=धन (**दुवस्**=wealth) **कामम्**=चाहने योग्य पदार्थों को **आ ऋणोः**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं, यह सब **शचीभिः**=(कर्मनाम नि० २।१, वाङ्नाम १।११, प्रज्ञानाम ३।९) कर्म, वाणी व प्रज्ञा के हेतु से **अक्षं न**=दो पहियों के बीच में वर्तमान अक्ष के समान है। २. जैसे दो पहियों के बीच में अक्ष होता है, उसी प्रकार यहाँ प्रज्ञा और कर्म के बीच में वाणी है। दोनों पहिये तथा अक्ष साथ-साथ ही घूमते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा, वाणी और कर्म साथ-साथ चलते हैं। प्रत्येक कर्म पहले विचार के रूप में होता है (प्रज्ञा), फिर उच्चारण (वाङ्) के रूप में आता है और अन्ततः आचरण (कर्म) का रूप धारण करता है। ३. प्रभु हमें जो भी धन प्राप्त कराते हैं या काम्य पदार्थों को देते हैं, वह सब इसलिए कि हम 'प्रज्ञा, वाणी व कर्मों' को सुन्दर बना सकें। इन सब धनों व काम्य पदार्थों का अतियोग व अयोग न करते हुए हम यथायोग्य सेवन करें तो हम इन सभी को अनन्त कर सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें, प्रभु हमें धनों व इष्ट पदार्थों को इसलिए प्राप्त कराएँ कि हमारी 'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' पवित्र बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

धन-विजय व धनदान

शश्वदिन्द्रः पोप्रुथद्भिर्जिगाय नानदद्भिः शाश्वसद्भिर्धनानि।
स नो हिरण्यरथं दंसनावान्त्स नः सनिता सनये स नोऽदात्॥ १६॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष अपने इन्द्रियरूप अश्वों से, जो अश्व **पोप्रुथद्भिः**=(to withstand) जो सब विघ्न-बाधाओं का मुक़ाबिला करके आगे बढ़ते हैं, (to be able) जो अपना कार्य करने में समर्थ हैं, (to subdue, overcome) जो सर्दी-गर्मी आदि को जीत लेनेवाले हैं तथा **नानद्भिः**=निरन्तर प्रभुस्तवन में लगे हैं, **शश्वरिः**=जिनसे प्राण-साधना ठीक रूप से चल रही है, ऐसे इन्द्रियाश्वों से **धनानि**=धनों को **शश्वत**=सदा **जिगाय**=जीतता है। २. वस्तुतः जीव क्या जीतता है **सः**=वह प्रभु ही **वः**=हमें **दंसनावान्**=सब उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हुए **हिरण्यरथे**=ज्योतिर्मय शरीररूप रथ को **अदात्**=देते हैं। प्रभुकृपा से ही हमें जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए यह शरीररूप रथ मिला है जोकि पाँच ज्ञानेन्द्रियरूप दीपकों से तथा बुद्धिरूप महान् दीपक से ज्योतिर्मय हो रहा है। ३. **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमें **सनिता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। **सः**=वह **सनये**=दान के लिए **नः**=हमें **अदात्**=देते हैं। प्रभु इसलिए देते हैं कि हम दान करनेवाले बनें। ४. देते तो प्रभु ही हैं, परन्तु तभी जबकि हम जितेन्द्रिय बनते हैं (इन्द्रः)। जब हम अपनी इन्द्रियों को कार्य-समर्थ बनाते हैं (पोप्रुथद्भिः), जब हम प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले होते हैं (नानद्भिः), तथा जब हम प्राण-साधन करते हैं (शश्वसद्भिः)।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें धन प्राप्त होते हैं; ये धन इसलिए प्राप्त होते हैं कि हम इन्हें दान करनेवाले बनें।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अश्वावती शवीरा इष'

आश्विनावश्वावत्येषा यातं शवीरया। गोमद्दस्रा हिरण्यवत्॥ १७॥

१. हे **आश्विनौ**=प्राणापानो! आप **अश्वावत्या**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाली, **शवीरया**=(शव गतौ) प्रकृष्ट गतिवाली **इषा**=प्रेरणा के साथ **आयातम्**=हमें प्राप्त होओ, अर्थात् प्राणापान की साधना से हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष हों, हमारे जीवन में आलस्य-शून्यता होकर प्रकृष्ट गति का संचार हो। हमें सदा प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती रहे। प्राणसाधना के अभाव में इन्द्रियों की मलिनता बढ़ती है, तमोगुण की वृद्धि के साथ आलस्य भी अधिक आ जाता है, प्रभु-प्रेरणा के सुनने का प्रश्न ही नहीं रहता। २. हे **दस्रा**=सब बुराइयों का क्षय करनेवाले (दसु क्षये) प्राणापानौ! आपकी कृपा से हमारा जीवन **गोमत्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला हो (गमयन्ति अर्थान् इति गावः) तथा **हिरण्यवत्**=ज्योतिर्मय हो। प्राणों की साधना से बुद्धि की तीव्रता होकर हमारी ज्ञानज्योति चमक उठती है।

भावार्थ—प्राणसाधना का लाभ यह है कि (क) इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं, (ख) जीवन में क्रियाशीलता आती है, (ग) प्रभु-प्रेरणा प्राप्त होती है, (घ) ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम होकर ज्ञान की ज्योति बढ़ती है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

समविकास-अमर्त्यता व प्रभु-प्राप्ति

समानयोजनो हि वां रथो दस्त्राव॒मर्त्यः। समुद्रे अश्विनेयते॥ १८॥

१. हे **दस्त्रौ**=दोषों का क्षय करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों का यह **रथः**=शरीररूप रथ **हि**=निश्चय से **समानयोजनः**=समान योजनावाला है, अर्थात् इसमें सब अंगों का ठीक रूप से एक-जैसा विकास किया गया है, इसमें मस्तिष्क, मन व शरीर सभी का समान रूप से विकास हुआ है। प्राणापान शरीर में बल का आधान करते हैं, मन को निर्मल बनाते हैं और मस्तिष्क को ज्योतिर्मय बना देते हैं। २. इस प्रकार यह रथ सम विकासवाला होते हुए **अमर्त्यः**=असमय में ही नष्ट नहीं हो जाता, यह रोगों का शिकार नहीं होता, अतः मृत्यु को प्राप्त नहीं होता ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! इस प्रकार यह शरीररूप रथ **समुद्रे**=सदा आनन्दयुक्त (स+मुद्) प्रभु में **ईयते**=गतिवाला होता है, अर्थात् हम इस शरीर द्वारा प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों, इसी परमार्थ-साधन के लिए ही तो यह शरीर मिला है। शरीर की व हमारी सार्थकता इसी में है कि हम प्राणसाधना द्वारा प्रभु को पानेवाले बनें।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों को उन्नत करें (समानयोजनः)। तभी यह शरीर रोगाक्रान्त होकर नष्ट हो जानेवाला न होगा (अमर्त्यः) और अन्त में यह शरीररूपी रथ हमें प्रभु तक पहुँचानेवाला बनेगा।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

चक्र का मूर्धस्थान में नियमन

न्य१घ्न्यस्य मूर्धनि चक्रं रथस्य येमथुः। परि द्यामन्यदीयते॥ १९॥

१. हे प्राणपानो! **यद्**=जब यह शरीररूपी रथ **द्याम्**=द्युलोक में **अन्यत्**=कुछ विलक्षण ही रूप से **परि, ईयते**=व्यापक गतिवाला होता है, अर्थात् जब हमारी बुद्धि तीव्र होकर हमें अद्भुत आत्मज्ञान प्राप्त होता है, या हम सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा कण-कण में प्रभु के रचना-सौन्दर्य को देखने लगते हैं तब आप **रथस्य**=इस शरीर-रथ के **चक्रम्**=चक्र को **अघ्न्यस्य मूर्धनि**=किसी भी प्रकार नष्ट न किये जा सकने योग्य (हन् हिंसा) अथवा सामान्य बुद्धि से न पहुँच सकने व जा सकने योग्य (हन् गतौ) उस प्रभु के ऊर्ध्व स्थान में (तृतीये धामन्) **नियेमथुः**=स्थापित करते हो। २. प्राणापान की साधना से ही शरीर में सोम का रक्षण होकर, ज्ञानाग्नि को सोमरूप ईंधन प्राप्त कराया जाता है। ज्ञानाग्नि प्रचण्ड होकर सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखती है। सारा हृदयाकाश ज्ञान की विलक्षण (अन्यत्) ज्योति से परिपूर्ण होता है तो वहाँ इस अहेय प्रभु का दर्शन होता है, काव्यमय भाषा में 'शरीर-रथ' का पहिया प्रभु के तृतीय धाम-सर्वोच्च स्थान-में जाकर स्थित होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वह ज्योति प्राप्त होती है जोकि हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है।

ऋषिः—शुनःशेप आजीगर्तिः॥ देवता—उषाः—छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उषः-जागरण

कस्त उषः कधप्रिये भुजे मर्तो अमर्त्ये। कं नक्षसे विभावरि॥ २०॥

१. हे **उषः**=(उष दाहे) अन्धकार का दहन करनेवाले उषःकाल! भक्त के दोषों को

दग्ध करनेवाले! **कः**=वे अनिर्वचनीय आनन्दमय प्रभु तो **ते**=तेरा ही है, अर्थात् उस प्रभु से मेल तुझमें ही होता है,–तेरा नाम ही 'ब्राह्ममुहूर्त' हो गया है। २. हे **कधप्रिये**=(क+ध+प्रिये) उस प्रभु को धारण करना ही जिसे प्रिय है, ऐसे **अमर्त्ये**=अपने उपासक को रोगादि से न मरने देनेवाले उषःकाल! **मर्त्यः**=तेरा उपासक मनुष्य **भुजे**=पालन के लिए होता है। जो भी व्यक्ति उषःजागरण को जीवन का नियम बनाकर इस उषःकाल में प्रभु का स्मरण करता है (कः ते) और प्रभु को अपने में धारण करने का प्रयत्न करता है–(क+ध+प्रिये) वह व्यक्ति नीरोग जीवन बिताता हुआ (अमर्त्ये) अपना सुन्दरता से पालन करनेवाला होता है (भुजे)। ३. हे **विभावरि**=ज्योतिर्मय उषःकाल! तू **कम्**=उस अनिर्वचनीय, आनन्दस्वरूप प्रभु को **नक्षसे** (नक्ष गतौ)=प्राप्त होती है–तू प्रभु की ओर जाती है। उषःकाल में जागनेवाला पुरुष उस प्रभु के मार्ग पर चलने की प्रवृत्तिवाला होता है।

भावार्थ—उषःकाल में जागने के निम्न लाभ हैं—(क) यह दोषों को दग्ध करता है (उषः), (ख) नीरोगता प्रदान करता है (अमर्त्ये), (ग) पालन व रक्षण करता है–बुराइयों से बचाता है, (भुजे) (घ) ज्ञान-ज्योति को बढ़ाता है (विभावरि), (ङ) प्रभु की ओर ले-जाता है (कम्)।

ऋषिः–**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता–**उषाः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

यज्ञ-भजन-स्वाध्याय

वयं हि ते अमन्मह्यान्तादा पराकात्। अश्वे न चित्रे अरुषि॥ २१॥

१. हे **अश्वे, न**=कर्मों में व्यापनशील होनेवाले की भाँति **चित्रे**=चायनीय (चायृ पूजानिशामनयोः) पूजा की वृत्तिवाले तथा **अरुषि**=आरोचमान-सर्वतः दीप्यमान उषःकाल! **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **ते**=तेरे **आ अन्तात् आ पराकात्**=एक सिरे से (End=अन्त) लेकर दूसरे (परले) सिरे तक, अर्थात् सारे-के-सारे उषःकाल में **अमन्महि**=उस प्रभु का मनन करते हैं [तू तो गतमन्त्र के अनुसार 'क+ध+प्रिया' है; प्रभु का धारण ही तो तुझे प्रिय है]। २. उषः के यहाँ तीन विशेषण हैं–(क) अश्वे=यह 'कर्मों में व्यापनशील' अर्थ को देता हुआ कर्मकाण्ड का संकेत कर रहा है। कर्मयोगी पुरुष इस समय को यज्ञादि उत्तम कर्मों में बिताते हैं; (ख) 'चित्रे' का अर्थ है आरोचमान। यह शब्द ज्ञानकाण्ड का निर्देशक होकर ज्ञानी को यह कहता है कि तुझे अपने ज्ञान को सर्वतः दीप्त करना है।

भावार्थ—हमारा उषःकाल यज्ञादि उत्तम कर्मों, प्रभु-भजन व ज्ञानप्राप्ति में व्यतीत हो। हम इस काल में प्रभु का मनन करें, उसके गुणों को विचार करते हुए, उनका धारण करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः–**शुनःशेप आजीगर्तिः**॥ देवता–**उषाः**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

शक्ति व सम्पत्ति

त्वं त्येभिरा गहि वाजेभिर्दुहितर्दिवः। अस्मे रयिं नि धारय॥ २२॥

१. अयि **दिवः दुहितः**=द्युलोक व सूर्य की पुत्री—आकाश का पूरण करने-(दुहप्रपूरणे)-वाली उषः! **त्वम्**=तू **त्येभिः**=उन प्रसिद्ध **वाजेभिः**=शक्तियों व धनों के साथ **आगहि**=हमें प्राप्त हो और **अस्मे**=हमारे लिए **रयिम्**=धन का **निधारय**=निश्चय से धारण कर अथवा नम्रता के साथ धारण कर। २. उषःकाल सूर्योदय होने के बिल्कुल प्रारम्भिक समय

में आता है मानो यह उषा उस सूर्य की पुत्री ही है। यह स्वाध्यायशील पुरुष में ज्ञान के प्रकाश को परिपूर्ण करनेवाली है (दिवः दुहिता) ३. यह शक्तियों को प्राप्त कराती है। इस समय सोये रह जानेवाले पुरुषों के तेज को सूर्य अपहृत कर लेता है **(उद्यन् सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे)** ४. यह हममें उत्कृष्ट धनों का धारण करनेवाली है। इस समय उठकर ठीक से तैयार होकर मनुष्य पुरुषार्थ में लगता है और उत्तमवृत्ति से धनार्जन करने में प्रवृत्त होता है। यह इस धन के साथ नम्रता को नष्ट नहीं होने देती।

भावार्थ—उषःजागरण से शक्ति (वाजेभिः) प्राप्त होती है। ज्ञान बढ़ता है (दिवः दुहिता) ऐश्वर्य की वृद्धि होती है।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि प्रभु जितेन्द्रिय पुरुष को सोम से सिक्त कर देते हैं (१)। यह उसके लिए आनन्द की नाव के समान होता है (४)। यह सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष प्रभु के साथ इस प्रकार बात करता है जैसे पुत्र पिता से मिलकर (६) जितना-जितना यह प्रभु के सम्पर्क में आता है उतनी-उतनी प्रभु इसकी शक्ति को बढ़ाते हैं (७)। यह भक्त चाहता तो यह है कि इसे एकमात्र प्रभु-प्राप्ति की ही कामना हो (११)। वे प्रभु उसे वे अन्न व धन प्राप्त कराएँ जिनको वह सबके साथ मिलकर सेवन करे (१३)। इस प्रकार जीवन बिताता हुआ यह समानरूप से शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति कर पाता है (१८)। इसके शरीर-रथ का चक्र उस अगम्य प्रभु के परमपद (मूर्धन्) पर जाकर ही विश्रान्त होता है (१९)। यह सदा उषःकाल में जागता है; इस ब्राह्ममुहूर्त में प्रभु का ही स्मरण करता है (२१)। इस स्मरण से इसे शक्ति व सम्पत्ति प्राप्त होती है (२२)। इस प्रभु-स्मरण से वासना-विनाश के द्वारा यह अपने हिरण्य=वीर्य की स्तूप=ऊर्ध्वगति करनेवाला बनकर अंग-अंग में रसवाला आंगिरस बनता है और यह "हिरण्यस्तूप" आंगिरस प्रभु का आराधन निम्न शब्दों में प्रारम्भ करता है—

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

शिवसखा

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रा॒ ऋषि॑र्दे॒वो दे॒वाना॑मभवः शि॒वः सखा॑।
तव॑ व्र॒ते क॒वयो॑ विद्म॒नाप॑सोऽजा॑यन्त म॒रुतो॒ भ्राज॑दृष्टयः॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत, सर्वव्यापक हो अथवा आप पहले से ही होनेवाले हो 'समवर्त्तताग्रे'। **अङ्गिराः**=आप उपासक के अंग-अंग में रस का संचार करनेवाले हैं। **ऋषिः**=तत्त्वदृष्टा हैं। **देवः**=दिव्यगुणों व प्रकाश के पुञ्ज हैं अथवा **देवः**=सब-कुछ देनेवाले हैं और **देवानाम्**=देनेवालों के **शिवःसखा**=कल्याणकर मित्र **अभवः**=होते हैं। २. **तव व्रते**=आपके व्रतों में **कवयः**=क्रान्तदर्शी पुरुष **विद्मनापसः**=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले **अजायन्त**=हो जाते हैं। प्रभु के व्रतों में चलने का अभिप्राय यही है कि प्रभु 'देव' हैं, हम भी देव बनें; प्रभु प्रथम हैं, हम भी विस्तारयुक्त हृदयोंवाले हों; प्रभु ऋषि हैं, हम भी तत्त्वदर्शी बनने के लिए यत्नशील हों। इस प्रकार प्रभु के व्रतों में चलने पर हम ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले बनते हैं। ३. प्रभु के व्रतों में चलने पर हम **मरुतः**=मितरावी=माप तोलकर बोलनेवाले होते हैं और इस माप-तुला बोलने से ही वस्तुतः

भ्राज-दृष्टयः= दीप्तियुक्त दृष्टिवाले होते हैं अथवा **भ्राजत्+ऋष्टयः**=देदीप्यमान शस्त्रोंवाले होते हैं। इन चमकते हुए आयुधों से हम शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ बनते हैं। प्रभु-कृपा से हम अंगिरा (शरीर में शक्तिसम्पन्न), ऋषि (मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न) व देव (मन में दिव्यता से युक्त) बनते हैं—यही प्रथम बनना है—प्रथम-स्थान में स्थित होना है। इस प्रकार ये प्रभु हमारे कल्याणकर मित्र हैं; प्रभु के गुणों को धारण करते हुए हम मितभाषी व देदीप्यमान बुद्धि आदि शस्त्रोंवाले होकर वासनारूप शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे शिवसखा हैं, हम प्रभु के ही व्रतों में चलने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मेधिरः द्विमाता

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रस्तमः क॒विर्दे॒वानां॒ परि॑ भूषसि व्र॒तम्।
वि॒भुर्विश्व॑स्मै॒ भुव॑नाय॒ मेधि॑रो द्विमा॒ता श॒युः कति॒धा चि॑दा॒यवे॑॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रथमः**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं, **अंगिरस्तमः**= अंगों में सर्वाधिक रस का संचार करनेवाले हैं, **कविः**=क्रान्तदर्शी हैं, 'कौतिसर्वा विद्याः' सृष्टि के आरम्भ में सब ज्ञानों का वेद द्वारा उच्चारण करनेवाले हैं, २. **देवानाम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों के **व्रतम्**=व्रत को **परिभूषसि**=अलंकृत करनेवाले हैं, अर्थात् देवलोग व्रतमय जीवन बिताते हैं और आपका स्मरण करते हैं, उनका व्रत आपके नाम-स्मरण से अलंकृत होता है। वस्तुतः इसीलिए उनके व्रत पूर्णता को भी प्राप्त होते हैं। ३. **विभुः**=हे प्रभो! आप सर्वव्यापक हैं— विशिष्ट सत्तावाले हैं और **विश्वस्मै भुवनाय**=सब लोगों के लिए **मेधिरः**=मेधा बुद्धि को देनेवाले हैं। बुद्धि को देकर ही तो आप सबका रक्षण करते हैं, ४. **द्विमाता**=आप हमारे मस्तिष्क व शरीर, अर्थात् द्यावापृथिवी दोनों का निर्माण करनेवाले हैं, आपकी कृपा से हमारा मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल होता है और शरीर दृढ़ बनता है। ५. **शयुः**=आप सबके अन्दर निवास करनेवाले हैं और सारा ब्रह्माण्ड आपमें शयन करनेवाला है। ६. आप **आयवे**='एति' गतिशील पुरुष के लिए **चित्**=निश्चय से **कति-धा**=कितने ही प्रकार से धारण करनेवाले हैं। शरीर, मन, मस्तिष्क सभी को—अंग-अंग को आप धारण करनेवाले हैं। 'प्रजा-पशु-ब्रह्मवर्चस्, अन्नाद्य' आदि को प्राप्त कराके आप विविध प्रकार से धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि देते हैं, वे ही हमारे शरीर व मस्तिष्क का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु का प्रादुर्भाव

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो मा॑त॒रिश्व॑न आ॒विर्भ॑व सुक्रतू॒या वि॒वस्व॑ते।
अरे॑जेतां॒ रोद॑सी होतृ॒वूर्ये॒ऽस॑घ्नोर्भा॒रमय॑जो म॒हो व॑सो॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वं प्रथमः**=आप विस्तारवाले हो तथा सर्वप्रथम हो। आप **विवस्वते**=परिचर्यावाले के लिए अथवा ज्ञान की रश्मियोंवाले के लिए **सुक्रतूया**=उत्तम कर्मों की प्रबल इच्छा से **मातरिश्वनः**=वायु के द्वारा—प्राणसाधना के द्वारा **आविर्भव**=प्रकट होते हो, अर्थात् प्रभु का दर्शन 'विवस्वान्, सुक्रतु तथा प्राणसाधक' को होता है। प्रभु-दर्शन के लिए परिचर्या (भक्ति) व ज्ञान आवश्यक हैं (विवसु), प्रभु-दर्शन के लिए उत्तम कर्मों व संकल्पों

का होना अनिवार्य है (सुक्रतु) तथा इस प्रभु से मेल के लिए प्राणसाधना आवश्यक है २. प्रभु से मेल होने पर **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **अरेजेताम्**=(रेज् to shine) चमक उठते हैं। शरीर (पृथिवी) यदि स्वास्थ्य की दीप्ति से चमक उठता है तो मस्तिष्क ज्ञान की दीप्ति से चमक उठता है। (यहाँ रेज् धातु का 'चमकना' अर्थ लेना है, काँपना नहीं)। हे प्रभो! आप **होतृवूर्ये**=होता से वरण किये जाने पर **भारम्**=कार्यभार को **असघ्नोः**=(सघ् to accept, to bear) स्वीकार करते हो और बरदाश्त करते हो और **अयजः**=उस-उस यज्ञ को पूर्ण करते हो। **महो**=आप महनीय हो, पूज्य हो तथा तेज के पुञ्ज हो। **वसो**=आप निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों के देनेवाले हो।

भावार्थ—हम परिचर्या, उत्तम कर्म तथा प्राणसाधना के द्वारा प्रभु-दर्शन करें। प्रभु-दर्शन से हमारा शरीर स्वस्थ होगा तो मस्तिष्क ज्योति से चमक उठेगा। वस्तुतः भक्त के सब कार्य प्रभु ही पूर्ण किया करते हैं—सब यज्ञ आप से ही होते हैं—सर्वमहान् होता आप ही हैं। आप ही पूज्य हैं, सर्वप्रद हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'श्वात्र' द्वारा मुक्ति

त्वम॑ग्ने मन॑वे द्याम॑वाशयः पुरूर॒वसे॑ सु॒कृते॑ सु॒कृत्त॑रः।
श्वा॒त्रेण॒ यत्पि॒त्रोर्मुच्य॑से॒ पर्या त्वा॒ पूर्व॑मनय॒न्नाप॑रं॒ पुन॑ः॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=तू **मनवे**=ज्ञानी पुरुष के लिए **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अवाशयः**=(वाशृ शब्दे) ज्ञान की वाणियों से परिपूर्ण कर देता है, अर्थात् तू अपने समझदार भक्त के मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाला है, २. **पुरूरवसे**=(रु शब्दे) खूब ही स्तवन करनेवाले, **सुकृते**=पुण्यशाली के लिए तू **सुकृत्तरः**=उत्तम कार्यों को अत्यधिक करनेवाला है, अर्थात् स्तोता व पुण्य-प्रवण व्यक्ति के जीवन में उत्तम कर्म आपकी ही शक्ति व प्रेरणा से होते हैं। ३. भक्त की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **श्वात्रेण**=(धनेन विज्ञानेन वा-द०) शुद्ध अध्यात्म-सम्पत्ति व विज्ञान के द्वारा **यत्**=जो तू **पित्रोः**=माता-पिता से **मुच्यसे**=छूट जाता है, अर्थात् तुझे जन्म लेकर माता-पिता के दर्शन नहीं करने पड़ते, तो उस समय **त्वा**=तुझे ये पवित्र धन व विज्ञान **परि, आ**=सब ओर से **पूर्वम्**=अपने पूर्वस्थान में **अनयन्**=ले-जाते हैं; ब्रह्मलोक ही तो तेरा पूर्वस्थान है, तुझे वे 'श्वात्र' उस ब्रह्मलोक में ले-जानेवाले होते हैं। **अपरं पुनः न**=ये श्वात्र तुझे इस जन्म-मरण-चक्ररूप निचले लोक में नहीं ले-जाते, अर्थात् तेरे जन्म का कारण नहीं बनते। इस शुद्ध ज्ञान व धनों से तू मुक्तिलाभ करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानी को ज्ञान प्राप्त कराते हैं, स्तोता को पुण्यशाली बनाते हैं, शुद्ध ज्ञान व धन से मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है। ये ज्ञान व धन उसे अपने पूर्व स्थान 'ब्रह्मलोक' में ले-जाते हैं और उसे अपरलोक में आने से बचा देते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वृषभ-पुष्टिवर्धन

त्वम॑ग्ने वृष॒भः पु॑ष्टि॒वर्ध॑न॒ उद्य॑तस्रुचे भवसि श्र॒वाय्य॑ः।
य आहु॑तिं॒ परि॒ वेदा॒ वष॑ट्कृति॒मेका॑यु॒रग्रे॒ विश॑ आ॒विवा॑ससि॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=अग्निवत् सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **वृषभः**= सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले तथा **पुष्टिवर्धनः**=पुष्टि के बढ़ानेवाले हो। २. **उद्यतस्रुचे**=जिसने चम्मच उठाया हुआ है उस पुरुष के लिए, अर्थात् जो नित्य यज्ञशील है उस पुरुष के लिए **श्रवाय्यः भवसि**=कीर्ति के वर्धन करनेवाले होते हो। ३. **यः**=जो **वषट्कृतिम्**=स्वाहाकारयुक्त **आहुतिम्**=आहुति को, सदा दानपूर्वक भक्षण को **परिवेद**=अपने जीवन में जानता है, अर्थात् सदा त्यागपूर्वक ही उपभोग करता है, वह **एकायुः**=अद्वितीय गतिशील पुरुष होता है, अर्थात् वह अत्यन्त उत्तम जीवनवाला होता है। ४. हे प्रभो! आप ही **विशः**=सब प्रजाओं को **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में **आविवाससि**=अन्धकार को दूर करके प्रकाशयुक्त करते हो। प्रभु ही ज्ञान देते हैं और उस ज्ञान के द्वारा ही यह त्यागपूर्वक उपभोग का पाठ पढ़ता है। इस प्रकार यह यज्ञशील बनकर कीर्तियुक्त होता है। इस सब कृपा के करनेवाले वे प्रभु ही हैं। वे ही सुखों व पुष्टि के वर्धक हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देते हैं। मनुष्य इस ज्ञान के परिणामस्वरूप त्यागशील होते हैं। त्याग से वे यशस्वी होते हैं। इनपर प्रभु सुखों की वर्षा करते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

विजय

त्वम॑ग्ने वृ॒जि॒नव॑र्तनिं॒ नरं॒ सक्म॑न्पिपर्षि वि॒दथे॑ विचर्षणे।
यः शूर॑साता॒ परि॑तक्म्ये॒ धने॑ द॒भ्रेभि॑श्चि॒त्समृ॑ता॒ हंसि॒ भूय॑सः॥ ६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **वृजिनवर्तनिम्**=पाप के मार्ग पर चलनेवाले **नरम्**=मनुष्य को **सक्मन्**=मेल होने पर [सच् to be associated with] **विदथे**=ज्ञान में **पिपर्षि**=पालित व पूरित करते हो, अर्थात् जब मनुष्य आपका उपासक बनकर आपके चरणों में आता है तब आप उसके ज्ञान को बढ़ाकर उसके अज्ञान को नष्ट कर उसको पापों से बचाते हो, उसकी न्यूनताओं को दूर करते हो, २. हे **विचर्षणे**=विशिष्ट, विविध ज्ञानसम्पन्न प्रभो! आप तो वे हैं **यः**=जो **शूरसाता**=शूरवीरों से सम्भजनीय, जहाँ कायर पुरुषों का भय के कारण प्रवेश नहीं, उस **परितक्म्ये**=[Dangerous, risky, Unsafe] आशंका से भरे **धने**=(प्रधने) संग्राम में **दभ्रेभिः चित्**=थोड़े-से सैनिकों से भी **समृता**=टक्कर होने पर **भूयसः**=बहुतों को **हंसि**=नष्ट कर देते हो। महाभारत में कृष्ण अल्पसंख्यक पाण्डवों को बहुसंख्यक कौरवों के मुक़ाबिले में विजयी करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क में हम जहाँ अध्यात्म-संग्रामों में विजय पाते हैं वहाँ बाह्य संग्रामों में भी विजयी होते हैं। पापों से ऊपर उठकर हम पवित्र बनते हैं और थोड़े होते हुए भी बहुतों को जीत लेते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मनुष्य व अन्य प्राणियों के हित की कामना

त्वं तम॑ग्ने अमृत॒त्व उ॑त्त॒मे मर्तं॑ दधासि॒ श्रव॑से दि॒वेदि॑वे।
यस्ता॑तृषा॒ण उ॒भया॑य॒ जन्म॑ने॒ मयः॑ कृ॒णोषि॒ प्रय॒ आ च॑ सू॒रये॑॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्!= **त्वम्**=आप **तम् मर्तम्**=उस मनुष्य को **उत्तमे अमृतत्वे**=उत्कृष्ट मरणरहित स्थिति में, अर्थात् पूर्ण नीरोग जीवन में तथा **दिवेदिवे**=दिन-प्रतिदिन **श्रवसे**=यश व ज्ञान के लिए **दधासि**=धारण करते हो, **यः**=जोकि **उभयाय जन्मने**=[द्विपदां चतुष्पदाम् च लाभाय—सा०]

मनुष्य व पशु—सभी प्राणियों के हित के लिए **तातृषाणः**=अत्यन्त तृष्णावाला होता है, अर्थात् जो प्राणिमात्र के हित की भावना से चलता है, प्रभु उसे नीरोगता, यश व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। २. **च**=और हे प्रभो! आप **सूरये**=ज्ञानी पुरुष के लिए **मयः**=कल्याण **करोषि**=करते हैं। **प्रयः च**=(food, pleasure, delight) और अन्नादि के आनन्द को **आकृणोषि**=सर्वथा सिद्ध करते हैं। कठोपनिषद् 'श्रेय व प्रेय' दोनों को ही यह ज्ञानी प्रभुकृपा से प्राप्त करता है। कणाद के शब्दों में निःश्रेयस व अभ्युदय दोनों को साधता है—सम्पत्ति व समृद्धि से संशोभायमान होता है।

भावार्थ—प्राणिमात्र का हित चाहते हुए हम नीरोग, यशस्वी व ज्ञानी बनें। ज्ञानी बनकर (अध्यात्म) सम्पत्ति व (बाह्य) समृद्धि को साधें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यशस्वी कर्ता

त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः।
ऋध्याम कर्मापसा नवेन देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः॥ ८॥

१. हे अग्ने! **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **त्वम्**=आप **नः**=हमें **धनानां सनये**=धनों की प्राप्ति के लिए **यशसं कारुम्**=यशस्वी व कलापूर्ण ढङ्ग से कार्यों को करनेवाला **कृणुहि**=बना दीजिए, अर्थात् हम प्रभुस्तवन करनेवाले बनें, प्रभुस्तवन करते हुए क्रियाशील बनें, प्रत्येक क्रिया को इस प्रकार से करें कि वह हमारे यश का कारण बने। यह यशस्वी कर्म हमारी धन-वृद्धि का कारण तो बनेगा ही। ३. ऐसा होने पर **अपसा**=इन व्यापक कर्मों के द्वारा **नवेन**=(नु स्तुतौ, नवः=स्तुति) स्तुति के द्वारा तथा **देवैः**=दिव्यगुणों के द्वारा **नः**=हमें **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **प्रावतम्**=उत्तमता से रक्षित करनेवाले हों। 'मस्तिष्क' ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करे तो 'शरीर' शक्ति के द्वारा हमें सुरक्षित करे, अर्थात् प्रभुकृपा से हमारे हाथों में कर्म हो, हृदय में प्रभुस्तवन हो, जीवन में दिव्यगुण हों और हमारे मस्तिष्क व शरीर क्रमशः ज्ञान व शक्ति से युक्त होकर हमें नाश से बचाएँ और अमृतत्व की ओर ले-चलें।

भावार्थ—हम यशस्वी कर्ता बनकर धनलाभ करें, क्रियाशीलता को बढ़ाएँ तथा कर्म, स्तवन व दिव्यता के धारण द्वारा ब शक्ति को अपना रक्षक बनाएँ।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

पालक-प्रभु

त्वं नो अग्ने पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेष्वनवद्य जागृविः।
तनूकृद्बोधि प्रमतिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु विश्वमोपिषे॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **पित्रोः**=माता-पिता की **उपस्थे**=गोद में **आ**=सब प्रकार से **देवः**=सब गतियों के करानेवाले हो (दिव्-गति) **देवेषु**=सब देवों में **अनवद्य**=प्रशस्त प्रभो! आप **जागृविः**=सदा जागते हो, अर्थात् हमारे रक्षण में आप कभी प्रमाद नहीं करते। माता-पिता के माध्यम द्वारा आप ही वस्तुतः हमारा रक्षण करते हैं। २. **तनूकृत्**=हमारे शरीरों के निर्माण करनेवाले प्रभो! **बोधि**=आप हमारा सदा ध्यान कीजिए। आपसे पालित होकर ही हम अपनी शक्तियों का विस्तार कर पाएँगे। माता-पिता भी आपसे शक्ति प्राप्त करके हमारा पालन करते हैं और सब सूर्यादि देव भी आपसे ही देवत्व को प्राप्त करके हमारा कल्याण किया करते हैं। सब देवों में प्रशस्त आप ही हैं, देवों को भी आपने

ही देवत्व प्राप्त कराया है, आपसे शक्ति प्राप्त करके सूर्य हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न बनाता है, चन्द्रमा हमारे लिए ओषधियों में रस का संचार करता है, एवं माता-पिता व इन देवों के द्वारा प्रभु हमारा पालन करते हैं। ३. हे प्रभो! **च**=और आप ही **कारवे**=सुन्दरता से कार्य करनेवाले के लिए **प्रमतिः**=प्रकृष्ट बुद्धि देनेवाले हैं। ४. हे **कल्याण**= कल्याणस्वरूप प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वं वसु**=निवास के लिए आवश्यक सम्पूर्ण धनों को **आ ऊपिषे**=प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—माता-पिता के द्वारा व सूर्यादि देवों के द्वारा प्रभु ही हमारा पालन करते हैं, हम क्रियाशील बनते हैं तो प्रभु ही हमें प्रकृष्ट बुद्धि प्राप्त कराते हैं, वे ही सम्पूर्ण धनों के देनेवाले हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सुवीर-व्रतपा

त्वम॑ग्ने प्रम॑तिस्त्वं पि॒तासि॑ न॒स्त्वं व॑य॒स्कृत्तव॑ जा॒मयो॑ व॒यम्।
सं त्वा॒ राय॑: श॒तिन॒: सं स॑ह॒स्रिण॑: सु॒वीरं॑ यन्ति व्रत॒पाम॑दाभ्य॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वं प्रमतिः**=आप प्रकृष्ट मतिवाले हो—आपका दिया हुआ वेदज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है, **त्वं नः पिता असि**=आप ही इस ज्ञान को देकर हमारे रक्षण करनेवाले पिता हैं। इस रक्षण के द्वारा **वयः कृत्**=आप हमारे उत्कृष्ट जीवन के कारणभूत हो। **वयम्**=हम **तव जामयः**=आपके ही तो बन्धुभूत हैं, अर्थात् आप ही हमारे 'आचार्य, पिता, जीवनदाता व बन्धु' सब-कुछ हो। आपने ही तो हमारा पालन-पोषण व शिक्षण करना है। २. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि हे **अदाभ्य**=वासनाओं से हिंसित न होनेवाले जीव! **सुवीरम्**=उत्कृष्ट वीरतावाले तथा **व्रतपाम्**=व्रत का पालन करनेवाले अथवा **शतिनः**=शतसंख्यायुक्त व **सहस्रिणः**=सहस्रसंख्यायुक्त **रायः**=धन-सम्पत्ति सम्यक् प्राप्त होते हैं अथवा **शतिनः**=सौ वर्ष तक चलनेवाले जीवन के कारणभूत तथा **सहस्रिणः**=सदा आनन्द को प्राप्त करानेवाले धन इस 'सुवीर, व्रतपा' को प्राप्त होते हैं। ३. जीव ने प्रार्थना की है कि हे प्रभो! आप ही मेरे सब-कुछ हो। प्रभु न उत्तर दिया कि तू (क) वासनाओं से अहिंसित बन, (ख) उत्तम वीर बन—वासनाओं के विनष्ट होने पर वीर्यरक्षण से तू वीर बनेगा ही। वीर बनकर व्रतों का पालन करनेवाला हो। ऐसा होने पर तुझे आजीवन आनन्दप्रद धन-सम्पत्तियाँ प्राप्त होंगी।

भावार्थ—'सुवीर व व्रतपा' सदा शक्तिशाली बनता है। यह प्रभु को ही पिता, आचार्य व बन्धु मानता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

विश्पति वा प्रजापालक राजा

त्वाम॑ग्ने प्रथ॒मम॒युमा॒यवे॑ दे॒वा अ॑कृण्वन्नहु॑षस्य वि॒श्पति॑म्।
इळा॑मकृण्वन्मनु॑षस्य शास॑नीं पि॒तुर्यत्पु॒त्रो मम॑कस्य॒ जाय॑ते॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वाम्**=आपको ही **देवाः**=देवों ने **आयवे**=उत्तम जीवन के लिए **प्रथमम् आयुम्**='पुरुरवा व उर्वशी' का उत्कृष्ट (प्रथम) पुत्र **अकृण्वन्**=बनाया, अर्थात् देव लोग अपने घरों में पति 'पुरुरवा' के रूप में और पत्नी 'उर्वशी' के रूप में हुए, अर्थात् पति खूब ही प्रभु का स्तवन करनेवाला बना और पत्नी अपने पर पूर्ण शासन करनेवाली बनी। इस प्रकार बनकर इन्होंने आयु को ही, अर्थात् प्रभु के प्रकाश को ही पाने का प्रयत्न किया।

इससे इनका जीवन बड़ा ही सुन्दर बना। इसी बात को यहाँ आलंकारिक रूप में कहा गया कि इन्होंने प्रभु को ही अपना पुत्र बनाया। २. इस प्रकार जीवन के सौन्दर्य के लिए ही देवों ने **नहुषस्य**=(नह बन्धने) एक-दूसरे से बँधकर चलनेवाले मानव-समाज के **विश्पतिम्**=प्रजापालक राजा को **अकृण्वन्**=नियत किया। देवों ने प्रजाओं में से ही एक योग्य व्यक्ति को राजा के रूप में स्थापित किया। ३. इस राजा की अध्यक्षता में **इळाम्**=वेदवाणी को (इ+ला=a law) **मनुषस्य**=मनुष्य की **शासनीम्**=शासन करनेवाली **अकृण्वन्**=किया, अर्थात् यह राजा कोई मनमाना स्वच्छन्द शासन करनेवाला न था, यह वेदवाणी के अनुसार, अर्थात् प्रभु से वेद में प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार ही शासन करता था। ४. इस वैदिक शासन का ही यह परिणाम था **यत्**=कि **ममकस्य पितुः**=ममत्व व स्नेहवाले पिता का **पुत्रः**=जैसे पुत्र होता है उसी प्रकार राजा की यह प्रजा **जायते**=हो जाती है। राजा प्रजा को पुत्रवत् प्रेम करता हुआ उसकी उन्नति के लिए ही शासन करता है।

भावार्थ—जीवन के उत्कर्ष के लिए गृहस्थ में पति-पत्नी प्रभु को अपना उत्कृष्ट पुत्र बनाएँ, अर्थात् प्रभु का अपने में प्रकाश करने का प्रयत्न करें। इस उत्तम स्थिति के लिए वेदानुकूल शासन करनेवाला, प्रजा को पुत्र समझनेवाला राजा नियत किया जाए।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'सर्वरक्षक' प्रभु

त्वं नो॑ अग्ने॒ तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॑श्च वन्द्य।
त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑म॒स्यनि॑मेषं॒ रक्ष॑माण॒स्तव॑ व्र॒ते॥ १२॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! हे **देव**=सब विघ्न-बाधाओं व आपत्तियों को परास्त करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः मघोनः**=हमारे मघवान=मखवान्=यज्ञशील पुरुषों को (मघ=मख) **तव पायुभिः**=अपने रक्षणों से **रक्ष**=रक्षित कीजिए। प्रभु यज्ञशील पुरुषों की रक्षा करते ही हैं। २. हे **वन्द्य**=वन्दना व स्तुति के योग्य प्रभो! **तन्वः च**=हमारे शरीरों को भी **रक्ष**=आप रक्षित कीजिए। आपकी कृपा से ही हम वासनाओं से बचकर शरीरों को नीरोग रख सकेंगे। ३. **तोकस्य**=हमारे पुत्र-पौत्रों के **त्राता**=रक्षक भी आप ही हैं। हम तो निमित्तमात्र होते हैं। हमें निमित्त बनाकर रक्षण तो आप ही करते हैं। ४. **तनये**=हमारी सन्तानों में **गवाम्**=ज्ञानेन्द्रियों के त्राता **असि**=रक्षक हो। उनकी ज्ञानेन्द्रियों को न विकृत होने देनेवाले हो। ५. हे प्रभो! आप उन सबकी **अनिमेषं**=निर्निमेषरूप से, सदा सावधान होकर **रक्षमाणः**=रक्षा करते हो जोकि **तव व्रते**=आपके व्रत में चलते हैं। प्रभु ने एक वाक्य में जीव के लिए यही व्रत निश्चित किया है कि 'वह कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे'-(**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**)। व्यास के शब्दों में (**तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च। तस्माद्धर्मानिमान् सर्वान् नाभिमानात् समाचरेत्॥**) वेद का आदेश यही है कि मनुष्य निरभिमान भाव से कर्म करता रहे, यह कर्मशील पुरुष सदा प्रभु से रक्षित होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बन प्रभु से रक्षणीय हों, प्रभु ही हमारे शरीरों व सन्तानों के रक्षक हैं। हमारी सन्तानों की ज्ञानेन्द्रियों को भी प्रभु ही रक्षित करनेवाले हैं। हम प्रभु के दिये हुए 'कर्म करने के व्रत' का पालन करते हैं तो प्रभु निर्निमेष रूप से हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अवृक-धायस्

त्वम॑ग्ने यज्य॑वे पा॒युरन्त॑रोऽनिष॒ङ्गाय॑ चतुर॒क्ष इ॑ध्यसे ।
यो रा॒तह॑व्योऽवृ॒काय॒ धाय॑से की॒रेश्चि॒न्मन्त्रं॒ मन॑सा व॒नोषि॒ तम् ॥ १३ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **यज्यवे**=यज्ञशील पुरुष के लिए **अन्तरः पायुः**=समीपवर्ती अन्तरंग रक्षक हैं। २. **अनिषङ्गाय**=अनासक्त पुरुष के लिए (अ-सक्त) होकर नियत कर्म को करनेवाले पुरुष के लिए आप **चतुरक्षः**=चारों दिशाओं में आँखोंवाले होकर **इध्यसे**=दीप्त होते हो, अर्थात् इस 'निर्मम, निरंहकार' भक्त के प्रभु 'सर्वतोदिक् रक्षक' हैं। ३. **अवृकाय**=न लोभ करनेवाले **धायसे**=सबका धारण करनेवाले पुरुष के लिए **यः**=जो आप हैं, वे **रातहव्यः**=सब हव्य (पवित्र, ग्रहणीय) पदार्थों के देनेवाले हैं। ४. **कीरेः चित्**=स्तोता के भी **मनसा मन्त्रम्**=मननपूर्वक किये गये स्तुति-मन्त्रों को (**अर्को मन्त्रः अर्चयन्त्यनेन**) **तम्**=उन्हीं स्तुति-वचनों को जो ज्ञानपूर्वक उच्चारित हुए हैं **वनोषि**=आप सेवन करते हो **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** इस योगसूत्र के अनुसार 'ओ३म्' का सार्थक जप ही प्रभु को प्रिय होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, अनासक्तभाव से कर्तव्य कर्म को करें—लालच से नहीं, औरों के धारण करनेवाले हों। अर्थभावन के साथ मन्त्रों से प्रभु-पूजन करें। मन्त्रों का मन्त्रत्व इसी बात में है कि इनसे हम प्रभु का अर्चन कर पाते हैं, इसीलिए मन्त्र को 'अर्क' भी कहा गया है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उरुशंस-वाघत्

त्वम॑ग्न उरु॒शंसा॑य वा॒घते॑ स्पा॒र्हं यद्रेक्णः॑ पर॒मं व॒नोषि॒ तत् ।
आ॒ध्रस्य॑ चि॒त्प्रम॑तिरुच्यसे पि॒ता प्र पाकं॒ शास्सि॒ प्र दिशो॑ वि॒दुष्ट॑रः ॥ १४ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रभो! **त्वम्**=आप **उरुशंसाय**=खूब ही शंसन व स्तवन करनेवाले **वाघते**=मेधावी, बुद्धिमान् ऋत्विक् पुरुष के लिए **तत्**=उस **परमं रेक्णः**=उत्कृष्ट धन को **वनोषि**=प्राप्त कराते हो (जीतते हो) **यत्**=जोकि **स्पार्हम्**=स्पृहणीय है—चाहने योग्य है। प्रभुकृपा से 'स्तोता मेधावी' पुरुष को उत्कृष्ट स्पृहणीय धन प्राप्त होता है। २. **आध्रस्य चित्**=आधार देने योग्य निर्बल, निर्धन पुरुष के भी आप **प्रमतिः**=प्रकृष्ट मति देनेवाले **उच्यसे**=कहे जाते हो। इस प्रकृष्ट मति को देकर ही आप **पिता**=इसके रक्षक होते हो। प्रभु सहायता के पात्र व्यक्तियों का साहाय्य करने के लिए उन्हें उत्कृष्ट बुद्धि देते हैं। इस बुद्धि से वे अपनी स्थिति को ठीक कर पाते हैं। ३. हे प्रभो! आप 'पिता' हैं। पिता के रूप में **पाकम्**=पक्तव्य प्रज्ञावाले बालकों को भी आप **प्रशास्सि**=प्रकृष्ट ज्ञानोपदेश देते हो। ४. **विदुष्टरः**='अतिशयेन अभिज्ञ' वस्तुतः 'सर्वज्ञ' आप **दिशः**=सब दिशाओं को **प्रशास्सि**=शासित कर रहे हो। सब दिशाओं में स्थित प्राणी आपके शासन में ही हैं, अथवा आप **प्रदिशः**=प्रकृष्ट निर्देशों का अनुशासन करते हो। आपकी प्रेरणाएँ सामान्य न होकर प्रकृष्ट होती हैं।

भावार्थ—स्तोता, मेधावी पुरुष को स्पृहणीय धन मिलता है, आधार देने योग्य व्यक्ति को वे बुद्धिरूप आधार देते हैं, बालकों का अनुशासन करते हैं और सब दिशाओं में स्थित

प्राणियों का अनुशासन भी उन्हीं से हो ही रहा है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

स्वर्गोपम जीवन

त्वम॑ग्ने प्रय॑तदक्षिणं॒ नरं॒ वर्मे॑व स्यूतं परि॑ पासि वि॒श्वतः॑।
स्वा॒दु॒क्षद्मा॒ यो व॑स॒तौ स्योनकृज्जीवया॒जं यज॑ते॒ सोप॒मा दि॒वः॥ १५॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **प्रयत-दक्षिणम्**=पवित्र, दूरदर्शितापूर्ण तथा उत्साहयुक्त दान देनेवाले **नरम्**=दान के द्वारा अपनी उन्नति करनेवाले पुरुष को **स्यूतं वर्म इव**=सिले हुए कवच की भाँति **विश्वतः परिपासि**=सब ओर से रक्षित करते हो। जो मनुष्य दान देते हैं प्रभु उनके कवच बनते हैं और उन्हें वासनाओं से व रोगादि से विद्ध नहीं होने देते। २. **यः**=जो पुरुष **स्वादुक्षद्मा**='रस्य, स्निग्ध, स्थिर व हृद्य' लक्षणोंवाले सात्त्विक अन्नों का सेवन करता है, ३. सात्त्विक अन्न के सेवन से सात्त्विकवृत्तिवाला बनकर जो **वसतौ**=बस्ती में **स्योनकृत्**=सुख को करनेवाला है, अर्थात् सभी के जीवन को सुखी बनानेवाला है, ४. जो अपने इस जीवन में **जीवयाजं यजते**=जीवों के यज्ञ को करता है, अर्थात् जीवों का आदर करता है, उनके साथ मिलकर चलता है तथा उनके हित के लिए दान करता है, **सः**=वह पुरुष **दिवः उपमा**=स्वर्ग से उपमित करने योग्य है, अर्थात् कहा जा सकता है कि उसका जीवन स्वर्गोपम है, यह स्वर्ग में निवास करनेवाला है ५. एवं वह गृहस्थ बन जाता है (क) जहाँ कि लोगों की वृत्ति श्रद्धापूर्वक दान देने की है, (ख) जो प्रभु को अपना कवच बनाकर चलते हैं, (ग) सात्त्विक अन्न का सेवन करते हैं, (घ) बस्ती में सभी के हित के कार्य करते हैं, (ङ) जीवों का आदर, प्रेम व हित करने में तत्पर रहते हैं।

भावार्थ—दान, प्रभु में श्रद्धा, सात्त्विक अन्न का सेवन, सर्वहित व प्राणिमात्र का भला करना जीवन को स्वर्गोपम बना देता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मर्त्य से ऋषि बनना

इ॒माम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो न इ॒मम॑ध्वा॑नं॒ यम॒गा॑म दू॒रात्।
आ॒पिः पि॒ता प्रम॑तिः सो॒म्यानां॒ भृमि॑रस्यृषि॒कृन्मर्त्या॑नाम्॥ १६॥

१. हे **अग्ने**=प्रभो! **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **शरणिम्**=(शॄ हिंसायाम्) व्रत-लोप त्रुटि को **मीमृषः**=क्षमा कीजिए अथवा मसल डालिए, समाप्त कर दीजिए। **यम्**=जिस **इमम्**=इस **अध्वानम्**=मार्ग से हम दूर चले गये हैं उस हमारी भूल को क्षमा कीजिए। **आपिः**=आप ही हमारे बन्धु हैं, **पिता**=रक्षक हैं, **प्रमतिः**=प्रकृष्ट मति के देनेवाले आचार्य हैं। आपने ही हम भटके हुओं को मार्ग पर लाना है। एक बन्धु की भाँति, पिता की भाँति, आचार्य की भाँति आपने ही तो हमें सन्मार्ग का दर्शन कराना है। हम भटक भी गये हैं तो आपके क्रोध के पात्र न होकर आपकी दया (Mercy मृष) के ही तो पात्र हैं २. हे प्रभो! **सोम्यानाम्**=सौम्य स्वभाववाले हम लोगों के आप ही **भृमिः असि**=मुख मोड़नेवाले हैं, अर्थात् ठीक दिशा के दिखलानेवाले हैं, हृदयस्थ रूपेण आप ही सतत प्रेरणा देते हुए हमें मार्ग का दर्शन कराते हैं, हमारे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध देते हैं। इस प्रकार पवित्र बनाकर आप **मर्त्यानां ऋषिकृत्**=सामान्य मनुष्यों को ऋषि बना देते हैं। आप ही आप अपनी उस श्रेणी में लाने की कृपा

करेंगे।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे बन्धु, पिता व आचार्य हैं। वे हमारी त्रुटियों को मसल व नष्ट करके, हम विनीत बननेवालों को सन्मार्ग दिखलाते हैं और हमें सामान्य मनुष्य से ऋषि बना देते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मनु-अंगिरा-ययाति व पूर्व बनना

मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्सदने पूर्ववच्छुचे।
अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम्॥ १७॥

१. गतमन्त्र में मार्ग से भटक जाने का उल्लेख था। प्रभु से प्रार्थना की थी कि हे प्रभो! आप हम विनीत भक्तों का मार्गदर्शन कीजिए। प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव और अतएव **अंगिरः**=अंगों में रसवाले तथा **शुचे**=पवित्र जीवनवाले जीव! तू **मनुष्यवत्**=मननशील ज्ञानी पुरुष की भाँति **अंगिरस्वत्**=अंग-अंग में रसवाले, अर्थात् जीवन से परिपूर्ण पुरुष की भाँति **ययातिवत्**=(वायो इव यातिः यस्य) वायु की भाँति सतत क्रियाशील पुरुष की भाँति तथा **पूर्ववत्**=(पूर्वति) अपना पूर्ण करनेवाले की भाँति **सदने**=अपने घर में **अच्छ**=उस प्रभु की ओर **याहि**=जानेवाला बन। एवं, प्रभु की प्रथम प्रेरणा यह है कि तू विचारशील, रसमय अंगोंवाला, वायु की भाँति क्रियाशील व जीवन में अच्छाइयों का पूरण करनेवाला बन। २. अपने इस घर में तू सदा **दैव्यं जनम्**=प्रभु के बन्दों को, अर्थात् प्रभु की ओर चलनेवाले पवित्र दिव्य पुरुषों को **आवह**=सब ओर से अपने घर में प्राप्त करानेवाला हो। इन विद्वान्, व्रती अतिथियों का सम्पर्क तुझे सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त करानेवाला होगा। यह अतिथि-यज्ञ तुझे अन्ततः प्रभु का अतिथि बनाएगा—तू प्रभु को प्राप्त करनेवाला होगा। ३. प्रतिदिन प्रातः-सायं तू उस प्रभु को **बर्हिषि**=अपने इस वासनाशून्य हृदय में **आसादय**=बिठाने का सर्वथा प्रयत्न कर। तू हृदय-देश में प्रभु का ध्यान कर। सदा हृदयस्थ प्रभु के समीप तू भी बैठ। दो क्षण के लिए यह प्रभु के समीप बैठना तुझे पवित्र जीवनवाला बनाएगा। ४. इस प्रकार प्रतिदिन प्रभु के समीप बैठने से तू **प्रियं च यक्षि**=प्रिय बातों की अपने साथ संगत करनेवाला बन। तेरे जीवन में वे ही कर्म स्थान पाएँ, जो माधुर्य को लिये हुए हों। **'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'** इन शब्दों के अनुसार तेरा आना-जाना भी मधुर हो **'वाचा वदामि मधुवत्'** वाणी से तू मीठा ही बोले।

भावार्थ—'हम मनु-अंगिरा-ययाति व पूर्व' बनें। हमारे घर में सज्जनों का आना हो। हृदय में प्रभु का ध्यान हो और हम अपने जीवन में प्रिय बातों को करें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शक्ति व सुमति

एतेनाग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्ती वा यत्ते चकृमा विदा वा।
उत प्र णेष्यभि वस्यो अस्मान्त्सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या॥ १८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप हमारे **एतेन**=इस **ब्रह्मणा**=स्तोत्र से **वावृधस्व**=खूब ही बढ़िए **यत्ते**=जिस आपके स्तोत्र को **शक्ती वा विदा वा चकृम**=शक्ति या ज्ञान द्वारा करते हैं। वस्तुतः जब हम अपने शरीरों को शक्ति-सम्पन्न तथा मस्तिष्कों को ज्ञान-सम्पन्न बनाते हैं

तब हमारे पिता-प्रभु प्रसन्न होते हैं। यह प्रभु का प्रसन्न होना ही उनका बढ़ना है। (नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः) निर्बल से प्रभु प्राप्य नहीं' यह उपनिषद्-वाक्य 'शक्ति' के महत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है और **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**='वह प्रभु सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्मदर्शियों द्वारा देखा जाता है', ये शब्द 'बुद्धि' के महत्त्व के प्रतिपादक हैं। 'शक्ति व ज्ञान' की साधना ही प्रभु का आराधन है। २. जब हम प्रभु का अराधन करते हैं **उत**=तब हे प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **वस्यः अभि**=उत्तम वसुओं की ओर **प्रणेषि**=ले-चलते हो, अर्थात् आपकी कृपा से हम उत्तम वसुओंवाले बनते हैं। ३. हे प्रभो! आप कृपा करके **नः**=हमें **वाजवत्या**=शक्तिवाली **सुमत्या**=सुमति से **संसृज**=युक्त कीजिए। आपकी कृपा से ही तो हमें वह शक्ति व सुमति मिलती है, जिससे हमें आपका आराधन करना है।

भावार्थ—प्रभु का आराधन शक्ति व सुमति से होता है और वे प्रभु हमें अतिशयेन वसुमान् बनाते हैं।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ 'अग्नि, अंगिरा, ऋषि व देव' बनकर प्रभु के आराधन से होता है (१)। वे प्रभु 'मेधिर' हैं और हमारे शरीरों व मस्तिष्कों का निर्माण करनेवाले हैं (२)। प्रभु-दर्शन के लिए प्राणायाम आवश्यक है (३)। प्रभु-दर्शनवाला व्यक्ति प्राणिमात्र के हित करनेवाला होता है, इसे प्रभु नीरोगता, कीर्ति व ज्ञान प्राप्त कराते हैं (७)। प्रभु इसके लिए सम्पूर्ण धनों के देनेवाले होते हैं (९)। प्रभु का आदेश है कि 'सुवीर' बनो, 'व्रतपा' बनो और धन लाभ करो (१०)। प्रभु यज्ञशील के रक्षक हैं (११)। पवित्र दानवाले के लिए कवचरूप हैं (१४)। सौम्य पुरुषों के लिए मार्गदर्शक हैं (१६)। इस प्रभु का सच्चा उपासक 'शक्ति व ज्ञान' की प्राप्ति से ही होता है (१८)। शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति के लिए वृत्र (वासना) का विनाश आवश्यक है। आधिदैविक जगत् में 'इन्द्र' सूर्य है, 'वृत्र' मेघ है। यही अध्यात्म में आत्मा 'इन्द्र' और वासना 'वृत्र' हैं। आत्मा ने वासना का विनाश करके ही प्रभु को पाना है, इस प्रकार अब अगले सूक्त में इन्द्र द्वारा वृत्र के वध का वर्णन है। इस वृत्र का वध होने पर ही जैसे बाहर सूर्य चमक उठता है, उसी प्रकार वासना के विनष्ट होते ही ज्ञान का सूर्य दीप्त हो उठता है—

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्र के शक्तिशाली कार्य

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ १ ॥

१. **नु**=अब **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कार्यों को **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ। **यानि**=जिन **प्रथमानि**=शक्तियों के विस्तार के साधनभूत मुख्य कार्यों को **वज्री**=(वज गतौ) क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथ में लेनेवाले इन्द्र ने **चकार**=किया। इन्द्र व जितेन्द्रिय पुरुष के सब कार्य शक्तिशाली तो होते ही हैं, इन कार्यों से उसकी शक्तियों का और अधिक विस्तार होता है। २. क्रियाशीलता ही वह वज्र है जिस वज्र को हाथ में लेकर यह इन्द्र **अहिं अहन्**=अहि का संहार करता है। यह 'अहि' ही स्थानान्तर में 'वृत्र' है। 'वृत्र' ज्ञान पर आवरण डालता है और यह काम-वासनारूप वृत्र आहन्ति=हमारी सब शक्तियों का संहार करता है, अतः 'अहि' कहलानेवाली होती है। अहि=वृत्र व वासना

के संहार के **अनु**=बाद यह इन्द्र **अपः**=शरीरस्थ रेतः-कणों को (आपः रेतो भूत्वा०) **ततर्द**=(तृद् Treed) अनुकूल गतिवाला करता है। जैसे सूर्य अहिः=बादल को छिन्न-भिन्न करके जलों को पृथिवी पर गिराता है, इसी प्रकार यह इन्द्र वासना को विच्छिन्न करके रेत:कणों को शरीररूप पृथिवी पर पहुँचाता है, इन रेतः-कणों को शरीर में सर्वत्र व्याप्त करता है। ४. इस प्रकार रेत:कणों को शरीर में व्याप्त करके **पर्वतानाम्**=मेरुपर्वत की **वक्षणाः**=इडा, पिङ्गला, सुषुम्णारूप नदियों (नाड़ियों) को **प्राभिनत्**=प्रकर्षेण विदीर्ण करता है। इसकी ये नाड़ियाँ बन्द न रहकर ठीक रूप में कार्य करने लगती हैं। ५. 'तर्द' का अर्थ हिंसा ही लिया जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा—**अपः अनु**=कर्मों के अनुपात में यह **ततर्द**=वासना का संहार करता है और वासना-संहार से यह 'इडा' आदि नाड़ियों को ठीक रूप में कार्य करनेवाला करता है। पर्वत व आद्रि शब्द अविद्या के लिए भी आता है। इस अविद्या को सांख्य व योग में 'पञ्चपर्व' कहा है, अतः पर्वोंवाला होने से पर्वत है, इन्द्र इन पर्वतों की वक्षणा=Sides, flanks पार्श्वों का विदारण करनेवाला होता है। अविद्या का विदारण करके ही यह ज्ञानधाराओं को प्रवाहित करनेवाला बनता है। ६. राजा के पक्ष में 'अहन् अहिम्' आदि शब्दों से बाह्य शत्रुओं के संहार का भाव लेना होगा। (क) राजा वज्रहस्त होकर सर्पवत् कुटिल शत्रु का ध्वंस करता है (अहन् अहिम्), शत्रु-सेनाओं को हिंसित करता है (अपः अनुततर्द) तथा राष्ट्र में पर्वतों की नदियों का विदारण करके उन्हें सिंचाई व विद्युत् आदि के लिए प्रयुक्त करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशीलता के द्वारा तीन महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, (क) कामरूप वासना का नाश, (ख) रेत:कणों की ऊर्ध्वगति, (ग) मेरुदण्ड की इडादि नाड़ियों को कार्यक्षम करना, अथवा अविद्यारूप पर्वत को नष्ट करके ज्ञानधाराओं को प्रवाहित करना।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वात्सल्य-भक्ति

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्राइव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥ २॥

१. गतमन्त्र का इन्द्र **पर्वते**=पञ्चपर्वत अविद्या में **शिश्रियाणम्**=आश्रय करनेवाले **अहिम्**=वासनारूप अहि को **अहन्**=नष्ट करता है। सारी वासनाओं का मूल अविद्या है; अविद्या में ही ये वासनाएँ पनपती हैं। २. **त्वष्टा**=(त्विषेर्वास्याद्दीप्तिकर्मणः त्वक्षतेर्वा) सब ज्ञान-दीप्तियों का अथवा शक्तियों का कर्त्ता प्रभु **अस्मै**=इस इन्द्र के लिए **स्वर्यम्**=सब सुखों की प्राप्ति के साधनभूत अथवा (स्वृ शब्दे) जिसमें निरन्तर प्रभुनाम-स्मरण चल रहा है ऐसे **वज्रम्**=इस क्रियाशीलतारूप वज्र को **ततक्ष**=बनाता है, कर्मों को करता हुआ वह सदा प्रभु-स्मरण करता है, इस वज्र से वह सब वासनाओं का विनाश करने में समर्थ होता है। ३. इस प्रकार वासनाओं के नष्ट हो जाने पर **वाश्रा**=शब्द करती हुई **धेनवः**=नव प्रसूतिका गौएँ **इव**=जिस प्रकार **स्यन्दमानाः**= पानी की तरह तीव्रता से गति करती हुई बछड़े के प्रति जाती है इसी प्रकार **स्यन्दमानाः**=अपने कार्य में प्रवृत्त होती हुई **आपः**=ये क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाली प्रजाएँ (**आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः**) **अञ्जः**=उस ज्ञानज्योति से देदीप्यमान (अञ्ज=व्यक्ति) **स-मुद्रम्**=सदा आनन्दमय प्रभु के प्रति **अवजग्मुः**=नम्रता से प्राप्त होती हैं। 'जैसे गौ बछड़े के प्रति, इसी प्रकार ये क्रियाशील प्रजाएँ प्रभु के प्रति प्राप्त होती हैं' इस उपमा में वात्सल्य-भक्ति का सुन्दर चित्रण है। वात्सल्य-भक्ति में भक्त को प्रभु उसी

प्रकार प्रिय होते हैं जैसे कि माता को पुत्र। एक माता अकेली जा रही हो तो शेर के आने पर भयभीत हो भाग खड़ी होगी और कहीं आस-पास छुपने का प्रयत्न करेगी, परन्तु यही माता पुत्र के साथ होने पर उस शेर से निर्भीक लड़ेगी और भाग न खड़ी होगी। यही वात्सल्य-भक्ति का परिणाम है, इसमें भक्त वीर व निर्भीक बन जाता है।

भावार्थ—इन्द्र अविद्यामूलक वासना का विनाश करता है। सर्वज्ञ प्रभु ने इस कार्य के लिए उसे क्रियाशीलतारूप वज्र दिया है। इस वज्र को हाथ में लिये हुए यह इन्द्र वासनारूप शेर का विनाश करता है और उस प्रभु की ओर जाता है, जो सब ज्ञानों की ज्योति से देदीप्यमान हैं और सदा आनन्द के साथ निवास करते हैं। धेनु अपने नवप्रसूत बछड़े की ओर जैसे प्रेम से जाती है और उसका रक्षण करती है, उसी प्रकार यह कार्यव्यापृत भक्त प्रभु-भावना को अपने में सुरक्षित करता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रिकद्रुकों में सोमपान

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्॥ ३॥

१. **वृषायमाणः**=शक्तिशाली पुरुष की भाँति आचरण करता हुआ, अर्थात् एक वीर पुरुष की भाँति कायरता से ऊपर उठकर कार्यों को करता हुआ यह इन्द्र **सोमम्**=सोम को **अवृणीत**=वरता है, सोम के वरण का भाव सोम-शक्ति, वीर्य-प्राप्ति को अपनाने से है। इस शक्ति को अपनाकर ही वह बुद्धि की सूक्ष्मता का सम्पादन करता हुआ प्रभु का दर्शन करता है। एवं, इस सोम (शक्ति) के वरण से वह उस सोम (प्रभु) का भी वरण कर पाता है। यह इन्द्र **सुतस्य**=उत्पन्न हुए सोम का **त्रिकद्रुकेषु**='ज्योतिः गौः तथा आयु' नामक यज्ञों के चलने पर, अर्थात् जीवन का कार्यक्रम इस प्रकार बनाने पर कि (क) मैं स्वाध्याय के द्वारा निरन्तर ज्ञानज्योति का वर्धन करूँगा, (ख) मैं अपनी ज्ञानप्राप्ति की साधनभूत इन्द्रियों (गावः इन्द्रियाणि) को सदा क्रियाशील रखूँगा, (ग) तथा अपने जीवन को क्रियाशीलता के द्वारा (एति इति आयुः) दीर्घ बनाऊँगा, **अपिबत्**=पान करता है, सोम को शरीर में सुरक्षित करने के ये तीन साधन हैं—(क) स्वाध्याय, (ख) इन्द्रियों को अपने कार्य में लगाये रखना, (ग) तथा दीर्घ जीवन का संकल्प। ये तीन ही त्रिकद्रुक नामक यज्ञ हैं। ३. यह **मघवा**=(मख-मय) यज्ञरूप ऐश्वर्यवाला इन्द्र **सायकम्**=(षोऽन्तकर्मणि) सब वासनाओं के अन्त करने पर **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **आदत्त**=हाथ में लेता है। **एनम्**=इस **अहीनाम्**=नाश करनेवालों में (आहन्ति) **प्रथमजाम्**=सबसे पूर्व उत्पन्न होनेवाले इस कामरूप शत्रु को **अहन्**=नष्ट कर देता है। सबसे प्रथम शत्रु काम ही है, अतः हम प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्म करें—यही वासनाओं को जीतने का उपाय है, वासना को जीतने पर ही हम सोम का पान कर पाएँगे।

भावार्थ—हम हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र को लेकर काम का विध्वंस करें ताकि शरीर में सोम को सुरक्षित कर सकें। हमारा जीवन स्वाध्याय (ज्योति), इन्द्रियों की गतिमयता (गौः) तथा दीर्घायुष्य के संकल्प-(आयुः)-वाला हो।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उषा व सूर्योदय

यदि॒न्द्राह॑न्प्रथम॒जामही॑ना॒मान्मा॒यिना॒मिमि॑नाः॒ प्रोत मा॒याः।
आत्सूर्यं॑ ज॒नय॒न्द्यामु॒षासं॑ ता॒दीत्ना॒ शत्रुं॒ न किला॑ विवित्से॥४॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष **यत्**=जब तूने **अहीनाम्**=इन नष्ट करनेवाली वासनाओं में **प्रथमजाम्**=सर्वप्रथम स्थान में होनेवाले काम को **अहन्**=नष्ट किया २. **उत आत्**= और इस काम को नष्ट करने के ठीक बाद **मायिनाम्**=मायावियों की **मायाः**=मायाओं को भी **प्र अमिनाः**=प्रकर्षेण (खूब) समाप्त किया, अर्थात् अपने जीवन से तूने छल-कपट को पूर्णरूप से दूर कर दिया। ३. **आत्**=अब काम को नष्ट करने के बाद और छल-कपट को पूर्णरूप से समाप्त करने के बाद **सूर्यम्**=तूने अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में **जनयन्**=ज्ञान-सूर्य का प्रादुर्भाव किया है तथा **द्याम् उषासम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष में इस प्रकाशमय (द्याम्) उषःकाल को प्रादुर्भूत किया है, जैसे उषःकाल के उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार तूने इस हृदयान्तरिक्ष से वासनाओं को विनष्ट कर दिया है। ४. **तादीत्ना**=जब से तूने ज्ञानसूर्य व वासना-विनाशरूप उषा को अपने में उत्पन्न किया है तब से **किल**=निश्चयपूर्वक तू **शत्रुम्**=अपने नाशक भावों को (शातयति इति शत्रुः=Shatters) **न विवित्से**=नहीं प्राप्त करता है। वस्तुतः विनाशक शत्रुओं में मुख्य 'काम' के नष्ट हो जाने पर तथा जीवन से छल-छिद्र के दूर हो जाने पर हमारे जीवन में ज्ञान का सूर्य चमक उठता है और हृदयस्थ सब वासनाओं का दहन हो जाता है (उष दहे)। अब इन वासनारूप शत्रुओं के पनपने का प्रश्न ही नहीं रहता। वासनारूप शत्रुओं का सेनानी 'काम' है, काम के विध्वंस से यह शत्रु-सैन्य पराजित हो जाता है।

भावार्थ—हम काम व माया का ध्वंस करें। ज्ञान-सूर्य का उदय व वासना-दहन होने पर सब शत्रु समाप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शत्रु को धराशायी कर देना

अह॑न्वृ॒त्रं वृ॑त्र॒तरं॒ व्यं॑स॒मिन्द्रो॒ वज्रे॑ण मह॒ता व॒धेन॑।
स्कन्धां॑सीव॒ कुलि॑शेना॒ विवृ॑क्णाहिः॑ शयत उप॒पृक्पृ॑थि॒व्याः॥५॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ने **वृत्रतरम्**=(अतिशयेन आवरकम्-द०) ज्ञान पर अतिशयेन आवरण डालनेवाला **वृत्रम्**=इस काम-वासनारूप शत्रु को **महता वधेन**=महान् वध करनेवाले **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **व्यंसं अहन्**=इस प्रकार नष्ट कर दिया कि उसके कन्धे ही कट गये। 'कन्धे ही कट गये' यह एक प्रयोगविशेष है जैसेकि 'कमर ही टूट गई'। यहाँ अभिप्राय यह है कि इन्द्र ने वृत्र को बुरी तरह से परास्त कर दिया। इन्द्र का यह क्रियाशीलतारूप अस्त्र भी तो एक प्रबल घातक अस्त्र (महान् वध) है। क्रियाशीलता के सामने वासनाओं का खड़ा रहना सम्भव ही नहीं। २. मन्त्र में दृष्टान्त देते हैं कि **इव**=जैसे **कुलिशेन**=कुल्हाड़े से **स्कंधासि**=वृक्ष के तने **विवृक्णा**=अतिशयेन छिन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ क्रियाशीलतारूप वज्र से वासनारूप वृक्ष का तना ही नष्ट हो जाता है और यह वासना-वृक्ष मानो पृथिवी पर गिर पड़ता है। ये **अहिः**=(आहन्ति) हमारा नाश करनेवाला

'अहि' कामवासना के रूप में हमारे ज्ञान पर परदा डाल देनेवाला 'वृत्र' वज्र से कटे हुए कन्धेवाला होकर **पृथिव्याः उपपृक्**=पृथिवी का स्पर्श करनेवाला होकर **शयते**=सदा के लिए सो जाता है, अर्थात् चारों खाने चित्त होकर समाप्त हो जाता है। 'शत्रु को धराशायी कर देना' यह भी शब्दविन्यास (मुहावरा) है। यहाँ क्रियाशीलता कामवासना को धराशायी कर देती है।

भावार्थ—इन्द्र क्रियाशीलतारूप महनीय घातक अस्त्र से वासना को बुरी तरह से नष्ट कर देता है, उसके कन्धे ही मानो काटकर उसे धाराशायी कर देता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्र-वृत्र-संग्राम

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥ ६ ॥

१. **अयोद्धा इव**=यह कामवासना अप्रशस्त योद्धा की भाँति **दुर्मदः**=दुष्ट मदवाली होती हुई **महावीरम्**=उस महान् वीर इन्द्र को **हि**=निश्चय से **आजुह्वे**=युद्ध के लिए ललकारती है, उस इन्द्र को जो **तुविबाधम्**=महान् शत्रुओं का बाधन करनेवाला है तथा **ऋजीषम्**=(शत्रूणामपार्जकम्) शत्रुओं को दूर भगानेवाला है। इन्द्र, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष के सम्मुख काम की क्या शक्ति! परन्तु जैसे जो योद्धा जितना कम वीर होता है, वह उतना ही अधिक अभिमानवाला होता है, उसी प्रकार यह कामदेव भी उस इन्द्र के सम्मुख अत्यन्त तुच्छ स्थितिवाला है, तदपि गर्जता है, इसे अपनी प्रबल शक्ति का अत्यन्त गर्व है। २. परन्तु इसका यह सारा गर्व चूर-चूर हो जाता है जबकि इसे इस इन्द्र से टक्कर लेनी पड़ती है, यह **अस्य**=इस इन्द्र के **वधानाम्**=क्रियाशीलतारूप वज्रों के **समृतिम्**=संगम व सम्प्राप्ति को न **अतारीत्**=पार नहीं कर पाता, अर्थात् इन्द्र के अस्त्रों के प्रहार से यह अपने को बचा नहीं पाता। ३. **इन्द्रशत्रुः**=इन्द्र है शासन करनेवाला जिसका ऐसा वह 'वासनाओं का सेनानी' काम **संरुजानाः**=(रुजो भंगे) कामवासना के साथ ही रणांगण में भग्नीभूत व्यूहवाली, अतएव भाग खड़ी हुई वासनाओं को ही **पिपिषे**=पीस डालता है। काम के नष्ट होने पर अन्य वासनाएँ आप ही नष्ट हो जाती हैं। जैसे एक दुर्मद हस्ती रण में भाग खड़ा होने पर अपनी ही सेना को कुचलने लगता है, उसी प्रकार यह 'काम' इन्द्र से पराजित होकर अपनी ही सेना को पीस डालता है। काम के भाग खड़े होने पर क्रोधादि उसी पराजित व भागते हुए काम से पिस-पिसा जाते हैं।

भावार्थ—हम वस्तुतः इन्द्र बनें। शत्रुओं के भगानेवाले हम 'काम' पर प्रबल आक्रमण करें, यह नष्ट होता हुआ 'काम' अपने अन्य क्रोधादि साथियों को आप ही नष्ट कर दे।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वध्रि का वृषा पर उपहासास्पद आक्रमण

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥ ७ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पराजित हुए वृत्र का ही चित्रण करते हैं कि **अपाद्**

अहस्तः=बिना हाथ और पाँव का होता हुआ भी यह वृत्र (काम) **इन्द्रम्**=उस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले इन्द्र पर **अपृतन्यत्**=क्रोधादि की पृतना (सेना) से आक्रमण करता है। यह काम बिना हाथ-पैरवाला होता हुआ भी प्रबल शक्ति से युक्त है। इसका नाम ही 'प्रद्युम्न'=प्रकृष्ट शक्तिवाला है। इसकी शक्ति इन्द्र की तुलना में प्रबल न भी हो, तो भी यह गतमन्त्र के अनुसार 'दुर्मद' तो है ही। अनुचित अभिमानवाला होने के कारण यह इन्द्र पर आक्रमण करता ही है। २. कामदेव ने महादेव पर आक्रमण किया ही, चाहे वह परिणाम में भस्म ही हो गया। इसी प्रकार यहाँ यह काम इन्द्र पर आक्रमण करता है और इन्द्र **अस्य**=इस काम के **सानौ**=शिखर पर (सिर पर) **वज्रम् अधि आजघान**=वज्र से खूब ही प्रहार करता है। इन्द्र क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा इसके मस्तक को ही छिन्न कर देता है। ३. काम का यह आक्रमण तो ऐसा था मानो **वध्रिः**=कोई छिन्नमुष्क=नपुंसक **वृष्णः**=शक्तिशाली का **प्रतिमानं बुभूषन्**=मुक़ाबिला करने की इच्छा करे। ऐसा करने पर जैसे उस नपुंसक की दुर्गति होती है उसी प्रकार यहाँ यह **वृत्रः**=ज्ञान पर आवरण डालनेवाला काम **पुरुत्रा व्यस्तः**=अनेक अवयवों में विशेषरूप से ताड़ित होकर इधर-उधर फेंका हुआ **अशयत्**=पृथिवी पर मृत्यु की नींद में सो गया है। इन्द्र और वृत्र के इस संघर्ष में इन्द्र वृत्र को प्रताड़ित करता है और वृत्र छिन्नावयव होकर भूमिशायी हो जाता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें। वृत्र (काम) हमपर आक्रमण करे तो उसे नष्ट ही होना पड़े।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पावों-तले न कि सिर पर

न॒दं न भि॒न्नम॑मु॒या शया॑नं॒ मनो॒ रुहा॑णा॒ अति॑ य॒न्त्याप॑ः ।
याश्चि॑द्वृ॒त्रो म॑हि॒ना प॒र्यति॑ष्ठ॒त्तासा॒महि॑ः पत्सु॒तः शी॒र्ब॑भूव ॥ ८ ॥

१. जब वृत्र पराजित हो जाता है तब उस स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि **नदं न भिन्नम्**=वह नदी जिसके कि किनारे टूट जाते हैं, जिस प्रकार भूमि पर बिखरी-सी पड़ी होती है, अर्थात् जिस प्रकार उसका जल इधर-उधर फैलकर नष्ट वेगवाला हो जाता है उसी प्रकार **अमुया शयानम्**=(नष्ट होकर) इस पृथिवी के साथ सोते हुए इस काम को **आपः**=कर्मों में लगी हुई प्रजाएँ (आपो वै नरसूनवः) **अति यन्ति**=लाँघकर पार हो जाती हैं। कोई समय था जबकि किनारों के अन्दर चलती हुई नदी के वेग के समान काम का वेग भी प्रबल था, परन्तु अब तो इन्द्र के क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा इस वृत्र पर आघात करके इसके अवयवों को इधर-उधर फेंक दिया है; यह अब टूटे हुए किनारोंवाली नदी के समान हो गया है; इसके छिन्न हो चुके वेग को लाँघना अब कठिन नहीं रहा। २. इसके आक्रमण से अब तक प्रजाएँ दबी-सी हुई थीं, परन्तु अब इसके विनाश से **मनो रुहाणाः**=वे प्रजाएँ अपने मनो को फिर से उन्नति-पथ पर आरोहण करनेवाला बना पाई हैं। उनका मन अब दबा हुआ नहीं, अपितु खूब उत्साहयुक्त है। काम के आक्रमण से जो उन्नति रुकी हुई थी वह अब इस काम के विनाश से फिर दिन दूनी रात चौगुनी होने लगी है। ३. यह **वृत्रः**=काम **याः चित्**=जिनकी प्रजाओं को **महिना**=अपनी शक्ति की महिमा से **पर्यतिष्ठत्**=पूरी तरह से चारों ओर से घेर-घारकर टिका हुआ था, आज वह **अहिः**=(आहन्ति) आक्रमण करनेवाला काम **तासाम्**=उन्हीं प्रजाओं के **पत्सुतः शीः**=(पादस्याधः शयानः) पावों-तले सोनेवाला **बभूव**=हो गया है, अर्थात् आज उन प्रजाओं ने इस काम को पावों-तले कुचल दिया है।

भावार्थ—काम का पराजय होने पर प्रजाओं के मन पुनः उन्नति-पथ पर आरोहण करनेवाले बनते हैं। यह सिर पर चढ़नेवाला काम आज पाँवों-तले सोया पड़ा है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'माता व पुत्र' दोनों का अन्त

नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः॥ ९॥

१. यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'वृत्र' की माता का भी उल्लेख है। 'वृत्र' काम का ही नाम है और इसकी माता आसक्ति है—'**संगात् संजायते कामः**'। यह आसक्ति प्रायः अवाञ्छनीय वस्तुओं के प्रति ही होती है। संसार में प्रायः हीनाकर्षण ही हैं। यहाँ मन्त्र में इसे 'नीचावयाः' कहा गया है। नीच है **वयस्**=मार्ग (way) [नीयते गम्यते अस्मिन्] जिसका, ऐसी यह **वृत्रपुत्रा**=वृत्र नामक पुत्रवाली आसक्ति **अभवत्**=है। ज्ञान पर आवरणभूत होने से कामवासना 'वृत्र' है। आसक्ति इसे जन्म देती है। यह आसक्ति अपने नीचे कामवासना को उसी प्रकार छिपाये हुए है जैसे कोई माता बच्चे को गोद में लिये हुए होती है। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अस्याः**=इस आसक्ति के **अव**=नीचे **वधः**=अपने वज्र नामक अस्त्र को **जभार**=(जहार) प्रहृत करता है, अर्थात् आसक्ति के नीचे छिपे इस काम को यह क्रियाशीलतारूप वज्र द्वारा नष्ट कर देता है। ३. इस वृत्र के नाश के समय **सूः उत्तरा**=आसक्तिरूप माता ऊपर थी, **पुत्रः**=वृत्र (काम) नामक पुत्र **अधरः आसीत्**=नीचे था। वृत्र के नष्ट हो जाने पर यह आसक्ति जोकि **दानुः**=(दाप् लवने) सब उत्तमताओं व दिव्यगुणों का खण्डन करनेवाली थी, **शये**=उसी हृदयस्थली में निवास कर रही है, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **सहवत्सा धेनुः**=बछड़े सहित एक नवसूतिका गौ हो। गौ को बछड़ा प्रिय है, बछड़े के मर जाने से वह दुःखी होती है; अपने नीचे उसे छिपाना चाहती है, परन्तु आखिर उस मृत बछड़े को तो फेंकना ही होगा। इस मृत पुत्र की विरक्ति में आसक्ति भी कुछ परिवर्तित-से जीवनवाली हो जाती है। यह आसक्ति काम के नष्ट हो जाने पर प्रभु के प्रति लगाव के रूप में होकर सचमुच '**उत्तरा**'=उत्कृष्ट हो जाती है, आसक्ति मानो नष्ट हो जाती है और भक्ति का उदय हो जाता है। आसक्ति ही भक्ति बन जाती है। काम गया, आसक्ति भी गई। काम नष्ट होकर प्रेम हो गया और आसक्ति नष्ट होकर भक्ति बन गई। प्रेम 'बछड़ा' है तो भक्ति 'धेनु' है। अब हमारे हृदय में इस सहवत्सा धेनु का—प्रेममयी भक्ति का निवास है।

भावार्थ—हम काम को नष्ट करके आसक्ति को भक्ति के रूप में परिवर्तित करनेवाले हों। भक्त वह है जो सभी से प्रेम करता है (सर्वभूतहिते रतः)।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

न ठहरना, न बैठना

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥ १०॥

१. गतमन्त्र में वृत्र की मृत्यु का वर्णन किया गया था। यह मरकर भी तो विद्यमान रहता है—इस बात का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। कामदेव भस्म होकर भी है ही। इस **वृत्रस्य**=कामदेव का **शरीरम्**=यह मृत शरीर **अतिष्ठन्तीनाम्**=अपने कार्यक्रम में न रुकती हुई,

अर्थात् निरन्तर अपनी दैनिकचर्या में लगी हुई **अनिवेशनानाम्**=(उपवेशनरहितानां-सा०) न बैठ जानेवाली **काष्ठानाम्**=(काष्ठा=दिश:= तत्रस्था: प्रजा:) इन विस्तृत दिशाओं में स्थित प्रजाओं के **मध्ये**=अन्दर **निण्यम्**=(निर्नामधेयम्—नि० अन्तर्हितम्) छिपा हुआ **निहितम्**=रखा है, अर्थात् कामदेव नष्ट हो गया; अब उसका स्वरूप दिखता तो नहीं, परन्तु इसे एकदम मृत समझ लेना भी भूल है, यह काम तो अन्तर्निहित-सा हुआ (प्रसुप्त चेतना में Subconscious spirit में) अन्दर है ही। यह **'इन्द्रशत्रु:'**=जितेन्द्रिय पुरुष जिसका नष्ट करनेवाला है, ऐसा कामदेव **दीर्घं तम:**=घने अँधेरे में, अर्थात् अत्यन्त दबी हुई अवस्था में **आशयत्**=शरीर में निवास कर रहा है। २. यह फिर से प्रबुद्ध न हो जाए इस दृष्टिकोण से **आप:**=व्यापक कर्मों में लगनेवाली प्रजाएँ **विचरन्ति**=विशेषरूप से कर्म करती हैं! ये प्रजाएँ जानती हैं कि जबतक हम अन्य कर्मों में लगी रहेंगी तब तक यह 'काम' सुप्त रहेगा। सो ये न तो ठहरती हैं न बैठती हैं, अपितु कार्य में लगी ही रहती हैं। ठहरी व बैठी और काम जगा। क्रिया ही काम का विध्वंसक अस्त्र है। कर्म ही काम का कृन्तन करता है, इसलिए प्रभु ने जीव से कहा कि **कर्मासि**=तू तो कर्म ही है, कर्म नहीं तो तू भी नहीं, तब तो यह 'काम' तेरा काम-तमाम कर देगा।

भावार्थ—हम उत्तम कार्यों में लगे रहें ताकि यह 'काम' भस्म बना हुआ अत्यन्त अन्धकार में ही पड़ा रहे, जाग न जाए।

ऋषि:—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरस:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

कैद में रखना, न कि रहना

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आप: पणिनेव गाव:।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥ ११॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर हुई थी कि यह भस्मीभूत काम घने अँधेरे में पड़ा है और हमें सावधान रहना चाहिए कि यह कहीं जाग न जाए; यदि यह जाग जाता है तो हमारा अधिपति बन जाता है और हमारा नाश ही कर देता है, अत: मन्त्र में कहते हैं कि **दासपत्नी:**=(दसु उपक्षये) सबके क्षय का कारणभूत यह वृत्र जब हमारा पति बन जाता है और यह **अहिगोपा:**=सबका हनन करनेवाला 'अहि' नामक काम ही हमें अपने क़ैदखाने में रखनेवाला होता है, तो ये दासपत्नी अहिगोपा **आप:**=प्रजाएँ (आपो वै नरसूनव:) **निरुद्धा:**=इस काम से कैद की हुई **अतिष्ठन्**=रहती हैं, उसी प्रकार इस काम की क़ैद में वे रहती हैं **इव**=जैसेकि **गाव: पणिना**=गौवें किसी बणिये से बाड़े में रोकी जाती हैं। २. **अपां बिलम्**=इन प्रजाओं का इस काम के क़ैदखाने का द्वार **यत्**=जो **अपिहितम्**=वृत्र के द्वारा बन्द किया हुआ **आसीत्**=था, **तत्**=उस ब्रह्मद्वार को **अपववार**=वही पुरुष खोल पाता है जो **वृत्रं जघन्वान्**=इस वृत्र (कामदेव) को नष्ट करता है। वृत्र के नाश से ही हम इसके क़ैदखाने से मुक्त हो सकते हैं। वृत्र के साथ किसी समझौते की आशा करना व्यर्थ है। यह तो जागते ही हमें मारेगा। ३. मरा हुआ यह काम हमारे जीवन का कारण होगा; तब यह प्रेम में परिणत होकर हमारी स्वाध्याय व यज्ञादि की रुचि का साधन होगा—'काम्यो हि वेदाधिगम: कर्मयोगश्च वैदिक:'। यदि तनिक भी यह जीवित हुआ तो हमें मार डालेगा। इसीलिए मनु कहते हैं कि 'कामात्मता न प्रशस्ता' काममय हो जाना अच्छा नहीं। इसकी क़ैद में न रहकर इसे क़ैद में रखना ही ठीक है।

भावार्थ—काम ध्वंसक है, घातक है। इसकी क़ैद से निकलना ही ठीक है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सप्त सिन्धु-संसरण

अश्व्यो॒ वारो॑ अभव॒स्तदि॑न्द्र सृ॒के यत्त्वा॑ प्र॒त्यह॑न्दे॒व एकः॑।
अज॑यो॒ गा अज॑यः शूर॒ सोम॒मवा॑सृजः॒ सर्त॑वे स॒प्त सिन्धू॑न्॥ १२ ॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जब **सृके**=(सृ गतौ) तेरे हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र के होने पर भी **त्वा**=तुझे **एकः देवः**=यह अद्वितीय, निराला-सा तुझे जीतने की कामनावाला कामदेव **प्रत्यहन्**=प्रहृत (प्रहार) करता है **तत्**=तब तू उस कामदेव के लिए **अश्व्यः वारः**= घोड़े के बाल के समान **अभवः**=होता है। जैसे एक घोड़ा अपनी पूँछ के बालों से अनायास ही मक्खी-मच्छरों को दूर कर लेता है, उसी प्रकार तू इस कामदेव को आसानी से पराजित करनेवाला होता है। २. इस काम को पराजित करके तू **गाः**=उन इन्द्रियों को जिनको यह कामवासना चुरा-सा ले गई थी **अजयः**=जीतनेवाला होता है। इन्द्रियों को तू फिर से स्वाधीन कर पाता है। इन्हें काम के बन्धन से मुक्त कर लेता है। ३. जितेन्द्रिय होकर हे **शूर**=शत्रुओं को संहार करनेवाले जीव! तू **सोमम् अजयः**=सोम का विजय करता है। शरीर में उत्पन्न सोम (वीर्य) को तू नष्ट नहीं होने देता। ३. इस प्रकार इन्द्रियों को जीतकर तथा सोमशक्ति की रक्षा करके तू **सप्त सिन्धून्**=(कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सात ज्ञानेन्द्रियों व ऋषियों से प्रवृत्त होनेवाली ज्ञानधाराओं को **सर्तवे**=निरन्तर प्रवाहित होने के लिए **अवासृजः**=छोड़ता है। इन्द्रियों को वश में करने व वीर्य के रक्षण से बुद्धि तीव्र होकर मनुष्य का ज्ञान निरन्तर बढ़ता चलता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता द्वारा आसानी से काम का पराजय हो पाता है। मनुष्य जितेन्द्रिय होकर वीर्य-रक्षण करता है तो सब ज्ञानेन्द्रियों से सतत ज्ञान-जलधाराओं का प्रवाह बह पड़ता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मघवा की विजय

नास्मै॑ वि॒द्युन्न त॑न्य॒तुः सि॑षेध॒ न यां मिह॒मकि॑रद्ध्रा॒दुनिं॑ च।
इन्द्र॑श्च॒ यद्यु॑यु॒धाते॒ अहि॑श्चो॒ताप॒रीभ्यो॑ म॒घवा॒ वि जि॑ग्ये॥ १३ ॥

१. 'अहि' शब्द अध्यात्म में कामवासना का वाचक है, जो वासना मनुष्य का **आहनन**=सर्वतः विनाश करनेवाली है। यह 'अहि' आधिदैविक जगत् में मेघ का वाचक है। यह अहि नामक मेघ सूर्य के प्रकाश को उसी प्रकार आवृत करने का प्रयत्न करता है जैसेकि वासना मनुष्य के ज्ञान पर आवरण डाल देती है। 'इन्द्र' अध्यात्म में आत्मा है; यह इस वासना से निरन्तर युद्ध करता है। **यत्**=जब **इन्द्रः च अहिः च**=यह आत्मा और यह वासना **युयुधाते**=युद्ध करते हैं तब **अस्मै**=इस इन्द्र के लिए **न विद्युत् न तन्यतुः**=न तो इस अहि नामक मेघ की बिजली, न ही गर्जना **सिषेध**=रोकनेवाली होती है **न**=न ही **याम्**= जिस **मिहम्**=ओले आदि की वर्षा को **अकिरत्**=यह अहि विकीर्ण करता है **च**=और **ह्रादुनिम्**=अशनि-पातों शब्दों को करता है; ये वर्षा व वज्र-ध्वनियाँ भी इस इन्द्र को रोकनेवाली नहीं होतीं। **मघवा**=(मघ-मख) इस युद्धरूपी यज्ञ को करनेवाला इन्द्र अहि

को तो मारता ही है **उत**=और **अपरीभ्यः**=इस अहि की अन्य फौजों से भी यह युद्ध में **विजिग्ये**=विजय प्राप्त करता है। काम के पराजय के साथ (क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर) आदि का भी पराजय हो जाता है। २. गलियों में नल के पानी आदि पर होनेवाली तामस् लड़ाइयाँ बिजली की कड़क व ओलों की बौछार से समाप्त हो जाती हैं। लड़नेवाले सब घरों को जाने की करते हैं। राजाओं के परस्पर युद्ध भी वर्षाऋतु में रुक जाते हैं, परन्तु यह अध्यात्म में चलनेवाला 'इन्द्र और अहि' का संग्राम अहि की गर्जना आदि से रुक नहीं जाता। रुकना तो दूर रहा, उस समय यह संग्राम कुछ तीव्रता से चलता है। इन्द्र को ये विद्युत्-पतन आदि भयभीत नहीं कर पाते। इन्द्र इस संग्राम में अधिक यत्नशील होकर विजयी होता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें। वासनारूप 'अहि' का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वासनानदी-संतरण

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि॥ १४॥

१. इस वासना को जीतना सुगम नहीं। सुगम क्या, इसका जीतना असम्भव-सा प्रतीत होता है, परन्तु जब प्रभु को अपना मित्र बनाकर यह 'इन्द्र' इस वासना से संग्राम करता है तब उसे अवश्य मार ही पाता है। वस्तुतः इन्द्र का मित्र प्रभु ही अपने मित्र के लिए इस कामरूप शत्रु का विनाश करते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले जीव! तू **अहेः यातारम्**=इस आहनन करनेवाली वासना के प्रति जानेवाले और उसपर आक्रमण करनेवाले **कम्**=उस आनन्दस्वरूप प्रभु को **अपश्यः**=देख। **यत्**=जब भी **ते हृदि**=तेरे हृदय में **भीः अगच्छत्**=भय प्राप्त हो, तू प्रभु का ध्यान कर। अरे! उस प्रभु की मित्रता में डर का प्रश्न ही कहाँ? **जघ्नुषः**=(हतवतः) तूने उस कामरूप शत्रु को मार ही लिया है, डरता क्यों है? २. उस प्रभु की मित्रता में **यत्**=आज तू **नव च नवतिं च**=नौ और नब्बे, अर्थात् निन्यानवे प्रकार से **स्रवन्तीः**=बहती हुई इन वासना-नदियों को प्राप्त करके **श्येनः**=(श्यैङ् गतौ) निरन्तर गतिशील होता हुआ तथा **न भीतः**=न डरा हुआ **रजांसि**=(उदकानि) उन वासनारूप नदियों के राजसभावरूप जलों को **अतरः**=तैर गया है। ३. संसार की वासनाओं को जीतने का उपाय यही है कि हम (क) सुकर्मशील बने रहें; (ख) क्रिया- शीलतारूप वज्र हाथ में होन पर हम इनसे डरें नहीं; तथा (ग) उस प्रभु को अपने मित्र के रूप में देखें। वस्तुतः उस प्रभु ने ही तो इन वासनाओं को विनष्ट करना है।

भावार्थ—वासनाओं के विनाशक प्रभु हैं, यह देखते हुए हम निर्भयता के साथ सुकर्मशील बने रहें तब अवश्य ही हम इन असंख्यात वासना-नदियों के राजसभावरूप जलों को तैरनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शासक व रक्षक प्रभु

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परि ता बभूव॥ १५॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि तेरी वासनाओं का संहार करनेवाला तेरा वह मित्र प्रभु ही

है। उस प्रभु के लिए कहते हैं कि **इन्द्रः**=सब ऐश्वर्यों का स्वामी वह प्रभु **यातः**=जंगम तथा **अवसितस्य**=एक स्थान में बद्ध अर्थात् स्थावर; सब चराचर जगत् का **राजा**=स्वामी है तथा उनको व्यवस्थित करनेवाला है (राज्=to regulate)। २. **सः**=वह **वज्रबाहुः**=(वज् गतौ) वज्रहस्त प्रभु ही, स्वाभाविकी क्रियावाले प्रभु ही **शमस्य**=शान्त स्वभाववाले प्राणियों के **च शृङ्गिणः**=और सींगवाले, अर्थात् क्रूर व अभिमानी पुरुषों के **इत्**=निश्चय से **राजा**=शासन करनेवाले हैं। ३. ये प्रभु ही **चर्षणीनाम्**=सब श्रमशील मनुष्यों को **क्षयति**=(अन्तर्भावितण्यर्थः) उत्तम निवास देनेवाले हैं। वस्तुतः उन सबकी गतियों के स्रोत भी वे प्रभु हैं; कार्य करने की सब शक्ति उस प्रभु से ही प्राप्त होती है। ४. **अरान् न नेमिः**=जिस प्रकार **नेमि**=हाल अरों के चारों ओर होकर उनकी रक्षा की जाती है, इसी प्रकार वे प्रभु **ताः**=उन सब प्रजाओं को **परिबभूव**=चारों ओर से व्यापन करनेवाले हैं। वे प्रभु ही सबके रक्षक हैं। प्रभु से रक्षित होने पर हमारा नाश हो ही कैसे सकता है? वासनाएँ भी हमपर आक्रमण कैसे कर सकती हैं?

भावार्थ—वे प्रभु ही चराचर के राजा हैं। वे हमारे उत्तम निवास का कारण हैं और हमारे रक्षक हैं।

विशेष—इस सूक्त में इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है। इन्द्र का सर्वमहान् कार्य यही है कि उसने 'वासना' का विनाश किया है, अविद्या के प्रवाहों को विदीर्ण कर दिया है (१)। वासनाओं को नष्ट करनेवाली प्रजाएँ प्रभु को प्राप्त करती हैं (२)। काम के विनाश से ही ज्ञान के सूर्य का प्रकाश प्रकट होता है (४)। वृत्र की माता अविद्या इस इन्द्र के द्वारा नष्ट की जाती है (९)। जीवात्मा का मित्र प्रभु है। वस्तुतः वह प्रभु ही जीव के लिए वासना का विनाश करता है (१४)। इस वासना-विनाश के द्वारा प्रभु ही कर्मशील मनुष्यों को उत्तम निवास प्राप्त कराते हैं (१५)। इसलिए अगले सूक्त में 'हिरण्यस्तूप' इस प्रभु की ही आराधना करता है—

॥ इति प्रथमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः॥

अथ प्रथमाष्टके तृतीयोऽध्यायः

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुमति वर्धन

एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माकं सु प्रमतिं वावृधाति।
अनामृणः कुविदादस्य रायो गवां केतं परमावर्जते नः॥ १॥

१. वृत्र ने, वासना ने, हमारे ज्ञान पर पर्दा डाला हुआ था। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी इस वृत्र द्वारा मानो चुरा-सी ली गई थीं। अब 'हिरण्यस्तूप' अपने साथियों से कहता है कि **आ इत**=आओ। **गव्यन्तः**=अपनी ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं को प्राप्त करने की कामना से **इन्द्रम्**=उस वासनारूप शत्रुओं के नष्ट करनेवाले प्रभु के **उप अयाम्**=समीप प्राप्त हों, उस प्रभु की उपासना करें। २. वे प्रभु ही **अस्माकम्**=हमारी **प्रमतिम्**=शोभन बुद्धि को **सु वावृधाति**=नित्य उत्तमता से बढ़ाते हैं, वासनारूप आवरण को नष्ट करके वे हमें फिर से बुद्धि प्राप्त करानेवाले हैं। ३. जीव तो वासनाओं से आक्रान्त हो जाता है, परन्तु वे प्रभु **अनामृणः**=(अविद्यमानाः समन्तात् मृणाः, हिंसकाः यस्य) हिंसकों से रहित हैं। ये वृत्र या अहि उस प्रभु पर आक्रमण नहीं कर पाते। **आत्**=और इसीलिए **अस्य**=इस प्रभु के **रायः**=ज्ञानादि धन **कुवित्**=बहुत, अनन्त ही हैं। ४. वे प्रभु **नः**=हमें अर्थात् अपने उपासकों को भी **गवाम्**=इन वेदवाणियों के **परं केतम्**=उत्कृष्ट ज्ञान को **आवर्जते**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं। प्रभु के उपासन से मनुष्य वासनाओं का शिकार होने से बच जाता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक कार्य करनेवाली होती हैं और परिणामतः उसका ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें—यह उपासना हमारी सुमति का वर्धन करेगी।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

जुष्टा-वसति

उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि।
इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन्॥ २॥

१. गतमन्त्र की उपासना को ही इन शब्दों में कहते हैं कि **अहम्**=मैं **इत्**= निश्चय से **उपपतामि**=समीप जाता हूँ। उस प्रभु के समीप जाता हूँ जो (क) **धनदाम्**=मेरे लिए सब धनों के देनेवाले हैं। (ख) **अप्रतीतम्**=(अ प्रति इतम्) किन्हीं भी शत्रुओं से तिरस्कृत न किये जानेवाले हैं, अथवा (न प्रतीयते स्म) चक्षु आदि इन्द्रियों के अगोचर हैं। (ग) **इन्द्रम्**=जो परमैश्वर्यशाली हैं। (घ) **यः**=जो **यामन्**=इस जीवन-यात्रा के मार्ग में **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **हव्यः**=(कर्त्तरि यत्) सब उत्तम पदार्थों को देनेवाले **अस्ति**=हैं। २. उस प्रभु के समीप मैं इस प्रकार जाता हूँ **न**=जैसेकि **श्येनः**=एक पक्षी **जुष्टां वसतिम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये घोंसले में आता है। प्रभु ही जीव का वह घोंसला है जहाँ कि वह शान्तिपूर्वक रह पाता है। ३. उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **उपमेभिः**=उपमानस्थानीय अर्थात् अनुपम **अर्कैः**=स्तोत्रों से **नमस्यन्**=पूजा करता हुआ मैं प्राप्त होता हूँ। प्रभु के ये स्तोत्र मेरी अन्तर्दृष्टि के सामने प्रभु को चित्रित करनेवाले होते हैं। इनसे प्रभु के स्वरूप का आभास मिलता है। ४. 'यामन्' शब्द

संग्राम-वाचक भी है, अतः **यः**=जो प्रभु **यामन्**= वासनाओं के साथ संग्राम में **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **हव्यः अस्ति**=पुकारने योग्य हैं। प्रभु की मदद से ही हमें इन वासनाओं को जीतना है। सत्य तो यह है कि प्रभु ही हमारे लिए इन वासनाओं को पराजित करते हैं। वे प्रभु ही अप्रतीत हैं।

भावार्थ—हम अनुपम स्तोत्रों से प्रभु का अर्चन करते हुए प्रभु की उपासना करें। जीवन-संग्राम में प्रभु ही हमारे द्वारा आराधन के योग्य हैं, वे ही हमें आवश्यक धनों को देनेवाले हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

बणियाँ नहीं, सर्वसेन

नि सर्वसेन इषुधीँरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि ।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध ॥ ३ ॥

१. 'सर्व' यह परमेश्वर का नाम है, चूँकि वह प्रभु सबमें समाया है ('सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'-गीता)। उस सर्वव्यापक प्रभु के द्वारा जो **स**, **इनः**=स्वामीवाला है। वह 'सर्वसेन' है (सर्व+स इनः) 'सर्व' रूप 'इन' के 'साथ'। यह अपने जीवन में **इषुधीन्**=(इषु=प्रेरणा, धि=धारण) प्रेरणा को धारण करनेवाले अन्तःकरणों को (मन, बुद्धि, चित्त आदि को) **नि असक्त**=निश्चय से अपने साथ जोड़ता है। जैसे एक सम्पूर्ण व सरणशील सेनावाला राजा (सर्वसेन) तरकसों को (इषुधीन्) पीठ पर जोड़ता है (नि, असक्त) और शत्रुओं को जीतने की कामना करता है, उसी प्रकार यह भक्त सर्वव्यापक प्रभु को अपना स्वामी बनानेवाला (सर्व-स-इनः) प्रेरणा के धारक मन, बुद्धि आदि को अपने साथ जोड़ता है और **अर्यः**=जितेन्द्रिय, अपना स्वामी होकर **गाः**=अपनी इन्द्रियरूप गौवों को **सम् अजति**=सम्यक् गतिशील बनाता है (अज गतौ), इन्हें उत्तम कर्मों में व्यापृत करता है। उत्तम कर्मों में लगाये रखकर ही यह उनके मलों को दूर करता है (अज-क्षेपण)। २. इन्द्रियों को सत्कर्मों में प्रेरित करनेवाला यह व्यक्ति समझता है कि वह प्रभु **यस्य वष्टि**=जिसका भी हित चाहते हैं, अर्थात् जिसे कल्याण प्राप्त कराने योग्य समझते हैं उसके लिए **भूरि**=भरण-पोषण के लिए पर्याप्त **वामम्**=सुन्दर धन को **चोष्कूयमाणः**=देनेवाले होते हैं। ३. इस प्रकार समझता हुआ यह मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यस्तूप' प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **प्रवृद्ध**=सदा पूर्ण वृद्धि से युक्त प्रभो! **अस्मद् अधि**=हमारे विषय में **पणिः मा भूः**=बणिये की मनोवृत्तिवाले मत होइए। हमारा तो आपकी उदारता ही उद्धार करेगी। मैं अपनी भक्ति से तो अपना उद्धार न कर पाऊँगा। मेरे कर्म भी तो आपकी कृपा से ही पवित्र हो पाएँगे।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना स्वामी जानें। उसकी प्रेरणाओं को सुनें, इन्द्रियों को उत्तम कर्मों में व्यापृत रक्खें। प्रभु हमें सुन्दर धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दस्यु-वध

वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र ।
धनोरधि विषुणक्ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः ॥ ४ ॥

हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **उपशाकेभिः**=शक्ति को प्राप्त करानेवाले इन समीपस्थ

मरुतों=प्राणों के साथ **चरन्**=विचरण करता हुआ **एकः**=(इ गतौ) गतिशील, दृढ़ (firm, unchanged) व सत्य स्वभाववाला (true) तू **धनिनम्**=इस सांसारिक धन को ही सम्पत्ति समझनेवाले **दस्युम्**=नाशक लोभ के भाव को **घनेन**=ज्ञान की वाणियों के पाठ-विशेष से, विशेष प्रकार के जप से **हि**=निश्चयपूर्वक **वधीः**=नष्ट करता है। प्राणसाधना से हममें एकत्व='गतिशीलता, दृढ़ता व सत्य' की उत्पत्ति होती है। इस एकत्व के होने पर हम लोभ को नष्ट कर पाते हैं, यह लोभ ही तो सब व्यसनों का मूल है, इसके नाश से सब व्यसन समाप्त हो जाते हैं, लोभ की समाप्ति 'घन' से होती है, जैसे एक शत्रु की समाप्ति एक कठोर अस्त्रविशेष से होती है, उसी प्रकार यहाँ लोभ की समाप्ति ज्ञान की वाणियों के पाठविशेष व जप से होती है। इन वाणियों के द्वारा निरन्तर प्रभुस्मरण चलता है तथा तात्त्विक दृष्टि बनाकर यह वाणी हमें लोभ से ऊपर उठाती है। २. हे इन्द्र! **धनोः अधि**='प्रणवो धनुः' प्रणव=ओङ्कार-प्रभु के नामरूप धनुष पर पड़नेवाले **ते**=वे लोभादि के भाव **विषुणक्**=(वि सु नश्) विशेषरूप से पूर्णतया नष्ट होनेवाले होकर **व्यायन्**=विविध दिशाओं में भाग खड़े होते हैं। प्रभु का नाम तेरा धनुष बनता है और तब आक्रमण करनेवाले ये लोभादि के भाव विनष्ट होकर भाग खड़े होते हैं। ३. इस इन्द्र को यह तात्त्विक दृष्टि प्राप्त हो जाती है कि **अयज्वानः**=जो यज्ञशील नहीं हैं तथा **सनकाः**=(सनन्ति सेवन्ते परपदार्थान्-द०) दूसरों के धनों का भी अन्याय से अपहरण करनेवाले हैं, देवों से दिये हुए पदार्थों को उनके लिए न देकर स्वयं सब खा जानेवाले हैं, वे **प्रेतिम् ईयुः**=मरण, नाश को प्राप्त होते हैं। 'यज्ञशील न होना व दान न देना' यह मृत्यु का ही मार्ग है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के द्वारा अपने को दृढ़ बनाएँ; लोभादि भावों को तात्त्विक दृष्टि से नष्ट करने के लिए यत्नशील हों; 'ओम्' रूप प्रभु-नाम को अपना धनुष बनाएँ; यह समझें कि अयज्ञियता व परस्वादान हिंसा का मार्ग है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अव्रतों का विध्वंस

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।
प्र यद्दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब इन्द्र लोभ व वासना का नाश करता है तब हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जीव! हृदयदेश में **यज्वभिः**=यज्ञानुष्ठान करने की दिव्य भावनाओं से **स्पर्धमानाः**=स्पर्धा करती हुई **ते**=वे **अयज्वानः**=अयज्ञिय भावनाएँ **शीर्षाः**=अपने शिरों को **पराचित् ववृजुः**=पराङ्मुख करके हृदयदेश को दौड़ जाती हैं। ये सब अयज्ञिय भावनाएँ **वृत्र**=(वासना) की अनुचर हैं। हृदयदेश में इनका यज्ञिय भावनाओं से युद्ध चलता रहता है। ये हृदय में अपना आधिपत्य जमाना चाहती हैं, परन्तु लोभ व वृत्र के नष्ट होने पर ये सब वासनाएँ उसी प्रकार पराङ्मुख होकर भाग जाती हैं जैसेकि सेनापति के नष्ट होने पर सेना रण-प्राङ्गण से भाग खड़ी होती है, २. परन्तु यह होता तभी है **यत्**=(यदा) जब ये **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले **स्थातः**=युद्ध में स्थिर रहनेवाले **उग्र**=तेजस्विन् इन्द्र! तू **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा **रोदस्योः**=द्यावा-पृथिवी में से, मस्तिष्क व शरीर में से **अव्रतान्**=व्रतशून्य भावनाओं को **प्र**=प्रकर्षेण **निर्, प्र अधमः**=निःशेषतया भस्म करनेवाला होता है (ध्मा अग्निसंयोगे)। शरीर से तू रोगों को दूर करता है, मस्तिष्क से अज्ञानान्धकारों को।

इन रोगों व अज्ञानान्धकारों के नाश के लिए ही तू अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को प्रशस्त बनाने का प्रयत्न करता है—इस वासना-संग्राम में तू स्थिर होकर इनके साथ युद्ध करता है तथा तेजस्वी बनकर तू इन वृत्रानुचरों का ध्वंस करता है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम इन्द्रियाश्वों को शुद्ध व प्रशस्त बनाकर धृति का अवलम्बन करके (स्थातः) तेजस्विता के द्वारा अशुभ भावनाओं का विध्वंस करनेवाले बनें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शत्रुओं का भाग खड़े होना

अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेनामयातयन्त क्षितयो नवग्वाः ।
वृषायुधो न वध्रयो निरष्टाः प्रवद्भिरिन्द्राच्चितयन्त आयन् ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **अनवद्यस्य**=प्रशस्त जीवनवाले इन्द्र की **सेनाम्**=दिव्यगुणों की सेना के साथ **अयुयुत्सन्**=वृत्र (वासना) के अनुचरों ने—क्रोध, मोह, मद आदि ने युद्ध करने की कामना की तो **नवग्वाः**=(नवनीय गतयः, स्तोतव्यचरित्राः—सा०) स्तुत्य आचरणवाले **क्षितयः**=उत्तम निवास व गतिवाले पुरुषों ने **अयातयन्त**=(to torture) इन वृत्रानुचरों को अत्यन्त पीड़ित किया, अर्थात् इन क्रोधादि को युद्ध में परास्त कर दिया। २. **वृषायुधः**=(वृषेण सह युद्धं कुर्वन्तः) शूरवीर पुरुष के साथ युद्ध करते हुए **वध्रयः**=नपुंसक **न**=जैसे नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार **इन्द्रात्**=जितेन्द्रिय पुरुष से **निरष्टाः**=निराकृत हुए-हुए (निरस्ताः) परे फेंके हुए ये वृत्र के अनुचर **चितयन्तः**=अपनी अशक्ति को जानते हुए, इन्द्र के सामने अपनी दाल न गलती देखकर **प्रवद्भिः**=निम्न मार्गों से—भागने के लिए सुगम मार्गों से **आयन्**=चले जाते हैं, अर्थात् जैसे महादेवजी के सामने कामदेव खड़े होने का साहस नहीं रखते, इसी प्रकार इन्द्र के सामने अशुभ भावनाएँ खड़ी नहीं रह पाती हैं।

भावार्थ—नवग्वा क्षितिः=प्रशस्त गतिवाले मनुष्य वासनाओं को इस प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसे एक वीर एक नपुंसक को।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रोतों व हँसतों को

त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चायोधयो रजस इन्द्र पारे ।
अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः ॥ ७ ॥

१. वासनाओं का संसार ऐसा है कि इसमें फँसकर मनुष्य एक मिनट खद्र-पी व हँस रहा है (जक्ष=भक्षहसनयोः) तो दूसरे ही मिनट रो रहा होता है (रुद्), अतः इन वृत्र (वासना) के अनुचरों को यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में (रुदतः-जक्षतः) इन शब्दों से स्मरण किया गया है। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **एतान्**=इन **रुदतः जक्षतः**=रोते व हँसते, रुलाते व हँसाते काम-क्रोधादि को **अयोधयः**=युद्ध में सम्मुख करता है, और तू इन्हें **रजसः पारे**=लोकों के पार पहुँचा देता है, अथवा अन्तरिक्ष के पार फेंक देता है। 'सात-समुद्र पार पहुँचा देने' की भाँति लोकों के पार पहुँचा देना भी यहाँ एक सुन्दर पद-विन्यास (ईडियम्) है। इन्द्र के सामने ये वृत्रानुचर ठहर नहीं सकते और दूर भाग खड़े होते हैं। २. हे इन्द्र! तू **दिवः, आ**=अपने ज्ञान के प्रकाश से **दस्युम्**=विनाशक कामरूप शत्रु को **अवादहः**=दग्ध कर देता है। ३. इस प्रकार काम को नष्ट करके **प्रसुन्वतः**=प्रकर्षेण सोमाभिषव करते हुए यज्ञादि करते हुए तथा **उच्चा**

स्तुवतः=खूब उच्च स्वर में स्तवन करते हुए पुरुष के **शंसम्**=प्रशंसनीय जीवन को **आवः**=अपने में सुरक्षित करता है।

भावार्थ—वासनाओं में फँसकर हम एक मिनट हँस रहे होते हैं तो दूसरे मिनट रो रहे होते हैं। इनको नष्ट करके हमें यज्ञशील व स्तवन करनेवाले के प्रशस्त जीवन को अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान-ज्योति के पात्र

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात्सूर्येण॥ ८॥

१. **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर को **परीणहम्**=चारों ओर से बन्धन में **चक्राणासः**=करते हुए, अर्थात् शरीर की सब क्रियाओं को अत्यन्त नियम में रखते हुए २. **हिरण्येन**=हित व रमणीय **मणिना**=वीर्यशक्ति से **शुम्भमानाः**=शोभायमान होते हुए, वीर्य शरीर में सब रोगकृमियों का नाशक होने के कारण हितकर है तथा शरीर को रमणीय बनानेवाला है। यह शरीर में मणि-तुल्य है। स्वास्थ्य के द्वारा यह अपने धारण करनेवाले को उसी प्रकार सुशोभित करता है जैसेकि कोई मणि अपने धारक को सुशोभित करती है। ३. **ते**=ये शरीर की क्रियाओं को मर्यादित करनेवाले तथा वीर्यरूप मणि से शोभायमान पुरुष **हिन्वानासः**=(हि गतिवृद्ध्योः) निरन्तर क्रियाशीलता से वृद्धि को प्राप्त होते हुए **इन्द्रं न तितरुः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का कभी उल्लंघन नहीं करते, अर्थात् सदा प्रभु के आदेशों के अनुसार अपने जीवनक्रम को चलाते हैं। ४. प्रभु भी **स्पशः**=(one who fights with savage animals) काम, क्रोध आदि पशुओं से, (पाशविक वासनाओं से) निरन्तर संग्राम करनेवाले पुरुषों को **सूर्येण**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश से **परि अदधात्**=सर्वतः धारण करता है।

भावार्थ—(क) शारीरिक क्रियाओं का सर्वतः नियमन करनेवाले (ख) हित रमणीय वीर्यशक्ति से अपने को सुशोभित करनेवाले (ग) गति द्वारा वृद्धिशील (घ) प्रभु की मर्यादाओं का उल्लंघन न करनेवाले (ङ) वासनाओं से संग्राम करनेवाले पुरुषों को प्रभुकृपा से ज्ञान की ज्योति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दोनों का पालन व दस्युदहन

परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजीर्महिना विश्वतः सीम्।
अमन्यमानाँ अभि मन्यमानैर्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत्**=जब तू **उभे रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को **परि अबुभोजीः**=सब प्रकार से पालित करता है, अर्थात् जब तू अपने शरीर को स्वस्थ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है तब **महिना**=प्रभुपूजन के द्वारा (मह पूजायाम्) **विश्वतः**=सब ओर से **सीम्**=(सीम् इति परिग्रहार्थीयः) शक्ति व ज्ञान का ग्रहण करके **अमन्यमानान्**=ज्ञानशून्य पुरुषों को **मन्यमानैः**=प्रभु का ज्ञान देनेवाले **ब्रह्मभिः**=ज्ञानप्रद मन्त्रों से **अभि अधमः**=(ध्मा शब्दे) प्रकृति व आत्मतत्त्व दोनों का ज्ञान देता है। ज्ञान का प्रचार वही कर सकता है जो उज्ज्वल मस्तिष्क व स्वस्थ शरीरवाला

हो। यह अज्ञानियों को ज्ञानप्रद मन्त्रों से प्रकृति व आत्मा दोनों का ज्ञान देने का प्रयत्न करता है (अभि)। यह ज्ञान का प्रचार अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का लक्ष्य करके करता है। २. हे **इन्द्र**=जीवात्मन्! तू इन्हीं, ज्ञानप्रद मन्त्रों से **दस्युम्**=दास्यव भावनाओं को, नाशक वृत्तियों को **निरधमः**=(ध्मा अग्निसंयोगे) निश्चय से भस्म करनेवाला होता है।

भावार्थ—इन्द्र वह है जो (क) मस्तिष्क व शरीर दोनों का पालन करता है, (ख) अज्ञानियों के लिए ज्ञान की वाणियों से आत्मा व प्रकृति दोनों का प्रकाश करता है, (ग) ज्ञान की वाणियों से ही अपनी दास्यव भावनाओं को भस्म करता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

माया से 'धनदा' का अतिरस्कार

न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापुर्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन्।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्॥ १०॥

१. **ये**=जो लोग **दिवः**=द्युलोक के तथा **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अन्तः**=अन्त को **न आपुः**=नहीं प्राप्त कर लेते। 'द्युलोक' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है, इनके अन्त को न प्राप्त करने का अभिप्राय यह है कि जो उनकी उन्नति से सन्तुष्ट नहीं हो जाते, जो सदा इनकी उन्नति में लगे ही रहते हैं २. तथा जो **मायाभिः**=इन संसार की मायाओं से **धनदाम्**=सब धनों के देनेवाले प्रभु को **न पर्यभूवन्**=तिरस्कृत नहीं कर देते, अर्थात् जो धन में आसक्त होकर धन के दाता प्रभु को भूल नहीं जाते, जिनकी दृष्टि से हिरण्मय पात्र के द्वारा सत्य का स्वरूप छिप नहीं जाता। ३. इनमें से प्रत्येक **वज्रम्**=(वज गतौ) क्रियाशील पुरुष को **वृषभः**=सब सुखों की वर्षा करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **युजम्**=अपने से मेलवाला **चक्रे**=करता है, प्रभु ऐसे पुरुषों का साथी होता है। ४. प्रभु की मित्रता को प्राप्त करने पर मन्त्र का ऋषि हिरण्यस्तूप **ज्योतिषा**=ज्ञान की ज्योति के द्वारा **तमसः**=अँधेरे से **गाः**=इन्द्रियों को **निः**=बाहर करके **अधुक्षत्**=पूरित करता है, अर्थात् इन इन्द्रियों की न्यूनताओं को दूर करता है। प्रभु की मित्रता से ही इन्द्रियों की न्यूनताएँ दूर होती हैं। न्यूनताओं के दूर करने का साधन 'ज्ञान की ज्योति' बनती है।

भावार्थ—हमें शरीर व मस्तिष्क की उन्नति से कभी सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। धन को प्राप्त करके प्रभु को न भूल जाना चाहिए, प्रभु ऐसों का ही मित्र बनता है। प्रभु से मित्रता होने पर इन्द्रियाँ अन्धकार से बाहर होती हैं और हम इनका पूरण कर पाते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्वधा व नाव्यजल

अनु स्वधामक्षरन्नापो अस्यावर्धत मध्य आ नाव्यानाम्।
सध्रीचीनेन मनसा तमिन्द्र ओजिष्ठेन हन्मनाहन्नभि द्यून्॥ ११॥

१. **अस्य**=गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का मित्र बननेवाले की **स्वधाम्**=आत्म-धारण-शक्ति के **अनु**=अनुसार **आपः**=शरीरस्थ रेतःशक्ति के कण (आपः रेतो भूत्वा०) **अक्षरन्**=शरीर से मलों को दूर करने के लिए गतिशील होते हैं, अर्थात् जब हम आत्मचिन्तन द्वारा चित्तवृत्ति को विषयों से हटाकर स्व-आत्मा को हृदय में धारण करते हैं तब वीर्य के कण शरीर में व्याप्त होकर शरीर के मलों को दूर करनेवाले होते हैं। २. और यह 'स्व' का धारण करनेवाला इन

नाव्यानाम्=भवसागर को तैरने के लिए दी गई इस शरीररूप नाव के लिए हितकर इन रेतःकणों के **मध्ये**=मध्य में **आ अवर्धत**=सब प्रकार की वृद्धि को प्राप्त करता है—शरीर को यह नीरोग बना पाता है, इसका मन निर्मल होता है और इसकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म बनती है। ३. **इन्द्रः**=यह सर्वतोमुखी उन्नति करनेवाला इन्द्र **सध्रीचीनेन**=सदा परमात्मचिन्तन के साथ चलनेवाले अतएव **ओजिष्ठेन**=ओजस्वी **हन्मना**=वृत्ररूप शत्रु के हनन के साधनभूत **मनसा**=मन के द्वारा **द्यून् अभि**=ज्ञान की ज्योतियों का लक्ष्य करके **तम्**=उस वृत्र को **अहन्**=नष्ट करता है। वृत्र के नाश से ही ज्ञानज्योति दीप्त होती है। वृत्र के हनन के लिए परमात्मा का साहाय्य ही हमें समर्थ बनाता है, अतः यह 'सध्रीचीन मन' आवश्यक ही है। प्रभुचिन्तन हमें ओजस्विता प्राप्त कराता है। ओजस्वी बनकर हम वृत्र को नष्ट कर पाते हैं।

भावार्थ—हम जितना-जितना हृदय में आत्मतत्त्व के धारण का प्रयत्न करते हैं, उतना-उतना शक्तिशाली बनकर वृत्र='वासना' का नाश करते हैं और तभी वीर्य के रक्षण से सब प्रकार की उन्नति सम्भव होती है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृत्र व शुष्ण का नाश (अनालस्य व ओजस्विता)

न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः।
यावत्तरो मघवन्यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम्॥ १२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'स्व' का धारण करके **इन्द्रः**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न जीव **इलीबिशस्य**=(इला-बिल-शयस्य-यास्क) शरीररूप पृथिवी के हृदयरूप बिल में शयन करनेवाले इस मनसिज=कामवासना के **दृळ्हा**=प्रबल सैन्यों व दुर्गों को **न्यविध्यत्**=यह निश्चय से विद्ध करता है और इन्द्र इस **शृङ्गिणम्**=सींगोंवाले, अर्थात् भयंकर, नाशक अस्त्रोंवाले **शुष्णम्**=शोषक शत्रु को **वि अभिनत्**=विदीर्ण करता है। कामवासना से मनुष्य सूखता जाता है। यदि वासना अपूर्ण है तो विरहवेदना सुखाती है और पूर्ण हो जाए तो शक्ति का नाश सुखानेवाला हो जाता है, सो काम को यहाँ 'शुष्ण' कहा है। जब यह प्रबल होता है तो सचमुच सींगोंवाले पशु की भाँति भयंकर होता है। ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न बनकर प्रभुरूप मित्रवाला यह इन्द्र इस काम का नाश कर पाता है। २. हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले जीव! **यावत् तरः**=जितना तेरा वेग होगा, **यावत् ओजः**=जितना तू ओजस्वी बनेगा, उतना ही तू इस **पृतन्युम्**=वासनाओं की सेना से आक्रमण करनेवाले **शत्रुम्**=नाशक शत्रु को **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **अवधीः**=नष्ट करेगा। 'तरः' का उलटा आलस्य है, 'ओज' का उलटा निर्बलता है। आलस्य व निर्बलता में ही वासना अधिक सताती है। क्रियाशीलता व शक्ति वासना के शत्रु हैं। इनके होने पर वासना का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—हम हृदय-गुहा में छिपे इस शोषक कामरूप शत्रु को अनालस्य व ओजस्विता से नष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

बुद्धि का विकास

अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून्वि तिग्मेन वृषभेणा पुरोऽभेत्।
सं वज्रेणासृजद् वृत्रमिन्द्रः प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः॥ १३॥

१. **अस्य**=इस इन्द्र का **सिध्मः**=वज्र (वज् गतौ 'वज्र', सिधु गत्याम् से 'सिध्म') **शत्रून्**=शातन व नाश करनेवाली कामादि वासनाओं के प्रति **अभि अजिगात्**=जाता है और उनपर आक्रमण करता है, अर्थात् इन्द्र क्रियाशीलतारूप वज्र से वासनाओं पर आक्रमण करता है। २. यह इन्द्र **तिग्मेन**=अत्यन्त तीव्र **वृषभेण**=श्रेष्ठ वज्ररूप अस्त्र से **पुरः**=इस वृत्र की नगरियों को **वि अभेत्**=विदीर्ण करता है। (३) **इन्द्रः**=यह वृत्र का विजेता इन्द्र **वृत्रम्**=ज्ञान पर आवरण डालनेवाली वृत्र नामक काम-वासना को **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **समसृजत्**=संयुक्त करता है, अर्थात् वज्र से उसपर प्रहार करता है और वज्रप्रहार से **शाशदानः**=इस वासना को हिंसित करता हुआ **स्वाम् मतिम्**=अपनी बुद्धि को **प्र अतिरत्**=खूब बढ़ाता है। वासना ने ही तो बुद्धि पर पर्दा डाला हुआ था; इस पर्दे के हटते ही बुद्धि का प्रकाश चमक उठता है। ४. इस वासना को नष्ट करने के लिए 'सर्वश्रेष्ठ तीव्र' (वृषभ, तिग्म) अस्त्र क्रियाशीलतारूप वज्र ही है। 'वज् गतौ' धातु से 'वज्र' शब्द बनता है, 'सिधु गत्याम्' से 'सिध्म' शब्द बनता है। यह 'सिध्म' 'वज्र' का सब प्रकार से पर्याय है।

भावार्थ—क्रियाशीलता से वासना नष्ट होती है और हमारी बुद्धि का विकास होता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

कुत्स व दशद्यु का रक्षण

आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन्प्रावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम्।
शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्यामुच्छ्वैत्रेयो नृषाह्याय तस्थौ ॥ १४॥

१. **इन्द्र**=हमारे सब वासनारूप शत्रुओं का नाश करनेवाले प्रभो! आप **कुत्सम्**=(कुथ हिंसायाम्) सब बुराइयों का संहार करनेवाले जीव को **आवः**=सुरक्षित करते हो, उस कुत्स को **यस्मिन्**=जिसमें कि **चाकन्**=हम कामयमान, अर्थात् प्रेमवाले होते हैं। २. आप **युध्यन्तम्**=वासनाओं से निरन्तर युद्ध करनेवाले **वृषभम्**=श्रेष्ठ व शक्तिशाली **दशद्युम्**=दसों दिशाओं में दीप्त होनेवाले, सर्वत्र ज्ञान दीप्तिवाले को **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हो। जब एक व्यक्ति वासनाओं से निरन्तर संघर्ष करता है तब उसके मल नष्ट होकर सब इन्द्रियाँ दीप्त हो उठती हैं। यह दशद्यु **शफच्युतः**=(शं फणति गच्छति इति शफः, च्योतते इति च्युतः) शान्ति को प्राप्त होनेवाला तथा मल को क्षरित करके निर्मल होनेवाला होता है। **रेणुः**=(री गतौ) निरन्तर गतिशील होता है और **द्याम् नक्षत**=ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करता है। ४. **श्वैत्रेयः**=श्वित्रा की सन्तान, अत्यन्त शुद्ध जीवनवाला व्यक्ति **नृषाह्याय**=शत्रुओं के नेताओं (नृ) के पराभव के लिए **उत्तस्थौ**=उठ खड़ा होता है। जब हम शुद्ध जीवनवाले बनते हैं तब वासनारूप शत्रुओं के सेनापति काम, क्रोध, लोभ का पूर्ण पराभव करने के लिए उद्यत होते हैं।

भावार्थ—हम कुत्स बनें, वासनाओं का हिंसन करनेवाले हों। 'दशद्यु' हों, दसों इन्द्रियों को दीप्त करनेवाले हों। शान्ति की ओर चलनेवाले (शफ), मलरहित (च्युत), शुद्ध (श्वैत्रेय) बनकर ज्ञान को प्राप्त करें और काम, क्रोध, लोभ को जीतें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

शम व वृषभ का रक्षण

आवः शमं वृषभं तुग्र्यासु क्षेत्रजेषे मघवञ्छ्वित्र्यं गाम्।
ज्योक् चिदत्र तस्थिवांसो अक्रञ्छत्रूयतामधरा वेदनाकः ॥ १५॥

१. हे **मघवन्**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! आप **आवः**=रक्षित करते हो। किसको? (क) **शमम्**=शान्त स्वभाववाले पुरुष को, (ख) **वृषभम्**=श्रेष्ठ व शक्तिशाली को, (ग) **तुग्र्यासु**=(अप्सु, आपः=रेतः) रोग-कृमियों का संहार करनेवाले रेतःकणों के होने पर **क्षेत्रजेषे**=रणभूमि में-विजय के निमित्त **गाम्**=(गतम्) जानेवाले को, अर्थात् वीर्यरक्षा के द्वारा व्याधियों व आधियों के जीतनेवाले को (घ) **श्वित्र्यम्**=अत्यन्त शुद्ध जीवनवाले को। २. इस प्रकार प्रभु से रक्षित होने पर **अत्र**=यहाँ इस मानव-योनि में हम **चित्**=निश्चय से **ज्योक्**=खूब देर तक **तस्थिवांसः**=ठहरनेवाले होकर **अक्रन्**=सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हैं ३. तथा **शत्रूयताम्**=शत्रु की भाँति आचरण करनेवालों को **अधरा वेदना**=तीव्र पीड़ाएँ **अकः**=करते हो। कामादि को पीड़ित करके ही हम अपने उत्कर्ष के मार्ग पर जा पाते हैं।

भावार्थ—हम (शम, वृषभ, श्वित्र) तथा रेतःकणों की रक्षा करके शत्रुओं के साथ रणांगण में विजयशील बनें। ऐसा होने पर हम प्रभु की रक्षा के पात्र होंगे और वासनारूप शत्रुओं का पूर्ण पराजय करके इस दीर्घ जीवन में सदा क्रियाशील होंगे।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ 'उपासना से सुमति-वर्धन' के साथ होता है (१)। उपासित प्रभु ही हमें धनों को देनेवाले हैं (२)। वे ही हमारे सच्चे स्वामी हैं (३)। उस प्रभु का 'ओम्' नाम ही हमारा धनुष हो (४)। इस धनुष के द्वारा धृतिपूर्वक हम शत्रुओं का संहार करें (५)। हम शत्रुओं का संहार ऐसे करें जैसे कि एक वीर नपुंसकों को नष्ट कर देता है (६)। शत्रुओं को नष्ट करके हम यज्ञशील व स्तोता बनें (७)। शरीर का पूर्ण नियमन करनेवाले बनें (८)। शरीर व मस्तिष्क दोनों का रक्षण करें (९)। धन हमें प्रभु से दूर करनेवाला न हो (१०)। आत्मतत्त्व का धारण हमें वृत्र-विनाश-क्षम बनाये (११)। अनालस्य व ओजस्विता से वृत्ररूप शत्रु का नाश होगा (१२)। वस्तुतः क्रियाशीलता ही वासना को नष्ट करती है (१३)। कुत्स ही प्रभु की रक्षा का पात्र होता है (१४)। शम अर्थात् शान्तस्वभाववाले की प्रभु रक्षा करते हैं। (१५)। इस शान्ति की प्राप्ति के लिए प्राणसाधना आवश्यक है—

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ज्ञान, शक्ति व उदारता

त्रिश्चिन्नो अद्या भवतं नवेदसा विभुर्वां याम उत रातिरश्विना।
युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससोऽभ्यायंसेन्या भवतं मनीषिभिः॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अद्य**=आज **नः**=हमारे **त्रिः चित्**=तीन बार निश्चय से **नवेदसा**=(न विद्यते वेदितव्यं अवशिष्टं ययोस्तौ, नवेदा इति मेधाविनाम, नि० ३.१५) पूर्णज्ञान के देनेवाले **भवतम्**=होओ। इस प्राणापान की साधना से, वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर बुद्धि तीव्र होती है और मनुष्य प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर पाता है। 'त्रिः' शब्द में इन 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान का ही संकेत है। २. **वाम्**=तुम दोनों का **यामः**=रथ **विभुः**=(सर्वमार्गव्यापनशीलः–द०) सब मार्गों को व्याप्त करनेवाला है, अर्थात् प्राणसाधना होने पर यह शरीररूपी रथ सदा कार्यों में व्यापृत रहता है। प्राणसाधना से आलस्य दूर होकर शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है ३. **उत**=और हे **अश्विना**=अश्विदेवो! **वाम्**=तुम दोनों का **रातिः**=दान भी **विभुः**=व्यापक है, अर्थात् प्राणसाधना करने पर मनुष्य का मन विशाल होकर उदार होता है और मनुष्य खूब ही दान की वृत्तिवाला होता है। ४. हे प्राणापानो! **युवोः**=तुम दोनों का

यन्त्रम्=परस्पर नियमन व सम्बन्ध **हि**=निश्चय से इस प्रकार है **इव**=जैसेकि **वाससः**=सूर्यकिरणों से आच्छादित दिन का **हिम्या**=रात्रि से। दिन का रात्रि से सम्बन्ध न नष्ट होनेवाला है, इसी प्रकार प्राण का अपान से सम्बन्ध अटूट है। प्राण के स्वास्थ्य पर अपान का स्वास्थ्य व अपान के स्वास्थ्य पर प्राण का स्वास्थ्य निर्भर करता है। ४. हे प्राणापानो! तुम दोनों **मनीषिभिः**=मन का शासन करनेवाले विद्वानों से **अभ्यायंसेन्या**=सम्यक्तया दोनों ओर नियमन करने योग्य **भवतम्**=होओ। बाहर का नियमन 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है और अन्तः नियमन 'अन्तःकुम्भक' है। इस प्रकार ही ये प्राणापान काबू होते हैं, नियमित होने पर ही ये मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बनाते हैं, शरीररूपी रथ को शक्तिशाली (विभू) बनाते हैं और हृदय को उदार व दानवृत्ति-सम्पन्न करते हैं (राति)।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान, शक्ति व उदारता प्राप्त होती है, अतः प्राणापान का नियमन आवश्यक है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

तीन प्राणायाम

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! तुम्हारी साधना के चलने पर इस **मधुवाहने रथे**= माधुर्य का ही वहन करनेवाले शरीररूप रथ में **त्रयः पवयः**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ये तीनों अपने को पवित्र करनेवाले होते हैं, अथवा ये तीनों वासनाओं के लिए वज्र के समान होते हैं—वासनाओं के अधिष्ठान न बनकर ये तीनों वासनाओं को नष्ट करनेवाले होते हैं। २. और प्राणसाधना से शरीर में ऊर्ध्वगतिवाले **सोमस्य**=वीर्यशक्ति की **वेनाम्**=कान्ति के **अनु**=अनुपात में **विश्वे**=ये सब, अर्थात् इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि **इत्**=निश्चय से **विदुः**=ज्ञानवाले होते हैं। प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। इस ऊर्ध्वगति से शरीर कान्तिसम्पन्न व नीरोग बनता है। इस कान्ति के अनुपात में ही इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि अपने-अपने कार्य करने में सशक्त होकर ज्ञान का वर्धन करते हैं। ३. ये ज्ञान का वर्धन करनेवाली 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' **त्रयः**=तीन **स्कम्भासः**=खम्बे ही मानो **स्कभितासः**=स्थापित किये गये हैं, ताकि इस तीव्रगति से चलते हुए शरीररूप रथ में **आरभे**=आलम्बन के लिए हों, इसके कारण ही हम झटके लगने व गिरने से बच जाते हैं। ४. इसलिए हे प्राणापानो! तुम **'त्रिः नक्तं याथः'**=तीन बार रात्रि में गति करते हो **उ**=और **त्रिः**=तीन बार **दिवा**=दिन में, अर्थात् मैं प्रातः व सायं दोनों समय अर्थात् दिन के प्रारम्भ में और रात्रि के प्रारम्भ में तीन बार प्राणायाम अवश्य करता हूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर का रक्षण होकर (क) शरीर माधुर्यवाला होता है, अर्थात् हमारे सब कार्य माधुर्य को लिये हुए होते हैं, (ख) सोम की रक्षा होकर शरीर कान्तिसम्पन्न बनता है, (ग) इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ज्ञानवर्धन करनेवाले होकर शरीररूप रथ में सहारे के लिए तीन स्कम्भ-से होते हैं, (घ) अतः प्रातः व सायं तीन प्राणायाम अवश्य करने ही चाहिएँ।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

माधुर्य-सेचन

स॒मा॒ने अह॒न्त्रिर॑वद्यगोहना॒ त्रिर॒द्य य॒ज्ञं मधु॑ना मिमिक्षतम्।
त्रिर्वाज॑वती॒रिषो॑ अश्विना यु॒वं दो॒षा अ॒स्मभ्य॑मु॒षस॑श्च पिन्वतम्॥ ३॥

१. प्राणों की साधना के द्वारा सम्पूर्ण दिन **'समान'**=(सम्यक् आनयति प्राणयति) उत्साह व प्राणशक्ति-सम्पन्न बीतता है, अतः कहते हैं कि हे **अश्विना**=प्राणापानो! **समाने अहन्**=इस उत्साहसम्पन्न दिन में **त्रिः**=तीन बार व तीन प्रकार से इन्द्रियों, मन व बुद्धि में **अवद्यगोहना**=दोषों को संवृत करनेवाले, अर्थात् इनको दोषों से बचानेवाले तुम) **त्रिः**=तीन बार ही **अद्य**=आज **यज्ञम्**=हमारे इस जीवन-यज्ञ को **मधुना**=माधुर्य से **मिमिक्षतम्**=खूब ही सींच दो। हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब मधुर-ही-मधुर हों—इनकी कोई भी क्रिया 'अ मधुर' न हो। ३. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **दोषा उषसः च**=रात्रि व दिन में (उषा दिन का प्रतीक है) **त्रिः**=तीन बार **वाजवतीः इषः**=शक्ति-सम्पन्न अन्नों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **पिन्वतम्**=(सिञ्चतं प्रयच्छतम्—सा०) सींचो, अर्थात् दो। प्राणापान ने ही अन्न का पाचन करना होता है, इनके ठीक कार्य करने पर ही भूख लगती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि के दोष दूर होते हैं, (ख) जीवन मधुर बनता है (ग) पौष्टिक अन्न का ठीक पाचन होकर शरीर की शक्ति बढ़ती हैं। यहाँ प्रसंगवश अधिक-से-अधिक तीन बार भोजन का भी संकेत है।

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—पञ्चमः॥

रेचक-पूरक-कुम्भक

त्रिर्व॒र्तिर्या॑तं॒ त्रिरनु॑व्रते॒ जने॒ त्रिः सु॑प्रा॒व्ये॑ त्रे॒धेव॑ शिक्षतम्।
त्रिर्ना॒न्द्यं॑ वहतमश्विना यु॒वं त्रिः पृक्षो॑ अ॒स्मे अ॒क्षरे॑व पिन्वतम्॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **त्रिः**=तीन प्रकार से 'रेचक, पूरक व कुम्भक' के रूप में **वर्तिः यातम्**=मार्ग का आक्रमण करो। श्वास का वेग से बाहर फेंकना ही 'रेचक' है। धीमे-धीमे अन्दर लेना 'पूरक' है और उसे कुछ देर तक रोकना 'कुम्भक' है। प्राण के ये ही तीन मार्ग हैं। २. **अनुव्रते जने**=अनुकूल व्रतवाले मनुष्य में ये प्राणापान **त्रिः**=तीन बार चलें, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाले के लिए यह आवश्यक है कि वह प्राणायाम के साथ सात्त्विक अन्न के सेवनादि व्रत का अवश्य लें। पथ्य के न होने पर प्राणायाम का इष्ट लाभ नहीं हो पाता। ३. **सुप्राव्ये**=उत्तमता से (सु) खूब ही (प्र) वीर्य का रक्षण करनेवाले (अव्य) में **त्रिः**=तीन बार मार्ग का आक्रमण करें। प्राणसाधना के साथ ब्रह्मचर्य आवश्यक ही है। प्राणायाम वीर्यरक्षण में सहायक होता है। इसके साधक को-प्राणायाम के अभ्यासी को भोग से बचना ही चाहिए। ४. ये प्राणापान **त्रेधा इव**=तीन प्रकार से **शिक्षतम्**=हमें शक्तिसम्पन्न करते हैं। इनकी साधना 'शरीर, बुद्धि व मन' तीनों का बल बढ़ाती है। इनमें क्रमशः नीरोगता, निर्मलता व तीव्रता उत्पन्न होती है। ५. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **त्रिः**=तीन प्रकार से **नान्द्यम्**=समृद्धि को (टुनदि समृद्धौ) **वहतम्**=प्राप्त कराओ। आपके अनुग्रह से हमें शरीर में स्वास्थ्य की समृद्धि प्राप्त हो, मन में सद्गुणों की समृद्धि तथा मस्तिष्क में ज्ञान की समृद्धिवाले हम हों। ६. हे प्राणापानो! आप **अस्मे**=हमारे लिए **त्रिः**=तीन बार **अक्षरा इव**=जलों की भाँति

पृक्षः=अन्नों को **पिन्वतम्**=सींचो, अर्थात् प्राप्त कराओ, अर्थात् हम अधिक-से-अधिक तीन बार जल व अन्न का प्रयोग करनेवाले हों।

भावार्थ—हम रेचक, पूरक व कुम्भक के क्रम से प्राणायाम के अभ्यासी हों। इस साधना में पथ्य-सेवन व वीर्य-रक्षण का ध्यान करें। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क सशक्त हों। हमें 'स्वास्थ्य, सत्य व स्वाध्याय' की समृद्धि प्राप्त हो। हम दिन में अधिक-से-अधिक तीन बार अन्न-जल का सेवन करें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सूर्यसम कान्ति

त्रिर्नो॑ र॒यिं व॑हतमश्विना यु॒वं त्रिर्दे॒वता॑ता॒ त्रिरु॒तावि॑तं॒ धियः॑।

त्रिः सौ॑भग॒त्वं त्रिरु॒त श्रवां॑सि न॒स्त्रि॒ष्ठं वां॒ सूरे॑ दुहि॒ता रु॑हद्रथ॑म्॥ ५ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **नः**=हमें **त्रिः**=तीन बार **रयिम्**=धन को **वहतम्**=प्राप्त कराओ-शरीर में 'स्वास्थ्यरूप धन को', मन में 'सत्य' रूप धन को तथा मस्तिष्क में 'ज्ञान' रूप धन को। २. **त्रिः**=तीन प्रकार से **देवताता**=हमारे अन्दर दिव्यगुणों को विस्तार करनेवाले होओ। 'हम असत् से सत् को, 'तमस् से ज्योति' को प्राप्त हों, मृत्यु से अमरता का लाभ करें'। ३. हे अश्विनी देवो! **उत**=और **धियः**=बुद्धियों को **त्रिः**=तीन बार **अवतम्**=रक्षित करो। सन्तान, धन व लोक की एषणाएँ हमारी बुद्धि को विकृत न कर दें। ४. हमें **त्रिः**=तीन बार ही **सौभगत्वम्**=उत्तम भग को प्राप्त कराइए। प्राणों की साधना से हम जीवन के प्रारम्भ में ऐश्वर्य व धर्म को प्राप्त करें, मध्य में यश व श्री-सम्पन्न हों व अन्त में ज्ञान व वैराग्य को प्राप्त कर सकें, ये छह-के-छह भग हमें प्राणों की साधना से प्राप्त हों ४. **उत**=और **नः**=आपके इस **त्रिष्ठं रथम्**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इन तीनों के अधिष्ठानभूत इस रथ को **सूरेः दुहिता**=सूर्य की दुहिता **अरुहत्**=आरूढ़ हो। सूर्य की दुहिता वेद में 'सूर्या' है—यह सूर्य की कान्ति ही है, अर्थात् हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी कान्ति-सम्पन्न हों। प्राणों की साधना से हम सूर्य के समान कान्तिवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें स्वास्थ्य, सत्य व ज्ञानरूप धन प्राप्त हो, हम सत्, ज्योति व अमृतत्त्व को प्राप्त करें, हमारी बुद्धि त्रिविध एषणाओं से अभिभूत न हो जाए, हमें सौभाग्य प्राप्त हो और हम सूर्यसम कान्तिवाले बनें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मानसशान्ति व शारीरिक स्वास्थ्य

त्रिर्नो॑ अश्विना दि॒व्यानि॑ भेष॒जा त्रिः पार्थि॑वानि॒ त्रिरु॑ दत्तम॒द्भ्यः।

ओ॒मानं॑ शं॒योर्मम॑काय सू॒नवे॑ त्रि॒धातु॒ शर्म॑ वहतं शुभस्पती॥ ६ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नः**=हमें **त्रिः**=तीन बार **दिव्यानि भेषजा**=दिव्य ओषधियों को **दत्तम्**=दीजिए। यहाँ दिव्य ओषधियों से अभिप्राय मस्तिष्क के लिए हितकर ओषधियों से है। ये ओषधियाँ हमारे मस्तिष्क के दोषों को दूर करके उन्हें प्रकृति, जीव व परमात्मा के ज्ञानों से परिपूर्ण करनेवाली हों। इस त्रिविध ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ही ओषधियों को तीनबार देने की प्रार्थना की गई है। २. इसी प्रकार **त्रिः**=तीन बार **पार्थिवानि**=पृथिवी-सम्बन्धी

ओषधियों को **दत्तम्**=दीजिए। 'पृथिवी' शरीर है, वे ओषधियाँ दीजिए जोकि हमारे शरीरों को 'वात, पित्त, कफ' के विकार से होनेवाले रोगों से बचाएँ, इसीलिए ओषधि के तीन बार देने की प्रार्थना की है चूँकि रोग त्रिविध हैं। ३. **उ**=और **अद्भ्यः**=अन्तरिक्ष से (**आपः**=अन्तरिक्ष, नि०) **त्रिः**=तीन बार ओषधियों को दीजिए। हृदयान्तरिक्ष की भी ओषधियाँ 'काम-क्रोध-लोभ' रूप तीन हैं। ये तीन ही गीता में नरक के द्वार कहे गये हैं। इनको भी दूर करने के लिए प्राणसाधना मुख्य उपाय है। एवं, प्राणसाधना (क) मस्तिष्क को उज्ज्वल करके उसे त्रिविध ज्ञान से परिपूर्ण करती है, (ख) शरीर को त्रिविध व्याधियों से बचाती है और (ग) मानस को त्रिविध ('मम कः' इति वदति इति ममकः) 'मेरा तो यह आनन्दस्वरूप प्रभु है' इस प्रकार का जप करनेवाले तथा **सूनवे**=सदा अपने अन्दर वेदवाणी को प्रेरित करनेवाले के लिए **शंयोः ओमानम्**=शान्ति को प्राप्त करनेवाले के आनन्दविशेष को तथा **त्रिधातु शर्म**=वात, पित्त, कफ-तीनों के ठीक समन्वय से धारण किये गये स्वस्थ शरीर के सुख को **वहतम्**=प्राप्त कराइए, अर्थात् प्राणापान की साधना से मेरा मानस शान्त हो तथा शरीर स्वस्थ हो।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हमारे शरीर की त्रिलोकी अपने-अपने ऐश्वर्य से युक्त हो तथा मानस शान्ति के साथ शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त हो।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

इडा, पिंगला व सुषुम्णा में प्राण-विचरण

त्रिर्नो॑ अश्विना यजता दि॒वेदि॑वे॒ परि॑ त्रि॒धातु॑ पृथि॒वीम॑शायतम्।
ति॒स्रो ना॑सत्या रथ्या परा॒वत॑ आ॒त्मेव॒ वात॒: स्वस॑राणि गच्छतम्॥ ७॥

१. हे **यजता**=आदरणीय व संगतिकरण योग्य **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नः**=हमें **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **त्रिधातु**='वात, पित्त व कफ' इन तीनों से धारण किये गये **पृथिवीम्**=इस पार्थिव शरीर में **त्रिः**=तीन बार, तीन प्रकार से **परि अशायतम्**=व्यापक निवास करनेवाले होओ। जागरित अवस्था में जैसे हम 'स्थूलशरीर' में निवास करते हैं और स्वप्नावस्था में 'सूक्ष्मशरीर' में रह रहे होते हैं, उसी प्रकार प्रतिदिन सुषुप्ति में 'कारणशरीर' में निवास करनेवाले हों। यदि हम स्थूल व सूक्ष्म शरीर में ही रह जाते हैं तो हमारा यहाँ निवास अधूरा ही होता है। प्राणापानों की कृपा से हमारा यह निवास पूर्ण हो और हम इस शरीर में तीन प्रकार से, न कि दो ही रूपों में, निवास करनेवाले हों, स्थूलशरीर में हम **'वैश्वानर'** सब मनुष्यों के लिए हितकर कर्मों में ही प्रवृत्त हों, सूक्ष्मशरीर में (इन्द्रिय, प्राण, मन व बुद्धि में) हम **'तैजस'**=तेजस्विता को लिये हुए हों और कारणशरीर में हम **'प्राज्ञ'**=सर्वोत्कृष्ट बुद्धि का सम्पादन करें। हे! **रथ्या**=शरीररूप रथ को उत्तम बनानेवाले **नासत्या**=कभी भी असत्य को न आने देनेवाले प्राणापानो! आप **परावतः**=सुदूर स्थानों में स्थित नाड़ियों से, अर्थात् शरीर के कोने-कोने में स्थित नाड़ियों में विचरण करते हुए आप उन नाड़ियों से **तिस्रः**=इडा, पिंगला व सुषुम्णा इन नाड़ियों को उसी प्रकार **गच्छतम्**=प्राप्त होओ **इव**=जिस प्रकार **वातः**=निरन्तर गतिशील **आत्मा**=शरीर का स्वामी **स्वसराणि**=स्व के, आत्मा के सरण-स्थानभूत शरीरों को प्राप्त होता है। ये शरीर स्व-सर हैं—आत्मा इनके अन्दर विचरण करता है। आत्मा जैसे इन शरीरों में विचरण करता है उसी प्रकार प्राणापान, इडा, पिंगला व सुषुम्णा इन नाड़ियों में विचरण करें। वस्तुतः योग-मार्ग में प्रगति हो जाने पर हम प्राणों को इन नाड़ियों में स्थापित कर पाते हैं और उसी समय हमारे ये शरीर **स्व-सर**=आत्मा की ओर सरण करनेवाले होते हैं।

ये शरीर उस समय भोग-मार्ग से दूर हो जाते हैं एवं प्राणापान की साधना हमें भोग से ऊपर उठाकर प्रभु-प्रवण करती है।

भावार्थ—प्राणापान की कृपा से हमारा निवास पूर्ण हो, हम भोगों से ऊपर उठकर प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले बनें। 'वैश्वानर हों, तैजस हों तथा प्राज्ञ बनें'।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रकाशमय स्वर्गलोक

त्रिरश्विना सिन्धुभिः सप्तमातृभिस्त्रय आहावास्त्रेधा हविष्कृतम्।
तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा दिवो नाकं रक्षेथे द्युभिरक्तुभिर्हितम्॥ ८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आपके द्वारा **सप्तमातृभिः**=शरीर की सातों धातुओं का निर्माण करनेवाले, अर्थात् जिनकी रक्षा पर अन्य सब धातुओं की रक्षा निर्भर है अथवा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा मन और बुद्धि इन सातों का निर्माण करनेवाले **सिन्धुभिः**=(स्यन्दन्ते इति) रेतःकणों से (सिन्धवः=आपः=रेतः) **त्रिः**=जीवन के बाल्यकालरूप प्रातःकाल में, यौवनरूप मध्याह्न में तथा वार्धक्यरूप सायंकाल में, इस प्रकार तीन बार **त्रयः**=तीन **आहावाः**=जलाधार वीर्यकणों के रखने के स्थान बनाये गये हैं। ये तीन आहाव 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' ही हैं। अग्निकुण्ड में जैसे अग्नि का आधान होता है, उसी प्रकार इन तीनों में **त्रेधा**=तीन प्रकार से **हविः कृतम्**=रेतःकणों की आहुति दी गई है। वीर्य-सम्पन्न होकर इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में खूब ही समर्थ होती हैं, मन वीर्य-सम्पन्न होकर राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है, बुद्धि वीर्य-सम्पन्न होकर अतिशयेन सूक्ष्म बनती है और तत्त्व को देखनेवाली होती है एवं प्राणापान 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को इन वीर्यकणों का 'आहाव' बना देते हैं, इनमें वीर्यकणों की आहुति देते हैं और उन्हें निर्दोष बनाते हैं। २. इस प्रकार ये प्राणापान **तिस्रः पृथिवीः**=तीनों शरीरों को—स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीरों को **उपरि प्रवा**=ऊपर ले-जानेवाले होते हैं (प्रवो गमयितारौ, द०) हमारा स्थूलशरीर प्राणापानों की साधना से वीर्य-रक्षा के द्वारा दृढ़, नीरोग व स्वस्थ होता है। सूक्ष्मशरीर निर्मल व हमें ज्ञान की तात्त्विक दृष्टि की ओर ले-जानेवाला होता है और कारणशरीर आनन्द का कोश बनता है। ३. हे प्राणापानो! आप **द्युभिः**=दीप्तिवाली व व्यवहार को उत्तमता से सिद्ध करनेवाली **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों से **हितम्**=स्थापित **दिवः नाकम्**=(दिवु क्रीडा) क्रीडा से स्वर्गलोक को **रक्षेथे**=सुरक्षित करते हो। प्राणापानों की साधना हमारी बुद्धियों को निश्चय से सूक्ष्म बनाती है। उन सूक्ष्म बुद्धियों से हम ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो उठते हैं। उस समय हम इस संसार को ठीक रूप में देखते हैं। यह हमें भगवान् की क्रीडा-स्थली ही प्रतीत होता है। हम भी प्रत्येक घटना को एक क्रीड़क की मनोवृत्ति से लेते हैं और खीज, क्रोध व ईर्ष्या आदि से ऊपर उठ जाते हैं। उस समय हम प्रत्येक घटना में आनन्द का अनुभव करते हैं, हमारा जीवन 'प्रकाशमय स्वर्गलोक' बन जाता है। हम पृथिवी से ऊपर उठकर मानो द्युलोक में पहुँच जाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से वीर्यकण इन्द्रियों, मन व बुद्धि का निर्माण करनेवाले होंगे—उनको ज्योतिर्मय बनाएँगे और हमारा जीवन प्रकाशमय स्वर्ग-सदृश हो जाएगा।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वाजीरासभ का योग

क्व१ त्री च॒क्रा त्रि॒वृतो॒ रथ॑स्य॒ क्व१ त्रयो॑ ब॒न्धुरो॒ ये सनी॑ळाः।
क॒दा योगो॑ वा॒जिनो॒ रास॑भस्य॒ येन॑ य॒ज्ञं ना॑सत्योपया॒थः॥ ९॥

१. यह शरीर एक रथ है, इस रथ के द्वारा जीवन-यात्रा को पूर्ण करके हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचना है। यहाँ इस शरीर-रथ के विषय में चर्चा करते हुए प्रश्नात्मक ढंग से कहते हैं कि इस **त्रिवृतः**=(त्रिभ्यः वर्तते) धर्म-अर्थ-काम तीनों के समरूप से सेवन के लिए दिये गये (धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः) **रथस्य**=शरीररूप रथ के **त्री चक्रा**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप तीन चक्र **क्व**=कहाँ हैं? २. **त्रयः बन्धुरः**=इस रथ के तीन दण्डरूप बन्धन 'वात, पित्त, कफ' **ये सनीळाः**=जो मिलकर इस शरीररूप नीड में—घोंसले में रहते हैं, वे **क्व**=कहाँ हैं? वातादि का शरीर में स्थान कहाँ-कहाँ है? ये तीनों समरूप से रहें तो मनुष्य स्वस्थ रहता है। इनमें से कोई एक प्रबल हुआ तो वह किसी-न-किसी रोग का कारण बन जाता है। ३. इस शरीररूप रथ में **वाजिनः**=शक्तिशाली **रासभस्य**=(रास् शब्दे) सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का उच्चारण करनेवाले उस प्रभु का **योगः**=मेल **कदा**=कब होगा? **येन**=जिस योग से, अर्थात् जिस प्रभु का मेल होने पर हे **नासत्या**=सदा सत्य को ही अपनानेवाले प्राणापानो! **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्मों को ही **उपयाथः**=समीपता से प्राप्त होते हैं। प्रभु का मेल होने पर हमसे अशुभ कर्म नहीं होते, यह प्रभु का मेल इन प्राणापानों की साधना से ही होना है।

भावार्थ—यह शरीररूप रथ (क) धर्म-अर्थ-काम तीनों के समरूप से सेवन के लिए दिया गया है, (ख) इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि—इस शरीर-रथ के चक्र हैं, इनके ठीक होने पर ही रथ चलेगा। (ग) वात, पित्त, कफ—ये तीन रथ के बन्धन-दण्ड हैं। इनमें विकार हुआ और रथ विच्छिन्न हुआ, (घ) इस रथ में प्रभु का मेल होता है, अर्थात् वे इसके सारथि बनते हैं तो कोई भी अशुभ कर्म नहीं होता, रथ गड्ढों में गिरता नहीं, मार्ग पर ही चलता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मधु-पान

आ ना॑सत्या ग॒च्छतं॑ हू॒यते॑ ह॒विर्मध्वः॑ पिबतं मधु॒पेभि॑रा॒सभिः॑।
यु॒वोर्हि पूर्वं॑ सवि॒तो॒षसो॒ रथ॑मृ॒ताय॑ चि॒त्रं घृ॒तव॑न्त॒मिष्य॑ति॥ १०॥

१. हे **नासत्या**=नासिका में विचरण करनेवाले, शरीर में असत्य को न आने देनेवाले प्राणापानो! **आगच्छतम्**=आप यहाँ इस शरीर में हमें प्राप्त होवो। आपके ठीक कार्य करने पर ही, भूख-प्यास लगने पर हमसे **हविः**=यज्ञिय पवित्र भोज्य पदार्थ **हूयते**=इस शरीर मे आहुत किये जाते हैं; भोजन को भी हम एक यज्ञ का रूप देने का प्रयत्न करते हैं। २.हे प्राणपानो! आप **मधुपेभिः आसभिः**=इन अन्नों के सारभूत सोम=(वीर्यकण)—रूप मधु का पान करनेवाले अपने मुखों से **मध्वः पिबतम्**=इस सोम का पान करो। प्राणसाधना से यज्ञिय अन्नों से उत्पन्न सात्त्विक वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, यही अश्विनी देवों का सोमपान है। ३. हे प्राणापानो! **युवोः**=आप दोनों के **चित्रम्**=इस अद्भुत अथवा संज्ञानवाले, ज्ञानरूप प्रकाशवाले **घृतवन्तम्**=(घृ क्षरणदीप्तयोः) नैर्मल्य व चमकवाले **रथम्**=शरीररूप रथ को **सविता**=वह प्रेरक प्रभु **उषसः**

पूर्वम्=उषाकाल के अग्रभाग में ही, अर्थात् बहुत सवेरे-सवेरे **हि**=निश्चयपूर्वक **ऋताय**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए **इष्यति**=प्रेरित करता है, अर्थात् यह हमारा शरीर ज्ञानमय, निर्मल व स्वास्थ्य की दीप्तिवाला बनता है और सदा प्रातः से ही उत्तम कर्मों में लग जाता है।

भावार्थ—हम यज्ञिय भोजन खाएँ, प्राणसाधना से सोम का रक्षण करें। सोमरक्षण से 'प्रकाश, नैर्मल्य व दृढ़ता'-वाले इस शरीर को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रक्खें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

तेंतीस देवों का प्रादुर्भाव

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा॥ ११॥

१. हे **नासत्या**=अश्विनीदेवो—प्राणापानो! **इह**=इस मानवदेह में **त्रिभिः एकादशैः**=तीन बार ग्यारह अर्थात् तेंतीस **देवेभिः**=देवों के हेतु से, अर्थात् इन तेंतीस देवों को प्राप्त करने के लिए **मधुपेयम्**=सोमपान का लक्ष्य करके **आयातम्**=आओ, अर्थात् प्राणापान की साधना से जब शरीर में सोम का रक्षण होता है तो सब दिव्यगुणों का विकास होता है। एवं, ये प्राणापान 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों स्थानों में ११-११ देवों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! इस प्रकार शरीर में देवों के विकास के द्वारा **आयुः**=जीवन को **प्रतारिष्टम्**=खूब विस्तृत कर दो। हम दीर्घजीवी बनें। ३. **रपांसि**=सब दोषों को **निर्मृक्षतम्**=पूर्णतया दूर कर दो (निःशेषेण शोधयत)। हमारे जीवन से राग-द्वेष उसी प्रकार दूर हो जाएँ जैसे स्थूलशरीर से रोग। **द्वेषः**=द्वेष की भावना को **निःसेधतम्**=हमसे रोक दो (हमारे हृदयों में द्वेष का प्रवेश न हो।) ४. हे प्राणापानो! आप दोनों **सचाभुवा**=साथ होनेवाले **भवतम्**=होओ। प्राण के साथ अपान व अपान के साथ प्राण के ठीक से कार्य करने पर ही पूर्ण स्वास्थ्य होता है। ये परस्पर एक-दूसरे के कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण होता है, सोमरक्षण से दिव्यगुणों का विकास होता है, दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, दोष दूर होते हैं, द्वेष नष्ट होता है। इसी से प्रार्थना करते हैं कि हे प्राणापानो! आप सदा साथ होनेवाले होओ, अर्थात् इनका कार्य सम्मिलित रूप से चलता रहे।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

संग्राम-विजय

आ नो अश्विना त्रिवृता रथेनार्वाञ्चं रयिं वहतं सुवीरम्।
शृण्वन्ता वामवसे जोहवीमि वृधे च नो भवतं वाजसातौ॥ १२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **त्रिवृता**='धर्म, अर्थ व काम' तीनों के वर्तन के लिए दिये गये **रथेन**=शरीररूप रथ से **सुवीरम्**=उत्तम वीरता से युक्त **रयिम्**=धन को **अर्वाञ्चम्**='अस्मदभिमुखं' हमारे सामने **आवहतम्**=प्राप्त कराइए, अर्थात् इस प्राणसाधना से हमारा शरीररूप रथ 'धर्म, अर्थ व काम' का समरूप से सेवन करनेवाला हो। हमें वीरतायुक्त धन प्राप्त हो। २. **शृण्वन्ता**=हमारी प्रार्थना को सुननेवाले **वाम्**=आप दोनों को **अवसे**=अपने

रक्षण के लिये **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। प्राणापान से केवल स्थूल शरीर के रोग ही दूर नहीं होते, मन के अशुभ भाव भी नष्ट हो जाते हैं और मस्तिष्क के अशुभ विचार भी दूर हो जाते हैं तथा हमारा पूर्ण रक्षण हो पाता है। ३. हे प्राणापानो! आप **वाजसातौ**=संग्राम में **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भवतम्**=होओ, अर्थात् संग्राम में हम कभी पराजित न हों। अध्यात्मसंग्राम में विजयी होकर हम उन्नत और अधिक उन्नत होते चलें।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम धर्म-अर्थ-काम में समरूप से प्रवृत्त होते हैं, हम वीर बनते हैं, उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं और अध्यात्मसंग्राम में सदा विजयी होते हैं।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि प्राणसाधना से ज्ञान, शक्ति व उदारता प्राप्त होती है (१)। जीवन में माधुर्य व शरीर में कान्ति होती है (२)। इन्द्रियों, मन व बुद्धि के दोष दूर होते हैं (३)। हमें 'स्वास्थ्य, सत्य व स्वाध्याय' की समृद्धि प्राप्त होती है (४)। इस सौभाग्य को प्राप्त होकर सूर्यसमकान्तिवाले बनते हैं (५)। हमें मानस शान्ति के साथ शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है (६)। हम 'वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ' बनते हैं (७)। हमारा जीवन प्रकाशमय स्वर्ग-सदृश बन जाता है (८)। इस शरीररूप रथ में हमारा प्रभु से मेल होता है (९)। हमारा यह शरीर सदा यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहता है (१०)। तेंतीस देवों का प्रादुर्भाव होता है (११)। हम जीवन-संग्राम में विजयी होते हैं (१२)। इस विजय के लिए ही हम प्रभु को पुकारते हैं—

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निर्मित्रावरुणौ रात्रिः सविता**॥
छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

आह्वान (पुकार)

ह्वया॑म्य॒ग्निं प्र॑थ॒मं स्व॒स्तये॒ ह्वया॑मि मि॒त्रावरु॑णावि॒हाव॑से।
ह्वया॑मि॒ रात्रीं॒ जग॑तो नि॒वेश॑नीं॒ ह्वया॑मि दे॒वं स॑वि॒तार॑मू॒तये॑॥ १॥

१. मैं **प्रथमम्**=सबसे पहले **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए, अविनाश के लिए **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **ह्वयामि**=पुकारता हूँ। प्रभु की प्रार्थना से ही अपनी चित्तवृत्ति को हम विषय-पराङ्मुख कर पाते हैं; यह विषयों में न फँसना ही कल्याण का, अविनाश का कारण व साधन है। २. **इह**=इस मानव-जीवन में **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **मित्रावरुणौ**=प्राण व उदान वायु को अथवा स्नेह व द्वेषनिवारण के देवता को मैं **ह्वयामि**=पुकारता हूँ। शरीर के रक्षण के लिए प्राण व उदान का ठीक से कार्य करना आवश्यक है। प्राण का कार्य ठीक चलने पर हमारे शरीर में शक्ति होती है और हम सबके साथ स्नेह करनेवाले बनते हैं। उदान हमारे कण्ठदेश की ग्रन्थियों को ठीक रखती हुई हमें जितेन्द्रिय बनने में सहायक होती है, और हमें द्वेष से ऊपर उठाती है। ३. **जगतोः**=सम्पूर्ण क्रियाशील प्राणियों को दिनभर के कार्य के अनन्तर **निवेशनीम्**=अपने अन्दर निवास देनेवाली **रात्रीम्**=रात्रि को, इस रमयित्री निद्रा की गोद में ले-जानेवाली रात को **ह्वयामि**=पुकारता हूँ। वस्तुतः रात्रि की निद्रा स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ४. **ऊतये**=इस स्वास्थ्य के रक्षण के लिए ही मैं रात्रि की समाप्ति पर उदय होनेवाले **देवम्**=प्रकाशमय, सारे संसार को प्रकाशित करनेवाले तथा प्राणशक्ति देनेवाले (देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा) **सवितारम्**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्य को **ह्वयामि**=पुकारता

हूँ। 'सूर्याभिमुख होकर सन्ध्या में स्थित होना' ही सूर्य को पुकारना है। यह 'हिरण्यपाणि' सूर्य हमारे अन्दर अपनी सुनहरी किरणों से प्राणशक्ति को भरनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अविनाश व रक्षण के लिए उस सर्वाग्रणी प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमारे प्राण व उदान ठीक हों, हम स्नेह व निर्द्वेषतावाले हों, प्रतिदिन नींद ठीक से आये और हम प्रातः प्रबुद्ध हों, प्राङ्मुख होकर (सूर्याभिमुख) प्रभु-प्रार्थना करनेवाले हों।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सविता देव

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ २॥

१. सूर्याभिमुख होकर प्रार्थना करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' ऋषि प्रार्थना करता हुआ कहता है कि यह **आकृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट किये हुए **रजसा**=लोकसमूह के साथ **वर्तमानः**=वर्तमान **सविता**=सबका प्रेरक सूर्य हम सबको कर्मों में प्रेरित करता है और सब ऐश्वर्यों का उत्पादक होता है। २. यह सविता देव **अमृतम्**=न मरने देनेवाली प्राणशक्ति को **च**=तथा **मर्त्यम्**=मरणधर्मा शरीर को **निवेशयन्**=अपने-अपने स्थान में स्थापित करता हुआ, अर्थात् 'स्व-स्थ' स्वस्थ करता है। जितना अधिक हम सूर्य-किरणों में रहते हैं उतना ही स्वस्थ बनते हैं। ३. यह **सविता देवः**=कर्मों में प्रेरक प्राणशक्ति को देनेवाला सूर्य **हिरण्ययेन रथेन**=अपने ज्योतिर्मय अथवा हितरमणीय रथ से **भुवनानि पश्यन्**=सब प्राणियों का ध्यान करता हुआ (looking at all) **याति**=गति कर रहा है। सूर्य का यह रथ सबका हितकारी है। (प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः) यह सूर्य तो प्रजाओं का प्राण ही है। यह सबका हित करता हुआ अपने मार्ग पर चल रहा है।

भावार्थ—यह सूर्य ही सब लोकों का केन्द्र है। यह हमारे प्राणों व शरीर को स्वस्थ रखता है। सभी का पालन करता हुआ अपने मार्ग का आक्रमण कर रहा है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रोगकृमि-नाश

याति देवः प्रवता यात्युद्वता याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्।
आ देवो याति सविता परावतोऽप विश्वा दुरिता बाधमानः॥ ३॥

१. **देवः**=यह देदीप्यमान, लोकों को प्रकाशित करनेवाला व प्रकाश और प्राणशक्ति को देनेवाला सूर्य **प्रवता**=निम्नमार्ग से **याति**=जाता है; यह निम्न मार्ग ही दक्षिणायन कहलाता है (दक्षिण अयन)। **उद्वता**=उत्कृष्ट मार्ग से, उत्तरायण से **याति**=जाता है। भूमि का अपनी कीली पर २३— का झुकाव इस उत्तरायण व दक्षिणायन का कारण बनता है। २. यह **यजतः**=संगतिकरण-योग्य सूर्य **शुभ्राभ्यां हरिभ्याम्**=अपने उज्ज्वल किरणरूप अश्वों से **याति**=गति कर रहा है। यद्यपि सूर्य 'सप्ताश्व' है, इसकी किरणें सात प्रकार की हैं, वे ही इन्द्रधनुष में सात रंगों में प्रकट हुआ करती हैं, तथापि 'कृष्णपक्ष व शुक्लपक्ष' के दृष्टिकोण से यहाँ द्विवचन का प्रयोग है। चन्द्रमा से प्रतिक्षिप्त होकर सूर्य-किरणें ही पृथिवी पर पड़ती

हैं। यह **सविता देवः**=सबको कार्य में प्रेरित करनेवाला, सब व्यवहारों का साधक सूर्य **परावतः**=सुदूर देश से **आयाति**=किरणों के द्वारा यहाँ आता है और **विश्वा दुरिता**=सब बुराइयों को **अपबाधमानः**=दूर रोकनेवाला होता है। 'उद्यन् आदित्यः क्रमीन् हन्तु' यह उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों को नष्ट करता है, एवं यह सूर्य अपनी किरणों से मानो स्वर्ण के इञ्जैक्शन्स लगाता हुआ रोगों को दूर भगानेवाला होता है।

भावार्थ—सूर्य सब दुरितों को दूर करता है, यह रोग-कृमियों का नाश करनेवाला है, इसलिए यह **'यजतः'**=संगति करने योग्य है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शक्ति व प्रकाश का केन्द्र

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः॥ ४॥

१. **यजतः**=संगति करने योग्य **सविता**=सबका कार्यों में प्रवर्तक सूर्य **रथम्**=अपने रथ पर **आस्थात्**=स्थित होता है जो रथ (क) **अभीवृतम्**=(अभितो वर्तते) सब दिशाओं में वर्तमान होनेवाला व जानेवाला है; सूर्य अपने प्रकाश के द्वारा सर्वत्र पहुँचता है, सम्भवतः यहाँ 'अभि' शब्द का भाव 'दोनों ओर' लेना अधिक संगत है, सूर्य का प्रकाश पृथिवी के दोनों ओर पहुँचता है—पृथिवी का जो भाग सूर्याभिमुख होता है वहाँ सूर्य की किरणें सीधी पहुँच रही होती हैं, और दूसरे भाग पर चन्द्रमा से प्रतिक्षिप्त होकर सूर्यकिरणें भू-भाग को प्रकाशित करती हैं। (ख) **कृशनैः**=जलों को सूक्ष्म करनेवाली किरणों से (सूक्ष्मत्वनिष्पादकैः, द०) **विश्वरूपम्**=इस संसार को सुन्दरता प्राप्त करानेवाले। यदि सूर्यकिरणों से जलों का वाष्पीकरण न होता तो वृष्टि के अभाव में इस संसार का स्वरूप एक मृत-पुरुष के समान होता (ग) **हिरण्यशम्यम्**=यह रथ स्वर्ण के शंकुओंवाला है, इसकी एक-एक किरण की सूई (Golden needle) के समान है (हिरण्यानि शम्यानि यस्मिन्, द०)। अथवा सब अन्य ज्योतियों को शान्त करनेवाला है, इसके उदित होने पर अन्य ज्योतियों का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। (घ) **बृहन्तम्**=इसका यह रथ वृद्धि का कारणभूत है (बृहि वृद्धौ)। सब उपज इसी के कारण होती है। सूर्यकिरणों के अभाव में पृथिवी में भी उपजाऊ शक्ति का अभाव हो जाता है। २. यह सूर्य **चित्रभानुः**=अद्भुत किरणों व प्रकाशवाला है। इसकी विविध किरणें भिन्न-भिन्न रोगों को शान्त करनेवाली होती हैं, सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करती हैं। इसकी किरणें केवल प्रकाश देने का कार्य नहीं करतीं। ३. यह सूर्य **कृष्णा रजांसि**=आकृष्ट लोकसमूहों को लक्ष्य करके **तविषीम्**=बल को **दधानः**=धारण कर रहा है। एक सौरलोक में सूर्य के चारों ओर जितने भी पिण्ड घूमते हैं, उनमें शक्ति का संचार सूर्य द्वारा ही हो रहा होता है।

भावार्थ—सम्पूर्ण शक्ति व वृद्धि का स्रोत यह सूर्य ही है। इसकी किरणें प्रकाश व शक्ति दोनों को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सम्पूर्ण प्रजाओं व भुवनों का आधार

वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन्रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः।
शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः॥ ५॥

१. **श्यावः**=(श्यैङ् गतौ) सब लोकों में गति करनेवाले **शितिपादः**=श्वेतकिरणरूप पाँवोंवाले सूर्य के अश्व **हिरण्यप्रउगम्**=ज्योतिर्मय मुखवाले (प्रउग=रथ का युगबन्धन-स्थान) **रथम्**=रथ को **वहन्तः**=आगे ले-चलते हुए **जनान्**=सब प्राणियों को **वि अख्यन्**=विशेषरूप से प्रकाश प्राप्त कराते हैं। यह सूर्य का पिण्ड ही रथ है, उसमें किरणें ही मानो घोड़े जुते हुए हैं। ये सूर्य-रथ को निरन्तर गतिमय कर रहे हैं। २. **विशः**=सब प्रजाएँ **शश्वत्**=सदा **दैव्यस्य**=उस महान् देव प्रभु की विभूतिरूप **सवितुः**=इस कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्य की **उपस्थे**=गोद में **तस्थुः**=स्थित होती हैं। ३. और **विश्वा भुवनानि**=सम्पूर्ण लोक उस सूर्य के ही समीप **तस्थुः**=स्थित हैं। उसके आकर्षण से स्थित हुए-हुए उसके चारों ओर ही गति कर रहे हैं।

भावार्थ—सूर्य प्रभु की महती विभूति है। सम्पूर्ण प्रजाएँ व लोक उसी के समीप स्थित हैं। प्रजाओं को वह प्राणशक्ति दे रहा है और भुवनों को आकर्षण से धारण कर रहा है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

तीन द्युलोक

ति॒स्रो द्याव॑: सवि॒तुर्द्वा उ॒पस्था॒ँ एका॑ य॒मस्य॒ भुव॑ने विरा॒षाट्।
आ॒णिं न रथ्य॑म॒मृताधि॑ तस्थुरि॒ह ब्र॑वीतु॒ य उ॒ तच्चिके॑तत्॥ ६॥

१. **तिस्रः द्यावः**=तीन प्रकाशमय द्युलोक हैं। इनका वर्णन अथर्व० १८।२।४८ में इस प्रकार है **'उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा। तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते'**=जलकणों-(वाष्प-कणों)-वाला द्युलोक सबसे नीचे है, पीलुओं—अत्यन्त सूक्ष्म पार्थिव जलीय व तैजस् कणों से युक्त द्युलोक मध्यम है और निश्चय से तीसरा प्रकृष्ट द्युलोक है, जिसमें पितर आसीन होते हैं। यहाँ अथर्व० १८।२।४७ में इन पितरों का भी उल्लेख इस प्रकार है—**'ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः। ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः'**=जो अग्रगामी शीघ्रगतिवाले, द्वेषों को छोड़कर किन्हीं एक-दो को ही अपना सन्तान न समझते हुए शरीर को छोड़ते हैं, वे द्युलोक पर पहुँचकर स्वर्गलोक के पृष्ठ पर आधिक्येन दीप्त होते हुए सर्वोत्कृष्ट लोक को प्राप्त करते हैं। २. इस प्रकार वर्णित तीन द्युलोकों में 'उदन्वती व पीलुमती' ये **द्वा**=दो द्युलोक तो **सवितुः**=सूर्य के **उपस्था**=गोद में हैं, समीप स्थान में हैं, अथवा सूर्य के निचले स्थान में हैं। **एका**=बचा हुआ एक तीसरा द्युलोक वह है जो **यमस्य भुवने**=उस नियन्ता प्रभु के अथवा सर्वत्र बहनेवाली वायु (अयं वै यमः योऽयं पवते) के लोक में **विराषाट्**=(वूर्यन्ते इति विराः) जिनका प्रभु द्वारा वरण होता है, उन वीरों को ही सहता है, अर्थात् इस (**प्र-द्यौः**)=प्रकृष्ट द्युलोक में इन वीर पितरों का ही निवास होता है। युद्ध में पीठ न दिखानेवाले वीर ही यहाँ पहुँचते हैं। ३. **न**=जिस प्रकार **रथं आणिम्**=रथ में होनेवाले अक्षछिद्र में डले कीलविशेष में रथ स्थित होता है इसी प्रकार **अमृताः**=चन्द्र-नक्षत्रादि अमृत=रोगरहित लोक **अधितस्थुः**=इस सूर्य में स्थित हैं ४. **यः**=जो **उ**=निश्चय से **तत्**=सूर्य की इस सब महिमा को **चिकेतत्**=जानता है, वह **इह**=यहाँ हमें **ब्रवीतु**=इसका उपदेश करे। इस सूर्य के आकर्षण में रहनेवाले सभी लोक सूर्य में स्थित कहलाते हैं। वस्तुतः इस पृथिवीलोक की तुलना में चन्द्रादि लोक अधिक आनन्दमय व मृत्यु से रहित हैं। इसमें रहनेवाले देव 'अमर' कहलाते हैं। 'अमृता' शब्द का अर्थ 'जल' भी है, ये जल सूर्य में ही अधिष्ठित हैं। सूर्य द्वारा समुद्र-जलों का वाष्पीकरण होकर बादल बनते हैं,

ये पर्वतों पर बरसते हैं और नदियों के रूप में बहकर फिर समुद्र की ओर चलते हैं। इस प्रकार ये जल सूर्य में ही अधिष्ठित हैं।

भावार्थ—दो द्युलोक के प्रदेश सूर्य और पृथिवी के बीच में हैं, तीसरा 'प्रद्यौः' सूर्य के ऊपर है। इसी 'प्रद्यौः' में वीर पुरुषों का निवास होता है। सब जल भी सूर्य में अधिष्ठित हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सूर्य की सुपर्णता व असुरता

वि सुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीरवेपा असुरः सुनीथः।
क्वे३दानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान॥ ७॥

१. **सुपर्णः**=उत्तमता से सबका पालन करनेवाला यह सूर्य **अन्तरिक्षाणि**=अन्तरिक्ष लोकों को, अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित इन सब लोकों को **वि अख्यत्**=विशेष रूप से प्रकाशित करता है। २. यह **सूर्य गभीरवेपाः**=अत्यन्त गम्भीर कम्पनवाला है। इसका अपनी कीली पर घूमना इतना गम्भीर है कि वह दिखता नहीं, यह स्थित-सा प्रतीत होता है। **असुरः**=यह प्राणशक्ति को देनेवाला है—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। **सुनीथः**=मार्गदर्शन कराता हुआ यह सम्यक्तया हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाला है। ३. जिस समय हमसे अधिष्ठित पृथिवी-भाग सूर्याभिमुख नहीं होता उस समय **इदानीम्**=अब रात्रि के समय **सूर्यः**=यह सूर्य **क्व**=कहाँ है? **कः चिकेत**=कौन इस बात को ठीक-ठीक जानता है? **कतमां द्याम्**=किस द्युलोक में **अस्य रश्मिः**=इसकी किरणें **आततान**=अपने को विस्तृत कर रही हैं, अर्थात् इस समय कौन-सा भू-भाग सूर्य के द्वारा प्रकाशमय किया जा रहा है?

भावार्थ—सूर्य की अक्ष पर गति अति गम्भीर है, वह दिखती नहीं। सब प्राणशक्ति को देनेवाला, उत्तमतया मार्गदर्शक यह सूर्य बारी-बारी अपने सामने आये हुए भू-भाग को प्रकाशित करता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

हिरण्याक्ष-सविता

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून्।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि॥ ८॥

१. यह सूर्य **पृथिव्याः**=पृथिवी की **अष्टौ ककुभः**=आठों दिशाओं को (चार मुख्य व चार उपदिशाओं को) **वि अख्यत्**=विशेष रूप से प्रकाशित करता है। २. **योजना**=सब प्राणियों के उचित भोगों से युक्त (योजित) करनेवाले **त्री धन्व**=तीन लोकों को (द्युलोक, अन्तरिक्ष व पृथिवी को) भी तथा **सप्त सिन्धून्**=इन सर्पणशील जलों को भी **व्यख्यत्**=यह प्रकाशित करता है। ३. **हिरण्याक्षः**=ज्योतिर्मय आँखवाला, अर्थात् चमकते हुए प्रकाशवाला **सविता**=सबका प्रेरक **देवः**=सब व्यवहारों का साधक सूर्य **आगात्**=आता है और **दाशुषे**=दान देनेवाले, अर्थात् त्याग की वृत्तिवाले पुरुष के लिए तथा सूर्य के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए, सूर्याभिमुख होकर ध्यानादि करनेवाले के लिए **वार्याणि**=वरणीय—चाहने योग्य **रत्ना**=रमणीय पदार्थों को, शरीर की धारक सात धातुओं को **दधत्**=धारण कराता है। सूर्य-किरणों के सेवन से शरीर की सब धातुएँ ठीक रहती हैं और नीरोगता प्राप्त होती है। ४. 'दाशुषे' शब्द का अर्थ सायण (हविर्दत्तवते) 'अग्निहोत्र करनेवाले के लिए' यह करते हैं। एवं, प्रातःसायं सूर्याभिमुख

होकर यज्ञ करना आरोग्यता के लिए अत्यन्त सहायक है। ५. 'हिरण्याक्षः' का अर्थ (हितरमणीय चक्षुर्युक्तः) है, अतः यह संकेत कर रहा है कि सूर्याभिमुख होकर ध्यान व यज्ञ करेंगे तो आँख की शक्ति भी बढ़ेगी।

भावार्थ—सूर्याभिमुख होकर ध्यान व यज्ञ में बैठने से दृष्टि-शक्ति बढ़ेगी, शरीरस्थ धातुएँ ठीक होकर स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्यपाणि सविता

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति॥ ९॥

१. **हिरण्यपाणि**=अपने किरणरूप हाथों में स्वर्ण को लिये हुए, सूर्याभिमुख होकर छाती पर, सूर्य-किरणों को अपने शरीर पर लेनेवालों को यह सूर्य अपनी किरणों से स्वर्ण के इंजैक्शन्स लगाता प्रतीत होता है, **सविता**=सबको कर्मों में व्यापृत होने की यह प्रेरणा दे रहा है। **विचर्षणिः**=(विशिष्टदर्शनयुक्ताः) यह दृष्टि-शक्ति को विशेष रूप से बढ़ानेवाला है। ऐसा यह सूर्य **उभे**=दोनों **द्यावापृथिवी अन्तः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **ईयते**=गति करता है। २. सर्वत्र प्रकाश फैलाता हुआ यह सूर्य **अमीवाम्**=रोगकृमियों को **अपबाधते**=सुदूर फेंक देता है। (उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः)। ३. **सूर्यम्**=सरणशीलता को **वेति**=प्राप्त कराता है (जनयति, द०) शरीर में स्फूर्ति लाकर आलस्य को नष्ट करता है। **कृष्णेन**=(तमसः कर्षकेण) अन्धकार के निवारक **रजसा**=तेज से **द्याम्**=द्युलोक को **अभि ऋणोति**=दोनों ओर से व्याप्त करता है। सूर्याभिमुख पृथिवी के भाग पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं तथा दूसरी ओर चन्द्रमा से प्रतिक्षिप्त होकर सूर्यकिरणें प्रकाश फैलाती हैं।

भावार्थ—सूर्य हिरण्यपाणि है, रोगों को दूर करता है और सरणशीलता व स्फूर्ति प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हिरण्यहस्त असुर

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः॥ १०॥

१. **हिरण्यहस्तः**=स्वर्ण है किरणरूप हाथों में जिसके ऐसा यह सूर्य **असुरः**=(असून् राति) प्राणशक्ति देनेवाला है, **सुनीथः**=(प्रशस्य) अत्यन्त प्रशंसनीय है—उत्तमता से मार्ग पर ले-चलनेवाला है (सु-नीथः)। **सुमृळीकः**=रोगादि की बाधा को दूर करके उत्तम सुख देनेवाला है, **स्ववान्** (सु अव्)=उत्तमता से रक्षण करनेवाला है अथवा स्वास्थ्य-धन को प्राप्त करानेवाला है। ऐसा यह सूर्य **अर्वाङ् यातु**=यहाँ हमें समीपता से प्राप्त हो। २. यह **देवः**=सब रोगों व पीड़ाओं को जीतने की इच्छा करनेवाला सूर्यदेव **प्रतिदोषं गृणानः**=प्रतिदिन स्तुति किया जाता हुआ **रक्षसः**=रोग-कृमियों तथा **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाले रोगों को **अपसेधन्**=दूर करता हुआ **अस्थात्**=स्थित होता है।

भावार्थ—यह हिरण्यहस्त सूर्य प्राणशक्ति देता हुआ रोगकृमियों व पीड़ाकर रोगों को

नष्ट करता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रजःशून्य पथ

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव॥ ११॥

१. हे **सवितः**=कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्यदेव! **ये**=जो **ते**=तेरे **पन्थाः**=मार्ग **पूर्व्यासः**=पूर्णता को प्राप्त करानेवाले **अरेणवः**=धूलि से रहित **सुकृताः**=उत्तमता से बने हुए **अन्तरिक्षे**=इस अन्तरिक्षलोक में हैं, हे सूर्यदेव! **तेभिः**=उन **सुगेभिः**=उत्तम स्थिति को प्राप्त करानेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **अद्य**=आज **नः**=हमें **रक्ष**=रक्षित कीजिए, **च**=और हे **देव**=प्रकाश प्राप्त करानेवाले सूर्यदेव! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=आधिक्येन उपदेश दीजिए। २. वेद में अन्यत्र कहा गया है कि 'पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन' हे पूषन्! हम तेरे व्रत में कभी हिंसित न हों। (क) सूर्य अपने मार्ग पर निरन्तर चल रहा है, हम भी सूर्य का अनुकरण करते हुए निरन्तर क्रियाशील बनें। (ख) सूर्य के मार्ग पूर्ण हैं, पूरण करनेवाले हैं, सूर्य प्राणशक्ति का पूरण करता है—रोगकृमियों का संहार करता है। इसी प्रकार हमारे कार्य पूर्णता को उत्पन्न करनेवाले हों। (ग) सूर्य के मार्ग धूलि से रहित हैं—हमारे जीवन-मार्ग रजोवृत्ति से ऊपर उठे हुए हों। (घ) सूर्य अन्तरिक्ष में गति कर रहा है, हम भी सदा **'अन्तरा-क्षि'**=मध्य मार्ग से चलनेवाले हों। ३. सबको शक्ति व प्रकाश को प्राप्त कराता हुआ सूर्य हमें भी यही उपदेश दे रहा है कि हम शक्ति व ज्ञान का संग्रह करके इन्हीं का प्रसार करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम सूर्य के मार्ग पर चलनेवाले बनें।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ अग्नि आदि देवों के आह्वान से होता है (१)। विशेषकर सूर्य के हिरण्यमय रथ का वर्णन करते हैं (२)। यह सविता देव सब दुरितों को दूर करता है (३)। सूर्य शक्ति व प्रकाश का केन्द्र है (४)। यह सम्पूर्ण प्रजाओं व भुवनों का आधार है (५)। द्युलोक के दो भाग सूर्य के नीचे, एक भाग ऊपर है (६)। यह सूर्य उत्तमता से पालन करनेवाला व प्राणशक्ति को देनेवाला है (७)। यह हिरण्याक्ष है (८)। हिरण्यपाणि व (९) हिरण्यहस्त है (१०)। रजःशून्य पथ से जाता हुआ हमें भी उत्तम उपदेश दे रहा है (११)। यह सूर्य जिस प्रभु की विभूति है उसके आराधन से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सूक्त-वचनों से प्रभु का आराधन

प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्　।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते॥ १॥

१. अब अगले ८ सूक्तों (३६ से ४३ तक) का ऋषि 'कण्वो घौरः' है। कण-कण करके ज्ञान का संचय करने के कारण यह 'कण्व' है और उदात्त जीवनवाला होने से 'घौर'=noble है। प्रभु की आराधना से ही जीवन का उत्कर्ष सिद्ध होता है, अतः उस आराधना

को करता हुआ वह कहता है कि **पुरूणाम्**=अपना पालन व पूरण करनेवाली **देवयतीनाम्**=दिव्य गुणों की कामनावाली **वः विशाम्**=तुम प्रजाओं के **यह्वम्**=(यातश्च हूतश्च) जाने व पुकारने योग्य **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **सूक्तेभिः वचोभिः**=अत्यन्त मधुर गुणों के प्रतिपादक वचनों से **प्र ईमहे**=प्रकर्षेण याचना करते हैं। उस प्रभु की हम प्रार्थना करते हैं जो उन्नति की इच्छुक प्रजाओं से पुकारा जाता है और सबको उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला है। २. उस प्रभु की हम प्रार्थना करते हैं **यम्**=जिनको **सीम्**=सब ओर **अन्ये**=दूसरे लोग भी **इत्**=निश्चय से **इळते**=अपने में समिद्ध करते हैं। वस्तुतः सामान्य लोग भी, प्रभु का दार्शनिक विश्लेषण न कर सकनेवाले अपठित लोग भी अन्ततः उस प्रभु की ओर झुकते हैं। इस स्थिति में जो (पुरु व देवयति) प्रजाएँ हैं वे तो उस प्रभु का सूक्तवचनों से आराधन करेंगी ही।

भावार्थ—विद्वान् व अविद्वान् सभी अन्ततः उस प्रभु की ओर झुकते हैं।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुमनाः-अविता

जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं हविष्मन्तो विधेम ते।
स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता भवा वाजेषु सन्त्य॥ २॥

१. **अग्निम्**=उस उन्नति के साधक प्रभु को **सहोवृधम्**=जोकि हमारे 'सहस्=बल' को बढ़ानेवाले हैं, **जनासः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले लोग **दधिरे**=धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी वे ही होते हैं जोकि अपनी शक्तियों को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। आलसी व निर्बल मनुष्यों को प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। २. शक्तियों का विस्तार करनेवाले हम **हविष्मन्तः**=हविवाले होकर, अर्थात् त्यागपूर्वक उपभोग का व्रत लेकर **ते विधेम**=आपका पूजन करते हैं। प्रभु का आदेश है 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' त्यागपूर्वक उपभोग करना। इस आदेश का पालन करने से प्रभु का सच्चा पूजन होता है। ३. हे प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **अद्य**=आज **इह**=प्रलोभनों से परिपूर्ण इस जगत् में **नः**=हमारे **सुमनाः**=(शोभनं मनो यस्मात्) मनों को उत्तम बनानेवाले तथा **अविता**=सब बुराइयों से रक्षण व बचाव करनेवाले **भव**=होओ। प्रभुकृपा से ही हम अपने मनों को अशुभ भावों से बचा सकेंगे। इन आसुर प्रवृत्तियों के आक्रमण को जीतना सुगम नहीं है। ४. हे प्रभो! आप ही **वाजेषु**=युद्धों में—आसुरभावों के साथ संग्राम में **सन्त्य**=(सन्तौ दाने साधुः) शक्तियों के देनेवालों में उत्तम हैं। प्रभु-स्मरण से ही वह शक्ति प्राप्त होती है जो हमें इन संग्रामों में विजयी बनाती है।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे **सहस्**=बल को बढ़ानेवाले हैं। संग्रामों में विजयी होने के लिए हमें उस प्रभु से शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

दूत-होता

प्र त्वा दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
महस्ते सतो वि चरन्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति भानवः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **त्वा**=आपको **प्रवृणीमहे**=हम प्रकृष्टरूप से वरण करते हैं। इस जीवन में हमारे सामने जब इस प्रेय-मार्ग में प्राप्त होनेवाले चमकते हुए उपभोग्य पदार्थों व आपमें वरण का प्रश्न उठता है, तब हम आपका ही वरण करते हैं जो **दूतम्**=अपने भक्तों को कष्टों की

अग्नि में सन्तप्त करके उज्ज्वल जीवनवाला बनाते हैं, जो आप **होतारम्**=सब उन्नति के साधनों के प्राप्त करानेवाले हैं, तथा **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों व ज्ञानों के स्वामी हैं। ३. **महः**=(महस् तेज अथवा मह पूजायाम्) तेज के पुञ्ज अथवा पूजा के योग्य **सतः**=सत्यस्वरूप **ते**=आपके **अर्चयः**=(अर्च पूजायाम्) पूजा करनेवाले **विचरन्ति**=इस संसार में विशिष्ट जीवनवाले होते हैं, प्रभु को महान् व सत् रूप में पूजनेवाला व्यक्ति उत्कृष्ट आचरणवाला बनता है। ४. **भानवः**=(भा दीप्तौ) ज्ञान की दीप्तिवाले ये लोग **दिवि स्पृशन्ति**=उस प्रभु के द्योतनात्मक स्वरूप में स्पर्श करनेवाले होते हैं। अथवा ये लोग पृथिवीपृष्ठ से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष से भी ऊपर उठते हुए द्युलोक में पहुँचनेवाले होते हैं। ये पार्थिव भोगों से ऊपर उठते हैं। स्वर्ग के साधक यज्ञादि में भी संग व आसक्तिवाले नहीं होते। इन कर्मों को भी वे केवल कर्त्तव्य-भावना से ही करते हैं। एतान्यपि (यज्ञदानतपः) तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्'-इन कर्त्तव्यों को 'निर्मम व निरहंकार' होकर करते हुए ये सदा ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हैं (दिवि स्पृशन्ति)।

भावार्थ—प्रभु के उपासक का जीवन विशिष्ट जीवन होता है। ये ज्ञान-दीप्तिवाले पार्थिव व स्वर्ग के उपभोगों में आसक्तिवाले नहीं होते।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

धन-विजय

देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा सं दूतं प्रत्नमिन्धते।
विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः॥ ४॥

१. हे प्रभो! **दूतम्**=कष्टों की अग्नि में सन्तप्त करके जीवनों को उज्ज्वल करनेवाले **प्रत्नम्**=सनातन—सदा से विद्यमान **त्वा**=आपको **देवासः**=दिव्यवृत्तिवाले लोग, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाले, द्वेष से ऊपर उठनेवाले, **मित्रः**=सबसे स्नेह करनेवाले व सभी को पापों व मृत्युओं से बचानेवाले तथा **अर्यमा**=(अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) दान की वृत्तिवाले जितेन्द्रिय पुरुष **समिन्धते**=अपने हृदय में समिद्ध करते हैं, अर्थात् प्रभु को 'वरुण, मित्र, अर्यमा' की वृत्तिवाले देवलोग ही पाते हैं। २. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **यः मर्त्यः**=जो भी मरणधर्मा मनुष्य **ते ददाश**=तेरे प्रति अपना अर्पण करता है—तेरे चरणों में नतमस्तक होकर तेरी आज्ञा के अनुसार चलता है **सः**=वह **त्वया**=तुझ सहायक को प्राप्त करके **विश्वं धनम्**=सम्पूर्ण धन को **जयति**=जीतता है 'धनञ्जय' बनता है। आप सारथि होते हो तो यह 'धनञ्जय' अपने लक्ष्य को पा ही लेता है।

भावार्थ—प्रभु को पाने के लिए 'वरुण, मित्र व अर्यमा' बनना चाहिए, 'निर्द्वेष, स्नेही व दानशील'। प्रभु को अपना अर्पण करनेवाला सम्पूर्ण धनों का विजेता बनता है।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मन्द्रो होता

मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि।
त्वे विश्वा संगतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अकृण्वत॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=सब प्रजाओं की उन्नति के साधक प्रभो! आप **मन्द्रः**=अपने भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं, **होता**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं, **गृहपतिः**=इस शरीररूप

गृह की रोगादि के आक्रमण से रक्षा करनेवाले हैं, तथा **विशाम्**=संसार में प्रविष्ट सब प्रजाओं को **दूतः**=कष्टों की तपस्या में तपाकर उनके जीवनों को उज्ज्वल बनानेवाले हैं। २. यद्यपि सामान्य दृष्टि से देखने पर प्रतीत तो यह होता है कि सूर्य हमें प्रकाश व प्राणशक्ति देता है, पर्जन्य वृष्टि के द्वारा अन्नादि प्राप्त कराता है, वायु जीवन शक्ति दे रही है, परन्तु वस्तुतः गम्भीर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि **यानि**=जिन **ध्रुवा व्रता**=ध्रुवव्रतों को (अग्नि जलती ही है, सूर्य तपता ही है, बादल बरसता ही है, वायु बहती ही है) **देवाः**=ये वायु आदि देव **अकृण्वत**=पालन कर रहे हैं, वे **विश्वा**=सब व्रत **त्वे**=हे प्रभो! आपमें ही **संगतानि**=संगत होते हैं, अर्थात् इन देवों को वह देवत्व आपने ही प्राप्त कराया है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस प्रभु की दीप्ति से यह सब दीप्त हो रहा है। 'तेन देवा देवतामग्र आयन्' उस प्रभु ने ही इन देवों को देवत्व प्राप्त कराया है। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः' इसी के भय से अग्नि तप रही है और इसी के भय से सूर्य चमक रहा है, एवं इन देवताओं के द्वारा परम्परया वे प्रभु ही हमें पाल रहे हैं, वास्तविक होता-दाता प्रभु ही हैं।

भावार्थ—वे प्रभु ही आनन्दित करनेवाले, सब-कुछ देनेवाले गृहपति हैं। देवों के द्वारा वे ही हमारा पालन कर रहे हैं।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सुभग-यविष्ठ्य

त्वे इद॑ग्ने सु॒भगे॑ यविष्ठ्य॒ विश्व॒मा हू॑यते ह॒विः ।
स त्वं नो॑ अ॒द्य सु॒मना॑ उ॒ताप॒रं यक्षि॑ दे॒वान्त्सु॒वीर्या॑ ॥ ६ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को दूर करने और अच्छाइयों को हमारे जीवनों के साथ संगत करने में सर्वोत्तम प्रभो! **सुभगे**=उत्तम भग=ऐश्वर्यवाले **त्वे इत्**=तुझमें ही **विश्वं हविः**=सम्पूर्ण हवि **आहूयते**=आहुत की जाती है, अर्थात् तेरी प्राप्ति के निमित्त ही कण्व, अर्थात् मेधावी लोग (प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि) दानपूर्वक अदन (हु) करते हैं। इस त्यागपूर्वक उपभोग से ही आपकी प्राप्ति होती है और आपको प्राप्त होनेवाला व्यक्ति आपकी कृपा से बुराइयों से दूर व अच्छाइयों से युक्त होता है तथा सुभग, अर्थात् उत्तम ऐश्वर्यवाला बनता है। २. हे प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **सुमनाः**=(शोभनं मनो यस्मात्) हमारे मनों को उत्तम बनानेवाले हैं। **नः**=हमें **अद्य**=आज **उत**=और **अपरम्**=अगले, अगले दिन **सुवीर्या देवान्**=उत्तम शक्तिवाले सूर्यादि देवों के साथ **यक्षि**=संगत कीजिए। प्रत्येक देव हमारी शक्ति की वृद्धि का कारण बने। यह शक्ति-वृद्धि हमारे मनों को भी उत्तम बनानेवाली हो।

भावार्थ—त्यागपूर्वक उपभोग के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु-कृपा से सूर्यादि देव हमारी शक्ति का वर्धन करनेवाले हों।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु-प्राप्ति के साधन व फल

तं घे॑मि॒त्था न॑म॒स्विन॒ उप॑ स्व॒राज॑मासते ।
होत्रा॑भिर॒ग्निं मनु॑षः॒ समि॑न्धते तिति॒र्वांसो॒ अति॒ स्रिधः॑ ॥ ७ ॥

१. **तम्**=उस **स्वराजम्**=स्वयं देदीप्यमान प्रभु को **घ**=निश्चय से **ईम्**=सचमुच **इत्था**=इस प्रकार से, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार हवि की आहुति देने से, त्यागपूर्वक उपभोग करने से

नमस्विनः=उत्तम अन्नोंवाले होते हुए (**नमः**=अन्न-नि०) अथवा नमस्कारयुक्त होते हुए **उपासते**=उपासित करते हैं, एवं प्रभु की उपासना के लिए आवश्यक है कि हम (क) हवि का स्वीकार करें, यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें। (ख) उत्तम सात्त्विक अन्न का प्रयोग करें। (ग) नमस्कारयुक्त हों, नम्रतावाले हों। २. उस **अग्नि**=अग्रणी प्रभु को **होत्राभिः**=दानपूर्वक अदन की क्रियाओं से, त्याग से **मनुषः**=विचारशील पुरुष **समिन्धते**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं और इस प्रभु-दीप्ति का परिणाम यह होता है कि ये **स्निधः**=हिंसक शत्रुओं को—विनाशकारी काम, क्रोध, लोभादि वासनाओं को **तितिर्वांसः**=तैर जाते हैं। प्रभु की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम (क) त्यागशील बनें, यज्ञशेष का सेवन करें। (ख) विचारशील स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। प्रभुप्राप्ति का लाभ यह होगा कि हम कामादि शत्रुओं को पराजित कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के प्रमुख साधन नम्रता, त्याग व विचार (ज्ञान) हैं। प्रभुप्राप्ति का लाभ 'काम, क्रोध, लोभादि' का संहार है।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वृत्र-हनन

घ्नन्तो॑ वृ॒त्रम॑तर॒न्रोद॑सी अ॒प उ॒रु क्षया॑य चक्रिरे।
भुव॒त्कण्वे॒ वृषा॑ द्यु॒म्न्याहु॑तः॒ क्रन्द॒दश्वो॒ गवि॑ष्टिषु॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की सहायता से **घ्नन्तः**=वासनाओं पर प्रहार करते हुए देववृत्ति के मनुष्य **वृत्रम्**=ज्ञान पर परदा डालनेवाली इस वासना को **अतरन्**=तैर जाते हैं। वासना का विनाश कर देते हैं। २. और **रोदसी**=द्यावापृथिवी को अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को तथा **अपः**=हृदयान्तरिक्ष को (आपः अन्तरिक्षनामसु निघण्टौ) **क्षयाय**=उत्तम निवास व गति के लिए **उरु चक्रिरे**=विशाल बनाते हैं। विशालता ही इन सबको पवित्र व उत्तम बनाती है। 'संकुचित ज्ञान, संकुचित-सा शरीर व संकुचित हृदय' ये जीवन को संकुचित-सा कर देते हैं। २. हे प्रभो! आप **कण्वे**=मेधावी पुरुष में **वृषा**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले **द्युम्नी**=ज्ञानवर्धन करनेवाले तथा **आहुतः**=सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करनेवाले **भुवत्**=होते हैं। आप उसी प्रकार हमें सब वस्तुओं के प्राप्त करनेवाले होते हैं, जैसेकि **गविष्टिषु**=गौओं व भूमियों की प्राप्ति की इच्छावाले (गो-इष्टि) संग्रामों में **क्रन्दत् अश्वः**=हिनहिनाता हुआ घोड़ा विजय को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम वासनाओं को तैर जाते हैं। शरीर, मन व मस्तिष्क को सुन्दर बनाते हैं। मेधावी पुरुष के लिए प्रभु 'वृषा द्युम्नी व आहुत' होते हैं।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अरुष व दर्शत ज्ञान

सं सी॑दस्व म॒हाँ अ॑सि॒ शोच॑स्व देव॒वीत॑मः।
वि धू॒मम॑ग्ने अरु॒षं मि॑येध्य सृ॒ज प्र॑शस्त द॒र्शत॑म्॥ ९॥

१. **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **संसीदस्व**=आप कृपा करके हमारे हृदयदेश में विराजमान होइए। **महान्**=आप महान् **असि**=हैं। आप हमसे पूजा के योग्य हैं। **शोचस्व**=आप हमारे हृदयों को पवित्र व दीप्त करनेवाले होइए। **देववीतमः**=अधिक-से-अधिक (तम) दिव्य गुणों को

(देव) प्राप्त करानेवाले (वी) होइए। २. हे अग्ने! **मियेध्य**=मेधार्ह (मेधृ संगमे) संगम के योग्य प्रभो! **प्रशस्त**=उत्कृष्ट गुणोंवाले प्रभो! आप **धूमम्**=(धू कम्पने) सब बुराइयों को कम्पित करके दूर करनेवाले ज्ञान को **विसृज**=विशेष रूप से उत्पन्न कीजिए। उस ज्ञान को जोकि **अरुषम्**=(आरोचमानम्) खूब ही देदीप्यमान है तथा हमें क्रोधशून्य बनानेवाला है तथा **दर्शतम्**=दर्शनीय व सुन्दर है या आत्मतत्त्व का दर्शन करानेवाला है।

भावार्थ—प्रभु हृदय में विराजते हैं तो यह हृदयदेश चमक उठता है। इसमें उस ज्ञान का प्रकाश होता है जोकि देदीप्यमान व दर्शनीय होता हुआ सब बुराइयों को दूर कर देता है।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्विष्टारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उपस्तुत

यं त्वा॑ दे॒वासो॒ मन॑वे द॒धुरि॒ह यजि॑ष्ठं ह॒व्यवा॑हन।
यं कण्वो॒ मेध्या॑तिथिर्धन॒स्पृतं॒ यं वृषा॒ यमु॑पस्तु॒तः ॥ १० ॥

१. हे **हव्यवाहन**=हव्यः दानपूर्वक अदन के योग्य अथवा पवित्र पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप वे हैं **यम्**=जिन **यजिष्ठम्**=सर्वोत्तम, पूजा के योग्य **त्वा**=आपको **देवासः**=देववृत्तिवाले लोग **इह**=इस मानव-जीवन में **मनवे**=मनुष्यमात्र के हित के लिए अथवा ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करने के लिए **दधुः**=धारण करते हैं। प्रभु को हृदय में धारण करने पर मनुष्य सबके साथ बन्धुत्व को अनुभव करता है, अतः सभी के हित में प्रवृत्त होता है। प्रभु के हृदयस्थ होने पर हमारा हृदय ज्ञान से दीप्त हो उठता है। २. प्रभु वे हैं **यं धनस्पृतम्**=जिन सब धनों से प्रीणित करनेवाले को **कण्वः**=मेधावी पुरुष धारण करता है। ३. प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **वृषा**=शक्तिशाली पुरुष और शक्ति के द्वारा सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला पुरुष धारण करता है। ४. प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **उपस्तुतः**=(उपगतः स्तौति, द०) प्रभु की उपासना करता हुआ स्तुति करता है, वह धारण करता है।

भावार्थ—प्रभु को धारण वह करता है जो 'देव, कण्व, मेध्यातिथि, वृषा व उपस्तुत' है। प्रभु ज्ञान देनेवाले व धनों से प्रीणित करनेवाले हैं।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मेध्यातिथि

यम॒ग्निं मेध्या॑ति॒थिः कण्व॑ ई॒ध ऋ॒तादधि॑ ।
तस्य॒ प्रेषो॑ दीदियु॒स्तमि॒मा ऋ॒चस्तम॒ग्निं व॑र्धयामसि ॥ ११ ॥

१. **यम्**=जिस **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **मेध्यातिथिः**=पवित्रता की ओर व पवित्र यज्ञादि कर्मों की ओर निरन्तर चलनेवाला **कण्वः**=मेधावी पुरुष **ऋतात् अधि ईधे**=ऋत के द्वारा, नियमित क्रियाओं के द्वारा आधिक्येन दीप्त करता है, **तस्य**=उस प्रभु को ही **इमाः**=ये सब **ऋचः**=ऋचाएँ बढ़ाती हैं—**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्**, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति',—सब ऋचाएँ उस व्यापक अविनाशी परमात्मा में ही स्थित हैं और सारे वेद उस प्राप्त करने योग्य प्रभु को ही प्रतिपादित कर रहे हैं। ३. हम सब भी **तम् अग्निम्**=उस सर्वाग्रणी प्रभु को ही **वर्धयामसि**=बढ़ाते हैं, अर्थात् उस प्रभु का ही स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम कण्व बनकर ऋत का पालन करें। यह ऋत का पालन ही हमें प्रभु के

प्रकाश को प्राप्त कराएगा। ये प्रभु ही सब छन्दों में प्रतिपाद्य हैं।

ऋषिः—घौरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भूरिगनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्रशंसनीय धन व बल

रायस्पूर्धि स्वधावोऽस्ति हि तेऽग्ने देवेष्वाप्यम्　।
त्वं वाजस्य श्रुत्यस्य राजसि स नो मृळ महाँ असि॥ १२॥

१. हे **स्व-धावः**=(धाव् शुद्धौ) अपने मित्रभूत आत्मा का शोधन करनेवाले प्रभो! **रायः पूर्धि**=धनों को हममें पूरित कीजिए, अर्थात् आवश्यक धनों की हमें कभी कमी न रहे। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ते**=आपकी **देवेषु**=दिव्य गुणोंवाले पुरुषों में **हि**=निश्चय से **आप्यम्**=मित्रता **अस्ति**=है। ३. **त्वम्**=आप **श्रुत्यस्य**=प्रशंसनीय व महती वृद्धि के कारणभूत **वाजस्य**=धन व बल के **राजसि**=प्रभुत्व करनेवाले हैं। 'श्रुत्य वाज' के ईश आप ही हैं। आपकी कृपा से ही हमें यशस्वी बल व यशोवृद्धि का कारणभूत धन प्राप्त होता है। ४. **सः**=वे आप **नः मृळ**=हमें सुखी कीजिए। आप सचमुच **महान्**=पूजनीय **असि**=हैं। हम आपकी पूजा करते हैं और आपकी कृपा से हम प्रशंसनीय धन व बल का लाभ करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें धन प्राप्त कराते हैं। वे सब देवों के मित्र हैं, प्रशंसनीय बल के देनेवाले हैं। ये प्रभु महान् हैं और हमें सुखी करते हैं।

ऋषिः—घौरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—उपरिष्टाद्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

रक्षण व शक्ति-लाभ

ऊर्ध्व ऊ षु णं ऊतये तिष्ठा देवो न सविता　।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥ १३॥

१. **नः**=हमारी **सु ऊतये**=उत्तम रक्षा के लिए **उ**=निश्चय से हे प्रभो! **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=आप उसी प्रकार ऊपर उठकर ठहरे हुए हैं, अर्थात् किसी भी प्रकार का प्रमाद न करते हुए आप हमारा रक्षण कर रहे हैं **न**=जैसेकि **सविता देवः**=यह सूर्यदेव हमारा रक्षण करता है। वस्तुतः इन सूर्यादि देवों की उस-उस शक्ति व क्रिया से प्रभु ही तो हमारा रक्षण कर रहे हैं। इन सूर्यादि देवों में देवत्व की स्थापना प्रभु ही कर रहे हैं। २. हे प्रभो! आपके द्वारा होनेवाले रक्षण का प्रकार यह है कि आप **ऊर्ध्वः**=सदा उद्यत हुए **वाजस्य सनिता**=हमें ज्ञान व शक्ति देनेवाले हैं। इस ज्ञान व शक्ति के प्रदान से आप हमें रक्षण की योग्यता प्राप्त करा रहे हैं। ३. परन्तु यह सब होता तभी है **यद्**=जबकि हम **अञ्जिभिः**=सब विज्ञानों को व्याप्त करनेवाले **वाघद्भिः**=ऋतु-ऋतु में यज्ञों के करनेवाले ज्ञानी ऋत्विजों के साथ **विह्वयामहे**=विशेषरूप से स्पर्धा करनेवाले होते हैं, अर्थात् उनके सम्पर्क में आकर अपने अन्दर ज्ञान व यज्ञ की वृत्ति को बढ़ाने के लिए यत्नशील होते हैं। वस्तुतः जब मनुष्य सत्सङ्ग के द्वारा अपने ज्ञान व यज्ञवृत्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करता है, तब वह अपने को प्रभु की रक्षा का पात्र बना लेता है और प्रभु उसे शक्ति प्राप्त कराते हैं ताकि वह उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ सके।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हैं, शक्ति के देनेवाले हैं। हमें चाहिए कि ज्ञानी व यज्ञशील पुरुषों के सम्पर्क में आकर अपने को प्रभु-रक्षा का पात्र बनाएँ।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्विष्टारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अत्रि-संदाह

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं सम॒त्रिणं दह।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः॥ १४॥

१. हे प्रभो! आप **ऊर्ध्वः**=सदा उन्नत हुए-हुए, अप्रमत्त हुए-हुए **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **पाहि**=बचाइए। आपकी रक्षा से सुरक्षित हुआ मैं पाप के आक्रमण से आक्रान्त न ही जाऊँ। २. हे प्रभो! आप **केतुना**=उत्तम निवास व नीरोगता को प्राप्त करानेवाले ज्ञान के द्वारा **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाले ये काम-क्रोध व लोभ दग्ध हो जाएँ और हमारा दहन करनेवाले न रहें। ३. **नः**=हमें **ऊर्ध्वान्**=उन्नत व आलस्यरहित **कृधि**=कीजिए। **चरथाय**=हम उन्नति के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ सकें तथा **जीवसे**=उत्तम जीवन जीनेवाले बनें। ४. हे प्रभो! आप **देवेषु**=विद्वानों में **नः**=हमारी **दुवः**=परचर्या को **विदाः**=प्राप्त कराइए। हम सदा उत्तम गुणोंवाले विद्वानों का सङ्ग व उनकी सेवा करनेवाले बनें ताकि हमारा जीवन उत्तम बने।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम उत्तम विद्वानों का सङ्ग व उनकी सेवा करते हुए अपने-आपको पापों से आक्रान्त होने से बचा सकें तथा काम-क्रोधादि को भस्म करके जीवन को सुन्दर व उन्नत करनेवाले हों।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अहिंसाव्रत

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥ १५॥

१. हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! आप **नः**=हमें **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करने की वृत्तिवाले पुरुषों से **पाहि**=बचाइए। इनके सम्पर्क में आकर हम भी ऐसे न बन जाएँ। २. **अराव्णः**=न देनेवाले पुरुष की **धूर्तेः**=हिंसा से हमें **पाहि**=बचाइए। ३. **रीषतः**=हिंसक व्याघ्र आदि पशुओं से भी **पाहि**=हमारा रक्षण कीजिए। प्रभुकृपा से हम इन व्याघ्रादि के उपद्रवों से बचे रहें। ४. हे **बृहद् भानो**=महान् ज्ञान के प्रकाश करनेवाले प्रभो! **यविष्ठ्य**=ज्ञान के द्वारा ही बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवालों में उत्तम प्रभो! **उत वा**=और निश्चय से **जिघांसतः**=हमारा हनन करने की इच्छावाली द्रोहवृत्तिवाले पुरुषों से भी हमें बचाइए। ५. मन्त्र में 'इन-इनसे बचाइए' इस प्रकार प्रार्थना के द्वारा यही अभिप्रेत है कि हम वैसे न बन जाएँ, अर्थात् (क) **रक्षसः**=हम अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले न हों। (ख) **धूर्तेः**=हम हिंसक न हों। (ग) **अराव्णः**=न देने की वृत्तिवाले न हों। (घ) **रीषतः**=व्याघ्रादि की भाँति हानि पहुँचानेवाले न बनें। (ङ) **जिघांसतः**=हममें घातपात की वृत्ति न उत्पन्न हो जाए। ६. इस प्रकार का बनने के लिए हम प्रभु की उपासना से **बृहद् भानुः**=खूब ही ज्ञान-दीप्तिवाले बनें तथा **यविष्ठ्यः**=पाप से अमिश्रण व भद्र से मिश्रण करनेवालों में उत्तम हों।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से ज्ञान को बढ़ाकर हम हिंसकवृत्ति से अपने को ऊपर उठानेवाले हों, अहिंसाव्रत का पालन करें।

ऋषिः—घौरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'अरावा-द्रोही व चोर' का नाश

घनेव विष्वग्वि जह्यराव्णस्तपुर्जम्भ यो अस्मध्रुक्।
यो मर्त्यः शिशीते अत्यक्तुभिर्मा नः स रिपुरीशत॥ १६॥

१. हे **तपुर्जम्भ**=(तपूंषि जम्भानि-आयुधानि यस्य) सन्तापकारी अस्त्रोंवाले प्रभो! **अराव्णः**=राष्ट्र में उचित कर आदि न देनेवाले व्यक्तियों को **विष्वक् विजहि**=सब ओर से नष्ट कर दीजिए, उसी प्रकार नष्ट कर दीजिए **इव**=जैसेकि **घना**=दृढ़ पाषाण आदि से मृत्पिण्डों को नष्ट कर देते हैं। २. **यः**=जो भी **अस्मध्रुक्**=हम सबका द्रोह करता है और **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **अक्तुभिः**=रात्रियों के समय अति **शिशीते**=अतिशयेन क्षीण कर देता है अर्थात् धन-धान्यों को चुराकर हमारी अवस्था को क्षीण कर देता है **सः**=वह **रिपुः**=शत्रु **नः**=हमारा **मा ईशत**=ईश न बन जाए, अर्थात् हमपर प्रबल न हो जाए।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से कर व दान न देनेवालों का, दूसरों का द्रोह करनेवालों का तथा रात्रि में चोरी करके औरों का क्षय करनेवालों का प्राबल्य न हो, इन शत्रुओं का नाश ही हो।

ऋषिः—घौरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराडुपरिष्टाद्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सुवीर्य-सौभग-सुरक्षण

अग्निर्वव्ने सुवीर्यमग्निः कण्वाय सौभगम्।
अग्निः प्रावन्मित्रोत मेध्यातिथिमग्निः साता उपस्तुतम्॥ १७॥

१. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **सुवीर्यं वव्ने**=उत्तम शक्ति के लिए याचना किया जाता है, अर्थात् उस प्रभु से उत्तम शक्ति की याचना करते हैं। शक्ति ही तो नीरोगता, निर्मलता व अन्य सद्गुणों की आधार है। २. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु ही **कण्वाय**=मेधावी पुरुष के लिए **सौभगम्**=सौभाग्य को **वव्ने**=देता है। सब सौभाग्य ज्ञानमूलक हैं। हम ज्ञानपूर्वक कार्य करते हैं तो वे हमारे सौभाग्य के बढ़ानेवाले होते हैं। नासमझी से किये गये कार्य ही दौर्भाग्य को पैदा किया करते हैं। ३. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **मित्रा**=परस्पर स्नेह से रहनेवालों का **प्रावत्**=रक्षण करते हैं। इसके विपरीत **'मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्'** परस्पर द्वेष करनेवाले मरा ही करते हैं, अर्थात् प्रभु की रक्षा का पात्र वह होता है जो निरन्तर पवित्र कर्मों की ओर चलता है। ४. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **उपस्तुतम्**=(उपगतैः गुणैः स्तूयते, दया०) प्राप्त गुणों के कारण प्रशंसित व्यक्ति को **सातौ**=धनादि की प्राप्ति में **प्रावत्**=रक्षित करता है, अर्थात् उपस्तुत को ही धन-प्राप्ति के योग्य बनाता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें 'सुवीर्य-सौभग व सुरक्षण' प्राप्त हो। हम 'कण्व-मित्र-मेध्यातिथि व उपस्तुत' बनें।

ऋषिः—घौरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विष्टारपङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

तुर्वश-तुर्वीति

अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः॥ १८॥

१. उस **अग्निना**=अग्रणी प्रभु के साथ अथवा उस अग्रणी प्रभु की प्राप्ति के हेतु से हम **तुर्वशम्**=त्वरा से इन्द्रियों व मन को वश में करनेवाले को **यदुम्**=उत्तम धनों की प्राप्ति के लिए यत्नशील को (यतते) तथा **उग्रादेवम्**=तेजस्वी व दिव्य गुणोंवाले पुरुष को **परावतः**=दूर देश से भी **हवामहे**=पुकारते हैं। इन लोगों का='तुर्वश, यदु व उग्रादेव' का सम्पर्क हमें भी उसी प्रकार 'तुर्वश, यदु व उग्रादेव' बनाएगा। ऐसा बनने पर हम प्रभु को पानेवाले बनेंगे। २. **अग्निः**=अग्रणी प्रभु इस **नववास्त्वम्**=(नवं वास्तु यस्य) स्तुत्य घरवाले, अर्थात् सुन्दर शरीररूप गृहवाले **बृहद्रथम्**=वृद्धिशील रथवाले, अर्थात् जीवन-यात्रा में इस शरीररूप रथ से निरन्तर आगे बढ़नेवाले **तुर्वीतिम्**=(तुर्वति=हिनस्ति) सब बुराइयों के संहार करनेवाले को **दस्यवे सहः**=दस्युओं के कुचलने के लिए शक्ति को **नयत्**=प्राप्त कराता है। प्रभु-कृपा से हमें वह शक्ति प्राप्त होती है जोकि दास्यव वृत्तियों को कुचलने में समर्थ होती है। ३. मन्त्र में 'तुर्वश' आदि शब्दों से स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि (क) हम **'तुर्वश'** बनें—त्वरा से इन्द्रियों व मन को वश में करनेवाले हों। (ख) **'यदु'**—जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक साधनों को जुटाने में यत्नशील हों। (ग) **'उग्रादेव'**—तेजस्वी व दिव्यगुणोंवाले बनें। (घ) **'नववास्तु'**—शरीररूप गृह को सुन्दर बनाएँ। (ङ) **'बृहद्रथम्'**—वृद्धिशील रथवाले हों, अर्थात् जीवन-यात्रा में आगे बढ़ें और (च) **'तुर्वीति'**—सब वासनाओं का हिंसन करनेवाले हों।

भावार्थ—'तुर्वश, यदु व उग्रादेव' बनकर हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। वे प्रभु 'नववास्त्व' बृहद्रथ व तुर्वीति' को शक्ति प्राप्त कराते हैं जो दस्युओं को कुचलनेवाली होती है।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मनु व कृष्टि

नि त्वाम॑ग्ने मनु॑र्दधे ज्योति॒र्जना॑य॒ शश्व॑ते ।
दी॒देथ॒ कण्व॑ ऋ॒तजा॑त उक्षि॒तो यं न॑म॒स्यन्ति॑ कृ॒ष्टयः॑ ॥ १९ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको **मनुः**=विचारशील पुरुष **निदधे**=अपने हृदय में स्थापित करता है। प्रभु के स्वागत के लिए ज्ञानी बनना आवश्यक है। **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'**=उस प्रभु का दर्शन सूक्ष्मबुद्धि से होता है। २. ये प्रभु **शश्वते जनाय**=प्लुतगतिवाले पुरुष के लिए, क्रियाशील पुरुष के लिए **ज्योतिः**=प्रकाशस्वरूप होते हैं। आलसी पुरुष को ईश्वर का दर्शन नहीं होता। ३. हे प्रभो! आप **उक्षितः**=आनन्द से सिक्त हो, अर्थात् आनन्दस्वरूप हो। ५. आप वे हैं **यम्**=जिनको **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **नमस्यन्ति**=अर्चित करते हैं। प्रभु की अर्चना श्रम के द्वारा होती है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का सर्वप्रथम साधन है 'मनु'—ज्ञानी बनना। द्वितीय साधन है 'शश्वत्' प्लुतगतिवाला होना। तृतीय साधन है—मेधावी बनकर ऋत का पालन करना। चौथा साधन है 'श्रमशील' होना—कृषि करना। संक्षेप में प्रभु को 'मनु, शश्वत्, कण्व व कृष्टि' प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**घौरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ज्ञानदीप्ति व बल

त्वे॒षासो॑ अ॒ग्नेरम॑वन्तो अ॒र्चयो॑ भी॒मासो॒ न प्रती॑तये ।
र॒क्ष॒स्विनः॒ सद॒मिद्या॑तु॒माव॑तो॒ विश्वं॒ सम॒त्रिणं॑ दह ॥ २० ॥

१. **अग्ने**=उस अग्रणी प्रभु की **अर्चयः**=ज्ञानाग्नि की ज्वालाएँ **त्वेषासः**=दीप्त होती हैं और **अमवन्तः**=शक्तिशाली होती हैं। ये ज्ञान की ज्वालाएँ सब वासनाओं के लिए **भीमासः**=भयंकर होती हैं, **प्रतीतये न**=ये ज्वालाएँ लौटने के लिए नहीं हैं (प्रति, इति=गति) अर्थात् वासनाएँ इन ज्ञान-ज्वालाओं को पराजित नहीं कर सकती। वस्तुतः जो भी मनुष्य प्रभु को धारण करता है, वह इन ज्ञानदीप्तियों को धारण कर लेने से चमकता है (त्वेषासः)=शक्तिशाली होता है (अमवन्तः)=इन वासनाओं के लिए भयंकर होता है और इनसे पराजित नहीं होता। २. यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप **रक्षस्विनः**=राक्षसी भावनाओं को **सदम् इत्**=सदा ही **यातुमावतः**=पीड़ा का आधान करनेवाली विकृतियों को और **विश्वम्**=हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाले काम-क्रोध-लोभ को **सन्दह**=सम्यक् भस्म कर दीजिए। ज्ञान की दीप्ति ही इनको भस्मीभूत करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञानदीप्तियाँ हमें 'दीप्त', सबल व 'शत्रु-भयंकर' बनाती हैं। ये राक्षसी भावनाओं, पीड़ाकर विकृतियों तथा काम-क्रोध-लोभ को नष्ट कर देती हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्रभु के आह्वान से होता है (१)। वे प्रभु हमारे बलों को बढ़ाते हैं (२)। वे सब-कुछ देनेवाले व सम्पूर्ण धनोंवाले हैं (३)। प्रभु का दर्शन द्वेषशून्य, स्नेह-सम्पन्न, जितेन्द्रिय पुरुष को होता है (४)। वे प्रभु ही सूर्यादि के द्वारा हमारा पालन कर रहे हैं (५)। हमारे लिए इन सूर्यादि देवों को शक्तिशाली बनाते हैं (६)। नम्र, त्यागी व विचारशील पुरुषों को प्रभु का प्रकाश दीखता है (७)। वे प्रभुप्रकाश को प्राप्त करनेवाले ही वृत्र (वासना) का विनाश कर पाते हैं (८)। हृदयस्थ प्रभु का प्रकाश सब बुराइयों को दूर कर देता है (९)। प्रभु का धारण देववृत्तिवाले ही करते हैं (१०)। उस प्रभु के प्रकाश के लिए ऋत का पालन आवश्यक है (११)। ये प्रभु हमें प्रशंसनीय बल व धन प्राप्त कराएँगे (१२)। वे ही हमारा रक्षण करते हैं (१३)। हमारे जीवन को उन्नत बनाते हैं (१४)। हमें अहिंसाव्रत में दृढ़ करते हैं (१५)। प्रभु-कृपा से राष्ट्र के शत्रुओं का नाश होता है (१६)। सुवीर्य, सौभग व सुरक्षण प्राप्त होता है (१७)। हम 'तुर्वश व तुर्वीति' बन पाते हैं (१८)। हमें चाहिए कि हम ज्ञानी व क्रियाशील बनें (१९)। प्रभु की दीप्तियों को प्राप्त करके 'काम' का दहन करनेवाले बनें (२०)। अब प्रभुप्राप्ति के लिए मुख्य साधन 'प्राणायाम' का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

क्रीड़क की मनोवृत्ति

क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम्। कण्वा अभि प्र गायत॥ १॥

१. हे **कण्वाः**=(कण निमीलने, निमीलयति परान् स्वतेजसा) अपनी तेजस्विता से दूसरों की आँखों को चुँधिया देनेवाले पुरुषो! आप **वः**=आपके **मारुतं शर्धः**=प्राण-सम्बन्धी बल का **अभिप्रगायत**=गायन करो। यह 'मारुत शर्ध' क्रीड़क—तुम्हें क्रीड़क की मनोवृत्तिवाला बनाता है, अर्थात् इस प्राण-बल के होने पर मनुष्य जय-पराजय को 'Sportsman-like spirit में—एक खिलाड़ी की मनोवृत्ति से ग्रहण करता है। **अनर्वाणम्**=(अर्वा भातृव्य) जो मारुतशर्ध शत्रुओं से रहित है, अर्थात् प्राणों पर शत्रुओं का आक्रमण होता है शत्रु इस प्रकार नष्ट

हो जाते हैं जैसे पत्थर से टकराकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है। इन प्राणों का कोई शत्रु नहीं है। **रथेशुभम्**=यह मारुतशर्ध इस शरीररूप रथ में अत्यन्त शोभायमान होता है। वास्तविकता यह है कि प्राणों की साधना से ही रथ शोभनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हममें क्रीड़क की मनोवृत्ति उत्पन्न होगी, सब वासनारूप शत्रु नष्ट होंगे और यह शरीररूप रथ सुन्दर बनेगा।

सूचना—यहाँ वायुबल से चलनेवाले अनर्वा=अश्वरहित रथ की ध्वनि भी स्पष्ट है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गुणालंकृतता

ये पृष॑तीभिर्ऋ॒ष्टिभि॑: सा॒कं वाशी॑भिर॒ञ्जिभि॑: । अजा॑यन्त॒ स्वभा॑नवः ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाले लोग वे हैं **ये**=जो **स्वभानवः**=आत्मा की दीप्तिवाले **अजायन्त**=हो जाते हैं। ये योगसाधना में आगे बढ़ते हुए अन्नमयादि कोशों से ऊपर उठकर अन्ततः आत्मा का दर्शन करते हैं। २. इससे पूर्व ये उन **आशीभिः**=वाणियों के **साकम्**=साथ होते हैं जो वाणियाँ **पृषतीभिः**=हृदय में हर्ष का वर्षण करनेवाली हैं, **ऋष्टिभिः**=ज्ञान की प्रकाशिका हैं तथा **अञ्जिभिः**=सद्गुणों से अलंकृत करनेवाली हैं। ३. 'पृषती' शब्द मरुतों की वाहनभूत मृगियों के लिए आता है। ये मृगियाँ आत्मा का मार्गण करनेवाली चित्तवृत्तियाँ ही हैं। आत्ममार्गण करती हुई और आत्मा की ओर चलती हुई ये हृदय में आनन्द का वर्षण करती हैं। 'ऋष्टि' आयुध है और ज्ञान ही वह आयुध है जिससे कि वासनारूप शत्रु का संहार होता है। 'अञ्जि' अलंकार का नाम है। प्राणसाधना दुर्गुणों को दूर करके हमें सद्गुणों से अलंकृत करती ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' उत्पन्न होती है। यह 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' हमें प्रभु की वाशी=वाणी से सुपरिचित करती है। यह परिचित वाणी हमें हृदय में आनन्दित करती है, ज्ञान का प्रकाश देती है तथा गुणालंकृत करती है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

हाथ बोलें

इ॒हेव॑ शृण्व एषां॒ कशा॒ हस्ते॑षु॒ यद्वदा॑न् । नि याम॑ञ्चि॒त्रमृ॑ञ्जते ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र में 'वाशी' शब्द से वेदवाणी का उल्लेख हुआ है। उस वेदवाणी को प्रस्तुत मन्त्र में 'कशा' शब्द से स्मरण किया गया है। यह वेदवाणी कर्त्तव्यों का अनुशासन करती है (कश—गतिशासनयोः)। **एषाम्**=इन प्राणसाधना करनेवालों के **हस्तेषु**=हाथों में **यत्**=जब **कशाः**=ये वेदवाणियाँ **वदान्**=बोलती हैं, अर्थात् जब इनका जीवन वेदवाणियों के अनुसार होता है तब **इह इव**=इस जीवनकाल की भाँति जीवन के बाद भी **शृण्वे**=इनका यश सुनाई पड़ता है। ये व्यक्ति कभी मर नहीं जाते, मरने के बाद भी ये जीवित ही रहते हैं, स्थूलशरीर चले जाने पर भी इनका यशशरीर स्थिर रहता है। वेदवाणी को जीवन में अनूदित करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य प्राणों का संयम करे। यह मरुतों का बल ही हमें वैदिक जीवनवाला बनाता है। २. ये लोग **यामन्**=इस जीवनमार्ग में अपने को **चित्रम्**=अद्भुतरूप से **नि ऋञ्जते**=निश्चय से वा नितराँ प्रसाधित करते हैं। वैदिक कर्मकलाप करते हुए ये लोग अपने जीवनों को बड़ा सुन्दर बना लेते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी को हम जीवन में क्रियान्वित करें, जिसके द्वारा हमारे जीवन का अद्भुत अलंकरण हो।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

घृष्वि-त्वेषद्युम्न-शुष्मी

प्र वः शर्धाय घृष्वये त्वेषद्युम्नाय शुष्मिणे। देवत्तं ब्रह्म गायत॥ ४॥

१. हे मनुष्यो! **वः**=तुम्हारे **शर्धाय**=इस प्राणों के बल के लिए जोकि **घृष्वये**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है, **त्वेषद्युम्नाय**=दीप्तज्ञान व यशवाला है (द्युम्नं यशः, नि०) **शुष्मिणे**=शत्रुओं के शोषक बलवाला है, **देवत्तम्**=उस महान् देव प्रभु से दिये हुए (देवेन दत्तं=देवत्तम्) **ब्रह्म**=स्तोत्र का **गायत**=खूब गान करो। २. वेदों में प्राणों की महिमा का प्रतिपादन है। वेदमन्त्रों से हम उस प्राणमहिमा को समझें। प्राणों के महत्त्व को समझकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। ३. इस प्राणसाधना के होने पर हम शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बनेंगे, दीप्तज्ञान व यशवाले होंगे और न चाहते हुए भी हमारे अन्दर आ जानेवाले कामादि का हम शोषण कर पाएँगे।

भावार्थ—वेदमन्त्रों में हम प्राणों की महिमा को देखें और प्राणसाधना करते हुए 'घृष्वी-त्वेष-द्युम्न व शुष्मी' बनें।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

चबाकर खाना

प्र शंसा गोष्वघ्न्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम्। जम्भे रसस्य वावृधे॥ ५॥

१. **यत्**=जो **मारुतं शर्धः**=प्राणसम्बन्धी बल है, उसका **प्रशंस**=शंसन करो जो प्राणों का बल (क) **गोषु अघ्न्यम्**=इन्द्रियों के विषय में न हनन करनेवालों में उत्तम है, अर्थात् जो इन्द्रियों की शक्ति को स्थिर रखता है, इन्द्रियों के दोषों को दूर करके उनकी शक्ति को क्षीण नहीं होने देता; (ख) **क्रीळम्**=यह प्राणों का बल हमारे मनों को पवित्र करता हुआ हमें एक क्रीड़क की मनोवृत्ति प्राप्त कराता है। इस वृत्ति के कारण इस संसार को ठीकरूप में देखनेवाले बनते हैं। २. यह 'मारुतशर्धः'=प्राणों का बल **जम्भे**=मुख में **रसस्य**=(रसेन) भोजन को खूब चबाकर रस बना लेने से **वावृधे**=बढ़ता है, अर्थात् यदि हम भोजन को खूब चबाकर खाते हैं और उसे द्रव बनाकर अन्दर ले जाते हैं तो यह प्राणवृद्धि का कारण बनता है। यह प्राणों का बल हमारी इन्द्रियों को क्षीण नहीं होने देता और हमारी मनोवृत्ति को एक खिलाड़ी की मनोवृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—प्राणों का बल इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करता है; हमारी मनोवृत्ति को खिलाड़ी की मनोवृत्ति से युक्त करता है। प्राणों के बल की वृद्धि के लिए खूब चबाकर खाना आवश्यक है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्युलोक व भूलोक को कम्पित करना

को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्च ग्मश्च धूतयः। यत्सीमन्तं न धूनुथ॥ ६॥

१. हे **नरः**=शरीर में सब इन्द्रियों का नेतृत्व करनेवाले प्राणो! **दिवः च**=द्युलोक के अर्थात् मस्तिष्क के **ग्मः च**=और पृथिवीलोक, अर्थात् शरीर के **धूतयः**=कम्पित करनेवाले प्राणो! **यत्**=जब **सीम्**=सदा **अन्तं न**=वस्त्रप्रान्त की भाँति **धूनुथ**=तुम इन्हें कम्पित कर निर्मल

कर देते हो, अर्थात् जैसे कपड़े को झाड़कर उसपर लगी धूल को उससे पृथक् कर देते हैं, उसी प्रकार जब आप मस्तिष्क व शरीर की मैल को दूर कर देते हो तब **आ वर्षिष्ठः**=सब आनन्दों की वर्षा करनेवाला अथवा सर्वश्रेष्ठ **कः**=आनन्दस्वरूप प्रभु **वः**=आपका होता है, अर्थात् प्राणसाधना से शरीर के नीरोग व मस्तिष्क के दीप्त होने पर प्रभु का दर्शन व प्राप्ति होती है। एवं, प्रभु प्राणों के हैं, अर्थात् उन्हीं के द्वारा प्राप्य हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से द्युलोक व भूलोक—मस्तिष्क व शरीर दोनों का शोधन होकर प्रभु का दर्शन होता है। एवं, प्राणसाधना हमें प्रभु की ओर ले-चलती है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पर्वत का हिल जाना

नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे। जिहीत पर्वतो गिरिः॥ ७॥

१. **मानुषः**=एक विचारशील ज्ञानी पुरुष **यामाय**=सब इन्द्रियों व चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए तथा **उग्राय मन्यवे**=तेजस्वितायुक्त ज्ञान के सम्पादन के लिए **वः**=हे प्राणो! आपको **निदध्रे**=निश्चय से धारण करता है, अर्थात् आपके धारण से जहाँ चित्तवृत्तियों का निरोध होता है वहाँ उनके निरोध के परिणामस्वरूप तेजस्विता प्राप्त होती है और ज्ञान की भी वृद्धि होती है। २. इन प्राणों का निरोध होने पर, अर्थात् प्राणसाधना से प्राणसंयम सिद्ध होने पर **गिरः**=सब अच्छाइयों को निगीर्ण करनेवाली **पर्वतः**=पञ्च पर्वोंवाली अविद्या **जिहीत**=(गच्छेत्-सा०) नष्ट हो जाती है। प्राणसंयम से अन्तःकरण प्रभु के प्रकाश से चमक उठता है, सब अविद्यान्धकार नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्राणनिरोध से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, तेजस्विता व ज्ञान प्राप्त होता है, अविद्यान्धकार नष्ट हो जाता है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्राणों का महत्त्व

येषामज्मेषु पृथिवी जुजुर्वाँइव विश्पतिः। भिया यामेषु रेजते॥ ८॥

१. **येषाम्**=जिन प्राणों के **अज्मेषु**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति व क्षेपण क्रियाओं के होने पर **पृथिवी**=यह सारा शरीर **रेजते**=उसी प्रकार कम्पित हो उठता है **इव**=जिस प्रकार **जुजुर्वान्**=जीर्णता को प्राप्त हुआ **विश्पतिः**=राजा **यामेषु**=शत्रुओं का आक्रमण होने पर **भिया रेजते**=भय से काँप उठता है। २. जब शरीर में से वाणी, घ्राण, चक्षु व श्रोत्र जाते हैं व बाहर फेंके जाते हैं तब मनुष्य गूँगा हो जाता है, सूँघ नहीं पाता, देख नहीं सकता व अधिक-से-अधिक बहिरा हो जाता है; और सब प्रकार से वह ठीक चलता रहता है, परन्तु प्राणों के चलने व बाहर होने की तैयारी होते ही यह सारा शरीर भयभीत हो उठता है, सभी इन्द्रियों के खूँटें उखड़ने लगते हैं और सब ऐसे भयभीत हो उठते हैं जैसेकि एक वृद्ध राजा शत्रुओं के आक्रमण के भय से काँप उठता है। ३. वस्तुतः प्राणों की ही यह महिमा है कि सब आसुरी वृत्तियाँ इनसे टकराकर चकनाचूर हो जाती हैं। इन प्राणों की साधना के अभाव में सब इन्द्रियाँ आसुरवृत्तियों से आक्रान्त होकर पाप में फँस जाती हैं। तब इन इन्द्रियों से प्रभु-स्तवन होना बन्द हो जाता है।

भावार्थ—प्राणों के हिलने से सब हिल जाता है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति

स्थिरं हि जानमेषां वयो मातुर्निरेतवे। यत्सीमनु द्विता शवः॥ ९॥

१. **एषाम्**=इन प्राणों का **जानम्**=विकास व प्रादुर्भाव **हि**=निश्चय से **स्थिरम्**=स्थिर होता है। प्राणों की साधना से होनेवाला विकास स्थिर होता है। प्राणसाधना से होनेवाली उन्नति क्षणिक व अस्थायी नहीं होती। २. इस प्रकार स्थिर उन्नति के कारणभूत **वयः**=(वय् गतौ) ये गतिशील प्राण **मातुः**=प्रमाता व ज्ञानी पुरुष के **निर् एतवे**=जन्म-मरण-चक्र से बाहर निकल जाने के लिए होते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता सिद्ध होती है। इस तीव्र बुद्धि से आत्म-साक्षात्कार होता है और परिणामतः जन्म-मरणचक्र का अन्त होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। ३. ये प्राण वे हैं **यत् अनु**=जिनकी साधना के अनुपात में ही **सीम्**=सदा **द्विता**=(द्वौ तनोति) शरीर व मस्तिष्क दोनों का विकास करनेवाला **शवः**=बल प्राप्त होता है। प्राणसाधना से शरीर भी नीरोग होकर सबल होता है और बुद्धि भी अत्यन्त सूक्ष्म बनती है।

भावार्थ—(क) प्राणसाधना से शक्तियों का स्थिर विकास होता है, (ख) ये प्राण मनुष्य को प्रमाता बनाकर मोक्षलाभ कराते हैं और (ग) प्राणसाधना से शरीर व मस्तिष्क दोनों का विकास होता है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वाणी के प्रेरक

उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा अज्मेष्वत्नत। वाश्रा अभिज्ञु यातवे॥ १०॥

१. **त्ये**=वे प्राण **उत् उ**=हमें उत्कर्ष की ओर ले-चलते हैं। ये प्राण **गिरः सूनवः**= वाणी के प्रेरक हैं, अर्थात् प्राणों की साधना से अन्तःकरण की निर्मलता होकर अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है। २. ये प्राण **अज्मेषु**=गति के द्वारा सब मलों का प्रक्षेपण होने पर **काष्ठाः अत्नत**=(Mark, goal) अन्तिम उद्दिष्ट स्थल का विस्तार करते हैं, अर्थात् हमें इस जीवन में लक्ष्यस्थल पर पहुँचाते हैं। ३. इस प्रकार प्राणसाधना करनेवाले लोग **अभिज्ञु**=अभिगत जानु होकर (घुटने टेककर) **वाश्राः**=प्रभु के गुणों का उच्चारण करते हुए **यातवे**=जीवन-यात्रा में आगे और आगे चलते हुए प्रभु को प्राप्त कराने के लिए होते हैं (या प्रापणे)।

भावार्थ—प्राणसाधना से अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है, मनुष्य लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है, प्रभु स्तवन करता हुआ अन्तिम यात्रा में आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कामरूप मेघ का प्रच्यावन

त्यं चिद् घा दीर्घं पृथुं मिहो नपातममृध्रम्। प्र च्यावयन्ति यामभिः॥ ११॥

१. ये प्राण **त्यं चित् घ**=ज्ञान पर आवरणभूत उस वृत्र, अर्थात् वासना को भी निश्चय से **यामभिः**=अपनी गतियों से **प्रच्यावयन्ति**=नष्ट कर देते हैं, स्थानभ्रष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसेकि वायुएँ अपनी गतियों से सूर्य के आवरणभूत मेघ को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। २. किस कामनारूप वृत्र को? जोकि (क) **दीर्घम्**=अत्यन्त दीर्घ है, जिसका अन्त ही नहीं आता। इच्छा कभी पूरी थोड़े ही हो सकती है! **'आशावधिं को गतः'**—ये शब्द ठीक ही हैं। (ख) **पृथुम्**=जो अत्यन्त विस्तृत है। सचमुच आकाश में जैसे बादल फैलता जाता है,

उसी प्रकार यह काम उत्तरोतरर फैलता ही जाता है। **'कामो हि समुद्रः'**—समुद्र की भाँति यह फैला हुआ है। इसका ओर-छोर दीखता नहीं। (ग) **मिहः, नपातम्**=यह काम आनन्द की वर्षा को गिरने नहीं देता, ज्ञान की वर्षा का यह प्रतिबन्धक है। कोई भी व्यक्ति इस काम में फँसने पर तृप्त नहीं होता, अतः आनन्द को भी अनुभव नहीं कर पाता। (घ) यह ठीक है कि **अमृध्रम्**=इसकी हिंसा करना सुगम नहीं। यह हिंसित नहीं होता। महादेव ही इस कामदेव को भस्म कर पाते हैं, परन्तु भस्म होने पर भी वस्तुतः यह बना ही रहता है, समाप्त नहीं हो जाता। ३. इस प्रकार अत्यन्त प्रबल इस कामरूप मेघ को प्राणरूप वायु ही छिन्न-भिन्न किया करती है। प्राणसाधना ही काम-विजय का साधन है।

भावार्थ—इस अनन्त शक्तिवाले काम को प्राण ही पराजित कर पाते हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कर्मों में व्यापृत करना

मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन। गिरीँरचुच्यवीतन॥ १२॥

१. **मरुतः**=प्राणो! **यत् ह**=जो निश्चय से **वः**=आपका **बलम्**=बल है, वह **जनान्**=लोगों को **अचुच्यवीतन**=अपने-अपने व्यापारों में प्रेरित करता है। आपका बल लोगों को आलस्य से पृथक् करता है और सदा कर्मों में प्रेरित करता है। २. यह मरुतों को बल **गिरीन्**=सब ज्ञानों को निगीर्ण कर जानेवाले अविद्या के पर्वतों को भी **अचुच्यवीतन**=स्थानभ्रष्ट व नष्ट करता है। प्राणसाधना से बुद्धि की सूक्ष्मता होने पर अविद्यारूप पर्वत विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वह शक्ति प्राप्त होती है जो लोगों को कार्यों में प्रेरित करती है और अविद्यारूप पर्वत को भी नष्ट करती है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अन्तःप्रेरणा का सुनना

यद्ध यान्ति मरुतः सं ह ब्रुवतेऽध्वन्ना। शृणोति कश्चिदेषाम्॥ १३॥

१. **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **मरुतः**=प्राण **यान्ति**='इडा, पिंगला व सुषुम्णा' आदि नाड़ियों में गति करते हैं, उस समय **ह**=निश्चय से ये प्राण **अध्वन् आ**=मार्ग में सर्वत्र **संब्रवते**=सम्यक् उपदेश देते हैं, अर्थात् इन प्राणों की साधना होने पर हृदय की निर्मलता होती है और अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है, २. परन्तु **एषाम्**=इनकी उस वाणी को **कश्चित्**=कोई विरला व्यक्ति ही **शृणोति**=सुनता है। वस्तुतः इस प्राणसाधना के योगमार्ग पर चलने की प्रवृत्ति विरले ही व्यक्तियों को होती है। हज़ारों में कोई एकाध ही इस मार्ग पर चलने में प्रवृत्त होता है और इस प्रकार कोई विरला व्यक्ति ही इस अन्तःप्रेरणा के शब्द को सुनता है।

भावार्थ—प्राणों की गति सुषुम्णा आदि नाड़ियों में होने पर अन्तःप्रेरणा सुनाई पड़ती है, परन्तु इसे कोई-कोई ही सुनता है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्राण-परिचरण

प्र यात शीभमाशुभिः सन्ति कण्वेषु वो दुवः। तत्रो षु मादयाध्वै॥ १४॥

१. हे प्राणो! **आशुभिः**=कार्यों में व्यापृत होनेवाले पुरुषों के साथ **शीभम्**=शीघ्रता से **प्रयात**=आगे चलनेवाले बनो, अर्थात् इन प्राणों की साधना से मनुष्यों की उन्नति होती है परन्तु उन्हीं मनुष्यों की जो सदा शीघ्रता से कर्मों में व्यापृत रहते हैं। 'कर्मों में व्यापृत रहना' यह प्राणशक्ति के विकास का चिह्न है। २. हे प्राणो! **कण्वेषु**=मेधावी पुरुषों में **वः**=आपके **दुवः**=परिचरण व उपासन **सन्ति**=हैं, अर्थात् मेधावी पुरुष आपकी सदा उपासना करते हैं। प्राणसाधना ही तो उनकी मेधाविता को बढ़ानेवाली होती है। ३. हे मेधावी पुरुषो! **तत्र उ**=वहाँ प्राणों में ही **सुमादयाध्वै**=उत्तम तृप्ति का अनुभव करो। समझदार पुरुष को प्राणसाधना में आनन्द का अनुभव करना चाहिए। यह प्राणसाधना ही सब उन्नतियों का मूल है।

भावार्थ—समझदार पुरुष प्राणों का उपासन करते हैं, प्राणसाधना में ही वे आनन्द पाते हैं।

ऋषिः—**काण्व घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पूर्ण जीवन

अस्ति हि ष्मा मदाय वः स्मसि ष्मा वयमेषाम्। विश्वं चिदायुर्जीवसे॥ १५॥

१. हे प्राणो! **वः**=आपके **मदाय**=आनन्द के लिए **हि**=निश्चय से **ष्मा**=नैरन्तर्येण (दया०) **वयम्**=हम **अस्ति**=हैं (अस्ति इति निपातः, न क्रियापदम्) अर्थात् हम प्राणों की साधना करते हुए निरन्तर आनन्दों का अनुभव करते हैं। २. वस्तुतः हे प्राणो! **एषाम्**=इन, आपके ही **वयम्**=हम **ष्मा**=नैरन्तर्येण **स्मसि**=हैं, अर्थात् हम तो प्राणों के ही उपासक हैं। इन प्राणों की साधना से हमारा अटूट सम्बन्ध हो गया है। इस प्राणसाधना के व्रत से हमारा कभी विच्छेद नहीं होता। ३. यह सब हम इसलिए करते हैं कि **चित्**=निश्चय से **विश्वम् आयुः**=पूर्ण जीवन **जीवसे**=जीने के लिए हम हों। हम सौ वर्ष के दीर्घ जीवन को तो प्राप्त करें ही, साथ ही शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों के दृष्टिकोण से उन्नत होकर हम पूर्ण जीवन जीनेवाले बनें।

भावार्थ—प्राणसाधना में ही आनन्द लेना चाहिए। यह प्राणसाधना हमारे पूर्ण जीवन का कारण होगी।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि ये प्राण हमें एक क्रीड़क की मनोवृत्तिवाला बनाते हैं (१)। इनकी साधना से हम आत्मा की दीप्तिवाले होते हैं। (२)। यह साधना वेदवाणी को हमारे जीवन में अनूदित करेगी (३)। हम शत्रुओं का धर्षण करनेवाले, दीप्त ज्ञानवाले व शत्रुशोषक बलवाले होंगे (४)। इन प्राणों की शक्ति-वृद्धि के लिए हमें चबाकर खाना चाहिए (५)। यह प्राणसाधना मस्तिष्क व शरीर दोनों का शोधन करती है (६)। इससे हमें मन के नियमन में सहायता मिलती है (७)। प्राणों के हिलते ही सब हिल जाता है (८)। इनकी साधना से ही सब शक्तियों का स्थिर विकास होता है (९)। ये अन्तःवाणी को प्रेरित करते हैं (१०)। कामरूप मेघ का प्रच्यावन करते हैं (११)। इनका बल ही हमें कर्मों में प्रेरित रखता है (१२)। इनकी गति के ठीक होने पर अन्तर्वाणी सुनाई पड़ती है (१३), अतः बुद्धिमान् प्राणों का उपासन करते हैं (१४) और पूर्ण जीवन को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं (१५)। ये मरुत् अपने साधकों का इस प्रकार धारण करते हैं जैसे पिता पुत्र का—

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पिता के समान

कद्ध नूनं कधप्रियः पिता पुत्रं न हस्तयोः। दधिध्वे वृक्तबर्हिषः॥ १॥

१. प्राणसाधना में लगा हुआ पुरुष प्राणों की ही पुरुषविधता [Personification] करके प्राणों से पूछता है कि हे प्राणो! **कत् ह नूनम्**=कब ही निश्चय से आप मुझे उसी प्रकार **दधिध्वे**=धारण करोगे **न**=जैसेकि **पिता**=पिता **पुत्रम्**=पुत्र को **हस्तयोः**=हाथों में धारण करता है। वस्तुतः प्राण हमारे लिए पिता के समान हैं। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है वैसे ही प्राण हमारा रक्षण करते हैं। २. ये प्राण कैसे हैं? (क) **कधप्रियः**=(कथाप्रियः) स्तुतियों से प्रभु को प्रीणित करनेवाले हैं, अर्थात् इन प्राणों से प्रभुस्तवन चलता है। प्रभुस्तवन करनेवाली इन्द्रियाँ तो असुरों से पराजित हो गई थीं, परन्तु प्रभुपूजन करनेवाले प्राणों से टकराकर असुर चकनाचूर हो गये थे। यह प्राणों द्वारा होनेवाला प्रभुपूजन ही 'हंसः व सोऽहम्' का जप कहलाता है। ३. **वृक्तबर्हिषः**=इन प्राणों ने हृदयान्तरिक्ष को वासनाओं से वर्जित कर दिया है। प्राणसाधना से वासनाओं का विनाश हो जाता है और हृदय निर्मल हो जाता है, इसलिए हृदय में ही प्रभु-दर्शन सम्भव होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर प्रभुस्तवन चलता है और हृदय पवित्र हो जाता है। इस प्रकार ये प्राण हमारा उसी प्रकार धारण करते हैं जैसेकि पिता पुत्र का।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

न्यूनता कहाँ?

क्व नूनं कद्वो अर्थं गन्ता दिवो न पृथिव्याः। क्व वो गावो न रण्यन्ति॥ २॥

१. **नु**=अब, अर्थात् प्राणसाधना होने पर **ऊनं क्व**=कमी कहाँ है? प्राणसाधना होने पर सब न्यूनताएँ दूर हो जाती हैं। २. **कत्**=कदा **वः**=तुम्हारा, अर्थात् तुम्हारी साधना करनेवाला यह प्राणसाधक **दिवः अर्थं न**=द्युलोक के अर्थ की भाँति **पृथिव्याः**=पृथिवी की **अर्थम्**=प्रातव्य वस्तु को भी **गन्त**=प्राप्त होगा, अर्थात् कब वह मस्तिष्करूप द्युलोक की उज्ज्वलता को तथा शरीररूप पृथिवी की दृढ़ता को सिद्ध कर पाएगा? ३. **क्व**=कहाँ व किस समय **वः**=आपकी ये **गावः**=ज्ञानेन्द्रियाँ **न रण्यन्ति**=शब्द नहीं करतीं, अर्थात् प्राणसाधना होने पर ये ज्ञानेन्द्रियाँ सदा ज्ञानग्रहण करती हुई प्रभु का गुणगान करती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना सब कमियों को दूर करती है। शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाती है। इस प्राणसाधना से सब ज्ञानेन्द्रियाँ अपना कर्म उत्तमता से करती हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुम्न-सुवित-सौभग

क्व वः सुम्ना नव्यांसि मरुतः क्व सुविता। क्वो३ विश्वानि सौभगा॥ ३॥

१. हे प्राणो! **वः**=आपके अर्थात् आपकी साधना से प्राप्त होनेवाले **नव्यांसि**=नवतम, अर्थात् नवीन व स्तुत्य **सुम्ना**=प्रजा व पशुरूप धन तथा **स्तोत्र**=प्रभुस्तवन **क्व**=कहाँ हैं? आपकी कृपा से कब मैं उत्तम प्रजा व पशुरूप धनों को अथवा प्रभु के स्तोत्रों को प्राप्त

करूँगा? हे **मरुतः**=प्राणो! **क्व**=कहाँ हैं **सुविता**=उत्तम गमन, अर्थात् कब आपकी कृपा से मैं दुरितों से दूर होकर सुवितों (सदाचारों) को प्राप्त करूँगा? ३. **क्व उ**=और कहाँ हैं **विश्वानि सौभगा**=सब सौभाग्य, अर्थात् कब आपकी कृपा से मैं सौभाग्य को प्राप्त करूँगा? कब मेरा जीवन आपकी कृपा से ऐश्वर्य, धर्म, श्री, यश तथा ज्ञान और वैराग्यरूप 'भग' से युक्त होगा?

भावार्थ—प्राणसाधना से 'सुम्न, सुवित व सौभग' की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अमृतता

यद्यूयं पृश्निमातरो मर्तासः स्यातन। स्तोता वो अमृतः स्यात्॥ ४॥

१. 'पृश्नि' शब्द का अर्थ है 'प्रकाश की किरण'। वस्तुतः इन सूर्यकिरणों से ही सारी प्राणशक्ति उत्पन्न होती है, इसलिए यहाँ प्राणों को 'पृश्निमातरः' कहा है; सूर्यकिरणें हैं निर्माण करनेवाली जिनका। **यत्**=यद्यपि हे **पृश्निमातरः**=सूर्य से उत्पन्न प्राणो! **यूयम्**=तुम **मर्तासः**=मरणधर्मा **स्यातन**=हो तो भी **वः स्तोता**=तुम्हारा स्तवन करनेवाला **अमृतः स्यात्**=अमृत होता है। प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति रोगों का शिकार नहीं होता। २. सूर्यकिरणों से पैदा की गई प्राणशक्ति अस्थिर व नश्वर तो है ही, इसी से इन प्राणों को 'मर्त' कहा है; परन्तु प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति रोगों से बचा रहता है और इस प्रकार अ-मृत होता है।

भावार्थ—प्राणशक्ति सूर्यकिरणों से उत्पन्न होती है और अपने साधकों को रोगों का शिकार नहीं होने देती।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कर्त्तव्य-परायणता

मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः। पथा यमस्य गादुप॥ ५॥

१. हे प्राणो! **वः जरिता**=आपका स्तवन करनेवाला, अर्थात् प्राणों की साधना करनेवाला **अजोष्यः**=अपने कर्मों को प्रीतिपूर्वक सेवन न करनेवाला **मा भूत्**=मत हो। प्राणसाधक पुरुष अपने कर्त्तव्य-कर्मों को इस प्रकार प्रीतिपूर्वक करे **न**=जैसे **मृगः**=एक हरिण **यवसे**=चरी खाने के लिए प्रीतिपूर्वक प्रवृत्त होता है। एवं, प्राणसाधना का यह बड़ा महत्त्वपूर्ण लाभ है कि मनुष्य कर्तव्य-मार्ग का आक्रमण अत्यन्त प्रीतिपूर्वक करता है। २. यह प्राणों का स्तोता **यमस्य पथा**=यम के मार्ग से **मा उपगात्**=न जाए, अर्थात् यह असमय में मृत्यु को प्राप्त न हो।

भावार्थ—प्राणसाधना के दो लाभ हैं—१. कर्त्तव्य कर्मों में प्रीतिपूर्वक लगे रहना, २. असमय में रोगों से मृत्यु का शिकार न हो जाना।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

निर्ऋति व तृष्णा से दूर

मो षु णः परांपरा निर्ऋतिर्दुर्हणा वधीत्। पदीष्ट तृष्णया सह॥ ६॥

१. **नः**=हमें **परापरा**='परा' उत्कृष्ट, अर्थात् अतिप्रबल और 'अपरा' निकृष्ट, अर्थात् अति कष्टदायिनी **दुर्हणा**=बुरी भाँति हनन करनेवाली **निर्ऋतिः**=दुराचरण (निर्=दुर्, ऋ=आचरण)

मा=मत ही **सुवधीत्**=पूर्णरूप से नष्ट करनेवाला हो, अर्थात् हम किसी भी असद् आचरण के शिकार न हो जाएँ। यह असदाचरण अति प्रबल व कष्टदायी होता है। इसका अन्त करना भी सुगम नहीं। २. यह निर्ऋति **तृष्णया सह**=धन के लोभ के साथ **पदीष्ट**=हमसे दूर हो जाए। यह निर्ऋति धन की तृष्णा से निरन्तर बढ़ती है। धन के लोभ के कारण मनुष्य कितनी ही न करने योग्य बातों को करनेवाला हो जाता है। यह तृष्णा भी नष्ट हो और निर्ऋति भी नष्ट हो।

भावार्थ—हमारी प्राणसाधना हमें 'निर्ऋति व तृष्णा' से बचानेवाली हो। यह निर्ऋति 'दुर्हणा' है। मनु के शब्दों में ये व्यसन दुरन्त हैं, इनका परिणाम अच्छा नहीं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अवाता वृष्टि

सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः। मिहं कृण्वन्त्यवाताम्॥ ७॥

१. प्राण **सत्यम्**=सचमुच **त्वेषाः**=दीप्तिवाले बनते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होकर हमें ज्ञान से दीप्त बनाती है। २. ये प्राण **अमवन्तः**=बलवाले हैं। प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर शरीर में शक्ति स्थिर रहती है। ३. **धन्वन् चित्**=(प्रणवो धनुः) प्रणवरूप धनुष के होने पर ये प्राण **रुद्रियासः**=वासनाओं को रुलानेवाले हैं, अर्थात् प्राणसाधना होने पर प्रभु की ओर झुकाव होता ही है, उस प्रभु का नाम 'ओम्' हमारा धनुष बनता है और इस धनुष से हम कामादि वासनाओं का विनाश करनेवाले बनते हैं। ४. ये प्राण **'प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः'**—इन शब्दों के अनुसार प्रतिरोध होने पर **अवाताम्**=बिना वायुवाली **मिहं कृण्वन्ति**=वर्षा करते हैं। प्राणनिरोध होने पर अन्तःकरण में एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। यही 'अवाता वृष्टि' है।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'ज्ञानदीप्त, बल, आनन्द की वृष्टि' प्राप्त होती है। ओम् को धनुष बनाकर हम काम-क्रोधादि शत्रुओं का नाश कर पाते हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वत्सं न माता

वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति। यदेषां वृष्टिरसर्जि॥ ८॥

१. **यत्**=जब **एषाम्**=इन प्राणों की **वृष्टिः**=गतमन्त्र में वर्णित आनन्द की वर्षा **असर्जि**=उत्पन्न की जाती है अर्थात् प्राणनिरोध होने पर जब हृदय-देश में एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है तब **विद्युत्**=अन्तःस्थित प्रभु की विशिष्ट दीप्ति **वाश्रा इव**=शब्द करती हुई गौ के समान **मिमाति**=शब्द करती है, अर्थात् अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा हमें सुनाई पड़ती है, २. **न**=जैसे **माता वत्सम्**=गौ बछड़े को, उसी प्रकार माता **'स्तुता मया वरदा वेदमाता'**—इस मन्त्र में वर्णित यह वेदरूप माता **वत्सम्**=अपने प्रिय इस प्राणसाधक को **सिषक्ति**=सेवन करती है—प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) हृदय में आनन्द की वर्षा होती है, (ख) अन्तःस्थित प्रभु का प्रकाश व प्रेरणा प्राप्त होती है, (ग) वेदमाता इस प्राणसाधक का सेवन करती है, इसे प्राप्त होती है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दिन में ही रात

दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन। यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति॥ ९॥

१. प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। ये वीर्यकण सारे शरीर में व्याप्त होते हैं, यही इनका शरीररूप पृथिवी को सिक्त करना है। **यत्**=जब **पृथिवी व्युन्दन्ति**=ये रेतःकण शरीररूप पृथिवी को सिक्त करते हैं तब **उदवाहेन**=ज्ञानजल का वहन करनेवाले **पर्जन्येन**=परातृप्ति को उत्पन्न करनेवाले प्रभु से ये प्राण **दिवा चित्**=दिन में भी **तमः कृण्वन्ति**=अन्धकार कर देते हैं, अर्थात् प्राणसाधना से (क) सबसे प्रथम वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर इन रेतःकणों का शरीर में व्यापन होता है (पृथिवीं व्युन्दन्ति)। (ख) बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और प्रभु दर्शन होता है। (ग) इस अद्भुत तृप्ति देनेवाले प्रभु का दर्शन होने पर ये संसार के विषय व्यर्थ लगने लगते हैं। जिन वस्तुओं में सामान्य लोग आनन्द का अनुभव करते हैं, वहाँ इन प्रभु-द्रष्टाओं को कोई आनन्द प्रतीत नहीं होता। यही दिन में भी रात्रि का हो जाना है। गीता के शब्दों में **'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः'** पश्यन् मुनि के लिए वहाँ रात-ही-रात है, जहाँ सामान्य लोग बड़े जागरित होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, प्रभु-दर्शन होता है और विषयों की चौंध आँखों को चुँधियाती नहीं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दीप्ति ही दीप्ति

अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम्। अरेजन्त प्र मानुषाः॥ १०॥

१. **अध**=गतमन्त्र के अनुसार इन भौतिक वस्तुओं की चमक के न रहने पर अब **मरुताम्**=इन प्राणों के **स्वनात्**=शब्द से, अर्थात् प्राणसाधना होने पर, चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के द्वारा प्रभु की अन्तःप्रेरणा सुनाई पड़ती है। इस अन्तःप्रेरणा के शब्द से **विश्वम्**=यह सारा **पार्थिवं सद्म**=पार्थिव घर, अर्थात् शरीर अरेजत=सर्वथा चमक उठता है और इस प्रकार **मानुषाः**=ये विचारशील मनुष्य **प्र अरेजन्त**=(एज् to shine) खूब ही चमकने लगते हैं। २. प्राणसाधना से अन्तःप्रेरणा सुनाई पड़ती है। इस प्रेरणा के सुनाई पड़ने पर हमारा सारा शरीर निर्मल हो जाता है और मनुष्य चमक उठता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें निर्मल और दीप्त बना देती है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अद्भुत नदियों में प्राणप्रवाह

मरुतो वीळुपाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु। यातेमखिद्रयामभिः॥ ११॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वीळुपाणिभिः**=दृढ़ हाथों से अथवा दृढ़ रक्षणों से युक्त हुए-हुए आप **अखिद्रयामभिः**=अदीन गतियों से, अर्थात् न क्षीण हुई-हुई गतियों से **चित्राः**=अद्भुत अथवा ज्ञान का प्रकाश करनेवाली **रोधस्वतीः अनु**=नदियों व नाड़ियों का लक्ष्य करके **यात ईम्**=गतिवाले होओ ही। २. प्राणसाधना में जब इन प्राणों की गति 'इडा, पिंगला व सुषुम्णा'

नामक नाड़ियों में ठीक से होने लगती है तब जहाँ शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुदृढ़ होते हैं, वहाँ कुण्डलिनी शक्ति का प्रबोधन होकर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। प्राणसाधना से प्राणों की गति में क्षीणता नहीं आती और शरीर की शक्ति सुस्थिर रहती है। ३. शरीर में ये नाडियाँ ही नदियाँ हैं। 'इडा, पिंगला व सुषुम्णा' ही गङ्गा, यमुना व सरस्वती हैं। इनमें प्राणों की गति होने पर क्रियाशीलता, संयम व ज्ञान प्राप्त होता है। 'गङ्गा' क्रियाशीलता की प्रतीक है, 'यमुना' आत्म-संयम की तथा 'सरस्वती' ज्ञान की।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर सुदृढ़ होता है और हृदय प्रभु की ज्योति से दीप्त।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रथ का सौन्दर्य

स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम्। सुसंस्कृता अभीशवः॥ १२॥

१. हे प्राणसाधको! **वः**=तुम्हारे **नेमयः**=रथचक्रों की परिधियाँ **स्थिराः सन्तु**=स्थिर हों। शरीर ही रथ है। इस शरीर-रथ के कर्म ही चक्र हैं। उन कर्मों की मर्यादाएँ ही इन चक्रों की नेमियाँ हैं। ये मर्यादाएँ स्थिर हों, अर्थात् तुम्हारे सब कर्म मर्यादित हों। २. **एषाम्**=इन प्राणसाधकों के **रथाः**=रथ स्थिर हों, अर्थात् शरीर सुदृढ़ हों, शरीर पर किसी प्रकार की व्याधि का आक्रमण न हो पाये। ३. **अश्वासः**=इनके अश्व भी स्थिर हों। इन्द्रियाँ ही घोड़े हैं। ये इन्द्रियाँ क्षीण शक्तिवाली न हों। ४. **अभीशवः**=लगामें भी **सुसंस्कृताः**=उत्तम रूप से परिष्कृत हों। मन ही लगाम है। 'चित्तवृत्तियों' के बहुत होने पर यहाँ 'अभीशवः' शब्द बहुवचन में है। प्राणसाधकों की चित्तवृत्तियाँ बड़ी परिष्कृत होती हैं। वस्तुतः प्राणसाधना का सर्वप्रथम लाभ ही इन चित्तवृत्तियों के निरोध के द्वारा चित्त पर ही पड़ता है। चित्त का परिष्कार ही प्राणसाधना का सर्वोत्तम लाभ है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीररूप रथ को, इन्द्रियाश्वों को, मनरूप लगाम को, कर्मरूप चक्रपरिधियों को सुन्दर बनाती है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का स्तवन

अच्छा वदा तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम्। अग्निं मित्रं न दर्शतम्॥ १३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाकर **जरायै**=(जरा स्तुतिः, नि० १०।८) स्तुति के लिए **तना**=ज्ञान का विस्तार करनेवाली **गिरा**=वाणी के द्वारा **ब्रह्मणस्पतिम्**=सम्पूर्ण ज्ञानों के पति **अग्निम्**=उन्नति के प्रापक **मित्रं न**=मित्र के समान **दर्शतम्**=दर्शनीय उस प्रभु को **अच्छा**=लक्ष्य करके **वद**=मन्त्रात्मक वाणियों का उच्चारण कर। २. जीवन में प्रभु का स्तवन हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है। प्रभु-स्तवन से हमारे सामने एक लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न होती है। हमें इस प्रभु की भाँति ही 'ज्ञान का पति, आगे-ही-आगे बढ़नेवाला, सबके प्रति स्नेहवाला व दर्शनीयाकृति' बनना है। ३. वेदवाणियों के द्वारा हम प्रभु का स्तवन करें। ये वेदवाणियाँ हमारे ज्ञानों का विस्तार करनेवाली हैं (तना)।

भावार्थ—स्वस्थ शरीर में हम वेदवाणियों से प्रभु का स्तवन करें और जीवनमार्ग का निश्चय करें।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**यवमध्याविराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वेदवाणी का स्मरण व गान

मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्य इव ततनः। गाय गायत्रमुक्थ्यम्॥ १४॥

१. **श्लोकम्**=प्रभु का यशोगान करनेवाली इन वेदवाणियों को (श्लोकः—यशांसि पद्ये च) **आस्ये मिमीहि**=मुख में निर्मित कर ले, अर्थात् उन्हें कण्ठस्थ कर ले। २. **पर्जन्यः इव ततनः**=मेघ के समान (गर्जना करते हुए—दूर–दूर तक गम्भीर स्वर से) इसे फैला। ३. **गायत्रम्**=गायत्री छन्द में कहे गये अथवा गान करनेवाले का त्राण करनेवाले **उक्थ्यम्**=स्तुतियुक्त वेदवचनों को **गाय**=तू स्वयं गा। ४. कण्ठस्थ करके सदा वचनों के विस्तार व गायन का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि हमारे सामने जीवन का लक्ष्य सदा उपस्थित रहता है। यह लक्ष्य–दृष्टि हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाती है। यही इन गायत्री छन्द के मन्त्रों का 'गायन–पन' है।

भावार्थ—हम वेदवाणी को कण्ठस्थ करें, उसका विस्तार व गायन करें।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्राण–वन्दना

वन्दस्व मारुतं गणं त्वेषं पनस्युमर्किणम्। अस्मे वृद्धा असन्निह॥ १५॥

१. हे साधक! तू **मारुतं गणम्**=इन प्राणों के गण की **वन्दस्व**=स्तुति कर। इनकी महिमा को तू वेदमन्त्रों द्वारा उच्चारित कर ताकि इनकी साधना की ओर तेरी प्रवृत्ति हो। २. यह मारुतगण कैसा है? (क) **त्वेषम्**=दीप्तिवाला है। प्राणसाधना जहाँ बुद्धि को सूक्ष्म बनाती है, वहाँ शरीर को भी तेजोमय बनाकर हमें चमका देती है और तीव्र बुद्धि से ज्ञान का प्रकाश भी दीप्त होता है। (ख) **पनस्युम्**=(स्तुतियोग्यम्) यह प्राणसमूह स्तुति के साथ हमारा योग करता है, हमें प्रभु–स्तवन की ओर प्रवण करता है तथा साथ में ही हमें संसार के व्यवहार में भी उत्तम बनाता है (पन व्यवहारे स्तुतौ च)। (ग) **अर्किणम्**=(अर्को मन्त्रः) यह मन्त्रोंवाला है। प्राणसाधना से बुद्धि की सूक्ष्मता होकर हमें वेदमन्त्रों का दर्शन होता है, एवं वेदार्थ के दर्शन के लिए भी यह प्राणसाधना नितान्त आवश्यक है, ३. इसलिए हम यही चाहते हैं कि **इह**=इस मानव–जीवन में ये प्राण **अस्मे**=हमारे लिए **वृद्धाः**=खूब बढ़े हुए **असन्**=हों। इन प्राणों की उन्नति पर अन्य सब उन्नतियाँ निर्भर करती हैं।

भावार्थ—हमें प्राणों का स्तवन व आराधन करके 'ज्ञानदीप्त, स्तुतिकर्ता व मन्त्रोंवाला' बनना है, अर्थात् मन्त्रार्थ साक्षात् करना है।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्राण हमारा धारण उसी प्रकार करते हैं जैसे पिता पुत्र का (१)। प्राणसाधना होने पर न्यूनता नहीं रहती (२)। इस साधना से 'सुम्न–सुवित–सौभग' का लाभ होता है (३)। प्राणों का स्तोता 'अमृत' बन जाता है (४)। वह कर्तव्यपरायण होता है (५)। 'निर्ऋति व तृष्णा से दूर होना' भी प्राणसाधना का ही परिणाम है (६)। प्राण का निरोध होने पर अद्भुत आनन्द की वृष्टि होती है (७)। प्रभु–प्राप्ति के आनन्द के सामने पार्थिव भोग तुच्छ हो जाते हैं (९)। हमारे प्राण इडादि नाड़ियों में विचरण

करके हमें अद्भुत ज्ञानज्योति देते हैं। शरीररूप रथ सुन्दर बन जाता है (१२)। हम प्रभुस्तवन करते हुए वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ करें व गाएँ (१३-१४)। हम 'त्वेष, पनस्यु व अर्की' बनने के लिए इस प्राणगण की वन्दना करें (१५)। इन्हीं मरुतों=रणभूमि में मरनेवालों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु-स्मरणपूर्वक संग्राम

प्र यदि॒त्था प॑रा॒वत॑: शो॒चिर्न मान॒मस्य॑थ।
कस्य॒ क्रत्वा॑ मरुतः॒ कस्य॒ वर्प॑सा॒ कं या॑थ॒ कं ह॑ धूतयः॥ १॥

१. प्रस्तुत सूक्त भी मरुतों का है। इस सूक्त में मुख्यरूप से देश की शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा करनेवाले उन मरुतों का उल्लेख है जोकि रणाङ्गण में ही 'म्रियन्ते' मर जाएँ, परन्तु कायरता से भाग नहीं खड़े हों। इनको कहते हैं—हे **मरुतः**=सैनिको! **यत्**=जब **इत्था**=सचमुच **परावतः**=दूर देश से **शोचिः न**=सूर्यकिरणों की भाँति **मानम्**=मननीय, विचारपूर्वक बनाये गये शस्त्रास्त्रसमूह को **प्र+अस्यथ**=प्रकर्षेण शत्रु-सैन्य पर फेंकते हो तो वस्तुतः **कस्य क्रत्वा**=उस आनन्दमय प्रभु के संकल्प कर्म व प्रज्ञान के साथ **कस्य वर्पसा**=उस आनन्दमय प्रभु के बल के साथ ही तुम ऐसा कर पाते हो, अर्थात् प्रभु का स्मरण होने पर तथा प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होने पर ही निर्भीकता से ये वीर देशरक्षा के लिए संग्राम कर पाते हैं। २. यहाँ युद्ध में प्रभुस्मरण का यह भी महान् लाभ है कि हम अन्याय्य युद्धों में प्रवृत्त न होंगे। यहाँ 'शोचिः न' सूर्य की किरणों के समान, यह उपमा भी ध्यान देने योग्य है। सूर्यकिरणें बुराई व दुर्गन्ध को समाप्त करती हैं, इसी प्रकार इन मरुतों ने भी अवाञ्छनीय तत्त्वों को ही समाप्त करना है। शस्त्रों को यहाँ 'मानम्'='मननीय— विचारपूर्वक बनाये गये'—ऐसा कहा है। वस्तुतः जब अस्त्रों का निर्माण अन्धाधुन्ध होने लगता है तब वे भय की—शान्ति के स्थान में भय की वृद्धि का कारण बन जाते हैं। ३. ये विचारपूर्वक बनाये गये अस्त्रों को फेंकनेवाले सैनिक युद्ध में मृत्यु होने पर **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **याथ**=प्राप्त होते हैं और **ह**=निश्चय से **कम्**=उस प्रभु को ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि **धूतयः**=ये शत्रुओं को कम्पित करनेवाले हैं और अपने मलों को भी कम्पित कर दूर करनेवाले हैं। ये वीर अवश्य उस प्रभु को पाते हैं।

भावार्थ—देश की रक्षा के लिए वीर सैनिक विचारपूर्वक अस्त्रों का प्रयोग करते हैं। प्रभु की भावना को हृदय में लेकर प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ये शत्रुओं को कम्पित करते हैं और प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

पराणुदे-प्रतिष्कभे (धकेलना-रोकना)

स्थि॒रा व॑: स॒न्त्वायु॑धा परा॒णुदे॑ वी॒ळू उ॒त प्र॑ति॒ष्कभे॑।
यु॒ष्माक॑मस्तु॒ तवि॑षी॒ पनी॑यसी॒ मा मर्त्य॑स्य मा॒यिन॑:॥ २॥

१. **वः**=तुम्हारे **आयुधा**=अस्त्रशस्त्र-युद्ध के उपकरण **स्थिरा**=दृढ़ **सन्तु**=हों। ये अस्त्र **पराणुदे**=शत्रुओं को परे धकेलने **उत**=और **प्रतिष्कभे**=शत्रुओं के आक्रमण को रोकने के लिए

वीळू=अत्यन्त दृढ़ हों। एवं, हम अपने दृढ़ और स्थिर अस्त्रों के द्वारा शत्रुओं को परे धकेल सकें और उनके आक्रमण को रोक सकें। संक्षेप में, हम सदा रक्षणात्मक युद्ध ही करनेवाले हों। २. **युष्माकम्**=रक्षात्मक युद्ध करनेवाले तुम लोगों की **तविषी**=प्रशस्त विद्या व बल से वृद्धि को प्राप्त सेना **पनीयसी**=स्तुति के योग्य **अस्तु**=हो, अर्थात् उत्तमता से युद्ध करनेवाली हो। ३. **मायिनः**=छल-कपट से युक्त **मर्त्यस्य**=व्यक्ति की सेना **मा**=स्तुत्य न हो। वस्तुतः जो राजा अपने सैनिकों और प्रजावर्ग के साथ निश्छल व्यवहार रखता है, वही उनको अपना पाता है और उसी की सेना प्राणपण से युद्ध करती हुई शत्रुओं को सदा जीता करती है।

भावार्थ—प्रजा के साथ निष्कपट व्यवहार करनेवाले राजा की सेना शत्रुओं को जीतनेवाली व दृढ़ अस्त्रोंवाली होती है। यह सदा शत्रुओं को परे धकेलती है और उनके आक्रमणों को रोकती है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वनच्छेद व पर्वत-विदारण

परा ह यत्स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु ।
वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम् ॥ ३ ॥

१. **नरः**=आगे और आगे बढ़नेवाले **मरुतः**=वीर सैनिको! तुम **यत् ह स्थिरम्**=जो निश्चय से बड़ी-बड़ी स्थिर वस्तु भी मार्ग में विघ्नरूप से होती है उसको **पराहथ**=तोड़-फोड़कर दूर फेंक देते हो। **गुरु**=गुरुत्व व भार से युक्त विघ्नभूत चट्टानों को भी **वर्तयथ**=उलट देते हो। २. **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वनिनः**=बड़े-बड़े वनों का निर्माण करनेवाले घने वृक्षों को **वियाथन**=(वियुज्य गच्छथ) अलग-अलग करके, मध्य में मार्ग बनाकर, आगे बढ़ते हो, अर्थात् घने वनों में भी आवश्यक वृक्षों के छेदन से प्रौढ़ मार्ग का निर्माण कर लेते हो। ३. घने वृक्षों से ही नहीं **पर्वतानाम्**=पर्वतों की **आशाः**=पार्श्व दिशाओं को भी **वि** (याथन)=अलग करके आगे बढ़ते हो, अर्थात् पर्वत-पार्श्वों को भी काटकर सेना के लिए मार्ग बना लेते हो।

भावार्थ—वीर सैनिक बड़े-बड़े टीलों, वनों व पर्वतों को भी विदीर्ण करके आगे बढ़ते हैं। ये बाधाएँ उन्हें आगे बढ़ने से रोक नहीं पाती।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृत्सतः पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सैनिकों में ऐकमत्य

नहि वः शत्रुर्विविदे अधि द्यवि न भूम्यां रिशादसः ।
युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रुद्रासो नू चिदाधृषे ॥ ४ ॥

१. हे **रिशादसः**=हिंसक शत्रुओं को खा जानेवाले सैनिको! **वः**=तुम्हारा **शत्रुः**=शातन व विनाश करनेवाला **नहि अधि द्यवि**=न तो द्युलोक में और **न भूम्याम्**=न ही इस पृथिवी पर **विविदे**=विद्यमान है, अर्थात् तुम्हारा मुक़ाबला न देव कर सकते हैं, न मनुष्य। आँधी, बाढ़ व आग आदि के रूप में ये वायु, जल व अग्नि आदि देव तुम्हे आगे बढ़ने से रोक नहीं सकते, मनुष्य की तो शक्ति ही क्या है कि वे तुम्हे रोक पाएँ व तुम्हारा विनाश कर पाएँ। २. हे **रुद्रासः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु-नाम-स्मरण करते हुए व गर्जना करते हुए शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले सैनिको! **युष्माकम्**=तुम्हारे **युजा**=(योगेन, परस्परैकभावेन) मेल व परस्पर

अविरोध के कारण **तविषी**=यह सेना **नु चित्**=(क्षिप्रमेव) शीघ्र ही **आधृषे**=शत्रुओं के धर्षण के लिए **तना**=विस्तृत शक्तिवाली **अस्तु**=हो, अर्थात् सैनिकों के परस्पर ऐकमत्य व एक विचार के कारण सेना की शक्ति इतनी प्रबल हो कि वह शत्रुओं का पूर्ण धर्षण करने में समर्थ हो।

भावार्थ—सैनिकों का ऐकमत्य होना सेना को प्रबल बनाता है और वह सेना सदा शत्रुओं का धर्षण करनेवाली होती है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रजा का पूर्ण जीवन

प्र वेपयन्ति पर्वतान्वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्।
प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव देवासः सर्वया विशा॥ ५॥

१. **मरुतः**=युद्धभूमि में ही मरनेवाले, कभी पीठ नहीं दिखानेवाले सैनिक **दुर्मदाः इव**=प्रबल मदवाले हाथियों की भाँति **पर्वतान्**=पर्वतों को भी **प्रवेपयन्ति**=कँपा देते हैं, **वनस्पतीन्**=बड़े-बड़े वृक्षों को **विविञ्चन्ति**=बीच के वृक्षों को काटकर परस्पर वियुक्त—अलग-अलग कर देते हैं। २. ये सैनिक **प्र उ आरत**=निश्चय से आगे बढ़ते हैं। **देवासः**=ये शत्रुओं को जीतने की कामनावाले होते हैं (दिव् विजिगीषा)। इस प्रकार ये मरुत् **सर्वया विशा**=पूर्ण प्रजा के साथ होते हैं, अर्थात् प्रजा के जीवन में सर्वतोमुखी उन्नति के वातावरण को उत्पन्न करते हैं। युद्ध के समय अथवा पराधीनता की स्थिति में उन्नति सम्भव नहीं होती। उन्नति के लिए अपराधीनता व स्वतन्त्रता आवश्यक है। इस स्वतन्त्रता को स्थिर रखना इन 'दुर्मद मरुतों' वीर सैनिकों का ही काम है।

भावार्थ—वीर सैनिक पर्वतों व वनस्पतियों को कम्पित करते हुए आगे बढ़ते हैं और शत्रुओं पर विजय की कामना करते हैं ताकि प्रजाओं को उन्नत होने का अवसर प्राप्त होता रहे।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृत्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'रोहित व प्रष्टि' राजा

उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टिर्वहति रोहितः।
आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः॥ ६॥

१. हे मरुतो! आप **रथेषु**=अपने रथों में **पृषतीः**=भय का सेचन करनेवाली (पृष् to sprinkle) घोड़ियों को **उ**=निश्चय से **उप, अयुग्ध्वम्**=समीपता से जोतिए। रथों में जुड़ी ये **घोड़ियाँ** भी (पृष् to injure) शत्रुओं की हिंसा करनेवाली हों। २. आपमें **रोहितः**=अपनी शक्तियों को उन्नत करके राष्ट्र का वर्धन करनेवाला **प्रष्टिः**=आचार्य-चरणों में बैठकर विविध जिज्ञासाओं को करनेवाला ज्ञानी राजा **वहति**=राष्ट्रभार को अपने कन्धों पर उठाता है। ३. **वः**=आपके **यामाय**=गति के लिए अथवा शत्रु पर आक्रमण के लिए **पृथिवी चित्**=यह सारी पृथिवी ही **अश्रोत्**=सुनती है, अर्थात् जब आप शत्रुओं पर आक्रमण करते हो तो उस आक्रमण के विषय में सारे ही लोग बड़े आश्चर्य व उत्सुकता से सुनते हैं। **मानुषाः**=शत्रुओं के पुरुष **अबीभयन्त**=भय से काँप उठते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के वीर सैनिकों के बल पर ही राजा राष्ट्र को धारण व उत्थान करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—राजा के लिए 'रोहित व प्रष्टि'=उन्नत शक्तियों व ज्ञान की प्यासवाला होना आवश्यक है। सैनिक वीर कार्यों के करनेवाले हों।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सुख-समृद्धि (Bliss and prosperity)

आ वो मक्षू तनाय कं रुद्रा अवो वृणीमहे।
गन्ता नूनं नोऽवसा यथा पुरेत्था कण्वाय बिभ्युषे॥ ७॥

१. हे **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) गर्जना करते हुए शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले वीरो! **तनाय**=शक्तियों व समृद्धियों के विस्तार के लिए तथा **कम्**=सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से **मक्षु**=शीघ्र ही **वः**=आपके **अवः**=रक्षण को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। वीर सैनिकों से रक्षित राष्ट्र में ही प्रजाएँ सुखपूर्वक रह सकती हैं और अपनी स्थिति को निर्माण व व्यापार आदि से समृद्ध बना सकती हैं। २. हे वीर सैनिको! **नूनम्**= निश्चय से **नः**=हमारे **अवसा**=रक्षण के हेतु से **गन्त**=सदा गति करनेवाले होओ। आपकी सब क्रियाएँ (Movements) हमारा रक्षण करनेवाली हों। ३. **यथा पुरा**=जैसे पहले **इत्था**=उसी प्रकार अब भी आप **कण्वाय**=उन मेधावी पुरुषों के लिए जोकि कण-कण करके ज्ञान व धन का सञ्चय करने में लगे हैं, परन्तु **बिभ्युषे**=शत्रुओं के भय से पीड़ित हैं—रक्षा के लिए प्राप्त होइए। राष्ट्र की रक्षा करनेवाले क्षत्रियों का यह मूल कर्तव्य है कि वे राष्ट्र में धन व विद्या के संग्रह में प्रवृत्त लोगों का रक्षण करें और उन्हें शत्रुओं के आक्रमण का भय न होने दें।

भावार्थ—रुद्र राष्ट्र की रक्षा करें, ताकि कण्व, अर्थात् मेधावी पुरुष निर्भीक होकर उन्नति-पथ पर आगे बढ़ सकें।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सैनिक शासन व राज-परिवर्तन

युष्मेषितो मरुतो मर्त्येषित आ यो नो अभ्व ईषते।
वि तं युयोत शवसा व्योजसा वि युष्माकाभिरूतिभिः॥ ८॥

१. राष्ट्र में ऐसा भी हो सकता है कि कभी कोई उच्छृङ्खल राजा अपने सैनिकों के बल के घमण्ड से प्रजा पर कुछ अत्याचार करने लगे अथवा अपने कुछ खुशामदी पुरुषों से विकृत प्रेरणा प्राप्त करके प्रजा को अनुचित कर-भार से पीड़ित करे, ऐसा राजा मन्त्र में 'युष्मेषितः तथा मर्त्येषितः' शब्दों से स्मरण किया गया है। 'इषितः' का अर्थ (animated, exited) 'उत्तेजित किया गया' है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **मरुतः**=प्रजा के रक्षण के लिए रणाङ्गण में मृत्यु का आलिङ्गन करनेवाले वीरो! **युष्मेषितः**=तुम्हारे द्वारा प्रेरित हुआ-हुआ, अर्थात् तुम्हारे बल के कारण अत्याचार के लिए उत्तेजित हुआ-हुआ अथवा **मर्त्येषितः**=खुशामदी पुरुषों से भड़काया हुआ **यः**=जो कोई **अभ्वः**=(Mighty) शक्तिशाली प्रजा का शत्रुभूत राजा **नः**=हम प्रजाओं पर **आ ईषते**=सब ओर से आक्रमण करता है **तम्**=उसको **शवसा**=(शवः उदकनाम, नि० १।१२) पानी से **वियुयोत**=पृथक् कर दीजिए, उसे पानी न मिल सके। पानी की प्यास से व्याकुल होकर वह अपनी उद्दण्डता को समाप्त करने के लिए बाधित होगा ही। सायणाचार्य 'शवसा' का अर्थ 'अन्नेन' करते हैं, उसे अन्न न पहुँच सके। राजमहल को इस प्रकार घेर लिया जाए कि वहाँ अन्नादि पहुँचना सम्भव ही न रहे। इस राजा को **ओजसा**=ओज व बल से

वि=पृथक् करो। इसकी शक्ति को न्यून करने का प्रयत्न करो तथा **युष्माकाभिः, ऊतिभिः**=अपने रक्षणों से **वि**=इसे वंचित कर दो। जब इस प्रजापीड़क राजा को सैनिकों का रक्षण प्राप्त न होगा तो यह अवश्य ही प्रजा के अनुकूल शासन करने के लिए बाधित होगा अथवा गद्दी को छोड़ने के लिए बाधित किया जा सकेगा।

भावार्थ—सैनिकों को चाहिए कि सेना के घमण्ड पर या खुशामदियों के कुमन्त्रण के कारण यदि कोई राजा उच्छृङ्खल होकर प्रजापीड़न में प्रवृत्त हो तो उसे अन्न व जल से वंचित करके, निर्बल करके व सैन्य रक्षणों से वंचित करके ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

'ब्रह्म' का रक्षक 'क्षत्र'

असामि हि प्रयज्यवः कण्वं दद प्रचेतसः।
असामिभिर्मरुत आ न ऊतिभिर्गन्ता वृष्टिं न विद्युतः॥ ९॥

१. हे **मरुतः**=वीर सैनिको! आप **हि**=निश्चय से **असामि**=पूर्णरूप से **प्रयज्यवः**=परोपकार नाम यज्ञ को [द०] करनेवाले हैं। ये वीर सैनिक अपने प्राणों की आहुति देकर राष्ट्र की रक्षा करते हैं, इससे बढ़कर परोपकार क्या हो सकता है? २. हे वीर सैनिको! **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट चेतनावाले आप **कण्वं, दद**=मेधावी पुरुष को (धारयत-सा०) धारण करते हैं। समझदार क्षत्रिय राष्ट्र में ब्राह्मण की रक्षा करना अपना मूल कर्तव्य समझता है। ३. हे वीर सैनिको! आप **असामिभिः, ऊतिभिः**=पूर्ण रक्षणों से **नः**=हमें उसी प्रकार **आगन्त**=समन्तात् प्राप्त होओ **नः**=जैसे **वृष्टिम्**=वृष्टि को **विद्युतः**=बिजलियाँ प्राप्त होती हैं। विद्युत् वृष्टि की वृद्धि का कारण होती है, इसी प्रकार वीर सैनिक रक्षण के द्वारा प्रजा की वृद्धि का कारण बनें।

भावार्थ—राष्ट्र में क्षत्र को ब्रह्म का रक्षण करना चाहिए।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ऋषिद्विट् परिमन्यु का निराकरण

असाम्योजो बिभृथा सुदानवोऽसामि धूतयः शवः।
ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यव इषुं न सृजत द्विषम्॥ १०॥

१. हे **सुदानवः**=उत्तमता से शत्रुओं का खण्डन करनेवाले (दाप् लवणे) वीरो! अथवा देश-रक्षण के लिए प्राणों को भी दे डालनेवाले (दा दाने) वीरो! **असामि ओजः**=पूर्ण बल को **बिभृथा**=आप धारण कीजिए। इस पूर्ण बल से ही तो आप शत्रुओं का खण्डन करके देश-रक्षण कर सकेंगे। बल की न्यूनता में आपके लिए अपने कर्तव्य-पालन का सम्भव ही कैसे हो सकता है? हे **धूतयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले वीरो! सचमुच **असामि**=पूर्ण ही **शवः**=(बलनाम नि० २।९) बल को धारण करो। अधूरा बल राष्ट्र-रक्षण के कार्य में भी अधूरेपन का कारण बनेगा। ३. हे **मरुतः**=वीर सैनिको! **ऋषिद्विषे**=ज्ञानियों के प्रति द्वेष करनेवाले **परिमन्यवे**=समन्तात् क्रोध से भरे पुरुष के प्रति आप **द्विषम्**=(द्वेषणं द्विट्) अपने द्वेष व अप्रीति को इस प्रकार **सृजत्**=उत्पन्न करो **नः**=जैसे **इषुम्**=शत्रु के प्रति बाण को फेंकते हैं। राष्ट्र का अधिक-से-अधिक अहित इन्हीं ज्ञान के विरोधी, क्रोधी पुरुषों से ही हुआ करता है। इनको राष्ट्र से दूर करना ही राजपुरुषों का कर्तव्य है। इनके समाप्त होने पर ही राष्ट्र में ज्ञान

व प्रेम की वृद्धि होती है।

भावार्थ—सैनिक पूर्ण वीरतावाले हों, तभी वे राष्ट्र का रक्षण कर सकेंगे और ज्ञानविरोधी, क्रोधी पुरुषों को राष्ट्र से दूर करनेवाले होंगे।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस रूप में हुआ है कि राष्ट्र के वीर सैनिक आवश्यक होने पर, प्रभु-स्मरणपूर्वक संग्राम में जुटते हैं (१)। ये शत्रुओं को परे धकेलने व रोकने के लिए यत्नशील होते हैं (२)। आक्रमण के समय मार्ग में आये हुए वनों का छेदन व पर्वतों का विदारण करते हुए आगे बढ़ते हैं (३)। आपस में ऐकमत्य होने के कारण ये शत्रुओं का धर्षण करते हैं (४)। शत्रुओं को जीतकर प्रजा को जीवन में पूर्णता लाने का अवसर प्राप्त कराते हैं (५)। 'प्रगतिशील, ज्ञानरुचि' व्यक्ति इन सेनाओं का मुखिया व राजा होता है (६)। राष्ट्र-रक्षा के द्वारा ये सैनिक सुख-समृद्धि की वृद्धि का कारण होते हैं (७)। इन्हें कभी-कभी उच्छृङ्खल राजा का भी दमन करना होता है (८)। वस्तुतः 'क्षत्र' 'ब्रह्म' का रक्षक है (९)। ये राष्ट्र से ऋषिद्विट् क्रोधी पुरुषों का निराकरण करते हैं (१०)। इस सुरक्षित राष्ट्र में लोग उन्नति के लिए यत्नशील होते हैं, इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

आचार्य का आदेश

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे ।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ॥ १ ॥

१. उन्नति का आरम्भ आचार्य-कुल में आचार्य के समीप पहुँचकर ज्ञान की साधना से होता है, अतः कहते हैं कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् आचार्य! **उत्तिष्ठ**=हमारी उन्नति के लिए आप उठ खड़े होइए, अर्थात् उद्यत हो जाइए। **देवयन्तः**=सब प्रकार की वासनाओं को जीतने की कामना से (दिव् विजिगीषा) ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करने की भावना से (दिव् द्युति) **त्वा ईमहे**=आपकी प्रार्थना करते हैं। २. हम यही चाहते हैं कि **सुदानवः**=शोभन ज्ञान के दानवाले (दा दाने) अथवा अज्ञानान्धकार का खण्डन करनेवाले (दाप् लवणे) **मरुतः**=(मिराविणः, निरु० ११।१३) व्यर्थ के शब्द न बोलनेवाले (महद् द्रवन्ति, निरु० ११।१३) खूब क्रियाशील (मरुतो रश्मयः, तां १४।१२।९) ज्ञान-रश्मियों के पुञ्जभूत आचार्य **उपप्रयन्तु**=हमें समीपता से प्राप्त हों। इन आचार्यों के समीप रहकर ही हम देव बन सकेंगे। ३. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता आचार्य! आप **सचा**=सदा हमारे साथ रहते हुए हमें अपना 'अन्तेवासी' बनाते हुए **प्राशूः**=(प्रकर्षेणश्रृणाति) ज्ञान के आवरणभूत वृत्र (वासना) के नाश करनेवाले **भव**=हूजिए। इस वृत्र के विनाश से ही तो आप हमारे ज्ञान को दीप्त करनेवाले होंगे।

भावार्थ—आचार्य (क) ब्रह्मणस्पति=ज्ञान का पति (ख) मरुत्=मितरावी, क्रियाशील (ग) सुदानु=अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला (घ) इन्द्र=जितेन्द्रिय व (ङ) सचा=सदा विद्यार्थी के साथ रहनेवाला और (च) इस प्रकार प्राशू=व्यसनों को, विद्यार्थी के जीवन से, नष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

शक्ति व पवित्रता से युक्त ज्ञान

त्वामिद्धि सहसस्पुत्र मर्त्यं उपब्रूते धने हिते ।
सुवीर्यं मरुत आ स्वश्व्यं दधीत यो व आचके ॥ २ ॥

१. 'सहस्' वह शक्ति है जोकि ज्ञानी पुरुष को ही प्राप्त होती है। यह आनन्दमय-कोश की सर्वोत्कृष्ट शक्ति है। आचार्य में इसका होना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य को क्रोध तो करना ही नहीं, अतः कहते हैं कि हे **सहसः पुत्र**=सहस् शक्ति के पुतले, अर्थात् खूब सहस् शक्तिवाले आचार्य! यह **मर्त्यः**=मनुष्य, अर्थात् शिष्यभाव से आपके समीप आया हुआ व्यक्ति **त्वाम् इत् हि**=आपको ही निश्चय से **हिते धने**=हितकर ज्ञान-धन की प्राप्ति के निमित्त **उपब्रूते**=प्रार्थना करता है, नम्रता से समीप आकर निवेदन करता है। हे **मरुतः**=मितरावी, खूब क्रियाशील, ज्ञान रश्मियों के पुञ्जभूत उपाध्यायो! **यः**=जो भी शिष्य **वः**=आपकी **आचके**=कामना करता (नि० २।६) है, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के विचार से आपके समीप आने की इच्छा करता है, वह आपकी कृपा से उस ज्ञानधन को **आ-दधीत**=सर्वथा धारण करे, जो ज्ञानधन **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्यवाला है, अर्थात् उसे शक्ति-सम्पन्न बनानेवाला है तथा **स्वश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला बनाने में समर्थ है, अर्थात् आचार्यों व उपाध्यायों के समीप विद्यार्थी उस ज्ञानधन को प्राप्त करनेवाला हो जो उत्तम शक्ति व उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों से युक्त है।

भावार्थ—आचार्य को सहस् शक्ति का पुञ्ज होना चाहिए। उपाध्याय उसे वह ज्ञान दें जो शक्ति व इन्द्रियों की पवित्रता से युक्त हो, अर्थात् विद्यार्थी को वे ज्ञानी, सशक्त व पवित्रेन्द्रिय बनाएँ।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**आर्चीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सूनृता वाणी व नर्ययज्ञ

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ ३ ॥

१. हमें **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का पति आचार्य **प्रैतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। 'प्रकर्षेण प्राप्ति' यही है कि हम उसके अत्यन्त प्रिय हों। २. **देवी**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली **सूनृता**=(सु+ऊन+ऋत) दुःखों का परिहाण करनेवाली शुभ और सत्यवाणी **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो, अर्थात् हमें यही वाणी रुचिकर हो, अनृत की ओर झुकाव ही न हो। ३. **देवाः**=विद्वान् आचार्य **नः**=हमारे **वीरम्**=शक्तिसम्पन्न पुत्र को **नर्यम्**=लोकहितकारी **पंक्तिराधसम्**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद'—इन पाँच वर्णों का हित सिद्ध करनेवाले **यज्ञं अच्छ**=यज्ञ की ओर **नयन्तु**=ले-चलें, अर्थात् विद्वान् आचार्य की कृपा से हमारे सन्तान वीर तो हों ही, वे सदा लोकहितकारी यज्ञों में भी प्रवृत्त होनेवाले हों, ध्वंसात्मक कर्मों की ओर उनका झुकाव न हो।

भावार्थ—हमें ज्ञानी आचार्य प्राप्त हों, सूनृत वाणी प्राप्त हो, हमारी वीर सन्तान यज्ञशील हो।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिर्निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

दान के सर्वश्रेष्ठ पात्र (आचार्य)

यो वाघते ददाति सूनरं वसु स धत्ते अक्षिति श्रवः।
तस्मा इळां सुवीरामा यजामहे सुप्रतूर्तिमनेहसम्॥ ४॥

१. **यः**=जो **वाघते**=ज्ञान की वाणियों का वहन करनेवाले (वोढारः, निरु० ११।१६) ब्रह्मणस्पति आचार्य के लिए **सूनरम्**=(शोभना नराः यस्मात्, द०) जिसके द्वारा मनुष्यों को उत्तम बनाया जाता है उस **वसुः**=धन को **ददाति**=देता है, **सः**=वह मनुष्य **अक्षिति**=न क्षीण होनेवाले **श्रवः**=धन (नि० २।१०) यश (नि० ११।९) तथा अन्न (नि० १०।३) को **धत्ते**=धारण करता है। ज्ञानी आचार्यों को दिया गया धन मनुष्यों के जीवनों को उत्तम बनाने में विनियुक्त होता है, एवं यह दान सर्वोत्तम दान होता है। इस दान के देनेवाले का धन क्षीण न होकर बढ़ता है, इसकी प्रशंसा होती है और इसे कभी भी अन्न की कमी नहीं होती। २. **तस्मा**=इस पुरुष के लिए **इळाम्**=उस ज्ञान की वाणी को **आ यजामहे**=सब प्रकार से संगत करते हैं, जो वाणी **सुवीराम्**=पुरुष को उत्तम वीर बनानेवाली है, **सुप्रतूर्तिम्**=(शोभना प्रतूर्तिः शत्रूणां हिंसनं यस्याः) उत्तमता से शत्रुओं का हिंसन करनेवाली है तथा **अनेहसम्**=(न हन्यते) अहिंस्य है, अर्थात् सदा स्वाध्याय के द्वारा रक्षा के योग्य है।

भावार्थ—ज्ञान देकर मनुष्यों का निर्माण करनेवाले आचार्यों के लिए दान देना हमारे अक्षय धन का कारण बनता है।

सूचना—'**तस्मा**'=का अर्थ **तस्मात्**=से किया जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा कि 'उस आचार्य से हम वेदवाणी को अपने साथ सङ्गत करते हैं, जो वेदवाणी..........'

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

आचार्य का कर्तव्य

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे॥ ५॥

१. **नूनम्**=निश्चय से **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का पति आचार्य **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य प्रशंसनीय **मन्त्रम्**=वेद-प्रतिपादित ज्ञान की वाणीरूप मन्त्र को **प्रवदति**=प्रकर्षेण व्यक्त करके कहता है, अर्थात् उसकी व्याख्या करता है। २. यह मन्त्ररूप वाणी वह है **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्रः**=इन्द्र **वरुणः**=वरुण, **मित्रः**=मित्र व **अर्यमा**=अर्यमा आदि **देवाः**=सब देव **ओंकासि**=घरों को **चक्रिरे**=बनाते हैं, अर्थात् इन मन्त्रात्मक वाणियों में सभी देवों का तथा देवों के अधिष्ठाता महादेव का उल्लेख है। प्रकृति के तेंतीस देव हैं। इनका अधिष्ठाता चौंतीसवाँ महादेव है। वेद में इन सबका व्याख्यान है। उससे इन देवताओं का स्वरूप ज़ानकर हम इनसे पूरा लाभ उठा पाते हैं। आचार्य का यही कर्तव्य है कि वह इन मन्त्रों द्वारा विद्यार्थी को सब प्राकृतिक शक्तियों व प्रभु का ज्ञान देने का पूर्ण प्रयत्न करे।

भावार्थ—वेदमन्त्रों में सभी देवों का वर्णन है। इनसे आचार्य विद्यार्थी के लिए सब आवश्यक ज्ञान देने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिर्निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सम्पूर्ण सौन्दर्य की प्राप्ति

तमिद्वो॑चेमा वि॒दथे॑षु श॒म्भुवं॒ मन्त्रं॑ देवा अ॒ने॒हस॑म्।
इ॒मां च॒ वाचं॑ प्रति॒हर्य॑था नरो॒ विश्वेद्वा॒मा वो॑ अश्नवत्॥ ६॥

१. हे **देवाः**=विद्वानो! हम **विदथेषु**=ज्ञान-यज्ञों में एकत्र होने पर **इत्**=ही **तम्**=उस **मन्त्रम्**=मन्त्रात्मक वाणी को ही **वोचेम**=बोलें जोकि **शंभुवम्**=कल्याण को भावित करनेवाली है तथा **अनेहसम्**=जो स्वाध्याय के द्वारा अहिंस्य है। २. प्रभु मनुष्यों को कहते हैं कि हे **नरः**=आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाले मनुष्यो! **इमां वाचम्**=इस ज्ञान की वाणी को **प्रतिहर्यथ**=प्रतिदिन कामना करोगे और इसके प्रति जाओगे (ई गतिकान्त्योः), अर्थात् खूब इच्छापूर्वक, हृदय से इसे पढ़ोगे तो **इत्**=निश्चय से **विश्वा वामा**=सब सुन्दर, प्रकृतिजन्य पदार्थ **वः**=तुम्हें **अश्नवत्**=व्याप्त करेंगे, प्राप्त होंगे, अर्थात् उस समय ये प्राकृतिक पदार्थ तुम्हारे लिए उपयुक्त होने से तुम्हारा कल्याण-ही-कल्याण करनेवाले होंगे। एवं, इस ज्ञान की वाणी के अपनाने से यह संसार सुन्दर-ही-सुन्दर हो जाएगा।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में ज्ञान की वाणियों को ही बोलें, इन्हीं ही कामना करें। परिणामतः हमारे लिए यह संसार सौन्दर्य को लिये हुए होगा।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**आर्चीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

समृद्ध गृह

को दे॑व॒यन्त॑मश्नव॒ज्जनं॒ को वृ॒क्तब॑र्हिषम्।
प्रप्र॑ दा॒श्वान्प॒स्त्या॑भिरस्थितान्त॒र्वाव॒त्क्षयं॑ दधे॥ ७॥

१. **देवयन्तं जनम्**=देवों की कामना करनेवाले, दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए यत्नशील मनुष्यों को **कः**=वह अनिवर्चनीय, आनन्दस्वरूप प्रभु **अश्नवत्**=प्राप्त होता है। देवों को प्राप्त करते हुए हम उस महादेव को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। २. **वृक्तबर्हिषम्**=जिसमें वे वासनाओं को छिन्न (वृजी वर्जने) किया गया है, ऐसे पवित्र हृदयान्तरिक्षवाले पुरुष को **कः**=वे आनन्दस्वरूप प्रभु प्राप्त होते हैं। एवं 'दिव्यगुणों को अपनाने के लिए प्रयत्न करना और इस प्रकार वासनाओं को विच्छिन्न करना'—यही मार्ग है जिससे कि हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। ३. केवल प्रभु की प्राप्ति ही नहीं, यह **प्रदाश्वान्**=सदा खूब हवि देनेवाला दानशील पुरुष **पस्त्याभिः**=उत्तम मनुष्यों के साथ **प्र अस्थित**=उत्तमतया स्थित होता है, अर्थात् इसे उत्तम पुरुष का संग प्राप्त होता है और यह **क्षयं दधे**=(क्षि निवासे) उस घर को धारण करता है जोकि **अन्तर्वावत्**=(अन्तःस्थितबहुधनोपेतम्, सा०) खूब धन-धान्य से युक्त होता है अथवा (अन्तःस्थितपुत्रपौत्रादिबहुविधगुणोपेतम्, सा०) पुत्र-पौत्रादि के विविध उत्तम गुणों से युक्त घर को यह दाश्वान् प्राप्त होता है।

भावार्थ—'दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामना व हृदय को निर्वासन बनाना' प्रभुप्राप्ति का उपाय है। यह दाश्वान् पुरुष उत्तम पुरुषों के संग को प्राप्त करता है तथा धन-धान्ययुक्त घर को पाता है।

ऋषि:—कण्वो: घौर:॥ देवता—बृहस्पति:॥ छन्द:—निचृदुपरिष्टाद्बृहती॥ स्वर:—मध्यम:॥

ब्रह्म का क्षत्र से सम्पर्क

उप॑ क्ष॒त्रं पृ॑ञ्ची॒त हन्ति॑ राज॑भि॒र्भ॒ये चि॒त्सु॒क्षि॒तिं द॑धे।
नास्य॑ व॒र्ता न त॑रु॒ता म॑हाध॒ने नार्भे॑ अस्ति व॒ज्रिण॑:॥ ८॥

१. **ब्रह्मणस्पति:**=ज्ञान के पति को यह भी चाहिए कि वह **क्षत्रम्**=बल को भी **उपपृञ्चीत**=द्वितीय स्थान में प्राप्त करने का प्रयत्न करे। ज्ञान के साथ बल का सम्पादन आवश्यक है। अथवा क्षत्रियों के साथ इसका समुचित सम्पर्क हो, चूँकि ऐसा होने पर **राजभि:**=उन राजाओं के द्वारा **भये**=भय उपस्थित होने पर यह **हन्ति**=शत्रुओं का नाश कर सकता है। वस्तुत: क्षत्र को ब्रह्म का रक्षण करना ही चाहिए। २. इस रक्षण के होने पर यह ब्रह्मणस्पति **सुक्षितिं दधे**=उत्तम निवास को धारण करता है। ३. जब एक मनुष्य ब्रह्म के साथ क्षत्र को जोड़ देता है, अर्थात् ज्ञान व बल का मेल हो जाता है तब **अस्य**=इस **वज्रिण:**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले पुरुष का **महाधने**=बड़े-बड़े संग्रामों में व **अर्भे**=छोटे-छोटे युद्धों में **न वर्ता अस्ति**=मुक़ाबला करनेवाला नहीं होता है **न तरुता अस्ति**=न इसको कोई लाँघ जानेवाला व परास्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—ज्ञान के साथ बल के मिल जाने पर हम शत्रुओं से भयभीत नहीं होते, हमारा निवास उत्तम होता है और हम बड़े-छोटे किसी भी संग्राम में पराजित नहीं होते।

विशेष—सूक्त का आरम्भ आचार्य के आदर्श के वर्णन से हुआ है। आचार्य को ज्ञानी, क्रियाशील, जितेन्द्रिय व सदा विद्यार्थी के साथ रहनेवाला होना चाहिए (१)। आचार्य अत्यन्त सहनशील हो, विद्यार्थी को 'ज्ञानी, सशक्त व जितेन्द्रिय' बनाने का प्रयत्न करे (२)। हम सूनृता वाणी व लोकहितकारी यज्ञों को अपनाएँ (३)। ये आचार्य लोग ही सच्चे दान के पात्र होते हैं (४)। आचार्य विद्यार्थी को सब विज्ञानों में निपुण बनाता है (५)। वेदवाणी के द्वारा सब सौन्दर्यों को प्राप्त कराता है (६)। इस देवयन् पुरुष को समृद्ध गृह प्राप्त होता है (७)। ब्रह्म के साथ क्षत्र को जोड़कर हम निर्भीकता से आगे बढ़ते हैं (८)। हमारे जीवनों में 'वरुण-मित्र-अर्यमा' का उचित स्थान होता है—यही उन्नति का मार्ग है।

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषि:—कण्वो घौर:॥ देवता—वरुणमित्रार्यमण:॥ छन्द:—गायत्री॥ स्वर:—षड्ज:॥

वरुण-मित्र अर्यमा

यं रक्ष॑न्ति॒ प्रचे॑तसो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा। नू चि॒त्स द॑भ्यते॒ जन॑:॥ १॥

१. **यम्**=जिसको **प्रचेतस:**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **वरुण:**=वरुण, **मित्र:**=मित्र और **अर्यमा**=अर्यमा **रक्षन्ति**=रक्षित करते हैं, **स:**=वह **जन:**=मनुष्य **नूचित्**=शीघ्र ही **दभ्यते**=शत्रुओं की हिंसा कर पाता है (दभ्नोति, सा०)। २. मन्त्र का सरलार्थ स्पष्ट है कि वरुण, मित्र, अर्यमा से रक्षित होने पर हम हिंसित नहीं होते, प्रत्युत शत्रुओं का हिंसन करनेवाले होते हैं। इनमें 'वरुण' द्वेषनिवारण का देवता है, द्वेष को समाप्त करके ही हम 'वरुणो नाम वर: श्रेष्ठ:' श्रेष्ठ बनते हैं। द्वेष-निवारण के बाद 'मित्र'=सबके साथ स्नेह करने का देवता है। हम किसी से द्वेष तो करते ही नहीं, अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का हित करने के लिए यत्नशील होते हैं (प्रमीते:

त्रायते)। यह अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करना ही 'सत्य' है **'यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा'।** इस हित को करने के लिए हम कुछ-न-कुछ देनेवाले बनते हैं। यह 'अर्यमा' देने की देवता है। **'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'** (तै० १।१।२।४)। इस लोकहित के कार्य मे काम-क्रोध को जीतना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है (अरीन् नियच्छति, निरु० ११।२३)। एवं हम द्वेष को दूर करते हैं, सबके साथ स्नेह से चलते हैं, कुछ-न-कुछ देते हैं और क्रोधादि को काबू में रखते हैं। इस प्रकार 'प्रचेतस्'=प्रकृष्ट ज्ञान से अपने को युक्त करके अपना रक्षण कर पाते हैं। ३. इन वरुण, मित्र व अर्यमा से रक्षित होकर हम कभी हिंसित नहीं होते, न रोगों से आक्रान्त होते हैं और न ही मानस आधियों से।

भावार्थ—हम निर्द्वेष, सस्नेह, देनेवाले बनकर अपना रक्षण करें, आधि-व्याधियों का शिकार होने से बचें।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**वरुणमित्रार्यमणः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अरिष्टः सर्वः

यं बाहुतेव पिप्रति पान्ति मर्त्यं रिषः। अरिष्टः सर्व एधते॥ २॥

१. **इव**=जैसे **बाहुता**=बाहुवर्ग प्रयत्नपूर्वक धनादि से हमें भर देता है, उसी प्रकार **यम्**=जिस मनुष्य को वरुण, मित्र व अर्यमा (गत मन्त्र में वर्णित देव) **पिप्रति**=उत्तम दिव्यगुणों के धनों से भर देते हैं और **यम्**=जिस **मर्त्यम्**=मनुष्य को ये **रिषः**=हिंसक शत्रुओं से—क्रोधादि से **पान्ति**=सुरक्षित करते हैं, वह मनुष्य **अरिष्टः**=किसी भी प्रकार से हिंसित न हुआ-हुआ **सर्वः**=पूर्ण होकर **एधते**=बढ़ता है। उसका शरीर, मन व मस्तिष्क सभी बड़े सुन्दर बनते हैं। २. मनुष्य की सर्वता यही है कि वह केवल शरीर, केवल मन व केवल मस्तिष्क के दृष्टिकोण से उन्नत न होकर सभी दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त हो। इसके लिए 'वरुण, मित्र व अर्यमा' मेरे बाहुवर्ग के समान हैं। ये हमें सभी उत्तमताओं से उसी प्रकार पूर्ण करते हैं, जैसे भुजाएँ धनादि से।

भावार्थ—'वरुण, मित्र व अर्यमा' हमारे रक्षक व पूरक हों। ऐसा होने पर हम पूर्ण विकास को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**वरुणमित्रार्यमणः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'दुर्ग-द्विट्-दुरित'-दहन

वि दुर्गा वि द्विषः पुरो घ्नन्ति राजान एषाम्। नयन्ति दुरिता तिरः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार बाहुसमूह की भाँति रक्षा करनेवाले 'वरुण, मित्र व अर्यमा' **एषां राजानः**=इनके, अर्थात् अपने उपासकों के जीवनों को दीप्त करते हैं (राज् दीप्तौ) और (राज् to regulate), ये उनके जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले होते हैं २. ये 'वरुण, मित्र और अर्यमा' **एषां पुरः**=इनके आगे आनेवाली **दुर्गा**=विघ्नभूत कठिनाइयों को **विघ्नन्ति**=विशेषरूप से नष्ट करनेवाले होते हैं। **द्विषः**=इनके शत्रुओं को भी **विघ्नन्ति**=समाप्त करते हैं और **दुरिता**=इन्हें सब दुरितों=बुराइयों के **तिरः नयन्ति**=पार ले-जाते हैं। ३. 'निर्द्वेषता, स्नेह व दान'—ये तीन वृत्तियाँ ऐसी हैं कि इनसे जीवन के मार्ग में आनेवाली सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। इनके होने पर हमारे शत्रु समाप्त हो जाते हैं। हम सब बुराइयों को पार करके दीप्त जीवनवाले बन जाते हैं।

भावार्थ—'वरुण, मित्र और अर्यमा' हमारे दुर्गों, द्वेषियों व दुरितों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अनृक्षर पथ

सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते। नात्रावखादो अस्ति वः॥ ४॥

१. 'वरुण, मित्र और अर्यमा'—ये तीनों **आदित्यासः**=सब गुणों का आदान करनेवाले होने से आदित्य हैं। हम 'वरुण, मित्र व अर्यमा' को अपनाकर आदित्य बन जाते हैं। हे **आदित्यासः**=आदित्यो! **ऋतं यते**=ऋत की ओर चलनेवाले के लिए, अर्थात् अनृत मार्ग से हटकर ऋत के मार्ग को अपनानेवाले के लिए **पन्थाः**=मार्ग **सुगः**=सुगमता से जाने योग्य होता है। उसका रास्ता **अनृक्षरः**=कण्टकरहित होता है। वस्तुतः अनृतमार्ग में ही पेचदगियाँ हैं, वहीं छल-छिद्रादि के कण्टक आकीर्ण हुए-हुए हैं। सत्य में सरलता है, वहाँ किसी प्रकार का कण्टक नहीं। २. हे आदित्यो! **अत्र**=इस मार्ग पर चलते हुए **वः**=आपका **अवखादः**=(अवमन्तव्यः खादो जुगुप्सितः, सा०) जुगुप्सित, घृणित, निन्दनीय भोजन **न**, **अस्ति**=नहीं हैं। आप सदा सात्त्विक भोजन का ही स्वीकार करते हो। उससे वस्तुतः आपकी बुद्धि सात्त्विक बनी रहती है और आप अनृत के मार्ग पर जाते ही नहीं हो।

भावार्थ—आदित्यों का मार्ग ऋत का होता है, यह सरल व अकण्टक है। इस मार्ग पर चलनेवाले राजस् और तामस् भोजनों से दूर रहते हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

परोपकार से स्वोपकार

यं यज्ञं नयथा नर आदित्या ऋजुना पथा। प्र वः स धीतये नशत्॥ ५॥

१. हे **नरः**=सदा उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले **आदित्याः**=गुणों का आदान करनेवाले पुरुषो! **यं यज्ञम्**=जिस लोकहित के कार्य को **ऋजुना पथा**=सरल मार्ग से **नयथा**=आप पूर्णता की ओर ले चलते हो **सः**=वह यज्ञ **वः**=तुम्हारे ही **धीतये**=पान व उपभोग के लिए **प्रनशत्**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है, अर्थात् उस यज्ञ के द्वारा परहित करते हुए आप अपना भी हित सिद्ध कर पाते हो। २. संसार में परार्थ से सदा स्वार्थ तो सिद्ध होता ही है। वस्तुतः सारा संसार परस्पर उपकारी है। मनुष्य देवों को अग्निरूप मुख के द्वारा अन्न प्राप्त कराता है, फिर वे देव वृष्टि द्वारा मनुष्य को अन्न प्राप्त कराते हैं। एवं, मनुष्य देवों को प्राप्त कराता हुआ अपने को ही प्राप्त करा रहा होता है। हम औरों के प्रति मधुर शब्द बोलते हैं तो उनसे स्वयं भी मधुर शब्द सुनते हैं। संसार में हमारी क्रियाओं की ही प्रतिक्रिया हुआ करती है। जो भला मैं करता हूँ, वह मुझे ही फिर प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—हम औरों का जो उपकार करते हैं, उससे हमारा उपकार हो जाता है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आत्मसदृश सन्तान

स रत्नं मर्त्यो वसु विश्वं तोकमुत त्मना। अच्छा गच्छत्यस्तृतः॥ ६॥

१. 'वरुण, मित्र व अर्यमा' का आराधक पुरुष, अर्थात् निर्द्वेषता, स्नेह व दान का पुजारी **सः**=वह **मर्त्यः**=मनुष्य **रत्नम्**=रमणीय वस्तुओं को तथा **विश्वं वसु**=निवास के लिए

आवश्यक सब उपयोगी धनों को **अच्छा गच्छति**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है। २.अथवा 'सः' शब्द पिछले मन्त्र के यज्ञशील पुरुष को कहता है। एवं, यज्ञशील रत्नों एवं निवास के लिए आवश्यक सब धनों को प्राप्त करता है। ३. **उत**=और **त्मना**=आत्मसदृश **तोकम्**=सन्तान को प्राप्त करता है, अर्थात् जैसे हम होते हैं, वैसी ही सन्तान को हम पाते हैं, अतः इस यज्ञशील पुरुष की सन्तान भी यज्ञ की वृत्तिवाली होती है। ४. इस प्रकार यह यज्ञशील पुरुष **अस्तृतः**=अहिंसित होता है। धनों का अभाव इसकी असामयिक मृत्यु का कारण नहीं होता और उत्तम प्रजा का होना उसके वंशतन्तु को समाप्त नहीं होने देता तथा यह प्रजाओं के रूप में अहिंसित ही रहता है।

भावार्थ—यज्ञशीलता से रत्न, वसु व आत्मसदृश सन्तान मिलती है। यह यज्ञशील अहिंसित होता है।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**वरुणमित्रार्यमणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

महान् रूप

कथा राधाम सखायः स्तोमं मित्रस्यार्यम्णः। महि प्सरो वरुणस्य॥ ७॥

१. हे **सखायः**=समान ख्यान-(ज्ञान)-वाले मित्रो! **मित्रस्य**=मित्र देवता का **अर्यम्णः**=अर्यमा देवता का **वरुणस्य**=वरुण देवता का **प्सरः**=रूप **महि**=महान् है, अर्थात् 'स्नेह, दान व संयम तथा निर्द्वेषता' का महत्त्व अत्यधिक है। इन भावों के हृदय में जागरित होने पर मनुष्य अत्यन्त उन्नत स्थिति में पहुँचता है, २. अतः आओ! हम मिलकर **कथा**=कीर्तन के द्वारा **स्तोमं राधाम**=स्तुति को सिद्ध करें। इस स्तुति के द्वारा ही हम मित्रादि की भावनाओं को जीवन में सिद्ध कर पाएँगे। यदि प्रभुकृपा से हम 'मित्र, वरुण व अर्यमा' का आराधन कर पाएँगे तो सचमुच जीवन को भी महत्त्वपूर्ण बना सकेंगे और उन्नत होते हुए प्रभु के समीप प्राप्त होंगे।

भावार्थ—'मित्र, वरुण व अर्यमा' को जीवन में अनूदित करने पर हम सचमुच महान् बनेंगे, अतः प्रभु-कीर्तन करें और इन देवताओं को अपनाएँ।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**वरुणमित्रार्यमणः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

हिंसक व निन्दक न बनें

मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम्। सुम्नैरिद्व आ विवासे॥ ८॥

१. **वः**=तुम्हें **घ्नन्तम्**=नष्ट करते हुए को, अर्थात् 'स्नेह, निर्द्वेषता व दान की वृत्ति' को समाप्त करते हुए को **मा प्रति वोचे**=किसी प्रकार का उत्तर न दूँ, अर्थात् ऐसे लोगों के साथ मैं बात न करूँ। २. इसी प्रकार **शपन्तम्**=कोसते हुए, गालियाँ देते हुए के साथ भी मैं किसी प्रकार की बात न करूँ। ३. **देवयन्तम्**='मित्र, वरुण व अर्यमा' आदि की कामना करनेवालों के साथ ही मैं बोलूँ। इनके साथ उठने-बैठने से मुझमें भी ये स्नेहादि की भावनाएँ पनपेंगी। ४. **इत्**=निश्चय से **सुम्नैः**=स्तोत्रों के द्वारा **वः**=आपका **आविवासे**=पूजन करता हूँ। आपकी महिमा का स्मरण करता हुआ आपको अपने जीवन में अनूदित करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—हमारा उठना-बैठना 'हिंसकों व अपशब्द बोलनेवालों' के साथ न हो। हम 'स्नेह, निर्द्वेषता तथा दान व संयम' का ही स्तवन करें। इन्हीं भावनाओं को हृदय-मन्दिर में देवरूप से प्रतिष्ठित करें।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**वरुणमित्रार्यमणः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विष न देनेवाले व चोर न बनें (दुरुक्त से भय)

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधातोः। न दुरुक्ताय स्पृहयेत्॥ ९॥

१. **चतुरःचित् ददमानात्**=चार संख्यावाले पासों को हाथों में धारण करते हुए पुरुष से **अनिधातोः**=पासों को फलक पर डालने के समय तक जैसे दूसरा पुरुष **बिभीयात्**= डरता रहता है, ऐसे ही **दुरुक्ताय**=दुर्वचन के लिए **नः**=नहीं **स्पृहयेत्**=कामना करें, दुर्वचन से डरता ही रहे, अर्थात् हम कभी दुर्वचन न बोलें, न दुर्वचन बोलनेवालों के साथ मेल-जोल रक्खें। २. प्रस्तुत मन्त्र का अर्थ पिछले मन्त्र के अर्थ के साथ मिलाकर इस प्रकार भी किया जा सकता है कि **ददमानात्**=विष देनेवाले तथा **निधातोः**=चोरी करके इधर-उधर धनादि को गाड़नेवाले से **आ बिभीयात्**=सर्वथा डरे। पिछले मन्त्र में वर्णित 'घ्नन् व शपन्' के साथ 'ददमान व निधातु' इन **चतुरः चित्**=चारों के प्रति **दुरुक्ताय**= दुर्वचन कहने के लिए भी **न स्पृहयेत्**=कामना न करे। इनको बुरा-भला कहने से सुधार की सम्भावना नहीं। वे हमारे शत्रु बनकर हमें परेशान ही करेंगे। इनको राजा ही उचित दण्ड देगा। हमें उनसे वास्ता न रखना ही ठीक है। मनु लिखते हैं—**अग्निदान् भक्तदाँश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्। संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः॥** (मनु० ९।२७८) आग लगा देनेवाले, भोजन में विष देनेवाले, शस्त्रप्रयोग का अवसर देनेवाले तथा चोरी का माल छिपाकर रखनेवालों को राजा चोर की भाँति दण्ड दे।

भावार्थ—जैसे जुआरी से डर लगता है, उसी प्रकार दुरुक्त से डरना चाहिए।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि हम 'निर्द्वेषता, स्नेह, दान तथा संयम' से चलें (१)। तभी हम पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो सकेंगे (२)। ऋत पर चलने से हमारा मार्ग अकण्टक होगा (४)। जो भी यज्ञ हम करेंगे, वह हमारे ही कल्याण के लिए होगा (५)। इस जीवन में हम हिंसा व अपशब्दों से बचें (६)। दुरुक्त की कभी कामना न करें (९)। ऐसा होने पर ही हम आगे बढ़ेंगे—

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पार पहुँचना

सं पूषन्नध्वनस्तिर व्यंहो विमुचो नपात्। सक्ष्वा देव प्र णस्पुरः॥ १॥

१. हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले प्रभो! आप कृपया हमें **अध्वनः**=मार्ग से **संतिर**=इष्ट स्थान पर सम्यक् प्राप्त कराइए। मार्ग पर चलते हुए, कभी भी मार्ग से विचलित न होते हुए हम लक्ष्य तक पहुँचनेवाले बनें। संसार के प्रलोभन कभी भी हमें मार्ग-भ्रष्ट न कर पाएँ। प्रकृति की चमक हमसे लक्ष्य को ओझल न कर दे। २. **अंहः**=विघ्न के हेतुभूत पाप को वि (तिर) आप विनष्ट कीजिए। आपकी कृपा से हमारे पाप नष्ट हों और पापों के नाश के साथ हमारी पीड़ाएँ भी नष्ट हो जाएँ। ३. **विमुचः नपात्**=पाप को छोड़ देनेवाले को न गिरने देनेवाले **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **नः**=हमारे **पुरः**=आगे **प्रसक्ष्व**=चलिए। आप हमारे मार्गदर्शक होइए। आपकी कृपा से मार्ग पर चलते हुए हम पाप से बचे रहेंगे और आपकी कृपा के पात्र बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु ही हमें मार्ग से लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं, पाप से बचाते हैं। हमारे आगे चलते हैं, अर्थात् मार्गदर्शन करते हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'अघ-वृक-दुःशेव'

यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अप स्म तं पथो जहि॥ २॥

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **यः**=जो कोई **अघः**=पापमय जीवनवाला, औरों को कष्ट पहुँचानेवाला **वृकः**=लोभ के कारण अन्याय्य धन का ग्रहण करनेवाला, **दुःशेवः**=दुष्ट सुखोंवाला, अर्थात् दुराचरण में आनन्द समझनेवाला **नः**=हमें **आदिदेशति**=सब प्रकार से बुराई का संकेत करता है, बुराई में पड़ने के लिए फुसलाता है **तम्**=उसको **पथः**=हमारे मार्ग से **अप, जहि स्म**=सुदूर भगा दीजिए (हन् गति), अर्थात् हमें इस जीवन-मार्ग में 'अघ, वृक व दुःशेव' पुरुष भटकाने में समर्थ न हों।

भावार्थ—हमें जीवन-मार्ग में विचलित करनेवाले पुरुष प्राप्त न हों।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

परिपन्थी-मुषीवा-हुरश्चित्

अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्। दूरमधि स्रुतेरज॥ ३॥

१. **त्यम्**=उस पूर्व मन्त्रोक्त 'अघ, वृक व दुःशेव' के गुणों से युक्त **परिपन्थिनम्**=मार्ग-प्रतिबन्धक, **मुषीवाणम्**=तस्कर [चोर] तथा **हुरश्चितम्**=कुटिलताओं के संचय करनेवाले को **स्रुतेः अधि दूरम्**=मार्ग से दूर **अप अज**=परे भेजिए। हमारे मार्ग में इनका आना न हो। २. इन व्यक्तियों के कारण आगे बढ़ना तो सम्भव ही नहीं रहता। यह भी सम्भव है कि कुसंग से हमारी भी वृत्ति खराब हो जाए और हम भी उन-जैसे ही बन जाएँ, अतः यह राजा का भी कर्तव्य होना चाहिए कि 'परिपन्थी, मुषीवा व हुरश्चित्' पुरुषों को प्रजा के मार्ग से दूर रक्खे। यहाँ प्रार्थना है कि प्रभुकृपा से ये व्यक्ति हमारे मार्ग से दूर रहें।

भावार्थ—पूषा की कृपा से 'परिपन्थी, मुषीवा, हुरश्चित्' पुरुषों से हमारा टकराव न हो।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्वयावी-अघशंस

त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्य चित्। पदाभि तिष्ठ तपुषिम्॥ ४॥

१. हे **पूषन्**=पोषकदेव! **त्वम्**=आप **तस्य**=उस **कस्यचित्**=किसी के भी, अथवा पराया जो कोई भी वह हो, चाहे राजपुत्र भी हो, उस **द्वयाविनः**=सामने वा पीछे अपहरण करनेवाले-प्रत्यक्षापहार व परोक्षापहार से युक्त **अघशंसस्य**=हमारे विषय में अनिष्ट अघ (कपट) का शंसन करनेवाले पुरुष के **तपुषिम्**=इस परसन्तापक देह को **पदा, अभितिष्ठ**=पाँवों से आक्रान्त करके स्थित हो।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि द्वयावी, अघशंस पुरुषों को पैरों-तले कुचल दे। प्रभु से भी यही आराधना है कि इन लोगों का परसन्तापक देह नष्ट ही हो जाए।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पितरों द्वारा पोषण

आ तत्ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे। येन पितॄनचोदयः ॥ ५ ॥

१. हे **दस्र**=दुष्टों का उपक्षय करनेवाले! **मन्तुमः**=विचारशील ज्ञानी **पूषन्**=सबके पोषकदेव! **ते**=आपके **तत् अवः**=उस रक्षण को **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरण करते हैं **येन**=जिस रक्षण के हेतु से आप **पितॄन्**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि पितरों को **अचोदयः**=प्रेरित करते हैं। २. प्रभु के रक्षण का प्रकार यही है कि वे हमारे माता-पिता आदि को इस प्रकार उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं कि वे हमारे रक्षण के लिए पूर्ण प्रयत्नशील होते हैं। प्रभुकृपा से उन्हें ऐसी शक्ति मिलती है कि वे प्रभु के निमित्त (Agent) बनकर हमारा रक्षण करते हैं। वस्तुतः उनके द्वारा प्रभु ही रक्षण कर रहे होते हैं। सब दुष्टों का उपक्षय करनेवाले प्रभु ही हैं। सब उत्तम विचार व ज्ञान के स्रोत प्रभु ही हैं, वे ही पोषण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षण के निमित्त हमारे पितरों को उचित प्रेरणा प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रक्षण का स्वरूप, धनों का संविभाग

अधा नो विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम। धनानि सुषणा कृधि ॥ ६ ॥

१. **अध**=अब हमारी इस रक्षण की प्रार्थना के बाद हे **विश्वसौभग**=सम्पूर्ण धनों व सौभाग्यों से युक्त प्रभो! **हिरण्यवाशीमत्तम**=अधिक-से-अधिक हितरमणीय वाणीवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **धनानि**=धनों को **सुषणा**=उत्तम संविभाग व दानयुक्त **कृधि**=कीजिए। २. वस्तुतः जब यह धनों का संविभाग व दान रुक जाता है तब कई लोग Overfed=अति भुक्तिवाले तथा दूसरे underfed=हीनभुक्तिवाले हो जाते हैं और इस प्रकार दोनों का अकल्याण होता है। अतिभुक्ति व हीनभुक्ति ही सब रोगों व विनाशों का कारण बनती है। ३. प्रभु 'विश्वसौभग' होते हुए हमें धन तो प्राप्त कराएँ ही, परन्तु साथ ही हितरमणीय ज्ञान देकर हमें धनों के संविभाग की प्रेरणा भी दें। वस्तुतः यह धनों की विषमता भी चोरी आदि के भावों की वृद्धि का कारण बनती है। जब हम धनों के संविभागवाले बनते हैं तब चोरी आदि भी समाप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें दान की वृत्ति से युक्त करें और धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुपथ से चलना

अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः ॥ ७ ॥

१. हे प्रभो! आप **नः**=हमें **सश्चतः**=(सश्च् गतौ) मार्ग में बाधा डालने के लिए प्राप्त होते हुए शत्रुओं को **अति नय**=हमें लाँघकर दूसरी जगह प्राप्त कराइए, अर्थात् हमें मार्ग में रुकावट डालनेवाले शत्रु प्राप्त न हों। २. **नः**=हमें **सुगा**=सुगमता से चलने योग्य **सुपथा**=उत्तम मार्ग से **कृणु**=जानेवाला बनाइए। हम आपकी कृपा से सदा उस पथ से ही चलें जिसमें कि व्यर्थ की उलझनें नहीं हैं। ३. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! आप **इह**=इस जीवन-यात्रा में हमें **क्रतुं विदः**=क्रतु को प्राप्त कराइए। निघण्टु २।१ में 'क्रतु' कर्म का नाम है। प्रभु हमें कर्मशक्ति प्राप्त कराएँ। नि० ३।९ में 'क्रतु' प्रज्ञा का नाम है। प्रभु हमें प्रज्ञा-सम्पन्न करें। शतपथ ३।३।४।७

में **'क्रतुर्मनोजवः'** इन शब्दों में मनोजव व संकल्प को क्रतु कहा है। प्रभु हमें यह संकल्पशक्ति दें। वस्तुतः हमें हाथों में कर्मशक्ति प्राप्त कराएँ, मन में संकल्पशक्ति दें और मस्तिष्क को प्रज्ञा-सम्पन्न करें। इस प्रकार शरीर, मन व मस्तिष्क में क्रतु को प्राप्त करके हम सदा सुपथ से ही चलें।

भावार्थ—हम प्रभुकृपा से क्रतु-सम्पन्न होकर सुपथ से सुगमतापूर्वक आगे बढ़ने में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूयवस-'सात्त्विक भोजन'

अभि सूयवसं नय न नवज्वारो अध्वने। पूषन्निह क्रतुं विदः॥ ८॥

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! हम सुपथ से ही चलें, अतः आप हमें **सूयवसम्**=उत्तम यव=जौ आदि ओषधिरूप भोजनों की ओर **अभिनय**=आभिमुख्येन ले-चलिए। हमारा झुकाव सदा यव आदि सात्त्विक अन्नों को खाने की ओर हो। २. इन सात्त्विक अन्नों के सेवन से हमारी बुद्धि भी सात्त्विक होगी और तब **अध्वने**=मार्ग पर चलने के लिए **नव ज्वारः न**=कोई नया बुखार न चढ़ आएगा, अर्थात् हमारा मन किसी नवीन व्यसन का शिकार होकर मार्ग पर चलने से रुक न जाएगा। ३. इस सबके लिए अर्थात् 'सात्त्विक भोजन के सेवन' तथा 'नवीन व्यसनों के न आने के लिए' हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! आप **इह**=इस जीवन-यात्रा में हमें **क्रतुम्**=कर्मशक्ति, प्रज्ञा व संकल्प को **विदः**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम संकल्प करें कि हम सात्त्विक भोजन ही करेंगे और हमें किसी नवीन व्यसन का ज्वर न चढ़ पाएगा।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पेट का ठीक होना

शग्धि पूर्धि प्र यंसि च शिशीहि प्रास्युदरम्। पूषन्निह क्रतुं विदः॥ ९॥

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! आप **शग्धि**=हमें शक्तिसम्पन्न कीजिए। शक्ति से ही तो आगे बढ़ना सम्भव होगा। २. **पूर्धि**=आप हमें धनों से पूरित कीजिए। उन्नति के लिए किसी भी आवश्यक धन की हमें कमी न रह जाए ३. **च**=और **प्रयंसि**=हमें दुष्ट कर्मों से पूर्णतया रोकिए। आपकी कृपा से धनादि को प्राप्त करके हम कुपथ पर न चल पड़ें। ४. **शिशीहि**=आप हमारी बुद्धियों को तीक्ष्ण कीजिए। मन्दबुद्धि ही तो हमारे मार्गभ्रंश का कारण बनती है। ५. **उदरम्**=हमारे उदर को **प्रासि**=न्यूनता से रहित कीजिए, उसका पूरण कीजिए। उदर के कारण शरीर में विविध रोगों की उत्पत्ति हुआ करती है और तब शक्तिक्षय होकर सब अवगुणों के उद्भव का भी उपक्रम होता है। ६. हे **पूषन्**=पोषक देव! **इह**=इस जीवन में हमें **क्रतुम् विदः**=कर्म, संकल्प व ज्ञान प्राप्त कराइए ताकि हमारा जीवन सफलता से पूर्ण हो।

भावार्थ—जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए 'शक्ति, धन, संयम, तीव्र बुद्धि व पेट का ठीक होना'—ये बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। हममें संकल्प हो कि हम इन्हें अवश्य जुटाएँगे।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

संकल्प का स्वरूप

न पूषणं मेथामसि सूक्तैरभि गृणीमसि। वसूनि दस्ममीमहे॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम संकल्प करते हैं कि हम अपने जीवन में **पूषणम्**=उस पोषक परमात्मा को **न मेथामसि**=(मेथ हिंसने) हिंसित नहीं करते, अर्थात् पूषा को भूल नहीं जाते। भूलना तो अलग रहा **सूक्तैः**=सूक्तों के द्वारा—उत्तम वचनों के द्वारा **अभिगृणीमसि**=दिन-रात उस प्रभु का स्तवन करते हैं। यहाँ 'अभि' उपसर्ग दिन-रात अथवा जागरित व स्वप्न—दोनों अवस्थाओं का संकेत करता है। हम जागरित अवस्था में तो उस प्रभु का स्तवन करते ही हैं, स्वप्नावस्था में भी हमारा यह प्रभु-स्तवन चलता है। २. उस **दस्मम्**=दर्शनीय व शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले प्रभु से हम **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक धनों को **ईमहे**=माँगते हैं। इन वस्तुओं को प्राप्त करके अपने निवास को उत्तम बनाने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को नहीं भूलते। सदा उसका स्तवन करते हुए उससे वसु की याचना करते हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि वे पूषन् प्रभु हमारा मार्गदर्शन करें (१)। हमें जीवन-मार्ग में 'पापी, लोभी व व्यसनी' लोग न घेर लें (२)। हम मार्ग-प्रतिबन्धक चोरों व छलियों से बचें (३)। द्वयावी व अघशंस हमपर प्रबल न हों (४)। हमें उत्तम माता-पिता प्राप्त हों (५)। हम धन कमाएँ परन्तु उसका संविभाग करें ताकि समाज में बुराइयाँ न पनपें (६)। हम सदा सुपथ से चलें (७)। सात्त्विक भोजन का सेवन करें (८)। हमारा पेट सदा ठीक रहे ताकि हम नीरोग रहें (९)। प्रभु से दूर न हों (१०)। हमारी प्रबल कामना हो कि प्रभु का स्तवन कर पाएँ—

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का स्तवन अत्यन्तावश्यक

कद्रुद्राय प्रचेतसे मीळ्हुष्टमाय तव्यसे। वोचेम शन्तमं हृदे॥ १॥

१. **कत्**=कब **शन्तमम्**=अतिशयेन शान्ति देनेवाले स्तोत्र को **वोचेम**=हम बोलेंगे? किसके लिए (क) **रुद्राय**=सदुपदेश देनेवाले के लिए। उस प्रभु के लिए जो सृष्टि के आरम्भ में सब विद्याओं का उपदेश करते हैं। (ख) **प्रचेतसे**=जो प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं और इसलिए जिनकी प्रेरणा में कभी भ्रान्ति सम्भव ही नहीं। (ग) **मीळ्हुष्टमाय**=जो ज्ञान के द्वारा अनन्त सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। अविद्या ही सारे कष्टों का क्षेत्र होती है। प्रभु उस अविद्या को ज्ञान के प्रकाश से समाप्त करके सब कष्टों का भी अन्त करनेवाले हैं। (घ) **तव्यसे**=वे प्रभु अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हैं। वस्तुतः सब गुणों के दृष्टिकोण से चरमसीमारूप ही वे प्रभु हैं। (ङ) **हृदे**=(अस्मदीये हृन्निष्ठाय) हमारे हृदयों के अन्दर स्थित हैं। २. वस्तुतः हृदय में स्थित हुए-हुए ही वे प्रभु प्रेरणा देते हैं। प्रकृष्ट ज्ञानवाले होने के कारण वे भ्रान्त प्रेरणा नहीं देते। इस ठीक प्रेरणा के द्वारा वे हमपर सुखों की वर्षा करते हैं। स्वयं वे अतिशयेन प्रवृद्ध हैं। जीव भी जब उस हृदयस्थ रुद्र की प्रेरणा को सुनता है तब वृद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु हृदयस्थ होकर निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। हम उस प्रेरणा को सुनें, इसी में हमारा कल्याण है। हम प्रभु का स्तवन करें ताकि हमें शान्ति मिले।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अदितिः व कल्याण

यथा॑ नो॒ अदि॑तिः कर॒त्पश्वे॒ नृभ्यो॒ यथा॒ गवे॑। यथा॑ तो॒काय॑ रु॒द्रिय॑म्॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **अदितिः**=(इयं वै पृथिवी अदितिः-शत० १।१।४।५, नि० १।१) यह पृथिवी **पश्वे**=पशुओं के लिए **करत्**=घास आदि को उत्पन्न करती है। २. **यथा**= जैसे **अदितिः**=(गोनाम, नि० २।११) गौ **नृभ्यः**=मनुष्यों के हित के लिए **करत्**=करती है। ३. **यथा**=जैसे **अदितिः**=वेदवाणी (वाङ्नाम, नि० १।११) **गवे**=ज्ञानेन्द्रियों के लिए **करत्**=ज्ञान को प्राप्त कराती है। ४. **यथा**=जैसे **अदितिः**=अदीना देवमाता=दीनता से ऊपर उठी हुई दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली माता **तोकाय**=सन्तान के लिए **करत्**=कल्याण करती और गुणों को सिद्ध करती है उसी प्रकार **नः**=हमारे लिए **अदितिः**=यह वेदवाणी **रुद्रियम्**= रुद्र-सम्बन्धी उपदेश को **करत्**=करती है, अर्थात् यह वेदवाणी हमें प्रभु का उपदेश देती है।

भावार्थ—वेद उस प्रभु का उपदेश देता है जो हमें निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उत्तम निवास व रोगापनयन

यथा॑ नो मि॒त्रो वरु॑णो॒ यथा॑ रु॒द्रश्चिके॑तति। यथा॒ विश्वे॑ स॒जोष॑सः॥ ३॥

१. पूर्वमन्त्र के अनुसार हम उस 'रुद्र' प्रभु का शन्तम स्तोत्र कब कर पाएँगे **यथा**=जिससे कि **मित्रः, वरुणः**=मित्र और वरुण **नः**=हमें **चिकेतति**=अनुग्राह्यत्वेन जानें अथवा हमारे लिए निवास को उत्तम बनाएँ तथा हमारे रोगों को दूर करें (कित ज्ञाने अथवा कित निवासे रोगापनयेन च) 'मित्र' स्नेह का देवता है, 'वरुण' द्वेष-निवारण का। एवं, भाव यह हुआ कि हम प्रभु का ऐसा स्तवन करें जिससे कि 'स्नेह व निर्द्वेषता' से परिपूर्ण होकर हम शरीर व मन दोनों से नीरोग बनें। २. हमारा प्रभुस्तवन इस प्रकार हो कि **यथा**=जिससे **रुद्रः**=वह रोगों का चिकित्सक प्रभु **चिकेतति**=हमारे लिए नीरोगता प्राप्त करानेवाला हो और **यथा**=जिससे **विश्वे**=सब देव **सजोषसः**=समान प्रीतिवाले होकर हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हों।

भावार्थ—मित्र, वरुण, रुद्र व सब देव हमें नीरोगता प्रदान करें। हम उनके अनुग्रह के पात्र हों।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुखप्राप्ति के मूल साधन (Basic Principles of Happiness)

गा॒थप॑तिं मे॒धप॑तिं रु॒द्रं जला॑षभेषजम्। तच्छं॒योः सु॒म्नमी॑महे॥ ४॥

१. **गाथपतिम्**=(गाथा वाङ्नाम) सब गाथाओं, वेदवाणियों के स्वामी तथा **मेधपतिम्**=सब यज्ञों के रक्षक **रुद्रम्**=(रुत्+र) हृदयस्थरूपेण ही उपदेश देनेवाले, **जलाषभेषजम्**=जलरूप औषध से युक्त प्रभु से **तत्**=उस **शंयोः**=शान्ति को देनेवाले तथा भयों के यावन-(दूर करने)-वाले **सुम्नम्**=सुख को **ईमहे**=माँगते हैं। २. प्रभु हमें वेदज्ञान देते हैं, वेद द्वारा सब यज्ञों (कर्तव्य-कर्मों) का उपदेश करते हैं। हृदय में स्थित होकर सदा सत्प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु हमें इस अद्भुत जलरूप औषध को देते हैं **'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा'**। ३. वेदों के अध्ययन, यज्ञों के करने, प्रभु-प्रेरणा को सुनने तथा जलों के समुचित

आचमन से हमें शान्ति, निर्भयता व सुख प्राप्त होगा। ४. मन्त्र में प्रभु के जिन नामों का स्मरण किया गया है वे सब नाम उन साधनों का प्रतिपादन करते हैं जिनको जीवन में लाने पर हमें शान्ति, निर्भयता व सुख की प्राप्ति होगी। वेद की यह महत्त्वपूर्ण शैली है कि प्रार्थना के साथ ही उसकी पूर्ति के साधनों का प्रतिपादन होता है। हम प्रार्थना करते हैं और प्रभु उसकी पूर्ति के लिए साधनों का संकेत कर देते हैं। प्रार्थना की पूर्ति पुरुषार्थ से ही होती है।

भावार्थ—'वेदाध्ययन (ज्ञानप्राप्ति), यज्ञ, प्रभुप्रेरणा-श्रवण व जलों का आचमन' हमें शान्त, नीरोग व सुखी बनाएँगे।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य व स्वर्ण के समान

यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। श्रेष्ठो देवानां वसुः॥ ५॥

१. **यः**=जो **शुक्रः**=दीप्तिमान् **सूर्यः इव**=सूर्य की भाँति **रोचते**=देदीप्यमान हैं, आदित्यवर्ण हैं, हजारों सूर्यों की दीप्ति के समान दीप्तिवाले हैं। २. **हिरण्यम् इव रोचते**=जो स्वर्ण के समान देदीप्यमान हैं। मनु के शब्दों में 'रुक्माभम्'=स्वर्ण की आभावाले हैं। ३. **देवानां श्रेष्ठः**=सब देवों में श्रेष्ठ—प्रशस्यतम हैं। वस्तुतः जो देवों को देवत्व प्राप्त करा रहे हैं **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'** सब देवों को दीप्ति उस प्रभु से ही तो प्राप्त हो रही है—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। ये सब देव उस महादेव के ही अधीन हैं। ४. ऐसे ये प्रभु **वसुः**=सब प्राणियों को अपने में निवास दे रहे हैं (वसन्ति यस्मिन्) और सब प्राणियों में उस प्रभु का निवास है (वसति सर्वस्मिन्) 'ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्'।

भावार्थ—प्रभु सूर्य व हिरण्य की भाँति देदीप्यमान हैं। देवताओं में वे श्रेष्ठ हैं और सब प्राणियों में अन्तर्यामिरूप से रह रहे हैं।

ऋषिः—**कण्वो घौरः**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अश्व-मेष-नर और गौ

शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये। नृभ्यो नारिभ्यो गवे॥ ६॥

१. गतमन्त्र में कीर्तित 'सूर्य व हिरण्य की भाँति देदीप्यमान, देवश्रेष्ठ, वसु' प्रभु **नः**=हमारे **अर्वते**=घोड़ों के लिए **शं करति**=शान्ति करते हैं, प्रभुकृपा से हमारे राष्ट्र में घोड़े शक्तिशाली होते हैं। राष्ट्र में इधर-उधर वस्तुओं के परिवहन-कार्य में वे उत्तमता से उपयुक्त होते हैं। २. वे प्रभु हमारे **मेषाय**=मेढ़ों के लिए **मेष्ये**=भेड़ों के लिए **सुगम्**=सुष्ठु गम्य=सुगमता से प्राप्त होनेवाली **शम्**=शान्ति को **करति**=करते हैं। मेढ़े व भेड़ें नीरोग होकर हमारे लिए उत्तम ऊन प्राप्त करानेवाले होते हैं। ३. वे प्रभु **नृभ्यः नारिभ्यः**=राष्ट्र के सब नर-नारियों के लिए **सुगं शम्**=सुष्ठु गम्य शान्ति को देनेवाले होते हैं। राष्ट्र में सब नर-नारी शान्तभाव से, परस्पर प्रेमपूर्वक चलते हुए आगे बढ़ते हैं। ५. वे प्रभु **गवे**=हमारी गौओं के लिए भी शान्ति करते हैं। ये अयक्ष्मा, रोगरहित गौएँ हमें सात्त्विक दुग्ध का पान कराती हुई सात्त्विक वृत्तिवाला बनाती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में घोड़े, भेड़ें, नर-नारी व गौएँ सभी सुख व शान्ति को प्राप्त करें, नीरोग हों।

भावार्थ—हमें ज्ञानधन प्राप्त हो। उसकी प्राप्ति के लिए हमें प्रातः जागरणशील ज्ञानियों का सत्सङ्ग प्राप्त हो।

ऋषि:—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

बृहत् श्रव

जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम्।
सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत्॥ २॥

१. हे प्रभो! आप **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवित व उपासित हुए-हुए **हि**=निश्चय से **दूतः असि**=वेदरूप ज्ञान-सन्देश के प्राप्त करानेवाले हैं। हम जब प्रभु का उपासन करते हैं तब प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। २. हे प्रभो! आप **हव्यवाहनः**=सब उत्तम पदार्थों को देनेवाले हैं। ३. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **अध्वराणां रथीः**=सब हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के सञ्चालक हैं। प्रभुभक्तों के जीवनों के माध्यम से सब यज्ञात्मक कर्मों को प्रभु ही कर रहे होते हैं। ४. हे प्रभो! **अश्विभ्याम्**=प्राणापानो व **उषसा, सजूः**=उषःकाल के साथ **अस्मे**=हमारे लिए **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को **धेहि**=स्थापित कीजिए। शक्ति को प्राप्त करके ही तो हम यज्ञात्मक कर्मों को कर पाएँगे। ५. इस शक्ति की प्राप्ति के लिए **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **श्रवः**=अन्न को हममें धारण कीजिए (श्रवः, अन्ननाम, नि०)। ६. वस्तुतः यह 'बृहत् श्रव' हममें सुवीर्य को उत्पन्न करेगा। इस वीर्य को सुरक्षित करने के लिए प्राणसाधना व उषःजागरण सहायक हैं। सुवीर्य बनकर हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। यज्ञशील पुरुष हव्य का ही सेवन करता है। यह 'हव्य-सेवन' ही प्रभु का उपासन हो जाता है और उपासित प्रभु ज्ञान का सन्देश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हमें चाहिए कि (क) वृद्धि के कारणभूत अन्न का ही सेवन करें। (ख) सुवीर्य को प्राप्त करें। (ग) प्राणसाधना व प्रातःजागरण द्वारा वीर्य की रक्षा करें। (घ) यज्ञशील हों। (ङ) हव्य का ही सेवन करें। (च) प्रभु का उपासन करें। (छ) उसके ज्ञान-सन्देश को सुनें।

ऋषि:—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

धूमकेतु (भाऋजीक) अध्वरश्रीः

अद्या दूतं वृणीमहे वसुमग्निं पुरुप्रियम्।
धूमकेतुं भाऋजीकं व्युष्टिषु यज्ञानामध्वरश्रियम्॥ ३॥

१. **अद्य**=आज हम उस **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले प्रभु को **वृणीमहे**=वरते हैं जो २. वरण किये जाने पर **वसुम्**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं, **अग्निम्**=हमें आगे ले-चलनेवाले हैं, **पुरुप्रियम्**=पालक व पूरक हैं और उत्तमोत्तम जीवन में उन्नति की साधनभूत वस्तुओं को प्राप्त कराके प्रीणित करनेवाले हैं, **धूमकेतुम्**=वासनाओं के कम्पित करनेवाले प्रज्ञान को प्राप्त करानेवाले हैं और **भाऋजीकम्**=(प्रार्जयितारम्) दीप्ति का अर्जन करानेवाले हैं। ३. उस प्रभु का हम वरण करते हैं जो **व्युष्टिषु**=उषःकालों में **यज्ञानाम्**=यज्ञों की **अध्वरश्रियम्**=हिंसारहित श्री-(शोभा)-वाले हैं, अर्थात् प्रभु की कृपा से ही हम प्रत्येक उषःकाल में यज्ञ की वृत्तिवाले होते हैं और प्रभुकृपा से ही यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। प्रभु ही उन यज्ञों को वह शोभा प्राप्त कराते हैं जो नष्ट नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देकर हमारे जीवन को उत्तम बनाते हैं, प्रभुकृपा से ही हमारे जीवन यज्ञों से विभूषित होते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रातःकाल की प्रारम्भिक क्रिया (प्रभुस्तवन)

श्रेष्ठं यविष्ठमतिथिं स्वाहुतं जुष्टं जनाय दाशुषे।
देवाँ अच्छा यातवे जातवेदसमग्निमीळे व्युष्टिषु॥ ४॥

१. **व्युष्टिषु**=उषःकालों में, अर्थात् प्रतिदिन दिन के आरम्भ में **देवान् अच्छ**=देवों की ओर **यातवे**=प्राप्त होने के लिए, अर्थात् दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए, उस **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वधन **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **ईळे**=मैं उपासित करता हूँ जो प्रभु २. **श्रेष्ठम्**=प्रशस्यतम हैं, सब देवों में श्रेष्ठ हैं, श्रेष्ठता की चरमसीमा हैं, **यविष्ठम्**=हम उपासकों को भी दुर्गुणों से असम्पृक्त तथा सद्गुणों से सम्पृक्त करनेवाले हैं, **अतिथिम्**=हमारे हित के लिए निरन्तर क्रियाशील हैं (अत सातत्यगमने), **स्वाहुतम्**=सब उत्तम वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले हैं (सु आ हुतं यस्मात्)। ३. उस प्रभु का स्तवन करते हैं जो कि **दाशुषे जनाय**=अपना समर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए **जुष्टम्**=(प्रीतिम्) प्रीतिवाले होते हैं। ४. वस्तुतः प्रभुस्तवन हममें दिव्यगुणों का वर्धन करता है। प्रभु की स्तुति से हम वासनाओं से बचकर अच्छाइयों का अपने से मेल करनेवाले बनते हैं। प्रभुस्मरण ही हमें इस प्रलोभनमय संसार में बचानेवाला है। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं। प्रभु हमसे प्रसन्न होते हैं और हमें दुर्गुणों से दूर करके सद्गुणों से अलंकृत करते हैं।

भावार्थ—दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए हम प्रतिदिन प्रातःकाल को प्रभुस्तवन से प्रारम्भ करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु-स्तवन का निश्चय

स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन।
अग्ने त्रातारममृतं मियेध्य यजिष्ठं हव्यवाहन॥ ५॥

१. हे **अमृत**=कभी भी नष्ट न होनेवाले! **अग्ने**=अग्रस्थान को प्राप्त करानेवाले! **विश्वस्य भोजन**=(भुज पालने) सबके पालन करनेवाले! **मियेध्य**=(मेध्य) संगतिकरण योग्य व उपास्य! **हव्यवाहन**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **अहम्**=मैं **त्वाम्**= आपका ही **स्तविष्यामि**=स्तवन करूँगा। २. आप **त्रातारम्**=सबके रक्षक हैं, रोगादि से बचानेवाले हैं, **अमृतम्**=वासनाओं के कारण हमें कभी भी विषयों के पीछे न मरने देनेवाले हैं, **यजिष्ठम्**=सर्वाधिक पूज्य, संगतिकरण के योग्य व आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले हैं (यज=देवपूजा-संगतिकरण-दान)। ३. प्रभुस्तवन से हम बहुत-कुछ प्रभु के अनुरूप बनते हैं, हमारे सामने एक लक्ष्यदृष्टि पैदा होती है और उसकी ओर बढ़ते हुए हम विषयों की चमक से आकृष्ट होकर बीच में ही रुक नहीं जाते।

भावार्थ—हमें प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सुशंस, मधुजिह्व, स्वाहुत

सुशंसो॑ बोधि गृण॒ते य॑विष्ठ्य॒ मधु॑जिह्वः॒ स्वा॑हुतः ।
प्रस्क॑ण्वस्य प्रति॒रन्नायु॑र्जी॒वसे॑ नम॒स्या दैव्यं॒ जन॑म्॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! आप **गृणते**=स्तुति करनेवाले के लिए **सुशंसः**=उत्तम शंसन व उपदेश करनेवाले **बोधि**=जाने जाते हो। स्तोता के लिए आप उत्तम ज्ञान देते हैं। २. **यविष्ठ्य**=गुणों को प्राप्त कराने तथा अवगुणों को दूर करने में सर्वोत्तम प्रभो! आप अपने स्तोता के लिए **मधुजिह्वः**=माधुर्यमय जिह्वावाले, अर्थात् अत्यन्त मधुर शब्दोंवाले तथा **स्वाहुतः**=(सु आहुतः) उत्तमोत्तम हव्य पदार्थों को देनेवाले हो। ३. आप **प्रस्कण्वस्य**=इस मेधावी पुरुष की **आयुः**=आयु को **प्रतिरन्**=बढ़ाते हुए **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिए **दैव्यं जनम्**=दैव्य लोगों को, अर्थात् प्रभुप्रवण पुरुषों को **नमस्या**= (परिचरणकर्मा नमस्यति) पूजित कराइए। आपकी कृपा से यह अध्यात्मवृत्तिवाले लोगों के सम्पर्क में आये और उनकी सेवा-शुश्रूषा (परिचरण) करता हुआ उनके उपदेशों से जीवन-निर्माण की प्रेरणा लेता हुआ जीवन को उन्नत बनाए। उत्तम जीवन यही है कि मनुष्य (क) प्रभु के उत्तम उपदेशों को सुने, (ख) माधुर्यमयी जिह्वावाला हो, (ग) उत्तम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करे, (घ) दैव्य लोगों के सम्पर्क में आकर जीवन को उत्तम बनाते हुए दीर्घ जीवनवाला हो।

भावार्थ—उत्तम जीवन का परिचय प्रस्तुत मन्त्र में 'सुशंसः, मधुजिह्वः, स्वाहुतः'—इन शब्दों में दिया गया है। इस जीवन के निर्माण को लिए यत्नशील होना चाहिए तथा दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहिए।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

होता-विश्ववेदस्

होता॑रं वि॒श्ववे॑दसं॒ सं हि त्वा॒ विश॑ इ॒न्धते॑।
स आ व॑ह पुरुहूत॒ प्रचे॑तसोऽग्ने॑ दे॒वाँ इ॒ह द्र॒वत्॥ ७ ॥

१. हे प्रभो! **होतारम्**=सब पदार्थों के देनेवाले, **विश्ववेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वधन **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **विशः**=सब प्रजाएँ, संसार में प्रवेश करनेवाले व्यक्ति **समिन्धते**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं। वस्तुतः प्रभु को अपने हृदय में दीप्त करने की साधना 'होतारं व विश्ववेदसम्' इन शब्दों से ही सूचित हो रही है। हम होता=देनेवाले, देकर यज्ञशेष को खानेवाले बनें तथा **विश्ववेदस्**=सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। २. हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे गये अथवा जिनको पुकारना हमारा पूरक व पालक है, ऐसे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः**=वे आप **प्रेचतसः देवान्**=प्रकृष्ट चेतनावाले विद्वानों को **द्रवत्**=शीघ्र **इह**=इस हमारे जीवन में **आवह**=प्राप्त कराइए। इनके सम्पर्क में आकर हम भी प्रचेतस् बनें और दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिए सदा यत्नशील हों।

भावार्थ—वे प्रभु होता हैं, विश्वेदस् हैं। उनकी कृपा से हमारा दिव्य गुणोंवाले विद्वानों से सम्पर्क हो और हम भी देव बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

कण्व व सुतसोम

स॒वि॒तार॑मु॒षस॑म॒श्विना॒ भग॑म॒ग्निं व्यु॑ष्टिषु॒ क्षपः॑।
कण्वा॑सस्त्वा सु॒तसो॑मास इन्धते हव्य॒वाहं॑ स्वध्वर॥ ८॥

१. **व्युष्टिषु**=उषःकालों में और **क्षपः**=रात्रि को, अर्थात् दिन तथा रात्रि के प्रारम्भ में **कण्वासः**=मेधावी पुरुष **सवितारम्**=सबको कर्मों में प्रेरणा देनेवाले सूर्य को **इन्धते**=अपने में दीप्त करते हैं। सूर्य का ध्यान करके सूर्य से 'सतत क्रियाशीलता' की दीक्षा लेते हैं और इस निरन्तर कर्म-संलग्नता के द्वारा वासनाओं से बचकर सूर्य की भाँति ही चमकते हैं, २. **उषसम्**=ये उषा को अपने में समिद्ध करते हैं और जैसे उषा (उष दाहे) अन्धकार का दहन करती है, उसी प्रकार ये अपने अज्ञानान्धकार का दहन करने के लिए यत्नशील होते हैं। ३. **अश्विना**=ये प्राणापान की साधना करते हैं। इस प्राणसाधना से ये शरीर व मन को स्वस्थ व निर्मल बनाते हैं। यह प्राणसाधना इनके मस्तिष्क को भी दीप्त करनेवाली होती है। ४. **भगम्**=मेधावी पुरुष 'भग' को अपने में दीप्त करता है। यह 'भग' ऐश्वर्य की देवता है। सांसारिक यात्रा के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को जुटाना भी प्रभु-प्राप्ति के लिए एक साधन है। तुलसीदास ने 'भूखे भजन न होई' इन शब्दों में इस सत्य को व्यक्त किया है। ५. **अग्निम्**=ये अग्नि को अपने में दीप्त करते हैं। अग्नि से प्रकाश व आगे बढ़ने की दीक्षा लेते हैं। ६. हे **स्वध्वर**=सब उत्तम, हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को सिद्ध करनेवाले प्रभो! **सुतसोमासः**=अपने में सोम का सम्पादन करनेवाले, वीर्यशक्ति को शरीर में ही उत्पन्न व सुरक्षित करनेवाले व्यक्ति **हव्यवाहम्**=सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाले **त्वा**=आपको **इन्धते**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं। प्रभु-प्राप्ति व प्रभु-दर्शन का उपाय 'कण्व व सुतसोम' बनना है। हम **कण्व**=मेधावी बनें, अपने में सोमशक्ति की रक्षा करें तभी हम प्रभुदर्शन कर सकेंगे। प्रभुदर्शन के लिए, उस महान् देव के स्वागत के लिए हम 'सविता, उषा, अश्विनौ, भग व अग्निदेव' को अपने जीवन में लाएँ। यह देवों को जीवन में लाना ही प्रभु के स्वागत की तैयारी है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में 'सविता, उषा, अश्विनौ, भग व अग्नि' आदि देवों को प्रातः-सायं पूजन करते हुए मेधावी व सशक्त बनकर प्रभु के स्वागत की तैयारी करते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**आर्चीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अध्वराणां पतिः

पति॒र्ह्य॑ध्व॒राणा॒मग्ने॑ दू॒तो वि॒शाम॑सि॑।
उ॒ष॒र्बुध॒ आ व॑ह॒ सोम॑पीतये दे॒वाँ अ॒द्य स्व॒र्दृशः॑॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अध्वराणाम्**=सब हिंसारहित कर्मों के, यज्ञों के **पतिः**=रक्षक **असि**=हैं। आपकी कृपा से ही सब यज्ञ पूरे हुआ करते हैं। २. हे अग्ने! आप ही **विशाम्**=सब प्रजाओं को **दूतः**=ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं। ३. आप ही **उषर्बुधः**=प्रातःकाल में जागनेवाले **स्वःदृशः**=ज्ञान के सूर्य को देखनेवाले, अर्थात् प्रातःकाल उठकर स्वाध्यायशील **देवान्**=देववृत्ति के लोगों को **अद्य**=आज **सोमपीतये**=सोम के रक्षण व शरीर में पीने व व्याप्त करने के लिए **आवह**=प्राप्त कराइए। वस्तुतः शरीर में सोम=वीर्य के रक्षण के लिए आवश्यक है कि (क) हम प्रातःकाल जागें, (ख) स्वाध्यायशील हों, (ग) देववृत्ति को अपनाएँ।

भावार्थ—उषःजागरण, स्वाध्याय व देववृत्ति को अपनाने पर हम शरीर में सोम का रक्षण कर पाते हैं। इस सोम का रक्षण होने पर हमारे जीवन में यज्ञात्मक कर्म चलते हैं और हम प्रभु के ज्ञान-सन्देश को सुन पाते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्विस्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

विश्वदर्शतः पुरोहितः

अग्ने पूर्वा अनूषसो विभावसो दीदेथ विश्वदर्शतः।
असि ग्रामेष्ववि॒ता पुरोहि॒तोऽसि॑ य॒ज्ञेषु॒ मानु॑षः॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विभावसो**=ज्ञानदीप्तिरूप धनवाले प्रभो! आप **पूर्वाः उषसः अनुदीदेथ**=प्राचीन उषःकालों की भाँति इन उषःकालों में भी चमकते हो। वस्तुतः प्रभु स्वयं तो सदा देदीप्यमान हैं, परन्तु हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश इन शान्त उषःकालों में ही सम्भव है। इनका नाम ही 'ब्राह्ममुहूर्त' हो गया है। २. हे प्रभो! आप **विश्वदर्शतः असि**=सबसे दर्शनीय हैं। जो भी अपने हृदय को निर्मल बनाता है, वही प्रभु का दर्शन कर पाता है। प्रभुदर्शन के लिए दिशा, काल अथवा देश, जाति आदि का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता। ३. **ग्रामेषु अविता**=नगरों में—नगरों में रहनेवाले लोगों का रक्षण करनेवाले आप ही हैं। ४. **पुरोहितः असि**=सब लोगों के सामने (पुरः) आप आदर्श के रूप में विद्यमान हैं (हितः)। आपके गुणों का स्तवन करते हुए हम अपने जीवन के आदर्श को देख पाते हैं। ५. उन गुणों को धारण करते हुए जब हम **यज्ञेषु**=उत्तम कर्मों में व्यापृत होते हैं तब आप **मानुषः**=यज्ञों के होने पर मनुष्य का कल्याण व हित करते हैं। यज्ञों के द्वारा प्रभु मानवहित का साधन करते हैं। ये यज्ञ 'इष्ट कामधुक्' हैं।

भावार्थ—प्रभु सदा दीप्त हैं। ब्राह्ममुहूर्त में प्रभु का दर्शन होता है। प्रभु ही हमारे रक्षक हैं। यज्ञों के द्वारा मानवमात्र का कल्याण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रचेतस-जीर

नि त्वा॑ य॒ज्ञस्य॒ साध॑नमग्ने॒ होता॑रमृ॒त्विज॑म्।
म॒नु॒ष्वद्दे॑व धीमहि॒ प्रचे॑तसं जी॒रं दू॒तमम॑र्त्यम्॥ ११॥

१. **अग्ने**=अग्रणी परमात्मन्! **देव**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! आपको **मनुष्यवत्**=विचारशील पुरुष की भाँति **निधीमहि**=हम हृदयों में धारण करते हैं। जो आप **यज्ञस्य साधनम्**=सब यज्ञों के सिद्ध करनेवाले हैं, **होतारम्**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं, **ऋत्विजम्**=समय-समय पर उपासना के योग्य हैं, **प्रचेतसम्**=प्रकृष्टज्ञानवाले हैं, **जीरम्**=हमारी सब बुराइयों को जीर्ण-शीर्ण करनेवाले हैं, **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं और **अमर्त्यम्**=हमें विषय-वासनाओं के पीछे मरने से बचानेवाले हैं। २. (क) यज्ञों के साधन के लिए सब पदार्थों के देनेवाले हैं, (ख) उपासित होने पर प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त कराते हैं, (ग) विषय-वासनाओं को जीर्ण करके ज्ञान देते हैं और हमें मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे जीवनों में यज्ञों को सिद्ध करते हैं, ज्ञान देते हैं और हमें मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

दीप्त व शान्त ज्ञान

यद्देवानां मित्रमहः पुरोहितोऽन्तरो यासि दूत्यम्।
सिन्धोरिव प्रस्वनितास ऊर्मयोऽग्नेर्भ्राजन्ते अर्चयः॥ १२॥

१. हे प्रभो! **मित्रमहः**=स्नेहयुक्त तेजस्वितावाले (महस्=तेजः), **पुरोहितः**=सबके सामने आदर्शरूप से स्थित **अन्तरः**=हृदय में स्थित हुए-हुए आप **यत्**=जब **देवानां दूत्यं यासि**=देवों के दूतकर्म को प्राप्त करते हैं, अर्थात् जब प्रभु ज्ञान का सन्देश प्राप्त कराते हैं तब **सिन्धोः**=समुद्र की **प्रस्वनितासः ऊर्मयः इव**=गर्जती हुई लहरों की भाँति **अग्नेः**=इस प्रगतिशील जीव की **अर्चयः**=ज्ञानदीप्तियाँ **भ्राजन्ते**=चमक उठती हैं। २. प्रभु तेजस्वी हैं परन्तु उनका तेज स्नेह से युक्त है, अतः वह तेज कभी सन्तापक नहीं होता। ३. वे प्रभु सभी के पुरोहित हैं—सभी के सामने आदर्शरूप से स्थित हैं। हमें अपने पिता प्रभु का ही तो अनुरूप पुत्र बनना है। ४. ये प्रभु हमारे हृदयों में स्थित हैं, हृदयस्थ होकर हमें ज्ञान दे रहे हैं। ५. इस प्रकार जब हमें प्रभु के ज्ञान का यह सन्देश प्राप्त होता है तब हमारी ज्ञान की दीप्तियाँ इस प्रकार चमकती हैं मानो समुद्र की गर्जती हुई लहरें हों। इस उपमा का सौन्दर्य इस बात में है कि ज्ञान अग्नि के समान देदीप्यमान है तो जल के समान शान्ति देनेवाला भी है। लहरों की उच्चता ज्ञान की उच्चता का संकेत कर रही है।

भावार्थ—प्रभु से प्राप्त होनेवाला ज्ञान हमें दीप्त व शान्त बनानेवाला है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

श्रुत्-कर्ण

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम्॥ १३॥

१. हे **श्रुत्कर्ण**=हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाले तथा हमारे कष्टों को विकीर्ण (कॄ विक्षेपे) करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **श्रुधि**=आप हमारी प्रार्थना को सुनिए। २. आपकी कृपा से **वह्निभिः**=हमें मोक्षरूप लक्ष्य तक पहुँचानेवाले **सयावभिः**=सदा साथ प्राप्त होनेवाले, अर्थात् जो सदा इकट्ठे ही रहते हैं, एक के प्राप्त होने पर दूसरे भी प्राप्त हो ही जाते हैं, उन **देवैः**=दिव्यगुणों के साथ **बर्हिषि**=हमारे हृदयान्तरिक्षों में **मित्रः**=स्नेह का भाव **अर्यमा**=दान का भाव (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति अथवा अरीन् नियच्छति) या संयम की भावना—ये सब **आसीदन्तु**=आसीन हों। प्रभुकृपा से हमारे हृदय दिव्य गुणों के अधिष्ठान बनें। ३. हम सब **अध्वरम्**=यज्ञों के प्रति **प्रातर्यावाणः**=प्रातः से जानेवाले हों। हमारा प्रतिदिन का प्रारम्भ यज्ञात्मक कर्मों से ही हो।

भावार्थ—प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनते हैं, हमें दिव्यगुणों को प्राप्त कराते हैं। हम प्रातः से ही यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

मरुत्, सुदानु, अग्निजिह्व, ऋतावृध्

शृण्वन्तु स्तोमं मरुतः सुदानवोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः।
पिबतु सोमं वरुणो धृतव्रतोऽश्विभ्यामुषसा सजूः॥ १४॥

१. **स्तोमं शृण्वन्तु**=प्रभु के स्तुतिसमूहों को सुनें! प्रभुगुणों के प्रतिपादक वचनों को सुनकर उनके अनुसार अपने जीवनों को बनाएँ! ऐसा करने में ही जीवन की सार्थकता है। मैं प्रभु का कीर्तन दयालु नाम से करूँ, और व्यवहार में क्रूर बनूँ तो सब कोई यही कहेगा कि इसने क्या कीर्तन सुना व किया? २. वास्तव में प्रभु-कीर्तन को सुननेवाले ये व्यक्ति (क) **मरुतः**=(मितराविणः, महद् द्रवन्ति, निरु० ११।१३) मितरावी=कम बोलनेवाले और खूब क्रियाशील होते हैं (ख) **सुदानवः**=उत्तम दानशील, वासनाओं का लवण करनेवाले (दाप् लवणे) और अपना शोधन करनेवाले (दैप् शोधने) होते हैं (ग) **अग्निजिह्वाः**—(अग्निवद् विद्याशब्दप्रकाशिका जिह्वा येषां ते—द०) अग्नि के समान ज्ञानप्रकाश देनेवाली वाणीवाले होते हैं (घ) **ऋतावृधः**=अपने जीवन में ऋत=यज्ञ व उत्तम कर्मों का वर्धन करनेवाले होते हैं। ३. इस प्रकार सच्चे रूप में प्रभुस्तवन का श्रवण करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह **वरुणः**=ईर्ष्या-द्वेष आदि का निवारण करनेवाला **धृतव्रतः**=व्रतों का धारण करनेवाला बनकर **अश्विभ्याम्**=प्राणापानों तथा **उषसा सजूः**=उषःकाल के साथ **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे, शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला बने। शक्ति की ऊर्ध्वगति के लिए चार बातों का यहाँ संकेत है—(क) हम वरुण बनें, द्वेषादि से बचें, (ख) व्रती जीवनवाले हों, (ग) प्राणापान का संयम करने के लिए प्रतिदिन प्राणायाम करें, (घ) प्रातःजागरण की वृत्तिवाले हों। ४. वस्तुतः सोमरक्षण करनेवाला व्यक्ति ही स्तोमों का ठीक प्रकार से श्रवण कर पाता है। यह 'मरुत्, सुदानु, अग्निजिह्व और ऋतावृध' बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तवन का श्रवण करते हुए 'मरुत्, सुदानु, अग्निजिह्व व ऋतावृध' बनें। वरुण व धृतव्रत होकर प्राण-साधना व प्रातःजागरण के अभ्यासी बनकर सोम का पान करें, शक्ति का शरीर में ही रक्षण करें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ सत्सङ्ग द्वारा ज्ञान व धन की प्रार्थना से होता है (१)। ज्ञानवर्धन के लिए सात्त्विक अन्न का ही सेवन करें (२)। प्रभु 'धूमकेतु' हैं—हमारी कामवासनाओं को दूर करके हमें यज्ञशील बनाते हैं (३)। इसलिए हमारा प्रत्येक प्रातःकाल प्रभुस्तवन से ही प्रारम्भ हो (४)। प्रभु-स्तवन का हम दृढ़ निश्चय करें (५)। वे प्रभु 'सुशंस, मधुजिह्व और स्वाहुत' हैं (६)। 'होता तथा विश्ववेदस्' हैं (७)। मेधावी व सशक्त बनकर हम प्रभु के स्वागत की तैयारी करें (८)। वे प्रभु ही सब यज्ञों के रक्षक हैं (९)। प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में हम इस प्रभु का दर्शन करने के लिए तैयार हों (१०)। ज्ञान-साधना करते हुए प्रभु को हृदय में धारण करें (११)। उस प्रभु के शान्त व दीप्त ज्ञान को सिद्ध करें (१२)। प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनें, इसके लिए हम प्रातः से ही यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ (१३)। 'मरुत्, सुदानु, अग्निजिह्व व ऋतावृध्' बनें (१४)। ऐसा बनने के लिए 'वसु, रुद्र व आदित्य' लोगों के सम्पर्क में आएँ—

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

किनका सङ्ग

त्वम॑ग्ने वसूँ॑रि॒ह रु॒द्राँ आ॑दि॒त्याँ उ॒त। यजा॑ स्वध्व॒रं जनं॒ मनु॑जातं घृत॒प्रुष॑म्॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **इह**=इस जीवन में **यज**=हमारे साथ सङ्गत कर—उन लोगों को जोकि (क) **वसून्**=वसु हैं—प्रथम कोटि के ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने निवास को उत्तम बनाते हैं, स्वस्थ शरीरवाले होते हैं, (ख) **रुद्रान्**=जो मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रभु-स्तवनपूर्वक कर्मों में सदा प्रवृत्त रहते हैं (रोरूयमाणः द्रवति) और इस प्रकार काम,

क्रोध, लोभादि वासनाओं को विनष्ट करते हुए रुलानेवाले होते हैं (रोदयन्ति) **उत**=और (ग) **आदित्यान्**=जो उत्तम कोटि के ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सब ज्ञानों व उत्तमताओं को अपने में ग्रहण करनेवाले होते हैं (आदानात् आदित्यः)। २. हे प्रभो! हमारे साथ उन मनुष्यों की सङ्गत कीजिए जोकि (क) **स्वध्वरम्**=उत्तम अहिंसात्मक कर्मों को करनेवाले हैं, (ख) **जनम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले हैं, (ग) **मनुजातम्** (मनुषु जातः, मनुमेव अनुभवितुं जातः), ज्ञान के उत्पादन के लिए जिनका जन्म हुआ है, अर्थात् जो सदा ज्ञानप्राप्ति में प्रवृत्त हैं और जो (घ) **घृतप्रुषम्**=(मुष् स्नेहनसेचनपूरणेषु, घृतेन पुष्णाति, घृ क्षरणदीप्तयोः) मन की निर्मलता तथा ज्ञान की दीप्ति से सबको स्निग्ध, सिक्त व पूरित करनेवाले हैं।

भावार्थ—'वसु, रुद्र, आदित्य, स्वध्वर, जन, मनुजात व घृतप्रुट्' लोगों के सम्पर्क में आकर हम भी इन जैसे ही बनने के लिए सयत्न हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

तेंतीस देव

श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः।
तान् रोहिदश्व गिर्वणस्त्रयस्त्रिंशतमा वह॥ २॥

१. **अग्ने**=परमात्मन्! **विचेतसः**=विशिष्ट ज्ञानवाले **देवाः**=दिव्यवृत्तिवाले लोग **हि**=निश्चय से **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **श्रुष्टीवानः**=उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करानेवाले हैं (श्रुष्टिः प्रेरणार्थः, सा०; श्रुष्टिं वनन्ति, भजन्ति)। विचेतस् देव लोग अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति को सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। २. हे **रोहिदश्व**=सदा से वर्धमान व व्यापक प्रभो! (रुह प्रादुर्भाव, अश् व्याप्तौ) अथवा हमारे इन्द्रियाश्वों के वर्धन करनेवाले प्रभो! **गिर्वणः**=वेदवाणियों से सम्भजनीय प्रभो! आप **तान्**=उन **त्रयस्त्रिंशतम्**=तेंतीस-के-तेंतीस दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए। बाह्यजगत् में तेंतीस देव हैं, ये तेंतीस देव हमारे शरीर में भी प्रतिष्ठित हैं—'**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते**। इन तेंतीस देवों के शरीर में ठीक रूप से प्रतिष्ठित होने पर मनुष्य देव बन जाता है। इन देवों के साथ हमारा सम्पर्क हो, ताकि हम भी 'देव' बनने के लिए प्रवृत्त हों।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में आकर उनसे प्रेरणा प्राप्त होते हुए हम भी देव बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'प्रियमेध-अत्रि-विरूप व अङ्गिरस'='प्रस्कण्व' जीवन का सन्मार्ग

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥ ३॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ! **महिव्रत**=महनीय व्रतों व कर्मोंवाले प्रभो! आप **प्रस्कण्वस्य**=मुझ मेधावी की **हवम्**=पुकार को, प्रार्थना को **श्रुधी**=सुनिए। उसी प्रकार सुनिए **इव**=जिस प्रकार (क) **प्रियमेधवत्**=प्रियमेध की प्रार्थना को आप सुनते हैं। 'प्रिय है मेधा जिसको' उस ज्ञान की रुचिवाले, बुद्धि का सम्पादन करनेवाले व्यक्ति की प्रार्थना को प्रभु अवश्य सुनते हैं। (ख) **अत्रिवत्**=जिस प्रकार आप 'अत्रि' की प्रार्थना को सुनते हैं। 'अविद्यमानास्त्रयो यस्मिन्'-'काम-क्रोध व लोभ' ये तीनों, गीता के शब्दों में नरक के द्वार—जिसमें नहीं हैं, उस

व्यक्ति की प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है। (ग) **विरूपवत्**=जिस प्रकार आप विरूप की प्रार्थना को सुनते हैं। स्वास्थ्य, मन की निर्मलता व ज्ञान के द्वारा जिसका चेहरा चमकता है, उसकी प्रार्थना को प्रभु सुनते हैं। मैं भी विरूप बनूँ, जिससे मेरी प्रार्थना भी सुनी जाए। (घ) **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस की भाँति मेरी प्रार्थना को भी सुनिए। जो व्यक्ति आसमन्तात् उत्तम व्यायामादि को अपनाकर युक्ताहार-विहार से अपने शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रसमय बनाये रखता है, उसकी प्रार्थना को ही प्रभु सुनते हैं। स्वास्थ्य का ध्यान न करके, युक्ताहार-विहार न करते हुए हम यदि शरीर को सूखे काठ की भाँति जीर्णशक्ति कर लेते हैं तो हम प्रभु के प्रिय नहीं बन सकते। प्रभु के दिये हुए इस शरीर-मन्दिर को सुन्दर बनाये रखना आवश्यक है।

भावार्थ—हम 'प्रियमेध, अत्रि, विरूप व अङ्गिरस' बनें—इसी में हमारी प्रस्कण्वता= मेधाविता व समझदारी है। हम ऐसा बनेंगे तभी प्रभु के प्रिय होंगे। प्रभु हमारी प्रार्थना को, हमारे ऐसा बनने के लिए यत्नशील होने पर ही सुनेंगे। प्रभु 'जातवेद व महिव्रत' हैं। हम भी ज्ञानी व सुव्रती बनने का ध्यान करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

महिकेरु-प्रियमेध

महिकेरव ऊतये प्रियमेधा अहूषत।
राजन्तमध्वराणामग्निं शुक्रेण शोचिषा॥ ४॥

१. **महिकेरवः**=महनीय=उत्तम कर्मों को सुन्दरता से करनेवाले **प्रियमेधः**=प्रिय बुद्धि व यज्ञोंवाले लोग **अध्वराणाम्**=यज्ञों की **ऊतये**=रक्षा के लिए **शुक्रेण**=देदीप्यमान **शोचिषा**=तेजस्विता व ज्ञान की दीप्ति से **राजन्तम्**=चमकते हुए **अग्निम्**=सब उत्तम कर्मों को आगे ले-चलनेवाले उस प्रभु को **अहूषत**=पुकारते हैं। २. 'विश्वामित्र' यज्ञ करते थे तो 'राम' उस यज्ञ के रक्षण के लिए उपस्थित थे। यज्ञ न होता तो रक्षण किस वस्तु का होता? इसी प्रकार हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं तो उस प्रभु के उन यज्ञों के रक्षण के लिए पुकारने के पात्र होते हैं। ३. 'महिकेरु-प्रियमेध' लोग यज्ञ करते हैं और शुक्र-शोचि से देदीप्यमान प्रभु उस यज्ञ का रक्षण करते हैं। ४. मनुष्य का आदर्श यह है कि वह 'महिकेरु-प्रियमेध' हो—महनीय, उत्तम कर्मों को करनेवाला, बुद्धि को प्रियवस्तु समझनेवाला व यज्ञरुचि हो।

भावार्थ—हम यज्ञ करें, प्रभु हमारे यज्ञों के रक्षक हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

रक्षा-कीर्ति-अन्न व धन

घृताहवन सन्त्येमा उ षु श्रुधी गिरः।
याभिः कण्वस्य सूनवो हवन्तेऽवसे त्वा॥ ५॥

१. 'घृत' शब्द 'मन की निर्मलता व ज्ञान की दीप्ति' का वाचक है (घृ क्षरणदीप्तयोः)। वे प्रभु इस घृत से ही 'आहूयमान' होते हैं—पुकारे जाते हैं। प्रभु को पुकारने का अधिकार उसी व्यक्ति को होता है जो इस घृत का सम्पादन करता है। हे **घृताहवन**=घृत से आहूयमान प्रभो! **सन्त्य**=(सन संभक्तौ) उत्तमोत्तम पदार्थों को देनेवालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभो! **इमाः गिरः**=इन प्रार्थनावाणियों को **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **श्रुधि**=सुनिए, **याभिः**=जिन वाणियों से

कण्वस्य=मेधावी के **सूनवः**=पुत्र, अर्थात् अत्यन्त मेधावी 'प्रस्कण्व' लोग **त्वा**=आपको **अवसे**=रक्षा (protection), कीर्ति (fame), अन्न (food), व धन (riches) के लिए **हवन्ते**=पुकारते हैं। २. सम्पूर्ण अन्न व धन तथा रक्षण व यश प्रभु से ही प्राप्त होता है। प्रभु ने ज्ञान की वाणियों के द्वारा इनके साधन के लिए उपदेश दिया है। समझदार लोग अपने मनों को निर्मल करके इन ज्ञानीजनों की वाणियों से उन साधनों को जानकर क्रियान्वित करते हैं और वे प्रभु उन कर्मों के अनुसार हमें उन्नति के लिए आवश्यक उत्तमोत्तम पदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम जब वेदवाणियों में प्रतिपादित ज्ञान का अनुष्ठान करते हैं तब प्रभु हमें 'अन्न, धन, यश व रक्षण' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

चित्रश्रवस्तम अग्नि

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः।
शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोळ्हवे॥ ६॥

१. 'श्रवस्' शब्द के यश (Glory), धन (Wealth), स्तोत्र (A hymn) व प्रशस्त कर्म (Praise and worthy action) ये अर्थ हैं। हे **चित्रश्रवस्तम**=अद्भुत व अतिशयित (अत्यन्त) यश, धन, स्तोत्र व प्रशस्त कर्मोंवाले प्रभो! **पुरुप्रिय**=पालक-पूरक व प्रीणयिता प्रभो! **अग्ने**=सब अग्रगतियों के साधक प्रभो! **विक्षु त्वाम्**=सब प्राणियों में निवास करनेवाले आपको, जो आप **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान ज्ञानरश्मियोंवाले हैं, उन आपको **जन्तवः**=संसार में जन्म लेनेवाले लोग **हव्याय वोळ्हवे**=हव्य=उत्तम पदार्थों को प्राप्त कराने के लिए **हवन्ते**=पुकारते हैं। २. प्रभु सचमुच अद्भुत यशवाले हैं, उनकी महिमा का पूर्ण गायन किसी के लिए भी सम्भव नहीं। वे अनन्त धनवाले हैं, सब धनों को प्राप्त करानेवाले वे ही हैं। वेदवाणियों में उनके अद्भुत स्तोत्रों का प्रतिपादन हुआ है, उनकी कृतियाँ सचमुच अत्यन्त प्रशस्त हैं। देदीप्यमान ज्ञानरश्मियोंवाले वे प्रभु 'शोचिष्केश' हैं। ३. वे प्रभु हमें शरीर देते हैं। इस शरीर में वे प्रभु भी अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। सब प्रजाओं में उनका निवास है **'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्'**। ४. ये प्रभु ही जीवों को सब हव्य पदार्थ प्राप्त कराते हैं। इन पदार्थों को प्राप्त कराके वे हमारा 'पालन, पूरण व प्रीणन' कर रहे हैं।

भावार्थ—हम 'उस चित्रश्रवस्तम, शोचिष्केश, पुरुप्रिय-अग्नि' का आराधन करें। वे ही हमें सब हव्यपदार्थ प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ज्ञानयज्ञ द्वारा उपासना

नि त्वा होतारमृत्विजं दधिरे वसुवित्तमम्।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं विप्रा अग्ने दिविष्टिषु॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **दिविष्टिषु**=ज्ञानयज्ञों में **त्वा**=आपको **निदधिरे**=निश्चय से धारण करते हैं। प्रभु का उपासन विप्रलोग करते हैं, यह उपासन ज्ञानयज्ञों में चलता है। **दिव**=प्रकाश, **इष्टि**=यज्ञ। इस प्रकार ज्ञानयज्ञों में प्रभु का उपासन चलता है। २. उस प्रभु को जोकि (क) **होतारम्**=सब उत्तम

पदार्थों के देनेवाले हैं, सृष्टियज्ञ के होता हैं। (ख) **ऋत्विजम्**=ऋतु-ऋतु में, प्रत्येक समय उपासना के योग्य हैं। (ग) **वसुवित्तमम्**=सब उत्तम वसुओं के प्राप्त करानेवालों में सर्वाधिक हैं। वस्तुतः वे प्रभु ही निवास के लिए आवश्यक सब धनों को देते हैं। (घ) **श्रुत्कर्णम्**=हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाले हैं और हमारे कष्टों व पापों को विकीर्ण करनेवाले हैं। (ङ) **सप्रथस्ततम्**=अधिक-से-अधिक विस्तारवाले हैं अथवा अत्यन्त विस्तृत यशवाले हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ज्ञानयज्ञों में उस प्रभु का उपासन करते हैं जो 'होता, ऋत्विज, वसुवित्तम, श्रुत्कर्ण व सप्रथस्तम' हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सुतसोम आचार्य

आ त्वा विप्रा अचुच्यवुः सुतसोमा अभि प्रयः।
बृहद्भा बिभ्रतो हविरग्ने मर्ताय दाशुषे॥ ८॥

१. **अग्ने**=हे परमात्मन्! **विप्राः**=ज्ञानी लोग-विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग **त्वा**=आपको **अभि अचुच्यवुः**=जीवनकाल में और इस जीवन की समाप्ति पर प्राप्त करते हैं। कौन-से ज्ञानी लोग? (क) **सुतसोमाः**=जो अपने शरीर में सोम का उत्पादन करते हैं। भोजन से उत्पन्न सोमशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रखते हैं। (ख) जो **दाशुषे मर्ताय**= दाश्वान्— अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए **प्रयः**=अन्न को **बृहद्भाः**=उत्कृष्ट ज्ञानज्योति को तथा **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को **बिभ्रतः**=धारण करते हैं, अर्थात् वे आचार्य प्रभु को प्राप्त करते हैं जो उनके समीप आये हुए विद्यार्थियों को शरीर-धारण के लिए आवश्यक अन्न प्राप्त कराते हैं, ज्ञान की ज्योति देते हैं तथा उनके मन में दानपूर्वक अदन की वृत्ति को उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—अपने अन्दर शक्ति का उत्पादन व रक्षण करनेवाले आचार्य विद्यार्थियों को, 'अन्न, ज्ञान व त्यागपूर्वक उपभोग की वृत्ति' प्राप्त कराते हैं। ये आचार्य इस प्रकार कर्तव्यपालन करते हुए प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सोमपान से सहस् की उत्पत्ति

प्रातर्यावणः सहस्कृत सोमपेयाय सन्त्य।
इहाद्य दैव्यं जनं बर्हिरा सादया वसो॥ ९॥

१. हे **सहस्कृत**=सहस् के द्वारा अत्पन्न, अर्थात् जिन आपका प्रादुर्भाव हमारे हृदयों में तभी होता है जबकि हम 'सहस्' वाले बनते हैं। आनन्दमयकोश की शक्ति का नाम ही 'सहस्' है; प्रभु का दर्शन 'सहस्' से ही होता है। निर्बल व चिड़चिड़े पुरुष को प्रभु का प्रकाश प्राप्त नहीं होता। हे **सन्त्य**=उत्तमोत्तम साधनभूत वस्तुओं के प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **इह**=इस मानव-जीवन में **अद्य**=आज और अब **सोमपेयाय**=सोम का पालन करने के लिए, सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखने के लिए **दैव्यं जनम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों को **बर्हिः**=यज्ञों में **आसादय**=प्राप्त कराइए। वस्तुतः यज्ञों में लगे रहना ही वह उपाय है जोकि मनुष्यों को वासनाओं का शिकार नहीं होने देता और इस प्रकार उसे सोम का रक्षण करने के योग्य बनाता है। हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! आप **प्रातर्याव्णः**=प्रातः से ही कर्मों में

लगनेवाले इन लोगों को **बर्हिः आसादय**=यज्ञों में प्राप्त कराइए। यह कहा जा चुका है कि सोमरक्षण के लिए कर्मशीलता, यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहना आवश्यक है। उसी बात पर बल देने के लिए 'प्रातर्याव्णः' शब्द का प्रयोग है—प्रातः से ही कर्मों में व्यापृत हो जाना—कर्मों में लग जाना, इसलिए नितान्त आवश्यक है कि जरा खाली हुए और वासनाओं का आक्रमण हुआ। साथ ही प्रातःजागरण भी आवश्यक है। वेद में अन्यत्र कहा गया है कि प्रातः सोये हुओं के तेज को सूर्य अपहृत कर लेता है। ३. 'प्रातः उठना व यज्ञादि कर्मों में लगे रहना' ही मनुष्य को 'सोमपान' करनेवाला बनाता है। सोमपान से शक्ति व सहस् उत्पन्न होता है। इस सहस् की उत्पत्ति से हमें प्रभुदर्शन होता है।

भावार्थ—हम प्रातः उठें, कार्यों में लगे रहें (समारम्भ ही हमारा ध्येय हो)। सोम-रक्षण द्वारा सहस्वाले बनें। हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश होगा।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अग्निर्देवाः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

देव-सङ्ग

अर्वाञ्चं दैव्यं जनमग्ने यक्ष्व सहूतिभिः।
अयं सोमः सुदानवस्तं पात तिरोअह्न्यम्॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप कृपा करके **अर्वाञ्चम्**=(अर्वाग् अञ्चति) अन्तर्मुख यात्रावाले, बाह्य विषयों की ओर न जानेवाले **दैव्यं जनम्**=देववृत्ति के लोगों को **सहूतिभिः**=समान पुकारों से **यक्ष्व**=संगत कीजिए, अर्थात् आपकी कृपा से हमारे साथ अन्तर्मुख वृत्तिवाले देव लोगों का सम्पर्क हो और उन सब देववृत्ति के लोगों की एक ही पुकार व आराधना हो कि २. हे **सुदानवः**=उत्तम दानशील पुरुषो! उत्तमता से वासनाओं को विनष्ट करनेवाले (दा लवणे) पुरुषो! इस प्रकार जीवन का सुन्दर शोधन (दैप् शोधने) करनेवालो! **अयं सोमः**=यह सोम है—प्रभु की व्यवस्था के द्वारा तुम्हारे शरीरों में रसादि के क्रम से इसका उत्पादन हुआ है। **तम्**=उस सोम को **पात**=शरीर में ही इस प्रकार सुरक्षित करो कि **तिरः**=शरीर में ही अन्तर्हित हो जाए। **अह्न्यम्**=(अह व्याप्तौ) रुधिर में ही इस प्रकार व्याप्त हो जाए जैसेकि दही में घृत अथवा तिलों में तेल व्याप्त होता है। ३. वस्तुतः वासना की उष्णता ही सोम को रुधिर से पृथक् करती है। उसके अभाव में सोम शरीर में सुरक्षित रहेगा ही। इस वासना-विनाश के लिए आवश्यक है कि हमें सदा उत्तम पुरुषों का सङ्ग प्राप्त होता रहे, जिनसे हमें सदा 'सोमपान' की प्रेरणा प्राप्त होती रहे। यह सोमपान ही हमें उस 'सोम' प्रभु का दर्शन कराएगा।

भावार्थ—हमें सदा देवपुरुषों का सम्पर्क प्राप्त हो और हम सत्प्रेरणा को प्राप्त होते हुए वासनाओं से दूर रहकर सोमपान-क्षम बनें।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि हमें 'वसु, रुद्र व आदित्यों' का सम्पर्क प्राप्त हो (१)। देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देव बनें (२)। हम 'प्रियमेध, अत्रि, विरूप व अङ्गिरस्' हों (३)। हम यज्ञ करें, प्रभु हमारे यज्ञों के रक्षक हों (४)। वेदज्ञान के अनुसार हम अनुष्ठान करें और प्रभु से 'अन्न, धन, यश व रक्षण' प्राप्त करें (५)। प्रभु ही हमें सब हव्य पदार्थों के देनेवाले हैं (६)। ज्ञान-यज्ञों के द्वारा हम उस प्रभु का उपासन करें (७)। सुतसोम आचार्यों का सम्पर्क हमें प्राप्त हो (८)। हम प्रातः उठें और यज्ञों में प्रवृत्त हो जाएँ (९)। देवपुरुषों के सम्पर्क, सत्प्रेरणा को प्राप्त होते हुए सोमरक्षण के लिए यत्नशील हों (१०)। प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना के लिए सन्नद्ध हों—

[४६] षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अश्विनौ का स्तवन

एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः। स्तुषे वामश्विना बृहत्॥ १॥

१. मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व निश्चय करता है कि **एषा उ**=निश्चय से यह **उषाः**=उषःकाल **अपूर्व्या**='जो पहलेपहल ही उदय हुआ हो' ऐसी बात नहीं, अर्थात् जो सदा से प्रकट होता चला आ रहा है, ऐसा यह उषःकाल **व्युच्छति**=अन्धकार को दूर करता है। बाह्य अन्धकार को ही क्या, यह तो मेरे हृदयान्धकार को भी नष्ट करता है। यह उषःकाल **दिवः प्रिया**=प्रकाश के द्वारा सबकी प्रीति का हेतु है, अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश से सबके हृदयों को आनन्दित करता है। २. इस उषःकाल में मैं प्रस्कण्व हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपका **बृहत् स्तुषे**=खूब ही स्तवन करता हूँ। मैं प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना के लिए उद्यत होता हूँ।

भावार्थ—यह सदा प्रकट होनेवाली उषा बाह्य अन्धकार को दूर करती हुई मेरे हृदयान्धकार को भी दूर करे और मैं तैयार होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त होऊँ। प्राणसाधना मेरा प्रथम कर्तव्य हो।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दस्रा वसुविदा

या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्। धिया देवा वसुविदा॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मैं उषःकालों में जागकर उन प्राणापान का स्तवन करता हूँ **या**=जो **दस्रा**=सब रोग व वासनारूप दुःखों के नष्ट करनेवाले हैं। प्राणायाम के द्वारा रोग तो नष्ट होते ही हैं, वासनाओं का भी विनाश होता है, शरीर भी स्वस्थ होता है, मन भी। २. **सिन्धुमातरा**=ये प्राणापान शरीर के सारे नाड़ी-संस्थान में रुधिर में व्याप्त होकर प्रवाहित होनेवाले (स्यन्दते) रेतःकणों का निर्माण करनेवाले हैं। प्राणसाधना से ही रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। ३. **मनोतरा**=(मनसा तारयितारौ) ज्ञान की वृद्धि से ये हमें वासनाओं से तरानेवाले हैं। ये हमें वासनाओं में फँसने से बचाते हैं। ४. **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा ये प्राणापान **रयीणाम्**=धनों के **देवा**=देनेवाले हैं (देवो दानात्) तथा **वसुविदा**=उत्तम निवासस्थानभूत शरीर को प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना के द्वारा मनुष्य की क्रियाशक्ति व ज्ञानशक्ति बढ़ती है। इनसे जहाँ यह उत्तम धनों का संग्रह कर पाता है, वहाँ इस शरीर को नीरोग व सक्षम बनाकर अपने निवास को सुन्दर व स्पृहणीय बना लेता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से रोग नष्ट होते हैं, वासनाओं का विलय होता है। हमारा शरीर में निवास सुन्दर होता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्वर्ग में रथ का विचरण

वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि। यद्वां रथो विभिष्पतात्॥ ३॥

१. **यत्**=जब **वाम्**=हे अश्विदेवो! आपका **रथः**=शरीररूपी रथ **विभिः**=इन्द्रियाश्वों से

जुता हुआ **जूर्णायाम्**=अत्यन्त स्तुत **अधिविष्टपि**=स्वर्गलोक में **पतात्**=गति करता है तब **वाम्**=आपकी **ककुहासः**=स्तुतियाँ **वच्यन्ते**=उच्चरित होती हैं। २. गतमन्त्र में कहा था कि ये प्राणापान 'दस्र' हैं, आधि-व्याधियों को समाप्त करनेवाले हैं। मनोतरा=ज्ञान के द्वारा वासनाओं से तरानेवाले हैं, धनों के प्राप्त करानेवाले हैं (धिया रयीणां देवा)। एवं ये प्राणापान शरीर व मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराके हमारे इस निवास को स्वर्ग-सा बना देते हैं। उस स्वर्ग में हमारा यह शरीररूप रथ इन्द्रियाश्वों से विचर रहा होता है। यह स्वर्ग-निवास स्तुत्य व प्रशंसनीय तो होता ही है (जूर्णायाम्)। ३. 'इस स्वर्ग में रहते हुए जीव को गर्व न हो जाए' इस दृष्टिकोण से कहते हैं कि हे प्राणापानो! आपकी स्तुतियाँ उच्चरित होती हैं, अर्थात् आप निरन्तर प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हो ताकि यह हमें भूल न जाए कि यह सब-कुछ प्रभुकृपा का ही परिणाम है। प्रभुकृपा से ही हम इस पार्थिव निवास को स्वर्ग बना पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में निवास स्वर्गोपम बनता है, परन्तु उस स्वर्ग का हमें गर्व नहीं हो जाता।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य का रक्षण व मार्गदर्शन

ह॒विषा॑ जा॒रो अ॒पां पिप॑र्ति॒ पपु॑रिर्नरा। पि॒ता कुट॑स्य चर्ष॒णिः॥ ४॥

१. हे **नरा**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! जब हम आपकी साधना करते हैं तब यह **अपां जारः**=जलों को, वाष्पीभूत करके उड़ाने के द्वारा, जीर्ण करता हुआ सूर्य **हविषा**=अग्नि में आहुतियों के द्वारा **पिपर्ति**=प्रजा का पालन करता है। प्राणसाधना से हम विलास की वृत्ति से ऊपर उठकर यज्ञिय वृत्तिवाले बनते हैं। इन यज्ञों के करने पर ये हविः-पदार्थ छोटे-छोटे कणों में विभक्त होकर सूर्य तक पहुँचता है [**अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**—मनु०]। वहाँ ये सूक्ष्म कण वृष्टि-बिन्दुओं को केन्द्र बनकर बरसने पर पौष्टिक अन्न के उत्पादन का हेतु होते हैं। एवं यह सूर्य हवि के द्वारा हमारा पालन करता है। इसी से यह **पपुरिः**=पालन व पूरण करनेवाला कहलाता है। २. यह सूर्य **पिता**=सबका रक्षक है और **कुटस्य**=मार्ग की कुटिलता का **चर्षणिः**=दिखानेवाला है और इस प्रकार उसमें संलिप्त होने से हमें बचानेवाला है, परन्तु यह सब होता तभी है जबकि हम प्राणों की साधना करते हैं; उसके अभाव में हम सूर्यप्रकाश में भी कुटिल मार्ग से ही चलते रहते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक के लिए सूर्य रक्षा करनेवाला होता है तथा उसे गन्तव्य मार्ग से भटकने नहीं देता।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नासत्या-मतवचसा

आ॒दा॒रो वां॑ मती॒नां नास॑त्या मतवचसा। पा॒तं सोम॑स्य धृष्णु॒या॥ ५॥

१. हे **नासत्या**=(न असत्या) जिनकी साधना से जीवन में असत्य नहीं रहता, **मतवचसा**=मननीय वचनोंवाले, अर्थात् जिनकी साधना से प्रत्येक शब्द ज्ञानपूर्वक उच्चरित होता है, ऐसे प्राणापानो! आप **धृष्णुया**=वासनारूप शत्रुओं के तथा रोगों के धर्षण के दृष्टिकोण से **सोमस्य पातम्**=सोम का रक्षण करो। उस सोम का, जोकि **वाम्**=आपकी **मतीनाम्**=बुद्धियों का **आदारः**=प्रेरक है (प्रेरकः—सा०, दृ आदरे)। २. प्राणसाधना से मन की पवित्रता होकर मन

में सत्य का ही निवास होता है, इससे ये प्राणापान 'नासत्या' हैं। इस साधना से हमारा ज्ञान निर्मल होता है और हमारे वचन ज्ञानपूर्वक ही बोले जाते हैं, अतः प्राणापान को मन्त्र में 'मतवचसा' कहा गया है। ३. प्राणसाधना से होनेवाले सब लाभ सोमरक्षण के द्वारा ही होते हैं। प्राणसाधना से सोमरक्षण होता है। यह सुरक्षित सोम रोग व वासनारूप शत्रुओं का धर्षण करता है और बुद्धियों को प्रेरित करता है। सोमरक्षण से बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय को भी ग्रहण करने लगती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम का रक्षण होने पर हमारे (क) मनों में सत्य होगा, (ख) वाणी में ज्ञानपूर्ण वचन होंगे, तथा (ग) रोग व वासनाओं का धर्षण होकर बुद्धियाँ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयों का भी ग्रहण करनेवाली होंगी।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक अन्न

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम्॥ ६॥

१. पाँचवें मन्त्र के अनुसार सोमपान के लिए आवश्यक है कि हमारा अन्न सात्त्विक हो, अतः उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अस्मे**=हमारे लिए **ताम् इषम्**=उस अन्न को **रासाथाम्**=दीजिए **या**=जो इट्=अन्न **नः**=हमें **पीपरत्**=वासनाओं से पार लगानेवाला हो (पारयेत्)। जिस अन्न से हममें सात्त्विक भाव जागरित हों, अर्थात् हमारा आहार ऐसा शुद्ध हो कि हमारा अन्तःकरण भी शुद्ध बने। हम इस बात को भूलें नहीं कि 'जैसा अन्न, वैसा मन', 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'। २. हमें वह इट्=अन्न प्राप्त कराइए जो **ज्योतिष्मती**=बुद्धि को सात्त्विक व ज्योतिर्मय बनाये, **तमः तिरः**=हमारे सब अन्धकार को तिरोहित करनेवाला हो। सात्त्विक अन्न के सेवन से बुद्धि भी सात्त्विक हो, जिससे हमारे जीवन में ज्ञान का प्रकाश-ही-प्रकाश हो, वहाँ अन्धकार का नामावशेष भी न रहे।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न के सेवन से हम वासनाओं से पार हो जाते हैं और सात्त्विक बुद्धिप्रकाश को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नाव या रथ

आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे। युञ्जाथामश्विना रथम्॥ ७॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप हमारी बुद्धियों को सूक्ष्म तो बनाते ही हो, आप **मतीनां नावा**=इन बुद्धियों की नौका के साथ **नः**=हमें **आयातम्**=प्राप्त होओ। आपकी कृपा से बुद्धि हमारे लिए नौका के रूप में हो जोकि **पाराय गन्तवे**=इस भवसागर से पार जाने के लिए हमारा साधन बने। संसार समुद्र है तो प्रभु ने यह बुद्धि हमें नाव के रूप में दी है। प्राणसाधना से यह नाव ठीक-ठाक बनी रहेगी, तो हम भवसागर से अवश्य ही पार उतर पाएँगे। २. हे प्राणापानो! **रथं युञ्जाथाम्**=शरीररूप रथ को इन्द्रियाश्वों से युक्त करो। प्राणसाधना से इस शरीररूप रथ में उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों का संयोजन होता है और हम इस जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाते हैं। जीवनयात्रा की पूर्णता के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है और प्राणसाधना के बिना शक्ति व क्रियाशीलता सम्भव नहीं होती। एवं ये अश्विनौ इस शरीर को भवार्णव के तैरने के लिए नौका का रूप देते हैं तो इस संसार-कान्तार को पार करने के

लिए रथ का।

भावार्थ—हमारा यह शरीर एक सुन्दर नाव के समान हो जो हमें भवसागर से पार उतारनेवाली हो तथा यह शरीर वह रथ हो जो हमारी जीवन-यात्रा की पूर्ति में सहायक हो।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान का विस्तृत चप्पू

अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः॥ ८॥

१. हे अश्विदेवो! **वाम्**=आपका **रथः**=यह शरीररूपी रथ **सिन्धूनां तीर्थे**=समुद्रों के अवतारण प्रदेश में **दिवः**=ज्ञान का **पृथु**=विस्तृत **अरित्रम्**=चप्पू है, अर्थात् प्राणसाधना से मनुष्य की बुद्धि सूक्ष्म व विस्तृत होती है और यह बुद्धि ही संसार-समुद्र को तैरने के लिए ज्ञान का विस्तृत चप्पू बनती है तथा हमारी जीवन-नौका को भवसिन्धु से पार लगाती है। स्थल में जो रथ था, जल में वह नौका बन जाती है। इन्द्रियाँ इस नाव की चप्पू हैं। २. इस बुद्धि व ज्ञान के रहस्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **इन्दवः**=सोमकण **धिया**= बुद्धि से **युयुज्रे**=युक्त होते हैं, अर्थात् ये सोमकण ही सुरक्षित होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं और सूक्ष्मबुद्धि को उत्पन्न करते हैं। 'योगाङ्गों' के अनुष्ठान से विश्लेषणात्मक बुद्धि उत्पन्न होती है और हमारा ज्ञान चमक उठता है, एवं योगाङ्गों के अनुष्ठान से सोम का भी रक्षण होता है और सोम का रक्षण होकर दीप्त बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। प्राणायाम से सोमरक्षण तथा सोमरक्षण से बुद्धि की उत्पत्ति—यह क्रम है। इस सूक्ष्म बुद्धि से यात्रा की पूर्ति होती है, चूँकि यह प्रभुदर्शन का कारण बनती है। प्रभुदर्शन के बाद जीवन की आवश्यकता नहीं रह जाती, अतः मनुष्य का जीवन सार्थक हो जाता है।

भावार्थ—अश्विनीदेवों की साधना मानवजीवन-नौका के लिए ज्ञान के विस्तृत चप्पू को प्राप्त कराती है। प्राणसाधना से सोमरक्षण होता है और सोमरक्षण से ज्ञान की दीप्ति।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अपरा व पराविद्या

दिवस्कण्वास इन्दवो वसु सिन्धूनां पदे। स्वं वव्रिं कुह धित्सथः॥ ९॥

१. **कण्वासः**=कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करनेवाले मेधावी पुरुषो! **इन्दवः**= सोमकणों के रक्षण से शक्तिशाली बननेवाले हे पुरुषो! **दिवः वसु**=ज्ञान के धन को तथा **स्वं वव्रिम्**=आत्मा के वरणीय स्वरूप को **सिन्धूनां पदे**=ज्ञान के समुद्रभूत आचार्यों के (तपोऽतिष्ठन्तप्यमानः समुद्रे) चरणों में बैठकर **कुह**=किस समय व कहाँ **धित्सथः**=धारण करना चाहते हो। २. कण्व एवं इन्दु पुरुष ही ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त किया करते हैं। 'कण्व' शब्द मेधाविता व कण-कण करके संग्रह की श्रमशीलता का संकेत करता है और 'इन्दु' शब्द सोम के रक्षण का भाव दे रहा है। ये सब बातें ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। ३. 'अपरा विद्या' का संकेत 'दिवः वसु' से दिया गया है और 'परा विद्या' का प्रतिपादन 'स्वं वव्रिम्' शब्द प्रकट कर रहे हैं। यह दोनों प्रकार का ज्ञान उन आचार्यों के चरणों में विनीततापूर्वक बैठकर प्राप्त होता है जो स्वयं ज्ञान के समुद्र हैं। ४. न जाने कब प्रभुकृपा होगी और हम इस ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करने में प्रवृत्त होंगे? इस प्रश्न में ही ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति की प्रबल उत्कण्ठा की भावना निहित है। इस प्रश्न का उत्तर अगले मन्त्र में दिया गया है।

भावार्थ—हम कण्व व इन्दु बनकर, आचार्य-चरणों में बैठकर अपरा व पराविद्या का अध्ययन करें।

ऋषि:—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ब्रह्मदर्शन किसे?

अभूदु भा उ अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः। व्यख्यज्जिह्वयासितः॥ १०॥

१. गतमन्त्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **उ**=निश्चय से **अंशवे**=(one who divides) जो बाँटकर खाता है, उसके लिए **भाः**=ज्ञान की दीप्ति **अभूत् उ**=होती है। ज्ञानप्राप्ति के लिए सबसे प्रथम साधन 'बाँटकर खाना' है। असुर वे हैं जो स्वयं सारा खा जाते हैं, **'स्वेष्वास्येषु जुह्वतश्चेरुः'**=अपने ही मुखों में आहुति देते हुए विचरते हैं। इसके विपरीत 'देव' देनेवाले होते हैं। देवों को ही ज्ञान-ज्योति प्राप्त होती है, असुरों को नहीं। २. **सूर्यः**=(सरति) जो निष्कामभाव से अपने नियत कर्मों के पालन में तत्पर रहते हैं, कभी अकर्मण्य नहीं होते, वे ही व्यक्ति **हिरण्यं प्रति**=हितरमणीय ज्ञान के प्रति अग्रसर होते हैं। ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम सूर्य की भाँति क्रियाशील हों, कभी अकर्मण्य न हो जाएँ। ३. **जिह्वया अ-सितः**=जो पुरुष जिह्वा से बद्ध नहीं है, अर्थात् जिसे जिह्वा का व्यसन नहीं लगा, वही व्यक्ति **व्यख्यत्**=(प्रकाशितवान्) अपने हृदयदेश में उस प्रभु को प्रकाशित करता है। इन्द्रियों के व्यसनों से ऊपर उठा हुआ मनुष्य ही प्रभु के प्रकाश को देख पाता है।

भावार्थ—ज्ञानप्राप्ति व ब्रह्मदर्शन का अधिकारी वह होता है जो (क) बाँटकर खाता है, यज्ञशेष का सेवन करता है, (ख) निष्कामभाव से कर्तव्यकर्म में लगा रहता है, तथा (ग) जिसे जिह्वा का चस्का नहीं लगा, अर्थात् जो जितेन्द्रिय है।

ऋषि:—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ऋत का मार्ग

अभूदु पारमेतवे पन्था ऋतस्य साधुया। अदर्शि वि स्रुतिर्दिवः॥ ११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'बाँटकर खाना' निष्कामभाव से कर्तव्यकर्म में लगे रहना तथा जिह्वा आदि के विषयों में न फँसना'—यह मार्ग ही 'ऋत का मार्ग' है। **ऋतस्य पन्थाः**=ऋत का यह मार्ग **साधुया**=समीचीनता से **पारम् एतवे**=संसार-सागर से पार जाने के लिए **अभूत् उ**=निश्चय से होता है। इस मार्ग पर चलते हुए मनुष्य संसार-सागर से पार हो जाता है। २. इस मार्ग पर चलने से **दिवः**=प्रकाश की **विस्रुतिः**=(प्रसृता दीप्तिः-सा०) विस्तृत दीप्ति **वि अदर्शि**=दीखती है, अर्थात् ऋत के मार्ग पर चलने से ज्ञान की ज्योति भी बढ़ती है।

भावार्थ—हम ऋत के मार्ग पर चलें। यह मार्ग हमें जन्म-मरण के चक्र से बचानेवाला होगा और हमारी ज्ञान की दीप्ति को बढ़ाएगा।

ऋषि:—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग का अलंकरण

तत्तदिदश्विनोरवो जरिता प्रति भूषति। मदे सोमस्य पिप्रतोः॥ १२॥

१. **जरिता**=स्तोता **मदे**=हर्ष के निमित्त **सोमस्य पिप्रतोः**=(पूरयतो) सोमशक्ति का पूरण करनेवाले **अश्विनोः**=प्राणापानों के **तत् तत् इत्**=निश्चय से उस-उस **अवः**=रक्षण को

प्रतिभूषति=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सुभूषित करता है। २. प्रभु का स्तवन करनेवाला प्राणसाधना करता है। यह प्राणसाधना शरीर में सोम का रक्षण का कारण बनती है। सोमरक्षण से एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्ति से सुभूषित हो उठता है।

भावार्थ—प्राणापान अङ्ग-प्रत्यङ्ग का रक्षण करते हैं, जिससे प्रत्येक अङ्ग शक्ति से अलंकृत हो उठता है और स्तोता को एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शम का भावन

वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा। मनुष्वच्छंभू आ गतम्॥ १३॥

१. **शम्भू**=शान्ति व कल्याण के उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **मनुष्वत्**=(मनौ इव) विचारशील की भाँति **विवस्वति**=परिचरण व उपासना करनेवाले यजमान में **वावसाना**=निवास करनेवाले आप **सोमस्य पीत्या**=सोम के पान हेतु से तथा **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के हेतु से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ। २. 'मनुष्वत् तथा विवस्वति'—ये शब्द इस भाव को सुव्यक्त कर रहे हैं कि प्राणसाधनावाला मनुष्य 'ज्ञानसम्पन्न व उपासनावाला' बनता ही है। ३. 'शम्भू' शब्द प्राणसाधना से रोगों व वासनाओं के शान्त होने का संकेत कर रहा है। ४. प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है (सोमस्य पीत्या) और ज्ञान की वृद्धि होती है (गिरा)।

भावार्थ—प्राणसाधना से रोग व वासनाएँ शान्त होती हैं, ज्ञान व उपासना की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

श्री-ऋत+अक्तु

युवोरुषा अनु श्रियं परिज्मनोरुपाचरत्। ऋता वनथो अक्तुभिः॥ १४॥

१. हे प्राणापानो! **परिज्मनोः युवोः**=शरीर में सर्वत्र गति करनेवाले आपके **अनु**=अनुपात में ही **उषाः**=उषःकाल **श्रियम्**=शोभा को **उपाचरत्**=समीपता से प्राप्त होता है। उषःकाल में जागरण स्वयं मनुष्य के लिए हितकर है, उसे स्वस्थ बनानेवाला एवं तेजस्विता प्राप्त करानेवाला है, परन्तु यह सब-कुछ होता तभी है जबकि मनुष्य प्राणसाधना करता है। २. हे प्राणापानो! आप **अक्तुभिः**=ज्ञान की रश्मियों के साथ **ऋता**=सत्यों व यज्ञों का **वनथः**=सम्भजन—सेवन करते हो अथवा (वन्=win) विजय करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर 'श्री'-सम्पन्न होता है, मन 'ऋत'=सत्य से युक्त होता है और मस्तिष्क 'अक्तु' ज्ञान की रश्मियों से परिपूर्ण होता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अनिन्दित रक्षण

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः॥ १५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **उभा**=दोनों **पिबतम्**=सोम का पान करो। प्राणापान की साधना से सोम का शरीर में ही व्यापन होता है। २. **उभा**=आप दोनों **नः**=हमारे लिए **शर्म**=कल्याण व सुख को **यच्छतम्**=प्रदान करो। वस्तुतः प्राणसाधना आधि-व्याधियों से मुक्त करके हमारा कल्याण करती है। ३. हे प्राणापानो! आप हमारे लिए **अविद्रियाभिः**=अनिन्दित **ऊतिभिः**=रक्षणों से युक्त होओ। प्राणापान का रक्षण हमारे लिए सदा प्रशस्त हो। यह रक्षण सोम के पान से ही होता है। सोम की रक्षा से ही शरीर नीरोग व मन निर्मल बनता है।

भावार्थ—प्राणायाम से (क) सोमरक्षण होता है, (ख) नीरोगता व निर्मलता के द्वारा कल्याण होता है, (ग) अनिन्दित रक्षण प्राप्त होता है।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि हम उषःकाल में ही तैयार होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों (१)। ये प्राण रोगों को नष्ट कर हमारे निवास को सुन्दर बनाते हैं (२)। प्राणसाधना से शरीर में हमारा निवास स्वर्गोपम बनता है (३)। प्राणसाधक के लिए सूर्य रक्षा करनेवाला होता है (४)। प्राणसाधना से हमारे मनों में सत्य होता है और वाणी में ज्ञानपूर्ण वचन (५)। प्राणसाधक के लिए आवश्यक है कि वह सात्त्विक अन्न का ही सेवन करे (६)। तब हमारा यह शरीर एक नाव व रथ के समान होगा (७)। इस नाव के चप्पू दीप्यमान ज्ञान के बने होंगे (८)। अपरा व पराविद्या के अध्ययन की हममें उत्कण्ठा होगी (९)। इन्द्रियविषयों से मुक्त होकर हम प्रभुदर्शन के योग्य होंगे (१०)। हम ऋत के मार्ग से ही चलेंगे (११)। हमारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्ति से सुभूषित होगा (१२)। ज्ञान व उपासना की हममें वृद्धि होगी (१३)। हमारा शरीर 'श्री'-सम्पन्न, मन सत्य से युक्त तथा मस्तिष्क ज्ञानरश्मि-सम्पन्न होगा (१४)। सोमरक्षण के द्वारा हमें अनिन्दित रक्षण प्राप्त होगा (१५)। 'यह सोम मधुमत्तम है'—इस वर्णन से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

॥ इति प्रथमाष्टके तृतीयोऽध्यायः॥

अथ प्रथमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृत्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मधुमत्तम सोम

अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोम ऋतावृधा।
तमश्विना पिबतं तिरोअह्न्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका—आपके ही द्वारा जिसका रक्षण होता है, वह **मधुमत्तमः**=अत्यन्त माधुर्यवाला **सोमः**=सोम—वीर्यशक्ति **सुतः**=उत्पन्न हुई है। २. **तम्**=उस सोम को **ऋतावृधा**=सोम के रक्षण के द्वारा ऋत का वर्धन करनेवाले अश्विदेवो! **पिबतम्**=इस प्रकार शरीर में ही पीने—व्याप्त करने का प्रयत्न करो कि **तिरः अह्न्यम्**=यह इस प्रकार रुधिर में तिरोहित हो जाए जैसे तिलों में तेल अथवा दही में घृत (अह व्याप्तौ)। यह सोम सारे रुधिर में व्याप्त हुआ-हुआ हो। ३. हे अश्विदेवो! आप **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **रत्नानि धत्तम्**=रत्नों का धारण कीजिए। वस्तुतः प्राणसाधना में तत्पर पुरुष ही सोम का रक्षण कर पाता है। यह सोम उसके जीवन के लिए मधुमत्तम होता है और सब रमणीय शक्तियों का पोषण करनेवाला होता है। इस प्रकार प्राणापान दाश्वान् के प्रति रत्नों का धारण करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—जीवन को रमणीय व मधुर बनाने के लिए प्राणसाधना द्वारा सोम का रक्षण आवश्यक है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृत्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

त्रिवन्धुर रथ

त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा रथेना यातमश्विना।
कण्वासो वां ब्रह्म कृण्वन्त्यध्वरे तेषां सु शृणुतं हवम्॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **त्रिवन्धुरेण**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि='घोड़े, लगाम व सारथि'—ये तीनों जिसमें बड़े सुन्दर हैं, **त्रिवृता**=धर्म, अर्थ और काम—तीनों में समरूप से प्रवृत्त होनेवाले **सुपेशसा**=स्वास्थ्य व व्यायाम के कारण सुन्दर रूपवाले **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **आयातम्**=आप हमें प्राप्त होओ। प्राणसाधना से ही वस्तुतः 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' तीनों बड़े सुन्दर बनते हैं, मानसवृत्ति धर्मपूर्वक ही धन कमाने व उचित आनन्दों को ही प्राप्त करने की बनी रहती है तथा नीरोगता व स्वास्थ्य से इस शरीर-रथ का सौन्दर्य बना रहता है। २. **कण्वासः**=मेधावी लोग **वाम्**=आप दोनों के **ब्रह्म**=स्तोत्रों को **कृण्वन्ति**=करते हैं। प्राणापान की महिमा का गायन करते हुए वे इनकी साधना में प्रवृत्त होते हैं। ३. हे प्राणापानो! आप **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ के निमित्त **तेषाम्**=उन उपासकों व साधकों की **हवम्**=पुकार को **सुशृणुतम्**=उत्तमता से सुनिए, अर्थात् आप उनके जीवनों को यज्ञमय बनाने में सहायक होओ।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर-रथ 'त्रिवन्धुर, त्रिवृत् व सुपेश' बनता है। प्राणसाधना जीवन को यज्ञमय बनाती है, अर्थात् यह साधक इस शरीर के लिए कोई क्रूर कर्म नहीं करता।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

ऋतावृध-प्राणापान

अश्विना मधुमत्तमं पातं सोममृतावृधा ।
अथाद्य दस्रा वसु बिभ्रता रथे दाश्वांसमुप गच्छतम्॥ ३॥

१. हे **ऋतावृधा**=ऋत का—यज्ञ का व जो कुछ ठीक है, उसका वर्धन करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मधुमत्तमम्**=हमारे जीवनों को अत्यन्त मधुर बनानेवाले **सोमम्**=सोम का, वीर्यशक्ति का **पातम्**=पान—रक्षण करो। आपकी साधना से सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होकर हमारा जीवन माधुर्यमय बने। २. हे **दस्रा**=सब रोगों व बुराइयों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **अथ**=इस सोमपान के बाद **अद्य**=अब **रथे**=इस शरीररूप रथ में **वसु**=निवास के लिए सब आवश्यक धनों को **बिभ्रता**=धारण करते हुए आप **दाश्वांसम्**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले को, अर्थात् अपने उपासक व साधक को **उपगच्छतम्**=समीपता से प्राप्त होओ। प्राणापान की साधना शरीर में निवास को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक सब वसुओं=धनों को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होकर जीवन मधुर बनता है तथा शरीररूपी रथ में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

कण्व-सुतसोम-अभिद्यु

त्रिषधस्थे बर्हिषि विश्ववेदसा मध्वा यज्ञं मिमिक्षतम्।
कण्वासो वां सुतसोमा अभिद्यवो युवां हवन्ते अश्विना॥ ४॥

१. **विश्ववेदसा**=हे सम्पूर्ण धनोंवाले **अश्विना**=अश्विनी देवो=प्राणापानो! **त्रिषधस्थे**=जिसमें 'प्रकृति, जीव व परमात्मा'—तीनों साथ-साथ हैं, अर्थात् जो तीनों का ध्यान करता है, उस **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय के होने पर **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=जीवन-यज्ञ को **मिमिक्षतम्**=आप सिक्त कर दीजिए, अर्थात् प्राणसाधना से हमारा हृदय वासनाशून्य हो (बर्हिषि)। उसमें प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का विचार हो, धर्मार्थ-काम—तीनों की ओर यह समरूप से प्रवृत्त हो (त्रिषधस्थे), इस प्रकार हमारा जीवन मार्धुमय हो (मध्व)। २. **कण्वासः**=कण-कण करके ज्ञान का संचय करनेवाले मेधावी लोग, **सुतसोमाः**=सोम-शक्ति का उत्पादन करनेवाले **अभिद्यवः**=प्रकाश की ओर चलनेवाले लोग **वाम्**=आपको **युवाम्**=आपको ही **हवन्ते**=पुकारते हैं, अर्थात् प्राणसाधना से ही मनुष्य 'कण्व, सुतसोम व अभिद्यु' बन पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर हमारे जीवन में धर्मार्थ-काम तीनों साथ-साथ रहते हैं। हम बुद्धिमान्, शक्तिसम्पन्न व प्रकाशमय जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृत्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

शुभ के रक्षक प्राणापान

याभिः कण्वमभिष्टिभिः प्रावतं युवमश्विना।
ताभिः ष्व१स्माँ अवतं शुभस्पती पातं सोममृतावृधा॥ ५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **याभिः**=जिन **अभिष्टिभिः**=अपेक्षित रक्षणों से अथवा रोगादि पर आक्रमणों के द्वारा **कण्वम्**=मेधावी पुरुष को **प्रावतम्**=सुरक्षित करते हो **ताभिः**=उन्हीं रक्षणों से **अस्मान्**=हमें भी **सु अवतम्**=खूब अच्छी प्रकार सुरक्षित करो। एक मेधावी पुरुष प्राणसाधना के महत्त्व को समझता है और उसमें प्रवृत्त होता है। हम भी मेधावी बनकर इस प्राणसाधना में प्रवृत्त हों, प्राणसाधना के महत्त्व को समझें और उसका अनुष्ठान करें। २. हे **शुभस्पती**=जीवन में सब अच्छाइयों का रक्षण करनेवाले प्राणापानो! **ऋतावृधा**=ऋत का—जो कुछ ठीक है उसका वर्धन करनेवाले आप **सोमं पातम्**=सोम का रक्षण कीजिए। वस्तुतः शरीर में इस सोम (शक्ति) के रक्षण से ही सब अच्छाइयाँ सुरक्षित होती हैं, इसी से हमारे जीवनों में ऋत का वर्धन होता है।

भावार्थ—प्राणापान ही हमारा रक्षण करते हैं और शक्ति की ऊर्ध्वगति के द्वारा सब शुभों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृत्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रसाद व प्रकाश

सु॒दासे॑ दस्रा॒ वसु॒ बिभ्र॑ता॒ रथे॒ पृक्षो॑ वहतमश्विना।
र॒यिं स॑मु॒द्रादु॒त वा॑ दि॒वस्पर्य॒स्मे ध॑त्तं पुरु॒स्पृह॑म्॥ ६॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **दस्रा**=आप दोनों सब बुराइयों का विनाश करनेवाले हो। **रथे**=रथ में **वसु बिभ्रता**=निवास के लिए आवश्यक धनों को धारण करते हुए आप **सुदासे**=उत्तम तथा गतिशील पुरुष में **पृक्षः**=प्रभु-सम्पर्क के कारणभूत अन्न को **वहतम्**=प्राप्त कराइए। सात्त्विक अन्न से बुद्धि सात्त्विक होती है और सात्त्विक बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है एवं यह सात्त्विक अन्न 'पृक्षः' (सम्पर्क का कारणभूत) कहलाता है। २. हे प्राणापानो! आप **समुद्रात्**=सदा आनन्द से युक्त हृदय से **उत वा**=तथा **दिवस्परि**=मस्तिष्करूप द्युलोक से **पुरुस्पृहम्**=पालन व पूरण करनेवाले तथा स्पृहणीय **रयिम्**=धन को **अस्मे**=हमारे लिए **धत्तम्**=धारण कीजिए। हृदय का धन 'प्रसाद' व 'नैर्मल्य' है तथा मस्तिष्क का धन 'ज्ञान' व 'प्रकाश' है। प्राणायाम की साधना से यह मन:प्रसाद तथा मस्तिष्क का प्रकाश—दोनों ही प्राप्त होते हैं। ३. यदि प्राणसाधना के साथ सात्त्विक अन्न का सेवन जुड़ जाता है तो हमारा हृदय निर्मल होकर प्रसादयुक्त हो जाता है और मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से चमक उठता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में चलें, सात्त्विक अन्न का सेवन करें, इससे हमारे हृदय प्रसन्न होंगे और मस्तिष्क चमक उठेंगे।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सूर्योदय के साथ प्राणसाधना

यन्ना॑सत्या परा॒वति॒ यद्वा॒ स्थो अधि॑ तु॒र्वशे॑।
अतो॒ रथे॑न सु॒वृता॑ न॒ आ ग॑तं सा॒कं सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑॥ ७॥

१. हे **नासत्या**=जिनके कारण असत्य नहीं रहता, ऐसे प्राणापानो! **यत्**=यदि **परावति**=दूर

देश में **स्थः**=हो, **यत् वा**=या **तुर्वशे**=(अन्तिकनाम—नि० २।१६) समीपता में **अधिस्थः**=आधिक्येन हो, अति समीप हो, अर्थात् आप चाहे दूर हों चाहे पास **अतः**=उस स्थान से **सुवृता**=शोभन वर्तनवाले, अर्थात् प्रत्येक सुन्दर कर्म के अधिष्ठानभूत **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **नः**=हमें **सूर्यस्य रश्मिभिः साकम्**=सूर्योदय के साथ ही **आगतम्**=प्राप्त होओ। २. यहाँ यह स्पष्ट है कि सूर्योदय के साथ ही प्राणसाधना करना आवश्यक है; वह प्राणायाम के लिए सर्वोत्तम समय है। ३. 'प्राणों का दूर व अधिक-से-अधिक समीप होना'—इस बात का सङ्केत कर रहा है कि 'रेचक' प्राणायाम में हम प्राणों को दूर-से-दूर फेंकते हैं और 'पूरक' में उसे अधिक-से-अधिक समीप प्राप्त कराते हैं। ४. इस प्राणायाम का मुख्य लाभ शरीररूप रथ का शोभन वर्तन, अर्थात् उत्तमता से युक्त होना है। प्राणसाधना अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सशक्त व सुडौल बनाती है।

भावार्थ—सूर्योदय के साथ ही प्राणसाधना करते हुए हम शरीररूप रथ को सुन्दर बनानेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृत्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुकृत्-सुदानु

अर्वाञ्चा वां सप्तयोऽध्वरश्रियो वहन्तु सवनेदुप।
इषं पृञ्चन्ता सुकृते सुदानव आ बर्हिः सीदतं नरा॥ ८॥

१. **अध्वरश्रियः**=यज्ञों की शोभावाले **सप्तयः**=इन्द्रियरूप अश्व **वाम्**=आप दोनों प्राणापानों को **सवना इत्**=निश्चय से यज्ञों के **अर्वाञ्चा**=अभिमुख **उपवहन्तु**=समीपता से प्राप्त कराएँ, अर्थात् प्राणसाधना के द्वारा इन्द्रियरूप अश्व सदा हिंसाशून्य, अतएव उत्तम कर्मों में व्याप्त रहें। २. **नरा**=साधकों को अग्रस्थान में प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! आप **सुकृते**=उत्तम कर्म करनेवाले **सुदानवे**=उत्तम दानशील पुरुष के लिए **इषं पृञ्चन्ता**=उत्तम अन्न का सम्पर्क करते हुए **बर्हिः**=यज्ञ में **आसीदतम्**=सर्वथा निषण्ण होओ, अर्थात् प्राणसाधना करने पर हम (क) उत्तम कर्मों के करनेवाले बनते हैं, (ख) उत्तम दान की प्रवृत्तिवाले होते हैं, (ग) उत्तम अन्न का सेवन करते हैं, और (घ) सदा यज्ञीय वृत्तिवाले बने रहते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'सुकृत् व सुदानु' बनते हैं, उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए सदा यज्ञशील बनते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सूर्यत्वच् रथ

तेन नासत्या गतं रथेन सूर्यत्वचा।
येन शश्वदूहथुर्दाशुषे वसु मध्वः सोमस्य पीतये॥ ९॥

१. हे **नासत्या**=जिनके कारण असत्य नहीं रहता, ऐसे प्राणापानो! **तेन**=उस **सूर्यत्वचा**=(सूर्यरश्मिसदृशेन) सूर्यरश्मियों के समान चमकनेवाले **रथेन**=शरीररूपी रथ से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **येन**=जिससे **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धनों को **शश्वत्**=सदा **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना से यह शरीररूपी रथ सूर्य की भाँति चमकनेवाला बनता है, शरीर में निवास के लिए सब आवश्यक वसुओं=तत्त्वों की प्राप्ति से शारीरिक स्वास्थ्य बिलकुल ठीक बना रहता है। २. हे प्राणापानो! आप **मध्वः**

सोमस्य=शहद की भाँति सब भोजनों के सारभूत सोम के **पीतये**=पान व रक्षण के लिए होओ। प्राणसाधना से शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होती है और यह सुरक्षित सोम हमारे जीवन को अत्यन्त मधुर बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाकर सूर्य के समान दीप्त बनाती है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**उषा**॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उक्थों व अर्कों से प्राणों का उपासन

उक्थेभिर्वाग्वसे पुरूवसू अर्कैश्च नि ह्वयामहे।
शश्वत्कण्वानां सदसि प्रिये हि कं सोमं पपथुरश्विना॥ १०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **पुरूवसू**=बहुत अथवा पालक व पूरक धनोंवाले आपको **अवसे**=रक्षण के लिए **उक्थेभिः**=स्तोत्रों से **च**=तथा **अर्कैः**=अर्चन-साधन मन्त्रों से **अर्वाक्**=अपने अभिमुख **निह्वयामहे**=पुकारते हैं। ज्ञानप्रधान वाणियाँ **'उक्थ'** हैं, स्तुतिप्रधान वाणियाँ **'अर्क'**। उक्थों व अर्कों से प्राणापानों को पुकारने का अभिप्राय यह है कि प्राणायाम के गुण-धर्मों को हम अच्छी प्रकार समझें और उनकी साधना करें। समझना ही उक्थों से पुकारना है और इनकी साधना करना ही 'अर्कों' से उपासन है। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **शश्वत्**=सदा **कण्वानाम्**=मेधावी पुरुषों के **प्रिये सदसि** इस कान्त व सुन्दर शरीररूप गृह में **कम्**=सब आनन्दों के देनेवाले **सोमम्**=सोम को—वीर्यशक्ति को **पपथुः**=पीते हो, अर्थात् सोम को शरीर में सुरक्षित करते हो। यह सुरक्षित सोम सब प्रकार के आनन्द व सुख का कारण बनता है। वस्तुतः सोम ही शरीर को कान्त बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शरीर को स्वस्थ एवं सुन्दर बनाता है।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि सुरक्षित सोम जीवन को अत्यन्त मधुर बनाता है (१)। प्राणसाधना से ही शरीर सुन्दराकृति का बनता है (२)। ये प्राणापान जीवन में ऋत का वर्धन करते हैं (३)। इस प्राणसाधना से ही हम बुद्धिमान्, शक्तिसम्पन्न व प्रकाशमय जीवनवाले होते हैं (४)। प्राणापान ही हमें सब शुभों को प्राप्त कराते हैं (५)। उन्हीं से मनःप्रसाद व मस्तिष्क को प्रकाश प्राप्त होता है (६), अतः हमें सूर्योदय के साथ ही प्राणसाधना आरम्भ करनी चाहिए (७)। इस साधना से हम सुकृत् व सुदानु बनते हैं (८)। सूर्य के समान दीप्त शरीररूप रथवाले होते हैं (९), अतः हम उक्थों से प्राणापान के गुणधर्मों को जानें तथा अर्कों से प्राणोपासन में प्रवृत्त हों (१०)। ऐसा करने पर उषा हमारे अन्धकारों को दूर करनेवाली होगी—

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सुन्दर ज्ञान व धन

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती॥ १॥

१. हे **दिवः दुहितः**=प्रकाश का प्रपूरण करनेवाली **उषः**=उषःकाल! **वामेन सह**= सब

सुन्दर वस्तुओं के साथ **नः**=हमारे लिए **व्युच्छ**=तू अन्धकार को दूर करनेवाली हो, अर्थात् उषःकाल हमें सुन्दर-ही-सुन्दर वस्तुओं को प्राप्त करानेवाली हो। २. हे **विभावरि**=प्रकाशयुक्त उषे! तू **बृहता**=वृद्धि की कारणभूत **द्युम्नेन सह**=ज्योति के साथ अथवा अन्न के साथ हमारे लिए उदित हो। हमें इस उषःकाल में वह ज्योति प्राप्त हो जो हमारी वृद्धि का कारण बने। हम उस अन्न को प्राप्त करें जो हमारी बुद्धि को सात्त्विक बनाए। ३. **देवि**=प्रकाशवाली अथवा सब उत्तम पदार्थों को प्राप्त करानेवाली उषे! **दास्वती**=तू दानवती हुई-हुई **राया**=धन के साथ हमारे लिए उदित हो, अर्थात् हमें इस उषःकाल में वह धन प्राप्त हो जो हमसे दानादि में विनियुक्त हो (दा दाने)।

भावार्थ—हमें उषःकाल में सब सुन्दर वस्तुएँ, ज्ञान तथा धन प्राप्त हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृत्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सूनृतवाणी-कार्यसाधक धन

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्वि॒श्वसु॒विदो॒ भूरि॑ च्यवन्त॒ वस्त॑वे।
उदी॑रय॒ प्रति॑ मा सू॒नृता॑ उषश्चोद॒ राधो॑ म॒घोना॑म्॥ २॥

१. प्रभुकृपा से **वस्तवे**=उत्तम निवास के लिए **अश्वावतीः**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली, **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों **विश्वसुविदः**=सब उत्तम धनों को प्राप्त करानेवाली उषाएँ हमें **भूरि**=खूब ही **च्यवन्त**=प्राप्त हों। हे **उषः**=उषःकाल! **मा प्रति**=मेरे प्रति **सूनृताः**=उत्तम, दुःख का परिहाण करनेवाली, ऋत (ठीक) वाणियों को **उदीरय**=प्रेरित कीजिए, अर्थात् मैं सूनृत वाणियों को ही बोलूँ। ३. हे उषः! तू **मघोनाम्**=(मघ=मख, अथवा मा+अघ) यज्ञशील पुरुषों के अथवा पापशून्य पुरुषों के **राधः**=धनों को **चोद**=हमारे प्रति प्रेरित कर। हम सुपथ से धनार्जन करके उन धनों का यज्ञों में व लोकहित के कार्यों में विनियोग करें।

भावार्थ—हमारे लिए उषःकाल उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराये। हम सूनृतवाणी बोलें और पुण्यार्जित धनों को यज्ञों में विनियुक्त करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु-प्रेम न कि धनासक्ति

उ॒वासो॒षा उ॒च्छाच्च॒ नु दे॒वी जी॒रा रथा॑नाम्।
ये अ॑स्या आ॒चर॑णेषु दध्रि॒रे स॑मु॒द्रे न श्र॑व॒स्यव॑ः॥ ३॥

१. **उषाः**=उषःकाल ने **उवास**=आज तक भी अन्धकार को दूर किया है **च नु**=और अब भी **देवी**=प्रकाशयुक्त उषःकाल **उच्छात्**=अन्धकार को नष्ट करती है। २. यह उषःकाल **रथानां जीरा**=रथों की प्रेरक है। उषः के होते ही हमारे शरीररूपी रथ कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। ३. **ये**=जो भी व्यक्ति **अस्याः**=इस उषःकाल के **आचरणेषु**=समन्तात् गति करने पर **दध्रिरे**=अपनी इन्द्रियों व मन का धारण करते हैं, अर्थात् चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग में प्रवृत्त होते हैं, वे **समुद्रे**=(स मुद्रे) उस आनन्दस्वरूप प्रभु में निवास करते हैं। ये लोग **न श्रवस्यवः**=(श्रवस=wealth) धन की कामनावाले नहीं होते। प्रभु और धन—दोनों की सेवा एकसाथ सम्भव नहीं। अच्छे व्यक्ति वे ही हैं, जो उषा के होते ही क्रियाशील बनते हैं और इन्द्रियों व मन का निरोध करते हुए प्रभु में विचरते हैं, धन के प्रति आकृष्ट नहीं होते।

भावार्थ—उषा हमारे वासनान्धकार को दूर करे। हम इसके निकलते ही क्रियाशील

बनें। चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा आत्मरूप में स्थित हों। प्रभु का ध्यान करें; धनासक्त न हो जाएँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

योग व जप

उषो ये ते प्र यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः।
अत्राह तत्कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम्॥ ४॥

१. हे **उषः**=प्रातःकाल! **ये**=जो **ते**=तेरे **प्रयामेषु**=प्रकृष्ट प्रहरों में, अर्थात् प्रातःकाल के शुभमुहूर्त में **मनः**=अपने मनों को **दानाय**=(दाप् लवणे) वासनाओं के खण्डन के लिए **युञ्जते**=निरुद्ध-वृत्तिवाला करते हैं (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः), वे ही **सूरयः**=विद्वान् लोग हैं। समझदार मनुष्य प्रातः के शुभमुहूर्त में सोये नहीं रह जाते। उस समय को वे अन्य कार्यों में भी व्यर्थ व्यतीत नहीं करते। उनका यह समय योग=चित्तवृत्ति के निरोध के अभ्यास में ही व्यतीत होता है। २. **अत्र**=इस जीवन में **अह**=निश्चय से **एषां नृणाम्**=इन मनुष्यों में **कण्वः**=वही मेधावी है **कण्वतमः**=अत्यन्त मेधावी है जो **तत् नाम**=प्रभु के उस पवित्र नाम 'ओ३म्' का **गृणाति**=उच्चारण करता है। यह प्रभुनाम का उच्चारण ही तो हमारे जीवनों को पवित्र बनाने का महान् साधन होता है। जहाँ इस नाम का उच्चारण है, वहाँ वासनाओं का प्रवेश नहीं। जहाँ महादेव है, वहाँ कामदेव नहीं।

भावार्थ—वासनाओं के विनाश के लिए प्रातः प्रभु का स्मरण करना व चित्तवृत्तिनिरोध का अभ्यास करना आवश्यक है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृत्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सूनरी योषा

आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।
जरयन्ती वृजनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः॥ ५॥

१. **सूनरी**=घर का उत्तम सञ्चालन करनेवाली **योषा इव**=अवगुणों का पृथक्करण व गुणों का मिश्रण करनेवाली स्त्री की भाँति यह **उषाः**=प्रातःवेला भी **घ**=निश्चय से **आयाति**=आती है। उषा भी उसी गृहिणी की भाँति हमारे कार्यों का उत्तम प्रणयन करनेवाली है तथा हमें अभद्र से दूर करके भद्र से जोड़नेवाली है। २. **प्रभुञ्जती**=यह उषा हमारा उत्कृष्ट पालन करनेवाली है। भौतिक दृष्टिकोण से भी यह समय इसलिए अधिक उपयुक्त होता है कि इस समय वायुमण्डल में ओजोन गैस का प्राचुर्य होता है। यह वायु रक्तशोधन के द्वारा शक्तिवर्धक है। ३. यह उषा **वृजनम्**=पाप को (वर्ज्यते) **जरयन्ती**=जीर्ण करनेवाली है। उषा का अध्यात्म-लाभ यह है कि इस समय जागकर प्रभु-स्मरण से वासनाओं का विनाश होता है। प्रभुस्मरण के लिए यह उपयुक्ततम समय होता है। ४. इस उषा के आने पर **पद्वत्**=सब पाँवोंवाला प्राणिसमूह **ईयते**=गतिशील होता है। वस्तुतः यह उषा सबको उठाकर कार्य में लगने की प्रेरणा देती है, **पक्षिणः**=पक्षियों को भी **उत्पातयति**=घोंसलों से बाहर होकर आकाश में उड़नेवाला बनाती है। एवं, यह उषःकाल सब तम को दूर करता हुआ मानस-तम (अन्धकार) को भी दूर करता है और सभी को क्रियाशील बनाता है। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही यह उषा **प्रभुञ्जती**=सबका पालन करती है और सब पापों को जीर्ण करती है। इस प्रकार यह उषा हमारे जीवन का उत्तम प्रणयन करती है। इस प्रकार क्रम यह है (क) क्रियाशीलता (उत्पातयति), (ख) पालन

(प्रभुञ्जती), (ग) पापविनाश (वृजनं जरयन्ती), (घ) जीवन का उत्तम प्रणयन (सूनरी)।

भावार्थ—यह उषा सूनरी योषा के समान है—'प्रभुञ्जती, वृजनं जरयन्ती तथा उत्पातयन्ती'। उत्तम गृहिणी भी पति को सदा उत्तम कार्यों में व्यस्त रखती है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वाजिनीवती

वि या सृजति समनं व्य१र्थिनः पदं न वेत्योदती।
वयो नकिष्टे पप्तिवांस आसते व्युष्टौ वाजिनीवति॥ ६॥

१. **ओदती**=वाष्पकणों से (ओस के रूप में) घास आदि को क्लिन्न (गीला) करनेवाली उषा वह है, **या**=जो **समनम्**=(सम्+अन्) सम्यक् चेष्टावान् पुरुषों को (समीचीनचेष्टावन्तम्—सा०) **विसृजति**=विविध उत्तम कार्यों में प्रेरित करती है, अर्थात् इस उषा के उदित होने पर उपासक लोग उपासना आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। २. **अर्थिनः**=प्रार्थनाशील पुरुषों को भी यह उषा **वि** (सृजति)=विविध रूप से प्रार्थनाओं में प्रेरित करती है। ३. यह उषा **पदं न वेति**=स्थान को, रुकने को नहीं चाहती (कामयते=वेति), अर्थात् शीघ्रता से आगे बढ़ती है। इसी प्रकार इस उषःकाल में प्रत्येक व्यक्ति गति की कामनावाला होता है। ४. हे **वाजिनीवति**=प्रशस्त क्रियाओं (वज गतौ), शक्तियों (वाज=बल) व अन्नोंवाली उषे! **ते व्युष्टौ**=तेरे उदित होने पर **पप्तिवांसः**=उड़नेवाले **वयः**=पक्षी **नकिः आसते**=बैठे नहीं रह जाते, पक्षी भी क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाते हैं, तो समझदार मनुष्य क्यों न अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त होंगे?

भावार्थ—उषःकाल में सब अपने-अपने कार्यों में उत्तमता से लग जाते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सुभगा उषाः

एषायुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि ।
शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान्॥ ७॥

१. **एषा**=यह **सुभगा**=उत्तम भग (ऐश्वर्य व सौन्दर्य) से युक्त **उषाः**=उषा **परावतः**=सुदूर स्थान में वर्तमान **सूर्यस्य**=सूर्य के **उदयनात्**=उदय होने से **अधि**=ऊपर, अर्थात् पहले ही **अयुक्त**=अपने रथ को जोतती है और **शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त, अर्थात् मानवजीवन की पूर्ण अवधि तक **रथेभिः**=अपने रथों से **इयम्**=यह उषा **मानुषान्**=विचारपूर्वक कार्य करनेवाले (मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति) पुरुषों की **अभि**=ओर **वियाति**=विशेषरूप से प्राप्त होती है। २. विचारशील पुरुष सदा, आजीवन सूर्योदय से पूर्व प्रातः ही उठते हैं और उठकर अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। एक गृहिणी को भी उषा के समान सूर्योदय से पूर्व ही उठकर कार्यों में लग जाना चाहिए। ऐसा करने पर ही वह घर के लिए उषा के समान अन्धकार को दूर करनेवाली होती है। वस्तुतः सौ वर्षपर्यन्त जीवन के लिए भी उषःजागरण आवश्यक ही है।

भावार्थ—हम सदा सूर्योदय से पूर्व ही उषःकाल में जागनेवाले बनें। जागकर प्रार्थना, ध्यानादिपूर्वक अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाएँ। ऐसा करने पर ही यह उषा हमारे लिए 'सुभगा' उत्तम सौभाग्य को प्राप्त करानेवाली होगी।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

मघोनी

विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी।
अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदप स्रिधः॥ ८॥

१. **अस्याः**=इस उषा के **चक्षसे**=प्रकाश के लिए **विश्वं जगत्**=सम्पूर्ण संसार **नानाम**=प्रभु को प्रति नतमस्तक होता है। 'वस्तुतः रात्रि के अन्धकार को समाप्त करके किस प्रकार उषःकाल प्रकाश को देता हुआ और न केवल प्रकाश को अपितु प्राणशक्ति को भी बढ़ाता हुआ आता है'—यह सब विचार करनेवाला पुरुष उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है। प्रभु की विभूतियों में उषा का भी एक विशिष्ट स्थान है। उषा की लालिमा प्रभु की महिमा का गायन करती प्रतीत होती है। (२) **सूनरी**=संसार के कार्यों का उत्तम प्रणयन करनेवाली उषा **ज्योतिः कृणोति**=चारों ओर प्रकाश कर देती है। यह उषा बाह्य प्रकाश के साथ हृदय के अन्तस्तल को भी प्रकाशित करती है और इस प्रकार हमें उत्तम मार्ग से ले-चलनेवाली होती है। (३) **मघोनी**=प्रकाशरूप मघ=ऐश्वर्यवाली यह उषा **द्वेषः**=द्वेष की भावनाओं को हमारे हृदय से **अप उच्छत्**=दूर करनेवाली हो। द्वेष अज्ञानान्धकार में ही पनपता है। उषा अन्धकार को दूर करती हुई द्वेष को भी दूर करती है। (४) यह **दिवः दुहिता**=प्रकाश का पूरण करनेवाली **उषाः**=उषा **स्रिधः**=(स्रिधु शोषणे) हृदय की शोषक कामवासना को भी **अप उच्छत्**=हमारे हृदयों से दूर करे। वस्तुतः उषःकाल में प्रभु के प्रति नतमस्तक होता हुआ व्यक्ति इन वासनाओं को विनष्ट ही कर डालता है।

भावार्थ—उषःकाल प्रकाश को करता हुआ द्वेष व रागात्मक वासना को हमसे दूर कर दे। राग-द्वेष से ऊपर उठकर हम जीवन को सुन्दरता से बितानेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

आह्लादक (दीप्ति) प्रकाश

उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः।
आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु॥ ९॥

१. **दिवः दुहितः**=प्रकाश का पूरण करनेवाली **उषः**=उषो देवते! तू **चन्द्रेण**=आह्लाद के साधनभूत **भानुना**=प्रकाश से **आभाहि**=समन्तात् प्रकाश करनेवाली हो। उषा का प्रकाश अत्यन्त तीव्र न होने से सचमुच आह्लाद देनेवाला है। (२) यह उषा **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **भूरि**=खूब अथवा पालक व पोषक (भृञ्=धारण, पोषण) **सौभगम्**=सौभाग्य को—ऐश्वर्य को **आवहन्ती**=प्राप्त करानेवाली हो। हम प्रातःकाल को इस प्रकार सुन्दरता से प्रभु-उपासन व स्वाध्यायादि उत्तम कार्यों में बिताएँ कि हमारा सौभाग्य बढ़े। (३) यह उषा **दिविष्टिषु**=(दिवः इष्टिषु) प्रकाश की कामना होने पर **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को पूर्णरूप से दूर करनेवाली होती है। नींद से उठा हुआ प्राणी कार्यों को सुचारु रूप से कर सकने के लिए प्रकाश चाहता है। यह उषःकाल उसे वह प्रकाश प्राप्त कराता है।

भावार्थ—उषःकाल मनुष्य को सौभाग्य व वाञ्छनीय प्रकाश का देनेवाला है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृत्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्राणनं जीवनम्

विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि।
सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम्॥ १०॥

१. हे **सूनरि**=उत्तमता से कार्यों का प्रणयन करानेवाली तथा प्रातःजागरणशील पुरुषों को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाली उषे! **यत्**=जब तू **व्युच्छसि**=विशेषरूप से उदित होती है और अन्धकार को नष्ट करती है तब **विश्वस्य**=सम्पूर्ण संसार का **प्राणनम्**=प्रकृष्टरूपेण प्राणों का धारण करना तथा **जीवनम्**=उत्तम जीवन को प्राप्त करना **हि**=निश्चय से **त्वे**=तुझमें ही आश्रित होता है, अर्थात् यह उषा सबको जीवन व प्राणशक्ति प्राप्त कराती है। उषा के समय सोये हुए का तेज क्षीण हो जाता है। २. **सा विभावरि**=हे उषे! वह प्रकाशवाली तू **चित्रामघे**=अद्भुत ऐश्वर्यवाली! **बृहता रथेन**=सब प्रकार की शक्तियों के वर्धनवाले शरीररूप रथ से **नः**=हमें प्राप्त हो और **हवम्**=हमारी प्रार्थनावाणी को **श्रुधि**=सुन। उषा की कृपा से हमें बाह्यप्रकाश की भाँति अन्तःप्रकाश भी प्राप्त हो। यह उषा 'जीवन व प्राणन' के रूप में अद्भुत ऐश्वर्य प्राप्त कराये। प्रातःकाल उठकर अपने आवश्यक कृत्यों को करते हुए हम शरीररूप रथ को प्रवृद्ध शक्तियोंवाला बनाएँ (बृहता रथेन)। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त करें (चित्रामघे)। प्रातः की इस पुण्यवेला में प्रभु की प्रार्थना में प्रवृत्त हों (हवं श्रुधि)।

भावार्थ—उषा हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न दीर्घ जीवन प्राप्त कराती है। यह हमारे शरीररूप रथ को दृढ़ व सुन्दर बनाती है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृत्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सुकृत् वह्नि=पुण्यशाली कर्तव्यपरायण

उषो वाजं हि वंस्व यश्चित्रो मानुषे जने।
तेना वह सुकृतो अध्वराँ उप ये त्वा गृणन्ति वह्नयः॥ ११॥

१. हे **उषः**=उषःकाल! तू **हि**=निश्चय से **वाजम्**=शक्ति, धन व ज्ञान को **वंस्व**= प्राप्त करा। उस 'वाज' को **यः**=जोकि **मानुषे जने**=विचारशील पुरुषों में **चित्रः**=अद्भुत है। विचारशील पुरुष को प्राप्त होनेवाले अद्भुत वाज को यह उषा हमें प्राप्त कराये। (२) हे उषे! तू **तेन**=उस वाज के द्वारा उन **सुकृतः**=सुकृत्, पुण्यशाली पुरुषों को **ये**=जो **वह्नयः**=अपने कर्तव्यभार का वहन करनेवाले **त्वा**=आपका **उपगृणन्ति**= उपासन करते हैं, अर्थात् जो प्रातः के समय प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होते हैं, उन पुण्यात्माओं को **अध्वरान् आवह**=यज्ञों को प्राप्त करा। ये 'सुकृत् वह्नि' पुरुष प्रातः प्रभु की प्रार्थना करते हुए पवित्र, हिंसाशून्य, (अ-ध्वर) कार्यों में ही प्रवृत्त हों।

भावार्थ—प्रातः प्रबुद्ध होनेवाले हम 'वाज' (शक्ति, धन व ज्ञान) को प्राप्त करें और पुण्यशाली कर्तव्यपरायण बनकर हिंसाशून्य पवित्र कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

दिव्य गुण व सौम्य भोजन

विश्वान्देवाँ आ वह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम्।
सास्मासु धा गोमदश्वावदुक्थ्य१मुषो वाजं सुवीर्यम्॥ १२॥

१. हे **उषः**=उषःकाल! **त्वम्**=तू **सोमपीतये**=शरीर में ही सोम के रक्षण के लिए **अन्तरिक्षात्**=(अन्तरा क्षि) सदा मध्य-मार्ग में चलने के द्वारा **विश्वान् देवान् आवह**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त करा। मध्य-मार्ग में चलना कारण है और दिव्य गुणों का विकास उसका कार्य। दिव्य गुणों का विकास कारण है और वासना-विनाश उसका कार्य। वासना-विनाश कारण है और सोमरक्षण उसका कार्य। (२) इस सोमरक्षण के लिए ही हे **उषः**=उषा! तू **अस्मासु**=हममें **वाजम्**=उस अन्न को **धा**=धारण कर जो (क) **गोमत्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है, (ख) **अश्वावत्**= कर्मेन्द्रियों को उत्तम बनानेवाला है, (ग) **उक्थ्यम्**=स्तोत्रों में उत्तम है, अर्थात् हमारी चित्तवृत्ति को प्रभुस्तवनपरायण बनानेवाला है तथा (घ) **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्यवाला है। वस्तुतः सौम्य भोजनों से शीतवीर्य की उत्पत्ति होती है और उसका शरीर में रक्षण सुगम होता है, अतः ये भोजन 'सुवीर्य' कहलाते हैं।

भावार्थ—हम मध्यमार्ग में चलते हुए अपने अन्दर दिव्यगुणों का विकास करें और सात्त्विक भोजन करते हुए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृत्पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

'विश्ववार-सुपेशस्-सुगम्य' रयि

यस्या रुशन्तो अर्चयः प्रति भद्रा अदृक्षत।
सा नो रयिं विश्ववारं सुपेशसमुषा ददातु सुग्म्यम्॥ १३॥

१. **यस्याः**=जिस उषःकाल की **अर्चयः**=दीप्तियाँ **रुशन्तः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाली—पवित्र भावनाओं को जगानेवाली तथा **भद्राः**=कल्याण व सुख को प्राप्त करानेवाली **प्रति-अदृक्षत**=प्रतिदिन दिखती हैं, **सा**=वह उषा **नः**=हमें **रयिं ददातु**=उस ऐश्वर्य को दे जो ऐश्वर्य (क) **विश्ववारम्**=सबसे वरणीय—चाहने योग्य है अथवा सब कष्टों का निवारण करनेवाला है, (ख) **सुपेशसम्**=सुन्दर आकृतिवाला है, शोभन रूपोपेत है, हमें बेडौल (कु-वेर) शरीरवाला नहीं बना डालता तथा (२) **सुग्म्यम्**=जो उत्तम साधनों से प्राप्त करने योग्य है (सु+गमः) अथवा सुख का साधनभूत है।

भावार्थ—उषा हमारे जीवनों को प्रकाशमय करती है और हम वरणीय धनों को सुपथ से सिद्ध करते हुए सुखी होते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

राधस् व शुक्रशोचिः

ये चिद्धि त्वामृषयः पूर्व ऊतये जुहूरेऽवसे महि।
सा नः स्तोमाँ अभि गृणीहि राधसोषः शुक्रेण शोचिषा॥ १४॥

१. हे **महि**=महनीय **उषः**=उषो देवते! **ये चित् हि**=जो भी **पूर्वे**, **ऋषयः**=अपना

पूरण करनेवाले, अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले ज्ञानीपुरुष हैं, वे **ऊतये**=रोगों से अपने रक्षण के लिए तथा **अवसे**=मानस विकारों से अपने को बचाने के लिए **त्वां, जुहूरे**=तुझे पुकारते हैं, अर्थात् ये ऋषि प्रातः प्रबुद्ध होकर प्रभु की महिमा का गायन करते हुए अपने जीवन को आधि-व्याधियों से शून्य बनाते हैं। उषा का पुकारना यही है कि उषःकाल में प्रभु का स्मरण करना। (२) हे **उषः**=उषःकाल! **सा**=वह तू **राधसा**=कार्य-साधक धन के हेतु से तथा **शुक्रेण शोचिषा**=चमकती हुई ज्ञानदीप्ति के हेतु से **नः**=हमारे **स्तोमान्**=स्तुतिसमूहों का **अभिगृणीहि**=उच्चारण करा, अर्थात् हम उषःकाल में प्रभु-नामों व स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए अपने को इस प्रकार पवित्र जीवनवाला बनाएँ कि संसार में हमें अन्न-रस के प्राप्त करानेवाले धन की कमी न रहे और हम उत्कृष्ट ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारा उषःकाल प्रभुस्तवन में बीते। हम कार्यसाधक धन तथा दीप्त ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अवृक-पृथु 'छर्दि'

उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः।
प्र नो यच्छतादवृकं पृथु च्छर्दिः प्र देवि गोमतीरिषः॥ १५॥

१. हे **उषः**=उषःकाल! **यत्**=जब **अद्य**=आज ही **भानुना**=दीप्ति से **दिवः द्वारौ**=ज्ञान के दोनों द्वारों को—अपरा व पराविद्या को, प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या को तू **वि ऋणवः**=विश्लिष्टरूपेण प्राप्त होती है, अर्थात् जब हमारा प्रत्येक उषःकाल ज्ञान के दोनों द्वारों को खोलनेवाला होता है—हम उषःकाल में प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, २. तब यह उषा **नः**=हमें वह **छर्दिः**=घर **प्रयच्छतात्**=प्रकर्षेण प्राप्त कराये जो **अवृकम्**=हिंसकभावों से रहित हो अथवा लोभ की भावना से रहित हो (वृक आदाने) **पृथु**=जो घर विशाल हो। घर में रहनेवालों के भाव हिंसा व लोभ से ऊपर उठे हुए हों। न तो उनमें हिंसा की भावना हो और न ही वे लोभ से आक्रान्त हों। ३. हे **देवि**=ज्ञान को देनेवाली तथा उत्तम घर को प्राप्त करानेवाली उषे! तू **गोमतीः**=उत्तम गोदुग्धों से सम्पन्न **इषः**=अन्नों को **प्र** (यच्छतात्) हमें देनेवाली हो। हम सदा गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग करें।

भावार्थ—हमें प्रकृति व आत्मा दोनों का ज्ञान प्राप्त हो। हमारा घर हिंसा व लोभ से रहित व विशाल हो। हम गोदुग्ध व वनस्पति का ही सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृत्सतःपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

धन-गौ-ज्ञान-अन्न

सं नो राया बृहता विश्वपेशसा मिमिक्ष्वा समिळाभिरा।
सं द्युम्नेन विश्वतुरोषो महि सं वाजैर्वाजिनीवति॥ १६॥

१. हे **उषः**=उषःकाल! तू **नः**=हमें **राया**=धन से **संमिमिक्ष्व**=संगत कर, सिक्त करने की इच्छा कर। उस धन से जो **बृहता**=हमारी वृद्धि का कारण बनता है और **विश्वपेशसा**=सम्पूर्ण सुन्दर रूपोंवाला है, अर्थात् जो धन हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क को तथा व्यक्ति व समाज दोनों को सुन्दर बनाता है। २. हे उषे! तू हमें **इळाभिः आ (मिमिक्ष्व)**=गौओं से युक्त कर (**इडा**=गौ०नि०)=अथवा तू हमें वेदवाणियों से युक्त कर। हम प्रातःकाल इन ज्ञान की वाणियों

का अध्ययन करें। ३. इन गोदुग्धों के सेवन से तथा ज्ञान की वाणियों के स्वाध्याय से हमें **द्युम्नेन**=उस ज्ञान-ज्योति से सिक्त कर जो **विश्वतुरा**=हमारी सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला है। ज्ञान वह अग्नि है जिसमें सब मल भस्म हो जाते हैं। ४. हे **वाजिनीवति**=उत्तम अन्नोंवाली, अन्न-साधनभूत क्रियाओंवाली उषे! हे **महि**=(मह पूजायाम्) पूजावाली महनीय उषे! तू **वाजैः**=शक्ति को देनेवाले अन्नों से **सम्**=हमें संगत कर।

भावार्थ—हम उषःकाल में निश्चय करें कि (क) वृद्धि के कारणभूत-शरीर, मन व मस्तिष्क को सुन्दर बनानेवाले धन को प्राप्त करेंगे, (ख) गोदुग्ध का सेवन करते हुए, ज्ञान की वाणियों को पढ़ते हुए हम उस ज्ञान को प्राप्त करेंगे जो सब बुराइयों को भस्म कर देता है, (ग) हम शक्तिप्रद अन्नों का ही सेवन करेंगे।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि उषःकाल हमें सब सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त कराये (१), सूनृतवाणी व कार्यसाधक धन भी दे (२)। हम चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा आत्मा में स्थित हों (३)। योग व जप में हमारी रुचि हो। यह उषा हमारे लिए 'सूनरी योषा' हो (५) इसमें हम अपने कार्यों में उत्तमता से लग जाएँ (६)। यह हमारे लिए 'सुभगा' हो (७), 'मघ' वाली हो (८)। आह्लादक दीप्ति को प्राप्त कराये (९)। यह हमें प्राण और जीवन देनेवाली हो (१०)। हम इसमें पुण्यशील व कर्त्तव्यपरायण बनें (११)। हम अपने में दिव्यगुणों का विकास करें (१२)। यह उषा हमें वरणीय धन दे (१३)। हमारा उषःकाल प्रभुस्तवन में बीते (१४)। हमारा घर हिंसा व लोभ से रहित तथा विशाल हो (१५)। उषा हमें धन, गौ, ज्ञान व अन्न प्राप्त कराये (१६)। इसी बात को अब इस रूप में कहते हैं कि हे उषे! तू सब भद्र वस्तुओं के साथ हमें प्राप्त हो—

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

भद्र की प्राप्ति

उषो॑ भ॒द्रेभि॒रा ग॑हि दि॒वश्चि॑द्रोच॒नादधि॑।
वह॑न्त्वरु॒णप्स॑व॒ उप॑ त्वा सो॒मिनो॑ गृ॒हम्॥ १॥

१. हे **उषः**=उषःकाल! **रोचनात्**=देदीप्यमान **दिवः**=ज्ञान के द्वारा **चित्**=निश्चय से **भद्रेभिः**=भद्र वस्तुओं के साथ **अधि आगहि**=तू हमें आधिक्येन प्राप्त हो। जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, उतना-उतना हम अभद्र से दूर और भद्र के समीप होते जाते हैं। इन उषःकालों में हम स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाएँ और इस प्रकार अपना सम्पर्क भद्रताओं के साथ करते चलें। २. **अरुणप्सवः**=(प्सान्ति भक्षयन्तीति प्सवः अश्वाः, अरुणः=अव्यक्तरागः) नहीं प्रकट हुआ है राग जिनमें, ऐसे इन्द्रियरूप अश्वोंवाले, अर्थात् विषयों में अनासक्त इन्द्रियोंवाले **सोमिनः**=सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाले पुरुष **त्वा**=तुझे **गृहम्**=अपने घर में **उपवहन्तु**=प्राप्त करानेवाले हों, अर्थात् प्रत्येक उषःकाल में हमारा यह निश्चय हो कि हमें इन्द्रियों को विषयों में नहीं फँसने देना और वीर्य की रक्षा करनी है। वस्तुतः ऐसा होने पर ही तो उषा हमें सब भद्रों के प्राप्त करानेवाली होगी।

भावार्थ—हमारा ज्ञान बढ़े और वह हमें अभद्र से हटाकर भद्र की ओर ले-चले। हम विषयों में आसक्त न हों और सोम का रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सुपेशस्—सुखरथ

सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम्।
तेना सुश्रवसं जनं प्रावाद्य दुहितर्दिवः॥ २॥

१. हे **उषः**=प्रातःकाल! **त्वम्**=तू **यम्**=जिस **सुपेशसम्**=स्वास्थ्य के कारण सुन्दर आकृतिवाले, **सुखम्**=सब सुन्दर छेदोंवाले–स्वस्थ इन्द्रिय द्वारोंवाले **रथम्**=हमारे शरीररूप रथ में **अध्यस्थाः**=अधिष्ठित हुई है, **तेन**=उस शरीररूप रथ से **सुश्रवसं जनम्**=इस उत्तम यश व उत्तम कर्मोंवाले (fame, praiseworthy action) मनुष्य को हे **दिवः दुहितः**= प्रकाश का पूरण करनेवाली उषे! **अद्य**=आज **प्राव**=प्रकर्षेण रक्षित करनेवाली हो। २. (क) हम प्रातः सबसे पहले शरीर के स्वास्थ्य व इन्द्रियों की प्रशस्तता का ध्यान करें। हमारे उत्तम शरीररूप रथ पर यह उषःकाल आरूढ़ हो। (ख) दूसरे स्थान में हम यशस्वी कर्मों के द्वारा जीवन को प्रशस्त बनाने का संकल्प करें। (ग) यह प्रकाश का पूरण करनेवाली उषा हमें भी ज्ञान के प्रकाश से पूरित करनेवाली हो और हमें सब प्रकार से सुरक्षित करे।

भावार्थ—हमारा शरीर स्वास्थ्य के सौन्दर्यवाला व प्रशस्तेन्द्रिय हो। हम यशस्वी व प्रशस्त कार्यों को ही करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अर्जुनी उषा

वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि।
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि॥ ३॥

१. **अर्जुनि उषः**=शुभ्र प्रकाशवाली उषे! **ते ऋतून् अनु**=तेरी नियमित गतियों के अनुसार, अर्थात् यथासमय तेरे उदित होने पर **दिवः अन्तेभ्यः परि**=आकाश के सुदूर प्रान्तों से **पतत्रिणः वयः**=पंखोंवाले ये पक्षी **चित्**=भी और **द्विपत्**=दो पाँवोंवाले मनुष्य तथा **चतुष्पत्**=चार पावँवाले गौ आदि पशु **प्रारन्**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। २. उषा का प्रकाश होते ही मनुष्य, पशु, पक्षी सभी गतिवाले हो जाते हैं। उषा सबको जागने व कर्म में लगने की प्रेरणा देती है। उषा अर्जुनी=शुभ्र प्रकाशवाली है। उसका अनुसरण करनेवाला व्यक्ति भी इसी प्रकार शुभ्रप्रकाश का अर्जन करता है।

भावार्थ—उषा के होते ही हमें गतिमय जीवनवाला होने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वसूयवः कण्वाः

व्युच्छन्ती हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम्।
तां त्वामुषर्वसूयवो गीर्भिः कण्वा अहूषत॥ ४॥

१. हे **उषः**=उषःकाल! तू **हि**=निश्चय से **रश्मिभिः**=प्रकाश की किरणों से **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार को **रोचनम्**=खूब दीप्ति के साथ **आभासि**=प्रकाशित करती है। २. हे उषे! **तां त्वा**=उस तुझको **वसूयवः**=उत्तम निवासक

तत्त्वों की कामनावाले **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **गीर्भिः**=वाणियों से **अहूषत**=पुकारते हैं, अर्थात् मेधावी पुरुष प्रातःकाल जागकर स्वाध्याय के लिए तैयारी करते हैं और ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करते हुए अपने निवास को उत्तम बनाते हैं। इस निवास के उत्तम होने पर जीवन में उसी प्रकार प्रकाश का अनुभव होता है जैसेकि उषा अपने प्रकाश से जगत् को प्रकाशित करती है।

भावार्थ—हम उषःकाल में स्वाध्याय के द्वारा अपने अन्दर उसी प्रकार प्रकाश प्राप्त करें जैसे उषा बाह्य जगत् को प्रकाश प्राप्त कराती है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ हैं कि उषा हमें भद्रताओं को प्राप्त कराये (१)। हमारा शरीररूप रथ स्वास्थ्य के सौन्दर्यवाला और प्रशस्तेन्द्रियोंवाला हो (२)। यह उषा हमें गतिमय जीवन की प्रेरणा दे (३)। यह हमारे अन्तर्जगत् को भी उसी प्रकार प्रकाशित करे जैसेकि बाह्य जगत् को (४)। अब उषा के पश्चात् सूर्योदय होता है—

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्योदय

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ १॥

१. **केतवः**=प्रकाशक रश्मियाँ—प्रकाश के द्वारा मार्ग को दिखानेवाली सूर्यकिरणें **विश्वाय दृशे**=सम्पूर्ण पदार्थों के दर्शन के लिए, अर्थात् 'सब पदार्थ ठीक रूप में दीख सकें' इस प्रयोजन से **उ**=निश्चय से **त्यम्**=उस **सूर्यम्**=सूर्य को **उद्वहन्ति**=आकाश में ऊपर धारण करती हैं, जो सूर्य **जातवेदसम्**=सब प्रज्ञानों व धनों को प्राप्त करानेवाला है तथा **देवम्**=प्रकाश से देदीप्यमान होता हुआ (दिव्=द्युति) सम्पूर्ण प्राणशक्ति को देनेवाला है (देव=दानात्)। २. सूर्य जातवेदस् है—सम्पूर्ण धनों व ज्ञानों का स्रोत है। सूर्य किरणें ही पृथिवी में उत्पादन-शक्ति की वृद्धि का कारण हैं। इस उत्पादन-शक्ति से पृथिवी सब वनस्पति-ओषधियों को जन्म देती हुई 'वसुन्धरा' कहलाती है। वसुन्धरा को यह सूर्य ही वसुओं का धारण करनेवाली बनाता है। इस प्रकार वस्तुतः ही सूर्य 'जातवेदस्' है। प्रकाश को देनेवाला यह सूर्य 'जातवेदस्' तो है ही। ३. यह सूर्य 'देव' है, देदीप्यमान होता हुआ प्रकाश व प्राणशक्ति को देनेवाला है। इस सूर्य के रथ को ये किरणरूप अश्व आकाश में आगे और आगे ले-चलते हैं और सम्पूर्ण संसार के पदार्थों को प्रकाशित करते हैं।

भावार्थ—सूर्योदय से प्रकाश, ओषधियाँ, प्राणशक्ति एवं सकल पदार्थ प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नक्षत्रों का अपयान

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥ २॥

१. **विश्वचक्षसे**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाले **सूराय**=सूर्य के लिए, अर्थात् मानो उसके आगमन के लिए स्थान को रिक्त करने के दृष्टिकोण से **त्ये नक्षत्रा**= रात्रि में चमकनेवाले नक्षत्र वे सब उसी प्रकार **अक्तुभिः**=रश्मियों के साथ **अपयन्ति**=दूर चले जाते हैं **यथा**=जैसे **तायवः**=रात्रि के अन्धकार में चोरी करनेवाले चोर, रात्रि की समाप्ति के साथ,

इधर-उधर तिरोहित हो जाते हैं। २. सूर्य आता है, नक्षत्र अस्त हो जाते है। इसी प्रकार हमारे जीवन में भी ज्ञान का सूर्य उदय होने पर तुच्छ वासनाओं के नक्षत्र अस्त हो जाते हैं। ये सब इच्छा-नक्षत्र रात्रि के अन्धकार के समान अज्ञानान्धकार में ही उदित होते हैं। ये वासना-नक्षत्र हमारी शक्तियों का हरण करने के कारण सचमुच चोरों के समान हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञानसूर्य का उदय हो और वासना-नक्षत्रों का अस्त हो।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देदीप्यमान अग्नि

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥ ३॥

१. **अस्य**=इस उदित हुए-हुए सूर्य की **केतवः**=प्रज्ञापक—प्रकाश को देनेवाली **रश्मयः**=प्रकाश की किरणें **जनाँ अनु**=मनुष्यों का लक्ष्य करके **वि अदृश्रम्**=इस प्रकार विशिष्टरूप से दिखती हैं **यथा**=जैसेकि **भ्राजन्तः अग्नयः**=चमकती हुई अग्नियाँ। २. सूर्य के उदित होने पर जैसे सूर्य की किरणें सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाली होती हैं, उसी प्रकार हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है और जीवन प्रकाशमय हो जाता है। यह प्रकाश देदीप्यमान अग्नि के समान होता है। इसमें सब बुराइयाँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय हो और हमारी सब बुराइयाँ अन्धकार के समान विलीन हो जाएँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

त्रिविध स्वास्थ्य

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्॥ ४॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! तू **तरणिः**=हमें रोगों से तारनेवाला है। उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों को नष्ट करता है और इस प्रकार हमें नीरोग बनाता है। **विश्वदर्शतः**=(विश्वं दर्शतं द्रष्टव्यं यस्य) सूर्य सारे संसार का पालन करता है (दृश्=to look after)। **ज्योतिः कृत् असि**=यह सूर्य सर्वत्र प्रकाश करनेवाला है। **विश्वं रोचनम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को **आभासि**=समन्तात् भासित कर देता है। सूर्य के उदय होते ही सम्पूर्ण अन्तरिक्ष सब ओर से चमक उठता है। २. सूर्य शरीर को रोगों से रहित करके स्वस्थ बनाता है (तरणिः), मस्तिष्क को यह ज्योतिर्मय करता है (ज्योतिष्कृत्) और हृदयान्तरिक्ष को सब मलिनताओं से रहित करके चमका देता है। एवं, सूर्य के प्रकाश का प्रभाव 'शरीर, मस्तिष्क व मन' सभी को सौन्दर्य प्रदान करनेवाला है।

भावार्थ—सूर्य हमें 'शरीर, मन व मस्तिष्क' के त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**यवमध्याविराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'देव व मानुष बनना'—ब्रह्मदर्शन

प्रत्यङ्देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे॥ ५॥

१. हे सूर्य! तू **देवानां विशः प्रत्यङ्**=देवों की प्रजाओं के प्रति गति करता हुआ **उदेषि**=उदित होता है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश प्रजाओं को दिव्य गुणोंवाला व दैवीवृत्तिवाला बनाता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले लोग दिव्य गुणोंवाले बनते हैं। सूर्य का प्रकाश मन पर

अत्यन्त स्वास्थ्यजनक प्रभाव डालता है। २. **मानुषान् प्रत्यङ् उदेषि**=मानुषों के प्रति गति करता हुआ यह सूर्य उदय होता है। सूर्य हमें मानुष बनाता है। 'मानुष' वह है जो 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' विचारपूर्वक कर्म करता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले व्यक्ति समझ से काम करनेवाले बनते हैं। अथवा सूर्य **मानुषान् प्रत्यङ् उदेषि**=(मानुष=Humane) दयालुओं के प्रति उदय होता है। सूर्यप्रकाश मनुष्य की मनोवृत्ति को अक्रूर बनाता है। सामान्यत: हिंसावृत्ति के पशु व असुर रात्रि के अन्धकार में ही कार्य करते हैं, सूर्य का प्रकाश उनके लिए अरुचिकर होता है। **स्व: दृशे**=उस स्वयं राजमान ज्योति 'ब्रह्म' के दर्शन के लिए तू **विश्वं प्रत्यङ्**=सबके प्रति गति करता हुआ उदय होता है। इस उदय होते हुए सूर्य में द्रष्टा को प्रभु की महिमा का आभास मिलता है। यह सूर्य उसे प्रभु की विभूति के रूप में दिखता है।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश हमें देव व मानुष बनाता है और प्रभु का दर्शन कराता है।

ऋषि:—**प्रस्कण्व:**॥ देवता—**सूर्य:**॥ छन्द:—**निचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

भुरण्यन्—लोकभरण करनेवाला

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ ६॥

१. हे **पावक**=प्रकाश से जीवनों को पवित्र करनेवाले! **वरुण**=सब रोगों व आसुर भावनाओं के निवारण करनेवाले सूर्य! **त्वम्**=तू **जनान् भुरण्यन्तम्**=लोगों का भरण-पोषण करनेवाले को—लोकों के धारणात्मक कर्मों में लगे हुए पुरुष को **येन चक्षसा**=जिस प्रकाश से **अनुपश्यसि**=अनुकूलता से देखता है, उसी प्रकाश को हम प्राप्त करें। वही प्रकाश हमसे स्तुति के योग्य हो। २. जो लोग द्वेष का निवारण करके (वरुण), अपने हृदयों को पवित्र बनाकर (पावक) लोकहितकारी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (भुरण्यन्तम्)—उनके लिए सूर्य का प्रकाश सदा हितकारी होता है। वस्तुत: हमारी वृत्ति उत्तम होती है तो संसार भी हमारे लिए उत्तम होता है। हमारी वृत्ति में न्यूनता आने पर ये प्रकृति के देवता भी हमारे लिए उतने हितकर नहीं रहते। अन्यत्र मन्त्र में कहा है कि जल व ओषधियाँ द्वेष करनेवाले के लिए हितकर नहीं होतीं—'**सुमित्रिया न आप ओषधय: सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्ट यं च वयं द्विष्म:।**'

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश उनके लिए हितकर होता है जो लोकों का भरण करनेवाले होते हैं।

ऋषि:—**प्रस्कण्व: काण्व:**॥ देवता—**सूर्य:**॥ छन्द:—**यवमध्याविराड्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

दिन-रात्रि का निर्माण

वि द्यामेषि रज॑स्पृथ्वहा मिमा॑नो अ॒क्तुभि॑:। पश्य॒ञ्जन्मा॑नि सूर्य॥ ७॥

१. हे **सूर्य**=आकाश में निरन्तर सरण करनेवाले आदित्य! तू **द्याम्**=इस विस्तृत द्युलोक में **वि एषि**=विशेष रूप से प्राप्त होता है। द्युलोक में सूर्य का उदय होता है और वह सूर्य इस द्युलोक में आकर **पृथु रज:**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक में आगे-और-आगे बढ़ता है। २. इस गति के द्वारा **अक्तुभि:**=रात्रियों के साथ **अहा**=दिनों को **मिमान:**=यह निर्मित करता है। ३. इस प्रकार दिन व रात्रि के निर्माण से यह सूर्य **जन्मानि**=सब जन्म लेनेवाले प्राणियों को **पश्यन्**=देखता है, अर्थात् सब प्राणियों का पालन करता है। यदि केवल दिन-ही-दिन होता तो मनुष्य कार्य करते-करते थक ही जाता और यदि रात्रि-ही-रात्रि होती तो मनुष्य

को आराम करते-करते जंग ही खा जाता। एवं, यह दिन-रात्रि का चक्र मनुष्य का सुन्दरता से पालन कर रहा है। इस क्रम के द्वारा सूर्य सब प्राणियों का ध्यान (रक्षण) करता है।

भावार्थ—सूर्य उदित होकर अन्तरिक्ष में आगे बढ़ता हुआ दिन-रात्रि के निर्माण द्वारा हमारा पालन करता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सप्ताश्व

स॒प्त त्वा॑ ह॒रितो॒ रथे॒ वह॑न्ति देव सूर्य। शो॒चिष्के॑शं विचक्षण॥ ८॥

१. **देव**=द्योतमान, हृदयों को निर्मल करके दीप्त करनेवाले! **सूर्य**=निरन्तर सरणशील! सभी को कार्यों में प्रवृत्त करनेवाले! **विचक्षण**=विशिष्ट प्रकाशवाले! सबके मस्तिष्कों को ज्ञानज्योति से रोशन करनेवाले सूर्य! **त्वा**=तुझे **सप्त हरितः**=सात रंगोंवाली रसहरणशील किरणें **रथे**=रथ में **वहन्ति**=धारण करती हैं। वह तू **शोचिष्केशम्**= देदीप्यमान किरणरूप केशोंवाला है। २. सूर्य की किरण सात प्रकार की हैं। इसी से सूर्य 'सप्ताश्व' है। ये सात किरणें सात प्राणशक्तियों को अपने में धारण करती हैं और ये किरणें इस प्राणशक्ति को हमारे शरीररूप रथ में प्राप्त कराती हैं। इसी प्रकार ये किरणें हमें नीरोग बनानेवाली होती हैं। यह सूर्य शोचिष्केश है। इसकी किरणें हमारी छाती पर पड़ती हैं तो ये अन्दर प्रविष्ट होकर सब रोगकृमियों का संहार करती हैं और हमारे शरीरों का शोधन कर डालती हैं। रोग-हरण करने से भी ये किरणें 'हरित' हैं। इनकी संख्या सात है। वस्तुतः सम्पूर्ण प्राणशक्ति सात भागों में ही विभक्त है। सूर्य अपनी इन किरणों के द्वारा हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का सञ्चार करता है।

भावार्थ—सूर्य सप्ताश्व है। सात प्रकार के प्राणों को हमारे शरीर में सञ्चारित करता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य चङ्क्रमण

अयु॑क्त स॒प्त शु॒न्ध्युवः॒ सूरो॒ रथ॑स्य न॒प्त्यः॑। ताभि॑र्याति॒ स्वयु॑क्तिभिः॥ ९॥

१. **सूरः**=सूर्य **रथस्य**=हमारे शरीररूपी रथों की **नप्त्यः**=न गिरने देनेवाली **सप्त**= सात **शुन्ध्युवः**=शोधक किरणों को **अयुक्त**=रथ में जोतता है। सूर्य की किरणें सात रंगों के भेद से सात प्रकार की हैं। ये हमारे शरीर में प्राणशक्ति का सञ्चार करके हमारे शरीरों का शोधन करती हैं और उन शरीरों को गिरने नहीं देतीं, अर्थात् क्षीणशक्ति नहीं होने देतीं। २. यह सूर्य **ताभिः**=उन **स्वयुक्तिभिः**=अपने रथ में जुते हुए किरणरूप अश्वों के साथ **याति**=अन्तरिक्ष में आगे और आगे चलता है।

भावार्थ—सूर्य अपनी सातों किरणों के साथ अन्तरिक्ष में आगे-आगे चल रहा है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्नि-विद्युत्-सूर्य

उद्व॒यं तम॑स॒स्परि॒ ज्योति॒ष्पश्य॑न्त॒ उत्त॑रम्।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम्॥ १०॥

१. **वयम्**=हम **तमसः**=अन्धकार से **परि**=परे **उत्**=उत्कृष्ट ज्योति अग्नि को तथा

उत्तरम्=उद्गततर ज्योति, अधिक उत्कृष्ट **ज्योतिः**=विद्युत् को **पश्यन्तः**=देखते हुए **देवं देवत्रा**=देवों में भी देव, प्रकाशमान पदार्थों में भी प्रकाशमान **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम ज्योति **सूर्यम्**=सूर्य को **अगन्म**=प्राप्त हों। २. हम अग्नि का ज्ञान प्राप्त करें, विद्युत्-तत्त्व को समझने का यत्न करें और सूर्य के विज्ञान को अपनाएँ। ये ही तीन ज्योतियाँ अध्यात्म में शरीर, हृदय व मस्तिष्क में निवास करती हैं। इन ज्योतियों के अध्यात्म में ठीक कार्य करने पर हमारी वाणी, मन व मस्तिष्क सभी सुन्दर होते हैं।

भावार्थ—अग्नि उत्कृष्ट ज्योति है, विद्युत् उत्कृष्टतर है और सूर्य उत्कृष्टतम है। ये क्रमशः पार्थिव, अन्तरिक्ष व दिव्य ज्योतियाँ हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

हृद्रोग व हरिमा

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥ ११॥

१. **मित्रमहः सूर्य**=हे रोगों व मृत्यु से त्राण करनेवाली दीप्ति से युक्त सूर्य! (प्रमीतेः त्रायते, महस्=तेज), **अद्य**=आज **उद्यन्**=उदय होते हुए और **उत्तरां दिवं आरोहन्**=ऊपर द्युलोक में आरोहण करते हुए **मम**=मेरे **हृद्रोगम्**=हृद्गत रोग को, हृदय-सम्बन्धी रोग को (Heart disease) **च**=और **हरिमाणम्**=पीलिया रोग (Jaundice) के कारण उत्पन्न चेहरे के वैवर्ण्य को **नाशय**=नष्ट कीजिए। २. सूर्य का तेज हृद्रोग व हरिमा का नाशक है। प्रातः व सायं सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठने से सूर्यकिरणें हमारे इन रोगों को नष्ट करती हैं। वर्तमान में हृद्रोग की अधिकता का यही कारण है कि हमारे जीवनों में सूर्यसम्पर्क में बैठने का क्रम नहीं रहा।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं अवश्य सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठें ताकि हम हृद्रोग व हरिमा से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

हरिमा निराकरण

शुकेषु मे हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि।
अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं नि दध्मसि॥ १२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सूर्याभिमुख बैठकर ध्यान करते हुए हम **मे हरिमाणम्**=अपनी हरिमा=रोग के कारण उत्पन्न होनेवाली चेहरे की इस पीतिमा को **शुकेषु रोपणाकासु**=तोतों व मैनाओं में **दध्मसि**=स्थापित कर सकते हैं। यह पीतिमा (yellowish green colour) तोतों व मैनाओं में ही शोभा देती है। इसका स्थान हमारा चेहरा थोड़े ही है? २. **अथ**=और अब **मे हरिमाणम्**=हम अपनी इस हरिमा को **हारिद्रवेषु**=हरिताल द्रुम के पत्तों में **निदध्मसि**=निश्चय से स्थापित करते हैं। इस हरिमा का स्थान हरिताल द्रुम ही हैं, मेरे चेहरे का सम्बन्ध इस हरिमा से नहीं है। यह हरिमा वहीं रहे, मुझे पीड़ित करनेवाली न हो। ३. 'शुक' शब्द शिरीष वृक्ष का वाचक भी है और 'हारिद्रव' कदम्ब वृक्ष का। यह भी सम्भव है कि इन वृक्षों के पत्तों आदि का प्रयोग हरिमा रोग को दूर करने के लिए उपयोगी हो। उस समय 'रोपणाका' (Healing application) लेपविशेष की प्रक्रिया का नाम होगा। शिरीष व कदम्ब वृक्षों का

लेप-सा बनाकर प्रयोग होना सम्भव है।

भावार्थ—उचित उपचार से हमारा यह हरिमा रोग दूर हो और हम पुनः कान्ति-सम्पन्न बन पाएँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः काण्वः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

द्विषद्-रन्धन

उद॑गाद॒यमा॑दि॒त्यो विश्वे॑न॒ सह॑सा स॒ह।
द्वि॒षन्तं॒ मह्यं॑ र॒न्धय॑न्मो अ॒हं द्वि॑ष॒ते र॑धम्॥ १३॥

१. **अयं आदित्यः**=रोगों से हमारा खण्डन न होने देनेवाला यह सूर्य **विश्वेन**=सम्पूर्ण **सहसा**=रोगों को पराभूत करनेवाले बल के **सह**=साथ **उद् अगात्**=उदय होता है। उदय होता हुआ यह सूर्य **मह्यं द्विषन्तं रन्धयन्**=मेरे लिए द्वेष करते हुए रोगों को नष्ट करता है, **उ**=और **अहम्**=मैं **द्विषते**=इस द्वेष करनेवाले रोग के लिए **मा रधम्**=हिंसित न हो जाऊँ।

भावार्थ—उदय होते हुए सूर्य की किरणों में वह शक्ति है जो हमारे अप्रिय रोगों का नाश करती है और हमें उन रोगों का शिकार नहीं होने देती।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार होता है कि सूर्योदय होता है और सब पदार्थ ठीक रूप में दिखने लगते हैं (१)। हमारे जीवनों में जब ज्ञान-सूर्य उदय होता है तब वासना-नक्षत्र अस्त हो जाते हैं (२)। ज्ञान-सूर्य के उदय होते ही बुराइयाँ अन्धकार के समान विलीन हो जाती हैं (३)। यह सूर्य हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को स्वस्थ करता है (४)। इस सूर्य में प्रभु की महिमा दिखती है (५)। परार्थ-प्रवृत्त लोग सूर्य से हित प्राप्त करते हैं (६)। यह सूर्य ही दिन-रात्रि के निर्माण से हमारा पालन कर रहा है (७)। अपनी सात किरणों से सप्तविध प्राणशक्ति का यह हममें सञ्चार करता है (८)। इन सातों किरणों के साथ यह अन्तरिक्ष में आगे और आगे चल रहा है (९)। यह सूर्य उत्कृष्टतम ज्योति है (१०)। यह हृद्रोग व हरिमा को दूर करता है (११)। अपने सहस् द्वारा हमारे अप्रिय रोगों का नाश करता है (१३)। सूर्य के सम्पर्क में रहता हुआ यह ऋषि 'आंगिरस', अङ्ग-अङ्ग में रसवाला बनता है और अपने में शक्तियों का उत्पादन करनेवाला 'सव्य' कहलाता है। यह अपने को पूर्ण स्वस्थ बनाकर प्रभु की ओर अग्रसर होता है।

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वसु का अर्णव

अ॒भि त्यं मे॒षं पु॑रुहू॒तमृ॒ग्मिय॒मिन्द्रं॑ गी॒र्भिर्म॑दता॒ वस्वो॑ अर्ण॒वम्।
यस्य॒ द्यावो॒ न वि॒चर॑न्ति॒ मानु॑षा भु॒जे मंहि॑ष्ठम॒भि विप्र॑मर्चत॥ १॥

१. **मेषम्**=(मेषति=sprinkles) सुखों का सेचन करनेवाले, **पुरुहूतम्**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी **ऋग्मियमम्**=(ऋग्भिर्मीयते) विज्ञानों के द्वारा जिसकी महिमा का ज्ञान होता है, **त्यम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **अभिमदत**=प्रातः-सायं हर्षित करो। 'अभि' का शब्दार्थ दोनों ओर है। दिन का एक सिरा 'प्रातः' है और दूसरा 'सायम्'। हमें चाहिए कि हम प्रातः-सायं दोनों समय ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करते हुए

प्रभु को प्रीणित करनेवाले बनें। वे प्रभु हमपर सुखों का सेचन करते हैं। हम जब भी प्रभु को पुकारते हैं तब वह पुकार हमारा पालन व पूरण करनेवाली होती है। इस प्रभु की महिमा का दर्शन हम तभी करते हैं जब हम विविध विज्ञानों का अध्ययन करते हैं। ये प्रभु परमैश्वर्यशाली हैं। २. ये प्रभु **वस्वः अर्णवम्**=निवास के लिए सब आवश्यक धनों के समुद्र हैं। हम उस प्रभु का प्रीणन करें **यस्य**=जिस प्रभु के **मानुषा**=मानव-हितकारी कर्म **विचरन्ति**=सर्वत्र उसी प्रकार फैले हुए हैं **न द्यावः**=जैसेकि सूर्य की किरणें सर्वत्र फैली हैं। ३. हमें चाहिए कि **भुजे**=(भुज पालने) अपने रक्षण के लिए **मंहिष्ठम्**=दातृतमम्=सब पदार्थों के सर्वोत्तम दाता **विप्रम्**=विशेष रूप से हमारा पूरण करनेवाले उस प्रभु का **अभि अर्चत**=प्रातः-सायं अर्चन करें। वस्तुतः उस प्रभु का उपासन ही हमें वह शक्ति प्राप्त कराता है, जो शक्ति हमारा पालन व पूरण करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्रातः-सायं प्रभु का उपासन जीवन की कल्याणमयता व पूर्णता के लिए आवश्यक है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मदच्युत्-शतक्रतु

अभीमवन्वन्त्स्वभिष्टिमूतयोऽन्तरिक्षप्रां तविषीभिरावृतम्।
इन्द्रं दक्षास ऋभवो मदच्युतं शतक्रतुं जवनी सूनृतारुहत्॥ २॥

१. **ऊतयः**=मन को वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले, अर्थात् मन को निर्मल बनानेवाले, **दक्षासः**=बल के बढ़ानेवाले, अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति का वर्धन करनेवाले **ऋभवः**=(उरु भान्ति) मस्तिष्क को दीप्त करनेवाले मरुत्, अर्थात् प्राण **इन्द्रं अभि ईम् अवन्वन्**=वासनाओं—वृत्रों से युद्ध करनेवाले जीव को निश्चयपूर्वक आभिमुख्येन सेवित करते हैं, अर्थात् वासना-संग्राम में प्राण जीव के सहायक होते हैं। प्राणसाधना से ही तो वासनाओं का क्षय होता है **योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**। (यो० सूत्र)—वासना-क्षय होकर ज्ञान की दीप्ति होती है और मनुष्य विवेकशील होता है। २. कैसे इन्द्र को? **स्वभिष्टिम्**=(शोभनाभ्येषणवन्तम्—सा०) उत्तमता से वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले को, **अन्तरिक्षप्राम्**=(अन्तरा क्षि, प्रा पूरणे) सदा मध्यमार्ग में चलने के द्वारा अपना पूरण करनेवाले को, अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले को, **तविषीभिः**=बलों से आवृत्त को, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति-सम्पन्न को, इतना होने पर भी **मदच्युतम्**=गर्व को अपने से दूर रखनेवाले को और अन्त में **शतक्रतुम्**=सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय जीवन बितानेवाले को, सदा कर्मशील को। वस्तुतः यहाँ 'स्वभिष्टि' आदि शब्दों में सर्वत्र प्राणसाधना करनेवाले लोगों का सङ्केत है। प्राणसाधना से ही जीव इस स्थिति को प्राप्त हो सकता है। ३. सबसे बढ़कर बात यह है कि इस प्राणसाधना को **जवनी**=सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाली, उत्तम कार्यों में प्रेरित करनेवाली **सूनृता**=प्रिय, सत्यात्मिका वाणी **आरुहत्**= आरूढ़ होती है, प्राप्त होती है। यह प्रिय सत्य वाणी ही बोलता है।

भावार्थ—हम मन के दृष्टिकोण से 'ऊतय', शरीर के दृष्टिकोण से 'दक्षासः' तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से 'ऋभवः' हों। सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाली सत्य वाणी ही बोलें। 'स्वभिष्टि, अन्तरिक्ष-प्रा, तविषीभिरावृत, मदच्युत व शतक्रतु' बनें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अंगिरस्, अत्रि व विमद

त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरपोतात्रये शतदुरेषु गातुवित्।
ससेन चिद्विमदायावहो वस्वाजावद्रिं वावसानस्य नर्तयन्॥ ३॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अंगिरोभ्यः**=अंगिरा ऋषियों के लिए **गोत्रम्**=वेदवाणीरूप ज्ञानराशि को **अप अवृणोः**=अपावृत करते हो। जब हम सोम के संयम द्वारा अपने शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रसमय बनाते हैं तभी हम वेदज्ञान के अधिकारी होते हैं। २. **उत**=और हे प्रभो! आप **अ-त्रये**=काम-क्रोध-लोभ—इन तीनों से ऊपर उठनेवाले के लिए **शतदुरेषु**=शत अर्थात् सैकड़ों द्वारोंवाले इस शरीर में निवास करने के समय **गातुवित्**=मार्ग दिखलानेवाले हैं। ३. **विमदाय**=मदशून्य पुरुष के लिए **ससेन**=(सस्येन, ससं, नमः, आयुः=अन्न—नि०) वानस्पतिक भोजनों के द्वारा **वसु**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को **आवह**=प्राप्त कराते हो। मांस-भोजन मनुष्य को क्रोध, अहंकार व ईर्ष्या-द्वेष की ओर ले-जानेवाला है। ४. अंगिरस् बनने पर हमारे लिए वेदवाणी का प्रकाश होता है। इससे हम जीवन के कर्तव्य-मार्ग को देखकर 'अत्रि' बनते हैं। हमें इसी वेदज्ञान से यह भी ज्ञात होता है कि हमें मांस के सेवन से दूर रहना है। यह वानस्पतिक भोजन हमें 'विमद' बनाता है। **वावसानस्य**='अंगिरस्, अत्रि व विमद' बनकर अपने निवास को उत्तम बनानेवाले इस पुरुष के **अद्रिम्**=अविद्या के पर्वत को **आजौ**=वासनाओं के साथ सतत-संग्राम होने पर वे प्रभु **नर्तयन्**=नचा देते हैं, अर्थात् हिला देते हैं। प्रभुकृपा से इस अविद्या-पर्वत के हिल जाने पर हमारा जीवन अविद्यामूलक क्लेशों से भी रहित हो जाता है।

भावार्थ—हम अंगिरस् बनकर वेदज्ञान को प्राप्त करें, अत्रि बनकर मार्गद्रष्टा हों, विमद बनकर वसु को प्राप्त हों, वावसान बनकर अविद्या-पर्वत को हिला दें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दानुमत् वसु

त्वमपामपिधानावृणोरपाधारयः पर्वते दानुमद्वसु।
वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिमादित्सूर्यं दिव्यारोहयो दृशे॥ ४॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अपाम्**=प्रजाओं की **अपिधाना**=आवरणभूत वासनाओं को **अपावृणोः**=दूर करते हैं। मानव-जीवन सदा विविध वासनाओं से आवृत-सा हुआ रहता है। प्रभुकृपा होती है तो यह वासनाओं का आवरण दूर हो जाता है। २. हे प्रभो! आप ही **पर्वते**=(पूरयितव्ये) सदा पूरण होने के योग्य इस पुरुष में **दानुमत् वसु**=शोभन दान से युक्त धन को **अपाधारयः**=धारण करते हैं। मनुष्य में अल्पता के कारण, कमी स्वभावतः ही आ जाती है। मनुष्य को सदा ही 'अभ्यास व वैराग्य' आदि उपायों से अपना पूरण करना होता है। इसी से मनुष्य को यहाँ 'पर्वत'=पूरयितव्य कहा है। धन उन्नति में सहायक है, परन्तु दानादि से रहित होने पर यही धन लोभवृद्धि का कारण बन जाता है। प्रभु धन देते हैं, साथ ही दान की वृत्ति भी देते हैं। ३. प्रभु जीव को निर्देश करते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले पुरुष! **यत्**=जब **शवसा**=गति के द्वारा, सदा कर्म में लगे रहने के द्वारा (शवतिर्गतिकर्मा) **अहिम्**=(आहन्तारम्) सब प्रकार से हिंसा करनेवाले **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणरूप वृत्र को **अवधीः**=तू

नष्ट करता है **आत् इत्**=तब ही **दृशे**=तत्त्वदर्शन के लिए अथवा आत्म- साक्षात्कार के लिए **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **आरोहयः**=तू आरूढ़ करता है। वासनारूप मेघ का आवरण हटने पर ही तो ज्ञान के सूर्य का प्रकाश चमकेगा।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी वासना विनष्ट हो। हमें ज्ञान प्राप्त हो और हम दानयुक्त धन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मायी vs ऋजिश्वा

त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि शुप्तावजुह्वत।
त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ॥ ५॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **मायिनः**=मायायुक्त, छल-छिद्र से युक्त व्यवहार करनेवाले पुरुष को **मायाभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा **अप, अधमः**=दूर सन्तप्त करते हैं (माया शची इति प्रज्ञानाम-नि०) अथवा **मायाभिः**=माया के द्वारा ही **अपाधमः**=दूर करते हैं। मायावी पुरुषों को जब दूसरे मायावी पुरुषों से टक्कर मिलती है तब वे इस माया की निरर्थकता व हेयता का अनुभव करते हैं। २. ये मायावी पुरुष वे हैं **ये**=जो **स्वधाभिः**=अन्नों के द्वारा **अधिशुप्तौ**=खूब शोभायमान अपने मुखों में ही **अजुह्वत्**=आहुति देते हैं, इसीलिए इनका 'असुर' नाम पड़ गया। **'स्वेष्वास्येषु जुह्वतश्चेरुः'**— ये अपने ही मुखों में आहुति देते हुए विचरण करते थे। वस्तुतः इतना अधिक स्वार्थ न होने की स्थिति में छल-छिद्र की आवश्यकता ही नहीं होती। स्वार्थ के बढ़ने पर ही हमारा झुकाव मायायुक्त कार्यों की ओर होता है। ३. हे **नृमणः**=(नृषु मनो यस्य) लोकहित के विचार से परिपूर्ण प्रभो! **त्वम्**=आप **पिप्रोः**=इस निरन्तर अपना ही पूरण करनेवाले पिप्रु की **पुरः**=नगरियों को **प्रारुजः**=छिन्न-भिन्न कर देते हो। इसके किलों को तोड़ देते हो। इनकी शक्ति के नष्ट होने से ही सामान्य जनता का कल्याण सम्भव होता है, अन्यथा ये मायावी—आसुरवृत्ति के पुरुष अपने स्वार्थ के लिए सदा ही समाज की हानि करते रहते हैं। ४. हे प्रभो! **दस्यु-हत्येषु**=इन दस्युओं की हत्या होने पर **ऋजिश्वानम्**=(श्वि गतौ) ऋजु—सरल मार्ग से चलनेवाले पुरुषों का आप **प्राविथ**=प्रकर्षेण रक्षण करते हो। ५. राष्ट्र में राजा का भी यह कर्तव्य है कि वह मायावी पुरुषों को दण्डित करके सामान्य प्रजा को व्यर्थ की हानियों से बचाए।

भावार्थ—हम 'मायावी-पिप्रु-दस्यु' न बनें। 'ऋजिश्वा' बनकर प्रभुरक्षण के पात्र हों।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'शुष्ण, शम्बर व अर्बुद' का संहार

त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे॥ ६॥

१. 'शुष्ण' काम-असुर का नाम है। यह मनुष्य का शोषण करनेवाला है। काम से शक्ति का क्षय होकर मनुष्य का शोषण हो जाता है। 'कुत्स' वह ऋषि है जो काम की हिंसा के लिए सदा यत्नशील होता है ('कुथ' हिंसायाम्), परन्तु यह कुत्स स्वयं काम को थोड़े ही जीत पाता है! **'त्वया ह स्विद् युजा वयम्'**=उस प्रभु से मिलकर ही यह उसका संहार

करता है, अतः कहते हैं—हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **शुष्णहत्येषु**=इस शोषक कामासुर का संहार होने पर **कुत्सम्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले इस ऋषि को **आविथ**=सुरक्षित करते हो। २. शम्बर शान्ति को आवृत कर डालनेवाला असुर है। यह 'राग-द्वेष, घृणा व क्रूरता' के रूप में मनुष्य में उद्भूत होता है। हे प्रभो! आप **अतिथिग्वाय**=अतिथिग्व के लिए **शम्बरम्**=इस शम्बरासुर को **अरन्धयः**=नष्ट कर डालते हैं, चीर-फाड़ देते हैं (to rend)। अतिथिग्व वह व्यक्ति है जोकि 'विद्वान् व्रात्य' अतिथियों के स्वागत के लिए सदा गतिशील होता है। वस्तुतः जिस घर में 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' विद्वान् आते-जाते रहते हैं, उस घर में लोगों की मनोवृत्ति ईर्ष्या-द्वेष से मलिन नहीं होती। ३. 'अर्बुद' (अर=Little बुन्दति Sees) वह असुर है जो औरों को सदा छोटा ही देखता है, अपने को बड़ा मानता है। एवं, जिस व्यक्ति में अभिमान कूट-कूटकर भरा हो वही 'अर्बुद' है। हे प्रभो! आप **महान्तं चित् अर्बुदम्**=धन-धान्यादि के दृष्टिकोण से अत्यन्त बढ़े हुए भी इस अभिमानी पुरुष को **पदा निक्रमीः**=पाँवों तले कुचल देते हो। यह उक्ति ही बन गई है कि 'अभिमानी का सिर नीचा' (Pride goeth before a fall) ४. इस प्रकार हे प्रभो! आप **सनात् एव**=सदा से ही **दस्युहत्याय**=इन काम, ईर्ष्या व अभिमान' आदि नाशक वृत्तियों के ध्वंस के लिए **जज्ञिषे**=होते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'काम, ईर्ष्या व अभिमान' से ऊपर उठें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

काम का वृश्चन

त्वे विश्वा तविषी सध्र्यग्घिता तव राधः सोमपीथाय हर्षते।
तव वज्रश्चिकिते बाह्वोर्हितो वृश्चा शत्रोरव विश्वानि वृष्ण्या॥ ७॥

१. हे प्रभो! **त्वे**=आपमें **विश्वा तविषी**=सम्पूर्ण बल **सध्र्यक्** (सहाञ्चति)=साथ गति करनेवाला होकर **हिता**=निहित है, आप सर्वशक्तिमान् हैं। २. **तव राधः**=आपकी अराधना करनेवाला (राध+अच्) **सोमपीथाय**=सोम के रक्षण के लिए **हर्षते**=उत्कण्ठित होता है। वस्तुतः सोम के रक्षण से ही प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अनुभव होता है। ३. हे प्रभो! **तव वज्रः**=आपका यह वज्र **बाह्वोः हितः**=भुजाओं में रखा हुआ **चिकिते**= जाना जाता है। आपने हमारी भुजाओं में क्रियाशीलता को रखा है। यह क्रियाशीलता ही वह वज्र है (वज् गतौ) जोकि अशुभ वृत्तिरूप असुरों का संहार करता है। ४. आप कृपा करके **शत्रोः**=हमारा शातन व संहार करनेवाले कामादि असुरों के **विश्वानि वृष्ण्या**=सब बलों को **अववृश्च**=सुदूर विनष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम सदा क्रियाशील बने रहें। क्रियाशीलता से हम अशुभ वृत्तियों की शक्ति को क्षीण करनेवाले हों।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

राजा का कर्तव्य

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥ ८॥

१. गतमन्त्र में वर्णन था कि प्रभुकृपा से हमारे शत्रु नष्ट होते हैं। राष्ट्र में राजा का भी यह कर्तव्य होता है कि वह दस्युओं का नाश और आर्यों का रक्षण करे। वस्तुतः राजा प्रभु का प्रतिनिधि ही होना चाहिए। राजा के द्वारा प्रभु प्रजा का कल्याण करते हैं, इसीलिए राजा के लिए कहा गया है कि **'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'**—राजा तो नररूप में महादेव ही है। उस राजा के लिए प्रभु कहते हैं कि हे राजन्! तू **आर्यान् विजानीहि**=अपने राष्ट्र के आर्यपुरुषों को जान। 'ऋ गतौ' से बना आर्य शब्द यह संकेत करता है वह अपने कर्म में सदा लगा रहे। २. हे राजन्! तू उन पुरुषों को **च**=भी जान **ये दस्यवः**=जो दस्यु हैं—जो निर्माणात्मक कार्यों में न लगकर ध्वंसात्मक कार्यों में ही रुचि रखते हैं। ३. आर्यों और दस्युओं को जानकर तू **शासत्**=शासन करता हुआ **बर्हिष्मते**=यज्ञशील पुरुषों के लिए **अव्रतान्**=कुत्सित कर्मों में लगे हुए पुरुषों को **रन्धय**=विनष्ट कर। तेरे राष्ट्र में अव्रती पुरुषों की प्रबलता न हो जाए। 'यज्ञशील पुरुष ही राष्ट्र में फूलें-फलेंगे' तभी तो राष्ट्र का उत्थान होगा। ४. **शाकी भव**=हे राजन्! तू राष्ट्र के शासन के लिए शक्तिशाली बन। निर्बल राजा के राष्ट्र में तो 'मात्स्यन्याय' ही प्रवृत्त होता है। हे राजन्! तू शक्तिशाली बनकर शासन करता हुआ **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुषों का **चोदिता**=प्रेरक बन, उन्हें उत्साहित करनेवाला हो। ५. **सधमादेषु**=(सह माद्यन्ति अत्र) मिलकर प्रसन्नतापूर्वक स्तवनादि कार्यों को करने के स्थलों में **ते**=तेरे **ता**=उन 'दस्यु-रन्धन व यजमान-वर्धन' आदि **विश्वा इत्**=सभी कार्यों को **चाकन**=दीप्त करते हैं, अर्थात् उन कार्यों का शंसन करते हैं। सज्जनों की रक्षा व दस्युओं के दूरीकरण से ही राजा प्रशंसित होता है। एक शब्द में राजा का कार्य 'प्रजा-पालन' ही तो है। इस प्रजा-पालन के लिए उसे राष्ट्र के भीतर के दस्युओं को दण्ड देना होता है और प्रजा-पालन के लिए ही राष्ट्र के बाह्य शत्रुओं से युद्ध आवश्यक हो जाता है। सब दण्डन व युद्ध प्रजा-पालन के उद्देश्य से ही होते हैं। इस कर्तव्य को शक्तिशाली शासक ही निभा सकता है।

भावार्थ—राजा अपने को प्रभु का प्रतिनिधि समझे और राष्ट्र में आर्यों के वर्धन के लिए दस्युओं को दण्डित करे। वह शक्तिशाली बने, जिससे सभाओं में सर्वत्र उसके कार्यों का प्रशंसन ही हो।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

आदर्श शासक

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतानाभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः।
वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो वि जघान संदिहः॥ ९॥

१. राष्ट्र में **अनुव्रताय**=अनुकूल व्रतवालों के लिए, राष्ट्र के नियमों के अनुसार चलनेवालों के लिए **अपव्रतान्**=नियम भंग करनेवाले पुरुषों को **रन्धयन्**=नष्ट करता हुआ, पीड़ित करता हुआ और २. **आभूभिः**=(आभिमुख्येन भवन्तीति आभुवः स्तोतारः—सा०) अपने को सदा प्रभु के समक्ष जानकर उत्तम कार्य ही करनेवाले स्तोताओं के हेतु से **अनाभुवः**=(न आभिमुख्येन भवन्ति) नास्तिक व आसुरीवृत्तिवाले लोगों को **श्नथयन्**=हिंसित करता हुआ **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक तथा स्वयं जितेन्द्रिय राजा ३. **वृद्धस्य चित्**=बढ़े हुए भी राष्ट्र का **वर्धतः**=वर्धन करनेवाले पुरुष का तथा **द्याम्, इनक्षतः**=(इनक्षतिर्गत्यर्थः) प्रकाश व ज्ञान के मार्ग पर चलनेवाले का **स्तवानः**=स्तवन करता हुआ, अर्थात् इनको उचित प्रशंसा प्राप्त कराता हुआ और इस प्रकार **वर्धितः**=(विशेष्ये) राष्ट्र का उपचय करनेवाला **वम्रः**=उद्गिरणशील,

अर्थात् प्रजा से लिये हुए कर का प्रजाहित के लिए ही दे डालनेवाला राजा **विजघान**=राष्ट्र के शत्रुओं का नाश करता है (हन् हिंसा) अथवा विशिष्ट गतिवाला होता है (हन् गतौ)।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में 'अनुव्रत', 'आभू' पुरुषों का रक्षण करे, राष्ट्रवर्धक ज्ञानियों को प्रशंसित करे। राष्ट्रवर्धन के लिए ही सम्पूर्ण कर-प्राप्त धन का विनियोग करे। ऐसा ही राजा राष्ट्र के शत्रुओं का नाशक व उत्तम गतिवाला होता है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ज्ञान व यश की ओर

तक्षद्यत्त उशना सहसा सहो वि रोदसी मज्मना बाधते शवः।
आ त्वा वातस्य नृमणो मनोयुज आ पूर्यमाणमवहन्नभि श्रवः॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जिस समय राजा अपव्रतों को दूर करके अनुव्रतों को उत्तम परिस्थिति प्राप्त कराता है, तब **यत्**=यदि **उशना**=सर्वलोकहित की कामनावाला वह प्रभु **सहसा**=सब बुराइयों का पराभव करनेवाले बल के द्वारा **ते सहः**=तेरे बल को **तक्षत्**=तीव्र करता है, तो **शवः**=तेरा यह बल **मज्मना**=अपनी शोधक शक्ति से (मस्ज् शुद्धौ) **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **विबाधते**=विशिष्ट रूप से आलोडित करनेवाला होता है। सारा संसार भी उसके विरोध में हो तो भी वह पराजित नहीं होता और सम्पूर्ण संसार में एक हलचल मचा देता है, जोकि संसार का शोधन करनेवाली होती है। २. हे **नृमणः**=(नृषु मनो यस्य) लोकहित की भावनायुक्त मनवाले! **त्वा**=शोधक शक्ति से संसार को आलोडित करनेवाले तुझे **आपूर्यमाणम्**=प्रभु के द्वारा शक्ति से पूर्ण किये जाते हुए तुझे **वातस्य**=आत्मा के **मनोयुजः**=मन से युक्त ये इन्द्रियरूप अश्व **श्रवः अभि**=ज्ञान व यश के प्रति **आवहन्**=प्राप्त करानेवाले हों। आत्मा को यहाँ 'वात' शब्द से कहा गया है। 'वा' धातु से 'वात' शब्द बना है, 'अत्' धातु से 'आत्मा'। दोनों धातुओं का अर्थ गति है। आत्मा को स्वाभाविक रूप से गतिशील होना ही चाहिए। यह आत्मा रथी है। इसके शरीररूप रथ में इन्द्रियरूप अश्व जुते हैं। ये इन्द्रियरूप अश्व मनरूपी लगाम से युक्त हैं। जब ये घोड़े लगाम द्वारा काबू में होते हैं, तब ये ज्ञान और उत्तम कर्मों द्वारा यश का वर्धन करनेवाले होते हैं। ३. यह सब होता तभी है जब सबका हित चाहनेवाले प्रभु अपने बल से जीव को बलयुक्त करते हैं। प्रभु के तेज से तेजस्वी बनकर यह प्रभुभक्त अपने जीवन को तो शुद्ध बनाता ही है, इसी बल के द्वारा यह सम्पूर्ण संसार में भी उस हलचल को पैदा करता है, जो सारे संसार की शोधक होती है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम तेजस्वी बनकर, शोधक बल से संसार को शुद्ध करनेवाले हों। वशीभूत इन्द्रियाँ हमें ज्ञान व यश की ओर ले-चलें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

शुष्णासुर-पुरी का विनाश

मन्दिष्ट यदुशने काव्ये सचाँ इन्द्रो वङ्कू वङ्कुतराधि तिष्ठति।
उग्रो ययिं निरपः स्रोतसासृजद्वि शुष्णस्य दृंहिता ऐरयत्पुरः॥ ११॥

१. **यत्**=जब **उशने**=प्राणिमात्र के हित की कामना करनेवाले **काव्ये**=क्रान्तदर्शी प्रभु में यह **मन्दिष्टः**=आनन्द का अनुभव करता है। सम्पूर्ण चित्तवृत्ति को एकाग्र करके प्रभु में स्थित होने पर समाधिस्थ व्यक्ति को अवर्णनीय आनन्द का अनुभव होता ही है। २. **सचान्**=उस प्रभु

के साथ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वंकू वंकुतरा**=कुटिल से भी कुटिल मार्गों पर जानेवाले भी इन इन्द्रियाश्वों को **अधितिष्ठति**=काबू कर लेता है। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। विषयों में प्रवृत्त इन इन्द्रियों को रोकना सुगम नहीं; परन्तु जब जीव उस प्रभु के साथ होता है तब उस प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होकर यह इन इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाला होता है। ३. प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बना हुआ यह **उग्रः**=बड़ा तेजस्वी होता है। तेजस्वी बनकर **ययिम्**=मार्ग को [यायतेऽस्मिन्] **निः**=निश्चय से **स्रोतसा**=उस मूलस्रोत प्रभु के साथ **असृजत्**=जोड़ता है, अर्थात् उस मार्ग पर चलता है जो प्रभु की ओर ले-जाता है। ४. इस प्रकार **अपः**=कर्मों को भी उस मूलस्रोत प्रभु से जोड़ता है, अर्थात् सब कर्मों का कर्त्ता उस प्रभु को ही मानता है। उस प्रभु की शक्ति से होते हुए इन कार्यों के कर्तृत्व का वह अहंकार नहीं करता। नर बनकर कार्यों को करता है। अपने को प्रभु का निमित्तमात्र जानता है। ५. इस प्रकार निरहंकार होकर यह **शुष्णस्य**=ईर्ष्या, द्वेष, क्रोधरूप शोषक असुर के **दृंहिता पुरः**=सुदृढ़ नगरों को **वि ऐरयत्**=विशेष रूप से कम्पित कर देता है। अंहकारशून्य होने पर इसे कर्मफल की कामना नहीं रहती। इस फल की भावना के अभाव में ईर्ष्या-द्वेषादि सम्भव ही नहीं रहती।

भावार्थ—हम प्रभु में स्थित होकर आनन्द का अनुभव करें। प्रभु के साथ मिलकर इन अत्यन्त चंचल इन्द्रियों को वशीभूत करें। तेजस्वी बनकर प्रभु के मार्ग पर चलें। सब कर्मों का प्रभु के प्रति अर्पण करें। फल की इच्छा से ऊपर उठकर ईर्ष्या-द्वेषादि के दृढ़ किलों को भी तोड़ डालें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सोमरक्षण के साधन व परिणाम

आ स्मा रथं वृषपाणेषु तिष्ठसि शार्यातस्य प्रभृता येषु मन्दसे।
इन्द्र यथा सुतसोमेषु चाकनोऽनर्वाणं श्लोकमा रोहसे दिवि॥ १२॥

१. गतमन्त्र में जीव के इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने का उल्लेख था। उसी का विस्तार करते हुए कहते हैं कि **वृष-पाणेषु**=सोम के पान के निमित्त **स्म**=निश्चय से **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **आतिष्ठसि**=तू पूर्णरूप से अधिष्ठित करता है। वस्तुतः अपने पर पूर्ण काबू किये बिना शरीर में उत्पन्न सोम का रक्षण सम्भव भी तो नहीं। २. ये सोमकण **शार्यातस्य**=(शरितुं हिंसितुं योग्याः कामादयः, तान् अतति आक्रामति) नष्ट करने योग्य कामादि पर आक्रमण करनेवाले के जीवन में ही **प्रभृताः**=प्रकर्षेण भृत होते हैं। सोमकणों की रक्षा वही कर पाता है जो कामादि पर निरन्तर आक्रमण करके इन्हें नष्ट करने के लिए यत्नशील रहता है। **येषु**=जिन सोमकणों के सुरक्षित होने पर **मन्दसे**=तू हर्ष का अनुभव करता है अथवा जिन सोमकणों की रक्षा के निमित्त तू प्रभु का स्तवन करता है (मन्द्=to praise)। ३. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **यथा**=जैसे तू **सुतसोमेषु**=इन उत्पन्न सोमकणों में **चाकनः**=कामनावाला होता है, उसी प्रकार तू **दिवि**=प्रकाश में **अनर्वाणम्**=हिंसित न होनेवाले **श्लोकम्**=यश को **आरोहसे**=प्राप्त करता है। वस्तुतः जितनी-जितनी सोम की रक्षा होती है, उतना-उतना ही ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है और मनुष्य यशस्वी कार्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम शरीररूपी रथ पर पूर्ण नियन्त्रण रक्खें, कामादि वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले हों, प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले हों। सोमरक्षण का परिणाम होगा कि हमारे ज्ञान का प्रकाश बढ़ेगा और हम यशस्वी जीवनवाले होंगे।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अर्भा-वृचया व मेना की प्राप्ति (विवाहत्रयी)

अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **महते वचस्यवे**=महान् वचस्यु के लिए आपने **अर्भाम्**=अर्भा को **अददाः**=दिया। **सुन्वते कक्षीवते**=सुन्वन् कक्षीवान् के लिए **वृचयाम्**=वृचया को दिया। **मेना**=मेना **वृषणश्वस्य**=वृषणश्व की **अभवः**=हुई। हे **सुक्रतो**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो! **ते**=आपके **ता**=वे **विश्वा इत्**=सारे ही कर्म **सवनेषु**=जीवन के प्रातः, मध्याह्न व सायन्तन सवनों में **प्रवाच्या**=प्रकर्षेण शंसन के योग्य हुए। २. जीवन के प्रातःसवन में—प्रथम २४ वर्षों में हम महान् वचस्युओं को अर्भा प्राप्त हुई। माध्यन्दिन सवन में—अगले ४४ वर्षों में हम 'सुन्वन् कक्षीवान्' बने और वृचया को प्राप्त हुए। सायन्तन सवन में—जीवन के अन्तिम ४८ वर्षों में हम वृषणश्व बनकर मेना को प्राप्त हुए। यह सब उत्तम ही हुआ। ३. प्रातःसवन ब्रह्मचर्यकाल है, बाल्यकाल। उसमें हमें चाहिए कि हम महान् बनें, 'मह पूजायाम्'—पूजा करनेवाले बनें, बड़ों का आदर करें। माता-पिता व आचार्यों को देव समझ उनको मान दें। इस प्रकार आदर देने की भावनावाले होकर वचस्यु बनें, खूब उच्चारण करनेवाले बनें। गुरु व अध्यापक जो कुछ बोलें, उसका अनुवचन करते हुए उस-उस ज्ञान को अपनाने का प्रयत्न करें। प्रभु-कृपा से इस काल में हमें 'अर्भा' की प्राप्ति हो। हम अर्भा=छोटेपन को प्राप्त हों, विनीत बने रहें। जितने विनीत होंगे, उतने ही तो ज्ञानी बनेंगे। **'तद्विद्धि प्रणिपातेन'**—ज्ञान तो प्रणिपात से ही प्राप्त होता है। जिस नल का सिर जलाशय से ऊपर उठा होता है उसमें पानी नहीं आता। इसी प्रकार अकड़नेवाला विद्यार्थी भी ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। ४. जीवन का मध्याह्न गृहस्थकाल है। इसमें हमें सुन्वन्=यज्ञशील बनना है। पञ्चमहायज्ञों को करनेवाला गृहस्थ ही सद्गृहस्थ है। इन यज्ञों को करने के लिए सदा कक्षीवान्=कमर कसे हुए तैयार पर तैयार होना है—आलस्यशून्य। जब विवाह किया (वि-वह) इतना बोझ उठाया तो पुरुषार्थ के लिए कमर तो कसनी ही है। इस सुन्वन् कक्षीवान् को प्रभु **वृचया**=(वृच्=to choose) वरणयोग्य पत्नी प्राप्त करते हैं, तभी तो घर स्वर्ग बनता है। ५. जीवन का सायन्तन सवन 'वानप्रस्थ' है। इस समय भी मुझे 'वृषणश्व' बने रहना है—शक्तिशाली इन्द्रियाश्वोंवाला। वस्तुतः इस समय हम सशक्त होते हैं तभी तो लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त हो सकते हैं। वृषणव बनकर हम मेना को प्राप्त करते हैं ('मन्यते' इति मेना)—अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक बढ़ाते हैं। 'मेना' की भावना (मानयन्ति) उपासना की भी है, प्रभु का शंसन करना। वस्तुतः इस सायन्तन सवन में हमें ज्ञान व शंसन को ही अपनाना है—अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करना और प्रभु का शंसन करना। ६. प्रभुकृपा से हमारा जीवन इसी प्रकार का बनता है और हम प्रभु-शंसन करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो! आपने सचमुच बड़ी कृपा की और हमारे जीवनों को इस प्रकार सुन्दर बनाया।

भावार्थ—हम अपने जीवन में क्रमशः 'अर्भा, वृचया व मेना' को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुस्तवन का महत्त्व

इन्द्रो॑ अश्रायि सु॒ध्यो॑ निरे॒के प॒ज्रेषु॒ स्तोमो॒ दुर्यो॒ न यूपः॑।
अ॒श्व॒युर्ग॒व्यू रथ॒युर्व॑सू॒युरिन्द्र॒ इद्रा॒यः क्ष॑यति प्र॒य॒न्ता॥ १४॥

१. **निरेके**=(नितरां रेचनम्) सब प्रकार के मलों व रोगों के विरेचन व दूरीकरण के लिए **सुध्यः**=(सुष्ठु ध्यातुं योग्यः) उत्तमता से ध्यान करने योग्य **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **अश्रायि**=सेवन किया जाता है। हम उस प्रभु का स्तवन करते हैं जो वस्तुतः ध्यान करने योग्य है, सर्वशक्तिमान् व सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला है। इस प्रभु का स्तवन इसलिए आवश्यक है कि इससे हम नीरोग व निर्मल बन पाएँगे। २. **पज्रेषु**=(पन् स्तुतौ+रक् न=ज) स्तुति करनेवालों में **स्तोमः**=यह प्रभुस्तवन **दुर्यः**=दुर (door) में—द्वार में होनेवाले **यूपः न**= स्तम्भ के समान है। जैसे स्तम्भ द्वार के आधार होते हैं, इसी प्रकार स्तोता के जीवन में प्रभुस्तवन जीवन का आधार होता है। ३. हमसे स्तुति किये गये वे प्रभु ही **अश्वयुः**=(अश्वं यौति) हमारे साथ उत्तम कर्मेन्द्रियों के जोड़नेवाले होते हैं, **गव्युः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों का हमारे साथ सम्पर्क करते हैं, **रथयुः**=वे प्रभु हमें उत्तम शरीररूप रथ को देनेवाले हैं, **वसूयुः**=उत्तम निवासक तत्त्वों व धनों को प्राप्त कराते हैं। ४. **इन्द्रः इत्**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही निश्चय से **रायः क्षयति**=सब धनों के स्वामी हैं (क्षयति=to be master of) **'अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः'**—प्रभु कहते हैं कि सब धनों का मुख्य पति तो मैं ही हूँ। वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **प्रयन्ता**=इन धनों को हमें श्रम व आवश्यकता के अनुसार देनेवाले हैं।

भावार्थ—आधि-व्याधियों के दूरीकरण के लिए प्रभुस्तवन आवश्यक है। प्रभु-स्तवन हमारे जीवन का आधार है। वे प्रभु हमें अश्व, गौवें, रथ व वसु प्राप्त कराते हैं। वे सब धनों के स्वामी हैं और सब धनों के दाता हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु की शरण में

इ॒दं नमो॑ वृष॒भाय॑ स्व॒राजे॑ स॒त्यशु॑ष्माय त॒वसे॑ऽवाचि।
अ॒स्मिन्नि॑न्द्र वृ॒जने॒ सर्व॑वीराः॒ स्मत्सू॒रिभि॒स्तव॒ शर्म॑न्त्स्याम॥ १५॥

१. **इदं नमः**=यह नमन **अवाचि**=हमसे किया जाता है, यह स्तुतिवचन हमसे उच्चारण किया जाता है। उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं जो **वृषभाय**=हमपर सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **स्वराजे**=जो स्वयं देदीप्यमान हैं, जिनकी दीप्ति से सूर्य, विद्युत् व अग्नि देदीप्यमान हो रहे हैं; **सत्यशुष्माय**=जो सत्यबलवाले हैं, जिनका बल कभी भी वितथ व व्यर्थ नहीं होता और जो **तवसे**=अत्यन्त प्रवृद्ध हैं—सब गुणों के दृष्टिकोण से अधिक-से-अधिक बढ़े हुए हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक, सर्वशक्तिमन् प्रभो! **अस्मिन् वृजने**=इस आध्यात्मिक संग्राम में हम **सर्ववीराः**='काम-क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर' नामक सब शत्रुओं का नाश कर सकें। ३. **स्मत्**= उत्तम **सूरिभिः**=विद्वानों के साथ उनके संग में जीवन-यापन करते हुए और इस प्रकार अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए हम **तव**=आपकी **शर्मन्**=शरण में **स्याम**=सदा रहनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह प्रभुस्तवन हमें सब शत्रुओं को कम्पित

करनेवाला बनाये। हम उत्तम विद्वानों के सम्पर्क से ज्ञानवर्धन करते हुए प्रभु की शरण में रहनेवाले बनें।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि वे प्रभु वसु के अर्णव हैं (१)। प्रभु-कृपा से हम शरीर में दक्ष व प्रवृद्ध शक्तिवाले, मन में ऊति=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले तथा मस्तिष्क में 'ऋभु' ज्ञान से दीप्त बनते हैं (२)। हम वेदज्ञान को प्राप्त करें, जीवन-मार्ग के द्रष्टा बनें, वसुओं का अर्जन करें, अविद्या के पर्वत को जड़ से हिला दें (३)। दानयुक्त धनवाले हों (४)। माया से दूर रहते हुए सरल वृत्ति को अपनाएँ (५)। काम, ईर्ष्या व अभिमान से ऊपर उठें (६)। क्रियाशीलता से अशुभ वृत्तियों की शक्ति को क्षीण करनेवाले हों (७)। हमारे राष्ट्र में राजा आर्यों के वर्धन के लिए दस्युओं को उचित रूप से दण्डित करे (८)। राजा अनुव्रतों के वर्धन के लिए अपव्रतों को समाप्त करने का यत्न करे (९)। इस सुव्यवस्थित राष्ट्र में हम ज्ञान व यश की ओर चलें (१०)। प्रभु-उपासना के द्वारा कुटिलता से दूर हों (११)। सोम-रक्षण के द्वारा ज्ञान व यश को बढ़ाएँ (१२)। जीवन के तीन सवनों में हमारा क्रमशः 'अर्भा, वृचया व मेना' से सम्पर्क हो (१३)। प्रभु-स्तवन द्वारा आधि-व्याधियों को दूर करें (१४)। विद्वानों के सम्पर्क से प्रभु की शरण में रहने के अभ्यासी हों (१५)। 'हम अपने शरीररूप रथ को प्रभु की ओर ले-चलें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुमेष-स्वर्विद

त्यं सु मेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभ्वः साकमीरते।
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमेन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः॥ १॥

१. **त्यम्**=उस **सु-मेषम्**=अत्यन्त उत्तम क्रियाओंवाले अथवा हमारे कामादि शत्रुओं के साथ संग्राम करनेवाले और इस प्रकार **स्वर्विदम्**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाले अथवा (सुष्ठु अरणीयम्) उत्तम धनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु को तू **महया**=पूजित करनेवाला हो। २. उस प्रभु का तू पूजन कर, **यस्य**=जिसके पूजन में **सुभ्वः**=(सु+भूः) उत्तम स्थितिवाले लोग **शतम्**=सौ वर्ष के लम्बे जीवन तक, अर्थात् आजीवन **साकम्**=मिलकर, घर के सब-के-सब सभ्य एकत्र होकर **ईरते**=प्रवृत्त होते हैं। ३. मैं अपने **रथम्**=इस जीवन-रथ को **अवसे**=रक्षण के लिए तथा **सुवृक्तिभिः**=खूब अच्छी प्रकार पापों के वर्जन के हेतु से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर **आववृत्याम्**=आवृत्त करूँ। मैं इस शरीर-रथ से प्रभु की ओर चलूँ, न कि प्रकृति की ओर। यह मेरा शरीररूप रथ **हवनस्यदम्**=प्रभु के पुकारने के साथ गतिशील हो (हवन=पुकारना, स्यन्द=गतौ)। मैं प्रभु का स्मरण करूँ और क्रिया में प्रवृत्त रहूँ। **अत्यं न**=मेरा यह रथ (अत सातत्यगमने) सतत गतिशील घोड़े के समान सदा क्रियाशील हो और इस क्रियाशीलता से ही **वाजम्**=शक्ति का पुञ्ज हो। निर्बल व निष्क्रिय शरीर से प्रभु-पूजन नहीं होता।

भावार्थ—मेरा यह शरीररूप रथ प्रभु की ओर चले। यह सबल व सतत गतिशील हो। वे प्रभु हमारे शत्रुओं का नाश करनेवाले तथा प्रकाश व सुख की प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

पर्वत के समान अचल

स पर्वतो न धरुणेष्वच्युतः सहस्त्रमूतिस्तविषीषु वावृधे।
इन्द्रो यद् वृत्रमवधीन्नदीवृतमुब्जन्नर्णांसि जर्हृषाणो अन्धसा॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम अपने शरीररूप रथ को प्रभु की ओर मोड़ते हैं तब **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **यत्**=चूँकि (क) **अर्णांसि**=जलों को, रेतःकणों के रूप में शरीरस्थ जलों को **उब्जन्**=(keep under check) संयम में रखता है। (ख) **अन्धसा**=इस सुरक्षित सोम (रेतःकण) से **जर्हृषाणः**=अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता है और (ग) **नदीवृतम्**=(नन्दनं नदी=praise) प्रभुस्तवन पर पर्दा डाल देनेवाले **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत काम को **अवधीत्**=नष्ट करता है। २. **सः**=वह इन्द्र **पर्वतः न**=पर्वत के समान **धरुणेषु अच्युतः**=धारणात्मक कर्मों में स्थिर होता है। यह उत्तम कर्मों के मार्ग पर दृढ़ता से चलता है। **सहस्त्रम्, ऊतिः**=हज़ारों प्रकार से अपना रक्षण करनेवाला होता है और **तवीषीषु**=बल में **वावृधे**=बढ़ता है।

भावार्थ—हम वासनाओं को जीतें, सोम का रक्षण करें। सोमरक्षण से जीवन में आनन्द का अनुभव करें। धारणात्मक कर्मों में स्थिर हों। सब प्रकार से अपना रक्षण करते हुए शक्तियों को बढ़ाएँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

सर्वमहान् रक्षक

स हि द्वरो द्वरिषु वव्र ऊधनि चन्द्रबुध्नो मदवृद्धो मनीषिभिः।
इन्द्रं तमह्वे स्वपस्यया धिया मंहिष्ठरातिं स हि पप्रिरन्धसः॥ ३॥

१. गतमन्त्र का इन्द्रियों का अधिष्ठाता 'इन्द्र' उस परमैश्वर्यशाली 'इन्द्र'=प्रभु को पुकारता हुआ कहता है कि **सः**=वह प्रभु **हि**=निश्चय से **द्वरिषु**=(to cover) आपत्तियों से सुरक्षित रखनेवालों में **द्वरः**=सर्वमहान् आवरक=अपनी गोद में ढक लेनेवाले हैं। २. **ऊधनि**=हमारे हृदयों में ही **वव्रः**=संभक्त व व्याप्त होकर रह रहे हैं। ३. **चन्द्र-बुध्नः**=सब प्रजाओं के लिए आह्लादक मूलवाले हैं (बुध्नः=bottom), अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दों के स्रोत हैं। ४. **मनीषिभिः**=मन को वश में करनेवालों से **मदवृद्धः**=(माद्यन्त्यनेन इति मदः=सोमः) सोम के द्वारा इसका वर्धन होता है। वस्तुतः सोम के रक्षण से ही उस 'महान् सोम'=प्रभु का दर्शन होता है। ५. मैं भी **स्वपस्यया**=(सु+अपस्) उत्तम कर्मों के करने योग्य **धिया**=बुद्धि से **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यवाली प्रभु को **अह्वे**=पुकारता हूँ। वे प्रभु **मंहिष्ठरातिम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध दानवाले हैं। हमें जीवन में उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं। ६. **सः हि**=वे प्रभु ही **अन्धसः**=सब अन्नों के **पप्रिः**=पूरयिता हैं। जीवन की रक्षा के लिए सब अन्नों को वे प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। इन अन्नों से उत्पन्न होनेवाला 'सोम' ही अन्धस् कहलाता है। इस सोम के द्वारा प्रभु हम सबका पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु को जब हम 'सोम के द्वारा रक्षण करनेवाले' के रूप में स्मरण करते हैं तब हमें सोम के महत्त्व का ध्यान आता है और हम मनीषी बनकर इसके रक्षण के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु रक्षकों में सर्वमहान् रक्षक हैं। वे सोम=वीर्य के द्वारा हमारा पूरण करते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

समुद्र के नदियों के समान प्रभु में

आ यं पृणन्ति दिवि सद्मबर्हिषः समुद्रं न सुभ्व१ः स्वा अभिष्टयः।
तं वृत्रहत्ये अनु तस्थुरूतयः शुष्मा इन्द्रमवाता अह्रुतप्सवः॥ ४॥

१. **यम्**=जिस प्रभु को **दिवि**=प्रकाश होनेपर **सद्मबर्हिषः**=(सद्मनि बर्हिः यज्ञो येषाम्) घरों में सदा यज्ञ करनेवाले ज्ञानी पुरुष उसी प्रकार **आपृणन्ति**=अपने से पूरित करते हैं **न**=जैसे **सुभ्वः**=(शोभना भूः याभिः) नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र को। ज्ञानी व यज्ञशील व्यक्ति उसी प्रकार प्रभु को प्राप्त होता है जैसे नदियाँ समुद्र में। यह ज्ञानी व यज्ञशील पुरुष **स्वाः**=प्रभु के आत्मीय हो जाते हैं—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः'**। **अभिष्टयः**=ये सदा प्रभु की ओर आभिमुख्येन जानेवाले होते हैं। इनका लक्ष्य प्रभुप्राप्ति ही होता है। २. **तं इन्द्रम्**=उस प्रभु को **वृत्रहत्ये**=वासना का विनाश होने पर ही **अनुतस्थुः**=लक्ष्य करके स्थित होते हैं। कौन? (क) **ऊतयः**=अपना रक्षण करनेवाले, रोगादि से अपने को आक्रन्त न होने देनेवाले, (ख) **शुष्माः**=शत्रुओं के शोषक बल से युक्त, (ग) **अवाताः**=प्राणापान की गति को रोककर प्राणायाम में लगे हुए (अ-वात), (घ) **अह्रुतप्सवः**=अकुटिलरूप जिनके विचारों में किसी प्रकार की कुटिलता व छल-छिद्र नहीं है।

भावार्थ—हम ज्ञानी व यज्ञशील बनकर प्रभु को प्राप्त करें। शरीरों को रोगों से बचाते हुए, प्राणमयकोश को सबल बनाते हुए, मनोमय कोश को प्राणायाम द्वारा निरुद्ध चित्तवृत्ति करके, निश्चल सत्यज्ञानवाले हम प्रभु के आत्मीय बन जाएँ।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वल-परिधि-ओदन अथवा असुरों से युद्ध

अभि स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यतो रघ्वीरिव प्रवणे सस्रुरूतयः।
इन्द्रो यद्वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद् वलस्य परिधीँरिव त्रितः॥ ५॥

१. **स्ववृष्टिम्, अभि**=आत्मतत्त्व की प्राप्ति के आनन्द की वृष्टि का लक्ष्य करके **मदे**=सोम के मद में **युध्यतः**, **अस्य**=वासनाओं से युद्ध करते हुए इस प्रभु-भक्त की ओर **ऊतयः**=सब रक्षण इस प्रकार **सस्रुः**=प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे **प्रवणे**=निम्न प्रदेश में **रघ्वी**=वेग से बहती हुई नदियाँ। जब मनुष्य आनन्द-प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाकर, वासनाओं से युद्ध करता है तब इसे प्रभु-कृपा से सब प्रकार के रक्षण प्राप्त होते हैं। २. ये सब रक्षण उसे प्राप्त तभी होते हैं **यत्**=जब **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष **वज्री**=क्रियाशील हाथोंवाला बनकर (वज गतौ) **धृषमाणः**=शत्रुओं का धर्षण करता हुआ **अन्धसा**=सोमरक्षण के द्वारा **त्रितः**='ज्ञान, कर्म व उपासना'—तीनों का विस्तार करनेवाला **वलस्य**=ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाले (वल veil) काम की **परिधीन् इव**=परिधियों के समान 'काम, क्रोध, लोभ' को **भिनत्**=विदीर्ण कर देता है। ३. 'काम, क्रोध, लोभ'—ये तीनों इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर इस प्रकार का पर्दा-सा डाल देते हैं कि काम से इन्द्रियशक्तियाँ जीर्ण हो जाती हैं, क्रोध से मानस स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और लोभ बुद्धि को विचलित कर देता है। ये ही 'असुरों के तीन घेरे' कहलाते हैं। असुरों के इन दुर्गों को नष्ट करनेवाला व्यक्ति भी 'त्रित' (त्रीणि तरति) कहलाता है। इन दुर्गों के विदीर्ण करनेवाले, असुरों से युद्ध करनेवाले पुरुष को प्रभु-रक्षण

प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम त्रित बनकर असुरों की तीन परिधियों को नष्ट करते हैं तो उस आसुर-युद्ध में हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त हो जाता है। इस प्रभु-प्राप्त रक्षण से ही वस्तुतः हम असुरों को जीत पाते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

काम की दुर्ग्रहणीयता

परीं घृणा चरति तित्विषे शवोऽपो वृत्वी रजसो बुध्नमाशयत्।
वृत्रस्य यत्प्रवणे दुर्गृभिश्वनो निजघन्थ हन्वोरिन्द्र तन्यतुम्॥ ६॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मन्! **यत्**=जब तू **वृत्रस्य**=ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले काम के **हन्वोः**=जबड़ों पर **तन्यतुम्**=प्रभु-स्मरणपूर्वक, क्रियाशीलतारूप वज्र को **निजघन्थ**=प्रहृत करता है, उस काम के जबड़ों पर जोकि **प्रवणे**=प्रकर्षेण वननीय, उपासना के योग्य स्थल, हृदय में **दुर्गृभिश्वनः**=दुर्ग्रहव्याप्तिवाला है। चाहिए तो यह कि हृदयों में प्रभु का ध्यान करें, परन्तु होता यह है कि उस हृदय को यह वासना आ घेरती है और इस वासना का काबू करना कठिन हो जाता है। यह काम वह है जोकि **अपः**=प्रज्ञाओं को **वृत्वी**=आवृत्त ज्ञानवाला करके अथवा (अपः=कर्म) हमारे सब कर्तव्य कर्मों पर पर्दा डालकर, हमें कर्तव्य कर्मों से विमुख करके **रजसो बुध्नम्**=हृदयान्तरिक्ष के मूल में **आशयत्**=निवास करता है। २. इस काम की जड़ बड़ी गहराई तक पहुँच जाती है, इसे उखाड़ना सम्भव नहीं होता; परन्तु जब भी कभी हम प्रभुस्मरणपूर्वक क्रियाशीलता को अपनाकर इस वासना के जबड़ों को तोड़ देते हैं, अर्थात् इसके वेग को समाप्त कर देते हैं तब **ईम्**=निश्चय से **घृणा**=ज्ञानदीप्ति **परिचरति**=चारों ओर व्याप्त हो जाती है और **शवः**=बल **तित्विषे**=चमक उठता है। काम ने ही ज्ञान पर पर्दा डाला हुआ था, यही हमारी शक्ति की क्षीणता का कारण बन रहा था। इसके नष्ट होते ही ज्ञान चमक उठता है और हम शक्ति से परिपूर्ण हो जाते हैं।

भावार्थ—काम को जीतना कठिन है, परन्तु जब भी प्रभुस्मरणपूर्वक क्रियाशील बनकर हम इस काम को जीत लेंगे तब हमारा ज्ञान व बल दोनों ही चमक उठेंगे।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुस्तवन व काम-संहार

हृदं न हि त्वा न्यृषन्त्यूर्मयो ब्रह्माणीन्द्र तव यानि वर्धना।
त्वष्टा चित्ते युज्यं वावृधे शवस्ततक्ष वज्रमभिभूत्योजसम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **ब्रह्माणि**=प्रभु के स्तोत्र **हि**=निश्चय से **न्यृषन्ति**=नम्रता के साथ उसी प्रकार प्राप्त होते हैं (नि-ऋषन्ति) **न**=जैसे **ऊर्मयः**=तरंगें **हृदम्**=एक बड़ी भारी झील को प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार झील व समुद्र में बड़ी-बड़ी तरंगें उठती हैं उसी प्रकार तेरे मानस में भी प्रभु के स्तोत्र उमड़ते हैं। ये स्तोत्र वे हैं **यानि**=जो **तव वर्धना**=तेरे वर्धन का कारण हैं। इनसे तेरे सामने भी एक ऊँची लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है और तू जीवन में ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है। २. इन स्तोत्रों से तेरा सम्बन्ध उस प्रभु से होता है और वे **त्वष्टा**=सम्पूर्ण क्रियाओं के कर्ता प्रभु **चित्**=निश्चय से **ते**=तेरे **युज्यं शवः**=योग्य बल को

वावृधे=बढ़ाते हैं अथवा **युज्यम्**=प्रभुसम्पर्क से उत्पन्न होनेवाले बल को बढ़ाते हैं। सम्पूर्ण शक्ति के स्रोत प्रभु हैं, प्रभु से मेरा मेल होगा तो मुझमें भी शक्ति का प्रवाह क्यों न प्रवाहित होगा? ३. वे त्वष्टा प्रभु हम भक्तों के लिए **अभिभूत्योजसम्** शत्रुओं को पराभूत करनेवाले बल से युक्त **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूपी वज्र को **ततक्ष**=बनाते हैं। प्रभुसम्पर्क से हमें वह क्रियाशीलता प्राप्त होती है जो हमारे काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं के लिए वज्र का काम देती है और हमें इन शत्रुओं को पराजित करने के योग्य बनाती है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमारा वर्धन करनेवाला हो। प्रभु हमारे बल को बढ़ावें और हम क्रियाशीलता के द्वारा काम-क्रोधादि का संहार करनेवाले हों।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वासना-विनाश व क्रियामय जीवन

जघन्वाँ उ हरिभिः संभृतक्रतविन्द्र वृत्रं मनुषे गातुयन्नपः।
अयच्छथा बाह्वोर्वज्रमायसमधारयो दिव्या सूर्यं दृशे॥ ८॥

१. हे **संभृतक्रतो**=अपने अन्दर कर्म-संकल्प व ज्ञान का संभरण करनेवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मनुषे**=प्रभु के मनन के लिए **गातुयन्**=मार्ग को चाहता हुआ **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **उ**=निश्चय से **जघन्वान्**=मारता है (हन्=हिंसा) तथा **अपः**=कर्मों को **जघन्वान्**=प्राप्त होता है (हन=गति)। वस्तुतः वृत्र के विनाश के लिए कर्म करना आवश्यक ही है। अकर्मण्यता वासना के प्रादुर्भाव के लिए उर्वरा भूमि है। २. तू **बाह्वोः**=प्रयत्न में व्यापृत भुजाओं में **आयसं वज्रम्**=लोहे के बने हुए वज्र को **अयच्छथाः**=(अग्रहीः-सा०) ग्रहण करता है। 'आयस् वज्र को धारण करने का अभिप्राय अनथक रूप से श्रम करना है'—तू कर्म करता हुआ थकता नहीं। ३. **दृशे**=चलने योग्य मार्ग के दर्शन के लिए अथवा करने योग्य कर्मों के ज्ञान के लिए तू **दिवि**=अपने मस्तिष्क में **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **आ अधारयः**=सब प्रकार से धारण करता है। ज्ञान के अभाव से ही तो मनुष्य भटक जाता है और अकार्यों को करने लगता है, अतः ज्ञान की आवश्यकता अत्यन्त स्पष्ट है। यह तो सूर्य है जिसके प्रकाश में हमें मार्ग दिखता है।

भावार्थ—हम वासना का विनाश करें, कर्मशील बनें। हाथों में कर्मरूप वज्र हो और मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुस्तवन प्राणसाधना

बृहत्स्वश्चन्द्रममवद्यदुक्थ्य१मकृण्वत भियसा रोहणं दिवः।
यन्मानुषप्रधना इन्द्रमूतयः स्वर्नृषाचो मरुतोऽमदन्ननु॥ ९॥

१. **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **स्वश्चन्द्रम्**=स्वकीय आह्लादक प्रकाश से युक्त **अमवत्**=शत्रु-विनाशक बलवाले **दिवः रोहणम्**=स्वर्ग के आरोहण के साधनभूत **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य प्रभु को **यत्**=जब **भियसा**=कामादि असुरों के भय से **अकृण्वत**=हृदय में प्रतिष्ठित करते हैं, अर्थात् अध्यात्म-संग्राम में जब काम-क्रोधादि वासनाओं का प्रबल आक्रमण होता है तब उस आक्रमण-भय से भक्त प्रभु का स्तवन करते हैं तो प्रभु ही स्तोता की वृद्धि

का कारण होते हैं, उसे आह्लादक प्रकाश से युक्त करते हैं, वासनाओं से लड़ने की शक्ति प्राप्त कराते हैं और उसके जीवन को स्वर्गमय बनाते हैं। २. यह स्तवन का समय वह होता है **यत्**=जब **इन्द्रम्**=जीव को **मरुतः**=प्राण **ननु**=निश्चय से **अमदन्**=हर्षित करते हैं। वे प्राण जो **मानुष-प्रधनाः**=मानव-हितसाधक संग्राम करते हैं, **स्वः ऊतयाः**=प्रकाश का रक्षण करनेवाले हैं और **नृषाचः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यों का सेवन करते हैं। प्राणसाधना से यह अध्यात्म-संग्राम मनुष्य के लिए हितकर होता है, क्योंकि वासनाओं का पराजय व हमारी विजय इस प्राणसाधना पर ही तो आश्रित है। वासनाओं का विनाश करके ये प्राण ज्ञान पर पर्दे को नहीं आने देते और इस प्रकार हमारा जीवन दीप्त बना रहता है। प्राणों की यही सबसे बड़ी सेवा है कि वे हमारी बुद्धियों को सुस्थिर रखते हैं। ३. एवं, प्रभुस्तवन के साथ प्राणसाधना जुड़ जाती है तो हमें कामादि शत्रुओं का भय नहीं रहता। प्रभुस्तवन का हमारे जीवन में वही स्थान है जोकि रामायण में हनुमान् का। राम के बिना रामायण का कोई आधार ही नहीं, उसी प्रकार प्रभुस्तवन ही जीवन का भी मूलाधार है। जैसे हनुमान् के बिना रामायण अधूरी ही रहती है, वैसे ही प्राणसाधना के बिना जीवन भी अधूरा रह जाता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभुस्तवन और प्राणसाधना का समन्वय करके चलें, यही स्वर्ग-प्राप्ति का अभय मार्ग है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वासनाशिरोभेदन व स्वस्थ प्रज्ञा

द्यौश्चिदस्यामवाँ अहेः स्वनादयोयवीद्भियसा वज्र इन्द्र ते।
वृत्रस्य यद्बद्बधानस्य रोदसी मदे सुतस्य शवसाभिनच्छिरः॥ १०॥

१. **अस्य अहेः**=(आहन्ति इति) इस प्रबल रूप से आक्रमण करनेवाले वृत्र=कामासुर के **स्वनात्**=गर्जन से, अर्थात् जब यह कामासुर गर्जना करता हुआ आक्रमण करता है तब **अमवान्**=शक्ति से युक्त **द्यौः चित्**=ज्ञान का प्रकाश भी **भियसा अयोयवीत्**=भय के कारण हमसे पृथक् हो जाता है (यु अमिश्रण) अर्थात् काम के आक्रमण से बड़े-बड़े ज्ञानी भी ज्ञान को खो बैठते हैं। वासना के आक्रमण से बचना आसान नहीं है। २. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जो **ते वज्रः**=तेरा क्रियामय जीवनरूप वज्र है वही **सुतस्य मदे**=शरीर में उत्पन्न सोम=वीर्यकणों के हर्ष में **शवसा**=बल के द्वारा **वृत्रस्य**=इस कामासुर के **शिरः अभिनत्**=सिर को विदीर्ण करता है। उस वृत्र के सिर को जो **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को—मस्तिष्क व शरीर दोनों को ही **बद्बधानस्य**=अत्यन्त पीड़ित करनेवाला है। ३. वासना ज्ञान पर तो पर्दा डाल देती है यह शरीर की शक्तियों को भी क्षीण कर देती है। क्रियाशीलता के द्वारा ही इस वासना का सिर कुचला जाता है और तभी हमारी बुद्धि सुस्थिर हो पाती है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा वासना का विनाश करें और स्वस्थ बुद्धिवाले हों।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

दशयुजि पृथिवी

यदिन्न्विन्द्र पृथिवी दशभुजिरहानि विश्वा ततनन्त कृष्टयः।
अत्राह ते मघवन्विश्रुतं सहो द्यामनु शवसा बर्हणा भुवत्॥ ११॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत् इत् नु**=जब **(दशभुजिः)** **पृथिवी**=यह तेरा शरीर

(पृथिवी शरीरम्) **दशयुजि:**=दस इन्द्रियों से विषयों के उचित अभ्यवहरण (खाने) के द्वारा पालने के योग्य होता है [भुज पालनाभ्यवहारयोः] २. और **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **विश्वा अहानि**=सब दिन (प्रतिदिन) **ततनन्त**=अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं। वस्तुतः शक्तियों का विस्तार होता तभी है जबकि सब इन्द्रियाँ शरीर के रक्षण के दृष्टिकोण से ही विषयों का ग्रहण करें। ऐसा होने पर मनुष्य 'दशरथ' बनता है। इन्द्रियाँ भोगों में ही आसक्त हो जाएँ तो हम 'दशानन' बन जाते हैं। जिह्वा उन्हीं रसों को उतनी मात्रा में ले जो शरीर के लिए पोषक हों तो शरीर का वर्धन-ही-वर्धन होता है। ३. **अत्र अह**=इस समय ही निश्चय से हे **मघवन्**=(मघ=मख) यज्ञमय जीवनवाले पुरुष! **ते सहः**=तेरा बल **विश्रुतम्**=विशेष प्रसिद्धिवाला होता है। यह **द्याम् अनु**=ज्ञान के अनुसार **शवसा**=गति के द्वारा [शवतिर्गतिकर्मा] **बर्हणा भुवत्**= [सर्वसुखदायिकया क्रियया—द०] सब सुखों को सिद्ध करनेवाली क्रिया से युक्त होता है। वस्तुतः जीवन में सुख तभी होता है जब हमारी क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक हों। प्रभु की सर्वव्यापकता के ज्ञान के साथ होनेवाली क्रियाएँ सदा पवित्र होती है और मानुष सुख की साधिका होती हैं।

भावार्थ—हमारी सब इन्द्रियाँ पोषण के दृष्टिकोण से ही विषयों का ग्रहण करनेवाली हों। इस प्रकार हम अपनी शक्तियों का विस्तार करें। हमारी सब क्रियाएँ ज्ञान के अनुसार हों ताकि सुख की वृद्धि हो।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रजोगुण के पार

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम्॥ १२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हमारी सब इन्द्रियाँ शरीर के पालन के दृष्टिकोण से ही विषयों को ग्रहण करनेवाली होती हैं तब हम 'धृषन्मना' बनते हैं—वासनाओं का धर्षण करनेवाले मनवाले होते हैं, उस समय हम **स्वभूत्योजाः**=(स्वः भूति-ओजस्) आत्मिक ऐश्वर्य व ओज को धारण करते हैं और विषयों की रुचिवाले रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में अवस्थित होते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि हे **धृषन्मनः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं के धर्षक मनवाले जीव! **स्वभूति-ओजाः**=आत्मिक ऐश्वर्य व ओजस्वितावाला **त्वम्**=तू **अस्य**=इस **रजसो व्योमनः पारे**=रजोगुणयुक्त आकाश के पार हो जाता है। रजोगुण से ऊपर उठकर तू सत्त्वगुण में अवस्थित होता है। २. सत्त्वगुण में अवस्थित होकर तू **भूमिम्**=इस निवासस्थानभूत शरीर को (भवन्ति जना यस्याम्=जिसमें मनुष्य निवास करते हैं), **ओजसः प्रतिमानम्**=बल का प्रतिनिधि **चकृषे**=करता है, शरीर को तू अत्यन्त सबल बनाता है। **अपः**=हृदयान्तरिक्ष को [अपः इति अन्तरिक्षनाम] तू **स्वः**=प्रकाशमय करता है और **दिवम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **परिभूः**=चारों ओर से ग्रहण करनेवाला होता हुआ, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानों को प्राप्त करता हुआ **आ एषि**=सब प्रकार से प्रभु के समीप प्राप्त होता है। ३. सत्त्वगुण में अवस्थित होने के ये परिणाम होने ही चाहिएँ (क) हमारा शरीर स्वस्थ व सबल हो, (ख) हृदय वासना के मल से रहित होकर प्रकाशमय हो, (ग) मस्तिष्क ज्ञान-विज्ञान की ज्योति से जगमगाए।

भावार्थ—हम सदा सत्त्वगुण में अवस्थित हों और शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को स्वस्थ बनाएँ।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अनन्यसदृश प्रभु

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः।
विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्॥ १३॥

१. गतमन्त्र का **'स्वभूत्योजाः'** आत्मिक ऐश्वर्य व तेजवाला व्यक्ति प्रभु का उपासन करता हुआ कहता है कि **त्वम्**=आप ही **पृथिव्याः**=इस सम्पूर्ण पृथिवी के **प्रतिमानं भुवः**=परिमाण को करनेवाले हैं। इस पृथिवी का निर्माण आप ही करते हैं। २. इस **बृहतः**=विशाल **ऋष्ववीरस्य**=[ऋष्व=दर्शनीय वीर 'वि ईर' विशिष्ट गतिवाले लोक-लोकान्तर] अनन्त दर्शनीय लोक-लोकान्तरों से पूर्ण अन्तरिक्ष के **पतिः भूः**=रक्षक हैं। 'यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः' प्रभु ही अन्तरिक्ष में विशेष मानपूर्वक लोकों का निर्माण करते हैं। ३. **महित्वा**=अपनी महिमा से **विश्वं अन्तरिक्षम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को **आप्राः**=आप पूर्ण किये हुए हैं। आप सर्वव्यापक हैं। ४. **सत्यम् अद्धा**=वास्तव में ही **त्वावान्**=आप-जैसा **अन्यः नकिः**=और कोई नहीं है। अपनी महिमा से आप 'अनन्य' ही हो। इसी से कहते हैं कि 'एकमेवाद्वितीयम्' आप एक ही हो, अद्वितीय हो।

भावार्थ—वे त्रिलोकी के पति प्रभु अपनी महिमा से अद्वितीय हैं। इस प्रभु का उपासक भी महिमाशाली जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु की अनुकूलता में

न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्॥ १४॥

१. गतमन्त्र के स्तवन को करता हुआ ऋषि कहता है कि प्रभु वे हैं **यस्य**= जिनके **व्यचः**=विस्तार को **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड भी **न अनु**=(आनशाते) नहीं व्याप्त कर सकता। उस प्रभु के **अन्तम्**=अवसान व समाप्ति को **रजसः**=इस अन्तरिक्षलोक के **सिन्धवः**=स्यन्दनशील [बहनेवाले] जल भी **न आनशुः**=नहीं प्राप्त कर सकते। २. **मदे**=आनन्द-प्राप्ति के निमित्त **युध्यते**=युद्ध करते हुए पुरुष के लिए **अस्य**=इस प्रभु की, इस प्रभु से की जानेवाली **स्ववृष्टिम्**=धन की वर्षा को **उत**=भी **न** [आनशे] कोई व्याप्त नहीं कर पाता। वासनाओं से संग्राम करनेवाले पुरुष के लिए प्रभु की देन अनन्त हैं, प्रभु उसे किसी प्रकार की कमी अनुभव नहीं होने देते। ३. वे प्रभु **एकः**=अकेले ही **अन्यत्, विश्वम्**=शेष सब संसार को **आनुषक् चकृषे**=सम्बद्ध व अनुकूल कर देते हैं। वस्तुतः एक ओर प्रभु हैं, दूसरी ओर संसार; जो प्रभु को अपनाता है प्रभु उसके लिए सम्पूर्ण संसार को भी अनुकूल कर देते हैं, परन्तु प्रभु की उपेक्षा करके संसार को अपनानेवाला उस संसार से ही कुचला जाता है। अर्जुन कृष्ण को लेकर विजयी होता है, दुर्योधन सारे सैन्य को लेकर भी पराजित हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा लोकत्रय से व्याप्त नहीं की जा सकती। हम प्रभु को अपनाते हैं तो प्रभु सारे संसार को हमारे अनुकूल कर देते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संग्राम में प्रभु-अर्चन

आर्चन्नत्र मरुतः सस्मिन्नाजौ विश्वे देवासो अमदन्ननु त्वा।
वृत्रस्य यद्भृष्टिमता वधेन नि त्वमिन्द्र प्रत्यानं जघन्थ॥ १५॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **अत्र**=इस जीवन-यात्रा में **सस्मिन् आजौ**=सम्पूर्ण संग्रामों में **मरुतः**=[मितराविणः] कम बोलनेवाले मुनि **आ अर्चन्**=सर्वथा आपका ही अर्चन करते हैं। वस्तुतः आपकी अर्चना से ही उन्हें शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वे संग्रामों में विजयी बनते हैं। २. हे प्रभो! **विश्वे**=सब **देवासः**=देववृत्ति के लोग **त्वा अनु**=आपकी ही अनुकूलता में **अमदन्**=हर्ष का अनुभव करते हैं। वस्तुतः प्रभु अनुकूल हैं तो सारा संसार ही अनुकूल होता है और परिणामतः आनन्द का अनुभव होता है। ३. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! सब शक्ति के कार्यों को करनेवाले प्रभो! **यत्**=क्योंकि **भृष्टिमता**=शत्रुओं को भून डालनेवाले **वधेन**=वज्र से **त्वम्**=आप ही **वृत्रस्य आनम्**=[आननम्] वृत्र व कामासुर के मुख को **प्रति आ जघन्थ**=लक्ष्य करके प्रहार करते हैं। वृत्र के विनाशक आप ही हैं और वृत्र के नाश से देवों को आप ही आनन्दित करते हैं। संग्राम में आपके कारण ही देव विजयी बनते हैं।

भावार्थ—संग्राम में प्रभु-कृपा से ही विजय प्राप्त होती है। ये प्रभु ही हमें आनन्दित करते हैं।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि मेरा यह शरीररूप रथ प्रभु की ओर चले (१)। प्रभु का उपासक धारणात्मक कर्मों में पर्वत के समान अविचल होता है (२)। वे प्रभु ही सर्वमहान् रक्षक हैं (३)। हम इस प्रभु के आत्मीय बनने का प्रयत्न करें (४)। असुरों से युद्ध में हमें प्रभु की सहायता सदा प्राप्त रहे (५)। हमारे लिए तो यह कामासुर अत्यन्त दुर्ग्रहणीय है (६)। प्रभुस्तवन से ही काम-संहार सम्भव है (७)। हमारे हाथों में कर्मरूप वज्र हो, मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य (८)। प्रभुस्तवन व प्राणसाधना का हम समन्वय करें (९)। इस प्रकार वासना का विनाश करके ही हम स्वस्थ बुद्धिवाले होंगे (१०)। स्वस्थ बुद्धि होने पर ही हमारा यह शरीर दसों इन्द्रियों से उचित भोजनों के द्वारा सुरक्षित होगा (११) तथा हम रजोगुण से पार होकर सत्त्व में अवस्थित होंगे (१२), उस अनन्यसदृश प्रभु का स्तवन करेंगे (१३), प्रभु की अनुकूलता में चलेंगे (१४) और प्रभु की अर्चना से संग्राम में अवश्य विजयी होंगे (१५)। प्रभु-प्रार्थना करते हुए 'सव्य आङ्गिरस' ऋषि कहते हैं कि—

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

पुरुषार्थ से प्राप्त धन का दान

न्यू३ षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते॥ १॥

१. **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणोंवाले यजमान के **सदने**=घर में **महे इन्द्राय**=उस महान् शत्रुविद्रावक व परमैश्वर्यवाले प्रभु के लिए **वाचम्**=प्रार्थनावाणी को तथा **गिरः**=स्तुतिवचनों

को **सु**=उत्तमता से **उ**=निश्चयपूर्वक **नि प्रभरामहे**=नम्रता से अतिशयेन (खूब) प्राप्त कराते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने घर को स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान की किरणों से परिपूर्ण कर और सदा यज्ञों को करता हुआ घर को 'यजमान का घर' बना दे। इस घर में सदा प्रभु के प्रति प्रार्थनावाणी उच्चारित हो और प्रभु की स्तुतिवाणियाँ ही सुनाई पड़ें। २. वे प्रभु **नू चित् हि**=शीघ्र ही निश्चय से **ससताम् इव**=सोते-से, पुरुषों से अर्थात् अकर्मण्य व आलसी पुरुषों के **रत्नम्**=रमणीय धनों को **अविदत्**=प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् छीन लेते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सदा पुरुषार्थी रहे, उसके चेहरे से भी स्फूर्ति का आभास मिले। उद्योगी=आलस्यशून्य के लिए ही लक्ष्मी है। ३. पुरुषार्थ से धन को प्राप्त करके **द्रविणोदेषु**=धन को दान में देनेवालों के विषय में **दुष्टुतिः**=निन्दा **न शस्यते**=नहीं की जाती है, अर्थात् धन के दान करनेवालों की सदा प्रशंसा ही होती है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। पुरुषार्थी होकर धनार्जन करें और धनों का दान करते हुए प्रशंसा के पात्र हों।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सब धनों का दाता व स्वामी

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **अश्वस्य दुरः असि**=घोड़ों के देनेवाले हैं, **गोः दुरः असि**=गौवों के देनेवाले हैं। क्षात्र की वृद्धि के लिए घोड़ा आवश्यक है तो ज्ञान की वृद्धि के लिए गौ की आवश्यकता है। अथवा 'अश्व' शब्द कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों का वाचक है और 'अर्थों' का ज्ञान देनेवाली' ज्ञानेन्द्रियों का वाचक 'गौ' शब्द है। प्रभु हमें जीवन-यात्रा में उन्नति के लिए इन कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! आप ही **यवस्य दुरः**=यव=जौ के देनेवाले हैं। **'यवे ह प्राण आहितः'** इस जौ में प्राणशक्ति की स्थापना हुई है। यवों के प्रयोग से आप ही हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न करते हैं। यह 'यव' सचमुच यव है। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' दोषों का अमिश्रण करता हुआ अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाला है। ३. हे प्रभो! आप ही **वसुनः**=निवास के लिए सब आवश्यक धनों के **इनः**=स्वामी व **पतिः**=रक्षक हैं। स्वामी व रक्षक ही नहीं अपितु **शिक्षानरः** [शिक्षतिर्दानकर्मा, शिक्षाया दानस्य नेतासि-सा०] इन धनों के दान का नेतृत्व भी करनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही हमें निवास के लिए आवश्यक धनों की प्राप्ति होती है। ४. **प्रदिवः**=आप सनातन पुराण पुरुष हैं [प्रगता दिवो दिवसा यस्मिन्], **अकामकर्शनः**=[न कामान् सत्संकल्पान् कर्शयति] हमारे सत्संकल्पों को कभी नष्ट न होने देनेवाले हैं। **सखिभ्यः सखा**=हम मित्रों के लिए आप सच्चे मित्र हैं, अतः **तम्**=उस आपके प्रति ही **इयम्**=इस प्रार्थनावचन को **गृणीमसि**=उच्चारित करते हैं। आपसे की गई प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं हो सकती।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं। वही सब धनों के स्वामी व दाता सनातन पुरुष हैं। उन्हीं की प्रार्थना करनी उचित है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभुभक्त को कमी कहाँ?

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः॥ ३॥

१. **शचीवः**=हे प्रज्ञावन्! [शची=प्रज्ञा] **'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'** सब बुद्धिमानों की बुद्धि आप ही हैं। शची=Power, strength, energy=सम्पूर्ण शक्ति के स्रोत वे प्रभु ही हैं। **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! सब ऐश्वर्यों के स्वामी आप ही हैं। **पुरुकृत्**=पालन व पोषण करनेवाले प्रभो! माता-पिता आदि के द्वारा सबकी पालन-व्यवस्था आप ही कर रहे हैं। **द्युमत्तम**=हे अत्यन्त ज्योतिर्मय प्रभो! **इदम्**=यह **अभितः**=आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे सर्वत्र वर्तमान **वसु**=धन **तव इत्**=आपका ही **चेकिते**=जाना जाता है। यह सम्पूर्ण धन आपका ही है। इसके वास्तविक स्वामी आप ही हैं। २. **अतः**=इस धन में से **संगृभ्य**=ग्रहण करके, अपने हाथों में लेकर हे **अभिभूते**=हमारे शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो! **आभर**=हमारी झोलियों को भर दीजिए। **'उभा हि हस्ता वसुना पृणस्व'** दोनों हाथों से भर-भरके धनों को हमें दीजिए। ३. **त्वायतः**=[त्वाम् आत्मन इच्छतः] आपको अपनाने के इच्छुक **जरितुः**=स्तोता की **कामम्**=कामना को **मा ऊनयीः**=अपूर्ण मत कीजिए। मैं आपका स्तवन करनेवाला हूँ। आपकी कृपा से मेरी सब आवश्यकताएँ पूर्ण हों ही। वस्तुतः प्रभुभक्तों के योग-क्षेम को प्रभु चलाया ही करते हैं— तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'।

भावार्थ—सम्पूर्ण धनों के स्वामी प्रभु ही हैं। प्रभुभक्तों की कामनाएँ पूर्ण होती ही हैं।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में सच्चे प्रभुभक्त के लक्षण प्रभु के सम्बोधक शब्दों द्वारा इस प्रकार सूचित हुए हैं—(१) **शचीवः**=प्रभुभक्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्तिसम्पन्न होता है। (२) **इन्द्र**=वह इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है और इस प्रकार प्राणमयकोश पर इसका पूर्ण प्रभुत्व होता है। (३) **पुरुकृत्**=मनोमयकोश में यह सदा पालन व पोषण की लोकहित की भावनाओंवाला होता है और (४) **द्युमत्तम**=विज्ञानमयकोश में यह ज्योतिर्मय होता है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उत्तम जीवन

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना।
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि॥ ४॥

१. हे प्रभो! आपकी कृपा से हममें से प्रत्येक व्यक्ति **एभिः द्युभिः सुमनाः**=इन आपसे दी गई ज्ञान-ज्योतियों से उत्तम मनवाला हो। ज्ञान प्राप्त करके ही मनुष्य मन की मैल को दूर कर पाता है। ज्ञान ही आन्तर पवित्रता का साधन है। २. आपकी कृपा से हमारे सब व्यक्ति **एभिः इन्दुभिः**=इन सोमकणों से **अमतिम्**=बुद्धि की मन्दता को **निरुन्धानः**=रोकनेवाले हों। सोम की रक्षा से इन सोमकणों से दीप्त हुई-हुई प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि दीप्त हो। हममें कोई भी मन्दबुद्धि न हो। यह बुद्धि-मान्दता ही सब अवनतियों का मूल हुआ करती है ३. **गोभिः**=गोदुग्ध के सेवन से **अश्विना**=प्राणापान की शक्ति के वर्धन से तथा **इन्द्रेण**=जितेन्द्रियता से **दस्युं दरयन्तः**=दास्यव वृत्ति को विदीर्ण करते हुए हों। हममें तोड़-फोड़ की भावना न पनपे, हम सदा निर्माण की वृत्तिवाले हों। ४. **इन्दुभिः**=इन सोमकणों से हम **युतद्वेषसः**=परस्पर

द्वेष से रहित हों (युत=अनिश्चिते)। ५. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करें कि हम **इषा**=आपकी प्रेरणा से ही **संरभेमहि**=प्रत्येक कार्य को आरम्भ करें। 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इन मनु शब्दों के अनुसार अन्तःस्थित आपको जो प्रिय हो वही कार्य हम करें।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करना, सोमकणों का रक्षण करना, गोदुग्ध का प्रयोग तथा प्रभु-प्रेरणा के अनुसार कार्य करना—ये बातें हैं जिनसे हम 'प्रशस्त मनवाले, तीव्र बुद्धिवाले, दास्यव वृत्ति से शून्य व निर्द्वेष' बनते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सम्पत्ति-शक्ति-सुमति

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभो! **राया संरभेमहि**=हम धनों से संगत हों। धन के बिना जीवनयात्रा में एक भी पग रखना सम्भव नहीं होता। **इषा संरभेमहि**=आपकी प्रेरणा से हम संगत हों। धन के साथ हमें आपकी प्रेरणा भी प्राप्त हो। आपकी प्रेरणा के अनुसार ही हम धनों का विनियोग करनेवाले हों। उस प्रेरणा के अभाव में यह धन हमारे निधन का ही कारण हो जाता है। आपकी प्रेरणा के अनुसार धनों का सद्विनियोग करते हुए हम जीवनों में 'धन्य' बना करते हैं। २. **वाजेभिः सम्**=हम शक्तियों से युक्त हों। धनों का ठीक ही विनियोग करेंगे तो शक्ति तो हमें प्राप्त होगी ही। ये शक्तियाँ **पुरुश्चन्द्रैः**=पालन व पूरण करनेवाली हों तथा सबके आह्लाद का कारण बनें। **अभिद्युभिः**=ये शक्तियाँ दोनों ओर ज्योति से युक्त हों। इन शक्तियों के एक ओर प्रकृति का विज्ञान हो तो दूसरी ओर ब्रह्म का ज्ञान, अर्थात् शक्ति ज्ञान से शून्य न हो, क्योंकि ज्ञानशून्य शक्ति राक्षसी हो जाती है और वह संहार-ही-संहार का कारण बनती है। ३. हम उस **देव्या**=दिव्यगुणों से युक्त अथवा प्रकाशमय **प्रमत्या**=प्रकृष्ट मति से **संरभेमहि**=संगत हों जो **वीरशुष्मया**=[वि, ईर, शुष्म] कामादि शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले बल से युक्त है, **गो अग्रया**=जिसमें ज्ञानेन्द्रियों को प्रमुखता प्राप्त है और जो **अश्वावत्या**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली है। ज्ञानेन्द्रियों की प्रशस्तता बुद्धिवर्धन में सहायक होती है और उस बुद्धि के अनुसार सत्कार्यों में कर्मेन्द्रियों को प्रवृत्त होना होता है। इन दोनों इन्द्रियों के ठीक से कार्य करने पर हमारे जीवन में वासनाओं के लिए स्थान ही नहीं रह जाता।

भावार्थ—हमें धन के साथ प्रभुप्रेरणा प्राप्त हो, शक्ति के साथ पालकवृत्ति का ज्ञान प्राप्त हो, प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाली तथा वासनाओं को कम्पित करनेवाली प्रमति प्राप्त हो।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मद-वृष्ण्य व सोम

ते त्वा मदा अमदन् तानि वृष्ण्या ते सोमासो वृत्रहत्येषु सत्पते।
यत्कारवे दश वृत्राण्यप्रति बर्हिष्मते नि सहस्राणि बर्हयः॥ ६॥

१. हे प्रभो! **त्वा**=आपको हमारे **ते**=वे **मदाः**=हर्ष—मानस आह्लाद **अमदन्**=प्रफुल्लित करनेवालें हों। पुत्र के विजयोल्लास को देखकर पिता को प्रसन्नता होती है। गतमन्त्र के अनुसार

जब हम 'वीरशुष्मा प्रमति' के द्वारा शत्रुओं को पराजित करते हैं तब हमारे ये विजयोल्लास प्रभु को प्रसन्न करनेवाले होते हैं। २. **तानि वृष्ण्या**=वे हमारे शक्तिसम्पन्न कार्य आपको प्रसन्न करनेवाले हों अथवा प्रजा पर सुखों की वर्षा करनेवाले कार्य आपको प्रसन्न करें। इन पुत्रों के द्वारा किये जानेवाले लोकहितात्मक कार्य आपकी प्रसन्नता का कारण बनें। ३. **वृत्रहत्येषु**=वासनाओं की हत्या हो जाने पर **ते सोमासः**=वे शरीर में ही सुरक्षित सोमकण आपकी प्रसन्नता का कारण बनें। हे **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! आपको हमारे 'विजयोल्लास, वीरतापूर्ण कार्य तथा सोमकणों का रक्षण' प्रसन्नता देनेवाले हों। वस्तुतः सज्जन व्यक्ति वही है जो (क) शत्रुओं को जीतकर मानस प्रसाद से परिपूर्ण है, (ख) जो शक्तिशाली कार्यों द्वारा लोकहित में प्रवृत्त है तथा (ग) सोमों के रक्षण का पूर्ण ध्यान करता है। ४. ऐसा हो तभी पाता है **यत्**=जबकि हे प्रभो! आप **कारवे**=कलापूर्ण ढंग से, सुन्दरता से सब कार्यों को करनेवाले **बर्हिष्मते**=यज्ञशील पुरुष के लिए **दश सहस्त्राणि**=इन अनन्त व सहस्त्रों रूपोंवाले **वृत्राणि**=ज्ञान के आवरणभूत वासनात्मक भावों को **अप्रति**=शत्रुओं के लिए अप्रतिरथ योद्धा के समान **निबर्हयः**=पूर्णरूप से विध्वस्त कर देते हैं। हम सब कार्यों को कुशलता से करने में लगे रहें, यज्ञशील बनें तो प्रभुकृपा से हमारी सब वासनाएँ स्वतः नष्ट हो जाती हैं। वासनाओं के विनाश का सर्वोपरि सुन्दर साधन यही है कि 'अपने कर्तव्य-कर्मों में अप्रमाद से लगे रहना'।

भावार्थ—हम 'मनःप्रसाद, लोकहितात्मक कर्मों व सोमरक्षणों' से प्रभु को प्रसन्न करें। प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करेंगे।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

नमुचि-निबर्हण

युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा।
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू! **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण की शक्ति से युक्त होकर **युधा युधम्**=एक युद्ध से दूसरे युद्ध को **घ इत्**=निश्चय से **उपैषि**=समीपता से प्राप्त होता है। तेरा सारा जीवन इन वासनाओं के साथ संघर्ष में ही बीतता है। वस्तुतः इस अध्यात्म-संग्राम में युद्धमय जीवन से तू प्रभु का उपासक बनता है। २. तू **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **इदं पुरा पुरम्**=एक नगरी के बाद असुरों की दूसरी नगरी को **सं हंसि**=सम्यक्तया नष्ट करता है। 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में बसाये गये असुरों के निवासस्थानभूत नगरों का तुझे विध्वंस करना है। '**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते**'-इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि इस काम के अधिष्ठान बन जाते हैं। इन पुरियों का विध्वंस करके हमें इन्हें देवों का आवास बनाना है। ३. यह सब तब होता है **यत्**=जब हे इन्द्र! तू **नम्या**=नम्रता के साथ **सख्या**=उस प्रभुरूप मित्र की सहायता से **मायिनम्**=अत्यन्त मायावी, कपटी **नमुचिम् नाम**=पीछा न छोड़नेवाले 'नमुचि' नामक इस अभिमानरूप शत्रु को **परावति**=सुदूर देश में **निबर्हयः**=निश्चित रूप से विध्वस्त करता है।

भावार्थ—हमारा जीवन अध्यात्म-संग्राम में चले, हम त्रिपुरारी बनें, अंहकार को जीतें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'करञ्ज-पर्णय व वंगृद' विनाश

त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत्पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्वना॥ ८॥

१. गतमन्त्र में नमुचि के निबर्हण का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्र में 'करञ्ज, पर्णय व वंगृद' के वध का प्रतिपादन है। करञ्ज शब्द की व्युत्पति आचार्य दयानन्द के शब्दों में **'किरति विक्षिपति धार्मिकान्'** है, जो धार्मिक लोगों को पीड़ित करता है, वह 'करञ्ज' है। **'पर्णानि परप्राप्तानि वस्तूनि याति'** इस व्युत्पत्ति से पर्णय शब्द को आचार्य ने चोर का वाचक माना है। **'वंगृन् वक्रान् विषादीन् पदार्थान् ददाति'** इस व्युत्पत्ति से वंगृद का अर्थ विषादि का देनेवाला कुटिल व्यक्ति है। २. 'अतिथिग्व' वह व्यक्ति है जोकि 'अतिथीन् गच्छति' सदा अतिथियों को प्राप्त करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **त्वम्**=गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का मित्र बननेवाला तू **करञ्जम्**=धार्मिकों को दुःख देनेवाले को **उत**=और **पर्णयम्**=पर-पदार्थों का हरण करनेवाले को **वधीः**=नष्ट करता है, अर्थात् तू अपने में धार्मिक को कष्ट देने की वृत्ति को तथा पर-द्रव्य-हरण की चौर्य वृत्ति को पनपने नहीं देता। तू सदा धार्मिकों का मान करता है और श्रम से ही धनार्जन करता है। ३. इन करञ्ज व पर्णय की अशुभ वृत्तियों को तू **अतिथिग्वस्य**=अतिथि की **तेजिष्ठया वर्तनी**=अत्यन्त तीव्र सत्क्रिया से (वर्ततेऽनया) **वधीः**=नष्ट करता है। अतिथिग्व वह है जो सदा अतिथियों के प्रति आदरभाव से जाता है। इस अतिथिग्व का अतिथियों के प्रति वर्तन अत्यन्त नम्रता व आदर को लिये हुए होता है। यह अतिथियज्ञ इसके जीवन में अशुभ भावनाओं को कभी पनपने नहीं देता। यह अतिथि-सत्क्रिया वह तीव्र अस्त्र है जो 'करञ्ज व पर्णय' जैसे शत्रुओं को पराजित करने में सफल होता है। ४. **त्वम्**=तू **अनानुदः**=शत्रुओं से न धकेला जाता हुआ **ऋजिश्वना**=[ऋजुना श्वपति] ऋजु मार्ग से गति करनेवाले के द्वारा **परिषूताः**=चारों ओर से घेर लिये गये **वंगृदस्य**=विषादि देनेवाले असुर के **शता पुरः**=सैकड़ों नगरों को **अभिनत्**=विदीर्ण करता है। लोक में औरों का घात-पात करके अपने ऐश्वर्यों को बढ़ानेवाले व्यक्ति अपनी सैकड़ों कोठियाँ बना लेते हैं। प्रभु इनकी इन कोठियों को क्षणभर में नष्ट कर डालते हैं [विज इवामिनाति]। प्रभु 'अनानुद' हैं, किसी से भी पराजित न किये जानेवाले हैं। वंगृद के ये पुर ऋजिश्वा से परिषूत होते हैं। ऋजुमार्ग से बढ़नेवाला व्यक्ति अन्ततः इनको अवष्टब्ध कर लेता है। अन्तिम विजय ऋजिश्वा की ही होती है।

भावार्थ—हम 'करञ्ज, पर्णय व वंगृद' न बनकर ऋजिश्वा बनें।

ऋषिः—**सव्या आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शतशः प्रवाहोंवाली वासना-सरित्

त्वमेताञ्जनराज्ञो ○ द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक्॥ ९॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **जनराज्ञः**=मनुष्यों पर शासन करनेवाली **एतान्**=इन **द्विर्दश**=बीस [दो बार दस] अशुभ वृत्तियों को **नि अवृणक्**=निश्चित रूप से दूर करते हो। ये अशुभ वृत्तियाँ यहाँ बीस कही गई हैं। 'दस इन्द्रियों, पाँच प्राणों, मन, बुद्धि, चित, अहंकार व हृदय—इन बीस के साथ इनका सम्बन्ध है। इनके साथ सम्बद्ध शुभ वृत्तियाँ तो बीस ही हैं। अशुभ वृत्तियाँ भी इनकी विरोधी होती हुई मुख्यरूप से बीस हैं, परन्तु अशुभ व असत्य की संख्या तो अनन्त हो जाती है, अतः यहाँ **षष्टिं सहस्रा**=इनकी संख्या साठ हज़ार कही गई है। **नवतिं नव**=इन्हें ९९ वर्ष पर्यन्त दूर करने का प्रयत्न करते रहना है, न जाने इनका आक्रमण कब हो जाए। २. ये अशुभवृत्तियाँ **अबन्धुना**=संसार में अपने को बाँधनेवाले **सुश्रवसा**=उत्तम

ज्ञान व कीर्तिवाले के साथ भी **उप जग्मुषः**=आ भिड़ती हैं। इनका आक्रमण किस पर नहीं होता। ३. इनके आक्रमण को **श्रुतः**=सम्पूर्ण ज्ञान का स्वामी अथवा जिसकी वाणी एक भक्त के द्वारा सुनी जाती है, वे प्रभु ही **दुष्पदा**=धर्म के दुर्गम [दुरत्यय] मार्ग पर चलनेवाले **रथ्या**=शरीररूप रथ में होनेवाले **चक्रेण**=गतिरूप, क्रियाशीलतारूप पहिये से **नि अवृणक्**=निश्चय से दूर करते हैं। प्रभु-कृपा के बिना मनुष्य पर शासन करनेवाली इन वासनाओं के आक्रमण को निष्फल करना सम्भव नहीं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से ही हम अनन्त प्रवाहों में बहनेवाली इस वासना-नदी को तैर पाते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु किसकी रक्षा करते हैं?

त्वमा॑विथ सु॒श्रव॑सं॒ तवो॒तिभि॒स्तव॒ त्राम॑भिरिन्द्र॒ तूर्व॑याणम्।
त्वम॑स्मै॒ कुत्स॑मतिथि॒ग्वमा॒युं म॒हे राज्ञे॒ यूने॑ अरन्धनायः॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **तव ऊतिभिः**=अपनी रक्षण-प्रक्रियाओं से **सुश्रवसम्**=उत्तम ज्ञानी को अथवा आपकी प्रेरणा को सुननेवाले को **आविथ**=रक्षित करते हो। २. हे इन्द्र! आप **तव त्रामभिः**=अपने रक्षण-साधनों से **तूर्वयाणम्**='तूर्व याति' हिंसक कामादि वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले को रक्षित करते हो। प्रभु की रक्षा का पात्र 'सुश्रवस' और 'तूर्वयाण' है। उत्तम ज्ञान प्राप्त करना और सब प्रकार की अवनति की कारणभूत वासनाओं पर आक्रमण करना'—ये ऐसे कार्य हैं जोकि हमें प्रभु के प्रिय बनाते हैं। इन कार्यों को करते हुए ही हम प्रभु से रक्षित होते हैं। ३. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्मै**=इस **महे**=महान् पूजा के योग्य, **राज्ञे**=सारे संसार को व्यवस्थित Regulate करनेवाले **यूने**=दोषों के अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाले प्रभु के लिए, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिए **कुत्सम्**=सब दोषों का संहार करनेवाले **अतिथिग्वम्**=अतिथियों के प्रति आदरभाव से जानेवाले **आयुम्**=गतिशील पुरुष को **अरन्धनायः**=तैयार करते हैं, उसे इन्द्रियों को वश में करनेवाला बनाते हैं। यह जितेन्द्रिय, शान्तमानस पुरुष ही प्रभु से वरण किया जाता है, यही प्रभु का दर्शन कर पाता है।

भावार्थ—हम 'सुश्रवा, तूर्वयाण, कुत्स, अतिथिग्व व आयु' बनें ताकि प्रभु के प्रीतिपात्र हों और प्रभुदर्शन कर सकें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**सतःपंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

विज्ञान का अध्ययन

य उ॒दृचीन्द्र दे॒वगो॑पाः॒ सखा॑यस्ते शि॒वत॑मा॒ असा॑म।
त्वां स्तो॑षाम॒ त्वया॑ सु॒वीरा॒ द्राघी॑य॒ आयुः॑ प्रत॒रं दधा॑नाः॥ ११॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ये**=जो हम **उदृचि**='उत्कृष्टा ऋचो यस्मिन्नध्ययने—दया०' उत्कृष्ट ऋचाओंवाले अध्ययन में, अर्थात् विज्ञान का उत्तम अध्ययन करते हुए **देवगोपाः**=[देवा गोपा येषाम्] सूर्यादि देवों को अपना रक्षक बनानेवाले **ते सखायः**=आपके मित्र, **शिवतमाः**=अत्यन्त कल्याणमय स्थितिवाले **असाम**=हों। प्रभु के बनाये हुए इस संसार को समझने के लिए विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। यही बात यहाँ 'उदृचि' शब्द से स्पष्ट

की गई है। विज्ञान का अध्ययन ठीक से होने पर ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ हमारा कल्याण-ही-कल्याण करनेवाली होती हैं। इनका ठीक उपयोग करनेवाले हम प्रभु के सच्चे मित्र बनते हैं और शिवतम स्थिति को प्राप्त करते हैं। २. उस समय हमें इन रचनाओं में प्रभु की महत्ता का अनुभव होने लगता है और हम हे प्रभो! **त्वां स्तोषाम**=आपका स्तवन करते हैं। **त्वया सुवीराः**=आपके सम्पर्क में आने से हम उत्तम वीर बनते हैं और **द्राघीयः**=दीर्घ तथा **प्रतरम्**=उत्कृष्ट **आयुः**=जीवन को **दधानाः**=धारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम विज्ञान द्वारा सूर्यादि देवों को समझें। इनके ठीक प्रयोग से कल्याण को सिद्ध करें। इनमें प्रभु-महिमा को देखकर प्रभुस्तवन करते हुए प्रभु-सम्पर्क से वीर बनें तथा दीर्घ व उत्कृष्ट जीवन को धारण करें।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार है कि हम पुरुषार्थ से धनार्जन कर दान देनेवाले हों (१)। वस्तुतः सब धनों के स्वामी व दाता प्रभु ही हैं (२) प्रभुभक्तों को किसी प्रकार की कमी नहीं रहती (३)। अमति व द्वेष को दूर करके हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनें (४)। हम सम्पत्ति, शक्ति व सुमति को प्राप्त करें (५)। मनःप्रसाद, हितकर कार्यों तथा सोमरक्षण से हम प्रभु को प्रसन्न करें (६)। अंहकार को जीतें (७)। पर-पीड़न, चौर्य व कुटिल कार्यों से बचें (८)। शतशः प्रवाहोंवाली वासना-सरित् को तरें (९)। अपने को प्रभु द्वारा रक्षण का पात्र बनाएँ (१०)। विज्ञान के अध्ययन से देवों को अपना रक्षक बनाएँ और प्रभु के भक्त बनें (११)। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे—

[५४] चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अनन्त-शक्ति प्रभु का स्मरण

मा नो॑ अ॒स्मिन्म॑घवन्पृ॒त्स्वंह॑सि न॒हि ते॒ अन्तः॒ शव॑सः परी॒णशे॑।
अक्र॑न्दयो न॒द्यो॒३ रोरु॑वद्व॒ना क॒था न क्षो॒णीर्भि॒यसा॒ समा॑रत॥ १॥

१. हे **मघवन्**=[मघ=मख] सम्पूर्ण ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **अस्मिन् अंहसि**=इस कष्ट के कारणभूत पाप में तथा **पृत्सु**=इन वासनाओं के साथ होनेवाले संग्रामों में **मा**=मत **अक्रन्दयः**=रुलाइए। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर ही तो मैं इन पापों व वासनाओं को पराजित कर पाऊँगा। २. **ते**=आपके **शवसः**=बल का **अन्तः**=अन्त **नहि परीणशे**=नहीं प्राप्त किया जा सकता। **नद्यः**=नदियों को **अक्रन्दयः**=आप ही शब्दयुक्त करते हैं। वस्तुतः गड़गड़ाती हुई ये तीव्रगति से चलती हुई ये नदियाँ आपकी ही महिमा का प्रतिपादन कर रही हैं। **वना**=वनों को भी **रोरुवत्**=आप ही शब्दयुक्त करते हैं। इन वनों के सघन वृक्षों में से जब वायु बहती है तब उनकी शाखाओं व पत्तों से होनेवाली मर्मर-ध्वनि में आपका ही स्तवन सुनाई पड़ता है। ३. हे प्रभो! ऐसी स्थिति में **क्षोणीः**=इन पृथिवियों में निवास करनेवाले प्राणी **भियसा**=भय से **कथा**=क्योंकर **न समारत**=संगत न हों। जैसे पिता की उपस्थिति में पुत्र एक आदरयुक्त भय (awe) को अनुभव करता हुआ अशुभ कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, इसी प्रकार नदियों व वनादि में सर्वत्र आपकी शक्ति का दर्शन करनेवाला व्यक्ति पाप व वासनाओं में नहीं फँसता; सर्वत्र प्रभु की शक्ति व महिमा का दर्शन करनेवाला पापों से सदा ऊपर उठा रहता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम अपने में शक्ति का संचार करके वासना-संग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'शक्ति व प्रज्ञा के निरतिशय आधार' प्रभु

अर्चा॑ श॒क्राय॑ शा॒किने॒ शची॑वते शृ॒ण्वन्त॒मिन्द्रं॑ म॒हय॑न्न॒भि ष्टु॑हि।

यो धृ॒ष्णुना॒ शव॑सा॒ रोद॑सी उ॒भे वृषा॑ वृष॒त्वा वृ॑ष॒भो न्यृ॒ञ्जते॑॥ २॥

१. हे जीव! तू **शक्राय**=सब कार्यों को करने की शक्ति से सम्पन्न प्रभु के लिए **अर्च**=अर्चना कर। **शाकिने**=वे प्रभु अपने भक्तों को शक्तिसम्पन्न करनेवाले हैं [शाकयति]। प्रभु के सम्पर्क में प्रभुभक्त उसी प्रकार शक्तिसम्पन्न हो जाता है जैसे कि अग्नि के सम्पर्क में लोह-शलाका शक्तिसम्पन्न हो जाती है। २. **शचीवते**=वे प्रभु प्रज्ञावाले हैं। जैसे वे प्रभु शक्ति के आधार हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान के आधार भी वे प्रभु ही हैं। प्रभुभक्त शरीर से शक्तिसम्पन्न बनता है तो मस्तिष्क में वह प्रज्ञासम्पन्न होता है। ३. ये प्रभु अपने भक्तों की प्रार्थना को सदा सुनते हैं। इस **शृण्वन्तम्**=प्रार्थना को सुननेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यवाले प्रभु को **महयन्**=पूजित करता हुआ तू **अभिष्टुहि**=दिन के प्रारम्भ में भी और अन्त में भी स्तुति करनेवाला बन। प्रातः-सायं दोनों समय तेरे जीवन में प्रभुस्तवन चले। यह प्रभुस्तवन ही तो तुझे तेरे जीवन के लक्ष्य का स्मरण कराएगा। ४. ये प्रभु वे हैं **यः**=जो **धृष्णुना, शवसा**=सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बल से **वृषा**=अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए और **वृषत्वा**=इस शक्तिशालिता से **वृषभः**=हमपर सब सुखों का वर्षण करनेवाले होते हुए **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **नि ऋञ्जते**=नितरां प्रसाधित करते हैं। वे प्रभु हमारे पृथिवीरूप शरीरों को सुदृढ़ करते हैं तो मस्तिष्करूप द्युलोक को भी ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कर देते हैं। शक्ति व प्रज्ञा के निरतिशय आधारभूत वे प्रभु हमें भी शक्ति व प्रज्ञा का आधार बना देते हैं। हमारा शरीर शक्ति से शोभित होता है तो मस्तिष्क ज्ञान का निधान बन जाता है। इस शक्ति व प्रज्ञा के सम्बन्ध से हमारे सब पाप व कष्ट दूर हो जाते हैं। शक्ति व्याधियों को दूर करती है तो प्रज्ञा आधियों को।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति देकर स्वस्थ शरीर बनाएँ और प्रज्ञा देकर स्वस्थ मनवाला करें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभुरूप रथ

अर्चा॑ दि॒वे बृ॑ह॒ते शू॒ष्यं॑१ वचः॒ स्वक्ष॑त्रं॒ यस्य॑ धृष॒तो धृ॒षन्मनः॑।

बृ॒हच्छ्र॑वा॒ असु॑रो ब॒र्हणा॑ कृ॒तः पु॒रो हरि॑भ्यां वृष॒भो रथो॒ हि षः॥ ३॥

१. **दिवे**=उस प्रकाशमय **बृहते**=शक्ति से बढ़े हुए प्रभु के लिए **अर्च**=तू अर्चन करनेवाला बन। तेरा यह **वचः**=स्तुति-वचन **शूष्यम्**=बल का वर्धन करनेवाला है। वह तू इन्द्र के लिए अर्चना करनेवाला बन **यस्य धृषतः**=जिस शत्रुओं के धर्षण करनेवाले का **धृषत्**=शत्रुधर्षक **मनः**=मन **स्वक्षत्रम्**=आत्मबल-सम्पन्न है। वस्तुतः प्रभु की सच्ची उपासना वही करता है जोकि अपने मन को आत्मबल-सम्पन्न बनाकर शत्रुभूत वासनाओं को कुचल देता है। प्रभु-उपासना का यह परिणाम होना ही चाहिए। यदि उपासक बनकर भी एक व्यक्ति वासनाओं के वशीभूत होता रहे तो उस उपासना का लाभ ही क्या हुआ? २. वे प्रभु **बृहत् श्रवाः**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान के आधार हैं; **असुरः**=(असून् राति) प्राणशक्ति देनेवाले हैं। वे प्रभु अपने भक्त को वह

ज्ञान व प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं जो उसकी उन्नति का कारण बनते हैं। ३. इस भक्त के द्वारा वे प्रभु **बर्हणा**=वृद्धि के दृष्टिकोण से **पुरः कृतः**=आगे किये जाते हैं। एक प्रभुभक्त प्रभु को अपने जीवन का आदर्श बनाता है, 'पुरो-हित' बनाता है। प्रभु के गुणों का स्मरण करता हुआ उन गुणों को अपने में धारण करने का प्रयत्न करता है। ४. वे प्रभु **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के द्वारा **वृषभः**=हमपर ज्ञान व शक्ति का वर्षण करते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ देकर वे हमें ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं और कर्मेन्द्रियों के द्वारा हमें शक्तिसम्पन्न करते हैं। इस प्रकार **हि**=निश्चय से **सः**=वे प्रभु **रथः**=रहणशील हैं, जीवन-यात्रा में हमें तीव्रता से आगे ले-जाते हैं। वे प्रभु हमारे रथ बनते हैं, जिसके द्वारा हम यात्रा को पूर्ण कर लेते हैं। '**भ्रामयन् सर्वभूतानि**' इन गीता-शब्दो में इसी भाव की ध्वनि मिलती है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से हमारी शक्ति बढ़ती है। ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न होकर हम जीवन-यात्रा में आगे बढ़ते हैं। प्रभु हमारे रथ हो जाते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'गभस्ति-अशनि'

त्वं दिवो बृहतः सानु कोपयोऽव त्मना धृषता शम्बरं भिनत्।
यन्मायिनो व्रन्दिनो मन्दिना धृषच्छितां गभस्तिमशनिं पृतन्यसि॥ ४॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा **बृहतः**=उपभोग के द्वारा शान्त होने की अपेक्षा और अधिक बढ़ते चले जानेवाले कामरूप पर्वत के **सानु**=शिखर को **कोपयः**=(अकम्पयः) कम्पित करते हो, अर्थात् ज्ञानाग्नि में इस काम को आप भस्म करनेवाले हो। २. **धृषता**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाली शक्ति से **शम्बरम्**=शान्ति को आवृत्त करनेवाले इस ईर्ष्यारूप शत्रु को **त्मना**=आप स्वयं **अवभिनत्**=विदीर्ण करते हो। हम प्रभु का स्मरण करते हैं और प्रभु-कृपा से हमारा हृदय ईर्ष्या-द्वेष व क्रोधादि की उन भावनाओं से ऊपर उठ जाता है जो हमारे हृदय की शान्ति को भंग करनेवाली हैं। ३. इस वृत्र (काम) व शम्बर का विदारण आप तब करते हो **यत्**=जबकि **मायिनः**=इस मायावाले छल-कपट से युक्त **व्रन्दिनः**=समूह में रहनेवाले, अर्थात् समुदायरूप से आक्रमण करनेवाले असुरों के प्रति **मन्दिनः**=आनन्दयुक्त **धृषत्**=(धृषता) शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हृदय से **शिताम्**=अत्यन्त तीव्र **गभस्तिम्**=ज्ञान की रश्मियों से युक्त **अशनिम्**=वज्र को (अश् व्याप्तौ), कर्मों में व्याप्तिरूप अस्त्र को **पृतन्यसि**=शत्रुसैन्य को जीतने की इच्छा से प्रेरित करते हो। वस्तुतः आसुर भावनाएँ मायायुक्त हैं, मन को आकृष्ट करनेवाली हैं, समुदाय में आक्रमण करती हैं, अर्थात् एक के साथ दूसरी, दूसरी के साथ तीसरी, इस रूप में ये जुड़ी हुई हैं। इनको जीतने के लिए मन में उत्साह होना आवश्यक है, उत्साह के साथ बल का होना भी अनिवार्य है, तभी तो हम इनका धर्षण कर सकेंगे। इनके धर्षण के लिए 'गभस्ति व अशनि' नामक अस्त्र हैं। 'गभस्ति' ज्ञानरश्मियों का नाम है और 'अशनि' कर्मों में व्याप्तिरूप वज्र है जोकि इन्द्र का प्रधान अस्त्र है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान व कर्म के द्वारा ही इन शत्रुओं का संहार होता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम मन में प्रसन्न व शत्रुधर्षक बल से सम्पन्न हों। ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्यापृति के द्वारा सब शत्रुओं को दूर भगा दें।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

शुष्णासुर के मस्तक पर वज्रप्रहार

नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना।
प्राचीनेन मनसा बर्हणावता यदद्या चित्कृणवः कस्त्वा परि॥ ५॥

१. **यत्**=जब **व्रन्दिनः**=समूह में आक्रमण करनेवाले **श्वसनस्य**=तीव्रश्वास के कारणभूत **शुष्णस्य**=अपने आक्रमण से सुखा डालनेवाले इस काम=वृत्रासुर के **मूर्धनि**=मस्तक पर **चित्**=भी **निवृणक्षि**=वज्रप्रहार को प्राप्त कराता है। 'काम' समूह में आक्रमण करनेवाला है, यह आसुर वृत्तियों की सेना का सेनापति है। इसके साथ सभी अशुभ वृत्तियाँ मनुष्य को आ घेरती हैं। कामाभिभूत मनुष्य का श्वास तीव्र गति से चलता है, अतः इसे 'श्वसन' कहा गया है। कामी पुरुष को यह काम सन्तप्त करके सुखा डालता है, अतः यह 'शुष्ण' है। २. तू इस वृत्र पर वज्रप्रहाररूप कार्य को **यत्**=यदि **अद्यचित्**=आज भी **रोरुवद्वना**=वननीय, सम्भजनीय, सेवनीय प्रभु-नामों का उच्चारण करते हुए **प्राचीनेन** (प्र अञ्च)=निरन्तर उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले **बर्हणावता**=द्वेषादि शत्रुओं के उद्बर्हण- [विनाश]-वाले **मनसा**=मन से **कृणवः**=करता है तो **कः**=वह आनन्दमय प्रभु **त्वा परि**=(उपरि) तेरे ऊपर हैं, अर्थात् उस समय उस आनन्दमय प्रभु की छत्रछाया तुझे सदा प्राप्त रहती है। ३. यह स्पष्ट है कि काम को नष्ट करने के लिए (क) मन में प्रभु के सम्भजनीय नामों का जप करना चाहिए, (ख) मन में सदा आगे बढ़ने की भावना हो, (ग) मन से द्वेषादि मलों के उद्बर्हण करने का प्रयास किया जाए।

भावार्थ—शुष्णासुर के मस्तक पर आक्रमण तभी होता है जब हम प्रभु के नामों का उच्चारण करें और हमारे मनों में आगे बढ़ने की भावना हो।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः

प्रभु की रक्षा के पात्र

त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीतिं वय्यं शतक्रतो।
त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरो नवतिं दम्भयो नव॥ ६॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **नर्यम्**=[गतमन्त्र के अनुसार वासना को जीतकर] नर=लोकहित के कार्यों में तत्पर मनुष्य का **आविथ**=रक्षण करते हैं। **'सर्वभूतहिते रताः'** व्यक्ति ही सच्चे प्रभुभक्त हैं। ऐसे ही व्यक्ति प्रभु के प्रिय होते हैं। २. हे प्रभो! आप **तुर्वशम्**=त्वरा से, शीघ्रता से (तुर्वनि इति तुरः) कामादि हिंसक शत्रुओं को वश में करनेवाले मनुष्य की रक्षा करते हैं। निघण्टु में 'तुर्वश' शब्द मनुष्य का नाम है। मनुष्य का नाम इसलिए है कि वह शीघ्रता से शत्रुओं को वश में करनेवाला है। प्रभु के प्रिय ये ही लोग होते हैं, कामाभिभूत पुरुष नहीं। ३. हे प्रभो! आप **यदुम्**=यत्नशील पुरुष की रक्षा करते हो। संसार में 'गिरना' दोष व निन्दा का कारण नहीं है। निन्दनीय बात तो यह है कि हम गिरकर फिर उठने का प्रयास ही न करें। हम कामादि आन्तर शत्रुओं के आक्रमण से बार-बार आक्रान्त होने पर भी इस आन्तर शत्रु के साथ युद्ध को समाप्त न कर दें। यदि 'युधिष्ठिर' बनेंगे तो अन्ततः हमारी 'अनन्त विजय' निश्चित ही है। ४. **त्वम्**=आप **तुर्वीतिम्**='तुर्वति हिनस्ति' शत्रुओं का संहार करनेवाले का रक्षण करते हैं। तेजस्वी बनकर जैसे हम बाह्य शत्रुओं से अपना रक्षण करनेवाले बनें, उसी प्रकार मन को ओजस्वी व बलवान् बनाकर कामादि शत्रुओं का भी अपने पर आक्रमण न होने

दें। ५. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! आप **वय्यम्**=(वयते इति वयः, तत्र साधुः) गतिशील पुरुषों में उत्तम की, अर्थात् उत्कृष्ट गतिवाले की रक्षा करते हो। अकर्मण्य व्यक्ति प्रभु का प्रिय नहीं होता। ६. **त्वम्**=आप **कृत्व्ये धने**=करनेयोग्य, अर्थात् उपार्जन के योग्य धन के निमित्त **रथम्**=रंहण स्वभाववाले, गतिशील, आलस्यशून्य पुरुष को तथा **एतशम्**=[प्राप्तविद्यम्] अश्ववद् बलिष्ठम्—द० ऋ० ४।३०।६, प्राप्तविद्य बलिष्ठ व्यक्ति को रक्षित करते हो। ७. **त्वम्**=आप शम्बर आदि असुरों के **नवतिं नव**=निन्यानवे **पुरः**=नगरों को **दम्भयः**=नष्ट करते हैं। असुरों के नगरों का संहार करके आप देवनगरों की स्थापना करते हैं। हमारे शरीरों को आप असुरनगर नहीं बनने देते हो। जब हममें ओज व बल की कमी हो जाती है तब हमारी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को असुर अपना अधिष्ठान बना लेते हैं।

भावार्थ—'नर्य, तुर्वश, यदु, तुर्वीति, वय्य, रथ व एतश' प्रभु की रक्षा के पात्र होते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उन्नति का मार्ग

स घा राजा सत्पतिः शूशुवज्जनो रातहव्यः प्रति यः शासमिन्वति।
उक्था वा यो अभिगृणाति राधसा दानुरस्मा उपरा पिन्वते दिवः॥ ७॥

१. **स घ जनः**=वह मनुष्य ही निश्चय से **शूशुवत्**=[आत्मानं वर्धयति—सा०] अपना वर्धन कर पाता है **यः**=जो **राजा**=अपने जीवन को व्यवस्थित (Regulated) करता है अथवा ज्ञान को प्राप्त करके जो अपने जीवन को दीप्त बनाता है। २. **सत्पतिः**=जो अपने जीवन में 'सत्' का रक्षण करता है। गीता के शब्दों में सत्कर्म सद्भाव व साधुभाव से किया जाने पर सत् कहलाता है। यह भी उत्तम भावना से और उत्तम प्रकार से ही उत्तम कार्यों को करता है, अतः सत्पति कहलाने का अधिकारी होता है। ३. **रातहव्यः**=यह सदा हव्य का देनेवाला होता है। देवताओं को यह उनका भोजन अवश्य प्राप्त कराता है। देवताओं को देकर बचे हुए को खाने से यह हवि का ग्रहण करनेवाला होता है। इस हवि से ही यह प्रभु का पूजन करता है—'**कस्मै देवाय हविषा विधेम**'। ४. **यः**=जो **प्रतिशासम्**=प्रभु के एक-एक उपदेश को **इन्वति**=व्याप्त करता है—प्रभु की वेदोक्त प्रत्येक आज्ञा का पालन करने का प्रयत्न करता है। ५. **यः वा**=और जो **राधसा**=सिद्धि के हेतु से—इन्द्रिय—नियमन में सफलता की प्राप्ति के उद्देश्य से **उक्था**=स्तोत्रों का **अभिगृणाति**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में दोनों समय उच्चारण करता है। यह प्रातःसायं किया गया प्रभु का आराधन उपासक को शक्तिशाली बनाता है और इस प्रकार यह इन्द्रियों व मन को वश करने में समर्थ होता है। ६. **अस्मै**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **दानुः**=अभिमत फलों का देनेवाला वह प्रभु **उपरा दिवः**=मेघतुल्य ज्ञानों का **पिन्वते**=पूरण करता है। 'उपर' शब्द निघण्टु में मेघ का वाचक है। जैसे मेघ वृष्टिजल के द्वारा सन्तप्त प्राणियों को सुखी करता है, इसी प्रकार प्रभु इसे वह मेघतुल्य ज्ञान देता है जो ज्ञान इसके सब सन्तापों का हरण करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अपने वर्धन के लिए उद्यत होंगे तो प्रभु भी हमें वह ज्ञान देंगे जो हमें शान्ति व सुख प्राप्त कराने में साधक होगा।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अनुपम बल व बुद्धि

असमं क्षत्रमसमा मनीषा प्र सोमपा अपसा सन्तु नेमे।
ये त इन्द्र ददुषो वर्धयन्ति महि क्षत्रं स्थविरं वृष्ण्यं च॥८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके प्रति **ददुषः**=अपना अर्पण करनेवाले होते हैं, उनका **क्षत्रम्**=बल **असमम्**=असाधारण होता है, **मनीषा**=उनकी बुद्धि भी **असमा**=असाधारण होती है। **नेमे**=ये **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले **अपसा**=यज्ञादि कर्मों के द्वारा **प्रसन्तु**=खूब बढ़े हुए हों। वस्तुतः प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवालों का झुकाव विषय-वासनाओं की ओर नहीं रहता। परिणामतः वे सोम का रक्षण करनेवाले होते हैं, और यह सुरक्षित सोम उनके बल और वृद्धि का कारण बनता है। ये सोम का शरीरों में ही पान और व्यापन करनेवाले लोग खूब क्रियाशील होते हैं। इनको आलस्य व अकर्मण्यता नहीं घेरते। यह क्रियाशीलता ही इनके उत्थान का कारण बनती है। २. ये लोग अपने में **महि क्षत्रम्**=महनीय, यशस्वी बल को **च**=तथा **स्थविरम् वृष्ण्यम्**=स्थूल, अर्थात् प्रवृद्ध (great) पुंस्त्व को, शक्तिशालिता को **वर्धयन्ति**=बढ़ाते हैं। इनका बल यशस्वी होता है। बल से ये अन्याय को दूर करने के कार्यों को करते हुए सबके प्रिय होते हैं, चारों ओर इनका यश फैलता है। इस 'महि क्षत्र' के साथ ये बढ़ी हुई वीरतावाले होते हैं। इस वीरता के कारण ही ये घबराते नहीं और वीरतापूर्ण कार्यों के द्वारा सबपर सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले लोग सोमरक्षण के द्वारा अनुपम बल व बुद्धि का सम्पादन करते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सोम का रक्षण व दान की वृत्ति

तुभ्येदेते बहुला अद्रिदुग्धाश्चमूषदश्चमसा इन्द्रपानाः।
व्यश्नुहि तर्पया काममेषामथा मनो वसुदेयाय कृष्व॥९॥

१. गतमन्त्र के 'सोमपाः' से प्रभु कहते हैं कि **तुभ्य इत् एते**=तेरे लिए ही निश्चय से **चमसाः**=[चम्यन्ते] शरीर में ही जिनका आचमन किया जाता है, ऐसे ये सोमकण हैं, वे **बहुलाः**=बहुत मात्रा में हैं अथवा अनेक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं [बहून् अर्थात् लान्ति]। इनके कारण ही शरीर की नीरोगता, मन की निर्मलता तथा बुद्धि की तीव्रता को जन्म मिलता है। **अद्रिदुग्धाः**=(अद्रि=A tree) इस शरीररूप **'ऊर्ध्वमूल-अवाक् शाखः'** वृक्ष के लिए इन सोमकणों का दोहन व पूरण हुआ है। **चमूषदः**=शरीररूप चमू ही इनके बैठने का स्थान है, अर्थात् शरीर में ही इनकी स्थिति है। **इन्द्रपानाः**=जितेन्द्रिय पुरुष से ही इनका रक्षण होता है और जितेन्द्रिय पुरुष से रक्षित होकर ये उसका रक्षण करनेवाले होते हैं। वह इनका रक्षण करता है, ये उसका। इस प्रकार इन्द्र व सोमकणों का भावन चलता है। इससे इनका परमकल्याण होता है। २. हे इन्द्र! तू **व्यश्नुहि**=विशिष्टरूप से इन्हें शरीर में व्याप्त करनेवाला बन। इन सोमकणों के शरीर में व्यापन के द्वारा **एषाम्**=इन इन्द्रियों का **कामं तर्पय**=तू खूब तर्पण करनेवाला बन। इन्द्रियों की शक्ति का पोषण सोमकणों के रक्षण पर ही निर्भर करता है। ३. भोग-विलास की वृत्ति सोम-विनाश का कारण बनती है और सोम-विनाश से इन्द्रियों की

शक्ति क्षीण हो जाती है। भोगविलास की वृत्ति से ऊपर आने के लिए आवश्यक है कि तू **अथ**=अब **मनः**=अपने मन को **वसुदेवाय**=धन के देने के लिए **कृष्व**=कर। दानवृत्ति वासनाओं का भी दान (लवन=काटना) करती है और जीवन को शुद्ध (दैप् शोधने) बनाती है।

भावार्थ—सोमकण शरीर में रक्षित करने के लिए ही हैं। ये रक्षित होकर इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करते हैं। इसी उद्देश्य से हम मन को दान की वृत्ति से युक्त करें, क्योंकि यह दान हमें भोगविलास से ऊपर उठाकर 'सोम-रक्षण-क्षम' बनाएगा।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

रूपसम्पन्न, पर विनीत

अपामतिष्ठद्धरुणह्वरं तमोऽन्तर्वृत्रस्य जठरेषु पर्वतः।
अभीमिन्द्रो नद्यो वव्रिणा हिता विश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब मन को धन के दान की वृत्तिवाला बनाते हैं तब लोभ के नष्ट होने से **अपाम्**=प्रजाओं का **धरुणह्वरम्**=[धरुण=प्रजापति] [ह्वृ=to deceive] प्रभु से वञ्चित करनेवाला **तमः**=अन्धकार **अतिष्ठत्**=रुक जाता है (to stop, to cease)। जब तक मनुष्य लोभोपहतचित्तवाला होता है तब तक वह अपने सम्भाव्य कर्तव्य को भी ठीक से नहीं देख पाता, प्रभुदर्शन का तो उस समय प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। मन दान की वृत्तिवाला बना तो लोभ नष्ट हो जाता है और हमें प्रभु-दर्शन से वञ्चित करनेवाला अज्ञान का आवरण भी दूर हो जाता है। प्रभु-दर्शन से वञ्चित करनेवाला अज्ञान अन्धकार अब नहीं रह जाता। २. यह पञ्च पर्वोंवाली अविद्या का **पर्वतः**=अज्ञान-पर्वत **वृत्रस्य**=काम के **जठरेषु अन्तः**=उदरों में ही तो रहता है। 'काम' गया, तो अविद्या अब रहे कहाँ? ३. अविद्या नष्ट होते ही **ईम्**=अब निश्चय से **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अभि**=इस व्यक्ति की ओर आता है अर्थात् इसे प्रभु का दर्शन होता है। ४. **नद्यः**=[नदनात्] ये प्रभु का स्तवन करनेवाले लोग **वव्रिणा**=तेजस्विता से से **हिताः**=धारण किये जाते हैं। इनका रूप तेजस्वी होता है। प्रभुदर्शन करनेवाला निस्तेज हो ही नहीं सकता। ५. ये **विश्वाः अनुष्ठाः**=सब स्तोता शास्त्रानुकूल मार्ग में स्थित होनेवाले होते हैं। इनका जीवन शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल होता है। ये शास्त्रविधि को छोड़कर कर्मों में व्यापृत नहीं होते। ६. **प्रवणेषु जिघ्नते**=ये सदा निम्न मार्गों से, अर्थात् नम्रतावाले मार्गों से गति करते हैं। इनके जीवन में अभिमान नहीं होता। यही तो दैवी-सम्पत्ति की पराकाष्ठा है।

भावार्थ—दानवृत्ति से अज्ञान का तम दूर होता है, हम प्रभु के प्रिय बनते हैं, उत्तम रूपवाले होते हुए शास्त्रानुकूल अनुष्ठानवाले बनकर नम्रता के मार्ग से आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

धन+सन्तान व अन्न

स शेवृधमधि धा द्युम्नमस्मे महि क्षत्रं जनाषाळिन्द्र तव्यम्।
रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीन्राये च नः स्वपत्या इषे धाः॥ ११॥

१. हे परमात्मन्! **सः**=वे आप **अस्मे**=हमारे लिए **द्युम्नम्**=[अन्नम्-नि० ५।५] उस अन्न को **अधिधाः**=आधिक्येन धारण कीजिए जोकि **शेवृधम्**=[रोगाणां शमने सति यद्वर्धते-सा०] रोगों को शान्त करने के द्वारा वृद्धि का कारण होता है। राजस् अन्न दुःख, शोक व रोग को देनेवाले होते हैं। सात्त्विक अन्न रोगों को शान्त करके सुख की वृद्धि का कारण बनते हैं। २.

हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! उस **क्षत्रम्**=बल को भी धारण कीजिए जोकि **महि**=महत् व महनीय है, जो रक्षा में विनियुक्त होकर हमारे यश का कारण बनता है, **जनाषाट्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है और **तव्यम्**=प्रवृद्ध है, अथवा वृद्धि का कारणभूत है। ३. इस प्रकार उत्तम अन्न द्वारा शक्ति देकर हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **मघोनः**=[मघ=मख] यज्ञशील पुरुषों का **रक्ष च**=रक्षण भी कीजिए और **सूरीन् पाहि**=विद्वानों की रक्षा कीजिए। वस्तुतः प्रभु के रक्षण के पात्र यज्ञशील विद्वान् ही हुआ करते हैं। ४. हे प्रभो! आप हमें **राये**=दान देने योग्य धनों के लिए **स्वपत्यै**=उत्तम सन्तानों के लिए **च**=तथा **इषे**=अन्न के लिए अथवा आपकी प्रेरणा को सुनने के लिए **धाः**=धारण कीजिए। एक सद्गृहस्थ में निर्धनता, अनपत्यता व अन्नाभाव के लिए कोई स्थान नहीं है।

भावार्थ—हमें सात्त्विक अन्नों के सेवन से नीरोगता का सुख प्राप्त हो। हमारी शक्ति महनीय हो। हम यज्ञशील विद्वान् बनें। धन, सन्तान व अन्न को धारण करनेवाले हों।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्रभु की उपस्थिति में जीव एक आदरयुक्त भय [awe] का अनुभव करता है और पाप से बचता है (१)। वे प्रभु शक्ति व प्रज्ञा के निरतिशय आधार हैं (२)। वे प्रभु ही वस्तुतः हमारे रथ हैं (३)। उस प्रभु की कृपा से ही हम प्रसन्न व शक्तिसम्पन्न बनते हैं (४)। इस प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए ही हम शुष्णासुर के मस्तक पर आक्रमण करते हैं (५), नर्य व तुर्वश बनकर प्रभु की रक्षा के पात्र होते हैं (६)। उन्नति का मार्ग यही है कि हम प्रभु की प्रत्येक आज्ञा का पालन करें (७)। इससे हम बल व बुद्धि में अद्वितीय बनेंगे (८)। इस दृष्टिकोण से हमें चाहिए कि हम सोम का रक्षण करें और मन को दान की वृत्तिवाला बनाएँ (९)। यह सोमरक्षण हमें रूपसम्पन्न व विनीत बनाएगा (१०)। ऐसा बनने पर साधनभूत 'धन, सन्तान व अन्न' को हम प्राप्त करेंगे (११)। अनन्त विस्तारवाले वे प्रभु ही हमारे जीवनों को दीप्त बनाते हैं—

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

भीमः तुविष्मान्

दिवश्चिदस्य वरिमा वि पप्रथ इन्द्रं न मह्ना पृथिवी चन प्रति।
भीमस्तुविष्माञ्चर्षणिभ्य आतपः शिशीते वज्रं तेजसे न वंसगः॥ १॥

१. **अस्य**=इस प्रभु का **वरिमा**=उरुत्व व विस्तार **दिवः चित्**=द्युलोक से भी **विपप्रथे**=विशिष्ट विस्तारवाला होता है। द्युलोक से भी महान् वे प्रभु हैं। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **मह्ना**=[महिम्ना] महिमा की दृष्टि से **पृथिवी चन**=यह अनन्त विस्तारवाला अन्तरिक्ष भी **प्रति न**=प्रतिनिधित्व करनेवाला नहीं हो सकता। ३. वे प्रभु **भीमः**=अनुपम शक्ति के कारण शत्रुओं के लिए भयंकर हैं, **तुविष्मान्**=ज्ञानवान् व बलवान् हैं। ऐसे ये प्रभु **चर्षणिभ्यः**=श्रमशील मनुष्यों के लिए **आतपः**=समन्तात् दीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं। श्रमशील पुरुष ही प्रज्ञा व पौरुष को प्रवृद्ध कर पाता है और प्रज्ञा व पौरुष से दीप्त होकर यह पुरुष **वंसगः न**=वननीय=सुन्दर गतिवाले वृषभ की भाँति **तेजसे**=तेजस्वितापूर्ण कार्यों के लिए **वज्रम्**=अपने क्रियाशीलतारूप वज्र को **शिशीते**=तीक्ष्ण करता है। ४. वस्तुतः क्रियाशीलता ही वह वज्र है (वज गतौ) जिससे कि इन्द्र [जीवात्मा] सब असुरों [आसुर वृत्तियों] का संहार करता है। यहाँ 'वननीय गतिवाले वृषभ' की उपमा इस बात का संकेत

कर रही है कि हमें भी अपनी क्रियाशीलता में सौन्दर्य लाने का प्रयत्न करना है। इस बात का ध्यान रखना है कि हमारी ये क्रियाएँ औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाली हों।

भावार्थ—अत्यन्त विस्तार व महिमावाले वे प्रभु हैं। वे क्रियाशील पुरुषों को दीप्त जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सरित्पति प्रभु

सो अर्ण॒वो न न॒द्यः॑ समु॒द्रियः॒ प्रति॑ गृभ्णाति॒ विश्रि॑ता॒ वरी॑मभिः।
इन्द्रः॒ सोम॑स्य पी॒तये॑ वृषायते स॒नात्स यु॒ध्म ओज॑सा पनस्यते॥ २॥

१. **सः**=वह प्रभु **न**=जैसे **समुद्रियः**=समुद्र की ओर जानेवाली **वरीमभिः**=विस्तारों से **विश्रिताः**=विविध स्थानों का आश्रय करनेवाली **नद्यः**=नदियों को (नदीः) **अर्णवः**=समुद्र **प्रतिगृभ्णाति** ग्रहण करता है, उसी प्रकार सारी प्रजाओं को ग्रहण करनेवाले हैं। सम्पूर्ण नदियों का पति समुद्र है, इसी प्रकार सारी प्रजाओं का पति प्रभु है। २. इस प्रभु की प्रजा बना हुआ **इन्द्रः**=जीव **सोमस्य पीतये**=सोमशक्ति का शरीर में पान के द्वारा **वृषायते**=शक्तिशाली पुरुष की भाँति आचरण करता है। इसके कार्य शक्तिसम्पन्न होते हैं। ३. **सः**=वह **सनात्**=सनातन जीव **युध्मः**=वासनाओं के साथ युद्ध करनेवाला योद्धा बनकर **ओजसा**= काम-संहार आदि ओजस्वी कार्यों के द्वारा **पनस्यते**=प्रभु का स्तवन करना चाहता है। जीव का सच्चा प्रभुस्तवन यही है कि वह इस जीवन में योद्धा बने और वासनारूप शत्रुओं का निराकरण करनेवाला बने।

भावार्थ—वे प्रभु सब प्रजाओं के पति हैं, जैसे समुद्र नदियों का। जीव को चाहिए कि युद्ध में वासना-संहाररूप ओजस्वी कार्य के द्वारा वह प्रभु का सच्चा स्तोता बनें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उग्रः, पुरोहितः

त्वं तमि॑न्द्र॒ पर्व॑तं॒ न भोज॑से म॒हो नृ॒म्णस्य॒ धर्म॑णामिरज्यसि।
प्र वी॒र्ये॑ण दे॒वताति॑ चेकिते॒ विश्व॑स्मा उ॒ग्रः कर्म॑णे पु॒रोहि॑तः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=वासनारूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हे जीव! **त्वम्**=तू **तं पर्वतम्**=उस पाँच पर्वोंवाली अविद्या के **भोजसे न**=पालन के लिए नहीं होता, अपितु तू अविद्या को दूर करने का प्रयत्न करता है। २. अविद्या को दूर करने के द्वारा ही **महः नृम्णस्य**=महनीय धन [श० १४.२.२.३०] का तथा **धर्मणाम्**=धारणात्मक कर्मों का **इरज्यसि**=ऐश्वर्य करनेवाला, अर्थात् ईश्वर होता है। अविद्या के प्रबल होने पर मनुष्य अन्याय-मार्ग से भी धन कमाता है और तोड़-फोड़ के कर्मों में आनन्द का अनुभव करता है। अविद्या के दूर होते ही धन इसका साध्य नहीं रहता और वह अन्याय से इसके उपार्जन को व्यर्थ समझता है। साथ ही वह आलोचना करते रहने की अपेक्षा कुछ निर्माण में सहयोग देने को ठीक समझता है। ३. इस प्रकार वह **देवता**=दिव्य गुणोंवाला पुरुष **प्रवीर्येण**=प्रकृष्ट वीर्य के कारण **अति-चेकिते**=अतिशयेन जाना जाता है, अर्थात् उत्कृष्ट वीर्यवाला होता है। यह अपने वीर्य के कारण प्रसिद्ध होता है। ४. **विश्वस्मै कर्मणे**=सब कर्मों के लिए यह **उग्रः**=तेजस्वी होता है और औरों के लिए **पुरोहितः**=सामने रखा हुआ होता है, अर्थात् औरों के लिए आदर्श का काम करता है। इसे देखकर अन्य लोग अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में अविद्या को न पनपने दें, महनीय धन व धर्म के स्वामी हों। वीर्य के अतिशयवाले तथा श्रेष्ठ कर्मों को तेजिस्विता के साथ करनेवाले हों, औरों के लिए आदर्श बनें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

यज्ञों द्वारा उपासन

स इद्वने॑ नम॒स्युभि॑र्वचस्यते॒ चारु॒ जने॑षु प्रब्रुवा॒ण इ॑न्द्रि॒यम्।
वृषा॒ छन्दु॑र्भवति हर्य॒तो वृषा॒ क्षेमे॑ण॒ धेनां॑ म॒घवा॒ यदिन्व॑ति॥ ४॥

१. **स इत्**=वह प्रभु ही **वने**=एकान्त देश में **नमस्युभिः**=नमन की इच्छावालों से, स्तोताओं से **वचस्यते**=(स्तूयते) स्तुति किया जाता है। २. यह प्रभु **जनेषु**=शक्तियों का विकास करनेवाले मनुष्यों में **चारु इन्द्रियम्**=सुन्दर शक्ति को **प्रब्रुवाणः**=(प्रकटयन्) प्रकट करनेवाले होते हैं। ३. **वृषा**=शक्ति के प्रकाश के द्वारा ये इस भक्त पर सुखों का वर्षण करते हैं तथा **हर्यतः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों की कामनावाले पुरुष का यह **छन्दुः**=[उपच्छन्दयिता] यज्ञों में रुचि पैदा करनेवाला **भवति**=होता है। ४. इस रुचि को वह तब पैदा करता है **यत्**=जबकि **वृषा**=वह सुखपूर्वक शक्तिशाली प्रभु **क्षेमेण**=प्रजाओं के क्षेम के हेतु से **मघवा**=ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाला होता हुआ **धेनाम्**=इस वेदवाणी को **इन्वति**=प्राप्त करता है। इस वेदवाणी के द्वारा ही प्रभु यज्ञात्मक कर्मों का उपदेश करते हैं। अनुष्ठित हुए-हुए ये यज्ञ हमारे क्षेम का साधन बनते हैं, वस्तुतः प्रभु इसी प्रकार हमपर सुखों का वर्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करें, प्रभु हमारी शक्तियों का वर्धन करेंगे। प्रभुकृपा से हम यज्ञ-रुचि बनते हैं। वेदवाणी में इन कल्याणकर यज्ञों का वर्णन हुआ है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

पवित्रता व ओजस्विता

स इन्म॒हानि॑ समि॒थानि॑ म॒ज्मना॑ कृ॒णोति॑ यु॒ध्म ओज॑सा॒ जने॑भ्यः।
अधा॑ च॒न श्रद्द॑धति॒ त्विषी॑मत॒ इन्द्रा॑य॒ वज्रं॑ नि॒घनि॑घ्नते व॒धम्॥ ५॥

१. **सः**=वे प्रभु ही **इत्**=निश्चय से **महानि समिथानि**=बड़े-बड़े संग्रामों को, वासनाओं से चलनेवाले युद्धों को **मज्मना**=शोधन के दृष्टिकोण से **कृणोति**=करते हैं। इन वासनाओं से संग्राम में हम तो विजय नहीं पा सकते। प्रभु ही युद्ध करते हैं और इन वासनाओं को पराभूत करके हमारे हृदयों का शोधन करनेवाले होते हैं। २. वे प्रभु ही **जनेभ्यः**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों के लिए **ओजसा**=ओज के हेतु से **युध्मः**=योद्धा बनते हैं। योद्धा बनकर प्रभु कामादि को भस्म कर देते हैं और मनुष्य का जीवन चमक उठता है। ३. **अध चन**=अब इस विजय के बाद ही लोग **त्विषीमते**=दीप्तिवाले **इन्द्राय**=शत्रुनाशक प्रभु के लिए **श्रद्दधति**=श्रद्धा करते हैं और समझते हैं कि प्रभु ही इन कामादि के **वधम्**=हनन के साधनभूत **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **निघनिघ्नते**=खूब ही प्रहृत करते हैं। 'प्रभु ही इन कामादि का नाश करते हैं', यह भावना भक्त को प्रभु के प्रति श्रद्धान्वित करती है।

भावार्थ—काम-क्रोध-लोभादि के साथ चलनेवाले संग्राम को हमारे लिए प्रभु ही जीतते हैं। वे ही हमारे योद्धा हैं। इन वासनाओं को जीतकर प्रभु हमें शुद्ध, पवित्र व ओजस्वी बनाते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

कृत्रिम सदन विनाश

स हि श्रवस्युः सदनानि कृत्रिमा क्ष्मया वृधान ओजसा विनाशयन्।
ज्योतींषि कृण्वन्नवृकाणि यज्यवेऽव सुक्रतुः सर्तवा अपः सृजत्॥ ६॥

१. **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **श्रवस्युः**=हमारे लिए उत्तम अन्न व यश की कामना करते हैं। प्रभुकृपा से हमें उत्तम अन्न प्राप्त होता है और उसके ठीक प्रयोग से हमारा जीवन यशस्वी बनता है। २. इस उत्तम अन्न को प्राप्त करके जीव **क्ष्मया**=शत्रुओं को कुचल डालनेवाले बल से [क्षमूष् सहने, षह मर्षणे] **वृधानः**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **ओजसा**=ओजस्विता से **कृत्रिमा सदनानि**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में कृत्रिम रूप से बने हुए असुरों के घरों को **विनाशयन्**=नष्ट करता हुआ होता है। स्वाभाविक रूप में तो यह शरीर देवमन्दिर व ऋषियों का आश्रम है [सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते, सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे], परन्तु असुरों का राजा वृत्र=काम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आक्रान्त करके इनमें अपना अधिष्ठान बनाता है। सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला व्यक्ति बल को बढ़ाकर इन अधिष्ठानों को तोड़ डालता है। यह 'त्रि-पुर विनाश' है। ३. इस प्रकार असुरों के अधिष्ठानों के विनाश के द्वारा **अवृकाणि**=आवरण से रहित **ज्योतींषी**=ज्ञान की ज्योतियों को **कृण्वन्**=उत्पन्न करता है। काम ने ही तो इन अन्तर्ज्योतियों पर पर्दा डाला हुआ था। काम नष्ट हुआ और ज्योति चमक उठी। ३. इस **यज्यवे**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा अपने साथ यज्ञों का मेल करनेवाले पुरुष के लिए **सुक्रतुः**=वह उत्तम कर्मों और प्रज्ञानोंवाला प्रभु **सर्तवा**=गतिशीलता के लिए **अपः**=व्यापक कर्मों को **अवसृजत्**=उत्पन्न करता है। प्रभु सदा इस ज्ञानी पुरुष को उत्तम व्यापक कर्मों में लगे रहने की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। ४. प्रभुकृपा से सात्त्विक अन्न प्राप्त होने पर हम वासनाओं के अधिष्ठानों को समाप्त करके ज्ञान के आवरण को दूर करते हैं और प्रभु-प्रेरणा के अनुसार व्यापक कार्यों में जीवन को लगाते हैं।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न का सेवन हमें ओजस्वी व दीप्तज्ञान बनाएगा। ऐसा बनकर हमें उत्तम कर्मों में सदा व्यापृत रहना है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अन्तर्मुख

दानाय मनः सोमपावन्नस्तु तेऽर्वाञ्चा हरी वन्दनश्रुदा कृधि।
यमिष्ठासः सारथयो य इन्द्र ते न त्वा केता आ दभ्नुवन्ति भूर्णयः॥ ७॥

१. हे **सोमपावन्**=सोम-[वीर्य]-कणों को शरीर में ही व्याप्त करानेवाले जीव! **ते मनः**=तेरा मन **दानाय**=दान के लिए **अस्तु**=हो। तेरी वृत्ति सदा दान देने की हो। **'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत्'**—यह वृति ही तेरे मलों का नाश करके जीवन के शोधन का कारण बनेगी। २. हे **वन्दनश्रुत्**=प्रातः-सायं प्रभु-वन्दना का श्रवण करनेवाले जीव! तू **हरी**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **अर्वाची**=अन्तर्मुखवाला **आकृधि**=सर्वथा करनेवाला हो। ये इन्द्रियाश्व बाह्य विषयों में ही न चरते रह जाएँ। इनको रोककर तू इन्हें मन में स्थिर कर, जिससे तू आत्मस्वरूप को देखनेवाला बने। ३. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ये**=जो **ते**=तेरे **सारथयः**=बुद्धिरूप सारथि हैं, वे **यमिष्ठासः**=अतिशयेन

उत्कृष्ट नियन्ता हैं। ये मनरूप लगाम के द्वारा इन्द्रियाश्वों को पूर्णतया काबू करने में समर्थ हों। ४. **न**=ऐसा न हो कि **भूर्णयः**=पालन-पोषण-सम्बन्धी **केताः**=ज्ञान ही **त्वा**=तुझे **आदभ्नुवन्ति**=सब ओर से हिंसित करनेवाले हों। तुझे सदा खान-पान की बातें ही न सूझती रहें, तेरी इन्द्रियाँ सदा विषयों व खेलों में ही न भागती रहें। तेरा जीवन विकृत होते-होते Polo-playing ही न हो जाए।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें, प्रभुस्तवन करते हुए इन्द्रियों को अन्तर्मुख करें। हमारी बुद्धि प्रकर्षेण मन द्वारा इन्द्रियों का नियन्त्रण करे। हम खान-पान में ही समाप्त न हो जाएँ।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

क्षयरहित धन

अप्रक्षितं वसु बिभर्षि हस्तयोरषाळ्हं सहस्तन्वि श्रुतो दधे।
आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिस्तनूषु ते क्रतव इन्द्र भूरयः॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मन के दान की वृत्तिवाला होने पर तू **हस्तयोः**=हाथों में **अप्रक्षितम्**=क्षयरहित **वसु**=धन को **बिभर्षि**=धारण करता है। दान से धन कभी क्षीण नहीं होता, 'दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्'—दान से तो यह धन सातगुणा बढ़कर हमें प्राप्त होता है। २. दान की वृत्ति से लोभ के नष्ट होने पर मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है, **श्रुतः**=शास्त्र के श्रवणवाला, ज्ञान को प्राप्त करनेवाला तू **तन्वि**=शरीर में **अषाळ्हम्**=शत्रुओं से न कुचले जाने योग्य **सहः**=बल को **दधे**=धारण करता है। विषय-वासनाएँ ही तो शक्ति को क्षीण करती हैं; ज्ञान होने पर इनकी कामना नष्ट हो जाती है और इस ज्ञानी का बल स्थिर रहता है। ३. बल की स्थिरता के कारण तेरे शरीर **कर्तृभिः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के कर्तृत्वों से **आवृतासः**=सदा आवृत रहें, उसी प्रकार आवृत रहें **न**=जैसे **अवतासः**=कुएँ जल-ग्रहणेच्छु पुरुषों से आवृत्त रहते हैं। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते तनूषु**=तेरे शरीरों में **भूरयः**=बहुत अथवा लोक-पोषणात्मक **क्रतवः**=प्रज्ञान व कर्म ही हो। तू सदा धारणात्मक कर्मों में लगा रहे। वस्तुतः इस संसार के विषयों में न फँसने का यही प्रमुख साधन है।

भावार्थ—हमारे हाथों में अक्षय धन हो। ज्ञानी होते हुए हम बल को धारण करें। हम सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ अनन्त विस्तारवाले प्रभु के स्मरण से होता है (१)। वे प्रभु सब प्रज्ञानों के पति हैं (२)। इस प्रभु के रक्षण में हम तेजस्वितापूर्ण कर्मों को करनेवाले होकर औरों के लिए अपने जीवन को आदर्श बनाएँ (३)। प्रभुकृपा से हम यज्ञात्मक कर्मों में रुचिवाले हों (४)। प्रभु हमें शुद्ध, पवित्र व ओजस्वी बनाएँ (५)। हम असुरों के कृत्रिम सदनों का नाश करें (६)। मन को दानाभिमुख बनाएँ (७)। अक्षय धन व अपराजेय बल को प्राप्त हों (८)। 'हमारा यह शरीररूपी रथ प्रभु की ओर चलनेवाला हो' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

रथ का प्रत्यावर्तन

एष प्र पूर्वीरव तस्य चम्रिषोऽत्यो न योषामुदयंस्त भुर्वणिः।
दक्षं महे पाययते हिरण्ययं रथमावृत्या हरियोगमृभ्वसम्॥ १॥

१. **एषः**=गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार सदा ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगा रहनेवाला यह जीव **तस्य चम्रिषः**=उसके, अर्थात् अपने [चमूषु अवस्थिताः] शरीररूप पात्रों में स्थित **पूर्वीः**=पूरणता के कारणभूत सोमकणों को **प्र अव उदयंस्त**=प्रकर्षेण करता हुआ उन्नत करता है, अर्थात् इन सोमकणों की ऊर्ध्वगति करनेवाला होता है। उसी प्रकार उन सोमकणों को उन्नत करता है, **न**=जैसे **अत्यः**=सतत गतिशील अर्थात् पुरुषार्थी व्यक्ति **योषाम्**=पत्नी की उन्नति का कारण बनता है। आलसी व्यक्ति पत्नी की दुर्गति का ही कारण हुआ करता है। २. सोमकणों की ऊर्ध्वगति से यह पुरुष **भुर्वणिः**=अपना भरण करता है और प्रभु का संभजन करनेवाला होता है। यह **महे**=महत्त्व की प्राप्ति के लिए **दक्षम्**=सब प्रकार की उन्नति के कारणभूत सोम को **पाययते**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग को पिलाता है, अर्थात् उन सोमकणों का शरीर में ही व्यापन करता है। ३. यह व्यक्ति **हिरण्ययं रथम्**=अपने ज्योतिर्मय शरीररूप रथ को विषयों से **आवृत्य**=हटाकर **हरियोगम्**=सब दुःखों के हरण करनेवाले प्रभु से मेलवाला तथा **ऋभ्वसम्**=(उरु भासमानम्) खूब दीप्त बनाता है।

भावार्थ—सोमकणों की ऊर्ध्वगति से हम प्रभु-प्रवण होते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

तेजस्विता व प्रभु-प्राप्ति

तं गूर्तयो नेमन्निषः परीणसः समुद्रं न संचरणे सनिष्यवः।
पतिं दक्षस्य विदथस्य नू सहो गिरिं न वेना अधि रोह तेजसा॥ २॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को [अधिरोहन्ति] प्राप्त होते हैं वे व्यक्ति जो—(क) **गूर्तयः**=[गृणन्ति] स्तुति करनेवाले हैं अथवा [गुरी उद्यमने] उद्योगशील हैं, (ख) **नेमन् इषः**=[नमन्तः इष्यन्ति] नम्रता से उसके चरणों में आनेवाले अथवा [नीताः इषः यैः] हवि को प्राप्त करनेवाले (ग) **परिणसः**=[परितो नसन्ति] चारों ओर कर्मों में व्याप्त गतिवाले हैं। ये प्रभु को उसी प्रकार प्राप्त होते हैं **न**=जैसेकि **सनिष्यवः**=व्यापार आदि से धनों को प्राप्त करने की कामनावाले **संचरणे**=व्यापार [Transactions] के निमित्त **समुद्रम्**=समुद्र को प्राप्त होते हैं। यहाँ प्रसङ्गवश धन-वृद्धि के लिए देश-देशान्तर से व्यापार का सुन्दर संकेत है। २. हे जीव! तू **दक्षस्य**=सम्पूर्ण वृद्धियों के, शक्तियों के तथा **विदथस्य**=ज्ञानों के **पतिम्**=स्वामी **सहः**=बल के पुञ्ज उस प्रभु को **तेजसा**=तेजस्विता के द्वारा, तेजस्विता को सिद्ध करके **अधिरोह**=आरूढ़ [प्राप्त] होनेवाला बन। **न**=जिस प्रकार **वेनाः**=पुष्पादि की कामनावाली स्त्रियाँ **गिरिम्**=पर्वत पर आरूढ़ होती हैं। फूलों के चयन के लिए जिस प्रकार वे पर्वत को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार तू बल [दक्ष] तथा ज्ञान [विदथ] की प्राप्ति के लिए उस प्रभु को प्राप्त कर। प्रभु-प्राप्ति के लिए तू तेजस्वी बन। प्रभु-प्राप्ति भी पर्वतारोहण की भाँति कठिन

है, उसके लिए शक्ति का सम्पादन आवश्यक है। निर्बल व्यक्ति प्रभु को प्राप्त नहीं किया करता।

भावार्थ—स्तोता, हविष्मान् व व्यापक कर्मोंवाले बनकर तेजस्विता को सिद्ध करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

काम-क्रोध को कैद में करना

स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये गिरेर्भृष्टिर्न भ्राजते तुजा शवः।
येन शुष्णं मायिनमायसो मदे दुध्र आभूषु रामयन्नि दामनि॥ ३॥

१. **सः**=वे प्रभु **तुर्वणिः**=(शत्रूणां हिंसिता, क्षिप्रकारी वा—सा०, तुर्वी हिंसार्थः, तूर्णवनिर्वा) शत्रुओं की हिंसा करनेवाले हैं, या शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं। **महान्**=सब गुणों के दृष्टिकोण से प्रवृद्ध हैं। २. **पौंस्ये**=वीर पुरुषों के करने योग्य संग्रामों में **शवः**=इस प्रभु का बल **अरेणु**=अनवद्य—प्रशस्त तथा **तुजा**=शत्रुओं का हिंसक होता हुआ इस प्रकार **भ्राजते**=चमकता है **न**=जैसेकि **गिरेः भृष्टिः**=पर्वत का शिखर। पर्वत-शिखर जैसे उन्नत होता हुआ चमकता है, उसी प्रकार प्रभु का शत्रु-हिंसक बल भी देदीप्यमान होता है। ३. **येन**=जिस बल से **आयसः**=अयोमय कवचवाला-लोहतुल्य दृढ़ शरीरवाला **दुध्रः**=दुष्ट शत्रुओं का [धर्ता] रोकनेवाला होता हुआ **इन्द्रः**=प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न जीव **मदे**=सोमपान (वीर्यरक्षण) से उत्पन्न हर्ष में **मायिनम्**=इस अत्यन्त मायावी **शुष्णम्**=शोषण के कारणभूत काम को **आभूषु**=कारागृहों में **दामनि**=बन्धक निगड़ में [रस्सी में] **निरामयत्**=[न्यवासयत्] रखता है। जब जीव प्रभु की शक्ति से अपने को शक्तिसम्पन्न करता है तब उसका शरीर लोहतुल्य दृढ़ हो जाता है, कामादि शत्रुओं का वह रोकनेवाला बनता है। सोम के रक्षण से वह इस वासना को इस प्रकार वश में कर लेता है जैसेकि शत्रु को क़ैदख़ाने में निगड़ित करके रख लिया जाए। काम-क्रोध इसके वशीभूत हो जाते हैं, इसकी क़ैद में रहते हुए इसकी सेवा करनेवाले हो जाते हैं। व्यासजी के शब्दों में **'चरणौ संनवाहतुः'** काम-क्रोध इसके चरणों को दबाते हैं। यह काम-क्रोध का क़ैदी न होकर उन्हें अपना क़ैदी बना लेता है।

भावार्थ—प्रभुशक्ति पर्वत के शिखर के समान चमकती है। इस शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर ही हम काम-क्रोध को क़ैद कर पाते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

देवी तविषी

देवी यदि तविषी त्वावृधोतय इन्द्रं सिषक्त्युषसं न सूर्यः।
यो धृष्णुना शवसा बाधते तम इयर्ति रेणुं बृहदर्हरिष्वणिः॥ ४॥

१. हे प्रभो! **यदि**=यदि **देवी**=दिव्यगुणसम्पन्न अथवा दिव्यता का वर्धन करनेवाली, शत्रुओं को पराजित करने की कामनावाली **त्वावृधा**=आपका वर्धन करनेवाली, अर्थात् आपकी और झुकाव उत्पन्न करनेवाली **तविषी**=शक्ति **ऊतये**=रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **सिषक्ति**=सेवन करती है, प्राप्त होती है (समवैति), उसी प्रकार **न**=जैसेकि **उषसम्**=उषाकाल को **सूर्यः**=सूर्य प्राप्त होता है। वह सूर्य **यः**=जो **धृष्णुना शवसा**=धर्षक बल से **तमः बाधते**=अन्धकार को बाधित कर देता है और **रेणुम्**=धूल को

इयर्ति=गतिमय करता है, आँधियों का कारण बनता है, उसी प्रकार यह शक्ति भी **बृहत्**= खूब **अर्हरिष्वणिः**=(अर्–हर्–स्वन, गच्छन्तो हरन्ति, तेषां स्वनयिता) गति से हरण करनेवाले शत्रुओं को सन्तपन के द्वारा रुलानेवाली होती है। २. जिस समय जीव को प्रभु की शक्ति प्राप्त हो जाती है तब यह जीव सब शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला होता है। यह शत्रुओं को इसी प्रकार पीड़ित करता है जैसे सूर्य का प्रकाश अँधेरे को। सूर्य की गर्मी से आँधियों का प्रसङ्ग होता है और धूल उड़कर कहीं–की–कहीं पहुँच जाती है। इस प्रकार प्रभु की शक्ति प्राप्त होने पर जीव भी इन वासनाओं की रेणु को उड़ाकर दूर भगा देता है। प्रभु सूर्य हैं तो जीव उषःकाल के समान है। प्रभु की शक्ति से जीव उसी प्रकार शक्ति–सम्पन्न बनता है जिस प्रकार सूर्य की एकाध किरण से उषःकाल प्रकाशमय हो जाता है। ३. जीव को जब यह शक्ति प्राप्त हो जाती है तब कामादि शत्रुओं का संहार तो होता ही है, साथ ही यह शक्ति प्रभु को प्राप्त करानेवाली होती है, 'त्वावृधा'=जीव में यह प्रभु–प्रवणता को उत्पन्न करती है। निर्बल व्यक्ति प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थ—शक्ति दिव्य होती है, यह हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृत्र–विनाश

वि यत्तिरो धरुणमच्युतं रजोऽतिष्ठिपो दिव आतासु बर्हणा।
स्वर्मीळ्हे यन्मद इन्द्र हर्ष्याहन्वृत्रं निरपामौब्जो अर्णवम्॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तूने **यत्**=जब **धरुणम्**=शरीर की शक्तियों को धारण करनेवाले **अच्युतम्**=जिससे मनुष्य–शरीर में स्थिति से विगलित नहीं होता, अर्थात् मृत्यु से बचनेवाले **रजः**=(उदकम्–नि० ४।१९) वीर्य को (अपः=रेतः) **दिवः आतासु**=मस्तिष्क की दिशाओं में **तिरः**=अन्तर्हित करके **वि अतिष्ठिपः**=विशेष रूप से स्थापित किया, अर्थात् जब इस वीर्य की ऊर्ध्वगति करके तूने इसे शरीर में ही इस प्रकार तिरोहित किया जैसेकि दधि में घृत तिरोहित होता है और इस वीर्य को तून ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाया तो तूने यह सब **बर्हणा**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि के दृष्टिकोण से ही किया। शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक—सब प्रकार की उन्नति इस वीर्य–रक्षण पर ही निर्भर करती है। २. हे इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष **यत्**=जब **मदे**=इस सोमरक्षण के कारण उत्पन्न उल्लास में **हर्ष्या**=बड़ी प्रसन्नता व उत्साह से **स्वर्मीळ्हे**=संग्राम में **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अहन्**=तूने नष्ट किया तो उस समय **अपां अर्णवम्**=ज्ञान के जलों के समुद्र को **निर् औब्जः**=निश्चय से अपने अनुकूल कर लिया। वेद में अन्यत्र **'रायः समुद्रांश्चतुरः'** इन शब्दों में वेदज्ञान को समुद्र ही कहा है। आवरण के नष्ट होने पर ज्ञान का सूर्य क्यों न चमकेगा?

भावार्थ—हम शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाले हों। यही सब उन्नतियों का मार्ग है। जब हम संग्राम में काम–वृत्र का संहार कर पाते हैं तब हमारे ज्ञान का समुद्र उमड़ पड़ता है। वृत्र ही तो उसका प्रतिबन्धक था।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वासना के जाल का विदारण

त्वं दिवो धरुणं धिष ओजसा पृथिव्या इन्द्र सदनेषु माहिनः।
त्वं सुतस्य मदे अरिणा अपो वि वृत्रस्य समया पाष्यारुजः॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **माहिनः**=प्रभु की पूजावाला बनकर **दिवः धरुणम्**=प्रकाश व ज्योति को धारण करनेवाले इस सोम को **पृथिव्याः**=शरीर के **ओजसा**=ओज (बल) के दृष्टिकोण से **सदनेषु**=इन कोशों में ही **धिषे**=धारण करता है। सोम की रक्षा का सर्वोत्तम साधन 'खाली समय में प्रभु का स्मरण' ही है। इससे वृत्ति वासनामयी नहीं होती; वासनामयी वृत्ति ही सोम-नाश का कारण बनती है। यह सोम शरीर में प्रकाश का मूलाधार है, ज्ञानाग्नि का तो यह एकमात्र ईंधन है, इसीलिए इस सोम को अन्नमयादि कोशों में ही धारण करना आवश्यक है। २. हे सोम का रक्षण व पान करनेवाले इन्द्र! **त्वम्**=तू **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम के **मदे**=उल्लास में **आपः अरिणाः**=कर्मों को प्राप्त होता है; अर्थात् तेरा जीवन शक्तिशाली बनकर उल्लास से परिपूर्ण होता है और तू आलसी नहीं होता। ३. इसलिए तू **वृत्रस्य पाष्या**=ज्ञान की आवरणभूत इस कामवासना के (पाश्या) जलसमूह को **समया**=प्रभु की समीपता के द्वारा **वि अरुजः**=विशेषरूप से छिन्न-भिन्न करता है। काम का जाल प्रभु-उपासन के बिना टूट नहीं सकता। सोमरक्षण के लिए इस जाल का तोड़ना आवश्यक है।

भावार्थ—शरीर में सोम के रक्षण से जहाँ ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, वहाँ शरीर का ओज बढ़ता है। इस सोम के रक्षण के लिए वासना के जाल को तोड़ना आवश्यक है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है हम इस शरीररूप रथ को विषय-व्यावृत्त करके प्रभु की ओर ले-चलें (१)। तेजस्विता को सिद्ध करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें (२)। काम-क्रोध को क़ैद में रक्खें (३)। शक्ति वस्तुतः दिव्य वस्तु है, यही हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है (४)। वृत्र का विनाश होने पर ज्ञान का समुद्र उमड़ पड़ता है (५)। सोम के रक्षण से शरीर ओजस्वी बनता है। इस सोम के रक्षण के लिए वासना के जाल का विदारण आवश्यक है (६)। वासना-जाल के विदारण के लिए प्रभु-स्मरण आवश्यक है।

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

विश्वायु राधः

प्र मंहि॑ष्ठाय बृह॒ते बृ॒हद्र॑ये स॒त्यशु॑ष्माय त॒वसे॑ म॒तिं भ॑रे।
अ॒पामि॑व प्र॒व॒णे यस्य॑ दु॒र्धरं॒ राधो॑ वि॒श्वायु॒ शव॑से॒ अपा॑वृतम्॥ १॥

१. मैं **मंहिष्ठाय**=[दातृतमाय] अधिक-से-अधिक देनेवाले, **बृहते**=गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए, **बृहद्रये**=अत्यन्त प्रवृद्ध ऐश्वर्यवाले, **सत्यशुष्माय**=सत्य के बलवाले **तवसे**=स्थान के दृष्टिकोण से भी बढ़े हुए, अर्थात् सर्वव्यापक-प्रभु के लिए **प्रमतिम्**=प्रकृष्ट स्तुति को **भरे**=धारण करता हूँ। प्रभु के स्तवन से मुझे उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति होगी। प्रभु के गुणों का स्मरण मेरे सामने एक लक्ष्यदृष्टि को पैदा करेगा। उस लक्ष्मीपति की उपासना से मुझे लक्ष्मी की भी कमी न रहेगी। उस 'सत्यशुष्म' की उपासना से मैं भी सत्य के बलवाला होऊँगा तथा उस प्रवृद्ध प्रभु का उपासन मुझे भी व्यापक पृथिवीरूप परिवारवाला बनाएगा। २. मैं उस प्रभु का उपासन करता हूँ **यस्य**=जिसका बल उसी प्रकार **दुर्धरम्**=शत्रुओं से असह्य होता है **इव**=जिस प्रकार **प्रवणे**=निम्न प्रदेश की ओर **अपाम्**=जलों का वेग रोकने के उपाय नहीं होता। निम्न स्थल की ओर जल तीव्र वेग से बहते हैं, उनका रोकना सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार उस प्रभु की शक्ति दुर्धर है। प्रभु के कार्यों में कोई रुकावट नहीं डाल सकता। ३. उस प्रभु का **विश्वायु राधः**=पूर्ण जीवन देनेवाला धन **शवसे**=शक्ति की वृद्धि के

लिए **अपावृतम्**=सबके लिए खुला हुआ है। प्रभु के धन को प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। उस धन का अधिकार समानरूप से सबके लिए है। जो भी व्यक्ति अपने जीवन को पूर्ण बनाने की कामना करता है तथा शक्ति की वृद्धि के लिए यत्न करता है, वह प्रभु के उस धन को अवश्य प्राप्त करता है। वास्तव में जब इस धन को हम प्रभु का न समझकर अपना समझने लगते हैं, तभी हम उस धन को भोग-विलास में व्यय करते हैं और भोग-विलास में आसक्त करनेवाला यह धन हमें 'विश्वायु' के स्थान पर क्षीणायु कर देता है।

भावार्थ—प्रभु दातृतम हैं, प्रभु की शक्ति दुर्धर है। उसका धन हमें विश्वायु=पूर्ण जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'हर्यत-हिरण्यय-श्नथिता' वज्र

अध॑ ते॒ विश्व॒मनु॑ हासदि॒ष्टय॒ आपो॑ नि॒म्नेव॒ सव॑ना ह॒विष्म॑तः।
यत्पर्व॑ते॒ न स॒मशी॑त हर्य॒त इन्द्र॑स्य॒ वज्रः॒ श्नथि॑ता हिर॒ण्ययः॑॥ २॥

१. **अध**=अब जबकि गतमन्त्र के अनुसार आपका धन हमारे लिए 'विश्वायु' बनता है, न कि 'क्षीणायु' **ते विश्वम्**=तेरा यह संसार **ह**=निश्चय से **अनु असत्**=अनुकूल होता है। भोग-विलास की वृत्ति से ऊपर उठे हुए व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण संसार अनुकूल होता है २. और इन **हविष्मतः**=हविष्मान् व्यक्तियों के **सवना**=यज्ञ **इष्टये**=आपकी प्राप्ति के लिए होते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे **आपः**=जल निम्न स्थलों को प्राप्त होने के लिए होते हैं। भोगवृत्ति से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति यज्ञशील बनता है और इन यज्ञों के द्वारा आपको प्राप्त करनेवाला होता है। ३. यह होता तभी है **यत्**=जब **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **हर्यतः**=गतिवाला, चाहने योग्य अथवा शोभन [कान्त] **हिरण्ययः**=चमकता हुआ, ज्ञान की दीप्तिवाला **श्नथिता**=शत्रुओं का संहार करनेवाला **वज्रः**=वज्र **पर्वते**=पञ्च पर्वोंवाली अविद्या पर न **समशीत**=सोया हुआ नहीं होता, अपितु सतत जागरित होता है, अर्थात् जब इन्द्र वज्र के द्वारा अविद्या के पर्वत का विदारण कर देता है तभी वह हविष्मान् बनकर यज्ञों के द्वारा उस प्रभु को प्राप्त करता है। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष है। क्रियाशीलता ही [वज् गतौ] उसका वज्र है। यह वज्र 'हर्यत, हिरण्यय व श्नथिता' है, शोभन, दीप्त व शत्रु-संहारक है। इस इन्द्र की क्रियाएँ शोभन [चाहने योग्य] होती हैं। यह अवाञ्छनीय क्रियाओं को नहीं करता। इसकी क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होने से पवित्र होती हैं। ज्ञान ही पवित्रता के द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम भोगप्रवणता से ऊपर उठकर सारे संसार को अपने अनुकूल बना लेते हैं। उस समय हमारे यज्ञ हमें प्रभु को प्राप्त कराते हैं। हम शोभन क्रियाओं के द्वारा अज्ञान को नष्ट करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'धाम-नाम-ज्योति'

अ॒स्मै भी॒माय॒ नम॑सा॒ सम॑ध्व॒र उषो॒ न शु॑भ्र॒ आ भ॑रा॒ पनी॑यसे।
यस्य॒ धाम॒ श्रव॑से॒ नामे॑न्द्रि॒यं ज्योति॒रका॑रि ह॒रितो॒ नाय॑से॥ ३॥

१. हे **शुभ्रे उषः**=अत्यन्त उज्ज्वल व शुभ्र उषःकाल! तू **अस्मै भीमाय**=इन शत्रुओं के

लिए भयंकर **पनीयसे**=स्तुत्य प्रभु के लिए **न**=[सम्प्रति] अब **नमसा**=नमन के द्वारा **अध्वरे**=हिंसारहित कर्मों में **समाभरा**=हमें प्राप्त करा। हम प्रातःकाल 'नमस् (सन्ध्या) व अध्वर (यज्ञ) करने की वृत्तिवाले हों। ये दोनों बातें हमें प्रभु की ओर ले-चलेंगी। उषःकाल जैसे अन्धकार को दग्ध करके चमक उठता है, उसी प्रकार हम भी लोभादि को नष्ट करके दीप्तहृदय हों। इस उषःकाल में हम ध्यान व यज्ञ से प्रभु की ओर चलनेवाले बनें। २. प्रभु की ओर चलने से क्या होगा? इस बात का उत्तर देते हुए कहते हैं कि ये प्रभु वे हैं-(क) **यस्य**=जिनका **धाम**=तेज **श्रवसे**=हमारे यश के लिए होता है। प्रभु के तेज से तेजस्वी बनकर हम शत्रुओं का संहार करते हैं और यशस्वी होते हैं। (ख) ये प्रभु वे हैं जिनका **नाम**=नामोच्चार **इन्द्रियम्**=शक्ति को देनेवाला है। जहाँ प्रभु के नाम का उच्चारण होता है, वहाँ काम आदि शत्रु भयभीत होकर आते ही नहीं, यही नामस्मरण की महिमा है। (ग) उस प्रभु की **ज्योतिः**=ज्ञान की ज्योति **अयसे**=लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने के लिए **अकारि**=ठीक उसी प्रकार होती है **न हरितः**=जैसे कि घोड़े लक्ष्यस्थान पर पहुँचाने में सहायक होते हैं। प्रभु से प्राप्त कराये गये ज्ञान के प्रकाश में भटकने की आशंका नहीं रहती।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्मरण करें जिसकी तेजस्विता हमें यशस्वी बनाती है, जिसका नाम-स्मरण हमें तेजस्वी बनाता है और जिसकी ज्योति हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाकर लक्ष्यस्थान पर पहुँचाती है।

ऋषिः—**सव्य आङ्गिरसः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

हम तो आपके ही हैं

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥ ४॥

१. हे **पुरुष्टुत**=[पुरु स्तुतं यस्य] पालक व पूरक है स्तवन जिसका, जिसके स्तवन से हमारा रक्षण होता है और हमारी न्यूनताएँ दूर होती हैं, ऐसे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **इमे वयम्**=ये हम **ये**=जोकि **त्वा आरभ्य**=आपका ही आश्रय करके **चरामसि**=संसार की सब क्रियाओं को कर रहे हैं, **ते**=वे हम **ते**=आपके ही हैं। वस्तुतः प्रभु को आधार बनाकर चलनेवाला व्यक्ति ही सच्चा प्रभुभक्त है। २. हे **प्रभूवसो**=प्रभूत-धन, अनन्त ऐश्वर्यवाले **गिर्वणः**=वेदवाणियों के द्वारा उपासनीय प्रभो! **त्वदन्यः**=आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति **गिरः**=हमारी स्तुतिवाणियों को **न हि सघत्**=नहीं प्राप्त करता है, अर्थात् हम आपके सिवा किसी अन्य का उपासन नहीं करते। ३. **नः**=हमारे **तत् वचः**=उन स्तुतियों को **क्षोणीः इव**=पृथिवी की भाँति **प्रतिहर्य**=स्वीकार कीजिए। यह पृथिवी जैसे हमारी पुकार को सुनती है और हमारी पुकार को सुनकर हमें अन्न आदि से पालित करती है, उसी प्रकार आप हमारी स्तुतिवाणियों को सुनिए और हमारे कर्मों में पवित्रता का सञ्चार कीजिए। वस्तुतः हम आपको न भूलकर कार्य करेंगे ते उन कर्मों में अपवित्रता का प्रवेश तो होगा ही नहीं, साथ ही हमें उन कर्मों का घमण्ड भी तो नहीं होगा।

भावार्थ—प्रभु का आश्रय करके कार्यों को करते हुए हम प्रभु के हो जाएँ।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शक्ति व ऐश्वर्य

भूरि त इन्द्र वीर्यं१ तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन्काममा पृण।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् व सब बल के कार्यों को करनेवाले प्रभो! **ते**=आपका **वीर्यम्**=बल व पराक्रम **भूरि**=बहुत अधिक है अथवा पालन व पोषण करनेवाला है [भृ धारणपोषणयोः]। हम भी **तव स्मसि**=आपके ही हैं। आपका बल हमारा रक्षण क्यों न करेगा? हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्य स्तोतुः**=मैं जो आपका स्तोता हूँ उसकी **कामम्**=कामना को **आपृण**=पूर्ण कीजिए। आपके पास ऐश्वर्य की कमी नहीं और मैं आपका स्तवन करता हुआ अपने को पात्र बनाने का प्रयत्न करता हूँ, अतः आप मुझे ऐश्वर्य प्रदान करने की कृपा कीजिए। ३. यह **बृहती द्यौः**=विशाल आकाश **ते वीर्यम्**=आपकी शक्ति को ही **अनुममे** [अन्वमंस्त]=आदृत करता है। इस आकाश में स्थित एक-एक लोक आपकी ही महिमा का प्रतिपादन कर रहा है **च**=और **इयं पृथिवी**=यह पृथिवी **ते ओजसे नेमे**=आपके ओज के लिए नतमस्तक होती है। क्या द्युलोक और क्या पृथिवीलोक दोनों ही आपकी महिमा को कह रहे हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु की महिमा का वर्णन कर रहे हैं। प्रभु की शक्ति व ऐश्वर्य अनन्त हैं। ये प्रभु ही सच्चे स्तोताओं की कामना को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—सव्य आङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

ज्ञानप्रवाह व आनन्दप्रद सहस्

त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन्पर्वशश्चकर्तिथ।
अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः सत्रा विश्वं दधिषे केवलं सहः॥ ६॥

१. प्रभु अपने स्तोता को प्रेरणा देते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! हे **वज्रिन्**=हाथ में क्रियाशीलतारूपी वज्र को धारण करनेवाले! **त्वम्**=तू **वज्रेण**=इस क्रियाशीलतारूपी आयुध से इस **महाम्**=महान् **उरुम्**=विशाल **पर्वतम्**=अविद्या के पाँच पर्वोंवाले पर्वत को **पर्वशः**=एक-एक पर्व करके **चकर्तिथ**=काट डालता है। अज्ञान का पर्वत पाँच पर्वोंवाला है। इन्हीं पर्वों को 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश' ये नाम दिये जाते हैं। इन्द्र क्रियाशीलता के द्वारा इस पर्वत का विनाश करता है। २. अविद्या के पर्वत को काटकर तू **निवृताः**=अज्ञान से आवृत हुए-हुए **अपः**=ज्ञान के जलों को **सर्तवा**=फिर से प्रवाहित होने के लिए **अवासृजः**=खुला छोड़ता है। आत्मा में ज्ञान तो है ही, उस ज्ञान को अविद्या का पर्वत रोके हुए है। यह पर्वत कटा और ज्ञान के जल का फिर से प्रवाह होने लगा। ३. **सत्रा**=यह भी सत्य है कि इस अविद्या-पर्वत के नष्ट हो जाने पर तू **विश्वम्**=व्यापक तथा **केवलम्**=आनन्द में विचरण करनेवाले शुद्ध **सहः**=बल को **दधिषे**=धारण करता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता से अविद्या-पर्वत के नष्ट होने पर ज्ञान-बल का सुप्रवाह होता है और आनन्दप्रद शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में प्रभु को दातृतम कहा है (१)। प्रभु का धन हमारे लिए

विलास की वस्तु न बनेगा तो सारा संसार हमारे अनुकूल होगा (२)। प्रभु से हमें 'यश, बल व ज्योति' प्राप्त होगी (३), अतः हमें चाहिए कि हम प्रभु को अपना आधार बनाकर ही प्रत्येक कर्म करें (४)। हम प्रभु के ही हों जिसकी महिमा को द्युलोक व पृथिवीलोक गाते हैं (५)। क्रियाशीलता से हम अविद्या के पर्वत का विदारण करें (६)। 'पर्वत का विदारण करने पर हम कैसे बनेंगे' यह वर्णन अगले सूक्त में किया गया है—

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सहस्वी व अमृत [नीरोग]

नू चित्सहोजा अमृतो नि तुन्दते होता यद्दूतो अभवद्विवस्वतः।
वि साधिष्ठेभिः पथिभी रजो मम आ देवताता हविषा विवासति॥ १॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अविद्या-पर्वत के विदारण होने पर हमें सब इन्द्रियों की शक्ति प्राप्त होगी। हम पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों में जिह्वा के दोनों ओर होने से संख्या में नौ-की-नौ इन्द्रियों के धारण करनेवाले (नोधा=नवधा) होंगे और इनके उत्तम होने से 'गौतम' प्रशस्त इन्द्रियोंवाले होंगे। नोधा गौतम बनकर हम ५८ से ६४वें सूक्त तक के मन्त्रों के ऋषि होंगे। यह 'नोधा गौतम' **नू चित्**=शीघ्र ही **सहोजाः**=सहस् में प्रादुर्भूत होनेवाला होता है। गतमन्त्र की समाप्ति 'दधिषे केवलं सहः'-इन शब्दों पर हुई थी। इस मन्त्र का प्रारम्भ इसी भावना से हुआ है। यह गौतम शक्तिसम्पन्न होता है। यह जन्मजात शक्ति से युक्त होता है। २. इसी का यह परिणाम है कि **अमृतः**=यह रोगरूप शतसंख्याक मृत्युओं का शिकार नहीं होता। यह स्वस्थ होता हुआ **नितुन्दते**=निश्चय से गतिवाला होता है अथवा नम्रता से गतिवाला होता है। वास्तविकता तो यह है कि यह सारी गति को प्रभुशक्ति से होता हुआ मानता है और कभी किसी भी कार्य का अभिमान नहीं करता। ३. **होता**=यह होता बनता है, दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है, यज्ञशेष का सेवन करता है और **यत्**=जो **विवस्वतः**=उस ज्ञान की किरणोंवाले प्रभु का **दूतः**=सन्देशहर **अभवत्**=होता है। यज्ञशेष का सेवन करनेवाला ही प्रभु का दूत बन सकता है। ४. यह **साधिष्ठेभिः**= अधिक-से-अधिक लोकहित का साधन करनेवाले **पथिभिः**=मार्गों से चलता हुआ **रजः**= हृदयान्तरिक्ष को **विममे**=बहुत सुन्दर बनाता है और **देवताता**=जिसमें दिव्य गुणों का विकास होता है या जो दिव्य गुणोंवालों से विस्तृत किये जाते हैं, उन यज्ञों में **हविषा**=हवि के द्वारा, दानपूर्वक अदन के द्वारा **आविवासति**=उस प्रभु की परिचर्या करता है। प्रभु की परिचर्या वस्तुतः यही है कि हम साधिष्ठ मार्गों से चलते हुए हवि का सेवन करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम शक्तिसम्पन्न व नीरोग बनकर नम्रता से गतिमय जीवनवाले हों। देने की वृत्तिवाले बनकर प्रभु के सन्देश को सर्वत्र फैलाएँ। साधिष्ठ मार्गों से चलते हुए हृदयान्तरिक्ष को उत्तम बनाएँ। यज्ञों में हवि द्वारा प्रभु का अर्चन करें।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मानव-भोजन व अजीर्णशक्तिता

आ स्वमद्म युवमानो अजरस्तृष्वविष्यन्नतसेषु तिष्ठति।
अत्यो न पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत्॥ २॥

१. मन्त्र का ऋषि 'नोधा गौतम' **स्वं अन्न**=अपने भोजन को, अर्थात् मनुष्योचित भोजन को फल-मूल-वनस्पति, न कि मांस को **आयुवमानः**=सब प्रकार से अपने साथ सम्मिश्रित करनेवाला होता है। वस्तुतः इसकी सब प्रकार की उन्नतियों का मूल यही है कि यह अमानवीय भोजन से बचा रहता है २. **अजरः**=भोजन की मर्यादा के पालन से, अर्थात् फल-मूल आदि को भी मर्यादित-[शरीर के लिए जितना आवश्यक है]-रूप में लेने से यह अजीर्णशक्ति बना रहता है। ३. **तृषु**=[Thirsting for] भोजन की अत्यन्त प्रबल इच्छा होने पर ही यह **अविष्यन्**=खाने के स्वभाववाला होता है [अविष्यन्=अत्तिकर्मा]। वस्तुतः भूख के प्रबल होने पर ही अन्न ग्रहण किया जाए तो ठीक रहता है। आमाशय चाहे तो उसे देना, अन्यथा नहीं। ४. **अतसेषु**=[वायुषु, अतति इति] खूब खुली हवावाले स्थानों में **तिष्ठति**=निवास करता है। ५. इस प्रकार के आहार-विहार के परिणामस्वरूप **प्रुषितस्य**=शक्ति से सिक्त इस पुरुष का **पृष्ठम्**=ऊपर का भाग—बाह्यभाग **अत्यः न**=एक घोड़े के समान **रोचते**=चमकता है। यह बड़ा तेजस्वी प्रतीत होता है। ६. **दिवः न सानु**=ज्ञान का तो मानो यह पर्वतशिखर ही हो जाता है, अर्थात् अपने ज्ञान को यह अत्यन्त उन्नत करता है और ७. **स्तनयत्**=प्रभु के नामों का उच्च स्वर से उच्चारण करता हुआ **अचिक्रदत्**=उस प्रभु का आह्वान करता है। प्रभु-नामोच्चारण ही उसके कण्ठ का व्यायाम हो जाता है। इस प्रकार के जीवन से यह गौतम=प्रशस्तेन्द्रिय तो बनता ही है।

भावार्थ—हम मानवोचित भोजन करते हुए अजीर्णशक्ति हों; ज्ञान के शिखर पर आरूढ़ हों और हमारी जिह्वा प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाली हो।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्तम संग व उत्तम जीवन

क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितो होता निषत्तो रयिषाळमर्त्यः।
रथो न विक्ष्वृञ्जसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति॥ ३॥

१. यह 'नोधा गौतम' **रुद्रेभिः वसुभिः**=ज्ञान देनेवाले [रुत्+र] तथा अपने निवास को उत्तम बनानेवाले पुरुषों के साथ **क्राणा**=कर्मों का करनेवाला होता है। इसका सङ्ग सदा उत्तम पुरुषों के ही साथ रहता है। २. यह **पुरोहितः**=औरों के समान [पुरः] आदर्श जीवनवाले के रूप में अपने को स्थापित करता है [हितः]। अपने जीवन को औरों के लिए आदर्श बनाने का प्रयत्न करता है। ३. **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है। यह देने के बाद सदा यज्ञशेष को ही खाता है। ४. **निषत्तः**=प्रातः-सायं नम्रता से प्रभु-चरणों में बैठता है। ५. **रयिषाट्**=धन का पराभव करनेवाला बनता है, अर्थात् धन को अपना स्वामी नहीं बनने देता, सदा धन का स्वामी बना रहता है। यह धन पर आरूढ़ होता है, धन इसपर आरूढ़ नहीं हो जाता। ६. **अमर्त्यः**=यह विषय-वासनाओं के पीछे मरनेवाला नहीं होता। ७. **विक्षु**=प्रजाओं में **रथः न**=यह रथ के समान होता है। जैसे रथ हमें उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार यह अपने को उद्दिष्ट स्थान पर ले-जानेवाला होता है। जीवनयात्रा में आगे और आगे बढ़ता है। ८. **आयुषु ऋञ्जसानः**=गतिशील पुरुषों में यह कार्यों को सिद्ध करनेवाला व जीवन को अलंकृत करनेवाला होता है, गतिशील होता है और जीवन को सुन्दर बनाता है। ९. **देवः**=दिव्य गुणोंवाला व दान की वृत्तिवाला बनता हुआ यह **आनुषक्**=निरन्तर **वार्या**=वरणीय धनों को **ऋण्वति**=प्राप्त होता है। इसे चाहने योग्य धन सदा प्राप्त होते हैं। यह उन धनों का प्रयोग देव की भाँति करता है, न कि एक असुर की भाँति, अर्थात् सब स्वयं नहीं खा जाता, देकर बचे

हुए को ही खाता है।

भावार्थ—हमारा सङ्ग रुद्रों व वसुओं के साथ हो। हम देववृत्तिवाले बनकर वरणीय धनों को प्राप्त करें। उत्तम सङ्ग से हमारा जीवन भी उत्तम हो।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु का मार्ग आकर्षक है

वि वातजूतो अतसेषु तिष्ठते वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः।
तृषु यदग्ने वनिनो वृषायसे कृष्णं त एम रुशदूर्मे अजर॥ ४॥

१. यह 'नोधा गौतम' **अतसेषु**=वायुओं में, खुली हवाओं में **वितिष्ठते**=विशेषरूप से स्थित होता है। इसका जीवन प्रायः खुली हवा में ही बीतता है। **वातजूतः**=यह वायु से प्रेरित होता है, वायु से प्रेरणा प्राप्त करता है और वायु की भाँति स्वाभाविकरूप से क्रियाशील होता है। २. **वृथा**=अनायास, इच्छापूर्वक **जुहूभिः**=त्याग की वृत्तियों से और **सृण्या**=गतिशीलता से, अर्थात् त्याग और गति के साथ **तुविष्वणिः**=यह महान् स्तवनवाला होता है, उस प्रभु के नामों का खूब ही उच्चारण करता है। ३. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=चूँकि आप **वनिनः**=उपासकों को **तृषु**=शीघ्र ही **वृषायसे**=शक्तिशाली कर देते हैं। आपकी उपासना से भक्त शक्तिशाली बनता है, अतः **रुशदूर्मे**=दीप्तज्ञान की ज्वालावाले **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! **ते एम**=आपका मार्ग **कृष्णम्**=आकर्षक है, इसलिए ज्ञानी का आपके मार्ग की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है। ज्ञानी पुरुष सदा प्रभु की ओर झुकते हैं। वे यह समझते हैं कि यह मार्ग हमें शक्तिशाली बनानेवाला है और यदि हम प्रकृति की ओर झुक गये तो क्षीणशक्ति ही होंगे। प्रकृति के भोग सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण ही तो करते हैं।

भावार्थ—उत्तम जीवन तो यही है कि खुली हवा में रहा जाए, त्याग व क्रियाशीलता के साथ प्रभु-कीर्तन हो। प्रभु अपने भक्तों को शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अक्षयलोक की ओर

तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः।
अभिव्रजन्नक्षितं पाजसा रजः स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः॥ ५॥

१. **तपुर्जम्भः**=तपस्यायुक्त है मुख जिसका, अर्थात् जिसे खान-पान का कोई चस्का नहीं है, **वने**=उस प्रभु की उपासना में **आवातचोदितः**=सब प्रकार से वायु से प्रेरणा को प्राप्त किया हुआ, अर्थात् जो प्रभु का ध्यान करता है और वायु की भाँति क्रियाशील बना रहता है, यह व्यक्ति **यूथे**=गौवों के झुण्ड में **वंसगः**=वननीय गतिवाले **साह्वान्**=प्रतिस्पर्धियों का पराभव करनेवाले वृषभ की भाँति **अववाति**=विषयों से दूर हो जाता है। विषय गोयूथ के समान हैं, यह तपुर्जम्भ उनमें विचरनेवाले वृषभ की भाँति है। इन विषयों में विचरता हुआ यह काम-क्रोध-लोभादि प्रतिस्पर्धियों से पराभूत नहीं होता। कामादि को पराभूत करके ही यह विषयों का यथायोग्य सेवन करता है। २. इस प्रकार विषयों का यथायोग्य सेवन करता हुआ यह **पाजसा**=शक्ति के द्वारा **अक्षितं रजः**=अक्षयलोक की **अभिव्रजन्**=ओर जानेवाला होता है ३. **पतत्रिणः**=कामादि शत्रुओं पर प्रबल आक्रमण करनेवाले इस 'गौतम' से **स्थातुः चरथम्**=सारा स्थावर व जंगम संसार **भयते**=भयभीत होता है, अर्थात् उसके वशवर्ती होकर

उसकी अनुकूलता में चलता है। जिसने काम आदि को जीत लिया वह सारे संसार को ही जीत लेता है।

भावार्थ—हम स्वादेन्द्रिय को जीतें, वायु की भाँति क्रियावाले हों। विषयवासना से ऊपर उठकर विचरें। शक्तिसम्पन्न होकर अक्षय लोक की ओर चलें। काम आदि पर आक्रमण करनेवाले हमसे सारा लोक भयभीत हो।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भृगु द्वारा प्रभु का धारण

दुधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः।
होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने॥ ६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा**=आपको **मानुषेषु**=मनुष्यों में **भृगवः**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले लोग ही **आदधुः**=सर्वथा धारण करते हैं। वस्तुतः ज्ञान से मनुष्य प्रभु को पाता है और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए भृगु=तपस्वी बनना आवश्यक है। २. आप उपासकों के लिए **चारुं रयिं न**=सुन्दर धन के समान हैं। प्रभु से बढ़कर सुन्दर धन क्या हो सकता है! वे प्रभु तो लक्ष्मीपति हैं। लक्ष्मीपति के प्राप्त होने पर लक्ष्मी तो प्राप्त हो ही जाती है। इन भक्तों का योग-क्षेम तो स्वयं प्रभु चलाते हैं। ३. ये प्रभु **जनेभ्यः**=लोगों के लिए **सुहवम्**=सुगमता से पुकारने योग्य हैं। हम पुकारते हैं तो प्रभुरक्षण के लिए विद्यमान होते हैं। पुत्र के लिए पिता के समान हमारे लिए वे प्रभु 'सूपायन' हैं—हम उनके समीप सुगमता से पहुँच सकते हैं। ४. **होतारम्**=आप सब-कुछ देनेवाले हैं। सृष्टि-यज्ञ के आप होता हैं। इस सृष्टि को बनाकर उन्नति के लिए आवश्यक सब पदार्थों को वे प्राप्त कराते हैं। ५. **अतिथिम्**=हमारे हित के लिए सदा हमें प्राप्त होनेवाले हैं [अत सातत्यगमने]। ६. **वरेण्यम्**=वे प्रभु ही वरने योग्य हैं। प्रकृति को न चुनकर हमें प्रभु को ही चुनना चाहिए। प्रकृति हमें पाँव-तले कुचल देगी, प्रभु के हम कन्धों पर स्थित होंगे। ७. **मित्रं न शेवम्**=वे प्रभु एक मित्र के समान कल्याण करनेवाले हैं। ये प्रभु ही हमारे **दिव्याय जन्मने**=दिव्य जन्म के लिए होते हैं। प्रभुकृपा से ही हम जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठते हैं और इस चक्र से ऊपर उठकर हम मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—हम भृगु बनकर प्रभु का ध्यान करें। वे प्रभु ही हमारे सच्चे धन हैं और मित्र के समान कल्याण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अध्वररूप रमणीय जीवन

होतारं सप्त जुह्वो३ यजिष्ठं यं वाघतो वृणते अध्वरेषु।
अग्निं विश्वेषामरतिं वसूनां सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम्॥ ७॥

१. मैं **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **सपर्यामि**=पूजता हूँ। उस प्रभु को **यं होतारं यजिष्ठम्**=जिस सब पदार्थों के देनेवाले सर्वोत्तम पूज्य को **सप्त**=सात **जुह्वः**=ज्ञान की आहुति देनेवाले **वाघतः**=ज्ञान का वहन करनेवाले **अध्वरेषु**=यज्ञों में **वृणते**=वरते हैं। **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**—ये सात ज्ञानेन्द्रियाँ ही यहाँ 'जुहू' या 'वाघत्' कही गई हैं। ये ही **'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'**—इस मन्त्र में सात ऋषि कहलाये हैं। २. ये सप्त ऋषि

हिंसारहित कर्मों के निमित्त उस प्रभु का वरण करते हैं जो **विश्वेषां वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक सब पदार्थों के **अरतिम्**=प्राप्त करानेवाले हैं। ३. मैं भी **प्रयसा**=उद्योग से, श्रमपूर्वक कर्म करते रहने से अथवा हविर्लक्षण अन्न से **सपर्यामि**=उस प्रभु का पूजन करता हूँ और **रत्नं यामि**=उस प्रभु से रमणीय वस्तुओं की याचना करता हूँ [यामि=याचामि]। प्रभु का आराधन दो प्रकार से होता है—एक तो कर्म में लगे रहने से, स्वकर्म के पालन के द्वारा, और दूसरे हवि के सेवन से—दानपूर्वक अदन से। इस प्रभु का आराधन करने से हमारी वृत्ति सुन्दर बनती है और वह हिंसारहित कर्मों में प्रकट होती है। इन अध्वरों के निमित्त ही तो हम प्रभु का वरण करते हैं। प्रभु से दूर रहनेवाले लोगों में ही ध्वर व हिंसा पनपती है। ऐसे लोग परस्पर हिंसात्मक युद्धों में प्रवृत्त रहते हैं और एक-दूसरे का गला काटते रहते हैं। कितना अशान्त व भीषण यह निवास होता है—सब रमणीयताओं से दूर!

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रभु का ही वरण करें ताकि हमारा जीवन अध्वररूप व वरणीय हो जाए।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अच्छिद्र शर्म

अच्छिद्रा सूनो सहसो नो अद्य स्तोतृभ्यो मित्रमहः शर्म यच्छ।
अग्ने गृणन्तमंहस उरुष्योर्जो नपात्पूर्भिरायसीभिः॥ ८॥

१. हे **सहसः सूनो**=सहस् के, बल के पुत्र, शक्ति के पुतले, सर्वशक्तिमन् प्रभो! हे **मित्रमहः**=[प्रमीतेः त्रायते, महस्=तेज] पाप से बचानेवाली दीप्तिवाले प्रभो! **नः स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **अद्य**=आज **अच्छिद्रा शर्म**=छिद्र व विच्छेद से रहित, निरन्तर, सुखों को **यच्छ**=प्राप्त कराइए। प्रभु शक्ति व ज्ञान के भण्डार हैं, अतः उनके कार्यों में कौन रुकावट डाल सकता है! हे प्रभो! आप अपनी कृपा से हमें सतत कल्याण दीजिए। २. हे **अग्ने**=हमारी अग्रगतियों के साधक प्रभो! **गृणन्तम्**=आपका स्तवन करनेवाले मुझको आप **अंहसः**=पाप से **उरुष्य**=बचाइए। वस्तुतः प्रभुस्तवन मनुष्य को पापवृत्ति से ऊपर उठाता है। स्तवन से प्रभु के गुणों के धारण की वृत्ति पैदा होती है। ३. हे **ऊर्जो नपात्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले प्रभो! आप **आयसीभिः पूर्भिः**=लोहवत् दृढ़ शरीरों से हमारा रक्षण कीजिए। हमारे शरीर लोहवत् दृढ़ हों और वे किसी रोग से आक्रान्त न हो सकें।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्तवन करनेवाले हों जो शक्ति के पुञ्ज हैं, पाप से बचानेवाली दीप्ति से युक्त हैं। यह प्रभुस्तवन हमें पाप से बचाए। हमारे शरीर लोहवत् दृढ़ हों और रोगों से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वरूथ व शर्म

भवा वरूथं गृणते विभावो भवा मघवन्मघवद्भ्यः शर्म।
उरुष्याग्ने अंहसो गृणन्तं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ ९॥

१. हे **विभावः**=विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभो! आप **गृणते**=स्तुति करनेवाले के लिए

वरूथम्=अनिष्टनिवारक गृह अथवा कवच **भव**=होओ। प्रभु स्तोता के कवच बनते हैं और उस स्तोता को सब पापों व रोगों से बचाते हैं। २. हे **मघवन्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाले प्रभो! आप **मघवद्भ्यः**=ऐश्वर्यवालों व ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवालों के लिए **शर्म**=कल्याण व सुख को प्राप्त करानेवाले होते हैं। वस्तुतः ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग ही कल्याण का मार्ग है, अन्यथा ये ऐश्वर्य हमें विलास व अभिमान की ओर ले-जाते हैं और मानव-पतन का कारण बन जाते हैं। ३. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **गृणन्तम्**=आपका स्तवन करनेवाले मुझको **अंहसः**=पाप से **उरुष्यः**=बचाइए। प्रभुस्तवन हममें उच्चवृत्ति को पैदा करके हमें निम्नमार्ग की ओर जाने से बचाता है। ४. हमें **प्रातः**=प्रातःकाल **मक्षु**=शीघ्र ही **धियावसुः**=[धी ज्ञान व कर्म] ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा वसुओं को [निवास के लिए आवश्यक धनों को] प्राप्त करानेवाला प्रभु **जगम्यात्**=प्राप्त हो। हम प्रातःकाल प्रभु का 'धियावसुः' के रूप में ध्यान करें और उससे प्रेरणा व शक्ति लेकर ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—प्रभु हमारे कवच हैं, हमारा कल्याण करनेवाले हैं, पाप के निवारक हैं और ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा वसुओं के देनेवाले हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ शक्ति व नीरोगता की प्राप्ति से है (१) इसके लिए हम मानवोचित भोजन करते हुए अजीर्णशक्ति बनें (२)। उत्तम सङ्ग से जीवन को उत्तम बनाएँ (३)। प्रभु का मार्ग आकर्षक है (४)। स्वादेन्द्रिय को जीतकर ही अक्षयलोक की ओर चला जा सकता है (५)। मनुष्यों में अपना परिपाक करनेवाले भृगु ही प्रभु का धारण करते हैं (६)। प्रभु-कृपा से हमें अध्वररूप रमणीय जीवन प्राप्त हो (७)। हमारे कल्याण अच्छिद्र हों (८) प्रभु हमारे वरूथ हों (९)। 'यह प्रभु ही महादेव हैं, अन्य देव तो इसके शाखामात्र हैं' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[५९] एकोनषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अग्नियों का अग्नि

व॒या इद॑ग्ने अ॒ग्नय॑स्ते अ॒न्ये त्वे विश्वे॑ अ॒मृता॑ मादयन्ते।
वैश्वा॑नर॒ नाभि॑रसि क्षिती॒नां स्थूणे॑व॒ जनाँ॑ उप॒मिद्य॑यन्थ॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी परमात्मन्! **अन्ये अग्नयः**=सूर्य, विद्युत्, वह्नि इत्यादि अन्य अग्नियाँ **वयाः इत्**=निश्चय से तेरी शाखामात्र हैं। जैसे शाखाओं की स्थिति मूल के होने पर ही है, उसी प्रकार ये सब अग्नियाँ उस महान् अग्नि पर आश्रित हैं और उसी की दीप्ति से दीप्त हो रही हैं—**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। २. **विश्वे अमृताः**= सब अमृतपुरुष=जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठे हुए मुक्तात्मा **त्वे मादयन्ते**=आपमें ही हर्ष का अनुभव करते हैं। मुक्तात्माओं के लिए उपनिषद् ने यही कहा है कि **'सह ब्रह्मणा विपश्चिता'**—ये उस विपश्चित् ब्रह्म के साथ विचरते हैं—**'तृतीये धामन्नध्यैरयन्त'** वे सब प्रकृति व जीव से परे तृतीय धाम प्रभु में विचरते हैं। आनन्द प्रभु में ही है। उसके सम्पर्क में आनेवालों को ही आनन्द का अनुभव होता है। ३. हे **वैश्वानर**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभो! आप **क्षितीनाम्**=पृथिवी पर निवास करनेवाले सब प्राणियों के **नाभिः असि**=केन्द्र हैं अथवा उनको बाँधनेवाले हैं। आपने सभी

को समान पितृत्व के सम्बन्ध से बाँध दिया है। तत्त्वद्रष्टा पुरुष आपको ही सबका पिता जानते हुए सबके साथ एकत्व का अनुभव करते हैं। ४. हे प्रभो! आप ही **उपमित्**=उपस्थापयिता हैं अथवा समीपता से हृदयदेश में ही स्थित हुए-हुए हमें ज्ञान देनेवाले हैं। उपमित् रूप से आप **जनान्**=सब लोगों का **ययन्थ**=उसी प्रकार नियमन व धारण कर रहे हैं **इव**=जिस प्रकार **स्थूणा**=गृह-मध्य में स्थापित स्तम्भ सारे घर की छत का धारण करता है।

भावार्थ—प्रभु से ही सब अग्नियों को अग्नित्व प्राप्त है। सब मुक्तात्मा इस प्रभु में ही आनन्दित होते हैं। वे वैश्वानर प्रभु सब मनुष्यों की नाभि हैं, परस्पर बाँधनेवाले हैं और सबके धारक हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देव को देव का दर्शन [देवो भूत्वा यजेद्देवान्]

मूर्धा दि॒वो नाभि॑र॒ग्निः पृ॑थि॒व्या अथा॑भवदर॒ती रोद॑स्योः।
तं त्वा॑ दे॒वासो॑ऽजनयन्त दे॒वं वैश्वा॑नर॒ ज्योति॒रिदार्या॑य॥ २॥

१. **अग्निः**=सब अग्नियों में अग्नित्व की स्थापना करनेवाला महान् अग्नि **दिवः मूर्धा**=द्युलोक की मूर्धा है, सिर की भाँति प्रधान है और **पृथिव्याः**=पृथिवी का **नाभिः**=बन्धन करनेवाला है, पृथिवीस्थ सब प्राणियों को परस्पर सम्बद्ध करनेवाला है। २. **अथ**=इस प्रकार द्युलोक की मूर्धा और पृथिवी की नाभि होता हुआ यह प्रभु **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का **अरतिः**=स्वामी **अभवत्**=हो गया है। ३. हे **वैश्वानर**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभो! **तम्**=उस **देवम्**=द्योतमान प्रकाश के पुञ्ज **त्वा**=तुझे **देवासः**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त होनेवाले लोग ही **अजनयन्त**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं, अर्थात् देव का साक्षात्कार देव बनकर ही किया जाता है। ४. ये प्रभु **आर्याय**=आर्य के लिए=श्रेष्ठ वृत्तिवाले पुरुष के लिए **इत्**=निश्चय से **ज्योतिः**=प्रकाश हैं। आर्य के लिए प्रभु पथ-प्रदर्शक हैं। 'कर्तव्य कर्म को करना, अकर्तव्य को न करना, प्रकरणप्राप्त आचार में स्थित होना' ही आर्यत्व है। ऐसी वृत्तिवाले पुरुष को प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है। उस प्रेरणा के अनुसार चलता हुआ यह सदा प्रकाश में स्थित होता है, कभी अन्धकार का अनुभव नहीं करता।

भावार्थ—प्रभु ही ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। उस देव का दर्शन देव बनने से ही होता है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वसुमान् [प्रभु]

आ सूर्ये॒ न र॒श्मयो॑ ध्रु॒वासो॑ वैश्वान॒रे द॑धिरे॒ऽग्ना वसू॑नि।
या पर्व॑ते॒ष्वोष॑धीष्व॒प्सु या मानु॑षे॒ष्वसि॒ तस्य॒ राजा॑॥ ३॥

१. **न**=जैसे **आ रश्मयः**=ये चारों ओर वर्तमान रश्मियाँ **सूर्ये**=सूर्य में **ध्रुवासः**=ध्रुव होकर स्थापित हैं, जैसे सूर्य से ये किरणें पृथक् नहीं की जा सकतीं, उसी प्रकार **वैश्वानरे**=मानवमात्र के हितकारी सर्व अग्रणी प्रभु में **वसूनि**=सब धन—निवास के लिए आवश्यक तत्त्व **आदधिरे**=स्थापित हैं। प्रभु से वसुओं को अलग नहीं किया जा सकता। २. **या** जो वसु **पर्वतेषु**=पर्वतों में स्थित हैं, जो वसु **ओषधिषु**=ओषधियों में विद्यमान हैं, **या अप्सु**=जो वसु जलों में वर्तमान हैं अथवा **मानुषेषु**=जो धन मनुष्यों के पास है **तस्य राजा असि**=उस सबके राजा आप ही

हो। उस-उस पदार्थ में स्थित वसु के उस-उसमें स्थापित करनेवाले आप ही हैं। सब वसुओं का अधिपति प्रभु ही है। प्रभु से ही अन्यत्र वसु प्राप्त कराये जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु वसुमान् हैं, वसुमान प्रभु से हमें भी वसु प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पूर्वी-यह्वी-[गीः] गिराएँ

बृहतीइव सूनवे रोदसी गिरो होता मनुष्यो३ न दक्षः।
स्वर्वते सत्यशुष्माय पूर्वीर्वैश्वानराय नृतमाय यह्वीः॥ ४॥

१. 'सूयते' इस व्युत्पत्ति से 'सूनु' का अर्थ पुत्र है तो 'सूते' इस व्युत्पत्ति से 'सूनु' शब्द जन्म देनेवाले पिता का वाचक हो जाता है। प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक के जन्म देनेवाले 'सूनु' हैं अथवा द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु की महिमा को प्रकट करते हैं, अतः प्रभु इनका सूनु हो जाता है। मन्त्र में कहते हैं कि **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **सूनवे**=अपने जन्मदाता वैश्वानर के अवस्थान के लिए **बृहती इव**=बढ़े हुए-से हैं। अनन्त विस्तृत प्रतीयमान इन द्यावापृथिवी में प्रभु की स्थिति है। वस्तुतः अपने अवस्थान से प्रभु ही इनको विभूति प्राप्त करा रहे हैं। ब्रह्माण्ड में सर्वत्र विभूति व श्री का अंश उस प्रभु की सत्ता के कारण ही है। २. **दक्षः**=कार्य करने में कुशल, **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **मनुष्यः न**=एक विचारशील पुरुष की भाँति **पूर्वीः**=हमारे जीवनों का पूरण करनेवाली **यह्वीः**=महान्, अर्थपूर्ण **गिरः**=वाणियों को उस प्रभु की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त करता है जोकि **स्वर्वते**=प्रकाशवाले हैं, **सत्यशुष्माय**=सत्य के बलवाले व सत्य पराक्रमवाले हैं तथा **नृतमाय**=सर्वोत्तम नेतृत्व करनेवाले हैं। ३. प्रभुस्तवन का लाभ यह होता है कि हम भी 'स्वर्वान्, सत्यशुष्म व नृतम' बनेंगे। प्रभु की प्राप्ति के लिए वेद-वाणियों का, ज्ञान की वाणियों का प्रयोग अपेक्षित है। ये ज्ञान की वाणियाँ 'पूर्वी व यह्वी' हैं—हमारा पूरण करनेवाली व अर्थ के दृष्टिकोण से महान्, अर्थात् प्रचुर अर्थवाली हैं। इनका अध्ययन 'दक्ष, होता व विचारशील' पुरुष ही कर पाते हैं।

भावार्थ—ये द्युलोक व पृथिवीलोक तो प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर ही रहे हैं। हम वेद-वाणियों का भी अध्ययन करें जोकि हमारे जीवनों का पूरण करती हैं तथा अर्थ-गौरव से पूर्ण हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

युद्ध द्वारा दैवीसम्पत्ति की प्राप्ति

दिवश्चित्ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे महित्वम्।
राजा कृष्टीनामसि मानुषीणां युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥ ५॥

१. हे **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का नेतृत्व करनेवाले [विश्वान् नरान् नयति] **जातवेदः**=सम्पूर्ण धनों व ऐश्वर्यों के उत्पत्तिस्थान प्रभो! [जातं वेदो यस्मात्] **ते महित्वम्**=आपकी महिमा **बृहतः दिवः चित्**=इस बढ़े हुए व्यापक द्युलोक से भी **प्ररिरिचे**=प्रवृद्ध है। यह द्युलोक आपकी महिमा का व्यापन नहीं कर सकता; यह सब आपके एक देश में आ जाता है—**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः**'। २. **मानुषीणाम्**=विचारशील व मानव- हितकारिणी **कृष्टीनाम्**=श्रमशील प्रजाओं के **राजा असि**=आप राजा हैं। इनके जीवनों को आप ही व्यवस्थित करते हैं। इनके जीवनों में व्यवस्था [Regualtion] के द्वारा आप ही दीप्ति [राज्

दीप्तौ] को स्थापित करनेवाले हैं। आपसे शासित ये प्रजाएँ आसुरवृत्तियों के साथ संघर्ष करती हैं। इस सात्त्विक संग्राम को करनेवाले, इस संग्राम में विजय-प्राप्ति की कामनावाले [दिव्=विजिगीषा] **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के लिए **युधा**=युद्ध के द्वारा **वरिवः**=धनों को **चकर्थ**=आप करते हैं। युद्ध में देवों को विजय आपकी कृपा से ही प्राप्त होती है। इस विजय से उन्हें वह आत्मिक धन=दैवीसम्पत्ति, जिसका असुरों ने अपहरण कर लिया था, फिर से प्राप्त हो जाती है। यह विजय प्रभुकृपा से ही होती है। दैवीसम्पति का लाभ प्रभुकृपा के बिना सम्भव नहीं।

भावार्थ—प्रभु द्युलोक से महान् हैं। मानवहित-साधक श्रमशील पुरुषों के प्रभु राजा हैं। असुरों के साथ संग्राम में विजय प्राप्त कराके प्रभु ही दैवीसम्पत्ति को पुनः प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शम्बर विदारण

प्र नू म॑हि॒त्वं वृ॑ष॒भस्य॑ वोचं॒ यं पू॒रवो॑ वृत्र॒हणं॒ सच॑न्ते।
वै॒श्वा॒न॒रो दस्यु॑म॒ग्निर्ज॑घ॒न्वाँ अधू॑नो॒त्काष्ठा॒ अव॒ शम्ब॑रं भेत्॥ ६॥

१. **नु**=अब **वृषभस्य**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले शक्तिशाली प्रभु की **महित्वम्**=महिमा को **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ—**वृत्रहणम्**=वासनाओं के नष्ट करनेवाले **यम्**=जिस परमात्मा को **पूरवः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग **सचन्ते**=सेवन करते हैं। प्रभु का सच्चा भक्त वही है जो शरीर को रोगों से रक्षित करने के लिए यत्नशील होता है और काम-क्रोध से आ-जानेवाली न्यूनताओं को दूर करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार का यत्न करनेवाले लोग ही 'पूरवः' कहलाते हैं। ये प्रभु का उपासन करते हैं, प्रभु इनकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं। इन वासनाओं से ही ज्ञान का प्रकाश आवृत हो रहा था। वासना के नष्ट होते ही चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। २. वह **वैश्वानरः अग्निः**=सब नरों का हितकारी अग्नि **दस्युम्**=शरीर का नाश कर डालनेवाली कामवृत्ति को **जघन्वान्**=मार देते हैं। महादेव के तृतीय नेत्र की ज्योति से काम जल जाता है। कामध्वंस से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती। ३. ये प्रभु **काष्ठा**=[Extremeties] सिरों को **अधूनोत्**=कम्पित करके हमसे दूर करते हैं। हम अति में न जाकर सदा मध्यमार्ग में चलनेवाले बनते हैं। काष्ठा में जाना ही लोभ करना है, प्रभु हमें लोभ से बचाते हैं। लोभ बुद्धि को नष्ट करता है, लोभ के नाश से हमारी बुद्धि स्थिर होती है। ४. प्रभु **शम्बरम्**=शान्ति को ढक लेनेवाले 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' को भी **अवभेत्**=सुदूर विदीर्ण करते हैं। ईर्ष्या-द्वेषादि के नष्ट होने पर ही मानस शान्ति उपलब्ध होती है। ईर्ष्यालु का मन मृतप्राय ही होता है, यह किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर पाता।

भावार्थ—प्रभु हमारे काम-लोभ व क्रोध को नष्ट कर देते हैं। इससे हमारा शरीर, हमारी बुद्धि व हमारा मन सुस्थिर व दृढ़ होता जाता है। शरीर दृढ़, मस्तिष्क उज्ज्वल व मन पवित्र बन जाता है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शातवनेय के १०० यज्ञ

वै॒श्वा॒न॒रो म॑हि॒म्ना वि॒श्वकृ॑ष्टिर्भ॒रद्वा॑जेषु यज॒तो वि॒भावा॑।
शा॒त॒व॒ने॒ये श॒तिनी॑भिर॒ग्निः पु॑रुणी॒थे ज॑रते सू॒नृता॑वान्॥ ७॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का नेतृत्व व पथ-प्रदर्शन करनेवाला **महिम्ना**=अपनी महिमा से **विश्वकृष्टिः**=[विश्वे कृष्टयो यस्य] सब मनुष्यों के परिवारवाला अथवा संसार का निर्माण करनेवाला **भरद्वाजेषु**=अपने में शक्ति का भरण करनेवालों में **यजतः**=यष्टव्य, संगतिकरण-योग्य, अर्थात् सशक्त पुरुषों में वास करनेवाला, **विभावा**= विशिष्ट दीप्तिवाला वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **सूनृतावान्**=प्रिय-सत्यात्मिका वेदवाणीवाले हैं, हृदयस्थरूपेण सदा प्रिय सत्यवाणी से प्रेरणा प्राप्त कराते रहते हैं। २. ये प्रभु **शातवनेये**=[शातं क्रतून् वनति सम्भजति] सौ-के-सौ वर्ष यज्ञों का सेवन करनेवाले अथवा शत-संख्याक यज्ञों को करनेवाले **पुरुणीथे**=पालक और पूरक है नेतृत्व जिसका ऐसे पुरुष में **शतिनीभिः**=शत वर्ष-पर्यन्त चलनेवाली क्रियाओं से **जरते**=स्तुत होता है, अर्थात् सौ-के-सौ वर्ष क्रियामय जीवन बिताते हुए ये पुरुष उस प्रभु का स्तवन करते हैं इनका तो जीवन ही क्रियामय हो जाता है और क्रिया के द्वारा ही प्रभु का आराधन होता है, **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**।

भावार्थ—हम सौ वर्ष के दीर्घ जीवन को 'शातवनेय' का जीवन बनाएँ। हमारे ये सौ यज्ञ ही प्रभु का आराधन हो जाएँ।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि वे प्रभु अग्नियों के अग्नि हैं (१)। उस देव का दर्शन देव बनकर ही हो सकता है (२)। वे प्रभु सच्चे वसुमान् हैं (३)। उस सत्यशुष्म देव का ही हमारी वाणियाँ स्तवन करें (४)। हम सात्त्विक युद्ध के द्वारा ही दैवीसम्पत्ति को प्राप्त करते हैं (५)। प्रभुकृपा से हमारे काम-क्रोध व लोभ का निवारण होता है (६) और हम 'शातवनेय' बनकर शतयज्ञमय जीवन से प्रभु का आराधन करें (७)। आराधन का स्वरूप अगले मन्त्र में कहते हैं—

[६०] षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—नोधा गौतमः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्राणसाधना व ज्ञान-परिपाक

वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्योअर्थम्।
द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा॥ १॥

१. 'मातरिश्वा' शब्द 'मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति' इस व्युत्पत्ति से वायु का वाचक है। यह वायु ही शरीर में प्राण के रूप में रहता है— **'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्'**। यह **मातरिश्वा**=प्राण **भृगवे**=ज्ञान से अपने को परिपक्व करनेवाले व्यक्ति के लिए उस प्रभु को **भरत्**=धारण, प्राप्त कराता है। प्राणसाधना प्रभुभक्ति का प्रमुख साधन है। प्राणसाधना 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' स्वास्थ्य को जन्म देकर हमें प्रभुदर्शन के लिए तैयार कर देती है। २. उस प्रभु के दर्शन के लिए जो (क) **वह्निम्**=जगती के भार का वहन करनेवाले हैं, विष्णुरूपेण सारे ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं, (ख) **यशसम्**=यशस्वी हैं, ब्रह्माण्ड के कण-कण में उस प्रभु की महिमा का दर्शन होता है, (ग) **विदथस्य केतुम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा' नामक ऋषियों के हृदयों में ज्ञान का प्रकाश करनेवाले हैं, हृदयस्थरूपेण सभी को ज्ञान की प्रेरणा दे रहे हैं, (घ) **सुप्राव्यम्**=(सु, प्र अव् य) बड़ी उत्तमता व प्रकर्ष से हमारा रक्षण करनेवाले हैं, रोगों व पापों से बचानेवाले हैं, (ङ) **दूतम्**=अपने

भक्तों को कष्ट की अग्नि में सन्तप्त करके निर्मल करनेवाले हैं, (च) **सद्यः अर्थम्**=[अर्थं अरणं गमनम्] शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं, (छ) **द्विजन्मानम्**=ज्ञान और भक्ति के समन्वय से प्रकट होनेवाले हैं, उस प्रभुरूप वह्नि के प्रकाश के लिए 'मूर्धा' एक अरणि होती है तो 'हृदय' दूसरी अरणि। एवं, ये प्रभु 'मूर्धा व हृदय के सम्मिलित मन्थन' से प्रादुर्भूत होते हैं, (ज) वे प्रभु हमारे **प्रशस्तं रयिं इव**=प्रशंसनीय धन के समान हैं। प्रभु ही सर्वोत्तम धन हैं, (झ) वे प्रभु **रातिम्**=सब-कुछ देनेवाले हैं। ३. इस प्रभु को प्राप्त करने के लिए हमें भृगु बनना है—अपने को ज्ञान से परिपक्व करना है और साथ ही प्राणसाधना का नैत्यिक अभ्यास करना है।

भावार्थ—प्राणसाधना और ज्ञान-परिपक्वता—ये प्रभु-प्राप्ति के साधन हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

हविष्मान् व उशिज्

अस्य शासुरुभयासः सचन्ते हविष्मन्त उशिजो ये च मर्ताः।
दिवश्चित्पूर्वो न्यसादि होतापृच्छ्यो विश्पतिर्विक्षु वेधाः॥ २॥

१. **अस्य शासुः**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक प्रभु का **उभयासः**=दोनों ही **सचन्ते**=सेवन न उपासन करते हैं **ये**=जो **मर्ताः**=मनुष्य **हविष्मन्तः**=हविवाले हैं, अर्थात् यज्ञ में पदार्थों का विनियोग करके सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हैं **च**=और जो **उशिजः**=मेधावी हैं, अर्थात् जो सदा ज्ञान-प्राप्ति की कामना करते हुए अपने को ज्ञान-परिपक्व करते हैं। वस्तुतः प्रभु का जीव के लिए यही अनुशासन है कि वह ज्ञानी बने और ज्ञानपूर्वक यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाला हो—उशिक् बने, हविष्मान् बने। जो भी उशिक् व हविष्मान् बनता है वह प्रभु के शासन का सेवन करता है। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि हम ज्ञानी बनें और यज्ञशील हों। २. वे प्रभु **दिवः चित् पूर्वः**=प्रकाश से पहले ही **न्यसादि**=हमारे हृदयों में विराजमान हैं। ऊपर आये हुए मल के आवरण के हटते ही हम हृदयस्थ प्रभु का दर्शन कर पाएँगे। ३. वे प्रभु **होता**=इस सृष्टि-यज्ञ के करनेवाले व सम्पूर्ण पदार्थों के देनेवाले हैं। ४. **आपृच्छ्यः**=एक-एक पदार्थ में जिज्ञास्य हैं। जिज्ञासु को प्रत्येक पदार्थ में उस प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। अन्यत्र प्रभु को **'तं संप्रश्नम्'**=इस रूप में कहा गया है। 'कौन सूर्य को चमका रहा है, किसकी ज्योति से तारागण ज्योतिर्मय हो रहे हैं, कौन ऋतुचक्र का चालक है, कौन विविध वनस्पतियों को जन्म दे रहा है।' इस प्रकार वे प्रभु आपृच्छ्य हैं। ५. वे प्रभु ही **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं और **विक्षु**=सब प्रजाओं में **वेधाः**=कर्मानुसार अभिमत फलों के विधाता व कर्त्ता हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'हविष्मान्' व 'उशिक्' बनकर ही होती है। वे प्रभु ही आपृच्छ्य हैं, जिज्ञास्य हैं। प्रभु-ज्ञान ही जीवन का उद्देश्य है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ऋत्विज्, मानुष, प्रयस्वान्, आयु

तं नव्यसी हृद आ जायमानमस्मत्सुकीर्तिर्मधुजिह्वमश्याः।
यमृत्विजो वृजने मानुषासः प्रयस्वन्त आयवो जीजनन्त॥ ३॥

१. **नव्यसी**=अत्यन्त नवीन व अतिशयेन स्तुति करनेवाली (नु स्तुतौ), **अस्मत्**

सुकीर्तिः=हमारी यह प्रभुगुणों की कीर्ति—प्रभु के गुणों का उच्चारण **तम्**=उस **हृदः आजायमानम्**=हृदयदेश में प्रादुर्भूत होनेवाले **मधुजिह्वम्**=अत्यन्त माधुर्यमयी जिह्वावाले, मधुरता से प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **अश्याः**=प्राप्त हो। हम प्रभु का स्तवन करें, हमें प्रभु-प्रेरणा प्राप्त हो। २. उस प्रभु को हमारी स्तुति प्राप्त हो **यम्**=जिसको **वृजने**=इस जीवन-संग्राम में, एक-एक करके पापों का वर्जन करनेवाले जीवन में **ऋत्विजः**=ऋतु-ऋतु में यज्ञ करनेवाले, **मानुषासः**=विचारपूर्वक मानवमात्र के हितकारी कार्यों को करनेवाले **प्रयस्वन्तः**=हविर्लक्षण अन्नों से युक्त **आयवः**=सदा गतिशील—आलस्यशून्य, कर्मनिष्ठ व्यक्ति **जीजनन्त**=अपने हृदयों में प्रकाशित करते हैं। हृदयस्थ प्रभु का दर्शन 'ऋत्विज्, मानुष, प्रयस्वान् व आयु' को ही होता है।

भावार्थ—वे प्रभु मधुजिह्व हैं। 'ऋत्विज्, मानुष, प्रयस्वान् व आयु' बनकर हम उस प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उशिक् पावक

उशिक्पावको वसुर्मानुषेषु वरेण्यो होताधायि विक्षु।
दमूना गृहपतिर्दम आँ अग्निर्भुवद्रयिपती रयीणाम्॥ ४॥

१. वे प्रभु **उशिक्**=[कामयमानः] अपने सखा जीव का हित चाहनेवाले हैं। उसका हित करने के लिए ही **पावकः**=उसके जीवन को पवित्र बनानेवाले हैं। जीव को पवित्र बनाकर **वसुः**=उनके निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। २. **मानुषेषु**=विचारशील पुरुषों में **वरेण्यः**=वरण के योग्य हैं। जब हम विचार नहीं करते तो ग़लती से प्रकृति का वरण कर बैठते हैं, विचारशील पुरुष प्रभु का ही वरण करते हैं। ३. **होता**=वे प्रभु इस मित्र जीव को उन्नति के साधन प्राप्त कराने के लिए इस सृष्टियज्ञ के होता बनते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि जीव की उन्नति के साधनार्थ ही बनाई गई है। ये प्रभु **विक्षु अधायि**=सब प्रजाओं के हृदयदेश में स्थित हैं। हृदयस्थ होकर सब पदार्थों के 'यथायोग' के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। इन पदार्थों का 'अयोग' तो हमें लाभ ही क्या दे सकता है, 'अतियोग' हानिकर हो जाता है, 'यथायोग' के लिए प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं। ४. **दमूनाः**=[दम इति गृहनाम तन्मनः-निरु०] वे प्रभु इस शरीररूप घर में ही मनवाले हैं, इसे सुन्दर बनाने का ही सतत ध्यान कर रहे हैं। **गृहपतिः**=इस गृह के रक्षक हैं। वे **अग्निः**= अग्रणी प्रभु **दमे आभुवत्**=इस घर में सदा रहते हैं और **रयीणां रयिपतिः**=सर्वोत्कृष्ट धनों के स्वामी हैं। इन उत्कृष्ट धनों से इस शरीररूप गृह को धन्य व अलंकृत करते हैं।

भावार्थ—वे महान् मित्र प्रभु हमारा हित चाहते हैं, सदा इस शरीरगृह में सावधान होकर इसका रक्षण व अलंकरण करते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

गोतम का प्रभुशंसन

तं त्वा वयं पतिमग्ने रयीणां प्र शंसामो मतिभिर्गोतमासः।
आशुं न वाजम्भरं मर्जयन्तः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=सर्वाग्रणी प्रभो! **रयीणां पतिम्**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी **तं त्वा**=उस तुझको **वयम्**=हम **गोतमासः**=अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बनानेवाले लोग **मतिभिः**=मननीय स्तोत्रों से

प्रशंसामः प्रशंसित करते हैं। धनों की याचना करते रहने का क्या लाभ? प्रभु प्राप्त होंगे तो सब धन तो स्वयं प्राप्त हो ही जाएँगे। सब धनों के स्वामी वे प्रभु ही तो हैं। प्रभु का शंसन हमें इन सांसारिक विषयों में फँसने से बचाकर पवित्र बनाये रखता है, अन्यथा ये इन्द्रियाँ विषय-पंक में फँसकर अपवित्र हो जाती हैं। ३. ये गोतम उस प्रभु का शंसन करते हैं जो इस जीवन-यात्रा में मार्ग का शीघ्रता से व्यापन करनेवाले **आशुं न**= [अश्वमिव] घोड़े के समान हैं। प्रभु के अवलम्बन से ही तो यात्रा पूर्ण होगी। **वाजम्भरम्**=वे प्रभु हममें शक्ति भरनेवाले हैं। समय-समय पर प्रभु-सम्पर्क से शक्ति-सम्पन्न बनकर हम जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ते हैं। ४. इस प्रभु का शंसन वे गोतम करते हैं जो **मर्जयन्तः**=निरन्तर अपना शोधन करते हैं। वस्तुतः प्रभु का शंसन यही है कि प्रभु के आदेशों का पालन करते हुए हम संसार के पदार्थों का यथायोग करते हुए सब इन्द्रियों को पवित्र बनाये रखें। ५. प्रभु- कृपा से हमें **प्रातः**=दिन के आरम्भ में ही **मक्षु**=शीघ्र ही **धियावसुः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से वसुओं की प्राप्ति करनेवाले मनुष्य **जगम्यात्**=प्राप्त हों। इनके सम्पर्क में रहते हुए हम भी 'धियावसु' बनें।

भावार्थ—प्रशस्तेन्द्रिय-अपना शोधन करनेवाले ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। ये प्रभु हमारी जीवन-यात्रा में हमारे लिए वाजम्भर अश्व के समान हैं। सत्सङ्ग से हम जीवन को सुन्दर बनाएँ और प्रभु को पाएँ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्रभु-प्राप्ति के लिए प्राण-साधना व ज्ञान-परिपाक के संकेत से होता है (१)। हविष्मान् व उशिज् ही प्रभु को प्राप्त करते हैं (२)। प्रभु का प्रकाश 'ऋत्विज्, मानुष, प्रयस्वान् व आयु' के हृदय में होता है (३)। वे प्रभु हमारे जीवनों को पवित्र बनाते हैं (४)। पवित्र बने हुए ये पवित्रेन्द्रिय लोग प्रभु का शंसन करते हैं (५)। शंसन करते हुए कहते हैं कि—

[६१] एकषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्र का 'स्तुति व हवि' से परिचरण

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा॥ १॥

१. **इत् उ**=निश्चय से **अस्मै तवसे**=इस प्रवृद्ध—सब गुणों व आकार के दृष्टिकोण से बढ़े हुए, **तुराय**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले अथवा शत्रुओं का संहार करनेवाले [तुर्वित्रे], **माहिनाय**=महिमा से सम्पन्न और अतएव पूजा के योग्य **ऋचीषमाय**=[ऋचा समः] जितनी भी स्तुति की जाए उससे अधिक, **अध्रिगवे**=अप्रतिहत गमन व कर्मवाले, जिसके मार्ग में कोई भी रुकावट उत्पन्न नहीं कर सकता, ऐसे **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **ओहम्**=[वहनीयं, प्रापणीयम्] वहन के योग्य, अत्यन्त उत्कृष्ट **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **प्रहर्मि**=प्रकर्षेण प्राप्त करता हूँ। उसी प्रकार प्राप्त करता हूँ **न**=जैसे **प्रयः**=अन्न को प्राप्त करते हैं। जैसे मैं भोजन करता हूँ, भोजन करना जैसे मेरा स्वभाव हो गया है, उसी प्रकार स्तवन भी मेरे लिए स्वाभाविक है। यह मेरा अध्यात्म-भोजन ही हो गया है। २. मैं इस ब्रह्म के लिए ही, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही **राततमा**=अतिशयेन देने योग्य **ब्रह्माणि**=हविर्लक्षण अन्नों को भी प्राप्त करता हूँ, सदा यज्ञों का करनेवाला बनकर यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बनता हूँ। यज्ञशेष के

सेवन से ही प्रभु का परिचरण [सेवा] होता है।

भावार्थ—मैं स्तुति और हवि के द्वारा प्रभु का परिचरण करता हूँ।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हृदय, मन व बुद्धि का समन्वित प्रयत्न

अस्मा इदु प्रयंइव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त॥ २॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए ही निश्चय से **प्रयः इव**=अन्न की भाँति—जिस प्रकार तू अन्न का सेवन करता है, उसी प्रकार **प्रयंसि**=अपने को देता है, अर्थात् प्रभु के लिए तू आत्मार्पण करता है। जैसे प्रातः-सायं तू अन्न खाता है उसी प्रकार प्रातः-सायं तू अपने को प्रभुचरणों में उपस्थित करता है। २. तू यह निश्चय कर कि मैं **बाधे**=शत्रुओं के बाधन में समर्थ काम, क्रोध, लोभादि को दूर करनेवाले **सुवृक्ति**=कामादि के उत्तम वर्जनवाले **आंगूषम्**=स्तोत्रात्मक आघोष को—प्रभु के गुणों के उच्चारण को **भरामि**=करता हूँ। यह प्रभु-गुणगान हमारे जीवनों में से दोषों को दूर करता है। ३. ज्ञानी लोग सदा **इन्द्राय**=इस शक्तिशाली कार्यों को करनेवाले प्रभु के लिए, प्रभु-प्राप्ति के लिए **हृदा**=हृदय से, श्रद्धा से **मनसा**=अन्तःकरण की प्रबल इच्छा से तथा **मनीषा**=बुद्धि से—विवेकपूर्वक **धियः**=प्रज्ञा व कर्मों को **मर्जयन्त**=शुद्ध करते हैं। प्रज्ञापूर्वक किये गये कर्मों से ही प्रभु का पूजन होता है। यह पूजन हृदय की श्रद्धा, मन की इच्छा तथा बुद्धि के विवेक की अपेक्षा करता है। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए यह मार्जन=शोधनक्रम चलता है जोकि **प्रत्नाय**=सनातन है **पत्ये**=सबका रक्षक है। इस सनातन पति की प्राप्ति के लिए विवेकी पुरुष अपनी बुद्धियों का खूब परिमार्जन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हृदय, मन व बुद्धि का समन्वित प्रयत्न अभीष्ट है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उपम-स्वर्षा-आंगूष

अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्येन।
मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै॥ ३॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए ही **त्यम्**=उस **उपमम्**=(उपमीयते अनेन) समीपता से मापन करनेवाले, [हमारे किसी भी स्तोत्र से प्रभु का पूर्ण वर्णन नहीं हो सकता, प्रभु शब्दातीत हैं, हमारी वाणी उनके समीप तक पहुँच सकती है, उन तक नहीं] उस प्रभु के गुणों का अधिक-से-अधिक प्रतिपादन करनेवाले **स्वर्षाम्**=(स्वः सनोति) प्रकाश व सुख देनेवाले [प्रभु का गुणगान हमारे जीवन में ज्योति दिखानेवाला और हमारे जीवनों को सुखी बनानेवाला है], **आंगूषम्**=स्तोत्र को **आस्येन**=मुख से **भरामि**=करता हूँ। **मतीनां अच्छोक्तिभिः**=ज्ञानपूर्वक की गई स्तुतियों के उत्तम वचनों से, बनावट से रहित वचनों से तथा **सुवृक्तिभिः**=अशुभ के सम्यक् परित्यागों से **मंहिष्ठम्**=उस दातृतम—महान् दाता **सूरिम्**=विपश्चित्—ज्ञानी व हृदयस्थ होकर प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **वावृधध्यै**=बढ़ाने के लिए होता हूँ। मैं प्रयत्न करता हूँ कि मुझमें प्रभु की दिव्यभावानाओं का वर्धन हो। इसी उद्देश्य से मैं प्रभु का स्तवन करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए स्तवन, उत्तम वचन व पापवर्जन साधन बनते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्तोम तथा हवि

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय॥ ४॥

१. मैं **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए ही **स्तोमम्**=स्तुति को **संहिनोमि**=प्राप्त करता हूँ। उसी प्रकार प्राप्त करता हूँ **इव**=जैसे **तत्सिनाय**=(तेन रथेन सिनमन्नं यस्य) रथ के द्वारा आजीविका चलानेवाले रथ-स्वामी के लिए जैसे **तष्टा रथं न**=बढ़ई रथ को प्राप्त कराता है। बढ़ई रथ का निर्माण करके उस रथ को स्वामी के लिए रख देता है, इसी प्रकार मैं स्तोमों का निर्माण करके इन स्तोमों को प्रभु के लिए प्राप्त कराता हूँ, सब स्तोमों के स्वामी प्रभु ही हैं। वस्तुतः स्तवन प्रभु का ही करना चाहिए, प्रभु से अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति की स्तुति ठीक नहीं। २. मैं **गिर्वाहसे**= वेदवाणियों के धारण करनेवाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यवाले प्रभु के लिए **गिरः**=स्तुतिवाणियों को प्रेरित करता हूँ **च**=और ३. उस **मेधिराय**=मेधावी व मेधा के देनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए **सुवृक्ति**=शोभनतया पापों का वर्जन करनेवाली **विश्वमिन्वम्**=विश्वव्यापक, सर्वत्र फैल जानेवाली हवि को प्राप्त करता हूँ। यज्ञों में हवि देकर यज्ञशेष का ही मैं सेवन करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए 'स्तोमों का उच्चारण व हवि प्रदान करना' प्रमुख साधन हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वाणी के साथ स्तोत्रों का वर्गीकरण

अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम्॥ ५॥

१. **अस्मै इन्द्राय इत् उ**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए ही **श्रवस्या**=ज्ञान व यश की प्राप्ति के हेतु से **अर्कम्**=स्तोत्र को **जुह्वा**=आह्वान-साधन वागिन्द्रिय से **समञ्जे**=समक्त करता हूँ—मिला देता हूँ उसी प्रकार मिला देता हूँ **इव**=जैसे **श्रवस्या**=अन्न-प्राप्ति की कामना से जानेवाला **सप्तिम्**=घोड़े को रथ में जोड़ता है। मेरी वाणी प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती है, मेरी वाणी के साथ स्तोत्रों का एकीकरण हो जाता है। मैं सदा स्तोत्रों का जाप करता हूँ और मेरा जीवन ज्ञान व यश से पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार वाणी से स्तोत्रों को युक्त करके मैं उस प्रभु के **वंदध्यै**=वन्दन के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ जो प्रभु **वीरम्**=वीर हैं, हमारे शत्रुओं का नाश करने में कुशल हैं, **दानौकसम्**=दान के तो घर ही हैं, हमें सब-कुछ देनेवाले हैं, **गूर्तश्रवसम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानवाले हैं और **पुराम्**=असुरों की तीन पुरियों के **दर्माणम्**=विदारण करनेवाले हैं। प्रभु-स्तवन से काम, क्रोध व लोभ ने जो इन्द्रियों, मन व बुद्धि में अपने किले बनाये हैं, उनका भंग हो जाता है, इसलिए प्रभु को त्रिपुरारि कहा जाता है। इन असुरों के दुर्गों का भंग करके प्रभु हमारे इन मृत शरीरों का ही विदारण कर देते हैं। हमें फिर इन शरीरों के लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमारे जीवन को ज्ञानयुक्त व यशस्वी बनाता है। वे प्रभु अन्ततः हमें इस शरीर-बन्धन से ऊपर उठाते हैं।

ऋषिः—नोधा गौतमः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

स्वपस्तम स्वर्य वज्र

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद्वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं१ रणाय।
वृत्रस्य चिद्विदद्येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः॥ ६॥

१. **त्वष्टा**=वह देवशिल्पी-सब दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाला प्रभु **अस्मै इत् उ**=इस जीव के लिए निश्चय से ही **स्वपस्तमम्**=अत्यन्त शोधन कर्मोंवाले, **स्वर्यम्**=(सु अर्य) वासनारूप शत्रुओं पर उत्तम आक्रमण करनेवाले, स्तुत्य व (स्वर् य) स्वर्गप्रद—सुखमय स्थिति को देनेवाले **वज्रम्**=काम-क्रोधादि के वर्जक आयुध को **तक्षत्**=बनाता है। २. इस आयुध को क्यों बनाता हैं? **रणाय**=अन्तःकरण में चलनेवाले देवासुर-संग्राम के लिए। दैवीवृत्ति व आसुरीवृत्तियों में चल रहे संग्राम में विजय के लिए अथवा रमणीयता के लिए—आसुरवृत्ति के पराजय के द्वारा जीवन को सुन्दर बनाने के लिए। ३. इस वज्र को बनाता है **तुजता येन**=शत्रुओं की हिंसा करते हुए जिस वज्र से **तुजन्**=शत्रु का संहार करता हुआ **ईशानः**=ऐश्वर्यवान् तथा **कियेधाः**=(क्रियमाणधः-निरु०) आक्रमण करते हुए शत्रुबल को धारण करने-(रोकने)-वाला वह जीव **वृत्रस्य**=ज्ञान के आवरणभूत कामात्मतारूप शत्रु के **मर्मचित्**=मर्मस्थल को ही **विदत्**=प्राप्त करता है, अर्थात् मर्मस्थल पर चोट करनेवाला होता है। इस वृत्र को समाप्त करके ही इन्द्र अपने राज्य को स्वर्ग का राज्य बना पाता है। इस प्रकार यह वज्र सचमुच 'स्वर्य' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें कर्मशीलतारूप वज्र दिया है। हम इससे वासना को विनष्ट करके जीवन को स्वर्ग बनाएँ।

ऋषिः—नोधा गौतमः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

(वज्र से) वराह का वेधन

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता॥ ७॥

१. **अस्य मातुः इत्**=गतमन्त्र के अनुसार इस वज्र का निर्माण करनेवाले प्रभु के ही **सवनेषु**=उत्पादन के निमित्त—प्रभु के प्रकाश को अपने हृदय में देखने के उद्देश्य से **सद्यः**=शीघ्र ही **महः पितुम्**=(महस् Power) तेजस्विता के रक्षक सोम को **पपिवान्**=अपने अन्दर ही पीने का प्रयत्न करता है। इस शरीर में ही सुरक्षित किया हुआ यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और यह दीप्त ज्ञानाग्नि हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। २. **विष्णुः**=व्यापक उन्नति करनेवाला जीव 'शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक' उन्नति करता हुआ और इस प्रकार तीन पग रखता हुआ यह 'त्रिविक्रम' जीव **चारु अन्ना**=सुन्दर सात्त्विक अन्नों से **पचतम्**=परिपक्व वीर्यरूप धन का **मुषायत्**=अपहरण करता हुआ **सहीयान्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का अतिशयेन पराभूत करनेवाला होता है। प्रभु ने अन्नों में वीर्य को छिपाकर रखा है। इन अन्नों से आँतें रस को लेती हैं, उस रस के परिपाक से रुधिर, उसके परिपाक से मांस, इसी प्रकार उस-उस धातु का परिपाक होते हुए मेदस्, अस्थि, मज्जा व अन्त में वीर्य बनता है। यह वीर्य पूर्ण परिपक्व धातु है। इसे यहाँ 'पचतं' परिपक्व धन कहा

गया है। व्यापक उन्नति का इच्छुक जीव इसे सुन्दर अन्नों में से मानो चुराने का प्रयत्न करता है और वीर्यवान् बनकर शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। ३. यह **वराहं विध्यत्**=वराह का वेधन करता है। निघण्टु [१।१०] में वराह का अर्थ मेघ किया है। मेघ सूर्य को आवृत करके प्रकाश को विलुप्त करता है, इसी प्रकार अध्यात्म में वासना ज्ञान को आवृत करती है और इसी कारण उसका नाम 'वृत्र' पड़ गया है। मेघ के नामों में भी यह वृत्र शब्द आया है, एवं वराह व वृत्र पर्याय हैं। विष्णु बनने के लिए इस वृत्र व वराह का वेधन आवश्यक है। ४. वृत्र व वराह का वेधन करके यह विष्णु **अद्रिम्**=अविद्या के पर्वत को **तिरः अस्ता**=(तिरस् Across, beyond, over) सुदूर, सात समुद्र पार के प्रदेश में फेंकनेवाला होता है, अर्थात् अपनी अविद्या को दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रकाश के निमित्त सोम का पान आवश्यक है। सात्त्विक अन्नों के सेवन से हमें सोम का उत्पादन करना है। इस सोम को अपने में सुरक्षित करके हम ज्ञान की आवरणभूत वासना को निरुद्ध करके नष्ट करें और अविद्या-पर्वत को उखाड़ फेंके।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** स्वरः—**पञ्चमः**॥

ग्नाः देवपत्नी व अहिहत्या

अस्मा इदु ग्नाश्चिद्देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः॥ ८॥

१. **अस्मै इन्द्राय इत् उ**=इस शत्रुओं का संहार करनेवाले इन्द्र के लिए ही **अहिहत्ये**=(आहन्ति इति अहिः) निरन्तर आघात करनेवाले कामरूप शत्रु के विनाश के निमित्त **देवपत्नीः**=दिव्य गुणों का रक्षण करनेवाली **ग्नाः चित्**=छन्दोरूप वेदवाणियाँ (ग्नाः=वाङ्नाम-१।११, छन्दांसि वै ग्नाः, छन्दोभिर्हि स्वर्ग लोकं गच्छन्ति-शत० ५।५।५।७) **अर्कम्**=स्तोत्र को **ऊवुः**=सन्तत करती हैं। सब वेदवाणियाँ प्रभु के गुणों का प्रतिपादन करती हैं। ये दिव्य वाणियाँ मुझमें दिव्य गुणों को रक्षित करनेवाली होती हैं और मुझे स्वर्गमय लोक में पहुँचाती हैं। मैं इन वाणियों से प्रभु का स्तवन करता हूँ २. वह प्रभु **उर्वी द्यावापृथिवी**=इन विशाल द्युलोक व पृथिवीलोक को **परिजभ्रे**=सब प्रकार से वशीभूत कर लेता है (हृ win over) अथवा सब ओर ले-जाता है (to lead)। ब्रह्माण्ड में सारी गति उस प्रभु के ही कारण से ही तो है—'**भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया**'। ३. **ते**= वे द्यावापृथिवी **अस्य महिमानम्**=इस प्रभु की महिमा को **न परि स्तः**=चारों ओर से व्याप्त नहीं कर सकते। प्रभु की महिमा अनन्त है, ये द्यावापृथिवी प्रभु के एक देश में ही समाये हुए हैं—'**त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः**'।

भावार्थ—हम छन्दोरूप वेदवाणियों से प्रभु का स्तवन करते हैं और वासना को विनष्ट करने की शक्ति का लाभ करते हैं। वे प्रभु द्यावापृथिवी को गति दे रहे हैं और ये द्यावापृथिवी प्रभु के एक देश में हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वह 'अमत्र' प्रभु

अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्।
स्वराळिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय॥ ९॥

१. **अस्य इत् एव**=इस परमात्मा की ही **महित्वम्**=महिमा **दिवः**=द्युलोक से **पृथिव्याः**=पृथिवीलोक से **प्ररिरिचे**=अतिरिक्त है, बढ़ी हुई है, **अन्तरिक्षात् परि**=अन्तरिक्ष से भी इसकी महिमा ऊपर है। वह प्रभु इन तीनों लोकों से व्याप्त नहीं किया जा सकता। २. **दमे**=दमन करने के विषय में वह **इन्द्रः**=शक्तिशाली कार्यों को करनेवाला प्रभु **स्वराट्**=स्वयं देदीप्यमान है। अपना शासन स्वयं करता हुआ वह औरों का शासन करता है। ३. **विश्वगूर्तः**=अपने सब कार्यों के करने में सदा उद्यत है (गुदी उद्यमने) **स्वरिः**=शत्रुओं पर उत्तमता से आक्रमण करनेवाला है। **अमत्रः**=गति के द्वारा सबका त्राण करनेवाला है (अम+त्र), अथवा अमात्र (अ+मात्र) इयत्ता से रहित है, सीमा में नहीं आता। ४. ये प्रभु **रणाय**=युद्ध के लिए अथवा रमणीयता के सम्पादन के लिए **आववक्षे**=सब प्रकार से शक्तिशाली होते हैं। इस प्रभु की शक्ति से ही वस्तुतः शक्तिसम्पन्न बनकर हम युद्धों में विजयी होते हैं और जीवनों को रमणीय बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा इन लोकों से अतीत है। वे प्रभु ही हमें शक्ति देते हैं और हमें युद्धों में विजयी कराते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अवनि-मोचन

अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद्वज्रेण वृत्रमिन्द्रः।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः॥ १०॥

१. **अस्य इत् एव**=इस परमात्मा के ही **शवसा**=बल से **शुषन्तम्**=सूखते हुए **वृत्रम्**=वासनात्मक भाव को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वज्रेण**=क्रियाशीलता वज्र से **विवृश्चत्**=विशेष करके काट डालता है, नष्ट कर देता है। जीव की अपनी शक्ति नहीं कि वह वासना को विनष्ट कर सके। जीव प्रभु का स्मरण करता है और इस नाम-स्मरण से वासना सूख जाती है। महादेव के सामने कामदेव की शक्ति मन्द हो जाती है। मन्दशक्ति कामदेव को जीव क्रियाशीलता के द्वारा नष्ट किया करता है। कामदेव को मारते तो प्रभु हैं, मरते हुए कामदेव के माथे पर जीव भी क्रियाशीलता वज्र का प्रहार कर देता है। २. वृत्र के विनाश के द्वारा **गाः न व्राणाः**=बाड़े में घिरी हुई गौओं के समान, अर्थात् जैसे बाड़े को खोलकर गौओं को स्वतन्त्रता प्राप्त कराई जाती है उसी प्रकार **व्राणाः अवनीः**=वासना से आवृत रक्षण-हेतुभूत वीर्य-शक्तियों को **अमुञ्चत्**=इस वासना के घेरे से मुक्त करता है, अर्थात् इन वीर्यकणों को वासना का शिकार नहीं होने देता। ३. **दावने**=अपने को प्रभु के प्रति अर्पित करनेवाले के लिए **सचेताः**=सदा सचेत हुए-हुए प्रभु **श्रवः अभि**=उसे ज्ञान के प्रति ले-चलते हैं। जो भी व्यक्ति वृत्र के विदारण के लिए दृढ़निश्चयी होता है, वह प्रभुभक्त बनता है, प्रभु को पुकारता है। प्रभु इस सम्पर्क को सदा रक्षित करते हैं और ज्ञानाभिमुख ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारी वासना का विनाश करते हैं और हमें ज्ञान की ओर ले-चलते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवताः—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सरस्वती का पुनः प्रवाह

अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद्वज्रेण सीमयच्छत्।
ईशानकृद्दाशुषे दशस्यन्तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः॥ ११॥

१. **यत्**=जब **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **सीम्**=निश्चय से **परि अयच्छत्**=वृत्ररूप वासना को पूर्णरूप से काबू कर लेता है तब **अस्य इत् उ**=इस प्रभु की ही **त्वेषसा**=ज्ञानदीप्ति से **सिन्धवः**=ज्ञानप्रवाह **रन्त**=फिर से रमण करने लगते हैं। प्रभु 'ब्रह्म' हैं, ज्ञान उनकी पत्नी 'सरस्वती' के रूप में है। पुत्र को पिता से जैसे सम्पत्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार उस ब्रह्म से जीव को ज्ञान प्राप्त होता है। जीव में भी सरस्वती की एक धारा बहने लगती है। यह धारा वासना के सन्ताप की प्रबलता में सूख जाती है। वासना नष्ट हुई और यह प्रवाह फिर से बहने लगा। २. इस ज्ञानप्रवाह के बहने से मनुष्य इन्द्रियों को वशीभूत करने के लिए प्रवृत्त होता है। वह विषयों का दास नहीं बना रहता। इस प्रकार प्रभु इस भक्त को **ईशानकृत्**=ईशान बना देते हैं और **दाशुषे**=इस दाश्वान्=भोगासक्त न होकर देने की वृत्तिवाले के लिए **दशस्यन्**=प्रभु सब-कुछ देते हैं। प्रभुकृपा से दाश्वान् को किसी बात की कमी नहीं होती। ३. वे **तुर्वणिः**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले व शत्रुओं के संहारक प्रभु **तुर्वीतये**=कामादि शत्रुओं पर विजय पानेवाले व्यक्ति के लिए **गाधं कः**=प्रतिष्ठा (गाधृ प्रतिष्ठायाम्) को करते हैं। इस तुर्वीति का जीवन अप्रतिष्ठ-निराधार नहीं रहता, अथवा प्रभु तुर्वीति के लिए **गाधं कः**=नदी-जल को अगाध नहीं रहने देते। इसके लिए प्रभु वासना-सरित् को उथला कर देते हैं ताकि यह उसे सुगमता से पार कर सके।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हममें ज्ञानप्रवाह जोकि शुष्ण=वासना के कारण शुष्क हो गये थे, फिर से चलने लगते हैं। हम ईशान् व दाश्वान् बनते हैं। प्रभु हमारे लिए वासना-सरित् की गहराई को दूर कर देते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

गो-पर्व-विदारण

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै॥ १२॥

१. हे परमात्मन्! **तूतुजानः**=शीघ्रता से कार्यों को करते हुए अथवा शत्रुओं का संहार करते हुए **ईशानः**=सबका शासन करनेवाले **कियेधाः**=कियत् प्रमाण अनिर्वचनीय बल को धारण करनेवाले अथवा क्रममाण शत्रुओं को रोकनेवाले आप **अस्मै वृत्राय**=इस ज्ञान के आवरणभूत वासनारूप शत्रु के लिए **इत् उ**=निश्चय से **वज्रम्**=वज्र को **प्रभर**=प्रहृत कीजिए। वृत्र को वज्रप्रहार से नष्ट करके इस भक्त के जीवन को प्रकाशमय बनाइए। २. **गोः न पर्व**=गो=पृथिवी के पर्वों की भाँति वेदवाणी के पर्वों को **विरदा**=विश्लिष्ट करनेवाले होओ। एक-एक शब्द को विच्छिन्न करके-उसका निर्वचन करके **तिरश्चा**=(तिरः=अञ्चति) छिपकर अन्दर गति करनेवाले **अर्णांसि**=ज्ञानजलों को **इष्यन्**=प्राप्त कराते हुए आप **अपां चरध्यै**=सरस्वती नदी के ज्ञानजलों के चरण के लिए हों। वासना के कारण सरस्वती नदी का जो प्रवाह सूख गया था, वह वासनात्मक वृत्र के विनाश के द्वारा फिर से प्रवाहित होने लगे। आप हमें ऐसी शक्ति प्राप्त कराइए कि हम एक-एक शब्द के अन्दर निहित भाव को उसके विश्लेषण से देखनेवाले बनें। शब्दों की व्युत्पत्ति को समझें और ज्ञान में व्युत्पन्न हो सकें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी वासना नष्ट हो और हम शब्दों के विश्लेषण के साथ अपने ज्ञान को उज्ज्वल कर सकें।

नोट—यहाँ '**गोर्न पर्व विरदा**' इस वाक्य से गौओं के पर्वों के विदारण का शब्दशः

अर्थ लेकर पाश्चात्यों को आर्यों के गोमांस-भक्षण का सन्देह हो गया। वस्तुतः यहाँ वाणी के विश्लेषण से ज्ञानवृद्धि का संकेत है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

आयुधों की प्राप्ति

अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः।
युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून्॥ १३॥

१. **अस्य**=इस **तुरस्य**=(त्वर्) शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले अथवा (तुर्वी) शत्रु-संहारक **नव्यः**=स्तुति के योग्य प्रभु के **पूर्व्याणि**=जीव की पूर्णता के साधक **कर्माणि**=कार्यों को **इत् उ**=ही **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **प्रब्रूहि**=प्रतिपादन कर। २. **यत्**= चूँकि प्रभु ही **युधे**=युद्ध के लिए, वासनात्मक वृत्र के साथ संग्राम के लिए **आयुधानि**=क्रियाशीलता व ज्ञान आदि आयुधों को **इष्णानः**=प्राप्त कराते हुए **ऋघायमाणः**= शत्रुओं की हिंसा के हेतु से **शत्रून् निरिणाति**=शत्रुओं के अभिमुख जाते हैं। शत्रुओं पर आक्रमण प्रभु ही करते हैं, हमारे लिए इनपर आक्रमण करते हुए वे प्रभु हमें विजयी बनाते हैं। प्रभु के ये शत्रु-संहारात्मक कर्म पूर्व्य हैं, हमारा पूरण करनेवाले हैं। इन कर्मों के स्तवन से हमें प्रेरणा मिलती है और हममें शक्ति का सञ्चार होता है। इन अध्यात्म-शत्रुओं के साथ युद्ध के लिए हम उत्साहित होते हैं और इन शत्रुओं को परास्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें कामादि शत्रुओं के साथ युद्ध के लिए ज्ञान व कर्मरूप अस्त्रों को प्राप्त कराते हैं। हमें इस युद्ध के लिए उत्साहयुक्त करते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु के शक्तिशाली गुणों का गायन

अस्येदु भिया गिरयश्च दृळ्हा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद्वीर्याय नोधाः॥ १४॥

१. **अस्य इत् उ**=इस प्रभु के ही **भिया**=भय से **दृळ्हाः गिरयः**=ये अत्यन्त दृढ़ पर्वत **च**=और प्रभु से **जनुषः**=प्रादुर्भूत (निर्मित) हुए-हुए **द्यावा च भूमा**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **तुजेते**=काँप उठते हैं। इस अनन्तशक्ति प्रभु के भय से ही सम्पूर्ण संसार अपनी मर्यादा में चल रहा है—'**भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥**' क्या अग्नि और क्या सूर्य, क्या इन्द्र व क्या वायु और मृत्यु भी इसी के भय से अपना-अपना कार्य करते हैं। २. **नोधाः**=(नवधाः) स्तुति को धारण करनेवाला अथवा इन्द्रियनवक को धारण करनेवाला [पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, वाणी के दोनों ओर होने से कुल नौ] **वेनस्य**=उस मेधावी, कान्त प्रभु के **ओणिम्**=शत्रुओं के अपनयन, दूरीकरणरूप कार्य को **जोगुवानः**=अनेक सूक्तों से गाता हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **वीर्याय उप उ भुवत्**=शक्ति के लिए समीप ही होता है। प्रभु के शक्तिशाली कर्मों के गायन से इसे भी शक्ति प्राप्त होती है। शक्तिशाली का उपासक शक्तिशाली क्यों न बनेगा? शक्तिसम्पन्न होकर यह पर्वततुल्य विघ्नों का भी विदारण करनेवाला होता है और विरोध में उपस्थित सारे संसार को भी कम्पित करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के शक्तिशाली कर्मों का गायन करते हुए हम भी शक्तिसम्पन्न हों और

पर्वतों व सम्पूर्ण संसार को भी कम्पित करके आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट् पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ईश्वरप्रणिधान व सूर्य से स्पर्धा

अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद्वव्ने भूरेरीशानः।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः॥ १५॥

१. **यत्**=चूँकि **एकः**=वह प्रभु अकेले ही **वव्ने**=(वन्=to win) इस सब सम्पत्तियों को जीतते हैं। और वे ही **भूरेः**=हमारा पालन-पोषण करनेवाली सम्पत्ति के भी (भृ-धारणपोषण) **ईशानः**=ईशान हैं—**'अहं धनानि संजयामि शश्वतः'**, इसलिए **एषाम्**=इन (गतमन्त्रों में वर्णित) नोधा नामक भक्तों का **त्यत्**=वह-वह कर्म **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए **अनुदायि**=दिया जाता है, अर्थात् प्रभु के अर्पण किया जाता है। वेदों का सार यही है कि **'कुरु कर्म'** कर्म कर और **'त्यजेति च'**=उसे प्रभु के लिए त्यागता चल। प्रभु की शक्ति से होते हुए इन कर्मों का गर्व करना ठीक भी तो नहीं। यह ईश्वरार्पण ही 'ईश्वरप्रणिधान' है। २. जब हम इस प्रकार ईश्वरार्पण करते हैं तब **इन्द्रः**=वे प्रभु **प्र आवत्**=प्रकर्षेण हमारी रक्षा करते हैं। जो हम (क) **एतशम्**=(एति शयति) गतिशील बनते हैं और गतिशीलता के द्वारा मलों को क्षीण करते हैं, (ख) जो हम **सौवश्व्ये**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होने में **सूर्ये पस्पृधानम्**=सूर्य से स्पर्धा करते हैं। सूर्य सप्ताश्व है, हम भी **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**=दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो आँखों व मुखरूप सात अश्वोंवाले हैं। ये सात ही सप्तर्षि कहलाते हैं। इन सप्तर्षियों को क्रियाशील व निर्मल बनाना ही सूर्य के सात अश्वों से स्पर्धा करना है। सूर्य के सप्ताश्व जैसे चमकते हैं, उसी प्रकार ये सात इन्द्रियाँ भी चमकें। 'सूर्य की सात प्रकार की किरणों से इन सात इन्द्रियों की चमक अधिक हो'—यही सूर्य से स्पर्धा करना है; (ग) इस स्पर्धा में विजयी होने के लिए हम **सुष्विम्**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करते हैं (षु=अभिषव)। इस सोम का रक्षण ही हमारी इन्द्रियों को सबल बनाता है और हम चमक से सूर्य की स्पर्धा करने के योग्य होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाला अपने को दीप्त बनाता है, दीप्ति में सूर्य के साथ स्पर्धा करनेवाला होता है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

विश्वपेशस् धी (संसार को सुन्दर बनानेवाली प्रज्ञा)

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ १६॥

१. हे **हारियोजन**=हमारे शरीररूप रथ में इन्द्रियाश्वों को जोड़नेवाले और इस प्रकार हमें जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए सक्षम बनानेवाले तथा **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **गोतमासः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुष **ते एव**=आपके ही **सुवृक्ति**=उत्तमता से दोषों का वर्जन करनेवाले अथवा आपके आवर्जक अर्थात् आपकी कृपादृष्टि को प्राप्त करनेवाले **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को **अक्रन्**=करते हैं। आपका स्तवन हमारे दोषों को दूर करता है और हमें आपकी कृपादृष्टि प्राप्त कराता है। २. हे प्रभो! **एषु**=आप इन प्रशस्तेन्द्रिय पुरुषों में **विश्वपेशसम्**=संसार को

सुन्दर बनानेवाली **धियम्**=प्रज्ञा को **आधा:** स्थापित कीजिए। हमें उत्तम बुद्धि प्राप्त हो और उस बुद्धि से हम संसार को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। ३. हे प्रभो! आपकी कृपा से **प्रात: मक्षु**=प्रात: शीघ्र ही **धियावसु:**=प्रज्ञापूर्वक कर्म के द्वारा उत्तम निवासवाला व्यक्ति **जगम्यात्**=प्राप्त हो, अर्थात् हमें इन पुरुषों का सत्सङ्ग मिले और हम धियावसु बन पाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें वह बुद्धि दे जो हमें संसार को सुन्दर बनाने में समर्थ करे तथा प्रभुकृपा से हमें धियावसु पुरुषों का संग प्राप्त हो।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि हम स्तुति व हवि के द्वारा प्रभु का परिचरण करें (१)। हम प्रभुप्राप्ति के लिए 'हृदय, मन व बुद्धि' तीनों का समन्वय करें (२)। स्तवन, उत्तम वचन व पापवर्जन हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाएँ (३)। स्तोम व हवि ही तो हमें प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाते हैं (४)। वाणी के साथ स्तोत्रों का एकीकरण हो जाने पर प्रभु हमें शरीर-बन्धन से ऊपर उठाते हैं (५)। प्रभु हमें उत्तम कर्मशीलतारूप वज्र प्राप्त कराते हैं (६)। इस वज्र से हमें ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करना है (७)। इसी उद्देश्य से हम प्रभुस्तवन द्वारा शक्तिलाभ करते हैं (८)। वे प्रभु ही शक्ति देकर हमें युद्ध में विजयी करते हैं (९)। वास्तव में प्रभु ही हमारी वासना का विनाश करते हैं (१०)। प्रभुकृपा से ही वासना के विनाश से हममें पुन: सरस्वती का प्रवाह बहने लगता है (११)। हम वाणी का विश्लेषण करते हुए अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं (१२)। वासनाओं से युद्ध के लिए हमें कर्म व ज्ञानरूप अस्त्र प्राप्त होते हैं (१३)। प्रभु के पराक्रमपूर्ण कर्मों का गायन करके हम भी शक्तिसम्पन्न हों (१४)। दीप्ति में हम सूर्य के साथ स्पर्धा करनेवाले हों (१५) और विश्वपेशस् धी को धारण करें (१६)। 'प्रभु का ही स्तवन करें', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

॥ इति प्रथमाष्टके चतुर्थोऽध्याय:॥

अथ प्रथमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः

[६२] द्विषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडार्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्तवन से शक्ति व माधुर्य की प्राप्ति

प्र मन्म॑हे शवसा॒नाय॑ शू॒षमा॑ङ्गू॒षं गिर्व॑णसे अङ्गिर॒स्वत्।
सु॒वृ॒क्तिभि॑: स्तुव॒त ऋ॑ग्मि॒यायार्चा॑मा॒र्कं नरे॒ विश्रु॑ताय॥ १॥

१. **शवसानाय**=शक्तियुक्त कार्यों को करनेवाले **गिर्वणसे**=वेदवाणियों से संभजनीय प्रभु के लिए **आङ्गूषम्**=स्तोत्र का **प्रमन्महे**=प्रकर्षेण मनन करते हैं, जो स्तोत्र **शूषम्**=शत्रुशोषक बल को प्राप्त करानेवाला है और **आङ्गिरसवत्**=हमारे एक-एक अङ्ग को रसमय बनानेवाला है। प्रभु के स्तवन से शक्ति व माधुर्य प्राप्त होता है। २. **सुवृक्तिभिः**=उत्तमता से दोषों के वर्जन के हेतु से **स्तुवते**=स्तूयमान, **ऋग्मियाय**=ऋचाओं से अर्चनीय [**'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**] **नरे विश्रुताय**=नरों में जिसकी वाणी सुनाई पड़ती है, उस प्रभु के लिए **अर्कम्**=स्तुतिमन्त्र का **अर्चाम्**=उच्चारण करते हुए पूजन करें। ३. नरों में ही प्रभुवाणी सुनाई पड़ती है। हृदयस्थरूपेण प्रभु हमें बुरे कर्मों में सन्नद्ध देखकर 'भय, शंका व लज्जा' के भाव उत्पन्न करते हैं और अच्छे कामों में लगने पर आनन्द और उत्साह प्राप्त कराते हैं। प्रभु की वाणी ही इन लोगों के लिए धर्मज्ञान का मुख्य साधन होती है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमें 'शक्ति व माधुर्य' देता है। इस स्तवन से ही हमारे पाप दूर होते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आङ्गूष्य साम

प्र वो॑ म॒हे महि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्यं॑ शवसा॒नाय॒ साम॑।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तर॑: पद॒ज्ञा अर्च॑न्तो॒ अङ्गि॑रसो॒ गा अवि॑न्दन्॥ २॥

१. **वः**=तुम सब **महे**=उस महान् प्रभु के लिए **महि नमः**=महनीय नमन **प्रभरध्वम्**=प्रकर्षेण धारण करो। जितना-जितना उस महान् प्रभु के प्रति हम नमन धारण करते हैं, उतना-उतना ही हमारा जीवन महनीय बनता है। २. **शवसानाय**=शक्ति के पुञ्ज उस प्रभु के लिए **आङ्गूष्यम्**=(आघोषयोग्यम्) ऊँचे उच्चारण के योग्य **साम**=स्तोत्र व स्तवन को धारण करो। वस्तुतः उस शक्तिशाली प्रभु का स्तवन हमें भी शक्तिशाली बनाता है। यह साम वह है **येन**=जिससे **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले—न्यूनताओं को सदा दूर करनेवाले **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में लगनेवाले **पदज्ञाः**=मार्ग को जाननेवाले **अर्चन्तः**=प्रभु की पूजा करते हुए और इस प्रकार **अङ्गिरसः**=अङ्ग-अङ्ग में रस के सञ्चारवाले लोग **गाः**=ज्ञान की रश्मियों या वाणियों को **अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं। स्तवन के द्वारा मनुष्य हृदयस्थ प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला बनता है। प्रभु के उपासक का चित्रण 'पूर्वे, पितरः, पदज्ञाः, अर्चन्तः व अङ्गिरसः' इन शब्दों से हो रहा है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें। ये स्तोत्र हमें न्यूनताओं को दूर करने में सहायक होंगे और हमें ज्ञान को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

बुद्धि का स्वाध्यायरूपी भोजन

इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ विदत्सरमा तनयाय धासिम्।
बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विददगाः समुस्त्रियाभिर्वावशन्त नरः॥ ३॥

१. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **च**=और अतएव **अङ्गिरसाम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस-सञ्चारवाले पुरुषों के **इष्टौ**=प्रभुपूजन के होने पर **सरमा**=(स+रमा) आत्मा के साथ रमण करनेवाली बुद्धि, आत्मारूपी रथी के साथ सारथिरूपेण रहनेवाली बुद्धि **तनयाय**=अपने विस्तार के लिए (तनु विस्तारे) **धासिम्**=भोजन को **विदत्**=प्राप्त कराती है। नवीन-नवीन ग्रन्थों का स्वाध्याय ही वह भोजन है जो बुद्धि का विस्तार करता है। २. स्वाध्याय के द्वारा बुद्धि का विस्तार करनेवाला यह **बृहस्पतिः**= ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति **अद्रिम्**=अज्ञान के पर्वत को **भिनत्**=विदीर्ण करता है। अज्ञान-पर्वत को विदीर्ण करके **गाः विदत्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करता है। ३. **नरः**=(नृ नये) ये नर लोग—अपने को उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले लोग **उस्त्रियाभिः**=प्रकाश की किरणों के निमित्त **सं वावशन्त**-(वाशृ शब्दे) प्रभु की स्तुतियों का उच्चारण करते हैं अथवा 'वश कान्तौ' प्रभु-स्तुति की कामना करते हैं। ४. बुद्धि के परिपोषण के लिए आवश्यक है कि हम (क) जितेन्द्रिय बनें [इन्द्रस्य], (ख) अङ्गों को रसमय बना दें, अर्थात् यथासम्भव स्वस्थ हों, (ग) प्रभुपूजन की वृत्तिवाले हों [इष्टौ], (घ) बुद्धि को स्वाध्यायरूप भोजन अवश्य प्राप्त कराएँ [धासिम्]।

भावार्थ—हम नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा बुद्धि को उचित भोजन प्राप्त कराएँ और इस प्रकार बुद्धि का ठीक परिपोषण करें।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडार्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अविद्या-पर्वत-विदारण

स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो३ नवग्वैः।
सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता **शक्र**=शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले जीव! **सः**=वह तू **अद्रिम्**=अविद्या के पर्वत को, जिसका कि विदारण बड़ा कठिन है (अ+दृ), **वलम्**=जो ज्ञान पर एक आवरण के रूप में है, **फलिगम्**=(फल्गुम्) जो असत्य है, साररहित है, उसे **दरयः**=तू विदीर्ण करता है। २. अविद्यापर्वत को तू नष्ट करता है, अतएव **स्वर्यः**=(स्वः याति) सुख व प्रकाशमय स्थिति को प्राप्त करनेवाला होता है। अविद्या ही सम्पूर्ण क्लेशों का मूल है **'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्'**। अविद्या के नाश से क्लेशों का नाश होता है और सुखमय स्थिति प्राप्त होती है—यही है 'स्वर्य बनना। ३. परन्तु इस अविद्या का विदारण होता कैसे है? (क) **सुष्टुभा**=उत्तम स्तोत्र से, प्रभु के स्तोत्रों का उत्तमता से उच्चारण करने से, (ख) स्तुभा=(Stop) काम, क्रोध, लोभ को रोकने के प्रयत्न से, (ग) **सप्त**=सात **विप्रैः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्राणों से; प्राणसाधना के द्वारा शरीर नीरोग बनता है, मन निर्मल होता है और बुद्धि तीव्र होती है, एवं ये प्राण हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले 'विप्र' हैं। (घ) **स्वरेण**=(स्वृ शब्दोपतापयोः) प्रभु के गुणवाचक शब्दों के उच्चारण से अथवा अपने को तप की अग्नि में तपाने से (ङ) **नवग्वैः**=नव दशकपर्यन्त अर्थात् ९० वर्ष तक जानेवाली

दशग्वैः=दशम दशक तक स्वस्थरूप से चलनेवाली **सरण्युभिः**=(स र=गति, ण=ज्ञान Knowledge) गति व ज्ञान में उत्तम कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों से तथा **रवेण**=प्रभु-नामोच्चारण से अथवा आत्मप्रेरणा करने से तू अज्ञान के पर्वत का विदारण करता है। अथवा रवेण=ऊँचे शब्द से, अर्थात् ऊँचे-ऊँचे अपने को यह कहने से कि 'मुझे अवश्य ही अविद्यापर्वत का विलय करना है', यह आत्मप्रेरणा भी मनुष्य को शक्तिशाली बनाती है।

भावार्थ—अविद्या के पर्वत के विदारण में 'स्तुति, वासना-विलयार्थ प्रयत्न, प्राणसाधना, तप, प्रभु-नामोच्चारण, स्वस्थ इन्द्रियाँ तथा आत्मप्रेरणा' साधन हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अन्धकार-निरसन (उषसा, सूर्येण गोभिः)

गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।
वि भूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभायः॥ ५॥

१. हे **दस्म**=दर्शनीय व (दसु उपक्षये) हमारे सब कष्टों को नष्ट करनेवाले प्रभो! आप **अङ्गिरोभिः**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले, पूर्ण स्वस्थ पुरुषों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए उनके **अन्धः**=अन्धकार को **विवः**=दूर करते हो (व्यवृणोः व्यनाशय—सा०)। किस प्रकार? (क) **उषसा**=(उष दाहे) कामादि वासनाओं के दहन के द्वारा। ये वासनाएँ ही तो ज्ञान पर पर्दा डाले रखती हैं। (ख) **सूर्येण**=(सरति) निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा। प्रभु ने वेद में जीव को सतत क्रियाशीलता की प्रेरणा दी हैं। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'**, 'कर्मासि'। इस क्रियाशीलता से वासनाओं को पनपने का अवसर नहीं मिलता। २. **गोभिः**=ज्ञान की किरणों से अथवा उत्तम इन्द्रियों से अथवा गोदुग्ध के प्रयोग से। हृदयस्थ प्रभु ज्ञानरश्मियों से हमारे अविद्या-अन्धकार को दूर करते हैं। उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराके ज्ञानवृद्धि द्वारा वे हमें अन्धकार के छिन्न-भिन्न करने में सहायक होते हैं। गोदुग्ध हमारी बुद्धियों को सात्त्विक व सूक्ष्म बनाता है और इस प्रकार हमारा ज्ञान बढ़ता है। ३. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप ही **भूम्याः**=भूमि के **सानु**=समुच्छ्रित (उन्नत) प्रदेश को **वि अप्रथयः**=विशेष रूप से विस्तृत करते हैं। भूमि का उन्नत प्रदेश ही रहने योग्य होता है। निम्न भूभागों में सील आदि के कारण अस्वास्थ्य की आशंका रहती है यह उन्नत प्रदेश इतना विस्तृत है कि हम बड़े प्रेम से भाई-भाई की भाँति उसपर खुले में रह सकते हैं। यह विचार हमें युद्धों से ऊपर क्यों न उठाएगा? ३. **दिवः**=द्युलोक में स्थित **रजः**=लोकसमूह को भी वे प्रभु ही विस्तृत करते हैं। ये अनन्त लोक-लोकान्तर कर्मानुसार हमारे निवासस्थान बनते हैं। ४. प्रभु ने ही **उपरम्**=मेघ को (उपलम्) **अस्तभाय**=अन्तरिक्ष में थामा है। यह द्युलोकस्थ सूर्य किरणों द्वारा भूमिस्थ जलों को ऊपर ले-जाकर अन्तरिक्ष में बादलरूप में करने की व्यवस्था प्रभु की सर्वमहती व्यवस्था है। इसपर ही हमारा जीवन निर्भर करता है, अन्यथा हमें एक गिलास जल के लिए समुद्र की ओर जाना पड़ता। पानी तो बहकर समुद्र में जा ही रहा है, प्रभु ही उसे अन्तरिक्ष में ले-जाकर पुनः पर्वत-शिखरों पर बरसाते हैं। इस प्रकार हमारे लिए पानी सुलभ बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्धकार को दूर करते हैं, जीवन के लिए भी वे ही सब व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडार्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मेघ-निर्माण

तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः।
उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन्मध्वर्णसो नद्य१श्चतस्रः॥ ६॥

१. गतमन्त्र में मेघ के अन्तरिक्ष में थामने का उल्लेख था। प्रभु के इस कार्य के विषय में ही कहते हैं कि **तत् उ**=वह ही **अस्य**=इस प्रभु का **प्रयक्षतमम्**=अत्यन्त आदर के योग्य **कर्म**=कार्य है। **दस्मस्य**=उस दर्शनीय व दुःखों को दूर करनेवाले प्रभु का यह मेघ-निर्माण ही **चारुतमम्**=सबसे सुन्दर **दंसः**=कार्य **अस्ति**=है। इस कर्म का महत्त्व गतमन्त्र में स्पष्ट है। २. इस कार्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **उपह्वरे**= (उपह्वरन्ति गच्छन्त्यस्मिन्) गन्तव्य अन्तरिक्ष प्रदेश में **(निष्क्रमणं प्रवेशनमिति आकाशलिंगानि)**, सब गतियाँ जिस देश में हो रही हैं, उस अन्तरिक्ष-प्रदेश में **यत्**=जो **उपराः**=मेघरूप **मध्वर्णसः**=मधुर जलवाली **चतस्रः**=चारों दिशाओं में होनेवाली, अतएव चार **नद्यः**=नदियों को **अपिन्वत्**=जल से परिपूर्ण किया। प्रभु ने अन्तरिक्ष में मेघों को स्थापित किया है। ये मेघ मधुर जल से पूर्ण चार नदियों के समान हैं। इनका जल सचमुच 'मधु'=अत्यन्त मधुर है, मधु के समान ही गुणकारी है। चारों दिशाओं में होनेवाले बादल यहाँ जल की चार नदियों के समान कहे गये हैं। अन्यथा चतस्रः का अर्थ चत्=to go से गतिवाली भी होता है। ये मधुर जलवाली गतिशील नदियों के समान हैं। ये नदियाँ सदा अन्तरिक्ष में इधर-उधर चलती रहती हैं।

भावार्थ—मेघ-निर्माण प्रभु का सर्वमहान् कार्य है। ये मेघ मधुर जल से परिपूर्ण गतिशील नदियों के समान हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

द्युलोक एवं पृथिवीलोक की स्थापना

द्विता वि वव्रे सनजा सनीळे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः।
भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदंसाः॥ ७॥

१. **अयास्यः**=(Indefatigable) अनन्त शक्तिमत्ता के कारण कभी न थकनेवाला वह प्रभु **द्विता**=दो प्रकार से **विवव्रे**=विवृत करता है, अर्थात् द्युलोक व पृथिवीलोक को पृथक्-पृथक् स्थापित करता है, जो द्युलोक व पृथिवीलोक **सनजा**=(नित्यजाते) सनातन काल से उत्पन्न हैं, अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में ही उत्पन्न होते हैं। **सनीळे**=ये दोनों सनीड़ हैं, समान प्रभुरूपी नीड़वाले हैं, दोनों ही प्रभु में स्थित हैं। इन लोकों के निर्माण में प्रभु थकते नहीं। थकावट शक्ति के विपरीत अनुपात में होती है। शक्ति एक तो थकावट सौ। शक्ति सौ तो थकावट एक। शक्ति दो सौ तो थकावट १/२ तथा शक्ति अनन्त तो थकावट १/अनन्त अर्थात् ० (शून्य)। एवं, प्रभु की शक्ति अनन्त होने से थकावट शून्य होती है, इसलिए प्रभु 'अयास्य' हैं। २. प्रभु इनको **स्तवमानेभिः**=स्तुति करनेवाले, गुणधर्मों का प्रतिपादन करनेवाले **अर्कैः**=मन्त्रों से इनका निर्माण करते हैं, अर्थात् मन्त्रात्मक शब्दों से ही प्रभु इस सृष्टि की रचना करते हैं **'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'**। ग्रीक साहित्य में इसलिए Logos सृष्टि का मूल तत्त्व है। 'प्रभु ने कहा और सृष्टि हो गई' इस वाक्य में प्रभु की 'अयास्यता' स्पष्ट है। २. **भगः न**=जो भग के समान है, जो भग, अर्थात् ऐश्वर्य का पुञ्ज हो है। वह **सुदंसाः**=उत्तम

कर्मोंवाला प्रभु **मेने**=मननीय, जिसमें स्थित एक-एक लोक में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है, उस **परमे व्योमन्**=परम उत्कृष्ट व्योम में (आकाशदेश में) **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **अधारयत्**=धारण करता है। द्युलोक वह स्थान है जहाँ का मुख्य देवता सूर्य है, पृथिवीलोक का मुख्य देवता अग्नि है। प्रभु दोनों लोकों को 'परम व्योम' में स्थापित करते हैं। व्योम विस्तृत आकाश है। इस आकाश में ही सम्पूर्ण लोकों की स्थिति है।

भावार्थ—प्रभु बिना किसी थकावट के परम व्योम में द्युलोक व पृथिवीलोक का निर्माण व धारण करते हैं। प्रभु कहते हैं और लोक हो जाते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

दिन-रात का चक्र

सनाद्दिवं परि भूमा विरूपे पुनर्भुवा युवती स्वेभिरेवैः।
कृष्णेभिरक्तोषा रुशद्भिर्वपुर्भिरा चरतो अन्यान्या॥ ८॥

१. **विरूपे**=परस्पर विपरीत रूपवाले अथवा विशिष्ट रूपवाले **पुनः भुवा**=प्रतिदिन फिर-फिर होनेवाले **युवती**=हमें अच्छाइयों से सम्पृक्त तथा बुराइयों से विपृक्त करनेवाले उषा व रात्रि **सनात्**=सनातनकाल से **दिवं भूमा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक में **स्वेभिः एवैः**=अपनी गतियों से **परिचरतः**=पर्यावृत होते रहते हैं। उषा आती है, दिन के रूप में परिवर्तित होकर, आगे बढ़ती हुई रात्रि के लिए स्थान खाली कर देती है। रात्रि भी अपने यौवन से आगे बढ़कर वृद्ध होती है और उषा के लिए स्थान बनाकर चली जाती है। ये सृष्टि के आरम्भ से फिर-फिर आ ही रही हैं। ये कभी वृद्ध होकर समाप्त हो जाएँगी और आना बन्द कर देंगी, ऐसी बात नहीं है। ये युवती हैं। २. **कृष्णेभिः वपुर्भिः अक्ता**=अन्धकारमय अतएव कृष्ण शरीरों से रात्रि आती है तो **रुशद्भिः**=चमकते हुए प्रकाशमय शरीरों से **उषाः**=उषःकाल आता है। इस प्रकार ये रात्रि और उषा **अन्यान्या**=परस्पर व्यतिहारेण **आचरतः**=इस संसार में गतिवाली होती हैं। रात्रि जाती है तो उषा आती है और उषा जाती है तो रात्रि का आगमन होता है। यह दिन-रात का चक्र हमें शक्ति से युक्त तथा श्रान्ति से वियुक्त करने के लिए आवश्यक है। दिन कर्म के द्वारा हमारी शक्ति को बढ़ाता है तो रात्रि हमारी थकावट को दूर करके हमें फिर से शक्तिसम्पन्न करती है।

भावार्थ—यह दिन-रात्रि का चक्र हमारी उन्नति के लिए अद्भुत महत्त्व रखता है, परन्तु रात्रि उससे कम आवश्यक नहीं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अमृततुल्य दुग्ध

सनेमि सख्यं स्वपस्यमानः सूनुर्दाधार शवसा सुदंसाः।
आमासु चिद्दधिषे पक्वमन्तः पयः कृष्णासु रुशद्रोहिणीषु॥ ९॥

१. **स्वपस्यमानः**=सदा (सु+अपस्) उत्तम अद्भुत कर्मों को करता हुआ **सूनुः**=सदा उत्तम प्रेरणा देता हुआ **शवसा**=बल के कारण **सुदंसाः**=सदा उत्तम कर्मोंवाला प्रभु जीव की **सनेमि**=पुराण=सनातन **सख्यम्**=मैत्री को **दाधार**=धारण करता है। प्रभु जीव के सनातन मित्र हैं, जीव के लिए अद्भुत सृष्टि-निर्माण आदि कर्मों को करनेवाले हैं। उसे उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। प्रभु के कर्म शक्तिशाली हैं। २. ये प्रभु **आमासु चित्**=अपरिपक्व आयुष्यवाली

गौओं के **अन्तः**=अन्दर भी **पक्वं पयः**=पूर्ण परिपक्व दूध **दधिषे**=धारण करते हैं। गौ का ताज़ा दूध खूब गरम होता है। यह दूध अमृत ही होता है। ३. **कृष्णासु**=काले वर्णवाली गौओं में भी तथा **रोहिणीषु**=लाल रंग की गौओं में भी **रुशत् पयः**=चमकते हुए सफेद दूध को आप धारण कराते हैं। यह दूध स्वयं में प्रभु की विभूति है और जीव की सात्त्विकता के लिए यह दूध अनन्य साधन है।

भावार्थ—प्रभु जीव के पुराणमित्र हैं। उसके हित के लिए वे गौओं के अमृतदुग्ध को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कर्म-व्यापृत अंगुलियाँ

सनात्सनीळा अवनीरवाता व्रता रक्षन्ते अमृताः सहोभिः।
पुरू सहस्रा जनयो न पत्नीर्दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम्॥ १०॥

१. **सनात्**=सनातन काल से **सनीळाः**=एक ही हाथरूप आश्रय में रहनेवाली **अवाताः**=(वातः A faithless lover) जो अविश्वसनीय प्रेमी के समान नहीं हैं, अर्थात् सदा विश्वसनीय रूप से साथ देनेवाली हैं अथवा (वायति to be dried up, to be extinguished) जिनकी शक्ति शुष्क नहीं हो जाती, जो बुझी हुई अग्नि के समान नहीं हो जाती। **अमृताः**=जो कार्य करने में कभी मृत नहीं होतीं, सदा सजीव होकर कार्य में लगी रहती हैं, ऐसी **अवनीः**=ये अंगुलियाँ **सहोभिः**=अपनी शक्तियों से **व्रता रक्षन्ते**=व्रतों का रक्षण करती हैं। इन अंगुलियों का नाम 'दीधिति' भी है। ये 'धीयन्ते कर्मसु' कर्मों में नियुक्त की जाती हैं। अंगुलियाँ सदा व्रतों=पुण्यकार्यों मे लगी रहती हैं, इसीलिए तो इनका नाम यहाँ 'अवनि'–रक्षा करनेवाली दिया गया है। क्रियाशीलता के द्वारा ये सदा रक्षण–कार्य में व्यापृत रहती हैं। २. ये **स्वसारः**=(स्वयं सरन्ति) सदा स्वयं कार्य में व्यापृत रहनेवाली अंगुलियाँ **अह्रयाणम्**=(अह्रीतयानम्) प्रशस्त गति व कर्मोंवाले पुरुष का उसी प्रकार **पुरू दुवस्यन्ति**=खूब उपासन करती हैं **न**=जैसेकि **सहस्रा**=सदा प्रसन्न रहनेवाली, Smiling face वाली **जनयः**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली **पत्नीः**=पत्नियाँ पतियों की सेवा करती हैं। पत्नी पति की पूरिका होती है। इसी प्रकार ये कर्मशील अंगुलियाँ हमारी पूरक हैं, हमारी न्यूनताओं को दूर कर ये हमारा रक्षण करती हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हाथों में अंगुलियों की स्थापना इसलिए की है कि इनके द्वारा निरन्तर कार्य होते रहें और हमारे जीवन में किसी प्रकार की कमी न आये।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुरूप पति

सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्म दद्रुः।
पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः॥ ११॥

१. हे **दस्म**=दर्शनीय तथा दुःखों व पापों का विध्वंस करनेवाले प्रभो! **सनायुवः**=सनातन आपकी कामना करनेवाले, अनित्य पदार्थों को छोड़कर नित्य आपकी प्राप्ति की कामनावाले **नव्यः**=(नु स्तुतौ) स्तुति करनेवालों में उत्तम **वसूयवः**=वसुओं—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों की कामना करनेवाले **मतयः**=बुद्धिमान्, विचारशील पुरुष **नमसा**=नमन के द्वारा **अर्कैः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों के द्वारा **दद्रुः**=निरन्तर आपकी ओर गतिवाले होते हैं। आपकी प्राप्ति से सब वसुओं की प्राप्ति हो ही जाती है। २. **उशतीः**=चाहती हुई **पत्नीः**=पत्नियाँ

उशन्तं पतिम्=चाहते हुए पति को **न**=जैसे **स्पृशन्ति**=आलिंगन करती हैं, उसी प्रकार हे **शवसावन्**=सब बलों के स्वामिन् प्रभो! **मनीषाः**=बुद्धि की परिपूर्णतावाले पुरुष **त्वा**=आपका **स्पृशन्ति**=स्पर्श करते हैं। बुद्धिमान् पुरुष पत्नी के स्थानापन्न होकर प्रभु को अपना पति जानते हैं। उन्हें प्रभु के उपासन में ही आनन्द आता है। ये 'आत्मक्रीड़, आत्मरति' बन जाते हैं। इनका मन प्रभु के उपासन में ही लगता है।

भावार्थ—विचारशील पुरुष प्रभु को ही अपना पति मानते हैं, उसकी ही वे उपासना करते हैं। प्रभु के आराधन से ही सब वसुओं की प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। प्रभु इनके लिए 'दस्म' सब दुःखों के हरनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्युमान्+क्रतुमान्

सनादेव तव रायो गभस्तौ न क्षीयन्ते नोप दस्यन्ति दस्म।
द्युमाँ असि क्रतुमाँ इन्द्र धीरः शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः॥ १२॥

१. हे **दस्म**=सर्वदुःख-क्षयकारक प्रभो! **तव गभस्तौ**=आपके हाथ में **रायः**=धन **सनात् एव**=सनातनकाल से ही न **क्षीयन्ते**=नष्ट नहीं होते हैं और अपने भक्तों के लिए निरन्तर दिये जाते हुए ये धन **न उप दस्यन्ति**=क्षीण नहीं होते अथवा आपसे दिये गये ये धन नाश करनेवाले नहीं होते। प्रभु का धन अनन्त है, उसमें कमी आने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। साथ ही, प्रभु से दिये गये धन हमारा कभी नाश नहीं करते, वे हमारे अकल्याण के लिए नहीं होते। सुपथ से अर्जित धन प्रभु से दिये गये हैं तथा विपथ से सञ्चित धन कामदेव की देन हैं, ये धन तो मनुष्य को मारते ही हैं। २. हे **इन्द्र**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! **द्युमान् असि**=आप ज्योतिर्मय हैं, साथ ही **क्रतुमान्**=कर्मोंवाले हैं। आपमें ज्ञान व कर्म का सनातन समुच्चय है। वस्तुतः आप ही **धीरः**=बुद्धिमान् हैं। हे **शचीवः**= शक्तिसम्पन्न प्रभो! **तव शचीभिः**=आप अपनी शक्ति व कर्मों से **नः**=हमें **शिक्ष**=शक्तिशाली बनाने की कामनावाले होओ।

भावार्थ—प्रभु का धन अक्षीण है। प्रभु ज्योति व कर्म के पुञ्ज हैं। वे धीर प्रभु हमें भी ज्योति व कर्मशीलता के द्वारा शक्ति सम्पन्न करें।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नव्य ब्रह्म (नव-नव स्तवन)

सनायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय।
सुनीथाय नः शवसान नोधाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सनायते**=सनातन की भाँति आचरण करनेवाले, अर्थात् शाश्वतकाल से चले आनेवाले **हरियोजनाय**=इन्द्रियरूप अश्वों को हमारे शरीर-रथ में जोड़नेवाले **सुनीथाय**=उत्तम मार्ग से ले-चलनेवाले आपके लिए **नोधाः**=इन इन्द्रियरूप नवद्वारों को धारण करनेवाला **गोतमः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **नव्यम्**=अतिशयेन स्तुति के लिए उत्तम **ब्रह्म**=स्तोत्र का **अतक्षत्**=निर्माण करता है; 'नोधा गोतम' प्रतिदिन नवीन मन्त्रों से प्रभु का स्तवन करता है। इससे अधिक-से-अधिक मन्त्रों का उसे स्मरण भी होता है और पुराणापन (Staleness) जाता रहता है। स्तुति में नवीनता व सरसता प्रतीत होती है। २. हे **शवसान**=बलवान्

इन्द्र! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **नः**=हमें **प्रातः**=दिन के प्रारम्भ में ही **मक्षु**=शीघ्र **धियावसुः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों को करने के द्वारा निवास को उत्तम बनानेवाला व्यक्ति **जगम्यात्**=प्राप्त हो। उत्तम पुरुषों के संग से ही तो हमारा जीवन उत्तम बन सकेगा।

भावार्थ—हम सदा नवीन-नवीन स्तोत्रों से प्रभु का स्तवन करें और उत्तम पुरुषों का प्रातः-प्रातः ही संग प्राप्त हो।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा गया है कि स्तवन से शक्ति व माधुर्य की प्राप्ति होती है (१)। प्रभु के स्तोत्र हमारे जीवन की न्यूनताओं को दूर करते हैं (२)। नैत्यिक स्वाध्याय से हम बुद्धि का परिपोषण करें (३)। स्तुति आदि साधनों से अविद्या-पर्वत का विदारण करें (४)। प्रभुकृपा से हमारा अन्धकार दूर हो (५)। उस प्रभु ने हमारे जीवन के लिए मेघों की व्यवस्था की है (६), द्युलोक व पृथिवीलोक की स्थापना की है (७), दिन व रात के चक्र का निर्माण किया है (८)। प्रभु से बनाई गई गौएँ हमें अमृततुल्य दुग्ध देती हैं (९)। प्रभुकृपा से हमारी अंगुलियाँ कर्मव्यापृत रहकर हमारा रक्षण करें (१०)। प्रभु को ही हम अपना पति जानें (११)। वे प्रभु द्युमान् एवं क्रतुमान् हैं (१२)। हम प्रभु का स्तवन करें और प्रभुकृपा से हमें सज्जन-संग प्राप्त हो (१३)। 'ये प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक का निर्माण करते हैं', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[६३] त्रिषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वे महान् शक्तिशाली प्रभु

त्वं म॒हाँ इ॑न्द्र॒ यो ह॒ शुष्मै॒र्द्यावा॑ जज्ञा॒नः पृ॑थि॒वी अमे॑ धाः।
यद्ध॑ ते॒ विश्वा॑ गि॒रय॑श्चि॒दभ्वा॑ भि॒या दृ॒ळ्हासः॑ कि॒रणा॒ नैज॑न्॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप ही **महान्**=पूजा के योग्य हैं। आपसे भिन्न की पूजा ही मनुष्यों के परस्पर द्वेष का कारण बन जाती है। आप वे हैं **यः**=जो **ह**=निश्चय से **शुष्मैः**=अपने शत्रु-शोषक बलों से **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **जज्ञानः**=प्रकट करते हैं और **अमे**=गति व शक्ति में **धाः**=धारण करते हैं। आप ही सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं और इन समस्त लोक-लोकान्तरों को गतिमय बनाते हो। इन लोकों की उस-उस शक्ति के कारण आप ही हो। २. **यत्**=जो भी **ह**=निश्चय से **विश्वा**= सब उत्पन्न हुए पदार्थ और **अभ्वा**=महान् **गिरयः चित्**=पर्वत भी हैं, वे **दृळ्हासः**=अत्यन्त दृढ़ होते हुए भी **ते भिया**=आपके भय से उसी प्रकार **एजन्**=कम्पित होते हैं **न**=जैसेकि **किरणाः**=किरणें कम्पित होती प्रतीत होती हैं। किरणों की भाँति पर्वतों में भी कम्पन होता है।

भावार्थ—प्रभु ही द्यावापृथिवी को दृढ़ बनाते हैं और प्रभु के भय से दृढ़-से-दृढ़ पर्वत भी काँप उठते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

निरन्तर क्रियाशीलता

आ यद्धरी॑ इन्द्र॒ विव्र॑ता॒ वेरा ते॒ वज्रं॑ जरि॒ता बा॒ह्वोर्धा॑त्।
येना॑विहर्यतक्रतो अ॒मित्रा॒न्पुर॑ इ॒ष्णासि॑ पुरुहूत पू॒र्वीः॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो आप **विव्रता**=विविध व्रतोंवाले, भिन्न-भिन्न कार्यों को करनेवाले **हरी**=ज्ञानन्द्रियों व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **आवे:**= शरीररूप रथ में युक्त करते हैं (रथे योजयसि—सा०) तब **ते**=आपका **जरिता**=स्तोता **बाह्वो:**=भुजाओं में **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूपी वज्र को **आधात्**=धारण करता है। प्रभु विविध क्रियाओं को करने के लिए इन्द्रियाँ देते हैं और जीव सच्चा प्रभुभक्त होता हुआ उन इन्द्रियों से सदा उचित कार्यों को करनेवाला बनता है। २. स्तोता उस व्रत को धारण करता है **येन**=जिससे **अविहर्यतक्रतो**=अनभिलषित कर्मन्=अभिलाषा से शून्य कर्मोंवाले प्रभो! आप **अमित्रान्**=शत्रुओं के प्रति **इष्णासि**=जाते हैं, उनपर आक्रमण करते हैं और हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे आप **पूर्वी: पुर:**=असुरों की बहुत-सी नगरियों को तोड़ने के लिए **इष्णासि**=प्रवृत्त होते हैं। प्रभु ने हमें इन्द्रियाँ दी हैं, यदि हम उनसे ज्ञानप्राप्ति व यज्ञादि कर्मों में लगे रहते हैं तो प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं और आसुरपुरियों का विध्वंस कर देते हैं। संक्षेप में अभिप्राय यह है कि यदि हमें आसुरभावनाओं के आक्रमण से बचना है तो हमें सदा ज्ञानप्राप्ति व यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहना चाहिए। खाली हुए और असुरों का आक्रमण हुआ।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे शरीररथ में ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े जोते हैं, अत: हम सदा इस रथ से आगे और आगे बढ़ें। आसुरभावों के आक्रमण से बचने का यही उपाय है।

ऋषि:—**नोधा गौतम:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**विराट् पङ्क्ति:**॥ स्वर:—**पञ्चम:**॥

'शुष्ण' का हनन

त्वं स॒त्य इ॑न्द्र धृ॒ष्णुरे॒तान्त्वमृ॑भु॒क्षा नर्य॒स्त्वं षाट्।
त्वं शुष्णं॑ वृ॒जने॑ पृ॒क्ष आ॒णौ यू॒ने कुत्सा॑य द्यु॒मते॒ सचाह॑न्॥ ३॥

१. **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! शक्तिशाली कार्यों को करनेवाले प्रभो! **त्वं सत्य:**=आप ही सत्य हो (सत्सु भव:) सज्जनों में आपका निवास है, **धृष्णु:**=इन सज्जनों के काम-क्रोधादि शत्रुओं का आप ही पराभव करनेवाले हैं, **ऋभुक्षा:**=आप महान् हैं अथवा ऋत—नियमितता, व्यवस्थित जीवन से चमकनेवालों में (ऋतेन भान्तीति ऋभव:, तेषु क्षियति) निवास करनेवाल हैं **त्वम्**=आप ही **नर्य:**=नर-हितकारी हैं, अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवालों का आप ही हित करनेवाले हैं। **त्वम्**=आप ही **एतान्**=इन शत्रुओं का **षाट्**= पराभव करनेवाले हैं। २. पूर्वार्द्ध में कही बात को उदाहरण से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **त्वम्**=आप ही **वृजने**=संग्राम में—काम-क्रोध आदि के साथ चलनेवाले युद्ध में **पृक्षे**=जो युद्ध सम्पर्चनीय है, अन्तत: इस युद्ध करनेवाले को आपके साथ सम्पृक्त करनेवाला है तथा **आणौ**=(अण् to sound) जिस युद्ध में योद्धा आपके नामों का उच्चारण करते हैं (जैसेकि शिवाजी के योद्धा 'हर-हर महादेव' बोलकर युद्ध करते थे)। इस युद्ध में आप ही **यूने**=अपने साथ गुणों का मिश्रण व दोषों का अमिश्रण करनेवाले **कुत्साय**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले और अतएव **द्युमते**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले पुरुष के लिए **सचा**=उसके साथ मिलकर **शुष्णम्**=शोषण कर देनेवाले कामासुर को **अहन्**=मारते हैं। काम-क्रोधादि का संहार वस्तुत: प्रभु की शक्ति से ही होता है। यह संग्राम तो है ही **'आणि'**=जिसमें प्रभु का निरन्तर नामोच्चारण हो। प्रभुस्मरण से 'कुत्स' को शक्ति मिलती है, वह उत्साहित होता है, प्रभु को अपने साथ जानकर वह शक्ति का अनुभव करता है और काम-क्रोधादि का संहार कर पाता है। यह क्या संहार करता है, संहार तो सब प्रभुकृपा से ही होता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषि:—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वासना का प्रारम्भ में ही नाश [Nip the evil in the bud]

त्वं ह त्यदि॑न्द्र चोदीः सखा॑ वृत्रं यद्व॑ज्रिन्वृषकर्मन्नु॒भ्नाः।
यद्ध॑ शूर वृषमणः परा॒चैर्वि दस्यूँर्योना॒वकृ॑तो वृथाषाट्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सखा**=सच्चे मित्र होते हुए **त्वम्**=आपने **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस प्रसिद्ध यश, धन व ज्ञान को **चोदीः**=अपने भक्तों के प्रति प्रेरित किया है। कब? **यत्**=जबकि हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **वृषकर्मन्**=शक्तिशाली व सबपर सुखों की वर्षारूप कर्म करनेवाले प्रभो! आपके **वृत्रम्**=वृत्र को **उभ्नाः**=हिंसित किया। प्रभुकृपा से हमारा कामरूप शत्रु नष्ट हो जाता है और हमें उज्ज्वल यश, धन व ज्ञान प्राप्त होता है। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **वृषमणः**=सबपर सुखों की वर्षा करने की भावना से युक्त मनवाले प्रभो! **यत् ह**=जब आप निश्चय से **दस्यून्**=हमारा नाश करनेवाले कामादि शत्रुओं को **पराचैः**=दूर गमनों के द्वारा—दूर भगाने के द्वारा **योनौ**=मूल, उत्पत्ति-स्थान में ही **व्यकृतः**=विशेषेण छिन्न-भिन्न कर देते हैं, तब आप हमें यश, धन व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। ३. हे प्रभो! आप **वृथाषाट्**=अनायास ही इन कामादि शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। मैं तो अपनी पूरी शक्ति से भी इन कामादि को न कुचल सकता; आपके मित्र हो जाने पर इस वृत्र का विनाश हुआ करता है। आप इन वासनाओं को मूल में ही विनष्ट कर देते हैं (Nip evil in the bud) और आपकी इस कृपा से मेरा यश, धन व ज्ञान बढ़ता है।

भावार्थ—वे प्रभु 'वज्री, वृषकर्मा, शूर, वृषमण व वृथाषाट्' हैं। वे हमारे मित्र हैं और हमारे शत्रुभूत वृत्र का विनाश करते हैं।

ऋषि:—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगार्षीजगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सर्वतोमुखी उन्नति

त्वं ह त्यदि॑न्द्रारि॑षण्यन्दृळ्हस्य॑ चिन्मर्तानामजु॑ष्टौ।
व्य१॒स्मदा काष्ठा अर्व॑ते वर्घनेव वज्रिञ्छ्नथिह्य॒मित्रा॑न्॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=हमारे उस ज्ञान, धन व यश को **अरिषण्यन्**=(हिंसितुमनिच्छन्) नष्ट न होने देने के लिए चाहते हुए **दृळ्हस्य चित्**=अत्यन्त प्रबल भी कामादि रूप शत्रु को **अस्मत्**=हमसे **वि**=पृथक् करते हो। काम के नाश से ही तो वस्तुतः हमारा ज्ञान, धन व यश सुरक्षित होता है। २. **मर्तानाम्**=मनुष्यों की **अजुष्टौ**=अप्रीति के होने पर **अमित्रान्**=समाज के साथ स्नेह न रखनेवाले, समाजद्वेषी, स्वार्थियों को हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! आप **घना इव**=वज्र से दृढ़ पर्वत को तोड़ने की भाँति **श्नथिहि**=हिंसित करते हो। राजा को निमित्त बनाकर इन समाजद्वेषियों को आप ही उचित दण्ड देते हो। ३. इस प्रकार हमारे वैयक्तिक व सामाजिक विघ्नों को दूर करके आप **अर्वते**=हमारी इन्द्रियों के लिए **काष्ठाः**=दिशाओं को **विवः**=खोल देते हो, अर्थात् हम अपनी इन्द्रियों से उचित कार्यों को करते हुए सब दिशाओं में आगे बढ़ पाते हैं। इस सर्वतोमुखी उन्नति में कामादिरूप शत्रु व स्वार्थप्रधान व्यक्ति ही तो विघ्न हुआ करते हैं। उन्हें हे प्रभो! आप दूर करते हैं और हमें उन्नति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे ज्ञान, धन व यश को नष्ट न होने देना चाहते हुए हमारे कामादि शत्रुओं को तथा समाज-द्वेषियों को नष्ट करते हैं और इस प्रकार हमारी सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए मार्ग को प्रशस्त कर देते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**स्वराडार्षीबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभुरक्षण से युद्धविजय

त्वां ह त्यदिन्द्रार्णसातौ स्वर्मीळ्हे नर आजा हवन्ते।
तव स्वधाव इयमा समर्य ऊतिर्वाजेष्वतसाय्या भूत्॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वां ह**=आपको ही **त्यत्**=वह **अर्णसातौ**=(अर्णानां सातिर्यस्मिन्) गतिशीलता को प्राप्त करानेवाले—युद्ध के समय सबकी क्रिया बढ़ जाती है **स्वर्मीळ्हे**=स्वर्ग-सुख का सेचन करनेवाले **आजौ**=संग्राम में **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले व्यक्ति **हवन्ते**=पुकारते हैं। युद्ध में विजय के लिए आपकी ही आराधना करते हैं। युद्धों में क्रियाशीलता तो बढ़ ही जाती है, युद्धों में पीठ न दिखाकर मृत्यु होने पर स्वर्ग मिलता है। इन युद्धों में विजय के लिए प्रभु का आराधन करने से उत्साह बना रहता है। २. हे **स्वधावः**=आत्मधारण-शक्ति से युक्त प्रभो! **समर्ये**=संग्राम में **तव इयं ऊतिः**=आपकी यह रक्षणक्रिया **वाजेषु**=शक्तियों की प्राप्ति के निमित्त **अतसाय्या**=प्राप्तव्य **आभूत्**=सर्वथा होती है। वस्तुतः आपका यह रक्षण ही योद्धाओं को शक्तिशाली बनाता है और वे युद्ध में विजय प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से ही युद्धों में विजय प्राप्त होती है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'पुरुकुत्स, सुदास् व पुरु'

त्वं ह त्यदिन्द्र सप्त युध्यन्पुरो वज्रिन्पुरुकुत्साय दर्दः।
बर्हिर्न यत्सुदासे वृथा वर्गंहो राजन्वरिवः पूरवे कः॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=बल के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **वज्रिन्**=हे वज्रहस्त प्रभो! **त्वं ह**=आप ही **युध्यन्**=युद्ध करते हुए **त्यत् सप्त पुरः**=उन असुरों की सात नगरियों को **पुरुकुत्साय**=पुरुकुत्स के लिए **दर्दः**=विदीर्ण करते हो। **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**—इस मन्त्रभाग में 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' मिलकर सात ऋषियों का वर्णन हुआ है। ये सातों जिस समय असुरों को आक्रमण से वैषयिक वृत्ति के होकर पतन की ओर जाते हैं तो असुरों के सात पुर बन जाते हैं। जो भी व्यक्ति पुरुकुत्स बनता है, अपना पालन व पूरण करता है और बुराइयों का हिंसन करता है, उसके लिए प्रभु इन असुरों से युद्ध करते हुए इन असुर-पुरियों का विदारण करते हैं। २. हे प्रभो! आप **सुदासे**=सुदास के लिए-उत्तमता से बुराइयों का अपक्षय करनेवाले के लिए **बर्हिः न**=घास की भाँति **वृथा**=अनायास ही **यत् अंहः**=जो पाप है उसको **वर्क्**=नष्ट कर देते हो (अवृणक्)। हम सुदास बनें, प्रभु हमारे लिए पापों को नष्ट करनेवाले होंगे। ३. हे **राजन्**=संसार के सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी प्रभो! आप **पूरवे**=औरों का पालन व पूरण करनेवाले के लिए, सारे का सारा स्वयं न खा जानेवाले के लिए **वरिवः**=धन को **कः**=करते हैं। जो पुरु बनता है, उसे ही प्रभु धन का पात्र समझते हैं।

भावार्थ—प्रभु पुरुकुत्स के लिए कान, नाक, आँखें व मुख आदि को पवित्र बनाये

रखते हैं। सुदास के लिए वासनाओं को विनष्ट करते हैं। पुरु के लिए धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सादा खाना, पानी पीना (वानस्पतिक भोजन व पानी)

त्वं त्यां न इन्द्र देव चित्रामिषमापो न पीपयः परिज्मन्।
यया शूर प्रत्यस्मभ्यं यंसि त्मनमूर्जं न विश्वध क्षरध्यै॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=वृष्टि आदि कर्मों को करनेवाले! **देव**=अन्नादि सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **चित्राम्**=(चित्+रा) ज्ञान का वर्धन करनेवाले **इषम्**=अन्न को **परिज्मन्**=इस सूर्य के चारों ओर घूमनेवाली अथवा परितः व्याप्त—विस्तृत भूमि पर **पीपयः**=(प्रावर्धयः) खूब ही प्रवृद्ध कीजिये। उसी प्रकार प्रवृद्ध कीजिए **न**=जैसेकि **आपः**=जलों को आपने प्रवृद्ध किया है। हे प्रभो! जैसे आप इस पृथिवी पर वर्तमान हम लोगों को जलों को प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार ज्ञानवर्धक सात्त्विक अन्नों को भी प्राप्त कराइए। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! हमें वह अन्न प्राप्त कराइए **यया**=जिससे **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **त्मनम्**=आत्मतत्त्व को **प्रतियंसि**=प्राप्त कराते हो। आत्मतत्त्व को उसी प्रकार प्राप्त कराते हो **न**=जैसे **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को प्राप्त कराते हो। हे **विश्वधः**=विश्व को धारण करनेवाले प्रभो! हमें वे अन्न प्राप्त कराइए जो **क्षरध्यै**=मलों का क्षरण करनेवाले हों। ऐसे अन्न ही स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें वे अन्न प्राप्त हों जो (क) बुद्धि=ज्ञानवर्धक हो [चित्राम्], (ख) आत्मतत्त्व का दर्शन करानेवाले हों, (ग) ऊर्जम्=बल और प्राणशक्ति को प्राप्त करनेवाले हों, (घ) मलों के क्षरण करनेवाले हों।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभुस्तवन व सज्जनसङ्ग

अकारि त इन्द्र गोतमेभिर्ब्रह्माण्योक्ता नमसा हरिभ्याम्।
सुपेशसं वाजमा भरा नः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **गोतमेभिः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुषों से **ते**=तेरा स्तवन **अकारि**=किया जाता है। उन गोतमों से **नमसा**=बड़े नमन के साथ, विनयपूर्वक **हरिभ्याम्**=कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा **ब्रह्माणि**=स्तुतिवचन **आ उक्ता**=सदा कहे गये हैं। 'मिट्ठा बोलुन, निवा चलन, हत्थों वी कुछ देन'—ये हैं वे कर्म जिनके द्वारा प्रभु का स्तवन होता है। इस प्रकार प्रभुस्तवन करनेवाले **नः**=हमारे लिए **सुपेशसम्**=सुन्दर आकृति को उत्पन्न करनेवाले **वाजम्**=बल को **आभर**=सर्वथा भरिए (प्राप्त कराइए)। ३. साथ ही यह भी कृपा कीजिए कि **प्रातः**=प्रातः **मक्षू**=शीघ्र ही **धियावसुः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा निवास को उत्तम बनानेवाला पुरुष **जगम्यात्**=हमें प्राप्त हो। इसके सङ्ग से हम भी धियावसु' बन पाएँगे।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराएँ और सज्जनसङ्ग की सुविधा दें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि वे प्रभु महान् व शक्तिशाली हैं (१)। प्रभु का स्तोता क्रियाशील होता है (२)। वे प्रभु ही हमारे शोषक शत्रु काम व शुष्ण का विनाश करते हैं (३)। वासना का विनाश गर्भ में ही कर देना ठीक है (४)। वे प्रभु हमारे

शत्रुओं को नष्ट करके हमारे लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं (५)। प्रभुरक्षण से ही युद्ध में विजय प्राप्त होती है (६)। इस विजय को करनेवाले 'पुरुकुत्स, सुदास् व पुरु' बनते हैं (७)। हम उस सात्त्विक अन्न का प्रयोग करें जोकि ज्ञानवर्धक हो (८) और गोतम बनकर सदा प्रभुस्तवन करनेवाले हों (९)। अब प्रभु की उपासना से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[६४] चतुःषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्राणायाम व प्रभु का उपासन

वृष्णे शर्धाय सुमखाय वेधसे नोधः सुवृक्तिं प्र भरा मरुद्भ्यः।
अपो न धीरो मनसा सुहस्त्यो गिरः समञ्जे विदथेष्वाभुवः॥ १॥

१. हे **नोधः**=इन्द्रियनवक का धारण करनेवाले! [पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ=९, क्योंकि जिह्वा दोनों ओर है], तू उस प्रभु के लिए **सुवृक्तिम्**=उत्तमता से आवर्जित करनेवाले स्तोत्र को **प्रभर**=प्रकर्षेण सम्पादित कर, जो प्रभु **वृष्णे**=सुखों की वृष्टि करनेवाले हैं, **शर्धाय**=(शर्ध=Strength, power) जो शक्ति के पुञ्ज हैं, **सुमखाय**=सृष्टिरूप उत्तम यज्ञ को करनेवाले हैं, **वेधसे**=विधाता हैं, सृष्टिनिर्माता हैं व बुद्धिमान् हैं। २. **मरुद्भ्यः**=(मरुतः प्राणाः) प्राणों का भी स्तवन कर। अथवा इन प्राणों के द्वारा तू अपने अन्दर **सुवृक्तिम्**=उत्तमता से पापवर्जन करनेवाला हो। प्राणसाधना से बुराइयों को दूर कर। **न**=जैसे **धीरः**=धैर्यवान् और ज्ञानी बनकर **सुहस्त्यः**=उत्तम हाथोंवाला होता हुआ **अपः**=कर्मों को तू **मनसा**=मन से धारण करे, उसी प्रकार **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **आभुवः**=सब विषयों में होनेवाली, अर्थात् सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली **गिरः**=वेदवाणियों को **समञ्जे**=मैं तुझे व्यक्त करता हूँ। जितना-जितना हम धीर व सुहस्त बनकर कर्म करते हैं, उतना-उतना प्रभु हमें ज्ञान देनेवाले होते हैं। अकर्मण्य को ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—(क) हम प्रभु का स्तवन करें, (ख) प्राणसाधना करें, (ग) धीर व सुहस्त्य बनकर कर्म करें, (घ) प्रभु हमारे लिए वेदवाणियों का उपदेश करेंगे।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

देवः—घोरवर्पसः (प्रकाशमय—तेजस्वी)

ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसः।
पावकासः शुचयः सूर्याइव सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः॥ २॥

१. **ते**=[गतमन्त्र के अनुसार साधना करनेवाले] वे लोग **जज्ञिरे**=विकसित होकर निम्न विशेषणों से युक्त बन जाते हैं—(क) **दिवः**=प्रकाशमय। दैनिक स्वाध्याय के कारण इनका जीवन ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठता है। (ख) **ऋष्वासः**=इनका जीवन दर्शनीय होता है अथवा ये (ऋष्=to go तथा to kill) गतिशीलता के द्वारा बुराइयों का नाश करनेवाले होते हैं। (ग) **उक्षणः**=अपनी गतिशीलता से सबपर सुखों का सेचन करनेवाले होते हैं। (घ) **रुद्रस्य मर्याः**=ये ज्ञान के देनेवाले (रुत्+र) प्रभु के बन्दे होते हैं; ये प्रकृति की ओर बहुत झुके हुए नहीं होते। (ङ) **असुराः**=सर्वत्र प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले बनते हैं। (च) **अरेपसः**=इनका जीवन रेपस्, अर्थात् दोषों से रहित होता है। (छ) **पावकासः**=अपने शरीर व

निवासस्थानों को पवित्र रखनेवाले होते हैं। (ज) **शुचयः**=संसार में धन को पवित्र साधनों से ही उपार्जित करते हैं—**'योऽर्थे शुचिर्हि च शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः'**। (झ) **सूर्याः इव**=ये सूर्य की भाँति होते हैं, इनके जीवन से औरों को प्रकाश प्राप्त होता है; (ञ) **सत्वानः**=सत्त्वगुण-सम्पन्न होते हैं; (ट) **न द्रप्सिनः**=(दृप्= मोहने) मोह से ऊपर उठे हुए और (ठ) **घोरवर्पसः**=तेजस्वी रूपवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासकों का जीवन मन्त्रोक्त बारह गुणों से युक्त होता है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

युवानः पर्वता इव

युवा॑नो रु॒द्रा अ॒जरा॑ अभो॒ग्घनो॑ ववक्षु॒रध्रि॑गावः॒ पर्व॑ताइव।
दृ॒ळ्हा चि॒द्विश्वा॒ भुव॑नानि॒ पार्थि॑वा॒ प्र च्या॑वयन्ति दि॒व्यानि॑ म॒ज्मना॑॥ ३॥

१. गतमन्त्र के प्रकरण को ही आगे ले-चलते हुए कहते हैं कि ये प्रभुभक्त (क) **युवानः**=अपने से दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाले होते हैं (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। (ख) इसके लिए **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए सदा कर्मों में लगे रहते हैं, (ग) इसलिए **अजराः**=कभी जीर्ण नहीं होते। (घ) **अभोग्घनः**=(न भोजयन्ति) ये औरों को न खिलाकर स्वयं खा जाने की वृत्ति को नष्ट करनेवाले होते हैं; 'अभोग्घन्' होने के कारण ही **ववक्षुः**=ये सर्वाङ्गीण उन्नति करनेवाले होते हैं (wax=वक्ष्=to grow)। (ङ) **अध्रिगवः**=ये अधृतगमन होते हैं, इनके कार्यों में कोई विघ्न नहीं डाल सकता। बड़े-से-बड़े विघ्नों को भी दूर करके ये आगे बढ़ते चलते हैं। (च) **पर्वता इव**=ये पर्वतों के समान होते हैं। जैसे समुद्र-तरंगों के थपेड़े पर्वतों के विदीर्ण नहीं कर पाते वैसे ही संसार के प्रलोभन इन्हें विचलित नहीं कर पाते। (छ) **दृळ्हा चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **विश्वा**=सब **पार्थिवा भुवनानि**=पार्थिव भुवनों को **प्रच्यावयन्ति**=ये विचलित करनेवाले होते हैं, अर्थात् बड़े जबरदस्त पार्थिव प्रलोभनों के भी ये वशीभूत नहीं होते। बड़े-से-बड़े धन व यश का प्रलोभन इन्हें विचलित नहीं कर पाता। (ज) **मज्मना**=अपने शोधक बल से ये **दिव्यानि**=दिव्य प्रलोभनों को भी कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। योगमार्ग पर चलते हुए जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, ये सिद्धियाँ भी इन्हें मार्ग से विचलित नहीं कर पातीं, एवं पार्थिव व दिव्य प्रलोभनों से ये ऊपर उठ जाते हैं। शुद्धान्तःकरणवाले बनकर ये सिद्धियों की तुच्छता को समझते हैं और इन्हें भी प्रभुप्राप्ति के मार्ग में विघ्नरूप में ही जानते हैं, अतः न तो ये पार्थिव सम्पत्तियों में फँसते हैं और न दिव्य सिद्धियों में।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा दोषों को दूर करते हुए गुणों को अपने साथ सम्बद्ध करते हैं। शोधक बल को प्राप्त करके पार्थिव व दिव्य प्रलोभनों में नहीं फँसते।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मरुतः

चि॒त्रैर॒ञ्जिभि॒र्वपु॑षे॒ व्य॑ञ्जते॒ वक्ष॑स्सु रु॒क्माँ अधि॑ येतिरे शु॒भे।
अंसे॑ष्वेषां॒ नि मि॑मृक्षुर्ऋ॒ष्टयः॑ सा॒कं ज॑ज्ञिरे स्व॒धया॑ दि॒वो नरः॑॥ ४॥

१. 'मरुत्' देवता के ये मन्त्र हैं। 'मरुत्' शब्द सैनिकों के लिए प्रयुक्त होता है, 'म्रियन्ते'=मर जाते हैं, परन्तु रणाङ्गण में से पीठ नहीं दिखाते। ये मरुत् **चित्रैः**=अद्भुत

अञ्जिभिः=सुन्दररूप को व्यक्त करनेवाले आभूषणों से **वपुषे**=शरीर की शोभा के लिए **व्यञ्जते**=अपने को अलंकृत करते हैं। ये क्षत्रिय लोग केयूर, अङ्गदादि आभूषणों को धारण करते हैं। २. **वक्षःसु**=अपनी छातियों पर **रुक्मान्**=सोने के चमकते हुए हारों को अथवा स्वर्णपदकों को (Gold medals) **शुभे**=शोभा के लिए **अधि येतिरे**=(उपरि चक्रिरे) अपने वस्त्रों पर धारण करते हैं। ३. **एषाम्**=इन वीर सैनिकों के **अंसेषु**=कन्धों पर **ऋष्टयः**=शत्रुसंहारक (ऋष् to kill) अस्त्र **निमिमृक्षुः**=चमकते हुए स्थित होते हैं (निमृष्टाः स्थिता बभूवुः—सा०)। ३. ये **दिवः**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाले (दिव् विजिगीषा) **नरः**=सदा आगे बढ़नेवाले मरुत् **स्वधया साकम्**=आत्मधारण शक्ति के साथ **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत होते हैं अथवा **स्व**=अपने देश को **धा**=धारण करने की शक्ति के **साकम्**=साथ **जज्ञिरे**=विकसित होते हैं।

शरीर में मरुत् प्राणों का वाचक है। ये प्राण **चित्रैः**=ज्ञान को देनेवाले **अञ्जिभिः**=पदार्थों के स्वरूप को प्रकट करनेवाले ज्ञानों से **वपुषे**=शरीर की शोभा के लिए **अञ्जते**=मानव-जीवन को अलंकृत करते हैं। २. **वक्षःसु**=हृदयों में **रुकमान्**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान शुद्ध भावों को **अधि येतिरे**=(उपरि चक्रिरे) प्रबल करते हैं ताकि **शुभे**=जीवन की शोभा बढ़े। ३. **एषाम्**=इन प्राणों के **अंसेषु**=कन्धों पर **ऋष्टयः**=सब प्रकार की गतियाँ **निमिमृक्षुः**=शुद्ध होकर स्थित होती हैं, अर्थात् प्राणसाधना से सब क्रियाएँ पवित्र हो जाती हैं। ४. ये प्राण **दिवः**=प्रकाशमय हैं, बुद्धि को दीप्त करनेवाले हैं, **नरः**=हमें आगे ले-चलनेवाले हैं तथा **स्वधया**=आत्मतत्त्व को धारण की शक्ति के **साकम्**=साथ **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत होते हैं। प्राणसाधना से ही आत्मस्वरूप के दर्शन की योग्यता उत्पन्न होती है।

भावार्थ—देश की रक्षा में जो स्थान सैनिकों का है वही स्थान शरीर में प्राणों का है। प्राणसाधना उतनी ही आवश्यक है जितनी कि देशरक्षा के लिए सैन्यशक्ति।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ईशानकृतो धुनयः

ई॒शा॒न॒कृतो॒ धुन॑यो रि॒शाद॑सो॒ वाता॑न्वि॒द्युत॒स्तवि॑षीभिरक्रत।
दु॒हन्त्यूध॑र्दि॒व्यानि॒ धूत॑यो॒ भूमिं॑ पिन्वन्ति॒ पय॑सा॒ परि॑ज्रयः॥ ५॥

१. **ईशानकृतः**=ये मरुत्=प्राण हमें ईशान बनानेवाले हैं। प्राणसाधना से हम इन्द्रियों को अपने अधीन करते हैं। **धुनयः**=ये प्राण हमारी वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं। **रिशादसः** 'ऋश हिंसायाम्' नाशक तत्त्वों को खा जानेवाले हैं, भस्मीभूत कर देनेवाले हैं। **तविषीभिः**=बलों से ये अपने साधक को **वातान्**=वायुसम वेगवान् व बली तथा **विद्युतः**=विशिष्ट ज्ञानदीप्तिवाला **अक्रत**=बनाते हैं, एवं प्राणसाधना से (क) मन वासनाशून्य व निर्मल बनता है, (ख) शरीर वायुसम बलवान् तथा (ग) मस्तिष्क ज्योतिष्मान्। २. ये **धूतयः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्राण **ऊधः**=वेदवाणीरूप गौ के ऊधस् से **दिव्यानि**=अलौकिक प्रकाशों का **दुहन्ति**=दोहन करते हैं। वासना को विनष्ट करके वेदमन्त्रों के द्रष्टृत्व को प्राप्त कराके हमारे मस्तिष्क को प्रकाशमय बनाते हैं। ३. **परिज्रयः**=शरीर में सर्वत्र गति करनेवाले ये प्राण **भूमिम्**=इस शरीर को **पयसा**=(पयः सोमः—शत० १२.७.३.१३) सोम के द्वारा **पिन्वन्ति**=बढ़ाते हैं, अर्थात् सोम के रक्षण से शरीर की शक्तियों को बढ़ाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मन वासनाशून्य बनता है, शरीर शक्तिशाली और मस्तिष्क ज्योतिर्मय। प्राणसाधना से ज्ञान बढ़ता है, शरीर पुष्ट होता है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्राणसाधना का महत्त्व

पिन्वन्त्यपो मरुतः सुदानवः पयो घृतवद्विदथेष्वाभुवः।
अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनमुत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितम्॥ ६॥

१. **मरुतः**=प्राण **अपः पिन्वन्ति**=शरीर में रेतस् के रूप में रहनेवाले जलों को पीते हैं। इन प्राणों की साधना से रेतःकणों की ऊर्ध्व गति होती है। यही मरुतों का अपों का पान है। २. शरीर में रेतःकणों की रक्षा के द्वारा ये मरुत् **सुदानवः**=सब रोग-कृमियों या मनःस्थित द्वेषादि भावानाओं का उत्तमता से खण्डन करनेवाले होते हैं। इस प्रकार ये मरुत् हमें आधि-व्याधियों से बचाते हैं। ३. ये **आभुवः**=(आभवन्ति) शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर कार्य करनेवाले मरुत् **विदथेषु**=ज्ञानों के निमित्त **घृतवत्**=ज्ञान की दीप्तिवाले तथा मलों के क्षरणवाले (घृ=क्षरणदीप्तयोः) **पयः**=आप्यायन को प्राप्त कराते हैं। मलों के क्षरण से शरीर व मन का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। इसके परिणामस्वरूप मस्तिष्क के स्वास्थ्य से ज्ञान की दीप्ति होती है और जीवन में ज्ञानयज्ञ का प्रभाव अविच्छिन्न रूप से चलता है। **अत्यम् न**=सततगामी घोड़े के समान गतिशील **वाजिनम्**=इस शक्तिशाली पुरुष को **मिहे**=लोक में सुख-वर्षण के लिए **विनयन्ति**=ये प्राण शिक्षित करते हैं। प्राणसाधना करनेवाला पुरुष (क) गतिशील होता है (ख) शक्तिशाली बनता है और (ग) उसकी सब क्रियाएँ लोकहित के लिए होती हैं। ४. ये प्राण **स्तनयन्तम्**=गर्जना करते हुए **अक्षितम्**=कभी क्षीण न होनेवाले **उत्सम्**=ज्ञान के स्रोत का **दुहन्ति**=दोहन करते हैं। प्राणसाधना से चित्त अवरुद्ध होकर प्रभु का ध्यान व दर्शन करता है और तब उस प्रभु से दिये जाते हुए ज्ञान की प्राप्ति करता है। हृदय में स्थित प्रभु सदा उन ज्ञान के शब्दों की गर्जना कर रहे हैं। यह प्रवाहित होती हुई ज्ञान की नदी सरस्वती गर्जना करती हुई आगे बढ़ रही है। इसका ज्ञानजल कभी क्षीण नहीं होता। हमारे लिए इस ज्ञानस्रोत का दोहन ये प्राण ही करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) वीर्यरक्षा होती है (ख) मलों के क्षरण व दीप्ति के द्वारा सब प्रकार का आप्यायन होता है (ग) ज्ञान की वृद्धि होती है (घ) गतिशीलता व शक्ति की वृद्धि के द्वारा लोकहित की भावना उत्पन्न होती है (ङ) हम अन्तःस्थित ज्ञान-स्रोत का दोहन करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

महिष व मायी

महिषासो मायिनश्चित्रभानवो गिरयो न स्वतवसो रघुष्यदः।
मृगाइव हस्तिनः खादथा वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम्॥ ७॥

१. गतमन्त्र में वर्णित मरुतों=प्राणों की साधना करनेवाले पुरुष **महिषासः**=महान् होते हैं, प्रभु की पूजा करनेवाले होते हैं (मह पूजायाम्)। २. **मायिनः**=प्रज्ञावान् होते हैं। ३. **चित्रभानवः**=अद्भुत दीप्तिवाले होते हैं। ४. **गिरयः न**=(गृणाति इति गुरुः=गिरिः) ज्ञान देनेवाले गुरुओं के समान **स्वतवसः**=आत्मिक बलवाले होते हैं। ज्ञान के साथ ये अध्यात्म-वृत्तिवाले होते हैं। ५. **रघुष्यदः**=शीघ्र गमनवाले, अर्थात् प्रत्येक कार्य को स्फूर्ति से करनेवाले होते हैं। ६. **मृगाः इव**=मृगों की भाँति **हस्तिनः**=हाथियों की भाँति **वना**=वानस्पतिक भोजनों को ही

खादथ=सेवन करते हैं। इन वानस्पतिक भोजनों से इनके जीवन में भी मृगों की स्फूर्ति और हाथियों का बल प्रविष्ट होता हैं। ७. ये 'महिष व मायी, चित्रभानु व स्वतवस् तथा रघुष्यद्' व्यक्ति वे ही हैं **यदारुणीषु**=जिनकी अरुणवर्णा, अर्थात् तेजस्वी इन्द्रियरूप गौवों में हे मरुतो! आप **तविषीः**=बलों को **अयुग्ध्वम्**=जोतते हो, युक्त करते हो। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ बलसम्पन्न होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना मनुष्य को 'महिष, मायी, चित्रभानु, स्वतवस् व रघुष्यद्' बना देती है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

शक्ति व ज्ञान के समन्वयवाले

सिंहाइव नानदति प्रचेतसः पिशाइव सुपिशो विश्ववेदसः।
क्षपो जिन्वन्तः पृषतीभिर्ऋष्टिभिः समित्सबाधः शवसाहिमन्यवः॥ ८॥

१. प्राणसाधक पुरुष **सिंहाः इव नानदति**=सिंहों के समान गर्जना करनेवाले होते हैं। इनकी वाणी से शक्ति प्रकट होती है। भीष्म पितामह युद्ध के प्रारम्भ में 'सिंहनादं विनद्योच्चैः' उच्चस्वर से सिंहगर्जना करके ही शंखध्वनि करते हैं। २. **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, प्राणसाधक शक्तिशाली होते हैं, शक्ति के साथ वे ज्ञान का भी सम्पादन करते हैं। ३. **पिशाः इव**=शरीरगत श्वेत बिन्दुओं से अलंकृत रुरु मृगों की भाँति ये **सुपिशः**=शोभन शरीर-अवयवोंवाले तथा ज्ञानादि सुन्दर अलंकारोंवाले होते हैं। ज्ञानादि से सुभूषित होकर ये 'सुपिश्' होते हैं। **विश्ववेदसः**=शरीर व मस्तिष्क की सम्पत्तियों के साथ ये सम्पूर्ण धनोंवाले होते हैं। आवश्यक धनों की इन्हें कमी नहीं रहती। ५. **क्षपः**=सब शत्रुओं का ये संहार करनेवाले होते हैं, **जिन्वन्तः**=धार्मिकों को प्रीणित करनेवाले होते हैं। ६. **पृषतीभिः**=लोकों पर सुखों का सेचन करनेवाले **ऋष्टिभिः**=अस्त्रों से **समित् सबाधः**=(सम्+इ) मिलकर शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले ये व्यक्ति **शवसा**=बल के साथ **अहिमन्यवः**=अहीन ज्ञानवाले होते हैं। इनमें शक्ति व ज्ञान का समन्वय होता है।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष शक्ति व ज्ञान से समन्वित जीवनवाले होकर, मिलकर शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले तथा लोकों पर सुखों की वर्षा करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

स्वस्थ व ज्ञानी

रोदसी आ वदता गणश्रियो नृषाचः शूराः शवसाहिमन्यवः।
आ वन्धुरेष्वमतिर्न दर्शता विद्युन्न तस्थौ मरुतो रथेषु वः॥ ९॥

१. हे **गणश्रियः**=सात-सात के सात गणों में अवस्थित होकर, कुल ४९ भागों में विभक्त होकर शरीर की श्री को अभिवृद्ध करनेवाले प्राणो! आप **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आवदत**=मेरे जीवन में प्रकट करो। मेरा मस्तिष्क द्युलोक की भाँति तेजस्वी और मेरा शरीर पृथिवी की भाँति दृढ़ हो। इस प्रकार मेरा जीवन द्युलोक व पृथिवीलोक को प्रकट कर रहा हो। २. **नृषाचः**=मनुष्यों का आप सेवन करनेवाले हो। रामायण में जो स्थान हनुमान् का है, वही स्थान आपका इस शरीर में है। आप यहाँ रहते हुए **शूराः**=सब शत्रुओं को हिंसन करनेवाले हो। रोगकृमियों का संहार करके शरीर को नीरोग करते हो तो मन को भी द्वेषादि

से रहित करके पवित्र करते हो। **शवसा**=शक्ति के साथ **अहिमन्यवः**=आप अहीन ज्ञानवाले हो। आप शक्ति व ज्ञान दोनों का वर्धन करते हो। ३. हे **मरुतः**=प्राणो! आपका साधक पुरुष **वः**=आपके **बन्धुरेषु**=(Beautiful) सुन्दर, सुगठित (सुबद्ध) **रथेषु**=इन शरीर-रथों पर **अमतिः न**=उत्तम रूपवाले के समान तथा **दर्शता विद्युत् न**=दर्शनीय विद्युत् के समान **आतस्थौ**=स्थित होता है। स्वास्थ्य के कारण प्राणसाधक का रूप सुन्दर होता है और ज्ञानवृद्धि के कारण वह विद्युत् के समान चमकता है, एवं, मरुत् साधक को स्वास्थ्य का सौन्दर्य व ज्ञान की दीप्ति प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना से स्वस्थ व ज्ञानी बनें।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ज्ञान+धन+बल का वर्धन

विश्ववेदसो रयिभिः समोकसः संमिश्लासस्तविषीभिर्विरप्शिनः।
अस्तार इषुं दधिरे गभस्त्योरनन्तशुष्मा वृषखादयो नरः॥ १०॥

१. प्राणों की साधना करनेवाले पुरुष **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानोंवाले होते हैं। इनकी बुद्धि सूक्ष्म होकर इनके ज्ञान का वर्धन होता है। २. **रयिभिः समोकसः**=धनों से ये समान निवासस्थानवाले होते हैं, अर्थात् ये धनों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। ३. **तविषीभिः संमिश्लासः**=बलों से ये मिश्रित व युक्त होते हैं और ४. इस प्रकार ज्ञान, धन व बल से सम्पन्न होकर ये **विरप्शिनः**=महान् बनते हैं। **अस्तारः**=(असु क्षेपणे) ये शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाले होते हैं। काम-क्रोधादि को अपने समीप नहीं फटकने देते। **गभस्त्योः**=अपनी दोनों भुजाओं में **इषुम्**=बाण को **दधिरे**=धारण करते हैं। कामादि शत्रुओं को इन बाणों से विद्ध करके दूर भगा देते हैं। भुजाओं में बाणों का संकेत '**कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः**'—इस मन्त्रभाग में इस प्रकार हुआ है कि दक्षिण हस्त का बाण 'कृत व पुरुषार्थ' है और वामहस्त का बाण 'जय' है। यह सदा पुरुषार्थ में लगा हुआ काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित कर विजयलाभ करता है। इस विजयलाभ के कारण ही यह महान् है। ४. **अनन्तशुष्माः**=इस प्रकार 'कृत व जय'—रूप बाणों को धारण करते हुए ये लोग खूब शक्तिशाली बनते हैं। **वृषखादयः**=(वृषः सोमः खादिः भोजनं येषाम्) सोम इनका भोजन होता है। सोम को ये शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करते हैं और इसलिए **नरः**=नर होते हैं, 'नृ नये'-अपने को उन्नतिपथ पर निरन्तर आगे ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे 'ज्ञान, धन व बल' सभी को बढ़ाती है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

पयोवृधः

हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आपथ्यो३ न पर्वतान्।
मखा अयासः स्वसृतो ध्रुवच्युतो दुध्रकृतो मरुतो भ्राजदृष्टयः॥ ११॥

१. **मरुतः**=प्राण व प्राणसाधना करनेवाले 'मितराविणः' मितरावी पुरुष **पयोवृधः**=दूध आदि सात्त्विक आहारों से अपना वर्धन करनेवाले होते हैं और **हिरण्ययेभिः**=हित-रमणीय व स्वर्णिम **पविभिः**=वाणियों से **उज्जिघ्नन्तः**=मार्ग में आनेवाले विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट करनेवाले होते हैं, **न**=जैसेकि **आपथ्यः**=मार्ग पर आनेवाला कोई व्यक्ति **पर्वतान्**=पर्वतों को दूर

फेंक देता हैं। मरुत् भी पर्वततुल्य महान् विरोधियों को भी हितरमणीय वाणियों से अनुकूल बना लेते हैं। २. **मखाः**=इनका जीवन यज्ञमय होता है, **अयासः**=ये निरन्तर गतिशील होते हैं, **स्व-सृतः**=आत्मतत्त्व की ओर (स्व) बढ़नेवाले होते हैं। ३. **ध्रुवच्युतः**=अत्यन्त स्थिर अर्थात् दृढ़मूल शत्रुओं को भी च्युत करनेवाले होते हैं। स्वभाव में परिणत हो गये काम-क्रोध को भी ये अपने से पृथक् करनेवाले होते हैं। **दुध्रकृतः**=शत्रुओं के लिए अपने को दुर्घषणीय बनाते हैं। शत्रु इनका पराभव नहीं कर पाते। ऐसे ये **मरुतः**=प्राणसाधक **भ्राजदृष्टयः**=(भ्राजा दृष्टिर्येषाम्) देदीप्यमान दृष्टिवाले होते हैं अथवा **भ्राजत्+ऋष्टयः**=देदीप्यमान गतियोंवाले होते हैं (ऋष् गतौ)।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें यज्ञशील व देदीप्यमान दृष्टिवाला बनाती है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मारुत-गण

घृषुं पावकं वनिनं विचर्षणिं रुद्रस्य सूनुं हवसा गृणीमसि।
रजस्तुरं तवसं मारुतं गणमृजीषिणं वृषणं सश्चत श्रिये॥ १२॥

१. शरीर में मरुत् ४९ भागों में विभक्त होकर कार्य कर रहे हैं। ये ४९ मरुत् मिलकर यहाँ 'मारुत-गण' के रूप में स्मरण किये गये हैं। **श्रिये**=शोभा के लिए **मारुतं गणम्**=इन मरुतों के गण को **सश्चत**=प्राप्त करो। इनके साथ अपना सम्बन्ध बनाओ (cling to) अथवा इनका उपासन करो (worship)। उन मारुतगणों को उपासित करो जोकि **घृषुम्**=शत्रुओं का धर्षण कर देनेवाला है, **पावकम्** पवित्र करनेवाला है, **वनिनम्**=विजय को प्राप्त करानेवाला है (वन्=to win)। ३. **विचर्षणिम्**=विशेषरूप से हमारा ध्यान करनेवाला है अथवा हमें कर्षणि=श्रमशील बनानेवाला है। **रुद्रस्य**=उस परमात्मा के **सूनुम्**=प्रेरक मारुतगण को **हवसा**=आह्वान-साधनभूत स्तोत्रों से **गृणीमसि**=स्तुत करते हैं। प्राणसाधना से चित्तवृत्तिनिरोध होकर हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है, अत: यह मारुतगण 'रुद्रसूनु' कहलाया है। ४. **रजस्तुरम्**=यह मारुतगण रजोगुण का, राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाला है अथवा कर्मों को त्वरा से करनेवाला है। **तवसम्**=हमें अत्यन्त बलवान् व प्रवृद्ध करनेवाला है, **ऋजीषिणम्**=ऋजुमार्ग से धनार्जन करनेवाला है और **वृषणम्**=सबपर सुखों का वर्षण करनेवाला है। इस मारुतगण के सेवन से हमारी शोभा क्यों न बढ़ेगी?

भावार्थ—हम प्राणसंघ का स्तवन करें। ये प्राण शरीर के रोगों को नष्ट करेंगे और हमारी वृत्तियों को उत्तम बनाएँगे।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अतिक्रमण (अति समं क्राम)

प्र नू स मर्तः शवसा जनाँ अति तस्थौ व ऊती मरुतो यमावत।
अर्वद्भिर्वाजं भरते धना नृभिरापृच्छ्यं क्रतुमा क्षेति पुष्यति॥ १३॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **सः मर्तः**=वह मनुष्य **यम्**=जिसको आप **वः ऊती**=अपने रक्षण द्वारा **आवत**=रक्षित करते हो **जनान्**=लोगों को **नु**=निश्चय से **शवसा**=बल के दृष्टिकोण से **प्र अति तस्थौ**=प्रकर्षेण लाँघकर स्थित होता है। प्राणों का रक्षण प्राप्त होने पर इस साधक का बल सामान्य मनुष्य के बल से बहुत अधिक हो जाता है। शक्ति के दृष्टिकोण से यह औरों

का अतिक्रमण कर जाता है। २. यह **अर्वद्भिः**=अपने इन्द्रियरूप अश्वों से अपने में **वाजम्**=ज्ञान व बल को **भरते**=भरता है, ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान को तथा कर्मेन्द्रियों से कर्म द्वारा शक्ति को। ३. यह प्राणसाधक संसार-यात्रा के सञ्चालन के लिए आवश्यक **धना**=धनों को भी प्राप्त करता है। ४. इन धनों के द्वारा **क्रतुम्**=उन उत्तम यज्ञों को **आक्षेति**=(आप्नोति-सा०) सर्वथा प्राप्त करता है जोकि **नृभिः आपृच्छ्यम्**=मनुष्यों से चाहने योग्य होते हैं। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह उन कर्मों को कर सके जिनसे उसका यश हो। यह धनों के द्वारा उन ऋतुओं को करनेवाला बनता है और इस प्रकार **पुष्यति**=अपना वास्तविक पोषण करता है। यज्ञों के द्वारा ही तो वस्तुतः हमारा पोषण होता है।

भावार्थ—प्राणसाधक (क) अत्यधिक बल का सम्पादन करता है, (ख) अपने में ज्ञान व शक्ति भरता है, (ग) धनों का सम्पादन करके यज्ञशील बनता है, (घ) इन यज्ञों से अपना वास्तविक पोषण करता है।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

कैसा तोक व तनय

चर्कृत्यं मरुतः पृत्सु दुष्टरं द्युमन्तं शुष्मं मघवत्सु धत्तन।
धनस्पृतमुक्थ्यं विश्वचर्षणिं तोकं पुष्येम तनयं शतं हिमाः॥ १४॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि प्राणसाधना करनेवाला धनों का अर्जन करता है और धनार्जन करके उसे यज्ञों में विनियुक्त करता है। इन **मघवत्सु**=(मघ=मख) ऐश्वर्य का यज्ञों का विनियोग करनेवाले पुरुषों में **मरुतः**=हे प्राणो! **तोकम्**=पुत्र को, **तनयम्**=पौत्र को **धत्तन**=धारण करो। कैसे पुत्र-पौत्र को, (क) **चर्कृत्यम्**=खूब कार्य करनेवाले, सर्वकर्म- कुशल, (ख) **पृत्सु दुष्टरम्**=संग्रामों में शत्रुओं से न तैरने योग्य, अर्थात् संग्राम में शत्रुओं के लिए अजेय, (ग) **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय, (घ) **शुष्मम्**=शत्रुओं के शोषक, अर्थात् बलवान् (ङ) **धनस्पृतम्**=धनों का स्पर्श करनेवाले, अर्थात् खूब कमानेवाले, (च) **उक्थ्यम्**=स्तुतियों में उत्तम, (छ) **विश्वचर्षणिम्**=(सर्वस्य द्रष्टारम्-सा०) सबका ध्यान करनेवाले पुत्र को **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते हुए **पुष्येम**=पुष्ट करें। २. एवं प्रस्तुत मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि जिस घर में धनों का विनियोग यज्ञों में होता है, उस घर में सन्तान उत्तम होते हैं तथा उस घर के व्यक्ति शतवर्ष के दीर्घजीवी होते हैं।

भावार्थ—धनों का यज्ञों में विनियोग करते हुए हम उत्तम सन्तान व दीर्घजीवन प्राप्त करें।

ऋषिः—**नोधा गौतमः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कैसा धन

नू ष्ठिरं मरुतो वीरवन्तमृतीषाहं रयिमस्मासु धत्त।
सहस्त्रिणं शतिनं शूशुवांसं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ १५॥

१. **नु**=अब हे **मरुतः**=मरुतो! **अस्मासु**=हममें **रयिम्**=धन को **धत्त**=धारण करो। कैसे धन को? (क) **स्थिरम्**=जो धन स्थिर है, चञ्चलतारहित है, हमारे पास स्थिर होकर रहनेवाला है, (ख) **वीरवन्तम्**=(वीर्योपेतम्-सा०) शक्ति से युक्त है, हमें निर्बल बनानेवाला नहीं है, (ग) **ऋतीषाहम्**=(गन्तॄणां शत्रूनामभिभवितारम्-सा०) जो धन शत्रुओं का पराभव करनेवाला

है, हमें निर्बल बनाकर शत्रुओं के वशीभूत करनेवाला नहीं है, (घ) **सहस्विणम्**=(स+हस्) जो धन आनन्द से युक्त है, हमें क्षीणशक्ति करके निरानन्द जीवनवाला नहीं कर देता; (ङ) **शतिनम्**=जो हमें सौ वर्ष का आयुष्य प्राप्त करानेवाला है, (च) **शूशुवांसम्**=जो गति व वृद्धि का कारण है, जिस धन को प्राप्त करके हम क्रियामय जीवनवाले बने रहते हैं और जो धन हमारी वृद्धि का कारण बनता है। २. ऐसे धन को प्राप्त करके हम उत्तम जीवनवाले ही बने रहें, इसके लिए हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि हमें **प्रातः मक्षु**=प्रातः शीघ्र ही **धियावसुः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा निवास के लिए आवश्यक धनों का जुटानेवाला व्यक्ति **जगम्यात्**=प्राप्त हो, अर्थात् उत्तम पुरुषों के सङ्ग से हम धनों की सम्भावित हानियों से बचे रहें।

भावार्थ—हमें वृद्धि के कारणभूत धन प्राप्त हों और सत्सङ्ग प्राप्त हो ताकि धन के कारण हमारा जीवन विलासमय न बन जाए।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है कि हम प्रभु के उपासक बनें (१)। उपासक ज्ञानी व तेजस्वी होते हैं (२)। ये शोधकबल प्राप्त करके पार्थिव व दिव्य प्रलोभनों में नहीं फँसते (३)। प्राणसाधना उतनी ही आवश्यक है जितनी कि देशरक्षा के लिए सैन्य शक्ति (४)। प्राणसाधना से ज्ञान बढ़ता है, शरीर पुष्ट होता है (५)। इस प्राणसाधना से हम अन्तःस्थित ज्ञानस्रोत का दोहन करनेवाले बनते हैं (६)। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ बलसम्पन्न होती हैं (७)। प्राणसाधक पुरुष शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले तथा लोकों पर सुखों की वर्षा करनेवाले होते हैं (८), स्वस्थ ज्ञानी बनते हैं (९), ज्ञान, धन व बल तीनों का वर्धन करते हैं (१०)। प्राणसाधना हमें यज्ञशील व देदीप्यमान दृष्टिवाला बनाती है (११)। प्राण शरीर के रोगों को नष्ट करते हैं और वृत्तियों को उत्तम बनाते हैं (१२)। इस साधना से हम औरों को लाँघ जाते हैं (१३), उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं (१४), वृद्धि के कारणभूत धन के भागी होते हैं (१५)।

नोट—५८ से ६४ तक सूक्त 'नोधा गौतम' ऋषि के हैं। एक सूक्त को छोड़कर सब सूक्त **'प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्'** इस प्रार्थना पर ही समाप्त हुए हैं। वस्तुतः सत्सङ्ग ही हमें 'नोधा गौतम'—इन्द्रियों का धारण करनेवाला व प्रशस्तेन्द्रिय बनाता है। यह प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष अब 'पराशर शाक्त्य' बनता है—शक्ति का पुञ्ज, शत्रुओं को सुदूर मार भगानेवाला। यह प्रभु का इस प्रकार आराधन करता है—

[६५] पञ्चषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

धीर, सजोष व यजत्र

प॒श्वा न ता॒युं गुहा॒ चत॑न्तं॒ नमो॑ युजा॒नं नमो॒ वह॑न्तम्।
स॒जोषा॒ धीराः॑ प॒दैरनु॑ ग्म॒न्नुप॑ त्वा सीद॒न्विश्वे॒ यज॑त्राः॥ १ ॥

१. **पश्वा न**=(पश्यति) सबके द्रष्टारूप से **तायुम्**=सबका पालन करनेवाले प्रभु को **अनुग्मन्**=प्राप्त करते हैं। प्रभु सबका ध्यान करते हैं (Look after), सबकी आवश्यकताओं को जानते हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए सबका पालन करते हैं। २. वे प्रभु **गुहा चतन्तम्**=हृदयरूप गुहा में गति करते हैं 'गुहा चरन् नाम'। हमारे हृदयों में निवास के कारण हमारी सब परिस्थितियों को ठीक समझते हैं। वास्तविकता तो यह है कि अल्पज्ञता के कारण

हम अपने को उतना नहीं जानते, जितना कि प्रभु। ३. **नमः युजानम्**=सब प्रकार के अन्नैश्वर्यो को अपने साथ जोड़ते हुए उस प्रभु को प्राप्त करते हैं। सम्पूर्ण अन्नों व ऐश्वर्यों के स्वामी वे प्रभु ही हैं। **नमः वहन्तम्**=इस अन्न व ऐश्वर्य को वे जीवों को यथोचित रूप से प्राप्त कराते हैं। ४. इस प्रभु को **धीराः**=(धियि रमते) बुद्धि में रमण करनेवाले, ज्ञानप्रधान रुचिवाले लोग प्राप्त करते हैं। वे धीरपुरुष जोकि **सजोषाः**=अपने कर्तव्यकर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं (जुषी प्रीतिसेवनयोः)। ५. वे प्राप्त करते हैं **पदैः**=शब्दों से, ज्ञान की वाणियों से तथा 'पद् गतौ' गतियों से, कर्मों से। 'धीराः' का सम्बन्ध ज्ञान की वाणियों से है और 'सजोषाः' का सम्बन्ध कर्मों से। ६. हे प्रभो! **विश्वे**=सब **यजत्राः**=यज्ञ के द्वारा अपना त्राण करनेवाले लोग **त्वा**=आपके **उप**=समीप **सीदन्**=आसीन होते हैं। **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** उस यज्ञपुरुष प्रभु की उपासना यज्ञों द्वारा ही होती है। यज्ञ के अन्तर्गत 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' ही प्रमुख धर्म हैं—**'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'** इन धर्मों के पालन से हम प्रभु के समीप होते हैं।

भावार्थ—धीर, सजोष व यजत्र ही प्रभु की प्राप्ति करते हैं। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि हम ज्ञान में रमण करें (धीर), अपने कर्तव्यों का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों (सजोष), यज्ञात्मक कर्मों के द्वारा अपना रक्षण करें (यजत्र)।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

पृथिवी को स्वर्ग बनाना

ऋतस्य॑ दे॒वा अनु॑ व्र॒ता गु॒र्भुव॒त्परि॑ष्टि॒र्द्यौर्न भूम॑।
वर्ध॑न्तीमाप॑: प॒न्वा सुशि॑श्विमृ॒तस्य॒ योना॒ गर्भे॑ सु॒जात॑म्॥ २॥

१. **देवाः**=संसार-यात्रा में विजिगीषावाले लोग **ऋतस्य**=ऋत के **व्रता**=व्रतों का **अनुगुः**=पालन करते हैं। ऋत का पालन करनेवाला व्यक्ति कभी असफल नहीं होता। ऋत का अभिप्राय है प्रत्येक बात को ठीक समय व ठीक स्थान पर करना। सूर्य-चन्द्रमा की भाँति अपनी दिनचर्या में नियमित होना ही ऋत का पालन करना है। २. इनके जीवन में **परिष्टिः**=(Searching all round) सर्वत्र सत्य का अन्वेषण **भुवत्**=होता है। इनका जीवन ही 'Experiments with truth' सत्य का अन्वेषण हो जाता है। इनकी सब क्रियाएँ सत्य के परीक्षण के लिए होती हैं। ३. इस प्रकार ये नियमित दिनचर्यावाले व सत्यान्वेषण में लगे हुए लोग **भूम**=इस पृथिवी को **द्यौः न**=स्वर्ग की भाँति बना देते हैं। पृथिवी को स्वर्ग बना देने में ही मानव-जीवन की सफलता है। ४. इस पृथिवी को स्वर्ग बनाने के लिए ही **आपः**=आप्त लोग अथवा प्रजाएँ [आपो वै नरसूनवः] **ईम्**=निश्चय से इस प्रभु को **पन्वा**=स्तुति के द्वारा **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं, अर्थात् इस प्रभु की स्तुति करते हैं, जो (क) **सुशिश्विम्**=(शिव गतिवृद्ध्योः) उत्तमता से गति के द्वारा संसार का वर्धन कर रहे हैं, (ख) **ऋतस्य योनौ**=ऋत के गृह में **सुजातम्**=प्रादुर्भूत होते हैं, अर्थात् प्रभु का प्रकाश उसी गृह में होता है जहाँ ऋत का पालन होता है अथवा जो ऋत के मूल में हैं, अर्थात् ऋत का उत्पत्तिस्थान हैं, ऋत को जन्म देनेवाले हैं। (ग) **गर्भे सुजातम्**=वे प्रभु हमारे अन्दर-हृदय में ही प्रादुर्भूत होनेवाले हैं, हृदय में ही उनका दर्शन होता है।

भावार्थ—हम ऋत का पालन करें और प्रभु-दर्शन की योग्यता को सिद्ध करें। यही पृथिवी को स्वर्ग बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—पराशरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु-वरण-विरलता (आश्चर्यो द्रष्टा कुशलानुशिष्टः)

पुष्टिर्न र॒ण्वा क्षि॒तिर्न पृ॒थ्वी गि॒रिर्न भुज्म॒ क्षोदो॒ न शं॒भु।
अत्यो॒ नाज्म॒न्त्सर्ग॑प्रतक्तः॒ सिन्धु॒र्न क्षोद॒ः क ईं॑ वराते॥ ३॥

१. वेग प्रभु **पुष्टिः न**=पुष्टि के समान **रण्वा**=रमणीय हैं। जिस प्रकार शरीर के पूर्ण पुष्ट व स्वस्थ होने से आनन्द अनुभव होता है, उसी प्रकार उस प्रभु-प्राप्ति का आनन्द है। प्रभु-प्राप्ति का आनन्द वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता, वह तो अनुभव की ही वस्तु है। २. **क्षितिः न पृथ्वी**=वे प्रभु सबको निवास देनेवाली भूमि के समान (प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत हैं। वास्तविकता तो यह है कि ऐसी कितनी ही भूमियाँ उस प्रभु के एक देश में समायी हुई हैं—अनन्त विस्तार है उस प्रभु का। **गिरिः न**=पर्वत के समान **भुज्म**=वे प्रभु हमें सब भोग प्राप्त कराके पालन करनेवाले हैं। पर्वतों से नाना प्रकार के फल, धातु व अन्य पदार्थ प्राप्त होकर प्रजाओं का पालन होता है। वे प्रभु ही वस्तुतः सब पालन-व्यवस्थाओं को करनेवाले हैं। पर्वतों से नदियों को प्रवाहित करके सब अन्नों को उपजाते हुए वे प्रभु ही हमारा पालन कर रहे हैं। ४. **क्षोदः न**=जल के समान वे प्रभु **शंभु**=शान्ति देनेवाले हैं। गर्मी से सन्तप्त मनुष्य को जल-शान्ति प्राप्त कराते हैं, इसी प्रकार संसार के दावानल से सन्तप्त मनुष्य को प्रभु ही शान्ति देनेवाले हैं। प्राकृतिक भोग अन्ततः अशान्ति का कारण बनते हैं, उस समय प्रभु ही शान्ति को पुनः प्राप्त करानेवाले होते हैं। ४. **अज्मन्**=संग्राम में **सर्गप्रतक्तः**=स्वभाव से प्रेरित हुए-हुए **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान हैं। जैसे संग्राम में अश्व विजय का कारण होता है, वैसे ही प्रभु हमारे लिए इस संसार-संग्राम में विजय का कारण बनते हैं। प्रभु जीव की सहायता किसी कारण से करते हों यह बात नहीं, यह तो उनका स्वभाव ही है। ५. **सिन्धुः न क्षोदः**=(स्यन्दते इति सिन्धुः) वे प्रभु निरन्तर बहनेवाले जल के समान आगे और आगे चलनेवाले हैं (क्षुद् to move on), प्रभु को अपने कार्यों में कोई रोकनेवाला नहीं हैं। उसके कर्म अबाध गति से होते ही रहते हैं। **कः ईम् वराते**=(क) कौन इसे अपने कार्यों में रोकता है? अर्थात् प्रभु के कार्यों मे कोई रुकावट पैदा नहीं कर सकता, अथवा (ख) कौन है जो उस प्रभु का वरण करता है? संसार मे कोई एक-आध व्यक्ति ही प्रभु की ओर झुकता है।

भावार्थ—प्रभु का वरण विरला ही व्यक्ति करता है।

ऋषिः—पराशरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का वरण करनेवाला

जा॒मिः सिन्धू॑नां भ्रातेव॒ स्वस्रा॒मिभ्या॒न्न राजा॒ वना॑न्यत्ति।
यद्वात॑जूतो॒ वना॒ व्यस्था॑द॒ग्निर्ह॑ दाति॒ रोमा॑ पृथि॒व्याः॥ ४॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा गया था कि कोई विरला व्यक्ति ही उस प्रभु का वरण करता है, उसी का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—यह प्रभु का वरण करनेवाला **सिन्धूनां जामिः**=स्यन्दनशील जलों का बन्धु होता है, अर्थात् यह भी जलों की भाँति स्वाभाविक गतिवाला होता है अथवा शरीर में रेतःरूप में रहनेवाला जलों का यह अपने में प्रादुर्भाव करनेवाला होता है। २. **स्वस्रां भ्राता इव**=यह इस लोक में बहिनों के लिए भाई के समान होता है। जिस प्रकार भाई बहिन को कुछ देता ही है, उसका कुछ छीनने का स्वप्न नहीं लेता,

उसी प्रकार यह औरों का कुछ सहायक ही होता है, औरों के धन को छीननेवाला नहीं होता। ३. **न**=जैसे **राजा**=राजा **इभ्यान्**=(भियं यन्ति) शत्रुओं को **अत्ति**=समूल नष्ट करता है, इसी प्रकार यह कामादि अन्तःशत्रुओं को नष्ट करनेवाला होता है। ४. यह **वनानि**=वानस्पतिक पदार्थों को ही **अत्ति**=खाता है, अर्थात् मांसभोज से सदा दूर रहता है। ५. **यत्**=जब **वातजूतः**=वायु से प्रेरणा प्राप्त हुआ-हुआ, अर्थात् वायु की भाँति निरन्तर गति करता हुआ **वना**=(वन संभक्तौ) उपासना में **व्यस्थात्**=विशेषरूप से स्थित होता है, अर्थात् प्रभु का उपासक होता हुआ कर्मों में लगा रहता है। ६. यह **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला जीव **पृथिव्याः**=पृथिवी के **रोम**=रोमतुल्य ओषधि-वनस्पतियों को **ह**=ही **दाति**=काटता है, इन्हें ही अपना भोज्य पदार्थ समझता है। इन ओषधियों को भी मूल से हिंसित नहीं करता 'ओषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषम्'। इस प्रकार करुणात्मक स्वभाववाला व्यक्ति ही प्रभु का प्रिय होता है। प्रभु का प्रिय बनने के लिए इसने इस प्रकार अपने जीवन को सुन्दर बनाया है।

भावार्थ—प्रभु का वरण करनेवाला (क) जलप्रवाह की भाँति गतिशील होता है, (ख) सबका भला करता है, किसी का कुछ छीनता नहीं, (ग) कामादि शत्रुओं को नष्ट करता है, (घ) वानस्पतिक भोजन करता है, (ङ) वायु के समान कर्मशील होता है, (च) निष्कामभाव से प्रभु की उपासना करता है [उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः]।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उपासन

श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन्क्रत्वा चेतिष्ठो विशामुषर्भुत्।
सोमो न वेधा ऋतप्रजातः पशुर्न शिश्वा विभुर्दूरेभाः॥५॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि प्रभु का वरण करनेवाला उपासन में स्थित होता है। वह निम्न शब्दों में उपासना करता है। ये प्रभु **अप्सु**=प्रजाओं में **श्वसिति**=प्राणधारण करते हैं—**'यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते'**—इन केनोपनिषद् के शब्दों के अनुसार प्राणों के आधार प्रभु ही हैं, वे ही हमें प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। २. ये प्रभु **हंसः न**=हंस के समान **सीदन्**=हमारे हृदयों में स्थित हैं। हंस जैसे नीर-क्षीर-विवेक कर डालता है, उसी प्रकार हृदयस्थरूपेण ये प्रभु हमें निरन्तर पाप-पुण्य का विवेक प्राप्त करा रहे हैं। पाप के लिए भय और पुण्य के लिए उत्साह प्रभु की ओर से ही प्राप्त होता है। ३. **क्रत्वा**=अपने ज्ञान से वे प्रभु **चेतिष्ठः**=हमें अधिक-से-अधिक चेतनायुक्त करनेवाले हैं। **विशाम्**=सब प्रजाओं के लिए **उषर्भुत्**=उषःकाल में बोध देनेवाले हैं (उषसि बोधयति), इसीलिए इस समय को ब्राह्ममुहूर्त नाम दिया गया है। यह समय ब्रह्म के समीप बैठने का है। ४. **सोमः न वेधाः**=यह प्रभु सोम के समान विधाता है। अत्यन्त शान्तभाव से अपने सृष्टिनिर्माण, धारण व प्रलयादि कार्यों में वे संलग्न हैं। ५. **ऋतप्रजातः**=(क) 'ऋतं प्रजातं यस्मात्' ऋत को जन्म देनेवाले हैं **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'** ऋत और सत्य उस प्रभु के देदीप्यमान तप से ही उत्पन्न हुए हैं। अथवा (ख) ऋत के द्वारा उस प्रभु का आविर्भाव होता है 'ऋतेन प्रजातं यस्य'। हम ऋत का पालन करते हैं तो प्रभु के दर्शन के अधिकारी बनते हैं। ६. **पशुः न शिश्वा**=जैसे बछड़े आदि शिशुओं के साथ गवादि पशु का स्वाभाविक स्नेह है, उसी प्रकार प्रभु का हमसे स्वाभाविक स्नेह है। पशु बच्चों से प्रत्युपकार के विचार से प्रीति नहीं करते, इसी प्रकार प्रभु का जीव के प्रति प्रेम स्वाभाविक है। ७. वे प्रभु **विभुः**=सर्वव्यापक हैं और **दूरेभाः**=दूर-से-दूर

प्रदेश में भी उनकी दीप्ति है। सर्वत्र प्रभु का प्रकाश है। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**-उसी के प्रकाश से सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे प्राण हैं, धर्माधर्म का ज्ञान देनेवाले हैं। सम्पूर्ण ज्ञान प्रभु से ही प्राप्त होता है। शान्तभाव से प्रभु अपना कार्य करते हैं। ऋत के पालन से प्रभु-दर्शन होता है। वे प्रभु व्यापक व प्रकाशरूप हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि 'धीर, सजोष व यजत्र' पुरुष प्रभु को प्राप्त करते हैं (१)। वे ऋत के पालन से पृथिवी को स्वर्ग बना देते हैं (२)। कोई विरला ही होता है जो उस प्रभु का वरण करता है (३)। प्रभु का वरण वानस्पतिक भोजन करनेवाला ही करता है (४)। यह प्रभु को व्यापक व प्रकाशमयरूप में देखता है (५)। प्रभु को ही यह अपना अद्भुत धन बनाता है—

[६६] षट्षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अद्भुत धन

रयिर्न चित्रा सूरो न संदृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः।
तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः शुचिर्विभावा॥ १॥

१. पराशर ऋषि कहता है कि वे प्रभु मेरे लिए **चित्रा रयिः न**=अद्भुत धन के समान है, चायनीय=पूजनीय धन के तुल्य हैं। जैसे धन का संग्रह किया जाता है, उसी प्रकार वे प्रभु मेरे द्वारा संग्रहणीय हैं। २. **सूरः न**=सूर्य के समान वे **संदृक्**=सम्यक् प्रकाश करनेवाले हैं। सूर्योदय होते ही सम्पूर्ण अन्धकार लुप्त हो जाता है, इसी प्रकार प्रभु-सूर्य के उदय होने पर मेरे हृदय का अन्धकार विनष्ट हो जाता है। उपनिषद् के शब्दों में उस प्रभु के ज्ञात होने पर सब-कुछ ज्ञात हो जाता है। ३. **आयुः न**=आयु की भाँति **प्राणः**=वे प्रभु मेरे प्राण हैं। वस्तुतः 'स उ प्राणस्य प्राणः' प्राण के भी प्राण वे प्रभु ही हैं। वास्तविक जीवन देनेवाले वे प्रभु ही हैं। ४. **नित्यः न**=(नि=In) सदा अन्दर होनेवाली वस्तु की भाँति अर्थात् सदा हृदयस्थ होते हुए वे **सूनुः**=(षू प्रेरणे) प्रेरणा देनेवाले हैं। ५. **तक्वा न**=गतिशील घोड़े की भाँति **भूर्णिः**=वे मेरा भरण करनेवाले हैं। घोड़ा पीठ पर बैठे मनुष्य को स्थान से स्थानान्तर पर ले-जाता है, इसी प्रकार वे प्रभु मेरी जीवन-यात्रा में मुझे लक्ष्य तक पहुँचानेवाले हैं। ६. **पयः न**=आप्यायन करनेवाले दूध की भाँति वे प्रभु **धेनुः**=प्रीणित करनेवाले हैं। ७. ये **शुचिः**=पूर्ण पवित्र **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु **वना**=उपासकों को (वन संभक्तौ) **सिषक्ति**=(समवैति) प्राप्त होते हैं। मैं प्रभु का उपासक होता हूँ, वे प्रभु मुझे प्राप्त होते हैं। मुझे वे मन में 'शुचि' और मस्तिष्क में 'विभावा' बनाते हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु को ही अपना धन समझूँ। प्रभु की शरण में जाने से ही मेरी यात्रा पूर्ण होगी। मैं 'शुचि' व 'विभावा' बनूँगा।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

क्षेम का धारक

दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो जेता जनानाम्।
ऋषिर्न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तो वाजी न प्रीतो वयो दधाति॥ २॥

१. वे प्रभु **क्षेमं दाधार**=प्राणिमात्र के कल्याण का धारण करते हैं। वे **ओकः न**=घर के समान **रण्वः**=रमणीय हैं। जैसे एक मनुष्य घर में आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार उस प्रभु में स्थित व्यक्ति एक अवर्णनीय आनन्द पाता है। २. **यवः न पक्वः**=यव के समान वे प्रभु पूर्ण परिपक्व हैं। यव की विशेषता है—'बुराइयों को दूर करनेवाला तथा अच्छाइयों को मिलानेवाला'। वे प्रभु भी इसी प्रकार सब बुराइयों से दूर व अच्छाइयों से युक्त हैं। अपने उपासक के लिए वे इस पक्व यव के समान हैं। **जनानां जेता**=लोगों के विजेता हैं, अर्थात् लोगों की प्रत्येक विजय को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु ही हैं। सब बुराइयों पर विजय दिलाकर प्रभु ही अपने भक्तों के जीवनों को सुन्दर बनाते हैं। **ऋषिः न**=एक तत्त्वद्रष्टा के समान वे **स्तुभ्वा**=(स्तुभ् to stop, to suppress) सब कष्टों का निवारण करनेवाले हैं। तत्त्वज्ञान देकर भक्तों के कष्टों का अन्त कर देते हैं। **विक्षु**=प्रजाओं में **प्रशस्तः**=वे प्रशस्त हैं। तत्त्वज्ञान देकर ही वस्तुतः प्रजाओं के जीवन को सुन्दर बनाते हैं। ४. **वाजी न**=एक शक्तिशाली घोड़े के समान वे **प्रीतः**=प्रीणित करनेवाले हैं। शक्ति देकर प्रीति (प्रसन्नता) उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधाति**=धारण करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु ही वस्तुतः हमारा कल्याण करते हैं। हमारी बुराइयों को दूर करते हैं, शक्ति व ज्ञान देकर जीवन को प्रशस्त बनाते हैं।

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दुर्लभ दीप्तिवाले प्रभु

दुरोकशोचिः क्रतुर्न नित्यो जायेव योनावरं विश्वस्मै।
चित्रो यदभ्राट्छ्वेतो न विक्षु रथो न रुक्मी त्वेषः समत्सु॥ ३॥

१. वे प्रभु **दुरोकशोचिः**=(उच समवाये=ओक) दुर्लभ दीप्तिवाले हैं। गीता में कहा है कि **'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥** हज़ारों सूर्यों की दीप्ति आकाश मे उठ खड़ी हो तो शायद उस प्रभु की दीप्ति के कुछ तुल्य हो सके। २. **क्रतुः न**=संकल्प के समान अथवा ज्ञान की भाँति वह **नित्यः**=अन्दर से होनेवाला है। जैसे संकल्प हृदय में स्थित है, उसी प्रकार वे प्रभु सदा हमारे हृदय में स्थित हैं। ३. **योनौ**=गृह में **इव**=जिस प्रकार **जाया**=पत्नी **विश्वस्मै अरम्**=सबके लिए, सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समर्थ होती है व सब सन्तानों के जीवन को अलंकृत करती है, उसी प्रकार प्रभु सब भक्तों की आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं और सब भक्तों के जीवनों को गुणालंकृत करते हैं। ४. वे प्रभु **चित्रः**=अद्भुत हैं। **यत् अभ्राट्**=जब चमकते हैं, अर्थात् अद्भुत दीप्तिवाले हैं। **विक्षु**=प्रजाओं में **श्वेतः न**=अत्यन्त शुभ्र के समान हैं। वस्तुतः जब प्रभु भक्तों के हृदयों में दीप्त होते हैं तब उनके जीवनों को अत्यन्त शुद्ध बना देते हैं। ५. वे प्रभु **रथो न रुक्मी**=एक स्वर्ण के रथ (Golden chariot) के समान हैं जो भी जीव इस स्वर्णरथ

पर आरोहण करता है, वह अपनी यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण कर पाता है। वे प्रभु इस भक्त के लिए **समत्सु**=संग्रामों में **त्वेषः**=दीप्ति के समान हैं। वासनाओं के साथ संग्राम में इस प्रभु के तेज से ही तेजस्वी होकर हम विजय प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु अत्यन्त दुर्लभ दीप्तिवाले हैं। वे ही हमारे जीवनों को दीप्ति से दीप्त करते हैं और संग्रामों में विजय प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

कनीनां जारः

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥ ४॥

१. वे प्रभु अपने भक्त के अन्तःकरण में **अमं दधाति**=शक्ति को उसी प्रकार धारण करते हैं **इव**=जिस प्रकार **सृष्टा सेना**=प्रेरित की हुई सेना बल को धारण करती है। २. प्रभु की उपासना से उपासक की शक्ति **अस्तुः**=अस्त्र फेंकनेवाले की **त्वेषप्रतीका**=दीप्त मुखवाली **विद्युत् न**=वज्र के समान होती है। जैसे वज्र शत्रुओं का संहार करता है, वैसे ही उपासक की शक्ति वासनारूप शत्रुओं का संहार करती है। ३. उपासक के लिए **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **ह**=निश्चय से **जातः**=प्रादुर्भूत हुए हैं। **यमः**=वह नियन्ता प्रभु ही **जनित्वम्**=उपासक की शक्तियों के विकास के कारण हैं। वे प्रभु **कनीनां जारः**=(कनयति=to lessen) न्यूनताओं को जीर्ण करनेवाले हैं तथा **जनीनाम्**=विकासों के **पतिः**=रक्षक हैं, अर्थात् वे प्रभु न्यूनताओं को दूर करके हमारे विकास का कारण बनते हैं।

भावार्थ—उपासना से शक्ति प्राप्त होती है, जीवन का विकास होता है, न्यूनताएँ दूर होती हैं तथा विकास की वृद्धि व रक्षण होता है।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

स्वर्दृशीक प्रभु

तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्।
सिन्धुर्न क्षोदः प्र नीचीरैनोन्नवन्त गावः स्व१र्दृशीके॥ ५॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को जो **इद्धम्**=ज्ञानज्योति से सर्वतः दीप्त हैं, **वयम्**=हम उसी प्रकार प्राप्त होते हैं **न**=जैसे **गावः**=गौएँ **अस्तम्**=घर को। 'किस साधन से प्राप्त होते हैं'—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **वः**=तुम्हारे **चराथा**=(चरन्त्या पश्वाहुत्या—निरु० १०।२१) अत्यन्त तीव्र गतिवाले काम-क्रोधादि पशुओं की आहुति से, अर्थात् सामान्यतः मनुष्यों में जो काम-क्रोधादि पाशविक वृत्तियों का निवास है, जो वृत्तियों मनुष्य को अत्यन्त अशान्त बना देती हैं, इनकी आहुति देने से। काम-क्रोधादि के भस्मीकरण से ही हम उस प्रभु को प्राप्त करते हैं। (ख) **वसत्या**=(निवसन्त्यौषधाहुत्या—निरु०) उत्तम निवास के कारणभूत यव व व्रीहि (जौ-चावल) आदि औषधों (व्रीहियवौ दिवस्पुत्रौ अमृत्यौ) की आहुति से, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के लिए हम व्रीहि-यवादि सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हैं। इस प्रकार प्रभु प्राप्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—(क) काम-क्रोधादि को भस्म करना और (ख) जौ-चावल आदि सात्त्विक अन्नों का सेवन करना। २. जब हम इस प्रकार प्रभु को प्राप्त करते हैं तब वे प्रभु **सिन्धुः न क्षोदः**=स्यन्दनशील जल की भाँति **नीचीः**=(निरामञ्चतीः) अत्यन्त

उद्गत होती हुई ज्ञान की ज्वालाओं को **प्र ऐनोत्**=हमारे हृदयोदेशों में प्रेरित करते हैं। जिस प्रकार जलधारा का प्रवाह स्वाभाविक होता है, उसी प्रकार हममें ज्ञानधाराओं का प्रवाह स्वाभाविक हो जाता है। वस्तुतः **गावः**=सम्पूर्ण ज्ञानरश्मियाँ **स्वर्दृशीके**=आदित्य के समान दर्शनीय (आदित्यवर्णम्) प्रभु में **नवन्त**=संगत होती हैं। सम्पूर्ण ज्ञानरश्मियाँ उस प्रभु में हैं और जो भी प्रभु को प्राप्त करता है, वह इन ज्ञानरश्मियों से अपने को दीप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए काम-दहन व सात्त्विक अन्न सेवन आवश्यक हैं। वे प्रभु हमें अपनी ज्ञानरश्मियों से दीप्त करते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि वे प्रभु हमारे अद्भुत धन हैं (१)। वे ही क्षेम के धारक हैं (२)। दुर्लभ दीप्तिवाले हैं (३)। हमारी न्यूनताओं को दूर करते हैं और (४) हमें ज्ञान की किरणों को प्राप्त कराते हैं (५)। वे प्रभु उपासकों में ही प्रादुर्भूत होते हैं—

[६७] सप्तषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

हव्यवाट् प्रभु

वनेषु जायुर्मर्तेषु मित्रो वृणीते श्रुष्टिं राजेवाजुर्यम्।
क्षेमो न साधुः क्रतुर्न भद्रो भुवत्स्वाधीर्होता हव्यवाट्॥ १॥

१. वे प्रभु **वनेषु**=उपासकों में (वन संभक्तौ) अथवा एकान्त देशों में **जायुः**= प्रादुर्भूत होते हैं। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु उस प्रभु के प्रकाश को उपासक ही देखता है। एकान्त स्थान में ध्यान करनेवाला ही उस हृदयस्थ प्रभु का साक्षात्कार करता है। २. वे प्रभु **मर्तेषु**=मनुष्यों में **मित्रः**=उन्हें पाप से बचानेवाले (प्रमीतेस्त्रायते) साथी हैं। वे प्रभु **श्रुष्टिम्**=शीघ्रता से, अनालस्यभाव से कार्यों को सम्पन्न करनेवाले यज्ञशील पुरुष को ही **वृणीते**=वरते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे **राजा**=एक राजा **अजुर्यम्**=जीर्णता से रहित दृढाङ्ग पुरुष को वरता है। ३. वे प्रभु **क्षेमः न**=कल्याण करनेवाले की भाँति **साधः**= हमारे कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं और **क्रतुः न**=कर्म करनेवाले के समान **भद्रः**=कल्याण करनेवाले हैं। वे प्रभु **स्वाधीः**=(सु+अधी) सदा उत्तम कर्मों और प्रज्ञानोंवाले **भुवत्**=हैं। ४. वे प्रभु ही **होता**=इस सृष्टियज्ञ के करनेवाले तथा **हव्यवाट्**=हव्य=उत्तम पदार्थों प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु के उपासक बनकर हम हव्य पदार्थों को क्यों न प्राप्त करेंगे?

भावार्थ—उपासक के हृदय में प्रभु का प्रादुर्भाव होता है। वे प्रभु ही सब पदार्थों के देनेवाले हैं।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ज्ञानपूर्वक स्तवन

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद्गुहा निषीदन्।
विदन्तीमत्र नरो धियंधा हृदा यत्तष्टान्मन्त्राँ अशंसन्॥ २॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को हव्यवाट् कहा था। उसी का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि—वे प्रभु **हस्ते**=अपने हाथ में **विश्वानि**=सब **नृम्णा**=धनों को **दधानः**=धारण करते हुए और **गुहा निषीदन्**=अन्तःकरणरूप गुहा में स्थित हुए हुए **देवान्**=ज्ञानपूर्वक स्तुति करनेवाले सब दिव्य

पुरुषों को **अमे**=बल में **धातृ**=धारण करते हैं। जो भी प्रभु को हृदयस्थरूपेण अनुभव करता है वह अपने में शक्ति का अनुभव करता है। प्रभुभक्त को किन्हीं भी आवश्यक धनों की कमी नहीं रहती। २. **अत्र**=यहाँ, इस मानवजीवन में **धियं धाः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों का धारण करनेवाले **नरः**=उन्नतिशील पुरुष **ईम्**=निश्चय से **विदन्ति**=उस प्रभु को जानते हैं, परन्तु जानते तब हैं **यत्**=जब **हृदा**=हृदय से, अत्यन्त श्रद्धा से **तष्टान्**=अतिसूक्ष्म रीति से विवेचित किये हुए, जिन्हें समझने का प्रयत्न किया गया है उन **मन्त्रान्**=वेदमन्त्रों का **अशंसन्**=स्तवन के लिए उच्चारण करते हैं। एवं, प्रभु-प्राप्ति के लिए 'ज्ञान, कर्म (धी) व उपासन तीनों ही आवश्यक हैं। यदि इनको अपने में समन्वित करके हम प्रभु को प्राप्त करते हैं तो वे प्रभु हमारे लिए सब धनों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु का उपासन ही साधन है। वे प्रभु हमारे लिए सब धनों को हाथ में लिये हुए हैं। स्तोताओं को वे शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ब्रह्माण्ड का धारक प्रभु

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः॥ ३॥

१. **अजः न**=गति के द्वारा सब अवाञ्छनीय तत्त्वों को दूर करनेवाले के समान (अज गतिक्षेपणयोः) **क्षाम्**=सबको निवास देनेवाली **पृथिवीम्**=पृथिवी को वे प्रभु **दाधार**=धारण करते हैं। वे प्रभु ही **सत्यैः मन्त्रेभिः**=सत्य मन्त्रों के द्वारा, अपने पूर्ण शुद्धज्ञान से **द्यां तस्तम्भ**=द्युलोक को थामते हैं। पृथिवी व द्युलोक का धारण गति व ज्ञान के द्वारा प्रभु ही कर रहे हैं। २. जिस प्रकार जड़जगत् में द्युलोक से पृथिवीलोक तक सारे ब्रह्माण्ड को प्रभु धारण कर रहे हैं, उसी प्रकार अपने मित्र जीव में आप **प्रिया पदानि**='वैश्वानर, तैजस् व प्राज्ञ' नामक तीनों प्रिय पदों की **नि पाहि**=रक्षा करें। आपकी कृपा से आपका भक्त 'सबका हित करनेवाला' बने (वैश्वानर), हित कर सकने के लिए वह तेजस्वी और ज्ञानी हो (तैजस्-प्राज्ञ)। ३. आप इस मित्र में **पश्वः**=काम-क्रोधादि पशुओं को भी **नि पाहि**=निश्चय से सुरक्षित कीजिए। ये पशु उच्छृङ्खलता से घूमते न रहें, अपितु पिंजरे में क़ैद हुए सिंहादि की भाँति ये भी सुनियन्त्रित होकर शरीर की शोभा बढ़ानेवाले हों। इस प्रकार आप अपने इस मित्र को **विश्वायुः**=पूर्णजीवन प्राप्त करानेवाले हों। ४. **अग्ने**=हे प्रकाशस्वरूप अग्रणी प्रभो! आप **गुहा गुहं गाः**=बुद्धि के भी अत्यन्त गूढ़ स्थान में गये हुए हो, अर्थात् आपका दर्शन तो अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से होता है—'**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**'।

भावार्थ—प्रभु अपनी गति व ज्ञान से ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं, जीव को उन्नत स्थिति प्राप्त कराते हैं और सूक्ष्म बुद्धि से देखे जाते हैं।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वसु-प्रवचन

य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य।
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद्वसूनि प्र ववाचास्मै॥ ४॥

१. **यः**=जो पुरुष **गुहा भवन्तम्**=बुद्धिरूपी गुहा में निवास करनेवाले प्रभु को **ईम्**=निश्चय

से **चिकेत**=जानता है और **यः**=जो **ऋतस्य धाराम्**=ऋत की वाणी को, सत्य ज्ञान की प्रतिपादिका वेदवाणी को **आससाद**=सर्वथा प्राप्त करता है, अर्थात् जो चित्तवृत्ति के निरोध से हृदय में प्रभु-दर्शन करता है और वेदवाणी के अध्ययन से सत्यज्ञान प्राप्त करता है, २. और ऋत की धाराओं को प्राप्त करने से **ये**=जो **ऋता**=सत्य व यज्ञों का **सपन्तः**=सेवन करते हुए **विचृतन्ति**=अविद्या-ग्रन्थियों का विकिरण या विक्षेपण करते हैं **अस्मै**=इस व्यक्ति के लिए **आत् इत्**=ठीक इसके पश्चात्, बिना किसी विलम्ब के **वसूनि**=वसुओं का **प्रववाच**=वे प्रभु उपदेश करते हैं। निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों का इसे वे प्रभु ज्ञान कराते हैं और सब ऐश्वर्यों को इसे प्रदान करते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु को हम जानें, सत्य की प्रतिपादिका वेदवाणी को प्राप्त करें और ऋत का सेवन करते हुए अविद्या-ग्रन्थि को विनष्ट करें। प्रभु हमारे लिए वसुओं का प्रवचन करेंगे।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभुरूप गृह में

वि यो वी॒रुत्सु॒ रोध॒न्महि॒त्वोत प्र॒जा उ॒त प्र॒सूष्व॒न्तः।
चित्ति॑र॒पां दमे॑ वि॒श्वायुः॒ सद्मे॑व॒ धीराः॒ सं॒माय॑ चक्रुः॥ ५॥

१. **यः**=जो प्रभु **वीरुत्सु**=इन प्रतानिनी (फैलनेवाली) लताओं में **महित्वा**=अपनी महिमा से **विरोधत्**=विविध पुष्पादिकों को उत्पन्न करते हैं **उत**=और **प्रजाः**=इन फलों को उत्पन्न करते हैं, **उत**=तथा **प्रसुषु अन्तः**=माताओं में—मातृगर्भों में **प्रजाः**=सन्तानों को प्रकट करते हैं। २. जो प्रभु **अपाम्**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) प्रजाओं के लिए **चित्तिः**=ज्ञान देनेवाले हैं। सर्गारम्भ में प्रभु ही तो ज्ञान देनेवाले हैं—'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' पा०यो०सू० १।२६। ३. वे प्रभु **दमे**=दमन के होने पर **विश्वायुः**=पूर्णायु देनेवाले हैं। प्रभु ने शरीर में वीर्य आदि धातुओं की उत्पत्ति की ऐसी सुव्यवस्था की है कि यदि मनुष्य संयम द्वारा इनका अपव्यय न होने दे तो शरीर पूरी सौ वर्ष की आयु तक चलता है। ४. इस प्रभु को **धीराः**=ज्ञानी पुरुष **सद्म इव संमाय**=घर-सा बनाकर, अर्थात् प्रभु को ही जीवन का आधार बनाकर **चक्रुः**=जीवन के कार्यों को करते हैं। प्रभुरूप गृह में रहते हुए उन्हें किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं होती। विघ्नों से न घबराते हुए ये उत्साह से अपने कार्यों में लगे रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा लताओं पर विकसित होनेवाले पुष्पों व फलों में दिखती है, यही महिमा मातृगर्भ में विकसित होनेवाली सन्तान में प्रकट होती है। ये प्रभु ही ज्ञान देनेवाले हैं। वे संयमी को पूर्णायु प्राप्त कराते हैं। धीर पुरुष प्रभु को ही घर बनाकर कार्यों में लगे रहते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में प्रभु को हव्यवाट् कहा है (१)। उस प्रभु का ही हमें ज्ञानपूर्वक स्तवन करना चाहिए (२)। प्रभु ही ब्रह्माण्ड के धारक हैं (३)। हमें इस प्रभु को जानने का प्रयत्न करना चाहिए (४)। प्रभु को ही घर बनाकर, ब्रह्मस्थ होकर कार्यों में लगे रहना चाहिए (५)। 'अपने को परिपक्व करनेवाला प्रभु का ही उपासन करता है'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[६८] अष्टषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

उपस्थान से परिपाक

श्रीणन्नुप स्थाद्दिवं भुरण्युः स्थातुश्चरथमक्तून्व्यूर्णोत्।
परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद्देवो देवानां महित्वा॥ १॥

१. **श्रीणन्**=(श्री पाके) अपना परिपाक करनेवाला **उपस्थात्**=(उपतिष्ठेत्) प्रभु का उपासन करे।। प्रभुनिष्ठ व्यक्ति अपने जीवन का सुन्दर परिपाक कर पाता है। आचार्य को 'मृत्यु' कहते हैं। यह आचार्य विद्यार्थी का ज्ञानाग्नि द्वारा परिपाक करता है (भ्रस्ज पाके)। प्रभु भी **दिवं भुरण्युः**=ज्ञान का भरण करनेवाले हैं। इस ज्ञान से ही तो भक्त के जीवन का परिपाक करते हैं। २. वह प्रभु **स्थातुः चरथम्**=स्थावर-जंगम, चराचर-उभयात्मक जगत् को **व्यूर्णोत**=विशेषरूप से आच्छादित करते हैं। सारे ब्रह्माण्ड को वे अपने में धारण करते हैं और ब्रह्माण्ड को धारण करते हुए जीवों के हृदयों में **अक्तून्**=ज्ञान की रश्मियों को प्रकाशित करते हैं। हृदयों को ज्ञानरश्मियों से प्रकाशित करके इन जीवों को वे जीवनमार्ग के दर्शन के योग्य बनाते हैं। ३. वास्तविकता तो यह है **यत्**=कि वे **एकः देवः**=अद्वितीय मुख्य देव प्रभु ही **एषां विश्वेषां देवानाम्**=इन सब देवों के **महित्वा**= (महत्वानि) महत्त्वों को **परिभुवत्**=परितः व्याप्त करके वर्तमान हो रहे हैं। इन सब देवों को प्रभु ही देवत्व प्राप्त कराते हैं **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'** उस देव की दीप्ति से ही ये सब देव दीप्त हो रहे हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** (श्वेता०उप०६।१९)'।

भावार्थ—जीवन के परिपाक के लिए प्रभु का उपस्थान आवश्यक है। प्रभु ही सबको देवत्व प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'क्रतु, देवत्व व अमृत' (मोक्षमार्ग)

आदित्ते विश्वे क्रतुं जुषन्त शुष्काद्यद्देव जीवो जनिष्ठाः।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः॥ २॥

१. हे **देव**=ज्ञानज्योति से देदीप्यमान प्रभो! **यत्**=जब **शुष्कात्**=(धर्मानुष्ठानतपसः—द०) उपवास व व्रतादि धर्मों के अनुष्ठानरूप तप से शरीरस्थ अवाञ्छनीय तत्त्वों का शोषण होता है तब आप **जीवः**=नवजीवन देते हुए **जनिष्ठाः**=प्रादुर्भूत होते हो। तपस्या से हृदय निर्मल होकर उसमें प्रभु का प्रकाश होता है। **आत् इत्**=इसके ठीक पश्चात् **ते विश्वे**=वे सब तपस्वी लोग **क्रतुं जुषन्त**=ज्ञान व कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। ज्ञान व कर्म का प्रसङ्ग तो उनके जीवन में पहले भी चलता था, परन्तु अब प्रभु का प्रकाश होने पर इन ज्ञानपूर्वक कर्मों में उनकी प्रीति पहले से अधिक हो जाती है। ब्रह्मविदां वरिष्ठ लोग—ब्रह्मज्ञानी लोग अधिक क्रियामय जीवनवाले हो जाते हैं—**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**'। २. ये **विश्वे**=सब **नाम सपन्तः**=आपके नाम का सेवन करते हुए और **ऋतं सपन्तः**=यज्ञादि उत्तम सत्यकर्मों को सेवन करते हुए **देवत्वं भजन्त**=देवत्व को प्राप्त करते हैं। देवत्व-प्राप्ति का मार्ग नाम और ऋत का सेवन ही है। इनके सेवन से हृदय शुद्ध बना रहता है। 'अकर्मण्यता व प्रभुभक्ति का अभाव' ही मनुष्य को असुर बनानेवाले हैं। २. ये देवत्व को प्राप्त करनेवाले लोग **एवैः**=क्रियाशीलता

के द्वारा **अमृतम्**=नीरोगता का भी लाभ करते हैं। कर्म में लगे रहने से शरीर की शक्ति स्थिर रहती है, हृदय में बुरे विचार उत्पन्न नहीं होते, एवं इस गतिमयता से शरीर व मन दोनों का स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—तपस्या से प्रभु का प्रकाश होता है और इससे जीवन में ज्ञान व कर्म का विकास होता है। नाम व ऋत (यज्ञ) के सेवन से देवत्व की प्राप्ति होती है और क्रियाशीलता से नीरोगता बनी रहती है।

नोट—प्रस्तुत मन्त्र में 'क्रतु, देवत्व व अमृत'-शब्दों का यह क्रम सूचित करता है कि ज्ञानपूर्वक कर्मों से (क्रतु) ही देवत्व की प्राप्ति होती है। देव बनकर मनुष्य अमर हो जाता है। यही मोक्ष-मार्ग है।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ऋत

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीतिर्विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः।
यस्तुभ्यं दाशाद्यो वा ते शिक्षात्तस्मै चिकित्वान्रयिं दयस्व॥ ३॥

१. हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारे जीवनों में सदा **ऋतस्य**=ऋत की, सत्य की ही **प्रेषाः**=प्रेरणाएँ प्राप्त हों। हम अन्तःस्थित आपसे दी जानेवाली सत्य की प्रेरणाओं को सुनें। हम **ऋतस्य धीतिः**=ऋत का ध्यान व पान करनेवाले बनें। हमारा जीवन ऋतमय हो। अनृत को छोड़कर हम सत्य को प्राप्त करें। **विश्वायुः**=आप ही हमें सम्पूर्ण जीवन को प्राप्त करानेवाले हैं। २. आपमें ही **विश्वे**=सब **अपांसि**=कर्मों को **चक्रुः**=करते हैं—**'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति'**–जीव प्रभु में ही कर्मों को धारण करता है। वस्तुतः क्रियामात्र प्रभु की शक्ति से हो रही है, जीव को अज्ञानवश कर्तृत्व का अहंकार हो जाता है। ज्ञानी पुरुष तो सब कर्मों को प्रभु-अर्पण करके ही संसार में चलते हैं। ३. हे प्रभो! **यः**=जो भी **तुभ्यम् दाशात्**=आपके प्रति अपने को दे डालता है, **वा यः**=या जो **ते शिक्षात्**=आपसे शक्तिसम्पन्न होने की कामना करता है अथवा आपसे ज्ञान ग्रहण करना चाहता है **तस्मै**=उसके लिए **चिकित्वान्**=पूर्ण ज्ञानी होते हुए आप **रयिम्**=धनों को **दयस्व**=दीजिए (दय=दान)। आप अपने ज्ञान से 'उसके लिए क्या हितकारक है', यह जानते ही हैं। बस, उसी हितकर धन को आप शरणागत व्यक्ति को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन ऋतमय हो। हम प्रभु में स्थित होकर कार्य करनेवाले बनें। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु हमें आवश्यक धन अवश्य प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ज्ञानी में प्रभु का निवास

होता निषत्तो मनोरपत्ये स चिन्न्वासां पती रयीणाम्।
इच्छन्त रेतो मिथस्तनूषु सं जानत स्वैर्दक्षैरमूराः॥ ४॥

१. वह **होता**=सब आवश्यक पदार्थों का देनेवाला प्रभु **मनोः अपत्ये**=ज्ञानी की सन्तानों, अर्थात् अत्यन्त ज्ञानी पुरुषों में **निषत्तः**=निश्चय से आसीन होता है। सर्वव्यापकता के कारण प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु उनकी सर्वव्यापकता को अनुभव करनेवाला ही उसकी सत्ता का

लाभ उठा पाता है। २. वह अनुभवी ही यह समझता है कि **सः**=वह प्रभु **चित् नु**=ही **आसां रयीणाम्**=इन धनों के **पतिः**=स्वामी हैं। इस तत्त्वद्रष्टा को अपने सब कोशों के पूर्ण होने पर भी इन कोशों के धनों का गर्व नहीं होता। ३. ये लोग **तनूषु**=शरीरों के निमित्त, अर्थात् सन्तान को जन्म देने के निमित्त **रेतः**=शक्ति को **मिथः**=परस्पर सम्बद्ध होकर पुत्ररूप में परिणत हुई **इच्छन्त**=चाहते हैं। इस शक्ति के संमिश्रण से उत्पन्न हुए शरीर में भी ये प्रभु की महिमा को देखते हैं। ४. **अमूराः**=ज्ञानी लोग अथवा (अम गतौ) कर्मनिष्ठ लोग **स्वैः दक्षैः**=आत्मबलों के साथ **संजानत**=संज्ञानवाले होते हैं, आत्मिक बल से युक्त होते हैं और उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त किये हुए होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग प्रभु को हृदयस्थरूपेण देखते हैं। उसी को सब धनों का स्वामी समझते हैं। शक्तियों के मेल से उत्पन्न होनेवाली सन्तान में उन्हें प्रभु की महिमा दिखती है और ये आत्मिक बल व ज्ञान से युक्त होकर क्रियाशील जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—**पराशरः शाक्त्यः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सच्चे पुत्र

पि॒तुर्न पु॒त्राः क्रतुं॑ जुषन्त॒ श्रोष॒न्ये अ॑स्य॒ शासं॑ तु॒रासः॑।
वि राय॑ और्णो॒द्दुरः॑ पुरु॒क्षुः पि॒पेश॒ नाकं॑ स्तृ॒भिर्दमू॑नाः॥ ५॥

१. **पितुः पुत्राः न**=जो व्यक्ति पिता के सच्चे पुत्रों के समान होते हैं वे **क्रतुं जुषन्त**=यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। पुत्र वही है जो सुचरितों से पिता को प्रीणित करता है। इसी प्रकार प्रभु का सच्चा पुत्र वही जीव है जोकि प्रभु के यज्ञात्मक जीवन बिताने के आदेश को पालता है। **ये**=जो **अस्य**=इस पिता के **शासम्**=आदेश को **श्रोषन्**=सुनते हैं **[सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा प्रोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥** गीता ३।१०] प्रभु ने यज्ञसहित प्रजाओं को उत्पन्न करके यही तो कहा कि इस यज्ञ से तुम फूलो-फलो, यह यज्ञ तुम्हारी इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो।, जो भी व्यक्ति प्रभु के इस आदेश को सुनते हैं वे **तुरासः**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले होते हैं। २. [ते]=वे **पुरुक्षुः**=(क्षु=अन्न) पालक और पूरक अन्नवाले प्रभु भी इस यज्ञात्मक जीवन बितानेवाले सच्चे पुत्र के लिए **रायः दुरः**=धन के द्वारों को **वि और्णोत्**=खोल देते हैं, अथवा **दुरः**=यज्ञ के द्वारभूत-साधनभूत धनों को **वि और्णोत्**=प्राप्त करानेवाले हैं। इन यज्ञात्मक जीवन बितानेवाले पुरुषों के लिए ही **दमूनाः**=सम्पूर्ण संसार का शासक **नाकम्**=द्युलोक को **स्तृभिः**=सितारों [Stars] से **पिपेश**=अलंकृत कर देता है। इन यज्ञशील पुरुषों का जन्म इन विविध लोकों में होता है। '**स्वर्गकामो यजेत**' यज्ञ के द्वारा ये इन स्वर्गभूत लोकों को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सच्चा पुत्र वही है जो प्रभु के यज्ञात्मक जीवन बिताने के आदेश का पालन करता है। प्रभु इसे यज्ञार्थ धन प्राप्त कराते हैं और यज्ञात्मक लोकों में जन्म देते हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि जीवन के परिपाक के लिए उपस्थान आवश्यक है (१)। ज्ञानपूर्वक कर्मों से देवत्व की प्राप्ति होती है (२)। हम यही चाहते हैं कि हमारा जीवन 'ऋतमय' हो (३)। प्रभु का निवास ज्ञानी पुरुषों में ही होता है (४)। प्रभु के सच्चे पुत्र यज्ञात्मक जीवन बिताते हैं, इन यज्ञों से वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं (५)। 'वे प्रभु ही हमारे पिता हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[६९] एकोनसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पराशरः शक्तिपुत्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

पुत्र होते हुए पिता

शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः पप्रा समीची दिवो न ज्योतिः।
परि प्रजातः क्रत्वा बभूथ भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्॥ १॥

१. वे प्रभु **शुक्रः**=अत्यन्त शुद्ध हैं, **शुशुक्वान्**=भक्तों के जीवनों को शुद्ध व दीप्त बनानेवाले हैं, **उषः न**=जैसे उषःकाल आकर अन्धकार को जीर्ण कर देता है, उसी प्रकार वे प्रभु हमारे हृदयान्धकारों को **जारः**=जीर्ण करनेवाले हैं। २. वे प्रभु **दिवः न**=द्युलोक के समान **समीची**=(सम् अञ्च) परस्पर मिलकर गति करनेवाले **ज्योतिः पप्रा**=ज्योति से पूर्ण कर देते हैं। 'समीची' शब्द का अर्थ भाष्यों में द्यावापृथिवी किया गया है। **'द्यौरहं पृथिवी त्वम्'** इस वाक्य के अनुसार द्यावापृथिवी से यहाँ पति-पत्नी का ही ग्रहण है। वे पति-पत्नी जो बड़े प्रेम के साथ परस्पर सामञ्जयस्यपूर्वक जीवन बिताते हैं, इनके जीवनों को प्रभु उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से भर देते हैं, जैसेकि इस द्युलोक से पृथिवीलोक तक व्यापक आकाश को प्रकाश से। ३. **क्रत्वा**=यज्ञों व ज्ञान से **प्रजातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए ये प्रभु **परिबभूथ**=चारों ओर व्याप्त हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु प्रभु-दर्शन हमें तभी होता है जब हम अपने जीवन में यज्ञ व ज्ञान को स्थान देते हैं। ४. वे प्रभु यज्ञशेष का सेवन करनेवाले (हविर्भुक्=देव) अथवा प्रकाशमय जीवन बितानेवाले (दिव्=द्युति) **देवानाम्**=देवों के **पुत्रः सन्**=पुत्र होते हुए **पिता**=पिता हैं। 'पुत्र होते हुए पिता' इन शब्दों में विरोधाभास अलंकार है। इसका परिहार इस प्रकार है कि पुत्र का अर्थ 'पुनाति त्रायते'—पवित्र करता है और त्राण करता है, इस प्रकार कर लेने पर यह हो जाता है—'वे प्रभु देवों के जीवनों को पवित्र करते हैं और उनका त्राण करते हैं और इस प्रकार वे उनके पिता=पालयिता हैं।

भावार्थ—वे प्रभु दीप्त हैं, दीप्त करनेवाले हैं, देवों को पवित्रता व त्राण प्राप्त करते हुए उनके पालयिता हैं।

ऋषिः—**पराशरः शक्तिपुत्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वेधा व अदृप्त

वेधा अदृप्तो अग्निर्विजानन्नूधर्न गोनां स्वाद्मा पितूनाम्।
जने न शेव आहूर्यः सन्मध्ये निषत्तो रण्वो दुरोणे॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु द्वारा रक्षित व्यक्ति **वेधाः**=विधाता—निर्माता होता है। वह राष्ट्र में कुछ-न-कुछ निर्माण का कार्य करता है, परन्तु **अदृप्तः**=वह उन कर्मों का गर्व नहीं करता। कर्म करता और उन्हें प्रभु-अर्पण करता चलता है। इस प्रकार वह **'कुरु कर्म त्यजेति च'**—इस वैदिक सिद्धान्त का पालन करता है। इस सिद्धान्त पर आचरण करनेवाला यह व्यक्ति **अग्निः**=अग्रणी-आगे और आगे चलनेवाला प्रगतिशील होता है। यह विघ्नों से घबरा नहीं जाता। २. ऐसा बनने के लिए यह **गोनां ऊधः न**=गौओं के ऊधस् की भाँति, गौओं से प्राप्त दूध की भाँति **पितूनाम्**=अन्नों के **स्वाद्म**=स्वाद को **विजानन्**=विशेषरूप से जाननेवाला होता

है। इसे गौओं के दूध के स्वाद का पता होता है और अन्नों के स्वाद को यह जानता है। मद्य-मांसादि के स्वाद से यह अनभिज्ञ होता है, अर्थात् उन पदार्थों का यह कभी प्रयोग नहीं करता। वस्तुत: इस सात्त्विक आहार का ही यह परिणाम है कि यह अहंकारशून्य व प्रगतिशील होता है। ३. इस प्रकार सात्त्विक वृत्तिवाला यह व्यक्ति **जने**= लोगों में **शेवः न**=सुखकर की भाँति **आहूर्यः**=आह्वान के योग्य होता है। यह सब लोगों के हित की बात सोचता है और इसी से सब आपद्ग्रस्त मनुष्य समय-समय पर इसे ही पुकारते हैं। ४. आह्वातव्य **सन्**=होता हुआ यह **मध्ये निषत्तः**=लोगों के मध्य में आसीन होता है। यह संसार को माथापच्ची व मायाजाल समझकर दूर एकान्त स्थानों को ही नहीं ढूँढता रहता। यह **दुरोणे**=गृह में **रण्वः**=रमणीय होता है। घर की इसके कारण शोभा बढ़ती हैं। 'दूरोणे' का अर्थ (दुर् ओण्=अपनयन) 'बुराई का अपनयन होने पर'-यह भी हो सकता है कि बुराई को दूर कर यह रमणीय जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम कर्म करें परन्तु उन कर्मों का गर्व न करें और अपने जीवन को निर्दोष व रमणीय बनाएँ।

ऋषिः—**पराशरः शक्तिपुत्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रीतः वाजी

पु॒त्रो न जा॒तो र॒ण्वो दु॑रो॒णे वा॒जी न प्री॒तो विशो॒ वि ता॑रीत्।
विशो॒ यदह्वे॒ नृभि॒: सनी॑ळा अ॒ग्निर्दे॑व॒त्वा विश्वा॒न्यश्या: ॥ ३ ॥

१. प्रभुभक्त **जातः पुत्रः न**=उत्पन्न हुए-हुए पुत्र के समान **दुरोणे**=गृह में **रण्वः**= रमणीय होता है। इसके सुन्दर जीवन में सबको प्रसन्नता का अनुभव होता है। **वाजी न**=शक्तिशाली पुरुष की भाँति **प्रीतः**=प्रसन्न स्वभाववाला यह **विशः**=सब प्रजाओं को **वितारीत्**=कष्टों से पार करता है। निर्बल व क्षीण-शक्ति पुरुष ही चिड़चिड़े स्वभाव का होता है। यह औरों का हित करने में भी समर्थ नहीं होता। (वितारीत्=दु:खात् सन्तारयते-द०)। शक्तिशाली पुरुष प्रसन्न स्वभाववाला होता है तथा औरों के दु:ख को दूर करने का प्रयत्न करता है। ३. **विशः**=प्रजाओं को **यत्**=जब **अह्वे**=(आह्वयामि) पुकारता हूँ, उनको सम्बोधित करके कुछ कहता हूँ तो यही कहता हूँ कि तुम **नृभिः सनीळाः**=सब मनुष्यों के साथ समान नीडवाले हो, तुम सबको समान गृह प्रभु है, तुम सब प्रभु के पुत्र हो। ३. इस प्रकार उपदेश देने और समझानेवाला व्यक्ति ही **अग्निः**=अग्रणी है, उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाला है। यह **विश्वानि देवत्वा**=सब दिव्य गुणों को **अश्याः**=प्राप्त होता है (अश्नुते व्याप्नोति-सा०)। अग्नि वही है जो सभी में प्रभु का वास देखता है और सबको प्रभु में देखता है।

भावार्थ—हमारा जीवन रमणीय हो। हम शक्तिशाली व प्रसन्नचेता बनकर औरों के दु:खों को दूर करें। सभी को एक ही बात कहें कि 'सब एक ही प्रभुरूप घर में रहनेवाले हो'। इस भावना के द्वारा अपने में दिव्यत्व बढ़ाएँ।

ऋषिः—पराशरः शक्तिपुत्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

व्रतपालन व क्लेशविनाश

नकिष्ट एता व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः श्रुष्टिं चकर्थ।
तत्तु ते दंसो यदहन्त्समानैर्नृभिर्यद्युक्तो विवे रपांसि॥ ४॥

१. हे प्रभो! यह ठीक है **यत्**=कि जो भी **ते**=आपके **एता व्रता**=इन व्रतों को—वेदोपदिष्ट पुण्यकर्मों को **नकिः मिनन्ति**=नष्ट नहीं करते हैं, आप **एभ्यः नृभ्यः**=इन प्रगतिशील व्यक्तियों के लिए **श्रुष्टिम्**=सुख को **चकर्थ**=करते हैं। जो मनुष्य व्रतमय जीवन बिताते हैं, प्रभु उन्हें सुख देते हैं। पुण्य का परिणाम क्लेशों का नाश है। २. **तत्**=वह **तु**=तो **ते**=आपका **दंसः**=दर्शनीय कर्म है **यत्**=कि आप **अहन्**=सब विघ्नों को—विघ्नभूत व्यक्तियों को नष्ट करते हैं। आपकी कृपा से सब शुभ कर्म पूर्ण हुआ करते हैं। ३. हे प्रभो! आप **समानैः**=सबमें सम वृत्तिवाले अथवा (सम् आनयति) सबको उत्साहित करनेवाले **नृभिः**=पुरुषों से **यत् युक्तः**=जब युक्त होते हैं तब उन्हें निमित्त बनाकर **रपांसि**=सब दोषों को **विवेः**=दूर करते हैं। आप इन पुरुषों के द्वारा प्रजा में इस प्रकार उत्साहयुक्त प्रेरणा प्राप्त कराते हैं कि उन प्रजाओं के जीवनों से दोष दूर होकर उनमें शुभ गुणों का संचार होता है।

भावार्थ—व्रतपालन से क्लेश नष्ट होते हैं।

ऋषिः—पराशरः शक्तिपुत्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभुभक्त का दीप्त जीवन

उषो न जारो विभावोस्रः संज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै।
त्मना वहन्तो दुरो व्यृण्वन्नवन्त विश्वे स्व१र्दृशीके॥ ५॥

१. **उषः न जारः**=जैसे उषःकाल उदित होकर अन्धकार को जीर्ण कर देता है, वैसे ही यह प्रभुभक्त भी अज्ञानान्धकार को दूर करने का प्रयत्न करता है। २. उसके लिए **विभावा**=स्वयं विशिष्ट दीप्तिवाला बनता है। स्वयं के पास ज्ञान न होने पर वह औरों को क्या ज्ञान देगा! **उस्रः**=यह सबको निवास देनेवाला होता है, अर्थात् ज्ञान देने की प्रक्रिया में यह इस बात का बड़ा ध्यान रखता है कि यह उनको वह ज्ञान दे जिससे उनका निवास उत्तम बने। ३. **संज्ञातरूपः**=यह संज्ञात रूपवाला होता है। यह माया व चालाकी के कारण लोगों के लिए पहेली नहीं बना रहता। सरल होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति इसे समझता है। इसके मन, वाणी और कर्म में एकरूपता होती है। **अस्मै चिकेतत्**=इसके लिए प्रभु जानते हैं, अर्थात् प्रभु इसके लिए सब अभिमत फल प्राप्त कराते हैं। इसके योग-क्षेम में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। ४. ये लोग **त्मना**=स्वयं **वहन्तः**=अपना बोझ वहन करते हैं। ये आत्मनिर्भर होते हैं, औरों पर आश्रित होना इनके स्वभाव में नहीं होता। ५. ये **दुरः**=मोक्षद्वारों को **विऋण्वन्**=विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। 'शम, विचार, सन्तोष एवं साधुसंगम' रूप मोक्षद्वारों को ये अपने जीवन में विशेष स्थान देते हैं और इसी का यह परिणाम होता है कि ये **विश्वे**=सब **दृशीके**=दर्शनीय **स्वः**=उस प्रकाशस्वरूप प्रभु में **नवन्त**=(गच्छन्ति) जानेवाले होते हैं, ये प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—स्वयं अपने जीवन को 'दीप्त, सरल व आत्मनिर्भर' बनाकर हम 'शम, विचार, सन्तोष व साधुसंगम' रूप मोक्षद्वारों को प्राप्त करें और प्रभु-दर्शन के योग्य बनें।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में काव्यमय भाषा में कहा है कि प्रभु हमारे पुत्र हैं और हम पिता हैं (१)। इस प्रभु का सच्चा पुत्र दूध व अन्नों का ही स्वाद जानता है, मद्य-मांस के स्वाद को नहीं (२)। यह प्रजाओं में एकत्व का प्रचार करता है (३)। व्रतपालन करते हुए क्लेशों का नाश करता है (४)। दीप्त जीवनवाला बनकर लोगों को भी ज्ञान देता है और अन्ततः प्रभु-दर्शन करता है (५)। 'हम अपने जीवनों को पूर्ण बनाकर प्रभु का उपासन करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७०] सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—पराशरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'अग्नि व सुशोक' प्रभु का उपासन

वनेम पूर्वीर्यो मनीषा अग्निः सुशोको विश्वान्यश्याः।
आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म॥ १॥

१. **पूर्वीः**=अपने जीवन को पूरण करनेवाले हम—शरीर को नीरोग और मन को न्यूनताओं से रहित बनानेवाले हम **वनेम**=उस प्रभु का सम्भजन करें जो (क) **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **अर्यः**=गन्तव्य है। वे सब भूतों में गूढ प्रभु सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा सूक्ष्मबुद्धि से ही द्रष्टव्य हैं; (ख) **अग्निः**=वे अग्रणी हैं, गुणों के दृष्टिकोण से वे अग्रस्थान में स्थित हैं; वस्तुतः प्रत्येक गुण की वे चरमसीमा हैं; (ग) **सुशोकः**=उत्तम दीप्तिवाले हैं, उनका ज्ञान देदीप्यमान है, निर्भ्रान्त ज्ञानवाले हैं; (घ) **विश्वानि अश्याः**=सब भूतों में वे व्याप्त हैं। २. वे प्रभु **दैव्यानि**=सूर्यादि देवों से सम्बद्ध **व्रतानि**=व्रतों को **आचिकित्वान्** पूर्णरूप से जानते हैं। प्रत्येक देव की गति प्रभु के ज्ञान का विषय है। उसके शासन में ही तो ये अपने-अपने मार्ग पर आक्रमण कर रहे हैं ३. वे प्रभु **मानुषस्य जनस्य**=मानुष जन के **जन्म**=जन्म को भी **आ** (चिकित्वान्) पूर्णरूप से जानते हैं। इनके कर्मों को ठीक-ठाक जानते हुए ही वे इन्हें कर्मानुसार विविध फल प्राप्त कराते हैं। जड़-चेतन कोई भी प्रभु के ज्ञान-क्षेत्र को लाँघ नहीं पाता।

भावार्थ—हम उस प्रभु का भजन करें जो बुद्धि के द्वारा दर्शनीय हैं, अग्नि व सुदीप्त होते हुए सबको व्याप्त किये हुए हैं। वे प्रभु सूर्यादि देवों के व्रतों को जानते हुए मानव के जन्म को भी पूर्णतया जानते हैं।

ऋषिः—पराशरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

चराचर में व्यापक प्रभु

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः॥ २॥

१. **यः**=जो प्रभु **अपां गर्भः**=सब प्रजाओं के मध्य में अवस्थित हैं और **वनानाम्**=ज्ञानरश्मियों के **गर्भः**=मध्य में स्थित हैं। सब प्रजाओं के मध्य में, उनके हृदयों में स्थित हुए-हुए उनको ज्ञान देनेवाले हैं। २. वे प्रभु **स्थाताम्**=स्थावर पदार्थों के **गर्भः**=मध्य में स्थित हैं **च**=तथा **चरथां गर्भः**=जंगम पदार्थों के भी मध्य में स्थित हैं। इस चराचर सम्पूर्ण जगत् में वे प्रभु व्याप्त हैं। ३. **अस्मै**=गत मन्त्र में वर्णित उपासक के लिए वे प्रभु **अद्रौ चित् अन्तः**=पर्वत के अन्दर भी विद्यमान हैं और **दुरोणे**=गृह में भी व्याप्त हैं। क्या पर्वतों में और क्या घरों में, सर्वत्र यह

प्रभु की महिमा को देखता है। ४. **विशां न विश्वः**= (न इति चार्थे) सब प्रजाओं का वे प्रभु निवासस्थान हैं। **'विशन्ति भूतानि यस्मिन् सर्वेषु विशतीति वा'**—सब प्रजाओं में वे प्रभु प्रविष्ट हैं और सब प्रजाएँ उसी में निविष्ट हैं। **अमृतः**=वे प्रभु अमृत हैं, सब उपासकों को अमृतत्व प्राप्त करानेवाले हैं और **स्वाधीः**=उत्तम ध्यान व कर्म से युक्त हैं। सब प्राणियों का ध्यान करते हैं और उनके कल्याण के लिए सब आवश्यक कर्मों को करनेवाले हैं (धी=ज्ञान व कर्म)। प्रभु के न ज्ञान में कमी है, न कर्म में। इस प्रभु का ही हम भजन करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम सर्वव्यापक, अमृत, सर्वज्ञ प्रभु की उपासना करें।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

क्षपावान् व रयि-प्रदाता

स हि क्षपावाँ अग्नी रयीणां दाशद्यो अस्मा अरं सूक्तैः।
एता चिकित्वो भूमा नि पाहि देवानां जन्म मर्ताँश्च विद्वान्॥ ३॥

१. **सः**=वे प्रभु **हि**=निश्चय से **क्षपावान्**=सब राक्षस-वृत्तियों के संहार करनेवाले हैं (क्षपयति, Throws away), उपासक के हृदय से सब अशुभवृत्तियों को दूर करते हैं। इस प्रकार वे **अग्निः**=अग्रणी हैं। इन उपासकों को जीवन-पथ पर आगे और आगे ले-चलते हैं। २. **रयीणां दाशत्**=धनों के देनेवाले हैं, उस व्यक्ति के लिए **यः**=जोकि **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **सूक्तैः**=(सु+उक्त) उत्तम मधुर शब्दों के द्वारा **अरम्**=अपने जीवन को सुभूषित करते हैं (अरम्=भूषणम्), इसे शक्तिशाली बनाते हैं (अरम्=शक्ति) अथवा जो सूक्तों के द्वारा अपने जीवनों से द्वेष को दूर करते हैं (अरम्=वारण) सूक्तों को बोलने के लिए ही प्रभु ने हमें संसार में भेजा है—'सूक्ता ब्रूहि'। यदि हम प्रभु के आदेश का पालन करते हुए चलते हैं तो सब आवश्यक धनों के पात्र बनते हैं। ३. हे **चिकित्वः**=सर्वज्ञ प्रभो! **भूम**=इस पृथिवी पर **एता**=इन प्राणियों का—आपके सूक्तवचन बोलनेरूप आदेश का पालन करनेवालों का **निपाहि**=निश्चय से आप रक्षण कीजिए। **देवानां जन्म**=सूर्यादि देवों के जन्म को **च**=और **मर्तान्**=मनुष्यों को **विद्वान्**=आप जानते हैं। कोई भी वस्तु आपके ज्ञानक्षेत्र से परे नहीं हैं। सर्वज्ञ होने के कारण आपके रक्षण में कमी हो भी कैसे सकती है! आप धनों से भौतिक जीवनों की उन्नति में सहायक होते हैं और राक्षसवृत्तियों के संहार के द्वारा अध्यात्म-उन्नति में।

भावार्थ—जो भी अपने जीवन को सूक्तों से अलंकृत करता है, प्रभु उसे आवश्यक रयि=धन देते हैं और उसकी राक्षसवृत्तियों का संहार कर देते हैं।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सच्चा स्तोता

वर्धान्यं पूर्वीः क्षपो विरूपाः स्थातुश्च रथमृतप्रवीतम्।
अराधि होता स्व१र्निषत्तः कृण्वन्विश्वान्यपांसि सत्या॥ ४॥

१. **यम्**=जिस प्रभु को **पूर्वीः**=अपना पूरण करनेवाली, शरीर को नीरोग और मन को स्वस्थ बनानेवाली **क्षपः**=सब बुराइयों का संहार करनेवाली **विरूपाः**=विशिष्ट रूपवाली प्रजाएँ **वर्धान्**=बढ़ाती हैं, प्रभु के स्तवन के द्वारा प्रभु के प्रकाश को ये प्रजाएँ चारों ओर फैलानेवाली होती हैं। २. **ऋतप्रवीतम्**=(वी=गति) ऋतपूर्वक गति करनेवाला **स्थातुः च रथम्**=यह जड़-चेतन जगत् भी, चराचर सम्पूर्ण संसार भी **यं वर्धान्**=जिस प्रभु की महिमा का वर्धन कर

रहा है। इस ब्रह्माण्ड का एक-एक पिण्ड नियमितरूप से अपने-अपने मार्ग पर आक्रमण करता हुआ उस प्रभु की महिमा का विस्तार कर रहा है। ३. वस्तुतः उस प्रभु का **अराधि**=आराधन वही व्यक्ति करता है (कर्तरि लुङि व्यत्ययेन च्लेः चिण्—सा०) जो (क) **होता**=दानपूर्वक अदन करता है, यज्ञशेष का सेवन करता है, सारे-का-सारा स्वयं नहीं खा लेता; (ख) **स्वः निषत्तः**=जो सदा प्रकाश में स्थित होता है तथा (ग) **विश्वानि अपांसि**=सब कर्मों को **सत्या कृण्वन्**=सत्य करता हुआ होता है, जिसके कर्मों में असत्य का अंश नहीं होता। इसके कर्म हृदय की सद्भावना से किये जाते हैं, उत्तम प्रकार से किये जाते हैं और इसके कर्म स्वयं अपने में उत्तम होते हैं—**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥** —गीता १७। २६

भावार्थ—प्रभु का स्तवन वस्तुतः वे ही करते हैं जो (क) अपना पूरण करें, (ख) बुराइयों का संहार करें, (ग) तेजस्विता से विशिष्ट रूपवाले बनें, (घ) यज्ञशेष का सेवन करें, (ङ) प्रकाश में स्थित हों, ज्ञान-प्रधान जीवनवाले हों, (च) सत्यकर्मों को ही करें। यह ऋतपूर्वक गति करता हुआ सारा ब्रह्माण्ड ही प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अध्यात्म-सम्पत्ति की प्राप्ति

गोषु प्रशस्तिं वनेषु धिषे भरन्त विश्वे बलिं स्वर्णः।
वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन्पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त॥ ५॥

१. हे प्रभो! आप ही **वनेषु**=उपासकों में **गोषु**=ज्ञानेन्द्रिय-विषयक **प्रशस्तिम्**=उत्तमता को **धिषे**=स्थापित करते हैं अथवा आप ही **वनेषु**=हमारी ज्ञानरश्मियों में तथा **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में प्रशस्ति को स्थापित करते हैं। आपकी कृपा से हमारा ज्ञान उज्ज्वल होता है और ज्ञान की उज्ज्वलता के लिए ही आप हमारी ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाते हैं। पवित्र व उत्तम बनी हुई **विश्वे**=ये सब इन्द्रियाँ—ये सब देव (विश्वेदेवाः) **नः**=हमारे लिए **स्वः बलिम्**=प्रकाश की भेंट को **भरन्त**=प्राप्त कराती हैं। २. इस प्रकार ज्ञान को प्राप्त करानेवाले **नरः**=प्रगतिशील लोग **त्वा**=आपको **पुरुत्रा**=सर्वत्र, सब कार्यों में **विसपर्यन्**=विशेष रूप से पूजते हैं, कर्मों के द्वारा आपका अर्चन करते हैं, कर्मों को करते हुए उन्हें आपको अर्पित कर देते हैं। ज्ञान उन्हें निरहंकार बनाता है। ३. इस प्रकार आपके सच्चे पुत्र बनकर ये ज्ञानी लोग आपसे उसी प्रकार **वेदः**=अध्यात्म-सम्पत्ति को **विभरन्त**=अपने में भरते हैं **न**=जैसे **जिव्रेः पितुः**=वृद्ध पिता से उनके सुपुत्र **वेदः**=धन को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारी ज्ञानरश्मियाँ प्रशस्त हों, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम हों। ज्ञानी बनकर हम अपने कर्मों को प्रभु-अर्पण करते हुए प्रभु की अर्चना करें और उस परमपिता प्रभु से अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**याजुषीपंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अध्यात्म-सम्पत्ति

साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु॥ ६॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि ज्ञानी पुरुष कर्मों के द्वारा प्रभु का उपासन करता हुआ अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करता है। प्रस्तुत मन्त्र में उस अध्यात्म-सम्पत्ति का

उल्लेख इस प्रकार हुआ है—यह व्यक्ति **साधुः**=(साध्नोति परकार्यम्) सदा परहित को सिद्ध करनेवाला होता है। **'परोपकाराय सतां विभूतयः'**—इस उक्ति के अनुसार इसके ऐश्वर्य परोपकार के लिए ही होते हैं। **न गृध्नुः**=यह धनों में लालचवाला नहीं होता। धन में लालच होने पर उनका परोपकार में विनियोग सम्भव नहीं रहता। **अस्ता इव**=यह लोकहित के लिए इन धनों को 'असु क्षेपणे' क्षिप्त करनेवाला होता है। अपनी आवश्यकताओं को फेंकता जाता है, कम और कम करता जाता है और इस प्रकार लोकहित के कार्यों में धन देनेवाला हो पाता है। **शूरः**=यह दानशूर होता है। धन के उचित विनियोग से दुःखियों के दुःख को शीर्ण करनेवाला होता है। ३. **याता इव**=यह सदा आक्रान्ता की भाँति बना रहता है। कष्टों व बुराइयों के साथ सदा इसका युद्ध चलता है। यह उस युद्ध में बुराइयों पर प्रबल आक्रमण करता है और **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता है। इन **समत्सुः**=संग्रामों में यह **त्वेष**= खूब दीप्त=चमकवाला होता है। इन युद्धों में यह पूर्ण उत्साहवाला होता है। लोककष्टों से संग्राम करता हुआ यह अधिक-से-अधिक चमकता है। यह 'सर्वभूतहितेरतार्थ' ही तो अध्यात्म-सम्पत्ति की पराकाष्ठा है। यह औरों के लिए जीता है, इसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं होती।

भावार्थ—साधुत्व, अलोलुपता, त्याग, शूरवीरता, बुराइयों पर आक्रमण, शत्रु के लिए भयंकरता, संग्राम-दीप्ति—ये सब मिलकर अध्यात्म-सम्पत्ति कहलाती हैं।

विशेष—हम 'अग्नि व सुशोक' प्रभु का उपासन करें (१)। वे प्रभु चराचर में व्यापक हैं (२)। क्षपावान् व रयिप्रदाता हैं (३)। प्रभु का सच्चा उपासक कर्मों में सत्यता लाता है (४)। ज्ञानपूर्वक कर्मों को करता हुआ उन्हें प्रभु के प्रति अर्पण करता हैं (५)। परहित में लगा रहकर यह अध्यात्म-सम्पत्ति का सञ्चय करता है (६)। 'हम प्रभुरूप पति की कामना करनेवाले हों'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

[७१] एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुरूप पति की प्राप्ति

उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः।
स्वसारः श्यावीमरुषीमजुष्रञ्चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः॥ १॥

१. **उशन्तम्**=उस हित की कामनावाले **नित्यं पतिं न**=शाश्वतकाल से रक्षक के रूप में वर्तमान उस पतिरूप प्रभु को **उशतीः**=चाहती हुई **जनयः**=अपना विकास करनेवाली **सनीळाः**=प्रभुरूप एक ही आश्रय में निवास करनेवाली **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली प्रजाएँ **उप**=उस प्रभु की उपासना करती हुई **प्रजिन्वन्**=तृप्ति को अनुभव करती हैं—उपासना में एक अवर्णनीय आनन्द प्राप्त करती हैं। २. ये प्रजाएँ 'नित्य पति' को—प्रभु को उसी प्रकार प्राप्त होती हैं **न**=जैसेकि **श्यावीम्**=(श्यैङ् गतौ) सदा नियम से आगमनवाली **अरुषीम्**=उषा को **गावः**=किरणें **अजुष्रन्**=प्राप्त होती हैं—सेवन करती हैं। जैसे उषा को किरणें नियम से प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार आत्मतत्त्व की ओर झुकाववाली प्रजाएँ उस प्रभु की नियमितरूप से उपासना करती हैं। उषा जैसे अन्धकार को दूर करती है, उसी प्रकार ये उपासना करनेवाली प्रजाएँ भी अपने हृदय-अन्धकार को दूर करके प्रकाशमय जीवन को बिताती हुई एक अद्भुत तृप्ति का अनुभव करती हैं।

भावार्थ—प्रभु को मैं उसी प्रकार चाहूँ जैसे पत्नी पति को चाहती है। मुझे प्रभु की उपासना उसी प्रकार प्राप्त हो जैसेकि उषा को किरणें प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अद्रि-भङ्ग

वी॒ळु चि॒द् दृ॒ळ्हा पि॒तरो॑ न उ॒क्थैरद्रिं॑ रुज॒न्नङ्गि॑रसो॒ रवे॑ण।
च॒क्रुर्दि॒वो बृ॑ह॒तो गा॒तुम॒स्मे अहः॒ स्व॑र्विविदुः के॒तुमु॒स्राः॥ २॥

१. **नः**=हममें से **पितरः**=अपना रक्षण करनेवाले, वासनाओं से अपने को आक्रान्त न होने देनेवाले और अतएव **अङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस के सञ्चारवाले व्यक्ति **वीळु चित्**=अत्यन्त शक्तिवाले भी **दृळ्हा**=दृढ़ **अद्रिम्**=पाँच पर्वोंवाले अविद्या-पर्वत को **उक्थैः**=स्तोत्रों से तथा **रवेण**=नाम के उच्चारण से **रुजन्**=भग्न व विदीर्ण कर देते हैं। अविद्या के पर्वत को नष्ट करना सुगम नहीं, तथापि प्रभु स्तवन व प्रभु-नामोच्चारण हमें इस प्रकार शक्ति प्राप्त कराता है कि हम इस पर्वत के विदारण में समर्थ होते हैं। ये विदारण करनेवाले व्यक्ति ही वस्तुतः पितर व अङ्गिरस हैं। २. अविद्या-पर्वत का विदारण करके ये पितर **अस्मे**=हमारे लिए **बृहतः दिवः**=वृद्धि के कारणभूत प्रकाश के **गातुम्**=मार्ग को **चक्रुः**=करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में ये जीवन के मार्ग को स्पष्ट देखते हैं और उसी मार्ग पर चलते हैं। ३. ये मार्ग पर चलनेवाले लोग **अहः**=(अह व्याप्तौ) सर्वव्यापक प्रभु को **स्वः**=प्रकाश व सुख को, **केतुम्**=ज्ञान को तथा **उस्राः**=इन्द्रियरूप गौओं को **विविदुः**=प्राप्त करते हैं। मार्ग पर चलते-चलते अन्त में लक्ष्यस्थान पर पहुँचते ही हैं। यह लक्ष्यस्थान प्रभु ही हैं। इस मार्ग पर चलते हुए ये सुखी होते हैं—**'मार्गस्थो नावसीदति'**=मार्गस्थ दुःखी थोड़े ही होता है, मार्ग से भटकने पर ही काँटे चुभते हैं। मार्ग पर चलने से बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती अपितु ज्ञानवृद्धि होती है तथा इन्द्रियाँ स्वस्थ बनी रहती हैं।

भावार्थ—अविद्या-पर्वत के विदारण का परिणाम यह होता है कि मार्ग पर चलते हुए हम अन्ततः प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मार्ग

दध॑न्नृ॒तं ध॒नय॑न्नस्य धी॒तिमादिद॒र्यो दि॑धि॒ष्वो॒३॒॑ विभृ॑त्राः।
अतृ॑ष्यन्तीर॒पसो॑ य॒न्त्यच्छा॑ दे॒वाञ्जन्म॒ प्रय॑सा व॒र्धय॑न्तीः॥ ३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि प्रभु के स्तोता ज्ञान के प्रकाश में मार्ग को देखते हैं। वह मार्ग यह है—ये लोग **ऋतम्**=ऋत को **दधन्**=धारण करते हैं। जो ठीक है उसी का पालन करते हैं। प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करते हैं (ऋत=Right)। ऋत शब्द यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त होता है। ये यज्ञ को धारण करते हैं। यज्ञात्मक जीवन बिताते हुए २. **अस्य**=इस प्रभु के **धीतिम्**=ध्यान को **धनयन्**=(धनमकुर्वन्) अपना धन बनाते हैं, प्रभु-ध्यान ही इनका धन हो जाता है। ३. **आत् इत्**=ऐसा करने के अनन्तर ये **अर्यः**=स्वामी बनते हैं, इन्द्रियों के अधिष्ठाता होते हैं, **दिधिष्वः**=मन को स्थान में धारण करनेवाले होते हैं, **विभृत्राः**=ज्ञान का भरण करनेवाले बनते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों, मन व बुद्धि को स्वाधीन

करके उन्हें ठीक मार्ग से कार्यों में व्यापृत करते हैं। ४. **अतृष्यन्तीः**=अब विषयों की प्यास से ऊपर उठे हुए ये लोग **अपसः अच्छ यन्ति**=कर्मों की ओर चलनेवाले होते हैं, सदा अपने कर्तव्यपालन का ध्यान करते हैं। ५. इस प्रकार **प्रयसा**=प्रकृष्ट यत्न के द्वारा अथवा हवि के द्वारा—दानपूर्वक अदन के द्वारा ये **देवान्**=दिव्य गुणों को तथा **जन्म**=मानवोचित विकासों को **वर्धयन्तीः**=अपने अन्दर बढ़ानेवाले होते हैं। **प्रयस्**=प्रयत्न व हवि दिव्यगुणों के विकास का साधन होता हैं और हमें विकसित जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—'ऋत का धारण, प्रभु-ध्यान को ही धन समझना, 'जितेन्द्रिय, एकाग्र मन व ज्ञान का धारण करनेवाला' बनना, विषयतृष्णा से ऊपर उठना, कर्त्तव्य का पालन व यत्नपूर्वक दिव्यगुणों का विकास', यही मार्ग है।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वैश्वानर अग्नि का प्राण द्वारा मन्थन

मथी॒द्यदीं॑ वि॒भृ॑तो मा॒तरि॒श्वा॑ गृ॒हेगृ॑हे श्ये॒तो जेन्यो॒ भूत् ।
आदीं॒ राज्ञे॒ न सही॑यसे॒ सचा॒ सन्ना दू॒त्यं१॒॑ भृग॑वाणो विवाय॥४॥

१. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **बिभृतः**=शरीर में 'प्राणापान-व्यान-समान-उदान' आदि रूप से विभक्त होकर धारण किया गया यह **मातरिश्वा**=वायु **मथीत्**=अग्नि का मन्थन करता है, अर्थात् प्राणवायु से जाठराग्नि प्रदीप्त की जाती है। जाठराग्नि ही सबका हित करनेवाली होने से 'वैश्वानर' अग्नि कही गई हैं। यह प्राणापान से युक्त होकर ही चतुर्विध अन्न का पाचन करती है। २. एवं, वायु जब इस जाठराग्नि को मन्थन द्वारा प्रचण्ड बनाता है तो यह **गृहे गृहे**=प्रत्येक शरीररूप गृह में **श्येतः**=(श्यैङ् गतौ) गतिवाली होती है और **जेन्यः**=रोगों व मलों का पराजय करनेवाली **भूत्**=होती है। ३. **आत् ईम्**=अब निश्चय से यह **भृगवाणः**=(भ्रस्ज पाके) रोगों का भून डालनेवाली, अग्नि **सचा सन्**=सदा इस प्राणवायु के साथ होती हुई **दूत्यम्**=शत्रु-सन्तानरूप कार्य को **आविवाय**=सम्यक् प्राप्त करती है। जाठराग्नि ठीक हो, प्राणायाम की साधना चलती हो तो फिर रोगों की आशंका नहीं रहती। यह अग्नि रोग-पराभव के लिए इस प्रकार सहायक होती है **न**=जैसेकि **सहीयसे राज्ञे**=शत्रु-पराभवकारी राजा के लिए उसका सैन्य सहायक होता है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा जाठराग्नि प्रदीप्त होकर रोगरूप शत्रुओं का पराभव करती है, जैसेकि बलवान् राजा के लिए उसका सैन्य शत्रुओं का पराभव करता है।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रस व अनासक्ति

म॒हे यत्पि॒त्र ईं॒ रसं॑ दि॒वे कर॒व त्स॑रत्पृश॒न्य॑श्चिकि॒त्वान्।
सृ॒जदस्ता॑ धृष॒ता दि॒द्युम॑स्मै॒ स्वायां॑ दे॒वो दु॑हि॒तरि॒ त्विषिं॑ धात्॥५॥

१. **यत्**=जब **महे**=उस महान् **दिवे**=प्रकाशमय **पित्रे**=सबके पालक प्रभु की प्राप्ति के लिए **ईम्**=निश्चय से **रसम्**=अपनी वाणी में माधुर्य को **कः**=उत्पन्न करता है। २. तथा **पृशन्यः**=(पृशन्=Attachment) आज तक संसार में आसक्त हुआ-हुआ यह **चिकित्वान्**=ज्ञानी बनकर, अपने अनुभव से **अवत्सरत्**=आसक्ति के बन्धन से दूर होता

है ३. तब **अस्मै**=इस साधक के लिए वे प्रभु **दिद्युम्**=दीप्यमान ज्ञान के वज्र को **सृजत्**=उत्पन्न करते हैं। इस **धृषता**=कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले ज्ञानवज्र से वह साधक **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला होता है। ४. जितना-जितना यह जीव शत्रुओं को परे फेंकनेवाला होता है, उतना-उतना ही **देवः**=वह ज्ञानज्योति से दीप्यमान प्रभु इस **स्वायां दुहितरि**=अपना प्रपूरण करनेवाले व्यक्ति में (दुह प्रपूरणे) **त्विषम्**=दीप्ति को, तेजस्विता को **धात्**=धारण करते हैं। ५. मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट है कि (क) हम अपने जीवन में रस व माधुर्य को पैदा करें, (ख) संसार के तत्त्व को समझकर आसक्ति से ऊपर उठें, (ग) प्रभुकृपा से हमें ज्ञानवज्र प्राप्त होगा, और (घ) जितना-जितना इस वज्र से कामादि शत्रुओं का धर्षण करके हम अपना पूरण करेंगे उतना-उतना तेजस्वी बन पाएँगे।

भावार्थ—वाणी का माधुर्य व अनासक्ति हमें प्रभु की ओर ले-चलती है। कामादि शत्रुओं को जीतकर हम तेजस्वी बनते हैं।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शरीररूप रथ व धन

स्व आ यस्तुभ्यं दम आ विभाति नमो वा दाशादुशतो अनु द्यून्।
वर्धो अग्ने वयो अस्य द्विबर्हा यासद्राया सरथं यं जुनासि॥ ६॥

१. **यः**=जो भी व्यक्ति **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **स्वे दमे**=अपने इस शरीररूप गृह में **आविभाति**=सब ओर चमकता है, अर्थात् अपने एक-एक कोश को अत्युत्तम बनाता है। प्रभु-प्राप्ति उसी को तो होती है जो अपने इस शरीररूप गृह को सचमुच **दम**=दमन से युक्त बनाता है—जो इन्द्रियों, मन व बुद्धि को ठीक से वश में रखता है। २. **वा**=या जो **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **उशतः**=हित की कामनावाले आपके प्रति **नमः दाशत्**=नमन को प्राप्त कराता है। प्रातःसायं प्रभु के चरणों में नतमस्तक होनेवाला व्यक्ति प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनता ही है। ३. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **द्विबर्हा**=आप शारीरिक व आत्मिक उभयविध वर्धन के कारण हैं। आप **अस्य**=इस नमन करनेवाले के **वयः**=जीवन को **वर्धा उ**=बढ़ाते ही हैं। प्रभुकृपा से यह उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता ही है। शारीरिक व आध्यात्मिक-दोनों प्रकार की उन्नतियों का प्रभु कारण बनते हैं। ४. हे प्रभो! **यं जुनासि**=जिसको भी आप प्रेरित करते हैं वह **सरथम्**=शरीररूप रथ के साथ **राया**=ऐश्वर्य के साथ **यासत्**=(संगच्छते) संगत होता है। वह उत्तम शरीररूप रथ और धन को प्राप्त होनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम इस शरीररूप रथ को दीप्त बनाएँ, प्रतिदिन प्रभु के प्रति नमनवाले हों। प्रभु हमारे जीवन को बढ़ाएँगे, हमें उत्तम शरीररूप रथ व धन प्राप्त होगा।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञानप्रधान न कि भोगप्रधान जीवन

अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः।
न जामिभिर्वि चिकिते वयो नो विदा देवेषु प्रमतिं चिकित्वान्॥ ७॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहे गये (राया यासत्) शब्दों का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि **अग्निम्**=इस प्रगतिशील जीव को **विश्वाः**=सब **पृक्षः**=अन्न (नि० २।७)

अभिसचन्ते=सब ओर से प्राप्त होते हैं। इसे किसी प्रकार से अन्नों की कमी नहीं होती। इसे उसी प्रकार अन्न प्राप्त होते हैं **न**=जैसेकि **सप्त**=सर्पणशील **यह्वीः**=महान् **स्रवतः**=नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र को प्राप्त होती हैं। २. **नः वयः**=हमारा जीवन **जामिभिः**=केवल सन्तानों को जन्म देनेवाली ज्ञानशून्य स्त्रियों के साथ ही **न विचिकते**=(कित् to live) नहीं बिता दिया जाता, अर्थात् केवल भोगविलास तक ही हम अपने जीवन को समाप्त नहीं कर देते। ३. **चिकित्वान्**=समझदार पुरुष **देवेषु**=विद्वानों में **प्रमतिम्**=प्रकृष्ट मति को **विदाः**=प्राप्त कराता है, विद्वानों के सम्पर्क में आकर वह अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए यत्नशील होता है। इस प्रकार इसका जीवन भोगप्रधान न बीतकर ज्ञानप्रधान ही बीतता है।

भावार्थ—प्रगतिशील प्रभुभक्त को खान-पान की कमी नहीं रहती। यह भोगप्रधान जीवन न बिताकर ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञान को बढ़ाने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

तेजस्वितामय सुन्दर जीवन

आ यदिषे नृपतिं तेज आनट् छुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्धमनवद्यं युवानं स्वाध्यं जनयत्सूदयच्च॥ ८॥

१. **यत्**=जब **नृपतिम्**='ना चासौ पतिश्च' प्रगतिशील व इन्द्रियों के स्वामी व्यक्ति को **इषे**=अन्न पाचन के लिए **आनट्**=जाठरग्निरूप **तेजः**=तेज **आ**=सर्वथा प्राप्त होता है। यह **रेतः**=शक्ति **अभीके**=संग्राम में **द्यौः**=(दिव्=विजिगीषा) सब काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतने की कामनावाली होती है। संक्षेप में (क) नृपति को अन्नपाचन के लिए जाठराग्नि को तेज प्राप्त होता है, (ख) अन्नपरिपाक से उत्पन्न शक्ति उसके शरीर में ही सिक्त होती है, (ग) इस शक्ति से यह क्रोधादि पर विजय पाता है। २. पूर्वोक्त तीन पद रखनेवाला **अग्निः**=प्रगतिशील जीव को अपने को **शर्धम्**=बलवान्, **अनवद्यम्**=प्रशस्त जीवनवाला **युवानम्**=तरुण अथवा बुराइयों से अपने को दूर करनेवाला तथा अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाला **स्वाध्यम्**=शोभनयज्ञ व शोभन कर्मोंवाला **जनयत्**=बनाता है **च**=और **सूदयत्**=अपने को सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करता है।

भावार्थ—अग्नि=प्रगतिशील जीव तेजस्विता का सम्पादन करके अपने जीवन को प्रशस्त बनाता है।

ऋषिः—**पराशरः** देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अमृतरक्षण

मनो न योऽध्वनः सद्य एत्येकः सत्रा सूरो वस्व ईशे।
राजाना मित्रावरुणा सुपाणी गोषु प्रियममृतं रक्षमाणा॥ ९॥

१. गतमन्त्रानुसार तेजस्विता को व्याप्त करनेवाला व्यक्ति वह होता है **यः**=जो **सूरः**=बुद्धिमान् **मनः न**=मन के अनुसार **अध्वनः**=(अध्वनः पारम्) मार्ग के पार को **सद्यः एति**=शीघ्रता से प्राप्त होता है, **एकः**=यह अकेला ही कर्तव्य-मार्ग पर आगे बढ़ता है, औरों के चलने की प्रतीक्षा नहीं करता। 'और चल रहे हैं या नहीं' यह नहीं देखता रहता, बड़ी स्फूर्ति के साथ अपने कर्तव्यों का पालन करता है। **सत्रा**=एक होता हुआ भी यह अपने को परमात्मा के साथ (सत्रा=सह) अनुभव करता है। इसी से तो यह अव्याकुलता के साथ आगे बढ़ता

है। **वस्वः ईशे**=यह सब वसुओं का ईश बनता है। प्रभु को अपना मित्र जानते हुए कर्तव्यपथ पर आगे बढ़ते जाना ही तो वसुओं की प्राप्ति का मार्ग है। २. एक घर में उपर्युक्त वृत्तिवाले पति-पत्नी **राजाना**=(क) इन्द्रियों के शासक होते हैं, (ख) दीप्त जाननेवाले होते हैं, (ग) व्यवस्थित (Regulated) क्रियावाले होते हैं। ये **मित्रावरुणा**=प्राणापान की साधनावाले अथवा सबसे प्रेम करनेवाले व द्वेष से दूर रहनेवाले होते हैं। **सुपाणी**=उत्तम हाथोंवाले, अर्थात् हाथों से सदा उत्तम कर्मों को उत्तमता से करनेवाले होते हैं। ये पति-पत्नी **गोषु**=अपनी इन्द्रियों में **प्रियम्**=आनन्द के जनक **अमृतम्**=अमृतत्व को **रक्षमाणा**=रक्षित करनेवाले होते हैं, अर्थात् इनकी इन्द्रियाँ विषय-वासनाओं के पीछे नहीं भागती, उनमें आसक्त नहीं होती, अतः एक आनन्द की अनुभूति का कारण बनती हैं।

भावार्थ—हम अपने कर्तव्य-पथ पर आगे बढ़ें। इस बात का ध्यान करें कि हमारी इन्द्रियाँ विषय-प्रवण न हो जाएँ।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

बुढ़ापे से पूर्व ही

मा नो॑ अग्ने स॒ख्या पित्र्या॑णि॒ प्र म॑र्षिष्ठा अ॒भि वि॒दुष्क॒विः सन्।
नभो॒ न रू॒पं ज॑रि॒मा मि॑नाति पु॒रा तस्या॑ अ॒भिश॑स्ते॒रधी॑हि॥ १०॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **नः**=हमारी **पित्र्याणि सख्या**=पिता-सम्बन्धी मित्रताओं को—पिता को पुत्र के साथ जैसे स्वाभाविक प्रेम होता है, उसी प्रकार मुझे जो तुझसे प्रेम है, उस प्रेम को **मा प्रमर्षिष्ठाः**=नष्ट मत होने दे। **अभि**=दोनों ओर **विदुः**=ज्ञानी, ज्ञानी ही नहीं **कविः**=क्रान्तदर्शी **सन्**=होता हुआ तू इन मित्रताओं को नष्ट मत कर। प्रभु की मित्रता को छोड़कर प्रकृति में फँसने का क्या परिणाम है, इसे भी तू समझता है और प्रकृति से अनासक्त होकर प्रभु की मैत्री को आनन्द को भी तू जानता है। इस प्रकार दोनों को जानता हुआ तू प्रेय में न फँसकर श्रेय का ही अवलम्बन करना। २. **न**=जैसे **रूपम्**=एक (Robe) वस्त्र के तुल्य बादल **नभः**=आकाश को आवृत कर लेता है, उसी प्रकार **जरिमा**=बुढ़ापा **रूपम्**=सब सौन्दर्य को **मिनाति**=हिंसित कर देता है। **तस्याः अभिशस्तेः पुरा**=इस मुसीबत से पहले ही **अधीहि**=तू ज्ञान प्राप्त करनेवाला बन, अपने स्वरूप को पहचाननेवाला बन। यदि **'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति'**—यहाँ ही तूने अपने रूप को जान लिया तो ठीक है, **'न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः'**—और यदि यहाँ नहीं जाना तो सिवाय महाविनाश के कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—हम प्रभु व प्रकृति की तुलना करते हुए प्रभु की मैत्री को अपनाएँ। बुढ़ापे से पूर्व ही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ कि हम प्रभुरूप पति को प्राप्त करें (१)। वासनारूप पर्वत का विदारण करें (२)। ऋत के मार्ग पर चलें (३)। प्राणायाम द्वारा जाठराग्नि को ठीक रक्खें (४)। मधुरभाषी व अनासक्त बनें (५)। शरीररूप रथ ठीक हो तथा धन को प्राप्त करें (६)। हमारा जीवन ज्ञानप्रधान हो न कि भोगप्रधान (७)। हम तेजस्वितामय सुन्दर जीवन को प्राप्त करें (८)। अमृतत्व का रक्षण करें (९)। बुढ़ापे से पूर्व ही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें (१०)। 'ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु के सनातन काव्य वेद को अपनाएँ'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७२] द्विसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

चार बातें

नि काव्या॑ वे॒धसः॒ शश्व॑तस्क॒र्हस्ते॒ दधा॑नो॒ नर्या॑ पु॒रूणि॑।
अ॒ग्निर्भु॑वद्रयि॒पती॑ रयी॒णां स॒त्रा च॑क्रा॒णो अ॒मृता॑नि॒ विश्वा॑॥ १॥

१. गतसूक्त की समाप्ति पर कहा था कि 'ज्ञान प्राप्त कर'। उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए यह **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **वेधसः**=इस ज्ञानपुञ्ज विधाता प्रभु के **शश्वतः काव्या**=इन सनातन काव्यरूप वेदों को **नि कः**=निश्चय से अपने हृदय में स्थापित करता है, प्रभु की इस सनातन वाणी का अध्ययन करता है और अपने ज्ञान को बढ़ाता है। २. ज्ञानवृद्धि के साथ यह **हस्ते**=अपने हाथों में **पुरूणि**=पालन व पूरणात्मक **नर्या**=नरहितकारी कार्यों को **दधानः**=धारण करता है। इसके सब कार्य लोकहितात्मक, यज्ञरूप ही होते हैं। ३. यह अग्नि **रयीणां रयिपतिः**=उत्तम धनों का पति **भुवत्**=होता है, इसे अपने इन लोकहितात्मक कार्यों के लिए धन की कमी नहीं रहती। ४. इसके साथ यह **सत्रा**=सदा प्रभु के साथ विचरता हुआ— प्रभु को न भूलता हुआ **विश्वा**=सब **अमृतानि**=अमृतत्वों को **चक्राणः**=करनेवाला होता है, अर्थात् यह अपनी इन्द्रियों की इस प्रकार साधना करता है कि यह कभी भी विषयों के पीछे नहीं मरता। इसकी इन्द्रियाँ विषयों में अनासक्त भाव से ही विचरण करती हैं।

भावार्थ—अग्नि वेदवाणी से ज्ञान प्राप्त करता है, लोकहित के कार्यों में व्यापृत रहता है, धनों का ईश बनता है और विषयों में आसक्त नहीं होता।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-प्राप्ति

अ॒स्मे व॒त्सं परि॒ षन्तं॒ न वि॑न्दन्नि॒च्छन्तो॒ विश्वे॑ अ॒मृता॒ अमू॑राः।
श्र॒म॒युवः॑ पद॒व्यो॑ धियं॒धास्त॒स्थुः प॒दे प॑र॒मे चार्व॒ग्नेः॥ २॥

१. **अस्मे**=हममें **वत्सम्**=निवास करते हुए और **परिषन्तम्**=चारों ओर, सर्वत्र, कण-कण में व्याप्त उस प्रभु को **इच्छन्तः विश्वे**=चाहनेवाले सब **न विन्दन्**=प्राप्त नहीं करते। प्रभुप्राप्ति की इच्छा तो प्रायः सभी को होती है, परन्तु इच्छामात्र से उस प्रभु को पाया तो नहीं जा सकता। वे प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं। हमारे अन्दर ही निवास कर रहे हैं। ऐसा होते हुए भी हम उस प्रभु को प्राप्त नहीं कर पाते। कारण यही है कि इस प्रकृति की चमक से हमारी आँखें चुँधियायी रहती हैं और उस सत्यस्वरूप प्रभु को हम देख नहीं पाते। २. जो भी व्यक्ति **अमृताः**=इन विषयों के पीछे मरते नहीं और अतएव **अमूराः**=मूढ नहीं बन गये **श्रमयुवः**=श्रम को अपने साथ जोड़नेवाले हैं, अर्थात् श्रम के स्वभाववाले हैं, **पदव्यः**=मार्ग पर चलनेवाले हैं और **धियन्धाः**=ज्ञान व कर्म को धारण करनेवाले हैं, वे **अग्नेः**=उस सर्वाग्रणी प्रभु के **परमे पदे**=सर्वोत्कृष्ट स्थान मोक्ष में **चारु तस्थुः**=सुन्दरता से स्थित होते हैं। उस प्रभु को पाने के लिए आवश्यक है कि हम 'विषयों से अनाकृष्ट, समझदार, श्रमशील, मार्गस्थ तथा ज्ञान व कर्म का धारण करनेवाले बनें। उस प्रभु का वह सर्वोत्कृष्ट स्थान ही हमारा लक्ष्य है, वहीं हमें पहुँचना है। विषयों के पीछे मरते रहे तो क्यों वहाँ पहुँच पाएँगे।

भावार्थ—आश्चर्य है कि अपने ही भीतर वर्तमान प्रभु को हम जानते नहीं। उसे जानने के लिए हम विषयों के पीछे मूढ न बनें।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

तीन वर्ष तक

तिस्रो यद॑ग्ने श॒रद॒स्त्वामिच्छुचिं॑ घृ॒तेन॒ शुच॑यः सप॒र्यान्।
नामा॑नि चिद्दधिरे य॒ज्ञिया॒न्यसू॑दयन्त त॒न्वः॑ सु॒जा॑ताः॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=जो **तिस्रः शरदः**=तीन वर्ष तक निरन्तर **शुचिम्**=अत्यन्त पवित्र **त्वाम्**=आपकी **शुचयः**=पवित्र ज्ञानवाले बनकर **इत्**=निश्चय से **घृतेन**=मलों के क्षरण से तथा ज्ञान की दीप्ति से **सपर्यान्**=पूजा करते हैं तथा **यज्ञियानि**=संगतिकरण योग्य अथवा पूज्य (पवित्र) **नामानि चित्**=नामों को भी **दधिरे**=धारण करते हैं, अर्थात् आपके पवित्र नामों का उच्चारण करते हैं तो वे **सुजाताः**=उत्तम विकासवाले व्यक्ति **तन्वः**=अपने शरीरों को **असूदयन्त**=सूदूर फेंक (Throw away) देते हैं, अर्थात् वे फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसते। २. इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में जन्म-मरण के चक्र से बचने के लिए साधन के रूप में दो बातें उपस्थित की गई हैं—(क) एक तो यह कि तीन वर्ष तक निरन्तर अपने को पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हुए उस पवित्र प्रभु का प्रातः-सायं उपासन करें और (ख) दूसरा यह कि खाली समय में प्रभु के पवित्र नामों का उच्चारण करें। इन दोनों साधनों के अवलम्बन से हमारे जीवन का उत्तम विकास होगा और जीवन का उद्देश्य पूर्ण होकर पुनः जन्म लेना अनावश्यक हो जाएगा। हम मुक्ति के योग्य हो जाएँगे।

भावार्थ—साधना के लिए हम तीन वर्ष तक अविच्छिन्नरूप से प्रतिदिन प्रभु की उपासना करें और प्रभु के पवित्र नामों का उच्चारण करें।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-प्राप्ति के चार साधन

आ रोद॑सी बृह॒ती वेवि॑दा॒नाः प्र रु॒द्रिया॑ जभ्रिरे य॒ज्ञिया॑सः।
वि॒दन्मर्तो॑ ने॒मधि॑ता चिकि॒त्वान॒ग्निं प॒दे प॑र॒मे त॑स्थि॒वांस॑म्॥ ४॥

१. **बृहती**=वृद्धि के कारणभूत, अर्थात् सब प्रकार से विकसित **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **आवेविदानाः**=सब प्रकार से प्राप्त करते हुए (विद् लाभे), शरीर और मस्तिष्क दोनों का समुचित विकास करते हुए **रुद्रियाः**=प्राणसाधना करनेवाले (रुद्राः प्राणा तेषु साधवः), **यज्ञियासः**=यज्ञों में उत्तम लोग **अग्निम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **प्रजभ्रिरे**=प्रकर्षेण ग्रहण करनेवाले होते हैं। प्रभु की प्राप्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—(क) शरीर व मस्तिष्क का समुचित विकास, (ख) प्राणसाधना, (ग) यज्ञशीलता। २. **चिकित्वान् मर्तः**=समझदार मनुष्य **नेमधिता**=संग्राम के द्वारा (नेम का शब्दार्थ आधा है, संग्राम में सेना दो भागों में बँटी होती है, आधी एक ओर आधी दूसरी ओर, इसलिए 'नेमधित्' संग्राम का नाम है)। हमारे हृदयक्षेत्र में भी देव व असुर वृत्तियों का संग्राम चलता ही है। **परमे पदे तस्थिवांसम्**=परम पद में स्थित **अग्निम्**=उस परमात्मा को **विदत्**=प्राप्त करता है। एवं, पूर्वार्ध के तीन साधनों के साथ यह 'संग्राम' प्रभु-प्राप्ति का चौथा साधन होता है। इन्हीं वासनाओं के साथ किये जानेवाले संग्राम से प्रभु का पूजन पुराणों में उपदिष्ट है—**'इत्थं युद्धैश्च यज्ञैश्च यजामो विष्णुमीश्वरम्'**।

भावार्थ—'शरीर व मस्तिष्क का समुचित विकास, प्राणसाधना, यज्ञशीलता व वासनाओं के साथ संग्राम'—इन चार साधनों से परमेष्ठी प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषि:—**पराशर:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

सखा के सन्दर्शन में

संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः॥ ५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित साधनों से **संजानाना:**=सम्यग्ज्ञानवाले होते हुए ज्ञानी पुरुष **पत्नीवन्त:**=पत्नियोंवाले, अर्थात् अपनी-अपनी पत्नियों के साथ **अभिज्ञु**=अभिगत जानु होकर—घुटनों को मिलाकर आसन पर बैठते हुए **उपसीदन्**=आपकी उपासना करते हैं। प्रभु की उपासना में स्थित हुए ये **नमस्यं त्वाम्**=नमस्कार के योग्य आपको **नमस्यन्**=पूजित करते हैं। २. **रिरिक्वांस:**=अपने शरीरों को रोगों से तथा मनों को मलों से रहित करते हुए ये लोग **तन्व:**=अपने शरीरों को **स्वा:**=आत्मीय **कृण्वन्त:**=करते हैं। नीरोग शरीर व निर्मल मन प्रभु के अधिष्ठान बनते हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए शरीर व मन का विरेचन द्वारा शोधन आवश्यक है। ३. इस प्रकार ये शोधन करनेवाले व्यक्ति **सखा**=उस प्रभु के मित्र होते हैं (सख्य:) और **सख्यु निमिषि**=उस सनातन मित्र प्रभु के दर्शन में **रक्षमाणा:**=अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। प्रभु के संदर्शन में किसी प्रकार के वासनाओं का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—गृहस्थ पत्नी के साथ प्रभु का उपासन व पूजन करें। अपने को निर्मल बनाकर हम प्रभु के हो जाएँ। प्रभु के मित्र बनते हुए हम उस मित्र के सन्दर्शन में अपने को पापों से बचानेवाले हों।

ऋषि:—**पराशर:**॥ देवता—**अग्नि:**॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

(सात गुणा तीन) इक्कीस यज्ञ

त्रिः सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत्पदाविदन्निहिता यज्ञियासः।
तेभी रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशूञ्च स्थातृञ्चरथं च पाहि॥ ६॥

१. **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=जो **त्रि: सप्त**=तीन गुणा सात-सात पाक यज्ञ, सात हविर्यज्ञ तथा सात सोमयज्ञ-इस प्रकार कुल इक्कीस **गुह्यानि**=अत्यन्त रहस्यमय **पदा**=यज्ञ हैं (पद्यते गम्यते स्वर्ग एभि:) वे **त्वे इत्**=आपमें ही **निहिता**=निहित हैं, उनके आधार आप ही हैं—**'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'**-सर्वव्यापक (अह व्याप्तौ) प्रभु ही सब यज्ञों के भोक्ता और प्रभु हैं। 'ये त्रिषप्ता:०' इन अथर्वशब्दों में मनुष्य के २१ बलों का उल्लेख हैं। ये इक्कीस यज्ञ उन सब बलों को उत्पन्न व विकसित करनेवाले हैं। इन यज्ञों का लाभ मनुष्य के ज्ञान का पूर्णतया विषय नहीं बनता। देखने में तो अग्नि में डाले गये घृत व अन्य पदार्थ नष्ट-से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार ये यज्ञ कुछ रहस्यमय-से ही हैं। २. **यज्ञियास:**=यज्ञिय वृत्तिवाले धार्मिक लोग इन यज्ञों को **अविदन्**=जानते हैं व उनका अनुष्ठान करते हैं। वस्तुत: इन यज्ञों का निर्देश प्रभु ने ब्रह्म (वेद) में किया है। इन यज्ञों को करके हम प्रभु की ही प्रतिष्ठा कर रहे होते हैं—**'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'** (गीता ३।१५)। ३. **तेभि:**=इन यज्ञों से **सजोषा:**=(सजोषस:) प्रीतिपूर्वक यज्ञों का सेवन करनेवाले ये यज्ञीय लोग **अमृतम्**=नीरोगता का **रक्षन्ते**=रक्षण करते हैं। **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**—प्रभु कहते हैं कि अग्निहोत्र में डाली गई हवि के द्वारा मैं तुझे सब ज्ञात और अज्ञात रोगों से मुक्त कराता हूँ। ४. प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू इन यज्ञों के द्वारा **पशून् च**=गौ आदि पशुओं

को **स्थातॄन्**=स्थावर वृक्षादि को **चरथं च**=और पशु-व्यतिरिक्त अन्य गतिशील प्राणियों को **पाहि**=सुरक्षित कर। यज्ञ से सारा वातावरण ही सुन्दर बनता है। उस शुद्ध वातावरण में सभी स्थावर-जंगम, चराचर ठीक से विकास को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—इक्कीस प्रकार के यज्ञ हैं, यज्ञों के स्वामी प्रभु हैं। इन यज्ञों से चराचर का कल्याण होता है।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवयानमार्ग का उपदेश

वि॒द्वाँ अ॑ग्ने व॒युना॑नि क्षिती॒नां व्या॑नुषक्छु॒रुधो॑ जी॒वसे॑ धाः।
अ॒न्त॒र्वि॒द्वाँ अध्व॑नो देव॒याना॒नत॑न्द्रो दू॒तो अ॑भवो हवि॒र्वाट्॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! आप **क्षितीनाम्**=मनुष्यों के **वयुनानि**=प्रज्ञानों व कर्मों को [ऋ० ५।४८।२ पर द०] **विद्वान्**=जानते हुए **शुरुधः**=(क्षुद्रूपस्य शोकस्य रोधयित्रीरिषः—सा०) भूखरूपी शोक को दूर करनेवाले अन्नों को **आनुषक्**= निरन्तर **जीवसे**=जीवन के लिए **विधाः**=विशेषरूप से धारण करते हैं। प्रभु हमारे कर्मों और प्रज्ञानों को जानते हुए उनके अनुसार ही हमें अन्न प्राप्त कराते हैं, जिनका प्रयोग करते हुए हम अभाव के कष्ट से ऊपर उठकर जीवन को उन्नत करने में समर्थ होते हैं। २. हे प्रभो! **अन्तः**=अन्तःस्थित हुए-हुए आप **देवयानान् अध्वनः**=देवताओं से चलने योग्य मार्गों को **विद्वान्**=जानते हुए **अतन्द्रः**=आलस्यशून्य, **दूतः**=उन मार्गों का सन्देश देनेवाले **अभवः**=होते हैं। हृदयस्थरूपेण वे प्रभु हमें निरन्तर उत्तम मार्गों का ज्ञान दे रहे हैं। इस प्रेरणारूप कार्य में प्रभु कभी आलस्य व प्रमाद नहीं करते। वे प्रभु हमें इन मार्गों का ज्ञान देते हुए, मार्गस्थ व्यक्तियों के लिए **हविः वाट्**=हवि को प्राप्त कराते हैं। इन व्यक्तियों के लिए प्रभुकृपा से यज्ञीय पदार्थों की कभी कमी नहीं रहती।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें उत्तम अन्न प्राप्त होते हैं। प्रभु हमें देवयान-मार्गों का उपदेश करते हैं और हमें हविर्द्रव्य प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ज्ञानैश्वर्य और सात महान् द्वार

स्वा॒ध्यो॑ दि॒व आ स॒प्त य॒ह्वी रा॒यो दुरो॒ व्यृ॑त॒ज्ञा अ॑जानन्।
वि॒दद् गव्यं॑ स॒रमा॑ दृ॒ळ्हमू॒र्वं येना॒ नु कं॒ मानु॑षी॒ भोज॑ते॒ विट्॥ ८॥

१. **स्वाध्यः**=उत्तम ध्यानवाले **ऋतज्ञाः**=सत्य ज्ञानवाले पुरुष **दिवः रायः**=ज्ञान- प्रकाशरूप ऐश्वर्य के **सप्त**=सात **यह्वीः**=महान् **दुरः**=द्वारों को **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' वि आ अजानन्**=विशेष रूप से, पूर्णतया जानते हैं। ध्यान व सत्य ज्ञान को अपनानेवाले पुरुष, 'कानों, नासिका-छिद्रों, आँखों व मुख' को ज्ञान-प्राप्ति के सात महान् द्वारों के रूप में जानते हैं। इन द्वारों से वे ज्ञानप्राप्ति के लिए यत्नशील होते हैं। २. इन ध्यानी व ज्ञानी पुरुषों की **सरमा**=(सरान् बोधान् मिमीते इति सरमा—द०) बुद्धि **गव्यम्**=इन्द्रियों सम्बन्धी **दृळ्हम्**=प्रबल **ऊर्वम्**=दोष-हिंसन को **विदत्**=प्राप्त करती है। ये बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों को निर्दोष बनाते हैं। वस्तुतः बुद्धि का व्यापार ठीक होने पर मन व इन्द्रियाँ भी निर्दोष बनी रहती हैं। बुद्धि मन का शासन करती है, मन इन्द्रियों का। इस प्रकार इन्द्रियाँ विषय-पंक में फँसने से बची रहती हैं।

३. यह इन्द्रियदोष-हिंसन जीवन में उस उत्तम स्थिति को पैदा करता है **येन**=जिससे **मानुषी विट्**=यह मानुषी प्रजा **नु**=अब, इस जीवन में **कम्**=सुख को **भोजते**=भोगती है। वस्तुतः इन्द्रियों की निर्दोषता ही 'सुख' है—**सु**=उत्तम **ख**=इन्द्रियाँ। इन्द्रियों का दूषित होना ही दुःख का कारण बनता है। बुद्धि इनके दोष का हिंसन करती है, इसलिए बुद्धि को शुद्ध रखने के लिए ही हमारा प्रयत्न होना चाहिए।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानरूप ऐश्वर्य का द्वार बनें। बुद्धि की शुद्धता इन्द्रियों के दोषों को दूर करे और हमारे जीवनों को सुखमय बनाये।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

माता व पुत्र

आ ये विश्वा॑ स्वप॒त्यानि॑ त॒स्थुः कृ॑ण्वा॒नासो॑ अमृत॒त्वाय॑ गा॒तुम्।
म॒ह्ना म॒हद्भिः॑ पृथि॒वी वि त॑स्थे मा॒ता पु॒त्रैरदि॑ति॒र्धाय॑से॒ वेः॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रिय-दोष दूर हो जाने के कारण **ये**=जो भी लोग **विश्वा**=सब **सु अपत्यानि**=शोभन, अपतनहेतुभूत कार्यों को **आतस्थुः**=अनुष्ठित करते हैं वे **अमृतत्वाय**=मोक्षप्राप्ति के लिए **गातुम्**=मार्ग को **कृण्वानासः**=करनेवाले होते हैं। उत्तम कार्यों के परिणामस्वरूप मोक्ष-प्राप्ति होती है। इन उत्तम कर्मों के द्वारा **महद्भिः**=प्रभु का पूजन करनेवाले लोगों से (मह पूजायाम्) **पृथिवी**=यह पृथिवी **मह्ना**=महिमा के साथ, गौरव के साथ **वितस्थे**=विशेष रूप से स्थित होती है। पृथिवी का धारण इन पवित्र कर्मों के करनेवाले लोगों से ही होता है। पृथिवी इन लोगों से इस प्रकार गौरव से स्थित होती है जिस प्रकार कि **माता पुत्रैः**=एक माता अपने गुणी पुत्रों से गौरव का अनुभव करती हुई स्थित होती है। २. **अदितिः**=अदीना देवमाता **धायसे**=इनके धारण के लिए **वेः**=इन्हें प्राप्त होती है। यहाँ 'अदितिः' का अर्थ पृथिवी (नि० १।१) लिया जाए तो यह अर्थ होता है कि पृथिवी इनको धारण करने के लिए प्राप्त होती है। ये पृथिवी का धारण करते हैं, पृथिवी इनका धारण करती है। जैसे पहले माता पुत्रों का धारण करती है और फिर पुत्र माता का, इसी प्रकार ये लोग पृथिवी का धारण करते हैं और पृथिवी इनका।

भावार्थ—शोभन, अपतन के हेतुभूत कर्मों को करनेवाले ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। पृथिवी इन्हीं से गौरवान्वित होती है। इन्हीं का पृथिवी धारण करती है।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान के दो चक्षु

अधि॒ श्रियं॒ नि द॑धु॒श्चारु॑मस्मिन्दि॒वो यद॒क्षी अ॒मृता॒ अकृ॑ण्वन्।
अध॑ क्षरन्ति॒ सिन्ध॑वो॒ न सृ॒ष्टाः प्र नीची॑रग्ने॒ अरु॑षीरजानन्॥ १०॥

१. **यत्**=जब **अमृताः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले देववृत्ति के पुरुष **दिवः**=ज्ञान की **अक्षी**=आँखों को **अकृण्वन्**=खोलते हैं। यहाँ 'अपराविद्या' एक आँख है और 'पराविद्या' दूसरी आँख। इसी 'द्वे विद्ये वेदितव्ये' के विचार से ही यहाँ 'अक्षी' इस द्विवचन शब्द का प्रयोग है। जब विषयों से अनाक्रान्त पुरुष ज्ञान की इन दो आँखों को खोलते हैं तब **अस्मिन्**=इस जीवन में **चारुं श्रियम्**=सुन्दर शोभा को **अधिनिदधुः**=आधिक्येन धारण करते हैं। 'अपराविद्या' रूप आँख उन्हें रोगों व मृत्यु से बचाकर स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्रदान करती है और 'पराविद्या' रूप

आँख उन्हें संसार के स्वादों में फँसने से बचाती है। २. **अध**=अब **सृष्टाः सिन्धवः न**=उत्पन्न हुई-हुई जलधाराओं के समान इनके ज्ञानप्रवाह **नीचीः**=(नितरां अञ्चन्ति) निरन्तर क्रियाशील होकर **अग्ने**=आगे और आगे **प्रक्षरन्ति**= (संचलन्ति) चलते हैं। ये अमृतपुरुष **अरुषीः**=आरोचमान ज्ञानप्रवाहों को **अजानन्**=जाननेवाले होते हैं। इनका ज्ञान सर्वतः दीप्त होता है।

भावार्थ—जीवन का सौन्दर्य ज्ञानप्राप्ति में ही है। 'प्रकृतिविद्या' उस सुन्दर शरीर की एक आँख है तो 'आत्मविद्या' दूसरी। शोभा दोनों आँखों के मेल में ही है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ 'अग्नि' के लक्षण से होता है (क) यह वेदवाणी से ज्ञान को प्राप्त करता है (ख), लोकहित के कार्यों में व्यापृत रहता है (ग), धनों का ईश बनता है और (घ) विषयों में आसक्त नहीं होता (१)। ये अमूढ पुरुष ही प्रभु को प्राप्त करते हैं (२)। तीन वर्ष तक निरन्तर अभ्यास से साधना सम्भव होती है (३)। 'शरीर और मस्तिष्क का समुचित विकास, प्राणसाधना, यज्ञशीलता व वासनाओं के साथ संग्राम'—ये चार प्रभु-प्राप्ति के साधन हैं (४)। प्रभु के मित्र बनते हुए हम उसके संदर्शन में पापों से बचें (५)। इक्कीस यज्ञों के अनुष्ठान से हम अमृतत्व का रक्षण करें (६)। अन्तःस्थित प्रभु से देवयान के मार्ग का सन्देश सुनें (७)। इन्द्रियों को ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति का द्वार बनाएँ (८)। अपतन के हेतुभूत कर्मों को करते हुए मोक्ष को प्राप्त करें (९)। 'परा व अपरा'-विद्यारूप ज्ञान की दो आँखों का सम्पादन करते हुए अधिक शोभा को धारण करें (१०)। 'प्रभु ही उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७३] त्रिसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपासक का वर्धन

र॒यिर्न यः पि॑तृवि॒त्तो व॑यो॒धाः सु॒प्रणी॑तिश्चिकि॒तुषो॒ न शा॒सुः।
स्यो॒न॒शीरति॑थि॒र्न प्री॑णा॒नो होते॑व॒ सद्म॑ विध॒तो वि ता॑रीत्॥ १॥

१. वे प्रभु **यः**=जो **पितृवित्तः रयिः नः**=पिता से प्राप्त धन की भाँति **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन के देनेवाले हैं, वे **विधतः**=उपासक के **सद्म**=घर को **वितारीत्**=विशेषेण प्रवृद्ध करनेवाले हैं। पिता से धन प्राप्त हो जाने पर सन्तान को अपना समय व्यर्थ धनार्जन में विनष्ट नहीं करना पड़ता। वह आत्मिक उन्नति में आगे बढ़ता हुए जीवन को बड़ा सुन्दर बना पाता है। इसी प्रकार पिता से प्राप्त धन जीवन को उत्कृष्ट बनाने में सहायक हो जाता है। २. वे प्रभु **सुप्रणीतिः**=उत्तमता से हमें आगे ले-जानेवाले हैं **न**=जैसेकि **चिकितुषः**=एक ज्ञानी पुरुष का **शासुः**=शासन व उपदेश। ज्ञानी पुरुष का उपदेश हमारी अग्रगति का कारण होता है, इसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा हमें निरन्तर आगे ले-चलती है। २. **स्योनशीः**=सुख के आधारभूत वे प्रभु हैं—'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'-वे प्रभु रस हैं, उस रस को प्राप्त करके हमारा जीवन भी आनन्दमय बनता है। **अतिथिः न प्रीणानः**=अतिथि के समान वे प्रभु तर्पणीय हैं। जैसे घर में आये अतिथि का 'अर्घ्य, पाद्य, आचमनी व मधुपर्क' आदि से आतिथ्य किया जाता है, इसी प्रकार हमें उस प्रभु का अपने कर्मों के अर्पण द्वारा अर्चन करना चाहिए। वे प्रभु तो **होता इव**=होता के समान हैं। वे हमारे लिए सब-कुछ देनेवाले हैं। उस प्रभु का अर्चन हमारी ही वृद्धि का कारण होगा।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवन को उत्तम बनाने में सहायक होते हैं, हमें उत्तम मार्ग से

ले-चलते हैं। वे सुख के आधार हैं और उपासक की वृद्धि करनेवाले हैं।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सत्यमन्मा प्रभु

देवो न यः सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्यो भूत्॥ २॥

१. **यः**=जो प्रभु **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=सूर्य की भाँति **सत्यमन्मा**=सत्यज्ञानवाले हैं। सूर्य का प्रकाश जैसे अन्धकार को निवृत्त करके वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक दिखलाता है, उसी प्रकार हृदस्थ प्रभु की प्रेरणा हमें सत्यमार्ग का दर्शन कराती है। २. वे प्रभु **क्रत्वा**=हृदयस्थरूपेण दिये गये ज्ञान के द्वारा **विश्वा**=सब **वृजनानि**=(वृजन-बलनाम, नि० २।९) बलों को **निपाति**=निश्चय से हममें सुरक्षित करते हैं। ज्ञान के द्वारा सत्य मार्ग पर आक्रमण से हम पापाचार से दूर रहते हुए अपनी शक्तियों का रक्षण कर पाते हैं। ३. **अमतिः न**=सुन्दर स्वरूपवाला होने के समान **सत्यः**=वे सत्य हैं। प्रभु जैसे सुन्दर हैं, वैसे सत्य भी हैं। वास्तविकता तो यह है कि सत्य ही सुन्दर होता हैं। वे प्रभु **पुरुप्रशस्तः**=अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। ४. **आत्मा इव शेवः**=आत्मा की भाँति वे सुख देनेवाले हैं। जिस प्रकार 'मैं' अथवा आत्मा मधुरतम वस्तु हैं, इसीप्रकार प्रभु मनुष्य के लिए अत्यन्त आनन्द देनेवाले हैं। इसी कारण वे प्रभु **दिधिषाय्यः**=(धारणीयः) धारण के योग्य **भूत्**=होते हैं। जो भी प्रभु का धारण करेगा वह अत्यन्त आनन्दमय स्थिति में होगा।

भावार्थ—वे प्रभु सत्य ज्ञानवाले हैं, हमारे बलों का रक्षण करते हैं, अत्यन्त आनन्द देनेवाले हैं, अतएव धारणीय हैं।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अनवद्या पतिजुष्टा नारी

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी॥ ३॥

१. **यः**=जो प्रभु **देवः न**=एक दाता=देनेवाले की भाँति 'देवो दानात्', **विश्वधायाः**=सबके धारण करनेवाले हैं, वे **हितमित्रः राजा न**=हित करनेवाले स्नेही राजा की भाँति **पृथिवीम्**=इस पृथिवी पर **उपक्षेति**=निवास करते हुए क्रियाशील हैं। २. इस प्रभु के **पुरः सदः**=सामने रहनेवाले, प्रभु की आँख से ओझल न होनेवाले **शर्मसदः न**=सुख में रहनेवालों की भाँति **वीराः**=वीर होते हैं। सुखी भी होते हैं, वीर भी होते हैं। ३. प्रभु को न भूलनेवाले, प्रभु की आँख से अपने को ओझल न करनेवाले व्यक्ति **पतिजुष्टा नारी इव**=पति को प्रेम से उपासित करनेवाली नारी की भाँति **अनवद्या**=अनिन्दित होते हैं। पतिव्रता नारी की पवित्रता प्रोवर्बियल (लोकप्रसिद्ध) है। यही पवित्रता उस व्यक्ति को प्राप्त होती है जो प्रभु से अपने को ओझल नहीं करता। प्रभु पति होते हैं, वह पत्नी का स्थान ग्रहण करता है—पूर्ण पातिव्रत्य का पालन करनेवाली पत्नी का। रहस्यवाद की भाषा में यह प्रभु को पति के रूप में वरण करनेवाला होता है। प्रभु की शक्ति को प्राप्त करके जैसे प्रकृति सूर्य-चन्द्रादि को जन्म देती है, उसी प्रकार प्रभु से शक्ति प्राप्त करके यह 'यज्ञ, दान तप' आदि उत्तम कर्मों को जन्म देता है।

भावार्थ—प्रभु विश्वधाया है, हितमित्र राजा के समान हैं। हमें प्रभु की 'अनवद्या पतिजुष्टा नारी' बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्योतिर्मय जीवन

तं त्वा नरो दम आ नित्यमिद्धमग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु।
अधि द्युम्नं नि दधुर्भूर्यस्मिन्भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम्॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तं त्वा**=उन आपको **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोग **ध्रुवासु क्षितिषु**=उपद्रवरहित ग्रामों में **दमे**=अपने-अपने घरों में **आ सचन्त**=सदा उपासित करते हैं। उस प्रभु को उपासित करते हैं जोकि **नित्यं इद्धम्**=सदा प्रदीप्त हैं। वस्तुतः सदा दीप्त प्रभु के उपासन से ही वे अपने जीवन को दीप्तिमय बना पाते हैं। राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह प्रजाओं के लिए देश को शत्रुभय से अनाक्रान्त रक्खे (क्षितिषु ध्रुवासु) और प्रजाओं का यह कर्तव्य है कि वे इन निरुपद्रव स्थानों में रहते हुए अपने घरों को दमन व संयमवाला बनाएँ (दमे)। २. जब ये नर प्रभु का उपासन करते हैं तब **अस्मिन्**=इस संयमयुक्त गृह में **भूरि द्युम्नम्**=पालन-पोषण के लिए साधनभूत ज्ञान को **अधिनिदधुः**=आधिक्येन स्थापित करते हैं। यह घर प्रकाशमय व ज्ञानमय होता है। ३. हे प्रभो! इसप्रकार आप **विश्वायुः भव**=पूर्ण जीवन देनेवाले होते हैं और **रयीणां धरुणः**=धनों के धारण करनेवाले होते हैं। प्रभु-उपासकों के घर में ज्ञानपूर्ण जीवन व धन की स्थापना होती है।

भावार्थ—हम शान्त वातावरण में स्थित घरों में प्रभु के उपासक बनें। हमारे घर प्रकाशमय, पूर्ण जीवनवाले व धनों के धारक हों।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ व उत्तम अन्न

वि पृक्षो अग्ने मघवानो अश्युर्वि सूरयो ददतो विश्वमायुः।
सनेम वाजं समिथेष्वर्यो भागं देवेषु श्रवसे दधानाः॥ ५॥

१. **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले प्रभो! **मघवानः**=(मघः=ऐश्वर्य, मघ=मख) अपने ऐश्वर्यों का यज्ञ में विनियोग करनेवाले लोग **पृक्षः**=उत्तम अन्नों को **वि अश्युः**=विशेष रूप से प्राप्त करते हैं। यज्ञशील राष्ट्र में उत्तम अन्नों की ही उत्पत्ति होती है। २. **ददतः सूरयः**=दानशील ज्ञानी लोग **विश्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **वि**=(अश्युः) विशेष रूप से प्राप्त करते हैं। दान से धन बढ़ता ही है, दान से धन में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। ज्ञानी लोग इस तत्त्व को समझते हुए दानशील होते हैं। यह दानशीलता उनके जीवनों को पवित्र बनाये रखती है। पवित्रता जीवन की दीर्घता का कारण बनती है। ३. **समिथेषु**=संग्रामों में—काम-क्रोधादि के साथ चलनेवाले युद्धों में **अर्यः**=(ऋ गतौ) उस सर्वत्र प्राप्त प्रभु की **वाजम्**=शक्ति को **सनेम**=हम प्राप्त करें। प्रभु की शक्ति से ही तो हम इन शत्रुओं को पराजित कर सकेंगे। ४. हम **देवेषु**=विद्वानों में **श्रवसे**=ज्ञानप्राप्ति के लिए **भागम्**=(भज सेवायाम्) सेवा व उपासना को **दधानाः**=धारण करनेवाले हों। विद्वानों की सेवा से हमारा ज्ञान बढ़ेगा—**'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'**। यह ज्ञान ही हमें कामादि शत्रुओं को दग्ध करने की शक्ति देगा।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर उत्तम अन्नों को प्राप्त करें, दानशील ज्ञानी बनकर पूर्ण जीवन को प्राप्त करें। अध्यात्म-संग्रामों में प्रभु से शक्ति प्राप्त करके विजयी बनें। विद्वत्संग से ज्ञान को बढ़ाएँ।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ऋत की धेनुएँ

ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्मदूध्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः।
परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम्॥ ६॥

१. **ऋतस्य**=सत्यज्ञान के दुग्ध को पिलानेवाली **धेनवः**=वेदवाणीरूपी गौएँ **हि**=निश्चय से **पीपयन्त**=हमारा आप्यायन करती हैं। ये वाणियाँ हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क की शक्तियों का वर्धन करनेवाली हैं। **वावशानाः**=ये वेदवाणीरूप धेनुएँ हमारे अत्यन्त हित की कामनावाली हैं, **स्मदूध्नीः**=इनका ऊधस् सदा ज्ञानदुग्ध से परिपूर्ण है अथवा बहुदुग्ध-प्रापिका हैं; **द्युभक्ताः**=ज्ञानप्रकाश का सेवन करनेवाली हैं। जैसे गौएँ सूर्यप्रकाश में विचरण करती हुई तेजस्विनी होती हैं, इसी प्रकार से ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौएँ सूर्यप्रकाश में विचरण करती हुई तेजस्विनी हैं। २. इन ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणियों के धारण करनेवाले आचार्य 'अद्रि' हैं—आदरणीय हैं (निरु० ९।८)। जैसे **सिन्धवः**=बहनेवाली नदियाँ **परावतः**=सुदूर देश से **अद्रिम् समया**=पर्वत के समीप **विसस्रुः**=बहती हैं, इसी प्रकार **सिन्धवः**=गतिशील विद्यार्थी **सुमतिं भिक्षमाणाः**=कल्याणी मति की याचना करते हुए **परावतः**=सुदूर देशों से **अद्रिम्**=आदरणीय आचार्यों के **समया**=समीप **विसस्रुः**=विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। पर्वतों से नदियों को जल प्राप्त होता है, इसी प्रकार आचार्यों से विद्यार्थी को ज्ञानजल प्राप्त होता है। आचार्य का विद्यार्थी आदर करता है, आचार्य के प्रति विनीत बनता है, तभी वह ज्ञान प्राप्त कर पाता है **'तद्विद्धि प्रणिपातेन'**। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए यहाँ आचार्य के लिए 'अद्रि' शब्द का प्रयोग है। विद्यार्थी को आलस्यशून्य और सदा क्रियाशील होना चाहिए, इस भाव को 'सिन्धवः' शब्द व्यक्त कर रहा है। ज्ञानप्राप्ति के लिए विद्यार्थी का आचार्य के समीप रहना आवश्यक है—यह भाव 'समया' शब्द से सूचित होता है।

भावार्थ—वेदवाणी सत्यज्ञान देनेवाली है। विद्यार्थी आचार्यों के समीप रहकर इनके अध्ययन से सुमति को प्राप्त होता है।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कृष्ण व अरुण वर्ण का सन्धान

त्वे अग्ने सुमतिं भिक्षमाणा दिवि श्रवो दधिरे यज्ञियासः।
नक्ता च चक्रुरुषसा विरूपे कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सुमतिं भिक्षमाणाः**=कल्याणी मति की भिक्षा करते हुए **त्वे**=तुझमें निवास करते हैं। ज्ञानप्राप्ति के इच्छुकों को लिए यह आवश्यक है कि वे प्रभु का उपासन करनेवाले हों। ये प्रभु के उपासक आचार्य व शिष्य **यज्ञियासः**=परस्पर संगतिकरणवाले होते हैं। इनमें विद्यार्थी आचार्यों का देवतुल्य पूजन करते हैं और आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान व दान देते हैं (यज=संगतिकरण-देवपूजा-दान)। इस प्रकार यज्ञीय बनकर ये **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **श्रवः**=ज्ञान को **दधिरे**=धारण करते हैं। २. ये आचार्य व विद्यार्थी **नक्ता उषसा**

च=(उष:कालोपलक्षितमह:—सा०) दिन और रात को **विरूपे**=विशिष्ट रूपवाला **चक्रुः**=करते हैं। जो दिन और रात ज्ञान-प्राप्ति में बीतते हैं, वे उत्कृष्ट रूपवाले तो होते ही हैं। आचार्य व विद्यार्थी का यही कर्तव्य है कि वे दिन-रात ज्ञान-प्राप्ति में ही लगे रहें। इस ज्ञान के द्वारा उनके दिन-रात चमक उठें। ३. ये विद्यार्थी व आचार्य **कृष्णं वर्णं च**=काले रंग को तथा **अरुणम्**=अरुण वर्ण को **सन्धुः**=मिलानेवाले होते हैं। (क) विद्यार्थी ने कृष्णवर्ण का मृगचर्म पहना हुआ है 'कार्ष्णं वसाना' और आचार्य ने अरुणवर्ण के वस्त्र धारण किये हुए हैं। (ख) विद्यार्थी का अज्ञान कृष्णवर्ण से सूचित होता है और आचार्य का ज्ञान अरुणवर्ण में। (ग) ज्ञानप्राप्ति के क्रम में 'पूर्वपक्ष' कृष्णवर्ण है, तो 'उत्तरपक्ष' अरुणवर्ण है। ज्ञानप्राप्ति के लिए दोनों का प्रतिपादन आवश्यक होता है। (घ) एक निर्णय पर पहुँचने के लिए साधर्म्य का प्रतिपादन अरुणवर्ण है तो वैधर्म्य का प्रतिपादन कृष्णवर्ण है किसी भी वस्तु के निश्चय के लिए (Pros and cons) का सोचना आवश्यक होता है। Comparison and contrast से बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। बस, यही कृष्ण और अरुण वर्ण का सन्धान है।

भावार्थ—ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं कि (क) प्रभु-उपासन हो, (ख) आचार्य व विद्यार्थी परस्पर पूजन व प्रेमवालें हों, (ग) दिन-रात अध्ययन वले, (ध) पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का खूब विचार हो।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

धनसम्पन्न व यज्ञशील

यान्राये मर्तान्त्सुषूदो अग्ने ते स्याम मघवानो वयं च।
छायेव विश्वं भुवनं सिसक्ष्यापप्रिवान्रोदसी अन्तरिक्षम्॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=आगे ले-जानेवाले प्रभो! **यान् मर्तान्**=जिन मनुष्यों को आप **राये**=ऐश्वर्यों के लिए **सुषूदः**=उत्तमता से प्रेरित करते हैं, **ते वयम्**=वे हम **स्याम**=हों, **च**=और **मघवानः**=(मघ=ऐवश्‍र्य तथा मघ=यज्ञ) ऐश्वर्य का यज्ञों में विनियोग करनेवाले हों। हम उन मनुष्यों में से हों जो प्रभुकृपा से ऐश्वर्यों के स्वामी होते हैं और उन ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करते हैं। २. हे प्रभो! आप **रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **आपप्रिवान्**=पूर्ण किये हुए हैं, सब लोक-लोकान्तरों में व्याप्त हैं तथा **विश्वं भुवनम्**=सब प्राणियों को **छाया इव**=छाया की भाँति **सिसक्षि**=समवेत (संयुक्त) करते हैं। जैसे छाया पदार्थों को छोड़कर दूर नहीं होती, उसी प्रकार प्रभु सब प्राणियों के साथ समवेत हैं। प्रभु प्राणियों का साथ नहीं छोड़ते। हम प्रभु को भूल जाएँ तो भूल जाएँ, परन्तु प्रभु हमें कभी नहीं भूलते।

भावार्थ—हम धनसम्पन्न व यज्ञशील बनें। हमें प्रभुकृपा सदा प्राप्त रहे।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्तम इन्द्रियोंवाले वीर नर

अर्वद्भिरग्ने अर्वतो नृभिर्नृन्वीरैर्वीरान्वनुयामा त्वोताः।
ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा**=आपसे **ऊताः**=रक्षित किये हुए हम (क) **अर्वद्भिः**=अपने घोड़ों से **अर्वतः**=शत्रुओं के घोड़ों को **नृभिः नृन्**=अपने नेताओं से शत्रुओं के नेताओं को तथा

वीरैः वीरान्=अपने वीरों से शत्रुओं के वीरों को **वनुयाम्**=जीतनेवाले हों। (ख) अथवा 'एक से बढ़कर एक को' इस वाक्यविन्यास के अनुसार अच्छे घोड़ों से भी अच्छे घोड़ों को, अच्छे-से-अच्छे नेतृत्व करनेवाले पुरुषों को तथा अच्छे वीरों से भी अच्छे वीरों को हम **वनुयाम्**=प्राप्त करनेवाले हों। २. हम **पितृवित्तस्य रायः** माता-पिता से प्राप्त धनों के **ईशानासः**=स्वामी हों। इन धनों के स्वामी होकर हम आत्मिक उन्नति में सारे समय को लगा सकें—'**शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते**' (गीता ६।४१) के अनुसार हमारा जन्म पवित्र व सम्पन्न घरों में हो। हम सारा समय आत्मिक उन्नति में लगाते हुए 'अच्छे-से-अच्छे इन्द्रियाश्वोंवाले, 'नर' पुरुषों की वृत्तिवाले वीर बन पाएँ।' ३. ऐसा जीवन बनाने के लिए **शतहिमाः**=सौ-के-सौ वर्ष **सूरयः**=ज्ञानी, प्रेरक, विद्वान् **नः**=हमें **वि अश्युः**=विशेष रूप से प्राप्त हों। इन ज्ञानियों के सम्पर्क में हमारा जीवन उन्नत और अधिक उन्नत होता चले।

भावार्थ—हम धनी घरों में जन्म लें ताकि सारा समय अध्यात्म-उन्नति में लगाकर हम उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले (अर्वा), वीर नर बन सकें।

ऋषिः—**पराशरः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वेदवचनों का मनन व उनके प्रति श्रद्धा

एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च।
शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि श्रवो देवभक्तं दधानाः॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वेधः**=प्रज्ञाप्रद प्रभो! **एता**=ये **ते**=आपके **उचथानि**=वेदवचन **मनसे**=मेरे मन के लिए **हृदे च**=और हृदय के लिए **जुष्टानि सन्तु**=प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों, अर्थात् मैं इन वेदवचनों का मनन करनेवाला बनूँ और इन वाक्यों के लिए श्रद्धावाला होऊँ। २. हे प्रभो! **सुधुरः** उत्तम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को धारण करनेवाले हम **ते**=आपके **यमम्**=जीवन को नियमित करनेवाले **देवभक्तम्**=देवों व विद्वानों से सेवित **श्रवः**=ज्ञान को **अधिदधानः**=आधिक्येन धारण करते हुए **रायः**=धनों को **शकेम**=प्राप्त करने में समर्थ हों। ज्ञान हमारे जीवन में नियमितता को पैदा करता है। ज्ञान को प्राप्त करके जब हम धनार्जन करते हैं तब धन के कारण होनेवाली बुराइयों से बचे रहते हैं। इसलिए आवश्यकता है कि हमारे अवकाश का सारा समय वेदमन्त्रों के मनन में बीते, ज्ञान-प्राप्ति में हम अवकाश का विनियोग करें।

भावार्थ—हमें ज्ञान प्रिय हो। ज्ञान को धारण करते हुए हम धनों का अर्जन करनेवाले बनें।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि पिता से प्राप्त धन हमें अध्यात्म-उन्नति के लिए पर्याप्त अवकाश देकर हमारे जीवन को उत्कृष्ट करे (१)। वे प्रभु सत्यज्ञानवाले हैं, अतएव धारणीय हैं (२)। प्रभु की आँखों से ओझल न होते हुए हम पतिव्रता नारी के समान आनन्दित जीवनवाले हों (३)। हम ज्योतिर्मय जीवनवाले हों (४)। यज्ञशील बनकर हम उत्तम अन्नों को प्राप्त करें (५)। आदरणीय आचार्य से ज्ञान को प्राप्त करें (६)। पूर्वपक्ष व उत्तरपक्ष के विचार से हमारा ज्ञान परिष्कृत हो (७)। हम धनसम्पन्न व यज्ञशील हों (८)। उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले वीर नर हों (९)। वेदमन्त्रों का हम मनन करें व उनके प्रति श्रद्धावाले हों (१०)। 'प्रभु की उपासना करते हुए मन्त्रों का उच्चारण करें', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७४] चतुःसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ व स्तवन

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरे अस्मे च शृण्वते॥ १॥

१. गतसूक्त के साथ पराशर ऋषि के द्वारा द्रष्ट मन्त्र समाप्त होकर 'गोतम राहूगण' ऋषि द्वारा द्रष्ट मन्त्र आरम्भ होते हैं। पराशर=शत्रुओं का सुदूर संहार करनेवाले का गोतम=प्रशस्तेन्द्रियवाला बनना स्वाभाविक ही है। यह गोतम 'रह त्यागे' त्यागवालों में भी उत्तमकोटि में गिना जाता है, अतः राहूगण कहलाता है। २. गोतम राहूगण बने रहने के लिए यह प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करें की हम **अध्वरं उपप्रयन्तः**=सदा हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के समीप प्राप्त होते हुए **अग्नये**=अग्नि के लिए **मन्त्रं वोचेम**=मन्त्रों का उच्चारण करें। मन्त्रों में उन यज्ञों के लाभों का वर्णन होता है। इस प्रकार यज्ञों के प्रति श्रद्धा का बढ़ना स्वाभाविक है। आचार्य के शब्दों में इस प्रकार मन्त्रों का रक्षण भी होता है। ३. यज्ञों को करते हुए हम प्रभु का स्तवन भी करते रहें तो भौतिक लाभों के साथ आध्यात्मिक लाभ जुड़ जाता है। साथ ही उन यज्ञों का हमें अंहकार भी नहीं होता। हमें यह ध्यान रहता है कि हमारे माध्यम से प्रभुशक्ति ही इन यज्ञों को सिद्ध कर रही है, हम तो निमित्तमात्र हैं। हम उस प्रभु के लिए मन्त्रों का उच्चारण करें जोकि **आरे च**=सुदूर स्थान में भी, अर्थात् दूर और पास सर्वत्र **अस्मे**=हमारी प्रार्थना को **शृण्वते**=सुनते हैं। प्रभु से हमारी प्रार्थना कभी अश्रुत नहीं होती।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों तथा प्रभु के स्तवन के लिए मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले हों। ये प्रभु दूर और समीप सर्वत्र हमारी प्रार्थना को सुनते हैं। इस प्रकार हमारे जीवनों में यज्ञ व स्तवन का समन्वय हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दाश्वान् को गय की प्राप्ति

यः स्नीहितीषु पूर्व्यः संजग्मानासु कृष्टिषु। अरक्षद्दाशुषे गयम्॥ २॥

१. **यः**=वह प्रभु **स्नीहितीषु**=(स्नेहयति वधकर्मा) काम-क्रोधादि का वध करनेवाली **संजगमानासु**=परस्पर प्रेम से संगत होनेवाली **कृष्टिषु**=प्रजाओं में **पूर्व्यः**=पूरण करनेवाला है। प्रभु उन लोगों का पूरण करते हैं जो (क) काम-क्रोधादि के संहार के लिए प्रयत्नशील हों, (ख) परस्पर प्रेम व मेल से चलें, (ग) कृष्टिरूप श्रमवाले कार्यों को करनेवाले हों। २. ये प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—अपना समर्पण करनेवाले के लिए **गयम्**=धन को (नि० २।१०) **अरक्षत्**=रक्षित करते हैं। प्रभुकृपा से दाश्वान् को जीवन-यात्रा के लिए पर्याप्त धन मिलता है। धन के अभाव के कारण उसके कार्य रुके नहीं रह जाते।

भावार्थ—हम कामादि शत्रुओं का संहार करें, परस्पर प्रेमवाले हों, श्रमशील हों, प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले बनें, प्रभु हमें पर्याप्त धन देंगे ही।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धनञ्जय

उत ब्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि। धनंजयो रणेरणे॥ ३॥

१. **जन्तवः**=शरीरधारी मनुष्य **उत**=खूब ही **ब्रुवन्तु**=उस प्रभु के गुणों व गुणवाचक नामों का उच्चारण करें। यह गुणों का स्मरण उन्हें उन गुणों के धारण की प्रेरणा देनेवाला होगा **उत**=और इस प्रकार धीरे-धीरे उन गुणों के अपनाते चले जाने पर यह **वृत्रहा**=ज्ञान के आवरणभूत सब मलों का—वासनाओं का नष्ट करनेवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अजनि**=उनके हृदयों में प्रकट होता है। २. इस प्रभु का प्रादुर्भाव होने पर यह स्तोता **रणेरणे**=प्रत्येक संग्राम में **धनंजयः**=धनों का विजय करनेवाला बनता है। प्रभु के साथ होने पर पराजय का क्या काम? प्रभु के साथ होने पर विजय-ही-विजय होती है, पराजय तो उनसे अलग होने पर ही होती है।

भावार्थ—हम प्रभु के नामों का उच्चारण करें। प्रभु को हृदय में प्रादुर्भूत करने का प्रयत्न करें, परिणामतः प्रत्येक संग्राम में हम विजयी होंगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुन्दर—शिव जीवन के लिए तीन बातें

यस्य दूतो असि क्षये वेषि हव्यानि वीतये। दस्मत्कृणोष्यध्वरम्॥ ४॥

१. हे प्रभो! आप **यस्य**=जिसके **क्षये**=घर में **दूतः**=ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले **असि**=होते हैं, अर्थात् जो इधर-उधर न भटकता हुआ हृदयस्थ आपके सन्देश को सुन पाता है, २. जिसे आप **वीतये**=अज्ञानान्धकार को नाश के लिए अथवा भोजन के लिए (वी=असन व खादन) **हव्यानि**=हव्य, यज्ञीय, सात्त्विक पदार्थों को **वेषि**=(वी=गति) प्राप्त कराते हैं, ३. आप उसके लिए **अध्वरम्**=उसके हिंसारहित जीवन-यज्ञ को **दस्मत्**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाला अथवा सर्वथा दर्शनीय **कृणोषि**=करते हैं। ४. जीवन का सौन्दर्य तीन बातों पर निर्भर करता है—(क) हम हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनें। प्रभु ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं, जो प्रभु के सन्देश को नहीं सुनता वह विनाश को प्राप्त होता है। (ख) हम भोजन में सात्त्विक पदार्थों का ही प्रयोग करें। इससे ही हमारी चित्तवृत्ति का शोधन होगा—'**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**'। (ग) हम हिंसारहित कर्मों—अध्वरों के ही करनेवाले हों। ये तीन बातें हमारे जीवन को सुन्दर व दुःखशून्य बनाती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के सन्देश को सुनें, सात्त्विक भोजन ग्रहण करें, हिंसारहित कर्मों में प्रवृत्त हों, यही जीवन को सुन्दर व शिव बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुहव्य-सदेव-सुबर्हिष्

तमित्सुहव्यमङ्गिरः सुदेवं सहसो यहो। जना आहुः सुबर्हिषम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो भी व्यक्ति तीन बातों को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करता है **तम् इत्**=उसको ही **जनाः**=लोग **सुहव्यम्**=उत्तम 'हव्य-यज्ञीय-सात्त्विक' पदार्थोंवाला **आहुः**=कहते हैं। लोगों में उसकी प्रसिद्धि 'सुहव्य' नाम से होती है। २. हे **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! इस सुहव्य के जीवन में भी इन सात्त्विक पदार्थों के सेवन

से सचमुच रस का सञ्चार होता है। ये अन्न उसकी 'आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य सुख व प्रीति' के बढ़ानेवाले होते हैं। ये उसके लिए 'रस्य, स्निग्ध, स्थिर व हृद्य' होते हैं। ३. हे **सहसो यहो**=बल के पुत्र (बल के पुतले, शरीरधारी बल) प्रभो! लोग उसे **सुदेवम्**=उत्तम विजिगीषावाला (दिव् विजिगीषा) कहते हैं। सात्त्विक अन्नों के सेवन से उसके जीवन में बल और आरोग्य का वर्धन होता है और जितना-जितना उसका बल बढ़ता है, उतना-उतना वह कामदि शत्रुओं को जीतने की इच्छावाला होता है। इनको जीतकर वह 'सुदेव' बनता है। ४. कामादि को जीतनेवाले इस व्यक्ति को ही **सुबर्हिषम्**=(उद्बर्हण=विनाश) उत्तमता से वासनाओं का विनाश करने के कारण निर्वासन हृदयवाला कहते हैं।

भावार्थ—हम 'अङ्गिर' व 'सहसो यहो' इन नामों से प्रभु का उपासन करते हुए 'सुहव्य, सुदेव व सुबर्हिष्' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक भोजन से दिव्यता का विकास

आ च वहासि ताँ इह देवाँ उप प्रशस्तये। हव्या सुश्चन्द्र वीतये॥ ६॥

१. हे **सुश्चन्द्र**=शोभन आह्लादवाले, आनन्दघन प्रभो! आप ही **इह**=इस हमारे जीवन में **तान् देवान्**=उन-उन दिव्यगुणों को **आवहासि**=प्राप्त कराते हैं **च**=और इस प्रकार **उपवहासि**=समीपता से प्राप्त कराते हैं कि **प्रशस्तये**=इन देवों का प्रापण हमारे जीवन की प्रशस्ति के लिए होता है। उन दिव्यगुणों से हमारा जीवन प्रशंसनीय बन जाता है। २. हमारे जीवन को दिव्यगुणों से अलंकृत करने के लिए ही आप **वीतये**=भोजन के लिए, हमारे आहार के लिए **हव्या**=हव्य पदार्थों को, सात्त्विक यज्ञीय पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः इस प्रकार सात्त्विक भोजनों के द्वारा मन को दिव्यगुणों से अलंकृत करके ही हम भी अपने जीवन को उत्तम आह्लादवाला बना पाते हैं।

भावार्थ—हम हव्य पदार्थों का ही सेवन करें, इस प्रकार दिव्यगुणों का अपने में विकास करें। यही जीवन को आनन्दमय बनाने का प्रकार है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दूत के शब्दों को न सुनना

न योरुपब्दिरश्व्यः शृण्वे रथस्य कच्चन। यदग्ने यासि दूत्यम्॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=हमें आगे-ही-आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **दूत्यं यासि**=वेदवाणी का सन्देश प्राप्त कराने के कर्म को आप स्वीकार करते हैं तब हमारा यह दौर्भाग्य है कि **रथस्य**=हमारी जीवन-यात्रा के लिए रथरूप आपका **उपब्दिः**=सुनने के योग्य शब्द जोकि **अश्व्यः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाला (अश् व्याप्तौ) व हितकर है तथा जो शब्द **योः**=(भयानां यावनम्) हमारे सब भयों को दूर करनेवाला है, वह शब्द **कश्चन**=कभी भी **न शृण्वे**=हमसे सुना नहीं जाता। इस सन्देश-वाक्य को न सुनना ही हमारे सब कष्टों का कारण हुआ करता है। आपका सन्देश-वाक्य सचमुच हमारे लिए हितकर व हमारे सभी भयों को दूर करनेवाला है। हम उसे सुनकर अपने जीवन को बड़ा 'सुभग' बना सकते हैं, परन्तु दौर्भाग्यवश हम उसे सुनते तो नहीं।

भावार्थ—हम प्रभु के सन्देश को सुनें, इसी में हमारा हित है। इस सन्देश को सुनकर

हम सभी भयों से ऊपर उठ पाएँगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आगे और आगे

त्वोतो वाज्यह्रयोऽभि पूर्वस्मादपरः। प्र दाश्वाँ अग्ने अस्थात्॥ ८॥

१. हे प्रभो! **त्वा ऊतः**=आपसे रक्षित किया हुआ व्यक्ति **वाजी**=शक्तिशाली होता है। वस्तुतः इस व्यक्ति में प्रभु की शक्ति का प्रवाह बहता है। २. **अह्रयः**=यह व्यर्थ के संकोच व झिझकवाला नहीं होता। यह उत्साहपूर्वक अपने क्रियाक्षेत्र में आगे और आगे बढ़ता है। **'स्वं महिमानमायजताम्'**, इस आपके उपदेश के अनुसार अपनी महिमा को समझता हुआ यह कार्यक्षेत्र में घबराता नहीं। ३. **पूर्वस्मात् अपरः अभि**=(अपरम् अभि), पहले आश्रम में यह आगे बढ़ता है। ४. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **दाश्वान्**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति **प्र-अस्थात्**=आगे और आगे पग रखता है। यह प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, प्रभु इसका रक्षण करते हैं और शक्ति प्राप्त कराते हैं। इस शक्ति को प्राप्त करके यह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है।

भावार्थ—हम शक्तिशाली व उत्साहसम्पन्न होकर निरन्तर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्योतिर्मय शक्ति

उत द्युमत्सुवीर्यं बृहदग्ने विवाससि। देवेभ्यो देव दाशुषे॥ ९॥

१. हमारे जीवनों में **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'**—इस उपनिषद्-वाक्य के अनुसार पाँच वर्ष तक माता का स्थान है, आठ वर्ष तक पिता का, पच्चीस वर्ष तक आचार्य का, तदुपरान्त गृहस्थ में अतिथियों का। इन **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **दाशुषे**=अपना अर्पण करनेवाले के लिए हे **अग्ने**=अग्रणी **देव**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **उत**=और **द्युमत्**=ज्योतिर्मय **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **विवाससि**=प्राप्त कराते हैं। २. शक्ति के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं होती, परन्तु यह शक्ति द्युमत्=ज्योतिर्मय होनी चाहिए। ज्योति के अभाव में शक्ति उन्नति का कारण न होकर अवनति व ह्रास का कारण हो जाती है। ३. यह शक्ति प्राप्त उसी को होती है जो माता-पिता आदि देवों के प्रति अपना अर्पण करके चलता है। उनकी आज्ञा व निर्देशों में चलता हुआ व्यक्ति ही ज्योतिर्मय शक्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—माता-पितादि देवों के प्रति अपना अर्पण करने के द्वारा हम ज्योतिर्मय प्रवृद्ध शक्ति को प्राप्त करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि 'यज्ञ व स्तवन' हमारे जीवनों के आवश्यक अङ्ग होने चाहिएँ (१)। प्रभु अर्पणशील को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं (२)। प्रभु-स्मरण करनेवाला प्रत्येक रण में विजयी होता है (३)। सुन्दर—शिव जीवन बनाने के लिए हम प्रभु के सन्देश को सुनें, सात्त्विक भोजन करें, हिंसारहित कर्मों में प्रवृत्त हों (४)। सुहव्य, सुदेव, सुबर्हिष् बनें (५)। सात्त्विक भोजन से दिव्यता का विकास होता है (६)। दुष्ट-वृत्ति का पुरुष देव के सन्देशों को नहीं सुनता (७)। प्रभु से रक्षित व्यक्ति आगे-और-आगे बढ़ता है (८)। देवार्पण करनेवाले व्यक्ति को प्रभु ज्योतिर्मय शक्ति प्राप्त कराते हैं (९)। 'हम हव्य पदार्थों

का ही सेवन करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

[७५] पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक भोजन व ज्ञानप्रवणता

जुषस्व सप्रथस्तमं वचो देवप्सरस्तमम्। हव्या जुह्वान आसनि॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **वचः**=उस वेदवाणी का, ज्ञान की वाणी का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर, जो ज्ञान के वचन **सप्रथस्ततम्**=अतिशयेन विस्तार से युक्त हैं, अर्थात् जो तेरे हृदय को विशाल बनानेवाले हैं और तेरी वृत्ति को उदार करनेवाले हैं तथा **देवप्सरस्तमम्**=(स्पृ प्रीतिबलयोः) विद्वानों के लिए प्रीतिजनक हैं। शास्त्र-वाक्य ज्यों-ज्यों समझ में आते हैं, त्यों-त्यों रुचि के जनक होते हैं; अथवा ज्ञान के वचन देवों को बलयुक्त करनेवाले हैं। ज्ञान स्वयं में एक महान् शक्ति है। ३. अपनी प्रवृत्ति को ज्ञानप्रवण करने के लिए तू **आसनि**=मुख में **हव्या**=हव्य पदार्थों की ही **जुह्वानः**=आहुति देनेवाला हो। सात्त्विक पदार्थों का ही तू सेवन कर और सात्त्विक बुद्धिवाला बनकर ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करनेवाला हो। इससे तेरा हृदय विशाल होगा और दिव्यवृत्ति को बल मिलेगा।

भावार्थ—सात्त्विक भोजन करते हुए हम सात्त्विक बुद्धिवाले बनकर ज्ञान की वाणियों के अध्ययन की ओर प्रवण हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अङ्गिरस्तम-वेधस्तम

अथा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम्। वोचेम ब्रह्म सानसि॥ २॥

१. जीव प्रभु-प्रवणवृत्ति की कामना करता हुआ कहता है कि हे **अङ्गिरस्तम**=हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अधिक-से-अधिक शक्ति का सञ्चार करनेवाले **वेधस्तम**=अत्यन्त मेधाविन् **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अथ**=अब, गत मन्त्र के अनुसार हव्य पदार्थों के सेवन से अपनी बुद्धि को सात्त्विक बनाकर हम **ते**=आपके प्रति **प्रियम्**=प्रीति उत्पादक **सानसि**=सम्भजनीय **ब्रह्म**=ज्ञान के वचनों का **वोचेम**=उच्चारण करें। २. जब हम ज्ञान की इन वेदप्रतिपादित वाणियों का उच्चारण करते हैं तब ये वाणियाँ हमें प्रभु का प्रिय बनाती हैं और सचमुच ये वाणियाँ हमारे जीवनों को उत्तम बनाने के कारण सम्भजनीय हैं। ३. इन वाणियों के अध्ययन का परिणाम यह होगा कि हम शरीर में 'अङ्गिरस्तम' बनेंगे तो मस्तिष्क में 'वेधस्' होंगे। इस प्रकार ये वाणियाँ हमें अधिकाधिक उन्नत करती हुई सचमुच अग्नि बनाएँगी।

भावार्थ—वेदवाणियों के सेवन से हम सशक्त व मेधावी बनेंगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अज्ञेय व अचिन्त्य प्रभु

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः। को ह कस्मिन्नसि श्रितः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **जनानाम्**=मनुष्यों में **कः**=कौन **ते**=तेरा **जामिः**=बन्धु है! जैसे बन्धुओं में कुछ समानता-सी होती है, इस प्रकार हे प्रभो! मनुष्यों में आपके समान कौन है, अर्थात् कोई भी आपकी समता नहीं कर सकता। सामान्य मनुष्य के विषय में तो प्रश्न ही नहीं उठता '**न**

मुक्तानामपि हरेः साम्यम्'—इन पुराण-शब्दों के अनुसार मुक्त जीव भी उस प्रभु के सम नहीं हो पाते। **'जगद्व्यापारवर्जमितरेषामैश्वर्यम्**'—इस वेदान्तसूत्र के अनुसार मुक्त भी प्रभु के समान सृष्टि का निर्माण तो नहीं कर सकते। हे प्रभो! **कः**=कौन आपकी भाँति **दाश्वध्वरः**=(दाशुर्दत्तोऽध्वरो येन) वेदवाणी के द्वारा इन यज्ञात्मक कर्मों का उपदेश देनेवाला है? आप ही सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाले हैं। ३. **कः ह**=आप निश्चय से कौन हैं? यह किसी से भी जाना नहीं जा सकता। **कस्मिन् श्रितः असि**=किसमें आप आश्रित हैं? कौन आपका आधार है? यह भी तो नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वे प्रभु अचिन्त्यस्वरूप व अचिन्त्य महिमावाले हैं। हम आपको पूरा-पूरा जान नहीं सकते। देहधारी के लिए निराकार का जानना कैसे सम्भव हो सकता है?

भावार्थ—परमात्मा अज्ञेय व अचिन्त्य हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रिय मित्र

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **जनानां जामिः**=सब लोगों के बन्धु हैं। गुणों में सर्वाधिक होते हुए आप सब लोगों का हित करनेवाले हैं। २. ठीक-ठीक बात तो यह है कि आप ही **प्रियः मित्रः असि**=सबके प्रिय मित्र हैं। सांसारिक मनुष्य किसी के मित्र हैं तो दूसरे के वे शत्रु भी होते हैं, परन्तु हे प्रभो! आप तो सबके मित्र-ही-मित्र हैं, आपकी किसी से शत्रुता नहीं। **सखिभ्यः**=संसार में सखित्व से चलनेवाले लोगों के लिए **सखा**=मित्र हैं। जो भी व्यक्ति शत्रुता को छोड़कर परस्पर प्रेमभाव से वर्तते हैं, वे प्रभु को प्रिय होते हैं। ये प्रभु **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं, परस्पर सखी-भाव की वृद्धि के लिए प्रभु का स्तवन आवश्यक है। इस स्तवन से 'हम सब एक प्रभु के पुत्र हैं', यह भावना दृढ़ होती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे प्रिय मित्र हैं। वे ही स्तुति के योग्य हैं। प्रभु-स्तवन से परस्पर बन्धुत्व की भावना दृढ़ होती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मेरा शरीर प्रभु का घर हो

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम्॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **नः**=हमारे साथ **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण को **यज**=संगत कीजिए। आपकी कृपा से हम सबके प्रति स्नेह करनेवाले तथा निर्द्वेषता को धारण करनेवाले हों। २. **देवान् यज**=आप हमारे साथ देवताओं को संगत कीजिए। आपकी कृपा से हममें दिव्य भावनाओं की वृद्धि हो। ३. **बृहत् ऋतम्**=सब प्रकार की वृद्धियों के कारणभूत ऋत का आप हमारे साथ मेल कीजिए। हम अपने जीवन में इस ऋत का पालन करनेवाले बनें। ४. हे **अग्ने**=प्रभो! इस प्रकार मित्र, वरुण, देव व बृहत् ऋत का सम्पर्क होने पर हमारा जीवन बड़ा प्रशस्त बन जाता है और हमारा यह शरीर प्रभु आपका घर ही बन जाता है, तब हम प्रभु आपसे प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! **स्वं दमम्**=आप अपने घर के साथ **यक्षि**=संगत होओ। हमारा यह शरीर आपका निवासस्थान हो। हम आपका आतिथ्य करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम मित्रता, निर्द्वेषता, दिव्यगुण व ऋत को धारण करके अपने

इस शरीर को प्रभु का गृह बना पाएँ।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि—हम सात्त्विक भोजन द्वारा ज्ञानप्रवण बनें (१)। वेदवाणियों के सेवन से हम सशक्त मेधावी बनें (२)। प्रभु अज्ञेय व अचिन्त्य हैं (३)। वे हमारे प्रिय मित्र हैं (४)। हम मित्रतादि को धारण करते हुए प्रभु के गृह बनें (५)। 'इस प्रभु का उपगमन (उपासन) हमारे जीवनों को अत्यन्त आनन्दमय बनाता है'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७६] षट्सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शान्ति व शक्ति

का त उपेतिर्मनसो वराय भुवदग्ने शंतमा का मनीषा।
को वा यज्ञैः परि दक्षं त आप केन वा ते मनसा दाशेम॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते उपेतिः**=(उप इतिः)=आपका उपगमन, आपकी उपासना **का**=आनन्द देनेवाली है। यह उपासना **मनसः वराय**=मन की श्रेष्ठता के लिए होती है। उपासना का प्रथम लाभ यह है कि मन श्रेष्ठ बनता है और एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आपका **मनीषा**=मनन व स्तुति **का**=आनन्द देनेवाली व **शन्तमा**=अत्यन्त शान्ति प्राप्त करानेवाली **भुवत्**=होती है। **कः**=यह आनन्दमय मनोवृतिवाला पुरुष **वा**=ही **यज्ञैः**=यज्ञों से—देवपूजा, संगतिकरण व दानात्मक कर्मों से **ते दक्षम्**=आपकी शक्ति को **परि आप**=प्राप्त करता है। प्रभु का उपासक प्रभु की शक्ति को क्यों न प्राप्त करेगा? जैसे अग्नि में पड़ा हुआ लोहे का गोला अग्नि की भाँति चमकने लगता है, वैसे यह उपासक भी प्रभु की शक्ति से दीप्त हो उठता है। ४. हे प्रभो! हम **केन**=इस आनन्दमय **मनसा**=मन से **वा**=ही **ते दाशेम**=आपके प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु की उपासना आनन्दमय मन से ही होती है। जिसने प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर दिया उसे क्या चिन्ता? उपासक तो निर्भय व निश्चिन्त होता ही है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से 'आनन्द, पवित्रता, शान्ति, शक्ति, निश्चिन्तता व निर्भीकता' प्राप्त होती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु के नेतृत्व में

एह्यग्न इह होता नि षीदादब्धः सु पुरएता भवा नः।
अवतां त्वा रोदसी विश्वमिन्वे यजामहे सौमनसाय देवान्॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **एहि**=आइए **इह**=इस हमारे शान्त हृदय में **होता**=सब आवश्यक धनों के देनेवाले होकर **निषीद**=विराजमान होओ। हमारा पवित्र व शान्त हृदय प्रभु का निवासस्थान बने। वे प्रभु हमें सब आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले हों। २. हे **अदब्धः**=हिंसित न होनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **पुरः**=आगे **एता**=चलनेवाले **सुभव**=उत्तमता से होओ। आप ही हमारा उत्तमता से नेतृत्व कीजिए। आपके नेतृत्व में हम जीवन-यात्रा को उत्तमता से पूर्ण करनेवाले बनें। ३. **विश्वं इन्वे**=सबको व्याप्त करनेवाले **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वा**

अवताम्=(अव=वृद्धि) आपका वर्धन करनेवाले हों। इस द्युलोक व पृथिवीलोक में मुझे आपकी महिमा का दर्शन हो। मैं आपकी भावना को हृदय में दृढ़ता से स्थापित करनेवाला बनूँ। ३. हे प्रभो! इस प्रकार सर्वत्र आपकी महिमा को देखते हुए और आपके भाव को हृदय में बढ़ाते हुए हम **सौमनसाय**=उत्तम मनवाले होने के लिए **देवान्**=देवों को **यजामहे**=उपासित करते हैं, इनके सम्पर्क से दिव्य गुणों को अपने साथ संगत करते हैं और दान की वृत्तिवाले होते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा ही हमारा नेतृत्व करे। हम सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें और देवों का संग करते हुए उत्तम मनवाले बनें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रक्षोविध्वंस (वासना-विनाश) व यज्ञ-रक्षण

प्र सु विश्वा॑न्र॒क्षसो॒ धक्ष्य॑ग्ने॒ भवा॑ य॒ज्ञाना॑मभिश॒स्तिपावा॑।
अथा व॑ह॒ सोम॑पतिं॒ हरि॑भ्यामाति॒थ्यम॑स्मै चकृ॒मा सु॒दाव्ने॑॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **विश्वान् रक्षसः**=सब राक्षसवृत्तियों को **प्रसुधक्षि**=अच्छी प्रकार जला देते हैं। आपकी कृपा से मेरा मन राक्षसी वृत्तियों से रहित व पवित्र हो जाता है। २. आप **यज्ञानाम्**=सब उत्तम कर्मों को **अभिशस्तिपावा**=घात-प्रतिघात व विनाश से बचानेवाले **भव**=होते हैं। प्रभुकृपा से ही सब उत्तम कर्म पूर्ण होते हैं। ३. हे जीव! तू **अथ**=अब **सोमपतिम्**=तेरे सोम (वीर्यशक्ति) की रक्षा करनेवाले इस प्रभु को **हरिभ्याम्**= ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रिरूप अश्वों के द्वारा **आवह**=अपने हृदयदेश में प्राप्त कर। ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखना और कर्मन्द्रियों से यज्ञादि में प्रवृत्त रहना ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। **अस्मै**=इस **सुदाव्ने**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले प्रभु के लिए **आतिथ्यम्**=आतिथ्य को **चकृमा**=करते हैं। प्रभु को हम हृदय में आसीन करें और इस प्रभु का उचित आतिथ्य करें। प्रभु का सर्वोत्तम आतिथ्य यही है कि अपने को पवित्र बनाएँ। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार में लगी रहें। प्रभु-प्रदत्त वस्तुओं का सदुपयोग ही प्रभु का सच्चा आदर है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं और हमारे यज्ञों को निर्विघ्न पूर्ण किया करते हैं।

नोट—विश्वामित्र के यज्ञ का रक्षण राम ही तो करते हैं। इस रक्षण के लिए वे मारीच व सुबाहु नामक राक्षसों का विध्वंस करते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

विकास-प्रापक ज्ञानवचन

प्र॒जाव॑ता॒ वच॑सा॒ वह्नि॑रा॒सा च॑ हु॒वे नि च॑ सत्सी॒ह दे॒वैः।
वेषि॑ हो॒त्रमु॒त पो॒त्रं य॑जत्र बो॒धि प्र॑यन्तर्जनित॒र्वसू॑नाम्॥ ४॥

१. हे **यजत्र**=यज्ञों के द्वारा त्राण करनेवाले प्रभो! **मैं आसा**=मुख से **हुवे**=आपकी आराधना करता हूँ कि आप **प्रजावता वचसा**=(प्र+जन्=प्रादुर्भाव) प्रकृष्ट विकासवाले इन वेद के वचनों से **वह्निः**=हमें सब सुख प्राप्त करानेवाले हैं। वेद-मन्त्रों में दिया गया ज्ञान हमारे विकास का कारण बनता है और हमें सब सुखों को प्राप्त कराता हुआ मोक्ष-सुख तक ले-चलता है। २. हे प्रभो! आप **देवैः**=सब दिव्यगुणों के साथ **निसत्सि**=हमारे हृदयों में विराजमान

होते हैं। हमारा हृदय प्रभु का निवासस्थान बनता है तो वहाँ सब अन्धकार का लोप होकर अदिव्यभावों का भी अन्त हो जाता है। ३. **च**=और हे प्रभो! आप **होत्रम्**=होता से किये जानेवाले कार्य को, अर्थात् सदा देकर बचे हुए यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति को **वेषि**=हमें प्राप्त कराते हैं **उत**=और **पोत्रम्**=पोता से किये जानेवाले शोधनात्मक कार्य को आप हमें प्राप्त कराते हैं। आपकी उपासना से हम अपने जीवन को शुद्ध करनेवाले होते हैं। ४. हे **वसूनाम्**=सब उत्तम पदार्थों के **प्रयन्तः**=प्रकृष्ट नियमन करनेवाले तथा **जनितः**=उत्पादन करनेवाले प्रभो! आप **बोधि**=(अस्मान् बोधय) हमें ज्ञानयुक्त कीजिए। इस ज्ञान के द्वारा हम वसुओं को प्राप्त करनेवाले हों और उनका ठीक प्रयोग करते हुए जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की वाणियों से हमें मोक्षसुख तक ले-चलते हैं, दिव्यगुणों के साथ हमारे हृदय में आसीन होते हैं। वे धनों के उत्पादक व दाता हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु के तीन उपदेश

यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवाँ अयजः कविभिः कविः सन्।
एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व॥ ५॥

१. प्रभु जीव को गतमन्त्र के 'प्रजावता वचसा' विकास की कारणभूत वेदवाणी से उपदेश देते हैं कि **विप्रस्य मनुषः यथा**=ज्ञानी मनुष्य की भाँति हवि से प्रभु का अर्चन करता हुआ तू **हविर्भिः**=हवियों के द्वारा—त्यागपूर्वक भोग के द्वारा **देवान् अयजः**=दिव्यगुणों को अपने साथ संगत कर। यज्ञशेष के सेवन से ही दिव्यवृत्तियों का विकास होता है। सारे-का-सारा स्वयं खा जाना ही आसुरभाव है। २. तू **कविभिः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों के साथ **कविः सन्**=कवि बनता हुआ हो, अर्थात् ज्ञानियों के सम्पर्क में तेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता जाए। ३. **एव**=जिस प्रकार तू हवि से देवयजन करे, कवि के सम्पर्क से कवि बने, इसी प्रकार हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले और अतएव **सत्यतर**=अधिकाधिक सत्यमय जीवनवाले **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वम्**=तू **अद्य**=आज **मन्द्रया जुह्वा**=कल्याणकर वाणी से **यजस्व**=सबके साथ संगत हो। सबके साथ तू शुभवाणी को ही बोलनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु का उपदेश है कि (क) हम त्यागपूर्वक अदन से दिव्यवृत्ति को बढ़ाएँ, (ख) विद्वानों के सम्पर्क से हम ज्ञानी बनें, (ग) मधुर-सुखद वाणी को ही हम बोलनेवाले हों।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि उपासना से शान्ति व शक्ति मिलती है (१)। हम प्रभु की प्रेरणा में ही चलें (२)। प्रभु ही रक्षोविध्वंस व यज्ञरक्षण करते हैं (३)। उनकी वेदवाणी हमारे विकास का साधन है (४)। उनके तीन मुख्य उपदेश हैं—त्यागपूर्वक अदन से देवत्व का विकास, विद्वानों के सम्पर्क से ज्ञानप्राप्ति तथा मधुरवाणी बोलना (५)। 'उस प्रभु के प्रति ही हम अपना अर्पण करें', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

[७७] सप्तसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

देव बनना

कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गीः।
यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत्कृणोति देवान्॥ १॥

१. **कथा**=किस प्रकार **अग्नये दाशेम**=उस अग्रणी प्रभु के लिए हम अपना अर्पण करें? हमारी प्रबल कामना यही है कि हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर सकें। **अस्मै**=इस **भामिने**=तेजस्विता के पुञ्ज प्रभु के लिए **देवजुष्टा**=विद्वानों से सेवित **गीः**=वाणी **उच्यते**=उच्चारण की जाती है और यह वाणी **का**=अत्यन्त आनन्द देनेवाली होती है। २. ये तेजस्विता के पुञ्ज प्रभु वे हैं **यः**=जो **मर्त्येषु**=मरणधर्मा पुरुषों में **अमृतः**=कभी नष्ट न होनेवाले हैं। सर्वव्यापक होते हुए वे प्रभु उन सब वस्तुओं में विद्यमान हैं जो समय-प्रवाह में नष्ट हो जाती हैं। वे प्रभु ही **ऋतावा**=ऋत का अवन व रक्षण करते है।, **होता**=सब पदार्थों के देनेवाले हैं, **यजिष्ठः**=पूज्य, संगतिकरण-योग्य व समर्पणीय हैं। ३. ये प्रभु ही **इत्**=निश्चय से अपने उपासकों को **देवान् कृणोति**=दिव्यवृत्तिवाला बना देते हैं। प्रभुकृपा से हम मनुष्य से ऊपर उठकर देव बन जाते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण में ही आनन्द है। वे प्रभु हमें देव बना देते हैं। प्रभु की उपासना ही देव बनने का साधन है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवों का सम्पर्क

यो अध्वरेषु शंतम ऋतावा होता तमू नमोभिरा कृणुध्वम्।
अग्निर्यद्वेर्मर्ताय देवान्त्स चा बोधाति मनसा यजाति॥ २॥

१. **यः**=जो प्रभु **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञादि उत्तम कर्मों में **शन्तमः**=अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाले हैं, अर्थात् जो भी प्रभु का उपासक होता है वह अध्वर वृत्तिवाला बनता है और प्रभु उसे शान्ति प्राप्त कराते हैं, वे प्रभु **ऋतावा**=ऋत का अवन व रक्षण करनेवालें हैं, **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं, **तम् उ**=उस प्रभु को ही **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **आकृणुध्वम्**=अपने अभिमुख करो। नमस्-नम्रता के द्वारा हम प्रभु की अनुकूलता का सम्पादन करें। २. **यत्**=जब **अग्निः**=यह अग्रणी प्रभु **मर्ताय**=मनुष्य के लिए **देवान्**=विद्वानों को **वेः**=(आवहति) प्राप्त कराते हैं तब **सः**=वह मनुष्य **बोधाति**=बोध प्राप्त करता है, **च**=और **मनसा**=मनन-शक्ति से **यजाति**= (संगच्छते) संगत होता है। प्रभुकृपा से ही हमारा सम्पर्क उत्तम ज्ञानियों से होता है और हम बोध प्राप्त करनवाले तथा मननशील बन पाते हैं।

भावार्थ—हम नमन से प्रभु को अपने अनुकूल करें। वे प्रभु हमें ज्ञानियों के सम्पर्क से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपासनापूर्वक कार्यों का प्रारम्भ

स हि क्रतुः स मर्यः स साधुर्मित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः।
तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विश उप ब्रुवते दस्ममारीः॥ ३॥

१. **सः हि**=वे प्रभु ही **क्रतुः**=सब कर्मों के करनेवाले हैं। सब उसी की शक्ति से तो हो रहा है, हम तो उसके निमित्तमात्र हैं। **सः मर्यः**=वे प्रभु ही सब मनुष्यों के (मारयिता)

समाप्त करनेवाले हैं। **सः साधुः**=वे ही सब कार्यों को सिद्ध करते हैं। वे प्रभु **मित्रः न भूत्**=सूर्य के समान तेजस्वी हैं। **अद्भुतस्य**=आश्चर्यजनक शक्ति के वे **रथीः**= (रंहयिता, प्रापयिता) प्राप्त करानेवाले हैं। २. **तम्**=उस **दस्मम्**=दर्शनीय प्रभु को **आर्तीः**=जाती हुई **देवयन्तीः विशः**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामनावाली प्रजाएँ **मेधेषु**=सब यज्ञों में **प्रथमम्**=सबसे पूर्व **उपब्रुवते**=स्तुत करती हैं। सब यज्ञों के आरम्भ में उस प्रभु के गुणों का ही उच्चारण करती हैं और वस्तुतः वे प्रजाएँ समझती हैं कि उस प्रभु की कृपा से ही इन यज्ञों की पूर्ति होती है, अतः सब उत्तम कर्मों को वे प्रभु की उपासना से ही प्रारम्भ करती हैं।

भावार्थ—सब यज्ञ प्रभु की कृपा से ही पूर्ण होते हैं, अतः सब उत्तम कर्मों को प्रभु के आराधन से ही प्रारम्भ करना चाहिए।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नृणां नृतमः

स नो नृणां नृतमो रिशादा अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम्।
तना च ये मघवानः शविष्ठा वाजप्रसूता इषयन्त मन्म॥ ४॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हम **नृणाम्**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले को (नृ नये) **नृतमः**=अतिशयेन आगे ले-चलनेवाले हैं, **रिशादाः**=(रिशतां अत्ता) हिंसक कामादि शत्रुओं को खा जानेवाले हैं, वे प्रभु हमारे नाश के कारणभूत काम-क्रोधादि शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हैं। २. इस प्रकार **अग्निः**=हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाले वे प्रभु **अवसा**=हमारे रक्षण के लिए **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **धीतिम्**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों को अथवा ध्यानवृत्ति को (धारणाम्-द०) **वेतु**=(कामयताम्) चाहें और प्राप्त कराएँ। प्रभु की कृपा से हमें ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त हों, ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्म प्राप्त हों तथा ध्यान की वृत्ति व उपासना प्राप्त हो। ३. **च**=और प्रभु हमें ऐसा बना दें जैसाकि **तना**=विस्तृत धनों से **ये**=जो **मघवानः**=(मघ=मख) यज्ञशील होते हैं, **शविष्ठाः**=अत्यन्त शक्तिसम्पन्न होते हैं तथा **वाजप्रसूताः**=शक्ति व ज्ञान से प्रेरित हुए-हुए जो **मन्म इषयन्त**=स्तोत्रों की कामना करते हैं, शक्तिसम्पन्न व ज्ञानी बनकर जो प्रभु का स्तवन करनेवाले होते हैं, बस, ऐसा प्रभु हमें बना दे।

भावार्थ—प्रभु ही हमें ज्ञान, कर्म व ध्यानवृत्ति को प्राप्त कराते हैं। प्रभुकृपा से हम धनों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्युम्नं+वाजं+पुष्टिम्

एवाग्निर्गोतमेभिर्ऋतावा विप्रेभिरस्तोष्ट जातवेदाः।
स एषु द्युम्नं पीपयत्स वाजं स पुष्टिं याति जोषमा चिकित्वान्॥ ५॥

१. **एव**=पूर्वाङ्कित चार मन्त्रों के अनुसार **गोतमेभिः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **विप्रेभिः**=अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुषों से **जातवेदाः**=वह सर्वज्ञ (जातं जातं वेत्ति) **अग्निः**=अग्रणी प्रभु जोकि **ऋतावा**=सब ऋतों, सत्यों व यज्ञों का रक्षण करनेवाला है **अस्तोष्ट**=स्तुति किया जाता है। २. **सः**=वे प्रभु ही **एषु**=इनमें **द्युम्नम्**=ज्ञान-ज्योति को **पीपयत्**=आप्यायित

करते हैं, बढ़ाते हैं। **सः**=वे प्रभु ही **वाजम्**=शक्ति को बढ़ाते हैं। उपासक के लिए वे प्रभु ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करानेवाले होते हैं। ३. **जोषम्**=हमारे प्रीतिपूर्वक सेवन को, हमारी उपासना को **आचिकित्वान्**=सर्वथा जानते हुए **सः**=वे प्रभु **पुष्टिं याति**=हमारे धनों की पुष्टि करते हैं। जहाँ वे प्रभु ज्ञान और शक्ति देते हैं, वहाँ वे हमारे पोषण के लिए आवश्यक धन भी देते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने उपासकों को 'ज्ञान, शक्ति व धन' सभी कुछ प्राप्त कराते हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार होता है कि प्रभु हमें मनुष्य से देव बनानेवाले हैं (१)। प्रभुकृपा से ही हमें देवों का सम्पर्क प्राप्त होता है (२)। हमें प्रत्येक कार्य प्रभु की उपासना से ही आरम्भ करना चाहिए (३)। वे प्रभु ही सर्वोत्तम नेता हैं (४)। वे ही हमें 'ज्ञान, शक्ति व धन' प्राप्त कराते हैं (५)। 'द्युम्न' के दृष्टिकोण से हम प्रभु के प्रति ही नतमस्तक होते हैं, इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७८] अष्टसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्युम्नों की प्राप्ति

अभि त्वा गोतमा गिरा जातवेदो विचर्षणे। द्युम्नैर्भि प्र णोनुमः॥ १॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ! **विचर्षणे**=विशेषेण सबके द्रष्टा, सबका ध्यान करनेवाले प्रभो! **गोतमाः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुष **गिरा**=वेदवाणियों के द्वारा **त्वा अभि**=आपको ही आभिमुख्येन स्तुत करते हैं, आपका ही लक्ष्य करके स्तुति-मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। वस्तुतः उनके 'गोतम' बन सकने का रहस्य यही है कि वे सदा आपका स्तवन करते हैं। आपका स्तवन ही उन्हें विषय-प्रवणता से बचाये रखता है। जब आप उनका ध्यान रखते हैं तो उनके मार्गभ्रष्ट होने की आंशका ही कैसे हो सकती है? २. हम भी **द्युम्नैः**=द्युम्नों की प्राप्ति के हेतु से **अभिप्रणोनुमः**=दिन के आरम्भ में और दिन की समाप्ति पर दोनों ही समयों में आपका खूब ही स्तवन करते हैं। आपका यह स्तवन हमें (क) यश (Splendour, glory, lustre) प्राप्त कराता है, (ख) शक्ति (Energy, strength, power) देनेवाला होता है, (ग) धनी (wealth, property) बनाता है, (घ) अन्तःप्रेरणा (Inspiration) देनेवाला होता है, (ङ) त्याग की वृत्ति-(Sacrificial offering)-वाला बनता है। (द्युम्नम् धननाम, नि० २।१०; द्योततेर्यशो वा अन्नं वा, निरु० ५।५; यशो वै हिरण्यम्—ऐ० ७।१८)

भावार्थ—प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष प्रभु की उपासना करते हैं; वस्तुतः उपासना से ही वे प्रशस्त-इन्द्रिय बनते हैं। हम भी प्रभु का उपासन करके 'यश-शक्ति-धन-अन्तःप्रेरणा व त्यागवृत्ति' को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धन

तमु त्वा गोतमो गिरा रायस्कामो दुवस्यति। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः॥ २॥

१. हे प्रभो! **तं त्वा उ**=उन आपको ही **रायस्कामः**=[पशवो वै रायः—श० ३।३।१।८] गौ आदि पशुरूप धनों की कामनावाला **गोतमः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा **दुवस्यति**=उपासित करता है। गोतम प्रभु का उपासन करता है और गौ आदि पशुरूप धनों को

प्राप्त करता है। २. हम भी उस गोतम का अनुकरण करते हुए, गोतम ही बनने की इच्छा करते हुए **द्युम्नैः**=द्युम्नों के हेतु से **अभिप्रणोनुमः**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में दोनों ओर—प्रातः व सायं खूब ही प्रभु को नमन करते हैं। इस नमन के द्वारा हम संसार-यात्रा के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त करनेवाले बनते हैं [द्युम्नमिति धननाम—नि० २।१०]।

भावार्थ—उपासक के लिए प्रभु धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

बल

तमु त्वा वाजसातममङ्गिरस्वद्धवामहे। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **तं त्वा उ**=उन आपको ही जोकि **वाजसातमम्**=अधिक-से-अधिक शक्ति देनेवाले हैं **अङ्गिरस्वत्**=अङ्गिरस की भाँति **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु का उपासक ही 'अंगिरा' बनता है। प्रभु की उपासना से ही उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार होता है। इस प्रकार प्रभु उपासक को अधिक-से-अधिक शक्ति प्राप्त कराते हैं, उपासक के लिए वे 'वाजसातम' होते हैं। २. हम भी **द्युम्नैः**=बलों को प्राप्त करने के हेतु से **अभिप्रणोनुमः**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में—दोनों ओर—प्रातः-सायं उस प्रभु का खूब ही स्तवन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-उपासना हमें 'अङ्गिरस'=शक्तिशाली बनाती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान

तमु त्वा वृत्रहन्तमं यो दस्यूँरवधूनुषे। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः॥ ४॥

१. हे प्रभो! **तं त्वा उ**=उन आपको ही जोकि **वृत्रहन्तमम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को पूर्णरूपेण नष्ट करनेवाले हैं, **यः**=जो **दस्यून्**=विनाशक वृत्तियों को **अवधूनुषे**=कम्पित करके दूर करनेवाले हैं, उन आपको **द्युम्नैः**=ज्ञानज्योति के हेतु से **अभिप्रणोनुमः**=दिन के आरम्भ व अन्त में, दोनों समय खूब ही प्रणाम करते हैं। २. महादेव की तृतीय नेत्र (ज्ञाननेत्र) की ज्योति से काम का दहन हो जाता है। प्रभुकृपा से हमें भी वह ज्ञानज्योति प्राप्त हो जिससे हमारी सब वासनाएँ भस्मसात् हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें वह ज्ञानज्योति प्राप्त हो जो वासनाओं को दग्ध कर देती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधुर वचन

अवोचाम रहूगणा अग्नये मधुमद्वचः। द्युम्नैरभि प्र णोनुमः॥ ५॥

१. **रहूगणाः**=(रह त्यागे) त्याग की वृत्तिवाले अथवा ज्ञानज्योति से वासनाओं का परिहार करनेवाले हम **अग्नये**=उस अग्रणी प्रभु की प्राप्ति के लिए **मधुमत् वचः**=अत्यन्त माधुर्य से युक्त वचन **अवोचाम**=बोलते हैं। वेद में प्रभु का यह बारम्बार उपदेश है कि 'इस संसार में मधुर वाणी को ही बोलना', 'मधुर ही बनना', तुम्हें **'भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः'**—भद्रवचन बोलने के लिए ही भेजा गया है, अतः प्रभु के इस आदेश को पालकर हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। २. **द्युम्नैः**=यश को प्राप्त करने के हेतु से हम **अभिप्रणोनुमः**= प्रातः-सायं प्रभु का खूब ही उपासन करते हैं। प्रभु का आराधन हमें पवित्र करेगा, हमें यशस्वी बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम मधुर शब्द ही बोलें। प्रभु हमें यश व पवित्रता प्राप्त कराएँगे।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि प्रभु का उपासक 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बनता है (१)। यह उपासक धन प्राप्त करता है (२)। इसे शक्ति मिलती है (३)। यह वासनाओं का विनाश करनेवाला होता है (४)। प्रभु-प्राप्ति के लिए हम मधुर वचनों को ही अपनाएँ, सब द्युम्नों की प्राप्ति प्रभुकृपा से ही तो होगी (५)। 'ज्ञानज्योति के प्रसार से हमारी राजस् भावनाएँ दूर हों', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[७९] एकोनाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पुरुष व स्त्री

हिर॑ण्यकेशो॒ रज॑सो विसा॒रेऽहि॒र्धुनि॒र्वात॑इव॒ ध्रजी॑मान्।
शुचि॑भ्राजा उ॒षसो॒ नवे॑दा॒ यश॑स्वतीरप॒स्युवो॒ न स॒त्याः॥ १॥

१. 'एक गृहस्थ में पुरुष व स्त्री कैसा बनने का प्रयत्न करें'—इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **रजसः**=रजोगुण के **विसारे**=दूर करने में यह पुरुष **हिरण्यकेशः**=हितरमणीय ज्ञान की ज्वालाओंवाला हो। नैत्यिक स्वाध्याय से यह ज्ञानज्योति को इस प्रकार दीप्त करे कि उसकी ज्ञानाग्नि में सब राजसवृत्तियों का दहन हो जाए। २. राजसवृत्तियों को दग्ध करके यह **अहिः**=(न हन्ता) किसी का नाश करनेवाला न हो अथवा (आहन्ति) सब वासनाओं को समाप्त करनेवाला हो; **धुनिः**=इन वासनारूप शत्रुओं को कम्पित करके दूर करे। ३. ऐसा कर सकने के लिए यह **वातः इव**=वायु के समान **ध्रजीमान्**=गतिमान् हो। जैसे वायु स्वाभाविक रूप से गतिमय है, इसी प्रकार यह सदा कर्मशील बना रहे, क्योंकि कर्मशीलता में ही वासनाएँ पनप नहीं पाती। आलस्य आया और वासनाओं का साम्राज्य हुआ। ४. इस गृहस्थ में स्त्रियाँ भी **शुचिभ्राजाः**=पवित्र व दीप्त हों। बिना दीप्ति के पवित्रता सम्भव ही नहीं, अतः स्त्रियाँ भी वेदज्ञान को प्राप्त कर अति पवित्र जीवनवाली हों। **उषसः**=ये वासनाओं को दग्ध करनेवाली हों (उष दाहे), **न वेदा**=(न विदन्ति) छल-छिद्र को न जाननेवाली, एकदम निर्दोष (Innocent) हों, बच्चों-जैसी (Children like)। ५. **यशस्वतीः**=ये स्त्रियाँ अपने ज्ञान व पवित्रता के कारण यशस्वी जीवनवाली हों। **अपस्युवः**=सदा कर्म करने की इच्छावाली हों, अकर्मण्यता इन्हें छू न जाए। ये न तो लेटी रहें और न गपशप में व्यर्थ ही समय का यापन करनेवाली हों। ६. **अपस्युवः न**=कर्मशील पुरुषों की भाँति ही ये **सत्याः**=सदा सत्य का पालन करनेवाली हों। कर्मशील हों और सत्यवादिनी हों।

भावार्थ—एक सद्गृहस्थ में पुरुष भी क्रियाशील होते हैं और स्त्रियाँ भी। यह क्रियाशीलता उन्हें पवित्र बना देती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृष्टि व गर्जन

आ ते॑ सुप॒र्णा अ॑मिनन्तँ॒ एवैः॑ कृ॒ष्णो नो॑नाव वृष॒भो यदी॒दम्।
शि॒वाभि॒र्न स्मय॑मानाभि॒रागा॒त्पत॑न्ति॒ मिहः॑ स्त॒नय॑न्त्य॒भ्रा॥ २॥

१. **सुपर्णाः**=उत्तम पालन व पूरणादि कर्मोंवाले **ते**=वे प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **एवैः**=क्रियाशीलताओं के द्वारा **आ, अमिनन्त**=व्यापक ज्ञान को प्राप्त कराते हैं (मि=to measure, obsreve, perceive)। ज्ञानप्राप्ति के लिए वस्तुतः यह आवश्यक है कि (क) वासनाओं से अपने को बचाया जाए, मन में ईर्ष्या-द्वेषादि मलिनताओं को न आने दिया जाए (सुपर्णाः), (ख) दूसरी आवश्यक बात यह है कि जीवन क्रियामय हो, आलस्यशून्यता नितान्त आवश्यक है (एवैः)। वासनाशून्यता और क्रियाशीलता के बिना ज्ञानप्राप्ति सम्भव ही नहीं। २. **कृष्णः**=संसार के रंग में अपने को न रंगनेवाला, निर्लेप **वृषभः**=शक्तिशाली पुरुष ही **नोनाव**=प्रभु का स्तवन करता है। प्रभु की वास्तविक स्तुति यही है कि हम संसार में आसक्त न हो जाएँ और अपनी शक्ति को क्षीण न होने दें। ३. प्रभु कहते हैं कि **यदि इदम्**=यदि तेरे जीवन में यह बात आ जाए तो **शिवाभिः**=कल्याणकारी **न**=(न इति चार्थे) और **स्मयमानाभिः**=मुस्कुराहटवाली वाणियों से **आगात्**=तू हमारे समीप आ। प्रभु-प्राप्ति उसी को होती है जो शुभ व प्रसन्नतादायक वाणी का ही उच्चारण करता है। ४. इस प्रकार प्रभु का उपासन होने पर **मिहः पतन्ति**=धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वृष्टियाँ होती है और **अभ्रा स्तनयन्ति**=हृदयान्तरिक्ष में प्रभु की वाणीरूप बादल की गर्जना होती हैं, प्रभु की प्रेरणा सुस्पष्ट सुनाई पड़ती है।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए 'वासनाशून्यता, क्रियाशीलता, निर्लेपता व शक्तिशालिता' की आवश्यकता है। प्रभु का उपासक शुभ वाणी ही बोलता है। उपासना की सिद्धि होने पर ही आनन्द की वृष्टि होती है और प्रभुप्रेरणा सुस्पष्ट रूप से सुन पड़ती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मूल स्थान में पहुँचने का मार्ग

यदीमृतस्य पयसा पियानो नयन्नृतस्य पथिभी रजिष्ठैः।
अर्यमा मित्रो वरुणः परिज्मा त्वचं पृञ्चन्त्युपरस्य योनौ॥ ३॥

१. **यत्**=जब मनुष्य **ईम्**=निश्चय से **ऋतस्य**=सत्यविद्याओं की कोशभूत वेदवाणीरूप गौ के **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **पियानः**=अपना आप्यायन करता है और अपने को **ऋतस्य**=सत्य व यज्ञ के **रजिष्ठैः**=ऋजुतम, छल-छिद्र से शून्य **पथिभिः**=मार्गों से **नयन्**=ले-चलता है। २. तो **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) कामादि शत्रुओं का नियन्त्रण करनेवाला, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला **परिज्मा**=(परितः गन्ता) सब क्षेत्रों में अपने कर्तव्य का पालन करनेवाला—ये सब **उपरस्य योनौ**=धर्ममेघ के उत्पत्ति-स्थान में **त्वचं पृञ्चन्ति**=स्पर्श को प्राप्त करते हैं, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक में—'सहस्रारचक्र' के स्थिति-स्थान में ये अपने प्राणों का निरोध करते हैं। यही समाधि की स्थिति है। इस स्थिति में ही प्रभुदर्शन होता है और उस आनन्द का अनुभव होता है जो वाणी के वर्णन का विषय नहीं बनता। ३. 'त्वचं' शब्द ही अंग्रेजी में Touch (टच) रूप में मिलता है, 'पृच्' धातु सम्पर्क अर्थवाली है। इस प्रकार धर्ममेघ समाधि की स्थिति में, इस मेघ के मूलस्थान में पहुँचने का मार्ग यही है कि (क) सत्यज्ञान प्राप्त किया जाए, (ख) सरल मार्ग से चला जाए, (ग) कामादि का वशीकरण हो, (घ) सबके प्रति स्नेह की भावना हो, (ङ) द्वेष न हो तथा (च) अपने कर्तव्यों के करने में प्रमाद व आलस्य न होकर जीवन स्फूर्तिमय हो। इन्हीं बातों को यम-नियमों में समाविष्ट किया गया है। इनपर चलते हुए इनपर चलने के लिए

प्राणयामादि के द्वारा इन्द्रियों व मनोनिरोध के द्वारा ही हम इस सर्वोच्च स्थिति में, ब्राह्मीस्थिति में पहुँच पाते हैं।

भावार्थ—ब्राह्मीस्थिति में पहुँचने का मार्ग यह है—'ज्ञान, सरलता, संयम, स्नेह, अद्वेष व क्रियाशीलता'। इन बातों को जीवन में लाने के लिए ही 'आसन-प्राणायामादि' योगाङ्गों का अनुष्ठान हुआ करता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**आर्ष्युष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

महि श्रवः

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो। अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी **सहसः यहो**=बल के पुत्र, बल के पुतले, शक्ति के पुञ्ज, **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **गोमतः**=ज्ञान की वाणियोंवाली **वाजस्य**=शक्ति के **ईशानः**=ईशान हैं (गावः=वेदवाचः)। आपमें सम्पूर्ण ज्ञान व सम्पूर्ण शक्ति का समन्वय है और इसी कारण आप अग्रेणी व परमेष्ठी—सर्वोच्च स्थान में स्थित हैं। ज्ञान व शक्ति के समन्वय में ही उन्नति है। २. आप **अस्मे**=हममें भी **महिश्रवः**=इस महनीय श्रव (ज्ञान) को **धेहि**=धारण कीजिए। आपकी कृपा से हमें भी यह महनीय ज्ञान प्राप्त हो। शक्ति से युक्त ज्ञान ही महनीय व प्रशंसनीय है। 'शरीर में शक्ति, मस्तिष्क में ज्ञान'—ये ही तो आदर्श पुरुष का निर्माण करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें शक्तियुक्त ज्ञान की प्राप्ति हो। यही ज्ञान हमें उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाला होगा।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदार्ष्युष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

धन+ज्ञान

स इधानो वसुष्कविरग्निरीळेन्यो गिरा। रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि॥ ५॥

१. **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **इधानः**=दीप्त है। सहस्रों सूर्यों के समान उस प्रभु का प्रकाश है। **वसुः**=वे प्रभु सबको उत्तम निवास देनेवाले हैं, **कविः**=क्रान्तदर्शी हैं, सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञाता के अभाव में सबका कल्याण करना सम्भव भी तो नहीं। ये प्रभु **गिरः**=वेदवाणी के द्वारा **ईळेन्यः**=स्तुति के योग्य हैं। उपासक को चाहिए कि इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा प्रभु का उपासन करे। हे **पुर्वणीक**=(अनीक=Brilliance, lustre) अनन्तज्ञान की दीप्तिवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रेवत्**=धनयुक्त होकर **दीदिहि**=दीप्त होओ, अर्थात् हमें धन भी प्राप्त कराइए और ज्ञान का प्रकाश भी। धन हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बनेगा और ज्ञान हमें उस धन के दुरुपयोग से बचाएगा। हम संसारयात्रा में धन से सब आवश्यक साधनों को जुटा पाएँगे और ज्ञान के द्वारा उस धन के दास नहीं बनेंगे। ज्ञानपूर्वक प्रभु का उपासन ही एकमात्र साधन है जिससे कि यह संसार हमारे लिए दलदल नहीं बन जाता और हम शत्रुओं के दलन की शक्ति से युक्त बने रहते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें ज्ञानयुक्त धन की प्राप्ति हो। हम धनी हों, साथ ही ज्ञानी हों, ताकि धन हमारे निधन का कारण न हो जाए।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदार्ष्युष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

रक्षोदहन

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः। स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हे **राजन्**=ज्ञान से दीप्त प्रभो! आप हमें ज्ञानयुक्त धन तो दीजिए ही **उत**=और साथ ही **त्मना**=आप स्वयं **रक्षसः**=हमारी राक्षसीवृत्तियों को **क्षपः**=(क्षपय) नष्ट कीजिए। आपकी कृपा के बिना हम इन वृत्तियों को नष्ट न कर सकेंगे–**'त्वया स्विद् युजा वयम्'**–आपके साथ मिलकर ही इनका नाश किया जा सकता है। जीव प्रभु को साथी के रूप में प्राप्त करके ही कामादि का विध्वंस करनेवाला होता है। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तिग्मजम्भ**=तीक्ष्ण दंष्ट्रोवाले प्रभो! **सः**=आप **वस्तोः उत उषसः**=दिन और रात, अर्थात् सदा (उषस् यहाँ रात्रि के लिए है), **रक्षसः**=इन राक्षसी वृत्तियों को **प्रतिदह**=एक-एक करके भस्म कर दीजिए। आपके अनुग्रह से ही यह रक्षोदहन हो पाएगा।

भावार्थ—प्रभु-उपासना से प्रभु की शक्ति हममें सञ्चरित होती है और राक्षसी भावों का विनाश करती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान का धारण

अवा नो अग्न ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रभर्मणि। विश्वासु धीषु वन्द्य॥ ७॥

१. **विश्वासु धीषु वन्द्य**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले सब कर्मों में वन्दना के योग्य **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **गायत्रस्य**=गान करनेवाले का त्राण (रक्षण) करनेवाले ज्ञान के **प्रभर्मणि**=प्रकर्षेण धारण करने के निमित्त **नः**=हमें **ऊतिभिः**=अपने रक्षणों से **अव**=रक्षित कीजिए। आपकी रक्षा से ही हम ज्ञान-प्राप्ति में निर्विघ्नता से आगे बढ़ सकेंगे। यह ज्ञान हमारा रक्षण करता है, हमें कामादि वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। २. इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए हमें प्रभु की वन्दना करनी चाहिए। प्रत्येक कर्म प्रभुकृपा से ही सफल हुआ करता है। प्रभु की कृपा के बिना छोटे-से-छोटे कार्य भी पूर्ण नहीं होते, अतः वे प्रभु ही सब ज्ञानयुक्त कर्मों के आरम्भ में वन्दना के योग्य हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी वन्दना करते हुए हम ज्ञानप्राप्ति के कर्म में सफल हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरेण्य धन

आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम्। विश्वासु पृत्सु दुष्टरम्॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **नः**=हमारे लिए आप **रयिम्**=धन को **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइए। उस धन को जोकि (क) **सत्रासाहम्**=युगपत् (एकदम) ही हमारी दारिद्र्यजनित सब विपत्तियों को समाप्त करनेवाला है, जिस धन से हमारे भूख-प्यासादि से होनेवाले सब कष्ट समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् जो धन हमारी सब भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर देता है, (ख) **वरेण्यम्**= (प्रशस्तगुणकर्मस्वभावकारकम्–द०) जो धन वरण के योग्य है, जोकि उत्तम मार्ग से कमाये जाने के कारण हमारे गुण-कर्म-स्वभाव को प्रशस्त बनानेवाला है और (ग) **विश्वासु पृत्सु**=सब संग्रामों में **दुष्टरम्**=शत्रुओं से दुस्तर है, अर्थात् जिस धन के कारण हम काम-क्रोधादि का शिकार नहीं होते। २. उस धन की क्या उपयोगिता जोकि (क) हमारे कष्टों को दूर न करके उन्हें बढ़ा दे, (ख) जो हमारे गुण- कर्म-स्वभाव को अप्रशस्त बना दे, और (ग) जो हमें कामादि शत्रुओं के साथ संग्राम में जीतने के लिए सक्षम नहीं बनाए। ऐसे धन से रहित होना ही अच्छा है।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन प्राप्त कराएँ जो हमारी क्षुधा आदि से जनित विपत्तियों को

दूर करे, हमें श्रेष्ठ बनाए और कामादि के विध्वंस के लिए समर्थ करे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विश्वायुपोषस् रयि

आ नो॑ अग्ने सुचे॒तुना॑ र॒यिं वि॒श्वायु॑पोषसम्। मा॒र्डी॒कं धे॑हि जी॒वसे॑॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः जीवसे**=हमारे उत्तम जीवन के लिए **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के साथ **रयिम्**=धन को **आधेहि**=धारण कीजिए। उस धन को जोकि **विश्वायुपोषसम्**=सारे जीवन में पोषण के लिए हो और **मार्डीकम्**=हमारे जीवन को सुखी बनानेवाला हो। २. यहाँ ज्ञानयुक्त धन की प्रार्थना इसलिए ही की कि यह धन हमारी अवनति का कारण न बन पाये। धन से सम्भावित सब अवनतियों को रोकने का काम ज्ञान ही करता है। ज्ञान होने पर हम धन से धन्य बनते हैं, जबकि ज्ञान के अभाव में यह धन हमारे निधन का ही कारण बनता है। ३. धन की मात्रा का संकेत 'विश्वायुपोषस्' शब्द दे रहा है। धन उतना ही ठीक है जोकि पोषण के लिए पर्याप्त हो, अधिक धन तो बोझमात्र है और शरीर में अनुपयुक्त भोजन की भाँति व्याधि का ही कारण बनता है। ४. धनार्जन के प्रकार का संकेत 'मार्डीकम्' शब्द से दिया जा रहा है, अर्थात् जो धनार्जन का प्रकार मानस अशान्ति पैदा करे वह अनुपादेय ही है। सट्टा (Speculation) आदि प्रकार सब जुआ ही हैं। ये व्याकुलता पैदा करते हैं, शान्ति नहीं। इसलिए ये त्याज्य हैं।

भावार्थ—धन ज्ञान से युक्त हो। मात्रा में इतना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। उस प्रकार से कमाया जाए जिससे यह अशान्ति का कारण न बने।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुम्नयुः

प्र पू॒तास्ति॒ग्मशो॑चिषे॒ वाचो॑ गोतमा॒ग्नये॑। भर॑स्व सु॒म्न॒युर्गिरः॑॥ १०॥

१. हे **गोतम**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष! **सुम्नयुः**=(क) प्रभुस्तवन (Hymn) को चाहता हुआ, (ख) जीवन में आनन्द (Joy, happiness) की कामना करता हुआ, (ग) प्रभुकृपा (Favour, protection) का अभिलाषी होता हुआ, (घ) त्याग (Sacrifice) की वृत्ति को अपनाना चाहता हुआ तू **तिग्मशोचिषे**=अत्यन्त तीव्र ज्ञान की ज्योतिवाले **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिए **पूताः वाचः**=पवित्र वचनों तथा **गिरः**=स्तुति-वाणियों को **प्रभरस्व**=प्रकर्षेण धारण करनेवाला बन। २. प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम पवित्र वचनों का उच्चारण करें और प्रभुस्तुति-प्रतिपादक वाणियों को अपनाएँ। वे प्रभु हमें अपनी ज्ञान-ज्योति से दीप्त करेंगे और हमें उन्नति-पथ पर ले-चलेंगे। ३. पवित्र वचनों को अपनाने से हम (क) प्रभुस्तवन कर रहे होंगे, (ख) आनन्द को प्राप्त करेंगे, (ग) प्रभुकृपा के पात्र होंगे और (घ) हममें त्यागवृत्ति पनपेगी।

भावार्थ—पवित्र वचन व स्तुति-वाणियाँ प्रभु को प्रीणित करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विघ्नों का हटाना

यो नो॑ अग्नेऽभि॒दास॒त्यन्ति॑ दू॒रे प॑दी॒ष्ट सः। अ॒स्माक॒मिद् वृ॒धे भ॑व॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=शत्रुओं का दहन करनेवाले प्रभो! **यः**=जो कोई **अन्ति**=समीप होता हुआ

नः=हमें **अभिदासति**=भौतिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण से नष्ट करना चाहता है, अर्थात् शरीर में व्याधियों और मन में आधियों का कारण बनता है, **सः**=वह शत्रु **दूरे पदीष्ट**=हमसे दूर जानेवाला हो, वह सुदूर विनष्ट हो जाए। २. काम-क्रोधादि शत्रु ऐसे हैं कि हमारे अत्यन्त समीप हैं, मन में पैदा हो जाते हैं। ये हमारे समीप होते हुए हमारे विनाश का कारण बनते हैं। इनके कारण शरीर में विविध रोग आ जाते हैं और मन में निरन्तर अशान्ति बनी रहती है। ३. हे प्रभो! आप इन शत्रुओं को हमसे सुदूर नष्ट कर दीजिए और **इत्**=निश्चय से **अस्माकम्**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भव**=होओ। इन शत्रुओं के नाश से ही उन्नति सम्भव होती है। ये सब शत्रु उन्नति के विघ्न हैं। विघ्न हटने पर ही हम आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से उन्नति के विघ्नभूत शत्रु दूर हों और हम उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सहस्राक्ष अग्नि

सहस्राक्षो विचर्षणिरग्नी रक्षांसि सेधति। होता गृणीत उक्थ्यः॥ १२॥

१. **सहस्राक्षः**=अनन्त ज्ञान-चक्षुओंवाले **विचर्षणिः**=विशेषेण सबके द्रष्टा, सबका ध्यान करनेवाले **अग्निः**=अग्रगति के साधक वे प्रभु **रक्षांसि**=हमारी सब राक्षसीवृत्तियों को—आसुर भावनाओं को **सेधति**=हमसे दूर करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान देते हैं, हृदयस्थ होते हुए अशुभ कर्मों से बचने के लिए प्रेरित करते हैं, सदा शुभमार्ग पर चलने के लिए उत्साहित करते हैं। ये **होता**=उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले प्रभु **उक्थ्यः**=स्तोत्रों से स्तुति करने के योग्य हैं और हमसे स्तुति किये जाने योग्य ये प्रभु **गृणीते**=हमें ज्ञान की वाणियों का उपदेश देते हैं। प्रभु ही आद्य गुरु हैं—**'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** (पा०यो०सू०)। इनके रक्षण में ही हम कल्याणकारक ज्ञान प्राप्त करते हैं। उत्तम गुरुओं का मिलना भी प्रभुकृपा से ही होता है।

भावार्थ—वे प्रभु सहस्राक्ष, विचर्षणि व अग्नि हैं। वे ही सब राक्षसी वृत्तियों को दूर करते हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि राजसवृत्ति को दूर हटाने के लिए हम हितरमणीय ज्ञान की ज्वालाओंवाले बनें (१)। प्रभुप्राप्ति के लिए वासनाओं से ऊपर उठें (३)। 'अर्यमा, मित्र, वरुण व परिज्मा' बनें (३)। महनीय ज्ञान को प्राप्त करें (४)। हमारा धन ज्ञान से युक्त हो (५)। प्रभु की शक्ति से हम रक्षोदहन करनेवाले हों (६)। प्रभुवन्दन हमें ज्ञानप्राप्ति में सफल करे (७)। वरेण्य धन की हमें प्राप्ति हो (८)। यह धन विश्वायुपोषस् हो (९)। हम पवित्र वचनों व स्तुति-वाणियों से प्रभु का आराधन करें (१०)। विघ्न दूर हों और आगे बढ़ें (११)। वे हृदयस्थ प्रभु हमारे गुरु हों, उपदेष्टा हों (१२)। 'हम स्वराज्य=आत्मराज्य की भावना का आदर करें' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८०] अशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

पृथिवी से अहि का दूरीकरण

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ १॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि प्रभु गृणते=उपदेश देते हैं। **इत्था**=ऐसा होने पर **हि**=निश्चय से **इत्**=सचमुच **मदे सोमे**=हर्ष उत्पन्न करनेवाले सोम (वीर्य) के सुरक्षित होने पर **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता विद्वान्—प्रकृतिविज्ञान (ऋग्वेद), समाजशास्त्र (यजुर्वेद), अध्यात्मशास्त्र (सामवेद) तथा आयुर्वेद और युद्धवेद (अथर्ववेद)—इन सब विज्ञानों में निपुण व्यक्ति **वर्धनं चकार**=प्रभु के गुणों का वर्धन करनेवाले स्तोत्रों का उच्चारण करता है। हृदयस्थ प्रभु का मूलभूत (First and foremost) उपदेश यह है कि—'इन्द्र बनकर सोमपान करो'। जीवन के चौबीस वर्ष तक के प्रातःसवन में, अगले चवालीस वर्षों के माध्यन्दिनसवन में तथा अन्तिम अड़तालीस वर्षों के सायन्तनसवन में इन्द्र को सोमपान करना है। इस सोम के रक्षण पर ही जीवन का सारा उल्लास निर्भर करता है। इस सात्त्विक उल्लास में वह प्रभु के गुणों का गान करता है। यह प्रभुगुणगान सोमरक्षण में सहायक होता है। इस सोम को ज्ञानप्राप्ति का ईंधन बनाकर यह अपने ज्ञान को बढ़ाता है और ब्रह्मा कहलाने का पात्र होता है। २. प्रभु का उपदेश यही है कि तू **शविष्ठ**=अधिक-से-अधिक शक्तिशाली बन। **वज्रिन्**=तेरे हाथ में क्रियाशीलता वज्र हो, **ओजसा**=तू अपनी ओजस्विता से **पृथिव्याः**=इस अपने पृथिवीरूप शरीर से **अहिम्**=सूर्य पर आवरणभूत, मेघ के समान ज्ञान पर आवरणभूत वृत्र=कामवासना को **निःशशाः**=बाहर भगा दे। तू **स्वराज्यं अनु**=स्वराज्य का लक्ष्य करके **अर्चन्**=उपासना करनेवाला बन। उपासना ही मनुष्य को आत्मशासन व संयम के योग्य बनाती है। प्रभु का उपासक ही आत्मशासन कर पाता है। प्रभु से दूर होते ही वासनाएँ हमें आ घेरती हैं।

भावार्थ—जीवन का उल्लास वीर्यरक्षण पर आधारित है। वीर्यरक्षण के लिए स्वराज्य=आत्मशासन चाहिए। आत्मशासन के लिए उपासना साधन बनती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

श्येनाभृत सोम [हृदयान्तरिक्ष से वृत्र का विनाश]

स त्वांमदद् वृषा मदः सोमः श्येनाभृतः सुतः ।
येना वृत्रं निर॒द्भ्यो ज॒घन्थ॑ वज्रिन्नोज॒सार्च॒न्नन॑ स्व॒राज्य॑म्॥ २॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **सः सोमः**=वह सोम (वीर्य) **त्वा अमदत्**=तुझे आनन्द देनेवाला हो, जो सोम **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला है अथवा जो शक्ति देनेवाला है, जो सोम **मदः**=हर्ष व उल्लास का उत्पादक है। इस सोम का रक्षण न होने पर जीवन उल्लासशून्य हो जाता है। **श्येनाभृतः**=यह सोम श्येन से आभृत होता है (श्यैङ् गतौ), गतिशील पुरुष के द्वारा यह शरीर में धारण किया जाता है। आलस्य वासनाओं के लिए उर्वराभूमि है, आलस्य में वासनाएँ पनपती हैं और तब सोमरक्षण सम्भव नहीं होता। **सुतः**=यह सोम आहार से रसादि क्रम द्वारा अभिषुत है—आहार से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से मेदस् और मेदस् से सोम का अभिषव होता है। इस 'सुत' सोम का तू रक्षण कर, यह तुझे आनन्दित करेगा। २. हे **वज्रिन्**=हाथ में क्रियाशीलता वज्र को लिये हुए जीव! तू **येन**=जिस सोम से **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अद्भ्यः**=हृदयान्तरिक्ष से (आपः=अन्तरिक्ष) **निर्जघन्थ**=निकालकर बाहर फेंकता है, वह सोम तुझे आनन्दित करनेवाला हो। ३. इस सोम के रक्षण के लिए ही **स्वराज्यं अनु**=आत्मशासन का लक्ष्य करके **अर्चन्**=तू उपासनावाला बन। उपासना से तू संयमी

बनेगा। संयम से सोमरक्षण कर पाएगा। सोमरक्षण से शक्तिशाली बनकर तू वृत्र का विनाश करनेवाला 'इन्द्र' बनेगा। यही तेरे जीवन की सार्थकता होगी।

भावार्थ—सोम का भरण क्रियाशील पुरुष से ही होता है। सोमरक्षण से ओजस्वी बनकर हम हृदय से वासनाओं को दूर भगा पाते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

आक्रमण व धर्षण

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ३ ॥

१. प्रभु प्रेरणा देते हैं कि प्रेहि (प्र इह) तू प्रकर्षेण गतिवाला हो। तेरा जीवन क्रियाशील हो, अकर्मण्यता तुझे छू न जाए। **अभीहि**=तू कामादि वासनाओं के प्रति आक्रमण के लिए जानेवाला हो। तू वासनाओं पर आक्रमण कर। **धृष्णुहि**=इन वासनाओं का तू धर्षण करनेवाला हो। २. **ते वज्रः**=तेरा यह क्रियाशीलतारूप वज्र (वज् गतौ) **न नियंसते**=शत्रुओं से रोका नहीं जाता, अर्थात् तेरा जीवन कामादि वासनाओं में फँस जाने से अकर्मण्य-सा नहीं हो जाता। ३. हे **इन्द्र**=कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाले जीव! **ते शवः**=तेरा बल **हि**=निश्चय से **नृम्णम्**=(नृणां नामकमभिभावकम्) शत्रुभूत मनुष्यों को पराजित करनेवाला है। इस बल से तू **वृत्रम्**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आई हुई वासना को **हनः**=नष्ट करता है और **अपः**=रेतःकणों को **जया**=विजय के द्वारा प्राप्त करता है। वासना ही रेतःकणों के नाश का कारण बनती है, वासना को जीत लिया तो रेतःकणों का रक्षण होता ही है। ४. इस सारे कार्य के लिए तू **स्वराज्यमनु अर्चन्**=आत्म-शासन की भावना का आदर करनेवाला हो। आत्मवान् बनकर ही तू उन्नति-पथ पर आगे बढ़ पाएगा।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा वासना को समाप्त करें और रेतःकणों का विजय के द्वारा लाभ करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्राणशक्ति व उत्तम जीवन

निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः ।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ४ ॥

१. शरीर में वृत्र 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में अपना अधिष्ठान बनाता है। **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष से प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले! तू **भूम्याः अधि**=इस शरीररूप पृथिवी में से **वृत्रम्**=इस वासना को **निर्जघन्थ**=निकाल भगा। इन्द्रियों में जो इसके दुर्ग बने हुए हैं, उन्हें तू नष्ट कर डाल और इसी प्रकार **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से भी **निः** (जघन्थ)=इसे निकाल ही दे। इसके इन सब दुर्गों का भंग हो जाए और यह तेरे जीवन में से बहिष्कृत हो जाए। २. वृत्र को नष्ट करके तू **इमाः अपः**=इन रेतःकणों को **अवसृज**=वासना के पञ्जे से मुक्त कर ले। ये रेतःकण ही तो **मरुत्वतीः**=प्राणशक्तिवाले हैं अथवा प्राणायाम द्वारा इन्हीं की ऊर्ध्वगति की जाती है और **जीवधन्याः**=ऊर्ध्वगतिवाले होकर ये हमारे जीवन को धन्य बनाया करते हैं। ३. ऐसा तू कर तभी सकेगा जब **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=तू आत्मशासन की भावना का आदर करनेवाला होगा। संयम से ही यह सब साध्य होता है।

भावार्थ—हम शरीर व मस्तिष्क में से वासना को भगा दें, तभी सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमारी प्राणशक्ति को बढ़ाएगा और हमारे जीवनों को धन्य करनेवाला होगा।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अशान्ति के कारणभूत वृत्र का विनाश

इन्द्रो॑ वृ॒त्रस्य॒ दोध॑तः॒ सानुं॒ वज्रे॑ण हीळि॒तः ।
अ॒भि॒क्रम्याव॑ जिघ्नते॒ऽपः सर्मा॑य चो॒दय॒न्नर्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म् ॥ ५ ॥

१. वेद में क्रोध को नष्ट करने के स्थान में नियन्त्रित करने का उल्लेख है। इस क्रोध को वश में करके कामादि के प्रति सन्नद्ध करना चाहिए। उस समय यह क्रोध शत्रु पर आक्रमण के लिए उत्साह के रूप में प्रकट होता है। इसके अभाव में कुछ अकर्मण्यता-सी आ जाती है, तो **हीळितः**=कामादि से अनादृत हुआ-हुआ और अतएव उनपर क्रुद्ध हुआ-हुआ, उनपर आक्रमण के लिए उत्साहवाला **इन्द्रः**=यह शत्रुओं का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **दोधतः**=अत्यन्त कम्पित होते हुए, अर्थात् प्रबल हलचल करते हुए **वृत्रस्य**=कामवासनारूप शत्रु के **सानुम्**=शिखर को **व्रजेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **अभिक्रम्य**=आक्रमण करके **अवजिघ्नते**=(प्रहरति) प्रहृत करता है। वासना, जोकि हमारे जीवन को अत्यन्त अशान्त बनाये रखती है, उसे यह इन्द्र क्रियाशीलता के द्वारा समाप्त करता है। २. इस प्रकार वासना को समाप्त करके वह **अपः**=रेतःकणों को **सर्माय**=शरीर में प्रसृत होने के लिए **चोदयन्**=प्रेरित करता है। रेतःकण रुधिर के साथ सारे शरीर में व्याप्त होते हैं और शरीर में होनेवाली आधि-व्याधियों को समाप्त कर देते हैं। ३. ऐसा इन्द्र कर तभी पाता है जबकि वह **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का समादर करता है। आत्मशासन की भावना के प्रबल होने पर ही हम वासना को समाप्त करते हैं और रेतःकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—अत्यन्त अशान्ति के कारणभूत वासनात्मक वृत्र को हम विनष्ट करें और सोमकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

शतपर्व वज्र

अधि॒ सानौ॒ नि जि॑घ्नते॒ वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा ।
म॒न्दा॒न इन्द्रो॒ अन्ध॑सः॒ सखि॑भ्यो गा॒तुमि॑च्छ॒त्यर्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म् ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **शतपर्वणा**=सौ पर्वोंवाले **वज्रेण**=वज्र से, अर्थात् सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त चलनेवाली क्रियाशीलता से **सानौ अधिनिजिघ्नते**=वृत्र के शिखर पर प्रहार करता है, वासना के सिर पर घातक प्रहार करता है और वासना को समाप्त कर देता है, उसका सिर कुचल देता है। २. वासना को समाप्त कर देने पर यह इन्द्र **अन्धसः**=सोम के रक्षण से **मन्दानः**=जीवन में अद्भुत आनन्द व तृप्ति का अनुभव करता है और इस अनुभव के आधार पर **सखिभ्यः**=अपने सखाओं के लिए भी **गातुं इच्छति**=इसी मार्ग को चाहता है। उन्हें भी वासना को समाप्त करके सोमरक्षण की प्रेरणा देता है। ३. यह सब वह करता तभी है जबकि **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=वह आत्मशासन की भावना का पूजन करता है। यही भावना उसके जीवन के उत्थान का कारण बनती है।

भावार्थ—जीवनपर्यन्त क्रियाशील बनकर वासना की समाप्ति से वीर्यरक्षण करते हुए हम आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मायीमृग का वध

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन्वीर्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले! अतएव **अद्रिवः**=आदरणीय (दृङ् आदरे) अथवा शत्रुओं से अविदारण के योग्य (दृ विदारणे)! **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए जीव! **तुभ्यम्**=ते लिए **इत्**=निश्चय से वह **वीर्यम्**=शक्ति प्राप्त हुई है जो **अनुत्तम्**=(न नुद्त) शत्रुओं से तिरस्कृत नहीं की जा सकती, परे नहीं धकेली जा सकती। **यत्**=चूँकि **ह**=निश्चय से **त्वम्**=तूने **तम्**=उस **त्यम्**=छुपकर हृदय में रहनेवाले **मायिनं मृगम्**=छल-कपटवाले, अत्यन्त प्रपञ्चवाले परस्व-अपहर्ता मृग को, चोर को, शक्ति को चुरा लेनेवाले कामादि शत्रुओं को **मायया**=प्रज्ञा के द्वारा **अवधीः**=नष्ट किया है। २. जीवात्मा की शक्ति का रहस्य इसी बात में है कि वह कामवासना को नष्ट कर पाता है। इस कामदेव की माया में विरल व्यक्ति ही नहीं फँसते। यह तो अत्यन्त मायावी है। यह वृत्ति पाशविक होने से यहाँ मृग कही गई है। चोर जैसे ढूँढ-ढूँढकर द्रव्य का अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार यह काम भी सुगुप्तरूप से हमारी शक्ति का अपहरण करनेवाला होता है। ३. इस मायीमृग का संहार माया व चिन्तन-प्रज्ञा के द्वारा ही होता है। इसके स्वरूप का विचार करने लगें तो यह भाग खड़ा होता है। विचार से ही हम इस काम से ऊपर उठ पाते हैं। ३. विचारपूर्वक इस मायीमृग को हम मार तभी सकते हैं जब **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=हम आत्मशासन के महत्त्व का आदर करते हैं। आत्मशासन की भावना ही हमें इस योग्य बनाती हैं कि हम कामरूप इस मायीमृग से प्रवञ्चित न हों।

भावार्थ—जब हम मायीमृगरूप वासना का चिन्तन के द्वारा वध कर पाते हैं, तभी हमारी शक्ति अतिरस्करणीय होती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

नाव्य वज्र द्वारा प्रभुस्तवन

वि ते वज्रासो अस्थिरन्नवतिं नाव्याई अनु।
महत्त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हितमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते**=तेरी **नाव्याः**=(नावे हिता नाव्याः) शरीररूप नौका के लिए हितकर **वज्रासः**=गतियाँ (वज् गतौ) **नवतिं अनु**=(नु स्तुतौ) प्रभुस्तवन का लक्ष्य करके **वि अस्थिरन्**=विविध कार्यक्षेत्रों में स्थित होती हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय विविध कर्तव्यों का पालन करता हुआ तू प्रभु की दृश्यभक्ति करनेवाला होता है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८।४६)। २. इस कर्म के द्वारा होनेवाले प्रभुस्तवन के परिणास्वरूप **ते वीर्यं महत्**=तेरी शक्ति महनीय होती है और **ते**=तेरी **बाह्वोः**=बाहुओं में **बलं हितम्**=बल स्थापित होता है। अकर्मण्यता से भुजाएँ निर्बल हो जाती हैं। बायें हाथ की निर्बलता का रहस्य इस अकर्मण्यता में ही है। यह left है, इसे सामान्यतः काम से छुट्टी मिली

रहती है। ३. इस महत्त्वपूर्ण क्रियाशीलता की भावना हममें पनपती तभी है जब हम **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का समादर करते हैं। हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता व आत्मशासन के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। इस क्रियाशीलता से हमारी यह शरीररूपी नाव ठीक रहेगी और वासना को जीतकर हम वीर्यवान् व बलवान् रहेंगे।

भावार्थ—शरीररूपी नाव को ठीक रखने का एक ही मार्ग है कि हम अपने को विविध कर्तव्यों के पालन में लगाये रक्खें। यह कर्तव्यपालन हमें शक्ति देगा। यह कर्तव्यपालन ही प्रभु की दृश्यभक्ति बन जाएगा।

सूचना—शरीर भवसागर को तैरने के लिए एक नाव है जिसका वर्णन 'सुत्रामाणं' इस मन्त्र में विस्तार से दिया गया है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सहस्रं-विंशतिः-शता

स॒हस्रं॑ सा॒कम॑र्चत॒ परि॑ ष्टोभत विंश॒तिः ।
श॒तैन॒मन्व॑नोनवु॒रिन्द्रा॑य ब्र॒ह्मोद्य॑त॒मर्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ ९ ॥

१. **सहस्रम्**=(स+हस्) हँसने के साथ, अर्थात् अत्यन्त प्रसन्नता के साथ **साकम्**=सब मिलकर, घर में सब पारिवारिक सदस्य एक स्थान में (अस्मिन् सधस्थे) एकत्र होकर **अर्चत**=उस प्रभु का अर्चन करो। प्रातः-सायं सब मिलकर उस प्रभु की अर्चना करें, यही बच्चों को उत्तम बनाने का वास्तविक मार्ग है। २. एकत्र होकर हम सब प्रयत्न करें कि **विंशतिः**=हमारी दस इन्द्रियाँ व दस प्राण मिलकर—ये बीस-के-बीस **परिष्टोभत**=उस प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। उन-उन क्रियाओं को करते हुए ये प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। सब क्रियाएँ प्रभु-स्मरण के साथ ही चलें। इस प्रभु-स्मरण में हम एक आनन्द का अनुभव करें (सहस्रम्)। ३. मेरे जीवन के **शता**=सौ-के-सौ वर्ष **एनम्**=इस परमात्मा को **अन्वनोनवुः** स्तवन करनेवाले हों। मैं प्रभुस्तवन से कभी दूर न होऊँ। मेरी प्रत्येक क्रिया प्रभुस्तवन का रूप धर ले-मेरी भक्ति कर्ममयी हो। मेरा भोजन भी प्रभु के मन्दिर की मरम्मत के रूप में हो। ऐसा होने पर **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **ब्रह्म**=वे प्रभु **उद्यतम्**=स्वागत के लिए तैयार होते हैं। यह मोक्षलोक वा ब्रह्मलोक में पहुँचता है जहाँ कि इसका अभिनन्दन ब्रह्म के द्वारा किया जाता है। यह सब होता तभी है जबकि हम **अर्चन अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का आदर करते हैं।

भावार्थ—घर में हम सब मिलकर प्रभु-अर्चन करें। हमारी इन्द्रियों व प्राणों से प्रभुस्तवन ही चले। आजीवन हम प्रभुस्तवन से दूर न हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वृत्र-तविषी-हनन

इन्द्रो॑ वृ॒त्रस्य॒ तवि॑षीं॒ निर॑हन्त्सह॑सा॒ सहः॑ ।
म॒हत्तद॑स्य॒ पौंस्यं॑ वृ॒त्रं ज॑घ॒न्वाँ अ॑सृज॒दर्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ १० ॥

गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्रस्य**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आये हुए काम के **तविषीम्**=बल को **निरहन्**=निश्चय से नष्ट करता है। प्रभु की उपासना से वासना का बल नष्ट हो जाता है। पुराणों की भाषा में महादेव

के सामने कामदेव भस्म हो जाता है। २. यह प्रभु का उपासक इन्द्र **सहसा**=अपने उपासना-जनित बल से शत्रुओं का मर्षण करनेवाले **सहः**=काम के मर्षक बल को **निरहन्**=समाप्त कर देता है। ३. **अस्य**=इस इन्द्र का **तत्**=वह **पौंस्यम्**=पौरुष का कार्य **महत्**=अत्यन्त महनीय (आदर के योग्य) होता है कि यह **वृत्रं जघन्वान्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करके **असृजत्**=उत्कृष्ट शक्ति का निर्माण करता है। यह होता तभी है जब **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=यह आत्मशासन की भावना का आदर करता है, आत्मशासन का लक्ष्य करके प्रभु का आराधन करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक वृत्र के बल का विनाश करके उत्कृष्ट शक्ति का निर्माण करता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

मही-कम्पन

इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही ।
यदिन्द्र वज्रिन्नोजसा वृत्रं मरुत्वाँ अवधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ११ ॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जब **वज्रिन्**=हाथ में क्रियाशीलता वज्र को लिये हुए **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला, प्राणसाधना करनेवाला बनकर तू **ओजसा**=ओजस्विता से **वृत्रम्**=ज्ञान पर आवरणभूत इस वासनारूप वृत्र को **अवधीः**=नष्ट कर देता है तब **तव मन्यवे**=तेरे क्रोध के लिए, अर्थात् तेरे क्रोध करने पर **इमे मही चित्**=ये महान् द्युलोक व पृथिवीलोक भी **भियसा**=भय से **वेपेते**=काँप उठते हैं। २. जितेन्द्रिय पुरुष में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह द्यावापृथिवी को हिलाने में समर्थ हो जाता है। यह शक्ति (ओजसा) उसमें जितेन्द्रिय बनने से उत्पन्न होती है (इन्द्र)। इस जितेन्द्रियता के लिए वह क्रियाशील बनता है (वज्रिन्) और प्राणसाधना को अपनाता है (मरुत्वान्)। ३. यह सब हो तभी पाता है जबकि यह इन्द्र **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का समादर करता है। संयम ही सब शक्तियों व उन्नतियों का मूल है। संयमी पुरुष आत्मविजय के कारण संसार का भी विजय करता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता व प्राणसाधना से वासना को विनष्ट करके हम स्वराट् बनें और अपने अन्दर उस शक्ति को उत्पन्न करें जो सारे संसार को प्रभावित करनेवाली हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

इन्द्र की निर्भीकता

न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बीभयत् ।
अभ्येनं वज्र आयसः सहस्रभृष्टिरायतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥ १२ ॥

१. अध्यात्म-जीवन में वासनारूप शत्रु का महान् भय बना ही रहता है। यह वासना 'प्रद्युम्न'=प्रकृष्ट बलवाली है—'मारः'=यह असावधान पुरुष को तो मार ही डालनेवाली है, परन्तु जिस समय **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=एक पुरुष संयम की भावना का समादर करता है, उस समय **वृत्रः**=यह ज्ञान की आवरणभूत वासना **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **न वेपसा**=न तो अपने कम्पनों और **न तन्यता**=न ही अपनी गर्जनाओं से **विबीभयत्**=भयभीत कर पाती है। संयमी पुरुष इस काम से डरता नहीं। काम का अभियान होने पर सब सुकृत पर्वत-कन्दराओं में जा छिपते हैं, परन्तु जब यह इन्द्र संयम की भावना को प्रधानता देता है तब यह वृत्र उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाता। २. इन्द्र का भयभीत होना तो दूर रहा, इस काम की चेष्टाएँ व गर्जन

होने पर इन्द्र का **आयसः**=लोहे का बना हुआ **सहस्रभृष्टिः**=शतशः धारोंवाला **वज्रः**=वज्र **एनं अभि**=इस वृत्र को लक्ष्य करके **आयत**=प्राप्त होता है। यह 'आयस वज्र' अनथक क्रियाशीलता ही है। एक व्यक्ति चलने में थकता नहीं तो कहते हैं—अरे भाई! इसकी टाँगें तो मानो लोहे की बनी हुई हैं।' इस प्रकार कर्म करते हुए भी न थकने पर यह कहा जाएगा कि—'इसके हाथों में तो एक 'आयसवज्र' है। यह आसयवज्र शतशः वासनारूप शत्रुओं का नाश करने के कारण यहाँ सहस्रभृष्टि कहा गया है, हज़ारों धारों से शत्रुओं को नष्ट करनेवाला।

भावार्थ—हम अनथकरूप से क्रियाशील बनें। यह क्रियाशीलता ही वह वज्र बनेगी जो वासनारूप शत्रुओं का दलन करेगी।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह'

यद् वृत्रं तव॑ चा॒शनिं॒ वज्रे॑ण स॒मयो॑धयः ।
अहि॑मिन्द्र॒ जिघां॑सतो दि॒वि ते॑ बद्बधे॒ शवोऽर्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=वृत्र का संहार करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जब **वृत्रम्**=वासनारूप शत्रु का **अशनिम् च**=(अशनि=fire, अग्नि) और वासना-जनित अग्नि (सन्ताप) का **तव वज्रेण**=तू अपनी क्रियाशीलता से **समयोधयः**=सम्यक् रूप से युद्ध में मुक़ाबला करता है, उस समय **अहिम्**=(आहन्ति) सब प्रकार से विनाश के कारणभूत इस वृत्र को **जिघांसतः**=मारने की इच्छावाले **ते**=तेरा **शवः**=बल **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **बद्बधे**=बद्ध व अनुस्यूत होता है, अर्थात् जहाँ तेरा ज्ञान का प्रकाश चमक उठता है वहाँ तेरा ज्ञान बल से अनुस्यूत होता हैं—तेरा ब्रह्म 'क्षत्र' से युक्त होता है। वासना विनष्ट होने पर हमारे ज्ञान व बल की वृद्धि होती है। २. ऐसा होता उसी समय है जबकि यह इन्द्र **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का लक्ष्य करके प्रभु का अर्चन करनेवाला बनता है। प्रभु का अर्चन ही हमें जितेन्द्रिय बनने में समर्थ करता है और तभी हम वृत्र को पूर्णरूप से पराजित कर पाते हैं।

भावार्थ—वृत्र व वासना के नष्ट होने पर हममें ज्ञान में अनुस्यूत बल चमक उठता है। हम उस लोक में पहुँच जाते हैं—'**यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह**' (यजु० २०।२५)।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वह अद्भुत शक्ति

अ॒भि॒ष्टने॑ ते अद्रिवो॒ यत्स्था जग॑च्च रेजते ।
त्वष्टा॑ चि॒त्तव॑ म॒न्यव॒ इन्द्र॑ वेवि॒ज्यते॑ भि॒यार्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ १४॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय वीर! वृत्र (वासना) के विजेता पुरुष! हे **अद्रिवः**=वज्रवन्—निरन्तर क्रियाशील पुरुष! **ते अभिष्टने**=तेरा सिंहनाद होने पर **यत्**=जो **स्थाः**=स्थावर है **जगत् च**=और जो जंगम है वह सब **रेजते**=काँप उठता है, अर्थात् तेरी शक्ति के सामने इस चराचर ब्रह्माण्ड की शक्ति भी तुच्छ होती है। २. और तो और **त्वष्टा चित्**=इस संसार का निर्माता भी **तव मन्यवे**=तेरे क्रुद्ध होने पर **भिया वेविज्यते**=भय से काँप उठता है। प्रभु ने क्या काँपना! हाँ, यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है और इस वर्णन से जितेन्द्रिय पुरुष की अद्भुत शक्ति का शंसन हो रहा है। महाभारत में वेदव्यास ने इसका चित्रण विश्वामित्र के नव-संसार के निर्माण

के संकल्प की कथा में किया है। विश्वामित्र नया संसार ही बनाने के लिए उद्यत हो उठता है, तब जैसे-तैसे देवता उसे शान्त करते हैं। हाँ, यह सब होता तभी है जबकि **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=यह आत्मशासन की भावना का समादर करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष की शक्ति अद्भुत है। वह चराचर ब्रह्माण्ड को कम्पित करने में सक्षम है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

नृम्णं-क्रतु-ओजस्

नहि नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्या परः।
तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि सं दधुरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सिंहनाद करनेवाले **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **नु**=अब वृत्र **न हि यात्**=आक्रान्त नहीं करता, उसकी ओर जाने का वह साहस नहीं करता। २. इस पुरुष का जीवन इतना उत्तम होता है कि हम इस जितेन्द्रिय पुरुष को **अधीमसि** (अधि+म=स्मरण) स्मरण करते हैं। इसके उत्तम जीवन को आनेवाली पीढ़ियाँ याद करती हैं। राम को कौन भूल सकता है! कृष्ण का स्मरण सदा रहेगा! दयानन्द का जीवन सदा प्रेरणा प्राप्त करानेवाला होगा! ३. **कः**=कौन **वीर्या परः**=शक्ति के दृष्टिकोण से इस जितेन्द्रिय पुरुष से बढ़कर हो सकता है! **तस्मिन्**=उस इन्द्र में तो **देवाः** सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र व पृथिव्यादि सब देवों ने **नृम्णम्**=धन को **उत**=और **क्रतुम्**=कर्म-सकंल्प को अथवा ज्ञान को तथा **ओजांसि**=ओजस्विताओं को **सन्दधुः**=स्थापित किया है। सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता के कारण यह धन, ज्ञान व बल से सम्पन्न हुआ है, इसीलिए तो यह सबसे आगे बढ़ गया है; इसको कोई लाँघ नहीं सका। यह होता तभी है जबकि **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=यह आत्मशासन की भावना का समादर करता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें, वासनाओं को नष्ट करें। देवानुग्रह से हमें 'नृम्ण, क्रतु व ओजस्' की प्राप्ति होगी।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अथर्वा मनुष्पिता दध्यङ्

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥ १६॥

१. **याम्**=जिस **धियम्**=बुद्धिपूर्वक कर्म (धी=ज्ञान व कर्म) को **अथर्वा**=(न थर्वति) डाँवाडोल न होनेवाला, स्थिरवृत्ति का पुरुष, **मनुः**=मननशील ज्ञानी व्यक्ति, **पिता**=रक्षणात्मक वृत्तिवाला व्यक्ति तथा **दध्यङ्**=ध्यान की वृत्तिवाला पुरुष **अत्नत**=विस्तृत करते हैं, **तस्मिन्**=उस बुद्धिपूर्वक कर्म में ही **ब्रह्माणि**=सब अन्न व धन **समग्मत**=संगत होते हैं (ब्रह्म=अन्न, नि० २।७; ब्रह्म=धन, नि० २।१०), अर्थात् 'स्थितप्रज्ञ, मननशील, रक्षणात्मक वृत्तिवाला, ध्यानी पुरुष बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा उत्तम अन्नों व धनों को पाता है। २. **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **पूर्वथा**=पहले की भाँति अर्थात् जैसे सदा से यह होता ही है कि **उक्था**=प्रभु के स्तोत्र **समग्मत**=संगत होते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है; वस्तुतः उसकी जितेन्द्रियता का रहस्य इस स्तवनशीलता में ही है। यह स्तवनशीलता व जितेन्द्रियता उसमें

उत्पन्न होती है जबकि वह **अर्चन् अनु स्वराज्यम्**=आत्मशासन की भावना का आदर करता है अथवा आत्मशासन के दृष्टिकोण से प्रभु की अर्चना करता है।

भावार्थ—हम बुद्धिपूर्वक कर्मों से उत्तम अन्न व धन का सम्पादन करें। हममें प्रभु के स्तोम संगत हों।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार है कि–'शरीररूप पृथिवी से वासनारूप अहि को दूर करो (१)। हृदय से वासना को दूर भगाओ (२)। वृत्र के विनाश के द्वारा रेत:कणों का विजय करो (३)। ये रेत:कण ही प्राणशक्ति व उत्तम जीवन देंगे (४)। अशान्ति के कारणभूत वृत्र का विनाश आश्यक है (५)। शतपर्व वज्र से वृत्र का विनाश करने पर ही आनन्द का अनुभव होगा (६)। मायामृगरूप वासना का वध आवश्यक है (७)। शरीररूप नाव को ठीक रखने का एक ही मार्ग है कि हम अपने विविध कर्तव्यों के पालन में लगे रहें (८)। हम आजीवन प्रभुस्तवन से दूर न हों (९)। वृत्र के बल का विनाश आवश्यक है (१०)। वृत्रविनाश से वह शक्ति उत्पन्न होती है जो सारे संसार को प्रभावित कर देती है (११)। क्रियाशील इन्द्र ही वज्रपाणि है, वह निर्भीक होता है (१२)। इसमें ज्ञान और शक्ति का समन्वय होता है (१३)। इस जितेन्द्रिय पुरुष की शक्ति चराचर को कम्पित कर सकती है (१४)। इस इन्द्र में देव नृम्ण, क्रतु व ओजस् का धारण करते हैं (१५)। हम बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा अन्न व धन का सम्पादन करें (१६)। 'हमें' चाहिए कि हम 'वृत्रहा बनें'–इन शब्दों से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है—

॥ इति प्रथमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः॥

अथ प्रथमाष्टके षष्ठोऽध्यायः

[८१] एकाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

हर्ष व शक्ति

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्॥ १ ॥

१. **नृभिः**=अपने को उन्नति-पथ पर आगे ले-चलनेवाले व्यक्तियों से **वृत्र-हा**=वासनाओं को नष्ट करनेवाला **इन्द्रः**=सब असुरों का—आसुरवृत्तियों का संहारक प्रभु **मदाय**=आनन्द की प्राप्ति के लिए तथा **शवसे**=बल के लिए **वावृधे**=बढ़ाया जाता है। उस प्रभु का स्तवन हर्ष व शक्ति की वृद्धि का कारण है। वे प्रभु स्तुति किये जाने पर हमारी वासनाओं को नष्ट करते हैं। यह वासना-विनाश ही हर्ष व शक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। ३. **तम् इत्**=उस प्रभु को ही **महत्सु आजिषु**=बड़े-बड़े संग्रामों में **उत**=और **ईम्**=निश्चय से **अर्भे**= छोटे संग्रामों में **हवामहे**=हम पुकारते हैं। **सः**=वे प्रभु ही पुकारे जाने पर **वाजेषु**=इन संग्रामों में **नः**=हमें **प्र अविषत्**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। प्रभुकृपा के बिना संग्राम में विजय सम्भव नहीं। छोटी व बड़ी सफलताएँ प्रभुकृपा से ही प्राप्त होती हैं। अध्यात्म-संग्राम में विजय का तो एकमात्र साधन प्रभुस्तवन ही है। चित्तवृत्तिनिरोध के लिए प्राणायाम को अपनाकर जब हम प्रभु का ध्यान करते हैं तब बड़े-से-बड़े शत्रु को नष्ट करने में सक्षम होते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से हर्ष व शक्ति बढ़ती है। प्रभु ही संग्रामों में हमें विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सेन्य व वसुमान् प्रभु

असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि परादुदिः ।
असि दुभ्रस्य चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु॥ २ ॥

१. हे **वीर**=(वि ईर) हमारे शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **सेन्यः**=सेनार्ह—अकेले ही सेना के बराबर **असि**=हैं। अर्जुन इसी विचार से महाभारत में शस्त्रास्त्र से सुसज्जित एक लाख सैन्य को न लेकर निरस्त्र कृष्ण को लेता है। २. हे प्रभो! आप **भूरि**=खूब ही **परादुदिः**=शत्रुओं के धनों का आदान—हरण करनेवाले हैं। कामादि का विध्वंस करके उनकी शक्ति अपने भक्तों को प्राप्त कराते हैं। काम-क्रोधादि इनके सेवक बन जाते हैं। ३. हे प्रभो! आप **दभ्रस्य चित्**=छोटे के भी **वृधः**=बढ़ानेवाले **असि**=हैं। **यजमानाय**=शक्तिशाली पुरुष के लिए आप **शिक्षसि**=देने की कामना करते हैं। **सुन्वते**=यज्ञशील पुरुषों के लिए **ते वसु**=आपका धन **भूरि**=मात्रा में प्रचुर होता है और उनका वस्तुतः भरण-पोषण करनेवाला होता है। यज्ञशील पुरुषों के लिए यह धन उन्नति का कारण बनता है। अयज्ञीय पुरुष इस धन से अपने भोगों को बढ़ाकर उन भोगों का ही शिकार हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु को अपनानेवाला कभी पराजित नहीं होता और उसे कभी धन की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

विजय, धन और निरभिमानता

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना ।
युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥ ३ ॥

१. **यत्**=जब **आजयः**=संग्राम **उदीरते**=उठ खड़े होते हैं तब **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले के लिए **धना**=धन **धीयते**=धारण किये जाते हैं। इसी प्रकार अध्यात्म में भी कामादि का धर्षण करनेवाला व्यक्ति ही शम-दमादि अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करता है। २. इस सम्पत्ति को प्राप्त कराकर हे प्रभो! आप कृपा करते हैं तो हमारे शरीररूप रथ में **मदच्युता**=शत्रुओं का गर्व नष्ट करनेवाले **हरी**=इन्द्रियरूप अश्वों को **युक्ष्वा**=जोड़ते हैं। हमारी इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति व यज्ञादि कर्मों में लगी रहकर हमें कामादि से आक्रान्त होने से बचाती हैं और इस प्रकार ये कामादि के मद को दूर करके हमें विनय के मार्ग पर ले-चलती हैं। ३. हे प्रभो! आप कर्म-व्यवस्था के अनुसार **कम्**=किसी एक को **हनः**=नष्ट करते हो और **कम्**=किसी दूसरे को **वसौ दधः**=धन में स्थापित करते हो। एक को निधन (मृत्यु) में, एक को धन में। हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **अस्मान्**=हमें तो आप **वसौ दधः**=धन में ही धारण कीजिए। न हम अभिमान करें और न ही धन से क्षीण हों। धन की प्राप्ति जिन्हें अभिमानी बना देती है वे ही लोग पतनोन्मुख होते हैं। हम संग्राम में जीतें और धनों को प्राप्त करें ही, परन्तु हमें उन धनों का कभी गर्व न हो ताकि हम आपके दण्ड के पात्र न बनें।

भावार्थ—हम संग्राम में शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बनें। इस शत्रुधर्षण से धनी बनें। हमें अभिमान न हो। अभिमानी ही तो प्रभु से दण्डित होकर विनष्ट होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

शिप्री हरिवान्

क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृधे शवः ।
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवान्दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ॥ ४ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **क्रत्वा**=(क्रतु=कर्म, प्रज्ञा) प्रज्ञापूर्वक कर्मों से **महान्**=महनीय व बड़ा होता है। जब हम ज्ञान का सम्पादन करते हैं और उस ज्ञान के अनुसार कर्मों में व्यापृत होते हैं तभी महनीय जीवनवाले होते हैं। २. **अनुष्वधम्**=(अनु स्व+धा) आत्मतत्त्व के धारण के अनुसार तू **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता है। जितना-जितना हम आत्मतत्त्व का धारण करते हैं, उतना-उतना शक्ति-सम्पन्न होकर कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं। ३. इन शत्रुओं का संहार करने पर तेरा **शवः**=बल **आवावृधे**=सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है। वस्तुतः काम-क्रोधादि हमारे शरीर व मानस बलों को क्षीण करनेवाले हैं। हम काम-क्रोध को जीत लेते हैं तो अपनी शक्ति की सुरक्षा कर पाते हैं। ४. शक्ति की वृद्धि होने पर—शरीर व मानस दोनों के ठीक स्थापित होने पर **ऋष्वः**=तू दर्शनीय होता है और अब **शिप्री**=उत्तम हनुओं-(जबड़ों)-वाला होता हुआ, अर्थात् खाने-पीने में अत्यन्त संयमी होता हुआ तथा **हरिवान्**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला होता हुआ तू **श्रिये**=शोभा के लिए **उपाकयोः**=(उप अञ्च) प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले **हस्तयोः**=इन हाथों में **आयसं वज्रम्**=लोहे से बने हुए वज्र को **निदधे**=स्थापित करता है। हम सब इन्द्रियों को वश में करें

और विशेषतः जिह्वा को। यही 'हरिवान् व शिप्री' बनना है। ऐसा बनकर हम हाथों से सदा कर्म करनेवाले बनें। कर्म करने में थकें नहीं। यह न थकना ही 'आयस वज्र' को धारण करना है। यह क्रियाशीलता ही हमारी शोभा का कारण बनेगी—'पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्'—सूर्य की शोभा को देखो जो चलता हुआ थकता ही नहीं। हम भी कर्म करते हुए थकेंगे नहीं तो सूर्य की भाँति शोभावाले होंगे। वस्तुतः कर्मशील को वासनाएँ नहीं सताती और वह सुन्दर जीवनवाला बनता है। इसप्रकार ये हाथ हमें वासनाओं से ऊपर उठाकर प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म ही हमें महान् बनाते हैं। आत्मतत्त्व के धारण के अनुपात में हमारी शक्ति बढ़ती है। शोभा का मार्ग यही है कि हम क्रियाशील बनें। इससे वासनाशून्य बनकर हम प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होंगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अनुपम

आ पंप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि ।
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यतेऽति विश्वं ववक्षिथ ॥ ५ ॥

१. जीव प्रभु को अपने में धारण करने के लिए उसकी आराधना करता हुआ कहता है—हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! आपने ही **पार्थिवं रजः**=इस पार्थिव लोक को **आपप्रौ**=समन्तात् पूरित किया हुआ है। हमारे इस पार्थिव शरीर का भी पूरण आप ही करते हैं। २. **दिवि**=द्युलोक में **रोचना**=इन चमकते हुए नक्षत्रों को **बद्बधे**=(बबन्ध) आप ही बाँधते व स्थापित करते हैं। हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी आप ही विज्ञान के नक्षत्रों का उदय करते हैं। ३. हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **न त्वावान् कश्चन**=आपके समान कोई भी नहीं है—**'न त्वत्समोऽसि'**। **न जातः**=आपके समान आजतक कोई उत्पन्न नहीं हुआ है, **न जनिष्यते**=आपके समान कोई उत्पन्न होगा भी नहीं। यह ठीक है कि हम आपके समान न बन सकेंगे, परन्तु हमारा लक्ष्य यही है कि हम आपके समीप पहुँच सकें। ४. हे प्रभो! आप ही **विश्वम्**=इस सम्पूर्ण संसार को **अति**=अतिशयेन- खूब ही **ववक्षिथ**=वहन करने की कामना करते हैं। आप ही इस ब्रह्माण्ड का धारण कर सकते हैं, किसी अन्य के लिए इसका धारण करना कैसे सम्भव हो सकता है? हम भी आपके सच्चे पुत्र बनते हुए धारणात्मक कर्मों को करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु पृथिवी का पूरण करते हैं, द्युलोक को नक्षत्रों से अलंकृत करते हैं। वे प्रभु अनुपम हैं। वे ही इस ब्रह्माण्ड का धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वह स्वामी

यो अर्यो मर्तभोजनं पराददाति दाशुषे ।
इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु वि भजा भूरि ते वसु भक्षीय तव राधसः ॥ ६ ॥

१. **यः**=जो **अर्यः**=स्वामी—सबके पालक प्रभु **दाशुषे**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **मर्तभोजनम्**=मनुष्य के पालन-पोषण के लिए आवश्यक भोजन **पराददाति**=देते हैं, ये **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिक्षतु**=आवश्यक धन दें। प्रभुकृपा से हमें जीवन की सब आवश्यक सामग्री प्राप्त हो। २. हे प्रभो! **विभजा**= आप भाग के

अनुसार धन हमें दीजिए। **भूरि ते वसु**=आपका धन बहुत है, आप अनन्त धनवाले हैं। आप उस धन में से हमारे भाग को हमें दीजिए। **तव राधसः**=आपके धन का **भक्षीय**=भाग प्राप्त करनेवाला मैं बनूँ। कर्मानुसार उस धन का एकदेश (भाग) मुझे भी प्राप्त हो और उस धन से मैं अपने जीवन को श्रीसम्पन्न बनानेवाला होऊँ।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, दान देनेवाले बनें। प्रभु हमें आवश्यक धन प्राप्त कराएँगे ही।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

धन+बुद्धि

मदेमदे हि नो ददिर्यूथा गवामृजुक्रतुः।
सं गृभाय पुरू शतोभयाहस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर॥ ७॥

१. प्रभु के स्तवन से जो मस्ती उत्पन्न होती है, वह यहाँ 'मद' नाम से कही गई है। शराब का नशा तामस् है, वह चेतना को समाप्त करनेवाला है। प्रभुस्तवन का नशा सात्त्विक है, वह चेतना के प्रकर्ष का कारण बनता है। हे प्रभो! आप **मदेमदे**=चेतना-प्रकर्ष से होनेवाले मदों में **हि**=निश्चय से **नः**=हमारे लिए **गवां यूथा**=गौवों के समूह को **ददिः**=देनेवाले हैं। आपकी कृपा से हमें गो-धनादि सम्पत्ति पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है। २. हे प्रभो! आप **ऋजुक्रतुः**=ऋजुकर्मा हैं—सरल व्यवहारवाले हैं। आपके साम्राज्य में छल-छिद्र का स्थान नहीं हैं। आपकी उपासना में लगा हुआ मेरा जीवन भी छल-छिद्र से रहित बने। मैं भी ऋजुकर्मा होऊँ। ३. हे प्रभो! आप **पुरु शता**=(पुरूणि शतानि) अनेक सैकड़ों संख्याओंवाले **वसु**=(वसूनि) धनों को **उभया हस्त्या**=दोनों हाथों से **संगृभाय**=सम्यक् ग्रहण कीजिए और **रायः आभर**=हमारे जीवनों में इन धनों को भर दीजिए। ४. हे प्रभो! आप हमें इन धनों से तो पूर्ण कीजिए ही, परन्तु साथ ही **शिशीहि**=हमारी बुद्धि को अत्यन्त तीव्र बनाइए। ये धन हमारी बुद्धि का विलोप करनेवाले न हो जाएँ। हम लक्ष्मी के वाहन उल्लू ही न बन जाएँ। हम लक्ष्मीपति विष्णु के समान बनें।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन के मद का अनुभव करें। प्रभुकृपा से हमें ज्ञानयुक्त धन प्राप्त हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

शवस्+राधस् (शक्ति+सफलता)

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे।
विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव॥ ८॥

१. हे **शूर**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **सुते**=सोम-(वीर्यशक्ति)-सम्पादन करने पर **सचा**=हमारे साथ होते हुए **मादयस्व**=हमें हर्षित कीजिए। जब हम वासनादि शत्रुओं का दमन करके सोमशक्ति का रक्षण करते हैं, तब हमें प्रभु का सङ्ग प्राप्त होता है। जब वासनाओं से चित्तवृत्ति हटती है, तभी यह प्रभु की ओर लगती है। 'रस'-रूप प्रभु से मेल होने पर हमारे जीवन में भी रस उत्पन्न हो जाता है। उस समय ये प्रभु **शवसे**=हमारी शक्ति और **राधसे**=सफलता के लिए होते हैं। प्रभुकृपा से हमें शक्ति प्राप्त होती है और शक्ति के द्वारा हम जीवन में सफल होते हैं। हे प्रभो! **त्वा**=आपको **हि**=ही हम **पुरूवसुम्**=अनन्त धनवाला अथवा पालक व पूरक धनवाला **विद्म**=जानते हैं। इसलिए **उप**=आपके समीप उपस्थित होकर ही **कामान् ससृज्महे**=अपनी इच्छाओं को सम्पादित करते हैं। **अथ**=अब आप

ही **नः**=हमारे **अविता**=प्रीणन करनेवाले **भव**=होओ। आपकी कृपा से हमारी इच्छाएँ पूर्ण हों और हम प्रसन्नता का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें 'शक्ति, सफलता व धन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वार्यधनों का पोषण

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम्।
अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् परमात्मन्! **एते**=ये हम **ते जन्तवः**=तेरे प्राणी हैं। प्रकृतिगृह्य न होकर हम प्रभुगृह्य हैं (गृह्य=पश्य)। आपको अपनानेवाले ये लोग **विश्वम्**=सब **वार्यम्**=वरणीय धनों को **पुष्यन्ति**=प्राप्त करते हैं। 'प्रभु के उपासकों को धन की कमी रहती हो' ऐसी बात नहीं है। हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **जनानाम्**=सब लोगों के **अन्तः ख्यः**=अन्तःस्थित होते हुए उनके सब विचारों व आचारों को देखते हैं। आप अन्तर्यामी हैं। **अर्यः**=स्वामी होते हुए आप ही **अदाशुषाम्**=न देनेवालों के **वेदः**=धन को **ख्यः**=देखते ही हैं। **तेषां वेदः**=उनके धनों को **नः, आभर**= हमारे लिए प्राप्त कराइए। इस प्रकार ये धन भूमि में न गड़े रहकर अथवा बैंक के लॉकर्स में न पड़ें रहकर लोकहितकारी कार्यों में विनियुक्त हो पाएँगे।

भावार्थ—हम प्रभु के पक्ष में रहनेवाले हों, वरणीय धनों का पोषण करें और प्रभु से प्राप्त कराये गये धन का दान देनेवाले हों।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इस प्रकार हुआ है कि प्रभु स्तवन से हर्ष व शक्ति बढ़ती है (१)। प्रभु को अपनानेवाला कभी पराजित नहीं होता (२)। हम विजयी, धनी व निरभिमानी बनें (३)। ज्ञानपूर्वक किये गए कर्म ही हमें महान् बनाते हैं (४)। वे प्रभु अनुपम हैं (५)। वे प्रभु ही सबके स्वामी हैं (६)। वे हमें धन व बुद्धि देते हैं (७), शक्ति व सफलता प्राप्त कराते हैं (८)। अन्तर्यामी होते हुए दानवृत्तिवालों को धन प्राप्त कराते हैं (९)। 'हे प्रभो! आप हमारी प्रार्थना सुनिए', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८२] द्व्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अनुग्रह

उपो षु शृणुही गिरो मघवन्मातथाइव।
यदा नः सूनृतावतः कर आदर्थयास इद्योजा न्विन्द्र ते हरी॥ १॥

१. हे प्रभो! **उप उ**=हम आपके समीप हों। हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यवान् प्रभो! **गिरः**=हमारी प्रार्थनावाणियों को **सु**=अच्छी प्रकार **शृणुहि**=सुनिए। आप **अ-तथाः इव मा**=हमारे प्रतिकूल-से मत होओ। हमारा आचरण ऐसा न हो कि हम आपके कृपापात्र न रहें। हमारी सबसे बड़ी कामना यही है कि हम आपके अनुग्रह-भाजन बने रहें। २. **यदा**=जब आप **नः**=हमें **सूनृतावतः**=सूनृत-प्रिय, सत्य वाणीवाला **करः**=करते हैं, **आत्**=तभी **इत्**=वास्तव में **अर्थयासे**=हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! आप हमारे इस शरीररूप रथ में **ते हरी**=आपके इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **योजा नु**=जोड़िए ही। सर्वोत्तम प्रार्थना यही

है कि हमारे ये ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े इस शरीर-रथ में जुतकर हमें उन्नति-पथपर आगे ले-चलनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभुकृपा के पात्र हों। सूनृत वाणीवाले हों। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति में तथा कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि कर्मों में लगे रहें।

ऋषि:—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

विप्र (का लक्षण)

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के अनुग्रह को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति **विप्राः**=(विप्रा पूर्णे) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले होते हैं, वे **अक्षन्**=शरीर-पोषण के लिए भोजन करते हैं और **अमीमदन्त**=एक हर्ष का अनुभव करते हैं। इनके द्वारा भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक किया जाता है। भोजन को भी ये एक यज्ञ का रूप दे देते हैं और **हि**=निश्चय से **प्रियाः**=प्रभु के प्यारे होते हैं और **अव अधूषत**=सब आधि-व्याधियों को कम्पित करके अपने से दूर करनेवाले होते हैं। इनका सात्त्विक यज्ञीय भोजन शरीर में अनामय (नीरोगता) का कारण बनता है तो मन में यह प्रकाशक होता है। २. **अस्तोषत**=ये प्रभु का स्तवन करते हैं और परिणामतः **स्वभानवः**=आत्मा की दीप्तिवाले होते हैं, **नविष्ठया**=अत्यन्त स्तुत्य **मती**=बुद्धि से युक्त होते हैं। इनके शरीर और मन की भाँति इनकी बुद्धि भी अत्यन्त शुद्ध होती है। हे **इन्द्र**=प्रभो! आप **ते हरी**=अपने इन इन्द्रियाश्वों को **योजा नु**=हमारे शरीररूप रथ में जोड़िए। आप इस रथ को निरन्तर आगे ले-चलनेवाले हों और इस प्रकार हमारी जीवन-यात्रा की पूर्ति में साधक बनें।

भावार्थ—विप्र वह है जो (क) प्रसन्नतापूर्वक सात्त्विक भोजन करता है, (ख) शरीर और मन के मैलों को दूर करता है, (ग) प्रभुस्तवन करता हुआ आत्मप्रकाश को देखने का प्रयत्न करता है, (घ) प्रशस्त बुद्धि से युक्त होता है, (ङ) इन्द्रियों को स्वकार्य में व्यापृत करके जीवन-यात्रा को पूर्ण करता है।

ऋषि:—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुसन्दृश व पूर्णवन्धुर प्रभु

सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि ।
प्र नूनं पूर्णवन्धुरः स्तुतो याहि वशाँ अनु योजा न्विन्द्र ते हरी॥ ३॥

१. हे **मघवन्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त प्रभो! **सुसन्दृशम्**=उत्तमता से सबको सम्यक्तया देखनेवाले—सभी का ध्यान करनेवाले **त्वा**=आपका **वयम्**=हम **विन्दषीमहि**=अभिवादन करते हैं, आपका स्तवन करते हैं। आप २. **नूनम्**=निश्चय से **प्र**=प्रकर्षेण **पूर्णवन्धुरः**=धनादि से पूर्ण रथ-(वन्धुर)-वाले हैं अथवा सृष्टिरचना में ठीक बन्धनों को करनेवाले हैं। इस सृष्टि में प्रत्येक वस्तुविन्यास अपने-अपने स्थान में ठीक प्रकार से हुआ है। ३. **स्तुतः**=स्तुति किये आप **वशान्**=अपने मन व इन्द्रियों को वश में करनेवालों को **अनुयाहि**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। 'वश्' धातु का अर्थ चमकना (to shine) भी है। हे प्रभो! आप उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो आपका स्तवन करते हुए अपने जीवन को निर्मल बना पाते हैं। ४. हे **इन्द्र**=प्रभो! आप हमारे इस शरीररूप रथ में **ते हरी**=अपने इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **योजा**

नु=जोतिए ही। ये हमें ज्ञानी व शक्तिसम्पन्न बनाकर यात्रा को पूर्ण कर सकने में समर्थ करें।

भावार्थ—प्रभु सुसन्दृश व पूर्णवन्धुर हैं; वे जितेन्द्रिय पुरुषों को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'वृषण-गोविद' का रथ

स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम्।
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्र चिकेतति योजा न्विन्द्र ते हरी॥४॥

१. **सः**=वह पुरुष ही **घ**=निश्चय से **तम्**=उस **वृषणम्**=शक्तिशाली व **गोविदम्**=ज्ञान की वाणियों के प्रकाशक अथवा रश्मियों को प्राप्त करनेवाले **रथम्**=शरीररूप रथ पर **अधितिष्ठति**=अधिष्ठित होता है, **यः**=जो **पात्रम्**=(पा रक्षणे) सबके रक्षक अथवा सबके आधारभूत **हारियोजनम्**=जिसका सम्पर्क (योजनम्) सब कष्टों का हरण करनेवाला है (हारि), **पूर्णम्**=जो पूर्ण है, उस प्रभु को **'इन्द्रः'**=वह ही परमैश्वर्यवाला है, इस रूप में **चिकेतति**=जानता है। वस्तुतः प्रभु का स्मरण करनेवाला ही इस शरीररूप रथ का ठीक से अधिष्ठातृत्व करता है। वह प्रभुकृपा से कर्मेन्द्रियों से कर्मों में लगा रहकर इसे सशक्त (वृषण) बनाता है और ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति में लगा रहकर इसे गोवित्=प्रकाश की किरणोंवाला बना पाता है। २. इसकी प्रार्थना यही होती है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! आप **ते हरी**=अपने इन इन्द्रियाश्वों को **योजा नु**=निश्चय से हमारे शरीररूप रथ में जोतिए। आपकी कृपा से ही ये घोड़े इस रथ को सशक्त व प्रकाशमय बनाएँगे और मुझे उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होंगे।

भावार्थ—प्रभु को 'पात्र, हारियोजन, पूर्ण'-रूप में स्मरण करते हुए हम इस 'वृषण, गोवित्' शरीर-रथ पर अधिष्ठित हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

दक्षिण व सव्य अश्व (जाया-उपयान)

युक्तस्ते अस्तु दक्षिण उत सव्यः शतक्रतो।
तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी॥५॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञा व कर्मोंवाले प्रभो! **ते**=आपका **दक्षिणः**=दाहिने पार्श्व में जुतनेवाला अश्व **युक्तः अस्तु**=इस रथ में जुता हुआ हो। 'दक्षिण' शब्द चतुर, कुशल, समझदार, ज्ञानी की भावना को देता हुआ ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व का संकेत दे रहा है। २. हे शतक्रतो! **उत**=और **सव्यः**=वाम पार्श्व में जुतनेवाला घोड़ा भी युक्त हो। 'षू' धातु से निष्पन्न यह सव्य शब्द उत्पादन व निर्माण का संकेत करता है, एवं, यह कर्मेन्द्रियरूप अश्व का बोधक है। ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व 'दक्षिण' है, कर्मेन्द्रियरूप अश्व 'सव्य' है। ३. **तेन**=इस प्रकार दक्षिण व सव्य अश्व से युक्त उस रथ से **प्रियां जायाम्**=प्रीणित करनेवाली वेदवाणीरूप जाया (पत्नी) के **उपयाहि**=समीप प्राप्त हो। वेदवाणी पत्नी हो, तू उसका पति हो। वेदवाणी से ही तेरा परिणय हो जाए। इसी उद्देश्य से तू **अन्धसा**=सोम के द्वारा **मन्दानः**=हर्ष का अनुभव करनेवाला हो। वस्तुतः अध्ययन की वृत्ति हमें वासनाओं से ऊपर उठाती है और सोमरक्षण के योग्य बनाती है। ४. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **ते हरी**=अपने इन दक्षिण व सव्य अश्वों को **योजा नु**=हमारे शरीर-रथ में अवश्य जोतिए ही। इनके द्वारा ही हमारी यात्रा पूर्ण होती है।

भावार्थ—हमारा शरीर-रथ ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से युक्त हो। वेदवाणी हमारी जाया हो, हम उसके पति बनें। सोमरक्षण से हम आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु का उपदेश

युनज्मि ते ब्रह्मणा केशिना हरी उप प्र याहि दधिषे गभस्त्योः।
उत्त्वा सुतासो रभसा अमन्दिषुः पूषण्वान्वज्रिन्त्समु पत्न्यामदः॥ ६॥

१. गतमन्त्रों में जीव की (योजा न्विन्द्र ते हरी) इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **ते ब्रह्मणा**=(बृहि वृद्धौ) तेरे वर्धन के दृष्टिकोण से मैं **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले इन **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **युनज्मि**=तेरे शरीर-रथ में जोतता हूँ। **उपप्रयाहि**=इस रथ से तू मेरे समीप आनेवाला हो। इसके लिए तू **गभस्त्योः**=अपने हाथों में **दधिषे**=इन घोड़ों की लगामों को धारण करनेवाला बन। २. **उत**=और **रभसाः**=शक्ति को देनेवाले (Robust बनानेवाले) **सुतासः**=भोजन से उत्पन्न ये सोमकण **त्वा**=तुझे **अमन्दिषुः**=आनन्दित करें। सोमकणों के रक्षण से तू आनन्द का अनुभव कर। यही मार्ग प्रभु के समीप पहुँचने का है। इसके विपरीत तो विषय-प्रवणता का मार्ग है जोकि मनुष्य को प्रभु से दूर और दूर ले-जाता है। ३. हे जीव! तू **पूषण्वान्**=अपना उचित पोषण करनेवाला बन। **वज्रिन्**=हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र को लिये हुए हो और **पत्न्या**=इस वेदवाणीरूप पत्नी के साथ **समु मदः**=खूब ही हर्ष का अनुभव कर। तेरा शरीर पुष्ट हो, हाथों में क्रिया हो, मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे वर्धन के लिए इन्द्रियाश्वों को शरीर में जोता है। घोड़ों की लगाम को काबू करके हम आगे बढ़ें; स्वस्थ, क्रियाशील व ज्ञानी बनें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि प्रभु हमारी प्रार्थनाओं को सुनें (१)। हम विप्र बनें (२), जितेन्द्रिय बनकर प्रभु को प्राप्त हों (३)। हमारा यह रथ दृढ़ व प्रकाशमय हो (४), इसमें ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व जुते हों (५), इनकी लगाम हमारे हाथ में हो और हम आगे बढ़ें (६)। 'हम प्रथम हों, उत्तम वसुओं से पूर्ण हों'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८३] त्र्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

भवीयस् वसु

अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः।
तमित्पृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों से **सुप्रावीः**=सुरक्षित **मर्त्यः**=मनुष्य **अश्वावति**=इस उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों से युक्त रथ में **गोषु**=(गावः=वेदवाचः) ज्ञान की वाणियों में अथवा (गम्यन्ते इति गावः) प्राप्त करने योग्य पदार्थों में **प्रथमः गच्छति**=सबसे प्रथम स्थान में स्थित हुआ-हुआ होता है। प्रभु से रक्षित व्यक्ति जहाँ (क) अपने इस शरीररूप रथ के इन्द्रियरूप घोड़ों को उत्तम बना पाता है (ख) वहाँ खूब ही ज्ञान प्राप्त करनेवाला होता है और (ग) सब प्राप्त करने योग्य पदार्थों की प्राप्ति में प्रथम होता है।

हम प्रभु की उपासना करते हैं तो प्रभु का रक्षण प्राप्त होता है और हमारे जीवन में उल्लिखित तीन परिणाम होते हैं। २. **तम् इत्**=इस व्यक्ति को ही हे प्रभो! आप **भवीयसा**=(बहुतरेण भवितृतमेन वा–सा०, यदतिशयं भवति तेन–द०) बहुत अधिक अभ्युदय के कारणभूत, अतिशयित **वसुना**=धन से **पृणक्षि**=संयुक्त करते हैं। प्रभुकृपा से इस व्यक्ति को आभ्युदिक कल्यण के लिए पर्याप्त धन की प्राप्ति होती है। ३. आप इस व्यक्ति को इस प्रकार अतिशयित धन से युक्त करते हैं **यथा**=जिस प्रकार **विचेतसः**=स्वास्थ्य–प्रदान के द्वारा विशिष्ट ज्ञान के साधनभूत **आपः**=जल **सिन्धुम्**=समुद्र को **अभितः**=सब ओर से प्राप्त होते हैं (पृञ्चन्ति)। समुद्र को नदियाँ जलों से भरती चलती हैं, परन्तु समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता, इसी प्रकार इस व्यक्ति को धन खूब ही प्राप्त होता है, परन्तु यह उस धन से गर्वित व उच्छृङ्खल नहीं हो जाता। गीता में यह भावना इस प्रकार कही गई है–**'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥'** (गीता २।७०) चारों ओर से जलों से भरे जा रहे, परन्तु स्थिर मर्यादावाले समुद्र को जैसे जल प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार जिसे ये सब काम्य धन प्राप्त होते हैं, वही शान्ति को प्राप्त होता है, न कि निरन्तर कामनाएँ करनेवाला। बस, इस प्रभु से रक्षित व्यक्ति को खूब ही धन प्राप्त होते हैं, परन्तु ये धन उसके जीवन की मर्यादा को तोड़नेवाले नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभुरक्षा के पात्र हों। हमारा शरीर–रथ उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला हो। हम खूब ज्ञान प्राप्त करें। आभ्युदयिक धन की प्राप्ति हमें मर्यादित जीवनवाला ही रक्खे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ब्रह्म-प्रिय

आपो॒ न दे॒वीरुप॑ यन्ति हो॒त्रिय॑म॒वः प॑श्यन्ति॒ वित॑तं॒ यथा॒ रजः॑।

प्रा॒चैर्दे॒वासः॒ प्र ण॑यन्ति देव॒युं ब्र॑ह्म॒प्रियं॒ जोषयन्ते व॒राइ॑व॥ २॥

१. **आपः**=जल **न**=जैसे आचमन के समय **होत्रियम्**=होता के चम्मच में **उपयन्ति**=प्राप्त होते है, उसी प्रकार **देवीः**=सब दिव्यताएँ इस होत्रियम्=होता के समान वृत्तिवाले पुरुष को प्राप्त होती हैं। २. ये होता के समान वृत्तिवाले–दानपूर्वक अदन करनेवाले पुरुष सदा **अवः पश्यन्ति**=नम्रस्वभाव होने से नीचे की ओर देखनेवाले होते हैं, **यथा**=जितना कि **रजः विततम्**=इनका ज्ञान का प्रकाश फैला हुआ होता है, **'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'** (अथर्व०)—ज्ञान से नीचे देखनेवाला, नम्र बनता है; **'विद्या ददाति विनयम्'**–विद्या विनय प्रदान करती है। ३. **देवयुम्**=देवों की कामनावाले, दिव्यवृत्तियों को अपनानेवाले पुरुष को **देवासः**=सब देव **प्राचैः**=(प्र अञ्च्) उन्नति के मार्गों से **प्रणयन्ति**=प्रकर्षेण ले–जाते हैं। जब हमारी दिव्यगुणों की प्राप्ति की प्रबल कामना होती है तब प्रभुकृपा से हमारा सम्पर्क देवों से होता है और वे हमें उन्नति–पथ पर ले–चलनेवाले होते हैं। ४. **ब्रह्मप्रियम्**=(ब्रह्म प्रियं यस्मै) इस ज्ञान व प्रभु से प्रीतिवाले पुरुष को सब देव **जोषयन्ते**=इस प्रकार प्रीतिपूर्वक सेवित करते हैं, **इव**=जैसे **वराः**=वर–कन्या के वरण की कामनावाले पुरुष कन्या का। एक वर वधू की सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाला होता है। इसी प्रकार सब देव इस ब्रह्मप्रिय व्यक्ति को किसी प्रकार की कमी नहीं रहने देते। उसको उचित साधन प्राप्त कराके उन्नति–पथ पर ले–चलते हैं।

भावार्थ—होता की वृत्तिवाले को दिव्यताएँ प्राप्त होती हैं। ये दिव्यता प्राप्त व्यक्ति अपने ज्ञान के अनुपात में नम्रता को धारण करते हैं। देव इन्हें उन्नति–पथ पर ले–चलते हैं और

इन ब्रह्म-व्यक्तियों को उन्नति के साधनभूत पदार्थों के प्रापण से सेवित करते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

भद्रा शक्ति

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः।
असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते॥ ३॥

१. हे प्रभो! आप गतमन्त्र में वर्णित (देवासः) विद्वानों के द्वारा **द्वयोः**=पति-पत्नी दोनों में ही **उक्थ्यं वचः**=प्रशंसनीय व स्तुति के योग्य वचनों को **अधि**=आधिक्येन **अदधाः**=धारण करते हैं। उन पति-पत्नियों में **या**=जो **मिथुना**=द्वन्द्वरूप में-दोनों मिलकर **यतस्रुचा**=चम्मच को ग्रहण करके **सपर्यतः**=अग्नि का पूजन करते हैं, अग्निहोत्र करते हैं अथवा (**स्रुक्**=वाणी, वाग्वैस्रुचः-शत० ६।३।१।८) वाणी का संयम करके **सपर्यतः**=प्रभु का पूजन करते हैं। २. इस प्रकार के व्यक्ति **अ-संयत्तः**=विषयों से बद्ध न हुए-हुए हे प्रभो! **ते व्रते**=आपके व्रत में **क्षेति**=निवास करते हैं। प्रभु का व्रत 'सत्य' है। ये सदा सत्य में चलते हैं और **पुष्यति**=प्रजा, पशु आदि से पुष्ट होते हैं। ३. इन **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले—शरीर में सोम-(वीर्य)-शक्ति को सुरक्षित रखनेवाले व्यक्ति के लिए **भद्रा शक्तिः**=कल्याणकारिणी शक्ति प्राप्त होती है। ४. मन्त्रार्थ से यह स्पष्ट है कि (क) अग्निहोत्र व प्रभुवन्दन करनेवाले बनें। इसके लिए आवश्यक है कि हम कम बोलें, (ख) प्रभु हमें विद्वानों के द्वारा उत्तम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँगे, (ग) विषयों से बद्ध न होते हुए हम सत्य का पालन करें। सत्य का पालन असम्भव तभी होता है जब हम किसी विषय में फँस जाते हैं। (घ) हम यज्ञशील व सोमरक्षक बनकर कल्याणकारिणी शक्ति के स्वामी बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें ज्ञान प्राप्त हो। हम पूजा की वृतिवालें हों। सत्य का व्रत लेकर हम यज्ञशील व सोमरक्षण करनेवाले एवं शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सर्वं भोजनम्

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'भद्रशक्ति' प्राप्त करने पर **आत्**=अब **अङ्गिराः**=अङ्गिरस लोग—अङ्ग-अङ्ग में रसवाले लोग **प्रथमं वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधिरे**=धारण करते हैं। बिना शक्ति के उत्कर्ष सम्भव नहीं होता। २. **इत् ह**=निश्चय ही **अग्नयः**=(अग्रणीः) प्रगतिशील व्यक्ति वे ही होते हैं **ये**=जो **सुकृत्यया**=उत्तम क्रियाओंवाली **शम्या**=यज्ञादि क्रिया से युक्त होते हैं। यज्ञीय कर्म हमारे जीवन में प्रगति का कारण होते हैं। ३. ये व्यक्ति **पणेः**=(पण व्यवहारे स्तुतौ च) प्रभु स्मरणपूर्वक व्यवहार करनेवाले के **सर्वम्**=स्वास्थ्यजनक (wholesome) **भोजनम्**=भोजन को **समविन्दन्त**=प्राप्त करते हैं। जो भी व्यक्ति प्रभुस्मरण के साथ क्रियाशील बनता है वह जीवन के सब आवश्यक धनों को प्राप्त करता ही है। ४. ये **नरः**=प्रगतिशील व्यक्ति **अश्वावन्तम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले **गोमन्तम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले तथा **आपशुम्**=(आ=मर्यादायाम्) मर्यादित पाशविक काम-क्रोधादि भावनावाले **वयः**=जीवन को **समविन्दन्त**=प्राप्त करते हैं। काम-क्रोधादि राजस् भावनाएँ हैं। इन्हें मर्यादित रखना अत्यन्त

आवश्यक है। इनकी अमर्यादा में ही विनाश है। मर्यादित होने पर ये रक्षा का कार्य करती हैं। सात्त्विक भावनाएँ ब्राह्मवृत्ति हैं तो मर्यादित क्रोधादि की राजस् भावनाएँ क्षात्रवृत्ति हैं। 'ब्रह्म+क्षत्र' ही उत्कृष्ट जीवन है, न अकेला ब्रह्म, न अकेला क्षत्र।

भावार्थ—अङ्गिरसों का जीवन उत्कृष्ट होता है। अग्नि वे हैं जो यज्ञादि उत्तम कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। पणि स्वास्थ्यजनक भोजन का सेवन करते हैं। उत्तम जीवन में ब्रह्म व क्षत्र का समन्वय होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सूर्यः व्रतपाः

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥ ५॥

१. **अथर्वा**=(न+थर्व्=चरतिकर्मा) विषयों से डाँवाडोल न होनेवाली मतिवाला (अथ+अर्वाङ्) अपने अन्दर देखनेवाला, अर्थात् आत्मनिरीक्षण करनेवाला पुरुष **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों से **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है और **पथः**=मार्गों को **तते**=विस्तृत करता है। लोग इसके जीवन को आदर्श समझकर मार्गों का निश्चय करते हैं। **ततः**=तब यह **सूर्यः**=(सरति) निरन्तर गतिवाला—क्रियावान् होता है, **व्रतपाः**=अपने व्रतों को कभी भङ्ग नहीं करता, न विषयों से डाँवाडोल होता है और न ही आत्मनिरीक्षण का त्याग करता है। यह **वेनः**=मेधावी व कान्त जीवनवाला **आजनि**=होता है। ३. यह **गाः आ आजत्**=ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-विज्ञान में समन्तात् प्रेरित करता है, अतएव **उशना**=सर्वहित की कामनावाला होता है और **काव्यः**=क्रान्तदर्शी बनता है। ४. इस मार्ग पर चलता हुआ यह **यमस्य सचा**=उस सर्वनियन्ता प्रभु का सखा—सदा साथी बनता है। हमें भी यही चाहना कि **जातम्**=विभूतियों के रूप में सर्वत्र प्रादुर्भूत उस प्रसिद्ध **अमृतम्**=अविनाशी अथवा शरीर व मानस नीरोगता के कारणभूत प्रभु को **यजामहे**=अपने साथ सङ्गत करें। उसी का उपासन व उसी का जाप करते हुए उसके साथ अपने को मिला दें (यज देवपूजा, संगतिकरण व दान)।

भावार्थ—अथर्वा बनकर मनुष्य क्रियाशील और व्रतों का पालक बनता है। यह क्रान्तदर्शी बनता हुआ प्रभु के साथ सङ्गत होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

बर्हि, अर्क व ग्रावा

बर्हिर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।
ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यस्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति॥ ६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित प्रभु से अपना मेल करनेवाला **बर्हिः वा**=(उद्बर्ह्=विनाश) वासनाओं का विनाश करनेवाला बनता है। **यत्**=चूँकि **स्वपत्याय**=(सु अपत्) पतन को न आने देने के लिए बड़ी उत्तमता से **वृज्यते**=अपने को वासनाओं से दूर रखता है। वासनाओं की ओर गये और गिरे! संसार के प्रलोभन मनुष्य के पतन का कारण बनते हैं। यह उन प्रलोभनों का वर्जन करता है, उनसे दूर रहता है। २. **अर्कः वा**=व्यसनों से दूर रहने के लिए ही यह प्रभु की अर्चना करनेवाला बनता है (अर्चति इति अर्कः) और **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **श्लोकम्**=प्रभु के यश का **आघोषते**=ऊँचे स्वर से उच्चारण करता है; अर्थभावन के साथ

स्तुतिमन्त्रों का उच्चारण करता है। यह प्रभुस्तवन उसका प्रलोभनों में न फँसने में बड़ा सहायक होता है। प्रभुस्तवन से जहाँ उच्च लक्ष्यदृष्टि पैदा होती है, वहाँ व्यसनों के आनन्द की तुच्छता का भी आभास होने लगता है। ३. यह पुरुष **ग्रावा**=(गृणाति) उपदेष्टा बनकर **यत्र वदति**=जहाँ बोलता है और **उक्थ्यः**=स्तोत्रों में उत्तम होता है। इस प्रकार इसके जीवन में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' का समन्वय हो जाता है। यही उत्तम व प्रभावशाली जीवन है। ४. **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **तस्य**=उस प्रभु के **इत्**=ही **अभिपित्वेषु**=प्राप्तियों में **रण्यति**=आनन्द (to rejoice) का अनुभव करता है। यह प्रभु-प्राप्ति का आनन्द ही तो उसके लिए अन्य आनन्दों को तुच्छ कर देता है।

भावार्थ—हम 'बर्हि, अर्क व ग्रावा' बनें। प्रभुप्राप्ति में ही आनन्द का अनुभव करें।

विशेष—इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में 'भवीयस् वसु' की प्रार्थना है (१)। दूसरे में ब्रह्मप्रिय बनने का उल्लेख है (२)। इस ब्रह्मप्रिय यजमान को भद्रशक्ति प्राप्त होती है (३)। इस भद्रशक्तिवाले अङ्गिरस का जीवन उत्कृष्ट होता है (४)। अथर्वा बनकर यह क्रियाशील व व्रतों का पालक बनता है (५)। यह वासनाओं को नष्ट करने से 'बर्हि', स्तवन करने से 'अर्क' व उपदेष्टा होने से 'ग्रावा' कहलाता है (६)। अब 'शत्रुओं का धर्षण करके हम प्रभु को प्राप्त हों', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८४] चतुरशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

शक्ति व ज्योति

असा॑वि॒ सोम॑ इन्द्र ते॒ शवि॑ष्ठ धृष्ण॒वा ग॑हि।
आ त्वा॑ पृणक्त्वि॒न्द्रि॒यं रजः॒ सूर्यो॒ न र॒श्मिभिः॑॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **ते**=तेरे लिए **सोमः**=यह सोम-(वीर्य)-शक्ति **असावि**=उत्पन्न की गई है। जितेन्द्रिय पुरुष ही इसका लाभ उठा पाता है, अजितेन्द्रिय तो इसका नाश ही कर बैठता है। २. **शविष्ठ**=सोमरक्षण से अत्यन्त शक्तिशाली बने हुए **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले जीव! **आगहि**=तू हमारे समीप आ। सोम का रक्षण वह अध्यात्म-शक्ति प्राप्त कराता है जिससे हम इन्द्र बनकर कामादि शत्रुओं का संहार करते हैं और प्रभु की समीपता के योग्य बनते हैं। ३. **त्वा**=मेरे उपासक तुझको **इन्द्रियम्**=शक्ति तथा **रजः**=ज्योति **आपृणक्तु**=सब ओर से पूरित करनेवाली हो—तेरा जीवन शक्ति व ज्योति से पूर्ण हो। तू **रश्मिभिः**=स्वास्थ्य व तेजस्विता की किरणों से तथा ज्ञान की रश्मियों से **सूर्यः न**=सूर्य की भाँति चमकनेवाला बन। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'—प्रभु भी सूर्यसम ज्योति हैं। यह जीव भी सूर्यसम बनकर प्रभु का सच्चा उपासक बनता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से शक्तिशाली बनकर हम प्रभु को प्राप्त हों। शक्ति व ज्योति से युक्त होकर सूर्य की भाँति चमकें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

स्तुति व यज्ञ

इन्द्र॒मिद्धरी॑ वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्।
ऋषी॑णां च स्तु॒तीरुप॑ य॒ज्ञं च॒ मानु॑षाणाम्॥ २॥

१. **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अप्रतिधृष्टशवसम्**=अहिंसित बलवाले को **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय अश्व **इत्**=निश्चय से **ऋषीणाम्**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों की **स्तुतीः**=स्तुतियों के **च**=और **च**=साथ ही **मानुषाणाम्**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति) विचारपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्यों के **यज्ञम्**=यज्ञ के **उप**=समीप **वहतः**=ले-चलते हैं। यह पुरुष ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करके ऋषियों के समान प्रभु का स्तवन करनेवाला प्रभु का 'ज्ञानी भक्त' बनता है तथा कर्मेन्द्रियों से यज्ञों में प्रवृत्त होता हुआ मानवमात्र का हित चाहनेवाला मनुष्य बनता है। २. ऐसा वह बन तभी पाता है जब वह जितेन्द्रिय बनकर काम-क्रोधादि से अपनी शक्ति को हिंसित नहीं होने देता। काम इन्द्रियों की शक्ति को जीर्ण करके उसे यज्ञादि कर्मों के योग्य नहीं रहने देता और क्रोध उसके मन को विकृत करके प्रभुस्तवन की वृत्ति से दूर कर देता।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर हम काम-क्रोध से आक्रान्त न हों। विचारशील पुरुषों की भाँति कर्मेन्द्रियों को उत्तम कर्मों में लगाये रक्खें और तत्त्वद्रष्टा ऋषियों के समान ज्ञानेन्द्रियों से सृष्टि में प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभुस्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अर्वाचीन मन

आ तिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी।
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना॥ ३॥

१. हे **वृत्रहन्**=ज्ञान की आवरणभूत कामादि वासनाओं का हनन करनेवाले इन्द्र! तू **रथम्**=इस शरीररूप रथ पर **आतिष्ठ**=आरूढ़ हो। यह तेरा शरीर-रथ सब प्रकार से सकलाङ्ग हो—इसमें किसी प्रकार की वि-कलता न हो और यह जीवन-यात्रा के लिए बिल्कुल ठीक-ठाक हो। २. **ब्रह्मणा**=प्रभु ने **ते**=तेरे लिए **हरी युक्ता**=इस शरीर-रथ में घोड़ों को जोत दिया है। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ ही घोड़े हैं। ये तेरे इस शरीर-रथ को मार्ग पर आगे और आगे ले-चलेंगे। ३. इसी उद्देश्य से **ग्रावा**=ज्ञान का उपदेष्टा गुरु **वग्नुना**=ज्ञान के वचनों से **ते**=तेरे **मनः**=मन को **सु**=उत्तमता से **अर्वाचीनम्**=अन्तर्मुख गतिवाला **कृणोतु**=करे। ज्ञानी आचार्य के उपदेशों से प्रेरणा प्राप्त करके तेरा मन विषयों में भटकने के स्थान में अन्तर्मुख होकर—निरुद्ध वृत्तिवाला होकर, आत्मदर्शन के लिए उद्यत हो। तेरी यात्रा बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो। मन ही तो वह लगाम है जिससे कि इन्द्रियरूप अश्व वश में किये जाते हैं। विषयासक्त हो यह लगाम ही निर्बल होकर टूट गई तो घोड़ों को काबू करने का प्रसङ्ग ही न रहेगा।

भावार्थ—इस शरीररूप रथ में प्रभु ने इन्द्रियाश्व जोते हैं। मनरूप लगाम अर्वाचीन—अन्तर्मुखी व बुद्धिरूप सारथि के काबू में रही तो यात्रा अवश्य पूर्ण होगी।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ऋत के सदन में

इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम्।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने॥ ४॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इमम्**=इस **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम को **पिब**=पी। इस सोम को तू शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बन। यह **ज्येष्ठम्**=तुझे अत्यन्त प्रवृद्ध शक्तिवाला बनाएगा, **अमर्त्यम्**=यह तुझे रोगों से आक्रान्त होकर मरने नहीं देगा। **मदम्**=तेरे

जीवन में एक विशिष्ट उल्लास का कारण बनेगा। **शुक्रस्य**=(शुच् दीप्तौ) जीवन को पवित्र व दीप्त बनानेवाले इस वीर्य की **धाराः**=धारण-शक्तियाँ **त्वा**=तुझे **ऋतस्य सदने**=ऋत के सदन में **अभ्यक्षरन्**=सर्वतः प्राप्त होती हैं। इस सोम के रक्षण से यह शरीर ऋत का सदन बन जाता है, यहाँ कुछ भी अनृत नहीं रहता। स्थूल शरीर में रोग अनृत हैं, मन में असत्य व द्वेष अनृत हैं, बुद्धि में कुण्ठा व अज्ञान-अन्धकार अनृत हैं। शुक्ररक्षण से यह सब अनृत नष्ट हो जाता है और यह शरीर ऋत का सदन बन जाता है। हमारे शरीर की शक्तियाँ बढ़ जाती हैं, रोग हमें मार नहीं देते और हमारे मन में उल्लास बना रहता है।

भावार्थ—हम शुक्र का रक्षण करनेवाले हों। रक्षित होकर यह सोम हमारे शरीर में से अनृत को नष्ट कर इसे ऋत का सदन बना देगा।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'ज्येष्ठ सहः' का उपासन

इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन।
सुता अमत्सुरिन्दवो ज्येष्ठं नमस्यता सहः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इस शरीर को ऋत का सदन बनाकर **नूनम्**=निश्चय से **इन्द्राय अर्चत**=उस प्रभु के लिए अर्चना करो **च**=और **उक्थानि**=उक्थों व स्तोत्रों को **ब्रवीतन**=बोलो। हम प्रभु की अर्चना करें। उसकी अर्चना यही तो है कि हम उससे उपदिष्ट कार्यों को करनेवाले बनें—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'**। नियत कर्म करना ही प्रभु की दृश्यभक्ति हुआ करती है। प्रभु के स्तोत्रों का हम उच्चारण करें। ये स्तोत्र हमारे सामने एक लक्ष्यदृष्टि उपस्थित करते हैं। २. इस प्रकार स्तोत्रों का अर्चन व स्तवन करने पर शरीर में सोमकणों का रक्षण होता है और **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **इन्दवः**= (बिन्दवः) ये सोमकण **अमत्सुः**=हमारे हर्ष का कारण बनते हैं। इसके कारण जीवन में एक उल्लास बना रहता है। इस प्रकार सोमकणों के रक्षण द्वारा **ज्येष्ठं सहः**=सर्वोत्कृष्ट बल को **नमस्यत**=आदृत करो। बल का अपने अन्दर स्थापन ही बल का आदर करना है। बल का आरम्भ 'तेजः' से होता है और इसका सर्वोत्कृष्ट रूप (अन्तिम रूप) 'सहस्' होता है। **'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि'** से बल की प्रार्थना का प्रारम्भ होता है और **'सहो ऽसि सहो मयि धेहि'** पर अन्त। शुक्ररक्षण से तेजस्विता, वीर्य, ओज, बल व मन्यु की प्राप्ति होकर अन्त में सहस् की प्राप्ति होती है, एवं शुक्र का रक्षण ही सर्वोत्कृष्ट बल अर्थात् सहस् की अर्चना है।

भावार्थ—हम प्रभु का अर्चन व स्तवन करें। यह अर्चन व स्तवन हमें वासना-विजय के द्वारा सोमरक्षण के योग्य बनाएगा। इससे हम सर्वोत्कृष्ट बल अर्थात् 'सहस्' को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

इन्द्रिय-नियमन (जितेन्द्रियता)

नकिष्ट्वद्रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे।
नकिष्ट्वानु मज्मना नकिः स्वश्व आनशे॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=चूँकि तू **हरी**=इन इन्द्रियाश्वों को **यच्छसे**=काबू करता है, इसलिए **त्वत् रथितरः नकिः**=तुझसे बढ़कर अन्य उत्तम रथी नहीं है। रथी का महत्त्व तो इसी में है कि रथवाहक घोड़े पूर्णरूप से उसके वश में हों। २. इस प्रकार उत्तम रथी बनने के

कारण **मज्मना**=बल के दृष्टिकोण से **नकिः त्वा अनु**=कोई भी तेरा मुक़ाबला नहीं कर सकता। उत्तम रथी वही है जो इन्द्रियाश्वों को वश में रखता है। वशीभूत इन्द्रियोंवाला, बल का रक्षण करता हुआ अनुपम शक्तिशाली बनता है। ३. **नकिः स्वश्वः आनशे**=कोई भी, कितने भी उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होता हुआ भी (सु+अश्वः) तुझे प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात् तेरा प्रतिद्वन्द्वी नहीं बन पाता। किसी एक व्यक्ति को माता-पिता से कितना भी सुन्दर शरीर प्राप्त हो जाए, परन्तु वह स्वयं अजितेन्द्रिय होता हुआ जितेन्द्रिय पुरुष की प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता।

भावार्थ—जितेन्द्रियता ही हमें उत्तम रथी, बलवान् व अनुपम (सर्वाग्रणी) बनाती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

ईशानः अप्रतिष्कुतः

य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे। ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'जितेन्द्रियता से अनुपम शक्तिवाला बन जाने पर मनुष्य को गर्व न हो जाए', इस विचार से कहते हैं—हे **अङ्ग**=प्रिय! **यः**=जो **एकः इत्**=अकेला ही **दाशुषे मर्ताय**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए **वसु**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों को **विदयते**=विशेषरूप से देता है, वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **ईशानः**=तुझमें वर्तमान सब उत्तमताओं का स्वामी है। उस प्रभु की ही तेजस्विता व बुद्धि आदि तुझमें भास रही हैं—ये तेरी अपनी नहीं हैं। इनका ईशान प्रभु ही है। ३. वे ही प्रभु **अप्रतिष्कुतः**=प्रतिकूल शब्द से रहित हैं। उनका कोई विरोधी व प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता—'**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः**', उस शब्द की शक्ति से ही तू अपने को शक्ति-सम्पन्न हुआ जान। प्रभु की शक्ति को अपनी मानकर तू गर्वित न हो। जितना-जितना प्रभु के प्रति तू अपना अर्पण करता है, उतना-उतना प्रभु की शक्ति से तू सम्पन्न होता जाता है।

भावार्थ—मनुष्य जितेन्द्रियता से शक्ति-सम्पन्न बनकर उस शक्ति को प्रभु की समझे और गर्वित न हो जाए।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

समूलस्तु विनश्यति

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु ही 'ईशान्' हैं, वे 'अप्रतिष्कुत' हैं। उनके साम्राज्य में एक व्यक्ति अयज्ञशील, आसुर लोगों को पनपता हुआ और धार्मिकों को क्लिष्ट होता हुआ देखकर कह उठता है कि **कदा**=कब वे प्रभु **अराधसम्**=यज्ञादि कर्मों को सिद्ध न करनेवाले अयज्ञीय **मर्तम्**=पुरुष को **अवस्फुरत्**=पूर्णरूपेण नष्ट करेंगे? उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **पदा क्षुम्पम्**=पैर से खुम्ब को समाप्त कर दिया जाता है। खुम्ब में कोई शक्ति नहीं, वह पाँव छूते ही अनायास समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार आसुरी सम्पत्तिवाले लोग उस प्रभु द्वारा अनायास ही समाप्त कर दिये जाते हैं। दो दिन पहले वे बड़े चमक रहे होते हैं और अगले दिन उनके नामो-निशान का भी पता नहीं रहता। २. **कदा**=कब **इन्द्रः**=वे प्रभु **नः**= हम आस्तिकभाव से चलनेवाले लोगों की **गिरः**=इन प्रार्थनोपासना की वाणियों को **शुश्रवत्**=सुनते हैं? **अङ्ग**=(अङ्ग इति क्षिप्रम्) मेरी तो यही कामना है कि हमारी ये वाणियाँ शीघ्र ही सुनी जाएँ। हमारे धैर्य की उतनी ही परीक्षा हो जितना कि हममें सामर्थ्य है। कहीं असुरों को फूलता-फलता व धार्मिकों को

पीड़ित होता हुआ देखकर हमारी मति डाँवाडोल न हो जाए।

भावार्थ—अन्ततः अधार्मिक उसी प्रकार नष्ट होता है जैसेकि पादप्रहार से खुम्ब नष्ट हो जाता है और आस्तिक की प्रार्थना अवश्य ही सुनी जाती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

कोई एक-आध ही

यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति।
उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥ ९ ॥

१. यह ठीक है कि **यः चित् हि**=जो कोई भी **बहुभ्यः**=इन बहुत-से मनुष्यों में **सुतावान्**=सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाला **त्वा आविवासति**=आपकी परिचर्या करता है, उसके लिए ही **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **अङ्ग**=शीघ्र ही **तत् उग्रं शवः**=उस प्रसिद्ध तीव्र तेज को **पत्यते**=(पातयति=प्रापयति-सा०) प्राप्त कराते हैं। २. प्रभु का उपासन 'सुतावान्' ही करता है। सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाला अथवा यज्ञशील पुरुष ही प्रभु का सच्चा उपासक है। सोम-रक्षण से ही सोम प्रभु की प्राप्ति सम्भव है। प्रभु के इस उपासन को विरल व्यक्ति ही करते हैं, बहुसंख्या तो भोगवाद में ही बह जाती है। ३. उपासना का परिणाम यह होता है कि उपासक को भी प्रभु की शक्ति प्राप्त होती है। अग्निपरित लोहे को अग्नि की शक्ति प्राप्त होती है तो प्रभु के समीप उपस्थित उपासक को प्रभु की शक्ति क्यों नहीं प्राप्त होगी? यह शक्ति अपनी उग्रता से सब दोषों का दहन कर देती है और उपासक के जीवन को निर्मल बना देती है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना विरले ही करते हैं। उपासक सोम का रक्षण करनेवाला बनता है और प्रभु से उग्र तेजस्विता को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'स्वादु, विषूवान्, मधु'

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम्॥ १० ॥

१. **गौर्यः**=गौरवर्णा गौएँ, अर्थात् व्यसनों से अलिप्त शुद्ध इन्द्रियाँ **मध्वः**=मधु का, सोम का **पिबन्ति**=पान करती हैं। आहार से उत्पन्न सोम—वीर्यशक्ति को जब शरीर में ही सुरक्षित रक्खा जाता है तब यही इन्द्रियों का सोमपान है। किस सोम का? जो **स्वादोः**=जीवन को माधुर्यवाला बनाता है और **इत्था**=इस शरीर में ही पान करने से **विषूवतः**=(विष् व्याप्तौ) शरीर में व्यापन करनेवाले का। इन्द्रियाँ इस सोम से ही तो शक्तिसम्पन्न बनती हैं। २. ये इन्द्रियाँ वे हैं **याः**=जोकि **वृष्णा**=सब सुखों के वर्षण करनेवाले **इन्द्रेण**=आत्मा के साथ **सयावरीः**=गति व प्राप्तिवाली होती हैं। सोमपान के अभाव में इन्द्रियाँ विषयोन्मुख होती हैं, सोमपान करने पर ये आत्मतत्त्व के दर्शन के लिए प्रवृत्त होती हैं, ये आत्मदर्शन में प्रवृत्त इन्द्रियाँ **मदन्ति**=उल्लास से युक्त होती हैं, **शोभसे**=जीवन की शोभा के लिए होती हैं, **वस्वीः**=निवास को उत्तम करनेवाली होती हैं, जीवन को उत्तम बनानेवाली हैं। ऐसा होता तभी है **अनु स्वराज्यम्**=जब मनुष्य आत्मशासन करनेवाला होता है। स्वराज्य=आत्मशासन के अनुपात में ही ऐसा होता है।

भावार्थ—हम संयमी बनें। तब इन्द्रियाँ सोम को शरीर में ही पीनेवाली होंगी। इससे

जीवन मधुर बनेगा और हम आत्मतत्त्व के दर्शन के लिए प्रवृत्त होंगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'सायक' वज्र

ता अ॑स्य पृश॒ना॒युव॒: सोमं॑ श्रीणन्ति॒ पृश्न॑यः ।
प्रि॒या इन्द्र॑स्य धे॒नवो॒ वज्रं॑ हिन्वन्ति॒ साय॑कं॒ वस्वी॒रनु॑ स्व॒राज्य॑म् ॥ ११ ॥

१. **ताः**=गतमन्त्र में वर्णित शुद्ध इन्द्रियाँ (गौर्यः) **अस्य**=इस आत्मतत्त्व के, इन्द्र के **पृशनायुवः**=स्पर्श की कामनावाली **पृश्नयः**=(संस्पृष्टो भासा-नि० २।१४) ज्योति से युक्त हुई-हुई **सोमम्**=सोम को **श्रीणन्ति**=शरीर में ही परिपक्व करती हैं। सोम को शरीर में सुरक्षित करके विविध शक्तियों का पोषण करती हैं। इस सोम के रक्षण से ही तो वे आत्मतत्त्व का स्पर्श करनेवाली हो पाएँगी। २. ऐसा होने पर **इन्द्रस्य**=इन इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणियाँ **प्रियाः**=प्रिय होती हैं और वे वाणियाँ उसके जीवन में **सायकम्**=सब शत्रुओं का अन्त करनेवाले **वज्रम्**= क्रियाशीलतारूप वज्र को **हिन्वन्ति**=प्रेरित करती हैं, अर्थात् यह क्रियाशील बनता है। ३. इस प्रकार ये इन्द्रियाँ **वस्वीः**=निवास को उत्तम बनानेवाली होती हैं, होती तभी हैं, जबकि **अनु स्वराज्यम्**=हम आत्मशासन की वृत्तिवाले होते हैं। संयम के पश्चात् ही इन्द्रियाँ उत्तम निवास का कारण बनती हैं।

भावार्थ—शरीर में सोम के परिपाक से इन्द्रियाँ आत्मदर्शन के योग्य बनती हैं। इस सोमपान करनेवाले को वेदवाणियाँ प्रिय होती हैं और यह उनमें उपदिष्ट कार्यों को करनेवाला होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

नम्रतायुक्त बल

ता अ॑स्य॒ नम॑सा॒ सह॑: सप॒र्यन्ति॒ प्रचे॑तसः ।
व्र॒तान्य॑स्य सश्चिरे पु॒रूणि॑ पू॒र्वचि॑त्तये॒ वस्वी॒रनु॑ स्व॒राज्य॑म् ॥ १२ ॥

१. **ताः**=वे इन्द्रियाँ (गौर्यः) **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **अस्य**=इस इन्द्र=जीवात्मा के **सहः**=बल को **नमसा**=नमन से, विनीतता के द्वारा **सपर्यन्ति**=पूजित करती हैं। सोमपान करनेवाली इन्द्रियाँ इन्द्र को सबल बनाती हैं और इसके बल को विनीतता से युक्त करती हैं। २. ये इन्द्रियाँ **अस्य**=इस इन्द्र के **पुरूणि**=पालन व पूरणात्मक **व्रतानि**=व्रतों को **सश्चिरे**=सेवित करती हैं। सोमपान करनेवाली इन्द्रियों के द्वारा ही हमारे सब पुण्यकर्म पूर्ण हुआ करते हैं। ३. ये इन्द्रियाँ **पूर्वचित्तये**=सृष्टि से पूर्व वर्तमान उस प्रभु के ज्ञान के लिए होती हैं। इनके द्वारा सृष्टि पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन होकर प्रभु की सत्ता में विश्वास दृढ़ होता है। होता यह तभी है जब **अनु स्वराज्यम्**=आत्मानुशासन की भावना प्रबल होती है। आत्मसंयम के बाद ही इन्द्रियाँ उत्तम निवास का कारण बनती हैं।

भावार्थ—सोमपान करनेवाली इन्द्रियाँ हमें नम्रतायुक्त बल प्राप्त कराती हैं।

ऋषि:—**गोतमो राहूगण:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**निचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

दधीचि की हड्डियों से

इन्द्रो॑ दधी॒चो अ॒स्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्र॑तिष्कुतः। ज॒घान॑ नव॒तीर्नव॑॥ १३॥

१. **इन्द्र:**=जितेन्द्रि पुरुष **अप्रतिष्कुत:**=प्रतिकूल शब्द से रहित हुआ-हुआ, प्रतिद्वन्द्वी से रहित हुआ-हुआ **दधीच:**=(ध्यानं प्रत्यक्त:—नि० १२।३३) ध्यानी पुरुष की **अस्थभि:**=(असु क्षेपणे) विषयों को दूर फेंकने की शक्तियों से **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **नवती: नव**=निन्यानवे बार **जघान**=नष्ट करता है और इस प्रकार अपने जीवन के शतवर्षों को वासना-शून्य बनाता है। २. 'इन्द्र ने दधीचि की अस्थियों से वज्र बनाकर वृत्र का विनाश किया'—इस पौराणिक कथा का मूल इसी मन्त्र में है इसका भाव मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि ध्यान-परायण व्यक्ति ही दध्यङ् व दधीचि है। विषयों को दूर फेंकने की वृत्तियाँ ही हड्डियाँ हैं। वासना ही वृत्र है। निन्यानवे बार नाश का अभिप्राय यही है कि हम सदा वासना के आक्रमण को अपने से दूर रखने के लिए सजग रहते हैं।

भावार्थ—ध्यानपरायण मनुष्य ही वासना का पराजय कर पाता है।

ऋषि:—**गोतमो राहूगण:**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**निचृद्गायत्री**॥ स्वर:—**षड्ज:**॥

अश्व का सिर

इ॒च्छन्नश्व॑स्य॒ यच्छिर॑: पर्व॑ते॒ष्वप॑श्रितम्। तद्वि॑दच्छर्य॒णाव॑ति॥ १४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ध्यान के द्वारा जीवन को वासनाशून्य बनाकर हम अपने मस्तिष्क को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। यह मस्तिष्क सब विषयों का ग्रहण करनेवाला बनता है, सब विषयों में चलता है, कुण्ठित नहीं होता। 'अश्नुते व्याप्नोति' सब विषयों को व्याप्त करता हैं, अत: यह अश्व का सिर कहलाता है, एवं 'अश्व का सिर वह सिर है जो प्रत्येक विषय का ठीक रूप में ग्रहण करे'। २. शरीर में यह मेरुदण्ड व मेरुपर्वत पर एक उलटे रखे हुए पात्र की भाँति पड़ा है—**'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न:'**—यह नीचे मुखवाला तथा ऊपर मूलवाला चमस मस्तिष्क ही है। ३. सब विषयों को सूक्ष्मता से ग्रहण करनेवाले, मेरुपर्वत पर उलटा करके रक्खे हुए इस मस्तिष्क को हम 'शर्यणावान्'=सब वासनाओं का हिंसन करनेवाले पुरुष में ही पाते हैं। वासना-विध्वंस के बिना मस्तिष्क उज्ज्वल नहीं होता। ४. मन्त्र में यह सारी भावना इस प्रकार कही गई है कि **पर्वतेषु**=मेरुपर्वत पर **अपश्रितम्**=उलटा (opposite) करके रक्खा हुआ **अश्वस्य यत् शिर:**=सब विषयों का व्यापन करनेवाला जो सिर है **तत्**=उसको **इच्छन्**=चाहता हुआ साधक **शर्यणावति**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले व्यक्ति में **विदत्**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम वासनाओं का हिंसन करें और सब विषयों के ग्रहण करनेवाले मस्तिष्क को पाने का प्रयत्न करें।

सूचना—यहाँ अश्व, पर्वत व शर्यणावान् शब्दों के भाव को न समझकर विचित्र-से पौराणिक आख्यान का निर्माण हो गया।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

चन्द्रमा के घर में

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **अत्र अह**=अश्व के मस्तिष्क में ही—सब विषयों के ग्रहण करनेवाले मस्तिष्क में ही **गोः**=वेदवाणी का **अमन्वत**=मनन करते हैं। ज्ञान की वाणियों के ग्रहण के लिए सूक्ष्म विषयग्राही मस्तिष्क की आवश्यकता है ही। २. ज्ञानप्राप्ति के साथ ही **त्वष्टुः**=उस सृष्टि के निर्माता सर्वमहान् देवशिल्पी प्रभु के **अपीच्यम्**=अन्तर्हित—सब तेजस्वी पिण्डों में वर्तमान **नाम**=तेज व यश का भी ये **अमन्वत**=मनन करते हैं। ज्ञान प्राप्त होने पर ये लोग यह तो अनुभव करते ही हैं कि **'तेजस्तेजस्विनामहम्'**—तेजस्विता का तेज वह प्रभु ही है, **'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'**—सूर्य-चन्द्र आदि को वे प्रभु ही दीप्ति प्राप्त करा रहे हैं, **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**—प्रभु की दीप्ति से ही सब दीप्त हो रहा है। यह सब प्रभु का ही नाम, यश व तेज है। ३. **इत्था**=इस प्रकार (क) ज्ञान की वाणियों का मनन करने पर और (ख) सर्वत्र प्रभु का तेज देखने पर मनुष्य **चन्द्रमसः गृहे**=चन्द्रमा के घर में निवास करता है; 'चदि आह्लादे'—आह्लाद में निवास करता है। इसका जीवन आनन्दमय होता है और शरीर छोड़ने पर यह चन्द्रलोक में ही जन्म लेता है। उसका जन्म फिर इस मर्त्यलोक में नहीं होता।

भावार्थ—कुशाग्र बुद्धिवाला पुरुष ज्ञान की वाणियों का मनन करता है, सर्वत्र प्रभु के तेज को ही देखता है और जीवन को आनन्दमय बना पाता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञानोज्ज्वल जीवन

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्॥ १६॥

१. **कः**=वह आनन्दस्वरूप प्रभु **अद्य**=आज, इस मानवदेह में **ऋतस्य धुरि**=यज्ञ के निर्वाह में, अर्थात् यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **युंक्ते**=हमारे साथ युक्त करता है। ये ज्ञान की वाणियाँ **शिमीवतः**=कर्मवाली हैं, इनमें कर्मों का उपदेश दिया गया है—**'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'**। **भामिनः**=ये उज्ज्वल हैं—सत्यज्ञानवाली होने से ये चमकती हुई हैं, हमारे जीवनों को भी उज्ज्वल बनाती हैं। **दुर्हृणायून्**= (हृणीयतिर्हानिकर्मा) ये (हातुमशक्यान्) छोड़ने योग्य नहीं। स्वाध्याय के नित्य कर्तव्य होने से इनका छोड़ना सम्भव नहीं। **आसन् इषून्**=मुख में ये गमनवाली हैं। मुख से इनका उच्चारण होता हैं, अथवा ये इषुतुल्य हैं। उच्चरित हुई-हुई ये शत्रुओं का संहार करनेवाली हैं। **हृत्स्वसः**=हृदयों में चमकनेवाली हैं (अस् कान्ति)। हृदय में ही इनका प्रकाश होता है। **मयोभून्**=ये कल्याण का भावन करनेवाली हैं। २. **यः**=जो भी व्यक्ति **एषाम्**=इन ज्ञानवचनों के **भृत्याम्**=भरण को, धारण को **ऋणधत्**=समृद्ध करता है, बढ़ाता है, अर्थात् इन्हें अधिक-से-अधिक धारण करता है **सः जीवात्**=वही वस्तुतः जीता है, सुन्दर जीवनवाला होता है। ज्ञान की वाणियों के भरण से रहित पुरुष तो पशुतुल्य जीवनवाले हैं और इस प्रकार जीवन्मृत-से ही हैं। जीवन तो वही है जोकि ज्ञान से उज्ज्वल है।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियाँ ही मनुष्य के जीवन को उज्ज्वल बनाती हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आनन्दमय कौन

क ईषते तुज्यते को बिभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति।
कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधि ब्रवत्तन्वे३ को जनाय॥ १७॥

१. **कः**=आनन्दमय वह है जोकि **ईषते**=वासनाओं से दूर भागने में (Fly Haway, escape) समर्थ होता है, संसार के तत्त्व को देखता (to look) है, दानशील होता (to give) है, वासनाओं पर प्रबल आक्रमण (to attack) करता है और **तुज्यते**=इन वासनाओं को हिंसित करता है। २. **कः**=आनन्दमय वह है जोकि **बिभाय**=प्रभु का भय रखता है, पापकर्म करने से भयभीत होता है। ३. **कः**=आनन्दमय वह है जो **सन्तं इन्द्रं मंसते**=सर्वत्र वर्तमान उस प्रभु को विचारता है और पूजता है। प्रभु हैं तो सर्वत्र, परन्तु प्रभु की इस सर्वव्यापकता का लाभ उसी पुरुष को होता है जो प्रभु की सत्ता में विश्वास करता है। ४. **कः**=आनन्दमय वह है जो उस प्रभु को **अन्ति**=अपने समीप जानता है। प्रभु की समीपता में उसे सांसारिक भय नहीं रहते। ५. यह **कः**=आनन्दमय वृत्तिवाला व्यक्ति **तोकाय**=उत्तम सन्तानों के लिए **अधिब्रवत्**=प्रभु से कहता है, अर्थात् उत्तम सन्तानों के लिए प्रार्थना करता है। **कः**=यह आनन्दमय पुरुष **इभाय उत राये**=हाथी और धन के लिए प्रार्थना करता है—प्रभु से चाहता है कि मेरे पास इतना धन हो कि मेरे द्वार पर हाथी बँधे हों। इस प्रकार उत्तम सन्तानों व धनों को प्राप्त करके **तन्वे**=यह अपने शरीर के लिए प्रार्थना करता है कि मेरे शरीर की सब शक्तियाँ ठीक से विस्तृत रहें (तन् विस्तारे)। ६. **कः**=यह आनन्दमय पुरुष **जनाय**=लोकहित के लिए प्रार्थना करता है। यह केवल अपने तक ही सीमित नहीं रह जाता। स्वार्थ से ऊपर उठने के कारण ही वस्तुतः आनन्द प्राप्त करता है। अपने लिए उत्तम सन्तान, धन व शरीर की प्रार्थना इसी उद्देश्य से है कि वह लोकहित के कार्यों को करने में सशक्त हो।

भावार्थ—उसके जीवन में आनन्द है जोकि वासनाओं से अपने को बचाता है, प्रभु में विश्वास रखता हुआ निर्भय बनता है, सांसारिक दृष्टिकोण से उन्नत होकर लोकहित करता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ब्रह्मयज्ञ+देवयज्ञ

को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः।
कस्मै देवा आ वहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः॥ १८॥

१. **कः**=वह आनन्दमय है जोकि **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **अग्निं ईट्टे**=अग्रणी प्रभु की उपासना करता है। प्रभु की उपासना इस त्याग से ही होती है—**'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**। और **ध्रुवेभिः ऋतुभिः**=ध्रुव ऋतुओं से, अर्थात् निश्चित समय पर **स्रुचा**=चम्मच द्वारा **घृतेन**=घृत से **यजाते**=यज्ञ करता है। प्रातः-सायं अग्निहोत्र का समय है, इस समय अग्निहोत्र करना सौमनस्य के लिए आवश्यक है। २. **कस्मै**=इस ब्रह्मयज्ञ व देवयज्ञ को नित्य करनेवाले आनन्दमय पुरुष के लिए **देवाः**=सब देव **आशु**=शीघ्र ही **होम**=ह्वातव्य—प्रार्थनीय धन को **आवहान्**=सब प्रकार से प्राप्त कराते हैं। सूर्य इसे दृष्टिशक्ति देता है तो चन्द्रमा इसे मानस आह्लाद प्राप्त कराता है और अग्नि इसे वाणी की शक्ति देती है। ३. **कः**=यह आनन्दमय पुरुष **मंसते**=प्रभु का विचार व पूजन करता है और **वीतिहोत्रः**=प्राप्तयज्ञ होता है—सदा यज्ञों

का करनेवाला बनता है तथा **सुदेवः**=उत्तम देवताओंवाला होता है, अर्थात् उत्तम दिव्यताओं को धारण करता है।

भावार्थ—आनन्द-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम त्यागपूर्वक अदन करते हुए प्रभु का पूजन करें और निश्चित समय पर यज्ञों को करते रहें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्चीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अद्वितीय मर्डिता

त्वम॒ङ्ग प्र शं॑सिषो दे॒वः श॑विष्ठ मर्त्य॑म्।
न त्वद॒न्यो म॑घवन्नस्ति मर्डि॒तेन्द्र॒ ब्रवी॑मि ते॒ वचः॑॥ १९॥

१. हे **अङ्ग**=(अगि गतौ, गति=प्राप्ति) सर्वत्र प्राप्त व सर्वव्यापक **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **देवः**=द्योतमान व सब-कुछ देनेवाले हैं। आप ही **मर्त्यम्**=इस उपासक मनुष्य को ज्योति व द्रविणादि साधनों को प्राप्त कराके **प्रशंसिषः**=कर्तव्य कर्मों का उपदेश करते हो। प्रभु 'उपदेश कर दें' इतना ही नहीं है, प्रभु ने उन उपदिष्ट कर्मों को करने का सामर्थ्य भी प्रदान किया है, सब आवश्यक साधन भी प्राप्त कराये हैं। इस सामर्थ्य व साधनों के द्वारा उन कर्तव्यों को निभाकर हम अपने जीवन को प्रशंसित बनाते हैं। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवान् प्रभो! वस्तुतः **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न **मर्डिता**=सुखी करनेवाला **न अस्ति**=कोई भी नहीं है। इसलिए हे **इन्द्रः**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो! **ते वचः ब्रवीमि**=तेरे प्रति ही मैं इन प्रार्थना-वचनों को बोलता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमें सब सामर्थ्य व साधन प्राप्त कराके प्रशस्त जीवनवाला बनाते हैं और हमें वास्तविक सुख का अधिकारी भी बनाते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

राधांसि-ऊतयः

मा ते॒ राधां॑सि॒ मा त॑ ऊ॒तयो॑ वसो॒ऽस्मान्कदा॑ च॒ना द॑भन्।
विश्वा॑ च न उपमिमी॒हि मा॑नुष॒ वसू॑नि चर्ष॒णिभ्य॒ आ॥ २०॥

१. हे **वसो**=सर्वत्र वसनेवाले व सबको वसानेवाले प्रभो! **ते राधांसि**=आपके धन—सब कार्यों के सिद्ध करने के साधनभूत द्रव्य **अस्मान्**=हमें **कदा चन**=कभी भी **मा आदभन्**=मत हिंसित करें, अर्थात् ये धन हमारे लिए सदा साधन ही बने रहें—ये हमारे लिए साध्य न हो जाएँ। साध्य बनकर ये हमें उल्लू तो बना ही देते हैं, साथ ही हमारे निधन का कारण बन जाते हैं। ये हमारे लिए राधस=कार्यों को सिद्ध करनेवाले ही बने रहें। २. हे वसो! **ते ऊतयः** (वेञ्) आपके ताने-बाने (weaving)—ये सृष्टि के जाल **अस्मान्**=हमें **कदा चन**=कभी भी **मा आदभन्**=मत हिंसित करें। हम इस सृष्टिजाल में ऊर्णनाभि=मकड़ी की भाँति विचरें, मक्खी की भाँति उसमें फँस न जाए। ३. **च**=और **मानुष**=मनुष्यमात्र का कल्याण करनेवाले प्रभो! **नः चर्षणिभ्यः**=हम श्रमशील मनुष्यों के लिए **विश्वा**=सब **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को **आ उपमिमीहि**=सब प्रकार से समीपता से निर्मित कीजिए। सब वसुओं को हमें समीप प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु का धन व सृष्टिजाल हमारे कल्याण के लिए ही हो। प्रभु-कृपा से हम सब वसुओं को प्राप्त करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि ज्योति से युक्त होकर हम सूर्य की भाँति चमकें (१)। हम ऋषियों की भाँति प्रभुस्तवन करें, उत्तम पुरुषों के समान यज्ञशील हों (२)। हमारा मन अर्वाचीन=अन्तर्मुखी वृत्तिवाला हो (३)। सोम-रक्षण से हमारा शरीर ऋतु का सदन बने (४)। हम ज्येष्ठ सहः के उपासक हों (५)। इन्द्रिय-नियमन हमारे जीवन का लक्ष्य हो (६)। हम शक्ति प्राप्त करें, परन्तु उसे प्रभु की जानकर गर्वित न हों (७)। अधार्मिक का अन्ततः नाश निश्चित है (८)। प्रभु की उपासना विरल ही करता है (९)। सोम हमारे जीवन को मधुर बनाता है (१०)। सोम के परिपाक से इन्द्रियाँ आत्मदर्शन के योग्य बनती हैं (११)। इस सोमरक्षण से ये नम्रतायुक्त बलवाली होती हैं (१२)। ध्यानपरायण मनुष्य ही वासना का पराजय करता है (१३)। वासनाओं से ही सर्वग्राही मस्तिष्क प्राप्त होता है (१४)। कुशाग्र बुद्धिवाला मनुष्य सर्वत्र प्रभु के तेज को देखता है और अपने जीवन को आनन्दमय बनाता है (१५)। ज्ञान की वाणियों से हमारा जीवन उज्ज्वल बनता है (१६)। वासना-विजय ही आनन्दमयता का कारण है (१७)। ब्रह्मयज्ञ व देवयज्ञ करते हुए हम सुदेव व वीतिहोत्र बनते हैं (१८)। वे प्रभु ही हमारे अद्वितीय मर्डिता हैं (१९)। प्रभु का धन व सृष्टिजाल हमारे कल्याण का साधन बनें (२०)। 'हम अपने जीवनों को गुणों से अलंकृत करें', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८५] पञ्चाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सद्गुणमण्डित जीवन

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन्रुद्रस्य सूनवः सुदंससः।
रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः॥ १॥

१. वे **वीराः**=वीरपुरुष **मदन्ति**=हर्षित करते हैं **ये**=जो **जनयः न**=स्त्रियों (queens) के समान **प्रशुम्भन्ते**=अपने जीवन को गुणों से अलंकृत करते हैं। जैसे एक रानी अपने शरीर को भूषणों से सुशोभित करती है, उसी प्रकार हमें अपने जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करने का प्रयत्न करना है। २. वे व्यक्ति आनन्द का अनुभव करते हैं जो **यामन्**=जीवन-यात्रा के मार्ग में **सप्तयः**=अश्वों के समान हैं। अश्व मार्ग का तीव्रता से व्यापन करता है, इसी प्रकार ये व्यक्ति भी अपने जीवन-मार्ग को पूर्णरूपेण आक्रान्त करने का प्रयास करते हैं। ३. ये **रुद्रस्य सूनवः**= उस अन्तःस्थित उपदेष्टा प्रभु के (रुत्+र) सच्चे पुत्र बनते हैं। **'यः प्रीणयेत्सुचरित्रैः पितरं स पुत्रः'**—पुत्र वही तो है जो अपने सुचरित्रों से पिता को प्रीणित करे। इसलिए **सुदंससः**=ये सदा उत्तम कर्मोंवाले होते हैं। ४. इनके जीवन में **मरुतः**=प्राण **हि**=निश्चय से **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **वृधे चक्रिरे**=वृद्धि के लिए करते हैं। मस्तिष्क व शरीर ही द्यावापृथिवी हैं। प्राणसाधना से इसका मस्तिष्क ज्योतिर्मय बनता है और शरीर दृढ़ होता है। ५. इस प्रकार ज्योतिर्मय मस्तिष्क व दृढ़ शरीरवाले बनकर ये वीर **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **घृष्वयः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले होते हैं। काम-क्रोधादि के पराभव में हमारी वास्तविक विजय है और यह विजय की उल्लास का कारण बनती है।

भावार्थ—जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करके हम प्रभु के प्रिय बनें। वासनाओं को जीतनेवाले वीर बनकर आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रभुपूजन-शक्तिवर्धन

त उ॑क्षि॒तासो॑ महि॒मान॑माशत दि॒वि रु॒द्रासो॒ अधि॑ चक्रिरे॒ सदः॑।
अर्च॑न्तो अ॒र्कं ज॒नय॑न्त इन्द्रि॒यमधि॒ श्रियो॑ दधिरे॒ पृश्नि॑मातरः॥ २॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि वीर ज्ञानयज्ञों में शत्रुओं का धर्षण करनेवाले होते हैं। वासनाओं को जीतकर ये सोमकणों का शरीर में ही रक्षण करते हैं। इन सोमकणों से **उक्षितासः**=सिक्त हुए-हुए **ते**=वे वीर **महिमानम्**=महिमा को **आशत**=व्याप्त करते हैं। इनका जीवन महिमाशाली बनता है। २. ये वीर **रुद्रासः**=कामादि शत्रुओं को रुलानेवाले (रोदयन्ति) होते हुए **दिवि**=प्रकाशमय लोकों में **सदः अधि चक्रिरे**=स्थिति को आधिक्येन करते हैं। इनका निवास ज्ञान में होता है। ये वीरता के साथ ज्ञान को मिलाकर चलते हैं। ३. **अर्कम्**=उस पूजनीय प्रभु को **अर्चन्तः**=पूजते हुए ये **इन्द्रियम्**=वीर्य व बल को **जनयन्तः**= विकसित करते हुए **श्रियः**=शोभाओं को **अधि दधिरे**=खूब ही धारण करते हैं। प्रभु की उपासना से वासना का समूल विनाश होकर शक्ति का रक्षण व वर्धन होता ही है ४. इस प्रकार ये वीर **पृश्निमातरः**=भूमिरूपी मातावाले होते हैं, अर्थात् भूमि माता के सच्चे पुत्र होते हैं। इनके जीवन से मातृभूमि का मुख उज्ज्वल होता है। ये अपने देश के यश का कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु पूजनवाले हों और अपनी शक्ति का वर्धन करें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

वीर सैनिक

गोमा॑तरो॒ यच्छु॒भय॑न्ते अ॒ञ्जिभि॑स्त॒नूषु॑ शु॒भ्रा द॑धिरे वि॒रुक्म॑तः।
बाध॑न्ते॒ विश्व॑मभिमा॒तिन॒मप॒ वर्त्मा॑न्येषा॒मनु॑ रीयते घृ॒तम्॥ ३॥

१. **गोमातरः**=(गौः=पृथिवी) इस पृथिवी को अपनी माता समझनेवाले ये वीर **यत्**=जब **अञ्जिभिः**=रूपाभिव्यञ्जक—अलंकृत करनेवाले आभूषणों से **शुभयन्ते**=अपने को शोभायुक्त करते हैं और **तनूषु**=शरीरों पर **शुभ्राः**=शुद्ध व निर्मल **विरुक्मतः**=विशेषेण रोचमान अलंकारों को **दधिरे**=धारण करते हैं। २. इस प्रकार ये वीर सैनिक पूर्ण उत्साह में होते हैं। ये शत्रु पर आक्रमण के लिए प्रस्थान करते हुए संकल्पात्मक सोत्साह मन से आगे बढ़ते हैं और **विश्वम्**=सब **अभिमातिनम्**=शत्रुओं को **अपबाधन्ते**=दूर ही रोक देते हैं। ३. **एषाम्**=इनके **वर्त्मानि अनु**=मार्गों से पीछे **घृतम्**=दीप्ति **रीयते**=गति करती है। इनका मार्ग दीप्तिमय होता है। तेजस्विता से दीप्त होते हुए ये शत्रु पर आक्रमण करते हैं। इस स्थिति में इनके न जीतने का प्रश्न ही नहीं उठता। वीर सैनिक विजयी बनता है।

भावार्थ—एक वीर सैनिक पूर्ण उत्साह के साथ युद्ध में जुटता है और जिधर जाता है, शत्रुओं को मार भगाता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

अच्युत-च्यावन

वि ये भ्राज॑न्ते॒ सुम॑खास ऋ॒ष्टिभिः॑ प्रच्या॒वय॑न्तो॒ अच्यु॑ता चि॒दोज॑सा।
म॒नो॒जुवो॒ यन्म॑रुतो॒ रथे॒ष्वा वृष॑व्रातासः॒ पृष॑ती॒रयु॑ग्ध्वम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के सैनिकों का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **ये**=वे वीर हैं जोकि **सुमखासः**=राष्ट्ररक्षा के लिए युद्ध को उत्तम यज्ञ समझनेवाले हैं, **ऋष्टिभिः**= शत्रुनाशक अस्त्र-शस्त्रों से **विभ्राजन्ते**=विशेषरूप से चमकते हैं और **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **अच्युता चित्**=अत्यन्त दृढ़—न हिलाये जाने योग्य पर्वतादि को भी **प्रच्यावयन्तः**=मार्ग से हटानेवाले होते हैं। अपनी युद्धयात्रा से पर्वत भी इनको रोक नहीं सकते। २. ये तो **यत्**=चूँकि **मनोजुवः**=(मनोवद् वेगगतयः—सा०) मन के समान वेगयुक्त गतिवाले हैं, अतः **वृषव्रातासः**=शत्रुओं का वर्षण करनेवाले मनुष्य होते हैं (व्राताः=मनुष्याः)। इस प्रकार के ये **मरुतः**=देशरक्षण के लिए मर मिटनेवाले (म्रियन्ते) वीर सैनिक **रथेषु**=रथों में **पृषतीः**=(पृष् to vex, pain, weary) शत्रुओं को व्याकुल कर देनेवाली अपनी घोड़ियों को **आ अयुग्ध्वम्**=समन्तात् जोतते हैं, युद्धयात्रा के लिए तैयार हो जाते हैं।

भावार्थ—वीर सैनिक आगे बढ़ते हैं, पर्वत भी इन्हें रोक नहीं पाते।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रिपु-रुधिर-वर्षण

प्र यद्रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं वाजे अद्रिं मरुतो रंहयन्तः।
उतारुषस्य वि ष्यन्ति धाराश्चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम॥५॥

१. हे **मरुतः**=सैनिको! **यत्**=जब आप **रथेषु**=रथों में **पृषतीः**=शत्रुओं को व्याकुल करनेवाली घोड़ियों को **अयुग्ध्वम्**=समन्तात् जोतते हो तब **वाजे**=संग्राम में **अद्रिम्**=पर्वत को भी **रंहयन्तः**=वेगवाला कर देते हो (shake it run away), पर्वत को भी मार्ग से दूर भगा देते हो। इनको पर्वत भी रोक नहीं पाते। २. **उत**=और उस समय वे वीर सैनिक संग्रामों में **अरुषस्य**=आरोचमान—चमकते हुए रुधिर की **धाराः**=धाराओं को **विष्यन्ति**=मुक्त करते हैं—रुधिर की धाराओं को बहा देते हैं तथा **उदभिः चर्म इव**=जैसे जलों से चमड़े को गीला करते हैं, उसी प्रकार ये सैनिक शत्रु-रुधिर से **भूम व्युन्दन्ति**=रणभूमि को क्लिन्न कर देते हैं। देशरक्षा के लिए शत्रु का नाश आवश्यक हो जाता है।

आधिदैविक पक्ष में—मरुतः=मानसून विण्ड्स=वृष्टि की वायुएँ **यत्**=जब **रथेषु**=अपने रथों में **पृषतीः**=अपनी घोड़ियों को **अयुग्ध्वम्**=सर्वथा जोतती हैं, अर्थात् जब ये वायुएँ चलती हैं तब **वाजे**=अन्न की उत्पत्ति के निमित्त **अद्रिम्**=मेघ को **रंहयन्तः**=ये वेगयुक्त करती हैं, बादल को उड़ाकर ले-जाती हैं। **उत**=और **अरुषस्य**=आरोचमान वृष्टिजल की **धाराः**=धाराओं को **विष्यन्ति**=मुक्त करती हैं। **उदभिः**=जलों से **भूम**=पृथिवी को **व्युन्दन्ति**=उसी प्रकार क्लिन्न कर देती हैं **चर्म इव**=जैसे एक चमड़े को। एक चर्मकार जैसे चमड़े को गीला करता है, उसी प्रकार ये वायुएँ मेघजल से भूमि को क्लिन्न करती हैं और भूमि को अन्न-उत्पादन के योग्य बनाती हैं।

भावार्थ—वीर सैनिक शत्रुरुधिर से भूमि को स्नान कराते हुए देश का रक्षण करते हैं। रुधिर की वर्षा से भूमि इस प्रकार क्लिन्न हो जाती है जैसे बादलों की वर्षा से।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

गतिमय इन्द्रियाश्व

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः।
सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः॥६॥

१. 'मरुतः' का अर्थ आधिदैविक जगत् में 'वृष्टि की वायुएँ' हैं, आधिभौतिक क्षेत्र में ये वीर सैनिक हैं और अध्यात्म में ये प्राण हैं। प्राणसाधक पुरुष भी 'मरुतः' कहलाते हैं। प्राणसाधना से शरीर के सब शत्रु उसी प्रकार नष्ट होते हैं जैसेकि वीर सैनिक रणभूमि में शत्रुओं का नाश करते हैं। इस प्रकार प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर इन इन्द्रियाश्वों की गति व शक्ति बढ़ जाती है, अतः कहते हैं कि **वः**=तुम्हें **सप्तयः**=सर्पणशील—अपने-अपने कार्यों को उत्तमता से करनेवाले **रघुष्यदः**= वेगयुक्त गतिवाले **रघुपत्वानः**=शीघ्रता से मार्ग का आक्रमण करनेवाले इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=जीवन-यात्रा में वहन करनेवाले हों। २. **बाहुभिः**=अपने प्रयत्नों व पराक्रमों से **प्रजिगात**=तीव्रता से आगे और आगे चलो। जीवनपथ को प्रशस्त व उन्नत बनाते हुए तुम **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **सीदत**=बैठो। प्राणसाधना से हृदय वासनाशून्य बनता ही है। **वः**=तुम्हारा **सदः**=यह बैठने का स्थान-हृदय **उरु कृतम्**=विशाल बनाया गया है। विशालता में ही तो उसकी पवित्रता है। सब अशुभ वासनाएँ संकुचित हृदय की ही उपज हैं। ३. हे **मरुतः**=प्राणो व प्राणसाधक पुरुषो! आप **मध्वः**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए **अन्धसः**=इस ध्यान से रक्षणीय सोम के पान से **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। सोमरक्षण ही सब आनन्दों का मूल है। ४. सैनिक पक्ष में **अन्धसः**=अन्नवाचक हो जाता है। सैनिकों को भी 'आयु, सत्त्व (उत्साह), बल व आरोग्य' वर्धक अन्न का सेवन करना है। यह अन्न उनको मस्ती देनेवाला हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व निर्दोष होकर हमें यात्रा में आगे ले-चलते हैं। पुरुषार्थ बढ़ता है, हृदय विशाल व पवित्र बनता है। सोमरक्षण होकर आनन्द की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

शक्तिशाली पर निरभिमानी

तेऽवर्धन्त स्वतवसो महित्वना नाकं तस्थुरुरु चक्रिरे सदः।
विष्णुर्यद्धावद् वृषणं मदच्युतं वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये॥ ७॥

१. **ते**=वे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **अवर्धन्त**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं। **स्वतवसः**=(स्व= आत्मा) ये आत्मा के बलवाले होते हैं। **महित्वना**=इस आत्मिक बल की महिमा से **नाकं तस्थुः**=स्वर्गलोक में स्थित होते हैं। ये क्लेश का अनुभव नहीं करते—सहनशक्ति के कारण व्याधित होते हुए भी ये प्रसन्नचित्त होते हैं। **सदः**=अपने निवासस्थान हृदय को **उरु चक्रिरे**=ये विशाल बनाते हैं। इनका हृदय संकुचित नहीं होता। उस विभु प्रभु का निवास होने पर हृदय के संकोच का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। २. **वृषणम्, मदच्युतम्**=शक्तिशाली पर गर्व न करनेवाले पुरुष को **यत्**=चूँकि **ह**=निश्चय से **विष्णुः**=वे सर्वव्यापक प्रभु **आवत्**=रक्षित करते हैं। विष्णु से सुरक्षित निरभिमानी व शक्तिसम्पन्न यह पुरुष **वयः न**=पक्षी की भाँति अर्थात् उसी प्रकार उड़कर शीघ्रता से **प्रिये**=प्रीणित करनेवाले **बर्हिषि**=यज्ञ में **अधिसीदन्**=आधिक्येन स्थित होनेवाला होता है। यज्ञों में स्थित होता हुआ यह प्रीति का अनुभव करता है और इन यज्ञों के द्वारा प्रभु का अर्चन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से आत्मिक बल बढ़ता है, मनुष्य यज्ञशील बनता है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

शूर-युयुधि-श्रवस्यु

शूराइवेद्युयुधयो न जग्मयः श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजानइव त्वेषसंदृशो नरः॥ ८॥

१. गतमन्त्र के प्राणसाधक पुरुष **इत्**=निश्चय से **शूराः इव**=शूरवीर पुरुषों की भाँति **युयुधयः न**=युद्ध करते हुओं की भाँति **जग्मयः**=गतिशील, **श्रवस्यवः न**=यश की कामनावाले वीरों की भाँति **पृतनासु**=संग्रामों में **येतिरे**=प्रयत्न करते हैं। जैसे राष्ट्र के वीर सैनिक—शत्रुओं से शूरवीर पुरुषों की भाँति—प्रबल युद्ध करनेवालों की भाँति तथा कायरता के कलंक से बचने की कामनावाले होकर युद्ध करते हैं, इसी प्रकार प्राणसाधक पुरुष अध्यात्म-संग्राम में कामादि शत्रुओं को शीर्ण करने के लिए यत्नशील होते हैं। इन **मरुद्भ्यः**=युद्ध में प्राणों का त्याग करने की वृतिवाले पुरुषों से **विश्वा भुवना**=सब लोक **भयन्ते**=भयभीत हो उठते हैं। इसी प्रकार प्राणसाधक पुरुषों से काम-क्रोधादि शत्रु भयभीत होकर भाग खड़े होते हैं। ३. कामादि का विनाश होने पर ये प्राणसाधक **नरः**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले पुरुष **राजानः इव**=राजाओं की भाँति **त्वेषसंदृशः**=दीप्तदर्शन होते हैं। कामादि के विनाश से इनकी शक्ति का रक्षण होता है और ये तेजस्विता से इस प्रकार सुभूषित होते हैं जैसे राजा लोग वस्त्रों व अलंकारों से भूषित दिखते हैं।

भावार्थ—हम शूर, युयुधि व श्रवस्यु बनकर संग्राम में जुट जाएँ। शत्रु-संहार करके—दीप्तदर्शनवाले बनें-चमकें।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—विराड् जगती॥ स्वरः—निषादः॥

त्वष्टा का वज्र

त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्।
धत्त इन्द्रो नर्यपांसि कर्तवेऽहन्वृत्रं निरपामौब्जदर्णवम्॥ ९॥

१. **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाला, जिसके कर्मों में किसी प्रकार की कमी नहीं (**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**) उस **त्वष्टा**=देवशिल्पी प्रभु ने **यत्**=जिस **वज्रम्**=वज्र को **अवर्तयत्**= वर्तमान किया, अर्थात् बनाया, उस वज्र को **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **धत्ते**=धारण करता है। यह वज्र 'क्रियाशीलता' ही है। प्रभु ने जीव के लिए क्रियाशीलता के नियम को ही स्थिर किया है—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः'**। इन्द्र इस नियम को अपनाता है। यह क्रियाशीलता वज्र **सुकृतम्**=शोभन कर्मरूप है तथा **हिरण्यम्**=ज्योतिर्मय है। हमें प्रत्येक कर्म ज्ञानपूर्वक ही करना चाहिए। यह वज्र **सहस्रभृष्टिम्**=शतशः धाराओंवाला है—इसके द्वारा वासनासमूह का विनाश किया जाता है। २. इन्द्र इस वज्र का **नरि**=(नृ नये) जीवन-प्रगति के संग्राम में **अपांसि कर्तवे**=कर्मों को करने के लिए धारण करता है। इस क्रियाशीलता के द्वारा वह आगे और आगे बढ़ता है। कर्म ही प्रगति का नियम है। इस कर्म के द्वारा वह उन्नति के मार्ग में आनेवाले **वृत्रम्**=वासनारूप आवरण (विघ्न) को **अहन्**=नष्ट करता है और **अपां अर्णवम्**=कर्मों की गति को (अर्णव=गति) **निः औब्जत्**=पूर्णतया सरल करता है (उब्ज् आर्जवे)। वासनाविनाश के कारण इसके कर्मों में कुटिलता नहीं रहती। वासनाएँ ही हमारे कर्मों में कुटिलता का समावेश करती हैं। वासनाएँ गईं, कुटिलता भी गई।

भावार्थ—हम प्रभुप्रदत्त क्रियाशीलता वज्र को धारण करें। वासनाओं को इसके द्वारा नष्ट करके अपने जीवन में सरलता को धारण करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अविद्यापर्वत-विभेदन

ऊर्ध्वं नुनुद्रेऽवतं त ओजसा दादृहाणं चिद्बिभिदुर्वि पर्वतम्।
धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे॥ १०॥

१. **ते मरुतः**=वे प्राण **अवतम्**=(अव् रक्षणे) अपने से सुरक्षित पुरुष को अथवा नीचे गिरे हुए पुरुष को (अवस्तात् ततम्) **ऊर्ध्वं नुनुद्रे**=ऊपर प्रेरित करते हैं। प्राण-साधना से मनुष्य की अशुभवृत्तियाँ नष्ट होती हैं और इस प्रकार इन प्राणों के द्वारा मनुष्य का उत्थान किया जाता है। २. ये प्राण **दादृहाणं चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **पर्वतम्**=अविद्यापर्वत को (पाँच पर्वोंवाली होने से अविद्या पर्वत कही गई है) **वि बिभिदुः**=विशेषरूप से विदीर्ण कर देते हैं। प्राणसाधना के द्वारा अशुद्धियों का नाश होकर ज्ञान की दीप्ति होती है। इस ज्ञान के प्रकाश में अविद्यान्धकार विलीन हो जाता है। यही अविद्यापर्वत का भेदन है। ३. **वाणम्**=शतसंख्यावाली तन्त्रियों से युक्त वीणा के तुल्य शतवर्षपर्यन्त चलनेवाले इस शरीर को **धमन्तः**=तप की अग्नि से संयुक्त करते हुए **मरुतः**=प्राण (प्राणायामः परमं तपः) **सुदानवः**=बुराइयों का अच्छी प्रकार खण्डन करनेवाले होते हैं। प्राणायामरूपी तप की अग्नि में शरीर के सब दोष भस्म हो जाते हैं। ४. दोषों के भस्म होने पर शरीर में सोम की रक्षा होती है और तब ये प्राणसाधक पुरुष **सोमस्य मदे**=इस सोम के मद=हर्ष में **रण्यानि**=अत्यन्त रमणीय कार्यों को **चक्रिरे**=करते हैं। सोमरक्षा से जीवन में उल्लास का अनुभव होता है। इस उल्लास के साथ पवित्रता होती है, परिणामतः सोमरक्षक पुरुष रमणीय कर्मों को ही करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से उन्नति होती है, अविद्या का नाश होता है। प्राणायामरूप तप की अग्नि में शरीर के दोष दूर हो जाते हैं और सोमरक्षण से उल्लसित पुरुष पवित्र कर्मों को करता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

गोतम की तृष्णा का शमन

जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशासिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे।
आ गच्छन्तीमवसा चित्रभानवः कामं विप्रस्य तर्पयन्त धामभिः॥ ११॥

१. गतमन्त्र में कही गई **तया दिशा**=उस ऊर्ध्व दिशा की ओर ये प्राण उस व्यक्ति को **नुनुद्रे**=प्रेरित करते हैं जोकि आज तक **जिह्मम्**=कुछ कुटिल स्वभाव का था तथा **अवतम्**=नीचे-अधर्म में, पापगर्त में गिरा हुआ था। प्राणसाधना के द्वारा अधर्म की वृत्ति नष्ट होती है और मनुष्य उन्नति की दिशा में चलना आरम्भ करता है। उसकी कुटिलता नष्ट होकर उसके स्वभाव में सरलता आ जाती है। २. अब यह मनुष्य प्रशस्तेन्द्रिय बन जाता है, इसमें ज्ञानप्राप्ति की प्यास उत्पन्न हो जाती है। इस **गोतमाय**=(गावः=इन्द्रियाणि) प्रशस्तेन्द्रिय **तृष्णजे**=(तृष्णा जाता यस्मिन्, जन्+ड) ज्ञानपिपासु के लिए ये मरुत्=प्राण **उत्सम्**=ज्ञान के

निर्झर (चश्मे) को **असिञ्चन्**=ज्ञानजल से सिक्त कर देते हैं, इनमें ज्ञानप्रवाह उमड़ पड़ता है। प्राणसाधना का यह परिणाम है ही कि ज्ञान दीप्त हो उठता है। ३. इस प्रकार **चित्रभानव:**=ये अद्भुत दीप्तिवाले प्राण (मरुत्) **ईम्**=निश्चय से **अवसा**=रक्षण के हेतु **आगच्छन्ति**=इस प्राणसाधक को प्राप्त होते हैं और **विप्रस्य**=इस विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले पुरुष को ये प्राण **धामभि:**=(Lustre or strength) ज्ञान के प्रकाश व बल से **कामम्**=खूब ही **तर्पयन्त**=तृप्त करते हैं। इसे ज्ञानी व सबल बनाकर इसका प्रीणन करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना 'सरलता, ज्ञान के प्रकाश व सामर्थ्य' को देनेवाली है।

ऋषि:—**गोतमो राहूगण:**॥ देवता—**मरुत:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

त्रिधातु शर्म

या व: शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषण: सुवीरम्॥ १२॥

१. हे **मरुत:**=प्राणो! **या**=जो **व:**=आपके **त्रिधातूनि**=शरीर, मन व बुद्धि—तीनों का पोषण करनेवाले **शर्म**=सुख **शशमानाय**=प्लुतगति—स्फूर्ति से कर्म करनेवाले के लिए **सन्ति**=हैं, उन्हें **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले पुरुष के लिए, अपनी साधना के द्वारा प्रभु-चरणों में उपस्थित होनेवाले पुरुष के लिए **अधियच्छत**=आधिक्येन दीजिए। प्राणसाधना से हमारा शरीर नीरोग होता है, मन निर्मल बनता है और बुद्धि तीव्र होती है। इस प्रकार प्राणसाधना का सुख 'त्रि-धातु' है। यह प्राप्त उसी को होता है जो शशमान=क्रियाशील व दाश्वान्=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला होता है। २. हे प्राणो! **तानि**=उन सुखों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए भी **वियन्त**=विशेषकर प्राप्त कराइए (विशेषेण प्रयच्छत=सा०)। हे **वृषण:**=हमपर सुखों की वर्षा करनेवाले व हमें शक्तिशाली बनानेवाले प्राणो! **न:**=हमारे लिए **सुवीरम्**=उत्तम वीर पुत्रोंवाले **रयिम्**=धन को **धत्त**=धारण कीजिए। हम वीर पुत्रों को प्राप्त करें, साथ ही धन भी प्राप्त करें।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर, मन व बुद्धि तीनों का उत्तमता से पोषण होता है। वीर पुत्रों व धन की प्राप्ति होती है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि हम 'जीवन को सद्गुणों से मण्डित करके प्रभु के प्रिय बनें' (१)। हमारा जीवन प्रभु-पूजन के द्वारा शक्तिवर्धनवाला हो (२)। एक वीर सैनिक की भाँति हम शत्रुओं को मार भगाएँ (३)। आगे बढ़ने के मार्ग में पर्वत भी हमें रोक न पाएँ (४)। हम शत्रु-रुधिर से भूमि को क्लिन्न करते हुए देश का रक्षण करनेवाले बनें, (५) प्राणसाधना से निर्दोष बने हुए इन्द्रियाश्व हमें यात्रा में आगे ले-चलें (६) हम शक्तिशाली हों, परन्तु शक्ति का गर्व न करें (७)। हम शत्रुसंहार करनेवाले बनकर चमकें (८)। प्रभुप्रदत्त क्रियाशीलता वज्र को धारण करें, (९) इसके द्वारा अविद्यापर्वत का भेदन करें (१०)। प्राणसाधना के द्वारा 'सरलता, ज्ञानप्रकाश व सामर्थ्य ' प्राप्त करें (११)। हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का ही पोषण हो (१२)। 'प्राण हमें जितेन्द्रियता प्राप्त करानेवाले हों'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८६] षटशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'सुगोपा-तम' जन

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः॥ १॥

१. हे **दिवः**=(दिव् विजिगीषा) रोगों को जीतने की कामना करनेवाले **विमहसः**=विशिष्ट तेजस्विता व दीप्तिवाले **मरुतः**=प्राणों! आप **यस्य**=जिस पुरुष के **क्षये**=शरीररूप गृह में (क्षि निवासगत्योः) **हि**=निश्चय से **पाथ**=सोम का रक्षण करते हो **सः जनः**=वह मनुष्य **सुगोपा-तमः**=इन्द्रियों का सर्वोत्तम रक्षक होता है। २. प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना होने पर शरीर के रोग नष्ट होते हैं, बुद्धि का प्रकाश दीप्त होता है। शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होकर शरीर की शक्तियाँ को विकास होता है। यह पुरुष अपना उत्तम रक्षण करनेवाला होता है। इसकी इन्द्रियों की शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। सुरक्षित सोम इन्द्रियों की शक्ति का रक्षण करता है। इस प्रकार यह पुरुष 'सुगोपातम' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा शरीर में ही सोम का पान करें, जिससे सब इन्द्रियों की शक्ति अक्षीण बनी रहे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञशील व ज्ञानी

यज्ञैर्वा यज्ञवाहसो विप्रस्य वा मतीनाम्। मरुतः शृणुता हवम्॥ २॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! आप **वा**=या तो **यज्ञैः**='देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप' उत्तम कर्मों से **यज्ञवाहसः**=उस पूज्य प्रभु का वहन करनेवाले (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः), **विप्रस्य**=कमियों को दूर करके अपना पूरण करनेवाले पुरुष की **हवम्**=प्रार्थना को **शृणुत**= सुनते हो। **वा**=या **मतीनाम्**=मननशील ज्ञानी पुरुषों की पुकार को सुनते हो। २. जिस प्रकार एक विशिष्ट भोजन के सेवन से कोई व्यक्ति खूब पुष्ट शरीरवाला हो जाता है तो कहा जाता है कि 'भोजन तो इसको अनुकूल पड़ा' अथवा 'भोजन ने इसकी बात सुनी'। इसी प्रकार यहाँ 'प्राणों ने इसकी पुकार सुनी' यह वाक्यविन्यास तब प्रयुक्त होता है जबकि एक व्यक्ति (क) यज्ञशील बनकर प्रभु की उपासना करता हुआ अपनी कमियों को दूर करता है अथवा (ख) खूब ज्ञानसम्पन्न बनता है। वस्तुतः प्राणसाधना के ये दो परिणाम हैं कि मनुष्य यज्ञशील बनता है और बुद्धि को अत्यन्त तीव्र कर पाता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करेंगे तो हमारी यज्ञवृत्ति का विकास होगा और तीव्रबुद्धि बनकर हम ज्ञान का संग्रह कर पाएँगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गोमान् व्रज में

उत वा यस्य वाजिनोऽनु विप्रमतक्षत। स गन्ता गोमति व्रजे॥ ३॥

१. गतमन्त्र के प्रसङ्ग को ही आगे चलाते हुए कहते हैं कि **उत वा**=और या हे प्राणो! आप **यस्य वाजिनः**=जिस शक्तिशाली पुरुष के **अनु**=अनुकूल होते हुए **विप्रम्**=विशिष्ट ज्ञानी को **अतक्षत**=बनाते हो, **सः**=वह ज्ञानी पुरुष **गोमति व्रजे**=प्रशस्त इन्द्रियरूप गौओंवाले इस

शरीररूप बाड़े में **गन्ता**=प्राप्त होनेवाला होता है। २. प्राणसाधना से शक्ति भी बढ़ती है और ज्ञान भी बढ़ता है। इस प्राणसाधना से इन्द्रियाँ बनती हैं। इन्द्रियाँ ही मानो गौएँ हैं, शरीर उनका बाड़ा है। प्राणसाधक का यह बाड़ा उत्तम इन्द्रियरूप गौओंवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शक्ति व ज्ञान की वृद्धि होकर कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम बनती हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्तवन व आनन्द

अस्य वीरस्य बर्हिषि सुतः सोमो दिविष्टिषु। उक्थं मदश्च शस्यते॥ ४॥

१. **अस्य वीरस्य**=प्राणसाधना के द्वारा वीर बने हुए इस पुरुष के **बर्हिषि**=यज्ञों के होने पर तथा **दिविष्टिषु**=(दिव एषणेषु—निरु० ६।२२) ज्ञान की एषणाओं में—ज्ञानप्राप्ति की कामनाओं में **सोमः सुतः**=सोम का सम्पादन होता है। जब मनुष्य कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रहता है और ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति की कामनावाला बना रहता है तब वह वासनाओं का शिकार नहीं होता। बस, वासनाओं से आक्रान्त न होना ही सोम के सम्पादन का साधन है। वासना सोम=वीर्य की विनाशक है। २. सोम का रक्षण होने पर इस वीर पुरुष के जीवन में **उक्थम्**=स्तोत्र—प्रभुस्तवन चलता है **च**=और **मदः**=आनन्द का अनुभव होता है। इस वीर के जीवन की ये दो ही बातें **शस्यते**=प्रशंसनीय होती हैं। प्रभुस्तवन व आनन्दमय मन इसके जीवन को स्तुत्य बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—वीर पुरुष कर्मेन्द्रियों को यज्ञों में और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाता है। इस प्रकार सोम का रक्षण करता हुआ स्तवन व आनन्दमय मन से जीवन को प्रशस्त करता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभुप्रेरणा का श्रवण

अस्य श्रोषन्त्वा भुवो विश्वा यश्चर्षणीरभि। सूरं चित्सस्रुषीरिषः॥ ५॥

१. **आभुवः**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त होनेवाले प्राण **अस्य**=इस आराधक की प्रार्थना को **श्रोषन्तु**=सुनें **या**=जो **विश्वा चर्षणीः अभि**=सब मनुष्यों की ओर जानेवाला होता है, सभी के हित का ध्यान करता है। प्राणसाधक पुरुष स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठकर परार्थ में चलता है। २. इस **सूरम्**=ज्ञानी पुरुष को **इषः चित्**=प्रेरणाएँ भी **सस्रुषीः**=प्राप्त होती हैं। वस्तुतः प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान बढ़ता है और हृदय की निर्मलता के कारण अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणाएँ सुन पड़ती है। इन परिणामों को देखकर कहते हैं कि 'प्राणों ने इस व्यक्ति की प्रार्थना को सुना'।

भावार्थ—प्राणसाधक लोकहित के कर्म करता है, ज्ञानी बनता है, प्रभु की प्रेरणा को सुन पाता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

जीवन के पूर्वाह्न में

पूर्वीभिर्हि ददाशिम शरद्भिर्मरुतो वयम्। अवोभिश्चर्षणीनाम्॥ ६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **पूर्वीभिः शरद्भिः**=जीवन के पहले

वर्षों से ही **ददाशिम**=आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं। पचास वर्ष बीत जाने पर प्राणसाधना का विचार उत्पन्न हुआ तो यथेष्ट लाभ होना सम्भव नहीं। शक्ति के संयम की आवश्यकता पचास वर्ष से पूर्व ही अधिक होती है, अतः यही समय प्राणसाधना के लिए उपयुक्ततम है। २. **चर्षणीनाम्**=(सर्वस्य द्रष्टृणाम्) सबके द्रष्टा, सबका पालन व पूरण करनेवाले आप प्राणों के **अवोभिः**=रक्षण के हेतु से, अर्थात् आपका रक्षण प्राप्त करने के लिए हम अपने को प्राणसाधना में व्यापृत करते हैं। प्राणसाधना करेंगे तो शक्ति का रक्षण होकर हम रोगों से आक्रान्त न होंगे।

भावार्थ—प्रारम्भिक जीवन से ही प्राणसाधना में लग जाना चाहिए।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुभग

सुभगः स प्रयज्यवो मरुतो अस्तु मर्त्यः। यस्य प्रयांसि पर्षथ॥ ७॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! आप **प्रयज्यवः**=प्रकर्षेण यष्टव्याः—संगतिकरण के योग्य हो। हमें प्राणसाधना से अपना अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। एवं हे प्रयज्यु प्राणो! **सः मर्त्यः**=वह मनुष्य **सुभगः अस्तु**=अत्यन्त सौभाग्यशाली होता है, **यस्य**=जिसके **प्रयांसि**=अन्नों को (Food) **पर्षथ**=आप स्वीकार (to accept) करते हो। प्राणापान- समायुक्त ही वैश्वानर अग्नि चतुर्विध अन्न का पाचन करती है। यह प्राणों द्वारा अन्न का स्वीकार है। प्राणापान का कार्य ठीक होने पर भूख लगती है। अन्न के ठीक पाचन से स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त होता है। यह सौन्दर्य मनुष्य को सुभग बनाता है। २. प्राणसाधना सब उन्नतियों व सौभाग्यों के मूल में है, अतः प्राण 'प्रयज्यु'=अत्यन्त संगतिकरण के योग्य है। गतमन्त्र के संकेत के अनुसार इनकी साधना प्रारम्भिक जीवन में ही आरम्भ हो जानी चाहिए।

भावार्थ—प्राणसाधना से भूख ठीक लगती है। अन्न का ठीक पचन हमें स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्रदान करता है, हम सुभग बनते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सत्यवादी मेधावी

शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः। विदा कामस्य वेनतः॥ ८॥

१. हे **नरः**=(नृ नये) उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले मरुतो! आप **कामस्य विद**= इच्छा को (लम्भयत) प्राप्त कराते हो, पूर्ण करते हो, किसकी? जो (क) **शशमानस्य**=(शश प्लुतगतौ) स्फूर्ति से कार्य करनेवाला है, जिसमें नाममात्र भी आलस्य नहीं है। (ख) **वा**=अथवा **स्वेदस्य**=जो श्रम के द्वारा अपने को पसीने से तरबतर कर लेता है, अत्यन्त श्रमशील है। (ग) **सत्यशवसः**=सत्य के बलवाला है—जो सत्य के द्वारा अपने मन को सदा शुद्ध रखता है और (घ) **वेनतः**=जो विचारशील, मेधावी व स्तुति की प्रवृत्तिवाला है (to reflect, to see, to worship)। २. वस्तुतः प्राणसाधना के द्वारा ही हममें वे गुण उत्पन्न होते हैं जोकि 'शशमानस्य, स्वेदस्य, सत्यशवसः तथा वेनतः' शब्दों से सूचित हो रहे हैं। प्राणसाधना हमें 'प्लुतगतिवाला, अत्यन्त श्रमशील, सत्यप्रधान तथा मेधावी' बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम आलस्य से ऊपर उठकर श्रमशील, सत्यवादी व मेधावी बनें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रक्षो-वेधन

यूयं तत्स॑त्यशवस आ॒विष्क॑र्त महित्व॒ना। विध्य॑ता वि॒द्युता॒ रक्षः॑॥ ९॥

१. हे **सत्यशवसः**=सत्य के बलवाले मरुतो! **यूयम्**=आप **महित्वना**=अपनी महिमा से **तत्**=उस शक्ति को **आविष्कर्त**=प्रकट करो जिससे कि **विद्युता**=विशिष्ट दीप्ति से **रक्षः**=राक्षसी भावना को **विध्यत**=विद्ध करो। ज्ञान के द्वारा राक्षसी भावनाओं को हमसे दूर करो। २. प्राणसाधक पुरुष की बुद्धि सूक्ष्म होती है, उसका ज्ञान दीप्त होता है और उस दीप्त ज्ञान में सब राक्षसी भावनाएँ जल जाती हैं। प्राणशक्ति शरीर को ही स्वस्थ नहीं बनाती, वह मन व मस्तिष्क को भी निर्मल व दीप्त बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से एक विशिष्ट ज्ञानदीप्ति उत्पन्न होती है, जिस दीप्ति में सब राक्षसी वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्योति का प्रादुर्भाव

गूह॑ता॒ गुह्यं॒ तमो॒ वि या॑त॒ विश्व॑म॒त्रिण॑म्। ज्योति॑ष्कर्ता॒ यदु॒श्मसि॑॥ १०॥

१. हे प्राणो! **गुह्यं तमः**=बुद्धिरूप गुहा में होनेवाले अज्ञानान्धकार को **गूहत**=संवृत करो—हमसे दूर करो, (विनाशयत—सा०) नष्ट करो। प्राणसाधना से ज्ञानदीप्ति प्रकट होती है। यह ज्ञानदीप्ति अन्धकार को नष्ट करनेवाली है। २. **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हममें प्रविष्ट हो जानेवाले **अत्रिणम्**=(अद भक्षणे) हमारी शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक उन्नतियों को खा जानेवाले काम, क्रोध व लोभ को **वियात**=हमसे दूर करो। प्राणसाधना का दूसरा लाभ यह है कि शरीर के नाशक 'काम' का, मन को विकृत करनेवाले 'क्रोध' का तथा बुद्धि के विनाशक 'लोभ' का नाश होता है। ३. इनका नाश करके हे प्राणो! आप उस **ज्योति**=ब्रह्म के प्रकाश को **कर्त**=कीजिए **यत्**=जिसे **उश्मसि**=हम चाहते हैं। हमारी इच्छा होती है कि हम ब्रह्म की ज्योति का दर्शन करें। 'काम, क्रोध, लोभ' उस ज्योति के दर्शन से हमें वञ्चित करते हैं। प्राणसाधना इन कामादि को नष्ट करके हमें उस ज्योति का दर्शन कराती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) अज्ञानान्धकार नष्ट होता है, (ख) 'काम-क्रोध-लोभ' दूर होते हैं, (ग) ब्रह्मज्योति का दर्शन होता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि प्राणसाधक पुरुष सुगोपातम बनता है (१)। यह साधक यज्ञशील व ज्ञानी होता है (२)। इस साधक की कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशस्त होती हैं (३)। यह साधक स्तवन व आनन्दमय मन से जीवन को प्रशस्त बनाता है (४)। यह साधक प्रभु की प्रेरणा को सुन पाता है (५)। वह प्रारम्भिक जीवन से प्राणसाधना में लग जाता है, (६) अतएव सुभग होता है (७)। सत्यवादी व मेधावी बनता है (८)। राक्षसी वृत्तियों का वेधन करता है (९)। ब्रह्मज्योति का दर्शन करता है (१०)। 'प्राणसाधक पुरुष उत्तम गुणों से चमक उठते हैं', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८७] सप्ताशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्राणसाधक का अलंकृत जीवन

प्रत्वक्षसः प्रतवसो विरप्शिनोऽनानता अविथुरा ऋजीषिणः।
जुष्टतमासो नृतमासो अञ्जिभिर्व्यानज्रे के चिदुस्रा इव स्तृभिः॥ १॥

१. प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **प्रत्वक्षसः**=अपने शत्रुओं को तनूकृत करनेवाले होते हैं अथवा अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनाते हैं। **प्रतवसः**=प्रकृष्ट बल से युक्त होते हैं। इस प्रकार बुद्धि और बल को बढ़ाकर ये **विरप्शिनः**=महान् बनते हैं अथवा (वि+रप्) उत्कृष्ट स्तुति के शब्दों का उच्चारण करनेवाले होते हैं। इस प्रकार 'प्रत्वक्षसः' शब्द इनकी बुद्धि के उत्कर्ष की सूचना देता है। 'प्रतवसः' से शारीरिक बल का उल्लेख हुआ है और 'विरप्शिनः' शब्द हृदय की प्रशस्तता का संकेत करता है। इनके हृदय में प्रभु की महिमा की भावना जागती है और उसी को ये वाणी से उच्चारण करनेवाले होते हैं। २. **अनानताः**=प्रभु का स्मरण करते हुए ये संसार में अन्याय से दबते नहीं। प्रभुस्मरण इन्हें वह शक्ति प्राप्त कराता है जो इन्हें शत्रुओं के सामने झुकने नहीं देती। ये **अविथुराः**=कम्पभय से रहित होते हैं, शत्रुओं से कम्पित नहीं हो जाते। **ऋजीषिणः**=(Hastening towards, seining, driving away) ये शत्रुओं पर आक्रमण करके उन्हें काबू कर लेते हैं और उन्हें अपने से दूर भगा देते हैं। ३. **जुष्टतमासः**=शत्रुओं को दूर भगाकर ये (जुषी प्रीतिसेवनयोः) प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करनेवाले होते हैं। **नृतमासः**=इस उपासना के द्वारा अपने को आगे और आगे ले-चलते हैं। उन्नतिपथ पर चलते हुए ये **केचित्**=इनेगिने लोग **अञ्जिभिः**=सुशोभित करनेवाले सद्गुणों से उसी प्रकार **व्यानज्रे**=सुशोभित दिखते हैं (व्यक्ता दृश्यन्ते—सा०) **इव**=जैसे **उस्रा**=प्रातःकाल (Morning) का चमकता हुआ आकाश (Bright sky) **स्तृभिः**=तारों से सुशोभित होता है। एक-एक सद्गुण उसके जीवन के आकाश में एक-एक तारे के समान होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना 'बुद्धि, शरीर व हृदय' तीनों को प्रशस्त करती है। प्राणसाधक कामादि शत्रुओं को नष्ट करता हुआ अपने जीवन को सद्गुणों से मण्डित करता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अर्चना व वृष्टि

उपह्वरेषु यदचिध्वं ययिं वयइव मरुतः केन चित्पथा।
श्चोतन्ति कोशा उप वो रथेष्वा घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते॥ २॥

१. आधिदैविक जगत् में 'मरुतः' का अर्थ है वायुएँ। ये वायुएँ मेघों को उस-उस स्थान में प्राप्त कराके वर्षा करवाती हैं। इस बात को मन्त्र में इस प्रकार कहा है कि हे **मरुतः**=वायुओ! आप **वयः इव**=पक्षियों की भाँति **केनचित् पथा**=किसी आकाश-मार्ग से गति करती हुई **उपह्वरेषु**=(उपह्वरन्ति येषु) जिनमें कुटिलता से—टेढ़े-मेढ़ें मार्ग से गति की जाती है, उन आकाश के प्रदेशों में **ययिम्**=इस गतिशील मेघ को **यत्**=जब **अचिध्वम्**=वर्षण-सामर्थ्य से उपचित करते हो, परिपूर्ण जलवाला करते हो, उस समय **कोशाः**=मेघ (नि० १।१०) **वः रथेषु**=आपके रथों में **उप**=समीपता से युक्त हुए-हुए **श्चोतन्ति**=वृष्टिजल को क्षरित करते हैं। मेघ मानो वायु के रथ पर बैठकर इन आकाश-मार्गों

से एक स्थान पर एकत्र होते हैं और वहाँ अपने जल को बरसाते हैं। मानसून हवाएँ इन बादलों को लाती हैं। ये ही यहाँ 'मरुतः' कही गई हैं। इस प्रकार **मरुतः**=हे वायुओ! आप **अर्चते**=अर्चन व पूजन करनेवाले के लिए **मधुवर्णम्**=मधु के वर्णवाले अर्थात् अत्यन्त स्वच्छ व दीप्त **घृतम्**=जल को **आ उक्षत**=समन्तात सिक्त करो। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ प्रभुपूजन व बड़ों का आदर होता है वहाँ अनावृष्टिरूप आधिदैविक आपत्ति नहीं आतीं।

भावार्थ—वायुएँ आकाश-प्रदेशों में मेघों को लाकर वृष्टि करती हैं। जहाँ बड़ों का मान व प्रभुभजन चलता है, वहाँ अनावृष्टि-भय नहीं होता **'न वर्षं मैत्रावरुणौ ब्रह्मज्यमभि वर्षति'**-जिस राष्ट्र में ब्राह्मणों पर अत्याचार होता है अथवा सत्य (ब्रह्म) को दबाया जाता है, वहाँ वृष्टि नहीं होती।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

क्रीडयः धुनयः

प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु यद्ध युञ्जते शुभे।
ते क्रीळयो धुनयो भ्राजदृष्टयः स्वयं महित्वं पनयन्त धूतयः॥ ३॥

१. गतमन्त्र में 'मरुत' शब्द वायुओं के लिए प्रयुक्त हुआ था। ये 'मरुत' आधिभौतिक जगत् में वीर सैनिक हैं। उनका चित्रण करते हुए कहते हैं कि **एषाम्**=इन युद्धभूमि में ही प्राण त्यागनेवाले (म्रियन्ते), कायरता से भाग खड़े न होनेवाले वीर सैनिकों के **अज्मेषु**=जिनमें गति के द्वारा सब विघ्नों को उखाड़कर फेंक दिया जाता है, उन **यामेषु**=मार्गों में **यत् ह**=जब निश्चय से **शुभे**=अपने देश की शोभा की वृद्धि के लिए **युञ्जते**=अपने रथों को जोतते हैं तब **भूमिः**=यह भूमि **विथुरा इव**=भर्तृवियुक्त पत्नी की भाँति **रेजते**=काँप उठती है। इन वीर सैनिकों के रथों की गतियों से ही शत्रुओं के मानस में भय का सञ्चार हो उठता है। इन वीर सैनिकों का यह रथ का योजन सदा अपने देश की शोभा की वृद्धि के लिए होता है। ये कभी भी दूसरों पर आक्रमण करने के लिए रथयोजन न करके अपने देश के रक्षण के लिए ही ऐसा करते हैं। २. **ते**=वे वीर सैनिक **क्रीळयः**=युद्ध को एक क्रीड़ा समझनेवाले, युद्ध में न घबराकर उसे उत्साह व आनन्दपूर्वक करनेवाले, **धुनयः**=शत्रुओं को धुन डालनेवाले, **भ्राजत् ऋष्टयः**=दीप्यमान आयुधोंवाले होते हैं। यहाँ 'क्रीळयः' शब्द इस भाव को भी व्यक्त कर रहा है कि हाकी, फुटबाल, क्रिकेट आदि क्रीड़ाएँ इन सैनिकों के खाली समय के सदुपयोग के लिए ही उचित हैं। ये खेलें विद्यार्थियों व अन्य नागरिकों के लिए ठीक नहीं हैं। ३. ये **धूतयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले वीर सैनिक **स्वयम्**=अपने-आप अपने कर्मों से ही **महित्वम्**=अपनी महिमा को **पनयन्त**=प्रकट करनेवाले होते हैं। इनके वीरतापूर्वक कर्मों के कारण इनकी प्रशंसा होती ही है।

भावार्थ—देश के सैनिक वीर हों। इनके रथों की गति शत्रुओं को कम्पित करनेवाली हो। इनके वीरतापूर्ण कार्य इनकी प्रशंसा के कारण बनें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्वसृत्-अनेद्यः

स हि स्वसृत्पृषदश्वो युवा गणो३ऽया ईशानस्तविषीभिरावृतः।
असि सत्य ऋणयावानेद्योऽस्या धियः प्राविताथा वृषा गणः॥ ४॥

१. **सः**=वह **युवा**=देश को परतन्त्रता से पृथक् करनेवाला (अमिश्रण) तथा स्वतन्त्रता व शोभा से युक्त करनेवाला (मिश्रण) **गणः**=वीर सैनिकों का गण **हि**=निश्चय से **स्व-सृत्**=स्वयं देश के रक्षण के लिए अग्रसर होता है। उन वीर सैनिकों में देश-प्रेम की भावना भरने के लिए अन्य पुरुषों की आवश्यकता नहीं होती। ये वीर सैनिक **पृषदश्वः**=(पृषत्=मृग) मृगों के समान शीघ्र गतियुक्त अश्वोंवाले होते हैं और इस प्रकार शत्रुओं के भय से देश को बचाकर ये **अया**=(स्य=याच्) इस राष्ट्र के **ईशानः**=ईशान होते हैं। ये सैनिकगण **तविषीभिः**=असाधारण बलों से **आवृतः**=युक्त होता हैं। २. इसी वीर सैनिकगण से पुरोहित कहता है कि-**सत्यः असि**=हे वीर सैनिकगण! तू सत्य है। असत्य कर्मों में प्रवृत होनेवाला नहीं है। लूट-खसोट व स्त्रियों में आसक्त हो जाने की वृत्ति तुझमें नहीं हैं। **ऋणयावा**=देश के ऋण को अदा करनेवाला तू है (या=अपगमन), देश की रक्षा के द्वारा तू देश के ऋण को चुकाता है। प्रत्येक राष्ट्र सैनिकों पर जो व्यय करता है, उस ऋण से ये सैनिक देश की स्वतन्त्रता के लिए प्राण देकर अनृण होते हैं। **अनेद्यः**=तू अनिन्दनीय होता है। तेरे कार्य राष्ट्र को कलंकित करनेवाले नहीं होते। **अथ**=और **वृषा**= सुखों का वर्षण करनेवाला होकर तू **अस्याः धियः**=इन कर्मों का **प्र अविता**=प्रकर्षेण रक्षक होता है। सैनिकों से सुरक्षित राष्ट्र में ही सब कार्य सुचारुरूपेण चलते हैं। रक्षित राष्ट्र में ही ब्राह्मणों के अध्यापन व यज्ञादि के कार्य होते हैं, इसी राष्ट्र में व्यापारियों के व्यापार चलते हैं और कृषकों के कृषि आदि कार्य हुआ करते हैं। इस प्रकार **गणः**=ये वीर सैनिक प्रशंसनीय व गणनीय होते हैं।

भावार्थ—हमारे वीर सैनिक अपने कार्यों से देश के यश को उज्ज्वल करनेवाले हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सुरक्षित राष्ट्र में 'सुन्दर जीवन'

पितुः प्रत्नस्य जन्मना वदामसि सोमस्य जिह्वा प्र जिगाति चक्षसा।
यदीमिन्द्रं शम्यृक्वाण आशतादिन्नामानि यज्ञियानि दधिरे॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वीर सैनिकों से सुरक्षित राष्ट्र में अपने जीवनों को सुन्दर बनाते हुए हम **जन्मना**=जन्म से ही, छोटी अवस्था से ही **प्रत्नस्य पितुः**=उस सनातन पिता प्रभु का **वदामसि**=नामोच्चारण करते हैं। माता-पिता बच्चों का पालन व शिक्षण इस प्रकार करते हैं कि उनके बच्चों में भी प्रभु-उपासना की वृत्ति पैदा हो जाती है। २. **सोमस्य जिह्वा**=सोम व शान्त स्वभाव के पुरुष की वाणी **चक्षसा**=ज्ञान के प्रकाश के हेतु से **प्रजिगाति**=गतिवाली होती है। घर में प्रमुख पुरुष अत्यन्त शान्त स्वभाववाला बनता है और वह उन्हीं शब्दों का उच्चारण करता है जो सन्तानों की ज्ञानवृद्धि का कारण बनते हैं। ३. **यत्**=जब यह **ईम्**=निश्चय से **शमि**=शान्तभाव से किये जानेवाले यज्ञादि कर्मों में **ऋक्वणः**=प्रभु का स्तवन करता हुआ **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **आशत**=व्याप्त करता है—प्राप्त करता है। **आत् इत्**=अब निश्चय से, उस मुख्य पुरुष का अनुकरण करते हुए घर के सब व्यक्ति **यज्ञियानि**=प्रभु की पूजा से युक्त **नामानि**=पवित्र नामों को **दधिरे**=धारण करते हैं। जिस घर में प्रभु का स्मरण चलता है, वहाँ निश्चय से धर्म व कल्याण का वास होता ही है। सुन्दर घर वही है जिसमें—(क) प्रभु का नाम-स्मरण होता है, (ख) यज्ञादि कर्म चलते हैं, (ग) ज्ञानवृद्धिकारक शब्दों का ही प्रयोग होता है।

भावार्थ—हम सन्तानों में ऐसी वृत्ति पैदा करें कि वे प्रभु का स्मरण करनेवाले हों, ज्ञान की ओर झुकाव रखते हों, यज्ञादि कर्मों में उनकी रुचि हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अभीरुता—निर्भयता

श्रियसे कं भानुभिः सं मिमिक्षिरे ते रश्मिभिस्त ऋक्वभिः सुखादयः।
ते वाशीमन्त इष्मिणो अभीरवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः॥ ६॥

१. गतमन्त्र के सुन्दर जीवनवाले व्यक्ति **कम्**=उस आनन्दस्वरूप प्रजापति को **श्रियसे**=(श्रयितुम्) आश्रय करने के लिए **भानुभिः**=ज्ञान की दीप्तियों से **संमिमिक्षिरे**= अपने को सम्यक् सिक्त करते हैं। ज्ञानदीप्ति ही अन्ततः विवेकख्याति का कारण बनती है और हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनते हैं। **ते**=वे ब्रह्म की ओर चलनेवाले व्यक्ति **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से तो अपने को युक्त करते ही हैं, साथ ही **ते**=वे **ऋक्वभिः**=(ऋच् स्तुतौ) स्तुति की मधुर वाणियों से भी अपने को युक्त करते हैं। ये ज्ञान और स्तवन उन्हें प्रभु के श्रयण के लिए समर्थ करते हैं। २. ये पुरुष **सुखादयः**=उत्तम सात्त्विक भोजन करनेवाले होते हैं। यह सात्त्विक भोजन ही उनकी वृत्ति को भी सात्त्विक बनाता है। **ते**=वे सात्त्विक भोजनवाले पुरुष **वाशीमन्तः**=प्रभु की स्तुति की वाणीवाले तो होते ही हैं **इष्मिणः**=उन स्तुतिशब्दों से सूचित मार्ग पर गतिवाले भी होते हैं। प्रभु को दयालु रूप में स्मरण करते हुए ये स्वयं भी दया को अपनाने का प्रयत्न करते हैं। ३. प्रभुस्मरण के कारण ही **अभीरवः**=ये भीरु नहीं होते—मृत्यु के भय से भी भयभीत नहीं होते। प्राणसाधना करते हुए ये लोग **प्रियस्य**= प्रीति को उत्पन्न करनेवाली **मारुतस्य**=प्राण-सम्बन्धी **धाम्नः**=तेजस्विता को **विद्रे**=प्राप्त करनेवाले होते हैं, प्राणायाम के द्वारा अपने को तेजस्वी बनाते हैं। प्राणायाम ही इन्हें ऊर्ध्वरेतस् बनाता है और इनकी वृत्ति भोगप्रवण न होकर प्रभुप्रवण बनती है।

भावार्थ—ज्ञान व प्रभुस्तवन हमें प्रभु की ओर ले-चलते हैं। हम सात्त्विक भोजन करें, प्रभुस्तवन करें—उन बातों को अपने जीवन में धारण करें। प्राणसाधना के द्वारा तेजस्वी बनते हुए अभीरु बनकर जीवनमार्ग का आक्रमण करें।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्राणसाधक का जीवन सद्गुणालंकृत होता है (१)। समाप्ति पर भी यही बात कही है (६)। द्वितीय मन्त्र में यह संकेत हैं कि प्रभु-अर्चना होने पर अनावृष्टि आदि आधिदैविक आपत्तियाँ नहीं आती (२)। राष्ट्र के सैनिक भी वीर होते हैं (३)। ये अनिन्दित कर्मोंवाले होते हैं (४)। इनसे रक्षित राष्ट्र में सबका जीवन सुन्दर होता है (५)। 'प्राण हमें उत्तम शरीररूप रथ को प्राप्त कराएँ', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८८] अष्टाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

विद्युन्मान् रथ

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः॥ १॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! आप हमें **रथेभिः**=शरीररूप रथों से **आयात**=प्राप्त होओ। जो शरीररूप रथ **विद्युन्मद्भिः**=विशिष्ट दीप्तिवाले हैं, **स्वर्कैः**=उत्तम अर्चनावाले हैं तथा **ऋष्टिमद्भिः**=उत्तम आयुधोंवाले हैं तथा **अश्वपर्णैः**=अश्वों के समान शीघ्रता से पतन व

गतिवाले हैं। इस शरीररूप रथ में बुद्धि के ठीक होने से ज्ञान का प्रकाश उत्तम है। एवं यह 'वि-द्युत्-मान्' है। हृदय की उत्तमता के कारण यह उत्तम अर्चना व पूजन की वृत्तिवाला है—स्वर्क है और इसमें इन्द्रियादि सब उपकरण ठीक हैं—(ऋष्टिमद्भिः) और ये रथ दृढ़शक्तिवाले होने से शीघ्रता से गतिवाले हैं। २. हे **सुमायाः**=उत्तम प्रज्ञावाले मरुतो! आप **नः**=हमें **वर्षिष्ठया**=सब उत्तम सुखों का वर्षण करनेवाली **इषा**=प्रेरणा से उसी प्रकार **पप्तत**=शीघ्रता से प्राप्त होओ **न**=जैसे **वयः**=पक्षी शीघ्रता से घोंसलों को प्राप्त होते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि सूक्ष्म होती है, अतः ये 'सुमायाः' हैं। इन्हीं की साधना से हृदय निर्मल होकर हमें प्रभु-प्रेरणा को सुनने योग्य बनाता है। यह प्रेरणा ही कार्यान्वित होने पर सब सुखों का कारण बनती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीररूप रथ 'विद्युन्मान्, स्वर्क, ऋष्टिमान् व अश्वपर्ण' बनता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'अरुण पिशंग' अश्व

तेऽरुणेभिर्वरमा पिशङ्गैः शुभे कं यान्ति रथतूर्भिरश्वैः।
रुक्मो न चित्रः स्वधितीवान् पव्या रथस्य जङ्घनन्त भूम॥ २॥

१. **ते**=वे, गतमन्त्र में वर्णित प्राणसाधक पुरुष **अरुणेभिः**=(ऋ+उनन) गतिशील अतएव तेजस्वी **पिशंगैः**=(पिश् to light, irradiate) प्रकाश को प्राप्त करनेवाले, उज्ज्वल, **रथतूर्भिः**=शरीररूप रथ को त्वरा से मार्ग पर ले-चलनेवाले **अश्वैः**=इन्द्रियरूप अश्वों को **शुभे**=शोभा के लिए **वरम्**=श्रेष्ठ कर्मों को और **कम्**=(light, splendour) ज्ञान के प्रकाश को **आयान्ति**=सर्वथा प्राप्त होते हैं। 'अरुण' शब्द कर्मेन्द्रियों का संकेत करता है तो 'पिशंग' शब्द ज्ञानेन्द्रियों को सूचित करता है। कर्मेन्द्रियों से 'वरम्' श्रेष्ठ कर्मों को प्राप्त होते हैं तो ज्ञानेन्द्रियों से 'कम्' ज्ञान प्राप्त होता है। २. इस प्रकार यह प्राणसाधक पुरुष **रुक्मः न**=स्वर्ण के समान **चित्रः**=अद्भुत ज्ञान की दीप्तिवाला होता है। **स्वधितीवान्**=(स्व) आत्मतत्त्व के (धिती) धारण करनेवाला बनता है। ये प्राणसाधक पुरुष **रथस्य**=इस शरीररूपी रथ की **पव्या**=चक्रधारा से **भूम**=खूब ही **जङ्घनन्त**=गतिवाले होते हैं। ये अनथक श्रमशील होते हैं। एवं प्राणसाधना से (क) ज्ञान बढ़ता है, (ख) आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है, (ग) क्रियाशीलता बढ़ती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही प्रशस्त होती हैं। ज्ञान व क्रिया दोनों प्रशस्त होकर आत्मतत्त्व का दर्शन होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुरूप धन

श्रिये कं वो अधि तनूषु वाशीर्मेधा वना न कृणवन्त ऊर्ध्वा।
युष्मभ्यं कं मरुतः सुजातास्तुविद्युम्नासो धनयन्ते अद्रिम्॥ ३॥

१. हे जीवो! **मरुतः**=प्राण **वः**: **श्रिये**=तुम्हारी शोभा के लिए **कम्**=आनन्दमय प्रभु को **कृणवन्त**=प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होकर जब यह निरुद्ध चित्तवृत्ति प्रभु की ओर झुकती है—उस समय मनुष्य एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। २.

ये प्राण **वः तनूषु**=तुम्हारे शरीरों में **वाशीः**=ज्ञान की वाणियों को **मेधा**=धारणवती बुद्धि को **न**=(च) और **वना**=(वन संभक्तौ) उपासनाओं को **ऊर्ध्वा**=उन्नत **कृण्वन्त**=करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा बुद्धि सूक्ष्म होती है (मेधा), मनुष्य ज्ञान की वाणियों को ग्रहण करनेवाला होता है (वाशीः) और उसकी चितवृत्ति उपासनाप्रवण होती है (वना)। ३. हे मनुष्यो! **सुजाताः**=उत्तम विकासवाले, **तुविद्युम्नासः**=(द्युम्न=splendour, energy) महान् ज्योति व शक्तिवाले **मरुतः**=प्राण **कम्**=आनन्दमय **अद्रिम्**=(आदरणीय्, निरु० ९।८) आदरणीय प्रभु को **धनयन्ते**=(धनं कुर्वन्ति) धन बनाते हैं। प्राणसाधना से सब शक्तियों का विकास होता है, ज्ञानज्योति व शक्ति बढ़ती हैं। चित्तवृत्ति की एकाग्रता के द्वारा आनन्दमय प्रभु का दर्शन होने से प्रभु ही महान् धन प्रतीत होने लगते हैं। उस प्रभुरूप धन की तुलना में ये भौतिक धन अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शोभा बढ़ती है, बुद्धि व उपासनावृत्ति का विकास होता है—प्रभु ही इष्ट धन हो जाते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

बुद्धि, दिव्यवृत्ति व ज्ञान

अहा॑नि गृध्राः॒ पर्या॑ व॒ आगु॑रि॒मां धियं॑ वार्का॒र्यां॑ च दे॒वीम्।
ब्रह्म॑ कृ॒ण्वन्तो॒ गोत॑मासो अ॒र्कैरू॒र्ध्वं नु॑नुद्र उ॒त्स॒धिं पिब॑ध्यै॥ ४॥

१. हे **गृध्राः**=ज्ञानप्राप्ति की प्रबल आकांक्षावाले **गोतमासः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुषो! **वः**=आपको **अहानि**=वे दिन **परि आगुः**=समन्तात् प्राप्त होते हैं, जबकि आप प्रभु से प्रेरणा की जानेवाली **इमां धियम्**=इस बुद्धि को, **वार् कार्याम्**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाली **देवीम्**=दिव्यवृत्ति को **च**=और **ब्रह्म**=उत्कृष्ट ज्ञान को **कृण्वन्तः**=(हेतौ शतृप्रत्ययः) करने के हेतु से **ऊर्ध्वम्**=सर्वोत्कृष्ट **उत्सधिम्**=(उत्सा धीयन्तेऽस्मिन्) सब ज्ञान-स्त्रोतों को धारण करनेवाले प्रभु को **अर्कैः**=स्तुतिसाधन मन्त्रों से **नुनुद्रे**=अपने हृदयों में प्रेरित करते हैं, अपने हृदयों में प्रभु को आसीन करने के लिए यत्नशील होते हैं, इसलिए कि वे **पिबध्यै**=इस ज्ञान के पवित्र जलों का पान कर सकें अथवा **'रसो वै सः'**—इन शब्दों के अनुसार उस रसरूप प्रभु का लाभ करके आनन्दित हो सकें। **'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'**। २. जीवन के उत्कर्ष के लिए हमें तीन बातों को प्राप्त करना है—(क) बुद्धि (धियम्), (ख) दिव्यवृत्ति (देवीम्) व (ग) ज्ञान (ब्रह्म)। इन तीनों की प्राप्ति के लिए हम अपने हृदयों में प्रभु को आसीन करने के लिए यत्नशील हों। प्रभु को हृदय में आसीन करने पर हम ज्ञान तो प्राप्त करते ही हैं। वे प्रभु 'उत्सधि' हैं—सब ज्ञान के स्रोतों को धारण करते हैं। प्रभु से ही सब ज्ञान-प्रवाह बहते हैं। इस प्रभु को हृदय में आसीन करने पर हम अद्भुत आनन्द का पान करनेवाले होते हैं। प्रभु 'रस' हैं। इस रस को प्राप्त करके ही तो मनुष्य आनन्दित होता है। ३. इस सबको कर सकने के लिए हम 'गृध्र'=ज्ञानप्राप्ति की प्रबल लालसावाले हों और **'गोतमासः'**=प्रशस्तेन्द्रिय बनें।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदय में आसीन करेंगे तो 'बुद्धि, दिव्यवृत्ति व ज्ञान' को प्राप्त करते हुए आनन्दरस का पान करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

गोतम व मरुतों का भोजन

ए॒तत्त्यन्न योज॑नमचेति स॒स्वर्ह॒ यन्म॑रुतो॒ गोत॑मो वः।
पश्य॒न् हिर॑ण्यचक्रा॒नयो॑दंष्ट्रा॒न्विधाव॑तो व॒राहू॑न्॥ ५॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **गोतमः**=यह प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **यत्**=जो **वः**=तुम **हिरण्यचक्रान्**=हितरमणीय क्रियावालों को (स्वर्ण के चक्रवालों को), **अयोदंष्ट्रान्**=लोहे के दाँतोंवालों को—जिनके दाँत अत्यन्त दृढ़ हैं उनको, **विधावतः**=विविध दिशाओं में दौड़ते हुओं को अथवा जीवन को शुद्ध बनाते हुओं को (धावु गतिशुद्ध्योः) वस्तुतः गति के द्वारा जीवन का शोधन करते हुओं को तथा **वराहून्**=(वरस्य हविषो भक्षयितॄन्—सा०) उत्कृष्ट हव्य पदार्थों का सेवन करनेवालों को **पश्यन्**=देखता हुआ **ह**=निश्चय से **सस्वः**=स्तुति का उच्चारण करता है। **एतत्**=यह **त्यत्**=वह ही **योजनं न**=मेल-सा **अचेति**=जाना जाता है। गोतम का मरुतों से मेल यही है कि वह इन मरुतों का स्तवन करता है। २. स्तवन करते हुए वह कहता है कि हे प्राणो! आप (क) 'हिरण्यचक्र' हो—हितरमणीय क्रियाओंवाले हो। प्राणसाधक पुरुष की चित्तवृत्ति की पवित्रता के कारण क्रियाएँ भी पवित्र होती हैं, (ख) ये प्राण 'अयोदंष्ट्र' हैं—प्राणसाधक के दाँत भी लोहे के समान दृढ़ बने रहते हैं, (ग) ये प्राण 'विधावन्' हैं, विविध गतियों के द्वारा जीवन को शुद्ध बनाये रखनेवाले हैं, (घ) गोतम इन्हें 'वराहु' रूप से स्मरण करता है, क्योंकि ये पवित्र हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाले हैं। प्राणसाधक को राजस् व तामस् भोजन से ऊपर उठना चाहिए। भोजन के विषय में संयमी ही योग का लाभ प्राप्त कर सकता है। मन्त्र का ऋषि 'गोतम' प्राणों के महत्त्व का वर्णन करता है और प्राणसाधना करता हुआ इनके द्वारा प्रभु को मिलने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष हितरमणीय कार्यों में ही प्रवृत्त होता है, दृढ़ दाँतोंवाला होता है, क्रियामय व शुद्ध जीवनवाला होता है और इसे सात्त्विक भोजन ही रुचिकर होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**निचृद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्राणसाधना व स्वधा

एषा स्या वो मरुतोऽनुभर्त्री प्रति ष्टोभति वाघतो न वाणी।
अस्तोभयद् वृथासामनु स्वधां गभस्त्योः ॥ ६ ॥

१. **न**=अब (न सम्प्रत्यर्थे) **वाघतः**=ज्ञानी ऋत्विज् की—ज्ञान का वहन करनेवाले यज्ञशील पुरुष की **एषा**=यह **स्या**=वह **वाणी**=वाणी हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपकी **अनुभर्त्री**=अनुक्रम से, आनुकूल्येन भरण करनेवाली होकर **प्रतिष्टोभति**=एक-एक का—प्रत्येक का स्तवन करती है। गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करने पर गोतम की वाणी भी प्राणशक्ति सम्पन्न बनती है और उन प्राणों की शक्ति को अनुक्रम से अपने में धारण करती हुई यह वाणी उन प्राणों का स्तवन करनेवाली बनती है। इस गोतम की वाणी 'वाघत्' की वाणी बन जाती है। यह वाणी ज्ञानी ऋत्विज् की वाणी हो जाती है। २. **गभस्त्योः**=बाहुओं में **स्व-धाम्**=आत्मधारण की शक्ति के **अनु**=पीछे यह वाणी **आसाम्**=इन मरुतों का **वृथा**= अनायासेन **अस्तोभयत्**=(अस्तौत्) स्तुति करती है। प्राणसाधना से जब बाहुओं में शक्ति आती है तब वाणी अनायास ही प्राणों का स्तवन कर उठती है। उस समय प्राणों की महिमा का साक्षात् अनुभव होता है और इस अनुभवकर्त्ता के लिए प्राणों का स्तवन स्वभाविक ही हो जाता है। प्राणों ने ही तो वाणी को 'वाघत्' की वाणी बनाया है। इन प्राणों के अनुग्रह से ही ज्ञान व यज्ञशीलता की वृद्धि हुई है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा ज्ञान बढ़ता है, यज्ञशीलता के भाव में उन्नति होती है और आत्मधारण की शक्ति बढ़ती है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि प्राणसाधना से हमारा शरीररूप रथ 'ज्योतिर्मय' बनता है (१)। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही प्रशस्त होती हैं (२)। प्रभुरूप इष्टधन की प्राप्ति होती है (३)। बुद्धि, दिव्यवृत्ति व ज्ञान को प्राप्त करके हम आनन्दरस का पान करते हैं (४)। हमारा शरीर पूर्ण स्वस्थ होता है (५)। हम आत्मधारण की शक्तिवाले होते हैं (६)। 'हमें भद्र क्रतु प्राप्त होते हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[८९] एकोननवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

भद्रक्रतु

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥ १॥

१. **नः**=हमें **क्रतवः**=यज्ञरूप उत्तम कर्म **आयन्तु**=प्राप्त हों। जो कर्म (क) **भद्राः**=सबके कल्याण व सुख के जनक हैं, (ख) ये कर्म **विश्वतः**=सब ओर से **अदब्धासः**=अहिंसित हों—इन कर्मों में आसुर-वृत्ति के लोग विघ्न न कर सकें, (ग) **अपरीतासः**= (अ, परि इत) ये कर्म चारों ओर से घेरे न जा सकें, अर्थात् ये कर्म संकुचित न हों। अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का ये कल्याण करनेवाले हों। २. **उद्भिदः**= (उद्भेत्तारः) ये कर्म शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करनेवाले हों। वस्तुतः क्रियाशीलता से ही काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय पाई जाती है। ३. हम इन उत्तम यज्ञादि कर्मों को इसलिए करते रहें **यथा**=जिससे **देवाः**=सब देव—सब प्राकृतिक शक्तियाँ **सदम् इत्**=सदा ही **नः**=हमारे **वृधे**=वृद्धि व उन्नति के लिए **असन्**=हों। वस्तुतः उत्तम कर्मों के होने पर किसी प्रकार के आधिदैविक कष्ट नहीं आते। समाज के पतन से ही आधिदैविक आपत्तियाँ आया करती हैं। यहाँ 'नः' यह बहुवचनान्त प्रयोग सामाजिक उन्नति का संकेत करता है—हम सबके कर्म उत्तम हों। ४. ये सूर्यादि देव तो हमारे कल्याण के लिए हों ही। ये **देवाः**=विद्वान् लोग भी **अप्रायुवः**=(अ प्र इ उण्-अप्रतिमक्रन्तः) अपने कर्तव्य कर्म में किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **रक्षितारः**=हमारी रक्षा करनेवाले हों। ज्ञान देकर ये हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाएँ।

भावार्थ—हमारे कर्म भद्र हों। सूर्यादि देव हमारे अनुकूल हों। विद्वान् पुरुष ज्ञान- प्रदान द्वारा हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाएँ।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

भद्रा सुमति

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे॥ २॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि देव हमारा रक्षण करें, हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाएँ। उस मार्ग का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। जीवन के प्रथमाश्रम में **ऋजूयताम्**=ऋजु अर्थात् आर्जव-सरलता से युक्त मार्ग की कामना करनेवाले, सरल मार्ग से चलनेवाले **देवानाम्**=देवों की **भद्रा सुमतिः**=कल्याणी बुद्धि हमें प्राप्त हो। प्रथमाश्रम में हम सरल जीवनवाले, दिव्य वृत्तिवाले तथा विद्वान् आचार्यों के समीप रहते हुए ज्ञान प्राप्त करें और

अपनी मति को कल्याणी बनाने का ध्यान करें। हमारी बुद्धि विनाश की दिशा में न सोचकर निर्माण की दिशा में ही सोचे। २. अब द्वितीयाश्रम में **देवानाम्**=(देवो दानाद्वा) दानशील यज्ञीय पुरुषों की **रातिः**=दान की वृत्ति **नः अभिनिवर्तताम्**=हमारे जीवनों में भी अभिनिष्पन्न हो। गृहस्थ में हम दान की वृत्तिवाले हों। ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य धर्म 'सुमति का सम्पादन' था तो गृहस्थ का सर्वमहान् धर्म दानवृत्ति को अपनाना है। गृहस्थ अपने इस दान से सब आश्रमियों का धारण व पालन करता है, इसीलिए गृहस्थ ज्येष्ठाश्रमी कहलाता है। ३. अब जीवन के तृतीयाश्रम में **वयम्**=हम **देवानाम्**=देवों की—ज्ञानदीप्त पुरुषों की **सख्यम्**=मित्रता को **उपसेदिम**=प्राप्त हों। उत्तम संग से अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए यत्नशील हों। अपने ज्ञान को परिपक्व करके ही हम जीवन के चतुर्थाश्रम में ज्ञानप्रसार का कार्य कर पाएँगे। अपने में ज्ञान भरेंगे ही नहीं तो ज्ञान को बाँटनेवाले भी कैसे बन पाएँगे? ४. अब **देवाः**=सूर्यादि सब देव **नः आयुः**=हमारे जीवन को **प्रतिरन्तु**=खूब बढ़ाएँ ताकि **जीवसे** हम ज्ञान-प्रसार के द्वारा लोकहित करते हुए उत्कृष्ट जीवन को बितानेवाले हों। यह जीवन का अन्तिम प्रयाण शुद्ध निःस्वार्थतावाला हो। निःस्वार्थ जीवन ही वस्तुतः जीवन है। सूर्य आदि सब देव स्वार्थशून्यता के साथ प्रकाश आदि देने के कार्यों में लगे हुए हैं, इसी प्रकार हमें भी चलना है। ५. एवं, हमारी जीवनयात्रा क्रमशः 'सुमति-सम्पादन, दान, देवमैत्री व ज्ञान-प्रसार' में पूर्ण हो। यही मार्ग है। हम इससे भ्रष्ट न हों।

भावार्थ—हमारी जीवनयात्रा 'देवों की सुमति प्राप्त करने से' आरम्भ हो। दान की वृत्ति को हम अपनाएँ। देवों की मित्रतावाले होकर ज्ञान से अपने को भर लें। ज्ञान-प्रसार करते हुए उत्कृष्ट जीवन बिताएँ।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

देवाह्वान

तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥ ३॥

१. गतमन्त्र में देवों से दीर्घ जीवन की प्रार्थना की गई है। **तान्**=उन देवों को **पूर्वया**=पूर्वकालीन—सृष्टि के आरम्भ में उच्चारण की गई **निविदा**=(निवित्=वाङ्नाम—नि०) वेदवाणी के द्वारा **वयम्**=हम **हूमहे**=पुकारते हैं। वेदवाणी में इन सब देवों का जैसा स्तवन किया गया है, उसी प्रकार हम इनका स्तवन करते हैं। इस प्रकार इस वेदवाणी से हमें इनका ज्ञान प्राप्त होता है। २. सबसे पहले हम **भगम्**=भग को पुकारते हैं। यह ऐश्वर्य की देवता है। उत्तम मार्ग से अर्जित धन ही भग है—यही सेवनीय है। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है। ३. **मित्रम्**=हम मित्र को पुकारते हैं। यह स्नेह (ञिमिदा स्नेहने) की देवता है। संसार में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि हम सबके साथ स्नेह से चलें। प्रभु ने यह संसार परस्पर लड़ने-झगड़ने के लिए नहीं बनाया है। ४. **अदितिम्**=हम 'अदिति' को पुकारें। यह 'अ-दिति' अखण्डन की देवता है—स्वास्थ्य की। सब प्रकार की उन्नतियों का मूल यह स्वास्थ्य ही है। **'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'** (मनु०)—यह उक्ति प्रसिद्ध है। ५. **दक्षम्**=हम दक्ष को पुकारते हैं। यह शब्द Strength of will=मानस बल व दृढ़ निश्चय का सूचक है। यह मानस बल ही मनुष्य को संसार में सफल करता है। निर्बल मन 'बन्ध' का कारण बनता है तो सबल मन मोक्ष का। ६. **अस्रिधम्**=हम शोषण से रहित, सदा एकरस

रहनेवाले—अन्य इन्द्रियों की भाँति थक न जानेवाले—मरुद्गण (प्राणसमूह) को पुकारते हैं। इन प्राणों की साधना से हमारे शरीर, मन व बुद्धि में विकार नहीं आ पाते। **'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'**—प्राणायाम से दोषों का दहन होता है। ७. **अर्यमणम्**=हम अर्यमा को पुकारते हैं। 'अरीन् यच्छति' इस व्युत्पत्ति से इसमें काम-क्रोधादि को जीतने की भावना है। काम-क्रोध ही तो महान् शत्रु हैं, इन्हें जीते बिना किसी भी प्रकार का कल्याण सम्भव नहीं। ८. **वरुणम्**=हम वरुण को पुकारते हैं। यह द्वेष-निवारण की देवता है। द्वेष मनुष्य की सब शक्तियों को भस्म करनेवाला है। जीवनीशक्ति के लिए यह विष का काम करता है। ९. **सोमम्**=हम सोम को पुकारते हैं। शरीर में यह वीर्य के रूप में है। सुरक्षित सोमशक्तिवाला पुरुष ही सौम्य व 'द्वेषादि से ऊपर उठा हुआ' बनता है। १०. **अश्विना**=हम अश्विनी देवों को पुकारते हैं। निरुक्त १२।१ के अनुसार ये 'सूर्याचन्द्रमसौ' हैं। नित्य गतिवाले सूर्य की भाँति (सरति) सतत क्रियाशील बनकर हम सूर्य की भाँति चमकते हैं और 'चदि आह्लादे' चन्द्र की भाँति आह्लादमय मनोवृत्तिवाले होते हैं। यही वृत्ति दीर्घायुष्य का कारण बनती है। ११. अन्त में हमारी प्रार्थना यही है कि **सुभगा**=उत्तम सौभाग्य की कारणभूत, शोभन धन से युक्त **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता **नः**=हमारे **मयः**=कल्याण को **करत्**=करे। 'धनयुक्त ज्ञान' जीवन को अत्यन्त सुन्दर बना देता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी से देवों का ज्ञान प्राप्त करके उनके गुणों को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करें। शोभन धनोपेत सरस्वती के हम उपासक हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मयोभु-भेषजम्

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार देवों के गुणों का धारण करने पर सब देव हमारे अनुकूल होते हैं, उस समय हम यह प्रार्थना करने के पात्र होते हैं कि **तत्**=देवाराधन करने पर **वातः**=वायु **नः**=हमारे लिए **मयोभु**=कल्याण उत्पन्न करनेवाली **भेषजम्**=औषध को **वातु**=प्राप्त कराए। **तत्**=तब **माता पृथिवी**=सब ओषधियों को जन्म देनेवाली मातृस्थानापन्न यह पृथिवी उस मयोभु भेषज को प्राप्त कराए। **तत्**=तब यह **पिता द्यौः**=सूर्य के उचित सन्ताप के द्वारा ओषधियों का रक्षक यह द्युलोक उस भेषज को प्राप्त कराए। देवों की अनुकूलता को सिद्ध करने पर ही ओषधियाँ भी गुणवती होती हैं। प्रकृति के अधिक समीप रहने के कारण पशु मनुष्य की अपेक्षा अधिक स्वस्थ हैं। २. जब हम भी सूर्यादि देवों की अनुकूलता में जीवन चलाते हैं **तत्**=तब **सोमसुतः**=सोमलता आदि ओषधियों को जन्म देनेवाले **ग्रावाणः**=वृष्टिकारक मेघ हमें 'मयोभु भेषज' प्राप्त कराते हैं। हमारे लिए **मयोभुवः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ३. हे **धिष्ण्या**=उत्तम बुद्धिवाले **अश्विना**=स्त्री-पुरुषो! आप **तत्**=उस भेषज को **शृणुतम्**=सुनो और उसके समुचित प्रयोग से अपने शरीर को नीरोग बनाकर सुन्दर जीवन बितानेवाले होओ।

भावार्थ—प्राकृतिक शक्तियों के सम्पर्क में उनकी अनुकूलता को सिद्ध करने पर ओषधियाँ भी गुणकारिणी होती हैं। हम उन ओषधियों को जानकर उनके प्रयोग से नीरोगता सिद्ध करें और सुखमय शान्त जीवन बितानेवाले हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'प्रभु-रक्षण'-प्राप्ति

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥ ५॥

१. **वयम्**=हम **अवसे**=रक्षण के लिए **तम्**=उस **ईशानम्**=ऐश्वर्यवान् प्रभु को **हूमहे**=पुकारते हैं जोकि **जगतः**=जंगम=चेतन तथा **तस्थुषः**=स्थावर=जड़जगत् के **पतिम्**=स्वामी हैं तथा **धियं जिन्वम्**=(धीभिः कर्मभिः प्रीणयितव्यम्—सा०) जो उत्तम कर्मों के द्वारा प्रीणयितव्य हैं। वस्तुतः सत्कर्मों द्वारा प्रभु को प्रीणित करके ही हम प्रभु की रक्षा के पात्र बन सकते हैं। २. हम उस प्रभु का आराधन व आह्वान इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे वह **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **वेदसाम्** धनों के **वृधे**=वृद्धि के लिए **असत्**=हो। वे प्रभु **रक्षिता**=हमारे रक्षक हों—हमें शत्रुओं का शिकार होने से बचाएँ। **पायुः**=वे हमें शरीर में होनेवाले रोगों से बचानेवाले हों। **अदब्धः**=वे अविनाशी प्रभु सब प्रकार से **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिए हों। सारे संसार का वे रक्षण करते हैं, तो हमारा रक्षण वे क्यों न करेंगे?

भावार्थ—चराचर जगत् के ईशान वे प्रभु हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

चार आश्रम—इन्द्र से बृहस्पति तक

स्व॒स्ति न॒ इन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः स्व॒स्ति नः॑ पू॒षा वि॒श्ववे॑दाः।
स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ अरि॑ष्टनेमिः स्व॒स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु॥ ६॥

१. जीवन के प्रथम प्रयाण में हमारी प्रार्थना का स्वरूप यह होता है कि **वृद्धश्रवाः**=बढ़े हुए ज्ञानवाला—निरतिशय ज्ञानवाला **इन्द्रः**=सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाला प्रभु **नः स्वस्ति**=हमारा कल्याण करे। प्रभु की कृपा से हमारा ज्ञान बढ़ें और हम जितेन्द्रिय बनकर अशुभवृत्तियों से ऊपर उठनेवाले हों। ब्रह्मचर्याश्रम 'ज्ञानप्राप्ति और जितेन्द्रियता' का ही आश्रम है। इसमें हम अधिक- से-अधिक ज्ञान का संग्रह करें और इन्द्रियों को वश में रखने का अभ्यास करें। २. अब द्वितीय प्रयाण में हम प्रार्थना करते हैं कि **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनोंवाला **पूषा**=सबका पोषक प्रभु **नः स्वस्ति**=हमारा कल्याण करे। गृहस्थ-पोषण के लिए हमें पर्याप्त धन कमाना ही चाहिए। अतिरिक्त धन पतन का कारण हो जाता है, अतः यह उतना ही ठीक है, जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो। ३. तृतीय प्रयाण की प्रार्थना यह है कि **अरिष्टनेमिः**=अहिंसित चक्रधारावाला **ताक्ष्यः**= तीव्रवेगवाला प्रभु **नः स्वस्ति**=हमारा कल्याण करे। जीवन के तीसरे प्रयाण में वानप्रस्थ के रूप में हम भी 'ताक्ष्य' बनें—आलस्यशून्य होकर तीव्रगतिवाले बनें। कामादि शत्रुओं पर वेग से आक्रमण करनेवाले हों और हमारे जीवन-रथ की चक्रधारा अहिंसित हो, अर्थात् हम मर्यादा का उल्लङ्घन करनेवाले न हों। मर्यादित जीवन में चलते हुए हम सचमुच कामादि के पूर्ण विजेता बनें। ४. इस विजय के द्वारा चतुर्थाश्रम के योग्य बनकर हम प्रार्थना करें कि **बृहस्पतिः**=सम्पूर्ण ज्ञानों का पति वह प्रभु **नः स्वस्ति दधातु**=हमारे लिए कल्याण का धारण करे। बृहस्पति का उपासन करते हुए ज्ञान का खूब संग्रह करके उस ज्ञान के प्रसार के लिए हम प्रवृत्त हों। इस प्रकार हमारी जीवन-यात्रा सफलता के साथ पूर्ण हो।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम जितेन्द्रिय व ज्ञानसञ्चयी बनें, द्वितीय में पोषण के लिए

पर्याप्त धन का संग्रह करनेवाले हों, तृतीय में मर्यादित जीवनवाले कामादि के विजेता बनें और चतुर्थाश्रम में ज्ञान के पति बनकर ज्ञानप्रसार में व्याप्त हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मरुत् और विश्वेदेव

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह॥ ७॥

१. हे प्रभो! आपकी कृपा से **मरुतः**=प्राण **अवसा**=रक्षण के हेतु से **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **आगमन्**=प्राप्त हों। कैसे प्राण—(क) **पृषदश्वाः**=(पृष् to sprinkle) रेतःकणों की ऊर्ध्वगति के द्वारा शक्ति से सिक्त किया है इन्द्रियों को जिन्होंने, (ख) **पृश्निमातरः**=(पृश्नि=A ray of light) जो ज्ञान की किरणों का निर्माण करनेवाले हैं। प्राण बुद्धि की तीव्रता के द्वारा ज्ञान को दीप्त करते हैं। प्राणसाधना से मलों का क्षय होता है। मलक्षय से ज्ञान की दीप्ति होती है और मनुष्य प्रभु-दर्शन के योग्य बनता है, (ग) **शुभंयावानः**=ये मरुत् सदा शुभ की ओर चलनेवाले हैं। शरीर की नीरोगता, मन की निर्मलता और बुद्धि की तीव्रता इन्हीं पर निर्भर करती है, (घ) ये मरुत् **विदथेषु जग्मयः**= यज्ञों में चलनेवाले होते हैं। प्राणसाधक पुरुष यज्ञमय जीवनवाला बनता है। २. इन प्राणों की साधना के परिणामस्वरूप **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब ज्ञानी पुरुष **अवसा**=ज्ञान से प्रीणित करने के हेतु से **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **आगमन्**=प्राप्त हों। ये देव (क) **अग्नि-जिह्वाः**=अग्नि के समान जिह्वावाले हैं। सब पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली वाणीवाले हैं। अग्नि जैसे अपनी ज्वालारूप जिह्वा से सब मलों को भस्मसात् करती चलती है, उसी प्रकार ये देव अपनी वाणी की प्रेरणा से श्रोताओं के मन के मलों को दग्ध करनेवाले होते हैं, (ख) **मनवः**=ये विचारशील होते हैं और (ग) **सूरचक्षसः**=सूर्य के समान प्रकाशवाले होते हैं। इन देवों व विद्वानों के सम्पर्क में आकर हम भी ज्ञानी बनते हैं। इन देवों से दिया हुआ ज्ञान हमारा रक्षण व प्रीणन करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना और विद्वानों का संग करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भद्र, सुनें, भद्र ही देखें

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ ८॥

१. **देवाः**=हे ज्ञान देनेवाले आचार्यो! हम जीवन के प्रथमाश्रम में **कर्णेभिः**=कानों से **भद्रं शृणुयाम**=आपसे उच्चारण की जाती हुई कल्याणी वाणी का ही श्रवण करें। हमारे कानों में सदा ज्ञान के शब्द ही पड़ें। २. हे **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले देवो! हम **अक्षभिः**=आँखों से **भद्रं पश्येम**=सदा कल्याणकर कर्मों को ही देखें। हमारे गृहस्थाश्रम में सदा यज्ञ-याग चलते रहें, किन्हीं भी अशुभ कर्मों का वहाँ प्रवेश न हो। ३. अब तृतीयाश्रम में **स्थिरैः अङ्गैः**=स्थिर व दृढ़, पूर्ण स्वस्थ अङ्गों से **तुष्टुवांसः**=हम प्रभु का सतत स्तवन करनेवाले हों। प्रभुस्तवन के द्वारा हम अपने को पूर्ण नीरोग बनानेवाले हों। जीर्ण-शीर्ण होकर उस प्रभु की ओर झुके तो क्या झुके? और प्रभु की उपासना करते हुए भी रोगी व जीर्ण हो गये तो वह भक्ति भी किस काम की? ४. इस प्रकार स्तवन से अङ्गों को स्थिर शक्तिवाला बनाते हुए

हम **तनूभिः**=इन शरीरों से **देवहितम्**=उस प्रभु से स्थापित **यत् आयुः**=जो जीवन की मर्यादा है, उसे **व्यशेम**=भोगनेवाले हों। अगले मन्त्र में इसी जीवन की मर्यादा का उल्लेख है। हम उस पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाले हों और इसे लोकहित में व्यतीत करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम भद्र सुनें, भद्र ही देखें, स्थिर अङ्गोंवाले होते हुए प्रभुस्तवन करें और पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शतं शरदः (जीवेम)

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥ ९॥

१. हे **देवाः**=सब प्राकृतिक शक्तियो! **इत् नु**=निश्चय से **शतं शरदः**=सौ वर्ष **अन्ति**=मनुष्यों के समीप आयु के रूप में है। आपने मनुष्य के लिए सौ वर्ष की आयु नियत की है। यह वह समय है **यत्र**=जहाँ कि आप **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों के **जरसं चक्र**=बुढ़ापे को करनेवाले होते हो। सौ वर्ष तक चलकर मनुष्य वृद्धावस्था को प्राप्त करता है और यह समय वह होता है **यत्र**=जहाँ कि **पुत्रासः**=हमारे पुत्र **पितरः भवन्ति**= पितर बन जाते हैं। हमारे पुत्र भी पुत्र-पौत्रवाले होकर पितर कहलाने लगते हैं। २. हे देवो! आप **गन्तोः**=इस निश्चित आयु की मर्यादा पर पहुँचने से पहले **मध्याः**=बीच में ही **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **मा रीरिषत**=मत हिंसित करो।

भावार्थ—हम पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाले हों, यौवन में ही न चले जाएँ, पोत्रों-प्रपौत्रों के आने से पूर्व ही समाप्त न हो जाएँ।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्वास्थ्य ही सब-कुछ है

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ १०॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सौ वर्ष की आयु स्वास्थ्य पर निर्भर करती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी के माहात्म्य का वर्णन है। यहाँ स्वास्थ्य को 'अ-दिति'='अखण्डन' कहा है। 'His health broke down'—इस अंग्रेजी वाक्य में अस्वास्थ्य को 'स्वास्थ्य का टूटना' ही कहा है। इस स्वास्थ्य पर ही ज्ञान निर्भर है, अतः मन्त्र में कहते हैं—**अदितिः द्यौः**=यह स्वास्थ्य ही ज्ञान का प्रकाशक है। **अदितिः**=यह स्वास्थ्य ही **अन्तरिक्षम्**=सदा मध्यमार्ग में चलना है (अन्तरा क्षि)। अस्वस्थ व्यक्ति ही अति में जाता है अथवा यूँ कहें कि अति के कारण व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। २. **अदितिः माता**=स्वास्थ्य ही सब उत्तमताओं का निर्माण करनेवाला है। स्वास्थ्य से ही हममें निर्माणशक्ति की वृद्धि होती है। अस्वस्थ व्यक्ति का मस्तिष्क तोड़-फोड़ की ओर जाता है। **सः पिता**=यह स्वास्थ्य ही हमारे यज्ञादि उत्तम कर्मों का रक्षण करनेवाला है और इस प्रकार **सः पुत्रः**=यह स्वास्थ्य ही (पुनाति, त्रायते) हमारे जीवनों को पवित्र करता है और हमारा त्राण करता है, हमें दुर्गति में पड़ने से बचाता है। ३. यह **अदितिः**=स्वास्थ्य ही **विश्वेदेवाः**=सब देव हैं। सब दिव्य गुणों का विकास स्वास्थ्य से ही होता है। **पञ्च जनाः**=पञ्चकोशों के पाँचों विकास **अदितिः**=इस स्वास्थ्य पर निर्भर करते हैं। अन्नमयकोश का 'तेज', प्राणमय का

'वीर्य', मनोमय का 'ओज व बल', विज्ञानमय का 'मन्यु' तथा आनन्दमय का 'सहस्' स्वास्थ्यमूलक ही है। ४. संक्षेप में **जातम्**=जो विकास आज तक हुआ अथवा **जनित्वम्**=जो विकास आगे होना है, वह सब **अदितिः**=स्वास्थ्य ही है, स्वास्थ्य पर ही आश्रित है।

भावार्थ—हम स्वास्थ्य के महत्त्व को समझें। सभी कुछ इसी पर निर्भर करता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में भद्रक्रतु के लिए प्रार्थना की गई है (१)। द्वितीय मन्त्र में ऋतु की भद्रता की साधनभूत 'भद्रा सुमति' की याचना है (२)। इसके लिए देवों का आह्वान किया गया है (३)। सब देव हमें कल्याणकारक 'भेषज' प्राप्त कराएँ (४)। प्रभु हमारे रक्षक हों (५) ताकि जीवनयात्रा के चारों आश्रम सुन्दर बीतें (६)। इसके लिए हम प्राणसाधना करें और ज्ञानियों के सम्पर्क में आएँ (७)। इनके उपदेशों के परिणामस्वरूप भद्र ही देखें और भद्र ही सुनें (८)। पूर्ण जीवन प्राप्त करें (९)। यह समझकर चलें की स्वास्थ्य ही सब-कुछ है (१०)। स्वस्थ बनकर 'हमारा जीवन कैसा हो?' इसका उत्तर देते हुए अगले सूक्त में कहते हैं—

[९०] नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरुण-मित्र-अर्यमा (जीवन के तीन सिद्धान्त)

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ १ ॥

१. **नः**=हमें **विद्वान्**=ज्ञानी **वरुणः**=अपने हृदय से द्वेष का निवारण करनेवाला श्रेष्ठ व्यक्ति **ऋजुनीती**=(नीत्या) सरल मार्ग से **नयतु**=ले-चले। हम ज्ञानी बनकर द्वेष की व्यर्थता को समझें, इसकी घातकता को समझते हुए हम द्वेष को त्यागें और श्रेष्ठ बनें। २. इसी प्रकार **विद्वान्**=ज्ञानी **मित्रः**=अपने को पापों से बचानेवाला (प्रमीतेः, त्रायते) सबके प्रति स्नेह करनेवाला (मिद् स्नेहने) प्रभुप्रिय व्यक्ति हमें सरल मार्ग से ले-चले। ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध का मार्ग कुटिलता का मार्ग है। इस मार्ग से हम बचकर चलें। श्रेय का मार्ग ही निष्पाप है। यही मार्ग छल-छिद्र से रहित व सरल है। ३. **देवैः सजोषा**=सब दिव्य गुणों के साथ समानरूप से प्रीतिवाला—सम्पूर्ण दैवीसम्पत्ति को अपने में धारण करनेवाला **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध व लोभ का नियमन करनेवाला **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष हमें सरल मार्ग से ले-चले। देवता सरल मार्ग से ही चलते हैं। कुटिलता व छल-छिद्र आसुरीवृत्ति है। कामादि पर विजय पाकर हम सरल मार्ग को ही अपनाएँ।

भावार्थ—सरल जीवन के तीन सिद्धान्त हैं—(क) द्वेष न करना—'वरुण' (ख) सबके प्रति स्नेह से वर्तना—'मित्र' और (ग) काम-क्रोध-लोभ का नियमन करना—अर्यमा'।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तेजस्विता व अमूढ़ता

ते हि वस्वो वसवानास्ते अप्रमूरा महोभिः। व्रता रक्षन्ते विश्वाहा ॥ २ ॥

१. **ते**=गतमन्त्र में वर्णित—'वरुण, मित्र और अर्यमा' **हि**=निश्चय से **वस्वः वस्वानाः**=धनों के धारण करनेवाले हैं जोकि संसार में 'द्वेष न करना, प्रेम से चलना व काम-क्रोध तथा लोभ को वश में रखना'—इन सिद्धान्तों को अपनाकर चलते हैं, वे वसुओं के धारण करनेवाले होते

हैं, वसुओं से अपने को आच्छादित करते हैं। इन्हें जीवन के लिए आवश्यक धनों की कमी नहीं रहती। २. **ते**=इन सिद्धान्तों को अपनानेवाले वे व्यक्ति **महोभिः**=तेजस्विताओं के साथ **अप्रमूराः**=अमूढ व ज्ञानयुक्त होते हैं। इनके शरीरों में बल होता है और मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण होते हैं। ३. इस प्रकार शरीर में बल और मस्तिष्क में ज्ञान को धारण करनेवाले ये व्यक्ति **विश्वाहा**=सदा **व्रता रक्षन्ते**=अपने व्रतों का रक्षण करते हैं। ये अपने पुण्य कर्मों को विच्छिन्न नहीं होने देते। इनका जीवन सदा यज्ञमय बना रहता है।

भावार्थ—निर्द्वेषता, स्नेह व जितेन्द्रियता को अपनानेवाले लोग जहाँ आवश्यक धनों को प्राप्त करते हैं वहाँ वे अकुण्ठित-बुद्धि व तेजस्वी होते हैं और सदा यज्ञमय कर्मों में लगे रहते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्याविराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

निर्द्वेषता व कल्याण

ते अस्मभ्यं शर्म यंसन्नमृता मर्त्येभ्यः। बाधमाना अप द्विषः॥ ३॥

१. **ते**=वे 'वरुण, मित्र व अर्यमा' के उपासक **अमृताः**=संसार के विषयों के पीछे न मरनेवाले देवपुरुष **अस्मभ्यम्**=हम **मर्त्येभ्यः**=वासनाओं से आक्रान्त होनेवाले पुरुषों के लिए **शर्म यंसन्**=कल्याण प्राप्त कराएँ। २. अपने जीवन के उदाहरण से तथा ज्ञान देकर वे **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अपबाधमानाः**=हमसे परे खदेड़नेवाले हों। वस्तुतः द्वेष की भावना ही सब प्रकार की अशान्तियों का कारण होती है। द्वेष से ऊपर उठा हुआ पुरुष ही शान्ति प्राप्त करता है।

भावार्थ—'वरुण, मित्र व अर्यमा' की वृत्तिवाले लोग सब द्वेषों से ऊपर उठकर औरों को भी द्वेष से ऊपर उठाते हुए शान्ति प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र-मरुत्-पूषा-भग (शुभ मार्ग)

वि नः पथः सुविताय चियन्त्विन्द्रो मरुतः। पूषा भगो वन्द्यासः॥ ४॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों को जीतनेवाला, **मरुतः**=प्राणों की साधना करनेवाला, **पूषा**=पोषण के लिए आवश्यक सामग्री को जुटानेवाला, **भगः**=भजनीय—सेवनीय धन को प्राप्त करनेवाला—ये सब **नः**=हमारे **वन्द्यासः**=वन्दना के योग्य हैं। यहाँ इन्द्रादि शब्द देवताओं के वाचक होते हुए जिन गुणों का संकेत करते हैं, उन गुणों से युक्त पुरुष हमारे लिए वन्दनीय होते ही हैं। २. ये **सुविताय**=उत्तम स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के लिए **पथः**=मार्गों को **विचियन्तु**=अशोभन मार्गों से पृथक् करनेवाले हों। अशुभ मार्गों को छोड़कर शुभ मार्गों से चलते हुए ये पुरुष उत्तमताओं को प्राप्त करें। वस्तुतः शुभ मार्ग यही है कि हम 'इन्द्र, मरुत्, पूषा व भग' बनें। जितेन्द्रिय बनें। जितेन्द्रियता की सिद्धि के लिए प्राणों की साधनावाले हों। पूषा=अपना पोषण करनेवाले हों। पोषण के लिए उत्तम मार्गों से धन कमानेवाले हों। 'इन्द्र' बनने के लिए 'मरुत्' बनें, 'पूषा' बनने के हेतु 'भग' बनें।

भावार्थ—स्वर्ग=सुख-विशेष प्राप्ति का शुभमार्ग यही है कि हम प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रिय बनें, सेवनीय धनों को प्राप्त करके अपना उचित पोषण करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

श्रुत्यानुसारिणी क्रिया (वेदानुकूल कर्म)

उत नो धियो गोअग्राः पूषन्विष्णवेवयावः। कर्ता नः स्वस्तिमतः॥ ५॥

१. हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले प्रभो! **विष्णो**=(विष् व्याप्तौ) सर्वव्यापक प्रभो! **एवयावः**=(एवैः याति) सर्वदा क्रियाओं के साथ विचरण करनेवाले प्रभो! (स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च) आप **नः धियः**=हमारे कर्मों को **गो अग्राः**=वेदवाणी की प्रमुखतावाला **कर्त**=कीजिए। हमारा प्रत्येक कर्म वेदानुकूल हो। धर्म के विषय में परम प्रमाण श्रुति ही तो है। हमारे कर्म श्रुतिमूलक हों। वेद में हमारे जो कर्म प्रतिपादित हैं हम उन्हें ही करनेवाले हों। २. यहाँ 'पूषन्' शब्द पोषण का वाचक होता हुआ 'बल' का संकेत कर रहा है। 'विष्णो' शब्द व्यापकता का प्रतिपादन करता हुआ सर्वज्ञता का सूचक है। 'एवयावः' में क्रिया का संकेत है ही। प्रभु में ये 'बल, ज्ञान व क्रिया' स्वभावतः हैं ही। हम भी इन तीनों को अपनाकर ही धर्ममार्ग पर चलनेवाले होते हैं। 'ज्ञान, बल व क्रिया' में से किसी की भी कमी हमारे जीवन को अधूरा कर देती है। ३. **उत**=और इस प्रकार हे प्रभो! हमारे कर्मों को श्रुति के अनुकूल करते हुए आप **नः**=हमें **स्वस्तिमतः**=कल्याणवाला **कर्त**=कीजिए। धर्म का मार्ग ही सुख का मार्ग हैं।

भावार्थ—हम शरीर की शक्ति का पोषण करें। ज्ञान को व्यापक बनाएँ। क्रियाशील हों। हमारी क्रियाएँ श्रुतिमूलक हों, जिससे हमारा कल्याण हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उत्तम कर्मवाले के लिए माधुर्य

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ ६॥

१. **ऋतायते**=गतमन्त्र के अनुसार श्रुति के प्रमाण से ऋत कर्मों को करनेवाले के लिए **वाताः**=वायुएँ **मधु**=माधुर्य को लिये हुए होती हैं। यज्ञात्मक कर्म ऋत हैं, अयज्ञीय कर्म अनृत हैं, अतः 'ऋतायते' का भाव 'यज्ञात्मक कर्मों को अपनानेवाले के लिए' हो जाता है। इस यज्ञशील पुरुष के लिए वायुएँ मधुर होती हैं, अर्थात् इसके स्वास्थ्य पर उनका अच्छा ही प्रभाव होता है। इस ऋतायत् पुरुष के लिए **सिन्धवः**=नदियाँ **मधु क्षरन्ति**=मधुर जल को ही बहानेवाली होती हैं। ३. हम भी ऋतायत् बनें और **ओषधीः**=पृथिवी से उत्पन्न होनेवाली ये सब ओषधियाँ **नः**=हमारे लिए **माध्वीः सन्तु**=मधुर ही हों। जिस समय मनुष्यों का जीवन यज्ञमय होता है तब सम्पूर्ण लोक भी उसके लिए अनुकूलता लिये हुए होते हैं। यज्ञशील का ही दोनों लोकों में कल्याण होता है। हमारे कर्म उत्तम होंगे तो वायु, जल व ओषधियाँ सब हमारे लिए कल्याणकर होंगी।

भावार्थ—हमारे कर्म यज्ञात्मक हों, जिससे हमें वायु, जल व ओषधियों की अनुकूलता प्राप्त हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दिन-रात व पृथिवी-द्युलोक की अनुकूलता

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ऋत व यज्ञ को अपनाने पर **नः**=हमारे लिए **नक्तम्**= रात्रि

मधु=माधुर्यवाली हो **उत**=और **उषसः**=उषःकाल (दिन) हमारे लिए माधुर्य को लिये हुए हो। २. **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिव लोक, जोकि सब ओषधियों का उत्पत्ति-स्थान है **मधुमत्**=माधुर्यवाला हो, और **नः**=हमारा **पिता**=सूर्य-किरणों द्वारा प्राणशक्ति का सञ्चार करके रक्षण करनेवाला यह **द्यौः**=द्युलोक **मधु अस्तु**=माधुर्यवाला हो।

भावार्थ—हमारे कर्म यज्ञात्मक होंगे तो दिन-रात तथा पृथिवी व द्युलोक हमारा कल्याण ही करेंगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वनस्पतियाँ, सूर्य व गौएँ

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ ८॥

१. **नः**=हमारे लिए **वनस्पतिः**=सब वनस्पतियाँ **मधुमान्**=माधुर्य को लिये हुए हों। **सूर्यः**=इन वनस्पतियों में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला सूर्य **मधुमान्**=माधुर्यवाला हो। उन वनस्पतियों का सेवन करके **गावः**=गौएँ **नः**=हमारे लिए **माध्वीः**=मधुर दुग्ध देनेवाली **भवन्तु**=हों। २. हमारा जीवन ऋतमय होने पर 'वनस्पतियाँ, सूर्य व गौएँ' सभी हमारे लिए हितकर होते हैं।

भावार्थ—हमारे लिए यज्ञमय जीवन के परिणामस्वरूप 'वनस्पतियाँ, सूर्य व गौएँ' सभी माधुर्य को लिये हुए हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

शान्ति-प्राप्ति के सात साधन

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥ ९॥

१. **नः**=हमारे लिए **मित्रः**=प्राणिमात्र के साथ स्नेह करनेवाला प्रभु **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। **वरुणः**=किसी के प्रति द्वेष न रखनेवाला वह श्रेष्ठ प्रभु **शम्**=हमें शान्ति प्राप्त कराए। **नः**=हमारे लिए **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाला प्रभु **शं भवतु**=शान्ति देनेवाला हो। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली (इदि परमैश्वर्य) सर्वशक्तिमान् (इन्द् to be powerful) सब असुरों का संहार करनेवाला प्रभु **नः शम्**=हमें शान्ति प्रदान करे। **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का पति-निरतिशय ज्ञानवाला वह प्रभु **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। **नः**=हमारे लिए **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **शम्**=शान्ति दे और अन्त में **उरुक्रमः**=वह महान् क्रम=व्यवस्थावाला प्रभु हमारे लिए शान्ति देनेवाला हो। २. प्रस्तुतः मन्त्र में प्रभु को सात नामों से स्मरण किया गया है और उन सात नामों से स्मरण करते हुए प्रभु से शान्ति के लिए प्रार्थना की गई है। वस्तुतः ये सात नाम हमें निम्न सात बोध दे रहे हैं—(क) **मित्र**=सबके साथ स्नेह करनेवाले बनो, (ख) **वरुणः**=द्वेष का निवारण करके श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करो (ग) **अर्यमा**=काम-क्रोध व लोभरूप शत्रुओं का नियमन करो। काम शरीरों को नष्ट करता है, क्रोध मनों का अशान्त बनाता है और लोभ बुद्धि को विचलित कर देता है। (घ) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनकर शक्तिशाली बनो, (ङ) **बृहस्पतिः**=जितेन्द्रियता ही तुम्हें उत्कृष्ट ज्ञान का पति बनाए, (च) **विष्णुः**=हृदय को भी व्यापक वृत्तिवाला बनाओ, तथा (छ) **उरुक्रमः**=प्रत्येक कर्म बड़ा व्यवस्थित हो, तुम्हारे

जीवन में व्यवस्था दिखाई दे। बस, ये सात बातें हो जाने पर आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक—सभी दृष्टिकोणों से शान्ति प्राप्त होगी। शरीर, मन व बुद्धि सभी शान्ति से कार्य करनेवाले होंगे।

भावार्थ—हम मित्रता आदि उपायों को क्रियान्वित करते हुए शान्त जीवनवाले हों।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में जीवन के तीन सिद्धान्तों–'निर्द्वेषता, प्रेम व जितेन्द्रियता' का उल्लेख हुआ है (१)। इनको अपनानेवाले तेजस्वी व अमूढ़ होते हैं (२)। निर्द्वेषता कल्याणकारक है (३)। स्वर्ग-प्राप्ति के लिए प्राणसाधना से हम जितेन्द्रिय बनें और सेवनीय धनों को प्राप्त करके हम अपना उचित पोषण करें (४)। हमारे कर्म वेदानुकूल हों (५)। उत्तम कर्म करनेवालों के लिए सम्पूर्ण संसार मधुर होता है (६-८)। ये मधुर जीवनवाले मित्रता आदि सात सिद्धान्तों को अपनाकर शान्त जीवनवाले होते हैं (९)। 'हम प्रभु का दर्शन करने का यत्न करें, प्रभु हमें सरल मार्ग से ले-चलें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[९१] एकनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ऋजुतम मार्ग

त्वं सो॑म॒ प्र चि॑कितो मनी॒षा त्वं रजि॑ष्ठ॒मनु॑ नेषि॒ पन्था॑म्।
तव॒ प्रणी॑ती पि॒तरो॑ न इन्दो दे॒वेषु॒ रत्न॑मभजन्त॒ धीराः॑॥ १॥

१. हे **सोम**=सौम्य व अत्यन्त शान्त प्रभो! **त्वम्**=आप **मनीषा**-बुद्धि के द्वारा **प्रचिकितः**=प्रकर्षेण ज्ञात होते हो। **'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥'** सब भूतों में गूढ प्रभु इन्द्रियों से प्रकाशित नहीं होते। वे सूक्ष्म बुद्धि से देखे जाते हैं। २. हे प्रभो! जो भी आपका दर्शन करता है **त्वम्**= आप उसे **रजिष्ठं पन्थाम्**=ऋजुतम—अत्यन्त सरल मार्ग से **अनुनेषि**=अनुक्रमेण ले-चलते हो। प्रभु का द्रष्टा प्रभुभक्त कभी भी कुटिल मार्ग का अवलम्बन नहीं लेता। ३. हे **इन्दो**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **तव प्रणीति**=आपके प्रणयन से-आपके द्वारा मार्गदर्शन से **नः**=हममें से **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत लोग **धीराः**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञावाले होते हुए **देवेषु**=चक्षु आदि सब इन्द्रियों में **रत्नम्**=रमणीयता का **अभजन्त**=सेवन करते हैं। प्रभु के द्वारा मार्ग-दर्शन का परिणाम यह होता है कि हम 'पितर व धीर' बनते हैं। इस प्रकार का जीवन बनाने से हमारी सब इन्द्रियाँ रमणीय शक्तिवाली बनी रहती हैं।

भावार्थ—हम बुद्धि के द्वारा प्रभु को जानने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें सरल मार्ग से ले-चलेंगे। परिणामतः रक्षणात्मक कर्मों में तथा ज्ञानवर्धन में लगे हुए हम सब इन्द्रियों को रमणीय शक्ति से युक्त बना पाएँगे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुक्रतु+सुदक्ष

त्वं सो॑म॒ क्रतु॑भिः सु॒क्रतु॑र्भू॒स्त्वं दक्षैः॑ सु॒दक्षो॑ वि॒श्ववे॑दाः।
त्वं वृषा॑ वृष॒त्वेभि॑र्महि॒त्वा द्यु॒म्नेभि॑र्द्यु॒म्न्य॑भवो नृ॒चक्षाः॑॥ २॥

१. हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! **त्वम्**=आप **क्रतुभिः**=अपने कर्मों व प्रज्ञानों से **सुक्रतुः**=उत्तम

कर्म व प्रज्ञावाले **भूः**=हैं। **त्वम्**=आप **दक्षैः**=शक्तियों से **सुदक्षः**=उत्तम शक्तियोंवाले हैं। **विश्ववेदाः**=आप सम्पूर्ण धनों के स्वामी हैं। २. **त्वम्**=आप **वृषत्वेभिः**=सुखों के वर्षणों के द्वारा **वृषा**=सुखों के वर्षक हैं—इस प्रकार **महित्वा**=आप अपनी महिमा से महान् हैं। **द्युम्नेभिः**=ज्ञान की ज्योतियों से **द्युम्नी**=उत्तम ज्ञानज्योतिवाले **अभवः**=हैं और अन्त में **नृचक्षाः**=मनुष्यों को ज्ञान का प्रकाश देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम भी प्रभु की भाँति 'सुक्रतु-सुदक्ष, वृषा, द्युम्नी व नृचक्षा' बनने के लिए यत्नशील हों। हमारा शरीर उत्तम कर्मों में लगा हो, प्राणमयकोश बलवाला हो, मन में सबपर सुखवर्षण की भावना हो, मस्तिष्क ज्योतिर्मय हो और आनन्दमयकोश में सर्वहित की भावना हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

राजा वरुण के समान

राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि बृहद् गभीरं तव सोम धाम।
शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रो दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब एक व्यक्ति प्रभु का स्तवन करता है तब यह भी उस प्रभु-जैसा ही बन जाता है। तब इसके लिए कहते हैं कि हे **सोम**=शान्त स्वभाववाले पुरुष! **राज्ञः वरुणस्य नु**=(नु=इव—नि० १।४) उस देदीप्यमान श्रेष्ठ प्रभु के समान **ते व्रतानि**=तेरे व्रत हैं। प्रभु के सब कर्म जैसे लोकहितकारी होते हैं, उसी प्रकार तेरे सब कार्य लोकहित-साधक हैं। २. हे **सोम**=शरीर में सोम का रक्षण करके सोम का पुञ्ज बननेवाले जीव! **तव धाम**=तेरा तेज **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत— बहुत बढ़ा हुआ व **गभीरम्**=गम्भीर है। उथली शक्ति औरों के नाश में प्रवृत्त होती है—गम्भीर शक्ति निर्माण में विनियुक्त होती है। ३. उस प्रभु के उपासन का ही यह परिणाम है कि उत्तम कर्म करता हुआ गम्भीर शक्ति से युक्त होकर **त्वम्**=तू **शुचिः**= पवित्र जीवनवाला **असि**=है—औरों को उसी प्रकार पवित्र करनेवाला है **न**=जैसेकि **प्रियः मित्रः**=सबके लिए अनुकूल (सबका प्रिय) सूर्य सबका शोधन करता है। सूर्य का नाम ही 'शुन्ध्यु' पड़ गया है। तू भी इस सूर्य की भाँति शुन्ध्यु होता है। ४. तू **अर्यमा इव**=(अरीन् यच्छति) काम, क्रोध व लोभ का नियमन करनेवाले के समान **दक्षाय्यः**=उन्नतिशील है, अपने बल का वर्धन करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभुभक्त के कर्म प्रभु-जैसे ही होते हैं। उसकी शक्ति बढ़ी हुई व गम्भीर होती है। वह पवित्र व उन्नत होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

शक्ति के स्रोत 'ओषधियाँ व जल'

या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेळन्राजन्त्सोम प्रति हव्या गृभाय॥ ४॥

१. गतमन्त्र का प्रभुभक्त प्रार्थना करता है कि हे **राजन्**=देदीप्यमान, सम्पूर्ण संसार का शासन करनेवाले **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो! **या**=जो **ते**=तेरे **धामानि**=तेज **दिवि**=द्युलोक में अथवा दीप्त सूर्य में **या**=जो तेज **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी में हैं, **या**=जो **पर्वतेषु**=पर्वतों में हैं, **ओषधीषु**=नाना प्रकार की ओषधियों में व **अप्सु**=जलों में हैं, **तेभिः विश्वैः**=उन सब तेजों से

उपलक्षित (युक्त) **सुमनाः**=हमारे प्रति उत्तम मनवाले होते हुए, **अहेळन्**=हमारे प्रति किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए **नः**=हमें **हव्या**=हव्य पदार्थों को **प्रतिगृभाय**=प्रतिदिन ग्रहण कराइए। २. प्रभु ने द्युलोक में सूर्य व पृथिवीलोक में अग्नि को स्थापित करके पर्वतों में विविध ओषधियों को जन्म दिया है और जलप्रवाह की व्यवस्था की है। सूर्य उन ओषधियों में प्राणदायी तत्त्व का स्थापन करता है और पृथिवी की अग्नि उन ओषधियों का ठीक से पाचन करती है। इन ओषधियों व जलों के प्रयोग से हमें सब तेजस्विताएँ प्राप्त होती हैं, परन्तु ये प्राप्त हमें तभी होती हैं जब हम प्रभुकृपा के भाजन बने रहते हैं। उसकी कृपा का भाजन बनने का उपाय यही है कि हम 'राजन् व सोम' इन सम्बोधनों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित=regulated व सौम्य=शान्त बनाएँ।

भावार्थ—अपने जीवनों को व्यवस्थित व शान्त बनाते हुए हम ओषधि व जलादि हव्य (पवित्र) पदार्थों का प्रयोग करते हुए अपने जीवन को तेजस्विता से दीप्त बनाएँ।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'राजा' उत 'वृत्रहा'

त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा। त्वं भद्रो असि क्रतुः॥ ५॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **त्वम्**=आप ही **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक **असि**=हो। हमारा कर्तव्य सज्जन बनना है। सज्जन बनकर हम आपकी रक्षा के पात्र हो ही जाते हैं। २. **त्वं राजा**=आप ही राजा हो, सारे ब्रह्माण्ड का शासन कर रहे हो। आपके शासन को हम कैसे लाँघ सकते हैं! सब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी व नदियाँ इत्यादि आपके ही शासन में अपने-अपने मार्ग का आक्रमण करते हुए चल रहे हैं। ३. **उत**=और हमारे जीवनों में आप ही **वृत्रहा**=वृत्र का विनाश करनेवाले हो। कामवासना 'वृत्र' है। यह हमारे ज्ञान पर एक आवरण के रूप में आयी रहती है। आपकी कृपा से ही इसका विध्वंस होता है। ३. हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **भद्रः**=कल्याण और सुख प्राप्त करानेवाले हैं, **क्रतुः असि**=आप ही कर्म व प्रज्ञान हैं। आपकी शक्ति से ही सब यज्ञादि कर्म हुआ करते हैं—'**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च**' (गीता ९।२४)। आप ही सम्पूर्णज्ञान के स्रोत हैं और सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान देते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही 'सत्पति, राजा, वृत्रहा, भद्र व क्रतु' हैं। प्रभुभक्त होने के लिए हम सत्कर्मों का सेवन करें, व्यवस्थित जीवनवाले हों, वासना को नष्ट करें, सबका कल्याण व सुख करनेवालें हों तथा ज्ञान का सञ्चय करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभुरक्षा में मृत्यु कहाँ?

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे। प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः॥ ६॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **जीवातुम्**=जीवन को **वशः**=चाहते हो **च**=और हम भी उस जीवन को चाहते हुए उसके लिए यत्नशील होते हैं तो **न मरामहे**=हम असमय में मरते नहीं। यहाँ 'त्वं च', 'और आप भी'—ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। हम तो चाहें ही और हमारी वह इच्छा पुरुषार्थ के रूप में प्रकट हो। तब प्रभुकृपा होने पर हमारी मृत्यु नहीं होती। २. आप **प्रियस्तोत्रः**='प्रिय हैं स्तोत्र जिनके'—ऐसे हैं। आपके स्तोत्रों के उच्चारण से

प्रीति का अनुभव होता है। **वनस्पतिः**=आप हमारे सौन्दर्यो के रक्षक हैं (loveliness)। आप ही यश (glory) व धन (wealth) के साथी हैं। आपका स्तवन करता हुआ मैं सौन्दर्य, यश व धन प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—हम दीर्घजीवन के लिए यत्नशील हों। प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु की कृपा के पात्र बनें तो असमय की मृत्यु से बचकर हम सौन्दर्य, यश व धनसम्पन्न जीवन बितानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**वर्धमानागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दीर्घजीवन के लिए क्या करें

त्वं सो॑म म॒हे भगं॒ त्वं यून॑ ऋताय॒ते। दक्षं॑ दधासि जी॒वसे॑ ॥ ७ ॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **त्वम्**=आप **महे**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले के लिए **भगम्**=सेवनीय धन को **दधासि**=धारण करते हो। जो भी व्यक्ति आपकी प्रेरणाओं के अनुसार अपने नियत कर्मों को करता हुआ आपका पूजन करता है, उसके लिए आप जीवन के लिए आवश्यक धन देते ही हैं। **'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'** (गीता ९।२२)। **त्वम्**=आप **यूने**=(यु मिश्रणामिश्रण) अपने साथ भद्र को जोड़नेवाले और अभद्र को अपने से पृथक् करनेवाले के लिए **ऋतायते**=अपने साथ ऋत—यज्ञ को जोड़नेवाले के लिए **दक्षम्**=बल को **दधासि**=धारण करते हैं ताकि **जीवसे**=यह उत्तम जीवन बिता पाये, दीर्घजीवी हो सके। ३. दीर्घजीवन के लिए धन व बल दोनों ही आवश्यक हैं। इस भौतिक शरीर को दीर्घकाल तक ले-चलने के लिए 'धन' बाह्य साधन है और 'बल' आन्तरिक साधन। दोनों के होने पर ही दीर्घजीवन सम्भव है। इन्हें प्राप्त करने के लिए हमें 'महे, यूने व ऋतायते' शब्द संकेत कर रहे हैं कि हम (क) पूजा की वृत्तिवाले बनें, (ख) गुणों का ग्रहण व दोषों का त्याग करें, (ग) अपने साथ ऋत=यज्ञ का सम्बन्ध स्थापित करें।

भावार्थ—पूजा की वृत्तिवाले, गुणग्राही (दोषत्यागी), यज्ञशील बनकर हम धन व बल प्राप्त करें ताकि दीर्घजीवनवाले बन सकें।

सूचना—दीर्घजीवन के लिए हमारा पुरुषार्थ 'महे, यूने व ऋतायते' शब्दों से सूचित हो रहा है। छठे मन्त्र में प्रभुकृपा का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्र में जीव के पुरुषार्थ का।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्रीः**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभुभक्त-मैत्री

त्वं नः॑ सोम वि॒श्वतो॒ रक्षा॑ राजन्नघाय॒तः। न रि॑ष्येत्त्वाव॑तः॒ सखा॑ ॥ ८ ॥

१. **सोम**=हे शान्त प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **अघायतः**=पाप व बुराई को चाहनेवाले पुरुष से **रक्ष**=रक्षित कीजिए। हे **राजन्**=सारे संसार का शासन करनेवाले प्रभो! **त्वावतः सखा**=आप-जैसे का मित्र न **रिष्येत्**=हिंसित नहीं हो सकता। २. प्रभु का स्मरण हमें पापों से बचाता है। अन्तःस्थित प्रभु के स्मरण से हमारा झुकाव अशुभ की ओर नहीं होता और अपने को प्रभु की गोद में अनुभव करने पर हम निर्भयता को प्राप्त करते हैं। उस समय अघ को चाहनेवाले पुरुषों का हम शिकार नहीं बनते। ३. इस संसार में **त्वायतः**=प्रभु-जैसों का, अर्थात् प्रभुभक्तों का मित्र बनने पर हमारी हिंसा नहीं होती। इन प्रभुभक्तों के सम्पर्क में हमारी वृत्ति भी सुन्दर बनी रहती है। ये प्रभु की ओर चल रहे होते

हैं। इनके मित्र बनकर इनके पीछे चलते हुए हम भी प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें पापी पुरुषों से बचाएँ। प्रभुभक्तों का मित्र कभी हिंसित नहीं होता।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभुरक्षण का पात्र 'दाश्वान्'

सोम यास्ते मयोभुव ऊतयः सन्ति दाशुषे। ताभिर्नोऽविता भव॥ ९॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **या**=जो **ते**=आपकी **मयोभुवः**=कल्याण करनेवाली **ऊतयः**=रक्षाएँ **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए **सन्ति**=हैं, **ताभिः**=उन रक्षाओं से **नः**=हमारे **अविता**=रक्षक **भव**=होओ। २. दाश्वान् पुरुष को प्रभु का रक्षण प्राप्त होता है। दाश्वान् पुरुष वह है जोकि (क) प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला है, प्रभु की इच्छा में अपनी इच्छा को मिला देता है, (ख) प्रभु पर आश्रय रखने के कारण ही यह दान देनेवाला है। यह यज्ञादि में धन का विनियोग करनेवाला है। इस दाश्वान् की प्रभु अवश्य रक्षा करते हैं। दाश्वान् का जीवन बड़ा सुखी चलता है। हम भी दाश्वान् बनें और प्रभु के रक्षणों को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु दाश्वान् पुरुष का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ व स्तुतिवचन

इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि। सोम त्वं नो वृधे भव॥ १०॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! आप **इमं यज्ञम्**=इस हमसे किये जाते हुए यज्ञ तथा **इदं वचः**=इस स्तुतिवचन को **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **उपागहि**=हमें समीपता से प्राप्त होओ और **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भव**=होओ। २. प्रभु की प्रीति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) यज्ञशील हों और (ख) स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाले हों। यह यज्ञशीलता और उपासन हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। २. यह प्रभु की समीपता हमें निष्पापता व निर्भयता प्राप्त कराके सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त कराती है। पाप से भय का सञ्चार होता है, भय से अशक्ति और अशक्ति से अवनति होती है।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों तथा प्रभु के उपासक बनें ताकि जीवन में उन्नति-पथ पर आगे बढ़ सकें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु की सुमृळीकता

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः। सुमृळीको न आ विश॥ ११॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **वचोविदः**=स्तुतिवचनों को जाननेवाले, वेदवाणी को प्राप्त करनेवाले **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **गीर्भिः**=इन स्तुतिवचनों से **वर्धयामः**=बढ़ाते हैं, आपके यश को चारों ओर फैलाते हैं। **सुमृळीकः**=उत्तम सुख देनेवाले आप **नः**=हमें **आविश**=प्राप्त होओ। २. हम प्रभु का स्तवन करते हैं, प्रभु हममें प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् प्रभुस्तवन से वे स्तुतिवचन हमारे सामने एक लक्ष्यदृष्टि को पैदा करते हैं। उस लक्ष्य की ओर चलने से हममें दिव्यगुण वृद्धि को प्राप्त करते हैं। उन दिव्यगुणों का हममें प्रवेश ही प्रभु का प्रवेश हैं। इस प्रवेश के अनुपात में हमारा जीवन सुखी होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। स्तुति से प्रभु के गुण हममें प्रविष्ट होते हैं। इस दिव्यता के प्रवेश से हमारा जीवन सुखी होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्राणशक्ति व वसु

गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः। सुमित्रः सोम नो भव॥ १२॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि प्रभु 'सुमृळीक' हैं। उसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वे प्रभु **गयस्फानः**=(गयाः=प्राणाः—श० १४।८।१५।७) प्राणों के वर्धक हैं, हमारी प्राणशक्ति के बढ़ानेवाले हैं। प्राणशक्ति के वर्धन द्वारा वे **अमीवहा**=सब रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। 'प्राणशक्ति की वृद्धि व रोगनाश' मनुष्य को स्वस्थ बनाता है, स्वास्थ्य से जीवन सुखी होता है। २. वे प्रभु **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाले हैं और इस प्रकार **पुष्टिवर्धनः**=हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। वसुओं के अभाव में ही पुष्टि न होने की आशंका होती है। २. हे **सोम**=शान्त प्रभो! इस प्रकार आप **नः**=हमारे लिए **सुमित्रः**=उत्तमता से पूर्णतया रोगों व पापों से बचानेवाले **भव**=होओ। प्राणशक्ति के अभाव में रोग आते हैं, वसुओं के अभाव में पाप आता है (बुभुक्षितः किं न करोति पापम्)। प्राणशक्ति की वृद्धि के द्वारा प्रभु हमें रोगों से और वसुओं के वर्धन द्वारा पापों से बचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'गयस्फान, अमीवहा, वसुवित् व पुष्टिवर्धन' हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'हृदय' प्रभु का मन्दिर हो

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा। मर्यइव स्व ओक्ये॥ १३॥

१. ग्यारहवें मन्त्र में कहा था कि प्रभु के प्रवेश से हमारा जीवन सुखी होता है, अतः उसी के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि—हे **सोम**=शान्त प्रभो! आप **नः**=हमारे **हृदि**=हृदय में **रारन्धि**=रमण कीजिए। हमारा हृदय आपसे रम जाए। आप आनन्दमय हैं। आपके मेरे हृदय में रमण करने पर मुझे भी उस आनन्द का अनुभव क्यों न होगा! २. आप मेरे हृदय में उसी प्रकार रमण कीजिए **न**=(न इव) जैसेकि **गावः**=गौएँ **यवसेषु**=घास व चरी में रम जाती हैं अथवा **इव**=जैसेकि **मर्यः**=मनुष्य **स्वे ओक्ये**=अपने घर में **आ** (रमते)=आनन्द का अनुभव करता है गौएँ चरी में कैसी मस्त होती हैं! बस उसी प्रकार मेरा हृदय प्रभु का प्रिय निवासस्थान बने। प्रभु को हृदय में स्थापित करके मैं आनन्द में मस्त हो जाऊँ। मनुष्य के लिए घर सर्वाधिक प्रिय है। मेरा हृदय प्रभु के लिए प्रिय बने।

भावार्थ—मेरा हृदय प्रभु का प्रिय निवासस्थान बने। मैं अपने हृदय को प्रभु का प्रिय स्थान बनाने के लिए उसे शुद्ध बनाऊँ।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति और प्रज्ञा

यः सोम सख्ये तव रारणद्देव मर्त्यः। तं दक्षः सचते कविः॥ १४॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **रारणत्**=आपके साथ बातचीत करता है (उपसंवदते—द०) अथवा आपके लिए स्तुतिवचनों का प्रयोग करता है, हे **देव**=हृदय को ज्ञानज्योति से दीप्त करनेवाले प्रभो! **तम्**=उस मनुष्य को **दक्षः**=सम्पूर्ण

शक्तियों के स्वामी **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ आप **सचते**=प्राप्त होते हो। आपकी प्राप्ति से वह पुरुष भी शक्ति व प्रज्ञा को प्राप्त करता है। २. जीवन का आनन्द व शान्ति प्रभु की मित्रता में है। प्रभु के साथ मित्रताभाव से बात करने में कितना उत्कर्ष है! इस मित्रता से ही बल व बुद्धि प्राप्त होती है।

भावार्थ—हम प्रभु के मित्र बनें। यह मित्रता हमें सबल व प्रज्ञावान् बनाएगी।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

अभिशस्ति व अंहस् से दूर

उरुष्या णो अभिशस्तेः सोम नि पाह्यंहसः। सखा सुशेव एधि नः॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु के मित्र बनते हैं तो हमारी यही प्रार्थना होती है कि हे **सोम**=शान्त प्रभो! आप **नः**=हमें **अभिशस्ते**=अभिशंसन से, अभिशापरूप निन्दा से, किसी को कोसने से **उरुष्य**=निश्चय से बचाइए। हमारे मुख से किसी के लिए कोई अशुभ शब्द उच्चरित न हो। हे सोम! आप हमें **अंहसः**=अन्य पापों से भी **निपाहि**=निश्चय से बचाइए और इस प्रकार **नः**=हमारे **सखा**=मित्र और **सुशेवः**=उत्तम सुख देनेवाले **एधि**=होओ। २. औरों का अभिशंसन—निन्दन एक ऐसा पाप है जो हमारी गिरावट का ही कारण नहीं बनता, वह हमें औरों का विरोधी भी बना देता है। वे लोग हमारे शत्रु बन जाते हैं और जीवन में अशान्ति की वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार 'कुटिलता' अंहस् है। यह भी उभयलोक विनाशिनी ही है। प्रभु हमारे मित्र हैं। मित्र वही होता है जो प्रमीति से—पाप से बचाता है। प्रभु हमें इन अभिशस्ति व अंहस् से बचाकर सुखी जीवनवाला करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम औरों की निन्दा और कुटिलतारूपी पापों से दूर होकर सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

वृष्ण्यं वाजः

आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे॥ १६॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! आप **आप्यायस्व**=हमारा सब प्रकार से वर्धन कीजिए। **ते वृष्ण्यम्**=आपकी शक्ति **विश्वतः**=सब ओर से **समेतु**=हमें प्राप्त हो। आप **वाजस्य**=वाज के **संगथे**=संगमन व प्रापण में **भव**=हमारे सहायक होओ, अर्थात् आप हमें वाज प्राप्त कराइए। २. 'वृष्ण्यं' शब्द वीर्य का वाचक है। यह हमें सर्वतः प्राप्त हो। प्रभु ने इसे शरीर में उत्पन्न करने की व्यवस्था की है। शरीर में व्याप्त होकर यह हमारा सब प्रकार से वर्धन करनेवाला होता है। इसके द्वारा प्रभु हमें वाज की प्राप्ति कराते हैं। यह वाज अन्नमयकोश में गति (speed) है। यही प्राणमयकोश में शक्ति (strength) के रूप में है। मनोमयकोश में यह त्याग (Sacrifice) है और विज्ञानमयकोश में यह ज्ञान के रूप में है (गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च)। इन सम्पूर्ण वाजों का मूल 'वृष्ण्यम्'=वीर्य ही है। इसी से सब प्रकार की वृद्धि होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें वीर्य के द्वारा वाज प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

ज्ञानदीप्ति व वर्धन

आ प्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरंशुभिः।
भवा नः सुश्रवस्तमः सखा वृधे ॥ १७ ॥

१. हे **मदिन्तम**=अत्यन्त आनन्दमय **सोम**=शान्त प्रभो! **आप्यायस्व**=आप हमारा समन्तात् वर्धन कीजिए। हमें सब कोशों का बल प्राप्त हो। अन्नमय कोश तेज से, प्राणमय वीर्य से, मनोमय ओज व बल से, विज्ञानमय बुद्धि से तथा आनन्दमय सहस् से परिपूर्ण हो। २. आप **विश्वेभिः अंशुभिः**=सब ज्ञान की किरणों से **नः**=हमारे लिए **सुश्रवस्तमः**=अधिकाधिक उत्तम ज्ञानवाले **भव**=होओ। वस्तुतः इस ज्ञान से ही सब मलों का दाह होकर उन्नति सम्भव होती है। ३. हे प्रभो! आप **सखा**=ज्ञानप्रदाता हमारे मित्र हो और इस ज्ञान के द्वारा **वृधे**=हमारे वर्धन के लिए होते हो। उन्नति सदा ज्ञान के अनुपात में ही होती है।

भावार्थ—प्रभु अपनी ज्ञानदीप्ति से हमारे ज्ञान का वर्धन करके हमारी वृद्धि करनेवाले हमारे मित्र हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

दुग्ध, अन्न व ज्ञान

सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥ १८ ॥

१. हे **अभिमातिषाहः**=अभिमान आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **पयांसि**=आप्यायन के, वर्धन के कारणभूत दुग्ध **संयन्तु**=हमें प्राप्त हों। **उ**=और **वाजाः**= शक्ति देनेवाले अन्न (foods in general) **संयन्तु**=प्राप्त हों। इन दुग्धों व अन्नों के प्रयोग से **वृष्ण्यानि**=वीर्यशक्तियाँ हमें **सं** (यन्तु)=प्राप्त हों। यहाँ यह बात स्पष्ट है कि शक्ति की प्राप्ति दुग्ध व अन्न से होती है। मांस-मांस को ही बढ़ाता है; वह शक्ति नहीं देता **'मांसं मांसेन वर्धते'**। २. हे **सोम**=शान्त प्रभो! आप **अमृताय**=अमृतत्व की प्राप्ति के लिए **आप्यायमानः**=हमारा वर्धन करते हुए **दिवि**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में **उत्तमानि श्रवांसि**=उत्तम ज्ञानों को **धिष्व**=धारण कीजिए, स्थापित कीजिए। **'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्'**—इस गीता-वाक्य के अनुसार आत्मज्ञान ही उत्कृष्ट ज्ञान है। उपनिषदों में इसे 'पराविद्या' शब्द से स्मरण किया गया है। यजुर्वेद में यही विद्या है। प्रकृति-विद्या को वहाँ 'अ-(परा)-विद्या' नाम से स्मरण किया गया है। 'किसने कितने युद्ध किये, कितने व्यक्ति मरे' आदि ऐतिहासिक ज्ञान तो ज्ञान ही नहीं है। वह सूचनामात्र (mere information) ही है। उसका अमृतत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ—हम प्रभु से प्राप्त कराये गये दुग्धों व अन्नों का प्रयोग करते हुए बुद्धि को सात्त्विक बनाएँ और ज्ञानवर्धन करते हुए आत्मदर्शन द्वारा अमृतत्व का लाभ करें।

सूचना—(क) यहाँ 'अभिमातिषाहः' शब्द का प्रयोग यह सुव्यक्त कर रहा है कि सात्त्विक दुग्ध व अन्न का सेवन हमें निरहंकार बनाता है। शक्ति के साथ अहंकारशून्यता हमारा आभूषण बन जाती है, (ख) दुग्ध व अन्न के प्रयोग से ही पराविद्या में रुचि होती है। राजस्

भोजन हमें इससे पराङ्मुख करते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

गयस्फानः प्रतरणः

या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान्॥ १९॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **या ते धामानि**=जो आपके तेज हैं, उन्हें उपासक लोग **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **यजन्ति**=अपने साथ संगत करते हैं **ता ते विश्वा**=आपके वे सब तेज **यज्ञम्**=हमारे जीवन-यज्ञ को **परिभूः अस्तु**=(परितो भावयितृणि-प्राप्तानि) चारों ओर से प्राप्त होनेवाले हों। हम उन तेजों को यज्ञ के द्वारा अपने साथ संगत करनेवाले हों। हे **सोम**=प्रभो! आप **दुर्यान्**=हमारे शरीररूप गृहों में **प्रचर**=विचरणवाले हों। हमारी हृदयरूप गुहा आपके विचरण की जगह हो। आप 'गुहा चरन्' तो हैं ही। आप हमारे इन शरीरों में विचरण करते हुए **गयस्फानः**=प्राणों के वर्धन करनेवाले हो **प्रतरणः**=दुरितों से तारनेवाले हो, **सुवीरः**=उत्तमता से शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगानेवाले हो (वि ईर्), **अवीरहा**=अवीरता को नष्ट करनेवाले हो। आपको प्राप्त करके मैं प्रवृद्ध प्राणशक्तिवाला—दुरित से दूर—कामादि को कम्पित करनेवाला, अवीरता से ऊपर उठा हुआ होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु के तेज यज्ञमय जीवनवाले को प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्राप्ति से हम 'गयस्फान, प्रतरण, सुवीर, अवीरहा' बनते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

गौ, घोड़े, सन्तान

सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै॥ २०॥

१. **यः**=जो भी व्यक्ति **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **ददाशत्**=अपना अर्पण करता है **सोमः**=वे शान्त प्रभु इसके लिए **धेनुम्**=नवसूतिका, दुग्धदात्री गौ देते हैं तथा **सोमः**=वे प्रभु **अर्वन्तम्**=उस घोड़े देते हैं जोकि **आशुम्**=शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाला होता है, तीव्रगतिवाला होता है। २. इन गौओं और घोड़ों को प्राप्त कराके **सोमः**=वे प्रभु **वीरम्**=(वीर्याज्जायते इति वीरः) उस औरस सन्तान को **ददाति**=देते हैं जोकि (क) **कर्मण्यम्**=कर्मशील होती है, (ख) **सादन्यम्**=सदन के योग्य गृहकार्यकुशल होती है, (ग) **विदथ्यम्**=यज्ञों में कुशल, (घ) **सभेयम्**=सभा में उत्तम, सभा के शिष्टाचार को समझने- वाली तथा (ङ) **पितृश्रवणम्**=अपने कर्मों से पिता के नाम को उज्ज्वल करनेवाली अथवा माता-पिता की आज्ञा को सुननेवाली होती है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने से उत्तम गौएँ, घोड़े व उत्तम सन्तान प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अपराजितता

अषा॑ळ्हं यु॒त्सु पृत॑नासु॒ पप्रिं॑ स्व॒र्षाम॒प्सां वृ॒जन॑स्य गो॒पाम्।
भ॒रे॒षु॒जां सु॑क्षि॒तिं सु॒श्रव॑सं॒ जय॑न्तं॒ त्वामनु॑ मदेम सोम॥ २१॥

१. **सोम**=हे शान्त प्रभो! **जयन्तम्**=विजय करते हुए **त्वां अनु**=आपके पीछे हम भी **मदेम**=आनन्द प्राप्त करें। आप **युत्सु अषाळ्हम्**=युद्धों में पराभूत न होनेवाले हैं। जब हम काम-क्रोधादि के साथ संग्राम में चलते हैं तब हृदय में आसीन आप ही इन वासनाओं को पराभूत करनेवाले होते हैं। **पृतनासु**=इन संग्रामों में **पप्रिम्**=पूरण करनेवाले आप ही हैं। आपके बिना हमारी शक्ति अति न्यून होती है। आप ही उसका पूरण करके हमारी विजय के साधक होते हैं। **स्वर्षाम्**=आप प्रकाश व सुख प्राप्त करानेवाले हैं, **अप्साम्**=रेतःशक्ति को देनेवाले हैं (आपः=रेतः)। इस शक्ति के कारण ही **वृजनस्य**=बल के **गोपाम्**=रक्षक हैं। शत्रुओं का वर्जन करनेवाला होने से 'वृजन' बल है। **भरेषुजाम्**=(भर=यज्ञ) यज्ञों में प्रकट होनेवाले हैं—**'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। **सुक्षितिम्**=उत्तम निवासस्थानभूत हैं। प्रभु में निवास करनेवाले किसी भी प्रकार से अस्वस्थ नहीं होते। **सुश्रवसम्**=प्रभु उत्तम यश के कारणभूत हैं। प्रभु में निवास करनेवाले लोग सदा यशस्वी होते हैं २. इस प्रकार प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़नेवाले व्यक्ति युद्धों में अपराजित, विजयी, सुख व प्रकाश को प्राप्त, शक्तिशाली व बल-सम्पन्न होते हैं। ये यज्ञों के द्वारा प्रभुपूजन करते हुए प्रभु में निवास करते हैं और यशस्वी जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु में निवास करनेवाला कभी पराजित नहीं होता।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**विराट्पंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ओषधियाँ, जल व सूर्यकिरणें

त्वमि॒मा ओष॑धीः सोम॒ विश्वा॒स्त्वम॒पो अ॑जनय॒स्त्वं गाः।
त्वमा त॑तन्थो॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षं॒ त्वं ज्योति॑षा॒ वि तमो॑ ववर्थ॥ २२॥

१. हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! **त्वम्**=आप **इमाः**=इन **विश्वाः**=सब **ओषधीः**=ओषधियों को **अजनयः**=उत्पन्न करते हैं। **त्वम्**=आप ही **अपः**=उन जलों को भी उत्पन्न करते हो, जिनसे ये ओषधयाँ उत्पन्न होती हैं। **त्वम्**=आप ही **गाः**=उन सूर्यरश्मियों को उत्पन्न करते हो जो इन ओषधियों का परिपाक करने और इनमें प्राणशक्ति स्थापन करने में कारण बनती हैं। २. **त्वम्**=आप ही **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **आततन्थ**=विस्तृत करते हैं और इस अन्तरिक्ष में **त्वम्**=आप ही **ज्योतिषा**=ज्योति के द्वारा **तमः**=अन्धकार को **विववर्थ**=(विवृतं=विश्लिष्टं=विनष्टम्) विनष्ट करते हो। इस ज्योति के प्रकाश में ही सब मनुष्य अपने कर्मों को सुसम्पन्न करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ओषधियों, जलों व सूर्यकिरणों को उत्पन्न करते हैं। इस विशाल अन्तरिक्ष में ज्योति के द्वारा अन्धकार का विनाश करनेवाले प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दिव्य मन व सम्पत्ति

देवेन नो मनसा देव सोम रायो भागं सहसावन्नभि युध्य।
मा त्वा तनदीशिषे वीर्यस्योभयेभ्यः प्र चिकित्सा गविष्टौ ॥ २३ ॥

१. हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले! **सोम**=शान्त! **सहसावन्**=बलसम्पन्न प्रभो! **देवेन मनसा**=दिव्य मन के साथ **रायः भागम्**=धन के हमारे सेवनीय अंश को **नः**=हमारे लिए **अभियुध्य**=युद्ध के द्वारा प्रेरित कीजिए। हमें सम्पत्ति प्राप्त हो और उस सम्पत्ति के साथ दिव्यवृत्तिवाला मन भी प्राप्त हो। हम धन का दुरुपयोग करते हुए विलास में न फँस जाएँ। २. इस प्रार्थना करनेवाले जीव से प्रभु कहते हैं कि बस, तुझे यह ध्यान रखना है कि **त्वा**=तुझे काम-क्रोधादि की कोई भी वासना **मा**=मत **तनत्**=हिंसित करनेवाली हो (तनति=to pain or afflict with disease)। इन वासनाओं के कारण तेरा शरीर रुग्ण न हो जाए। तू **वीर्यस्य ईशिषे**=वीर्य का ईश बनता है। वासनाएँ तेरे वीर्य को नष्ट करनेवाली न हों। **गविष्टौ**=इस जीवन-संग्राम (Battle) में तू **उभयेभ्यः**=दोनों से **प्रचिकित्सा**=होनेवाले उपद्रवों को दूर कर। शरीर में होनेवाले रोगों के उपद्रवों को और मन में होनेवाले काम-क्रोधादि के क्षोभ को तू दूर करनेवाला बन।

भावार्थ—हमें दिव्य मन के साथ सम्पत्ति प्राप्त हो। हम रोगों व वासनाओं से पीड़ित न हों। वीर्य के ईश बनें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्रभु हमें सरलतम मार्ग से ले-चलते हैं (१)। इस मार्ग से चलते हुए हम उत्तम प्रज्ञान व शक्तिवाले बनते हैं (२)। हम राजा वरुण के समान बनें (३), ओषधियों व जलों को ही शक्ति का स्रोत समझें (४), सत्कर्मों का सेवन करते हुए प्रभुरक्षण के पात्र हों (५)। प्रभु-रक्षा में मृत्यु कहाँ (६)। पूजा की वृत्तिवाले, गुणग्राही, यज्ञशील बनकर धन व बल प्राप्त करें (७)। प्रभुभक्तों के मित्र बनें (८)। 'दाश्वान्' सदा प्रभुरक्षण का पात्र होता है (९)। हम यज्ञशील व प्रभु के उपासक बनें (१०)। वे प्रभु उत्तम सुख देनेवाले हैं (११), प्रभु प्राणशक्ति के वर्धक व रोगों के नाशक हैं (१२)। हमारा हृदय प्रभु का मन्दिर बन जाए (१३)। इससे हम सबल व प्रज्ञावान् बनेंगे (१४), निन्दा व पाप से दूर रहेंगे (१५)। प्रभु हमें वीर्य व बल देंगे (१६), ज्ञानदीप्ति के द्वारा हमारा वर्धन करेंगे (१७)। हम दुग्ध व अन्न का प्रयोग करते हुए ज्ञान में रुचिवाले हों (१८)। ज्ञान द्वारा भवसागर को तैरनेवाले हों (१९)। प्रभु दाश्वान् को उत्तम गौएँ, घोड़े व सन्तान प्राप्त कराते हैं (२०)। प्रभु में निवास करनेवाला अपराजित होता है (२१)। प्रभु ने हमारे कल्याण के लिए ओषधियों, जलों व सूर्यकिरणों का निर्माण किया है (२२)। प्रभुकृपा से हमें दिव्य मन के साथ सम्पत्ति प्राप्त हो (२३)। 'उषा प्रकाश करती है। उषर्बुध व्यक्ति का मानस भी प्रकाशमय होता है', इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[९२] द्विनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उषःकाल का प्रकाश

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ॥ १ ॥

१. **उ**=निश्चय से **त्याः**=वे प्रसिद्ध **एताः उषसः**=ये उषःकाल **केतुम्**=प्रज्ञापक प्रकाश को **अक्रत**=करते हैं। **रजसः**=इस अन्तरिक्षलोक के **पूर्वे अर्धे**=पूर्वभाग में **भानुम्**=प्रकाश को **अञ्जते**=व्यक्त करते हैं। उषा आती है और अन्धकार दूर होकर सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है। २. **इव**=जैसे **धृष्णवः**=धर्षणशील, शत्रु को कुचल देनेवाले योद्धा **आयुधानि**=अपने तलवार आदि शस्त्रों को **निष्कृण्वानाः**=संस्कृत करते हैं, उसी प्रकार अपने प्रकाश से जगत् को संस्कृत करती हुई **गावः**=गमनशील **अरुषीः**=आरोचमान, सर्वतो देदीप्यमान **मातरः**=सूर्यप्रकाश को जन्म देनेवाली उषाएँ **प्रतियन्ति**=प्रतिदिन आकर जानेवाली होती हैं।

भावार्थ—हम उषःकालों से बोध लेनेवाले बनें। 'प्रकाश' हमारे जीवन का लक्ष्य हो। हम अपने अज्ञान-अन्धकार को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अरुण, अरुषी, रुशन्

उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत।
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः॥ २॥

१. **अरुणाः**=आरोचमान—खूब चमकती हुई **भानवः**=उषःकाल की दीप्तियाँ **वृथा**=अनायास ही स्वयं **उद् अपप्तन्**=उद्गत हो गईं। अब उषःकाल ने **स्वायुजः**=आसानी से रथ में जोतने योग्य **अरुषीः**=शुभ्रवर्णवाली **गाः**=किरणों को **अयुक्षत**=अपने रथ में जोता। प्रारम्भिक किरणें कुछ आरक्त (reddish) थीं, पीछे ये शुभ्रवर्ण की हो गईं। २. इस प्रकार अपनी शुभ्रवर्ण किरणों से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर **उषासः**=इन उषःकालों ने **पूर्वथा**= पहले की भाँति **वयुनानि**=प्रज्ञापक प्रकाशों को **अक्रन्**=किया। उषा होने पर सब प्राणी चेतन होकर ज्ञानयुक्त हो जाते हैं, रात्रि का अज्ञान समाप्त हो जाता है। ३. अब **अरुषीः**=ये शुभ्रवर्ण के प्रकाशवाली उषाएँ **रुशन्तं भानुम्**=प्रज्वलित होते हुए सूर्य को **अशिश्रयुः**=सेवन करती हैं—उसके साथ एक हो जाती हैं। यही उषा का अन्त होता है और सूर्य का साम्राज्य प्रारम्भ होता है।

भावार्थ—प्रारम्भ में उषा कुछ लालिमा को लिये हुए होती है, थोड़ी देर बाद यह शुभ्र हो उठती है और अन्त में सूर्य से आ मिलती है। यही इसका अन्त है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उषःकाल की प्रेरणा

अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन योजनेना परावतः।
इषं वहन्तीः सुकृते सुदानवे विश्वेदह यजमानाय सुन्वते॥ ३॥

१. **नारीः**=(नृ नये) अपने प्रकाश के द्वारा सुपथ पर आगे ले-चलनेवाली उषाएँ **विष्टिभिः**=अपनी व्यापक (pervading) किरणों व तेजों से **समानेन योजनेन**=एक ही उद्योग से **आ परावतः**=दूर देश तक—अर्थात् पश्चिम दिग्भाग तक **अर्चन्ति**=नभःप्रदेश को सत्कृत करती हैं **न**=उसी प्रकार जैसे **अपसः**=युद्धकर्म से युक्त पुरुषों-योद्धा लोगों को राजा लोग **विष्टिभिः**=वेतन के द्वारा **अर्चन्ति**=सत्कृत करते हैं, अर्थात् उषाएँ प्रकाश से दिशाओं को उसी प्रकार अर्चित करती हैं जैसे कि राजा योद्धाओं व सेवकों को वेतन से। २. ये उषःकाल **सुकृते**=उत्तम कर्मों को करनेवाले **सुदानवे**=उत्तम दानशील (दा दाने), अच्छी प्रकार बुराइयों

को काटनेवाले (दाप् लवने) तथा जीवन का शोधन करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील, **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए-शरीर में सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाले पुरुष के लिए **इषम्**=प्रेरणा **वहन्तीः**=प्राप्त कराते हुए **विश्वा इत् अह**=सभी दुःखों का विनिग्रह करनेवाले होते हैं। अह (separation)। उषा की प्रेरणा उत्साह, प्रकाश व आनन्द को लिये हुए होती है। इस प्रेरणा को 'सुकृत्, सुदानु, यजमान व सुन्वतु' पुरुष प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—उषा सब दिग्भागों में प्रकाश फैलाती है। इसकी 'प्रकाश व उत्साह' की प्रेरणा सब दुःखों का विनिग्रह करनेवाली होती है।

सूचना—अह=दुःखविनिग्रहे—सा०, अह=विनिग्रहार्थीयः—न० १।१५

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषा**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

भुवन को प्रकाशित करनेवाली 'उषा'

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः॥ ४॥

१. **इव**=जैसे **नृतूः**=नापित बालों को काटता है, उसी प्रकार (नृन् तूर्वति केशेन रिक्ती करोति) **पेशांसि**=जगत् में आश्लिष्ट कृष्णवर्ण के अन्धकारों को **अधिवपते**=आधिक्येन काट डालती है अथवा **नृतूः इव**=जैसे एक नर्तकी **पेशांसि**=दर्शनीय रूपों को (पेशस्=रूपम्) धारण करती है, उसी प्रकार उषा **पेशांसि**=दीप्तियों को **अधिवपते**=आधिक्येन धारण करती है। २. इस प्रकार अन्धकार को किरणों के द्वारा दूर करके **वक्षः**=अपने **उरः**=प्रदेश को **अपोर्णुते**=अन्धकार से अनाच्छादित करती है। रात्रि के समय अपने पर पड़े हुए अन्धकार-वस्त्र को उतार फेंकती है। इस प्रकार उषा मानो अपने दीप्त वक्षस् को उसी प्रकार प्रकट करती है **इव**=जैसे **उस्रा**=दूध दोहन के समय गौ **बर्जहम्**=दूध के उत्पत्तिस्थान को प्रकट करती है। ३. **विश्वस्मै भुवनस्य**=सम्पूर्ण भुवन के लिए **ज्योतिः कृण्वती**=प्रकाश करती हुई यह **उषाः**=उषा **तमः**=अन्धकार को **व्यावः**=अपश्लिष्ट व दूर कर देती है। सब भुवनों में इसकी **गावः**=किरणें इस प्रकार व्याप्त हो जाती हैं **न**=जैसे **गावः**=गौएँ **व्रजम्**=अपने बाड़े को व्याप्त कर लेती हैं।

भावार्थ—उषा अपने प्रकाश से सम्पूर्ण भुवन को व्याप्त कर देती है। मेरा हृदय भी प्रकाशमय हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'दिवः दुहिता' उषा

प्रत्यर्ची रुशदस्या अदर्शि वि तिष्ठते बाधते कृष्णमभ्वम्।
स्वरुं न पेशो विदथेष्वञ्जञ्चित्रं दिवो दुहिता भानुमश्रेत्॥ ५॥

१. **अस्याः**=इस उषःकाल का **रुशत्**=दीप्तिमान **अर्चिः**=तेज: **प्रत्यदर्शी**=प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पूर्व दिशा में देखा जाता है। यह तेज **वितिष्ठते**=सब दिशाओं में विशेषरूप से स्थित होता है और सब दिशाओं में व्याप्त होकर यह तेज **अभ्वम्**=अतिशयेन विपुल— अत्यन्त विस्तृत **कृष्णम्**=अन्धकार को **बाधते**=दूर करता है। २. **विदथेषु**=यज्ञों में **न**=जैसे अध्वर्यु लोग **स्वरुम्**=स्तम्भविशेष को—स्तम्भ के एक अंशविशेष को **अञ्जन्**=घृत से संश्लिष्ट करते हैं, उसी प्रकार **दिवः दुहिता**=यह द्युलोक की पुत्री अथवा प्रकाश का पूरण करनेवाली उषा **पेशः**=अपने दीप्त रूप को आकाश में (अनक्ति) व्यक्त करती है और तदनन्तर **चित्रं**

भानुम्=इस अद्भुत ज्योतिवाले सूर्य का **अश्रेत्**=सेवन करती है, सूर्य में ही मिल जाती है।

भावार्थ—उषा अपने दीप्तिमान तेज से अन्धकार को नष्ट करती है। अपने प्रकाश से आकाश को शोभित करती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अन्धकार के पार

अतारिष्म तमसस्पारमस्योषा उच्छन्ती वयुना कृणोति।
श्रिये छन्दो न स्मयते विभाती सुप्रतीका सौमनसायाजीगः॥ ६॥

१. उषा के निकलने पर हम **अस्य तमसः**=इस रात्रि के अन्धकार के **पारं अतारिष्म**=पार को पा सकते हैं, अन्धकार को उत्तीर्ण होकर प्रकाश में आ जाते हैं। २. **उच्छन्ती**=अन्धकार से दूर करती हुई **उषाः**=उषा **वयुना**=प्रज्ञानों को **कृणोति**=करती है। उषा के प्रकाश में लोगों को मार्ग का ठीक ज्ञान होता है और वे भटकने से बच जाते हैं। ३. यह उषा **स्मयते**=इस प्रकार मुस्कराती हुई-सी आती है **न**=जैसेकि **श्रिये**=श्री की वृद्धि के लिए **छन्दः**=प्रार्थयिता मनुष्य मुस्कराहट को लिये हुए होता है। मुस्कराता हुआ चेहरा (Smiling face) अच्छा प्रतीत होता है, दूसरों पर उसका उत्तम प्रभाव होता है। ४. यह **विभाती**=विशिष्ट प्रकाशवाली **सुप्रतीका**=उत्तम अङ्गों व चेहरेवाली उषा **सौमनसाय**=सौमनस्य के लिए, लोगों के चित्त के प्रसादन के लिए **अजीगः**=अन्धकार को निगल जाती है। प्रकाश में प्रसन्नता है, अन्धकार में विषाद। उषा वह प्रकाश प्राप्त कराती है, जिसमें किसी प्रकार का सन्ताप नहीं होता। इस प्रकाश में मनुष्य प्रसन्न मनवाला होता है।

भावार्थ—उषा आती है, अन्धकार को निगल जाती है और हमारे चित्तों को प्रसन्न कर देती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सूनृतानां नेत्री

भास्वती नेत्री सूनृतानां दिवः स्तवे दुहिता गोतमेभिः।
प्रजावतो नृवतो अश्वबुध्यानुषो गोअग्राँ उप मासि वाजान्॥ ७॥

१. **भास्वती**=प्रकाशवाली **सूनृतानां नेत्री**=प्रिय, सत्यवाणियों का प्रणयन करनेवाली **दिवः दुहिता**=यह प्रकाश का पूरण करनेवाली उषा **गोतमेभिः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुषों से **स्तवे**=स्तुत होती है। प्रशस्तेन्द्रिय पुरुषों के लिए यह उषःकाल प्रभु के शुभ नामों के उच्चारण के लिए तथा स्वाध्याय द्वारा अपने अन्दर ज्ञान-ज्योति भरने के लिए होता है। सामान्य मनुष्य भी उस समय किसी को कुछ अशुभ बोलते सुनकर कह उठते हैं कि—अरे भाई! सवेरे-सवेरे यह क्या शब्द बोलने लग गये?' २. हे **उषः**=उषो देवते! तू भी स्तुत होकर उन **वाजान्**=उत्तम अन्नों को **उपमासि**=देती है जो **प्रजावतः**=प्रकृष्ट विकास का कारण बनते हैं, **नृवतः**=उत्तम मनुष्योंवाले होते हैं, **अश्वबुध्यान्**=(अश्वबुध्नान्) उत्तम कर्मेन्द्रियाँ जिनके मूल में हैं और **गो अग्रान्**=ज्ञानेन्द्रियाँ जिनके अग्रभाग में हैं, अर्थात् जिन अन्नों से (क) शरीर की शक्तियों का विकास ठीक से होता है अथवा सन्तानों को जन्म मिलता है, (ख) जिनसे मनुष्य प्रगतिशील (नृ) बनते हैं, (ग) जिनसे कर्मेन्द्रियों की शक्तियों का विकास होता है और (घ) जो ज्ञानेन्द्रियों को उच्च ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं, उन अन्नों को यह उषा इन स्तोताओं के लिए प्राप्त कराती है।

इन अन्नों के सेवन करने पर ही 'भास्वती व नेत्री सूनृतानाम्' ये विशेषण संगत प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—उष:काल ज्ञान-प्राप्ति व प्रभुस्तवन के शुभ शब्दों के लिए ही विनियुक्त होना चाहिए। ऐसी वृत्ति के लिए सात्त्विक अन्नों का सेवन आवश्यक है।

ऋषि:—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुभगा उषा

उषस्तमश्यां यशसं सुवीरं दासप्रवर्गं रयिमश्वबुध्यम्।
सुदंससा श्रवसा या विभासि वाजप्रसूता सुभगे बृहन्तम्॥ ८॥

१. हे **उषः**=उषो देवते! मैं **ते रयिम्**=उस धन को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ जो **यशसम्**=यश का कारण है, मुझे यशस्वी बनाने का साधन बनता है, **सुवीरम्**=उत्तम वीरतावाला है, व उत्तम सन्तानोंवाला है। धन के कारण मैं निर्बल न बन जाऊँ, मेरी सन्तानें भी विकृत मार्ग का अवलम्बन करनेवाली न हो जाएँ, **दासप्रवर्गम्**=नाशक तत्वों (दसु उपक्षये) का प्रकर्षेण वर्जन करनेवाली हो, धन प्राप्त करके मैं विनाश के कार्यों में प्रवृत्त न हो जाऊँ, **अश्वबुध्यम्**=यह धन इन्द्रियरूप मूलवाला हो, इसके कारण इन्द्रियों की शक्ति बढ़ी रहे। हे **वाजप्रसूता**=हमारे लिए उत्तम अन्नों को देनेवाली **या**=जो तू **सुदंससा**=उत्तम यज्ञादि कर्मों से तथा **श्रवसा**=प्रकाश से **विभासि**=चमकती है वह **सुभगे**=उत्तम भगों—ऐश्वर्योंवाली उषा! तू **बृहन्तम्**=वृद्धि के कारणभूत धनों को हमें प्राप्त करा। हम उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए उत्तम यज्ञादि कर्मों व ज्ञानप्राप्ति में संलग्न हों, ताकि वृद्धि के कारणभूत उत्तम धनों को प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारा उष:काल उत्तम कर्मों व स्वाध्याय में बीते, ताकि हम उत्तम धनों को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषि:—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उषा द्वारा जागरण

विश्वानि देवी भुवनाभिचक्ष्या प्रतीची चक्षुरुर्विया वि भाति।
विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः॥ ९॥

१. **देवी**=प्रकाशमयी—हृदयों में दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली उषा **विश्वानि भुवना**=सब लोकों को **अभिचक्ष्या**=प्रकाशित करके **प्रतीची**=(प्रति अञ्च) प्रत्येक व्यक्ति की ओर जानेवाली **चक्षुः**=प्रकाशक आँख के समान **उर्विया विभाति**=खूब ही दीप्त होती है अथवा (उर्विया=उर्व्या—द०) इस पृथिवी के साथ सुशोभित होती है। इस पृथिवी को अपनी शोभा से शोभायुक्त करती है। २. यह उषा **विश्वं जीवम्**=सब प्राणियों को **चरसे**=इधर-उधर विचरण के लिए **बोधयन्ती**=बोधयुक्त करती हुई है, सबको अपने-अपने कार्य में लगने के लिए जागरित कर देती है। ३. यह उषा **विश्वस्य**=सब **मनायोः**=विचारशील पुरुषों के **वाचम्**=स्तुतिवचनों को **अविदत्**=प्राप्त करती है। सब विचारशील पुरुष प्रातः उठकर प्रभु के उपासन व स्तवन में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—उषा का प्रकाश सबके लिए मार्ग दर्शन करता है। उषा सबको कार्यों में व्यापृत होने के लिए जगाती है और विचारशील पुरुष उषा:काल में प्रभुस्तवन में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

एक-एक दिन का जाना

पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः॥ १०॥

१. यह **पुनः-पुनः जायमाना**=फिर-फिर प्रतिदिन प्रादुर्भूत होती हुई **पुराणी**=सनातन काल से चली आ रही उषा **समानं वर्णम्**=एक ही रूप को **अभि**=(अभिप्राप्य) प्राप्त करके **शुम्भमाना**=शोभावाली होती है। दिनों के भिन्न-भिन्न रूप में होने पर भी यह उषःकाल लगभग एक-सा ही रहता है। दिन की अत्युष्णता व अतिशीतता के प्रभाव से यह मुक्त-सा ही रहता है। उषःकाल का प्रकाश किसी भी ऋतु में सन्तापक नहीं होता। २. यह **देवी**=प्रकाशमयी उषा **मर्तस्य**=मरणधर्मा मनुष्य की **आयुः**=आयु को **जरयन्ती**=जीर्ण करनेवाली है। प्रतिदिन यह आती है और मनुष्य के आयुष्य का एक दिन समाप्त हो जाता है। 'Every evening cuts our lives short by a day.'—इस वाक्य में ईवनिंग के स्थान में मॉर्निंग पढ़ा जाए तो मन्त्र का यह अक्षरशः अनुवाद हो जाए। यह उषा उसी प्रकार हमारी आयुओं को जीर्ण करती है **इव**=जैसे **कृत्नुः**=पक्षियों के पंखादिक की कर्तनशीला **श्वघ्नी**=(श्वहन्) कुत्तों के द्वारा मृगादि का हनन करनेवाली बाघस्त्री **विजः**=भय के कारण भाग खड़े होनेवाले पशुओं को **आमिनाना**=हिंसित करती है। आज उषःकाल आया है। हमारे आयुष्य का एक दिन कट गया है। ऐसा सोचने पर हम समय के महत्त्व को समझेंगे और कार्यों को कल-कल पर न टालते हुए उन्हें उत्साह से करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—सनातन काल से उषा का आगमन एकरसता से हो रहा है। हमारे आयुष्य का एक-एक दिन आने के साथ समाप्त होता जा रहा है, अतः हमें अनालस्यभाव से कार्यों को शीघ्रता से करना है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**भुरिक् पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

युग-परिवर्तन

व्यूर्ण्वती दिवो अन्ताँ अबोध्यप स्वसारं सनुतर्युयोति।
प्रमिनती मनुष्या युगानि योषा जारस्य चक्षसा वि भाति॥ ११॥

१. **दिवः**=आकाश के **अन्तान्**=प्रान्तों को **वि ऊर्ण्वती**=विवृत अर्थात् अन्धकार से वियुक्त (अनाच्छादित) करती हुई **उषा**=उषा **अबोधि**=सब प्राणियों से ज्ञात होती है। सब प्राणी यही अनुभव करते हैं कि उषा ने सब दिशाओं के अन्धकार को दूर करके प्रकाश-ही-प्रकाश कर दिया है। २. अब यह उषा **स्वसारम्**=(स्वयं सरति) अपने-आप ही जाने के लिए प्रवृत्त होती हुई इस अपनी बहिनरूप निशा को **सनुतः**= (अन्तर्हितानाम्) किसी अन्तर्हित प्रदेश में **अपयुयोति**=(अपगम्य पृथक् करोति) दूर करके पृथक् कर देती है, मानो रात्रि को कहीं छिपा-सा देती है। ३. यह उषा **मनुष्या युगानि**=मनुष्य-सम्बन्धी युगों को **प्रमिनती**=प्रतिदिन आने और जाने से हिंसित करती है। मनुष्यों का आयुष्य तो एक-एक दिन करके यह कम कर ही रही है, साथ ही इसके आवागमन से युग बीतते जाते हैं—कृतयुग गया, त्रेता आया; त्रेता गया, द्वापर आया; द्वापर गया, कलि आया। इस प्रकार यह उषा युगों को समाप्त कर रही है। ४. **जारस्य**=रात्रि को जीर्ण करनेवाले सूर्य की **योषा**=पत्नी के समान यह उषा (या+उषा)

चक्षसा=अपने पतिरूप सूर्य के प्रकाश से **विभाति**=विशेषरूपेण दीप्त होती है। उषा को आनेवाले सूर्य की किरणें ही दीप्त कर रही होती हैं। यहाँ यह संकेत सुव्यक्त है कि पत्नी की शोभा पति की शोभा से ही है।

भावार्थ—उषा आती है, रात्रि को छिपा-सा देती है। इसके आवागमन से युग बदलते हैं। यह प्रतिदिन आनेवाले सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दैव्य व्रत (उपासना व स्वाध्याय)

पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना सिन्धुर्न क्षोद उर्विया व्यश्वैत्।
अमिनती दैव्यानि व्रतानि सूर्यस्य चेति रश्मिभिर्दृशाना॥ १२॥

१. **पशून् न**=जैसे एक ग्वाला चरागाह में पशुओं को फैला देता है और **न**=जिस प्रकार **सिन्धुः**=स्यन्दनशील **क्षोदः**=उदक (पानी) निम्न प्रदेश में फैल जाता है, इसी प्रकार **चित्रा**=यह पूजनीय (चायनीय) ज्ञान देनेवाली, प्रकाश प्राप्त करानेवाली **सुभगा**=सुन्दरता से युक्त—सौभाग्यवाली उषा **प्रथाना**=इस द्युलोक में प्रकाश फैलाती हुई **उर्विया व्यश्वैत्**=खूब ही व्याप्त हो जाती है, सारे जगत् में प्रकाश-ही-प्रकाश कर देती है। उषःकाल मानो ग्वाले के समान है, यह किरणरूप गौवों को जगद्रूप चरागाह (गोचरभूमि) में फैला देती है। उषा एक स्रोत के समान है, यह किरणरूप जलधाराओं को जगद्रूप निम्न प्रदेश में व्याप्त कर देती है। २. यह उषा **दैव्यानि व्रतानि**=देव-सम्बन्धी व्रतों को **अमिनती** हिंसित करनेवाली नहीं होती। इस उषा में सज्जन लोग प्रभुभक्ति के लिए किए जानेवाले उपासना व स्वाध्याय आदि कर्मों में लगे रहते हैं। उनके ये दैव्य व्रत कभी विच्छिन्न नहीं होते। ३. यह उषा **सूर्यस्य**=सूर्य की **रश्मिभिः**=किरणों से **दृशाना**=जगत् के पदार्थों को दिखाती हुई **चेति**=जानी जाती है। वस्तुतः उषा का प्रकाश सूर्य की प्रारम्भिक किरणों का ही प्रकाश है। इसी प्रकाश को उषा का अरुण प्रकाश कहते हैं।

भावार्थ—उषा का प्रकाश जगत् में फैलता है, उसके साथ ही देववृत्ति के लोग उपासना व स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**निचृत्परोष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

यज्ञ

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। येन तोकं च तनयं च धामहे॥ १३॥

१. वाज का अर्थ हविर्लक्षण अन्न है। उससे युक्त क्रिया को 'वाजिनी' कहते हैं। उषा में ये यज्ञादि चलते हैं, अतः उषा 'वाजिनीवती' है। हे **वाजिनीवति**=यज्ञादि उत्तम क्रियाओंवाली **उषः**=उषे! **तत्**=उस **चित्रम्**=अद्भुत व ज्ञान देनेवाले धन को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **आभर**=प्राप्त करा **येन**=जिससे कि **तोकं च**=अपने पुत्रों को भी **तनयं च**=और पौत्रों को भी **धामहे**=हम धारण करनेवाले बनें। २. हमारा उषःकाल यज्ञों व स्वाध्याय में बीते। यह हमारे जीवनों को पवित्र करेंगे और स्वाध्याय हमें ज्ञानपरिपूर्ण करेगा। इस प्रकार पवित्र व ज्ञानी बनकर, इस ज्ञान को आगे देते हुए हम अपने सन्तानों के जीवनों को सुन्दर बनानेवाले हों।

भावार्थ—उषा हमें वह ज्ञान दे जो हमारे पुत्र और पौत्रों का भी कल्याण करनेवाला हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्परोष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

उषःकाल का धन

उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि। रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति॥ १४॥

१. हे **उषः**=उषे! **अद्य**=आज **इह**=इस जीवन में तू **अस्मे**=हमारे लिए **रेवत्**=धनयुक्त होकर **व्युच्छ**=रात्रि के अन्धकार को दूर कर दे। २. उषःकाल हमें क्या धन प्राप्त कराए? इसके लिए निम्न सम्बोधन-शब्द सुन्दर संकेत कर रहे हैं—(क) **गोमति**=तू उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली हो, (ख) **अश्वावति**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली हो, (ग) **विभावरि**=प्रकाशवाली हो तथा (घ) **सूनृतावति**=प्रिय सत्यवाणीवाली हो। ३. उषा को इन नामों से सम्बोधन करते हुए स्पष्ट कर रहे हैं कि जो भी व्यक्ति उषर्बुध बनते हैं वे उषःकाल में जागकर यज्ञ, उपासना व स्वाध्याय आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले लोग उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले, प्रकाशमय जीवनवाले तथा प्रिय, सत्य वाणीवाले होते हैं।

भावार्थ—उषर्बुध व्यक्ति 'ज्ञान, कर्म, प्रकाश व प्रियवाणीरूप' धनवाले बनते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**विराट्परोष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सौभगों की प्राप्ति

युक्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणाँ उषः।
अथा नो विश्वा सौभगान्या वह ॥ १५॥

१. हे **वाजिनीवति**=हविर्लक्षण अन्नों से युक्त, यज्ञादि क्रियाओंवाली **उषः**=उषा देवी! **हि**=निश्चय से **अद्य**=आज **अरुणान् अश्वान्**=अरुण वर्ण के किरणरूप अश्वों को **युक्ष्व**=तू अपने रथ में जोत, अर्थात् अरुण वर्ण की किरणों को लिये हुए तू उदय हो। २. **अथ**=अब उदय होकर **नः**=हमारे लिए **विश्वा सौभगानि**=सम्पूर्ण सौभाग्यों को **आवह**=प्राप्त करा। **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।'** 'ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य'—ये छह भग हैं। उषा से इनकी प्राप्ति के लिए यहाँ प्रार्थना की गई है। जीवन के प्रातःसवन में ऐश्वर्य व धर्म का, माध्यन्दिन सवन में यश व श्री तथा सायन्तन सवन में ज्ञान और वैराग्य का महत्त्व है। इस सब भगों को उस-उस समय यह उषा ही प्राप्त कराती है।

भावार्थ—उषा आये और हमारे लिए सौभगों को लानेवाली हो।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

गोमद्-हिरण्यवद्-'गृह'

अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत्।
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम् ॥ १६॥

१. उषा देवता के सूक्त की समाप्ति पर अश्विनीदेवों के तीन मन्त्र यह संकेत कर रहे हैं कि प्रातःकाल इन अश्विनोदेवों का आराधन भी आवश्यक है। इनका आराधन यह है कि प्राणसाधना के लिए प्राणायाम किया जाए। प्राणापान ही तो अश्विनीदेव हैं। इनसे प्रार्थना करते हैं कि हे **दस्रा**='शत्रूणामुपक्षपयितारौ'=रोगकृमिरूप शत्रुओं को, इन्द्रियों के दोषों को—काम-क्रोधादि को तथा बुद्धि की कुण्ठता को नष्ट करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप

समनसा=(सम् अनसा)=उत्तम (अन प्राणने) प्राणशक्तिवाले व जीवन में उत्साह का सञ्चार करनेवाले हो। आप **रथम्**=अपने रथ को **अस्मत्**=हमारे **वर्तिः**=इस शरीररूप गृह के (शरीर वर्ति है, सब क्रियाओं का वर्तन इसी में चलता है) **अर्वाक्**=अभिमुख **निवच्छतम्**=रोको, जिससे हमारा यह शरीररूप **गृह आ**=सब प्रकार से **गोमत्**=उत्तम इन्द्रियोंवाला (गावः इन्द्रियाणि) तथा **हिरण्यवत्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) उत्तम ज्योतिवाला हो। प्राणसाधना करने पर इन्द्रियों के दोष तो दूर होते ही है, साथ ही बुद्धि भी बड़ी तीव्र बनती है और उससे ज्ञान की दीप्ति होकर विवेकख्याति प्राप्त होती है। आत्मा व शरीर के पार्थक्य का दर्शन सुस्पष्ट हो जाता है। २. अश्विनीदेवों का रथ को हमारे घर के अभिमुख रोकने का अभिप्राय यही है कि हमारे जीवन में प्राणायाम पूरे बल से चले। प्राणसाधना होने पर शरीर में किसी प्रकार के नाशक तत्त्व न रह पाएँगे। ये प्राणापान उनका उपदसन व क्षय कर देंगे।

भावार्थ—प्राणापान सब मलों का क्षय करके इन्द्रियों को निर्दोष बनाते हैं और हमारे ज्ञान को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

श्लोक, ज्योति व ऊर्ज

यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रथुः।
आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम् ॥ १७ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यौ**=जो आप दोनों **इत्था**=सचमुच **श्लोकम्**=यश को—यशस्वी जीवन को, मन की पवित्रता के कारण प्रशंसनीय जीवन को **आचक्रथुः**=बनाते हो और जो आप **दिवः**=मस्तिष्क के दृष्टिकोण से **जनाय**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्य के लिए **ज्योतिः**=ज्ञान का प्रकाश करते हो, वे **युवम्**=आप **नः**=हमारे लिए **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **आ वहतम्**=सर्वथा प्राप्त कराओ। २. प्राणसाधना होने पर ये प्राणापान मन के दोषों को दूर करके, अशुद्धियों का क्षय करके हमारे जीवन को यशस्वी बनाते हैं। बुद्धि को तीव्र करके ये ज्ञानप्राप्ति का साधन बनते हैं। शरीर में बल और प्राणशक्ति को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार यह प्राणसाधना शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों के विकास का कारण बनती है।

भावार्थ—अश्विनीदेव 'श्लोक, ज्योति व ऊर्ज' प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**उषाः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

'मयोभुवा, दस्रा, हिरण्यवर्तनी'

एह देवा मयोभुवा दस्रा हिरण्यवर्तनी। उषर्बुधो वहन्तु सोमपीतये ॥ १८ ॥

१. **उषर्बुधः**=प्रातः प्रबुद्ध होनेवाले लोग **इह**=इस अपने जीवन में **सोमपीतये**=सोम का पान करने के लिए, शरीर में रेतःशक्ति की ऊर्ध्वगति के लिए **देवा**=कामादि शत्रुओं को जीतने की कामनावाले **मयोभुवा**=काम-क्रोधादि के विजय के द्वारा आरोग्यरूप सुख को देनेवाले, **दस्रा**=सब दुःखों व मलों का उपक्षय करनेवाले **हिरण्यवर्तनी**=ज्योतिर्मय मार्गवाले अश्विनीदेवों को—प्राणापान को **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ। २. मनुष्य को चाहिए कि वह प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला बने। प्रातः जागकर प्राणसाधना के लिए तैयारी करे। ये प्राण सिद्ध होकर उसके शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति में सहायक होंगे। शक्ति की ऊर्ध्वगति का परिणाम शरीर में 'रोगकृमियों का नाश होकर आरोग्य-प्राप्ति' होगा, मन में से मलिनताओं का नाश होगा, तथा मस्तिष्क के

दृष्टिकोण से 'ज्योति का वर्धन' होगा। ये प्राणापान इसीलिए 'मयोभुवा, दस्रा व हिरण्यवर्तनी' कहे गये हैं।

भावार्थ—हम प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना के लिए तैयार हों। यह प्राणसाधना हमें 'आरोग्य, नैर्मल्य व ज्योति' प्रदान करेगी।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि हम उषा से प्रकाश की प्रेरणा लें (१)। उषा का प्रकाश उत्तरोत्तर बढ़ता चलता है, हमारा भी ज्ञान का प्रकाश इसी प्रकार बढ़ता चले (२)। उषा की 'प्रकाश व उल्लास' की प्रेरणा सब दुःखों का निग्रह करनेवाली है (३)। उषा सम्पूर्ण भुवन को प्रकाशमय करती है (४)। यह अपने प्रकाश से द्युलोक को शोभित करती है (५)। अन्धकार को निगलकर यह हमारे चित्तों को प्रसन्न कर देती है (६)। यह सूनृतों की नेत्री है (७), सुभगा है (८)। यह सबको कार्यों में व्यापृत होने के लिए जगाती है (९)। इसके आने-जाने से हमारे आयुष्य का एक-एक दिन समाप्त हो रहा है (१०)। इसके आवागमन से दिन बदल जाते हैं (११)। यह उषा हमारे दैव्य व्रतों को हिंसित नहीं होने देती (१२)। यह हमारे यज्ञादि उत्तम कर्मों का समय बना रहे (१३)। हम इसमें जागकर 'ज्ञान, कर्म, प्रकाश व प्रियवाणी'-रूप धन को प्राप्त करें (१४)। यह हमारे लिए सौभाग्यों को लानेवाली हो (१५)। हमारा शरीररूप गृह 'गोमत् व हिरण्यवत्' बने (१६)। हम श्लोक, ज्योति व ऊर्ज को प्राप्त करें (१७)। प्राणापान हमारे लिए 'आरोग्य, नैर्मल्य व प्रकाश' लाएँ (१८)। ये प्राणापान ही अग्नि व सोम हैं। **प्राणापानवग्नीषोमौ**—ऐ० १।८। ये ही सूर्य व चन्द्र हैं—**'सूर्य एव आग्नेयः, चन्द्रमाः सोमः'**—शत० १।६।३।२४। इसीलिए अश्विनीदेवों को सूर्य-चन्द्र भी कहा गया है **'तत्कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येक, सूर्याचन्द्रमसावित्येके'**—यास्क। योग में नासिका का दाहिना स्वर 'सूर्यस्वर' है और बायाँ 'चन्द्रस्वर'। इस प्रकार अग्नि व सोम प्राणापान ही हैं। अगले सूक्त में उनसे प्रार्थना करते हैं—

[९३] त्रिनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्नि व सोम का समन्वय

अग्नीषोमाविमं सु मे शृणुतं वृषणा हवम्।
प्रति सूक्तानि हर्यतं भवतं दाशुषे मयः॥ १॥

१. **वृष्णौ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले या हमें शक्तिशाली बनानेवाले **अग्नीषोमौ**=अग्नि व सोम **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को **सुशृणुतम्**=ठीक से सुनें। हमारी यह प्रार्थना अग्नि व सोम से सुनी जाए कि वे **सूक्तानि**=हमारे स्तुतिवचनों को **प्रतिहर्यतम्**= चाहें—हमारे स्तुतिवचन उनके लिए प्रीतिकर हों और **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **मयः**=आरोग्य—सुख देनेवाले **भवतम्**=होओ। २. वस्तुतः शरीर में अग्नि व सोम तत्त्व का ठीक समन्वय होने पर पूर्ण आरोग्य निर्भर करता है। अग्नि प्राण है तो सोम अपान। केवल अग्नि 'पैत्तिक रोगों' का कारण बनती है और केवल सोम 'कफ के रोगों' का। दोनों का समन्वय आरोग्य प्रदान करता है। ३. हम प्राणापान के महत्त्व-प्रतिपादन मन्त्रों का स्मरण करते हैं। यही प्राणापान का स्तवन है, इससे हमें प्राणसाधना व प्राणायाम की रुचि उत्पन्न होकर नीरोगता की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में अग्नि व सोम का समन्वय करके रस पैदा करें।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सुवीर्य, सुज्ञान, सुकर्म

अग्नीषोमा यो अद्य वामिदं वचः सपर्यति।
तस्मै धत्तं सुवीर्यं गवां पोषं स्वश्व्यम्॥ २॥

१. हे **अग्नीषोमा**=प्राण व अपानो! **यः**=जो **अद्य**=आज **वाम्**=आपका **इदं वचः**=इस स्तुतिवचन के द्वारा **सपर्यति**=पूजन करता है, **तस्मै**=उसके लिए आप **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **धत्तम्**=धारण करते हैं, **गवां पोषम्**=ज्ञानेन्द्रियों का पोषण प्राप्त कराते हैं (गावः= ज्ञानेन्द्रियाणि गमयन्त्यर्थान्), उसके लिए आप **स्वश्वान्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं (अश्नुवते कर्मसु इति अश्वाः)। २. प्राणसाधना के द्वारा शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर मनुष्य उत्तम वीर्यवाला बनता है। यह वीर्य ज्ञानशक्ति का ईंधन बनता है, ज्ञानेन्द्रियों को पुष्ट करता है। साथ ही यह सुरक्षित शक्ति कर्मेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाती है।

भावार्थ—शरीर में अग्नि व सोम का समन्वय होने पर शक्ति की वृद्धि होती है, ज्ञानेन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं और कर्मेन्द्रियाँ सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत होती हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रजा, सुवीर्य, विश्वायु

अग्नीषोमा य आहुतिं यो वां दाशाद्धविष्कृतिम्।
स प्रजया सुवीर्यं विश्वमायुर्व्यश्नवत्॥ ३॥

१. हे **अग्नीषोमा**=अग्नि व सोम तत्त्वो! प्राणापानो! **यः**=जो भी **वाम्**=आपके प्रति उत्तम चरु की **आहुतिम्**=आहुति **दाशात्**=देता है, **यः**=जो आपके प्रति **हविष्कृतिम्**= (घृतमाज्यं हविः सर्पिः) घृत की आहुति देता है, **सः**=वह **प्रजया** (प्रजन्)=अपनी शक्तियों के प्रकृष्ट विकास के साथ **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को तथा **विश्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **अश्नवत्**=प्राप्त करता है। २. शरीर में प्राणापान के द्वारा ही अन्न का पाचन होता है। वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान से युक्त होकर ही तो चतुर्विध भोजनों का पचन करती है। इन प्राणापानों को चरु व घृत की आहुति ही प्राप्त करानी चाहिए। भक्षण के योग्य उत्तम यज्ञीय अन्न व घृत के प्रयोग से शक्तियों का विकास उत्तमता से होता है, सुवीर्य की प्राप्ति होती है और हम पूर्ण जीवन को भोगनेवाले होते हैं। ३. भोजन की शुद्धता को महत्त्व देने के लिए भोजन भी यहाँ एक यज्ञ के रूप में चित्रित हुआ है, जिसमें उत्तम अन्न व घृत की आहुतियाँ प्राणापानरूप में अग्नि में दी जाती हैं।

भावार्थ—उत्तम सात्त्विक अन्न व घृत के सेवन से हम विकास, शक्ति व पूर्ण जीवन को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

एकं ज्योतिः

अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।
अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः॥ ४॥

१. **अग्नीषोमा**=अग्नि व सोम तत्त्वो! प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत् वीर्यम्**=वह

सामर्थ्य **चेति**=जाना जाता है **यत्**=कि आप **अवसम्**=(अव रक्षणे) शरीर के रोगों से रक्षण को, **पणिम्**=(पण स्तुतौ) मन में प्रभुस्तवन को तथा **गाः**=ज्ञानप्राप्ति व कर्म की साधनभूत इन्द्रियों—जोकि वृत्र से चुराई गई थीं, उनको **अमुष्णीतम्**=पुनः हर लाते हो। कामवासना 'वृत्र' है। यह ज्ञान को तो आवृत्त करती ही है, प्रभुस्तवन से भी दूर करती है और शरीर को भी क्षीण करके रोगाक्रान्त कर देती है। एवं वृत्र 'अवस, पणि व गौओं का अपहरण करनेवाला है। प्राणापान वृत्र को नष्ट करके 'अवस, पणि व गौओं को फिर से वापस ले आते हैं। २. 'बृस' धातु वेष्टनार्थक है। वृत्र ज्ञानादि का वेष्टन कर लेता है, अतः 'बृसय' कहा गया है। 'शेषः' अपत्यवाचक है—**बृसयस्य शेषः**='बृसय का सन्तान'—यह प्रयोग बल देने के लिए हुआ है। हे प्राणापानो! आप इस **बृसयस्य शेषः**=वृत्र के सन्तान को **अवातिरतम्**=(अबाधिष्टम्) नष्ट करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा आप इस वासना को नष्ट कर देते हैं और इस वासनाविनाश के द्वारा **बहुभ्यः**=बहुतों के लिए अथवा 'बृंहते वर्धते' (बृहि वृद्धौ) शक्ति का वर्धन करनेवालों के लिए **एकं ज्योतिः**=मुख्य ज्योति को—ब्रह्मज्योति को **अविन्दतम्**=प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना से अशुद्धि का नाश होकर ज्ञान की दीप्ति होती है और विवेकख्याति होकर आत्मसाक्षात्कार होता है। इसी को यहाँ 'एकं ज्योतिः' कहा गया है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वासना का विनाश होता है और शरीर का रक्षण, मन में स्तवन तथा ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होकर आत्मसाक्षात्कार होता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्निषोमौ**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अवद्य अभिशस्ति से मुक्ति

युवमेतानि दिवि रोचनान्यग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम्।
युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीतान्॥ ५॥

१. **अग्निः च सोम**=प्राण और अपान! **युवम्**=आप **सक्रतू**=उत्तम कर्मोंवाले होकर, अर्थात् ठीक प्रकार से शरीर में कार्य करते हुए **एतानि**=इन **रोचनानि**=ज्ञान के नक्षत्रों को **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **अधत्तम्**=धारण करते हो। प्राणसाधना के द्वारा वीर्य का रक्षण होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ये वीर्यकण ही तो ज्ञानाग्नि के ईंधन बनते हैं। इस ज्ञानाग्नि की दीप्ति से मस्तिष्क विविध विज्ञानों से चमक उठता है। २. हे **अग्नीषोमौ**=प्राणापानो! **युवम्**=आप ही **गृभीतान् सिन्धून्**=वासनाओं से गृहीत रेतःकणों को **अवद्यात्**=निन्दनीय **अभिशस्तेः**=हिंसन से **अमुञ्चतम्**=मुक्त करते हो। 'स्यन्दत इति सिन्धवः' प्रवाहवाले होने से वहाँ रेतःकणों के लिए 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग है। जब ये वासनाओं से गृहीत होते हैं तब इनका विनाश हो जाता है यह विनाश निन्दनीय तो होता ही है। इन रेतःकणों को इस निन्दनीय विनाश से प्राणापान ही मुक्त कराते हैं। यह प्राणसाधना वासना को विनष्ट करके रेतःकणों का रक्षण करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना वासना-विनाश के द्वारा रेतःकणों का रक्षण करती है और इन रेतःकणों को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाकर हमारे मस्तिष्कों को ज्ञानदीप्त बनाती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्राण और ज्ञान, अपान और स्वास्थ्य

आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः।
अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम्॥ ६॥

१. **'स्तुता मया वरदा वेदमाता'** इस अथर्वमन्त्र में वेद को माता नाम से स्मरण किया गया है। इस वेदमाता में गति करनेवाला व वृद्धि को प्राप्त करनेवाला यहाँ 'मातरिश्वा' है (श्वि गतिवृद्ध्योः)। यह **मातरिश्वा**=वेद में गति व बुद्धिवाला जीव **दिवः**=ज्ञान के हेतु से **अन्यम्**=अग्नि और सोम में से एक अग्नि को **आजभार**=सब प्रकार से प्राप्त करता है। 'अग्नि' यहाँ प्राण का वाचक है। प्राणशक्ति के ठीक होने पर ही ज्ञान की दीप्ति होती है। २. **श्येनः**=(श्यैङ् गतौ) गतिशील व क्रियाशील व्यक्ति **अद्रेः**=(अदृ) स्वास्थ्य के अविदारण के हेतु से **अन्यम्**=अग्नि व सोम में से दूसरे सोम को—अपान को **परि अमथ्नात्**=सब प्रकार से मथित करता है (turns up and down) सारे शरीर में ऊपर-नीचे उसके कार्य के लिए यत्न करता है। अपान का कार्य ठीक से चलने पर स्वास्थ्य की विकृति नहीं होती, क्योंकि मलशोधन का कार्य ठीक से होता रहता है। ३. **अग्नीषोमा**=ये अग्नि और सोम-तत्त्व **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **वावृधाना**=वृद्धि को प्राप्त होते हुए **उ**=निश्चय से **यज्ञाय**=यज्ञ के लिए **उरुं लोकम्**=विशाल लोक को **चक्रथुः**=बनाते हैं। ज्ञान से प्राणापान की वृद्धि होती है। ये प्राणापान दीर्घ व यज्ञीय जीवन के कारण बनते हैं। यही प्राणापान का यज्ञ के लिए 'उरुलोक' को बनाना है।

भावार्थ—प्राणशक्ति की वृद्धि से ज्ञान बढ़ता है, अपान की स्वस्थता से स्वास्थ्य प्राप्त होता है। प्राणापान के ठीक होने पर जीवन दीर्घ व यज्ञमय बनता है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भोजनरूप यज्ञ (यज्ञरूप भोजन)

अग्नीषोमा हविषः प्रस्थितस्य वीतं हर्यतं वृषणा जुषेथाम्।
सुशर्माणा स्ववसा हि भूतमथा धत्तं यजमानाय शं योः॥७॥

१. वेद में **'ओदन एव ओदनं प्राशीत्'** इस मन्त्र में सब प्रकार की आस्वादवृत्ति का निषेध करके भोजन को भी शरीररक्षा के लिए किया जानेवाला यज्ञ कहा है। एवं, भोजन में ग्रहण की जाती हुई प्रत्येक वस्तु यहाँ हवि कही गई है। यज्ञीय पदार्थों की पवित्रता नितान्त आवश्यक है, अतः भोजन भी मद्य-मांसादि से एकदम शून्य व पवित्र ही होना चाहिए। प्राणापान के द्वारा इस भोजन का पाचन होता है, अतः कहते हैं कि हे **अग्नीषोमा**=प्राणापानो! **प्रस्थितस्य**=इस प्राप्त **हविषः**=हविरूप भोजन का **वीतम्**=आप भक्षण करो, **हर्यतम्**=इसकी कामना करो, इसे चाहो, प्रसन्नतापूर्वक खाओ और हे **वृषणा**=हमारे जीवन में सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **जुषेथाम्**=आप इसका प्रीतिपूर्वक सेवन करो। प्रसन्नतापूर्वक खाया हुआ भोजन ही उत्तम धातुओं के निर्माण में कारण बना करता है। २. हे प्राणापानो! आप **सुशर्मणा**=उत्तम सुख को देनेवाले व **स्ववसा**=उत्तम रक्षण करनेवाले (सु+अवसा) **हि**=निश्चय से **भूतम्**=होओ। **अथ**=और अब **यजमानाय**=इस यज्ञशील पुरुष के लिए-भोजन को भी यज्ञरूप में ग्रहण करनेवाले पुरुष के लिए **शं योः**=रोगों के शमन को तथा भयों के यावन=दूरीकरण को **धत्तम्**=स्थापित करो। आपके (प्राणापान के) ठीक से कार्य करने पर सब रोग शान्त हो जाते हैं और किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

भावार्थ—प्राणापान भोजन के ठीक पाचन के द्वारा नीरोगता व निर्भयता देते हैं।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः॥ देवता—अग्नीषोमौ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

महनीय सुख की प्राप्ति

यो अ॒ग्नीषोमा॑ ह॒विषा॑ सप॒र्याद्दे॑व॒द्रीचा॒ मन॑सा॒ यो घृ॒तेन॑।
तस्य॑ व्र॒तं र॑क्षतं पा॒तमंह॑सो वि॒शे जना॑य॒ महि॒ शर्म॑ यच्छतम्॥ ८॥

१. हे **अग्नीषोमा**=प्राणापानो! **यः**=जो भी व्यक्ति **हविषा**=हविरूप भोजन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **सपर्यति**=आपका पूजन करता है और जो **देवद्रीचा**=(देवं अञ्चति) प्रभु-प्रवण—प्रभु की ओर जानेवाले **मनसा**=मन से आपका पूजन करता है, **यः**=जो **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति से आपका पूजन करता है **तस्य**= उसके **व्रतं रक्षतम्**=व्रत का आप रक्षण करते हैं। प्राणापान की साधना का सर्वप्रथम परिणाम यह है कि (क) भोजन भी यज्ञ का रूप धारण कर लेता है, (ख) अगला परिणाम चित्तवृत्ति का प्रभु-प्रवण होना है, (ग) तीसरा परिणाम मलों का क्षय और (घ) चौथा परिणाम ज्ञानदीप्ति है। इन परिणामों के होने पर लगता है कि इस व्यक्ति ने प्राणसाधना की है। २. ये प्राणापान अपने उपासक को **अंहसः**= पाप से **पातम्**=बचाते हैं। यह साधक पापवृत्तिवाला नहीं रहता। वस्तुतः बहिर्मुख न रहकर यह अन्तर्मुखवाला बनता है और प्रभु में प्रवेशवाला होता है, तब इसकी सब शक्तियों का खूब विकास होता है। इस **विशे**=प्रभु में प्रवेश करनेवाले **जनाय**=शक्तियों के प्रादुर्भाववाले व्यक्ति के लिए **महि शर्म**=महनीय व महान् सुख को **यच्छतम्**=आप देते हो।

भावार्थ—प्राणापान की साधना साधक को पाप से बचाकर महनीय सुख प्राप्त कराती है।

ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः॥ देवता—अग्नीषोमौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवों की प्राणापान की वृद्धि

अ॒ग्नीषो॑मा॒ सवे॑दसा॒ सहू॑ती वनतं॒ गिरः॑। सं दे॑व॒त्रा ब॑भूवथुः॥ ९॥

१. **अग्नीषोमा**=प्राण और अपान **सवेदसा**=समानरूप से धन-(वेदस्)-वाले हैं। प्राण ज्ञानरूप धनवाला है तो अपान स्वास्थ्यरूप धनवाला है। प्राण ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है तो अपान जाठराग्नि को ठीक रखता है। प्राणसाधना से रेतस् की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि की दीप्ति होती है और अपान से मलों का शोधन ठीक प्रकार होकर जाठराग्नि ठीक बनी रहती है। २. **सहूती**=प्राणापान की प्रार्थना साथ-साथ होती है। प्राण के साथ अपान जुड़ा है, अपान के साथ प्राण। ऐसे प्राणापानो! **गिरः वनतम्**=हमारी स्तुतिवाणियों का आप सेवन करो। हम प्राणापान का स्तवन व गुणगान करें। उनके महत्त्व को समझकर उनकी साधना में प्रवृत्त हों। ३. हे प्राणापानो! आप **देवत्रा**=देवों में **संबभूवथुः**=सम्भावित व प्रशस्त हो। शरीर में सब देवों का निवास हो। सूर्य चक्षु के रूप से रहते है तो अग्नि वाणी के रूप से, चन्द्रमा मन के रूप से, वायु प्राण के रूप से। इसी प्रकार शरीर में सब देव हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्व इन प्राणों का ही है। ४. **देवत्रा संबभूवथुः**=इस वाक्य का यह भी अर्थ है कि ये प्राणापान देववृत्तिवाले पुरुषों में फूलते-फलते हैं—बढ़ते हैं, आसुर वृत्तिवाले लोगों में ये क्षीण होने लगते हैं। इसीलिए देव 'अजर व अमर' कहलाते हैं।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनें ताकि हमारी प्राणापान-शक्ति सदा बढ़ती रहे।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान व स्वास्थ्य की दीप्ति

अग्नीषोमावनेन वां यो वां घृतेन दाशति। तस्मै दीदयतं बृहत्॥ १०॥

१. हे **अग्नीषोमौ**=प्राणापानो! **यः**=जो **वाम्**=आपका साधक **अनेन घृतेन**=इस मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति के हेतु से **वां दाशति**=आपके प्रति अपना अर्पण करता है, **तस्मै**=उसके लिए आप **बृहत्**=खूब ही **दीदयतम्**=प्रकाश करनेवाले होओ। २. प्राण रेतस् की ऊर्ध्वगति के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, अपान मलों के क्षरण से स्वास्थ्य की दीप्ति प्राप्त कराता है। 'घृत' शब्द में दोनों ही भावनाएँ आ जाती हैं। इस घृत के उद्देश्य से साधक प्राणापान की साधना में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से ज्ञान व स्वास्थ्य की दीप्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्राणापान का मेल

अग्नीषोमाविमानि नो युवं हव्या जुजोषतम्। आ यातमुप नः सचा॥ ११॥

१. **अग्नीषोमौ**=हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **नः**=हमारे **इमानि**=इन **हव्या**=हव्य—पवित्र भोज्य पदार्थों को **जुजोषतम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। भोजन में ग्रहण किये गये पदार्थों का पाचन प्राणापान के द्वारा ही होता है। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' (गीता १५।१४)—चतुर्विध अन्न को प्राणापान से युक्त वैश्वानर अग्नि ही पचाती है। प्राणापान की क्रिया ठीक होने पर ही भूख ठीक लगती है। २. आप दोनों **सचा**=मिलकर **नः उप**=हमारे समीप **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणापान की क्रिया एक-दूसरे के लिए सहायक है। प्राण अपान के लिए और अपान प्राण के लिए सहायक होता है। गीता में प्राणापान-यज्ञ का उल्लेख इसी रूप में हुआ है कि प्राण की आहुति अपान में तथा अपान की आहुति प्राण में दी जाए।

भावार्थ—प्राणापान हमारे द्वारा खाये गये हव्य पदार्थों का ठीक से पाचन करें और हमें साथ-साथ प्राप्त हों।

ऋषिः—**गोतमो राहूगणपुत्रः**॥ देवता—**अग्नीषोमौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्रियाश्वों का पालन

अग्नीषोमा पिपृतमर्वतो न आ प्यायन्तामुस्रिया हव्यसूदः।
अस्मे बलानि मघवत्सु धत्तं कृणुतं नो अध्वरं श्रुष्टिमन्तम्॥ १२॥

१. हे **अग्नीषोमा**=प्राणापानो! **नः**=हमारे **अर्वतः**=इन्द्रियरूप अश्वों को **पिपृतम्**=पालित करो। हमारे इन्द्रियरूप अश्व आपकी साधना से प्रवृद्ध शक्तिवाले हों। ये आसुर वृत्तियों के आक्रमण से आक्रान्त न हों। २. **हव्यसूदः**=(हव्यं सूदन्ते) हवि के योग्य उत्तम दुग्ध देनेवाली **उस्रियाः**=गौएँ **आप्यायन्ताम्**=हमारी शक्तियों का वर्धन करें। वस्तुतः प्राणसाधना के साथ गो-दुग्धादि सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग भी आवश्यक है। ३. प्राणसाधना के साथ गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग करने पर हमारी प्रवृत्ति यज्ञीय बनती है। **मघवत्सु**=(मघ=ऐश्वर्य व यज्ञ) ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले **अस्मे**=हममें **बलानि**=शक्तियों

को **धत्तम्**=धारण करो। प्राणसाधना से यज्ञीय वृत्ति तो बनती ही है। यज्ञीय वृत्ति होने पर शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं। ४. इस प्रकार शक्तियों के रक्षण के द्वारा **नः अध्वरम्**=हमारे जीवनयज्ञ को **श्रुष्टिमन्तम्**= सुखवाला **कृणुतम्**=कीजिए।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती हैं। इस साधना में गोदुग्धादि सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग आवश्यक है। इससे हमारी वृत्ति भी यज्ञशील बनी रहती है और हमारा जीवन सुखी होता है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है कि हम अपने जीवनों में अग्नि व सोम का समन्वय करके रस पैदा करें (१)। सुवीर्य, सुज्ञान व सुकर्मवाले हों (२)। सात्त्विक अन्न व घृत के सेवन से हम विकास, शक्ति व पूर्ण जीवन को प्राप्त करें (३)। प्राणसाधना से ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होकर आत्मसाक्षात्कार होता है (४)। इस साधना से हम रेतःकणों को निन्दनीय हिंसा से बचाएँ (५)। प्राण ज्ञान का वर्धक हो और अपान स्वास्थ्य का (६)। भोजन को भी हम यज्ञ का रूप दें (७)। प्राणसाधना से हमें महनीय सुख प्राप्त हो (८)। हम देव बनेंगे तो प्राणशक्ति का वर्धन होगा ही (९)। प्राणापान की शक्ति से ज्ञान व स्वास्थ्य की दीप्ति प्राप्त होगी (१०)। हमारे जीवन में प्राणापान का मेल बना रहे (११), ये हमारी इन्द्रियों का रक्षण करें (१२)। प्राणसाधना से वासनाओं का विनाश करके हम 'कुत्स' बनते हैं (कुथ हिंसायाम्)। हमारी शक्ति स्थिर रहती है, अतः 'आङ्गिरस' बनते हैं। 'कुत्स आङ्गिरस' अगले सूक्तों में प्रभुस्तवन करते हुए कहता है कि हम आपकी मित्रता में हिंसित नहीं होते—

[९४] चतुर्नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभुस्तवनरूप रथ

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ १॥

१. **इमं स्तोमम्**=इस स्तोत्र को **अर्हते**=(पूज्याय) उस पूजा के योग्य **जातवेदसे**=(जातं जातं वेत्ति) सर्वज्ञ प्रभु के लिए **मनीषया**=बुद्धिपूर्वक **संमहेम**=सम्यक् पूजित करते हैं, बुद्धिपूर्वक प्रभु का स्तवन करते हैं। यह स्तवन **रथं इव**=हमारी जीवनयात्रा के लिए रथ की भाँति होता है। जिस प्रकार बढ़ई (तक्षा) से बनाये गये रथ से लौकिक यात्रा पूरी होती है, उसी प्रकार इस बुद्धिपूर्वक बनाये गये स्तोत्र से जीवनयात्रा पूर्ण होती है। २. **अस्य**=इस प्रभु के **संसदि**=समीप बैठने में—उपासन में **नः**=हमारी **हि**=निश्चय से **भद्रा प्रमतिः**=कल्याणकारिणी प्रकृष्ट बुद्धि होती है। उपासना से बुद्धि शुद्ध व पवित्र होती है। ३. इसलिए हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। प्रभु की मित्रता में पवित्र, कल्याणी मति प्राप्त होती है और इस कल्याणी मति से हिंसा की आंशका नहीं रहती। हम काम-क्रोधादि शत्रुओं से पराजित नहीं होते। यह कल्याणी मति हमारे जीवन को पवित्र बनाये रखती है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए रथ के समान हो। प्रभु की उपासना से हमें कल्याणी मति प्राप्त हो। प्रभु की मित्रता में हम किसी भी प्रकार से हिंसित न हों।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दारिद्र्य-कष्ट-निरसन

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहुतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यस्मै**=जिस भी व्यक्ति के लिए **त्वम्**=आप **आयजसे**=सब उत्तम साधन प्रदान कराते हो, गतमन्त्र के अनुसार जिसके लिए आप कल्याणी मति प्राप्त कराते हो **सः**=वह **साधति**=सब पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला होता है। **अनर्वा**=वह काम-क्रोधादि से हिंसित नहीं होता। कामादि से हिंसित न होने के कारण **क्षेति**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व गतिवाला होता है। उत्तम गति व आचरण के कारण **सुवीर्यं दधते**=उत्तम शक्ति को धारण करता है। २. उत्तम शक्ति के धारण से **सः**=वह **तूताव**=वृद्धि प्राप्त करता है। एवं, **एनम्**=इसको **अंहतिः**=दारिद्र्य की पीड़ा **न अश्नोति**=प्राप्त नहीं होती। ३. हे परमात्मन्! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। प्रभु की मित्रता में न आधियाँ हैं, न व्याधियाँ। इस मित्रता में अलक्ष्मी का स्थान नहीं है। इस प्रकार इस मित्रता में जीव आगे-ही-आगे बढ़ता है। यहाँ उन्नति है, अवनति नहीं।

भावार्थ—प्रभु से कल्याणी मति को प्राप्त करके हम भौतिक व आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आगे-ही-आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रज्ञा व कर्म की सिद्धि

शकेम त्वा समिधं साधया धियस्त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्।
त्वमादित्याँ आ वह तान् ह्यु१श्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा**=आपको **समिधम्**=समिद्ध व दीप्त करने के लिए **शकेम**=हम समर्थ हों। ध्यानादि के द्वारा हृदय-मन्दिर में आपका दर्शन कर सकें। आप **धियः**=हमारे प्रज्ञानों व कर्मों को **साधय**=सिद्ध कीजिए। आपकी कृपा से हमें प्रज्ञा प्राप्त हो तथा हमारे यज्ञादि उत्तम कर्म सिद्ध हों। २. **देवाः**=देववृत्ति के लोग **त्वे**=आपमें ही निवास का प्रयत्न करते हैं, आपकी शरण में ही रहते हैं। ये देव **आहुतं हविः**=लोकहित के लिए जिसका दान किया गया है उस यज्ञावशिष्ट हवि को ही **अदन्ति**=खाते हैं, देकर बचे हुए यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं। इस हवि के द्वारा ही तो वस्तुतः वे आपका पूजन करते हैं। ३. हे प्रभो! इस प्रकार हमारी वृत्ति को उत्तम बनाने के लिए **त्वम्**=आप **आदित्यान्**=सब विद्याओं का ग्रहण करनेवाले उत्कृष्ट विद्वानों को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए। हम **हि**=निश्चय से **तान्**=उनको **उश्मसि**=चाहते हैं। उन विद्वानों की संगति से ही तो हम प्रकाश प्राप्त करके, ठीक मार्ग पर चलते हुए आपके समीप पहुँचेंगे। ४. और हे अग्रणी प्रभो! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। आपकी मित्रता हमें असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर ले-जानेवाली हो।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने में समिद्ध कर सकें। प्रभु ही हमें प्रज्ञा प्राप्त कराते हैं। विद्वानों के संग से हम प्रकाश प्राप्त करके प्रभु की मित्रता में पहुँचते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

यज्ञादि उत्तम कर्मों से प्रभु-प्राप्ति

भरा॑मे॒ध्मं कृ॒णवा॑मा ह॒वींषि॑ ते चि॒तय॑न्तः॒ पर्व॑णापर्वणा व॒यम्।
जी॒वात॑वे प्र॒तरं॑ साधया॒ धियोऽग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! हम **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **इध्मं भराम**=यज्ञ के लिए ईंधन का सञ्चय करें अथवा अपने में ज्ञान-दीप्ति भरें तथा **वयम्**=हम **पर्वणापर्वणा**=प्रत्येक गुण की पूर्ति के लिए **ते चितयन्तः**=आपका स्मरण करते हुए **हवींषि**=हवियों को **कृण्वाम**=करें। हम यज्ञशेषरूप हवि का ही ग्रहण करनेवाले हों। हम यह न भूलें कि आपका उपासन हवि के द्वारा ही होता है। २. **जीवातवे**=हमारे दीर्घजीवन के लिए आप **प्रतरम्**=(प्रकृष्टतरम्) खूब ही **धियः**=प्रज्ञानों व कर्मों को **साधय**=सिद्ध कीजिए। हे परमात्मन्! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। आपकी मित्रता हमें शत्रुओं पर विजय पाने में समर्थ करे। हम कामादि को जीतनेवाले हों।

भावार्थ—हम अपने में ज्ञानदीप्ति भरें। हवि का ही स्वीकार करें यही गुण-वृद्धि व प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उस गोप की गाएँ

वि॒शां गो॒पा अ॑स्य चरन्ति ज॒न्तवो॑ द्वि॒पच्च॒ यदु॒त चतु॑ष्पद॒क्तुभिः॑।
चि॒त्रः प्र॑के॒त उ॒षसो॑ म॒हाँ अ॑स्यग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=प्रभो! आप ही **विशां गोपाः**=सब प्रजाओं के रक्षक हो। प्रजाएँ गौएँ हैं और आप उनके गोप हो। २. **अस्य**=इन आपकी ही **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों से **द्विपत् च**=जो दो पाँवोंवाले **जन्तवः**=प्राणी हैं **उत**=और **यत्**=जो **चतुष्पत्**=चार पाँवोंवाले प्राणी हैं, वे सब **चरन्ति**=अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। वस्तुतः दो पाँववाले पक्षियों व चार पाँववाले पशुओं में प्रभु की ही वासना (Instinct) के रूप में दी हुई ज्योति काम करती है। उस वासना से काम करते हुए वे पशु-पक्षी अपने मार्ग पर ठीक चलते जाते हैं। मधुमक्षिका आदि में प्रभु का दिया हुआ यह **चित्रः प्रकेतः**=अद्भुत ज्ञान स्पष्ट दिखता है। ३. हे प्रभो! उषा भी आती है और अन्धकार को दूर करती है, आप **उषसः महान् असि**=उस उषा से भी महान् हो। वह बाह्य अन्धकार को दूर करती है, आप हृदयस्थ अन्धकार को दूर करनेवाले हैं। हे प्रभो! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। आपसे प्रकाश प्राप्त करके हम ठीक मार्ग पर चलते हुए कल्याण को सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु गोप हैं, हम उनकी गौएँ। प्रभु का दिया हुआ प्रकाश अद्भुत है, उस प्रकाश में हम हिंसित नहीं होते।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रशास्ता-पोता

त्वम॑ध्व॒र्युरु॒त होता॑सि पू॒र्व्यः प्र॑शा॒स्ता पोता॑ ज॒नुषा॑ पु॒रोहि॑तः।

विश्वा॑ वि॒द्वाँ आर्त्वि॑ज्या धीर पुष्य॒स्यग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑॥ ६॥

१. हे **धीर**=प्राज्ञ प्रभो! **त्वम्**=आप ही **अध्वर्युः**=सब यज्ञों के प्रणेता हैं। ऋत्विज्रूप में बैठा हुआ अध्वर्यु आपका निमित्तमात्र ही तो है। उसके माध्यम से वस्तुतः आप ही यज्ञ का प्रणयन कर रहे होते हैं। २. हे प्रभो! **उत**=और आप ही **पूर्व्यः होता असि**=सृष्टि से पूर्व होनेवाले (हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे) होता हैं। सब पदार्थों के देनेवाले आप ही हैं। यज्ञ में होता का कार्य आपकी शक्ति से ही होता है। ३. **प्रशास्ता**=आप ही सब ज्ञानों का उपदेश करनेवाले हैं और **पोता**=(पावयिता) ज्ञान देकर शोधन-कार्य को करनेवाले हैं। ४. आप **जनुषा**=इस सृष्टि के जन्म से ही **पुरोहितः**='पुरः' सबके सामने 'हितः' आदर्शरूप से विद्यमान हैं। जैसे पुत्र के सामने पिता होता है, पुत्र पिता से शिष्टाचार आदि सीखता है, वैसी प्रकार प्रभु के मानस पुत्र प्रभु के गुणों से ही अपने गुणों को सीखने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान में भी उपासक अपने को प्रभु के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है। ५. हे प्राज्ञ प्रभो! **विद्वान्**=सर्वज्ञ आप ही **विश्वा आर्त्विज्या**=सब ऋत्विजों से साध्य कर्मों को **पुष्यसि**=पुष्ट करते हो। आपकी कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। इस प्रकार हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में इन विविध यज्ञों को सिद्ध करते हुए **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—प्रभु ही सब उत्तम कर्मों को सिद्ध करते हैं। प्रभु की मित्रता में यज्ञादि को सिद्ध करते हुए हम हिंसित न हों।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रकाशमय प्रभु

यो वि॒श्वतः॑ सु॒प्रती॑कः स॒दृङ्ङसि॑ दू॒रे चि॒त्सन्त॒ळिदि॒वाति॑ रोचसे।
रात्र्या॑श्चि॒दन्धो॒ अति॑ देव पश्यस्यग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑॥ ७॥

१. **यः**=जो आप **विश्वतः**=सब ओर से **सुप्रतीकः**=शोभन अङ्गों व अग्रभागवाले हैं। प्रभु के अङ्ग व अग्रभाग नहीं हैं, परन्तु जब प्रभु को **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'** इन शब्दों में स्मरण करते हैं तब प्रभु को विश्वतः सुप्रतीकम्' रूप में देखते हैं। प्रभु सब ओर से तेजोमय ही दीखते हैं। २. **सदृङ् असि**=आप सबके लिए समान हैं, किसी का पक्षपात नहीं करते। प्रभु के राज्य में पूर्ण न्याय हैं, वे किसी के प्रति अन्याय से नहीं वर्तते। ३. हे प्रभो! **दूरे चित् सन्**=दूर-से-दूर होते हुए भी **तळित् इव**=अत्यन्त समीप की भाँति (तडित्=अन्तिक) **अतिरोचसे**=अतिशयेन देदीप्यमान होते हैं अथवा विद्युत् (तडित्) की भाँति देदीप्यमान हैं। हे देदीप्यमान प्रभो! **रात्र्याः चित् अन्धः**=रात्रि के अन्धकार को भी **अतिपश्यसि**=(अतीय पश्यसि) लांघकर आप देखनेवाले हैं अथवा प्रकाशित होनेवाले हैं। रात्रि का अन्धकार जीव की भौतिक आँखों के लिए रुकावट हो सकता है, यह आपके लिए रुकावट नहीं है। आप तो **'तमसः परस्तात्'**—अन्धकार से परे हैं। ४. हे **अग्ने**=प्रकाशमान प्रभो! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों। अन्धकार ही मार्गभ्रंश व विनाश का कारण बनता है। आपकी उपासना में प्रकाश-ही-प्रकाश है, वहाँ मार्गभ्रंश का भय नहीं।

भावार्थ—प्रभु सदा देदीप्यमान हैं, अन्धकार से परे हैं। प्रकाश के कारण प्रभु

की मित्रता में किसी प्रकार का भय नहीं है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्तम शरीर=रथ

पूर्वो देवा भवतु सुन्वतो रथोऽस्माकं शंसो अभ्यस्तु दूढ्यः।
तदा जानीतोत पुष्यता वचोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ८॥

१. प्रकृति के ये सूर्यादि देव जब शरीरस्थ चक्षु आदि देवांशों के अनुकूल होते हैं तब मनुष्य स्वस्थ होता है—उसका शरीररूप रथ सुदृढ़ होता है। इसी बात को इस प्रकार कहते हैं कि हे **देवाः**=सूर्यादि देवो! **सुन्वतः**=शरीर में सोम-(वीर्य)-शक्ति का अभिषव (उत्पादन) करनेवाले, यज्ञमय जीवनवाले पुरुष का **रथः**=यह शरीररूप रथ **पूर्वः भवतु**=सर्वोत्कृष्ट हो, अपना ठीक प्रकार से पूरण करनेवाला हो। इस शरीर-रथ में किसी प्रकार की कमी न हो। २. **अस्माकम्**=हमारा **शंसः**=प्रभु के गुणों का शंसन **दूढ्यः**=दुष्ट बुद्धिवाले लोगों को भी **अभ्यस्तु**=अभिभूत करनेवाला हो। हमारी उपासना का प्रभाव दुर्बुद्धि लोगों को भी सुबुद्धि बनानेवाला हो। 'शंसः' शब्द का अर्थ उपदेश भी होता है। अपने शरीररूप रथ को ठीक बनाकर यदि हम उपदेश दें तो वह दुर्बुद्धियों को भी प्रभावित करनेवाला हो। रोगाक्रान्त निर्बल शरीरवाले पुरुष का उपदेश भी प्रभावरहित ही होता है, क्योंकि उसकी शारीरिक स्थिति उसके वचनों का पोषण नहीं कर रही होती। ३. हे देवो! हमारे **तत् वचः**=उस उपदेशात्मक वचन को **आजानीत**=आप ज्ञान से परिपूर्ण करो **उत**=और **पुष्यत**=उसको शक्तिशाली बनाओ। यह उत्तम प्रभाव पैदा करनेवाला हो। हमारे वचन ज्ञान देनेवाले हों और उसे भी प्रभावजनक रूप में। हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! इस प्रकार ज्ञान का प्रसार करते हुए **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ उत्कृष्ट हो। हमारा उपदेश दुर्बुद्धियों को सुबुद्धियुक्त बनानेवाला हो। हमारे वचन ज्ञान व शक्ति से भरे हों। प्रभु की मित्रता में हम चलें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

दुःशंसों का दूरीकरण

वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः।
अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **दुःशंसान्**=जुआ, शिकार आदि व्यसनों का उज्ज्वल शब्दों में चित्रण करके औरों को व्यसनों में फँसानेवाले **दूढ्यः**=दुर्बद्धि पुरुषों को **वधैः**=इस प्रकार औरों का वध करने से **अपजहि**=दूर कीजिए (हन्=गति)। प्रसङ्गवश यहाँ राजकर्तव्य का भी संकेत है कि राष्ट्र का अग्रणी राजा ऐसे पुरुषों को वधों के द्वारा दूर कर दे। २. हे प्रभो! **दूरे वा**=दूर अथवा **अन्ति वा**=समीप **ये के चित्**=जो कोई भी **अत्रिणः**=(अद् भक्षणे) औरों को खा जाने की वृत्तिवाले दस्यु हैं, उन सबको आप वध द्वारा दूर कीजिए। इन दुःशंस लोगों को दूर करके **अथ**=अब **यज्ञाय**=यज्ञमय जीवनवाले, यज्ञ के ही पुतले **गृणते**=उपासक पुरुष के लिए **सुगं कृधि**=मार्ग को सुगमता से आक्रमण करने योग्य कीजिए। राजा का भी यही कर्तव्य है कि दस्युओं को दण्डादि से दूर कर आर्यों के लिए मार्ग को सुगम बनाये। ३. हे **अग्ने**=सबको उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभो! **तव सख्ये**= आपकी मित्रता में **वयम्**=हम

मा रिषाम=हिंसित न हों। हम आपकी मित्रता में चलते हुए दुःशंस पुरुषों के दबाव में तो आएँ ही नहीं, प्रत्युत उन्हें सुशंस बना पाएँ।

भावार्थ—राष्ट्र से 'दुःशंस, दूढ्य, अत्रि' पुरुष दूर हों, यज्ञीय जीवनवाले प्रभुभक्तों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

आरोचमान वायुवेगवाले इन्द्रियाश्व

यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः।
आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यत्**=जब आप **रथे**=हमारे इस शरीररूप रथ में **अरुषा**=आरोचमान, ज्ञानदीप्ति से चमकते हुए **रोहिता**=आरोहण व वृद्धि के कारणभूत **वातजूता**=वायु के समान वेगवाले इन्द्रियाश्वों को **अयुक्थाः**=जोतते हैं, उस समय **वृषभस्य इव**=वृषभ की भाँति **ते रवः**=आपकी ध्वनि होती है। प्रभु ने हमें शरीररूप रथ दिया है, इस शरीर-रथ में ज्ञानेन्द्रियाँ तो आरोचमान (अरुषा) अश्व के रूप में हैं और कर्मेन्द्रियाँ वायुवेगवाले (वातजूता) अश्व हैं। ये दोनों ही उन्नति के कारण हैं (रोहिता)। इस प्रकार का रथ होने पर हृदयस्थ रूपेण वे प्रभु ही इसे ठीक मार्ग पर ले-चलने के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। एक शक्तिशाली वृषभ के शब्द के समान ऊँची उस प्रभु की गर्जना है, परन्तु यह हमारा दौर्भाग्य होता है कि हम उस गर्जना को अन्यत्र गई हुई चित्तवृत्ति के कारण सुन नहीं पाते। वे प्रभु तो उत्तम प्रेरणा के द्वारा हमपर सुखों का वर्षण कर ही रहे हैं (वृषभ=वर्षण करनेवाला)। २. इस प्रेरणा को जब भी कभी हम सुनते हैं, तब **आत्**=शीघ्र ही, उसके बाद हे प्रभो! आप इन **वनिनः**=उपासकों को **धूमकेतुना**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले ज्ञान से **इन्वसि**=व्याप्त कर देते हो। प्रभु की प्रेरणा में वह ज्ञान है जो वासनाओं को दग्ध कर देता है। हे प्रभो! इस प्रकार **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे शरीरों में आरोचमान, वायुवेगवाले, उन्नति के कारणभूत अश्व जोते हैं। हम इस शरीर-रथ पर बैठकर प्रभु-प्रेरणा को सुनें ताकि हमें वासनाओं को विदग्ध करनेवाला ज्ञान प्राप्त हो और हम आगे बढ़ें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुस्तवन व सोमरक्षण

अध स्वनादुत बिभ्युः पतत्रिणो द्रप्सा यत्ते यवसादो व्यस्थिरन्।
सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ११॥

१. यहाँ 'पतत्रिणः' शब्द पतन की कारणभूत वासनाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। ये मनुष्य पर प्रबल आक्रमण (पत्=क्रम=गति) करने के कारण भी 'पतत्री' हैं। ये मनुष्य पर आक्रमण करती हैं। झपट्टा मारनेवाले बाज (पत्री) की भाँति इनका आक्रमण होता है, परन्तु **अध**=अब जबकि प्रभु हम भक्तों को वासनाओं को कम्पित करनेवाले ज्ञान से व्याप्त करते हैं तब **स्वनात्**=उस प्रभु के स्वन (शब्द) से ये **पतत्रिणः**=पतन की कारणभूत वासनाएँ **बिभ्युः**=भयभीत होती हैं। अब ये हमपर आक्रमण करने का साहस नहीं करतीं **उत**=और **यवसादः**=जौ आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन करनेवाले **ते**=तेरे **यत्**=जो **द्रप्साः**=सोमकण

(Drops) हैं, वे **व्यस्थिरन्**=शरीर में विशेषरूप से स्थित होते हैं। २. हे प्रभो! **तत्**=तब ऐसा होने पर **तावकेभ्यः रथेभ्यः**=इन तेरे शरीररूप रथों के लिए—आप से दिये गये इन शरीरों के लिए **ते**=तेरे समीप पहुँचना **सुगम्**=सुख से हो पाता है। वासना का विजेता पुरुष, इस शरीर-रथ के द्वारा, यात्रा को पूर्ण करके सुगमता से प्रभु को पानेवाला बनता है। इस प्रकार हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—जहाँ प्रभुस्तवन की ध्वनि हैं, वहाँ वासनाएँ आक्रमण नहीं करती। इस प्रकार प्रभुभक्त इन शरीर-रथों से यात्रा में आगे बढ़ते हुए प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्राणापान की प्रसन्नता (अनुकूलता)

अयं मित्रस्य वरुणस्य धायसेऽवयातां मरुतां हेळो अद्भुतः।
मृळा सु नो भूत्वेषां मनः पुनरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ १२॥

१. **अयम्**=गतमन्त्र में वर्णित यह प्रभुभक्त **मित्रस्य वरुणस्य**=प्राण व अपान के **धायसे**=धारण के लिए समर्थ हो। **मरुताम्**=प्राणों का **अद्भुतः**=विस्मयकारक व महान् **हेळः**=कोप **अवयाताम्**=दूर हो जाए (यातु=याताम्। पदव्यत्यय)। प्राणापान में विकार होने पर शरीर व मन व्याधि व आधियों से भर जाते हैं। एवं, प्राणापान का प्रकोप अत्यन्त महान् है। प्रभुभक्त इस कोप से बचा रहता है। २. हे प्रभो! प्राणापान के कोप से बचाकर आप **नः**=हमारे लिए **सू**=उत्तमता से **मृळ**=सुख देनेवाले होओ। **एषाम्**=इन मरुतों का **मनः**=मन **पुनः**=फिर **नः**=हमारा **भूतु**=हो, अर्थात् इनके साथ हमारी अनुकूलता हो। इस प्रकार हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा**=मत **रिषाम**=हिंसित हों।

भावार्थ—प्रभुभक्त प्राणापान के कोप से बचा रहता है, इसलिए हमें स्नायु-संस्थान के रोग नहीं होते।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड् जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

देवों के देव

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ १३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **देवानां देवः असि**=आधिदैविक जगत् में सूर्यादि सब प्रकाशमान पदार्थों को प्रकाश देनेवाले हैं। अध्यात्म में भी चक्षु आदि देवों के चक्षु (प्रकाशक) आप ही हैं। आधिभौतिक जगत् में विद्वानों को ज्ञान का प्रकाश आपसे ही प्राप्त होता है—**'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'** २. आप **अद्भुतः मित्रः**=अद्भुत मित्र हैं। संसार के मित्र उपकार का प्रत्युपकार चाहते हैं। आप उपकार-ही-उपकार करते हैं। आपको किसी प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं हैं। ३. आप **वसूनां वसुः असि**=वसुओं के वसु हैं, सब वसुओं में वसुत्व के स्थापित करनेवाले आप ही हैं, अथवा आप ही **चारुः**=सुन्दर हैं। जीवनयज्ञ का सब सौन्दर्य आप पर ही निर्भर करता है। ४. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तव**=आपके **सप्रथस्तमे**=अत्यन्त विस्तारवाले **शर्मन्**=सुख में **स्याम**=हम हों। हमें आपका प्रगाढ आनन्द प्राप्त हो और **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—प्रभु देवों के देव हैं, वसुओं के वसु हैं। प्रभु की शरण में रहने पर जीवनपथ

का सौन्दर्य नष्ट नहीं होता।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

रत्न व द्रविण

तत्ते॑ भ॒द्रं यत्समि॑द्धः॒ स्वे दमे॒ सोमा॑हुतो॒ जर॑से मृळ॒यत्त॑मः।
दधा॑सि॒ रत्नं॒ द्रवि॑णं च दा॒शुषेऽग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑॥ १४॥

१. हे प्रभो! **ते तत् भद्रम्**=आपकी यह बात हमारा अत्यन्त कल्याण करनेवाली है **यत्**=कि **स्वे दमे**=आपसे दिये हुए, आपके ही इस शरीर में **समिद्धः**=अत्यन्त प्रकाशमान **सोमाहुतः**=सोम के द्वारा आहुत हुए आप **मृळयत्तमः**=अत्यन्त सुख देनेवाले के रूप में **जरसे**=स्तुति किये जाते हो। सोमशक्ति के रक्षण से ही ज्ञानाग्नि की दीप्ति होकर प्रभु का दर्शन होता है। यही सोम के द्वारा प्रभु का आहुत होना है। प्रभु का शरीर में निवास होने पर किसी प्रकार का अकल्याण होने की सम्भावना नहीं रहती। २. हे प्रभो! आप **दाशुषे**=अपना अर्पण करनेवाले के लिए **द्रविणम्**=शरीर-यात्रा के चलाने के लिए आवश्यक धन को **च**=और **रत्नम्**=सब रमणीय वस्तुओं को **दधासि**=धारण करते हैं। प्रभुभक्त को द्रविण व रत्नों की कमी नहीं रहती। हे **अग्ने**=परमात्मन्। **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न हों। प्रभु की मित्रता में किसी बात की कमी नहीं रहती, अतः वहाँ हिंसित होने का प्रश्न ही नहीं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

निरपराधता

यस्मै॒ त्वं सु॑द्रविणो॒ ददा॑शोऽनागा॒स्त्वम॑दिते स॒र्वता॑ता।
यं भ॒द्रेण॒ शव॑सा चो॒दया॑सि प्र॒जाव॑ता॒ राध॑सा॒ ते स्या॑म॥ १५॥

१. हे **सुद्रविणः**=शोभन धनोंवाले प्रभो! **अदिते**=खण्डन व नाश न होने देनेवाले प्रभो! **सर्वताता**=सब कर्मों का विस्तार करनेवाले इस जीवनयज्ञ में **यस्मै**=जिस भी व्यक्ति के लिए **त्वम्**=आप **अनागाः**=निरपराधता को **ददाश**=देते हैं और २. **यम्**=जिसको आप **भद्रेण**=कल्याण व सुख देनेवाली **शवसा**=शक्ति व क्रिया से **चोदयासि**=प्रेरित करते हैं, ऐसे हम **ते**=आपके **प्रजावता**=उत्तम सन्तानोंवाले अथवा उत्तम शक्तियों के विस्तारवाले **राधसा**= कार्यसाधक धन के साथ **स्याम**=हों।

भावार्थ—हम (क) प्रभु से उत्तम धनों व स्वास्थ्य को प्राप्त करके निरपराध जीवनयज्ञ का विस्तार करनेवाले हों, (ख) हमारी शक्ति व क्रिया कल्याणमयी हो, (ग) हमारा धन उत्तम प्रजा व शक्तियों के विकास से युक्त हो।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुन्दर दीर्घ जीवन

स त्वम॑ग्ने सौभगत्वस्य॑ वि॒द्वान॒स्माक॒मायुः॒ प्र ति॑रे॒ह दे॑व।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑तिः॒ सिन्धुः॑ पृथि॒वी उ॒त द्यौः॥ १६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **देव**=सब-कुछ देनेवाले व प्रकाशमय प्रभो! **सौभगत्वस्य**

विद्वान्=सौभाग्य व सौन्दर्य को सम्यक् जानते हुए **सः त्वम्**=वे आप **अस्माकम्**=हमारी **आयुः**=आयु को **इह**=यहाँ **प्रतिर**=खूब ही बढ़ा दीजिए। आपकी कृपा से हमारा जीवन सब सौभगों से पूर्ण व दीर्घ हो। २. आपसे दिये हुए **तत्**=उस **नः**=हमारे सुन्दर दीर्घजीवन को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=अदिति, **सिन्धुः**=सिन्धु, **पृथिवी**=पृथिवी **उत**=और **द्यौः**=द्युलोक **मामहन्ताम्**=(पूजयन्तु, रक्षन्तु) पूजित करें व आदरणीय बना दें। इन देवों के द्वारा वह जीवन सुरक्षित हो। 'मित्र' स्नेह का देवता है, 'वरुण' द्वेषनिवारण का। जीवन का सौन्दर्य स्नेह व निर्द्वेषता की अपेक्षा करता ही है। 'अदिति' स्वास्थ्य की देवता है। बिना स्वास्थ्य के सौन्दर्य और दीर्घता सम्भव ही नहीं। 'सिन्धुः' (स्यन्दते) बहनेवाले जल, शरीर में सोमकण हैं। इनके रक्षण से ही स्वास्थ्य बना रहता है। ये ही पृथिवी अर्थात् शरीर को तथा द्यौः=मस्तिष्क को शक्ति व ज्योति देते हैं। सुन्दर जीवन के लिए 'सशक्त शरीर व दीप्त मस्तिष्क' दोनों की आवश्यकता है एवं मित्रादि देव हममें निवास करके सुन्दर एवं दीर्घजीवन का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—मित्रादि देवों की स्थिति से हमारा जीवन सुन्दर व दीर्घ हो।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि इस जीवनयात्रा में प्रभुस्तवन ही हमारा रथ हो (१)। हमारा दारिद्र्य का कष्ट दूर हो (२)। हम प्रज्ञा व कर्म को सिद्ध करें (३)। यज्ञादि उत्तम कर्मों से ही प्रभु-प्राप्ति होती है (४)। इस संसार में प्रभु गोप हों और हम उसकी गौएँ (५)। वे प्रभु ही प्रशास्ता व पोता हैं (६), प्रकाशमय हैं (७)। देवों की अनुकूलता से हमारा शरीररूप रथ सुन्दर हो (८)। दुःशंस पुरुष हमसे दूर हों (९)। हमारे इन्द्रियाश्व आरोचमान व वायु वेगवाले हों (१०)। प्रभुस्तवन सोमरक्षण का साधन है (११)। प्राणापान की अनुकूलता अत्यन्त आवश्यक है (१२)। वे प्रभु ही देवों के देव हैं (१३)। वे ही सब रत्न व द्रविणों को देते हैं (१४)। प्रभुकृपा से हमारा जीवन निरपराध हो (१५)। मित्रादि देव हमारे जीवन को सुन्दर बनाएँ (१६)।

'इस सुन्दर जीवन के लिए हम दिन-रात को किस प्रकार बिताएँ'—इस बात का उल्लेख अगले सूक्त में है।

इति प्रथमाष्टके षष्ठोऽध्यायः।

अथ प्रथमाष्टके सप्तमोऽध्यायः

[९५] पञ्चनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दिन व रात

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥ १॥

१. **द्वे**=दिन और रात ये दो **विरूपे**=परस्पर विरुद्ध रूपवाले (दिन चमकवाला है तो रात्रि अन्धकारवाली, इस कारण दिन को 'अहरर्जुनञ्च' श्वेत कहा है और 'रात्रिश्च कृष्णम्' रात्रि को काला) **चरतः**=गति करते हैं। एक के पश्चात् दूसरे का आना क्रमशः होता ही रहता है। ये दोनों **स्वर्थे**=उत्तम प्रयोजनवाले हैं। दिन क्रियाशीलता के द्वारा मनुष्य में शक्ति उत्पन्न करता है और रात्रि गाढ निद्रा में ले-जाकर, क्रिया को रोककर शरीर का शोधन करनेवाली होती है। इस शोधन से यह जीवन को दीर्घ बनाती है। २. रात्रि से सूर्य उत्पन्न होता-सा प्रतीत होता है और दिन की समाप्ति पर चमकवाली होने से यह अग्नि दिन से उत्पन्न होती है। (रात्रेर्वत्सा श्वेत आदित्यः, अह्नोऽग्निस्ताम्रोऽरुणः, इति—तै०)। ये दिन और रात एक-दूसरे के **वत्सम्**=पुत्र को **उपधापयेते**=दूध पिलाती हैं। (दिन 'रात्रि के पुत्र सूर्य को' तथा रात्रि 'दिन के पुत्र अग्नि को'। प्रातः सूर्य के लिए आहुतियाँ दी जाती हैं और रात्रि (सायं) में अग्नि के लिए)। ३. **हरिः**=रसों का हरण करनेवाला अथवा रोगों का हरण करनेवाला सूर्य **अन्यस्याम्**=अपनी रात्रिरूप माता से भिन्न दिन में **स्वधावान्**=अन्नवाला होता है—सूर्य के लिए आहुतियाँ दिन में दी जाती हैं और **शुक्रः**=मलों के दहन से शुचिता को उत्पन्न करनेवाला अग्नि **अन्यस्याम्**=अपनी दिनरूप माता से भिन्न रात्रि में **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस्वाला—उत्तम तेज व चमकवाला **ददृशे**=दीखता है। इसकेलिए इसे सायं के समय ही आहुतियाँ दी जाती हैं। प्रातः सूर्य का महत्त्व था, अब सायं अग्नि का महत्त्व है। ४. दिन में सूर्य 'हरि' है, हमारे रोगों का हरण करनेवाला है—हम सूर्य के समान ही श्रमशील होते हैं तो यह हमारे दारिद्र्य को दूर करता है। रात्रि में अग्नि 'शुक्र' है। हम अपनी जाठराग्नि को ठीक रखते हैं तो यह शरीर का ठीक शोधन कर देती है। कमरे में अग्नि जलाते हैं तो यह वहाँ के दुर्गन्धित वायु को छिन्न-भिन्न करके वहाँ के वायु को पवित्र करनेवाली होती है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में दिन-रात व सूर्य और अग्नि का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमें इनके सम्पर्क से नीरोग व पवित्र बनना है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अग्नि का प्रजनन

दशेमं त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम्।
तिग्मानीकं स्वयशसं जनेषु विरोचमानं परि षीं नयन्ति॥ २॥

१. गतमन्त्र के पिछले भाग में वर्णित **इमम्**=इस अग्नि को **त्वष्टुः**=उस सूर्यादि सब देवों

के निर्माण करनेवाले प्रभु की बनाई हुई **दश**=ये दस अंगुलियाँ **जनयन्त**=प्रकट करती हैं। एक हाथ में एक अरणी को पकड़ते हैं, दूसरे में दूसरी को, फिर इनकी रगड़ से अग्नि पैदा करते हैं। आजकल अरणियों का स्थान डिब्बी व तीली ले-लेती है। इनकी रगड़ से ही आग उत्पन्न होती है, परन्तु वह अग्नि **गर्भम्**=उन पदार्थों में गर्भरूप से पहले ही रह रही होती है। **विभृत्रम्**=यह विभक्त करके सब स्थानों पर स्थापित की गई है, **तिग्मानीकम्**=अत्यन्त **तिग्म**=(तेज) दीप्तिवाली है। **स्वयशसम्**=(स्वआत्मीय) अपने को अपनानेवाले पुरुष को यशस्वी बनाती है। जिस भी पुरुष की जाठराग्नि ठीक होगी वह स्वस्थ व यशस्वी बनेगा ही। यह अग्नि **जनेषु**=मनुष्यों में **विरोचमानम्**=विशिष्ट दीप्ति और शोभावाली होती है। वस्तुतः उदर में जाठराग्नि के रूप में रहती हुई यह शारीरिक स्वास्थ्य को देती है, हृदय में उत्साह व शक्ति को जन्म देनेवाली होती है तथा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि के रूप में रहती हुई यह उसे ज्ञानोज्ज्वल करती है। २. इस अग्नि को **अतन्द्रासः**=किसी भी प्रकार से आलस्य न करती हुईं, अर्थात् सतत कार्य में लगी हुईं **युवतयः**=अच्छाइयों से मिश्रण व बुराइयों से अमिश्रण करती हुईं—अयज्ञिय पदार्थों को दूर करती हुईं तथा यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करती हुईं दस अंगुलियाँ **सीम्**=निश्चय से **परिनयन्ति**=चारों ओर प्राप्त कराती हैं। इष्ट स्थान में इन अंगुलियों के द्वारा ही अग्नि का प्रज्वलन होता है।

भावार्थ—प्रभु द्वारा बनाई गई ये अंगुलियाँ इष्ट स्थानों में अग्नि को प्रकट करनेवाली हों। यह अग्नि हमारे यश व तेज का कारण बने।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**॥ देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वसन्तादि ऋतुओं का उपदेश

त्रीणि जाना परि भूषन्त्यस्य समुद्र एकं दिव्येकमप्सु।
पूर्वामनु प्र दिशं पार्थिवानामृतून्प्रशासद्वि दधावनुष्ठु ॥ ३ ॥

१. **अस्य**=गतमन्त्र में वर्णित इस अग्नि के **त्रीणि जाना**=तीन जन्म **परिभूषन्ति**=इस ब्रह्माण्ड को सर्वतः अलंकृत करते हैं। **समुद्रे एकम्**=इसका एक जन्म समुद्र में है। समुद्र में वडवानल के रूप में यह अग्नि रहता है। **दिवि एकम्**=इसका एक जन्म द्युलोक में है। द्युलोक में यह सूर्य के रूप में है तथा इसका तीसरा जन्म **अप्सु**=अन्तरिक्षलोक में (आपः अन्तरिक्षनामसु निघण्टौ, Sky निरुक्त) वैद्युत अग्नि के रूप में है। २. इन तीनों अग्नियों में द्युलोक में वर्तमान आदित्यरूप अग्नि **पार्थिवानाम्**=इस पृथिवी पर रहनेवाले प्राणियों के लिए **ऋतून्**=वसन्तादि ऋतुओं को **प्रशासत्**=प्रकर्षेण उपदिष्ट करता हुआ **पूर्वां प्रदिशम्**=पूर्व नामवाली इस प्रकृष्ट दिशा को **अनुष्ठु**=सम्यक् **अनु**=अनुक्रम से **विदधौ**=बनाता है। ३. वस्तुतः काल व देश में मूल में अभिन्नता है। काल में होनेवाला वसन्तादि का भेद तथा देश में होनेवाला पूर्वादि का भेद सूर्य की गति से उत्पन्न होता है। सूर्य की गति ही संवत्सरात्मक काल को वसन्तादि छह ऋतुओं में बाँटती है और देश को भी सूर्य की गति ही पूर्व-पश्चिमादि भागों में बाँटनेवाली होती है। ४. सूर्य इन वसन्तादि ऋतुओं से इन पार्थिव प्राणियों (मनुष्यों) को उपदेश देता प्रतीत होता है कि (क) वसन्त की भाँति खिले हुए चित्त—पुष्पवाला तुम्हें बनना है और वसन्त की भाँति ही शुभकर्मों की यश-सुगन्धिवाला होना है, (ख) ग्रीष्म की भाँति तेजस्वी व मलों को दूर करनेवाला बनकर (ग) वर्षा की भाँति सबके सन्ताप को हरनेवाला व सब पर सुखों का वर्षण

करनेवाला होना है, (घ) शरत् से मर्यादा का पाठ पढ़ना है। इस शरत् में जल पुनः अपनी मर्यादा में बहने लगते हैं; वर्षा में ये कितने उद्वृत्त हो गये थे! (ङ) जीवन के मर्यादित होने पर हेमन्त से तुम्हें उपचय=वृद्धि का पाठ पढ़ना है और (च) शिशिर से (शश प्लुतगतौ) प्लुतगति का पाठ पढ़ते हुए अत्यन्त क्रियाशील होना है। इस प्रकार हम इन ऋतुओं का उपदेश सुनकर, उसे क्रियान्वित करते हुए सूर्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले होंगे।

भावार्थ—समुद्र, द्युलोक व अन्तरिक्ष में अग्नि—'वडवाग्नि, सूर्य व विद्युत्' रूप में रहती है। सूर्य की गति ही वसन्तादि कालभेद का तथा पूर्वादि दिशाभेद का कारण है। वसन्तादि ऋतुएँ हमारे लिए अति मनोहर उपदेश दे रही हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

महान् कवि स्वधावान्

क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातृर्जनयत स्वधाभिः।
बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान्महान्कविर्निश्चरति स्वधावान्॥ ४॥

१. अग्नियों के वर्णन के प्रसङ्ग में प्रभुरूप अग्नि का भी वर्णन करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुममें से **कः**=कोई एक-आध, विरला व्यक्ति ही **इमम्**=इस **निण्यम्**=हृदय में अन्तर्हित प्रभुरूप अग्नि को **आचिकेत**=जानता है। सामान्यतः इन्द्रियाँ बाह्य विषयों में जानेवाली होने से उस अन्तरात्मा की ओर झुकाववाली नहीं होतीं। कोई धीर ही आवृत्तचक्षु होकर उस अन्तःस्थित आत्मा को देखता है। २. यही **वत्सः**=प्रभु का प्रिय होता है और **मातॄः**=ज्ञान व कर्म का निर्माण करनेवाली इन इन्द्रियों को **जनयत**=विकसित शक्तिवाला करता है और **स्वधाभिः**=अपनी धारण-शक्तियों से युक्त होता है। ३. प्रभु एक है, जीव अनेक। वह **बह्वीनाम्**=अनेक प्रजाओं के **गर्भः**=गर्भरूपेण मध्य में रहनेवाला एक प्रभु **अपसाम्**=कर्मों की **उपस्थान्**=गोद से **निश्चरति**=बाहर प्रकट होता है। सबके अन्दर तो वे प्रभु रह ही रहे हैं। उनका दर्शन स्वकर्मों के द्वारा उनके अर्चन से होता है—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः**'। ४. इस प्रभु के प्रकट होने पर वह साधक जीव **महान्**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाला होता है, **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है और **स्वधावान्**=आत्मधारणा की शक्तिवाला होता है। हृदय में महान्, मस्तिष्क में कवि और शरीर में स्वधावान् बनता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक 'महान्, कवि व स्वधावान्' होता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सरल स्वयशाः

आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे।
उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार स्वधर्म के पालन से प्रभु की अर्चना करता हुआ **आविष्ट्यः**=प्रभु के आविर्भाव में होनेवाला, अर्थात् प्रभु का साक्षात्कार करनेवाला व्यक्ति **वर्धते**=बढ़ता है, इसकी सब शक्तियों का विकास होता है और **आसु**=इन प्रजाओं में **चारुः**=सुन्दर जीवनवाला होता है। २. यह प्रभु का द्रष्टा **जिह्मानाम् ऊर्ध्वः**=सब कुटिलताओं से ऊपर उठा हुआ होता है। '**सर्वं**

जिह्मं मृत्युपदम्, आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'—कुटिलता मृत्यु का मार्ग है, सरलता ही ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है। हम प्रभु से यही तो प्रार्थना करते हैं कि—'**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः**'—हमसे कुटिलता व पाप को दूर कीजिए। ३. इस सरल जीवन के कारण **उपस्थे**=प्रभु के उपस्थान व उपासन में यह **स्वयशाः**=अपने से यशवाला होता है। अपने उत्तम जीवन के कारण यह यशस्वी बनता है। ४. यह प्रभु के उपस्थान से अपने हृदय में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करता है और उस **जायमानात्**=प्रादुर्भूत् हुए-हुए **त्वष्टुः**=महान् देवशिल्पी से—सूर्य-चन्द्रमादि देवों का निर्माण करनेवाले प्रभु से **उभे**=हमारे शत्रुभूत काम-क्रोध दोनों ही (तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ) **बिभ्यतुः**=भयभीत हो जाते हैं। प्रभु का प्रादुर्भाव होने पर काम-क्रोध का रहना सम्भव ही नहीं। ५. काम-क्रोध अब हमारे शत्रु नहीं रहते, अपितु **प्रतीची**=(प्रति अञ्च) भय के कारण वापस जाते हुए ये **सिंहं प्रति**=काम-क्रोध का हिंसन करनेवाले उस प्रभु के प्रति **जोषयेते**=हमें प्रीतिपूर्वक सेवन व सम्भजन करनेवाला बनाते हैं। जो काम अब तक हमारी वैषयिक रुचि का कारण बना हुआ था, वह अब पवित्र होकर हमें प्रभु के प्रति झुकाता है। हमारी कामना अब वैदिक कर्मयोग को अपनाने की होती है। इस काम में क्रोध का स्थान ही नहीं, क्योंकि क्रोध कामना के विघात से होता है। प्रभु-प्राप्ति का मार्ग सबके लिए खुला है। वहाँ पारस्परिक संघर्ष न होने से क्रोध का प्रश्न ही नहीं उठता।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश होने पर हम सरल व यशस्वी जीवनवाले होते हैं। प्रभु के सामने काम व क्रोध भयभीत होकर भाग जाते हैं। वैषयिक कामना प्रभु-प्राप्ति की कामना के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उत्तम बलों का पति

उभे भद्रे जोषयेते न मेने गावो न वाश्रा उप तस्थुरेवैः।
स दक्षाणां दक्षपतिर्बभूवाञ्जन्ति यं दक्षिणतो हविर्भिः॥ ६॥

१. **उभे**=गत मन्त्र में वर्णित काम-क्रोध दोनों प्रभु का प्रकाश होने पर **भद्रे**=कल्याणकारक व सुखदायी हो जाते हैं। काम तो वेदाधिगम (ज्ञानप्राप्ति) व शास्त्रविहित कर्मों को करने के लिए ही होता है और इस प्रकार कल्याण का साधन बनता है। क्रोध भी औरों पर न होकर अपने पर ही होता है। अपनी गिरावट पर क्रोध आने से यह क्रोध भी कल्याणकारक ही होता है, **जोषयेते न**=ये काम-क्रोध हमें प्रभु का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला-सा बना देते हैं और इसीलिए ये **मेने**=(मानयन्ति एनाम्) प्रशंसनीय होते हैं। ३. अब हमारे जीवनों में **वाश्राः**=बच्चों के लिए प्रेम से रम्भाती हुई **गावः न**=गौओं के समान **वाश्राः गावः**=ज्ञान का उपदेश करती हुई वेदवाणियाँ **एवैः**=कर्मों के हेतु से **उपतस्थुः**=हमें प्राप्त होती हैं। हम वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं और उनमें उपदिष्ट यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले बनते हैं। ४. **सः**=वह वेदोपदिष्ट मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति **दक्षाणां दक्षपतिः**=उत्तम बलों का स्वामी **बभूव**=होता है। उन बलों का स्वामी होता है जो बल (दक्ष to grow) उन्नति व विकास का ही कारण बनते हैं। ५. यह वेदोपदिष्ट मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति वह होता है **यम्**=जिसको **दक्षिणतः**=वाम व कुटिलता से विपरीत, दक्षिण व सरल (दक्षिणे सरलोदारौ) मार्ग से अर्जित धन **हविर्भिः**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **अञ्जन्ति**= अलंकृत जीवनवाला बनाते हैं, अर्थात् यह वैदिक जीवनवाला व्यक्ति न्याय-

मार्ग से ही धनों का अर्जन करता है और उन्हें सदा यज्ञों में विनियुक्त करता हुआ यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला होता है। इस प्रकार इसका जीवन सद्गुणों से मण्डित हो जाता है।

भावार्थ—काम-क्रोध के नियन्त्रित होने पर हमारा जीवन वैदिक बनता है। हम उत्तम बलों के पति होते हैं और सरल मार्ग से धनों को कमाते हुए यज्ञशेष का सेवन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।
स्वरः—**धैवतः**।

नव-वस्त्र-हान=मोक्ष

उद्यंयमीति सवितेव बाहू उभे सिचौ यतते भीम ऋञ्जन्।
उच्छुक्रमत्कमजते सिमस्मान्नवा मातृभ्यो वसना जहाति॥ ७॥

१. गतमन्त्र का दक्षपति **उत्**=प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठा हुआ **यंयमीति**=काम-क्रोध को पूर्णरूप से वश में (नियमन) करता है। **सविता इव**=सूर्य की भाँति **बाहू**=इसकी भुजाएँ होती हैं। सूर्य जैसे चलता हुआ थकता नहीं, वैसे ही इसकी भुजाएँ सदा यत्नशील होती हैं। यह अकर्मण्य न होकर प्रभु के इस आदेश को समझता है—**'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'**। २. कर्म के द्वारा शक्तिशाली व **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता हुआ यह **उभे सिचौ**=दोनों द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **ऋञ्जन्**=प्रसाधित व अलंकृत करता हुआ **यतते**=उद्योग करता है। यह मस्तिष्क में ज्ञान का और शरीर में शक्ति का सेचन करता है। इनको ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न करने में यह यत्नशील होता है। इसका मस्तिष्क व शरीर दोनों मिलकर इसके जीवन को क्रियाशील बनाते हैं। ३. इस क्रियाशीलता से इसका जीवन वासना-शून्य होता है और परिणामस्वरूप **अत्कम्**=निरन्तर गतिशील, बहने के स्वभाववाला **शुक्रम्**=वीर्य **उत् अजते**=ऊर्ध्वगतिवाला होता है। ४. **सिमस्मात्**=शुक्र की ऊर्ध्वगति के कारण अङ्गों की पूर्णता से (सिम=whole) तथा **मातृभ्यः**=(मान पूजायाम्) निर्माणात्मक प्रशंसनीय कर्मों के द्वारा **नवा वसना**=नये शरीररूपी वस्त्रों को **जहाति**=छोड़नेवाला होता है। गीता में शरीर को वस्त्र से उपमित किया है। यह शरीर अब तो है ही, परन्तु शुक्ररक्षण होने पर पूर्ण स्वास्थ्य तथा प्रशंसनीय कर्मों को करने से यह स्थिति होती है कि नया शरीर नहीं मिलता अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। मातृ शब्द निर्माता के लिए आता है। यहाँ उस से निर्माणात्मक कर्मों का ग्रहण हुआ है। नववस्त्रों को छोड़ना ही नये शरीर का ग्रहण न करना है—यही मोक्ष है।

भावार्थ—काम-क्रोध को वश में करके मस्तिष्क व शरीर को ज्ञान व शक्ति से युक्त करके क्रियाशील बनने पर मनुष्य नये शरीर को ग्रहण नहीं करता—मुक्त हो जाता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।
स्वरः—**धैवतः**।

सशक्त इन्द्रियाँ, शुद्ध मन, प्रभु से मेलवाली बुद्धि

त्वेषं रूपं कृणुत उत्तरं यत्संपृञ्चानः सदने गोभिरद्भिः।
कविर्बुध्नं परि मर्मृज्यते धीः सा देवताता समितिर्बभूव॥ ८॥

१. **यत्**=जब मनुष्य **सदने**=इस शरीररूप गृह में **गोभिः**=इन्द्रियों से तथा **अद्भिः**=(आपः= रेतः) रेतःशक्ति से **संपृञ्चानः**=सम्यक् सम्पर्कवाला होता है अथवा **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों

से तथा **अद्भिः**=(आपः=कर्माणि) कर्मों से युक्त होता है तब **त्वेषम्**=दीप्त **उत्तरम्**=उत्कृष्ट **रूपम्**=रूप को **कृणुते**=करता है। 'गो' शब्द जब इन्द्रियों का वाचक है तब 'आपः' रेतःकणों को कहता है। इन रेतःकणों से ही इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न बनकर सुख देनेवाली होती हैं। 'गो' शब्द का भाव ज्ञान की वाणियों से हो तो 'आपः' कर्म का वाचक है। ज्ञान के अनुसार कर्म करने से ही कल्याण है। ज्ञान कर्मों को पवित्र बना देता है। ये पवित्र कर्म शक्ति के वर्धक होते हैं और इस प्रकार इस ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले को दीप्त रूप प्राप्त होता है। तेजस्विता से वह चमक उठता है। २. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी बनता है, वस्तुओं के तत्त्व को समझनेवाला होता है। यह **बुध्नम्**=शरीर के मूल को **परि मर्मृज्यते**=सब ओर से शुद्ध कर लेता है। मन ही बुध्न है। इसके एक ओर अन्नमय और प्राणमयकोश हैं, दूसरी ओर विज्ञानमय और आनन्दमय। मध्य में यह मनोमयकोश है। यही हमारे शरीर का मूल है। इसी कोश को निर्मल बनाने पर अन्य कोशों का नैर्मल्य निर्भर है। 'वि कोशं मध्यमं युव'—इस मध्यमकोश को तू निर्मल बनाने का प्रयत्न कर। यह मन ही बन्धन व मोक्ष का कारण है। इसकी दृढ़ता में ही विजय है, इसकी हार में हार है। ३. इस दीप्तरूपवाले पुरुष की **धीः**=जो बुद्धि है **सा**=वह **देवताता**=दिव्यगुणों का विस्तार करनेवाली होती है और यह बुद्धि **समितिः बभूव**=(सम् इतिः=गतिर्यया) उत्तम गति व आचरणवाली होती है अथवा प्रभु के साथ मेलवाली होती है। दिव्यगुणों के विस्तार के द्वारा यह उस महादेव को प्राप्त करानेवाली होती है।

भावार्थ—हम रेतःकणों के रक्षण द्वारा शरीर में इन्द्रियों को सशक्त बनाएँ, मन को निर्मल बनाएँ तथा बुद्धि को दिव्यगुणों का विस्तार करनेवाली बनाकर प्रभु के साथ मेलवाला करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**भुरिक्पंक्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

विरोचमान धाम (तेज)

उरु ते ज्रयः पर्येति बुध्नं विरोचमानं महिषस्य धाम।
विश्वेभिरग्ने स्वयशोभिरिद्धोऽदब्धेभिः पायुभिः पाह्यस्मान्॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से मेल होने पर प्रभु के तेज से यह प्रभुभक्त भी तेजस्वी बनता है और कहता है कि **महिषस्य**=(मह पूजायाम्) पूजा के योग्य **ते**=आपका **उरु**=विस्तीर्ण **विरोचमानम्**=चमकता हुआ **ज्रयः**=काम आदि शत्रुओं को अभिभूत करनेवाला **धाम**=तेज **बुध्नम्**=शरीर के मूलभूत इस हृदयान्तरिक्ष के प्रदेश में **पर्येति**=समन्तात् प्राप्त होता है। प्रभु का तेज इस हृदयान्तरिक्ष को उज्ज्वल करनेवाला होता है। यहाँ यह तेज काम आदि शत्रुओं का विनाश करता है। काम-क्रोध को विनष्ट करके यह हमारे हृदयों को विशाल बनाता है। २. यह भक्त प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विश्वेभिः स्वयशोभिः**=अपने सब यशस्वी कर्मों से **इद्धः**=दीप्त हुए-हुए आप **अदब्धेभिः पायुभिः**=अहिंसित रक्षणों के द्वारा **अस्मान् पाहि**=हमारा रक्षण कीजिए। प्रभु के जगत् के निर्माण, धारण व प्रलयरूप कर्म चिन्तन किये जाने पर प्रभु के यश को हमारे हृदयों में अंकित करनेवाले होते हैं। इस यशस्वी प्रभु के रक्षण भी अहिंसित हैं। प्रभु के रक्षणकर्म में कोई विघ्न नहीं कर सकता। प्रभु की रक्षा हमें प्राप्त होती है तो हम कामादि शत्रुओं के आक्रमण से बचे रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु का तेज हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है। प्रभु के रक्षण अहिंसित हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु-तेजो महिमा

धन्वन्त्स्रोतः कृणुते गातुमूर्मिं शुक्रैरूर्मिभिरभि नक्षति क्षाम्।
विश्वा सनानि जठरेषु धत्तेऽन्तर्नवासु चरति प्रसूषु॥ १०॥

१. गतमन्त्र में वर्णित प्रभु का विरोचमान धाम (चमकता हुआ तेज) **धन्वन्**=मरुस्थल में **स्रोतः कृणुते**=जलप्रवाह उत्पन्न कर देता है और **गातुम्**=मार्ग को **ऊर्मिम्**=उदक संघमय बना देता है। कभी-कभी तो मार्ग एक जलधारा के रूप में परिवर्तित हो जाता है, जिसमें हल्की-हल्की लहरें उठती प्रतीत होती है। **शुक्रैः ऊर्मिभिः**=उन चमकती हुई लहरोंवाली जलधाराओं से जल **क्षाम् अभिनक्षति**=भूलोक की ओर प्राप्त होता है। प्रभु इस पृथिवीलोक को शुद्ध वृष्टि की जलधाराओं से व्याप्त कर देते हैं। २. इस प्रकार वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और **विश्वा सनानि**=उन सब सेवनीय अन्नों को **जठरेषु धत्ते**=प्रभु ही हमारे जठरों (पाचन संस्थान) में धारण करते हैं। ये प्रभु ही **नवासु प्रसूषु अन्तः**=इन नवीन फैलनेवाली बेलों व वनस्पतियों में **चरति**=विचरण करते हैं। प्रभु के उस विरोचमान तेज से ही इनकी उत्पत्ति होती है और इन सबमें एक ज्ञानीभक्त को उस प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—प्रभु वृष्टि द्वारा मरुस्थल को जलप्रवाहमय बना देते हैं। वृष्टि से मार्ग नहरों में परिवर्तित हो जाते हैं। पृथिवी जलसिक्त होकर अन्न को जन्म देती है। इन अन्नों में भी प्रभु की ही महिमा दिखती है।

सूचना—यहाँ यह भी संकेत स्पष्ट है कि प्रभु इन वनस्पतियों में भी विचरण करते हैं, अर्थात् इनके प्रयोग से ही प्रभु हमें प्राप्त होंगे, मांसाहारी को प्रभु नहीं मिलते।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**सत्यगुणविशिष्टोऽग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ज्ञानयुक्त धन

एवा नो अग्ने समिधा वृधानो रेवत्पावक श्रवसे वि भाहि।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **एव**=इस प्रकार **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **वृधानः**=हमारे अन्तःकरणों में वृद्धि को प्राप्त होते हुए आप **नः**=हमें **रेवत् श्रवसे**=धनयुक्त ज्ञान के लिए **विभाहि**=विशेषरूप से दीप्त कर दीजिए। हम अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें। प्रभु का दर्शन हमें धन व ज्ञान से युक्त करनेवाला हो। २. **नः तत्**=हमारी इस प्रार्थना को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=अदिति, **सिन्धुः**=सिन्धु, **पृथिवी**=पृथिवी **उत**=और **द्यौः**=द्युलोक **मामहन्ताम्**=आदृत करें। इन देवों की कृपा से हमारी यह प्रार्थना पूर्ण हो। मित्रादि देव क्रमशः 'स्नेह, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, रेतःकणों का रक्षण, स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तक' का संकेत करते हैं। स्नेह आदि के द्वारा ही हम प्रभु से **'रेवत् श्रवस्'**=धनयुक्त ज्ञान को प्राप्त करने के अधिकारी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानयुक्त धन देनेवाले हों।

विशेष—सूक्त का आरम्भ दिन-रात के काव्यमय वर्णन से होता है (१) प्रभुरूप अग्नि को हमें अपने में प्रादुर्भूत करने का प्रयत्न करना है। (२) ये प्रभु सूर्य के द्वारा वसन्तादि ऋतुओं का निर्माण करते हुए हमें भी उन ऋतुओं के गुणों को धारण करने का उपदेश करते हैं। (३) हम इन उपदेशों को सुनेंगे तो 'महान्, कवि व स्वधावान्' बनेंगे, (४) सरल व स्वयशाः होंगे, (५) उत्तम बलों के पति होंगे, (६) इस योग्य होंगे कि हमें नया शरीर न ग्रहण करना पड़े। (७) हमारी इन्द्रियाँ सशक्त होंगी, मन शुद्ध होगा व बुद्धि प्रभु से मेलवाली होगी। (८) हम प्रभु के 'विरोचमान धाम' को प्राप्त करेंगे, (९) सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखेंगे, वानस्पतिक भोजन के प्रयोग से प्रभुदर्शन के योग्य बनेंगे, (१०) प्रभु से ज्ञानयुक्त धन प्राप्त करनेवाले होंगे। (११) 'वे प्रभु सहस्=बल के द्वारा ही प्रकट होते हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

[९६] षण्णवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।
स्वरः—**धैवतः**।

शक्ति, स्नेह व बुद्धि

स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बळधत्त विश्वा।
आपश्च मित्रं धिषणा च साधन्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ १॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम 'ज्ञानयुक्त धन' को धारण करते हैं तब धन के द्वारा हम आवश्यक साधनों को जुटानेवाले होते हैं और ज्ञान के कारण उन साधनों का कभी दुरुपयोग नहीं करते। सुप्रयुक्त होते हुए ये सुधन हममें शक्ति उत्पन्न करते हैं। इस **सहसा**=शक्ति से **सः**=वे प्रभु **जायमानः**=हमारे अन्तःकरणों में प्रादुर्भूत होते हैं। निर्बल, प्रभु का दर्शन नहीं कर सकता—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**'। २. प्रादुर्भूत होते हुए ये प्रभु **सद्यः**=शीघ्र ही **प्रत्नथा**=पुरातन काल की भाँति, जैसे कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु ने अग्नि आदि के हृदय में वेदज्ञान का प्रकाश किया, उसी प्रकार **बट्**=सचमुच **विश्वा काव्यानि**=सब वेदरूप काव्य को—क्रान्तदर्शी ज्ञान को—वस्तुतत्त्व को स्पष्ट करनेवाले ज्ञान को **अधत्त**=स्थापित करते हैं। ३. वस्तुतः **आपः च**=शरीर में रेतःकणों के रूप में रहनेवाले ये जल **मित्रम्**=स्नेह की भावना, द्वेष की भावना से ऊपर उठना **धिषणा च**=और बुद्धि **साधन्**=इस ज्ञान को सिद्ध करते हैं। प्रभु से दिये जानेवाले इस ज्ञान को सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) रेतःकणों का रक्षण करें, (ख) द्वेषादि की वृत्तियों से ऊपर उठें और (ग) बुद्धि को धारणवती बनाएँ। ४. इन '**आपः, मित्रं व धिषणा**' को सिद्ध करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष ही **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **धारयन्**=धारण करते हैं, जो प्रभु **द्रविणोदाम्**=सब द्रव्यों के देनेवाले हैं। प्रभु ही सब द्रव्यों को प्राप्त कराके हमें उन्नत करनेवाले हैं।

भावार्थ—बल को धारण करने से ही प्रभु का दर्शन होता है। प्रभु हमारे हृदयों में ज्ञान के प्रकाश को स्थापित करते हैं। वे ही 'अग्नि व द्रविणोदा' हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

मनुष्योत्पत्ति व वेदज्ञान

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ २॥

१. **सः**=वे प्रभु **पूर्वया**=सृष्टि के आरम्भ में होनेवाली **निविदा**=निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाली **कव्यता**=काव्यमय इस वेदवाणी के साथ **आयोः इमाः प्रजाः**=मनुष्य की इन प्रजाओं को **अजनयत्**=जन्म देते हैं। प्रभु ने मनुष्य को जन्म दिया तो साथ ही साथ उन्हें वेदज्ञान भी प्राप्त करा दिया। बिना ज्ञान के मनुष्य इन पदार्थों का ठीक प्रयोग कैसे कर सकता था? २. इस वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **मनूनाम्**=विचारशील पुरुषों के **विवस्वता**=(विवासनवता) अन्धकार को दूर करनेवाले **चक्षसा**=प्रकाश से **द्याम्**=ज्ञान की ज्योति को **अपः च**=और कर्मों को **धारयन्**=धारण करते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए ये लोग **अग्निम्**=उस अग्रणी **द्रविणोदाम्**=सब द्रव्यों को देनेवाले प्रभु को धारण करते हैं। देव वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं, उसका मनन करते हैं (मनूनाम्)। उस मनन से उत्पन्न ज्ञान-ज्योति में वे अपने कर्त्तव्यों को स्पष्टरूप से देखते हैं तथा ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते हुए वे प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं और अन्ततः उस प्रभु को धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने मनुष्य को जन्म दिया, साथ ही वेदज्ञान दिया। इसके मनन से देव लोग ज्ञान प्राप्त करते हैं, तदनुसार कर्म करते हुए वे प्रभु का उपासन करते हुए उसे हृदय में धारण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

नवगुणयुक्त प्रभु का नवन (स्तवन)

तमी॑ळत प्रथ॒मं य॑ज्ञ॒साधं॒ विश॒ आरी॑राहु॑तमृ॒ञ्जसा॑नम्।

ऊ॒र्जः पु॒त्रं भ॑र॒तं सृ॒प्रदा॑नुं दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन्द्रविणो॒दाम्॥ ३॥

१. हे **विशः**=इस संसार में जीवन-यात्रा के लिए प्रवेश करनेवाली प्रजाओ! **तम् आरीः**=उस प्रभु की ओर चलती हुई तुम **ईळत**=उस प्रभु का उपासन करो जो (क) **प्रथमम्**=सृष्टि से पहले ही हैं अथवा (प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तारवाले हैं, (ख) **यज्ञसाधम्**=हमारे सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं, (ग) **आहुतम्**=जिनके दान (हु दाने) सब ओर उपलब्ध हैं, (घ) **ऋञ्जसानम्**=(ऋञ्ज to decorate) जो उपासकों के जीवन को अलंकृत करनेवाले हैं, (ङ) **ऊर्जः पुत्रम्**=शक्ति के पुतले हैं, शक्ति के पुञ्ज हैं—'सहसः सूनु' हैं, (च) **भरतम्**=इस शक्ति के द्वारा सबका भरण करनेवाले हैं, (छ) **सृप्रदानुम्**=सर्पणशील दानवाले हैं, जिनका दान सदा चलता है—ऐसे प्रभु की हमें उपासना करनी चाहिए। २. **देवाः**=देववृत्ति के लोग तो उस **अग्निम्**=अग्रणी **द्रविणोदाम्**=सब द्रव्यों को देनेवाले प्रभु को **धारयन्**=धारण करते ही हैं। वस्तुतः प्रभु के धारण करने से ही वे देव बनते हैं। प्रभु-कृपा से ही ये यज्ञों को सिद्ध करनेवाले होते हैं, शक्ति के पुञ्ज बनते हैं तथा औरों का धारण करते हुए अपने जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु का उपासन करें जोकि—'प्रथम, यज्ञसाध, आहुत, ऋञ्जसान, ऊर्जः पुत्र, भरत, सृप्रदानु, अग्नि व द्रविणोदा' हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मार्ग पर चलना व सुख-प्राप्ति

स मा॑त॒रिश्वा॑ पु॒रुवा॑रपुष्टिर्वि॒दद्गा॒तुं तन॑याय स्व॒र्वित्।

वि॒शां गो॒पा ज॑नि॒ता रोद॑स्योर्दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन्द्रविणो॒दाम्॥ ४॥

१. **सः**=वे प्रभु **मातरिश्वा**=इस सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में गतिवाले व बढ़े हुए हैं (श्वि गतिवृद्धयोः) **पुरुवारपुष्टिः**=पालन व पूरण करनेवाली वरणीय पुष्टिवाले हैं। प्रभु से प्राप्त पोषण हमारा पालन व पूरण करनेवाला है, अतएव वरणीय है। प्रकृति का पोषण मनुष्य के पतन का भी कारण हो जाता है। २. वे प्रभु **तनयाय**=अपने पुत्रभूत इस मानव के लिए **गातुम्**=मार्ग को **विदद्**=प्राप्त कराते हैं और इस मार्ग पर चलनेवाले उस पुत्र को **स्वर्वित्**=सुख प्राप्त करानेवाले होते हैं। मार्ग पर चलने से ही तो मनुष्य सुखी होता है। ३. वे प्रभु मार्ग का ज्ञान देते हुए **विशां गोपाः**=सब प्रजाओं का रक्षण करते हैं। वे प्रभु ही **रोदस्योः**=इन द्यावापृथिवी को **जनिता**=जन्म देनेवाले हैं। जन्म देने से वे पिता हैं। वे अपने पुत्रों को ज्ञान देकर ठीक मार्ग पर चलाते हैं और उन्हें सुख-प्राप्ति का पात्र बनाते हैं। ४. **देवाः**=देववृत्ति के लोग इस **अग्निम्**=अग्रणी **द्रविणोदाम्**=सब आवश्यक धनों को देनेवाले प्रभु को **धारयन्**=धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु के धारण से ही वे देववृत्ति के बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु मार्गज्ञान देकर हमें सुख-प्राप्ति का अधिकारी बनाते हैं। प्रभु का पोषण हमारा पालन व पूरण करता है। वही वरणीय है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।
स्वरः—**धैवतः**।

प्रातः-सायं का यज्ञ व प्रभु का प्रकाश

नक्तो॒षासा॒ वर्ण॑मा॒मेम्या॑ने धा॒पये॑ते॒ शिशु॒मेकं॑ समी॒ची।
द्यावा॒क्षामा॑ रु॒क्मो अ॒न्तर्वि भा॑ति दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन्द्रविणो॒दाम्॥ ५॥

१. **नक्तोषासा**=रात्रि और उषा (उषा यहाँ दिन के लिए प्रयुक्त हुआ है) **वर्णम्**=एक-दूसरे के रूप को **आमेम्याने**=फिर-फिर हिंसित करती हुई, परन्तु फिर भी **समीची**=संगत हुई-हुई **एकं शिशुम्**=एक अग्निरूप पुत्र को **धापयेते**=हविरूप दूध का पान कराती हैं। 'रात्रि' दिन के रूप को समाप्त करती है और 'दिन' रात्रि के रूप को समाप्त करता है। एवं, परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले हैं, परन्तु फिर भी जब वे संगत होते हैं, अर्थात् प्रातः और सायं के सन्धिकालों में ये अपने अग्निरूप पुत्र को हवि के रूप में दूध पिलाते प्रतीत होते हैं। इन सन्धिकालों में देववृत्ति के लोग यज्ञ करते हैं और प्रज्वलित अग्नि में घृतादि द्रव्यों की आहुति देते हैं। यही दिन-रात का अपने शिशु को दूध पिलाना है। २. इस यज्ञियवृत्ति के होने पर **द्यावाक्षामा अन्तः**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **रुक्मः**=स्वर्ण के समान दीप्तिवाले वे प्रभु **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होते हैं। इन यज्ञियवृत्तिवाले पुरुषों को सौमनस्य प्राप्त होता है और मन के निर्मल होने पर **देवाः**=देवलोग **अग्निम्**=उस अग्रणी **द्रविणोदाम्**=सब द्रव्यों को देनेवाले प्रभु को **धारयन्**=धारण करते हैं। इन्हें सर्वत्र उस प्रभु की महिमा दीखती है। बाह्य जगत् में तो ये प्रभु की महिमा को देखते ही हैं, अपने हृदयों में भी प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। बाह्यजगत् के द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में अन्तरिक्षलोक है, इसी प्रकार शरीर में 'द्युलोक' मस्तिक है, 'पृथिवी' शरीर है—इनके मध्य में हृदयान्तरिक्ष है। बाह्यान्तरिक्ष में जहाँ प्रभु की महिमा दीखती है, वहाँ हृदयान्तरिक्ष में प्रभु का प्रकाश दिखाई देता है। इस प्रभु को देव धारण करते हैं।

भावार्थ—देवलोग सन्धिवेलाओं में यज्ञ करते हैं और हृदय में प्रभु को धारण करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।
स्वरः—**धैवतः**।

अमृतत्व की रक्षा करते हुए

रायो बुध्नः संगमनो वसूनां यज्ञस्य केतुर्मन्मसाधनो वेः।
अमृतत्वं रक्षमाणास एनं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ ६॥

१. वे प्रभु **रायः बुध्नः**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के मूलभूत हैं। सब ऐश्वर्य प्रभु में ही निवास करते हैं। प्रभु के ये ऐश्वर्य '**रायः**' (रा दाने) जीव को देने के लिए हैं। जीव की उन्नति के लिए ही ये उद्दिष्ट हैं, इसलिए वे प्रभु **वसूनां संगमनः**=निवास के लिए आवश्यक धनों के प्राप्त करानेवाले हैं। जितना धन जीवन के लिए आवश्यक होता है, वह प्रभु-कृपा से मिलता ही है। प्रभु धन तो देते ही हैं, साथ ही वे **यज्ञस्य केतुः**=यज्ञों के प्रकाशक हैं और यही संकेत करते हैं कि इन धनों का तुम्हें यज्ञों में ही विनियोग करना है। वे प्रभु **वेः**=(वी गति) अपने समीप आनेवाले के **मन्मसाधनः**=ज्ञान को सिद्ध करनेवाले हैं। प्रभु की उपासना से ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञानी पुरुष धनों का यज्ञों में ही व्यय करता है। वह समझता है कि यज्ञों के अभाव में धन भोग-विलास की वृद्धि का कारण बनकर मनुष्यों के पतन का हेतु बनता है। यज्ञों में विनियुक्त होने पर यह यज्ञशेष का सेवन करनेवाले को अमृतत्व प्राप्त कराता है। यज्ञशेष ही तो अमृत है। ३. इस प्रकार **अमृतत्वं रक्षमाणासः**=अमृतत्व की रक्षा करते हुए **देवाः**=देव पुरुष **एनं अग्निम्**=इस अग्रणी **द्रविणोदाम्**=सब द्रव्यों को देनेवाले प्रभु को **धारयन्**=धारण करते हैं। यज्ञशील पुरुष भोगासक्त न होने से रोगों से आक्रान्त नहीं होता, अमर बनता है, रोगरूप मृत्युओं से बचा रहता है। यही प्रभु का सच्चा उपासक व धारक है।

भावार्थ—प्रभु धन देते हैं तो साथ ही यज्ञों का भी प्रकाश कर देते हैं। वे निर्देश करते हैं कि तुम्हें यज्ञों के लिए ही धन दिये गये हैं। इस प्रकार चलने पर ही तुम अमृतत्व की रक्षा कर पाओगे।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।
स्वरः—**धैवतः**।

धनों का सदन

नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य च जायमानस्य च क्षाम्।
सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्॥ ७॥

१. वे प्रभु **नू च**=(नू=now) अब भी **पुरा च**=पहले भी **रयीणाम्**=सब धनों के **सदनम्**=घर व भण्डार हैं व थे। विष्णु ही लक्ष्मीपति हैं। लक्ष्मी विष्णु के ही गृह की शोभा है। वे प्रभु ही अपने उपासकों को आवश्यक धन दिया करते हैं। **जातस्य**=जो भी लोक-लोकान्तर उत्पन्न हुए हैं **च**=और **जायमानस्य**=उन लोकों में उत्पन्न होनेवाले सब प्राणियों को **क्षाम्**=(क्षि=निवास) निवास देनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्रभु इसीलिए 'वसु' कहलाते हैं। सबमें प्रभु बसते हैं और सबको अपने-आपमें बसाते हैं। ३. उस **सतः च**=सदा विद्यमानस्वभाव कारणरूप प्रकृति के **च**=तथा **भवतः**=समय-समय पर उस प्रकृति से उत्पन्न होते हुए **भूरेः**=(भृ धारणपोषणयोः) भरण-पोषण करनेवाले पदार्थों के **गोपाम्**=रक्षक **अग्निम्**=अग्रणी **द्रविणोदाम्**=सब द्रव्यों को देनेवाले प्रभु को **देवाः**=देवलोग **धारयन्**=धारण करते हैं। कार्य-कारणजगत् के पोषक

परमात्मा ही हैं। इस कार्यजगत् का प्रत्येक पदार्थ '**भूरि**'=भरण व पोषण करनेवाला है। प्रभु का बनाया कोई भी पदार्थ दुःख व अकल्याण के लिए नहीं है। इस प्रभु को ही हमें धारण करना चाहिए। तभी हम प्रकृति के बने इन पदार्थों का ठीक उपयोग करेंगे और इनसे कल्याण सिद्ध करनेवाले होंगे।

भावार्थ—प्रभु सब धनों के सदन हैं। सबको निवास देनेवाले हैं। सबके रक्षक हैं। उन्हें धारण करनेवाले ही देव बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।
स्वरः—**धैवतः**।

स्थावर व जंगम धन

द्रविणोदा द्रविणसस्तुरस्य द्रविणोदाः सनरस्य प्र यंसत्।
द्रविणोदा वीरवतीमिषं नो द्रविणोदा रासते दीर्घमायुः॥ ८॥

१. **द्रविणोदाः**=जीवन-यात्रा के लिए **द्रविणों**=धन को देनेवाला वह प्रभु **तुरस्य**=गतिशील **द्रविणसः**=धन के **प्रयंसत्**=भाग को हमें दे। प्रभुकृपा से हमें जीवन-यात्रा में आवश्यक 'गौ, अश्व, अजा व अवि' आदि जंगम धनरूप पशु प्राप्त हों। हम प्रजा व पशुओं से बढ़ें। प्रजा से हमें वंश—सन्तान के द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है और उन सन्तानों की उत्तम पालना के लिए पशुओं की उपयोगिता होती है। २. वे **द्रविणोदाः**=धनों को देनेवाले प्रभु हमें **सनरस्य**=(सन=संभक्तौ) संविभाग के योग्य स्थावर सम्पत्ति को—भूमि व सोना-चाँदी को **प्रयंसत्**=देनेवाले हों। प्रभुकृपा से जहाँ हम पशुधन को प्राप्त करें, वहाँ भूमि व धन-धान्य को भी प्राप्त करनेवाले हों। ३. **द्रविणोदाः**=द्रविण को देनेवाले प्रभु **वीरवतीं इषम्**=वीरता की वृद्धि करनेवाली अन्नादि सम्पद् को **नः**=हमें दें। शक्तिवर्धक और अतएव **आद्य**=खाने योग्य अन्न हमें प्राप्त हों। ४. इस प्रकार स्थावर-जंगम धनों को व शाक्तिवर्धक अन्नों को प्राप्त कराके वे **द्रविणोदाः**=सब द्रविणों को देनेवाले प्रभु **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन **रासते**=देते हैं। दीर्घजीवन के लिए सब साधनों को वे प्रभु उपस्थित कर देते हैं।

भावार्थ—स्थावर-जंगम द्रविणों को तथा शक्तिवर्धक अन्नों को देनेवाले वे प्रभु सचमुच 'द्रविणोदा' हैं। इनके द्वारा वे हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**द्रविणोदा अग्निः शुद्धोऽग्निर्वा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**।
स्वरः—**धैवतः**।

ज्ञानयुक्त धन

एवा नो अग्ने समिधा वृधानो रेवत्पावक श्रवसे वि भाहि।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ९॥

९५.११ पर इसका अर्थ द्रष्टव्य है। इसमें ज्ञानयुक्त धन के लिए प्रार्थना की गई है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए 'रेतःकणों का रक्षण, स्नेह की भावना व बुद्धि' आवश्यक हैं (१)। प्रभु ने मनुष्य को जन्म दिया तो उसे वेदज्ञान भी दिया (२)। उस 'प्रथमता' आदि नवगुणों से युक्त प्रभु का हम नमन करनेवाले बनें (३)। प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर चलकर सुख के पात्र हों (४)। हम सन्धिवेलाओं में यज्ञ करनेवाले व हृदयों में प्रभु-प्रकाश को धारण करनेवाले बनें (५)। यज्ञों में ही धनों का विनियोग करते

हुए अमृतत्व का रक्षण करें (६)। वे प्रभु ही वस्तुतः सब धनों के सदन हैं (७)। वे हमें स्थावर और जंगम धनों को प्राप्त कराएँ (८)। प्रभुकृपा से हमारा धन ज्ञानयुक्त हो, (९) 'तभी हम पापों से बच सकेंगे'—इन शब्दों के साथ अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[९७] सप्तनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद् गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पवित्र धन

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घमग्ने॑ शुशु॒ग्ध्या र॒यिम्। अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम्॥ १॥

१. इस सूक्त के ८ मन्त्रों में ९ बार '**अप नः शोशुचदघम्**'—यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है। वाणी व रसना को एक मानकर नौ इन्द्रियाँ होती हैं। हमारी इन नौ की नौ इन्द्रियों से पाप न हो। अब तक जो पाप इनमें रहता था, वह अब इनसे दूर होकर, शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। **नः**=हमसे होनेवाला **अघम्**=पाप **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=ठहरने का स्थान न रहने से शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। २. इसके लिए हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **रयिम्**=हमारे धनों को **आशुशुग्धि**=सब प्रकार से शुद्ध कर दीजिए। हमारा धन सुपथ से कमाया जाकर प्रकाशमय ही हो। वस्तुतः 'शुद्ध मार्ग से ही धन कमाना है'—इस वृत्ति के आते ही पाप समाप्त हो जाते हैं। अन्याय से धन कमाने की वृत्ति के मूल में 'लोभ' है और यह लोभ ही सब पापों का कारण है। ३. हे प्रभो! आप हमारे इस लोभ को दूर करके धन को पवित्र कर दीजिए ताकि **नः**=हमारा यह सब **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—हम पवित्र साधनों से ही धन कमाएँ ताकि पाप नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सुक्षेत्र-सुगातु-वसु

सु॒क्षे॒त्रि॒या सु॑गातु॒या व॑सू॒या च॑ यजामहे। अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम्॥ २॥

१. हे अग्ने! **सुक्षेत्रिया**=इस शरीररूप क्षेत्र को शोभन बनाने की इच्छा से **यजामहे**=हम आपका पूजन करते हैं (यज=देवपूजा)। प्रभु-पूजन से ही हम प्रकृति के दास नहीं बनते। हमारी वृत्ति भोगवृत्ति नहीं होती। भोग न होने से शरीर में रोग नहीं आते। यह नीरोगता ही शरीररूप क्षेत्र को सुक्षेत्र बनाती है। २. **सुगातुया**=उत्तम मार्ग की कामना से हम **यजामहे**=हे प्रभो! आपके साथ संगतिकरणवाले (यज=संगतिकरण) होते हैं। आपके साथ चलने पर मार्ग भटकने की आशंका ही नहीं रहती। आप हमारा मार्गदर्शन करते हैं तो वह मार्ग हमारे लिए शोभनतम हो जाता है **च**=और ३. **वसूया**=धन की इच्छा से **यजामहे** (यज्ञ=दान)=हम आपके प्रति अपना दान करते हैं। जैसे एक बालक माता-पिता के प्रति अपना अर्पण कर देता है तो माता-पिता उसके पालन व पोषण का पूर्ण प्रयत्न करते हैं, इसी प्रकार प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवालों को भी ये प्रभु सब वसुओं को देनेवाले होते हैं। ४. हे प्रभो! इस प्रकार हममें ये कामनाएँ बनी रहें—(क) हमें भोगप्रवणता से ऊपर उठकर शरीर को नीरोग बनाना है, (ख) प्रभु के सम्पर्क में रहकर सदा उत्तम मार्ग पर चलना है और (ग) प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके, दानवृत्ति को अपनाकर, वसुओं को प्राप्त करना है। ऐसा होने पर **अघम्**=पाप **नः**=हमसे **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाएँगे।

भावार्थ—शरीर को उत्तम बनाने की कामना, उत्तम मार्ग पर चलने व वसु-प्राप्ति की भावना हमें पाप से ऊपर उठाती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

लोकहित व सज्जन-सङ्ग

प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः। अप नः शोशुचदघम्॥ ३॥

१. **यत्**=चूँकि मैं **एषाम्**=इन मनुष्यों का **प्रभन्दिष्ठः**=(भदि कल्याणे सुखे च) अधिक-से-अधिक कल्याण व सुख करनेवाला हुआ हूँ **च**=तथा **अस्माकासः**=हमारे साथ मेल करनेवाले **प्रसूरयः**=प्रकृष्ट ज्ञानी हैं, अर्थात् हम ज्ञानियों के सम्पर्क में ही उठते-बैठते हैं, इसलिए **नः**=हमारा **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। २. पाप को दूर करने के लिए आवश्यक है कि (क) हम लोकहित के कामों में लगे रहें। आराम की वृत्ति आयी तो पाप भी आये। भोगप्रवणता अवश्य पाप की ओर ले-जाती है। (ख) हम सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें। उन्हीं के साथ हमारा उठना-बैठना हो। सत्सङ्ग हमें पाप से बचाता है, दुर्जनसंग पाप में ले-जाता है।

भावार्थ—पाप से बचने के लिए हम लोकहित के कामों में संलग्न रहें और सदा ज्ञानियों का संग करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

ज्ञान व पाप-शोषण

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्। अप नः शोशुचदघम्॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=यदि **सूरयः**=ज्ञानी बनकर **वयम्**=हम **ते**=आपके और **ते**=आपके ही **प्र प्रजायेमहि**=प्रकर्षेण पूर्णरूपेण हो जाएँ तो **नः**=हमारा **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। २. जितना-जितना हम प्रकृति की ओर झुकते हैं, उतनी-उतनी ही पापों में फँसने की आकांक्षा बढ़ती जाती है और जितना-जितना प्रभु की ओर झुकते हैं, उतना-उतना पाप से परे होते जाते हैं। प्रकृति की ओर न झुककर प्रभु की ओर झुकने के लिए ज्ञान आवश्यक है। उस ज्ञान के लिए 'तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान' रूप क्रियायोग साधन है। यह क्रियायोग हमें '**सूरि**'=ज्ञानी बनाएगा और 'सूरि' बनकर हम प्रभु के बनेंगे, प्रभु के बनकर पापों से बच जाएँगे।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञानीभक्त ही पापों का समूल शोषण कर पाता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

शक्ति व प्रकाश

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः। अप नः शोशुचदघम्॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **यत्**=जब 'सूरि' बनकर हम प्रभु के बन जाते हैं तब **सहस्वतः**=सहस के पुतले—सहोरूप उस **अग्नेः**=प्रकाशमय प्रभु की **भानवः**=ज्ञान की दीप्तियाँ **विश्वतः**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में सब ओर **प्रयन्ति**=प्रकर्षेण गति करती हैं। हमारे हृदय पूर्णरूपेण उस प्रकाश से दीप्त हो उठते हैं। उस प्रकाश में पापान्धकार के लिए स्थान कहाँ? अतः **नः**=हमारा **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाता है। २. यहाँ प्रभु को 'सहस्वान्' रूप में स्मरण किया है। पाप को दूर करने के लिए इस सहस् की भी अत्यन्त

आवश्यकता है। निर्बलता में पाप का वास होता है। शक्ति में ही गुणों का निवास है। इस शक्ति के साथ प्रभु के ज्ञान के प्रकाश को हम पाते हैं और निष्पाप होते हैं।

भावार्थ—पाप के दूरीकरण के लिए शक्ति व प्रकाश की आवश्यकता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

विश्वतः परिभूः (सर्वतो रक्षक)

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम्॥ ६॥

१. हे **विश्वतोमुख**=सब ओर मुखवाले परमात्मन्! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **विश्वतः**=सब ओर से **परिभूः**=हमारे रक्षक **असि**=हैं (परिभूः=परिग्रहीता)। सामान्यतः सामने से आते हुए शत्रु को देखकर हम सावधान होकर उससे युद्ध कर सकते हैं, परन्तु जब चारों ओर से इन शत्रुओं का आक्रमण होने लगे तब तो वे विश्वतोमुख प्रभु ही हमें इनके आक्रमण से बचा सकते हैं। २. हे प्रभो! आपके रक्षण में **अघम्**=यह पाप **नः**=हमसे **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। प्रभु का उपासन हमें पापों से बचाता है। वे विश्वतोमुख प्रभु किसी ओर से भी इस पाप को हमपर आक्रमण नहीं करने देते। यदि वह शत्रु (काम—मनसिज) बाहर से न आकर अन्दर ही उत्पन्न होने का आयोजन करता है तो वहाँ भी वह अन्तःस्थित प्रभु के तेज से दग्ध हो जाता है।

भावार्थ—विश्वतोमुख प्रभु का उपासन हमें पाप से बचाएगा।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

द्वेष के पार

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय। अप नः शोशुचदघम्॥ ७॥

हे **विश्वतोमुख**=सब ओर मुखवाले, सर्वद्रष्टा प्रभो! **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से उसी प्रकार **अतिपारय**=पार करके निर्द्वेषता के क्षेत्र में प्राप्त कराइए **इव**=जैसे **नावा**=नौका से किसी नदी को पार किया जाता है। हम द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठकर प्रेम के क्षेत्र में विचरें ताकि **नः**=हमारा **अघम्**=सब पाप **अपशोशुचत्**=हमसे दूर और शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—पापवृत्ति के दूरीकरण के लिए द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठना आवश्यक है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभुरूपी नौका

स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये। अप नः शोशुचदघम्॥ ८॥

१. **सः**=वे आप **नः**=हमें **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति व कल्याण के लिए उसी प्रकार **अतिपर्ष**=सब पापों से पार करके पालित व पूरित कीजिए **इव**=जैसे **नावया**=नाव के द्वारा **सिन्धुम्**=नदी को पार करते हैं। आपका 'नाम' ही इस सागर को तैरने के लिए नाव बन जाए और **नः**=हमारे **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर तथा **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. जैसे समुद्र को पार करने के लिए नाव साधन होती है, उसी प्रकार प्रभु का नाम हमारे लिए संसार-सागर को तैरने के लिए नाव हो जाए। पाप से ऊपर उठकर, पार होकर हम सुखमय स्थिति में हों।

भावार्थ—हम प्रभु के द्वारा पापों से इस प्रकार पार हो जाएँ जैसे नाव द्वारा समुद्र से पार होते हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि पाप को दूर करने के लिए आवश्यक है कि धन को पवित्र साधनों से कमाया जाए (१)। शरीर को उत्तम बनाने के लिए—प्रशस्त मार्ग के लिए तथा वसु की प्राप्ति के लिए प्रभु से मेल किया जाए (२)। लोकहित व सज्जनसंग को अपनाया जाए (३)। ज्ञानीभक्त ही पापशोषण कर पाता है (४)। पाप के दूरीकरण के लिए शक्ति व प्रकाश आवश्यक हैं (५)। प्रभु ही सर्वतो रक्षक हैं (६)। द्वेष से ऊपर उठना आवश्यक है (७)। प्रभुनाम की नौका बनाकर पाप-समुद्र से पार हुआ जा सकता है (८)। 'हम उस प्रभु की सुमति में चलें'—इन शब्दों के साथ अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[९८] अष्टनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वैश्वानर की सुमति में

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ १॥

१. हम **वैश्वानरस्य**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **स्याम**=सदा निवास करें। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेदज्ञान के द्वारा हमें सुमति प्राप्त करा दी है। हम सदा उसके अनुसार ही कार्यों को करनेवाले बनें। यह वेदशास्त्र ही हमारे लिए प्रमाण हो—इसी के प्रमाण से हम कार्यों में व्यवस्थित हों। २. वे वैश्वानर प्रभु ही **राजा**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासन करनेवाले हैं, **हि**=निश्चय से **कम्**=सुख देनेवाले हैं, **भुवनानाम् अभिश्रीः**=सब प्राणियों से आभिमुख्येन सेवनीय हैं। सभी को प्रभु की ही उपासना करनी योग्य है। ३. **इतः जातः**=इस ब्रह्माण्ड से ही वे प्रकट व प्रादुर्भूत होते हैं। ब्रह्माण्ड के एक-एक लोक व पिण्ड में प्रभु की रचना का महत्त्व स्पष्ट दिखता है। एक-एक पदार्थ उस प्रभु की महिमा को प्रकट करता व प्रभु का प्रकाश करता है। इन पदार्थों में प्रकट हुए-हुए वे प्रभु **इदं विश्वं विचष्टे**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखते हैं, अर्थात् सब ब्रह्माण्ड का ध्यान (Look after) करते हैं। वे **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु **सूर्येण**=सूर्य के द्वारा **यतते**=प्राणियों के हित का प्रयत्न करते हैं। सूर्यकिरणों के द्वारा सर्वत्र प्राणशक्ति की स्थापना करते हैं। प्रभु हमारे हित के लिए यत्नशील हैं, परन्तु हम अल्पज्ञता के कारण उस हितसाधन-क्रिया में पूर्ण अनुकूल नहीं बनते। हम सूर्यकिरणों से बचने का प्रयत्न करते हैं और रोगाक्रान्त हो जाते हैं। प्रभु तो इन सूर्यादि देवों से हमारे हितसाधन में लगे ही हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु की कल्याणी मति में स्थित हों। शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति से हितसाधन करनेवाले हों।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वव्यापक प्रभु

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीरा विवेश।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्॥ २॥

१. 'पृष्टः' शब्द स्पृश धातु से 'स' का लोप करके भी बनता है अथवा 'पृष सेचने'

से भी। वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **दिवि**=द्युलोक में **पृष्टः**=संस्पृष्ट हैं अथवा द्युलोक में निषिक्त व निहित हैं। **पृथिव्यां पृष्टः**=उसी प्रकार पृथिवीलोक में भी विद्यमान हैं। **पृष्टः**=संस्पृष्ट हुए-हुए वे प्रभु **विश्वाः ओषधीः**=सब ओषधियों में **आविवेश**=प्रविष्ट हुए-हुए हैं। वस्तुतः प्रभु की सत्ता के कारण ही द्युलोक उग्र व तेजस्वी है, प्रभु की सत्ता ही पृथिवी को दृढ़ बना रही है और प्रभु की सत्ता ही ओषधियों को दोष-दहन-शक्ति प्राप्त कराती है। २. ये **वैश्वानरः अग्निः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले अग्रणी प्रभु सहसा **पृष्टः**=सहस् व बल से संस्पृष्ट व निषिक्त हैं। सहस् के वे पुञ्ज हैं—'**सहोऽसि**'। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दिवा**=दिन में तथा **सः**=वे **नक्तम्**=रात्रि में **रिषः पातु**=हिंसा से बचाएँ। प्रभु की शक्ति से सुरक्षित होकर हम कामादि शत्रुओं से हिंसित नहीं होंगे।

भावार्थ—प्रभु की सत्ता से ही द्युलोक दीप्तिमय है, पृथिवी दृढ़ है और ओषधियाँ रोगों के दहन की शक्ति से युक्त हैं। वे प्रभु शक्ति के पुञ्ज हैं। वे हमें सदा नाश से बचाते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निर्वैश्वानरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यज्ञोपयोगी धन

वैश्वानर तव तत्सत्यमस्त्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ३॥

१. हे **वैश्वानर**=सब नरों के हितकारी प्रभो! **तव**=आपका **तत्**=यह 'वैश्वानर' नाम **सत्यं अस्तु**=सत्य हो, अर्थात् हम भी सचमुच आपके द्वारा हित को प्राप्त करनेवाले हों। इस हित के लिए ही **अस्मान्**=हमें **मघवानः**=यज्ञोंवाले **रायः**=ऐश्वर्य **सचन्ताम्**=प्राप्त हों। हमें धन प्राप्त हों और हम उन धनों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले हों। वस्तुतः मानवहित का सर्वोत्तम साधन 'धनों का यज्ञों में विनियोग' ही है। इस प्रकार ये धन विलास का कारण नहीं बनते और हम विनाश से बच जाते हैं। प्रभु ऐसे धनों को देकर हमारे लिए हित को साधते हुए 'वैश्वानर' इस अन्वर्थक नामवाले होते हैं। २. **नः**=हमारे **तत्**=इस संकल्प को कि 'हम यज्ञों में विनियुक्त होनेवाले धनों से युक्त हों' **मित्रः**=स्नेह की भावना, **वरुणः**—निर्द्वेषता, **अदितिः**=स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=बहने के स्वभाववाले रेतःकण, **पृथिवी**=शरीर **उत**=और **द्यौः**=मस्तिष्क, ये सब **मामहन्ताम्**=आदृत करें, अर्थात् इनके द्वारा हम धनों को प्राप्त करें और उन धनों का यज्ञों में विनियोग करें। 'मित्रता, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, रेतःकणों का रक्षण, सुदृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क'—ये सब उत्तम धनों की प्राप्ति में सहायक बनते हैं और उन धनों के द्वारा यज्ञों में विनियोग के लिए भी ये सहायक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञोपयोगी धनों को देकर हमारा हित साधते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभु की कल्याणी मति में हमें चलना चाहिए (१)। वे प्रभु ही सर्वव्यापक होने से हमें शत्रुओं के द्वारा होनेवाली हिंसा से बचाते हैं (२)। यज्ञोपयोगी धन देकर हमारा हित साधते हैं (३)। 'ये प्रभु ही हमें सब कष्टों और दुरितों से पार करते हैं।'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है।

[९९] नवनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कश्यपो मरीचिपुत्रः**। देवता—**अग्निर्जातवेदाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दुर्गों व दुरितों से दूर

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥ १॥

१. गतसूक्त के अन्तिम मन्त्र के अनुसार यज्ञों में धनों का विनियोग करनेवाला पुरुष कामादि शत्रुओं से हिंसित नहीं होता। यह ज्ञानी बनता है, अतः 'पश्यकः' होने से 'कश्यपः' कहलाता है (पश्यक एव कश्यपो वर्णविपर्ययात्)। यह 'मारीच' व मरीचिपुत्र कहलाता है, क्योंकि यह (मृ अञ्च) मृत्युपर्यन्त क्रियाशील होता है। यह अस्वस्थ होकर खाट नहीं पकड़ लेता—खाट पर मरने को यह ठीक नहीं समझता। कार्यक्षेत्र में ही प्राण त्यागने को यह पुण्य मानता है। २. यह कहता है कि हम **जातवेदसे**=प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान उस प्रभु के लिए **सोमम्**=सोम को **सुनवाम**=अभिषुत करें—शरीर में सोम-शक्ति का सम्पादन करें। इस सोम के रक्षण से ही तो बुद्धि की तीव्रता सिद्ध होती है और उस तीव्र बुद्धि से हम प्रभु-दर्शन की योग्यता प्राप्त करते हैं। ३. जो व्यक्ति धनों का यज्ञों में विनियोग नहीं करता, उस **अरातीयतः**=समाज के प्रति शत्रु की भाँति आचरण करनेवाले पुरुष के **वेदः**=धन को **निदहाति**=प्रभु भस्म कर देते हैं। धन को क्या भस्म कर देते हैं, उस धन से उस अराति का ही दहन हो जाता है। प्रभु इस धन को नष्ट करके उस व्यक्ति का वस्तुतः कल्याण ही करते हैं। ४. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **विश्वा**=सब **दुर्गाणि**=दुर्गों व दुखेन मोक्तुं योग्य कष्टों (unbearable miseries) के **अतिपर्षत्**=पार पहुँचाते हैं। इन कष्टों से पार ले-जाने के लिए ही **अग्निः**=वे प्रभु सब **दुरिता**=दुराचारों से हमें **अति**=पार ले-जाते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे **नावा सिन्धुम्**=नाव से समुद्र के पार ले-जाते हैं। नाव समुद्र के पार जाने का साधन है। प्रभु पापों और कष्टों से पार होने का साधन हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम सोम (वीर्य) का संयम करें। इसके लिए धनों का दान करते हुए विलास-वृत्ति से ऊपर उठें। प्रभु-स्मरण हमें पापों व कष्टों से पार करता है।

विशेष—वस्तुतः 'कश्यप'=ज्ञानी का जीवन निष्पाप बनता ही है। यह ज्ञानी मृत्युपर्यन्त क्रियाशील बना रहता है 'मारीच'। यह कश्यप अब 'ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान व सुराधस्' बनता है। इसके इन्द्रियाश्व ऋजु व सरल मार्ग से गति करनेवाले होते हैं (ऋज्राश्व), यह सदा प्रभु नामों का जप करता है (अम्बरीष, अम्बि शब्दे), दिव्य गुणों के साथ इनका निवास होता है (सहदेव) प्रभु के भय में यह सदा चलता है (भयमान) और उत्तम आराधनावाला या कार्यों की सफलतावाला होने से 'सुराधस्' कहाता है। सबसे बड़ी बात यह कि यह 'वार्षागिरः' बनता है—इसकी वाणी सदा माधुर्य की वृष्टि करनेवाली होती है। यह प्रार्थना करता है—

[१००] शततमं सूक्तम्

ऋषिः—**वृषागिरो महाराजस्य पुत्रभूता वार्षागिरा ऋज्राश्वाम्बरीषसहदेवभयमानसुराधसः।**
देवता—**इन्द्रः।** छन्दः—**पङ्क्तिः।** स्वरः—**पञ्चमः।**

शक्तिशाली सम्राट्

स यो वृषा वृष्ण्येभिः समोका महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट्।
सतीनसत्वा हव्यो भरेषु मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ १॥

१. **सः**=वे प्रभु **यः**=जोकि **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **वृष्ण्येभिः समोकाः**=पराक्रमों व शक्तियों से समवेत हैं। प्रभु शक्ति का आगार हैं। इस शक्ति के कारण वे **महः दिवः**=इस महान् द्युलोक के **च**=तथा **पृथिव्याः**=पृथिवी के **सम्राट्**=सम्राट् हैं, इसकी सम्यक् व्यवस्था करनेवाले हैं, सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं। २. **सतीनसत्वा**=(सतीनम्=उदकम् नि० १।१२), वे प्रभु उदक में आसीन होनेवाले हैं (सतीने सीदति)। 'उदक' शरीर में रेतःकणों के रूप में रहते हैं। इन रेतःकणों में प्रभु का वास है, अर्थात् इनके रक्षण से ही प्रभु का दर्शन होता है। ये प्रभु **भरेषु**=यज्ञों व संग्रामों में **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। प्रभुकृपा से ही हमारे यज्ञपूर्ण होते हैं और प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं। ३. **मरुत्वान्**=मरुतों अर्थात् ४९ प्रकार की वायुओंवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारी **ऊती (ऊतये)**=रक्षा के लिए **भवतु**=हों। वायु ही तो हमारा जीवन है। प्रभु इन वायुओं के चलने की व्यवस्था करते हैं, इनके द्वारा सबको जीवन प्रदान करते हैं।

भावार्थ—प्रभु इस ब्रह्माण्ड के शक्तिशाली सम्राट् हैं। वे संग्रामों व यज्ञों में पुकारने योग्य हैं। वे वायुओं के द्वारा हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**वृषागिरो०।** देवता—**इन्द्रः।** छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः।** स्वरः—**पञ्चमः।**

'वृत्रहा' प्रभु

यस्यानाप्तः सूर्यस्येव यामो भरेभरे वृत्रहा शुष्मो अस्ति।
वृषन्तमः सखिभिः स्वेभिरेवैर्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ २॥

१. **यस्य**=जिस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **यामः**=मार्ग **सूर्यस्य इव**=सूर्य के मार्ग की भाँति **अनाप्तः**=किसी अन्य से प्राप्त नहीं किया जाता। सूर्य का तेज जिस प्रकार असह्य होता है, उसी प्रकार प्रभु का तेज कामादि प्रबलतम शत्रुओं से सह्य नहीं होता। कामादि सब असुर उस तेज में भस्म हो जाते हैं। वे प्रभु **भरेभरे**=प्रत्येक संग्राम में **वृत्रहा**=वृत्र का विनाश करनेवाले हैं। ज्ञान पर आवरण के रूप में होनेवाला यह काम ही वृत्र है। प्रभु इसका दहन करते हैं। वे प्रभु ही **शुष्मः**=इन शत्रुओं का शोषण करनेवाले **अस्ति**=हैं, **वृषन्तमः**=अत्यन्त शक्तिशाली हैं, सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। २. वे **मरुत्वान्**=वायुओं व प्राणोंवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सखिभिः**=ज्ञानी भक्तरूप मित्रों के द्वारा **स्वेभिः एवैः**=अध्यात्म (आत्मीय)—आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाली क्रियाओं के द्वारा **नः ऊती भवतु**=हमारे रक्षण के लिए हों। प्रभु ऐसी व्यवस्था करें कि हमारा सम्पर्क ज्ञानी भक्तों के साथ हो। इनके सङ्ग से हमारी क्रियाएँ भी भौतिकता से ऊपर उठी हुई हों। आत्मप्रवण होकर हम अपना कल्याण सिद्ध कर सकें।

भावार्थ—प्रभु हमारे कामादि शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं। प्रभुकृपा से हमें ज्ञानी भक्तों

का सङ्ग प्राप्त होता है और हम आत्मप्रवण बनकर अपना रक्षण कर पाते हैं।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्द—**विराट् त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रकाश व शक्ति

दिवो न यस्य रेतसो दुघानाः पन्थासो यन्ति शवसापरीताः।
तरद् द्वेषाः सासहिः पौंस्येभिर्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ३॥

१. **यस्य**=जिस प्रभु के **पन्थासः**=मार्ग **दिवः न**=प्रकाश की भाँति **रेतसः**=शक्ति के भी **दुघानाः**=प्रपूरण करनेवाले होते हुए **यन्ति**=गति करते हैं। प्रभु का मार्ग—प्रभु की ओर चलना जहाँ प्रकाश की वृद्धि का कारण होता है, वहाँ शक्ति का भी सञ्चार करता है। प्रकृति की ओर झुक जाने से प्रकाश तो समाप्त हो ही जाता है, शक्ति भी क्षीण हो जाती है। ये प्रभु के मार्ग **शवसा**=बल से **अपरि इताः**=शत्रुओं से अनाप्त हैं—शत्रुओं से ये धर्षणीय नहीं होते। प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले को काम-क्रोधादि शत्रु आक्रान्त नहीं कर पाते। यह प्रभुभक्त **तरत् द्वेषाः**=सब द्वेषों को तैर जाता है—द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठ जाता है, **पौंस्येभिः**=बलों से **सासहिः**=यह शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। वस्तुतः प्रभु ही इस भक्त के लिए इन कामादि का पराभव कर रहे होते हैं। ३. ये **मरुत्वान्**=वायुओं व प्राणोंवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=रक्षण के लिए **भवतु**=हों। वस्तुतः वायु तो जीवन देनेवाली है ही, 'प्राणसाधना' शरीर व मन के सब दोषों को दूर करके हमारे जीवन को सुन्दरतम बना देती है। इस प्रकार प्रभु इन मरुतों के द्वारा हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के मार्ग पर चलने से प्रकाश व शक्ति प्राप्त होती है और मनुष्य द्वेष से ऊपर उठ जाता है।

ऋषिः—**वृषागिरो०**॥ देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'अङ्गिरा, वृषा, सखा, ऋग्मी व गातु'

सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो भूद् वृषा वृषभिः सखिभिः सखा सन्।
ऋग्मिभिर्ऋग्मी गातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ४॥

१. **सः**=वे प्रभु **अङ्गिरोभिः**=अङ्गिरों से **अङ्गिरस्तमः भूत्**=अङ्गिरस्तम हैं। एक-एक अङ्ग में रसवाला व्यक्ति अङ्गिरस है। प्रभु सर्वमहान् अङ्गिरस हैं। प्रभु ही सबको अङ्गिरस बनाते हैं। २. वे प्रभु **वृषभिः वृषा भूत्**=शक्तिशालियों से शक्तिशाली हैं। सबको शक्ति देनेवाले हैं। प्रभु के सम्पर्क से हम अन्नमयकोश के दृष्टिकोण से वृषा होते हैं। ३. **सखिभिः सखा सन्**=मित्रों से मित्र—सर्वमहान् मित्र होते हुए **ऋग्मिभिः ऋग्मी**=ज्ञानियों से उत्कृष्ट ज्ञानी हैं। सबसे बड़े सखा प्रभु हैं। संसार के अन्य व्यक्ति किसी के मित्र होते हैं तो किसी दूसरे के शत्रु भी। प्रभु मित्र-ही-मित्र हैं—वे किसी के शत्रु नहीं। प्रभुभक्त भी मनोमयकोश के दृष्टिकोण से सखा बनता है और विज्ञानमयकोश के दृष्टिकोण से ज्ञानी बनता है। ४. ये प्रभु **गातुभिः ज्येष्ठः**=गाने योग्य व्यक्तियों से, स्तोतव्यों से सर्वाधिक स्तोतव्य हैं। इस प्रभु के गुणों के गायन से ही सर्वोच्च आनन्द की प्राप्ति होती है। ये **मरुत्वान् इन्द्रः**=वायुओं व प्राणोंवाले प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=रक्षण के लिए **भवतु**=हों।

भावार्थ—प्रभु सर्वमहान् 'अङ्गिरा, वृषा, सखा, ऋग्मी व गातु' हैं। वे प्रभु हमारे रक्षण के लिए हैं। वस्तुतः रक्षण की माँग यही है कि हम भी 'अङ्गिरा' आदि बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभु के पुत्र 'रुद्र'

स सूनुभिर्न रुद्रेभिर्ऋभ्वा नृषाह्ये सासह्वाँ अमित्रान्।
सनीळेभिः श्रवस्यानि तूर्वन्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ५॥

१. **सः**=वे प्रभु **सूनुभिः न**=पुत्रों के समान **रुद्रेभिः**=इन मरुतों से (**मरुतः**=रुद्राः) **ऋभ्वा**=महान् हैं। मरुत् प्रभु के मानो पुत्र हैं। पुत्र जैसे पिता के कार्य को सम्पन्न करता है, उसी प्रकार ये **रुद्र**=मरुत् व प्राण प्रभु के कार्य को सम्पन्न करते हैं। प्रभु इनके द्वारा ही तो हमारा रक्षण करते हैं। वे प्रभु **नृषाह्ये**=संग्राम में **अमित्रान्**=शत्रुओं को **सासह्वान्**=पूर्णरूप से पराभूत करते हैं। काम-क्रोधादि से हमारा जो अध्यात्म संग्राम चलता है, उस अध्यात्म-संग्राम में प्रभु ही इनका पराभव करते हैं—'**त्वयास्विद् युजा वयम्**'=प्रभुरूप साथी को प्राप्त करके ही हम इन शत्रुओं को जीतते हैं। ३. **सनीळेभिः**=समान निलय (निवासस्थानवाले) इन मरुतों के द्वारा **श्रवस्यानि**=यशस्वी कार्यों को **तूर्वन्**=अतिशय से करता हुआ (तुर्व=to excel) **मरुत्वान्**=मरुतोंवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=रक्षण के लिए **भवतु**=हो। शरीर में सब प्राणों का निवास उसी प्रकर है, जैसे जीवात्मा का। जीवात्मा के साथ समान निलयवाले ये प्राण हैं। जब तक ये जीवात्मा के साथ समान निलयवाले बने रहते हैं तब तक ये शरीर में क्षीणता नहीं आने देते।

भावार्थ—प्राण प्रभु के पुत्र के समान हैं। प्रभु इनके द्वारा ही हमारा रक्षण करते हैं।

सूचना—राष्ट्र में मरुत् सैनिक होते हैं। ये भी लम्बी-लम्बी बैरकों में एक-साथ रहने से 'सनीड़' होते हैं। इन्हीं के द्वारा राजा राष्ट्र का रक्षण करता है। ये राजा के पुत्र-तुल्य होने चाहिएँ।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

'मन्युमीः' प्रभु

स मन्युमीः समदनस्य कर्तास्माकेभिर्नृभिः सूर्यं सनत्।
अस्मिन्नहन्त्सत्पतिः पुरुहूतो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ६॥

१. **सः**=वे प्रभु **मन्यु-मीः**=क्रोध का व अभिमन्यमान शत्रु, अर्थात् अभिमान का संहार करनेवाले हैं। प्रभु हमें क्रोध व अभिमान से ऊपर उठाते हैं। **समदनस्य कर्ता**=संग्राम के वे करनेवाले हैं (**सह माद्यन्त्यस्मिन्निति समदनः**=संग्रामः)। वीर सैनिक संग्राम में एकत्र होकर आनन्द का अनुभव करते हैं। भक्त लोग भी काम-क्रोधादि से संग्राम करते हुए प्रभु के साथ आनन्दित होते हैं। इस अध्यात्म-संग्राम को हमारे लिए प्रभु ही कर रहे होते हैं। हम अकेले इन शत्रुओं का पराभव नहीं कर सकते। २. वे प्रभु **अस्माकेभिः नृभिः**=आस्तिक वृत्तिवाले, प्रभुभक्ति की वृत्तिवाले हम लोगों के साथ **सूर्यं सनत्**=प्रकाश को संभक्त करते हैं। प्रभुस्मरण से हृदय में प्रकाश प्राप्त होता है। ३. इस प्रकार प्रकाश को प्राप्त करके ये प्रभु **अस्मिन् अहन्**=आज **सत्पतिः**=सज्जनों का रक्षण करते हैं। **पुरुहूतः**=(पुरु हूतं यस्य) इस प्रभु का पुकारना हमारा पालन व पूरण करनेवाला होता है। ये **मरुत्वान् इन्द्रः**=वायुओं व प्राणोंवाले परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=रक्षण के लिए **भवतु**=हों। प्रभु वायु के द्वारा जगत् को जीवन देते हैं तो प्राणों के द्वारा शरीर व मन के दोषों के दहन की शक्ति प्राप्त कराके हमारा

रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे क्रोध व अभिमान को नष्ट करते हैं और प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

करुण कर्मों का ईश 'प्रभु'

तमूतयो रणयुञ्छूरसातौ तं क्षेमस्य क्षितयः कृण्वत त्राम्।
स विश्वस्य करुणस्येश एको मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ७॥

१. **ऊतयः**=अपना रक्षण करने का प्रयत्न करनेवाले लोग **तम्**=उस प्रभु को **शूरसातौ**=शूरों से सम्भजनीय संग्राम में **रणयन्**=शब्दित करते हैं—पुकारते हैं। प्रभु ने ही तो संग्राम में विजय प्राप्त करानी है। **क्षितयः**=(क्षि निवासगत्योः) अपने निवास को उत्तम बनाने के लिए गतिशील व्यक्ति ही **तम्**=उस प्रभु को **क्षेमस्य त्राम्**=कल्याण का रक्षण करनेवाला **कृण्वत**=करते हैं। प्रभु वस्तुतः उन्हीं का रक्षण करते हैं जो अपने रक्षण के लिए यत्नशील होते हैं। आलसी मनुष्य प्रभु की कृपा का पात्र नहीं होता। २. **सः**=वे प्रभु **एकः**=अकेले ही **विश्वस्य**=सब **करुणस्य**=अभिमत फल-निष्पादनरूप करुणात्मक कर्मों के **ईश**=ईश हैं। प्रभु को इन कल्याणात्मक कर्मों के करने में किसी अन्य के साहाय्य की आवश्यकता नहीं होती। ये **मरुत्वान् इन्द्रः**=वायुओं व प्राणोंवाले प्रभु **नः ऊती भवतु**=हमारे रक्षण के लिए हों। प्रभु से दी हुई इस शुद्ध वायु के सेवन से तथा प्राणसाधना से हम अपने जीवन को सुरक्षित बनाएँ।

भावार्थ—परिश्रमी पुरुष ही प्रभु की रक्षा का पात्र होता है।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'ज्योतिष्कर्ता' प्रभु

तमप्सन्त शवस उत्सवेषु नरो नरमवसे तं धनाय।
सो अन्धे चित्तमसि ज्योतिर्विदन्मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ८॥

१. **नरः**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-जानेवाले पुरुष **शवसः उत्सवेषु**=शक्तियों के उत्सवों, अर्थात् संग्रामों में **अवसे**=रक्षण के लिए **तं नरम्**=उस आगे ले-चलनेवाले प्रभु को **अप्सन्त**=प्राप्त करते हैं। प्रभु को ही तो इन संग्रामों में विजय प्राप्त करानी होती है। ये संग्राम शक्ति के उत्सव ही हैं। वीर पुरुष इनमें आनन्द का अनुभव करते हैं। ब्राह्मणों के उत्सव ज्ञानप्रधान होते हैं, क्षत्रियों के शक्ति-प्रधान। २. **तम्**=उस प्रभु को ही **धनाय**=धन के लिए भी प्राप्त होते हैं। सब ऐश्वर्यों के स्वामी वे प्रभु हैं। प्रभु ही हमें पुरुषार्थों के अनुरूप धन प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे प्रभु **चित्**=ही **अन्धे तमसि**=अत्यन्त घने अन्धकार में **ज्योतिः विदत्**=प्रकाश प्राप्त कराते हैं। जिस समय जीवन में हमें चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखाई देता है, उस समय प्रभु ही प्रकाश की किरण प्राप्त कराते हैं। प्रभु के साथ होने पर हमारी सब व्याकुलता समाप्त हो जाती है। ये **मरुत्वान् इन्द्रः**=वायुओं व प्राणोंवाले प्रभु **नः**=हमारे **ऊती भवतु**=रक्षण के लिए हों। वायुओं से हमें जीवन प्राप्त होता है, प्राणसाधना से शरीर व मन के दोष दूर होते हैं।

भावार्थ—संग्रामों में प्रभु ही रक्षण करते हैं। प्रभु ही जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन देते हैं और घने अँधेरे में प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

ऋषि:—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्र:**। छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवत:**।

पुरुषार्थ और विजय

स स॒व्येन॑ यमति॒ व्राध॑तश्चि॒त्स द॑क्षि॒णे संगृ॑भीता कृ॒तानि॑।
स की॒रिणा॑ चि॒त्सनि॑ता॒ धना॑नि म॒रुत्वा॑न्नो भवत्विन्द्र॑ ऊ॒ती॥ ९॥

१. **स:**=वे प्रभु **व्राधत: चित्**=हिंसा करनेवाले महान् क्रोधादि शत्रुओं को भी **सव्येन यमति**=बायें हाथ से काबू कर लेते हैं। इन काम-क्रोधादि शत्रुओं को काबू करना प्रभु के लिए तो बायें हाथ का खेल है। हमारे लिए ही ये शत्रु भयंकर हैं, प्रभु के सामने ये नितान्त अशक्त हैं। २. **स:**=वे प्रभु **दक्षिणे**=दाहिने हाथ में **कृतानि**=कर्मों को **संग्रभीता**=ग्रहण करनेवाले हैं—'**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**'—क्रिया तो प्रभु का स्वभाव ही है। वस्तुत: क्रिया के कारण ही प्रभु विजय के भी ईश हैं, अत: प्रभुभक्त भी क्रियाशील बनता है और काम-क्रोधादि पर विजय पाता है। ३. **स:**=वे प्रभु **कीरिणा**=स्तोता के साथ **चित्**=निश्चय से **धनानि**=धनों को **सनिता**=संभक्त करनेवाले हैं। प्रभु का स्तोता वही है जो कर्मों के द्वारा विजय प्राप्त करता है—'**कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित:**'—इन शब्दों में उसका ध्येय यही होता है कि 'मेरे दाहिने हाथ में कर्म है और बायें हाथ में विजय'। वस्तुत: इसी प्रकार यह व्यक्ति प्रभु के अनुरूप बनता है—अनुरूप बनकर ही सच्चा भक्त होता है। ४. यह भक्त प्रार्थना करता है कि **मरुत्वान् इन्द्र:**=वायुओं व प्राणोंवाले ये प्रभु **न:**=हमारी **ऊती**=रक्षा के लिए **भवतु**=हों। शुद्ध वायुसेवन व प्राणसाधना हमें क्रियाशील बनने में सहायक होते हैं। क्रियाशील बनकर हम विजयी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की सच्ची भक्ति यही है कि हम क्रियामय जीवनवाले होकर कामादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषि:—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्र:**। छन्द:—**भुरिक्पङ्क्ति:**। स्वर:—**पञ्चम:**।

अप्रशस्तता का अभिभव

स ग्रामे॑भि॒: सनि॑ता॒ स रथे॑भि॒र्विदे॒ विश्वा॑भिः कृ॒ष्टिभि॒र्न्व१॒॑द्य।
स पौंस्ये॑भिरभि॒भूरश॑स्तीर्म॒रुत्वा॑न्नो भवत्विन्द्र॑ ऊ॒ती॥ १०॥

१. **स:**=वे प्रभु **ग्रामेभि:**=मरुतों के संघों व प्राणों के द्वारा **सनिता**=सब-कुछ प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना से शरीर नीरोग बनता है और बल की वृद्धि होती है। मन के मैल भी इस प्राण-साधना से दूर होते हैं और बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय को समझनेवाली बनती है। एवं, इन मरुतों व प्राणों से 'स्वास्थ्य, बल, नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता' सभी कुछ प्राप्त होता है। २. **स:**=वे प्रभु **नु अद्य**=निश्चय से आज **विश्वाभि: कृष्टिभि:**=सब श्रमशील पुरुषों से **रथेभि:**=इन शरीररूप रथों से **विदे**=जाने जाते हैं। इस शरीर की रचना में उस रचयिता की महिमा का इन कृष्टियों को दर्शन होता है। आलसी मनुष्य तमस् की परिणामभूत मोहावस्था के कारण इस महिमा को नहीं देख पाता। ३. **स:**=वे प्रभु **पौंस्येभि:**=वीरताओं से—शक्तियों से **अशस्ती:**=सब अशुभ भावनाओं को **अभिभू:**=अभिभूत करनेवाले होते हैं। प्रभु हममें वीरता की स्थापना करते हैं। यह वीरता का स्थापन गुणों का मूल बनता है। वीरता से सब अशुभों का संहार होता है। ४. ये **मरुत्वान् इन्द्र:**=मरुतों—प्राणोंवाले परमैश्वर्यशाली प्रभु **न:**=हमारे **ऊती**=रक्षण के लिए **भवतु**=हों।

भावार्थ—प्रभु प्राणों के द्वारा वीरता का स्थापन करके अप्रशस्तता का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

विजय

स जामिभिर्यत्समजाति मीळ्हेऽजामिभिर्वा पुरुहूत एवैः।
अपां तोकस्य तनयस्य जेषे मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ ११॥

१. **सः**=वह **पुरुहूतः**=बहुतों से पुकारे जानेवाले **मरुत्वान्**=मरुतोंवाले—प्राणों व वायुओंवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **यत्**=जब **मीळ्हे**=संग्राम में **जामिभिः**=बन्धुओं के साथ **अजामिभिः वा**=अथवा अबन्धुओं के साथ, अर्थात् जो प्रभु-सत्ता में विश्वास करते हुए प्रभुभक्त बनने के लिए यत्नशील हैं अथवा नास्तिकवृत्ति के कारण जिनका झुकाव प्रभु की ओर नहीं—उन सबके साथ **एवैः**=प्राणों के साथ **समजति**=मिलकर गतिशील होते हैं, अर्थात् काम-क्रोधादि के साथ संग्राम में जब प्राणसाधना होने पर इन प्राणों के द्वारा प्रभु सहायक होते हैं, तब ये प्रभु **अपाम्**=प्रजाओं के **तोकस्य**=उनके पुत्रों के **तनयस्य**=उनके पौत्रों के लिए **जेषे**=विजय प्राप्त करानेवाले होते हैं। यहाँ भाव यह है कि प्रभु को कोई माने या न माने, परन्तु जब वह प्राणसाधना द्वारा मन को वश में करनेवाला हो जाता है तब उसे प्रभु काम आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराते ही हैं। २. ये प्रभु **नः**=हमारी **ऊती**=रक्षा के लिए **भवतु**=हों। जब प्रभु अबन्धुओं को भी कामादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराते हैं तब वे हमें क्यों न विजय प्राप्त कराएँगे?

भावार्थ—प्राणसाधना (प्राणायाम) करने पर प्रभु हमें व हमारे सन्तानों को भी विजय प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना से सन्तान भी नीरोग व निर्मलवृत्ति के होते हैं।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'पाञ्चजन्य' प्रभु

स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा।
चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ १२॥

१. **सः**=वे प्रभु **वज्रभृत्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को धारण करनेवाले हैं, **दस्युहा**=हमारी दास्यव=आसुरी वृत्तियों को नष्ट करनेवाले हैं, **भीमः**=कामादि शत्रुओं के लिए भयंकर हैं। जहाँ प्रभु का स्मरण है वहाँ कामादि शत्रुओं का प्रवेश नहीं हो पाता, **उग्रः**=वे प्रभु अत्यन्त तेजस्वी हैं, उद्गूर्ण बलवाले हैं, **सहस्रचेताः**=अनन्त ज्ञानवाले हैं, **शतनीथः**=शतशः पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **ऋभ्वा**=महान् हैं अथवा अत्यन्त भासमान हैं। इन सब शब्दों के द्वारा प्रभु का स्तवन हमें भी ऐसा ही बनने की प्रेरणा देता है—(क) हम भी क्रियाशील बनें, (ख) आसुरीवृत्तियों को नष्ट करें, (ग) कामादि शत्रुओं के लिए भीम व उग्र हों, (घ) खूब ज्ञान प्राप्त करें, (ङ) खूब दानी बनें। २. **चम्रीषः न**=सोम की भाँति वे प्रभु **शवसा**=शक्ति के द्वारा **पाञ्चजन्यः**=पञ्च जनों का—मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। सोमशक्ति शरीर में सुरक्षित होकर हमारा कल्याण करती है। इसी प्रकार प्रभु का स्मरण हमें शक्तिसम्पन्न बनाता है और हमारी उन्नति का कारण होता है। ३. ये **मरुत्वान्**=वायुओं व प्राणोंवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारी **ऊती**=रक्षा के लिए **भवतु**=हों। प्राणसाधना व प्रभुस्मरण से सोम का रक्षण होता है और यह सुरक्षित सोम हमारा कल्याण करता है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमें शक्तिसम्पन्न बनाकर सुरक्षित करता है।

ऋषिः—**वृषगिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

धन व धनदान के स्वामी

तस्य वज्रः क्रन्दति स्मत्स्वर्षा दिवो न त्वेषो रवथः शिमीवान्।
तं सचन्ते सनयस्तं धनानि मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ १३॥

१. **तस्य**=उस प्रभु का **वज्रः**=क्रियाशीलतारूप **वज्र स्मत्**=(भृशम्) खूब **क्रन्दति**=शत्रुओं को रुलाता है। क्रियाशीलतारूप वज्र से काम-क्रोधादि शत्रु नष्ट ही हो जाते हैं। इन कामादि शत्रुओं को नष्ट करके ही वे प्रभु **स्वर्षाः**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। २. उस प्रभु की **दिवः न**=देदीप्यमान सूर्य की भाँति **त्वेषः**=दीप्ति है—'**ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः**' तथा '**दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः**'॥ इन वाक्यों में यही बात कही गई है। ३. **रवथः**=उस प्रभु का शब्द **शिमीवान्**=(शिमी=कर्म) कर्मोंवाला है। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में वेदज्ञान का उच्चारण किया। उस वेदज्ञान में नानाविध कर्मों का उपदेश दिया है—'**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे**'। ४. **सनयः**=सब धनों के दान **तं सचन्ते**=उस प्रभु के साथ समवेत व बद्ध हैं। **तं धनानि**=सब धनों का सम्बन्ध भी उस प्रभु के साथ है। वे प्रभु ही लक्ष्मीपति हैं। वे प्रभु धनों के आधार हैं और आवश्यक धनों को देनेवाले हैं। ५. ये **मरुत्वान्**=प्राणों व वायुओंवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारी **ऊती**=रक्षा के लिए **भवतु**=हों। वायु के द्वारा वे दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं, प्राणों के द्वारा शरीर में शक्ति का सञ्चार करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु क्रियाशीलता के द्वारा हमारे कामादि शत्रुओं का संहार करते हैं, प्रकाश प्राप्त कराते हैं, कर्मों का उपदेश देते हैं, आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'मानं उक्थम्' ज्ञान व स्तवन

यस्याजस्त्रं शवसा मानमुक्थं परिभुजद्रोदसी विश्वतः सीम्।
स पारिषत्क्रतुभिर्मन्दसानो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ १४॥

१. **यस्य**=उस प्रभु का **मानम्**=ज्ञान (**मा**=मापना) तथा **उक्थम्**=स्तवन **शवसा**=बल के द्वारा **अजस्रम्**=निरन्तर **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **विश्वतः**=सब ओर से **सीम्**=निश्चयपूर्वक **परिभुजत्**=पालित करता है। जो भी व्यक्ति प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है और प्रभु का स्तवन करता है, उसे शक्ति प्राप्त होती है और इस शक्ति के द्वारा वह प्रभु की रक्षा का पात्र बनता है। २. **क्रतुभिः**=हमारे यज्ञादि उत्तम कर्मों से **मन्दसानः**=मोद व हर्ष का अनुभव करता हुआ **सः**=वह प्रभु **पारिषत्**=हमें कष्टों से पार पहुँचाए। **मरुत्वान्**=ये वायुओं और प्राणोंवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=रक्षण के लिए **भवतु**=हों। वायु के द्वारा वे हमें जीवन दें तो प्राण के द्वारा हममें शक्ति का सञ्चार करें।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञान व स्तवन हमारा कल्याण करता है। हम यज्ञात्मक कर्मों के द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अनन्तशक्तिमान् प्रभु

न यस्य॑ दे॒वा दे॒वता॒ न मर्ता॒ आप॑श्च॒न शव॑सो॒ अन्त॑मा॒पुः।
स प्र॒रिक्वा॒ त्वक्ष॑सा॒ क्ष्मो दि॒वश्च॑ म॒रुत्वा॑न्नो भव॒त्विन्द्र॑ ऊ॒ती॥ १५॥

१. **यस्य देवता**=(देवस्य) जिस देव के **शवसः अन्तम्**=शक्ति के अन्त को **न देवाः**=न तो देवता और **न मर्ताः**=न ही मनुष्य **आपः न**=न ही अन्तरिक्षस्थ प्राणी भी **आपुः**=प्राप्त करते हैं। 'देवाः' द्युलोक के साथ हैं, 'मर्ताः' इस मर्त्यलोक में स्थित प्राणी हैं और 'आपः' इन दोनों के बीच के अन्तरिक्षस्थ प्राणी हैं। ये सबके सब उस महान् देव प्रभु के बल के अन्त को प्राप्त नहीं कर सकते। २. **सः**=वे प्रभु **त्वक्षसा**=शत्रुओं को तनूकृत करने-(छील डालने)-वाले बल से **क्ष्मः**=पृथिवी से **च**=और **दिवः**=द्युलोक से **प्ररिक्वा**=अतिरिक्त हो रहे हैं, अर्थात् उस प्रभु का बल इस द्युलोक व भूलोक में समा नहीं पाता। ये **मरुत्वान्**=वायुओं व प्राणोंवाले **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः ऊती**=हमारी रक्षा के लिए **भवतु**=हों।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति अजेय है। वह हमारे शत्रुओं को तनूकृत करती हुई हमारा रक्षण करे।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

उत्तम इन्द्रियाश्व

रोहि॒च्छ्या॒वा सु॒मदं॑शुर्लला॒मीर्द्यु॒क्षा रा॒य ऋ॒ज्राश्व॑स्य।
वृष॑ण्वन्तं॒ बिभ्र॑ती धू॒र्षु रथं॑ म॒न्द्रा चि॑केत॒ नाहु॑षीषु वि॒क्षु॥ १६॥

१. प्रभु ने हमें शरीररूप रथ दिया है तो शरीर के साथ इन्द्रियाश्व भी दिये हैं। यह अश्वपङ्क्ति **रोहित् श्यावा**=ज्ञानेन्द्रियों के रूप में प्रादुर्भाव (रुह प्रादुर्भावे) व विकास की कारणभूत है और कर्मेन्द्रियों के रूप में गतिवाली है (श्यैङ् गतौ)। ज्ञानेन्द्रियाँ शरीररथ में प्रकाश (ज्ञान) देकर उन्नति की साधन बनती हैं और कर्मेन्द्रियाँ इस रथ को गति देनेवाली होती हैं। कर्मेन्द्रियों के कारण गति है और ज्ञानेन्द्रियों के कारण प्रकाश। यह अश्वपङ्क्ति **सुमदंशुः**=स्वयं (सुमत्) प्रकाशवाली (अंशु) है। प्रत्येक इन्द्रिय में प्रभु ने भिन्न-भिन्न कार्यों को करने की शक्ति रक्खी है। उन कार्यों को यह अश्वपङ्क्ति उत्तमता से कर रही है। **ललामीः**=यह अश्वपङ्क्ति इस शरीररथ की भूषणभूत है। इन इन्द्रियों से इस शरीररथ की शोभा नितान्त बढ़ गई है। **द्युक्षा**=यह प्रकाश में निवास करनेवाली है, मलिनता से रहित है। २. ऐसी यह अश्वपङ्क्ति **ऋज्राश्वस्य**=ऋजुगामी अश्वोंवाले पुरुष के **राये**=ऐश्वर्य के लिए होती है। जो भी व्यक्ति इन इन्द्रियाश्वों से सरल मार्ग पर गमन करता है, वह ऐश्वर्य को सिद्ध करनेवाला होता है। ३. इस ऋज्राश्व की यह इन्द्रियाश्वपंक्ति **वृषण्वन्तं रथम्**=इस शक्तिशाली शरीररथ को **धूर्षु बिभ्रती**=उन-उन कार्यभारों में धारण करती हुई **मन्द्रा**=आनन्द की कारणभूत **चिकेत**=जानी जाती है। 'इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य को ठीक से करती चलें', यही 'सुख' है। यह अश्वपङ्क्ति **नाहुषीषु विक्षु**=मानव-प्रजाओं में ही है—उन प्रजाओं में ही है जोकि अपना सम्बन्ध उस प्रभु से स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं (णह बन्धने)। पशु भोग-योनियों में होने से प्रभु के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते, वहाँ इन्द्रियों का इस प्रकार का विकास सम्भव नहीं। प्रभु के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाले मनुष्यों में ये इन्द्रियाँ कल्याण का ही कारण बनती हैं। दौर्भाग्यवश इस मानवजीवन में भी हम भोगप्रधान जीवनवाले ही बन गये तो अकल्याण ही अकल्याण है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व सरल मार्ग से आगे बढ़ते हुए हमें प्रभु की ओर ले-चलनेवाले हों।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट् पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

वृषागिर् पुरुष (सच्चे प्रभुभक्त)

एतत्त्यत्त इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभि गृणन्ति राधः।
ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः॥ १७॥

१. हे **इन्द्र**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के अधिष्ठान प्रभो! **वृष्णः ते**=शक्तिशाली व सब सुखों के वर्षण करनेवाले आपके **त्यत् एतत् उक्थम्**=उस प्रसिद्ध स्तवन को जोकि **राधः**=प्रत्येक कार्य में सफलता देनेवाला है **वार्षागिराः**=वृषागिर् के सन्तान, अर्थात् उत्तम वृषागिर् पुरुष ही **अभिगृणन्ति**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में उच्चारण किया करते हैं। वृषागिर् व्यक्ति वे हैं जिनकी वाणी ज्ञान का ही वर्षण करती है और जो सदा औरों के लिए सुखकर शब्दों का ही उच्चारण करते हैं। २. इन वृषागिर् व्यक्तियों में प्रथम **ऋज्राश्वः**=ऋज्राश्व है। इसके इन्द्रियरूप अश्व सरल मार्ग से ही चलनेवाले हैं। ऋजुगामी अश्वोंवाला यह व्यक्ति कभी कुटिलता को नहीं अपनाता। यह **प्रष्टिभिः अम्बरीषः**=(अवि शब्दे) जिज्ञासुओं के दृष्टिकोण से ही पूछने की वृत्तिवाला होता है। यह विविध प्रश्न करता हुआ उस प्रभु के समीप पहुँचने के लिए प्रबल भावनावाला होता है। यह व्यर्थ की बातें करता हुआ 'वाचोविग्लापन' नहीं करता रहता। इसी कारण **सह-देवः**=यह देववृत्तियोंवाला होता है, **भयमानः**=सदा प्रभु के भय में चलता है, अर्थात् प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण करता हुआ पाप से भयभीत रहता है, **सुराधाः**=सदा उत्तम मार्ग से ही धन कमाता है। वस्तुतः जीवन की सर्वप्रधान शुचिता यही है कि हम अन्याय-मार्ग से धनार्जन न करें।

भावार्थ—हम वृषागिर् बनकर प्रभु का सच्चा स्तवन करनेवाले हों।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दस्यु व शिम्यु का वध

दस्यूञ्छिम्यूँश्च पुरुहूत एवैर्हत्वा पृथिव्यां शर्वा नि बर्हीत्।
सनत्क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत्सूर्यं सनदपः सुवज्रः॥ १८॥

१. **पुरुहूतः**=बहुतों से पुकारा जानेवाला अथवा पालन और पूरण करनेवाली है, पुकार (आराधना) जिसकी ऐसा पुकार है, वह प्रभु **दस्यून्**=औरों का उपक्षय करनेवाले **च**=और **शिम्यून्**=(शमयितृन्) वध कर देनेवाले राक्षसवृत्ति के पुरुषों को **एवैः**=मरुतों=प्राणों के द्वारा **हत्वा**=नष्ट करके **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में **शर्वा**=दुष्टों का संहार करनेवाला प्रभु **निबर्हीत्**=बुराई का संहार व उद्बर्हण करनेवाला होता है। हमारे इन शरीरों को प्रभु पवित्र बनानेवाले होते हैं। वे हमारे हृदयों में उपक्षय व नाश की वृत्ति को नहीं पनपने देते। २. वे प्रभु **श्वित्न्येभिः**=शुक्लवर्णता व शुद्धता के कारणभूत **सखिभिः**=मित्रभूत **मरुतों**=प्राणों के द्वारा **क्षेत्रं सनत्**=इस उत्तम शरीररूप क्षेत्र को प्राप्त कराते हैं। इस शरीर में हमारा निवास व हमारी गति उत्तम होती है। **सूर्यं सनत्**=वे प्रभु हमें ज्ञान के सूर्य को—प्रकाश को प्राप्त कराते हैं और **सुवज्रः**=उत्तम वज्र व क्रियाशीलतावाले प्रभु **अपः**=कर्मों को **सनत्**=प्राप्त कराते हैं। प्रभुकृपा से हमारा जीवन स्वस्थ (क्षेत्र) प्रकाशमय (सूर्य) व क्रियाशील (अपः) होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से उपक्षय व वध की वृत्ति नष्ट होती है। हमारा शरीर स्वस्थ, प्रकाशमय व क्रियाशील बनता है।

ऋषिः—**वृषागिरो०**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

शक्ति व सरलता

विश्वाहेन्द्रो अधिवक्ता नो अस्त्वपरिह्वृताः सनुयाम वाजम्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ १९॥

१. **इन्द्रः**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला प्रभु **विश्वाहा**=सदा **नः**=हमारा **अधिवक्ता अस्तु**=अधिष्ठातृरूपेण उपदेष्टा हो। प्रभु हमारे हृदयों में स्थित हैं ही। जिस समय हम इन हृदयों को निर्मल कर लेते हैं, उस समय उस अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा हमें सदा होती रहती है। २. इस उपदेश को सुनकर **अपरिह्वृताः**=कुटिलता से रहित हुए-हुए हम **वाजम्**=शक्ति को **सनुयाम**=प्राप्त करें। हम शक्तिशाली हों, परन्तु उस शक्ति के साथ हममें कुटिलता न हो। वस्तुतः जीवन का सौन्दर्य इसी में है कि शक्ति हो और शक्ति के साथ सरलता हो। ३. **नः**=हमारे **तत्**=उस 'शक्ति और सरलता' के संकल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=शरीरस्थ रेतःकण, **पृथिवी**=शरीर **उत**=और **द्यौः**=मस्तिष्क—ये सब **मामहन्ताम्**=आदृत करें। 'स्नेह की भावना, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, रेतःकण, दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क'—ये सब हमें 'शक्तिसम्पन्न व सरल' बनानेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु के उपदेश को सुनें और जीवन में शक्तिसम्पन्न व सरल बनें।

विशेष—'वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड के शक्तिशाली सम्राट् हैं'—इन शब्दों से सूक्त का आरम्भ है (१) और 'शक्तिशाली व सरल' बनने की प्रार्थना के साथ सूक्त की समाप्ति है (१९) एवं आदि व अन्त शक्ति के महत्त्व को सुव्यक्त कर रहे हैं। शक्तिशाली प्रभु की मित्रता के लिए प्रार्थना से अग्रिम सूक्त का आरम्भ होता है—

[१०१] एकोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

शक्तिशाली व कुशलकर्मा

प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥ १॥

१. **मन्दिने**=उस आनन्दस्वरूप परमात्मा के लिए **पितुमत्**=रक्षण की प्रार्थनावाले **वचः**=वचन को **प्र अर्चत**=प्रकर्षेण अर्पित करो। उस प्रभु से ही रक्षण के लिए प्रार्थना करो **यः**=जो प्रभु **कृष्णगर्भाः**=काले मध्यवाली—मलिन भावनाओं को **निरहन्**=नष्ट कर डालते हैं। प्रभु यह करते इसलिए हैं कि **ऋजिश्वना**=ऋजिश्वा के दृष्टिकोण से, अर्थात् हम सरल मार्ग से गति करते हुए आगे बढ़नेवाले हों (श्वि गतिवृद्ध्योः)। प्रभु हमारे जीवनों में सरलता चाहते हैं। हम सरलता से गति करते हुए ही उन्नत हो सकते हैं। इस उन्नति के लिए मलिन भावों को दूर करना आवश्यक है। इन मलिनभावों को दूर करने के लिए हम प्रभु से रक्षण के लिए प्रार्थना करते हैं। **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले हम **वृषणम्**=उस शक्तिशाली **वज्रदक्षिणम्**=(वज गतौ, दक्ष=चतुर) कुशलता से कर्मों को करनेवाले **मरुत्वन्तम्**=प्रशस्त प्राणों वाले प्रभु को

सख्याय=मित्रता के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। इस प्रभु की मित्रता में हम भी शक्तिशाली व कुशलता से कार्य करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु से रक्षण के लिए प्रार्थना करने पर हमारी मलिन वासनाएँ व भावनाएँ दूर होती हैं। हम प्रभु की भाँति ही शक्तिशाली व कुशलकर्मा बनते हैं।

ऋषिः=**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः=**निषादः**।

'व्यंस, शम्बर, पिप्रु व शुष्ण' का संहार

यो व्यं॑सं जाहृषा॒णेन॑ म॒न्युना॒ यः शम्ब॑रं॒ यो अह॒न्पिप्रु॑मव्र॒तम्।
इन्द्रो॒ यः शुष्ण॑म॒शुषं॒ न्यावृ॑ण॒ङ्मरु॒त्वन्तं॑ स॒ख्याय॑ हवामहे॥ २॥

१. **यः**=जो **जाहृषाणेन**=(प्रवृद्धेन) अत्यन्त बढ़े हुए **मन्युना**=क्रोध से **व्यंसम्**=(विशिष्टोंऽसो यस्य=व्यंसः, अंसलः=बलवान्) अत्यन्त प्रबल कोपासुर को **अहन्**=नष्ट करते हैं। प्रभु-स्मरण से क्रोध की वृत्ति दूर होती है। क्रोध भयंकर है। जब यह मनुष्य को आक्रान्त करता है तब उसकी चेतना लुप्त हो जाती है, होशो-हवाश ठिकाने नहीं रहते। इस प्रबल शत्रु को प्रभु ही नष्ट करते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **शम्बरम्**=शान्ति को आवृत कर देनेवाले ईर्ष्या नामक शत्रु को **अहन्**=नष्ट करते हैं। ईर्ष्यालु मनुष्य का मन मृत-सा हो जाता है। इसे किसी प्रकार से शान्ति प्राप्त नहीं होती। यह दूसरे की उन्नति को देखकर जलता रहता है। ३. **यः**=जो प्रभु, **पिप्रुम्**=(पृ पालनपूरणयोः) सदा अपना ही पालन व पूरण करने में लगा रहता है, अत्यन्त स्वार्थमय आसुरीवृत्ति से चलता है और अतएव **अव्रतम्**=सब प्रकार के पुण्यकर्मों (नियमः पुण्यकं व्रतम्) से पृथक् हो जाता है, उस लोभासुर को (अहन्) नष्ट करते हैं। ४. **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **यः**=जो **शुष्णम्**=शोषण कर देनेवाले और **अशुषम्**=स्वयं कभी न सूखनेवाले इस कामासुर को **नि अवृणक्**=निश्चय से हमसे दूर करते हैं, उस **मरुत्वन्तम्**=वायुओं व प्राणोंवाले प्रभु को **सख्याय**=मित्रता के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं, प्रार्थना करते हैं, उस प्रभु की मित्रता चाहते हैं। प्रभु की मित्रता से ही तो 'व्यंस, शम्बर, पिप्रु व शुष्ण' का विनाश होगा। इस मित्रता को प्राप्त करने का साधन 'मरुत्वन्तम्' शब्द से संकेतित हो रहा है। हम **मरुतों**=प्राणों की साधना करेंगे, तभी इस मरुत्वान् प्रभु के मित्र बन पाएँगे। इससे प्राणायाम का महत्त्व स्पष्ट है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा चित्तवृत्ति के निरोध से प्रभु के मित्र बनें। प्रभु हमारी आसुरवृत्तियों को समाप्त करेंगे।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः=**धैवतः**।

शक्ति व नियमितता

यस्य॒ द्यावा॑पृथि॒वी पौंस्यं॑ म॒हद्यस्य॑ व्र॒ते वरु॑णो॒ यस्य॒ सूर्यः॑।
यस्येन्द्र॑स्य॒ सिन्ध॑वः॒ सश्च॑ति व्र॒तं म॒रुत्व॑न्तं स॒ख्याय॑ हवामहे॥ ३॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **यस्य**=जिस इन्द्र के **महत् पौंस्यं**=महान् बल को **सश्चति**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् जिसके बल से द्युलोक दीप्त है और पृथिवी दृढ़ है। **यस्य व्रते वरुणः**=जिसके व्रत में वरुण=रात्र्याभिमानी देव चन्द्रमा (सश्चति) चलता है और **यस्य**=जिसके व्रत में **सूर्यः**=यह सूर्य नियमित रूप से उदय होता है। चन्द्रमा और सूर्य भी उस प्रभु के उपासन में नियमित रूप से उदय को प्राप्त होते हैं। **यस्य**=जिस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के

व्रतम्=व्रत को **सिन्धवः**=सब नदियाँ **सश्चति**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् जिसके प्रशासन में ये सब नदियाँ प्रवाहित होती हैं, उस **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाले प्रभु को **सख्या**=मित्रता के लिए **हवामहे**=हम पुकारते हैं। २. प्रभु की शक्ति से ब्रह्माण्ड शक्तिसम्पन्न हो रहा है। प्रभु के प्रशासन में सब देव नियमित गति से चल रहे हैं। हम भी उस प्रभु के मित्र बनेंगे तो उस प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होंगे और अपने जीवन की प्रत्येक गति में नियमित हो सकेंगे।

भावार्थ—सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न हो रहा है, इसी के नियम में चल रहा है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अश्वपति, गोपति

यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणिकर्मणि स्थिरः।
वीळोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥ ४॥

१. **यः**=जो इन्द्र **अश्वानाम्**=अश्वों का व कर्मेन्द्रियों का **वशी**=वश में करनेवाला है। प्रभु के स्मरण से ही इनका वशीकरण सम्भव होता है। **यः**=जो प्रभु **गवां गोपतिः**=प्रशस्त गौओं के व उत्तम ज्ञानेन्द्रियों के स्वामी हैं। प्रभु के आराधन से ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तमता से अपना कार्य करनेवाली होती हैं। **वशी**=ये सबको वश में करनेवाले प्रभु वे हैं **यः**=जो **आरितः**=स्तुति के द्वारा गये हुए **कर्मणिकर्मणि**=प्रत्येक कर्म में **स्थिरः**=स्थिर होते हैं, अर्थात् जब हम स्तुति के द्वारा प्रभु को प्राप्त होते हैं, तब प्रभु हमें सब उत्तम कर्मों में स्थिरता प्राप्त कराते हैं। प्रभुभक्त की बुद्धि स्थिर होती है। स्थित-प्रज्ञता के कारण ही वह स्थिरता से प्रत्येक काम को करनेवाला बनता है, डाँवाडोल नहीं बना रहता। २. **इन्द्रः**=प्रभु वे हैं **यः**=जो **वीळोः चित्**=अत्यन्त बलवान् भी **असुन्वतः**=अयज्ञशील पुरुष के **वधः**=वध करनेवाले हैं, उस **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाले प्रभु को **सख्याय**=मित्रता के लिए **हवामहे**=हम पुकारते हैं। प्राणसाधना से हमारे दोष दूर होकर हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है। यज्ञिय वृत्ति होने पर हम प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्त को उत्तम कर्मेन्द्रियाँ, उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मों में स्थिरता व यज्ञशीलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

जीवन, ज्ञान व दस्यु-संहार

यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्।
इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन् मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥ ५॥

१. **यः**=जो **विश्वस्य**=सम्पूर्ण **जगतः**=गतिशील **प्राणतः**=प्राणधारी के **पतिः**=रक्षक व स्वामी हैं। वे प्रभु ही इस संसार को बनाते हैं। चराचर जगत् के निर्माता वे प्रभु ही सबका धारण भी करते हैं। कर्मानुसार वे सब जीवों को विविध योनियों में भेजते हैं। वे सब जीवों को गतिशक्ति व प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। २. इन जीवों में सर्वोत्कृष्ट स्थिति ब्रह्मा की है। प्राणी सात्त्विक, राजस् व तामस् तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। इन तीनों की फिर तीन-तीन श्रेणियाँ हैं। सात्त्विकों में भी जो उत्तम श्रेणी, उस श्रेणी में भी उत्तम स्थान ब्रह्मा का है। प्रभु वे हैं—

यः=जोकि **प्रथमः**—सबसे प्रथम होते हुए **ब्रह्मणे**=इस ब्रह्मा के लिए **गाः**=वेदवाणियों को **अविन्दत्**=प्राप्त कराते हैं—**'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदाँश्च सर्वान् प्रहिणोति तस्मै।'** ३. इस प्रकार **यः इन्द्रः**=जो सर्वशक्तिमान् प्रभु ज्ञान प्राप्त कराके **दस्यून्**=हमारी सब दास्यव वृत्तियों को **अधरान् अवातिरत्**=नीचे नष्ट कर देते हैं, पाँवों-तले कुचल देते हैं, उस **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाले प्रभु को **सख्याय**=मित्रता के लिए **हवामहे**=हम पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु जीवन देकर वेदरूप ज्ञान देते हैं और इस ज्ञान द्वारा हमारी आसुरवृत्तियों को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

शूरता व विजय

यः शूरे॑भि॒र्हव्यो॒ यश्च॑ भी॒रुभि॒र्यो धाव॑द्भि॒र्हूयते॒ यश्च॑ जि॒ग्युभिः॑।
इन्द्रं॒ यं विश्वा॒ भुव॑ना॒भि सं॑द॒धुर्म॒रुत्व॑न्तं स॒ख्याय॑ हवामहे॥ ६॥

१. **यम् इन्द्रम्**=जिस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **विश्वा भुवना**=सब लोक, सब लोकों में स्थित मनुष्य **अभिसन्दधुः**=अपने साथ जोड़ने का प्रयत्न करते हैं, **यः**=जो **शूरेभिः**=शूरवीर पुरुषों से **हव्यः**=पुकारने योग्य होता है **यः च**=और जो **भीरुभिः**=भीरु पुरुषों से भी **हव्यः**=पुकारने योग्य होता है, **धावद्भिः**=रण में घबराकर भाग खड़े होनेवाले पराजित पुरुषों से **यः**=जो प्रभु **हूयते**=पुकारे जाते हैं **च यः**=और जो **जिग्युभिः**=विजयशील पुरुषों से पुकारे जाते हैं, उस **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाले प्रभु को **सख्याय**=मित्रता के लिए **हवामहे**=हम पुकारते हैं। २. उत्तम व्यक्ति तो प्रभु का स्मरण करते ही हैं, अन्य व्यक्ति भी कष्ट आने पर प्रभु को याद करते हैं। शूर, प्रभु के स्मरण से ही शूर हैं, भीरु भी व्याकुल होकर प्रभु के आर्तभक्त बनते हैं। विजेता प्रभु-स्मरण से विजयी बनते हैं, भाग खड़े होनेवाले पराजित पुरुष भी प्रभु-स्मरण के द्वारा अपने रक्षण की चिन्ता करते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट-निकृष्ट सभी प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। हम भी प्राणसाधना के द्वारा प्रभु के मित्र बनें।

भावार्थ—प्रभु ही सबकी शरण हैं। वे ही शूरता व विजय प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ज्ञान+तेज

रु॒द्राणा॑मेति प्र॒दिशा॑ विचक्ष॒णो रु॒द्रेभि॒र्योषा॑ तनुते पृ॒थु ज्रयः॑।
इन्द्रं॑ मनी॒षा अ॒भ्य॑र्चति श्रु॒तं म॒रुत्व॑न्तं स॒ख्याय॑ हवामहे॥ ७॥

१. **विचक्षणः**=ज्ञानी पुरुष **रुद्राणाम्**=कामादि शत्रुओं को रुलानेवाले प्राणों के **प्रदिशा**=मार्ग से **एति**=गति करता है। ज्ञानी प्राणसाधना के मार्ग पर चलता है। प्राणायाम से इन्द्रिय-दोष नष्ट हो जाते हैं, यही कामादि शत्रुओं का रोदन है, मानो वे अपने घर से निकाल दिये जाते हैं। २. **रुद्रेभिः**=इन कामादि शत्रुओं को रुलानेवाले प्राणों से ही **योषा**=वेदवाणी प्राप्त होती है (योषा हि वाक्—शत० १।४।४।४)। इन्हीं से **पृथुः**=विस्तृत **ज्रयः**=तेज को (**ज्रि**=to overpower, conquer) **तनुते**=मनुष्य विस्तृत करता है। प्राणसाधना से **सोम**=वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर जहाँ शक्ति की वृद्धि होती है, वहाँ यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, अर्थात् ज्ञान-वृद्धि का कारण

बनता है। **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली परमात्मा को **मनीषा**=बुद्धि **अभ्यर्चति**=पूजती है। तीव्रबुद्धि से ही तो प्रभु का दर्शन होता है। यह बुद्धि **श्रुतम्**=ज्ञान का अर्चन करती है। बुद्धि से ज्ञानोपार्जन के द्वारा हम सृष्टि में प्रभु की महिमा को देखते हैं और इस **मरुत्वन्तम्**=प्राणों व वायुओंवाले प्रभु को **सख्याय**=मित्रता के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। इन प्राणों की साधना ही तो हमें प्रभु के समीप पहुँचानेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान और तेज की वृद्धि करके हम प्रभु के सान्निध्यवाले होते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु व जीवनयज्ञ

यद् वा मरुत्वः पर॒मे स॒धस्थे॒ यद्वा॑व॒मे वृ॒जने॑ मा॒दया॑से।
अत॒ आ या॑ह्यध्व॒रं नो॒ अच्छा॑ त्वा॒या ह॒विश्च॑कृमा स॒त्यराधः॥ ८॥

१. हे **मरुत्वः**=प्राणों व वायुओंवाले प्रभो! आप **यद्वा**=चाहे **परमे**=सर्वोत्कृष्ट **सधस्थे**=जीवात्मा व परमात्मा के मिलकर रहने के स्थान में अर्थात् हृदयकाश में **मादयासे**=आनन्दित होकर निवास करते हैं, **यद्वा**=अथवा **अवमे वृजने**=इस निचले आकाशप्रदेश में **मादयासे**=आनन्दपूर्वक निवास करते हैं, अतः उस सधस्थ हृदयदेश से अथवा इस **अवम**=आकाश प्रदेश से **नः**=हमारे **अध्वरं अच्छ**=जीवन-यज्ञ की ओर **आयाहि**=प्राप्त होओ। आपके द्वारा ही हमारा यह जीवन-यज्ञ सुन्दरता से पूर्ण होता है। हे **सत्यराधः**=सत्य को सिद्ध करनेवाले व सत्यधनवाले प्रभो! **त्वाया**=आपकी प्राप्ति के हेतु से ही हम **हविः चकृमः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को अपनाते हैं। हवि के द्वारा ही आपका पूजन होता है।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक प्रभु ही हमारे जीवन-यज्ञ को चलाते हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए हमें हवि का स्वीकार करना है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सोम तथा हवि

त्वा॒येन्द्र॒ सोमं॑ सुषुमा सुदक्ष त्वा॒या ह॒विश्च॑कृमा ब्रह्मवाहः।
अधा॑ नियुत्वः॒ सग॑णो म॒रुद्भि॑र॒स्मिन् य॒ज्ञे ब॒र्हिषि॑ मादयस्व॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वाया**=तेरी प्राप्ति के उद्देश्य से **सोमम्**=वीर्य को **सुषुमा**=हम अपने शरीरों में **सुत**=उत्पादित करते हैं। इस सोम के रक्षण से ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनते हैं। २. हे **सुदक्ष**=उत्तम दक्षता व उन्नितवाले प्रभो! **ब्रह्मवाहः**=ज्ञान का वहन करनेवाले प्रभो! **त्वाया**=आपकी प्राप्ति के हेतु से **हविः चकृम**=हम दानपूर्वक अदन (भक्षण) करते हैं। इस हवि के द्वारा प्रभु का आराधन तो होता ही है, हमें भी **दक्षता**=वृद्धि व ज्ञान की प्राप्ति होती है। ३. **अध**=अब हे **नियुत्वः**=वायु व आत्मा के इन्द्रियरूप अश्वोंवाले प्रभो! **मरुद्भिः**=वायुओं व प्राणों से **सगणः**=गणों से युक्त आप **अस्मिन् यज्ञे**=हमारे इस जीवनयज्ञ में **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **मादयस्व**=आनन्द से विराजिए। वायु के अश्व 'नियुत्' कहलाते हैं। वायु 'आत्मा' है। उसके अश्व 'इन्द्रियाँ' हैं। प्रभु इन इन्द्रियाश्वों को हमें प्राप्त कराते हैं। मरुत् 'प्राण' हैं। इन प्राणों की साधना हमें 'सगण' बनाती है। हमारे जीवन में एक ज्ञानेन्द्रियों का गण है, इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों का दूसरा गण है। पञ्चभूतों के गण से तो शरीर बना ही है। अन्तःकरण-पञ्चक भी एक गण है—'हृदय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार', इन सब गणों

को ठीक रखने के लिए प्राणसाधना उपयोगी होती है। इस साधना से ये सब गण ठीक बनते हैं और हमारा हृदय पवित्र होकर प्रभु का आसन बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए (क) सोम का सम्पादन, (ख) हवि का स्वीकरण तथा (ग) प्राणसाधना आवश्यक हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'मितभोगी, प्राणसाधक, ज्ञानी'

मादयस्व हरिभिर्ये त इन्द्र वि ष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने।
आ त्वा सुशिप्र हरयो वहन्तूशन् हव्यानि प्रति नो जुषस्व॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके इन्द्रियरूप अश्व हैं, उन **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों से **मादयस्व**=हमें हर्षित कीजिए। प्रभुकृपा से हमें उत्तम इन्द्रियाँ प्राप्त हों। इनके ठीक होने में ही 'सु-ख' है। २. **शिप्रे**=हमारे जबड़े (Jaws) व नासिका (nose) को **विष्यस्व**=पूर्ण (complete) बना दीजिए। जबड़ों की पूर्णता इसी में है कि हम उत्तम आहारवाले व मितहारी हों, हर समय खाते ही न रहें। नासिका की पूर्णता इसमें है कि हम प्राणसाधना से इसके दायें-बायें दोनों स्वरों को ठीक रखें। ३. **धेने**=(धेना=वाङ्नाम—नि० १।११) दोनों वाणियों को 'अपराविद्या व पराविद्या' को **विसृजस्व**=हमारे लिए विशेषरूप से दीजिए। प्रकृतिविद्या को प्राप्त करके हम सब प्राकृतिक देवों को अपना सहायक बना पाते हैं और आत्मविद्या से हम संसार के पदार्थों में उलझते नहीं। ४. हे **सुशिप्र**=उत्तम जबड़ों व नासिका को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **हरयः**=हमारे ये इन्द्रियाश्व **त्वा आवहन्तु**=हमारे लिए आपको प्राप्त करानेवाले हों। संसार के भोगों में आसक्त न होनेपर ये हमें आपको प्राप्त करानेवाले होते हैं। ५. हे प्रभो! **उशन्**=हमारे हित की कामना करते हुए आप **नः**=हमारे लिए **हव्यानि**=हव्य पदार्थों को **प्रतिजुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करानेवाले होओ। हमारी रुचि हव्य पदार्थों के लिए हो। इनका सेवन ही हमें आपके समीप प्राप्त कराएगा।

भावार्थ—प्रभु हमें 'मितभोजी, प्राणसाधक व ज्ञानी' बनाने की कृपा करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मरुत्स्तोत्र व वृजन के रक्षक

मरुत्स्तोत्रस्य वृजनस्य गोपा वयमिन्द्रेण सनुयाम वाजम्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ११॥

१. **मरुत् स्तोत्रस्य**=(मरुद्भ्यः सहितं स्तोत्रं मरुत्स्तोत्रम्) प्राणसाधना के साथ प्रभुस्तवन के और **वृजनस्य**=कामादि शत्रुओं के साथ संग्राम (Battle, fight या power, strength) के तथा अपनी शक्ति की **गोपाः**=रक्षा करनेवाले **वयम्**=हम **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **वाजम्**=शक्ति को **सनुयाम**=प्राप्त करें। जो भी व्यक्ति प्राणायाम के साथ प्रभु-स्मरण करता है और जो इस जीवन-संग्राम में कामादि शत्रुओं के साथ संघर्ष को छोड़ नहीं देता, वह उस सखा प्रभु से शक्ति प्राप्त करता है। उस प्रभु से शक्ति प्राप्त करके ही यह संग्राम में विजयी होता है। २. **नः**=हमारे **तत्**=इस 'प्राणसाधना, प्रभुस्तवन व शक्तिरक्षा' के संकल्प को **मित्रः**=मित्र **वरुणः**=वरुण **अदितिः**=स्वास्थ्य **सिन्धु**=प्रवाहमय रेतःकण **पृथिवीः**=शरीर **उत**=और

द्यौः=मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें। स्नेह की भावना (मित्र), निर्द्वेषता (वरुण), स्वास्थ्य, रेत:कण, दृढ़शरीर व दीप्त मस्तिष्क से हम 'प्राणसाधना, प्रभुस्तवन व शक्तिरक्षण' के संकल्प को पूर्ण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्राणों की साधना करें, प्रभु का स्मरण करें, कामादि शत्रुओं से युद्ध जारी रक्खें, प्रभु हमें शक्ति प्रदान करेंगे।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से होता है—वे प्रभु शक्तिशाली व कुशलकर्मा हैं (१)। वे हमारे क्रोध, ईर्ष्या, स्वार्थ व काम का संहार करनेवाले हैं (२)। प्रभु ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अपनी शक्ति से नियमन कर रहे हैं (३)। वे अश्वपति व गोपति हैं (४)। वे ही दस्युओं का संहार करते हैं (५)। वे ही सबकी शरण हैं (६)। प्राणसाधना से ज्ञान व तेज प्राप्त करके हम प्रभु-सान्निध्यवाले होते हैं (७)। ये प्रभु ही हमारे जीवन-यज्ञ को चलाते हैं (८)। प्रभु-प्राप्ति के लिए सोम-रक्षण व हवि का सेवन आवश्यक है (९)। प्रभु का उपासन हमें मितभोजी, प्राणसाधक व ज्ञानी बनाएगा (१०), प्रभु हमें शक्ति देंगे (११)। 'इस शक्ति में ही आनन्द है'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१०२] द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

बुद्धि व तेज का भरण

इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु॥ १ ॥

१. हे प्रभो! **इमाम्**=इस **ते**=आपकी **महीम्**=आदरणीय **धियम्**=बुद्धि को **प्रभरे**=खूब ही धारण व पुष्ट करता हूँ। प्रभु ने बुद्धि दी है। हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस बुद्धि का ठीक से भरण करें। यह बुद्धि ही हमें जीवन-यात्रा में मार्ग-दर्शन कराती है। मैं अपने में **महः**=तेजस्विता को भी **प्रभरे**=प्रकर्षेण भरता हूँ। तेजस्विता से ही तो मार्ग का आक्रमण सम्भव होगा। बुद्धि मार्ग दिखाएगी और तेजस्विता उस मार्ग पर चलने के योग्य बनाएगी। २. मैं आपकी बुद्धि का भरण इसलिए करता हूँ **यत्**=कि **अस्य ते**=इन आपकी **धिषणा**=बुद्धि **स्तोत्रे**=स्तोता के लिए **आनजे**=(अञ्ज् to decorate) जीवन को अलंकृत करनेवाली होती है। बुद्धि के द्वारा जीवन सद्गुणों से मण्डित हो जाता है, अन्ततः उस बुद्धि के द्वारा ही प्रभु-दर्शन होता है। ३. **तम्**=उस **सासहिम्**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **उत्सवे**=प्रसन्नता के अवसर पर **च**=तथा **प्रसवे च**=निर्माण के कार्यों के अवसर पर भी **देवाः**=देववृत्ति के लोग **शवसा**=क्रियाशीलता के द्वारा अनु **अमदन्**=क्रियाशीलता के अनुपात में ही प्रीणित करते हैं। हमारे कर्म ही प्रभु को प्रीणित करते हैं। आलसी मनुष्य कभी प्रभु का प्रिय नहीं होता। '**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः**'—देव श्रमशील के ही सखा होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'बुद्धि, तेज व कर्मशीलता' का भरण करें। यही सच्ची प्रभुपूजा है।

ऋषि:—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वत्र प्रभुयश-दर्शन

अस्य श्रवो नद्यः सप्त बिभ्रति द्यावाक्षामा पृथिवी दर्शतं वपुः।
अस्मे सूर्याचन्द्रमसाभिचक्षे श्रद्धे कमिन्द्र चरतो वितर्तुरम्॥ २॥

१. **सप्त**=सर्पणशील—बहनेवाली, निरन्तर प्रवाहों में चलनेवाली **नद्यः**=नदियाँ **अस्य श्रवः**=इस प्रभु के यश को **बिभ्रति**=धारण करती हैं। गङ्गादि महान् नदियों की निरन्तर बहती हुई जलधाराएँ प्रभु की महिमा का किस विचारशील पुरुष को स्मरण नहीं करातीं? २. **द्यावाक्षामा**=द्युलोक व पृथिवीलोक, **पृथिवी**=अन्तरिक्षलोक तथा **दर्शतं वपुः**=दर्शनीय रचनावाला यह प्राणिशरीर—ये सबके सब उस प्रभु के यश को धारण करते हैं। इनमें सर्वत्र उस रचयिता की रचना का कौशल दिखता है। शरीर में तो एक-एक अङ्ग कुतूहल पैदा करनेवाला है। ३. **सूर्याचन्द्रमसा**=ये सूर्य और चन्द्रमा **इन्द्र**=हे परमात्मन्! **अस्मे**=हमारे लिए **अभिचक्षे**=वस्तुओं के प्रकाशन के लिए तथा **श्रद्धे**=आपके प्रति श्रद्धा के लिए **वितर्तुरम्**=(तुर्वी हिंसायाम्) सब बुराइयों का संहार करते हुए और **कम्**=सुखवृद्धि करते हुए **चरतः**=गति करते हैं। सूर्य और चन्द्रमा को देखकर इनका वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए किस व्यक्ति के हृदय में प्रभु के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती? सूर्य-चन्द्रमा प्रभु की अद्भुत विभूतियाँ हैं।

भावार्थ—नदियाँ, द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, प्राणिशरीर, सूर्य और चन्द्रमा सभी प्रभु के यश का गायन कर रहे हैं।

ऋषि:—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

जैत्र-रथ

तं स्मा रथं मघवन् प्राव सातये जैत्रं यं ते अनुमदाम संगमे।
आजा न इन्द्र मनसा पुरुष्टुत त्वायद्भ्यो मघवञ्छर्म यच्छ नः॥ ३॥

१. हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सातये**=जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए आवश्यक धनलाभ के लिए **तं रथम्**=उस शरीररूप रथ को **प्राव स्म**=(प्रेरय, वर्तय—सा०) प्रेरित कीजिए, हमें प्राप्त कराइए, **यं ते जैत्रम्**=जिस आपके विजयशील रथ को **संगमे**=शत्रुओं के साथ मुठभेड़ के अवसर पर **आजा**=युद्ध में **अनुमदाम**=प्रशंसित करते हैं। हमारा यह शरीररूप रथ दृढ़ हो। यह रोगरूप शत्रुओं से पराजित होनेवाला न हो—'जैत्र' हो। काम-क्रोधादि शत्रुओं से संग्राम होने पर यह पराजित न हो जाए। २. **नः**=हमारे **मनसा**=मन से **पुरुष्टुत**=खूब स्तुति किये गये **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **मघवन्**=यज्ञरूप प्रभो! **त्वायद्भ्यः**=आपकी कामना करनेवाले **नः**=हमारा **शर्म यच्छ**=कल्याण कीजिए। जब एक मनुष्य सर्वभाव से—हृदय से प्रभु की उपासना करता है तब प्रभु उसका कल्याण करते हैं। जो भी व्यक्ति प्रभु की कामना करते हैं, प्रभु उन्हें सुखी करते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें विजयशील शरीर-रथ प्राप्त कराएँ और मन से प्रभु-स्मरण करनेवालों का कल्याण करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुगं वरिवः

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **त्वया युजा**=आप मित्र के साथ **वृत्रम्**=हमारे ऐश्वर्य को आवृत्त करनेवाले शत्रु को **जयेम**=जीतनेवाले हों, ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली काम-वासना को हम पराजित कर सकें। २. **अस्माकम् अंशम्**=हमारे धन के अंश को **भरेभरे**=प्रत्येक संग्राम में आप **उद् अव**=रक्षा करनेवाले होओ। हमारी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन की मात्रा बनी ही रहे, कम न हो जाए। ३. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वरिवः**=इस धन को **सुगं कृधि**=सुगमता से प्राप्त होने योग्य कीजिए और **मघवन्**=प्रकृष्ट ऐश्वर्यवाले प्रभो! आप **शत्रूणाम्**=शत्रुओं के **वृष्ण्या**=बलों को **प्ररुज**=प्रकर्षेण छिन्न-भिन्न कर दीजिए।

भावार्थ—प्रभु के मित्र बनकर हम शत्रुओं को जीतनेवाले हों और जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धनों को सुगमता से प्राप्त कर सकें।

सूचना—'सुगम्' शब्द की यह भावना भी स्मरणीय है कि—'सुन्दर गतिवाला'। हमारा धन सुन्दर गतिवाला हो, अर्थात् हम धनों को प्राप्त करके प्रशस्त आचरणोंवाले बने रहें। धन हमें भोग-प्रवण व अप्रशस्त आचरणोंवाला न बना दे।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'जैत्र-निभृत' मन

नाना हि त्वा हवमाना जना इमे धनानां धर्तरवसा विपन्यवः।
अस्माकं स्मा रथमा तिष्ठ सातये जैत्रं हीन्द्र निभृतं मनस्तव॥ ५॥

१. हे **धनानां धर्तः**=विविध धनों को धारण करनेवाले प्रभो! **इमे**=ये **नाना जनाः**=विविध वृत्तियों के लोग **विपन्यवः**=विशेषरूप से आपका स्तवन करनेवाले बनकर **अवसा**=रक्षण के हेतु से **त्वा हि हवमानाः**=आपको ही पुकारनेवाले हैं। अन्ततः सब प्रभु का स्मरण करते हैं। अन्तिम शरण प्रभु ही हैं—'**सा काष्ठा सा परा गतिः**'। संसार के सब आधार अन्त में धोखा दे जाते हैं, प्रभुरूप आधार ही अविचल है। २. हे प्रभो! आप **अस्माकम् रथम् आतिष्ठ स्म**=हमारे इस शरीररूप रथ पर स्थित होओ। आपके इस रथ के अधिष्ठाता बनने पर ही हम **सातये**=विजयी होते हैं। आपके साथ हम जीतते हैं, आपके बिना पराजय-ही-पराजय होती है। ३. हे **इन्द्र**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभो! **मनः**=जब हमारा यह मन **तव**=आपका होता है, जब यह आपका स्मरण करनेवाला होता है तभी यह **हि**=निश्चय से **जैत्रम्**=जयशील होता है और **निभृतम्**=व्याकुलतारहित होता है, इसमें किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता।

भावार्थ—अन्ततः सब प्रभु का स्मरण करते हैं। प्रभु-प्रवण मन विजयशील व व्याकुलतारहित होता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

कर्मवीर न कि वाग्वीर

गोजिता बाहू अमितक्रतुः सिमः कर्मन्कर्मञ्छतमूतिः खजंकरः।
अकल्प इन्द्रः प्रतिमानमोजसाथा जना वि ह्वयन्ते सिषासवः॥ ६॥

१. **बाहू**=भुजाएँ **गोजिता**=वाणी को जीतनेवाली हों (गौर्जिता याभ्याम्), अर्थात् मनुष्य कर्मवीर हो न कि वाग्वीर। **अमितक्रतुः**=यह असीम कर्मसंकल्पवाला हो, निरन्तर क्रियाशील हो। **सिमः**=श्रेष्ठ हो अथवा (षिञ् बन्धने) शत्रुओं का बन्धक हो। कर्म में विघ्नभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाला हो। **कर्मन् कर्मन्**=प्रत्येक कर्म में **शतम् ऊतिः**=शतशः रक्षणोंवाला है। कर्मों में आनेवाले विघ्नों को दूर करके उनको पूर्ण करनेवाला है। **खजङ्करः**=(खज=संग्राम) युद्ध करनेवाला है। वस्तुतः अध्यात्म-संग्राम में यह काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित करने का प्रयत्न करता है। २. अपने जीवन का ऐसा निर्माण करनेवाला 'कुत्स आङ्गिरस' प्रभु का स्मरण करता हुआ कहता है कि—**इन्द्रः**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाला प्रभु **अकल्पः**=अन्य कल्प से रहित है, अर्थात् अनुपम है। **ओजसा**=ओजस्विता के कारण यह **प्रतिमानम्**=सबके बल को मापनेवाला है। वस्तुतः प्रभु बल के पुञ्ज हैं। सम्पूर्ण शक्ति के स्रोत हैं। **अथ**=अब **सिषासवः**=विजय-प्राप्ति की कामनावाले **जनाः**=लोग **विह्वयन्ते**=प्रभु को विविध प्रकारों से पुकारते हैं। प्रभु के द्वारा ही तो विजय प्राप्त होती है। सच्चा उपासक भी कर्मवीर बनता हुआ शक्तिशाली बनता है और विजय प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम कर्मवीर बनें न कि वाग्वीर। शक्ति का सम्पादन करते हुए हम विजयी बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अनन्त यश

उत्ते शतान्मघवन्नुच्च भूयस उत्सहस्राद्रिरिचे कृष्टिषु श्रवः।
अमात्रं त्वा धिषणा तित्विषे मह्यधा वृत्राणि जिघ्नसे पुरन्दर॥ ७॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपका **कृष्टिषु श्रवः**=मनुष्यों में होनेवाला यश **शतात् उत रिरिचे**=सैकड़ों मनुष्यों से भी अधिक बढ़ा हुआ है, **भूयसः च उत्**=सैकड़ों मनुष्यों से भी अधिक पुरुषों से वह अधिक है। **सहस्रात् उत**=हज़ारों पुरुषों से भी वह अधिक है। उस प्रभु के यश को अनन्त पुरुषों का यश भी प्रतुलित नहीं कर सकता। २. **धिषणा**=(वाक्) यह वेदवाणी **अमात्रम्**=न मापने योग्य **त्वा**=आपको **तित्विषे**=दीप्त करती है—'**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' सम्पूर्ण वेद आपका ही प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः इसीलिए यह वेदवाणी **मही**=पूजनीय व महत्त्वपूर्ण है। ३. जो भी व्यक्ति इस वेदवाणी के द्वारा प्रभु का उपासन करता है, प्रभु उसके दुर्भावों का विनाश करते हैं। उसके इन शरीररूप पुरों का वे विदारण करते हैं। हे **पुरन्दर**=इन शरीररूप पुरों का विदारण करके मोक्षपद को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **अध**=उपासना करने पर **वृत्राणि**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ-जानेवाली इन वासनाओं को **जिघ्नसे**=नष्ट करते हैं। वासनाओं को नष्ट करके ही तो प्रभु भक्तों को मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का यश अनन्त है। उस अमात्र प्रभु का ही यह वेदवाणी प्रतिपादन करती है। उपासित होने पर प्रभु बन्धनों को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अ-शत्रु

त्रिविष्टिधातु प्रतिमानमोजसस्तिस्रो भूमीर्नृपते त्रीणि रोचना।
अतीदं विश्वं भुवनं ववक्षिथाशत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि॥ ८॥

१. हे **नृपते**=मनुष्यों के रक्षक प्रभो! आप **ओजसः**=ओज व शक्ति के **त्रिविष्टधातु**=त्रिगुणित रज्जु के समान दृढ़ **प्रतिमानम्**=प्रतिमान हो। आपकी शक्ति अनुपम है। शक्ति के दृष्टिकोण से आप त्रिगुणित रज्जु के समान दृढ़ हैं। २. **आप तिस्रः भूमीः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूप तीनों भूमियों को (भवन्ति भूतानि यस्याम्), प्राणियों के निवासस्थानभूत तीनों लोकों को **त्रीणि रोचना**=अग्नि, विद्युत् व सूर्यरूप तीनों ज्योतियों को, वस्तुतः **इदं विश्वं भुवनम्**=इस सारे भुवन को ही **अतिववक्षिथ**=अतिशयेन वहन करने की इच्छा करते हैं। आप अपनी शक्ति से सारे ही ब्रह्माण्ड का धारण कर रहे हैं। ३. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **सनात्**=सदा से **जनुषा**=स्वभाव से ही **अशत्रुः**=अविनाशी (One who cannot be shattered) **असि**=हैं। प्रभु का कोई भी शत्रु नहीं, प्रभु सभी को प्रेम करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु अनुपम शक्तिवाले हैं; सारे ब्रह्माण्ड का धारण कर रहे हैं। स्वभाव से ही प्रभु अशत्रु हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'कारु, उपमन्यु व उद्भिद्' रथ

त्वां देवेषु प्रथमं हवामहे त्वं बभूथ पृतनासु सासहिः।
सेमं नः कारुमुपमन्युमुद्भिदमिन्द्रः कृणोतु प्रसवे रथं पुरः॥ ९॥

१. तेतीस देव हैं, चौतीसवाँ उनका अधिष्ठाता महादेव है। हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **देवेषु प्रथमम्**=सब देवों में सर्वप्रथम को **हवामहे**=हम पुकारते हैं, आपकी आराधना करते हैं। **पृतनासु**=संग्रामों में **त्वम्**=आप ही **सासहिः**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाले **बभूथ**=हैं। **सः**=वे आप **नः**=हमारे **इमम्**=इस **रथम्**=शरीररूप रथ को **कारुम्**=खूब क्रियाशील, **उपमन्युम्**=उपासना के द्वारा ज्ञानवाला (मन्=अवबोधे) **उद्भिदम्**=मार्ग में आनेवाले विघ्नों का विदारण करनेवाला **कृणोतु**=करो। **प्रसवे**=ऐश्वर्य के निमित्त (Acquisition) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाले आप हमारे इस शरीररूप रथ को **पुरः कृणोतु**=आगे गतिवाला कीजिए। आपकी कृपा से हम इस रथ के द्वारा आगे और आगे बढ़ें।

भावार्थ—प्रभु ही हमें संग्रामों में जितानेवाले हैं। हमारा यह शरीररूप रथ क्रियाशील, प्रकाशवाला व विघ्नविदारक होकर आगे बढ़नेवाला हो।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

संग्राम-विजय

त्वं जिगेथ न धना रुरोधिथार्भेष्वाजा मघवन्महत्सु च।
त्वामुग्रमवसे सं शिशीमस्यथा न इन्द्र हवनेषु चोदय॥ १०॥

१. हे प्रभो! **त्वं जिगेथ**=आप ही विजय प्राप्त करते हो और उन विजित **धना**=धनों

को **न रुरोधिथ**=रोकते नहीं हो, अर्थात् उन सब धनों को स्तोताओं को दे देते हो। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अर्भेषु**=छोटे-छोटे **आजा**=युद्धों में **च महत्सु**=और बड़े संग्रामों में **उग्रं त्वाम्**=तेजस्वी आपको **अवसे**=रक्षण के लिए **संशिशीमसि**=स्तोत्रों के द्वारा प्रेरित करते हैं अथवा आपके द्वारा शत्रुओं को क्षीण करते हैं। ३. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अथ**=अब **नः**=हमें **हवनेषु**=दानपूर्वक अदनरूप यज्ञात्मक कर्मों में **चोदय**=प्रेरित कीजिए। आपकी प्रेरणा से हम सदा यज्ञात्मक कर्मों में लगे हुए अपने काम-क्रोधादि शत्रुओं को क्षीण करनेवाले हों। इन शत्रुओं के साथ संग्राम में हम विजयी हों और शक्ति व ज्ञानरूप धनों के प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—छोटे-बड़े सभी संग्रामों में प्रभु ही हमें विजयी बनाते हैं। प्रभु ही उत्तम कार्यों के लिए प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वह महान् उपदेष्टा

विश्वाहेन्द्रो अधिवक्ता नो अस्त्वपरिह्वृताः सनुयाम वाजम्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ११॥

१००।१९ पर इसकी व्याख्या द्रष्टव्य है। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वाहा**=सदा **नः**=हमारे **अधिवक्ता**=अधिकारपूर्वक उपदेष्टा **अस्तु**=हों। **अपरिह्वृता**=कुटिलता से रहित हुए-हुए हम **वाजम्**=शक्ति को **सनुयाम**=प्राप्त करें। **नः**=हमारे **तत्**=इस संकल्प को **मित्रः वरुणः**=प्रेम, निर्द्वेषता **अदितिः**=स्वास्थ्य **सिन्धुः**=रेतःकण **पृथिवी**=दृढ़ शरीर **उत**=और **द्यौः**=प्रकाशमय मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें।

भावार्थ—हमें शक्ति प्राप्त हो और हम सरल जीवनवाले हों।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में 'बुद्धि व तेज के भरण' की प्रार्थना है (१)। समाप्ति पर भी 'शक्ति व अकौटिल्य' की याचना है (११)। उत्कृष्ट शक्ति के धारण का ही उपक्रम करते हुए अगले सूक्त में कहते हैं—

[१०३] त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। **स्वरः—धैवतः**।

प्रत्याहार द्वारा 'परम इन्द्रिय' का धारण

तत्त इन्द्रियं परमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम्।
क्षमेदमन्यद्दिव्य१न्यदस्य समी पृच्यते समनेव केतुः॥ १॥

१. **कवयः**=क्रान्तदर्शी—तत्त्वद्रष्टा पुरुष **पुरा**=सबसे प्रथम **पराचैः**=विषयों से पराङ्मुख गति के द्वारा (**परा**=अञ्च) **ते**=आपकी **इदम्**=इस **तत्**=प्रसिद्ध **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट **इन्द्रियम्**=शक्ति को **अधारयन्त**=धारण करते हैं। इन्द्रियाँ विषयाभिमुख होती हैं तो ये विषय इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण करनेवाले होते हैं, परन्तु इन्हीं इन्द्रियों के निरोध से शक्ति का रक्षण होकर सब इन्द्रियाँ उत्तम शक्ति से सम्पन्न बनी रहती हैं। २. यह शक्ति स्थूलरूप से दो भागों में विभक्त है। **इदम्**=यह **अन्यत् क्षमा**=एक विलक्षण रूप में पृथिवीरूप शरीर में रहती है। बाह्य जगत् में यह अग्नि है तो अध्यात्म में यह शरीर के तेज के रूप में है। **अस्य**=इसका **दिवि**=मस्तिष्करूप

द्युलोक में **अन्यत्**=अन्य ही रूप है। बाह्य जगत् में यह सूर्य है और अध्यात्म में यह मस्तिष्क में उदित होनेवाला ज्ञान का सूर्य है। ३. यह शक्ति **समना इव केतुः**=जैसे युद्ध में दोनों सेनाओं के झण्डे परस्पर मिल जाते हैं, इसी प्रकार **ईम्**=निश्चय से **सम्पृच्यते**=परस्पर सम्पृक्त होती है। आदर्श पुरुष वही है जो शरीर में तेज और मस्तिष्क में ज्ञान को धारण करता हुआ ज्ञान के साथ तेज को अपने जीवन में सम्पृक्त करनेवाला होता है। 'पहलवान का शरीर और ऋषि की आत्मा'—ये मिलकर ही जीवन को सुन्दर बनाती हैं।

भावार्थ—विषय-पराङ्मुख होकर हम शरीर में तेजस्वी व मस्तिष्क में दीप्त ज्ञानवाले बनें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'अहि, रौहिण व व्यंस' का विनाश

स धा॑रयत्पृथि॒वीं प॒प्रथ॑च्च॒ वज्रे॑ण ह॒त्वा निर॒पः स॑सर्ज।
अह॒न्नहि॒मभि॑नद्रौहि॒णं व्यह॒न्व्यं॑सं म॒घवा॒ शची॑भिः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'उत्कृष्ट शक्ति' को धारण करनेवाला **सः**=वह **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **धारयत्**=धारण करता है **च**=और **पप्रथत्**=इसकी शक्ति का विस्तार करता है। **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **हत्वा**=वासनाओं को नष्ट करके **अपः**=शरीर में उत्पन्न रेतःकणों का (**आपः**=रेतः) **निः ससर्ज**=निश्चय से निर्माण करता है। २. **मघवा**=यज्ञशील जीवनवाला बनकर **शचीभिः**=(शची—कर्मनाम, नि० २।१; प्रज्ञानाम, नि० ३।९) प्रज्ञा व कर्मों के द्वारा—प्रज्ञापूर्वक कर्मों के द्वारा **अहिम्**=(आहन्तारम्=क्रोधम्) शरीर, मन व बुद्धि की शक्तियों को नष्ट करनेवाले क्रोध को **अहन्**=नष्ट करता है। क्रोध शरीर में विषों को पैदा करके नाड़ी-संस्थान के रोगों (Illness) व व्रणों (Cancer) का भी कारण बनता है, एवं यह साँप से भी अधिक भयंकर है। यह **मघवा**=यज्ञशील पुरुष **रौहिणम्**=(रुह प्रादुर्भावे) बढ़ते ही जानेवाले लोभ को **अभिनत्**=विदीर्ण करता है। लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है, इसका अन्त नहीं आता, इसीलिए इसे 'रौहिण' नामक असुर कहा गया है। यज्ञशील पुरुष लोभ को समाप्त करता है। **व्यंसः**=(वि अंस) अत्यन्त बलवान् काम को भी यह **अहन्**=नष्ट करता है। काम का जीतना सुगम नहीं होता। इसकी अत्यन्त प्रबलता के कारण ही इसे यहाँ 'व्यंस' कहा गया है। यह अंसल अत्यन्त बलवान् है। इन क्रोध, लोभ व काम के नाश के लिए सर्वप्रमुख साधन यही है कि मनुष्य क्रियाशील बने, कर्म में लगा रहे। आलसी को ही वासनाएँ सताती हैं। साथ ही मघवा—यज्ञशील बनना इसके लिए सहायक होता है। यज्ञशीलता के साथ वासनाएँ नहीं रहतीं।

भावार्थ—मनुष्य क्रियाशीलता से क्रोध, लोभ व काम को जीतता है। इनको जीतकर ही वह शरीर में रेतःकणों का निर्माण कर पाता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

श्रेष्ठ तेज व ज्योति

स जा॒तूभ॑र्मा श्र॒द्दधा॑न॒ ओजः॒ पुरो॑ वि॒भि॒न्दन्न॑च॒र॒द्वि दासीः॑।
वि॒द्वान्व॑ज्रि॒न्दस्य॑वे हे॒तिम॒स्यार्य॒ सहो॑ वर्धया द्यु॒म्नमि॑न्द्र॥ ३॥

१. **सः**=वह परमात्मा **जातूभर्मा**=उत्पन्न हुए प्राणिमात्र का भरण करनेवाले हैं, **श्रद्दधानः**=सत्य का धारण करते हैं और **ओजः**=ओजस्वी हैं। इस ओजस्विता के द्वारा ही **दासीः**

पुरः=दस्युओं की पुरियों को **विभिन्दन्**=विदीर्ण करते हुए **वि अचरत्**=विचरण करते हैं। काम, क्रोध लोभादि ही यहाँ शरीर में दस्यु हैं। ये 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में अपना अधिष्ठान बनाते हैं। इनका अधिष्ठान बनने पर ये तीन ही 'असुरों की पुरियाँ' कहलाती हैं। इन तीनों का विदारण करनेवाले महादेव 'त्रिपुरारि' कहलाते हैं। प्रभुस्मरण से हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि पवित्र हो जाते हैं—ये आसुरभावनाओं के अधिष्ठान नहीं बने रहते। यही इन पुरियों का विदारण है। प्रभु का स्तोता प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनता है और कामादि को पराजित करने में समर्थ होता है। २. **विद्वान्**=ज्ञानी **वज्रिन्**=क्रियाशील प्रभो! **दस्यवे**=दास्यव वृत्तियों के नाश के लिए **हेतिम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **अस्य**=इसपर फेंकनेवाले होओ और इस प्रकार हे **इन्द्र**=शत्रुसंहारक प्रभो! आप आर्य **सहः**=श्रेष्ठ शक्ति को तथा **द्युम्नम्**=ज्योति को **वर्धय**=बढ़ाइए।

भावार्थ—प्रभु के ओज से ओजस्वी बनकर हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को दस्यु-पुरी न बनने दें। इस प्रकार हममें श्रेष्ठ तेज व ज्योति का वर्धन हो।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दीर्घ जीवन व स्तुत्य बल

तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रत्।
उपप्रयन्दस्युहत्याय वज्री यद्ध सूनुः श्रवसे नाम दधे॥ ४॥

१. **तत् ऊचुषे**=(गतमन्त्र के अनुसार 'स जातूभर्मा श्रद्दधान ओजः'—आदि शब्दों से) प्रभु के स्तवन का उच्चारण करनेवाले के लिए **मघवा**=वे परमैश्वर्यवाले प्रभु **इमा**=इन **मानुषा**=मनुष्य-सम्बन्धी **युगानि**=दीर्घ जीवनों को—युग के समान लम्बी आयु को तथा **कीर्तेन्यम्**=कीर्तन व स्तुति के योग्य **नाम**=शत्रुओं के नामक बल को **बिभ्रत्**=धारण करता है। प्रभु के स्मरण से दीर्घ जीवन व स्तुत्य बल प्राप्त होता है। २. **उप प्रयन्**=उपासना व स्तुति के द्वारा समीप प्राप्त होता हुआ **वज्री**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाला **सूनुः**=हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाला वह प्रभु **दस्युहत्याय**=दास्यव वृत्तियों के विनाश के लिए **यत् ह**=जो निश्चय से **नाम**=काम, क्रोध व लोभ का नामक (झुकानेवाला) बल है, उस बल को **श्रवसे**=यश व ज्ञानवृद्धि के लिए **दधे**=धारण करता है। ३. जब हम प्रभु की उपासना करते हैं तब वे प्रभु हमें समीपता से प्राप्त होते हुए, वह शक्ति प्राप्त कराते हैं जिससे हम काम का पराभव करके प्रेमवाले होते हैं, क्रोध के स्थान में करुणावाले बनते हैं और लोभ को छोड़कर त्याग की वृत्तिवाले होते हैं। प्रभु की शक्ति काम, क्रोध व लोभ का पराभव करके हमें 'प्रेम, करुणा व त्यागवाला' बनाती है।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से दीर्घ जीवन व स्तुत्य बल प्राप्त होता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप**। स्वरः—**धैवतः**।

ओषधियाँ व जल

तदस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं श्रदिन्द्रस्य धत्तन वीर्याय।
स गा अविन्दत्सो अविन्ददश्वान्त्स ओषधीः सो अपः स वनानि॥ ५॥

१. हे उपासको! **अस्य**=इस परमात्मा के **तत् इदं भूरि पुष्टम्**=प्रसिद्ध, इस अनन्त पोषण

को **पश्यत**=देखो। प्रभु ने संसार में हमारे पोषण के लिए जो अद्‌भुत व्यवस्था की हुई है, वह सचमुच देखने योग्य है; वह प्रभु की महिमा को हमारे हृदयों पर अंकित किये बिना नहीं रहती। हम अम्लजन वायु को लेकर कार्बन द्वि ओषजिद् (CO_2) को बाहर फेंकते हैं। पौधे इस कार्बन द्वि ओषजिद् को लेकर अम्लजन को बाहर फेंकते हैं। इस प्रकार वायु-मण्डल में अम्लजन की कमी नहीं होती और सब प्राणियों का पोषण समुचित रूप से हो पाता है। २. **इन्द्रस्य**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु के **वीर्याय**=सामर्थ्य के लिए **श्रत् धत्तन**=श्रद्धा धारण करो। प्रभु की अनन्त शक्ति में हमें विश्वास होना चाहिए। इस विश्वास से वस्तुतः हम स्वयं शक्तिसम्पन्न बनते हैं और संसार में व्याकुलता से ऊपर उठकर चलते हैं। ३. **सः**=वे प्रभु हमारे लिए **गाः**=ज्ञानेन्द्रियों को **अविन्दत्**=प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे **अश्वान्**=कर्मेन्द्रियों को **अविन्दत्**=प्राप्त करानेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार कर्म करते हुए हम अपना ठीक पोषण करते हैं और शक्ति को धारण करनेवाले होते हैं। ४. इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के ठीक से पोषण के लिए **सः**=वे प्रभु **ओषधीः**=ओषधियों को—वानस्पतिक भोजनों को प्राप्त कराते हैं और **सः**=वे **आपः**=जलों को प्राप्त करानेवाले हैं। इन वानस्पतिक भोजनों व जलों के उपयोग से सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहेगी और हम 'सु-ख' प्राप्त करेंगे। ५. 'इन वानस्पतिक भोजनों व जलों का प्रयोग हम मर्यादा में ही करें' इसके लिए **सः**=वे प्रभु **वनानि**=उपासनाओं को (वन=संभक्ति=सम्भजन) व बाँटकर खाने की वृत्ति को प्राप्त कराते हैं। उपासनामय जीवनवाला व्यक्ति किसी भी वस्तु का अतियोग न करेगा तथा बाँटकर खाने की वृत्ति होने पर तो अतियोग की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है, एवं ये '**वन**'=उपासन व सम्भजन हमें यथा-योग में ले-चलते हैं और इससे हमारी शक्तियाँ स्थिर रहती हैं। स्थिरशक्ति बनकर ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का पोषण द्रष्टव्य है, उसकी शक्ति श्रद्धा करने योग्य है। प्रभु हमें ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं और उनको सशक्त बनाने के लिए वानस्पतिक भोजनों व जलों के देनेवाले हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अयज्वा का धनहरण

भूरिकर्मणे वृष्भाय वृष्णे सत्यशुष्माय सुनवाम् सोमम्।
य आदृत्या परिपन्थीव शूरोऽयज्वनो विभजन्नेति वेदः॥ ६॥

१. **भूरिकर्मणे**=अनन्त कर्मोंवाले, पालक व पोषक कर्मोंवाले, **वृषभाय**=शक्तिशाली **वृष्णे**=सुखों का सेचन करनेवाले **सत्यशुष्माय**=सत्य बलवाले प्रभु के लिए—प्रभु की प्राप्ति के लिए हम **सोमम्**=सोम को **सुनवाम**=अभिषुत करते हैं। खाये हुए अन्न से शरीर में रस आदि के क्रम से सोम-(वीर्य)-शक्ति उत्पन्न होती है। इसके रक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और प्रभु का साक्षात्कार सम्भव होता है। २. उस प्रभु का साक्षात्कार होता है **यः**=जो **शूरः**=सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले होकर **अयज्वनः**=अयज्ञशील पुरुष के **वेदः**=धन को **विभजन्**=उससे पृथक् करते हुए **एति**=गति करते हैं, उसी प्रकार पृथक् करते हुए **इव**=जैसे **परिपन्थी**=एक मार्ग-प्रतिरोधक लुटेरा **आदृत्या**=पथिक को विदीर्ण करके, मारकर उसके धन को छीन लेता है। वस्तुतः जब एक समाज में यज्ञशीलता में कमी आ जाती है तब चोरियाँ बढ़ जाती हैं, आगें अधिक लगने लगती हैं, राजकर अत्यधिक हो जाते हैं। चाहिए यही कि हम भी 'भूरिकर्मा'

बनें—हमारे कर्म बहुतों का पोषण करनेवाले हों। हम शक्तिशाली (वृषभ) बनकर औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाले बनें (वृषन्), सत्त्व के बलवाले हों। जहाँ न्यायमार्ग से धन कमाएँ, वहाँ उस धन का विनियोग यज्ञात्मक कर्मों में करें। ऐसा होने पर प्रभु का हमसे धन छीनने का कोई प्रयोजन न रहेगा।

भवार्थ—प्रभु भूरिकर्मा हैं, हम भी 'भूरिकर्मा' बनें। इस बात को न भूलें कि 'अयज्वा' के धन को प्रभु छीन लेते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तम व रज से ऊपर : सत्त्वगुण में

तदिन्द्र प्रेवं वीर्यं चकर्थ यत्ससन्तं वज्रेणाबोधयोऽहिम्।
अनु त्वा पत्नीर्हृषितं वयश्च विश्वे देवासो अमदन्ननु त्वा॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले प्रभो! आप **तत् वीर्यम्**=उस शक्तिशाली कर्म को **प्र**=खूब ही **चकर्थ**=करते हैं **यत्**=जो **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **ससन्तम्**=सोते हुए को, अर्थात् प्रमाद, आलस्य व तन्द्रा के रूप में प्रकट होते हुए तमोगुण को तथा **अहिम्**=(आहन्तारम्) औरों की हिंसा के रूप मे प्रकट होते हुए रजोगुण को नष्ट करके सत्त्वगुण को **अबोधयः**=बोधयुक्त करते हो, प्रबल करते हो। क्रियाशीलता से तामसी व राजसी वृत्तियाँ नष्ट होकर सात्त्विकी वृत्तियाँ प्रबल होती हैं, बुराइयाँ दूर होकर अच्छाइयों का विकास होता है। २. हे प्रभो! **त्वा अनु**=आपकी अनुकूलता होने पर **वयः**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले ये व्यक्ति **अमदन्**=इस प्रकार प्रसन्न होते हैं **इव**=जैसे **हृषितम्**=प्रसन्न पति के पीछे **पत्नीः**=पत्नियाँ प्रसन्न होती हैं। पति के प्रसन्न होने पर जैसे पत्नी को प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार प्रभु की अनुकूलता से ये क्रियाशील पुरुष प्रसन्न होते हैं **च**=और **विश्वेदेवासः**=देववृत्ति के सब पुरुष **त्वा अनु अमदन्**=आपकी अनुकूलता में हर्ष प्राप्त करते हैं। क्रियाशीलता से ही देववृत्ति का विकास होता है, एवं आनन्द के मूल में क्रियाशीलता ही है। क्रियाशीलता से ही मनुष्य तम व रज से ऊपर उठकर सत्त्वगुण के क्षेत्र में प्रवेश करता है और जहाँ वह मस्तिष्क में प्रकाशमय होता है, वहाँ शरीर में नीरोग होता है। प्रभु के प्रकाश को देखने से एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता से सत्त्वगुण का विकास होकर प्रभु-दर्शन होता है और आनन्द की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

शुष्ण आदि असुरों का विध्वंस

शुष्णं पिप्रुं कुयवं वृत्रमिन्द्र यदावधीर्वि पुरः शम्बरस्य।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले प्रभो! आप **यदा**=जब **शुष्णम्**=सुखा देनेवाली चिन्ता नामक आसुर वृत्ति को, **पिप्रुम्**=अपना ही पेट भरनेवाली, अपना ही पूरण करनेवाली स्वार्थ की वृत्ति को, **कुयवम्**=बुराई का मेल करानेवाली लोभवृत्ति को (कु+यु=मिश्रण), **वृत्रम्**=ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाली कामवासना की वृत्ति को **अवधीः**=नष्ट करते हैं तब **शम्बरस्य**=शान्ति को दूर कर देनेवाली ईर्ष्यारूप आसुरीवृत्ति के **पुरः**=नगरी को भी **वि**=नष्ट कर

देते हैं। इन्द्रियों, मन व बुद्धि में पनपनेवाली ईर्ष्या को भी आप हमसे दूर करनेवाले होते हैं। २. **नः**=हमारे **तत्**=इस संकल्प को कि 'चिन्ता, स्वार्थ, लोभ, काम व ईर्ष्या' से हम ऊपर उठें; **मित्रः**=स्नेह की देवता, **वरुणः**=निर्द्वेषता की देवता, **अदितिः**=अखण्डन की देवता, अर्थात् स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=स्यन्दन (बहने) के स्वभाववाले रेतःकण, **पृथिवी**=दृढ़ शरीर **उत**=और **द्यौः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें।

भावार्थ—'स्नेह, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, ऊर्ध्वरेतस्कता, दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क' का विकास करते हुए हम चिन्ता, स्वार्थ, लोभ, काम व ईर्ष्या से ऊपर उठें।

विशेष—इस सूक्त का आरम्भ 'प्रत्याहार के द्वारा उत्कृष्ट शक्ति के धारण' की भावना से हुआ है (१)। समाप्ति पर भी शुष्ण आदि असुरों के संहार का उल्लेख है (२)। इन आसुर वृत्तियों को दूर करके हम अपने निर्मल हृदय को प्रभु का आसन बनाते हैं—

[१०४] चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रेरक व अहिंसक (प्रभु)

योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमा नि षीद स्वानो नार्वा।
विमुच्या वयोऽवसायाश्वान्दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते निषदे**=आपके बैठने के लिए **योनिः**=यह हृदयरूप स्थान **अकारि**=बनाया गया है। गतमन्त्र के अनुसार इस हृदय-देश को हमने ईर्ष्या आदि मलिनताओं से रहित करने का प्रयत्न किया है, **तम् आनिषीद**=इस हृदय-मन्दिर में आप विराजें, हमारा हृदय-देश आपका आसन बने। २. यहाँ बैठकर आप **स्वानः**=प्रेरणात्मक शब्द करते हैं। उन प्रेरणाओं के द्वारा **न अर्वा**=आप हमें हिंसित नहीं करते (अर्व=to kill)। प्रभु की प्रेरणा में ठीक मार्ग पर चलते हुए हम नाश की ओर नहीं जाते। ३. प्रभु की प्रेरणा को सुनने पर **वयः**=(वय् गतौ) इस गतिशील मन को **विमुच्य**=संसार के विषयों से पृथक् करके (वयः=रश्मि—लगाम, मनरूपी लगाम—सा०) तथा **अश्वान्**=इन्द्रियरूप अश्वों को **अवसाय**=(to liberate) विषयों से छुड़ाकर **दोषा वस्तोः**=दिन-रात **प्रपित्वे**=(प्राप्तव्ये स्थाने—द० १।१।४।१) प्राप्तव्य स्थान पर **वहीयसः**=(अतिशयेन वोढॄन्) अतिशयेन ले-जानेवाला करते हैं। मार्गभ्रष्ट न होने का अभिप्राय यही है कि मन व इन्द्रियाँ विषयों से बद्ध न होकर हमें निरन्तर प्राप्तव्य स्थान—ब्रह्म की ओर ले-चलें।

भावार्थ—हम हृदयदेश को पवित्र बनाकर वहाँ प्रभु को आसीन करें। प्रभु प्रेरणा देंगे और हमें विषयों से हिंसित नहीं होने देंगे।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

रक्षक प्रभु

ओ त्ये नर इन्द्रमूतये गुर्नू चित्तान्त्सद्यो अध्वनो जगम्यात्।
देवासो मन्युं दासस्य श्चम्नन्ते न आ वक्षन्त्सुविताय वर्णम् ॥ २ ॥

१. **त्ये**=गतमन्त्र के अनुसार हृदयदेश में प्रभु को आसीन करनेवाले वे **नरः**=मनुष्य **ऊतये**=रक्षा के लिए **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **आगुः**=प्राप्त होते हैं और **नु**=अब वे प्रभु **चित्**=निश्चय से **तान्**=उन रक्षण की कामनावाले पुरुषों को **सद्यः**=शीघ्र ही **अध्वनः**=मार्गों की ओर **जगम्यात्**=ले-चलते हैं (गमयतु)। मार्ग पर चलना ही रक्षण का साधन है। मार्गभ्रंश में ही काँटे लगते हैं। २. मार्ग पर चलते हुए **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **दासस्य**=नाशक असुर के **मन्युम्**=क्रोध को **श्चम्नन्**=हिंसित करते हैं। क्रोध मनुष्य को खा जाता है, उसका नाश कर देता है। देव लोग इसको नष्ट करके अपना रक्षण करते हैं। ३. **ते**=वे देव **नः**=हमें भी **सुविताय**=दुरित से दूर होकर उत्तम मार्ग पर ही (सु+इत) चलने के लिए **वर्णम्**=उस प्रभु के गुणवर्णन को, वर्णनम्=वर्णः, प्रभु के स्तवन को **आवक्षन्**=प्राप्त कराएँ। प्रभु के गुणों का वर्णन करते हुए हम भी उन गुणों को धारण करने के लिए यत्नशील होंगे। जहाँ प्रभुस्मरण होता है, वहाँ असुरों का प्रवेश नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु की शरण में रहें। प्रभु हमें मार्ग पर चलाते हुए हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु-गुण वर्णन करते हुए हम क्रोधादि से ऊपर उठकर सुवित (उत्तम मार्ग) का आक्रमण करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

केतवेदाः

अव त्मना भरते केतवेदा अव त्मना भरते फेनमुदन्।
क्षीरेण स्नातः कुयवस्य योषे हते ते स्यातां प्रवणे शिफायाः॥ ३॥

१. **केतवेदाः**=(केतं वेदो यस्य) ज्ञानरूप धनवाला, ज्ञान को ही धन समझनेवाला व्यक्ति **त्मना**=स्वयं औरों पर निर्भर न करता हुआ **अवभरते**=सब आवश्यकताओं का भरण व पूरण कर लेता है (भृ to acquire, to gain)। यह अपनी आवश्यकताओं को अधिक बढ़ाता भी नहीं। यह उन्हें मर्यादित रखता हुआ उनका पूरण करने में स्वयं समर्थ होता है। यह अपनी आवश्यकताओं को **त्मना**=स्वयं **अवभरते**=इस प्रकार पूरण कर लेता है, जैसेकि **उदन्**=पानी में **फेनम्**=झाग को। बहते हुए पानी में झाग स्वयं पैदा हो जाता है। गति फेन का कारण बनती है। इसी प्रकार इस गतिशील ज्ञानी पुरुष के जीवन में क्रिया के कारण धन तो स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। २. यह ज्ञानी पुरुष (क) **क्षीरेण स्नातः**=दूध से नहाया हुआ होता है। 'दूध से नहाना'—यह वाक्यांश (Affluence) का संकेत करता है। इस ज्ञानी को धन की कमी नहीं रहती। इसके घर में दूध की नदियाँ बहती हैं, (ख) 'क्षीरेण स्नातः' का यह भी अर्थ है कि यह वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानरूप दुग्ध से स्नान किये होता है। ज्ञान इसे पवित्र बना देता है। (ग) '**क्षीरेण स्नातः**' एक लोकोक्ति भी है, अर्थात् सच्चा-सुच्चा मनुष्य, यथा—'वह तो दूध का नहाया है!' ३. इसके जीवन में **कुयवस्य**=बुराई का मिश्रण करनेवाले आसुरीभाव (कु+यु=मिश्रण) की **ते योषे**=वे काम-क्रोधरूपी पत्नियाँ **शिफायाः प्रवणे**= (शिफा=Mother, प्रवण Belly) मातृगर्भ में ही **हते स्याताम्**=नष्ट हो जाती हैं। काम-क्रोध के कारण ही सब पाप होते हैं। इसी से काम-क्रोध को यहाँ 'कुयव' की पत्नियों के रूप में कहा है। ज्ञान होने पर ये पनपते नहीं। इनका मूल में ही विध्वंस हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञानी को आवश्यक धन तो स्वतः प्राप्त होता है। ज्ञान के प्रकट होने पर काम-क्रोध का भी मूल में ही नाश हो जाता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

कुटिलता, अकर्मण्यता व कायरता से ऊपर

युयोप नाभिरुपरस्यायोः प्र पूर्वाभिस्तिरते राष्टि शूरः।
अञ्जसी कुलिशी वीरपत्नी पयो हिन्वाना उदभिर्भरन्ते॥ ४॥

१. गतमन्त्र में कुयव की योषाओं के मातृगर्भ में ही विनाश का उल्लेख है। वस्तुतः इन काम-क्रोधरूप योषाओं को प्रभु ही **युयोप**=(युप्यति=to efface, blot out) मिटाते हैं। प्रभु की ज्योति ही इन्हें दग्ध करती है। वे प्रभु **उपरस्य**=(nearer) अपने समीप आनेवाले **आयोः**=(एति) गतिशील, क्रियामय जीवनवाले उपासक को **नाभिः**=(नह बन्धने) अपने साथ बाँधनेवाले हैं। प्रभु के साथ बद्ध होने पर यह उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनता है। २. शक्तिसम्पन्न बनकर यह **पूर्वाभिः**=प्रथम व सर्वोत्कृष्ट शक्तियों से **प्रतिरते**=बढ़नेवाला होता है और **शूरः**=बुराइयों का संहार करनेवाला बनकर **राष्टि**=अपना **राज्य**=शासन करता है और दीप्त होता है (राज दीप्तौ)। ३. इस उपासक को **अंजसी**=(Honesty) प्रत्येक कार्य को ईमानदारी से करने की वृत्ति, अकुटिलता व सरलता तथा **कुलीशी**=(कुलौ=हस्ते शेते) हाथों में रहनेवाली क्रियाशीलता और **वीरपत्नी**=वीर की पत्नी, अर्थात् वीरता—कायरता न होना—ये तीनों बातें **पयः**=आप्यायन को—वृद्धि को **हिन्वानाः**=प्राप्त कराती हुई **उदभिः भरन्ते**=शरीर में शक्ति के रूप में रहनेवाले इन उद-कणों से भरती हैं (आपः=रेतः)। कुटिलता, अकर्मण्यता व कायरता से दूर होना—इसकी वृद्धि के कारण बनते हैं और रेतःकणों के रक्षण के द्वारा इसे शक्ति से भर देते हैं। कुटिलता, अकर्मण्यता व कायरता ही सब अवनतियों का मूल हैं, ये शक्ति का भी नाश करती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनकर जीवन को व्यवस्थित व दीप्त बनाएँ। कुटिलता, अकर्मण्यता व कायरता से ऊपर उठें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ब्रह्मलोक की ओर

प्रति यत्स्या नीथादर्शि दस्योरोको नाच्छा सदनं जानती गात्।
अध स्मा नो मघवञ्चर्कृतादिन्मा नो मघेव निष्षपी परा दाः॥ ५॥

१. हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यशालिन् प्रभो! **आप नः**=हमें **मा**=मत **परादाः**=छोड़िए। हमें आपका साथ सदा प्राप्त रहे **यत्**=जिससे कि **स्या**=वह हमें **नीथा**=उत्कृष्ट मार्ग **प्रत्यदर्शि**=प्रतिदिन दिखता रहे, आपके सम्पर्क में हम मार्ग से भटकेंगे नहीं। आपके सम्पर्क में यह प्रजा **दस्योः ओकः अच्छ न**=दस्यु के घर की ओर नहीं जाती। प्रभु-सम्पर्क होने पर प्रजाओं में दास्यव वृत्तियाँ नहीं पनपतीं। २. प्रभुसम्पर्क होने पर प्रजा **जानती**=ज्ञानवाली होती हुई **सदनम्**=अपने वास्तविक गृह 'ब्रह्मलोक' की ओर **गात्**=जाती है। **'सर्वं जिह्मं मृत्युपदं, आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'**—कुटिलता मृत्यु का मार्ग है और सरलता ब्रह्ममार्ग है। यह व्यक्ति सरलता के मार्ग पर चलता हुआ निरन्तर ब्रह्म की ओर बढ़ता है। ३. हे मघवन्! **अध स्म**=अब शीघ्र ही **नः**=हमें **चर्कृतात्**=निरन्तर करने योग्य कार्यों से **इत्**=निश्चयपूर्वक **मा**=मत **परादाः**=दूर कीजिए। **इव**=जैसे कोई **निष्षपी**=स्त्रीकामी पुरुष (निर्निर्गतपसा—निरु०) **मघा**=धनों को व्यर्थ फेंक डालता है, उसी प्रकार आप हमें फेंक मत दीजिए। हम आपकी कृपादृष्टि में हों, त्याज्य न हों। ऐसा होने

पर हमें मार्ग का दर्शन होगा। हम मार्ग पर चलते हुए दास्यव मार्ग से दूर रहते हुए आपको प्राप्त हो सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक होते हैं तो मार्ग को देखते हुए—उसपर चलते हुए अन्त में अपने मूलगृह ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ज्ञान, कर्म, निर्दोषता

स त्वं न इन्द्र सूर्ये सो अप्स्वनागास्त्व आ भज जीवशंसे।
मान्तरां भुजमा रीरिषो नः श्रद्धितं ते महत इन्द्रियाय॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स त्वम्**=वह आप **नः**=हमें **सूर्ये**=सूर्य में **आभज**=भागी बनाइए, हम सूर्य की किरणों का सेवन करनेवाले बनें। सूर्यकिरणें हमारे रोगकृमियों का नाश करके हमें स्वस्थ बनाएँ। **सः**=वे आप **नः**=हमें **अप्सु**=जलों में भागी बनाइए, सूर्य-स्नान के पश्चात् अतिरिक्त उष्णता को दूर करने के लिए हम जलों में स्नान करें। २. **'सूर्ये आभज'** की भावना यह भी है कि आप हमें ज्ञान के सूर्य में भागी बनाइए और **अप्सु**=कर्मों में भागी बनाइए। हम ज्ञान प्राप्त करें और ज्ञान के अनुसार कर्म करनेवाले हों। ज्ञान उन कर्मों को पवित्र करनेवाला होगा। इस प्रकार हे **इन्द्र**=प्रभो! आप हमें **अनागस्त्वे**=उस निरपराधता में भागी बनाइए जो निरपराधता **जीवशंसे**=सब जीवों से प्रशंसनीय होती है, जिस निरपराधता को सब चाहते हैं और जिसकी सब प्रशंसा करते हैं। ३. हे प्रभो! आप **नः**=हमारी **अन्तराम्**=अन्दर निवास करनेवाली **भुजम्**=पालन व व्यवहार की शक्ति को **मा**=मत **आरीरिषः**=हिंसित कीजिए। रोगों के साथ मुक़ाबिला करनेवाली शक्ति, पालन-शक्ति है तथा खाने की शक्ति, पाचन-शक्ति, अभ्यवहार-शक्ति है। इन दोनों के ठीक होने पर हमारा स्वास्थ्य पूर्णतया ठीक रहता है। ४. हे प्रभो! **ते महते इन्द्रियाय**=आपकी महती शक्ति के लिए **श्रत् हितम्**=हमसे श्रद्धा की गई है। आपकी इस शक्ति में भागी बनकर ही हम 'ज्ञान, क्रियाशीलता व निरपराधता' को प्राप्त करते हैं, तभी हम पालन व अभ्यवहार की शक्ति के ठीक होने से स्वस्थ बनते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन प्रकाश व क्रियावाला हो और इस प्रकार हम निर्दोष व स्वस्थ हों।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

कृतगृह में जन्म

अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय।
मा नो अकृते पुरुहूत योनाविन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अध**=अब **मन्ये**=मैं मन से आपका चिन्तन करता हूँ। **ते**=आपके **अस्मै**=इस (गतमन्त्र में वर्णित) बल के लिए **श्रत् अधायि**=श्रद्धा की गई है। आपके बल में हमारा पूर्ण विश्वास है। **वृषा**=अपनी शक्ति के द्वारा आप हमपर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। आप हमें सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए **महते धनाय**=पूजनीय धन के लिए **चोदस्व**=प्रेरित कीजिए। आपसे शक्ति प्राप्त करके हम उत्तम मार्गों से धनों का अर्जन करें और अपनी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करके सुखी हो सकें। २. हे **पुरुहूत**=पालन व पूरण करनेवाली है प्रार्थना जिसकी, ऐसे प्रभो! आप **नः**=हमें **अकृते योनौ मा**=जिन घरों में

'ज्ञान, शक्ति व धन' किसी भी पदार्थ का निर्माण नहीं हुआ, उन घरों में जन्म मत दीजिए। हमारा जन्म ज्ञानी ब्राह्मणों के घरों में, शक्तिशाली क्षत्रियों के घरों में अथवा दानी वैश्य-कुलों में हो—शूद्र-गृह में नहीं। ३. इन घरों में जन्म देकर **क्षुध्यद्भ्यः**=खूब भूखवाले हमारे लिए **वयः**=आयुष्यवर्धक अन्न को तथा **आसुतिम्**=सवन किये गये दुग्ध व रस आदि पेय पदार्थों को **दाः**=दीजिए। आपकी कृपा से हम अन्नाद हों और अन्नवाले हों। हमारी पाचन-शक्ति भी उत्तम हो और खान-पान के लिए उत्तम पदार्थ भी हमें सुलभ हों।

भावार्थ—हमारा जन्म उत्तम गृहों में हो। वहाँ खान-पान की कमी न हो तथा खाने की शक्ति भी ठीक से बनी रहे।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अ-परित्याग

मा नो॑ वधीरिन्द्र॒ मा परा॑ दा॒ मा नः॑ प्रि॒या भोज॑नानि॒ प्र मो॑षीः।
आ॒ण्डा मा नो॑ मघवञ्छक्र॒ निर्भे॒न्मा नः॒ पात्रा॑ भेत्स॒हजा॑नुषाणि॥ ८॥

१. **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **नः**=हमें **मा वधीः**=नष्ट मत कीजिए और **नः**=हमें **मा परादाः**=(परादानं परित्यागः) छोड़ मत दीजिए। हम आपके प्रिय ही बने रहें। **नः**=हमारे **प्रिया भोजनानि**=प्रिय भोजनों को **मा प्रमोषीः**=मत अपहृत कीजिए। 'प्रिय भोजन' सात्त्विक भोजन ही हैं। सात्त्विक भोजन के लक्षण में—'सुखप्रीतिविवर्धनाः'—ये शब्द प्रियता को भी सात्त्विक भोजन का लक्षण कह रहे हैं। इन सात्त्विक भोजनों से सात्त्विक अन्तःकरणवाले बनकर हम प्रभु के प्रिय बनेंगे। साथ ही हमारी अगली सन्तानें भी उत्तम होंगी। २. हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यवन्! **शक्र**=शक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे गर्भस्थ सन्तानों को **मा निर्भेत्**=नष्ट मत कीजिए। गर्भिणी माता सात्त्विक भोजन करती है तो उस भोजन से बने रस, रुधिर आदि धातु गर्भस्थ बालक की स्थिरता के हेतु होते हैं। हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **सहजानुषाणि**=जन्म के साथ प्राप्त हुए-हुए **पात्रा**=शरीर, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि—इन रक्षणीय (पा रक्षणे) उपकरणों को **मा भेत्**=विदीर्ण मत कीजिए। ये पात्र इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि नष्ट न हों। सुरक्षित हुए-हुए ये हमारी उन्नति का कारण बनें।

भावार्थ—हम प्रभु के परित्याज्य न हों। सात्त्विक भोजनों के द्वारा हम शरीर, मन, बुद्धि व इन्द्रियों का रक्षण करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'सोमवाय' प्रभु

अ॒र्वाङेहि॒ सोम॑कामं त्वाहुर॒यं सु॒तस्तस्य॑ पिबा॒ मदा॑य।
उ॒रु॒व्यचा॑ ज॒ठर॒ आ वृ॑षस्व पि॒तेव॑ नः शृणुहि हू॒यमा॑नः॥ ९॥

१. हे इन्द्र! **अर्वाङ् एहि**=आप हमें अभिमुखता से प्राप्त होओ। हम अपने अन्तःकरणों में आपका दर्शन कर सकें। **त्वा**=आपको **सोमकामम् आहुः**=सोम की कामनावाला कहते हैं। जो भी व्यक्ति सोम का रक्षण करता है, उसे आप प्राप्त होते हैं। **अयं सुतः**=यह सोम हमारे द्वारा उत्पन्न किया गया है। **तस्य**=उस सोम का **पिब**=आप इस शरीर में ही पान कीजिए, **मदाय**=इसलिए पान कीजिए कि हमें उल्लास प्राप्त हो सके। २. हे प्रभो! आप **उरुव्यचाः**=अनन्त विस्तारवाले हैं। सर्वत्र व्यापक आपका स्मरण करते हुए हम इस सोम का रक्षण कर पाते हैं।

आप **जठरे**=हमारे अन्दर ही **आवृषस्व**=इस सोम का सेचन कीजिए। वस्तुतः सोम का रक्षण ही सब उन्नतियों का मूल है। इसके रक्षण से ही शरीर स्वस्थ होता है, मन राग-द्वेष से शून्य होता है और बुद्धि भी तीव्र होकर सूक्ष्म विषयों का ग्रहण करनेवाली बनती है, इसलिए हे प्रभो! आप इस सोम को हमारे शरीरों में ही सिक्त कीजिए और **नः**=हमारे द्वारा **हूयमानः**=पुकारे जाते हुए आप **पिता इव**=पिता की भाँति **शृणुहि**=हमारी प्रार्थना को सुनिए। हम आपके पुत्र हैं, आप पिता। आप हमारी प्रार्थना को क्यों न सुनेंगे?

भावार्थ—प्रभु सोमकाम हैं। वे प्रभु हममें सोम का रक्षण करें। वह सोम ही सब उन्नतियों का मूल है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि प्रभु प्रेरणा देते हुए हमें हिंसित नहीं होने देते (१)। समाप्ति पर भी इसी उद्देश्य से वे हममें सोम का रक्षण करते हैं और हमारे जीवन को उल्लासमय बनाते हैं (९)। प्रभु हमें इन शब्दों में प्रेरणा देते हैं कि—

[१०५] पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रित आङ्गिरसः कुत्सो वा।** देवता—**विश्वेदेवाः।** छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः।** स्वरः—**पञ्चमः।**

चन्द्रमा व सुपर्ण की पद-प्राप्ति

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ १॥

१. प्रभु कहते हैं कि **मे**=मेरे **अस्य**=इन वाक्यों का **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वित्तम्**=भाव जानें, अर्थात् सब मनुष्य मेरे इन वाक्यों का अर्थ समझने का प्रयत्न करें। सबसे पहली बात तो यह है कि **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा **अप्सु-अन्तरा**=अपों में है। अप् का अर्थ जल समझकर चन्द्रमा को जलों से उत्पन्न माना गया है। आकाश में मेघरूप जलों से तो इसका सम्बन्ध है ही, परन्तु इस वाक्य का अर्थ अप् शब्द का अर्थ (opus, operation) लेने पर वाक्यार्थ इस प्रकार है कि **अप्सु अन्तरा**=कर्मों में **चन्द्रमाः**=(चदि आह्लादे) आह्लादमय मनुष्य का निवास है। कर्मशील मनुष्य का जीवन प्रसन्नता से पूर्ण होता है। कर्मशील मनुष्य वासनाओं का शिकार नहीं होता। उसका जीवन पवित्र और अतएव आनन्दमय बना रहता है। संक्षेप में भाव यह है कि 'क्रिया में ही आनन्द है'। २. **सुपर्णः**=सूर्य **दिवि**=द्युलोक में **धावते**=गति करता है। यह वाक्य भी तथ्य बेशक हो, परन्तु इसका यह अर्थ महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। इसका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जो **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **धावते**=(धावु गतिशुद्ध्योः) गति के द्वारा अपने जीवन का शोधन करता है वह **सुपर्णः**=उत्तमता से अपना पालन और पूरण करनेवाला बनता है। शरीर को यह रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता और मन में न्यूनताओं को नहीं आने देता। शरीर व मन दोनों में स्वस्थ बनकर यह सूर्य की भाँति चमकने लगता है। प्रभु का तीसरा वाक्य यह है कि हे मनुष्यो! **वः**=तुममें से **हिरण्यनेमयः**=वे व्यक्ति जो हिरण्यरूपी नेमिवाले हैं, जिनकी सारी क्रियाएँ धन में सीमित होती हैं और जो **विद्युतः**=कोठियों, कारों व कपड़ों से थोड़ी देर तक विशेषरूप से (वि) चमकते लगते हैं (द्युत्), वे **पदं न विन्दन्ति**=लक्ष्यस्थान वा मार्ग को प्राप्त नहीं होते—'**पद्यते मुनिभिर्यस्मात्त-स्मात्पद उदाहृतः**'—वे प्रभु को प्राप्त नहीं होते जो मुनियों के द्वारा जाने जाते हैं। धन उन्हें प्रभु से विमुख ही रखता है। ये धनी स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पा सकते।

भावार्थ—क्रिया में ही आनन्द है। ज्ञान में अपना शोधन करनेवाला सुपर्ण बनता है। धन के लिए मरनेवाले थोड़ी देर चमकते हैं, परन्तु कभी लक्ष्य पर नहीं पहुँचते।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रित०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

जीव जाया है, प्रभु 'पति' हैं

अर्थमिद्वा उ अर्थिन आ जाया युवते पतिम्।
तुञ्जाते वृष्ण्यं पयः परिदाय रसं दुहे वित्तं मे अस्य रोदसी॥ २॥

१. प्रभु कहते हैं कि **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड मे **अस्य वित्तम्**=मेरी इस बात को अच्छी प्रकार समझ ले कि **अर्थिनः**=अर्थ की कामनावाले **इत् वा उ**=निश्चय से **अर्थम्**=अर्थ को **आयुवते**=सर्वथा अपने साथ जोड़ते हैं। यह एक सामान्य नियम है कि हम एक वस्तु की कामना करते हैं तो उसे प्राप्त करते ही हैं। कामना ही न हो तो प्राप्त क्या करना? मोक्षसाधनों में 'मुमुक्षुत्व' का उल्लेख इसी बात का संकेत करता है। व्यासजी कहते हैं कि **'यो यदर्थं कामयते यदर्थं घटतेऽपि च। अवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते'**—जो जिसकी कामना करता है और जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है, वह अवश्य उसे प्राप्त करता है, यदि ऊबकर बीच में ही प्रयत्न को छोड़ नहीं देता। मनुष्य के चार पुरुषार्थ हैं—'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष'। ये प्राप्त तभी होते हैं जबकि इनकी प्राप्ति के लिए प्रबल कामना हो और वह कामना प्रयत्न के रूप में प्रकट हो। प्रभु-प्राप्तिरूप अर्थ के हम अर्थी होंगे तो प्रभु को क्यों न प्राप्त करेंगे? २. **जाया**=पत्नी **पतिम्**=पति को **आयुवते**=प्राप्त करती ही है। जीवात्मा 'जाया' है, वह प्रभुरूप पति को प्राप्त करने की कामनावाला होता है तो उसे पाता ही है। ३. इस प्रकार जीवरूप जाया जब प्रभुरूप पति को प्राप्त करती है तब **पयः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाले **वृष्ण्यम्**=वीर्य को **तुञ्जाते**=अपने में प्रेरित करता है। प्रभु की शक्ति जीव को प्राप्त होती है। पत्नी के रूप में उपासक बनने पर उसे पति की शक्ति क्यों न प्राप्त होगी? ४. वस्तुतः यह जीव **रसम्**=(रसो वै सः—तै०) उस रसरूप प्रभु को **परिदाय**=सब प्रकार से प्राप्त करके **दुहे**=अपना पूरण करता है। प्रभु-प्राप्ति से न्यूनताएँ दूर होती हैं, इनके दूर होने से उत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति ही हमारा पुरुषार्थ हो। जायारूप जीव को प्रभुरूप पति की कामना हो। प्रभु की शक्ति से हम शक्तिसम्पन्न बनें। उस रसरूप प्रभु को प्राप्त करके अपना पूरण करें।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रित०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

स्वर्ग से अभ्रंश

मो षु देवा अदः स्व१रव पादि दिवस्परि।
मा सोम्यस्य शंभुवः शूने भूम कदाचन वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ३॥

१. हे **देवाः**=दिव्यवृत्तिवाले ज्ञानी पुरुषो! **अदः स्वः**=वह स्वर्गलोक **दिवः परि**=जोकि द्युलोक से परे है (**दिवो नाकस्य पृष्ठात्**=द्युलोक जोकि स्वर्गलोक का फर्श (floor) है, **मा उ**=न ही **षु अवपादि**=आसानी से हमसे दूर हो। हम पृथिवी-पृष्ठ से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर द्युलोक में और द्युलोक से ऊपर उठकर स्वयं देदीप्यमान ज्योति को प्राप्त करें। यह द्युलोक ही तो **नाक**=स्वर्गपृष्ठ है। यह द्युलोक से परे वर्तमान स्वर्गलोक हमसे

दूर न हो। हम इससे भ्रष्ट न हों। २. इससे भ्रष्ट न होने के लिए हम **सोमस्य**=उस अत्यन्त शान्तात्मा प्रभु के **शम्भुवः**=जोकि पूर्ण शान्ति को उत्पन्न करनेवाले हैं, उस प्रभु के **शूने**=अपगमन में, अभाव में, परोक्ष स्थान में **कदाचन**=कभी भी **मा भूम**=मत हों। हम सदा प्रभु के प्रत्यक्ष में रहने का प्रयत्न करें। यह प्रभु के साक्षात्कार में रहना ही हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है। ३. **मे अस्य**=मेरे इस विज्ञापन व निवेदन को **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वित्तम्**=जानें। सारा संसार मेरी इस प्रार्थना के अनुकूल हो। सारा वातावरण मुझे इस प्रार्थना को क्रियान्वित करने के लिए सहायक हो।

भावार्थ—हम स्वर्गभ्रष्ट न हों, प्रभु के प्रत्यक्ष में रहने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रितः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

यज्ञ व ऋत

यज्ञं पृच्छाम्यवमं स तद् दूतो वि वोचति।
क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्बिभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ४॥

१. मैं **अवमम्**=रक्षण के मूल कारणभूत **यज्ञम्**=यज्ञविषय में **पृच्छामि**=पूछता हूँ और **सः**=वह **तत् दूतः**=उन यज्ञादि का सन्देश देनेवाला प्रभु **विवोचति**=उस यज्ञ का विशेषरूप से प्रतिपादन करता है। वस्तुतः वे प्रभु हमें इन यज्ञों के साथ ही जन्म देते हैं और स्पष्ट उपदेश करते हैं कि यह यज्ञ ही तुम्हारी समृद्धि का कारण होगा। इसी से तुम फूलो-फलोगे। यज्ञ से पर्जन्य होता है, पर्जन्य से अन्न होकर हमारा जीवन चलता है। एवं, यज्ञ हमारे रक्षण का कारण बनता है। यज्ञ 'अवम' है। २. यज्ञशील ब्रह्मज्ञानी पुरुष ऋतु के द्वारा अपनी जीवन-यात्रा चलाते हैं (ऋत=livelihood by gleaning grains in a field)। प्रभु पूछते हैं कि **पूर्व्यम्**=तुम्हारा पालन व पूरण करनेवाला अथवा सर्वश्रेष्ठ जीविका का साधन **ऋतम्**=खेतों में पड़े रह गये कणों का संग्रहण **क्व गतम्**=कहाँ गया? एकदम निर्दोष व त्यागमय जीविका का साधन तुमसे छूट ही गया। जो भी **तत्**=उस साधन को **बिभर्ति**=धारण करता है, अर्थात् खेत से अन्नसंग्रह कर लेने के बाद बचे रह गये कणों के संग्रह से जीविका करता है, वह **नूतनः** (नूयते, नु स्तुतौ)=स्तुत्य जीवनवाला और **कः**=आनन्दमय जीवनवाला होता है। वस्तुतः इस संसार में आवश्यकताओं को बढ़ाकर चमक-दमकवाला पेचीदा जीवन शान्तिवाला नहीं होता। सदा सरल जीवन ही शान्ति से युक्त होता है। ३. प्रभु कहते हैं कि **मे**=मेरी **अस्य**=इस बात को **रोदसी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड **वित्तम्**=अच्छी प्रकार जान ले। 'यज्ञ व ऋत' से कल्याण होता है, इसे सब समझ लें।

भावार्थ—यज्ञमय ऋतमय जीवन ही स्तुत्य व शान्त होता है।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रितः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ऋत-अनृत-आहुति

अमी ये देवाः स्थन त्रिष्वा रोचने दिवः।
कद्व ऋतं कदनृतं क्व प्रत्ना व आहुतिर्वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ५॥

१. **दिवः आरोचने**=ज्ञान के प्रकाश में रहनेवाले **त्रिषु**=शरीर, मन व बुद्धि—तीनों में

दीप्तिवाले **अमी ये**=जो ये **देवाः**=देव—शरीर में तेज से चमकते हैं, मन में निर्मलता से चमकते हैं और मस्तिष्क में ज्ञान से उज्ज्वल **स्थन**=हैं, हे देवो! **वः**=उन आपका **ऋतम्**=खेतों में बचे रह गये अन्न-कणों के संग्रह से जीविका करने की वृत्ति **कत्**=कहाँ गई? **अनृतम्**=कृषि के द्वारा जीवनयापन करना **कत्**=कहाँ गया? और **वः**=तुम्हारी **प्रत्ना**=सनातन—सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से **उपदिष्ट आहुतिः**=यज्ञ की **वृत्ति क्व**=कहाँ गई? २. जीवन अत्यन्त आनन्दमय था जबकि तुम ऋत के द्वारा जीवन बिता रहे थे। द्यूत की अपेक्षा कृषि में कष्ट व श्रम प्रतीत होता है, परन्तु कृषि में जो आनन्द व शान्ति है, वह द्यूत में कहाँ? कृषि हमें प्रभु के समीप ले-जाती है, द्यूत हमें प्रभु से दूर ले-जाता है। यज्ञों से प्रभु का उपासन होता है। ये यज्ञ इहलोक व परलोक के कल्याण के साधन हैं। **मे**=मेरी **अस्य**=इस बात को **रोदसी**=सारा संसार **वित्तम्**=सम्यक् जान ले।

भावार्थ—ऋतवाला जीवन सुखी व शान्त होता है, अनृत=(कृषि)-प्रधान जीवन हमें प्रभु के समीप ले-जाता है। यज्ञ से लोकद्वय का कल्याण होता है।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रितः०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

नियमितता, निर्द्वेषता, जितेन्द्रियता।

कद्व ऋतस्य धर्णसि कद्वरुणस्य चक्षणम्।
कदर्यम्णो महस्पथाति क्रामेम दूढ्यो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ६॥

१. गतमन्त्र के देवों को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुम्हारा **ऋतस्य**=ऋत का **धर्णसि**=(धरणम्) धारण करना **कत्**=कहाँ गया? ऋत शब्द के दो भाव हैं—(क) खेत में बचे रह गये अन्नकणों को बीनकर जीविका चलाना; कितना निर्दोष और त्यागमय है यह जीवन! (ख) प्रत्येक कार्य को सूर्य-चन्द्रमा की भाँति नियमितता से करना—'**स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव**'। इस नियमितता का ही परिणाम है कि मनुष्य स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क का बनता है। २. **वरुणस्य**=द्वेष का निवारण, निर्द्वेषता का **चक्षणम्**=दर्शन **कत्**=कहाँ गया? ऋत के परिणामस्वरूप देवों का जीवन द्वेषादि से रहित था। ऋत गया तो द्वेषादि आ गये। ३. **अर्यम्णः**=(अरीन् यच्छति) अर्यमा के—शत्रुओं का नियमन करनेवाले के **पथा**=मार्ग से प्राप्त होनेवाला **महः**=(greatness, lusture) महत्त्व व प्रकाश **कत्**=कहाँ गया? देव द्वेष से ही ऊपर थे सो नहीं, उन्होंने 'काम-क्रोध-लोभ' सभी को जीतकर अपने महत्त्व व दीप्तजीवन को सिद्ध किया था। अर्यमा के मार्ग पर चलना किसको महत्त्व व दीप्ति प्राप्त नहीं कराता! ४. हे **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मे अस्य वित्तम्**=हमारे इस संकल्प को जान लो कि हम अब पुनः **दूढ्यः**=दुर्बुद्धियों को, हमारा अनिष्टाचरण करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' आदि को **अतिक्रामेम**=लाँघ जाएँ। दुर्बुद्धि से उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोध आदि को यहाँ 'दुर्बुद्धि' कह दिया गया है। इन्हें पार करना हमारा कर्तव्य है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'नियमितता, निर्द्वेषता व जितेन्द्रियता' का हो।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रितः०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

पहले जैसा

अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित्।

तं मा व्यन्त्याध्यो३ वृको न तृष्णजं मृगं वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार दुर्बुद्धि-जनित काम-क्रोध-लोभ को जीतने का संकल्प करके **अहम्**=मैं **सः अस्मि**=वह हो गया हूँ **यः**=जो **पुरा**=पहले था। मेरा जीवन पहले की भाँति 'नियमितता, निर्द्वेषता व जितेन्द्रियतावाला हो गया है। अब मैं **सुते**=सोमशक्ति का सम्पादन करने पर **कानि चित्**=आनन्द देनेवाले किन्हीं स्तोत्रों का **वदामि**=उच्चारण करता हूँ अथवा **सुते**=यज्ञों में प्रभुस्तोत्रों का उच्चारण करता हूँ। २. हे **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप **मे**=मेरी **अस्य वित्तम्**=इस बात को जान लो कि **तं मा**=उस मुझको **आध्यः**=काम-क्रोध व लोभरूप मानस रोग **व्यन्ति**=खाये जा रहे हैं (वी खादने), **न**=जिस प्रकार **तृष्णजं मृगम्**=जिसमें तृष्णा (प्यास) उत्पन्न हो गई है उस मृग को **वृकः**=भेड़िया खा लेता है। मृग को प्यास लगती है। वह पानी की ओर जाता है। उसे मार्ग में ही वृक खा लेता है। इसी प्रकार मनुष्य विषय-वासनाओं की ओर जाता है तो उसे ये मानस आधियाँ खा जाती हैं। इस तत्त्व को समझकर मैं विषयों की ओर जाता ही नहीं और ऐसा करने से इन आधियों का शिकार होने से भी बच गया हूँ और अब पहले की भाँति ही स्वस्थ हूँ।

भावार्थ—विषय मनुष्य को ऐसे खा जाते हैं, जैसेकि मृग को भेड़िया। इनसे बचकर जीवन को पहले जैसा बनाना ही ठीक है।

सूचना—'पुरा' शब्द बाल्यकाल का भी संकेत करता है कि मैं उसी प्रकार निर्दोष बनने का प्रयत्न करता हूँ जैसेकि एक बालक 'As innocent as a child'. बाल्यकाल निर्दोष होता है यौवन में कुछ विषयोन्माद उठता है। उसे समाप्त करके मैं फिर से बालक-जैसा हो गया हूँ।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रित०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

'सपत्नीरिव पर्शवः'

सं मा॑ तपन्त्य॒भितः॑ स॒पत्नी॑रिव॒ पर्श॑वः। मूषो॒ न शि॒श्ना।
व्य॑दन्ति मा॒ध्यः॑ स्तो॒तारं॑ ते शतक्रतो वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रो॑दसी॥ ८॥

१. 'काम-क्रोध-लोभ' यहाँ 'पर्शवः' कहे गये हैं—'**परान् शृणन्ति**'—दूसरों की हिंसा करते हैं। ये **पर्शवः**=काम-क्रोध व लोभ **मा**=मुझे **अभितः**=इहलोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से **सन्तपन्ति**=पीड़ित करते हैं। इनसे दोनों लोक बिगड़ते हैं। शरीर, मन व बुद्धि—ये सब अस्वस्थ हो जाते हैं और इस प्रकार इस लोक का कल्याण नहीं रहता। इनके रहने पर प्रभु की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ये काम-क्रोध आदि 'पर्शु' (Axes) मुझे ऐसे पीड़ित करते हैं **इव**=जैसेकि **सपत्नीः**=एक पति को सपत्नियाँ परेशान करती हैं। **मा**=मुझे **आध्यः**=काम, क्रोध, लोभरूप रोग इस प्रकार **व्यदन्ति**=खा जाते हैं **न**=जिस प्रकार **मूषः**=चूहा **शिश्ना**='अस्नात सूत्रों'—अन्न-रस से लिप्त सूत्रों को खा जाता है। हे **शतक्रतो**=अनन्तप्रज्ञ प्रभो! **ते स्तोतारम्**=तेरा स्तवन करनेवाले मुझे भी—'तेरी स्तुति की ओर झुकनेवाले मुझे भी ये पीड़ित करें' यह तो ठीक नहीं। मुझे इनकी पीड़ा से ऊपर उठाइए। ३. **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मे**=मेरे **अस्य**=इस संकल्प को **वित्तम्**=जानें कि अब मैं इन आधियों से ऊपर उठूँगा। इनके कारण मैं बहुत परेशान हो गया हूँ। इनसे बचने के लिए ही मैं प्रभु का स्तोता बना हूँ।

भावार्थ—प्रभु के स्तोता बनकर हम काम-क्रोधादि से ऊपर उठें।

ऋषिः—आप्त्यस्त्रित०। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

त्रित आप्त्य

अमी ये स॒प्त र॒श्मय॒स्तत्रा॑ मे॒ नाभि॒राति॑ता।
त्रि॒तस्तद्वे॑दा॒प्त्यः स जा॑मि॒त्वाय॑ रेभति वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रो॑दसी॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार काम-क्रोध व लोभ से ऊपर उठने पर हमारे जीवन में ज्ञानरश्मियों का प्रादुर्भाव होता है। '**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**' दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सप्तर्षियों से निरन्तर ज्ञान का संग्रह किया जाता है। **अमी**=वे **ये**=जो सप्त **रश्मयः**=इन सप्तर्षियों से ज्ञान की रश्मियाँ चलती हैं **तत्र**=वहाँ-उन ज्ञानरश्मियों के होने पर **मे**=मेरा यह **नाभिः**=(अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) यज्ञ **आतता**=विस्तृत हुआ है, अर्थात् मैं ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करता हूँ और उस ज्ञान के अनुसार यज्ञों का विस्तार करता हूँ। २. **सः**=वह ज्ञानपूर्वक यज्ञों को करनेवाला व्यक्ति **जामित्वाय**=प्रभु के साथ सम्बन्ध के लिए **रेभति**=स्तवन करता है। इस स्तवन के होने पर यह **त्रितः**=ज्ञान, कर्म व उपासना का विस्तार करनेवाला हुआ है (त्रीन् तनोति) और इन तीनों का विस्तार करने के कारण **तत् वेद**=इसने उस प्रभु को जाना है। प्रभु को प्राप्त करने के कारण यह **आप्त्यः**=प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों में उत्तम बना है। 'मैं भी ऐसा बन पाऊँ'—**मे**=मेरे **अस्य**=इस संकल्प को **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वित्तम्**=जानें।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का विस्तार करके 'त्रित' बनें। प्रभु को प्राप्त करनेवालों में उत्तम 'आप्त्य' हों।

सूचना—इस मन्त्र में आये त्रित-आप्त्य शब्दों के कारण इस सूक्त का ऋषि 'कुत्स आङ्गिरस' के साथ 'त्रित-आप्त्य' भी है।

ऋषिः—आप्त्यस्त्रितः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

पञ्च उक्षा

अमी ये प॒ञ्चो॒क्षणो॒ मध्ये॑ त॒स्थुर्म॒हो दि॒वः।
दे॒व॒त्रा नु प्र॒वाच्यं॑ सध्रीची॒ना नि वा॑वृतुर्वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रो॑दसी॥ १०॥

१. **अमी**=वे **ये**=जो **पञ्च**=पाँच **उक्षणः**=शरीर में वीर्य का सेचन करनेवाले प्राण (प्राणों के संयम से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है) **मध्ये तस्थुः**=शरीर के मध्य में स्थित हैं, वे प्राण **महः**=तेजस्विता को देनेवाले हैं (महस्=Lusture), अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं अथवा अपना संयम करनेवाले पुरुष को चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा 'मह पूजायाम्' प्रभु की पूजा की वृत्तिवाला बनाते हैं। **दिवः**=ये हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले हैं। प्राणायाम से मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बनता है। यह रेतस् उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है एवं ज्ञान से जीवन प्रकाशमय हो उठता है। इस प्रकार प्राणायाम का प्रथम लाभ 'मनो-निरोध के द्वारा प्रभुपूजा की वृत्तिवाला बनना है' और दूसरा लाभ ज्ञानाग्नि की दीप्ति के द्वारा प्रकाशमय जीवन का होना है। २. इस प्रकार **देवत्रा**=देवों में **नु**=भी **प्रवाच्यम्**=इनका कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय होता है। ये प्राण सब देवों (इन्द्रियों) को शक्ति प्राप्त कराते हैं। प्राण ही इन इन्द्रियों में श्रेष्ठ हैं। इन्हीं की शक्ति से इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न होकर अपना-अपना कार्य करती हैं। ३. ये प्राण जब **सध्रीचीनाः**=(सह अञ्चन्ति) मिलकर कार्य करनेवाले होते हैं तब **निवावृतुः**=जीवन-यात्रा के लिए सब आवश्यक

कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। प्रभु कहते हैं कि **मे**=मुझसे प्रतिपादित **अस्य**=इस प्राणों के महत्त्व की बात को **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक अर्थात् सब मनुष्य **वित्तम्**=समझ लें।

भावार्थ—प्राणों के महत्त्व को समझकर मनुष्य प्राणसाधना करनेवाले बनें। प्रयत्न करें कि उनके प्राण शक्ति का सञ्चार करें। ये सध्रीचीन होंगे तो हमारी जीवन-यात्रा ठीक से पूर्ण हो जाएगी।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रित०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रकाश व लोभनिवृत्ति

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः।
ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ११॥

१. **एते**=गतमन्त्र में वर्णित ये प्राण **सुपर्णाः**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। जब **आरोधने**=प्राणायाम के द्वारा निरुद्ध होने पर ये **मध्ये आसते**=शरीर के अन्दर ही आसीन होते हैं तब हमारे जीवन को **दिवः**=अत्यन्त दीप्तिवाला बनाते हैं। इनके कारण शरीर तेजस्विता से चमकता है, हृदय नैर्मल्य से चमक उठता है और मस्तिष्क ज्ञान की ज्योतिवाला होता है। २. **ते**=वे प्राण हमारे **पथः**=मार्ग से **वृकम्**=लोभ की वृत्ति को **सेधन्ति**=रोकनेवाले होते हैं, उस लोभ को जोकि **यह्वतीः**=प्रभु की ओर जानेवाली और पुकारनेवाली (यात, हूत) **अपः**=प्रजाओं को भी **तरन्तम्**=आक्रान्त करता है (Subdue, destroy, to become master of)। यह लोभ बड़े-बड़े व्यक्तियों को भी अपना शिकार बना लेता है। हम प्राणसाधना के द्वारा इससे अभिभूत होने से बच जाते हैं। प्रभु कहते हैं कि **मे अस्य**=मेरी इस प्राण-महत्त्व की बात को **रोदसी**=सब व्यक्ति **वित्तम्**=जान लें।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन प्रकाशमय बनता है और लोभ की वृत्ति दूर होती है।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रित०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ऋत व सत्य

नव्यं तदुक्थ्यं हितं देवासः सुप्रवाचनम्।
ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ १२॥

१. हे **देवासः**=देववृत्ति के पुरुषो! गत मन्त्रानुसार आप प्राणसाधना आदि उत्तम कर्मों में लग सको **तत्**=इस कारण से **नव्यम्**=प्रशंसनीय **उक्थ्यम्**=प्रभु के स्तवन व कर्तव्यों के प्रतिपादन में उत्तम **सुप्रवाचनम्**=उत्तम पुण्य वाचनवाला अथवा अतिसरल यह वेदज्ञान **हितम्**=आपके हृदयों में स्थापित किया गया है (तच्चक्षुर्देवहितम्)। यह वेदज्ञान भ्रान्तिशून्य होने से प्रशंसनीय है। इसके द्वारा प्रभु का स्तवन उत्तमता से होता है, अतः 'उक्थ्य' है। सरल व अव्यर्थ होने से 'सुप्रवाचन' है। २. इसके अनुसार जीवन को बनाते हुए **सिन्धवः**=स्यन्दनशील रेतःकणों को शरीर में सुरक्षित करके शक्ति के पुञ्ज बननेवाले लोग **ऋतम्**=ऋत को **अर्षन्ति**=प्राप्त होते हैं। सूर्य-चन्द्रादि के समान बिल्कुल ठीक समय पर कार्यों को करना ही 'ऋत' है। जो व्यक्ति शक्ति का पुञ्ज बनता है, वही 'ऋत' का पालन कर पाता है। वस्तुतः ऋत का पालन शक्तिपुञ्ज बनने में सहायक भी होता है। ऋत और शक्ति का परस्पर सम्बन्ध है। ऋत के पालन से शक्ति की प्राप्ति और शक्ति प्राप्ति से ऋत का पालन होता है। ३. शक्ति प्राप्त करके यह व्यक्ति इस शक्ति को, ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाकर अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। ज्ञान से यह सूर्य

के समान चमकता है और **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य बनकर **सत्यं तातान**=सत्य का विस्तार करता है। ज्ञानी के जीवन में असत्य का प्रवेश नहीं होता। ज्ञान जीवन को पवित्र बनानेवाला है। इस प्रकार शक्ति को शरीर में सुरक्षित करनेवाले व्यक्ति के जीवन में सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाओं में 'ऋत' का दर्शन होता है और अध्यात्म-क्रियाओं व व्यवहार में 'सत्य' का। प्रभु कहते हैं कि **रोदसी**=द्यावापृथिवी, अर्थात् सम्पूर्ण संसार **मे**=मेरी **अस्य**=इस बात को **वित्तम्**=जाने कि 'ऋत व सत्य' के पालन में ही कल्याण है।

भावार्थ—परमात्मा ने मनुष्यों के हृदय में वेदज्ञान स्थापित किया है। इसके अनुसार जीवन बनाते हुए हम ऋत और सत्य का आचरण करें।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रित०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**महाबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ज्ञान व दैवीसम्पत्ति

अग्ने तव त्यदुक्थ्यं देवेष्वस्त्याप्यम्।
स नः सत्तो मनुष्वदा देवान्यक्षि विदुष्टरो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ १३॥

१. **अग्ने**=हे अग्रणी परमात्मन्! **तव**=आपका **त्यत्**=वह प्रसिद्ध **उक्थ्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय, स्तवन व कर्मों के प्रतिपादन में उत्तम वेदज्ञान **देवेषु**=देवों में ही **आप्यम्**=प्राप्त करने योग्य **अस्ति**=है। जो भी देववृत्ति का बनता है, वह इस ज्ञान को प्राप्त करता है, अथवा हे प्रभो! देवों में आपकी स्तुत्य मित्रता है। देव प्रभु को अपना बन्धु जानते हैं। २. **सः**=वे आप **सत्तः**=हृदयों में आसीन हुए-हुए **नः**=हमारे साथ **मनुष्वत्**=ज्ञान की भाँति **देवान्**=दिव्य गुणों को **आयक्षि**=सर्वथा संगत कीजिए। **विदुः तरः**=आप हमारे हित को हमसे अधिक समझते हैं। हमें आपकी कृपा से ज्ञान और दिव्यगुण दोनों ही प्राप्त हों। **मे**=मेरे **अस्य**=इस निवेदन को **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वित्तम्**=जानें, अर्थात् द्यावापृथिवी के अन्तर्गत सब देवों की अनुकूलता से मेरी यह प्रार्थना पूर्ण हो। मैं ज्ञानी बनूँ, उत्तम दिव्यगुणों से युक्त जीवनवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु के वेदज्ञान को प्राप्त करूँ, ज्ञानी व गुणी बनूँ।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रित०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

यज्ञशील मेधावी

सत्तो होता मनुष्वदा देवाँ अच्छा विदुष्टरः।
अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ १४॥

१. **सत्तः**=हमारे हृदयों में आसीन हुए-हुए हे प्रभो! आप **होता**=हमें सब-कुछ देनेवाले हैं, **मनुः वत्**=ज्ञान प्राप्त कराने के समान आप हमें **देवान् अच्छ**=दिव्यगुणों की ओर ले-चलते हैं। आप जहाँ हमें ज्ञान प्राप्त कराते हैं, वहाँ हमें दैवीसम्पत्ति से भी सम्पन्न करते हैं। **विदुः तरः**=आप निरतिशय ज्ञानवाले हैं। हमारे हितों को पूर्णतया जानते हैं। २. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु ही **हव्या**=हव्य पदार्थों को **सुषूदति**=प्रेरित करते हैं, अर्थात् प्रभु की प्रेरणा से ही यज्ञशील पुरुषों के यज्ञ चलते हैं। प्रभु ही यज्ञों के रक्षक व स्वामी हैं। **देवः**=वह प्रकाशमय प्रभु **देवेषु**=देववृत्ति के पुरुषों में **मेधिरः**=मेधा को स्थापित करनेवाले हैं। प्रभु ही सम्पूर्ण ज्ञानों को देनेवाले हैं। ३. **मे**=मेरी **अस्य**=इस बात को **रोदसी**=द्यावापृथिवी **वित्तम्**=जान लें। सभी लोग इस बात को समझकर प्रभु के आराधन से यज्ञशील हों, उन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ समझें और देव बनकर ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी बनें।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान देते हैं और दिव्यगुण प्राप्त कराते हैं, हमें यज्ञशील व मेधावी बनाते हैं।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रितः०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ऋतमय जीवन

ब्रह्मा कृणोति वरुणो गातुविदं तमीमहे।
व्यूर्णोति हृदा मतिं नव्यो जायतामृतं वित्तं मे अस्य रोदसी॥ १५॥

१. **वरुणः**=हमारे जीवनों से बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभु **ब्रह्म**=ज्ञान को **कृणोति**=प्रकट करते हैं। सर्गारम्भ में वेदज्ञान देते हैं। '**ब्रह्म वेदस्तपस्तत्त्वम्**=ब्रह्म के तीन अर्थ हैं—वेद, तप तथा तत्त्व। प्रभु वेदज्ञान देते हैं। उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए तपरूप साधन का प्रतिपादन करते हैं। तप से हम वेद के तत्त्व को समझनेवाले बनते हैं। इस तत्त्वज्ञान का परिणाम हमारे जीवनों पर पवित्रता के रूप में होता है। हम बुराइयों से बचकर श्रेष्ठ बनते हैं। इस प्रकार उस वरुण ने वेदज्ञान के द्वारा हमें भी वरुण=श्रेष्ठ बना दिया। **तम्**=उस **गातुविदम्**=मार्ग के जानने और प्राप्त करानेवाले प्रभु को **ईमहे**=हम आराधित करते हैं। प्रभु से सदा यही याचना करते हैं कि वे हमें ज्ञान के द्वारा सदा मार्गदर्शन करनेवाले हों। २. वे प्रभु **हृदा**=हृदय-देश में स्थित होते हुए **मतिम्**=हमारी बुद्धि को **व्यूर्णोति**=(वि ऊर्णोति) आच्छादन से रहित करते हैं। बुद्धि पर आये हुए पर्दे को वे हटाते हैं और इस प्रकार ज्ञान के प्रकाश को दीप्त करनेवाले होते हैं। ३. यह मल-आवरण से रहित बुद्धिवाला पुरुष **नव्यः**=(नु स्तुतौ) स्तुत्यतम जीवनवाला होता है और **ऋतं जायताम्**=यह ऋत हो जाता है। यह अपने जीवन में ऋत को स्थापित करता है, ऋत को क्या स्थापित करता है, ऋत ही हो जाता है। इसके सब कार्य सूर्य-चन्द्रमा की गति की भाँति ठीक समय व ठीक स्थान पर होते हैं। **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् सारा जगत् **मे अस्य**=मेरी इस बात को **वित्तम्**=जान ले कि 'ऋत' ही मार्ग है। ऋत के अपनानेवाले का जीवन ही प्रशस्त बनता है।

भावार्थ—प्रभु वेद के द्वारा मार्ग का ज्ञान देते हैं। '**ऋत**'=ठीक समय व ठीक स्थान पर सब कार्यों को करना ही मार्ग है। प्रभुभक्त अपने को ऋतमय बनाने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः=**आप्त्यस्त्रितः०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवयान का पथिक बनना

असौ यः पन्था आदित्यो दिवि प्रवाच्यं कृतः।
न स देवा अतिक्रमे तं मर्तासो न पश्यथ वित्तं मे अस्य रोदसी॥ १६॥

१. संसार में तीन मार्ग हैं। पहला पृथिवीलोक पर चलनेवालों का 'अग्नि' का मार्ग है। पृथिवीलोक पर चलनेवाले, अर्थात् पार्थिव भोगों में मस्त। इनके यहाँ सदा चूल्हा जलता रहता है। ये खाने-पीने में ही लगे रहते हैं। एवं, इनका मार्ग ही 'अग्नि' नामवाला हो गया। ये पैदा होते हैं, कुछ देर खा-पीकर मर जाते हैं, अतः '**जायस्व म्रियस्व**' योनिवाले कहलाते हैं। दूसरा मार्ग अन्तरिक्षलोक में चलनेवालों का है। यह 'चन्द्र'-मार्ग है। ये सद्गृहस्थ बनकर भोगों को जुटाते हुए भी उनमें आसक्त नहीं हो जाते। भोगों में रत रहते हुए भी भोगी नहीं बन जाते। ये उत्तम सन्तानों का निर्माण करके 'पिता' बनते हैं। इनका मार्ग 'पितृयाण'-मार्ग कहलाता है। ये चन्द्रलोक में जन्म लेते हैं, अतः ये अन्तरिक्षलोक से जानेवाले कहलाते हैं। तीसरा मार्ग देवों

का है। ये सम्पत्ति का त्याग व दान करके ज्ञानज्योति से दीप्त होते हैं और औरों को ज्ञान से द्योतित करते हैं। इनका मार्ग प्रकाशमय होने से द्युलोक का मार्ग कहलाता है। यही आदित्य-मार्ग है। इस मार्ग से जाते हुए ये व्यक्ति उस स्वर्ज्योति प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं। **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'**—इस देवयान का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **असौ**=वह **यः**=जो **पन्थाः**=मार्ग **आदित्यः**=आदित्य नामवाला है, **दिवि**=द्युलोक में **प्रवाच्यं कृतः**=इस रूप में बनाया गया है कि यह अत्यन्त स्तुति के योग्य होता है। हे **देवाः**=देवो! **सः**=वह मैं **न अतिक्रमे**=उस मार्ग का उल्लंघन नहीं करता। मैं इसी देवयान मार्ग पर चलता हूँ। 'यह मार्ग द्युलोक में बनाया गया है' इसका भाव यही है कि यह ज्ञानप्रधान है, ज्ञानमार्ग है। इस मार्ग पर चलनेवाले ज्ञानी पुरुष के कर्म सदा पवित्र होते हैं। शुद्ध हुआ-हुआ यह उस शुद्ध प्रभु को पानेवाला बनता है। २. प्रभु कहते हैं कि **मर्तासः**=पार्थिव भोगों के पीछे मरनेवाले पुरुषो! आप **तम्**=उस देवयान मार्ग को, आदित्य-मार्ग को न **पश्यथ**=नहीं देखते हो। आपके क्षेत्र से वह दूर है। **मे अस्य**=मेरी इस बात को **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् सारा जगत् **वित्तम्**=जान ले। हमें चाहिए कि हम इस बात को भली-भाँति समझ लें कि पार्थिव मार्गों में चलते हुए हम कभी देवयान के पथिक न बन पाएँगे।

भावार्थ—हम **'जायस्व म्रियस्व'** व पितृयाण—इन दोनों मार्गों से ऊपर उठकर देवयान के पथिक बनें।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रितः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

कूप से उत्थान की प्रार्थना

त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी॥ १७॥

१. 'त्रित' वह है जो आरम्भ में काम-क्रोध व लोभ से अभिभूत हो जाता है **'त्रय एनं तरन्ति'** (तॄ to overcome)। जब कुछ देर की चमक-दमक के पश्चात् यह रोगों और कष्टों से आक्रान्त होता है तब अब यह 'काम-क्रोध व लोभ' को जीतने की कामना करता है—**'त्रीन् तरति'**। कष्ट में पड़ना ही यहाँ 'कुएँ में गिरना' कहा गया है। **त्रितः**=यह **त्रित कूपे**=कष्टरूपी कूप (कष्ट-सागर) में **अवहितः**=नीचे गिराया हुआ **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **देवान् हवते**=देवों को पुकारता है। ज्ञानियों से, ज्ञान देकर रक्षण के लिए प्रार्थना करता है। इसके भीतर यह भावना उत्पन्न होती है कि मैं इन कामादि का अविभव करके किसी प्रकार इस कष्ट-समुद्र के पार हो सकूँ। २. इसकी हृदय से की गई प्रार्थना को **बृहस्पतिः**=वे ज्ञानियों के ज्ञानी, गुरुओं के गुरु प्रभु **शुश्राव**=सुनते हैं और इसके लिए **अंहूरणात्**=इस पाप व अन्धकारमय लोक से—कूप-स्थिति से **उरु कृण्वन्**=प्रकाशमय लोक को करते हैं। प्रभु ज्ञानियों के सम्पर्क के द्वारा इसे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले-चलते हैं। प्रभु कहते हैं कि **मे अस्य**=मेरी इस बात को **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वित्तम्**=जान लें। सब यह समझ लें कि अन्ततः सब अन्धकारमय लोक के अन्धकार से घबराकर प्रकाश की ओर आना चाहते हैं। 'अन्धकार से प्रकाश की ओर चलना' यही मार्ग पर चलना है—'तमसो मा ज्योतिर्गमय'।

भावार्थ—काम-क्रोध व लोभ से आक्रान्त 'त्रित' कष्ट-कूप में गिरता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है। प्रभु ज्ञान देकर इसका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रितः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

विषयों से ऊपर

अरुणो मा सकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ट्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी॥ १८॥

१. **अरुणः**=वह आरोचमान, **मासकृत्**=महीने आदि के रूप में प्रकट होनेवाले काल को करनेवाला **वृकः**=(विवृतज्योतिष्कः) सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान को विवृत=प्रकट करनेवाला प्रभु **पथा यन्तम्**=मार्ग से चलनेवाले को **हि**=निश्चय से **ददर्श**=देखता है—उसका ध्यान रखता है। मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति प्रभु से रक्षणीय होता ही है। २. **निचाय्या**=तत्त्वज्ञान के द्वारा संसार के तत्त्व को निश्चित करके, संसार के ठीक रूप को जानकर यह तत्त्वज्ञानी **उज्जहीते**=इस संसार से ऊपर उठता है (उत्=out)। अब वह प्रकृति के इन विषयों में फँसता नहीं। उसी प्रकार इनसे ऊपर उठता है **इव**=जैसेकि **पृष्ट्यामयी**=पीठ में दर्द अनुभव करनेवाला **तष्टा**=बढ़ई ऊपर की ओर मुखवाला होता है। पीठ का दर्द उसे झुके रहने से रोकता है और उसे सीधा ऊपर खड़ा होने के लिए प्रेरित करता है। इसी प्रकार विषयों से पीड़ा अनुभव करनेवाला यह व्यक्ति विषयों से ऊपर उठता है और ठीक मार्ग पर चलनेवाला होकर प्रभु का रक्षणीय होता है। प्रभु कहते हैं कि **मे**=मेरी **अस्य**=इस बात को **रोदसी वित्तम्**=द्यावापृथिवी समझ लें। सब मनुष्य इस बात को जान लें कि मार्ग पर चलनेवाला ही कल्याणभागी होता है।

भावार्थ—मार्ग पर चलनेवाला प्रभु से रक्षणीय और कल्याणभागी होता है।

ऋषिः—**आप्त्यस्त्रित०**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

इन्द्रवन्तः=प्रभुवाले

एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तोऽभि ष्याम वृजने सर्ववीराः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ १९॥

१. **एना**=इस **अङ्गूषेण**=आघोषणा के योग्य, ऊँचे-ऊँचे गाने के योग्य स्तोत्र से **वयम्**=हम **इन्द्रवन्तः**=उस प्रभुवाले होते हुए **सर्ववीराः**=सब प्रकार से वीर होते हुए **वृजने**=संग्राम में **अभिस्याम**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले हों। प्रभु के स्तवन से हम प्रभु के समीप होते हैं। प्रभु के सान्निध्य से हमें प्रभु की शक्ति प्राप्त होती है। हम वीर बनकर अध्यात्म-संग्राम में 'काम-क्रोध व लोभ' आदि को जीतनेवाले बनते हैं। इन शत्रुओं को पराजित करना हमारी शक्ति से बाहर की बात है। प्रभु की शक्ति से सम्पन्न बनकर हम इन्हें पराजित कर पाते हैं। २. इस प्रकार स्तवन के द्वारा प्रभु की शक्ति से सम्पन्न बनकर हम इन्हें पराजित करने के **नः तत्**=हमारे उस संकल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=श्रेष्ठ, **अदितिः**=अदिति, **सिन्धुः**=बहनेवाले जल, **पृथिवी**=पृथिवी **उत**=और **द्यौः**=द्युलोक **मामहन्ताम्**=आदृत करें। मित्र अर्थात् स्नेह करनेवाले, वरुण अर्थात् निर्द्वेषतावाले, **अदितिः**=स्वास्थ्यवाले, **सिन्धुः**=रेतःकणों के रूप में रहनेवाले जलों का रक्षण करनेवाले, **पृथिवी**=दृढ़ शरीरवाले तथा **द्यौः**=दीप्त मस्तिष्कवाले बनकर हम 'संग्राम में शत्रुओं के पराभव के संकल्प' को पूर्ण कर सकें।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमें शक्ति देता है, जिससे हम कामादि का पराजय कर पाते हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि कर्मशीलता में ही आनन्द है और ज्ञान ही पवित्रता का साधक है (१)। समाप्ति पर कहते हैं कि प्रभुस्तवन ही हमें शक्तिसम्पन्न

बनाता है (१९)। 'ऐसा होने पर ही हम पापों से पार होते हैं' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१०६] षडुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

पापों से पार

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमूतये मारुतं शर्धो अदितिं हवामहे।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ १॥

१. हम **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=इन्द्र को **मित्रम्**=मित्र को **वरुणम्**=वरुण को **अग्निम्**=अग्नि को **मारुतं शर्धः**=मरुतों के बल को तथा **अदितिम्**=अदिति को **हवामहे**=पुकारते हैं। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का प्रतीक है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही इन्द्र है। 'मित्र' स्नेह का देवता है, 'वरुण' निर्द्वेषता का। 'अग्नि' अग्रणी है, यह उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने का संकेत कर रहा है। 'मारुतं शर्धः' प्राणों का वाचक होता हुआ प्राणायामादि के द्वारा प्राणशक्ति सम्पन्नता का संकेत कर रहा है। 'अदिति' स्वास्थ्य का सूचक है। इस प्रकार 'जितेन्द्रियता, स्नेह, अद्वेष, उन्नति, प्राणशक्ति व स्वास्थ्य'—ये सब गुण हमारा रक्षण करनेवाले होते हैं। २. हे **सुदानवः**=उत्तमता से बुराइयों का खण्डन करनेवाले (दाप् लवने), **वसवः**=उत्तम निवासवाले ज्ञानी पुरुष **नः**=हमें **विश्वस्मात् अंहसः**—सब पापों से **निष्पिपर्तन**=पार करनेवाले हों। धार्मिक ज्ञानियों का सम्पर्क हमें पापों से ऊपर उठाए। ये वसु हमें उसी प्रकार पापों से पार करें **न**=जैसेकि उत्तम सारथि **रथम्**=रथ को **दुर्गात्**=दुर्गम मार्ग से पार करते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रियता आदि वृत्तियाँ ही हमारा रक्षण करेंगी और धार्मिक ज्ञानियों का सम्पर्क हमें पापों से बचाएगा।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

संग्रामविजय व शान्ति का लाभ

त आदित्या आ गता सर्वतातये भूत देवा वृत्रतूर्येषु शंभुवः।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ २॥

१. हे **आदित्याः**=अदिति व स्वस्थ के पुत्रो! स्वस्थ शरीर में उत्पन्न होनेवाले **देवाः**=देवो! दिव्यगुणो! **ते**=वे तुम सब **आगत**=आओ, हमें प्राप्त होओ। तुम **सर्वतातये**=हमारी सब शक्तियों के विस्तार के लिए होओ। २. हे देवो! आप **वृत्रतूर्येषु**=वृत्र=वासना का जिनमें संहार होता है, उन संग्रामों में **शंभुवः**=वासनाओं के संहार के द्वारा हमारे लिए शान्ति देनेवाले **भूत**=होओ। हम अपने अन्दर दिव्यगुणों के विकास के लिए यत्नशील हों। यह प्रयत्न ही वासनाओं के साथ संग्राम का रूप धारण करता है। इस संग्राम में विजय प्राप्त करके हम शान्ति का लाभ करते हैं। ३. हे **सुदानवः**=बुराइयों का भली-भाँति छेदन करनेवाले **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले धार्मिक ज्ञानी पुरुषो! आप **नः**=हमें **विश्वस्मात् अंहसः**=सब पापों से इस प्रकार **निष्पिपर्तन**=पार कर दो **न**=जैसेकि एक उत्तम सारथि **दुर्गात्**=दुर्गम मार्ग से **रथम्**=रथ को पार करता है। ये धार्मिक ज्ञानी पुरुष हमारे पथ-प्रदर्शक बनें और हम पापों में फँसने से बच जाएँ।

भावार्थ—दिव्यगुणों के विकास के लिए यत्नशील होकर हम वासनाओं को संग्राम में

पराजित करें। धार्मिक ज्ञानी पुरुषों का संग हमें पाप से बचाए।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरस**। देवता—**विश्वदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

सुप्रवाचन पितर

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ३॥

१. **सुप्रवाचनाः**=उत्तम प्रवचन, ज्ञान का प्रतिपादन व प्रभुगुण-स्तवन करनेवाले **पितरः**=ज्ञानप्रदान द्वारा रक्षा करनेवाले ज्ञानीजन **नः**=हमारी **अवन्तु**=रक्षा करें। इनके द्वारा दिये गये ज्ञान को प्राप्त करके हम ठीक मार्ग पर ही चलें और अपने को विषय-पंक में फँसने से बचाने में समर्थ हों। २. **उत**=और **देवपुत्रे**=उस महान् देव प्रभु के पुत्रस्थानीय—उस प्रभु से उत्पन्न किये गये **देवी**=दिव्यगुणोंवाले पृथिवी व आकाश हमारे लिए **ऋतावृधा**=ऋत का वर्धन करनेवाले हों। पृथिवी दृढ़तावाली है, द्युलोक दीप्तिवाला है। ये दोनों अपने-अपने गुणों को हममें स्थापित करते हुए हमें ऋत के पालन के योग्य बनाएँ। हमारा शरीर दृढ़ हो, मस्तिष्क आलोकमय हो। दृढ़ता व आलोक से युक्त होकर हमारा जीवन ऋत के मार्ग से उन्नत होता चले। ३. हे **सुदानवः**=बुराइयों का उन्मूलन करनेवाले **वसवः**=उत्तम निवासवाले लोगो! **नः**=हमें **विश्वस्मात् अंहसः**=सब पापों से इस प्रकार **निष्पिपर्तन**=पार करो **न**=जैसेकि एक उत्तम सारथि **रथम्**=रथ को **दुर्गात्**=दुर्गम मार्ग से पार करता है।

भावार्थ—ज्ञानप्रद पितर हमारा रक्षण करें। पृथिवी व द्युलोक अपनी दृढ़ता व आलोक देकर हममें ऋत का वर्धन करें। धार्मिक ज्ञानियों का सम्पर्क हमें पाप से बचाए।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'प्रशस्त' व धन का पोषक जीवन

नराशंसं वाजिनं वाजयन्निह क्षयद्वीरं पूषणं सुम्नैरीमहे।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ४॥

१. **नराशंसम्**=मनुष्यों से शंसन के योग्य, **वाजिनम्**=शक्तिशाली, **क्षयद् वीरम्**=(क्षियति वीरेषु) वीरों में निवास करनेवाले **पूषणम्**=पोषक प्रभु को **वाजयन्**=अपनी ओर प्राप्त कराते हुए हम **इह**=इस मानव-जीवन में **सुम्नैः**=स्तोत्रों के द्वारा **ईमहे**=आराधित करते हैं। प्रभु की आराधना से हमारा जीवन भी मनुष्यों से प्रशंसनीय होगा (नराशंस), शक्तिशाली होगा (वाजिनम्), हममें वीरता का वास होगा (क्षयद् वीरम्) और हम सब आवश्यक धनों का पोषण करनेवाले होंगे (पूषणम्)। प्रभु का स्तवन हमें प्रभु-जैसा ही बनाता है। २. इस प्रकार 'प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले हम बन सकें' इसके लिए **सुदानवः**=बुराइयों का खण्डन करनेवाले **वसवः**=उत्तम निवासवाले लोग **नः**=हमें **विश्वस्मात् अंहसः**=सब पापों से **निष्पिपर्तन**=पार करें, उसी प्रकार **न**=जैसेकि उत्तम सारथि **रथम्**=रथ को **दुर्गात्**=दुर्गम मार्ग से पार करता है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से हमारा जीवन 'प्रशस्त, शक्तिशाली, वीरता से युक्त तथा आवश्यक धन का पोषण करनेवाला' बने। धार्मिक लोग हमें पापों से दूर करें।

ऋषिः—**कुत्सः आङ्गिरसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः=**निषादः**।

रोगशमन व अभय

बृहस्पते सदमिन्नः सुगं कृधि शं योर्यत्ते मनुर्हितं तदीमहे।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ५॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए **सदम् इत्**=सदा ही **सुगम्**=(सुष्ठु गम्यतेऽस्मिन्) उत्तम मार्ग को **कृधि**=कीजिए। ज्ञान के द्वारा आप हमें मार्ग-दर्शन कीजिए ताकि हम ठीक मार्ग पर चलते हुए कभी भटकें नहीं। हम सदा उत्तम मार्ग पर ही चलें। २. हे प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **शंयोः**=सब प्रकार के रोगों का शमन और भयों का यावन (पृथक्करण) **मनुर्हितम्**=ज्ञानी पुरुषों में, विचारशील पुरुषों में स्थापित होता है **तत्**=उसे पाने के लिए हम आपसे **ईमहे**=याचना करते हैं। आपकी कृपा से हमारे रोग शान्त हों और हमें किसी प्रकार का भय न हो। ३. **सुदानवः**=बुराइयों का खूब खण्डन करनेवाले **वसवः**=उत्तम निवासवाले पुरुषो! आप **नः**=हमें **विश्वस्मात् अंहसः**=सब पापों से **निष्पिपर्तन**=इस प्रकार पार करो **न**=जैसेकि एक उत्तम सारथि **रथम्**=रथ को **दुर्गात्**=दुर्गम मार्ग से पार करता है।

भावार्थ—हमारा मार्ग उत्तम हो। हमारे रोगों का शमन हो और हमें निर्भयता की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

जितेन्द्रियता—वासना-विनाश व शक्ति

इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निबाळ्ह ऋषिरह्वदूतये।
रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन॥ ६॥

१. **कुत्सः**=(कुथ हिंसायाम्) काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओं की हिंसा करनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी पुरुष **काटे**=इस संसार-कूप में **निबाळ्ह**=गिरा हुआ **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली **वृत्रहणम्**=असुरों के सेनानी वृत्र का नाश करनेवाले, ज्ञान पर आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाले **शचीपतिम्**=सब शक्तियों व प्रज्ञानों के पति प्रभु को **अह्वत्**=पुकारता है। प्रभु के रक्षण के अभाव में एक ज्ञानी पुरुष के लिए भी इन वासनाओं के फिर से आक्रमण न होने देने का सम्भव नहीं होता। ज्ञानी भी प्रभु का स्मरण करता हुआ ही इन वासनाओं को अपने से दूर रख पाता है। यह प्रभु का ही ऐश्वर्य है कि ज्ञानी भक्त वासनाओं को अपने से दूर रख पाता है। प्रभु ही वस्तुतः वासनाओं का विनाश करते हैं। सब शक्तियों के पति भी प्रभु ही हैं। २. हे **सुदानवः**=बुराइयों का खूब खण्डन करनेवाले **वसवः**=उत्तम निवासवाले ज्ञानी पुरुषो! आप **नः**=हमें **विश्वस्मात् अंहसः**=सब पापों से इस प्रकार **निष्पिपर्तन**=पार कीजिए **न**=जैसे एक उत्तम सारथि **रथम्**=रथ को **दुर्गात्**=दुर्गम मार्ग से पार करता है।

भावार्थ—'इन्द्र, वृत्रहा और शचीपति' प्रभु का स्मरण हमें इस संसार-कूप में गिरने से बचाता है। हममें भावना पैदा होती है कि हमें जितेन्द्रिय बनना है, वासना का विनाश करना है और शक्ति का स्वामी होना है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अदिति व देव का रक्षण

देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ७॥

१. **देवी**=दिव्य गुणों से युक्त **अदितिः**=स्वास्थ्य **देवैः**=सब दिव्यगुणों के उत्पादन के द्वारा **नः**=हमें **निपातु**=निश्चितरूप से सुरक्षित करे। स्वास्थ्य दिव्यगुणों से युक्त है। यह सब दिव्यगुणों का जन्म देनेवाला है। अस्वस्थ पुरुष में ईर्ष्या, द्वेष व चिड़चिड़ापन आदि आसुर गुण उत्पन्न हो जाते हैं। यह स्वास्थ्य (**अ**=नहीं, **दिति**=खण्डन) अदिति नामवाला है। यह '**अदीना देवमाता**' है। सब अच्छाइयों का मूल है। यह दिव्यगुणों को जन्म देकर हमारा रक्षण करता है। २. वह **त्राता**=सबका रक्षक **देवः**=दीप्तिवाला प्रभु **अप्रयुच्छन्**=अप्रमाद से **त्रायताम्**=हमारा रक्षण करे। प्रभु का रक्षण हमें सदा प्राप्त हो। प्रभु का स्मरण हमें संसार के किसी भी विषय से बद्ध नहीं होने देता। हम संग्राम में वासनाओं को पराजित करनेवाले बनते हैं। ३. हमें 'अदिति का—स्वास्थ्य की देवता का तथा उस महान् देव प्रभु का रक्षण प्राप्त हो' **नः**=हमारे **तत्**=उस संकल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=अदिति, **सिन्धुः**=सिन्धु, **पृथिवी**=पृथिवी **उत**=और **द्यौः**=द्युलोक **मामहन्ताम्**=आदृत करें। हममें 'स्नेह, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, रेतःकणों, दृढ़ शरीर व मस्तिष्क' का वास हो। इन **देवों**=दिव्यताओं के कारण हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम अदिति व देव के रक्षण के पात्र हों।

विशेष—इस सूक्त की मूलभावना यही है कि हम सब पापों से पार हो जाएँ (१-७)। इसी दृष्टिकोण से हमें देवों की सुमति प्राप्त हो—

[१०७] सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

आदित्यों की सुमति

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृळयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत्॥ १॥

१. **देवानाम्**=देववृत्ति के लोगों की **प्रति**=ओर **यज्ञः**=यज्ञ **एति**=प्राप्त होता है। देव यज्ञशील होते हैं। इनके प्रति **सुम्नम्**=प्रभु का स्तोत्र (Hymn) **एति**=प्राप्त होता है। वे यज्ञशील होते हैं और प्रभु का स्तवन करते हैं। इस प्रभुस्तवन के कारण ही इन्हें इन यज्ञों का गर्व नहीं होता। ये यज्ञ करते हैं और प्रभु के अर्पण करते चलते हैं। उन यज्ञों को ये प्रभु की शक्ति से होता हुआ देखते हैं। २. ये देव प्रार्थना करते हैं कि **आदित्यासः**=हे आदित्यो! आप **मृळयन्तः भवत**=हमारे जीवनों को सुखी बनानेवाले होओ। आपके सम्पर्क से हम भी आदित्यवृत्ति के अपनानेवाले हों। सब स्थानों से अच्छाई को ग्रहण करते हुए हम अपने जीवनों को उत्तमताओं से मण्डित करनेवाले हों। हे आदित्यो! **वः**=आपकी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अर्वाची**=(अस्मदभिमुखी) हमारी ओर आनेवाली **आववृत्यात्**=हो। यह मति वह है **याः**=जो **अंहोः चित्**=दारिद्र्य को प्राप्त व्यक्ति के लिए भी **वरिवोवित्तरा**=अतिशयित धन को प्राप्त करानेवाली **असत्**=होती है। सुमति महान् धन है।

भावार्थ—देववृत्तिवाले पुरुष यज्ञशील व प्रभुस्तवन करनेवाले होते हैं। ये आदित्यों की

सुमति को ही महान् धन समझते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इन्द्रियाँ, प्राण व देव

उप नो देवा अवसा गमन्त्वङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः।
इन्द्र इन्द्रियैर्मरुतो मरुद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत्॥ २॥

१. **नः**=हम **अङ्गिरसाम्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवालों के **सामभिः**=उपासना-मन्त्रों से **स्तूयमानाः**=स्तुति किये जाते हुए **देवाः**=देव **अवसा**=रक्षण के हेतु से **उपगमन्तु**=हमें समीपता से प्राप्त हों। मन्त्रों से देवों के स्तवन का अभिप्राय उन-उन देवों के गुणों के प्रतिपादन से है। जिन देवों के गुणों को हम समझेंगे, वे यथोपयुक्त होकर हमारा कल्याण करनेवाले होंगे। प्रकृति की तेतीस शक्तियाँ ही तेतीस देव हैं। ये सब-के-सब ज्ञानी पुरुष का कल्याण करते हैं। जब हम यह प्रार्थना करते हैं कि—'**स्वस्ति द्यावापृथिवी**'—सम्पूर्ण संसार हमारा कल्याण करे तो वहाँ यही उत्तर मिलता है कि '**सुचेतुना**'=उत्तम ज्ञान के द्वारा। यह संसार ज्ञात होकर ही कल्याण का कारण बनता है। अज्ञात अवस्था में ठीक उपयुक्त न होकर यह हमारे विनाश का कारण बनता है। **इन्द्रः**=सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता वह प्रभु (चक्षुषश्चक्षुः, श्रोत्रस्य श्रोत्रम्) **इन्द्रियैः**=इन्द्रियों से **नः**=हमारे लिए **शर्म**=कल्याण **यंसत्**=प्रदान करे। हमें इन्द्रियाँ प्राप्त हों। प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति ठीक हो। इनकी शक्ति के ठीक होने पर ही सब सुख निर्भर है (सु+ख)। **मरुतः**=वायु **मरुद्भिः**=प्राणों से **नः**=हमारे लिए **शर्म**=कल्याण करे। वायु हमारे शरीरों में प्राणों के रूप में निवास करती है '**वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।**' प्राणशक्ति जीवन की सब उन्नतियों का मूल है। वास्तविकता तो यह है कि प्राणशक्ति ही सब इन्द्रियों में उस-उस रूप में कार्य करती है। '**प्राणा वाव इन्द्रियाणि**'—ये इन्द्रियाँ क्या हैं? ये तो हैं ही प्राण। **अदितिः**=अदीना देवमाता **आदित्यैः**=अदिति-पुत्रों, अर्थात् सब देवों से **नः**=हमारे लिए **शर्म**=सुख **यंसत्**=दे। 'अदिति' स्वास्थ्य की देवता है। स्वास्थ्य ही सब दिव्यगुणों को उत्पन्न करता है। अस्वस्थ मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष, क्रोधादि का शिकार हुआ रहता है।

भावार्थ—प्रकृति की बनी सब वस्तुएँ ज्ञात होकर ठीक से उपयुक्त होती हुई हमारा कल्याण करें। हमारी इन्द्रियाँ ठीक हों, प्राणशक्ति की कमी न हो और हम दिव्यगुणोंवाले बनें, जिससे हमारा जीवन सुखी रहे।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'इन्द्र, वरुण, अग्नि, अर्यमा, सविता'

तन्न इन्द्रस्तद्वरुणस्तदग्निस्तदर्यमा तत्सविता चनो धात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ३॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि हमें 'इन्द्र, मरुत् व अदिति' सुख प्राप्त कराएँ। उसी भाव को अधिक विस्तार से कहते हैं कि **नः**=हमें **इन्द्रः**=इन्द्र **तत् चनः**=(चनस्=pleasure, satisfaction, delight) उस आनन्द को **धात्**=धारण करे, **वरुणः**=वरुण **तत्**=उस आनन्द को दे, **अग्निः**=अग्नि **तत्**=उस आनन्द को दे, **अर्यमा**=अर्यमा **तत्**=उस आनन्द को दे और **सविता**=सवित् **तत्**=उस आनन्द को प्राप्त कराए। २. इन्द्र जितेन्द्रियता का प्रतीक है। जितेन्द्रियता मनुष्य की शक्ति का रक्षण करके उसे आनन्दित करती है। 'वरुण' निर्द्वेषता का प्रतिपादन करता

है। द्वेष से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति मानस शान्ति का लाभ करता है। 'अग्नि' प्रगतिशीलता का सूचक है। प्रगतिशील व्यक्ति ही जीवन में सन्तोष का अनुभव करता है। 'अर्यमा' (अरीन् यच्छति) काम, क्रोध, लोभ का नियमन करनेवाला है। काम के नियमन से शरीर का स्वास्थ्य ठीक रहता है क्रोध के नियमन से मन शान्त रहता है और लोभ के नियमन से बुद्धि विकृत नहीं होती। इस प्रकार अर्यमा 'शरीर, मन व बुद्धि' के स्वास्थ्य का सम्पादन करके उत्कृष्ट आनन्द को प्राप्त कराता है। 'सविता' निर्माण का देवता है। निर्माणात्मक कार्यों में लगा हुआ व्यक्ति वस्तुतः आनन्दित होता है। ३. **नः**=हमारे **तत्**=उस 'जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता, उन्नति, संयम व निर्माण' के द्वारा आनन्द-प्राप्ति के संकल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=अदिति, **सिन्धुः**=रेतःकणों के रूप में बहनेवाले जल, **पृथिवी**=शरीर **उत**=और **द्यौः**=मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें। 'मित्रता, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, रेतःकणों का रक्षण, दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क' के द्वारा वस्तुतः हम जीवन को आनन्दमय बनाएँ।

भावार्थ—जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता, अग्रस्थान में स्थित होना, काम-क्रोध-लोभ का नियमन व निर्माणात्मक कार्यों में लगना ये गुण हमारे जीवन को आनन्दमय बनाएँ।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि देव यज्ञ व स्तुति को अपनाते हैं (१)। उत्तम इन्द्रियों को, प्राणशक्ति को तथा दिव्य गुणों को अपनाकर वे अपने जीवनों को सुखी बनाते हैं (२)। जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता, प्रगति, संयम व निर्माण उन्हें सदा आनन्द में स्थापित करते हैं (३)। 'हम इन्द्र व अग्नि को आराधित करें' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१०८] अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इन्द्र व अग्नि का अद्भुत रथ

य इ॑न्द्राग्नी चि॒त्रत॑मो॒ रथो॑ वाम॒भि विश्वा॑नि॒ भुव॑नानि॒ चष्टे॑।
तेना या॑तं स॒रथं॑ तस्थि॒वांसाथा॒ सोम॑स्य पिबतं सु॒तस्य॑॥ १॥

१. वैदिक साहित्य में शरीर को रथ के रूप में चित्रित किया गया है। यह रथ अद्भुत है। इसके एक-एक अङ्ग की रचना आश्चर्यकर है। यह रथ इन्द्र व अग्नि का कहा गया है। 'इन्द्र' बल का देवता है और 'अग्नि' प्रकाश का। शरीर में इन दोनों तत्त्वों का वही स्थान है जो कि समाज के शरीर में क्षत्रिय और ब्राह्मण का। एक यान में जो इञ्जन का स्थान है वह शरीर में बल (इन्द्र) का है, और यान में प्रकाश तो आवश्यक है ही। इसी प्रकार यहाँ जीवन में ज्ञान का महत्त्व है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नितत्त्वो! **यः**=जो **वाम्**=आप दोनों का **चित्रतमः रथः**=यह शरीररूप अद्भुत रथ है, जो **विश्वानि भुवनानि**=सब लोकों को **अभिचष्टे**=देखता है, अर्थात् कभी किसी लोक में और कभी किसी लोक में जन्म लेता है अथवा **'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'**—इस उक्ति के अनुसार अपने में सारे ब्रह्माण्ड के लोक-लोकान्तरों को देखनेवाला बनता है। एक योगी निरन्तर साधना के मार्ग पर चलता हुआ मन के निरोध के द्वारा सारे भुवनों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है—**'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्'** (यो० वि० २६)। २. हे इन्द्राग्नी! **सरथं तस्थिवांसा**=समान रथ पर बैठे हुए आप दोनों **तेन आयातम्**=उस रथ से हमें प्राप्त होओ। हमारे शरीररूप रथ में इन्द्र व अग्नि दोनों की स्थिति हो—शरीर सबल हो तथा मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल हो। ३. **अथ**=अब इस दृष्टिकोण से कि शरीर सशक्त व सज्ञान हो, आप **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न हुई-हुई सोमशक्ति का **पिबतम्**=पान करो,

सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले होओ। इस सोम ने ही शरीर को सशक्त बनाना है, इसी ने मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है।

भावार्थ—हमारा यह शरीर रथ 'इन्द्र व अग्नि' का हो। यह सशक्त व ज्ञानोज्ज्वल हो। इसे ऐसा बनाने के लिए हम सोम का पान करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

भुवन की विशालता के अनुपात में सोमपान का महत्त्व

यावदिदं भुवनं विश्वमस्त्युरुव्यचा वरिमता गभीरम्।
तावाँ अयं पातवे सोमो अस्त्वरमिन्द्राग्नी मनसे युवभ्याम्॥ २॥

१. **यावत्**=जितना **इदम्**=यह **भुवनं विश्वम्**=भुवन व्यापक **अस्ति**=है, जितना यह **उरुव्यचा**=अधिक विस्तारवाला है और **वरिमता**=विशालता के कारण **गभीरम्**=जितना यह गम्भीर है **तावान्**=उतना ही **अयम्**=यह **सोमः**=सोम (वीर्य) **पातवे**=आप दोनों के पीने के लिए **अस्तु**=हो। सोमपान के अनुपात में ही हम इस भुवन का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। जितनी भुवन की विशालता व गम्भीरता है, उतनी ही सोमपान की आवश्यकता है। भुवन अनन्त-सा है, सोमपान या वीर्यरक्षण भी जितना हो उतना ही ठीक है। २. हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि देवो! शक्ति व प्रकाश के देवताओ! **युवभ्याम्**=आप दोनों के लिए **मनसे**=मनन के लिए, विचार के लिए यह सुरक्षित हुआ-हुआ सोम **अरम्**=पर्याप्त व समर्थ **अस्तु**=हो। इस सोम के द्वारा जहाँ शरीर में शक्ति की वृद्धि हो वहाँ मस्तिष्क में यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बने। इस प्रकार हममें इन्द्र व अग्नि-तत्त्वों का विकास हो। इनके विकास से हम ब्रह्माण्ड के तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के योग्य होंगे, एवं जितना विशाल यह ब्रह्माण्ड, उतना ही अधिक सोमपान का महत्त्व।

भावार्थ—सोम के शरीर में रक्षण से ही इन्द्र व अग्नि-तत्त्वों का विकास होता है। इसी से ब्रह्माण्ड के तत्त्वों का ज्ञान होता है, अतः सोमपान का उतना ही महत्त्व है जितना ब्रह्माण्ड की विशालता का।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

शक्ति व प्रकाश का मेल

चक्राथे हि सध्र्य१ङ् नाम भद्रं सध्रीचीना वृत्रहणा उत स्थः।
ताविन्द्राग्नी सध्र्यञ्चा निषद्या वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम्॥ ३॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि-तत्त्वो! बल व प्रकाश के देवताओ! आप हि **नाम**=निश्चय से (नाम इति वाक्यालङ्कारे) **सध्र्यक्**=मिलकर ही **भद्रम्**=कल्याण **चक्राथे**=करते हो। केवल शक्ति से भी कल्याण नहीं, केवल प्रकाश से भी नहीं। शक्ति व प्रकाश का मेल ही कल्याणकर है। २. **उत**=और **सध्रीचीना**=साथ-साथ चलनेवाले इन्द्र व अग्नि, शक्ति व प्रकाश **वृत्रहणौ स्थः**=सब वासनाओं को नष्ट करनेवाले हैं। 'वृत्र' सब आसुरवृत्तियों का अग्रणी है। बल और प्रकाश का सम्पादन करने पर ये वृत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं। ३. **तौ**=वे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश **सध्र्यञ्चा**=साथ-साथ चलनेवाले होकर **निषद्य**=हमारे जीवनों में आसीन होकर **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले हों और **वृष्णः सोमस्य**=शक्ति देनेवाले **सोम**=वीर्य का **आवृषेथाम्**=शरीर में सर्वत्र सेचन करनेवाले हों। शक्ति व प्रकाश की साधना की ओर चलते हुए हम सोम का रक्षण करें। वस्तुतः सोम का रक्षण ही हमें शक्ति व प्रकाश की साधना में सफल करता है।

'सोम के रक्षण से शक्ति व प्रकाश का साधन तथा शक्ति व प्रकाश की साधना से सोम का रक्षण' यह इनका परस्पर भावन है।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश का मेल ही भद्र है, यही वासनाओं का विनाश करता है, यही हमें सोमपान (वीर्यरक्षण) के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**भुरिक्पंक्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सौमनस्य की प्राप्ति (Cheerful Mind)

समिद्धेष्वग्निष्वानजाना यतस्रुचा बर्हिरु तिस्तिराणा।
तीव्रैः सोमैः परिषिक्तेभिरर्वागेन्द्राग्नी सौमनसाय यातम्॥ ४॥

१. **अग्निषु समिद्धेषु**=शरीर में जाठराग्नि के, हृदय में उत्साह व सत्त्वरूप अग्नि के तथा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि के समिद्ध होने पर **आनजाना**=(अञ्जू) अपने जीवनों को स्वास्थ्य, विजय व ज्ञान से सुभूषित करते हुए **यतस्रुचा**=(स्रुच्=वाङ्नाम—नि०) वाणी का नियमन करनेवाले **उ**=और **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **तिस्तिराणा**=फैलाते हुए (Extend) **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्व **तीव्रैः**=अत्यधिक **परिषिक्तेभिः**=शरीर में सर्वत्र सिक्त **सोमैः**=सोमकणों से **सौमनसाय**=उत्तम मन के लिए **अर्वाक् आयातम्**=हमें इस शरीर में प्राप्त हों। २. जीवन में इन्द्र व अग्नि-तत्त्वों के ठीक होने पर शरीर में सब अग्नियों का ठीक प्रकार से उद्भव होता है, मनुष्य संयत वाक् बनता है तथा हृदय को वासनाशून्य बना पाता है। इन दोनों तत्त्वों का समन्वय होने पर मनुष्य का मन अति प्रसन्न रहता है—उसे सौमनस्य प्राप्त होता है। इन दोनों तत्त्वों के समन्वय के लिए आवश्यक है कि हम शरीर को सोमशक्ति से सिक्त करें। शरीर में उत्पन्न सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करें। यह सुरक्षित सोम शरीर को सबल बनाएगा व मस्तिष्क को प्रकाशमय करेगा।

भावार्थ—सोम को शरीर में सुरक्षित करने पर सौमनस्य प्राप्त होता है, शरीर सबल और मस्तिष्क प्रकाशमय बनता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सोमपान का महत्त्व

यानीन्द्राग्नी चक्रथुर्वीर्याणि यानि रूपाण्युत वृष्ण्यानि।
या वां प्रत्नानि सख्या शिवानि तेभिः सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ ५॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! आप **यानि वीर्याणि चक्रथुः**=जिन शक्तिशाली कर्मों को हमारे जीवनों में करते हो **उत**=और **यानि**=जिन **वृष्ण्यानि**=शक्तिसम्पन्न **रूपाणि**=रूपों को करते हो, **या**=जो **वाम्**=आपकी **प्रत्नानि**=सनातन **शिवानि**=कल्याणकर **सख्या**=मित्रताएँ हैं, **तेभिः**=उनके हेतु से **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम (वीर्य) का **पिबतम्**=शरीर में ही पान करनेवाले होओ। २. जिस समय हमारे जीवनों में इन्द्र व अग्नि का प्रतिष्ठापन होता है, उस समय (क) हमारे कर्म शक्तिशाली होते हैं, (ख) हमारा रूप तेजस्वी व शक्तिसम्पन्न प्रतीत होता है और (ग) इन दोनों तत्त्वों का समन्वय हमारे लिए कल्याणकर होता है। ३. इन सब परिणामों को अपने जीवन में सिद्ध करने के लिए सोम का पान आवश्यक है—'सोमशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित रखना'—यही सोमपान है।

भावार्थ—शरीर में सोम का रक्षण होने पर हमारे जीवन में शक्ति व प्रकाश का मेल

होगा। उससे हमारे कर्म शक्तिशाली होंगे, रूप तेजस्वी होगा और सब प्रकार से कल्याण-ही-कल्याण होगा।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सोमरक्षण के लिए दृढ़ आस्था

यदब्रवं प्रथमं वां वृणानो३ऽयं सोमो असुरैर्नो विहव्यः।
तां सत्यां श्रद्धामभ्या हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ ६॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! **वाम्**=आप दोनों का **वृणानः**=वरण करते हुए मैंने **यत्**=जो **प्रथमम्**=सबसे पहले **अब्रवम्**=कहा कि **अयं सोमः**=यह सोम **नः**=हममें से **असुरैः**=प्राणशक्ति में रमण करनेवालों से **विहव्यः**=विशेषरूप से पुकारने योग्य है—शरीर में ही सुरक्षित करने योग्य है। **तां सत्यां श्रद्धाम्**=उस सत्य श्रद्धा को अभिलक्ष्य करके **हि**=निश्चयपूर्वक **आयातम्**=आप हमें प्राप्त होओ **अथ**=और **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का **पिबतम्**=पान करो। जितना-जितना हम शक्तिसम्पादन के व्यायामादि कार्यों में तथा प्रकाश की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय आदि कार्यों में लगेंगे, उतना-उतना ही सोम का रक्षण हमारे लिए सम्भव होगा। २. हमारी यह श्रद्धा=दृढ़ विश्वास बना ही रहे कि इन्द्र व अग्नि-तत्त्वों के प्रतिष्ठापन के लिए सोम (वीर्य) का रक्षण आवश्यक है। इस श्रद्धा के होने पर हम सोमरक्षण में प्रवृत्त होंगे। सोमरक्षण से हमें शक्ति व प्रकाश प्राप्त होगा। ये शक्ति व प्रकाश हमें सोमरक्षण के और अधिक योग्य बनाएँगे। 'सोमरक्षण से शक्ति व प्रकाश का प्रादुर्भाव' और 'शक्ति व प्रकाश से सोम का रक्षण' इस प्रकार यह इनका परस्पर भावन होता है।

भावार्थ—उत्पन्न सोम शरीर में ही रक्षणीय है। यही इन्द्राग्नी का प्रतिष्ठापक है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

निर्दोषता, ज्ञान व तेजस्विता

यदिन्द्राग्नी मदथः स्वे दुरोणे यद् ब्रह्मणि राजनि वा यजत्रा।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ ७॥

१. **यत्**=जो **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्व **यजत्रा**=यष्टव्य हैं, संगतिकरण योग्य हैं, अर्थात् जीवन में जिन दोनों का मेल अत्यन्त अभीष्ट है, जो **इन्द्राग्नी स्वे दुरोणे**=अपने घर में **मदथः**=आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् जो इस शरीररूप गृह को (दुर् ओण्) सब प्रकार की मलिनताओं से रहित करते हैं, **यत् ब्रह्मणि**=जो आप ज्ञानप्राप्ति में आनन्द का अनुभव करते हो **वा**=अथवा **राजनि**=(राजृ दीप्तौ) शक्ति की, तेजस्विता की दीप्ति को प्राप्त करने में आनन्द का अनुभव करते हो, **अतः**=इसलिए **वृषणौ**=सब सुखों का वर्षन करनेवाले इन्द्राग्नी! आप **हि**=निश्चय से **परि आयातम्**=सर्वथा हमें प्राप्त होओ **अथ**=और **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न हुए सोम का **पिबतम्**=पान करो। २. शरीर में 'इन्द्र और अग्नि' तत्त्वों के प्रतिष्ठापन के तीन लाभ हैं—(क) शरीर के दोष दूर होते हैं (दुरोणे), (ख) ज्ञान बढ़ता है (ब्रह्मणि), (ग) शरीर की दीप्ति व तेजस्विता में वृद्धि होती है (राजनि)। इस प्रकार 'निर्दोषता, ज्ञान व तेजस्विता' के होने पर जीवन में आनन्द की वृद्धि होती है। ये तीनों लाभ होते तभी हैं जब हम 'इन्द्र व अग्नि' का मेल करके चलते हैं (यजत्रा)। इनका मेल सुखों का वर्षण करनेवाला है (वृषणा)। इस मेल के लिए सोम (वीर्य) का शरीर में रक्षण आवश्यक है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से शरीर में 'इन्द्र व अग्नि' तत्त्वों का प्रतिष्ठापन होकर 'निर्दोषता, ज्ञान व तेजस्विता' की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, पुरु

यदि॑न्द्राग्नी॒ यदु॑षु तु॒र्वशे॑षु॒ यद् द्रु॒ह्युष्वनु॑षु पू॒रुषु॒ स्थः।
अत॒: परि॑ वृषणा॒वा हि या॒तमथा॒ सोम॑स्य पिबतं सु॒तस्य॑॥ ८॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि देवो—शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! **यत्**=जो आप **यदुषु स्थः**=यदुओं में निवास करते हैं। यदु यत्नशील हैं, यत्नशील पुरुषों में शक्ति व प्रकाश का निवास होता है। अकर्मण्य पुरुष इनके निवासस्थान नहीं बनते। २. **तुर्वशेषु**=त्वरा से काम-क्रोधादि को वश करनेवालों में आपका निवास है। कामादि से अभिभूत व्यक्ति में शक्ति व प्रकाश का निवास सम्भव नहीं। ३. **यत्**=जो **द्रुह्युषु**=बुराई के प्रति विद्रोह की भावनावालों में आपका निवास है। जैसे राज्य-क्रान्तियों को विद्रोही पुरुष ही किया करते हैं, सामाजिक क्रान्तियाँ भी कुरीतियों के प्रति विद्रोह की प्रबल भावनावाला ही कर पाता है, इसी प्रकार जीवन में आ जानेवाली कमियों के प्रति विद्रोह की भावनावाला व्यक्ति ही जीवन में क्रान्ति ला-पाता है। इन क्रान्तिकारियों में 'इन्द्र व अग्नि' का निवास होता है। ४. **अनुषु**=(अन प्राणने) प्राणशक्तिसम्पन्न वीरों में 'इन्द्र व अग्नि' रहते हैं तथा ५. **पूरुषु**=जो अपना पालन व पूरण करते हैं—जो व्यक्ति शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देते और जो व्यक्ति अपने मनों में आई हुई कमियों को दूर करके उनका पूरण करते हैं, उनमें 'इन्द्र और अग्नि' का निवास होता है, ६. **अतः**=इसलिए यदु आदि में निवास करनेवाले इन्द्र व अग्नि-तत्त्वो! आप **हि**=निश्चय से **वृषणौ**=सुखों का वर्षण करनेवाले हो। आप **परि आयातम्**=सब प्रकार से हमें प्राप्त होओ **अथ**=और **सुतस्य सोमस्य**—उत्पन्न हुए सोम का **पिबतम्**=पान करनेवाले बनो। रसादि क्रम से उत्पन्न सोमशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करो।

भावार्थ—हम 'यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु व पुरु' बनकर इन्द्र व अग्नि का निवासस्थान बनें। हमारा जीवन शक्ति व प्रकाश से युक्त हो।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्रिलोकी के तीन रत्न

यदि॑न्द्राग्नी अव॒मस्यां॑ पृथि॒व्यां म॑ध्य॒मस्यां॑ पर॒मस्या॑मु॒त स्थः।
अत॒: परि॑ वृषणा॒वा हि या॒तमथा॒ सोम॑स्य पिबतं सु॒तस्य॑॥ ९॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्निदेवो! शक्ति और प्रकाश के तत्त्वो! **यत्**=जो आप **अवमस्याम्**=इस सबसे निचली **पृथिव्याम्**=पृथिवी में **स्थः**=हो, **मध्यमस्याम्**=मध्यम पृथिवी, अर्थात् अन्तरिक्षलोक में हो **उत**=और **परमस्याम्**=सर्वोत्कृष्ट पृथिवी अर्थात् द्युलोक में हो (पृथिवीशब्दस्त्रिष्वपि लोकेषु वर्तते—सा०), **अतः**=इसलिए आप **वृषणौ**=सुखों के वर्षण करनेवाले **हि**=निश्चय से **परि आयातम्**=हमें सब प्रकार से प्राप्त होओ **अथ**=और **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न सोम का **पिबतम्**=पान करो। २. यहाँ अध्यात्म में 'अवमपृथिवी' शरीर है, 'मध्यमपृथिवी' हृदयान्तरिक्ष है और 'परमपृथिवी' मस्तिष्करूप द्युलोक है। शरीर, मन व मस्तिष्क में इन्द्र व अग्नि-तत्त्वों का समन्वित निवास होने पर शरीर दृढ़ बना रहता है, मन निर्मल बनता है और

मस्तिष्क ज्ञानज्योति से दीप्त हो उठता है। 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति' तीनों ही क्रमशः तीन पृथिवियों के रत्न हैं—इन तीनों का समानरूप से महत्त्व है। तीनों अलग-अलग अपना महत्त्व खो बैठते हैं। तीनों का समन्वय ही तीनों को महत्त्वपूर्ण बनाता है। ३. इनको एक-जैसा ही महत्त्व देना चाहिए। 'स्वास्थ्य' को सबसे पहले कहा है, अतः स्वास्थ्य सर्वाधिक महत्त्व रखता है—यह भ्रान्ति उत्पन्न न हो जाए इस दृष्टिकोण से अग्रिम मन्त्र में क्रम परिवर्तन कर देते हैं।

भावार्थ—'स्वास्थ्य, नैर्मल्य और ज्ञानदीप्ति'—ये त्रिलोकी के तीन रत्न हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्रिलोकी के तीन रत्न

यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ १०॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्निदेवो! **यत्**=जो आप **परमस्यां पृथिव्याम्**=सर्वोत्कृष्ट पृथिवी, अर्थात् द्युलोक में हो, **मध्यमस्याम्**=मध्यम पृथिवी, अर्थात् अन्तरिक्षलोक में हो **उत**=और **अवमस्याम्**=सबसे निचली पृथिवी में **स्थः**=हो, **अतः**=इसलिए **वृषणौ**=शक्तिशाली होते हुए तुम **हि**=निश्चय से हमें **परि आयातम्**=सर्वथा प्राप्त होओ **अथ**=और **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का **पिबतम्**=पान करो। २. परमपृथिवी, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक में इन्द्र और अग्नि की कृपा से ज्ञान के सूर्य का उदय होता है। मध्यमपृथिवी, अर्थात् हृदयान्तरिक्ष सब आसुरवृत्तियों के संहार के कारण निर्मल बनता है। अवमपृथिवी, अर्थात् शरीर शक्ति व दृढ़तावाला होता है। ३. वस्तुतः शरीर में सोम के पान व रक्षण से हमें 'ज्ञान, नैर्मल्य व स्वास्थ्य' तीनों का लाभ प्राप्त होता है और हमारी यह अध्यात्म की त्रिलोकी इन तीन रत्नों से दीप्त हो उठती है।

भावार्थ—हम स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञान को प्राप्त करें। यह 'ज्ञान, नैर्मल्य व स्वास्थ्य' हमारे जीवन को दीप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

त्रिलोकस्थ इन्द्र व अग्नि

यदिन्द्राग्नी दिवि ष्ठो यत्पृथिव्यां यत्पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ ११॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! **यत्**=जो आप **दिवि**=द्युलोक में **स्थः**=स्थित हो। द्युलोकस्थ सूर्य प्रकाश को तो सर्वत्र फैलाता ही है, अपनी किरणों के द्वारा प्राणशक्ति का भी सर्वत्र सञ्चार करता है। **यत्**=जो आप **पृथिव्याम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्ष में हो। अन्तरिक्षस्थ मेघ-जल व अन्तरिक्ष में विचरनेवाली वायु हमारे जीवनों में नीरोगता व शक्ति देनेवाले होते हैं। **यत्**=जो आप **पर्वतेषु**=पर्वतों में हो तथा **ओषधिषु**=ओषधियों में हो तथा **अप्सु**=जलों में हो। वानस्पतिक भोजन व जलों का प्रयोग मस्तिष्क व शरीर दोनों के लिए हितकर है। इन्द्र व अग्नि की स्थिति तीनों लोकों में है, २. **अतः**=इसलिए इन तीनों लोकों से हे **वृषणौ**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले इन्द्र व अग्निदेवो! **हि**=निश्चय से परि **आयातम्**=आप हमें सर्वथा प्राप्त होओ **अथ**=और **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न हुई-हुई सोमशक्ति का **पिबतम्**=शरीर में ही पान करनेवाले होओ। 'शक्ति के संवर्धन के लिए साधनभूत आसन व व्यायाम आदि क्रियाओं में

लगना तथा ज्ञानवृद्धि के लिए स्वाध्याय में लगना'—सोमरक्षण के लिए साधनभूत होते हैं। इनमें लगे रहने से मनुष्य सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर पाता है। यही इन्द्राग्नी का सोमपान है।

भावार्थ—इन्द्र व अग्नि-तत्त्वों का निवास तीनों लोकों में है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रातः व मध्याह्न में 'इन्द्राग्नी'

यदिन्द्राग्नी उदिता सूर्यस्य मध्ये दिवः स्वधया मादयेथे।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ १२॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के अधिष्ठातृदेवो! **यत्**=जो **उदिता सूर्यस्य**=सूर्य के उदयकाल में अथवा **दिवः मध्ये**=सूर्य के द्युलोक के मध्य में पहुँचने पर **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **मादयेथे**=आनन्दित करते हो, **अतः**=इसलिए **वृषणौ**=हे सुखों के वर्षण करनेवाले इन्द्राग्नी आप **हि**=निश्चय से परि **आयातम्**=सब प्रकार से हमें प्राप्त होओ ही **अथ**=और **सुतस्य सोमस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम (वीर्य) का **पिबतम्**=पान करो। २. उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से सब रोगकृमियों का संहार करता है और हिरण्यपाणि होता हुआ हमारे शरीर में शक्तियों का सञ्चार करता है, प्रकाश को तो फैलाता ही है। मध्याह्न का सूर्य भी यद्यपि सामान्यतः हमारे लिए असह्य तापवाला होता है तो भी वह वनस्पतियों में प्राणशक्ति की स्थापना करता ही है। इस प्रकार क्या प्रातः और क्या मध्याह्न में, इन्द्र व अग्नि अपनी धारणशक्ति से हमें हर्षित करते हैं। ये इन्द्र व अग्नि हमपर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। शक्ति व प्रकाश को अपना लक्ष्य बनानेवाला पुरुष शरीर में सोम का रक्षण करता है। यही इन्द्राग्नी का सोमपान है।

भावार्थ—प्रातः और मध्याह्न में इन्द्र और अग्नि अपनी धारणशक्ति से हमें हर्षित करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वधन-विजय

एवेन्द्राग्नी पपिवांसा सुतस्य विश्वास्मभ्यं सं जयतं धनानि।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ १३॥

१. **एव**=इस प्रकार हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के देवो! आप **सुतस्य पपिवांसा**=उत्पन्न सोम का खूब ही पान करनेवाले होओ। वस्तुतः सोम का शरीर में रक्षण होने पर ही शक्ति व ज्ञान का वर्धन निर्भर करता है और साथ ही शक्ति व ज्ञान के वर्धन में लगे रहने पर सोम का रक्षण सम्भव है। यही तो इन्द्राग्नी का सोमपान कहलाता है। २. शरीर में विकसित हुए-हुए ये इन्द्र व अग्नि **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **विश्वा धनानि**=सम्पूर्ण धनों को **संजयतम्**=जीतनेवाले हों। इन्द्र व अग्नि के विकास के द्वारा हम संसार में, हमें धन्य बनानेवाली सब सम्पत्तियों को प्राप्त करते हैं, सब इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्तियों को भी प्राप्त करते हैं। इन शक्ति और धनों के विजय से ही जीवन सुन्दर बनता है। **नः**=हमारे **तत्**=उस 'सर्वधन-विजय' के संकल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=अदिति, **सिन्धुः**=सिन्धु, **पृथिवी**=पृथिवी **उत**=और **द्यौः**=द्युलोक **मामहन्ताम्** आदृत करें। मित्रादि के अनुग्रह से हमारा यह संकल्प बना रहे और

पूर्ण हो। 'मित्र' स्नेह का देवता है, 'वरुण' निर्द्वेषता का, अदिति का अर्थ अखण्डन व स्वास्थ्य है, 'सिन्धु' उस स्वास्थ्य के लिए शरीर में स्थापित रेत:कण हैं, पृथिवी शरीर है और द्यौ मस्तिष्क है। ये सब इन्द्राग्नी के द्वारा हमारे सर्वधन-विजय के संकल्प को पूर्ण करें। वस्तुत: विश्वविजय के लिए 'स्नेह, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, रेत:कण-रक्षण, दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क' आवश्यक हैं।

भावार्थ—सोम-रक्षण के द्वारा हमारे जीवनों में इन्द्राग्नी का, शक्ति व प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। इनसे हम सवर्धन-विजय करनेवाले हों।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ 'इन्द्राग्नी' के अद्भुत रथ के वर्णन से हुआ है (१)। समाप्ति पर इस इन्द्राग्नी के रथ के द्वारा सम्पूर्ण धनों के विजय का उल्लेख है (१३)। इन्हीं इन्द्राग्नी का विषय ही अगले सूक्त में है। इन्हीं को हम अपना बन्धु समझें—

[१०९] नवोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—**कुत्स आङ्गिरस:**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवत:**।

इन्द्राग्नी ही बन्धु हैं

वि ह्यख्यं मनसा वस्य इच्छन्निन्द्राग्नी ज्ञास उत वा सजातान्।
नान्या युवत्प्रमतिरस्ति मह्यं स वां धियं वाजयन्तीमतक्षम्॥ १॥

१. **वस्य:**=उत्तम धन को **इच्छन्**=चाहता हुआ मैं **मनसा**=मन से, अर्थात् विचारपूर्वक **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि को ही—शक्ति व प्रकाश के अधिष्ठातृ देवों को ही **ज्ञास:**=बन्धुओं को **उत वा**=अथवा **सजातान्**=समान कुलोत्पन्न अपने भाइयों को **हि**=निश्चय से **वि अख्यम्**=विशेषरूप से देखूँ। इन्द्र व अग्नि को ही अपना भाई समझूँ। ये ही मेरे अत्यन्त निकट सम्बन्धी हैं। इनके बन्धुत्व में ही मैं उत्कृष्ट धन को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ। वस्तुत: शक्ति व प्रकाश ही मेरे उत्तम धन हैं। २. **युवत्**=आपसे **अन्या**=भिन्न **प्रमति:**=प्रकृष्ट बुद्धि **मह्यम्**=मेरे लिए **न अस्ति**=नहीं है। इन्द्र और अग्नि की उपासना से ही प्रकृष्ट मति प्राप्त होती है। **स:**=वह मैं **वाम्**=आप दोनों की **वाजयन्तीम्**=शक्ति देनेवाली **धियम्**=ध्यानपूर्वक की जानेवाली स्तुति को **अतक्षम्**=करता हूँ। मैं एकाग्र वृत्तिवाला होकर इन्द्र और अग्नि की उपासना करता हूँ। मैं इन्द्र और अग्नि में ही प्रवेश के लिए यत्नशील होता हूँ। यही बात मेरी सम्पूर्ण शक्ति का कारण होगी।

भावार्थ—हम इन्द्र और अग्नि को ही अपना सच्चा बन्धु जानें। इनका उपासन ही हमें सशक्त व प्रकृष्ट बुद्धिवाला बनाएगा।

ऋषि:—**कुत्स आङ्गिरस:**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्द:—**त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवत:**।

सोम और स्तोम

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्॥ २॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्निदेवो! शक्ति व प्रकाश के अधिष्ठातृदेवो! मैं **वाम्**=आपको **ह**=निश्चय से **भूरिदावत्तरा**=खूब ही देनेवाला **अश्रवम्**=सुनता हूँ। आप मुझे क्या नहीं प्राप्त कराते? आपकी कृपा से मुझे जीवन के लिए सभी वस्तुएँ भरपूर रूप में प्राप्त होती हैं। शक्ति और प्रकाश के होने पर सब वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। २. आप **विजामातु:**=विहीन जमाता से भी अधिक देनेवाले हैं **उत वा**=अथवा **स्यालात्**=स्याल (पत्नी के भ्राता) से भी

घ=निश्चयपूर्वक अधिक देनेवाले हैं। श्रुत व आभिरूप्य (ज्ञान व सौन्दर्य) आदि गुणों से रहित जमाता कन्या को पत्नी रूप में प्राप्त करने के लिए कन्या के माता-पिता को खूब धन देता है। स्याल (साला) भी अपनी बहिन की प्रसन्नता के लिए धन देनेवाला होता है। इन्द्राग्नी से दिये जानेवाले धन की तुलना में वह धन कुछ नहीं। इन्द्राग्नी उनसे कहीं बढ़कर उत्कृष्ट धन प्राप्त कराते हैं। (यहाँ हीनोपमा केवल अधिक दातृत्व के प्रतिपादन के लिए है)। ३. **अथ**=अब **सोमस्य प्रयती**=सोम के नियमन के द्वारा—सोमशक्ति के शरीर में ही पान के द्वारा हे इन्द्राग्नी! मैं **युवभ्याम्**=आपके लिए **नव्यम्**=अत्यन्त स्तुत्य **स्तोमम्**=स्तोत्र को **जनयामि**=उत्पन्न करता हूँ। मैं इन्द्र व अग्नि का स्तवन करता हूँ। यह इन्द्र व अग्नि का स्तवन शरीर में सोम-शक्ति के रक्षण द्वारा होता है। इस सोमरक्षण से ही मैंने शक्ति व प्रकाश को पाना है। सोमरक्षण से मैं शक्ति का पुञ्ज बनता हूँ और यह सोम मेरी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर मुझे ज्ञान के प्रकाशवाला बनाता है।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश ही हमें सब-कुछ देनेवाले हैं। सोम के रक्षण से इनका उपासन होता है। सोम के रक्षण से वस्तुतः हम इन्द्र और अग्नि-जैसे बनते हैं—शक्ति के पुञ्ज व प्रकाशमय।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अविच्छिन्न ज्ञानरश्मियाँ तथा पालकशक्ति

मा च्छेद्म र॒श्मीँरि॑ति॒ नाध॑मानाः पितॄ॒णां श॒क्तीर॑नु॒यच्छ॑मानाः।
इ॒न्द्रा॒ग्निभ्यां॒ कं वृष॑णो मदन्ति॒ ता ह्यद्री॑ धि॒षणा॑या उ॒पस्थे॑॥ ३॥

१. हम **रश्मीन्**=ज्ञान की रश्मियों को **मा च्छेद्म**=छिन्न न करें **इति**=यह **नाधमानाः**=याचना करते हुए व चाहते हुए तथा **पितॄणाम्**=पालकों की **शक्तीः**=शक्तियों को **अनुयच्छमानाः**=दिन-प्रतिदिन संयत करते हुए, अर्थात् भोजन से उत्पन्न शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करते हुए **वृषणः**=शक्तिशाली व लोगों पर सुखों का वर्षण करनेवाले व्यक्ति **इन्द्राग्निभ्याम्**=इन इन्द्र व अग्निदेवों से—शक्ति व प्रकाश से **कम्**=अत्यन्त आनन्दपूर्वक **मदन्ति**=हर्षित होते हैं। इनके जीवन में एक अद्भुत उल्लास होता है। २. वस्तुतः **ता हि**=वे इन्द्र और अग्नि ही **अद्री**=(आदरणीयौ—नि०) आदरणीय हैं अथवा 'न विदारणीयौ' विदारण के योग्य नहीं हैं। इन्द्र और अग्नि को, शक्ति व प्रकाश को हमें अपने जीवन में महत्त्व देना चाहिए। ये हमें मार्ग से विचलित न होने देंगे—हम अविदीर्ण बने रहेंगे। इन इन्द्र व अग्नि का उपासन होने पर हम **धिषणायाः उपस्थे**=बुद्धि की गोद में रहेंगे, अर्थात् उस समय हमारे सारे कार्य बुद्धिपूर्वक होंगे।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि का उपासन हमें अविच्छिन्न ज्ञान किरणोंवाला तथा पालक शक्ति-सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

शोधन व माधुर्ययुक्त कर्म

यु॒वाभ्यां॑ दे॒वी धि॒षणा॒ मदा॒येन्द्रा॑ग्नी॒ सोम॑मुश॒ती सु॑नोति।
तावश्विना भद्रहस्ता सुपाणी॒ आ धा॑वतं॒ मधु॑ना पृ॒ङ्क्तम॒प्सु॥ ४॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के अधिष्ठातृदेवो! **युवाभ्याम्**=तुम दोनों की प्राप्ति के लिए तथा **मदाय**=तुम दोनों की प्राप्ति के द्वारा हर्ष की प्राप्ति के लिए **उशती**=कामना करती

हुई यह **धिषणा देवी**=प्रकाशमय बुद्धि **सोमं सुनोति**=सोम को इस शरीर में अभिषुत करती है। सोम के सवन—शक्ति के रक्षण से ही हमें शक्ति व प्रकाश प्राप्त होते हैं और जीवन उल्लासमय होता है। २. **तौ**=वे इन्द्र और अग्नि **अश्विना**=(अश्विनौ देवानां भिषजौ—ए० १।१८) देवभिषक् हैं। ये हमें सब दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाले हैं—दिव्यगुणों में आ जानेवाली कमियों को दूर करनेवाले हैं। **भद्रहस्ता**=ये हमारे हाथों को कल्याण का साधक बनाते हैं। जीवन में इन्द्र और अग्नि के प्रतिष्ठित होने पर हमारे हाथों से कोई भी अभद्र कार्य नहीं होता। **सुपाणी**=हम उत्तम हाथोंवाले होते हैं, प्रत्येक कार्य को दक्षता से सम्पन्न करते हैं। ३. हे इन्द्राग्नी! आप दोनों **आधावतम्**=हमारे जीवन को सर्वतः शुद्ध बना दो। हमारे जीवन में किसी प्रकार की मलिनता न आ जाए। ये शक्ति और प्रकाश हमें **मधुना**=अत्यन्त माधुर्य के साथ **अप्सु**=कर्मों में **पृंक्तम्**=सम्पृक्त रक्खें। हम सदा कार्यों में लगे रहें। यह कार्यों में लगे रहना माधुर्य को लिये हुए हो। किसी प्रकार की कड़वाहट हमारे जीवनों में न हो। ईर्ष्या, द्वेष व क्रोध से हम दूर ही रहें।

भावार्थ—बुद्धि हमें इन्द्र व अग्नि का उपासक बनाती है। इस उपासना के लिए हम **सोम**=वीर्य को शरीर में सुरक्षित करते हैं। इन्द्र और अग्नि से हमारा जीवन शुद्ध बनता है, हम माधुर्य के साथ सतत कर्मों में लगे रहते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वसु-प्राप्ति व वृत्र-हत्या

युवामिन्द्राग्नी वसुनो विभागे तवस्तमा शुश्रव वृत्रहत्ये।
तावासद्या बर्हिषि यज्ञे अस्मिन्प्र चर्षणी मादयेथां सुतस्य॥ ५॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्निदेवो! शक्ति व प्रकाश के देवो! **युवाम्**=आप दोनों को मैं **वसुनः विभागे**=धन के विभाग में, धन देने के कार्य में तथा **वृत्रहत्ये**=वासना के विनाश के कार्य में **तवस्तमा**=अत्यन्त शक्तिशाली **शुश्राव**=सुनता हूँ। इन्द्र व अग्नि की कृपा से—'शक्ति व प्रकाश की प्राप्ति से मैं उत्तम धनों को प्राप्त करता हूँ और वासना का विनाश कर पाता हूँ। २. **तौ**=वे दोनों, इन्द्र और अग्नि **अस्मिन् बर्हिषि**=इस वासनाशून्य हृदय में और **यज्ञे**=यज्ञात्मक कर्म में **आसद्य**=आसीन होकर **सुतस्य**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम के **प्रचर्षणी**=प्रकर्षेण द्रष्टा, अर्थात् उत्पन्न सोम का शरीर में ही रक्षण करनेवाले आप **मादयेथाम्**=हमारे जीवनों को आनन्दित करें। (क) शक्ति के अधिष्ठातृदेव इन्द्र और अग्नि वासनाशून्य हृदय व यज्ञ में आसीन होते हैं, अर्थात् इनसे हृदय की वासनाएँ नष्ट होती हैं और हम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, (ख) ये सोम के द्रष्टा हैं, अर्थात् शक्ति व प्रकाश के साधक कार्यों में लगे रहने पर शरीर में सोम सुरक्षित रहता है, (ग) इस शक्ति व प्रकाश से जीवन आनन्दमय बनता है।

भावार्थ—इन्द्र व अग्निदेव हमें उत्तम वसु प्राप्त कराएँ और हमारी शत्रुभूत वासनाओं को नष्ट करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इन्द्राग्नी व लोक-लोकान्तर

प्र चर्षणिभ्यः पृतनाहवेषु प्र पृथिव्या रिरिचाथे दिवश्च।
प्र सिन्धुभ्यः प्र गिरिभ्यो महित्वा प्रेन्द्राग्नी विश्वा भुवनात्यन्या॥ ६॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्निदेवो! शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! आप **पृतना हवेषु**=संग्रामों में पुकारे जाने पर **चर्षणीभ्यः**=सब मनुष्यों से **महित्वा**=अपनी महिमा के द्वारा **प्ररिरिचाथे**=अधिक हो, अर्थात् संग्राम में सारे मनुष्य हमारी वह सहायता नहीं कर सकते जो सहायता इन्द्र व अग्नि-तत्त्वों से प्राप्त होती है। आप **पृथिव्याः**=सम्पूर्ण पृथिवी से **प्र**=(रिरिचाथे) अधिक हैं **च**=और **दिवः**=द्युलोक से भी अधिक हैं, **सिन्धुभ्यः**=सब नदी व सागरों से आप **प्र**=अधिक हैं, **गिरिभ्यः**=पर्वतों से भी आप **प्र**=अधिक हैं और हे इन्द्राग्नी! आप **विश्वा अन्या भुवना**=अन्य सब भुवनों से भी **अति प्र** (रिरिचाथे)=बहुत ही अधिक हैं। २. हमारे जीवनों में चलनेवाले अध्यात्म-संग्रामों में संसार के ये हमारे मित्रभूत मनुष्य, पृथिवीलोक, द्युलोक, पर्वत व अन्य लोकलोकान्तर भी हमारी वह सहायता नहीं कर सकते जो सहाय्य हमें 'इन्द्र व अग्नि' तत्त्वों से प्राप्त होता है। सारा संसार एक ओर, और ये शक्ति व प्रकाश के तत्त्व दूसरी ओर। ये दोनों तत्त्व ही अपनी महिमा के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हम सब लोकों का वरण न करके इन दो तत्त्वों का ही वरण करें। ये ही हमें उस अध्यात्म-संग्राम में विजयी बनाएँगे।

भावार्थ—हम सारे संसार को छोड़कर इन्द्र व अग्नि-तत्त्वों का ही वरण करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सूर्यरश्मियों के द्वारा ब्रह्मलोक को

आ भ॑रतं॒ शिक्ष॑तं वज्रबाहू अ॒स्माँ इ॑न्द्राग्नी अवतं॒ शची॑भिः।
इ॒मे नु ते र॒श्मयः॒ सूर्य॑स्य॒ येभिः॑ सपि॒त्वं पि॒तरो॑ न॒ आस॑न्॥ ७॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के अधिष्ठातृदेवो! आप **वज्रबाहू**=वज्रयुक्त हाथोंवाले होते हुए, अर्थात् हमें क्रियामय जीवनवाला बनाते हुए **आभरतम्**=सर्वथा शक्ति व प्रकाश से भर दो, **शिक्षतम्**=शक्तिशाली बनाने की कामनावाले होओ। **अस्मान्**=हमें **शचीभिः**=कर्मों व विज्ञानों के द्वारा **अवतम्**=रक्षित करो। २. हे प्रभो! **इमे**=ये **नु**=निश्चय से **ते**=आपकी **सूर्यस्य रश्मयः**=सूर्य की किरणें हैं, **येभिः**=जिन सूर्यकिरणों के द्वारा **नः**=हमारे **पितरः**=पितर लोग—रक्षात्मक कार्यों में लगे रहनेवाले लोग, **सपित्वम्**=सह प्राप्तव्य स्थान, अर्थात् ब्रह्मलोक को—जहाँ जीव ब्रह्म के साथ विचरता है **आसन्**=प्राप्त हुए हैं। **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'** रजोगुण से ऊपर उठे हुए लोग सूर्यद्वार से उस ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं। हम भी इन्द्र व अग्नि-तत्त्व का उपासन करके—अपने को शक्ति व प्रकाश से भरके रक्षात्मक कार्यों में व्यापृत हों। इन रक्षणात्मक कर्मों में लगे हुए हम मोक्ष के अधिकारी बनें। मोक्षक्रम यही होता है—(क) पृथिवीलोक से ऊपर उठकर अन्तरिक्षलोक में पहुँचना, (ख) अन्तरिक्षलोक से ऊपर उठकर द्युलोक में पहुँचना, (ग) द्युलोकस्थ सूर्य से भी ऊपर उठते हुए स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करना। पृथिवीलोक का विजय करके हम 'वैश्वानर' बनते हैं—सब लोकों के हित में प्रवृत्त होते हैं। अन्तरिक्षलोक का विजय हमें **'तैजस्'**=तेजस्वी बनाता है और द्युलोक का विजय हमें सूर्यसम प्रकाशवाला **'प्राज्ञ'**=ज्ञानी बनाता है। हम 'वैश्वानर, तैजस् व प्राज्ञ' बनकर उस तुरीय 'शान्त, शिव, अद्वैत' स्थिति को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—इन्द्र व अग्नि की आराधना से कर्म व प्रज्ञान के द्वारा अपना रक्षण करते हुए हम परमात्मा के साथ सह प्राप्तव्य स्थान—मोक्षलोक को प्राप्त हों।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पुरन्दरौ

पुरंदरा शिक्षतं वज्रहस्तास्माँ इन्द्राग्नी अवतं भरेषु।

तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ८॥

१. हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! आप **पुरन्दरा**=असुर-पुरियों का विदारण करनेवाले हो। इन्द्रियों में काम ने अपनी पुरी बनाई तो क्रोध ने मन में और लोभ ने बुद्धि को अपना अधिष्ठान बनाया। इन्द्र और अग्नि असुरों के इन तीनों पुरों का विध्वंस करके हमें फिर से स्वतन्त्रता प्राप्त कराते हैं—हमारी असुरों की दासता समाप्त होती है। **वज्रहस्ता**=ये इन्द्र और अग्नि वज्रहस्त हैं—क्रियाशीलता को हाथों में लिये हुए हैं। सारी क्रिया शक्ति के द्वारा होती है और ज्ञान उस क्रिया में पवित्रता का सञ्चार करता है। हे इन्द्राग्नी! आप **अस्मान्**=हमें **शिक्षतम्**=शक्तिशाली बनाने की कामना करो और **भरेषु**=संग्रामों में हमारा **अवतम्**=रक्षण करो। आपकी कृपा से ही हम अध्यात्म-संग्राम में विजयी बनेंगे। २. **नः**=हमारे **तत्**=उस अध्यात्म-संग्राम में विजय-प्राप्ति के संकल्प को **मित्रः**=स्नेह का देवता, **वरुणः**=निर्द्वेषता, **अदितिः**=स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=प्रवाह स्वभाववाले रेतःकण, **पृथिवी**=दृढ़शरीर **उत**=और **द्यौः**=प्रकाशमय मस्तिष्क—ये सब **मामहन्ताम्**=आदृत करें, अर्थात् 'स्नेह, निर्द्वेषता'—आदि के द्वारा हम अवश्य विजयी बनें।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश के तत्त्वों का समुचित उपयोग करने पर हम असुर-पुरियों का विदारण कर पाएँगे—काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठेंगे। इनके साथ संग्राम में क्रियाशीलता के द्वारा विजयी होंगे।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि इन्द्र व अग्नि ही हमारे सच्चे बन्धु हैं (१)। इनकी कृपा से ही हम असुर-पुरियों का विदारण कर पाते हैं (८)। असुर-पुरियों का विदारण करके हमारे कार्य ऋतमय हो जाते हैं। 'ऋतेन भान्ति'—ऋत से दीप्त होने के कारण हम 'ऋभु' बनते हैं। इन ऋतुओं के ही जीवन का वर्णन करते हुए कहते हैं—

[११०] दशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

कर्मशीलता व यज्ञशेष का सेवन

ततं मे अपस्तदु तायते पुनः स्वादिष्ठा धीतिरुचथाय शस्यते।

अयं समुद्र इह विश्वदेव्यः स्वाहाकृतस्य समु तृप्णुत ऋभवः॥ १॥

१. **मे**=मुझसे **अपः**=कर्म का **ततम्**=विस्तार किया गया है **उ**=और **तत्**=वह कर्म **पुनः**=फिर **तायते**=विस्तृत किया जाता है। ऋभुओं का जीवन क्रियामय होता है। इनके जीवन में अकर्मण्यता का निवास नहीं होता। वस्तुतः इस क्रियाशीलता के कारण ही इनके जीवन में शक्ति व प्रकाश बने रहते हैं। इसी क्रियाशीलता पर सारी पवित्रता निर्भर है। २. इन ऋभुओं से **उचथाय**=स्तुति के योग्य प्रभु के लिए **स्वादिष्ठा**=अनुपम रस को देनेवाली **धीतिः**=स्तुति **शस्यते**=उच्चारण की जाती है। ऋभु लोग प्रभु का स्तवन करते हैं। इस स्तवन में वे अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करते हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि **अयं समुद्रः**=ये प्रभु (स+मुद्)

आनन्दमय हैं, **इह**=इस हमारे जीवन में **विश्वदेव्यः**=सब देवों के लिए हितकर हैं, अर्थात् प्रभु के उपासन से हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का विकास होता है। प्रभु की दिव्यता हमारे जीवनों में भी उतरती है। ३. इन ऋभुओं से प्रभु कहते हैं कि **उ**=सचमुच **ऋभवः**=ऋभु इस सार्थक नामवाले होने के लिए तुम **स्वाहाकृतस्य**=उस अन्न से जो अग्नि में व लोकहित के कार्यों में आहुत हुआ है, **सम् तृण्णुत**=अच्छी प्रकार तृप्ति को प्राप्त करो, अर्थात् तुम सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनो।

भावार्थ—ऋभु (क) कर्मशील होते हैं, (ख) प्रभुस्तवन में आनन्द का अनुभव करते हैं, (ग) प्रभु को आनन्दमय व सब दिव्यताओं के स्रोत के रूप में देखते हैं, (घ) यज्ञशेष का सेवन करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

सात्त्विक भोजन व उदार चरित्रता

आभोगयं प्र यदिच्छन्त ऐतनापाकाः प्राञ्चो मम के चिदापयः।
सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनागच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम्॥ २॥

१. गतमन्त्र में वर्णित ऋभु सदा **यत् आभोगयम्**=जो सेवन के योग्य वस्तुएँ हैं, उन्हीं को **इच्छन्तः**=चाहते हुए **प्रएतन**=प्रकर्षेण गति करते हैं। वेद में जिन भोजनों को खाने की स्वीकृति दी गई है, उन्हीं सात्त्विक आहारों को करते हुए ये संसार में उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हैं। आहार-शुद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होकर इनका जीवन पवित्र ही बना रहता है। वेद ने '**मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च**' इन शब्दों में हिंसा से लभ्य मांस-भोजन का निषेध किया है। ये ऋभु उस भोजन से सदा दूर रहते हुए अक्रूर कर्मोंवाले होते हैं। २. **अपाकाः**=अपक्तव्य प्रज्ञावाले, अर्थात् जिनके विचार परिपक्व हो चुके हैं, परिपक्तव्य नहीं हैं और जो **प्राञ्चः**=(प्र अञ्च) आगे और आगे बढ़ रहे हैं, ऐसे ही **केचित्**=कुछ लोग **मम आपयः**=मेरे मित्र हैं। अपरिपक्व विचारोंवाले व्यक्तियों के संग में हम भी अस्थिरमति हो जाते हैं। प्रगतिशील मित्रों के संग में हम भी आगे बढ़ते हैं। यहाँ '**केचित्**' शब्द भी अत्युत्तम संकेत करता है—मित्रों की संख्या बहुत अधिक हो जाने पर उन सबके साथ ठीक व्यवहार बहुत अधिक समय की अपेक्षा करता है, उतना समय निकाल सकना कठिन हो जाता है, अतः यह ठीक ही है कि मित्रों की संख्या बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए। ३. **सौधन्वनासः**=उत्तम धनुषवाले (प्रणवो धनुः) प्रणव=ओम् को धनुष बनानेवाले, अर्थात् प्रणवरूप धनुष से आत्मारूप शर के द्वारा ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेध करनेवाले तुम **चरितस्य भूमना**=चरित्र की विशालता से—उदार चरित्रता से उस **सवितुः**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जन्म देनेवाले **दाशुषः**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभु के **गृहम्**=घर को **आगच्छत**=आओ। ऋभु प्रणव को अपना धनुष बनाते हैं '**तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्**'—इन योगसूत्रों के अनुसार प्रणव का जप व अर्थ-चिन्तन करते हैं। अपने चरित्र को उदार व विशाल बनाते हैं और इस प्रकार प्रभु को प्राप्त होनेवाले होते हैं।

भावार्थ—ऋभु (क) उपभोग के योग्य आहारों का ही सेवन करते हैं, (ख) परिपक्व विचारोंवाले—प्रगतिशील कुछ मित्रों का चुनाव करते हैं, (ग) प्रणव का जप करते हैं, (घ) अपने चरित्र को उदार बनाते हैं। इस प्रकार ये प्रभु-प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'एक' चार शाखाओंवाला

तत्स॑वि॒ता वो॑ऽमृत॒त्वमासु॑व॒दगो॑ह्यं॒ यच्छ्र॒वय॑न्त॒ ऐत॑न।
त्यं चि॑च्चम॒सम॑सु॒रस्य॒ भक्ष॑ण॒मेकं॒ सन्त॑मकृणुता॒ चतु॑र्वयम्॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो प्रभु को प्राप्त करते हैं उन **वः**=आपके लिए **तत् सविता**=वह सर्वव्यापक (तन् विस्तारे) सर्वोत्पादक प्रभु **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **आसुवत्**=उत्पन्न करता है। ये लोग रोगों का शिकार नहीं होते, पूर्ण आयुष्य को प्राप्त होनेवाले होते हैं। २. **यत्**=जो **अगोह्यम्**=न छिपा हुआ, अर्थात् प्रकट हुआ है, वेदज्ञान है उसे **श्रवयन्तः**=सुनने की कामना करते हुए **ऐतन**=ये गति करते हैं। हृदय की निर्मलता के कारण हृदयस्थ प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करनेवाले होते हैं। ३. **त्यम्**=उस **चित्**=निश्चय से **चमसम्**=आचमन करने योग्य, खाने योग्य (चमस=a cake) **असुरस्य**=प्राणशक्ति देनेवाले प्रभु के **भक्षणम्**=भोजन को **एकं सन्तम्**=जो ज्ञान के दृष्टिकोण से एक है, उस एक वेदज्ञान को आप **चतुर्वयम्**=चार शाखाओंवाला (वयाः शाखाः—नि० १।४) चार भागों में विभक्त **अकृणुत**=करते हो। मूल में वेदज्ञान एक है। वह 'ऋक्, यजुः, साम व अथर्व' इन चारों में बँट जाता है। ऋग्वेद प्रकृति का ज्ञान देता हुआ 'विज्ञानवेद' कहलाता है, यजुर्वेद जीव के कर्तव्यभूत यज्ञों का प्रतिपादन करता हुआ 'कर्मवेद' होता है, प्रभु की उपासना का प्रतिपादन करता हुआ सामवेद 'उपासनावेद' है और मनुष्य को नीरोग तथा निर्वैर बनाकर ब्रह्म को प्राप्त करानेवाला अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' है। एवं, यह प्रभु का दिया हुआ ज्ञान एक होता हुआ चार शाखाओंवाला कहलाता है।

भावार्थ—ऋभुओं को (क) प्रभु अमृतत्व प्राप्त कराते हैं, (ख) ये वेदज्ञान को सुनने की कामना करते हैं, (ग) एक वेदज्ञान को 'ऋक्' आदि चार भागों में बाँटकर ग्रहण करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रभुसम्पर्क का मार्ग

वि॒ष्ट्वी शमी॑ तरणि॒त्वेन॑ वा॒घतो॒ मर्ता॑सः॒ सन्तो॑ अमृत॒त्वमा॑नशुः।
सौ॒ध॒न्व॒ना ऋ॒भवः॒ सूर॑चक्षसः संवत्स॒रे सम॑पृच्यन्त धी॒तिभिः॑॥ ४॥

१. **वाघतः**=(ऋत्विङ्नाम—नि०) ज्ञान का वहन करनेवाले ऋत्विक् लोग **तरणित्वेन**=(तरणिरिति क्षिप्रनाम) शीघ्रता से अथवा आये हुए विघ्नों को तैरने के द्वारा **शमी**=कर्मों में **विष्ट्वी**=व्यापकता से प्रवेश करके (व्याप्य कृत्वा—स०), अर्थात् सदा कर्मों में व्याप्त रहकर **मर्तासः सन्तः**=मरणधर्मा होते हुए भी **अमृतत्वम्**=अमरता को **आनशुः**=प्राप्त करते हैं। ये रोगाक्रान्त होकर समय से पहले शरीर को छोड़नेवाले नहीं होते। ज्ञानपूर्ण एवं क्रियाशील जीवन इन्हें अमर बनाता है। २. **सौधन्वनाः**=उत्तम प्रणवरूप धनुषवाले—इस धनुष के द्वारा ही तो शररूप आत्मा को ब्रह्मरूप लक्ष्य में पहुँचाते हैं। **ऋभवः**=(ऋतेन भान्ति) ये सब कार्यों को ऋत से करते हैं। इनके कर्मों में अनृत का प्रवेश नहीं होता। ठीक समय और ठीक स्थान पर ये अपने कार्यों को करते हैं। **सूरचक्षसः**=सूर्य के समान प्रकाशवाले (सूरख्याना वा सूरप्रज्ञा वा) **संवत्सरे**=एक वर्ष की समाप्ति पर **धीतिभिः**=ध्यानों के द्वारा (धीति=Devotion) **सम्पृच्यन्त**=उस प्रभु के साथ सम्पर्क को प्राप्त करते हैं। ३. 'सौधन्वना' शब्द उपासना के अर्थ का सूचक है, 'ऋभव' कर्मों में श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है और 'सूरचक्षसः' ज्ञान की दीप्ति

को कह रहा है। एवं 'हृदय, हाथ व मस्तिष्क' तीनों के दृष्टिकोण से उत्तम बने हुए ये लोग कम-से-कम एक वर्ष तक प्रतिदिन निरन्तर ध्यानपरायण होते हैं तो ये प्रभु का साक्षात्कार कर पाते हैं। दीर्घकाल तक, नैरन्तर्येण, आदरपूर्वक सेवित हुआ-हुआ ही ध्यान दृढभूमि होता है। यहाँ 'संवत्सरे' 'शब्द ठीक एक वर्ष का संकेत न करके 'उचित समय पर' इस अर्थ का वाचक है। गीता में '**तत्स्वयं योगसंसिद्धिः कालेनात्मनि विन्दति**'। इस श्लोक में 'कालेन' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

भावार्थ—हम कर्मों में लगे रहें। प्रणवरूप धनुष से धनुर्धर बनें। हमारे कार्यों में ऋत हो। हम सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञानवाले हों। नियमपूर्वक ध्यान करते हुए प्रभु-सम्पर्क के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अद्वितीय रक्षक

क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेनँ एकं पात्रमृभवो जेहमानम्।
उपस्तुता उपमं नाधमाना अमर्त्येषु श्रव इच्छमानाः॥ ५॥

१. **ऋभवः**=ऋत से दीप्त होनेवाले पुरुष, अपने कर्मों को नियमितता से करनेवाले पुरुष **तेजनेन**=बुद्धि को तीव्र (Sharpening, kindling, rendering bright) करने के द्वारा इस शरीर को **क्षेत्रमं इव**=एक क्षेत्र के समान **विममुः**=विशेषरूप से बनाते हैं। क्षेत्र में जैसे उत्तमोत्तम अन्नों का उत्पादन होता है, उसी प्रकार वे अपने शरीर में दैवीसम्पत्ति के उत्पादन का प्रयत्न करते हैं। २. वे इस शरीर को ऐसा बनाते हैं कि यह **एकम्**=अद्वितीयं **पात्रम्**= (**पा रक्षणे**)=रक्षक उस एक एवं अद्वितीय प्रभु की ओर **जेहमानम्**=(हि to go) निरन्तर चलने के स्वभाववाला हो जाता है। इस मानवदेह का मुख्य उद्देश्य वे प्रभु-प्राप्ति को ही मानते हैं। प्रभु का दर्शन सूक्ष्म बुद्धि से ही होता है, अतः वे बुद्धि को सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न करते हैं। ३. **उपस्तुताः**=समीपस्थ होकर—उपासना में बैठकर प्रभु का स्तवन करनेवाले ये लोग **उपमम्**=(Highest, uppermost, nearest) उस सर्वोत्तम और अन्तिकतम (अति निकट) प्रभु को **नाधमानाः**=चाहते हुए ये **अमर्त्येषु**=विषयों के पीछे न मरनेवाले ज्ञानी देवपुरुषों में—उनके चरणों में उपस्थित होकर **श्रवः इच्छमानाः**=ज्ञान को चाहनेवाले होते हैं। स्तुति व ज्ञान के द्वारा ये प्रभु के समीप और समीप पहुँचते जाते हैं।

भावार्थ—बुद्धि को तीव्र करके हम इस शरीर को प्रभु-प्राप्ति का साधन बनाते हैं, उपासना व ज्ञानप्राप्ति हमें प्रभु के समीप ले-जानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मध्यमार्ग व मनीषा की प्राप्ति

आ मनीषामन्तरिक्षस्य नृभ्यः स्रुचेव घृतं जुहवाम विद्मना।
तरणित्वा ये पितुरस्य सश्चिर ऋभवो वाजमरुहन्दिवो रजः॥ ६॥

१. **इव**=जैसे **स्रुचा**=चम्मच के द्वारा **घृतम्**=घृत को **जुहवाम**=आहुत करते हैं, उसी प्रकार **विद्मना**=ज्ञान के द्वारा **अन्तरिक्षस्य नृभ्यः**=अन्तरिक्ष के इन व्यक्तियों के लिए मध्यमार्ग पर चलनेवाले इन व्यक्तियों के लिए (अन्तराक्षि) अति को छोड़नेवाले व्यक्तियों के लिए **मनीषाम्**=बुद्धि को **आजुहवाम**=सर्वथा आहुत करते हैं। मनुष्य युक्तचेष्ट हो। कहीं भी अति न

करे और इस प्रकार अन्तरिक्ष का व्यक्ति, अर्थात् मध्यमार्ग पर चलनेवाला बना रहे तो उसे स्वाध्याय के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि की प्राप्ति होती ही है। २. इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त करके ये **ऋभवः**=खूब देदीप्यमान व्यक्ति **तरणित्वा**=शीघ्रता से अथवा वासनाओं को तैरने के द्वारा **अस्य पितुः**=इस पिता प्रभु की ओर **सश्चिरे**=गमन करते हैं। **ये**=वे **वाजम् अरुहन्**=इस जीवन में शक्ति का आरोहण करते हैं—शक्ति प्राप्त करते हैं और इस शरीर को छोड़ने पर **दिवः रजः**=प्रकाश के लोक का **अरुहन्**=आरोहण करनेवाले होते हैं। द्युलोक प्रकाश का लोक है। यहाँ सूर्यद्वार से होते हुए ये उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति=प्रभु को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—मध्यमार्ग में चलते हुए पुरुष की बुद्धि स्वाध्याय के द्वारा सूक्ष्म होती है। उससे हम प्रभु की ओर चलते हैं। इस जीवन में शक्ति को प्राप्त करते हुए शरीर छोड़ने पर हम देदीप्यमान लोक का आरोहण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ज्ञानदीप्त+शक्तिसम्पन्न

ऋभुर्न इन्द्रः शवसा नवीयानृभुर्वाजेभिर्वसुभिर्वसुर्दृदिः।
युष्माकं देवा अवसाहनि प्रियेऽभि तिष्ठेम पृत्सुतीरसुन्वताम्॥ ७॥

१. **नः**=हमारे लिए **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **ऋभुः**=(उरु भाति) अत्यन्त देदीप्यमान हैं। **ऋभुः**=वे अत्यन्त देदीप्यमान प्रभु **शवसा**=शक्ति के कारण **नवीयान्**=अत्यन्त स्तुति के योग्य हैं और **वाजेभिः**=अन्नों व अन्नजनित शक्तियों के द्वारा **वसुः**=हमें उत्तम निवास प्राप्त करानेवाले हैं। **वसुभिः**=निवास के लिए आवश्यक धनों के दृष्टिकोण से **ददिः**=हमारे लिए खूब देनेवाले हैं। प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुञ्ज हैं। वे शक्तियों व वसुओं के देनेवाले हैं। २. **देवाः**=हे देवो! हमारे जीवनों में वह शुभ दिन कब आएगा, जिस **प्रिये**=अत्यन्त प्रिय **अहनि**=दिन में **युष्माकम् अवसा**=तुम्हारे रक्षण के द्वारा हम **असुन्वताम्**=अयज्ञशीलों की **पृत्सुतीः**=सेनाओं को **अभितिष्ठेम**=अभिभूत करनेवाले होंगे। जीवन में दिव्य भावनाओं का वर्धन हमें यज्ञशील बनाता है। हमपर अयज्ञशील भावनाओं का आक्रमण निरन्तर होता है, परन्तु देवों के रक्षण में हम इस आक्रमण से कुचले नहीं जाते। कुचला जाना तो दूर रहा, हम इन वासनाओं को कुचलकर जीवन को सुन्दर बना पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की भाँति ही ज्ञानदीप्त व शक्तिसम्पन्न बनें। वाजों व वसुओं को प्राप्त करनेवाले होकर उत्तम निवासवाले हों। देवों के रक्षण में वासनाओं का पराभव करें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

वृद्ध को फिर युवा करना

निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः।
सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितराकृणोतन॥ ८॥

१. **ऋभवः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाले ऋभु **चर्मणः**=ढाल से—वासनाओं का आक्रमण होने पर प्रभु की उपासना ही हमारे रक्षण के लिए ढाल बनती है। इस उपासनारूप ढाल से **गाम्**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूपी गौ को (**गौः=वाणी**) **निः अपिंशत**=निश्चय से अलंकृत करते हैं। उपासना के द्वारा वेदवाणी के अर्थ को अच्छी प्रकार समझने के योग्य बनते हैं। इस

वाक्य का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि **चर्मणः निः**=चमड़े से ऊपर उठकर, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ से ऊपर उठकर **गाम्**=इस वेदवाणीरूप गौ को **अपिंशत**=ये अलंकृत करते हैं, उसके अन्तर्निहित सुन्दर भाव को देखनेवाले होते हैं।

२. **पुनः**=फिर **मातरम्**=इस वेदवाणीरूप माता को **वत्सेन**=(वदतीति वत्सः) सृष्टि के आरम्भ में हृदयस्थरूपेण उच्चारण करनेवाले प्रभु के **सम् असृजत**=साथ संसृष्ट करते हैं। सब वेदवचनों में प्रभु का प्रतिपादन देखते हैं—**'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**, **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**। ३. **सौधन्वनासः**=उत्तम प्रणवरूप धनुष को हाथ में ग्रहण करनेवाले—प्रभु के 'ओम्' नाम का जप करनेवाले **स्वपस्यया**=उत्तम कर्मों को करने की कामना से **नरः**=अपने को आगे ले-चलनेवाले ये **ऋभु जिव्री**=जीर्ण हुए-हुए **पितरा**=पृथिवी, अर्थात् शरीररूप माता को तथा द्युलोक, अर्थात् पितृरूप पिता को **युवाना**=क्षीणता से अमिश्रित तथा उन्नति से युक्त **कृणोतन**=करते हैं। शरीर व मस्तिष्क दोनों को उपासना व उत्तम कर्मों द्वारा सशक्त बना लेते हैं। वस्तुतः प्रभु के नाम का जप हमसे वासनाओं को दूर रखता है और उत्तम कर्मों में लगे रहने से हम वासनाओं से बचे रहते है।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अन्तर्निहित अर्थ को जानने का प्रयत्न करें। प्रत्येक मन्त्र को प्रभु का प्रतिपादन करते हुए देखें। प्रभु के नाम-जपन व उत्तम कर्मों के द्वारा हम शरीर व मस्तिष्क को क्षीण न होने दें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

शक्ति व ज्ञान द्वारा विजय

वाजेभिर्नो वाजसातावविड्ढ्यृभुमाँ इन्द्र चित्रमा दर्षि राधः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **ऋभुमान्**=ज्ञानदीप्त पुरुषोंवाले आप **नः**=हमें **वाजसातौ**=इस जीवन-संग्राम में **वाजेभिः**=शक्तियों से **अविड्ढि**=व्याप्त कीजिए। आपकी कृपा से ज्ञानदीप्त पुरुषों के साथ हमारा सम्पर्क हो। उनसे ज्ञान प्राप्त करके हम वासनाओं से संघर्ष करने में समर्थ हों। हे प्रभो! आप यह **चित्रं राधः**=अद्भुत ज्ञानरूप धन **आदर्षि**=(दातुमाद्रियस्व) देने का ध्यान कीजिए (दृ=to care for, to mind, to desire)। आपके अनुग्रह से हम उस ज्ञानधन को प्राप्त करें जिससे कि हम संग्राम में वासनाओं का पराजय करनेवाले हों। २. **नः**=हमारे **तत्**=उस ज्ञानप्राप्ति के संकल्प को **मित्रः**=मित्रता का भाव, **वरुणः**=निर्द्वेषता, **अदितिः**=स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=रेतःकणों के रूप में जल, **पृथिवी**=दृढ़ शरीर **उत**=और **द्यौः**=दीप्त मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें, अर्थात् मित्रता, निर्द्वेषता, ऊर्ध्वरेतस्कता, दृढ़शरीर व दीप्त मस्तिष्क हमें ज्ञानप्राप्ति में समर्थ करें।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति से व्याप्त करें और ज्ञान दें ताकि हम वासना-संग्राम में विजयी हों।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ कर्मशील बनने तथा उपासना व स्तवन करनेवाला बनने से होता है (१)। समाप्ति पर प्रभु से शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति द्वारा विजय की कामना की गई है (९)। अब इस विजय के लिए ही रथादि के सुन्दर निर्माण का कथन है—

[१११] एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः=**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

विद्मनापसः (ज्ञानपूर्वक कर्म)

तक्षन्रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन्हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू।
तक्षन्पितृभ्यामृभवो युवद्वयस्तक्षन्वत्साय मातरं सचाभुवम्॥ १॥

१. **विद्मना अपसः**=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले ऋभु **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **सुवृतम्**=शोभन चक्रवाला **तक्षन्**=बनाते हैं। इस शरीररूप रथ के अङ्गों को वे इस प्रकार स्वस्थ व सशक्त बनाते हैं कि यह शरीररूप रथ शोभनरूप से चलनेवाला होता है। २. ये ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले लोग **हरी**=ज्ञान व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **इन्द्रवाहा**=प्रभु का वहन करनेवाला तथा **वृषण्वसू**=शक्तिरूप धनवाला बनाते हैं। इनके ये इन्द्रियाश्व इन्हें प्रभु की ओर ले-चलते हैं और शक्तिशाली होते हैं। वैदिक संस्कृति के अनुसार जीवन-यात्रा का आरम्भ 'प्रभु की ओर चलने से' है और समाप्ति प्रभु-प्राप्ति पर है। इसमें ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम है और ब्रह्माश्रम अन्तिम—ब्रह्म की ओर चलने से ब्रह्म तक। ३. **ऋभवः**=ऋत से शोभायमान व ज्ञान से खूब दीप्त होनेवाले **ऋभु पितृभ्याम्**=शरीर व मस्तिष्क के लिए (पृथिवी=शरीर, द्युलोक=मस्तिष्क) **युवत् वयः**=यौवनयुक्त आयु को **तक्षन्**=बनाते हैं, अर्थात् शरीर और मस्तिष्क को जीर्ण नहीं होने देते। ४. ये **ऋतु मातरम्**=वेदमाता को **वत्साय**=इस वेदवाणी का उच्चारण करनेवाले प्रभु के लिए, अर्थात् प्रभुप्राप्ति के लिए **सचाभुवम्**=साथ होनेवाला बनाते हैं, सदा वेदवाणी को अपनाते हैं। इस वेदवाणी को अपनाने से वे ज्ञानी बनकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। ज्ञान-उन्हें प्रभु का साक्षात्कार कराता है।

भावार्थ—शरीररूप रथ शोभन अङ्गोंवाला हो। इन्द्रियाँ शक्तिशालिनी हों और हमें प्रभु की ओर ले-चलें। शरीर व मस्तिष्क जीर्णशक्ति न हों। हम वेद को अपनाएँ ताकि प्रभु को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ज्ञानदीप्त आयुष्य

आ नो यज्ञाय तक्षत ऋभुमद्वयः क्रत्वे दक्षाय सुप्रजावतीमिषम्।
यथा क्षयाम सर्ववीरया विशा तन्नः शर्धाय धासथा स्विन्द्रियम्॥ २॥

१. हे **ऋभुओ**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **नः**=हमारे **वयः**=जीवन को भी **ऋभुमत्**=विशाल ज्ञानदीप्ति से दीप्त **आतक्षत**=बनाइए, ताकि **यज्ञाय**=हम यज्ञशील जीवन बिता सकें। ऋभु के सम्पर्क में हम भी ऋभु हों। हमारा जीवन यज्ञादि उत्तम कार्यों में व्यतीत हो। २. **क्रत्वे**=प्रज्ञान के लिए तथा **दक्षाय**=बल के लिए **सुप्रजावतीम्**=उत्तम विकासवाली **इषम्**=प्रेरणा को हमें प्राप्त कराइए। उत्तम प्रेरणा के द्वारा अपनी सब शक्तियों का विकास करते हुए हम प्रज्ञान व बल को सिद्ध कर सकें। '**सुप्रजावतीम् इषम्**' का अर्थ उत्तम सन्तानवाला अन्न भी है। हमारे घरों में सात्त्विक अन्न हो और सन्तानों की वृत्ति भी सात्त्विक बने। इस प्रकार ज्ञान और शक्ति का वर्धन ही वर्धन हो। ३. हे ऋभुओ! आप ऐसा करो **यथा**=जिससे हम **सर्ववीरया विशा**=पूर्णरूप से वीर प्रजा के साथ **क्षयाम**=निवास करनेवाले हों। **तत्**=वह आप **नः**=हमारे **शर्धाय**=बल के

लिए **सु-इन्द्रियम्**=उत्तम वीर्य को **धासथ**=हममें धारण कीजिए। 'इन्द्रियम्' शब्द धन के लिए भी आता है, अर्थात् उत्तम धन धारण कराइए। उत्तम धन से सब साधनों का जुटाना सम्भव होता है। वे सब धन हमारी शक्ति-वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञानदीप्त व यज्ञमय हो। हम उत्तम सात्त्विक अन्नों के द्वारा अपने प्रज्ञान व शक्ति का वर्धन करें। उत्तम धनों से साधन-सम्पन्न होकर हम बलों को बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

जैत्री साति

आ तक्षत सातिमस्मभ्यमृभवः सातिं रथाय सातिमर्वते नरः।
सातिं नो जैत्रीं सं महेत विश्वहा जामिमजामिं पृतनासु सक्षणिम्॥ ३॥

१. हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! आप ज्ञान के द्वारा **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सातिम्**=सम्भजनीय अन्न व धन को **आतक्षत**=सर्वथा बनाइए—प्राप्त कराइए। **सातिम्**=इस सम्भजनीय अन्न व धन को इसलिए प्राप्त कराइए कि **रथाय**=हम अपने शरीररूप रथ को सुन्दर बना सकें। हे **नरः**=हमारा नेतृत्व करनेवाले ऋभुओ! **सातिम्**=हमें सम्भजनीय अन्न व धन को **अर्वते**=इस शरीर-रथ में जुतनेवाले अश्वों के लिए प्राप्त कराइए। उत्तम अन्न व धनों से हम शरीर व इन्द्रियों को उत्तम बना सकें। २. हे ऋभुओ! आप **नः**=हमारी **जैत्रीम्**=विजयशील—विजयप्राप्ति की साधनभूत **सातिम्**=अन्न व धन की प्राप्ति को **विश्वहा**=सदा **सम्महेत**=पूजित कीजिए। यह अन्न व धन की प्राप्ति **पृतनासु**=संग्रामों में **जामिम्**=बन्धु को व **अजामिम्**=अबन्धु को—सभी को **सक्षणिम्**=पराभूत करनेवाली हो।

भावार्थ—हमारी अन्न व धन की प्राप्ति ऐसी हो जो हमारे शरीर व इन्द्रियों को उत्तम बनाए और हमें विजय प्राप्त कराए।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

सातये धिये जिषे

ऋभुक्षणमिन्द्रमा हुव ऊतय ऋभून्वाजान्मरुतः सोमपीतये।
उभा मित्रावरुणा नूनमश्विना ते नो हिन्वन्तु सातये धिये जिषे॥ ४॥

१. मैं **ऊतये**=रक्षण के लिए **ऋभुक्षणम्**=महान् अथवा ज्ञानदीप्त पुरुषों में निवास करनेवाले (ऋभु+क्षि) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **आहुवे**=पुकारता हूँ। प्रभु ही मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाएँगे। २. मैं **सोमपीतये**=सोमपान के लिए—उत्पन्न शक्ति को शरीर में सुरक्षित करने के लिए **ऋभून्**=ज्ञानदीप्त, **वाजान्**=शक्ति के पुञ्जभूत तथा **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषों को पुकारता हूँ। इनके सम्पर्क में रहता हुआ मैं ज्ञान, शक्ति व प्राणसाधना को महत्त्व देता हुआ शरीर में शक्ति के रक्षण में समर्थ होता हूँ। ३. **उभा**=दोनों **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण को—मित्रता व निर्द्वेषता की भावना को तथा **नूनम्**=निश्चय से **अश्विना**=प्राणापान को पुकारता हूँ। इन प्राणापान की साधना से ही मैं मन के मैल को दूर करके स्नेह व निर्द्वेषता को अपना पाऊँगा। ४. **ते**=वे सब ऋभु आदि **नः**=हमें **हिन्वन्तु**=प्रेरित करें—(क) **सातये**=उत्तम अन्न व धन की प्राप्ति के लिए, (ख) **धिये**=उत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए, (ग) **जिषे**=विजय-प्राप्ति के लिए—वासना-संग्राम में वासनाओं को पराजित करने के लिए।

भावार्थ—प्रभु का उपासन, ऋभुओं का सम्पर्क, प्राणसाधना तथा स्नेह व निर्द्वेषता की भावना का धारण हमें विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**ऋभवः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ऋभु और वाज

ऋ॒भुर्भरा॑य॒ सं शि॑शातु सा॒तिं स॑मर्य॒जिद्वाजो॑ अ॒स्माँ अ॑विष्टु।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑तिः॒ सिन्धुः॑ पृथि॒वी उ॒त द्यौः॥ ५॥

१४. **ऋभुः**=वह ज्ञानदीप्त प्रभु **भराय**=इस संसार-संग्राम में विजय के लिए **सातिम्**=अन्न व धन की प्राप्ति को **संशिशातु**=तीव्र करे। उत्तम अन्न व धन के द्वारा आवश्यक साधनों को जुटाते हुए हम संग्राम में विजयी हों। २. **समर्य-जित्**=संग्राम में विजयशील **वाजः**=शक्तिपुञ्ज प्रभु **अस्मान्**=हमें **अविष्टु**=रक्षित करे। वासनाओं के साथ संग्राम में प्रभुकृपा से ही हमें विजय प्राप्त होती है—विजय करनेवाले वास्तव में प्रभु ही हैं। प्रभु हमें ज्ञान देते हैं, शक्ति प्राप्त कराते हैं। इस ज्ञान व शक्ति के द्वारा हम विजय प्राप्त करते हैं। ३. **नः**=हमारे **तत्**=उस विजय के संकल्प को **मित्रः**=मित्रता **वरुणः**=निर्द्वेषता, **अदितिः**=स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=रेतःकणों के रूप में रहनेवाले जल, **पृथिवी**=दृढ़शरीर **उत द्यौः**=और ज्ञानदीप्त मस्तिष्क—ये सब **मामहन्ताम्**=आदृत करें। मित्रता आदि गुणों के धारण से हम विजयसंकल्प को पूरा कर सकें।

भावार्थ—ऋभु और वाज का उपासन हमें इस संसार-संग्राम में विजय देनेवाला हो।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले व्यक्ति शरीर-रथ को शोभन अङ्गोंवाला बनाते हैं (१)। ये ज्ञानदीप्त, शक्तिपुञ्ज प्रभु की उपासना से विजय प्राप्त करते हैं (५)। अगले सूक्त में अश्विनीदेवों से रक्षा की प्रार्थना की जाती है—

[११२] द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**प्रथमार्धस्य द्यावापृथिव्यौ, उत्तरार्धस्य अग्निः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रभु का छोटा रूप बनना

ईळे॒ द्यावा॑पृथि॒वी पू॒र्वचि॑त्तये॒ऽग्निं घ॒र्मं सु॒रुचं॒ याम॑न्नि॒ष्टये॑।
याभि॒र्भरे॑ का॒रमंशा॑य॒ जिन्व॑थ॒स्ताभि॑रू॒ षु ऊ॒तिभि॑रश्विना ग॑तम्॥ १॥

१. मैं **पूर्वचित्तये**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए अथवा चेतना के पूर्ण विकास के लिए **द्यावापृथिवी ईळे**=द्युलोक व पृथिवीलोक का उपासन करता हूँ। 'मस्तिष्क' द्युलोक और 'शरीर' पृथिवी है। इनका उपासन यही है कि शरीर को दृढ़ बनाया जाए और मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त। शरीर व मस्तिष्क के ठीक होने पर ही हम चेतना के पूर्ण विकासवाले होते हैं और वेदज्ञान के पात्र बनते हैं। २. **अग्निम् ईळे**=मैं उस अग्रणी परमात्मा का उपासन करता हूँ जो **घर्मम्**=(घृ=दीप्ति) तेज से दीप्त हैं, तेज ही हैं और **सुरुचम्**=उत्तम ज्ञानदीप्तिवाले हैं—ज्ञान के पुञ्ज हैं। इस 'घर्म व सुरुच' परमात्मा के उपासन से मेरा शरीर तेजस्वी तथा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बनेगा। ऐसा बनकर मैं **यामन्**=इस जीवन-मार्ग में **इष्टये**=इष्ट-प्राप्ति के लिए समर्थ होऊँगा। ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु-आगतम्**=उत्तमता से हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिन रक्षणों से **भरे**=इस

जीवन-संग्राम में **कारम्**=क्रियाशील पुरुषों को **अंशाय**=उस प्रभु का छोटा रूप बनने के लिए **जिन्वथः**=प्रेरित करते हो। प्राणापान की साधना का परिणाम यह होता है कि 'शरीर नीरोग बनता है, मन निर्मल होता है और बुद्धि दीप्त होती है'। इस साधना से ही काम, क्रोध व लोभ के किले नष्ट हो जाते हैं और जीव पवित्र जीवनवाला होकर प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है। यह प्रभु का **अंश**=छोटा रूप बनता वही है जो **'कार'**=अत्यन्त क्रियाशील होता है। अकर्मण्य ने किसी भी प्रकार की क्या उन्नति करनी? **आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**—योग पर आरूढ़ होने की कामनावाले मुनि के लिए कर्म ही साधन है।

भावार्थ—शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर हम चेतनता का पूर्ण विकास करें। प्रभु के उपासन से तेजस्वी व ज्ञानदीप्त बनें। प्राणसाधना से उन्नति करते हुए प्रभु का छोटा रूप बनने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

इष्ट स्थान पर पहुँचना

युवोर्दानाय सुभरा असश्चतो रथमा तस्थुर्वचसं न मन्तवे।
याभिर्धियोऽवथः कर्मन्निष्टये ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवोः**=आपके **दानाय**='नीरोगता, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता'-रूप दानों की प्राप्ति के लिए **सुभराः**=उत्तमता से अपना पालन-पोषण करनेवाले लोग **असश्चतः**=संसार के विषयों में आसक्त न होते हुए **रथम् आतस्थुः**=इस शरीररूपी रथ पर आरूढ़ होते हैं, शरीर के अधिष्ठाता बनते हैं। इसको अपने वश में रखते हुए ये प्राणसाधना के द्वारा सब उत्तमताओं को प्राप्त करते हैं। ये शरीररूप रथ पर उसी प्रकार अधिष्ठित होते हैं **न**=जैसेकि **मन्तवे**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए **वचसम्**=न्याय्य-ज्ञानवचनों से युक्त विद्वान् को प्राप्त होते हैं। वस्तुतः ये शरीर व मस्तिष्क दोनों का भरण करते हैं। प्राणसाधना यदि मुख्यरूप से इनके शरीर को नीरोग बनानेवाली होती है तो ज्ञानियों का सम्पर्क इनकी ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। २. हे प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु-आगतम्**=हमें उत्तमता से प्राप्त होओ। **याभिः**=जिनसे **धियः**=ज्ञानी पुरुषों को **कर्मन्**=कर्मों में **इष्टये**=इष्ट-प्राप्ति के लिए **अवथः**=आप रक्षित करते हो। प्राणसाधना से ज्ञान का विकास तो होता ही है, ये ज्ञानी पुरुष सदा कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं और इष्ट-प्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना का पूरा लाभ तभी होता है जब हम शरीर आदि के उत्तम भरण का ध्यान करें और विषयों में आसक्त न हों। यह प्राणसाधना हमें ज्ञानी व कर्मनिष्ठ बनाएगी। यह ज्ञान और कर्मनिष्ठता हमें इष्ट स्थान पर पहुँचाते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अवन्ध्या वेदधेनु

युवं तासां दिव्यस्य प्रशासने विशां क्षयथो अमृतस्य मज्मना।
याभिर्धेनुमस्वं पिन्वथो नरा ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ ३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **तासाम्**=उन (गतमन्त्र में जिनका 'सुभराः' शब्द से उल्लेख हुआ है) **विशाम्**=प्रजाओं के **प्रशासने**=प्रकृष्ट शासन में होने पर, अर्थात् उनका जब आप पर पूर्ण प्रभुत्व होता है तब आप **दिव्यस्य**=उस प्रकाशमय दिव्यगुणों के पुञ्ज

अमृतस्य=कभी नष्ट न होनेवाले प्रभु के **मज्मना**=बल के साथ **क्षयथः**=निवास करते हो। जब प्राणसाधना के द्वारा एक व्यक्ति प्राणों को अपने वश में कर लेता है तब ये प्राण उसे प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न करनेवाले होते हैं। ये लोग प्राणसाधना से प्रभु के प्रभाव को प्राप्त कर लेते हैं। वेदान्त के शब्दों में इनके ऐश्वर्य में इतनी ही कमी रह जाती है कि ये नया संसार नहीं बना पाते। २. हे प्राणापानो! **नरा**=आप हमें (नॄ नये) उन्नति-पथ पर आगे ले-चलनेवाले हो। आप **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों के साथ **उ**=निश्चय से **सु-आगतम्**=उत्तमतापूर्वक हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **अस्वम्**=अब सन्तान को जन्म न देनेवाली, अर्थात् वन्ध्या हुई-हुई **धेनुम्**=गौ को **पिन्वथः**=पूरित कर देते हो (पयसा पूरितवन्तौ—सा०)। यहाँ गौ वेदवाणी है। यह प्राणसाधना के अभाव में बुद्धिमान्द्य के कारण अर्थशून्य-सी प्रतीत होती है। अब तीव्र बुद्धि के कारण यह सुस्पष्ट अर्थवाली होने से ज्ञानदुग्ध को देनेवाली हो गई है।

भावार्थ—प्राणसाधना से प्रभु की शक्ति से हम शक्तिसम्पन्न बनते हैं। तीव्र बुद्धिवाले होकर वेदवाणी को समझने लगते हैं और वेदधेनु हमारे लिए वन्ध्या नहीं रह जाती।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

द्विमाता-त्रिमन्तुः

याभिः परिज्मा तनयस्य मज्मना द्विमाता तूर्षु तरणिर्विभूषति।
याभिस्त्रिमन्तुरभवद्विचक्षणस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ ४॥

हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ताभिः**=उन **ऊतिभिः**=रक्षणों से **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **आगतम्**=प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे आपकी साधना करनेवाला आपका साधक **परिज्मा**=सर्वतो गन्ता होता है, सतत क्रियाशील होता हुआ विविध कार्यों में लगा रहता है। २. कर्मों में लगा रहने से ही यह तनय=शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है। **तनयस्य**=(तनु विस्तारे) शक्तियों के विस्तारक पुरुष के **मज्मना**=बल से यह **द्विमाता**=शरीर व मस्तिष्क दोनों का निर्माण करनेवाला होता है। इसका शरीर दृढ़ होता है तो मस्तिष्क दीप्त। ३. शरीर व मस्तिष्क दोनों को विकसित करके यह **तूर्षु**=(तुर्वी हिंसायाम्) हिंसा करनेवाले काम-क्रोध व लोभादि शत्रुओं में **तरणिः**=तैर जानेवाला होता है। इन शत्रुओं का पराभव करता है और इस प्रकार **विभूषति**=अपने जीवन को विभूषित करता है। ४. हे प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः उ सु आगतम्** हमें उन रक्षणों के साथ निश्चय से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे मनुष्य **त्रिमन्तुः**=ईश्वर, जीव और प्रकृति—तीनों का विचार करनेवाला और **विचक्षणः**=विशेषरूप से तत्त्व को देखनेवाला **अभवत्**=होता है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है और मनुष्य उत्तम विचारक व तत्त्वद्रष्टा बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से क्रियाशीलता व ज्ञान में वृद्धि होती है। मनुष्य शरीर व मस्तिष्क दोनों का उत्तम निर्माण करता है और प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनों का मनन करता है (त्रिमन्तु)।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'रेभ-निवृत्-सित-वन्दन, कण्व'

याभी रेभं निवृतं सितमद्भ्य उद्वन्दनमैरयतं स्वर्दृशे।

याभिः कण्वं प्र सिषासन्तमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ ५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ताभिः**=उन **ऊतिभिः**=रक्षणों से **उ**=निश्चय से **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिन रक्षणों के द्वारा आप **रेभम्**=स्तोता को **निवृतम्**=विषयों से परावृत (to come back, to retreat) पुरुष को, **सितम्**=श्वेत=शुद्ध जीवनवाले को (सितम्= शुद्धधर्मम्—द०), **वन्दनम्**=बड़ों का अभिवादन करनेवालों को **अद्भ्यः**=रेत:कणों के रूप में शरीर में रहनेवाले जलों के द्वारा **उदैरयतम्**=उत्कृष्ट मार्ग प्राप्त कराते हो ताकि **स्वर्दृशे**=प्रकाशमय लोक अथवा स्वर्ग का वे दर्शन कर सकें। प्राणसाधना से ही वस्तुतः हम 'रेभ, निवृत्, सित व वन्दन' बनते हैं। ऐसा बनने का रहस्य भी इस बात में है कि प्राणसाधना से शरीर में रेत:कणों की ऊर्ध्वगति होती है। इस ऊर्ध्वगति से हमारे जीवनों में प्रभु-प्रवणता होती है। उससे हम **रेभ**=प्रभु के स्तोता बनते हैं। विषयों से हम पराङ्मुख होते हैं। हमारा मन विषयों की ओर नहीं झुकता। इससे हमारा जीवन शुद्ध व धार्मिक होता है। हम 'निवृत् व सित' बनते हैं। हमारे जीवन में बड़ों के प्रति आदर की भावना बनी रहती है, अर्थात् हम 'वन्दन' होते हैं। २. हे प्राणापानो! हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ जिनसे आप **सिषासन्तम्**=(संभक्तुमिच्छन्तम्—सा०) संविभाग की कामनावाले **कण्वम्**=मेधावी पुरुष की **प्रावतम्**=प्रकर्षेण रक्षा करते हैं। प्राणसाधना का हमारे जीवन पर यह भी परिणाम होता है कि बुद्धि तीव्र होकर हम 'कण्व' बनते हैं। यह कण्व सदा संविभागपूर्वक वस्तुओं का सेवन करता है। सब-कुछ स्वयं ही नहीं खा लेता, सदा यज्ञशेष का ही सेवन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'रेभ, निवृत्, सित, वन्दन व कण्व' बनेंगे। ऐसा बनकर हमारा उत्थान होता है और हम प्रकाशमय लोक का दर्शन कर पाते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'अन्तक, जसमान, भुज्यु, कर्कन्धु व वय्य'

याभि॒रन्त॑कं॒ जस॑मान॒मार॑णे भु॒ज्युं याभि॑रव्य॒थिभि॑र्जिजि॒न्वथुः॑।
याभिः॑ क॒र्कन्धुं॑ व॒य्यं॑ च॒ जिन्व॑थ॒स्ताभि॑रू॒ षु ऊ॒तिभि॑रश्वि॒ना ग॑तम्॥ ६॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चय से **सु**=उत्तमतापूर्वक **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिन रक्षणों से **अन्तकम्**=काम-क्रोध व लोभ का अन्त करनेवाले को, **जसमानम्**=(शत्रून् हिंसन्तम्) अशुभवृत्तियों को अपने से दूर फेंकनेवाले को **रणे**=संग्राम में **आजिजिन्वथुः**=शक्ति से सर्वथा प्रीणित करते हो। प्राणसाधना से हम काम-क्रोध आदि का अन्त करनेवाले होकर 'अन्तक' होते हैं तथा अशुभ वृत्तियों को दूर फेंकनेवाले होने के कारण हम 'जसमान' बनते हैं। २. हे प्राणापानो! हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **अव्यथिभिः**=व्यथाशून्य अथवा अनथक रक्षणों से आप **भुज्युम्**=शरीर-पालन के लिए ही भोजन करनेवाले को प्रीणित करते हो। प्राणसाधना से मनुष्य में ऐसी वृत्ति उत्पन्न होती है कि वह स्वाद से ऊपर उठकर केवल शरीर-रक्षण के लिए ही भोजन ग्रहण करता है। ३. हे प्राणापानो! आप हमें वे रक्षण प्राप्त कराओ **याभिः**=जिनसे आप **कर्कन्धुम्**=सफेद घोड़ों को धारण करनेवाले को **वय्यम्**=(वेञ्=तन्तुसन्ताने) ज्ञान व कर्म-तन्तु का सन्तान करनेवाले को—सदा ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले को **जिन्वथः**=प्रीणित करते हो। इन्द्रियाँ ही अश्व हैं। यदि इन्द्रियाँ विषयों में लिप्त न हों तो वे शुद्ध व श्वेत घोड़ों से उपमित होती हैं। इन श्वेत इन्द्रियों को धारण करनेवाला 'कर्कन्धु' है। प्राणसाधना ही हमें कर्कन्धु व वय्य बनाएगी।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'अन्तक, जसमान, भुज्यु, कर्कन्धु व वय्य' बनें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'शुचन्ति पुरुकुत्स'

याभिः शुचन्तिं धनसां सुषंसदं तप्तं घर्ममोम्यावन्तमत्रये।
याभिः पृश्निगुं पुरुकुत्समावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥७॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **शुचन्तिम्**=अपने जीवन को पवित्र बनानेवाले को **आवतम्**=रक्षित करते हो, जिनसे **धनसाम्**=धन का उचित संविभाग करनेवाले को रक्षित करते हो, जिनसे **सुषंसदम्**=उत्तमता से प्रभु के उपासन में बैठनेवाले को रक्षित करते हो या परस्पर प्रेम से मिलकर बैठनेवाले का रक्षण करते हो, **तप्तम्**=(तपस्यास्तीति) तपस्वी को रक्षित करते हो, **घर्मम्**=यज्ञशील (नि० ३।१७) जीवनवाले को जिनसे रक्षित करते हो, **ओम्यावन्तम्**=(ओम्या protection) अपना रक्षण करनेवाले को जिन रक्षणों से प्राप्त होते हो, उन्हीं से हमें भी प्राप्त होओ। वस्तुतः प्राणसाधना का ही यह परिणाम होता है कि हमारा जीवन पवित्र बनता है (शुचन्ति), हम बाँटकर खाने की वृत्तिवाले होते हैं (धनसा), परस्पर प्रेम से मिलकर बैठते हैं और प्रभु के उपासन में आसीन होते हैं (सुषंसदम्), तपस्वी जीवनवाले बनते हैं (तप्तम्), यज्ञशील होते हैं (घर्मम्), शरीर को रोगों से व मन को वासना से बचाते हैं (ओम्यावान्) और इस प्रकार **अत्रये**=(अविद्यामानाः त्रयो यस्मिन्) हम अपने को उस स्थिति के लिए सिद्ध करते हैं, जिसमें आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक तीनों प्रकार के ही कष्ट दूर हो जाते हैं। २. हे प्राणापानो! हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **पृश्निगुम्**=(प्रश्निं गच्छति) प्रकाश की किरणों की ओर चलनेवाले को तथा **पुरुकुत्सम्**=बुराइयों के खूब ही संहार करनेवाले को **आवतम्**=आप रक्षित करते हो। प्राणसाधना से हमारी बुद्धि तीव्र बनती है और स्वाध्याय के द्वारा हम प्रकाश की किरणों को प्राप्त करते हैं। प्राणसाधना से हमारे मलों का भी दहन होता है और हम **पुरुकुत्स**=बुराइयों का खूब हिंसन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'शुचन्ति, धनसा, सुषंसद्, तप्त, घर्म, ओम्यावान्, पृश्निगु व पुरुकुत्स' बनें।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अन्धे का देखना, लंगड़े का चलना

याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः।
याभिर्वर्तिकां ग्रसिताममुञ्चतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे आप **शचीभिः**=प्रज्ञानों व कर्मों के द्वारा **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले होते हो। प्राणसाधना से प्रज्ञा सूक्ष्म होती है और कर्मशक्ति बढ़ती है। प्रज्ञा की सूक्ष्मता और कर्मशक्ति की वृद्धि से जीवन अत्यन्त सुखी बनता है। २. हे प्राणापानो! हमें वह रक्षण प्राप्त कराइए जिससे कि आप **परावृजम्**=बन्धु-बान्धवों से सुदूर परित्यक्त **प्रान्धम्**=दृष्टिशक्ति से एकदम हीन पुरुष को **चक्षसे कृथः**=फिर से देखने के लिए समर्थ करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा उसकी दृष्टिशक्ति ठीक हो जाती है। इसी प्रकार **श्रोणम्**=पंगु को **एतवे कृथः**=आप चलने के लिए समर्थ करते हैं। दृष्टिशक्ति यहाँ सभी ज्ञानेन्द्रियों का

प्रतिनिधित्व करती है और चलने की शक्ति सभी कर्मेन्द्रियों का। प्राणसाधना से सभी इन्द्रियों की शक्ति बढ़कर 'सु-ख' प्राप्त होता है। इसके अभाव में इन्द्रियों में दोष उत्पन्न होकर 'दुः-ख' हो जाता है। 'ख' का अर्थ है 'इन्द्रिय', **सु**=उत्तमता—इन्द्रियों की उत्तमता ही सुख है। इसी प्रकार **दुर्**=खराब, इन्द्रियों की विकृति ही दुःख है। ३. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **ग्रसिताम्**=(वृक द्वारा) ग्रसी गई **वर्तकाम्**=वर्तिका को **अमुञ्चतम्**=आपने मुक्त किया। वृक शब्द 'वृक आदाने' से बनकर लोभ का वाचक है। यह लोभ वर्तिका को—धर्मकार्यों में प्रवृत्ति को निगल लेता है। प्राणसाधना से लोभ का नाश होकर मनुष्य पुनः धर्मकार्यों में प्रवृत्त होता है और इस प्रकार वृक से निगली हुई वर्तिका को ये प्राणापान मुक्त कर देते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। लोभ के नाश से धर्ममार्ग में प्रवृत्ति होती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'कुत्स, श्रुतर्य व नर्य'

याभिः सिन्धुं मधुमन्तमसश्चतं वसिष्ठं याभिरजरावजिन्वतम्।
याभिः कुत्सं श्रुतर्यं नर्यमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ ९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिन रक्षणों से **सिन्धुम्**=नदी की भाँति निरन्तर कर्मप्रवाह में चलनेवाले, **मधुमन्तम्**=अत्यन्त मधुर स्वभाववाले पुरुष को **असश्चतम्**=(सश्चतिः, गतिकर्मा—नि० २।१४) गतिमय करते हो। प्राणसाधना से शक्ति की वृद्धि होकर मनुष्य क्रियाशील बनता है और उन क्रियाओं को बड़े माधुर्य से करता है। २. **अजरौ**=न जीर्ण होनेवाले प्राणापानो! आप उन रक्षणों से हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **वसिष्ठम्**=अत्यन्त उत्तम निवासवाले को **अजिन्वतम्**=प्रीणित करते हो। प्राणसाधना से सब रोग दूर होकर शरीर में उत्तमता से निवास होता है। ३. हे प्राणापानो! हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **कुत्सम्**=बुराइयों का संहार करनेवाले को **श्रुतर्यम्**=(श्रुत+अर्य) ज्ञान के द्वारा जितेन्द्रिय बननेवाले को (अर्य—स्वामी, इन्द्रियों का स्वामी) और **नर्यम्**=नरहित के कर्मों को करनेवाले को **आवतम्**=आप रक्षित करते हो। प्राणसाधना से हम कुत्स व श्रुतर्य बनकर नर्य बनते हैं। हमारे जीवन से बुराइयाँ दूर होती हैं, ज्ञान प्राप्त करके हम जितेन्द्रिय बनते हैं और इस प्रकार लोकहित के कार्यों के लिए योग्य बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें माधुर्य के साथ कर्म करनेवाला व जीवन में उत्तम निवासवाला बनाती है। इस प्राणसाधना से हम 'कुत्स, श्रुतर्य व नर्य' बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'विशपला-प्रोणि'

याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं सहस्रमीळ्ह आजावजिन्वतम्।
याभिर्वशमश्व्यं प्रेणिमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ १०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिन रक्षणों से **सहस्रमीळ्हे आजौ**=शतशः सुखों का वर्षण

करनेवाले अथवा आनन्दरूप धनवाले अध्यात्म-संग्राम में **विश्पलाम्**=(सर्वत्र विशति इति **विश्**=सर्वव्यापक प्रभु, पल—to go) सर्वव्यापक प्रभु की ओर जानेवाली चित्तवृत्तिवाले को **धनसाम्**=धन का संविभागपूर्वक सेवन करनेवाले को **अथर्व्यम्**=(अथर्व) डाँवाडोल न होनेवाले को **अजिन्वतम्**=प्रीणित करते हो। प्राणसाधना का परिणाम चित्तवृत्ति के निरोध के रूप में होता है। निरुद्ध चित्तवृत्ति प्रभु की ओर झुकती है और यह व्यक्ति 'विश्पला' बनता है। यह प्रभु की ओर झुकी हुई चित्तवृत्तिवाला पुरुष 'धनसा' बनता है, धन को बाँटकर सेवन करनेवाला होता है। 'यह अथर्व्य' न डाँवाडोल होनेवाला होता है। २. **याभिः**=जिन रक्षणों से हे प्राणापानो! आप **वशम्**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले को, **अश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाले को और **प्रेणिम्**=(स्तुतेः प्रेरयितारम्-सा०) अपने जीवन में स्तुतिशील को **आवतम्**=रक्षित करते हो। प्राणसाधना से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है, परिणामतः इन्द्रियाँ विषयों में नहीं भटकतीं। विषयों में न भटकने के कारण इन्द्रियरूप अश्व बड़े उत्तम होते हैं और यह पुरुष 'अश्व्य' कहलाता है। यह विषय-व्यावृत होकर अपने को प्रभु के स्तवन की ओर प्रेरित करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'विश्पला, धनसा, अथर्व्य, वश, अश्व्य व प्रेणि' बनाती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मधुकोश-क्षरण

याभिः सुदानू औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत्।
कक्षीवन्तं स्तोतारं याभिरावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ ११॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से हमें **आगतम्**=प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे आप **औशिजाय**=धन कामनावाले और धनप्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न करनेवाले (Desiring, striving earnestly) **वणिजे**=व्यापारी के लिए **सुदानू**=उत्तम धनों को देनेवाले हो। प्राणसाधना से मनुष्य की चित्तवृत्ति उत्तम बनती है और वह न्यायमार्ग से ही धन कमाता है। २. हमें उन रक्षणों को प्राप्त कराओ जिनसे **दीर्घश्रवसे**=अत्यन्त प्रवृद्ध ज्ञानवाले के लिए **मधुकोशः**='मधु-विद्या' (ब्रह्मविद्या) का कोश **अक्षरत्**=टपकता है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होकर उस परा-विद्या को ग्रहण करती है जिससे कि **अक्षर**=ब्रह्म का ज्ञान होता है। ३. हे प्राणापानो! हमें उन रक्षणों के साथ प्राप्त होओ **याभिः**=जिन रक्षणों से आप **कक्षीवन्तम्**=बद्धकक्ष्य—कटिबद्ध, दृढ़निश्चयी **स्तोतारम्**=स्तोता को **आवतम्**=रक्षित करते हो। दृढ़निश्चयी स्तोता प्रभुदर्शन के बिना रुकता नहीं। वह दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदरपूर्वक प्रभु का स्तवन करता है। प्राणसाधना के अभाव में मनुष्य निर्विण्ण होकर उपासना को बीच में ही छोड़ देता है। प्राणसाधना ही इसे **कक्षीवान्**=दृढ़निश्चयी बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम (क) उत्तम मार्ग से धन कमानेवाले बनते हैं, (ख) परा-विद्या को प्राप्त करते हैं और (ग) दृढ़निश्चयी स्तोता बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ज्ञानरश्मियों का उदय

याभी रसां क्षोदसोद्नः पिपिन्वथुरनश्वं याभी रथमावतं जिषे।
याभिस्त्रिशोक उस्रिया उदाजत ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ १२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से हमें **आगतम्**=प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **रसाम्**=इस रसमय पृथिवीरूप शरीर को **उद्नः**=रेतःकणों के रूप में शरीर में रहनेवाले जलों के **क्षोदसा**=(क्षुदिर् सम्पेषणे) रोगकृमियों को पीस डालनेवाले प्रवाह से **पिपिन्वथुः**=प्रीणित करते हो। प्राणसाधना से शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। इन सुरक्षित रेतःकणों से रोग-कृमियों का संहार होता है। वीर्य-विशेषरूप से (वि) रोग-कृमियों को कम्पित (ईर) करनेवाला है। नीरोगता से शरीर की शक्ति बनी रहती है और शरीर के अङ्ग रसमय बने रहते हैं। २. हमें उन रक्षणों के साथ प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **अनश्वं रथम्**=इस शरीररूप रथ को जिसमें लौकिक घोड़े नहीं जुते हुए **आवतम्**=रक्षित करते हो ताकि **जिषे**=इस संसार-संग्राम में विजय हो सके। विजय-प्राप्ति के लिए शरीर-रथ सुरक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसकी निर्विकारता प्राणसाधना पर ही निर्भर करती है। ३. हमें उन रक्षणों से आप प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **त्रिशोकः**=शरीर, मन व मस्तिष्क की दीप्तिवाला पुरुष **उस्त्रियाः**=ज्ञान की रश्मियों को (Brightness, light) **उदाजत**=उत्कृष्ट रूप से प्रेरित करता है। प्राणसाधना से ज्ञान की रश्मियों का उदय होता है। शरीर, मन व मस्तिष्क—सभी दीप्त होते हैं। यह प्राणसाधक 'त्रिशोक' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर के अङ्ग रसमय बनते हैं, शरीर-रथ सुन्दर बनता है और हमें विजयी बनाता है, ज्ञान रश्मियाँ उदित होती हैं और हम त्रिशोक बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'विप्र भरद्वाज'

याभिः सूर्यं परियाथः परावति मन्धातारं क्षैत्रपत्येष्वावतम्।
याभिर्विप्रं प्र भरद्वाजमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ १३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे आप **परावति**=सुदूर देश में **सूर्यम्**=सूर्य को **परियाथः**=जाते हो। इस वाक्य का भाव यह है कि यदि प्राणसाधना ठीक प्रकार से चलती है तो हमारा जीवन उत्तरोत्तर निर्दोष बनता जाता है और हमारा अगला जन्म इस पृथिवीलोक पर और 'मनुष्य' के रूप में न होकर द्युलोकस्थ सूर्य में 'देव' रूप से होता है। इसका यह भाव भी हो सकता है कि मस्तिष्करूप द्युलोक में उदय होनेवाले ज्ञानसूर्य को वासनारूप शत्रु का ग्रास होने से आप बचाते हो और इस प्रकार प्राणसाधना के द्वारा ज्ञानसूर्य चमक उठता है। २. ज्ञानसूर्य के चमक उठने से **मन्धातारम्**=(मन्=ज्ञान) ज्ञान के धारण करनेवाले इस व्यक्ति को आप **क्षैत्रपत्येषु**=शरीररूप क्षेत्र के रक्षण में (**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**) **आवतम्**=(अव सामर्थ्ये) समर्थ करते हो। जहाँ यह ज्ञानी बनता है, वहाँ शरीर का रक्षण करके शरीर को भी सुदृढ़ बनानेवाला होता है। ज्ञान के दृष्टिकोण से यह एक 'ऋषि' होता है तो शरीर के दृष्टिकोण से मल्ल बनता है। ३. हमें उन रक्षणों के साथ प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे आप **वि-प्रम्**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **भरद्वाजम्**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले को **प्र, आवतम्**=आप आनन्दित करते हो (give pleasure to)। वस्तुतः इन प्राणों की साधना से ही वह अपना पूरण कर पाता है और अपने में शक्ति भर पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का उदय करती है, वह हमें शरीररूप क्षेत्र का रक्षण में समर्थ करती है। यह हमें 'विप्र और भरद्वाज' बनाती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

शम्बर-हत्या

याभिर्महामतिथिग्वं कशोजुवं दिवोदासं शम्बरहत्य आवतम्।
याभिः पूर्भिद्ये त्रसदस्युमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ १४॥

हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ताभिः**=उन **ऊतिभिः**=रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **महाम्**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पूजन करनेवाले को **अतिथिग्वम्**=पूजन के द्वारा उस सतत क्रियाशील (अत सातत्यगमने) प्रभु की ओर जानेवाले को **कशोजुवम्**=(कशांसि उदकानि जवयति—नि० १।१२ के०) प्रभु की ओर चलने के लिए रेतःकणों के रूप में शरीरस्थ जलों की ऊर्ध्वगति करनेवाले को **दिवोदासम्**=शक्ति की ऊर्ध्वगति से प्राप्त ज्ञान के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाले को **शंबरहत्ये**=(शम्=शान्ति, वर=पर्दा डालनेवाला) शान्ति पर पर्दा डाल देनेवाले ईर्ष्यारूप असुर (आसुरवृत्ति) के विनाश में **आवतम्**=समर्थ करते हो। यह प्राणसाधना हमें प्रभुपूजक बनाती है। हम प्रभु की ओर चलनेवाले होते हैं। शक्ति की ऊर्ध्वगति के द्वारा प्राप्त ज्ञान से हम आसुरवृत्तियों को नष्ट करते हैं। ईर्ष्या को नष्ट करके हम मानस शान्ति प्राप्त करते हैं। २. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **पूर्भिद्ये**=काम-क्रोध-लोभरूप असुरों से बनायी गई पुरियों का विदारण करने में **त्रसदस्युम्**=जिससे भयभीत होते हैं, उस त्रसदस्यु को आप **आवतम्**=समर्थ करते हैं। प्राणसाधना से ही हम त्रसदस्यु बनते हैं और यह साधना ही हमें असुर पुरियों का विदारण करने में समर्थ करती है। काम की नगरी के विध्वंस से इन्द्रियों की शक्ति जीर्ण नहीं होती, क्रोधनगरी के विध्वंस से मन शान्त होता है और लोभनगरी का विध्वंस बुद्धि को स्वस्थ रखता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ईर्ष्या नष्ट होती है। इससे काम, क्रोध, लोभ दूर होते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

वम्र-पृथि

याभिर्वम्रं विपिपानमुपस्तुतं कलिं याभिर्वित्तजानिं दुवस्यथः।
याभिर्व्यश्वमुत पृथिमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ १५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **वम्रम्**=प्राणों का प्रच्छर्दन व विधारण करनेवाले को **दुवस्यथः**=आप उचित फल प्राप्त (to reward) कराते हो। प्राणसाधना में पहली क्रिया वमन व प्रच्छर्दन ही है। यही क्रिया 'रेचक' प्राणायाम कहलाती है। इस क्रिया के बारम्बार करने पर शरीर से रोग निकल जाते हैं और शरीर में शक्ति की ऊर्ध्व गति होती है। इस प्रकार यह साधक 'विपिपान' बनता है। **विपिपानम्**=शक्ति को शरीर में ही पीनेवाले (Imbibe), अर्थात् शक्ति की ऊर्ध्वगति से इसे शरीर में ही व्याप्त करनेवाले को आप रक्षित करते हो। इस 'विपिपान' को उचित फल प्राप्त कराते हो। यह विपिपान अब उपस्तुत बनता है। इस **उपस्तुतम्**=उपस्तुत को प्राणापान उचित फल प्राप्त कराते हैं। संसार से अपने को पृथक् करके प्रभु के समीप बैठकर (उप) उसका स्तवन करनेवाला 'उपस्तुत' है। इस स्तवन से उसके अन्दर भी वैसा ही बनने की प्रेरणा उठती है। यह स्तोता अब 'कलि' बनता है। **कलिम्**=(कल संख्याने) इस संख्यान व विचार करनेवाले को आप उचित फल देते हो। संसार में उन्नति वही कर पाता है जो

विचारशील बनता है। २. हे प्राणापानो! हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **वित्तजानिम्**=(वित्तं जाया यस्य) धन को धर्मपत्नी बनानेवाले को **दुवस्यथः**=उचित फल प्राप्त कराते हो। धर्मपत्नी जैसे यज्ञादि उत्तम कर्मों में सहायता करती है उसी प्रकार धन इसके लिए यज्ञादि कर्मों में सहायक होता है। ३. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **व्यश्वम्**=विशिष्ट इन्द्रियाश्ववाले को **आवतम्**=रक्षित करते हो **उत**=और जिनसे **पृथिम्**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत हृदयवाले को रक्षित करते हो। वस्तुतः प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर मनुष्य 'व्यश्व' बनता ही है, साथ ही उसका हृदय भी राग-द्वेष से ऊपर उठकर विशाल होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'वम्र, विपिपान, उपस्तुत, कलि, वित्तजानि, व्यश्व और पृथि' बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

'शयु-अत्रि-मनु' व स्यूमरश्मि

याभिर्नरा शयवे याभिरत्रये याभिः पुरा मनवे गातुमीषथुः।
याभिः शारीराजतं स्यूमरश्मये ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ १६॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **नरा**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले आप **शयवे**=(शी=Tranquility) शान्तस्वभाव पुरुष के लिए **गातुम्**=मार्ग को **ईषथुः**=प्राप्त कराते (ईष=to give) हो। **याभिः**=जिन रक्षणों से आप **अत्रये**=(अविद्यमानाः त्रयो यस्य) काम, क्रोध, लोभ से ऊपर उठनेवाले पुरुष के लिए मार्ग प्राप्त कराते हो तथा **याभिः**=जिन रक्षणों से आप **पुरा**=सबसे प्रथम **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए मार्ग प्राप्त कराते हो। भावना यह है कि प्राणसाधना के द्वारा मनुष्य उस मार्ग पर चलता है जिससे वह शान्तस्वभाव (शयु), काम, क्रोध, लोभ को जीतनेवाला (अत्रि) व विचारशील (मनु) बनता है। २. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **स्यूमरश्मये**=(स्यूम=Happiness) ज्ञानरश्मियों में आनन्द लेनेवाले पुरुष के लिए **शारीः**=(शारि=fraud) छल-छिद्र की भावनाओं को **आजतम्**=कम्पित करके सर्वथा दूर करते हो (अज गतिक्षेपणयोः)। प्राणसाधना के द्वारा मनुष्य को ज्ञान में रुचि उत्पन्न होती है। उसे ज्ञान-प्राप्ति में ही आनन्द आता है और इसे छल-छिद्र से घृणा होती है। यह छल-छिद्र की रुचिवाला नहीं होता। यह छल-छिद्र इसे मृत्युमार्ग प्रतीत होता है। सरलता को ही यह ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग समझता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'शयु, अत्रि व मनु' बनते हैं। स्यूमरश्मि बनकर छल-छिद्र से हम ऊपर उठते हैं।

ऋषिः—**कुत्स—आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

पठर्वा

याभिः पठर्वा जठरस्य मज्मनाग्निर्नादीदेच्चित इद्धो अज्मन्ना।
याभिः शर्यातमवथो महाधने ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ १७॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिन रक्षणों से **पठर्वा**=(पठनं गच्छति) स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **जठरस्य**=उदर के **मज्मना**=शोधक बल से, जाठराग्नि के ठीक कार्य करने

के कारण धातुओं की ठीक उत्पत्ति से प्राप्त शारीरिक बल के द्वारा **अज्मन्**=संग्राम में **आ**=चारों ओर **अदीर्दत्**=ऐसा चमकता है **न**=जैसेकि **चितः**=जिसके लिए काष्ठों का चयन किया गया है, वह **इद्धः**=दीप्त **अग्निः**=अग्नि चमकती है। ज्ञान और शक्ति का समन्वय उसे अग्निवत् दीप्त करनेवाला होता है। २. हमें उन रक्षणों को प्राप्त कराओ **याभिः**=जिन रक्षणों से **शर्यातम्**=(शृणातीति शरु, तं प्रति यातं यस्य) हिंसक शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले को **महाधने**=इस महान् संग्राम में **अवथः**=रक्षित करते हो। प्राणसाधना के द्वारा मनुष्य 'शर्यात' बनता है। हमारी हिंसा करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभादि' शत्रुओं को यह विनष्ट करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हमारी बुद्धि तीव्र होती है, हम पर्वा (स्वाध्यायशील) बनते हैं। इस साधना से जाठराग्नि दीप्त होकर बल को बढ़ाती है। प्राणसाधना हमें हिंसक शत्रुओं की हिंसा करने में समर्थ करती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**आश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मनु शूर

याभि॑रङ्गिरो॒ मन॑सा निर॒ण्यथोऽग्रं॒ गच्छ॑थो वि॒वरे॒ गोअ॑र्णसः।
याभि॒र्मनुं॒ शूर॑मि॒षा स॒माव॑तं॒ ताभि॑रू॒ षु ऊ॒तिभि॑रश्वि॒ना ग॑तम्॥ १८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **अङ्गिरः**=(अगि गतौ, अङ्गिर्, अङ्गी, अङ्गिरौ, अङ्गिरः) गतिशील पुरुष को **मनसा**=ज्ञान के द्वारा **निरण्यथः**=(नितरां रमयथः=सा०) नितरां (अत्यन्त पूर्णतः) आनन्दित करते हो। प्राणसाधना से मनुष्य की क्रियाशीलता में वृद्धि होती है (अङ्गिर्) वह ज्ञान में रमण करनेवाला बनता है। हे प्राणापानो! आप उन रक्षणों से हमें प्राप्त होओ जिनसे कि **गो अर्णसः**=वेदवाणीरूपी इस **अर्णीय**=(प्राप्त करने योग्य) धन के **विवरे**=प्रकट करने में **अग्रं गच्छथः**=आप सबसे प्रमुख स्थान में होते हो। प्राणसाधना से ही बुद्धि तीव्र होती है और वह वेद के सूक्ष्म अर्थों को समझनेवाली बनती है। ३. उन रक्षणों से हमें प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **मनुम्**=ज्ञानी, **शूरम्**=शूरवीर पुरुष को **इषा**=उत्तम प्रेरणा के द्वारा **आवतम्**=सुरक्षित करते हो। प्राणसाधना बुद्धि की तीव्रता से मनुष्य को 'मनु' बनाती है, शक्तिवर्धन से यह मनुष्य को शूर बनानेवाली है और हृदय की मलिनताओं को दूर करके हमें हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनने योग्य करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम सूक्ष्म अर्थों को ग्रहण करनेवाली बुद्धि से युक्त हों और शूर बनकर वासनारूप शत्रुओं का संहार करते हुए अपना रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराट्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

विमद, सुदास

याभिः॒ पत्नी॑र्वि॒मदा॑य न्यू॒हथु॒रा घ॑ वा॒ याभि॑ररु॒णीरशि॑क्षतम्।
याभिः॑ सु॒दास॑ ऊ॒हथुः॑ सुदे॒व्यं१॒॑ ताभि॑रू॒ षु ऊ॒तिभि॑रश्वि॒ना ग॑तम्॥ १९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **विमदाय**=मदशून्य, विनीत पुरुष के लिए **पत्नीः**=यज्ञादि उत्तम कार्यों में हमारा संयोग करनेवाली वेदवाणीरूप पत्नियों को **न्यूहथुः**=निश्चय से प्राप्त कराते हो। वेदवाणी विमद की पत्नी बनती है। यह उसे यज्ञादि उत्तम कर्म के लिए प्रेरणा देती है

और उसे पतन से बचाती है। २. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे **घ वा**=निश्चयपूर्वक **अरुणीः**=आरोचमान ज्ञान की किरणों को **अशिक्षतम्**=सब प्रकार से देते हो। प्राणसाधना से बुद्धि खूब तीव्र बनती है और साधक देदीप्यमान ज्ञान की किरणों को प्राप्त करनेवाला बनता है। ३. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ, **याभिः**=जिन रक्षणों से **सुदासे**=उत्तम दान देनेवाले के लिए **सुदेव्यम्**=व्यवहार-साधक उत्तम धन को (दिव्=व्यवहार) **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना करनेवाला स्वस्थ व सबल बनकर जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन को अवश्य ही प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से विमद बनकर हम वेदवाणीरूप पत्नी को प्राप्त करते हैं, तीव्रबुद्धि होकर आरोचमान ज्ञान की किरणों को प्राप्त करनेवाले होते हैं, कल्याणदान (सुदास) बनकर उत्तम व्यवहार-साधक धन को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

भुज्यु-अध्रिगु

याभिः शन्ताती भवथो ददाशुषे भुज्युं याभिरवथो याभिरध्रिगुम्।
ओम्यावतीं सुभरामृतस्तुभं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ २०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिन रक्षणों से आप **ददाशुषे**=यज्ञशील पुरुष के लिए, प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **शन्ताती**=शान्ति का विस्तार करनेवाले **भवथः**=होते हो। प्राणसाधना से चित्त की निर्मलता होकर 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' आदि का नाश होकर शान्ति प्राप्त होती है, मनुष्य यज्ञिय वृत्तिवाला बनता है और प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला होता है। २. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **भुज्युम्**=अपने शरीर के पालन के लिए भोजन करनेवाले को—प्राणयात्रिक मात्र भोजनवाले को—कभी भी स्वादवश अधिक भोजन न करनेवाले को **अवथः**=आप रक्षित करते हो। प्राणसाधना से ही इन्द्रियों को हम जीतते हैं। स्वादेन्द्रिय का भी विजय करके हम 'भुज्यु' बनते हैं। ३. उन रक्षणों से हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **अध्रिगुम्**=(अधृतगमनम्—आप्टे=Irresistible) जिसकी गति कहीं भी विघ्नों से रुक नहीं सकती, उस पुरुष को रक्षित करते हो। प्राणसाधना से मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त होती है जोकि उसे विघ्नों से भयभीत नहीं होने देती। ४. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ जिनसे **ओम्यावतीम्**=अपना रक्षण करनेवाली को **सुभराम्**=उत्तमता से अपना भरण करनेवाली को तथा **ऋतस्तुभम्**=(ऋतं स्तोभते धरति) ऋत का धारण करनेवाली को आप रक्षित करते हो। ऋत का भाव यह है कि प्रत्येक कार्य को अपने समय पर करना। प्राणसाधना से हम अपना रक्षण करनेवाले होते हैं और हमारे कर्मों में बड़ी नियमितता आ जाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जहाँ शान्ति प्राप्त होती है, वहाँ हम अपना उत्तमता से पालन करनेवाले व व्यवस्थित जीवनवाले बनते हैं। हमें इतनी शक्ति प्राप्त होती है कि हम 'अधृतगमन' होते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

शान्त यौवन

याभिः कृशानुमसने दुवस्यथो जवे याभिर्यूनो अर्वन्तमावतम्।
मधु प्रियं भरथो यत्सरड्भ्यस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ २१॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **असने**=शत्रुओं को दूर फेंकने में (अस् क्षेपणे) **कृशानुम्**=अग्नि की भाँति अवाञ्छनीय वस्तुओं को दग्ध करनेवाले को **दुवस्यथः**=आप सेवित करते हो। प्राणसाधना से मनुष्य को शक्ति प्राप्त होती है। वह कृश से कृशानु बन जाता है— दुर्बल से अग्नि की भाँति बलवान्। अग्नि बनकर यह अवाञ्छनीय वासनाओं का दहन कर देता है। २. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **जवे**=वेग में, इधर-उधर भटकने में, प्रबल वेग से विषयों की ओर जाने में **यूनः**=युवक के **अर्वन्तम्**=इन्द्रियाश्व को **आवतम्**=रक्षित करते हो। इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाती हैं—बड़े प्रबल वेग से वे विषयों की ओर आकृष्ट होती हैं। विशेषतः युवक के जीवन में इन इन्द्रियों में सदा उबाल आया रहता है। प्राणसाधना इन इन्द्रियों का रक्षण करती है और उनकी विषयाभिरुचि को न्यून करती है। ३. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ जिनसे **सरड्भ्यः**=मधुमक्षिकाओं के लिए **यत् मधु**=जो शहद **प्रियम्**=अत्यन्त प्रीणित करनेवाला व कान्त है, उस मधु को **भरथः**=आप पोषित करते हो। प्राणापान की शक्ति से ही मक्षिकाएँ मधु का सम्पादन कर पाती हैं। मक्खियाँ ही क्या, सब पशु-पक्षी प्राणापान के द्वारा ही उस-उस वस्तु का निर्माण करते हैं। गौएँ भी दूध का निर्माण इस प्राणशक्ति के आधार पर ही कर पाती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से अग्नि की भाँति तेजस्वी बनकर हम वासनाओं को दग्ध करते हैं। इसी से हम यौवन के अशान्त जीवन को शान्त बनाते हैं। इसी से हम उस-उस निर्माणात्मक कार्य को कर पाते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

रथ और घोड़े

याभिर्नरं गोषुयुधं नृषाह्ये क्षेत्रस्य साता तनयस्य जिन्वथः।
याभी रथाँ अवथो याभिरर्वतस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ २२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **नृषाह्ये**=संग्राम में **नरम्**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले को **गोषुयुधम्**=इन्द्रियविषयक युद्ध करनेवाले को **जिन्वथः**=तुम प्रीणित करते हो। इन्द्रिय-विषयक युद्ध यही है कि विषय इन्हें अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, हम मन-रूप लगाम के द्वारा इन इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकते हैं। इनको रोकनेवाला व्यक्ति 'नर' बनता है—आगे बढ़नेवाला होता है। २. हे प्राणापानो! आप ही **क्षेत्रस्य**=इस शरीररूप क्षेत्र की **साता**=प्राप्ति में तथा **तनयस्य**=शक्तियों के विस्तार की प्राप्ति अथवा (तनयं धनम्—सा०) धन की प्राप्ति में प्रीणित करते हो। प्राणसाधना के द्वारा ही मनुष्य शरीर को स्वाधीन करनेवाला होता है। यह स्वाधीनता ही इसे शक्तियों का विस्तार प्राप्त कराती है। इसी से यह धन का भी विजय करता है। ३. हे प्राणापानो! हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ **याभिः**=जिनसे आप **रथान्**=इन शरीर-रथों का **अवथः**=रक्षण करते हो तथा **याभिः**=जिनसे **अर्वतः**=इन्द्रियरूप अश्वों का रक्षण करते हो। प्राणसाधना से शरीर स्वस्थ बनता है और इन्द्रियाँ सशक्त।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोक पाता है। शरीर को स्वस्थ बनाकर अपनी शक्तियों का विस्तार करता है। इस साधना से जहाँ शरीररूप रथ उत्तम बनता है, वहाँ इन्द्रियरूप घोड़े भी सशक्त व विषयों से अनासक्त बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

कुत्स पुरुषन्ति

याभिः कुत्समार्जुनेयं शतक्रतू प्र तुर्वीतिं प्र च दभीतिमावतम्।
याभिर्ध्वसन्तिं पुरुषन्तिमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ २३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः ऊतिभिः**=उन रक्षणों से **उ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे हे **शतक्रतू**=शतवर्ष पर्यन्त सतत कर्म करनेवाले प्राणो! आप **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले को और **आर्जुनेयम्**=(अर्जुन=श्वेत) श्वेत व शुद्ध जीवनवाले को **आवतम्**=रक्षित करते हो। प्राणसाधना से मनुष्य वासनाओं का संहार करके शुद्ध जीवनवाला बनता है। २. उन रक्षणों से हमें प्राप्त होओ। जिनसे आप **तुर्वीतिम्**=विघ्नों का हिंसन करनेवाले को **प्र आवतम्**=प्रकर्षेण रक्षित करते हो और **दभीतिम्**=(दभ=to go) विघ्नध्वंस के द्वारा आगे बढ़ानेवाले होते हो। ३. हमें उन रक्षणों से प्राप्त होओ, **याभिः**=जिनसे **ध्वसन्तिम्**=सब वासनाओं का ध्वंस करनेवालों को और **पुरुषन्तिम्**=(बहूनां विभाजितारम्-द०) खूब ही धनों का संविभाग व त्याग करनेवाले को **आवतम्**=रक्षित करते हो अथवा (पुरुष+अन्ति) वासना-विध्वंस के द्वारा परम पुरुष परमात्मा के समीप आनेवाले को आप जिन रक्षणों से रक्षित करते हो, उन्हीं से हमें प्राप्त होओ। ४. प्राणसाधना से हम (क) 'कुत्स' बनकर 'आर्जुनेय' बनते हैं—काम, क्रोध, लोभ का हिंसन कर शुद्ध जीवनवाले होते हैं, (ख) इससे 'तुर्वीति' बनकर हम 'दभीति' बनते हैं, विघ्न-विध्वंस करके आगे बढ़नेवाले होते हैं, (ग) 'ध्वसन्ति' बनकर 'पुरुषसन्ति' होते हैं—अशुभ व पाप का विध्वंस करके प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'कुत्स, आर्जुनेय, तुर्वीति, दभीति तथा ध्वसन्ति व पुरुषन्ति' बनाती है।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अप्नस्वती वाणी

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्।
अद्यूत्येऽवसे नि ह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ॥ २४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अस्मे**=हमारी **वाचम्**=वाणी को **अप्नस्वतीम्**=प्रशस्त कर्मोंवाला **कृतम्**=कीजिए। हम वाग्वीर ही न बने रहें, जो कुछ बोलें उसके अनुसार कर्म करनेवाले हों। २. हे **दस्रा**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले तथा **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! आप **नः**=हमारी **मनीषाम्**=बुद्धि व विचारशक्ति को **कृतम्**=अतिपरिष्कृत बना दीजिए। हमारी बुद्धि ठीक विचार ही देनेवाली हो। बुद्धि के ठीक होने पर विचारों की उत्तमता से हमारे दुःख दूर होते हैं और सुखों की वृद्धि होती है। ३. हे प्राणापानो! मैं **वाम्**=आपको **अद्यूत्ये**=जो, (द्यूत) जूए से नहीं कमाया गया उस **अवसे**=(अवस्=wealth) धन के लिए **निह्वये**=निश्चय से पुकारता हूँ। प्राणसाधना करनेवाला श्रम से ही धनार्जन को ठीक समझता है, वह द्यूतवृत्ति से धन को कभी नहीं कमाता और ४. यह प्रार्थना करता है कि हे प्राणापानो! आप **वाजसातौ**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त अथवा इस जीवन-संग्राम में **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भवतम्**=होओ। प्राणसाधना के द्वारा शक्ति की ऊर्ध्वगति होने पर हम शक्ति-सम्पन्न बनते हैं और संसार-संग्राम

में सदा विजयी होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम (क) वाणी के अनुसार कर्म करनेवाले होते हैं, (ख) हमारी बुद्धि परिष्कृत होती है, (ग) हमें श्रम से धनार्जन रुचिकर होता है, (घ) संसार-संग्राम में हम विजयी बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्स आङ्गिरसः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अरिष्ट-सौभग

द्युभि॑र॒क्तुभि॒: परि॑ पातम॒स्मानरि॑ष्टेभिरश्विना॒ सौभ॑गेभिः।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑तिः॒ सिन्धु॑ः पृथि॒वी उ॒त द्यौः ॥ २५ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **अस्मान्**=हमें **द्युभिः अक्तुभिः**=दिन और रात, अर्थात् सदा **परिपातम्**=चारों ओर से रक्षित कीजिए। दिन के प्रारम्भ में, अर्थात् प्रातःकाल भी यह प्राणसाधना अभीष्ट है और रात्रि के प्रारम्भ में, अर्थात् सायंकाल भी यह प्राणसाधना करनी होती है। प्राणसाधना करने से हमें सब सौभग प्राप्त होते हैं। **अरिष्टेभिः**=जिनसे हिंसा नहीं होती उन **सौभगेभिः**=सौभगों के द्वारा हमारा रक्षण कीजिए। ये सौभग ही जीवन के प्रातःकाल में 'समग्र ऐश्वर्य और धर्म' हैं, जीवन के मध्याह्न में ये 'यश और श्री' के रूप में हैं तथा जीवन के सायंकाल में इनका स्वरूप 'ज्ञान व वैराग्य'=अनासक्ति होता है। ये सब सौभग हमारी हिंसा नहीं होने देते। २. **तत्**=हमारे इस सौभग-प्राप्ति के संकल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण—मित्रता तथा निर्द्वेषता, **अदितिः**=स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=रेतःकणों के रूप में शरीरस्थ जल, **पृथिवी**=दृढ़शरीर **उत**=और **द्यौः**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें। मैं सबके साथ स्नेह से चलूँ द्वेष से ऊपर उठूँ, स्वास्थ्य को ठीक रखते हुए शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला बनूँ, दृढ़शरीर व दीप्त मस्तिष्क को सिद्ध करके सब सौभगों को प्राप्त करनेवाला होऊँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें सब सौभग प्राप्त होते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता आदि की भावनाएँ हमें सौभग-प्राप्ति के संकल्प को पूर्ण करने में सफल करती हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहते हैं कि प्राणसाधना से हम प्रभु के छोटे रूप बनते हैं (१), और समाप्ति पर कहा है कि यह साधना हमें सब सौभग प्राप्त कराती है (२५)। अब हमारे जीवन में शुभ उषाकाल का प्रादुर्भाव होता है।

इति प्रथमाष्टके सप्तमोऽध्यायः

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है, ''हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।''

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२७२

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रान्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो॰ राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रुचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(अथ प्रथमं मण्डलम्)

(११३–१९१ सूक्तम्)

एवं

(द्वितीयं मण्डलम्)

(१–४३ सूक्तम्)

[द्वितीयं भागः]

भाष्यकार :

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

अनुष्ठानकर्त्ता :

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)–३२२ २३०

ISBN-978-93-80209-11-1

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
"अभ्युदय" भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०-९८८७४-५२९५९

संस्करण : २०६७ विक्रमी संवत्, २०१० ई०

मूल्य : ३५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि-निवास, नया बाजार, दिल्ली-११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

३. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्यपुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी, बरेली (उ०प्र०) चलभाष : ०९८९७८८०९३०

शब्द-संयोजक : **आर्य लेज़र प्रिंट्स,** हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक : **राधा प्रेस, कैलाश नगर, दिल्ली-३१**

वेदनिधि के सहयोगी

स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती, नई दिल्ली

आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी होशंगाबाद (म०प्र०)

श्री हरिश्चन्द्र सांगिल्यानी दाहोद, (गुजरात)

प्रिय गौरीश, आपकी स्मृति में–
श्रीमती गरिमा गोयल-श्री गणेशदास गोयल

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी आगरा (उ०प्र०)

श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल

श्री मित्रायणु
माडल टाउन, दिल्ली

श्री कृष्ण चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)

श्रीमती रक्षा चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)

श्री गोपालचन्द्र
बरमिंघम (यू०के०)

श्री राधेश्याम, दिल्ली
(श्री मनोहर विद्यालंकार)

स्वामी श्री श्रद्धानन्द सरस्वती
अलीगढ़ (उ०प्र०)

श्री प्रशान्तकुमार आर्य
(स्मृति में–परिवारीजन)

आर्यसमाज (वैदिक मिशन)
वैस्ट मिडलैण्ड्स,
बरमिंघम (यू०के०)

श्री गोपालचन्द्र
बरमिंघम (यू०के०)

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

अथ प्रथमं मण्डलम्

अथ प्रथमाष्टकेऽष्टमोऽध्यायः

[११३] त्रयोदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उषा का प्रादुर्भाव

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥ १॥

१. **इदम्**=यह **श्रेष्ठम्**=प्रशस्यतम **ज्योतिषां ज्योतिः**=ज्योतियों में उत्तम ज्योति **आगात्**=आई है। यह उषा का प्रकाश **चित्रः**=अद्भुत है, **प्रकेतः**=प्रकृष्ट निवास को देनेवाला तथा रोगों को दूर भगानेवाला है (कित निवासे रोगापनयने च)। यह उषा का प्रकाश **विभ्वा**=उस विभु परमात्मा के साथ **अजनिष्ट**=प्रादुर्भूत होता है, अर्थात् यह प्रकाश प्रभु के ध्यान की ओर प्रेरित करता हुआ हमें प्रभु के समीप ले-जानेवाला होता है। इस समय को इसी दृष्टिकोण से 'ब्राह्ममुहूर्त'—यह नाम दिया जाता है। इस समय वायुमण्डल में ओज़ोन की मात्रा अधिक होती है, इसी से यह समय 'प्रकेतम्' निवास (चेतना=बौद्धिक विकास) को उत्तम बनानेवाला कहा गया है। २. **यथा**=जिस प्रकार **प्रसूता**=उत्पन्न हुई-हुई यह उषा **सवितुः सवायँ**=सूर्य के आगमन के लिए अपने स्थान को रिक्त कर देती है **एव**=इसी प्रकार **रात्रि**=रात **उषसे**=उषा के लिए **योनिम् आरैक्**=स्थान खाली कर देती है। रात्रि जाती है और उषा आती है। उषा जाती है और सूर्य उसका स्थान लेकर अपने मार्ग का आक्रमण करने लगता है।

भावार्थ—उषा का प्रकाश श्रेष्ठतम है—न शीतल न उष्ण, न अस्पष्ट और न अत्यन्त प्रचण्ड। यह ओज़ोन गैस की अधिकता के कारण हमारे निवास को उत्तम बनाता है और रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः, उत्तरार्धस्य रात्रिरपि। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रात्रि व उषा का चक्र

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥ २॥

१. यह उषा **रुशद्वत्सा**=देदीप्यमान सूर्यरूप वत्सवाली है। सूर्य मानो उषा का पुत्र है। उषा के पश्चात् ही तो सूर्य आता है तथा ओसकणों के रूप में उषा के दुग्ध को यह सूर्य पीता है। **उ**=निश्चय ही **रुशती**=यह देदीप्यमान है, अपने अद्भुत प्रकाश से **श्वेत्या**=श्वेतवर्णवाली यह उषा **आगात्**=आती है। **कृष्णा**=अन्धकार के कारण कृष्णवर्णवाली रात्रि **अस्याः सदनानि**=इस

उषा के स्थानों को **आरैक्**=खाली कर देती है, रात्रि का स्थान उषा लेती है। २. ये दोनों **समानबन्धू**=समान रूप से सूर्य के साथ सम्बद्ध हैं। अस्त होते हुए सूर्य के साथ रात्रि का सम्बन्ध है तो उदय होते हुए सूर्य के साथ उषा का। एक ओर सूर्य रात्रि से सम्बद्ध है, दूसरी ओर उषा से। **अमृते**=ये रात्रि और उषा दोनों अमृत हैं—प्रवाहरूप से सदा चलनेवाली हैं। प्रत्येक उषा व प्रत्येक रात्रि तो समाप्त होती है, परन्तु इनका यह चक्र चलता रहता है। **अनूची**=(अनु अञ्चु गतिपूजनयोः) ये एक-दूसरे के पीछे आनेवाली हैं। रात्रि के पश्चात् उषा और उषा के बाद रात्रि। यह क्रम कभी समाप्त नहीं होता। ये दोनों **वर्णम्**=एक-दूसरे के वर्ण को **आमिनाने**=हिंसित करती हुई **द्यावा चरत**=आकाश में गति करती हैं। उषा रात्रि के कृष्णवर्ण को समाप्त करती है और रात्रि दिन के श्वेतवर्ण को समाप्त कर देती है—अथवा ये दोनों उषा व रात्रि प्राणियों के वर्ण को समाप्त करती हुईं आकाश में गति करती हैं। उषा और रात्रि की गति से आयुष्य का क्षय होकर जीर्णता आती है और इस प्रकार तेजस्विता का रूप मन्द होता जाता है।

भावार्थ—उषा आती है, रात्रि उसके लिए स्थान खाली कर देती है। एक-दूसरे के पश्चात् निरन्तर आती हुईं ये उषा और रात्रि आकाश में गति करती हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'विरूप पर समनस्'

समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥ ३॥

१. उषा और रात्रि परस्पर स्वसा (बहिने) हैं (सु+अस्)। इन दोनों के कारण हमारी स्थिति उत्तम होती है। उषा अद्भुत प्रकाश व ओज़ोन गैस के प्राचुर्य के द्वारा हमारी स्थिति को अच्छा बनाती है। 'रात्रि' विश्राम देते हुए सब थकावट दूर करती है और हमें फिर से तरोताज़ा (प्रफुल्ल) कर देती है। इस प्रकार ये दोनों 'स्वसा' हैं। इन **स्वस्रोः**=स्वसाओं का **अध्वा**=मार्ग **समानः**=समान है—दोनों ही अन्तरिक्ष-मार्ग से गति करती हैं। यह मार्ग **अनन्तः**=अनन्त है। 'कभी इस मार्ग का अन्त आ जाएगा और उषा व रात्रि न होंगी'—ऐसी बात नहीं है। **तम्**=उस मार्ग पर **अन्यान्या**=एक-एक करके, बारी-बारी **चरतः**=ये चलती हैं। रात्रि आती है, उसके बाद उषा आती है, फिर रात्रि, फिर उषा और यह क्रम चलता ही रहता है। २. ये रात्रि और उषा **देवशिष्टे**=उस देव के अनुशासन में चल रही हैं। प्रभु के अनुशासन में सारा ब्रह्माण्ड ही चलता है, उषा व रात्रि भी उसी से शिष्ट होकर अपने मार्ग पर चल रही हैं। प्रभु के अनुशासन में चलने के कारण **न मेथेते**=ये टकरा नहीं जातीं, किसी की हिंसा का कारण नहीं बनतीं, **न तस्थतुः**=रुकती भी नहीं। इनकी गति का अवसान नहीं हो जाता। **सु-मेके**=अत्युत्तम निर्माण-(Make formation)-वाली ये हैं। हमारे जीवनों का भी ये उत्तम निर्माण करती हैं। ये **नक्तोषासा**=रात्रि व उषा **विरूपे**=भिन्न-भिन्न व विरुद्ध रूपवाली हैं, रात्रि 'कृष्णा' है तो उषा 'श्वेत्या' है, परन्तु विरुद्ध रूपवाली होती हुई भी ये उषा व रात्रि **समनसा**=समान मनवाली हैं। दोनों मिलकर सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त होती हैं। इस प्राणिहित के कार्य में ये एक-दूसरे की पूर्ति करनेवाली हैं। एवं रूप में विरुद्ध, कार्य में एक।

भावार्थ—रात्रि व उषा प्रभु के शासन में चलती हुई रूप में विरुद्ध होती हुई भी कार्य में एक हैं। ये सब प्राणियों के लिए हितकर हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रकाशमयी उषा

भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः।
प्राप्या जगद्व्यु नो रायो अख्यदुषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ४॥

१. यह उषा **भास्वती**=प्रकाशवाली है, **सूनृतानाम्**=प्रिय, सत्यवाणियों की **नेत्री**=प्रणयन करनेवाली है। इस उषा में पशु-पक्षियों के कलरव तो होते ही हैं, भक्तों की प्रभुस्तवन की वाणियों का उच्चारण भी इसी समय होता है। यह उषा **चित्रा**=(चायनीया—सा०) अद्भुत व पूजनीय **अचेति**=जानी जाती है। उषा स्वयं स्तुत्य है, परन्तु प्रभुस्तवन का सर्वोत्तम काल होने से भी यह चित्रा कहलाती है। यह उषा **नः**=हमारे **दुरः**=इन्द्रिय-द्वारों को **वि आवः**=खोल देती है। रात्रि के समय सब इन्द्रियों ने कार्य करना बन्द कर दिया था, अब यह उषा उन सब इन्द्रियों को कार्यप्रवृत्त कर देती है—मानो सब द्वारों को खोल देती है। २. **उ**=और यह उषा **जगत् प्राप्या**=सम्पूर्ण जगत् को प्रकाश प्राप्त कराके **नः रायः**=हमारे धनों को **वि अख्यत्**=विशेष रूप से प्रकट करती है। उषाकाल में ही प्रबुद्ध होकर हम ऐश्वर्यार्जन के योग्य बनते हैं, इसी समय हमारी इन्द्रिय-शक्तियों का प्रकाश होता है। ३. वस्तुतः **उषा**=उषा **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों व प्राणियों को **अजीगः**=फिर से उद्गीर्ण करती है। रात्रि ने सब भुवनों को अन्धकार से आवृत करके निगल-सा लिया था, उषा में वे सब भुवन पुनः प्रकट हो जाते हैं। उषा उन लोकों को प्रकाश में लाकर मानो फिर से उत्पन्न कर देती है।

भावार्थ—यह उषाकाल प्रिय एवं सत्य वाणियों के उच्चारण का समय है। सर्वत्र प्रकाश करती हुई यह उषा सब भुवनों को नवजीवन देती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

मघोनी उषा का आगमन

जिह्मश्ये३ चरितवे मघोन्याभोगय इष्टये राय उ त्वम्।
दभ्रं पश्यद्भ्य उर्विया विचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ५॥

१. यह **मघोनी**=ऐश्वर्यवाली उषा **जिह्मश्ये**=(जिह्मं वक्रं शयानाय—सा०) कुछ मुड़-तुड़कर सोये हुए मनुष्य के लिए **चरितवे**=स्वापेक्षित वस्तु के प्रति जाने के लिए होती है। **त्वं आभोगये**=किसी एक (त्व—एक) के प्रति शब्दादि विषयों के भोग के लिए होती है, **इष्टये**=किसी दूसरे के प्रति यह यज्ञ के लिए होती है **उ**=और किसी अन्य के लिए **राये**=यह ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए होती है। इस उषा में जागकर कोई भोगों की ओर झुकता है, कोई यज्ञों की ओर और कोई धनों की ओर। २. रात्रि के अन्धकार में **दभ्रम्**=बहुत ही अल्प **पश्यद्भ्यः**=देखनेवालों के लिए यह **उर्विया**=खूब विस्तार से **विचक्षे**=विशिष्ट प्रकाश व दर्शन के लिए होती है। रात्रि के अन्धकार में दृष्टि कुछ ही पगों तक जाती थी, अब उषा होने पर इस उषा के प्रकाश में दृष्टि दूर तक जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि उषा ने उन **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को फिर से **अजीगः**=उद्गीर्ण कर दिया है, जिन्हें रात्रि का अन्धकार निगल गया था।

भावार्थ—उषा आती है और सभी को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त करती है, कोई भोग भोगने में लगता है, कोई यज्ञ में और कोई धन-प्राप्ति के कार्यों में।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विसदृश जीवनों का दर्शन

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।
विसदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ६॥

१. यह उषा **त्वम्**=किसी एक के प्रति **क्षत्राय**=बल-सम्पादनरूप कार्य के लिए प्रकट होती है, **त्वम्**=किसी एक के प्रति **श्रवसे**=ज्ञान सम्पादन कार्य के लिए **महीया**=किसी एक के प्रति प्रभुपूजारूप कार्य के लिए (मह पूजायाम्) और **त्वम्**=किसी एक के प्रति **इष्टये**=यज्ञ में प्रवृत्त होने के लिए तथा **त्वम्**=किसी एक के लिए तो **अर्थम् इत्यै इव**=धन के प्रति जाने के लिए ही इसका आविर्भाव होता है। २. वस्तुतः यह उषा **विसदृशा**=भिन्न-भिन्न, विविध **जीविता**=जीवनों को **अभिप्रचक्षे**=प्रकट करने के लिए आती है। इसके आने पर विविध उपायों से लोग अपनी जीविका के सम्पादन में प्रवृत्त होते हैं और **उषा**=यह उषा उन **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को **अजीगः**=फिर से प्रकट कर देती है, जिन भुवनों को रात्रि के अन्धकार ने निगल-सा लिया था। रात्रि में लोक अति छोटा-सा हो गया था। उषा के होते ही वह अपने विशाल रूप को धारण करता है और लोग अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। कितने ही विसदृश जीवनों को यह प्रकट करनेवाली है।

भावार्थ—उषा के प्रकट होते ही क्षत्रिय बल-संचय के कार्य में प्रवृत्त होते हैं तो ब्राह्मण ज्ञान-अर्जन में, भक्त पूजा में तो कर्मकाण्डी याज्ञिक यज्ञों में। इसी समय वैश्य धन-प्राप्ति के कार्यों में लगते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुभग उषा

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ॥ ७॥

१. **एषा**=यह **दिवः दुहिता**=द्युलोक की पुत्री अथवा प्रकाश का पूरण करनेवाली (**दिव्**=प्रकाश, दुह प्रपूरणे) **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **प्रत्यदर्शि**=प्रतिदिन प्रत्येक प्राणी से देखी जाती है। यह **युवतिः**=नित्य यौवन से युक्त है, अमृत है, 'कभी नष्ट हो जाएगी'—ऐसी बात नहीं अथवा '**यु मिश्रणामिश्रणयोः**' अन्धकार का यह अमिश्रण करनेवाली व प्रकाश का मिश्रण करनेवाली है, **शुक्रवासाः**=प्रकाशरूप निर्मल वस्त्रोंवाली है। २. यह उषा **विश्वस्य**=सम्पूर्ण **पार्थिवस्य वस्वः**=पृथिवी-सम्बन्धी धन की **ईशाना**=ईश है। इस पार्थिव शरीर के निवास को उत्तम बनाने के लिए जिन तत्त्वों की उपयोगिता है, यह उषा उन सबसे सम्पन्न है, इसीलिए देव उषर्बुध होते हैं। ३. हे **सुभगे**=सब उत्तम भोगों से सम्पन्न—सब ऐश्वर्यों की आधारभूत **उषः**=उषो देवते! **अद्य**=आज **इह**=हमारे जीवन में **व्युच्छ**=तू विशेषरूप से अन्धकार को दूर करनेवाली हो। उषा हमारे जीवन में प्रकाश लानेवाली हो। यह हमें उचित प्रेरणा प्राप्त कराके ज्ञान व निर्मलता की प्राप्ति कराती है।

भावार्थ—उषा उदित हो, यह प्रकाश का पूरण करती है, निर्मलता को धारण कराती है। सब पार्थिव धनों की ईशान होती हुई हमारे जीवनों में सुभग को उदित करती है, इसके सेवन से हमारे जीवन की सब क्रियाएँ सुन्दर होती हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**=पञ्चमः।

अनन्त उषाएँ

परायतीनामन्वेति पाथ आयतीनां प्रथमा शश्वतीनाम्।
व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती॥८॥

१. **परायतीनाम्**=दूर जाती हुई, अर्थात् बीतती हुई उषाओं के **पाथः**=अन्तरिक्ष लक्षण मार्ग के **अनु एति**=पीछे यह आती है तथा **आयतीनाम्**=आनेवाली **शश्वतीनाम्**=बहुत अथवा अनन्त उषाओं के यह **प्रथमा**=आगे होनेवाली है। अनन्त उषाकाल बीत चुके, अनन्त उषाकाल आगे आएँगे, दोनों के बीच में यह आज का **उषाः**=उषाकाल है। यह **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **जीवम्**=प्राणिमात्र को **उदीरयन्ती**=बिछौने से उठ खड़ा होने के लिए प्रेरित करती हुई, **मृतम्**=शयनावस्था में सब इन्द्रिय-व्यापारों के रुक जाने से मृत के समान पड़े हुए **कं चन**=किसी भाग्यशाली या व्रतधर्मा पुरुष को **बोधयन्ती**=फिर से उद्बुद्ध कर देती है। २. रात्रि में सम्पूर्ण जगत् प्रसुप्त-सा—मृत-सा लगता है। उषा के होते ही संसार फिर जी-सा उठता है, चहल-पहल होने लगती है और जीवन के सब चिह्न व्यक्त हो उठते हैं। ये उषाएँ अनादिकाल से चली आ रही हैं और अनन्तकाल तक चलती चलेंगी। यह आज की उषा भूतकाल की उषाओं के पीछे आनेवाली हैं तो भविष्यत् की उषाओं की प्रथम भाविनी है।

भावार्थ—उषा आये और हममें नित्य नूतन जीवन का सञ्चार करे।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

भद्र कर्म

उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य।
यन्मानुषान्यक्ष्यमाणाँ अजीगस्तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः॥९॥

१. हे **उषः**=उषा देवता! (क) **यत्**=जो **अग्निम्**=अग्नि को **समिधे**=दीप्त करने के लिए **चकर्थ**=तू करती है, अर्थात् तेरे होने पर अग्निहोत्र की अग्नियों का दीपन होता है और (ख) **यत्**=जो तू **सूर्यस्य**=सूर्य के **चक्षसा**=प्रकाश से **वि आवः**=जगत् को विशेषरूप से प्रकट करती है—अन्धकार से वियुक्त करती है तथा (ग) **यत्**=जो तू **यक्ष्यमाणान्**=जो समीप भविष्य में यज्ञ करेंगे ऐसे **मानुषान्**=मनुष्यों को **अजीगः**=प्रकट करती है, **तत्**=वह तू **देवेषु**=देवों में **भद्रम् अप्नः**=बड़े शुभ कर्म को **चकृषे**=करती है। २. उषा के तीन कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—सबसे प्रथम, देववृत्तिवाले पुरुष इस उषाकाल में विविध यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं, दूसरा, ये देववृत्ति के पुरुष अपने मस्तिष्क को ज्ञान से उसी प्रकार उज्ज्वल करने का प्रयत्न करते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश से द्युलोक चमक उठता है, तीसरा, ये देवबृत्ति के पुरुष इस उषाकाल में यज्ञात्मक कर्मों को करने के लिए यत्नशील होते हैं—ये इन कर्मों को ही प्रथम धर्म मानकर चलते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष उषाकाल में (क) अग्निहोत्र करते हैं, (ख) ज्ञान-सूर्य के उदय के लिए यत्नशील होते हैं, (ग) यज्ञात्मक कर्मों से प्रभु का उपासन करते हैं। देवों के इन त्रिविध भद्र कर्मों को उषा प्रकट करती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सामर्थ्य व प्रकाश

कियात्या यत्समया भवाति या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान्।
अनु पूर्वाः कृपते वावशाना प्रदीध्याना जोषमन्याभिरेति॥१०॥

१. **याः**=जो उषाएँ **व्यूषुः**=हो चुकी हैं—अन्धकार-निवारण के कार्य को कर चुकी हैं **च याः**=और जो **नूनम्**=निश्चय से **व्युच्छान्**=अन्धकार-निवारण के कार्य को करेंगी वे **कियती समया**=कितने समय तक **आभवाती**=सब प्रकार से हमारे साथ होती हैं, अर्थात् बहुत थोड़ी-सी देर के लिए ही हमारे साथ होती हैं, परन्तु **यत्**=यह जो प्रस्तुत उषाकाल है वह **पूर्वाः अनु**=पहले उषाकालों के अनुसार ही **कृपते**=(कृपू सामर्थ्ये) हमें सामर्थ्य व शक्ति देनेवाला होता है। २. यह उषा **वावशाना**=हमारे हित को चाहती हुई तथा **प्रदीध्याना**=प्रकृष्ट दीप्ति करती हुई **अन्याभिः**=अन्य आनेवाली उषाओं के साथ **जोषम्**=प्रीति को **एति**=प्राप्त होती है। बड़े स्नेह के साथ यह आती है और हमें सामर्थ्य व प्रकाश, शक्ति व ज्ञान देती है।

भावार्थ—उषा का समय थोड़ा-सा होता है, परन्तु वह थोड़ा-सा समय भी हममें सामर्थ्य व प्रकाश का सञ्चार करता है, अतः जीवनोत्थान के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**=भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

भूत, वर्तमान व भावी उषाकाल

ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन्व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः।
अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्याभूदो ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान्॥ ११॥

१. **ये मर्तासः**=जो मनुष्य **पूर्वतराम्**=सबसे प्रथम होनेवाली **व्युच्छन्तीम्**=अन्धकार को दूर करती हुई **उषसम्**=उषा को **अपश्यन्**=देखते थे **ते ईयुः**=वे अब जा चुके। सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर के जो मानस पुत्र हुए उन्होंने सर्वप्रथम उषा को देखा, परन्तु अब वे उषाकाल भूत की वस्तु हो गये और वे द्रष्टा भी अब जा चुके। **नु**=अब **उ**=निश्चय से **अस्माभिः**=हमारे द्वारा यह वर्तमान उषा **प्रतिचक्ष्या**=देखने योग्य **अभूत्**=हुई है। **ते**=वे व्यक्ति भी **उ**=अवश्य **आयन्ति**=समीप भविष्य में आ ही रहे हैं **ये**=जो **अपरीषु**=(भाविनीषु=सा०) आगे आनेवाली रात्रियों में **पश्यान्**=उदय होते हुए इन उषाकालों को देखेंगे।

भावार्थ—सृष्टि के आरम्भ से ये उषाकाल चल रहे हैं। कितने ही उषाकाल बीत चुके। वर्तमान में उषाकाल हमारे सामर्थ्य व प्रकाश को बढ़ा ही रहे हैं और भविष्य में आनेवाले उषाकाल उस समय के व्यक्तियों से देखे जाएँगे।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रेष्ठतमा उषा

यावयद् द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती।
सुमङ्गलीर्बिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ॥ १२॥

१. यह उषा **यावयत् द्वेषाः**—सब प्रकार के द्वेषों को हमसे पृथक् करनेवाली है। शान्त उषाकाल की प्रेरणा हमें शान्ति का पाठ पढ़ाती है—द्वेष की वृत्तियाँ हमसे दूर होती हैं। **ऋतपाः**=यह ऋत का पालन करनेवाली है। उषा हमारे जीवनों में ऋत का रक्षण करती है। वस्तुतः **ऋतेजाः**=इसका तो प्रादुर्भाव ही ऋत के लिए हुआ है। उषा होने पर ऋत, अर्थात् यज्ञों का प्रवर्तन होता है। २. **सुम्नावरी**=यह उषा **सुम्नो**=प्रभु के स्तोत्रों-(Hymns)-वाली है। इस समय ही प्रभुभक्तों के मुखों से प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण होता है। **सूनृताः ईरयन्ती**=यह सूनृत वाणियों को प्रेरित करती हुई उषा **सुमङ्गली**=उत्तम मङ्गलवाणियों का ही हमसे उच्चारण कराती है। ३. हे **उषः**=उषा **देववीतिम्**=देवों के प्रति गमन को (वी गतौ), अर्थात् देवों के साथ सम्पर्क को **बिभ्रती**=धारण करती हुई तू **इह**=हमारे जीवनों में **अद्य**=आज **श्रेष्ठतमा**=अत्यन्त

प्रशस्त रूपवाली होकर **व्युच्छ**=उदित हो—अन्धकार को दूर करनेवाली हो।

भावार्थ—उषा हमें 'निर्द्वेषता, ऋत के पालन, प्रभु-स्तवन, सुनृता-सुमङ्गली वाणियों के उच्चारण तथा देव-सम्पर्क' की प्रेरणा देनेवाली हो। इस प्रकार यह हमारे लिए श्रेष्ठतमा हो।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**=निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'अजरा-अमरा' उषा

शश्वत्पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी।
अथो व्युच्छादुत्तराँ अनु द्यूनजरामृता चरति स्वधाभिः॥ १३॥

१. यह **उषाः**=उषा **पुरा**=पहले **शश्वत्**=सनातनकाल से **व्युवास**=(व्यौच्छत्-सा०) अन्धकार का निवारण करती आयी है। **अथ उ**=अब निश्चय से **देवी**=यह प्रकाशमयी उषा **मघोनी**=ऐश्वर्यवाली होती हुई **अद्य**=आज **इदम्**=इस रात्रि के समय अन्धकारावृत जगत् को **व्यावः**=अन्धकार के आवरण से रहित करनेवाली है। **अथ उ**=और निश्चय से **उत्तरान् द्यून्**=आगे आनेवाले दिनों का अनुलक्ष्य करके **व्युच्छात्**=यह अन्धकार को दूर करेगी ही। २. भूत, वर्तमान, भविष्यत् में अन्धकार को दूर करती हुई यह उषा **अजरा-अमृता**=अजर और अमर है। यह कभी जीर्ण नहीं होती, कभी मृत नहीं होती। वस्तुतः यह अपने स्वागत करनेवाले भक्तों को भी स्वास्थ्य व शान्ति प्रदान करती हुई उन्हें जीर्ण व मृत नहीं होने देती। यह उषा **स्वधाभिः**=अपनी धारण-शक्तियों के साथ **चरति**=निरन्तर गति करती है। इसके साथ सम्बद्ध होकर हम भी इन धारण-शक्तियों के द्वारा अपने जीवन को उत्तमता से धारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—उषा सनातनकाल से प्रकाश व ऐश्वर्य को प्राप्त करा रही है (देवी, मघोनी)। यह हमें अजर व अमर करे, अपनी धारणशक्तियों से हमारा धारण करे।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**=निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रबोधयन्ती उषा

व्य1ञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः।
प्रबोधयन्त्यरुणेभिरश्वैरोषा याति सुयुजा रथेन॥ १४॥

१. यह **देवी**=द्योतनशील उषा **दिवः आतासु**=द्युलोक-सम्बन्धी इन दिशाओं में **व्यञ्जिभिः**=अपने प्रकाशक तेजों से **अद्यौत्**=दीप्त होती है। दीप्त होती हुई यह उषा **कृष्णां निर्णिजम्**=रात्रि के अन्धकारावृत होने से उसके कृष्ण रूप को **अप आवः**=अपावृत कर देती है—प्रकाश के द्वारा तिरस्कृत कर देती है। रात्रि का वह काला रूप उषा के आते ही समाप्त हो जाता है। २. यह **उषाः**=उषा **अरुणेभिः**=अव्यक्त लालिमावाले **अश्वैः**=किरणरूप अश्वों से **सुयुजा**=उत्तम रीति से युक्त **रथेन**=रथ से **आयाति**=आती है और **प्रबोधयन्ती**=सबको प्रबुद्ध करती है। उषा होने पर सब जाग जाते हैं। यह उषा सभी को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होने को कहती है। इसका प्रकाश सबको जगानेवाला होता है।

भावार्थ—उषा आती है, रात्रि के कृष्ण रूप को समाप्त करती है, सभी को जगाती है और स्व-स्व कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—उषाः। छन्दः=भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

पोषक तत्त्वोंवाली उषा

आवहन्ती पोष्या वार्याणि चित्रं केतुं कृणुते चेकिताना।
ईयुषीणामुपमा शश्वतीनां विभातीनां प्रथमोषा व्यश्वैत्॥ १५॥

१. **उषाः**=उषा **वार्याणि**=वरणीय, उत्कृष्ट चाहने योग्य **पोष्या**=पोषण के लिए उत्तम पदार्थों को **आवहन्ती**=प्राप्त कराती हुई **चित्रं केतुं कृणुते**=अद्भुत प्रकाश करती है। उषा के प्रकाश की सर्वमहान् विचित्रता यही है कि इसमें प्रकाश होते हुए भी सन्ताप नहीं है। यह अपनी अरुण वर्ण की किरणों में प्राणादि सब तत्त्वों को धारण किये हुए आती है। **चेकिताना**=यह सब मनुष्यों को 'प्रज्ञापयन्ती' चेतना देती हुई आती है। २. **शश्वतीनाम्**=सनातनकाल से **ईयुषीणाम्**=आनेवाली उषाओं की **उपमा**=यह उपमानभूत है। अनादिकाल से आती हुई उषाओं के समान ही यह उषा है। **विभातीनाम्**=भविष्य में चमकनेवाली उषाओं की **प्रथमा**=यह पहली है। भूतकाल की उषाओं के पीछे, भविष्यत् की उषाओं के आगे विद्यमान यह उषा **व्यश्वैत्**=विशिष्ट रूप से तेज के द्वारा प्रवृद्ध है (श्वि गतिवृद्ध्योः)।

भावार्थ—उषा की अरुण किरणों में सब पोषक व प्राणदायी तत्त्व विद्यमान होते हैं। अनादि काल से ये आ रही हैं, अनन्तकाल तक चलती चलेंगी।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—उषाः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

जीवः जीवन देनेवाला प्राणदायी तत्त्व असुः

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥ १६॥

१. हे रात्रि में सोनेवाले पुरुषो! **उत् ईर्ध्वम्**=उठो और बिस्तरों को छोड़कर गतिशील होओ। यह उषा क्या आयी है, **नः**=हमारे लिए **जीवः असुः**=जीवन देनेवाला प्राणदायी तत्त्व ही **आगात्**=आ गया है। उषा की किरणों में पोषण के लिए आवश्यक सब तत्त्व विद्यमान हैं। **तमः अप प्रागात्**=अन्धकार दूर चला गया है और **आ**=चारों ओर **ज्योतिः एति**=अब प्रकाश आ रहा है। २. यह उषा भी **सूर्याय यातवे**=सूर्य की गति के लिए **पन्थाम्**=मार्ग को **आरैक्**=खाली करती है। उषा हटती है और सूर्य उसका स्थान लेता है। हम भी **अगन्म**=उस सूर्य की किरणों में चलने का प्रयत्न करें। यथासम्भव सूर्य के प्रकाश में दिन के कार्यों को करें, **यत्र**=जहाँ **आयुः प्रतरन्त**=लोग अपने आयुष्य को बढ़ानेवाले होते हैं। सूर्य के सम्पर्क में रोग का उद्भव नहीं होता, शरीर स्वस्थ व दीर्घजीवी बने रहते हैं।

भावार्थ—उषा क्या आती है, जीवन देनेवाली प्राणशक्ति ही आ जाती है। इसके बाद सूर्य आता है, जो हमारे आयुष्य का वर्धन करनेवाला होता है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। देवता—उषाः। छन्दः=निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रजावत् आयुः

स्यूमना वाच उदियर्ति वह्निः स्तवानो रेभ उषसो विभातीः।
अद्या तदुच्छ गृणते मघोन्यस्मे आयुर्नि दिदीहि प्रजावत्॥ १७॥

१. **वह्निः**=अपने को उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाला अथवा स्तुतिवचनों का वहन करनेवाला **रेभः**=स्तोता **विभातीः उषसः**=इन देदीप्यमान उषाकालों की **स्तवानः**=स्तुति करता हुआ

स्यूमना वाचः=(षिव्+मनिन् बन्धनयुक्तानि—सा०) एक-दूसरे से जुड़ी हुई सन्तत स्तुतिवाणियों का **उदियर्ति**=(उद्गमयति, उच्चारयति—सा०) उच्चारण करता है। यह उषा के प्रकाश को देखता है, उससे प्रेरणा प्राप्त करता है, उस प्रकाश का स्तवन करता है और उसे अपने में धारण करता है। हे **मघोनि**=प्रकाशरूप ऐश्वर्यवाली उषः! तू **अद्य**=आज **गृणते**=इस स्तोता के लिए **तदुच्छ**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो और **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावत्**=उत्तम सन्तानोंवाले व उत्तम विकासवाले **आयुः**=जीवन को **निदिदीहि**=नितरां (अच्छी प्रकार, उत्तमता से) प्रकाशित कर, अर्थात् दे। उषा का प्रकाश हमारे जीवनों को भी प्रकाशमय बनाये हम जीवन में सब शक्तियों का विकास करनेवाले हों और उत्तम सन्तानों से युक्त हों।

भावार्थ—उषा का स्तवन करते हुए हम भी उषा की भाँति अपने जीवन को प्रकाश व विकासमय बना पाएँ।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'गोमती सर्ववीरा' उषा

या गोम॑तीरु॒षस॒: सर्व॑वीरा व्यु॒च्छन्ति॑ दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य।
वा॒योरि॑व सू॒नृता॑नामुद॒र्के ता अ॑श्व॒दा अ॑श्नवत्सोम॒सुत्वा॑॥ १८॥

१. **दाशुषे मर्त्याय**=दाश्वान् मनुष्य के लिए—त्याग की वृत्तिवाले और परिणामतः प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **उषसः**=उषाएँ **व्युच्छन्ति**=सब प्रकार के अन्धकार को दूर करती हैं। **याः**=वे उषाएँ जोकि **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाली हैं और **सर्ववीराः**=सब अङ्गों में वीरता का सञ्चार करनेवाली हैं। उषा आती है, अपने प्रकाश से यह ज्ञान की प्रेरणा देती है और अपनी दोषों के दहन की शक्ति से यह सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में शक्ति का सञ्चार करती है। इस प्रकार यह उषा ज्ञान की प्रेरणा देती हुई 'गोमती' है और शक्ति का सञ्चार करती हुई 'सर्ववीरा' है। २. **वायोः इव**=वायु की भाँति—वायु क्रियाशीलता का प्रतीक है **सूनृतानाम्**=स्तुतिरूप वाणियों के **उदर्के**=उत्तरफल के रूप में (उदर्कः फलमुत्तरम्) **ताः**=वे उषाएँ **अश्वदाः**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को देनेवाली हैं। हम उषा का स्तवन करें। उषा की प्रेरणा को मूर्तरूप देने के लिए क्रियाशील हों। परिणामतः हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष व दीप्त होंगी। ऐसी उत्तम इन्द्रियाश्वों को देनेवाली उषाओं को **सोमसुत्वा**=अपने शरीर में सोम का अभिषव करनेवाला, सोमशक्ति का रक्षण करनेवाला **अश्नवत्**=व्याप्त करता है, प्राप्त होता है, एवं, इन्द्रियों की उत्तमता के लिए उषा से प्रेरणा तो प्राप्त करता ही है, साथ ही क्रियाशील बनता है और सोम को शरीर में सुरक्षित करता है।

भावार्थ—उषा हमें ज्ञान के प्रकाश व वीरता का सन्देश देती है। यह हमारे इन्द्रियरूप अश्वों को बड़ा उत्तम बनाती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'विश्ववारा' उषा

मा॒ता दे॒वाना॒मदि॑ते॒रनी॑कं य॒ज्ञस्य॑ के॒तुर्बृ॑ह॒ती वि भा॑हि।
प्र॒श॒स्ति॒कृद् ब्रह्म॑णे नो॒ व्यु१॒॑च्छा नो॒ जने॑ जनय विश्ववारे॥ १९॥

१. हे **विश्ववारे**=सबसे वरण करने योग्य उषे! तू **देवानां माता**=हमारे जीवनों में दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली है। उषा का समय ही पवित्रता का सञ्चार करनेवाला है। 'प्रातः-प्रातः यह क्या करने लग गये'—यह वाक्य ही प्रातः समय अशुभ से दूर रहने के भाव को

सर्वलोक-विदित रूप में प्रकट कर रहा है। २. **अदितेः अनीकम्**=यह उषा अदिति का मुख है, अदिति, अर्थात् स्वास्थ्य का मुख्य कारण है। इस समय के वायु में ओज़ोन गैस का प्राचुर्य स्वास्थ्यवृद्धि का हेतु बनता है। ३. **यज्ञस्य केतुः**=यह उषा यज्ञों की प्रकाशिका है। उषाकाल में ही यज्ञशील पुरुषों के यज्ञ चलते हैं। इस प्रकार यह उषा **बृहती**=यज्ञों के द्वारा वृद्धि का कारण बनती है। यज्ञों से ही हम फूलते-फलते हैं—'अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'। ऐसी हे उषे! तू **विभाहि**=हमारे लिए विशिष्ट दीप्तिवाली हो। ४. **प्रशस्तिकृत्**=सब अच्छाइयों को जन्म देनेवाली हे उषे! तू **नः**=हमारे **ब्रह्मणे**=ज्ञान के लिए **व्युच्छ**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो और **नः जने**=हमारे लोगों में **जनय**=शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाली हो। उषा का समय वह समय है जब हम अपने-आपको अधिक-से-अधिक प्रफुल्लित पाते हैं।

भावार्थ—उषा दिव्यगुणों, शक्ति, यज्ञ की भावनाओं और सब अच्छाइयों को हमें देनेवाली होती है। इसलिए यह 'विश्ववारा' है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ईजान व शशमान पुरुष

यच्चित्रमप्न उषसो वहन्तीजानाय शशमानाय भद्रम्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ २०॥

१. **यत्**=जो **उषसः**=उषाएँ **ईजानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **चित्रम् अप्नः**=अद्भुत धन को अथवा (चित्+र) ज्ञानयुक्त धन को **वहन्ति**=प्राप्त कराती हैं। यज्ञशील बनने से, वृत्ति की पवित्रता के कारण ज्ञान भी बढ़ता है और धन भी बढ़ता है। यज्ञशीलता के अभाव में बढ़ा हुआ धन हमारे पतन का कारण बनता है, हमें अधिकाधिक गिरावट में ले-जाता है। २. ये उषाएँ **शशमानाय**=(शश प्लुतगतौ) खूब क्रियाशील पुरुष के लिए **भद्रम्**=कल्याण व सुख प्राप्त कराती हैं। एवं, हम क्रियाशील बनें और कल्याण का साधन करें। **नः तत्**=हमारे इस सङ्कल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता, **सिन्धुः**=शरीर में रेतःकणों के रूप में रहनेवाले जल, **पृथिवी**=दृढ़ शरीर **उत**=और **द्यौः**=दीप्त मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें। स्नेह, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, सोमरक्षण, स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क—ये हमें यज्ञशील व अत्यन्त क्रियाशील बनाएँ।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष को उषा ज्ञानयुक्त धन प्राप्त कराती है तथा क्रियाशील बनाकर सुख और कल्याण प्रदान करती है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि उषा का प्रकाश श्रेष्ठतम है (१)। यह ईजान और शशमान का कल्याण करता है (२०)। अकर्मण्य को उषा भी सुखी नहीं कर सकती। यह शशमान रुद्र का आराधक बनता है और प्रार्थना करता है—

[११४] चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

शान्त, पुष्ट व अनातुर

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ १॥

१. **इमाः मतीः**=इन बुद्धियों को—विचारपूर्वक किये जानेवाले स्तोत्रों को **रुद्राय**=सृष्टि के आरम्भ में हृदयस्थरूपेण ज्ञान (रुत्) देने-(द)-वाले प्रभु के लिए **प्रभरामहे**=प्रकर्षेण धारण करते हैं—'तद्बुद्धयस्तदात्मानः तन्निष्ठास्तत्परायणः'—उसी में बुद्धियों व मन को धारण करते हुए तन्निष्ठ व तत्परायण बनने का प्रयत्न करते हैं। उस रुद्र के लिए जो **तवसे**=अत्यन्त प्रवृद्ध हैं। प्रभु क्या ज्ञान, क्या शक्ति—सभी दृष्टिकोणों से बढ़े हुए हैं। ज्ञान की वे चरमसीमा हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं। उस रुद्र के लिए जो **कपर्दिने**=(क=सुख, पद्=पूर्ति, द=देना) आनन्द की पूर्ति देनेवाले हैं। प्रभु रसमय हैं। उन्हें प्राप्त करके उपासक एक अद्वितीय रस का अनुभव करता है। **क्षयद्वीराय**=वीरों में वे प्रभु निवास करनेवाले हैं (क्षि निवासे)। इस प्रभु के लिए हम अपनी बुद्धियों व स्तुतियों को धारण करते हैं। २. ऐसा हम इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे **द्विपदे चतुष्पदे**=मनुष्यादि व गवादि के लिए **शम्**=शान्ति **असत्**=हो। प्रभु में स्थित बुद्धिवाला होने पर मनुष्य का जीवन ठीक बना रहता है, वह पाप की ओर नहीं झुकता। परिणामतः वायुमण्डल में निष्पापता होने पर सबका जीवन शान्तिवाला होता है। इसी बात का यह भी परिणाम है कि **अस्मिन् ग्रामे**=इस ग्राम में **विश्वम्**=सब **पुष्टम्**=ठीक पोषणवाले व **अनातुरम्**=नीरोग **असत्**=हों। शान्ति व नीरोगता के लिए निष्पापता चाहिए, निष्पापता के लिए प्रभुशरण चाहिए।

भावार्थ—प्रभुभक्त बनते हुए हम शान्त, पुष्ट व अनातुर हों।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

शान्ति व निर्भयता

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु॥ २॥

१. हे **रुद्र**=ज्ञान देकर हमारी शत्रुभूत सब वासनाओं को रुलानेवाले प्रभो! **नः मृळ**=वासनानाश के द्वारा हमारे जीवनों को सुखी कीजिए। **उत**=और **नः**=हमारे लिए **मयः कृधि**=तृप्ति (Satisfaction) कीजिए। आपकी कृपा से हम वासनाओं को जीतकर आत्मतुष्ट बन पाएँ। २. **क्षयद्वीराय**=वीरों में निवास करनेवाले **ते**=आपके लिए **नमसा**=नमन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करें। वस्तुतः वीर बनकर हम अपने को प्रभु का निवास-स्थान बनाएँ। उस वीरता को भी 'बलं बलवतां चाहम्', 'तेजस्तेजस्विनामहम्' इन वाक्यों के अनुसार हम प्रभु की ही विभूतियाँ समझें। यह नमन है, नम्रता है जो हमें प्रभु के समीप पहुँचाती है। ३. **मनुः**=वह ज्ञानपुञ्ज **पिता**=सर्वरक्षक प्रभु **यत्**=जिस **शं च**=शान्ति को **योः च**=और भयों के यावन (दूरीकरण) को **आयेजे**=हमारे साथ सर्वथा सङ्गत करते हैं, **तत्**=उस शान्ति व भयों के पृथक्करण को हम हे **रुद्र**=ज्ञानप्रद प्रभो! **तव प्रणीतिषु**=आपके प्रणयनों में—आपकी प्रेरणा के अनुसार चलने में **अश्याम**=प्राप्त करें। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलने से जीवन में शान्ति व निर्भयता आती है।

भावार्थ—प्रभु-उपासना में ही सुख व तृप्ति है। प्रभु-प्रेरणा के अनुसार चलने पर शान्ति व निर्भयता प्राप्त होती है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराट्जगती। **स्वरः**—निषादः।

देवयज्ञ से सुमति-लाभ

अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः।
सुम्नायन्निद्विशो अस्माकमा चरारिष्टवीरा जुहवाम ते हविः॥ ३॥

१. हे **रुद्र**=ज्ञान देनेवाले! **मीढ्वः**=ज्ञान के द्वारा सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! हम

ते=आपके **देवयज्यया**=उपदिष्ट देवयज्ञ के द्वारा **क्षयद्वीरस्य**=वीरों में निवास करनेवाले **तव**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **अश्याम**=प्राप्त करें। देवयज्ञ से सौमनस्य प्राप्त होता है, बुद्धि स्वस्थ होकर प्रभु की ज्ञानवाणियों को ठीक से ग्रहण करनेवाली बनती है। 'देवयज्या' शब्द का अर्थ 'देववृत्ति के विद्वानों के साथ सम्पर्क' भी है। इन विद्वानों के सम्पर्क से हम प्रभु की वेदोपदिष्ट सुमति को प्राप्त करते हैं। २. हे प्रभो! आप ज्ञान प्राप्त कराने के द्वारा **इत्**=निश्चय से **सुम्नायन्**=हमारे सुख को चाहते हुए ही **अस्माकं विशः**=हमारी इन सब प्रजाओं में **आचर**=विचरण कीजिए। हे प्रभो! आपकी विद्यमानता में **अरिष्टवीराः**=अहिंसित वीरोंवाले होते हुए हम **ते हवि जुहवाम**=आपके प्रति हवि अर्पण करनेवाले हों। वस्तुतः हवि के द्वारा ही तो आपका पूजन होता है। दानपूर्वक अदन=यज्ञशेष का सेवन ही हवि है। यही प्रभु-पूजा का प्रकार है।

भावार्थ—देवयज्ञ के द्वारा हम प्रभु की सुमति को प्राप्त करें, दानपूर्वक अदन से प्रभुपूजन करनेवाले बनें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दैव्य हेड का दूर करना

त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं वङ्कुं कविमवसे नि ह्वयामहे।
आरे अस्मद्दैव्यं हेळो अस्यतु सुमतिमिद्वयमस्या वृणीमहे॥ ४॥

१. **वयम्**=हम **रुद्रम्**=ज्ञानदाता प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **निह्वयामहे**=निश्चितरूप से पुकारते हैं। वे **त्वेषम्**=दीप्त हैं, तेज व ज्ञान के पुञ्ज हैं। **यज्ञसाधम्**=हमारे सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं। **वङ्कुम्**=(वंक—to go) वे प्रभु स्वाभाविक रूप से क्रियावाले हैं और **कविम्**=क्रान्तदर्शी व ज्ञानी हैं। २. इस प्रकार उस रुद्र की उपासना 'त्वेष, यज्ञसाध, वंकु व कवि' के रूप में करते हुए हम भी 'दीप्त, यज्ञशील, क्रिया व ज्ञानवाले' बनने का प्रयत्न करते हैं और यह प्रार्थना करने योग्य बनते हैं कि **दैव्यं हेडः**=देव-सम्बन्धी क्रोध प्राकृतिक देवों के क्रोध जलवायु में परिवर्तन व प्रकृति द्वारा किया गया अपना समायोजन **अस्मत्**=हमसे **आरे**=दूर **अस्यतु**=फेंका जाए। जब पाप अधिक बढ़ जाते हैं प्रकृति से छेड़छाड़ तब आधिदैविक Global warning, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अवृष्टि आदि कष्ट आया करते हैं। हम अपने समाज को पवित्र बनाकर इन आधिदैविक कष्टों से अपने को बचानेवाले हों। ३. इसी विचार से **वयम्**=हम **अस्य**=इस प्रकार की **सुमतिं इत्**=कल्याणी मति को ही **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। प्रभु की इस कल्याणी मति में चलते हुए हम देवों के कोपभाजन नहीं होते। हमारे आधिदैविक कष्ट तभी दूर होंगे जब हम इस सुमति को अपनाएँगे।

भावार्थ—प्रभु की सुमति का वरण करके हम आधिदैविक कष्टों से ऊपर उठते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शर्म-वर्म-छर्दि

दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा नि ह्वयामहे।
हस्ते बिभ्रद्भेषजा वार्याणि शर्म वर्म च्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्॥ ५॥

१. हम **नमसा**=नमन के द्वारा—नम्रतापूर्वक उच्चारण किये गये स्तुतिवचनों के द्वारा उस प्रभु को **निह्वयामहे**=निश्चितरूप से अपने हृदयों (नि—In) में पुकारते हैं, जो प्रभु **दिवः वराहम्**=ज्ञान के द्वारा 'वरमाहन्ति' उत्कृष्ट पदार्थों को प्राप्त कराते हैं (हन् गतौ)। ज्ञान देकर प्रभु हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम पवित्र व उत्तम कर्मों को ही करनेवाले बनते हैं। ज्ञान हममें

पवित्रता का सञ्चार करता है। २. वे प्रभु **अरुषम्**=आरोचमान हैं—जिनका ज्ञान सर्वतः दीप्त है, **कपर्दिनम्**=वे प्रभु सुख की पूर्ति को देनेवाले हैं। ज्ञान के अनुपात में ही तो सुख होता है; जितना ज्ञान अधिक उतना ही सुख अधिक; **त्वेषम्**=वे प्रभु तेजस्विता से दीप्त हैं—तेज ही हैं, **रूपम्**=(रूपयति) लोक-लोकान्तरों को रूप देनेवाले हैं अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में ही ज्ञान का निरूपण करनेवाले हैं। ३. वे प्रभु **हस्ते**=हाथ में **वार्याणि भेषजानि**=वरणीय व रोगों का निवारण करनेवाली ओषधियों को **बिभ्रत्**=धारण करते हुए **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शर्म**=आरोग्यजनित सुख दें, वासनाओं के आक्रमण से बचाने के लिए **वर्म**=कवच **यंसत्**=दें। प्रभु हमारे कवच हों और हमें वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त न होने दें (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्)। वे प्रभु **छर्दिः**=घर **यंसत्**=दें। हम प्रभु की शरण हों, हमारे रक्षक हों। 'हाथ में भेषजों के धारण करने' का अभिप्राय यह है कि यदि हम कर्मशील बने रहें (इन् गतौ) तो अस्वस्थ भी न हों और वासनाओं से आक्रान्त भी न हों। हाथ में रोगों का भी औषध है, वासनाओं का भी। अकर्मण्य व्यक्ति ही रोगी बनता है और विकारयुक्त मनवाला होता है। 'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'—प्रभु ने कर्म के लिए ही तो हाथ दिये हैं। कर्म ही सर्वमहान् औषध है—व्याधियों की भी, आधियों की भी।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त ज्ञान के अनुसार हम हाथों से कर्म करनेवाले बनें। यही नीरोगता, निर्मलता व आत्मरक्षण का मार्ग है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

मर्तभोजन की प्राप्ति

इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्।
रास्वा च नो अमृत मर्तभोजनं त्मने तोकाय तनयाय मृळ॥ ६॥

१. 'मरुत्' प्राण हैं। प्रभु सबसे प्रथम प्राण को ही उत्पन्न करते हैं—'स प्राणमसृजत्'। इस प्रकार वे प्रभु मरुतों के पिता हैं। **मरुतां पित्रे**=प्राणों के जनक व रक्षक उस प्रभु के लिए **इदम्**=यह **स्वादोः स्वादीयः**=स्वादु से भी स्वादु—अत्यन्त स्वादिष्ट, एक अनिर्वचनीय आनन्द देनेवाला **वचः**=स्तुतिवचन **उच्यते**=हमारे द्वारा उच्चारित किया जाता है। यह स्तुतिवचन **रुद्राय वर्धनम्**=ज्ञानदाता प्रभु के गुणों का वर्धन करनेवाला है। प्रभु के गुणों का प्रकाश करता हुआ यह वचन हमारे जीवनों के उत्थान का भी कारण होता है। २. हे **अमृत**=हे अविनाशी प्रभो! **नः**=हमारे लिए **मर्तभोजनम्**=मनुष्य का पालन करनेवाला भोजन **रास्व**=दीजिए। हमें उतना धन प्राप्त कराइए जितना कि इस मर्त शरीर के पालन के लिए आवश्यक हो। इस प्रकार पोषण के लिए पर्याप्त धन देकर **त्मने**=हमारे लिए **तोकाय**=हमारे पुत्रों के लिए तथा **तनयाय**=हमारे पौत्रों के लिए **मृड**=सुख कीजिए। निर्धनता ही संसार में कष्ट का कारण बनती है। निर्धनता को दूर करके आप हमारे कष्टों को दूर कीजिए। धन से ही सन्तानों का पालन-पोषण व शिक्षण होगा और इस प्रकार उनका जीवन सुखी बनेगा।

भावार्थ—हम प्रभु के लिए स्तुतिवचनों का उच्चारण करें और प्रभु से पालन-पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

अ-वध

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार पर्याप्त धन होने पर घर में सभी का रक्षण ठीक से होता है, अतः कहते हैं कि **नः**=हमारे **महान्तम्**=बड़े को **मा वधीः**=नष्ट मत कीजिए। **उत**=और **नः**=हमारे **अर्भकम्**=छोटे को भी **मा**=मत हिंसित होने दीजिए। क्या बड़े क्या छोटे सब सुरक्षित हों। **नः**=हमारे उस युवक को जो गृहस्थ में प्रवेश कर सन्तान-निर्माण के लिए **उक्षन्तम्**=वीर्य का सेचन करनेवाला है **मा**=मत नष्ट कीजिए **उत**=और **नः**=हमारे **उक्षितम्**=सिक्त सन्तान को—गर्भस्थ सन्तान को **मा**=मत नष्ट कीजिए। **नः**=हमारे **पितरम्**=पिता को **मा वधीः**=मत मारिए और **मातरम्**=माता को भी **मा**=मत नष्ट कीजिए। **नः**=हमारे इन **प्रियाः तन्वः**=प्रिय शरीरों को भी हे **रुद्र**=सब वासनाओं का विलय करनेवाले प्रभो! **मा रीरिषः**=मत हिंसित होने दीजिए। २. प्रभु के रक्षण में चलते हुए हम हिंसित न हों। बड़े-छोटे, युवक-युवति, माता-पिता—घर के ये सभी सभ्य सुरक्षित हों। हमारे शरीर भी रोगों व वासनाओं का शिकार न हो जाएँ।

भावार्थ—हमें आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो। घर में सब आवश्यक वस्तुएँ होने से किसी की भी असमय में मृत्यु न हो। सभी दीर्घजीवी व स्वस्थ शरीर हों।

सूचना—यहाँ 'उक्षन्तं' और 'उक्षितं' शब्दों का प्रयोग सन्तानोत्पत्ति के लिए ही वीर्य-सेचन का संकेत कर रहा है। यही शरीर को हिंसित न होने देने का प्रकार है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

हविष्मान् की आराधना

मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥ ८॥

१. हे **रुद्र**=प्रलय के द्वारा रुलानेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **तोके**=पुत्रों के विषय में तथा **तनये**=पौत्रों के विषय में **मा**=मत **रीरिषः**=हिंसा कीजिए। हमारे पुत्र-पौत्र अहिंसित हों। २. **नः**=हमारे **आयौ**=अन्य मनुष्यों के विषय में भी **मा**=मत हिंसा होने दीजिए। **नः**=हमारी **गोषु**=गौओं के विषय में **मा**=मत हिंसा होने दीजिए तथा **नः**=हमारे **अश्वेषु**=घोड़ों के विषय में भी **मा रीरिषः**=हिंसा मत होने दीजिए। हे रुद्र! **भामितः**=क्रुद्ध हुए-हुए आप **नः वीरान् मा वधीः**=हमारे वीरों को मत नष्ट कीजिए। हमारे कर्म इस प्रकार के हों कि हम सदा आपकी कृपा के पात्र बने रहें। ३. **हविष्मन्तः**=हविवाले होते हुए, अर्थात् त्यागपूर्वक अदन करते हुए **सदम् इत्**=सदा ही **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। वस्तुतः हविष्मान् ही प्रार्थना का अधिकारी है। अपने ही मुख में आहुति देते हुए हम प्रभु की प्रार्थना के अधिकारी नहीं होते।

भावार्थ—हविष्मान् बनकर हम प्रभु की प्रार्थना के अधिकारी होते हैं, तभी प्रभु हम सबका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराट्जगती। **स्वरः**—निषादः।

मृडयतमा सुमतिः

उप ते स्तोमान्पशुपाइवाकरं रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे।
भद्रा हि ते सुमतिर्मृळयत्तमाथा वयमव इत्ते वृणीमहे॥ ९॥

१. हे प्रभो! **पशुपाः इव**=जैसे पशु-रक्षक ग्वाला सायंकाल पशुओं को स्वामी के प्रति सौंपता है, उसी प्रकार **ते स्तोमान्**=आप द्वारा दिये हुए इन स्तोत्रों को **उप आकरम्**=फिर आपके समीप प्राप्त कराता हूँ। मैं प्रतिदिन इन स्तोत्रों के द्वारा आपका स्तवन करता हूँ। २. हे

मरुतां पितः=हमारे प्राणों के उत्पन्न व रक्षण करनेवाले प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **सुम्नम्**=सुख **रास्व**=दीजिए। वस्तुतः इन प्राणों की शक्ति के ठीक होने पर ही आरोग्य-सुख का निर्भर है। प्राणशक्ति ठीक होगी तो शरीर नीरोग व सुखी बना रहेगा। ३. हे प्रभो! **हि**=निश्चय से **ते सुमतिः**=आपकी कल्याणी मति **भद्रा**=हमारा कल्याण करती है और **मृळयत्तमा**=हमें अधिक-से-अधिक सुख देनेवाली है। **अथ**=अब, इस मति के अनुसार चलते हुए **वयम्**=हम **ते**=आपके **अव**=रक्षण को **इत्**=निश्चय से **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। हमें आपका रक्षण क्यों न प्राप्त होगा जब हम आपकी दी हुई सुमति के अनुसार चलेंगे?

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें, प्रभु की सुमति के अनुसार चलें और सुख के भागी हों। प्रभु का रक्षण हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अभ्युदय+निःश्रेयस

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु।
मृळा च नो अधि च ब्रूहि देवाधा च नः शर्म यच्छ द्विबर्हाः॥ १०॥

१. हे **क्षयद्वीर**=वीर पुरुषों में निवास करनेवाले प्रभो! **ते**=आपका **गोघ्नम्**=हमारी इन्द्रियों का (गावः=इन्द्रियाणि) नाशक अस्त्र **आरे**=हमसे दूर ही रहे **उत**=और **पूरुषम्**=पौरुष को नष्ट करनेवाला अस्त्र भी हमसे दूर रहे। आपकी कृपा से हमारी इन्द्रियाँ ठीक से कार्य करने की क्षमतावाली हों और हमारे पौरुष में किसी प्रकार की न्यूनता न आये। २. इसी उद्देश्य से **ते सुम्नम्**=आपका स्तोत्र **अस्मे अस्तु**=हमारे लिए हो। हम सदा आपका स्तवन करनेवाले हों। आपका यह स्तवन ही हमें विषयों में फँसने से बचाएगा और परिणामतः हमारी इन्द्रियाँ ठीक रहेंगी तथा हमारे पौरुष में कमी न आएगी। ३. हे **देव**=ज्ञान का प्रकाश देनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे लिए **मृड**=आप अवश्य सुख दीजिए **च**=और **अधिब्रूहि**=हमें ज्ञान का खूब उपदेश दीजिए। **अध च**=और इस ज्ञानोपदेश के द्वारा **नः**=हमारे लिए **शर्म**=सुख **यच्छ**=दीजिए। आप हमारे लिए **द्विबर्हाः**=अभ्युदय और निःश्रेयस—दोनों का वर्धन करनेवाले होओ। हम आपके ज्ञान के द्वारा इहलोक व परलोक दोनों का साधन करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ व पौरुष ठीक बना रहे। प्रभु के ज्ञान के अनुसार चलने से हम अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करें।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

नमउक्तिं विधेम

अवोचाम नमो अस्मा अवस्यवः शृणोतु नो हवं रुद्रो मरुत्वान्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ११॥

१. **अवस्यवः**=रक्षण की कामना करते हुए हम **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **नमः अवोचाम**=नमन की उक्तियों को कहते हैं, अर्थात् नतमस्तक होकर प्रभु के प्रति स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हैं। इन स्तुतिवचनों से ही हमें प्रभु के गुणों के धारण की लक्ष्यदृष्टि प्राप्त होती है। उन गुणों को धारण करते हुए हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। २. वह **मरुत्वान्**=प्रशस्त **मरुतों**=प्राणोंवाला **रुद्रः**=प्राणों के द्वारा वासनाओं का विलय करनेवाला प्रभु **नः**=हमारी **हवम्**=पुकार को **शृणोतु**=सुने। हमारी प्रार्थना प्रभु से सुनी जाए। हम प्राणसाधना में निरन्तर प्रवृत्त होंगे तभी प्रभु के प्रिय बनेंगे और तभी हमारी प्रार्थना का कुछ महत्त्व होगा। ३. **नः तत्**=हमारे उस

प्राणसाधना के सङ्कल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=रेत:कणों के रूप में बहनेवाले जल, **पृथिवी**=यह शरीर **उत**=और **द्यौः**=दीप्त मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें। 'स्नेह व निर्द्वेषता' आदि के द्वारा मैं प्राणसाधना के मार्ग पर आगे बढ़ूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति नमनवाले हों। प्राणसाधना के द्वारा अपने को इस योग्य बनाएँ कि हमारी प्रार्थना सुनी जाए।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ रुद्र से 'शान्ति, पुष्टि व अनातुरता' की प्रार्थना से हुआ है (१)। समाप्ति पर भी उसी रुद्र से रक्षण की कामना की गई है (११)। ये रुद्र सूर्य द्वारा हमारा रक्षण करते हैं, अत: अगला सूक्त सूर्य-देवता का ही है—

[११५] पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अद्भुत सूर्यमण्डल

चित्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः।
आप्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षं॒ सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च॥ १॥

१. **देवानाम्**=(दीव्यन्तीति देवा, रश्मयः) रश्मियों का **अनीकम्**=तेज:समूहरूप **चित्रम्**=आश्चर्यकर सूर्यमण्डल **उदगात्**=उदय हुआ है। यह सूर्यमण्डल **मित्रस्य**=द्युलोकस्थ किरणों द्वारा रोगनाशक और मृत्यु से बचानेवाले देव (सूर्य) का, **वरुणस्य**=अन्तरिक्षलोकस्थ दु:खनिवारक चन्द्र का, **अग्नेः**=अग्रगति के साधक पृथिवीलोकस्थ अग्नि का **चक्षुः**=प्रकाशक है। सूर्यमण्डल सूर्य का, अर्थात् स्वयं अपना तो प्रकाशक है ही, चन्द्र व अग्नि को भी वह प्रकाश देनेवाला है। २. यह सूर्यप्रकाश **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक को **आप्राः**=पूर्णरूपेण व्याप्त किये हुए है। सूर्य का प्रकाश त्रिलोकी में फैल जाता है। **सूर्यः**=यह सूर्य—इस सूर्य का अधिष्ठातृदेव प्रभु **जगतः तस्थुषः च**=जंगम और स्थावरस्वरूप जगत् का **आत्मा**=आत्मा है—'योऽसावादित्ये पुरुषः'—सूर्यमण्डलान्तवर्ती, अधिष्ठातृरूपेण स्थित प्रभु सारे जंगम-स्थावर पदार्थों के अन्दर स्थित होता हुआ उन सब पदार्थों को 'विभूति, श्री व ऊर्जा' प्राप्त करा रहा है।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश हमें मृत्यु से बचानेवाला है (मित्र)। यह हमारे रोगों का निवारण करनेवाला है (वरुण)। यह हमारी उन्नति का साधक है (अग्नि)।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उषा के पीछे आता हुआ सूर्य

सूर्यो॑ दे॒वीमु॒षसं॒ रोच॑माना॒ मर्यो॒ न योषा॑म॒भ्ये॑ति प॒श्चात्।
यत्रा॒ नरो॑ देव॒यन्तो॑ यु॒गानि॑ वितन्व॒ते प्रति॑ भ॒द्राय॑ भ॒द्रम्॥ २॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **रोचमानाम्**=चमकती हुई **देवीम्**=प्रकाशमयी **उषसम्**=उषा के **पश्चात्**=पीछे **अभ्येति**=उसी प्रकार आता है **न**=जैसेकि **मर्यः**=मनुष्य **योषाम्**=पत्नी के पीछे आता है। उषा मानो पत्नी है, सूर्य उसका पति। ये पति-पत्नी जब आते हैं तब हमें इनके स्वागत के लिए तैयार रहना चाहिए। उस समय लेटे रहना या व्यर्थ की प्रवृत्तियों में लगना तो इनका निरादर ही है। २. यह समय वह होता है **यत्र**=जिसमें **देवयन्तः नरः**=अपने को देव बनाने की कामनावाले पुरुष **युगानि**=द्वन्द्वरूप में होकर, अर्थात् पति-पत्नी मिलकर **भद्राय**=कल्याण व सुख की प्राप्ति

के लिए **भद्रम्**=कल्याण व सुख के साधक यज्ञ को **प्रतिवितन्वते**=प्रतिदिन विस्तृत करते हैं। इन यज्ञों से (क) उनकी वृत्ति दिव्य बनती है, (ख) उनका कल्याण होता है, (ग) वे उषा और सूर्य का सच्चा पूजन कर पाते हैं। सूर्य के सामने हाथ जोड़ना सूर्य का पूजन नहीं है। सूर्योदय के समय यज्ञादि करना ही सूर्य-पूजन है।

भावार्थ—उषा के पीछे आते हुए सूर्य का हमें स्वागत करना चाहिए। उस समय यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्य के अश्व

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः॥ ३॥

१. सूर्य की किरणें ही सूर्य के अश्व कहलाते हैं। ये **सूर्यस्य**=सूर्य की **अश्वाः**=सर्वत्र व्याप्त हो जानेवाली किरणें (आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) **भद्राः**=कल्याण करनेवाली हैं, **हरिताः**=ये रोगों का हरण करनेवाली हैं, **चित्राः**=अद्भुत हैं, अथवा चेतना को प्राप्त करानेवाली हैं। **एतग्वाः**=(एतं गच्छन्ति) गन्तव्य मार्ग पर चलानेवाली हैं, **अनुमाद्यासः**=अनुकूलता से हर्ष प्राप्त करानेवाली हैं। २. इन सूर्य-किरणों को **नमस्यन्तः**=पूजित करते हुए पुरुष—इनके उदय होने पर यज्ञ-यागादि में प्रवृत्त होनेवाले पुरुष **दिवः पृष्ठम्**=द्युलोक के पृष्ठ पर **आतस्थुः**=सर्वथा स्थित होते हैं 'दिवो नाकस्य पृष्ठात्'—इन वेदशब्दों के अनुसार द्युलोक स्वर्गलोक का पृष्ठ (floor) है, अतः यज्ञादि के द्वारा सूर्य-पूजन करनेवाले लोग स्वर्ग में स्थित होते हैं, अर्थात् सूर्योदय के समय यज्ञादि उत्तम कर्म करनेवाले लोग अपने घरों को स्वर्ग बनाने में समर्थ होते हैं। ३. ये सूर्य के किरणरूप अश्व **सद्यः**=शीघ्र ही **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **परियन्ति**=चारों ओर जानेवाले होते हैं। सर्वत्र इनका प्रकाश फैल जाता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणें कल्याण करनेवाली, नीरोगता देनेवाली व हर्ष की कारणभूत हैं। इनका यज्ञादि के द्वारा स्वागत हमें स्वर्ग=सुख विशेष में स्थित करता है।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्य का महत्त्व

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ ४॥

१. **तत्**=वही **सूर्यस्य**=सूर्य का **देवत्वम्**=ईश्वरत्व है और **तत्**=वही **महित्वम्**=महत्त्व है कि **कर्तोः मध्या**=कर्मों के बीच में ही **विततम्**=सर्वत्र फैले अपने किरणसमूह को **संजभार**=संहृत कर लेता है। सूर्य की किरणें संकुचित हुई और अन्धकार के कारण सब कार्य बीच में ही रुक जाते हैं। २. **यदा इत्**=जब ही यह सूर्य **सधस्थात्**=(सह-स्थ) सब प्राणियों के साथ ठहरनेवाले इस पार्थिव लोक से **हरितः**=अपनी किरणों को **अयुक्त**=लेकर अन्यत्र संगत करता है तो **आत्**=उसके अनन्तर **रात्री**=रात **सिमस्मै**=सबके लिए **वासः**=अपने अन्धकाररूप कृष्ण वस्त्र को **तनुते**=विस्तृत करती है। सूर्यकिरणें संकुचित हुई और सम्पूर्ण जगत् अन्धकार के वस्त्र से आवृत हुआ।

भावार्थ—सूर्य का महत्त्व तब ध्यान में आता है जब सूर्यकिरणें अस्त होती हैं। उस समय अन्धकार हो जाता है और सब काम बीच में ही रुक जाते हैं।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मित्र व वरुण का प्रकाश

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥ ५॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **द्यौः उपस्थे**=द्युलोक की गोद में, अर्थात् द्युलोक में **रूपम्**=सबके निरूपक=प्रकाशक तेज को **कृणुते**=करता है। **तत्**=सूर्य का यह तेज **मित्रस्य वरुणस्य**=प्राण व उदानशक्ति के **अभिचक्षे**=प्रकाशन के लिए होता है। सूर्य के इस प्रकाशक तेज का परिणाम हमारे जीवनों में प्राण व उदानशक्ति के विकास के रूप में होता है। प्राणशक्ति के विकास से चक्षु, श्रोत्र, मुख व नासिका आदि के कार्य सुचारुरूपेण सम्पन्न होते हैं और उदानशक्ति कण्ठ के कार्य को ठीक प्रकार से करती है। २. **अस्य हरितः**=इस सूर्य की किरणें **अनन्तम्**=अन्त से रहित **अन्यत्**=विलक्षण **रुशत्**=उज्ज्वल **पाजः**=बल को **संभरन्ति**=हमारे शरीरों में धारण करती हैं। यही बल प्राण है। यहाँ मन्त्र में इन्हें 'मित्र' शब्द से कहा गया है। इस सूर्य की किरणें **अन्यत्**=इस देदीप्यमान शक्ति से भिन्न **कृष्णम्**=उदान नामक शक्ति को, जोकि कण्ठ देश में रहती हुई रोगों को शरीर से बाहर ले-जाने (कृष्ण=खेंचना) का कार्य करती है, धारण करती है। दिन के साथ मित्र का सम्बन्ध है तो रात्रि के साथ वरुण का। रात्रि के समय अन्धकार हो जाने से भी इस तेज को 'कृष्ण' नाम दिया गया है।

भावार्थ—सूर्यकिरणें हमारे अन्दर प्राणोदान-शक्ति के विकास का कारण हों।

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अंहस व अवद्य से दूर

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ६॥

१. हे **देवाः**=सूर्य की देदीप्यमान रश्मियों के समान ज्ञानरश्मियों से दीप्त देवपुरुषो! **अद्य**=आज **सूर्यस्य उदिता**=सूर्य के उदय होते ही **अंहसः**=पाप से **निः आ पिपृत**=हमें निश्चय से पार करो, **अवद्यात्**=निन्दनीय (अवाच्य) बातों से हमें पृथक् करो। सूर्य की रश्मियाँ जैसे अन्धकार को दूर करती हैं, उसी प्रकार इन देवों की ज्ञानरश्मियाँ हमारे पापान्धकार को दूर करनेवाली हों। २. **तत्**=हमारे इस पाप व अवद्य से ऊपर उठने के संकल्प को **मित्रः**=मित्र, **वरुणः**=वरुण, **अदितिः**=स्वास्थ्य, **सिन्धुः**=शरीर में स्थित रेतःकणरूप जल, **पृथिवी**=दृढ़ शरीर **उत**=और **द्यौः**=दीप्त मस्तिष्क **मामहन्ताम्**=आदृत करें। 'स्नेह, निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, ऊर्ध्वरेतस्कता, दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क'—ये सब मिलकर हमारे जीवन को 'अंहस व अवद्य' से ऊपर उठानेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रातर्वेला में देवों से ज्ञान प्राप्त करके पाप व निन्दनीय बातों से दूर हों।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि यह सूर्य का प्रकाश 'मित्र, वरुण व अग्नि' का प्रकाशक है (१)। पाँचवें मन्त्र में इसी बात पर पुनः बल देकर छठे मन्त्र में कहा है कि यह प्रकाश हमें पाप व निन्दनीय बातों से दूर करे (६)। इस प्रकार यह 'कुत्स आङ्गिरस' ऋषि उन्नति के लिए कटिबद्ध होने के कारण 'कक्षीवान्' कहलाता है। अगले सूक्त का ऋषि यह कक्षीवान् ही है। यह 'अश्विनौ' (प्राणापान) का स्तवन करता है—

अथ सप्तदशोऽनुवाकः

[११६] षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

विमद के लिए जाया की प्राप्ति

नासत्याभ्यां बर्हिरिव प्र वृञ्जे स्तोमाँ इयर्म्यभ्रियेव वातः।
यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन॥ १॥

१. कक्षीवान् संकल्प करता है कि **नासत्याभ्याम्**=प्राणापान की साधना करता हुआ इनके द्वारा **बर्हिः इव**=घास की भाँति **प्रवृञ्जे**=अवाञ्छनीय वासनाओं को काट गिराता हूँ। जैसे खेत में से अवाञ्छनीय घास-फूस को उखाड़ देते हैं, इसी प्रकार हृदय-क्षेत्र में से वासनाओं को उखाड़ने के लिए इन अश्विनीदेवों (प्राणापान) की आराधना करता हूँ। २. **इव**=जैसे **वातः**=वायु **अभ्रिया**=मेघस्थ जलों को प्रेरित करता है, उसी प्रकार मैं प्राणापान के द्वारा **स्तोमान्**=स्तोमों को **इयर्मि**=प्रेरित करता हूँ। प्राणसाधना के द्वारा मुझमें स्तुति का भाव जागरित होता है। ३. ये प्राणापान वे हैं **यौ**=जो **सेनाजुवा**=काम-क्रोधादि शत्रुसैन्य को दूर प्रेरित करनेवाले **रथेन**=शरीर-रथ से **अर्भगाय**=(अर्भः सन् गच्छति) (विनीत) छोटा होकर चलनेवाले के लिए, अपने को बड़ा न माननेवाले के लिए **विमदाय**=मदशून्य पुरुष के लिए **जायाम्**=विकास की कारणभूत वेदवाणीरूप पत्नी को **न्यूहतुः**=निश्चय से प्राप्त कराते हैं। 'परि मे गामनेषत'—इस मन्त्र में इनके वेदवाणी से परिणय का उल्लेख है। यह वेदवाणी इन्हें धर्म-मार्ग से विचलित होने से इसी प्रकार बचाती है, जैसे कि पत्नी पति को।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) वासनाएँ उच्छिन्न हो जाती हैं, (ख) स्तुति की भावना जागरित होती है, (ग) वेदवाणी प्राप्त होती है, जो हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

यम का प्रधान संग्राम

वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना।
तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय॥ २॥

१. हे प्राणापानो! आप **वीळुपत्मभिः**=दृढ़ गतिवाले **वा**=तथा **आशुहेमभिः**=शीघ्र गतिवाले **वा देवानां जूतिभिः**=और देवों की प्रेरणाओंवाले अश्वों से **शाशदाना**=(शद् शातने) काम-क्रोधादि शत्रुओं का शातन=संहार करनेवाले हो। प्राणापानों की साधना से कर्मेन्द्रियरूप अश्व दृढ़ व शीघ्र गतिवाले होते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व देवों की प्रेरणावाले होते हैं। कर्मेन्द्रियाँ क्रियाशील व ज्ञानेन्द्रियाँ दिव्य प्रेरणावाली होती हैं तो वासनाओं का संहार हो ही जाता है। २. हे **नासत्या**=प्राणापानो! **तत्**=तब **रासभः**=(रेभः) स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाला यह स्तोता **यमस्य प्रधने आजा**=संयम के प्रकृष्ट धन की प्राप्ति के कारणभूत इस संग्राम में **सहस्रं जिगाय**=अनेक वासनाओं को जीतनेवाला होता है। प्राणसाधना के साथ प्रभुस्तवन होने पर मनुष्य वासनाओं पर विजय पाता ही है। यह वासनाओं के साथ होनेवाला संग्राम यहाँ 'यम'—संयम का संग्राम कहा गया है। यह संयम-संग्राम ही प्रकृष्ट धन प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) कर्मेन्द्रियाँ दृढ़ व शीघ्र गतिवाली होती हैं, (ख) ज्ञानेन्द्रियाँ दिव्य प्रेरणावाली बनती हैं, (ग) स्तवन की वृत्ति वासनारूप शत्रुओं का पराजय करती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

तुग्र द्वारा भुज्यु का त्याग

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥ ३ ॥

१. **न**=जैसे **कश्चित्**=कोई **ममृवान्**=मरण-संकट में पड़ा हुआ मनुष्य **रयिम्**=धन को **अव अहाः**=सुदूर त्याग देता है, उसी प्रकार **ह**=निश्चय से हे **अश्विना**=प्राणापानो! **तुग्रः**=वासनाओं से अपने को हिंसित होता हुआ देखनेवाला पुरुष **उदमेघे**=इस विषय-जल के वर्षणवाले संसार-समुद्र में **भुज्युम्**=भोगवृत्ति को अब अहाः=परित्यक्त कर देता है। धन प्रिय होता है, परन्तु मृत्यु सामने होने पर उसे छोड़ा ही जाता है। इसी प्रकार संसार के भोग बड़े प्रिय हैं, परन्तु इनसे होनेवाले नाश के दिखने पर इन्हें छोड़ना ही होता है, अन्यथा ये भोग इस संसार-समुद्र में हमें डुबा ही देते हैं। २. **तम्**=उस भुज्यु को—भोग को प्राणापान **नौभिः**=शरीररूपी नाव से **ऊहथुः**=सुरक्षितरूप में धारण करते हैं। कैसी शरीररूप नाव से? (क) **आत्मन्वतीभिः**=प्रशस्त मनवाली। इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में करके भोगों का ग्रहण होने पर वह संसार-समुद्र में डुबोनेवाला नहीं रहता, (ख) **अन्तरिक्षप्रुद्भिः**=अन्तरिक्ष (मध्यमार्ग, अन्तरा क्षि) में चलनेवाली नावों से। अति को छोड़कर मध्यमार्ग में चलने के द्वारा मनुष्य इन भोगों का शिकार होने से बच जाता है, (ग) **अपोदकाभिः**=जिनमें पानी प्रविष्ट नहीं हो सकता—ऐसी नौका से। जैसे वाटर-टाइट (water-tight) नाव में नदी का जल प्रविष्ट नहीं हो सकता, उसी प्रकार उस नाव में से नाव का जल टपक भी नहीं सकता। इसी प्रकार इस शरीररूपी नाव में रेतःकणरूपी जल सुरक्षित रहता है, वह इससे निकलता नहीं। एवं, प्राणापान शरीररूप नाव को प्रशस्त मनवाला, मध्यमार्ग में चलनेवाला तथा सुरक्षित वीर्य-जलवाला बनाते हैं। ऐसी नाव से वे उचित भोगों को धारण करते हुए हमें हिंसित नहीं होने देते।

भावार्थ—प्राणसाधना से भोगवृत्ति हमारा नाश करनेवाली नहीं होती।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

समुद्रस्य धन्वन् आर्द्रस्य पारे

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः ॥ ४ ॥

१. हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप **तिस्रः क्षपः**=तीन रात्रियों व **त्रिः अहा**=तीन दिन में, अर्थात् जीवन के प्रातः, मध्याह्न व सायं में—बाल्य, यौवन व वार्धक्य में **भुज्युम्**=भोगवृत्ति को—भोगवृत्तिवाले पुरुष को **अतिव्रजद्भिः**=अतिशयेन चञ्चलता से इधर-उधर जानेवाले इन **पतङ्गैः**=इन्द्रियरूप अश्वों से **पारे ऊहथुः**=पार प्राप्त कराते हो। किसके पार? बाल्यकाल में **समुद्रस्य पारे**=ज्ञानसमुद्र के पार, यौवन में **धन्वन्** पारे=सुख-दुःख से परिपूर्ण होने के कारण शुष्क रेतीली भूमि के तुल्य इस गृहस्थ के कर्मों के पार तथा वार्धक्य में **आर्द्रस्य** पारे=प्रेम से आर्द्र हृदय में होनेवाली उपासना के पार। प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति बाल्य में ज्ञान-प्राप्ति में तत्पर रहता है, इसका यौवन कर्मप्रधान होता है और वार्धक्य उपासनामय। २. प्राणापान—'ज्ञान, कर्म व उपासना' में साधक को पारंगत करते हैं। किनके द्वारा? **त्रिभिः रथैः**=तीन रथों के द्वारा—स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीररूप तीन रथों के द्वारा। प्राणसाधक का स्थूलशरीर कर्मप्रधान है तो सूक्ष्मशरीर ज्ञानप्रधान और कारणशरीर उपासनाप्रधान। ये तीनों ही शरीर **शतपद्भिः**=सौ

वर्षों तक चलनेवाले हैं; **षट् अश्वः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनरूप छठे अश्ववाले हैं। इनके द्वारा प्राणापान हमें ज्ञान, कर्म व उपासना में पारंगत करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान (की साधना) के द्वारा हम भोगवृत्ति से ऊपर उठकर 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को सिद्ध करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

समुद्र के पार—'घर में'

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥ ५॥

१. यह शरीर इस संसार-समुद्र को तैरने के लिए एक नाव के समान है। यह सौ वर्ष तक चलनेवाला होने के कारण यहाँ 'शतारित्रा नाव' के रूप में कहा गया है। इसपर आरूढ़ 'भुज्यु'—भोगप्रवण मनुष्य इस संसार-समुद्र में बहता जाता है। प्राणापान (साधना ही) इसे इस समुद्र में डूबने से बचाते हैं और उसे फिर अपने घर 'ब्रह्मलोक' में पहुँचाते हैं। इस संसार में प्राणापान ही हमारा आश्रय होते हैं। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **तत्**=वह **अवीरयेथाम्**=बड़ा वीरतापूर्ण कर्म करते हो **यत्**=कि इस **अनारम्भणे**=आरम्भण से रहित (A handle, आरम्भण जिससे पकड़ा जाए), **अनास्थाने**=स्थिति-स्थान से रहित, **अग्रभणे**=ग्रहण करने योग्य बाहु से रहित **समुद्रे**=संसार-समुद्र में डूबने से बचाकर **भुज्युम्**=इन भोगों से युक्त मनुष्य को **अस्तम्**=अपने ब्रह्मलोकरूप घर में **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हो। उस भुज्यु को जो **शतारित्राम्**=सौ चप्पुओंवाली **नावम्**=इस शरीररूप नाव पर **आतस्थिवांसम्**=बैठा है। ३. इस संसार में धन व परिवार आदि कोई भी वस्तु अवलम्बन नहीं है, प्रभु ही वास्तविक सहारा है। प्रभु की ओर झुकाव प्राणापान की साधना से होता है, अतः प्राणापान ही आरम्भण हो जाते हैं। यह संसार अनस्थान है—यहाँ कहीं भी स्थिति नहीं हो पाती, मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। वह सदा अतृप्त-सा रहता है। प्रभु ही आधार हैं। प्रभु की प्राप्ति में ही आप्तकामतः है। कामों की प्राप्ति में तो सीमा आती ही नहीं। प्रभु की प्राप्ति में प्राणापान ही साधन बनते हैं। संसार की कोई भी वस्तु 'ग्रभण' ग्रहण करने योग्य नहीं है। प्रभु ही ग्राह्य हैं। उनकी प्राप्ति इन प्राणापानों की साधना से होती है। यह प्राणापान का ही महत्त्व है कि वे हमें प्रभु के समीप ले-चलते हैं और हम इस संसार-समुद्र में डूबने से बच जाते हैं। हम भुज्यु ही भुज्यु न रहकर उस प्रभु से योगवाले 'युज्यु' बनते हैं।

भावार्थ—यह संसार एक 'अनारम्भण, अनास्थान, अग्रभण' समुद्र है। इसे पार करने के लिए प्रभु ने हमें यह शरीररूप शतारित्रा नाव दी है। प्राणापान इस नाव के केवट बनते हैं और यह नाव हमें पार पहुँचानेवाली होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अघाश्व से श्वेताश्व की प्राप्ति

यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।
तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः॥ ६॥

१. गतमन्त्र में 'भुज्यु' का वर्णन था, जो संसार के भोगों को भोगने में लगा था, अतः 'अघाश्व' पापमय इन्द्रियोंवाला हो गया था। 'इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्' इन्द्रियों के विषयों में सङ्ग से दोष प्राप्त होता ही है। प्राणापान की साधना से ये इन्द्रियदोष दूर होते हैं—

'तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्'—प्राणनिग्रह से इन्द्रियदोष नष्ट होकर इन्द्रियाँ शुद्ध व श्वेत हो जाती हैं, मानो प्राणायाम हमें 'श्वेत अश्व' देनेवाले बनते हैं। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यम्**=जिस **अघाश्वाय**='अघाश्व' के लिए **श्वेतम् अश्वम्**=श्वेत अश्व को **ददथुः**=देते हो, यह बात **इत्**=निश्चय से **शश्वत्**=सदा **स्वस्ति**=कल्याण के लिए होती है। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं और इन्द्रियों की शुद्धि से कल्याण होता ही है। ३. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत् दात्रम्**=वह दान **महि कीर्तेन्यम्**=अत्यन्त कीर्तनीय **भूत्**=होता है। प्राणापान इन्द्रियों की शुद्धि के द्वारा ही शरीर को स्वस्थ बनाते हैं और इस शुद्धि से ही बुद्धि भी अत्यन्त तीव्र बनती है। एवं, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं। ४. यह शुद्धेन्द्रियरूप अश्व **पैद्वः**=पेदु (गति) सम्बन्धी होता है, अर्थात् सतत गमनशील (पद गतौ) होता है, **वाजी**=बलवान् होता है। गमनशील है, इसीलिए बलवान् है। क्रिया में ही शक्ति है। यह अश्व **सदमित्**=सदा ही **हव्यः**=प्रार्थनीय है, पुकारे जाने योग्य है और **अर्यः**=शत्रुओं को दूर प्रेरित करनेवाला है, अर्थात् अपने पर होनेवाले वासनाओं के आक्रमण से यह अपने को सुरक्षित रखता है—वासनारूप शत्रुओं को दूर भगाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ शुद्ध होंगी। अघाश्व से हम श्वेताश्व बन जाएँगे। ये इन्द्रियाँ गतिशील, शक्तिशाली व वासनाओं को सुदूर प्रेरित करनेवाली होंगी।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुरा=ऐश्वर्य सेचन

युवं नंरा स्तुवते पंज्रियायं कक्षीवते अरदतं पुरंन्धिम्।
कारोतराच्छफादश्वंस्य वृष्णंः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः॥७॥

१. हे **नरा**=(नृ नये) उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप **स्तुवते**=स्तवन करनेवाले के लिए **पज्रियाय**=(पद्=पज्, द को ज—दया०) गतिशील पुरुष के लिए (पज्रियाः=अङ्गिरसः—अगि गतौ—सा०) **कक्षीवते**=(प्रशस्तशासनयुक्ताय—द० कश=गति-शासनयोः) अपनी इन्द्रियों पर उत्तम शासन करनेवाले पुरुष के लिए **पुरन्धिम्**=पालक बुद्धि को **अरदतम्**=उत्तम मार्ग का प्रतिपादन करनेवाली बनाते हो (सन्मार्गादिकं विज्ञापयताम्—द०)। प्राणसाधना से वह शुद्ध बुद्धि प्राप्त होती है जो जीवन में सन्मार्ग का प्रदर्शन करनेवाली होती है। २. हे प्राणापानो! आप **वृष्णः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष के **कारोतरात्**=(कारान् उत्तरति येन—द०) सब व्यवहारों को निश्चय से पूर्ण करने के साधनभूत **शफात्**=(शफ=root of a tree) शरीर-वृक्ष के मूलभूत=वीर्य से **शतम्**=सौ वर्ष तक **कुम्भान्**=इन शरीरघटों को **सुरायाः**=(सुर ऐश्वर्ये) ऐश्वर्य से **असिञ्चतम्**=सिक्त करते हो। हमारा यह शरीर जिन पञ्चकोशों से बना है, वे ही यहाँ कुम्भ हैं। उन पञ्चकोशों को ये प्राणापान ऐश्वर्य से परिपूर्ण करते हैं। इन सब ऐश्वर्यों का बीज वीर्य है। इस वीर्य को ही यहाँ शरीर-वृक्ष का मूल होने से 'शफ' शब्द से कहा गया है। इस वीर्य के सुरक्षित होने पर हमारे सब व्यवहार सुचारुरूपेण सम्पन्न होते हैं, अतः यह 'कारोतर' है। इसकी सुरक्षा से हमारे शरीर के सब कोश अपने-अपने ऐश्वर्य से परिपूर्ण बने रहते हैं।

भावार्थ—प्राणापान उस मनुष्य को उत्तम बुद्धि प्राप्त कराते हैं जो स्तुतिशील, गतिमय तथा जितेन्द्रिय होता है। प्राणापान वीर्यरक्षा के द्वारा शरीर के सब कोशों को ऐश्वर्य से परिपूर्ण रखते हैं।

सूचना—यहाँ सुरा का भाव शराब नहीं है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अन्नयुक्त रस की उत्पत्ति

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति॥८॥

१. शरीर में जो कार्य प्राण करता है वही कार्य बाह्य जगत् में वायु के द्वारा होता है। वायु ही प्राण का रूप धारण करके शरीर में निवास करता है। यह वायु न चले तो ग्रीष्म में दिन की गर्मी सब ओषधि व वनस्पतियों को भून ही डाले, अतः कहते हैं कि हे **अश्विना**=वायुदेव! तुम **हिमेन**=हिम के द्वारा, शीतलता के द्वारा **घ्रंसम् अग्निम्**=दिन के सन्ताप को **अवारयेथाम्**=दूर करते हो और **अस्मै**=हमारे लिए **पितुमतीम्**=अन्नवाले **ऊर्जम्**=रस को **अधत्तम्**=धारण करते हो। उस भून डालनेवाली सन्तापक अग्नि के न होने पर अन्न ठीक उत्पन्न होते हैं और पशुओं में दूध के रूप में रहनेवाले रस की कमी नहीं होती। अत्यधिक सन्तापक अग्नि के होने पर ओषधियाँ भी भुन जातीं, पशु भी दूध से सूख जाते। २. **ऋबीसे**=(अपगततेजस्के) अपगत तेजवाली इस पृथिवी में **अवनीतम्**=ओषधि-वनस्पति आदि के परिपाक के लिए अन्दर ले-जाई गई **अत्रिम्**=ओषधि-वनस्पति आदि के भक्षण करनेवाले अग्नि को **सर्वगणम्**=व्रीहि आदि ओषधिगण को **उत् निन्यथुः**=ओषधियों के रूप से ऊपर लाते हो ताकि **स्वस्ति**=सब प्राणियों का कल्याण हो। यदि पृथिवी में उचित सन्ताप न हो तो बीज अंकुरित ही न हो। पार्थिवाग्नि से परिपक्व व उदक से क्लिन्न (गीली) होकर ही ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं।

भावार्थ—वायु सन्तापक अग्नि का निवारण करता है और भूमि में वर्तमान अग्नि को ओषधि-वनस्पति आदि रूप में ऊपर लाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धर्ममेघ समाधि में

परावतं नासत्यानुदेथामुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम्।
क्षरन्नापो न पायनाय राये सहस्राय तृष्यते गोतमस्य॥९॥

१. यह शरीर एक कूप के समान है—'अवत' है, अवस्तात् ततः=नीचे विस्तृत हुआ-हुआ है। हे **नासत्या**=अश्विनीदेवो! प्राणापानो! आप इस **अवतम्**=शरीर-कूप को **परानुदेथाम्**=खूब उत्कृष्ट रूप में प्रेरित करते हो। इस शरीर-कूप को आप **उच्चाबुध्नम्**=उत्कृष्ट मूलवाला व **जिह्मबारम्**=टेढ़े द्वारवाला **चक्रथुः**=बनाते हो। सिर का उपरला भाग ही इसकी पैंदी-सी है और मुख ही इसका टेढ़ा द्वार है और गर्दन पर यह उलटा करके रखा हुआ है। २. प्राणसाधना होने पर जब प्राणों का संयम इस सिर में स्थित सहस्रारचक्र में होता है तो इस **तृष्यते**=(तृष्यतः) धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्दवृष्टि के जल के लिए प्यासे **गोतमस्य**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष के **पायनाय**=पीने के लिए **आपः न**=जल के समान **सहस्राय राये**=आनन्दयुक्त ऐश्वर्य के लिए अथवा अनन्त ऐश्वर्य के लिए **क्षरन्**=आनन्दवृष्टि के जल टपकते हैं। धर्ममेघ समाधि में यह साधक एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। ३. अश्विनीदेव ही गर्भ में शरीर का निर्माण करते हैं। इन्होंने ही इस शरीर में मस्तिष्क को गर्दन पर इस रूप में रखा है कि पैंदी ऊपर है और मुख नीचे एवं मुख एक टेढ़े द्वार के रूप में है। इस मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र में प्राणसंयम होने पर एक वृष्टि-सी होती है जो अद्भुत शान्ति देनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणापान एक अद्भुत आनन्द की वृष्टि करके प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष को प्रीणित करते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जरा का दूरीकरण व दीप्तिमयता

जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्।
प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रादित्पतिमकृणुतं कनीनाम्॥ १०॥

१. हे **नासत्या**=अश्विनीदेवो! प्राणापानो! आप **जुजुरुषः**=जीर्ण होते हुए पुरुष से **उत**=और **वव्रिम्**=सम्पूर्ण शरीर को आवृत करके वर्तमान जरा को **प्रामुञ्चतम्**=इस प्रकार पृथक् करते हो **इव**=जैसेकि **च्यवानात्**=युद्ध से भागते हुए पुरुष से **द्रापिम्**=कवच को। जरा कवच-सा बना हुआ था, इस जरा को आप पृथक् कर देते हो, अर्थात् जीर्णाङ्ग पुरुष को आप फिर से युवा बना देते हो। २. उस वृद्ध की **आयुः**=आयु को जो **जहितस्य**=सब बन्धु-बान्धवों से परित्यक्त-सा हुआ-हुआ है **प्रातिरतम्**=आप बढ़ाते हो और हे **दस्रा**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आप इस जहित को फिर से **आत् इत्**=शीघ्र ही **कनीनाम्**=दीप्तियों का **पतिम् अकृणुतम्**=पति बना देते हो। इसका वार्धक्य दूर होता है, जीवन दीर्घ बनता है और यह दीप्तिमय हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीर्णता के चिह्न दूर हो जाते हैं, झुर्रियाँ हट जाती हैं, जीवन दीर्घ होता है और त्वचा फिर से दीप्तिमय हो जाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अपगूढ निधि का दर्शन

तद्वां नरा शंस्यं राध्यं चाभिष्टिमन्नासत्या वरूथम्।
यद्विद्वांसा निधिमिवापगूळ्हमुद्दर्शतादूपथुर्वन्दनाय॥ ११॥

१. हे **नराः**=उत्कर्ष व आरोग्य के मार्ग पर ले-चलनेवाले **नासत्या**=जिनसे असत्य का नाश हो जाता है वे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत्**=वह कार्य **शंस्यम्**=प्रशंसा के योग्य **राध्यम्**=आराधना के योग्य **च**=और **अभिष्टिमत्**=प्रार्थनावाला, **वरूथम्**=वरणीय—चाहने योग्य हुआ है **यत्**=कि **विद्वांसा**=ज्ञानयुक्त आपने **वन्दनाय**=स्तवन करनेवाले के लिए **दर्शतात्**=इस दर्शनीय शरीरकूप से **अपगूढं निधिम् इव**=छिपाकर रखे हुए एक कोश के समान उस आत्मा को **उदूपथुः**=(उदहार्ष्टम्) ऊपर प्रकट कर दिया। आत्मा का हृदय में निवास है। हृदयस्थित प्रभु कूप में छिपाकर रखे गये कोश के समान हैं। यहाँ शरीर ही कुँआ है। इसमें हृदयदेश में प्रभु गुप्तरूप से निवास कर रहे हैं। प्राणसाधना करनेवाला वन्दन तीव्र बुद्धि बनकर इस आत्मतत्त्व का दर्शन करता है। प्राणापान इस प्रभु को वन्दन के लिए प्रकट कर देते हैं। प्राणापान का यह कार्य सर्वमहत्त्वपूर्ण कार्य है। इससे अधिक प्रशंसनीय व वरणीय और कार्य हो ही क्या सकता है? ३. यह शरीर-कूप 'दर्शत' है=देखने योग्य है। इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना अत्यन्त सुन्दर व रचयिता की महिमा को प्रकट करनेवाली है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें यहीं इस दर्शनीय रचनावाले शरीर में प्रभु का दर्शन होता है। प्राणसाधना का सर्वमहान् लाभ यही है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दध्यङ् द्वारा मधुविद्या का उपदेश

तद्वां नरा सनये दंसं उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच॥ १२॥

१. हे **नरा**=आरोग्य के प्रणेता अश्विनीदेवो! **सनये**=प्रभु-प्राप्ति के लिए किये जानेवाले **वाम्**=आपके **तत्**=उस **उग्रम्**=तेजस्वी व उत्कृष्ट **दंसः**=कर्म को **आविष्कृणोमि**=मैं उसी प्रकार प्रकट करता हूँ **न**=जैसे **तन्यतुः**=मेघगर्जना **वृष्टिम्**=वृष्टि को प्रकट करती है। २. अश्विनीदेवों का वह उग्र कर्म यह है **यत्**=कि **दध्यङ्**=(ध्यानं प्रत्यक्तः) एक ध्यानशील पुरुष **आथर्वणः**=अथर्वा का पुत्र होता हुआ—'**अ+थर्व्**=चरति' स्थिर वृत्तिवाला होता हुआ अथर्व 'अथ अर्वाङ्'=आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाला होता हुआ **ह**=निश्चय से **वाम्**=आप दोनों के, अर्थात् आपसे प्राप्त कराये हुए **अश्वस्य शीर्ष्णा**=ज्ञान में व्याप्त होनेवाले मस्तिष्क से **ईम्**=इस **मधु**=मधुविद्या को—ब्रह्मविद्या को—सब विद्याओं की सारभूत अध्यात्मविद्या को **यत्**=जब **प्र उवाच**=प्रकर्षेण—प्रतिपादित करता है। ३. प्राणसाधना से वह मस्तिष्क प्राप्त होता है जो सब विद्याओं का व्यापन करता हुआ—इन विद्याओं की चरम सीमारूप मधुविद्या व ब्रह्मविद्या को प्राप्त करता है और दूसरों के लिए इसका प्रवचन करनेवाला बनता है। प्राणसाधना ही वस्तुतः हमें 'दध्यङ् आथर्वण' बनाती है। चित्तवृत्ति का निरोध करके ही तो हम दध्यङ् बनेंगे। चित्तवृत्तिनिरोध का एकमात्र साधन प्राणायाम है। इससे हम अन्तर्दृष्टि बनते हैं और अन्तःस्थित प्रभु को देखते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें वह मस्तिष्क प्राप्त कराती है जो ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाला होता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वध्रिमती को हिरण्यहस्त की प्राप्ति

अजोहवीन्नासत्या करा वां महे यामन्पुरुभुजा पुरंन्धिः।
श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्॥ १३॥

१. हे **करा**=आरोग्य देनेवाले **पुरुभुजा**=खूब ही पालन करनेवाले **नासत्या**=जिनके कारण असत्य नहीं रहता, ऐसे अश्विनीदेवो! **पुरन्धिः**=पालक बुद्धिवाली यह **वध्रिमती**=इन्द्रियाश्वों को बाँधने के लिए उत्तम रज्जुवाली, अर्थात् इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाली वध्रिमती **वाम्**=आप दोनों को **महे यामन्**=इस महत्त्वपूर्ण जीवन-यात्रा में **अजोहवीत्**=पुकारती है। आपको ही तो उसके जीवन को सुन्दर बनाना है और आपकी कृपा से ही यह महत्त्वपूर्ण जीवन-यात्रा सफल होनी है। आप ही उसे नीरोग रखोगे, उसका पालन करोगे और उसके जीवन से असत्य को दूर करोगे। २. **वध्रिमत्याः**=वध्रिमती की **तत्**=उस पुकार को आप ऐसे **श्रुतम्**=सुनते हो **इव**=जैसे **शासुः**=आचार्य की पुकार को विद्यार्थी सुनता है। आचार्य से दिये जानेवाले ज्ञान को सच्छिष्य जिस प्रकार ध्यान से सुनता है, उसी प्रकार वध्रिमती की पुकार को अश्विनीदेव सुनते हैं। **अश्विनौ**=हे प्राणापानो! आप उस वध्रिमती के लिए **हिरण्यहस्तम्**=हितरमणीय हाथ को **अदत्तम्**=देते हो, प्राप्त कराते हो। इसके हाथ से सदा हितकर व रमणीय कार्य होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम जितेन्द्रिय बनते हैं और हमारे हाथों से हितकर व रमणीय कार्य ही होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वृक के आस्य से वर्तिका की मुक्ति

आस्नो वृकस्य वर्तिकामभीके युवं नरा नासत्यामुमुक्तम्।
उतो कविं पुरुभुजा युवं ह कृपमाणमकृणुतं विचक्षे॥ १४॥

१. वर्तिका शब्द का अभिप्राय है—'अपने कर्त्तव्य कर्मों में वर्तना'। मनुष्य जब लोभ के वशीभूत हो जाता है तब वह अपने कर्त्तव्य-कर्मों को विस्मृत करके धन कमाने में ही लगा रहता है। यह लोभ 'वृक' है। वे सारे कर्त्तव्य मानो इस वृक के मुख में चले जाते हैं, वृक उन्हें निगल जाता है। 'वर्तिका' हमें कर्त्तव्य का ध्यान कराती है, वृक हमें कर्त्तव्य-पथ से दूर करता है। एवं यह वृक व वर्तिका का संग्राम चलता है। इस **अभीके**=संग्राम में हे **नरा**=स्वस्थवृत्ति को प्राप्त करानेवाले **नासत्या**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **वृकस्य आस्नः**=इस लोभरूप वृक के मुख से **वर्तिकाम्**=कर्त्तव्यपरायणतारूप वर्तिका को **अमुमुक्तम्**=छुड़ाते हो। प्राणसाधक लोभ के वशीभूत होकर अपने कर्त्तव्यों में प्रमाद नहीं करता। २. **उत**=और हे **पुरुभुजा**=खूब ही पालन करनेवाले प्राणापानो! **युवं ह**=आप निश्चय से इस कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति को **कविम्**=क्रान्तप्रज्ञ—अत्यधिक सूक्ष्मदर्शी बुद्धिवाला व **कृपमाणम्**=(कृप् सामर्थ्ये) सामर्थ्यवाला **अकृणुतम्**=करते हो। यह बुद्धिमान् सशक्त पुरुष **विचक्षे**=अपने कर्त्तव्यों को विशेषरूप से देखने के लिए होता है। सब वस्तुओं को ठीक रूप में देखने के कारण यह ठीक मार्ग पर ही चलता है।

भावार्थ—लोभ के कारण हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों में किसी प्रकार का प्रमाद न करें। बुद्धिमान् व समझदार बनकर अपने कर्त्तव्य को देखें।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

आयसी जंघा का आधान

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्॥ १५॥

१. जिस समय मनुष्य विवेकपूर्वक नहीं चलता उस समय संसार की मौज-मस्ती में फँस जाता है। ऐसा व्यक्ति 'खेल' है। यह खेल विषयासक्त हो चरित्रभ्रष्ट हो जाता है। **आजा**=इस संसार-संग्राम में **परितक्म्यायाम्**=अज्ञान-अन्धकारवाली रात्रि में **खेलस्य**=विषयों में खेलने, रमण करनेवाले पुरुष का **चरित्रम्**=चरित्र **हि**=निश्चय से **अच्छेदि**=इस प्रकार छिन्न हो जाता है **इव**=जैसे **वेः**=पक्षी का **पर्णम्**=पंख कट जाता है। पंख कट जाने से पक्षी का आकाश में उड़ना सम्भव नहीं रहता। इसी प्रकार चरित्रभ्रंश से व्यक्ति के उत्त्थान का प्रश्न ही नहीं उठता। अज्ञान, मनुष्य की रुचि को विषय-प्रवण कर देता है। इस व्यक्ति के कार्य अपने वैषयिक सुखों की वृद्धि के लिए होते हैं। २. प्राणसाधना से बुद्धि निर्मल बनती है, अतः विषयों के दोषों को देखकर यह व्यक्ति उधर से निवृत्त होता है। इसकी क्रियाएँ अब लोकहित के दृष्टिकोण से होती हैं। अब यह 'खेल' न रहकर 'विश्पला'=(पल=to move) लोकहित के लिए गतिवाला हो जाता है। इसका चरित्र बड़ा दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार हे अश्विनीदेवो! आप **विश्पलायै**=प्रजाहित के लिए गति करनेवाले इस व्यक्ति के लिए **सद्यः**=शीघ्र **आयसीं जङ्घाम्**=लोहे की टाँग को, अर्थात् दृढ़ चरित्र को **प्रत्यधत्तम्**=प्रतिदिन धारण कराते हो जिससे वह **हिते, धने**=हितकर धन के निमित्त **सर्तवे**=गति के लिए होता है। यह पुरुषार्थ से ही धन कमाता है और उस धन को लोकहित के दृष्टिकोण से विनियुक्त करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान बढ़ता है। यह ज्ञान हमें विषयों में रुचिवाले 'खेल' से लोकहित के लिए गतिवाला 'विश्पला' बना देता है।

ऋषिः—कक्षीवान् **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अन्धे को फिर से आँखें मिलना

शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्॥ १६॥

१. 'ऋज्राश्व' वह व्यक्ति है जिसके इन्द्रियरूप अश्व केवल 'ऋज्'=अर्जन में ही (ऋज्=to earn) प्रवृत्त हैं। यह धनार्जन में इस प्रकार उलझ गया कि अपने अन्य शतशः कर्त्तव्यों को भूल ही गया। 'मिष्' धातु यहाँ व्यवहार की सूचक है—'आँख की पलक खोलना' मानो कर्म की इकाई है। ऋज्राश्व ने सैकड़ों कामों की, लोभ की वेदि पर बलि दे दी। लोभ 'वृकी' है। इस वृकी के लिए ऋज्राश्व ने मेषों=कर्मों को नष्ट कर दिया। **शतं मेषान्**=अपने शतशः कर्त्तव्य-कर्मों को **वृक्ये**=लोभरूप वृकी के लिए **चक्षदानम्**=(छद्=to kill) हिंसित करनेवाले **तम्**=उस **ऋज्राश्वम्**=कमाने में लगाई हुई इन्द्रियोंवाले ऋज्राश्व को **पिता**=उसके पिता ने **अन्धं चकार**=अन्धा कर दिया। उसे समझाते हुए यह कहा कि धन कमाने के पीछे ऐसे क्या अन्धे हो गये हो कि अपने अन्य सब कर्त्तव्यों को ही तुम भूल गये? लोभ ने तो तुम्हारी आँखों पर पर्दा ही डाल दिया। इस लोभान्ध पुरुष ने पितादि के समझाने पर जब प्राणसाधना आरम्भ की तो हे **नासत्या**=असत्य को हमारे जीवन से दूर करनेवाले **दस्रा**=हमारे दोषों का उपक्षय करनेवाले **भिषजा**=रोगों का प्रतीकार करनेवाले प्राणापानो! आप **अनर्वन्**=अहिंसा के निमित्त—हिंसा न होने देने के लिए **तस्मै**=उस ऋज्राश्व के लिए **विचक्षे**=अपने कर्त्तव्यों को ठीक रूप में देख सकने के लिए **अक्षी**=आँखों को **आधत्तम्**=धारण करते हो। प्राणसाधना से इस ऋज्राश्व का दृष्टिकोण ठीक हो जाता है। अब यह धन कमाने के पीछे अन्धा हुआ नहीं फिरता। अपने कर्त्तव्यों को ठीक से निभाता हुआ ही वह धनार्जन करता है।

भावार्थ—धन कमाने में आसक्त पुरुष अन्धा-सा हो जाता है। प्राणसाधना उसके दृष्टिकोण को ठीक कर देती है, मानो उसे फिर से आँखें प्राप्त करा देती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सूर्य-दुहिता का रथारोहण

आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती।
विश्वे देवा अन्वमन्यन्त हृद्भिः समु श्रिया नासत्या सचेथे॥ १७॥

१. हे अश्विनीदेवो! **वाम्**=आप दोनों के **रथम्**=रथ पर **सूर्यस्य दुहिता**=सूर्य की दुहिता 'उषा' **आ अतिष्ठत्**=आरूढ़ होती है। वह सूर्य की दुहिता जो **अर्वता**=शत्रुओं के हिंसन के द्वारा **जयन्ती**=विजय को प्राप्त करती हुई है। 'उषा' प्रातःकाल के उस प्रकाश का प्रतीक है जिसमें किसी प्रकार का सन्ताप नहीं है। जिस समय हम प्राणसाधना में चलते हैं, उस समय हमारा यह शरीर-रथ अश्विनीदेवों का रथ कहलाता है—प्राणापान का तो वस्तुतः यह रथ है ही। प्राणसाधना से बुद्धि की निर्मलता के कारण यहाँ ज्ञान की उषा का प्रादुर्भाव होता है। इस उषा का प्रादुर्भाव होने पर वासनारूप अन्धकार का विलय हो जाता है। २. यह उषा रथ पर इस प्रकार आरूढ़ होती है **इव**=जैसे कि कोई भी योद्धा **कार्ष्म**=लक्ष्यस्थान पर पहुँचता है। इस ज्ञान की उषा के शरीर-रथ पर आरूढ़ होने पर हम लक्ष्यस्थान पर क्यों न पहुँचेंगे? इसीलिए

विश्वेदेवाः=सब देव 'उषा के शरीर-रथ पर आरोहण' का **हृद्भिः**=हृदय से **अन्वमन्यन्त**=(अनुमन्=to honour) आदर करते हैं। उनकी यह प्रबल कामना होती है कि हमारे जीवन में इस उषा का अवश्य उदय हो। इस प्रकार हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप **उ**=निश्चय से **श्रिया**=श्री से **संसचेथे**=सम्यक् मेलवाले होते हो, ज्ञान की शोभावाले होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान की उषा का प्रादुर्भाव होता है। इससे यह सारा शरीर श्री-सम्पन्न हो जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दिवोदास भरद्वाज (शिंशुमार वृषभः)

यदयातं दिवोदासाय वर्तिर्भरद्वाजायाश्विना हयन्ता।
रेवदुवाह सचनो रथो वां वृषभश्च शिंशुमारश्च युक्ता॥ १८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **हयन्ता**=(हय् to go) रेचक व पूरक के रूप में गति करते हुए आप **यत्**=जब **दिवोदासाय**=ज्ञान के भक्त के लिए तथा **भरद्वाजाय**=अपने में शक्ति भरनेवाले के लिए **वर्तिः**=उसके शरीर-गृह में **अयातम्**=प्राप्त होते हो, तब **वां सचनः**=आप दोनों का सेवन करनेवाला **रथः**=यह रथ **रेवत्**=धनयुक्त होकर **उवाह**=दिवोदास व भरद्वाज को लक्ष्यस्थान पर पहुँचाता है। जिस समय प्राणसाधना चलती है उस समय शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर यह व्यक्ति 'भरद्वाज' तो बनता ही है, बुद्धि की सूक्ष्मता से ज्ञान का प्रकाश भी बढ़ता है और यह 'दिवोदास' बनता है। इसे जहाँ इस संसार-यात्रा की पूर्ति के लिए धनार्जन की क्षमता प्राप्त होती है, वहाँ यह उस धन में न उलझा हुआ लक्ष्यस्थान पर भी अवश्य पहुँचता है। २. इस रथ में **वृषभः च**=वृषभ और **शिंशुमारः**=शिंशुमार **युक्ता**=जुते हुए हैं। सामान्य भाषा में वृषभ बैल है और 'शिंशुमार' मगरमच्छ है। इनके रथ में जुते हुए होने का भाव तो स्पष्ट उपहासास्पद है। वस्तुतः 'वृषभ' शक्ति का संकेत करता है और 'शिंशुमार' (श्यति तनूकरोति धर्मम्) धर्मनाशक पापवृत्ति को मारनेवाला है। अश्विनीदेवों के रथ में वृषभ और शिंशुमार की नियुक्ति का भाव यही है कि प्राणसाधना होने पर शरीर शक्ति-सम्पन्न (भरद्वाज) बनता है और बुद्धि की सूक्ष्मता के कारण ज्ञान की वृद्धि होकर पापों का नाशक (दिवोदास) होता है। ज्ञान ही वस्तुतः 'शिंशुमार' है, शक्ति ही 'वृषभ' है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवन को इस प्रकार उन्नत करती है कि हम ज्ञान के भक्त व शक्ति को अपने में भरनेवाले भरद्वाज एवं दिवोदास होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सुक्षत्र, स्वपत्य, सुवीर्य

रयिं सुक्षत्रं स्वपत्यमायुः सुवीर्यं नासत्या वहन्ता।
आ जह्नावीं समनसोप वाजैस्त्रिरह्नो भागं दधतीमयातम्॥ १९॥

१. हे **नासत्या**=अश्विनीदेवो! प्राणापानो! आप **रयिम्**=धन को **सुक्षत्रम्**=उत्तमता से क्षतों (घावों, प्रहारों) से त्राण की शक्ति को, **स्वपत्यम्**=उत्तम सन्तान को, **आयुः**=दीर्घजीवन को तथा **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को **वहन्ता**=प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना से उल्लिखित सब वस्तुओं की प्राप्ति होती है। २. हे प्राणापानो! आप **समनसा**=समान मनवाले होकर, अर्थात् मिलकर कार्य करते हुए **जह्नावीम्**=(जहाति) प्राकृतिक भोगों का त्याग करनेवाली चित्तवृत्ति को (चित्तवृत्तिवाले पुरुष को) **वाजैः**=शक्तियों के साथ **उप अयातम्**=समीपता से प्राप्त होते हो। ऐसे पुरुष को

आप सब कोशों के ऐश्वर्यों को देनेवाले हो। अन्नमयकोश का तेज, प्राणमय-कोश का वीर्य, मनोमयकोश का ओज व बल, विज्ञानमयकोश का मन्यु तथा आनन्दमयकोश का सहस्—इस त्याग-वृत्तिवाले पुरुष को प्राणसाधना से प्राप्त होता है। ३. इस जह्नावी को आप वे वाज प्राप्त कराते हो जो **अह्नः त्रिः**=दिन में तीन बार **भागं दधीतम्**=सोमयाग के प्रात:सवन, माध्यन्दिनसवन व सायन्तनसवन को धारण कर रही है। सोमयाग अध्यात्म में सोमशक्ति का रक्षण ही है। जीवन के चौबीस वर्ष तक इस वीर्य का रक्षण ही इसका प्रात:सवन है, अगले चवालीस वर्ष तक रक्षण इसका माध्यन्दिनसवन है और अगले अड़तालीस वर्ष तक इसका रक्षण ही सायन्तनसवन है। इन सवनों को करनेवाली जह्नावी को प्राणापान वाज-(शक्ति)-सम्पन्न करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'धन, बल, सुसन्तान, आयु व सुवीर्य' प्राप्त होते हैं। त्याग-वृत्तिवाला पुरुष वाज-(बल)-युक्त बन जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विभिन्दु रथ

परिविष्टं जाहुषं विश्वतः सीं सुगेभिर्नक्तमूहथू रजोभिः।
विभिन्दुना नासत्या रथेन वि पर्वताँ अजरयू अयातम्॥ २०॥

१. हे **नासत्या**=असत्य को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **विश्वतः**=चारों ओर से **परिविष्टम्**=शत्रुओं से घिरे हुए **जाहुषम्**=इस त्यागशील पुरुष को **नक्तम्**=इस अन्धकारमयी रात्रितुल्य जगती में **सुगेभिः**=सुगमता से जाने योग्य **रजोभिः**=ज्योतियों से (रजः=ज्योतिः) **सीम्**=निश्चयपूर्वक **ऊहथुः**=लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हो। संसार प्रलोभनों से परिपूर्ण है। इसमें मनुष्य को मार्ग नहीं दिखता और वह भटक जाता है। चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखता है। रात्रि-ही-रात्रि लगती है। नियमपूर्वक प्राणसाधना होने पर हमें प्रकाश दिखता है। उस प्रकाश में हम मार्ग देखकर उसपर आगे बढ़ पाते हैं और क्रमशः लक्ष्यस्थान पर पहुँचनेवाले बनते हैं। २. हे **अजरयू**=जरा को हमारे साथ युक्त न होने देनेवाले प्राणापानो! आप **विभिन्दुना**=सब विघ्नों का विदारण करनेवाले **रथेन**=इस शरीर-रथ से **पर्वतान्**=(पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवालों को, आत्मालोचन के द्वारा अपनी न्यूनताओं को देखकर उन्हें दूर करनेवालों को **वि-अयातम्**=विशेषरूप से प्राप्त होते हो। प्राणसाधक 'जीर्ण' न होकर वृद्ध होता है। यह इस प्राणसाधना के द्वारा अपनी शक्तियों का विस्तार करता है। प्राणसाधना से शरीर नीरोग व दृढ़ बनकर उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अन्धकार दूर होकर प्रकाश हो जाता है। जीर्णता दूर होकर वृद्धता प्राप्त होती है। शरीररूप रथ सब विघ्नों को दूर करता हुआ आगे बढ़ता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभुस्मरणयुक्त प्राणायाम

एकस्या वस्तोरावतं रणाय वशमश्विना सनये सहस्रा।
निरहतं दुच्छुना इन्द्रवन्ता पृथुश्रवसो वृषणावरातीः॥ २१॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **वशम्**=आपकी साधना के द्वारा इन्द्रियों को वश में करनेवाले को **एकस्याः वस्तोः**=एक-एक दिन **रणाय**=काम-क्रोधादि शत्रुओं से संग्राम के लिए **आवतम्**=रक्षित करते हो। काम-क्रोधादि के साथ चलनेवाले युद्ध में इस 'वश' के ये प्राणापान ही मुख्य अस्त्र बनते हैं। इनके द्वारा ही यह इन्हें पराजित कर पाता है। २. हे प्राणापानो!

आप ही इस 'वश' के **सहस्रा सनये**=सहस्र संख्याक धनों की प्राप्ति के लिए होते हो। काम-क्रोधादि का विजय करके यह उत्कृष्ट धनों का विजेता बनता है। ३. हे **वृषणौ**=धनों व सुखों की वर्षा करनेवाले प्राणापानो! आप **इन्द्रवन्ता**=प्रभुवाले होकर, अर्थात् आपकी साधना के साथ प्रभुस्मरण के चलने पर **पृथुश्रवसः**=विस्तृत ज्ञानवाले इस पुरुष के **दुच्छुना**=(दुःखकर्तृन्-सा०) दुःख के कारणभूत **अरातीः**=शत्रुओं को (काम, क्रोध, लोभ, मोह व मत्सररूप शत्रुओं को) **निरहतम्**=निश्चय से नष्ट करते हो। जब प्राणायाम के साथ प्रभुनाम का जप चलता है तब कामादि सब शत्रुओं का नाश हो जाता है। इन शत्रुओं के नाश से हमारा ज्ञान विस्तृत होता है, हम 'पृथुश्रवस' बनते हैं। कामादि शत्रु ही हमारे सब दुःखों का कारण थे। इनके नष्ट होने पर दुःखों का भी अन्त हो जाता है। हम शतशः ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से युक्त प्राणायाम हमें विजयी बनाता है, ऐश्वर्य का लाभ कराता है और दुःख के कारणभूत शत्रुओं का नाश करता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जल की ऊर्ध्वगति व गौ का आप्यायन

शरस्य चिदार्चत्कस्यावतादा नीचादुच्चा चक्रथुः पातवे वाः।
शयवे चिन्नासत्या शचीभिर्जसुरये स्तर्यं पिप्यथुर्गाम्॥ २२॥

१. शरीर में मूलाधारचक्र के समीप ही वीर्यकोश है। यह शरीर में नीचे होनेवाला एक कुँआ ही है। प्राणायाम के द्वारा इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है और इस वीर्य का शरीर में पान होता है। हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप **शरस्य**=(शृ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले **आर्चत्कस्य**=प्रभु का अर्चन करनेवाले के **वाः**=वीर्यरूप जलों को **चित्**=निश्चय से **पातवे**=पीने के लिए, शरीर के अन्दर ही पान करने के लिए (Imbibe) **नीचात् अवतात्**=नीचे वर्तमान कूपतुल्य वीर्यकोश से **उच्चा आ चक्रथुः**=ऊपर की ओर करते हो। प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। २. इस प्रकार वीर्य की ऊर्ध्वगति के द्वारा इस **शयवे**=हृदयदेश में ही निवास करनेवाले (शी=Tranquility) शान्त स्वभाववाले पुरुष के लिए **जसुरये**=वासनाओं को अपने से दूर फेंकनेवाले के लिए **शचीभिः**=प्रज्ञाओं के द्वारा **चित्**=निश्चय से **स्तर्यं गाम्**=निवृत्त-प्रसवा—वन्ध्या गौ को **पिप्यथुः**=फिर से आप्यायित कर देते हो। यह गौ फिर से दोग्ध्री बन जाती है। यहाँ गौ वेदवाणी है। बुद्धि की मन्दता के कारण हम इसके अर्थ को नहीं समझते और इस प्रकार यह वेद-वाणीरूप गौ हमारे लिए वन्ध्या बन जाती है। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर हम इस वाणी को फिर से समझने लगते हैं और यह वेदरूपी गौ हमारे लिए ज्ञान-दुग्ध देने लगती है।

भावार्थ—प्राणापान के द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर बुद्धि की तीव्रता होती है और इस प्रकार ज्ञान की वाणियाँ हमारे लिए सुबोध हो जाती हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विश्व को विष्णाप्व की प्राप्ति

अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय ऋजूयते नासत्या शचीभिः।
पशुं न नष्टमिव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय॥ २३॥

१. **अवस्यते**=शरीर को रोगों से रक्षित करने की कामनावाले के लिए, **स्तुवते**=हृदय में प्रभु के नाम-स्मरण द्वारा प्रभुस्तवन करनेवाले के लिए **कृष्णियाय**=सब ओर से ज्ञान को अपनी

ओर आकृष्ट करनेवाले के लिए और **ऋजूयते**=ऋजु-मार्ग से—सरल-मार्ग से गति करनेवाले के लिए, हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप **शचीभिः**=प्रज्ञाओं के द्वारा **नष्टमिव पशुं न**=अदृष्ट हुए-हुए पशु की भाँति उस प्रभु को **दर्शनाय**=पुनः दर्शन के लिए करते हो, अर्थात् जैसे पशु का स्वामी नष्ट हुए-हुए पशु को प्राप्त करके आनन्दित हो उठता है, इसी प्रकार यह प्राणसाधक भी हृदयस्थ होते हुए भी अदृष्ट प्रभु को बुद्धि की तीव्रता द्वारा फिर से देखनेवाला बनता है। २. यह प्रभु का द्रष्टा व्यापक मनोवृत्तिवाला बनता है—'विश्वक' होता है—यह सम्पूर्ण विश्व के हित की ही बात सोचता है। हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप इस **विश्वकाय**=वसुधा को कुटुम्ब समझनेवाले पुरुष के लिए **विष्णाप्वं ददथुः**=(विष्णानाप्नोति, विष् व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्तियों को या व्यापक कर्मों को देते हो। इसके कर्म व्यापकता को लिये हुए होते हैं। यह केवल अपने हित को ही देखता हुआ कर्मों को नहीं करता। विश्वहित के लिए कर्म करता हुआ यह सचमुच 'विश्वक' बनता है।

भावार्थ—हम शरीर को नीरोग बनाएँ, मन को स्तुति की भावना से भरें, मस्तिष्क में ज्ञान को आकृष्ट करें। ऋजु-मार्ग से सब कार्य करें। ऐसा होने पर हम तीव्रबुद्धि होकर प्रभु का दर्शन करेंगे और व्यापक मनोवृत्तिवाले होकर 'विश्वक' बनेंगे।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अश्मन्वती नदी का उत्तरण

दश रात्रीरशिवेना नव द्यूनवनद्धं श्नथितमप्स्व१न्तः।
विप्रुतं रेभमुदनि प्रवृक्तमुन्निन्यथुः सोममिव स्रुवेण॥ २४॥

१. जीवन को दस दशकों में बाँटा जाए तो जीवन, एक-एक दशक को एक-एक दिन मानकर, दस दिन का बन जाता है। इन दस रात्रियों व दस दिनों में दसों की दस रात्रियाँ बीत जाती हैं, नौ दिन भी बीत चुके हैं। अब केवल दसवाँ दिन शेष रह गया है। १०×९=९० वर्ष तो बीत गए, १० ही वर्ष बचे हैं। **दश रात्रीः नव द्यून्**=दस रातों और नौ दिनों में **अशिवेन**=घर बनाने, कार खरीदने व पुत्र-पुत्रियों के सम्बन्ध स्थापित करने आदि अशिवेन=मोक्ष के असाधक, अतएव अमङ्गल कार्यों से ही **अवनद्धम्**=बुरी तरह जकड़े हुए **श्नथितम्**=काम-क्रोध-लोभ से हिंसित, **अप्सु अन्तः विप्रुतम्**=सांसारिक कार्यों में विविध दिशाओं में गति करते हुए, नाना चेष्टाओं को करते हुए **उदनि प्रवृक्तम्**=इस संसाररूपी अश्मन्वती नदी के जल में छोड़ दिये गये **रेभम्**=स्तोता को हे प्राणापानो! आप उसी प्रकार **उन्निन्यथुः**=जल से ऊपर प्राप्त कराते हो, **इव**=जिस प्रकार **स्रुवेण**=चमस् से **सोमम्**=सोम को। २. यज्ञ में पात्र में नीचे पड़े हुए सोम को चम्मच से ऊपर उठाते हैं, इसी प्रकार प्राणसाधना होने पर ये प्राण हमें संसार-नदी में डूबने से बचाते हैं। सामान्यतः मनुष्य जीवन-भर भौतिक प्रवृत्तियों से आन्दोलित होता हुआ उन्हीं में उलझा रहता है और इस संसार-नदी में डूब जाता है। 'मकान बनाना है, वस्तुएँ खरीदनी हैं, पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना है'—मनुष्य इन्हीं कार्यों में उलझा रहता है। सब कार्य अन्ततः मोक्ष के साधक न होने से अशिव हैं। प्राणसाधना से मनुष्य की प्रवृत्ति बदलती है। वह रेभ=प्रभु का स्तोता बनता है। अब वह संसार-नदी के जल में बहता नहीं चलता, इसे पार करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार ये प्राण इसे इस नदी में डूबने से बचाते हैं और इस नदी के जल से ऊपर उठा लेते हैं। जैसे चम्मच द्वारा उठाये गये सोम की आहुति यज्ञ में दी जाती है, उसी प्रकार यह भी अपने जीवन की आहुति यज्ञात्मक कर्मों में देता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम इस संसार-नदी में डूबते नहीं, अपितु अपने जीवन को यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुगवः, सुवीरः

प्र वां दंसांस्यश्विनाववोचमस्य पतिः स्यां सुगवः सुवीरः।
उत पश्यन्नश्नुवन्दीर्घमायुरस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम्॥ २५॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! मैं **वाम्**=आपके **दंसांसि**=पूर्वमन्त्रों में वर्णित अद्भुत कर्मों का **प्र अवोचम्**=प्रकर्षेण कथन करूँ। आपकी कृपा से मैं **अस्य**=इस शरीररूप गृह का **पतिः स्याम्**=अधिपति होऊँ। शरीर पर मेरा पूर्ण प्रभुत्व हो, शरीर को बनानेवाले सब भूतों का मैं ईश्वर होऊँ, परिणामतः **सुगवः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ और **सुवीरः**=उत्तम वीर होऊँ, मेरी इन्द्रियों की शक्ति का विकास हो और मेरी वीरता में कमी न आये। शरीर पर आधिपत्य न होने से ही हम तुच्छ विषयों की ओर झुक जाते हैं और अपनी शक्तियों को क्षीण कर बैठते हैं। २. शरीर का अधिपति बनकर **उत**=और **पश्यन्**=आँखों से ठीक देखता हुआ, अर्थात् सब इन्द्रियों से उस-उस इन्द्रिय के कार्य को ठीक से करता हुआ **दीर्घम् आयुः अश्नुवन्**=दीर्घजीवन को प्राप्त करता हुआ मैं अन्त में **जरिमाणम्**=वृद्धावस्था में **इत्**=ही **जगम्याम्**=इस प्रकार जाऊँ **इव**=जैसेकि कोई व्यक्ति **अस्तम्**=घर को जाता है। जिस प्रकार हम घर में प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार हम वार्धक्य में प्रवेश करते हुए भी प्रसन्नता का अनुभव करें। यह तभी हो सकता है जब हम क्षीणशक्ति न हो गये हों। प्राणसाधना हमारी शक्तियों को स्थिर रखती है और परिणामतः जीवन में उल्लास बना रहता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें उत्तम इन्द्रियोंवाला, वीर, दीर्घजीवी व सशक्त वार्धक्यवाला बनाती है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ प्राणसाधना द्वारा वासनाओं के उच्छेद से हुआ है (१)। समाप्ति पर भी यही कहा है कि हमारी इन्द्रियाँ स्वस्थ व सशक्त बनी रहती हैं, हमारा वार्धक्य भी जीर्ण शक्तिवाला नहीं हो जाता (२५)। अग्रिम सूक्त में भी कक्षीवान् प्राणसाधना द्वारा सोम-(वीर्य)-पान का प्रयत्न करता है—

[११७] सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

इष और वाज

मध्वः सोमस्याश्विना मदाय प्रत्नो होता विवासते वाम्।
बर्हिष्मती रातिर्विश्रिता गीरिषा यातं नासत्योप वाजैः॥ १॥

१. **अश्विना**=हे प्राणापानो! **मध्वः सोमस्य**=माधुर्ययुक्त सोम-सम्बन्धी **मदाय**=आनन्द की प्राप्ति के लिए, शरीर में वीर्य के सुरक्षित रहने से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उस आनन्द-लाभ के लिए **वाम्**=आपका यह **प्रत्नः**=पुराना **होता**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला **विवासते**=आपकी परिचर्या करता है। सोम शरीर में सुरक्षित होकर स्वभाव के माधुर्य को उत्पन्न करता है, इसीलिए सोम को यहाँ मधु कहा गया है। प्राणसाधना के द्वारा ही इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है, इसलिए कक्षीवान् प्राणसाधना के लिए कटिबद्ध होता है, वह मानो अपने को प्राणों के प्रति अर्पित ही कर देता है। २. हे प्राणापानो! आपका **रातिः**=दान **बर्हिष्मती**=सब प्रकार से हमारी वृद्धि का कारण बनता है (बृहि वृद्धौ)। प्राणसाधना से हमें जो कुछ प्राप्त होता

है, वह सब हमारी उन्नति का साधन होता है। इस साधना से शरीर स्वस्थ व सबल बनता है, मन व इन्द्रियाँ पवित्र व निर्दोष होती हैं, बुद्धि तीव्र होती है और **गीः**=ज्ञान की वाणी **विश्रिता**=विशेषरूप से हमारा आश्रय करती है। सूक्ष्म बुद्धि उन ज्ञान की वाणियों को अच्छी प्रकार ग्रहण करनेवाली होती है। ३. हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **इषा**=प्रभु-प्रेरणा के साथ तथा **वाजैः**=शक्तियों के साथ **उप आयातम्**=हमें समीपता से प्राप्त होओ। प्राणसाधना हृदय के आवरण को दूर करके हमें प्रभु-प्रेरणा को सुनने के योग्य बनाती है और साथ ही यह साधना हमें वह शक्ति भी देती है जिससे कि हम उस प्रेरणा के अनुसार कार्य कर सकें।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। हम तीव्र बुद्धिवाले बनकर ज्ञान की वाणियों के आधार बनते हैं, प्रभु-प्रेरणा को सुन पाते हैं और उसे कार्यान्वित करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मन से भी वेगवान् रथ

यो वामश्विना मनसो जवीयान्रथः स्वश्वो विश आजिगाति।
येन गच्छथः सुकृतो दुरोणं तेन नरा वर्तिरस्मभ्यं यातम्॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यः**=जो **वाम्**=आपका **मनसः जवीयान्**=मन से भी अधिक वेगवान् **रथः**=रथ है, जो **सु-अश्वः**=उत्तम अश्वोंवाला है, **विशः**=सब प्रजाओं को **आजिगाति**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है, **येन**=जिस रथ से आप **सुकृतः**=पुण्यकृत लोगों के **दुरोणम्**=घर को, अर्थात् स्वर्ग को **गच्छथः**=जाते हो, **तेन**=उस रथ से हे **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए भी **वर्तिः यातम्**=गृह पर आओ, अर्थात् हमें भी प्राप्त होओ। २. यह शरीर ही प्राणापान का रथ है। प्राणों के होने पर ही अन्य चक्षु आदि देवों का यहाँ वास होता है। प्राण गये और सब देव भी गये, इसलिए इसे प्राणापान का रथ कहा है। यह रथ अत्यन्त वेगवान् है। प्राणसाधना होने पर यह हमें शीघ्रता से उन्नति-पथ पर आगे और आगे ले-चलता है। प्राणसाधना से ही इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं और यह शरीर-रथ उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होकर 'स्वश्वः' कहलाता है। यह रथ सब मनुष्यों को जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए प्राप्त होता है। प्राणसाधना हमें उत्तम कर्मों में व्यापृत करके स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकारी बनाती है। पुण्यशाली लोगों के लोकों को हम प्राप्त करनेवाले होते हैं। हमें यही अश्विनीदेवों का रथ प्राप्त हो, जिससे सब कार्यों को उत्तमता से करते हुए हम आगे बढ़ पाएँ।

भावार्थ—यह शरीर-रथ प्राणापान का है। यह हमें पुण्यकृत लोगों के लोक को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अशिव दस्यु की माया का निवारण

ऋषिं नरावंहसः पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता॥ ३॥

१. **नरौ**=हे उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! आप **पाञ्चजन्यम्**=प्राण, अपान, व्यान, उदान व समानरूप पाँचों प्राणों का विकास करनेवाले अथवा पाञ्चजनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद) के हित में प्रवृत्त **अत्रिम्**=काम-क्रोध-लोभ (अत्रि) 'काम, क्रोध, लोभ'—

इन तीनों से रहित अत्रि को **गणेन**=कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के गणों के साथ—इन्द्रियगण के साथ **अंहसः**=पाप से **मुञ्चथः**=मुक्त करते हो और **ऋबीसात्**=(अपगतभासः) अत्यन्त अन्धकारमय असुर्यलोक से मुक्त करते हो। पाप से मुक्त होने पर असुर्यलोक से मुक्ति तो हो ही जाती है। पाप ही नरक व असुर्यलोक का कारण है। प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं और मनुष्य तत्त्वद्रष्टा (ऋषि), लोकहित में प्रवृत्त (पाञ्चजन्य) व काम-क्रोध-लोभ से अतीत (अत्रि) बनता है। ऐसा बनकर यह पापों से ऊपर उठता है और ऋबीस (Abyss) में पतन से छुटकारा पाता है। २. हे प्राणापानो! आप **अशिवस्य**=सदा अकल्याण करनेवाले **दस्योः**=उत्तमवृत्तियों का उपक्षय करनेवाले वृत्र=काम की **मायाः**=ज्ञान पर आवरण डालनेवाली वासनाओं को **मिनन्त**=हिंसित करते हो। प्राणसाधना से वासनाओं का विनाश होता है और इस प्रकार वासनाओं का विनाश करते हुए **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले अथवा शक्तिशाली प्राणापान **अनुपूर्वम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये वेदज्ञान के अनुसार **चोदयन्ता**=कर्मों में प्रेरित करते हैं। प्राणसाधना से हमारी अशुभवृत्ति दूर होती है, शुभवृत्ति जागती है और इस प्रकार हम वेदानुकूल कार्य करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से अशुभवृत्तियों का नाश होता है और हम 'पाञ्चजन्य, अत्रि व ऋषि' बन पाते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दुःखों का नाश

अश्वं न गूळ्हमश्विना दुरेवैर्ऋषिं नरा वृषणा रेभमप्सु।
सं तं रिणीथो विप्रुतं दंसोभिर्न वां जूर्यन्ति पूर्व्या कृतानि॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **दुरेवैः**=दुष्ट चालों से **गूढम्**=संवृत्त **अश्वं न**=अश्व के समान, अर्थात् जिस अश्व को दुष्ट चालों की आदत पड़ गई है, उस अश्व के समान **विप्रुतम्**=विरुद्ध गतियों में पड़े हुए **तम्**=उस **ऋषिं रेभम्**=अपने ज्ञानी (स्तोता) भक्त को, हे **नरा**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **दंसोभिः**=अपने कर्मों से **अप्सु**=व्यापक कार्यों में **संरिणीथः**=धारण करते हो (समधत्तम्—सा०)। **वाम्**=आपके ये **पूर्व्या कृतानि**=पूर्णता के सम्पादक कर्म **न जूर्यन्ति**=जीर्ण नहीं होते। २. प्राणसाधना से पूर्व एक व्यक्ति के कर्मों में कितनी भी अपूर्णता हो, प्राणसाधना होने पर, दोषों के दग्ध हो जाने से कर्मों में पवित्रता आ जाती है। प्राणापान को 'नरा' इसलिए कहा गया है कि ये उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हैं, 'वृषणा' तो हैं ही। शक्ति की ऊर्ध्वगति के द्वारा ये साधक को शक्ति का पुञ्ज ही बना देते हैं। साधना से पूर्व विकृत चालवाले अश्व की भाँति हमारी जो भी विकृत क्रियाएँ थीं, वे सब दूर होकर हमारा आचरण ज्ञानीभक्त के आचरण के अनुरूप हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे कर्मों की विकृति को दूर करके हमें सुन्दर कर्मोंवाला बनाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्य व स्वर्ण के समान

सुषुप्वांसं न निर्ऋतेरुपस्थे सूर्यं न दस्रा तमसि क्षियन्तम्।
शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय॥ ५॥

१. **निर्ऋतेः उपस्थे**=दुराचार की गोद में **सुषुप्वांसम्**=सोये हुए-से पुरुष को हे

अश्विना=प्राणापानो! आप **वन्दनाय**=प्रभुस्तवन के लिए **उदूपथुः**=खड़ा करते हो। प्राणसाधना से सम्पूर्ण दुराचरण को छोड़कर यह पुरुष प्रभुस्तवन आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। २. हे **दस्रा**=सब बुराइयों का क्षय करनेवाले प्राणापानो! उस पुरुष को आप ऊपर उठाते हो जो **सूर्यं न**=सूर्य के समान था, परन्तु उस सूर्य के समान जो **तमसि क्षियन्तम्**=अन्धकार में निवास कर रहा हो। आकाश में चमकते हुए सूर्य को जब बादल ढक देते हैं, तब वह सूर्य अन्धकार में रह रहा होता है। बादल हटते हैं तो वह फिर से चमक उठता है। इसी प्रकार प्राणसाधना से वासना का आवरण हटता है और मनुष्य का निर्मल चरित्र चमक उठता है। ३. आप इस व्यक्ति को उन विपरीत कर्मों से इस प्रकार ऊपर उठा देते हो **न**=जैसे कि **दर्शतं रुक्मम्**=एक दर्शनीय चमकीले स्वर्ण को जो **निखातम्**=भूमि में गड़ा हुआ होता है। इस सोने को ऊपर उठाते हैं तो यह **शुभे**=शोभा के लिए होता है। इसी प्रकार व्यसनों में गढ़े हुए इस पुरुष को प्राणापान ऊपर उठाते हैं और वह वन्दनादि शुभकर्मों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के बिना मनुष्य अशुभाचरणों में पड़ा रहता है। प्राणसाधना से वह वन्दनादि कर्मों में प्रवृत्त होता है और सूर्य व स्वर्ण के समान चमक उठता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कुम्भों का मधु से सेचन

तद्वां नरा शंस्यं पज्रियेण कक्षीवता नासत्या परिज्मन्।
शफादश्वस्य वाजिनो जनाय शतं कुम्भाँ असिञ्चतं मधूनाम्॥ ६॥

१. हे **नरा**=आगे ले-चलनेवाले! **नासत्या**=असत्य से दूर हटानेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत्**=वह कार्य **पज्रियेण**=शक्तिशाली (powerful), **कक्षीवता**=दृढ़निश्चयी पुरुष से **परिज्मन्**=इस संसार-यात्रा में **शंस्यम्**=प्रशंसनीय होता है कि आप **वाजिनः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=कार्यों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष के **शफात्**=शरीरवृक्ष के मूल (root of a tree) से, मूलाधारचक्र के समीप होनेवाले वीर्यकोश से **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त, जीवन-भर **कुम्भान्**=इन शरीर-कलशों को, अन्नमयादि कोशों को **मधूनां असिञ्चतम्**=मधुओं से—सोम (वीर्य) से सिक्त कर देते हो। प्राणसाधना से शक्ति की ऊर्ध्वगति होती है और वह सोम शरीर में ही व्याप्त हो जाता है। २. जीवनपर्यन्त ये शरीर-कलश सोमशक्ति से भरे रहते हैं और ये यथार्थतः कोश कहलाने के योग्य होते हैं। सोम को यहाँ मधु कहा गया है। जैसे मधु सब ओषधियों का सारभूत होता है, इसी प्रकार यह सोम अन्न का सारभूत होता है। वीर्यकोश में इसका सञ्चय होता है। प्राणापान इसे ऊर्ध्वगति देकर शरीर में व्याप्त करते हैं। यही शफ (root) से, मूल से मधु का ऊपर उठना है। ३. यह सोम का ऊपर उठना **जनाय**=सब प्रकार के विकासों के लिए होता है। सोम के शरीर में व्याप्त होने पर ही हमारी सब प्रकार की उन्नतियाँ होती हैं। हमारे जीवन में अश्विनीदेवों का यह कार्य तभी होता है जब हम 'पज्रिय व कक्षीवान्' बनते हैं। हमें शक्तिशाली और दृढ़निश्चयी बनकर इस प्राणसाधना के कार्य में प्रवृत्त होना है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर हमारे अन्नादि कोश शतवर्षपर्यन्त अपने-अपने ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीर्ण घोषा को पति की प्राप्ति

युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय।
घोषायै चित्पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्॥ ७॥

१. हे **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले **कृष्णियाय**=ज्ञान को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले, अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले (कृष् to increase), **विश्वकाय**=व्यापक कर्मों में प्रवेश करनेवाले (विश्वस्यानुकम्पकाय—द०) के लिए **विष्णाप्वम्**=अधिक-से-अधिक लोगों के हितसाधक व्यापक कर्म को **ददथुः**=देते हो। प्राणसाधना से हममें प्रभु-स्तवन की वृत्ति जागती है, हम ज्ञान को बढ़ा पाते हैं, हममें आर्त लोगों के प्रति करुणा की भावना होती है। इस स्थिति में हमारे कर्म व्यापकता को लिये हुए होते हैं। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **घोषायै**=सदा प्रभु-स्तोत्रों के आघोषवाली, **चित्**=निश्चय से **पितृषदे**=माता-पिता व आचार्यरूप पितरों के समीप निवास करनेवाली, **दुरोणे**=(दुर्=बुराई, ओण=अपनयन) बुराई को दूर करने में ही **जूर्यन्त्या**=जीर्ण हो गई—इस घोषा के लिए **पतिम्**=उस रक्षक प्रभुरूप पति को **अदत्तम्**=प्राप्त कराते हो। जीव पत्नी बनता है, प्रभु उसके पति होते हैं, परन्तु ये होते तो तभी हैं जब हम जीवनभर कल्याणमार्ग के पथिक बनते हैं और बुराई को दूर करने में लगे रहते हैं। इसी प्रयत्न में हम जरावस्था को प्राप्त करते हैं और सदा इस कार्य में लगे रहने पर हम प्रभुरूप पति को प्राप्त करते ही हैं। प्रयत्न का स्वरूप यही है कि—(क) हम स्तोत्रों का उच्चारण करें (घोषा), (ख) पितरों के समीप रहते हुए ज्ञान को बढ़ाएँ (पितृषद्)।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारे कर्म व्यापक होते हैं और हमें प्रभुरूप पति की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्री-तेजस्-ज्ञान

युवं श्यावाय रुशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय।
प्रवाच्यं तद् वृषणा कृतं वां यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम्॥ ८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **श्यावाय**=(श्यै गतौ) गतिशील पुरुष के लिए **रुशतीम्**=चमकती हुई, शोभा की कारणभूत लक्ष्मी को **अदत्तम्**=देते हो। प्राणसाधना से मनुष्य की क्रियाशीलता बढ़ती है और यह आरोचमान लक्ष्मी को प्राप्त करनेवाला बनता है। एवं प्राणसाधना अभ्युदय का हेतु बनती है। २. हे प्राणापानो! आप **क्षोणस्य**=ज्ञान के निवासस्थानभूत आचार्य के **कण्वाय**=मेधावी शिष्य के लिए **महः**=तेजस्विता को देते हो। प्राणसाधना करनेवाला विद्यार्थी जहाँ आचार्य का प्रिय शिष्य बनकर ज्ञान का संग्रह करता है, वहाँ वह वीर्य की ऊर्ध्वगति से तथा वासनाओं से दूर रहकर वीर्यरक्षण से तेजस्वी भी बनता है। ३. हे **वृषणा**=शक्ति का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत्**=वह **कृतम्**=कर्म **प्रवाच्यम्**=अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हुआ **यत्**=कि आपने **नार्षदाय**=नार्षद के लिए **श्रवः**=ज्ञान को **अधि+अधत्तम्**=आधिक्येन धारण किया। 'नार्षद' का अर्थ है 'नृ+षद्+पुत्र'। 'नृ' से अभिप्राय माता-पिता व आचार्य का है, जो हमें जीवन-यात्रा में आगे और आगे ले-चलते हैं। उनके समीप रहनेवाला व्यक्ति 'नार्षद' है। यह जीवन में उत्तम चरित्र और शीलवाला बनकर ज्ञानी बनता ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना से क्रियाशीलता में वृद्धि होकर लक्ष्मी प्राप्त होती है, तेजस्विता व ज्ञान का लाभ होता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'आशु व तरुत्र' इन्द्रियाश्व

पुरू वर्पांस्यश्विना दधाना नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्।
सहस्रसां वाजिनमप्रतीतमहिहनं श्रवस्यं तरुत्रम्॥ ९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **पुरू वपूंसि**=पालक व पूरक रूपों को **दधाना**=धारण करते हुए **पेदवे**=(पद् गतौ) गतिशील पुरुष के लिए **अश्वम्**=उस इन्द्रियरूप अश्व को **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हो जोकि **आशुम्**=कर्मों में व्याप्त होनेवाला है, अर्थात् प्राणसाधना से इन्द्रियों के मल दूर होकर उनकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है। ये प्राण हमें तेजस्वी बनाते हैं। हमारा रूप ओजस्विता से पूर्ण प्रतीत होता है। २. प्राणसाधना उस इन्द्रियाश्व को प्राप्त कराती है जो **सहस्रसाम्**=हमें सहस्र संख्याक धनों का प्राप्त करानेवाला है, **वाजिनम्**=शक्तिशाली है, **अप्रतीतम्**=(अ प्रति इतम्) जो शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता, **अहिहनम्**=(आहन्ति) वासनाओं को नष्ट करनेवाला है, **श्रवस्यम्**=वासना-विनाश के द्वारा ज्ञान-साधन के लिए उत्तम है और **तरुत्रम्**=सब विघ्नों को तैर जानेवाला है। इस प्रकार के इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करके हम जीवन-यात्रा को क्यों न पूर्ण कर सकेंगे!

भावार्थ—प्राणसाधना गतिशील को उत्तमरूप प्राप्त कराती है और इन्द्रियाश्वों को शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाला तथा विघ्नों से तैर जानेवाला बनाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधना के तीन लाभ

एतानि वां श्रवस्या सुदानू ब्रह्माङ्गूषं सदनं रोदस्योः।
यद्वां पज्रासो अश्विना हवन्ते यातमिषा च विदुषे च वाजम्॥ १० ॥

हे **सुदानू**=(दाप् लवने, दैप शोधने) उत्तमता से बुराइयों का खण्डन और जीवन का शोधन करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों के **एतानि**=ये **श्रवस्या**=प्रशंसनीय व कीर्तनीय कर्म हैं—(क) आपकी साधना चलने पर **ब्रह्म**=प्रभु का स्तोत्र **अङ्गूषम्**= (आघोषणीयम्) घोषणा के योग्य होता है, अर्थात् प्राणायाम के द्वारा प्राणों की साधना करने पर हमारी प्रकृति-प्रवणता समाप्त होती है और हम प्रभु-प्रवण बन पाते हैं। हममें स्वभावतः प्रभु-स्तोत्रों के उच्चारण की वृत्ति जागती है और हम इन स्तोत्रों में रस अनुभव करने लगते हैं। (ख) आपकी साधना का दूसरा परिणाम यह होता है कि **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का **सदनम्**=हममें निवास होता है। द्यावा, अर्थात् मस्तिष्क और पृथिवी, अर्थात् शरीर दोनों ही उत्तम बनते हैं। मस्तिष्क द्युलोक की भाँति ब्रह्मज्ञान के सूर्य तथा विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता है तो शरीर पृथिवी की भाँति दृढ़ होता है और (प्रथ विस्तारे) विस्तृत शक्तियोंवाला बनता है। २. उल्लिखित दो बातों के अतिरिक्त **यत्**=जब **वाम्**=आप दोनों को **पज्रासः**=(पद्=पज्=) गतिशील और गतिशीलता के कारण शक्तिशाली आङ्गिरस लोग **हवन्ते**=पुकारते हैं तब आप **इषा**=प्रेरणा के साथ **यातम्**=उन्हें प्राप्त होते हो, अर्थात् प्राणायाम से हृदय के शुद्ध होने पर उन्हें प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है **च**=और **विदुषे**=उस ज्ञानी पुरुष के लिए **च वाजम्**=और शक्ति को आप प्राप्त करा देते हो। प्राणापान की साधना से जहाँ प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है, वहाँ उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए शक्ति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना के तीन लाभ हैं—(क) हम प्रभुस्तवन की प्रवृत्तिवाले बनते हैं, (ख) हमारा मस्तिष्क उज्ज्वल व शरीर दृढ़ होता है, (ग) प्रभु-प्रेरणा सुन पड़ती है और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने की शक्ति भी प्राप्त होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

शक्ति, ज्ञान व यज्ञ

सूनोर्मानेनाश्विना गृणाना वाजं विप्राय भुरणा रदन्ता।
अगस्त्ये ब्रह्मणा वावृधाना सं विश्पलां नासत्यारिणीतम्॥ ११ ॥

१. **सूनोः**=(षू प्रेरणे) प्रेरणा देनेवाले प्रभु के **मानेन**=(मानयति) ज्ञान प्राप्त करनेवाले पुरुष से **गृणाना**=स्तुति किये जाते हुए **अश्विना**=हे प्राणापानो! आप उस **विप्राय**=ज्ञानी पुरुष के लिए **भुरणा**=भरण व पोषण करनेवाले होते हो और **वाजं रदन्ता**=शक्ति को सिद्ध करते हो (रदन्ता=निष्पादयन्तौ)। प्रभु के ज्ञान की प्राप्ति की ओर झुकाववाला व्यक्ति प्राणसाधना करता है। इस प्राणसाधना से जहाँ उसका ठीक से भरण-पोषण होता है, वहाँ उसे शक्ति प्राप्त होती है। २. **अगस्त्ये**=अगस्त्य में **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा आप **वावृधाना**=सब शक्तियों का वर्धन करनेवाले होते हो। 'तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे' इस ब्रह्मचर्यसूक्त के मन्त्रभाग में अत्यन्त बढ़े हुए ज्ञानवाले आचार्य को समुद्र कहा गया है। अगस्त्य वह है जो इस ज्ञान-समुद्र को पीने का प्रयत्न करता है, उसके मुख से निकलते हुए ज्ञान के शब्दों को पीता चलता है। इस ज्ञान के पान से ही वस्तुतः वह अगम्=पाँच पर्वोंवाले अविद्या-पर्वत को अस्यति=अपने से दूर फेंकनेवाला होता है। ३. अब शक्ति और ज्ञान प्राप्त करके हे **नासत्या**=प्राणापानो! आप **विश्पलाम्**=प्रजाओं के पालन की वृत्ति को **सम् अरिणीतम्**=हमारे साथ संगत करते हो। इस शक्तिशाली ज्ञानी पुरुष की प्रवृत्ति लोकसंग्रहात्मक कर्मों की ओर होती है। यज्ञात्मक कर्मों में लगा हुआ यह प्रभु का प्रिय बनता है। प्रभु का ज्ञानीभक्त 'सर्वभूतहिते रतः' तो होता ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) शक्ति प्राप्त होती है, (ख) ज्ञान की वृद्धि होती है, और (ग) लोकसंग्रहात्मक कर्मों की ओर प्रवृत्ति होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'काव्य' द्वारा अश्विनी-स्तवन

कुह यान्ता सुष्टुतिं काव्यस्य दिवो नपाता वृषणा शयुत्रा।
हिरण्यस्येव कलशं निखातमुदूपथुर्दशमे अश्विनाहन्॥ १२॥

१. हे प्राणापानो! आप **काव्यस्य**=कवि के पुत्र, अर्थात् अत्यन्त क्रान्तदर्शी मेरे द्वारा की जानेवाली **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति व आराधना को **कुह**=किस समय (कब) **यन्ता**=प्राप्त होओगे? कब मैं क्रान्तदर्शी बनकर, समझदार बनकर आपकी आराधना में लगूँगा? २. आप **दिवः न पाता**=ज्ञान के नष्ट न होने देनेवाले हो। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान-उन्नति होती है, ज्ञान में कमी नहीं आती। **वृषणा**=आप अपने साधक को शक्तिशाली बनाते हो, **शयुत्रा**=परमात्मा में निवास करनेवाले (शयु) का आप त्राण करते हो। प्राणसाधना से वृत्ति प्रभु-प्रवण बनती है और मनुष्य रोगों तथा पापों का शिकार होने से बचा रहता है। ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **हिरण्यस्य**=सोने के **निखातम्**=गाढ़े हुए **कलशम् इव**=कलश की भाँति विषयों में फँसे हुए पुरुष को **दशमे अहन्**=दस दशकोंवाले जीवन के इस दसवें दिन में **उदूपथुः**=ऊपर प्राप्त कराते हो। जैसे स्वर्णकलश जब तक गढ़ा रहता है, चमकता नहीं, ऊपर आते ही चमकने लगता है, इसी प्रकार विषयों में आसक्त पुरुष अपनी श्री को खो बैठता है। प्राणसाधना इसे विषयों से ऊपर उठाती है और पुनः शोभा-सम्पन्न बनाती है। प्राणसाधना जब नियमपूर्वक चलेगी तो मनुष्य अवश्य काम-क्रोधादि को जीतकर वैषयिक वृत्ति से ऊपर उठेगा और जीवन के दसवें दशक में भी शोभा-सम्पन्न बना रहेगा। इसकी शक्तियों का ह्रास नहीं होगा और श्री इसे अन्त तक न छोड़ेगी। ४. मनुष्य का यह शरीर हिरण्यकलश के समान है। जैसे भूमि में गाढ़ दिये जाने पर हिरण्यकलश अपनी शोभा खो बैठता है, इसी प्रकार हम विषय-वासनारूपी मिट्टी में गढ़ जाते हैं और अपनी शोभा खो बैठते हैं। प्राणसाधना हमें ऊपर उठाती

है और फिर से चमक प्राप्त कराती है।

भावार्थ—समझदार व्यक्ति प्राणसाधना करता है। इससे उसका ज्ञान नष्ट नहीं होता, शक्ति बनी रहती है, प्रभु-प्रवणता प्राप्त होती है और विषयासक्ति से ऊपर उठकर यह ९० या ९५ वर्ष में भी श्रीसम्पन्न बना रहता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जरन् को युवा बनाना

युवं च्यवा॑नमश्विना॒ जर॑न्तं॒ पुन॒र्युवा॑नं चक्रथुः॒ शची॑भिः।
युवो रथं॑ दुहि॒ता सूर्य॑स्य स॒ह श्रि॒या ना॑सत्यावृणीत॥ १३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **च्यवानम्**=जिसकी शक्ति क्षरित हो गई है (च्युतिर् क्षरणे), उस **जरन्तम्**=जीर्ण हो गये व्यक्ति को **पुनः**=फिर **शचीभिः**=प्रज्ञानों व शक्तियों से **युवानं चक्रथुः**=युवा कर देते हो। प्राणसाधना से शक्तियों का रक्षण होकर मनुष्य युवा बन जाता है। २. हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **युवोः रथम्**=आप दोनों के इस शरीर-रथ को **श्रिया सह**=श्री के साथ **सूर्यस्य दुहिता**=सूर्य की दुहिता **अवृणीत**=वरती है। जब हम प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना में चलते हैं तो हमारा यह शरीर-रथ प्राणापान का रथ कहलाता है। यह रथ श्रीसम्पन्न बनता है और उषा इस रथ का वरण करती है, अर्थात् इसे सब प्रकार के दोषों से शून्य (उष दाहे) कर देती है।

भावार्थ—प्राणसाधना जीर्ण को युवा बनाती है। शरीर रथ को श्रीसम्पन्न बनाती है और इसके दोषों का दहन कर देती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विषय-समुद्र से ऊपर

युवं तुग्रा॑य पू॒र्व्येभि॒रेवैः॑ पुनर्म॒न्याव॑भवतं युवाना।
युवं भु॒ज्युमर्ण॑सो॒ निः स॑मु॒द्राद्विभि॑रूहथुर्ऋ॒ज्रेभि॒रश्वैः॑॥ १४॥

१. हे **युवाना**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को दूर करनेवाले और अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप **तुग्राय**=(तुज हिंसायाम्) अपने भोग-साधनों की वृद्धि के लिए औरों का हिंसन करनेवाले तुग्र के लिए **पूर्व्येभिः**=पालन व पूरण करनेवाले, शरीर को रोगों से बचानेवाले तथा मन की न्यूनताओं को दूर करके उसका पूरण करनेवाले **एवैः**=कर्मों से **पुनर्मन्यौ**=पुनः ज्ञान देनेवाले **अभवतम्**=होते हो। मनुष्य की प्रवृत्ति तनिक विषयों की ओर झुकी और उसका ज्ञान नष्ट हुआ। वह औरों की हिंसा करके भी अपने भोग-साधनों को जुटानेवाला हो जाता है। यही तुग्र है। (तुज हिंसायाम्)। प्राणसाधना से यह फिर ज्ञान प्राप्त करता है और इसकी तुग्रता नष्ट हो जाती है। २. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **भुज्युम्**=इस भोगप्रवण व्यक्ति को **अर्णसः**=विषय-जल से परिपूर्ण **समुद्रात्**=इस भवसागर से **विभिः**=इन इन्द्रियरूप अश्वों के द्वारा (वि=horse) **निः ऊहथुः**=पार उतारते हो—बाहर करते हो, उन इन्द्रियाश्वों के द्वारा जो **ऋज्रेभिः**=ऋजुमार्ग से चलनेवाले हैं तथा **अश्वैः**=(अशू व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले हैं। प्राणापान की साधना से इन्द्रियाँ सरल व कर्मव्याप्त बनती हैं। इन्द्रियों के ऐसा बनने पर मनुष्य विषय-समुद्र में डूबने से बचा रहता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे नष्ट ज्ञान को पुनः प्राप्त कराती है। हम भोगप्रवण न रहकर सरलतापूर्वक कर्मों को करनेवाले बनकर विषय-समुद्र से ऊपर ऊठ जाते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तौग्र्य की प्राणसाधना

अजोहवीदश्विना तौग्र्यो वां प्रोळ्हः समुद्रमव्यथिर्जगन्वान्।
निष्टमूहथुः सुयुजा रथेन मनोजवसा वृषणा स्वस्ति॥ १५॥

१. गतमन्त्र में 'तुग्र' का वर्णन था। यह तुग्र भोगमार्ग में ऐसा उलझा हुआ था कि औरों की हिंसा करके भी इसे भोग-साधन जुटाने का विचार हुआ। इसने अपने पुत्र को भी इस विषय-समुद्र में धकेला। तुग्र-पुत्र का सारा वातावरण विषय-वासनामय होना स्वाभाविक ही है, परन्तु यह **समुद्रं प्रोढः**=विषय-समुद्र में प्राप्त कराया हुआ **तौग्र्यः**=तुग्र का पुत्र, हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम् अजोहवीत्**=आप दोनों को पुकारता था। इस तौग्र्य ने प्राणसाधना आरम्भ की। परिणामतः यह **अव्यथिः**=विषय-वासनाओं से पीड़ित होने से बच गया और **जगन्वान्**=अपनी यात्रा में उद्दिष्ट स्थल पर जानेवाला बना। २. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **तम्**=इस तौग्र्य को **सुयुजा**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से जुते हुए **मनोजवसा**=मन के समान वेगवाले **रथेन**=इस शरीर-रथ के द्वारा **निः ऊहथुः**=विषय-समुद्र से ऊपर उठाते ही हो और इस प्रकार **स्वस्ति**=उसका कल्याण-ही-कल्याण होता है। पिता के अनुरूप पुत्र के होने की सम्भावना बहुत ही है, परन्तु यहाँ तुग्र-पुत्र प्राणसाधना में चलता है और परिणामतः तुग्रत्व से दूर होकर, उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर जीवन-यात्रा को पूर्ण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से विषयासक्त पिता का पुत्र भी वातावरण के प्रभाव से पीड़ित नहीं होता और उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर उद्दिष्ट स्थल की ओर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वृक के मुख से वर्तिका की मुक्ति

अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य।
वि जयुषा ययथुः सान्वद्रेर्जातं विष्वाचो अहतं विषेण॥ १६॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! जब **वर्तिका**=वर्तिका जीवनचर्या (वृत्ति) **वाम्**=आप दोनों की **अजोहवीत्**=प्रार्थना व आराधना करती है **यत्**=तब आप **वृकस्य**=वृक के **अस्नः**=मुख से इस वर्तिका को **सीम्**=निश्चयपूर्वक **अमुञ्चतम्**=मुक्त करते हैं। वर्तिका का अभिप्राय अपने दैनिक कार्यों में वर्तन है—'प्रातः उठना, नित्य कर्मों में लगना, स्वास्थ्य के लिए आवश्यक कर्मों के साथ सन्ध्या व स्वाध्याय आदि करना'—ये सब प्रतिदिन के नित्य कर्म कहाते हैं। इनमें प्रवृत्त होना ही 'वर्तिका' है, परन्तु जब मनुष्य लोभाभिभूत होकर धन कमाने में उलझ जाता है तब ये सब कार्य गौण हो जाते हैं। सन्ध्या और स्वाध्याय तो समाप्त ही हो जाते हैं। इस बात को काव्यमयी भाषा में इस प्रकार कहते हैं कि इसकी वर्तिका को तो वृक ने (वृक आदाने)—धनग्रहण की वृत्ति ने निगल ही लिया। प्राणसाधना होने पर वृत्ति शुद्ध बनती है, मनुष्य लोभाभिभूत नहीं रहता, उसके सन्ध्या-स्वाध्याय आदि सब कार्य ठीक से होने लगते हैं। यही वृक के मुख से वर्तिका की मुक्ति है। २. इस प्रकार हे प्राणापानो! आप **जयुषा**=इस विजयशील रथ से **अद्रेः सानु**=उन्नति-पर्वत के शिखर पर **वियथुः**=जाते हो। प्राणसाधना से लोभादि की अशुभ वृत्तियाँ नष्ट होकर हमारे जीवन में शुभ वृत्तियाँ जागती हैं और हम दिन-प्रतिदिन उन्नति करते हुए उन्नति-पर्वत के शिखर पर पहुँचनेवाले बनते हैं। ३. हे प्राणापानो! इस प्रकार आप **विश्वाचः**=इस विविध गतियुक्त पुरुष के—सब दैनिक कार्यों को ठीक से करनेवाले पुरुष

के **जातम्**=विकास को **विषेण**=विषयरूप विष से **अहतम्**=नष्ट नहीं होने देते (न हतम्=अहतम्)। लोभाक्रान्त होने पर दैनिक कार्यक्रम विलुप्त हो जाता है और मनुष्य की उन्नति रुक जाती है। प्राणसाधना मनुष्य को इन प्रलोभनों से ऊपर उठाकर, अपने कार्यक्रम को ठीक प्रकार से करनेवाले पुरुष को उन्नति-पथ पर ले-जाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम लोभ में न फँसेंगे और अपने नियमित कार्यों को ठीक प्रकार करते हुए पूर्ण विकास को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आँख से पर्दे का दूर हटना

शतं मेषान्वृक्ये मामहानं तमः प्रणीतमशिवेन पित्रा।
आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षे॥ १७॥

१. गतमन्त्र में जो वर्तिका था, वही यहाँ मेष है। 'निमेषोन्मेष' ये कर्म की इकाई हैं। ऋज्राश्व वह व्यक्ति है जिसके इन्द्रियरूप अश्व अब केवल 'ऋज्'=अर्जन में ही प्रवृत्त हैं। धनार्जन में फँसकर इसने अपने सब कार्य ही छोड़ दिये। इस प्रकार पुत्र की स्थिति देखकर पिता की मानस स्थिति का अशिव=अकल्याणवाला होना स्वाभाविक ही है। उस मनोवृत्ति में पुत्र को कुछ झिड़कते हुए यह कहना भी स्वाभाविक है कि 'क्यों इस प्रकार अन्धकार में चले गये हो?' प्राणसाधना से ऋज्राश्व की आँख खुल जाती है और वह अपने कार्यों को पुनः ठीक प्रकार से करने लगता है। २. **शतं मेषान्**=अपने सैकड़ों कर्तव्यों को **वृक्ये**=लोभवृत्ति के लिए **मामहानम्**=भेंट करते हुए, अर्थात् लोभ के कारण सब आवश्यक कर्तव्यों को उपेक्षित करते हुए और अतएव **अशिवेन**=(नास्ति शिवं यस्य) दुःखी **पित्रा**=पिता से **तमः प्रणीतम्**=अन्धकार में प्राप्त कराये हुए को—अर्थात् 'अन्धे हो गये हो' ऐसा कहे गये 'ऋज्राश्व' को प्राणापान पुनः दर्शनशक्ति से युक्त करते हैं। ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ऋज्राश्वे**=इस ऋज्राश्व में **अक्षी**=आँखों को **आ अधत्तम्**=फिर से स्थापित करते हो और **अन्धाय**=कर्तव्य-पथ को न देखनेवाले इस ऋज्राश्व के लिए **विचक्षे**=कर्तव्य-पथ को ठीक से देख सकने के लिए **ज्योतिः**=प्रकाश **चक्रथुः**=करते हो। प्राणसाधना के परिणामस्वरूप इसकी लोभवृत्ति नष्ट हो जाती है और यह ठीक मार्ग पर चलनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य की आँखों पर पड़ा हुआ पर्दा दूर हो जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शुनं भरम्

शुनमन्धाय भरमह्वयत्सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति।
जारः कनीनइव चक्षदान ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान्॥ १८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में लोभवृत्ति ही मानो अश्विनीदेवों से कहती है कि **ऋज्राश्वः**=अर्जन-ही-अर्जन में प्रवृत्त इन्द्रियाश्वोंवाले ऋज्राश्व ने **शतमेकं च**=अपने एक सौ एक, अर्थात् सब **मेषान्**=कर्तव्यों को **चक्षदानः**=उसी प्रकार टुकड़े-टुकड़े करके मेरे लिए दे दिया है **इव**=जैसे कि **कनीनः**=यौवन के सौन्दर्य से चमकनेवाला कोई **जारः**=पारदारिक (पर-पत्नी से प्रेम करनेवाला) पर-स्त्री के लिए अपना सब धन दे डालता है। यह तो अपने सब कर्तव्यों को भूल ही गया है। २. **सा वृकीः**=वह लोभवृत्ति ही इस **अन्धाय**=अन्धे बने हुए ऋज्राश्व के लिए

शुनम्=सुख और **भरम्**=शरीर के उचित पोषण को **अह्वयत्**=आपसे माँगती है, **इति**=इस कारण से आपसे माँगती है कि आप **अश्विना**=इसे उचित कार्यों में व्याप्त करनेवाले हो (अशू व्याप्तौ), **वृषणा**=इसपर सुखों का वर्षण करनेवाले हो अथवा इसे शक्तिशाली बनानेवाले हो और **नरा**=(नृ नये) इसे उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हो। ३. लोभवृत्ति को भी ऋज्राश्व की दुर्दशा पर करुणा आ जाती है और वह उसकी दुर्दशा को दूर करने के लिए अश्विनीदेवों से प्रार्थना करती है।

भावार्थ—ऋज्राश्व लोभ की बलिवेदी पर सब कर्तव्यों की भेंट चढ़ा बैठता है; प्राणसाधना उसे फिर से कर्तव्य-परायण बनाती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मही, मयोभू, ऊति

मही वा॑मू॒तिर॑श्विना मयो॒भूरु॒त स्रा॒मं धि॑ष्ण्या॒ सं रि॑णीथः।
अथा॑ यु॒वामिद॑ह्वय॒त्पुरं॑न्धि॒राग॑च्छतं सीं वृषणा॒ववो॑भिः॥ १९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों का **ऊतिः**=रक्षण **मही**=महान् है **उत**=और **मयोभूः**=कल्याणकारी है तथा हे **धिष्ण्या**=उत्तम बुद्धि को प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! आप **स्रामम्**=व्याधित व विश्लिष्ट अङ्गोंवाले को **संरिणीथः**=संगत अवयववाला करते हो। प्राणसाधना से मनुष्य को उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है और वह संसार के पदार्थों का ठीक प्रयोग करता हुआ विकृत अवयव नहीं बनता, उसके सब अङ्गों की शक्ति ठीक बनी रहती है। २. **अथ**= अब **पुरन्धिः**=पूरक व पालक बुद्धिवाली गृहिणी **युवाम् इत्**=आपको ही **अह्वयत्**=पुकारती है। एक उत्तम गृहिणी घर में सबके लिए प्राणसाधना का नियम बनाती है, जिससे सबकी बुद्धि ठीक रहे और सब अपने कार्यों को ठीकरूप से करनेवाले हों। ३. हे **वृषणौ**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **सीम्**=निश्चय से **अवोभिः**=रक्षणों के साथ **आगच्छतम्**=प्राप्त होओ। प्राणसाधना से शरीर में रोगों के आने की भी आशंका न रहेगी और सब व्यक्ति दीर्घजीवी होंगे। इस प्रकार प्राणापान से किया जानेवाला रक्षण सचमुच महान् और कल्याणकारक है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर सुरक्षित रहता है, इसमें विकृति नहीं आती। यह साधना बुद्धि को भी ठीक रखती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'वेदवाणीरूप' गौ व जाया

अधे॑नुं दस्रा स्त॒र्यं१॒॑ विष॑क्ता॒मपि॑न्वतं श॒यवे॑ अश्विना॒ गाम्।
यु॒वं शची॑भिर्वि॒म॒दाय॑ जा॒यां न्यू॑हथुः पुरुमि॒त्रस्य॒ योषा॑म्॥ २०॥

१. जिस समय हमारी बुद्धि मन्द होती है, उस समय हम वेदवाणी को समझ नहीं पाते। यह वेदवाणी हमारे लिए एक वन्ध्या गौ के समान हो जाती है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है। हे **दस्रा**=दोषों का उपक्षय करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप **शयवे**=शयु के लिए—हृदय में निवास करनेवाले के लिए—आत्मनिरीक्षण करनेवाले के लिए **अधेनुम्**=('धेनुः स्यात् नवसूतिका') उस वेदवाणीरूप गौ को जो अब अ-धेनु-सी हो गई है, **स्तर्यम्**=जो बाँझ (sterile) है तथा **विषक्ताम्**=अत्यन्त कृश अवयवोंवाली है, उस **गाम्**=वेदवाणीरूप गौ को **अपिन्वतम्**=पुनः आप्यायित कर देते हो। यह वेदवाणीरूप गौ प्राणसाधक के लिए पुनः ज्ञानदुग्ध

देने लगती है। २. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **शचीभिः**=ज्ञानों से **विमदाय**=मदशून्य—विनीत पुरुष के लिए **जायां न्यूहथुः**=पत्नी को प्राप्त कराते हो जोकि **पुरुमित्रस्य योषाम्**=पुरुमित्र की कुमारी है। प्रभु पुरुमित्र हैं, सबका पालन करनेवाले मित्र हैं, प्रभु को किसी से द्वेष नहीं। वेदवाणी प्रभु की पुत्री के समान है। यह विमद पुरुष को जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए पत्नी के रूप में प्राप्त होती है। पत्नी पति की पूरिका है। इसी प्रकार यह वेदवाणी विनीत पुरुष के जीवन का पूरण करती है। यह कार्य प्राणसाधना द्वारा होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वेदवाणीरूप गौ हमारे लिए बाँझ न रहकर प्रभूत ज्ञान-दुग्ध देनेवाली हो जाती है। प्रभु की पुत्रीरूप यह वेदवाणी प्राणसाधना द्वारा हमें पत्नी के रूप में प्राप्त होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्राणसाधक का अन्न 'यव'

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥ २१॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **वृकेण**=(लांगलेन—सा०) हल के द्वारा **यवम्**=जौ का **वपन्ता**=वपन करते हो। प्राणसाधना के अनुकूल यव का ही मुख्यरूप से प्रयोग करता है। 'यवे ह प्राण आहिता'। २. हे **दस्रा**=वासनाओं का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आप **मानुषाय**=विचारशील पुरुष के लिए **इषम्**=प्रेरणा का **दुहन्ता**=दोहन करनेवाले होते हो। प्राणसाधना से हृदय की पवित्रता होकर हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है। ३. इस प्रेरणा के अनुसार कर्म करनेवाले के लिए **दस्युम्**=दास्यव वृत्तियों को **बकुरेण**=भास्कर वज्र से **अभिधमन्ता**=आप नष्ट करते हो। प्रभु की प्रेरणा का प्रकाश ही वह वज्र बनता है, जो दास्यव वृत्तियों का नाशक होता है। ४. इस प्रकार दास्यव वृत्तियों का नाश करते हुए प्राणापान **आर्याय**=आर्यपुरुष के लिए **उरु ज्योतिः चक्रथुः**=विशाल ज्योति करनेवाले होते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता व हृदय की निर्मलता होकर प्रकाश का विस्तार होता है।

भावार्थ—प्राणसाधक यवादि सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करता है, पवित्र हृदय में प्रभु-प्रेरणा को सुनता है और दास्यव वृत्तियों का नाश करता हुआ विशाल ज्योति को प्राप्त करता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**=विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अश्व्यं शिरः

आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्।
स वां मधु प्र वोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपिकक्ष्यं वाम्॥ २२॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **आथर्वणाय**=(अथ अर्वाङ्=within) अन्तःनिरीक्षण करनेवाले अथवा हृदयस्थ प्रभु की ओर चलनेवाले **दधीचे**=ध्यानशील पुरुष के लिए **अश्व्यं शिरः**=(अशू व्याप्तौ) सब विषयों के व्यापन में उत्तम मस्तिष्क को **प्रत्यैरयतम्**=प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना से ध्यानशील पुरुष को अत्यन्त तीव्र बुद्धि प्राप्त होती है। यह बुद्धि सभी विषयों का व्यापन करनेवाली होती है। **सः**=वह दध्यङ् आथर्वण **ऋतायन्**=अपने जीवन में ऋत का वर्धन करता हुआ—जीवन को बड़ा नियमित बनाता हुआ **वाम्**=आपके **मधु**=(अन्नं वै मधु—ताँ ११।१०।३) अन्न का **प्रवोचत्**=उपदेश करता है। यवादि सात्त्विक अन्न ही प्राणसाधक को

ग्रहण करने चाहिएँ, ऐसा उपदेश देता है। ३. इस मधु के उपदेश के साथ हे **दस्रौ**=वासना-विनाशक प्राणापानो! **यत्**=जो **वाम्**=आपका, आपकी साधना से प्राप्त होनेवाला **त्वाष्ट्रम्**=संसार-निर्माता प्रभु-सम्बन्धी **अपिकक्ष्यम्**=अत्यन्त रहस्यमय ज्ञान है, उसका भी उपदेश करता है।

भावार्थ—ध्यानी प्राणसाधक को सर्वविद्याओं का व्यापन करनेवाला मस्तिष्क प्राप्त होता है। वह प्राणसाधना के लिए अनुकूल अन्न का उपदेश देता हुआ प्रभु-सम्बन्धी रहस्यमय ज्ञान का भी प्रवचन करता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सुमति' व 'श्रुत्य रयि'

सदा कवी सुमतिमा चके वां विश्वा धियो अश्विना प्रावतं मे।
अस्मे रयिं नासत्या बृहन्तमपत्यसाचं श्रुत्यं रराथाम्॥ २३॥

१. **कवी**=क्रान्तदर्शी—तीव्र बुद्धिदाता प्राणापानो! मैं **वाम्**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **सदा**=सदा **आचके**=चाहता हूँ। प्राणसाधना के द्वारा मुझे कल्याणी मति प्राप्त हो, ऐसा मैं चाहता हूँ। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मे**=मेरी **विश्वा धियः**=सब बुद्धियों को **प्रावतम्**=सुरक्षित करो। प्राणसाधना से मेरी बुद्धि में कभी विकार न आये। ३. हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **अस्मे**=हमारे लिए **रयिम्**=उस ऐश्वर्य को **रराथाम्**=दीजिए जोकि **बृहन्तम्**=वृद्धि का कारणभूत है, **अपत्यसाचम्**=उत्तम सन्तानों से हमारा सम्बन्ध करनेवाला है और **श्रुत्यम्**=ज्ञान के लिए अनुकूल है। प्राणसाधक की सम्पत्ति उसकी उन्नति का ही कारण बनती है, यह कभी उसके ह्रास का कारण नहीं होती। इस सम्पत्ति से सन्तान विकृत आचरणवाली नहीं होती और यह सम्पत्ति हमारे ज्ञान पर पर्दा नहीं डालती।

भावार्थ—प्राणसाधना से सुमति व धी की प्राप्ति होती है। इस साधना के साथ सम्पत्ति अवनति का कारण नहीं बनती, हमारी सन्तानों को ठीक रखती है और ज्ञान के लिए उपयोगी होती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'हिरण्यहस्त' पुत्र

हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्रं नरा वध्रिमत्या अदत्तम्।
त्रिधा ह श्यावमश्विना विकस्तमुज्जीवस ऐरयतं सुदानू॥ २४॥

१. हे **रराणा**=(रमतेर्वा, रातेर्वा) शरीर को रमणीय बनानेवाले अथवा सब-कुछ देनेवाले **नरा**=हमें आगे ले-चलनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप **वध्रिमत्या**=संयमी जीवनवाली गृहिणी के लिए, वध्री (रस्सी) के द्वारा जैसे पशु को बाँधा जाता है उसी प्रकार इन्द्रियाश्वों को संयम-रज्जु से बाँधनेवाली के लिए **हिरण्यहस्तम्**=हितरमणीय हाथोंवाले, अर्थात् हाथों से हितकर व रमणीय कार्यों को ही करनेवाले **पुत्रम्**=पुत्र को **अदत्तम्**=देते हो। जीवन के संयमी होने पर सन्तान सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। हे **सुदानू**=अच्छी प्रकार बुराई का खण्डन (दाप् लवने) करनेवाले प्राणापानो! आप **ह**=निश्चय से **त्रिधा**=तीन प्रकार से **विकस्तम्**=असुरों से खण्डित शरीरवाले, अर्थात् काम-क्रोध-लोभ से क्रमशः इन्द्रिय, मन व बुद्धि पर आक्रमण किये गये **श्यावम्**=गतिशील पुरुष को **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन के लिए **उद् एरयतम्**=इन असुरों के आक्रमण से ऊपर उठाते हो। काम, क्रोध, लोभ हम पर निरन्तर आक्रमण करते हैं, प्राणसाधना से यह आक्रमण विफल हो जाता है और हम जीवन में ऊपर उठते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से संयमवाली-गृहिणी हितरमणीय कर्म करनेवाली सन्तान प्राप्त करती है। इस साधना से काम, क्रोध, लोभ का आक्रमण विफल होकर हमारा जीवन उन्नत होता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

ज्ञान, वीरता, यज्ञ

एतानि वामश्विना वीर्याणि प्र पूर्व्याण्यायवोऽवोचन्।
ब्रह्म कृण्वन्तो वृषणा युवभ्यां सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २५ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **एतानि**=इन—उपर्युक्त मन्त्रों में वर्णित **पूर्व्याणि**=पालन व पूरणात्मक **वीर्याणि**=वीरतायुक्त कर्मों को **आयवः**=गतिशील मनुष्य **प्र अवोचन्**=प्रकर्षेण प्रतिपादित करते हैं। २. हे **वृषणा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **युवभ्याम्**=आपकी साधना के द्वारा **ब्रह्म कृण्वन्तः**=ज्ञान का सम्पादन करते हुए हम **सुवीरासः**=उत्तम वीर बनकर अथवा उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **विदथम्**=ज्ञानपूर्वक स्तोत्रों का **आवदेम**=सदा उच्चारण करें। हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें अथवा (विदथ=यज्ञ) यज्ञमय जीवनवाले बनें।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा ज्ञान बढ़ता है, हम वीर बनते हैं और यज्ञमय जीवनवाले होते हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्राणसाधना से हमें प्रभु-प्रेरणा सुन पड़ती है और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिए शक्ति मिलती है (१)। समाप्ति पर कहते हैं कि इस साधना से हम ज्ञानी, वीर व यज्ञशील बनते हैं (२५)। 'इस साधना से हमरा शरीर-रथ बड़ा सुन्दर बनता है' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[११८] अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'श्येनपत्वी' रथः

आ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृळीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान्त्रिवन्धुरो वृषणा वातरंहाः ॥ १ ॥

१. जब हम प्राणसाधना में चलते हैं तब हमारा यह शरीर प्राणापान का ही हो जाता है—तब यह अश्विनीदेवों का रथ कहलाता है। हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वां रथः**=आपका यह शरीररूप रथ **अर्वाङ् आयातु**=हमारे अभिमुख आनेवाला हो, हमें प्राप्त हो। २. कैसा रथ? (क) **श्येनपत्वा**=शंसनीय गतिवाला, जिसके द्वारा सब कर्म प्रशंसनीय ही होते हैं, (ख) **सुमृडीकः**=प्रशंसनीय गतियों के कारण जो उत्तम सुखों को देनेवाला है, तथा (ग) **स्ववान्**=उत्तम धनैश्वर्योंवाला है। ३. हे **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! वह रथ हमें प्राप्त हो **यः**=जो **मर्त्यस्य मनसः**=मनुष्य के मन से भी **जवीयान्**=अधिक वेगवान है, **वातरंहाः**=वायु के समान वेगवाला है और **त्रिवन्धुरः**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप तीन अधिष्ठानोंवाला है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीररथ वेगवाला—शंसनीय गतिवाला व उत्तम ऐश्वर्योंवाला बनता है। इसमें इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि तीनों ही बड़े सुन्दर होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'त्रिवन्धुर' रथ

त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्।
पिन्वतं गा जिन्वतमर्वतो नो वर्धयतमश्विना वीरमस्मे॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **रथेन**=इस शरीररथ के द्वारा **अर्वाक् आयातम्**=(अस्मदभिमुखम्) हमारे सामने प्राप्त होओ। उस रथ से जो **त्रिवन्धुरेण**=वात-पित्त-कफ—इन तीन तत्त्वों से बँधा है, **त्रिवृता**=जो मस्तिष्क के द्वारा ज्ञान में, हाथों के द्वारा कर्म में तथा हृदय के द्वारा उपासना में चलता है, **त्रिचक्रेण**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप तीन चक्रोंवाला है, **सुवृता**=जो बड़ी सुन्दरता से मार्ग पर आगे और आगे प्रवृत्त होता है। हे प्राणापानो! आप **गाः पिन्वतम्**=हमारी ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-दुग्ध से आप्यायित करो। **नः**=हमारे **अर्वतः**=कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **जिन्वतम्**=शक्ति से प्रीणित करो और **अस्मे**=हमारे लिए **वीरं वर्धयतम्**=वीरता का वर्धन करनेवाले होओ अथवा हमारे लिए वीर सन्तानों को प्राप्त कराओ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीररूप रथ सुन्दर बने, ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ उत्तम बनें, हमारी सन्तान वीर हो।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'सुवृत' रथ

प्रवद्यामना सुवृता रथेन दस्राविमं शृणुतं श्लोकमद्रेः।
किमङ्ग वां प्रत्यवर्तिं गमिष्ठाहुर्विप्रासो अश्विना पुराजाः॥ ३॥

१. हे **दस्रौ**=प्राणसाधकों के मलों व दुःखों को क्षीण करनेवाले प्राणापानो! **अद्रेः**=आदर व स्तुति करनेवाले के **प्रवद्यामना**=प्रकृष्ट गमनवाले **सुवृता**=शोभन साधनों के साथ वर्तमान, उत्तम इन्द्रिय, मन व बुद्धिवाले **रथेन**=शरीर-रथ से **इमं श्लोकम्**=इस यशोगान को, स्तुति-लक्षणा वाणी को **शृणुतम्**=सुनिए। प्राणायाम करनेवाला व्यक्ति अपने मलों को दूर करके अपने शरीर-रथ को उत्कृष्ट गतिवाला बनाता है। यह कभी भी पाप-मार्ग में नहीं चलता। इसके इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप साधन भी बड़े सुन्दर हो जाते हैं, अतः उसका यह शरीर-रथ 'सुवृत्' कहलाता है। प्रभु का स्तवन करनेवाला होने से यह 'अद्रि' होता है। इस स्तवन के ही परिणामस्वरूप यह धर्ममार्ग से विचलित नहीं होता (अ+दृ) इस कारण से भी यह 'अद्रि' कहलाता है। इस अद्रि के प्रभुस्तवन को प्राणापान सुनें, अर्थात् यह अपने प्राणों को स्तवन के प्रति अर्पित करनेवाला बने, 'साम प्राणं प्रपद्ये'—इसका जीवन स्तवन के प्रति अर्पित हो। २. हे **अङ्ग**=प्रिय! **अश्विना**=प्राणापानो! **पुराजाः**=(पृ पालनपूरणयोः, अज गतिक्षेपणयोः) शरीर को दोषों से रक्षित व मन को **पूरित**=न्यूनतारहित करने के लिए गतिवाले **विप्रासः**=मेधावी लोग **वाम्**=आपको **अवर्तिं प्रति**=उस कुत्सित दारिद्र्य के प्रति—जिससे लोक-यात्रा का चलना (वर्तन) सम्भव नहीं रहता **गमिष्ठा**=अतिशयेन आक्रमण करनेवाला **आहुः**=कहते हैं। 'किम्' शब्द यहाँ कुत्सितवाची है। जैसे 'स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपम्' में। अवर्ति व दारिद्र्य कुत्सित हैं। ये सब पापों का कारण बन जाया करते हैं—'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'। प्राणसाधना से मनुष्य के सब साधन ठीक हो जाते हैं। उनसे प्रकृष्ट गतिवाला होता हुआ यह जहाँ प्रभु के स्तवन की वृत्तिवाला बनकर अपने निःश्रेयस का साधन करता है, वहाँ उत्तम कर्मों में वर्तता हुआ यह दारिद्र्य को

दूर करके इहलौकिक अभ्युदय का भी साधन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से स्तुति की वृत्ति उत्पन्न होती है और दारिद्र्य दूर होता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

कैसे इन्द्रियाश्व? प्रयस् की ओर

आ वां श्येनासो अश्विना वहन्तु रथे युक्तास आशवः पतङ्गाः।
ये अप्तुरो दिव्यासो न गृध्रा अभि प्रयो नासत्या वहन्ति॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=सतत कर्मों में व्याप्त होनेवाले **नासत्या**=प्राणापानो! **वाम्**=आप **रथे युक्तासः**=इस शरीर-रथ में जुते हुए **श्येनासः**=शंसनीय गतिवाले **आशवः**=शीघ्रगामी **पतङ्गाः**=इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=हमें प्राप्त कराएँ। हमारी इन्द्रियों की सब चेष्टा ऐसी हों जोकि हमारे प्राणापान को बढ़ानेवाली हों। २. हे **नासत्या**=सब असत्यों को हमसे दूर करनेवाले प्राणापानो! **ये**=जो इन्द्रियाश्व **अप्तुरः**=कर्मों में त्वरा-(त्वर)-वाले हैं—कर्मों को शीघ्रता से करनेवाले हैं, अथवा कर्मों के द्वारा अशुभ का हिंसन करनेवाले हैं (तुर्व्), **दिव्यासः**=प्रकाशमय हैं, **न गृध्राः**=लोभ व लालच से रहित हैं, ऐसे ये इन्द्रियाश्व **प्रयः अभि**=प्रेयस् की ओर **वहन्ति**=ले-जाते हैं। 'अप्तुरः' होते हुए ये प्रयः=अन्न की ओर ले-चलते हैं, अन्न-(food)-प्राप्ति में हमें समर्थ करते हैं। 'दिव्यासः' दिव्य होते हुए हमें प्रयस् (delight, pleasure) आनन्द प्राप्त कराते हैं तथा 'न गृध्राः' होते हुए हमें प्रयस्=(Sacrifice) त्याग की ओर ले-जानेवाले होते हैं। यहाँ प्रयस् के तीन अर्थ हैं और उन (अन्न, आनन्द और त्याग) का क्रमशः अप्तुर, दिव्यासः व 'न गृध्राः' इन शब्दों के साथ सम्बन्ध है।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियों की चेष्टाएँ प्राणापान की शक्ति को बढ़ानेवाली हों। ये इन्द्रियाश्व हमें अन्न, आनन्द व त्याग की ओर ले-चलें।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रातः-जागरण (उषा का स्वागत)

आ वां रथं युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य।
परि वामश्वा वपुषः पतङ्गा वयो वहन्त्वरुषा अभीके॥ ५॥

१. **अत्र**=इस जीवन में हे **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्राणापानो! **वां रथम्**=आपके इस रथ पर **सूर्यस्य दुहिता**=यह सूर्य की दुहिता 'उषा' जोकि **युवतिः**=सब अशुभों को दूर करने तथा शुभों को संयुक्त करनेवाली है, वह **जुष्ट्वी**=प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करनेवाली होकर **आतिष्ठत्**=स्थित हो। हम उषा के आगमन से पूर्व ही उठ खड़े हों। हमारा यह शरीर-रथ उषा के स्वागत के लिए तैयार हो। ऐसी स्थिति में यह उषा हमारे जीवन से अशुभ को दूर करके शुभ को हमारे साथ संयुक्त करती है। २. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके ये **अश्वाः**=इन्द्रियाश्व **वपुषः**=उत्तम रूपवाले होते हुए (वपुः रूप, मत्वर्थीय प्रत्यय का लोप है) **पतङ्गाः**=उत्पतन के साथ गतिवाले **वयः**=गमनशील **अरुषाः**=आरोचमान अथवा 'अ-रुषाः' क्रोध से रहित हों और **अभीके**=हमें ब्रह्मलोकरूप गृह के समीप **परिवहन्तु**=सर्वथा ले-जानेवाले हों। इन इन्द्रियाश्वों की क्रियाएँ हमें ब्रह्म के समीप प्राप्त करानेवाली हों। ब्रह्मलोक ही तो हमारा घर है।

भावार्थ—हम प्रातः उषा के आगमन से पूर्व ही उठ खड़े हों, उषा के स्वागत के लिए तैयार हों। हमारे इन्द्रियाश्व हमें ब्रह्मलोकरूप घर के समीप प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'वन्दन, रेभ, तौग्र्य, च्यवान'

उद्वन्दनमैरतं दंसनाभिरुद्रेभं दस्रा वृषणा शचीभिः।
निष्टौग्र्यं पारयथः समुद्रात् पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम्॥ ६॥

१. हे **दस्रा**=दोषों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आप **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा **वन्दनम्**=वन्दना करनेवाले को **उदैरतम्**=विषयकूप से ऊपर प्रेरित करते हो, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला माता, पिता, आचार्य व अतिथियों का अभिवादन करता हुआ सदा उनसे प्रदर्शित सन्मार्ग पर चलता है और इस प्रकार विषयकूप में डूबने से बच जाता है। २. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **शचीभिः**=प्रज्ञानों व शक्तियों के द्वारा **रेभम्**=स्तोता को—प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले को **उत्+ऐरतम्**=संसार-समुद्र से ऊपर उठाते हो। प्रभुस्तवन करता हुआ यह व्यक्ति विषय-समुद्र में नहीं डूबता। प्राण-साधक प्रभु का स्तोता बनता है और प्रभुस्तवन उसे विषय-समुद्र में डूबने नहीं देता। ३. हे प्राणापानो! आप **तौग्र्यम्**=तुग्र-पुत्र भुज्यु को—अपने भोगों के लिए औरों की हिंसा करनेवाले भोग-प्रवण व्यक्ति को (तुज् हिंसायाम्) **समुद्रात्**=विषय-समुद्र से **निःपारयथः**=पार करते हो। आपकी कृपा से यह भोगों से ऊपर उठता है तथा औरों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता। ४. आजतक भोगों में फँसा होने के कारण **च्यवानम्**=क्षीणशक्ति होते हुए इस पुरुष को भोगप्रवणता से ऊपर उठाकर **पुनः**=फिर से **युवानं चक्रथुः**=युवा कर देते हो। प्राणसाधना का ही यह परिणाम होता है कि मनुष्य विषयभोगों से ऊपर उठता है और शक्ति के संयम के कारण सदा युवा बना रहता है।

भावार्थ—हम बड़ों का वन्दन करें, प्रभु का स्तवन करें। अपने सुख के लिए औरों का हिंसन न करें। शक्ति का सञ्चय करके सदा युवा बने रहें।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञानचक्षु का खुलना

युवमत्रयेऽवनीताय तप्तमूर्जमोमानमश्विनावधत्तम्।
युवं कण्वायापिरिप्ताय चक्षुः प्रत्यधत्तं सुष्टुतिं जुजुषाणा॥ ७॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **अत्रये**=(अ-त्रि) काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठे हुए **अवनीताय**=(अव=away, नीत) विषयों से दूर ले-जाए गये व्यक्ति के लिए **तप्तम्**=तप से पैदा किये गये, श्रम से उपार्जित (तपो जनितम्—द०) **ओमानम्**=रक्षक **ऊर्जम्**=अन्नरस को **अधत्तम्**=धारण करते हो। प्राणसाधना करनेवाला (क) अत्रि व अवनीत बनता है, (ख) उसमें श्रम से उपार्जित अन्न-सेवन की वृत्ति उत्पन्न होती है, 'तप्तम्', (ग) यह इस बात का ध्यान रखता है कि इसके भोजन में रक्षक-तत्त्वों की प्रधानता हो (ओमानम्)। २. **युवम्**=आप **कण्वाय**=कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करनेवाले के लिए तथा **अपिरिप्ताय**=(रप्=to praise) प्रभु का शंसन व स्तवन करनेवाले के लिए **सुष्टुतिं जुजुषाणा**=उस स्तोता की उत्तम स्तुति का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **चक्षुः**=ज्ञानचक्षु का **प्रत्यधत्तम्**=धारण करते हो। प्राणसाधना से (क) मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती है और वह कण-कण करके ज्ञान का संग्रह करनेवाला बनता है, (ख) इसका हृदय निर्मल होकर यह प्रभुस्तवन की ओर झुकाववाला होता है, (ग) इसके ज्ञानचक्षु उद्घाटित हो जाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें श्रमजनित रक्षणात्मक भोजन के ग्रहण की वृत्तिवाला बनाती है और हमारे ज्ञान-चक्षुओं को खोल देती है।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शयु के लिए धेनु का आप्यायन

युवं धेनुं शयवे नाधितायापिन्वतमश्विना पूर्व्याय।
अमुञ्चतं वर्तिकामंहसो निः प्रति जङ्घां विश्पलाया अधत्तम्॥ ८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **शयवे**=अपने हृदय-क्षेत्र में ही शयन (निवास) करनेवाले, अर्थात् आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाले **नाधिताय**=उत्तम कामनाओंवाले (नाधृ=आशीः), **पूर्व्याय**=अपना पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम पुरुष के लिए **धेनुम्**=ज्ञान-दुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौ को **अपिन्वतम्**=खूब पयस्विनी (ज्ञानदुग्ध देनेवाली) बना देते हो, अर्थात् यह शयु वेदवाणी को खूब समझनेवाला बनता है और वेदज्ञान से अपने को पूर्ण करता है। २. हे प्राणापानो! आप **वर्तिकाम्**=दैनिक कार्यों के वर्तन को **अंहसः**=लोभरूप पाप से **निः अमुञ्चतम्**=मुक्त करते हो। प्राणसाधना होने पर मनुष्य लोभ से ऊपर उठ जाता है, ऐसा नहीं होता कि लोभ के कारण यह अपने नैत्यिक कार्यक्रम को ही भूल जाए। ३. आप **विश्पलायै**=प्रजा का उत्तमता से पालन करनेवाली के लिए **जङ्घाम्**=जाँघ को **प्रत्यधत्तम्**=प्रतिदिन प्राप्त कराते हो। यह प्रजापालन की वृत्तिवाली गृहिणी (हन् हिंसागत्योः) विघ्नों को दूर करती हुई गतिशील बनी रहती है, अपने कार्यों में थकती नहीं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें ज्ञान प्राप्त होता है। हमारा दैनिक कार्यक्रम लोभवश विपर्यस्त नहीं हो जाता और हम प्रजापालन करते हुए निर्विघ्न गतिवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

पेदु का अश्व

युवं श्वेतं पेदव इन्द्रजूतमहिहनमश्विनादत्तमश्वम्।
जोहूत्रमर्यो अभिभूतिमुग्रं सहस्रसां वृषणं वीड्वङ्गम्॥ ९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **पेदवे**=(पद गतौ) गतिशील पुरुष के लिए **अश्वम्**=इन्द्रियरूप अश्व को **अदत्तम्**=देते हो, जो अश्व **श्वेतम्**=श्वेत है। प्राणसाधना से इन्द्रियों के मल दूर होते हैं और ये इन्द्रियाँ श्वेत व शुद्ध बनती हैं। **इन्द्रजूतम्**=ये इन्द्रियाश्व इन्द्र से प्रेरित होते हैं; प्रभु-प्रेरणा के अनुसार क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं; **अहिहनम्**=वासनारूप सर्प को नष्ट करनेवाले होते हैं, वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते; **जोहूत्रम्**=(संग्रामेष्वाह्वातारम्—सा०) संग्राम में शत्रुओं के साथ विजय की स्पर्धावाले होते हैं और **अर्यः**=शत्रुओं का **अभिभूतिम्**=अभिभव करनेवाले होते हैं; **उग्रम्**=तेजस्वी बनते हैं, **सहस्रसाम्**=शतशः धनों को प्राप्त करानेवाले हैं; **वृषणम्**=शक्तिशाली व सुखों का वर्षण करनेवाले हैं और **वीड्वङ्गम्**=दृढ़ अंगोंवाले हैं। २. प्राणसाधना करनेवाला पुरुष गतिशील बनता है, इस गतिशीलता के साथ उसके इन्द्रियाश्व बड़े सुन्दर बनते हैं। इन्द्रियों के मल दूर होकर जहाँ वे श्वेत बनते हैं, वहाँ शक्तिशाली व दृढ़ होते हैं। इनके द्वारा वासनाओं को जीतते हुए ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हुए हम आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम गतिशील बनकर उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वसुमान् रथ

ता वां नरा स्ववसे सुजाता हवामहे अश्विना नाधमानाः।
आ न उप वसुमता रथेन गिरो जुषाणा सुविताय यातम्॥ १०॥

१. हे **नरा**=उन्नति-पथ पर हमारा नेतृत्व करनेवाले **सुजाता**=उत्तम विकासवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **सु-अवसे नाधमानाः**=उत्तम रक्षण के लिए याचना करते हुए हम **ता वाम्**=उन आप दोनों को **हवामहे**=पुकारते हैं। प्राणापान से हम उन्नति के मार्ग पर चलते हैं, हमारा उत्तम विकास होता है। ये प्राणापान हमारा बड़ी उत्तमता से रक्षण करते हैं—हमारे शरीरों में रोगों को नहीं आने देते और मनों में न्यूनताओं को नहीं आने देते। २. हे प्राणापानो! आप **नः**=हमारी **गिरः**=स्तुतिवाणियों का **जुषाणा**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **वसुमता रथेन**=उत्तम वसुओंवाले रथ से **उप+आयातम्**=समीप प्राप्त होओ, ताकि **सुविताय**=हम दुरितों व दुःखों से दूर हों। प्राणसाधना के द्वारा हमारा यह शरीररथ वसुमान् बने—निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों से यह सम्पन्न हो। इस रथ को प्राप्त करके हम जीवन-यात्रा में सुवित के मार्ग से ही चलें, दुरितों से दूर रहें। प्राणसाधना ही हमें दुरितों से दूर रखती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर-रथ वसुमान् हो और हम दुरितों से दूर होकर सुवित के मार्ग से चलें।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

श्येन का नूतन जवस्

आ श्येनस्य जवसा नूतनेनास्मे यातं नासत्या सजोषाः।
हवे हि वामश्विना रातहव्यः शश्वत्तमाया उषसो व्युष्टौ॥ ११॥

१. हे **नासत्या**=जिनके कारण असत्य रहता ही नहीं ऐसे प्राणापानो! आप **सजोषाः**=(सजोषसौ, औ=सु) समान रूप से प्रीतिवाले होते हुए **श्येनस्य**=शंसनीय गतिवाले के **नूतनेन**=अत्यन्त स्तुत्य **जवसा**=वेग से **अस्मे**=हमारे लिए **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणसाधना से हम शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हों और हमारे कार्य स्तुत्य हों। हमारे जीवनों में असत्य न रह जाए। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **रातहव्यः**=हव्य को देनेवाले, अर्थात् यज्ञशील मैं **शश्वत्तमायाः**=अनादिकाल से प्राप्त होती हुई **उषसः**=इस उषा के **व्युष्टौ**=उदित होने पर मैं **हि**=निश्चय से **वाम्**=आप दोनों को **हवे**=पुकारता हूँ, अर्थात् उषा के आने पर जहाँ मैं अग्निहोत्र करता हूँ वहाँ प्राणसाधना में प्रवृत्त होता हूँ। ये दोनों कार्य मिलकर मेरे जीवन को असत्य से दूर करते हैं। मैं सत्य के मार्ग पर आगे बढ़ता हूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से मैं स्फूर्ति प्राप्त करता हूँ और त्याग की वृत्तिवाला बनता हूँ।

विशेष—इस सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्राणसाधना से हमारा शरीर-रथ शंसनीय गतिवाला बनता है (१)। समाप्ति पर भी यही कहते हैं कि यह श्येन=बाज़ की स्फूर्तिवाला होता है (११)। अगले सूक्त के प्रारम्भ में भी सुन्दर शरीर-रथ के लिए ही प्रार्थना है—

[११९] एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

अद्भुत शरीर-रथ

आ वां रथं पुरुमायं मनोजुवं जीराश्वं यज्ञियं जीवसे हुवे।
सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुं श्रुष्टीवानं वरिवोधामभि प्रयः॥ १॥

१. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके **रथम्**=इस शरीर-रथ को, अर्थात् जिस शरीर में प्राण-साधना चलती है, और इस प्राणसाधना के कारण यह शरीर प्राणापानों का ही कहलाता है,

जीवसे=उत्कृष्ट जीवन के लिए **आ हुवे**=पुकारता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मुझे प्राणापानों का वह शरीररूप रथ प्राप्त हो जो (क) **पुरुमायम्**=(बह्वाश्चर्ययुक्तम्—सा०) अनेक आश्चर्यकारी रचनाओं से युक्त है अथवा बहुत माया=प्रज्ञावाला है, (ख) **मनोजुवम्**=मन के वेगवाला है, जिसमें मन बिलकुल अकाम होकर निष्क्रिय व जड़ नहीं हो गया है, अपितु, जिसमें मन में शतशः उत्तम संकल्प उठते हैं, (ग) **जीराश्वम्**=जवन व वेग से युक्त इन्द्रियाश्वोंवाला है, (घ) **यज्ञियम्**=जो यज्ञात्मक उत्तम कर्मों का साधन बनता है, (ङ) **सहस्रकेतुम्**=आनन्दयुक्त (स+हस्) व अपनीत रोगोंवाला (कित रोगापनयने) है, (च) **वनिनम्**=प्रभु-सम्भजन की वृत्तिवाला है, (छ) **शतद्वसुम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों (वसुओं) से सम्पन्न है—सौ वर्ष तक जिस शरीर में किसी प्रकार की कमी नहीं आती, (ज) **श्रुष्टीवानम्**=(सुखवन्तम्) जो सुख देनेवाला है, (झ) **वरिवोधाम्**=उचित सम्पत्ति का धारण करनेवाला है (ञ) **प्रयः अभि**=अन्त तक पाचन के ठीक रहने से जो अन्न की (प्रयस्=Food) ओर चलनेवाला है। पाचनशक्ति के ठीक न होने पर अन्न के प्रति अरुचि हो जाती है और शरीर में क्षीणता आ जाती है। स्वास्थ्य के कारण यह आनन्द (प्रयस्=Delight) की ओर अग्रसर होता है और साथ ही त्याग की वृत्तिवाला (प्रयस्=Sacrifice) बनता है।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ मन्त्रवर्णित दस बातों से युक्त हो।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उत्कृष्ट लक्ष्य अथवा शरीर-रथ पर शक्ति का आरोहण

ऊर्ध्वा धीतिः प्रत्यस्य प्रयामन्यधायि शस्मन्त्समयन्त आ दिशः।
स्वदामि घर्मं प्रति यन्त्यूतय आ वामूर्जानी रथमश्विनारुहत्॥ २॥

१. **अस्य**=इस शरीर-रथ के **प्रयामनि**=प्रकृष्ट मार्ग में चलने पर **ऊर्ध्वा धीतिः**=खूब ऊँची धारणा, खूब ऊँचा लक्ष्य **प्रति+अधायि**=प्रतिदिन दृष्टि के सामने रक्खा जाता है। जितना लक्ष्य ऊँचा होगा, उतना ही तो हम उन्नत हो पाएँगे। सर्वोच्च लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही है। हम जीवन-यात्रा का उद्देश्य प्रभु-प्राप्ति को ही समझें। २. **शस्मन्**=उस प्राप्ति के लक्ष्यभूत प्रभु का शंसन व स्तवन करने पर **दिशः**=उस प्रभु के आदेश **आसमयन्ते**=सब प्रकार से हमारे साथ संगत होते हैं। हमें हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणाएँ सुनाई पड़ने लगती हैं। ३. इन प्रेरणाओं के अनुसार चलने पर मैं **घर्मं स्वदामि**=शरीर में शक्ति के रक्षण से उत्पन्न होनेवाली उचित गर्मी व उत्साह का आनन्द अनुभव करता हूँ, स्वाद लेता हूँ। प्रभु-प्रेरणा के अनुसार चलनेवाले व्यक्ति को शक्ति प्राप्त होती है और उस शक्ति की प्राप्ति से वह आन्तर सुख को प्राप्त होता है। ४. इस शक्ति के कारण मुझे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में **ऊतयः**=रक्षण **प्रतियन्ति**=प्राप्त होते हैं, शरीर में रोग नहीं आते, सब अङ्ग सुन्दर बने रहते हैं और मन भी मलिन नहीं होता। ५. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप ऐसी कृपा करो कि **वां रथम्**=आपकी साधनावाले और अतएव आपके इस रथ पर **ऊर्जानी**=शक्ति **आरुहत्**=आरूढ़ हो। हमारा यह शरीर सशक्त हो, क्योंकि शक्ति ही सब उन्नतियों का मूल है।

भावार्थ—जीवन-यात्रा में हमारा लक्ष्य उच्च हो। प्रभुशंसन करते हुए हम प्रभु-प्रेरणा को सुनें। हमारा शरीर शक्ति का अधिष्ठान हो।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

स्पर्धापूर्वक आगे बढ़ना

सं यन्मिथः पस्पृधानासो अग्मत शुभे मखा अमिता जायवो रणे।
युवोरह प्रवणे चेकिते रथो यदश्विना वहथः सूरिमा वरम्॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार लक्ष्य को ऊँचा बनाकर **यत्**=जब **मिथः**=आपस में **पस्पृधानासः**=आगे और आगे बढ़ जाने के लिए स्पर्धा करते हुए पुरुष **समगमत्**=सम्यक् व उत्तम गतिवाले होते हैं तब वे **शुभे**=शोभा के लिए होते हैं। एक-दूसरे से आगे बढ़ते हुए इन पुरुषों की शोभा दर्शनीय ही होती है। २. **मखाः**=ये पुरुष यज्ञशील जीवनवाले होते हैं, यज्ञ ही बन जाते हैं, **अमिताः**=अनन्त शक्तिवाले बनते हैं, इनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, सीमित होकर रुक नहीं जाती। ये पुरुषा **रणे**=संग्राम में **जायवः**=विजयशील होते हैं, अध्यात्म-संग्राम में काम-क्रोध को जीतनेवाले होते हैं। ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवोः**=आप दोनों का **रथः**=यह शरीररूप रथ **अह**=निश्चय से **प्रवणे**=प्रकृष्ट सम्भजनीय प्रदेश में (most desirable) **चेकिते**=जाना जाता है, **यत्**=जबकि आप **सूरिम्**=ज्ञानी पुरुष को **वरम्**=उस श्रेष्ठ वरणीय प्रभु को **आवहथः**=प्राप्त कराते हो। इस प्रकार जब यह शरीर-रथ प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चल रहा होता है, उस समय यह अत्यन्त वाञ्छनीय मार्ग पर चलता हुआ समझा जाता है। यह अत्यन्त वाञ्छनीय मार्ग ही यहाँ 'प्रवण' शब्द से कहा गया है। 'वरम्' का अर्थ सायण ने धन किया है। प्रभु ही सर्वोत्तम धन है, जिसे प्राप्त करने के लिए ज्ञान की प्रबल कामना होती है।

भावार्थ—हम परस्पर स्पर्धा करते हुए उन्नति के मार्ग पर एक-दूसरे से आगे बढ़ें। हमारा शरीर-रथ प्रभु-प्राप्ति के उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाला हो।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्राणसाधना से पहले व प्राणसाधना के बाद

युवं भुज्युं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्निवहन्ता पितृभ्य आ।
यासिष्टं वर्तिर्वृषणा विजेन्यं१ दिवोदासाय महि चेति वामवः॥ ४॥

१. प्राणसाधना करने से पहले एक व्यक्ति भोग-प्रवण होता है। वह भोजन से ही अपना मेल रखने के कारण 'भुज्यु' है। वह मानो खाने के लिए ही जीता हो। सदा अपने भरण-पोषण में ही लगे रहने से वह 'भुरमाण' है—भरण के स्वभाववाला। इसकी चेष्टाएँ (गतम्) पक्षियों के सदृश (विभिः) होती हैं। जैसे पक्षी एक वृक्ष से उड़कर दूसरे-दूसरे वृक्ष पर पहुँचते हैं। वहाँ कोई फल खाया और तीसरे वृक्ष पर पहुँचे, इसी प्रकार यह व्यक्ति भी कभी किसी होटल में और कभी किसी होटल में भटकता फिरता है। प्राणसाधना का प्रारम्भ हुआ और इसके जीवन में भी परिवर्तन आया। अब यह पितरों के समीप उपस्थित होता है, उनसे ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। हे **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप **भुज्युम्**=भोगप्रवण, **भुरमाणम्**=सदा भरण में ही लगे हुए, **विभिः गतम्**=पक्षियों के सदृश चेष्टावाले, खान-पान में व्यस्त इस पुरुष को **स्व-युक्तिभिः**=आत्मतत्त्व के साथ योगवाले इन्द्रियाश्वों के द्वारा, अर्थात् जो इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से पराङ्मुख होकर कुछ अन्तर्मुख हुई हैं—उन इन्द्रियों के द्वारा **पितृभ्यः**=ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले पितरों के समीप **आ-निवहन्ता**=सब प्रकार से प्राप्त कराते हो। २. इन पितरों से ज्ञान प्राप्त करके 'भुरमाण-भुज्यु' अब पक्षियों की भाँति खाता ही नहीं रहता। यह ज्ञान के द्वारा सब बुराइयों का उपक्षय करनेवाला 'दिवोदास' बनता है। **दिवोदासाय**=इस दिवोदास के लिए हे प्राणापानो! आप **विजेन्यं वर्तिः**=विजयशील गृह **यासिष्टम्**=प्राप्त कराते हो। इस दिवोदास का यह शरीर-गृह कभी वासनाओं से पराजित नहीं होता। ३. इस प्रकार हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **महि चेति**=महान् जाना जाता है। इससे बढ़कर रक्षा और क्या हो सकती है कि भुज्यु का भुज्युत्व समाप्त होता है और वह

दिवोदास बन जाता है—भोगप्रवण पुरुष योगप्रवण हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से पूर्व हम भोगासक्त जीवनवाले थे। प्राणसाधना ने हमारे जीवन को भोगों से ऊपर उठाकर प्रकाशमय बना दिया है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वेदवाणी का प्राणापान को पतिरूप में वरना

युवोर॑श्विना वपु॑षे युवा॒युजं॒ रथं॒ वाणी॑ येमतुरस्य॒ शर्ध्य॑म्।
आ वां॑ पति॒त्वं स॒ख्याय॑ ज॒ग्मुषी॒ योषा॑वृणीत॒ जेन्या॑ यु॒वां पती॑॥ ५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवोः**=आप दोनों के **वाणी**=(वननीयौ प्रशस्यौ) प्रशंसनीय ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **युवायुजम्**=आपसे जोते जाते हुए व युक्त होते हुए **रथम्**=शरीररूप रथ को **वपुषे**=(शोभनार्थम्—सा०) शोभा के लिए **अस्य शर्ध्यम्**=इस रथ के लक्ष्यस्थान पर **येमतुः**=प्राप्त कराते हैं अथवा लक्ष्यस्थान की ओर इसका संयम करते हैं—इसे उसी ओर चलाते हैं। अन्तिम लक्ष्यस्थान ब्रह्मलोक की प्राप्ति है, अतः इसे ब्रह्म की ओर ले-चलते हैं। २. इस समय हे प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **सख्याय**=मित्रता के लिए **आजग्मुषी**=आनेवाली **योषा**=प्रभु की कन्यारूप यह वेदवाणी **पतित्वम्**=आपके पतिभाव को **आवृणीत**=वरती है, आपको अपना पति बनाती है, अर्थात् प्राणसाधना से यह वेदवाणी हमें पत्नीरूप में प्राप्त होती है। **युवाम्**=आप दोनों को यह **पती**=पतिरूप में **जेन्या**=जीतनेवाली होती है। ऐसा होने पर यह सचमुच हमारे घर को बड़ा सुन्दर बनाती है, उसमें से बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व शरीर-रथ को ब्रह्म की ओर ले-चलते हैं। इस ब्रह्म की कन्यारूप वेदवाणी हमारे प्राणापानों को पतिरूप में वरती है, परिणामतः हमारा जीवन निर्दोष व गुणों से मण्डित बनता है। यह वेदवाणी ब्रह्म की योषा है—(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों से अलग करने तथा अच्छाइयों से मिलानेवाली।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

रेभ, अत्रि, शयु, वन्दन

यु॒वं रे॒भं परि॑षूतेरुरुष्यथो हि॒मेन॑ घ॒र्मं परि॑तप्त॒मत्र॑ये ।
यु॒वं श॒योर॑व॒सं पि॑प्यथु॒र्गवि॒ प्र दी॒र्घेण॒ वन्द॑नस्ता॒र्यायु॑षा॥ ६॥

१. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **रेभम्**=स्तोता को **परिषूते**=(obstruction) विघ्नों व उपद्रवों से **उरुष्यथः**=रक्षित करते हो। प्राणसाधना से ही वस्तुतः हमारी वृत्ति प्रभुप्रवण होती है। हम भोगों से ऊपर उठते हैं और भोगों से ऊपर उठने पर जीवन-यात्रा में आनेवाले विघ्नों से भी बच जाते हैं। २. वासनाओं के कारण **परितप्तम्**=खूब तपे हुए **घर्मम्**=इस शरीररूप कटाह (cauldron) को **अत्रये**=अत्रि के लिए **हिमेन**=हिम के समान शान्तवृत्ति के द्वारा **उरुष्यथः**=रक्षित करते हो। काम, क्रोध, लोभरूप वासनाएँ इन्द्रियों, मन व बुद्धि को खूब सन्तप्त कर देती हैं; प्राणसाधना से ये वासनाएँ नष्ट होती हैं, शान्तभाव का उदय होता है और व्यक्ति सचमुच **अ-त्रि**=अविद्यमान काम, क्रोध, लोभवाला बन जाता है। प्राणसाधना से पूर्व तो (अद्यते त्रिभिः) यह काम, क्रोध, लोभ से खाया जाने के कारण 'अत्रि' था। ३. कामादि से ऊपर उठकर यह **शयु**=हृदय में निवास करनेवाला बनता है। **युवम्**=आप दोनों **शयोः**=इस शयु की **गवि**=वेदवाणीरूप गौ में **अवसम्**=रक्षण के साधनभूत ज्ञानदुग्ध को **पिप्यथुः**=खूब आप्यायित करते हो। प्राणसाधना

से पूर्व यह वेदवाणीरूप गौ हमारे लिए न समझने योग्य होने के कारण वन्ध्या-सी हो जाती है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है और इस वेदवाणी को हम खूब समझने लगते हैं। इसका ज्ञानदुग्ध हमारे लिए रक्षक बनता है। ४. हे प्राणापानो! आपके द्वारा **वन्दनः**=यह बड़ों का अभिवादन करनेवाला व्यक्ति **दीर्घेण आयुषा**=दीर्घ जीवन के द्वारा **प्रतारि**=खूब वृद्धि को प्राप्त कराया जाता है। प्राणसाधक बड़ों का आदर करता है, परिणामतः दीर्घायुष्यवाला होता है और खूब उन्नति को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'रेभ' प्रभु के स्तोता बनते हैं। काम, क्रोध, लोभ से ऊपर ऊठकर 'अत्रि' बनते हैं। वेद को समझनेवाले 'शयु' होते हैं और 'वन्दन' बनकर दीर्घायुष्यवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

जीर्णता का दूरीकरण

युवं वन्दनं निर्ऋतं जरण्यया रथं न दस्रा करणा समिन्वथः।
क्षेत्रादा विप्रं जनथो विपन्यया प्र वामत्र विधते दंसना भुवत्॥७॥

१. हे **दस्रा**=अशुभों का क्षय करनेवाले **करणा**=शुभों के करनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **जरण्यया**=बुढ़ापे से **निर्ऋतम्**=निःशेषेण प्राप्त हुए-हुए को, पूर्णरूप से घेर लिये गये को **वन्दनम्**=अभिवादन व स्तवन करनेवाले को **समिन्वथः**=इस प्रकार धारण करते हो, फिर युवा-सा कर देते हो **न**=जैसे कि **रथम्**=एक शिल्पी रथ को नया कर देता है। प्राणसाधना से बुढ़ापे का स्थान यौवन ले-लेता है। प्राणसाधना मनुष्य की शक्तियों की वृद्धि का कारण बनती है। २. हे प्राणापानो! आप **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा **क्षेत्रात्**=क्षेत्र से ही—जन्म से ही **विप्रम्**=ज्ञानी को **आजनथः**=उत्पन्न करते हो। गर्भस्थ बालक की माता प्राणसाधना में चलती है तो गर्भस्थ बालक जन्म से ही तीव्र बुद्धिवाला होता है। ३. हे प्राणापानो! **अत्र**=यहाँ, इस जीवन में **वां दंसना**=आपके कर्म **विधते**=**प्र भुवत्**=प्रभाव को पैदा करनेवाले होते हैं। प्राणसाधक को शक्ति प्राप्त होती है। प्राणसाधना से मलों का संहार होकर पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है। यह स्वास्थ्य शक्तिवृद्धि का मूल बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीर्णता दूर होती है, ज्ञान व शक्ति की वृद्धि होती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

फिर पिता के पास

अगच्छतं कृपमाणं परावति पितुः स्वस्य त्यजसा निबाधितम्।
स्वर्वतीरित ऊतीर्युवोरह चित्रा अभीके अभवन्नभिष्टयः॥८॥

१. जब मनुष्य अपने पिता प्रभु को छोड़कर भटकता हुआ सुदूर विषय-समुद्र में पहुँचता है तो समयप्रवाह में, थोड़ी-सी चमक व चहल-पहल के बाद रोगादि से पीड़ित होकर परेशानी में हो जाता है। अब उसे अपने पिता का स्मरण होता है और यह प्रभुस्तवन की ओर झुकता है। उस समय ये प्राणापान उसके सहायक बनते हैं। प्राणसाधना से उसे फिर से प्रकाश प्राप्त होता है, रोगादि से मुक्ति मिलती है और यह पुनः अपने पिता के समीप पहुँचनेवाला बनता है। २. हे प्राणापानो! **स्वस्य**=अपने **पितुः**=रक्षक पिता परमात्मा के **त्यजसा**=त्याग से **परावति**=सुदूर विषय-समुद्र में **निबाधितम्**=पीड़ित हुए-हुए और अतएव **कृपमाणम्**=(कृपतिः स्तुतिकर्मा तौदादिकः) पुनः प्रभुस्तवन में प्रवृत्त हुए-हुए को **आगच्छतम्**=प्राप्त होते हो। मनुष्य कुछ देर

विषय-समुद्र में भटककर पीड़ित होने पर फिर प्रभु की ओर लौटता है। प्राणापान उसके लिए सहायक बनते हैं। हे प्राणापानो! **युवोः**=आपके **अभिष्टयः**=रोगादि पर होनेवाले आक्रमण **अह**=निश्चय से **स्वर्वतीः**=प्रकाश व सुखवाले होते हैं, **इतः ऊतीः**=इधर से—विषय-समुद्र से रक्षित करनेवाले होते हैं, **चित्राः**=अद्भुत होते हैं, और **अभीके अभवन्**=प्रभु के समीप पहुँचानेवाले होते हैं (अभीके=समीप)।

भावार्थ—प्राणसाधना से मलों व आवरणों का विक्षेप होकर जीवन प्रकाशमय बनता है। हम विषय-समुद्र में डूबने से बचते हैं और अन्त में प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मधुरता से प्रभुस्तवन

उत स्या वां मधुमन्मक्षिकारपन्मदे सोमस्यौशिजो हुवन्यति।
युवं दधीचो मन आ विवासथोऽथा शिरः प्रति वामश्व्यं वदत्॥ ९॥

१. **उत**=और हे प्राणापानो! **औशिजः**=मेधावी का पुत्र, अर्थात् अत्यन्त मेधासम्पन्न यह व्यक्ति **वाम्**=आपको **सोमस्य**=सोम के **मदे**=हर्ष में—वीर्यशक्ति की ऊर्ध्वगति के कारण स्वास्थ्य व प्रकाश के आनन्द में **मधुमत् हुवन्यति**=इस प्रकार माधुर्य से पुकारता है जैसे कि **स्या**=वह **मक्षिका**=मधुवाली मक्खी **अरपत्**=अव्यक्त मधुर शब्द करती है। प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है, जिससे जीवन में एक आनन्द का अनुभव होता है। उस आनन्द में यह आराधना के मधुर शब्दों का उच्चारण करता है। २. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **दधीचः**=ध्यान में लगे हुए पुरुष के **मनः**=मन को **आविवासथः**=परिचर्यायुक्त करते हो। प्राणयाम के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध होकर मन प्रभु की परिचर्यावाला बनता है। ३. **अथ**=अब **अश्व्यं शिरः**=(अशू व्याप्तौ) सब विद्याओं का व्यापन करनेवाला मस्तिष्क **वां प्रति वदत्**=आपके लिए मधुविद्या का उपदेश देता है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है, ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और इस सृष्टि-रचना में प्रभु की महिमा का दर्शन करनेवाली बनती है। यही मधुविद्या का उपदेश है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम का रक्षण होने पर मनुष्य प्रभुस्तवन करनेवाला बनता है, मन प्रभु-परिचर्यावाला होता है और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

पेदु का चर्कृत्य अश्व

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः।
शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्॥ १०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **पेदवे**=गतिशील पुरुष के लिए **श्वेतम्**=श्वेतवर्ण के अश्व (इन्द्रियाश्व) को **दुवस्यथः**=देते हो। कैसे इन्द्रियाश्व को? (क) **पुरुवारम्**=जो बहुतों से वरणीय है, चाहने योग्य है अथवा पालक और पूरक है तथा विघ्नों का निवारक है (पृ पालनपूरणयोः, वार=निवारक) (ख) **स्पृधां तरुतारम्**=संग्राम में स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को तैर जानेवाला है, (ग) **शर्यैः**=मलों के हिंसन के द्वारा **अभिद्युम्**=अभिगत दीप्तिवाला है। काम-क्रोधादि मल ही दीप्ति के नाश के कारण बनते हैं। इन मलों के हिंसन से ये इन्द्रियाश्व चमक उठते हैं, (घ) **पृतनासु**=संग्रामों में **दुष्टरम्**=कठिनता से तैरने योग्य हैं, संग्रामों में हारते नहीं, (ङ) **चर्कृत्यम्**=सब कार्यों में पुनः-पुनः प्रयोज्य हैं, (च) **इन्द्रम् इव चर्षणीसहम्**=इन्द्र की भाँति शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। इन्द्र जैसे सब असुरों का संहार करता है, उसी प्रकार

ये इन्द्रियाश्व भी सब शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व अत्यन्त निर्मल व श्वेत बनते हैं। इस प्रकार के इन्द्रियाश्व क्रियाशील पुरुष को प्राप्त होते हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में दशगुणयुक्त रथ का वर्णन था (१)। यहाँ समाप्ति पर इसमें जुतनेवाले श्वेत इन्द्रियाश्व का उल्लेख है (१०)। ऐसा रथ व ऐसे अश्व प्राणसाधना से ही प्राप्त होते हैं, परन्तु प्राणापान की साधना के लाभों को न जानने से इस प्राणासाधना में विरल व्यक्ति ही प्रेरित होते हैं—

[१२०] विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

प्राणों का विरल उपासक

का राधद्धोत्राश्विना वां को वां जोष उभयोः। कथा विधात्यप्रचेताः॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **का होत्रा**=कोई विरल वाणी ही **वां राधत्**=आपकी आराधना करती है, अर्थात् सामान्यतः लोग आपकी आराधना में प्रवृत्त नहीं होते। २. **वाम् उभयोः**=आप दोनों के **जोषे**=प्रीणन में **कः**=कोई विरल ही समर्थ होता है। ३. **अप्रचेताः**=एक नासमझ मूर्ख व्यक्ति **कथा विधाति**=कैसे आपकी परिचर्या कर सकता है! आपके लाभों को न समझने पर आपकी उपासना में किसी की प्रवृत्ति हो ही कैसे सकती है? किसी वस्तु की उपयोगिता को समझने पर ही उसमें प्रवृत्ति हुआ करती है। प्राणसाधना का भी लाभ समझेंगे तभी तो उधर प्रवृत्त होंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना के लाभ का ज्ञान न होने से प्राणसाधना में प्रवृत्ति कम ही होती है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

वासनाओं से अनाक्रान्त

विद्वांसाविद्दुरः पृच्छेदविद्वानित्थापरो अचेताः। नू चिन्नु मर्ते अक्रौ॥ २॥

१. **इत्था**=इस प्रकार **अचेताः**=प्राणापान-साधना के लाभों को अथवा प्राणाराधन के प्रकार को न जाननेवाला **अविद्वान्**=अज्ञ पुरुष **विद्वांसौ इत्**=ज्ञान देनेवाले अश्विदेवों से ही **दुरः**=प्राणाराधन के उपायों को (द्वारों को) **पृच्छेत्**=पूछे—जानने की इच्छा करे। **अपरः**=अश्विदेवों से भिन्न सर्वज्ञ भी अज्ञ ही होता है, अतः अश्विदेवों से ही पूछे। प्राणापान से ही प्राणाराधन के उपायों को पूछने का अभिप्राय यह है कि हम प्राणायाम में प्रवृत्त हों, अगला-अगला मार्ग स्वयं दिखेगा। जैसे वेद पढ़ने से वेद का अभिप्राय स्पष्ट होने लगता है, उसी प्रकार प्राणसाधना में लगने से अगला-अगला लक्ष्य स्वयं दिखने लगता है, २. ये प्राणापान **नू चित्**=शीघ्र ही **नु**=अब **मर्ते**=मनुष्य में **अक्रौ**=शत्रुओं से अनाक्रान्त होते हैं। प्राणसाधना करने से काम-क्रोधादि शत्रुओं का हमपर आक्रमण नहीं हो पाता। प्राणायाम हमें वासना-विजय के लिए सक्षम बनाता है। प्राणसाधना का सर्वमहान् लाभ यही है।

भावार्थ—प्राणायाम प्रारम्भ करने पर अगला मार्ग स्वयं दिखता है। 'योगेन योगो ज्ञातव्यः'—इस उक्ति का यही भाव है। प्राणसाधना का सर्वमहान् लाभ यह है कि साधक पर वासनाओं का आक्रमण नहीं हो पाता।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—स्वराट्ककुबुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

दयमानो युवाकुः

ता विद्वांसा हवामहे वां ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य। प्रार्चद्दयमानो युवाकुः॥ ३॥

१. **विद्वांसा ता वाम्**=ज्ञानी उन आप अश्विदेवों को **हवामहे**=हम पुकारते हैं। प्राणापान की साधना से मनुष्य की बुद्धि सूक्ष्म होकर उसका ज्ञान बढ़ता है, अतः प्राणापान को ही 'विद्वांस' इस रूप में कहा गया है। २. **ता विद्वांसा**=ज्ञानवृद्धि के साधनभूत हे प्राणापानो! **अद्य**=आज **नः**=हमारे लिए **मन्म**=ज्ञातव्य स्तोत्र को **वोचेतम्**=उच्चारण करनेवाले होओ। प्राणसाधना के द्वारा जहाँ हम ज्ञानी बनें, वहाँ प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले हों। ३. प्राणसाधना करनेवाला पुरुष **प्रार्चत्**=प्रभु की प्रकृष्ट अर्चना करता है, **दयमानः**=यह सब प्राणियों का रक्षण करनेवाला बनता है (देङ् रक्षणे) तथा **युवाकुः**=बुराइयों से अपना अमिश्रण करनेवाला तथा अच्छाइयों से अपने को मिलानेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान व प्रभुस्तवन की प्रवृत्ति बढ़ती है। मनुष्य अर्चनावाला होता हुआ प्राणियों का रक्षक बनता है और अपने को श्रेष्ठ बनाता है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

भोजन-यज्ञ व प्राणों का सोमपान

वि पृच्छामि पाक्या३ न देवान्वषट्कृतस्याद्भुतस्य दस्रा।
पातं च सह्यसो युवं च रभ्यसो नः ॥ ४॥

१. हे प्राणापानो! **दस्रा**=आप ही सब दोषों का उपक्षय करनेवाले हो। आपसे मैं **विपृच्छामि**=विशेषरूप से यह कहने के लिए कहता हूँ कि **वषट्कृतस्य**=शरीर की वैश्वानर (जाठर) अग्नि में स्वाहाकृत—भोजन के समय आहुतिरूप में डाले गये **अद्भुतस्य**=आश्चर्यकर **सह्यसः**=सब रोगों का अभिभव करनेवाले सोम का **पातम्**=पान करो **च+च**=और **युवम्**=आप **नः**=हमें **रभ्यसः**=शक्तिशाली बनाओ। आपकी साधना से ही सोम का शरीर में रक्षण होगा, उस सोम का जोकि अद्भुत वस्तु है, सब रोगों का अभिभव करनेवाला है। इसके रक्षण से ही हम शक्तिशाली बनते हैं। २. मैं इस बात के लिए आपसे उसी प्रकार प्रार्थना करता हूँ **न**=जैसे कि **पाक्या देवान्**=परिपक्व बुद्धिवाले विद्वानों से विद्यार्थी प्रश्न किया करते हैं; उनसे प्रश्न करके वे अपना ज्ञान बढ़ा पाते हैं। आपसे प्रार्थना करके मैं अपनी शक्ति को बढ़ा पाऊँगा। भोजन को भी हम एक यज्ञ का रूप दें। सात्त्विक भोजन को ही जाठराग्नि में आहुत करें, उससे उत्पन्न सोम का आपकी साधना के द्वारा पान करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—हम सात्त्विक भोजन के द्वारा उत्पन्न सोम को प्राणसाधना द्वारा शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। देवता—अश्विनौ। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

प्रैषयु विद्वान्

प्र या घोषे भृगवाणे न शोभे यया वाचा यजति पज्रियो वाम्। प्रैषयुर्न विद्वान्॥ ५॥

१. **या**=जो वेदवाणी **घोषे**=प्रभु के स्तोत्रों का घोषणा करनेवाले में **प्रयजति**=संगत होती है, **भृगवाणे**=जो वाणी अपना परिपाक करनेवाले में उसी प्रकार संगत होती है **न**=जैसे कि **शोभे**=उत्तम गुणों से अपने को शोभित करनेवाले में और **यया वाचा**=जिस वाणी से **पज्रियः**=शक्तिशाली पुरुष **वाम्**=आपका **यजति**=पूजन करता है, वही वाणी मुझमें **प्र**=(भवतु—

सा०) प्रभाव व शक्ति को उत्पन्न करनेवाली हो। वेदवाणी का सम्पर्क उन्हीं को प्राप्त होता है जो (क) प्रभु के नाम का उच्चारण करते हुए प्रभुभक्त बनते हैं, (ख) जो अपने को तपस्या वा ज्ञानाग्नि में तपाते हैं, (ग) सद्गुणों से अपने को शोभित करते हैं तथा (घ) जो शक्ति का सम्पादन करते हैं। २. प्राणसाधना के द्वारा अपने जीवन को इस प्रकार का बनाकर हम इस वाणी को अपने साथ संगत करें और **प्रैषयुः विद्वान् न**=उस विद्वान्—ज्ञानी पुरुष के समान बनें जोकि प्रकृष्ट प्रेरणाओं को औरों के लिए प्राप्त कराता है। हम स्वयं 'घोष, भृगवाण, शोभ व पज्रिय' बनकर वेदवाणी को अपने साथ संगत करें और उसकी प्रेरणा को सब तक पहुँचाने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—हम साधना के द्वारा ज्ञानी बनकर औरों के लिए ज्ञान देनेवाले बनें।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराडार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

ज्ञानचक्षुओं का उद्घाटन

श्रुतं गायत्रं तकवानस्याहं चिद्धि रिरेभाश्विना वाम्। आक्षी शुभस्पती दन्॥ ६॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **तकवानस्य**=(तक्=to rush upon) कामादि शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले के **गायत्रम्**=गायत्रसाम के द्वारा निष्पाद्य स्तोम को—स्तुति को **श्रुतम्**=सुनते हो। कामादि शत्रुओं को जीतने की कामनावाला पुरुष प्राणापान के महत्त्व को समझता हुआ उनका आराधन करता है। प्राणापान को वह 'गायत्र' गायन करनेवाले का रक्षक समझता है, गायत्री छन्द के मन्त्रों द्वारा ही वह इनका स्तवन करता है। **अहं चित् हि**=मैं भी निश्चय से **वाम्**=आपका **रिरेभ**=स्तवन करता हूँ। प्राणापान का स्तवन यही है कि हम प्राणायाम के द्वारा उनकी उपयोगिता को क्रियात्मक रूप में देखनेवाले बनें। २. हे **शुभस्पती**=सब शुभों का रक्षण करनेवाले प्राणापानो! मैं आपसे **अक्षी**=आँखों को **आदन्**=(आददानाः) ग्रहण करनेवाला होता हूँ। आपकी साधना से मेरे ज्ञानचक्षुः खुल जाते हैं और मैं शुभ कर्मों में ही प्रवृत्त होता हूँ। प्राणसाधना से पूर्व हम इस प्रलोभनपूर्ण संसार में अन्धे-से बन गये थे—उलटे मार्ग पर ही चल पड़े थे। इस साधना के परिणामस्वरूप हमारी आँखें खुल गईं और हम सुमार्ग पर चलते हुए शुभों को प्राप्त करनेवाले बने।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे ज्ञानचक्षुओं को खोलनेवाली होती है और हमारे जीवन में शुभों का रक्षण करती है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

वृक से रक्षण

युवं ह्यास्तं महो रन् युवं वा यन्निरततंसतम्।
ता नो वसू सुगोपा स्यातं पातं नो वृकादघायोः॥ ७॥

१. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **हि**=निश्चय से **महः**=महनीय धन के अथवा तेजस्विता के **रन्**=(दातारौ—सा०) देनेवाले **आस्तम्**=हैं, **यत्**=जब कि **युवम्**=आप ही **वा**=निश्चय से **निरतंसतम्**=हमारे जीवनों को सब शुभ गुणों से अलकृंत करते हो। तेजस्विता को तथा यात्रा के लिए आवश्यक धनों को देकर प्राणापान हमारे जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करते हैं। २. **ता**=वे आप दोनों प्राण व अपान **नः**=हमारे लिए **वसू**=उत्तम निवास देनेवाले होओ तथा **सुगोपा**=आप हमारी उत्तमता से रक्षा करनेवाले **स्यातम्**=होओ और **नः**=हमें **अघायोः**=हमारे **अघ**=पाप व अशुभ की कामनावाले **वृकात्**=लोभरूप वृक से **पातम्**=सुरक्षित करो। प्राणसाधना

से हममें लोभवृत्ति का उन्मूलन हो जाए और लोभमूलक सब पाप विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें तेजस्विता प्राप्त कराके सद्गुणों से मण्डित करती है और ये प्राणापान ही हमारी लोभवृत्ति को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

प्राणसाधना वा गोरक्षण

मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नो माकुत्रा नो गृहेभ्यो धेनवो गुः। स्तनाभुजो अशिश्वीः॥ ८॥

१. हे प्राणापानो! आप **नः**=हमें **कस्मै**=किसी भी **अमित्रिणे**=मित्रभाव से रहितत्यवाले काम, क्रोध, लोभरूप शत्रु के लिए **मा**=मत **अभिधातम्**=सम्मुख स्थापित करो। आपकी कृपा से हम कामादि शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। २. इस प्राणसाधना के साथ **नः गृहेभ्यः**=हमारे घरों से **धेनवः**=गौएँ **अकुत्रा**=हमसे अगम्य किसी प्रदेश में **मा गुः**=मत जाएँ। वे गौएँ **स्तनाभुजः**=अपने स्तनों से दुग्ध द्वारा पालन न करनेवाली **मा**=न हों। **अशिश्वीः**=उत्तम वत्सों से रहित **मा**=न हों, अर्थात् जो गौएँ हमारे घरों में हों, वे खूब दूध देनेवाली हों और उत्तम बछड़ोंवाली हों। प्राणसाधना के साथ गोदुग्ध का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है, अतः प्राणसाधक के घर गौओं का होना आवश्यक है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में चलें और घर पर गौएँ अवश्य रक्खें।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

शक्तियुक्त धन

दुहीयन्मित्रधितये युवाकु राये च नो मिमीतं वाजवत्यै। इषे च नो मिमीतं धेनुमत्यै॥ ९॥

१. हे प्राणापानो! **युवाकु**=(युवाकवः—सा०) अपने से बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों से अपना सम्पर्क करनेवाले साधक लोग **मित्रधितये**=(प्रमीति से त्राण) रोग व मृत्यु तथा पापों से त्राण को धारण के लिए—मृत्यु व पापों से अपने बचाव के लिए **दुहीयन्**=आपको दूहते हैं—आपसे सब आवश्यक धनों को प्राप्त करते हैं। २. आप **नः**=हमें **वाजवत्यै**=शक्तिशाली **राये**=सम्पत्ति के लिए **मिमीतम्**=(कुरुतम्) कीजिए। **च+च**=तथा **धेनुमत्यै**=गौओंवाले **इषे**=अन्न के लिए **मिमीतम्**=कीजिए। आपकी साधना से हम उस धन को प्राप्त करें जो शक्ति से युक्त है तथा हमें अन्न व दुग्ध की कमी न हो। इस प्रकार यह प्राणसाधना हमारे जीवन को भौतिक दृष्टिकोण से भी बड़ा सुन्दर बनानेवाली हो।

भावार्थ—प्राणसाधना जहाँ हमें काम-क्रोध के आक्रमण से बचाती है वहाँ सम्पत्ति व शक्ति देती हुई अभ्युदय को भी प्राप्त कराती है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

अनश्व रथ

अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः। तेनाहं भूरि चाकन॥ १०॥

१. मैं **वाजिनीवतोः**=शक्तियुक्त क्रियावाले (वाज=शक्ति, तद्युक्तक्रिया वाजिनी) **अश्विनोः**=अश्विनीदेवों के **अनश्वम्**=अश्वों के सादृश्यवाली इन्द्रियोंवाले **रथम्**=शरीररथ को **असनम्**=प्राप्त करूँ। प्राणसाधना करने से यह शरीर प्राणापान का रथ कहलाता है। इसमें इन्द्रियों को अश्व कहा गया है। ये अश्व तो नहीं हैं पर 'नञ्' से तत्सादृश्यता को प्रकट करते हुए इस रथ को अनश्व कहा गया है। हम इस प्राणापान के रथ को प्राप्त करें। २. यह रथ जब प्राणापान की

शक्तियुक्त क्रियाओंवाला होता है तब यह हमारी शोभा का कारण बनता है। **तेन**=उस रथ से **अहम्**=मैं **भूरि**=खूब ही **चाकन**=(कन् दीप्तौ) चमकूँ। प्राणसाधना से हमारी क्रियाशीलता में वृद्धि होती है। यह वृद्धि हमारी शोभा को बढ़ाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मेरा यह शरीर-रथ खूब क्रियावान् हो और मेरी दीप्ति का कारण बने।

सूचना—यहाँ 'अनश्वं रथम्' ये शब्द बिना घोड़ों से चलनेवाले रथों (कारों) का संकेत देते हैं।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पिपीलिकामध्याविराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

सुखो रथः

अयं समह मा तनूह्याते जनाँ अनु। सोमपेयं सुखो रथः॥ ११॥

१. हे **समह**=तेजस्विता से युक्त रथ (शरीररूप रथ)! तू **अयम्**=(अयमानम्—सा०) गतिशील मुझको **तनू**=विस्तृत शक्तिवाला कर। वस्तुतः गतिशीलता ही शक्तियों के विस्तार का कारण बनती है, आलसी पुरुष संसार में कभी चमकता नहीं। २. यह प्राणसाधना के द्वारा **सुखः**=(शोभनानि खानि यस्मिन्) उत्तम इन्द्रियोंवाला **रथः**=शरीररूप रथ अश्विनीदेवों के द्वारा **जनान् अनु**=(जन् प्रादुर्भाव) शक्तियों के विस्तार का लक्ष्य करके **सोमपेयम्**=सोमपान के लिए **उह्याते**=ले-जाया जाता है। प्राणापान से शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति होती है। यह शरीर में सुरक्षित शक्ति ही सब इन्द्रियों व अङ्गों को शक्तिशाली बनाती है। सब अङ्गों के सशक्त होने पर ही विविध विकास सम्भव होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में शक्ति का रक्षण होता है और उससे ही सब प्रकार का विकास सम्भव होता है।

ऋषिः—उशिक्पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

तमस् व रजस् से ऊपर

अध स्वप्नस्य निर्विदेऽभुञ्जतश्च रेवतः। उभा ता बस्रि नश्यतः॥ १२॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि 'अयं=अयमानं मा तनू'=गतिशील मुझे विस्तृत क्रियावाला कीजिए। गतिशील से विपरीत वह व्यक्ति है जो 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' में ही पड़ा रहता है यह कभी संसार में चमकता नहीं। इसकी शक्तियों का विकास नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि **अध**=अब मैं **स्वप्नस्य**=नींद के पुतले बने हुए इस आलसी पुरुष के प्रति **निर्विदे**=निर्विण्ण हो गया हूँ। आलसी की उन्नति को मैं सम्भव नहीं देखता २. **च**=और इस **अभुञ्जतः**=किसी का भी पालन न करते हुए **रेवतः**=धनी पुरुष के प्रति भी **निर्विदे**=मैं उदासीन हूँ। रजोगुण के कारण अर्थसंग्रह में ही डूबे हुए इस रजोगुणी पुरुष की भी उन्नति सम्भव नहीं दिखती। २. **उभा ता**=दोनों वे (क) तमोगुणप्रधान—सारे समय को सोने में बितानेवाला पुरुष तथा (ख) रजोगुणी पुरुष जो धन को जोड़ता ही है, उसे यज्ञों में विनियुक्त नहीं करता—ये दोनों **बस्रि**=शीघ्र ही **नश्यतः**=नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हम तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठें। इनसे ऊपर उठनें पर ही सब प्रकार की उन्नति सम्भव है। सोनेवाला व लोभी पुरुष कभी उन्नति नहीं कर पाता।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि संसार में प्राणों के उपासक विरल ही

हैं (११)। समाप्ति पर कहा है कि प्राणोपासना के अभाव में तमस् व रजस् का प्राबल्य होता है और ये नाश का ही कारण बनते हैं (१२)। प्राणसाधना से कक्षीवान् सब दिव्यगुणों को अपनाता है, अतः अगले सूक्त का देवता 'इन्द्रो विश्वेदेवा' ही है। इन 'विश्वेदेवों' को अपनानेवाला इन्द्र को भी प्राप्त करता है—

अष्टादशोऽनुवाकः

[१२१] एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

ज्ञान की वाणियों को किसने सुना?

कदित्था नॄँः पात्रं देवयतां श्रवद् गिरो अङ्गिरसां तुरण्यन्।
प्र यदानड् विश आ हर्म्यस्योरु क्रंसते अध्वरे यजत्रः॥ १॥

१. **तुरण्यन्**=जीवन-यात्रा को शीघ्रता से पूर्ण करने की कामनावाला **कत्**=कब **इत्था**=सचमुच **नॄँः पात्रम्**=मनुष्यों के पालन की **देवयताम्**=(कामयमानानाम्—द० दिव्=कान्ति) कामनावाले **अङ्गिरसाम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले ज्ञानी पुरुषों की **गिरः**=वाणियों को **श्रवत्**=सुनता है। ज्ञानी पुरुषों के लिए यहाँ स्पष्ट संकेत है कि वे (क) लोकहित की कामनावाले हों और (ख) पूर्ण स्वस्थ हों। एक व्यक्ति जो इस प्रकार के ज्ञानी पुरुषों की वाणियों को नियम से सुनता हो तो उसके जीवन में भी एक आवश्यक परिवर्तन आना ही चाहिए। यदि वह परिवर्तन न हो तो यही कहा जाएगा कि इसने उनके ज्ञानोपदेश को ख़ाक सुना है! अतः यहाँ यह प्रश्न करते हैं कि यह कब कहा जाए कि उसने इन ज्ञानोपदेशों को सुना है? २. उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **यत्**=जब **विशः**=प्रजाओं को **प्र+आनट्**=यह प्रकर्षेण प्राप्त होता है, अर्थात् यह स्वार्थमय जीवन न बिताता हुआ लोकहित के कर्मों में प्रवृत्त होता है और (ख) **हर्म्यस्य**=घर का **उरु**=खूब ही **आक्रंसते**=आक्रमण करता है, अर्थात् अन्यत्र भटकने की अपेक्षा अपने शरीररूप घर में ही विचरता है। अपने ही आलोचन में लगा हुआ अपने दोषों को देखता है और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। ३. **अध्वरे यजत्रः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों में अपना सम्बन्ध करनेवाला होता है, सदा इन उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहता है। जिस व्यक्ति के जीवन में ये तीन बातें आ जाती हैं, वस्तुतः उसी ने ज्ञानियों की वाणियों को सुना है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष लोकहित की कामनावाले व स्वस्थ बनकर ज्ञान का प्रसार करते हैं। इनके उपदेशों को ग्रहण करनेवाले (क) स्वार्थ से ऊपर उठते हैं, (ख) आत्मलोचन की प्रवृत्तिवाले होते हैं और (ग) अहिंस्य कर्मों से अपने को सम्बद्ध करते हैं।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला कैसा बनता है?

स्तम्भीद्ध द्यां स धरुणं प्रुषायदृभुर्वाजाय द्रविणं नरो गोः।
अनु स्वजां महिषश्चक्षत व्रां मेनामश्वस्य परि मातरं गोः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ज्ञानियों की वाणियों को सुननेवाला पुरुष **ह**=निश्चय से **द्याम्**=मस्तिष्क को **स्तम्भीत्**=थामता है, ज्ञान का धारण करता है अथवा स्थितप्रज्ञ बनता है। २. **सः**=वह **धरुणम्**=धारक तत्त्व को—रेतः रूप से शरीर में रहनेवाले जल को **प्रुषायत्**=अपने में सिक्त करता है, रेतःकणों को शरीर में ही सुरक्षित रखता है। ३. **ऋभुः**=(उरु भाति, ऋतेन भातीति

वा) खूब देदीप्यमान जीवनवाला होता है अथवा ऋत से, व्यवस्थित जीवन से दीप्त होता है। ४. **वाजाय**=शक्ति-प्राप्ति के लिए **नरः**=यह उन्नतिशील पुरुष **गोः द्रविणम्**=ज्ञानेन्द्रियों के धन को **प्रुषायत्**=अपने में सिक्त करता है। यह ज्ञान ही उसे विषयों से ऊपर उठाकर शक्तिसम्पन्न बनाता है। ५. यह **महिषः**=प्रभु की पूजा करनेवाला व्यक्ति **स्व-जाम्**=अपने अन्दर प्रादुर्भूत होनेवाली—हृदयस्थ प्रभु के द्वारा दी जानेवाली **व्राम्**=वरणीय अथवा दोषों का निवारण करनेवाली **मेनाम्**=आदरणीय वेदवाणी को **अनुचक्षत**=प्रतिदिन देखता है, प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करनेवाला बनता है, जो वेदवाणी **अश्वस्य**=कर्मेन्द्रियों की तथा **गोः**=ज्ञानेन्द्रियों की **परिमातरम्**=सब ओर से निर्माण करनेवाली है। इस वेदज्ञान से उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही उत्तम बनती हैं।

भावार्थ—हम स्थितप्रज्ञ बनें, शक्ति को शरीर में ही सिक्त करनेवाले हों। हम ज्ञान के द्वारा पवित्र बनकर शक्तिशाली बनें। वेदवाणी का अध्ययन करें जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को उत्तम बनाती है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

नियुत वज्र का तक्षण

नक्षद्धवमरुणीः पूर्व्यं राट् तुरो विशामङ्गिरसामनु द्यून्।
तक्षद्वज्रं नियुतं तस्तम्भद् द्यां चतुष्पदे नर्याय द्विपादे॥ ३॥

१. ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला व्यक्ति **हवम्**=प्रभु की पुकार को **नक्षत्**=प्राप्त होता है। प्रभु प्रेरणा देते हैं और यह सुनता है, परिणामतः **अरुणीः**=आरोचमान ज्ञान की किरणों को (नक्षत्) प्राप्त होता है। इन प्रेरणाओं में इसे प्रकाश मिलता है। **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम (पृ पालनपूरणयोः) वेदज्ञान को (नक्षत्) प्राप्त करता है। २. इस वेदज्ञान को प्राप्त करके यह **राट्**=दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला होता है। **अङ्गिरसां विशाम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसमय जीवनवाली प्रजाओं में से यह **अनुद्यून्**=दिन-प्रतिदिन **तुरः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाला बनता है। ३. अपने जीवन में यह **नियुतम्**=(नित्ययुक्तम्—द०) कभी भी पृथक् न होनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र का **तक्षत्**=निर्माण करता है। यह सतत क्रियाशील होता है। **चतुष्पदे**=पशुओं के लिए **नर्याय**=नरहित के कर्मों के लिए तथा **द्विपादे**=पक्षियों के लिए, एवं मनुष्यों व पशु-पक्षियों सभी के हित के लिए कर्म करने के उद्देश्य से **द्यां तस्तम्भत्**=ज्ञान को धारण करता है, स्थितप्रज्ञ बनता है, अपनी बुद्धि को डाँवाडोल नहीं होने देता।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणाओं को सुनें, आरोचमान ज्ञान की किरणों को प्राप्त करके सुन्दर यज्ञिय जीवनवाले हों।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

त्रि-ककुप्

अस्य मदे स्वर्यं दा ऋतायापीवृतमुस्रियाणामनीकम्।
यद्ध प्रसर्गे त्रिककुम्निवर्तदप द्रुहो मानुषस्य दुरो वः॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब यह भक्त प्रभु की पुकार को सुनता है तब प्रभु उससे प्रसन्न होते हैं और **अस्य मदे**=इसके हर्ष में **अपीवृतम्**=आज से पहले वासनाओं से आनन्दित हुए-हुए इसे प्रभु **उस्रियाणां अनीकम्**=प्रकाश की किरणों के समूह को **दाः**=प्राप्त कराते हैं।

वासना का आवरण हटता है और यह अन्तःस्थित प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करता है। यह प्रकाश उसके लिए **स्वर्यम्**=सुख देनेवाला होता है और **ऋताय**=उसे यज्ञों में प्रवृत्त करने के लिए होता है। इस ज्ञान को प्राप्त करके यह यज्ञशील बनता है और सुखी जीवनवाला होता है। २. **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **प्रसर्गे**=यज्ञों के उत्पादन में—यज्ञ करने पर यह यज्ञशील पुरुष **त्रिककुप्**=तीन शिखाओंवाला **निवर्तत्**=बनता है। तीन दृष्टियों से यह शिखर पर पहुँचता है—स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से यह शारीरिक उन्नति के शिखर पर होता है, पवित्रता के दृष्टिकोण से मानस उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और दीप्ति के दृष्टिकोण से बौद्धिक उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होता है। ३. यह **द्रुहः**=द्रोह की भावनाओं को **अप**=अपने से दूर (away) करता है, कभी किसी से द्रोह नहीं करता और **मानुषस्य**=मानव-हित के कार्यों के **दुरः**=द्वारों को **वः**=वरण करता है। द्रोह न करता हुआ यह सदा सबका भला करने में ही प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। यह शरीर, मन, बुद्धि की उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए यत्न करता है और मानवहित के कर्मों में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

राधः-सुरेतः=ज्ञानसम्पत्ति व शक्ति

तुभ्यं पयो यत्पितरावनीतां राधः सुरेतस्तुरणे भुरण्यू।
शुचि यत्ते रेक्ण आयजन्त सबर्दुघायाः पय उस्रियायाः॥ ५॥

१. **पितरौ**=द्युलोकरूप पिता तथा पृथिवीलोकरूप माता **तुभ्यम्**=तेरे लिए **यत्**=जो **पयः**=आप्यायन है—वृद्धि है, उसे **आनीताम्**=प्राप्त कराते हैं। द्युलोक, अर्थात् मस्तिष्क तुझे **राधः**=ज्ञानरूप सम्पत्ति प्राप्त कराता है तो यह शरीररूप पृथिवी तुझे **सुरेतः**=उत्तम शक्ति प्राप्त कराती है। ज्ञान के द्वारा ये **तुरणे**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं और **सुरेतस्**=उत्तम शक्ति के द्वारा ये **भुरण्यू**=शरीर का उत्तम पोषण करते हैं। २. इस प्रकार द्यु व पृथिवीलोकरूप पिता-माता जिनका ठीक से पोषण करते हैं **ते**=वे **यत् शुचि रेक्णः**=जो पवित्र धन है, उसे **आयजन्त**=अपने साथ संगत करते हैं। यह अर्थ की शुचिता इन्हें वास्तविक रूप में शुचि बनाती है। पवित्र धन के साथ ये **सबर्दुघायाः**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली **उस्रियायाः**=वेदवाणीरूप धेनु के **पयः**=ज्ञानदुग्ध को अपने साथ संगत करते हैं। वेदवाणीरूप गौ इन्हें अपने ज्ञानदुग्ध से पुष्ट करती है।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता से हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त हो। हम पवित्र धन का ही अर्जन करें और ज्ञानदुग्ध का पान करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धन व ब्रह्म

अध प्र जज्ञे तरणिर्ममत्तु प्र रोच्यस्या उषसो न सूरः।
इन्दुर्येभिराष्ट स्वेदुहव्यैः स्रुवेण सिञ्चञ्जरणाभि धाम॥ ६॥

१. **अध**=अब, गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान-सम्पत्ति और उत्तम शक्ति को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **तरणिः**=सब वासनाओं को तैर जानेवाला **प्रजज्ञे**=होता है और **ममत्तु**=हर्ष का अनुभव करता है। यह **अस्याः**=इस **उषसः**=उषा के **सूरः न**=सूर्य के समान **प्र रोचि**=चमक उठता है। उषा का सूर्य चमकवाला तो है, परन्तु सन्ताप से रहित है। इसी प्रकार यह भी ज्ञान के प्रकाशवाला होता है, परन्तु उग्र कर्मों के सन्तापवाला नहीं होता। इसके कर्म परहित के लिए होते हैं, न

कि परद्रोह के लिए। २. यह **इन्दुः**=खूब ऐश्वर्य-सम्पन्न पुरुष **येभिः**=जिन **स्वेदुहव्यैः**=(स्व+इदु+हव्यैः) अपने ऐश्वर्यों के हव्यों=दानों के द्वारा **आष्ट**=अपने को व्याप्त करता है, उन हव्यों से यह प्राजापत्य यज्ञ में उसी प्रकार आहुति देता है, जैसे कि कोई पुरुष अग्नि में **स्रुवेण**=चम्मच से **सिञ्चन्**=घृत की आहुति देता है। ३. लोकहित के उद्देश्य से सम्पत्तियों का सेवन करता हुआ यह **जरणा**=स्तोतव्य **धाम**=अपने मूल स्थान ब्रह्मलोक की **अभि**=ओर आष्ट=प्राप्त होनेवाला होता है। यह सम्पत्तियों का त्याग व दान ही मनुष्य को ब्रह्म की ओर ले-जाता है। धन हमारे हृदय में बस जाता है तो वहाँ प्रभु का वास नहीं होता, धन का त्याग करते हैं तो प्रभु को पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति के द्वारा हम वासनाओं को तैर जाते हैं और प्रातः के सूर्य की भाँति चमक उठते हैं। धन का त्याग हमें ब्रह्म को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वे देवाइन्द्रश्च। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्विध्मा-वनधिति

स्विध्मा यद् वनधितिरपस्यात्सूरो अध्वरे परि रोधना गोः।
यद्ध प्रभासि कृत्व्याँ अनु द्यूननर्विशे पश्विषे तुराय॥ ७॥

१. **स्विध्मा**=(सु इध्मा) यह व्यक्ति उत्तम ज्ञान-दीप्तिवाला होता है। आचार्य इसकी ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' की समिधाएँ डालता है। इन लोकों के पदार्थों के ज्ञान द्वारा इसकी ज्ञानदीप्ति बढ़ती है **यत्**=जब कि यह **वनधितिः**=उस उपासनीय प्रभु में अपने को धारण करता है (वन=उपासनीय)। इस प्रभु में अपने-आपको धारण करता, अर्थात् प्रभु का उपासक बनता हुआ **सूरः**=यह ज्ञानी पुरुष **गौः**=इन्द्रियों के **रोधना**=निरोध का परिलक्ष्य करके **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों में **अपस्यात्**=कर्मशील बनता है। कर्मों में लगे रहना ही इन्द्रियों के निरोध का साधन बनता है। अकर्मण्य पुरुष को ही वासनाएँ सताती हैं, इसी की इन्द्रियाँ विषयों में भटकती हैं। ३. प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जब तू **अनुद्यून**=प्रतिदिन **ह**=निश्चय से **कृत्व्यान्**=अपने कर्तव्यों को **प्रभासि**=दीप्त करता है, अर्थात् अपने कर्तव्यकर्मों को करनेवाला बनता है तो **अनर्विशे**=(अनसा विशति) इस शरीररूप शकट के द्वारा अपने लक्ष्यस्थान में प्रवेश के लिए होता है। प्रभु ही हमारा लक्ष्यस्थान है। प्रभु का सर्वोत्तम स्थान हमारा हृदय ही है। यहीं जीव को प्रभु का दर्शन होता है। हम शरीर-शकट के द्वारा हृदय की यात्रा करते हैं, यही अन्तर्मुख यात्रा है। इस अन्तर्मुख यात्रा में आत्मालोचन करते हुए हम **पश्विषे**=पशुओं को ढूँढने के लिए होते हैं। 'कामः पशुः, क्रोधः पशुः'=काम-क्रोधरूप पशुओं को ढूँढनेवाले बनते हैं और **तुराय**=(तुर्वी हिंसायाम्) इन कामादि शत्रुओं के संहार के लिए प्रवृत्त होते हैं। कर्ममय जीवनवाला व्यक्ति आत्मालोचन करता है, अपने दोषों को ढूँढता है और उनका नाश करता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता ही जितेन्द्रियता व पवित्रता का साधन है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

इन्द्रियों का भोजन 'सोम'

अष्टा महो दिव आदो हरी इह द्युम्नासाहमभि योधान उत्सम्।
हरिं यत्ते मन्दिनं दुक्षन्वृधे गोरभसमद्रिभिर्वाताप्यम्॥ ८॥

१. गतमन्त्र के 'स्विध्मा' के लिए ही कहते हैं कि तू **इह**=इस जीवन में **महो दिवः**=महनीय ज्ञान के **अष्टा**=व्यापन करनेवाले **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **आदः**=सोमरूप

भोजन करानेवाला होता है। इन्द्रियों का भोजन सोम है। यह हमारे द्वारा खाये गये भोजन से उत्पन्न होनेवाली अन्तिम धातु है। इसका शरीर में रक्षण करने पर यह धातु इन्द्रियों का भोजन बनती है और इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करती है। २. इस धातु का क्षय वासनाओं के कारण होता है, अतएव इसके रक्षण की कामनावाला **द्युम्नासाहम्**=ज्ञानज्योति का पराभव करनेवाले (द्युम्नं सहते) **उत्समम्**=(उत् स्नावयितारम्—सा०) शक्ति का बाहर प्रसरण करनेवाले कामरूप शत्रु को **अभियोधानः**=(युध सम्प्रहारे) सम्यक् प्रहृत करनेवाला होता है। इस काम के संहार से ही यह सोम का रक्षण कर पाता है और इस सुरक्षित सोम को इन्द्रियों का भोजन बनाता है। २. इस सोम को वे इन्द्रियों का भोजन तब बनाते हैं **यत्**=जब **ते**=वे **अद्रिभिः**=प्रभु के उपासनों के द्वारा (अदृ=adore) **हरिम्**=दुःखों व रोगों को हरनेवाले **मन्दिनम्**=जीवन को उल्लासमय बनानेवाले **गोरभसम्**=इन्द्रियों को रभस् (बल) देनेवाले (robust बनानेवाले) **वाताप्यम्**=क्रियाशीलता को प्राप्त करानेवाले (वात=क्रियाशीलता, आप्=प्राप्ति) सोम को **वृधे**=सब प्रकार की वृद्धि के लिए **दुक्षन्**=अपने में प्रपूरित करते हैं। सोम का अपने अन्दर प्रपूरण ही सब प्रकार की उन्नतियों का साधन बनता है। इसके रक्षण के लिए 'प्रभु का उपासन' साधन बनता है। प्रभु-उपासना से वासना का क्षय होता है और वासनाक्षय सोमरक्षण का साधन है, रक्षित सोम इन्द्रियों का भोजन बनता है, इन्द्रियाँ उससे सबल होती हैं।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में सुरक्षित करके इसे इन्द्रियों का भोजन बनाएँ ताकि इन्द्रियाँ सशक्त हों।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शरीर व बुद्धि का स्वास्थ्य

त्वमा॑य॒सं प्रति॑ वर्तयो॒ गोर्दि॒वो अश्मा॑न॒मुप॑नीत॒मृभ्वा॑।
कुत्सा॑य॒ यत्र॑ पुरुहूत॒ वन्व॒ञ्छुष्ण॑मन॒न्तैः प॑रि॒यासि॑ व॒धैः॥ ९॥

१. हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! अथवा पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **गोः**=इस पृथिवी के तथा **दिवः**=द्युलोक के, अर्थात् शरीर व मस्तिष्क के **अश्मानम्**=(अशू व्याप्तौ) व्यापन करनेवाले **ऋभ्वा उपनीतम्**='ऋभु ऋतेन भाति'=व्यवस्थित क्रियाओं के द्वारा चमकनेवाले से समीप प्राप्त कराये गये **आयसम्**=लोहनिर्मित वज्र को **प्रतिवर्तयः**=वासनारूप शत्रु के प्रति छोड़ते हो। प्रभुकृपा से हमें अनथक **श्रमशीलता**='आयस-वज्र' प्राप्त होता है। इसके द्वारा वासना का विनाश होता है। श्रमशील को वासना नहीं सताती। यह श्रमशीलता 'गौ व द्यौः' दोनों का व्यापन करनेवाली है। 'गौ' का अभिप्राय पृथिवी व शरीर है और 'द्यौ' का मस्तिष्क। शरीर-सम्बन्धी क्रियाओं तथा मस्तिष्क-सम्बन्धी कार्यों में नियमपूर्वक (ऋत से) प्रवृत्त होनेवाला 'ऋभु' इस आयस-वज्र को प्राप्त करता है और इस वज्र से वासनारूप शत्रु को नष्ट करता है। २. **कुत्साय**=वासना-संहार (कुथ हिंसायाम्) में प्रवृत्त होनेवाले कुत्स के लिए **यत्र**=जहाँ हे **पुरुहूत**= प्रभो! आप **शुष्णम्**=शोषण कर देनेवाले—अनन्त बली वासनारूप असुर को **वन्वन्**=जीतने के हेतु से (वन्=win) **अनन्तैः वधैः**=निरन्तर प्रवृत्त वधों से **परियासि**=सर्वतः प्राप्त होते हैं, वहाँ ही इस वासना का विनाश होता है और वासना-विनाश से शरीर व बुद्धि की स्थिति उत्तम होती है। वासनाविनाश के लिए निरन्तर लगे ही रहना पड़ता है, क्योंकि इसके फिर-फिर जाग उठने की सम्भावना बनी ही रहती है। यही भाव यहाँ 'अनन्त वध' इन शब्दों से संकेतित हुआ है।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र से हम वासना का विनाश करें और शरीर व बुद्धि के स्वास्थ्य को सिद्ध करें।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अन्धकारमग्न होने से पूर्व ही

पुरा यत्सूरस्तमसो अपीतेस्तमद्रिवः फलिगं हेतिमस्य।
शुष्णस्य चित्परिहितं यदोजो दिवस्परि सुग्रथितं तदादः॥ १०॥

१. हे **अद्रिवः**=वज्रवाले! **सूरः**=ज्ञानी तू **तमसः**=अन्धकार के **अपीतेः**=(अपि+इति=इ+ति) आक्रमण से **पुरा**=पहले ही **यत्**=जो **फलिगम्**=(ञिफला विशरणे) विशरण तक जानेवाला अर्थात् अन्धकार को पूर्णरूप से विशीर्ण करनेवाला **हेतिम्**=वज्र है, उसे **अस्य**=इस पर फेंक। कर्मशीलता के अभाव में वासनाओं का आक्रमण होता है। ये वासनाएँ ज्ञान को पूर्णरूप से आवृत्त करके जीवन को अन्धकारमय बना देती हैं। इस अन्धकार के आक्रमण से पूर्व ही वासना को विनष्ट करने का प्रयत्न करना है। इस वासना पर 'फलिग हेति' का प्रहार करना है। अन्धकार को पूर्ण विशीर्णता तक ले-जानेवाली यह हेति क्रियाशीलता ही है। २. **शुष्णस्य**= इस शोषक कामदेवरूप शत्रु का **चित्**=निश्चय से **परिहितम्**=सर्वतः वर्तमान **यत् ओजः**=जो बल है, जोकि **दिवः परि**=ज्ञानरूप सूर्य के ऊपर (सूर्यस्योपरि—सा०) **सुग्रथितम्**=सम्यक् सक्त है, **तत्**=उसको **आदः**=उस फलिग हेति से सम्यक् विदीर्ण करते हो।

काम अत्यन्त प्रबल है। यह ज्ञान को ढक लेता है—पूर्णरूप से आच्छादित कर लेता है। इसका विदारण आवश्यक है। विदारण का साधन क्रियाशीलतारूप वज्र ही है। यदि इस वज्र का प्रयोग न किया जाए तो जीवन धीरे-धीरे अन्धकारमय होकर नष्टप्राय ही हो जाए, अतः अन्धकार के पूर्ण आक्रमण से पूर्व ही उसे नष्ट करने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—क्रियाशीलता ही काम के वेग को शिथिल करती है और जीवन को अन्धकारमग्न होने से बचा लेती है।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वृत्र का स्वापन

अनु त्वा मही पाजसी अचक्रे द्यावाक्षामा मदतामिन्द्र कर्मन्।
त्वं वृत्रमाशयानं सिरासु महो वज्रेण सिष्वपो वराहुम्॥ ११॥

त्वम्=**सिरासु**=(शिरासु) एक-एक नाड़ी में **आशयानम्**=व्याप्त होकर रहनेवाले **वृत्र**, वासनारूप शत्रु को जो **वराहुम्**=(वरम् आहन्ति) सब उत्तम भावों का नाश कर देती है, उसको **महो वज्रेण**=महनीय क्रियाशीलतारूप वज्र से **सिष्वपः**=सुला देता है। रणाङ्गण में इस शत्रु को भूमिशायी करके ही तो तू अपने शुभभावों का रक्षण करनेवाला होता है। २. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **कर्मन्**=इस वृत्र विनाशरूप कर्म में **त्वा**=तुझे **मही**=महनीय **पाजसी**=शक्तिशाली **अचक्रे**=(अचक्रमाणे) स्थिर **द्यावाक्षामा**=मस्तिष्क व शरीर **अनुमदताम्**= हर्षयुक्त करते हैं। मस्तिष्क की स्थिरता यही है कि बुद्धि डाँवाडोल न हो और शरीर की स्थिरता का भाव स्वास्थ्य का अखण्डित होना है। स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर के होने पर हम वासना-विजय के कार्य में आनन्द अनुभव करते हैं। निर्बल मस्तिष्क व निर्बल शरीर वासनाओं का शिकार हो जाता है। मस्तिष्क व शरीर दोनों महनीय हों—'मह पूजायाम्'=प्रभुपूजन की ओर झुकाववाले हों तो वासना का विनाश अवश्यम्भावी है।

भावार्थ—हमारे जीवन का महान् लक्ष्य प्रभुपूजन के साथ कर्मों में लगे रहने के द्वारा वासना का विनाश हो।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वह अद्भुत वज्र

त्वमि॑न्द्र॒ नर्यो॒ याँ अवो॒ नॄन्तिष्ठा॒ वात॑स्य सु॒युजो॒ वहि॑ष्ठान्।
यं ते॑ का॒व्य उ॒शना॑ म॒न्दिनं॒ दाद् वृ॑त्र॒हणं॒ पार्यं॑ ततक्ष॒ वज्र॑म्॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वं नर्यः**=तू नर-हितकर कर्मों में लगनेवाला बनता है। इस प्रकार **यान्**=जिन **नृन्**=तुझे आगे ले-चलनेवाले **वातस्य सुयुजः**=वायु के उत्तम साथी, अर्थात् वायु के समान वेगवाले **वहिष्ठान्**=जीवन-यात्रा के लक्ष्य तक पहुँचानेवाले इन्द्रियाश्वों का **अवः**=तू रक्षण करता है, उनका **तिष्ठ**=तू अधिष्ठाता बन। उन इन्द्रियाश्वों को पूर्णरूप से वश में करके तू उन्नति-पथ पर आगे बढ़। २. **काव्यः**=वह तत्त्व-द्रष्टा **उशना**=तेरे हित की कामनावाला प्रभु **ते**=तेरे लिए **यम्**=जिस **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **दात्**=देता है, उसे तू **ततक्ष**=खूब तीव्र बना, तेज कर, अर्थात् अत्यन्त क्रियाशील बन। यह वज्र **ते**=तेरे लिए **मन्दिनम्**=हर्ष का देनेवाला है। अकर्मण्यता में आनन्द कहाँ? **वृत्रहणम्**=यह वज्र तेरे वासनारूप शत्रु का नाश करनेवाला है। क्रियाशील को वासना नहीं सताती। यह **पार्यम्**=(पारकर्म समाप्तौ) कर्मों को सफलता तक ले-जानेवालों में उत्तम है। क्रियाशील ही सफल होता है, अकर्मण्यता का परिणाम असफलता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठाता बनें। क्रियाशीलतारूप वज्र को 'हर्षकर, वासना-विनाशक व सफलता देनेवाला' जानें।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

कर्त्तव्यपरायणता

त्वं सूरो॑ ह॒रितो॑ रामयो॒ नॄन्भर॑च्च॒क्रमेत॑शो॒ नायमि॑न्द्र।
प्रास्य॑ पा॒रं न॑व॒तिं ना॒व्या॑ना॒मपि॑ क॒र्तम॑वर्त॒यो ऽय॑ज्यून्॥ १३॥

१. **त्वम्**=तू **सूरः**=ज्ञानी बनता है। **हरितः**=दुःखों का हरण करनेवाले **नृन्**=जीवन-यात्रा में आगे ले-चलनेवाले इन्द्रियाश्वों को **रामयः**=तू रमण कराता है। ये इन्द्रियाँ प्रत्येक कार्य को क्रीड़ा के रूप में करती हैं और कार्यों में आनन्द का अनुभव करती हैं। २. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अयम्**=यह तू **एतशः न**=सूर्याश्व की भाँति **चक्रं भरत्**=चक्र का भरण करता है। सूर्याश्व जैसे निरन्तर अपनी यात्रा का आक्रमण कर रहा है, उसी प्रकार तू अपने दैनिक कार्यक्रम को करनेवाला बनता है। ३. इस निरन्तर कार्यक्रम में लगे रहने के कारण तू **अयज्यून्**=यज्ञ न करने की भावनाओं को **नाव्यानाम्**=नौका से तैरने योग्य, अर्थात् अत्यन्त गहरी विषय-जलपूर्ण नदियों के **नवतिम्**=नव्वे के **पारं प्रास्य**=पार फेंक। ये अयज्ञिय भावनाएँ नव्वे नदियों के पार फेंकी जाएँ, अर्थात् हमसे बहुत दूर हो जाएँ। इस प्रकार अयज्ञिय भावनाओं को दूर करके **कर्तम् अपि अवर्तयः**=तू कर्तव्य का पालन करनेवाला हो। अयज्ञिय भावनाएँ ही हमें कर्तव्य से विमुख करती हैं। इनको दूर करके हम अपने कर्तव्यों को करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ कर्म करने में आनन्द का अनुभव करें, सूर्याश्व की भाँति हम दैनिक कार्यचक्र को चलाएँ, वासनाओं को दूर करके कर्त्तव्यपरायण बनें।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। देवता—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

दरिद्रता से दूर

त्वं नो॑ अ॒स्या इ॑न्द्र दु॒र्हणा॑याः पा॒हि व॑ज्रिवो दुरि॒ताद॒भीके॑।
प्र नो॒ वाजा॑न्र॒थ्यो॒३॒॑ अश्व॑बुध्यानि॒षे य॑न्धि॒ श्रव॑से सू॒नृता॑यै॥ १४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **अस्याः**=इस **दुर्हणायाः**=दरिद्रता से **पाहि**=बचाइए। दरिद्रता के कारण हम अत्यन्त दुर्गति में न पहुँच जाएँ। २. हे **वज्रिवः**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले प्रभो! आप **अभीके**=इस संसार-संग्राम में **दुरितात्**=दुरितों से=पापों से बचाइए। हम क्रियाशील बने रहकर पापों में फँसने से बच जाएँ। ३. आप **नः**=हमें **रथ्यः**=शरीर-रथ को उत्तम बनानेवाले **अश्वबुध्यान्**=इन्द्रियाश्वों को चेतनायुक्त करनेवाले **वाजान्**=बलों को **प्रयन्धि**=खूब ही दीजिए ताकि **इषे**=हम आपकी प्रेरणा से प्रेरित होनेवाले हों, **श्रवसे**=ज्ञान-प्राप्ति में समर्थ हों तथा **सूनृतायै**=प्रिय, सत्यवाणी के ही सदा बोलनेवाले हों। शरीर व इन्द्रियों की शक्ति के अभाव में न तो हम प्रभु की प्रेरणा को सुनते हैं, न ज्ञानप्राप्ति में समर्थ होते हैं और न ही हमारी वाणी में सत्य व माधुर्य होता है।

भावार्थ—हम दरिद्रता से दूर हों और शक्ति प्राप्त करें।

ऋषिः—औशिजः कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवा इन्द्रश्च। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धनासक्ति से ऊपर

मा सा ते अस्मत्सुमतिर्वि दसद्वाजप्रमहः समिषो वरन्त।
आ नो भज मघवन्गोष्वर्यो मंहिष्ठास्ते सधमादः स्याम॥ १५॥

१. हे **वाजप्रमहः**=शक्तियों के कारण महनीय प्रभो! **ते**=आपकी **सा**=वह **सुमतिः**=कल्याणी मति **अस्मत्**=हमसे **मा विदसत्**=नष्ट न हो जाए। आपकी कल्याणी मति हमें सदा प्राप्त रहे। यह मति ही तो हमारे जीवनों को शुभकर्मों से युक्त रखेगी। २. **इषः**=आपकी प्रेरणाएँ **संवरन्त**=हमारा संवरण करें, अर्थात् हम सदा आपकी प्रेरणाओं को प्राप्त करनेवाले हों। इन प्रेरणाओं के द्वारा हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **गोषु**=ज्ञान की वाणियों में **आभज**=सब प्रकार से भागीदार बनाइए। **अर्यः**=आप ही तो इन गौओं के स्वामी हो। सब ज्ञानवाणियों के पति आप ही हो। ३. **मंहिष्ठाः**=(दातृतमाः) खूब ही देनेवाले होकर हम **ते**=आपके **सधमादः**=साथ आनन्द को अनुभव करनेवाले **स्याम**=हों। धन से ऊपर उठकर ही एक व्यक्ति प्रभु प्राप्ति के आनन्द का भागी बनता है। धनासक्त इस आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता।

भावार्थ—हमें प्रभु की कल्याणी मति प्राप्त हो। प्रभु प्रेरणाएँ हमारा वरण करें। हम ज्ञानवाणियों में भागी बनें। धनासक्ति से ऊपर उठकर प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि ज्ञान की वाणियों को सुननेवाले स्वार्थ से ऊपर उठते हैं (१)। समाप्ति पर कहते हैं कि ये मंहिष्ठ बनकर, धनासक्ति से ऊपर उठकर प्रभु-प्राप्ति का आनन्द अनुभव करते हैं (१५)। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए हम सात्त्विक अन्न व यज्ञ का भरण करें।

॥ इति प्रथमाष्टकेऽष्टमोऽध्यायः॥
॥ इति प्रथमोऽष्टकः॥

अथ द्वितीयोऽष्टकः

अथ द्वितीयाष्टके प्रथमोऽध्यायः

[१२२] द्वाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रघुमन्यवः

प्र वः पान्तं रघुमन्यवोऽन्धो यज्ञं रुद्राय मीळ्हुषे भरध्वम्।
दिवो अस्तोष्यसुरस्य वीरैरिषुध्येव मरुतो रोदस्योः॥ १॥

१. हे **रघुमन्यवः**=(रघु=रंहतेर्गतिकर्मणः) गतिशील, खूब ही ज्ञान का व्यापन करनेवाली बुद्धिवालो! अथवा (रघु=लघु, मन्यु=क्रोध) अल्पक्रोधवाले पुरुषो! (ज्ञानी क्रोध से ऊपर उठ ही जाता है) **वः पान्तम्**=तुम्हारा रक्षण करनेवाले **अन्धः**=सात्त्विक अन्न को तथा **यज्ञम्**=यज्ञ को **प्रभरध्वम्**=प्रकर्षेण अपने में भरनेवाले बनो। इस सात्त्विक अन्न व यज्ञशीलता को इसलिए अपने में धारण करो कि यह **रुद्राय**=रोगों को दूर करनेवाले उस प्रभु की प्राप्ति के लिए होंगे, जोकि **मीढुषे**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। वस्तुतः 'रुद्र और मीढ्वान्' शब्द सात्त्विक अन्न व यज्ञ के सेवन के लाभों का भी बड़े सुन्दर रूप में चित्रण कर रहे हैं। इनसे रोग दूर होते हैं और ये हम पर सुखों का वर्षण करते हैं। २. **वीरैः**=वीर पुरुषों से **इषुध्या इव**=तरकश की भाँति **दिवः**=ज्ञान का **असुरस्य**=प्राणशक्ति देनेवाले प्रभु का **मरुतः**=प्राणों का तथा **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर का **अस्तोषि**=स्तवन किया जाता है। वीरों के लिए जो तरकश का महत्त्व है, वही इस अध्यात्म-साधना में ज्ञानादि का महत्त्व होता है। 'ज्ञान' वासना का विनाश करता है। प्रभु स्मरण कामदेव के भस्मीकरण के लिए आवश्यक है। प्राणसाधना से वासनाओं का विध्वंस उसी प्रकार होता है, जैसे कि पत्थर पर टकराकर मिट्टी के ढेले का। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाला पुरुष ही ठीक मार्ग पर चल पाता है, एवं ये सब हमारे लक्ष्य की प्राप्ति के साधन बनते हैं। हम प्रयत्न करके ज्ञानादि के आराधन में प्रवृत्त होंगे तो अवश्य विजयी बनेंगे। ज्ञानादि हमारे तीर होंगे जोकि निश्चितरूप से हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे।

भावार्थ—हम रघुमन्यु बनकर सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए यज्ञशील बनें। हम वीर बनकर ज्ञान, उपासना व प्राणसाधना आदि को अपना तीर बनाकर वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पूर्वहूति का वर्धन

पत्नीव पूर्वहूतिं वावृधध्या उषासानक्ता पुरुधा विदाने।
स्तरीर्नात्कं व्युतं वसाना सूर्यस्य श्रिया सुदृशी हिरण्यैः॥ २॥

१. **इव**=जैसी **पत्नी**=पत्नी **पूर्वहूतिम्**=पति की पहली पुकार को **वावृधध्या**=बढ़ाने के लिए, अर्थात् पूर्ण करने के लिए होती है, उसी प्रकार **उषासानक्ता**=दिन और रात **पुरुधा**=नाना प्रकार से मेरी पुकार के वर्धनोपायों को **विदाने**=जाननेवाले हों, अर्थात् दिन और रात मेरी प्रातः की प्रथम प्रार्थना को पूर्ण करनेवाले हों। मैं प्रातः जो भी कामना करूँ, आयोजन बनाऊँ उसे

दिन और रात पूर्ण करनेवाले हों। मैं प्रातः जो निश्चय करूँ, अगले चौबीस घण्टों में उसे क्रियात्मक रूप दे पाऊँ। २. **स्तरीः न**=(स्तृञ्=आच्छादने) अपने प्रकाश से आच्छादित करनेवाले सूर्य के समान **अत्कम्**=(अक्तम्—सा०) सन्तत, अविच्छिन्न **व्युतम्**=विशेषेण सम्बद्ध रूप को **वसाना**=धारण करती हुई **सूर्यस्य श्रिया**=सूर्य की श्री से **सुदृशी**=शोभन दर्शनवाली उषा **हिरण्यैः**=अपने हितरमणीय प्रकाशों से (वावृधध्या) हमारा वर्धन करनेवाली हों। ३. 'अत्कं' शब्द वेद में वस्त्र के लिए प्रयुक्त होता है, 'व्युत' उसका विशेषण है—जो उत्तमता से बुना गया है। उषा ने मानो प्रकाश के सुन्दर बुने हुए वस्त्र को धारण किया हुआ है। यह उषा अपने हितकर व रमणीय प्रकाशों से हमारा वर्धन करे।

भावार्थ—दिन-रात मेरी पुकार सुनें, अर्थात् मैं प्रातः बनाये हुए अपने आयोजन को दिन-रात पूर्ण करने में ही व्यतीत करूँ। उषा का हितरमणीय प्रकाश मेरा वर्धन करनेवाला हो।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

इन्द्रपर्वता (सूर्य व पर्जन्य)

म॒म॒त्तु॑ नः॒ परि॑ज्मा वस॒र्हा म॒म॒त्तु॒ वातो॑ अ॒पां वृष॑ण्वान्।
शि॒शी॒तमि॑न्द्रापर्वता यु॒वं न॒स्तन्नो॒ विश्वे॑ वरिवस्यन्तु दे॒वाः॥ ३॥

१. **वसर्हा**=(वस्+अर्ह) हमारे निवास को योग्य एवं उत्तम बनानेवाला **परिज्मा**=परितः गतिवाला सूर्य **नः**=हमें **ममत्तु**=(मादयतु) हर्षित करे। सूर्य अपनी किरणों के द्वारा रोगकृमियों को नष्ट करता है और सर्वत्र प्राणशक्ति का सञ्चार करता है, इस प्रकार सूर्य हमारे निवास को उत्तम बनाता है। यह हमें स्वस्थ बनाकर आनन्दित करनेवाला हो। २. **अपां वृषण्वान्**=जलों का वर्षण करनेवाला **वातः**=वायु **ममत्तु**=हमारे जीवनों को आनन्दित करे। वृष्टि लानेवाली वायुएँ सन्ताप को तो दूर करती ही हैं, वे अन्न को उत्पन्न करके भी हमारे जीवन को आनन्दित करनेवाली होती हैं। ३. हे **इन्द्रापर्वता**=सूर्य व बादल (पर्वतः वृष्ट्यादिपूर्णवान् पर्जन्यः—सा०) **युवम्**=आप **नः**=हमारी **शिशीतम्**=शक्तियों को तीक्ष्ण करनेवाले होओ। सूर्य व बादलों की सम्मिलित क्रिया से हमारी सब शक्तियों का ठीक प्रकार से वर्धन हो। ४. **तत्**=तब, ऐसा होने पर **विश्वे**=सब **देवाः**=देव—प्राकृतिक शक्तियाँ **नः**=हमें **वरिवस्यन्तु**=उत्तम अन्नादि देनेवाली हों (समृद्धान्नप्रदानेन प्रीणयन्तु—सा०)। इन उत्तम अन्नों के सेवन से हमारी सब शक्तियों का ठीक प्रकार से विकास हो।

भावार्थ—सूर्य व वृष्टिवात हमारे जीवन को आनन्दित करें। सब प्राकृतिक शक्तियाँ समृद्ध अन्नप्रदान से हमारी शक्तियों का वर्धन करनेवाली हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्राणसाधना

उ॒त त्या मे॑ य॒शसा॑ श्वेत॒नायै॒ व्यन्ता॒ पान्तौ॑शि॒जो हु॒वध्यै॑।
प्र वो॒ नपा॑तम॒पां कृ॑णुध्वं॒ प्र मा॒तरा॑ रास्पि॒नस्या॒योः॥ ४॥

१. **उत**=और **त्या**=वे दोनों अश्विनीदेव—प्राणापान **मे**=मेरे **यशसा**=यश के हेतु से—मेरे यश को बढ़ाने के दृष्टिकोण से **श्वेतनायै**=मेरे जीवन की शुद्धि के लिए **व्यन्ता**=विशेषरूप से गति करते हुए तथा **पान्ता**=मुझमें सोम का पान करते हुए हैं। प्राणसाधना से जहाँ शरीर स्वस्थ होता है वहाँ मन निर्मल बनता है और बुद्धि तीव्र होती है। इस प्रकार प्राणापान हमारे जीवन को शुद्ध बनाकर हमें यशस्वी बनाते हैं। यह सब क्रिया वे शरीर में वीर्य के पान व रक्षण द्वारा

करते हैं। यही अश्विनीदेवों का सोमपान कहलाता है। २. **औशिजः**=मेधावी मैं—सदा हित की कामना करता हुआ **हुवध्यै**=इनको पुकारता हूँ—इनकी आराधना करता हूँ। आप दोनों **वः**=अपने **अपाम्**=इन रेतःकणरूप जलों के **नपातम्**=न गिरने देने के कार्य को **प्रकृणुध्वम्**=प्रकर्षेण करनेवाले बनो। प्राणापान के द्वारा शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होकर हमारा उत्तमता से रक्षण हो। ३. हे प्राणापानो! आप **रास्पिनस्य**=अपने स्तोता के **आयोः**=जीवन का **प्रमातरा**=प्रकर्षेण निर्माण करनेवाले हो। प्राणसाधना से मनुष्य बहिर्मुख न रहकर अन्तर्मुख बनता है। यह अन्तर्मुखी वृत्ति उसका कल्याण-ही-कल्याण करती है। इस प्रकार प्राणसाधना से जीवन का सुन्दर निर्माण होता है।

भावार्थ—प्राणायाम से जीवन शुद्ध व यशस्वी बनता है। ये प्राणापान शक्ति का क्षय नहीं होने देते। ये मनुष्य की वृत्ति को अन्तर्मुखी करके उसके जीवन को सुन्दर बनाते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अर्जुन का नाश

आ वो रुवण्युमौशिजो हुवध्यै घोषेव शंसमर्जुनस्य नंशे।
प्र वः पूष्णे दावन आँ अच्छा वोचेय वसुतातिमग्नेः॥ ५॥

१. **औशिजः**=मेधावी का पुत्र, अर्थात् अत्यन्त मेधावी, सदा लोकहित की कामना करनेवाला (उशिक्=मेधावी, हितेच्छु) मैं हे प्राणापानो! **वः**=आपके **रुवण्युम्**=स्तोत्र को **आहुवध्यै**=उच्चारित करता हूँ। मैं आपका स्तवन करता हुआ आपकी साधना में प्रवृत्त होता हूँ। मैं **घोषा इव**=स्तोत्रों का उच्चारण करनेवालों की भाँति **शंसम्**=प्राणापान का स्तवन करता हूँ ताकि **अर्जुनस्य नंशे**=(धवलोऽर्जुनः) शरीर पर आ जानेवाले श्वेत दागों को नष्ट कर सकूँ तथा अर्जुनस्य नंशे=(तृणमर्जुनम्) तृण के समान तुच्छ मनोवृत्ति को समाप्त कर सकूँ। एवं, प्राणसाधना के दो लाभ हैं—प्रथम तो यह कि शरीर में उत्पन्न हो जानेवाले कुष्ठ आदि रोग नहीं होते; दूसरे, मन में तुच्छ वृत्तियों का उद्गम नहीं होता। शरीर भी स्वस्थ होता है और मन भी उत्तम बनता है। २. **वः**=आपके **पूष्णे**=पोषण के लिए तथा **दावने**=आपके उत्तम फलों को देने की क्रिया के लिए मैं **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु की **वसुतातिम्**=धनसमृद्धि को **अच्छ**=अच्छी प्रकार **प्र आवोचेय**=प्रकर्षरूप से सदा उच्चरित करूँ। मैं सदा प्रभु के अनन्त ऐश्वर्य का स्मरण करूँ और यह न भूलूँ कि इस ऐश्वर्य के अंश को मुझे प्राणापान की साधना से ही प्राप्त करना है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर व मन स्वस्थ होते हैं, प्रभु के ऐश्वर्य के अंश को हम इसी साधना से पाते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

शरीररूप क्षेत्र का जलों से सेचन

श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमोत श्रुतं सदने विश्वतः सीम्।
श्रोतु नः श्रोतुरातिः सुश्रोतुः सुक्षेत्रा सिन्धुरद्भिः॥ ६॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! [प्राणापान की साधना हमें राग-द्वेष से ऊपर उठाकर सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष से ऊपर उठनेवाला बनाती है, अतः यहाँ प्राणापान को 'मित्रा-वरुणा' कहा है।] आप **मे**=मेरी **इमा**=इन **हवा**=पुकारों को **श्रुतम्**=सुनो **उत**=और **सदने**=इस मेरे गृह में **विश्वतः**=सब ओर **सीम्**=निश्चय से **श्रुतम्**=की जाती हुई अपनी आराधना को सुनो। मैं प्राणापान का स्तोता बनूँ, मेरे गृह में सर्वत्र प्राणापान का आराधन हो?

२. **श्रोतुरातिः**=श्रूयमान दानवाला, अर्थात् जिसके दान की सर्वत्र प्रसिद्धि है वह **नः**=हमारी पुकार को **श्रोतु**=सुने। हमारी प्रार्थना को सुनकर जीवनयात्रा के लिए आवश्यक धनों को देनेवाला हो। वह **सुश्रोतुः**=उत्तम श्रोता **सिन्धुः**=जलों की भाँति निरन्तर क्रिया-प्रवाहवाला प्रभु **अद्भिः**=(आपो रेतो भूत्वा) रेतःकणों के द्वारा **सुक्षेत्रा**=हमारे शरीररूप क्षेत्रों को उत्तम करनेवाला हो। रेतःकणों के रक्षण से ही शरीर की शक्तियाँ ठीक होती हैं। एक खेत के लिए जल का जो महत्त्व है वही महत्त्व रेतःकणों का शरीर-रूप क्षेत्र के लिए है। प्रभु के उपासन से और प्राणापान की साधना से रेतःकणों का शरीर में रक्षण होता है और शरीर की स्थिति उत्तम होती है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना और प्रभु का आराधन रेतःकणों के रक्षण के द्वारा हमारे शरीर-क्षेत्रों को उत्तम बनाएँ।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रुतरथ-प्रियरथ

स्तुषे सा वां वरुण मित्र रातिर्गवां शता पृक्षयामेषु पज्रे।
श्रुतरथे प्रियरथे दधानाः सद्यः पुष्टिं निरुन्धानासो अग्मन्॥ ७॥

१. हे **वरुण मित्र**=अपान व प्राण! **वाम्**=आप दोनों की **पृक्षयामेषु**=अन्नों का नियमन होने पर, अर्थात् सात्त्विक अन्न का ही सेवन करने पर और उसके परिणामरूप **पज्रे**=मुझ आङ्गिरस के विषय में **शता गवाम्**=ज्ञान की सैकड़ों वाणियों-सम्बन्धी **रातिः**=दान **स्तुषे**=मुझसे स्तुत होता है। जब हम सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हैं तब हमारी बुद्धि भी सात्त्विक बनती है। वैषयिक वृत्ति न होने से हम पज्र=आङ्गिरस बनते हैं। उस समय यह प्राणापान की साधना हमें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाली होती है। बुद्धि की तीव्रता से हम उन वाणियों को ग्रहण करनेवाले बनते हैं। प्राणापान का हमारे लिए यह शतशः ज्ञानवाणियों का दान वस्तुतः स्तुत्य है। २. **श्रुतरथे**=ज्ञानयुक्त है शरीर-रथ जिसका, उस श्रुतरथ में तथा **प्रियरथे**= स्वास्थ्य के कारण दर्शनीय है शरीर-रथ जिसका, उस प्रियरथ में **सद्यः**=शीघ्र ही **पुष्टिम्**=पोषण को **दधानाः**=स्थापित करते हुए और **निरुन्धानासः**=उस पुष्टि को वहीं स्थिर रखते हुए ये वरुण-मित्र आदि देव **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से ही हमारा ज्ञान बढ़ता है, इसी से हमारा स्वास्थ्य उत्तम बनता है, यही हमें पुष्टि देती है और उस पुष्टि को हममें स्थिर रखती है।

सूचना—यहाँ 'मित्र-वरुण' यह क्रम बदलकर 'वरुण-मित्र' ऐसा लिखना इस बात को संकेतिक करता है कि प्राण और अपान का समान महत्त्व है, किसी का अधिक नहीं, किसी का कम नहीं। 'प्राण' बल देता है और 'अपान' दोषों को दूर करता है। दोनों ही बातें आवश्यक हैं, एक-दूसरे की पूरक हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धनों का मिलकर सेवन

अस्य स्तुषे महिमघस्य राधः सचा सनेम नहुषः सुवीराः।
जनो यः पज्रेभ्यो वाजिनीवानश्वावतो रथिनो मह्यं सूरिः॥ ८॥

१. **अस्य**=इस **महिमघस्य**=महत्त्वपूर्ण, महान् अथवा पूजा के योग्य ऐश्वर्यवाले प्रभु के **राधः**=ऐश्वर्य का **स्तुषे**=मैं स्तवन करता हूँ। उस प्रभु का ऐश्वर्य महान् है, अनन्त है। उसका ऐश्वर्य स्तुति के योग्य है। २. हम सब **नहुषः**=परस्पर प्रेम-सम्बन्ध में बँधे हुए **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **सचा**=मिलकर **सनेम**=इस ऐश्वर्य का सेवन करनेवाले हों। वस्तुतः धनों का संविभागपूर्वक सेवन ही हमें नहुषः=परस्पर प्रीति-सम्बन्धवाला तथा सुवीर बनाता है। अन्यथा यह धन हमारे विलास का कारण बनता है और हमारी शक्तियों को जीर्ण कर देता है। २. **जनः यः**=सब शक्तियों का विकास करनेवाला वह प्रभु **पज्रेभ्यः**=आङ्गिरसों के लिए **वाजिनीवान्**=उत्तम अन्नयुक्त क्रियावाला होता है, अर्थात् प्रभु इन पज्रों को उत्तम अन्न प्राप्त कराते हैं। यह उत्तम सात्त्विक अन्न ही उनकी पज्रता का मूल है। यह प्रभु ही **अश्वावतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **रथिनः**=प्रशस्त शरीररूप रथवाले **मह्यम्**=मेरे लिए **सूरिः**=प्रेरक होता है। प्रभुकृपा से ही मेरा रथ ठीक मार्ग पर चलता है और मेरे इन्द्रियाश्व इस रथ को तीव्रता से लक्ष्य स्थान की ओर ले-चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के महनीय ऐश्वर्य का मिलकर सेवन करनेवाले हों। प्रभु ही हमें उत्तम अन्न प्राप्त कराते हैं और हमारे लिए उत्तम प्रेरणा देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधना व दैनिक कार्यक्रम

जनो यो मित्रावरुणावभिध्रुगपो न वां सुनोत्यक्ष्णयाध्रुक्।
स्वयं स यक्ष्मं हृदये नि धत्त आप यदीं होत्राभिर्ऋतावा॥ ९॥

१. **यः जनः**=जो मनुष्य **मित्रावरुणौ अभिध्रुक्**=प्राणापान के विषय में द्रोह करनेवाला होता है, अर्थात् जो प्राणसाधना को महत्त्व न देकर उपेक्षा करता है और जो **अक्ष्णयाध्रुक्**=दैनिक, कार्यचक्र का द्रोह करनेवाला—अपने दैनिक कार्यक्रम को ठीक से न करनेवाला (अक्ष्णया=going through) **वाम्**=आप प्राणापानों के लिए **अपः**=रेतःकणरूप जलों को **न सुनोति**=नहीं उत्पन्न करता है, अर्थात् जो दैनिक कार्यचक्र में ठीक प्रकार से लगा रहकर इन सोमकणों को शरीर में सुरक्षित करने का ध्यान नहीं करता **सः**=वह **स्वयम्**=अपने-आप **हृदये**=हृदय में **यक्ष्मम्**=रोग को **निधत्ते**=निश्चय से धारण करता है। प्राणसाधना न करनेवाला और दैनिक कार्यक्रम में ठीक से व्यस्त न रहनेवाला वीर्य-कणों का रक्षण नहीं कर पाता और फेफड़ों में विकार उत्पन्न करनेवाले राजयक्ष्मा आदि रोगों का शिकार हो जाता है। २. इसके विपरीत **यत्+ईम्**=यदि वह **होत्राभिः**=ज्ञान की वाणियों के अनुसार **ऋतावा**=ऋत का अवन=रक्षण करनेवाला होता है, अर्थात् वेदवाणियों के अनुसार कार्यक्रम को चलाता है तो **आपः**=लक्ष्य-स्थान को प्राप्त करनेवाला होता है। स्वस्थ रहकर यात्रा में आगे बढ़ता हुआ यह उद्दिष्ट स्थल पर पहुँच ही जाता है और प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना की उपेक्षा करने पर और दैनिक कार्यक्रम को पूरा न करने पर मनुष्य विनाश के मार्ग पर जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जितेन्द्रियता व शक्ति

स व्राधतो नहुषो दंसुजूतः शर्धस्तरो नरां गूर्तश्रवाः।
विसृष्टरातिर्याति बाळ्हसृत्वा विश्वासु पृत्सु सदमिच्छूरः॥ १०॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहे गये 'वेदवाणी के अनुसार ऋत का पालन करनेवाला पुरुष लक्ष्यस्थान पर पहुँचता है'—इन शब्दों के अनुसार चलनेवाला **सः**=वह पुरुष **दंसुजूतः**=दान्त—वशीभूत इन्द्रियों से सम्यक् प्रेरित हुआ-हुआ, अतएव **शर्धस्तरः**=अतिशयेन बलवान् **नराम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों में **गूर्तश्रवाः**=अत्यन्त उन्नत ज्ञान व यशवाला, **विसृष्टरातिः**=खूब दान देनेवाला यह **शूरः**=शत्रुओं का हिंसनवाला होकर **विश्वासु पृत्सु**=सब संग्रामों में **सदम् इत्**=सदा ही **व्राधतः नहुषः**=महान् हिंसक मनुष्यों के प्रति **बाढसृत्वा**=खूब गतिवाला होकर—अशंकित गमनवाला होकर **याति**=जाता है। आन्तर शत्रुओं को जीतकर यह बाह्य शत्रुओं को भी जीतनेवाला होता है। २. वैदिक जीवन की विशेषताएँ निम्न हैं—(क) इन्द्रियों को वशीभूत करके संसार-यात्रा में चलना, (ख) संयम के कारण खूब तेजस्वी बनना, (ग) यशस्वी जीवनवाला होना, (घ) दान की वृत्तिवाला होना, (ङ) कामादि शत्रुओं को जीतना और बाह्य शत्रुओं पर भी विजय पाना।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में करके हम शक्तिशाली बनें और शत्रुओं पर विजय पाते हुए यशस्वी जीवनवाले हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धन को प्रभु का समझना

अध॒ ग्मन्ता॒ नहु॑षो॒ हवं॑ सू॒रेः श्रोता॑ राजानो अ॒मृत॑स्य मन्द्राः।
न॒भो॒जुवो॒ यन्नि॑र॒वस्य॒ राधः॒ प्रश॑स्तये महि॒ना रथ॑वते॥ ११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनाकर **अध**=अब **नहुषः**=यह मनुष्यों के प्रति **ग्मन्ता**=जानेवाला होता है, अर्थात् उनके हित के कर्मों में प्रवृत्त होकर सबके दुःखों को दूर करनेवाला होता है। २. साथ ही **सूरेः**=प्रेरक प्रभु की **हवं श्रोता**=पुकार को सुननेवाला होता है और उसी के अनुसार जीवन के कार्यक्रम को चलाता है। ३. इस प्रकार लोकहित के कार्यों में लगनेवाले और प्रभु की पुकार को सुननेवाले लोग—(क) **राजानः**=दीप्त जीवनवाले होते हैं (राजृ दीप्तौ) तथा व्यवस्थित जीवनवाले होते हैं (राज्=to regulate), (ख) **अमृतस्य**=नीरोगता के **मन्द्राः**=आनन्द को अनुभव करनेवाले होते हैं, (ग) **नभोजुवः**=ये अपने को नभस्=आकाश की ओर प्रेरित करनेवाले होते हैं। पृथिवीरूप शरीर और हृदयरूप अन्तरिक्ष से भी ऊपर उठकर ये द्युलोकरूप मस्तिष्क की ओर चलनेवाले होते हैं। शरीर के स्वास्थ्य तथा मन के नैर्मल्य को सिद्ध करके मस्तिष्क के ज्ञान को ये अपना लक्ष्य बनाते हैं। ४. इस ज्ञान का ही यह परिणाम होता है **यत्**=कि **निरवस्य**=(निर् अव) 'जिसका कोई रक्षक नहीं, जो सबका रक्षक है, उस प्रभु का ही **राधः**=यह सब धन है'—ऐसा ये समझते हैं। सबसे ऊँचा ज्ञान यही है कि 'सम्पूर्ण सम्पत्ति प्रभु की है'—ऐसा समझना। ऐसा समझकर अपने को उस धन का न्यासी (trustee) मात्र समझना। ऐसा समझने पर यह धन विलास में खर्च नहीं होता, अपितु **प्रशस्तये**=जीवन की प्रशस्ति के लिए होता है तथा **महिना**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति के द्वारा **रथवते**=हमें उत्तम शरीर-रथवाला बनाने के लिए होता है। धन को प्रभु का समझने से धन का कभी दुरुपयोग नहीं होता और यह धन हमारे जीवन को धन्य बनानेवाला होता है।

भावार्थ—लोकहित के कार्यों में लगने व प्रभु-प्रेरणा को सुनने से जीवन दीप्त व नीरोगता के आनन्दवाला होता है। धन को प्रभु का समझने से हम धन का दुरुपयोग नहीं करते और प्रशस्त जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शक्ति व धनों का यज्ञों में विनियोग

एतं शर्धं धाम यस्य सूरेरित्यवोचन् दशतयस्य नंशे।
द्युम्नानि येषु वसुताती रारन्विश्वे सन्वन्तु प्रभृथेषु वाजम्॥ १२॥

१. **यस्य सूरेः**=जिस प्रेरक प्रभु का **एतम्**=यह **शर्धम्**=शत्रुओं का प्रसहन करनेवाला **धाम**=तेज है, **इति**=इस प्रकार **अवोचम्**=उस प्रभु का स्तवन करते हैं। उस प्रभु की 'तेजोऽसि' इत्यादि शब्दों से स्तुति करते हैं। इस स्तुति से ये **दशतयस्य नंशे**=दस प्रकार की शक्ति को प्राप्त करते हैं। दस इन्द्रियाँ हैं। एक-एक इन्द्रिय की शक्ति की प्राप्ति उस तेजःपुञ्ज प्रभु के सम्पर्क से प्राप्त होती है। २. **येषु**=जिनमें **द्युम्नानि**=(द्युम्न=Splendour, wealth) ज्योतिर्मय धन होते हैं, वे **वसुतातिः**=(वसुतातये) यज्ञों के लिए इन धनों को **रारन्**=देनेवाले होते हैं। ज्ञान के अभाव में धन अपने विलास में व्यय होता है। ज्ञान होने पर इनका विनियोग यज्ञों में होता है। 'धन प्रभु का है'—यही ज्ञान है। इस ज्ञान के होने पर धन का विनियोग प्रभु के कार्यों में ही तो होगा। ३. इस प्रकार **विश्वे**=औरों के जीवन में प्रवेश करनेवाले (विशन्ति) ये व्यक्ति **प्रभृथेषु**=प्रकृष्टभरणात्मक कार्यों के होने पर **वाजं सन्वन्तु**=शक्ति को सम्यक् प्राप्त करनेवाले हों। यज्ञात्मक कार्यों में लगे रहने पर शक्ति मिलती है और भोगप्रवणता में शक्ति का ह्रास है।

भावार्थ—हम सब तेज को प्रभु का समझें, उससे सम्पर्क स्थापित करके सब इन्द्रियों की शक्ति को प्राप्त करें। धनों का यज्ञ में विनियोग करें ताकि हमारी शक्ति स्थिर रहे।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

इष्टाश्व, इष्टरश्मि

मन्दामहे दशतयस्य धासेर्द्विर्यत्पञ्च बिभ्रतो यन्त्यन्ना।
किमिष्टाश्व इष्टरश्मिरेत ईशानासस्तरुष ऋञ्जते नॄन्॥ १३॥

१. **यत्**=जब ये सब प्राकृतिक देव **दशतयस्य**=दस प्रकार के **धासेः**=धारण के लिए **द्विः पञ्च**=दस **अन्ना**=अन्नों को **बिभ्रतः**=धारण करते हुए **यन्ति**=गति करते हैं तब **मन्दामहे**=हम उन देवों का स्तवन करते हैं। प्रकृति का बना हुआ यह संसार हमारी दस इन्द्रियों के धारण के लिए दस प्रकार के भोजनों को प्राप्त कराता है। यहाँ अन्नों का '**द्विः पञ्च**'='दो बार पाँच, अर्थात् दस' इस प्रकार इसलिए कहा गया है कि ज्ञानेन्द्रियों का अन्न अलग है और कर्मेन्द्रियों का अलग। इन इन्द्रियों को अपना भोजन ठीक प्राप्त होता रहे तो जीवन सुखी=उत्तम इन्द्रियोंवाला (सु+ख) बना रहता है। २. इन्द्रियाँ शरीर-रथ में घोड़े हैं, मन लगाम है। जब इन्हें ठीक भोजन प्राप्त होता रहता है तब ये सशक्त तो बनते ही हैं और यदि इन्हें हम ठीक मार्ग में प्रवृत्त रक्खें तो हम 'इष्टाश्व व इष्टरश्मि' होते हैं—वाञ्छनीय इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले व वाञ्छनीय मनरूप लगामवाले। यह **इष्टाश्वः इष्टरश्मिः**=इष्ट अश्व व रश्मियोंवाला **किम्**=क्या ही अद्भुत **ऋञ्जते**=अपने जीवन का प्रसाधन करता है! **एते**=ये इन्द्रियाश्व **ईशानासः**=बड़े प्रबल हैं। ये सब-कुछ करने में समर्थ हैं। ये **तरुषः**=वासनाओं को तैर जानेवाले **नॄन्**=मनुष्यों को **ऋञ्जते**=सद्गुणों से मण्डित कर देते हैं। अवशीभूत इन्द्रियाँ मनुष्य को कुचल देती हैं, वशीभूत हुई-हुई उसे तरा देती हैं। गीता के शब्दों में 'मन उसी का मित्र है, जिसने आत्मा द्वारा मन को जीता है—न जीता गया मन महान् शत्रु है।'

भावार्थ—यह प्राकृतिक संसार हमारी इन्द्रियों को उचित भोजन प्राप्त कराके सक्षम बनाये।

ये सशक्त पर वशीभूत इन्द्रियाँ हमारे जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करें।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'हिरण्यकर्ण-मणिग्रीव'

हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः।
अर्यो गिरः सद्य आ जग्मुषीरोस्राश्चाकन्तूभयेष्वस्मे॥ १४॥

१. **हिरण्यकर्णम्**='हिरण्यं वै ज्योतिः' (हिरण्यं कर्णे यस्य) जिसके कान में सदा ज्ञान के शब्द पड़ रहे हैं और **मणिग्रीवम्**=मणियुक्त ग्रीवावाले, अर्थात् जिसमें मणि—सोमशक्ति ऊर्ध्वगतिवाली होकर ग्रीवा का आभूषण बनती है **तत्**=उस **अर्णः**=(अरणीयं रूपम्—सा०) प्राप्त करने योग्य रूप को **विश्वे देवाः**=सब देव **परिवस्यन्तु**=(प्रयच्छन्तु) हमें दें, अर्थात् हमारे जीवन में दो बातें मुख्य हैं—(क) हम सदा ज्ञान की बातों का श्रवण करें तथा (ख) शरीर में उत्पन्न शक्ति की ऊर्ध्वगति के द्वारा इसे ग्रीवा का आभूषण बनाएँ। २. इस रूप की प्राप्ति के लिए **अर्यः**=उस निरन्तर गतिशील प्रभु की **गिरः**=ज्ञानवाणियाँ और **उस्राः**=गौएँ और उनसे प्राप्त होनेवाले दूधादि पदार्थ **सद्यः**=शीघ्र ही **आजग्मुषी**=हमारी ओर आनेवाले हों और **अस्मे**=हमारे **उभयेषु**=ऐहिक और आमुष्मिक लाभों के निमित्त **आचाकन्तु**=खूब ही कामनावाले हों। इन ज्ञानवाणियों और हव्य पदार्थों से हमें ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का लाभ हो। ये ज्ञानवाणियाँ ही तो हमें हिरण्यकर्ण व मणिग्रीव बनाएँगी।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञानवाणियों को प्राप्त करके हम 'हिरण्यकर्ण व मणिग्रीव' बनें।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

मशर्शार के चार व आयवस के तीन पुत्र

चत्वारो मा मशर्शारस्य शिश्वस्त्रयो राज्ञ आयवसस्य जिष्णोः।
रथो वां मित्रावरुणा दीर्घाप्साः स्यूमगभस्तिः सूरो नाद्यौत्॥ १५॥

१. **मशर्शारस्य**=मशर्शार के **चत्वारः**=चार **शिश्वः**=पुत्र **मा**=मुझे प्राप्त हों। 'मशर्' शब्द क्रोध (anger) का वाचक है। उसका शार—हिंसन करनेवाला मशर्शार है। क्रोध को नष्ट करनेवाला व्यक्ति ही धर्मकार्यों में प्रवृत्त हो सकता है, क्रोध की अवस्था में कोई भी धर्मकार्य सम्भव नहीं। क्रोधरहित व्यापारी ही व्यापार में सफल होकर अर्थ का अर्जन करता है। क्रोध की अवस्था में सांसारिक आनन्दों (काम) का भी सम्भव नहीं। क्रोध में भूख भी समाप्त हो जाती है और खाया हुआ अन्न विष ही पैदा करता है। क्रोध से मोक्ष भी सम्भव नहीं। क्रोध को शीर्ण करनेवाला ही 'धर्म-अर्थ-काम व मोक्षरूप' चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करता है। क्रोध को शीर्ण करनेवाले मशर्शार के ये ही चार पुत्र हैं। ये मुझे प्राप्त हों। २. **आयवसस्य**= (घासो, यवसम्) चारों ओर से ज्ञानरूप भोजन को प्राप्त करनेवाले, अतएव **जिष्णोः**=सदा कामादि शत्रुओं पर विजय पानेवाले **राज्ञः**=दीप्त जीवनवाले व्यक्ति के **त्रयः (शिश्वः)**='ज्ञान, कर्म, उपासना'-रूप तीन पुत्र भी मुझे प्राप्त हों। अथवा इस ज्ञानी के तीन **पुत्र**=प्रेम, करुणा और त्याग हैं, ये मुझे प्राप्त हों। ३. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **वां रथः**=यह आपका शरीररूप रथ मुझे प्राप्त हो। प्राणापान का रथ वह कहलाता है जिसमें प्राणसाधना चलती है। यह रथ **दीर्घाप्साः**=(दीर्घ+अप्स) विस्तृत रूपवाला है। इस साधक का शरीर मरियल-सा, दुबला-पतला नहीं होता। **स्यूमगभस्तिः**=सुखकर ज्ञानकिरणोंवाला यह रथ है। इन ज्ञानकिरणों से **सूरः न**=सूर्य की भाँति **अद्यौत्**=यह चमकता है। संक्षेप में भाव यह है कि मेरा यह शरीर बलिष्ठ,

ज्ञानसम्पन्न मस्तिष्कवाला व सूर्य की भाँति चमकनेवाला हो।

भावार्थ—क्रोध को जीतकर मैं 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' को सिद्ध करूँ। ज्ञान का संग्रह करता हुआ मैं 'प्रेम, करुणा व त्याग' को अपनाऊँ। मेरा शरीर स्वस्थ व ज्ञानसम्पन्न हो। इसमें शक्ति का समुच्चय हो।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम अल्पक्रोधवाले होकर सात्त्विक अन्नों का सेवन करें और यज्ञशील हों (१)। सूक्त की समाप्ति पर भी यही कहा है कि हम क्रोध को शीर्ण करनेवाले बनकर धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को सिद्ध करें (१५)। अब उषा से सुन्दर जीवन के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

[१२३] त्रयोविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

देव व अमृतों का उषा के रथ पर आरोहण

पृथू रथो दक्षिणाया अयोज्यैनं देवासो अमृतासो अस्थुः।
कृष्णादुदस्थादर्या३ विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय॥ १॥

१. **दक्षिणायाः**=दोषों के दहनरूप अपने व्यापार में कुशल अथवा (दक्ष=to grow) उन्नति की कारणभूत उषा का **पृथुः**=विस्तृत **रथः**=रथ **अयोजि**=जोता गया है। **एनम्**=इस रथ पर **देवासः**=देव व **अमृतासः**=अमृत पुरुष **आ अस्थुः**=सब प्रकार से आरूढ़ होते हैं। इस रथ पर जो भी आरूढ़ होते हैं, वे देव व अमृत बनते हैं। मस्तिष्क में दीप्तिमय (दीपनात्) व मन में त्यागवृत्ति से युक्त (दानात्) पुरुष ही देव हैं। शरीर में रोगों से आक्रान्त न होनेवाले ही अमृत हैं। उषाकाल के आने से पूर्व ही जाग जानेवाले तथा उषाकाल के आने पर दैनिक कार्यक्रम के लिए समुद्यत हो जानेवाले पुरुष ही उषा के रथ पर आरूढ़ होते हैं। इस समय से पूर्व जाग जानेवाले ये पुरुष अपने शरीर-रथ को विस्तृत शक्तियोंवाला बना पाते हैं। २. यह **अर्या**=सब सुखों की स्वामिनी उषा **विहायाः**=विशिष्ट गतिवाली है अथवा महान् है (विहायः=यह्वः=महान्) **कृष्णात्**=कृष्ण वर्णवाले अन्धकार से **उद् अस्थात्**=ऊपर उठती है और **मानुषाय**=मनुष्य-सम्बन्धी **क्षयाय**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व गति के लिए **चिकित्सन्ती**=सब रोगों व मलों का अपनयन करती है। उषाकाल में जागकर अपना शोधन, स्नान, सन्ध्या, हवन व स्वाध्याय करनेवाले व्यक्ति अपने जीवन को उत्तम बनाते हैं। उषा सब दोषों का दहन करके जीवन को सुन्दर बना देती है।

भावार्थ—उषाकाल से पूर्व ही जागनेवाले बनकर हम 'देव व अमृत' बनें।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वाज-विजय, सनुत्री उषा

पूर्वा विश्वस्माद् भुवनादबोधि जयन्ती वाजं बृहती सनुत्री।
उच्चा व्यख्यद्युवतिः पुनर्भूरोषा अगन्प्रथमा पूर्वहूतौ॥ २॥

१. यह **उषा विश्वस्मात् भुवनात्**=सब लोगों से **पूर्वा**=पहले **अबोधि**=जागरित होती है। 'उषाकाल हुआ' ऐसा जानकर ही तो पीछे सब प्राणी प्रबुद्ध होते हैं। यह उषा जागनेवालों के लिए **वाजम्**=शक्ति व धन का **जयन्ती**=विजय करती है। इस समय सोये रह जानेवालों के बल को उदय होता हुआ सूर्य हर लेता है—**'उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च**

आददे।' (अथर्व०)। **बृहती**=शक्ति व धन देकर यह उषा प्रबुद्ध पुरुषों का वर्धन करती है। **सनुत्री**=यह सब उत्तमताओं को देनेवाली है (सन्=सम्भक्तौ) २. **उच्चा**=आकाश में ऊँची उठती हुई यह **उषाः**=उषा **व्यख्यत्**= सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशमय कर देती है। **युवतिः**=यह अशुभों को दूर करनेवाली (यु=अमिश्रणे) तथा शुभों को प्राप्त करानेवाली (यु=मिश्रणे) है। **पुनर्भूः**=यह फिर-फिर, प्रतिदिन आनेवाली है, **पूर्वहूतौ**=प्रभु की सर्वप्रथम पुकार व आराधना के होने पर **प्रथमा**=आराधकों की शक्तियों का विस्तार करती हुई **आ अगन्**=यह सब ओर प्राप्त होती है। इस उषाकाल में यदि मनुष्य प्रभु के उपासन को छोड़कर व्यर्थ के अन्य कार्यों में नहीं लग जाता तो यह उषा उस आराधक की शक्तियों के विस्तार का कारण होती है। उषाकाल में हमें प्रभु आराधन के लिए तैयार होना चाहिए।

भावार्थ—उषा जागनेवालों के लिए शक्ति व धन का विजय करती है। इसमें जागकर हम प्रभु के उपासन में प्रवृत्त हों ताकि हमारी शक्तियों का विस्तार हो।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सुजाता व मर्त्यत्रा' उषा

यदद्य भागं विभजासि नृभ्य उषो देवि मर्त्यत्रा सुजाते।
देवो नो अत्र सविता दमूना अनागसो वोचति सूर्याय॥ ३॥

१. हे **सुजाते**=उत्तमप्रकाश आदि के प्रादुर्भाववाली **उषः देवि**=दीप्यमान उषे! तू **मर्त्यत्रा**=मनुष्यों का त्राण करनेवाली है। २. **यत्**=जब **अद्य**=आज **नृभ्यः**=उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले मनुष्यों के लिए तू **भागम्**=सेवनीय धन को **विभजासि**=विभक्त करती है तो **देवः सविता**=सब दिव्य गुणों व द्युतियों का पुञ्ज, प्रेरक **दमूनाः**=सबका दमन करनेवाला प्रभु **नः**=हमें **अत्र**=इसी जीवन में **अनागसः**=निष्पाप बने हुओं को **वोचति**=उपदेश देता है। हृदय की निर्मलता होने पर प्रभु की वाणी स्पष्ट सुन पड़ती है। ३. यह प्रभु का उपदेश **सूर्याय**=हमें सूर्य बनाने के लिए होता है। उस उपदेश को सुनकर, अतन्द्रभाव से क्रियाओं को करते हुए हम सूर्य की भाँति चमकने लगते हैं। प्रभु की ज्योति भी सूर्य से उपमित है। हम भी सूर्य के समान बनते हुए प्रभु के ही छोटे रूप बन जाते हैं।

भावार्थ—उषा हमें सेवनीय धनों को प्राप्त कराए। हम निष्पाप बनकर प्रभु की वाणी को सुनें। उसके अनुसार चलते हुए सूर्य की भाँति चमकें।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अहना=दहना

गृहंगृहमहना यात्यच्छा दिवेदिवे अधि नामा दधाना।
सिषासन्ती द्योतना शश्वदागादग्रमग्रमिद्भजते वसूनाम्॥ ४॥

१. 'उषा' शब्द 'उष दाहे' धातु से बनता है। 'दह' से दहना शब्द बनकर उषा का वाचक होता है। इसमें प्रथमाक्षर 'द्' का लोप होकर 'अहना' उषा का नाम प्रस्तुत मन्त्र में मिलता है। **अहना**=यह दोषों का दहन करनेवाली उषा **गृहं गृहम् अच्छ**=प्रत्येक घर की ओर **याति**=जाती है। प्रत्येक घर में उषा उपस्थित होती है और यह उषा **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **नामा**=प्रभु के लक्षणों को (Mark, sign) **अधि दधाना**=खूब धारण करनेवाली होती है। जितने-जितने हमारे दोष दग्ध होते जाते हैं, उतना-उतना ही हम दिव्यता को धारण करनेवाले बनते हैं। २. यह **द्योतना**=सर्वत्र प्रकाश करनेवाली उषा **सिषासन्ती**=उत्तमताओं को हमारे साथ जोड़ने की

कामनावाली होती हुई **शश्वत्**=सदा **आगात्**=आती है और प्रतिदिन **वसूनाम्**=श्रेष्ठ पदार्थों के **अग्रं अग्रम् इत्**=अग्र-अग्र भाग को ही **भजते**=सेवित करती है। इस उषा में हम प्रतिदिन कुछ आगे-ही-आगे बढ़नेवाले होते हैं। उषाकाल में प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता हुआ उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता ही है।

भावार्थ—उषा आती है। यह हममें उत्तम गुणों को धारण करती है और वसुओं के दृष्टिकोण से हमें उत्तम ही बनाती है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सूनृता' उषा

भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व।
पश्चा स दध्या यो अघस्य धाता जयेम तं दक्षिणया रथेन॥५॥

१. हे **सूनृते**=उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा ठीक समय पर आनेवाली (सु+ऊन्+ऋत्) **उषः**=उषे! तू **भगस्य**=ऐश्वर्य की **स्वसा**=बहिन है, ऐश्वर्य को उत्तम स्थिति में रखनेवाली है (सु+अस्) तथा **वरुणस्य जामिः**=श्रेष्ठता को जन्म देनेवाली है, सब देव तुझमें ही श्रेष्ठता को जन्म देते हैं (जनयन्ति अस्याम्)। ऐसी तू **प्रथमा जरस्व**=हमारे द्वारा सबसे पहले स्तुत की जाए। हम उषा के महत्त्व का स्मरण करते हुए ऐश्वर्य व श्रेष्ठता को प्राप्त करें। २. **यः**=जो **अघस्य**=पाप का **धाता**=धारण करनेवाला हो **सः**=वह **पश्चा**=पीछे **दध्या**=जानेवाला हो (दधिर्गत्यर्थः)। पापी इस उषा में कभी हमारे सामने न आये। **तम्**=इस पापी को **दक्षिणया**=हमारी उन्नति की कारणभूत तेरे द्वारा तथा **रथेन**=उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले शरीर-रथ के द्वारा **जयेम**=हम जीतें। 'दक्षिणया' शब्द का अर्थ दानवृत्ति के द्वारा भी हो सकता है। दान की वृत्ति के द्वारा हम पाप को पराजित करनेवाले होते हैं। हम प्रातः उठें और उस समय दान की भावना को अपने में जाग्रत् करें। यह त्यागभाव हमें अशुभ से बचानेवाला होगा।

भावार्थ—उषाकाल में जागना ऐश्वर्य व श्रेष्ठता का साधक है। यह अशुभवृत्ति को दूर करता है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विभातीः उषसः

उदीरतां सूनृता उत्पुरन्धीरुदग्नयः शुशुचानासो अस्थुः।
स्पार्हा वसूनि तमसापगूळ्हाविष्कृण्वन्त्युषसो विभातीः॥६॥

१. **सूनृताः**=प्रिय सत्य वाणियाँ **उदीरताम्**=उद्गत हों, अर्थात् हम उषाकाल में प्रिय-सत्य वाणियों का उच्चारण करनेवाले बनें। **पुरन्धीः**=पालक व पूरक प्रज्ञाएँ **उत्**=उद्गत हों, अर्थात् उषावेला में हममें पालनात्मक व पूरणात्मक विचार उत्पन्न हों। **शुशुचानासः**=खूब चमकती हुई **अग्नयः**=अग्नियाँ **उदस्थुः**=उत्थित हों, अर्थात् अग्निहोत्रादि क्रियाओं में अग्नियों का खूब प्रज्वलन हो। २. **विभातीः**=विशेषरूप से चमकती हुई **उषसः**=उषाएँ **तमसा अपगूढानि**=अन्धकार से आवृत हुए-हुए **स्पार्हा वसूनि**=स्पृहणीय धनों को **आविष्कृण्वन्ति**= फिर से प्रकट करती हैं। रात्रि के अन्धकार में स्पृहणीय धनों का अर्जन सम्भव नहीं होता। उषा हमें उन धनों के अर्जन के योग्य बनाती है।

भावार्थ—उषा-जागरण से (क) हमारी प्रवृत्ति सत्य बोलने की ओर होती है, (ख) हमारी प्रज्ञा पालन व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होती है, (ग) हम अग्निहोत्र करनेवाले होते

हैं तथा (घ) स्पृहणीय धनों का अर्जन कर पाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विषुरूपे अहनी

अपान्यदेत्यभ्य१न्यदेति विषुरूपे अहनी सं चरेते।
परिक्षितोस्तमो अन्या गुहाकरद्यौदुषाः शोशुचता रथेन॥ ७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में दिन व रात दोनों को 'अहनी' इस द्विवचनान्त शब्द से कहा गया है। दिन का आरम्भ उषा से होता है। इस उषा के आने पर **अन्यत्**=दिन से भिन्न रात्रि **अप एति**=दूर चली जाती है और **अन्यत्**=रात्रि से भिन्न दिन **अभि एति**=हमारी ओर आता है। ये दिन और रात दोनों **विषुरूपे**=भिन्न-भिन्न परन्तु सुन्दर रूपोंवाले हैं। दिन का प्रकाशमय रूप तो सुन्दर प्रतीत होता ही है, रात्रि अन्धकारमयी होती हुई भी सुन्दर है, वह हमारी थकावट को दूर करके नवस्फूर्ति एवं उल्लास का कारण बनती है। ये भिन्न-भिन्न रूपोंवाले **अहनी**=दिन व रात **संचरेते**=सम्यक् मिलकर गतिवाले होते हैं। दिन के पीछे रात व रात के पीछे दिन सम्बद्ध हुए-हुए चले आते हैं। २. ये दिन-रात हमारे जीवनों को क्षीण करते चलते हैं। **परिक्षितोः**=जीवन को एक-एक दिन करके क्षीण करनेवाले (क्षि=क्षये) इन दिन व रात में **अन्या**=एक **तमः**=यह अन्धकाररूप रात्रि **गुहा अकः**=सब पदार्थों का संवरण करती है, छिपा लेती है। इसके विपरीत **उषाः**=उषा **शोशुचता रथेन**=अपने खूब दीप्त होते हुए रथ से **अद्यौत्**=चमकती है और सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करनेवाली होती है (प्रकाशते प्रकाशयति वा—सा०)।

भावार्थ—दिन-रात दोनों ही सुन्दर हैं। प्रकाशमय होने से दिन तो सुन्दर है ही, रात्रि भी शक्ति का सञ्चार करनेवाली होने से सुन्दर ही है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रज्ञा व कर्मशक्ति की प्राप्ति

सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम।
अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परि यन्ति सद्यः॥ ८॥

१. उषाएँ **अद्य**=आज **सदृशीः**=गत उषाओं के समान ही हैं **उ**=और **इत्**=निश्चय से **श्वः**=कल भी **सदृशीः**=आज के समान ही होंगी। ये उषाएँ **वरुणस्य**=अन्धकार का निवारण व श्रेष्ठता को सिद्ध करनेवाले प्रभु के **दीर्घम्**=विस्तृत व अन्धकार-विदारक (दृ विदारणे) **धाम**=तेज को **सचन्ते**=सेवन करती हैं। प्रभु के तेज से ही उषाएँ तेज व दीप्तिवाली होती हैं—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। २. **अनवद्याः**=सब अवद्यों व अशुभों से रहित ये प्रशस्त उषाएँ **त्रिंशतं योजनानि**=सूर्य से तीस योजन आगे-आगे चलती हुईं **एका एका**=एक-एक करके **सद्यः**=शीघ्र ही **क्रतुम्**=प्रज्ञा व कर्म को **परियन्ति**=सर्वतः प्राप्त होती हैं। इन उषाओं के द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञान-प्राप्ति की शक्ति का आधान किया जाता है और कर्मेन्द्रियों में कर्मशक्ति का स्थापन होता है। सूर्योदय से कुछ पूर्व उषा का आगमन होता है। जो भी व्यक्ति इन उषाकालों में जागरित होकर सूर्य के स्वागत के लिए तैयार हो जाते हैं, उन्हें ये उषाएँ प्रभु के तेज से तेजस्वी बनाती हैं।

भावार्थ—उषाकाल में प्रबुद्ध व्यक्ति उषाओं के द्वारा प्रज्ञा व कर्मशक्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ऋत का मिश्रण

जानत्यह्नः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णादजनिष्ट श्वितीची।
ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती॥ ९॥

१. **प्रथमस्य**=अत्यन्त विस्तृत **अह्नः**=दिन के कारणभूत सूर्य के **नाम**=नमन व आगमन (नमनमागमनम्—सा०) को **जानती**=(प्रज्ञापयन्ती—सा०) सूचित करती हुई **शुक्रा**=दीप्त उषा **कृष्णात्**=अन्धकारमयी कृष्णवर्णवाली रात्रि से **अजनिष्ट**=प्रादुर्भूत होती है। रात्रि के बाद आनेवाली होने से उषा रात्रि से उत्पन्न होती हुई प्रतीत होती है। २. कृष्णवर्णा रात्रि से उत्पन्न होती हुई भी यह **श्वितीची**=श्वैत्य को प्राप्त होनेवाली है। प्रकाशमयी होने से यह श्वेत-ही-श्वेत है। **ऋतस्य योषा**=यह उषा अपने आराधकों के जीवन में ऋत का मिश्रण करनेवाली है। उषा में जागरणशील व्यक्ति ऋतयुक्त जीवनवाले होते हैं। ये सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान में करनेवाले होते हैं। यह उषा **धाम**=इनके तेज को **न मिनाति**=नष्ट नहीं करती। ऋत-पालकों के तेज को यह बढ़ाती है और **अहः-अहः**=दिन-प्रतिदिन **निष्कृतं आचरन्ती**=(निष्कृतम्=removing, taking away, killing) यह उनके जीवन से दोषों को दूर करती है, शोधन करती हुई उनके जीवन को सद्गुणों से सुशोभित करनेवाली होती है।

भावार्थ—उषा स्वयं दीप्त है। यह अपने आराधकों के जीवनों को भी दीप्त बनाती है, उनके जीवन में ऋत का मिश्रण करती हुई उनके तेज को बढ़ाती है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

संस्मयमाना युवतिः

कन्येव तन्वा३ शाशदानाँ एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥ १०॥

१. उषा **कन्या इव**=छोटी अवस्था की कमनीय कन्या की भाँति **तन्वा**=शरीर से **शाशदाना**=(शाशद्यमाना—नि० ६।१६) स्पष्टता को प्राप्त होती है। जैसे एक अप्रगल्भ कन्या अपने शरीर को छिपाने का प्रयत्न नहीं करती, उसी प्रकार उषा अपने को छिपाती नहीं। २. प्रगल्भता को प्राप्त होने पर एक युवति जैसे पति को प्राप्त करती है, इसी प्रकार हे **देवि**=द्योतनशीले उषे! तू भी **इयक्षमाणम्**=संगतिकरण को चाहते हुए **देवम्**=द्योतनशील सूर्य को **एषि**=प्राप्ति होती है। यहाँ प्रसङ्गवश विवाह-सम्बन्ध की दो बातों का संकेत है—(क) युवति देवी=ज्ञानज्योतिवाली हो, युवा पुरुष भी देव हो, (ख) युवा युवति को चाहता हो तभी यह सम्बन्ध हो। ३. अब हे उषे! तू **संस्मयमाना**=सदा मुस्कराती हुई-सी **युवतिः**=बुराइयों को अलग करने तथा अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाली **पुरस्तात्**=आगे बढ़नेवाली हो। विवाहित पत्नी को भी सदा प्रसन्न रहना चाहिए तथा घर से बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों की स्थापना करनेवाली बनना चाहिए। ४. अब प्रौढ़ावस्था में हे उषे! तू **विभाती**=विशेष रूप से चमकती हुई **वक्षांसि**=(वक्षस्=रूप—सा०) दीप्त रूपों को **आविः कृणुषे**=प्रकट करती है। गृहपत्नी का भी यह कर्तव्य होता है कि वह उत्तम स्वभाव को प्रकट करनेवाली हो। आयुवृद्धि के साथ वह अधिक दीप्त हो, नकि कर्कश स्वभाववाली बन जाए।

भावार्थ—एक गृहपत्नी की भाँति उषा मुस्कराती हुई आती है और बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करती है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

मातृमृष्टा योषा इव

सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम्।
भद्रा त्वमुषो वितरं व्युच्छ न तत्ते अन्या उषसो नशन्त॥ ११॥

१. हे उषे! तू **मातृमृष्टा**=माता से शुद्ध की गई **योषा इव**=कन्या की भाँति **सुसंकाशा**=खूब प्रकाशित होती हुई **तन्वम्**=अपने रूप को **कम्**=सुख के लिए (सुखं यथा भवति तथा—सा०) **दृशे आविः कृणुषे**=दर्शन के लिए प्रकट करती है। कन्या जैसे अपने दीप्त रूप को औरों को दिखाती है और उनके हर्ष का कारण बनती है, इसी प्रकार उषा के दीप्त रूप को देखकर सज्जन आनन्द का अनुभव करते हैं। २. हे **भद्रा**=कल्याण करनेवाली **उषः**=उषे! **त्वम्**=तू **वितरं व्युच्छ**=अन्धकार को अत्यन्त दूर भगानेवाली बन। तू अन्धकार को इस प्रकार दूर भागनेवाली हो कि **ते**=तेरे **तत्**=उस अन्धकार-निवारण के कार्य को **अन्याः उषसः**=अन्य उषाएँ **न नशन्त**=व्याप्त करनेवाली न हों। अन्य उषाओं से तू अधिक ही दीप्त हो। प्रस्तुत उषा अन्य उषाओं से उत्तम ही लगे।

भावार्थ—अन्धकार को दूर करती हुई प्रत्येक उषा हमारे लिए गत उषाओं से उत्तम हो।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

विश्ववारा उषा

अश्वावतीर्गोमतीर्विश्ववारा यतमाना रश्मिभिः सूर्यस्य।
परा च यन्ति पुनरा च यन्ति भद्रा नाम वहमाना उषासः॥ १२॥

१. **अश्वावतीः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाली **गोमतीः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली और अतएव **विश्ववारा**=सबसे वरण करने, चाहने योग्य अथवा सब वरणीय वस्तुओं से युक्त उषाएँ **परा यन्ति च**=दूर चली जाती हैं। सूर्योदय होता है और ये कहीं दूर चली जाती हैं **च**=और अगले दिन **पुनः आयन्ति**=फिर आ जाती हैं। इस प्रकार उषा जाती है और अगले दिन फिर आती है। २. ये उषाएँ **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्यकिरणों के साथ **यतमानाः**=प्राणियों के जीवनों को उत्तम बनाने के लिए यत्नशील होती हैं। वस्तुतः इन उषाओं में सूर्य की ही प्रथम भाविनी किरण कार्य करती है। इन किरणों के द्वारा **उषासः**=ये उषाएँ **भद्रा नाम**=जो कुछ भद्र है, कल्याणकर है, उसे **वहमानाः**=प्राप्त करानेवाली होती हैं। उषा सन्ताप-रहित प्रकाश को प्राप्त कराती हुई कल्याण-ही-कल्याण करती है।

भावार्थ—उषा आती है और हमारे लिए उत्तम कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों और अन्य भद्र वस्तुओं को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—दीर्घतमसः पुत्रः कक्षीवान्। देवता—उषाः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सुहवा उषा

ऋतस्य रश्मिमनुयच्छमाना भद्रंभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि।
उषो नो अद्य सुहवा व्युच्छास्मासु रायो मघवत्सु च स्युः॥ १३॥

१. **ऋतस्य रश्मिम् अनुयच्छमाना**=ऋत की रश्मि का नियन्त्रण करती हुई हे **उषः**=उषे! तू **अस्मासु**=हममें **भद्रं भद्रम् क्रतुम्**=शुभ-ही-शुभ कर्म व प्रज्ञान को **धेहि**=धारण कर। ठीक समय व ठीक स्थान पर होनेवाले कर्म ऋत हैं। उषा इनको हममें ठीक प्रकार से प्रवृत्त करनेवाली

होती है। यही उषा का ऋत-रश्मि-नियमन है। जिसकी रश्मि=लगाम ठीक प्रकार कोचवान से काबू की जाती है, वह घोड़ा सदा ठीक मार्ग पर आगे बढ़ता है। इसी प्रकार उषा हमारे जीवनों में 'ऋत-रश्मि-नियमन' के द्वारा उन्नति का कारण बनती है। २. हे **उषः**=उषे! **सुहवा**=सुगमता से पुकारने योग्य होकर अथवा उत्तमता से आराधित हुई-हुई तू **नः**=हमारे लिए **अद्य**=आज **व्युच्छ**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो **च**=और **अस्मासु**=हम **मघवत्सु**= ऐश्वर्यवाले यज्ञशील पुरुषों में (मघ=ऐश्वर्य, यज्ञ) **रायः स्युः**=वे धन हों जिन्हें कि हम देनेवाले हों। हम यज्ञशील बनें, इन यज्ञों को सिद्ध करने के लिए ऐश्वर्यशाली हों।

भावार्थ—उषा हममें शुभ प्रज्ञान व शुभ कर्मों को स्थापित करे तथा हमें ऐश्वर्यशाली बनाए।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम उषाकाल से पूर्व ही जागनेवाले बनकर 'देव व अमृत' बनें (१)। समाप्ति पर उषा से यही प्रार्थना है कि वह हमें शुभ प्रज्ञानों, कर्मों व ऐश्वर्यों को देनेवाली हो (१५)। अगले सूक्त में भी उषा से ही प्रार्थना करते हैं—

[१२४] चतुर्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

क्रियाशीलता

उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्त्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्।
देवो नो अत्र सविता न्वर्थं प्रासावीद् द्विपत्प्र चतुष्पदित्यै॥ १॥

१. **उषा उच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई उषा **नु**=अब **अग्नौ समिधाने**=अग्नियों के समिद्ध किये जाने पर, अर्थात् सज्जनों के अग्निहोत्रादि क्रियाओं में प्रवृत्त होने पर **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ यह सूर्य **उर्विया**=अत्यन्त विस्तार के साथ **ज्योतिः अश्रेत्**=प्रकाश का आश्रय करता है, चारों ओर ज्योति-ही-ज्योति का प्रसार हो जाता है। २. यह उदित हुआ-हुआ **सविता देवः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाला दीप्यमान सूर्य **नः**=हमारे लिए **अत्र**=इस जीवन में **अर्थं प्रासावीत्**=धन उत्पन्न करे। अपनी प्रेरणा से हमें कर्मों में प्रवृत्त करके सब वाञ्छनीय वस्तुओं का (अर्थम्) देनेवाला हो। ३. इस सूर्य के उदित होने पर **द्विपत् चतुष्पत्**=सब पक्षी व पशु **प्र इत्यै**=प्रकर्षेण गति के लिए होते हैं। प्रभु-प्रदत्त वासना के अनुसार ये सूर्यप्रकाश में सदा गतिमय बने रहते हैं। सूर्य निकला और ये कर्मों में प्रवृत्त हुए। इसी प्रकार हमें भी सूर्योदय के साथ ही कर्मों में प्रवृत्त हो जाना चाहिए और पुरुषार्थ के द्वारा अर्थों का उत्पादन करना चाहिए।

भावार्थ—सूर्योदय के साथ ही हम क्रियाशील बनें और अर्थों को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अमिनती प्रमिनती

अमिनती दैव्यानि व्रतानि प्रमिनती मनुष्या युगानि।
ईयुषीणामुपमा शश्वतीनामायतीनां प्रथमोषा व्यद्यौत्॥ २॥

१. **उषाः**=उषा **व्यद्यौत्**=विशेषरूप से चमकती है। वह उषा जो कि **दैव्यानि व्रतानि अमिनती**=दैव्य व्रतों को हिंसित नहीं करती। इस उषा में उन कर्मों की समाप्ति नहीं होती जो कर्म हमें उस देव को प्राप्त करानेवाले हैं। आसन, प्राणायाम, ध्यान व स्वाध्याय आदि कर्मों के

द्वारा हम उस प्रभु के समीप और समीप पहुँचते जाते हैं। २. यह उषा **मनुष्या युगानि**=मनुष्यों के आयुष्य-कालों को **प्रमिनती**=हिंसित करती है। एक-एक उषा के आने के साथ हमारा आयुष्य एक-एक दिन कम होता चलता है। ३. यह उषा **शश्वतीनाम्**=सनातन काल से आ रही (नित्यानाम्—सा०) **ईयुषीणाम्**=जो आज तक आ चुकी हैं उन उषाओं की **उपमा**=(ताभिः सादृशी) उपमा है, उन जैसी है तथा **आयतीनाम्**=आगे आनेवाली उषाओं की यह **प्रथमा**=प्रथमभाविनी है। ऐसी यह उषा चमकती है और हमारे जीवनों को ज्योतिर्मय बनाती है।

भावार्थ—हम उषा में प्रबुद्ध हों और दैव्य व्रतों का पालन करने में प्रवृत्त हो जाएँ।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्योतिर्वसाना

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥ ३॥

१. **एषा**=यह उषा **दिवः दुहिता**=प्रकाश का चारों ओर पूरण करनेवाली है (दुह प्रपूरणे)। इसी रूप में यह प्रत्येक व्यक्ति से **प्रत्यदर्शि**=देखी जाती है। **ज्योतिः वसाना**=यह प्रकाश को आच्छादित करती हुई आती है। इसके आते ही सब दिशाएँ प्रकाशमय हो जाती हैं, प्रकाश करके यह उषा **समना**=सब प्राणियों के लिए सम्यक् (सम्) चेष्टयित्री (अन्) होती है। सभी इसके प्रकाश में अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। २. यह उषा **पुरस्तात्**=आगे-आगे **ऋतस्य पन्थां अनु एति**=सूर्य के मार्ग का लक्ष्य करके चलती है (ऋत=सूर्य)। जिस मार्ग पर सूर्य को चलना होता है, यह उसपर उससे तीस योजन पूर्व चल रही होती है। (ऋ० १।१२३।८)। सूर्य की भाँति निरन्तर गतिशील होती हुई यह हमें भी गति की प्रेरणा देती है। यह **साधु**=उत्तमता से **प्रजानती इव**=जानती हुई-सी **दिशः न मिनाति**=अपनी गति की दिशाओं को हिंसित नहीं करती। यह ठीक ही मार्ग पर चलती है। हमें भी इस प्रकार ठीक मार्ग पर चलने का उपदेश करती है।

भावार्थ—ऋत के मार्ग पर चलती हुई, अपने मार्ग की दिशा का हिंसन न करती हुई उषा हमें भी ठीक मार्ग पर चलने का उपदेश करती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ससतो बोधयन्ती

उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधाइवाविरकृत प्रियाणि।
अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्॥ ४॥

१. सारे संसार का शोधन कर देने से सूर्य 'शुन्ध्यु' कहलाता है। **शुन्ध्युवः वक्षः न**=सूर्य के वक्षःस्थल के समान यह उषा **उप उ**=समीप ही **अदर्शि**=प्रत्येक व्यक्ति से देखी जाती है। उषा क्या है? सूर्य का ही वक्षःस्थल है। सूर्य-पुत्री होने से सूर्य के हृदय से ही तो यह आविर्भूत हुई है—'हृदयादधिजायसे'। २. **नोधा इव**=(नवनं दधातीति नोधाः) स्तवन को धारण करनेवाले के समान यह **उषा प्रियाणि**=प्रियों को **आविः अकृत**=प्रकट करती है। स्तोता जैसे प्रिय स्तोत्रों का उच्चारण करता है, उसी प्रकार यह उषा हमारे लिए 'सन्तापशून्य प्रकाश तथा जीवनशक्ति से युक्त वायु' आदि को प्रकट करती है। इस उषाकाल के समय वायुमण्डल में ओज़ोन गैस का प्राचुर्य होता है। यह ओज़ोन प्रातः भ्रमणशील पुरुषों के स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त

हितकर होती है। ३. **अद्मसत् न**=(अद्म=गृह) गृह में स्थित होनेवाली गृहिणी के समान **ससतः**=सोनेवालों को यह **बोधयन्ती**=जगानेवाली होती है। जैसे घर में माता सोये हुए बालकों को जागने की प्रेरणा देती है, उसी प्रकार यह उषा सोनेवालों को जगाती है, मानो उन्हें प्रेरणा देती है कि 'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधत'=उठो, जागो, ज्ञानियों को प्राप्त करके ज्ञान का वर्धन करो। ४. इस प्रकार पुनः **एयुषीणाम्**=फिर आगे आनेवाली उषाओं की **शश्वत्तमा आगात्**=सनातन काल से आनेवाली यह उषा आई है। यह उषा सदा से चली आ रही है और आगे आती रहेगी।

भावार्थ—सूर्य के वक्षःस्थल के समान दिखनेवाली यह उषा हमारे लिए प्रिय वस्तुओं को प्रकट करती है और माता के समान हमें जगाती हुई सदा से आ रही है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

आधे से पूरे की ओर

पूर्वे अर्धे रजसो अप्त्यस्य गवां जनित्र्यकृत प्र केतुम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीय ओभा पृणन्ती पित्रोरुपस्था॥ ५॥

१. **अप्त्यस्य**=सर्वत्र प्राप्त—व्यापक **रजसः**=इस अन्तरिक्षलोक के **पूर्वे अर्धे**=पूर्व के भाग में **गवां जनित्री**=अपनी रश्मियों को प्रादुर्भूत करनेवाली यह उषा **प्रकेतुं अकृत**=प्रकृष्ट ज्ञान को प्रकट करती है। पहले-पहले पूर्व दिशा में उषा की अरुण रश्मियाँ उदित होती हैं और ये आकाश के उस भाग को प्रकाशमय कर देती हैं। २. **उ**=और अब यह उषा **वितरम्**=खूब ही **वरीयः**=(उरुतरम्) अनन्त विस्तार के साथ **वि प्रथते**=विशेषरूप से फैलती है। इसका प्रकाश अधिक और अधिक फैलता जाता है और कुछ ही देर बाद यह **पित्रोः**=पिता और माता के रूप में विद्यमान द्यावापृथिवी की **उभा उपस्था**=दोनों गोदों को **आ पृणन्ती**=सब ओर भर रही होती है। द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य को यह अपने प्रकाश से पूर्ण कर देती है।

भावार्थ—पूर्वभाग में उदित होती हुई यह उषा अपने प्रकाश को सर्वत्र फैलानेवाली होती है। अपने आराधकों को भी यही प्रेरणा देती है कि वे अपने ज्ञान-दीपक को ज्ञान-सूर्य में परिवर्तित करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पुरुतमा उषा

एवेदेषा पुरुतमा दृशे कं नाजामिं न परि वृणक्ति जामिम्।
अरेपसा तन्वा३ शाशदाना नार्भादीषते न महो विभाती॥ ६॥

१. **एव**=पिछले मन्त्र में कहे प्रकार से **इत्**=निश्चयपूर्वक **एषा**=यह उषा **पुरुतमा**=अतिशयेन पालन व पूरण करनेवाली होती है। यह आराधकों को शरीर से नीरोग बनाती है तो मन के दृष्टिकोण से इन्हें न्यूनताओं से रहित करती है। यह **दृशे कम्**=सब पदार्थों के दर्शन के लिए सुख को प्राप्त कराती है, अर्थात् हमें सुखपूर्वक सब पदार्थों के दर्शन के योग्य बनाती है। यह **न**=न तो **अजामिम्**=अबन्धु को और **न जामिम्**=न ही बन्धु को **परिवृणक्ति**=इस प्रकाश प्राप्त कराने के कार्य में छोड़ती है। यह सभी को प्रकाश प्राप्त कराती है। देव इसके बन्धु हैं तो मनुष्यों के साथ बन्धुत्व न होते हुए भी यह देवलोक व इस मर्त्यलोक दोनों को समानरूप से प्रकाशित करती है। २. यह समान भाव ही इसे निर्दोष बनाता है। किसी के प्रति राग-द्वेषवाली न होती हुई यह उषा **अरेपसा**=निर्दोष **तन्वा**=शरीर से **शाशदाना**=निरन्तर गति करती हुई

और **विभाती**=विशेषरूप से चमकती हुई **न अर्भात् इयते**=न छोटे-छोटे कणों से दूर होती है और **न महः**=न महान् पर्वतादि से दूर होती है। जैसे छोटे-छोटे कणों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार महान् पर्वतों को। जैसे यह दूर और समीप के सभी देशों को प्रकाशमय करती है, उसी प्रकार कणों व पर्वतादि सभी वस्तुओं को प्रकाशित करनेवाली है।

भावार्थ—सभी को समानरूप से प्रकाश प्राप्त कराती हुई उषा निर्दोष रूपवाली है, आराधकों को भी इस समानता का पाठ पढ़ाती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'हस्त्रा' उषा

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्त्रेव नि रिणीते अप्सः॥७॥

१. **अभ्राता**=बिना भाईवाली युवति **इव**=जैसी **प्रतीची पुंसः एति**=अपने पतिगृह से लौटती हुई पिता के प्रति जाती है, पिता से ही इष्ट आभूषणादि प्राप्त करती है, उसी प्रकार यह उषा भाई के न होने से पितृस्थानीय सूर्य से ही प्रकाश प्राप्त करने के लिए उपस्थित होती है। २. **इव**=जैसे कोई युवति **धनानां सनये**=अपने अंशभूत धनों को प्राप्त करने के लिए **गर्तारुक्**=(गर्तमारोहति) न्यायाधिष्ठान का आरोहण करती है, इसी प्रकार यह उषा प्रकाशरूप धन की प्राप्ति के लिए अपने पितृभूत सूर्य के गृह इस आकाश में आरूढ़ होती है (गर्त=गृह, न्यायाधिष्ठान)। ३. सूर्य से प्रकाश प्राप्त करके **सुवासाः**=प्रकाशरूप उत्तम वस्त्रवाली यह उषा **हस्त्रा इव**=हँसती हुई-सी **अप्सः**=अपने उज्ज्वलरूप को **निरिणीते**=प्राप्त करती है, हमारे प्रति प्रकाशित करती है, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **उशती**=कामयमाना **जाया**=पत्नी **पत्ये**=पति के लिए रूप को प्रकट करती है।

भावार्थ—उषा सूर्य से प्रकाशरूप धन को प्राप्त करके अपने उज्ज्वलरूप को हमारे लिए व्यक्त करती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रात्रि का उषा के लिए स्थान रिक्त करना

स्वसा स्वस्त्रे ज्यायस्यै योनिमारैगपैत्यस्याः प्रतिचक्ष्येव।
व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्यस्याञ्ज्यङ्क्ते समनगाइव व्राः॥८॥

१. एक ही अन्तरिक्ष में उत्पन्न होने से रात्रि और उषा बहिनें हैं। इनमें उषा से दिन के आरम्भ होने के कारण उषा को ज्येष्ठ बहिन कहा गया है (प्रातः=उषा, अहन्=सायं, रात्रि)। यही तो चौबीस घण्टों का क्रम है। इनमें **स्वसा**=छोटी बहिन अर्थात् रात्रि **ज्यायस्यै स्वस्त्रे**=अपनी बड़ी बहिन उषा के लिए **योनिम्**=स्थान को **आरैक्**=खाली कर देती है। उषा के आते ही रात्रि चली जाती है, मानो रात्रि उषा के लिए स्थान खाली कर देती है। **अस्याः**=इस उषा को **प्रतिचक्ष्य इव**=देख व जानकर ही **अप एति**=वह रात्रि दूर चली जाती है। बड़ी के आ जाने पर छोटी का वहाँ पड़े रहना ठीक भी तो नहीं। २. यह उषा **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की रश्मियों से **अञ्जि अङ्क्ते**=इस व्यक्त जगत् को प्रकाशित—अलंकृत करती है। रात्रि के समय यह सारा संसार 'तमोभूत, अप्रज्ञात व अलक्षण'-सा हो रहा था। उषा के आते ही अन्धकार दूर होता है, यह जगत् व्यक्त-सा होने लगता है और थोड़ी देर में सूर्य-प्रकाश से अलंकृत हो उठता है तथा प्रत्येक वस्तु अपने लक्षणों से लक्षित होने लगती

है। ३. अब ये **व्राः**=आकाश को आच्छादित करनेवाली (वृ-आच्छादने) सूर्यकिरणें **समनगाः इव**=(सम्, अन्, गा) सम्यक् अनन—प्राणन के लिए ही मानो गतिशील होती हैं। सब लोग प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—उषा आती है। रात्रि इसके लिए स्थान रिक्त कर देती है। उषा जगत् को प्रकाश से अलंकृत कर देती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुदिना उषासः

आसां पूर्वासामहसु स्वसॄणामपरा पूर्वामभ्येति पश्चात्।
ताः प्रत्नवन्नव्यसीर्नूनमस्मे रेवदुच्छन्तु सुदिना उषासः॥९॥

१. सब उषाएँ परस्पर बहिनों के समान हैं। **आसाम्**=इन **पूर्वासां स्वसॄणां**=पुरातन बहिनों में **अहसु**=दिनों में **अपरा**=पिछले दिन में आनेवाली उषा **पूर्वाम्**=पहले दिन में आ चुकी उषा के **पश्चात्**=पीछे **अभ्येति**=आती है। इस प्रकार इनका क्रम चलता आ रहा है। २. **ताः**=वे **नव्यसीः**=नवीन उषाएँ भी **प्रत्नवत्**=पुरातन उषाओं की भाँति **नूनम्**=निश्चयपूर्वक **अस्मे**=हमारे लिए **रेवत्**=धनवाली होकर **उच्छन्तु**=प्रकाशित हों। जिस प्रकार गत उषाएँ हमारे लिए वृद्धि का कारण बनीं, उसी प्रकार ये नवीन उषाएँ भी हमारे लिए ऐश्वर्य को देनेवाली हों। इस प्रकार ये सब **उषासः**=उषाएँ हमारे लिए **सुदिनाः**=शोभन दिनों का कारण बनें।

भावार्थ—उषाएँ हमारे लिए ऐश्वर्य को लानेवाली हों। ये हमारे लिए दिनों को शुभ बनाएँ।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पणयः ससन्तु

प्र बोधयोषः पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु।
रेवदुच्छ मघवद्भ्यो मघोनि रेवत्स्तोत्रे सूनृते जारयन्ती॥१०॥

१. हे **मघोनि**=ऐश्वर्यों से सम्पन्न **उषः**=उषे! **पृणतः**=देनेवालों को, अपने धन का यज्ञों में विनियोग करनेवालों को **प्रबोधय**=तू जागरित कर। ये देनेवाले यज्ञशील पुरुष उद्बुद्ध होकर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों, इसके विपरीत **पणयः**=व्यापार की वृत्तिवाले, अत्यागशील पुरुष **अबुध्यमानाः**=अप्रबुद्ध हुए-हुए **ससन्तु**=सोये रहें। ये दीर्घ निद्रा में ही चले जाएँ, अर्थात् मृत हो जाएँ (म्रियन्ताम्—सा०)। २. हे **मघोनि**=ऐश्वर्यसम्पन्न उषे! तू इन **मघवद्भ्यः**=यज्ञशील पुरुषों के लिए **रेवत्**=ऐश्वर्यवाली होकर **उच्छ**=अन्धकार को दूर कर। इनके लिए तू ऐश्वर्य देनेवाली हो। ३. हे **सूनृते**=(सु, ऊन्, ऋत) शोभने! दुःखों को दूर करनेवाली तथा ठीक समय पर आनेवाली उषे! **जारयन्ती**=सब अन्धकारों व दोषों को जीर्ण करती हुई तू **स्तोत्रे**=स्तोता के लिए—प्रभुस्तवन करनेवाले के लिए **रेवत्**=ऐश्वर्यवाली होकर उदित हो।

भावार्थ—दानशील (पृणतः) यज्ञशील (मघवद्भ्यः) स्तवन करनेवाले (स्तोत्रे) पुरुष उषाकाल में प्रबुद्ध हों। उषा इनके लिए ऐश्वर्यों को देनेवाली हो।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अग्निहोत्र

अवेयमश्वैद्युवतिः पुरस्ताद्युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम्।
वि नूनमुच्छादसति प्र केतुर्गृहंगृहमुप तिष्ठाते अग्निः॥११॥

१. **इयम्**=यह **युवतिः**=अन्धकार को दूर करने व प्रकाश से मेल करानेवाली उषा **अव अश्वैत्**=अतिशयेन वृद्धि को प्राप्त करती है (श्वि=वृद्धि) अथवा तीव्र गतिवाली होती है (श्वि गतौ)। यह उषा **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **अरुणानाम्**=कुछ-कुछ लाल **गवाम्**=किरणों के **अनीकम्**= समूह को **युङ्क्ते**=अपने साथ जोड़ती है। इस युवति उषा के रथ की संचालक ये अरुण गौएँ ही तो हैं (अरुण्यः गावः उषसाम्)। २. यह उषा **नूनम्**=निश्चय से **वि उच्छात्**=अन्धकार को दूर करती है और **असति**=रात्रि के अन्धकार में किसी भी वस्तु के न दिखने से असत्प्राय इस अन्तरिक्ष में **प्रकेतुः**=प्रकर्षेण पदार्थों का ज्ञापन करनेवाली होती है। इस प्रकार प्रकाश में सब पदार्थों के दिखने के पश्चात् **गृहं गृहम्**=प्रत्येक घर में **अग्निः**=अग्नि **उपतिष्ठाते**=उपस्थित होती है, लोग अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और अग्निकुण्डों में अग्नि का आधान करते हैं। वस्तुतः उषाकाल में शोधन व स्नानादि कार्यों से निवृत्त होकर प्रत्येक दम्पती को इस अग्निहोत्र में प्रवृत्त होना चाहिए। यह घर की वायु की शुद्धि के लिए—उसके द्वारा नीरोगता के लिए व सौमनस्य के लिए आवश्यक है।

भावार्थ—उषा की अरुण किरणों के आते ही सब असत्प्राय संसार सत् हो जाता है। इस सत्-संसार में सत्कार्यों को करते हुए अग्निहोत्र से दिन को प्रारम्भ करना चाहिए।

सूचना—वैदिक राज्यपद्धति में **राजा अग्निहोत्र न करनेवाले को भी वही दण्ड देता है जो चोर को।** अग्निहोत्र प्रत्येक घर में होना आवश्यक ही है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—उषाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों में प्रवृत्ति

उत्ते वयश्चिद्वसतेरपप्तन्नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ।
अमा सते वहसि भूरि वाममुषो देवि दाशुषे मर्त्याय॥ १२॥

१. हे उषे! **ते व्युष्टौ**=तेरे निकलने पर, तेरे द्वारा अन्धकार के दूर किये जाने पर **वयः-चित्**=पक्षी भी **वसतेः**=अपने निवास-स्थानभूत घोंसलों से **उत् अपप्तन्**=निकलकर (उत्=out) उड़ने लगते हैं **च**=और **ये**=जो **पितुभाजः**=अन्नादि की प्राप्ति के लिए विविध कार्यों का सेवन करनेवाले **नरः**=मनुष्य हैं, वे भी अपने घरों से बाहर निकल पड़ते हैं; विविध कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए उन-उन स्थानों की ओर चल देते हैं। २. हे **देवि उषः**=प्रकाशमय उषे! तू **अमा सते**=सदा प्रभु के साथ निवास करनेवाले सत्पुरुष के लिए—प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों को करनेवाले के लिए **भूरि**=पालन-पोषण के लिए पर्याप्त **वामम्**=सुन्दर धन को **वहसि**=प्राप्त कराती है। **दाशुषे**=देने की वृत्तिवाले **मर्त्याय**=मनुष्य के लिए तू सुन्दर धन देती है। प्रभुभक्त पुरुषार्थ करता हुआ उस धन को प्राप्त करता है जो धन (क) पालन-पोषण के लिए पर्याप्त (भूरि) होता है, (ख) जो उत्तम साधनों से कमाया जाने के कारण उसके जीवन को सुन्दर (वामम्) बनाता है तथा (ग) जो धन-दानादि उत्तम कार्यों में विनियुक्त होता है (दाशुषे)। प्रभु से दूर रहनेवाला टेढ़े-मेढ़े साधनों से खूब धन जुटाता है। यह धन उसे विलास व विनाश की ओर ले जाता है, उसके जीवन को विकृत कर देता है और यह धन यज्ञ आदि में विनियुक्त नहीं होता।

भावार्थ—उषा के होते ही सब अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। प्रभुस्मरण करनेवाले पालन-पोषण के लिए पर्याप्त, सुन्दर व दान में विनियुक्त होनेवाले धन को प्राप्त करके 'देव' बनते हैं।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। देवता—उषाः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

उषा का स्तवन

अस्तो॑ढ्वं स्तो॒म्या॒ ब्रह्म॑णा॒ मेऽवी॑वृधध्वमुश॒तीरु॑षासः।
यु॒ष्माकं॑ देवी॒रव॑सा सनेम सह॒स्रिणं॑ च श॒तिनं॑ च॒ वाज॑म्॥ १३॥

१. हे **स्तोम्याः**=स्तुति के योग्य **उषासः**=उषाओ! तुम **ब्रह्मणा**=मेरे स्तोत्र—स्तुतिवचन से **अस्तोढ्वम्**=स्तुत होओ। इन उषाकालों में हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। उषाकालों में यही सबसे उत्तम करने योग्य कार्य है। यही उषा का आदर भी है। इस समय सोये रहना या उठकर झगड़ने आदि व्यर्थ के कार्यों में लगना—यह उषा का निरादर ही है। २. हे **उशतीः**=हमारे हित की कामना करनेवाली उषाओ! तुममें हमारे स्तवन आदि कार्यों से **अवीवृधध्वम्**=हमारा वर्धन करनेवाली होओ। उषाकाल में हम वृद्धि के साधनभूत कार्यों को ही करनेवाले हों। ३. हे **देवीः**=प्रकाशमयी उषाओ! **युष्माकं अवसा**=तुम्हारे रक्षण के द्वारा हम उस **वाजम्**=शक्ति व धन को **सनेम**=प्राप्त करें **सहस्रिणम्**=जो सदा उल्लास से युक्त (स+हस्) है **च+च**=तथा **शतिनम्**=सौ वर्ष तक चलनेवाला है। उषाकाल में प्रभुस्तवन व अन्य वृद्धि के कार्यों में लगने पर हमारी शक्ति शतवर्षपर्यन्त स्थिर रहती है और हमारा धन हमारे विनाश का कारण नहीं बनता। इस प्रकार उषा हमारा रक्षण करती है और उत्तम कार्यों में लगने के द्वारा हम उषा का आदर करते हैं।

भावार्थ—उषाकाल में उठकर 'प्रभुस्तवन करना, वृद्धि के कारणभूत कार्यों में लगना' यही उषा का स्तवन है। उषा हमें उस धन व शक्ति को प्राप्त कराती है जोकि हमारे उल्लास और दीर्घजीवन का कारण बनते हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा गया है कि उषा के होते ही हम क्रियाशील बनें (१)। समाप्ति पर कहते हैं कि हम प्रभुस्तवन व वृद्धि के कारणभूत कार्यों में प्रवृत्त हों (१३)। 'क्रियाशील पति-पत्नी ही रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करते हैं' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१२५] पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। देवता—दम्पती। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रातरित्वा

प्रा॒ता रत्नं॑ प्रात॒रित्वा॑ दधाति॒ तं चि॑कि॒त्वान्प्र॑ति॒गृह्या॒ नि ध॑त्ते।
तेन॑ प्र॒जां व॒र्धय॑मान॒ आयू॑ रा॒यस्पोषे॑ण सचते सु॒वीरः॑॥ १॥

१. प्रस्तुत सूक्त का देवता 'दम्पती' पति-पत्नी हैं। जो भी पति-पत्नी **प्रातः इत्वा**=बहुत जल्दी उठकर क्रियाशील जीवन आरम्भ करते हैं, आलस्य को परे फेंककर अपने कर्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे **प्रातः**=इस प्रातःकाल में **रत्नम्**=रमणीय वस्तुओं को **दधाति**=धारण करते हैं। २. **तं चिकित्वान्**=इन रमणीय वस्तुओं के महत्त्व को समझता हुआ व्यक्ति उन वस्तुओं को **आ प्रतिगृह्य**=एक-एक करके ग्रहण करता हुआ **निधत्ते**=अपने जीवन में पूर्णरूपेण स्थापित करता है। उषा के द्वारा प्राप्त कराये गये स्वास्थ्य को शरीर में धारण करता है तो प्रकाश को मस्तिष्क में। ३. **तेन**=इन रमणीय वस्तुओं के द्वारा **प्रजां वर्धयमानः**=अपनी सन्तानों का भी वर्धन करता हुआ **आयुः**=अपने जीवन को **रायस्पोषेण सचते**=धन के पोषण से समवेत करता है और **सुवीरः**=उत्तम वीर बनता है। वीर बनकर ही तो वह प्रभु को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—प्रातः प्रबुद्ध होकर क्रियाशील रहनेवाला व्यक्ति स्वास्थ्य व ज्ञान के प्रकाशरूप रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करता है। इससे जहाँ यह अपनी सन्तानों को उत्तम बना पाता है वहाँ दीर्घ जीवन व सम्पत्ति को प्राप्त करता हुआ वीर बनता है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुगुः, सुहिरण्यः, स्वश्वः

सुगुरसत्सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रातः प्रबुद्ध होकर गतिशील होनेवाला व्यक्ति **सुगुः असत्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं-(इन्द्रियों)-वाला होता है। इन ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्रकाश करता हुआ यह **सुहिरण्यः**=उत्तम ज्ञानज्योतिवाला बनता है—'हिरण्यं वै ज्योतिः'। **स्वश्वः**=यह उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वोंवाला होता है और **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **अस्मै**=इस प्रातरित्वा के लिए **बृहत् वयः**=(बृहि वृद्धौ) सब प्रकार से बढ़ी हुई शक्तियोंवाले आयुष्य को **दधाति**=धारण करता है। कर्मेन्द्रियों से उत्तम कर्मों में लगे रहने से ही इस 'बृहत् वयः' की प्राप्त होती है। २. हे **प्रातरित्वः**=प्रातः प्रबुद्ध होकर कर्तव्यों में लगनेवाले जीव! ये प्रभु वे हैं **यः**=जो **आयन्तम्**=(आ समन्तात्, इ गतौ) चारों ओर से कार्यों में व्यापृत होनेवाले **त्वा**=तुझे **वसुना**=सब वसुओं से—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों से **उत्सिनाति**=उत्कृष्ट रूप से बद्ध करते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **मुक्षीजया**=रज्जु से **पदिम्**=इधर-उधर गति करनेवाले पशु-पक्षी को बाँधते हैं। बद्ध पशु अपने स्वामी से दूर नहीं होता, इसी प्रकार वसुओं से बँधा हुआ यह प्रातरित्वा प्रभु से दूर नहीं जाता। प्रभु से दूर जाने की अपेक्षा यह प्रभु के अधिक समीप रहने का ध्यान करता है। यह प्रभु को ही सब वसुओं के निधान के रूप में देखता है।

भावार्थ—प्रातः प्रबुद्ध होकर प्रभुपूजन आदि कर्मों में व्यापृत होनेवाला व्यक्ति (क) उत्तम ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानी बनता है, (ख) उत्तम कर्मेन्द्रियों से उत्कृष्ट जीवनवाला होता है, (ग) वसुओं को प्राप्त करता हुआ प्रभु के और अधिक निकट हो जाता है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सुकृत, इष्टि-पुत्र' प्रभु की ओर

आयमद्य सुकृतं प्रातरिच्छन्निष्टेः पुत्रं वसुमता रथेन।
अंशोः सुतं पायय मत्सरस्य क्षयद्वीरं वर्धय सूनृताभिः॥ ३॥

१. प्रातरित्वा प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अद्य**=आज **प्रातः**=इस दिन के प्रारम्भ में **सुकृतम्**=इस सुन्दर संसार की रचना करनेवाले **इष्टेः**=यज्ञों के **पुत्रम्**=(पुरु त्रायते—नि०) खूब रक्षण करनेवाले आपको **इच्छन्**=चाहता हुआ, आपकी प्राप्ति की कामना करता हुआ मैं **वसुमता रथेन**=आपसे दिये हुए उत्तम वसुओं-(ऐश्वर्यों)-वाले इस शरीररूप रथ से **आयम्**=समन्तात् गतिवाला हुआ हूँ, अपने विविध कार्यों में व्यापृत हुआ हूँ। २. आप मुझे **मत्सरस्य**=(मद् सर) आनन्द का सञ्चार करनेवाले **अंशोः**=मुझे आपका ही अंश-(छोटा रूप) बनानेवाले सोमशक्ति के—वीर्यशक्ति के **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न अंश का **पायय**=पान कराइए। आपकी उपासना करता हुआ मैं सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर सकूँ। इस सोम के रक्षण से ही तो मैं सोमरूप आपको प्राप्त कर सकूँगा। ३. सोमरक्षण के द्वारा **क्षयद्वीरम्**=वीरता के निवासस्थानभूत मुझे **सूनृताभिः**=उत्तम, दूसरों के दुःखों को दूर करनेवाली ऋतवाणियों से **वर्धय**=बढ़ाइए। सोमरक्षण

से वीर बनकर मैं सूनृत वाणियों का ही प्रयोग करूँ। यही तो वृद्धि का मार्ग है।

भावार्थ—'मैं शरीर को वसुमान बनाकर कर्तव्यपरायण बनूँ' यही तो प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। सोम का रक्षण करता हुआ मैं वीर बनूँ और सूनृत वाणियों का ही उच्चारण करूँ। सच्चा प्रभुभक्त ऐसा ही करता है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

ईजान, यक्ष्यमाण, पृणत् व पपुरि

उप क्षरन्ति सिन्धवो मयोभुव ईजानं च यक्ष्यमाणं च धेनवः।
पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उप यन्ति विश्वतः॥ ४॥

१. **सिन्धवः**=स्यन्दनशील, बहने के स्वभाववाले, **मयोभुवः**=सुरक्षित होने पर कल्याण व नीरोगता को जन्म देनेवाले **धेनवः**=शरीर में सब शक्तियों का आप्यायन करके प्रीणित करनेवाले सोमकण—वीर्यशक्ति के कण **ईजानं च**=(यज् देवपूजा) सर्वशक्तिमान् देव का पूजन करनेवाले **यक्ष्यमाणं च**=और यज्ञादि उत्तम कर्म करनेवाले व्यक्ति को **उपक्षरन्ति**=समीपता से प्राप्त होते हैं। वीर्यकणों को शरीर में ही सुरक्षित रखने का साधन यही है कि (क) हम प्रभु का पूजन करें, (ख) यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें। २. **पृणन्तं च**=सदा दान देनेवाले को **पपुरिं च**=और दान के द्वारा दूसरों का पालन व पोषण करनेवाले को **विश्वतः**=सब ओर से वे **घृतस्य धाराः**=घृत की, मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति की धाराएँ—धारण-शक्तियाँ **उपयन्ति**=समीप्ता से प्राप्त होती हैं, जोकि **श्रवस्यवः**=उसके यश की कामना करनेवाली होती हैं, उसके यश को चारों ओर फैलानेवाली होती हैं। दान की वृत्ति से लोभ का नाश होकर सब व्यसनों का अन्त हो जाता है और इस पृणन्-पपुरि का यश चारों ओर फैलता है।

भावार्थ—प्रभुपूजन व उत्तम कर्मों में लगे रहने के द्वारा हम सोम का शरीर में संरक्षण करें और दान की वृत्ति को अपनाकर यशस्वी बनें।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

दान से देवत्व की प्राप्ति

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥ ५॥

१. **श्रितः**=(श्रितं अस्य अस्तीति) लोकसेवा की वृत्तिवाला **यः**=जो **पृणाति**=लोकहित के कार्यों के लिए सदा दान करता है वह **नाकस्य पृष्ठे**=स्वर्गलोक के पृष्ठ पर **अधितिष्ठति**=अधिष्ठित होता है। लोकहित के लिए दान देनेवाला सुख-प्राप्ति का अधिकारी होता है तथा **सः**=वह **ह**=निश्चय से **देवेषु गच्छति**=मनुष्यों से ऊपर उठकर देवों में चला जाता है। सामान्य मनुष्य न रहकर वह देव बन जाता है। दान से अशुभ भावनाओं का नाश होकर शुभ भावनाओं का उदय होता है। ये शुभ भावनाएँ उसे देव बना देती हैं। २. **तस्मै**=इस देव के लिए **सिन्धवः**=ये बहनेवाले **आपः**=जल—शरीरस्थ सोमकण **घृतम्**=मलों के क्षरण व दीप्ति को **अर्षन्ति**=प्राप्त कराते हैं। दान की वृत्तिवाले में व्यसनों व वासनाओं के अंकुरित व विकसित न होने से सोम का रक्षण होता है और यह सोम जहाँ शरीरस्थ मलों को दूर करके शरीर को नीरोग बनाता है, वहाँ मस्तिष्क को ज्ञान की दीप्ति से युक्त करता है। **तस्मै**=उस दानशील पुरुष के लिए **इयम्**=यह **दक्षिणा**=दानशीलता सदा **पिन्वते**=सदा आप्यायन व प्रीणन का कारण बनती है। दान से मनुष्य का सब प्रकार से वर्धन ही होता है। दान से धन भी बढ़ता है, सन्तान भी उत्तम

बनती है और मनुष्य यशस्वी होता है। वासनाएँ दूर होकर जीवन तो सुन्दर बनता ही है।

भावार्थ—दानशीलता हमें सुख का अधिकारी बनाती है, हमें देव बनाती है, इससे हम स्वस्थ व ज्ञान-दीप्तिवाले बनते हैं। यह सब प्रकार से हमारा वर्धन करती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दान का महत्त्व

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्र तिरन्त आयुः॥ ६॥

१. **दक्षिणावताम्**=दानशील पुरुषों के **इत्**=निश्चय से **इमानि**=ये लोक **चित्रा**=अद्भुत बनते हैं। ये इस लोक में आश्चर्यजनक उन्नति करते हैं और 'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्'=इस दान को सप्तगुणित करके प्राप्त करते हुए ये अभ्युदय को सिद्ध करते हैं। २. **दक्षिणावताम्**=दान देनेवालों के ही **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-विज्ञान के **सूर्यासः**=सूर्य उदित होते हैं। कृपणवृत्तिवाले लोग तो धन के दास बनकर लक्ष्मी के वाहनभूत 'उल्लू' ही बन जाते हैं। ३. **दक्षिणावन्तः**=ये दानशील व्यक्ति **अमृतं भजन्ते**=नीरोगता को प्राप्त करते हैं। दान से वृत्ति यज्ञिय बनी रहती है। इनकी वृति भोगप्रवण (इन्द्रियों के विषयों में लिप्त) न होने से इन्हें रोग नहीं सताते और ये अमृत (दीर्घायु) बने रहते हैं। इस प्रकार ये **दक्षिणावन्तः**=दानशील पुरुष **आयुः प्रतिरन्त**=अपने आयुष्य को बढ़ाते हैं। दान से जीवन दीर्घ बनता है।

भावार्थ—दान से यह लोक अभ्युदय-सम्पन्न होता है। ज्ञान का विकास होता है, नीरोगता प्राप्त होती है और आयु दीर्घ होती है।

ऋषिः—कक्षीवान् दैर्घतमसः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पृणन् व अपृणन् की तुलना

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः॥ ७॥

१. **पृणन्तः**=दान देनेवाले **दुरितम्**=दुर्गति व दुःख को तथा **एनः**=दुःख के कारणभूत पाप को **मा आरन्**=प्राप्त न हों। दान से व्यसन-वृक्ष के मूलभूत लोभ का ही विनाश हो जाता है। व्यसनों की समाप्ति से कष्ट भी समाप्त हो जाते हैं। २. इस प्रकार दुरित व एनस् से ऊपर उठनेवाले **सुव्रतासः**=उत्तम 'सत्य, यश, श्री' आदि की प्राप्ति के व्रतोंवाले **सूरयः**=ज्ञानीपुरुष **मा जारिषुः**=जीर्ण न हों। भोगों में फँसने से ही तो रोगों व जरा का भय होता है। भोगातीत जीवन जीर्णता से ऊपर उठा रहता है। ३. **तेषाम्**=उन सुव्रत, सूरि पुरुषों का **अन्यः**=वह विलक्षण **कश्चित्**=निश्चय से आनन्दस्वरूप प्रभु **परिधिः अस्तु**=सब ओर से धारण—रक्षण करनेवाला हो। ये सुव्रत पुरुष केन्द्र में निवास करते हैं, प्रभु परिधि होते हैं। इस परिधि से रक्षित होने से ये सुव्रत पुरुष दुरितों व पापों के शिकार नहीं होते। ४. इनके विपरीत **अपृणन्तम्**=दान न देनेवाले को **शोकाः अभि संयन्तु**=सब ओर से शोक प्राप्त होते हैं। ये ऐहिक ऐश्वर्य को भी नष्ट कर बैठते हैं, आमुष्मिक निःश्रेयस को तो इन्हें प्राप्त ही क्या करना?

भावार्थ—दान से दुरित दूर होते हैं, अदानवृत्ति शोक का कारण बनती है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्रातः प्रबुद्ध होकर क्रियाशील होनेवाला व्यक्ति रत्नों को प्राप्त करता है (१)। समाप्ति पर कहा है कि दान से दुरित दूर होते हैं (७)। इस प्रकार जीवन को सुन्दर बनाता हुआ 'कक्षीवान्' प्रभु का खूब ही स्मरण करता है ताकि

यह सुन्दरता स्थिर रहे—

[१२६] षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अहिंसित, दीप्त, यशस्वी' जीवन

अमन्दान्त्स्तोमान्प्र भरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य।
यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः॥ १॥

१. कक्षीवान् (जीवन में उन्नति के लिए दृढ़निश्चयवाला पुरुष) व्रत लेता है कि मैं **सिन्धौ**=हृदय-देश में, मानस (सरोवर) में **अधिक्षियतः**=अधिष्ठातृरूपेण निवास करते हुए **भाव्यस्य**=(सर्वत्र भवतीति भाव्यः) सर्वव्यापक प्रभु को **अमन्दान्**=कालक्रम में शिथिल न पड़नेवाले, सर्वदा एकरूप में चलनेवाले **स्तोमान्**=स्तुतिसमूहों को **प्रभरे**=प्रकर्षेण धारण करता हूँ। सदा प्रभु का स्तवन करता हूँ, इसमें शैथिल्य नहीं आने देता। मेरा यह स्तवन **मनीषा**=बुद्धिपूर्वक होता है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इस योगसूत्र के अनुसार मैं प्रभु के नाम का जप अर्थ-चिन्तनपूर्वक करता हूँ। यह जप यान्त्रिक-सा नहीं हो जाता। २. यहाँ हृदय को सिन्धु कहा है, जैसे सिन्धु जलों का महान् आशय है, उसी प्रकार यह हृदय भी सम्पूर्ण रुधिर का आशय है। 'मानसरोवर में हँस तैरता है' इसका भाव भी यही है कि हृदय में उस आत्मा का निवास है। 'अत गतौ' से आत्मा शब्द बनता है और 'हन सातत्यगमने' से हंस। इस प्रकार आत्मा व हंस पर्यायवाची हैं। हृदय उस सर्वव्यापक प्रभु का सर्वोत्कृष्ट निवास-स्थान है, क्योंकि यहाँ 'आत्मा और परमात्मा' दोनों का निवास होने से आत्मा 'परमात्मा' का दर्शन करता है। ३. ये हृदयस्थ प्रभु वे हैं, **यः**=जो **मे**=मेरे **सहस्रम्**=हज़ारों **सवान्**=यज्ञों को **अमिमीत**=निर्मित करते हैं, सिद्ध करते हैं। प्रभुकृपा से ही तो सब यज्ञपूर्ण होते हैं। 'हमारे सब यज्ञ उस प्रभु की कृपा से पूर्ण होते हैं'—यह भावना हमें उन यज्ञों के अहंकार से ऊपर उठाती है। ४. वे प्रभु **अतूर्तः**=अहिंसित हैं। उन्हें कोई भी विहत नहीं कर सकता। प्रभु मेरे साथ होते हैं तो मेरे सब कार्य निर्विघ्नता से पूर्ण होते हैं। **राजा**=वे प्रभु शासक हैं, उन्हीं के शासन में यह सम्पूर्ण विश्व चलता है। **श्रवः इच्छमानः**=वे प्रभु सदा मेरे यश को चाहते हैं, मेरे जीवन को यशस्वी बनाते हैं। पिता पुत्र के यश को चाहता ही है। प्रभु के समीप होने से मेरा जीवन वासनाओं से अहिंसित (अतूर्त) दीप्त (राजा) व यशस्वी (श्रवः) बनता है।

भावार्थ—प्रभु का निरन्तर स्तवन मेरे जीवन को यज्ञमय बनाता है। इस स्तवन के कारण मैं वासनाओं से हिंसित नहीं होता, दीप्त जीवनवाला बनता हूँ और यशस्वी होता हूँ।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

यज्ञों का साधन व यशस्वी जीवन

शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान्प्रयतान्त्सद्य आदम्।
शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमा ततान॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु मेरे जीवन में शतशः यज्ञों का साधन करते हैं। इन यज्ञों की पूर्ति के लिए वे प्रभु मुझे ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाते हैं। उस **नाधमानस्य**=(नाध=ऐश्वर्य) ऐश्वर्य-सम्पन्न **राज्ञः**=सम्पूर्ण विश्व के शासक प्रभु के **निष्कान्**=सुवर्णों को (निष्क=Gold) **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **आदम्**=ग्रहण करता हूँ। प्रभुकृपा से आजीवन मुझे वह धन प्राप्त होता रहता है, जिससे

कि मैं यज्ञों का साधन कर पाता हूँ। २. इस धन के साथ मैं **प्रयतान्**=पवित्र **अश्वान्**=कर्मेन्द्रियों को (अश्नुते कर्मसु) भी **सद्यः**=शीघ्र ही **शतम्**=आजीवन आदम्=प्राप्त करता हूँ। इन कर्मेन्द्रियों से ही तो यज्ञादि उत्तम कर्मों का साधन होगा। ३. **कक्षीवान्**=जीवन को यज्ञों के लिए अर्पित करने के लिए दृढ़ निश्चयवाला मैं **असुरस्य**=(असु क्षेपणे) धनों को बिखेरनेवाले अर्थात् धन की वर्षा करनेवाले उस प्रभु की **गोनाम्**=(गमयन्ति अर्थान्) अर्थों का ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों का **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त ग्रहण करनेवाला बनता हूँ। इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान ही तो यज्ञों को पूर्ण करवाएगा। बिना ज्ञान के तो कर्म अधूरे व दूषित ही रह जाते हैं। ४. इस प्रकार प्रभु मुझे (क) यज्ञों के साधक धन देते हैं, (ख) इन धनों से यज्ञ कर सकने के लिए पवित्र कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं, (ग) पवित्रता के लिए साधनभूत ज्ञान की साधक ज्ञानेन्द्रियाँ देते हैं। इस प्रकार यज्ञों को मेरे जीवन से पूर्ण कराके **दिवि**=इस द्युलोक में **अजरं श्रवः**=न जीर्ण होनेवाले यश को **आततान**=विस्तृत करते हैं। इन यज्ञों से मेरा यश फैलता है।

भावार्थ—प्रभु मुझे 'धन, पवित्र कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ' प्राप्त कराते हैं। इन साधनों से मेरा जीवन यज्ञों को सिद्ध करता हुआ यशस्वी बनता है।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पहले साठ वर्ष

उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ता वधूमन्तो दश रथासो अस्थुः।
षष्टिः सहस्रमनु गव्यमागात्सनत्कक्षीवाँ अभिपित्वे अह्नाम्॥ ३॥

१. जीव का नेतृत्व दूसरे के द्वारा होता है, यह पर-नेय है। इसे माता, पिता, आचार्य व अतिथि आगे-आगे ले-चलते हैं। प्रभु का नयन किसी और के द्वारा नहीं होता। प्रभु 'स्व-नय' हैं। वे स्वयं अपने को आगे प्राप्त कराये हुए हैं। प्रभु ने जीव को शरीररूप रथ दिया है। यह रथ एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से युक्त होता हुआ 'दस' हो गया है। इस रथ पर जीव तो आरूढ़ हुआ ही है। यह अपनी पत्नीरूपा बुद्धि के साथ इस पर आरूढ़ होता है। वस्तुतः यह बुद्धि ही इस रथ का सञ्चालन करती है 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'। २. इस जीवन को यदि एक दिन से उपमित करें तो जैसे दिन के पाँच प्रहर दिन कहलाते हैं और तीन प्रहर की रात्रि होती है, इसी प्रकार जीवन के प्रथम साठ वर्ष दिन के समान हैं और पिछले चालीस रात्रि के। साठ वर्ष प्रवृत्ति के हैं तो चालीस निवृत्ति के। **कक्षीवान्**=(कक्ष्ण=रज्जु) संयमी अथवा दृढ़निश्चयी पुरुष **अह्नाम्**=जीवन के दिनों के **अभिपित्वे**=(अभिपित्वम्=Dawn) उषाकाल में **सनत्**=(सन्=सम्भक्तौ) अपने कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है और चाहता है कि **षष्टिः**=जीवन के प्रथम साठ वर्षों में **सहस्रम्**=(स+हस्) उल्लासमय **गव्यम्**=इन्द्रियों का समूह **अनु**=अनुकूलता से **आगात्**=मुझे प्राप्त होता है। इन्द्रियाँ सदा मेरे वश में होती हैं तभी तो यात्रा की पूर्ति सम्भव होती है। ३. इस कक्षीवान् की प्रार्थना यही है कि **मा**=मुझे **स्वनयेन**=उस अपर-प्रणीत प्रभु से **दत्ताः**=दिये हुए **श्यावाः**=गतिशील **वधूमन्तः**=बुद्धिरूप वधूवाले **दश**=दस इन्द्रियों से युक्त होने के कारण दस संख्यावाले **रथासः**=ये शरीर-रथ **उप अस्थुः**=समीपता से प्राप्त हों। इन रथों से मैं जीवनयात्रा में आगे बढ़नेवाला बनूँ। 'मेरे सब कर्तव्य ठीक से पूर्ण हो सकें' इसके लिए इस रथ में जुतनेवाले इन्द्रियाश्व खूब गतिशील हों (श्यावाः)। मेरी बुद्धिरूपा पत्नी इस रथ का सञ्चालन सुन्दरता से करे। इस प्रकार मेरे विशिष्ट प्रवृत्ति के प्रथम साठ वर्ष ठीक प्रकार पूर्ण हों।

भावार्थ—मुझे जीवन के प्रारम्भ में सब प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिए उत्तम इन्द्रियाँ, शरीर

व बुद्धि प्राप्त हों।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पिछले चालीस वर्ष

चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः॥४॥

१. पिछले मन्त्र में 'दस रथों' का उल्लेख हुआ है। इस **सहस्रस्य**=उल्लासमय जीवनवाले **दशरथस्य**=दस इन्द्रियरूप अश्वों से युक्त रथवाले दशरथ के **शोणाः**=तेजस्विता के कारण शोण (red) वर्णवाले इन्द्रियाश्व **चत्वारिंशत्**=जीवन के पिछले चालीस वर्षों में **अग्रे श्रेणिम्**=मानव-श्रेणी के अग्रभाग में—वानप्रस्थ व संन्यास में **नयन्ति**=प्राप्त कराते हैं। पहले साठ वर्षों में यह ब्रह्मचर्य व गृहस्थ को पूर्ण कर चुका है, अब ये चालीस वर्ष उसके वानप्रस्थ और संन्यास में व्यतीत होते हैं। २. **कक्षीवन्तः**=संयम-रज्जु से अपने को बाँधनेवाले और अतएव **पज्राः**=शक्तिशाली (powerful) पुरुष **अत्यान्**=अपने इन्द्रियाश्वों को **उदमृक्षन्त**=विषयपङ्क से ऊपर उठाकर शुद्ध कर डालते हैं। इनके **इन्द्रियाश्व मदच्युतः**=मद का क्षरण करनेवाले, अर्थात् शक्तिशाली व निरभिमान होते हैं तथा **कृशनावतः**=ये स्वर्णवाले—स्वर्ण के समान दीप्तिवाले (कृशन=gold) अथवा उत्तम आकृतिवाले (कृशन=form) हैं। अपने इन्द्रियाश्वों को ऐसा बनाकर ये जीवन के इन पिछले चालीस वर्षों को संसार से निवृत्ति का ध्यान करते हुए बिताते हैं। एवं, पहले साठ वर्ष प्रवृत्ति के थे तो ये चालीस वर्ष निवृत्ति के हो जाते हैं। इस निवृत्ति के द्वारा ही ये शिखर पर पहुँचते हैं।

भावार्थ—हम जीवन की रात्रि के आने पर इन्द्रियाश्वों को शुद्ध बनाकर सब विषयों से निवृत्त होने का ध्यान करें।

ऋषिः—कक्षीवान्। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रथमाश्रम की तपस्या

पूर्वामनु प्रयतिमा ददे वस्त्रीन् युक्ताँ अष्टावरिधायसो गाः।
सुबन्धवो ये विश्याइव व्रा अनस्वन्तः श्रव ऐषन्त पज्राः॥५॥

१. वेद की वाणियाँ 'गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै' (अथर्व० १९।२१।१) इस मन्त्र के अनुसार गायत्र्यादि सात छन्दों में हैं। इनमें गायत्री प्रमुख है। इनके तीन चरण हैं, प्रत्येक चरण आठ-आठ अक्षरों से युक्त है। इस प्रकार यह गायत्री चौबीस अक्षरोंवाली है। इन गायत्री आदि छन्दों को हम प्रथम आश्रम में ही ग्रहण करते हैं। ये सब छन्द गति देनेवाले प्रभु का धारण करते हैं। हे प्रभो! मैं **वः**=आपकी इन **गाः**=वाणियों को **पूर्वां प्रयतिम् अनु**=प्रथमाश्रम में होनेवाले प्रयत्न के अनुसार **आददे**=ग्रहण करता हूँ। जो वाणियाँ **त्रीन्**=तीन चरणों में हैं और **अष्टौ युक्तान्**=प्रत्येक चरण में आठ अक्षरों से युक्त हैं अथवा जो **त्रीन्**=प्रकृति, जीव, परमात्मा तीनों का प्रतिपादन करती हैं और **अष्टौ युक्तान्**='पञ्च महाभूत, मन, बुद्धि व अहंकार' इन आठों से युक्त हैं, इनका ज्ञान कराती हैं। इनका ज्ञान देती हुई ये वाणियाँ **अरिधायसः**=उस प्रथम गति देनेवाले प्रभु का धारण करती हैं। इन वाणियों को ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यपूर्वक तपस्वी जीवन से ही प्राप्त करता है। २. **ये**=जो **सुबन्धवः**=उत्तम बन्धुत्ववाले होते हैं, जिन्हें उत्तम माता, पिता व आचार्य प्राप्त होते हैं, **विश्याः इव**=जो प्रजाओं का हित करनेवाले-से हैं, जिनकी सब क्रियाएँ लोकहित के लिए होती हैं, **व्राः**=जो प्रभु का वरण करनेवाले हैं और इसलिए

अनस्वन्तः=उत्तम शरीर-रथवाले हैं, **पज्राः**=शक्तिशाली हैं, वे **श्रवः एषन्त**=ज्ञान की कामना करते हैं। ज्ञान की कामनावालों को 'सुबन्धु, विश्या, व्रा, अनस्वान् व पज्र' बनना चाहिए। ऐसा बनना ही ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी होना है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम जितना श्रम करेंगे (studious होंगे) उतना ही वेदज्ञान को प्राप्त कर पाएँगे। यह ज्ञान ही हमें प्रभु के समीप ले-जाएगा।

ऋषिः—भावयव्यः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

वेदवाणीरूप पत्नी

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥ ६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित वेदवाणी **आगधिता**=सब प्रकार से ग्रहण की हुई, जहाँ से भी सम्भव हो वहाँ से ग्रहण की गई **परिगधिता**=सब ओर से ग्रहण की गई—आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक भावनाओं से अध्ययन की हुई **जंगहे**=हमारा ग्रहण करती है, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि या **कशीका**=जो गोह होती है (सूतवत्सा नकुली—सा०) गोह एक स्थान को इतनी दृढ़ता से पकड़ लेती है कि तस्कर लोग दीवार आदि पर चढ़ने में इनका सहारा लेते हैं। हम वेदवाणी का ग्रहण करते हैं तो वेदवाणी हमारा ग्रहण करती है, पति पत्नी का तो पत्नी पति का। यह **यादुरी**=(बहु रेतोयुक्ता—सा०) हमें अत्यन्त तेजस्वी बनानेवाली, **भोज्या**=पालन करनेवालों में उत्तम **या**=जो वेदवाणी है वह **याशूनाम्** (अश=भोजने) भोज्य वस्तुओं के **शता**=सैकड़ों को **मह्यं ददाति**=मुझे देती है। वेदवाणी से तेजस्विता प्राप्त होती है और जीवन के लिए आवश्यक सब वस्तुओं की प्राप्ति की योग्यता मिलती है। ज्ञान तो होता ही वह है जोकि 'सह नौ भुनक्तु' हमें आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराके हमारा पालन करता है तथा 'तेजस्विनावधीतमस्तु' हमें तेजस्वी बनाता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी को अपनाते हैं तो वेदवाणी हमें अपनाती है। वह हमें तेजस्वी बनाती है और शतशः भोज्य वस्तुओं को देती है।

सूचना—सायण 'याशूनां' को एक ही पद रखते हैं, अर्थ में भेद नहीं है।

ऋषिः—रोमशा ब्रह्मवादिनी। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

सर्वा रोमशा

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥ ७॥

१. गतमन्त्र का ऋषि 'स्वनय भावयव्य' था जो अपना प्रणयन स्वयं करता है। वह इन्द्रियों व मन से सञ्चालित नहीं होता तथा भाव व चिन्तन को अपने साथ मिलानेवालों में (यु) उत्तम है (य)। उसने वेदवाणी का महत्त्व समझकर उसका ग्रहण करने का निश्चय किया। प्रस्तुत मन्त्र में वेदवाणी कहती है कि हे स्वनय भावयव्य! **उप उप मे परामृश**=तू समीपता से मेरा आलिङ्गन कर। सूक्ष्मता से विचार करना ही इसका आलिङ्गन है (परामर्श=विचार)। जितनी सूक्ष्मता से इसका विचार किया जाए उतना ही उत्तम है। वेदवाणी कहती है **मा**=मत **मे**=मेरी **दभ्राणि**=अल्पता को **मन्यथाः**=मान और समझ। यह मत समझ कि मेरे शब्द कम अर्थवाले हैं। इनका अर्थ-गाम्भीर्य तो सूक्ष्म विचार से ही ज्ञात हो पाएगा। २. **अहम्**=मैं **सर्वा अस्मि**=पूर्ण हूँ, सब सत्यविद्याओं की प्रकाशिका हूँ। मुझमें **रोमशा**=ज्ञानजल का निवास है (रोमं=water)

और **गन्धारीणाम्**=वेदवाणी का धारण करनेवालों की मैं **अविका इव**=रक्षिका के समान हूँ। मुझसे रक्षित होकर व्यक्ति वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता। ज्ञान का व्यसन अन्य सब व्यसनों से बचाने का साधन हो जाता है। ३. इस रोमशा वेदवाणी का अध्ययन करनेवाली ब्रह्मवादिनी का नाम भी रोमशा हो गया है। यही इस मन्त्र की ऋषिका है।

भावार्थ—जितनी सूक्ष्मता से हम विचार करेंगे, उतना ही वेदार्थ की गूढ़ता को समझ पाएँगे। यह वेदवाणी सब सत्यविद्याओं की प्रकाशिका है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभुस्तवन से मैं वासनाओं से अहिंसित जीवनवाला बनता हूँ (१)। समाप्ति पर कहा है कि प्रभु से दी गई यह वेदवाणी अपने धारण करनवालों का रक्षण करती है (७)। इस वेदज्ञान के देनेवाले प्रभु का मनन करता हुआ **दैवोदासः**=उस देव का अनन्यभक्त **परुच्छेप**=पर्व-पर्व में निर्माणात्मक शक्ति का सञ्चार करनेवाला बनकर प्रार्थना करता है—

एकोनविंशोऽनुवाकः

[१२७] सप्तविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

अग्नि-मनन

अ॒ग्निं होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तं॒ वसुं॑ सू॒नुं सह॑सो जा॒तवे॑दसं॒ विप्रं॒ न जा॒तवे॑दसम्।
य ऊ॒र्ध्वया॑ स्वध्व॒रो दे॒वो दे॒वाच्या॑ कृ॒पा ।
घृ॒तस्य॒ विभ्रा॑ष्टि॒मनु॑ वष्टि शो॒चिषा॒जुह्वा॑नस्य स॒र्पिषः॑ ॥ १ ॥

१. मैं **अग्निम्**=उस **सर्वाग्रणी**=हमारी अग्रगति के साधक प्रभु का **मन्ये**=मनन व विचार करता हूँ जो प्रभु **होतारम्**=सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं, **दास्वन्तम्**=सब-कुछ देनेवाले हैं, **वसुम्**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त कराके हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। २. मैं उस प्रभु का मनन करता हूँ जो **सहसः सूनुम्**=शक्ति के पुञ्ज हैं तथा **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ हैं। शक्ति व ज्ञान की पराकाष्ठा उस प्रभु का स्मरण करता हुआ मैं भी शक्ति व ज्ञान के उपार्जन के लिए यत्नशील होता हूँ। ३. उस प्रभु का मैं इस प्रकार **मन्ये**=आदर करता हूँ **न**=जैसे कि **जातवेदसं विप्रम्**=ज्ञानी ब्राह्मण का आदर करता हूँ। इन ज्ञानी ब्राह्मणों का सम्पर्क ही मुझे उस सर्वज्ञ प्रभु के समीप पहुँचानेवाला होता है। ४. प्रभु वे हैं **यः**=जोकि **स्वध्वरः**=उत्तम अहिंसात्मक यज्ञोंवाले **देवः**=प्रकाशमय होते हुए **ऊर्ध्वया**=अत्यन्त उन्नत **देवाच्या**=(देवान् अञ्चति) देवों को प्राप्त होनेवाले कृपा सामर्थ्य से (कृप् सामर्थ्ये) हमारे जीवनों में **घृतस्य विभ्राष्टिम्**=ज्ञानदीप्ति की ज्योति के **अनु**=पश्चात् **शोचिषा**=मन की शुचिता के साथ **आजुह्वानस्य सर्पिषः**=आहुति दिये जाते हुए घृत की **वष्टि**=कामना करते हैं। प्रभु हमारे जीवन में तीन बातें चाहते हैं—(क) ज्ञान की दीप्ति, (ख) हृदय की पवित्रता, (ग) हाथों से यज्ञों का प्रवर्तन। ये सब बातें हमारे जीवन में प्रभु कृपा से ही आती हैं। यह प्रभु कृपा देवों को प्राप्त होती है। देव बनने का यत्न करते हुए ही हम उस कृपा के अधिकारी बनते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु 'अग्नि, होता, दास्वान्, वसु, सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ' हैं। उनसे सामर्थ्य

प्राप्त करके हम मस्तिष्क में ज्ञान-दीप्तिवाले, हृदय में पवित्रतावाले और हाथों में यज्ञवाले बनें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

यजिष्ठ का आराधन

यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः। परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम्। शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः॥ २॥

१. हे **विप्र**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले! **शुक्र**=अत्यन्त शुद्ध, उज्ज्वल रूपवाले प्रभो! **यजिष्ठम्**=सर्वाधिक पूज्य, संगतिकरण के योग्य तथा महान् दाता **त्वा**=आपको **यजमानाः**=यज्ञशील बनकर हम **हुवेम**=पुकारते हैं। आप **अङ्गिरसां ज्येष्ठम्**=अङ्ग-अङ्ग में रसवालों में ज्येष्ठ हैं। आप तो हैं ही 'रस'। २. हम आपकी आराधना **मन्मभिः**=मनन साधनों से और **विप्रेभिः मन्मभिः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले स्तोत्रों से करते हैं। प्रभु-स्तवन हमारे सामने जीवन के उत्कृष्ट लक्ष्य को उपस्थित करता है। उस लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए हम अपने जीवन को पूरण करनेवाले होते हैं। इससे ये 'मन्म' 'विप्र' हो जाते हैं। ये स्तोत्र हमारा पूरण करते हैं। ३. हे प्रभो! आप **परिज्मानम्**=चारों ओर गति करनेवाले—प्रकाश के द्वारा सर्वत्र व्याप्त होनेवाले **द्याम् इव**=सूर्य के समान हैं—'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः', 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'। **चर्षणीनां होतारम्**=श्रमशील मनुष्यों को सब-कुछ देनेवाले हैं, **शोचिष्केशम्**=दीप्तज्ञान-रश्मियोंवाले हैं (केश=ray of light), **वृषणम्**=शक्तिशाली व सब पर सुखवृष्टि करनेवाले हैं। आप वे हैं **यम्**=जिनको **इमाः विशः विशः**=ये संसार में प्रविष्ट प्रजाएँ **जूतये**=स्वर्गादि इष्ट-फलों की प्राप्ति के लिए **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण प्रीणित करनेवाली हों। पुत्र के उत्तम कर्मों से प्रसन्न पिता जैसे पुत्र के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराने के लिए उद्यत होता है, इसी प्रकार प्रभु हमारे उत्तम कर्मों से प्रीणित होने पर हमें सब इष्ट-फलों को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम यजिष्ठ प्रभु का उपासन करते हैं। प्रभु के स्तोत्र हमारे जीवन का पूरण करते हैं। हम भी 'शोचिष्केश व वृषा' बनते हैं—दीप्तज्ञान-रश्मियोंवाले तथा शक्तिशाली।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

द्रुहन्त का अ-पलायन

स हि पुरू चिदोजसा विरुक्मता दीद्यानो भवति द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः। वीळु चिद्यस्य समृतौ श्रुवद्वनेव यत्स्थिरम्। निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते॥ ३॥

१. **सः**=वह अग्नि (गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के उपासन से 'शोचिष्केश व वृषण' बननेवाला) **हि**=निश्चय से **विरुक्मता**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाले **ओजसा**=ओज से **पुरुचित्**=अत्यधिक **दीद्यानः**=चमकता हुआ **द्रुहन्तरः**=हमारी जिघांसावाले काम-क्रोधादि शत्रुओं को तैर जानेवाला **भवति**=होता है। **न**=जैसे **परशुः**=एक कुल्हाड़ा वृक्षों का छेदन करनेवाला होता है, इसी प्रकार यह अग्नि **द्रुहन्तरः**=इन जिघांसुओं को समाप्त करनेवाला होता है। २. यह अग्नि वह है **यस्य**=जिसका **समृतौ**=आक्रमण होनेपर **वीळुचित्**=दृढ़-से-दृढ़ वासनाएँ भी **श्रुवत्**=शीर्ण हो जाती हैं। **वना इव**=वनों की भाँति **यत् स्थिरम्**=जो दृढ़मूल भी वासनाएँ

हैं उन्हें **निः षहमाणः**=पूर्णरूप से पराभूत करता हुआ **यमते**=यह उन वासनाओं का नियमन करता है अथवा उनका उच्छेद करता हुआ क्रीड़ा करता है (यम्=उपरम=क्रीड़ा), **न अयते**=(न पलायते) यह इस संग्राम में पराजित होकर भागता नहीं। **धन्वासहा न**=एक धनुर्धारी की भाँति **अयते**=यह संग्राम में गति करता है। एक धनुर्धर लक्ष्यवेध करता हुआ संग्राम में इधर-उधर गतिवाला होता है, इसी प्रकार यह अग्नि भी कामादि शत्रुओं का संहार करता हुआ गति करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक देदीप्यमान तेज से चमकता हुआ कामादि का पराजय करता है, इनसे संग्राम करता हुआ कभी कायर नहीं बनता, अपितु युद्ध-क्रीड़ा में वीरता के साथ इनका नियमन करता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

तेजिष्ठ अरणियों के द्वारा

दृळ्हा चिदस्मा अनु दुर्यथा विदे तेजिष्ठाभिररणिभिर्दाष्ट्यवसेऽग्नये दाष्ट्यवसे।
प्र यः पुरूणि गाहते तक्षद्वनेव शोचिषा ।
स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा ॥४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **अस्मै**=इस अग्नि के लिए (जो कामादि का विनाश करके) यथा **विदे**=यथार्थ ज्ञानी बना है **चित्**=निश्चय से **दृढा**=दृढ बलों को **अनुदुः**=सब देव अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं। यथार्थ ज्ञान होने पर यह सब वस्तुओं का ठीक ही प्रयोग करता है और परिणामतः सब देव इसके अनुकूल होते हुए उसकी शक्ति का वर्धन करते हैं। २. यह **तेजिष्ठाभिः**=अत्यन्त तेजस्वी **अरणिभिः**=श्रद्धा व ज्ञानरूप अरणियों के द्वारा **अवसे**=रक्षण के लिए **दाष्टि**=अपने को दे डालता है। किसके लिए? **अग्नये दाष्टि अवसे**=यह अपने रक्षण के लिए अग्निस्वरूप प्रभु के लिए अपने को दे डालता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए श्रद्धा व ज्ञान ही दो अरणियाँ हैं—इनकी रगड़ से प्रभुरूप अग्नि का प्रकाश होता है। केवल मस्तिष्क व केवल हृदय प्रभु का दर्शन नहीं कर पाता। 'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्'—इसीलिए अथर्वा मस्तिष्क व हृदय को परस्पर सीकर (मिलाकर) चलता है। एवं ज्ञान व श्रद्धा से प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके हम वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। ३. प्रभु के द्वारा रक्षित हुआ-हुआ **यः**=जो अग्नि (प्रगतिशील जीव) है, वह **पुरूणि**=बहुत भी शत्रुओं का **गाहते**=आलोडन करता है, उनमें प्रविष्ट होता है और **तक्षत्**=उनको विनष्ट करता है, **इव**=जैसे अग्नि **शोचिषा**=अपनी दीप्ति से **वना**=वनों में प्रविष्ट होकर उनका ध्वंस करता है। ३. **ओजसा**=(हेतौ तृतीया) इस शत्रुविध्वंस करनेवाले ओज के हेतु से यह **चित्**=निश्चयपूर्वक **स्थिरा अन्ना**=स्थिर सारवान् अन्नों के प्रति **निरिणाति**=जाता है। ये स्थिर सात्त्विक अन्न (रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः-गीता) इसे वे सात्त्विक शक्ति प्रदान करते हैं, जिससे यह कामादि शत्रुओं का विनाश करनेवाला बनता है। यह **ओजसा**=इस ओजस्विता के हेतु **स्थिराणि**=इन स्थिर अन्नों को **चित्**=निश्चय से **प्र नि**=(रिणाति)=प्राप्त करता ही है। वस्तुतः इन स्थिर अन्नों से ही यह जीवन में उस सत्त्व को प्राप्त करता है जिसके कारण यह विजयी बनता है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्नों के सेवन से सत्त्वगुण का वर्धन होकर हम ओजस्वी बनते हैं। श्रद्धा व ज्ञान के उत्कर्ष से प्रभु का प्रकाश पाकर कामादि शत्रुओं का ध्वंस कर डालते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—अत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

दिन की अपेक्षा रात्रि में सुदर्शनतर प्रभु

तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि नक्तं यः सुदर्शतरो दिवातरादप्रायुषे दिवातरात्।
आदस्यायुर्ग्रभणवद्वीळु शर्म न सूनवे।
भक्तमभक्तमवो व्यन्तो अजरा अग्नयो व्यन्तो अजराः ॥५॥

१. **तम्**=उस **अस्य**=इस प्रभु के **पृक्षम्**=अन्न को **उपरासु**=यज्ञवेदिरूप भूमियों में **धीमहि**=धारण करते हैं, अर्थात् यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनते हैं। सम्पूर्ण अन्न प्रभु का दिया हुआ है। उस प्रभुप्रदत्त अन्न को प्रथम उस महादेव के अधीनस्थ इन देवों के लिए देकर हम बचे हुए अन्न का सेवन करते हैं। ये प्रभु वे हैं **यः**=जो **नक्तम्**=रात्रि के समय **दिवातरात् सुदर्शतरः**=दिन के समय की अपेक्षा अधिक सुन्दरता से व सुगमता से देखने योग्य होते हैं। (क) यह भौतिक अग्नि तो दिन की अपेक्षा रात्रि में अधिक चमकती ही है, प्रभु भी दिन की अपेक्षा रात्रि में सुगमता से दिखते हैं। दिन के समय चित्तवृत्ति इधर-उधर भटकती रहती है, रात्रि में दिन की अपेक्षा एकाग्रता होने से प्रभु 'स्वप्नधीगम्य'—(मनु) होते हैं। प्रभु-प्राप्ति का यह उपाय भी कहा गया है कि स्वप्न में अचानक प्रभु का दर्शन हो तो 'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा' (योगदर्शन) उस स्वप्नज्ञान को ग्रहण करने का यत्न करना, (ख) इसका भाव यह भी है कि 'दिन' प्रकाश व सुख-समृद्धि का प्रतीक है तो 'रात्रि' अन्धकार के कष्टों का प्रतीक है। सुख-समृद्धि में प्रभु विस्मृत हो जाते हैं, कष्टों में उनका स्मरण हो ही आता है। ३. **अप्रायुषे**=(अ प्र आयुषे) निकृष्ट जीवनवाले के लिए तो वे प्रभु **दिवातरात्**=दिन की अपेक्षा रात्रि में ही अधिक सुदर्श होते हैं। उत्कृष्ट जीवनवाले व्यक्ति सुख में भी प्रभु का स्मरण करते हैं, निकृष्ट जीवनवाले तो कष्ट में ही उसका स्मरण करते हैं। ज्ञानीभक्त विरल ही होते हैं, प्रायः लोग आर्तभक्त ही बनते हैं। **आत्**=अब प्रभुभक्त बनने पर **अस्य आयुः**=इसका जीवन **ग्रभणवत्**=ग्रहणवाला होता है, इसका जीवन प्रभु का धारण करनेवाला होता है। वे प्रभु इसके लिए इस प्रकार होते हैं **न**=जैसे कि **सूनवे**=पुत्र के लिए पिता का **वीडु शर्म**=दृढ़ गृह होता है। यह गृह जिस प्रकार पुत्र के लिए सुखदायक होता है, उसी प्रकार इसके लिए प्रभु सुखदायक होते हैं। प्रभु इसके लिए घर बन जाते हैं, यह प्रभु में निवास करता है। ४. प्रभु **भक्तम्**=अपने उत्कृष्ट ज्ञानीभक्त को तथा **अभक्तम्**=इस आर्त ईषद् भक्त को भी **अवः**=रक्षित करते हैं। प्रभु के रक्षण में चलते हुए ये ईषद् भक्त भी धीरे-धीरे **व्यन्तः**=हविर्भक्षण की वृत्तिवाले बनकर **अजराः**=अजीर्ण (अ-क्षरित) शक्तियोंवाले होते हैं। ये **अग्नयः**=प्रगतिशील होते हैं और **व्यन्तः**=यज्ञशेष का ही सेवन करते हुए **अजराः**= अ-जीर्णशक्ति बनते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा यज्ञशेष का सेवन करता हुआ अजर बनता है। प्रभु के ज्ञानीभक्त कम होते हैं, आर्तभक्त अधिक। प्रभु इन सबका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—अत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

ज्ञानीभक्त का अनुकरणीय जीवन

स हि शर्धो न मारुतं तुविष्वणिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनिः।
आदद्धव्यान्याददिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम् ॥६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित ज्ञानीभक्त का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **सः हि**=वह निश्चय

से **मारुतं शर्धः न**=वायु के वेग व बल के समान होता है। वायु की भाँति स्फूर्ति के साथ निरन्तर क्रियाओं को करनेवाला होता है। **तुविष्वणिः**=यह महान् स्वप्नवाला होता है, खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। २. इसकी **अप्नस्वतीषु**=उत्तम कर्मोंवाली **उर्वरासु**=नये-नये विचारों के चिन्तन के लिए उपजाऊ बुद्धियों में वह प्रभु **इष्टनिः**=यष्टव्य होते हैं, अर्थात् यह प्रभु का ज्ञानी भक्त बनता है। इसकी बुद्धि प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखती है और प्रभु के आदेशों के अनुसार चलनेवाली होती है। अकर्मण्य व निर्बुद्धि पुरुष प्रभु का पूजन नहीं कर पाता। **आर्तनासु इष्टनिः**=पीड़ाओं में तो वे प्रभु यष्टव्य होते ही हैं। एक बुद्धिमान् पुरुष प्रभुस्मरण से शक्ति पाकर इन पीड़ाओं को सरलता से सह लेता है। ३. यह (क) **हव्यानि आदत्**=हव्य पदार्थों को खाता है, यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करता है, (ख) **यज्ञस्य आददिः**=यज्ञ का खूब ही ग्रहण करनेवाला होता है, (ग) **अर्हणा**=योग्यता के कारण **केतुः**=यह प्रज्ञापक बनता है, स्वयं योग्य बनकर औरों को उपदेश देनेवाला होता है। ४. **अध**=अब **स्म**=निश्चय से **अस्य हर्षतः**=इस प्रसन्नवृत्तिवाले के **हृषीवतः**=औरों को हर्षित करनेवाले के **पन्थाम्**=मार्ग का **विश्वे जुषन्त**=सब सेवन करते हैं। इसके मार्ग पर सब चलना चाहते हैं। **न**=उसी प्रकार इसके जीवन-मार्ग का अनुसरण करते हैं जैसे कि **नरः**=उन्नतिशील लोग **शुभे**=शोभा के लिए **पन्थाम्**=मार्ग को अपनाते हैं। 'मार्ग पर चलने से ही शुभ होता है'—यह समझकर लोग मार्ग को अपनाते हैं, मार्ग वही है जिस पर यह स्वयं प्रसन्न तथा औरों को प्रसन्न करनेवाला 'अग्नि' चल रहा है। इसका जीवन औरों के लिए मार्गदर्शक हो जाता है। इसका अनुसरण करते हुए वे भी (क) सात्त्विक (हव्य) पदार्थों का सेवन करते हैं, (ख) यज्ञशील होते हैं, (ग) योग्य बनकर औरों को ज्ञान देते हैं, (घ) प्रसन्न रहते हैं तथा औरों की प्रसन्नता का कारण बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी भक्त का जीवन खूब क्रियाशील व प्रभु स्मरणवाला होता है, अतएव यह जीवन अनुकरणीय बन जाता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

नम्र व पवित्र

द्विता यदीं कीस्तासो अभिद्यवो नमस्यन्त उपवोचन्त
भृगवो मथ्नन्तो दाशा भृगवः ।
अग्निरीशे वसूनां शुचिर्यो धर्णिरेषाम् ।
प्रियाँ अपिधीँर्वनिषीष्ट मेधिर आ वनिषीष्ट मेधिरः ॥७॥

१. **यत्**=जो **ईम्**=निश्चय से **द्विता**=दो प्रकार से—प्रातः-सायं **कीस्तासः**=प्रभु का कीर्तन करनेवाले होते हैं, वे (क) **अभिद्यवः**=दोनों ओर दीप्तिवाले होते हैं। प्रकृति और आत्मा दोनों के दृष्टिकोण से ये ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त करते हैं। प्रकृतिविद्या और आत्मविद्या दोनों में निपुण होते हुए 'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च' इस उपनिषद्-वाक्य को अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं, (ख) **नमस्यन्तः**=सदा नमस्वाले होते हैं। ये प्रभु के प्रति तो नमन करते ही हैं, सबके प्रति भी नम्रता के भाववाले होते हैं, (ग) **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) ये अपने जीवन को परिपक्व करनेवाले हैं, (घ) **मथ्नन्तः**=कामादि शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं, (ङ) **दाशाः**=अपने को प्रभु के प्रति दे डालते हैं। ऐसे **भृगवः**=तपस्वी लोग **उपवोचन्त**=प्रभु की उपासना में स्थिर होकर प्रभु के गुणों का प्रवचन करते हैं। २. **अग्निः**='अग्नि' आदि शब्दों से वर्णित व्यक्ति अग्रणी

बनता है, अपने को अग्रस्थान में प्राप्त करानेवाला होता है। **वसूनाम् ईशे**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों का यह ईश बनता है, इसी से इसका निवास बड़ा उत्तम होता है। **शुचिः**=धन के दृष्टिकोण से यह पवित्र होता है—'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः' (मनु०) यह अग्नि वह है **यः**=जो कि **एषाम्**=इन लोकों का **धर्णिः**=धारण करनेवाला बनता है। यह धनों का विनियोग अपनी मौज के लिए ही नहीं करता रहता, अपितु इनका विनियोग लोकहित में करता है। ३. इसी का परिणाम है कि प्रभु इसे खूब ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। यह **मेधिरः**=मेधावी पुरुष उन **प्रियान्**=प्रिय वस्तुओं को **अपिधीन्**=तृप्तिपर्यन्त प्रदत्त की गई, अर्थात् यथेष्ट प्राप्त कराई हुइयों का **वनिषीष्ट**=सेवन करता है। यह **मेधिरः**=मेधासम्पन्न व्यक्ति **आवनिषीष्ट**=सब ओर से इनको प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—दोनों कालों में प्रभु का उपासना करनेवाला दीप्त जीवन प्राप्त करता है। यह पवित्र व लोकधारक होता है। प्रभु इसे खूब ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। यह मेधावी होता हुआ उन ऐश्वर्यों को लोकहित में विनियुक्त करता है। यह स्वस्थ जीवनवाला बनकर नम्रता से भूषित जीवनवाला होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

उपासना

विश्वासां त्वा विशां पतिं हवामहे सर्वासां समानं दम्पतिं
भुजे सत्यगिर्वाहसं भुजे ।
अतिथिं मानुषाणां पितुर्न यस्यासया ।
अमी च विश्वे अमृतास आ वयो हव्या देवेष्वा वयः ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि 'अभिद्यु' आदि प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करते हैं। उपासना का स्वरूप यह होता है कि (क) **विश्वासाम्**=सब **विशाम्**=प्रजाओं के **पतिम्**=स्वामी **त्वा**=तुझको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। प्रभु को सब प्रजाओं के रक्षक के रूप में स्मरण करते हुए ये स्वयं भी सबकी रक्षा में प्रवृत्त होते हैं, (ख) **सर्वासां समानम्**=सब प्रजाओं के प्रति समानरूप से वर्तनेवाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु का किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं, वे समानरूप से सबके पिता व माता हैं। यह भक्त भी सबके प्रति समभाव को धारण करने का प्रयत्न करता है, (ग) **दम्पतिम्**=(दम=गृह) घर के रक्षक प्रभु को पुकारते हैं। अपने घर का रक्षण करता हुआ यह भक्त रक्षण का गर्व नहीं करता—प्रभु को ही यह रक्षक मानता है, अपने को उसका निमित्तमात्र जानता है, (घ) **भुजे**=सब प्रजाओं के पालन के लिए **सत्यगिर्वाहसम्**=सत्यवाणी को धारण करनेवाले प्रभु को पुकारते हैं। इस सत्यवाणी के द्वारा ही **भुजे**=वे हमारा पालन करते हैं और हमें भोजन प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कराते हैं (भुज पालनाभ्यवहारयोः)। इन शब्दों में उपासना करता हुआ उपासक भी सत्यवाणी का ग्रहण करता है और उसका प्रचार करता है। भक्त उस प्रभु की उपासना करते हैं जो **मानुषाणाम्**= मानवहित में तत्पर व्यक्तियों को **अतिथिम्**=निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। **पितुः न**=पिता के समान **यस्य**=जिसकी **आसया**=उपासना से **अमी**=वे **विश्वे**=सब उत्तम पुरुष **अमृतासः**=नीरोग बनते हैं **च**=और **आवयः**=जीवनपर्यन्त **हव्या**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करते हैं, **देवेषु**=देवों में **आवयः**=जीवनपर्यन्त ये उत्कृष्ट पदार्थ उपस्थित होते हैं। प्रभु का सच्चा उपासक वही है जो सब प्रजाओं का रक्षक होता है, सबके प्रति समभाव से वर्तता है, घर का पूर्ण रक्षण करता है, सबके पालन के लिए सत्यवाणी का

प्रकाश करता है। जीवन भर हव्य पदार्थों का ही सेवन करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रभु को सर्वत्र समरूप से रक्षण करते हुए देखता है और स्वयं वैसा ही बनने का प्रयत्न करता है। इस वृत्ति की उत्तमता के लिए ही वह हव्य पदार्थों का सेवन करता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—अष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

सहन्तमः शुष्मिन्तमः

त्वमग्ने सहसा सहन्तमः शुष्मिन्तमो जायसे देवतातये रयिर्न देवतातये।
शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः ।
अध स्मा ते परि चरन्त्यजर श्रुष्टीवानो नाजर ॥ ९ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **सहसा सहन्तमः**=सहस् के द्वारा सर्वाधिक सहस्वाले हैं। 'सहस्' शब्द शक्ति के उस स्वरूप का वाचक है, जिसका सम्बन्ध हमारे जीवन में आनन्दमयकोश से है। वे प्रभु 'सहन्तम' हैं, इसी से आनन्दस्वरूप हैं। यह शक्ति ही हमें सहनशील बनाती है। हे प्रभो! आप **शुष्मिन्तमः**=सर्वाधिक शत्रुबल-शोषक हैं। आपकी कृपा व शक्ति से ही हम भी कामादि शत्रुओं का पराजय कर पाते हैं। आप **देवतातये जायसे**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिए होते हैं। **न**=जिस प्रकार **रयिः**=धन **देवतातये**=दिव्यगुणों व यज्ञादि के लिए सहायक होता है उसी प्रकार प्रभु स्मरण देवताति के लिए आवश्यक है। वस्तुतः प्रभु के बिना धन भी हमें यज्ञादि में ले-जाने के स्थान पर कुमार्ग में ले-जानेवाला बन जाता है। २. हे प्रभो! **ते मदः**=तेरे स्मरण से उत्पन्न हुआ-हुआ मद (नशा) **हि**=निश्चय से **शुष्मिन्तमः**=हमें अत्यधिक शक्तिशाली बनानेवाला है, **उत**=और **क्रतुः**=आपके कर्म **द्युम्निन्तमः**=अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं। आपकी प्राप्ति के लिए किये जानेवाले सभी कर्म हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाते हैं। हे **अजर**=जरा रहित, कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! **अध**=अब आपके स्मरण के नशे से 'शुष्मिन्तम' बनकर और आपकी प्राप्ति के लिए किये जानेवाले कर्मों से 'द्युम्निन्तम' बने हुए **स्म**=ही हम लोग **ते श्रुष्टीवानः न**=आपके दूत से बने हुए, आपके सन्देश को सर्वत्र पहुँचाते हुए **परिचरन्ति**=आपकी परिचर्या व सेवा करते हैं। हे **अजर**=अ-जीर्णशक्तिवाले प्रभो! आपके ही वे सेवक होते हैं। प्रभु के सन्देशवाहक के लिए 'शुष्मिन्तम व द्युम्निन्तम' होना आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु 'सहन्तम व शुष्मिन्तम' हैं। उनका उपासक भी ऐसा ही बनकर प्रभु के सन्देश को फैलाता हुआ प्रभु का सच्चा सेवक बनता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगतिशक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

होता ही सच्चा स्तोता है

प्र वो महे सहसा सहस्वत उषर्बुधे पशुषे नाग्नये स्तोमो बभूत्वग्नये।
प्रति यदीं हविष्मान् विश्वासु क्षासु जोगुवे ।
अग्रे रेभो न जरत ऋषूणां जूर्णिहोर्त ऋषूणाम् ॥ १० ॥

१. **वः**=तुम्हारा **स्तोमः**=स्तवन उस **अग्नये**=अग्रणी प्रभु के लिए **प्रबभूतु**=खूब ही हो जो **महे**=पूज्य हैं, **सहसा सहस्वते**=सहस् के द्वारा सहस्वाले हैं, सर्वाधिक बलवाले हैं, **उषर्बुधे**=उषाकाल में बोध देनेवाले हैं, उषाकाल में जागनेवालों को बोध व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। **पशुषे न**=उस प्रभु के लिए तुम्हारे स्तोत्र हों जो (पश्य) सदा तुम्हारा ध्यान

करनेवाले के समान हैं—(one who always looks after you) वस्तुतः **यत्**=जो **ईम्**=निश्चय से **हविष्मान्**=हविवाला पुरुष, त्यागपूर्वक अदन करनेवाला पुरुष, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला पुरुष है वह **विश्वासु क्षासु**=निवास के लिए कारणभूत यज्ञवेदि की सब भूमियों के प्रति **प्रतिजोगुवे**=प्रतिदिन जानेवाला होता है। यही **रेभः न**=सच्चे स्तोता के समान **ऋषूणाम् अग्रे**=तत्त्वज्ञानियों के अग्रभाग में स्थित हुआ-हुआ **जरते**=प्रभु का स्तवन करता है। **होतः**=यह यज्ञशील पुरुष ही **ऋषूणाम्**=ज्ञानियों में **जूर्णिः**=प्रभु का सच्चा स्तोता है, यही स्तुति कुशल है, वास्तव में स्तुति करने का प्रकार तो इसी ने जाना।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा स्तोता वही है जो हविष्मान् बनकर प्रभु का ज्ञानीभक्त बनता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

स्वस्थ दृष्टिकोण व स्वस्थ शरीर

स नो नेदिष्ठं ददृशान आ भराग्ने देवेभिः सचनाः सुचेतुना महो रायः सुचेतुना।
महि शविष्ठ नस्कृधि सञ्चक्षे भुजे अस्यै।
महि स्तोतृभ्यो मघवन्त्सुवीर्यं मथीरुग्रो न शवसा॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे **नेदिष्ठम्**=अत्यन्त समीप (हृदयदेश में ही) **ददृशानः**=दिखते हुए **देवेभिः सचनाः**=देवों के साथ (षच् समवाये) समवेत होते हुए **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान से **आभर**=हमें सर्वथा पूरित कीजिए। हम आपकी उपासना करें, आपको हृदयदेश में देखने का प्रयत्न करें। अपने अन्दर दिव्यगुणों को बढ़ाने के लिए यत्नशील हों, क्योंकि आप दिव्य गुणवालों में ही निवास करते हैं। आप **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के साथ **महः रायः**=महनीय धनों को भी हमें आभर=प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से हम ज्ञानपूर्वक उत्तम मार्गों से चलते हुए प्रशस्त धनों का अर्जन करनेवाले बनें। २. हे **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिसम्पन्न प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **महि**=(मह पूजायाम्) पूजा की भावना को भी **कृधि**=कीजिए। कुछ ऐसी प्रेरणा दीजिए कि हम आपको भूल न जाएँ। आपका स्मरण करते हुए **संचक्षे**=संसार को सम्यक् रूप में देखने वाले हों। हम स्वस्थ दृष्टिकोण से संसार को देखनेवाले हों, विकृत दृष्टिकोण से नहीं और **अस्यै भुजे**=इस आपके दिये हुए शरीर का ठीक से पालन करनेवाले हों। प्रभु पूजक का दृष्टिकोण स्वस्थ होता है, वह शरीर को अस्वस्थ नहीं होने देता ३. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=आपके स्तोताओं के लिए **महि सुवीर्यम्**=आदरणीय व महान् उत्तम शक्ति प्राप्त होती है। वस्तुतः ये उपासक आपकी शक्ति से ही शक्तिसम्पन्न बनते हैं। वस्तुतः इनके हृदयों में निवास करते हुए **उग्रः न**=अत्यन्त तेजस्वी के समान आप ही **शवसा**=अपनी शक्ति से **मथीः**=इन उपासकों के कामादि शत्रुओं का संहार करते हैं। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनकर ही ये उपासक काम-क्रोध को जीत पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदय में देखने के लिए देव बनने का यत्न करें। प्रभु हमें ज्ञानधन व पूजा की भावना प्राप्त कराएँगे। हम स्वस्थ दृष्टिकोण वाले बनकर शरीर को भी स्वस्थ रखेंगे और प्रभु शक्ति से सम्पन्न होकर काम-क्रोध का संहार करने वाले होंगे।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त में परुच्छेप ऋषि प्रभु के उपासक बनकर अङ्ग-अङ्ग में प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनने की प्रार्थना करते हैं। अगले सूक्त में भी परुच्छेप ऋषि प्रभु को हृदयासीन करने का संकल्प करते हैं।

[१२८] अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः । **स्वरः**—मध्यमः ।

सखीयन् व श्रवस्यन्

अ॒यं जा॑यत॒ मनु॑षो॒ धरी॑मणि॒ होता॒ यजि॑ष्ठ उ॒शिजा॒मनु॑ व्र॒तम॒ग्निः स्वमनु॑ व्र॒तम् ।
वि॒श्वश्रु॑ष्टिः सखीय॒ते र॒यिरि॑व श्रवस्य॒ते ।
अद॑ब्धो॒ होता॒ नि ष॑ददि॒ळस्प॒दे परि॑वीत इ॒ळस्प॒दे ॥ १ ॥

१. **अयम्**=यह **होता**=सब पदार्थों को देनेवाले **यजिष्ठः**=अत्यन्त पूज्य व सर्वाधिक दातृतम प्रभु **मनुषः**=विचारशील व्यक्ति के **धरीमणि**=धारण करने के कार्य में **जायत**=प्रादुर्भूत होते हैं। विचारशील पुरुष को तो प्रभु धारण करते ही हैं, परन्तु यह विचारशील पुरुष जब धारणात्मक कार्यों में व्यापृत होता है तब उसके कार्यों में भी ये प्रभु ही सहायक होते हैं, प्रभु की शक्ति ही उसके सब कार्यों में व्यक्त होती है। २. ये **अग्निः**=प्रभु **उशिजाम्**=मेधावी पुरुषों के **अनुव्रतम्**=(नियमः पुण्यकं व्रतम्) पुण्य कर्मों के अनुसार **विश्वश्रुष्टिः**=सम्पूर्ण अभ्युदय (श्रुष्टि=prosperity) व सहाय्य (श्रुष्टि=help) प्राप्त करानेवाले होते हैं। **स्वं व्रतम् अनु**='यथाकर्म यथाश्रुतम्'—'जिसका जैसा ज्ञान व कर्म होगा उसे वैसा ही फल दूँगा' इस अपने व्रत के अनुसार भी प्रभु उस मेधावी पुरुष को सब आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराते हैं। ३. **सखीयते**=प्रभु की मित्रता की कामनावाले **श्रवस्यते**=ज्ञान संग्रह की इच्छावाले पुरुष के लिए ये प्रभु **रयिः इव**=ऐश्वर्य के समान होते हैं। जिस प्रकार धन से संसार के सभी कार्य सिद्ध किये जाते हैं, उसी प्रकार यह 'सखीयन्, श्रवस्यन्' पुरुष प्रभु के द्वारा अपने सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला होता है। प्रभु ही उसके धन बन जाते हैं। ४. इस सखीयन् व श्रवस्यन् पुरुष के हृदय में प्रभु **निषदत्**=आसीन होते हैं। वे प्रभु जो **अदब्धः**=अहिंसित हैं, **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। हृदय में प्रभु के आसीन होनेपर इस पुरुष को कामादि आक्रान्त नहीं कर पाते। इन्हें संसार में किसी आवश्यक वस्तु की कमी भी नहीं रहती। प्रभु इनके लिए होता है, देनेवाले हैं। ये प्रभु **इडस्पदे**=(इडा=वाणी) वाणी के स्थान में **परिवीतः**=सर्वतः प्राप्त होते हैं। ऋचाओं का अध्ययन करते हुए ज्ञानवान् पुरुष ही प्रभु को पानेवाला बनता है। **इडस्पदे**=(इडा=वेदि) वेदि के स्थान में प्रभु प्राप्त होते हैं, अर्थात् यज्ञशील पुरुष ही प्रभु की प्राप्ति का अधिकारी होता है और प्रभु की प्राप्ति से सब-कुछ पा लेनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु कर्मानुसार मेधावी पुरुषों को सब आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराते हैं। मित्र बननेवाले ज्ञानी पुरुष के लिए वे ऐश्वर्य के समान हैं। वे अहिंसित होते हुए सब-कुछ देनेवाले हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—भुरिगष्टिः । **स्वरः**—मध्यमः ।

'यज्ञसाध' प्रभु का उपासन

तं य॑ज्ञ॒साध॒मपि॑ वातयामस्यृ॒तस्य॑ प॒था नम॑सा ह॒विष्म॑ता दे॒वता॑ता ह॒विष्म॑ता ।
स न॑ ऊ॒र्जामु॑पा॒भृत्य॒या कृ॒पा न जू॑र्यति ।
यं मा॑त॒रिश्वा॒ मन॑वे परा॒वतो॑ दे॒वं भाः परा॒वतः॑ ॥ २ ॥

१. **तं**=उस **यज्ञसाधम्**=हमारे सब यज्ञों को पूर्ण करनेवाले प्रभु को **अपि वातयामसि**=चित्त

की शान्ति के लिए सेवित करते हैं (वातः सुखसेवने)। प्रभु की उपासना से चित्त में एक अद्भुत आह्लाद का अनुभव होता है। उपासना हमें शक्तिशाली बनाती है और हम विविध यज्ञों को सम्पन्न कर पाते हैं। २. यह प्रभु का उपासन (क) **ऋतस्य पथा**=ऋत के मार्ग से होता है। प्रत्येक क्रिया को ठीक समय पर करना ही ऋत है। प्रभु का उपासक सूर्य व चन्द्रमा की गति की भाँति प्रत्येक क्रिया को ठीक समय पर करनेवाला होता है, (ख) प्रभु का उपासन **नमसा**=नमन के द्वारा होता है। जितनी-जितनी नम्रता, उतना-उतना प्रभु के समीप; जितना अभिमान, उतना प्रभु से दूर; प्रभु का उपासन (ग) **हविष्मता**=हविवाले **देवताता**=यज्ञ के द्वारा होता है। **हविष्मता**= प्रशस्त हविवाले पुरुष के द्वारा इन हविष्मान् यज्ञों का विस्तार किया जाता है और इन यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन होता है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। हवि का भाव 'देकर यज्ञशेष का सेवन' है। प्रभु तो हविरूप ही हैं। वे सब-कुछ दे डालते हैं। हम भी जितना-जितना हवि को अपनाते हैं, उतना-उतना प्रभु का उपासन करनेवाले बनते हैं। ३. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **ऊर्जाम्**=बल व प्राणशक्तियों के **उपाभृति**=धारण करने में **अया कृपा**=इस अनुकम्पात्मक कार्य से **न जूर्यति**=कभी जीर्ण नहीं होते, अर्थात् प्रभु हमें सदा बल व प्राणशक्ति प्राप्त कराते ही हैं। ४. प्रभु वे हैं **यम्**=जिस **देवम्**=प्रकाशमय को **परावतः**=सुदूर देश में स्थित **परावतः**=वस्तुतः सुदूर देश में स्थित हुए-हुए को **मातरिश्वा**=वायु व प्राण **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **भाः**=दीप्त करते हैं। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति निर्मल होती है और बुद्धि सूक्ष्म होती है। प्रभु-दर्शन के लिए ये दोनों ही बातें सहायक होती हैं। प्राणसाधना हमें प्रभु-दर्शन करानेवाली होती है, प्राणसाधना से रहित पुरुष के लिए प्रभु अत्यन्त दूर हैं, वह प्रभु-दर्शन नहीं कर पाता।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'नियमितता, नम्रता व त्याग' से होती है। उपासित प्रभु हमें बल व प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रभु का निवास किन में?

एवेन सद्यः पर्येति पार्थिवं मुहुर्गी रेतो वृषभः कनिक्रदद्दधद्रेतः कनिक्रदत्।
शतं चक्षाणो अक्षभिर्देवो वनेषु तुर्वणिः ।
सदो दधान उपरेषु सानुष्वग्निः परेषु सानुषु ॥ ३ ॥

१. वह प्रभु **एवेन**=क्रियाशीलता के द्वारा **सद्यः**=शीघ्र **पार्थिवम्**=पार्थिव शरीरधारी मनुष्य को **पर्येति**=सर्वथा प्राप्त होता है। अकर्मण्य को कभी प्रभुदर्शन नहीं होता। इस क्रियाशीलता के लिए प्रभु **मुहुर्गीः**=बारम्बार प्रेरणात्मक वाणीवाले होते हैं, हृदयस्थ प्रभु इसे निरन्तर प्रेरणा देते हैं। **रेतः**=वे प्रभु शक्ति के पुञ्ज हैं और **वृषभः**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। **कनिक्रदत्**='ज्ञान, कर्म व उपासना' इन तीन वाणियों का उच्चारण करते हुए प्रभु (तिस्रो वाच उदीरते हरिरिति कनिक्रदत्) **रेतः दधत्**=शक्ति को धारण करते हैं। हममें शक्ति के धारण के हेतु से वे प्रभु हमें तीन प्रेरणाएँ देते हैं—(क) मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करने का प्रयत्न करो, (ख) हृदय को उपासना में लीन करो तथा (ग) हाथों से यज्ञादि उत्तम कर्मों को सिद्ध करो। **कनिक्रदत्**=वे प्रभु बारम्बार यही गर्जना कर रहे हैं। २. **देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **अक्षभिः**=इन्द्रियों से **चक्षाणः**=इनको जीवन-मार्ग दिखानेवाले हैं और

वनेषु=उपासकों में **तुर्वणिः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं। प्रभु मार्ग दिखाते हैं, मार्ग पर चलनेवालों को शक्ति देते हैं और उनके क्रोधादि शत्रुओं का हिंसन करते हैं। ३. जिनके कामादि शत्रु नष्ट हो जाते हैं, वे सदा यज्ञशील बनते हैं और जीवन में उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचते हैं। इन **उपरेषु**=(उपरमन्ते एषु अग्नयः) यज्ञशील पुरुषों के गृहों में **सानुषु**=जो उत्कृष्ट जीवनवाले बने हैं उनमें **सदः दधानः**=प्रभु स्थान ग्रहण करते हैं। इन्हीं के घरों में प्रभु का निवास होता है। वस्तुतः वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **परेषु**=उत्कृष्ट **सानुषु**=शिखर पर पहुँचनेवाले मनुष्यों में रहते हैं। ये अग्नि के उपासक ही तो उत्कृष्ट व शिखर पर पहुँचनेवाले बन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु क्रियाशील को प्राप्त होते हैं, उसी के लिए मार्गदर्शक होते हैं। इस मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति शिखर पर पहुँचता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'घृतश्री, अतिथि, वह्नि व वेधा' प्रभु का दर्शन

स सुक्रतुः पुरोहितो दमेदमेऽग्निर्यज्ञस्याध्वरस्य चेतति क्रत्वा यज्ञस्य चेतति।
क्रत्वा वेधा इषूयते विश्वा जातानि पस्पशे　।
यतो घृतश्रीरतिथिरजायत वह्निर्वेधा अजायत　॥४॥

१. **सः**=वह प्रभु **सुक्रतुः**=शोभन कर्मोंवाले हैं। **पुरोहितः**=जीव के लिए उसके सामने (पुरः) आदर्श के रूप से स्थित (हित) हैं। जीव को अपने जीवन को प्रभु के गुणों के अनुकरण से ही तो दिव्यरूप देना है, प्रभु-जैसा ही दयालु व न्यायकारी उसे बनना है। **दमे दमे**=प्रत्येक गृह में वे प्रभु **अग्निः**=अग्रणी हैं। वे ही सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। **अध्वरस्य यज्ञस्य**=हिंसारहित श्रेष्ठतम कर्मों का **चेतति**=बोध देनेवाले हैं (चेतयति)। **क्रत्वा**=कर्मशीलता के साथ **यज्ञस्य चेतति**=यज्ञ का ज्ञान देते हैं। यज्ञ के ज्ञान द्वारा यज्ञ की प्रेरणा देते हैं तो साथ ही उन यज्ञों को कर सकने के लिए शक्ति भी प्राप्त कराते हैं। २. **वेधाः**= विविध फलों के देनेवाले प्रभु **इषूयते**=प्रभु के आगमन को (इषु=आगमनं, तदिच्छते) चाहनेवाले के लिए **क्रत्वा**=कर्मशक्ति के साथ **विश्वा जातानि**=सब उत्पन्न पदार्थों को **पस्पशे**=स्पर्श करता है— इन पदार्थों का निर्माण करता है। प्रभु ने सृष्टि का निर्माण व जीव को कर्मशक्ति इसीलिए तो दी है कि वह प्रभु की ओर चलता हुआ उसे प्राप्त करनेवाला बने। सब पदार्थ मनुष्य के लिए हैं और मनुष्य प्रभु-प्राप्ति के लिए है। ३. यह संसार वस्तुतः वह है **यतः**=जिससे **घृतश्रीः**=दीप्तज्ञान की शोभावाले **अतिथिः**=निरन्तर क्रियाशील वे प्रभु **अजायत**=हमारे हृदयों में आविर्भूत होते हैं। **वह्निः**=सम्पूर्ण संसार का वहन करनेवाले **वेधाः**=विविध फलों के देनेवाले वे प्रभु **अजायत**=प्रकट होते हैं। संसार की रचना आदि को देखकर प्रभु के विषय में यही विचार उठता है कि वे 'घृतश्री, अतिथि, वह्नि व वेधा हैं'।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमें यज्ञ की प्रेरणा देते हैं। उपासक को यह सारा संसार प्रभु का दर्शन कराता है। प्रभु-दर्शन ही संसार-निर्माण का अन्तिम उद्देश्य है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

तीन व्रत

क्रत्वा यदस्य तविषीषु पृञ्चतेऽग्नेरवेण मरुतां न भोज्येषिराय न भोज्या।
स हि ष्मा दानमिन्वति वसूनां च मज्मना　।
स नस्त्रासते दुरितादभिह्रुतः शंसादघादभिह्रुतः　॥५॥

१. **यत्**=जो **क्रत्वा**=यज्ञात्मक कर्मों के द्वारा **अस्य**=इस परमात्मा की **तविषीषु**=शक्तियों में **पृञ्चते**=सम्पर्क ग्रहण करता है और **अग्नेः अवेन**=प्रभु के रक्षण के द्वारा **न**=जैसे **मरुतां भोज्या**=प्राणों के भोज्य पदार्थों को अपने साथ संपृक्त करता है, **न**=और (न इति चार्थे) **इषिराय भोज्या**=गतिशील के लिए भोज्य पदार्थों को सम्पृक्त करता है, **सः हि ष्मा**=वह ही निश्चय से **दानम्**=(दाप् लवने, दैप् शोधने) अशुभों व पापों के विच्छेद को तथा जीवन के शोधन को **इन्वति**=व्याप्त करता है। जीवन को शुद्ध बनाने के लिए आवश्यक है कि (क) यज्ञात्मक कर्मों के द्वारा यज्ञरूप प्रभु का उपासन करके हम प्रभु की शक्ति को प्राप्त करें, (ख) हमारा भोजन प्राणशक्ति की वृद्धि के दृष्टिकोण से हो, (ग) हम क्रियाशील होते हुए ही भोजन करें। 'श्रम तो न करें और भोजन ही करते रहें'—ऐसा न हो। २. उल्लिखित तीन बातों के पालन से हमारा जीवन उत्तम बनेगा। हमारे जीवन-विकास के लिए आवश्यक सब तत्त्व उपस्थित होंगे **च**=और **वसूनां मज्मना**=इन वसुओं के बल से (मज्मना इति बलनाम—नि० २।९) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दुरितात्**=अशुभाचरण से **अभिह्रुतः**=कुटिलता से **शंसात्**=हिंसा से तथा **अभिह्रुतः**=कुटिलतामय **अघात्**=औरों को कष्ट पहुँचानेवाले कार्यों से **त्रासते**=बचाते हैं। जीवन में पाप तभी आते हैं जब शारीरिक दृष्टिकोण से किसी प्रकार की कमी होती है। अब्रह्मचर्य कितनी ही अशुभवृत्तियों का कारण बनता है। अस्वस्थ शरीर में मन व बुद्धि अस्वस्थ हो जाते हैं और मनुष्य का आचरण दूषित हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि शरीर में सब वसु ठीक से उपस्थित हों। इन वसुओं की ठीक स्थिति के लिए आवश्यक है कि (क) यज्ञात्मक कर्मों से हम प्रभु से अपना सम्बन्ध बनाएँ, (ख) प्राणपोषक भोजन ही करें, (ग) श्रमशील बनकर भोजन करें।

भावार्थ—(क) यज्ञात्मक कर्मों द्वारा प्रभु की शक्ति का अपने में सञ्चार करना, (ख) प्राणपोषण के दृष्टिकोण से भोज्य पदार्थों को लेना, (ग) श्रम के साथ भोजन—इन तीन व्रतों के पालन से जीवन शुद्ध होता है और निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों का ठीक से स्थापन होकर हमारी पापवृत्ति नष्ट हो जाती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'द्वारप्रायण' द्वारोद्घाटन

विश्वो विहाया अरतिर्वसुर्दधे हस्ते दक्षिणे तरणिर्न
शिश्रथच्छ्रवस्यया न शिश्रथत् ।
विश्वस्मा इदिषुध्यते देवत्रा हव्यमोहिषे ।
विश्वस्मा इत्सुकृते वारमृण्वत्यग्निर्द्वारा व्यृण्वति ॥ ६ ॥

१. वे प्रभु **विश्वः**=सर्वत्र प्रविष्ट—सर्वव्यापक हैं, **विहायाः**=महान् हैं, **अरतिः**=(ऋ गतौ) निरन्तर क्रियाशील हैं और **वसुः**=सबको बसानेवाले हैं। २. वे हमें **दक्षिणे हस्ते दधे**=दाहिने अथवा कुशल हाथ में धारण करते हैं। 'दक्षिण मार्ग' वाम से विपरीत अकुटिल मार्ग है। अकुटिल मार्ग पर चलनेवालों को प्रभुधारण करते हैं अथवा कुशलता से कार्य करनेवालों को प्रभु धारण करते हैं। ३. **तरणिः न**=सूर्य की भाँति **शिश्रथत्**=(to liberate, release) प्रभु हमें सब अशुभों से मुक्त करते हैं। सूर्य अपनी किरणों द्वारा रोगकृमियों का संहार करके हमें रोगमुक्त करता है, उसी प्रकार प्रभु हमें अपनी ज्ञानकिरणों द्वारा अशुभों से मुक्त करते हैं। वे प्रभु **श्रवस्यया**=ज्ञानप्राप्ति की कामना से **नः शिश्रथत्**=हमें अलग नहीं करते। ४. **इत्**=निश्चय

से **इषुध्यते**=(हविरात्मन इच्छते) हवि की कामनावाले के लिए **देवत्रा**=देवों में विद्यमान **विश्वस्मै हव्यम्**=सब हव्यों को **ओहिषे**=आप प्राप्त कराते हो। देव हविर्भुक् हैं, प्रभु इन शुभवृत्तिवालों को भी हव्य प्राप्त कराते हैं। **इत्**=निश्चय से **सुकृते**=शुभ कर्म करनेवाले के लिए **विश्वस्मै**=सब **वारम्**=वरणीय वस्तुओं को **ऋण्वति**=प्राप्त कराते हैं और **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **द्वारा**=स्वर्ग के सब द्वारों को **वि ऋण्वति**=खोल देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें अशुभों से मुक्त करते हैं, शुभों से युक्त करते हैं, हवि की वृत्तिवाला बनाते हैं, वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं और स्वर्गद्वारों को खोलते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

हव्य, इडा व कृत

स मानुषे वृजने शन्तमो हितोऽ३ग्निर्यज्ञेषु जेन्यो न विश्पतिः प्रियो यज्ञेषु विश्पतिः। स हव्या मानुषाणामिळा कृतानि पत्यते।
स नस्त्रासते वरुणस्य धूर्तेर्महो देवस्य धूर्तेः॥७॥

१. **सः**=वे प्रभु **मानुषे वृजने**=मानवहितकारी तथा पाप को छोड़नेवाले व्यक्ति में **शन्तमः**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले हैं। ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **यज्ञेषु हितः**=यज्ञों में हितकर होते हैं, अर्थात् यज्ञों के द्वारा कल्याण करते हैं। **जेन्यः न**=विजयशील की भाँति **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के पालक हैं। ये **विश्पतिः**=प्रजाओं के पालक **यज्ञेषु प्रियः**=यज्ञों के होने पर हमारा प्रीणन करनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **मानुषाणाम्**=मनुष्यमात्र का हित करनेवाले लोगों के **हव्या**=हव्य पदार्थों का, **इडा**=वेदवाणी का, **कृतानि**=उत्तम कर्मों का **पत्यते**=रक्षण करते हैं। प्रभुकृपा से ही इनकी (क) हव्य पदार्थों के खाने की वृत्ति, (ख) वेदाध्ययन की प्रवृत्ति तथा (ग) उत्तम कर्मों की कृति बनी रहती है। ३. **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमें **वरुणस्य धूर्तेः**=द्वेषनिवारण के हिंसन से तथा **महो देवस्य धूर्तेः**=उस महान् देव के हिंसन से **त्रासते**=बचाते हैं, अर्थात् प्रभुकृपा से ही हमारी द्वेषनिवारण की वृत्ति तथा प्रभुपूजन की वृत्ति बनी रहती है।

भावार्थ—प्रभुकृपा होने पर मनुष्य (क) हव्य पदार्थों का सेवन करता है, (ख) वेदवाणी का अध्ययन करता है, (ग) शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, (घ) द्वेष से दूर रहता है और (ङ) प्रभु की उपासना को कभी नहीं छोड़ता। इस यज्ञशील व्यक्ति के लिए प्रभु उसी प्रकार रक्षक होते हैं, जैसे एक विजयशील राजा। वस्तुतः प्रभु ही हमारे लिए सब शत्रुओं का पराजय करके हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

उपासना से पूर्ण जीवन की प्राप्ति

अग्निं होतारमीळते वसुधितिं प्रियं चेतिष्ठमरतिं न्येरिरे हव्यवाहं न्येरिरे। विश्वायुं विश्ववेदसं होतारं यजतं कविम्।
देवासो रण्वमवसे वसूयवो गीर्भी रण्वं वसूयवः॥८॥

१. **वसूयवः**=सब वसुओं को प्राप्त कराने की कामनावाले **देवासः**=देववृत्ति के लोग **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु का **ईडते**=उपासन करते हैं, जो प्रभु **होतारम्**=सब इष्ट पदार्थों के देनेवाले हैं, **वसुधितम्**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को धारण करनेवाले हैं, **प्रियम्**=अपने भक्तों

का प्रीणन करनेवाले हैं, **चेतिष्ठम्**=अधिक-से-अधिक चेतना व ज्ञानवाले हैं और **अरतिम्**=क्रियाशील हैं। २. ये देव इस **हव्यवाहम्**=सब हव्यपदार्थों का वहन करनेवाले उस प्रभु को **नि एरिरे**=निश्चय से अपने में प्रेरित करते हैं **नि एरिरे**=और निश्चित कर्तव्य-मार्ग पर गति करनेवाले होते हैं। ये प्रभु का स्मरण करते हैं और कर्तव्य-मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। ३. ये उस प्रभु का स्मरण करते हैं जो **विश्वायुम्**=पूर्ण जीवन-प्रदाता हैं—'विश्वमायुर्यस्मात्', **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं, **होतारम्**=सब धनों के देनेवाले हैं, **यजतम्**=संगतिकरण के योग्य व उपास्य हैं, **कविम्**=क्रान्तप्रज्ञ हैं, तत्त्वद्रष्टा हैं। ४. **वसूयवः**=सब वसुयु **देवासः**=देव **अवसे**=अपने रक्षण के लिए **रण्वम्**=उस रमणीय व **रण्वम्**=अतिरमणीय प्रभु का ही **गीर्भिः**=वेद-वाणियों से उपासन करते हैं (ईळते)।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से ही पूर्ण जीवन की प्राप्ति होती है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त की भावना यही है कि प्रभु ही धारण करनेवाले हैं (१) और पूर्ण जीवन देनेवाले हैं, (८)। 'ये प्रभु ही हमें उस शरीर-रथ को प्राप्त कराते हैं जो हमें लक्ष्यस्थान की ओर ले-चलता है'। इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१२९] एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

लक्ष्यस्थान की ओर

यं त्वं रथमिन्द्र मेधसातयेऽपाका सन्तमिषिर प्रणयसि प्रानवद्य नयसि।
सद्यश्चित्तमभिष्टये करो वशश्च वाजिनम् ।
सास्माकमनवद्य तूतुजान वेधसामिमां वाचं न वेधसाम् ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **इषिर**=सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **यं रथम्**=जिस शरीररूप रथ को **मेधसातये**=यज्ञों की प्राप्ति के लिए, लोकहितात्मक उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए **अपाका सन्तम्**=(अपाकः=अपक्तव्यप्रज्ञः—निरु०) अपक्तव्य प्रज्ञावाले, परिपक्व बुद्धिवाले श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए **प्रणयसि**=प्राप्त कराते हैं। हे **अनवद्य**=सब प्रकार की अप्रशस्तता से रहित प्रभो! **प्रनयसि**=आप ज्ञानी, श्रेष्ठ पुरुष के लिए उत्तम रथ प्राप्त कराते ही हो। **तम्**=उस रथ को आप **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **अभिष्टये करः**=(अभिमतप्राप्तये—सा०) अभिमत लक्ष्यस्थान की प्राप्ति के लिए करते हैं **च**=और उस श्रेष्ठ व्यक्ति को आप **वाजिनं वशः**=अत्यन्त शक्तिशाली बनाना चाहते हो। वस्तुतः प्रभु इस श्रेष्ठ शरीररथ को यज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हुए प्रभु-प्राप्ति के लिए ही देते हैं। इसका उद्देश्य यही है। इस उद्देश्य की प्राप्ति से ज्ञानीपुरुष की शक्ति अतिशयेन प्रवृद्ध होती है। २. **सः**=वह 'आप' **अनवद्यः**=अत्यन्त प्रशस्त प्रभो! **तूतुजान**=निरन्तर प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **अस्माकम्**=हमारी **इमां वाचम्**=इस वाणी को **वेधसां न**=मेधावी पुरुषों की भाँति **वेधसाम्**=(विविधकर्मकर्तृणाम्) कर्तव्यकर्मों को करनेवालों की वाणी **वशः**=बनाने की कामना कीजिए। जिस प्रकार मेधावी पुरुष जो बोलते हैं, वैसा करते भी हैं, उसी प्रकार हम भी वाणी से जो बोलें, वैसा करनेवाले भी बनें, केवल पर-उपदेश कुशल ही न बने रहें।

भावार्थ—हमारा यह शरीर-रथ सदा उत्तम मार्ग से चलता हुआ हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला हो। हमारी वाणी क्रिया में परिणत होनेवाली हो।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

संग्राम-विजय

स श्रुधि यः स्मा पृतनासु कासु चिद्दक्षाय्य इन्द्र भरहूतये नृभिरसि प्रतूर्तये नृभिः।
यः शूरैः स्वः सनिता यो विप्रैर्वाजं तरुता ।
तमीशानास इरधन्त वाजिनं पृक्षमत्यं न वाजिनम् ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यः**=जो आप **पृतनासु कासुचित्**=जिन किन्हीं भी संग्रामों में **दक्षाय्यः स्म**=हमारी वृद्धि करनेवाले हैं, **सः**=वे आप **श्रुधि**=हमारी पुकार को सुनिए। हे प्रभो! आप **नृभिः**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले लोगों से **भरहूतये**=(भर=संग्राम—नि०) संग्राम में पुकारने के लिए **असि**=होते हैं। काम-क्रोधादि वासनाओं के साथ चलनेवाले संग्राम में प्रगतिशील पुरुष प्रभु को ही पुकारता है। प्रभु की सहायता से ही वह इन शत्रुओं को जीतनेवाला होता है। हे प्रभो! आप ही **नृभिः**=इन प्रगतिशाली पुरुषों द्वारा **प्रतूर्तये**=काम-क्रोधादि के संहार के लिए होते हैं। प्रभु की सहायता से ही ये काम-क्रोधादि को नष्ट कर पाते हैं। २. **यः**=जो प्रभु (क) **शूरैः**=शूरवीरों के द्वारा **स्वः**=स्वर्ग को **सनिता**=प्राप्त करानेवाले होते हैं, शूरवीरों से हममें शक्ति की भावना भरके हमें युद्धभीरुता से ऊपर उठाते हैं और युद्ध में अपराङ्मुखता के द्वारा हमें स्वर्ग प्राप्त कराते हैं, (ख) **यः**=जो प्रभु **विप्रैः**=ज्ञानियों के द्वारा **वाजं तरुता**=हमें शक्ति देनेवाले हैं ('वि'तरण=दान), ज्ञानी पुरुष ज्ञानप्रकाश के द्वारा हमें विषयान्धकार से ऊपर उठाते हैं और हमें शक्ति को नष्ट करने से बचाकर शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं, **तम्**=उस शूर के द्वारा, स्वर्ग तथा ज्ञानियों के द्वारा शक्ति देनेवाले प्रभु को **ईशानासः**=अपनी इन्द्रियों व मन के स्वामी बननेवाले लोग ही **इरधन्त**=उपासित करते हैं। ईशान ही प्रभु का उपासक बनता है। ३. हम उस प्रभु को उपासते हैं जो **वाजिनम्**=प्रशस्त शक्तियोंवाले हैं, **पृक्षम्**=सबके साथ सम्पर्कवाले हैं, सर्वव्यापक हैं और **वाजिनं अत्यं न**=एक शक्तिशाली घोड़े के समान हैं। जैसे एक शक्तिशाली घोड़ा खूब गतिवाला होता हुआ हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार प्रभु का आश्रय करके एक भक्त सर्वत्र विजयी होता है।

भावार्थ—प्रभु की सहायता से हम संग्रामों में विजयी हों। प्रभु ही हमें शूरता की भावना व शक्ति से भरते हैं। हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि के ईशान बनकर प्रभु के उपासक हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडत्यष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

वृषण अररु

दस्मो हि ष्मा वृषणं पिन्वसि त्वचं कं चिद्यावीररुं शूर मर्त्यं परिवृणक्षि मर्त्यम्।
इन्द्रोत तुभ्यं तद्दिवे तद् रुद्राय स्वयशसे ।
मित्राय वोचं वरुणाय सप्रथः सुमृळीकाय सप्रथः ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **दस्मः**=शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले **स्म**=हैं। **वृषणम्**=शक्तिशाली पुरुष को, शक्ति के द्वारा औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाले पुरुष को **पिन्वसि**=आप बढ़ाते हैं। आप उसे बढ़ाते हैं **कञ्चित् त्वचम्**=जो किसी को आच्छादित या सुरक्षित करनेवाला है (त्वच्=to cover)। यह ठीक है कि अल्प शक्तिवाला होने से जीव दुनियाभर का कल्याण नहीं कर सकता, परन्तु किसी एक-आध का कल्याण तो कर ही सकता है। ऐसी कल्याणकारी शक्ति हमें अपने अन्दर उत्पन्न करनी चाहिए, तभी हम प्रभु के प्रिय होंगे और तभी प्रभु हमारा वर्धन करेंगे। २. हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो!

अररुम्=न देनेवाले, सारे-का-सारा स्वयं खा जानेवाले, अत्यन्त स्वार्थी **मर्त्यम्**=मनुष्य को आप **यावीः**=अपने से पृथक् कर देते हो। इस **मर्त्यम्**=मनुष्य को तो आप **परिवृणक्षि**=(नक्ष=to kill) नष्ट ही कर देते हो। इस प्रकार के अदानशील व्यक्ति समाज के उत्थान में बड़े विघातक होते हैं। वेद में 'अपाररुं देवयजनाद् वध्यासम्'—इन शब्दों में इन अररु मनुष्यों के सामाजिक बहिष्कार का भी विधान है। राजा को तो इन्हें 'निष्टप्ता अरातयः'—दण्ड-सन्तप्त करना ही है। ३. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिए **दिवे**=प्रकाशमय के लिए **तत्**=उस **सप्रथः**=अत्यन्त विस्तारवाले—प्राणिमात्र के कल्याण की भावनावाले **वोचम्**=वचनों का उच्चारण करूँ। आपसे सर्वहित की प्रार्थना ही करूँ। मेरी प्रार्थना में अल्पता व स्वार्थ न हो। **रुद्राय**=ज्ञानोपदेश के द्वारा दुःखों को दूर करनेवाले आपके लिए **तत्**=उस **सप्रथः**=व्यापक प्रार्थनात्मक वचन बोलूँ। **स्वयशसे**=हे प्रभो! 'जिन आपकी महिमा किसी और से न होकर अपने से ही है' उन आपके लिए व्यापक वचनों को बोलूँ, **मित्राय**=सबके साथ स्नेह करनेवाले, **वरुणाय**=सब द्वेषों का निवारण करनेवाले तथा **सुमृळीकाय**=उत्तम सुखों को देनेवाले के लिए **सप्रथः**=व्यापक प्रार्थनात्मक **वोचम्**=वचनों को बोलूँ। ४. यहाँ 'दिव्, रुद्र, स्वयश, मित्र, वरुण व सुमृळीक' इन शब्दों से प्रभु का स्मरण यह प्रेरणा देता है कि (क) हम भी प्रकाशमय जीवनवाले बनें, (ख) औरों के लिए ज्ञान देकर उनके दुःखों को दूर करनेवाले हों, (ग) अपने कर्मों से यशस्वी बनें, (घ) सबके प्रति स्नेहवाले हों, (ङ) किसी से द्वेष न करें, (च) सभी के जीवन को सुखी बनाने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनकर दुःखियों के लिए शरण (shelter) बनें, सदा देनेवाले बनें, स्नेह करें, द्वेष से दूर रहें, तभी हम प्रभु के प्रिय बनेंगे। हमारे कर्म ही हमें प्रभु का प्रिय बना सकते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

वह अद्भुत मित्र

अस्माकं व इन्द्रमुश्मसीष्टये सखायं विश्वायुं प्रासहं युजं वाजेषु प्रासहं युजम्।
अस्माकं ब्रह्मोतयेऽवा पृत्सुषु कासु चित् ।
नहि त्वा शत्रुः स्तरते स्तृणोषि यं विश्वं शत्रुं स्तृणोषि यम् ॥ ४॥

१. **अस्माकम्**=हमारे और **वः**=तुम्हारे, अर्थात् सभी के **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **इष्टये**=अभिमत फलों की प्राप्ति के लिए अथवा यज्ञों में प्रवृत्ति बनाये रखने के लिए (इष्टि=याग), **उश्मसि**=कामना करते हैं। प्रभु की प्राप्ति हम इसलिए चाहते हैं कि वे प्रभु हमें सब इष्ट वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले होंगे और हमें यज्ञ की वृत्तिवाला बनाएँगे। प्रभु स्मरण से हमारी प्रवृत्ति अशुभ की ओर न होकर शुभकर्मों की ओर ही होती है। २. हम उस प्रभु को प्राप्त करना चाहते हैं जो (क) **सखायम्**=हमारे सच्चे मित्र हैं, कभी साथ न छोड़नेवाले सखा हैं, (ख) **विश्वायुम्**=हमारे जीवन को पूर्ण बनानेवाले हैं (विश्व=सम्पूर्ण); हमारी शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक उन्नति करनेवाले हैं, (ग) **प्रासहम्**=हमारे शत्रुओं का प्रकर्षेण पराभव करनेवाले हैं, (घ) **युजं वाजेषु**=(वाज=Battle, conflict) संग्रामों में सदा साथ देनेवाले हैं, **प्रासहं युजम्**=प्रभु वे साथी हैं जो युद्ध में शत्रुओं का मर्षण ही कर डालते हैं। ३. हे प्रभो! **कासुचित् पृत्सुषु**=जिन किन्हीं संग्रामों में **ऊतये**=रक्षण के लिए **अस्माकं ब्रह्म**=हमारे ज्ञान को **अव**=उत्तमता से रक्षित

कीजिए। ज्ञान के सुरक्षित होने पर ही हम इन अध्यात्म-संग्रामों में विजयी होंगे। ४. हे प्रभो! ज्ञानस्वरूप होने के कारण ही तो **यं स्तृणोषि**=जिस शत्रु को आप हिंसित करते हो वह **शत्रुः**=शत्रु **त्वा**=आपको **न हि स्तरते**=हिंसित नहीं करता। **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हममें प्रविष्ट हो जानेवाले **यं शत्रुम्**=जिस शत्रु को आप **स्तृणोषि**=नष्ट करते हैं, वह हमारा नाश नहीं कर पाता। जब हम प्रभु को अपने हृदय में आसीन करते हैं तब ये काम-क्रोधादि सब अवाञ्छनीय वृत्तियाँ भस्म ही हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे सच्चे मित्र हैं, वे ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः।

निरभिमानिता

नि षू नमातिमतिं कयस्य चित्तेजिष्ठाभिरणिभिर्नोतिभिरुग्राभिरुग्रोतिभिः।
नेषि णो यथा पुरानेनाः शूर मन्यसे ।
विश्वानि पूरोरप पर्षि वह्निरासा वह्निर्नो अच्छ ॥ ५ ॥

१. हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **तेजिष्ठाभिः अरणिभिः**=अत्यन्त तेजस्विता से पूर्ण मार्गों के समान (अरणिः=path, way) **उग्राभिः ऊतिभिः**=उत्कृष्ट रक्षणों के द्वारा **ऊतिभिः**=अपने संरक्षण से **कयस्यचित्**=जिस किसी अपने भक्त की **अतिमतिम्**=अभिमानवृत्ति को **सु**=अच्छी प्रकार **नि नम**=झुकानेवाले होओ। प्रभु अपने भक्तों को ऐसे मार्गों से ले-चलते हैं, जो मार्ग उनकी शक्ति को क्षीण नहीं करते। साथ ही प्रभु उन्हें रोगों व पापों के आक्रमण से बचाते हैं। इस प्रकार उनके जीवन को अत्युत्तम बनाकर वे उन्हें निरभिमान भी रखते हैं। २. हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को नष्ट करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **यथा पुरा**=पहले की भाँति अब भी **नेषि**=उन्नति-पथ पर ले-चलिए। हे प्रभो! आप **अनेनाः**=अत्यन्त निष्पाप हैं और इसीलिए **मन्यसे**=ठीक ज्ञानवाले हैं। हमारे विषय में भी आपका ज्ञान ही ठीक है, अतः आप जैसे चाहें, हमें ले-चलें। **वह्निः**=हमें आगे ले-चलनेवाले आप **पूरोः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले मनुष्य के **विश्वानि**=अन्दर घुस जानेवाले सभी काम-क्रोधादि शत्रुओं को **अपपर्षि**=दूर करते हो। **वह्निः**=हमें आगे ले-जानेवाले आप **आसा**=मुख के द्वारा, ज्ञानोपदेश के द्वारा **नः अच्छ**=हमारे अभिमुख प्राप्त होओ। आपसे उपदेश प्राप्त करके हम निरन्तर आगे बढ़ें।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट मार्ग व प्रभु के रक्षण हमें उत्कृष्ट जीवनवाला बनाकर अभिमान की वृत्ति से ऊपर उठाते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

दुर्मति-दूरीकरण

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति।
स्वयं सो अस्मदा निदो वधैरजेत दुर्मतिम् ।
अव स्रवेदघशंसोऽवतरमव क्षुद्रमिव स्रवेत् ॥ ६ ॥

१. **भव्याय**=सर्वत्र भवनशील—सर्वव्यापक **इन्दवे**=(इन्द=to be powerful, इदि परमैश्वर्ये) शक्तिशाली व परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **तत्**=उन स्तुतिवचनों को **प्रवोचेयम्**=प्रकर्षेण उच्चारित करूँ। ये स्तुतिवचन मुझे भी 'भव्य व इन्दु' बनने की प्रेरणा देंगे। **हव्यः न**=वे प्रभु तो सदा पुकारने योग्य के समान हैं। जैसे एक छोटा बालक माता-पिता को पुकारता है, उसी

प्रकार ये प्रभु हमारे द्वारा आराधना करने के योग्य हैं। आपत्ति आई और हमने प्रभु को पुकारा। **यः**=जो प्रभु **इषवान्**=सदा उत्तम प्रेरणावाले हैं। हम प्रभु को पुकारते हैं और प्रभु हमें मार्ग दिखाते हैं, आपत्ति से ऊपर उठने के लिए उचित प्रेरणा देते हैं। **मन्म रेजति**=उस प्रेरणा से हमारा **इन्द्रः**=ज्ञान गतिमय होता है। वह **मन्म रेजति**=ज्ञान गतिमय होता है जो **रक्षोहा**=हमारी सब राक्षसी वृत्तियों का विध्वंस कर देता है। २. इस प्रकार ज्ञान देता हुआ **सः**=वह प्रभु **स्वयम्**=अपने-आप **अस्मत्**=हमसे **निदः**=निन्दनीय प्रवृत्तियों को तथा **दुर्मतिम्**=अशुभ विकारों को **वधैः**=चिन्तन आदि हनन-साधनों से **आ अजेत**=सर्वथा दूर कर दे। ३. इस हमारे समाज में **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला **अवतरम्**=बहुत ही नीचे **अवस्त्रवेत्**=टपक पड़े। **क्षुद्रम् इव**=एक अत्यन्त क्षुद्र वस्तु की भाँति **अवस्त्रवेत्**=नीचे-ही-नीचे चला जाए। हमारे समाज में पाप के प्रशंसकों को ऊँचा स्थान प्राप्त न हो। वे क्षुद्र समझे जाएँ, तभी समाज में अघों की कमी होगी, लोग पाप की ओर न झुकेंगे। अघशंसकों को प्रधान स्थान प्राप्त होने पर मनुष्यों की प्रवृत्ति अघों=पापों की ओर ही जाएगी।

भावार्थ—हम प्रभु स्मरण करें, प्रभु हमें प्रेरणा देते हैं, हममें वासना-विनाश के ज्ञान को गतिमय करते हैं। समाज में अघशंसकों को ऊँचा स्थान न दिया जाए। इनको ऊँचा स्थान देने से औरों में भी दुर्मति उत्पन्न होने की आशंका होती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराडतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभुभजन—वरणीय धन

वनेम तद्धोत्रया चितन्त्या वनेम रयिं रयिवः सुवीर्यं रण्वं सन्तं सुवीर्यम्।
दुर्मन्मानं सुमन्तुभिरेमिषा पृचीमहि ।
आ सत्याभिरिन्द्रं द्युम्नहूतिभिर्यजत्रं द्युम्नहूतिभिः ॥ ७ ॥

१. **चितन्त्या**=प्रभु के गुणों का ज्ञापन करती हुई **तत् होत्रया**=उस प्रभु-प्रदत्त वेदवाणी से हम **वनेम**=प्रभु का संभजन करें। **रयिवः**=हे सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! हम **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्तिवाले **रण्वम्**=रमणीय **सन्तम्**=श्रेष्ठ और अतएव **सुवीर्यम्**=उत्तम सामर्थ्यवाले **रयिम्**=धन को **वनेम**=प्राप्त करें। हम वेदवाणी को समझें, उसके द्वारा प्रभु का स्तवन करें और उत्तम मार्ग से श्रेष्ठ धनों को प्राप्त करें, उस धन को जो हमें उत्तम सामर्थ्यवाला बनाता है। २. धन हमारे विलास का कारण न बन जाए, अतः हम **सुमन्तुभिः**=शोभन मनन-साधनभूत स्तवन-मन्त्रों से **दुर्मन्मानम्**=अत्यन्त कठिनता से मनन करने योग्य उस प्रभु को **ईम्**=निश्चय से **इषा**=प्रेरणा के निमित्त **आपृचीमहि**=अपने साथ सम्पृक्त करते हैं। वेदमन्त्रों द्वारा प्रभु का गुणगान करते हुए प्रभु का उपासन करते हैं, उपासित प्रभु हमें वह उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं जो हमें भटकने से बचाती है। हम **सत्याभिः**=सत्य अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली **द्युम्नहूतिभिः**=ज्योतिर्मय पुकारों से **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **आ**=अपने साथ सम्पृक्त करते हैं। **यजत्रम्**=उस यष्टव्य पूज्य प्रभु को **द्युम्नहूतिभिः**=इन ज्योतिर्मय पुकारों से प्राप्त होते हैं। ज्योतिर्मय पुकार का अभिप्राय इतना ही है कि हम जिन मन्त्रों से प्रभु का आराधन करते हैं, उनके भाव को अच्छी प्रकार समझते हैं। ये विचारपूर्वक की गई प्रार्थनाएँ हमारे जीवन की दिशा को विकृत नहीं होने देंगी।

भावार्थ—हम अर्थमननपूर्वक मन्त्रों से प्रभु का स्तवन करें और इस संसार में रमणीय श्रेष्ठ धनवाले हों, उस धनवाले जो हमें विलासता की ओर नहीं ले-जाता।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराट्शक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभु का यशोगान व दुष्टों के जाल में न फँसना

प्रप्र वो अस्मे स्वयशोभिरूती परिवर्ग इन्द्रो दुर्मतीनां दरीमन्दुर्मतीनाम्।
स्वयं सा रिषयध्यै या न उपेषे अत्रैः।
हतेमसन्न वक्षति क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति॥८॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभु **अस्मे**=हमारे लिए **वः**=तुम्हारे लिए, अर्थात् सबके लिए **स्वयशोभिः**=अपने यशों से युक्त **ऊती**=(ऊतिभिः) रक्षणों से **दुर्मतीनाम्**=दुष्ट बुद्धिवालों के **परिवर्गे**=दूर करने में, दूर ही क्या इन **दुर्मतीनाम्**=दुष्ट बुद्धिवालों के **दरीमन्**=विदारण करने में **प्र प्र**=खूब ही समर्थ होते हैं। प्रभु दुर्मति पुरुषों को हमसे दूर करते हैं और इस प्रकार वे हमारी रक्षा करते हैं। इन दुर्मति पुरुषों से बचने का उपाय '**स्वयशोभिः**'—इस शब्द से संकेतित हो रहा है। जब हम प्रभु के यशस्वी कार्यों का स्मरण करते हैं तब वह प्रभु का गुणगान ही हमें इन दुर्मति पुरुषों के आक्रमण से बचाता है। २. प्रभु का यशोगान करने पर **अत्रैः**=औरों का भक्षण करने के स्वभाववाले दुष्ट पुरुषों से **नः उपेषे**=हमें प्राप्त करने के लिए **या**=जो **जूर्णिः**=प्रतिपक्षियों को जीर्ण करनेवाली सेना **क्षिप्ता**=प्रेरित की जाती है **सा**=वह **स्वयम्**=अपने-आप **रिषयध्यै**=हिंसा के लिए होती है, नष्ट हो जाती है। वह **ईम्**=निश्चय से **हता असत्**=नष्ट हो जाती है और **न वक्षति**=हमें प्राप्त नहीं होती **न वक्षति**=सचमुच प्राप्त नहीं होती। प्रभु का गुणगान चलने पर दुष्टों के दुष्ट विचार व दुष्टाचार हम पर आक्रमण नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण करने पर हम संसार में दुर्मति पुरुषों के जाल में फँसने से बच जाते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराट्शक्वरी। स्वरः—पञ्चमः।

सुपथ से धनार्जन

त्वं न इन्द्र राया परीणसा याहि पथाँ अनेहसा पुरो याह्यरक्षसा।
सचस्व नः पराक आ सचस्वास्तमीक आ।
पाहि नो दूरादारादभिष्टिभिः सदा पाह्यभिष्टिभिः॥९॥

१. **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **परीणसा**=(परितो नद्धेन=बहुना) सब दृष्टिकोणों से सुबद्ध—सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले पर्याप्त **राया**=धन के साथ **आयाहि**=प्राप्त होओ! आपके अनुग्रह से हम सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले धनों से युक्त हों परन्तु **अनेहसा पथा**=उस मार्ग से जो कि पापशून्य हो, **अरक्षसा**=जो मार्ग राक्षसी वृत्तियों से रहित हो, उसी मार्ग से हम धन कमाएँ। **पुरो याहि**=आप ही हमारे आगे चलनेवाले हों—पथ-प्रदर्शक हों। हृदयस्थ आप द्वारा प्रेरित मार्ग से ही हम धनों का संग्रह करें। २. **पराके**=दूर-से-दूर देश में **नः आ सचस्व**=आप हमें प्राप्त होओ, **अस्तमीके आसचस्व**=समीप-से-समीप हृदयदेश में आप हमें प्राप्त होओ। हृदय में तो हम आपका ध्यान करें ही, व्यापारादि के लिए दूर-से-दूर देश में विचरते हुए भी हम आपको भूल न जाएँ। आपको विस्मृत न करने पर ही हम सदा सुपथ से धनार्जन करनेवाले होंगे। ३. हे प्रभो! आप **दूरात्**=दूर से और **आरात्**=समीप से **अभिष्टिभिः**=अभ्यागमनों के द्वारा हमारे अन्तःस्थ काम-क्रोधादि शत्रुओं पर आक्रमण के द्वारा **नः**=हमें **पाहि**=बचाइए। **सदा**=सदा ही **अभिष्टिभिः**=इन शत्रुओं पर आक्रमण के द्वारा **पाहि**=हमें रक्षण से (काम-क्रोधादि के वशीभूत न

होते हुए आगे और आगे बढ़ें, अपने जीवन में उन्नत होते हुए आपको प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम निष्पाप व अराक्षसी मार्ग से आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन कमाएँ। सदा प्रभु का स्मरण करें और काम-क्रोधादि के वशीभूत न होते हुए आगे ही आगे बढ़नेवाले हों।

सूचना—'अरक्षा' शब्द इस बात का संकेत करता है कि हम अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले न हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

हिंसक का हिंसन

त्वं न इन्द्र राया तरूषसोग्रं चित्त्वा महिमा सक्षदवसे महे मित्रं नावसे।
ओजिष्ठ त्रातरविता रथं कं चिदमर्त्य ।
अन्यमस्मद्रिरिषेः कं चिदद्रिवो रिरिक्षन्तं चिदद्रिवः ॥ १० ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **तरूषसा**=सब आवश्यकताओं को तैरने—पूर्ण करने में समर्थ **राया**=धन से प्राप्त होते हैं। **उग्रं चित् त्वा**=अत्यन्त तेजस्वी आपको ही **महिमा**=सम्पूर्ण महत्त्व **सक्षत्**=सेवन करता है। आप ही महान् हो। हम आपको ही **महे अवसे**=अपने महान् रक्षण के लिए पुकारते हैं, **मित्रं न अवसे**=एक मित्र के समान रक्षण के लिए। आप ही वस्तुतः हमारे मित्र हो। संसार में अन्य सब सम्बन्धी कुछ दूर तक ही साथ देते हैं, अन्त तक तो आप ही हमारे साथ होते हो। आप ही सच्चे मित्र हो। आप ही आवश्यक धन देकर हमारी रक्षा करते हो। २. **ओजिष्ठ**=हे अत्यन्त तेजस्विन्! **त्रातः**=सर्वरक्षक प्रभो! **कञ्चित् रथम्**=इस विलक्षण शरीर-रथ को **अविता**=आप ही रक्षित करते हो। हे **अमर्त्य**=अविनाशी प्रभो! आप **अस्मत् अन्यं कञ्चित्**=हमसे भिन्न किसी दूसरे का ही **रिरिषेः**=नाश करते हो। हे **अद्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! आप **चित्**=निश्चय से उसी का नाश करते हो जो **रिरिक्षन्तम्**=औरों की हिंसा की कामनावाला होता है। हे **अद्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! आप हमारा रक्षण कीजिए और हिंसक का ही हिंसन कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें आवश्यक धन देते हैं, वे ही सच्चे मित्र हैं। वे अद्भुत महिमावाले प्रभु ही हमारे शरीर-रथ का रक्षण करते हैं। वे हिंसक का ही हिंसन करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

स्तुति व पवित्र जीवन

पाहि न इन्द्र सुष्टुत स्रिधोऽवयाता सदमिद्दुर्मतीनां देवः सन् दुर्मतीनाम्।
हन्ता पापस्य रक्षसस्त्राता विप्रस्य मावतः ।
अधा हि त्वा जनिता जीजनद्वसो रक्षोहणं त्वा जीजनद्वसो ॥ ११ ॥

१. हे **सुष्टुत**=उत्तमता से स्तुत हुए-हुए **इन्द्र**=शत्रु-विनाशक प्रभो! आप **नः**=हमें **स्रिधः**=प्रत्येक कुत्सित व निन्दनीय पाप से **पाहि**=बचाइए, हमें अशुभ से सदा दूर रखिए। आप **सदम् इत्**=सदा ही **दुर्मतीनाम्**=दुष्ट विचारवाले पुरुषों को **अवयाता**=हमसे दूर करनेवाले हैं। **देवः सन्**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले होते हुए आप (देवो द्योतनाद्—निरु०) **दुर्मतीनाम् अवयाता**=दुष्ट विचारों को हमसे दूर करनेवाले हैं। २. दुष्ट विचारों को दूर करके आप **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तिवाले **पापस्य**=पापी के **हन्ता**=हनन करनेवाले हैं। दुष्ट विचारों को दूर

करके आप राक्षसीपन और पापवृत्ति को कुचल देते हैं। हे इन्द्र! आप **मा-वतः**=ज्ञानलक्ष्मी से सम्पन्न **विप्रस्य**=अपनी कमियों को दूर करके अपना पूरण करनेवाले का **त्राता**=त्राण करनेवाले हैं। ज्ञान बढ़ाकर आप हमारे जीवन को पवित्र करते हैं और इस प्रकार हमें पापों में फँसने से बचाते हैं। ३. हे **वसो**=हमारे जीवनों को उत्तम निवासवाला बनानेवाले प्रभो! **जनिता**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला जीव **त्वा**=आपको **अध हि**=पापवृत्तियों की समाप्ति के बाद ही **जीजनत्**=अपने हृदय में प्रकट करता है। हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **रक्षोहणं त्वा**=राक्षसी वृत्तियों का विनाश करनेवाला आपको **जीजनत्**=प्रकट करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं, प्रभु हमारी बुराइयों व दुर्विचारों को दूर करके हमें पवित्र जीवनवाला बनाते हैं।

विशेष—सारे सूक्त का भाव यही है कि हम लक्ष्यस्थान की ओर बढ़ें। इसके लिए जीवन को पवित्र बनाएँ। जीवन की पवित्रता के लिए प्रभु का स्तवन करें। इसी उद्देश्य से अब प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आप हमें प्राप्त हूजिए और हमारा मार्गदर्शन कीजिए—

[१३०] त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ब्रह्मलोकरूप घर की ओर

एन्द्र याह्युप नः परावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्तं राजेव सत्पतिः।
हवामहे त्वा वयं प्रयस्वन्तः सुते सचा ।
पुत्रासो न पितरं वाजसातये मंहिष्ठं वाजसातये ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **नः**=हमें **परावतः**=दूर देश से **उप आ याहि**=समीपता से प्राप्त होओ ताकि हमें उसी प्रकार **अच्छ**=लक्ष्य-स्थान की ओर **नायम्**=ले-जाने के लिए होओ (नी), **इव**=जैसे कि **सत्पतिः**=सत्कर्मों का रक्षक व्यक्ति औरों को भी **विदथानि**=ज्ञानयज्ञों की ओर ले-चलनेवाला होता है, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि **सत्पतिः**=सज्जनों का रक्षक **राजा**=राजा **अस्तम्**=प्रत्येक भटके हुए व्यक्ति को घर की ओर ले-जानेवाला होता है। प्रभु भी अपने भक्तों को ब्रह्मलोकरूप गृह की ओर ले-जानेवाले होते हैं। २. हे प्रभो! **वयम्**=हम **सुते**=यज्ञों में **सचा**=मिलकर **प्रयस्वन्तः**=प्रकृष्ट हविरूप अन्नोंवाले होते हुए **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। घरों में मिलकर हम यज्ञ करते हैं। उन यज्ञों में हविरूप अन्नों को डालते हुए हम यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं। इस प्रकार यह हमारा प्रभु का उपासन हो जाता है 'हविषा विधेम'। ३. हम **पुत्रासः न पितरम्**=जैसे पुत्र पिता को पुकारते हैं, उसी प्रकार **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए, हे प्रभो! आपको पुकारते हैं। **मंहिष्ठम्**=अत्यन्त दातृतम आपको उसी प्रकार **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए आराधित करते हैं। पिता के सान्निध्य में पुत्र शक्ति का अनुभव करता है, इसी प्रकार आपके सान्निध्य में हम शक्ति प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु हमें लक्ष्य-स्थान की ओर ले-चलते हैं। उत्तम हविवाले होकर हम प्रभु का उपासन करते हैं। जैसे पुत्र पिता के समीप, उसी प्रकार हम प्रभु के सान्निध्य में शक्ति का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—स्वराडष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

'सोमधारण' से सब कोशों का पूरण

पिबा सोममिन्द्र सुवानमद्रिभिः कोशेन सिक्तमवतं
न वंसगस्तातृषाणो न वंसगः ।
मदाय हर्यताय ते तुविष्टमाय धायसे ।
आ त्वा यच्छन्तु हरितो न सूर्यमहा विश्वेव सूर्यम् ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सुवानं सोमम्**=इस उत्पन्न किये हुए सोम को—वीर्यशक्ति को **पिब**=अपने शरीर में ही पीने का, व्याप्त करने का प्रयत्न कर। यह सोम **अद्रिभिः**=उपासकों से **कोशेन**=अन्नमयादि कोशों के हेतु से **सिक्तम्**=शरीर में सिक्त किया जाता है। सोम को शरीर में सिक्त करने का सर्वोत्तम साधन प्रभु-उपासन है। सिक्त हुआ यह सोम सब कोशों को ऐश्वर्य-सम्पन्न करता है—अन्नमयकोश को तेज से, प्राणमय को वीर्य (प्राणशक्ति) से, मन को ओज व बल से, विज्ञानमयकोश को मन्यु=ज्ञान से तथा आनन्दमयकोश को यह सहस् से पूर्ण करता है। इस कारण इस सोम के पान की ओर एक भक्त की प्रवृत्ति उसी प्रकार तीव्रता से होती है **न**=जैसे कि **तातृषाणः**=प्यास से अत्यन्त पीड़ित **वंसगः**=वननीय गतिवाला वृषभ **अवतम्**=एक जलकुण्ड की ओर जाता है। उपासक भी सोमपान के लिए **वंसगः न**=अत्यन्त पिपासित वननीय गतिवाले वृषभ की भाँति होता है। २. शरीर में ही व्याप्त किया हुआ यह सोम **मदाय**=हर्ष के लिए होता है, जीवन में उल्लास का कारण बनता है। **हर्यताय**=(हर्य गतिकान्त्योः) जीवन में उत्क्रान्ति के लिए और कान्ति को उत्पन्न करने के लिए होता है। **ते तुविष्टमाय**=हे जीव! यह सोम तेरे अत्यन्त महत्त्व व वृद्धि के लिए होता है और **धायसे**=तेरे धारण के लिए होता है। ३. इन सब दृष्टिकोणों से प्रजाएँ हे सोम! **त्वा**=तुझे **आयच्छन्तु**=सब प्रकार से अपने में संयत करें **न**=उसी प्रकार अपने में बद्ध करें जैसे कि **हरितः**=दिशाएँ **सूर्यम्**=सूर्य को अपने में बद्ध करती हैं। **अहा विश्वा इव**=जैसे दिशाएँ सब दिनों, अर्थात् प्रतिदिन **सूर्यम्**=सूर्य को अपने में बद्ध करती हैं, उसी प्रकार ये प्रभुभक्त सोम को प्रतिदिन अपने में बद्ध करते हैं। वस्तुतः उन्नतिमात्र का मूल इस सोम के बन्धन में है। उपासक सोम के द्वारा सब कोशों की सम्पत्ति को अपने में धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हम सोमधारण के योग्य बनें। सोमधारण से हम अन्नमयादि सब कोशों को अपने-अपने ऐश्वर्य से पूर्ण करें।

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—स्वराडष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

प्रभु-प्रेरणा के पालन से स्वर्ग

अविन्दद्दिवो निहितं गुहा निधिं वेर्न गर्भं परिवीतमश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि ।
व्रजं वज्री गवामिव सिषासन्नङ्गिरस्तमः ।
अपावृणोदिष इन्द्रः परीवृता द्वार इषः परीवृताः ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम-रक्षण से विज्ञानमयकोश को ज्ञान के ऐश्वर्य से पूर्ण करनेवाला **दिवः**=ज्ञानीपुरुष **गुहा निहितम्**=हृदयरूप गुहा में स्थापित **निधिम्**=ऐश्वर्यभूत उस प्रभु को **अविन्दत्**=प्राप्त करता है। प्रभु हृदय में स्थित हैं, यही सर्वत्र विद्यमान प्रभु का सर्वोत्कृष्ट निवास-स्थान है। यहीं जीव अपने उस सच्चे मित्र का दर्शन करता है। वे प्रभु **वेः**=इस ज्ञान व कर्मरूप दो पक्षोंवाले पक्षिरूप जीव के **गर्भं न**=गर्भ के समान हैं, जीव के अन्दर उसी प्रकार स्थित हैं

जैसे गर्भ माता में स्थित होता है। वे प्रभु **अश्मनि**=इस पत्थर-तुल्य दृढ़ शरीर में (अश्मा भवतु नस्तनूः) **परिवीतम्**=चारों ओर से वेष्टित हैं। इस **अनन्ते**=न जाने कब से चले आ रहे **अश्मनि अन्तः**=पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर में वे प्रभु विद्यमान हैं। यहीं तो हम उस प्रभु का दर्शन कर पाएँगे। २. इस प्रभु के दर्शन के लिए ही **वज्री**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में धारण करनेवाला जीव **गवां व्रजं इव**=गौओं के समूह की भाँति इन्द्रियों के समूह को **सिषासन्**=प्राप्त करने की कामनावाला होता है। इन्द्रियों को वश में करके ही तो यह प्रभु-दर्शन कर पाएगा। इन्द्रियों को वश में करनेवाला यह **अङ्गिरस्तमः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अधिक-से-अधिक रसवाला होता है। शरीर के स्वस्थ होने से इसके सब अङ्ग बड़े सबल हो जाते हैं। ३. यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **परीवृताः इषः**=राग-द्वेष आदि मलों के कारण आज तक ढँकी हुई हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणाओं को **अपावृणोत्**=राग-द्वेषरूप मल के हटाने से अपावृत कर (खोल) देता है। **इषः**=प्रेरणाओं को तो अपावृत करता ही है, इन प्रेरणाओं को अपावृत करने के साथ **द्वारः**=स्वर्गद्वारों को उद्घाटित करनेवाला होता है। प्रभु-प्रेरणाओं के अनुसार चलकर स्वर्ग तो प्राप्त करेंगे ही।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीरस्थ प्रभु का दर्शन करता है, जितेन्द्रिय बनकर वह प्रभु-प्रेरणा को सुनता है और स्वर्गद्वारों को खोलनेवाला होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

क्रियाशीलता से वासनाविनाश व शक्ति-प्राप्ति

दादृहाणो वज्रमिन्द्रो गभस्त्योः क्षद्मेव तिग्ममसनाय सं श्यदहिहत्याय सं श्यत्।
संविव्यान ओजसा शवोभिरिन्द्र मज्मना ।
तष्टेव वृक्षं वनिनो नि वृश्चसि परश्वेव नि वृश्चसि ॥ ४ ॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **गभस्त्योः**=अपनी बाहुओं में **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूपी वज्र को **दादृहाणः**=दृढ़ता से ग्रहण करता हुआ **क्षद्म इव**=जल की भाँति **तिग्मम्**=तीक्ष्ण वज्र को **असनाय**=शत्रुओं पर फेंकने के लिए **संश्यत्**=खूब तीक्ष्ण करता है। **अहिहत्याय**=(आहन्तीति अहिः) चारों ओर से विद्ध करनेवाले इस कामरूप शत्रु के हनन के लिए **संश्यत्**=तीक्ष्ण करता है। जल के प्रोक्षण से जैसे पवित्रीकरण होता है, उसी प्रकार इस क्रियाशीलतारूपी वज्र के प्रक्षेप से भी पवित्रता का सञ्चार होता है। इस क्रियाशीलता से वासनाओं का विनाश होता है। अकर्मण्य पुरुष पर ही वासनाओं का आक्रमण होता है। क्रियाशीलतारूप वज्र को तीक्ष्ण करने का भाव यही है कि कार्यों में अनालस्यपूर्वक प्रवृत्त रहना। इस व्यक्ति को वासनाएँ नहीं सता पातीं। वासनाओं से अनाक्रान्त होकर यह **ओजसा**=मानस बल से **शवोभिः**=इन्द्रियों की शक्तियों से तथा **मज्मना**=आत्मा के बल से **संविव्यानः**=अपने को सम्यक्तया युक्त करनेवाला होता है। वस्तुतः वासनाएँ ही शक्तियों को क्षीण करती हैं। वासनाक्षय से शरीर, मन व आत्मा सभी सशक्त बनते हैं। हे इन्द्र प्रभो! आप **वनिनः**=उपासकों की वासनाओं को इस प्रकार **निवृश्चसि**=निश्चय से काट डालते हैं **इव**=जैसे **तष्टा**=बढ़ई **वृक्षम्**=वृक्ष को काट डालता है। **इव**=जैसे वह **परश्वा**=कुल्हाड़े से **निवृश्चसि**=वृक्ष को काट डालता है, इसी प्रकार आप इस उपासक की वासनाओं को काट डालते हो।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रियाशील बने रहते हैं तो वासनाओं का विनाश हो जाता है और हमारे शरीर, मन व आत्मा सभी सबल बनते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

चित्तवृत्ति प्रभु की ओर

त्वं वृथा नद्य॑ इन्द्र सर्त॒वेऽच्छा॑ समु॒द्रम॑सृजो॒ रथाँ॑इव वाजय॒तो रथाँ॑इव।
इ॒त ऊ॒तीर॑युञ्जत समा॒नमर्थ॒मक्षि॑तम्।
धे॒नूरि॑व मन॑वे वि॒श्वदो॑हसो॒ जना॑य वि॒श्वदो॑हसः॥५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **नद्यः**=इन चित्तवृत्ति की नदियों को **वृथा**=अनायास ही—स्वभावतः ही **समुद्रम् अच्छ**=आनन्दमय प्रभु की ओर **सर्तवे**=बहने के लिए **असृजः**=करता है। तेरी चित्तवृत्ति प्रभु की ओर ही प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार **इव**=जैसे एक व्यक्ति **रथान्**=रथों को लक्ष्य-स्थान की ओर ले-जाता है। **वाजयतः**=अत्यन्त शक्तिसम्पन्न की भाँति आचरण करते हुए **रथान् इव**=रथों की भाँति। जिस प्रकार दृढ़ रथों को तीव्रता से लक्ष्य की ओर ले-जाया जाता है, उसी प्रकार एक जितेन्द्रिय पुरुष चित्तवृत्तिरूप नदियों को आनन्दमय प्रभु की ओर ले-चलता है। २. **इतः**=इधर से—इस सांसारिक विषयों से **ऊतीः**=रक्षणवाले पुरुष अपने को उस प्रभु के साथ **अयुञ्जन्त**=जोड़ते हैं जो **समानम्**=सबके अन्दर समरूप से रहते हैं, अथवा सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं (सम् आनयति), **अर्थम्**=चाहने योग्य हैं तथा **अक्षितम्**=अविनाशी हैं। वासनाओं व सांसारिक विषयों से अलग होकर ही हम प्रभु से अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ३. यह सम्बन्ध होने पर **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए ये वेदवाणियाँ **धेनूः इव**=गौओं के समान होती हैं और **विश्वदोहसः**=उसके लिए सब ज्ञान-दुग्धों का दोहन करनेवाली होती हैं। **जनाय**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले के लिए **विश्वदोहसः**=ये सब ज्ञानों का प्रपूरण करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—हमें चित्तवृत्तियों को प्रभु की ओर ले-जाना चाहिए। संसार से हटाकर ही हम उन्हें प्रभु से लगा पाते हैं। प्रभु हमारे लिए वेदरूपी धेनु देते हैं, जो हमारे लिए ज्ञान-दुग्ध देती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडष्टिः। स्वरः—मध्यमः।

प्रभु व प्रभु की वाणी का मनन

इ॒मां ते॒ वाचं॑ वसू॒यन्त॑ आ॒यवो॒ रथं॒ न धीरः॒ स्वपा॑ अतक्षिषुः सु॒म्नाय॒ त्वाम॑तक्षिषुः।
शु॒म्भन्तो॒ जेन्यं॒ यथा॒ वाजे॑षु विप्र वा॒जिन॑म्।
अत्य॑मिव॒ शव॑से सा॒तये॒ धना॒ विश्वा॒ धना॑नि सा॒तये॑॥६॥

१. **वसूयन्तः**=वसुओं—जीवन के आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करने की कामनावाले **आयवः**=गतिशील पुरुष **इमाम्**=इस **ते**=आपकी **वाचम्**=वाणी को, वेदवाणी को **अतक्षिषुः**=अपने अन्दर निर्मित करते हैं **न**=उसी प्रकार जैसे कि **धीरः**=ज्ञानी **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाला, कुशलहस्त कारीगर **रथम्**=रथ को बनाता है। कुशल शिल्पी जैसे रथ को बनाता है, उसी प्रकार वसूयु पुरुष अपने हृदय में प्रभु की वाणी को निर्मित करने का प्रयत्न करते हैं। इस वेदवाणी के निर्माण के साथ ये **सुम्नाय**=सुख-प्राप्ति के लिए हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अतक्षिषुः**=अपने हृदयों में निर्मित करते हैं, अर्थात् अपने हृदयों में आपके स्वरूप का चिन्तन करते हैं। वेदमन्त्रों के निर्माण का भाव वेदमन्त्रों के अर्थचिन्तन से है और प्रभु के निर्माण का भाव 'प्रभु का चिन्तन' है। २. **विप्र**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले हे प्रभो! ये भक्त लोग **वाजेषु**=संग्रामों में आपको **वाजिनं यथा**=शक्तिशाली विजेता के रूप में **शुम्भन्तः**=अलंकृत

करते हैं। आपको ही संग्रामों का विजेता मानकर आपका ही गुणगान करते हैं। ३. **शवसे**=शक्ति-प्राप्ति के लिए तथा **धना सातये**=धनों की प्राप्ति के लिए **विश्वा धनानि सातये**=सम्पूर्ण धनों की प्राप्ति के लिए **अत्यम् इव**=संग्राम में विजय-प्राप्ति के साधनभूत घोड़े की भाँति आपको मानते हैं।

भावार्थ—जीवन को उत्तम बनाने की कामनावाले पुरुष वेदवाणी को अपनाते हैं और हृदयों में प्रभु का चिन्तन करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'संसार-नाटक का सूत्रधार' प्रभु

भिनत्पुरो नवतिमिन्द्र पूरवे दिवोदासाय महि दाशुषे नृतो वज्रेण दाशुषे नृतो।
अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत् ।
महो धनानि दयमान ओजसा विश्वा धनान्योजसा ॥७॥

१. हे **इन्द्र**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **नृतो**=संसार-नाटक में सभी नृत्यों के सूत्रधार प्रभो! आप **नवतिं पुरः भिनत्**=असुरों की नव्वे नगरियों को विदीर्ण कर देते हो। सैकड़ों रूपों में इन्द्रियों, मन व बुद्धि में बनाये गये असुरों के अधिष्ठानों को आप समाप्त कर देते हो। हमारे जीवन में आ जानेवाली आसुरीवृत्तियाँ आपकी कृपा से ही तो नष्ट होती हैं। आप इन आसुरी वृत्तियों को **पूरवे**=पुरु के लिए—अपना पालन व पूरण करनेवाले के लिए जो शरीर में रोगों को और मन में राग-द्वेष को नहीं आने देता, नष्ट करते हैं। **दिवोदासाय**=आप इन आसुर-वृत्तियों को दिवोदास के लिए नष्ट करते हैं (दिवः=ज्ञान के द्वारा दास=अपवित्रता को नष्ट करनेवाले के लिए)। **महि**=(मह पूजायाम्), (महे) पूजा की वृत्ति के लिए और अन्त में **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—देने की वृत्तिवाले के लिए। हे **नृतो**=सबको नृत्य करानेवाले प्रभो! आप **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिए अशुभ वृत्तियों को नष्ट करते हैं। देने की वृत्ति मनुष्य को अशुभवासनाओं से बचानेवाली है। 'दान' शब्द का अर्थ है देना—साथ ही अशुभों का खण्डन व जीवन का शोधन भी। २. **उग्रः**=अत्यन्त तेजस्वी आप **अतिथिग्वाय**=उस महान् अतिथि प्रभु की ओर चलनेवाले के लिए (अतिथिं गच्छति) **शम्बरम्**=शान्ति पर पर्दा डाल देनेवाली ईर्ष्या को **गिरेः**=(गृणाति, उपदिशतीति गिरः) ज्ञानी उपदेष्टाओं के द्वारा **अवाभरत्**=दूर कर देते हैं। प्रभु की व्यवस्था से हमारा सम्पर्क ऐसे ज्ञानी पुरुषों से होता है जो हमें ईर्ष्या-द्वेषादि में फँसने से ऊपर उठाते हैं। ३. वे प्रभु **ओजसा**=ओज के साथ **महः धनानि**=महत्त्वपूर्ण धनों को **दयमानः**=हमें देते हैं। वस्तुतः **विश्वा**=सम्पूर्ण **धनानि**=धनों को **ओजसा**=ओजस्विता के साथ प्राप्त कराते हैं। आसुरी वृत्तियों का नाश और विशेषकर ईर्ष्या-द्वेष का विनाश करके प्रभु हमारे जीवन को शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु संसार-नाटक के सूत्रधार हैं। ये हमें अशुभवृत्तियों से सदा दूर करते हैं, ईर्ष्या से ऊपर उठाते हैं और ओजस्विता के साथ हमारे लिए धनों का दान करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

आर्यों का रक्षण, अनार्यों का ताड़न

इन्द्रः समत्सु यजमानमार्यं प्रावद्विश्वेषु शतमूतिराजिषु स्वर्मीळ्हेष्वाजिषु।
मनवे शासदव्रतान्त्वचं कृष्णामरन्धयत् ।
दक्षन्न विश्वं ततृषाणमोषति न्यर्शसानमोषति ॥८॥

१. **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **समत्सु**=संग्रामों में **यजमानम्**=यज्ञशील **आर्यम्**=श्रेष्ठ पुरुष को **प्रावत्**=रक्षित करते हैं। **शतम् ऊतीः**=सैकड़ों प्रकार से रक्षण करनेवाले वे प्रभु **विश्वेषु आजिषु**=सब संग्रामों में रक्षण करनेवाले हैं, **आजिषु**=उन संग्रामों में जोकि **स्वर्मीळ्हेषु**=स्वर्ग का सेचन करनेवाले हैं, अर्थात् जिन धर्म्य संग्रामों में वीरतापूर्वक प्राणों को छोड़ने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। २. **मनवे**=विचारशील पुरुषों के लिए, इनके जीवन को सुखी एवं शान्त बनाने के लिए **अव्रतान्**=नियम भंग करनेवाले पुरुषों को **शासत्**=दण्ड द्वारा उचित शिक्षा प्राप्त कराते हैं। ये प्रभु **कृष्णां त्वचम्**=हमारे हृदयों पर आ जानेवाले मलिन आवरणों को **अरन्धयत्**=नष्ट करते हैं। ३. **दक्षं न**=अग्नि (दक्ष=fire) के समान **ओषति**=जला देते हैं, उनको जो कि **विश्वं ततृषाणम्**=सब धन की अत्यधिक प्यास व लालसावाले हैं। **नि**=निश्चय से **अर्शसानम्**=सदा औरों को हानि पहुँचाने के लिए उद्योग करनेवालों को (Striving to hurt) **ओषति**=भस्म कर देते हैं। ४. यहाँ प्रसङ्गवश राजकर्ताओं को अत्युत्तम उपदेश हो गया है कि (क) राजा नियम तोड़नेवालों को समुचित दण्ड दे ताकि विचारशील पुरुषों को पीड़ा प्राप्त न हो, (ख) अत्यन्त लोभ के कारण अन्याय-मार्ग से धनार्जन करनेवालों को नष्ट कर दे, (ग) औरों को हानि पहुँचाने के कार्यों में लगे हुओं को भी दण्डित करे।

भावार्थ—संग्रामों में प्रभु यज्ञशील का रक्षण करते हैं। नियम भङ्ग करनेवाले, अत्यन्त लोलुप व औरों को पीड़ित करनेवालों को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराडष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ज्ञानी का कर्तव्यभार-वहन

सूर॑श्च॒क्रं प्र वृ॑हज्जा॒त ओज॑सा प्रपि॒त्वे वाच॑मरु॒णो मु॑षायतीशा॒न आ मु॑षायति।
उ॒शना॒ यत्प॑रा॒वतोऽज॑गन्नू॒तये॑ कवे।
सु॒म्नानि॒ विश्वा॒ मनु॑षेव तु॒र्वणि॒रहा॒ विश्वे॑व तु॒र्वणिः॑ ॥ ९ ॥

१. **सूरः**=सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाश से चमकनेवाला ज्ञानी पुरुष **चक्रम्**=दैनिक कर्तव्यचक्र को—नियमित गति से होनेवाले अपने कार्यक्रम को **प्रवृहत्**=(वृह उद्यमने) उठानेवाला होता है, कर्तव्यकर्मों को नियमपूर्वक निभाता है। इन कर्तव्यकर्मों को करता हुआ **प्रपित्वे**=उस प्रभु की समीपता में, उस प्रभु की उपासना में **ओजसा**=ओज से **जातः**=प्रादुर्भूत शक्तिवाला होता है। प्रभु की उपासना से प्रभु की शक्ति का प्रवाह उपासक के अन्दर होता है और वह प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होकर प्रभु-जैसा ही प्रतीत होने लगता है। २. **अरुणः**=तेजस्वी बना हुआ यह पुरुष **वाचम्**=वाणी को **मुषायति**=मुषित करनेवाला होता है, अर्थात् मौनव्रत धारण करता है। **ईशानः**=इन्द्रियों का शासक बनता हुआ **आ**=सब ओर से **मुषायति**=इन इन्द्रियों को सब ओर से मुषित करनेवाला होता है (मुष्=free from)। इन इन्द्रियों को विषय-वासनाओं से मुक्त कर लेता है। ३. **कवे**=हे सर्वज्ञ प्रभो! **उशनाः**=इस जितेन्द्रिय के हित की कामनावाले आप **यत् परावतः**=जो दूर-से-दूर देश में भी होते हैं तो **ऊतये अजगन्**=इसके रक्षण के लिए आते हैं। इस जितेन्द्रिय पुरुष का रक्षण प्रभु का प्रमुख कार्य होता है। प्रभु सर्वव्यापक हैं, अतः उनके दूर होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। यहाँ 'परावतः' शब्द केवल इस दृष्टिकोण से प्रयुक्त हुआ है कि अन्य सब कार्यों को छोड़कर वे प्रभु इस जितेन्द्रिय पुरुष के रक्षण को प्रमुखता देते हैं। आप **मनुषा इव**=जिस प्रकार विचारशील पुरुष के साथ इसी प्रकार इस जितेन्द्रिय के साथ **विश्वा सुम्नानि**=सम्पूर्ण धनों के **तुर्वणिः**=शीघ्रता से सम्भक्त करनेवाले होते हैं। **विश्वा इव**

अहा=सभी दिनों में **तुर्वणिः**=इसके लिए धनों को प्राप्त कराते हैं, अथवा शीघ्रता से इसके शत्रुओं को पराजित करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष कर्तव्यकर्मों को नियम से निभाता है, प्रभु की उपासना से शक्तिशाली बनता है, इन्द्रियों को वश में करता है, प्रभु से रक्षणीय होता है। प्रभु इसे आवश्यक धन देते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उक्थ, पायुः, शग्म

स नो नव्येभिर्वृषकर्मन्नुक्थैः पुरां दर्तः पायुभिः पाहि शग्मैः।
दिवोदासेभिरिन्द्र स्तवानो वावृधीथा अहोभिरिव द्यौः॥ १०॥

१. हे **वृषकर्मन्**=शक्तिशाली कर्मोंवाले अथवा सुखवर्षक कर्मोंवाले! **पुरां दर्तः**=आसुर नगरियों के विध्वंसक, आसुरी भावनाओं के विनाशक प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **नव्येभिः उक्थैः**=अत्यन्त स्तुत्य स्तोत्रों से, **पायुभिः**=रक्षणों से तथा **शग्मैः**=ऐहिक व आमुष्मिक सुखों से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। आप हमें स्तवनसाधनभूत मन्त्रों को प्राप्त कराइए, रोगादि से रक्षणों को प्राप्त कराइए तथा इहलोक व परलोक-सम्बन्धी सुखों को प्राप्त कराइए। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **दिवोदासेभिः**=ज्ञान के द्वारा वासनाओं का क्षय करनेवाले पुरुषों से **स्तवानः**=स्तूयमान होते हुए आप **इव**=इस प्रकार **वावृधीथाः**=वृद्धि को प्राप्त कीजिए जैसे कि **अहोभिः द्यौः**=दिनों से द्युलोक वृद्धि को प्राप्त होता है। रात्रि के अन्धकार में द्युलोक का विस्तार समाप्त हो जाता है, दिन निकलता है और द्युलोक फैल जाता है। इसी प्रकार हम आपका ज्ञानपूर्वक स्तवन करें और आप हमारे हृदयाकाश में फैल जाएँ, हम आपका ही प्रकाश चारों ओर देखें।

भावार्थ—हमें प्रभु-स्तवन की वृत्ति, रोगों से बचाव तथा अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्त हो। स्तवन के द्वारा हम हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखें।

विशेष—'ब्रह्मलोक की ओर चलने के भाव' से सूक्त का आरम्भ हुआ था (१)। उस प्रभु को ज्ञानपूर्वक उपासना से प्राप्त करने के साथ सूक्त की समाप्ति है (१०)। अब प्रभु का ही 'इन्द्र' नाम से स्तवन आरम्भ होता है—

[१३१] एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

इन्द्रोपासन

इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नतेन्द्राय मही पृथिवी वरीमभिर्द्युम्नसाता वरीमभिः।
इन्द्रं विश्वे सजोषसो देवासो दधिरे पुरः।
इन्द्राय विश्वा सवनानि मानुषा रातानि सन्तु मानुषा॥ १॥

१. **असुरः**=सूर्यादि देवों के द्वारा हममें (असून् राति) प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला **द्यौः**=यह प्रकाशमय द्युलोक **हि**=निश्चय से **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **अनम्नत**=झुकता है। द्युलोक अपनी सारी महिमा का मूल इस प्रभु के तेज के अंश में देखता है। यह **मही**=अत्यन्त महनीय **पृथिवी**=पृथिवी **वरीमभिः**=अपने विस्तारों के साथ उस प्रभु

के लिए झुकती है। **वरीमभिः**=अपने विस्तारों के साथ **द्युम्नसाता**=(splendour, strength, wealth) शोभा, शक्ति व धनों की प्राप्ति में यह उस प्रभु के प्रति प्रणत होती है। प्रभु ही तो इसे सब शोभा, शक्ति व धन प्राप्त करा रहे हैं—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'। २. **इन्द्रम्**=इस शक्तिशाली परमैश्वर्यवान् प्रभु को ही **विश्वे**=सब **सजोषसः**=परस्पर प्रीतिवाले **देवासः**=देव **पुरः दधिरे**=सामने स्थापित करते हैं, प्रभु को ही अपना पुरोहित बनाते हैं—प्रभु को अपना आदर्श बनाकर उसके समान ही 'दया, न्याय' आदि गुणों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं। ३. **इन्द्राय**=उस प्रभु के लिए ही **विश्वा**=सब **मानुषा**=मनुष्यों से किये जानेवाले **सवनानि**=यज्ञ **सन्तु**=हों। **मानुषा रातानि**=मनुष्यों से दिये जानेवाले दान भी उस प्रभु के लिए ही हों। विचारशील पुरुष जो भी यज्ञ व दान आदि करें उन्हें प्रभु-अर्पण करने का प्रयत्न करें। इन यज्ञों व दानों का प्रभु-अर्पण करने पर ये सब प्रभु-प्राप्ति के साधन हो जाते हैं। उत्तम कर्मों को तो करें परन्तु फल की कामना न हो तो उन सब उत्तम कर्मों का परिणाम प्रभु-प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक अपनी उग्रता व दृढ़ता के लिए प्रभु के प्रति झुकते हैं। देव प्रभु को ही अपना आदर्श बनाते हैं। **विचारशील पुरुषों के यज्ञ व दान प्रभु के लिए अर्पित होते हैं और परिणामतः प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं।**

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

यज्ञों व स्तोमों से प्रभुदर्शन

विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक् स्वः सनिष्यवः पृथक्। तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि। इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः ॥२॥

१. हे प्रभो! **वृषमण्यवः**=आपको ही सब सुखों का वर्षक जानने वाले लोग **हि**=निश्चय से **विश्वेषु**=सब **सवनेषु**=यज्ञों में आपके प्रति अपने को **तुञ्जते**=दे डालते हैं। इन सब यज्ञों को आपसे ही होता हुआ वे देखते हैं। ये सब **पृथक्**=अलग-अलग **स्वः सनिष्यवः**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करने की कामनावाले **पृथक्**=अलग-अलग होते हुए भी ये लोग **समानम्**=सबके प्रति समान **एकम्**=अद्वितीय आपके ही प्रति अपने को देनेवाले होते हैं। सब प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, उसी की शक्ति से तो वे अपने यज्ञादि कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। २. **नावं न पर्षणिम्**=नाव के समान इस भव-सागर से पार लगानेवाले **तं त्वा**=उन आपको ही **शूषस्य धुरि**=सब सुखों (३।६ नि०) व बलों (२।९ नि०) की धुरि के रूप में **धीमहि**=धारण करते हैं। आप ही सब शक्तियों के देनेवाले हैं और शक्ति के द्वारा सुखों को प्राप्त करानेवाले हैं। इस संसार-समुद्र में डूबना ही सब दुःखों का मूल है। इसे पार करने की शक्ति प्रभु की उपासना से ही प्राप्त होती है। एवं, प्रभु ही हमारे लिए भव-सागर को पार करने में नाव बनते हैं। ३. **आयवः**=क्रियाशील मनुष्य **यज्ञैः**=देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप धर्मों से **इन्द्रं न** (न शब्दः एवकारार्थः—सा०) उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **चितयन्तः**=अपने में चेताने के लिए यत्नशील होते हैं। **आयवः**=ये क्रियाशील मनुष्य **स्तोमेभिः**=स्तुतिसमूहों से **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को अपने हृदयों में प्रवृद्ध करते हैं। यज्ञों व स्तोमों ही से तो हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनते हैं।

भावार्थ—यज्ञ करना और उन्हें प्रभु के प्रति अर्पण करना ही मोक्ष व सुख-प्राप्ति का साधन है। प्रभु ही हमें सुख व शक्तियों को प्राप्त कराते हैं, वे ही भवसागर से तराते हैं। यज्ञों

व स्तोमों से प्रभुदर्शन होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

त्याग व प्रभुपूजन

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः। यद् गव्यन्ता द्वा जना स्व१र्यन्ता समूहसि । आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अवस्यवः**=अपने रक्षण की कामनावाले **मिथुनाः**=द्वन्द्वों के रूप में रहनेवाले पति-पत्नी **त्वा**=आपका लक्ष्य करके **वि ततस्त्रे**=(तस्=to reject) वासनाओं को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। २. **गव्यस्य व्रजस्य**=इस इन्द्रियसमूह के **साता**=प्राप्ति के निमित्त **निः सृजः**=ये निश्चय से त्याग की वृत्तिवाले होते हैं, पापों को अपने से दूर करनेवाले होते हैं (पापं निर्गमयन्तः)। हे इन्द्र! **सक्षन्तः**=आपका सेवन करते हुए ये **निः सृजः**=पाप को अपने से दूर करनेवाले होते हैं। ३. **यत्**=जब **गव्यन्ता**=(गौ=वेदवाक्) वेदवाणी की कामना करते हुए **द्वा जना**=दो लोगों को, अर्थात् पति-पत्नी को **स्वर्यन्ता**=स्वर्ग की ओर जाते हुओं को—जो अपने घर को स्वर्ग-समान बना रहे हैं, उनको **समूहसि**=आप सम्यक् धारण करते हो तो आप हे **इन्द्र**=प्रभो! **सचाभुवम्**=सदा साथ रहनेवाले **वृषणम्**=शक्ति देनेवाले अथवा सुखों का वर्षण करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **आविष्करिक्रत्**=प्रकट करते हुए होते हो। उस क्रियाशीलता को जो कि **सचाभुवम्**=सदा साथ रहती है। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही हम ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, अपनी शक्ति का वर्धन करनेवाले होते हैं और इस प्रकार अपने जीवन को स्वर्गोपम सुखवाला बना पाते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी का मूल कर्तव्य त्याग व प्रभुपूजन है। क्रियाशीलता इन्हें स्वर्ग प्राप्त कराती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

इन्द्र का पराक्रम

विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः। शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते । महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः ॥ ४ ॥

१. **पूरवः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग हे **इन्द्र**=प्रभो! **ते**=आपके **अस्य वीर्यस्य**=इस पराक्रम का **विदुः**=ज्ञान रखते हैं **यत्**=कि आप **सासहानः**=शत्रुओं का प्रबल मर्षण (कुचलना) करते हुए **शारदीः पुरः**=हमारी शक्तियों को शीर्ण करनेवाली आसुरवृत्तियों को **अवातिरः**=विध्वस्त कर देते हैं, **अवातिरः**=अवश्य विध्वस्त कर देते हैं। काम की नगरी हमारी इन्द्रियों को, क्रोध-नगरी मन की शान्ति को और लोभ-नगरी बुद्धि की सूक्ष्मता को समाप्त करनेवाली होती है। इस प्रकार ये पुरियाँ **शारदी**=शरत् की भाँति हमारी शक्तियों को शीर्ण करनेवाली हैं। प्रभु कृपा से ये पुरियाँ शीर्ण हो जाती हैं और हमें शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। २. हे **शवसस्पते इन्द्र**=सब बलों के स्वामिन् शक्तिशाली प्रभो! आप **तम्**=उस **अयज्युं मर्त्यम्**=अयज्ञशील पुरुष को **शासः**=निगृहीत करते हो, दण्डित करते हो। वस्तुतः यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहकर ही हम काम आदि को जीत पाते हैं। ३. हे प्रभो! अपने पुत्रों की यज्ञशीलता से **मन्दसानः**=प्रसन्नता का अनुभव करते हुए आप **महीं पृथिवीम्**=इस महनीय पृथिवी को

तथा **इमाः अपः**=इन जलों को **अमुष्णाः**=(Surpass) लाँघ जाते हो। आपकी महिमा को यह विशाल पृथिवी तथा अत्यन्त व्यापक रूप को धारण करनेवाले ये जल भी नहीं व्याप्त कर सकते। **इमाः अपः**=ये जल वस्तुतः आपकी महिमा से ही महत्त्व को धारण करते हैं। इनमें रसरूप से आप ही निवास करते हो। पृथिवी भी आपकी महिमा से महिमान्वित होती है। प्रभु ही हमारी शरीररूप पृथिवी व रेतःकणरूप जलों को शत्रुविध्वंस द्वारा महिमान्वित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को पृथिवी व जल व्याप्त नहीं कर सकते। उपासित हुए-हुए वे प्रभु ही हमसे आसुरवृत्तियों को दूर कर देते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

विलक्षण ऐश्वर्य

आदित्ते अस्य वीर्यस्य चर्किरन्मदेषु वृषन्नुशिजो यदाविथ सखीयतो यदाविथ।
चकर्थं कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे ।
ते अन्यामन्यां नद्यं सनिष्णत श्रवस्यन्तः सनिष्णत ॥५॥

१. हे **वृषन्**=शक्तिशाली प्रभो! **यत्**=जब आप **उशिजः**=मेधावी पुरुषों को **आविथ**=रक्षित करते हैं, **यत्**=जब **सखीयतः**=आपके मित्रत्व की कामना करते हुए इनको **आविथ**=आप रक्षित करते हो तब ये लोग **आत् इत्**=शीघ्र ही **मदेषु**=उल्लासों की प्राप्ति के निमित्त **ते अस्य वीर्यस्य**=आपकी इस शक्ति का **चर्किरन्**=अपने अन्दर प्रक्षेप करते हैं, आपकी उपासना से आपकी शक्तियों को अपने में सञ्चरित करते हैं। २. हे प्रभो! आप **एभ्यः**=इन उशिक्, सखीयन् पुरुषों के लिए **पृतनासु प्रवन्तवे**=संग्रामों में शत्रुओं को जीतने के लिए **कारं चकर्थ**=क्रियाशीलता का निर्माण करते हैं। इनके जीवन को क्रियाशील बनाते हैं। क्रियाशीलता के द्वारा ये शत्रुओं पर विजय करनेवाले होते हैं। ३. **ते**=वे क्रियाशील पुरुष **अन्यां अन्याम्**=विलक्षण और अति विलक्षण **नद्यम्**=(नदि समृद्धौ) समृद्धि को **सनिष्णत**=प्राप्त करते हैं, **श्रवस्यन्तः**=आपका यशोगान करते हुए ये **सनिष्णत**=समृद्धि को प्राप्त करते हैं। काम-विध्वंस द्वारा शरीर का स्वास्थ्य, क्रोध-नाश से मानस शान्ति और लोभ को दूर करके बुद्धि की सूक्ष्मता को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न करते हैं। क्रियाशीलता के द्वारा कामादि शत्रुओं का विध्वंस करते हैं और स्वास्थ्य, शान्ति व बुद्धि की सूक्ष्मतारूप ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रातः-जागरण व सन्ध्या-हवन

उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्य१र्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः।
यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिञ्चिकेतसि ।
आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः ॥६॥

१. **उत उ**=निश्चय से **नः**=हमारी **अस्याः उषसः**=इस उषा का **जुषेत**=यह प्रीतिपूर्वक सेवन करे, अर्थात् हम प्रातः जाग जाएँ। हमारा यह उषा-जागरण हमें प्रभु का प्रिय बनाए। **हि**=निश्चय से **अर्कस्य**=हमारे स्तुति-मन्त्रों को **बोधि**=जानें, अर्थात् हम प्रभु का स्तवन करें और वह स्तवन प्रभु-ज्ञान का विषय बने। **हवीमभिः**=प्रभु-पुकारों के साथ **हविषा**=हमारी हवि

को बोधि=आप जानें, अर्थात् प्रार्थना के साथ हम अग्निहोत्र करनेवाले भी हों। **हवीमभिः**=प्रार्थनाओं के साथ **स्वर्षाता**=(स्वः साता) स्वर्ग-प्राप्ति के निमित्त (हविषः बोधि) दी गई हवियों को प्रभु जानें, अर्थात् हम प्रभु को पुकारते हुए, उसका आराधन करते हुए हवि देनेवाले हों, अग्निहोत्रादि यज्ञों को करनेवाले हों। ये यज्ञ हमें स्वर्ग प्राप्त करानेवाले हों। २. **यत्**=कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **वृषा**=शक्तिशाली **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले प्रभो! आप **मृधः**=शत्रुओं को **हन्तवे**=मारना **चिकेतसि**=जानते हैं। आप हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं। आप **नवीयसः**=अतिशयेन स्तवन करनेवाले **वेधसः मे**=मेधावी मेरे **मन्म**=स्तोत्र को **आश्रुधि**=सर्वथा श्रवण कीजिए। **अस्य**=इस **नवीयसः**=नवतर जीवनवाले मेरे स्तवन को अवश्य ही सुनिए।

भावार्थ—हम (क) प्रातः जागें, (ख) स्तवन करें, (ग) हवन करें, (घ) प्रभु हमारे कामादि शत्रुओं का संहार करें, (ङ) मेधावी व नमनशील बनकर स्तोत्रों का उच्चारण करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

रिष्ट व दुर्मति से दूर

त्वं तमि॑न्द्र वावृधा॒नो अ॑स्म॒युर॑मित्र॒यन्तं॑ तुविजात॒ मर्त्यं॒ वज्रे॑ण शूर॒ मर्त्य॑म्।
ज॒हि यो नो॑ अघा॒यति॑ शृणु॒ष्व सु॒श्रव॑स्तमः ।
रि॒ष्टं न याम॒न्नप॑ भूतु दु॒र्मति॒र्विश्वाप॑ भूतु दु॒र्मतिः॑ ॥७॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वावृधानः**=स्तुति के द्वारा हममें वृद्धि को प्राप्त होते हुए **त्वम्**=आप **तं मर्त्यम्**=उस मनुष्य को **जहि**=नष्ट कीजिए जो **अमित्रयन्तम्**=हमारे प्रति शत्रुता का आचरण करता है। हे **तुविजात**=महान् विकासवाले! **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले हैं और हमारा हित चाहते हुए आप **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **मर्त्यम्**=हमारे शत्रुभूत मनुष्य को नष्ट कीजिए। वस्तुतः सब अपने-अपने कामों में लगने का ध्यान करें तो पारस्परिक शत्रुताएँ नष्ट ही हो जाएँ। उस मनुष्य को **जहि**=नष्ट कीजिए **यः**=जो **नः**=हमारा **अघायति**=अशुभ चाहता है। समाज के विरोध में क्रिया करनेवाले मनुष्य को आप दण्डित कीजिए। यहाँ 'यः' यह एकवचन और 'नः' यह बहुवचन इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि जो कोई एक व्यक्ति सारे समाज के अहित में प्रवृत्त होता है उस व्यक्ति का नाश आवश्यक है। नाश का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उसे भी क्रिया में व्यापृत कर दिया जाए। वह अपने कर्तव्य को निभाने में लगेगा तो व्यर्थ की बातों से बचा ही रहेगा। २. हे प्रभो! आप **सुश्रवस्तमः**=सुन्दर, सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं, **शृणुष्व**=हमारी प्रार्थना को सुनिए कि **यामन्**=इस जीवन-मार्ग में **रिष्टं न**=हिंसा की भाँति **दुर्मतिः**=दुर्बुद्धि **अप भूतु**=हमसे दूर हो। **विश्वा**=सम्पूर्ण **दुर्मतिः**=अशुभ बुद्धि **अपभूतु**=सुदूर विनष्ट हो। न तो हम शरीर में रोगों से हिंसित हों और न ही हमारा मस्तिष्क अशुभ विचारों का क्षेत्र बने।

भावार्थ—अशुभ चाहनेवाले व्यक्ति को प्रभु नष्ट करें। हमें रोगों से और अशुभ विचारों के आक्रमण से बचाएँ।

विशेष—इस सूक्त में शक्तिशाली इन्द्र से कामादि शत्रुओं के संहार की प्रार्थना है। प्रभु हमें रोगों से हिंसित होने व दुर्मति का शिकार होने से बचाते हैं। अब अगले सूक्त में भी यही आराधना है कि प्रभु से रक्षित होकर हम शत्रुओं का पराभव करें—

[१३२] द्वात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः । **देवता**—इन्द्रः । **छन्दः**—विराडत्यष्टिः । **स्वरः**—मध्यमः ।

पूर्व्यं धन

त्वया॑ व॒यं म॑घवन्पू॒र्व्ये धन॒ इन्द्र॑त्वोताः सासह्याम पृतन्य॒तो व॑नु॒याम॑ वनु॒ष्य॒तः ।
नेदि॑ष्ठे अ॒स्मिन्न॒ह॒न्यधि॑ वोचा॒ नु सु॒न्व॒ते ।
अ॒स्मिन्य॒ज्ञे वि च॑येमा॒ भरे॑ कृ॒तं वा॑ज॒यन्तो॒ भरे॑ कृ॒तम् ॥ १ ॥

१. हे **मघवन्**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वया**=आपके द्वारा **पूर्व्ये धने**=सर्वोत्कृष्ट धन में स्थापित हों। शरीर का धन 'स्वास्थ्य व शक्ति' है, मन का धन 'नैर्मल्य व शान्ति है और मस्तिष्क का धन' 'बुद्धि की सूक्ष्मता व ज्ञान' है। इन धनों में सर्वोत्कृष्ट धन ज्ञान है। यह प्रभु कृपा से प्राप्त होता है। २. हे **इन्द्र**=अन्धकार में पनपनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओं का ज्ञानैश्वर्य के द्वारा संहार करनेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपसे **ऊताः**=रक्षित हुए-हुए **पृतन्यतः**=हम पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को **सासह्याम**=कुचलनेवाले हों। **वनुष्यतः**=हिंसकों को **वनुयाम**=हिंसित करनेवाले हों। ३. हे प्रभो! आप **नेदिष्ठे**=अत्यन्त समीपतम **अस्मिन् अहनि**=इस दिन में, अर्थात् आज ही **नु**=निश्चय से **सुन्वते**=अपने में सोम का—वीर्य का सम्पादन करनेवाले व्यक्ति के लिए **अधिवोच**=अधिकारपूर्वक उपदेश कीजिए। ४. आपके इस उपदेश को सुनते हुए हम **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **भरे**=संग्राम में **कृतम्**=विजय करनेवाले आपको **विचयेम**=विशेषरूप से सञ्चित करें, अपने में दिव्य गुणों को अधिक-से-अधिक बढ़ाने के लिए यत्नशील हों। **वाजयन्तः**=शक्ति प्राप्त करने की कामना करते हुए **भरे**=संग्राम में **कृतम्**=विजय प्राप्त करानेवाले आपका संग्रह करें—आपको अपनाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान-धन में स्थापित करें। इसके द्वारा हम काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराभूत करें। प्रभु हमें प्रेरणा दें और हम उस प्रेरणा के अनुसार यज्ञों को करते हुए प्रभु को अपने अन्दर ग्रहण करें। ये प्रभु ही तो हमें संग्राम में विजयी बनाएँगे।

ऋषिः—परुच्छेपः । **देवता**—इन्द्रः । **छन्दः**—भुरिगतिशक्वरीः । **स्वरः**—पञ्चमः ।

स्वर्जेष भर

स्व॒र्जे॑षे॒ भर॑ आ॒प्रस्य॒ वक्म॑न्युष॒र्बुधः॒ स्वस्मि॒न्नञ्ज॑सि क्रा॒णस्य॒ स्वस्मि॒न्नञ्ज॑सि ।
अह॒न्निन्द्रो॒ यथा॑ वि॒दे शी॒र्ष्णाशी॑र्ष्णोप॒वाच्यः॑ ।
अ॒स्म॒त्रा ते॑ स॒ध्र्य॑क्स॒न्तु॒ रा॒तयो॑ भ॒द्रा भ॒द्रस्य॑ रा॒तयः॑ ॥ २ ॥

१. **स्वर्जेषे**=स्वर्ग की विजय करनेवाले **भरे**=संग्राम में **आप्रस्य**=अपना पूरण करनेवाले के, **वक्मनि**=प्रभु के स्तोत्रों के उच्चारण में **उषर्बुधः**=प्रातः प्रबुद्ध होनेवाले के, **स्वस्मिन् अञ्जसि**=आत्मा (स्व) के व्यक्त करने में (अञ्ज=व्यक्ति) **क्राणस्य**=योग में पुरुषार्थ करनेवाले के और **स्वस्मिन् अञ्जसि**=आत्मा की अभिव्यक्ति में ही यत्नशील पुरुष के **यथा विदे**=यथार्थ ज्ञान के लिए, यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए **इन्द्रः**=शत्रुसंहारक प्रभु **अहन्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश कर देते हैं। इन शत्रुओं का विनाश होने पर ही ज्ञान का प्रकाश चमकता है। शत्रुओं को नष्ट करनेवाले ये प्रभु **शीर्ष्णाशीर्ष्णा**=प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा **उपवाच्यः**=स्तुति के योग्य होते हैं। २. हे प्रभो! **ते**=आपके **रातयः**=दान **अस्मत्रा**=हममें **सध्र्यक्**=मिलकर चलनेवाले **सन्तु**=हों। **भद्रस्य**=कल्याणस्वरूप आपके **रातयः**=दान **भद्राः**=सदा कल्याणकर होते हैं। प्रभु से शरीर में 'शक्ति', मन में 'शान्ति' और बुद्धि में 'ज्ञान'-रूप धनों को प्राप्त करके

हम भी प्रभु की भाँति ही '**भद्र**'=सुखमय जीवनवाले हों।

भावार्थ—हमें संग्राम में वीर बनना है, प्रातः जागकर प्रभु-स्मरण करना है, आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए यत्नशील होना है, तभी हमें प्रभु से दिये जानेवाले 'शक्ति, शान्ति व ज्ञान'-रूप धन प्राप्त होंगे और हमारा जीवन भद्र हो जाएगा।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सात्त्विक अन्न

तत्तु प्रयः प्रत्नथा ते शुशुक्वनं यस्मिन्यज्ञे वारमकृण्वत क्षयमृतस्य वारसि क्षयम्।
वि तद्वोचेरध द्वितान्तः पश्यन्ति रश्मिभिः ।
स घा विदे अन्विन्द्रो गवेषणो बन्धुक्षिद्भ्यो गवेषणः ॥ ३ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **ते तत् प्रयः**=तेरे वे अन्न **तु**=तो **प्रत्नथा**=पहले की भाँति **शुशुक्वनम्**=(शुच् दीप्तौ) तुझे अत्यन्त पवित्र व दीप्त बनानेवाले हों। ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्यकुल में रहता हुआ तू जैसा सात्त्विक भोजन करता था, उसी प्रकार गृहस्थ में भी तेरा वही सात्त्विक भोजन बना रहे, **यस्मिन्**=जिस सात्त्विक भोजन से **यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **वारम्**=वरणीय वस्तुओं को **अकृण्वत**=संगृहीत करते हैं। आहार-शुद्धि से (क) अन्तःकरण की शुद्धि होती है, (ख) स्मृति की ध्रुवता प्राप्त होती है, (ग) वासना-ग्रन्थियों का विनाश हो जाता है। इस सात्त्विक अन्न के सेवन से ही **ऋतस्य क्षयम्**=सत्य के निवास को (क्षि=निवासे) **अकृण्वत**=करते हैं। सात्त्विक अन्न का सेवन हमें (घ) सत्य में स्थिर करता है। इस प्रकार सत्य में स्थित होता हुआ तू **क्षयं वाः असि**=अपने को निवास-स्थान के प्रति ले-जानेवाला होता है। ब्रह्मलोक ही तो हमारा निवासस्थान है। यहाँ तो हम एक जीवन-यात्रा में चल रहे हैं। इस यात्रा को पूर्ण करके हमें अपने वास्तविक घर ब्रह्मलोक में लौटना है। २. **अध**=अब—सात्त्विक अन्न का सेवन करने पर ही **द्विता**=दो प्रकार से स्थित—अधः-उपरिभावेन स्थित—पृथिवी व द्युलोक के **अन्तः**=अन्दर **रश्मिभिः**=ज्ञानरश्मियों से **पश्यन्ति**=प्रभु की महिमा को देखते हैं। **तत्**=उस प्रभु के माहात्म्य को ही तू **विवोचेः**=अन्य साथियों के लिए भी विशेषरूप से प्रतिपादित करनेवाला हो। ३. **सः**=वह **घ**=निश्चय से **इन्द्रः**=ज्ञानैश्वर्यवाला प्रभु **विदे**=इस ज्ञानी के लिए **अनुगवेषणः**=अनुकूलता से इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाला होता है, **बन्धुक्षिद्भ्यः**=सब बन्धुओं के लिए—गति करनेवालों व जीनेवालों के लिए (क्षि=निवासगत्योः) **गवेषणः**=इन्द्रियों को उत्तम प्रेरणा प्राप्त करानेवाला है (गो+एषणा)। प्रभु की प्रेरणा से जीवन उत्तम ही बनता है—स्वार्थ से ऊपर उठकर यह परार्थमय हो जाता है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न के सेवन से हम जीवन में उत्तम बातों का ही संग्रह करते हैं—सत्य में निवासवाले होते हैं। ऐसों की इन्द्रियों के लिए ही प्रभु सत्प्रेरणा प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

आवरण-विनाश

नू इत्था ते पूर्वथा च प्रवाच्यं यदङ्गिरोभ्योऽवृणोरप व्रजमिन्द्र शिक्षन्नप व्रजम्।
ऐभ्यः समान्या दिशाऽस्मभ्यं जेषि योत्सि च ।
सुन्वद्भ्यो रन्धया कं चिदव्रतं हृणायन्तं चिदव्रतम् ॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-संहारक प्रभो! **ते**=आपका **इत्था**=इस प्रकार का यह कार्य **नू**=अब **पूर्वथा**

च=पहले की भाँति ही **प्रवाच्यम्**=प्रकर्षेण स्तुति के योग्य होता है **यत्**=कि **अङ्गिरोभ्यः**=अङ्ग-अङ्ग में रसमय बननेवालों के लिए **व्रजम्**=इन्द्रियों के समूह को **अप अवृणोः**=अपावृत कर देते हैं—इन्द्रियों पर आ जानेवाले वासनारूप आवरण को आप दूर कर देते हैं। इस आवरण के दूर होने पर ही सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य को ठीक प्रकार से करती हैं। इस प्रकार आप **शिक्षन्**=(शक्तं कुर्वन्निच्छन्, शिक्षति दानकर्मा—नि० ३।२०) सब इन्द्रियों को शक्ति देते हुए **व्रजम्**=इस इन्द्रियसमूह को **अप**=अपावृत करते हो, इन्द्रियों पर पड़े हुए वासनारूप पर्दे को दूर करते हो। २. **एभ्यः**=इन इन्द्रियों के लिए **सम् आन्या**=सम्यक् प्राणित करनेवाली **दिशा**=दिशा से—इन इन्द्रियों को प्राणित करने के उद्देश्य से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **आयोत्सि**=इन वासनाओं से चारों ओर से युद्ध करते हैं **च**=और **जेषि**=विजय प्राप्त कराते हैं। वासनाओं को पराजित करके, इन्हें नष्ट करके हमें शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। ३. हे प्रभो! आप **सुन्वद्भ्यः**=सोम का अभिषव करनेवालों—शरीर में ही सोमशक्ति का सम्पादन करनेवालों के लिए तथा यज्ञशील पुरुषों के लिए **अव्रतं कं चित्**=जिस किसी अव्रत पुरुष को **रन्धय**=नष्ट कीजिए। **हृणायन्तम्**=क्रोध करनेवाले **अव्रतं चित्**=अव्रती पुरुष को भी आप नष्ट कीजिए। प्रभु यज्ञशील पुरुषों के रक्षण के लिए क्रोधी, अव्रती पुरुषों का संहार करते हैं। इसी प्रकार राजा का भी राष्ट्र में यह कर्तव्य होता है कि नियम भङ्ग करनेवाले व सदा क्रोधी पुरुषों का संहार करे तथा यज्ञशील पुरुषों का रक्षण करे।

भावार्थ—प्रभु कृपा से वासनाओं का आवरण दूर होता है और इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं। यज्ञशील पुरुषों के हित के लिए अव्रती, क्रोधी पुरुषों को प्रभु दूर करते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रभु में निवास

सं यज्जनान् क्रतुभिः शूर ईक्षयद्धने हिते तरुषन्त श्रवस्यवः प्र यक्षन्त श्रवस्यवः।
तस्मा आयुः प्रजावदिद् बाधे अर्चन्त्योजसा ।
इन्द्र ओक्यं दिधिषन्त धीतयो देवाँ अच्छा न धीतयः ॥५॥

१. **शूरः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाला वह प्रभु **यत्**=जब **जनान्**=लोगों को **क्रतुभिः**=यज्ञों के हेतु से **समीक्षयत्**=सम्यक् ज्ञानवाला बनाता है तब **धने हिते**=उन यज्ञों के द्वारा ऐश्वर्यों के स्थापित होने पर **श्रवस्यवः**=ज्ञान की कामनावाले ये पुरुष **तरुषन्त**=वासनाओं का संहार करते हैं। इन वासनाओं के संहार के लिए ही **श्रवस्यवः**=ये ज्ञान की कामनावाले पुरुष **प्रयक्षन्त**=प्रभु का खूब ही पूजन करते हैं। प्रभुपूजन से वासना विनष्ट हो जाती है, वासना-विनाश से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। इस ज्ञान के प्रकाश में मनुष्य यज्ञात्मक कर्मों को अपनाता है और परिणामतः हितकर धनों को प्राप्त होता है। २. **तस्मै**=उस यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले के लिए **इत्**=ही **बाधे**=वासनारूप शत्रुओं का बाधन होने पर **प्रजावत् आयुः**=उत्तम सन्तानोंवाला जीवन प्राप्त होता है। इस सबका विचार करके श्रवस्यवः=ज्ञान की कामनावाले लोग **ओजसा**=ओज की प्राप्ति के लिए **अर्चन्ति**=प्रभु का पूजन करते हैं। ३. **धीतयः**=ध्यानशील पुरुष **इन्द्रे**=उस परमात्मा में ही **ओक्यम्**=निवास-स्थान को **दिधिषन्त**=धारण करते हैं **न**=और (न इति चार्थे) परिणामतः **धीतयः**=ध्यानशील पुरुष **देवान् अच्छा**=देवों की ओर चलनेवाले होते हैं, ये दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। प्रभु में निवास करना ही दिव्यगुणों की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है। दिव्यगुणों की प्राप्ति के साथ इस प्रभुपूजन से ओजस्विता प्राप्त होती है। ओजस्विता से वासनारूप शत्रुओं का विनाश होकर उत्तम सन्तानों से युक्त दीर्घायुष्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं ताकि हम यज्ञशील हों, प्रभु में निवास करें और दिव्यगुणों को धारण करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

इन्द्रापर्वता

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तन्तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्।
दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्।
अस्माकं शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः॥ ६॥

१. हे इन्द्रापर्वता! इन्द्र 'सूर्य' का नाम है, पर्वत 'अश्मा' है। शरीर के द्युलोक 'मस्तिष्क' में ज्ञान-सूर्य का उदय होता है तथा इस शरीर में यह स्थूल शरीर पत्थर के समान दृढ़ होना चाहिए (अश्मा भवतु नस्तनूः)। यह ज्ञानसूर्य और शरीर की दृढ़ता ही 'इन्द्रापर्वता' हैं। **युवम्**=तुम दोनों **यो नः पृतन्यात्**=जो हमपर आक्रमण करता है **तं पुरोयुधा**=उसके साथ आगे बढ़कर युद्ध करते हो और **तम्-तम्**=उस-उसको, उस-उस आक्रमणकारी को **इत्**=निश्चय से **हतम्**=नष्ट करते हो। **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **तं तं इत् हतम्**=उस-उसको निश्चय से नष्ट करते हो। क्रियाशीलता ही कामादि संहार का महान् अस्त्र है। क्रियाशील पुरुष को वासनाएँ नहीं सता पातीं। २. यह **इन्द्र**=ज्ञानैश्वर्यवाला प्रभु **दूरे चत्ताय**=बहुत दूर भी चले गये, अर्थात् बहुत अधिक बढ़े हुए इन कामादि शत्रुओं को **छन्त्सत्**=जीतने की कामना करता है **यत्**=जब इन कामादि में से कोई भी **गहनम्**=हृदयरूपी गहन प्रदेश को **इनक्षत्**=व्याप्त करता है। हृदय में प्रभु का वास है, वासनाएँ वहाँ आती हैं तो उस प्रभु की ज्ञानज्योति में भस्म हो जाती हैं। ३. इस प्रकार **शूर**=हे शत्रुओं को **विश्वतः**=सब ओर से **परि दर्षीष्ट**=विदीर्ण कर देते हैं और सचमुच **विश्वतः**=सब ओर से विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति कामादि शत्रुओं को युद्ध में परास्त करते हैं। क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं का संहार होता है। प्रभु हमारे तीव्रतम शत्रुओं को शीर्ण कर देते हैं।

विशेष—इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में 'वनुयाम वनुष्यतः' इन शब्दों में यही प्रार्थना है कि हिंसकों की हिंसा करने में हम समर्थ हों और समाप्ति पर भी शत्रुओं के विदारण का उल्लेख है (६)। 'शत्रुओं का संहार करके हम अपने जीवनों को पवित्र बनाते हैं'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१३३] त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दोनों लोकों की पवित्रता

उभे पुनामि रोदसी ऋतेन द्रुहो दहामि सं महीरनिन्द्राः।
अभिव्लग्य यत्र हता अमित्रा वैलस्थानं परि तृळ्हा अशेरन्॥ १॥

१. गत सूक्त के अन्तिम शब्दों के अनुसार शत्रुओं का सब ओर से संहार करके मैं **उभे रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों को **पुनामि**=पवित्र करता हूँ। शरीर को रोगों से रहित करता हूँ तो मस्तिष्क को अशुभ विचारों से। २. **ऋतेन**=ऋत के पालन से, सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से **द्रुहः**=जिघांसु 'काम, क्रोध, लोभ' को **संदहामि**=पूर्णतया दग्ध

करता हूँ। **अनिन्द्राः मही:**=प्रभुस्मरण से रहित पृथिवियों—भूमियों को भी मैं दग्ध करता हूँ। वे भूमियाँ ही हमारा द्रोह करनेवाली होती हैं जो कि प्रभु के उपासन से रहित हैं। इन भूमियों पर ही कामादि शत्रुओं का उत्थान होता है। ३. **यत्र**=जहाँ **अभिव्लग्य**=चारों ओर से गति करके **अमित्राः**=ये कामादि शत्रु **हताः**=मारे जाते हैं तो **तृळ्हाः**=हिंसित हुए-हुए ये कामादि **वैलस्थानम्**=श्मशान में **परि अशेरन्**=शयन करते हैं। काम-क्रोधादि पर हमें सब ओर से आक्रमण करना होगा तभी हम इनका संहार कर सकेंगे। सब ओर से आक्रमण का अभिप्राय यह है कि अन्नमयकोश में उपवासादि व्रतों को अपनाएँ, प्राणमयकोश में प्राणसाधना आरम्भ करें, मनोमयकोश में प्रभु का स्मरण करें, विज्ञानमयकोश में प्रभु की सृष्टि में प्रभु की महिमा का विवेचन करें। इस प्रकार चतुर्दिक् आक्रमण होने पर ही ये शत्रु नष्ट हो पाएँगे।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं को नष्ट करके हम शरीर व मस्तिष्क दोनों को पवित्र करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

वासना-शिरश्छेदन

अभिव्लग्या चिददि्रवः शीर्षा यातुमतीनाम्।
छिन्धि वटूरिणा पदा महावटूरिणा पदा॥ २॥

१. हे **अद्रिवः**=वज्रवन्! क्रियाशीलतारूपी वज्र को हाथ में लिये हुए पुरुष! **अभिव्लग्या**=चारों ओर से आक्रमण करके **यातुमतीनाम्**=पीड़ा का आधान करनेवाली इन आसुरवृत्तियों के **शीर्षा चित्**=सिर को ही **छिन्धि**=काट डाल। क्रियाशीलता के द्वारा आसुर-वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। २. **वटूरिणा**=वेष्टनशील, व्याप्त होनेवाली **पदा**=(पद गतौ) गति से, व्याप्त ही क्या होनेवाली **महावटूरिणा पदा**=अत्यधिक व्याप्त होनेवाली क्रिया से इन पीड़ाप्रद आसुर वृत्तियों को हम नष्ट कर डालें। वासना-विनाश का सर्वोत्तम उपाय क्रियाशीलता ही है। क्रियाशील बनकर ही हम वासना-संहार में समर्थ हो पाते हैं। व्यापक क्रिया से अभिप्राय यह है कि हम सदा शरीर की स्वास्थ्य-सम्बन्धी क्रियाओं को, मन की नैर्मल्य-सम्बन्धी क्रियाओं को तथा मस्तिष्क की ज्ञानप्रसादसाधक क्रियाओं को करनेवाले बनें। इन तीनों क्रियाओं को करनेवाला 'विष्णु' त्रिविक्रम है। त्रिविक्रम ही अपने कर्मरूप सुदर्शन चक्र से इन वासनारूप शत्रुओं का नाश करते हैं।

भावार्थ—हम व्यापक क्रियाओंवाले बनकर वासनारूप शत्रुओं का विनाश कर दें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

वासनाओं का स्थान श्मशान में

अवासां मघवञ्जहि शर्धो यातुमतीनाम्।
वैलस्थानके अर्मके महावैलस्थे अर्मके॥ ३॥

१. हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! आप **आसाम्**=इन **यातुमतीनाम्**=पीड़ा का आधान करनेवाली वासनाओं के **शर्धः**=बल को **अवजहि**=सुदूर विनष्ट कीजिए। ज्ञानाग्नि में वासनाओं का दहन होता है, प्रभु की ज्ञानाग्नि से ये दग्ध हो जाएँ। २. ज्ञानाग्नि से दग्ध हुई ये वासनाएँ **अर्मके**=(शवैरणीये) मृतों से प्राप्त करने योग्य **वैलस्थानके**=श्मशान में शयन करें। **महावैलस्थे**=महान् श्मशान के **अर्मके**=कुत्सित स्थान में इन वासनाओं की स्थिति हो। 'श्मशान में' इसलिए कि ये फिर लौटें नहीं। जो श्मशान में पहुँचा बस लौटा नहीं। इसी प्रकार ये वासनाएँ वहीं पहुँचें, जाएँ और जाएँ ही, वापस न आएँ। वहीं दग्ध हो जाएँ।

भावार्थ—ज्ञानाग्नि-दग्ध वासनाओं का निवास श्मशान में हो। ये श्मशान-तुल्य कुत्सित

स्थान में रहें। हमें ये वासनाएँ छोड़ जाएँ।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

तीन गुणा पचास (वासनाएँ)

यासां तिस्रः पञ्चाशतोऽभिव्लङ्गैरपावपः।
तत्सु ते मनायति तकत्सु ते मनायति॥४॥

१. गतमन्त्र में पीड़ा का आधान करनेवाली वासनाओं का उल्लेख था। ये वासनाएँ प्रस्तुत मन्त्र में 'तिस्रः' कही गई हैं, क्योंकि इन्द्रियों, मन व बुद्धि में इनकी स्थिति होती है। इन्हें 'पञ्चाशत्' कहा गया है, क्योंकि सामान्यतः ये पचास वर्ष की अवस्था तक प्रबल रहती हैं, उसके पश्चात् तो प्रायः ये शान्त ही हो जाती हैं। **यासाम्**=जिन वासनाओं के **तिस्रः पञ्चाशतः**=त्रिगुणित पचास, अर्थात् डेढ़ सौ को **अभिव्लङ्गैः**=चतुर्दिक् आक्रमण से **अपावपः**=तू दूर करता है, **ते**=तेरे, **तत्**=उस वासना-विक्षेपणरूप कर्म को **सुमनायति**=सब कोई मान देता है, आदर से देखता है। **ते**=तेरे उस कर्म को **तकत्**=(अल्पं कन्) अत्यल्प—तुझसे आसानी से होने के कारण छोटा ही **सुमनायति**=मानता है। तुझे तो इससे भी महान् कार्यों को करना है। २. निरन्तर कार्यों में लगे रहना ही वह उपाय है, जिससे कि तीन पंक्तियों में पचास-पचास की संख्या में स्थित होनेवाली वासनाओं की सेना का विनाश किया जा सकता है। जो भी यह कार्य करता है, उसका यह कार्य प्रशंसनीय तो होता ही है।

भावार्थ—हम प्रायः पचास वर्ष के आयुष्य तक प्रबलता से इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आक्रान्त करनेवाली वासनाओं को क्रियाशीलता के द्वारा दूर करनेवाले बनें।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्चीगायत्री। स्वरः—षड्जः।

क्रोध का मर्दन

पिशङ्गभृष्टिमम्भृणं पिशाचिमिन्द्र सं मृण। सर्वं रक्षो नि बर्हय॥५॥

१. वासनाओं में क्रोध का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस क्रोध को एक राक्षस के रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं कि **पिशङ्गभृष्टिम्**=लाल-लाल (reddish) भून डालनेवाले, **अम्भृणम्**=अत्यन्त ऊँचा शब्द करनेवाले **पिशाचिम्**=मांस खानेवाले क्रोध को हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सं मृण**=कुचल डाल। क्रोध में मनुष्य का चेहरा तमतमा उठता है, क्रोध से मनुष्य अन्दर-ही-अन्दर जलता रहता है, क्रोध में आकर मनुष्य तेजी से ऊटपटाँग बोलता है। इस क्रोधवृत्ति को इन्द्र को समाप्त करना है। २. क्रोध को समाप्त करते हुए तू **सर्वं रक्षः**=सब राक्षसी वृत्तियों को **निबर्हय**=पूर्णरूप से नष्ट करनेवाला हो। इन राक्षसी वृत्तियों के विध्वंस पर ही उन्नति निर्भर होती है।

भावार्थ—हम क्रोध को दूर करने का प्रयत्न करें। क्रोध को समाप्त करके अन्य राक्षसी वृत्तियों का भी विध्वंस करनेवाले हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीजगती। स्वरः—निषादः।

इक्कीस शक्तियों के द्वारा शत्रुओं को शीर्ण करना

अवर्मह इन्द्र दादृहि श्रुधी नः शुशोच हि द्यौः क्षा न भीषाँ अद्रिवो घृणान्न भीषाँ अद्रिवः। शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर्वधैरुग्रेभिरीयसे।
अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिस्त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः॥६॥

१. हे **इन्द्र**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो! आप **महः**=इन प्रबल=महान् काम-

क्रोधादि शत्रुओं को **अवः दादृहि**=अवाङ्मुख करके विदीर्ण करनेवाले होओ। **अद्रिवः**=हे शत्रु-भक्षक प्रभो! (अद् भक्षणे) **नः श्रुधि**=हमारी इस प्रार्थना को सुनिए। इन प्रबल शत्रुओं के **भीषा**=भय से **क्षा न**=पृथिवी की भाँति **द्यौः**=द्युलोक भी **शुशोच**=जलकर भस्म-सा हो गया है (burn, consume)। काम से शरीररूप पृथिवी का विनाश हुआ है तो क्रोध से मस्तिष्करूप द्युलोक विकृत हो गया है। हे **अद्रिवः**=अविदारणीय प्रभो! **घृणात् भीषा न**=अग्नि से डरकर जैसे कोई काँप उठता है, उसी प्रकार हमारे शरीर व मस्तिष्क की स्थिति इन काम-क्रोध से हो गई है। २. हे प्रभो! आप **शुष्मिभिः**=शत्रुशोषक बलों से **हि**=निश्चयपूर्वक **शुष्मिन्तमः**=अत्यन्त बलवान् हैं। **उग्रेभिः**=अत्यन्त तेजस्वी **वधैः**=वधसाधन आयुधों से **ईयसे**=आप हमें प्राप्त होते हैं। 'प्राण'-रूप अस्त्र को लेकर हम इन काम-क्रोध को नष्ट कर सकते हैं। आप **अपूरुषघ्नः**=पौरुष करनेवाले को कभी नष्ट नहीं होने देते। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **सत्वभिः**=शक्तियों के कारण **अप्रतीत**=शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते। हे **शूर**=वीर **त्रिसप्तैः**=तीन गुणा सात, अर्थात् हमारे शरीरों में निवास करनेवाली इक्कीस **सत्वभिः**=शक्तियों के हेतु से अप्रतीत ही रहते हैं। हमें भी इन शक्तियों को प्राप्त कराके आप शत्रुओं से अधर्षणीय बना देते हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से हम उन काम-क्रोधादि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले बनें, जिनके भय से हमारे शरीर व मस्तिष्क जलकर भस्म हो हुए चले जा रहे हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'सुन्वन्' का सुन्दर जीवन

वनोति हि सुन्वन्क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः।
सुन्वान इत्सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः ।
सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम् ॥७॥

१. **सुन्वन्**=अपने शरीर में सोमरस=वीर्य का अभिषव करनेवाला व्यक्ति **हि**=निश्चय से **क्षयम्**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व गतिवाले शरीररूप गृह को **वनोति**=प्राप्त करता है (wins)। इस सोमरक्षण से शरीर स्वस्थ बनता है, शरीर की शक्तियाँ बनी रहती हैं और क्रियाशीलता में कमी नहीं आती। २. **सुन्वानः**=यह सोम-अभिषव करनेवाला **हि स्म**=निश्चय से **परीणसः**=(परितो नद्धान्—सा०) चारों ओर से बाँधनेवाले—हम पर आक्रमण करनेवाले **द्विषः**=द्वेषादि शत्रुओं को **अवयजति**=दूर करता है, **देवानां द्विषः**=दिव्य भावनाओं के दुश्मनों को, दिव्य भावनाओं की विरोधी आसुर भावनाओं को **अव**=अपने से दूर करता है। सोमरक्षण से आसुरभावनाएँ दूर होकर मानस पवित्रता का लाभ होता है। **सुन्वानः इत्**=सोम का अभिषव करता हुआ ही **वाजी**=शक्तिशाली बनता है, **अवृतः**=द्वेषादि शत्रुओं से घेरा नहीं जाता और **सहस्रा**=शतशः धनों को **सिषासति**=संभक्त करना चाहता है, अर्थात् सुन्वान ही धनों को प्राप्त करनेवाला होता है। ४. इस **सुन्वानाय**=सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आभुवम्**=सर्वतो व्याप्त, अर्थात् अत्यन्त प्रवृद्ध **रयिम्**=धन को **ददाति**=देता है, उस धन को **ददाति**=देता है जो कि **आभुवम्**=समन्तात् भवनशील होता है अर्थात् सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त होता है।

भावार्थ—शरीर में सोम=वीर्य के रक्षण से (क) हमारा शरीररूप गृह उत्तम बनता है, (ख) हम मन से आसुरभावों को दूर कर पाते हैं, (ग) शक्तिशाली बनकर शतशः धनों को प्राप्त करते हैं, (घ) उन धनों को प्राप्त करते हैं जो हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले

होते हैं।

विशेष—इस सम्पूर्ण सूक्त में जीवन को पवित्र बनाने की भावना का दर्शन होता है। अन्तिम मन्त्र में उस पवित्रता के साधनभूत सोम-रक्षण का प्रबल प्रतिपादन है। इस सोम के रक्षण से ही ऐश्वर्य का लाभ होता है। अब अगले सूक्त में 'इन्द्र' का स्थान 'वायु' लेता है—

विंशोऽनुवाकः

[१३४] चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ज्ञानयुक्त प्रिय, सत्य वाणी

आ त्वा जुवो रारहाणा अभि प्रयो वायो वहन्त्विह पूर्वपीतये सोमस्य पूर्वपीतये।
ऊर्ध्वा ते अनु सूनृता मनस्तिष्ठतु जानती ।
नियुत्वता रथेना याहि दावने वायो मखस्य दावने ॥ १ ॥

१. हे **वायो**=गतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **जुवः**=वेगवाले **रारहाणाः**=खूब गति करते हुए इन्द्रियरूप अश्व **प्रयः अभि**=हविरूप अन्न (food) की ओर, आनन्द (delight) की ओर और त्याग (sacrifice) की ओर **आवहन्तु**=ले-चलें, प्राप्त कराएँ। हम जीवनरूप यज्ञ में हविरूप अन्न का, सात्त्विक अन्न का ही सेवन करनेवाले बनें, सात्त्विकता के कारण त्याग की वृत्तिवाले हों, त्याग को अपनाने से आनन्दमय जीवनवाले हों। २. **इह**=इस जीवन-यज्ञ में ये इन्द्रियाश्व सोमस्य **पूर्वपीतये**=सबसे पूर्व सोम का पान करनेवाले हों, **पूर्वपीतये**=उस सोम का पान करनेवाले हों जो सोम शरीर का पालन और पूरण करनेवाला है। इस सोम-पान से—शरीर में वीर्यशक्ति के रक्षण से **ते**=तेरी **जानती**=ज्ञान से युक्त होती हुई **सूनृता**=प्रिय, सत्यवाणी **ऊर्ध्वा**=उन्नति की कारणभूत होकर **मनः अनुतिष्ठतु**=मन के अनुकूल होकर स्थित हो। सोम-रक्षण से हमारी वाणी ज्ञानयुक्त, सत्य व प्रिय होती है। यह वाणी उन्नति का कारण बनती है। यही इस सोमरक्षक पुरुष को प्रिय होती है। वह इसी वाणी का उच्चारण करता है। ३. इस सोमपान करनेवाले पुरुष से प्रभु कहते हैं कि **वायो**=हे गतिशील पुरुष! तू **नियुत्वता रथेन**=उत्तम इन्द्रियोंवाले शरीर-रथ से **दावने**=दान की क्रिया के होने पर, मखस्य **दावने**=यज्ञों से सम्बद्ध इन दान-क्रियाओं के होने पर **आयाहि**=मेरे समीप आनेवाला हो। सोमी बनने पर ही हमारा जीवन पुरुषार्थवाला होगा। हम इन्द्रियाश्वों से जुते इस शरीर-रथ से यज्ञों में स्थित होकर दान की वृत्तिवाले होंगे और प्रभु की ओर जा रहे होंगे।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व गतिशील हों। ये हमें यज्ञों की ओर ले-चलें। सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए हम सोम का रक्षण करें, ज्ञानयुक्त, प्रिय, सत्य वाणी बोलें और दान की वृत्तिवाले बनकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

उल्लास, शुभकर्म व ज्ञान

मन्दन्तु त्वा मन्दिनो वायविन्दवोऽस्मत्क्राणासः सुकृता अभिद्यवो गोभिः क्राणा
अभिद्यवः। यद्ध क्राणा इरध्यै दक्षं सचन्त ऊतयः ।
सध्रीचीना नियुतो दावने धिय उप ब्रुवत ईं धियः ॥ २ ॥

१. हे **वायो**=गतिशील जीव! **मन्दिनः**=आनन्द देनेवाले **इन्दवः**=सोमकण **त्वा मदन्तु**=तुझे आनन्दित करें, सुरक्षित होकर ये तेरे उल्लास का कारण बनें। ये सोमकण **अस्मत्**=हमसे **क्राणासः**=उत्पन्न किये गये हैं। प्रभु ने शरीर में रस-रुधिर आदि के क्रम से इनके उत्पादन की व्यवस्था की है। **सुकृताः**=इनके सुरक्षित होने पर शरीर से शोभन कार्य ही होते हैं (शोभनं कृतं यैः), **अभिद्यवः**=ये ज्ञानज्योति की ओर ले-चलनेवाले हैं, **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के हेतु से—उन वाणियों के अध्ययन के लिए **क्राणाः**=ये सोमकण उत्पन्न किये गये हैं और ये **अभिद्यवः**=हमें ज्ञान की ओर ले-चलते हैं। ये भी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं, बुद्धि को तीव्र करके हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं। २. **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **इरध्यै**=गतिशीलता के लिए **क्राणाः**=उत्पन्न किये गये ये सोमकण **दक्षम्**=उत्साहसम्पन्न पुरुष के साथ **सचन्ते**=समवेत होते हैं—उसे प्राप्त होते हैं तब **ऊतयः**=ये उसका रक्षण करनेवाले होते हैं, उसे रोगादि से बचाते हैं। ३. इस प्रकार सोमपान से शरीर के स्वस्थ होने पर **नियुतः**=इन्द्रियाश्व **सध्रीचीनाः**=(सह अञ्चन्ति) आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले होते हैं—ये बाहरी विषयों में भटकनेवाले नहीं होते। **धियः**=बुद्धियाँ **दावने**=दानादि कर्मों में होती हैं, अर्थात् त्याग में आनन्द का अनुभव होता है। **ईम्**=निश्चय से **धियः**=बुद्धियाँ **उपब्रुवते**=दानादि उत्तम कर्मों का ही उपदेश करती हैं, अर्थात् इस सोमी पुरुष की बुद्धि इस प्रकार सात्त्विक बन जाती है कि यह दानादि उत्तम कर्मों का ही समर्थन करती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सोमी पुरुष को उल्लासमय, शुभकर्मकृत, ज्ञानप्रवृत्त, दानादि कर्मों की ओर झुकाववाला बनाता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'रोहित, अरुण, अजिर व वहिष्ठ' अश्व

वायुर्युङ्क्ते रोहिता वायुरुणा वायू रथे अजिरा धुरि वोळ्हवे वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे।
प्र बोधया पुरन्धिं जार आ ससतीमिव ।
प्र चक्षय रोदसी वासयोषसः श्रवसे वासयोषसः ॥ ३ ॥

१. **वायुः**=गतिशील पुरुष **रथे**=इस शरीर-रथ में **रोहिता**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले—ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **युङ्क्ते**=जोतता है। **वायुः**=यह गतिशील पुरुष **अरुणा**=तेजस्वी अश्वों को जोतता है। **वायुः**=यह गतिशील पुरुष **अजिरा**=खूब क्रियाशील (agile) अश्वों को **धुरि**=जुए में जोतता है ताकि **वोळ्हवे**=वे इस रथ को उद्दिष्ट स्थल की ओर वहन करनेवाले हों। **वहिष्ठा**=वहन करने में सर्वोत्तम अश्वों को **धुरि**=जुए में जोतता है, ताकि वो **वोळ्हवे**=वे रथ का उत्तमता से वहन करनेवाले हों। यदि हम 'वायु'-गतिशील बनेंगे तो हमारे इन्द्रियाश्व 'विकसित शक्तिवाले, तेजस्वी, स्फूर्तिसम्पन्न व वहिष्ठ' होंगे। २. लक्ष्य-स्थल की ओर चलता हुआ यह वायु प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **पुरन्धिम्**=चालक बुद्धि को **प्रबोधय**=हममें जागरित कीजिए, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **जारः**=अन्धकार को जीर्ण करनेवाला सूर्य **आ-ससतीम्**=कुछ-कुछ अलसाई हुई स्त्री को प्रबुद्ध कर देता है। हे प्रभो! आप **रोदसी**=हमारे द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर को **प्रचक्षय**=प्रकृष्ट प्रकाशवाला कीजिए। शरीर तेज से दीप्त हो और मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाश से चमक उठे। हे प्रभो! आप **उषसः वासय**=उषाओं को अन्धकार को दूर करनेवाला कीजिए, इसलिए कि हम **श्रवसे**=ज्ञान का श्रवण करनेवाले बनें। हमें (क) बुद्धि प्राप्त हो, (ख) हमारे शरीर व मस्तिष्क दीप्त हों, (ग) हम उषाकालों में ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व 'रोहित, अरुण, अजिर व वहिष्ठ' हों। हमारी बुद्धि दीप्त हो, शरीर व मस्तिष्क प्रकाशमय हों, हम उषाकाल से ही ज्ञान में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ध्यान व स्वाध्याय

तुभ्यमुषासः शुचयः परावति भद्रा वस्त्रा तन्वते दंसु रश्मिषु चित्रा नव्येषु रश्मिषु।
तुभ्यं धेनुः सबर्दुघा विश्वा वसूनि दोहते ।
अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्यः ॥ ४॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि हमारे लिए उषाकालों को अन्धकार को दूर करनेवाला कीजिए। उसी प्रसङ्ग में प्रभु जीव से कहते हैं कि **तुभ्यम्**=तेरे लिए **उषासः**=ये उषाकाल **शुचयः**=अत्यन्त पवित्र होते हैं तथा तेरे शरीर में रोगरूप मलों को नहीं आने देते और मन में रागरूप मल को प्रविष्ट नहीं होने देते। साथ ही **परावति**=सुदूर देश में—विज्ञानमयकोश में अथवा मस्तिष्करूप द्युलोक में (अर्वावति=पृथिवीलोक में, परावति=द्युलोक में) **दंसु रश्मिषु**=दर्शनीय प्रकाश-किरणों में **भद्रा वस्त्रा**=कल्याणकर ज्ञानवस्त्रों को **तन्वते**=विस्तृत करते हैं। प्रकाशरश्मियाँ ही ताना-बाना बुनती हैं और ज्ञान का वस्त्र बुना जाता है। इन **नव्येषु रश्मिषु**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) ज्ञानरश्मियों में **चित्रा**=अद्भुत ही ज्ञानवस्त्रों को ये उषाकाल बुनते हैं, अर्थात् उषाकाल तेरी पवित्रता और ज्ञानदीप्ति का कारण बनते हैं। इन उषाकालों में तू ध्यान के द्वारा पवित्रता तथा स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानदीप्ति प्राप्त करता है। २. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **धेनुः**=वेदरूपी गौ **सबर्दुघा**=ज्ञानामृत का दोहन करनेवाली होती है और **विश्वा वसूनि**=सम्पूर्ण धनों को **दोहते**=प्रपूरण करनेवाली बनती है। जीवन की उन्नति के लिए आवश्यक सब वसुओं को यह देनेवाली होती है। ३. हे जीव! तू **मरुतः**=प्राणों के द्वारा (मरुत्=प्राण) प्राणसाधना के द्वारा **वक्षणाभ्यः**=(वक्षणा=नदी=नाड़ी) 'इडा, पिङ्गला व सुषुम्णा' नामक मेरुदण्ड-स्थित नाड़ियों को यथोचित क्रियाओं के द्वारा तथा **दिवः**=ज्ञान-प्रकाश के द्वारा और **आ वक्षणाभ्यः**=शरीर में सर्वत्र इन नाड़ियों की ठीक गति के द्वारा **अजनयः**=अपनी सब शक्तियों का प्रादुर्भाव करता है। जीवन में अध्यात्म-विकास का आरम्भ 'प्राणसाधना' से होता है (मरुतः)। प्राणसाधना से सम्पूर्ण नाड़ीचक्र की क्रियाएँ ठीक से होती हैं, विशेषतः 'इडा, पिंगला व सुषुम्णा' का कार्य ठीक से होने से मूलाधारचक्र से सहस्रारचक्र तक सारा शरीर स्वस्थ बना रहता है (वक्षणाभ्यः)। ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास होकर प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है (दिवः)। इस क्रम से मनुष्य पूर्णरूप से विकसित शक्तियोंवाला बनता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में स्वाध्याय, ध्यान व प्राणायामादि में प्रवृत्त हों। ये ही सब प्रकार की उन्नतियों के मूल हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

पवित्रता व शक्ति

तुभ्यं शुक्रासः शुचयस्तुरण्यवो मदेषूग्रा इषणन्त भुर्वण्यपामिषन्त भुर्वणि।
त्वां त्सारी दसमानो भगमीट्टे तक्ववीये ।
त्वं विश्वस्माद्भुवनात्पासि धर्मणा-सुर्यात्पासि धर्मणा ॥ ५॥

१. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **शुक्रासः**=ये वीर्यकण **शुचयः**=पवित्रता का साधन बनें, **तुरण्यवः**=ये

तुझे तुरा से युक्त करें तथा **मदेषु उग्राः**=उल्लासों के निमित्त अत्यन्त तेजस्वी हों। सोम के रक्षण से मन में अपवित्र विचार नहीं आते, शरीर में आलस्य घर नहीं करता तथा मानस उल्लास में कमी नहीं आती। २. ये सोमकण **भुर्वणि**=भरण के निमित्त **इषणन्त**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाले होते हैं, **अपां भुर्वणि**=प्रजाओं के भरण के निमित्त **इषणन्त**=ये शरीर में प्रेरित होते हैं। उस-उस अङ्ग में पहुँचकर यह सोम ही उनको शक्तिशाली बनाता है, उन अङ्गों में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देता। ३. **त्सारी**=शक्ति की कमी के कारण कुछ टेढ़ी-मेढ़ी चालवाला, **दसमानः**=उपक्षीण-सा हुआ-हुआ पुरुष हे सोम! **त्वाम्**=तुझे ही **तक्ववीये**=(तक्वन्=Darting) तीव्रगति के लिए, शक्तिपूर्वक शीघ्रता से चल सकने के लिए **भगम्**=वीर्य को **ईट्टे**=माँगता है। सोम के रक्षण से वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि क्षीण पुरुष भी (दसमानः), सीधा न चल सकनेवाला पुरुष भी (त्सारी) फिर से शक्तिपूर्वक शीघ्रता से चलने में समर्थ होता है। ४. हे सोम! **त्वम्**=तू **धर्मणा**=अपनी धारक शक्ति से **विश्वस्मात् भुवनात्**=सारे संसार से **पासि**=हमारा रक्षण करता है। सोम को शरीर में धारण करने पर कोई भी शक्ति हमें हानि नहीं पहुँचा सकती। **धर्मणा**=अपनी धारक शक्ति से तू **आसुर्यात्**=आसुरवृत्तियों के आक्रमण से **पासि**=हमें बचाता है।

भावार्थ—सुरक्षित होने पर सोम हमें शक्तिशाली बनाता है और अशुभ वृत्तियों से बचाता है।

सूचना—यहाँ मन्त्र के पूर्वार्द्ध में प्रभु ने जीव से शुक्र का महत्त्व कथन किया है और उत्तरार्द्ध में जीव सोम का आराधन करता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराडष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

अपूर्व्यः, प्रथमः

त्वं नो वायवेषामपूर्व्यः सोमानां प्रथमः पीतिमर्हसि। सुतानां पीतिमर्हसि।
उतो विहुत्मतीनां विशां ववर्जुषीणाम् ।
विश्वा इत्ते धेनवो दुह्र आशिरं घृतं दुह्रत आशिरम् ॥ ६ ॥

१. हे **वायो**=गतिशील जीव! सदा अपने कर्तव्य कर्मों में लगे हुए जीव! **त्वम्**=तू **नः**=हमारे **एषाम्**=इन **सोमानाम्**=सोमकणों के **पीतिम् अर्हसि**=पान के योग्य है, **सुतानाम्**=उत्पन्न किये गये इन सोमकणों की **पीतिम् अर्हसि**=शरीर में ही धारण करने के योग्य है। तुझे इन्हें नष्ट नहीं होने देना, शरीर में ही व्याप्त (Imbibe) करने का प्रयत्न करना। इससे तू **अपूर्व्यः**=सबसे पूर्वस्थान में होनेवाला होगा—उन्नति-पथ पर सबसे आगे होगा और **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला होगा। **उत उ**=और इस प्रकार ही **विहुत्मतीनाम्**=विशिष्ट आहुति व त्यागवाली **ववर्जुषीणाम्**=पापों का वर्जन करनेवाली **विशाम्**=प्रजाओं में तू अपूर्व्यः=सबसे आगे होगा। २. इस सोम का रक्षण करने पर **ते**=तेरे लिए **इत्**=निश्चय से **विश्वा धेनवः**=वेदवाणीरूपी सब गौएँ **आशिरम्**=वासनाओं को शीर्ण करनेवाले ज्ञानदुग्ध को (शृ हिंसायाम्) **दुह्रे**=दोहती हैं। **आशिरम्**=वासनाओं को पूर्णरूप से क्षीण करनेवाली **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को **दुह्रते**=प्रपूरण करती हैं। वस्तुतः सोमकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं, ज्ञानदीप्ति चमक उठती है और उसमें सब वासनाएँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से मनुष्य त्यागवृत्तिवाला, पापों को अपने से दूर करनेवाला व वासनाओं को भस्म करनेवाला बनता है।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में **सोम**=वीर्यरक्षण के महत्त्व का प्रतिपादन है। जीव को बारम्बार

'वायो' इस शब्द से सम्बोधित करके यह भी स्पष्ट कर दिया है कि गतिशील बने रहने से ही सोमरक्षण सम्भव है। अकर्मण्य पुरुष वासनाओं की ओर झुकता है और सोमरक्षण में असमर्थ हो जाता है। अगले सूक्त में भी यही विषय प्रतिपादित किया गया है—

[१३५] पञ्चत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रभु-प्राप्ति के लिए क्या आवश्यक है?

स्तीर्णं बर्हिरुप नो याहि वीतये सहस्रेण नियुता नियुत्वते शतिनीभिर्नियुत्वते।
तुभ्यं हि पूर्वपीतये देवा देवाय येमिरे।
प्र ते सुतासो मधुमन्तो अस्थिरन्मदाय क्रत्वे अस्थिरन् ॥ १ ॥

१. जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हमने **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्**=बिछा दिया है। आप **नः**=हमें **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त होओ, **वीतये**=अज्ञानान्धकार के ध्वंस के लिए प्राप्त होओ (वी=to throw, cast)। उस मुझे आप प्राप्त होओ जो **सहस्रेण नियुता**=(स-हस्) प्रसन्नता से युक्त इन्द्रियरूप अश्वों से **नियुत्वते**=नियुत्वान् बना है—प्रशस्त अश्वोंवाला हुआ है, **शतिनीभिः**=सौ वर्षों तक ठीक गति से चलनेवाले इन्द्रियाश्वों से **नियुत्वते**=नियुत्वान् हुआ है। 'हम अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाएँ, हृदय को वासनाशून्य करने का प्रयत्न करें।' यही प्रभु को आमन्त्रित करने का मार्ग है। प्रभुदर्शन होगा और वे हमारे अज्ञानान्धकार का ध्वंस कर देंगे। २. हे प्रभो! **तुभ्यं देवाय**=आप देव की प्राप्ति के लिए **हि**=ही **देवाः**=देववृत्ति के लोग **पूर्वपीतये**=प्रथमाश्रम में इस सोमपान के लिए **येमिरे**=संयमी जीवन बिताते हैं। हमारी तो यही आराधना है कि **ते सुतासः**=आपकी प्राप्ति के साधनभूत ये उत्पन्न सोमकण **मधुमन्तः**=हमारे जीवनों को मधुर बनानेवाले हों और **प्रास्थिरन्**=प्रकर्षेण शरीर में स्थितिवाले हों, इसलिए **अस्थिरन्**=स्थितिवाले हों कि **मदाय**=हमारे जीवन में उल्लास हो तथा **क्रत्वे**=हमारा जीवन कर्मसंकल्पोंवाला व ज्ञानवाला हो।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए जितेन्द्रियता व निर्मलहृदयता की आवश्यकता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए ही शरीर में सोम=वीर्य का रक्षण किया जाता है। रक्षित सोम उल्लास व ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—गान्धारः।

स्पृहणीय धनों व दीप्तियोंवाला 'सोम'

तुभ्यायं सोमः परिपूतो अद्रिभिः स्पार्हा वसानः परि कोशमर्षति शुक्रा वसानो अर्षति।
तवायं भाग आयुषु सोमो देवेषु हूयते।
वह वायो नियुतो याह्यस्मयुर्जुषाणो याह्यस्मयुः ॥ २ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वायो**=गतिशील जीव! **अयं सोमः**=यह सोम **तुभ्य**=तेरे लिए उत्पन्न किया गया है। यह **अद्रिभिः**=(आद्रियन्ते इति अद्रयः=those who adore) प्रभु के उपासकों से **परिपूतः**=पवित्र किया जाता है। उपासना से हमारी वृत्ति वैषयिक नहीं बनती और वासनाओं से ऊपर उठे रहने के कारण यह सोमशक्ति पवित्र बनी रहती है। यह पवित्र सोम **स्पार्हा**=स्पृहणीय स्वास्थ्यादि धनों को **वसानः**=धारण करता हुआ **कोशम्**=अन्नमयादि कोशों को **परि अर्षति**=प्राप्त होता है। यह कोशों में तेजस्वितादि प्राप्त कराता है। यह सोम **शुक्रा**=सब

कोशों की दीप्तियों को **वसानः**=धारण करता हुआ **अर्षति**=गति करता है। २. हे जीव! **तव**=तेरा **अयम्**=यह **भागः**=सेवनीय अंश है (भज सेवायाम्)। **आयुषु**=गतिशील पुरुषों में **देवेषु**=दिव्यगुणों की वृद्धि के निमित्त **सोमः हूयते**=इस सोम की आहुति दी जाती है। इस सोम के शरीर में सुरक्षित करने से दिव्यगुणों का वर्धन होता है। हे जीव! **नियुतः**=इन्द्रियरूप अश्वों को **वह**=शरीररूप रथ में जोतकर चलनेवाला बन (हाँकनेवाला बन)। **अस्मयुः**=हमारी—प्रभु-प्राप्ति की कामना से **याहि**=गतिवाला हो। तेरा लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति हो। **जुषाणः**=अत्यन्त प्रीति से इस सोम का सेवन करता हुआ तू **अस्मयुः**=हमारी—प्रभु-प्राप्ति की कामना से **याहि**=गतिमय बन।

भावार्थ—प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू सोम का रक्षण कर। यह तेरे सारे कोशों को स्वास्थ्यादि से दीप्त करेगा। यह तुझमें दिव्यगुणों का वर्धन करता हुआ तुझे मुझ तक पहुँचानेवाला होगा।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—गान्धारः।

प्रभु की ओर

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरं संहस्रिणीभिरुप याहि वीतये वायो हव्यानि वीतये।
तवायं भाग ऋत्वियः सरश्मिः सूर्ये सचा ।
अध्वर्युभिर्भरमाणा अयंसत वायो शुक्रा अयंसत ॥ ३ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **शतिनीभिः**=सौ वर्ष तक सशक्त बने रहकर शरीररथ को आगे ले-चलनेवाले **सहस्रिणीभिः**=प्रसन्नतापूर्वक आगे ले-चलनेवाले **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों से **नः**=हमारे **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों को **उप आयाहि**=सर्वथा समीपता से प्राप्त हो, इसलिए प्राप्त हो कि **वीतये**=तू अज्ञानान्धकार का ध्वंस करनेवाला हो (वी=असन=क्षेपण)। हे **वायो**=प्रगतिशील जीव! तू यज्ञों को इसलिए प्राप्त हो कि **हव्यानि वीतये**=तू हव्य—पवित्र यज्ञशिष्ट पदार्थों का भक्षण करनेवाला बने (वी=खादन)। २. **अयम्**=यह सोम **तव भागः**=तेरा सेवनीय अंश है, तुझे इसका सेवन करनेवाला बनना है, इसे नष्ट नहीं होने देना। **ऋत्वियः**=(ऋत=light, splendour) यह अन्तःप्रकाश की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है, **सरश्मिः**=यह ज्ञान की रश्मियोंवाला है, **सूर्ये सचा**=यह हमें सूर्य में समवेत करनेवाला है (सच समवाये)। इसके रक्षण से हम मूलाधार चक्र से ऊपर उठते-उठते सहस्रारचक्र तक पहुँचते हैं अथवा यह हमें सूर्यलोक में जन्म लेने के योग्य बनाता है। ३. ये सोमकण **अध्वर्युभिः**=यज्ञशील पुरुषों से **भरमाणः**=भरण-पोषण किये जाते हुए **अयंसत**=शरीर में ही नियमित किये जाते हैं। हे **वायो**=गतिशील जीव! **शुक्राः**=ये दीप्तिवाले सोम **अयंसत**=यज्ञशील पुरुषों से संयत किये जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने इन्द्रियाश्वों द्वारा शरीररूप रथ को यज्ञों की ओर ले-चलते हुए अन्धकार को दूर करें, यज्ञशेष का ही सेवन करें। सोमरक्षण से हम सूर्यलोक में जन्म लेनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सोम का पूर्वपान

आ वां रथो नियुत्वान्वक्षदवसेऽभि प्रयांसि सुधितानि वीतये वायो हव्यानि वीतये।
पिबतं मध्वो अन्धसः पूर्वपेयं हि वां हितम् ।
वायवा चन्द्रेण राधसा गतमिन्द्रश्च राधसा गतम् ॥ ४ ॥

१. वायु के साथ यहाँ इन्द्र का भी स्मरण है। 'इन्द्र' शक्तिशाली है, 'वायु' गतिशील। यह शरीररथ इन्द्र और वायु का है, अर्थात् शक्तिशाली और गतिशील पुरुष का है। प्रभु कहते हैं कि **वाम्**=आप दोनों का यह शरीर-रथ **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला है। यह रथ **अवसे**=रक्षण के लिए **सुधितानि**=उत्तमता से स्थापित किये गये **प्रयांसि**=अन्नों के **वीतये**=भक्षण के लिए **अभि**=उन अन्नों की ओर **आवक्षत्**=ले-चले। हे **वायो**=गतिशील जीव! **हव्यानि वीतये**=हव्य पदार्थों को ही खाने के लिए तुझे ले-चले। २. हे इन्द्र और वायो! आप दोनों **मध्वः अन्धसः**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले इस सोमरूप अन्न का **पिबतम्**=पान करो। यह सोम **वाम्**=आप दोनों का **हि**=निश्चय से **पूर्वपेयम्**=प्रथमाश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम में पान करने योग्य है, **हितम्**=यह आपके लिए अत्यन्त हितकर है। हे **वायो**=गतिशील जीव **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता शक्तिशाली जीव **चन्द्रेण राधसा**=आह्लाद देनेवाली सफलता के साथ और **राधसा**=सफलता के साथ ही **आगतम्**=तुम मुझे प्राप्त होओ। जब मनुष्य इस संसार-यात्रा को सफलता से पूर्ण कर लेता है तभी वह परमात्मा को प्राप्त करनेवाला बनता है। सफलता-प्राप्ति के लिए सोमरक्षण आवश्यक होता है। इस सोमरक्षण के लिए गतिशीलता (वायु) व जितेन्द्रियता (इन्द्र) साधन हैं। इसी को इस भाषा में कहते हैं कि 'वायु और इन्द्र' सोमपान करते हैं।

भावार्थ—यज्ञिय सात्त्विक पदार्थों का सेवन करते हुए हम सोम का रक्षण करें और आह्लाद व सफलता को प्राप्त करके प्रभु के समीप पहुँचें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सोम-शुद्धि व प्रभु-प्राप्ति

आ वां धियो ववृत्युरध्वराँ उपेममिन्दुं मर्मृजन्त वाजिनमाशुमत्यं न वाजिनम्।
तेषां पिबतमस्मयू आ नो गन्तमिहोत्या ।
इन्द्रवायू सुतानामद्रिभिर्युवं मदाय वाजदा युवम् ॥५॥

१. प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **इन्द्रवायू**=शक्तिशाली व क्रियाशील पुरुषो! **वाम्**=आप दोनों की **धियः**=बुद्धियाँ **अध्वरान् उप**=यज्ञों के समीप **आववृत्युः**=आवृत्त हों अर्थात् तुम्हारा झुकाव यज्ञों की ओर हो। इसी उद्देश्य से **इमम्**=इस **वाजिनम्**=शक्तिप्रदाता **इन्दुम्**=सोम=वीर्य को **मर्मृजन्त**=अत्यन्त शुद्ध बनाओ, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **आशुम्**=शीघ्र गतिवाले **वाजिनम्**=शक्तिशाली **अत्यम्**=घोड़े को मल-मलकर शुद्ध करते हैं। जैसे—घोड़े की मालिश से उसके स्वेदादि को दूर करके उसे शुद्ध कर देते हैं, वैसे ही वासनाओं को दूर करके इस सोम का शोधन होता है। शुद्ध हुआ-हुआ यह सोम शक्ति देनेवाला होता है। यह हमारे कार्यों में स्फूर्ति लाता है और हमें गतिशील बनाता है। २. **अस्मयू**=हमारी—प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले इन्द्र और वायु तुम दोनों **तेषां पिबतम्**=उन सोमकणों का पान करो। **इह**=इस जीवन में **सुतानाम्**=उत्पन्न सोमकणों की **ऊत्या**=रक्षा से **नः आगन्तम्**=हमें प्राप्त होओ। वस्तुतः इन सोमकणों के रक्षण से ही उस **सोम**=प्रभु की प्राप्ति होती है। **अद्रिभिः**=(न दृ) अविदारणों से—वासनाओं से खण्डित न होने से **युवम्**=आप दोनों **मदाय**=उल्लास के लिए होते हो। वासनाओं से खण्डित होने पर ही सोम का विनाश होता है और आनन्द व उल्लास भी समाप्त हो जाता है। इस सोम के रक्षण से **युवम्**=आप दोनों **वाजदा**=(दैप् शोधने) अपनी शक्ति का शोधन करनेवाले होते हो। इस शुद्ध शक्तिवाला पुरुष ही संसार में सफल होकर प्रभु

को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम अपने सोम=वीर्य को वासनाओं से मलिन न होने दें। यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें। इससे हम उल्लासमय जीवनवाले व शुद्ध शक्तिवाले होकर प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सर्वोत्तम जीवन-औषध

इमे वां सोमा अप्स्वा सुता इहाध्वर्युभिर्भरमाणा अयंसत वायो शुक्रा अयंसत।
एते वामभ्यसृक्षत तिरः पवित्रमाशवः ।
युवायवोऽति रोमाण्यव्यया सोमासो अत्यव्यया ॥ ६ ॥

१. **वाम्**=इन्द्र और वायु—आप दोनों के **अप्सु**=कर्मों के निमित्त **इमे**=ये **सोमाः**=सोमकण **आसुताः**=उत्पन्न किये गये हैं। इन सोमकणों के रक्षण से ही इन्द्र 'इन्द्र' बनता है, शक्तिशाली होता है और वायु 'वायु' बनता है, गतिशील हो पाता है। सोमपान के अभाव में इन्द्रत्व व वायुत्व समाप्त हो जाते हैं। ये सोम **इह**=इस शरीर में **अध्वर्युभिः**=यज्ञशील पुरुषों से **भरमाणाः**=धारण किये जाते हुए **अयंसत**=संयत किये जाते हैं। अध्वर्यु ही इन्हें शरीर में निरुद्ध कर पाते हैं। यज्ञादि कर्मों में लगे रहना ही वह उपाय है जिससे कि सोम का रक्षण होता है। हे **वायो**=गतिशील जीव! इस प्रकार ये **शुक्राः**=दीप्ति के साधनभूत सोमकण **अयंसत**=संयत होते हैं। २. **एते**=ये **वाम् अभि**=आपका लक्ष्य करके ही **असृक्षत**=रचे गये हैं। ये सोमकण ही इन्द्रत्व=जितेन्द्रियता व वायुत्व=क्रियाशीलता के प्राप्त करानेवाले हैं। जब ये **तिरः**=रुधिर में व्याप्त हुए-हुए तिरोहित-(छिपे)-से रहते हैं तो ये **पवित्रम्**=जीवन को पवित्र करनेवाले होते हैं, **आशवः**=हमें शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त करनेवाले बनते हैं। इनसे जीवन में स्फूर्ति आती है। **युवायवः**=इन्द्र और वायु की कामना करनेवाले ये सोम—उनमें सुरक्षित रहनेवाले ये सोम **अति रोमाणि**=(रोम=water) सब जलों से बढ़कर होते हैं। जल 'जीवन' है। ये सोमकण सर्वाधिक जीवनशक्ति देनेवाले हैं। **अव्यया**=ये शक्ति को नष्ट न होने देनेवाले—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में कहीं भी न्यूनता नहीं आने देते। **सोमासः**=ये सोमकण **अति अव्यया**=अतिशयेन शक्ति को क्षीण न होने देनेवाले हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोमकण हमें क्रियाशील बनाते हैं, दीप्त करते हैं, जीवन को पवित्र बनाते हैं और शक्ति को क्षीण नहीं होने देते।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

वायु और इन्द्र का स्थान कहाँ ?

अति वायो ससतो याहि शश्वतो यत्र ग्रावा वदति तत्र गच्छतं गृहमिन्द्रश्च गच्छतम्।
वि सूनृता ददृशे रीयते घृतमा पूर्णया नियुता याथो अध्वरमिन्द्रश्च याथो अध्वरम्॥ ७ ॥

१. हे **वायो**=प्रगतिशील जीव! तू **शश्वतः**=बहुत **ससतः**=सोते हुए पुरुषों को **अति याहि**=लाँघकर आगे निकल जा। हे वायो! तू **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्र **तत्र गृहम्**=उस घर में **गच्छतम्**=जाओ और उसी घर में **गच्छतम्**=जाओ **यत्र**=जहाँ **ग्रावा**=विद्वान् स्तोता **वदति**=ज्ञानोपदेश व प्रभुस्तवन करता है (विद्वांसो हि ग्रावाणः—श० ३।९।३।१४)। घर में सोते रहने की अपेक्षा यही उत्तम है कि हम ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हों और प्रभुस्तवन करनेवाले बनें। ऐसा करने पर ही हम 'वायु व इन्द्र' बन पाएँगे। यह स्वाध्याय व स्तवन हमें गतिशील व शक्तिशाली बनाए रक्खेगा। २. ऐसा होने पर हमारे घरों में **सूनृता**=प्रिय, सत्य वाणियाँ ही

विददृशे=विशेषरूप से देखी जाएँगी, **घृतं दीयते**=वहाँ ज्ञानदीप्ति का प्रवाह होगा (घृ दीप्ति)। हे वायो! **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्र—तुम दोनों **पूर्णया नियुता**=न्यूनता से रहित इन्द्रियाश्वों से **अध्वरम्**=यज्ञ के प्रति **आयाथः**=जाते हो और निश्चय से **अध्वरं याथः**=यज्ञों के प्रति ही जाते हो, अर्थात् यज्ञशील बने रहने से हम वायु व इन्द्र बन पाते हैं—सदा गतिशील, सदा शक्तिशाली।

भावार्थ—हम सोये न रहें, ज्ञानवाणियों का उच्चारण करें व प्रभुस्तवन में प्रवृत्त हों। हमारे घरों में सूनृत वाणियों का ही प्रयोग हो, सबके जीवन में दीप्ति का प्रवाह दिखे।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

माधुर्य की आहुति

अत्राह तद्वहेथे मध्व आहुतिं यमश्वत्थमुपतिष्ठन्त जायवोऽस्मे ते सन्तु जायवः।
साकं गावः सुवते पच्यते यवो न ते वाय उप दस्यन्ति धेनवो नाप दस्यन्ति धेनवः॥ ८॥

१. **अत्र**=यहाँ **अह**=निश्चय से **तत्**=उस **मध्वः**=माधुर्य की **आहुतिम्**=आहुति को **वहेथे**=आप प्राप्त कराते हो, **यम्**=जिस **अश्वत्थम्**=(अश्वेषु=इन्द्रियेषु तिष्ठति) जितेन्द्रिय पुरुष को **जायवः**=रोगों को जीतनेवाले ये सोमकण **उपतिष्ठन्त**=प्राप्त होते हैं, हम चाहते हैं कि **ते जायवः**=वे रोगों को जीतनेवाले सोमकण **अस्मे सन्तु**=हमारे लिए हों। इन सोमकणों के हममें सुरक्षित होने पर इन्द्र और वायु हमारे जीवन में भी माधुर्य प्राप्त कराएँ। २. इस सोम के हममें स्थित होने पर **गावः**=सब ज्ञानेन्द्रियाँ **साकम्**=साथ-साथ मिलकर **सुवते**=ज्ञान उत्पन्न करती हैं तथा **यवः पच्यते**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों के दूर करने तथा अच्छाइयों को प्राप्त करने का भाव परिपक्व होता है। ३. हे **वायो**=गतिशील जीव! **ते धेनवः**=तेरी ये ज्ञानदुग्ध देनेवाली ज्ञानवाणियाँ **न उपदस्यन्ति**=क्षीण नहीं होतीं और **धेनवः**=ये ज्ञान की वाणियाँ **न अपदस्यन्ति**=तुझसे कभी दूर नहीं होतीं। इनका सदा तेरे समीप वास होता है।

भावार्थ—जहाँ सोमकणों का रक्षण है, वहाँ जीवन में माधुर्य है। इन सोम-रक्षकों को ज्ञान प्राप्त होता है, इनकी बुराइयाँ नष्ट होती हैं और ज्ञान की वाणियाँ कभी इनका साथ नहीं छोड़तीं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सोमकणों का दुर्नियन्तृत्व

इमे ये ते सु वायो बाह्वोजसोऽ न्तर्नदी ते पतयन्त्युक्षणो महि व्राधन्त उक्षणः।
धन्वञ्चिद् ये अनाशवो जीराश्चिदगिरौकसः।
सूर्यस्येव रश्मयो दुर्नियन्तवो हस्तयोर्दुर्नियन्तवः॥ ९॥

१. हे **सु वायो**=शोभन गतिशील जीव! **इमे ये**=ये जो **ते**=तेरे सोमकण हैं **ते**=वे ही **बाह्वोजसः**=तेरी भुजाओं की शक्ति हैं, इनके कारण ही तेरी भुजाएँ सबल बनती हैं। **ते अन्तर्नदी**=ये नाड़ियों के अन्दर **पतयन्ति**=गति करते हैं। रुधिर के साथ व्याप्त हुए-हुए नाड़ियों में प्रवाहित होते हैं। **उक्षणः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति का सेचन करनेवाले हैं, **महि व्राधन्तः**=अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होते हुए **उक्षणः**=ये सोमकण शक्ति से सिक्त करनेवाले हैं। २. **धन्वन् चित्**=आकाशमार्ग में भी **ये**=जो सोमकण हैं वे **अनाशवः**=न क्षीण होनेवाले हैं। शरीर में मस्तिष्क ही आकाश है। सोमकण इस मस्तिष्क को भी अपनी व्याप्ति से उज्ज्वल बनाते हैं।

जीराः चित्=ये शीघ्र गतिवाले हैं, शरीर में स्फूर्ति लानेवाले हैं, **अ-गिरौकसः**=वस्तुतः वाणी इनका ओकस्=निवास-स्थान नहीं बनती। वाणी से इनकी महिमा का वर्णन सम्भव नहीं। ये **सूर्यस्य**=सूर्य की **रश्मयः इव**=रश्मियों के समान **दुर्नियन्तवः**=बड़ी कठिनता से वश में करने योग्य हैं। सूर्य की रश्मियों का नियमन कौन कर सकता है? इसी प्रकार इन सोमकणों के नियमन की बात है। **हस्तयोः दुर्नियन्तवः**=हाथों से ये वश में नहीं किये जा सकते। ये कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं कि इन्हें हाथों से पकड़ लेंगे। इनका नियमन तो चित्तवृत्ति के निरोध से ही सम्भव है। चित्तवृत्ति के निरोध के लिए की गई प्राणसाधना ही इनकी ऊर्ध्वगति का कारण बनती है।

भावार्थ—सोमकण शरीर में व्याप्त होकर भुजाओं को शक्ति देते हैं और मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाते हैं। बस, इनका काबू करना ही कठिन है।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से है कि सोमकण तुझमें स्थिर हों। ये ही तेरे जीवन को मधुर बनाते हैं (१) समाप्ति पर भी यही कहा है कि ये मस्तिष्क को अक्षीणशक्तिवाला व उज्ज्वल बनाते हैं, शरीर में स्फूर्ति लाते हैं, परन्तु इनका नियमन सुगम नहीं (९)। अगले सूक्त में 'परुच्छेप' ही 'मित्रावरुणौ' की उपासना इन शब्दों में करता है कि—

[१३६] षट्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—स्वराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्राणापान के लिए 'नमः, हव्य व मति' का भरण

प्र सु ज्येष्ठं निचिराभ्यां बृहन्नमो हव्यं मतिं भरता मृळयद्भ्यां स्वादिष्ठं मृळयद्भ्याम्।
ता सम्राजा घृतासुती यज्ञेयज्ञ उपस्तुता।
अथैनोः क्षत्रं न कुतश्चनाधृषे देवत्वं नू चिदाधृषे ॥ १ ॥

१. शरीर में प्राणापान ही मित्रावरुणौ हैं। ये सदा गतिमय होने से, शरीर में अन्य इन्द्रियों के सो जाने पर भी जागते रहने से, नित्य-से हैं—निचिर हैं। ये हमारे जीवन को शक्ति देकर तथा दोषों को दूर करके सुखी करते हैं। **निचिराभ्याम्**=(नितरां चिरकालाभ्याम्—सा०) नित्य प्रायः **मृळयद्भ्याम्**=हमारे जीवनों को सुखी बनानेवाले **स्वादिष्ठं मृळयद्भ्याम्**=अत्यन्त माधुर्य से सुखी करनेवाले इन प्राणापान के लिए **ज्येष्ठम्**=अत्यन्त प्रशस्त **बृहत्**=अतिप्रवृद्ध **नमः**=नमस्कारोपलक्षित स्तोत्र को **प्र सु भरत**=प्रकर्षेण उत्तमता से धारण करो। प्राणापान का स्तवन यही है कि उनके गुणों व लाभों का स्मरण करके प्राणायाम द्वारा उनकी साधना की जाए। इन प्राणापान के लिए **हव्यम्**=हव्य को **भरत**=प्राप्त कराओ। 'हव्य को प्राप्त कराना', अर्थात् यज्ञशेष का सेवन करना। यज्ञ में सात्त्विक पदार्थों का ही प्रयोग होता है, अतः इन प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के लिए हम सात्त्विक पदार्थों का सेवन करनेवाले बनें। **मतिम् (भरत)**=इन प्राणापान के लिए हम मति को धारण करें अर्थात् बुद्धि से इनके गुणों का विचार करें और इन्हें बढ़ी हुई शक्तिवाला करने के लिए प्रबल इच्छावाले हों। २. **ता**=वे प्राणापान **सम्राजा**=हमारे जीवनों को सम्यक् दीप्त करनेवाले हैं। शरीर को ये स्वस्थ व सबल बनाते हैं। **घृतासुती**=(घृतमासूयते याभ्याम्—सा०) मानस नैर्मल्य व मस्तिष्क की ज्ञानदीप्ति को ये उत्पन्न करनेवाले हैं। **यज्ञे यज्ञे उपस्तुता**=प्रत्येक यज्ञ में इनका स्तवन होता है। जब कभी विद्वानों के इकट्ठे होने का प्रसङ्ग होता है तो प्राणापान का स्तवन चलता है, सभी प्राणायाम के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। ३. **अथ**=अब, जब कि इन प्राणापानों के लिए 'नमः, हव्य व मति' का भरण किया जाता है तब **एनोः**=इन दोनों का **क्षत्रम्**=बल **कुतश्चन**=कहीं से भी अथवा किसी से भी **न आधृषे**=धर्षण

नहीं किया जा सकता। इनका **देवत्वम्**=रोगादि को जीतने का भाव **नू चित् आधृषे**=कभी भी धर्षण के योग्य नहीं होता। प्राणापान की प्रबल शक्ति सब रोग-कृमियों का पराजय करती हुई हमें पूर्ण स्वास्थ्य देनेवाली होती है।

भावार्थ—'प्राणापान का स्तवन (गुण-स्मरण) करना, उनकी वृद्धि के लिए सात्त्विक पदार्थों का सेवन करना और उनके धारण की प्रबल इच्छा करना' हमारा कर्तव्य है। ये प्राणापान हमें शक्ति व दीप्ति प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रकाशमय जीवन

अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी पन्था ऋतस्य समयंस्त रश्मिभिश् चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः।
द्युक्षं मित्रस्य सादनमर्यम्णो वरुणस्य च ।
अथा दधाते बृहदुक्थ्यं वय उपस्तुत्यं बृहद् वयः ॥ २॥

१. **गातुः**=निरन्तर गमनशील, **वरीयसी**=उत्कृष्ट उषा **उरवे**=विस्तार के लिए **अदर्शि**=दृष्टिगोचर हुई है, अर्थात् उषा के आते ही यह आकाश विस्तारवाला हो गया है। रात्रि के अन्धकार में तो यह संकुचित-सा हो गया था। **ऋतस्य**=सूर्य का (सृ गतौ-ऋ गतौ) **पन्थाः**=मार्ग **रश्मिभिः**=किरणों से **समयंस्त**=संगत हुआ है, अर्थात् सूर्य की किरणों ने सारे आकाश मार्ग को प्रकाश से भर दिया है। **भगस्य**=(भज सेवायाम्) सेवनीय प्रातःकालीन सूर्य की **रश्मिभिः**=किरणों से **चक्षुः**=आँख (समयंस्त=संगत) हुई है, २. जिस प्रकार बाह्यजगत् में प्रकाश हो गया है, उसी प्रकार मेरा यह शरीर भी **मित्रस्य वरुणस्य च अर्यम्णः**=मित्र, वरुण और अर्यमा का **द्युक्षं सादनम्**=ज्योतिर्मय निवासस्थान बने (द्यु+क्षि=निवास)। मेरे मन में सबके प्रति स्नेह की भावना हो (मित्र), मैं द्वेष से सदा दूर रहूँ (वरुण) तथा काम-क्रोधादि दोषों के नियमन की मेरी वृत्ति हो (अर्यमा)। राग-द्वेषादि के कारण मेरा हृदयाकाश मलिन न हुआ रहे। ३. **अथ**=अब ये मित्र और वरुण **बृहत्**=वृद्धि को प्राप्त होनेवाले **उक्थ्यम्**=स्तुत्य **वयः**=जीवन को **उपस्तुत्यं बृहद् वयः**=सचमुच प्रशंसनीय वर्धमान शक्तिवाले जीवन को **दधाते**=धारण करते हैं।

भावार्थ—उषा और सूर्य जैसे बाह्यजगत् को प्रकाशमय बनाते हैं, उसी प्रकार मेरा अन्तर्जगत् भी मित्र, वरुण व अर्यमा का प्रकाशमय निवास-स्थान बने। मेरा जीवन प्रशस्त हो।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—स्वराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ज्योतिष्मती, अदिति व स्वर्वती क्षिति

ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे जागृवांसा दिवेदिवे।
ज्योतिष्मत् क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती ।
मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोऽर्यमा यातयज्जनः ॥ ३॥

१. मनुष्य को चाहिए कि वह **क्षितिम्**=(क्षेत्रम्) शरीर को **धारयत्**=धारण करे। कैसे शरीर को? **ज्योतिष्मतीम्**=विज्ञानमयकोश में ज्ञान से परिपूर्ण शरीर को, **अ-दितिम्**=अन्नमय व प्राणमयकोश में न खण्डित होनेवाले अर्थात् स्वस्थ शरीर को, **स्वर्-वतीम्**=मनोमयकोश में (स्वयं राजते 'स्वर') स्वयं शासन की भावनावाले को। वस्तुतः मित्र और वरुण अर्थात् प्राणापान **दिवेदिवे**=प्रतिदिन ऐसे ही शरीर को **आ सचेते**=सर्वथा समवेत करते हैं। प्राणापान की साधना

से ऐसा ही शरीर प्राप्त होता है। ये मित्र और वरुण—प्राणापान **दिवेदिवे**=प्रतिदिन—सदा **जागृवांसा**=जागरणशील हैं। अन्य इन्द्रियाँ थककर सो जाती हैं, परन्तु प्राणापान जागते ही रहते हैं। २. ये प्राणापान **ज्योतिष्मत् क्षत्रम्**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त बल **आशाते**=व्याप्त करते हैं। इनकी साधना से मस्तिष्क ज्योतिर्मय होता है तो शरीर बल-सम्पन्न बनता है। **आदित्या**=सब अच्छाइयों का आधान करनेवाले ये प्राणापान हैं (आदानात् आदित्यः), **दानुनः पती**=(दाप् लवने) सब प्रकार के खण्डन से ये बचानेवाले हैं। ३. **तयोः**=इनमें **मित्रः**=प्राण तथा **वरुणः**=अपान भी **यातयत् जनः**=(स्व-स्व-व्यपार-नियोजितसर्वजनः—सा०) सब लोगों को अपने-अपने कार्य में प्रेरित करनेवाले हैं। मित्र और वरुण के साथ होनेवाला **अर्यमा**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन भी (अरीन् यच्छति) **यातयज्जनः**=लोगों को अपने-अपने व्यपार में प्रेरित करता है। मित्र, वरुण व अर्यमा को अपनाने पर, अर्थात् प्राणापान की साधना के द्वारा काम-क्रोधादि को वश में करने पर हम अपने-अपने कार्यों में सुचारुरूपेण प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना होने पर यह शरीर-नगरी 'ज्योतिष्मती, अदिति व वर्चस्विनी' बनती है। ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करके हम स्वकार्यप्रवृत्त बने रहते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

शन्तम सोम

अयं मित्राय वरुणाय शन्तमः सोमो भूत्ववपानेष्वाभगो देवो देवेष्वाभगः।
तं देवासो जुषेरत विश्वे अद्य सजोषसः ।
तथा राजाना करथो यदीमह ऋतावाना यदीमहे ॥ ४ ॥

१. **अयं सोमः**=यह सोम=वीर्य **मित्राय वरुणाय**=मित्र और वरुण के लिए—प्राणापान के लिए **शन्तमः भूतु**=अत्यन्त शान्ति देनेवाला हो। सोम-रक्षण से प्राणापान की शक्ति का वर्धन होता है और प्राणसाधना सोमरक्षण में सहायक है। यह **देवः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाला सोम अथवा सब रोगों को जीतने की कामना करनेवाला सोम (दिव् विजिगीषा) **अवपानेषु**=शरीर में ही पान (सुरक्षित) होनेपर **आभगः**=सब कोशों के ऐश्वर्य का कारण होता है। सोम **देवेषु**=सब इन्द्रियों में **आभगः**=पूर्णरूप से ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला होता है—सब इन्द्रियों को यह सशक्त बनाता है। २. **तम्**=उस सोम को **देवासः**=हे देवो! **जुषेरत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले बनो। **विश्वे**=सब देवो! **अद्य**=आज **सजोषसः**=परस्पर प्रीतिवाले होते हुए इस सोम का पान करो। देववृत्ति के लोग वस्तुतः इस सोमपान के कारण ही देववृत्ति के बनते हैं। ३. हे **राजाना**=(राजृ दीप्तौ) दीप्त होनेवाले मित्र और वरुण, अर्थात् प्राणापानो! तथा **करथ**=ऐसा करो **यत् ईमहे**=जैसा कि हम चाहते हैं। हे **ऋतावाना**=ऋतवाले, सब कार्यों में ऋत को ले-आनेवाले अथवा अनृत को नष्ट करके ऋत का वर्धन करनेवाले प्राणापानो! ऐसा करो **यत् ईमहे**=जैसी कि हम याचना करते हैं। हम यही चाहते हैं कि यह सोम शरीर में सुरक्षित होकर सब इन्द्रियों को शक्तिरूप ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से प्राणापान की शक्ति बढ़ती है, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने ऐश्वर्य को प्राप्त होती हैं और हमारी वृत्ति दैवी बनती हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—मित्रावरुणौ । छन्दः—स्वराडत्यष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

मित्र और वरुण की उपासना

यो मित्राय वरुणायाविधज्जनोऽनर्वाणं तं परि पातो अंहसो दाश्वांसं मर्तमंहसः ।
तमर्यमाभि रक्षत्यृजूयन्तमनु व्रतम् ।
उक्थैर्य एनोः परिभूषति व्रतं स्तोमैराभूषति व्रतम् ॥ ५ ॥

१. **यः जनः**=जो मनुष्य **मित्राय वरुणाय**=प्राणापान के लिए **अविधत्**=पूजा करता है, अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राणापान को ठीक रखने का प्रयत्न करता है **तम् अनर्वाणम्**=उस द्वेषशून्य पुरुष को (अद्वेष्य=अजातशत्रु को) **अंहसः**=पाप से **परिपातः**=बचाते हो। उस **दाश्वांसम् मर्तम्**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले पुरुष को अंहसः=पाप से बचाते हो। प्राणसाधना का यह परिणाम है कि अशुभ वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। २. **तम्**=उस **ऋजूयन्तम्**=सरल मार्ग से गति करनेवाले पुरुष को **अनुव्रतम्**=उस अनुकूल व्रतोंवाले पुरुष को **अर्यमा**=काम-क्रोधादि को संयत रखने की वृत्ति **अभिरक्षति**=शरीर व मन पर आक्रमण करनेवाले रोगों व रागों से बचाती है। उसको बचाती है **यः**=जो **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **एनोः**=इन प्राणापान के **व्रतम्**=व्रत को **परिभूषति**=(परिगृह्णाति—सा०) धारण करता है। **स्तोमैः**=प्रभुस्तवनों के साथ **व्रतम् आभूषति**=प्राणसाधना के व्रत को अपने जीवन का भूषण बनाता है। स्पष्ट है कि हम प्राणायाम करते हुए प्रभु के स्तोत्रों का ध्यान करें तो शरीर व मन के मलों से रहित होकर हमारा जीवन अत्यन्त पवित्र बनेगा।

भावार्थ—अपने को पापों से बचाने के लिए प्राणसाधना अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—परुच्छेपः । देवता—मन्त्रोक्ताः । छन्दः—स्वराडत्यष्टिः । स्वरः—मध्यमः ।

ज्ञान, जितेन्द्रियता व ऐश्वर्य

नमो दिवे बृहते रोदसीभ्यां मित्राय वोचं वरुणाय मीळ्हुषे सुमृळीकाय मीळ्हुषे ।
इन्द्रमग्निमुप स्तुहि द्युक्षमर्यमणं भगम् ।
ज्योग्जीवन्तः प्रजया सचेमहि सोमस्योती सचेमहि ॥ ६ ॥

१. उस **बृहते दिवे**=महान् प्रकाशस्वरूप परमात्मा के लिए **नमः**=मैं नमस्ते करता हूँ, उसके लिए नतमस्तक होकर उस जैसा ही होने का प्रयत्न करता हूँ। **रोदसीभ्याम्**=द्यावापृथिवी के लिए नमस्ते करता हूँ। द्युलोक की भाँति मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करने के लिए यत्नशील होता हूँ और शरीर को पृथिवी के समान दृढ़ बनाता हूँ। **मित्राय**=स्नेह की देवता का **वोचम्**=स्तवन करता हूँ और **वरुणाय**=निर्द्वेषता की देवता के लिए आराधना करता हूँ। ये स्नेह और निर्द्वेषता **मीळ्हुषे**=मेरे जीवन में सुखों का सेचन करनेवाली हैं। **सुमृळीकाय**=मेरे जीवन को उत्तम सुख प्राप्त करानेवाली हैं, **मीळ्हुषे**=और सचमुच सुखी करनेवाली हैं। २. अपने को ही प्रेरणा देते हुए यह आराधक कहता है कि **इन्द्रम् अग्निम्**=इन्द्र और अग्नि का **उपस्तुहि**=स्तवन कर। ये इन्द्र और अग्नि क्रमशः शक्ति व प्रकाश की देवता है। इनके आराधना से तू शक्तिसम्पन्न व प्रकाशमय जीवनवाला बनने का प्रयत्न कर। **द्युक्षम्**=दीप्तिमान् **अर्यमणम्**=अर्यमा का स्तवन कर। 'अर्यमा' शत्रुओं को वश में करने की देवता है। काम-क्रोधादि को वश में करनेवाला ही दीप्तिमान् बनता है, **भगम्**=तू सेवनीय धन का स्तवन कर। सुपथ से कमाया गया धन ही सेवनीय धन है। ३. हमारी यही कामना हो कि **ज्योक् जीवन्तः**=दीर्घकाल तक जीवन को धारण करते हुए **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **सचेमहि**=हम संगत हों। हमारा जीवन दीर्घ हो, हमारे सन्तान

उत्तम हों। **सोमस्य ऊती**=सोमरक्षण के द्वारा हम दीर्घजीवन व उत्तम सन्तान से **सचेमहि**=संगत हों।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण करते हुए हम प्रकाश व शक्ति का सम्पादन करें। ज्ञान, जितेन्द्रियता व ऐश्वर्योंवाले होकर दीर्घजीवन व उत्तम सन्तान को प्राप्त करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अग्नि, मित्र व वरुण से दिया गया सुख

ऊती देवानां वयमिन्द्रवन्तो मंसीमहि स्वयशसो मरुद्भिः।
अग्निर्मित्रो वरुणः शर्म यंसन् तदश्याम मघवानो वयं च॥७॥

१. **देवानाम् ऊती**=दिव्यगुणों के रक्षण के द्वारा **वयम्**=हम, **इन्द्रवन्तः**=उस परमात्मावाले होते हुए, अर्थात् अपने हृदयों में प्रभु को बिठाते हुए **मंसीमहि**=अपने कर्तव्यों का विचार करें। **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा—प्राणायाम की साधना के द्वारा हम **स्वयशसः**=अपने उत्तम कर्मों से यशवाले हों। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति विषयों से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होती है और हम उत्तम कर्मोंवाले बन पाते हैं। २. उस समय **अग्निः मित्रः वरुणः**=आगे बढ़ने की वृत्ति, स्नेह व निर्द्वेषता हमें **शर्म यंसन्**=सुख देते हैं। **तत्**=उस अग्नि आदि द्वारा प्रदत्त सुख को **मघवानः**=अपने ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले लोग **च**=तथा **वयम्**=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम लोग **अश्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—दिव्य गुणों का वर्धन करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें। प्रकाश, स्नेह व निर्द्वेषता से हमारा जीवन सुखी बने।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त का मुख्य विषय यह है कि हम प्राणसाधना के द्वारा प्रकाश व बल प्राप्त करें। अगले सूक्त में कहा है कि प्राणसाधना से हम सोम=वीर्य का शरीर में ही रक्षण करनेवाले बनते हैं। इस सोम के द्वारा शरीर में शक्ति बढ़ती है तो मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि दीप्त होती है—

॥ इति द्वितीयाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयाष्टके द्वितीयोऽध्यायः

[१३७] सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः । **देवता**—मित्रावरुणौ । **छन्दः**—निचृच्छक्वरी । **स्वरः**—पञ्चमः ।

मित्रावरुण का सोमपान

सुषुमा यातमद्रिभिर्गोश्रीता मत्सरा इमे सोमासो मत्सरा इमे ।
आ राजाना दिविस्पृशास्मत्रा गन्तमुप नः ।
इमे वां मित्रावरुणा गवाशिरः सोमाः शुक्रा गवाशिरः ॥ १ ॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो ! **आयातम्**=आइए । **इमे**=ये **सोमासः**=सोमकण हमने **सुषुम**=उत्पन्न किये हैं । **अद्रिभिः**=(न दृ) वासनाओं से विदीर्ण न होने के द्वारा अथवा (आदृ) प्रभु के उपासन से रक्षित किये हुए ये सोमकण **गोश्रीताः**=(श्री=to prepare) ज्ञान की वाणियों के हेतु से परिपक्व किये गये हैं (गोभिः श्रीताः) । इनके रक्षण से ही बुद्धि तीव्र होती है और इन वाणियों को समझनेवाली बनती है । **इमे मत्सराः**=ये सोम हमारे हृदयों में आनन्द का सञ्चार करनेवाले हैं, **सोमासः मत्सरा इमे**=ये सोम सचमुच आनन्द का सञ्चार करनेवाले हैं। २. **राजाना**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाले प्राणापान **दिविस्पृशा**=ज्ञान में स्पर्श करनेवाले हैं। आप **अस्मत्रा**=हमारे विषय में **नः आ उपगन्तम्**=हमारे अत्यन्त समीप प्राप्त होनेवाले होओ। हे प्राणापानो! **इमे वां सोमाः**=ये आपके सोम **गवाशिरः**=ज्ञान की वाणियों से मिश्रित हैं, **शुक्राः**=दीप्तिवाले हैं और **गवाशिरः**=निश्चय से ज्ञानवाणियों से युक्त हैं (श्रि सेवायाम्) । आपकी साधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है। यही आपका सोमपान है। सोमरक्षण से ज्ञानदीप्ति होती है और हम ज्ञानवाणियों को सम्यक् समझनेवाले बनते हैं। इन प्राणापान के द्वारा सोमरक्षण से हमारा जीवन शुद्ध व दीप्त बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर वासनाओं से विदीर्ण न होने तथा प्रभु-उपासना के द्वारा हम सोमरक्षण कर पाते हैं। इससे हमारा जीवन दीप्त व ज्ञानान्वित होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः । **देवता**—मित्रावरुणौ । **छन्दः**—विराट् शक्वरी । **स्वरः**—पञ्चमः ।

शरीर व मानस स्वास्थ्य का साधन सोम

इम आ यातमिन्दवः सोमासो दध्याशिरः सुतासो दध्याशिरः ।
उत वामुषसो बुधि साकं सूर्यस्य रश्मिभिः ।
सुतो मित्राय वरुणाय पीतये चारुर्ऋताय पीतये ॥ २ ॥

१. हे प्राणापानो! **आयातम्**=आप आइए! **इमे**=ये **इन्दवः**=शक्ति देनेवाले (इन्द् to be powerful) **सोमासः**=सोमकण **दध्याशिरः**=(दधि धारकं बलम्) धारक बल से युक्त हैं। **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण निश्चय ही **दध्याशिरः**=धारक बलों से युक्त हैं। इनके प्रति आप आइए। **उत**=और **वाम्**=आपकी प्रीति के लिए **उषसः बुधि**=उषाकाल के जागरित होने पर **सूर्यस्य रश्मिभिः साकम्**=सूर्यकिरणों के साथ आप आइए। **सुतः**=यह सोम उत्पन्न किया गया है। यह **मित्राय वरुणाय पीतये**=मित्र और वरुण के पान के लिए उत्पन्न किया गया है। यह सोम **चारुः**=अत्यन्त सुन्दर है। यह **ऋताय**=ऋत के लिए और **पीतये**=रक्षण के

लिए होता है। यदि इस सोम का शरीर में ही रक्षण किया जाए तो हमारे जीवन में से अनृत दूर होकर वहाँ ऋत का स्थापन होता है और यह सोम हमें अनेकशः रोगों के आक्रमण से बचानेवाला होता है। मन में यह ऋत का स्थापन करता है, शरीर में नीरोगता का। इस प्रकार यह सोम सुन्दर-ही-सुन्दर है। प्राणसाधना के द्वारा—मित्रावरुणों की उपासना के द्वारा हमें इसे शरीर में ही सुरक्षित करना है।

भावार्थ—रक्षित सोम धारक शक्तिवाला है। यह हमारे शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य का साधन है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—भुरिगतिशक्वरी। **स्वरः**—पञ्चमः।

सोम-रक्षण से शक्ति का विकास

तां वां धेनुं न वासरीमंशुं दुहन्त्यद्रिभिः सोमं दुहन्त्यद्रिभिः।
अस्मत्रा गन्तमुप नोऽर्वाञ्चा सोमपीतये ।
अयं वां मित्रावरुणा नृभिः सुतः सोम आ पीतये सुतः ॥ ३॥

१. **न**=जैसे **वासरीं धेनुम्**=बहुत दूध देनेवाली गाय को दुहते हैं, उसी प्रकार **वाम्**=हे मित्रावरुणो! आपके लिए **ताम् अंशुम्**=उस सोम को—ज्ञानप्राप्ति की साधनभूत वीर्यशक्ति को **अद्रिभिः**=(अ+दृ) वासनाओं से विदीर्ण न होने के द्वारा तथा (आदृ=to adore) प्रभु-उपासना के द्वारा **दुहन्ति**=अपने में पूरित करते हैं। सोम को 'मित्रावरुणों का' इसलिए कहा है कि यह प्राणसाधना द्वारा ही शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता है। **सोमम्**=सोम को **अद्रिभिः**=वासनाओं से अविदीर्णता तथा प्रभु के उपासन द्वारा अपने में **दुहन्ति**=पूरित करते हैं। २. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! आप **सोमपीतये**=इस सोमशक्ति के शरीर में ही पान—सुरक्षित करने के लिए **अस्मत्रा**=(अस्मान् त्रातारौ—सा०) हमारा रक्षण करनेवाले आप **अर्वाञ्चा**=हमारे अभिमुख होते हुए **नः**=हमारे **उप आगन्तम्**=समीप आइए। हे प्राणापानो! **अयं सोमः**=यह सोम **नृभिः**=प्रगतिशील पुरुषों से **वाम्**=आपके लिए ही **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। यह सोम **आ-पीतये**=सब प्रकार से शरीर में ही सुरक्षित करने के लिए **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। इस सोम का उत्पादन इसे शरीर में ही व्याप्त करके सब शक्तियों के विकास के लिए ही हुआ है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम सब अङ्गों की शक्ति का रक्षण करता है।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त के तीनों मन्त्र सोम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं। रक्षित सोम सब अङ्गों को सशक्त बनाता है, सशक्त बनने के लिए ही यह अब पूषन् का स्मरण करता है—

[१३८] अष्टात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—पूषा। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'अन्त्यूति मयोभू' पूषा

प्रप्र पूष्णस्तुविजातस्य शस्यते महित्वमस्य तवसो न तन्दते स्तोत्रमस्य न तन्दते।
अर्चामि सुम्नयन्नहमन्त्यूतिं मयोभुवम् ।
विश्वस्य यो मन आयुयुवे मखो देव आयुयुवे मखः ॥ १॥

१. **तुविजातस्य**=महान् विकासवाले **अस्य**=इस **पूष्णः**=सर्वपोषक सूर्य की **महित्वम्**=महिमा **प्रप्र शस्यते**=खूब ही उच्चरित होती है। **अस्य**=इसके **तवसः**=बल का **स्तोत्रम्**=स्तवन **न तन्दते**=हिंसित नहीं होता, **न तन्दते**=निश्चय ही हिंसित नहीं होता। सूर्य महान् विकासवाला है। इसके प्रकाश का विकास होने पर सभी तारे ज्योतिहीन हो जाते हैं। हम निरन्तर इसका स्तवन करते हैं, ताकि उपासना के लाभों से हम परिचित रहें। २. **सुम्नयन्**=नीरोगता के सुख को चाहता हुआ **अहम्**=मैं **अन्ति ऊतिम्**=समीपता से रक्षण करनेवाले इस **मयोभुवम्**=कल्याण के उत्पत्ति-स्थान सूर्य को **अर्चामि**=पूजता हूँ। उस सूर्य का पूजन करता हूँ **यः**=जो हमें **मखः**=(म+ख) सब दोषों से रहित करता हुआ **देवः**=दीप्यमान होता हुआ **विश्वस्य**=सबके **मनः**=मन को **आयुयुवे**=बुराइयों से पृथक् करता है और अच्छाइयों से मिलाता है। सचमुच **मखः**=दोषरहित यह सूर्य **आयुयुवे**=दोषों से पृथक् और गुणों से सम्पृक्त करता है (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। सूर्य की किरणों का प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं पड़ता, मन पर भी पड़ता है। सूर्य हमारे शरीर व मन दोनों को ही स्वस्थ बनाता है।

भावार्थ—सूर्य हमारे शरीरों को नीरोग बनाता है (मयोभूः) तथा हमारे मनों को वासना के आक्रमण से बचाता है (अन्त्यूति)। इसीलिए कहते हैं कि असुरों का बल अन्धकार में बढ़ता है।

सूचना—यहाँ 'अन्त्यूति' शब्द में 'अन्ति अर्थात् समीपता से' ये शब्द इस बात की सूचना दे रहे हैं कि जितना हम सूर्य के सम्पर्क में आएँगे उतना ही यह हमारा रक्षण करेगा। 'मयोभू' होता हुआ यह हमारे शरीर को नीरोग बनाएगा और 'अन्त्यूति' होता हुआ हमारे मन को वासनाओं से आक्रान्त न होने देगा। यह सब भाव 'पूषन्' का अर्थ 'प्रभु' लेने पर भी संगत है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—पूषा। **छन्दः**—विराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

'स्तवन की वृत्ति, ज्ञान व शक्ति'

प्र हि त्वा॑ पूषन्नजि॒रं न याम॑नि॒ स्तोमे॑भिः कृ॒ण्व ऋ॒णवो॒ यथा॒ मृध॒ उष्ट्रो॒ न पी॑परो॒ मृधः॑।
हु॒वे यत्त्वा॑ मयो॒भुवं॑ दे॒वं स॒ख्याय॒ मर्त्यः॑　।
अ॒स्माक॑माङ्गू॒षान् द्यु॒म्निन॑स्कृधि॒ वाजे॑षु द्यु॒म्निन॑स्कृधि　॥ २॥

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **हि**=निश्चय से **त्वा**=तुझे **यामनि**=इस जीवन-यात्रा में **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **अजिरं न प्र कृण्वे**=एक स्फूर्ति-सम्पन्न (agile) अश्व की भाँति करता हूँ। जैसे एक मनुष्य घोड़े से यात्रा पूर्ण करता है, उसी प्रकार हे पूषन्! मैं तेरे व्रत का पालन करता हुआ जीवन-यात्रा को पूर्ण करता हूँ। २. हे पूषन्! मैं तेरा स्तवन करता हूँ **यथा**=जिससे **मृधः**=संग्रामों को **ऋणवः**=आप प्राप्त होते हो। काम-क्रोधादि के साथ चलनेवाले हमारे संग्रामों में उपस्थित होकर आप हमारे सहायक होते हो। **उष्ट्रः न**=जैसे ऊँट हमें कठिनता से पार करने योग्य रेगिस्तानों के पार पहुँचाता है, इसी प्रकार आप **मृधः पीपरः**=इन संग्रामों में हमें पार पहुँचाते हैं। आपकी सहायता के बिना इन संग्रामों में विजय सम्भव नहीं है। ३. **मर्त्यः**=मरणधर्मा मैं **मयोभुवं देवं त्वा**=कल्याण-उत्पादक प्रकाशस्वरूप आपको **यत्**=जब **सख्याय**=मित्रता के लिए **हुवे**=पुकारता हूँ तब आप **अस्माकम् आङ्गूषान्**=उच्च स्वर से उच्चारणीय हमारे इन स्तोत्रों को **द्युम्निना कृधि**=ज्योतिर्मय कीजिए। **वाजेषु**=इन संग्रामों में आप हमें **द्युम्निनः कृधि**=(द्युम्न energy, strength, power) शक्तिशाली कीजिए। आपकी कृपा से हम ज्ञानपूर्वक स्तवन करें तथा शक्तिशाली बनकर संग्रामों में विजयी हों।

भावार्थ—जीवनयात्रा में प्रभु हमें विघ्नरूप शत्रुओं के पार पहुँचाएँगे। प्रभुकृपा से हमें स्तवन की वृत्ति, ज्ञान व शक्ति प्राप्त हो। ये तीनों बातें हमें विजयी बनानेवाली होंगी।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—पूषा। **छन्दः**—निचृदत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

दो सिद्धान्त

यस्य ते पूषन्त्सख्ये विपन्यवः क्रत्वा चित्सन्तोऽवसा बुभुज्रिर इति क्रत्वा बुभुज्रिरे।
तामनु त्वा नवीयसीं नियुतं राय ईमहे।
अहेळमान उरुशंस सरी भव वाजेवाजे सरी भव ॥ ३ ॥

१. हे **पूषन्**=पोषक परमात्मन्! **यस्य ते सख्ये**=जिस तेरी मित्रता में **विपन्यवः**=विशिष्ट व्यवहार व स्तुतिवाले होते हुए लोग **क्रत्वा चित्**=कर्म के साथ ही **सन्तः**=होते हुए **अवसा**=रक्षण के हेतु से **बुभुज्रिरे**=इन सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करते हैं। प्रभुभक्त बिना कर्म के खाना पसन्द नहीं करता, वह कर्म करके ही खाना ठीक समझता है। दूसरी बात यह कि वह शरीरादि के रक्षण के हेतु से इन वस्तुओं का उपभोग करता है। उसके उपभोग का आधार स्वाद व विलास नहीं होता। निजू उन्नति के लिए स्वाद के दृष्टिकोण से न खाकर आवश्यकता के दृष्टिकोण से खाया जाए और सामाजिक कल्याण के लिए प्रत्येक व्यक्ति शक्ति के अनुसार कर्म करके ही खाने का व्रत ले। **इति**=इस सामाजिक उन्नति के विचार से ही ये **क्रत्वा**=कर्म से—कर्म करके ही **बुभुज्रिरे**=खाते हैं। **ताम्**=कर्म करके रक्षण के दृष्टिकोण से खाने की वृत्तिरूप इस **नवीयसीम्**=तेरी प्रशस्त स्तुति के **अनु**=पश्चात् **त्वा**=आपसे **नियुतम्**=नियत संख्याक—खूब अधिक **रायः**=धनों को **ईमहे**=माँगते हैं। 'कर्म करके ही खाना' तथा 'जितना रक्षण के लिए आवश्यक है, उतना ही खाना'—इन बातों को जीवन में लाना सच्चा प्रभु-स्तवन है। ऐसा ही व्यक्ति असंख्याक धनों का पात्र बनता है। भोगविलास की वृत्तिवाले के लिए तो धन-अभिशाप बन जाते हैं। ३. हे **उरुशंस**= खूब स्तवन किये जानेवाले प्रभो! **अहेळमानः**=हम पर क्रोध न करते हुए आप **सरी भव**=हमें प्राप्त होओ। **वाजेवाजे**=प्रत्येक संग्राम में **सरी भव**=हमें प्राप्त होओ। आपको ही तो इन संग्रामों में हमें विजय प्राप्त करानी है। आपके बिना इन काम-क्रोधादि प्रबल शत्रुओं को हम कभी भी न जीत पाएँगे।

भावार्थ—सच्चा प्रभुभक्त वह है जो (क) बिना कर्म किये खाना ठीक नहीं समझता तथा (ख) स्वाद के लिए न खाकर शरीर-रक्षण के लिए ही खाता है। ऐसे व्यक्ति को प्रभु खूब धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—पूषा। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रभु की मित्रता

अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व।
ओ षु त्वा ववृतीमहि स्तोमेभिर्दस्म साधुभिः।
नहि त्वा पूषन्नतिमन्य आघृणे न ते सख्यमपह्नुवे ॥ ४ ॥

१. हे **अजाश्व**=(अज+अश्व) कभी उत्पन्न न होनेवाले अथवा गति द्वारा सब मलों को दूर करनेवाले, सर्वत्र व्याप्त (अश् व्याप्तौ, अज गतिक्षेपणयोः) प्रभो! आप **अस्याः**=(अस्यै) इस **सातये**=गतमन्त्र में वर्णित असंख्यात धन की प्राप्ति के लिए **नः**=हमारे लिए **ऊ**=निश्चय से **सु उप भुवः**=अच्छी प्रकार प्राप्त होओ। **अहेळमानः**=हमारे प्रति क्रोध न करते हुए आप

रयिवान्=धनों को खूब देनेवाले होओ। हे **अजाश्व**=गतिशील, व्यापक प्रभो! आप **श्रवस्यताम्**=ज्ञान की कामना करनेवाले हमारे समीप होओ। आपके सान्निध्य में ही तो हमारी ज्ञान-ज्योति दीप्त होगी। २. हे **दस्म**=हमारे सब दुःखों को नष्ट करनेवाले प्रभो! **साधुभिः स्तोमेभिः**=लोकहित के कार्यों को सिद्ध करनेवाले स्तवनों से हम **ऊ**=निश्चय से **त्वा**=आपको **सु**=उत्तमता से **आववृतीमहि**=अपनी ओर आवृत करते हैं। 'सर्वभूतहिते रताः' व्यक्ति ही तो आपके सच्चे उपासक होते हैं। ३. हे **आघृणे**=सर्वतो दीप्त **पूषन्**=पोषक प्रभो! मैं **त्वा**=आपसे **नहि अति मन्ये**=अधिक किसी को नहीं मानता हूँ। आपको ही सर्वोपरि जानता हूँ। ऐसा जानता हुआ मैं **ते सख्यम्**=आपकी मित्रता को **न अपह्नुवे**=ओझल नहीं होने देता, आपको सर्वदा मित्र के रूप में देखता हूँ। आपकी मित्रता से ही तो मैं सब शत्रुओं को जीत सकूँगा और आवश्यक धनों को प्राप्त करूँगा।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में ही कल्याण है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है—प्रभु पूषन् हैं। वे शरीर को नीरोग और मन को निर्मल बनाते हैं (१)। हमें ज्ञान व शक्ति देकर संग्राम में विजयी बनाते हैं (२)। प्रभुभक्त कर्म करके ही खाते हैं और शरीर-रक्षण के लिए ही खाते हैं (३)। इस प्रभु की मित्रता में ही कल्याण है (४)। अब 'दिव्य शर्ध' (बल) की प्रार्थना करते हैं—

[१३९] एकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

ज्ञान, कर्म, उपासना का समन्वय

अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु तच्छर्धो दिव्यं वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे।
यद्ध क्राणा विवस्वति नाभा सन्दायि नव्यसी ।
अध प्र सू न उप यन्तु धीतयो देवाँ अच्छा न धीतयः ॥ १ ॥

१. **पुरः**=सबसे प्रथम **श्रौषट् अस्तु**=हमारे जीवन में ज्ञान का श्रवण हो। हम स्वाध्याय से जीवन को आरम्भ करें। तदनन्तर **धिया**=बुद्धिपूर्वक **अग्निं दधे**=मैं अग्नि का आधान करूँ। स्वाध्याय के साथ हम नियमपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाले बनें। इस प्रकार स्वाध्याय व अग्निहोत्र करते हुए हम **नु**=अब **तत्**=उस **दिव्यं शर्धः**=(शर्धस्=strength) दिव्य बल को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु को **वृणीमहे**=वरते हैं। 'इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है और 'वायु' गति का। हम चाहते हैं कि हमारा जीवन शक्तिशाली हो और साथ ही वायु की भाँति क्रियाशील भी हो। २. **यत् ह**=जब निश्चय से **विवस्वति**=दीप्तिवाले—ज्ञान के प्रकाशवाले **नाभा**=यज्ञ में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **क्राणा**=अपने अर्थ का प्रकाश करती हुई **नव्यसी**=स्तुतिरूप नवतरा वाणी **सन्दायि**=बद्ध होती है **अध**=तब **नः**=हमें **धीतयः**=उत्तम कर्म **प्र सु उपयन्तु**=प्रकर्षेण समीपता से प्राप्त हों। **देवान् अच्छ न**=दिव्य गुणों की ओर प्राप्त होने के लिए ही मानो **धीतयः**=प्रशस्त कर्म प्राप्त हों। ३. यहाँ 'विवस्वति' शब्द स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का संकेत कर रहा है, 'नाभा' शब्द ब्रह्माण्ड के धारण करनेवाले यज्ञादि उत्तम कर्मों का निर्देश करता है और 'नव्यसी' शब्द स्तुति का वाचक है—'नु स्तुतौ'। इस प्रकार यहाँ ज्ञान, कर्म व उपासना के समन्वय का प्रतिपादन है। यह समन्वय ही हमारी क्रियाओं को इस प्रकार पवित्र बनाता है कि हम अपने में दिव्य गुणों का वर्धन करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में ज्ञान, कर्म व उपासना का समन्वय करके चलें। यही दिव्यगुणों व प्रभु की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराडष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्रभु के ज्योतिर्मय रूप का दर्शन

यद्ध त्यन्मित्रावरुणावृतादध्याददाथे अनृतं स्वेन मन्युना दक्षस्य स्वेन मन्युना।
युवोरित्थाधि सद्मस्वपश्याम हिरण्ययम्।
धीभिश्चन मनसा स्वेभिरक्षभिः सोमस्य स्वेभिरक्षभिः॥ २॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता की भावनाओ! (मित्र=स्नेह, वरुण=द्वेष-निवारण) **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **त्यत् अनृतम्**=उस अनृत को **ऋतात्**=ऋत में से **अधि आ ददाथे**=निकाल लेते हो, अर्थात् जब हमारे जीवनों में अनृत का अंश नहीं रहता तब **इत्था**=उस प्रकार जीवन के ऋतमय बनने पर **युवोः**=आपके **सद्मसु**=इन शरीररूप गृहों में **स्वेन मन्युना**=अपने ज्ञान से—आत्मज्ञान से **दक्षस्य**=दक्ष (कुशल) पुरुष के **स्वेन मन्युना**=आत्म-सम्बन्धी ज्ञान से **हिरण्यम्**=प्रभु के ज्योतिर्मय रूप को **अपश्याम**=देखें। द्वेष से दूर होकर स्नेह को अपनाने से हृदय पवित्र होता है, अनृत नष्ट होकर जीवन में ऋत की दीप्ति होती है। इस समय आत्मज्ञान की ओर झुकाववाला यह व्यक्ति प्रभु के ज्योतिर्मय रूप को देखता है। इस रूप को वह **धीभिः चन**=निश्चय से बुद्धियों के द्वारा देखता है (दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः), **मनसा**=मन के द्वारा प्रभु के इस ज्योतिर्मय रूप को देखता है (मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु), **स्वेभिः अक्षभिः**=अपनी इन्द्रियों से—आत्मतत्त्व की ओर झुकी हुई इन्द्रियों से **सोमस्य**=सौम्य स्वभाववाले पुरुष की **स्वेभिः अक्षभिः**=आत्मप्रवण इन्द्रियों से उस रूप का आभास मिलता है। इन्द्रियाँ जब विषयप्रवण न होकर आत्मप्रवण होती हैं, उस समय ये इन्द्रियाँ सृष्टि में प्रभु की विभूतियों का दर्शन करती हैं, उस समय वासनाशून्य मन प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है और बुद्धि अपनी तीव्र आलोचना से प्रभु का साक्षात्कार करनेवाली होती है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के अभ्यास से यदि हम जीवन को ऋतमय बनाएँगे तो बुद्धि, मन व इन्द्रियों से प्रभु के ज्योतिर्मय रूप को देख पाएँगे।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराडष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सब श्रियों के आधारभूत 'प्राणापान'

युवां स्तोमेभिर्देवयन्तो अश्विनाश्रावयन्तइव श्लोकमायवो युवां हव्याभ्या३ यवः।
युवोर्विश्वा अधि श्रियः पृक्षश्च विश्ववेदसा।
प्रुषायन्ते वां पवयो हिरण्यये रथे दस्रा हिरण्यये॥ ३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **देवयन्तः**=दिव्य गुणों को अपनाने की इच्छा करते हुए **आयवः**=मनुष्य (एतीति आयुः) **युवाम्**=आप दोनों को **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **श्लोकं श्रावयन्तः इव**=आपके यश को सर्वत्र सुनाते हुए-से होते हैं। प्राणापान के यश का गायन इसी उद्देश्य से है कि हम इनके महत्त्व को समझकर इनकी साधना में प्रवृत्त हों। आयवः=ये क्रियाशील मनुष्य **युवाम्**=आप दोनों को **हव्या**=हवि के द्वारा—यज्ञिय पवित्र पदार्थों के यज्ञशेष के रूप में सेवन के द्वारा **अभ्यायवः**=आभिमुख्येन प्राप्त होनेवाले होते हैं। यज्ञिय—सात्त्विक पदार्थों का सेवन प्राणापान की शक्ति को बढ़ाने का प्रमुख साधन है। २. हे **विश्ववेदसा**=सम्पूर्ण धनों को

प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! **युवोः अधि**=आपमें ही **विश्वाः श्रियः**=सब श्री **च पृक्षः**=और अन्न निवास करते हैं। प्राणापान की शक्ति प्रवृद्ध होने पर ही सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग श्रीसम्पन्न बनते हैं तथा ये प्राणापान ही अन्न-पाचन में सहायक होते हैं। ३. हे **दस्रा**=सब दोषों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपकी ही **पवयः**=(the tire of a wheel) नेमियाँ इस **हिरण्ययै**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त **रथे**=शरीररूप रथ में सचमुच **हिरण्ययै**=ज्योतिर्मय होने से मानो स्वर्ण-निर्मित रथ में **प्रुषायन्ते**=पूरित होती हैं (प्रुष पूरणे)। शरीर रथ है तो प्राणापान इस रथ की चक्रनेमियाँ हैं। इन नेमियों की दृढ़ता पर ही—चक्रों की दृढ़ता निर्भर है और इन चक्रों की ठीक होने पर ही रथ की अग्रगति सम्भव है। एवं, ये प्राणापान ही हमें, शरीर रथ को ठीक रखकर, लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शोभायुक्त बनाती है और शरीररथ को ठीक रखकर इसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचाती है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिगत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

प्राणसाधना से स्वर्ग का निर्माण

अचेति दस्रा व्यु१नाकमृण्वथो युञ्जते वां रथयुजो दिविष्टिष्वध्वस्मानो दिविष्टिषु।
अधि वां स्थाम वन्धुरे रथे दस्रा हिरण्यये।
पथेव यन्तावनुशासता रजोऽञ्जसा शासता रजः॥४॥

१. हे **दस्रा**=सब दोषों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आपकी महिमा **अचेति**=हमारे द्वारा जानी जाती है। आप **उ**=निश्चय से **नाकम्**=सुखमय लोक को **ऋण्वथः**=विशेषरूप से जाते हो। आपकी साधना से मनुष्य सब दोषों को दूर करके शरीर को नीरोग, मन को निर्मल और बुद्धि को तीव्र बना पाता है। इस प्रकार शरीर, मन व बुद्धि तीनों क्षेत्रों में उन्नति करके यह साधक अपने जीवन को स्वर्गोपम बना लेता है। २. इस दृष्टिकोण से **रथयुजः**=शरीररूप रथ में इन्द्रियाश्वों को जोतनेवाले **अध्वस्मानः**=अपनी शक्तियों का ध्वंस न होने देनेवाले लोग **दिविष्टिषु**=(दिव् इष्टि) स्वर्ग की प्राप्ति के निमित्त अथवा ज्ञानयज्ञों के निमित्त **वाम्**=आपको **दिविष्टिषु**=सुखप्राप्ति के लिए **युञ्जते**=इस शरीररथ में जोतते हैं। आपके द्वारा ही वे इस शरीररथ से स्वर्ग को प्राप्त कर सकेंगे। आपके द्वारा ही ज्ञानयज्ञ का भी विस्तार होगा। प्राणापान की साधना ही बुद्धि को अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर हमारे ज्ञान को बढ़ाती है। ३. हे **दस्रा**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **वन्धुरे**=इस सुबद्ध व सुन्दर (beautiful), सब श्रियों से युक्त **हिरण्यये रथे**=ज्योतिर्मय रथ में **अधि स्थाम**=हम अधिष्ठित हों। आप **पथा इव यन्तौ**=मार्ग से जाते हुओं के समान **रजः**=उस रञ्जनात्मक स्वर्गलोक को **अनुशासता**=अनुकूलता से शासन करनेवाले होते हो। जब प्राणापान की गति ठीक होती है तब यह शरीर ही स्वर्गलोक बन जाता है। आप **अञ्जसा**=सचमुच (truly) **रजः शासता**=रञ्जनात्मक स्वर्गलोग का शासन करते हो। प्राण-साधना इस शरीर को निर्दोष व शक्तिसम्पन्न बनाकर सचमुच स्वर्ग ही बना देती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम शरीर को सर्वथा निर्दोष बनाकर स्वर्गोपम स्थिति को प्राप्त करें।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः।

कर्म व प्रज्ञा देनेवाले प्राणापान

शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दशस्यतम्।
मा वां रातिरुप दसत्कदा चनास्मद्रातिः कदा चन॥५॥

१. 'शची' शब्द नि० २।१ में कर्म का नाम है और नि० ३।९ में प्रज्ञा का वाचक है। प्राणापान शक्तिवर्धन के द्वारा हमें कर्म करने का सामर्थ्य देते हैं और ज्ञान को दीप्त करके उन कर्मों को पवित्र रखते हैं। **शचीवसू**=हे कर्मशक्ति व ज्ञानरूप धनोंवाले प्राणापानो! आप **शचीभिः**=कर्मों व ज्ञानों के द्वारा **नः**=हमें **दिवा नक्तम्**=दिन-रात (सदा) **दशस्यतम्**=धनों को देनेवाले होओ। हम प्राण-साधना करें, उससे हमारी शक्ति व ज्ञान में वृद्धि हो। २. **वाम्**=हे प्राणापानो! आपकी यह **रातिः**=देन **मा कदाचन उपदसत्**=कभी क्षीण न हो। आप हमें सदा धन देनेवाले होओ। **अस्मत् रातिः**=हमारे विषय में आपका दान **कदाचन**=कभी भी मा उपदसत्=क्षीण न हो।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए सदा कर्म-सामर्थ्य व ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सोमपान और प्रभु-प्राप्ति

वृषन्निन्द्र वृषपाणास इन्दव इमे सुता अद्रिषुतास उद्भिदस्तुभ्यं सुतास उद्भिदः।
ते त्वा मन्दन्तु दावने महे चित्राय राधसे ।
गीर्भिर्गिर्वाहः स्तवमान आ गहि सुमृळीको न आ गहि ॥ ६ ॥

१. हे **वृषन्**=शक्तिशाली **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इमे**=ये **वृषपाणासः**=शक्तिशाली पुरुष से पीने के योग्य **अद्रिषुतासः**=(अदृ-आदृ) वासनाओं से विदीर्ण न होनेवाले अथवा प्रभु का आदर व पूजन करनेवाले से उत्पन्न किये जानेवाले **इन्दवः**=सोमकण **सुताः**=उत्पन्न किये गये हैं। ये **उद्भिदः**=सब रोगों का भेदन करनेवाले हैं, **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **तुभ्यम्**=तेरे लिए निश्चय से **सुतासः**=उत्पन्न हुए सोमकण **उद्भिदः**=रोगादि का विदारण करके उन्नति के साधक हैं। २. **ते**=वे सोमकण **त्वा**=तुझे **मन्दन्तु**=आनन्दित करें। ये तेरे जीवन में उल्लास का कारण बनें। ये **दावने**=अभिमत वस्तुओं को देनेवाले हों, **महे**=(मह पूजायाम्) पूजा की प्रवृत्ति के लिए हों, **चित्राय**=(चित् र) ज्ञान देनेवाले हों, **राधसे**=कार्यों में सफलता प्राप्त करानेवाले हों। ३. हे **गिर्वाहः**=ज्ञान की वाणियों का वहन करनेवाले जीव! **गीर्भिः स्तवमानः**=इन स्तुति-वाणियों से स्तुति करता हुआ तू **आगहि**=हमारे समीप आ। सब लोगों के लिए **सुमृळीकः**=उत्तम सुख देनेवाला होकर **आगहि**=हमारे समीप आ जा। प्रभु के समीप पहुँचने का मार्ग यही है कि (क) हम सोम का रक्षण करें, (ख) सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि को दीप्त करें, (ग) दीप्तज्ञानाग्नि से ज्ञान की वाणियों को धारण करते हुए—उन्हीं के द्वारा प्रभु का स्तवन करते हुए लोकहित में प्रवृत्त हों। यह 'सुमृळीक' पुरुष ही प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से दीप्त ज्ञानवाले होकर हम प्रभु के समीप प्राप्त हों।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

वेदज्ञान का अधिकारी

ओ षू णो अग्ने शृणुहि त्वमीळितो देवेभ्यो ब्रवसि यज्ञियेभ्यो राजभ्यो यज्ञियेभ्यः।
यद्ध त्यामङ्गिरोभ्यो धेनुं देवा अदत्तन ।
वि तां दुह्रे अर्यमा कर्तरी सचाँ एष तां वेद मे सचा ॥ ७ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **ईळितः**=स्तुत हुए-हुए **नः**=हमारे प्रार्थना-वचनों को **उ**=निश्चय से **आ सु शृणुहि**=सर्वथा, सम्यक् सुनो। हम आपका स्तवन व आराधन करें, हमारे

ये स्तुतिवचन आपसे सुने जाएँ। ईळित व उपासित हुए-हुए आप **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **यज्ञियेभ्यः**=यज्ञशील पुरुषों के लिए **ब्रवसि**=ज्ञान की वाणियों का उपदेश करते हैं उन **यज्ञियेभ्यः**=यज्ञशील पुरुषों के लिए जो **राजभ्यः**=जितेन्द्रियता के द्वारा दीप्त जीवनवाले बनते हैं, आप इन ज्ञान की वाणियों को देते हैं। २. **यत् ह**=निश्चय से **देवाः**=ज्ञानी लोग **अङ्गिरोभ्यः**=(अगि गतौ) क्रियाशील, आलस्यशून्य पुरुषों के लिए **त्यां धेनुम्**=प्रभु से दी गई, ज्ञानदुग्धदात्री वेदवाणीरूप गौ को **अदत्तन**=देते हैं, **ताम्**=उस गौ को **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोधादि का नियन्ता पुरुष **कर्तरि सचा**=सृष्टिकर्ता प्रभु के साथ रहनेवाला पुरुष, अर्थात् उपासना की वृत्तिवाला पुरुष **विदुह्रे**=अपने में विशेषरूप से प्रपूरित करता है, विशेषरूप से दोहन करता है। प्रभु कहते हैं कि **एषः**=यह **मे सचा**=मेरे साथ निवासवाला—उपासक पुरुष **तां वेद**=उस वेदवाणी को जानता है। ३. यह वेदवाणीरूप गौ सृष्टि के आरम्भ में प्रभु से अग्नि आदि देवों को दी गई। ये देव उसे क्रियाशील पुरुषों को प्राप्त कराते हैं। इस वाणी को पूर्णरूप से वही जान पाता है जो जितेन्द्रिय बनता है (अर्यमा), काम-क्रोधादि को वश में करता है और उस उत्पादक प्रभु का उपासक बनता है (कर्तरि सचा)। ज्ञान देनेवाले आचार्य का मुख्य गुण 'देव' शब्द से व्यक्त हो रहा है कि वह ज्ञान को देने के स्वभाववाला हो (दानात्), स्वयं ज्ञानदीप्त हो (दीपनात्) औरों को ज्ञानदीप्त करने का प्रयत्न करे (द्योतनात्)। विद्यार्थी को आलस्यशून्य होना चाहिए (आङ्गिरोभ्यः), काम-क्रोधादि को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए (अर्यमा) तथा सृष्टिकर्ता प्रभु का उपासक होना चाहिए (कर्तरि सचा)।

भावार्थ—प्रभु देववृत्तिवाले, यज्ञशील, आत्मशासन करनेवाले (राजभ्यः) पुरुषों के लिए वेदज्ञान देते हैं। इस ज्ञान को आलस्यशून्य, कामादि का विजेता, प्रभु का उपासक पुरुष प्राप्त करता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—स्वराडत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

अमर्त्यता

मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन् द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत्पुरोत जारिषुः।
यद् वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम् ।
अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम् ॥ ८ ॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपके—आपकी साधना से उत्पन्न होनेवाले **तानि**=वे प्रसिद्ध **सना**=सम्भजनीय—सेवनीय **पौंस्या**=बल **अस्मत्**=हमसे **उ**=निश्चयपूर्वक **मा सु अभिभूवन्**=मत ही अलग हों (अपगतानि माभूवन्—सा०)। **उत**=और **द्युम्नानि**=ज्ञान की ज्योतियाँ **मा जारिषुः**=क्षीण न हों, **उत**=और **अस्मत् पुरा**=हमारी ये शरीररूप नगरियाँ **मा जारिषुः**=जीर्ण न हो जाएँ। प्राणसाधना से (क) शक्ति प्राप्त होती है, (ख) ज्ञानज्योति बढ़ती है, (ग) शरीर स्वस्थ होता है। २. हे मरुतो! **यत्**=जो **वः**=आपका **चित्रम्**=अद्भुत **युगेयुगे**=जीवन के प्रत्येक काल में—बाल, यौवन व वार्धक्य में **नव्यम्**=स्तुति के योग्य धन है, जो धन **अमर्त्यं घोषात्**=मनुष्य की अमर्त्यता की घोषणा करता है, **तत्**=उस धन को **अस्मासु**=हममें **दिधृता**=धारण कीजिए। उस धन को धारण कीजिए **यत् च**=जो कि **दुष्टरम्**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं है, सचमुच **यत् च दुष्टरम्**=जो अत्यन्त कठिनता से तैरने योग्य है। मरुतों का यह धन सोम (वीर्य) है। प्राणसाधना से यह शरीर में सुरक्षित होता है। यह सोमरूप धन अद्भुत तो है ही (चित्रम्), यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्तुत्य परिणामों को पैदा करनेवाला है (नव्यम्), यह मर्त्य मनुष्य को रोगों का शिकार न होने देकर अमर्त्य बना देता है, पूर्णायुष्य को प्राप्त करनेवाला बनाता है।

जब यह शरीर में सुरक्षित होता है तब रोग-कृमिरूप शत्रु इस पर आक्रमण नहीं कर पाते—उनसे यह 'दुष्टर' होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें शक्ति प्राप्त होती है, हमारी ज्ञानज्योति बढ़ती है, शरीर क्षीण नहीं होते। इस साधना से सोमरक्षण के द्वारा अद्भुत, स्तुत्य, पूर्ण जीवन को देनेवाला दुष्टर बल प्राप्त होता है।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—भुरिगत्यष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

सप्तर्षि (सात द्रष्टा)

दध्यङ्ह मे जनुषं पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदुः।
तेषां देवेष्वायतिरस्माकं तेषु नाभयः　।
तेषां पदेन मह्या नमे गिरेन्द्राग्नी आ नमे गिरा　॥ ९॥

१. प्रभु कहते हैं कि **मे जनुषम्**=मेरे प्रादुर्भाव को **ह**=निश्चय से **विदुः**=जानते हैं—प्राप्त करते हैं, अर्थात् दर्शन कर पाते हैं। कौन? (क) **दध्यङ्**=ध्यानशील, (ख) **पूर्वः**=अपना पालन व पूरण करनेवाला, (ग) **अङ्गिरा**=अङ्गारों के समान तेजस्वी, गतिशील, (घ) **प्रियमेधः**=जिसे बुद्धि प्रिय है, (ङ) **कण्वः**=जो कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करता है, (च) **अत्रिः**=काम, क्रोध व लोभ—ये तीन जिसमें अविद्यमान हैं और (छ) **मनुः**=जो विचारशील है। **ते**=वे **पूर्वे**=सृष्टि के आरम्भ में होनेवाले (पूर्वे चत्वारः) 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' तथा **मनुः**=विचारशील पुरुष **मे विदुः**=मेरा ज्ञान प्राप्त करते हैं। २. **तेषाम्**= उन दध्यङ् आदि का **देवेषु**=देवों में—दिव्यगुणों में **आयतिः**=दीर्घकाल तक सम्बन्ध होता है। ये दीर्घकाल तक दिव्यगुणों को अपनाने के यत्न में लगे रहते हैं और उन दिव्यगुणों में निवास करते हुए ये प्रभु के प्रकाश को पाने के पात्र बनते हैं। **अस्माकम्**=हमारा भी **तेषु**=उनमें—उन देवों में **नाभयः**=सम्बन्ध वा बन्धन हो, ताकि हम भी प्रभु के प्रकाश को पानेवाले बनें। ३. **तेषां पदेन**=उन दध्यङ् आदि के मार्ग से **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा **महि**=(महत्) खूब ही **आनमे**=नमन व स्तवन करता हूँ। **गिरा**=वाणी के द्वारा **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि दोनों का **आनमे**=नमन करता हूँ। 'इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है और 'अग्नि' प्रकाश का। मैं शक्ति और प्रकाश दोनों के लिए नमनवाला होता हूँ। इन दोनों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। 'इन्द्र' ही क्षत्र है, 'अग्नि' ब्रह्म। मैं ब्रह्म व क्षत्र—दोनों की श्री को पुष्ट करता हूँ। यही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—'दध्यङ्, पूर्व, अङ्गिरा, प्रियमेध, कण्व, अत्रि व मनु' ही प्रभु का दर्शन करते हैं। मैं भी उनकी भाँति अपने में ब्रह्म व क्षत्र का विकास करता हुआ प्रभुदर्शन के योग्य बनता हूँ।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—निचृदष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः।

उन्नति-पथ

होता यक्षद्वनिनो वन्त वार्यं बृहस्पतिर्यजति वेन उक्षभिः पुरुवारेभिरुक्षभिः।
जगृभ्मा दूरआदिशं श्लोकमद्रेरध त्मना　।
अधारयदरिन्दानि सुक्रतुः पुरू सद्मानि सुक्रतुः　॥ १०॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि हमारा भी देवों के साथ सम्बन्ध हो। वह सम्बन्ध कैसे हो? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—(क) **होता यक्षत्**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला बनकर

यज्ञशील होता है, (ख) **वनिनः**=सम्भजन एवं उपासन करनेवाले बनकर ये **वार्यं वन्त**=वरणीय वस्तुओं का सेवन करते हैं, (ग) **बृहस्पतिः**=ऊँचे से ऊँचे ज्ञान का पति बनकर **यजति**=यह ज्ञान का दान करता है, (घ) **वेनः**=प्रभुप्राप्ति की कामनावाला होता हुआ **उक्षभिः**=शरीर को शक्ति से सिक्त करनेवाले रेत:कणों से (यजति) अपना संगतिकरण करता है। **पुरुवारेभिः उक्षभिः**=खूब वरणीय इन रेत:कणों से अपने को संगत करता है। २. **अध**=अब **त्मना**=स्वयं **अद्रेः**=उपासक के दूरे **आदिशम्**=(दूरदेश आदेशः 'श्रवणं' यस्य—सा०) दूर-दूर तक सुन पड़नेवाले **श्लोकम्**=स्तोत्र को **जगृभ्म**=हम ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रभु के उपासक बनकर उच्च स्वर से प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं। ३. इस प्रकार प्रभुस्तवन को अपनाने से **सुक्रतुः**=यह शोभन कर्मोंवाला पुरुष **अररिन्दानि**=जलों, अर्थात् रेत:कणों को **अधारयत्**=अपने में धारण करता है। इन रेत:कणों के धारण से यह **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा पुरुष **सद्मानि**=इन शरीरगृहों को **पुरु**=खूब ही धारण करता है।

भावार्थ—उन्नत जीवन यही है कि हम (क) होता बनें, (ख) वरणीय वस्तुओं का वरण करें (ग) उच्च ज्ञान को प्राप्त करें, (घ) रेत:कणों का रक्षण करें, (ङ) प्रभु की उपासना द्वारा इन रेत:कणों को शरीर में ही सुरक्षित करें, (च) इनके रक्षण द्वारा शरीरों का ठीक से रक्षण करनेवाले बनें। शरीरों में रोग न हो, मन में राग न हो।

ऋषिः—परुच्छेपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

तेतीस देवता

ये दे॑वासो दि॒व्येका॑दश॒ स्थ पृ॑थि॒व्याम॒ध्येका॑दश॒ स्थ।
अ॒प्सु॒क्षितो॑ महि॒नैका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो य॒ज्ञमि॒मं जु॑षध्वम्॥ ११॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन बिताने पर हम सब देवों के अधिष्ठान होते हैं, अतः कहते हैं—**ये**=जो **देवासः**=देव **दिवि**=द्युलोक में **एकादश**=ग्यारह **स्थ**=हो, **पृथिव्याम् अधि**=इस पृथिवी पर **एकादश स्थ**=ग्यारह हो और **महिना**=अपनी महिमा से **अप्सुक्षितः**=अन्तरिक्षलोक में रहनेवाले **एकादश स्थ**=ग्यारह हो **ते**=वे हे **देवासः**=तेतीस देवो! आप **इमं यज्ञं जुषध्वम्**=मेरे जीवन-यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करो। 'सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठइवासते' सारे देव इस शरीर में इस प्रकार निवास करते हैं, जैसे कि गौएँ गोशाला में। इन सब देवताओं की अनुकूलता होने पर ही शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य पर निर्भर है। शरीर में यह स्थूल शरीर ही पृथिवीलोक है, इसका मुख्य देवता 'अग्नि' है। शरीर में इस अग्नि के ठीक होने पर शरीर स्वस्थ कहलाता है। इसके न रहने पर यह शरीर ठण्डा पड़ जाता है, अर्थात् मृत्यु हो जाती है। शरीर में हृदय अन्तरिक्ष लोक है। इसका मुख्य देवता 'वायु' है। हृदय में सदा वायु व गति की भावना का रहना आवश्यक है। द्युलोक यहाँ मस्तिष्क है, इसमें ज्ञानसूर्य का उदय होना आवश्यक है।

भावार्थ—हमारा शरीर सब देवों का निवास-स्थान हो। मुख्यरूप से शरीर तेजस्विता की अग्निवाला हो, हृदय वायु की भाँति सतत क्रिया की भावनावाला हो, मस्तिष्क ज्ञानसूर्यवाला हो।

विशेष—इस सूक्त के प्रारम्भ में अलौकिक बल की प्रार्थना है (१)। समाप्ति पर शरीर को सब देवों का अधिष्ठान बनाने की बात कही है (११)। इन देवों का अधिष्ठान बनने से यहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है। तम का विदारण हो जाने से अब ऋषि का नाम 'दीर्घतमा' (भगा दिया है अन्धकार को जिसने) हो जाता है। यह दीर्घतमा औचथ्य है—उचथ्य का सन्तान—प्रभु-स्तोत्रों का खूब ही उच्चारण करनेवाला यह प्रार्थना करता है कि—

एकविंशोऽनुवाकः

[१४०] चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—जगती । **स्वरः**—निषादः ।

कैसा भोजन व वस्त्र ?

वेदिषदे प्रियधामाय सुद्युते धासिमिव प्र भरा योनिमग्नये।
वस्त्रेणेव वासया मन्मना शुचिं ज्योतीरथं शुक्रवर्णं तमोहनम्॥ १॥

१. **वेदिषदे**=यज्ञवेदी पर बैठनेवाले के लिए, अर्थात् यज्ञशील पुरुष के लिए **प्रियधामाय**=जिसे तेजस्विता प्रिय है उस पुरुष के लिए (धाम=तेज), **सुद्युते**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाले के लिए और **अग्नये**=प्रगतिशील मनुष्य के लिए **योनिम्**=उस मूल उत्पत्तिस्थान प्रभु को **धासिम् इव**=शरीर के धारक भोजन की भाँति **प्रभर**=प्रकर्षेण प्राप्त कराइए। 'प्रभु का उपासन' ही उसका आध्यात्मिक भोजन बन जाए। जिस प्रकार भोजन से शरीर का पोषण होता है, उसी प्रकार प्रभु के उपासन से इसकी आत्मा को बल मिलता है। २. इस **शुचिम्**=पवित्र मार्ग से धन कमानेवाले, **ज्योतिरथम्**=ज्योतिर्मय शरीररूप रथवाले **शुक्रवर्णम्**=स्वास्थ्य के कारण दीप्त वर्णवाले, **तमोहनम्**=तमोगुण को नष्ट करनेवाले इस व्यक्ति को **मन्मना**=ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तोत्रों से इस प्रकार **वासया**=आच्छादित कीजिए **इव**=जैसे **वस्त्रेण**=वस्त्र से आच्छादित करते हैं। ये मन्मना=ज्ञानपूर्वक उच्चारण किये गये स्तोत्र इसे राग-द्वेष की आँधियों से इस प्रकार सुरक्षित करें जैसे कि वस्त्र हमें सर्दी-गर्मी से बचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन ही हमारा अध्यात्म-भोजन है, ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तोत्र ही हमारे वस्त्र हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—विराड्जगती । **स्वरः**—निषादः ।

एक वर्ष के लिए

अभि द्विजन्मा त्रिवृदन्नमृज्यते संवत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः।
अन्यस्यासा जिह्वया जेन्यो वृषा न्य१न्येन वनिनो मृष्ट वारणः॥ २॥

१. **द्विजन्मा**=ज्ञान व श्रद्धा दोनों को अपने में प्रादुर्भूत करनेवाला (जनी प्रादुर्भावे) **त्रिवृत्**=धर्म, अर्थ व काम—तीनों में समरूप से वर्तनेवाला **अन्नम्**=अन्न को **अभि ऋज्यते**=उपार्जित करता है (ऋज=अर्जने)। जहाँ यह ज्ञान व श्रद्धा का विकास करता है, जहाँ धर्म, अर्थ व काम का समरूप से सेवन करता है, वहाँ यह शरीर-रक्षण के लिए अन्न का भी उपार्जन करता है। २. **संवत्सरे**=वर्ष-भर में **जग्धम्**=खा लिये गये इस अन्न को **ईम्**=निश्चय से **पुनः**=फिर **वावृधे**=बढ़ाता है, अर्थात् एक वर्ष से अधिक के लिए अन्न का संग्रह नहीं करता। यदि यह आदर्श, समाज के सब सभ्यों से स्वीकृत कर लिया जाए तो समाज में कोई अतिभुक्त (overfed) व अल्पभुक्त (underfed) न रहे—सभी समानरूप से भोजन प्राप्त कर सकें और परिणामतः समाज एक आदर्श समाज बन जाए। ३. इस संवत्सर-भर के अन्न को जुटाने के साथ वह **अन्यस्य आसा**=दूसरे के मुख से तथा **जिह्वया**=दूसरे की जिह्वा से खाता है। देवता एक-दूसरे को खिलाते हैं। इस प्रकार वे एक-दूसरे को खिलाते हुए परस्पर-भावन से पुष्ट हो पाते हैं। ये स्वाद के लिए नहीं खाते। स्वाद को जीत लेनेवाले ये **जेन्यः**=विजेता होते हैं, **वृषा**=शक्तिशाली होते हैं। यह **वारणः**=सब वासनाओं का निवारण करनेवाला **अन्येन**=दूसरे मुख से **वनिनः**=वनोत्पन्न इन वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करता हुआ **निमृष्ट**=अपने जीवन को पूर्ण शुद्ध बना लेता है।

भावार्थ—वर्ष से अधिक के लिए अन्न का संग्रह उचित नहीं। औरों को खिलाकर खाना उचित है। वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन जीवन-शुद्धता के लिए आवश्यक है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

ज्ञान और वैराग्य का समन्वय

कृष्णप्रुतौ वेविजे अस्य सक्षिता उभा तरेते अभि मातरा शिशुम्।
प्राचाजिह्वं ध्वसयन्तं तृषुच्युतमा साच्यं कुपयं वर्धनं पितुः॥ ३॥

१. **अस्य**=इसके **सक्षिता उभा**=साथ-साथ निवास करनेवाले ज्ञान व श्रद्धा के भाव **कृष्णप्रुतौ**=कृष्=(to become master of, प्र=गतौ) संयत गतिवाले होकर **वेविजे**=वासनाओं के लिए भयंकर होते हुए गतिशील होते हैं। जब ज्ञान और श्रद्धा हमारे पूर्णरूप से वशीभूत होते हैं तब हमारे जीवन में वासनाओं के लिए स्थान नहीं रहता। अवशीभूत ज्ञान विरोधी युक्तियाँ करने लगता है। अवशीभूत श्रद्धा अन्धश्रद्धा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। २. वशीभूत ज्ञान व श्रद्धा **उभा**=दोनों मिलकर **मातरा**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले होते हैं और **शिशुं अभि तरेते**=छोटे बालक को शारीरिक व मानसिक दोनों दृष्टिकोणों से तारनेवाले होते हैं। ज्ञान और श्रद्धा के कारण इसका शरीर नीरोग रहता है और मन पवित्र बना रहता है। ३. ज्ञान और श्रद्धा के समन्वय से इसका जीवन इस प्रकार का बनता है—(क) **प्राचाजिह्वम्**=(प्र+अञ्च) जिसकी जिह्वा सदा औरों को आगे बढ़ानेवाले शब्दों का ही प्रयोग करती है, (ख) **ध्वसयन्तम्**=जो अन्धकार का विनाश करता है, ज्ञान के द्वारा अज्ञानान्धकार को यह दूर करनेवाला होता है, (ग) **तृषुच्युतम्**=शीघ्रता से वासनाओं का विनाश करता है, (घ) **आसाच्यम्**=वासनाविनाश के द्वारा प्रभु से मेल करनेवाला होता है, (ङ) **कुपयम्**=(गोप्यम्) इन्द्रियों, मन और बुद्धि का रक्षण करता है, (च) **पितुः वर्धनम्**=उस पिता प्रभु का स्तोत्रों के द्वारा वर्धन करनेवाला है, सदा प्रभुस्तवन करता है।

भावार्थ—श्रद्धा व ज्ञान के समन्वय से हम ऐहिक व पारलौकिक उन्नति को सिद्ध कर पाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का पथिक

मुमुक्ष्वो३ मनवे मानवस्यते रघुद्रुवः कृष्णसीतास ऊ जुवः।
असमना अजिरासो रघुष्यदो वातजूता उप युज्यन्त आशवः॥ ४॥

१. **मनवे**=ज्ञान के पुञ्ज (मन=अवबोधने) **मानवस्यते**=मानवमात्र के हितकारी प्रभु के लिए जो भी **उपयुज्यन्ते**=उपासना आदि द्वारा युक्त होते हैं, वे ही **मुमुक्ष्वः**=वस्तुतः मोक्ष की कामनावाले हैं, **रघुद्रुवः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाले होते हैं, **कृष्णसीतासः**=(कृष्=to become master of, सीता=लाङ्गलपद्धति) हल-रेखा के पति बनते हैं, अर्थात् श्रमशील होते हैं **उ**=और **जुवः**=सदा कर्मों में प्रेरित होनेवाले हैं। २. ये प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले पुरुष **असमनाः**=असाधारण मनवाले, उन्नत ज्ञानवाले तथा **अजिरासः**=गति के द्वारा सब मलिनताओं को अपने से दूर करनेवाले होते हैं, **रघुष्यदः**=तीव्र वेगवाले, **वातजूताः**=वायु से सहज कर्म की प्रेरणा लेनेवाले तथा **आशवः**=शीघ्रता से स्वकर्तव्यों में व्याप्त होनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक क्रियाशील, ज्ञानी व वासनाओं को अपने से दूर करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

सच्चा कर्मयोगी

आदस्य ते ध्वसयन्तो वृथेरते कृष्णमभ्वं महि वर्पः करिक्रतः।
यत्सीं महीमवनिं प्राभि मर्मृशदभिश्वसन्त्स्तनयन्नेति नानदत्॥ ५॥

१. **आत्**=अब **अस्य**=इस परमात्मा के **ते**=वे उपासक **ध्वसयन्तः**=सब वासनाओं का ध्वंस करते हुए **वृथा**=कर्मफल का आश्रय न करके, केवल कर्तव्य-भावना से ही **ईरते**=गति करते हैं। इनके सभी कर्म किसी भी प्रकार के स्वार्थ को लिये हुए नहीं होते। ये उपासक **अभ्वम्**=महान् **कृष्णम्**=संयम को तथा **महि वर्पः**=प्रशंसनीय तेजस्वी रूप को **करिक्रतः**= (कुर्वन्तः—सा०) करते हुए होते हैं। इन उपासकों का जीवन महान् संयमवाला होता है, परिणामतः तेजस्विता को लिये हुए होता है। २. **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से यह उपासक **महीम्**=इस महान् **अवनिम्**=पृथिवी के **प्र अभि मर्मृशत्**=(अभिमृश्=to come in contact with) प्रकर्षेण सम्पर्क में आता है, अर्थात् इस पृथिवी को ही परिवार बना लेता है—'वसुधैव कुटुम्बकम्', तब यह **अभिश्वसन्**=इहलोक और परलोक दोनों के लिए जीता हुआ—केवल ऐहिक आनन्द को ही अपना ध्येय न बनाकर चलता हुआ **स्तनयन् एति**=चारों ओर ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करता हुआ चलता है। यह **नानदत्**=खूब ही स्तोत्रों का उच्चारण करता हुआ एति=गतिमय जीवनवाला होता है। प्रभु-उपासक सारी पृथिवी के हित के कार्यों में प्रवृत्त होता है, निजू जीवन का सुख उसका ध्येय नहीं होता। यह ज्ञान का प्रसार करता है, स्तोत्रों का उच्चारण करता है। वस्तुतः ये स्तोत्र ही इसे शक्ति देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक सच्चे कर्मयोगी होते हैं। ये सारी पृथिवी को ही अपना परिवार समझते हैं, ज्ञान का प्रसार करते हैं, स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

नम्र व ओजस्वी

भूषन् न योऽधि बभ्रूषु नम्नते वृषेव पत्नीरभ्येति रोरुवत्।
ओजायमानस्तन्वश्च शुम्भते भीमो न शृङ्गा दविधाव दुर्गृभिः॥ ६॥

१. **भूषन् न**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करता हुआ-सा **यः**=जो **बभ्रूषु**=भरणात्मक क्रियाओं में **अधि नम्नते**=आधिक्येन नत होता है। यह उपासक लोकहित के कार्यों में लगा रहता है। उन कार्यों में लगा हुआ यह सदा विनीत बना रहता है। इस क्रियाशीलता व विनीतता के कारण ही वह अपने जीवन को सद्गुणों से मण्डित कर पाता है। २. इन धारणात्मक कर्मों के उद्देश्य से ही यह **वृषा इव**=शक्तिशाली पुरुष की भाँति होता हुआ **पत्नीः**=पालनीय प्रजाओं के **अभि रोरुवत् एति**=प्रति ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करता हुआ आता है। प्रजाएँ राष्ट्रपति की पत्नियाँ ही कहलाती हैं। इनमें ज्ञान का प्रचार करता हुआ यह गतिमय जीवनवाला होता है। इस कार्य में यह तो आवश्यक है ही कि उसका शरीर शक्तिशाली हो। ३. **च**=और **ओजायमानः**=ओजस्वी पुरुष की भाँति आचरण करता हुआ यह **तन्वः च**=अपने शरीर को **शुम्भते**=शोभित करता है तथा शक्ति के कारण **दुर्गृभिः**=शत्रुओं से वशीभूत करने योग्य न होता हुआ **भीमः न**=शत्रुओं के लिए भयंकर वीर के समान **शृङ्गा**=(शृङ्ग=A fountain of water) ज्ञान के स्रोतों को **दविधाव**=चालित करता है। इन ज्ञान-स्रोतों के प्रवाह से यह प्रजाओं के जीवन को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार लोकहित में प्रवृत्त होनेवाले व्यक्ति के

लिए ओजस्वी होना नितान्त आवश्यक होता है।

भावार्थ—उपासक नम्रतापूर्वक पर ओजस्वी होते हुए ज्ञान-प्रसार आदि धारणात्मक कार्यों में लगे रहते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड् जगती। **स्वरः**—निषादः।

लोकसंग्रह के लिए कर्म करनेवाला

स संस्तिरो विष्टिरः सं गृभायति जानन्नेव जानतीर्नित्य आ शये।
पुनर्वर्धन्ते अपि यन्ति देव्यमन्यद् वर्पः पित्रोः कृण्वते सचा॥ ७॥

१. गतमन्त्र का **सः**=वह 'दुर्गृभि' पुरुष **संस्तिरः**=ज्ञान से अपने को सम्यक् आच्छादित करनेवाला होता है। ज्ञानरूप आच्छादनवाला यह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता। यह **विष्टिरः**=इस ज्ञान से विविध दिशाओं को आच्छादित करता है, चारों ओर ज्ञान को फैलानेवाला होता है, **संगृभायति**=ज्ञान के प्रसार से यह लोकसंग्रह करनेवाला होता है। ज्ञान के द्वारा लोकों (लोगों) को अशुभ में फँसने से बचाता है। २. **जानन् एव**=ज्ञान को प्राप्त करता हुआ यह **जानतीः**=ज्ञान प्राप्त करनेवाली प्रजाओं में **नित्यः आशये**=अविच्छिन्नरूप से निवास करता है। स्वयं सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहता है, औरों को ज्ञान देता है, ज्ञान की रुचिवाली प्रजाओं में ही यह निवास करता है। ३. इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके ये प्रजाएँ **पुनः वर्धन्ते**=फिर से वृद्धि को प्राप्त करती हैं। **देव्यम्**=देव की प्राप्ति के मार्ग की ओर **अपियन्ति**=ये प्रजाएँ चलती हैं। इस प्रकार उस प्रभु से **सचा**=मिलकर ये प्रजाएँ **अन्यत् वर्पः**=विलक्षण ही रूप को **कृण्वते**=धारण करनेवाली होती हैं, अत्यन्त तेजस्वी रूप को प्राप्त होती हैं। ४. ज्ञानी पुरुष को लोकसंग्रह के दृष्टिकोण से कर्म करने ही चाहिएँ। उसका सर्वोत्तम कर्म यही है कि स्वयं अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ औरों के लिए इस ज्ञान को दे देता है, जिससे वे प्रजाएँ बढ़ती हुई प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हों।

भावार्थ—लोकसंग्रही पुरुष ज्ञानी बनकर ज्ञान का प्रसार करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

मृत्यु से जीवन की ओर

तमग्रुवः केशिनीः सं हि रेभिर ऊर्ध्वास्तस्थुर्मम्रुषीः प्रायवे पुनः।
तासां जरां प्रमुञ्चन्नेति नानदद्सुं परं जनयञ्जीवमस्तृतम्॥ ८॥

१. **तम्**=उस ज्ञान का प्रसार करनेवाले पुरुष को **अग्रुवः**=जीवन-मार्ग में आगे बढ़नेवाली **केशिनीः**=(केश=a ray of light) प्रकाश की रश्मियोंवाली प्रजाएँ **हि**=निश्चय से **सं रेभिरे**=आलिंगन करती हैं, अर्थात् उसके घनिष्ठ सम्पर्क में आती हैं। उससे और अधिक ज्ञान प्राप्त करके **ऊर्ध्वाः तस्थुः**=ऊपर उठ खड़ी होती हैं। **मम्रुषीः**=आज तक जो मरणासन्न-सी थीं वे **पुनः**=फिर **प्रायवे**=प्रकृष्ट जीवन के लिए होती हैं। २. यह ज्ञानी **तासाम्**=उन प्रजाओं की **जराम्**=जीर्णता को **प्रमुञ्चन्**=छुड़ाता हुआ **एति**=गति करता है। उनको इस प्रकार उपदेश करता है कि वे विषयासक्ति के मार्ग को छोड़कर जितेन्द्रियता के मार्ग को अपनाती हैं। यह मार्ग उनकी शक्तियों को जीर्ण नहीं होने देता। ३. इस कार्य को करता हुआ यह **नानदत्**=खूब ही प्रभु स्तवन करनेवाला होता है, **परम् असुं जनयन्**=यह प्रकृष्ट प्राणशक्ति को उत्पन्न करता है और **जीवम्**=जीवन को **अस्तृतम्**=अहिंसित करता है। अज्ञान ही मृत्यु व अवनति का मार्ग

है। इस अज्ञान को दूर करके यह प्रकृष्ट जीवन को—जीर्णताशून्य जीवन को—अहिंसित जीवन को उत्पन्न करता है।

भावार्थ—प्रजाएँ जितना इस ज्ञानी के सम्पर्क में आती हैं, यह उतना ही उन्हें प्रकृष्ट—अक्षीण व अहिंसित जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

माता के वस्त्राञ्चल में

अधीवासं परि मातू रिहन्नह तुविग्रेभिः सत्वभिर्याति वि ज्रयः।
वयो दधत् पद्वते रेरिहत् सदानु श्येनी सचते वर्तनीरह॥ ९॥

१. गतमन्त्र का ज्ञानी पुरुष **मातुः**=इस वेदमाता के **अधीवासम्**=आच्छादन का **परिरिहन्**=सब प्रकार से आनन्द लेता हुआ **अह**=निश्चय से **विज्रयः**=विशिष्ट वेगवाला, गतिशील व क्रियामय जीवनवाला होता हुआ **तुविग्रेभिः**=खूब गतिवाले **सत्वभिः**=प्राणियों व व्यक्तियों के साथ **याति**=गतिवाला होता है। जैसे बालक माता के वस्त्रप्रान्त से आच्छादित होकर अपने को सुरक्षित अनुभव करता है, उसी प्रकार यह ज्ञानी वेदमाता को अपना आच्छादन बनाकर रोगों व रागों (वासनाओं) के आक्रमण से अपने को सुरक्षित कर पाता है। वेदज्ञान को प्राप्त करके यह अत्यन्त क्रियाशील होता है, अपने श्रोताओं में भी यह क्रियाशीलता की भावना भरनेवाला होता है। २. **वयः दधत्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करता हुआ **पद्वते**=क्रियाशील बनने के लिए **रेरिहत्**=ज्ञान की वाणियों का स्वाद लेता हुआ **सदा**=सदा **श्येनी**=(श्येनं=whiteness) शुद्ध चरित्रवाला, अकलङ्क आचरणवाला **अह**=निश्चय से **अनु**=अनुक्रमेण **वर्तनी**=मार्गों का **सचते**=सेवन करता है। वेदज्ञान के अनुसार इसकी क्रियाएँ होती हैं, इससे इसकी क्रियाएँ पवित्र होती हैं। यह सदा सन्मार्ग पर चलता है, कभी उससे विचलित नहीं होता। इस मार्ग पर तीव्रता से आगे बढ़ने से ही इसके जीवन की पवित्रता बनी रहती है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष वेदमाता के वस्त्राञ्चल को अपना आच्छादन बनाता है। ज्ञान के द्वारा पवित्र क्रियाओंवाला होता हुआ यह उत्कृष्ट जीवन को धारण करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'श्वसीवान्, वृषभो दमूना'

अस्माकमग्ने मघवत्सु दीदिह्यध श्वसीवान् वृषभो दमूनाः।
अवास्या शिशुमतीरदीदेर्वर्मेव युत्सु परिजर्भुराणः॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अस्माकम्**=हममें से **मघवत्सु**=(मघ=ऐश्वर्य, यज्ञ) ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले व्यक्तियों में आप **दीदिहि**=चमको, दीप्त होओ। जब आप किसी व्यक्ति के हृदय में दीप्त होते हैं, तब वह **श्वसीवान्**=प्रशस्त जीवनवाला, **वृषभः**=शक्तिशाली व **दमूनाः**=दान्त मनवाला होता है। प्रभु के साथ होनेपर जीवन में किसी प्रकार की मलिनता का प्रश्न ही नहीं उठता। उस समय यह उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनता है, मन को भी वश में करनेवाला होता है। २. हे प्रभो! आप **अवास्य**=(अस् क्षेपणे) इनकी सब वासनाओं को सुदूर फेंककर **शिशुमतीः**=प्रशस्त सन्तानोंवाली इन प्रजाओं को **अदीदेः**=दीप्त जीवनवाला बनाइए। माता-पिता के जीवन-वासना-शून्य होंगे तो सन्तानों के जीवन भी वासनाशून्य बनेंगे। हे प्रभो! आप **युत्सु**=इन वासना-संग्रामों में **वर्म इव**=इनके लिए कवच के समान होते

हैं। कवच से जैसे शस्त्रास्त्रों के आक्रमण से बचाव होता है, उसी प्रकार प्रभुरूप कवच को धारण करके ये वासनाओं के प्रहारों से सुरक्षित रहते हैं। **परिजर्भुराणः**=प्रभु इनके शत्रुओं को खूब ही परिहृत करते हैं, शत्रु इन तक पहुँच ही नहीं पाते।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों के हृदयों में प्रभु का प्रकाश होता है, इससे उनका जीवन उत्कृष्ट बनता है। प्रभु इनके लिए कवच होते हैं, इनकी वासनाओं को परे फेंककर वे इन्हें उत्तम सन्तानोंवाला बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड् जगती। **स्वरः**—निषादः।

मन्मनः (Confidential whispering)

इदमग्ने सुधितं दुर्धितादधि प्रियादु चिन्मन्मनः प्रेयो अस्तु ते।
यत्ते शुक्रं तन्वो३ रोचते शुचि तेनास्मभ्यं वनसे रत्नमा त्वम्॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **दुर्धितात्**=बड़ी कठिनता से अर्जन व धारण किये जानेवाले **अधिप्रियात् उ चित्**=अत्यधिक प्रिय धन से भी **इदम्**=यह **सुधितम्**=हृदय में उत्तमता से धारण की गई **ते**=आपकी **मन्मनः**=हृदयस्थरूपेण दी गई प्रेरणा **प्रेयः अस्तु**=मुझे अधिक प्रिय हो। मैं सांसारिक ऐश्वर्यों की अपेक्षा आपसे दी जानेवाली प्रेरणा को अधिक महत्त्व दूँ। २. हे प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **तन्वः**=शरीर का **शुक्रम्**=वीर्य—शरीर में उत्पन्न किया गया यह तेज **शुचि रोचते**=दीप्ति से चमकता है, **तेन**=उस शुक्र से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **त्वम्**=आप **रत्नम्**=रमणीयता को अथवा शरीरस्थ सप्त धातुरूप सात रत्नों को **आवनसे**=सब प्रकार से प्राप्त कराते हैं। वीर्यरक्षण से शरीर की सब धातुएँ ठीक रहती हैं और शरीर दीप्तिमय बना रहता है।

भावार्थ—हमें धन की अपेक्षा प्रभु की प्रेरणा अधिक प्रिय हो। शरीर में शुक्र का रक्षण करते हुए हम शरीर को रमणीय बनाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शरीररूप नाव

रथाय नावमुत नो गृहाय नित्यारित्रां पद्वतीं रास्यग्ने।
अस्माकं वीराँ उत नो मघोनो जनाँश्च या पारयाच्छर्म या च॥ १२॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः**=हमें **रथाय**=(रंहणाय) तीव्रगति से जाने के लिए **नावम्**=इस शरीररूप नौका को **रासि**=देते हैं, जो नाव **नित्यारित्राम्**=(नित्यः=the ocean) इस भवसागर में चप्पुओंवाली है—इस भवसागर को पार करने के लिए साधनभूत चप्पुओं से युक्त है। **पद्वतीम्**=गति के साधनभूत अङ्गोंवाली है। यह नौका इस सागर में तीव्रगति के लिए तो है ही **उत**=और **गृहाय**=सागर को पार करके घर में पहुँचने के लिए है। हमारा घर ब्रह्मलोक है। उस ब्रह्मलोक में पहुँचने के लिए यह नाव साधन बनती है। २. यह नौका वह है **या**=जो **अस्माकम्**=हममें से **वीरान्**=वीर पुरुषों को **उत**=और **नः**=हममें से **मघोनः जनान्**=यज्ञशील पुरुषों को **पारयात्**=भवसागर के पार लगाती है, **च**=और **या**=जो **शर्म**=सुख का साधन बनती है। इस शरीररूप नौका को प्राप्त करके हम इस जीवन में वीर व यज्ञशील बनकर अवश्य ही तीव्रगति से इस भवसागर को पार करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनेंगे। वहाँ पहुँचकर सब दुःखों का अन्त हो जाएगा।

भावार्थ—प्रभु ने शरीररूपी नौका दी है। हम वीर व यज्ञशील बनकर, विषय-वासनाओं से ऊपर उठते हुए ब्रह्मप्राप्ति की ओर अग्रसर हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

स्तवन की वृत्ति

अभी नो अग्न उक्थमिज्जुगुर्या द्यावाक्षामा सिन्धवश्च स्वगूर्ताः।
गव्यं यव्यं यन्तो दीर्घाहेषं वरमरुण्यो वरन्त ॥ १३ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमें **उक्थम् अभि इत्**=स्तोत्रों की ओर ही **जुगुर्याः**=गतिवाला कीजिए। हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनें। आपके ये स्तोत्र हमें प्रेरणा देनेवाले हों। **द्यावाक्षामा**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **च सिन्धवः**=और नदियाँ **स्वगूर्ताः**=उस आत्मतत्त्व से ही गतिवाली हो रही हैं। ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों को वे प्रभु ही गति देनेवाले हैं, सब पदार्थ उसी के शासन में चल रहे हैं। २. हे प्रभो! हम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में आपसे दी जाती हुई गति को देखें। आपकी कृपा से ही **अरुण्यः**=अरुण प्रकाशवाली उषाएँ **दीर्घा अहा**=इन लम्बे दिनों में—दीर्घ जीवन तक **गव्यम्**=गोदुग्ध को **यव्यम्**=यव (जौ) आदि अन्न को **यन्तः**=प्राप्त कराती हुई **वरम् इषम्**=उत्कृष्ट प्रेरणा को **वरन्त**=प्राप्त कराएँ। हमारा भोजन गोदुग्ध व यवादि अन्न हो। उससे हमारी बुद्धि सात्त्विक बनें, अन्तकरण निर्मल हो ताकि हम अन्तःस्थित प्रभु की श्रेष्ठ प्रेरणा को सुननेवाले बनें।

भावार्थ—हमारी वृत्ति स्तवन की हो। हमें 'द्युलोक, पृथिवीलोक व नदियाँ' सब प्रभु का स्तवन करते प्रतीत हों। हम गोदुग्ध व सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करते हुए अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से है कि 'ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तोत्र ही हमारे वस्त्र हों (१)। समाप्ति पर भी यही कहते हैं कि हमारी वृत्ति स्तवन की हो (१३)। 'इसी वृत्ति से हममें प्रभु के तेज का धारण होगा' इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१४१] एकचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

देव के भर्ग का धारण

बळित्था तद् वपुषे धायि दर्शतं देवस्य भर्गः सहसो यतो जनि।
यदीमुप ह्वरते साधते मतिर्ऋतस्य धेना अनयन्त सस्रुतः ॥ १ ॥

१. **बट्**=सचमुच **इत्था**=इस प्रकार—गत सूक्त के अनुसार प्रभुस्तवन करने पर **वपुषे**=इस स्तोता के शरीर के लिए **तत्**=उस **देवस्य**=प्रभु का **दर्शतं भर्गः**=दर्शनीय तेज **धायि**=धारण किया जाता है। **यतः**=क्योंकि यही तेज **सहसः**=सहनशक्ति का **जनि**=उत्पादक है। इस तेज को धारण करनेवाला उपासक सहनशक्तिवाला बनता है, बड़ी-से-बड़ी आपत्ति को भी प्रसन्नता से सहन करता है। २. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **मतिः**=मेरी बुद्धि **उपह्वरते**=इस तेज को धारण करने के लिए गतिवाली होती है तब **साधते**=अपने जीवन के उद्देश्य को सिद्ध करनेवाली बनती है। उस समय **सस्रुतः**=साथ-साथ गतिवाली **ऋतस्य**=सत्य की **धेना**=वेदरूप वाणियाँ **अनयन्त**=इस तेज के धारण करनेवाले को लक्ष्यस्थान पर प्राप्त कराती हैं। ऋग्यजुः सामरूप ये वाणियाँ उसके जीवन में 'विज्ञान, कर्म व उपासना' के रूप में साथ-साथ प्रकट होकर उसे ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

भावार्थ—उपासक प्रभु के तेज से तेजस्वी बनकर 'सहस्' वाला होता है। इसके जीवन

में 'विज्ञान, कर्म व उपासना' का समन्वय होकर इसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्रभु में वास

पृक्षो वपुः पितुमान्नित्य आ शये द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु।
तृतीयमस्य वृषभस्य दोहसे दशप्रमतिं जनयन्त योषणः॥ २॥

१. **पृक्षः**=(पृच्=to come in contact with) पिछले मन्त्र के अनुसार जिसे वेदवाणियाँ ब्रह्म की ओर ले-जानेवाली होती हैं, वह पृक्ष, अर्थात् प्रभु के सम्पर्कवाला होता है। इस प्रभु-सम्पर्क से यह **वपुः**=वासनाओं का वपन व छेदन करनेवाला होता है। वासनाओं को दूर करने के उद्देश्य से ही **पितुमान्**=यह प्रशस्त अन्नवाला होता है और इस प्रशस्त अन्न से सत्त्व को—अन्तःकरण को शुद्ध करनेवाला यह उपासक **नित्ये**=सनातन पुरुष में **आशये**=निवास करता है। यह प्रभु को कभी विस्मृत नहीं करता। २. अब **द्वितीयम्**=दूसरे स्थान में यह **सप्तशिवासु**=शरीरस्थ सप्तर्षियों (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) का कल्याण करनेवाली **मातृषु**=वेदवाणीरूप माताओं में **आ**=सब प्रकार से निवास करता है। सारे खाली समय का उपयोग यह वेदवाणियों के अध्ययन में करता है। ३. **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में यह **अस्य वृषभस्य**=इस शक्तिशाली प्रभु का **दोहसे**=दोहन करने के लिए होता है। यह प्रभु का अपने में पूरण (दुह प्रपूरणे) करता है। प्रभु में निवास करने से इसे वेदवाणियों का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान से यह अपने जीवन में प्रभु का पूरण करनेवाला बनता है। ४. इस प्रकार **योषणः**=यह अच्छाइयों का मिश्रण व बुराइयों का अमिश्रण करनेवाली वेदवाणियाँ **दशप्रमतिम्**=दसों इन्द्रियों के विषय में प्रकृष्टमति व विचारवाला **जनयन्त**=बना देती हैं। यह व्यक्ति किसी भी इन्द्रिय के विषय में अशुभ मार्ग पर जाने का झुकाव नहीं रखता। यह कानों से भद्र शब्द ही सुनता है, आँखों से भद्र ही देखता है, रसना से सात्त्विक भोजन में ही आनन्द लेता है। इस प्रकार सब इन्द्रियों के संयम के दृष्टिकोण से कभी ग़लत मार्ग पर जाता ही नहीं।

भावार्थ—सर्वप्रथम हमारा निवास प्रभु में हो, दूसरा वेदवाणियों में और तीसरा शक्तिशाली प्रभु को अपने में धारण करने में।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्रभुदर्शन कब

निर्यदीं बुध्नान्महिषस्य वर्पस ईशानासः शवसा क्रन्त सूरयः।
यदीमनु प्रदिवो मध्व आधवे गुहा सन्तं मातरिश्वा मथायति॥ ३॥

१. **यत्**=यदि **ईम्**=निश्चय से **महिषस्य वर्पसः**=इस महनीय शरीर के (वर्पस्=रूप) **ईशानासः**=ईशान व संयमी करनेवाले **सूरयः**=ज्ञानी लोग **शवसः**=शक्ति व गति के द्वारा—शक्ति के सम्पादन तथा गतिशीलता के द्वारा **बुध्नात्**=(बद्धा धृता अस्मिन्प्राणा इति, शरीरम्—निरु० १०।४४) शरीर-बन्धन से **निक्रन्त**=अपने को पृथक् करते हैं—इनकी शरीर में आसक्ति नहीं रहती। २. और **यत्**=यदि **ईम्**=निश्चय से **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानी बनकर **मध्वः**=इस अत्यन्त प्रिय अहं (अहंकार) के **आधवे**=प्रक्षेप में, दूर करने में—समर्थ होते हैं ३. तो उस समय **मातरिश्वा**=प्राणसाधना करनेवाला पुरुष **गुहा सन्तम्**=हृदयरूपी गुहा में निवास करनेवाले प्रभु को **मथायति**=अपने चिन्तन का विषय बनाता है (उद्बोधयति—सा०)। ४. प्रभु को अपने हृदय में उद्बुद्ध करने के लिए आवश्यक है कि (क) हम शरीर के बन्धन व आसक्ति से ऊपर उठें,

(ख) ज्ञान के द्वारा अहंकार को नष्ट करें, (ग) प्राणायाम के अभ्यासी बनें।

भावार्थ—प्रभुदर्शन उसी को होता है, जो आसक्ति से ऊपर उठता है, अहं को जीतता है और नियमित रूप से प्राणसाधना करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'यविष्ठ, घृणा (वान्), शुचि'

प्र यत्पितुः पर॒मान्नी॒यते॒ पर्या पृ॒क्षुधो॑ वी॒रुधो॒ दंसु॒ रोह॑ति।
उ॒भा यद॑स्य ज॒नुषं॒ यदिन्व॑त॒ आदिद्यवि॑ष्ठो अभवद् घृ॒णा शुचिः॑ ॥ ४ ॥

१. **यत्**=जब यह साधक **परमात् पितुः**=उस परमपिता से, उस पिता के द्वारा **प्र नीयते**=प्रकृष्ट मार्ग पर ले-जाया जाता है, अर्थात् जब अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा के अनुसार यह अपने व्यवहारों को करता है, २. और **पृक्षुधा**=(पृङ् व्यायामे, क्षुध् to be hungry) व्यायाम द्वारा—श्रम द्वारा क्षुधित होनेवाले इस पुरुष के **दंसु**=दाँतों पर **वीरुधः**=पृथिवी से उत्पन्न होनेवाली ये लताएँ ही **रोहति**=आरूढ़ होती हैं (रोहन्ति—सा०), अर्थात् जब यह शुद्ध वानस्पतिक भोजन ही करता है। ३. और **यत्**=जब **अस्य**=इसके **उभा**=शरीर व मस्तिष्क दोनों ही **जनुषम्**=विकास को **यत्**=यदि **इन्वतः**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् यदि इसकी शक्ति और ज्ञान—दोनों का विकास होता है तो **आत् इत्**=अब शीघ्र ही **यविष्ठः**=युवतम **अभवत्**=हो जाता है, जीर्ण रहकर युवा बन जाता है, इसकी शक्तियाँ खूब बढ़ जाती हैं। **घृणा**=दीप्ति के साथ यह **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है। शरीर में 'यविष्ठ' होता है, मस्तिष्क में 'घृणा' दीप्तिवाला और हृदय में 'शुचि' होता है।

भावार्थ—(क) हम प्रभु को अपना पथ-प्रदर्शक बनाएँ, (ख) श्रम द्वारा भूख अनुभव होने पर वानस्पतिक पदार्थों को ही खाएँ, (ग) ज्ञान व शक्ति दोनों का विकास करें, तब हम शरीर से युवा, मस्तिष्क में दीप्त और मन में निर्मल बनेंगे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रुति में स्नान

आदिन्मा॒तॄरावि॑श॒द्यास्वा शुचि॒रहिं॑स्यमान उर्वि॒या वि वा॑वृधे।
अनु॒ यत्पूर्वा॒ अरु॑हत्सना॒जुवो॒ नि नव्य॑सी॒ष्ववरा॑सु धावते ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को अपना पथ-प्रदर्शक बनानेवाला **आत् इत्**=अब निश्चय से **मातॄः**=जीवन का निर्माण करनेवाली इन वेदवाणीरूप माताओं में **आविशत्**=प्रवेश करता है, **यासु**=जिनमें प्रवेश करने पर यह **आशुचिः**=शरीर, मन व बुद्धि में सर्वत्र पवित्र होता है, **अहिंस्यमानः**=वासनाओं से हिंसित न होता हुआ **उर्विया विवावृधे**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त होता है। २. **यत्**=जब **सनाजुवः**=सनातनकाल से प्रेरणा देनेवाली **पूर्वाः**=सृष्टि के आरम्भ में होनेवाली इन वाणियों का **अनु आरुहत्**=अनुक्रमेण आरोहण करता है, अर्थात् इनका अध्ययन करता हुआ इन्हें अपने जीवन का अङ्ग बनाता है तो **नव्यसीषु**=नवीन **अवरासु**=अवरकाल में होनेवाली ऋषियों से प्रतिपादित वेदानुकूल ज्ञानवाणियों में भी **निधावते**=निश्चय से अपने जीवन को शुद्ध बनाता है। जैसे श्रुतिवाक्यों में स्नान करता हुआ यह अपने जीवन को शुद्ध बनाता है, उसी प्रकार वेदानुकूल स्मृतिवाक्य इसके जीवन को शुद्ध बनाते हैं।

भावार्थ—वेदवाणियाँ जीवन को पवित्र बनाती हैं, स्मृतिवाक्यों के अनुसार चलते हुए भी हम अपने जीवनों को शुद्ध बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अग्निः । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

ज्ञानयज्ञों में प्रभु का वरण

**आदिद्धोतारं वृणते दिविष्टिषु भगमिव पपृचानास ऋञ्जते ।
देवान्यत्क्रत्वा मज्मना पुरुष्टुतो मर्तं शंसं विश्वधा वेति धायसे ॥ ६ ॥**

१. गतमन्त्र के अनुसार श्रुति व स्मृति (ऋषि-मुनियों के उपदेश) के अनुसार जीवन को चलाते हुए व्यक्ति, जीवन को पवित्र बनाते हुए **आत् इत्**=अब शीघ्र ही **दिविष्टिषु**=ज्ञानयज्ञों में **होतारम्**=सृष्टियज्ञ के महान् होता प्रभु का **वृणते**=वरण करते हैं। ज्ञानयज्ञ के द्वारा वे प्रभु का उपासन करते हैं। **भगम् इव**=ऐश्वर्य के समान वे इस प्रभु का **पपृचानासः**=सम्पर्क करनेवाले होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य को ऐश्वर्य प्रिय होता है, उसी प्रकार इन ज्ञानयज्ञों के द्वारा प्रभु के उपासकों को प्रभु प्रिय होते हैं। प्रभु के सम्पर्क में ये **देवान् ऋञ्जते**=दिव्यगुणों को प्रसाधित करते हैं, दिव्य गुणों से अपने जीवन को अलंकृत करते हैं। २. **यत्**=जब ये प्रभु **क्रत्वा**=यज्ञादि उत्तम कर्मों द्वारा तथा **मज्मना**=शक्ति के द्वारा **पुरुष्टुतः**=खूब स्तुत होते हैं तब **विश्वधाः**=सम्पूर्ण विश्व का धारण करनेवाले वे प्रभु इस **शंसं मर्तम्**=स्तवन करनेवाले मनुष्य को **धायसे**=धारण करने के लिए **वेति**=प्राप्त होते हैं (वी गतौ)। प्रभु का सच्चा स्तवन इसी प्रकार होता है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें तथा अपने में शक्ति का सम्पादन करें। ऐसा स्तवन करने पर हम प्रभु से धारणीय होंगे।

भावार्थ—प्रभु को वरण करनेवाला अपने जीवन को दिव्यगुणों से प्रसाधित करता है। यज्ञशील व शक्तिशाली बनकर प्रभु का सच्चा स्तोता होता है। इसके धारण के लिए प्रभु इसे प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अग्निः । छन्दः—निचृज्जगती । स्वरः—निषादः ।

'महाजनो येन गतः स पन्थाः'

**वि यदस्थाद्यजतो वातचोदितो ह्वारो न वक्वा जरणा अनाकृतः ।
तस्य पत्मन्दक्षुषः कृष्णजंहसः शुचिजन्मनो रज आ व्यध्वनः ॥ ७ ॥**

१. गतमन्त्र के अनुसार वे विश्वधा प्रभु जिसे प्राप्त होते हैं वह **यत्**=जब **वि अस्थात्**=विशिष्ट लक्ष्य को लेकर जीवन में स्थित होता है, तब इस विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए **यजतः**=प्रभु से अपना मेल करनेवाला होता है, **वातचोदितः**=वायु से प्रेरणा प्राप्त करता है। जैसे वायु निरन्तर चल रहा है, इसी प्रकार यह निरन्तर अपने कार्यों में लगनेवाला होता है। इन कार्यों में **ह्वारः न**=यह कुटिल नहीं होता, इसकी क्रियाएँ कुटिलता से रहित होती हैं। कुटिलता से बचे रहने के लिए ही यह **वक्वा**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों को करता हुआ यह **जरणा**=शक्ति की जीर्णता से **अनाकृतः**=प्रतिबद्ध प्रसर-(गमन)-वाला नहीं होता। इसके जीवन में ऐसी स्थिति नहीं आ जाती कि यह जीर्ण शक्तिवाला हो जाए और जीर्णता के कारण इसका कार्यों में प्रवृत्त होना रुक जाए। **तस्य**=उसी के **पत्मन्**=मार्ग में **रजः**=लोक **आ**=(अस्थात्) समन्तात् स्थित होता है—सब उसी का अनुसरण करते हैं, उससे चले हुए मार्ग पर ही सब चलते हैं, उसके मार्ग पर ही सब चलते हैं जो कि **दक्षुषः**=वासनाओं का दहन करनेवाला है, **कृष्णजंहसः**=कालिमा को, विद्वेषादि मलिनताओं को हिंसित करता है, **शुचिजन्मनः**=पवित्रता को जन्म देने तथा विकसित करनेवाला है तथा **वि-अध्वनः**=विशिष्ट मार्ग पर ही चलनेवाला है। इसके मार्ग पर चलते हुए सभी कल्याण प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्त प्रभु का स्मरण करता हुआ कर्म में लगा रहता है। अन्य लोग इसी का अनुकरण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दृढ़ता व प्रकाश के साथ गति

रथो न यातः शिक्वभिः कृतो द्यामङ्गेभिररुषेभिरीयते।
आदस्य ते कृष्णासो दक्षि सूरयः शूरस्येव त्वेषथादीषते वयः॥ ८॥

१. गतमन्त्र का प्रभुभक्त **शिक्वभिः कृतः**=रज्जु आदि से दृढ़ता से बाँधे गये **रथः न यातः**=रथ के समान (यातमस्यास्तीति) गतिवाला होता है। जैसे रज्जु आदि से दृढ़ बन्धनोंवाला रथ मार्ग पर उत्तमता से चलता है, इसी प्रकार यह प्रभुभक्त भी सुगठित शरीरवाला होता हुआ जीवनयात्रा में आगे बढ़ता है। यह **अरुषेभिः अङ्गेभिः**=आरोचमान अङ्गों से **द्याम् ईयते**=द्युलोक को प्राप्त होता है, अर्थात् यह उत्तम कर्म करता हुआ यहाँ तेजस्वी व प्रकाशमय जीवनवाला होता है अगले जन्म में द्युलोक में जन्म लेनेवाला होता है। वहाँ इसका शरीर आग्नेय होता है और इसके सब अङ्ग आरोचमान होते हैं। २. **आत्**=अब **अस्य सूरयः**=(सूरेः) इस ज्ञानी पुरुष की **ते कृष्णासः**=वे मलिनताएँ **दक्षि**=दग्ध हो जाती हैं। इसके जीवन में राग-द्वेष नहीं रहता। यह **वयः**=कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाला—सदा क्रियाशील व्यक्ति **शूरस्य इव**=एक शूरवीर के समान **त्वेषथात्**=अपनी ज्ञानदीप्ति से **ईषते**=इन वासनाओं पर आक्रमण करता है। अपनी ज्ञानाग्नि में इन वासनाओं को दग्ध कर देता है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि दृढ़ अङ्गों से गतिशील बनें, ज्ञानाग्नि द्वारा वासनाओं को दग्ध कर दें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

उपासना व सुन्दर जीवन

त्वया ह्यग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः।
यत्सीमनु क्रतुना विश्वथा विभुररान्न नेमिः परिभूरजायथाः॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वया**=आपके द्वारा **हि**=निश्चय से यह भक्त **वरुणः**=द्वेष निवारण करनेवाला, **धृतव्रतः**=धारण किये हुए व्रतोंवाला, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला बनता है और **शाशद्रे**=(शातयति तमः) तमोगुण को नष्ट करता है। यह **अर्यमा**='अरीन् यच्छति' काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियन्त्रण करता है, **सुदानवः**=उत्तम दानशील होता है। २. **यत्**=जब **सीम्**=(सर्वतः) सब ओर से **क्रतुना**=अपने कर्मों व संकल्पों के द्वारा **विश्वथा**=सब प्रकार से **विभुः**=व्यापक शक्तिवाला होता है। **अरान् नेमिः न**=अरों के चारों ओर जैसे नेमि होती है (प्रधि), उसी प्रकार यह **परिभूः**=सब शक्तियों के चारों ओर होनेवाला **अजायथाः**=हो जाता है।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु के सम्पर्क में आने पर हम 'वरुण, धृतव्रत, मित्र, अर्यमा व सुदानु बनकर तमोगुण का संहार करनेवाले' बनते हैं, सब शक्तियों से युक्त होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

रत्न, देवताति, सहस्

त्वमग्ने शशमानाय सुन्वते रत्नं यविष्ठ देवतातिमिन्वसि।
तं त्वा नु नव्यं सहसो युवन्वयं भगं न कारे महिरत्न धीमहि॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **शशमानाय**=(शंसमान—नि०) शंसन व स्तवन करनेवाले के लिए अथवा (शश प्लुतगतौ) प्लुतगतिवाले के लिए, अर्थात् स्फूर्ति के साथ कार्य करनेवाले के लिए **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले के लिए—शरीर में सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाले के लिए **रत्नम्**=रमणीय वस्तुओं को **इन्वसि**=व्याप्त करते हो, आप इन्हें रमणीयता प्राप्त कराते हो। **यविष्ठ**=हे युवतम! बुराइयों को पृथक् करके अच्छाइयों का मेल करनेवाले प्रभो! आप **देवतातिम्**=दिव्य गुणों के विस्तार को (इन्वसि) व्याप्त करते हो, आप हमें दिव्यगुण प्राप्त कराते हो। २. हे **सहसः युवन्**=भक्तों के साथ सहस् का मिश्रण करनेवाले **महिरत्न**=महनीय रत्नोंवाले प्रभो! **तं नव्यं त्वा**=उस स्तुति के योग्य आपको **नु**=अब **वयम्**=हम **कारे**=पुरुषार्थ के होने पर **भगं न**=ऐश्वर्य के समान **धीमहि**=ध्यान करते हैं व धारण करते हैं। हम पुरुषार्थ करें और प्रभु का स्मरण करें। प्रभु ही वास्तविक ऐश्वर्य हैं, वे ही सब ऐश्वर्यों के देनेवाले हैं।

भावार्थ—परिश्रमी के लिए प्रभु रत्न देते हैं, उसे दिव्य गुणों से युक्त करते हैं और शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

धन व उत्तम सन्तान

अस्मे रयिं न स्वर्थं दमूनसं भगं दक्षं न पपृचासि धर्णसिम्।
रश्मीँरिव यो यमति जन्मनी उभे देवानां शंसमृत आ च सुक्रतुः॥ ११॥

१. हे प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **स्वर्थम्**=(सुष्ठु अरणीयम्) उत्तमता से कमाने योग्य अथवा शोभन पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाले **दमूनसम्**=मनादि के दमन से युक्त **रयिं न** (न=इव) धन को जैसे प्राप्त कराते हैं और **न**=जैसे **भगम्**=उपासना की वृत्तिवाले (भज सेवायाम्), **दक्षम्**=उत्साहवाले व सब प्रकार की वृद्धिवाले **धर्णसिम्**=धारण करनेवाले सन्तान को **पपृचासि**=हमारे साथ सम्पृक्त करते हैं। २. उस सन्तान को हमारे साथ सम्पृक्त करते हैं **यः**=जो **रश्मीन् इव**=लगामों की भाँति **उभे जन्मनी**=दोनों जन्मों को **यमति**=(नियमयति विस्तारयति—सा०) नियमित व विस्तारित करता है। इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करते हुए चलता है। इहलोक के अभ्युदय और परलोक के निःश्रेयस को सिद्ध करनेवाला होता है। यह परलोक के निःश्रेयस के लिए **देवानां शंसम्**=देवों के शंसन को—दिव्यगुणों के स्तवन द्वारा दिव्य गुणों को धारण करता है **च**=और इस लोक के अभ्युदय के लिए **ऋते आ सुक्रतुः**=ऋत में स्थित होता हुआ उत्तम कर्मोंवाला होता है। यह सब कर्मों को ऋतपूर्वक करता है, इसका प्रत्येक कार्य ठीक समय व ठीक स्थान पर होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें धन व उत्तम सन्तान प्राप्त कराते हैं, वे सन्तान जो देवशंसन द्वारा निःश्रेयस को सिद्ध करते हों और नियमित कर्मों के द्वारा अभ्युदय को। 'अभ्युदय और निःश्रेयस' इनकी दो लगामों की भाँति होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सन्तान की उत्तमता

उत नः सुद्योत्मा जीराश्वो होता मन्द्रः शृणवच्चन्द्ररथः।
स नो नेषन्नेषतमैरमूरोऽग्निर्वामं सुवितं वस्यो अच्छ॥ १२॥

१. **उत**=और **नः**=हमारा सन्तान **सुद्योत्मा**=उत्तम ज्ञानज्योतिवाला, **जीराश्वः**=गतिशील

इन्द्रियोंवाला, **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **मन्द्रः**=सदा प्रसन्न अन्तःकरणवाला **चन्द्ररथः**=चन्द्रमा के समान उज्ज्वल शरीररूप रथवाला **शृणवत्**=माता-पिता व वृद्धों की आज्ञा सुननेवाला हो। २. इस प्रकार **सः**=वह उत्तम सन्तान **अमूरः**=विषयों में मूढ न बनता हुआ **अग्निः**=प्रगतिशील होता हुआ **नः**=हमें **वामम्**=सुन्दर **सुवितम्**=उत्तम मार्गों से प्राप्त करने योग्य **वस्यः**=निवास के साधनभूत उत्तम वसुओं (धनों) की ओर **नेषतमैः नेषत्**=उत्कृष्ट मार्गों से ले-चले। ३. वह सन्तान उत्तम मार्गों से धनों को प्राप्त करती हुई हमारी भी उन्नति का कारण बनती है। सन्तान का उत्तम जीवन माता-पिता के चित्त की शान्ति का कारण बनता है और उनके उत्तम निवास का हेतु होता है।

भावार्थ—सन्तान स्वयं उत्तम जीवनवाली होती हुई माता-पिता की उत्तम स्थिति का कारण बने।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कर्मयुक्त स्तवन

अस्ताव्यग्निः शिमीवद्भिर्कैः साम्राज्याय प्रतरं दधानः।
अमी च ये मघवानो वयं च मिहं न सूरो अति निष्टतन्युः॥ १३॥

१. **अग्निः**=वह परमात्मा **शिमीवद्भिः**=उत्तम कर्मों से युक्त **अर्कैः**=स्तोत्रों से **अस्तावि**=स्तुति किया जाता है। हम उत्तम कर्मों से प्रभु का स्तवन करते हैं। जहाँ हम स्तुतियों का उच्चारण करते हैं, वहाँ उत्तम कर्म भी करते हैं। इस प्रकार स्तुत हुए-हुए वे प्रभु **साम्राज्याय प्रतरं दधानाः**=हमें साम्राज्य के लिए खूब ही धारण करते हैं। हम अपने शरीर, इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर शासन करनेवाले होते हैं। २. **अमी च ये**=ये जो गतमन्त्र में वर्णित **मघवानः**=हमारे ऐश्वर्यसम्पन्न व यज्ञशील सन्तान हैं **वयं च**=और हम **अतिनिष्टतन्युः**=प्रभु का खूब ही स्तवन करें, उसी प्रकार स्तवन करें **न**=जैसे कि **सूरः**=सूर्य **मिहं**=वर्षण करनेवाले बादल को शब्दयुक्त करता है। जैसे बादल की गर्जना होती है, उसी प्रकार हमारे जीवन में भी प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण होता है।

भावार्थ—हमारे स्तोत्र कर्मयुक्त हों। हमारी सन्तान व हम प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले बनें।

विशेष—सूक्त का आरम्भ उस देव के भर्ग के धारण की प्रार्थना से होता है (१) और समाप्ति भी उस प्रभु के ही कर्मयुक्त स्तवन से होती है (१३)। अगला सूक्त दिव्यगुणों की प्राप्ति की प्रार्थना से आरम्भ होता है—

[१४२] द्विचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

दिव्य गुण व उत्तम सन्तान

समिद्धो अग्न आ वह देवाँ अद्य यतस्रुचे।
तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं सुतसोमाय दाशुषे॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **समिद्धः**=हृदय में दीप्त हुए-हुए आप **अद्य**=आज इस **यतस्रुचे**=(उद्यत स्रुचे) आहुति डालने के लिए उठाये हुए चम्मचवाले यज्ञशील पुरुष के लिए **देवान् आवह**=दिव्य गुणों को प्राप्त कराइए। जो भी व्यक्ति प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु को

हृदय में दीप्त करते हैं तथा यज्ञशील होते हैं, प्रभु उन्हें सद्गुण प्राप्त कराते ही हैं। २. हे प्रभो! **सुतसोमाय**=जिस व्यक्ति ने अपने शरीर में सोम (वीर्य) का सम्पादन किया है और **दाशुषे**=जो आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला हुआ है, उसके लिए आप **पूर्व्यम्**=सदा पूर्व-स्थान में होनेवाले, अर्थात् उत्तम गुणों की प्राप्ति में सदा आगे रहनेवाले **तन्तुम्**=सन्तान को **तनुष्व**=विस्तृत कीजिए—ऐसे सन्तान को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु को हृदय में दीप्त करनेवाला यज्ञशील व्यक्ति उत्तम गुणों को प्राप्त करता है। सोम का सम्पादन करनेवाले दाश्वान् पुरुष को प्रभु उत्तम सन्तान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

'स्वस्थ, दीप्त, मधुर' जीवन

घृतवन्तमुप मासि मधुमन्तं तनूनपात्।
यज्ञं विप्रस्य मावतः शशमानस्य दाशुषः॥ २॥

१. हे **तनूनपात्**=हमारे शरीरों को न गिरने देनेवाले प्रभो! आप **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **घृतवन्तम्**=मलों के क्षरण द्वारा स्वस्थ शरीरवाला तथा ज्ञानदीप्तिवाला, **मधुमन्तम्**=और माधुर्यवाला, **उप मासि**=समीप रहते हुए बनाते हैं। उस तनूनपात् प्रभु की कृपा से हमारा जीवन शरीर में स्वास्थ्यवाला, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तिवाला तथा हृदय में माधुर्यवाला होता है। २. प्रभु ऐसा जीवन यज्ञ किसका बनाते हैं? उसका जो (क) **विप्रस्य**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला है, (ख) **मा-वतः**=जो मा=प्रमा=ज्ञानलक्ष्मीवाला है, (ग) **शशमानस्य**=(शंसमानस्य—निरु०) जो प्रभु का शंसन करता है अथवा जो प्लुतगतिवाला है, आलस्यशून्य, क्रियाशील है, (घ) **दाशुषः**=दाश्वान् है, देनेवाला अथवा प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाला है। इस प्रकार 'विप्र, मावान्, शशमान व दाश्वान्' बनने पर हमारा जीवनयज्ञ स्वस्थ, दीप्त व माधुर्यवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन 'स्वस्थ, दीप्त व मधुर' हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

पवित्रता व माधुर्य

शुचिः पावको अद्भुतो मध्वा यज्ञं मिमिक्षति।
नराशंसस्त्रिरा दिवो देवो देवेषु यज्ञियः॥ ३॥

१. प्रभु **शुचिः**=पूर्ण पवित्र हैं, **पावकः**=हमें पवित्र करनेवाले हैं, **अद्भुतः**=वे अद्भुत हैं, प्रभु के समान न कोई हुआ, न है और न कोई होगा। ये प्रभु **यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ को **मध्वा**=माधुर्य से **मिमिक्षति**=सिक्त करते हैं। वे प्रभु हमारे जीवन को राग-द्वेष से पृथक् करके पवित्र बना देते हैं और इस प्रकार हमारा जीवन माधुर्य से पूर्ण होता है। २. **नराशंसः**=सब मनुष्यों से शंसनीय, **दिवः**=इस संसाररूप क्रीड़ा को करनेवाले (दिव् क्रीडायाम्), **देवः**=प्रकाशमय (दिव् द्युतौ), **देवेषु यज्ञियः**=देवों में उपासना के योग्य, अथवा सब देवों में संगतिकरण करनेवाला वह प्रभु **त्रिः**=तीन बार **आ**=समन्तात (मिमिक्षति) हमारे जीवनों को माधुर्य से सिक्त करता है। तीन बार का अभिप्राय यह है कि जीवनयज्ञ के प्रातः, माध्यन्दिन और सायन्तन सवन में वे प्रभु हमारे लिए माधुर्य का सेचन करते हैं। जीवन का प्रातः-सवन 'बाल्यकाल' है, माध्यन्दिन सवन 'यौवन' है और सायन्तन सवन 'वार्धक्य' है। इन तीनों सवनों में माधुर्य का सेचन होकर हमारा सारा जीवन ही मधुर बन जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करते हैं, प्रभु हमारे जीवन को पवित्र करके मधुर बना देते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

ज्ञानवर्धक, प्रीणित करनेवाला धन

ई॒ळि॒तो अ॑ग्न॒ आ व॒हेन्द्रं॑ चि॒त्रमि॒ह प्रि॒यम्।
इ॒यं हि त्वा॑ म॒तिर्ममाच्छा॑ सुजिह्व व॒च्यते॑॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ईळितः**=उपासित हुए-हुए आप **इह**=इस जीवन में **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **चित्रम्**=(चित्+र) चेतना देनेवाले **प्रियम्**=तृप्ति व कान्ति के हेतुभूत धन को **आवह**=प्राप्त कराइए। प्रभु की उपासना से हम जितेन्द्रिय बनते हैं और जितेन्द्रिय बनकर ज्ञानयुक्त धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। २. हे **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले, ज्ञान देनेवाले प्रभो! **इयं हि मम मतिः**=निश्चय ही विचारपूर्वक की गई मेरी यह स्तुति **त्वा अच्छ**=आपका लक्ष्य करके **आ वच्यते**=उच्चारित होती है। मैं आपके स्तोत्रों का अर्थभावन के साथ जप करता हूँ और परिणामतः हृदयस्थ आपसे ज्ञान प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु स्तोता को वह धन प्राप्त कराते हैं जो ज्ञानयुक्त व प्रीणित करनेवाला होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—बर्हिः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

प्रभु-स्वागत की तैयारी

स्तृ॒णा॒नासो॑ य॒तस्रु॑चो ब॒र्हिर्य॒ज्ञे स्व॑ध्व॒रे।
वृ॒ञ्जे दे॒वव्य॑चस्तम॒मिन्द्रा॑य॒ शर्म॑ स॒प्रथः॑॥ ५॥

१. **यतस्त्रुचः**=यज्ञों में आहुति के लिए उठाये हुए चम्मचवाले, यज्ञशील पुरुष **स्वध्वरे**=उत्तम हिंसाशून्य **यज्ञे**=जीवनयज्ञ में **बर्हिः स्तृणानासः**=वासनाशून्य हृदय को प्रभु के लिए आसनरूप से बिछाते हुए **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिए **देवव्यचस्तमम्**=दिव्य गुणों के अधिक-से-अधिक विस्तारवाले, **सप्रथः**=शक्तियों के विस्तार से युक्त **शर्म**=शरीररूप गृह को **वृञ्जे**=(सम्पादयन्ति—सा०) सिद्ध करते हैं। २. प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) यज्ञशील बनें, (ख) हृदय को वासना-शून्य बनाएँ, (ग) दिव्यगुणों का अपने में विस्तार करें, (घ) शक्तियों को बढ़ाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु को बिठाने के लिए वासनाशून्य हृदयरूप आसन को बिछाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—देव्यो द्वारः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

इन्द्रिय-द्वार

वि श्र॑यन्तामृता॒वृधः॑ प्र॒यै दे॒वेभ्यो॑ म॒हीः।
पा॒व॒कासः॑ पुरु॒स्पृहो॒ द्वारो॑ दे॒वीर॑स॒श्चतः॑॥ ६॥

१. हमारे इस शरीर-मन्दिर में **देवीः द्वारः**=दिव्यगुणोंवाले व सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाले इन्द्रिय-द्वार **विश्रयन्ताम्**=विशेषरूप से आश्रय करनेवाले हों। ये द्वार **देवेभ्यः प्रयै**=देवों के प्रकृष्ट प्रापण के लिए हों। इन द्वारों से हममें देवों का प्रवेश हो, दिव्यगुणों की वृद्धि हो। **ऋतावृधः**=ये द्वार हमारे जीवन में ऋत का वर्धन करनेवाले हों। इनसे हम यज्ञादि (ऋत=यज्ञ) उत्तम कर्मों को सिद्ध करें। **महीः**=(मह पूजायाम्) ये प्रभु का पूजन करनेवाले हों। ये द्वार **पावकासः**=हमारे जीवनों की पवित्रता का कारण बनें, **पुरुस्पृहः**=अपने सौन्दर्य के

कारण अत्यन्त स्पृहणीय हों, **असश्चतः**=(not defeated or overcome) ये विषयों से पराभूत न हों। हमारी इन्द्रियाँ विषयों से अनाक्रान्त बनी रहें।

भावार्थ—हमारे इन्द्रिय-द्वार 'ऋत', दिव्यता व प्रभुपूजा को हममें प्रविष्ट करानेवाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—उषासानक्ता। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

दिन-रात

आ भन्दमाने उपाके नक्तोषासा सुपेशसा।
यह्वी ऋतस्य मातरा सीदतां बर्हिरा सुमत्॥ ७॥

१. **नक्तोषासा**=रात और दिन **सुमत्**=स्वयमेव **बर्हिः**=हमारे हृदयों में **आसीदताम्**=आसीन हों। कैसे रात्रि और दिन? (क) **भन्दमाने**=कल्याण व सुख प्राप्त करनेवाले, (ख) **उपाके**=(उप+अञ्जू) प्रभु के समीप गति करनेवाले, अर्थात् प्रभु की उपासनावाले, (ग) **सुपेशसा**=सदा उत्तम कर्मों का निर्माण करनेवाले, (घ) **यह्वी**=महान् अथवा (यातश्च हूतश्च) प्रभु की ओर जाने व उसे पुकारनेवाले, (ङ) **ऋतस्य मातरा**=यज्ञ व सत्य का निर्माण करनेवाले। २. हमारे हृदयों में सदा यह भावना हो कि ये दिन-रात कल्याण करनेवाले, प्रभु की उपासनवाले, उत्तम कार्यों को करनेवाले, महत्त्वपूर्ण व यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हों। ये स्वयं ही ऐसे हों (सुमत्), अर्थात् ऐसे दिन हमारे लिए स्वाभाविक हो जाएँ। हम स्वभावतः ऐसे दिनों को बितानेवाले हों।

भावार्थ—हमारे दिन-रात कल्याणकारक कार्यों को करनेवाले व प्रभुपूजन की भावनावाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—दैव्यौ होतारौ। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

दैव्य होतारा (प्राणापान)

मन्द्रजिह्वा जुगुर्वणी होतारा दैव्या कवी। यज्ञं नो यक्षतामिमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्॥ ८॥

१. इस शरीर में प्राणापान दैव्य होता है। आँख आदि इन्द्रियाँ होता है, परन्तु ये आँख आदि सब होता सो जाते हैं, किन्तु जीवनयज्ञ की रक्षा के लिए प्राणापान सदा जागते रहते हैं। ये प्राणापान ही अन्ततः प्रभु-उपासन का साधन बनते हैं। ये प्राणापान **मन्द्रजिह्वा**=आनन्दप्रद (pleasing) व प्रशंसनीय (praise-worthy) जिह्वावाले हों, अर्थात् प्राणापान की साधना से हम वाणी से सदा शुभ शब्दों को ही बोलनेवाले हों। **जुगुर्वणी**=ये प्राणापान प्रभु का गायन व उपासन करनेवाले हों (वन्=उपासन), **दैव्या होतारा**=इस जीवनयज्ञ के ये दिव्य होता हों—कभी न थकनेवाले तथा उस देव तक पहुँचानेवाले। **कवी**=ये क्रान्तदर्शी हों। इनकी साधना हमें इस प्रकार तीव्र बुद्धिवाला बनाए कि हम तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर सकें। २. ये प्राणापान **अद्य**=आज **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **यक्षताम्**=सिद्ध करें जोकि **सिध्रम्**=फल-साधनभूत हो, अर्थात् सफल हो, 'व्यर्थ ही रहा'—ऐसा प्रतीत न हो तथा **दिविस्पृशम्**=ज्योतिस्वरूप प्रभु में हमारा स्पर्श करानेवाला हो। प्राणापान के द्वारा हम इस जीवन को यज्ञात्मक बनाते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणापान इस जीवनयज्ञ के दिव्य होता हैं। ये इस जीवन को सफल करते हैं तथा हमें प्रभुप्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सरस्वतीळाभारत्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

'भारती, इळा, सरस्वती, मही'

शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।
इळा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः॥ ९॥

१. **शुचिः**=शुद्ध, **देवेषु अर्पिता**=सृष्टि के आरम्भ में 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' नामक देवताओं में स्थापित की गई **होत्रा**=यह वेदवाणी **मरुत्सु**=प्राणसाधक पुरुषों में **भारती**=भरण करनेवाली होती है। वेदवाणी में किसी प्रकार की ग़लती न होने से वह शुद्ध है। प्रभु इसे अग्नि आदि को प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना करनेवाले पुरुष इसके द्वारा पोषित होते हैं। २. ऋग्वेद में इस वाणी का नाम (क) 'भारती' है, क्योंकि यह प्रकृति का ज्ञान देती हुई उचित प्रकार से हमारा भरण करती है, (ख) यही वाणी यजुर्वेद में 'इळा' कहलाती है (इळा=food, the earth) यजुर्वेद में प्रतिपादित यज्ञों के द्वारा यह पृथिवी में अन्नोत्पत्ति का कारण बनती है, (ग) सामवेद में यह 'सरस्वती' है। ब्रह्मा की पत्नी के रूप में यह हमें ब्रह्म का ज्ञान देनेवाली होकर ब्रह्म की ओर ले-चलती है,—(घ) अथर्ववेद में यह वाणी 'मही' हो जाती है—रोगों व युद्धों से बचाकर यह हमारी उन्नति का कारण बनती है (मह=to grow, increase)। ३. 'भारती, इळा, सरस्वती, मही'—ये सब वाणियाँ **यज्ञियाः**=संगतिकरण योग्य हैं। ये **बर्हिः सीदन्तु**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में निवास करें। इस वेदवाणी के लिए हमारे हृदय में आदर का भाव हो। इसके अध्ययन को हम पवित्र कार्य समझते हुए प्रतिदिन करनेवाले बनें। इसके अध्ययन में हम कभी प्रमाद न करें। अवकाश में इसका अध्ययन और भी अधिक पुण्यमय समझा जाए।

भावार्थ—हम वेदवाणी को अपनाते हुए अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—त्वष्टा। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

त्वष्टा से याचना

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना।
त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभा नो अस्मयुः॥ १०॥

१. **अस्मयुः**=सदा हमारा हित चाहनेवाला **त्वष्टा**=संसार का निर्माता प्रभु **नः नाभा**=हमारे यज्ञों में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **नः**=हमारे **पोषाय**=पोषण के लिए तथा **राये**=ऐश्वर्य के लिए **त्मना**=स्वयं **तत् विष्यतु**=(वियुञ्जतु) विशेषरूप से उस धन को प्राप्त कराये जोकि (क) **तुरीपम्**=(त्वरया पाति) शीघ्रता से हमारा रक्षण करनेवाला है, (ख) **अद्भुतम्**=महान् है अथवा अभूतपूर्व है, किसी भी प्रकार हमारे पतन का कारण न होने से अद्भुत है, (ग) **पुरुवारम्**=(पुरु वा अरम्) पालन करनेवाला और पर्याप्त है अथवा (पुरु वारम्) बहुतों से वरणीय है, चाहने योग्य है, तथा (घ) **पुरु**=पालन व पूरण करनेवाला है। २. हम यज्ञशील बनें। इन यज्ञों के होने पर प्रभु हमें उत्तम धनों को प्राप्त कराएँ। यह धन हमारा रक्षण करनेवाला हो, पतन का कारण न होने से अद्भुत हो, बहुतों से वरणीय हो तथा पालन व पूरण करनेवाला हो।

भावार्थ—त्वष्टा प्रभु हमें यज्ञशीलता के साथ धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—वनस्पतिः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

देवत्व व मेधा की प्राप्ति

अवसृजन्नुप त्मना देवान्यक्षि वनस्पते।
अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरः॥ ११॥

१. हे **वनस्पते**=(वनस्=loveliness, glory) सौन्दर्य व यश के स्वामिन् प्रभो! आप **त्मना**=स्वयं **अवसृजन्**=सब अवगुणों को हमसे दूर करते हुए **देवान् उपयक्षि**=दिव्यगुणों को हमारे साथ संगत कीजिए। आप ही बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. **अग्निः**=अग्रणी प्रभु ही **हव्या**=दानपूर्वक अदन की वृत्तियों को **सुषूदति**=(प्रेरयति) हममें प्रेरित करते हैं। **देवः**=वे प्रभु दिव्यगुणों के पुञ्ज व प्रकाशमय हैं, **देवेषु मेधिराः**=देववृत्ति के व्यक्तियों में मेधा देनेवाले हैं। ३. प्रभु (क) सर्वप्रथम हमसे बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को हमारे साथ जोड़ते हैं, (ख) हममें हव्यों को प्रेरित करते हैं, हमें दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनाते हैं, (ग) इस प्रकार हमें देव बनाकर मेधासम्पन्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें बुराइयों से बचाते हैं, हव्यसेवन की वृत्तिवाला बनाते हैं और हमें मेधासम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—स्वाहाकृतिः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

स्वाहा व हव्य

पूषण्वते मरुत्वते विश्वदेवाय वायवे।
स्वाहा गायत्रवेपसे हव्यमिन्द्राय कर्तन॥ १२॥

१. **पूषण्वते**=प्राणिमात्र का पोषण करनेवाले, **मरुत्वते**=मरुतों व प्राणोंवाले—प्राणशक्ति का संचार करनेवाले, **विश्वदेवाय**=सब दिव्यगुणोंवाले, **वायवे**=गतिशील, **गायत्रवेपसे**=(गायत्र=छन्द का एक प्रकार, a hymn) स्तोत्रों के द्वारा कामादि शत्रुओं को कम्पित करनेवाले, **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **स्वाहा**=स्वार्थत्याग को तथा **हव्यम्**=दानपूर्वक अदन को **कर्तन**=करो। २. वस्तुतः स्वार्थत्याग करने तथा दानपूर्वक अदन की वृत्ति को अपनाने पर प्रभु हमारा पोषण करते हैं, हमें प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं, दिव्यगुणों से युक्त करते हैं, हमें गतिशील बनाते हैं और उस समय हम स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए वासनारूप शत्रुओं को अपने से दूर रखते हैं तथा वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—स्वार्थत्याग व दानपूर्वक अदन ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

प्रभुप्राप्ति व त्यागमय जीवन

स्वाहाकृतान्या गह्युप हव्यानि वीतये।
इन्द्रा गहि श्रुधी हवं त्वां हवन्ते अध्वरे॥ १३॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **स्वाहाकृतानि**=स्वार्थत्याग के कार्यों को **आगहि**=तू ग्रहण करनेवाला हो। तेरे कर्म स्वार्थ की भावना से पूर्ण न हों। तू **हव्यानि उप** (आगहि)=हव्य पदार्थों को ही स्वीकार करनेवाला हो। यज्ञ करके यज्ञशेष को ही खानेवाला बन। यह यज्ञशेष का सेवन **वीतये**=तेरे अज्ञानान्धकार को नष्ट करने के लिए होगा। २. प्रभु की प्रेरणा को सुनकर जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आ गहि**=आप आइए, **हवं श्रुधी**=मेरी पुकार को सुनिए, **अध्वरे**=इस अहिंसात्मक यज्ञ में **त्वां हवन्ते**=हम आपको ही पुकारते हैं। वस्तुतः आपकी प्रेरणा व शक्ति से ही मैं स्वाहाकृतों व हव्यों को अपने जीवन में धारण कर सकूँगा, क्योंकि त्याग उतने अंश में ही सम्भव होता है जितना कि हम आपके (प्रभु के) समीप होते हैं, अतः आप हमें प्राप्त होओ ताकि हम त्यागमय जीवन बिता सकें।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति व प्रभु की उपासना से ही मैं त्यागमय जीवन बिता पाता हूँ। 'त्याग

से प्रभुप्राप्ति व प्रभुप्राप्ति से त्याग' इस प्रकार इनका परस्पर भावन चलता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा था कि—'प्रभु को हृदय में दीप्त करनेवाला यज्ञशील पुरुष उत्तम गुणों को प्राप्त करता है (१)। समाप्ति पर भी यही भाव है कि प्रभु-उपासना ही हमें त्यागमय जीवनवाला बनाएगा (१३)। अगले सूक्त का आरम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि हम प्रभु का ही ध्यान करते हैं—

[१४३] त्रिचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

धीति, मति

प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे।
अपां नपाद् यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः॥ १॥

१. मैं **अग्नये**=प्रभु की प्राप्ति के लिए **तव्यसीम्**=वृद्धि की कारणभूत (अतिशयेन वर्धयित्रीम्—सा०) **नव्यसीम्**=स्तुति के योग्य **धीतिम्**=यागात्मक क्रिया को **प्रभरे**=प्रकर्षेण सम्पादित करता हूँ। उस **सहसः सूनवे**=शक्ति के पुत्र—शक्ति के पुञ्ज=पुतले प्रभु के लिए **वाचः मतिम्**=वाणी द्वारा विचारपूर्वक किये जानेवाले स्तवन को (**प्रभरे**)=धारण करता हूँ। इन यज्ञादि कर्मों व स्तवनों से मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए यत्नशील होता हूँ। मैं उस प्रभु के लिए 'धीति व मति' का सम्पादन करता हूँ **यः**=जो **अपां नपात्**=प्रजाओं के अपतन का कारण हैं, जिनकी उपासना से हमारा जीवन उच्च बना रहा है अथवा जो वासना-विनाश के द्वारा रेतःकणों के अपतन का कारण होते हैं। **वसुभिः सह**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों के साथ **प्रियः**=जो हमारे प्रीणयिता=तृप्ति के हेतु होते हैं। रेतःकणों का रक्षण वस्तुतः वसुओं की प्राप्ति व तृप्ति के अनुभव का हेतु बनता है। **होता**=देनेवाले हैं। वे प्रभु हमसे दूर न होकर **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में ही **न्यसीदत्**=निश्चय से स्थित हैं, हमारे हृदयाकाश में वे उपस्थित हैं, **ऋत्वियः**=सब समय उपासनीय हैं। दुःख में तो सभी उनका स्मरण करते हैं, सज्जनों से वे प्रभु सुख में भी उपास्य होते हैं।

भावार्थ—यज्ञादि कर्म व विचारपूर्वक स्तवन हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें सब वसुओं को देकर प्रीणित करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

पवित्रता व प्रकाश

स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार धीति व मति के—यज्ञादि कर्मों व स्तवन के करने पर **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए **मातरिश्वने**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष के लिए अथवा (मातरिश्वा=फलस्य निर्मातरि यज्ञे श्वसिति यजमानः—सा०) यज्ञशील पुरुष के लिए **परमे व्योमनि**=हृदयरूप परमाकाश में **आविः अभवत्**=प्रकट होते हैं। यह मातरिश्वा अपने हृदय में प्रभु का साक्षात् करता है। २. **समिधानस्य**=दीप्त होते हुए **अस्य**=इस प्रभु के **क्रत्वा**=(Enlightenment) प्रकाश से तथा **मज्मना**=(बलनाम—नि०) शक्ति से उत्पन्न हुई-हुई **शोचिः**=पवित्रता व प्रकाश **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर को **प्र अरोचयत्**=खूब ही

दीप्त कर देते हैं। मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाश से चमक उठता है और शरीर पवित्र होकर स्वस्थ हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का आविर्भाव हमारे मस्तिष्क व शरीर को दीप्त करनेवाला होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

स्वास्थ्य व ज्ञान की दीप्ति

अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः।
भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः॥ ३॥

१. **अस्य**=हृदयाकाश में प्रादुर्भूत होते हुए इस प्रभु की **त्वेषाः**=दीप्तियाँ **अजरा**=न जीर्ण होनेवाली हैं। प्रभु हृदयस्थ होते हैं तो हमारा शरीर स्वास्थ्य की दीप्ति से चमक उठता है। **अस्य भानवः**=इस प्रभु की ज्ञान-दीप्तियाँ **सुसन्दृशः**=प्रत्येक पदार्थ को उत्तमता से ठीक रूप में देखनेवाली होती हैं। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा से हम प्रत्येक पदार्थ को ठीक रूप में देखते हैं। २. **सुप्रतीकस्य**=उस तेजस्वी **सुद्युतः**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाले **अग्नेः**=प्रभु की **भात्वक्षसः**=भासमान शक्तियाँ (त्वक्ष इति बलनामसु—नि०) **अत्यक्तुः न**=(अक्तुः=नैशं तमः) रात्रि के अन्धकार को लाँघती हुई-सी **सिन्धवः**=(स्यन्दन्ते) चारों ओर बहनेवाली **अससन्तः**=न सोनेवाली, निरन्तर अपने कार्य को करनेवाली, **अजराः**=जीर्ण न होनेवाली **रेजन्ते**=सर्वत्र व्याप्त होती हैं। प्रभु के उपासन से जीव भासमान शक्तियों को प्राप्त करता है और 'सुप्रतीक व सुद्युत' हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक स्वास्थ्य व ज्ञान की दीप्ति प्राप्त करता है।

ऋषिः—दीर्घतमः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

भृगुओं का प्रभु-दर्शन

यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति॥ ४॥

१. **भृगवः**=(भ्रस्ज् पाके) तप व ज्ञान की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले उपासक **यं विश्ववेदसम्**=जिस सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाले प्रभु को **पृथिव्याः नाभा**=इस शरीररूप प्रभु के केन्द्र, अर्थात् हृदय-देश में **एरिरे**=प्रेरित करते हैं, अर्थात् हृदय-देश में उसकी गति को अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं, **तम् अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **भुवनस्य मज्मना**=सम्पूर्ण भुवन के बल के हेतु से, अर्थात् शक्ति प्राप्ति के उद्देश्य से **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा **स्वे दमे**=अपने शरीररूप गृह में **आहिनुहि**=प्राप्त करने के लिए सर्वथा यत्नशील हो। हम जितना-जितना प्रभु को अपने अन्दर अनुभव करेंगे उतना-उतना ही शक्तियों को प्राप्त होनेवाले होंगे। २. उस प्रभु को तू प्राप्त करने का प्रयत्न कर **यः**=जो **एकः**=अकेले ही **वरुणः न**=सब कष्टों का निवारण करनेवाले के समान होते हुए **वस्वः राजति**=सब वसुओं का आधिपत्य करते हैं। सब वसुओं के स्वामी होने से वे हमारे सब कष्टों का निवारण करते हैं।

भावार्थ—तपस्या व ज्ञान की परिपक्वता से प्रभु का साक्षात् होता है। वे प्रभु सब वसुओं के अधिपति होते हुए हमारे सब कष्टों का निवारण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराड्जगती। स्वरः—निषादः।

अदम्य शक्तिवाले प्रभु

न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।
अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते॥५॥

१. **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **वराय न**=निवारण के लिए नहीं होते, अर्थात् जिन्हें रोकना सम्भव नहीं होता, प्रभु को उसके कार्यों में कोई शक्ति रोक नहीं सकती। वे प्रभु उसी प्रकार निवारण के लिए नहीं होते **इव**=जैसे कि **मरुतां स्वनः**=प्रचण्ड वेग से बहती हुई वायुओं का शब्द अथवा **इव**=जैसे कि **सृष्टा**=आगे बढ़ने (Marching) के लिए आज्ञा की हुई **सेना**=सेना अथवा **यथा**=जैसे **दिव्या**=अन्तरिक्ष लोक से गिरनेवाली **अशनिः**=विद्युत्। जैसे वायु के शब्द को, आगे बढ़ती हुई सेना को अथवा आकाश से गिरती हुई विद्युत् को कोई रोक नहीं सकता, उसी प्रकार उस अग्रणी प्रभु को भी किसी के लिए रोकना सम्भव नहीं। २. वह अग्निः=अग्रणी प्रभु **तिगतैः जम्भैः**=अपने तीव्र दंष्ट्रों से—नाशक शक्तियों से **अत्ति**=हमारी सब वासनाओं को खा जाते हैं, **भर्वति**=आसुर वृत्तियों को हिंसित कर देते हैं। उसी प्रकार हिंसित कर देते हैं **न**=जैसे कि **योधः**=एक योद्धा **शत्रून्**=अपने शत्रुओं को समाप्त कर देता है। ३. इस प्रकार हमारे वासनारूप शत्रुओं को शीर्ण करके **सः**=वे प्रभु **वना**=(वन सम्भजने) अपने उपासकों को **न्यृञ्जते**=नितरां प्रसाधित व अलंकृत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्तियाँ अदम्य हैं। वे हमारे वासनारूप शत्रुओं को समाप्त करके हमारे जीवनों को अलंकृत करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

बुद्धिप्रदाता प्रभु

कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद्वसुष्कुविद्वसुभिः काममावरत्।
चोदः कुवित्तुतुज्यात्सातये धियः शुचिप्रतीकं तमया धिया गृणे॥६॥

१. वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **नः उचथस्य**=हमसे उच्चारित होनेवाले स्तोत्र की **कुवित्**=खूब ही **वीः**=कामना करनेवाले **असत्**=हों। हमारे द्वारा किये गये स्तोत्र प्रभु को प्रिय हों। २. **वसुः**=वे सबको निवास देनेवाले प्रभु **कुवित्**=खूब ही **वसुभिः**=वसुओं के द्वारा—आवश्यक धनों के द्वारा **कामम् आवरत्**=हमारी कामना को आच्छादित कर दें, अर्थात् कामना से अधिक ही धन-धान्य प्राप्त करानेवाले हों। ३. **चोदः**=सदा धर्म की प्रेरणा देनेवाले वे प्रभु **धियः सातये**=बुद्धियों की प्राप्ति के लिए **कुवित् तुतुज्यात्**=खूब ही प्रेरणा दें। प्रभु की प्रेरणा से हमें सदा सद्बुद्धि प्राप्त हो। ४. **तं शुचिप्रतीकम्**=उस दीप्त रूपवाले (दीप्त अङ्गोंवाले) प्रभु को **अया धिया**=इस बुद्धि से **गृणे**=मैं स्तुत करता हूँ। बुद्धि के द्वारा प्रभु का स्तवन करता हूँ, अर्थभावनपूर्वक प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता हूँ।

भावार्थ—मेरे स्तोत्र प्रभु को प्रिय हों। प्रभु मुझे वसु प्राप्त कराएँ, हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दें। हम बुद्धि से प्रभु का स्तवन करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

यज्ञनिर्वाहक प्रभु

घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदमग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते।
इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम्॥७॥

१. **घृतप्रतीकम्**=उस दीप्त अङ्गोंवाले व तेजस्वी रूपवाले **वः**=तुम्हारे **ऋतस्य**=यज्ञों के **धूर्षदम्**=(धुरि निर्वहणे सीदन्तम्—सा०) निर्वाहक—सब यज्ञों के सिद्ध करनेवाले **मित्रं न**=मित्र के समान **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **समिधानः**=ध्यान के द्वारा अपने हृदय में दीप्त करता हुआ पुरुष **ऋञ्जते**=अपने जीवन को अलंकृत करता है। प्रभु को अपने में दीप्त करने से यह उपासक भी तेजस्वी रूपवाला व यज्ञशील बनता है। २. **इन्धानः**=वह ज्ञान-ज्योति से देदीप्यमान **अक्रः**=अन्यों से कभी आक्रान्त न हुआ-हुआ **विदथेषु दीद्यत्**=ज्ञान-यज्ञों में दीप्त होता हुआ प्रभु **नः**=हमारी **शुक्रवर्णां धियम्**=दीप्तरूपवाली बुद्धि को **उ**=निश्चय से **उत् यंसते**=खूब चमकाता है। जब ज्ञानयज्ञों में हम प्रभु का अर्चन करते हैं तब वे प्रभु हमारी बुद्धियों को दीप्त करते हैं। हम भी प्रभु के समान अक्रः=वासनाओं से अनाक्रान्त होते हैं।

भावार्थ—उपासित प्रभु हमारी बुद्धियों को खूब ही चमकाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अप्रमत्त 'रक्षक'

अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः।
अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टेऽनिमिषद्भिः परि पाहि नो जाः॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अप्रयुच्छन्**=किसी भी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **अप्रयुच्छद्भिः**=प्रमादशून्य **शिवेभिः**=कल्याणकर **शग्मैः**=सुखप्रद **पायुभिः**=रक्षणों से **नः**=हमें **पाहि**=बचाइए। आपका रक्षण हमें सदा प्राप्त हो। ये रक्षण हमें कल्याण व सुख देनेवाले हों। २. हे प्रभो! **इष्टे**=यज्ञों के होने पर आप **अदब्धेभिः**=अहिंसित, **अदृपितेभिः**=किसी भी दूसरे से अपरिभूत **अनिमिषद्भिः**=निमेषशून्य—आलस्य-रहित, सदा जागरित रक्षणों से **नः**=हमारी **जाः**=(प्रजाः) प्रजाओं को **परिपाहि**=सर्वतः रक्षित कीजिए। हम यज्ञशील हों और हमारी प्रजाएँ प्रभु से रक्षणीय हों। प्रभु के रक्षण अहिंसित व किसी से भी पराभव के योग्य नहीं होते।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें और प्रभु के रक्षणों के पात्र हों।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि हम प्रभु का स्तवन करें, प्रभु हमें वसु देकर प्रीणित करते हैं (१)। समाप्ति पर भी यही कहा है कि हम यज्ञशील बनें और प्रभु-रक्षण के पात्र हों (८)। अगले सूक्त का प्रारम्भ भी इस अग्नि के स्तवन से ही होता है—

[१४४] चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

बुद्धि व यज्ञों का सम्पादन

एति प्र होता व्रतमस्य माययोर्ध्वां दधानः शुचिपेशसं धियम्।
अभि स्रुचः क्रमते दक्षिणावृतो या अस्य धाम प्रथमं ह निंसते॥ १॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **मायया**=ज्ञान के द्वारा (माया प्रज्ञानाम—नि० ३।९) **अस्य व्रतम्**=प्रभु के व्रत को **प्र एति**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है, प्रभु-प्राप्ति के व्रत को धारण करता है। ज्ञान ही तो वासना-संहार के द्वारा इसे प्रभु की ओर ले-जानेवाला है। २. यह होता **शुचिपेशसम्**=शुचिता का निर्माण करनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **ऊर्ध्वां दधानः**=सर्वोपरि धारण करता है। यह अपने जीवन में उस बुद्धि को सबसे अधिक महत्त्व देता है जो जीवन की पवित्रता का साधन बनती है। ३. **दक्षिणावृतः**=सदा दक्षिण मार्ग से चलनेवाला (दक्षिणया

वर्तते, वृत्+क) सरल व उदार मार्ग से चलनेवाला **स्रुचः**=यज्ञ के चम्मचों को **अभिक्रमते**=दिन के दोनों ओर—प्रातः-सायं ग्रहण करता है। उन चम्मचों को **याः**=जो **ह**=निश्चय से **अस्य प्रथमं धाम**=इसके प्रथम स्थान को **निंसते**=(चुम्बन्ति, भजन्ते) सेवित करते हैं, अर्थात् यह इन यज्ञों को प्राथमिक कर्तव्य समझता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के व्रत को धारण करनेवाला व्यक्ति बुद्धि के उत्कर्ष को प्राप्त करता है और यज्ञों को अपना प्रथम कर्तव्य समझता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

हृदय में स्थिर होना

अभीमृतस्य दोहना अनूषत योनौ देवस्य सदने परीवृताः।
अपामुपस्थे विभृतो यदावसदध स्वधा अधयद्याभिरीयते॥ २॥

१. **ऋतस्य दोहना**=यज्ञ व सत्य को अपने में पूर्ण करनेवाले (दुह+ल्यु) लोग **ईम्**=निश्चय से **अभि अनूषत**=प्रातः-सायं प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु-स्तवन से ही उनकी वृत्ति यज्ञिय बनती है और वे सत्य का पालन कर पाते हैं। २. ये उपासक **योनौ**=प्रभु के प्रकाशित होने के स्थान हृदय में **देवस्य सदने**=उस देव के गृहरूप हृदय में **परीवृताः**=चारों ओर से आच्छादित होते हैं, अर्थात् अपनी चित्तवृत्ति को इधर-उधर भटकने से रोककर हृदय में ही स्थापित करते हैं। ३. इस चित्तवृत्ति को विषयों में जाने से रोकने के लिए ही **अपाम्**=कर्मों की **उपस्थे**=गोद में **विभृतः**=विशेषरूप से धारण किया हुआ **यदा अवसत्**=जब रहता है **अध**=तो **स्वधाः**=आत्मधारणात्मक शक्तियों को **अधयत्**=पीनेवाला होता है। ये स्वधाएँ ही वे शक्तियाँ हैं **याभिः**=जिनसे **ईयते**=वह इस संसार में ठीक से गति करता है और अन्त में प्रभु को प्राप्त होनेवाला होता है। कर्मों में लगे रहने से मन वासना की ओर नहीं जाता, आत्मधारण की शक्ति प्राप्त होती है और इन शक्तियों से गतिमय होते हुए हम उस प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—ऋत का दोहन करनेवाले चित्तवृत्ति को हृदय में निरुद्ध करते हैं और सदा क्रियाशील होते हुए आत्मधारण की शक्तियों से युक्त होकर प्रभु की ओर बढ़ते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सारथि प्रभु

युयूषतः सवयसा तदिद्वपुः समानमर्थं वितरित्रता मिथः।
आदीं भगो न हव्यः समस्मदा वोळ्हुर्न रश्मीन्त्समयंस्त सारथिः॥ ३॥

१. **सवयसा**=समानरूप से वयस्क हुए-हुए, अर्थात् १८ व २५ वर्ष के आयुष्य को प्राप्त हुए-हुए युवति व युवक **मिथः**=परस्पर मिलकर **समानम् अर्थम्**=एक ही प्रयोजन को **वितरित्रता**=तैरने की कामनावाले—पूर्ण करने के इच्छुक **इत्**=निश्चय से **तत् वपुः**=प्रभु से दिये हुए शरीरों को **युयूषतः**=मिलाने की इच्छा करते हैं—दो न रहकर एक हो जाते हैं। पति-पत्नी परस्पर मिलकर—एक ही बनकर गृहस्थ को सफल बना पाते हैं। २. **आत्**=अब अर्थात् परस्पर एक होकर गृहस्थ को सफल बनाने पर ही **ईम्**=निश्चय से **भगः न**=उपास्य के समान वे प्रभु **हव्यः**=पुकारने के योग्य होते हैं। हम प्रभु की प्रार्थना करते हैं तो वे **अस्मत्**=(अस्माकम्—सा०) हमारे **रश्मीन्**=शरीर रथ की लगामों को उसीप्रकार **समयंस्त**=संयत करते हैं, सँभालते हैं **न**=जैसे **वोळ्हुः**=वाहक घोड़ों की **रश्मीन्**=रश्मियों (लगाम) को **सारथिः**=सारथि वश में करता है। जब प्रभु हमारे शरीर-रथ के सञ्चालक होते हैं तब भटकने का भय नहीं रहता।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर प्रेम से चलते हैं और पुरुषार्थी बनकर प्रभु को पुकारते हैं तो प्रभु उनके शरीर-रथ के सारथि बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्रभुरूप समान गृह में

यमीं द्वा सवयसा सपर्यतः समाने योना मिथुना समोकसा।
दिवा न नक्तं पलितो युवाजनि पुरू चरन्नजरो मानुषा युगा॥४॥

१. **द्वा**=गतमन्त्र में वर्णित दोनों पति-पत्नी **सवयसा**=समानरूप से आयुष्य को प्राप्त किये हुए होकर **यम्**=जिस परमात्मा को **ईम्**=निश्चय से **सपर्यतः**=पूजित करते हैं और **समाने योना**=उस समान उत्पत्तिस्थान प्रभु में **मिथुना**=मिलकर निवास करनेवाले **समोकसा**=समान गृहवाले होते हैं। वह प्रभु **दिवा न नक्तम्**=न दिन में न रात्रि में **पलितः**=बुढ़ापे की सफेदीवाला होता है, अर्थात् दिन-रात बीतते हुए उसे वृद्ध नहीं कर देते, **युवा अजनि**=वह सदा युवा बना रहता है। २. **मानुषा युगा**=अपने उपासक इन मानव-युगलों में—पति-पत्नियों की जोड़ियों में (द्वन्द्वों में) **पुरुचरन्**=खूब गति करता हुआ वह **अजरः**=सदा अ-जीर्ण बना रहता है। मानवहित के लिए प्रभु की सब क्रियाएँ हैं। प्रभु को अपने लिए कुछ नहीं करना। यही उसकी अजीर्णता का रहस्य है।

भावार्थ—पति-पत्नी मिलकर प्रभु का उपासन करते हैं तो वे एक प्रभु में निवास का अनुभव करने से परस्पर अधिक समीप होते हैं। वे प्रभु की भाँति परार्थ में प्रवृत्त होकर अजर बनने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

ध्यान से ज्ञान-रश्मियों की प्राप्ति

तमीं हिन्वन्ति धीतयो दश व्रिशो देवं मर्तास ऊतये हवामहे।
धनोरधि प्रवत आ स ऋण्वत्यभिव्रजद्भिर्वयुना नवाधित॥५॥

१. **दश**=दसों दिशाओं में रहनेवाली **धीतयः**=ध्यानशील **व्रिशः**=(वशः—द०) प्रजाएँ **ईम्**=निश्चय से **तं हिन्वन्ति**=प्रभु को अपने हृदय में प्रेरित करती हैं। **मर्तासः**=हम मरणधर्मा पुरुष भी **ऊतये**=रक्षा के लिए **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। आपत्ति आने पर प्रभु की ओर झुकाव होता ही है। ध्यानशील लोग सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। २. **सः**=ध्यान किये गये वे प्रभु **धनोः अधि**=धनुष पर से **प्रवतः**=प्रकर्षेण जाते हुए बाणों की भाँति—प्रकृष्ट वेगवाली रश्मियों को **आऋण्वति**=समन्तात् प्रेरित करते हैं और **अभिव्रजद्भिः**=ऐहिक व आमुष्मिक ज्ञेय पदार्थों को प्राप्त कराती हुई इन रश्मियों से **नवा**=नवीन व स्तुत्य **वयुना**=प्रज्ञानों को **अधित**=धारण करते हैं। इन प्रज्ञानों को प्राप्त करके हम संसार में ठीक मार्ग से चलते हुए कष्टों से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान करने पर वे ज्ञानरश्मियाँ प्राप्त होती हैं, जो हमें कष्टों से ऊपर उठानेवाली होती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दिव्य व पार्थिव सम्पत्ति

त्वं ह्यग्ने दिव्यस्य राजसि त्वं पार्थिवस्य पशुपाइव त्मना।
एनी त एते बृहती अभिश्रिया हिरण्ययी वक्वरी बर्हिराशाते॥६॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **दिव्यस्य**=द्युलोक-सम्बन्धी ऐश्वर्य के **राजसि**=स्वामी हैं, **त्वं पार्थिवस्य**=आप ही पृथिवी-सम्बन्धी ऐश्वर्य के भी स्वामी हैं। द्युलोक अध्यात्म में मस्तिष्क है, इसकी सम्पत्ति ज्ञान का प्रकाश है। अध्यात्म में पृथिवी शरीर है। इसकी सम्पत्ति दृढ़ता है। प्रभु ही हमें इन ज्ञान व दृढ़तारूप सम्पत्तियों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. हे प्रभो! आप **त्मना**=स्वयं ही **पशुपाः इव**=एक-एक पशुओं के रक्षक के समान हैं। आप इस कार्य में स्वयं ही प्रेरित हो रहे हैं। प्राणिमात्र का रक्षण आपका स्वभाव ही है। ३. **एते**=ये **ते**=आपके—आपसे दिये जानेवाले ज्ञान व दृढ़तारूप ऐश्वर्य **एनी**=शुभ्रवर्णवाले हैं, **बृहती**=हमारी वृद्धि के कारणभूत हैं, **अभिश्रिया**=शरीर व मस्तिष्क दोनों को श्री-सम्पन्न करनेवाले हैं, **हिरण्ययी**=ये हमारे लिए हितरमणीय हैं, हमारा हित करनेवाले व जीवन के सौन्दर्य को बढ़ानेवाले हैं, **वक्वरी**=ये हमारे जीवन को स्तुत्य व प्रशंसनीय बनानेवाले हैं। जो भी हमारे मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में दृढ़ता देखता है, वह इनकी प्रशंसा ही करता है। ये ज्ञान व दृढ़ता **बर्हिः**=हमारे जीवनयज्ञ को **आशाते**=व्याप्त कर रहे हैं। हमारा जीवन ज्ञान व दृढ़ता से सम्पन्न होता है।

भावार्थ—उपासित प्रभु हमारे मस्तिष्क को ज्ञान से द्योतित करते हैं और शरीर को दृढ़ता से युक्त करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

उपासना का लाभ

अग्ने॑ जु॒षस्व॒ प्रति॑ हर्य॒ तद्वचो॒ मन्द्र॒ स्वधा॑व॒ ऋत॑जात॒ सुक्र॑तो।
यो वि॒श्वतः॑ प्र॒त्यङ्ङसि॑ दर्श॒तो र॒ण्वः संदृ॑ष्टौ पितु॒माँ॑इव॒ क्षयः॑ ॥ ७ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तत् वचः**=हमारे उस स्तुतिवचन को **जुषस्व**=आप प्रीतिपूर्वक ग्रहण कीजिए, **प्रति हर्य**=यह स्तुतिवचन प्रतिदिन आपके लिए कान्त—इष्ट हो। ये स्तुतिवचन हमें आपका प्रिय बनानेवाले हों। **मन्द्र**=हे प्रभो! आप तो आनन्दमय स्वभाववाले हैं, **स्वधाव**=हमारी आत्माओं को (स्व) शुद्ध करनेवाले हैं (धाव), **ऋतजात**=(ऋतेन जातः) यज्ञ व सत्य के द्वारा प्रादुर्भूत होनेवाले हैं। हम यज्ञशील व सत्यनिष्ठ बनकर ही आपका दर्शन कर पाते हैं। **सुक्रतो**=आप उत्तमज्ञान व कर्मोंवाले हैं। हम भी आपका स्तवन करते हुए ऐसा ही बनने का प्रयत्न करते हैं। २. **यः**=जो आप **विश्वतः**=सब ओर **प्रत्यङ् असि**=सर्वाभिमुख हैं—सबके समक्ष हैं, सभी को प्राप्त होनेवाले हैं, **दर्शतः**=तेजस्विता व दीप्ति के कारण दर्शनीय हैं, **रण्वः**=रमणीय हैं अथवा अपने द्रष्टा को आनन्दित करनेवाले हैं, **सन्दृष्टौ**=सम्यक् दर्शन होने पर, अर्थात् यदि हम ठीक दृष्टिकोण से विचार करें तो आप **पितुमान्**=भरपूर अन्नवाले **क्षयः इव**=गृह की भाँति हैं, अर्थात् 'आपके उपासक को कभी खान-पान की कमी हो जाए'—ऐसा नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु का उपासक आनन्दमय (मन्द्र), शुद्ध (स्वभाव), सत्यनिष्ठ (ऋतजात), उत्तम प्रज्ञावाला (सुक्रतु) व सुन्दर जीवनवाला बनता है। इस उपासक को सांसारिक दृष्टिकोण से भी असफलता नहीं होती—यह भूखा नहीं मरता।

विशेष—सारा सूक्त 'प्रभु उपासन' की महिमा का वर्णन कर रहा है। अगला सूक्त भी उसी प्रभु की ओर चलने के लिए कहता है—

[१४५] पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—विराड्जगती । **स्वरः**—निषादः ।

'परम चिकित्सक' प्रभु

तं पृच्छता स जगामा स वेद स चिकित्वाँ ईयते सा न्वीयते।
तस्मिन्त्सन्ति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः ॥ १ ॥

१. **तं पृच्छत्**=उस प्रभु को जानने की इच्छा करो। उसी की चर्चा करो। **स जगाम**=वह सर्वत्र गया हुआ है, सर्वव्यापक है, इसलिए **सः वेद**=वह सब-कुछ जानता है। हमारे सब रोगों व कष्टों को भी प्रभु समझते हैं। **सः**=वे **चिकित्वान्**=उन रोगों की चिकित्सा करके हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले होते हुए (कित निवासे रोगापनयने च) **ईयते**=गति कर रहे हैं। **सा नु आ ईयते**=उस परम चिकित्सक प्रभु की चिकित्सा भी शीघ्रता से सर्वत्र गतिमय हो रही है, प्रभु द्वारा सर्वत्र चिकित्सा की जा रही है। २. हमारे रोगों को जानकर वे प्रभु निर्देश करते हैं कि 'इसके निवारण के लिए ऐसा करो और ऐसा न करो'। **तस्मिन्**=उस प्रभु में **प्रशिषः**=सब प्रशासन **सन्ति**=हैं। इन प्रशासनों का हम पालन करते हैं तो हमें सब इष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। **तस्मिन्**=उस प्रभु में सब **इष्टयः**=इष्ट वस्तुओं की प्राप्तियाँ विद्यमान हैं। **सः**=वे प्रभु **वाजस्य**=सब अन्नों के **शवसः**=गतियों के तथा **शुष्मिणः**=शत्रु-शोषक बलों के **पतिः**=स्वामी हैं। हम प्रभु के प्रशासन में चलेंगे तो हमें अन्न, गति के लिए शक्ति तथा काम-क्रोधादि के शोषण की शक्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—हम प्रभु को जानने की इच्छा करें, उसके प्रशासन में चलने का यत्न करें। हमें अन्न, गतिशक्ति व शत्रुशोषक शक्ति प्राप्त होगी, परिणामतः हमारे सब रोगों का निवारण हो जाएगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—निचृज्जगती । **स्वरः**—निषादः ।

धीर द्वारा प्रभु-दर्शन

तमित्पृच्छन्ति न सिमो वि पृच्छति स्वेनेव धीरो मनसा यदग्रभीत्।
न मृष्यते प्रथमं नापरं वचोऽस्य क्रत्वा सचते अप्रदृपितः ॥ २ ॥

१. सब लोग **तम् इत्**=उस महात्मा से ही **पृच्छन्ति**=सब-कुछ माँगते हैं (प्रच्छ=Ask) पर **सिमः**=यह सारा लोक **न वि पृच्छति**=उसे जानने की इच्छा नहीं करता (प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) **धीरः इव**=कोई धीर ही (इव=एवार्थे—सा०) **स्वेन मनसा**=अपने मन से, विषयों से व्यावृत्त, अन्तर्मुख मन के द्वारा **यत्**=जब **अग्रभीत्**=उस प्रभु का ग्रहण करता है(कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुः—उप०) तो **प्रथमं वचः**=प्रातःकाल के स्तुतिवचन को **न मृष्यते**=प्रमादवश उपेक्षित नहीं करता (मृष्=to forget, neglect), **न अपरम्**=न ही सायंकाल के स्तुतिवचन को उपेक्षित करता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रातः-सायं—दोनों समय ध्यान में प्रवृत्त होता है। २. इस प्रभु-प्राप्ति के लिए ही **अस्य क्रत्वा**=इस प्रभु-प्राप्ति के जप, तप, ध्यानादि कर्मों से **सचते**=समवेत होता है, अर्थात् जप, तपादि प्रभु-प्राप्ति के साधनभूत कर्मों को कभी नहीं छोड़ता। साथ ही **अप्रदृपितः**=यह कभी दर्पवाला नहीं होता। सांसारिक ऐश्वर्यों से दृप्त हुआ कभी प्रभु को भूल नहीं जाता।

भावार्थ—धीर पुरुष निरुद्ध मन से प्रभु को जानने का प्रयत्न करता है। इसी उद्देश्य से

प्रातः-सायं ध्यान में बैठता है और जप-तपादि को अपनाता है। सांसारिक ऐश्वर्य से गर्वित नहीं होता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'निर्देष्टा व तारयिता' प्रभु

तमिद्गच्छन्ति जुह्वस्तमर्वतीर्विश्वान्येकः शृणवद्वचांसि मे।
पुरुप्रैषस्ततुरिर्यज्ञसाधनोऽच्छिद्रोतिः शिशुरादत्त सं रभः॥ ३॥

१. (हूयन्ते इति जुह्वः=आहुतयः) **जुह्वः**=सब आहुतियाँ **तम् इत्**=उस प्रभु को ही **गच्छन्ति**=प्राप्त होती हैं। **तम्**=उस प्रभु को ही **अर्वतीः**=(अर्व=to kill) सब अशुभों का संहार करनेवाली स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए धीर पुरुष यज्ञशील बनता है और स्तुति करता है। २. वह **एकः**=अद्वितीय प्रभु ही **मे**=मेरे **विश्वानि वचांसि**=सब स्तुति-प्रार्थना वचनों को **शृणवत्**=सुनता है। मेरी प्रार्थनाओं को सुनकर उन प्रार्थनाओं की पूर्ति के लिए **पुरुप्रैषः**=पालक व पूरक निर्देशोंवाला वह प्रभु है। मैं प्रार्थना करता हूँ। उसकी पूर्ति के लिए प्रभु मुझे मार्ग का निर्देश ही नहीं उसपर चलने के लिए शक्ति भी देते हैं और इस प्रकार **ततुरिः**=वे सब विघ्न-बाधाओं से तारनेवाले हैं, **यज्ञसाधनः**=विघ्नों से तारकर हमारे यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं। ३. यज्ञों—उत्तम कर्मों की सिद्धि के द्वारा वे प्रभु **अच्छिद्रोतिः**=निर्दोष व अन्तर से शून्य (निरन्तर) रक्षणवाले हैं। वे प्रभु सदा हमारा रक्षण कर रहे हैं। **शिशुः**=हमारी बुद्धियों को तीक्ष्ण करनेवाले हैं। इन बुद्धियों के अनुसार **संरभः**=(रभ्=to begin) कार्यों का सम्यक् आरम्भ करनेवालों को **आदत्त**=प्रभु अपनी गोद में ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—यज्ञ व स्तुतियाँ हमें प्रभु की ओर ले-चलती हैं। प्रभु हमारी प्रार्थनाओं को सुनकर उनकी पूर्ति के लिए साधनों का निर्देश करते हैं, उन्हें पालन के लिए बुद्धि व शक्ति देते हैं। जो सम्यक् कार्यों का आरम्भ करता है, उसे प्रभु ग्रहण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

भक्त प्रभु की और प्रभु भक्त की ओर

उपस्थायं चरति यत्समारत सद्यो जातस्तत्सार युज्येभिः।
अभि श्वान्तं मृशते नान्द्ये मुदे यदीं गच्छन्त्युशतीरपिष्ठितम्॥ ४॥

१. जब एक भक्त प्रत्येक कार्य को **उपस्थायं चरति**=(उपस्थाय उपस्थाय चरति—सा०) प्रभु की उपासना के साथ करता है, **यत्**=और जब **समारत**=उस प्रभु के साथ सङ्गत होता है, अर्थात् प्रातः-सायं प्रभु के ध्यान में बैठता है तब वे प्रभु **सद्यः जातः**=शीघ्र प्रकट हुए-हुए **युज्येभिः**=इन योगयुक्त पुरुषों को **तत्सार**=(त्सर=to go or approach gently) शान्ति से प्राप्त होते हैं। **श्वान्तम्**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गतिशील व वर्धमान (शक्तियों का वर्धन करते हुए) पुरुष को **अभिमृशते**=प्रभु स्पर्श करते हैं। गतिशील, वर्धमान पुरुष का प्रभु से मेल होता है। यह मेल **नान्द्ये**=(नन्द्=समृद्धौ) समृद्धि के होने पर **मुदे**=हर्ष के लिए होता है। प्रभु के मेल से अभ्युदय की प्राप्ति होती है और आनन्द की वृद्धि होती है। २. यह सब होता तभी है **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **उशतीः**=प्रभु से मेल की कामनावाली ये प्रजाएँ **अपिष्ठितम्**=सर्वत्र व्याप्त होकर वर्तमान उस प्रभु की ओर **गच्छन्ति**=जाती हैं।

भावार्थ—भक्त जब प्रभु के स्मरण के साथ ही प्रत्येक कार्य को करता है तब प्रभु भी उसे प्राप्त होते हैं। यह प्रभु से मेल अभ्युदय व आनन्द का कारण होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

सत्यलोक की प्राप्ति

स ईं मृगो अप्यो वनर्गुरुप त्वच्युपमस्यां नि धायि।
व्यब्रवीद्वयुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्वाँ ऋतचिद्धि सत्यः॥५॥

१. **सः**=वे प्रभु **ईम्**=निश्चय से **मृगः**=(मर्जयिता—सा०) भक्त के जीवन को शुद्ध बनानेवाले हैं, **अप्यः**=(आप्यः) प्राप्त करने योग्य हैं। प्रभु को प्राप्त करनेवाला ही तो शुद्ध जीवनवाला बनता है। वे प्रभु **वनर्गुः**=उपासकों को प्राप्त होते हैं (वन सम्भजने), **उप त्वचि**=वे प्रभु भक्तों के सम्पर्क में **निधायि**=स्थापित होते हैं, अर्थात् भक्तों को प्रभु की प्राप्ति होती है। **उपमस्याम्**=वे प्रभु तो समीप हृदय में स्थित हैं। २. वे विद्वान् **अग्निः**=ज्ञानी प्रभु **मर्तेभ्यः**=मनुष्यों के लिए **वयुना**=प्रज्ञानों को **वि अब्रवीत्**=विशेषरूप से उपदिष्ट करते हैं, उनके हृदयों में स्थित हुए-हुए उन्हें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु **हि**=निश्चय से भक्तों के हृदय में **ऋतचित्**=सत्य व यज्ञ का चयन करनेवाले हैं। प्रभु के ध्यान से सत्य व यज्ञ की भावना का वर्धन होता है। वे प्रभु **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। प्रभु-भक्त भी अधिकाधिक सत्यवादी होता है। यह सत्य ही सर्वोत्कृष्ट लोक है, जहाँ कि हमें पहुँचना है।

भावार्थ—प्रभु भक्त के जीवन को परिमार्जित कर देते हैं और यह भक्त जीवन में ऋत का वर्धन करता हुआ सत्यस्वरूप प्रभु को प्राप्त करता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में प्रभु को परम चिकित्सक कहा गया है (१)। धीर पुरुष ही प्रभु का दर्शन करते हैं (२)। वे प्रभु हमें ठीक निर्देश देते हैं (३)। उन निर्देशों का पालक भक्त प्रभु की ओर बढ़ता है (४)। सत्य का वर्धन करता हुआ सत्यलोक को प्राप्त करता है (५)। 'प्रभु का ही स्तवन करना चाहिए'—यह अगले सूक्त में कहा है—

[१४६] षट्चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सर्वाधार प्रभु

त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषेऽनूनमग्निं पित्रोरुपस्थे।
निषत्तमस्य चरतो ध्रुवस्य विश्वा दिवो रोचनापप्रिवांसम्॥१॥

१. उस प्रभु का **गृणीषे**=(स्तुहि) स्तवन कर जो प्रभु **त्रिमूर्धानम्**=ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य—तीनों के दृष्टिकोण से शिखर पर हैं। वस्तुतः प्रभु का लक्षण ही यह है कि 'जहाँ ज्ञान निरतिशय है, वही प्रभु है।' इसी प्रकार शक्ति की चरम सीमा ही प्रभु हैं और सम्पूर्ण ऐश्वर्य के वे स्वामी हैं। प्रकृति पत्नी है तो प्रभु इसके पति हैं। **सप्तरश्मिम्**=सात छन्दों से युक्त ज्ञान की रश्मियोंवाले वे प्रभु ज्ञान के सूर्य ही हैं, **पित्रोः**=द्यावापृथिवी के **उपस्थे**=गोद में **अनूनम्**=वे पूर्ण हैं, अर्थात् उनकी व्यापकता से शून्य कोई स्थान नहीं है, **अग्निम्**=वे अग्रणी हैं। २. **अस्य**=इस **चरतः**=जंगम व **ध्रुवस्य**=स्थावर जगत् के **निषत्तम्**=वे आधार हैं (निषीदति अस्मिन्) और **दिवः**=द्युलोक के **विश्वा रोचना**=सब ज्योतिर्मय पिण्डों को **आपप्रिवांसम्**=(पूरयितारम्—सा०) पूरित कर रहे हैं। सब पिण्डों में वे प्रभु ही ज्योति भर रहे हैं—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य की चरम सीमा हैं। सर्वत्र व्याप्त हैं, स्थावर-जंगम के आधार हैं, सब ज्योतिर्मय पिण्डों को ज्योति से पूरित कर रहे हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शिखर पर पहुँचानेवाले प्रभु

उक्षा महाँ अभि ववक्ष एने अजरस्तस्थावितऊतिर्ऋष्वः।
उर्व्याः पदो नि दधाति सानौ रिहन्त्यूधो अरुषासो अस्य॥ २॥

१. वे प्रभु **उक्षा**=सब सुखों का सेचन करनेवाले हैं, **महान्**=महान् व पूज्य हैं, **एने**=इन द्यावापृथिवी को **अभिववक्षे**=धारण कर रहे हैं। २. **अजरः**=वे प्रभु कभी जीर्ण होनेवाले नहीं, **ऋष्वः**=वे महान् व पूज्य प्रभु **इतः ऊतिः**=इस संसार-सागर में डूबने से हमारा रक्षण करनेवाले होकर **तस्थौ**=स्थित हैं। ३. **पदः**=(पद्यते इति पद्) गतिशील पुरुषों को **उर्व्याः सानौ**=द्युलोक व पृथिवीलोक के शिखर पर **निदधाति**=स्थापित करते हैं। प्रभु इन गतिशील पुरुषों को पृथिवीरूप शरीर में पूर्ण स्वस्थ तथा द्युलोकरूप मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त बनाते हैं। इन गतिशील पुरुषों के **ऊधः**=(Inner appartment) हृदय के अन्तस्तलों को **अस्य**=उस प्रभु के **अरुषासः**=आरोचमान प्रकाश **रिहन्ति**=छूते हैं, अर्थात् इनके हृदय प्रभु-प्रकाश से चमक उठते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण कर रहे हैं। गतिशील पुरुषों को स्वस्थ, ज्ञानी व प्रकाशमय हृदयोंवाला बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'जायापतिरूप' धेनू

समानं वत्समभि संचरन्ती विष्वग्धेनू वि चरतः सुमेके।
अनपवृज्याँ अध्वनो मिमाने विश्वान्केताँ अधि महो दधाने॥ ३॥

१. एक घर में पति-पत्नी दोनों **समानम्**=(सम् आनयति)=सम्यक् प्राणित करनेवाले **वत्सम्**=(वदति) वेदज्ञान का उपदेश करनेवाले प्रभु की **अभि**=ओर **संचरन्ती**=(सचरन्त्यौ) मिलकर चलनेवाले होते हैं। २. **सुमेके**=उत्तम कर्म करनेवाले **धेनू**=अपनी प्रजाओं को प्रीणित करनेवाले **विष्वक् विचरतः**=अपने विविध कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होते हैं। ३. **अनपवृज्यान्**=(अपवर्जनीयरहितान्—सा०) जिनका अपवर्जन व त्याग कभी नहीं होता उन **अध्वनः**=मार्गों को **ये मिमाने**=बनाते हुए चलते हैं, अर्थात् अपने कर्त्तव्यकर्मों को कभी उपेक्षित नहीं करते और **विश्वान् केतान्**=सब ज्ञानों को तथा **महः**=पूजावृत्तियों को **अधिदधाने**=खूब ही धारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी को प्रभु-प्रवण (झुकाववाला) होना चाहिए। प्रजाओं के पालनादि कर्मों की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ज्ञान-प्राप्ति व पूजा की वृत्तिवाला बनना चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

धीरों का प्रभु की ओर जाना

धीरासः पदं कवयो नयन्ति नाना हृदा रक्षमाणा अजुर्यम्।
सिषासन्तः पर्यपश्यन्त सिन्धुमाविरेभ्यो अभवत्सूर्यो नॄन्॥ ४॥

१. **धीरासः कवयः**=धैर्य की वृत्तिवाले ज्ञानी पुरुष **पदम्**=(पद्यते मुनिभिर्यस्मात्तस्मात्पद उदाहृतः) उस प्राप्य प्रभु की ओर अपने-आपको **नयन्ति**=ले-चलते हैं। **नाना हृदा**=विविध बुद्धियों से (बहु प्रकारया बुद्ध्या—सा०) **अजुर्यम्**=जीर्ण न होनेवाले प्रभु को **रक्षमाणाः**=(धारयमाणाः) ये अपने हृदयों में धारण करते हैं। संसार के प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने

पर ये उनमें प्रभु की महिमा को देखते हैं। २. **सिषासन्तः**=उसका सम्भजन करते हुए **सिन्धुम्**=ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य के समुद्र प्रभु को **परि अपश्यन्त**=चारों ओर—सर्वत्र देखते हैं, **एभ्यः**=इन्हीं के लिए **आविः अभवत्**=वे प्रभु प्रकट होते हैं। **नृन्**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले इन पुरुषों को **सूर्यः**=वे प्रभु सूर्य के समान पथ-प्रदर्शन करनेवाले होते हैं या उत्तम कर्मों में प्रेरित करते हैं (सुवति)।

भावार्थ—धीर पुरुष प्रभु की ओर चलते हैं, प्रभु की ही महिमा को सर्वत्र देखते हैं। इन्हीं के हृदय में प्रभु प्रकट होते हैं और इनका पथ-प्रदर्शन करते हुए इन्हें आगे ले-चलते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'दिदृक्षेण्य' प्रभु

दिदृक्षेण्यः परि काष्ठासु जेन्य ईळेन्यो महो अर्भाय जीवसे।
पुरुत्रा यदभवत्सूरहैभ्यो गर्भेभ्यो मघवा विश्वदर्शतः॥५॥

१. **दिदृक्षेण्यः**=(द्रष्टुमेष्टव्यः—सा०) वे प्रभु धीर पुरुषों से देखने के लिए इष्ट होते हैं, **काष्ठासु**=सब दिशाओं में **परिजेन्यः**=सर्वतः सब स्थानों पर व्यापक हैं। सब दिशाओं में, एक-एक पदार्थ में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है, **ईळेन्यः**=वे स्तुति के योग्य हैं। **महः**=(महतः) बड़े के तथा **अर्भाय**=छोटे के लिए **जीवसे**=जिलाने के लिए हैं। वे छोटे-बड़े सबके जीवन का कारण हैं। २. **यत्**=जो **पुरुत्रा**=सर्वत्र **सूः अभवत्**=उत्पन्न करनेवाले हैं, वे **अह**=निश्चय से **एभ्यः गर्भेभ्यः**=इन अपने हृदयों में प्रभु को धारण करनेवाले पुरुषों के लिए **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **विश्वदर्शतः**=(सर्वविषयद्रष्टव्यवान्—सा०) सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान देनेवाले होते हैं। पत्थर में बसे कृमि के लिए प्रभु ने वहाँ पत्थर में ही भोजन उत्पन्न किया है, इसलिए उन्हें 'पुरुत्रा सूः'—इन शब्दों में स्मरण किया गया है। प्रभु का ज्ञान होने पर सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है (विश्वदर्शतः)।

भावार्थ—प्रभु ही द्रष्टव्य हैं। सब दिशाओं में प्रभु की महिमा प्रकट है। प्रभु का ज्ञान होने पर सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभु सर्वाधार हैं (१), शिखर पर पहुँचानेवाले हैं (२)। पति-पत्नी को प्रभु की ओर ही चलना चाहिए (३)। धीर पुरुष प्रभु की ओर ही चलते हैं (४) प्रभु ही द्रष्टव्य हैं (५)। उस प्रभु की रश्मियाँ सर्वत्र दीप्ति फैलाती हैं—

[१४७] सप्तचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शत्रुशोषण व शुचिता

कथा ते अग्ने शुचयन्त आयोर्ददाशुर्वाजेभिराशुषाणाः।
उभे यत्तोके तनये दधाना ऋतस्य सामन्रणयन्त देवाः॥१॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते**=आपकी ज्ञानरश्मियाँ **कथा**=किस प्रकार सुन्दरता से **शुचयन्तः**=पवित्र व दीप्त करती हुईं **आशुषाणाः**=शत्रुओं का शोषण करती हुईं **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **आयोः**=आयुष्य का **ददाशुः**=दान करती हैं। जब एक भक्त प्रभु का स्तवन करता है तब प्रभु की ज्ञान-रश्मियाँ उसके जीवन को पवित्र करती हैं और उसके काम-क्रोधादि शत्रुओं का शोषण कर देती हैं। २. इस प्रकार प्रभुस्तवन से पवित्र जीवनवाले होते हुए **देवाः**=देववृत्ति के

लोग **उभे**=शक्ति व आयुष्य दोनों को **यत्**=जब **तोके**=पुत्र में तथा **तनये**=पौत्र में **दधानाः**=धारण करते हैं तब **ऋतस्य**=सत्यस्वरूप परमात्मा के **सामन्**=उपासन में **रणयन्त**=रमण करते हैं—आनन्द का अनुभव करते हैं। प्रभु का क्रियात्मक उपासन यही है कि जैसे प्रभु ने हमारे जीवन को पवित्र व कामादि शत्रुओं से अनाक्रान्त बनाया, उसी प्रकार हम अपने पुत्र-पौत्रों के जीवन को बनाने का प्रयत्न करें। प्रभु ने हमें शक्ति व जीवन दिया, हम अगले सन्तानों में इनके स्थापन का प्रयत्न करें। जैसे प्रभु का उपासन घर में बड़ों को पवित्र बनाता है, उसी प्रकार माता-पिता का उपासन बच्चों को उत्तम जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—प्रभु शत्रुशोषण के द्वारा उपासक में शुचिता का स्थापन करते हैं। उपासकों को चाहिए कि वे भी अपनी सन्तानों में इसी प्रकार पवित्रता का स्थापन करें।

ऋषि—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभुभक्त बनूँ न कि प्रभुविमुख

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुस्ते तन्वं वन्दे अग्ने॥ २॥

१. **यविष्ठ**=युवतम! बुराइयों को हमसे अधिक-से-अधिक दूर करनेवाले और अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करानेवाले प्रभो! **मे**=मेरे **अस्य**=इस **मंहिष्ठस्य**=पूजा की प्रबलभावना से युक्त **प्रभृतस्य**=प्रकर्षेण सम्पादित **वचसः**=प्रार्थना-वचन को **बोध**=जानिए, सुनिए। २. हे **स्वधावः**=आत्मधारण-शक्तिसम्पन्न प्रभो! संसार में **त्वः**=कोई एक तो—कुछ पुरुष तो **पीयति**=आपकी हिंसा करते हैं, कभी आपका स्मरण नहीं करते, संसार के विषयों की ममता उन्हें आपके ध्यान से विमुख किये रहती है। **त्वः**=कोई एक **अनुगृणाति**=आपके स्तुतिवचनों का उच्चारण करता है। कोई विरला व्यक्ति ही विषयों से पराङ्मुख होकर आपकी ओर झुकता है। ३. मैं तो हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वन्दारुः**=आपकी वन्दनावाला बनकर आपके **तन्वम्**=शक्ति-विस्तार के प्रति (तन् विस्तारे) **वन्दे**=नतमस्तक होता हूँ। मुझे सर्वत्र आपकी शक्ति ही कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—संसार में मनुष्य दो भागों में बँटे हुए हैं—कुछ प्रभुभक्त हैं, कुछ प्रभु से विमुख। मैं प्रभुभक्त बनकर प्रभु के शक्तिविस्तार को देखता हुआ नतमस्तक होऊँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मामतेय का अन्धत्व

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः॥ ३॥

१.हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ये**=जो **ते**=आपकी **पायवः**=रक्षणशक्तियाँ हैं वे **मामतेयम्**=(ममतायाः पुत्रम्) ममता के पुत्र, ममता के पुतले मुझे **अन्धं पश्यन्तः**=अन्धा-सा हुआ-हुआ देखती हुईं **दुरितात्**=दुरित से, कुमार्ग पर भटकने से **अरक्षन्**=रक्षा करती हैं, बचाती हैं। ममता के कारण मनुष्य अन्धा हो जाता है, वह अपने कर्त्तव्य कर्म को नहीं देख पाता। उस समय प्रभु ही उसे मार्गभ्रष्ट होने से बचाते हैं। २. प्रभुकृपा से मार्गभ्रष्ट होने से बचे हुए **तान् सुकृतः**=उन पुण्यशाली लोगों को **विश्ववेदाः**=वह सर्वज्ञ प्रभु ही **ररक्ष**=फिर पाप में गिरने से बचाते हैं। प्रभु से रक्षित होने पर **दिप्सन्तः**=हिंसित करते हुए **इत्**=भी **रिपवः**=काम-क्रोधादि शत्रु **अह**=निश्चय से **न देभुः**=हिंसित नहीं कर पाते। प्रभु-रक्षित पर कामादि का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—जब मनुष्य ममता से अन्धा हो जाता है, तब प्रभु की रक्षण-शक्तियाँ ही उसे दुरित से बचाकर उत्तम मार्ग पर ले-जानेवाली होती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गूढ़ शत्रु का नाशक मन्त्र

यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुररातीवा मर्चयति द्वयेन।
मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु सो अस्मा अनु मृक्षीष्ट तन्वं दुरुक्तैः॥४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **अररिवान्**=दान न देनेवाला—कृपण अतएव अपवित्र जीवनवाला **अघायुः**=मन में सदा अघ (पाप) की भावना करनेवाला **अरातीवा**=मन में शत्रुता का भाव रखनेवाला **द्वयेन**='मन में कुछ बाहर कुछ'—इस प्रकार द्विविध भाव से **नः मर्चयति**=हमें हिंसित करता है (to hurt) व प्राप्त होता है (to go), **सः मन्त्रः**=उस द्वारा हमें दी जानेवाली वह सलाह **पुनः**=फिर **अस्मै गुरुः अस्तु**=इसके लिए ही निगलनेवाली हो (गरिता—सा०), अर्थात् उस गलत मन्त्रण से वह स्वयं ही विनष्ट होनेवाला हो। संसार में इस प्रकार छल-छिद्रवाले व्यक्ति बहुत होते हैं—ऊपर से मीठे, अन्दर विषभरे। ये मीठी-मीठी बातों से हमें गलत मार्ग पर ले-जाकर विनष्ट कर डालते हैं। २. उनका अशुभ मन्त्रण उन्हीं को नष्ट करनेवाला हो। यह द्विविध नीतिवाला दुष्ट पुरुष **दुरुक्तैः**=अपने दुरुक्तों से—अशुभ विचारों व मन्त्रों से **तन्वम् अनुमृक्षीष्ट**=अपने शरीर को ही अनुक्रमेण लुप्त करनेवाला हो, अपना ही सफाया करनेवाला हो। ये अशुभ मन्त्रणाएँ उसे ही नाश की ओर ले जानेवाली हों।

भावार्थ—मित्र की आकृतिवाले गूढ़ शत्रु के मन्त्र उसे ही निगलनेवाले हों। इन दुष्ट मन्त्रणाओं से उसका स्वयं ही नाश हो जाए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभुस्तवन से रक्षण

उत वा यः सहस्य प्रविद्वान् मर्तो मर्तं मर्चयति द्वयेन।
अतः पाहि स्तवमान स्तुवन्तमग्ने माकिर्नो दुरिताय धायीः॥५॥

१. हे **सहस्य**=शत्रुओं के मर्षण करनेवाली शक्तियों में उत्तम **अग्ने**=परमात्मन्! **उत वा**=और **यः**=जो **प्रविद्वान् मर्तः**=बड़ा कुशल मनुष्य **मर्तम्**=हम मनुष्यों को **द्वयेन मर्चयति**=अन्दर शत्रुता का भाव रखता हुआ और बाहर मीठा बना हुआ द्विविध नीति से हिंसित करता है, **अतः**=इस व्यक्ति से **पाहि**=हमें बचाइए। २. हे **स्तवमान**=स्तुति किये जाते हुए **अग्ने**=प्रभो! **स्तुवन्तम्**=स्तुति करते हुए मुझे आप रक्षित कीजिए। **नः**=हमें **दुरिताय**=दुरित के लिए **माकिः धायीः**=धारण मत कीजिए। आपकी कृपा से हम ग़लत मार्ग पर जाने से सदा बचे रहें, उस चालाक व्यक्ति की बातों में आकर भटक न जाएँ।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमें अमित्रों व मित्राभासों की कुमन्त्रणाओं का शिकार होने से बचाए।

विशेष—सूक्त की मूल भावना यही है कि हम प्रभु स्तवन करते हुए शुचि व शत्रुशोषक बनें (१)। सदा प्रभु भक्त बने रहें (२)। ममता से अन्धे न हो जाएँ (३)। गूढ़ शत्रुओं की मीठी बातों से बहक न जाएँ (४)। प्रभुस्तवन सदा हमारा रक्षण करनेवाला हो (५)। 'हम सदा प्रभु का ही मन्थन करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१४८] अष्टचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—पङ्क्तिः । **स्वरः**—पञ्चमः ।

प्रभु-मन्थन

मथी॒द्यदीं॑ वि॒ष्टो मा॑त॒रिश्वा॒ होता॑रं वि॒श्वाप्सुं॑ वि॒श्वदे॑व्यम्।
नि यं द॒धुर्म॑नु॒ष्या॑सु वि॒क्षु स्व१॒र्ण चि॒त्रं वपु॑षे वि॒भाव॑म्॥ १॥

१. **यत्**=जब मनुष्य **ईम्**=निश्चय से **विष्टः**=(प्रविष्टः) इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा में प्रविष्ट करनेवाला बनता है तब यह 'विष्ट' कहलाता है। यही अन्तर्मुखता है। यह अन्तर्मुखवाला **मातरिश्वा**=अन्तर्मुख-यात्रा के उद्देश्य से ही प्राणसाधना करनेवाला जीव **मथीत्**=परमात्मा का मन्थन करता है, हृदय में उसका विचार करता है, उस परमात्मा को **होतारम्**=होता के रूप में देखता है। वे प्रभु होता हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं, **विश्वाप्सुम्**=(विश्वरूपम्) सारे संसार को रूप देनेवाले हैं, **विश्वदेव्यम्**=सूर्यादि सब देवों के अन्दर होनेवाले हैं। इन सबमें स्थित होकर इनको दीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं। २. प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **मनुष्यासु विक्षु निदधुः**=विचारशील प्रजाओं में स्थापित करते हैं। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु प्रभु का प्रकाश मननशील व्यक्तियों के हृदयों में ही होता है। वे प्रभु **स्वः न**=सूर्य के समान **चित्रम्**=अद्भुत हैं अथवा ज्ञान का प्रकाश देनेवाले हैं, **वपुषे**=(वप=बोना) सब दिव्यगुणों के बीज बोने के लिए वे प्रभु **विभावम्**=(विविधप्रकाशवन्तम्) विविध प्रकाशवाले हैं। ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराके वे अपने उपासकों में दिव्यगुणों के बीजों का वपन करते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को मन में प्रविष्ट करनेवाला प्राणसाधक पुरुष उस 'होता, विश्वरूप, विश्वदेव' प्रभु का दर्शन करता है। वे प्रभु उसे प्रकाश प्राप्त कराके उसके जीवन में सद्गुणों के बीज का वपन करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अग्निः । **छन्दः**—पङ्क्तिः । **स्वरः**—पञ्चमः ।

कर्मोपस्तुति का भरण

द॒दान॒मिन्न द॑दभन्त॒ मन्मा॒ग्निर्वरू॑थं॒ मम॒ तस्य॑ चाकन्।
जु॒षन्त॒ विश्वा॑न्यस्य॒ कर्मोप॑स्तुतिं॒ भर॑माणस्य का॒रोः॥ २॥

१. गतमन्त्र में वर्णित अन्तर्मुख-यात्रा करनेवाले पुरुष **ददानम्**=सब-कुछ देनेवाले प्रभु को **इत्**=निश्चय से **न ददभन्त**=हिंसित नहीं करते, अर्थात् अपने जीवन में प्रभु का विस्मरण नहीं करते, प्रातः-सायं अवश्य ही प्रभु का ध्यान करते हैं। २. प्रभु का ध्यान करनेवाले **तस्य**=उस **मम**=मेरे **वरूथम्**=आच्छादन व रक्षण-साधन के रूप में बने हुए **मन्म**=स्तोत्र को **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **चाकन्**=चाहते हैं। मेरे द्वारा किया जानेवाला स्तोत्र मुझे प्रभु का प्रिय बनाता है और यह स्तोत्र मेरा **वरूथ**=कवच बनता है, यह मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। ३. **अस्य**=इस **कर्मोपस्तुतिम्**=कर्त्तव्यकर्मों के करने से प्रभु की क्रियात्मक स्तुति को **भरमाणस्य**=धारण करनेवाले **कारोः**=कुशल, कर्मशील पुरुष के **विश्वानि**=सब स्तोत्र (मन्म) **जुषन्त**=प्रभु को प्रीतिपूर्वक स्तवन करते हैं। अकर्मण्य व केवल वाणी से स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले पुरुष के स्तोत्र प्रभु को प्रिय नहीं होते।

भावार्थ—कर्त्तव्यकर्मों को करने से ही प्रभु का सच्चा स्तवन होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

नित्य सदन में प्रभु का ग्रहण

नित्ये चिन्नु यं सदने जगृभ्रे प्रशस्तिभिर्दधिरे यज्ञियासः।
प्र सू नयन्त गृभयन्त इष्टावश्वासो न रथ्यो रारहाणाः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार कर्मोपस्तुति को धारण करनेवाले लोग **यम्**=जिस प्रभु को **नु चित्**=निश्चय से **नित्ये सदने**=नित्य सदन में **जगृभ्रे**=ग्रहण करते हैं। यह स्थूलशरीर तो नश्वर है ही, सूक्ष्मशरीर भी सदा नहीं रहता। कारणशरीर 'प्रकृति'-रूप होने से नित्य है। जब हम साधना करते हुए स्थूल व सूक्ष्मशरीर से ऊपर उठकर कारणशरीर में पहुँचते हैं तब वहीं प्रभु का दर्शन होता है। स्थूलशरीर में रहता हुआ मनुष्य विषय-प्रवृत्त रहता है। सूक्ष्मशरीर में विचरनेवाला ज्ञानप्रधान जीवनवाला बनता है और कारणशरीर में पहुँचनेवाला व्यक्ति एकत्व का दर्शन करता हुआ प्रभु का साक्षात्कार करता है। सामान्यतः कह सकते हैं कि स्थूलशरीर में स्थित की विक्षिप्तावस्था होती है, सूक्ष्मशरीर में स्थित की 'सम्प्रज्ञात समाधि' की स्थिति होती है और कारणशरीर में स्थित पुरुष 'असम्प्रज्ञात समाधि' में पहुँच जाता है। यहाँ वह एकदम निर्विषय हुआ-हुआ प्रभु का दर्शन करता है। २. इसी प्रभु को **यज्ञियासः**=यज्ञशील लोग **प्रशस्तिभिः**=स्तुतियों के द्वारा **दधिरे**=धारण करते हैं। **गृभयन्तः**=यज्ञों का ग्रहण करनेवाले ये ऋत्विज् **इष्टौ**=यज्ञों में, अर्थात् यज्ञों के करने पर **सु**=उत्तमता से **उ**=निश्चय से **प्रनयन्त**=अपने को प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **रथ्यः**=रथ में जुतनेवाले **अश्वासः**=घोड़े **रारहाणः**=वेगवाले होते हुए स्वामी को लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए आवश्यक है कि हम स्थूल व सूक्ष्मशरीर से ऊपर उठकर कारणशरीर में पहुँचें और यज्ञमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ब्रह्मलक्ष्य-वेध

पुरूणि दस्मो नि रिणाति जम्भैराद्रोचते वन आ विभावा।
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरस्तुर्न शर्यामसनामनु द्यून्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु-दर्शन में प्रवृत्त होते हैं तब **दस्मः**=हमारे पापों व दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभु **जम्भैः**=अपनी नाशक शक्तिरूप दाढ़ों से **पुरूणि**=बहुत भी हमारे शत्रुओं को **निरिणाति**=हिंसित कर देते हैं और **आत्**=अब—कामादि शत्रुओं का विध्वंस करने के बाद वे **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु **वने**=अपने उपासक में (वन=सम्भजने) **आरोचते**=समन्तात् प्रकाश देनेवाले होते हैं। २. **आत्**=अब—प्रभु का प्रकाश होने पर **अस्य शोचिः अनु**=इसकी दीप्ति के अनुसार **वातः वाति**=यह क्रियाशील पुरुष क्रियावाला होता है। वायु की भाँति क्रिया करना इस उपासक का स्वभाव हो जाता है। मुख्यरूप से इसकी क्रिया **अनु द्यून्**=प्रतिदिन इस प्रकार होती है **न**=जैसे कि **अस्तुः**=बाणों को फेंकनेवाले की **असनाम्**=फेंके जानेवाली **शर्याम्**=बाण-समूह की क्रिया होती है। जैसे धनुर्धर लक्ष्य पर बाणों को फेंकता है, उसी प्रकार यह भक्त भी प्रणव (ओम्) को धनुष बनाता है, आत्मा को शर तथा ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर, अप्रमत्त होकर लक्ष्यवेध करता है और तन्मय होने का प्रयत्न करता है। जैसे शर लक्ष्य में प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है—परमात्मा के गर्भ में निवास करने लगता है।

भावार्थ—प्रभु भक्त के कष्टों को दूर करते हैं, उसे दीप्त बनाते हैं। प्रभुदीप्ति के अनुसार भक्त के कार्य होते हैं। यह भक्त आत्मा को शर बनाकर प्रभुरूप लक्ष्य में प्रवेश के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः **स्वरः**—पञ्चमः।

रिपुओं व रिषण्युओं से अपना रक्षण

न यं रिपवो न रिषण्यवो गर्भे सन्तं रेषणा रेषयन्ति।
अन्धा अपश्या न दभन्नभिख्या नित्यास ईं प्रेतारो अरक्षन्॥५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आत्मारूप शर को ब्रह्मरूप लक्ष्य में विद्ध करनेवाले और इस प्रकार **गर्भे सन्तम्**=प्रभु के गर्भ में निवास करनेवाले **यम्**=जिस उपासक को **रिपवः**=व्याधिरूप शत्रु **न रेषयन्ति**=हिंसित नहीं करते, उस उपासक को **रिषण्यवः**=मन को हिंसित करनेवाले कामादि शत्रु भी **रेषणा**=अपने विविध हिंसन-प्रकारों से (न रेषयन्ति) हिंसित नहीं कर पाते। प्रभु में निवास करनेवाला न व्याधि-रूप रिपुओं से आक्रान्त होता है और न कामादिरूप **रिषण्यु**=हिंसकों से हिंसित होता है। वह इन रिपुओं व रिषण्युओं को समाप्त करनेवाला होता है। २. इनके विपरीत जो प्रभु से दूर रहते हैं वे **अन्धाः**=अज्ञानी **अपश्याः**=वस्तु-तत्त्व को न देखनेवाले **अभिख्याः**=प्रातः-सायं गपशप करनेवाले (gossip ही जिनकी God-worship) होती है, ये **न दभन्**=व्याधियों व कामादि शत्रुओं को हिंसित नहीं कर पाते। **ईम्**=निश्चय से **नित्यासः**=अविचलित भक्तिवाले—अग्निहोत्रादि नित्यकर्मों में रत **प्रेतारः**=प्रकर्षेण गतिशील अथवा स्थूल व सूक्ष्मशरीर से ऊपर उठकर कारणशरीर में जानेवाले व्यक्ति ही **अरक्षन्**=अपने को रिपुओं व रिषण्युओं से रक्षित कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभुगर्भ में रहनेवाले को व्याधियाँ व आधियाँ हिंसित नहीं करतीं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्राणसाधक पुरुष ही प्रभु का मन्थन करता है (१)। कर्मोपस्तुति का धारण करनेवाला ही प्रभु का सच्चा उपासक है (२)। प्रभु का ग्रहण कारणशरीर में ही होता है (३)। उपासक को ब्रह्मरूप लक्ष्य का प्रतिदिन वेध करना है (४)। प्रभु में निवास करनेवाला उपासक आधियों और व्याधियों से हिंसित नहीं होता (५)। 'यह उपासक महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करता है'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१४९] एकोनपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

स्वामियों का भी स्वामी

महः स राय एषते पतिर्दन्निन इनस्य वसुनः पद आ।
उप ध्रजन्तमद्रयो विधन्नित्॥१॥

१. **सः**=वे प्रभु **महः रायः**=महान् ऐश्वर्य के **पतिः**=स्वामी हैं। वे प्रभु **दन्**=इस ऐश्वर्य को देते हुए **आ ईषते**=समन्तात् गति करते हैं। प्रभु ऐश्वर्य प्राप्त कराने के लिए हमें प्राप्त होते हैं। उस ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए हमें पात्र बनने का प्रयत्न करना चाहिए। वे प्रभु **इनस्य इनः**=स्वामियों के भी स्वामी हैं, ईश्वरों के भी ईश्वर=परमेश्वर हैं। **वसुनः**=ऐश्वर्य के **पदे**=आस्पद—स्थान में **आ**=पूर्णरूप से—व्यापकरूप से अधिष्ठित हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। २. **उप ध्रजन्तम्**=समीप प्राप्त होते हुए उस प्रभु को **अद्रयः**=(आदृङ्) आदर देनेवाले

उपासक **इत्**=निश्चय से **विधन्**=पूजते हैं। प्रभुपूजन से लक्ष्मी की कमी नहीं रहती और साथ ही हम उस लक्ष्मी के दास भी नहीं बन जाते। प्रभुपूजक धनी होता हुआ भी धन में फँसता नहीं।

भावार्थ—प्रभु सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं, अतः ज्ञानी उपासक ऐश्वर्य की उपासना न करके ऐश्वर्य के स्वामी प्रभु की ही उपासना करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

'सुखवर्षक' प्रभु

स यो वृषा नरां न रोदस्योः श्रवोभिरस्ति जीवपीतसर्गः।
प्र यः संस्राणः शिश्रीत योनौ ॥ २ ॥

१. प्रभु **सः**=वे हैं **यः**=जो **नरां वृषा**=सब मनुष्यों को सुखों व शक्तियों से सिक्त करनेवाले हैं। मनुष्यों को ही क्या (नरां) **न**=मनुष्यों की भाँति **रोदस्योः** (वृषा)=द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सब प्राणियों को सुखों से सिक्त करते हैं। वे प्रभु **श्रवोभिः**=ज्ञान के द्वारा **जीवपीतसर्गः**=जीवों से आस्वादित सृष्टिवाले **अस्ति**=हैं। प्रभु की इस सृष्टि का आनन्द जीव इसके ज्ञान द्वारा ही तो ले-सकते हैं। जिस पदार्थ का हमें ज्ञान नहीं, उसके ठीक प्रयोग के अभाव में उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द को हम कैसे ले सकते हैं? इन पदार्थों का ठीक ज्ञान ही हमें इनसे सुखी कर सकता है। प्रभु ने इस सृष्टि में सब सुख-साधनों को बड़ी उत्तमता से जुटाया है। २. ये सुखवर्षक प्रभु वे हैं **यः**=जो **सस्राणः**=(सृ) निरन्तर गति करते हुए **योनौ**=मूल उत्पत्तिस्थान में **प्रशिश्रीत**=प्रकर्षेण हमारा परिपाक करते हैं। जिस समय हम इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में तथा आत्मा को परमात्मा में रोकते हैं उस समय हम मूल उत्पत्तिस्थान में पहुँच गये होते हैं। यहाँ पहुँचने पर वे प्रभु हमारा पूर्ण परिपाक करनेवाले होते हैं। इस समय हमारी सब न्यूनताएँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु की सृष्टि हमपर सुखों की वर्षा करती है। प्रभु अपने में स्थित होनेवाले को पूर्ण परिपक्व बनाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

'सूर्य के समान दीप्त' प्रभु

आ यः पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो३ नार्वा।
सूरो न रुरुक्वाञ्छतात्मा ॥ ३ ॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जो **नार्मिणीम्**=(नृणां मनसि स्थितम्) मनुष्यों को प्रिय लगनेवाली इस देह नामक **पुरम्**=पुरी को **अदीदेत्**=सर्वतः दीप्त कर देते हैं। स्थूलशरीर को स्वास्थ्य से दीप्त करते हैं तो सूक्ष्म को ज्ञान से दीप्त बनाते हैं। **अत्यः**=वे प्रभु निरन्तर गतिशील (कर्मशील) हैं, अपनी सब प्रजाओं के हित में तत्पर हैं, **कविः**=क्रान्तदर्शी—सर्वज्ञ हैं। २. **नभन्यः न**=आकाश में गतिवाली वायु के समान **अर्वा**=गतिशील हैं, इन वायु इत्यादि को वे ही तो गति देते हैं। वे **सूरः न रुरुक्वान्**=सूर्य के समान दीप्त हैं। वायु की भाँति गतिशील व सब अवाञ्छनीय तत्त्वों का हिंसन करनेवाले होते हुए (अर्व=to kill) हमें आयुष्य को प्राप्त कराते हैं और सूर्य की भाँति चमकते हुए वे प्रभु हमें ज्ञान की ज्योति प्रदान करते हैं। **शतात्मा**=अनन्त रूपोंवाले वे प्रभु हैं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। वस्तुतः सभी को रूप देनेवाले वे प्रभु विश्वरूप हैं। हमें भी आयुष्य व ज्ञान देकर वे प्रभु ही उत्तम रूपवाला करते हैं।

भावार्थ—हमारी शरीररूप इस नगरी को प्रभु ही दीप्त बनाते हैं। वे वायु की भाँति 'जीवन' देते हैं तो सूर्य की भाँति ज्ञान का प्रकाश।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय से प्रभु-दर्शन

अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्।
होता यजिष्ठो अपां सधस्थे ॥४॥

१. वे प्रभु **द्विजन्मा**=प्रभु-दर्शन दो से होता है। प्रभु का दर्शन न केवल ज्ञान से होता है और न केवल श्रद्धा से। ज्ञान और श्रद्धा इन दोनों का समन्वय ही प्रभु के दर्शन का साधन बनता है। वे प्रभु **त्रिरोचनानि**=तीन ज्योतियों को—'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' इन देवों को—इन देवों को ही नहीं **विश्वा रजांसि**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यौ—इन सब लोकों को **अभिशुशुचानः**=सब ओर से खूब ही दीप्त करते हुए **अस्थात्**=अधिष्ठातृरूपेण विद्यमान हैं। अग्नि में वे तेज प्रभु ही तो हैं, चन्द्र और सूर्य की प्रभा भी तो वे प्रभु ही हैं, विद्युत् की द्युति उस प्रभु से ही प्राप्त कराई जा रही है। उसकी दीप्ति से ही सब दीप्त हो रहे हैं। २. **होता**=वे प्रभु ही सब पदार्थों के देनेवाले हैं और **अपाम्**=प्रजाओं के **सधस्थे**=मिलकर बैठने के स्थान 'हृदय' में (हृदय में परमात्मा व जीवात्मा दोनों मित्रों की सहस्थिति है), **यजिष्ठः**=वे प्रभु सर्वाधिक पूज्य हैं और संगतिकरण-योग्य हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय से होता है। वे प्रभु सबको दीप्त करते हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं। उस प्रभु का उपासन हृदय में करना चाहिए, क्योंकि हृदय में ही जीव व प्रभु की सह स्थिति है। यहीं उस प्रभु से उपासक का मेल होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

वरणीय धनों व ज्ञानों के दाता प्रभु

अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दुधे वार्याणि श्रवस्या।
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उपासक जब हृदय में प्रभु से मेलवाला होता है तब कह उठता है कि **अयं सः होता**=ये प्रभु वे हैं जो हमारे लिए सब-कुछ दे देनेवाले हैं। **यः द्विजन्मा**=जो श्रद्धा व ज्ञान इन दोनों के समन्वय से हृदय में आविर्भूत होनेवाले हैं। **विश्वा**=सम्पूर्ण **वार्याणि**=वरणीय धनों को तथा **श्रवस्या**=श्रवण से प्राप्त होनेवाले ज्ञानों को **दधे**=हममें धारण करते हैं। प्रभु ही सब आवश्यक धनों को देते हैं और हृदयस्थ होकर प्रेरणा के द्वारा वे प्रभु ही ज्ञान भी प्राप्त कराते हैं। २. **यः मर्तः**=जो भी मनुष्य **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **ददाश**=अपने-आपको अर्पित करता है, **सुतुकः**=वह उत्तम सन्तानवाला होता है। जिस घर में प्रभु की उपासना चलती है, उस घर का वातावरण इतना सुन्दर होता है कि वहाँ सन्तानों का उत्तम ही निर्माण होता है।

भावार्थ—प्रभु ही सब वरणीय धनों व ज्ञानों को देते हैं। जिस घर में प्रभु का उपासन चलता है, वहाँ सन्तानें भी उत्तम होती हैं।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि प्रभु स्वामियों के भी स्वामी हैं (१)। सुखों के वर्षक हैं (२), सूर्य की भाँति दीप्त हैं (३), ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय से साक्षात्करणीय हैं (४),

सब वरणीय धनों व ज्ञानों को देनेवाले हैं (५)। 'इस प्रभु का ही गायन करें'—इन शब्दों से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१५०] पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

उस महान् प्रेरक की शरण में

पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा। तोदस्येव शरण आ महस्य॥ १॥

हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **दाश्वान्**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला मैं **त्वा पुरु वोचे**=आपका खूब ही स्तवन करता हूँ। **तव**=आपके प्रति **स्वित्**=ही **आ अरिः**=(ऋ गतौ) सर्वथा आनेवाला होता हूँ, प्रकृति की ओर न जाकर आपकी ओर आनेवाला ही बनता हूँ। प्रकृति में फँसकर ही तो मैं मार्गभ्रष्ट होता हूँ, अतः मैं **महस्य**=महान्, पूजनीय **तोदस्य इव**=प्रेरक (तुद् प्रेरणे) के समान जो आप हैं, उसकी **शरणे**=शरण में आता हूँ। आपकी शरण में आने पर ही मैं कष्टों से बच पाता हूँ। मैं भटकता हूँ तो आप कष्टों के रूप में मुझपर चाबुक का प्रहार करते हैं (तोत्त्रम्=चाबुक) और मुझे फिर मार्ग पर आने का संकेत करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर ही चलनेवाले हों। 'प्रकृति में फँस जाना' ही भटकना है। उस समय प्रभु कष्टरूप चाबुक लगाकर, हमें फिर से मार्ग पर आने का संकेत करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

चाबुक का प्रहार किन पर?

व्यनिनस्य धनिनः प्रहोषे चिदररुषः। कदा चन प्रजिगतो अदेवयोः॥ २॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को '**तोद**'=चाबुक का प्रहार करनेवाला कहा गया था। यह कष्टों के रूप में चाबुक का प्रहार प्रभु किन व्यक्तियों पर करते हैं—(क) **धनिनः**=धनी पुरुष के जो धनी **व्यनिनस्य**=उस धन का स्वामी नहीं है। जब हम धन के दास बन जाते हैं, धनार्जन ही हमारे जीवन का लक्ष्य हो जाता है, हम एक धन कमाने के साधन money-making-machine ही बन जाते हैं, तब हम धन के स्वामी नहीं रहते। उस समय धन हमारा स्वामी हो जाता है, और हम धन के वहन करनेवाले—बोझ ढोनेवाले ही हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में 'Death unloads thee'. मौत ही हमारे बोझ को उतारती है। प्रभु इन 'व्यनिन धनियों' को चाबुक लगानेवाले हैं। २. (ख) **प्रहोषे**=प्रकृष्ट आहुति देने के कार्यों में, अर्थात् यज्ञादि उत्तम कार्यों में **चित्**=भी **अररुषः**=दान न देनेवाले को चाबुक लगाते हैं। धनी होते हुए भी जो यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों में दान नहीं देता, वह प्रभु से दण्डनीय होता है। ३. (ग) **कदा च**=कभी भी **न प्रजिगतः**=प्रभु गुणगान न करनेवाले को आप दण्ड देनेवाले होते हैं। जो प्रभुविमुख होकर प्राकृतिक भोगों में फँसकर वैषयिक वृत्ति का बन जाता है, वह विविध रोगों के रूप में प्रभु से दण्डनीय होता है। ४. (घ) **अदेवयोः**=आप अदेवयु पुरुष के चाबुक लगानेवाले हो। जो दिव्य गुणों के विकसित करने की कामनावाला नहीं होता, जिनके हृदयक्षेत्र में आसुरभावरूपी घास-फूस ही प्रचुरता से उग आती है, उस व्यक्ति को भी आप दण्ड देते हो। इन कष्टरूप दण्डों से प्रेरित करके आप उन्हें सुमार्ग पर लौटने की प्रेरणा देते हैं।

भावार्थ—हम चार पापों से बचने का प्रयत्न करें—(१) धन होते हुए धन का स्वामी न बनकर दास बन जाना, (२) यज्ञादि उत्कृष्ट कार्यों में दान न देना, (३) प्रभुस्तवन से दूर रहना,

और (४) दिव्यगुणों के विकास के लिए प्रयत्न न करना।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

चन्द्र–मह–व्राधन्तम

स चन्द्रो विप्र मर्त्यो महो व्राधन्तमो दिवि। प्रप्रेत्ते अग्ने वनुषः स्याम॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के चाबुक के संकेत को समझनेवाले लोग उत्तम जीवनवाले होते हैं। इसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि हे **विप्र**=विशेष रूप से हमारा पूरण करनेवाले प्रभो! (प्रा पूरणे) **सः मर्त्यः**=वह मनुष्य जो प्रभु के संकेतों को ग्रहण करता है **चन्द्रः**=आह्लादमय जीवनवाला होता है; यह औरों को भी आह्लादित करनेवाला होता है, **महः**=यह महान् बनता है, अथवा पूजा की वृत्तिवाला होता है। प्रातः-सायं प्रभु की उपासना को अपना नैत्यिक कर्त्तव्य समझता है; **दिवि**=अपने प्रकाशमयरूप में यह **व्राधन्तमः**= (प्रवृद्धतमः—सा०, व्राध=broad) खूब विशाल हृदयवाला होता है। २. ऐसे लोगों की यही कामना होती है कि हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हम **इत्**=निश्चय से **ते**=आपके ही **वनुषः प्र प्रस्याम**=प्रकृष्ट उपासक बनें। वस्तुतः प्रभु की उपासना ही तो उनके जीवनों को सुन्दर बनाती है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त का जीवन आह्लादमय, प्रभु-पूजन की वृत्तिवाला व विशाल हृदय को लिये हुए होता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि हम प्रभु की ओर ही चलें (१)। प्रभु की ओर चलेंगे तो धन के दास न बनेंगे, दानशील होंगे, प्रभु का गुणगान करते हुए अपने में दिव्य गुणों का विकास कर पाएँगे (२)। आह्लादमय, उपासक व विशाल हृदयवाले बनेंगे (३)। इन तीन मन्त्रों के विषय को इस प्रकार भी कह सकते हैं—(क) प्रभु चाबुक लगानेवाले हैं, (ख) वे चाबुक किनको लगते हैं? (ग) चाबुक लगने पर जीवन कैसा बन जाता है? 'दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए मित्रावरुण' की उपासना से अगला सूक्त आरम्भ होता है—

[१५१] एकपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अन्तिम लक्ष्य='प्राणिहित'

मित्रं न यं शिम्या गोषु गव्यवः स्वाध्यो विदथे अप्सु जीजनन्।
अरेजेतां रोदसी पाजसा गिरा प्रति प्रियं यजतं जनुषामवः॥ १॥

१. **गोषु गव्यवः**=ज्ञान की वाणियों में स्थित होकर इन्द्रियों को अपनाने की कामना करते हुए—इन्द्रियों को वश में करना चाहते हुए **स्वाध्यः**=उत्तम ध्यानशील पुरुष **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में तथा **अप्सु**=कर्मयज्ञों में **शिम्या**=शान्तभाव से की जानेवाली क्रियाओं के द्वारा **मित्रं न**=मित्र के समान **यम्**=जिस प्रभु को **जीजनन्**=प्रादुर्भूत करते हैं। प्रभु हमारे मित्र हैं। उस मित्र का दर्शन तभी होता है जब हम ज्ञानयज्ञों व कर्मयज्ञों में लगे रहते हैं। इन यज्ञों में भी हमारी सब क्रियाएँ शान्तभाव से हों, तभी प्रभु का दर्शन होता है। २. जब इस प्रकार प्रभु का प्रादुर्भाव होता है तब **रोदसी**=हमारे द्यावापृथिवी—मस्तिष्क और शरीर **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से तथा **पाजसा**=शक्ति से **अरेजेताम्**= चमक उठते हैं (to shine)। शरीर शक्ति से चमक उठता है तो मस्तिष्क ज्ञान की वाणियों से। इस प्रकार शरीर को शक्ति व मस्तिष्क को ज्ञानसम्पन्न बनाकर इन लोगों को **जनुषाम्**=प्राणियों का **अवः**=रक्षण **प्रति प्रियम्**=प्रतिदिन प्रिय होता है और

यजतम्=पूज्य व संगतिकरण-योग्य होता है। ये लोग प्राणिरक्षण को आदरभाव से देखते हैं और प्राणिरक्षण को अपना सङ्कल्प बनाने का प्रयत्न करते हैं। प्राणिरक्षण इनके जीवन का लक्ष्य होता है। अधिक-से-अधिक भूतों (प्राणियों) का हित ही इनकी उपासना होती है।

भावार्थ—ज्ञान व कर्मयज्ञों में लगनेवाला व्यक्ति प्रभु-दर्शन करता है। प्रभु-दर्शन इन्हें शक्ति व ज्ञानसम्पन्न बनाता है। शक्ति व ज्ञान प्राप्त करके ये प्राणिहित में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

ऋतु, गातु

यद्ध त्यद्वां पुरुमीळ्हस्य सोमिनः प्र मित्रासो न दधिरे स्वाभुवः।
अध क्रतुं विदतं गातुमर्चत उत श्रुतं वृषणा पस्त्यावतः॥ २॥

१. **यत् ह**=जब निश्चय से **त्यत् पुरुमीळ्हस्य**=सब सुखों का सेचन करनेवाले **सोमिनः**=(सत्यं वै श्रीर्ज्योतिः सोमः—शत० ५।१।२।१०) 'सत्य, श्री व ज्योति' के स्वामी प्रभु के **मित्रासः न**=मित्रों के समान **स्वाभुवः**=(स्व आ भू) अपने पर आश्रित होनेवाले व्यक्ति हे मित्रावरुणौ! **वाम्**=आप दोनों को **प्रदधिरे**=प्रकर्षेण धारण करते हैं। प्राणापान ही मित्रावरुण हैं। प्राणायाम के द्वारा इनकी गति का निरोध ही इनका धारण है। २. **अध**=अब जब कि एक उपासक इन प्राणों को धारण करता है तब हे मित्रावरुणौ! आप **अर्चते**=इस आराधक के लिए **क्रतुम्**=कर्मशक्ति को—यज्ञादि पवित्र कर्मों की भावना को तथा **गातुम्**=मार्ग को **विदतम्**=प्राप्त कराते हो—जनाते हो। प्राणापान की साधना से यह उपासक पवित्र कर्मों में प्रवृत्त होता है और मार्गभ्रष्ट नहीं होता। ३. **उत**=और प्राणसाधना से ही **पस्त्यावतः**=इस उत्तम शरीररूप गृहवाले की प्रार्थना को हे **वृषणा**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्राणापानो! आप **श्रुतम्**=सुनते हो। आपकी कृपा से यह शरीर को स्वस्थ बना पाता है। इसकी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्नेही प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं। यह साधना उन्हें कर्मशक्ति व मार्ग का ज्ञान देती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

ऋत व अध्वर

आ वां भूषन्क्षितयो जन्म रोदस्योः प्रवाच्यं वृषणा दक्षसे महे।
यदीमृताय भरथो यदर्वते प्र होत्रया शिम्या वीथो अध्वरम्॥ ३॥

१. हे प्राणापानो! **क्षितयः**=मनुष्य **वाम्**=आप दोनों को **आभूषन्**=अपने जीवन में सुशोभित करते हैं—आपके द्वारा अपने जीवन को अलंकृत करते हैं, परिणामतः हे **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! उन मनुष्यों के जीवन में **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का—मस्तिष्क व शरीर का **जन्म**=प्रादुर्भाव व विकास **प्रवाच्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय होता है। द्यावापृथिवी का यह विकास **दक्षसे**=उनकी उन्नति व वृद्धि के लिए होता है और **महे**=उनकी महिमा का कारण बनता है। २. द्यावापृथिवी का यह विकास उस समय उनकी महिमा का कारण बनता है **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से आप अपने इस उपासक को **ऋताय**=ऋत के लिए **भरथः**=पोषित करते हो। आपकी साधना से इसके जीवन में ऋत का वर्धन होता है। यह सत्य तथा नियमितता को अपनानेवाला बनता है। **यत्**=जब **अर्वते**=वासनाओं का संहार करनेवाले इसके लिए **होत्रया**=वेदवाणी के साथ तथा **शिम्या**=शान्तभाव से की जानेवाली क्रियाओं के साथ **अध्वरम्**=अहिंसात्मक यज्ञों को **प्रवीथः**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—प्राणसाधक के जीवन में 'ऋत व अध्वर' प्राप्त होते हैं। उस समय इसके शरीर व मस्तिष्क का प्रशंसनीय विकास होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

बृहत् ऋतम्

प्र सा क्षितिरसुर या महि प्रिय ऋतावानावृतमा घोषथो बृहत्।
युवं दिवो बृहतो दक्षमाभुवं गां न धुर्युप युञ्जाथे अपः॥४॥

१. हे **असुरा**=प्राणशक्ति देनेवाले तथा मलों को दूर फेंकनेवाले प्राणापानो! आपका **प्रक्षितिः**=निवास **सा**=वह है **या**=जो **महि प्रिया**=अत्यन्त प्रिय है। प्राण बल का संचार करता है और अपान दोषों का निरसन करता है, अतः दोनों 'असुरा' कहे गये हैं। एक 'असून् राति'—प्राणों को देता है और दूसरा 'अस्यति' मलों को परे फेंकता है। इनकी साधना से शरीर सुन्दर बना रहता है, अतः इनका निवास 'महि प्रिया' कहा गया है। २. **ऋतावानौ**=ऋत का रक्षण करनेवाले हे प्राणापानो! आप साधकों के जीवन में **बृहत् ऋतम्**=वृद्धि के कारणभूत ऋत को **आघोषथः**=आघोषित करते हो। प्राणसाधक का जीवन ऋतवाला बनता है। **युवम्**=आप दोनों साधक के जीवन में **बृहतः दिवः**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान से **दक्षम्**=उन्नति के कारणभूत (दक्ष=to grow) अथवा कुशलता से किये जानेवाले **आभुवम्**=व्यापक—स्वार्थ के अंश से रहित **अपः**=कर्म को **उपयुञ्जाथे**=उपयुक्त करते हो, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **धुरि गाम्**=जुए में बैलों को जोतते हैं। प्राणसाधक निरन्तर कार्यों में जुता रहता है। उसके कर्म कुशलता से किये जाते हैं और स्वार्थप्रधान नहीं होते।

भावार्थ—प्राणसाधक का जीवन ऋतवाला होता है। इसके कर्म कुशल व निःस्वार्थ होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

वरणीय वस्तुओं की प्राप्ति

मही अत्र महिना वारमृण्वथोऽरेणवस्तुज आ सद्मन्धेनवः।
स्वरन्ति ता उपरताति सूर्यमा निम्रुच उषसस्तक्ववीरिव॥५॥

१. **मही**=महनीय—महत्त्वपूर्ण प्राणापान **अत्र**=यहाँ, इस जीवन में **महिना**=अपनी महिमा से **वारम्**=वरणीय वस्तुओं को **ऋण्वथः**=प्राप्त कराते हैं। ये शरीर में स्वास्थ्य, मन में निर्मलता और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं। २. इस प्राणसाधना से **अरेणवः**=मलिनता से रहित **तुजः**=वासनाओं का संहार करनेवाली (तुज्=to kill) **धेनवः**=ये ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदरूपी गौएँ **सद्मन्**=इस शरीर-गृह में **आ**=आश्रित होती हैं। **ताः**=वे वेदवाणीरूप धेनुएँ **उपरताति**=प्रभु की समीपता में (In proximity, near to) प्राप्त कराती हुई **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **आस्वरन्ति**=खूब ही दीप्त करती हैं। ये धेनुएँ **निम्रुचः**=सायंकालों में व **उषसः**=उषाकालों में **तक्ववीः इव**=अशुभ वासनारूप चोरों को हमसे दूर करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराती है। यह साधना उन ज्ञानवाणियों को प्राप्त कराती है जो वासनाओं को हमसे दूर भगा देती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

कर्म, ज्ञान, स्तवन (गातुं, धियः, मन्मनाम्)

आ वामृताय केशिनीरनूषत मित्र यत्र वरुण गातुमर्चथः।
अव त्मना सृजतं पिन्वतं धियो युवं विप्रस्य मन्मनामिरज्यथः॥६॥

१. **ऋताय**=ऋत की प्राप्ति के लिए **केशिनीः**=ज्ञानरश्मियोंवाली प्रजाएँ **वाम्**=हे प्राणापानो! आपका **अनूषत**=स्तवन करती हैं। प्राणसाधना से जीवन ऋतमय बनता है। हे **मित्र**=प्राण! **वरुण**=अपान! आप **यत्र**=जहाँ होते हो वहाँ **गातुम् अर्चथः**=मार्ग को पूजित करते हो, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला पुरुष अनृत को छोड़ने के कारण सदा सन्मार्ग पर ही चलता है। हे प्राणापानो! आप **त्मना**=स्वयं ही **अवसृजतम्**=सब वासनाओं को हमसे दूर करते हो। **धियः**=बुद्धियों को व ज्ञानपूर्वक होनेवाले कर्मों को **पिन्वतम्**=हममें पूरित करते हो। (वर्धयतम्—सा०)। प्राणसाधना करनेवाला पुरुष वासनाओं से ऊपर उठकर ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला बनता है। हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **विप्रस्य**=(वि प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले पुरुष के **मन्मनाम्**= मननपूर्वक की गई स्तुतियों के **इरज्यथः**=स्वामी होते हो, अर्थात् प्राणसाधक पुरुष मननपूर्वक प्रभुस्तवन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधक (क) सुमार्ग पर चलता है, (ख) बुद्धि को बढ़ाता है, (ग) मननपूर्वक स्तवन करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

यज्ञैः शशमानः

यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति कविर्होता यजति मन्मसाधनः।
उपाह तं गच्छथो वीथो अध्वरमच्छा गिरः सुमतिं गन्तमस्मयू॥७॥

१. हे प्राणापानो! **यः**=जो **वाम्**=आपके प्रति **यज्ञैः शशमानः**=श्रेष्ठतम कर्मों से प्लुत (तीव्र) गतिवाला होता हुआ **ह**=निश्चय से **दाशति**=आत्मसमर्पण करता है, वह **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है। 'प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना में प्रवृत्त होना और यज्ञशील बनना' यह मार्ग है, जिस पर चलने से मनुष्य तीव्र बुद्धि प्राप्त करता है। **होता**=यह सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। **यजति**=यज्ञशील होता है और **मन्मसाधनः**=स्तोत्रों को सिद्ध करनेवाला होता है, अर्थात् सदा प्रभु स्तवन में प्रवृत्त होता है। २. हे प्राणापानो! **अह**=निश्चय से आप **तम्**=उसको **उपगच्छथः**=समीपता से प्राप्त होते हो। इसके जीवन में **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को **वीथः**=आप चाहते हो (कामयेथे—सा०) अर्थात् इनका जीवन यज्ञमय हो जाता है। **अस्मयू**=हमारे हित की कामना करते हुए आप **गिरः अच्छ**=ज्ञान की वाणियों की ओर और सुमतिं (अच्छ) कल्याणी मति की ओर **आ गन्तम्**=(गमयतम्) हमें प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम क्रान्तदर्शी, यज्ञशील व स्तवन की वृत्तिवाले बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

प्राणसाधना से लाभ

युवां यज्ञैः प्रथमा गोभिरञ्जत ऋतावाना मनसो न प्रयुक्तिषु।
भरन्ति वां मन्मना संयता गिरोऽदृप्यता मनसा रेवदाशाथे॥८॥

१. हे प्राणापानो! आप **प्रथमा**=जीवन की साधना में प्रथम स्थान रखते हो। **ऋतावाना**=आप ही ऋतवाले होते हो। आपकी साधना से ही जीवन ऋतवाला बनता है। **युवाम्**=आपको ही **यज्ञैः**=यज्ञों के हेतु से तथा **गोभिः**=ज्ञानवाणियों के हेतु से साधक लोग **अञ्जते**=(अञ्ज्=कान्ति, इच्छा) चाहते हैं। उसी प्रकार चाहते हैं **न**=जैसे कि **मनसः प्रयुक्तिषु**=मन के प्रयोगों में, मन को प्रभु की ओर लगाने में जिस प्रकार प्राणापान साधन बनते हैं, इसी प्रकार प्राणसाधना से मनुष्य

यज्ञों की वृत्तिवाला बनता है और ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला होता है। २. **मन्मना**=स्तवनवाले **संयता**=आपकी ओर सम्यक् जाते हुए चित्त से **वां गिरः**=आपके स्तुतिवचनों को ये साधक **भरन्ति**=धारण करते हैं। आप उन साधकों के लिए **अदृप्यता मनसा**=गर्वशून्य मन के साथ **रेवत्**=धन-सम्पन्न जीवन को **आशाथे**=व्याप्त करते हो—देते हो (ददाथे—सा०)।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान की वाणियाँ, नम्रता तथा ऐश्वर्य प्राप्त होता है और मनो-निरोध होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

देवत्व व मघ

रे॒वद्वयो॑ दधाथे रे॒वदा॑शाथे॒ नरा॑ मा॒याभि॑रि॒तऊ॑ति॒ माहि॑नम्।
न वां॒ द्यावोऽह॑भि॒र्नोत सिन्ध॑वो॒ न दे॑व॒त्वं प॒णयो॒ नान॑शु॒र्म॒घम्॥ ९॥

१. हे प्राणापानो! आप **रेवत्**=ऐश्वर्ययुक्त **वयः**=जीवन को **दधाथे**=धारण करते हो। **रेवत् आशाथे**=ऐश्वर्य-सम्पन्न जीवन को ही व्याप्त करते हो। **नरा**=हमें जीवन में आगे ले-चलनेवाले प्राणापानो! **मायाभिः**=प्रज्ञानों के साथ **इतः ऊति**=इधर से रक्षणवाले, अर्थात् संसार में फँसने से बचानेवाले **माहिनम्**=(Sovereignty, power, dominion) सामर्थ्य को प्राप्त कराते हो। २. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके **देवत्वम्**=देवत्व को—प्रकाश को तथा **मघम्**=ऐश्वर्य को **अहभिः**=कितने ही दिनों से—दिनोंदिन प्रयत्न करते हुए **न द्यावः**=न तो ज्ञानी लोग **उत**=और **न सिन्धवः**=न कर्मों में चलनेवाले लोग और न ही **पणयः**=स्तुति की वृत्तिवाले लोग **आनशुः**=प्राप्त कर पाते हैं, यह बात **न**=नहीं है, अर्थात् आपकी साधना से देवत्व व मघ प्राप्त तो होता है, परन्तु कुछ देर में; दिनोंदिन प्रयत्न करते हुए ज्ञानी, क्रियाशील व उपासक लोग इस देवत्व व मघ को प्राप्त करते ही हैं। गीता में कहा गया है कि 'अनिर्विण्ण चित्त' से यह योग करते ही रहना चाहिए। अन्त में यह हमें प्रकाश व ऐश्वर्य को प्राप्त कराएगा ही।

भावार्थ—यदि दीर्घकाल तक हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होंगे तो यह हमें ऐश्वर्य व प्रकाश प्राप्त करानेवाली होगी। हम ज्ञानी, क्रियाशील व स्तुति की वृत्तिवाले बनेंगे।

विशेष—यह सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व को सुव्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त में प्राणसाधना करनेवाले पति-पत्नी को भी 'मित्रावरुणौ' नाम से स्मरण करते हैं और उनके जीवन का चित्रण करते हैं—

[१५२] द्विपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तेजस्विता, निर्दोषता व ऋत

यु॒वं वस्त्रा॑णि पीव॒सा व॑साथे यु॒वोरच्छि॑द्रा॒ मन्त॑वो ह॒ सर्गाः॑।
अवा॑तिरत॒मनृ॑तानि॒ विश्व॑ ऋ॒तेन॑ मित्रावरुणा सचेथे॥ १॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणसाधना करनेवाले पति-पत्नी! **युवम्**=आप दोनों **वस्त्राणि**=शरीररूप वस्त्रों को **पीवसा**=(प्रभूतेन तेजसा) तेजस्विता के साथ **वसाथे**=आच्छादित करते हो, अर्थात् आप अपने शरीरों को तेजस्वी बनाते हो। २. **युवोः**=आपके **सर्गाः**=(सर्ग=a horse, इन्द्रियाश्व) ये इन्द्रियाश्व **ह**=निश्चय से **अच्छिद्राः**=दोषरहित तथा **मन्तवः**=ज्ञान प्राप्त करनेवाले होते हैं—कर्मेन्द्रियरूप अश्व अछिद्र हैं तो ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व मन्तु हैं। ३. आप **विश्वा**=सब

अनृतानि=अनृतों को **अवातिरतम्**=नष्ट करते हो और **ऋतेन**=ऋत से **सचेथे**=समवेत व संगत होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से पति-पत्नी दोनों के शरीर तेजस्वी बनते हैं, इन्द्रियाँ निर्दोष व ज्ञानसाधक बनती हैं, अनृत का निराकरण व ऋत की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु-दर्शन तक

एतच्चन त्वो वि चिकेतदेषां सत्यो मन्त्रः कविशस्त ऋघावान्।
त्रिरश्रिं हन्ति चतुरश्रिरुग्रो देवनिदो ह प्रथमा अजूर्यन्॥ २॥

१. **एषाम्**=इन प्राणसाधना करनेवालों में **त्वः**=कोई एक **एतत् चन**=इस ब्रह्म को भी **विचिकेतत्**=विशेषरूप से जाननेवाला होता है कि यह ब्रह्म **सत्यः**=सत्यस्वरूप है, **मन्त्रः**=ज्ञानस्वरूप है, **कविशस्तः**=ज्ञानियों से स्तुत्य है और **ऋघावान्**=सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला है। प्राणसाधना का अन्तिम लाभ प्रभु-दर्शन है। यहाँ तक सब कोई नहीं पहुँचता, परन्तु इस साधना को निरन्तर करने पर मनुष्य प्रभु-दर्शन के योग्य बनता ही है। २. कोई प्राणसाधक **चतुरश्रिः**=(चतुरः वेदान् अश्नुते—द०) चारों वेदों को प्राप्त करनेवाला **उग्रः**=तेजस्वी व श्रेष्ठ (noble—आप्टे) बनकर **त्रिरश्रिम्**=(त्रीन् अश्नुते, इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते) इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर आक्रमण करनेवाले काम को **हन्ति**=नष्ट करता है। इसके विपरीत भोगवाद में फँसे हुए और अतएव **देवनिदः**=उस महान् देव प्रभु के निन्दक **प्रथमाः**=प्रथम स्थान पर पहुँचे हुए भी **ह**=निश्चय से **अजूर्यन्**=जीर्ण हो जाते हैं। प्राणसाधना से उन्नति होती है, अतः इस प्राणसाधना में लगे ही रहना चाहिए। प्राणसाधना के छोड़ते ही मनुष्य भोगवाद में फँसता है, प्रभु को भूल जाता है और अपनी शक्तियों को जीर्ण कर बैठता है।

भावार्थ—प्राणसाधना मनुष्य को प्रभु-दर्शन तक ले-चलेगी और उसका त्याग हमारी जीर्णता का कारण बनेगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उषा का पाठ

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्य ऋतं पिपर्त्यनृतं नि तारीत्॥ ३॥

१. प्राणसाधक पति-पत्नी उषा से भी बोध लेते हैं और क्या देखते हैं कि **अपात्**=बिना पाँववाली होती हुई भी **पद्वतीनाम्**=पाँवोंवाली प्रजाओं में **प्रथमा**=सबसे पहले **एति**=प्राप्त होती है। 'हम सोये ही हुए हैं और यह उषा बिना पाँवोंवाली होती हुई भी आ पहुँची है'—यह देखते ही कौन न उठ बैठेगा! हे **मित्रावरुणा**=पति-पत्नी! **वाम्**=आपमें से जो भी **तत् चिकेत**=इस बिना पाँववाली उषा के प्रथमागमन का विचार करता है, वह **कः**=आनन्दमय जीवनवाला होता है। प्रातःकाल उठ जाने से वह अपनी शक्ति को विनष्ट नहीं होने देता। २. **गर्भः**=(यो गृह्णाति सः—द०) उषा के उपदेश को ग्रहण करनेवाला **चित्**=निश्चय से **भारं आ भरति**=(पोषं पुष्णाति, भृ=पोषणे) शक्तियों का पोषण प्राप्त करता है। यह उषा **अस्य**=इस उपासक के जीवन में **ऋतं पिपर्ति**=ऋत का पूरण करती है और **अनृतम्**=अनृत को **नितारीत्**=नष्ट करती है। 'उष दाहे' धातु से निष्पन्न यह उषा अनृत का दहन करती है। सब बुराइयों का दहन करने से

इसे 'उषा' नाम दिया गया है।

भावार्थ—प्राणसाधना करनेवाले पति-पत्नी उषाकाल में प्रबुद्ध होते हैं, अपने जीवन में शक्ति का पोषण करते हैं और अनृत को नष्ट करके ऋत को धारण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्य का पाठ

प्रयन्तमित्परि जारं कनीनां पश्यामसि नोपनिपद्यमानम्।
अनवपृग्णा वितता वसानं प्रियं मित्रस्य वरुणस्य धाम॥४॥

१. उषाकाल 'कनी' है। 'कन दीप्तौ'=यह चमकती है। सूर्य प्राची में आगे बढ़ता है और उषा समाप्त हो जाती है, अतः **कनीनाम्**=इन चमकनेवाली उषाओं के **जारम्**=जीर्ण करनेवाले सूर्य को **प्रयन्तम् इत्**=गति करता हुआ ही **परि पश्यामसि**=सब ओर देखते हैं, **उपनिपद्यमानं न**=इस सूर्य को कभी भी रुकता हुआ नहीं देखते। यह चलता ही है। 'सरतीति सूर्यः'। यह चलता है, इसीलिए चमकता है। सूर्य **अनवपृग्णाः**=चारों ओर फैलती हुई (spreading all around) **वितताः**=किरणों को **वसानम्**=धारण कर रहा है। सूर्य चलता हुआ थकता नहीं। २. बस, सूर्य से हमें भी यही पाठ पढ़ना है कि हम निरन्तर गतिशील हों, क्रिया करते हुए कभी रुक न जाएँ। ऐसा करने पर हम भी सूर्य की भाँति चमक उठेंगे। जो भी पति-पत्नी सूर्य से यह पाठ पढ़ते हैं उन **मित्रस्य वरुणस्य**=पति-पत्नी का **धाम**=गृह **प्रियम्**=अत्यन्त प्रिय होता है। यह घर नीरोगता, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रतावाला होकर बहुत ही शोभावाला होता है।

भावार्थ—सूर्य से गतिशीलता का पाठ पढ़नेवाले पति-पत्नी अपने घर को बड़ा शोभावाला बनाते हैं। इस घर के निवासी सूर्य की भाँति चमकते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

साधक का उत्कृष्ट जीवन

अनश्वो जातो अनभीशुरर्वा कनिक्रदत्पतयदूर्ध्वसानुः।
अचित्तं ब्रह्म जुजुषुर्युवानः प्र मित्रे धाम वरुणे गृणन्तः॥५॥

१. प्राणापान की साधना करनेवाला पुरुष **अनश्वः जातः**=बिना इन्द्रियरूप अश्वोंवाला हो जाता है। इन्द्रियाँ न रहती हों ऐसा तो नहीं, परन्तु अब ये इन्द्रियाँ उसकी स्वामी नहीं रहीं, इन्द्रियों की सत्ता समाप्त हो गई है। इसी प्रकार यह **अनभीशुः**=मनरूप लगाम से रहित हो गया है। अब यह मन के अधीन नहीं रहा। **अर्वा**=मन के अधीन न रहने से ही सब वासनाओं का संहार करनेवाला हुआ है (अर्व=to kill), **कनिक्रदत्**=वासनाओं के संहार के लिए ही प्रभु के गुणों का गर्जन करता हुआ स्मरण करता है। प्रभु के नामों का उच्च स्वर से उच्चारण करता है, **पतयत्**=गतिशील होता है, **ऊर्ध्वसानुः**=ज्ञान के उत्कृष्ट शिखर पर पहुँचता है, ऊर्ध्वादिक् का अधिपति बृहस्पति बनता है। २. ये **युवानः**=बुराइयों को अपने से पृथक् करनेवाले और अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाले युवक **अचित्तं ब्रह्म**=उस अचिन्तनीय—चिन्तन का विषय न बननेवाले परमात्मा का **जुजुषुः**=प्रीतिपूर्वक उपासन करते हैं और **मित्रे वरुणे**=मित्र और वरुण में रहनेवाले **धाम**=तेज का **प्रगृणन्तः**=प्रकर्षेण स्तवन करते हैं। प्राणापान की शक्ति का शंसन करते हुए प्राणायाम द्वारा उस शक्ति को अपने में संचित करते हैं। 'मित्रे, वरुणे' का भाव

स्नेह व निर्द्वेषता की वृत्ति भी है। इन वृत्तियों में निहित तेज के महत्त्व का स्मरण करते हुए वे इन्हें अपनाने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—साधक इन्द्रियों व मन का पूर्ण पराजय करके गतिशील व उत्कृष्ट ज्ञानी होता है। ब्रह्म का स्मरण करते हुए सबके प्रति स्नेहवाला व निर्द्वेष बनता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ब्रह्मकामी

आ धेनवो मामतेयमवन्तीर्ब्रह्मप्रियं पीपयन्त्सस्मिन्नूधन्।
पित्वो भिक्षेत वयुनानि विद्वानासाविवासन्नदितिमुरुष्येत्॥ ६॥

१. गतमन्त्र में ब्रह्म की उपासना का वर्णन था। यह उपासक अन्ततः ब्रह्मकामी बनता है, ब्रह्म में ही विचरने लगता है। प्रारम्भ में यह 'मामतेय' था। ममता का पुत्र, अर्थात् सांसारिक विषयों में ममतावाला था। इस **मामतेयम्**=मामतेय को, जोकि पीछे **ब्रह्म-प्रियम्**=ब्रह्म की रुचिवाला बन गया **धेनवः**=ज्ञान-दुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौएँ **अवन्तीः**=रक्षित करती हुईं **सस्मिन्**=अपने (स्वकीये—सा०) **ऊधन्**=ज्ञानरूप दूध में **आपीपयन्**=समन्तात् आप्यायित करती हैं, अर्थात् इसके जीवन को निर्दोष बनाकर सब प्रकार से बढ़ानेवाली होती हैं। पूर्ण विकास होने पर यह संन्यस्त होता है। २. यह **वयुनानि विद्वान्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाला ब्रह्माश्रमी (ब्रह्म-प्रिय) **पित्वः भिक्षेत्**=शरीर-धारण के लिए आवश्यक अन्नों का ही भिक्षण करे, 'भैक्ष्यचर्यं चरन्तः'=भिक्षा से जीवन बिताये। **आसा**=मुख से **आविवासन्**=प्रभु का पूजन करे, अर्थात् प्रभु के स्तोत्रों व नामों का जप करे और **अदितिम्**=अखण्डन को, अपने स्वास्थ्य को **उरुष्येत्**=रक्षित करे।

भावार्थ—ब्रह्माश्रमी का कर्त्तव्य है कि—(क) भिक्षा से जीवनयात्रा करे, (ख) सदा प्रभु-नाम स्मरण करे, (ग) स्वास्थ्य को ठीक रखे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दिव्यवृष्टि

आ वां मित्रावरुणा हव्यजुष्टिं नमसा देवाववसा ववृत्याम्।
अस्माकं ब्रह्म पृतनासु सह्या अस्माकं वृष्टिर्दिव्या सुपारा॥ ७॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **देवौ**=आप हमारे सब शत्रुओं को विजय करनेवाले हो (दिवु विजिगीषा)। मैं **वाम्**=आपके **हव्यजुष्टिम्**=दानपूर्वक अदन के द्वारा प्रीतिपूर्वक सेवन को **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नमसा**=नम्रता के साथ **आववृत्याम्**=सदा अपने में प्रवृत्त करूँ। प्राणसाधना आवश्यक है, यही हमारे दोषों को दूर करेगी। इस प्राणसाधना के लिए हव्य का सेवन आवश्यक है। त्यागपूर्वक अदन के साथ यह भी आवश्यक है कि हम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें। यह प्राणसाधना हमें सब रोगों व रागों से बचाएगी। हे प्राणापानो! **अस्माकं ब्रह्म**=हमारा ज्ञान **पृतनासु**=संग्रामों में **सह्या**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला हो। ज्ञान के द्वारा हम शत्रुओं को जीतें। काम-क्रोधादि से ऊपर उठें। ऊपर उठते-उठते हम सहस्रार-चक्र तक पहुँच सकें तो उस समय धर्ममेघ समाधि में **अस्माकम्**=हमारी **दिव्या वृष्टिः**=अलौकिक आनन्द की वर्षा **सुपारा**=उत्तमता से हमें इस भवसागर से पार ले-जानेवाली हो। उस दिव्य आनन्दवृष्टि की तुलना में हमारे लिए सांसारिक सुख अत्यन्त तुच्छ हो जाएँ।

भावार्थ—प्राणायाम की साधना से हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जो वासनाओं का विनाशक होता है और हमें धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली दिव्य आनन्द की वृष्टि का अनुभव होता है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना से होनेवाले उत्कर्ष का चित्रण करता है। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१५३] त्रिपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

हव्य, नमस्, धीति

यजामहे वां महः सजोषा हव्येभिर्मित्रावरुणा नमोभिः।
घृतैर्घृतस्नू अध यद्वामस्मे अध्वर्यवो न धीतिभिर्भरन्ति॥ १॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **हव्येभिः**=हव्यों के द्वारा—यज्ञीय पदार्थों के द्वारा, यज्ञिय पदार्थों के ही सेवन द्वारा तथा **नमोभिः**=नमनों के द्वारा **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतियुक्त हुए-हुए हम **वां महः**=आपके तेज को **यजामहे**=अपने साथ संगत करते हैं। प्राणापान की शक्ति के वर्धन के लिए हम (क) हव्य पदार्थों का सेवन करते हैं और (ख) नमन व उपासन की वृत्ति को अपनाते हैं, इस कार्य में सदा उत्साह बनाये रखते हैं, क्योंकि यह साधना तो 'दीर्घकाल, नैरन्तर्य व आदरपूर्वक' चलकर ही दृढ़-भूमि होती है। प्राणायाम आदि योगाङ्गों का लाभ एक दिन में ही तो दृष्टिगोचर नहीं हो जाता। २. **अध**=अब **यत्**=क्योंकि **वाम्**=आप दोनों **अस्मे**=हमारे लिए **घृतस्नू**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण व दीप्ति के प्रापण के द्वारा हमारे जीवन में घृत का स्नावण करनेवाले हो, इसलिए **अध्वर्यवः**=अध्वररूप कर्मों को अपने साथ युक्त करनेवालों के समान बने हुए लोग **धीतिभिः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के द्वारा आपको अपने में **भरन्ति**=धारण एवं पोषण करते हैं। एवं, प्राणापान का पोषण 'हव्य, नमस् व धीति' के द्वारा होता है।

भावार्थ—हम प्राणापान का पोषण करें। इसके लिए (क) हव्य पदार्थों का ही सेवन करें, (ख) नम्रता की वृत्तिवाले हों, प्रभु के प्रति नमन करें, (ग) ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'प्रस्तुति, प्रयुक्ति, सुवृक्ति'

प्रस्तुतिर्वां धाम न प्रयुक्तिरयामि मित्रावरुणा सुवृक्तिः।
अनक्ति यद्वां विदथेषु होता सुम्नं वां सूरिर्वृषणावियक्षन्॥ २॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! मैं **वाम्**=आपका **प्रस्तुतिः**=प्रकर्षेण स्तुति करनेवाला बनता हूँ। मैं इसी प्रकार आपका स्तोता बनता हूँ **न**=जैसे कि **धाम प्रयुक्ति**=आपके तेज को अपने साथ संयुक्त करता हूँ। इस प्रकार आपका स्तवन करता हुआ और आपके तेज को अपने साथ जोड़ता हुआ **सुवृक्तिः**=दोषों का अच्छी प्रकार वर्जन करनेवाला होता हुआ **अयामि**=गति करता हूँ। प्राणसाधना का परिणाम इन्द्रियों के दोषों का दहन ही तो है। २. **यत्**=जब **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **वाम्**=आप दोनों को **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **अनक्ति**=अलंकृत करता है, उस समय वह **सूरिः**=ज्ञानी पुरुष हे **वृषणौ**=शक्तिशाली प्राणापानो! **वाम्**=आपके **सुम्नम्**=सुख व आनन्द को अपने साथ **इयक्षन्**=संगत करता है। प्राणसाधना से

शरीर स्वस्थ, मन निर्मल और बुद्धि तीव्र बनती है। इस प्रकार यह प्राणसाधना साधक को अद्भुत आनन्द प्राप्त कराती है, इसलिए प्राणों की स्तुतिवाला बनकर मैं 'प्रस्तुति' होता हूँ, इन प्राणों के तेज को अपने साथ जोड़नेवाला 'प्रयुक्ति' होता हूँ और इस साधना से दोषों का दूरीकरण करके मैं 'सुवृक्ति' बनता हूँ।

भावार्थ—प्राणापान की साधना करनेवाला मैं 'प्रस्तुति, प्रयुक्ति व सुवृक्ति' बनता हूँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'रातहव्य, मानुष, होता'

पीपाय धेनुरदितिर्ऋताय जनाय मित्रावरुणा हविर्दे।
हिनोति यद्वां विदथे सपर्यन्त्स रातहव्यो मानुषो न होता॥ ३॥

१. हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! आपकी साधना करनेवाले **ऋताय**=ऋतमय जीवनवाले व्यक्ति के लिए **जनाय**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले व्यक्ति के लिए और **हविर्दे**=हवि के देनेवाले व्यक्ति के लिए **अदितिः**=अविनाशी **धेनुः**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौ **पीपाय**=आप्यायन करनेवाली होती है। प्राणसाधना करनेवाला व्यक्ति 'ऋत, जन व हविर्द' बनता है और वेदवाणी इसकी शक्तियों को बढ़ाती है। २. **यत्**=जब यह साधक **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **सपर्यन्**=आपका पूजन करता हुआ **वाम्**=आपको **हिनोति**=अपने में प्रेरित करता है तब **सः**=वह **रातहव्यः**=हव्यों को देनेवाला, अर्थात् अग्निहोत्र आदि यज्ञों को करनेवाला, **मानुषः न**=विचारशील पुरुषों के समान होता है और **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य ऋतमय जीवनवाला, शक्तियों का विकास करनेवाला, हवि देनेवाला व विचारशील बनता है। इसके लिए वेदवाणी ज्ञानदुग्ध देकर इसकी शक्तियों का विकास करती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वीर्य, गोदुग्ध व जल

उत वां विक्षु मद्यास्वन्धो गाव आपश्च पीपयन्त देवीः।
उतो नो अस्य पूर्व्यः पतिर्दन्वीतं पातं पयस उस्रियायाः॥ ४॥

१. **उत**=और **वाम्**=आपको—प्राणापान को **मद्यासु**=हर्षस्वभाववाली **विक्षु**=प्रजाओं में **पीपयन्त**=आप्यायित करते हैं। कौन? (क) **अन्धः**=आप्यायनीय सोम—रक्षण करने के योग्य वीर्य-शक्ति, (ख) **गावः**=गोदुग्ध, (ग) **च**=और **देवीः आपः**=दिव्यगुणोंवाले जल। वीर्य के रक्षण से, गोदुग्ध तथा जलों के समुचित प्रयोग से शरीर में प्राणापान की शक्ति बढ़ती है। स्नान के लिए स्पञ्जिग के रूप में जलों का प्रयोग प्राणापान की शक्ति का वर्धन करता है। इसी प्रकार पीने के लिए उष्ण जल का प्रयोग प्राणशक्ति को क्षीण नहीं होने देता। २. **उत**=और **उ**=निश्चय से **नः**=हमें **पूर्व्यः पतिः**=इस ब्रह्माण्ड का मुख्य स्वामी प्रभु **अस्य दन्**=इस प्राणशक्ति को देनेवाला हो। हे प्राणापानो! आप **उस्रियायाः**=इस वेद-धेनु के **पयसः**=ज्ञानदुग्ध का **वीतम्**=भक्षण करो और **पातम्**=उसका पान व रक्षण करो। प्रभु-स्तवन से वासनाओं का निराकरण होकर हमारी प्राणशक्ति का वर्धन हो और प्राणशक्ति के वर्धन से तीव्र बुद्धिवाले होकर हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—वीर्यरक्षण, गोदुग्ध व जल के प्रयोग से प्राणशक्ति में वृद्धि होती है। इस प्राणशक्ति के वर्धन से तीव्रबुद्धि होकर हम ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाले बनते हैं।

विशेष—इस सूक्त में प्राणसाधना के लाभों व उपायों का निर्देश हुआ है। अब अगले सूक्त में प्राणशक्ति देनेवाले प्रभु का उपासन करने का वर्णन है—

[१५४] चतुष्पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उरुगाय विष्णु

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ १॥

१. **नु कम्**=अब मैं शीघ्र **विष्णोः**=सर्वव्यापक प्रभु के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कार्यों को **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ, **यः**=जो विष्णु **पार्थिवानि रजांसि**=इन पार्थिव लोकों को—पृथिवीतत्त्वप्रधान लोकों को **विममे**=विशेष मानपूर्वक बनाता है। २. इन पार्थिव लोकों को बनाने के साथ **यः**=जो विष्णु **उत्तरम्**=उत्कृष्ट **सधस्थम्**=मुझ जीव के ब्रह्म के साथ रहने के स्थानभूत द्युलोक को **अस्कभायत्**=आधार देता है। विष्णु द्यावापृथिवी का निर्माण व धारण करनेवाले हैं। **त्रेधा विचक्रमाणः**=वे तीन प्रकार से विशेषरूप से चरण रखनेवाले हैं। इन चरणों में वे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व संहार का कारण होते हैं, अथवा इन चरणों में वे ज्ञान, कर्म व उपासना का उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे प्रभु **उरुगायः**=खूब ही गायन के योग्य हैं।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु पार्थिव लोकों को बनाते हैं, द्युलोक को थामते हैं। उत्पत्ति, स्थिति व संहार करनेवाले वे प्रभु खूब ही गान करने योग्य हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

त्रि-विक्रम विष्णु

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥ २॥

१. **तत् विष्णुः**=वे विष्णु **वीर्येण**=अपने शक्तिशाली कर्मों से **प्र स्तवते**=प्रकर्षेण स्तुति किये जाते हैं। प्रभु की शक्ति का सब कोई स्तवन करता है। वे प्रभु **मृगः**=स्तोताओं के जीवन का शोधन करनेवाले हैं (मृजू शुद्धौ) **भीमः न**=उपासकों के लिए वे भयंकर नहीं हैं। उपासकों को प्रभु से भय नहीं होता। उपासक का जीवन शुद्ध और परिणामतः निर्भय बना रहता है। २. **कुचरः**=(क्वायं न चरति) वे प्रभु कहाँ नहीं हैं, अर्थात् वे सर्वव्यापक हैं, **गिरिष्ठः**=वेदवाणियों में स्थित हैं, ज्ञान की सब वाणियों के वे ही अधिष्ठाता हैं। इन्हीं के द्वारा हमें प्रभु का प्रकाश मिलता है। ३. ये विष्णु वे हैं **यस्य**=जिनके **उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु**=तीन विशिष्ट चरणों में उत्पत्ति, स्थिति, संहाररूप कार्यों में अथवा ज्ञान, कर्म, उपासना के उपदेशों में **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **अधिक्षियन्ति**=निवास करते हैं। सब प्राणियों का आधार प्रभु के ये तीन कदम ही हैं।

भावार्थ—प्रभु के तीन कदमों में ही सब प्राणियों व लोकों का निवास है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गिरिक्षित् विष्णु

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥ ३॥

१. **विष्णवे**=उस सर्वव्यापक प्रभु के लिए **शूषम्**=सब शत्रुओं का शोषण करनेवाला **मन्म**=मननीय स्तोत्र **प्र एतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। जब हम प्रभु का स्तवन करते हैं तब उस स्तवन का परिणाम हमारे जीवनों में यह होता है कि काम-क्रोधादि शत्रु नष्ट हो जाते हैं। २. उस विष्णु के लिए मेरा स्तोत्र हो जो **गिरिक्षिते**=वेदवाणी में निवास करनेवाले हैं, वेदवाणी से जिनका प्रकाश प्राप्त होता है, **उरुगायाय**=वे प्रभु खूब ही गायन के योग्य हैं और **वृष्णे**=सुखों का वर्षण करनेवाले व शक्तिशाली हैं। ३. विष्णु वे हैं **यः**=जो **एकः**=अद्वितीय अकेले ही **इदम्**=इस **दीर्घम्**=विशाल **प्रयतम्**=(प्रकर्षेण यतम्) पूर्णरूप से नियन्त्रित **सधस्थम्**=सब लोकों के एकत्र स्थित होने के स्थान अन्तरिक्ष को **त्रिभिः इत् पदेभिः**=उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयात्मक कर्मों से **विममे**=विशेषरूप से निर्माण करते हैं। इस विशाल अन्तरिक्ष को प्रभु ने सब लोकों का आधार बनाया है। इसका वे धारण कर रहे हैं और अन्त में इसको वे अपने में लय कर लेंगे।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन वासनाओं का शोषण करता है। वेदवाणियों द्वारा प्रभु का स्तवन होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तीन मधुर चरण

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥ ४॥

१. **यस्य**=जिस प्रभु के **त्री**=तीनों **पदानि**=चरण **मधुना पूर्णा**=मधु से पूर्ण हैं। प्रभु के उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय सभी कर्म माधुर्यवाले हैं। प्रलय भी रात्रि की भाँति विश्रान्ति का कारण होती हुई मधुर ही है। ये उत्पत्ति आदि तीनों ही कार्य **अक्षीयमाणा**=कभी नष्ट न होते हुए **स्वधया**=आत्मधारण-शक्ति से **मदन्ति**=(मादयन्ति) सब लोकों को आनन्दित करते हैं। प्रभु की सब क्रियाएँ जीवहित के लिए हैं। इन क्रियाओं को हम समझें और इन उत्पन्न वस्तुओं का ठीक प्रयोग करें तो आनन्द-ही-आनन्द है। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **उ**=निश्चय से **एकः**=अकेले ही **पृथिवीम्**=पृथिवी को उत=और **द्याम्**=द्युलोक को **विश्वा भुवनानि**=इसमें स्थित सब लोकों को **त्रिधातु**=(त्रयाणां धातूनां समाहारेण यथा स्यात्तथा) सत्त्व, रजस्, तमस् रूप तीनों धातुओं के द्वारा **दाधार**=धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु के तीनों चरण माधुर्य से पूर्ण हैं। उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप तीनों कार्य जीव के जीवन को मधुर बनाने के लिए हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विष्णु के परमपद में मधु का उत्स

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥ ५॥

१. मैं **अस्य**=इस **उरुक्रमस्य**=विशाल पराक्रमवाले अथवा विशाल व्यवस्थावाले प्रभु के **तत्**=उस **प्रियम्**=प्रीतिजनक **पाथः**=मुक्ति के स्थानभूत अन्तरिक्षलोक को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ, **यत्र**=जिसमें **देवयवः**=उस महादेव प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले **नरः**=मनुष्य **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु ही **इत्था**=सचमुच **बन्धुः**=हमारे बन्धु हैं। अन्य बन्धुओं

के बन्धुत्व में थोड़ा-बहुत स्वार्थ है, परन्तु प्रभु का बन्धुत्व केवल जीवप्रीति के कारण है। ३. **विष्णोः**=इस विष्णु के **परमे पदे**=सर्वोत्कृष्ट स्थान में—प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर उस परमात्मा के तृतीय धाम में (तृतीये धामन्) **मध्वः उत्सः**=माधुर्य का झरना है। प्रभु-प्राप्ति में ही सच्चा एवं सर्वोत्कृष्ट आनन्द है।

भावार्थ—देवयु बनकर मैं मोक्षलोक को प्राप्त करूँ। प्रभु के इस परमपद में माधुर्य का स्रोत है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गौएँ व किरणें

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मोक्षलोक को प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम बात यह है कि हम स्वस्थ हों। स्वास्थ्य के लिए उपयोगी गृह वे हैं जहाँ कि गौएँ व किरणें प्रविष्ट होती हैं। इसी बात को कहते हुए प्रार्थना करते हैं कि—**वाम्**=आप पति-पत्नी के **गमध्यै**=आने-जाने के लिए **ता वास्तूनि**=उन घरों को **उश्मसि**=चाहते हैं **यत्र**=जहाँ **भूरिशृङ्गाः**=बड़े व सुनहरी (भूरि=gold) सींगोंवाली **गावः**=गौएँ **अयासः**=(अयन्तः) आनेवाली होती हैं, दिनभर वायु से सम्पर्क में चरागाहों में घूम-फिरकर जिन घरों में गौएँ लौटती हैं। अथवा यत्र=जहाँ भूरिशृङ्गाः=सुनहरे शिखरोंवाली अथवा रोगों का शमन करने की शक्तिवाली (शृङ्गं शृणातेः—निरु०) गावः=सूर्यकिरणें अयासः=प्रवेश करनेवाली होती हैं। २. **अत्र**=इस घर में **अह**=ही **तत्**=वह **उरुगायस्य**=खूब गायन करने योग्य **वृष्णः**=शक्तिशाली व सुखवर्धक प्रभु का **परमं पदम्**=सर्वोत्कृष्ट स्थान **भूरि**=खूब **अवभाति**=दीप्तिवाला होता है, अर्थात् ऐसे ही घरों में जीवन्मुक्त पुरुषों का निवास होता है। गौओं का दूध स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है और सूर्यकिरणों का प्रवेश भी उतना ही आवश्यक है। सूर्यकिरणें रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली होती हैं। गोदुग्ध प्राणशक्ति का समुचित वर्धन करता है। इस प्रकार पूर्ण स्वस्थ बना हुआ यह पुरुष मोक्ष-मार्ग पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—घर वे ही हैं जहाँ गौओं व सूर्यरश्मियों का प्रवेश हो। ऐसे घरों में ही मनुष्य मुक्तात्मा बनने में समर्थ होते हैं।

विशेष—सारे सूक्त में विष्णु का स्तवन है। समाप्ति पर विष्णु के इस परम पद को प्राप्त करने का उल्लेख है। उसके लिए घरों का नीरोग वातावरण अपेक्षित है। ऐसे घर वे ही हो सकते हैं जहाँ कि गौएँ व सूर्यरश्मियाँ सदा प्रविष्ट होती हैं। अगले सूक्त में भी इन्द्र व विष्णु का स्तवन है—

[१५५] पञ्चपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विष्णु का अर्चन

प्र वः पान्तमन्धसो धियायते महे शूराय विष्णवे चार्चत।
या सानुनि पर्वतानामदाभ्या महस्तस्थतुरर्वतेव साधुना॥ १॥

१. हे प्रजाओ! **अन्धसः**=सोम=वीर्य के द्वारा **वः**=तुम्हारा **पान्तम्**=रक्षण करनेवाले प्रभु को **अर्चत**=पूजो! उस प्रभु की तुम अर्चना करो जो कि **धियायते**=अपनी प्रजाओं से बुद्धिपूर्वक कर्मों की कामना करते हैं, **महे**=महान् हैं, **शूराय**=शूरवीर के रूप में हमारे शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं। प्रभु शूरवीर हैं। वे उपासकों को भी शूरवीर बनने की प्रेरणा करते हैं। उपासकों को चाहिए कि वे शूरवीर=जितेन्द्रिय बनकर बुद्धिपूर्वक ही कार्यों को करें। उस महान् शत्रु-संहारक प्रभु का स्मरण करता हुआ यह स्वयं भी महान् व कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाला बने। २. **च**=और **विष्णवे** (अर्चत)=उस व्यापक प्रभु का पूजन करो। प्रभु की व्यापकता के गुण को हम भी धारण करने का प्रयत्न करें। ३. विष्णु की उपासना करते हुए उपासक भी विष्णु बनकर ऐसे बनते हैं **या**=जो **अदाभ्या**=वासनाओं से हिंसित न होते हुए **महः**=तेज के पुञ्ज बनते हुए **पर्वतानाम्**=अपना पूरण करनेवालों के **सानुनि**=शिखर-प्रदेश पर **तस्थतुः**=स्थित होते हैं, **इव**=उसी प्रकार स्थित होते हैं जैसे कि **साधुना अर्वता**=उत्तम घोड़े से कोई भी व्यक्ति अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है। ४. विष्णु के रूप में प्रभु की उपासना करता हुआ व्यक्ति विष्णु ही बनता है और अपनी न्यूनताओं को दूर करता हुआ उन्नति-पर्वत के शिखर पर पहुँचता ही है।

भावार्थ—हम विष्णु का उपासन करते हुए विष्णु ही बनें और उन्नति-पर्वत के शिखर पर पहुँचने का लक्ष्य रक्खें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सुतपा ही अर्चना करता है

त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति।
या मर्त्याय प्रतिधीयमानमित्कृशानोरस्तुरसनामुरुष्यथः ॥ २॥

१. **शिमीवतोः**=शान्तभाव से अपने कर्मों को करनेवाले इन्द्र और विष्णु का **समरणम्**=गमन **इत्था**=सचमुच **त्वेषम्**=दीप्त होता है। इनके कार्य दीप्ति से युक्त होते हैं। २. हे **इन्द्राविष्णू**=सर्वशक्तिमान् (इन्द्र) व सर्वव्यापक (विष्णु) प्रभो! **सुतपाः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का रक्षण करनेवाला उपासक ही **वाम्**=आपको **उरुष्यति**=अपने जीवन में रक्षित करता है और इस प्रकार आपको अपने में धारण करता हुआ आपकी सच्ची स्तुति करता है। ३. यह उन आपका स्तवन करता है **या**=जो आप **मर्त्याय**=मनुष्य के लिए **प्रतिधीयमानम् इत्**=निश्चय से धारण किये जाते हुए (धारण किये जाने योग्य) **असनाम्**=(असति=to shine) शरीर में दीप्ति प्राप्त करानेवाले अन्न को **अस्तुः कृशानोः**=अपने में आहुत अन्न व घृत को सूर्य तक फेंकनेवाली (असु क्षेपणे) अग्नि के द्वारा **उरुष्यथः**=(अविच्छेदेन प्रवर्तयथः—सा०) निरन्तर प्राप्त कराते हैं। अग्नि में किये गये इन यज्ञों से पर्जन्य=बादल होता है और उससे अन्न उत्पन्न होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाला इन्द्र और विष्णु का उपासक बनता है। ये इन्द्र और विष्णु यज्ञों के द्वारा उपासक को दीप्ति देनेवाला अन्न प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तृतीयाश्रम-प्रवेश

ता ईं वर्धन्ति मह्यस्य पौंस्यं नि मातरा नयति रेतसे भुजे।
दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधि रोचने दिवः॥ ३॥

१. **ता**=वे इन्द्र और विष्णु **ईम्**=निश्चय से **अस्य**=इस उपासक के **महि पौंस्यम्**=महनीय अथवा महान् बल को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। २. इस प्रकार बढ़े हुए बलवाला उपासक अपने इस

सामर्थ्य को **मातरा**=द्यावापृथिवी में—मस्तिष्क व शरीर में **निनयति**=विशेषरूप से प्राप्त कराता है। इसलिए प्राप्त कराता है कि **रेतसे**=शरीर में वीर्य की वृद्धि के लिए, इस रेतस् के द्वारा उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए तथा **भुजे**=रोगों से अपना रक्षण करने के लिए। ३. इस प्रकार एक घर में जब **पुत्रः**=सन्तान **अवरम्**=अपने से पीछे आनेवाले सन्तान को **दधाति**=धारण करता है, अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जाता है तो उस समय **पितुः**=पिता का **नाम**=नाम **परम्**=और उत्कृष्ट हो जाता है—पिता 'पितामह' बन जाता है। अब इस पितामह का **तृतीयम्**=तृतीय आश्रम प्रारम्भ होता है और यह **दिवः**=प्रकाश के **अधिरोचने**=आधिक्येन दीप्तिवाले लोक में निवास करता है, अर्थात् पिता 'पितामह' बनने पर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है और इस आश्रम में वह सतत स्वाध्याय में प्रवृत्त हुआ जीवन को प्रकाशमय बनाता है—सदा प्रकाश में विचरण करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—इन्द्र और विष्णु उपासक के सामर्थ्य को बढ़ाते हैं। यह सामर्थ्य उसके शरीर को रेतः-शक्तिसम्पन्न करता है और रोगों से बचाता है। इस रेतस् के द्वारा जब वह सन्तान प्राप्त करता है, तब इसके पिता 'पितामह' बनकर तृतीयाश्रम में प्रवेश करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

इन, त्राता, अवृक, मीढ्वान्

तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसीनस्य त्रातुरवृकस्य मीळ्हुषः।
यः पार्थिवानि त्रिभिरिद्विगामभिरुरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे॥ ४॥

१. **अस्य**=इस सर्वव्यापक विष्णु के **इत्**=निश्चय से **तत् तत्**=उस-उस प्रसिद्ध **पौंस्यम्**=पराक्रम को **गृणीमसि**=हम स्तुत करते हैं, जो प्रभु **इनस्य**=सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं, **त्रातुः**=सारे ब्रह्माण्ड का रक्षण करनेवाले हैं, **अवृकस्य**=(वृक आदाने) हमसे कुछ लेनेवाले नहीं—किसी प्रकार के स्वार्थ के बिना हमारा हित करनेवाले हैं, **मीळ्हुषः**=सबपर सुखों का सेचन करनेवाले हैं। प्रभु की प्रत्येक क्रिया जनहित के लिए ही है। २. प्रभु वे हैं जो कि **इत्**=निश्चय से **त्रिभिः**=तीन **विगामभिः**=विशिष्ट गमनों के द्वारा **पार्थिवानि**=इन पार्थिव लोकों को **उरु क्रमिष्ठ**=खूब ही (क्रम्=to pervade, to fill) व्याप्त किये हुए हैं, उस **उरुगायाय**=विशाल गमनोंवाले प्रभु के लिए हम स्तवन करते हैं ताकि **जीवसे**=हम प्रकृष्ट जीवन बिता सकें, अथवा दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु का उपासक भी उपास्य प्रभु की भाँति 'इन, त्राता, अवृक व मीढ्वान्' बनता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्ञेय दो क्रमण तथा अज्ञेय तृतीय क्रमण

द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥ ५॥

१. प्रभु के तीन **क्रमण**=उद्योग हैं—प्रथम पृथिवी के निर्माण के रूप में, दूसरा अन्तरिक्ष के निर्माण के रूप में और तीसरा क्रमण द्युलोक का निर्माण है। **अस्य स्वर्दृशः**=इस सर्वद्रष्टा प्रभु के **इत् द्वे**=दो ही **क्रमणे**=क्रमणों को पृथिवी व अन्तरिक्ष को **अभिख्याय**=देख व

समझकर **मर्त्यः**=मनुष्य **भुरण्यति**=अपना भरण करता है अथवा (भजते—सा०) प्रभु का उपासन करता है। पृथिवी पर निवास करता हुआ मनुष्य पृथिवी को तो बहुत-कुछ जान ही लेता है, वृष्टि आदि के कारण अन्तरिक्ष से भी इसका परिचय बनता है। पृथिवी और अन्तरिक्ष में प्रभु की महिमा को देखकर यह प्रभु का भजन करता है। २. **अस्य**=इस प्रभु के **तृतीयम्**=द्युलोकरूप तृतीय क्रमण को **नकिः आ दधर्षति**=कोई भी पूर्णरूप से धर्षण नहीं कर पाता है। द्युलोक के आदि-अन्त का चिन्तन करती हुई इसकी बुद्धि भी आकुल हो जाती है और कुछ नहीं समझ पाती। ये **पतत्रिणः**=पंखोंवाले **पतयन्तः**=उड़ते हुए **वयः चन**=पक्षी भी इस द्युलोक का **धर्षण**=पराभव नहीं कर पाते। तीव्र गति से उड़ते हुए ये पक्षी भी आकाश के आदि-अन्त को नहीं देख पाते। अनन्त विस्तारवाला यह द्युलोक है। इसका कहीं आदि-अन्त नहीं। इस द्युलोकरूपी तृतीय क्रमणवाले प्रभु की महिमा का भी कहीं अन्त नहीं।

भावार्थ—प्रभु के दो क्रमण (पृथिवी+अन्तरिक्ष) ही हमारे ज्ञान का विषय बनते हैं, तीसरे द्युलोकरूपी क्रमण के आदि-अन्त को कोई नहीं जानता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विष्णुः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

कालचक्र-प्रवर्तक

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत्।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम्॥ ६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को कालचक्र के प्रवर्तक के रूप में स्मरण करते हैं। यह कालचक्र भिन्न-भिन्न नामों से चौरानवे भागोंवाला है—संवत्सर १, अयन (उत्तरायण, दक्षिणायन) २, ऋतुएँ ५ (शिशिर व हेमन्त को मिला दिया है), मास १२, अर्धमास (शुक्ल व कृष्णपक्ष) २४, दिवस ३०, याम (प्रहर) ८, लग्न (मेष-वृषादि) १२। ये सब गतियाँ हैं। विशेषरूप से गतिवाला होने के कारण इन्हें यहाँ 'व्यति' (वि+अत्) कहा गया है। **नामभिः**=भिन्न-भिन्न नामों से **चतुर्भिः साकम्**=चार के साथ **नवतिं च**=नव्वे अर्थात् कुल चौरानवे भागोंवाले **चक्रं न वृत्तम्**=एक चक्र के समान गोलाकार **व्यतीन्**=विशिष्ट गतिवाले इन कालचक्रावयवों को **अवीविपत्**=वे प्रभु कम्पित कर रहे हैं। प्रभु ही इस कालचक्र को चला रहे हैं। २. **बृहत् शरीरः**=वे प्रभु इस ब्रह्माण्डरूप शरीरवाले हैं, **विमिमानः**=सब लोक-लोकान्तरों को विशेष मानपूर्वक वे चला रहे हैं, **ऋक्वभिः**=विज्ञानों के द्वारा **युवा**=वे प्रभु ही हमारी बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को हमारे साथ सम्पृक्त करनेवाले हैं। **अकुमारः**=(अ+कु+मारः) इस पृथिवी को नष्ट न होने देनेवाले हैं। ज्ञान के द्वारा प्रभु हमारे जीवनों से अशुभ को दूर करते हैं और इस प्रकार पृथिवी का रक्षण होता है। वे प्रभु **आहवं प्रति एति**=हमारी पुकार को सुनकर हमारे प्रति आते हैं। हमें उस-उस प्रार्थ्य वस्तु को प्राप्त करने के साधनों का उपदेश (प्रेरणा) देते हैं और उनको प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही कालचक्र के प्रवर्तक हैं। वे ब्रह्माण्डरूप शरीरवाले प्रभु हमारी पुकार को सुनकर हमें प्रार्थनीय वस्तु की प्राप्ति के मार्ग का उपदेश देते हैं और इस प्रकार जीवनों को बुराई से रहित व अच्छाई से युक्त करते हैं।

विशेष—इस सूक्त में विष्णु के तीन क्रमणों का सुन्दरता से चित्रण हुआ है। अगला सूक्त भी प्रभु के ही आराधन से आरम्भ होता है—

[१५६] षट्पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—विष्णुः । **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप् । **स्वरः**—धैवतः ।

स्तोत्र व यज्ञ

भवा मित्रो न शेव्यो घृतासुतिर्विभूतद्युम्न एवया उ सप्रथाः ।
अधा ते विष्णो विदुषा चिदर्ध्यः स्तोमो यज्ञश्च राध्यो हविष्मता ॥ १ ॥

१. हे **विष्णोः**=सर्वव्यापक प्रभो! आप **मित्रः न**=(प्रमीतेः, त्रायते) मृत्यु व पाप से बचानेवाले साथी के समान **शेव्यः**=सुख देनेवाले **भव**=होओ। आप **घृतासुतिः**=हमारे जीवनों में घृत उत्पन्न करनेवाले हैं। 'घृत' का भाव मलों का क्षरण व दीप्ति है। आप मलों का क्षरण करके हमारे जीवनों को नीरोग बनाते हैं और ज्ञान के द्वारा हमारे मस्तिष्कों को दीप्त करते हैं। **विभूतद्युम्नः**=आप प्रभूत व प्रकृष्ट ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, **एवयाः**=गति प्राप्त करानेवाले हैं। ज्ञान देकर ज्ञानपूर्वक कर्म करने की शक्ति भी आप ही प्राप्त कराते हैं **उ**=और **सप्रथाः**=सदा विस्तार के साथ रहनेवाले हैं। उपासक के जीवन को भी आप विशाल बनाते हैं। २. **अध**=इसलिए हे प्रभो! **विदुषा**=विद्वान् से **ते स्तोमः**=आपका स्तवन **चित्**=निश्चय से **अर्ध्यः**=समृद्ध करने योग्य है, अर्थात् ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि आपका अधिक-से-अधिक स्तवन करे **च**=और **हविष्मता**=दान की वृत्तिवाले पुरुष से **यज्ञः**=यज्ञ **राध्यः**=सिद्ध करने योग्य है। हविष्मान् को चाहिए कि वह यज्ञों द्वारा आपका उपासन करे।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं। वे हमें सुखी करनेवाले और ज्ञानदीप्त बनानेवाले हैं। ज्ञानी बनकर हम प्रभु का स्तवन करें और हविष्मान् बनकर यज्ञ के द्वारा प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—विष्णुः । **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप् । **स्वरः**—धैवतः ।

सायुज्य

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति ।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत् ॥ २ ॥

१. **यः**=जो **पूर्व्याय**=सृष्टि से पूर्व होनेवाले 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' **वेधसे**=ज्ञानी **नवीयसे**=नित्य नूतन, अत्यन्त रमणीय व स्तुत्य (नु स्तुतौ) **सुमज्जानये**=स्वयं प्रादुर्भूत होनेवाले (सुमत्=स्वयम्) 'स्वयम्भू' **विष्णवे**=व्यापक प्रभु के लिए **ददाशति**=अपने को अर्पित करता है और **यः**=जो **अस्य**=इस **महतः**=पूज्य, महान् प्रभु के **महि जातं ब्रवत्**=महान् विकास को व्यक्तरूप से प्रतिपादित करता है। **स इत् उ**=वह ही निश्चय से **श्रवोभिः**=ज्ञानों के द्वारा **युज्यं चित् अभि**=उस महान् साथी प्रभु की ओर **असत्**=होता है, प्रभु को प्राप्त होता है। प्रभु के सायुज्य को ज्ञान के द्वारा ही तो हमें प्राप्त करना है। २. 'प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करना, प्रभु की महिमा को संसार में देखना और उसी का प्रतिपादन करना' यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। प्रभु का सायुज्य प्राप्त करने के लिए प्रभु को इस रूप में स्मरण करना चाहिए कि वे 'पूर्व्य' हैं, सदा से हैं, सृष्टि बनने से पहले ही विद्यमान हैं। 'वेधस्' ज्ञानी हैं, 'नवीयान्' अत्यन्त रमणीय व स्तुत्यतम हैं, 'सुमत् जानि' स्वयं होनेवाले हैं अथवा उत्तम ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले हैं, 'विष्णु' सर्वव्यापक हैं। इस प्रकार प्रभु का स्मरण करते हुए हम उसी के प्रति अपने को अर्पण करते हैं और उसी में प्रवेश कर जाते हैं, प्रभु हमारे युज्य होते हैं।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करके हम उसके सायुज्य (समीपता) को प्राप्त करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

तज्जपः, तदर्थभावनम्

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥ ३॥

१. हे **स्तोतारः**=स्तवन करनेवाले स्तोताओ! **तं पूर्व्यम्**=उस सृष्टि से पहले होनेवाले **ऋतस्य गर्भम्**=ऋत व सत्य के धारण करनेवाले, ऋत व सत्य को उजागर अथवा प्रकट करनेवाले प्रभु को **उ**=ही **यथा विद**=जैसे जानते हो, उसी प्रकार **जनुषा**=अपने में सद्गुणों के प्रादुर्भाव से **पिपर्तन**=उस प्रभु को अपने में पूरण करो। जितना-जितना हम प्रभु को जानते हैं, उतना-उतना ही उसका, उसकी दिव्यता का अपने में पूरण करनेवाले होते हैं। २. इस प्रकार **अस्य**=इस प्रभु के नाम='ओम्'-रूप निज नाम को **चित्**=ही **आ जानन्तः**=जानते हुए अर्थात् अर्थज्ञानपूर्वक **विवक्तन**=उच्चारण करो। 'तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्'। ३. हे **विष्णोः**=सर्वव्यापक प्रभो! आपका स्मरण करते हुए हम **ते**=आपके **महः**=तेज को तथा **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **भजामहे**=अपने में धारण करनेवाले हों।

भावार्थ—जितना-जितना हम प्रभु को जानते हैं, उतना-उतना उसे धारण करनेवाले बनते हैं। प्रभु का नाम स्मरण करते हुए हम तेज व सुमति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—विष्णुः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः।

प्रकाशयुक्त बल

तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः।
दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते॥ ४॥

१. **मारुतस्य**=प्राणसाधना करनेवाले **अस्य वेधसः**=इस ज्ञानी पुरुष के **तं क्रतुम्**=उस यज्ञात्मक कर्म को **राजा**=वह शासन करनेवाला **वरुणः**=असत्यवादी को पाशों से जकड़नेवाला प्रभु **सचन्त**=सेवन करता है। तं **क्रतुम्**=इसके उस यज्ञात्मक कर्म को **अश्विना**=प्राणापान **सचेते**=सेवन करते हैं, अर्थात् वरुण के उपासन से तथा प्राणापान की साधना से यह यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। २. **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **उत्तमम्**=उत्कृष्ट **अहर्विदम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **दक्षम्**=बल को **दाधार**=धारण करता है **च**=और **सखिवान्**=उत्तम जीवरूप मित्रवाला विष्णुः=सर्वव्यापक प्रभु **व्रजम्**=इन्द्रियरूप समूह को **अपोर्णुते**=वासनारूप आवरण से रहित करता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन व प्राणों के साधन से एक ज्ञानी साधक यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। प्रभु उसे प्रकाशयुक्त बल प्राप्त कराते हैं और उसकी इन्द्रियों को वासनारूप आवरण से रहित करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—विष्णुः। छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

'सचथ, सुकृत् व इन्द्र'

आ यो विवाय सचथाय दैव्य इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः।
वेधा अजिन्वत्त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत्॥ ५॥

१. **यः**=वह **दैव्यः**=देवों के लिए हित करनेवाले, **सुकृत्तरः**=अत्यन्त उत्कृष्ट कार्यों को करनेवाले **विष्णुः**=व्यापक प्रभु **सुकृते**=उत्तम कर्म करनेवाले, **सचथाय**=सबके साथ मिलकर

चलनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **आविवाय**=प्राप्त होते हैं। प्रभु 'दैव्य, सुकृत्, विष्णु' हैं। वे 'सुकृत्, सचथ व इन्द्र' को प्राप्त होते हैं। २. वे **त्रिषधस्थः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूप तीनों लोकों में साथ ही स्थित होनेवाले **वेधा**=विधाता, ज्ञानी प्रभु **आर्यम्**=आर्य पुरुष को (क) अपने कर्त्तव्य कर्म को करनेवाले, (ख) अकर्त्तव्य से दूर रहनेवाले, (ग) प्रकृत आचरण में स्थित होनेवाले पुरुष को (कर्तव्यमाचरन् कर्ममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः ॥) **अजिन्वत्**=प्रीणित करते हैं और **यजमानम्**=इस यज्ञशील उपासक पुरुष को **ऋतस्य भागे**=ऋत के सेवन में **आभजत्**=भागी बनाते हैं। प्रभुकृपा से यज्ञशील उपासक सदा ऋत अटल-नियमन का सेवन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम 'सबके साथ मिलकर चलें, जितेन्द्रिय बनें, पुण्यकर्मों में प्रवृत्त हों।' प्रभु उपासक को अनृत से हटाकर ऋत का सेवन करनेवाला बनाते हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त सर्वव्यापक प्रभु के उपासन के महत्त्व को व्यक्त करता है। अगला सूक्त 'अश्विनौ' देवता का है—

द्वाविंशोऽनुवाकः

[१५७] सप्तपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

निरन्तर क्रियाशीलता

अबो॑ध्य॒ग्निर्ज्म उदे॑ति॒ सूर्यो॒ व्यु१॒॑षाश्च॒न्द्रा म॒ह्यावो॑ अ॒र्चिषा॑।
आयु॑क्षाताम॒श्विना॒ यात॑वे॒ रथं॒ प्रासा॑वीद्दे॒वः स॑वि॒ता जग॒त्पृथ॑क् ॥ १ ॥

१. **ज्मः**=पृथिवी का यह **अग्निः**=मुख्य देवता अग्नि **अबोधि**=उद्बुद्ध होता है। पृथिवी का देवता अग्नि है। वह अग्निहोत्रादि कार्यों के किये जाने के लिए अग्निकुण्ड में उद्बुद्ध किया जाता है। द्युलोक का देवता **सूर्यः**=सूर्य **उदेति**=द्युलोक में उदित होता है। **मही**=अत्यन्त महनीय अथवा पूजा के लिए सर्वोत्तम समय के रूप में होती हुई यह **चन्द्रा**=आह्लादमयी **उषाः**=उषा **अर्चिषा**=अपनी दीप्तियों से **वि आवः**=प्रकट होती है और अन्धकारों को दूर करती है। संक्षेप में पृथिवी पर अग्नि उद्बुद्ध हुआ है, द्युलोक में सूर्य उदित हुआ है और सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को उषा ने दीप्ति से भर दिया है। इस प्रकार प्रातःकाल पूर्णरूप में प्रकट हो गया है। २. अब—इस समय **अश्विना**=मेरे प्राणापान **यातवे**=जीवनयात्रा में आगे बढ़ने के लिए **रथम्**=इस शरीर-रथ को **आयुक्षाताम्**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से युक्त करें। यह **सविता देवः**=प्रेरक, प्रकाशमय सूर्यदेव भी **जगत्**=सम्पूर्ण संसार को पृथक्=अलग-अलग, अपने-अपने कार्यों में प्रेरित करे। हम सबकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राणापान की कृपा से अपने ज्ञान-प्राप्ति व यज्ञादि कार्यों में प्रवृत्त हों तथा ब्राह्मण अध्ययनाध्यापन में, क्षत्रिय राष्ट्र-रक्षण कार्यों में, वैश्य धनार्जन के लिए व्यापारादि में और शूद्र सेवा के कार्य में प्रवृत्त हो जाएँ।

भावार्थ—प्रातःकाल होते ही सब स्वकर्मों में प्रवृत्त होने का ध्यान करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अश्विनौ । **छन्दः**—जगती । **स्वरः**—धैवतः ।

बल, माधुर्य व दीप्ति

यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम् ।
अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं वयं धना शूरसाता भजेमहि ॥ २ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यत्**=जब **वृषणं रथम्**=इस शक्तिशाली रथ को **युञ्जाथे**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से जोतते हो, अर्थात् आपकी साधना से यह शरीर दृढ़ होता है और इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में सक्षम होती हैं, तब आप **नः क्षत्रम्**=हमारे बल को **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से तथा **मधुना**=माधुर्य से—वाणी तथा मन की मधुरता से **उक्षतम्**=सींच देते हो। हममें बल होता है और वह बल, ज्ञान तथा माधुर्य से युक्त होता है। २. **अस्माकं ब्रह्म**=हमारे ज्ञान को आप **पृतनासु**=संग्रामों में **जिन्वतम्**=प्रीणित करनेवाले होओ। आपकी साधना से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़े और हमें संग्रामों में विजयी बनानेवाला हो। ३. **वयम्**=हम **शूरसाता**=शूरों से सम्भजनीय व सेवनीय इन संग्रामों में **धना**=धनों को **भजेमहि**=प्राप्त करनेवाले हों। प्राणसाधना से हमें संग्रामों में विजय प्राप्त होती है और उस विजय के द्वारा हम अन्नमय आदि सब कोशों को उनके धनों से परिपूर्ण करनेवाले बनते हैं। इस साधना से हम अन्नमयकोश को तेज से, प्राणमयकोश को वीर्य से, मनोमयकोश को ओज व बल से, विज्ञानमयकोश को ज्ञान से तथा आनन्दमयकोश को सहस् से भर पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर बलवान् होता है, मन मधुर तथा मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अश्विनौ । **छन्दः**—निचृज्जगती । **स्वरः**—निषादः ।

त्रिचक्र रथ

अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः ।
त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शं न आ वक्षद् द्विपदे चतुष्पदे ॥ ३ ॥

१. यह शरीर अश्विनीदेवों—प्राणापानों का रथ कहाता है, क्योंकि इनके जाते ही यह रथ समाप्त (निष्क्रिय) हो जाता है। सब इन्द्रियों में इन प्राणापानों की शक्ति ही काम करती है। **त्रिचक्रः**=वात-पित्त व कफरूप तीन चक्रोंवाला, **मधुवाहनः**=सब ओषधियों के सारभूत वीर्यरूप मधु का वहन करनेवाला, **जीराश्वः**=वेगवान् इन्द्रियाश्वोंवाला **अश्विनो रथः**=यह प्राणापान का (शरीररूप) रथ **अर्वाङ् यातु**=अन्तर्मुख यात्रावाला हो। २. यह रथ **सुष्टुतः**=उत्तम स्तुतिवाला हो; **त्रिवन्धुरः**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप तीन अधिष्ठानोंवाला हो; **मघवा**=प्रत्येक कोश के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो। **विश्वसौभगः**=सम्पूर्ण सौभाग्यवाला हो, इसमें सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग सौन्दर्यवाले हों। यह रथ **नः**=हमारे **द्विपदे**=सब मनुष्यों के लिए **चतुष्पदे**=गवादि पशुओं के लिए भी **शम् आवक्षत्**=शान्ति प्राप्त करानेवाला हो। इस शरीर से होनेवाले सब कार्य अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करनेवाले हों। ३. वात, पित्त, कफ इन तीनों के ठीक होने पर ही यह रथ चलता है, अन्यथा टूट-फूट जाता है, इसलिए इसे त्रिचक्र कहा गया है। वीर्य ही इसमें मधु है। इन्द्रियाँ इसके गतिशील अश्व हैं। अन्नमयादि कोशों में तेजादि ऐश्वर्यों से यह परिपूर्ण है। यह सबके लिए शान्ति प्राप्त कराने का साधन बने।

भावार्थ—यह शरीर प्राणापाण का रथ है। इसके द्वारा हम अपनी जीवन-यात्रा में अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करनेवाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—जगती । स्वरः—निषादः ।

शक्ति व माधुर्य

आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवं मधुमत्या नः कशया मिमिक्षतम्।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नः**=हमारे लिए **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **आवहतम्**=सर्वथा प्राप्त कराइए। उस बल के साथ **युवम्**=आप दोनों **नः**=हमें **मधुमत्या कशया**=अत्यन्त माधुर्यवाली वाणी से **मिमिक्षतम्**=सिक्त व प्रीणित करो। हममें शक्ति हो और हम सदा मधुरवाणी ही बोलें। २. **आयुः**=हमारे जीवन को आप **प्रतारिष्टम्**=खूब बढ़ा दीजिए और **रपांसि**=शरीरस्थ सब दोषों को **निर्मृक्षतम्**=नितरां नष्ट कर दीजिए। दोषों को दूर करके हमारे जीवन को नीरोग बनाइए। हमारे मन में से **द्वेषः**=द्वेषभाव को भी **सेधतम्**=नष्ट कर दीजिए और **सचाभुवा भवतम्**=हमारे जीवनों में मिलकर कार्य करनेवाले होओ। अपान दोषों को दूर करे और प्राण शक्ति का सञ्चार करे। इस प्रकार निर्मल व सबल बनकर हम अपनी जीवन-यात्रा को उत्तमता से पूर्ण कर सकेंगे।

भावार्थ—प्राणापान हमें बल व माधुर्य दें। इनसे हमें दीर्घजीवन व नीरोगता प्राप्त हो। हम द्वेष से रहित हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अश्विनौ । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

जगती व भुवन=क्रियाशील व समृद्ध

युवं ह गर्भं जगतीषु धत्थो युवं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
युवमग्निं च वृषणावपश्च वनस्पतीँरश्विनावैरयेथाम् ॥ ५ ॥

१. हे **वृषणौ**=शक्तिशाली **अश्विनौ**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **ह**=निश्चय से **जगतीषु**=गतिशील प्रजाओं में **गर्भम्**=गर्भवत् अन्दर वर्तमान उस प्रभु को **धत्थः**=धारण करते हो, अर्थात् आपकी साधना से ही एक क्रियाशील व्यक्ति अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन कर पाता है। **युवम्**=आप दोनों ही **विश्वेषु**=सब **भुवनेषु अन्तः**=(becoming prosperous) तेज, वीर्यादि सम्पत्तियों से समृद्ध होनेवाले व्यक्तियों में गर्भवत् वर्तमान प्रभु को स्थापित करते हो, अर्थात् प्राणायाम की साधना से ही मनुष्य क्रियाशील बनता है और इन्हीं की साधना से तेजादि समृद्धियों को प्राप्त करता है। इस क्रियाशील व आत्मिक सम्पत्ति से समृद्ध पुरुष में ही प्रभु का दर्शन होता है। २. **युवम्**=आप दोनों ही साधक में **अग्निं च**=अग्नि को भी **ऐरयेथाम्**=प्रेरित करते हो। अग्नितत्त्व ही जीवन व उत्साह का प्रतीक है। इस अग्नितत्त्व के वर्धन के लिए ही आप **अपः**=जलों को **वनस्पतीन् च**=और वनस्पतियों को प्रेरित करते हो। यह साधक जलों और वनस्पतियों का प्रयोग करता हुआ अपने में अग्नितत्त्व का वर्धन करता है और इस अग्नितत्त्व के वर्धन से क्रियाशील व तेजस्विता आदि से समृद्ध बनकर प्रभु-दर्शन के योग्य बनता है।

भावार्थ—जलों व वनस्पतियों का प्रयोग करता हुआ प्राणसाधक अपने में अग्नितत्त्व का वर्धन करता है। इससे क्रियाशील व तेज-समृद्ध बनकर यह अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—अश्विनौ । **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप् । **स्वरः**—धैवतः ।

उत्कृष्ट वैद्य

युवं ह स्थो भिषजा भेषजेभिरथो ह स्थो रथ्या राथ्येभिः ।
अथो ह क्षत्रमधि धत्थ उग्रा यो वां हविष्मान्मनसा ददाश ॥ ६ ॥

१. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ह**=निश्चय से **भेषजेभिः**=ओषधियों से **भिषजः स्थः**=रोगों की चिकित्सा करनेवाले हो। प्राणापान शरीर में वीर्यरक्षण के द्वारा सब रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। प्राणसाधना से शरीर के मलों का ही नहीं, मन के मलों का भी नाश होता है। २. **अथो**=और **राथ्येभिः**=शरीररूप रथ के लिए उत्तम इन्द्रियाश्वों से आप **ह**=निश्चयपूर्वक **रथ्या स्थः**=उत्तम रथवाले हो। प्राणसाधना से सब इन्द्रियों के दोष भी दग्ध हो जाते हैं और ये इन्द्रियाश्व शरीररूप रथ को उत्तमता से आगे ले-चलते हैं। ३. **अथो**=और **ह**=निश्चय से हे **उग्रा**=तेजस्वी प्राणापानो! **यः**=जो **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला, मिताहारी **मनसा**=मन से **वां ददाश**=आपके प्रति अपने को दे डालता है, उसमें आप **क्षत्रम्**=बल को **अधिधत्थः**=खूब धारण करते हो। जब एक व्यक्ति युक्ताहारवाला बनकर प्राणसाधना में दिल से प्रवृत्त होता है तब उसका बल निरन्तर बढ़ता चलता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से नीरोगता प्राप्त होती है। इन्द्रियाँ निर्मल व सबल बनती हैं। उत्कृष्ट बल की प्राप्ति होती है। प्राणापान ही सर्वमहान् वैद्य हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्राणापान के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त का विषय भी यही है।

॥ इति द्वितीयाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयाष्टके तृतीयोऽध्यायः

[१५८] अष्टपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वसू, रुद्रा, पुरुमन्तू

वसू रुद्रा पुरुमन्तू वृधन्ता दशस्यतं नो वृषणावभिष्टौ।
दस्रा ह यद्रेक्ण औचथ्यो वां प्र यत्सस्राथे अकवाभिरूती॥ १॥

१. हे **वृषणौ**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **वसू**=रोगादि को दूर करके व बल का धारण करके हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हो। **रुद्रा**=(रुत् दुःखं पापं वा, तस्य द्रावयितारौ—सा०) आप शरीर के दुःखों तथा मन के पापों को दूर करनेवाले हो। दोषों का दहन करके ये प्राणापान शरीर को नीरोग व मन को निर्मल बनाते हैं। **पुरुमन्तू**=आप बुद्धि को तीव्र करने के द्वारा ज्ञान का खूब ही वर्धन करनेवाले हो (पुरु=बहुत, मन्तु=ज्ञान)। इस प्रकार **वृधन्ता**=सब प्रकार से वृद्धि करनेवाले हो। २. **अभिष्टौ**=वासनारूप शत्रुओं का आक्रमण होने पर आप **नः**=हमारे लिए **रेक्णः**=धन **दशस्यतम्**=देनेवाले होओ। हे **दस्रा**=हमारी सब वासनाओं का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **यत् ह**=जो निश्चय से **औचथ्यः**=स्तुति करने में उत्तम साधक है वह **वाम्**=आपका ही तो है और **यत्**=जो आप हैं वे भी निश्चय से **अकवाभिः**=अकुत्सित **ऊती** (ऊतिभिः)=रक्षणों से **प्रसस्राथे**=गति करते हैं, अतः आप साधकों के लिए इष्ट धनों को दीजिए ही।

भावार्थ—प्राणापान शरीर के निवास को उत्तम बनाते हैं, मन से पापवृत्तियों को परे हटाते हैं और ज्ञान को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सुमति-पुरन्धी

को वां दाशत्सुमतये चिदस्यै वसू यद्धेथे नमसा पदे गोः।
जिगृतमस्मे रेवतीः पुरन्धीः कामप्रेणेव मनसा चरन्ता॥ २॥

१. **कः**=वह व्यक्ति सचमुच आनन्दमय होता है जो कि **अस्यै**=इस **सुमतये चित्**=सुमति के लिए **वां दाशत्**=हे प्राणापानो! आपके प्रति अपना अर्पण करता है। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है। जो भी व्यक्ति इस प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है, वह तीव्रबुद्धि बनकर जीवन के वास्तविक आनन्द को अनुभव करता है। यह व्यक्ति इसलिए आपके प्रति अपना अर्पण करता है **यत्**=कि **वसू**=निवास को उत्तम बनानेवाले आप **नमसा**=नमन के साथ **गोः पदे**=ज्ञान की वाणियों के स्थान में **धेथे**=इसका धारण करते हो। जो भी प्राणसाधक बनता है (क) उसका शरीर में निवास उत्तम होता है, अर्थात् वह नीरोग होता है, (ख) उसके हृदय में नम्रता का भाव होता है, (ग) वह मस्तिष्क में ज्ञान की वाणियों को धारण करता है। २. हे प्राणापानो! **कामप्रेण इव मनसा चरन्ता**=हमारी कामनाओं को पूर्ण करनेवाले मन से ही मानो गति करते हुए आप **अस्मे**=हमारे लिए **रेवतीः**=ऐश्वर्यों से सम्पन्न **पुरन्धीः**=पालक बुद्धियों को **जिगृतम्**=(दत्तम्—सा०) दीजिए। प्राणापान मानो हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं। ये हमें पालन और पूरण करनेवाली बुद्धि को प्राप्त कराएँ। इस बुद्धि से हम सब अभीष्टों को सिद्ध कर पाएँगे।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से सुमति प्राप्त होती है। हम पुरन्धी को प्राप्त करके ऐश्वर्य-सम्पन्न बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

विषय-समुद्र के पार

युक्तो ह यद्वां तौग्र्याय पेरुर्वि मध्ये अर्णसो धायि पज्रः।
उप वामवः शरणं गमेयं शूरो नाज्म पतयद्भिरेवैः ॥ ३ ॥

१. हे प्राणापानो! **यत्**=जब **वाम्**=आप दोनों का यह रथ **ह**=निश्चय से **युक्तः**=इन्द्रियाश्वों से युक्त होता है तब **तौग्र्याय**=(तुज हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाले के लिए **पेरुः**=यह पार लगानेवाला होता है। **अर्णसः मध्ये**=विषय-समुद्र के मध्य में **पज्रः**=(पाजसा तीर्णः) बल के द्वारा तरा हुआ यह **विधायि**=स्थापित होता है। प्राणसाधना से यह शक्ति प्राप्त होती है जिससे यह विषय-समुद्र में डूबता नहीं और जीवनयात्रा को सफलता से पूर्ण कर पाता है। २. हे प्राणापानो! मैं **वाम्**=आपकी **शरणम्**=शरण को **उपगमेयम्**=समीपता से प्राप्त होता हूँ और **अवः**=रक्षण को प्राप्त होता हूँ **न**=जैसे कि **शूरः**=एक शूरवीर **पतयद्भिः एवैः**=गमनशील घोड़ों के द्वारा **अज्म**=संग्राम को प्राप्त होता है। प्राणापान की साधना भी हमें अध्यात्म-संग्राम में वासनाओं पर विजय पाने के योग्य बना देती है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें विषय-समुद्र में नहीं डूबने देती।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विषयों से दग्ध न होना

उपस्तुतिरौचथ्यमुरुष्येन्मा मामिमे पतत्रिणी वि दुग्धाम्।
मा मामेधो दशतयश्चितो धाक्प्र यद्वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम् ॥ ४ ॥

१. हे प्राणापानो! **उपस्तुतिः**=आपका स्तवन **औचथ्यम्**=(उचथ्यपुत्रम्) स्तुति में उत्तम इस औचथ्य को **उरुष्येत्**=वासनाओं का शिकार होने से बचाए, अर्थात् प्राणसाधना करता हुआ यह स्तोता वासनाओं से अभिभूत न हो। २. **माम्**=मुझ स्तोता को **इमे**=ये **पतत्रिणी**=निरन्तर गति के स्वभाववाले रात्रि व दिन **मा विदुग्धाम्**=मत दोह लें—मुझे ये क्षीणशक्ति न कर दें। विषय-प्रवण व्यक्ति को ये दिन-रात जीर्ण करते चलते हैं और अगली उम्र में ये टूटे किनारे (broken reed) के समान हो जाते हैं। मैं विषयों से ऊपर उठकर स्थिर शक्तिवाला बना रहूँ। ३. **दशतयः**=दस प्रकार का **चितः**=सञ्चित हुआ **एधः**=वासनाग्नि को दीप्ति करनेवाला यह विषय-काष्ठ **माम्**=मुझे **मा धाक्**=जलानेवाला न हो। **यत्**=क्योंकि **वाम्**=आपका यह भक्त **त्मनि**=मन में **बद्धः**=बँधा हुआ **क्षाम्**=पृथिवी को ही—पार्थिव भोग-पदार्थों को ही **प्रखादति**=खाता रहता है। आपकी साधना इसे बन्धन से ऊपर उठाती है और यह अपने को जीर्ण होने से बचा पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना इसलिए करनी कि वासनाओं का आक्रमण हमें विषय-प्रवण करके जीर्ण शक्ति न कर दे। दस प्रकार के विषय-वासनाग्नि के काष्ठ बनते हैं और वे वासनाओं को दीप्त करते हैं। प्राणसाधना ही इस अग्नि को बुझाती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

त्रैतन

न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमवाधुः।
शिरो यदस्य त्रैतनो वितक्षत्स्वयं दास उरो अंसावपि ग्ध॥५॥

१. **मा**=मुझे **नद्यः**=ये विषयों के जल (नदनात्) **न गरन्**=निगल न जाएँ। **मातृतमाः**=ये मेरे जीवन को उत्तम बनानेवाले हों। प्रभु ने इनका निर्माण पतन के लिए न करके उत्थान के लिए ही तो किया है। **दासाः**=मेरा उपक्षय करनेवाली (दसु उपक्षये) इन वासनाओं ने **यत्**=जो **ईम्**=निश्चय से **सुसमुब्धम्**=(संकुचितसर्वाङ्गम्—सा०) संकुचित सब अङ्गोंवाले मुझको **अव अधुः**=नीचे स्थापित कर दिया है। वासनाओं के कारण मेरे सब अङ्गों की शक्तियाँ संकुचित हो गई हैं और मेरा पतन हो गया है। २. इस दास—इस विनाश करनेवाली वासना का **यत् शिरः**=जो सिर है उसे **त्रैतनः**=(त्रि-तन्) 'ज्ञान, कर्म व उपासना'—इन तीनों का विस्तार करनेवाला ही **वितक्षत्**=विशेषरूप से काटनेवाला होता है। मेरे त्रैतन बनने पर **दासः**=यह क्षय करनेवाली वासना **स्वयम्**=अपने-आप ही जहाँ अपने सिर को विदीर्ण करे वहाँ **उरः**=अपनी छाती को और **अंसौ अपि**=अपने कन्धों को भी **ग्ध**=विदीर्ण करनेवाली हो (ग्ध=हन्तेर्लुङि रूपम्—सा०) जब मैं ज्ञान, कर्म और उपासना का विस्तार करूँ, उस समय मेरे ज्ञान-विस्तार से इस वासना का शिरच्छेद हो जाए। मेरे कर्म-विस्तार से इसके कन्धे विदीर्ण हो जाएँ और उपासना के विस्तार से इसका उरो विदारण हो जाए। इस प्रकार त्रैतन बनकर मैं वासना का समूलोन्मूलन करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु ने विषयों को उन्नति-साधन के लिए बनाया है। इनमें फँसकर हम अपना नाश कर बैठते हैं। हम त्रैतन बनें और वासना का उन्मूलन करके विषयों का यथायोग करते हुए उन्नत हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

मामतेय vs पुरुषार्थ-साधक

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः॥६॥

१. **मामतेयः**=ममता का पुत्र—संसार में विषयों की ममता में फँस जानेवाला व्यक्ति **दीर्घतमाः**=विस्तृत अन्धकारवाला होता है। इसका जीवन अन्धकारमय हो जाता है। यह **दशमे युगे** (युग=a period of five years)=दसवें ही युग में अर्थात् पचास वर्ष की ही अवस्था में **जुजुर्वान्**=अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। २. इसके विपरीत विषयों में न फँसकर, इनका ठीक प्रयोग करनेवाली अतएव **अर्थं यतीनाम्**=धर्मार्थ-काम व मोक्ष—इन पुरुषार्थों की ओर चलनेवाली **अपाम्**=प्रजाओं का **ब्रह्मा**=वेदज्ञान का देनेवाला वह प्रभु **सारथिः भवति**=सारथि होता है। इनके रथ को प्रभु प्रेरित करते हैं, अतः विषय-गर्त में न गिरते हुए ये लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाले होते हैं।

भावार्थ—संसार में मनुष्य ममता में फँसकर नष्ट हो जाता है। पुरुषार्थ-प्राप्ति के लिए चलता हुआ प्रभु से प्रेरित होकर लक्ष्य पर पहुँचता है।

विशेष—सूक्त का सार यही है कि प्राणसाधना मनुष्य को विषयों में फँसने से बचाती है। अगले सूक्त में कहते हैं कि विषय-वासनाओं से बचनेवाला अपने द्यावापृथिवी=मस्तिष्क व शरीर को बड़ा सुन्दर बना पाता है—

[१५९] एकोनषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

जीवन की शोभा

प्र द्यावा॑ य॒ज्ञैः पृ॑थि॒वी ऋ॑ता॒वृधा॑ म॒ही स्तु॑षे वि॒दथे॑षु प्रचे॑तसा।
दे॒वेभि॒र्ये दे॒वपु॑त्रे सु॒दंस॒सेत्था धि॒या वार्या॑णि प्र॒भूष॑तः॥ १॥

१. मैं **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवी को **यज्ञैः**=यज्ञों के हेतु से **प्रस्तुषे**=प्रकर्षेण स्तवन करता हूँ। शरीर व मस्तिष्क के ठीक होने पर ही यज्ञों का साधन होता है। ये द्यावापृथिवी ही **ऋतावृधा**=(ऋत=यज्ञ—श्रेष्ठतम कर्म) ऋत का, यज्ञों व श्रेष्ठतम कर्मों का वर्धन करनेवाले हैं। **मही**=ये महत्त्वपूर्ण हैं। **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाले हैं। मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने पर ही ज्ञान प्राप्त होता है। २. **देवपुत्रे**=(देवाः पुत्रा ययोस्ते) दिव्य गुणोंवाले व्यक्ति जिनको (पुनाति त्रायते इति पुत्रः) पवित्र व रक्षित करनेवाले हैं वे **सुदंससा**=शोभन कर्मों से युक्त व दर्शनीय द्यावापृथिवी (मस्तिष्क और शरीर) **देवेभिः**=दिव्य गुणों से तथा **इत्था**=सत्य **धिया**=बुद्धि से **वार्याणि**=वरणीय, चाहने योग्य कर्मों को **प्रभूषतः**=हमारे जीवन में अलंकृत करते हैं। मस्तिष्क व शरीर के स्वस्थ होने पर हमारा जीवन (क) सद्गुणों से अलंकृत होता है, (ख) सत्य बुद्धि से सुशोभित होता है तथा (ग) उस समय सब वरणीय बातें हमारे जीवन को अलंकृत करती हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने पर ही जीवन दिव्य गुणों से सुशोभित होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

विशालता और अमृतत्व

उ॒त म॑न्ये पि॒तुर॒द्रुहो॒ मनो॑ मा॒तुर्महि॒ स्वत॑व॒स्तद्धवी॑मभिः।
सु॒रेत॑सा पि॒तरा॒ भूम॑ चक्रतुरु॒रु प्र॒जाया॑ अ॒मृतं॒ वरी॑मभिः॥ २॥

१. 'द्यौर्वः पिता पृथिवी माता' इस श्रुतिवाक्य के अनुसार द्युलोक पिता है और पृथिवी माता है। आराधक कहता है कि **उत**=और **अद्रुहः पितुः**=किसी से द्रोह न करनेवाले मस्तिष्करूप द्युलोक के तथा **मातुः**=पृथिवीरूप माता के **मनः**=मन को मैं **महि**=पूजा की वृत्तिवाला तथा **स्वतवः**=आत्मिक बलवाला (स्व=आत्मा, तवस्=बल) **मन्ये**=जानता हूँ। **तत्**=वह यह पूजा की वृत्ति तथा आत्मिक बलवाला मन **हवीमभिः**=प्रार्थनाओं से, प्रभु की आराधनाओं से बनता है। जिस समय मस्तिष्क व शरीर ठीक होते हैं उस समय मन भी उत्तम बनता ही है। उस समय मन में पूजा की वृत्ति उत्पन्न होती है और आत्मिक बल की स्थिति होती है। ऐसे मन को प्राप्त करने के लिए प्रभु का आराधन तो आवश्यक ही है, शरीर व मस्तिष्क को सुन्दर बनाना भी आवश्यक है। **सुरेतसा**=उत्तम रेतस् व शक्तिवाले **पितरा**=मस्तिष्क और शरीर **भूम चक्रतुः**=हृदय की विशालता को उत्पन्न करते हैं। निर्बल शरीर व कुण्ठित मस्तिष्क हृदय को संकुचित बनाते हैं। इस प्रकार ये मस्तिष्क व शरीररूप पिता व माता **वरीमभिः**=(breadth) हृदय की विशालताओं से **प्रजायाः**=प्रजा के **उरु**=विशाल **अमृतम्**=अमृतत्व को **चक्रतुः**=उत्पन्न करते

हैं, अर्थात् विशालता के द्वारा इन्हें नष्ट होने से बचाते हैं। विशालता रक्षण करती है, संकोच-विनाशक है।

भावार्थ—मस्तिष्क और शरीर के उत्तम होने पर हृदय विशाल बनता है और वह अमृतत्व को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सत्यमार्ग

ते सूनवः स्वपसः सुदंससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये।
स्थातुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथः पदमद्वयाविनः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार स्वस्थ मस्तिष्क व शरीर के द्वारा विशाल हृदय को प्राप्त करनेवाले **ते**=वे व्यक्ति ही **सूनवः**=प्रभु के सच्चे पुत्र होते हैं, **स्वपसः**=सदा उत्तम कर्म करनेवाले होते हैं **सुदंससः**=शोभन दर्शन बनते हैं—दर्शनीय जीवनवाले होते हैं। २. ये व्यक्ति **पूर्वचित्तये**=उस सर्वप्रथम प्रभु के ज्ञान के लिए **मही**=पूजा की भावना से पूर्ण **मातरा**=मस्तिष्क व शरीर को **जज्ञुः**=जाननेवाले होते हैं। इनका मस्तिष्क व शरीर प्रभु-पूजन में प्रवृत्त होता है और इस पूजन के द्वारा ये प्रभु को जाननेवाले बनते हैं। ३. इस प्रकार के (मही, मातरा) पूजन की भावना से युक्त मस्तिष्क और शरीर **स्थातुः च जगतः च**=स्थावर व जंगम पदार्थों के—इस चराचर जगत् के **धर्मणि**=धारणात्मक कर्म में **अद्वयाविनः**=दो मार्गों पर न चलकर, दोनों अतियों (extremes) में न जाकर, मध्यमार्ग में चलनेवाले **पुत्रस्य**=(पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र व रोगों से रक्षित बनानेवाले के **सत्यं पदम्**=सत्यमार्ग को **पाथः**=रक्षित करते हैं। 'यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा'—जो अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित है, वही तो सत्य है। ये व्यक्ति अद्वयावी व पुत्र बनते हुए इस सत्य के मार्ग पर चलते हैं और चराचर जगत् का धारण करनेवाले होते हैं। ऐसे लोगों से ही वस्तुतः जगत् का धारण किया जाता है।

भावार्थ—शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर हम प्रभु-पूजन की वृत्तिवाले बनें और लोक-कल्याणरूप सत्य में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

स्तुत्य कर्म व दीप्त जीवन

ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा।
नव्यंनव्यं तन्तुमा तन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः॥ ४॥

१. **ते**=वे **मायिनः**=प्रज्ञावाले **सुप्रचेतसः**=उत्कृष्ट प्रज्ञानवाले आराधक शरीर व मस्तिष्क को **ममिरे**=निर्मित करते हैं, बनाते हैं। ये शरीर और मस्तिष्क **जामी**=भगिनियों के समान हैं, परस्पर सम्बन्धवाले हैं। शरीर का प्रभाव मस्तिष्क पर तथा मस्तिष्क का प्रभाव शरीर पर पड़ता ही है। **सयोनी**=ये मस्तिष्क व शरीर समान उत्पत्तिस्थानवाले हैं—दोनों का निर्माण करनेवाला प्रभु एक ही है। **मिथुना**=ये द्वन्द्वात्मक हैं, परस्पर संगत हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं। शरीर मस्तिष्क का पूरण करता है और मस्तिष्क शरीर का। **समोकसा**=ये समान गृहवाले हैं, अलग-अलग रहनेवाले नहीं। शरीर न रहे तो मस्तिष्क ने कहाँ रहना, मस्तिष्क न रहे तो शरीर की समाप्ति है। इस प्रकार प्रज्ञावाले, समझदार लोग मस्तिष्क व शरीर दोनों के उत्त्थान का ध्यान करते हैं। २. शरीर व मस्तिष्क को ठीक करके ये **नव्यं नव्यम्**=स्तुत्य और अधिक स्तुत्य

तन्तुम्=कर्म-तन्तुओं को **आतन्वते**=विस्तृत करते हैं और ये **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी पुरुष **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में तथा **समुद्रे**=(स+मुद्) सदा आनन्दमय प्रभु में **अन्तः**=अन्दर निवास करते हुए **सुदीतयः**=उत्तम दीप्तिवाले होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीर व मस्तिष्क दोनों का उत्तम सुधार करते हुए स्तुत्य कर्मों को करते हैं तथा ज्ञान व प्रभु में विचरते हुए दीप्त जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

वसुमान् रयि

तद्राधो॑ अ॒द्य स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं व॒यं दे॒वस्य॑ प्रस॒वे म॑नामहे।
अ॒स्मभ्यं॑ द्यावापृथिवी सु॒चे॒तुना॑ र॒यिं ध॑त्तं वसु॑मन्तं शत॒ग्विन॑म्॥ ५॥

१. **अद्य**=आज, गतमन्त्र के अनुसार दीप्त जीवनवाले बनकर **वयम्**=हम **सवितुः देवस्य**=प्रेरक, प्रकाशमय प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **तत्**=उस **वरेण्यम्**=वरणे के योग्य **राधः**=कार्यसाधक धन को **मनामहे**=माँगते हैं, उस धन की याचना करते हैं जो हमारे कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। इस धन को हम प्रभु की अनुज्ञा में चलते हुए सुपथ से ही कमाते हैं। धन को हम उस सविता देव का ही मानते हैं। अपने को स्वामी न जानते हुए हम अपने को उस धन का रक्षक-(trustee)-मात्र समझते हैं। २. हे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के द्वारा **रयिं धत्तम्**=उस ऐश्वर्य को धारण करो जो कि **वसुमन्तम्**=सब वसुओंवाला है, अर्थात् निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को देनेवाला है और **शतग्विनम्**=शतवर्षपर्यन्त चलनेवाला है, अर्थात् हमारे लिए जीवनभर सहायक है।

भावार्थ—शरीर व मस्तिष्क को स्वस्थ व दीप्त बनाकर हम सुपथ से उस ऐश्वर्य का अर्जन करें जो हमें आजीवन वसुओं के जुटाने में सहायक हो।

विशेष—सारा सूक्त मस्तिष्क व शरीर के दीप्त व स्वस्थ बनाने की महिमा से ओत-प्रोत है। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१६०] षष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'देव, सूर्य, शुचि'

ते हि द्यावा॑पृथि॒वी वि॒श्वश॑म्भुव ऋ॒तावरी॒ रज॑सो धार॒यत्क॑वी।
सु॒जन्म॑नी धि॒षणे॑ अ॒न्तरी॑यते दे॒वो दे॒वी धर्म॑णा॒ सूर्यः॒ शुचिः॑॥ १॥

१. **ते**=वे, गत सूक्त में वर्णित **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **हि**=ही **विश्वशम्भुवे**=सब शान्तियों को जन्म देनेवाले हैं। मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने पर ही सब कल्याण निर्भर होता है। ये द्यावापृथिवी ही **ऋतावरी**=ऋतवाले होते हैं। शरीर व मस्तिष्क के स्वस्थ होने पर ही सब कार्य ऋतयुक्त हुआ करते हैं। २. ये द्यावापृथिवी **रजसः धारयत् कवी**=(धारयन्तौ कविं यौ) हृदयान्तरिक्ष में उस क्रान्तदर्शी प्रभु को धारण करनेवाले होते हैं। शरीर स्वस्थ हो और मस्तिष्क ज्ञानदीप्त हो तो हृदय में उस क्रान्तदर्शी प्रभु का दर्शन होता ही है। ३. इस प्रकार जब ये द्यावापृथिवी **सुजन्मनी**=उत्तम जन्म या विकासवाले होते हैं, उस समय ये **धिषणे**=(धिष्=to sound) प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करनेवाले होते हैं, **देवी**=दिव्य गुणोंवाले या प्रकाशमय

होते हैं, उस समय **अन्तः**=इनके अन्तर **धर्मणा**=धारणात्मक कर्मों के साथ **देवः**=प्रकाशमय **सूर्यः**=निरन्तर गतिशील **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला आत्मा **ईयते**=गति करता है। जैसे द्युलोक व सूर्यलोक के बीच में सूर्य सब लोकों का आकर्षण के द्वारा धारण करता एवं गति करता है, उसी प्रकार मस्तिष्क व शरीर के मध्य हृदय में पवित्र आत्मा का निवास होता है। यह पवित्रात्मा लोकधारक कर्मों को करता हुआ चलता है।

भावार्थ—मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाकर इनके मध्य हृदय में हम 'देव, सूर्य व शुचि' बनकर निवास करें और गतिमय जीवन बिताएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

वपुष्मत्ता

उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षतः।
सुधृष्टमे वपुष्ये३ न रोदसी पिता यत्सीमभि रूपैरवासयत्॥ २॥

१. 'द्यौष्पिता पृथिवी माता' के अनुसार द्युलोक पिता, पृथिवी माता है। अध्यात्म में ये मस्तिष्क व शरीर हैं। ये **उरुव्यचसा**=अत्यन्त विस्तारवाले—बढ़ी हुई शक्तियोंवाले तथा **महिनी**=प्रभु की पूजा की वृत्तिवाले और इस प्रकार **असश्चता**=विषयों में आसक्त न होते हुए (असज्यमाने) **पिता माता च**=मस्तिष्क और शरीर **भुवनानि रक्षतः**=सब प्राणियों का रक्षण करते हैं। मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने पर ही मनुष्य का जीवन ठीक चलता है। मस्तिष्क के ठीक होने से 'ब्रह्म' का तथा शरीर के ठीक होने से 'क्षत्र' का विकास समुचित रूप में होता है। 'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं च उभे श्रियमश्नुताम्'—ब्रह्म व क्षत्र का समुचित विकास होकर जीवन श्रीसम्पन्न हो जाता है। २. **सुधृष्टमे**=इस प्रकार (धर्षति=to come together) परस्पर मिलते हुए ये **रोदसी**=द्यावापृथिवी—मस्तिष्क और शरीर **वपुष्ये न**=शरीर को बड़ा उत्तम बनानेवाले होते हैं। जब मस्तिष्क के ज्ञान और शरीर के बल का मेल होता है तब यह मनुष्य 'वपुष्मान्' प्रतीत होता है। ३. **पिता**=मस्तिष्करूप द्युलोक **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से **रूपैः**=ज्ञान के प्रकाश से, सब पदार्थों के ठीक निरूपण से **अभि अवासयत्**=उत्तम निवास कराता है तब ये शरीर व मस्तिष्क वपुष्मत्ता के लिए साधन बनते हैं। शरीर का सौन्दर्य मुख्यरूप से इस बात पर निर्भर करता है कि हम सब वस्तुओं को ठीक रूप में देखें और उनका ठीक ही प्रयोग करें।

भावार्थ—शरीर व मस्तिष्क दोनों के ठीक होने पर हम उत्तम विकासवाले व वपुष्मान् बनते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'धेनु, पृश्नि, सुरेतस्, वृषभ'

स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान् पुनाति धीरो भुवनानि मायया।
धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार द्यावापृथिवी की उत्तमता से वपुष्मान् बननेवाला **सः**=वह **वह्निः**=अपने कर्त्तव्यभार का उत्तमता से वहन करनेवाला होता है। **पित्रोः पुत्रः**=यह माता-पिता का सच्चा पुत्र होता है। द्यावापृथिवी दोनों के गुणों को लिये हुए होता है। द्युलोक के प्रकाश और पृथिवी की दृढ़ता से यह सम्पन्न होता है। **पवित्रवान्**=यह पवित्र जीवनवाला होता है। 'ब्रह्म और क्षत्र' के मेल में अपवित्रता सम्भव नहीं। **धीरः**=यह धीर=ज्ञानी पुरुष **भुवनानि**=सब लोकों व

व्यक्तियों का **मायया**=ज्ञान से **पुनाति**=पवित्र करनेवाला होता है। २. **धेनुं च पृश्निम्**=ओषधिरसों से आप्यायित करनेवाली इस पृथिवी को (धेट् आप्यायने, पृश्नि=the earth) तथा **सुरेतसं वृषभम्**=उत्तम शक्तिवाले, वृष्टि आदि से पृथिवी का सेचन करनेवाले द्युलोक को यह **विश्वाहा**=सदा **अस्य शुक्रम्**=इसके (शुच्) दीप्त व शुद्ध करनेवाले **पयः**=ज्ञानदुग्ध को **दुक्षत**=अपने में पूरित करता है। 'धेनु, पृश्नि' आप्यायित करनेवाली पृथिवीमाता के ओषधिरसों का तथा द्युलोकस्थ सूर्यादि की रश्मियों का अथवा वृष्टिजल का यह सेवन करता है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी का सच्चा पुत्र ओषधिरसों का तथा सूर्यरश्मियों व वृष्टिजलों का प्रयोग करता हुआ अपने जीवन को शुक्र=दीप्त बनाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सृष्टि की उत्पत्ति क्यों (सुक्रतूयया)

अयं देवानामपसामपस्तमो यो जजान रोदसी विश्वशंभुवा।
वि यो ममे रजसी सुक्रतूययाजरेभिः स्कम्भनेभिः समानृचे॥ ४॥

१. **अयम्**=ये प्रभु **अपसाम्**=कर्मशील **देवानाम्**=देवों में **अपस्तमः**=सर्वाधिक कर्मशील हैं। सूर्यादि सब देव गतिमय हैं, परन्तु इनको गति देनेवाले तो वे प्रभु ही हैं। ज्ञानी पुरुष भी क्रियाशील होते हैं, उन्हें भी क्रियाशक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। क्रिया प्रभु का स्वभाव ही है—'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'। २. प्रभु वे हैं **यः रोदसी**=जो इस द्युलोक व पृथिवी-लोक को **विश्वशम्भुवा**=सबके लिए शान्ति उत्पन्न करनेवाला **जजान**=बनाते हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक वस्तुतः हमारा कल्याण करनेवाले हैं। इनके अनुचित प्रयोग से हम कष्ट उठाते हैं। ३. प्रभु वे हैं **यः**=जिन्होंने **रजसी**=इन द्यावापृथिवी को—अध्यात्म में मस्तिष्क व शरीर को **सुक्रतूयया**=उत्तम कर्मों की इच्छा से **विममे**=विशेष मानपूर्वक बनाया है। सृष्टि का निर्माण इसलिए हुआ है कि इसमें जीव उत्तम कर्मों को करते हुए अन्ततः मोक्ष को सिद्ध कर सकें। ४. इन द्यावापृथिवी को वे प्रभु **अजरेभिः स्कम्भनेभिः**=जीर्ण न होनेवाले स्तम्भों से **समानृचे**=सम्यक् आदृत करते हैं। इन लोकों के स्कम्भन की उन्होंने सुन्दरतम व्यवस्था की है।

भावार्थ—क्रिया करना प्रभु का स्वभाव ही है। प्रभु ने द्युलोक व पृथिवीलोक को शान्ति देनेवाला बनाया है। सृष्टि-रचना का उद्देश्य यह है कि इसमें जीव उत्तम कर्म करते हुए मोक्ष के लिए अग्रसर हो सकें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'महि श्रवः, बृहत् क्षत्रम्'

ते नो गृणाने महिनी महि श्रवः क्षत्रं द्यावापृथिवी धासथो बृहत्।
येनाभि कृष्टीस्ततनाम विश्वहा पनाय्यमोजो अस्मे समिन्वतम्॥ ५॥

१. **ते**=वे **गृणाने**=स्तुति किये जाते हुए **महिनी**=महान् महिमावाले **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हममें **महि श्रवः**=महनीय ज्ञान को, पूजन की वृत्ति से युक्त ज्ञान को तथा **बृहत् क्षत्रम्**=वृद्धि के कारणभूत बल को **धासथः**=धारण करें। 'द्यावा' का सम्बन्ध 'महि श्रवः' से है तथा 'पृथिवी' का सम्बन्ध 'बृहत् क्षत्र' से है। हमारा मस्तिष्क महनीय द्रव्य से पूर्ण हो तो शरीर वृद्धि के कारणभूत बल से सम्पन्न हो। २. हमें वह ज्ञान और बल दीजिए **येन**=जिससे हम **विश्वहा**=सदा **कृष्टीः**=(कृष्टि=ploughing the soil) कृषि आदि श्रमसाध्य कर्मों को **अभिततनाम**=विस्तृत करनेवाले हों। इन कार्यों के द्वारा **अस्मे**=हममें पनाय्यम् **ओजः**=स्तुत्य

बल को **समिन्वतम्**=पूरित करें—हममें स्तुत्य बल को बढ़ाएँ। कर्म से ही बल बढ़ता है। स्तुत्य बल वही है जो निर्माणात्मक कार्यों में लगता है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी के ठीक विकास से हमारा ज्ञान महनीय हो, बल वृद्धि का कारण बने। ज्ञान और बल के द्वारा हम कृषि आदि उत्तम कर्मों को करते हुए स्तुत्य ओज को प्राप्त करें।

विशेष—इस सूक्त में द्यावापृथिवी का विषय समाप्त होता है। अब अगला सूक्त 'ऋभवः' देवता का आरम्भ होता है—

[१६१] एकषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

महाकुल चमस 'ऋषि आश्रम', 'देव-मन्दिर'

किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आजगन्किमीयते दूत्यं१ कद्यदूचिम।
न निन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्ने भ्रातर्द्रुण इद्भूतिमूदिम॥ १॥

१. इस सूक्त में 'चमस' जो सोमपान का पात्र है, यह शरीर ही है। इसमें सोम का पान करना है, शक्ति को पीने का प्रयत्न करना है, इसे शरीर में ही सुरक्षित करना है। इसे पाँचवें मन्त्र में 'देवपान' कहा गया है। देव लोग इसमें सोम पीते हैं। यह चमस एक है, इसे चार करना है—'एकं चमसं चतुरः कृणोतन' (वेद)—अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—इन चार आश्रमों में विभक्त करके जीवन को व्यतीत करना है। ऐसा करनेवाला 'सुधन्वा' ही है—उत्तम प्रणवरूप धनुष्वाला, जो सदा 'ओम्' का स्मरण करता है। 'प्रणवो धनुः' (ओंकार-प्रणवौ समौ)। इस सुधन्वा के तीन पुत्र हैं—'ऋभु, विश्वा तथा वाज' (६) 'ऋभु' ब्रह्मचारी है, जो ज्ञान से खूब दीप्त होने का प्रयत्न करता है 'उरु भाति'। 'विश्वा' गृहस्थ है जो संसार-यात्रा के चलाने के लिए ऐश्वर्य का अर्जन करता है, विभूतिवाला बनता है। 'वाज' वानप्रस्थ है जो गृह को त्यागकर वनस्थ बनता है (वाज=a sacrifice)। इन तीन आश्रमों में तो प्रत्येक को आना ही है। चौथा इनके साथ 'अग्नि' आ मिलता है। यह 'अग्नि' परिव्राजक है (अग् गतौ, व्रज=गतौ)। यह घूम-फिरकर प्रभु के सन्देश को सब तक पहुँचाता है, प्रभु के दूत-कर्म को करता है। जब यह 'ऋभु, विश्वा व वाज' आदि के समीप आता है तब वे कहते हैं कि—२. **किम् उ श्रेष्ठः**=यह क्या ही श्रेष्ठ है! इसका एक-एक कार्य प्रशस्यतम है। इसका 'उठना-बैठना, चलना-फिरना, बोलना-चालना' सब बड़े श्रीसम्पन्न (graceful) हैं। **किं यविष्ठः**=क्या ही युवतम-सा प्रतीत होता हुआ यह **नः आजगन्**=हमारे समीप प्राप्त हुआ है! इतनी बड़ी अवस्था में भी यह युवा ही प्रतीत होता है। इसकी शक्तियाँ जीर्ण नहीं हुईं। यह **किं कत् दूत्यम्**=क्या ही आनन्दमय दूत-कर्म को करता हुआ **ईयते**=गति करता है! यह उन वाणियों को कहता है **यत् ऊचिम**=जिन वाणियों का हम भी उच्चारण करते हैं, अर्थात् इससे दिये गये उपदेशों को बोलकर हम भी अपने हृदयों में अंकित करने का प्रयत्न करते हैं। ३. आज तक हम इस चमस को 'सोमपान पात्र' न जानकर एक मलपुञ्ज के रूप में ही देखते थे। इस अग्नि के उपदेश से 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' के अनुसार हम इसे ऋषि-आश्रम के रूप में देखने लगे हैं। 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ-इवासते' इस वेदोपदेश के अनुसार हम इसे देव-मन्दिर के रूप में देखने लगे हैं। **चमसम्**=इस सोमपान चमस को **न निन्दिम**=अब मलागार कहकर दूषित नहीं करते। उस चमस को **यः**=जो कि **महाकुलः**=महान् कुलवाला है, यह तो

'ऋषिकुल' है, 'देवकुल' है अथवा उस महान् प्रभु से पैदा किये जाने के कारण ऊँचे घरवाला (महाकुल) है। हे **भ्रातः**=प्रभु के सन्देश का भरण करनेवाले **अग्रे**=परिव्राजक! हम आज से **द्रुणः**=(द्रु गतौ) इस गतिमय शरीर के, जो कि प्रतिक्षण चल रहा है, अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है, उसके **इत्**=निश्चय से **भूतिम्**=ऐश्वर्य को **ऊदिम**=उच्चारित करते हैं। इसके महत्त्व को समझते हुए इसका ठीक ही प्रयोग करते हैं, इसकी पवित्रता को स्थिर रखने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम इस शरीर को घृणित वस्तु न समझकर इसे पवित्र रूप में देखें और इसे पवित्र बनाये रखने के लिए सन्नद्ध हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

चार आश्रम

एकं चमसं चतुरः कृणोतन तद्वो देवा अब्रुवन्तद्व आगमम्।
सौधन्वना यद्येवा करिष्यथ साकं देवैर्यज्ञियासो भविष्यथ॥ २॥

१. गतमन्त्र के अग्नि के द्वारा प्रभु का सन्देश इस रूप में दिया जाता है कि **एकं चमसम्**=इस एक सोमपान के साधनभूत शरीर को **चतुरः कृणोतन**=चार बनाओ। पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम में चलता हुआ यह शरीर 'ऋभु' कहलाये, फिर अगले पच्चीस तक यह 'विश्वा' बने, अगले पच्चीस वर्षों में यह 'वाज' हो और अन्तिम पच्चीस वर्षों में यह 'अग्नि' कहलाये। **वः**=तुम्हें **देवाः**=ज्ञानी पुरुष **तत् अब्रुवन्**=यही बात कहते हैं। मैं भी **तत्**=तभी **वः**=तुम्हें **आगमम्**=प्राप्त होता हूँ। प्रभु-प्राप्ति उसी को होती है जो इस चमस को चार करता है। चारों आश्रमों को सुचारुरूपेण वहन करना ही जीवन की सफलता है। २. **सौधन्वना**=प्रणव-धनुष् को धारण करनेवाले के सन्तानो—उत्तम सुधन्वा बननेवालो! **यदि एव**=यदि ऐसा ही **आ करिष्यथ**=ठीक करोगे तो **देवैः साकम्**=दिव्य गुणों के साथ **यज्ञियासः**=उत्तम जीवनवाले **भविष्यथ**=होओगे।

भावार्थ—जीवन की पवित्रता के लिए आवश्यक है कि हम जीवन को चार आश्रमों में व्यतीत करने का संकल्प करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

कर्त्तव्य-निर्देश

अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतनाश्वः कर्त्वो रथ उतेह कर्त्वः।
धेनुः कर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा तानि भ्रातरनु वः कृत्व्येमसि॥ ३॥

१. 'ऋभु, विश्वा व वाज' को 'अग्नि' ने उपदेश दिया। इन्होंने अग्नि के प्रति उन कर्त्तव्यों को व्रत के रूप में स्वीकार किया। उन्हें करके ही तो वे प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनेंगे, अतः मन्त्र में कहते हैं कि—**अग्निं दूतं प्रति**=प्रभु के सन्देशवाह इस परिव्राजक के प्रति **यत्**=जो **अब्रवीतन**=आप लोगों ने कहा कि (क) **अश्वः कर्त्वः**=इन्द्रियाश्वों को उत्तम बनाना हमारा कर्त्तव्य होगा, (ख) **उत**=और **इह**=इस जीवन में **रथः कर्त्वः**=इस शरीररथ को न टूटने देना—स्वस्थ रखना भी हमारा कर्त्तव्य होगा, (ग) **धेनुः कर्त्वा**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौ का पालन भी हमारा कर्त्तव्य होगा—हम स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करेंगे और (घ) **द्वा**=ब्रह्म और क्षत्र—ज्ञान और बल—इन दोनों को **युवशा कर्त्वा**=युवा बनाये रखना—जीर्ण न होने देना भी हमारा कर्त्तव्य होगा। २. हे **भ्रातः**=प्रभु के सन्देश का भरण करनेवाले अग्ने! **वः**=आपके

उपदिष्ट **तानि**=उन कर्मों को **कृत्वी**=करके **अनु एमसि**=हम प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम मन्त्र में संकेतित चारों कर्त्तव्यों का सुन्दरता से पालन करें।

भावार्थ—प्रभु को वही प्राप्त करता है जो—(क) इन्द्रियाश्वों को सबल बनाता है, (ख) शरीररथ को दृढ़ व स्वस्थ रखता है, (ग) ज्ञानवाणियों का अध्ययन करता है और (घ) ब्रह्म व क्षत्र को जीर्ण नहीं होने देता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीवन-परिष्कार

चकृवांस ऋभवस्तदपृच्छत क्वेदभूद्यः स्य दूतो न आजगन्।
यदावाख्यच्चमसाञ्चतुरः कृतानादित्त्वष्टा ग्रास्वन्तर्न्यानजे॥ ४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित कर्त्तव्यों को **चकृवांसः**=पालन करनेवाले **ऋभवः**=‘ऋभु, विश्वा और वाज’—ज्ञानदीप्त, ऐश्वर्यसम्पन्न, त्यागी **तत् अपृच्छत**=यह बात पूछते हैं कि **यः स्यः**=जो वह **दूतः**=प्रभु का सन्देश देनेवाला अग्नि **नः आजगन्**=हमें प्राप्त हुआ था **क्व इत् अभूत्**=वह कहाँ है? ताकि हम उससे चर्चा करके यह जान सकें कि हमने कर्त्तव्यों को कहाँ तक निभाया है और हमें और क्या करना है? उससे ज्ञान प्राप्त करके हम अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करनेवाले बनें। २. इन कर्त्तव्यों को पूर्ण करने पर **यदा**=जब **त्वष्टा**=संसार का निर्माता—ज्ञानदीप्त प्रभु हमसे **कृतान्**=किये **चतुरः चमसान्**=चार चम्मचों को **अवाख्यत्**=देखता है, अर्थात् ‘हमने इस जीवन को चारों आश्रमों में चलते हुए एक को चार भागों में बाँट-सा दिया है’—इस बात के देखने पर **आत् इत्**=शीघ्र ही वे निर्माता प्रभु **ग्नासु**=वेदवाणियों के **अन्तः**=अन्दर **नि आनजे**=हमारे जीवनों को निश्चय से अलंकृत करते हैं। जब एक व्यक्ति कर्तव्य-मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है तब प्रभु भी उसके सहायक बनते हैं और इसके जीवन को वेदवाणियों से परिष्कृत कर डालते हैं।

भावार्थ—जब हम अपने जीवन को चारों आश्रमों में चलाने का संकल्प कर लेते हैं तब प्रभु हमारे जीवन को अलंकृत कर देते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

‘होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा’

हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीच्चमसं ये देवपानमनिन्दिषुः।
अन्या नामानि कृण्वते सुते सचाँ अन्यैरेनान्कन्या३ नामभिः स्परत्॥ ५॥

१. **ये**=जो व्यक्ति **देवपानं चमसम्**=देवों से सोमपान के पात्रभूत इस शरीर को **अनिन्दिषुः**=निन्दित करते हैं, जो शरीर को अपवित्र व मलपुञ्ज के रूप में ही देखते रहते हैं, **एनान्**=इनको **हनाम**=हम समाप्त करते हैं **इति**=यह बात **यत्**=जब **त्वष्टा**=निर्माता, ज्ञानदीप्त प्रभु **अब्रवीत्**=कहते हैं तब ये ऋभु आदि समझदार लोग **सुते**=शरीर में इस सोम का सम्पादन करने पर **अन्या नामानि कृण्वते**=अपने अन्य नामों को सार्थक कर लेते हैं। ऋभु ‘होता’ बनता है। यह अपने में ज्ञान की निरन्तर आहुति देता है। ‘विश्वा’ ‘अध्वर्यु’ बनकर यज्ञों को अपने साथ जोड़ता है। वाज ‘उद्गाता’ बनकर प्रभु का गुणगान करता है और अग्नि ‘ब्रह्मा’ बनकर वेद-सन्देश सुनाता है। इस प्रकार इनका जीवन यज्ञमय हो जाता है। संक्षेप में भाव यह है कि इस शरीर को घृणित वस्तु समझते रहने की अपेक्षा यह अच्छा है कि हम इसे यज्ञभूमि समझें। इसकी

निन्दा करनेवाले प्रभु से दण्डनीय ही होते हैं। २. **एनान्**=इन **सचान्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से अपना मेल करनेवालों को **कन्या**=यह प्रभु की पुत्री—ज्ञानदीप्त वेदवाणी **अन्यैः नामभिः**=इन होता आदि अन्य नामों से **स्परत्**=प्रीणित करती है (स्पृ प्रीतिबलनयोः) अथवा अन्य नामों से प्रेरणा देती हुई सबल बनाती है। मैं 'होता, अध्वर्यु, उद्गाता व ब्रह्मा हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला व्यक्ति प्रीणित तो होता ही है, वह अपने अन्दर एक शक्ति का भी अनुभव करता है।

भावार्थ—शरीर की निन्दा न करके इसे पवित्र यज्ञभूमि बनाकर हम होता, अध्वर्यु, उद्गाता व ब्रह्मा बनें। ये नाम हमें प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

'इन्द्र, अश्विना, बृहस्पति'

इन्द्रो॒ हरी॑ युयु॒जे अ॒श्विना॒ रथं॑ बृह॒स्पति॑र्वि॒श्वरू॑पा॒मुपा॑जत।
ऋ॒भुर्वि॒भ्वा॒ वाजो॑ दे॒वाँ अ॑गच्छत॒ स्वप॑सो य॒ज्ञियं॑ भा॒गमै॑तन॥६॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष **हरी युयुजे**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को जोतता है। उसके ये अश्व चरते ही नहीं रहते। ये रथ में जुतकर उसे जीवन-यात्रा में आगे ले-जाते हैं। २. **अश्विना**=प्राणापान **रथम्**=इस शरीररथ को घोड़ों से युक्त करते हैं। यह शरीररथ अश्विनीदेवों का है। प्राणापान के साथ ही इसकी सत्ता है। इन्द्रियाश्वों में भी प्राणापान की शक्ति ही काम करती है। ३. **बृहस्पतिः**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी **विश्वरूपाम्**=(विश्वं 'नि'-रूपयति) सम्पूर्ण विद्याओं का निरूपण करनेवाली इस वेदवाणी को अपने में **उपाजत**=समीपता से प्राप्त कराता है। ४. इस प्रकार **ऋभुः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाला, **विभ्वा**=उचित ऐश्वर्य को कमानेवाला, **वाजः**=त्याग द्वारा अपने में शक्ति भरनेवाला—ये सब **देवान् अगच्छत्**=दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। **स्वपसः**=उत्तम कर्मोंवाले होते हुए **यज्ञियं भागम्**=यज्ञ-सम्बन्धी कर्त्तव्य-भाग को **ऐतन**=प्राप्त होते हैं। ५. प्रस्तुत मन्त्र में (क) इन्द्र ही ऋभु बनता है। जितेन्द्रियता के बिना ज्ञान से चमकना सम्भव ही नहीं। जितेन्द्रिय बनकर यह इन्द्रियों को ठीक से कार्यव्यापृत करता है और ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करके 'ऋभु' (उरु भाति) बनता है, (ख) अश्विना ही मानो पति-पत्नी हैं। ये गृहस्थ में शरीररथ को जोतकर उचित ऐश्वर्य को कमानेवाले 'विश्वा' बनते हैं, (ग) बृहस्पति ही 'वाज' बनता है। ज्ञान के बिना त्याग सम्भव नहीं।

भावार्थ—इन्द्र 'ऋभु' बनता है, अश्विना 'विश्वा' होते हैं तथा बृहस्पति 'वाज' बनता है। ये सब अपने यज्ञिय कर्त्तव्य-भाग को समुचितरूपेण पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

अश्व से अश्व का तक्षण

निश्चर्म॑णो॒ गाम॑रिणीत धी॒तिभि॒र्या जर॑न्ता युव॒शा ताकृ॑णोतन।
सौध॑न्वना॒ अश्वा॒दश्व॑मतक्षत यु॒क्त्वा रथ॒मुप॑ दे॒वाँ अ॑यातन॥७॥

१. सुधन्वा के पुत्रों में प्रथम ऋभु **धीतिभिः**=ध्यान-धारणाओं के द्वारा **गाम्**=वेदवाणी को **चर्मणा**=चर्म से, उपरले आवरण से **निरअरीणीत**=निर्गत करता है, अर्थात् उसके अन्तर्निहित अर्थ को देखनेवाला बनता है। वेदवाणी के वास्तविक अर्थ को देखने के लिए चित्तवृत्ति को

एकाग्र करके यह उसे आवरण से बाहर करता है। २. 'विश्वा' गृहस्थ में प्रवेश करते हुए **या**=जो 'ब्रह्म और क्षत्र' शक्तियाँ **जरन्ता**=जीर्ण हो रही होती हैं **ता**=उन्हें **युवशा**=पुनर्यौवनवाला **कृणोतन**=करते हैं, अर्थात् अपने ज्ञान और बल को क्षीण नहीं होने देते। ३. **सौधन्वना**=ये सुधन्वा के पुत्र 'वाज' **अश्वात्**=उस व्यापक शक्तिशाली प्रभु से अपने को **अश्वम्**=शक्तिशाली **अतक्षत**=बनाते हैं। प्रभु के उपासन से वे शक्तिशाली बनते हैं। ४. **रथं युक्त्वा**=इस प्रकार शरीर-रथ को इन्द्रियाश्वों से जोतकर ये **देवान् उप अयातन**=देवों के समीप प्राप्त होते हैं। निरन्तर क्रियाशील बनकर अपने में दिव्य गुणों का वर्धन करते हैं। दिव्य गुणों का वर्धन करते हुए ये प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनते हैं।

भावार्थ—हम मन्त्रद्रष्टा ऋषि बनते हुए ऋभु बनें, गृहस्थ में भी 'ब्रह्म+क्षत्र' को जीर्ण न होने दें, वनस्थ बनकर प्रभु के सम्पर्क से अपने में शक्ति का संचार करें, सदा क्रियाशील बनकर प्रभु के समीप प्राप्त हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मुञ्जनेजन का पान

इदमुदकं पिबतेत्यब्रवीतनेदं वा घा पिबता मुञ्जनेजनम्।
सौधन्वना यदि तन्नेव हर्यथ तृतीये घा सवने मादयाध्वै॥ ८॥

१. अपने जीवन को गतमन्त्र के अनुसार बनाने के लिए सब देव **इति अब्रवीतन**=यह कहते हैं कि **इदम् उदकम्**=शरीर में उत्पन्न वीर्यरूप जल को जीवन के प्रातःसवन में **पिबत**=अपने शरीर में ही पीने का प्रयत्न करो। **वा घ आ**=निश्चय से **इदम्**=इस **मुञ्जनेजनम्**=(मुञ्ज=to cleanse, निज्=पोषण) पवित्र व पोषण करनेवाले सोम (वीर्य) को **पिबत**=शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करो। २. हे **सौधन्वनाः**=ओम्-रूप उत्तम धनुष्वाले लोगो! **यदि**=यदि **तत् न इव हर्यथ**=इतने से ही आप्तकाम नहीं हो जाते हो तो **घ आ**=निश्चय से **तृतीये सवने**=जीवन के तृतीय सवन में **मादयाध्वै**=आनन्द-प्राप्ति के लिए अवश्य ऐसा करो ही। शरीर में सोम का पान हमारे जीवन को पवित्र बनाता है, यह पवित्रता व पोषण हमें बड़े महत्त्वपूर्ण लाभ न लगें तो हमें यह ध्यान करके सोमपान करना है कि यह हमारे जीवन-यज्ञ के तृतीय सवन में आनन्द देनेवाला होगा। बाल्यकाल प्रातःसवन है, यौवन माध्यन्दिन सवन है तथा वार्धक्य सायन्तन-सवन है। यह सोमपान हमें वार्धक्य में जीर्ण होने से बचाता है।

भावार्थ—'सोम'-पान 'मुञ्जनेजन' का पान है। सोम शरीर को पुष्ट व पवित्र करता है। यह वार्धक्य में भी उल्लास को स्थिर रखता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आपः, अग्नि व वज्र

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत॥ ९॥

१. **एकः**=एक विद्वान् **इति अब्रवीत्**=यह कहता है कि **आपः भूयिष्ठाः**=शरीरस्थ रेतःकण (आपः=रेतः) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गतमन्त्र के अनुसार ये ही शरीर में व्याप्त होकर इसका पवित्रीकरण व पोषण करते हैं। २. **अन्यः**=दूसरा विद्वान् **इति अब्रवीत्**=यह कहता है कि **अग्निः भूयिष्ठः**=अग्नि-तत्त्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'आपः—सोम' यदि

शान्ति का प्रतीक है तो 'अग्नि' शक्ति का प्रतीक है। वस्तुतः शान्ति व शक्ति दोनों का ही महत्त्व है। ३. **एकः**=एक अन्य विद्वान् ने **प्र अब्रवीत्**=प्रकर्षेण यह कहा कि **बहुभ्यः**=इन अनेक शत्रुओं के लिए **वधर्यन्तीम्**=(वधर्=वज्र) वज्र की कामनावाली भावना को ही मैं भूयिष्ठ समझता हूँ। ४. इस प्रकार **ऋता वदन्तः**=ये सब ऋत बातों का प्रतिपादन करते हुए **चमसान्**=इन शरीरों को **अपिंशत**=(to adorn) अलंकृत करते हैं। 'ऋभु' आपः=रेतःकणों के रक्षण को महत्त्व देता है। इनके रक्षण से ही वह दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनकर ज्ञान से चमक उठता है। 'विभ्वा' अग्नि को महत्त्व देता है। इसी से वह संसार में आगे बढ़ता है, उत्साहमय बना रहकर ऐश्वर्यवान् होता है। 'वाज' वासनाओं के विनाश पर बल देता है। वासनाओं के विनाश के लिए क्रियाशीलतारूप वज्र को अपनाता है। ये सब बातें जीवन के सौन्दर्य को बढ़ानेवाली हैं। रेतःकण शरीर को नीरोग बनाते हैं, अग्नितत्त्व मन में उत्साह को बनाये रखता है और वासना-विनाशक वज्र पवित्रता का प्रमुख साधन बनता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'आपः, अग्नि व क्रियाशीलतारूप वज्र'—तीनों को स्थान दें। ये तीनों मिलकर ही जीवन को अलंकृत करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

ज्ञान, धन व शक्ति

श्रोणामेकं उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति सूनयाभृतम्।
आ निम्रुचः शकृदेको अपाभरत्किं स्वित्पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः॥ १०॥

१. **एकः**=सौधन्वनों में प्रथम 'ऋभु' **श्रोणाम्**=श्रोतव्य **गाम्**=वेदवाणीरूप गौ से **उदकम्**=ज्ञान-जल को **अव अजति**=अपने में नीचे प्रेरित करता है। आचार्य ज्ञान के दृष्टिकोण से उच्चस्थल में है, विद्यार्थी नीचे। आचार्य से यह ज्ञान-जल विद्यार्थी की ओर आता है। विद्यार्थी ने इस ज्ञान को संसार में प्रचरित करना होता है। २. **एकः**=दूसरा 'विभ्वा' **सूनया**=हिंसा से **आभृतम्**=प्राप्त **मांसम्**=मांस को **पिंशति**=(पृथक्करोति—दया०) अपने घर से पृथक् ही रखता है। जहाँ यह मांस-भोजन नहीं करता वहाँ यह भाव भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि यह हिंसा से धन प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। ३. **एकः**=तीसरा 'वाज'=वासनाओं का त्याग करता हुआ **निम्रुचः**=वासनाओं के अस्त होने के द्वारा **शकृत्**=शक्ति को **अप आभरत्**=आनन्दपूर्वक अपने में भरता है (अप हर्षे—आप्टे)। ४. इस प्रकार **पितरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक—मस्तिष्क व शरीर इन **पुत्रेभ्यः**=पुत्रों—ऋभु, विभ्वा व वाज के लिए **किं स्वित्**=क्या-क्या **उपावतु**=प्राप्त कराते हैं (अवतिः प्रापणे—सा०) प्रथमाश्रम में ज्ञान प्राप्त होता है तो द्वितीयाश्रम में हिंसाशून्य धन-प्राप्त होता है और वानप्रस्थ में वासनाविनाश के द्वारा शक्ति की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—ज्ञान, पवित्र धन तथा शक्ति की प्राप्ति के लिए हमें मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाना है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अन्नोत्पत्ति व जल-प्राप्ति

उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः।
अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ॥ ११॥

१. सूर्यकिरणें भी 'ऋभवः' कहलाती हैं (आदित्यरश्मयोऽपि ऋभव उच्यन्ते—नि० ११।१६)।

ये सूर्यकिरणें जलों को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाती हैं, फिर ये जल मेघरूप में होकर बरसते हैं। इस वृष्टि के द्वारा हे **ऋभवः**=आदित्यरश्मियो! **उद्वत्सु**=उन्नत प्रदेशों में **अस्मै**=इस 'ऋभु, विभ्वा और वाज' के लिए आप **तृणम्**=भोजन की आधारभूत वनस्पतियों को **अकृणोतन**=करती हो। **निवत्सु**=निम्न प्रदेशों में **अपः**=जलों की व्यवस्था करती हो। हे **नरः**=(नृ नये) अन्न व जल के उत्पादन के द्वारा कार्यों का प्रणयन करनेवाली रश्मियो! आप **स्वपस्यया**=शोभन कर्मों की इच्छा से इस अन्न और जल की व्यवस्था करती हो। इनके अभाव में किन्हीं भी उत्तम कर्मों का हो सकना सम्भव नहीं। २. हे सूर्य-किरणो! आप **यत्**=जब रात्रि के समय **अगोह्यस्य**=न छिपने योग्य इस सूर्य के **गृहे**=घर में **असस्तन**=सोती हो (सस्=स्वप्ने) **तत्**=तब **अद्य**=अब **न अनुगच्छथ**=उस सोने की क्रिया का अनुगमन मत करो, अपितु जागरित रहकर अपने जल के वाष्पीकरणरूप कार्य को करनेवाली होओ। रात्रि के समय किरणें मानो अगोह्य आदित्यमण्डल में जा सोती हैं, उनका कार्य रुक-सा जाता है। प्रातः होते ही ये किरणें फिर से अपने कार्य को आरम्भ करती हैं।

भावार्थ—सूर्य-किरणें वृष्टि का कारण बनकर अन्नोत्पत्ति व जल-प्राप्ति का साधन बनती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सूर्य-किरणों की महिमा

संमील्य यद्भुवना पर्यसर्पत क्व स्वित्तात्या पितरा व आसतुः।
अशपत यः करस्नं व आददे यः प्राब्रवीत्प्रो तस्मा अब्रवीतन॥ १२॥

१. हे (ऋभवः) सूर्य-किरणो! **यत्**=जब **भुवना**=सब भुवनों को **सम्मील्य**=मेघसमूहों से आच्छादित करके **पर्यसर्पत**=आप चारों ओर गति करती हो [इन सूर्य-किरणों से ही तो जलों के वाष्पीकरण द्वारा मेघ उत्पन्न होते हैं और सारे आकाश को आवृत कर लेते हैं,] उस समय दिन-रात वर्षा होने पर **तात्या**=तत्कालीन **वः पितरः**=तुम्हारे पिता, अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा **स्वित्**=भला **क्व आसतुः**=कहाँ होते हैं? सूर्य-चन्द्र का तो दर्शन ही नहीं होता, न जाने ये कहाँ चले जाते हैं? २. हे सूर्य-किरणो! **यः**=जो भी **वः**=आपके **करस्नम्**=हाथ को **आददे**=पकड़ता है, अर्थात् जो भी आपको अपने घर में आने से रोकता है उसे आप **अशपत**=शप्त कर देती हैं, नष्ट कर देती हैं। जिन घरों में सूर्य-किरणों का प्रवेश नहीं हो पाता, वहाँ रोग उत्पन्न होकर नाश-ही-नाश होता है। ३. **यः**=जो **प्र अब्रवीत्**=प्रकर्षेण आपके गुणों का स्तवन करता है **तस्मै**=उसके लिए **उ**=निश्चय से **प्र अब्रवीतन**=आप भी स्तवन करती हो, अर्थात् उसके जीवन को सुन्दर बना देती हो। सूर्य-किरणें मेघों को उत्पन्न करती हैं जिनसे सूर्य और चन्द्रमा भी ढक जाते हैं। सूर्य-किरणों को रोकनेवाले, उन्हें अपने घर में प्रविष्ट न होने देनेवाले व्यक्ति का नाश होता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का शंसन करनेवाला व्यक्ति इन सूर्य-किरणों को अपने शरीर पर लेता है और ये सूर्य-किरणें उसके शरीर को नीरोग बनाती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वृष्टि की प्रेरक वायु

सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्।
श्वानं बस्तो बोधयितारमब्रवीत्संवत्सर इदमद्या व्यख्यत॥ १३॥

१. **सुषुप्वांसः**=(स्वप=सु+अप) वृष्टि द्वारा अन्नोत्पत्ति आदि उत्तम कार्यों को करनेवाली

ऋभवः=सूर्य-किरणें **तत् अपृच्छत**=यह प्रश्न करती हैं कि **अगोह्य**=किसी के द्वारा न ढाँपे जाने योग्य हे सूर्य! **कः**=कौन **नः**=हमारे **इदम्**=इस वृष्टिकर्म को **अबूबुधत्**=(बोधयति) प्रेरित करता है। २. सूर्य-किरणों के इस प्रश्न पर **बस्तः**=सबका वासयिता यह सूर्य **श्वानम्**=(मातरिश्वानम्) अन्तरिक्ष में गति करनेवाली वायु को **बोधयितारम्**=प्रेरक **अब्रवीत्**=कहता है। वृष्टि लानेवाली ये वायुएँ ही 'मॉनसून' कहलाती हैं। सूर्यकिरणों ने जलों को वाष्पीभूत किया और ये वायुएँ उन वाष्पकणों को आकाश में पहुँचाती हैं। ३. हे सूर्यकिरणो! जैसे तुम इस समय इन वायुओं के कार्य को देख रही हो, उसी प्रकार **इदम्**=इस कार्य को **संवत्सरे अद्य**=वर्ष की समाप्ति पर आज के दिन **व्यख्यत**=फिर देखोगी। प्रतिवर्ष समय पर वर्षाऋतु आती है और वायुओं का यह कार्य देखने को मिलता है।

भावार्थ—वायु सूर्यकिरणों द्वारा वाष्पीभूत जलों को आकाश में प्रेरित करके वृष्टि का साधक होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—ऋभवः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वृष्टि के सहायक देव

दि॒वा या॑न्ति म॒रुतो॒ भूम्या॒ग्निर॒यं वातो॑ अ॒न्तरि॑क्षेण याति।
अ॒द्भिर्या॑ति॒ वरु॑णः समु॒द्रैर्यु॒ष्माँ इ॒च्छन्तः॑ शवसो नपातः॥ १४॥

१. **मरुतः**=वृष्टि लानेवाली वायुएँ **दिवा यान्ति**=द्युलोकस्थ सूर्य की गरमी से चलती हैं। **भूम्या**=भूमि से **अयं अग्निः**=यह अग्नि उत्पन्न होती है। **वातः**=वायु **अन्तरिक्षेण याति**=अन्तरिक्ष से गति करता है। **वरुणः**=सब रोगों का निवारण करनेवाला जल **अद्भिः समुद्रैः**=जलों व समुद्रों के साथ **याति**=गति करता है। २. ये 'मरुत्, अग्नि, वात व वरुण' हे **शवसः नपातः**=शक्ति को न गिरने देनेवाली सूर्य-रश्मियो! इस वृष्टि-कार्य के लिए **युष्मान् इच्छन्तः**= तुम्हारी कामना करते हैं। सूर्य-किरणें ही वस्तुतः वाष्पीकरणरूप कार्य को प्रारम्भ करके वृष्टि का उपक्रम करती हैं। इस कार्य में 'मरुत्' आदि देव इन सूर्य-किरणों के सहायक होते हैं। इन सब देवों का कार्य होने पर वृष्टि होती है। यह वृष्टि अन्नोत्पादन के द्वारा हमारी शक्ति का कारण बनती है। इसीलिए इन सूर्यकिरणों का यहाँ 'शवसो नपातः' इन शब्दों में स्मरण किया है।

भावार्थ—'सूर्यकिरणें व मरुत्' आदि देव मिलकर वृष्टि करते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रथम दस मन्त्रों में 'ऋभु, विभ्वा व वाज' तथा 'अग्नि' का ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यासी के रूप में सुन्दर चित्रण है। अन्तिम चार मन्त्रों में 'ऋभवः' का अर्थ आदित्य-रश्मि लेकर उनका चित्रण किया है। अगला सूक्त 'अश्व' देवता का है। अश्व अर्थात् सर्वव्यापक प्रभु या शक्तिशाली जीव।

[१६२] द्विषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु-प्रवचन

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो अर्य॒मायुरिन्द्र॑ ऋभु॒क्षा म॒रुतः॒ परि॑ ख्यन्।
यद्वा॒जिनो॑ दे॒वजा॑तस्य॒ सप्तेः॑ प्रव॒क्ष्यामो॑ वि॒दथे॑ वी॒र्या॑णि॥ १॥

१. दीर्घतमा प्रार्थना करता है कि **नः**=हमें निम्न देव **मा परिख्यन्**=मत छोड़ जाएँ—(क) **मित्रः**=स्नेह की देवता, (ख) **वरुणः**=निर्द्वेषता की देवता, (ग) **अर्यमा**='अर्यमेति तमाहुर्यो

ददाति'=दातृत्व की भावना अथवा 'अरीन् यच्छति' काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन, (घ) **आयुः**=(इ गतौ) गतिशीलता, (ङ) **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व, (च) **ऋभुक्षाः**=(ऋतेन भान्ति; अरु भान्ति इति वा, क्षि गतौ) नियमितता से दीप्त होकर व्यवहार करना अथवा ज्ञानपूर्वक गति तथा (छ) **मरुतः**=प्राण, अर्थात् प्राणसाधना। मित्रादि शब्दों से सूचित होनेवाले सब दिव्य गुण हमारे जीवन का अङ्ग हों। २. हमारे जीवन में यह समय आएगा तभी **यत्**=जब हम **विदथे**=ज्ञान-यज्ञों में प्रभु के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कर्मों का **प्रवक्ष्यामः**=प्रवचन करेंगे। उस प्रभु का जो कि **वाजिनः**=सर्वशक्तिमान् हैं, **देवजातस्य**=देवों के हृदयों में प्रादुर्भूत होनेवाले हैं, **सप्तेः**=(षप समवाये) प्राणिमात्र में समवायवाले हैं। ३. ज्ञानयज्ञों में एकत्र होकर हम शक्तिशाली, सब देवों में प्रादुर्भूत, सबमें समवेत प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु के प्रिय बनते हैं, उस समय ये सब देव हमारा आश्रय करते हैं। हम महादेव का निवास-स्थान बनने का प्रयत्न करते हुए सब देवों का निवास बन जाते हैं। यह प्रभु का प्रवचन हमारे जीवनों को शुद्ध बनाये रखता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण हमें दिव्यगुणों से युक्त बनाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शुद्ध धन, शुद्ध अन्न

यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति।
सुप्राङ्जो मेम्यद्विश्वरूप इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः॥ २॥

१. **यत्**=जब **निर्णिजा**=शुद्ध, अर्थात् शुद्ध उपायों से कमाये हुए **रेक्णसा**=धन से **प्रावृतस्य**=आच्छादित पुरुष के **गृभीतां रातिम्**=ग्रहण किये हुए दान को **मुखतः**=मुख्यरूप से अथवा प्रारम्भ में ही ले-जाते हैं, अर्थात् (क) आध्रः=आधार देने योग्य विकलाङ्ग, दरिद्र पुरुष, (ख) मन्यमानः तुरः=आदरणीय, अज्ञान-अन्धकार के नाशक अध्यापकादि और (ग) राजा=राष्ट्र के व्यवस्थापक जिसके धन के विषय में यह कहते हैं कि 'हमने भी इस धन में से भाग प्राप्त किया है।' २. इस दान देकर यज्ञशेष का सेवन करनेवाले पुरुष के लिए वे प्रभु **सुप्राङ्**=(सु प्र अञ्च्) उत्तमता से, खूब आगे ले-चलनेवाले होते हैं, **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशीलता के द्वारा इसकी सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाले होते हैं, **मेम्यत्**=(भृशं हिंसन्—द०) काम-क्रोधादि सब वासनाओं का संहार करनेवाले, **विश्वरूपः**=सब आवश्यक ज्ञानों का निरूपण करनेवाले होते हैं। ३. मेम्यत् शब्द का अर्थ आचार्य ने प्राप्नुवन् भी किया है। इस शुद्ध उपायों से धन कमाने व दान देनेवाले पुरुष को प्रभु प्राप्त होते हैं। यह प्रभु का प्रिय **इन्द्रापूष्णोः**=इन्द्र और पूषा के **प्रियं पाथः**=प्रिय अन्न को भी **अपि एति**=प्राप्त करता है, अर्थात् यह उस अन्न का सेवन करनेवाला बनता है जो इसे इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय बनाता है और पूषा=उत्तमता से अपनी शक्तियों का पोषण करनेवाला बनाता है। इस अन्न का सेवन करके यह जितेन्द्रिय व पुष्टाङ्ग बनता है। इस मन्त्र का आरम्भ 'निर्णिजा रेक्णसा' अर्थात् 'शुद्ध धन' से होता है और समाप्ति पर 'इन्द्रापूष्णोः पाथः' शुद्ध अन्न का सेवन करनेवाला ही शुद्ध धन का अर्जन करता है। अन्नदोष से वृत्तिदोष होकर न्याय-अन्याय सभी साधनों से धन कमाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—हम सुपथ से धन कमाएँ। उचित दान देकर अवशिष्ट धन से अर्जित सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—निषादः।

शत्रुच्छेदक (छाग)

एष च्छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।
अभिप्रियं यत्पुरोळाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'शुद्ध धन व शुद्ध अन्न' का सेवन करनेवाले के लिए कहते हैं कि **एषः छागः**=यह शत्रुओं का छेदन करनेवाला (छो छेदने) **पूष्णः भागः**=पोषक अन्न का ही सेवन करनेवाला (भज सेवायाम्) **विश्वदेव्यः**=अपने में सब दिव्यगुणों को धारण करनेवाला दीर्घतमा (मन्त्र का ऋषि) **अश्वेन**=(अशू व्याप्तौ) सर्वव्यापक **वाजिना**= सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु से **पुरः नीयते**=आगे, अर्थात् उन्नति-पथ पर ले-जाया जाता है। २. **अर्वता**= (अर्व हिंसायाम्) सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभु से **यत्**=जब **प्रियम्**=तृप्ति व कान्ति देनेवाले **पुरोळाशम्**=(leavings of an oblation) हुतशेष की **अभि**=ओर (नीयते) ले-जाया जाता है, अर्थात् यज्ञशेष का ही सेवन करने के लिए प्रेरित किया जाता है तब **त्वष्टा**=वह देवशिल्पी—संसार-निर्माता अथवा (त्विष् दीप्तौ) ज्ञान की दीप्तिवाला प्रभु **इत्**=निश्चय से **एनम्**=इसको **सौश्रवसाय**=उत्तम ज्ञान के लिए **जिन्वति**=प्रीणित करता है, उत्तम ज्ञान प्राप्त कराके इसे आनन्दित करता है। वस्तुतः यज्ञशेष का सेवन चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। शुद्ध चित्त में ज्ञान का प्रकाश होता है और प्रकाश में आनन्द है।

भावार्थ—हम काम-क्रोधादि का छेदन करें। इसके लिए पोषक अन्न का ही सेवन करें। यज्ञशेष का सेवन करते हुए जीवन को दीप्त बनाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

यज्ञिय जीवन

यद्धविष्य॑मृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः॥ ४॥

१. **यत्**=जब **हविष्यम्**=(हविषि उत्तमम्) जीवन दानपूर्वक अदन में उत्तम होता है, अर्थात् दान देकर यज्ञशेष को ही खाने की वृत्ति होती है, २. **ऋतुशः**=ऋतु के अनुसार **देवयानम्**=देवताओं के मार्ग से चलना होता है, अर्थात् ऋतुचर्या का ध्यान रखते हुए सत्य को ही अपनाना होता है तथा ३. **मानुषाः**=(मत्वा कर्माणि सीव्यति) विचारपूर्वक कर्म करनेवाले **अश्वम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को **त्रिः**=प्रातः, माध्यन्दिन और सायंतन—इन तीन सवनों में **परिनयन्ति**=अपने विचारों में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् सर्वव्यापक प्रभु का ध्यान करते हैं, **अत्र**=तो, ऐसा होने पर **पूष्णः**=पूषा का **प्रथमो भागः**=सर्वोत्तम भाग **एति**=इन्हें प्राप्त होता है, अर्थात् इन्हें उत्तम पोषक तत्त्व प्राप्त होते हैं और इनका शरीर उत्तम पुष्टिवाला होता है। ४. अब **अजः**=कभी भी जन्म न लेनेवाला प्रभु अथवा सब प्रेरणाओं (गतियों) को प्राप्त करानेवाला प्रभु **देवेभ्यः**=इन देव वृत्तिवाले पुरुषों के लिए **यज्ञं प्रतिवेदयन्**=यज्ञों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम दानपूर्वक अदन करने-(खाने)-वाले हों, देवयान मार्ग से चलें, दिन के आदि, मध्य व अन्त में प्रभु-स्मरण करनेवाले हों, शरीर को पुष्ट करें और प्रभु से दिये गये यज्ञ को अपनाएँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

जीवन—सप्तहोता यज्ञ

होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम्॥५॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार प्रभु ने यज्ञ प्राप्त कराया। अब प्रभु कहते हैं कि **तेन**=उस **स्वरंकृतेन**=उत्तमता से अलंकृत **स्विष्टेन**=उत्तम भावना से किये गये **यज्ञेन**=यज्ञ से तुम **वक्षणा**=अपनी सब प्रकार की उन्नतियों को (वक्ष्=to grow) **आपृणध्वम्**= पूर्ण करनेवाले बनो! हम यज्ञों को उत्तमता तथा उत्तम भावना से करेंगे तो हमारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी और हमारी खूब उन्नति हो सकेगी। २. उस समय हमारा जीवन मन्त्र के पूर्वार्द्ध में वर्णित सात गुणोंवाला होगा—(क) **होता**=हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनेंगे, (ख) **अध्वर्युः**= अहिंसात्मक कर्मों को अपने साथ जोड़नेवाले होंगे, (ग) **आवयाः**=(अवयजति) अशुभवृत्तियों को अपने से दूर करेंगे, (घ) **अग्निमिन्धः**=अग्निहोत्रादि कर्मों को करनेवाले अथवा ज्ञानाग्नि को अपने में दीप्त करनेवाले होंगे, (ङ) **ग्राव-ग्राभः**=स्तुति की वृत्ति को ग्रहण करनेवाले, अर्थात् सदा प्रभुस्तवन करनेवाले होंगे, (च) **उत**=और **शंस्ता**=उत्तम कर्मों का शंसन करनेवाले (छ) **सुविप्रः**=उत्तम ज्ञानी बन पाएँगे। इन सात गुणों से युक्त होने पर हमारा जीवन यज्ञमय बनेगा और यह जीवनरूप सप्त होताओंवाला यज्ञ सुन्दरता से चलेगा।

भावार्थ—हम जीवन को सप्त होताओंवाला यज्ञ बना डालें। इस यज्ञ को उत्तम भावना से व उत्तम प्रकार से करते हुए हम अपनी सब उन्नतियों को सिद्ध करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शरीर=यज्ञवेदि

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनं संभरन्त्युतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥६॥

१. गतमन्त्र में जीवन को यज्ञ बनाने का उल्लेख है। उस 'जीवन-यज्ञ' की यज्ञशाला यह शरीर है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग उस यज्ञशाला के यूप हैं। इन यूपों—यज्ञस्तम्भों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **यूपव्रस्काः**=(यूपान् व्रश्चन्ति) जो व्यक्ति इन अङ्गरूप यज्ञस्तम्भों का व्रश्चन द्वारा ठीक निर्माण करते हैं, अङ्गों पर चढ़ी हुई चर्बीरूप मैल की तहों को छील-छालके इन स्तम्भों को ठीक बनाते हैं, **उत**=और २. **ये**=जो **यूपवाहाः**=इन यज्ञस्तम्भों का वहन करनेवाले हैं, अर्थात् इन अङ्गरूप स्तम्भों को यज्ञादि कार्यों में प्रयुक्त करनेवाले हैं, **ये**=जो **अश्वयूपाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले जीव के इन अङ्गरूप यज्ञस्तम्भों के लिए **चषालम्**=(यूपाग्रभागे स्थाप्यं काष्ठम्) अङ्गरूप स्तम्भों के अग्रभाग में स्थित मस्तिष्करूप चषाल को **तक्षति**=(तक्ष्=तनूकरणे) खूब सूक्ष्म व तीव्र बनाते हैं। ३. ये **च**=और जो **अर्वते**=काम-क्रोधादि की हिंसा करनेवाले के लिए **पचनं सम्भरन्ति**=बुद्धि के परिपाक को सम्यक् प्राप्त करते हैं, अर्थात् बुद्धि को परिपक्व करके कामादि दोषों से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं, **तेषाम्**=उन सबका **अभिगूर्तिः**=उद्योग **नः इन्वतु**=हमें व्याप्त करनेवाला हो, अर्थात् हम भी इनकी भाँति (क) अपने अङ्गों को चर्बी आदि के तक्षन् से सुडौल बनाएँ, (ख) इन अङ्गों को क्रियाशील बनाए रक्खें, (ग) मस्तिष्क को सुन्दर बनाएँ, (घ) बुद्धि का उत्तम परिपाक करें।

भावार्थ—हम इस शरीर को जीवन-यज्ञ की यज्ञशाला बनाने के उद्देश्य से सब अङ्गों को अति सुन्दर बनाएँ और बुद्धि का उत्तम परिपाक करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

प्रभु के बन्धुत्व में अन्तःप्रकाश

उप॒ प्रागा॑त्सु॒मन्मे॑ऽधायि॒ मन्म॑ दे॒वाना॒माशा॒ उप॑ वी॒तपृ॑ष्ठः ।
अन्वे॑नं॒ विप्रा॒ ऋष॑यो मदन्ति दे॒वानां॑ पु॒ष्टे च॑कृमा सु॒बन्धु॑म् ॥ ७ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब हम उद्योगशील होते हैं तो **उपप्रागात्**=प्रभु हमें समीपता से प्राप्त होते हैं, हम प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होते हैं। प्रभु की समीपता से **मे**=मुझमें **सुमत्**=स्वयं **मन्म**=ज्ञान **अधायि**=स्थापित होता है, अर्थात् 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के प्राप्त होने से मुझे अन्तःप्रकाश प्राप्त हो जाता है। **देवानाम् आशाः**=उस समय मुझमें देवों की आशाएँ स्थापित होती हैं। मैं 'अभय, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप व आर्जव'-वाला बनता हूँ। **उप वीतपृष्ठः**=प्रभु की उपासना से मैं कान्त पृष्ठवाला होता हूँ। मेरी पीठ पर पाप की गठड़ी नहीं लदी रहती, उसे परे फेंककर मैं निर्मल पृष्ठवाला होता हूँ। २. वस्तुतः **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **एनम् अनुमदन्ति**= इस प्रभु की उपासना में हर्ष का अनुभव करते हैं। हम भी **देवानां पुष्टे**=दिव्यगुणों का पोषण होने पर **सुबन्धुं चकृम**=उस प्रभु को अपना उत्तम बन्धु बनाते हैं। दिव्यगुणों के पोषण के द्वारा हम देव बनते हैं और महादेव को प्राप्त करने की योग्यतावाले होते जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से अन्तःप्रकाश होता है, देवत्व की वृद्धि होती है, पाप क्षीण, अर्थात् कृष-काय (कमज़ोर), नष्ट नहीं हो जाते हैं और हम भी प्रभु को अपना बन्धु बना पाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

बन्धन व दिव्यता

यद्वा॒जिनो॒ दाम॑ स॒न्दान॒मर्व॑तो॒ या शी॑र्ष॒ण्या॑ रश॒ना रज्जु॑रस्य ।
यद्वा॑ घास्य॒ प्रभृ॑तमा॒स्ये॒३॒ तृणं॒ सर्वा॒ ता ते॒ अपि॑ दे॒वेष्व॑स्तु ॥ ८ ॥

१. **यत्**=जो **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुष की **दाम**=ग्रीवा-बन्धन रज्जु है, अर्थात् ग्रीवा व कण्ठ का संयम है, बोल-चाल में युक्तचेष्ट है और २. **अर्वतः**=वासनाओं को हिंसित करनेवाले का **सन्दानम्**=पाद-बन्धन है। 'पद गतौ' से बनकर 'पाद' शब्द गति का प्रतीक है। इस अर्वा की सब गति बड़ी संयत है। कर्मों में यह युक्त-चेष्टावाला है। ३. **या**=जो **अस्य**=इस संयमी पुरुष की **शीर्षण्या**=शिरः-प्रदेश में होनेवाली **रज्जुः**=रज्जु है, अर्थात् विचारों में भी यह संयमवाला है। सब ज्ञानेन्द्रियों को संयत करके यह पवित्र ज्ञानवाला बनता है और जो इसकी **रशना**=कटिप्रदेश में होनेवाली रज्जु है, इसका उदर का संयम है। पेट को संयत करके यह दामोदर बना है। ४. **यत् वा घ**=और जो निश्चय से **अस्य आस्ये**=इसके मुख में **तृणं प्रभृतम्**=तृण, अर्थात् वानस्पतिक भोजन ही प्रकर्षेण प्राप्त कराया गया है तो **ते**=तेरी **सर्वा ता**=ये सब बातें **अपि**=बहुत सम्भव करके (most probably) **देवेषु अस्तु**= दिव्यगुणों की उत्पत्ति का निमित्त बनें।

भावार्थ—कण्ठ, पाद, मस्तिष्क व उदर के संयम तथा वानस्पतिक भोजन से हम अपने जीवन में दिव्यगुणों का विकास करनेवाले बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

कर्म में लगे रहना

यदश्व॑स्य क्र॒विषो॒ मक्षि॒काश॒ यद्वा॒ स्वरौ॒ स्वधि॑तौ रि॒प्तमस्ति॑ ।
यद्धस्त॑योः शमि॒तुर्यन्न॒खेषु॒ सर्वा॒ ता ते॒ अपि॑ दे॒वेष्व॑स्तु ॥ ९ ॥

१. **यत्**=जब **अश्वस्य**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले इस **क्रविषः**=(क्रवि हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाले व्यक्ति के समय को **मक्षिका**=धन-सञ्चय (मक्ष=to accumulate) **आश**=खा लेता है, अर्थात् इसका बहुत-सा समय सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक धन की प्राप्ति में खप जाता है और २. बचा हुआ समय **यत् वा**=यदि निश्चय से **स्वरौ**=(स्वृ शब्दे) शब्दशास्त्र के अध्ययन में बीतता है तथा उससे भी बचे समय में **स्वधितौ**=आत्मतत्त्व के धारण में **रिप्तम्** (लिप्तम्)=लगाव **अस्ति**=है। ३. **शमितुः**=वासनाओं को शान्त करनेवाले इस पुरुष का **यत्**=जो **हस्तयोः**=हाथों में 'कर्मणे हस्तौ विसृष्टौ'=अर्थात् हस्तसाध्य कार्यों में लगाव है। मुख्य कार्य को करने के बाद यह किसी उपकार्य (hobby) में लगा रहता है। **यत्**=यदि **नखेषु**=छिद्रों में इसका लगाव नहीं, अर्थात् यह दोषयुक्त कर्मों में व्यापृत नहीं होता तो **सर्वा ता**=वे सब बातें **ते**=तेरे **देवेषु अपि अस्तु**=दिव्यगुणों को उत्पन्न करनेवाली हों। खाली होना ही अवगुणों की उत्पत्ति का कारण बनता है। न यह खाली होता है और न अवगुणों का आधार बनता है।

भावार्थ—हम आवश्यक धन की प्राप्ति में, स्वाध्याय में, ध्यान में व किसी उपयोगी उपकार्य में लगे रहें। ताश खेलना आदि दोषयुक्त कर्मों में न लगें। यही दिव्यगुणों की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सात्त्विक व ठीक परिपक्व भोजन

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधं शृतपाकं पचन्तु॥ १०॥

१. गतमन्त्र में दिव्य गुणों की प्राप्ति का उल्लेख था। इसके लिए स्वास्थ्य का ठीक होना भी अत्यन्त आवश्यक है। स्वास्थ्य का सम्बन्ध भोजन से है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ठीक परिपक्व भोजन चाहिए और मानस-स्वास्थ्य के लिए उसका सात्त्विक होना भी आवश्यक है। इसी विषय को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=जो **ऊवध्यम्**=(भक्षितं अपक्वम् आमाशयस्थम्—म०) खाया हुआ अन्न ठीक से पचता नहीं वह **उदरस्य अपवाति**=पेट में दुर्गन्ध का कारण बनता है (गन्धायते—उ०) या वमन आदि द्वारा बाहर हो जाता है (अपगच्छति—म०) और इस प्रकार वातिक रोगों का कारण बनता है। २. भोजन में **यः**=जो **आमस्य**=कच्चेपन का **गन्धः**=लेश **अस्ति**=है और परिणामतः इसके पूर्ण परिपाक न होने से कफजनित रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ३. अथवा भोजन में जो **क्रविषः**=पैत्तिक विकार के द्वारा हिंसा करने के दोष का गन्धः **अस्ति**=सम्बन्ध है **तत्**=उस दोष को **शमितारः**=सब दोषों को दूर करके शान्ति करनेवाले **सुकृता कृण्वन्तु**=भोजनों को सुसंस्कृत कर दें, अर्थात् भोजनों में से दोषों को पूर्णतया दूर कर दें **उत**=और **मेधम्**=पवित्र सात्त्विक वस्तु को **शृतपाकं पचन्तु**=ठीक परिपाकवाला पकाएँ। उसे न ईषत्पक्व और नहीं अतिपक्व होने दें। ईषत्पक्व कफ-सम्बन्धी विकारों का कारण बनता है और अतिपक्व पित्त-विकारों का कारण होता है। पेट में जाकर ठीक पचन न होने पर वातिक विकार कष्ट देते हैं, अतः भोजन सात्त्विक भी हो और उचित रूप में पका हुआ भी हो।

भावार्थ—हम सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें तथा वही भोजन करें जिसका ठीक से परिपाक हुआ है। फलों में भी कच्चे व गले-सड़े फलों का प्रयोग न करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः । **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप् । **स्वरः**—धैवतः ।

वीर्यरक्षण से रोग-निवारण व दिव्यगुणों का विकास

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति ।
मा तद्भूम्यामा श्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु ॥ ११ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब सात्त्विक व ठीक परिपक्व भोजन खाया जाता है तब **अग्निना पच्यमानात्**=शरीर में वैश्वानर अग्नि से पकाये जाते हुए भोजन से उत्पन्न रुधिरादि धातुओं में से **शूलम् अभि**=रोगों का लक्ष्य करके, अर्थात् रोगों को दूर करने के उद्देश्य से **निहतस्य**=निश्चय से प्राप्त कराये गये इस वीर्य का (इन=गतौ, गतिः=प्राप्तिः) **यत्**=जो अंश **ते गात्रात्**=तेरे शरीर से **अवधावति**=दूर जाता है, **तत्**=वह **भूम्याम्**=बीज-वपन की आधारभूत स्त्री में **मा**=मत **आश्रिषत्**=आलिंगन करे, **तृणेषु मा**=तृणतुल्य, तुच्छ विषय-भोगों में तो वह न ही व्ययित (खर्च) हो। एक या अधिक-से-अधिक तीन सन्तानों के बाद यह सन्तानोत्पत्ति में भी व्ययित न हो, भोगविलास में उसके व्यय का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता। भोगविलास में इसका अपव्यय मनुष्य की सर्वमहान् मूर्खता है। **तत्**=वह—अधिक सन्तानोत्पत्ति व भोगविलास में व्ययित न हुआ-हुआ वीर्य **उशद्भ्यः**=(उश्=to shine) चमकते हुए **देवेभ्यः**=दिव्यगुणों के लिए **रातम्**=दिया हुआ **अस्तु**=हो। यह सुरक्षित वीर्य शरीर में रोगों को उत्पन्न नहीं होने देता और मन में दिव्यगुणों की उत्पत्ति का कारण बनता है।

भावार्थ—भोजन से उत्पन्न वीर्य का अधिक सन्तानोत्पत्ति या विलास में व्यय करना मूर्खता है। इसे सुरक्षित रखने पर शरीर रोगाक्रान्त नहीं होते और हमारे मनों में दिव्यगुणों का विकास होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः । **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप् । **स्वरः**—धैवतः ।

आचार्य का कर्तव्य

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति ।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥ १२ ॥

१. **ये**=जो आचार्यगतमन्त्र के अनुसार विद्यार्थी में वीर्यरक्षण की भावना पैदा करके विद्यार्थी को **वाजिनम्**=शक्तिशाली व दृढ़शरीरवाला तथा **पक्वम्**=परिपक्व ज्ञानवाला, परिपक्व बुद्धिवाला **परिपश्यन्ति**=देखते हैं और २. **ये**=जो आचार्य **ईम्**=निश्चय से **आहुः**=कहते हैं कि **सुरभिः**=(क) तू दीप्त ज्ञानाग्नि के कारण उत्तम बुद्धिमान् (wise, learned) हुआ है, (ख) स्वास्थ्य के कारण चमकते हुए सुन्दर शरीरवाला (shining, handsome) हुआ है तथा (ग) मन में उत्तम गुणोंवाला (good, virtuous) बना है—ऐसा तू **निर्हर इति**=निश्चय से ज्ञान को दूर-दूर तक ले जानेवाला बन—हम तो बस यही चाहते हैं। ३. **ये च**=और जो आचार्य **अर्वतः**=काम-क्रोधादि का संहार करनेवाले इस विद्यार्थी से **मांसभिक्षाम्**=उसके मांस (जीवन) की ही भिक्षा को **उपासते**=माँग लेते हैं, अर्थात् इसे यह कहते हैं कि अपने जीवन को लोकहित के लिए दे डाल, ४. **तेषाम्**=उन, लोकहित के लिए विद्यार्थियों को शक्तिशाली व ज्ञानी बनानेवाले आचार्यों का **अभिगूर्तिः**=उद्योग **उत उ**=निश्चय ही **नः इन्वतु**=हमें व्याप्त करे, अर्थात् हम भी इन्हीं आचार्यों में से एक बनें और विद्यार्थियों को ज्ञान देकर उनसे लोकहित में प्रवृत्त होने की गुरुदक्षिणा लें।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य है कि (क) विद्यार्थी को दृढ़ शरीरवाला बनाएँ (वाजिनम्), (ख) उसे परिपक्व ज्ञानवाला करें (पक्वम्), (ग) उसे सुरभि बनाएँ—मस्तिष्क में दीप्त, शरीर में दृढ़ व हृदय में दिव्यगुणोंवाला, (घ) उसे ऐसा बनाकर ज्ञान फैलाने का निर्देश करें (निर्हर इति), (ङ) उससे लोकहित में जीवन खपा देने की दक्षिणा माँगे (मांसभिक्षामुपासते)।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

शरीर-रचना का सौन्दर्य

यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि।
ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम्॥ १३॥

१. इस शरीर में वैश्वानर अग्नि के द्वारा 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, मेदस्, वीर्य' इन धातुओं का परिपाक होता है। मांस को सब धातुओं का प्रतिनिधि मानकर इस शरीर को यहाँ 'मांस्पचनी उखा' (देगची) के रूप में कहा गया है। **मांस्पचन्याः उखायाः**=मांसादि धातुओं के परिपाकवाली उखा का **यत्**=जो **नीक्षणम्**=निश्चय से ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ईक्षण का प्रकार है—दो आँखों से एक ही वस्तु का दिखना, दो कानों से एक ही शब्द का सुन पड़ना आदि सब बातें इन ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाले ईक्षण में अद्भुत ही हैं। इसी प्रकार इस शरीर में जो **यूष्णः**=रस के **आसेचनानि**=सेचन करनेवाली **या**=जो **पात्राणि**=(पा रक्षणे) रक्षण ग्रन्थियाँ हैं, इनसे विविध रस निकलकर शरीर के स्वास्थ्य को सिद्ध करते हैं। ये सब **अश्वम्**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले जीव को **परिभूषन्ति**=अलंकृत करते हैं और २. जो यह **अपिधाना**=सारे शरीर को ढकनेवाली **ऊष्मण्या**=शरीर की गर्मी को सुरक्षित रखनेवाली त्वचा है, यह भी क्रियाशील पुरुष को सुभूषित करती है। इसी प्रकार **चरूणाम्**=ज्ञानेन्द्रियों से जिनका ग्रहण व चरण=भक्षण होता है, उनके **अङ्काः**=अन्दर पड़नेवाले संस्कार (Impressions) और फिर उन संस्कारों के अनुसार होनेवाली **सूनाः**=प्रेरणाएँ (Inspirations) इस अश्वम्=क्रियाशील पुरुष को **परिभूषन्ति**=अलंकृत करती हैं। 'किस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानवाहिनी नाड़ियों के द्वारा अन्दर विषयज्ञान का अंकन होकर फिर क्रियावाहिनी नाड़ियों के द्वारा कर्मेन्द्रियों को कर्म की प्रेरणा मिलती है'—यह सब अद्भुत ही प्रतीत होता है।

भावार्थ—यह शरीर एक 'मांस्पचनी उखा' है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार, ग्रन्थियों से रसों का सञ्चार, त्वचा से गरमी का रक्षण, ज्ञानवाहिनी व क्रियावाहिनी नाड़ियों का सम्मिलित व्यापार, ये सब बातें अद्भुत ही हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

क्रियाओं में संयम व अमांस भोजन

निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्बीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु॥ १४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इस सुन्दर शरीर में स्थित होकर तेरा **निक्रमणम्**=बाहर आना-जाना, **निषदनम्**=उठना-बैठना, **निवर्तनम्**=विविध चेष्टाएँ करना **यत् च**=और जो **अर्वतः**=वासनाओं का संहार करनेवाले का **पड्बीशम्**=पाद-बन्धन, अर्थात् गति का नियमन है, **ते**=तेरी **ता सर्वा**=वे सब बातें **देवेषु अपि अस्तु**=दिव्यगुणों के निमित्त ही हों, अर्थात् अनावश्यक रूप में घर से बाहर न जाकर घर में ही उठना-बैठना, क्लबों में न जाना—सज्जनों के साथ ही उठना-बैठना, हँसी-मज़ाक में भी अनुपयुक्त चेष्टा न करना तथा सब क्रियाओं पर

नियन्त्रण तुझे उत्तम, दिव्य स्वभाववाला बनाए। २. **यत् च पपौ**=और तू जो जल पीता है, **यत् च**=और जो **घासिम्**=घास **जघास**=खाता है, अर्थात् मांस-भोजन से दूर रहकर वानस्पतिक भोजन ही करता है, यह तुझमें दिव्यगुणों की उन्नति का कारण बने। मांस-भोजन मानव-स्वभाव में क्रूरता लानेवाला होता है, अतः देव इससे दूर ही रहते हैं। 'पिशितं (मांसम्) अश्नाति इति पिशाचः, क्रव्यं अत्ति इति क्रव्यादः' इन व्युत्पत्तियों से यह स्पष्ट है कि मांस-भोजन पिशाचों व क्रव्यादों, अर्थात् राक्षसों का ही काम है।

भावार्थ—सब क्रियाओं में संयम तथा मद्य-मांस से रहित वानस्पतिक भोजन हममें दिव्यगुणों की वृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कामाग्नि-शमन

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम्॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाले **त्वा**=तुझे **अग्निः**=कामाग्नि **मा ध्वनयीत्**=मत ध्वनित करे। कामाग्नि से सन्तप्त मनुष्य संयोग में मधुर गाने गाता रहता है और वियोग में विरहतप्त शब्दों का उच्चारण करता रहता है। यहाँ संयोग में भी ध्वनि है, वियोग में भी ध्वनि है। यह कामाग्नि **धूमगन्धिः**=ज्ञानाग्नि को बुझाकर धूम का सम्पर्क करनेवाली है, अर्थात् इसकी प्रबलता में ज्ञान पर आवरण पड़ जाता है और अज्ञान के धूम का उद्भव हो जाता है। २. कहीं ऐसा होकर तेरी वह **भ्राजन्ती**=चमकती हुई **जघ्रिः**=सब अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाली **उखा**=शरीररूपी देगची **अभिविक्त**=भय-कम्पित न हो उठे। इसकी सब ज्योति व सब उत्तम बातें कामाग्नि में अस्त हो जाती हैं। ३. यह तू अच्छी प्रकार समझ ले कि **इष्टम्**=(इष्टम् अस्य अस्ति इति तम्) यज्ञशील पुरुष को **वीतम्**=(गति, प्रजनन) क्रियाशीलता के द्वारा सद्गुणों का विकास करनेवाले को **अभिगूर्तम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिए यत्नशील को **वषट्कृतम्**=प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाले **तम् अश्वम्**=उस क्रिया में व्याप्त रहनेवाले पुरुष को **देवासः**=दिव्यगुण **प्रतिगृभ्णन्ति**=ग्रहण करते हैं, अर्थात् यह पुरुष अपने में दिव्य गुणों का विकास करनेवाला होता है।

भावार्थ—कामवासना ज्ञान पर पर्दा डालकर शरीररूप उखा को मैला व दूषित कर देती है। सतत यज्ञादि क्रियाओं में लगा रहनेवाला ही दिव्य गुणों को अपना पाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दैवी सम्पत्ति का उद्भावन

यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै।
सन्दानमर्वन्तं पड्बीशं प्रिया देवेष्वा यामयन्ति ॥ १६॥

१. **प्रिया**=निम्न प्रिय बातें तुझे **देवेषु**=दिव्य गुणों में **आयामयन्ति**=(आगमयन्ति) प्राप्त कराती हैं, अर्थात् इन बातों के कारण तेरे जीवन में दिव्यगुणों का वर्धन होता है। 'कौन-सी प्रिय वस्तुएँ'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **यत्**=जो **अश्वाय**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले (अश् व्याप्तौ) क्रियाशील विद्यार्थी के लिए **वासः**=प्रकृति-विज्ञान के वस्त्र को **उपस्तृणन्ति**=आच्छादित करते व फैलाते हैं (spread, expand), (ख) इस प्रकृति-विज्ञान के

वस्त्र के साथ **अधीवासम्**=सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मविद्या के वस्त्र को भी आच्छादित करते हैं। यहाँ प्रकृति-विज्ञान 'वासः' है तो आत्मज्ञान 'अधीवासः' है। प्रकृति-विज्ञान जीवन को सुन्दरता से बिताने के लिए सब आवश्यक साधन प्राप्त कराता है तो ब्रह्मविज्ञान उन साधनों के अयोग व अतियोग से बचाकर यथायोग करने की क्षमता प्राप्त कराता है। २. (ग) **या**=जो **अस्मै**=इस क्रियाशील विद्यार्थी के लिए **हिरण्यानि**=हितरमणीय वस्तुएँ प्राप्त करायी जाती हैं, ज्ञान के परिणामरूप 'अभय, सत्त्वसंशुद्धि' आदि वे सब दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। ये सब 'हिरण्य' हैं। 'वास' व 'अधीवास' ने इस विद्यार्थी के मस्तिष्क को उज्ज्वल किया था तो ये 'हिरण्य' उसके हृदय को रमणीय बनाते हैं। ३. (घ) इसे जो **अर्वन्तम्**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले **सन्दानम्**=उदर व कटिबन्धन प्राप्त कराते हैं। यह उदर-संयम उपस्थ-संयम का सर्वमहान् साधन है। इस संयम से सब बुराइयाँ स्वतः विनष्ट हो जाती हैं, इसीलिए 'सन्दानम्' को 'अर्वन्तम्' विशेषण दिया गया है। (४) (ङ) **पड्बीशम्**=सन्दान के साथ इसे वे पाद-बन्धन भी प्राप्त कराते हैं, अर्थात् इसकी गति व चाल-ढाल को बड़ा नियमित करते हैं। यह गति का नियमित करना ही अनुशासन है। ये सब बातें विद्यार्थी को दिव्य-गुणों से संगत करनेवाली होती हैं। इन दिव्य गुणों का प्रापण 'अश्व'—क्रियाशील के लिए ही होता है, अकर्मण्य के लिए नहीं।

भावार्थ—आचार्य कर्मठ विद्यार्थी को 'प्रकृतिविज्ञान, आत्मविज्ञान, हितरमणीय गुणों के प्रति रुचि, भोजन का संयम व गति-नियमन' प्राप्त कराके दैवी सम्पत्तिवाला बनाने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सामृत' पाणि से दिया गया दण्ड

यत्ते॑ सा॒दे मह॑सा॒ शूकृ॑तस्य॒ पार्ष्ण्या॑ वा॒ कश॑या वा तु॒तोद॑।
स्रु॒चेव॒ ता ह॒विषो॑ अध्व॒रेषु॒ सर्वा॒ ता ते॒ ब्रह्म॑णा सूदयामि॥ १७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विद्यार्थी आचार्य से अनुशिष्ट होकर इन्द्रियाश्वों का अधिष्ठाता बनता है। आचार्य ने अपने 'महस्'=तेज से विद्यार्थी को यथासम्भव शीघ्र ही शिक्षित करने का प्रयत्न किया है। शूकृतस्य=(शीघ्रशिक्षितस्य—द०)। इस कार्य में उसे कभी-कभी विद्यार्थी को दण्ड भी देना पड़ता है। यह दण्ड हाथ-पाँव के प्रहार से भी हो सकता है (पार्ष्ण्या=heel से), वाणी के द्वारा झिड़कने से भी (कशया)। आचार्य कहते हैं कि इन दण्डों को तुम ऐसा समझना जैसे **स्रुच्**=चम्मच से यज्ञों में हवि डालता हो। आचार्य ज्ञान देकर उन दण्डों के कष्टों को विस्मारित कर देते हैं। २. आचार्य विद्यार्थी से कहते हैं कि **सादे**=शरीर-रथ के उत्तम सञ्चालक शिष्य! **महसा**=तेजस्विता से **शूकृतस्य**=शीघ्र शिक्षित किये गये **ते**=तुझे **यत्**=जो **पार्ष्ण्या वा**=एड़ी से या **कशया वा**=(कशा वाङ्नाम) वाणी से झिड़कने के द्वारा **तुतोद**=मैंने कभी-कभी पीड़ित किया है, तो तू स्पष्ट समझ लेना कि **ता**=वे सब दण्ड तो इस प्रकार के हैं **इव**=जैसे **स्रुचा**=चम्मच से **हविषः**=हवि का **अध्वरेषु**=यज्ञों में प्रक्षेपण होता है। इन दण्डों के द्वारा तेरी वृत्ति को मैंने इधर-उधर से हटाकर ज्ञानप्रवण करने का प्रयत्न किया है। ३. इस प्रकार **ते**=तेरी **ता**=उन सब दण्ड-पीड़ाओं को **ब्रह्मणा**=ज्ञानप्राप्ति के द्वारा **सूदयामि**=नष्ट करता हूँ। तुझे इस प्रकार कड़े नियन्त्रण में रहने से प्राप्त हुआ-हुआ ज्ञान सब पीड़ाओं को भुलानेवाला होगा। आचार्य दयानन्द 'सूदयामि' का अर्थ 'प्राप्यामि' करते हैं। आचार्य कहते हैं कि सब दण्डों का उद्देश्य यही है कि तू किसी प्रकार अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करनेवाला बने। मैं अपने अपमान से

उद्विग्न होकर दण्ड नहीं देता, केवल तेरे हित के लिए अमृतमय हाथों से ही दण्ड देता हूँ।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को जो दण्ड देते हैं वह तो यज्ञ में स्रुच् से हवि-प्रक्षेपण के समान है। उसके द्वारा आचार्य विद्यार्थी के जीवन में ज्ञान की आहुतियाँ देने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'विद्यार्थी', 'आचार्य' व 'ज्ञान'

चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त॥१८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आचार्य से ठीक अनुशासन में चलाया जाता हुआ विद्यार्थी **स्वधितिः**=अपना धारण करनेवाला बनता है—इधर-उधर न भटककर मन को एकाग्र करने में समर्थ होता है। यह स्वधिति **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवबन्धोः**=दिव्य गुणों को अपने में बाँधनेवाले तथा उस देव प्रभु के बन्धुभूत **अश्वस्य**=सदा क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाले आचार्य के **चतुःस्त्रिंशत्**=चौंतीस **वङ्क्रीः**=गूढ़ ज्ञानों (knotty) को **समेति**=प्राप्त होता है (वङ्क=गति=ज्ञान)। ऊपर मन्त्रसंख्या सोलह में इन्हें 'वासः' और 'अधीवासः' शब्दों से स्मरण किया है। विद्यार्थी ज्ञान तभी प्राप्त कर पाता है जब वह 'स्वधिति' हो। आचार्य का आदर्श 'वाजी', 'देवबन्धु', व 'अश्व' होना है। ज्ञेय वस्तुएँ तेंतीस देव तथा चौंतीसवें महादेव हैं। इनका ज्ञान ही क्रमशः 'अभ्युदय व निःश्रेयस' का साधक है। आचार्य **वयुना**=इन ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान के द्वारा **गात्रा**=विद्यार्थी के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को **अच्छिद्रा**=दोषरहित **कृणोतु**=करे। ३. विद्यार्थी आचार्य से दिये हुए ज्ञान का **अनुघुष्य**=आचार्य के पश्चात् उच्चारण करके, उच्चारण द्वारा उस ज्ञान को आत्मसात् करके **परूः परूः**=एक-एक पर्व के, जोड़ के **विशस्त**=दोष का छेदन करे (छिन्न—द०)। विद्यार्थी आचार्य के अनुकूल होगा तो आचार्य विद्यार्थी के जीवन को निर्दोष बना पाएँगे।

भावार्थ—विद्यार्थी एकाग्रवृत्तिवाला हो (स्वधितिः), आचार्य 'वाजी, देवबन्धु व अश्व' हों। विद्यार्थी आचार्य से चौंतीस ज्ञानों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दीप्त व सबल

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ताता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ॥१९॥

१. **एकः**=विद्यार्थी के जीवन-निर्माण में मुख्य भाग लेनेवाला आचार्य **त्वष्टुः**=(त्विष् दीप्तौ) बुद्धि के दृष्टिकोण से चमकनेवाले **अश्वस्य**=शरीर में घोड़े के समान शक्तिवाले व क्रियाशील विद्यार्थी का **विशस्ता**=विशेषरूप से दोषों का छेदन करनेवाला होता है। २. **द्वा यन्तारा भवतः**=इस निर्माणकार्य में दो ही बातें नियामक होती हैं—आचार्य सब क्रियाओं को दो ही दृष्टिकोणों से करते हैं—(क) विद्यार्थी मस्तिष्क में 'त्वष्टा'—दीप्त बने तथा (ख) शरीर में 'अश्व' के समान शक्तिशाली हो। ३. इन दो नियामक तत्त्वों के साथ **तथा**=उसी प्रकार **ऋतुः**=ऋतु भी नियामक होती है। आचार्य चाहता है कि विद्यार्थी ऋतुओं के अनुसार सब कार्यों को नियमितता (regularity) से करनेवाला हो। ठीक समय पर जागे, ठीक समय पर सो जाए

और ठीक समय पर ही जाग उठे—सब क्रियाएँ समय पर करे। ४. **या ते**=यह जो मैं तेरे **गात्राणाम्**=अङ्गों के दोषों को **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **कृणोमि**=दूर करने का प्रयत्न करता हूँ तो **अग्नौ**=प्रगतिशील तुझमें **ताता**=उन-उन **पिण्डानाम्**=बलों को (पिण्ड=might, strength, power) **प्रजुहोमि**=आहुत करता हूँ। इन दोषों को दूर करने के प्रयत्न के द्वारा तुझे प्रत्येक अङ्ग में सशक्त बनाता हूँ। ५. वस्तुतः आचार्य का यज्ञ यही है कि वह विद्यार्थीरूप अग्नि में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्तिरूप हव्य की आहुति दे और इस प्रकार विद्यार्थी के जीवन को सर्वाङ्गीण सुन्दर बनाने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—आचार्य का कर्तव्य यही है कि वह विद्यार्थी को 'त्वष्टा' व 'अश्व'=दीप्त व सबल बनाए, विद्यार्थी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सबल करे। यही आचार्य का यज्ञ है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अगृध्नु तथा विशस्ता' आचार्य

मा त्वा तपत्प्रिय आत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्व१ आ तिष्ठिपत्ते।
मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः॥ २०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब आचार्य विद्यार्थी के जीवन का सुन्दर निर्माण करता है तब इस विद्यार्थी को शरीर व आत्मा का विवेक होने के कारण शरीर में इतनी आस्था नहीं रहती कि इसे छोड़ते हुए उसे कष्ट हो। वह शरीर के स्वास्थ्य का ध्यान रखता है, परन्तु उसे इसमें ही पड़े रहने का आग्रह नहीं होता, अतः कहते हैं कि—**अपियन्तम्**=इस शरीर को छोड़कर जाते हुए तुझे, अथवा ब्रह्म को प्राप्त होते हुए तुझे **प्रियः आत्मा**=अत्यन्त प्रिय सुख-दुःख का भोक्ता प्राण **मा तपत्**=सन्तप्त न करे। तुझे प्राणों से पृथक् होने का सन्ताप न हो। २. **स्वधितिः**=आत्मतत्त्व का धारण **ते**=तुझे **तन्वः**=शरीर का **मा आतिष्ठिपत्**=स्थापित करनेवाला न बनाए, अर्थात् शरीर के जाने से तू अपने को जाता हुआ न समझे। आचार्य ने तुझे इस प्रकार आत्मतत्त्व का ज्ञान दिया है कि तू शरीर को ही 'मैं' न समझकर उसे एक गृह या वस्त्र के रूप में देखे। ३. ऐसा न हो कि आचार्य **गृध्नुः**=धन के विषय में लोभवाला होता हुआ **अविशस्ता**=ठीक ज्ञान न देकर दोषों को दूर करनेवाला न होता हुआ **छिद्रा अतिहाय**=दोषों को छोड़कर, अर्थात् बिना ही दोषों के छुड़ाए **मिथू**=यों ही झूठ-मूठ **गात्राणि**=तेरे अङ्गों को **असिना कः**=तलवार से छिन्न करे, अर्थात् तुझे ज्ञानादि की उन्नति के मिस सदा ही दण्ड देनेवाला हो। तुझसे धन लेने के लिए तुझे झूठ-मूठ यों ही दण्डित न करे।

भावार्थ—शरीर व आत्मा के विवेक के कारण हमें प्राणों का वियोग पीड़ित करनेवाला न हो। इस विवेक-प्राप्ति के लिए हमें अलोभी व ज्ञान द्वारा दोषों को दूर करानेवाले आचार्य प्राप्त हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मर्त्यलोक से देवलोक में

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य॥ २१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'अगृध्नु अविशस्ता' आचार्य से शरीर और आत्मा का विवेक प्राप्त

करनेवाला शिष्य मृत्युशय्या पर भी व्याकुल न होता हुआ अपने को प्रेरणा देता है कि **वै उ**=निश्चय से **एतत्**=यह तू **न म्रियसे**=मरता नहीं, **न रिष्यसि**=तू तो हिंसित होता ही नहीं। यदि यह शरीर छूट भी जाए तो **इत्**=निश्चय से **सुगेभिः पथिभिः**=सरल व अकुटिल मार्गों पर चलने से तू **देवान् एषि**=देवों को प्राप्त होता है, अर्थात् इस मर्त्यलोक में जन्म न लेकर देवलोक में जन्म लेनेवाला बनता है। यह मरना नहीं है, उत्कृष्ट लोक में जन्म लेना है। २. देवलोक में जन्म लेने का अधिकारी तू इसलिए बन सका कि **ते**=तेरे ये **हरी**=कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व **युञ्जा**=सदा कर्मों में लगे रहनेवाले तथा **पृषती**=(पृष सेचने) तेरे जीवन को ज्ञान से सिक्त करनेवाले **अभूताम्**=हुए हैं। ३. यह इसलिए हो सका कि **रासभस्य**=(गृ शब्दे से गुरु, रास् शब्दे से रासभ) गुरुओं के **धुरि**=अग्रभाग में **वाजी**= (वाज=शक्ति, ज्ञान, त्याग व क्रिया) शक्तिशाली, ज्ञानी व त्यागपूर्वक क्रियाओं को करनेवाला (अगृध्नु) आचार्य **आस्थात्**=तुझे प्राप्त हुआ। ऐसे आचार्य की कृपा से ही ज्ञानी व ज्ञानपूर्वक क्रियाओं को करनेवाला बनकर तू देवलोक का अधिकारी बना है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष शरीरत्याग को मृत्यु समझकर भयभीत नहीं होता, उसे तो निश्चय है कि 'वह जन्म भी लेगा तो उत्कृष्ट लोक में लेगा', अतः भय का प्रश्न ही नहीं रहता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—स्वराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अभ्युदय

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ उत विश्वापुषं रयिम्।
अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनतां हविष्मान्॥ २२॥

१. **वाजी**=ज्ञानी, शक्तिशाली व त्यागपूर्वक कर्मों में लगा हुआ आचार्य **नः**=हमारे लिए **सुगव्यम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों के समूह को **कृणोतु**=करे। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम बनें। **स्वश्व्यम्**=हमें उत्तम कर्मेन्द्रिय-समूह को प्राप्त कराए। हमारी सब कर्मेन्द्रियाँ भी कर्म करने में खूब सशक्त हों। २. इस प्रकार उत्तम ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करके जब हम गृहस्थ में आएँ तो हमारे लिए **पुंसः पुत्रान्**=वीर पुरुषों के पुत्रों को, अर्थात् वीर सन्तानों को **उत**=और **विश्वापुषम् रयिम्**=सबका पोषण करनेवाले धन को प्राप्त कराएँ। हमारे सन्तान वीर हों और हम धन को अपने विलास में व्यय न करके सभी के पोषण के लिए ही उसका उपयोग करें। ३. इस प्रकार सुन्दर गृहस्थ को बितानेवाले **नः**=हमारे लिए **अदितिः**=हमारे व्रत को खण्डित न होने देनेवाला आचार्य **नः**=हमारे लिए **अनागास्त्वम्**=निरपराधता को **कृणोतु**=करे, अर्थात् हमारा जीवन व्रतनिष्ठ होकर अपराधशून्य हो। ४. **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला आचार्य **नः**=हमारे लिए **क्षत्रम्**=बल को **वनताम्**=विजय करे, हमें कर्म-व्यापृतता व त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति से सबल बनाए। यह बल हमें सभी क्षतों (चोरों, आघातों अथवा हानियों) से बचानेवाला होगा।

भावार्थ—आचार्य 'वाजी, अदिति, अश्व व हविष्मान्' हो। वह हमें 'सुगव्य, स्वश्व्य, वीरपुत्र, विश्वापुष रयि, अनागसत्व व क्षत्र' को प्राप्त कराए। यही इस लोक का उत्कर्ष व अभ्युदय है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त क्रिया में व्याप्त रहनेवाले 'अश्व' का चित्रण करता है। आचार्य को स्वयं 'अश्व' होते हुए शिष्यों को भी अश्व बनाना है। अगले सूक्त में भी इसी अश्व का वर्णन

है—

[१६३] त्रिषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अश्वोऽग्निः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

श्येनस्य पक्षा, हरिणस्य बाहू

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥ १॥

१. वैदिक साहित्य में आचार्य का नाम 'समुद्र' भी है। आचार्य को ज्ञान का समुद्र तो होना ही है। उसे सदा 'स+मुद्' प्रसन्न मनोवृत्तिवाला भी होना है। कभी भी क्रोध न करते हुए उसे सदा विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त कराना है। 'तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे'=ब्रह्मचर्यसूक्त के इस मन्त्रभाग में आचार्य को समुद्र कहा ही है। **समुद्रात्**=ज्ञान के समुद्र, प्रसन्नमनोवृत्तिवाले आचार्य से **उद्यन्**=उदय को प्राप्त होता हुआ **उत वा**=अथवा **पुरीषात्**=सबका पालन करनेवाले गृहस्थ से उदय को प्राप्त होता हुआ यह व्यक्ति **जायमानः**=निद्रा की समाप्ति पर आविर्भूत जीवनवाला होता हुआ **प्रथमम्**=सबसे पूर्व **यत्**=जो **अक्रन्दः**=प्रभु का आह्वान करता है और २. इसके **पक्षा**=(पक्ष परिग्रहे) ज्ञान व उपासनारूप पंख **श्येनस्य**=श्येन के होते हैं। 'श्यैङ् गतौ' से बनकर श्येन शब्द गति का प्रतिपादक है। यह ज्ञानपूर्वक कर्म करता है और अपने कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान से प्रभु का उपासन करता है। इस प्रकार इसका ज्ञान भी कर्म के लिए है और उपासन भी कर्मों द्वारा ही होता है। ३. इसकी **बाहू**=भुजाएँ **हरिणस्य**=हरिण की होती हैं (हृ हरणे, वा हृ प्रयत्ने) इसके सारे प्रयत्न औरों के कष्टों को हरने के लिए होते हैं। इसकी भुजाएँ क्रियाशील होती हैं और वे सब क्रियाएँ औरों के दुःखों को दूर करने के लिए होती हैं। ४. अब हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष! **ते महि जातम्**=तेरा यह महान् विकास वास्तव में ही **उपस्तुत्यम्**=स्तुति के योग्य है।

भावार्थ—उत्कृष्ट जीवन यही है कि—(क) हम उठते ही प्रभु का आराधन करें, (ख) ज्ञानपूर्वक कर्म करें, कर्मों द्वारा ही प्रभु का अर्चन करें, (ग) हमारे सब प्रयत्न औरों के दुःखों का हरण करनेवाले हों।

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—अश्वोऽग्निः । छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

'त्रित, इन्द्र, गन्धर्व, वसु'

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ २॥

१. **यमेन**=उस सर्वनियामक प्रभु से **दत्तम्**=दिये हुए **एनम्**=इस (अश्वम्) इन्द्रियरूप अश्व को **त्रितः**=ज्ञान, कर्म, उपासना का विस्तार करनेवाला 'त्रि-त' (त्रीन् तनोति) **आयुनक्**=इस शरीररूप रथ में जोतता है, अर्थात् यह आलसी न होकर सदा क्रियाशील होता है। इसके इन्द्रियरूप अश्व चरते ही नहीं रहते, सदा जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ते हैं। वस्तुतः इस क्रियाशीलता के कारण ही वह 'त्रित' बन पाता है। २. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **एनम्**=इस इन्द्रियाश्व पर **अध्यतिष्ठत्**=अधिष्ठातृत्व (आधिपत्य, अधिकार) करता है। इस अधिष्ठातृत्व के कारण ही यह **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है (प्रथ विस्तारे)। ३. **गन्धर्वः**=(गां धारयति) ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला **अस्य**=इस इन्द्रियाश्व की **रशनाम्**=मनरूप लगाम को **अगृभ्णात्**=ग्रहण करता है। मन के धारण से ही

इन्द्रियों का धारण होता है। मन को जीत लिया तो इन्द्रियाँ भी जीत ली जाती हैं। मन के द्वारा इन्द्रियों को वशीभूत करके ही यह 'गन्धर्व' बनता है, अर्थात् ज्ञान की वाणियों का धारण कर पाता है। ४. **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले वसु **अश्वम्**=इस इन्द्रियाश्व को **सूरात्**=सूर्य से **निरतष्ट**=(to form, to create) बनाते हैं। सूर्य से इस अश्व के बनाने का अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्य निरन्तर गतिशील है, उसी प्रकार इन इन्द्रियाश्वों को भी यह वसु गतिशील बनाता है। यह गतिशीलता ही इसके निवास को उत्तम बनाकर इसे वसु बनाती है।

भावार्थ—इन्द्रियाश्व को शरीर में जोतनेवाला 'त्रित' बनता है। इसका अधिष्ठाता 'इन्द्र' होता है। इसकी मनरूप लगाम को धारण करनेवाला 'गन्धर्व' बनता है, सूर्य की भाँति इसे गतिशील रखनेवाला 'वसु' होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'यम, आदित्य, त्रित'

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'इन्द्र' बनकर जब तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है तब **यमः असि**=इन इन्द्रियों व मन को वश में करनेवाला होता है। इस नियमन से तू **आदित्यः असि**=सब दिव्यगुणों का आदान करनेवाला होता है। हे **अर्वन्**=बुराइयों का संहार करनेवाले! तू **गुह्येन व्रतेन**=हृदयरूप गुहा के साथ सम्बद्ध ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने से **त्रितः असि**=शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों की शक्ति का विस्तार करनेवाला हुआ है। २. इस गुह्य व्रत को धारण करने से तू **सोमेन**=सोम-शक्ति=वीर्यशक्ति से **समया**=समीपता से **विपृक्तः असि**=विशेषरूप से युक्त हुआ है और इस सोमरक्षण के कारण **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **ते**=तेरे **त्रीणि बन्धनानि**=तीन बन्धनों को **आहुः**=कहते हैं। 'सोम' ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और समिद्ध ज्ञानाग्नि से 'ऋग्, यजुः, साम' के साक्षात्कार से प्रकृति, जीव और परमात्मा का ज्ञान होता है। यह त्रिविध ज्ञान ही तेरे मस्तिष्क के त्रिविध बन्धन हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों का नियामक 'यम' है। यह गुणों का आदान करनेवाला 'आदित्य' कहलाता है। ब्रह्मचर्यव्रत के द्वारा यह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' का विकास करके 'त्रित' होता है। यह मस्तिष्क में त्रिविध ज्ञान को सुबद्ध करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

नवधा भक्ति—नौ व्रत

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **ते दिवि**=तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में **त्रीणि बन्धनानि आहुः**=तीन बन्धनों को कहते हैं। तेरे मस्तिष्क में 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञानरूप तीन बन्धन होते हैं। ऋग्वेद के द्वारा तू प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करता है, यजुर्वेद के द्वारा जीव का ज्ञान तथा साम के द्वारा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करता है। ये ज्ञान ही तेरे तीन बन्धन होते हैं। २. **अप्सु त्रीणि**='आपोमयाः प्राणाः' प्राण ही 'आपः' हैं। इनके विषय में तेरे तीन बन्धन हैं। ये तीन बन्धन ही 'भूः, भुवः, स्वः', 'प्राण, अपान, व्यान' या 'स्वास्थ्य, ज्ञान व जितेन्द्रियता' कहलाते हैं। प्राणसाधना के द्वारा शरीर में तू स्वस्थ बनता है, मस्तिष्क में ज्ञानी तथा मन में जितेन्द्रियवृत्तिवाला

बनता है। ३. **समुद्रे अन्तः**=इस अन्तःसमुद्र में (स+मुद्) मोद के साथ रहनेवाले हृदयान्तरिक्ष में भी **त्रीणि**=तीन बन्धन हैं। तू हृदय में तीन व्रत धारण करता है कि—यहाँ 'काम' को प्रविष्ट नहीं होने दूँगा, 'क्रोध' से सदा अनाक्रान्त रहूँगा, 'लोभ' से अभिभूत नहीं होऊँगा। ४. **उत इव**=(अपि च) और इस प्रकार अपने को नौ बन्धनों में बाँधकर **वरुणः**=श्रेष्ठ बना हुआ तू (वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः) **मे छन्त्सि**=मेरी अर्चना करता है। प्रभु की वास्तविक पूजा यही है कि मनुष्य (क) 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करे, (ख) स्वस्थ, ज्ञानी व जितेन्द्रिय बने, (ग) काम, क्रोध, लोभ से ऊपर उठे। हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! यही वह नवधाभक्ति है **यत्र**=जिसमें **ते**=तेरे **परमं जनित्रम्**=सर्वोत्तम विकास को **आहुः**=कहते हैं। जीव की सर्वोत्तम उन्नति यही है कि वह अपने को इन नौ व्रतों के बन्धनों में बाँधकर प्रभु की नवधा भक्ति करनेवाला बने।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा भक्त वही है जो 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करता है, 'स्वस्थ, ज्ञानी व जितेन्द्रिय' बनता है, 'काम, क्रोध, लोभ' से ऊपर उठता है। यही उसका परम विकास भी है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

व्रतों द्वारा पवित्रता व शान्ति

इ॒मा ते॑ वाजिन्नव॒मार्ज॑नानी॒मा श॒फानां॑ सनि॒तुर्नि॒धाना॑।
अत्रा॑ ते भ॒द्रा र॑श॒ना अ॑पश्यमृ॒तस्य॒ या अ॑भि॒रक्ष॑न्ति गो॒पाः॥५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित व्रतबन्धनों द्वारा शक्तिशाली बननेवाले जीव! **इमा**=ये व्रत ही तेरे **अवमार्जनानि**=जीवन को परिमार्जित करनेवाले हैं। व्रतों से जीवन पवित्र बनता है। **इमा**=ये व्रत ही **सनितुः**=संविभागपूर्वक खानेवाले **ते**=तुझमें **शफानाम्**=शान्तियों के **निधाना**= स्थापित करनेवाले होते हैं। व्रती जीवनवाला व्यक्ति लोभ से ऊपर उठ जाने के कारण सदा सबके साथ बाँटकर खाता है, परिणामतः लड़ाई-झगड़े होते ही नहीं और जीवन शान्त बना रहता है। २. **अत्र**=यहाँ, इन व्रतों में ही **ते**=तेरी **भद्राः**=कल्याणकर **रशनाः**=मेखलाओं—कटिबन्धनों को **आ अपश्यम्**=देखता हूँ, अर्थात् तू इन पुण्यव्रतों का दृढ़ता से पालन करता है। **याः**=ये कटिबन्धन—दृढ़ निश्चय **ऋतस्य**=तेरे सत्यव्रतों का **अभिरक्षन्ति**=रक्षण करते हैं और **गोपाः**=तेरी इन्द्रियों का रक्षण करनेवाले होते हैं। व्रत इन्द्रियों को विषयों में फँसने से बचाते हैं।

भावार्थ—व्रतों में ही जीवन की पवित्रता है, शान्ति है। इन व्रतों का दृढ़ निश्चय से पालन करने पर इन्द्रियाँ सुरक्षित रहती हैं और विषय-पङ्क में फँसने से बच जाती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सूर्यद्वार से प्रभु की प्राप्ति

आ॒त्मानं॑ ते॒ मन॑सा॒राद॑जाना-म॒वो दि॒वा प॒तय॑न्तं पत॒ङ्गम्।
शिरो॑ अपश्यं प॒थिभिः॑ सु॒गेभि॑ररे॒णुभि॒र्जेह॑मानं पत॒त्रि॥६॥

१. गतमन्त्रानुसार व्रतों द्वारा जीवन को पवित्र बनानेवाले से प्रभु कहते हैं कि **ते मनसा**=तेरी मननशीलता के द्वारा **आत्मानम्**=अपने को **आरात् अजानाम्**=तेरे समीप ही जानता हूँ, अर्थात् मैं देखता हूँ कि मननशीलता के द्वारा तू मेरे समीप पहुँचता जाता है। २. **अवः**=(अवस्तात्)

इस निचले प्रदेश से **दिवा**=आकाश में **पतङ्गं पतयन्तम्**=सूर्य की ओर जाते हुए तुझे जानता हूँ। देवयान मार्ग से जानेवाले इस सूर्यद्वार से ही उस अव्ययात्मा, अमृतपुरुष को प्राप्त किया करते हैं—'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'। मैं तेरे **पतत्रि**=इस सूर्य की ओर निरन्तर चलनेवाले **शिरः**=मस्तिष्क को **अरेणुभिः**=रजोविकार से रहित—रजोगुण से ऊपर उठे हुए **सुगेभिः**=सरल **पथिभिः**=मार्गों से **जेहमानम्**=गति करते हुए को देखता हूँ, अर्थात् तू मस्तिष्क में निरन्तर ऊपर उठने की भावना को धारण करता है। तू रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्गों का आक्रमण (अतिक्रमण) करता है और इसी का परिणाम है कि तू सूर्यद्वार से मेरे समीप पहुँच रहा है। यह व्रती पुरुष निरन्तर ऊपर उठता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—एक व्रती पुरुष रजोगुण से ऊपर उठकर सात्त्विक मार्ग से चलता हुआ शिखर पर पहुँचता है। यह सूर्यद्वार से प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु-दर्शन

अत्रा॑ ते रू॒पमु॑त्त॒मम॑पश्यं॒ जिगी॑षमाणमि॒ष आ प॒दे गोः।
य॒दा ते॒ मर्तो॒ अनु॒ भोग॒मान॒ळादिद् ग्रसि॑ष्ठ॒ ओष॑धीरजीगः॥ ७॥

१. गतमन्त्रानुसार सात्त्विक मार्ग से चलनेवाला व्यक्ति कहता है कि—**अत्र**=यहाँ, इस सात्त्विक मार्ग में **ते**=आपके **उत्तमं रूपम्**=पुरुषोत्तमरूप को—सात्त्विक आनन्दरूप को **आ अपश्यम्**=समन्तात् देखता हूँ। **जिगीषमाणम्**=आपका यह रूप मेरी सब वासनाओं को जीतने की कामना करता है। आपके रूप को देखने पर मेरी सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। आपके इस रूप को देखने पर **गोःपदे**=वेदवाणी के शब्दों में मैं **इषः आ** (अपश्यम्)=अपने जीवन के लिए प्राप्त होनेवाली प्रेरणाओं को देखता हूँ। २. इन प्रेरणाओं के अनुसार चलनेवाला **ते मर्तः**=तेरा व्यक्ति—तेरा उपासक **यदा**=जब **अनु**=यज्ञ करने के पश्चात् यज्ञशेष के रूप में **भोगम् आनट्**=भोगों को प्राप्त करता है **आत् इत्**=तो यह **ग्रसिष्ठः**=सर्वोत्तम भोजन करनेवाला होता है। बिना यज्ञ किये, स्वयं सब खा जानेवाला तो 'केवलाघो भवति केवलादी'—शुद्ध पाप को ही खाता है। यज्ञशेष का भोक्ता अमृत का सेवन करता है। यज्ञशेष ही अमृत है। ३. यह तेरा उपासक **ओषधीः अजीगः**=ओषधियों का ही सेवन करता है, वानस्पतिक भोजन ही इसे प्रिय होते हैं। प्रभु-भक्त कभी भी मांसाहार की ओर नहीं झुक सकता।

भावार्थ—सात्त्विक मार्ग पर चलनेवाला प्रभु के सर्वोत्तम रूप का दर्शन करता है। यह वेदवाणी की प्रेरणा के अनुसार यज्ञशेष का सेवन करता हुआ मांस-भोजन से सदा दूर रहता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सर्वानुकूलता

अनु॑ त्वा॒ रथो॒ अनु॒ मर्यो॑ अर्व॒न्ननु॒ गावोऽनु॒ भगः॑ क॒नीना॑म्।
अनु॒ व्राता॑स॒स्तव॑ स॒ख्यमी॑यु॒रनु॑ दे॒वा म॑मिरे वी॒र्यं॑ ते॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब मनुष्य प्रभु-दर्शन का प्रयत्न करता हुआ यज्ञशेष के रूप में वानस्पतिक भोजनों का ही सेवन करता है तब **रथः**=यह शरीर-रथ **त्वा अनु**=तेरे अनुकूल होता है। यह स्वस्थ होकर तेरी आज्ञा की पूर्ति में सहायक होता है। **मर्यः अनु**=मनुष्य तेरे अनुकूल

होता है—लोगों से तेरा विरोध नहीं होता। अविरोध में चलता हुआ तू उन्नति-मार्ग में आगे बढ़ पाता है। २. हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! **गावः अनु**=इन्द्रियाँ तेरे अनुकूल होती हैं। ये विषय-पङ्क में न फँसकर ज्ञानों व यज्ञों को सिद्ध करनेवाली होती हैं। **कनीनां भगः अनु**=कन्याओं का सौभाग्य तेरे अनुकूल होता है। तेरी पुत्रियाँ जहाँ जाती हैं, वहाँ वे अपने उत्तम व्यवहारों से तेरे यश को बढ़ाती हैं और जो कन्याएँ तेरे यहाँ पुत्रवधू के रूप में आती हैं, वे भी तेरे घर के सौभाग्य को बढ़ानेवाली होती हैं। ३. **व्रातासः**=मनुष्य के समाज **तव अनु**=तेरे अनुकूल होते हैं और **सख्यम् ईयुः**=तेरी मैत्री को प्राप्त करते हैं, इस प्रकार समाज में भी तेरी स्थिति उत्तम होती है। ४. **देवाः**=सब देव, अर्थात् सूर्य-चन्द्र-तारे आदि सब प्राकृतिक शक्तियाँ **अनु**=तेरे अनुकूल होती हैं और ते **वीर्यं ममिरे**=तेरी शक्ति का निर्माण करती हैं। इन देवों की अनुकूलता से तेरी शक्ति बढ़ती है और तेरा स्वास्थ्य अति सुन्दर होता है।

भावार्थ—जीव के सात्त्विक होनेपर ही सारे संसार की अनुकूलता होती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'हिरण्यशृङ्ग, अयः पाद, मनोजवा'

हिर॑ण्यशृङ्गोऽयो॑ अस्य॒ पादा॒ मनो॑जवा॒ अव॑र॒ इन्द्र॑ आसीत्।
दे॒वा इद॑स्य हवि॒रद्य॑मायन्यो अर्व॑न्तं प्रथ॒मो अ॒ध्यति॑ष्ठत्॥ ९॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला **अर्वन्तम् अधि अतिष्ठत्**=इन्द्रियाश्व का अधिष्ठाता बनता है, अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में करता है यह **हिरण्यशृङ्गः**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) ज्योतिर्मय शिखरवाला होता है। इसका मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण होता है। **अस्य पादः**=इसके पाँव **अयः**=लोहे के होते हैं, अर्थात् यह चलने में थक नहीं जाता। 'मस्तिष्क उज्ज्वल, पाँव दृढ़' यह इसका जीवन होता है। २. प्रभु परमैश्वर्यशाली होने से इन्द्र हैं, यह भी **अवरः इन्द्रः**=छोटा इन्द्र ही बनता है और **मनोजवा आसीत्**=मन के वेगवाला होता है। इसकी मानस शक्तियाँ शिथिल नहीं पड़ जातीं। ३. **देवाः**=विद्वान् अतिथि **इत्**=निश्चय से **अस्य**=इसके **अद्यं हविः**=खाने योग्य सात्त्विक भोजनों को **आयन्**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् इसके घर पर अतिथियों का आना-जाना बना रहता है। इनका आना-जाना इसे सदा उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष दीप्त ज्ञानवाला, दृढ़ शरीरवाला व प्रबल मानस शक्तियोंवाला बनता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

ईर्मान्त सिलिकमध्यम

ई॒र्मान्ता॑सः॒ सिलि॑कमध्यमासः॒ सं शूर॑णासो दि॒व्यासो॒ अत्याः॑।
हं॒सा इ॑व श्रेणि॒शो य॑तन्ते॒ यदाक्षि॑षुर्दि॒व्यमज्म॒मश्वाः॑ ॥ १० ॥

१. गतमन्त्र के जितेन्द्रिय पुरुष **ईर्मान्तासः**=(ईर्यते इति ईर्यः, प्रेरितः अन्तः येषां ते) प्रेरित अन्तोंवाले होते हैं। शरीर का एक अङ्ग मस्तिष्क है तो दूसरा पाँव। इनका मस्तिष्क भी सब विषयों में खूब चलता है और परिणामतः ज्ञानदीप्त है तथा इनके पाँव भी सुदृढ़ व खूब गतिशक्तिवाले हैं। **सिलिकमध्यमासः**=(सिलिकः क्लिष्टः मध्यमः उदरः येषां ते—सा०) इनका उदर कृश होता है, वह पीठ से जा मिला होता है। उदर के पूर्ण संयमवाले होते हुए ये पेट को बढ़ने

नहीं देते। २. इन्हीं बातों का यह परिणाम है कि ये **शू**=शीघ्रता से **सं रणासः**=युद्धों में सम्यक् विजयवाले होते हैं, **दिव्यासः**=दिव्य-वृत्तियोंवाले बनते हैं और **अत्याः**=सतत क्रियाशील होते हैं। वासना-संग्राम में विजय क्रियाशीलता से ही प्राप्त होती है यह विजय इन्हें दिव्य बनाती है। २. **हंसाः इव**=हंसों की भाँति ये **श्रेणिशः**=श्रेणियों में होकर **यतन्ते**=यत्न करते हैं, जैसे हंस श्रेणी बनाकर आकाश में उड़ते हैं, उसी प्रकार ये सहकारी समितियाँ बनाकर संसार-यात्रा में चलते हैं, सम्मिलित रूप से धनार्जन करते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि समाज में न कोई बहुत धनी होता है, न निर्धन। अधिक धनी होकर अतिभुक् (overfed) होने की आशंका नहीं रहती, और निर्धन होकर ये भूखे नहीं रह जाते। ठीक भोजन प्राप्त करते हुए ये स्वस्थ व सबल बनते हैं। ३. ये **अश्वाः**=शक्तिशाली कार्यों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष **यत्**=जो **दिव्यम् अज्मम्**=दिव्य मार्ग है, उसी का **आक्षिषुः**=व्यापन करते हैं, अर्थात् ये सदा दिव्य मार्ग पर ही चलते हैं।

भावार्थ—हम दीप्त मस्तिष्क व दृढ़ पाँववाले हों, हमारा उदर कृश हो। हम युद्धों में विजयी, दिव्यगुणोंवाले व गतिशील बनें। सहकारी समितियाँ बनाकर सम्मिलित रूप में धनार्जन करें। शक्तिशाली बनकर दिव्यमार्ग का आक्रमण करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शरीर पतयिष्णु, चित्त ध्रजीमान्

तव॒ शरी॑रं पतयि॒ष्ण्व॑र्व॒न् तव॑ चि॒त्तं वात॑इव॒ ध्रजी॑मान्।
तव॒ शृङ्गा॑णि॒ विष्ठि॑ता पुरु॒त्रार॑ण्येषु॒ जर्भु॑राणा चरन्ति॥ ११॥

१. हे **अर्वन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले जीव! **तव शरीरम्**=तेरा शरीर **पतयिष्णु**=खूब गतिवाला हो। शक्तिशाली बनकर तू प्रत्येक अङ्ग के दृष्टिकोण से गतिवाला हो। तेरे जीवन में अकर्मण्यता व आलस्य का स्थान न हो। २. **तव चित्तम्**=तेरा चित्त **वात इव**=वायु की भाँति **ध्रजीमान्**=गतिवाला हो। तेरी चेतना पूर्णरूप में बनी रहे। तेरी मानस शक्तियाँ स्फूर्ति-सम्पन्न हों। ३. **तव शृङ्गाणि**=तेरी ज्ञान-दीप्तियाँ (शृङ्गम् इति ज्वलितो नामधेयम्) **पुरुत्रा**=अनेक स्थानों में, विविध विषयों में **विष्ठिता**=विशेषरूप से स्थित हों। तू सब प्रकृति-विज्ञानों व आत्मज्ञान को प्राप्त करनेवाला बने। ४. तेरी ज्ञानदीप्तियाँ **अरण्येषु**=एकान्त, नीरव स्थानों में, शहरों की चहल-पहल से दूर आश्रमों में **जर्भुराणा**=खूब विकसित होती हुई **चरन्ति**=गतिवाली होती हैं। तू ज्ञान के अनुसार क्रिया करनेवाला होता है।

भावार्थ—हमारा शरीर गतिशील हो, चित्त में विज्ञान-कुशलता हो, हमारी ज्ञानदीप्तियों की विविधता का विकास हो।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य

उप॒ प्रागा॒च्छस॑नं वा॒ज्यर्वा॑ देव॒द्रीचा॒ मन॑सा॒ दीध्या॑नः।
अ॒जः पु॒रो नी॑यते॒ नाभि॑र॒स्यानु॑ प॒श्चात्क॒वयो॑ यन्ति रे॒भाः॥ १२॥

१. प्रभु का उपासक **वाजी**=शक्तिशाली बना हुआ **शसनम्**=वासनाओं के हिंसन को **उप प्रागात्**=समीपता से प्राप्त करता है। प्रभु की समीपता के कारण यह वासनाओं का संहार कर पाता है तथा **अर्वा**=यह वासनाओं का संहारक **देवद्रीचा मनसा**=प्रभु की ओर जानेवाले मन

से—प्रभु में लगे हुए मन से **दीध्यानः**=दीप्त हो उठता है। प्रभु के तेज से उपासक भी तेजस्वी हो जाता है। २. अब इस उपासक से **अजः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाला प्रभु **पुरः नीयते**=आगे प्राप्त कराया जाता है, अर्थात् यह सदा प्रभु को अपने सामने आदर्श के रूप में रखता है, उसके समान ही दयालु व न्यायकारी बनने का प्रयत्न करता है। प्रभु को स्मरण करता हुआ उसके गुणों को धारण करने के लिए यत्नशील होता है। यह प्रभु ही **अस्य नाभिः**=इस उपासक की सब क्रियाओं का केन्द्र होता है। इसकी सब क्रियाएँ उसी से सम्बद्ध होती हैं—प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से ही की जाती हैं। यह भोजन भी इसी उद्देश्य से करता है कि प्रभु के इस शरीर को स्वस्थ रखता हुआ मैं प्रभु का प्रिय बनूँगा। ३. ये **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी **रेभाः**=स्तोता लोग **पश्चात्**=उस प्रभु के पीछे **अनुयन्ति**=अनुकूलता से चलते हैं। अपने जीवन को प्रभु के आदर्श को सामने रखकर पालने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—शक्तिशाली बनकर हम वासनाओं का संहार करें। प्रभु में मन लगाकर हम दीप्त-जीवनवाले हों। प्रत्येक कार्य को प्रभु-स्मरण से प्रारम्भ करें। प्रभु ही हमारे केन्द्र हों। हम ज्ञानी स्तोता बनकर अनुकूलता से कार्यों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अश्वोऽग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ब्रह्मलोक में

उप॒ प्रागा॑त्पर॒मं यत्स॒धस्थ॒मर्वाँ॒ अच्छा॑ पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च।
अ॒द्या दे॒वाञ्जुष्ट॑तमो॒ हि ग॒म्या अथा शा॑स्ते दा॒शुषे॒ वार्या॑णि॥ १३॥

१. **अर्वान्**—('न' लोपाभावः छान्दसः) वासनाओं का संहार करनेवाला यह व्यक्ति **उपप्रागात्**=परमात्मा के समीप वहाँ पहुँचता है **यत्**=जो कि **परमं सधस्थम्**=सर्वोत्कृष्ट मिलकर रहने का स्थान है (सह+स्थ)। यही ब्रह्मलोक है इसमें 'सह ब्रह्मणा विपश्चिता' यह ज्ञानी ब्रह्म के साथ विचरण करता है। २. यहाँ पहुँचने के लिए यह अपने जीवन के प्रारम्भ में **पितरं मातरं च अच्छ**=पिता व माता की ओर गया (अच्छ=ओर), अर्थात् माता-पिता के शिक्षणालय में इसने उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त किया। माता ने इसे सच्चरित्र बनाया तो पिता ने इसे सदाचार में शिक्षित किया। ३. सच्चरित्र व सदाचारी बनकर **अद्य हि**=आज निश्चय से यह **जुष्टतमः**=अत्यन्त प्रीतिवाला होकर **देवान्**=देववृत्ति के विद्वान् आचार्यों को **गम्याः**=प्राप्त हुआ। **अथ**=अब आचार्य भी **दाशुषे**=इस अपने प्रति अर्पण करनेवाले विद्यार्थी के लिए **वार्याणि**=वरणीय ज्ञानों को **आशास्ते**=चाहता है। विद्यार्थी आचार्य के प्रति अपना अर्पण करता है और आचार्य विद्यार्थी के लिए अधिक-से-अधिक वाञ्छनीय ज्ञान देने की कामना करता है। ४. इस ज्ञान को प्राप्त करके ही अब यह संसार-यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करके अपने वास्तविक घर ब्रह्मलोक में पहुँचनेवाला बनेगा। यह ब्रह्मलोक ही परम सधस्थ है। आज यह ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त कर चुका होगा—ब्रह्मनिष्ठ हो चुका होगा।

भावार्थ—माता के शिक्षणालय में 'सच्चरित्र', पिता के शिक्षणालय में 'सदाचारी' व आचार्य के समीप रहकर 'ज्ञानी' बनकर हम जीवन-यात्रा को सुन्दरता से निभाकर ब्रह्मलोक में पहुँचने के अधिकारी बनें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त कर्मों में लगे रहनेवाले 'अश्व' नामक पुरुष की उन्नति व अन्त में मोक्ष-प्राप्ति का उल्लेख करता है। अब अगला सूक्त 'दीर्घतमा'—अन्धकार को विदारण करनेवाले का अन्तिम सूक्त है। इसमें यह प्रभु का दर्शन करता हुआ कहता है कि—

[१६४] चतुःषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु, जीव व प्रकृति

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ १॥

१. प्रभु कैसे हैं **अस्य**=इस **वामस्य**=सुन्दर **पलितस्य**=पालयिता **होतुः**=दानशील **तस्य**=उस प्रभु का **मध्यमः भ्राता**=मध्य में रहनेवाला भ्राता जीव **अश्नः**=खानेवाला है। वे प्रभु सुन्दर हैं, संसार का पालन करनेवाले हैं, वे होता हैं। उसने प्रकृति के विविध अंशों को विविध प्राणियों के लिए दिया हुआ है। जीव प्रभु और प्रकृति के मध्य में है। न तो वह प्रभु के समान पूर्ण चेतन है और न प्रकृति के समान एकदम जड़। अपनी मध्यम स्थिति के कारण यह खाता भी है और स्वाद से खाता है। २. **अस्य**=इस प्रभु का **तृतीयः भ्राता**=तीसरा भाई—प्रकृति **घृतपृष्ठः**=चमकते हुए पृष्ठवाली है (घृ दीप्ति)। इसका उपरला आवरण चमकीला है। इसकी चमक जीव को अपनी ओर खेंचती है। वेदमाता कहती है—इसका तो पृष्ठ ही चमकीला है। हे जीव! यह ऊपर की चमक तुझे आकृष्ट न कर ले। ३. प्रकृति में आसक्त न होकर यह **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पालक तथा **सप्तपुत्रम्**=सात पुत्रों के समान (पुत्र=which is produced) सात लोकों का निर्माण करनेवाले प्रभु को **अपश्यम्**=देखेगा। प्रभु ने इस ब्रह्माण्ड में 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम'—इन सात लोकों का निर्माण किया है। योगमार्ग में चलते हुए सातवीं भूमिका में पहुँचकर हम सत्यलोक में जन्म लेते हैं। उस समय हम प्रभु की अधिक-से-अधिक ज्योति को धारण कर रहे होते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'सुन्दर, पालक व दाता' हैं। जीव प्रकृति व ब्रह्म के मध्य में रहता हुआ सब भोगों को भोगता है। प्रकृति से बना संसार सोने की भाँति चमकीला है। यहाँ हमें प्रभु का दर्शन करके सातवें सत्यलोक में पहुँचना चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सब भुवनों का वाहक रथ

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ २॥

१. **रथम्**=इस शरीररूप रथ में **सप्त**=सात प्रदीप **युञ्जन्ति**=जुड़े हुए हैं। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'—इन शब्दों में वेद इन दीपकों का उल्लेख कर रहा है। शब्द के लिए दो कान, गन्धज्ञान के लिए दो नासाविवर, रूप को दिखाने के लिए दो आँखें तथा रस-विज्ञान के लिए जिह्वा। इन सातों दीपकों के ठीक प्रज्वलित रहने पर हमारा रथ प्रकाश में गति करेगा। इनके बुझ जाने पर अन्धकार में टकराकर टूट-फूट जाएगा। २. यह शरीर-रथ **एकचक्रम्**=विलक्षण चक्रोंवाला है। इसमें मूलाधार से लेकर सहस्रार तक सारे ही चक्र अद्भुत एवं विलक्षण हैं। ३. इस शरीररूपी रथ को **एकः अश्वः**=मुख्य प्राण जोकि **सप्तनामा**=सात नामोंवाला है, **वहति**=वहन कर रहा है। 'प्राणा वाव इन्द्रियाणि' प्राण ही ये सब इन्द्रियाँ हैं, अतः नाक, आँख आदि ये सभी नाम उस प्राण के ही हैं। इन सातों नामोंवाला यह मुख्य प्राण ही इस शरीर का धारक व संचालक है। ४. यह **चक्रम्**=शरीर-चक्र **त्रिनाभि**=तीन बन्धनोंवाला है (णह्

बन्धने)। शरीर में ये तीन बन्धन 'इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि' हैं। ये तीन ही मनुष्य के महान् शत्रु (काम) का अधिष्ठान बनते हैं। ये तीनों **अजरम्**=अत्यन्त गतिशील (agile) हैं। इन्द्रियाँ और मन तो चञ्चल हैं ही, वासनात्मक बुद्धि भी कभी समाहित व स्थिर नहीं होती। ये तीनों **अनर्वम्**=अहिंसित, नष्ट न होनेवाले हैं, अतः मनुष्य को स्थूल शरीर पर शक्ति न लगाकर इनके ही उत्कर्ष में जुटना चाहिए। ५. यह शरीररूपी रथ वह है **यत्र**=जहाँ **इमा विश्वा भुवना**=इस ब्रह्माण्ड के सभी लोक **अधितस्थुः**=ठहरे हुए हैं। मस्तिष्क द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्ष है तथा पाँव पृथिवीलोक हैं। इन सब लोकों में रहनेवाले देव भी इस पिण्ड के अन्दर रह रहे हैं। सूर्य चक्षु के रूप में, चन्द्रमा मन के रूप में तथा अग्नि वाणी के रूप में यहाँ विद्यमान है। इस प्रकार यह शरीर ब्रह्माण्ड के सभी देवों का अधिष्ठान है।

भावार्थ—यह शरीररूप रथ अद्भुत है। यह सब लोकों का अधिष्ठान है। उन लोकों के अधिपति सब देव भी यहाँ उपस्थित हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सप्तचक्र 'रथ' का वर्णन

इ॒मं रथ॒मधि॒ ये स॒प्त त॒स्थुः स॒प्तच॑क्रं स॒प्त व॑ह॒न्त्यश्वाः।
स॒प्त स्वसा॑रो अ॒भि सं न॑वन्ते॒ यत्र॒ गवां॒ निहि॑ता स॒प्त नाम॑॥ ३॥

१. **इमं रथं अधि**=इस शरीररूपी रथ पर **ये**=जो **सप्त**=(सप्=to sip) ज्ञान का आचमन करनेवाले सात **अधितस्थुः**=रक्षकों के रूप में खड़े हैं। वेद ने इनका उल्लेख 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन शब्दों में किया है। शरीर में ये सात ऋषि ज्ञान-जल का आचमन करते हुए इसकी रक्षा कर रहे हैं। २. **सप्तचक्रम्**=यह शरीर 'सप्तचक्र' है। प्रत्येक चक्र में पृथक्-पृथक् देव बैठे हैं। इनका आदर करना (सेच्=to honour, to worship), इनका उचित विकास व प्रयोग करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। **सप्त अश्वाः वहन्ति**=सात इन्द्रियरूपी अश्व इसे स्थान से स्थानान्तर पर ले-जा रहे हैं। ये इन्द्रियरूपी अश्व प्राण के साथ जुड़े हुए हैं (सप्=to connect, सप्त=connected)। ३. **सप्त**=सात **स्वसारः**=प्राण **अभि संनवन्ते**=बड़ी सुन्दरता से इन्हें फिर-फिर नया बना देते हैं। ये प्राण ही शरीर को सम्यक् गति देनेवाले और विविध कार्यों को करनेवाले हैं। ४. **यत्र**=इस शरीररूप रथ में प्रभु ने **गवां सप्त नाम निहिता**=(गो=diamond) रत्नों का सप्तक स्थापित किया है। 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, मेदस् व वीर्य'—ये सात धातुएँ ही सात रत्न हैं। ये शरीर को रमणीय बनाते हैं, अतः रत्न हैं। इनके विकृत होने पर शरीर रोगी हो जाता है।

भावार्थ—शरीररूपी रथ पर सात ऋषि बैठे हुए हैं, सात प्राण=इन्द्रियाँ इसका सञ्चालन कर रही हैं, प्रभु ने इसमें सात रत्न स्थापित किये हुए हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जिज्ञासु का विद्वानों के समीप जाना

को द॑दर्श प्रथ॒मं जाय॑मानमस्थ॒न्वन्तं॒ यद॑न॒स्था बिभ॑र्ति।
भूम्या॒ असु॒रसृ॑गा॒त्मा क्व॑ स्वि॒त्को वि॒द्वांस॒मुप॑ गा॒त्प्रष्टु॑मे॒तत्॥ ४॥

१. पिछले दो मन्त्रों में शरीर-रथ का वर्णन करके इस मन्त्र में रथी का वर्णन करते हैं। उस रथी को **कः ददर्श**='क' देखता है। **क**=कामनाशील और पुरुषार्थी उसे देखता है। **प्रथमं**

जायमानम्=वह आत्मतत्त्व पहले से ही प्रादुर्भूत है—'अग्रे समवर्तत'—पहले ही है। २. यह एक आश्चर्य की बात है **यत्**=कि **अनस्था**=स्वयं अस्थिरहित होता हुआ भी **अस्थन्वन्तम्**=अस्थियों के पञ्जरवाले इस शरीर को **बिभर्ति**=धारण कर रहा है। प्रतीत तो यह होता है कि शरीर को अस्थियों ने धारण किया हुआ है, परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। आत्मतत्त्व के शरीर को छोड़ने पर यह शरीर धराशायी हो जाता है। २. उस आत्मतत्त्व का चिन्तन करने पर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि **भूम्याः**=इस पार्थिव शरीररूप रथ का **असुः**=यह प्राण, **असृक्**=रुधिर व **आत्मा**=रथी **क्वस्वित्**=भला कहाँ-कहाँ रहते हैं? असु प्राण हैं। इनके विरेचन-पूरण का क्रम चलता ही रहता है। **असृज्**=रुधिर है। 'अस् दीप्तौ' यही शरीर की दीप्ति का कारण है। आत्मा रथी है। इसी के कारण रथ की गति होती है। 'ये प्राणादि शरीर में कहाँ हैं'—यह प्रश्न उत्पन्न होते ही **कः**=प्रबल कामनावाला व्यक्ति **विद्वांसम्**=विद्वान् के पास **एतत् प्रष्टुम्**=यह प्रश्न पूछने के लिए **उपगात्**=जाता है।

भावार्थ—विरल पुरुष ही आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं। शरीर-रचना को समझने के लिए जिज्ञासु ज्ञानी के पास उपस्थित होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आदिगुरु 'वत्स बष्कय'

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥ ५॥

१. पिछले मन्त्र में जिज्ञासु विद्वान् के समीप गया था। वह जिज्ञासु इस रूप में प्रश्न करता है—**पाकः**=पक्तव्य प्रज्ञानवाला मैं **मनसा**=पूर्ण हृदय से **पृच्छामि**=पूछता हूँ—मेरी बुद्धि परिपक्व नहीं और आप भृगु=परिपक्वमति हैं, अतः आपसे पूछता हूँ। २. **अविजानन्**=विशेषरूप से न जानता हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि **देवानाम्**=सूर्यादि देवों के **एना**=ये **निहिता**=रक्खे हुए **पदानि**=चरण व स्थान कहाँ-कहाँ हैं? आत्मरूप महादेव के साथ सूर्यादि सभी देव इस शरीर में प्रविष्ट होकर कहाँ-कहाँ रह रहे हैं? यह बात मैं आपसे पूछता हूँ। ३. **कवयः**=तत्त्वदर्शी, ज्ञानी लोग **सप्त तन्तून्**=(तनू विस्तारे) जिनमें ज्ञान का विस्तार किया गया है उन सात गायत्री आदि छन्दों के **वितत्निरे**=ज्ञानरूप ताने को तनते हैं। वेद का सारा ज्ञान इन सात छन्दों में ही दिया गया है। इसका अध्ययन करके मनुष्य क्रान्तदर्शी बनते हैं और मनकों में ओत-प्रोत सूत की भाँति ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत परमात्मा को प्राप्त करते हैं। सब प्राणियों में स्थित उस प्रभु को देखकर ये सभी के साथ बन्धुत्व का अनुभव करते हैं और सर्वभूतहित में जुटे रहते हैं। उनका जीवन सतत क्रियाशील होता है। वे ज्ञान का ताना तानते ही इसलिए हैं कि **ओतवा उ**=उसमें कर्म का बाना बुना जाए। ४. हम इन ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु ये ज्ञानी **वत्से**=सदा स्पष्टरूप से बोलनेवाले **बष्कये**=सत्य के प्रकाशक प्रभु की **अधि**= अधीनता में ज्ञान का लाभ किया करते हैं (बट् इति सत्य नाम, कष-शासने)।

भावार्थ—मैं क्रान्तदर्शी विद्वानों से आत्मविषयक जिज्ञासा को पूछता हूँ कि इस पिण्ड में किस-किस देव ने कहाँ-कहाँ चरण रक्खे हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रश्नकर्ता

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥ ६॥

१. **अचिकित्वान्**=अविद्वान् होता हुआ, इस शरीर और शरीरी के रूप को ठीक-ठीक न समझता हुआ **चित्**=ही **अत्र**=इस मानव-जीवन में **चिकितुषः कवीन्**=ज्ञानी, क्रान्तदर्शी आपसे **पृच्छामि**=पूछता हूँ। मानव-देह की सफलता के लिए मैं आप विद्वानों से इस अध्यात्म के प्रश्न को जानने का प्रयत्न करता हूँ। २. आप ज्ञानी हैं, क्रान्तदर्शी हैं। इसके विपरीत मैं **न विद्वान्**=नासमझ हूँ। मेरे लिए तो सारा संसार पहेली-सा बना हुआ है। मैं वादविवाद के लिए नहीं अपितु जिज्ञासु के रूप में **विद्मने**=ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ। आप कवि हैं। मैं आपके प्रकाश से अपने हृदयान्धकार को दूर करने के लिए उस प्रभु के विषय में कुछ पूछता हूँ **यः**=जो **इमा**=इन **षट्**=छह **रजांसि**=लोकों को **वि**=अलग-अलग—अपने-अपने स्थान में **तस्तम्भ**=थामे हुए है। सभी लोक उस प्रभु के आश्रय में अत्यधिक तीव्र गति से चलते हुए भी टकराते नहीं, क्या अद्भुत व्यवस्था है! ४. मैं छह लोकों के धारक प्रभु के विषय में जानना चाहता हूँ। मैंने ऐसा सुना है कि सातवाँ लोक जो **अजस्य**=अजन्मा प्रभु के **रूपे**=स्वरूप में ही विद्यमान है, **एकं किमपि स्वित्**=वह एक जो इन लोकों की भाँति लोक है भी या नहीं। वह तो प्रभु का अपना रूप ही है। 'सत्यम्' यह उस लोक का नाम है। इस प्रभु के विषय में ही मैं पूछता हूँ।

भावार्थ—नासमझ होने के कारण मनुष्य ज्ञानियों की शरण में जाए और इस संसार तथा परमात्मा के सम्बन्ध में उनसे पूछे।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रवचनकर्ता=उपदेष्टा

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥ ७॥

१. **इह**=इस मानव-जीवन में **ब्रवीतु**=स्पष्ट शब्दों में उपदेश करे। कौन? **यः**=जो **ईम्**=अब (ईम्=now) **अङ्ग**=(well, in deed, true) ठीक-ठीक **वेद**=जानता है। किसे? **अस्य**=इस **वामस्य**=सुन्दर-ही-सुन्दर **वेः**=(goer) क्रियाशील प्रभु के **निहितं पदम्**=रक्खे हुए चरण को। वे प्रभु (वाम) सुन्दर हैं, क्योंकि (वि) क्रियाशील हैं। सौन्दर्य का क्रियाशीलता से सम्बन्ध है। क्रियाशीलता ही मनुष्य को स्वस्थ बनाकर सौन्दर्य प्रदान करती है। प्रवचनकर्त्ता को भी क्रियाशीलता द्वारा सौन्दर्य प्राप्त करना है। प्रवचनकर्ता भी वह तभी बन सकेगा जब प्रभु के तीनों चरणों—उत्पत्ति, पालन और संहार को समझेगा। २. इस प्रकार ज्ञान-सम्पन्न होने के कारण ही **अस्य**=इसके **शीर्ष्णः**=सिर की **गावः**=ज्ञानेन्द्रियाँ **क्षीरम्**=ज्ञानरूपी दूध को **दुह्रते**=जनता के मानस में पूरण करती हैं। उसका प्रवचन जनता के मन व मस्तिष्क को ज्ञान से भर देता है। जैसे क्षीर मधुर होता है वैसे ही उसकी वाणी से निकलनेवाले शब्द मधुर होते हैं। ३. ये प्रवचनकर्त्ता **वव्रिम्**=रूप, तेजस्विता को **वसानः**=आच्छादित करने के हेतु से (हेतौ शानच्) **पदा**=(पद गतौ) क्रियाशीलता के द्वारा **उदकम्**=(आपो रेतो भूत्वा) वीर्यशक्ति को **अपुः**=अपने अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करते हैं। वीर्य की सुरक्षा से तेजस्विता आती है। प्रवचनकर्ता की यह तेजस्विता श्रोताओं पर छा-सी जाती है और वह उन्हें प्रभावित कर पाता है।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी, मधुरभाषी एवं तेजस्वी ही उपदेष्टा हो सकता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उपदेश कौन प्राप्त करते हैं

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥ ८॥

१. मन्त्र के चौथे चरण में कहते हैं कि **नमस्वन्तः**=नमस्वाले, अर्थात् नम्रता से युक्त **इत्**=ही **उप**=आचार्य के समीप पहुँचकर **वाकम्**=उपदेश को (वच्+घञ्) वेदवाणी को **ईयुः**=प्राप्त होते हैं। आचार्य सौम्य शिष्यों को ही प्रेम से उपदेश देते हैं। उपदेश ग्रहण करनेवाले का प्रथम गुण (नम्रता) भक्ति व सेवावृत्ति है। इस नम्र शिष्य के अन्य गुणों का उल्लेख प्रथम तीन चरणों में इस प्रकार हुआ है—२. **माता**=जीवन का निर्माण करनेवाला विद्यार्थी **पितरम्**=ज्ञानप्रद आचार्य के पास **ऋते**=सत्य ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त आता है। विद्यार्थी वही हो सकता है, जिसमें जीवन-निर्माण की भावना है। यह आचार्य के पास सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए आता है। ३. जब एक विद्यार्थी इस प्रकार की भावना से आचार्यकुल में आता है तभी वह **मनसा**=हृदय से और हृदय भी कैसा? **धीति अग्रे**=जिसमें कर्म सर्वप्रधान है, अर्थात् श्रम की प्रबल भावना से युक्त होकर **हि**=ही वह आचार्य के पास **संजग्मे**=सम्यक् गमन करता है। ४. **सा**=जीवन-निर्माण का अभिलाषी विद्यार्थी ही **बीभत्सुः**=आचार्य के साथ अपने को बाँधने की इच्छावाला होता हुआ **गर्भरसा**=गर्भरस से—रहस्यमय ज्ञान के जल से **निविद्धा**=हृदय के अन्तस्तल तक सिक्त होता है।

भावार्थ—जीवन-निर्माण के अभिलाषी को विनीतभाव से आचार्य-चरणों में पहुँचकर अपने को ज्ञान-जल से सिक्त करना चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सरलता, उदारता, वेदज्ञान

युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥ ९॥

१. **माता**=जीवन-निर्माण की इच्छावाला शिष्य आचार्य से **युक्ता आसीत्**=जोड़ा जाता है। कहाँ? **दक्षिणायाः धुरि**=दक्षिणा के जुए में। आचार्य विद्यार्थी को (दक्षिण) सरल और उदार बनाकर संसार में भेजता है। २. 'यह विद्यार्थी आचार्य-कुल में कब तक रहे?' इस प्रश्न का उत्तर है कि वह विद्यार्थी **वृजनीषु**=जीवन-संघर्ष (Battles and struggles) में **अन्तः गर्भः**=अन्तर्गर्भ के समान **अतिष्ठत्**=ठहरता है। आचार्य उसे तब तक गर्भ में रखता है जब तक वह परिपक्व न हो जाए। आचार्य शिष्य की प्रलोभनों व वासनाओं से रक्षा करता है। ३. आचार्यकुल में रहता हुआ वह **वत्सः**=आचार्य का वत्स बनने का प्रयत्न करता है। आचार्य वेदमन्त्र बोलते हैं, यह भी **अनु**=आचार्य के पीछे, ठीक आचार्य के उच्चारण के अनुसार **अमीमेत्**=शब्द करता है। आचार्य के पीछे उच्चारण करता हुआ विद्यार्थी **गाम्**=वेदवाणी को **अपश्यत्**=देखता है, अर्थात् उसका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करता है। ४. कौन-सी वेदवाणी का **विश्वरूप्यम्**=(विश्वविषयनिरूपणवतीम्) जो वेदवाणी सब सत्य-विद्याओं के निरूपणवाली है। उस वेदवाणी को यह शिष्य **त्रिषु योजनेषु**=तीनों योजनाओं में देखता है। उसके तीनों अर्थों को देखने का प्रयत्न करता है। ऋग्वेद मुख्य रूप से प्रकृति—सभी विज्ञानों का प्रतिपादन करता हुआ 'विज्ञानवेद' कहलाता है। इसमें सभी (Natural Sciences) का समावेश हो जाता है। यजुर्वेद जीव के कर्तव्य—सभी यज्ञों का निरूपण करता हुआ 'कर्मवेद' कहलाता है। सब (Social Sciences) का इसमें प्रतिपादन है। साम अध्यात्म (Metaphysics) का उपदेश करता हुआ 'उपासनावेद' कहलाता है। अथर्व अस्वस्थ पुरुष व राष्ट्र का वेद है। इसमें रोगों, युद्धों, राज्य-व्यवस्थाओं व चिकित्साओं का सम्पूर्ण विषय आ गया है। विद्यार्थी आचार्य से इनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करता है, (अपश्यत्) इन्हें स्पष्टरूप में समझ लेता है।

भावार्थ—जीवन-निर्माण का अभिलाषी अपने-आपको आचार्य के साथ जोड़कर जहाँ उदार और सरल बनता है वहाँ वेदों का ज्ञान भी प्राप्त करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तीन माताएँ, तीन पिता

तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥ १०॥

१. **तिस्रः**=तीन **मातॄः**=माताओं को और **त्रीन्**=तीन **पितॄन्**=पितरों को **बिभ्रतः**=धारण करता हुआ **एकः**=अद्वितीय प्रभु **ऊर्ध्वः**=सृष्टि की समाप्ति पर भी **तस्थौ**=अपने चैतन्यरूप में ठहरता है। अपनी सृष्टि के आरम्भ में वह पुनः ज्ञान प्राप्त कराता है, फिर गुरु-शिष्य-परम्परा का उपक्रम चल पड़ता है। विद्यार्थी पूर्ण यत्न से ज्ञान प्राप्त करता है और आचार्य पुत्रवत् स्नेह रखते हुए उसे ज्ञान से भरने के लिए यत्नशील होते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति करने और कराने में ये दो **ईम्**=निश्चय से **न अव ग्लापयन्ति**=ग्लानि को प्राप्त नहीं होते। इस कार्य में कभी ऊबते नहीं। चौबीस, चवालीस और अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले वसु, रुद्र एवं आदित्य ही तीन माताओं—जीवन-निर्माताओं के रूप में स्मरण किये गये हैं। विज्ञानकाण्ड का उपदेश देनेवाले आचार्य 'अग्नि' हैं, कर्मकाण्ड का ज्ञान देनेवाले आचार्य 'वायु' हैं और उपासना-तत्त्व को समझानेवाले आचार्य 'सूर्य' हैं। ये ही तीन पितर हैं। २. ये आचार्य और शिष्य **अमुष्य दिवः पृष्ठे**=उत्कृष्ट ज्ञान के स्तर पर स्थित हुए-हुए **विश्वविदम्**=सब विषयों का ज्ञान देने में समर्थ **वाचम्**=वेदवाणी का **मन्त्रयन्ते**=परस्पर विचार करते हैं। इस वेदवाणी की ओर विरले ही चलते हैं, क्योंकि **अविश्वमिन्वाम्**=यह असर्वव्यापिनी है। इसका प्रवेश सब जगह नहीं हो पाता। कोई विरला ही इस आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—अद्वितीय प्रभु सृष्टि के आरम्भ में वेदवाणी का ज्ञान प्रदान करते हैं, परन्तु विरले व्यक्ति ही इस ओर चलकर आत्म-परमात्म-सम्बन्धी विषय में रुचि लेते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

काल-चक्र

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥ ११॥

१. अब ज्ञान व मोक्ष-प्राप्ति के लिए अ-क्षर—कभी जीर्ण न होनेवाले कालचक्र का उपदेश करते हैं—**द्वादशारम्**=यह कालचक्र बारह अरोंवाला है। बारह मास ही इसके बारह अरे हैं। **तत्**=यह **चक्रम्**=काल-चक्र निरन्तर चला जा रहा है। यह निश्चय से **जराय नहि**=कभी जीर्ण नहीं होता। २. यह चक्र तो **द्यां परि**=इस महान् अन्तरिक्ष में सर्वत्र **वर्वर्ति**= नित्य चलता ही चला जा रहा है, **ऋतस्य**=यह काल-चक्र बिल्कुल ऋत=नियमित गतिवाला है। ३. **अग्ने**=यह काल-चक्र आगे-ही-आगे चलता चल रहा है, अतः यह अग्नि है। दिन और रात इस अग्नि के **पुत्राः**=पुत्र हैं जो कि **मिथुनासः**=मिथुन=द्वन्द्व के रूप में हैं—'दिवस' पुमान् है तो 'रजनी' स्त्री। दिवस कार्य का और रात्रि विश्राम की प्रतीक है। ये दिन और रात हमें कार्य में पुनः-पुनः प्रवृत्त करके 'पवित्र बनाये' रखते हैं और हमारा त्राण करते हैं, अतः ये 'पु-त्र' कहलाते हैं। **अत्र**=इस काल-चक्र में **आ**=सर्वत्र **सप्त शतानि**=सात सौ **च**=और **विंशतिः**=बीस, अर्थात् सात सौ बीस दिन-रात **तस्थुः**=ठहरे हुए हैं। इस लोक के समान ब्रह्माण्ड के सभी लोकों में

इनकी संख्या इसी प्रकार है।

भावार्थ—काल-चक्र निरन्तर चलता हुआ कभी जीर्ण नहीं होता। यह नियमित गतिवाला है। इसके बारह मास-रूप बारह चक्र हैं और दिन-रात रूपी ७२० सात सौ बीस पुत्र हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

कालचक्र

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम्॥ १२॥

१. यह कालचक्र **पञ्चपादम्**=पाँच पादवाला है। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन—ये पाँच कर्म ही इसकी गति के द्योतक हैं। क्रिया की गति ही काल के रूप में नापी जाती है। क्रिया समाप्त और काल भी समाप्त। **पितरम्**=भूत, भव्य सभी को जन्म देनेवाला होने से यह काल सबका पिता है। **द्वादशाकृतिम्**=यह बारह मासरूपी आकृतियोंवाला है। इस द्वादशाकृति काल में वह आकृति भी आती है जब सूर्य की तीव्र किरणों से पृथिवीस्थ समुद्र वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र के रूप में परिणत हो जाता है, अतः इस काल को **दिवः परे अर्धे**=द्युलोक के उत्कृष्ट स्थान में **पुरीषिणम्**=जलवाला **आहुः**=कहते हैं। जब यह काल आता है तब ग्रीष्म के घर्म से आर्त प्राणियों को आनन्दित करता है। २. इसी काल का वर्णन **अथ इमे अन्ये**=अब ये दूसरे विद्वान् **आहुः**=इस रूप में भी कहते हैं कि **विचक्षणम्**=अपनी हजारों आँखों से देखनेवाला यह काल **सप्तचक्रे**=सात चक्रों और **षट् अरे**=छह अरोंवाले **उपरे**=(उपरमन्ते अस्मिन् प्राणिनः, उपरताः प्राणिनोऽत्र इति वा) प्राणियों के उपरमण (enjoyment) व उपराम—दीर्घ विश्राम के स्थानभूत इस **संवत्सर**=वर्ष में **अर्पितम्**=अर्पित हैं। यह वर्ष सप्तचक्र है। सप्ताह के सात दिन सात चक्र हैं और छह ऋतुएँ छह अरे हैं।

भावार्थ—पाँच पाद और बारह आकृतियोंवाला, आकाश के ऊपरी अर्ध भाग से पृथिवी का पोषण करनेवाला काल पिता कहलाता है। इसी काल को सात चक्र और छह अरों से युक्त भी कहा जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

भूगोल (The globe of our earth)

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥ १३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित कालचक्र में पृथिवी आदि ग्रहों का निर्माण हुआ। हमारी पृथिवी भी एक चक्र के रूप में है। **तस्मिन्**=उस **परिवर्तमाने**=निरन्तर गतिशील में **पञ्चारे चक्रे**=पाँच अरोंवाले—पाँच भागों में विभक्त भूचक्र में **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणी **आतस्थुः**=ठहरे हुए हैं। २. इस भूचक्र के अक्ष पर कितना भार है! परन्तु **तस्य**=उस भूमि का **अक्षः**=अक्ष **भूरिभारः**=अत्यधिक भारवाला होता हुआ भी **न तप्यते**=सन्तप्त नहीं होता। 'कितना दृढ़ होगा वह अक्ष'—यह सोचकर ही मनुष्य का मस्तिष्क चकरा जाता है। इतना ही नहीं, सामान्य चक्रों में तो रगड़ से घिस-घिसाकर चक्रनाभि शीर्ण हो जाती है, परन्तु यह चक्र **सनात्**=सदा से **सनाभिः**=समान नाभिवाला होता हुआ **एव**=भी **न**=नहीं **शीर्यते**=शीर्ण होता। लौकिक रथ का अक्ष तो भार से भग्न हो जाता है और नाभि चौड़ी-सी हो जाया करती है, परन्तु इस भूचक्र के अक्ष और नाभि कितने अद्भुत हैं कि उनमें किसी प्रकार का विकार अर्बों वर्षों में भी नहीं

आ पाता। यह सोचकर निर्माता की अद्भुत महिमा का स्मरण हो जाता है।

भावार्थ—इस निरन्तर गतिशील भूचक्र में पाँच भागों में बटे हुए सब प्राणी ठहरे हुए हैं। इसका अक्ष इतना सुदृढ़ है कि वह अत्यधिक भार का वहन करता हुआ भी जीर्ण-शीर्ण नहीं होता।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पृथिवी-चक्र

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा॥ १४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित भूचक्र का वर्णन करते हुए कहते हैं—**चक्रम्**=यह भूचक्र **सनेमि**=समान नेमिवाला है। अक्ष व नाभि की भाँति इसकी (नेमि) परिधि भी जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। यह चक्र **अजरम्**=अजर है; बुढ़ापे से रहित है। यह नहीं कि यह कार्य नहीं कर रहा हो; यह तो **विवावृते**=सूर्य के चारों ओर तीव्र गति से बारम्बार घूम रहा है। २. **उत्ताना-याम्**=यह उत्तान भूचक्र अपनी कीली पर घूमता सदा से सूर्य की परिक्रमा करता चला आ रहा है। इस भूचक्र पर **दश**=अवस्था या विकास के दृष्टिकोण से दस स्थितियों में वर्तमान पुरुष **युक्ताः**=अपने-अपने व्यापार में लगे हुए **वहन्ति**=जीवन का वहन कर रहे हैं। मनुष्य की आयु सामान्यतः सौ वर्ष है। वह दस दशतियों में बाँटी जा सकती है। सब मनुष्य भिन्न-भिन्न दशतियों में हैं। कुछ विरल व्यक्ति ही नवीं या दसवीं दशति तक पहुँचते हैं। उन्हें वेद में 'नवग्व' व 'दशग्व' कहा है। प्रयत्न तो मनुष्य का यही होना चाहिए कि वह 'नवग्व व दशग्व' बने। यदि हम 'युक्ताः'—प्रत्येक कार्य में युक्तचेष्ट—नपी-तुली क्रियावाले होंगे तो अवश्य वहाँ तक पहुँच पाएँगे। २. **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य का प्रकाश **रजसा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में स्थित अन्तरिक्षलोक से **आवृतम्**=आवृत होकर **एति**=पहुँचता है। इस प्रकार हम प्रचण्ड किरणों से झुलस नहीं जाते। **तस्मिन्**=इस रजःआवृत सूर्यप्रकाश में ही **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणी **आर्पिता**=अर्पित हैं। यदि यह प्रकाश हम तक बिना आवरण के ही आता तो हम सब झुलस जाते। यदि यह आता ही नहीं तो भी जीवन असम्भव हो जाता, अतः हम सबकी स्थिति इस सूर्यप्रकाश पर ही निर्भर करती है।

भावार्थ—सब प्राणी भूचक्र की गतिशीलता और सूर्य के प्रकाश के कारण पृथिवी पर जीवन धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

शक्ति न कि स्वाद (धामशः न कि रूपशः)

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥ १५॥

१. **साकं जानाम्**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन आत्मा के साथ शरीर में प्रवेश करनेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियों और मन का कार्य साथ-साथ ही चलता है। मन के साथ होने पर ही ये इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। इन छह के अतिरिक्त **सप्तथम्**=एक सातवाँ बुद्धितत्त्व भी है जिसे **एकजम्**=(एक=मुख्य) मुख्य आत्मतत्त्व के साथ रहनेवाला **आहुः**=कहते हैं। आत्मतत्त्व इस शरीररूपी रथ का रथी है तो बुद्धि सारथि। २. इस उत्तम बुद्धिरूप सारथि से नियन्त्रित ये **षट्**=छह **यमाः**=इन्द्रियाँ **इति**=नियन्त्रित कहलाती हैं **इत**=यह ठीक ही है। नियन्त्रित अवस्था में ये छह (मन+ज्ञानेन्द्रियाँ)

जीवात्मा के लिए **ऋषयः**=तत्त्वज्ञान का दर्शन करानेवाले होते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के साथ संयत होने की अवस्था में ये **देवजाः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले होते हैं। संयत होने पर ये निर्विषय रहकर हमारी जीवन-यात्रा की पूर्ति के साधन बनेंगे। यात्रा की पूर्ति के लिए घोड़े सबल भी होने चाहिएँ। ३. इनकी सबलता के लिए प्रभु ने **तेषाम्**=उन सब इन्द्रियरूप घोड़ों के **धामशः**=शक्ति के दृष्टिकोण से **इष्टानि**=वाञ्छनीय पदार्थ **विहितानि**=बनाये हैं। ४. ये ही सांसारिक भोज्य पदार्थ जब **रूपशः**=सौन्दर्य व स्वाद के लिए सेवन किये जाते हैं तब ये **विकृतानि**=विकृत होकर **स्थात्रे**=शरीररूप रथ पर रहनेवाले अधिष्ठाता जीव के लिए **रेजन्ते**=कम्पित, विचलित करनेवाले हो जाते हैं। सारा नाड़ी-संस्थान नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

भावार्थ—यदि मन और ज्ञानेन्द्रियाँ—ये छह नियन्त्रित रहें तो मनुष्य देव और ऋषि बनता है; विपरीत अवस्था में आसुरीवृत्तियाँ पनपती हैं और शरीर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्त्री होते हुए पुमान्, पुत्र होते हुए पिता के भी पिता

स्त्रियः॑ स॒तीस्ताँ उ॑ मे पुं॒स आ॑हुः॒ पश्य॑दक्ष॒ण्वान्न वि चे॑तद॒न्धः।
क॒विर्यः पु॒त्रः स ई॒मा चि॑केत॒ यस्ता वि॑जा॒नात्स पि॒तुष्पि॒तास॑त्॥ १६॥

१. एक संयमी पुरुष कह सकता है कि **स्त्रियः सतीः**=स्त्री होते हुए भी **तान् उ**=उन इन्द्रियों को ही **मे**=मेरे लिए तो **पुंसः आहुः**=पुमान् कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपादिवाले विषयों से मेल कराती हैं। इस (मेल) संघात कराने के कारण ही उन्हें '**स्त्रियः**' शब्द से कहा जाता है। शब्दादि विषयों का हरण करने से ये 'स्त्रियाँ' ही हैं और इस हरण के द्वारा ही जीव को विषयासक्त करके ये उसका (संघात) विनाश कर रही हैं; परन्तु ये ही इन्द्रियाँ संयत होने पर रक्षक बन जाती हैं। अब ये 'स्त्रियाँ' न होकर 'पुंसः' बन जाती हैं। २. इन्द्रियों की इस द्विरूपता को **पश्यत्**=देखनेवाला व्यक्ति ही **अक्षण्वान्**=उत्तम आँखोंवाला है; न **विचेतत्**=इस द्विरूपता को न समझनेवाला **अन्धः**=अन्धा है। ये इन्द्रियाँ विषयों में ले-जाकर, क्षणिक आनन्द के भोग में फँसाकर हमें समाप्त भी कर सकती हैं और संयत होकर, उत्कृष्ट ज्ञान-प्राप्ति का साधन होते हुए, कण-कण में प्रभु-महिमा का दर्शन कराती हुई ये हमारी रक्षा करनेवाली भी हो सकती हैं। सामान्य मनुष्य अपने कल्याण का मार्ग न देख सकने के कारण अन्धा ही है। ३. परन्तु **यः**=जो **ईम्**=अब **आचिकेत**=इन इन्द्रियों के स्वरूप का अनुशीलन करके इन्हें सर्वथा समझ लेता है **सः**=वह तो **कविः**=ज्ञानी बनता है और **पुत्रः**=(पूञ्+त्र) ज्ञान से अपना पवित्रीकरण करके रक्षण करनेवाला होता है। जो इन्द्रियाँ विषयों में फँसाकर मारनेवाली थीं, वे ही अब अन्तर्मुख होकर आत्म-दर्शन करानेवाली होती हैं। विषयों के तत्त्व को समझने के कारण हम कवि बनते हैं—गहराई तक, तत्त्व तक पहुँचनेवाले बनते हैं। विषय-पंक में न फँसकर अपने को पवित्र रख पाते हैं और दुःखों में फँसने से अपने को बचा पाते हैं। ४. इस प्रकार **यः**=जो **ताः**='स्त्रियः' शब्द से कही गई इन इन्द्रियों को **विजानात्**=अच्छी प्रकार समझ लेता है **सः**=वह **पितुः पिता असत्**=रक्षकों में रक्षक बनता है, अर्थात् महान् रक्षक तो यही हुआ है।

भावार्थ—इन्द्रियों और विषय-भोगों के वास्तविक स्वरूप को समझनेवाला ही सबसे महान् रक्षक है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वेदाध्ययन के चार लाभ

अ॒वः परे॑ण प॒र ए॒नाव॑रेण प॒दा व॒त्सं बिभ्र॑ती॒ गौरुद॑स्थात्।
सा क॒द्रीची॒ कं स्वि॒दर्धं॒ परा॑गा॒त्क्व॑ स्वित्सूते न॒हि यू॒थे अ॒न्तः॥ १७॥

१. **गौः**=वेदवाणी **पदा**=अपने अर्थगमन पदों से **वत्सम्**=उच्चारण करनेवाले (वद्) प्रिय जीव को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **उद् अस्थात्**=उन्नत स्थान में स्थित करती है। वेदवाणी का एक-एक शब्द उच्चरित होता हुआ हमें उच्च प्रेरणा देता हुआ अन्त में मोक्ष तक ले-जाता है। २. वेदवाणी दो प्रकार से हमारा धारण करती है—**अवः**=निचले क्षेत्र में **परेण**=पर के द्वारा और **परः**=पर क्षेत्र में **एना**=इस **अवरेण**=अवर के द्वारा। वेदवाणी के शब्द 'अपराविद्या' और 'पराविद्या'—दोनों ही विद्याओं के प्रतिपादक हैं। अपराविद्या प्रकृति का ज्ञान देती है तो पराविद्या आत्मतत्त्व का। इस कारण इनको क्रमशः 'अवः' और 'परः' शब्दों से कहा गया है। अवर प्रकृति द्वारा विद्या के क्षेत्र में परपदों से धारण का अभिप्राय यह है कि पराविद्या उसे विलासमय जीवन से बचाकर ब्रह्म की ओर ले-जाती है। अवर विद्या के प्रतिपादक पद परक्षेत्र में उसका धारण इस प्रकार करते हैं कि प्रकृति में सौन्दर्य और व्यवस्था को दिखाते हुए ये उसे प्रभु की महिमा को समझने के योग्य बनाते हैं। अवर पद उसे प्रभु-भक्त बनाते हुए परक्षेत्र में धारण करते हैं। ३. **सा**=वह वेदवाणी **कद्रीची**=(कौ अञ्चती) पृथिवी पर गति करती हुई **कं स्वित्**=कितने महान् **अर्धम्**=सर्वोच्च स्थान को **परागात्**=सुदूर जाती है। वेदवाणी के अवरपद यदि पृथिवी पर हैं—पृथिवी व पार्थिव (प्राकृतिक) देवों (पदार्थों) का बोध देते हैं तो परपद पार्थिव पदार्थों के प्रणेता प्रभु का प्रतिपादन करते हैं। ४. ब्रह्मदर्शन हमें जीवन्मुक्त स्थिति प्राप्त कराता है, अतः **क्व स्वित् सूते**=भला, फिर यह जन्म कहाँ देती है, इसे जन्म लेने की आवश्यकता ही नहीं रहती, उसका मोक्ष हो जाता है। यदि वेद का स्वाध्याय करनेवाला एक जन्म में इतना ऊँचा न उठ पाये और उसे जन्म लेना ही पड़े तो यह वेदवाणी उसे **हि**=निश्चय से **यूथे अन्तः न**=सामान्य लोक-समूह में जन्म नहीं देती, उसका जन्म उच्चकुलों में होता है।

भावार्थ—वेदाध्ययन के चार लाभ हैं—(क) यह हमें प्रकृतिविद्या व विज्ञान में निष्णात बनाता है, (ख) ब्रह्म का दर्शन कराता है, (ग) मोक्ष प्राप्त कराता है और (घ) उच्चकुल में जन्म देता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पिता का अनुवेदन

अ॒वः प॒रेण॑ पि॒तरं॒ यो अ॒स्यानु॒वेद॑ प॒र ए॒नाव॑रेण।
क॒वी॒यमा॑नः॒ क इ॒ह प्र वो॑च॒द् दे॒वं मनः॒ कुतो॒ अधि॒ प्रजा॑तम्॥ १८॥

१. **अवः**=प्रकृतिविद्या के क्षेत्र में **परेण**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से और (परेण) पराविद्या के क्षेत्र में **एना अवरेण**=इन अपराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से **यः**=जो **अस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **पितरम्**=पालक को **अनुवेद**=जानता है, वह **प्रवोचत्**=प्रवचन करता है। प्रकृति विद्या और ब्रह्मविद्या—दोनों के परस्पर संगत हो जाने पर मनुष्य इस ब्रह्माण्ड के रक्षक प्रभु का साक्षात्कार कर पाता है। 'अनुवेद' शब्द स्पष्ट कह रहा है कि (अनु) प्रकृति के ज्ञान के पश्चात् ही प्रभु का साक्षात् होता है। २. अपरा और पराविद्या को जोड़कर प्रभु का साक्षात्कार करनेवाला व्यक्ति जब किसी भी प्राकृतिक वस्तु का प्रयोग करता है तो **कवीयमानः**=कवि की भाँति आचरण करनेवाला होता है। वह वस्तुओं के तत्त्व को समझता है। तत्त्वज्ञान के कारण उन पदार्थों का ठीक ही प्रयोग करता है और पदार्थों के सौन्दर्य में सौन्दर्य के निर्माता को देखता है। **कः**=वह आनन्द में रहता है। वह स्थितप्रज्ञ बन जाता है। **इह**=(प्रवोचत्) यह क्रान्तदर्शी, सदा प्रसन्न मानव-जीवन में प्रवचन करता है। प्रकाश प्राप्त कर वह उस प्रकाश को औरों को भी देता है। ३. उस प्रकाश के फैलाने में वह अपने सुखों को तिलाञ्जलि देता है। वस्तुतः **कुतः अधि**=पृथिवी

से, पार्थिव भागों से ऊपर उठकर (कु=पृथिवी, तस्=से) उसमें **देवं मनः**=दैवी वृत्तिवाला मन **प्रजातम्**=उत्पन्न हो चुका है। यह दैव मन तो देने का ही पाठ पढ़ता है।

भावार्थ=अपरा और पराविद्या के मेल से मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है। यह मनुष्य सदा आनन्द में रहता है और उस प्रकाश को सर्वत्र फैलाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

रजोगुण से ऊपर

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति॥ १९॥

१. वेदों में **ये**=जो **अर्वाञ्चः**=अपराविद्या के प्रतिपादक वाक्य हैं **तान् उ**=उनको ही **पराचः**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्य **आहुः**=कहते हैं। अपराविद्या के प्रतिपादक मन्त्रों के समझने पर एक-एक प्राकृतिक पदार्थ में प्रभु की महिमा दिखने लगती है। २. इसके विपरीत **ये**=जो वेदवाक्य **पराञ्चः**=पराविद्या के प्रतिपादक हैं **तान्**=उनको ही **अर्वाचः**=अपराविद्या के प्रतिपादक **आहुः**=कहते हैं। वस्तुतः कर्ता की रचना को समझने के लिए कर्ता का समझना भी आवश्यक है। ३. अपरा और परा विद्याएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं। **न**=जैसे एक रथ के दो पहिये **धुरा**=अक्ष से **युक्ताः**=जुड़े हुए रथ की अग्रगति के साधक होते हैं, उसी प्रकार परस्पर जुड़ी हुई ये दोनों विद्याएँ मनुष्य के उत्थान का साधन होती हैं। ये दोनों विद्याएँ एक-दूसरे की पूरक होती हुई **रजसः वहन्ति**=मनुष्य को रजोगुण से ऊपर उठा देती हैं। इन दोनों विद्याओं को अपनाकर मनुष्य सदा सत्त्व गुण में अवस्थित रहता है। ४. ये अपरा व पराविद्या के प्रतिपादक वेदवाक्य कौन-से हैं जो मनुष्य को रजोगुण से ऊपर उठाने का कारण बनते हैं? इस प्रश्न का उत्तर है—**तानि**=ये वेदवाक्य वे हैं **या**=जिनको **इन्द्रः**=इन्द्र **च सोमः**=और सोम मिलकर **चक्रथुः**=साक्षात् किया करते हैं। इन्द्र का अभिप्राय इन्द्रियों के स्वामी जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी से है और (सोम) सौम्यता की मूर्ति आचार्य का प्रतिपादन कर रहा है। आचार्य ज्ञान का समुद्र है और विद्यार्थी जितना जितेन्द्रिय बनेगा उतने ही अंश में वह सत्यविद्याओं का ग्रहण करनेवाला बनेगा।

भावार्थ—अपरा और पराविद्याओं का साथ-साथ अभ्यास करने से जीवन-रथ आगे बढ़ता है और मनुष्य रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित रहता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दो सुपर्ण

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ २०॥

१. **द्वा**=दो—परमात्मा और आत्मा **सुपर्णा**=उत्तम पालन और पूरणरूप कर्मों को करनेवाले हैं (पृ पालनपूरणयोः)। परमात्मा का पालनरूप कर्म एकदम प्रत्यक्ष है। उसने गर्भस्थ बालक के पालन की व्यवस्था कितने सुन्दर रूप में की है! हमें सतत प्रेरणा देकर हमारी न्यूनताओं को दूर करके वह हमारा पूरण भी कर रहा है। गृहस्थ सन्तान के पालन व पूरण में प्रयत्नशील होता है, वानप्रस्थ विद्यार्थियों को ज्ञान से पूरण करता है और संन्यासी तो प्रभु का सन्देशवाहक ही हो जाता है। २. **सयुजा**=ये दोनों एक साथ ही हृदयदेश में रहनेवाले हैं। ३. **सखाया**=ये परस्पर मित्र हैं। ४. परमात्मा और जीव दोनों ही **समानं वृक्षम्**=एक ही संसाररूपी वृक्ष का

परिषस्वजाते=आलिंगन करते हैं। दोनों इस संसार में रहते हैं। ५. **तयोः**= उन दोनों में से **अन्यः**=एक, जीव **पिप्पलम्**=इस संसार-वृक्ष के फल को **स्वादु**=स्वाद से **अत्ति**=खाता है, परन्तु **अन्यः**=दूसरा, परमात्मा **अनश्नन्**=फलों का किसी प्रकार से भोग न करता हुआ **अभिचाकशीति**=चारों ओर देखता है। जीव खाता है, प्रभु देखता है और यदि जीव स्वाद से खाने लगता है तो सर्वद्रष्टा होने से वह प्रभु उसे समुचित दण्ड देते हैं।

भावार्थ—परमात्मा और आत्मा दोनों सुपर्ण हैं, सखा हैं और परस्पर मित्र हैं। इन दोनों में जीव भोक्ता है और परमात्मा भोग न करता हुआ साक्षी है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीव में प्रभु का प्रवेश

यत्रा॑ सु॒प॒र्णा अ॒मृत॑स्य भा॒गमनि॑मेषं वि॒दथा॑भि॒स्वर॑न्ति।
इ॒नो विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य गो॒पाः स मा॒ धीरः॒ पाक॒मत्रा वि॑वेश॥ २१॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर परमात्मा और जीव के भेद का उल्लेख इन शब्दों में हुआ था कि जीव तो (स्वादु अत्ति) स्वाद लेकर खाता है और प्रभु (**अनश्नन्**) भोगों से परे हैं। प्रभु की आवश्यकता शून्य है, जीव का भी आदर्श यही होना चाहिए। २. हमारी इन्द्रियाँ भोगों के लिए लालायित होने की बजाय **यत्र**=जब **सुपर्णाः**=इन्द्रियाँ उत्तम गतिवाली होकर **अनिमेषम्**=बिना पलक मारे अर्थात् दिन-रात, निरन्तर **विदथा**=ज्ञान-प्राप्ति के दृष्टिकोण से **अमृतस्य**=ऋचाओं के, ज्ञान के **भागम्**=सेवनीय अंश को **अभिस्वरन्ति**=सब ओर से उच्चारण व सेवन करती हैं **अत्र**=उस समय **इनः**=सबका स्वामी और **विश्वस्य भुवनस्य गोपाः**=सारे ब्रह्माण्ड का रक्षक **सः**=वह प्रभु **धीरः**=धीमान्, प्राणिमात्र पर अनुग्रह की बुद्धिवाला प्रभु **पाकम्**=ज्ञान से परिपक्व और अतएव निर्मल मनवाले **मा**=मुझमें **आ विवेश**=प्रविष्ट होता है, मुझे प्राप्त होता है। प्रभु (**इनः**) स्वामी हैं, अतः सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। जीव भी इन्द्रियों का स्वामी बनकर रक्षक बनता है। वस्तुतः क्षमता के लिए शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक बल व चरित्र की उच्चता—इन तीनों की आवश्यकता है और ये तीनों जितेन्द्रियता से ही साध्य हैं। इस जितेन्द्रियता से ही उच्च ज्ञान को प्राप्त होकर मनुष्य के मन का ठीक परिपाक होता है। उस परिपक्व मन में सत्त्वगुण का प्रकाश होने पर प्रभु-दर्शन होता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के उत्तम गतिवाली होने पर और मन के निर्मल होने पर प्रभु के दर्शन होते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्वादिष्ठतम फल

यस्मि॑न्वृ॒क्षे म॒ध्वदः॑ सु॒प॒र्णा नि॑वि॒शन्ते॒ सुव॑ते॒ चाधि॒ विश्वे॑।
तस्येदा॑हुः॒ पिप्प॑लं स्वा॒द्वग्रे॒ तन्नोन्न॑श॒द्यः पि॒तरं॒ न वेद॑॥ २२॥

१. **यस्मिन्**=जिस **वृक्षे**=संसार-वृक्ष पर **मध्वदः**=बड़े स्वाद से इस वृक्ष के फलों को खानेवाले **सुपर्णाः**=अपने पालन के लिए बड़े प्रयत्न से विविध भोगों का अपने भण्डार में पूरण करनेवाले (पृ पालनपूरणयोः) जीव **निविशन्ते**=(निविश=to be attached to) अनुरक्त व आसक्तिवाले हो जाते हैं। २. **च**=और इस आसक्ति के कारण **विश्वे**=इसमें प्रविष्ट हुए-हुए, अर्थात् उलझे हुए ये जीव **अधिसुवते**=खूब अधिकता से उन विषय-भोगरूप फलों का लाभ करते हैं (विषयान् लभन्ते इत्यादि—सा०)। ३. **तस्य**=उसी संसार-वृक्ष का **इत्**=ही **स्वादु**

अग्रे=स्वादिष्ठों में अग्रगण्य, अर्थात् सर्वाधिक स्वादु **पिप्पलम्**=मोक्षरूप फल है, ऐसा **आहुः**=विद्वान् लोग कहते हैं, परन्तु उस मोक्षरूप फल को वह **नो**=नहीं **नशत्**=प्राप्त होता है **यः**=जो कि **पितरम्**=उस वृक्ष के व उस वृक्ष पर रहनेवाले सब जीवरूप सुपर्णों के रक्षक पिता को **न**=नहीं **वेद**=जानता है। ४. इस संसार में जीव प्रकृतिरूप वृक्ष के फलों को स्वाद से खाता है, अतः वह मध्वद् (मधु=मधुरता से अद्=खानेवाला) कहलाता है। यदि मनुष्य सांसारिक भोगों से ऊपर उठने का प्रयत्न करे तो वह संसार के सर्वोत्तम फल (अपवर्ग) मोक्ष को पाने का अधिकारी बनेगा।

भावार्थ—जो संसार के पालक परमेश्वर को जान लेता है, वह सांसारिक भोगों में आसक्त न होकर संसार के स्वादिष्ठतम फल मोक्ष को प्राप्त करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

तीन बातों को समझना

यद् गा॑य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं त्रैष्टु॑भाद् वा॒ त्रैष्टु॑भं नि॒रत॑क्षत।
यद् वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत्तद् वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः॥ २३॥

१. **यत्**=सचमुच **गायत्रे**=यज्ञ में (गायत्रो यज्ञः—गो० पू० ४।२४) **गायत्रम्**=पुरुष (गायत्री वै पुरुषः—ऐ० ४।३) **अधिआहितम्**=अधीन करके रखा गया है, अर्थात् पुरुष का जीवन यज्ञ के अधीन है। उसके जीवन से यज्ञ को हटा दिया जाए तो वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। यह यज्ञ केन्द्र है, यही स्वर्ग प्राप्त करानेवाला है। **वा**=और **त्रैष्टुभात्**=त्रिवेदविद्या के स्तवन के द्वारा अपने में कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों को स्थिर करने के द्वारा **त्रैष्टुभम्**=अपने जीवन को तीन सुखों से सम्बद्ध **निरतक्षत**=किया करते हैं। मानव-जीवन को सुखी बनने के लिए ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का समन्वय करना होगा। प्रभु की उपासना पवित्र कर्मों से होती है। इस प्रभु-आराधना का परिणाम आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक—तीनों दुःखों की समाप्ति के रूप में होता है। तीनों दुःखों की निवृत्ति होकर मनुष्य का जीवन तीन सुखों से सम्बद्ध होता है। उसके शरीर, मन व बुद्धि स्वस्थ रहते हैं। सब भूतों के प्रति निर्द्वेषता के कारण निर्भयता रहती है और सब देवों की अनुकूलता होने से उसे सब आवश्यक वस्तुएँ सुलभ रहती हैं। ३. **वा**=और तीसरी बात यह है **यत्**=कि **जगत् पदम्**=अन्त में सबसे शरण में जाने योग्य वह प्रभु **जगति**=इस ब्रह्माण्ड के कण-कण में **आहितम्**=स्थित है, व्याप्त है। ४. **ये**=जो मनुष्य **इत्**=निश्चय से **तत्**=उपर्युक्त तीन बातों को **विदुः**=जान लेते हैं, वे **अमृतम्**=मोक्ष को **आनशुः**=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—(क) पुरुष यज्ञमय है, (ख) ज्ञान, कर्म, उपासना के समन्वय से ही त्रिविध सुख उपलब्ध हो सकते हैं, (ग) वह प्रभु संसार के कण-कण में व्याप्त है—इन तीन बातों को जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दिन दूनी रात चौगुनी

गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम्।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा॒क्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॥ २४॥

१. **गायत्रेण**=यज्ञ के द्वारा **अर्कम्**=उपासना, पूजा (Prayer) को **प्रतिमिमीते**=सम्यक्तया सिद्ध करता है, अर्थात् प्रभु की वास्तविक पूजा यज्ञ के द्वारा सिद्ध होती है। पुरुषसूक्त में कहा

है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'—देव लोग यज्ञरूप विष्णु की यज्ञ के द्वारा ही उपासना करते हैं। २. **अर्केण**=इस अर्चना से **साम**=सच्ची शान्ति की प्राप्ति होती है। इस अर्चना से हमारा जीवन त्रिविध तापों से रहित होकर शान्तिमय हो सकेगा। ३. **त्रैष्टुभेन**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक—त्रिविध तापों के समाप्त होने पर ही **वाकम्**=ज्ञान की प्राप्ति होती है। शारीरिक व्याधि, मानसिक चिन्ता व बुद्धि की मलिनता तो ज्ञान-प्राप्ति में बाधक हैं ही, यदि आधिभौतिक शान्ति न हो तब भी ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार भूकम्प, बाढ़, अतिवृष्टि आदि आधिदैविक अशान्तियाँ भी ज्ञान-प्राप्ति में विघ्न हैं। सब प्रकार से शान्त वातावरण में ही ज्ञान का उद्भव होता है। ४. ज्ञान-प्राप्ति का ठीक उपक्रम हो जाने पर **वाकेन**=ज्ञान से **वाकम्**=ज्ञान **द्विपदा चतुष्पदा**=दिन दूना और रात चौगुना (by leaps and bounds) बढ़ने लगता है। पहले गुरु सुझा रहे थे, अब तो हमें स्वयं सूझने लगा। हम ज्ञान-मार्ग पर छलाँगें मारते हुए आगे बढ़ चलते हैं और अन्त में स्थिति यह आती है कि—५. **अक्षरेण**=सर्वव्यापक, अविनाशी प्रभु के द्वारा **सप्त वाणी**=सात छन्दों से युक्त वेदवाणी को हम **मिमते**=मापने लगते हैं। हृदयस्थ प्रभु हमें वेद का साक्षात्कार कराने लगते हैं।

भावार्थ—यज्ञ के द्वारा उपासना होती है, इस उपासना से शान्ति मिलती है, शान्ति से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अन्त में प्रभु से प्रातिभिक (Intutional) ज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

पृथिवी पर ही स्वर्ग

जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्त्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥ २५॥

१. प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति ही ज्ञान की चरम सीमा है। इस बात को मन्त्र में इस रूप में कहा गया है कि—२. **जगता**=सर्वगत, सर्वभूतान्तरात्मा (सर्वं वा इदमात्मा जगत्) प्रभु के द्वारा उपासक **सिन्धुम्**=अपने ज्ञान-समुद्र को (वाग्वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः—तां० ब्रा० ६।४।७) **दिवि**=द्युलोक में, अर्थात् सर्वोच्च शिखर पर **अस्तभायत्**=थामता है, अर्थात् इस प्रातिभ ज्ञान के द्वारा जीव का ज्ञान उच्चतम शिखर पर पहुँच जाता है। इसका परिणाम 'संज्ञानम्' परस्पर मेल होता है। सब प्रकार के द्वेष व मल समाप्त होकर हम सचमुच ही स्वर्ग में अवस्थित होते हैं। ३. इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य **रथन्तरे**=इस पृथिवी पर ही (रथन्तरं हीयं पृथिवी—श० १।७।२।१७) **सूर्यम्**=स्वर्ग को (स्वर्गो वै लोकः, सूर्यो ज्योतिरुत्तमम्—श० १२।९।२।८) **परि अपश्यत्**=चारों ओर देखता है। मनुष्य के ज्ञान-प्रधान बनने पर वह आनन्दमयी स्थिति में पहुँचता है। ज्ञान से निष्कामता आती है और निष्कामता से स्वर्ग की प्राप्ति। ज्ञान से द्वेष और कलह समाप्त होकर मृत्यु भी समाप्त हो जाती है। पारस्परिक द्वेष से शून्य होने पर मनुष्य भूमण्डल पर स्वर्ग को ही उतरा हुआ देखेगा। ४. यह ज्ञान जिसका परिणाम स्वर्ग है गायत्र से उत्पन्न हुआ था। 'गायत्र से उपासना, उपासना से शान्ति, शान्ति से ज्ञान'—इस ज्ञानक्रम में ज्ञानसिन्धु का आदिस्रोत **गायत्र**=यज्ञ ही है। **गायत्रस्य**=इस यज्ञ की **समिधः**=दीप्ति के साधन **तिस्त्रः**=तीन **आहुः**=कहे गये हैं। यज् धातु के तीन अर्थों में 'देवपूजा, संगतिकरण, दान' में उन तीन समिधाओं का संकेत है। माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमात्मा—इन पाँच देवों की पूजा, इनके साथ संगतिकरण और इनके प्रति अपने दान (समर्पण) से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ५. **ततः**=उस ज्ञान-प्राप्ति से ही मनुष्य **मह्ना**=बल और **महित्वा**=महिमा के दृष्टिकोण से

प्ररिरिचे=अपने समान योनिवाले सभी पुरुषों को लाँघ जाता है (Excels)। मनुष्य की शक्ति और महिमा इसी बात में है कि उसने भूलोक को स्वर्गलोक बना दिया है।

भावार्थ—मनुष्य अपने ज्ञान को सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचाकर अपनी शक्ति और महिमा से मर्त्यलोक को स्वर्गलोक में परिवर्तित कर देता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्वाध्याय और प्रवचन

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चम्॥ २६॥

१. पिछले मन्त्रों में ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन होता आ रहा है। ज्ञान-प्राप्ति का एक आवश्यक साधन है 'गोदुग्ध का प्रयोग'। इसी के लिए कहते हैं—मैं **सुदुघाम्**=सुगमता से दोहने योग्य **धेनुम्**=दूध से प्रीणित करनेवाली **एताम्**=इस गौ को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। इस प्रकार मन्त्र के शब्द 'गोदुग्ध-पान' के महत्त्व का वर्णन कर रहे हैं, परन्तु मन्त्र का मुख्यार्थ वेदवाणीरूप गौ के विषय में है। जिज्ञासु विद्यार्थी कहता है कि मैं (उपह्वये) वेदवाणीरूप गौ को अपने समीप बुलाता हूँ। (एताम्) यह वेदवाणी जिसको मैं पुकारता हूँ (सुदुघाम्) सुख से दोहने योग्य है। यह पढ़ने में कठिन नहीं है, (धेनुम्) यह ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली है। २. **एनाम्**=इस वेदवाणीरूप गौ का (सुहस्तः) सिद्धहस्त, पढ़ाने में निपुण **गोधुक्**=वेदवाणीरूप गौ का ग्वाला ही **दोहत्**=दोहन करता है। प्रवचन-पटुता ही आचार्य की सुहस्तता है। ३. यह **सुहस्त सविता**=चारों वेदों का ज्ञाता आचार्य **श्रेष्ठं सवम्**=उत्तम ज्ञानदुग्ध का **नः**=हमारे लिए **साविषत्**=अभिषव करे (दुहे, निचोड़े)। उत्तम ज्ञान वही है जो एकाङ्गीन न होकर सर्वाङ्गीण हो। ३. सविता और सुहस्त आचार्यों के समीप रहता हुआ विद्यार्थी अनुभव करता है कि **घर्मः**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलिनताओं के क्षरण से आचार की उज्ज्वलता तथा ज्ञान की दीप्ति **अभीद्धः**=मुझमें चारों ओर दीप्त हो उठी है। आचार्य ने उसे सदाचार व ज्ञान का ग्रहण कराके चमका दिया है। ४. गुरुदक्षिणा के समय मैं **तत् उ**=आचार्य से प्राप्त उसी ज्ञान को **सु-प्रवोचम्**=बड़े उत्तम प्रकार से प्रजा में प्रचारित करता हूँ। आचार्य के प्रवचन से मैं स्वाध्याय-सक्षम बन सका, उस ऋण से अनृण होने के लिए अब मैं प्रवचन करूँगा। ये स्वाध्याय और प्रवचन मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ कर्म हैं।

भावार्थ—कुशल आचार्य के चरणों में बैठकर हम वेदवाणी का स्वाध्याय करें, फिर प्रवचन द्वारा उसे जन-जन में पहुँचाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वेदज्ञान का साधन व लाभ

हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सु॒पत्नी॒ वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒भ्यागा॑त्।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय॥ २७॥

१. यह वेदवाणी (क) **हिंकृण्वती**=हिङ्कार करती हुई (रश्मय एव हिङ्कारः—जै० उ० १।३३।९) हिंकार शब्द रश्मियों=किरणों का वाचक है। यह वेदवाणी ज्ञान-रश्मियों को फैलाकर अज्ञानान्धकार को दूर करती है, (ख) **वसुपत्नी वसूनाम्**=यह (यज्ञों) उत्तम कर्मों की पालिका है। वेदाध्ययन से मनुष्य की उत्तम कर्मों में रुचि उत्पन्न होती है, (ग) **अश्विभ्यां पयः दुहाम्**=(सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ अश्विनौ—द०) सुशिक्षित स्त्री-पुरुषों के लिए यह वेदवाणी

क्रियाशील बनानेवाले ज्ञान-दुग्ध का दोहन करती है, अर्थात् उन्हें अकर्मण्यता से दूर करके क्रियावान् बनाती है, (घ) **इयम् अघ्न्या**=यह 'अघ-घ्नी' (निरु० ११।४३।३) है, पापों को नष्ट करनेवाली है। यह शुभ प्रवृत्ति को उत्पन्न करके अशुभ-प्रवृत्ति को समाप्त करनेवाली है, (ङ) **सा**=वह वेदवाणी **महते सौभगाय वर्धताम्**=महान् सौभाग्य के लिए होती है। जिस घर में ब्रह्म-घोष होता है, उस घर में अशुभ समाप्त होकर शुभ-ही-शुभ का विस्तार होता है। २. यह वेदवाणी इतने लाभों को देनेवाली होकर प्रत्येक से पढ़ने योग्य है। इसके ज्ञान का प्रकार यह है कि—(क) **मनसा वत्सम्**=मन से, पूरे ध्यान से उच्चारणवाले को **इच्छन्ती**=चाहती हुई **अभ्यगात्**=यह प्राप्त होती है। वस्तुतः वेदमन्त्रों को समझने के लिए सर्वोत्तम साधन पूर्ण एकाग्रता से इसके मन्त्रों का उच्चारण ही है, (ख) इस वेदवाणी को समझने के लिए दूसरा साधन अघ्न्या शब्द से सूचित हो रहा है। यह अहन्तव्य है, इसके स्वाध्याय में विच्छेद नहीं आना चाहिए।

भावार्थ—वेदवाणी अज्ञानान्धकार को दूर करती है, उत्तम कर्मों में रुचि उत्पन्न करती है, क्रियाशील बनाती है, अशुभ वृत्तियों को समाप्त करती है और घर को सुन्दर बनाती है। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए दो साधन हैं—मन से इसके मन्त्रों का उच्चारण और अविच्छिन्नरूप से प्रतिदिन इसका स्वाध्याय।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वेदरूपी गौ बोलती है (निर्माण न कि ध्वंस)

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥ २८॥

१. **गौ**=यह वेदवाणीरूप गौ **अमीमेत्**=शब्द करती है, बोलती है। लोग कहते हैं वेद क्या पढ़ें, समझ में तो आते ही नहीं। ऐसी बात नहीं है; वेदरूपी गौ बोलती है, परन्तु **अनु**=पीछे। किसके पीछे? (क) **वत्सम्**=उच्चारण करनेवाले के और (ख) **मिषन्तम्**=जो इसे ध्यान से देखता है (मिष्=to look at)। अभिप्राय यह है कि वेदवाणी उसके लिए मूक है जो इसे न तो पढ़े और न इसे ध्यान से देखे और विचारे। जो भी मनुष्य श्रद्धापूर्वक पढ़ेगा, उसे यह वेदवाणी अवश्य समझ में आएगी। २. यह वेदवाणी ध्यानपूर्वक पढ़नेवाले के **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **हिङ् अकृणोत्**=ज्ञानरश्मियों से जगमगा देती है, क्यों? **मातवा उ**=इसलिए कि वह उत्तम ज्ञानी बनकर निर्माण का कार्य कर सके। वेदज्ञान मनुष्य को निर्माण का ही उपदेश देता है, ध्वंस का नहीं। ३. **सृक्वाणम्**=(सृज्=उत्पन्न करना) उत्पादक **घर्मम्**= तेज को **अभिवावशाना**=पाठक के लिए चाहती हुई यह वेदवाणी अपने पाठक को **मायुम्**= (माया=ज्ञान) ज्ञानवाला **मिमाति**=बनाती है। इस प्रकार यह वेदवाणी **पयोभिः**=अपने ज्ञानरूपी दुग्ध से **पयते**=अपने पाठक को आप्यायित करती है, बढ़ाती है।

भावार्थ—श्रद्धापूर्वक वेद का स्वाध्याय करने से मनुष्य का मस्तिष्क ज्ञानरश्मियों से जगमगा उठता है, वह निर्माणात्मक कर्म ही करता है, ध्वंसात्मक नहीं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

अव्यक्त से व्यक्त की ओर

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥ २९॥

१. **अयं सः**=यह वेदाध्येता **शिङ्क्**=अव्यक्त ध्वनि करता है, अर्थात् वेदार्थ व्यक्त न होने पर भी श्रद्धापूर्वक उसका पाठ करता है। कौन? **येन**=जिसने **गौः**=वेदवाणी को **अभीवृता**=अपने ध्यान को चारों ओर से हटाकर वरा है, अर्थात् उसी में अपने मन को केन्द्रित किया है। २. यह वेदाध्येता श्रद्धापूर्वक पढ़ता है और परिणामतः **ध्वसनौ**=अज्ञान के ध्वंस में **अधिश्रिता**=लगी हुई यह वेदवाणी उस पुरुष को **मायुम्**=ज्ञानी **मिमाति**=बनाती है। ३. **सा**=वह वेदवाणी **हि**=निश्चय से **चित्तिभिः**=कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञानों के द्वारा **मर्त्यम्**=मनुष्य को **निचकार**=ऊँचा उठाती है (निकार=lift up) और अन्त में ४. **विद्युत्**=विशेष रूप से द्योतमान **भवन्ती**=होती हुई **वव्रिम्**=अपने रूप को **प्रति औहत**=प्रकट करती है। ५. एवं वेदज्ञान का क्रम यह है—(क) मनुष्य श्रद्धापूर्वक वेदाध्ययन में लगे, अर्थ न भी समझ में आये तो भी उसका पाठ करे, (ख) धीरे-धीरे यह वेदवाणी उसके अज्ञान को नष्ट करती हुई उसे ज्ञानी बनाएगी, (ग) कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान के द्वारा उसके आचरण व व्यवहार के मापक को ऊँचा करेगी, और अन्त में (घ) यह वेदवाणी उसके समक्ष स्पष्ट हो जाएगी। वह ऋषि बन जाएगा।

भावार्थ—जो श्रद्धापूर्वक वेद का स्वाध्याय करेगा वह शनैः-शनैः ज्ञान से चमकता हुआ ऋषि बन जाएगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

बद्ध व मुक्त जीव का स्वरूप

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ ३०॥

१. जब तक जीव विकर्मों या सकाम कर्मों के कारण **पस्त्यानाम्**=इन शरीररूप गृहों के **मध्ये**=बीच में **आ शये**=निवास करता है तब तक उसका स्वरूप निम्न प्रकार का होता है—(क) **अनत्**=यह प्राण-अपान, श्वासोच्छ्वासादि की क्रिया को चलाता है, (ख) **तुरगातु**=यह तूर्ण गमन है, बड़ी तीव्रता से सब व्यापारों को करनेवाला है, (ग) **जीवम्**=इसी के कारण शरीर जीवनवाला (जीवनवत्, living) कहलाता है। यह गया और देह निर्जीव हुई, (घ) **एजत्**=इसके कारण ही यह शरीर गतिवाला है, (ङ) **ध्रुवम्**=अविचलित है, स्थिर है। शरीर चल है, आत्मा अचल। २. इस प्रकार बद्धावस्था में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करके मुक्तात्मा का चित्रण करते हैं। निष्काम कर्मों के द्वारा जब यह जीव इस शरीर में बद्ध नहीं होता तो **मृतस्य**=इस प्राणत्याग कर देनेवाले शरीर का **जीवः**=जिलानेवाला आत्मा, शरीर को छोड़ने के बाद भी, अर्थात् मुक्त हो जाने पर भी (क) **चरति**=विचरता है, क्रियाशील होता है। कहाँ विचरता है? ब्रह्म के साथ विचरता है। (ख) जब तक जीव शरीर में था तब तक सब क्रियाएँ इन्द्रियों के द्वारा होती थीं; अब वे किस प्रकार होती हैं? इसका उत्तर है—**स्वधाभिः**=अपनी धारक शक्तियों के द्वारा, (ग) यह मुक्तात्मा **अमर्त्यः**=अब मरणधर्मा नहीं, (घ) इस मुक्तात्मा में **मर्त्येन**=मर्त्य वस्तु से **असयोनिः**=समान स्थानवाला नहीं है। इसका अब किसी भी मर्त्य वस्तु से सम्बन्ध नहीं रहता।

भावार्थ—बद्धजीव मुक्त होकर सर्वोच्च स्थिति में पहुँच जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मुक्तात्मा

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥ ३१॥

१. मुक्त कौन हो सकता है? उत्तर है—**गोपाम्**=इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले को **अनिपद्यमानम्**=फिर-फिर विविध योनियों में नीचे न गिरते हुए को **अपश्यम्**=मैंने देखा है, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष ही मुक्त हुआ करता है। इन्द्रियों को वश में करके यह मुक्त पुरुष क्या करता है? **आ च परा च**=समीप और दूर, हमारी ओर आनेवाले और हमसे दूर जानेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **चरन्तम्**=विचरण करते हुए को मैंने देखा है। मुक्तात्मा सर्वत्र विचरता है। जहाँ हम हैं वहाँ भी आता है और हमसे दूर अन्य लोक-लोकान्तरों में भी जाता है। २. **सः**=वह मुक्तात्मा **सध्रीचीः**=(सह अञ्चति) जिन शरीरों से हमारे साथ उठता-बैठता है उन शरीरों को **वसानः**=धारण करने के स्वभाववाला होता है। **सः विषूचीः**=(विश्वग् अञ्चतीः) वह चारों ओर विविध लोकों में जानेवाले शरीरों को भी धारण करता है। ३. इस प्रकार विविध शरीरों को धारण करता हुआ यह मुक्तात्मा **भुवनेषु अन्तः**=नाना लोकों में **आवरीवर्ति**=चारों ओर फिर-फिर आवर्तन किया करता है।

भावार्थ—मुक्तात्मा मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर नाना लोक-लोकान्तरों में जन्म लेते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गर्भस्थ जीव का चित्रण

य ईं॑ च॒कार॒ न सो अ॒स्य वे॑द॒ य ईं॑ द॒दर्श॒ हिरु॒गिन्नु तस्मा॑त्।
स मा॒तुर्योना॒ परि॑वीतो अ॒न्तर्ब॑हुप्र॒जा निर्ऋ॑ति॒मा वि॑वेश॥ ३२॥

१. **यः**=जो पिता **ईम्**=निश्चय से **चकार**=अपने वीर्यदान से इसके शरीर को बनाता है **सः**=वह पिता भी **अस्य न वेद**=इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। हम अपनी सन्तान के भूत-भविष्यत् के विषय में कुछ भी नहीं जानते। २. माता के तो वह गर्भ में है, वह तो देख रही है। क्या वह भी उसे नहीं जानती? इसका उत्तर है—**यः**=जो व्यक्ति **ईम्**=अब **ददर्श**=देख रहा है **तस्मात्**=उससे भी **इत् नु**=सचमुच अब **हिरुक्**=वह अन्तर्हित है, छिपा हुआ है। **सः**=वह **मातुः योना**=माता की ही योनि में **अन्तः**=अन्दर ही **परिवीतः**=उल्ब (foctus) और जरायु (The outer skin of embryo) से परिवेष्टित है। वहाँ छिपा बैठा है। बिल्कुल बन्द, ज़रा भी दिखता नहीं। स्पष्ट है कि किसी तीव्र समस्या में उलझा है इसलिए सोचने में निमग्न है। ४. यह गर्भस्थ जीव किस समस्या में उलझा है? **बहु प्रजाः**=अरे मैं तो कितने ही जन्मों का भागी बना हूँ [बहुजन्मभाक्—सा०, बह्व्यः प्रजाः (जन्मानि) यस्य सः]। क्या सदा इसी चक्र में उलझा रहूँगा? यह सोचकर वह **निर्ऋतिम्**=बहुत ही दुःख में **आविवेश**=प्रविष्ट होता है, अर्थात् अत्यन्त दुःखी हो जाता है।

भावार्थ—माता और पिता इस गर्भस्थ जीव के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। जरायु में लिपटा हुआ जीव अपनी अवस्था का चिन्तन करते हुए अत्यन्त दुःखी हो जाता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सृष्टि में परमेश्वर की क्या आवश्यकता?

द्यौर्मे॑ पि॒ता ज॑नि॒ता नाभि॒रत्र॒ बन्धु॑र्मे मा॒ता पृ॑थि॒वी म॒हीय॑म्।
उ॒त्ता॒नयो॑श्च॒म्वो॒३॑र्योनि॑र॒न्तरत्रा॑ पि॒ता दु॑हि॒तुर्गर्भ॒माधा॑त्॥ ३३॥

१. विज्ञान की प्रारम्भिक ज्योति से जब जीव के नेत्र खुलते हैं तो उसकी विचारधारा इस रूप में होती है कि **द्यौः**=द्युलोक **मे**=मेरा **पिता**=रक्षक है। सूर्य के द्वारा वृष्टि उत्पन्न करके

द्युलोक ही तो मेरा रक्षण कर रहा है। सम्भवतः प्रारम्भ में जीवन का सूत्रपात भी द्युलोक से ही हुआ था, अतः वही मेरा **जनिता**=उत्पादक भी है। **अत्र**=इसी द्युलोक में कार्यकारणभाव की शृंखला की अन्तिम कड़ी का **नाभिः**=बन्धन है (नह् बन्धने)। २. **इयम्**=यह **मही**=महनीय—आदर के योग्य **पृथिवी**=विस्तृत भूमि **मे**=मेरी **बन्धुः**=मित्रवत् हितकारी है। अन्न इत्यादि के उत्पादन द्वारा जीवन की सुबद्धता का हेतु है और **माता**=मेरे जीवन की निर्मात्री है। ३. इन **उत्तानयोः**=ऊर्ध्वतान—उत्तमता से विस्तृत **चम्वोः**=पृथिवी तथा आकाशरूप पात्रों का **योनिः**=शक्ति के मिश्रण का स्थान **अन्तः**=मध्य में, अर्थात् अन्तरिक्षलोक में है। ४. **अत्र**=यहाँ अन्तरिक्ष में ही **पिता**=द्युलोक **दुहितुः**='दूरे हिता'=दूरस्थ पृथिवी के **गर्भम्**=गर्भ को **आधात्**=स्थापित करता है। अन्तरिक्ष से ही वृष्टि आदि होकर पृथिवी में अन्नादि को उत्पन्न करने की शक्ति स्थापित की जाती है। ५. इस प्रकार द्युलोक तथा पृथिवीलोक की शक्ति अन्तरिक्षलोक में संगत होकर संसार का सम्यक् पालन हो जाता है। इस सारे पालनकार्य में प्रभु की आवश्यकता नहीं, अतः उसे क्यों मानें? यह विचार सदा अर्धवैज्ञानिक को उत्पन्न होता है और वह नास्तिक-सा बन जाता है। यह विचार ही मनुष्य को संसार में बद्ध करता है।

भावार्थ—द्युलोक और पृथिवीलोक की शक्तियाँ अन्तरिक्ष में संगत होकर संसार का सम्यक् पालन-पोषण करती हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

चार प्रश्न

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥ ३४॥

१. **त्वा**=तुझसे, जिसका ध्यान प्रभु की ओर नहीं जा रहा उससे **पृच्छामि**=मैं पूछता हूँ कि **पृथिव्याः**=इस पृथिवी का **परम् अन्तम्**=परला सिरा क्या है? अथवा अन्तिम उद्देश्य क्या है? (पर=अन्तिम, अन्त=उद्देश्य)। हमें यहाँ पृथिवी पर क्यों भेजा गया है? हमें इसे क्या बनाना है। २. मैं तुझसे उस वस्तु को **पृच्छामि**=पूछता हूँ **यत्र**=जहाँ कि **भुवनस्य नाभिः**=सारे ब्रह्माण्ड की नाभि है, केन्द्र है, बन्धन-स्थान है। क्या द्युलोक ही वह नाभि है, सारा कार्यकारणभाव क्या द्युलोक में ही विश्रान्त है? ३. **त्वा**=तुझसे **पृच्छामि**=पूछता हूँ कि **वृष्णः**=तेजस्वी **अश्वस्य**=निरन्तर मार्ग को व्याप्त करनेवाले पुरुष की **रेतः**=शक्ति किसमें है? ४. मैं **पृच्छामि**=तुझसे पूछता हूँ **वाचः**=वाणी के **परमं व्योम**=परम आकाश को।

भावार्थ—मन्त्र में चार प्रश्न पूछे हैं, अगले मन्त्र में उनका उत्तर देखिए—

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

चार उत्तर

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥ ३५॥

१. गतमन्त्र के पहले प्रश्न का उत्तर है—**इयं वेदिः**=यह वेदि ही—जिस वेदि (कर्म-स्थली) पर बैठे हुए हम विचार कर रहे हैं, इस **पृथिव्या**=भूमि का **परः अन्तः**=अन्तिम सिरा है। प्रत्येक वर्तुल वस्तु जहाँ से आरम्भ होती है, वहाँ ही उसकी समाप्ति भी होती है। इस प्रकार बड़े सरल शब्दों में पृथिवी की वर्तुलता का संकेत हुआ है, परन्तु वास्तविक उत्तर तो यह है कि यह वेदि ही इस पृथिवी का अन्तिम उद्देश्य है। हमें इस भूमि को यज्ञवेदि बनाने का प्रयत्न

करना चाहिए, यही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। वेद में पृथिवी को 'देवयजनि' शब्द से सम्बोधित किया ही गया है। यह देवों के यज्ञ करने का स्थान है। क्या हम देव न बनेंगे? २. दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**=यह यज्ञ सारे ब्रह्माण्ड की नाभि है। यज्ञ के कारण ही ब्रह्माण्ड नष्ट-भ्रष्ट नहीं होता। माता में यज्ञ की भावना न होती तो किसी सन्तान का पालन न होता। लोगों में यज्ञ की वृत्ति न होती तो कोई भी सामाजिक संस्था न चलती। कोई भी राष्ट्र न पनपता। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम। ३. तीसरे प्रश्न का उत्तर है—**अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः**=यह सोम (Semen) वीर्य ही तेजस्वी, अनथक पुरुष की शक्ति है। यही वस्तुतः उसे तेजस्वी व अनथक बना रही है। इसके न रहने पर निस्तेज हो पुरुष थक जाता है। मनुष्य को चाहिए कि इस पृथिवी को यज्ञवेदि समझे, इसे भोगस्थान न बना दे और भोगों का शिकार बनकर कहीं अपनी शक्ति को समाप्त न कर ले। ४. चौथे प्रश्न का उत्तर इस रूप में है—**ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम**=यह ब्रह्म ही वाणी का परम आकाश है। शब्द आकाश का गुण है, परन्तु आकाश के आकाशत्व का कारण भी परमेश्वर है। प्रभु आकाश का भी आकाश है—परम आकाश है। हम सबका धारण प्रभु से होता है। इस प्रकार सोचनेवाला व्यक्ति बद्धावस्था से ऊपर उठकर मुक्तावस्था में पहुँचता है।

भावार्थ—आध्यात्मिक प्रश्नों के उठाने से प्रभु का ज्ञान होता है और मनुष्य बद्धावस्था से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

सात अर्धगर्भ और उनका अधिष्ठाता विष्णु

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥ ३६॥

१. **सप्तार्धगर्भा**=महत्तत्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्राएँ—ये सात ही **भुवनस्य**=सारे ब्रह्माण्ड की **रेतः**=शक्तियाँ हैं व (रीङ् गतौ) उत्पत्ति के स्थान हैं। २. ये सात नाना प्रकार से संसार का **विधर्मणि**=धारण करने में **तिष्ठन्ति**=लगे हैं, परन्तु **विष्णोः प्रदिशा**=उस परमेश्वर के शासन से ही ये सब कार्य चल रहे हैं। ३. जो **विपश्चितः**=विशेषरूप से देखकर चिन्तन करनेवाले होते हैं **ते**=वे **धीतिभिः**=ध्यानों के द्वारा और **ते**=वे **मनसा**=मनन के द्वारा **परिभुवः**=उन पदार्थों का चारों ओर से (परि) विचार करनेवाले (भुव्=अवकल्कन, चिन्तन), सब दृष्टियों से सोचनेवाले **विश्वतः**=सब ओर से **परि भवन्ति**=इन्द्रियों का परिभव करते हैं। जिधर-जिधर से भी मन बाहर जाने का यत्न करता है, उधर-उधर से ही उसे अपने वश में करके अन्दर स्थिर करते हैं।

भावार्थ—केवल सप्त-अर्ध गर्भों की शक्ति को देखनेवाले, परमेश्वर को भूलकर, भोगवाद में फँस जाते हैं। ज्ञान के अधिष्ठाता विष्णु के देखने पर इन्द्रिय-संयम द्वारा भोगवाद से ऊपर उठकर मोक्ष की ओर चलते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मन से बँधा हुआ

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥ ३७॥

१. **यदि वा इदं अस्मि**='यह हूँ या यह हूँ' इस प्रकार ठीक-ठीक अपने रूप को न

विजानामि=मैं नहीं जानता। २. न जानने का कारण यह है कि मैं **निण्यः**=अन्तर्हित हूँ, ढका हुआ-सा हूँ। ढके हुए होने का कारण यह है कि **मनसा**=मन से **सन्नद्धः**=सम्बद्ध होकर **चरामि**=मैं यहाँ संसार में विचर रहा हूँ। मन ने मुझे बुरी तरह बाँधा हुआ है। ३. परन्तु **यदा**=जब कभी प्रभुकृपा से सत्सङ्ग आदि के क्रम से **मा**=मुझे **ऋतस्य**=सब सत्य वाणियों का प्रकाश करनेवाली **प्रथमजा**=सृष्टि के आरम्भ में ऋषियों के हृदयों में प्रादुर्भूत हुई वेदवाणी **आगन्**=प्राप्त होती है तो उस समय **आत् इत्**=उसके बाद अविलम्ब ही **अस्याः वाचः**=इस वेदवाणी से मैं **भागम्**=भजनीय, सेवनीय आत्मस्वरूप को **अश्नुवे**=प्राप्त कर लेता हूँ, जान लेता हूँ।

भावार्थ—विषयों में फँसा होने के कारण मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ। प्रभुकृपा से वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करके मैं व्यसनों से बचकर आत्मतत्त्व का दर्शन करता हूँ।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अक्षर पुरुष का ज्ञान कठिन है

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥ ३८॥

१. जीव कर्मानुसार **अपाङ्**=कभी स्थावर व पक्षी-मृगादि की निचली योनियों में **एति**=जाता है और कभी **प्राङ्**=ऋषि-मुनि आदि की उत्कृष्ट योनियों को प्राप्त होता है। कर्मानुसार ऊपर व नीचे की योनियों में आना-जाना लगा ही रहता है। जिस समय यह जीव शरीर को छोड़कर जाता है उस समय **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **गृभीतः**=युक्त हुआ-हुआ जाया करता है। २. **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा जीव कर्मानुसार जब किसी शरीर में प्रवेश करता है तो **मर्त्येन**=मरणधर्मा शरीर के साथ यह भी **सयोनिः**=समान जन्मवाला होता है। 'जीव उत्पन्न हुआ' इस वाक्य का प्रयोग इसलिए होता है कि यह अक्षर, क्षर के साथ संयुक्त होता है। ३. **ता**=ये दोनों—क्षर=शरीर और अक्षर=आत्मा **शश्वन्ता**=सनातनकाल से मिलते चले आ रहे हैं। यह क्षर और अक्षर का मेल इस पृथिवी पर ही होता है, ऐसी बात भी नहीं, **विषूचीना**=ब्रह्माण्ड में चारों ओर—भिन्न-भिन्न लोकों में ये जानेवाले होते हैं। इतना ही नहीं, ये **वियन्ता**=विरुद्ध-विरुद्ध स्थितियों में जानेवाले होते हैं। ४. परन्तु क्या ही आश्चर्य का विषय है कि प्रत्येक व्यक्ति **अन्यम्**=इस शरीर को तो **निचिक्युः**=जानते हैं, परन्तु **अन्यम्**=आत्मतत्त्व को **न**=नहीं **निचिक्युः**=जानते।

भावार्थ—मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार उच्च और निम्न भिन्न-भिन्न योनियों और लोकों में जन्म लेता है। यह आश्चर्य है कि वह शरीर को जानता है, परन्तु आत्मतत्त्व की ओर उसका ध्यान ही नहीं है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु के ज्ञान से पारस्परिक प्रेम

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ३९॥

१. **ऋचः**=ऋचाएँ—गुणवर्णनात्मक सभी मन्त्र **अक्षरे**=अविनाशी प्रभु का वर्णन कर रहे हैं जो कि **परमे**=सर्वोत्कृष्ट हैं। प्रकृति 'अपरा' है, जीव 'पर' है और प्रभु 'परम' हैं। ये ऋचाएँ उस प्रभु का वर्णन करती हैं जो कि **व्योमन्**=(वि ओम् अन्) जिनके एक कन्धे पर प्रकृति है और दूसरे पर जीव। (वी=प्रकृति 'गति-प्रजनन-कान्ति-असन व खादन' का यही तो आश्रय

है, अन्=प्राणित होनेवाला जीव)। ये ऋचाएँ उस प्रभु में स्थित हैं **यस्मिन्**=जिसमें कि **विश्वे देवाः**=सब देव **अधिनिषेदुः**=अधीन होकर निषण्ण—स्थित हो रहे हैं। २. **यः**=जो **तत् न वेद**=उस प्रभु को नहीं जानता **ऋचा**=वह ऋचाओं से **किं करिष्यति**=क्या लाभ प्राप्त करेगा? **ये**=जो **इत्**=निश्चय से **तत् विदुः**=उस व्यापक प्रभु को जानते हैं **ते इमी**=वे ये लोग **समासते**=इस संसार में सम्यक् आसीन होते हैं, वे परस्पर प्रेम से उठते-बैठते हैं।

भावार्थ—सब ऋचाओं का अन्तिम तात्पर्य उस प्रभु में है जोकि अविनाशी, सर्वोत्कृष्ट व सर्वाधार है। उसी प्रभु में सब देव निषण्ण हैं। प्रभु को नहीं जाना तो ऋचाओं का कुछ लाभ नहीं 'आचारहीनं न पुनन्तु वेदाः'। प्रभु को जाननेवाले परस्पर प्रेम से व्यवहार करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

हमें भगवान् बनानेवाली 'गौ'

सू॒य॒व॒साद्भग॑वती॒ हि भू॒या अथो॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम।
अ॒द्धि तृण॑मघ्न्ये विश्व॒दानीं॒ पिब॑ शु॒द्धमु॑द॒कमा॒चर॑न्ती॥ ४०॥

१. मिलकर उठने-बैठने के लिए सात्त्विक बुद्धि आवश्यक है। सात्त्विक बुद्धि के लिए गोदुग्ध का सेवन आवश्यक है, अतः गौ का उल्लेख इस मन्त्र में हुआ है—**सूयवसात्**=(सु+यवस्+आत्) उत्तम तृणादि खानेवाली **अघ्न्ये**=हे अहन्तव्य गौ! तू **हि**=निश्चय से **भगवती**=ऐश्वर्यवाली **भूयाः**=हो **अथ उ**=और **वयम्**=हम भी **भगवन्तः**=उत्तम ऐश्वर्यवाले **स्याम**=हों। २. तू **विश्वदानीम्**=सदा **तृणम्**=तृण **अद्धि**=खा तथा **आचरन्ति**=चारों ओर भिन्न-भिन्न पशुचर स्थानों में चरती हुई **शुद्धम्**=शुद्ध **उदकम्**=पानी **पिब**=पी। ३. गोदुग्ध हमारे लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी हो इसके लिए आवश्यक है कि (क) गौ को जो चरी दी जाए वह उत्तम हो, (ख) वह शुद्ध जल पिए, (ग) वह एक जगह बँधी न रहे, चरने के लिए गोचरभूमियों में जाए।

भावार्थ—उत्तम तृण खानेवाली और उत्तम जल पीनेवाली गौ के दुग्ध का सेवन हमें भगवान्—वीर्य, ज्ञान और शोभा-सम्पन्न बनाएगा।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—विश्वे देवाः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु का अनेक रूपों में वर्णन

गौ॒रीर्मि॑माय सलि॒लानि॒ तक्ष॒त्येक॑पदी द्वि॒पदी॒ सा चतु॑ष्पदी।
अ॒ष्टाप॑दी॒ नव॑पदी बभू॒वुषी॑ स॒हस्रा॑क्षरा पर॒मे व्यो॑मन्॥ ४१॥

१. **सलिलानि**=सत्—परमात्मा में लीन विविध ज्ञानों को हममें **तक्षती**=बनाती हुई **गौरीः**=वेदमाता—वेदवाणी **मिमाय**=शब्द करती है। ज्ञान यहाँ सलिल शब्द से कहा गया है, क्योंकि सारे ज्ञान का अधिष्ठान अन्त में परमात्मा में ही होता है। २. यह वेदवाणी **परमे**=सर्वोत्कृष्ट **व्योमन्**=प्रकृति व जीवात्मा के आधारभूत परमात्मा का वर्णन करती है। उस वर्णन को करती हुई कभी **एकपदी**=एक पदवाली होती है, अर्थात् अद्वितीय परमात्मा का ही वर्णन करती है। कभी यह वेदवाणी **द्विपदी**=परमात्मा और आत्मा का साथ-साथ ज्ञान देती है। कभी **सा**=यह वेदवाणी **चतुष्पदी**=चार रूपों में आत्मा का चित्रण करती है। फिर यह वेदवाणी **अष्टापदी**=पञ्चभूतों, मन, बुद्धि और अहंकार इन अष्टमूर्तियों का ज्ञान देती है। कभी हम इस वेदवाणी को **नवपदी**=नौ द्वारों का ज्ञान देती हुई पाते हैं। ३. इस प्रकार वेदवाणी एकपदी आदि रूपों में **बभूवुषी**=हुई-हुई हमारे सामने उपस्थित होती है। वास्तविकता तो यह है कि यह **सहस्राक्षरा**=सहस्रों रूप में उस प्रभु का वर्णन करती है।

भावार्थ—हम वेदवाणी का अध्ययन करें जिससे प्रभु के विविध रूपों को जानकर जीवन को ऊँचा उठा सकें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—वाक्, आपः। **छन्दः**—भुरिग् बृहती। **स्वरः**—गान्धारः।

अपरा विद्या व परा विद्या

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ॥ ४२ ॥

१. **तस्याः**=गतमन्त्र में वर्णित उस वेदवाणी से **समुद्राः**=ज्ञान के सब समुद्र **अधिविक्षरन्ति**=इस पृथिवी पर विविध रूपों में बहते हैं। यह वेदवाणी ही सब सत्य-विद्याओं का आदिस्रोत है। ऋग्वेद का दूसरा नाम विज्ञानवेद है, **तेन**=उस विज्ञान से **चतस्रः प्रदिशः**=चारों विस्तृत दिशाएँ **जीवन्ति**=जीती हैं। चारों दिशाओं में रहनेवाले प्राणियों का जीवन विज्ञान पर ही निर्भर है। २. **ततः**=इस सृष्टि-विद्या=अपराविद्या से **अक्षरम्**=अविनाशी प्रभु का अमृतज्ञान **क्षरति**=टपकता है। सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ अपनी रचना में उस प्रभु की महिमा को दृष्टिगोचर कराता है। अपने शरीर की बनावट को देखकर किसका सिर झूम नहीं जाता! प्रभु की विचित्र कारीगरी को देखकर प्रभु-भक्त कह उठता है कि **तत्**=पराविद्या से ज्ञात उस प्रभु को ही आश्रय करके **विश्वम्**=यह सारा संसार **उपजीवति**=जी रहा है। प्रभु ने ही देवों में उस-उस शक्ति को रक्खा है। पृथिवी में उत्पादक शक्ति, सूर्य में बादलों को जन्म देने की शक्ति उसी की दी हुई है। इस प्रकार सोचने पर मनुष्य प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है, उसमें विनीतता आती है।

भावार्थ—अपरा और परा विद्या दोनों ही वेदवाणी से उत्पन्न होती हैं। अपरा विद्या मृत्यु से बचाती है और पराविद्या हमें विनीत बनाकर मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनाती है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—शकधूमः, सोमः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

धूएँ से अग्नि का ज्ञान

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥ ४३ ॥

१. **शकमयम्**=(शकृन्मयं शुष्कगोमयसम्भूतम्) उपलों से उठे हुए **धूमम्**=धूएँ को **आरात्**=(नाति दूरे) कुछ ही दूर पर **अपश्यम्**=मैंने देखा है और **एना**=इसे **विषूवता**=व्याप्तिवाले, चारों ओर फैले हुए **अवरेण**=समीप ही विद्यमान धूएँ से **परः**=(परस्तात् तत्कारणभूतमग्निम्) दूर आँखों से ओझल अग्नि को मैंने जाना है। संसार में प्राकृतिक पदार्थ हमारी आँखों के सामने हैं। (अपराविद्या) विज्ञान के अध्ययन से हम उन पदार्थों की महिमा को स्पष्ट देखते हैं। यह रचना रचयिता के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न कर देती है। जैसे धूएँ से अग्नि का ज्ञान होता है उसी प्रकार रचना से रचयिता का ज्ञान होता है। २. प्रभु का दर्शन परिपक्व बुद्धिवाला ही कर पाता है। प्रभु इस महान् ब्रह्माण्ड के शकट के खेंचनेवाले बड़े 'अनड्वान्' हैं, जीव छोटी-सी गृहस्थ की गाड़ी को खींचने के कारण छोटा 'उक्षा' है। इस **पृश्निं उक्षाणम्**=छोटे बैल को **वीराः**=(व्याप्तविद्याः) ज्ञानशूर आचार्य **अपचन्त**=ज्ञान के द्वारा परिपक्व बुद्धिवाला बनाते हैं। ३. इस छोटे उक्षा का परिपाक ही—अबोध बालक को सुबोध बनाना ही **प्रथमानि धर्माणि**=मुख्य कर्त्तव्य **आसन्**=थे। वस्तुतः माता-पिता व आचार्य का सबसे महान् कर्त्तव्य यही है कि वे अपने बालकों को विज्ञान की शिक्षा से सुशिक्षित करें।

भावार्थ—हम कार्य से कारण को खोजें, अपराविद्या से पराविद्या की ओर चलें, परिपक्व बुद्धि होकर प्रभु के दर्शन करने में समर्थ बनें।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—अग्निः सूर्यो वायुश्च। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

तीन केशियों का ज्ञान

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥ ४४॥

१. **त्रयः**=तीन **केशिनः**=(काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा) प्रकाशमय पदार्थ हैं। प्रकृति हिरण्मय—चमकती है। आत्मा जब तक है शरीर को चमकाये रखता है। प्रभु तो सहस्रों सूर्यों के समान चमकीले हैं ही। ज्ञानी लोग 'छोटे उक्षाओं' को **ऋतुथा**=(ऋत=light, splendour) प्रकाश के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना इन पदार्थों का ज्ञान सम्भव है, उतना-उतना **विचक्षते**=बतलाते हैं। ये ज्ञानशूर अपने शिष्यों को ज्ञान देकर परिपक्व करते हैं। २. **एषाम् एकः**=इन तीनों में से एक, अर्थात् प्रकृति **संवत्सरे**=उचित काल में **वपते**=बीजों का सन्तान करती है, एक बीज को अनेक बीजों में करके उनका फैलाव करती है (वप्=बीज का 'सन्तान'—फैलाव)। ३. परन्तु यह फैलाव प्रभु की अध्यक्षता में हो रहा है। **एकः**=अद्वितीय प्रभु **शचीभिः**=अपनी विविध शक्तियों से **विश्वम्**=इस सारे ब्रह्माण्ड को **अभिचष्टे**=देख रहा है। प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति के फैलाव में गलती नहीं होती। ४. **एकस्य**=एक जीव की **ध्राजिः**=दौड़=चहल-पहल **ददृशे**=दिखती है। यह शरीर में रहता हुआ इधर-उधर भागता हुआ नज़र आता है, परन्तु **रूपं न**=इसका रूप हमारी आँखों का विषय नहीं बनता।

भावार्थ—वीर=ज्ञानी लोग त्रैत—ईश्वर, जीव प्रकृति का ज्ञान देकर छोटे उक्षा का परिपाक करते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—वाक्। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

केवल चतुर्थांश

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ४५॥

१. **वाक्**=(वाचः) सम्पूर्ण वाणी के **पदानि**=प्रतिपाद्य विषय (पद गतौ) **चत्वारि**=चार की संख्या से **परिमिता**=मपे हुए हैं। ऋग्वेद का विषय प्रकृति-विज्ञान है। यजुर्वेद का विषय कर्म है। साम उपासना का वेद है तो अथर्व आरोग्यशास्त्र, युद्ध व राजनीतिशास्त्र है। **तानि**=इन सभी को **ये**=जो **ब्राह्मणाः**=ब्रह्मज्ञान की रुचिवाले और **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले व्यक्ति ही **विदुः**=जानते हैं। २. ज्ञान, कर्म और उपासनाकाण्ड की ओर ब्राह्मणों और मनीषियों का ही ध्यान खिंचता है। सामान्य मनुष्यों में तो **गुहा**=हृदयरूप गुफा में **निहिता**=रखे हुए **त्रीणि**=ये ऋग्यजुः और सामरूप मन्त्र **न इङ्गयन्ति**=नाममात्र भी गतिवाले नहीं होते। ये बीज के रूप में ही वहाँ पड़े रहते हैं, इनका किञ्चित् मात्र भी विकास नहीं होता। **मनुष्याः**=सांसारिक मनुष्य तो **वाचः**=वाणी के **तुरीयम्**=चतुर्थांश को ही **वदन्ति**=उच्चारित करते हैं। साधारण मनुष्यों का झुकाव इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति की ओर ही होता है। ये ज्ञान, कर्म, उपासना के बीजों को विकसित नहीं कर पाते। उनके पल्ले वाणी का चतुर्थांश ही आता है।

भावार्थ—वाणी चार भागों में विभक्त है। उनमें से साधारण मनुष्य के पल्ले में वाणी का चौथा भाग ही आता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आत्मबोध

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ४६॥

१. जिस सत्ता की ओर साधारण लोगों का ध्यान नहीं है, उस सत्ता को ही **विप्राः**=ज्ञानी लोग, जो अपने को उत्तम भावनाओं से भरना चाहते हैं (वि+प्रा=भरना) **इन्द्रम्**=सर्वैश्वर्यशाली, **मित्रम्**=सबके प्रति स्नेहमय, **वरुणम्**=श्रेष्ठ, **अग्निम्**=सबसे अग्रस्थान में स्थित (अग्रणी) **आहुः**=कहते हैं। **अथ उ**=और **सः**=वह सत्ता ही **दिव्यः**=(द्युषु सूक्ष्मेषु पदार्थेषु भवः) सब सूक्ष्म पदार्थों में होनेवाली है, **सुपर्णः**=पालन आदि उत्तम कर्मों को करनेवाली है और **गरुत्मान्**=ब्रह्माण्ड-शकट के महान् भार को उठानेवाली है। **एकं सत्**=उस अद्वितीय सत्ता को ये ज्ञानी **बहुधा**=भिन्न-भिन्न नामों से **वदन्ति**=कहते हैं। **अग्निम्**=वह आगे ले-चलनेवाली सत्ता है, **यमम्**=सबका नियमन करनेवाली है और उसे **मातरिश्वानम्**=(मातरि अन्तरिक्षे शयति वर्धते) अन्तरिक्ष में वर्धमान, सारे आकाश में व्याप्त **आहुः**=कहते हैं।

भावार्थ—परमात्मा एक ही है, परन्तु गुण-कर्म-स्वभावों के अनुसार उस अद्वितीय सत्ता के अनेक नाम हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्वर्ग में कौन जाते हैं?

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥ ४७॥

१. **दिवम्**=वे स्वर्ग को **उत्पतन्ति**=जाते हैं। कौन? **अपो वसानः**=कर्मों को धारण करनेवाले। जो व्यक्ति राग-द्वेष छोड़कर अपने नियत कर्मों को करते हैं वे सात्त्विक कर्ता स्वर्ग को जाते हैं। २. **सुपर्णाः**=उत्तम ढंग से अपना पालन और पूरण करनेवाले लोग स्वर्गलाभ करते हैं। ३. इसी उद्देश्य से ये लोग **हरयः**=इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाले होते हैं। विषयों की ओर गई हुई इन्द्रियों को ये वापस लाते हैं। कहाँ?—**नियानम्**=बाड़े में। जैसे गौओं का स्वामी गायों को बाड़े में बन्द कर देता है इसी प्रकार यह व्यक्ति भी अपनी इन्द्रियरूप गौओं को विषयरूपी खेतों में चरने से रोकने के लिए उन्हें बाड़े में बन्द कर देता है। किस बाड़े में?—**कृष्णम्**=यह बाड़ा कृष्ण है। 'कृष्' शब्द कृषि व उत्पादक श्रम का वाचक है, 'ण' शब्द ज्ञान का। एवं यह बाड़ा उत्पादक श्रम और ज्ञान से बना हुआ है। कर्मेन्द्रियों को वह उत्पादक श्रम में लगाये रखता है और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में। ४. यह व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को असत्य की ओर नहीं जाने देता, परन्तु जब कभी **ते**=ये सत्यमार्ग पर चलनेवाले लोग **ऋतस्य सदनात्**=सत्य के इस निवासस्थान से **आववृत्रन्**=लौट आते हैं, अर्थात् फिसल जाते हैं तो **आत् इत्**=शीघ्र ही **पृथिवी**=यह लोक **घृतेन**=स्खलनों से (घृ=क्षरण—टपकना) **व्युद्यते**=गीला हो जाता है, अर्थात् उनका जीवन कितनी ही गलतियों से परिपूर्ण हो जाता है। एक बार गिरे तो गिरते ही चले जाते हैं, जीवन का पतन हो जाता है।

भावार्थ—कर्मरत, अपना पालन व पूरण करनेवाले, अपनी इन्द्रियों को वश में रखनेवाले स्वर्ग में जाते हैं। सत्यमार्ग से फिसलने पर पतित हो जाते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—संवत्सरात्मा कालः । **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः । **स्वरः**—पञ्चमः ।

कालचक्र का उपदेश

द्वा॒द॑श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत।
तस्मि॒न्त्सा॒कं त्रि॑श॒ता न श॒ङ्कवो॑ऽर्पि॒ताः ष॒ष्टिर्न च॑लाच॒लासः॑ ॥ ४८ ॥

१. **द्वादश प्रधयः**=बारह प्रधियों-(fellys)-वाला **एकं चक्रम्**=एक चक्र है, **त्रीणि नभ्यानि**=तीन उसकी नाभियाँ हैं। २. **तस्मिन्**=उस चक्र में **साकम्**=साथ-साथ **त्रिशता न षष्टिः**=तीन सौ और साठ (न=च) **शंकवः न**=अरे-से **अर्पिताः**=अर्पित हैं अरे जो कि **चलाचलासः**=अत्यन्त चलायमान हैं। ३. **तत्**=इस कालचक्र को **क उ चिकेत**=कौन समझता है? ४. सामान्यतः चक्र में एक प्रधि होती है, एक नाभि होती है। यहाँ बारह प्रधियाँ और तीन नाभियाँ हैं। इसके अरे भी ३६० हैं और वे निरन्तर चल रहे हैं। वस्तुतः ये ३६० अरे वर्ष के ३६० दिन हैं। बारह प्रधियाँ बारह मास हैं और तीन नाभियाँ तीन ऋतुएँ हैं। यह कालचक्र निरन्तर गतिमान् है, हम भी निरन्तर आगे बढ़ते रहें। यह चक्र है और चक्र की नेमि ऊपर-नीचे होती रहती है, इस बात का ध्यान करते हुए सुख-दुःख में सम रहना चाहिए। तीन ऋतुएँ गर्मी, सर्दी और वर्षा हैं। हम सदा उत्साहित, शान्त और मधुरभाषी हों। इस कालचक्र के रहस्य को विरले ही समझ पाते हैं।

भावार्थ—निरन्तर गतिशील कालचक्र हमें भी निरन्तर आगे बढ़ने की और सुख-दुःख में सम होने की शिक्षा दे रहा है।

ऋषिः—दीर्घतमाः । **देवता**—सरस्वती । **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप् । **स्वरः**—धैवतः ।

सरस्वती की उपासना से लाभ

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒यो यो म॑यो॒भूर्येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि।
यो र॑त्न॒धा व॑सु॒विद्यः सु॒दत्रः॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः ॥ ४९ ॥

१. **सरस्वति**=हे ज्ञान की अधिष्ठातृ देवि! **इह**=इस मानव-जीवन में **तम्**=उस स्तन को **धातवे कः**=हमारे पालन के लिए कर **यः**=जो **ते स्तनः**=तेरा ज्ञान पयोधर **शशयः**=(तेरे) सोये हुए जैसी स्थिति में भी हमारे लिए है। 'शश प्लुतगतौ' जो मनुष्य को प्लुतगतिवाला, अत्यन्त क्रियाशील बनाता है। २. **मयोभूः**=यह स्तन व स्तनजन्य ज्ञान-दुग्ध **मयः**=सुख का **भूः**=पैदा करनेवाला है। यह ज्ञान आरोग्यसुख को देनेवाला है। ३. **येन**=जिस स्तन से **विश्वा वार्याणि**=सब वरणीय भावनाओं का तू **पुष्यसि**=मानव-मन में पोषण करती है। ज्ञानी पुरुष के मन में दिव्य भावनाओं का विकास होता है, राग-द्वेष उसे तुच्छ प्रतीत होते हैं। ४. **यः**=जो स्तन **रत्नधा**=रमणीय धनों का धारण करनेवाला है। ज्ञान से मनुष्य उत्तम धनों को प्राप्त करता है, ५. **वसुवित्**=ज्ञान हमें वासक स्थाई अथवा रक्षक धन प्राप्त कराता है और उस धन को प्राप्त कराता है, ६. **यः**=जो **सुदत्रः**=उत्तम दान के द्वारा हमारा त्राण करनेवाला है। ज्ञानी मनुष्य ऐहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ दान के द्वारा आमुष्मिक (पारलौकिक) कल्याण का भी संचय कर लेता है।

भावार्थ—ज्ञान के छह लाभ हैं। यथा—(१) ज्ञानी अत्यन्त क्रियाशील बनता है, (२) ज्ञान-आरोग्य-सुख को देनेवाला है, (३) ज्ञानी दिव्य भावना-युक्त होकर राग-द्वेष रहित हो जाता है, (४) ज्ञान से रमणीय—उत्तम धन प्राप्त होते हैं, (५) ज्ञान से हमें आरक्षक-धन प्राप्त होता है और (६) ज्ञान द्वारा प्राप्त धन सर्व कल्याणकारी होता है। हमें ज्ञान प्राप्त करके जीवन में आगे बढ़ना चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—साध्याः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वे मुख्य धर्म

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ ५०॥

१. **देवाः**=देव **यज्ञेन**=यज्ञ से **यज्ञम् अयजन्त**=यज्ञ का **यजन**=पूजन करते हैं, यज्ञ से विष्णु की पूजा करते हैं। परमात्मा सर्वव्यापक और सबका हित करते हैं, इसी प्रकार अपनी मनोवृत्ति को व्यापक बनाकर हम भी सर्वव्यापक के उपासक बन पाते हैं। विष्णु बनने के लिए मनुष्य यज्ञशील बने। यज्ञ की भावना है—देवपूजा=बड़ों का आदर, संगतिकरण=अपने बराबरवालों के साथ मिलकर चलना, दान=अपने से छोटों को सदा कुछ देना। २. यज्ञ में ये ही तीन भावनाएँ हैं। देवों के कर्म इन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत होते हैं। **तानि धर्माणि**=ये तीन ही धर्म **प्रथमानि आसन्**=मुख्य व व्यापक धर्म थे। **ते**=इन तीन धर्मों का पालन करनेवाले वे देव **महिमानः**=महिमावाले होते हुए, अर्थात् उत्तम यश को प्राप्त करते हुए **ह**=निश्चय से **नाकं सचन्त**=स्वर्ग का सेवन करते हैं, अर्थात् सुखमय स्थिति में विराजते हैं। उनका यह जीवन यशस्वी व सुखी होता है। ३. इस जीवन की समाप्ति पर वे उन लोकों को प्राप्त होते हैं **यत्र**=जहाँ कि **पूर्वे**=अपने अन्दर यज्ञ की भावना का पूरण करनेवाले **साध्याः**=साधनामय जीवनवाले **देवाः**=ज्ञानी लोग **सन्ति**=होते हैं, अर्थात् इन्हें उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। यज्ञ की भावना पूर्ण होने पर तो मोक्ष मिलता ही है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवन के तीन लाभ हैं—(क) यशःप्राप्ति, (ख) सुखमय स्थिति और (ग) उत्तम लोकों की प्राप्ति। इन लाभों की प्राप्ति के लिए हमें अपना जीवन उत्तम बनाना ही चाहिए।

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—सूर्यः पर्जन्योऽग्नयो वा। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

देवों के साथ पगड़ी का विनिमय

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ ५१॥

१. **समानम्**=जीवन देनेवाला व सदा सम मात्रा में रहनेवाला **एतत् उदकम्**=यह जल सूर्य-किरणों द्वारा ग्रीष्मकाल में **उत् च एति**=वाष्पीभूत होकर ऊपर उठता है **च**=और फिर ऊपर के ठण्डे वायुमण्डल में घनीभूत होकर **अहभिः**=वर्षाकालीन दिनों में **अव एति**=नीचे बरसता है। २. इस वर्षा की घटना को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि **पर्जन्याः**=परा तृप्ति को पैदा करनेवाले ये जल **भूमिं जिन्वन्ति**=इस पृथिवी को प्रीणित करते हैं। वर्षा क्या होती है मानो प्राण ही बरसता है। दूसरी ओर **अग्नयः**=अग्नियों में डाले जानेवाले हविर्द्रव्य **दिवम्**=द्युलोक को **जिन्वन्ति**=प्रीणित करते हैं। हविःद्रव्य आदित्यलोक तक पहुँचते हैं। इनसे मिश्रित जल अत्यन्त गुणकारी होता है। यज्ञ करना व वर्षा का होना। यह मनुष्यों व देवों का पगड़ी बदलना है।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों। बस हम देवों के मित्र बन जाते हैं, वे देव हमें वर्षा-जल से तृप्त कर देते हैं।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—सरस्वान् सूर्यो वा। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

आचार्य के गुण

दि॒व्यं सु॑प॒र्णं वा॑य॒सं बृ॒हन्त॑म॒पां गर्भं॑ दर्श॒तमोष॑धीनाम्।
अ॒भी॒प॒तो वृ॒ष्टिभि॑स्त॒र्पय॑न्तं॒ सर॑स्वन्त॒मव॑से जोहवीमि॥५२॥

सरस्वन्तम्=ज्ञान के समुद्र आचार्य को **अवसे**=रक्षा के लिए **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। ज्ञान मनुष्य की रक्षा करता है, उसे पापों से बचाकर अन्त में मोक्ष प्राप्त कराता है। प्राचीनकाल में विद्यार्थी आचार्य को पुकारता था और आचार्य से स्वीकृति मिलने पर उसके सामने उपस्थित होकर श्रद्धा से ज्ञान का श्रवण करता था। इस आचार्य की विशेषताएँ निम्न हैं—१. **दिव्यम्**=आचार्य दिव्य हो। वह दिव्य गुणों को अपने में अवतरित करनेवाला हो। २. **सुपर्णम्**=विद्यार्थियों का उत्तम प्रकार से पालन करनेवाला हो। ३. **वायसम्**=(वय् गतौ) आचार्य क्रियाशील होना चाहिए। वह आलसी व प्रमादी न हो। ४. **बृहन्तम्**=आचार्य सदा विशाल हृदय हो। ५. **अपां गर्भः**=(आपः=रेतः) वीर्यशक्ति का ग्रहण करनेवाला, उसे अपने अन्दर ही सुरक्षित रखनेवाला हो। ६. **दर्शतं ओषधीनाम्**=आचार्य ओषधियों में सबसे अधिक सुन्दर है। ओषधि का अर्थ है दोषों को जलानेवाली। जैसे ओषधियाँ स्थूल शरीर के मलों को जला देती हैं, इसी प्रकार आचार्य मानस व बौद्धिक मलों का दहन कर देते हैं। ७. अन्त में आचार्य **अभीपतः**=चारों ओर से आनेवाले जिज्ञासुओं को **वृष्टिभिः**=ज्ञान की वृष्टि से **तर्पयन्तम्**=तृप्त करते हैं।

भावार्थ—उपर्युक्त सात गुणों से अलंकृत आचार्य ही आदर्श युवकों का निर्माण करके राष्ट्र का कल्याण करते हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त कालचक्र के महत्त्व को समझते हुए योगाभ्यास, आचार्य के सान्निध्य में ज्ञान-प्राप्ति और यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए मोक्ष-प्राप्ति का सन्देश देता है। अब आगे अगस्त्य का सूक्त आरम्भ होता है। इसके आरम्भ में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य त्रयी का वर्णन है—

त्रयोविंशोऽनुवाकः

[१६५] पञ्चषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

विद्यार्थी की कर्त्तव्य त्रयी

कया॑ शु॒भा सव॑यसः॒ सनी॑ळाः समा॒न्या म॒रुतः॒ सं मि॑मिक्षुः।
कया॑ म॒ती कुत॒ एता॑स ए॒तेऽर्च॑न्ति॒ शुष्मं॒ वृष॑णो वसू॒या॥१॥

१. आचार्यकुल में रहते हुए **सवयसः**=समान आयुष्यवाले **सनीळाः**=एक ही आचार्यकुलरूप गृह में रहनेवाले **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले वे विद्यार्थी **कया शुभा**=आनन्द देनेवाली, **समान्या**=(सम् आन्) सम्यक् प्राणित करनेवाली ज्ञान की वाणी से **संमिमिक्षुः**=अपने को सिक्त करते हैं (मिह सेचने) और **कया मती**=आनन्द प्राप्त करानेवाली बुद्धि से अपने को युक्त करते हैं। आचार्यकुल में रहते हुए इनका मुख्य कार्य यही होता है कि ये ज्ञान का सम्पादन करें और अपनी बुद्धि का संवर्धन करें। २. **कुतः एतासः**=कहाँ-कहाँ से आये हुए **एते**=ये विद्यार्थी **शुष्मम्**=शत्रुओं का शोषण करनेवाले प्रभु को **अर्चन्ति**=पूजते हैं। **वृषणः**=ये शक्तिशाली **वसूया**=वसुओं की प्राप्ति की कामना से उस प्रभु का अर्चन करते हैं। इन वसुओं के द्वारा ही तो वे अपने जीवन में निवास को सुन्दर बना पाएँगे। ३. मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क)

आचार्यकुल में रहनेवाले विद्यार्थी बहुत भिन्न अवस्था के न हों (सवयसः), (ख) सब समान रूप से आचार्यकुल में निवास करते हों, (ग) वहाँ रहते हुए इन्हें ज्ञान प्राप्त करना है और बुद्धि को सूक्ष्म बनाने का यत्न करना है, (घ) शक्तिशाली प्रभु का अर्चन करते हुए शक्ति-सम्पन्न बनना है और वसुओं को प्राप्त करके दीर्घ जीवनवाला होना है।

भावार्थ—विद्यार्थी का कर्त्तव्य है—(क) ज्ञान का अर्जन, (ख) बुद्धि की सूक्ष्मता का साधन, और (ग) प्रभुपूजन के द्वारा सशक्त बनना।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रसादसम्पन्न विशाल हृदय

कस्य ब्रह्माणि जुजुषुर्युवानः को अध्वरे मरुत आ ववर्त।
श्येनाँइव ध्रजतो अन्तरिक्षे केन महा मनसा रीरमाम॥ २॥

१. **युवानः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अपने साथ अच्छाई का मिश्रण करनेवाले व बुराई को अपने से दूर करनेवाले युवक **कस्य**=उस आनन्दमय प्रभु के **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों का **जुजुषुः**=सेवन करते हैं और वह **कः**=आनन्दमय प्रभु **मरुतः**=इन प्राणसाधकों को **अध्वरे**=अहिंसात्मक यज्ञरूप कर्मों में **आववर्त**=आवृत्त करता है—प्रभु इन साधकों को विषयों से पराङ्मुख करके यज्ञप्रवण करते हैं। २. प्रभु सदा यह ध्यान करते हैं कि **अन्तरिक्षे**=(अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग में **श्येनान् इव ध्रजतः**=गतिशील बाज़ नामक पक्षियों के समान गति करते हुए इन प्राणसाधकों को **केन**=आनन्दयुक्त—प्रसादयुक्त **महा**=विशाल **मनसा**=मन से **रीरमाम**=नितराम् आनन्दित करें। प्रभुकृपा से उन व्यक्तियों का मन आनन्दित तथा विशाल होता है जो सदा क्रियाशील जीवन बिताते हैं और मध्यमार्ग में चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने स्तोताओं की वृत्तियों को यज्ञिय बनाते हैं, इनके हृदयों को प्रसाद व विशालता प्रदान करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

भक्त का उपालम्भ

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं त इत्था।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्ते अस्मे॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **माहिनः सन्**=अत्यन्त महिमावाले होते हुए **कुतः**=क्यों **एकः यासि**=अकेले ही गति कर रहे हो? हमें भी तो अपने पीछे आने दीजिए। और **सत्पते**=हे सज्जनों के रक्षक! **किम्**=क्या **ते**=आपका यह एकाकी विचरण **इत्था**=ठीक है? इस प्रकार आप सज्जनों के रक्षक भी कैसे कहला सकते हैं? सज्जनों से मिलने पर ही तो आप उनका रक्षण करेंगे। **समराणः**=(सम् ऋ) हमसे संगत होते हुए आप **संपृच्छसे**=हमसे इस प्रकार प्रार्थना किये जाते हो कि **हरिवः**=हे उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले—उत्तम इन्द्रियाश्वों को हमारे लिए प्राप्त करानेवाले प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका ज्ञान **अस्मे**=हमारे लिए है **तत्**=उसे **नः**=हमारे लिए **शुभानैः**=शुभ शब्दों से **वोचेः**=प्रतिपादित कीजिए। आपसे इस ज्ञान को प्राप्त करके ही हम अपने कल्याण को सिद्ध कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु की महिमा इसी में है कि वे सज्जनों के रक्षण में प्रवृत्त हैं और जिज्ञासुओं के लिए शुभ ज्ञान प्राप्त करा रहे हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञान, बुद्धि व सोम

ब्रह्माणि मे मतयः शं सुतासः शुष्म इयर्ति प्रभृतो मे अद्रिः।
आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नो अच्छ॥४॥

१. प्रभु प्राणसाधकों से कहते हैं कि **मे**=मेरे **ब्रह्माणि**=ये वेदरूप ज्ञान, **मतयः**=मुझसे दी गई बुद्धियाँ, **सुतासः**=मेरी व्यवस्था से उत्पन्न किये गये सोमकण—ये सब **शम्**=शान्ति देनेवाले हैं। 'ज्ञान, बुद्धि व शक्ति' मनुष्य के जीवन को सुन्दर बनानेवाले हैं। सोम के रक्षण से **शुष्मः**=शत्रुशोषक बल **इयर्ति**=प्राप्त होता है। **मे**=मेरा यह **अद्रिः**=मेघ **प्रभृतः**=(प्रकृष्टं भृतं येन) प्रकृष्ट भरणवाला है। मेघजल वस्तुतः नीरोगता व दीर्घायुष्य प्राप्त करानेवाला है, मेघजल शरीर में सौम्य शक्ति को उत्पन्न करता है। २. **आशासते**=सब मेरी ही प्रार्थना करते हैं, **उक्था**=सब स्तोत्र **प्रतिहर्यन्ति**=मेरी ही कामना करते हैं—सब स्तोत्र मुझे ही प्राप्त होते हैं। **ता**=वे **इमा**=ये **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **नः**=हमारी **अच्छ**=ओर ही **वहतः**=प्राप्त कराते हैं। ये इन्द्रियाश्व इसीलिए दिये गये हैं कि इनके द्वारा हम जीवन-यात्रा में उन्नति करते हुए प्रभु को प्राप्त हों।

भावार्थ—'ज्ञान, बुद्धि व सोम' प्रभु द्वारा प्राप्त कराये गये हैं ताकि हम जीवन को शान्त बना सकें और अन्ततः प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

इन्द्रियों का निरोध व आत्मशक्ति से अपने को अलंकृत करना

अतो वयमन्तमेभिर्युजानाः स्वक्षत्रेभिस्तन्वः शुम्भमानाः।
महोभिरेताँ उप युज्महे न्विन्द्र स्वधामनु हि नो बभूथ॥५॥

१. हे प्रभो! **अतः**=इस प्रकार—गत मन्त्र के अनुसार आपसे दिये गये ज्ञान, बुद्धि और बल के द्वारा **वयम्**=हम **अन्तमेभिः**=अन्तिकतम—समीप रहनेवाली—विषयों में न भटकनेवाली—इन्द्रियों से **युजानाः**=युक्त होते हुए तथा **स्वक्षत्रेभिः**=आत्मिक बलों से **तन्वः**= शरीरों को **शुम्भमानाः**=शोभित करते हुए **महोभिः**=उपासना व पूजा के द्वारा प्राप्त तेजों के द्वारा **एतान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **उपयुज्महे**=समीपता से अपने साथ सङ्गत करते हैं। इनको भटकने न देकर हम अन्दर ही धारण करते हैं। उपनिषत् के शब्दों में 'आवृत्तचक्षु' बनते हैं। २. **नु**=अब—इन्द्रियों को अपने अन्दर धारण करने पर **इन्द्र**=हे परमात्मन्! **स्व-धाम्-अनु**=आत्मतत्त्व के धारण के अनुसार **हि**=निश्चय से आप **नः**=हमारे **बभूथ**=होते हो। जितना-जितना हम आत्मा का धारण करते हैं, उतना-उतना हम प्रभु के होते जाते हैं। प्राकृतिक भोगों की ओर जाना प्रकृति का हो जाना है। इन भोगों से ऊपर उठकर आत्मतत्त्व को अपनाना ही प्रभु का बन जाना है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को अन्दर ही निरुद्ध करें। आत्मशक्तियों से अपने को शोभित करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभु अपनी सहायता करनेवालों का रक्षक है

क्व१ स्या वो मरुतः स्वधासीद्यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये।
अहं ह्यु१ग्रस्तविषस्तुविष्मान्विश्वस्य शत्रोरनमं वधस्नैः॥६॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर प्रार्थना थी कि 'हमारे आत्मतत्त्व के धारण के अनुसार आप

हमारे होइए।' प्रभु इन प्रार्थना करनेवाले मरुतों से कहते हैं कि हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=आपकी **स्या**=वह **स्व-धा**=आत्मतत्त्व की धारणा **क्व आसीत्**=कहाँ गई? (कहाँ है) **यत्**=जो तुम **मां एकम्**=मुझ अकेले को ही **अहि-हत्ये**=इस वासनारूप वृत्र के मारने में **समधत्त**=स्थापित करते हो। तुम भी तो वासना को जीतने का प्रयत्न करो। हाँ, तुम प्रयत्न करोगे तो मैं तुम्हारा सहायक बनूँगा ही। २. **अहम्**=मैं **हि**=निश्चय से **उग्रः**=तेजस्वी व शत्रुभयंकर हूँ, **तविषः**=बलवान् हूँ **तुविष्मान्**=महत्त्व से युक्त हूँ। **विश्वस्य शत्रोः**=सब शत्रुओं का **वधस्नैः**=(वध स्ना=शौचे:) वध द्वारा शोधनों से **अनमम्** (अन्तर्भावितण्यर्थः) वश में करनेवाला हूँ (अनमयम्) मैं तुम्हारे इन वासनारूप शत्रुओं को अवश्य विनष्ट करूँगा, परन्तु तुम्हें भी तो आत्मतत्त्व के धारण का प्रयत्न करना चाहिए। तुम्हारी स्वधा के अनुपात में ही मेरी सहायता तुम्हें प्राप्त होगी।

भावार्थ—वासना-विनाश के लिए प्रयत्न करनेवालों ही को प्रभु का साहाय्य अवश्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'शक्तिप्रदाता' प्रभु

भूरि॑ चकर्थ॒ युज्ये॑भिर॒स्मे स॑मा॒नेभि॑र्वृषभ॒ पौंस्ये॑भिः।
भूरी॑णि॒ हि कृ॒णवा॑मा शविष्ठेन्द्र॒ क्रत्वा॑ मरुतो॒ यद्वशा॑म॥ ७॥

१. हे **वृषभ**=शक्तिशालिन्! हमपर सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! आपने **युज्येभिः**=हमारे साथ संगत होनेवाले **समानेभिः**=(सम् आनयति) हमें सम्यक् प्राणित करनेवाले **पौंस्येभिः**=बलों से **अस्मे**=हमारे लिए **भूरि चकर्थ**=बहुत-कुछ दिया है। हमें इन बलों को देकर आपने जीवन-यात्रा में सफल होने योग्य बनाया है। २. हे **शविष्ठ**=शक्तिशालिन्! **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम इन शक्तियों को प्राप्त करके **हि**=निश्चय से **भूरीणि**=पालन व पोषणात्मक कर्मों को **कृणवाम**=करनेवाले बनें (भूरि=भृ धारणपोषणयोः)। शक्ति का प्रयोग हम सदा पालन व पोषणात्मक कर्मों में करें। ३. हम **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले **यत्**=जो **वशाम**=चाहें (wish) वह **क्रत्वा**=कर्म के द्वारा ही चाहें। हमारी प्रार्थनाएँ पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त ही हों।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति देते हैं। शक्ति प्राप्त करके हम पालनात्मक कर्मों में व्यापृत हों। हमारी प्रार्थना पुरुषार्थ के साथ हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'सुगाः, विश्वश्चन्द्राः' आपः

वधीं॑ वृ॒त्रं म॑रुत इन्द्रि॒येण॒ स्वेन॒ भामे॑न तवि॒षो ब॑भू॒वान्।
अ॒हमे॒ता मन॑वे वि॒श्वश्च॑न्द्राः सु॒गा अ॒पश्च॑कर॒ वज्र॑बाहुः॥ ८॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **स्वेन इन्द्रियेण**=(इन्द्रियम्=वीर्यं, बलम्) अपनी शक्ति से **वृत्रं वधीम्**=मैंने वासना को नष्ट किया है। मैं **भामेन**=तेजो दीप्ति से **तविषः**=बलवान् **बभूवान्**=हुआ हूँ। प्रभु महादेव हैं। इन्द्र के रूप में वे वृत्र का विनाश करनेवाले हैं। जीव भी 'इन्द्र' है। इसे भी वासनारूप वृत्र को नष्ट करके अपने नाम को सार्थक करना है। २. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **वज्रबाहुः**=सदा क्रियाशील हाथोंवाला **एताः**=इन **सुगाः**=उत्तम गति के कारणभूत **अपः**=रेतःकणरूप जलों को **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **विश्वश्चन्द्रः**=सब प्रकार से आह्लादजनक **चकर**=करता हूँ। ये रेतःकण 'सुगाः' उत्तम गति का कारण हैं, 'विश्वश्चन्द्राः' आह्लाद को प्राप्त करानेवाले हैं। इनके रक्षण के लिए 'वज्रबाहुः'=क्रियाशील हाथोंवाला होना आवश्यक है। 'मनवे' शब्द यह संकेत कर रहा है कि इन रेतःकणों के महत्त्व

का मनन करनेवाला ही इनका रक्षण करेगा।

भावार्थ—क्रियाशीलता के द्वारा वासना को नष्ट करके हम उत्तम गतिवाले व आनन्दमय शक्तिशाली जीवनवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अनुपम' प्रभु

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध॥ ९॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवान् प्रभो! **नु**=निश्चय से **अनुत्तम**=आपसे अप्रेरित **नकिः**=कुछ भी नहीं है। इस ब्रह्माण्ड में एक-एक कण आपसे ही प्रेरित हो रहा है। चराचर के प्रेरक आप ही हैं। **त्वावान्**=आप जैसा **विदानः**=ज्ञानी, **देवता**=कोई भी देव **न**=नहीं है। प्रभु सर्वज्ञ हैं, अपने ज्ञान से सबको दीप्त कर रहे हैं। २. **प्रवृद्ध**=हे सब गुणों से बढ़े हुए प्रभो! आप **यानि**=जिन **करिष्या**=वृत्रवधादिरूप कर्मों को **आकृणुहि**=सम्यक् करते हैं, उन्हें **न जायमानः**=न तो उत्पन्न होनेवाला और **न जातः**=न उत्पन्न हुआ-हुआ **नशते**=व्याप्त करता है। आपके समान न किसी की शक्ति है, न ज्ञान है, अतः कोई भी आपके कर्मों का व्यापन नहीं कर सकता। आपका सब-कुछ अनुपम है। आपका बनकर मैं भी वृत्रवधादि कार्य करूँ। आपके सहाय से मैं इन वासनाओं का विनाश क्यों न कर पाऊँगा?

भावार्थ—ब्रह्माण्ड में प्रभु से अप्रेरित कुछ भी नहीं। उनके कर्मों का कोई भी व्यापन नहीं कर सकता।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

ओज, शत्रुधर्षण व बुद्धि

एकस्य चिन्मे विभ्व१स्त्वोजो या नु दधृष्वान्कृणवै मनीषा।
अहं ह्यु१ग्रो मरुतो विदानो यानि च्यवमिन्द्र इदीश एषाम्॥ १०॥

१. प्रभु प्राणसाधकों से कहते हैं कि **एकस्य चित् मे**=अद्वितीय जो मैं, उसकी **ओजः**=शक्ति **विभु**=व्यापक **अस्तु**=ही। **दधृष्वान्**=शत्रुधर्षक मैं **नु**=अब **या**=जिन भी कर्मों को **कृणवै**=करता हूँ, उन्हें **मनीषा**=बुद्धिपूर्वक ही करता हूँ। प्रभु की प्रत्येक कृति में बुद्धि प्रतिभासित होती है। वेदों की वाक्य-रचना भी बुद्धिपूर्वक है। कर्मों की पूर्ण सफलता का रहस्य तीन बातों में ही है—(क) ओज, (ख) शत्रुधर्षण, (ग) बुद्धि। जो भी मनुष्य इन तीन बातों को सिद्ध करके कर्म करेगा, वह अवश्य सफल होगा। ३. हे प्राणसाधको! **अहम्**=मैं **हि**=निश्चय से **उग्रः**=तेजस्वी हूँ, **विदानः**=ज्ञानी हूँ, **यानि**=जिन भी वसुओं की ओर मैं **च्यवम्**=जाता हूँ **एषाम्**=इन सबका **ईशः**=ईश **इत्**=ही होता हूँ। **इन्द्रः**=मैं ही तो इन्द्र हूँ, परमैश्वर्यशाली हूँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से 'ओज, शत्रुधर्षण व बुद्धि' को सिद्ध करके हम प्रत्येक कर्म को सलतापूर्वक करनेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जितेन्द्रिय, शक्तिसम्पन्न व यज्ञशील

अमन्दन्मा मरुतः स्तोमो अत्र यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र।
इन्द्राय वृष्णे सुमखाय मह्यं सख्ये सखायस्तन्वे तनूभिः॥ ११॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधको! **अत्र**=इस जीवन में **स्तोमः**=वह स्तुति **मा**=मुझे **अमन्दन्**=हर्षित

करती है, **यत्**=जिस **श्रुत्यं ब्रह्म**=श्रवणयोग्य स्तवन को है **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगो! आप **मे**=मेरे लिए **चक्र**=करते हो। जो भी प्राणसाधक बनकर उन्नति-पथ पर चलता हुआ प्रभु-स्तवन करता है, वह प्रभु का प्रिय बनता ही है। २. **इन्द्राय**=परमैश्वर्यवाले, **वृष्णे**=ऐश्वर्य का वर्षण करनेवाले, **सुमखाय**=उत्तम यज्ञशील **मह्यम्**=मुझ **सख्ये**=सखा के लिए **सखायः**=मित्र बनकर आप लोग **तनूभिः**=शरीरों से **तन्वे**=(तनू विस्तारे) मेरे विस्तार के लिए होओ, अर्थात् तुम्हारे शरीरों से होनेवाली सब क्रियाएँ मेरे गुणों का प्रतिपादन करनेवाली हों। मेरी भाँति ही तुम्हारी क्रियाएँ 'दया, न्याय' आदि गुणों से युक्त हों। मेरी वास्तविक स्तुति तो यही है कि 'तुम मेरे जैसे बनो।' तुम भी इन्द्र, वृषन् व सुमख बनने का यत्न करो।

भावार्थ—हम अपने सनातन सखा प्रभु के समान ही 'इन्द्र, वृषन् व सुमख' बनकर प्रभु का सच्चा स्तवन करें। यही सच्चा प्रभु-स्तवन है कि हम 'जितेन्द्रिय, शक्तिसम्पन्न व यज्ञशील' बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु में प्रीतिवाले

एवेदेते प्रति मा रोचमाना अनेद्यः श्रव एषो दधानाः।
संचक्ष्या मरुतश्चन्द्रवर्णा अच्छान्त मे छदयाथा च नूनम्॥ १२॥

१. **एव**=गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से स्तवन करने पर **इत्**=निश्चय से **एते**=ये **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **मा प्रति रोचमानाः**=मेरे प्रति प्रीति-(रुचि)-वाले होते हुए **अनेद्यः श्रवः**=प्रशस्त ज्ञान को **दधानाः**=धारण करनेवाले और **इषः**=मेरी प्रेरणाओं को **आदधानाः**=सर्वथा धारण करनेवाले बनते हैं। २. **संचक्ष्या**=उन प्रेरणाओं से अपने कर्त्तव्यों को ठीक प्रकार से देखकर ये **मरुत् चन्द्रवर्णाः**=(चदि आह्लादे) आह्लादमय वर्णवाले होते हुए, सदा प्रसन्नवदन रहते हुए **अच्छान्त**=अपने को यश से आच्छादित करते हैं **च**=और **नूनम्**=निश्चय से हे **मरुतः**=मरुतो! तुम इस प्रकार **छदयाथ**=अपने को पापों से अपवारित करते हो, तुमपर पापों का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—हमारी प्रभु में प्रीति हो। हम प्रशस्त ज्ञान को धारण करें, प्रभु-प्रेरणाओं को सुनते हुए अपने कर्त्तव्यों को जानें। सदा प्रसन्नवदन, यशस्वी व पापों से अनाक्रान्त बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्तवन व ज्ञान

को न्वत्र मरुतो मामहे वः प्र यातन सखीँरच्छा सखायः।
मन्मानि चित्रा अपिवातयन्त एषां भूत नवेदा म ऋतानाम्॥ १३॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **नु**=निश्चय से **अत्र**=यहाँ **कः**=वह आनन्दमय प्रभु **वः**=तुम्हें **मामहे**=महत्त्व प्राप्त कराता है। तुम संसार में **सखायः**=मित्र बनकर **सखीन् अच्छ**=समान ख्यान व ज्ञानवाले व्यक्तियों के प्रति **प्र यातन**=जानेवाले होओ। परस्पर ज्ञान की चर्चा करते हुए अपने जीवनों को अधिकाधिक पवित्र बनानेवाले बनो। २. **चित्राः**=(चित् र) ज्ञान में गति करनेवाले तुम **मन्मानि**=स्तोत्रों (Hymns) को **अपिवातयन्तः**=प्राप्त करते हुए, अर्थात् स्तुति करते हुए **मे**=मेरे **एषाम्**=इन **ऋतानाम्**=सत्य ज्ञानों के **नवेदाः**=जाननेवाले (ज्ञातारः) **भूत**=होओ। ३. यहाँ मरुतों को प्रभु का उपदेश यह है कि वे परस्पर मिलकर ज्ञान-चर्चा करनेवाले बनें। प्रभुस्तवन करते हुए प्रभु से दिये गये सत्य ज्ञानों को पूर्णतया जाननेवाले हों। यहाँ 'भूत नवेदाः' के स्थान में 'भूतन वेदाः' यह पदपाठ अधिक संगत हो सकता है। प्रस्तुत पदपाठ में भी 'नवेदाः' का अर्थ 'न न जाननेवाले' अर्थात् पूर्णतया जाननेवाले ही करना उचित है। '**न**

अवेदाः=नवेदा: ' में पररूप समझना चाहिए।

भावार्थ—प्राणसाधना करते हुए हम खूब प्रभुस्तवन करें और सदा ज्ञान में ही विचरण करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'बुद्धिप्रदाता' प्रभु

आ यद्दुवस्याद्दुवसे न कारुरस्माञ्चक्रे मान्यस्य मेधा।
ओ षु वर्त मरुतो विप्रमच्छेमा ब्रह्माणि जरिता वो अर्चत्॥ १४॥

१. **न**=अब (न सम्प्रत्यर्थे) **यत्**=जब **कारुः**=कुशलता से कर्मों को करनेवाला **दुवसे**=(दुवस्=wealth) धन-प्राप्ति के लिए **दुवस्यात्**=प्रभु की परिचर्या करता है (दुवस्यति= worships) तो उस समय **मान्यस्य**=पूजा-योग्य प्रभु की **मेधा**=बुद्धि **अस्मान्**=हमें **आचक्रे**=(to help, give aid) सहायता देती है, अर्थात् जब भी एक पुरुषार्थी प्रभु का उपासन करता है तो प्रभु उसे बुद्धि प्राप्त कराते हैं और यह बुद्धि उसे धनादि प्राप्त करने में सहायक होती है। २. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! तुम **उ**=निश्चय से **विप्रम्**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्रभु की **अच्छ**=ओर **सु**=अच्छी प्रकार **आवर्त**=आवृत्त होओ। तुम प्रभु के सदा अभिमुख होओ, कभी उससे पराङ्मुख न होओ। ३. **जरिता**=(जरिते=come near) सबको समीपता से प्राप्त होनेवाला वह प्रभु **इमा ब्रह्माणि**=इन ज्ञान की वाणियों को **वः**=तुम्हारे लिए **अर्चत्**=(to cause to shine) दीप्त करता है।

भावार्थ—उपासक को प्रभु बुद्धि देते हैं, ज्ञान की वाणियों को उसके लिए दीप्त करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—धैवतः।

'इष, वृजन, जीरदानु'

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १५॥

१. **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=तुम्हें **एषः**=यह **स्तोमः**=स्तुतिसमूह **आयासीष्ट**=प्राप्त हो। तुम स्तुति करनेवाले बनो! २. उस **मान्दार्यस्य**=सदा आनन्दमय **मान्यस्य**=पूजनीय **कारोः**=कुशलकर्ता की **इयं गीः**=यह वेदवाणी (आयासीष्ट) तुम्हें प्राप्त हो। यह वेदवाणी तुम्हें आनन्दित करनेवाली हो, तुम्हारे जीवनों को यशस्वी बनाए और तुम्हें कुशलतापूर्वक कर्म करनेवाला बना दे। **एषा**=यह **तन्वे**=शक्तियों के विस्तार के लिए तुम्हें (आयासीष्ट) प्राप्त हो। ३. इस वेदवाणी के द्वारा **वयाम्**=(वयम्) हम **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पाप के वर्जन व बल को तथा **जीरदानुम्**=(जीवनम्—द०) उत्तम जीवन को (जीर=quick, दानु=खण्डन) अथवा शीघ्रता से वासनाओं के विनाश को **विद्याम्**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोत्रों व ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें। इनसे हमें 'प्रेरणा, पापनिवृत्ति व उत्तम जीवन' प्राप्त होगा।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त ज्ञान-प्राप्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। यह ज्ञान ही पाप को नष्ट करके हमें अपवित्रता से ऊपर उठाएगा। अगले सूक्त का ऋषि भी यही 'अगस्त्य मैत्रावरुणि' है—

इति द्वितीयाष्टके तृतीयोऽध्यायः॥

अथ द्वितीयाष्टके चतुर्थोऽध्यायः

[१६६] षट्षष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः । **देवता**—मरुतः । **छन्दः**—जगती । **स्वरः**—निषादः ।

शक्ति व प्रभु का प्रकाश

तन्नु वोचाम रभसाय जन्मने पूर्वं महित्वं वृषभस्य केतवे ।
ऐधेव यामन्मरुतस्तुविष्वणो युधेव शक्रास्तविषाणि कर्तन ॥ १ ॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! हम **नु**=अब आपके **तत्**=उस **पूर्वम् महित्वम्**=पूरण करनेवाली महिमा को अथवा (पूर्व=of the first rank) सर्वोत्कृष्ट महत्त्व को **वोचाम**=कहते हैं। आपकी साधना **रभसाय जन्मने**=प्रचण्डतायुक्त (robust) जीवन के लिए होती है। प्राणसाधना से जीवन शक्तिशाली बनता है। यह प्राणसाधना **वृषभस्य**=शक्तिशाली प्रभु के **केतवे**=ज्ञान के लिए होती है। प्राणसाधना से अशुद्धि का नाश होकर ज्ञानदीप्ति से आत्मा का साक्षात्कार होता है। २. हे **मरुतः**=प्राणो! तुम **यामन्**=इस जीवन-यात्रा में **ऐधा इव**=(तेजांसि इव) तेजस्विताओं के समान होते हो और **तुविष्वणः**=महान् स्वनवाले होते हो। इस प्राणसाधना से हृदय की मलिनता का नाश होकर हृदयस्थ प्रभु की महनीय प्रेरणा की वाणी सुनाई पड़ती है। ३. **शक्राः**=हे शक्तिशाली प्राणो! तुम **युधा इव**=मानो युद्ध के द्वारा **तविषाणि**=बलों को **कर्तन**=उत्पन्न करते हो। प्राण वासनाओं के साथ युद्ध करके उनके पराजय के द्वारा हृदय में शक्ति का सञ्चार करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन शक्तियुक्त बनता है और प्रभु के प्रकाशवाला होता है।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः । **देवता**—मरुतः । **छन्दः**—जगती । **स्वरः**—निषादः ।

माधुर्य व क्रीड़क की मनोवृत्ति

नित्यं न सूनुं मधु बिभ्रत उप क्रीळन्ति क्रीळा विदथेषु घृष्वयः ।
नक्षन्ति रुद्रा अवसा नमस्विनं न मर्धन्ति स्वतवसो हविष्कृतम् ॥ २ ॥

१. हमारे प्राण (मरुत्) **नित्यं सूनुं न**=(औरसं पुत्रमिव—सा०) औरस पुत्र को जैसे माता-पिता भृत व पोषित करते हैं, उसी प्रकार **मधुबिभ्रतः**=माधुर्य को धारण करते हुए **क्रीळाः**=सब कर्मों को क्रीड़ा का रूप देते हुए **उपक्रीळन्ति**=परमात्मा की समीपता में इस सब खेल को करते हैं। प्राणसाधना से जीवन में (क) माधुर्य उत्पन्न होता है—खिजने की वृत्ति नष्ट हो जाती है, (ख) सब कार्य क्रीड़क की मनोवृत्ति (sportsman-like spirit) में होते हैं, मनुष्य हार-जीत में समवृत्ति का रह पाता है, (ग) प्रभु का सान्निध्य बना रहता है। २. ये प्राण **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों के होने पर **घृष्वयः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले होते हैं। ज्ञानाग्नि में सब शत्रुओं का दहन हो जाता है। **रुद्राः**=रोगों का विद्रावण करनेवाले प्राण **नमस्विनम्**=प्रभु के प्रति नमस्वाले व्यक्ति को **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नक्षन्ति**=प्राप्त होते हैं। प्रभु का स्तोता इन प्राणों के द्वारा रक्षित होता हुआ सदा नीरोग बना रहता है। ३. **स्वत-वसः**=आत्मा के बलवाले ये प्राण **हविष्कृतम्**=हवि देनेवाले, यज्ञशील पुरुष को न **मर्धन्ति**=हिंसित नहीं करते। प्राणसाधना से यज्ञवृत्ति उत्पन्न होती है और यह साधक हविष्कृत् बनता है। यह हविष्कृत् प्रभु का सच्चा उपासक होता है और प्रभु के बल से बलवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से माधुर्य, क्रीड़क की मनोवृत्ति, प्रभु का सान्निध्य, नीरोगता व आत्मिक बल प्राप्त होता है।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

धन का पोषण

यस्मा ऊमासो अमृता अरासत रायस्पोषं च हविषा ददाशुषे।
उक्षन्त्यस्मै मरुतो हिताइव पुरू रजांसि पयसा मयोभुवः॥ ३॥

१. **यस्मै**=जिसके लिए **ऊमासः**=रोगों से रक्षित करनेवाले **अमृताः**=असमय की मृत्यु से बचानेवाले प्राण **रायस्पोषम् च**=धन के पोषण को भी **अरासत**=देते हैं, उस **हविषा ददाशुषे**=हवि के द्वारा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले **अस्मै**=इस उपासक के लिए **मरुतः**=प्राण **हिताः इव**=हितकर मित्रों के समान **रजांसि**=इसके शरीरस्थ भिन्न-भिन्न लोकों को—सब अङ्गों को **पुरुः**=पालन व पूरणात्मक प्रकार से **उक्षन्ति**=सिक्त करते हैं। (क) प्राणसाधना से शरीर में शक्ति का रक्षण होता है, (ख) इससे यह साधक धन कमाने के योग्य बनता है, (ग) प्राणसाधना से वृत्ति की पवित्रता के कारण यह भोगों में न फँसकर धन का यज्ञों में विनियोग करता है, (घ) इस यज्ञात्मक वृत्ति के कारण इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्ति-सम्पन्न बने रहते हैं। २. इस प्रकार प्राण इस साधक के लिए पयसा=आप्यायन के द्वारा **मयोभुवः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इसका एक-एक अङ्ग शक्ति से पूर्ण होता है और इस प्रकार यह कल्याणयुक्त जीवनवाला होता है।

भावार्थ—प्राण हमें नीरोग व शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। इससे हमें धन के पोषण की योग्यता प्राप्त होती है और हम उन धनों को भोगों में व्यय न करके यज्ञों में लगाते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

विश्व का भयभीत होना

आ ये रजांसि तविषीभिरव्यत प्र व एवासः स्वयतासो अध्रजन्।
भयन्ते विश्वा भुवनानि हर्म्या चित्रो वो यामः प्रयतास्वृष्टिषु॥ ४॥

१. प्राणसाधना होने पर इन्द्रियरूप अश्व इधर-उधर भटकते नहीं। उस समय हे प्राणो! **ये**=जो **रजांसि**=शरीर के सब लोकों को—अङ्ग-प्रत्यङ्गों को **तविषीभिः**=शक्तियों से **आ अव्यत**=पूर्णरूप से आच्छादित कर लेते हैं (व्ये=संवरणे) वे **वः**=आपके **एवासः**=इन्द्रियरूप अश्व **स्व-यतासः**=आत्मा द्वारा नियन्त्रित हुए-हुए **अध्रजन्**=तीव्र गतिवाले होते हैं। प्राणसाधना से सब इन्द्रियाँ शक्तिसम्पन्न बनती हैं और साथ ही आत्मा नियन्त्रित होता है। उस समय इन इन्द्रियों की गति अत्यन्त प्रबल होती है। २. प्राणसाधकों की इन गतियों से **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **भयन्ते**=काँप उठते हैं, **हर्म्या**=सब महल भी काँप उठते हैं। इनकी हलचल से सभी प्रभावित होते हैं। बड़े-बड़े राजा भी इनकी उपेक्षा नहीं कर पाते। हे मरुतो! **वः**=आपकी **यामः**=गति **चित्रः**=अद्भुत होती है। **ऋष्टिषु प्रयतासु**=अस्त्रों के उठाये हुए होने पर जैसे सामान्य लोग भयभीत हो उठते हैं, उसी प्रकार इन प्राणसाधकों की गति सभी को हिला देती है। ऐसे ही व्यक्ति प्रचार द्वारा सुधार-कार्य करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ सबल बनती हैं। ये आत्माधीन होती हुई प्रबल गतिवाली होती हैं। ऐसे पुरुषों की गति से सर्वत्र हलचल हो जाती है। ये सारे समाज में प्रबल क्रान्ति उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

दीप्त गायनवाले वायु

यत्त्वेषयामा नदयन्त पर्वतान्दिवो वा पृष्ठं नर्या अचुच्यवुः।
विश्वो वो अज्मन्भयते वनस्पती रथीयन्तीव प्र जिहीत ओषधिः॥ ५॥

१. **यत्**=जब **त्वेषयामाः**=दीप्त गमनोंवाले मरुत् (प्रबल वायुएँ) **पर्वतान्**=पर्वतों को **नदयन्त**=गुञ्जायमान कर देते हैं—गुफाओं में वायु के प्रवेश से पर्वत गूँज-सा उठता है **वा**=अथवा **नर्याः**=वृष्टि के द्वारा अन्नोत्पादन करते हुए नर-हितकारी **मरुत् दिवः पृष्ठम्**=द्युलोक के पृष्ठ को **अचुच्यवुः**=क्षरित कर देते हैं, अर्थात् द्युलोक से वृष्टिकणों के रूप में जल को नीचे भेजते हैं, उस समय हे मरुतो! **वः**=आपके **अज्मन्**=(passage) मार्ग में **विश्वः वनस्पतिः**=सब वनस्पतियाँ **भयते**=भयभीत होती हैं, गिरने के भय से काँप उठती हैं। **ओषधिः**=सब ओषधियाँ इस प्रकार **प्रजिहीत**=गतिवाली हो उठती हैं **इव**=जैसे कि **रथयन्ती**=रथ की कामना से रथारूढ़ हुई कोई स्त्री गतिमय हो जाती है।

भावार्थ—वायुओं के तीव्र गति से चलने पर पर्वत-कन्दराएँ गूँज उठती हैं, द्युलोकस्थ मेघ वृष्टिजल टपकाने लगते हैं और सब वनस्पतियाँ कम्पित हो उठती हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः।

सुमति का पूरण

यूयं न उग्रा मरुतः सुचेतुनारिष्टग्रामाः सुमतिं पिपर्तन।
यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती रिणाति पश्वः सुधितेव बर्हणा॥ ६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले ज्ञानी पुरुषो! **यूयम्**=आप **उग्राः**=तेजस्वी हैं **अरिष्टग्रामाः**=अहिंसित इन्द्रियसमूहवाले हैं। आप **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के द्वारा **नः**=हमारे लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **पिपर्तन**=हममें पूरित करनेवाले होओ। तेजस्वी, प्राणसाधना करनेवाले आचार्यों से हमें उत्तम ज्ञान प्राप्त हो। **यत्र**=जहाँ **वः**=तुम्हारी **क्रविर्दती**=हिंसक दाँतोंवाली **दिद्युत्**=ज्ञानरूपी विद्युत् **रदति**=अज्ञानान्धकार का विलेखन करती है, वहाँ **पश्वः**=पाशविक वासनाओं को **रिणाति**=नष्ट कर देती है **इव**=जैसे कि **सुधिता**=उत्तमता से प्रेरित की गई **बर्हणा**=हेति—नाशकशक्ति किसी पशु को नष्ट करती है। आचार्य को जहाँ विद्यार्थी को सुमति प्राप्त करानी है, वहाँ उसे ज्ञान देकर उसकी पाशविक भावना को भी नष्ट करना है।

भावार्थ—आचार्य प्राणसाधना के द्वारा तेजस्वी व अहिंसित इन्द्रियोंवाले बनकर विद्यार्थियों में सुमति व ज्ञान को परिपूर्ण करें। इस ज्ञानवज्र के द्वारा उनकी पाशविक वृत्तियों को नष्ट करें।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। देवता—मरुतः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

श्रेष्ठ पुरुष

प्र स्कम्भदेष्णा अनवभ्रराधसोऽलातृणासो विदथेषु सुष्टुताः।
अर्चन्त्यर्कं मदिरस्य पीतये विदुर्वीरस्य प्रथमानि पौंस्या॥ ७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार आचार्यों से सुमति प्राप्त करनेवाले **प्रस्कम्भदेष्णाः**=प्रकर्षेण दान को धारण करनेवाले बनते हैं, ये निरन्तर दानशील होते हैं। **अनवभ्रराधसः**=(अभ्रष्टहविरादिधनाः) इनका हविरूप धन कभी नष्ट नहीं होता। ये सदा हवि का स्वीकार करते हैं, दानपूर्वक ही अदन करनेवाले होते हैं, **अलातृणासः**=(अलं पर्याप्तं आतर्दनाः शत्रूणाम्—सा०) हवि की वृत्ति से

काम-क्रोधादि शत्रुओं के खूब ही संहार करनेवाले होते हैं। हवि के द्वारा लोभ नष्ट हो जाता है, लोभ के नाश से कामक्रोधादि भी समाप्त हो जाते हैं, **विदथेषु सुष्टुताः**=ज्ञानयज्ञों में ये उत्तम स्तवनवाले होते हैं (शोभनं स्तुतं येषाम्)। २. **मदिरस्य**=मद व हर्ष के कारणभूत सोम के **पीतये**=शरीर में ही पान के लिए ये प्राणसाधक पुरुष **अर्कम्**=उस उपासनीय प्रभु को **अर्चन्ति**=अर्चित करते हैं। 'प्रभु-उपासना' वासनाओं को विनष्ट करके उन्हें सोम के पान व रक्षण के योग्य बनाती है। इस प्रकार सोम का रक्षण करते हुए ये पुरुष **वीरस्य**=वीर प्रभु के **प्रथमानि पौंस्या**=सर्वोत्कृष्ट बलों को **विदुः**=जानते हैं, अर्थात् प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—श्रेष्ठ पुरुष 'दानशील, हवि का धारण करनेवाले, कामादि शत्रुओं के संहारक, स्तोता व उपासना के द्वारा सोम के रक्षक—प्रभु की शक्ति को प्राप्त करनेवाले' होते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन

शतभुंजिभिस्तमभिहुतेरघात्पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत।
जनं यमुग्रास्तवसो विरप्शिनः पाथना शंसात्तनयस्य पुष्टिषु॥ ८॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **यम्**=जिसको **आवत**=आप रक्षित करते हो **तम्**=उसे **शतभुजिभिः**=सौ वर्ष पर्यन्त पालित होनेवाले **पूर्भिः**=शरीरों के द्वारा **अभिहुतेः**=कुटिलता से तथा **अघात्**=पाप से **आ रक्षत**=बचाये रखते हो। प्राणसाधना का पहला परिणाम यह है कि शरीर सौ वर्ष पर्यन्त बड़ा स्वस्थ बना रहता है, दूसरा यह कि मन में कुटिलता व पाप की वृत्ति नहीं रहती। २. हे **उग्राः**=तेजस्वी **तवसः**=बलवान् **विरप्शिनः**=महान् अथवा विशिष्ट स्तुति-शब्दोंवाले (रप्=शब्द) प्राणसाधको! आप **यं जनम्**=जिस मनुष्य को **पाथन**=रक्षित करते हो वह **तनयस्य पुष्टिषु**=सन्तानों का पोषण होने पर **आ शंसात्**=शंसन करनेवाला हो। ब्रह्मचर्याश्रम में जिसे तेजस्वी, बलवान्, प्रभुस्तवन करनेवाले ज्ञानी आचार्य प्राप्त होते हैं और उसे अशुभ मार्ग में जाने से बचाते हैं, वह व्यक्ति सद्गृहस्थ बनकर सन्तानों का समुचित पोषण करता है। इस पोषण-कार्य की समाप्ति पर वह गृहस्थ के बोझ से मुक्त होकर स्वयं पाठन व प्रचार-कार्य में व्यापृत होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाले बनें। उत्तम आचार्यों द्वारा सुरक्षित जीवनवाले होकर सद्गृहस्थ बनें और गृहस्थ को समुचित रूप से निभाकर पाठन व प्रचार-कार्य में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

राष्ट्र के सैनिक

विश्वानि भद्रा मरुतो रथेषु वो मिथस्पृध्येव तविषाण्याहिता।
अंसेष्वा वः प्रपथेषु खादयोऽक्षो वश्चक्रा समया वि वावृते॥ ९॥

१. हे **मरुतः**=(म्रियन्ते, न पलायन्ते) राष्ट्ररक्षक सैनिको! **वः रथेषु**=तुम्हारे रथों पर **विश्वानि भद्रा**=सब कल्याणकर वस्तुएँ **आहिता**=रखी हैं, सब आवश्यक युद्ध-सामग्री वहाँ विद्यमान है, सब आवश्यक आयुध उसमें रखे हैं। **मिथः**=परस्पर **स्पृध्या इव**=स्पर्धा से ही मानो **तविषाणि**=(आहिता) तुममें बलों का स्थापन हुआ है। एक-दूसरे के साथ बल के दृष्टिकोण से स्पर्धा करते हुए ये सैनिक अपने को खूब बलवान् बनाते हैं। २. **प्रपथेषु**=युद्ध-यात्राओं के

प्रकृष्ट मार्गों में **वः**=तुम्हारे **अंसेषु**=कन्धों पर **खादयः**=(खाद्=to hurt) शत्रुनाशक अस्त्र हैं और **वः**=तुम्हारे **अक्षः**=रथ का धुरा (axle) **चक्रा समया**=चक्रों के समीप **विवावृते**=विशिष्ट वर्तनवाला होता है, अर्थात् तुम्हारा रथ कभी शिथिल गतिवाला नहीं होता।

भावार्थ—सैनिकों के रथ आयुध-सम्पन्न हैं। सैनिक परस्पर स्पर्धा से बलों को बढ़ानेवाले हैं। इनके कन्धों पर अस्त्र हैं। इनके रथ सदा गतिशील हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

सैनिकों की शोभा

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षःसु रुक्मा रभसासो अञ्जयः।
अंसेष्वेताः पविषु क्षुरा अधि वयो न पक्षान् व्यनु श्रियो धिरे॥ १०॥

१. गत मन्त्र में वर्णित मरुतों (सैनिकों) की **नर्येषु**=नर-हितकारी **बाहुषु**=भुजाओं में **भूरीणि भद्रा**=खूब ही कल्याणकर कर्म आश्रित हैं। ये सैनिक राष्ट्र के भरणात्मक कार्यों में सदा लगे रहते हैं। युद्ध का अवसर न होने पर भी ये राष्ट्रोपयोगी अन्य निर्माणात्मक कार्यों में भाग लेनेवाले होते हैं। २. ये **वक्षःसु**=छातियों पर **रुक्माः**=स्वर्ण-पदकों को **धिरे**=धारण करते हैं, जो स्वर्ण-पदक **रभसासः अञ्जयः**=इनके शक्तियुक्त कर्मों को प्रकट करनेवाले हैं। ३. **अंसेषु**=इनके कन्धों पर **एताः**=(shining) चमकते हुए अस्त्र होते हैं, **पविषु**=इनके वज्रादि अस्त्रों में **क्षुराः**=क्षुरे के समान तेज़ धार होती है। इस प्रकार ये सैनिक **वयः पक्षान्**=जैसे पक्षी पंखों को धारण करते हैं, उसी प्रकार **श्रियः**=शोभाओं को **वि अनुधिरे**=विशेषरूप से धारण करते हैं। शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सैनिक अत्यन्त शोभायमान होते हैं।

भावार्थ—सैनिक सदा राष्ट्रहितकारी कार्यों में व्यापृत रहते हैं। उनके बल के कार्यों के सूचक स्वर्ण-पदक उनके वक्षःस्थलों को सुशोभित करते हैं। ये शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सैनिक खूब ही शोभायमान होते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधक पुरुष

महान्तो मह्ना विभ्वो३ विभूतयो दूरेदृशो ये दिव्याइव स्तृभिः।
मन्द्राः सुजिह्वाः स्वरितार आसभिः संमिश्ला इन्द्रे मरुतः परिष्टुभः॥ ११॥

१. **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **मह्ना**=अपनी महिमा से **महान्तः**=आदरणीय, **विभ्वः**=विशिष्ट शक्तिवाले, **विभूतयः**=ऐश्वर्यसम्पन्न, **दूरेदृशः**=दूर से ही दिखनेवाले, अर्थात् अपने यश व तेज से इस प्रकार प्रकाशमान होते हैं **इव**=जैसे कि **दिव्याः**=द्युलोक में होनेवाले पिण्ड **स्तृभिः**=तारों से चमकते हैं। २. **मन्द्राः**=ये आनन्दमय स्वभाववाले, **सुजिह्वाः**=उत्तम जिह्वावाले, अर्थात् मधुरभाषी तथा **आसभिः**=मुखों से **स्वरितारः**=सदा स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाले होते हैं। ३. **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **संमिश्लाः**=सम्यक् मेलवाले ये **मरुत्**=प्राणसाधक पुरुष **परिष्टुभः**=सदा स्तुतियुक्त होते हैं। अपने सब कार्यों को करते हुए ये प्राणसाधक लोग प्रभु का स्मरण करते हैं। प्रभु स्मरणपूर्वक ही इनके सब कार्य होते हैं, इसी कारण ये 'महिमा से महान्, विशिष्ट शक्तिवाले, ऐश्वर्यसम्पन्न, प्रकाशमान, आनन्दमय व मधुरभाषी' होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य आत्मतत्त्व की ओर झुकता है और प्रभु का उपासक बनकर उत्तम जीवनवाला होता है।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

क्रोध व ईर्ष्या से दूर

तद्वः सुजाता मरुतो महित्वनं दीर्घं वो दात्रमदितेरिव व्रतम्।
इन्द्रश्चन त्यजसा वि ह्रुणाति तज्जनाय यस्मै सुकृते अराध्वम्॥ १२॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **सुजाताः**=आप उत्तम विकासवाले होते हो और **वः**=आपका **तत्**=वह **महित्वनम्**=महत्त्व तथा **वः**=आपका **दात्रम्**=दान **दीर्घम्**=(अत्यायतम-विच्छिन्नम्—सा०) अति विस्तृत व अविच्छिन्न होता है। आपका यह दान भी **अदितेः व्रतम् इव**=इस अदीना देवमाता (प्रकृति) के व्रत के समान है। प्रकृति सब उपभोगों को प्राप्त कराती हुई इस अपने दानकार्य को विच्छिन्न नहीं होने देती। इसी प्रकार प्राणसाधक पुरुष अपने दान के व्रत को विच्छिन्न नहीं होने देते। २. **यस्मै**=जिस **सुकृते**=पुण्यशील **जनाय**=व्यक्ति के लिए **अराध्वम्**=आप धन प्राप्त कराते हो **तत्**=उसे **इन्द्रः चन**=प्रभु भी **त्यजसा**=(anger, envy) क्रोध व ईर्ष्या से **विह्रुणाति**=पृथक् करता है। प्राणसाधक पुरुष के सम्पर्क से अन्य लोग भी प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं। इस प्राणसाधना से उनमें भी उत्तम वृत्तियाँ जाग्रत् होती हैं। ऐसे लोगों को प्रभु क्रोध व ईर्ष्यादि अवाञ्छनीय प्रवृत्तियों से पृथक् रखते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से वृत्तियाँ शुभ होती हैं और व्यक्ति क्रोध व ईर्ष्यादि से ऊपर उठ जाता है।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

उत्कृष्ट चतुष्क सम्बन्ध

तद्वो जामित्वं मरुतः परे युगे पुरू यच्छंसममृतास आवत।
अया धिया मनवे श्रुष्टिमाव्या साकं नरो दंसनैरा चिकित्रिरे॥ १३॥

१. **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=आपका **तत् जामित्वम्**=वह प्रसिद्ध बन्धुत्व **परे युगे**=उत्कृष्ट चतुष्क में होता है (युग शब्द चार के लिए भी प्रयुक्त होता है) आपका जीवन 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष'-रूप चारों पुरुषार्थों को लेकर चलता है। आप धर्मपूर्वक कमाते हुए संसार के उचित काम्य पदार्थों का सेवन करते हुए मोक्ष को सिद्ध करते हो। **यत्**=क्योंकि आप **अमृतासः**=संसार के विषयों के पीछे न मरते हुए—नीरोग होते हुए **पुरु**=पालक व पूरक **शंसम्**=ज्ञान को **आवत**=अपने में सुरक्षित करते हो। वस्तुतः ज्ञान वही है जो हमारे शरीरों को रोगों से बचाये और मन में न्यूनता न आने दे। सांसारिक विषयों में फँसने पर मनुष्य इस उत्कृष्ट ज्ञान की उपेक्षा करके व्यर्थ की बातों को ही जानने में लगा रहता है। २. हे मरुतो! आप **अया**=इस **धिया**=बुद्धि के द्वारा **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **श्रुष्टिम्**= (prosperity, happiness) समृद्धि व सुख को **आव्य**=सुरक्षितरूप में प्राप्त कराके **नरः**=औरों को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले बनकर **दंसनैः**=(act, deed) कर्मों के **साकम्**=साथ **आचिकित्रिरे**=जाने जाते हो। आप अपने कर्मों से प्रसिद्धि पाते हो, सदा यशस्वी कर्मोंवाले होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुषों का सम्बन्ध उत्कृष्ट 'धर्मार्थकाममोक्ष' से होता है। वे औरों को ज्ञान देकर उनकी सुख-समृद्धि बढ़ानेवाले होते हैं।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अभीष्टि-लाभ', अभ्युदय और निःश्रेयस

येन दीर्घं मरुतः शूशवाम युष्माकेन परीणसा तुरासः।
आ यत्ततनन्वृजने जनास एभिर्यज्ञेभिस्तदभीष्टिमश्याम्॥ १४॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **युष्माकेन**=आपसे प्राप्त करने योग्य **येन**=जिस **परीणसा**=पालन व पूरण के द्वारा **तुरासः**=त्वरावाले होते हुए (त्वर) अथवा वासनाओं का संहार करते हुए (तुर्वी) **दीर्घम्**=दीर्घजीवन को **शूशवाम**=बढ़ानेवाले हों तथा **जनासः**=शक्तियों का विकास करनेवाले लोग **वृजने**=संग्राम में—काम-क्रोधादि से होनेवाले युद्ध में **यत्**=जो **आततनन्**=अपनी विजय को विस्तृत करते हैं, **एभिः यज्ञेभिः**=इस 'वासना-संहार द्वारा दीर्घजीवन की प्राप्ति तथा काम-क्रोधादि संग्राम में विजयरूप' उत्तम कर्मों के द्वारा (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) हम **तत्**=उस **अभीष्टिम्**=वाञ्छनीय वस्तु को **अश्याम**=प्राप्त करनेवाले हों। २. प्राणसाधना का पहला परिणाम शरीर पर इस रूप में होता है कि वासनाक्षय से शरीर में शक्ति की वृद्धि होकर दीर्घजीवन प्राप्त होता है, दूसरा परिणाम यह है कि अध्यात्म संग्राम में विजय प्राप्त करके हम शारीरिक स्वास्थ्य की भाँति मानस स्वास्थ्य को भी प्राप्त करनेवाले बनते हैं। ३. शारीरिक स्वास्थ्य से 'अभ्युदय'-रूप इष्टि की प्राप्ति होती है और मानस स्वास्थ्य से हम 'निःश्रेयस' की प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'स्वस्थ शरीर' बनकर हम अभ्युदय को सिद्ध करें और स्वस्थ मनवाले बनकर निःश्रेयस के अधिकारी हों।

ऋषिः—मैत्रावरुणोऽगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्तोम और गीः

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १५॥

इस मन्त्र का अर्थ १६५।१५ पर द्रष्टव्य है।

विशेष—'अगस्त्य' ऋषि द्वारा दृष्ट मरुत् देवतावाले अगले दोनों सूक्त भी इसी मन्त्र के साथ समाप्त होंगे। वस्तुतः प्राणसाधना का यही लाभ है कि मन में स्तोम हो, मस्तिष्क में गीः=ज्ञान की वाणी तथा हम इस प्राणसाधना से 'प्रेरणा, पापवर्जन व दीर्घजीवन' को प्राप्त करें।

[१६७] सप्तषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रो मरुच्च। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रक्षण, प्रेरणा, धन, शक्ति

सहस्रं त इन्द्रोतयो नः सहस्रमिषो हरिवो गूर्ततमाः।
सहस्रं रायो मादयध्यै सहस्रिण उप नो यन्तु वाजाः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते**=आपकी **ऊतयः**=रक्षाएँ **सहस्रम्**=हजारों हैं, सहस्रों प्रकारों से आप हमारा रक्षण करते हैं। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! आपकी **सहस्रम् इषः**=सहस्रशः (हजारों) प्रेरणाएँ **नः**=हमारे लिए **गूर्ततमाः**=उद्यततम हों। आपकी प्रेरणाएँ हमारे जीवनों में प्रसुप्त न रहें, वे जागरित हों। हम उनके अनुसार चलते हुए अपने इन्द्रियाश्वों को उत्तम बनानेवाले हों। २. आपके **सहस्रं रायः**=सहस्रों धन **मादयध्यै**=हमारे जीवन में आनन्द उत्पन्न करनेवाले हों। आपकी प्रेरणा से धनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम आनन्द को सिद्ध करनेवाले हों। ३. आपकी **सहस्रिणः वाजाः**=हजारों शक्तियाँ **नः**=हमें **उपयन्तु**=समीपता से प्राप्त हों। आपके दिये हुए धनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम शक्तिसम्पन्न बनें।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें 'रक्षण, प्रेरणा, धन व शक्ति' प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रो मरुच्च। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रक्षण व ज्ञान देने का कार्य

आ नोऽवोभिर्मरुतो यान्त्वच्छा ज्येष्ठेभिर्वा बृहद्दिवैः सुमायाः।
अध यदेषां नियुतः परमाः समुद्रस्य चिद्धनयन्त पारे॥२॥

१. **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **अवोभिः**=रक्षणों के हेतु से **नः**=हमारे **अच्छ**=अभिमुख **आयन्तु**=आएँ। वस्तुतः ऐसे पुरुषों द्वारा होनेवाला रक्षण ही उत्तम होता है। २. **वा**=और **सुमायाः**=उत्तम प्रज्ञावाले ये प्राणसाधक **ज्येष्ठेभिः**=प्रशस्यतम **बृहद्दिवैः**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञानों से हमें प्राप्त हों। ये हमें उन श्रेष्ठ ज्ञानों को देनेवाले हों जो हमारी वृद्धि के कारण बनते हैं। ३. **अध**=अब **यत्**=क्योंकि **एषाम्**=इनके **नियुतः**=निश्चय से अपने-अपने कर्मों में व्याप्त होनेवाले इन्द्रियाश्व **परमाः**=अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं, अतः वे इन्द्रियाश्व **समुद्रस्य चित् पारे**=(समुद्रस्य इव हि कामः। नैव कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य—तै० २।२।५।६) काम के पार **धनयन्त**=(दधन्ति) धारण करते हैं। सदा कर्त्तव्यों में व्यापृत मनुष्य का मन कामादि वासनाओं से ऊपर उठा रहता है, एवं कार्यों में व्यापृत इन्द्रियाश्व हमें वासना-समुद्र में डूबने से बचाते हैं।

भावार्थ—रक्षणात्मक कार्यों व ज्ञान देने के कार्यों को प्राणसाधना करनेवाले पुरुष ही अच्छी प्रकार कर पाते हैं। चूँकि ये लोग सदा कर्मों में लगे रहते हैं, अतः वासना-समुद्र में नहीं डूबते।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रो मरुच्च। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

घोर अन्धकार में प्रकाश

मिम्यक्ष येषु सुधिता घृताची हिरण्यनिर्णिगुपरा न ऋष्टिः।
गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव सं वाक्॥३॥

१. प्राणसाधक वे हैं **येषु**=जिनमें **सुधिता**=सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में धारण की गई **घृताची**=मलों का क्षरण व ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाली (घृत+अञ्च), **हिरण्यनिर्णिक्**=हितरमणीय रूपवाली (निर्णिक्=रूप) वेदवाणी **मिम्यक्ष**=संगत होती है (म्यक्षतिः गतिकर्मा), अर्थात् इन्हें यह वेदवाणी प्राप्त होती है। यह वेदवाणी इन्हें इस प्रकार प्राप्त होती है **न**=जैसे **उपरा ऋष्टिः**=मेघमाला में होनेवाली विद्युत्। मेघ और विद्युत् के संग की भाँति इन प्राणसाधकों व ज्ञान की वाणियों का संग होता है। घने नील वर्णवाली मेघमाला व विद्युत् की उपमा इसलिए दी गई है कि जीवन के अत्यन्त अन्धकारमय प्रसंग में यह ज्ञान की वाणी विद्युत् की भाँति प्रकाश करनेवाली होती है। २. यह ज्ञान की वाणी **गुहा चरन्ती**=हृदयरूप गुफा में विचरण करती हुई **मनुषः न योषा**=मनुष्य की पत्नी के समान होती है। जैसे पत्नी पति की पूरिका होती है, वैसे ही यह मनुष्य की पूर्णता का कारण बनती है। ३. **सभावती**=सभावाली यह ज्ञानवाणी अर्थात् सभाओं में उच्चारण की जाती हुई यह वाणी **विदथ्या संवाक् इव**=ज्ञान व यज्ञों में उत्तम वाणी के समान होती है। यह ज्ञान को बढ़ानेवाली व यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणसाधकों में उस ज्ञान की वाणी का सम्पर्क होता है जो (क) घोर अन्धकार में प्रकाश देनेवाली है, (ख) जो कमियों को दूर करके जीवन को पूरण करती है तथा (ग) ज्ञान व यज्ञों का वर्धन करनेवाली होती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रो मरुत्वश्च। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

रोदसी का अपनोदन

परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः।
न रोदसी अप नुदन्त घोरा जुषन्त वृधं सख्याय देवाः॥४॥

१. **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **शुभ्राः**=मल व दोष से रहित शुभ्र जीवनवाले बनते हैं, **अयासः**=ये निरन्तर गतिशील होते हैं। ये मरुत् **यव्या**=(यु) दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाली **साधारण्या इव**=जो सबके लिए समानरूप से हित करनेवाली, सबकी माता के समान है (स्तुता मया वरदा वेदमाता) उस वेदवाणी से **परा मिमिक्षुः**=उत्कृष्ट रूप से संगत होते हैं। प्राणसाधना का पहला लाभ यही है कि ज्ञान दीप्त हो उठता है। २. ये **घोराः**=उत्कृष्ट, तेजस्वी जीवनवाले प्राणसाधक **रोदसी**=अपने द्यावापृथिवी को **न अपनुदन्त**=दूर नहीं करते, नष्ट नहीं करते। इनका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त होता है तो शरीररूप पृथिवी बड़ी दृढ़ होती है। ३. इस प्रकार ये **वृधम्**=वृद्धि का **जुषन्त**=सेवन करनेवाले होते हैं और सब प्रकार की उन्नति करते हुए ये **देवाः सख्याय**=देववृत्ति के पुरुष इस प्रभु की मित्रता के लिए होते हैं। उन्नति का अभिप्राय यही तो है कि शरीर में 'अजर व अमर' बनना, मन में 'सुमनस् व सुपर्वा' (उत्तम गुणों को भरनेवाला) बनना तथा मस्तिष्क में 'विबुध व दिवौकस्' (ज्ञान का विकास करनेवाला) बनना। यही देव बनना है। देव बनकर हम महादेव के मित्र होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा सम्बन्ध ज्ञान के साथ होता है, शरीर व मस्तिष्क उत्तम बनते हैं, वृद्धि को प्राप्त करते हुए हम देव बनकर महादेव के मित्र बन पाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रो मरुत्वश्च। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

उपासक के जीवन में 'असुर्या' का प्रवेश

जोषद्यदीमसुर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृमणाः।
आ सूर्येव विधतो रथं गात्त्वेषप्रतीका नभसो नेत्या॥५॥

१. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **असुर्या**=(असुरस्य इयम्) प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले प्रभु की पुत्री के समान यह वेदवाणी **जोषत्**=हमारा सेवन करती है, हमें प्राप्त होती है। यह **विषितस्तुका**=विशेषरूप से बद्ध-केशसंघवाली—विशिष्ट ज्ञान की रश्मियोंवाली (केश=प्रकाशरश्मि) उस महान् असुर (प्रभु) की पुत्री **सचध्यै**=हमारे साथ संगमनवाली होती है, उस समय यह **रोदसी**=सम्पूर्ण द्यावापृथिवी के पदार्थों का प्रतिपादन करनेवाली वाणी **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्याः) मनुष्यों का हित करने के मनवाली होती है। सब पदार्थों का ज्ञान देती हुई यह उनका कल्याण करती है। २. यह **सूर्या इव**=सूर्य की भाँति चारों दिशाओं में प्रकाश फैलाती हुई **विधतः**=उपासक के, नियमपूर्वक स्वाध्याय के द्वारा 'सरस्वती' की आराधना करनेवाले के **रथं गात्**=रथ को प्राप्त होती है। **त्वेषप्रतीका**=यह दीप्त अंगोंवाली—प्रकाशमय वेदवाणी **नभसः इत्या न**=सूर्य के आगम के समान है। वेदवाणी के प्राप्त होते ही सारा अन्तःकरण इस प्रकार दीप्त हो उठता है, जैसे कि सूर्य के आगमन से सारा आकाश।

भावार्थ—यह वेदवाणी प्रभु की पुत्री के समान है। दीप्त अंगोंवाली है। द्युलोक से पृथिवीलोक तक के सारे पदार्थों का ज्ञान देती हैं। सरस्वती के आराधक के जीवन में इसका प्रवेश इस प्रकार होता है जैसे आकाश में सूर्य का। यही वेदवाणी से हमारा परिणय (विवाह) है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रो मरुच्च । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

युवति का आस्थापन

**आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम्।
अर्को यद्वो मरुतो हविष्मान्गायद्गाथं सुतसोमो दुवस्यन् ॥ ६ ॥**

१. गत मन्त्र में वेदवाणी को **असुर्या**=महान् प्राणशक्ति के सञ्चारक प्रभु की पुत्री कहा था। यह युवति है। गुणों का सम्पर्क करनेवाली व अवगुणों को हम से विपृक्त करनेवाली। इस **युवतिम्**=युवति को **युवानः**=वे उपासक जो सदा दुर्गुणों को दूर करके भद्र को अपने साथ संगत करते हैं, **आस्थापयन्त**=अपने में स्थापित करते हैं। यह युवति हमें शुभे **निमिश्लाम्**=शुभ कर्मों में जोड़नेवाली है तथा **विदथेषु पज्राम्**=ज्ञानयज्ञों में बलवाली है, अर्थात् ज्ञानयज्ञों में प्रेरित करके हमें शक्तिशाली बनानेवाली है। हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **यत्**=जब **वः**=तुममें जो भी व्यक्ति **अर्कः**=वेदवाणी के मन्त्रों द्वारा प्रभु का अर्चन करनेवाला बनता है और **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला होता है, वह **सुतसोमः**=अपने में सोम-(वीर्य)-शक्ति का उत्पादन करनेवाला होकर **दुवस्यन्**=प्रभु की परिचर्या करता हुआ **गाथं गायत्**=प्रभु की गुण-गाथाओं को गाता है।

भावार्थ—वेदवाणी हमें शुभ में प्रेरित करती है। ज्ञानयज्ञों के द्वारा हमारे बल को बढ़ाती है। प्रभु का उपासक 'हविष्मान् व सुतसोम' होता है। वेदवाणी ही मनुष्य को उपासक बनाती है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रो मरुच्च । छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः । स्वरः—पञ्चमः ।

प्राणसाधना के तीन लाभ

**प्र तं विविक्मि वक्म्यो य एषां मरुतां महिमा सत्यो अस्ति।
सचा यदीं वृषमणा अहंयुः स्थिरा चिज्जनीर्वहते सुभागाः ॥ ७ ॥**

१. **यः**=जो **एषां मरुताम्**=इन प्राणों की व प्राणसाधक पुरुषों की **वक्म्यः**=कथन करने योग्य (प्रशंसनीय) **सत्यः महिमा अस्ति**=सत्य महिमा है **तम्**=उस महिमा को **प्रविवक्मि**=मैं प्रकर्षेण प्रतिपादित करता हूँ। २. **यत्**=क्योंकि यह **ईम्**=निश्चय से **सचा**=(सच समवाये) उस प्रभु से मेलवाला होता है, अतः यह **वृषमणाः**=धर्मयुक्त मनवाला होता है—प्रभुस्मरण के कारण अशुभ वृत्तियों के आक्रमण से बच जाता है। **अहंयुः**=(अह व्याप्तौ) सर्वव्यापक प्रभु को प्राप्त करने की कामनावाला होता है अथवा उचित आत्मगौरव की भावनावाला होता है तथा **सुभागाः**=सदा उत्तम भजनीय (सेवनीय) धनोंवाला होता हुआ **चित्**=निश्चय से **स्थिरा जनीः**=स्थिर शक्तिविकासों को (जन्=प्रादुर्भावे) **वहते**=धारण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) हमारा प्रभु से मेल होता है, (ख) हमारी वृत्ति धार्मिक बनती है, (ग) शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रो मरुच्च । छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

प्राणसाधना और शुद्धि

**पान्ति मित्रावरुणावद्याच्चयत ईमर्यमो अप्रशस्तान्।
उत च्यवन्ते अच्युता ध्रुवाणि वावृध ईं मरुतो दातिवारः ॥ ८ ॥**

१. **मित्रावरुणौ**=प्राणापान **अवद्यात्**=पाप से **पान्ति**=बचाते हैं। प्राणसाधना से अशुभ वृत्तियों का क्षय होता है। प्राणसाधना के होने पर **अर्यमा उ**=अर्यमा भी **ईम्**=निश्चय से

अप्रशस्तान्=सब अप्रशस्त बातों को **चयते**=नष्ट करता है। अर्यमा का भाव है 'अरीन् यच्छति' काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन। प्राणसाधना करने पर प्राणापान सब दोषों का दहन करनेवाले होते हैं। दोष-दहन से सब अवद्य=पाप दूर हो जाते हैं। हम काम-क्रोधादि का नियमन करके अर्यमा बनते हैं। यह अर्यमा सब अप्रशस्त बातों को नष्ट करनेवाला होता है। २. ये प्राणसाधक **ध्रुवाणि उत**=अत्यन्त दृढ़मूल हुई-हुई वासनाओं को भी **च्यवन्ते**=हिला देनेवाले होते हैं और **अच्युता**=कभी न हिलाई जा सकनेवाली वासनाओंको भी च्युत कर देते हैं। ३. इस प्रकार हे **मरुतः**=प्राणो! यह **दातिवारः**=(दत्तहविर्लक्षणधनः—सा०) वरणीय धनों का दान करनेवाला साधक **ईम्**=निश्चय से **वावृधे**=बढ़ता है। लोभ को जीतकर यह दान देनेवाला बनता है और इस दानवृत्ति से यह शुभ मार्ग पर और अधिक आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा जीवन शुद्ध बनता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रो मरुच्च। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अन्तः व बाह्य शत्रुओं का धर्षण

नही नु वो मरुतो अन्त्यस्मे आरात्ताच्चिच्छवसो अन्तमापुः।
ते धृष्णुना शवसा शूशुवांसोऽर्णो न द्वेषो धृषता परिष्ठुः॥ ९॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **नु**=निश्चय से **अस्मे**=हमारे **अन्ति**=समीप के अर्थात् काम-क्रोधादि अन्तःशत्रु तथा **आरात्तात् चित्**=दूर के शत्रु भी—बाह्य शत्रु भी **वः शवसः**=तुम्हारी शक्ति के **अन्तम्**=अन्त को **नहि आपुः**=प्राप्त नहीं करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना से कामादि अन्तःशत्रु तो नष्ट होते ही हैं, बाह्य शत्रु भी इस प्राणसाधक का पराभव नहीं कर सकते। २. **ते**=वे प्राणसाधक **धृष्णुना**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले **शवसा**=बल से **शूशुवांसः**=बढ़ते हुए **द्वेषः**=शत्रुओं को **धृषता परिष्ठुः**=धर्षण के द्वारा पराभूत करते हैं (give them a crushing defeat)। इस प्रकार पराभूत करते हैं **न**=जैसे कि **अर्णः**=जल अपनी विरोधिनी धूल को पराभूत करता है। जल धूल को एक न उड़ती रहनेवाली मिट्टी के रूप में परिवर्तित कर देता है। प्राणसाधक भी काम को प्रेम में, क्रोध को करुणा में व लोभ को त्याग में परिवर्तित करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वह बल मिलता है जो सब शत्रुओं का धर्षण कर देता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रो मरुच्च। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु के प्रिय

वयमद्येन्द्रस्य प्रेष्ठा वयं श्वो वोचेमहि समर्ये।
वयं पुरा महि च नो अनु द्यून्तन्न ऋभुक्षा नरामनु ष्यात्॥ १०॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना के द्वारा अन्तः व बाह्य शत्रुओं का नाश करके **वयम्**=हम **अद्य**=आज **इन्द्रस्य**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु के **प्रेष्ठाः**=प्रियतम होते हैं। **वयम्**=हम **श्वः**=अगले दिन भी प्रभु के प्रिय बनते हैं। 'अद्य श्वः' यह शब्दविन्यास 'आजकल' का वाचक है। हम जब शत्रुओं का नाश करनेवाले बनते हैं तो प्रभु के प्रिय होते हैं। प्रभु-प्रिय होते हुए हम **समर्ये**=(संग्रामे यज्ञे वा—सा०) मनुष्यों के एकत्र होने के स्थानों में अर्थात् युद्धों व यज्ञों के प्रसंग में **वोचेमहि**=उस प्रभु को ही पुकारनेवाले हों। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर ही तो हम इन युद्धों व यज्ञों में सफल हो पाएँगे। २. **च वयम्**=और हम **पुरा**=सबसे पहले **अनुद्यून्**=दिन-प्रतिदिन **नः**=अपनी **महि**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति

को (वोचेमहि) माँगनेवाले हों। हम सदा पूजा की मनोवृत्तिवाले बने रहें। यह वृत्ति ही हमें महत्त्व प्राप्त कराएगी। ३. **तत्**=ऐसा होने पर **ऋभुक्षाः**=वह महान् प्रभु **नः**=हम **नराम्**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवालों के **अनुष्यात्**=अनुकूल हो—हमारे लिए सब अभिमत वस्तुओं को देनेवाला हो।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं को जीतकर हम प्रभु के प्रिय बनें। संग्रामों व यज्ञों में प्रभु की आराधना करें। प्रभु से ही पूजा की मनोवृत्ति व अभिमत वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रो मरुच्च। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'मान्दार्य, मान्य, कारु' का स्तवन

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ११॥

इस मन्त्र की व्याख्या १६५।१५ पर द्रष्टव्य है।

विशेष—इस सूक्त का मुख्य विषय यही है कि प्रभु के रक्षणों को प्राप्त करके हम शक्तिशाली बनें (१), तथा शत्रुओं का विजय करके प्रभु के प्रिय बनें (१०)। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१६८] अष्टषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

अन्यूनता—अनतिरिक्तता

यज्ञायज्ञा वः समना तुतुर्वणिर्धियंधियं वो देवया उ दधिध्वे।
आ वोऽर्वाचः सुविताय रोदस्योर्महे ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः॥ १॥

१. हे मरुतः=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=तुम्हारी **यज्ञा यज्ञा**=प्रत्येक यज्ञ में **समना**=समता—न न्यूनता, न अधिकता **तुतुर्वणिः**=त्वरा से विघ्नों व शत्रुओं का विजय करनेवाली हो (तूर्णवनिः—यास्क)। तुम प्रत्येक उत्तम कार्य को युक्तचेष्ट होकर करने से निर्विघ्नतया पूर्ण करनेवाले बनो। कार्य का सबसे बड़ा विघ्न यही है कि वह अति व अल्परूप में किया जाता हुआ फलप्रद नहीं होता। २. हे मरुतो! **वः**=(यूयम्—सा०) आप **देवयाः**=देवों को प्राप्त करनेवाले होते हुए **उ**=निश्चय से **धियं धियं**=प्रत्येक ज्ञान व उत्तम कर्म को **दधिध्वे**=धारण करते हो। (धी-प्रज्ञानाम, कर्मनाम—नि०)। माता-पिता व आचार्य के सम्पर्क में रहते हुए ये प्राणसाधक उत्तम ज्ञान को प्राप्त करके उत्तम कर्मों को ही करनेवाले बनते हैं। ३. हे मरुतो! **वः**=तुम्हें **सुवृक्तिभिः**=उत्तम स्तुतियों व दोषवर्जन से **अर्वाचः आववृत्याम्**=मैं अपने अभिमुख करूँ, ताकि **सुविताय**=मेरे जीवन में सुवित हो—दुरित से मैं दूर होऊँ। **रोदस्योः महे**=द्यावापृथिवी के महत्त्व के लिए मैं आपको अपने अभिमुख करूँ। मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक इस प्राणसाधना के द्वारा ज्ञानोज्ज्वल बने और शरीररूप पृथिवीलोक बड़ा दृढ़ हो। **अवसे**=मैं अपने रक्षण के लिए इन प्राणों को अपने अभिमुख करता हूँ। इस प्राणसाधना से मेरा शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) प्रत्येक कर्म युक्तरूप में होता है, (ख) ज्ञान की वृद्धि होती है, (ग) दुरितों से दूर होकर हम सुवितों को अपनाते हैं, (घ) मस्तिष्क व शरीर दोनों सुन्दर बनते हैं, (ङ) किसी प्रकार के रोग व वासना का आक्रमण नहीं होता।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—मरुतः । छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

प्रेरणा व प्रकाश की ओर

वव्रासो न ये स्वजाः स्वतवस इषं स्वरभिजायन्त धूतयः ।
सहस्त्रियासो अपां नोर्मय आसा गावो वन्द्यासो नोक्षणः ॥ २ ॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **वव्रासो न**=(व्रज गतौ, सद्यो गन्तारः—द०) शीघ्र गतिशील पुरुषों के समान होते हैं अथवा (वव्रिः, इति रूपनाम—सा०) उत्तम रूपवाले होते हैं, **स्वजाः**=आत्मशक्ति का विकास करनेवाले **स्वतवसः**=आत्मिक बलवाले **ये**=जो पुरुष हैं, वे **इषम्** (अभि)=प्रेरणा की ओर तथा **स्वः अभि**=आत्म-प्रकाश की ओर **जायन्त**=अग्रसर होते हैं, अर्थात् ये प्रभु-प्रेरणा के अनुसार चलते हैं और इस प्रेरणा से उन्हें प्रकाश प्राप्त होता है। इसी कारण **ये धूतयः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर भगानेवाले होते हैं। २. ये लोग **सहस्त्रियासः**=हजारों **अपाम् ऊर्मयः न**=जलों की लहरों के समान होते हैं। जिस प्रकार नदी में तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार इनके हृदय उल्लासों से तरंगित रहते हैं। इनका उत्साह सदा बना रहता है। ३. **आसा**=मुख से ये **गावः**=गौओं के समान होते हैं। गौएँ जैसे दूध देती हैं, उसी प्रकार ये लोग मुख से ज्ञानदुग्ध देनेवाले होते हैं। ४. **उक्षणः न**=जलों से सींचनेवाले मेघों के समान ये साधक सर्वत्र ज्ञान का सेचन करते हुए **वन्द्यासः**=वन्दनीय व स्तुति के योग्य होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष-प्रभु की प्रेरणा व प्रकाश में चलते हुए वासनाओं को कम्पित करके दूर भगा देते हैं। ये उल्लासमय हृदयवाले होते हुए सदा ज्ञानजल से सभी का सेचन करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—मरुतः । छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

क्रियाशीलता व भोजन

सोमासो न ये सुतास्तृप्तांशवो हृत्सु पीतासो दुवसो नासते ।
एषामंसेषु रम्भिणीव रारभे हस्तेषु खादिश्च कृतिश्च सं दधे ॥ ३ ॥

१. मरुत् अर्थात् प्राण वे हैं **ये**=जो **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमासः न**=सोमकणों के समान हैं। ये हमारे जीवनों में **तृप्तांशवः**=ज्ञान की किरणों को हर्षित करनेवाले हैं (तृप्=to gladden)। सोमकण सुरक्षित होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। प्राण इन सोमकणों को रक्षित करके बुद्धि का वर्धन करनेवाले होते हैं। ये सोमकण, प्राणसाधना के द्वारा, **पीतासः**=शरीर में ही रक्षित किये हुए **हृत्सु**=हृदयों में **दुवसः न**=परिचर्या—उपासना करनेवालों के समान **आसते**=आसीन होते हैं, अर्थात् मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ये ज्ञानवर्धक हैं और हृदय के दृष्टिकोण से उपासना की वृत्तिवाले हैं, एवं प्राणसाधना हमें ज्ञानी व उपासक बनाती है। २. **एषाम्**=इन प्राणसाधकों के **अंसेषु**=कन्धों पर **रम्भिणी इव**=आश्रय लेनेवाली के समान **रारभे**—वेदवाणीरूप 'युवति' (१।१६७।६ के अनुसार) आश्रय करती है, मानो वेदवाणी का इसके साथ परिणय हो जाता है **च**=और **हस्तेषु**=इनके हाथों में **खादिः**=खाद्य भोजन **च**=तथा **कृतिः**=क्रियाशीलता **संदधे**=(सं धीयते) सम्यक् धारण की जाती है। वेदवाणी के अनुसार क्रियाओं को करते हुए ये अपने भोजन का अर्जन करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मस्तिष्क में ज्ञान तथा हृदय में उपासना की वृत्ति उत्पन्न होती है।

इस साधना से हमारा वेदवाणी से परिणय होता है और हम क्रियाशील बनकर अपने भोजन को कमानेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

कशया-त्मना

अव स्वयुक्ता दिव आ वृथा ययुरमर्त्याः कशया चोदत त्मना।
अरेणवस्तुविजाता अचुच्यवुर्दृळ्हानि चिन्मरुतो भ्राजदृष्टयः॥ ४॥

१. गत मन्त्र में वर्णित प्राणसाधक पुरुष **अव**=(away) विषयों से दूर होकर **स्वयुक्ता**=आत्मतत्त्व से युक्त हुए-हुए **वृथा**=अनायास ही (easily) **दिवः**=ज्ञानों को—प्रकाशों को **आ ययुः**=प्राप्त होते हैं। इन्हें अन्त:प्रकाश प्राप्त होने लगता है। इस अन्त:प्रकाश के कारण **अमर्त्याः**=ये विषय-वासनाओं के पीछे नहीं मरते और न ही रोगाक्रान्त होते हैं। २. ये साधक **कशया**=(कशा=वाङ्—नि०) वेदवाणी से तथा **त्मना**=आत्मा से **चोदत**=अपने को प्रेरित करते हैं। इनका जीवन वेदवाणी के अनुसार होता है और ये अन्त:स्थित आत्मा की प्रेरणा से कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इसी का यह परिणाम है कि ये **अरेणवः**=पाप की धूलि से मलिन नहीं होते, **तुविजाताः**=महान् विकासवाले होते हैं। ३. **भ्राजदृष्टयः**=देदीप्यमान आयुधोंवाले—दीप्त इन्द्रियों, मन व बुद्धिवाले **मरुतः**=प्राणसाधक **दृळ्हानि चित्**=बड़ी दृढ़ भी वासनाओं को **अचुच्यवुः**=हिला देनेवाले होते हैं, दृढ़मूल वासनाओं को भी विनष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक ज्ञान प्राप्त करके वेदवाणी के अनुसार अन्त:प्रेरणा के अनुकूल जीवन बिताते हैं। दृढ़मूल वासनाओं को भी विनष्ट करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'श्रद्धा'-कर्म-'विद्या'

को वोऽन्तर्मरुत ऋष्टिविद्युतो रेजति त्मना हन्वेव जिह्वया।
धन्वच्युत इषां न यामनि पुरुप्रैषा अहन्यो३ नैतशः॥ ५॥

१. हे **ऋष्टिविद्युतः**=अपने 'इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप' आयुधों से चमकनेवाले **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=तुम्हारे **अन्तः**=अन्दर स्थित हुआ-हुआ **कः**=वह (अनिरुक्त) आनन्दमय प्रभु **त्मना**=स्वयं **रेजति**=तुम्हें चला रहा है। उसी प्रकार चला रहा है **इव**=जैसे **जिह्वया**=जिह्वा से **हन्वा**=हनुओं को चलाया जाता है। दो हनुओं के बीच में जिह्वा है। इसी प्रकार इस साधक की श्रद्धा व विद्या के बीच में कर्म होता है। श्रद्धा एक हनु है, विद्या दूसरी हनु। इनके बीच में कर्मरूप जिह्वा है। २. **इषां यामनि**=प्रभु-प्रेरणाओं के मार्ग पर चलते हुए ये **धन्वच्युतः न**=अन्तरिक्ष से (धन्व) उदक का स्रावण करनेवाले मेघों के समान हैं। जैसे मेघ औरों के सन्ताप को हरता है, उसी प्रकार ये साधक अपनी क्रियाओं से औरों के कष्टों को दूर करते हैं। ३. ये व्यक्ति **पुरुप्रैषाः**=वासनाओं को खूब ही कुचलनेवाले होते हैं (प्रैष= crushing) और **एतशः न**=उस घोड़े के समान होते हैं जोकि **अहन्यः**=न मारने योग्य है। बिना ही चाबुक के आघात के जैसे एक उत्तम घोड़ा मार्ग पर चलता है, उसी प्रकार ये व्यक्ति स्वतः ही धर्ममार्ग पर चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक प्रभु से सञ्चालित जीवनवाले होते हैं। श्रद्धा और विद्यापूर्वक कर्मों को करते हैं। वासनाओं को कुचलकर धर्ममार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

परले पार

क्वं स्विदुस्य रजसो महस्परं क्वावरं मरुतो यस्मिन्नायय।
यच्च्यावयथ विथुरेव संहितं व्यद्रिणा पतथ त्वेषमर्णवम्॥ ६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **अस्य महः रजसः**=इस विशाल ब्रह्माण्ड का **परं क्वस्वित्**=परला सिरा कहाँ? और **क्व अवरम्**=निचला सिरा कहाँ? इन दोनों में तो आकाश-पाताल का अन्तर है। हे प्राणसाधको! इस परले सिरे से निचला सिरा बहुत पीछे रह गया है। यह परला सिरा सचमुच (पर) उत्कृष्ट है; **यस्मिन् आयय**=जिसमें आप अब आ गये हो। इस अश्मन्वती नदी के अवर किनारे पर सब अशुभों को छोड़कर आप शिव वाजोंवाले परले किनारे पर पहुँच गये हो। २. **यत्**=जब आप **संहितम्**=बड़ी दृढ़ता से मानसक्षेत्र में स्थापित वासनाओं को **विथुरा इव**=अत्यन्त शिथिल वस्तुओं के समान **च्यावयथ**=पृथक् कर देते हो तो **अद्रिणा**=आदरणीय प्रभु के साथ **विपतथ**=विशिष्ट मार्ग पर गति करते हो और **त्वेषम्**=दीप्त **अर्णवम्**=ज्ञान-समुद्र को (विपतथ) प्राप्त करते हो। वेद में वेदज्ञान के लिए 'रायः समुद्राँश्चतुरः' इन शब्दों में समुद्र शब्द का प्रयोग हुआ है।

भावार्थ—हमें इस संसाररूपी अश्मन्वती नदी के परले पार पहुँचना है। उसके लिए प्राणसाधना के द्वारा वासनाओं का उन्मूलन करना है। वासना के उन्मूलन के लिए ही प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्यों को करना है और ज्ञान-प्राप्ति के लिए स्वाध्याय में प्रवृत्त होना है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अमवती, जञ्जती

सातिर्न वोऽमवती स्वर्वती त्वेषा विपाका मरुतः पिपिष्वती।
भद्रा वो रातिः पृणतो न दक्षिणा पृथुज्रयी असुर्येव जञ्जती॥ ७॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः सातिः**=आपकी प्राप्ति अर्थात् साधना द्वारा आपको अपनाना **न अमवती**=रोगोंवाला नहीं है, अर्थात् आपकी साधना से साधक नीरोग बनता है। आपकी यह प्राप्ति नीरोगता देने के कारण **स्वर्वती**=सब सुखों को देनेवाली है, **त्वेषा**=दीप्तिवाली है। प्राणसाधना से अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञान की दीप्ति होती ही है। **विपाका**=आपकी साधना ज्ञान के द्वारा हमारे जीवनों को परिपक्व करनेवाली है, **पिपिष्वती**=वासनाओं को यह पीस देनेवाली है। २. हे प्राणो! **वः रातिः**=पूर्वार्द्ध में वर्णित आपकी देन 'नीरोगता, सुख, दीप्ति, परिपक्वता व वासनाविनाश' **भद्रा**=कल्याण करनेवाली हैं। वस्तुतः ये सब वस्तुएँ मिलकर ही कल्याण है। आपकी देन इस प्रकार कल्याण करनेवाली है **न**=जैसे **पृणतः**=दान देनेवाले का **दक्षिणा**=दान कल्याण करता है। दान लोभवृत्ति को नष्ट करके वासनाओं का उन्मूलन करता है, इस प्रकार यह प्राणसाधना वासनाओं का पेषण करती है। ३. यह प्राणसाधना **पृथुज्रयी**=खूब वेगवाली है। नीरोगता लाकर हमारे जीवनों में स्फूर्ति देनेवाली है। **असुर्या इव**=उस महान् असुर—प्राणशक्ति के दाता प्रभु की प्राप्ति के लिए साधनभूत है, तथा **जञ्जती**=हमारे सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाली है। प्राणसाधना से हमारा प्रभु से मेल होता है और हमारे सब शत्रुओं का विनाश होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें सर्वथा नीरोग बनाती है व हमारे जीवनों का ठीक परिपाक करके हमें प्रभु से मिलाती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—मरुतः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मानस जप व वासना-विनाश

प्रति ष्टोभन्ति सिन्धवः पविभ्यो यदभ्रियां वाचमुदीरयन्ति।
अव स्मयन्त विद्युतः पृथिव्यां यदी घृतं मरुतः प्रुष्णुवन्ति॥ ८॥

१. **यदि**=यदि **मरुतः**=प्राण, प्राणसाधना के होने पर **घृतम्**=हमारे जीवनों में मलों के क्षरण को तथा ज्ञानदीप्ति को **प्रुष्णुवन्ति**=सींचते हैं, अर्थात् हमें स्वस्थ व दीप्त मस्तिष्क बनाते हैं तो **सिन्धवः**=(स्यन्दते) नदियों की भाँति कर्म-प्रवाह में चलनेवाले व्यक्ति **पविभ्यः**=(पवि=speech) ज्ञानवाणियों के द्वारा **प्रतिष्टोभन्ति**=वासनाओं को रोकनेवाले बनते हैं। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हुए ये व्यक्ति वासनाओं से ऊपर उठते हैं। २. वासनाओं से ये इसलिए भी ऊपर उठ पाते हैं **यत्**=क्योंकि ये लोग **अभ्रियां वाचम्**=हृदयान्तरिक्ष में होनेवाली—नामजपन की वाणी को **उदीरयन्ति**=उच्चरित करते हैं। इस मानस जप का यह भी परिणाम होता है कि इनके हृदय में अशुद्ध भाव उत्पन्न ही नहीं होते। ३. इस प्रकार वासनाओं का विनाश होने पर **पृथिव्याम्**=इनके शरीर में **विद्युतः**=विशिष्ट दीप्तियाँ **अवस्मयन्त**=मुस्करा उठती हैं, विकसित हो जाती हैं। इनका अन्नमयकोश तेज से, प्राणमयकोश वीर्य से, मनोमयकोश ओज व बल से, विज्ञानमयकोश मन्यु से तथा आनन्दमयकोश सहस् से परिपूर्ण हो उठता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनोनिरोध होकर एकाग्र मन से मानस जप होने पर सब व्यसनों का विनाश होकर शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

महान् प्रभु का प्रादुर्भाव

असूत पृश्निर्महते रणाय त्वेषमयासां मरुतामनीकम्।
ते सप्सरासोऽजनयन्ताभ्वमादित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्॥ ९॥

१. **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासाम्) गत मन्त्र के अनुसार दीप्तियों का अपने साथ सम्पर्क करनेवाला प्राणसाधक पुरुष **महते रणाय**=महान् सौन्दर्य के लिए, जीवन को अत्यन्त रमणीय बनाने के लिए **अयासाम्**=निरन्तर गतिशील **मरुताम्**=प्राणों के **त्वेषम्**=दीप्त **अनीकम्**=बल को **असूत**=अपने में उत्पन्न करता है। प्राणसाधक प्राणसाधना से दीप्तियुक्त बल को प्राप्त होता है। उसका बल भी बढ़ता है और ज्ञान की दीप्ति भी। **ते**=वे **सप्सरासः**=(सप् समवाये, सृ गतौ) प्रभु के मेल के साथ गतिवाले पुरुष **अभ्वम्**=उस महान् प्रभु को **अजनयन्त**=अपने में प्रादुर्भूत करते हैं और **आत् इत्**=इस प्रभु के प्रादुर्भाव के साथ ही वे अपने अन्दर **इषिराम्**= गतियों के कारणभूत **स्वधाम्**=आत्मधारण-शक्ति को **पर्यपश्यन्**=देखते हैं। इनमें उस आत्मशक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिससे कि ये गतिशील बने रहते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्राणों के दीप्ति-बल को सिद्ध करके श्रद्धा से प्रभु में गति करता हुआ प्रभु का दर्शन करता है और अपने में उस आत्मधारण-शक्ति को अनुभव करता है जो उसे सतत क्रियामय बनानेवाली होती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—मरुतः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

इषं, वृजनं, जीरदानुम्

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १०॥

१६५।१५ पर यह मन्त्र व्याख्यात हुआ है।

विशेष—इस सूक्त का मुख्य विषय यही है कि प्राणसाधना के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त होते हुए हम प्रभु का दर्शन करें। अगले सूक्त में इस प्रभु का ही 'इन्द्र'-रूप में वर्णन है—

[१६९] एकोनसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

विघ्नविनाशक प्रभु

म॒हश्चि॒त्त्वमि॑न्द्र य॒त ए॒तान्म॒हश्चि॑दसि॒ त्यज॑सो वरू॒ता।
स नो॑ वेधो म॒रुतां॑ चिकि॒त्वान्त्सु॒म्ना व॑नुष्व॒ तव॒ हि प्रेष्ठा॑॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **चित्**=निश्चय से **महः**=महान् हैं, **यतः**=क्योंकि आप **एतान्**=इन प्राणसाधकों को **महः चित् त्यजसः**=बड़ी-बड़ी भी कठिनताओं से (त्यजस्=difficulty) **वरूता असि**=निवारण करनेवाले हैं। प्राणसाधकों की कठिनताओं को दूर करके आप उनका रक्षण करते हैं। २. हे **वेधः**=सृष्टि के विधाता प्रभो! **सः**=वे आप **नः मरुताम्**=हम प्राणसाधकों का **चिकित्वान्**=ध्यान करते हुए उन **सुम्ना**=(happiness) सुखों को **वनुष्व**=दीजिए जो कि **हि**=निश्चय से **तव**=आपके **प्रेष्ठा**=प्रियतम हैं। हम अल्पज्ञता के कारण अवाञ्छनीय वस्तुओं की भी प्रार्थना कर सकते हैं। आप सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होते हुए हमारे हित की साधक वस्तुओं को ही हमें प्राप्त कराएँगे।

भावार्थ—यह भी प्रभु की महिमा ही है कि उसने प्राणसाधक में अद्भुत शक्ति रक्खी है। इसके द्वारा हम सब विघ्नों से ऊपर उठकर उत्तम सुखों को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कर्म से 'वासना-निरोध तथा उत्कृष्ट धन-प्राप्ति'

अयु॑ज्रन्त इन्द्र वि॒श्वकृ॑ष्टीर्विदा॒नासो॑ नि॒ष्षिधो॑ मर्त्य॒त्रा।
म॒रुतां॑ पृत्सु॒तिर्हास॑माना॒ स्व॑र्मीळ्हस्य प्र॒धन॑स्य सा॒तौ॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **मर्त्यत्रा**=मनुष्यों में **ते**=वे प्राणसाधक पुरुष **विश्वकृष्टीः**=श्रमसाध्य कृषि आदि निर्माणात्मक सब कर्मों को (कृष् ति=कृष्टि=कृषि) **अयुज्रन्**=अपने साथ संयुक्त करते हैं। इस प्रकार उत्तम कर्मों में लगे हुए ये **विदानासः**=ज्ञानी बनते हैं और **निष्षिधः**=व्यसनों का अपने से निषेध करते हैं, अपने जीवन में व्यसनों का प्रवेश नहीं होने देते। २. **मरुताम्**=इन प्राणसाधक पुरुषों की **पृत्सुतिः**=(पृङ् व्यायामे, षुञ् अभिषवे) यह श्रम के कर्मों द्वारा उत्पादन-क्रिया **हासमाना**=दिन-प्रतिदिन विकसित होती चलती है। ये अधिकाधिक श्रमशील होकर निर्माण करने में लगते हैं। यह 'पृत्सुति' इनके लिए **स्वर्मीळ्हस्य**= सुखों के सेचन करनेवाले **प्र-धनस्य**=प्रकृष्ट धनों की **सातौ**=प्राप्ति का निमित्त बनती है। श्रमशील कर्मों में लगे रहने से जहाँ ये वासनाओं से बचे रहते हैं, वहाँ सुखप्रद उत्तम धन को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—श्रमसाध्य उत्तम कर्मों में लगे रहने से मनुष्य (क) वासनाओं को रोक पाता है, (ख) प्रकृष्ट धन को प्राप्त करता है। इसलिए ज्ञानी पुरुषों का यही मार्ग है। इस प्रकार वे वासनानिरोध से 'निःश्रेयस' को तथा उत्कृष्ट धन से 'अभ्युदय' को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः । **देवता**—इन्द्रः । **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः । **स्वरः**—पञ्चमः ।

सनातन महान् वेदज्ञान

अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **सा**=वह **ते**=आपकी **ऋष्टिः**=गतिशीलता (ऋष्=to go), वासनाओं का संहार (ऋष्=to kill) तथा ज्ञान (ऋषिर्दर्शनात्) **अस्मे अम्यक्**=(towards, near) हमें समीपता से प्राप्त हो। **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **सनेमि**=उस पुराण, सनातन **अभ्वम्**=महान् वेदज्ञान को **जुनन्ति**=(जुन्=to move) अपने में प्रेरित करते हैं। वेदज्ञान शाश्वत है, महान् है। यह प्रभु का नित्य ज्ञान है और सब सत्य विद्याओं का आधार है। प्राणसाधना से हृदय पवित्र होता है और बुद्धि तीव्र होती है। इस प्रकार हम इस वेद ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य बनते हैं। २. इस ज्ञान को प्राप्त करके यह **अतसे शुशुक्वान्**=शुष्क काष्ठों में दीप्त होनेवाली **अग्निः चित् हि स्म**=निश्चय से अग्नि ही बनता है। जैसे अग्नि दीप्त होती है, यह दीप्त मस्तिष्कवाला बनता है। ज्ञानदीप्त होकर ये लोग उसी प्रकार **प्रयांसि दधति**=प्रयत्नों को धारण करते हैं **न**=जैसे कि **आपः**=जल **द्वीपम्**=एक द्वीप को। 'द्विर्गता आपो यस्मिन्'—इस व्युत्पत्ति से द्वीप वह होता है जिसके इधर भी जल होते हैं, उधर भी। इसी प्रकार इन ज्ञानदीप्त लोगों के इधर भी प्रयत्न होते हैं, उधर भी, अर्थात् ऐहलौकिक प्रयत्नों से ये अभ्युदय को सिद्ध करते हैं तो पारलौकिक प्रयत्नों से निःश्रेयस को।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करानेवाला 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः । **देवता**—इन्द्रः । **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक् । **स्वरः**—ऋषभः ।

दान व माधुर्य

त्वं तू न इन्द्र तं रयिं दा ओजिष्ठया दक्षिणयेव रातिम्।
स्तुतश्च यास्ते चकनन्त वायोः स्तनं न मध्वः पीपयन्त वाजैः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **तु**=निश्चय से **तं रयिं दाः**=वह धन दीजिए **इव**=जैसे आप **ओजिष्ठया**=ओजस्वी बनानेवाला **दक्षिणया**=दक्षिणा के हेतु से **रातिम्**=देने योग्य धन को दिया करते हैं। वस्तुतः प्रभु धन देते इसलिए हैं कि हम उसका दान में विनियोग करें। धन मुख्य रूप में उपयोग के लिए नहीं मिलता। धन का प्रथम उद्देश्य दान और दूसरा उद्देश्य भोग होता है। इसी बात को इस रूप में कहते हैं कि हम सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें। २. **च याः स्तुतः**=जो स्तुति करनेवाले उपासक लोग हैं वे **ते वायोः**=तुझ वायु की—गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले की **चकनन्त**=कामना करते हैं, वे **वाजैः**=अन्नों से **स्तनं न**=जैसे दूध को उसी प्रकार (वाजैः) त्याग व ज्ञान के द्वारा **मध्वः**=माधुर्य का **पीपयन्त**=वर्धन करते हैं। आपको प्राप्त करने के लिए यह माधुर्य आवश्यक है।

भावार्थ—उपासक धन का मुख्य विनियोग दान के रूप में करते हैं और प्रभु का स्तवन करते हुए त्याग व ज्ञान के द्वारा अपने जीवन में माधुर्य का वर्धन करते हैं। उपासक दानशील व मधुर जीवनवाला होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

धन+सत्संग

त्वे रायं इन्द्र तोशतमाः प्रणेतारः कस्यं चिदृतायोः।
ते षु णो मुरुतो मृळयन्तु ये स्मा पुरा गातूयन्तीव देवाः॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **त्वे रायः**=आपके पास वे धन हैं जो **तोशतमाः**=(तुश निबर्हणे) वासनाओं का संहार करनेवाले हैं। वे धन **कस्य चित्**=आनन्दमय स्वभाववाले **ऋतायोः**=यज्ञशील पुरुष को **प्रणेतारः**=आगे ले-चलनेवाले हैं अर्थात् ये धन उसकी चिन्ताओं को नष्ट करके उसे सुखी करते हैं, साथ ही यज्ञों को करने के लिए सक्षम बनाते हैं। ये ही धन ऋतायु से भिन्न किसी पुरुष को प्राप्त हो जाते हैं तो उसे शराब-मांस में प्रवृत्त कर देते हैं। ये धन प्रायः अन्याय-मार्गों से ही अर्जित किये हुए होते हैं। २. धन के दुष्परिणामों का ध्यान करते हुए लोग प्रार्थना करते हैं कि **ते**=वे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष अपने उत्तम उपदेशों के द्वारा **नः**=हमें **सुमृळयन्तु**=अच्छी प्रकार सुखी करें **ये**=जो कि **स्म**=निश्चय से **पुरा**=हमसे पूर्व **देवाः**=देववृत्ति के बनकर सदा **गातूयन्ति इव**=मार्ग पर चलने की ही कामना करते हैं (इव=एव), अर्थात् सदा यज्ञों के प्रति जाने की ही इच्छा रखते हैं। इनके सम्पर्क में आने से हम भी धनों का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही करेंगे और धन के दुष्परिणामों से बचे रहेंगे। गत मन्त्र के अनुसार धन का मुख्य विनियोग तो वस्तुतः दान ही है। यह समझ लेने पर हम अपनी आवश्यकताओं को व्यर्थ में न बढ़ाते हुए अपने को इस संसार-समुद्र में डुबा नहीं लेते।

भावार्थ—हमें सदा सुमार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधकों का संग प्राप्त हो। उनकी प्रेरणा से हम भी धनों का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में करनेवाले बनें और इस प्रकार वैषयिक वृत्तियों से बचे रहें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

धन का मुख्य प्रयोजन दान

प्रति प्र याहीन्द्र मीळ्हुषो नृन्महः पार्थिवे सदने यतस्व।
अध यदेषां पृथुबुध्नास एतास्तीर्थे नार्यः पौंस्यानि तस्थुः॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! आप **महः**=पूजा की वृत्तिवाले **मीळ्हुषः**=प्राजापत्य यज्ञ में धनों की वर्षा करनेवाले—उदारता से दान देनेवाले **नृन्**=प्रगतिशील पुरुषों को **प्रति प्र याहि**=प्राप्त होओ। इनको प्राप्त होकर इनके **पार्थिवे सदने**=हृदयान्तरिक्षरूप पार्थिव गृह में **यतस्व**=(Stir up, rouse) स्थित होकर इन्हें उत्साहित कीजिए। आपकी प्रेरणा से ये धनों के और भी अधिक देनेवाले हों। २. आपकी प्राप्ति होने पर **अध**=अब **एषाम्**=इन दान की वृत्तिवाले पुरुषों में **यत्**=जब कुछ **पृथुबुध्नासः**=विशाल आधारवाले **एताः**=(श्वेताः, shining) शुद्ध, दीप्त जीवनवाले मनुष्य होते हैं, वे **पौंस्यानि तस्थुः**=बलों का अधिष्ठातृत्व करते हैं, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **अर्यः**=एक वैश्य **तीर्थे**=घाट पर (वैश्य लोग **तीर्थों**=घाटों पर) स्थित नावों के द्वारा दूर-दूर जाकर व्यापार करते हैं। ये 'पृथुबुध्न एत' लोग भी बलों का अधिष्ठातृत्व करते हुए अपने जीवन को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु उन्हें ही प्राप्त होते हैं जो धनों का लोकहित के कार्यों में विनियोग करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

वासनाओं के आक्रमण से रक्षण

प्रति घोराणामेतानामयासां मरुतां शृण्व आयतामुपब्दिः।
ये मर्त्यं पृतनायन्तमूमैर्ऋणावानं न पतयन्त सर्गैः॥७॥

१. **घोराणाम्**=उदात्त, उत्कृष्ट अथवा रोग व वासनादि शत्रुओं के लिए भयंकर **एतानाम्**=(Shining) निर्मलता को उत्पन्न करने के कारण दीप्त, **अयासाम्**=निरन्तर गतिशील, **आयताम्**=शरीर में सर्वत्र गति करते हुए **मरुताम्**=प्राणों का **उपब्दिः**=स्तुतिवचन **प्रतिशृण्वे**=प्रतिदिन सुनाई पड़ता है। प्राणसाधक का जीवन उदात्त (घोर) बनता है, ज्ञान से दीप्त होता है। इसमें गमनशीलता होती है। यह प्राणसाधक सदा क्रियाशील होता हुआ प्रभु का स्मरण करता है। २. मरुत्=प्राण वे हैं, **ये**=जो **पृतनायन्तम्**=वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले **मर्त्यम्**=मनुष्य को **ऊमैः**=रक्षणों के साथ **पतयन्त**=प्राप्त होते हैं। **न**=जिस प्रकार **ऋणावानम्**=ऋणी पुरुष के प्रति **सर्गैः**=दृढ़ निश्चय के साथ पतयन्त=जाते हैं। ऋणी से ऋण वापस लेने के लिए जैसे धनी पुरुष दृढ़ निश्चय के साथ जाता है, उसी प्रकार मरुत् (प्राण) साधना करनेवाले को रक्षण के उद्देश्य से प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष को वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

कैसी सम्पत्तियाँ

त्वं मानेभ्य इन्द्र विश्वजन्या रदा मरुद्भिः शुरुधो गोअग्राः।
स्तवानेभिः स्तवसे देव देवैर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **मानेभ्यः**=पूजा करनेवालों के लिए—उपासकों के लिए **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **विश्वजन्याः**=सर्वलोकहितकारी अथवा सब शक्तियों के विकास के लिए उत्तम **शुरुधः**=शोक को रोकनेवाली, दुःखों को दूर करनेवाली **गो अग्राः**=ज्ञानवाणियों के प्रमुख स्थानवाली—ज्ञान-प्राप्ति के साधनों को जुटाने में लगनेवाली सम्पत्तियों को **रदा**=लिखते हैं, अर्थात् प्राप्त कराते हैं। २. इन सम्पत्तियों को प्राप्त करके ये देव आपका स्तवन करते हैं। आपके स्तवन के अभाव में इन सम्पत्तियों की ही विपत्तियाँ बन जाने की आशंका होती है। ये सम्पत्तियाँ विश्वजन्य नहीं रहतीं, भोगविलास का साधनमात्र रह जाती हैं, ये शोकवर्धक होती हैं और मनुष्य को ज्ञान से दूर ले-जाती हैं। इसलिए **देव**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **स्तवानेभिः**=द्युतिशील **देवैः**=इन देववृत्ति के पुरुषों से **स्तवसे**=स्तुति किये जाते हैं। इस प्रकार स्तुति से आराधित आपसे हम **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पाप के वर्जन को **व जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु की पूजा करें। प्रभु हमें वे सम्पत्तियाँ दें जोकि सर्वलोकहितकारी—हमारी सब शक्तियों का विकास करनेवाली, शोक को दूर करनेवाली व ज्ञान का उपकरण बननेवाली हों।

विशेष—इस सूक्त का विषय यही है कि हम धन तो प्राप्त करें, परन्तु वह धन हमारे ह्रास का कारण न होकर वृद्धि का ही कारण बने। इस बात के लिए अगले सूक्त में कहते हैं कि हम व्रती जीवनवाले हों और प्राणशक्ति के वर्धन के उद्देश्य से ही सब क्रियाओं को करें—

[१७०] सप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

चित्त की अस्थिरता

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति॥ १॥

१. इन्द्र और अगस्त्य के संवाद के रूप में यह सूक्त है। इन्द्र परमैश्वर्यशाली प्रभु है, अगस्त्य—'अगं अस्यति' कुटिलता को छोड़नेवाला जीव है। जीव व्रत लेता है, परन्तु उसे छोड़ बैठता है या कई बार तो प्रारम्भ ही नहीं करता। प्रभु कहते हैं **नूनं न अस्ति**=निश्चय से पहले तो जीव व्रत लेता ही नहीं, फिर उसे आज ही आरम्भ करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। **नो श्वः**=कल भी वह आरम्भ नहीं होता। 'कल-कल' के रूप में वह टलता ही रहता है। इसी कारण **कः**=कौन है जो **तत् वेद**=उस स्थिति को जाने **यत् अद्भुतम्**=जो अद्भुत है। प्राणसाधना का व्रत लें, उस व्रत का दीर्घकाल तक, निरन्तर, आदरपूर्वक पालन करें तो योग की उन सिद्धियों को क्यों न प्राप्त करेंगे जोकि वस्तुतः ही अद्भुत हैं। २. परन्तु **अन्यस्य**=सामान्य मनुष्य का **चित्तम्**=चित्त **संचरेण्यम्**=चरणशील है, भटकनेवाला है। इसीलिए यह किसी भी व्रत को दीर्घकाल तक निभा नहीं पाता। **उत**=और **आधीतम्**=(आध्यातं चिन्तितम्—सा०) सोची हुई बात भी **विनश्यति**=(णश अदर्शने) दो दिन बाद जीवन में दिखती नहीं। 'चार दिन की चाँदनी और फिर अँधेरी रात'। यह कहावत ही प्रायः उनके जीवन पर सदा लागू रहती है। उन्नति हो तो कहाँ से हो?

भावार्थ—चित्त की अस्थिरता के कारण व्रतों का पालन नहीं होता और उन्नति सम्भव नहीं होती।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

इन्द्र के भ्राता मरुत्

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः॥ २॥

१. अगस्त्य 'इन्द्र' को सम्बोधन करके कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **किम्**=क्या आप **नः**=हमें **जिघांससि**=(हन् गतौ) प्राप्त होने की—हमारे प्रति आने की कामना करते हैं? हम भी तो **तव भ्रातरः**=आपके भाई ही हैं। आप हमें प्राप्त हों तो हम **मरुतः**=मितभाषी होते हुए (मितराविणः) खूब क्रियाशील बनें (महद् द्रवन्तीति वा)। २. **तेभिः**=उन अपने भाइयों के साथ रहते हुए आप **साधुया**=सुन्दरता से **कल्पस्व**=उनके जीवन को बनाइए। **नः**=हमें **समरणे**=इस जीवन-संग्राम में **मा वधीः**=नष्ट मत होने दीजिए। आपके साहाय्य से हम अपने सब शत्रुओं को पराजित करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों और उनकी शक्ति से हम वासनाओं का संहार करके अपने जीवन को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

अतिमान से दूर होना

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि॥ ३॥

१. **अगस्त्य**=जीव ने गत मन्त्र में इन्द्र से कहा था कि हम भी तो आपके भाई मरुत् हैं। इस पर इन्द्र कहता है कि हे **अगस्त्य**=कुटिलगति को छोड़नेवाले जीव! **नः भ्रातः**=हमारे भाई! **सखा सन्**=हमारे मित्र होते हुए तुम **किम्**=क्यों **अति मन्यसे**=अतिमान करते हो हमारा ध्यान न करके अन्य ही बातों में उलझे रहते हो। २. हमने **ते मनः यथा**=तेरा मन जिस प्रकार का है उसे **हि**=निश्चय से **विद्म**=समझ लिया है। तू **इत्**=निश्चय से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए इस मन को **न दित्ससि**=नहीं देना चाहता। कुछ देर तो तुझे अन्य बातों से हटकर मनोयोग से हमारे साथ भी बात करनी ही चाहिए। अपने सखा की एकदम उपेक्षा करना भी क्या ठीक है?

भावार्थ—मनुष्य को प्रभु-स्मरण अवश्य करना चाहिए। प्रभु से दूर होते ही अतिमान हमें आ घेरता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

जीवन को यज्ञमय बनाना

अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै॥ ४॥

१. प्रभु कहते हैं कि अतिमान को छोड़कर ऐसा करो कि तुम्हें दी गईं 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' सब **वेदिम्**=इस मानव-शरीररूप वेदि को **अरं कृण्वन्तु**=अलंकृत करें और **पुरः**= सबसे पूर्व इस वेदि में **अग्निम्**=ज्ञानाग्नि को **समिन्धताम्**=समिद्ध करें। आचार्यों की कृपा से इस ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' की समिधाएँ डाली जाएँ। इसे लोकत्रयी के पदार्थों का खूब ज्ञान हो। २. **तत्र**=वहाँ—उस ज्ञानयज्ञ में **अमृतस्य**=उस अमृत प्रभु का **चेतनम्**=ज्ञान हो। अमृत प्रभु के ज्ञान से तुम्हारा जीवन भी अमृतवाला हो। तुम संसार के विषयों के पीछे ही मरनेवाले न रह जाओ। इस प्रकार इस शरीररूप यज्ञवेदि में **ते यज्ञम्**=तेरे इस जीवन-यज्ञ को **तनवावहै**=हम और आप मिलकर विस्तृत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण यही है कि हम शरीर को यज्ञवेदि समझें। इसमें ज्ञानाग्नि को दीप्त करें। प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा देखें। प्रभु से मिलकर जीवन को यज्ञ का रूप दें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वसुपति व मित्रपति का पूजन

त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठः।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः सं वदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि॥ ५॥

१. 'अगस्त्य' इन्द्र का आराधन करते हुए कहता है कि हे **वसुपते**=सब धनों के स्वामिन्! **त्वम्**=आप ही **वसूनाम् ईशिषे**=सब धनों के ईश हो। हे **मित्रपते**=सब मित्रों के रक्षक प्रभो! **त्वम्**=आप ही **मित्राणाम्**=अपने को पापों व मृत्यु से बचानेवालों के (प्रमीतेः त्रायते), **धेष्ठः**=अधिक-से-अधिक उत्तमता से धारण करनेवाले हो। वस्तुतः आप ही सब वसुओं को प्राप्त कराके हमें पापों व मृत्यु से बचने के योग्य बनाते हो। २. हे **इन्द्र**= परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **मरुद्भिः**=हम मितरावी व क्रियाशील पुरुषों के साथ **संवदस्व**=अनुकूल होओ। हमें सदा आपकी प्रेरणा प्राप्त हो और **अध**=अब आप **ऋतुथाः**= समय-समय के अनुसार **हवींषि**=हमारी हवियों को **प्राशान**=ग्रहण करनेवाले हों। हम आपकी प्रेरणा को प्राप्त करके सदा हविवाले बनें (हु दानादनयोः) त्यागपूर्वक अदन ही हमारे जीवन का सूत्र हो। इसी से तो

हम आपके अधिक-से-अधिक समीप प्राप्त होनेवाले होंगे।

भावार्थ—प्रभु ही सब वसुओं के द्वारा हमारा धारण करते हैं। प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए हम हविर्मय जीवनवाले हों।

विशेष—सूक्त का सार यह है कि मनुष्य व्रती हो (१)। प्रभु के सहाय से अध्यात्म-संग्राम में विजयी हो (२)। थोड़ी देर के लिए प्रतिदिन प्रभु का ध्यान अवश्य करना (३)। ज्ञानयज्ञ के द्वारा प्रभु की उपासना करना (४)। उस प्रभु को ही सब वसुओं का पति जानना (५)। अगले सूक्त का ऋषि भी अगस्त्य ही है—

[१७१] एकसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणायाम के लाभ

प्रति॑ व एना॒ नम॑सा॒हमे॑मि सू॒क्तेन॑ भिक्षे सुम॒तिं तु॒राणा॑म्।
र॒रा॒णता॑ मरुतो वे॒द्याभि॒र्नि हेळो॑ ध॒त्त वि मु॑चध्व॒मश्वा॑न्॥ १॥

१. **अहम्**=मैं **एना नमसा**=इस नमन के साथ हे **मरुतः**=प्राणो! **वः प्रति एमि**=तुम्हारे प्रति आता हूँ। प्राणायाम करता हुआ मैं जहाँ प्राणसाधना करता हूँ, वहाँ प्रभु के प्रति नमन भी करता हूँ। २. इस प्राणायाम व प्रभु-नमन के साथ मैं **सूक्तेन**=(सु+उक्त) मधुर शब्दों के द्वारा **तुराणाम्**=शीघ्रता से कार्यों में व्यापृत होनेवाले (त्वरा संभ्रमे) अथवा वासनाओं का संहार करनेवाले (तुर्वी हिंसायाम्) आचार्यों की **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **भिक्षे**=माँगता हूँ। आचार्यों के प्रति सदा मधुर शब्दों का प्रयोग करता हुआ उनसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करता हूँ। ३. हे **मरुतः**=प्राणो! **रराणता**=प्रभु में रमण करनेवाले मन से, प्रभु-उपासना में उल्लास प्राप्त करनेवाले मन से तथा **वेद्याभिः**=ज्ञान के योग्य विद्याओं के द्वारा—हमारी ज्ञानाग्नि को प्रदीप्त करके **हेळः**=क्रोध को **निधत्त**=(निकृष्टं धारयत) नीचे धारण करो, अर्थात् प्राणसाधना से हमारा मन उपासना व ज्ञान में लगे और क्रोध को हम अपने से दूर कर सकें। हे प्राणो! आप **अश्वान्**=हमारे इन्द्रियरूप अश्वों को **विमुच्यध्वम्**=विषयों से पृथक् करो।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम (क) मन को प्रभु में रमण करनेवाला बनाएँ, (ख) ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ज्ञान-वृद्धि करें, (ग) क्रोध व घृणा से ऊपर उठें, (घ) इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रद्धा व इच्छापूर्वक किया गया स्तवन

ए॒ष वः॒ स्तोमो॑ मरुतो॒ नम॑स्वान्हृ॒दा त॒ष्टो मन॑सा धायि देवाः।
उपे॑मा यात॒ मन॑सा जुषा॒णा यू॒यं हि ष्ठा नम॑स॒ इद् वृ॒धासः॑॥ २॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **एषः**=यह **वः स्तोमः**=तुम्हारा स्तवन **नमस्वान्**=नमस्वाला है। तुम नम्रतापूर्वक प्रभुस्तवन में प्रवृत्त होते हो। यह **हृदा तष्टः**=हृदय से बनाया गया है। यह स्तवन हृदय के अन्तस्तल से (from the bottom of the heart) स्फुरित हुआ है। **मनसा धायि**=मन से धारण किया गया है। श्रद्धा व प्रबल इच्छा के साथ यह स्तुति की गई है। २. प्रभु कहते हैं कि **देवाः**=हे देववृत्ति के पुरुषो! **मनसा जुषाणाः**=मन से इस स्तवन का

सेवन करते हुए तुम **ईम्**=निश्चय से **उप आयात**=मुझे समीपता से प्राप्त होओ। **यूयम्**=तुम **इत्**=निश्चयपूर्वक **हि**=ही **नमसः वृधासः**=नमन की वृत्ति के बढ़ानेवाले **स्थ**=हो। तुम अधिक और अधिक नमन की वृत्ति को अपने में बढ़ाते हो—इस नमन की वृत्ति द्वारा मेरे समीप आते जाते हो।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष नम्रतापूर्वक प्रभु का स्तवन करते हुए अधिकाधिक प्रभु के समीप आते जाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्तुति व अधिकाधिक शान्ति

स्तुतासो नो मरुतो मृळयन्तूत स्तुतो मघवा शंभविष्ठः।
ऊर्ध्वा नः सन्तु कोम्या वनान्यहानि विश्वा मरुतो जिगीषा॥ ३॥

१. **स्तुतासः**=(स्तुतमस्यास्तीति स्तुतः) प्रभु का स्तवन करनेवाले **मरुतः**=ये प्राण **नः**=हमें **मृळयन्तु**=सुखी करें। हम प्राणों का संयम करें। प्राणसंयम से चित्त का संयम करके हम प्रभु की ओर झुकाववाले हों। **उत**=और **स्तुतः**=स्तुति किया गया वह **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **शम्भविष्ठः**=हमें अधिक-से-अधिक शान्ति देनेवाला हो। २. **नः**=हमारे **कोम्या**=(सोम्या) सौम्यता से सम्पन्न अथवा (काम्यानि—द०) प्रशंसनीय **वनानि**=सम्भजन व उपासन **ऊर्ध्वा सन्तु**=अधिक और अधिक उत्कृष्ट होते चलें। ३. इस प्रकार स्तवन में प्रवृत्त हुए हम लोगों को **विश्वा अहानि**=सब दिन हे **मरुतः**=प्राणो! **जिगीषा**=काम-क्रोधादि को जीतने की इच्छा से **ऊर्ध्वा सन्तु**=उत्कृष्ट होते चलें। जो दिन वासनाओं को जीतने की इच्छा व प्रयत्न से बीतता है, वही दिन हमारे उत्कर्ष का कारण बनता है।

भावार्थ—हमारी स्तवन की वृत्ति बढ़ती चले और हम प्राणसाधना द्वारा वासनाओं को अभिभूत करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पुनः प्रभु के समीप

अस्मादहं तविषादीषमाण इन्द्राद्भिया मरुतो रेजमानः।
युष्मभ्यं हव्या निशितान्यासन्तान्यारे चकृमा मृळता नः॥ ४॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **अहम्**=मैं **अस्मात्**=इस **तविषात्**=बलवान् व सब गुणों में बढ़े हुए **इन्द्रात्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से **ईषमाणः**=(पलायमानः=fly away) दूर होता हुआ **भिया रेजमानः**=भय से काँप उठा हूँ। प्रभु की गोद में रहते हुए मुझे किसी प्रकार का भय नहीं था, प्रभु से दूर हुआ और भयभीत हो उठा। २. अतः अब **युष्मभ्यम्**=तुम्हारे लिए **हव्या**=हव्य पदार्थ **निशितानि आसन्**=तीव्र=संस्कृत किये गये हैं। प्राणशक्ति के वर्धन के लिए मैंने हव्य पदार्थों के ही ग्रहण का निश्चय किया है। हम **तानि**=उन सात्त्विक पदार्थों को ही **आरे चकृम**=अपने समीप करते हैं—उन्हीं का सेवन करते हैं। **नः मृळत**=तुम हमें सुखी करो। हव्य पदार्थों का सेवन करते हुए हम तुम्हारी साधना के द्वारा काम-क्रोध आदि व्यसनों को जीतकर फिर प्रभु के समीप हो जाएँ।

भावार्थ—हम हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हुए प्राणसाधना के द्वारा पुनः प्रभु के समीप प्राप्त हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

शक्ति के साथ ज्ञान

येन मानासश्चितयन्त उस्रा व्युष्टिषु शवसा शश्वतीनाम्।
स नो मरुद्भिर्वृषभ श्रवो धा उग्र उग्रेभिः स्थविरः सहोदाः॥ ५॥

१. हे **वृषभ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **येन**=जिन आपसे **मानासः**=(मान पूजायाम्) पूजा करनेवाले लोग **शश्वतीनां व्युष्टिषु**=सनातनकाल से चली आ रही उषाओं के निकलने पर **शवसा**=शक्ति के साथ **उस्राः**=ज्ञान की रश्मियों को **चितयन्ते**=जाननेवाले होते हैं, **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **श्रवः धाः**=ज्ञान का धारण कीजिए। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति को एकाग्र करके हम ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। यह प्राणसाधना हमें ऊर्ध्वरेता बनाकर शक्तिसम्पन्न करती है और हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करती है। २. हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **उग्रेभिः**=इन उग्र प्राणों के द्वारा आप हमें भी उत्कृष्ट बनाइए। आप **स्थविरः**=अत्यन्त पुराण पुरुष हैं (सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे) और हम पुत्रों के लिए **सहोदाः**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाली शक्ति को देनेवाले हैं। प्राणसाधना के द्वारा ही यह शक्ति प्राप्त होती है। आप उन उग्र प्राणों की साधना के द्वारा मुझे भी उग्र बनाइए।

भावार्थ—उषा होते ही हम प्रभु-पूजन में प्रवृत्त हों। प्रभु हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराएँ। प्राणसाधना के द्वारा प्रभु हमें वह शक्ति प्राप्त कराते हैं जो हमें उग्र व शत्रुओं का मर्षण करनेवाला बनाती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

क्रोध से दूर (अवयातहेळाः)

त्वं पाहीन्द्र सहीयसो नॄन्भवा मरुद्भिरवयातहेळाः।
सुप्रकेतेभिः सासहिर्दधानो विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **सहीयसः**=काम-क्रोधादि का अतिशयेन मर्षण करनेवाले **नॄन्**=मनुष्यों को **पाहि**=रक्षित कीजिए और **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **अवयातहेळाः**=हमसे दूर कर दिया है क्रोध व घृणा को जिसने ऐसे **भव**=होओ। प्राणसाधना के द्वारा आप हमें इस योग्य बनाइए कि हम क्रोध व घृणा से ऊपर उठ जाएँ। **सासहिः**=हमारे शत्रुओं का खूब ही मर्षण करनेवाले आप **सुप्रकेतेभिः**=उत्तम ज्ञानों के द्वारा **दधानः**=हमारा धारण कीजिए। इस ज्ञानाग्नि में हमारे सारे शत्रु भस्म हो जाएँ। हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घ जीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम प्रभु के प्रिय रक्षणीय बनें, ज्ञान प्राप्त करके क्रोध से ऊपर उठें।

विशेष—सूक्त का मुख्य विषय यही है कि हम प्राणसाधना से पवित्र व ज्ञानदीप्त होकर प्रभु के अधिकाधिक प्रिय होते हैं। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१७२] द्विसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—मरुतः। छन्दः—विराड् गायत्री। स्वरः—षड्जः।

'सुदानवः, अहिभानवः'

चित्रो वोऽस्तु यामश्चित्र ऊती सुदानवः। मरुतो अहिभानवः॥ १॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=तुम्हारा **यामः**=मार्ग **चित्रः अस्तु**=अद्भुत है। वस्तुतः प्राणसाधना

से मनुष्य का शारीर, मानस व बौद्धिक स्तर उन्नति के उस शिखर पर पहुँचता है कि देखनेवालों को आश्चर्य होता है। प्राणसाधना से शरीर के रोग दूर होकर दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। मन से सब वासनाएँ दूर होकर मनःप्रसाद प्राप्त होता है। बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषय को समझने के योग्य हो जाती है। २. हे **सुदानवः**=(दाप् लवने) वासनाओं व मलिनताओं को काटनेवाले प्राणो! आपका मार्ग (चित्रः) अद्भुत तो है ही वह **ऊती**=रक्षण के लिए होता है। ये प्राण सब अवाञ्छनीय तत्त्वों के प्रवेश को रोककर हमारा रक्षण करते हैं। ३. हे प्राणो! आप **अहिभानवः**=अहीन दीप्तिवाले हो। आपकी साधना से रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि समिद्ध होती है और मनुष्य की ज्ञानदीप्ति चमक उठती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य अद्भुत उन्नति करनेवाला होता है। ये प्राण बुराइयों का खण्डन करनेवाले हैं और उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

क्या तो समीप और क्या दूर

आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः। आरे अश्मा यमस्यथ॥ २॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! आप **सुदानवः**=उत्तमता से वासनारूप शत्रुओं को काटनेवाले हो। **सा**=वह **वः**=आपकी **अञ्जती**=हमारे जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करती हुई **शरुः**=वासनाओं को नष्ट करनेवाली शक्ति (शृ हिंसायाम्) **आरे**=हमें समीपता से प्राप्त हो और वह २. **अश्मा**=(महाशनो, महापाप्मा) हमें खा जानेवाला पापरूप शत्रु **यम्**=जिसे **अस्यथ**=आप दूर फेंकते हो, (असु क्षेपणे), **आरे**=हमसे दूर हो, आराद्-(दूरसमीपयोः)-शब्द दूर व समीप का वाचक है। पूर्वार्द्ध में समीप का वाचक है और उत्तरार्द्ध में दूर का। प्राणों की वासनानाशक शक्ति हमें समीपता से प्राप्त हो और वासना हमसे दूर हो।

भावार्थ—प्राण वासनाओं को नष्ट करके जीवन को सद्गुणों से सुशोभित करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

तृणस्कन्द का उत्कृष्ट जीवन

तृणस्कन्दस्य नु विशः परि वृङ्क्त सुदानवः। ऊर्ध्वान्नः कर्त जीवसे॥ ३॥

१. जो व्यक्ति प्रभुदर्शन के कारण इन सांसारिक पदार्थों व भोगों को तृणतुल्य समझकर सब व्यवहार करता है वह 'तृणस्कन्द' कहलाता है (स्कन्द=to go, to move)। हे प्राणो! **नु**=अब इस **तृणस्कन्दस्य**=तृणस्कन्द के **विशः**=शरीर में प्रविष्ट 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को **परिवृङ्क्त**=अशुभ गुणों से दूर करो। **सुदानवः**=आप अशुभ का खण्डन करनेवाले हैं। २. अशुभों का खण्डन करके **नः**=हमें **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति के लिए **ऊर्ध्वान् कर्त**=ऊपर उठाइए। हम वासनाओं से ऊपर उठें जीवन के उत्कर्ष का यही तो मार्ग है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जब प्रभुदर्शन होता है, तब मनुष्य संसार के पदार्थों को तुच्छ समझने लगता है। इसकी 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' सब पापों से दूर हो जाते हैं।

विशेष—सूक्त के तीनों मन्त्र प्राणसाधना के महान् लाभों का वर्णन करते हैं। इस साधना से ही हम इन्द्रियों को जीतकर 'इन्द्र' बनते हैं। यह इन्द्र ही अगले सूक्त का विषय है—

[१७३] त्रिसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पंक्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु-अर्चन व वासना-विनाश

गायत्साम नभन्यं१ यथा वेरर्चाम तद्वावृधानं स्वर्वत्।
गावो धेनवो बर्हिष्यदब्धा आ यत्सद्मानं दिव्यं विवासान्॥ १॥

१. मन्त्र का ऋषि 'इन्द्र' **साम गायत्**=उपासना-मन्त्र का गान करता है। यह मन्त्र **नभन्यम्**=(नभ हिंसायाम्) उसकी वासनाओं का हिंसन करनेवाला होता है। यह उसी प्रकार उपासना करता है **यथा वेः**=(वेत्ति) जैसे कि जानता है। जितना और जिन शब्दों को वह जानता और समझता है, उन्हीं शब्दों में उपासना करता है। २. हम भी **अर्चाम**=उस प्रभु का अर्चन करते हैं जो **तत्**=(तनु विस्तारे) सर्वत्र विस्तृत—सर्वव्यापक है, **वावृधानम्**=खूब बढ़ा हुआ है, सब गुणों की चरम सीमा है। **स्वर्वत्**=वे प्रकाशमय व सुखस्वरूप हैं। ३. इस उपासना के होने पर **गावः**=पदार्थों का ज्ञान देनेवाली ये ज्ञानेन्द्रियाँ **धेनवः**=ज्ञान-दुग्ध देनेवाली होती हैं तथा **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **अदब्धाः**=अहिंसित होती हैं। ये इन्द्रियाँ वासनाओं से आक्रान्त नहीं होतीं। ४. ऐसा होता तभी है **यत्**=जब कि **सद्मानम्**=सबके हृदयों में आसीन होनेवाले **दिव्यम्**=प्रकाशमय प्रभु की **आ विवासान्**=पूजा करते हैं। प्रभु का निवास सबके हृदयों में है। ये प्रभु हमारे हृदय को प्रकाशमय करते हैं। इस प्रकाशमय हृदय में वासनाओं के लिए स्थान नहीं।

भावार्थ—प्रभु का अर्चन हमें वासनाओं से बचाता है। हमारी इन्द्रियाँ विषयों के आक्रमण से आक्रान्त नहीं होतीं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मिथुनोपासन (विष्णु+लक्ष्मी)

अर्चद् वृषा वृषभिः स्वेदुहव्यैर्मृगो नाश्नो अति यज्जुगुर्यात्।
प्र मन्दयुर्मनां गूर्त होता भरते मर्यो मिथुना यजत्रः॥ २॥

१. यह इन्द्र **अर्चत्**=प्रभु का अर्चन करता है। अर्चन के कारण **वृषा**=यह शक्तिशाली बनता है। यह **वृषभिः**=शक्तियों के हेतु से तथा **स्व इदुहव्यैः**=आत्मतत्त्व को दीप्त करनेवाले (स्व=आत्मा, इदु=इन्धक) हव्यों के हेतु से **मृगः**=आत्मान्वेषण करनेवाला बनता है। आत्म-निरीक्षण करता हुआ यह कामादि शत्रुओं को नष्ट करके शक्तिशाली बनता है। इसमें त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति जाग्रत् होती है। यह **न अश्नः**=बहुत खानेवाला नहीं बन जाता, पेटू नहीं बनता **यत्**=क्योंकि यह **अतिजुगुर्यात्**=खूब श्रमशील होता है। प्रभु-भक्त को क्रियाशील तो होना ही चाहिए। २. हे **गूर्त**=(गुरी उद्यमने) उद्यमसम्पन्न इन्द्र! तू **मनाम्**=मननीय देवों का **प्रमन्दयुः**=प्रकर्षेण स्तवन करनेवाला होता है। **होता**=सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला होता है। ३. यह **यजत्रः मर्यः**=यज्ञशील मनुष्य **मिथुना**=परमात्मा और प्रकृति को **भरते**=अपने में धारण करता है। परमात्मा की उपासना से यह निःश्रेयस को सिद्ध करता है तो प्रकृति की उपासना से इसे अभ्युदय प्राप्त होता है। धन से संसार के कार्य चलते हैं, प्रभु के उपासन से मनुष्य मार्गभ्रष्ट नहीं होता। इस प्रकार जीवन-पथ पर आगे बढ़ता हुआ यह प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु-उपासक शक्तिशाली बनता है, आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए हव्य का सेवन करता है।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

अन्तःस्थित दूत के सन्देश को सुनना

नक्षद्धोता परि सद्म मिता यन्भरद्गर्भमा शरदः पृथिव्याः ।
क्रन्ददश्वो नयमानो रुवद्गौरन्तर्दूतो न रोदसी चरद्वाक् ॥ ३ ॥

१. **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **सद्म**=ब्रह्मलोकरूप अपने घर को **नक्षत्**=प्राप्त होता है। अब वह (क) **मिता परियन्**=कर्म को माप-तोलकर करता है। गीता के 'युक्तचेष्टस्य कर्मसु' इन शब्दों को अपने जीवन में अनूदित करता है तथा युक्ताहारविहारी तथा युक्तस्वप्नावबोध पुरुष ही प्रभु को पाता है। प्रभु को वह पाता है जोकि (ख) अपने जीवन के वर्षों के अन्त तक **पृथिव्याः गर्भम्**=पृथिवी के गर्भ को—पृथिवी के गर्भ से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों को ही **आभरत्**=अपने भरण-पोषण का साधन बनाता है, वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करता हुआ मांसभोजनों से दूर रहता है। २. यह परिमित आहार-विहारवाला, शाकाहारी पुरुष **क्रन्दद् अश्वः**=प्रभु का आह्वान करनेवाली इन्द्रियोंवाला होता है। यह अपनी इन्द्रियों को—अपना-अपना कर्म उत्तमता से करने के द्वारा, प्रभु के पूजन में लगाता है। **नयमानः**=इस प्रकार अपने को उन्नति-पथ पर आगे और आगे ले-चलता है। **रुवत् गौः**=वेदवाणियों का (गो) उच्चारण करनेवाला (रु) बनता है। **अन्तः दूतः**=अन्तःस्थित प्रभुरूपी दूतवाला होता है, प्रभु से सन्देश प्राप्त करता है और उस सन्देश के अनुसार कार्य करनेवाला बनता है। इन **रोदसी**=द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर में **वाक् चरत् न**=इसकी वाणी नहीं चलती रहती, अर्थात् बातें ही न बनाते रहकर—शुष्क तर्क-वितर्क में ही समय को नष्ट न करके—यह सन्देशानुसार कार्य को करने में लगता है।

भावार्थ—हम युक्ताहारविहारवाले बनें, वानस्पतिक पदार्थों का ही प्रयोग करें। प्रभु के सन्देश को सुनते हुए उसके अनुसार कार्य में तत्पर हों, उसके विरोध में तर्क-वितर्क न करते रहें।

ऋषिः—अगस्त्यः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—बृहती । स्वरः—मध्यमः ।

दीप्तकर्मों द्वारा प्रभु-प्राप्ति

ता कर्माषतरास्मै प्र च्यौत्नानि देवयन्तो भरन्ते ।
जुजोषदिन्द्रो दस्मवर्चा नासत्येव सुग्म्यो रथेष्ठाः ॥ ४ ॥

१. **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **ता**=उन **अषतरा**=(अष्=to shine, to receive) दीप्ततर अथवा प्रभु से (more acceptable) अधिक स्वीकरणीय **कर्म**=कर्मों को करें (कुर्मः)। कर्मों के द्वारा ही तो प्रभु का उपासन होता है। जितने हमारे कर्म दीप्त होंगे, उतने ही प्रभु से स्वीकरणीय होंगे। २. **देवयन्तः**=इस देव को प्राप्त करने की कामनावाले **च्यौत्नानि**=धनों के क्षरणों अर्थात् दानों का **प्रभरन्ते**=धारण करते हैं। ये धनों का खूब दान देनेवाले होते हैं। जितना-जितना इन धनों का दान करते जाते हैं, उतना-उतना उसी प्रकार निर्मल होते जाते हैं, जैसे कि काले मेघ जल का क्षरण करके श्वेत हो जाते हैं। ये निर्मल अन्तःकरण पुरुष ही प्रभु को पाते हैं। ३. यह प्रभु-भक्त **जुजोषत्**=प्रीतिपूर्वक अपने नियत कर्मों का सेवन करता है। **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है, **दस्मवर्चाः**=दर्शनीय तेजवाला होता है, अथवा कामादि शत्रुओं के नाशक तेजवाला होता है। अपने तेज से यह **नासत्या इव**=अश्विनी देवों के समान होता है, प्राणापान की शक्ति से सम्पन्न होता है, **सुग्म्यः**=(ग्मा=earth=शरीर) उत्तम शरीरवालों में भी श्रेष्ठ होता है, अत्यन्त स्वस्थ शरीरवाला होता है, **रथेष्ठाः**=इस शरीररूप रथ का अधिष्ठाता

बनता है। इसके द्वारा अपने लक्ष्यस्थान पर पहुँचनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हमारे कर्म दीप्त हों, हम दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

नियन्ता प्रभु (रथेष्ठाः)

तमु ष्टुहीन्द्रं यो ह सत्वा यः शूरो मघवा यो रथेष्ठाः।
प्रतीचश्चिद्योधीयान्वृषण्वान्ववव्रुषश्चित्तमसो विहन्ता॥ ५॥

१. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **हि**=ही **ह स्तुहि**=स्तुत कर। उस प्रभु का स्तवन करनेवाला बन। **यः**=जो **उ**=निश्चय से **सत्वा**=बल के पुञ्ज हैं, (सत्वम्=बलम्) बल के पुञ्ज होने के कारण **यः शूरः**=जो शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं, **मघवा**=शत्रुओं का हिंसन करके परमैश्वर्यवाले हैं। **यः**=जो **रथेष्ठाः**=हमारे शरीररूप रथों पर नियन्ता के रूप से स्थित हैं 'भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। २. **प्रतीचः चित्**=(प्रति अञ्च) हमारे विरोध में आनेवाले कामादि शत्रुओं को **योधीयान्**=युद्ध द्वारा पराजित करनेवाले हैं। हमारे इन शत्रुओं के साथ युद्ध करनेवाले उत्कृष्ट योद्धा हैं, **वृषण्वान्**=शत्रुओं के पराजय द्वारा हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं अथवा हम पर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। ३. कामादि शत्रुओं के पराजय के द्वारा **ववव्रुषः चित्**=आवरकभूत भी **तमसः**=अन्धकार के **विहन्ता**=नष्ट करनेवाले हैं। ज्ञान पर आवरण के रूप में होनेवाले अन्धकार के आप नाशक हैं। इस आवरण को दूर करके आप हमारे ज्ञान को दीप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे कामादि शत्रुओं का संहार करके हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं, इस प्रकार हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु का विराट् रूप

प्र यदित्था महिना नृभ्यो अस्त्यरं रोदसी कक्ष्ये३ नास्मै।
सं विव्य इन्द्रो वृजनं न भूमा भर्ति स्वधावाँ ओपशमिव द्याम्॥ ६॥

१. **यत्**=जो **इत्था**=इस प्रकार—गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से हमारे शत्रुओं का नाश करके **महिना**=अपनी महिमा से **नृभ्यः**=मनुष्यों के लिए **प्र अस्ति**=(प्र भवति) प्रकृष्ट सत्ता को प्राप्त करानेवाले हैं, स्वर्ग—उत्तम स्थिति में प्राप्त करानेवाले हैं। २. **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **कक्ष्ये**=दाएँ-बाएँ पांसे के रूप में **अरं न**=पर्याप्त नहीं हैं। ये द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु को अपने में समा नहीं सकते। ३. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **भूम**=इस पृथिवी को **वृजनं न**=एक गोचरभूमि के रूप में **संविव्ये**=आच्छादित किये हुए हैं। प्रभु गोप हैं, जीव गौएँ हैं। प्रभु ने इनके चरने के लिए इस पृथिवीरूप चरागाह को संवृत किया (ढका) हुआ है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मनुष्य प्रायः चरते ही रहते हैं। ४. वह **स्वधावान्**=आत्मधारण शक्तिवाले प्रभु **द्याम्**=इस द्युलोक को **ओपशम् इव**=(head-dress) शिरोवस्त्र के समान **भर्ति**=धारण करते हैं।

भावार्थ—उस विराट् प्रभु को ये द्युलोक व पृथिवीलोक अपने में समा नहीं सकते। पृथिवी उस प्रभु से एक चरागाह के रूप में मनोनीत की गई है तो द्युलोक प्रभु के शिरोवस्त्र के समान है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सज्जनों के शक्तिवर्धक प्रभु

समत्सु त्वा शूर सतामुराणं प्रपथिन्तमं परितंसयध्यै।
सजोषस इन्द्रं मदे क्षोणीः सूरिं चिद्ये अनुमदन्ति वाजैः॥७॥

१. हे **शूर**=शत्रु-संहारक प्रभो! **समत्सु**=संग्रामों में **सताम्**=सज्जनों के **उराणम्**=(उरूणि अतिप्रभूतानि बलादीनि कुर्वाणम्—सा०) प्रभूत बलादि को करते हुए **प्रपथिन्तमम्**=प्रकृष्ट मार्गभूत **त्वा**=आपको **परितंसयध्यै**=अपना अवतंस (आभूषण) बनाने के लिए **सजोषसः**=(जुषी प्रीतिसेवनयोः) प्रीतिपूर्वक अपने नियत कर्मों का सेवन करनेवाले होते हैं। जो भी व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को प्रेम से करते हैं, वे अपने कर्त्तव्यपालन से प्रभु की सच्ची पूजा कर रहे होते हैं। २. **मदे**=हर्ष-प्राप्ति के निमित्त **क्षोणीः**=मनुष्य **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही (परितंसयध्यै) अपना आभूषण बनाने के लिए यत्नशील होते हैं। वास्तविक आनन्द प्रभु-प्राप्ति में ही है। इस आनन्द का अनुभव वे करते हैं **ये**=जो **वाजैः**=(वज गतौ) अपनी क्रियाओं से उस **सूरिं चित्**=सर्वज्ञ प्रभु को ही **अनुमदन्ति**=(मादयन्ति—सा०) हर्षित करते हैं। जैसे पुत्र श्रेणी में प्रथम स्थान में स्थित होकर पिता को प्रसन्न करता है, इसी प्रकार हम अपने उत्तम कर्मों से प्रभु को प्रीणित कर पाते हैं।

भावार्थ—हम सज्जन बनें, प्रभु हमें शक्ति देंगे। उस शक्ति से प्रकृष्ट मार्ग पर चलते हुए हम प्रभु के प्रिय बनेंगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

यज्ञ, स्वाध्याय व स्तवन

एवा हि ते शं सवना समुद्र आपो यत्त आसु मदन्ति देवीः।
विश्वा ते अनु जोष्या भूद् गौः सूरींश्चिद्यदि धिषा वेषि जनान्॥८॥

१. हे प्रभो! **एव**=सचमुच **हि**=ही **ते**=आपके **सवना**=यज्ञ **शम्**=शान्ति देनेवाले हैं। हम यज्ञों को आपके निर्देश के अनुसार करते हैं और जीवन में सुख व शान्ति का अनुभव करते हैं। २. **यत्**=जो **समुद्रे**=इस ज्ञान के समुद्र वेदों में (रायः समुद्राँश्चतुरः) **ते आपः**=आपके ज्ञान-जल हैं, **आसु**=उन ज्ञान-जलों में **देवीः**=दिव्य वृत्तियोंवाली प्रजाएँ **मदन्ति**=हर्ष का अनुभव करती हैं। **ते**=आपकी यह **विश्वा गौः**=सम्पूर्ण वेदवाणी **अनु**=क्रमशः 'ऋग्यजुः, साम व अथर्व' इस क्रम से **जोष्या**=प्रीतिपूर्वक सेवन करने योग्य **भूत्**=होती है। २. **सूरीन् चित् जनान्**=इन ज्ञानीजनों को भी **यदि वेषि**=यदि आप प्राप्त होते हैं या चाहते हैं तो **धिषा**=(धिष्=ह्वश ह्यश्वह्रुस्त्र) स्तुतिवचनों के द्वारा ही, अर्थात् जब एक ज्ञानी पुरुष आपका उपासक बनता है तभी आप उसका धारण करनेवाले होते हैं। आपका सच्चा उपासक वही है जो 'सर्वभूतहिते रतः' होता है। वह सब प्राणियों का धारण करता है और आपसे धारणीय होता है।

भावार्थ—यज्ञ हमारे लिए शान्तिकर हों। हम ज्ञानसमुद्र में स्नान का आनन्द लें, औरों का धारण करते हुए प्रभु के सच्चे उपासक बनें और प्रभु से धारणीय हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रभुरूप उत्तम मित्रवाले

असाम यथा सुषखाय एन स्वभिष्टयो नरां न शंसैः।
असद्यथा न इन्द्रो वन्दनेष्ठास्तुरो न कर्म नयमान उक्था॥ ९॥

१. **एन**=(आ इन) हे महान् स्वामिन्! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अधीश! आप ऐसी कृपा कीजिए **यथा**=जिससे हम **सुषखायः**=आपके उत्तम मित्र **असाम**=हों अथवा आपको पाकर उत्तम मित्रवाले हों। **न**=और (न इति चार्थे) आपकी कृपा से हम **नराम्**=हमें आगे ले चलनेवाले 'माता-पिता, आचार्य व अतिथियों' के **शंसैः**=उपदेशों से **स्वभिष्टयः**= (शोभना-भ्येषणाः) वासनाओं पर प्रबल आक्रमण करनेवाले हों (अभ्येषण=attack) अथवा सदा उत्तम इच्छाओंवाले हों (अभिष्टि=desire)। २. हम इस प्रकार उत्तम इच्छाओंवाले हों कि **यथा**=जिससे **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे **वन्दनेष्ठाः असत्**=वन्दन में स्थित होनेवाले हों, हम सदा प्रभु का ही वन्दन करें। **तुरः न**=वे हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले के समान हों (तुर्वी हिंसायाम्)। इन शत्रुओं के संहार के लिए ही हमें **कर्म**=कर्त्तव्य कर्मों को **नयमानः**=प्राप्त कराएँ तथा **उक्था**=स्तोत्रों को प्राप्त कराएँ। हम कर्त्तव्यपालन करनेवाले बनें और सदा प्रभु का स्तवन करें। यही वस्तुतः वासनाओं से बचने का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्रभुरूप मित्रवाले हों। प्रभु हमें कर्त्तव्यकर्मों में प्रेरित करके और स्तोत्रों को प्राप्त कराके वासनाओं के आक्रमण से बचाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

मध्यायुवः

विष्पर्धसो नरां न शंसैरस्माकासदिन्द्रो वज्रहस्तः।
मित्रायुवो न पूर्पतिं सुशिष्टौ मध्यायुव उप शिक्षन्ति यज्ञैः॥ १०॥

१. **न**=जिस प्रकार **नराम्**=नेतृत्व करनेवाले माता-पिता आदि के **शंसैः**=शंसनों व उपदेशों से सन्तान **विष्पर्धसः**=विशिष्ट स्पर्धावाले होते हैं, एक-दूसरे के साथ स्पर्धा से उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाले होते हैं, उसी प्रकार स्पर्धापूर्वक आगे बढ़नेवाले **अस्माक**=हमारा **वज्रहस्तः**=सदा क्रियाशीलता को हाथ में लिये हुए **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **असत्**=हो, अर्थात् हम प्रभु के शंसनों से आगे बढ़ने की प्रेरणा को प्राप्त हों। २. हम **सुशिष्टौ**=उत्तम शासन के निमित्त **पूः पतिम्**=इस ब्रह्माण्डपुरी के शासक प्रभु को **मित्रायुवः न**=मित्र की भाँति प्राप्त करनेवालों की कामनावालों के समान हों। उस महान् मित्र प्रभु के शासन में **मध्यायुवः**=सदा मध्यमार्ग को अपनानेवाले लोग **यज्ञैः**=यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए **उपशिक्षन्ति**=उस प्रभु को समीपता से प्राप्त कर सकने की इच्छावाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपदेशों से विशिष्ट स्पर्धावाले होकर आगे बढ़ें। मध्यमार्ग में चलते हुए यज्ञात्मक कर्मों से प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

यज्ञशीलता न कि कुटिलता

यज्ञो हि ष्मेन्द्रं कश्चिदृन्धञ्जुहुराणश्चिन्मनसा परियन्।
तीर्थे नाच्छा तातृषाणमोको दीर्घो न सिध्रमा कृणोत्यध्वा॥ ११॥

१. इस संसार में **कश्चित्**=कोई एक **यज्ञः**=यज्ञशील पुरुष (यज्ञः अस्य अस्तीति यज्ञः) **हि ष्म**=निश्चय से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **ऋन्धन्**=(to please) प्रीणित करनेवाला होता है। यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन करनेवाला बनता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। २. इसके विपरीत **जुहुराणः**=कुटिलता करता हुआ **चित्**=निश्चय से **मनसा**=मन से **परियन्**=चारों ओर भटकनेवाला होता है। यह मन में सदा अशान्त रहता है। नाना प्रकार के षड्यन्त्रों को करता हुआ यह मानस शान्ति को प्राप्त नहीं करता। यज्ञशील के लिए तो प्रभु इस प्रकार होते हैं **न**=जैसे कि **तातृषाणम्**=प्यास से व्याकुल पुरुष को **तीर्थे**=घाट पर **अच्छ**=आभिमुख्येन—सामने ही **ओकः**=शरणस्थान प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत **न सिध्रम्**=(not pious or virtuous man) अधार्मिक कुटिल वृत्तिवाले पुरुष को **दीर्घः अध्वा**=यह लम्बा बीहड़ मार्ग **आकृणोति**=(hurt, kill) नष्ट कर डालता है। कुटिल पुरुष भटकता-भटकता ही मर जाता है, उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, न कि कुटिल।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

हविर्मय जीवन की प्रशस्तता

मो षू ण॑ इन्द्रात्र॑ पृत्सु दे॒वैरस्ति॒ हि ष्मा॑ ते शुष्मिन्नव॒याः।
म॒हश्चि॒द्यस्य॑ मी॒ळ्हुषो॑ य॒व्या ह॒विष्म॑तो म॒रुतो॒ वन्द॑ते॒ गीः॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **अत्र**=यहाँ—इस जीवनयज्ञ में **पृत्सु**=उपस्थित होनेवाले संग्रामों में **नः**=हमें **देवैः**=अपनी दिव्यशक्तियों के साथ **मा उ सु**=(त्याक्षीः) निश्चय से छोड़ मत जाइए। आपकी सहायता से ही तो हम इन संग्रामों में विजयी बन पाएँगे। हे **शुष्मन्**=शत्रुशोषक बलवाले प्रभो! **हि स्म**=निश्चयपूर्वक **ते**=आपका **अवयाः अस्ति**=शत्रुओं को दूर करनेवाला वज्र है ही। आप इस वज्र के द्वारा हमारे शत्रुओं का संहार कीजिए। वस्तुतः 'क्रियाशीलता' ही वह वज्र है, जिसके द्वारा हम काम-क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट कर पाते हैं। २. **महः चित्**=महान् भी **मीळ्हुषः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **यस्य**=जिन आपकी **यव्या गीः**=बुराइयों का अमिश्रण व अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाली (यु मिश्रणामिश्रणयोः) यह वेदवाणी **हविष्मतः मरुतः**=प्रशस्त हविवाले पुरुष का **वन्दते**=स्तवन करती है, अर्थात् वेदवाणी में उसी का प्रशंसन है जिसका कि जीवन दानपूर्वक अदन करनेवाला बना है। वस्तुतः इस हवि के द्वारा ही प्रभु का पूजन होता है। हविर्मय जीवन ही प्रशस्त जीवन है। इसी से मनुष्य महान् बनता है, सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की अनुकूलता में ही हम संसार-संग्राम में विजयी बन पाते हैं। हविर्मय जीवन ही उत्तम जीवन है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्तुति व मार्गदर्शन

ए॒ष स्तोम॑ इन्द्र॒ तुभ्य॑म॒स्मे ए॒तेन॑ गा॒तुं ह॑रिवो विदो नः।
आ नो॑ ववृत्याः सुवि॒ताय॑ देव वि॒द्यामे॒षं वृ॒जनं॑ जी॒रदा॑नुम्॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारा **एषः स्तोमः**=यह स्तवन **तुभ्यम्**=आपके लिए है। हम आपका ही स्तवन करनेवाले हों। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! (हरि=अश्व), **एतेन**=इस स्तवन के द्वारा **नः**=हमारे लिए **गातुं विदः**=मार्ग को प्राप्त

कराइए, अर्थात् स्तुति से हमें जीवन-मार्ग का ज्ञान हो। 'आप दयालु हैं' इस प्रकार आपकी स्तुति करते हुए हम भी दयालु स्वभाववाले बनें। २. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **नः**=हमें **सुविताय**=सदा शुभ मार्ग पर चलने के लिए **आववृत्याः**=प्राप्त हों। आपका स्मरण करते हुए ही तो हम शुभ मार्ग पर चलनेवाले होते हैं। हम आपसे **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें मार्ग-दर्शन कराएगा।

विशेष—सूक्त का मूल भाव यही है कि हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमारी अशुभ-वृत्तियों को नष्ट करेगा (१)। इस स्तुति से ही हमें मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा (१३)। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

[१७४] चतुःसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वह महान् शासक (राजेन्द्र)

त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नृन्पाह्यसुर त्वमस्मान्।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं राजा**=आप ही इस ब्रह्माण्ड के शासक व व्यवस्थापक हो। आप **च**=और ये **देवाः**=जो आपके सूर्यादि देव हैं, उन देवों के साथ आप **नृन् पाहि**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों का **रक्ष**=रक्षण कीजिए। हे **असुर**=शत्रुओं का निरसन करनेवाले प्रभो! (असु क्षेपणे) **त्वम् अस्मान् पाहि**=आप हमारा रक्षण कीजिए। 'असुर' शब्द का भाव 'असून् राति' व्युत्पत्ति से यह है कि वे प्रभु बलदाता हैं। वस्तुतः बल प्राप्त कराके वे हमें अपना रक्षण कर सकने के योग्य बनाते हैं। २. **त्वम्**=आप **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक हैं, **मघवा**=ऐश्वर्यशाली हैं, **नः तरुत्रा**=हमें विघ्नों से तारनेवाले हैं, **त्वं सत्यः**=आप सत्यस्वरूप हैं, **वसवानः**=हमें अपनी गोद में आच्छादित करनेवाले, वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं, **सहोदाः**=हमारे लिए सहस् अर्थात् शत्रुओं का मर्षण करनेवाले बल को देनेवाले हों।

भावार्थ—इस संसार-संग्राम में प्रभु हमारे रक्षक हैं। हम उन्नति-पथ पर चलने का निश्चय व प्रयत्न करते हैं (नृन्) तो प्रभु हमारा रक्षण करते हैं, हमें बल देते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

कटुभाषण का त्याग

दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्।
ऋणोरपो अनवद्यार्णा यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=विश्व के शासक प्रभो! (इन्द्रो विश्वस्य राजति), आप **मृध्रवाचः**=(मृध्=to hurt, to kill) हिंसक (murderous) वाणीवाली **विशः**=प्रजाओं का **दनः**=(अदमयः) दमन करते हैं। **यत्**=क्योंकि यह कटुभाषी **सप्त**=सातों **शारदीः**=(शारदम्=corn, grain) अन्न से परिपोषित **पुरः**=नगरियों को तथा **शर्म**=सब सुख को **दर्त्**=विदीर्ण कर देता है। यह अन्नमयकोश त्वचा के सात आवरणोंवाला है, इसी से यहाँ इसे 'सप्तपुरः' इन शब्दों से स्मरण किया है। ये अन्न का विकार हैं, अतः इन्हें 'शारदी' कहा है। कटु शब्द सातों त्वचाओं का भेदन करके मर्म-पीड़ा कर देता है। कटु शब्दों से सब सुख नष्ट होता है, अतः कटुभाषी व्यक्ति को दमन

आवश्यक है। २. हे **अनवद्य**=सब अवद्यों—निन्दनीय तत्त्वों से रहित प्रभो! आप **अपः ऋणोः**=कर्मों को प्राप्त कराते हैं तथा **अर्णाः**=सब गतियों के कारणभूत रेतःकणों (जलों) को प्राप्त कराते हैं (आपः रेतः)। इन कर्मों व शक्तियों को प्राप्त कराके आप उन लोगों के स्वभाव में परिवर्तन करते हैं और वे कटुभाषण से दूर हो जाते हैं। ३. **यूने**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों का अमिश्रण व अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले **पुरु कुत्साय**=शत्रुओं का खूब ही हिंसन करनेवाले के लिए आप **वृत्रम्**=वासना को **रन्धीः**=विदीर्ण करते हैं। वासना के विनष्ट होने पर कटुभाषण का प्रसङ्ग नहीं रहता।

भावार्थ—हम कटुभाषण से दूर हों। इसके लिए कर्मों में लगे रहें और सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'अवीर-हा'

अजा वृत इन्द्र शूरपत्नीर्द्यां च येभिः पुरुहूत नूनम्।
रक्षो अग्निमशुषं तूर्वयाणं सिंहो न दमे अपांसि वस्तोः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता, **पुरुहूत**=(पुरु हूतं यस्य) प्रभु का खूब स्तवन करनेवाले जीव! तू **शूरपत्नीः**=शूरों से, वीरों से रक्षित होनेवाली **वृतः**=रक्षा के लिए घिरी हुई वेदिभूमियों को **अज**=जानेवाला हो। इन वेदियों की ओर जानेवाला तू सदा यज्ञशील बन **च**=और उन यज्ञों को तू कर **येभिः**=जिनसे **नूनम्**=निश्चयपूर्वक **द्याम् अज**=तू स्वर्ग को जाता है। इन यज्ञों से इहलोक और परलोक दोनों ही बड़े सुन्दर बनते हैं। २. तू **दमे**=गृह में **अपांसि**=यज्ञादि कर्मों को **वस्तोः**=(वासयितुम्=कारयितुम्) स्थापित करने के लिए **अग्निम्**=उस अग्नि को जोकि **अशुषम्**=शान्त न होनेवाली तथा **तूर्वयाणम्**=(तुर्वति=हिनस्ति) रोगकृमियों का संहार करनेवाली है, **रक्षः**=सुरक्षित कर। तू उसी प्रकार अग्नि की रक्षा कर **न**=जैसे कि **सिंहः**=शेर अपने आश्रयभूत वन की रक्षा करता है, उस वन में वह हाथी आदि का उपद्रव नहीं होने देता। तू भी अग्नि की रक्षा कर। यह रक्षित अग्नि रोगकृमियों का संहार करके तेरा रक्षण करेगा।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। यज्ञ हमें स्वर्ग प्राप्त करानेवाला होगा। रोग-कृमियों के संहार के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञाग्नि को बुझने न दें। हम 'वीर-हा' न बनें। यज्ञाग्नि को बुझने देनेवाला ही 'वीर-हा' है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

उस समान योनि में

शेषन्नु त इन्द्र सस्मिन्योनौ प्रशस्तये पवीरवस्य मह्ना।
सृजदर्णांस्यव यद्युधा गास्तिष्ठद्धरी धृषता मृष्ट वाजान्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता पुरुष! **पवीरवस्य**=पवित्रीकरण के साधनभूत (पू=पवने) क्रियाशीलतारूप वज्र की **मह्ना**=महिमा से **ते**=तेरे 'मन, बुद्धि, इन्द्रिय'-रूप सब साधन **सस्मिन् योनौ**=उस समान योनि में—सबके मूल उत्पत्तिस्थान ब्रह्म में **नु**=निश्चय से **शेषन्**= निवास (शयन) करते हैं। तेरी इन्द्रियाँ विषयों में नहीं भटकती रहतीं। तेरा मन विषयों की इच्छाओं से आन्दोलित नहीं होता रहता तथा तेरी बुद्धि विषयोपार्जन के साधनों को ही नहीं सोचती रहती। क्रियाशीलतारूप वज्र का यही महत्त्व है कि मनुष्य विषय-वासनाओं का विनाश करनेवाला बनकर अपने जीवन को पवित्र बनाता है। उसका झुकाव प्रभु की ओर होता है, न कि प्रकृति

की ओर। इस प्रकार इसका जीवन **प्रशस्तये**=प्रशस्ति के लिए होता है। यह प्रभु का शंसन करनेवाला बनता है। इससे इसका जीवन भी प्रशस्त होता है। २. **यत्**=जब यह **युधा**=युद्ध से **गाः**=गति करता है (गच्छसि—सा०) तब **अर्णांसि**=ज्ञान-जल के समुद्रों को (अर्णस्=the ocean) **अवसृजत्**=उत्पन्न करता है। विषयवासनाओं से संग्राम करता हुआ यह ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करता है और इसका ज्ञान चमक उठता है। ३. यह **हरी**=ज्ञानेन्द्रियरूप व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों पर **तिष्ठत्**=अधिष्ठित होता है। इन्द्रियों को पूर्णतया अपने वश में करता है और **धृषता**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले सामर्थ्य के द्वारा **वाजान्**=अपनी सब शक्तियों व गतियों को **मृष्ट**=शुद्ध कर डालता है। मलिनता का कारण वासना ही है। वासना गई और मलिनता दूर हुई।

भावार्थ—हमारी 'इन्द्रयाँ, मन व बुद्धि' प्रभु में निवास करें। हममें ज्ञानसमुद्रों की सृष्टि हो। वासनाओं को विनष्ट करके हम गतियों व शक्तियों को पवित्र करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु के समीप

वह कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन्त्स्यूमन्यू ऋज्रा वातस्याश्वा।
प्र सूरश्चक्रं वृहतादभीकेऽभि स्पृधो यासिषद्वज्रबाहुः॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले इस पुरुष को **स्यूमन्य**=(स्यूमं=Happiness) सुख प्राप्त करानेवाले, **ऋज्रा**=ऋजुगामी, **वातस्य अश्वा**=वायु के घोड़ों को—वायु के समान वेगवाले इन्द्रियाश्वों को **वह**=प्राप्त कराइए। उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराइए **यस्मिन्**=जिसके होने पर **चाकन्**=(कन् दीप्तौ) यह चमक उठे। इसकी शोभा बढ़े, इसका जीवन सुन्दर हो। २. यह **सूरः**=ज्ञानी बनकर—सूर्य के समान ज्ञान से चमकता हुआ होकर **चक्रम्**=अपने शरीर-रथ को **अभीके**=आपके समीप **प्रवृहतात्**=उद्यत करनेवाला हो अर्थात् इस शरीर-रथ से उन्नति-पथ पर आगे और आगे बढ़ता हुआ आपके समीप पहुँचनेवाला हो और **वज्रबाहुः**=हाथ में क्रियाशीलतारूप वज्र को लिये हुए **स्पृधः**=संग्राम करते हुए काम-क्रोधादि शत्रुओं के प्रति **अभि यासिषत्**=आनेवाला हो, उनपर आक्रमण करनेवाला हो। इस अध्यात्म-संग्राम में विजयी बनकर ही तो यह आपके समीप पहुँचेगा। वस्तुतः आपका सतत स्मरण करता हुआ ही यह इन संग्रामों में विजयी भी हो सकेगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम हों। हम अपने शरीर-रथ को प्रभु के समीप पहुँचने का साधन समझें। काम-क्रोधादि को जीतकर प्रभु के समीप हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

मित्रद्रोह व कृपणता से दूर

जघन्वाँ इन्द्र मित्रेरूञ्चोदप्रवृद्धो हरिवो अदाशून्।
प्र ये पश्यन्नर्यमणं सचायोस्त्वया शूर्ता वहमाना अपत्यम्॥ ६॥

१. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **चोदप्रवृद्धः**=प्रेरणा से धर्ममार्ग पर बढ़ा हुआ तू **मित्रेरून्**=मित्रों के बाधक—मित्रद्रोहियों को तथा **अदाशून्**=दान न देनेवाले कृपणों को **जघन्वान्**=नष्ट करता है। तू अपने में मित्रद्रोह व कृपणता की वृत्ति को पैदा नहीं होने देता। जिस समय हम प्रभु की प्रेरणा से दूर होते हैं, तभी हममें अधर्म प्रबल होने लगता

है और तभी हम मित्रद्रोह व कृपणता आदि अशुभ वृत्तियोंवाले होते हैं। २. **ये**=जो व्यक्ति **अर्यमणम्**=‘अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति’ सब पदार्थों के देनेवाले उस प्रभु को **प्रपश्यन्**=देखते हैं। ३. वे **आयोः**=मनुष्य के **सचा**=सहायभूत होते हैं, सबके साथ मिलकर चलते हैं। प्रभुरूप पिता के पुत्र होने के नाते ये सबके साथ बन्धुत्व अनुभव करते हैं, **त्वया शूर्ताः**=आपसे प्रेरित होते हैं (शूर to make vigorous actions) आपके साथ मिलकर शक्तिशाली कार्यों को करनेवाले होते हैं, **अपत्यं वहमानाः**=कुल को नष्ट न होने देनेवाले सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्रेरणा के अनुसार चलनेवाला व्यक्ति मित्रद्रोही व कृपण नहीं होता। सबके साथ मिलकर चलता है, प्रभु से प्रेरित होकर शक्तिशाली कार्यों को करता है और उत्तम सन्तानों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दास का भूमि-शयन

रपत्कविरिन्द्रार्कसातौ क्षां दासायोपबर्हणीं कः।
करत्तिस्रो मघवा दानुचित्रा नि दुर्योणे कुयवाचं मृधि श्रेत्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! **कविः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी पुरुष **रपत्**=आपका स्तवन करता है। **अर्कसातौ**=अर्चनीय प्रभु-प्राप्ति के निमित्त **दासाय**=जीवन का नाश करनेवाली वृत्तियों के लिए **क्षाम्**=पृथिवी को **उपबर्हणीम्**=शय्या **कः**=करता है। अशुभवृत्तियों को भूमिशायी करके—समाप्त करके ही तो प्रभु-प्राप्ति के योग्य बना जाता है। २. यह **मघवा**=यज्ञशील पुरुष (मघ=मख) **तिस्रः**=असुरों की तीन पुरियों को **दानुचित्रा**=खण्डन से चित्रित **करत्**=करता है। कामादि असुरवृत्तियाँ इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपना अधिष्ठान बनाती हैं। उस समय इन्द्रियों में बनी इनकी पुरी अयोमयी—लोहवत् दृढ़ कहलाती हैं। इनसे मन में खड़ी की गई पुरी राजत—चाँदी के समान रञ्जन करनेवाली होती है तथा बुद्धि में स्थापित हुई पुरी हिरण्मयी—स्वर्ण के समान उज्ज्वल प्रतीत होती है। यज्ञशील पुरुष इन तीनों के ध्वंस का प्रयत्न करता है। ३. **दुर्योणे मृधि**=वासनाएँ हैं ‘योनि’ कारण जिनका, उस संग्राम में **कुयवाचम्**=कुत्सित शब्दों को करते हुए इन आसुर भावों को **निश्रेत्**=पूर्णरूप में हिंसित करता है। अशुभ वासनाएँ न हों तो यह युद्ध हो ही नहीं। इसलिए इस युद्ध को ‘दुर्योनि’ कहा गया है। ये असुर अशुभ वचनों का ही उच्चारण करते हैं—‘जगदाहुरनीश्वरम्’ ईश्वर है ही नहीं, ‘किमन्यत्कामहैतुकम्’—यह संसार केवल मौज के लिए है, ‘ईश्वरोऽहम्’—मैं ही ईश्वर हूँ, ‘कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया’—मेरे समान और कौन है? इस प्रकार की व्यर्थ की बातें ये करते हैं। इन आसुर भावों को यह स्तोता समाप्त करता है।

भावार्थ—अशुभ वासनाओं को समाप्त करके ही हम प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वासना-संहार

सना ता त इन्द्र नव्या आगुः सहो नभोऽविरणाय पूर्वीः।
भिनत्पुरो न भिदो अदेवीर्ननमो वधरदेवस्य पीयोः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **ता**=वे **नव्या**=स्तुत्यकर्म (नव गतौ, नु स्तुतौ) **आगुः**=हमें प्राप्त हों। आप ही **अविरणाय**=(अविनाशाय—सा०) हमारे अविनाश के लिए **पूर्वीः नभः**=(बह्वीः हिंसाः—सा०) इन विविध हिंसाओं को **सहः**=अभिभूत करते हैं। सब वासनाएँ हमारी हिंसा करनेवाली हैं, इसलिए वे यहाँ 'नभः' शब्द से कही गई हैं (नभ् हिंसायाम्)। इन वासनाओं का विनाश करके प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। २. **न**=जैसे आप **पुरः भिनत्**=आसुर पुरियों का विदारण करते हैं, उसी प्रकार **अदेवीः**=सब अशुभ भावनाओं को **भिदः**=विदीर्ण करते हैं। **अदेवस्य**=इस असुर के जो कि **पीयोः**=हमारा हिंसन करनेवाला है, उसके **वधः**=आयुध को **ननमः**=आप झुका देते हैं। प्रभु-कृपा होती है तो वासना का आयुध भी हम पर प्रभाव नहीं कर पाता। इस आयुध से आक्रान्त न होने पर ही हमारा जीवन पवित्र बना रहता है और हम विनष्ट नहीं होते।

भावार्थ—हमें प्रभु के स्तुत्य कर्म प्राप्त हों। प्रभु-कृपा से असुरों के आयुधों का हम पर आक्रमण न हो, अथवा आक्रमण प्रभावी न हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

समुद्र के पार

त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीर्ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः।
प्र यत्समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं को दूर भगानेवाले प्रभो! **त्वं धुनिः**=आप हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को कम्पित करनेवाले हैं। आप **सीराः न स्रवन्तीः**=नदियों की भाँति निरन्तर बहनेवाले **धुनिमतीः**=काम-क्रोधादि को कम्पित करनेवाले **अपः**=कर्मों को **ऋणोः**=(अगमयः) प्राप्त कराइए। हम आपकी कृपा से स्वभावतः इस प्रकार अपने नियत कर्मों को करनेवाले हों, जैसे नदियाँ स्वाभाविक रूप में बहती चलती हैं। यह निरन्तर कर्मों में लगे रहना हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेकर हम इन शत्रुओं को कम्पित करनेवाले होते हैं। २. हे **शूर**=हमारी वासनाओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **यत्**=जब **समुद्रम्**=(कामो हि समुद्रः—अनन्तत्वात्) इस कामसमुद्र के **अतिपर्षि**=हमें पार ले-जाते हैं तो **तुर्वशम्**=त्वरा से इनको वश में करनेवाले **यदुम्**=यत्नशील पुरुष को **स्वस्ति**=मङ्गल के लिए **प्रपारया**=प्रकृष्टतया पार ले-जाते हैं। 'अत्रा जहाम अशिवा ये असन्'—सब अशिवों को हम यहाँ इस पार ही छोड़ जाते हैं और 'शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान्' परले पार शिवशक्तियों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। प्रभु उसी को इस काम-समुद्र से पार ले-चलते हैं जो 'तुर्वश' (फुर्तीला) व 'यदु' (यत्नशील) बनता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

संग्राम-विजय

त्वमस्माकमिन्द्र विश्वध स्या अवृकतमो नरां नृपाता।
स नो विश्वासां स्पृधां सहोदा विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्माकम्**=हमारे **विश्वध**=सब प्रकार से

अवृकतमः=(not hurting) हिंसा न करनेवाले **स्याः**=होओ। **नरां नृपाता**=आप नेतृत्व करनेवाले सर्वोत्तम रक्षक नेता हैं। आपके नेतृत्व में हमारी हिंसा नहीं होती। २. **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **विश्वासां स्पृधाम्**=(स्पृधः=संग्रामनाम—नि०) सब संग्रामों के **सहोदाः**=बल को देनेवाले हैं। आप हमें वह शक्ति प्राप्त कराते हैं जिससे हम सब संग्रामों में विजयी हो पाते हैं। हम **इषम्**=प्रेरणा को, प्रेरणा के द्वारा **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा पापवर्जन द्वारा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके ही हम संग्रामों में विजयी होते हैं।

विशेष—सूक्त का मूलभाव यही है कि हम प्रभु के उपासक बनकर प्रभु से शक्ति प्राप्त करके वासना-संग्राम में विजयी हों। अगले सूक्त में शक्ति की प्राप्ति के लिए सोम-पान का उल्लेख है—

[१७५] पञ्चसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

शक्ति व आनन्द का मूल 'सोम'

मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥ १ ॥

१. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले जीव! **पात्रस्य इव ते**=जैसे एक पात्र में सोम (रस) का रक्षण होता है, उसी प्रकार शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम के पात्रभूत तेरे लिए यह सोम **महः**=पूज्य होता है—इसे तू आदर की दृष्टि से देखता है, इसीलिए **अपायि**=यह सोम तुझसे पिया जाता है। इस सोम को तू शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। परिणामतः **मत्सि**=(माद्यसि) तू आनन्द का अनुभव करता है। २. **वृष्णो ते**=शक्तिशाली तेरे लिए यह सोम **मत्सरः**=आनन्द का सञ्चार करनेवाला है, **मदः**=(तर्पयिता) तृप्ति करनेवाला है, **वृषा**=तुझपर सुखों का वर्षण करनेवाला है, **इन्दुः**=(इन्द् to be powerful) तुझे शक्तिशाली बनानेवाला है। यह सोम **वाजी**=(quick) गतिशील बनानेवाला व स्फूर्ति देनेवाला है तथा **सहस्रसातमः**=सहस्रशः ऐश्वर्यों को देनेवाला है।

भावार्थ—हमें शरीर में उत्पन्न सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही शक्ति व आनन्द तथा सभी ऐश्वर्यों का आधार है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

अमर्त्यता का साधन 'सोम'

आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः।
सहावाँ इन्द्र सानसिः पृतनाषाळमर्त्यः ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **ते**=आपका यह सोम **आगन्तु**=प्राप्त हो। यह **मत्सरः**=आनन्द का सञ्चार करनेवाला है, **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाला है, **मदः**=तृप्ति देनेवाला है, **वरेण्यः**=वरणीय है, चाहने योग्य है, **सहावान्**=रोग-कृमिरूप शत्रुओं का मर्षण करनेवाली शक्ति को देनेवाला है, अतएव **सानसिः**=सम्भजनीय है। २. यह सोम **पृतनाषाट्**=रोग-कृमिरूप शत्रु-सैन्य का अभिभव (विनाश) करनेवाला है तथा **अमर्त्यः**=हमें रोगरूप मृत्युओं से न मरने देनेवाला है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होने पर रोगकृमिरूप शत्रुओं को नष्ट करके हमें 'अमर्त्य' बनाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

अव्रत दस्यु का दहन

त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम्।
सहावान्दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा॥ ३॥

१. हे सोम! **त्वं हि**=तू ही **शूरः**=सब रोगरूप शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला है और इस प्रकार **सनिता**=सब ऐश्वर्यों को देनेवाला है। २. हे सोम! तू ही **मनुषः रथम्**=मनुष्य के रथ को **चोदयः**=प्रेरित करता है। शरीररूप रथ की गति का आधार तू ही है। **सहावान्**=गति के विघ्नभूत रोगों के मर्षण की शक्तिवाला तू है। ३. **अव्रतम्**=पुण्य से रहित **दस्युम्**=दस्युवृत्ति को **ओषः**=तू जलानेवाला है। तेरे कारण वे सब अशुभ वृत्तियाँ जो उत्तम क्रियाओं को समाप्त करनेवाली हैं, उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं **न**=जैसे कि **शोचिषा**=अग्नि की ज्वाला से **पात्रम्**=बर्तन जलाया जाता है। जो बर्तन सदा अग्नि पर रखा जाता है, उसका तला जल जाता है। उसी प्रकार सोम 'अव्रत दस्युओं' को जला देता है। ४. सोम रोगों को नष्ट करके शरीर को उत्तम गतिवाला बनाता है, दास्यव वृत्तियों को नष्ट करके मन को पवित्र बनाता है।

भावार्थ—सोम रोगरूप शत्रुओं तथा विनाशकारी अशुभ वृत्तियों को नष्ट करता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—उष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

सूर्यचक्र-मोषण (शुष्णासुर का वध)

मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा।
वह शुष्णाय वधं कुत्सं वातस्याश्वैः॥ ४॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **कवे**=सब ज्ञानों को प्राप्त करनेवाले—तत्त्वज्ञानिन्! तू **ईशानः**=इन्द्रियों का ईश बनता हुआ **ओजसा**=ओजस्विता के हेतु से **चक्रम्**=निरन्तर गतिशील **सूर्यम्**=सूर्य को **मुषाय**=चुरानेवाला हो, अर्थात् तू सूर्य की भाँति निरन्तर गतिशील बन। अपनी गतिशीलता से सूर्य की गति को भी तू पराजित कर दे। सूर्य से गतिशीलता का पाठ पढ़कर इस गतिशीलता में तू उससे भी आगे बढ़ जा। ऐसा होने पर ही तू सूर्य की भाँति ओजस्वी व श्रीसम्पन्न हो जाएगा। २. तू **वातस्य अश्वैः**=वायु के घोड़ों के द्वारा अर्थात् वायु की भाँति निरन्तर गतिशील इन्द्रियाश्वों से **शुष्णाय**=तेरा शोषण करनेवाले इस वासनारूप शत्रु के लिए **कुत्सम्**=हिंसित करनेवाले **वधम्**=आयुध को **वह**=धारण कर। इस क्रियाशीलतारूप वज्र से शुष्णासुर को समाप्त कर डाल। शुष्णासुर को समाप्त करके ही तू ओजस्वी बना रहेगा।

भावार्थ—हम सूर्य की भाँति निरन्तर गतिशील हों। इस गतिशीलता से ही हम वासनारूप शत्रु का पराजय करेंगे व ओजस्वी बनेंगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

शुष्मिन्तम, द्युम्निन्तम

शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः।
वृत्रघ्ना वरिवोविदा मंसीष्ठा अश्वसातमः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शुष्णासुर के वध से तू वासनाओं को जीतकर सोमशक्ति का पान कर सकता है और हे जीव! **ते**=तेरा **मदः**=सोमपान-जनित यह मद—उत्साहातिरेक **हि**=निश्चय से **शुष्मिन्तमः**=एकदम शत्रुओं का शोषण करनेवाला है, शत्रु-शोषक बल को तेरे अन्दर पैदा करनेवाला है **उत**=और **क्रतुः**=तेरा कर्म **द्युम्निन्तमः**=अधिक-से-अधिक ज्योति को पैदा करनेवाला है। सोम के रक्षण से उत्पन्न मद शत्रु-शोषक बल देनेवाला है और सोम-रक्षण से उत्पन्न होनेवाली क्रियाशक्ति ज्योति को जन्म देनेवाली है। मद तुझे 'शुष्मिन्तम' बनाता है और क्रतु 'द्युम्निन्तम'। २. इस सोम के रक्षण से **अश्वसातमः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करनेवाला तू उन मद और क्रतु को **मंसीष्ठाः**=अपने जीवन में प्रविष्ट करने देता है जो कि **वृत्रघ्ना**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को नष्ट करनेवाले हैं और **वरिवोविदा**=उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाले हैं। मद वृत्रघ्न है तो क्रतु 'वरिवोवित्'।

भावार्थ—वासना को नष्ट करके हम सोम का रक्षण करें; इससे हमें वे मद=उत्साह और क्रतु=कर्मशीलता प्राप्त होंगे जो हमारे जीवन को 'शुष्मिन्तम+द्युम्निन्तम'=शक्ति व ज्ञान का पुञ्ज बनाएँगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्यासे के लिए पानी के समान

यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य इन्द्र मयइवापो न तृष्यते बभूथ।
तामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यथा**=क्योंकि आप **पूर्वेभ्यः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **मयः इव**=कल्याण के समान **बभूथ**=होते हैं। उसी प्रकार कल्याण करनेवाले होते हैं **न**=जैसे कि **तृष्यते**=प्यासे के लिए **आपः**=जल। प्यास से व्याकुल पुरुष के लिए जैसे जल शान्ति देनेवाले होते हैं, उसी प्रकार स्तोताओं के लिए आप कल्याण करते हैं। २. मैं भी **तां निविदं अनु**=(निविदं=A short vedic text) आपसे दी गई इन ऋचाओं के अनुसार **त्वा जोहवीमि**=आपको पुकारता हूँ। इन ज्ञानवाणियों में निर्दिष्ट मार्ग से आपकी प्रार्थना करता हूँ। आपकी उपासना से हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु स्तोताओं के लिए इस प्रकार शान्ति देनेवाले हैं जैसे कि प्यासे के लिए पानी।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त का विषय ही अगले सूक्त में भी चलता है—

[१७६] षट्सप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

सोम का शरीर में प्रवेश

मत्सि नो वस्यइष्टय इन्द्रमिन्दो वृषा विश।
ऋघायमाण इन्वसि शत्रुमन्ति न विन्दसि॥ १॥

१. हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! (इन्द्=to be powerful) तू **वस्यः इष्टये**=(वसीयसो धनस्य प्राप्तये—सा०) उत्कृष्ट धन की प्राप्ति के लिए **नः**=हमें **मत्सि**=(मादयस्व) उत्साहयुक्त कर। सोम के रक्षण से मनुष्य शक्ति का अनुभव करता है, उत्साह-सम्पन्न बनकर

श्री को कमानेवाला बनता है। २. हे सोम! तू **वृषा**=शक्तिशाली है व सब सुखों का वर्षण करनेवाला है। तू **इन्द्रं विश**=जितेन्द्रिय पुरुष के शरीर में प्रवेश कर। शरीर में **ऋघायमाणः**=(शत्रून् हिंस्यन्—सा०) सब रोगकृमिरूप शत्रुओं को हिंसित करता हुआ **इन्वसि**=व्याप्त होता है। शरीर में प्रविष्ट होकर यह सोम रोगकृमियों को आक्रान्त करता है। इन कृमियों को नष्ट करके यह सोम हमें नीरोग बनाता है। ३. हे सोम! तू **शत्रुम्**=इन **शातन**=विनाश करनेवाले रोगकृमियों को **अन्ति**=समीप **न विन्दसि**=नहीं प्राप्त करता है, समीप नहीं आने देता है। जहाँ सोम है, वहाँ रोगकृमि नहीं होते।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम नीरोग बनते हैं और उत्साह-सम्पन्न होकर उत्कृष्ट धनों को कमानेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

प्रभु में स्तुतिवाणियों का प्रवेश

तस्मिन्ना वेशया गिरो य एकश्चर्षणीनाम्।
अनु स्वधा यमुप्यते यवं न चर्कृषद् वृषा॥ २॥

१. हे जीव! तू **तस्मिन्**=उस प्रभु में **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **आवेशय**=प्रविष्ट कर, **यः**=जो **चर्षणीनाम्**=द्रष्टाओं में **एकः**=अद्वितीय है। वे प्रभु सर्वप्रमुख द्रष्टा हैं, तू उन्हीं का ध्यान कर। २. **यम् अनु**=तू उस परमात्मा का स्तवन कर जिसके अनुसार **स्वधा उप्यते**=आत्म-धारण-शक्ति का वपन किया जाता है। जितना-जितना हम प्रभु के समीप होते हैं, उतनी-उतनी ही आत्म-धारण-शक्ति हमें प्राप्त होती है। वस्तुतः **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला वह प्रभु ही **यवं न चर्कृषत्**=यव की भाँति इस स्वधा को हममें उत्पन्न करता है। जैसे किसान खेतों में जौ की कृषि करता है, उसी प्रकार स्तुत हुए-हुए प्रभु हमारे हृदय-क्षेत्रों में स्वधा का वर्षण करते हैं। जैसे 'यव' शरीर के दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करते हैं, उसी प्रकार यह 'स्वधा' मन के दोषों को दूर करके गुणों को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु ही स्तुति के योग्य हैं। प्रभु-स्तवन से आत्म-धारण-शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

पाँचों भूमिकाओं के वसु

यस्य विश्वानि हस्तयोः पञ्च क्षितीनां वसु।
स्पाशयस्व यो अस्मध्रुग्दिव्येवाशनिर्जहि ॥ ३॥

१. **यस्य**=जिस प्रभु के **हस्तयोः**=हाथों में **पञ्च क्षितीनाम्**='अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय' इन पाँचों भूमिकाओं के **विश्वानि वसु**=सब धन हैं। अन्नमय का 'तेज', प्राणमय का 'वीर्य', मनोमय का 'बल व ओज', विज्ञानमय का 'मन्यु' तथा आनन्दमय का 'सहस्'—ये सब धन उस प्रभु में निरतिशय रूप में विद्यमान हैं। वे प्रभु तेजादि के पुञ्ज हैं। २. हे प्रभो! इन तेजादि के पुञ्ज आप उस व्यक्ति को **स्पाशयस्व**=बाधित कीजिए **यः**=जो **अस्मध्रुक्**=हमसे द्रोह करनेवाला है। उसे आप इस प्रकार **जहि**=नष्ट कीजिए **इव**=जैसे कि **दिव्या अशनिः**=द्युलोक में होनेवाली विद्युत् किसी भी पदार्थ पर पड़कर उसे नष्ट कर देती है। वस्तुतः सब वसुओं को प्राप्त करके हम सब नाशक तत्त्वों को दूर करने में समर्थ बनें।

भावार्थ—प्रभु पाँचों क्षितियों के वसुओं को धारण करनेवाले हैं। इनके द्वारा वे हमारे द्रोहियों को बाधित करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

'असुन्वन् दूणाश' का विनाश

असुन्वन्तं समं जहि दूणाशं यो न ते मयः।
अस्मभ्यमस्य वेदनं दद्धि सूरिश्चिदोहते॥ ४॥

१. **असुन्वन्तम्**=अयज्ञशील **दूणाशम्**=अशुभ कर्मों में धन का नाश करनेवाले **समम्**=सब पुरुषों को (समः=सर्वशब्दपर्यायः) **जहि**=नष्ट कीजिए। उसे नष्ट कीजिए **यः**=जो 'असुन्वन् दूणाश' पुरुष **ते**=आपके लिए **मयः न**=प्रजा में सुख करनेवाला नहीं है, जो आपकी प्राप्ति के उद्देश्य से लोकहित में प्रवृत्त नहीं होता। २. **अस्य वेदनम्**=इस अयज्ञशील के धन को **अस्मभ्यम्**=हम यज्ञशील पुरुषों के लिए **दद्धि**=दीजिए। **सूरिः चित्**=ज्ञानी स्तोता ही **ओहते**=इस धन का ठीक प्रकार से वहन करता है। यह सूरि धनों का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही करता है।

भावार्थ—धनों का विनियोग यज्ञादि में ही करना चाहिए। हमें चाहिए कि धनों का व्यर्थ के भोगों में विनाश न करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

उपासना-सातत्य

आवो यस्य द्विबर्हसोऽर्केषु सानुषगसत्।
आजाविन्द्रस्येन्दो प्रावो वाजेषु वाजिनम्॥ ५॥

१. हे सोम! **यस्य**=जिस **द्विबर्हसः**=(बृहि वृद्धौ) ज्ञान व बल दोनों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए पुरुष के **अर्केषु**=स्तुतिसाधन मन्त्रों में **सानुषक्**=सातत्य—नैरन्तर्य (निरन्तरता) **असत्**=होता है, आप उसकी **आवः**=रक्षा करते हो। मनुष्य को ज्ञान और बल (ब्रह्म+क्षत्र) दोनों का वर्धन करके 'द्विबर्हस्' बनना है। इसके लिए आवश्यक है कि वह प्रभु-स्मरण से कभी पृथक् न हो। प्रभु-स्मरण से हमारे जीवनों में वासना को स्थान नहीं मिलता। वासना से ऊपर उठने पर ज्ञान और शक्ति दोनों का वर्धन होता है। २. हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! आप **इन्द्रस्य आजौ**=इस इन्द्र के संग्राम में—वासनाओं के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्राम में इस **वाजिनम्**=शक्तिशाली पुरुष को **वाजेषु**=(strength, wealth) शक्तियों व ऐश्वर्यों में **प्रावः**=सुरक्षित करते हो। सोम की कृपा से हम संग्रामों में विजयी बनते हैं और शक्ति व ऐश्वर्य का वर्धन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु के उपासक बनें। यह उपासना हमें अध्यात्म संग्राम में विजयी बनाकर शक्ति व ऐश्वर्य में स्थापित करेगी।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु को पुकारना

यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्य इन्द्र मयइवापो न तृष्यते बभूथ।
तामनु त्वा निविदं जोहवीमि विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ६॥

यह मन्त्र १७५।६ पर व्याख्यात है।

विशेष—सारे सूक्त में सोम की महत्ता व लाभों का वर्णन है। प्रस्तुत सूक्त की भाँति अगले सूक्त में भी सोमरक्षण के लाभों का चित्रण है—

[१७७] सप्तसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

चर्षणि, जन, कृष्टि

आ चर्षणिप्रा वृषभो जनानां राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः।
स्तुतः श्रवस्यन्नवसोप मद्रिग्युक्त्वा हरी वृषणा याह्यर्वाङ्॥ १॥

१. **इन्द्रः**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभु! आप **आचर्षणिप्राः**=सूक्ष्मदृष्टिवाले पुरुषों को सम्यक् पूरण करनेवाले हैं। **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों पर **वृषभः**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **कृष्टीनां राजा**=श्रमशील मनुष्यों के जीवन को दीप्त करनेवाले हैं। वे 'चर्षणि' (Seeing, observing) ब्राह्मण-वृत्ति के पुरुष हैं। सूक्ष्मता से तत्त्व का दर्शन करनेवाले ये व्यक्ति ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हैं। प्रभु इनकी कमियों को दूर करते हैं। 'जन' क्षत्रिय हैं। ये अपनी शक्तियों का विकास करते हैं। यह शक्ति-विकास ही जीवन को सुखी बनाता है। 'कृष्टि' वैश्य हैं। ये कृषि आदि श्रमप्रधान कार्यों को करते हुए अपने ऐश्वर्यों का वर्धन करते हैं। २. ये **इन्द्र पुरुहूतः**=बहुतों से पुकारे जाते हैं। वस्तुतः प्रभु के उपासक बनकर ही हम 'चर्षणि, जन व कृष्टि' बन पाते हैं। प्रभु कहते हैं कि **स्तुतः**=(स्तुतमस्यास्तीति) स्तुति करता हुआ, **श्रवस्यन्**=ज्ञान की कामनावाला, **अवसा**=रक्षण के हेतु से **मद्रिक्**=मेरी ओर आनेवाला तू **वृष्णा हरी**=शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों को **युक्त्वा**=शरीर-रथ में जोतकर **अर्वाङ्**=अन्दर—हृदयान्तरिक्ष में **उप आ याहि**=मेरे समीप प्राप्त हो। ३. हमारे जीवन के उत्कर्ष के लिए प्रभु के निर्देश स्पष्ट हैं—(क) हमारी वृत्ति स्तवन की हो (स्तुतः), (ख) हम ज्ञान की रुचिवाले हों (श्रवस्यन्), (ग) प्रभु-प्रवण हों नकि प्रकृति-प्रवण (मद्रिक्), (घ) इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतनेवाले अर्थात् क्रियाशील हों (युक्त्वा हरी वृषणा)। इस मार्ग पर चलते हुए ही हम 'चर्षणि, जन व कृष्टि' बनेंगे।

भावार्थ—हम 'चर्षणि' बनें, प्रभु हमारा पूरण करेंगे। हम 'जन' बनें, प्रभु हमपर सुखों का वर्षण करेंगे। हम 'कृष्टि' बनें, प्रभु हमारे जीवन को दीप्त बनाएँगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शक्तिशाली इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व

ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्याः।
ताँ आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे॥ २॥

१. प्रभु जीव से कह रहे हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ये**=जो **ते**=तेरे **वृषणः**=शक्तिशाली **वृषभासः**=श्रेष्ठ **ब्रह्मयुजः**=ब्रह्म से तेरा मेल करानेवाले **वृषरथासः**=शक्तिशाली शरीररूप रथवाले **अत्याः**=सतत गतिवाले इन्द्रियाश्व हैं **तान् आतिष्ठ**=उनपर तू स्थित हो, इन इन्द्रियाश्वों का तू अधिष्ठाता बन। इन्द्रियाँ शक्तिशाली व श्रेष्ठ हों। ज्ञान की ओर इनका झुकाव हो। शरीररूप रथ भी दृढ़ हो। ये इन्द्रियाश्व सतत गतिशील हैं, हममें क्रियाशीलता हो। इस प्रकार इन उत्तम इन्द्रियाश्वों के हम अधिष्ठाता हों—ये अश्व हमारे वश में हों। प्रभु कहते हैं कि **तेभिः**=उन इन्द्रियाश्वों से **अर्वाङ् आ याहि**=तू अन्तर्मुख यात्रावाला हो। ३. जीव प्रभु से कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! हम **सोमे सुते**=अपने जीवन में सोम का सवन करने पर **त्वा हवामहे**=तुझे पुकारते हैं। यह सोम का (सवन) शरीर में शक्ति का रक्षण ही हमें इस योग्य

बनाता है कि हम आपको अपने हृदय में आसीन होने के लिए आमन्त्रित करें। इस सोम के रक्षण से ही इन्द्रियाँ शक्तिशाली व श्रेष्ठ बनती हैं। इसी से शरीररूप रथ दृढ़ बनता है। यह सोमरक्षण ही वस्तुतः हमें प्रकृति-प्रवणता से दूर करके प्रभु-प्रवण बनाता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों को शक्तिशाली बनाएँ। उन इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठाता बनें। सदा क्रियाशील हों। इन सब बातों के लिए सोम का रक्षण करनेवाले हों। तब हम प्रभु को आमन्त्रित करने के लिए तैयार होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शरीर-रथ से ब्रह्मधाम की ओर

आ तिष्ठ रथं वृषणं वृषा ते सुतः सोमः परिषिक्ता मधूनि।
युक्त्वा वृषभ्यां वृषभ क्षितीनां हरिभ्यां याहि प्रवतोप मद्रिक्॥ ३॥

१. प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **वृषणं रथम्**=इस शक्तिशाली रथ को **आतिष्ठ**=तू अधिष्ठित कर। तू इस रथ का अधिष्ठाता बन। यह रथ पूर्णरूप से तेरे वश में हो। यह रोगों से जीर्ण न हो गया हो। २. यह **वृषा**=तुझे शक्तिशाली बनानेवाला व तुझपर सब सुखों का वर्षण करनेवाला **सोमः**=सोम (वीर्यशक्ति से ही) **ते**=तेरे लिए **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। इस सोम के द्वारा **मधूनि परिषिक्ता**=सब माधुर्यों का तुझमें सेचन हुआ है। यह सोम तेरे मन, वचन व कर्मों में माधुर्य का सञ्चार करनेवाला है। इसके रक्षण से तेरे मन के विचार मधुर ही होते हैं, तेरी वाणी के उच्चार भी मधुर होते हैं और शरीर से तू मधुर ही आचरणवाला बनता है। ३. इस प्रकार **क्षितीणां वृषभ**=हे मनुष्यों में श्रेष्ठ (पुरुषर्षभ)! तू **वृषभ्यां हरिभ्याम्**=शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से **युक्त्वा**=इस शरीर-रथ को युक्त करके इस **प्रवता**=वेगवान् रथ से **मद्रिक्**=मेरे अभिमुख **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त हो। वस्तुतः शरीररूप रथ को दृढ़, स्वाधीन बनाकर, शक्ति के रक्षण द्वारा 'विचार, उच्चार व आचार' सभी को मधुर बनाकर, इन्द्रियाश्वों को रथ में जोतकर हमें प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में बढ़ना है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है।

भावार्थ—हम शरीर के अधिष्ठाता बनें। सोम का रक्षण करें। शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों से इस शरीर-रथ को युक्त करके जीवन-यात्रा को पूर्ण करनेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग

अयं यज्ञो देवया अयं मियेध इमा ब्रह्माण्ययमिन्द्र सोमः।
स्तीर्णं बर्हिरा तु शक्र प्र याहि पिबा निषद्य वि मुचा हरी इह॥ ४॥

१. **अयं यज्ञः**=यह यज्ञ **देवयाः**=देवों को प्राप्त करानेवाला है, दिव्य गुणों को प्राप्त कराके यह उस महादेव की ओर ले-जानेवाला है। **अयम्**=यह **मियेधः**=(sacrificial offering) देवयज्ञ की आहुतियाँ हैं। **इमा ब्रह्माणि**=ये स्तोत्र हैं और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अयं सोमः**=यह सोम है, अर्थात् हे प्रभो! आपके निर्देशों के अनुसार मैंने (क) दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाले यज्ञात्मक कर्मों को अपनाया है, (ख) अग्निहोत्रादि में आहुतियाँ देकर हविरूप भोजन ही किया है, (ग) स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए, (घ) आपके स्मरण के द्वारा सोम (वीर्य) का शरीर में ही पान (रक्षण) किया है। २. इस प्रकार इन सब कार्यों को करते हुए **बर्हिः**

स्तीर्णम्=मैंने इस वासना-शून्य हृदयरूप आसन को बिछाया है, अतः **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **तु**=निश्चय से **आ प्रयाहि**=इस हृदय-आसन पर आसीन होने के लिए आइए ही। ३. आप ही इस आसन पर **निषद्य**=आसीन होकर **पिब**=मेरे इस सोम का पान कीजिए। आपको ही इस सोम का रक्षण करना है। आपके हृदय में आसीन होने पर वहाँ काम का प्रवेश असम्भव हो जाता है और इस प्रकार सोम का रक्षण हो पाता है। **इह**=इस जीवन में **हरी**=मेरे इन्द्रियाश्वों को **विमुच**=सब विषय-बन्धनों से मुक्त कीजिए।

भावार्थ—श्रेष्ठ कर्म, अग्निहोत्र, स्तोत्र, सोमरक्षण, वासनाशून्य हृदय—ये प्रभु-प्राप्ति के साधन हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

स्तवन व प्रभु-प्राप्ति

ओ सुष्टुत इन्द्र याह्यर्वाङुप ब्रह्माणि मान्यस्य कारोः।
विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुष्टुतः**=उत्तम प्रकार से स्तुति किये गये आप **उ**=निश्चय से **अर्वाङ् आ याहि**=हमें हृदयान्तरिक्ष में प्राप्त होओ। स्तुति करते हुए हम हृदय में आपका दर्शन करने में समर्थ हों। हे प्रभो! **मान्यस्य**=पूजा करनेवालों में उत्तम **कारोः**=क्रियाओं को कुशलता से करनेवाले के **ब्रह्माणि**=स्तवन **उप**=उसे आपके समीप प्राप्त करानेवाले हों। २. हम **अवसा**=रक्षण के हेतु से **गृणन्तः**=आपका स्तवन करते हुए **वस्तोः**=(वस्तुं, वस+तोसुन्) संसार में उत्तमता से निवास के लिए **विद्याम**=मार्ग को जान पाएँ। आपका स्तवन ही वस्तुतः हमारा मार्गदर्शन करनेवाला हो। हम आपसे **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पापवर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमारा मार्ग-दर्शक हो। मार्ग पर चलते हुए हम प्रभु को याद करें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्रभु-प्राप्ति के साधनों का उल्लेख करता है। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१७८] अष्टसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'महयन् काम' का अ-दहन

यद्ध स्या त इन्द्र श्रुष्टिरस्ति यया बभूथ जरितृभ्य ऊती।
मा नः कामं महयन्तमा धग्विश्वा ते अश्यां पर्याप आयोः॥ १॥

१. **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=क्योंकि **ह**=निश्चय से **स्या**=वह **श्रुष्टिः**=(prosperity) समृद्धि **ते अस्ति**=आपकी ही है, **यया**=जिसके द्वारा **जरितृभ्यः**=सब स्तोताओं के लिए आप **ऊती**=रक्षण के लिए **बभूथ**=होते हैं, वे आप **नः**=हमारे **महयन्तं कामम्**=(महतः कुर्वाणम्) वृद्धि के कारणभूत काम (मनोरथ) को **मा आधक्**=भस्म मत कीजिए। हमारे वासनारूप काम को तो नष्ट कीजिए परन्तु उत्कर्ष-प्राप्ति के साधनभूत काम को नष्ट मत कीजिए। २. मैं **ते**=आपकी **विश्वा**=सब **आयोः आपः**=(आप्तव्यानि—सा०) मनुष्य द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तुओं को **परि अश्याम्**=सब प्रकार से प्राप्त करनेवाला बनूँ। इनको प्राप्त करके मैं इस

जीवन में उन्नति करता चलूँ।

भावार्थ—प्रभु की सब समृद्धि स्तोताओं की उन्नति के लिए है। प्रभु-कृपा से हमारी कामना सदा उत्कर्ष के लिए हो। हम उत्कर्ष की साधनभूत वस्तुओं को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

क्रियाशील मैत्र जीवन

न घा राजेन्द्र आ दभन्नो या नु स्वसारा कृणवन्त योनौ।
आपश्चिदस्मै सुतुका अवेषन्गमन्न इन्द्रः सख्या वयश्च॥ २॥

१. **नः**=हमें **घ**=निश्चय से **राजा**=इस विश्व का शासक **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **न आदभत्**=हिंसित न करे। हमें प्रभु नष्ट न करे **या**=जो **नु**=निश्चय से **स्वसारा**=(स्व+सृ) आत्मतत्त्व की ओर सरण करनेवाले अथवा अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले पति-पत्नी **योनौ**=अपने घर में **कृणवन्त**=कार्यों को करते हैं। घर को उत्तम बनाने के लिए कार्यों में प्रवृत्त रहनेवाले पति-पत्नी हिंसित नहीं होते। २. **सुतुकाः**=उत्तम वृद्धि के कारणभूत **आपः**=रेतःकण **चित्**=निश्चय से **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अवेषन्**=शरीर में व्याप्त होनेवाले होते हैं। रेतःकणों के शरीर में व्याप्त होने से शरीर नीरोग बनता है तथा बुद्धि तीव्र होकर प्रभु-दर्शन के योग्य बनती है। ३. **नः**=हमारे लिए **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु **सख्या**=मित्रताओं को **वयः च**=और उत्तम जीवन को **गमत्**=प्राप्त कराएँ। हम जीवन में (मैत्र) सबके साथ मित्रतावाले हों। ईर्ष्या-द्वेष से भरा हुआ जीवन कोई जीवन नहीं है। सबके प्रति मित्रतावाला जीवन ही सुजीवन है।

भावार्थ—हम अपने घरों में क्रियाशील जीवन बिताते हुए प्रभु से अहिंसित हों, रेतःकणों का रक्षण करें, सबके साथ मित्रता से वर्ते।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जेता, श्रोता, प्रभर्ता, उद्यन्ता

जेता नृभिरिन्द्रः पृत्सु शूरः श्रोता हवं नाधमानस्य कारोः।
प्रभर्ता रथं दाशुष उपाक उद्यन्ता गिरो यदि च त्मना भूत्॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **नृभिः**=आगे ले-चलनेवाले प्राणों के द्वारा—इनकी साधना (प्राणायाम) से **जेता**=विजयशील बनता है। **पृत्सु**=संग्रामों में **शूरः**=वासनाओं को शीर्ण करनेवाला होता है। **नाधमानस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूप ऐश्वर्यवाले **कारोः**=कुशल कर्ता की **हवम्**=प्रेरणा को **श्रोता**=सुननेवाला होता है। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनकर उसके अनुसार कार्यों को करनेवाला होता है। २. अपने इस **रथम्**=शरीर-रथ को **दाशुषः**=महान् दाता प्रभु के **उपाके**=समीप **प्रभर्ता**=ले-चलनेवाला बनता है **च**=और **यदि**=यदि **त्मना भूत्**=उस आत्मतत्त्व के साथ होता है—प्रभु के समीप पहुँचने में कुछ समर्थ होता है तो **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **उद्यन्ता**=अपने में उन्नत करता है। वस्तुतः प्रभु से ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है, इसके अन्दर ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है।

भावार्थ—वासनाओं को जीतकर हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें, प्रभु के अधिक समीप होते चलें। अन्ततः शरीर-रथ को प्रभु के समीप ले-चलें और प्रभु की ज्ञानवाणियों को सुननेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु-भक्तों के सम्पर्क में

एवा नृभिरिन्द्रः सुश्रवस्या प्रखादः पृक्षो अभि मित्रिणो भूत्।
समर्य इषः स्तवते विवाचि सत्राकरो यजमानस्य शंसः॥४॥

१. **एव**=गत मन्त्र के अनुसार 'जेता, श्रोता' आदि बननेवाला पुरुष **नृभिः**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले इन प्राणों के द्वारा—इनकी साधना करता हुआ **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनता है। प्राणसाधना हमें इन्द्रियों को वश में करने की शक्ति देती है। यह इन्द्र **सुश्रवस्या**=उत्तम ज्ञान की कामना से **पृक्षः**=हविरूप अन्नों को ही **प्रखादः**=प्रकर्षेण खानेवाला होता है। इन हविरूप अन्नों के सेवन से इसकी बुद्धि सात्त्विक बनती है। सात्त्विक बुद्धिवाला बनकर यह **मित्रिणः अभि**=उस महान् मित्र प्रभु की ओर जानेवाले पुरुषों की ओर **भूत्**=जानेवाला—प्रभु-भक्तों का संग करनेवाला होता है। २. यह **समर्ये**=इस जीवन-संग्राम में **इषः स्तवते**=प्रभु-प्रेरणाओं का स्तवन करता है, प्रभु का स्तवन करता हुआ प्रेरणाओं को प्राप्त करता है, **विवाचि**=विशिष्ट ज्ञान-वाणियों के होने पर **सत्राकरः**=यज्ञों को समन्तात् करनेवाला होता है। वेदोपदिष्ट यज्ञों को करता है और **यजमानस्य**=उस महान् यज्ञकर्ता—यज्ञरूप प्रभु का **शंसः**=स्तवन करनेवाला बनता है। यज्ञों को करता हुआ उन यज्ञों को प्रभु के अर्पण करता है। उन यज्ञों को प्रभु की शक्ति से होता हुआ समझता है। अहंकार न होने से उसके यज्ञ पवित्र बने रहते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर ज्ञान की कामना से सात्त्विक अन्न का ही सेवन करें; ज्ञानपूर्वक यज्ञों को करते हुए उन यज्ञों को प्रभु-शक्ति से होता हुआ जानें।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

प्रभु के सम्पर्क में

त्वया वयं मघवन्निन्द्र शत्रूनभि ष्याम महतो मन्यमानान्।
त्वं त्राता त्वमु नो वृधे भूर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥५॥

१. हे **मघवन्**=उत्कृष्ट ऐश्वर्यवाले **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **वयम्**=हम **महतः मन्यमानान्**=अपने को बड़ा माननेवाले, अति प्रबल **शत्रून्**=आसुर भावों को **त्वया**=आपके द्वारा **अभि स्याम**=पराभूत करें। आपकी उपासना ही हमें इन शत्रुओं के पराभव के लिए समर्थ करेगी। २. **त्वं त्राता**=आप ही हमारा रक्षण करनेवाले हैं। **त्वम् उ**=आप ही **नः**=हमारी **वृधे भूः**=वृद्धि के लिए होते हैं। आपकी शक्ति से सम्पन्न बनकर हम आगे बढ़ पाते हैं। ३. हम आपकी **इषम्**=प्रेरणा को, प्रेरणा के द्वारा **वृजनम्**=पाप-वर्जन को तथा पाप-वर्जन के द्वारा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु के साथ मिलकर ही हम प्रबल काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीत पाते हैं। प्रभु ही हमारे रक्षक व वर्धक हैं।

विशेष—सूक्त का विषय यही है कि हम प्रभु-सम्पर्क में रहते हुए उन्नति के कारणभूत 'काम' को दग्ध कर सकें। इस प्रकार 'महयन् काम' को ही अपनानेवाले पति-पत्नी का चित्रण अगले सूक्त में है। पत्नी 'लोपामुद्रा' है—वासनाओं का विलोप करनेवाली (लोपा) व आनन्दमय मनोवृत्तिवाली (मुद्रा)। पति 'अगस्त्य' है—अग—कुटिलता को संहत (विनष्ट) करनेवाला। पहले पत्नी का वाक्य है—

[१७९] एकोनाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

गृहस्थाश्रम का समय

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः॥ १॥

१. जीवन को तीन कालों में विभक्त करती हुई लोपामुद्रा कहती है कि **अहम्**=मैंने **पूर्वीः शरदः**=जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में **दोषाः वस्तोः**=दिन-रात तथा **जरयन्तीः उषसः**=आयुष्य को एक-एक दिन करके जीर्ण करती हुई उषाओं में **शश्रमाणा**=खूब श्रम करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम को निभाया है। यह आश्रम वस्तुतः तीव्र तपस्या व श्रम का है—'अलसस्य कुतो विद्या'—आलस्य के साथ तो विद्या का सम्बन्ध है ही नहीं। २. इन प्रारम्भिक वर्षों की तीव्र तपस्या व श्रम के बाद मैं इस समय अपने यौवन में हूँ। समय आएगा कि जब **जरिमा**=जरावस्था **तनूनाम्**=शरीरों की **श्रियम्**=शोभा को **मिनाति**=हिंसित कर देती है, न्यून कर देती है (diminish), अतः **नु**=अब यह यौवन की अवस्था ही वह अवस्था है जबकि **उ**=निश्चय से **वृषणः**=शक्तिशाली पुरुष **पत्नीः**=पत्नियों को **अपि जगम्युः**=प्राप्त होते हैं। उन पत्नियों में वे अपने को नया जन्म देते हैं और पुत्ररूप में उत्पन्न होते हैं। 'तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां जायते पुनः' इसीलिए तो जाया को जाया कहते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में जिसने समुचित विद्याध्ययन में श्रम किया है, उस युवति कन्या को शक्ति का संचय करनेवाला पुरुष पत्नी के रूप में ग्रहण करके गृहस्थ में प्रवेश करे।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

पठन व गृहस्थाश्रम

ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः॥ २॥

१. **ये**=जो **चित् हि**=निश्चय से **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले **ऋतसापः**=ऋत से अपना मेल करनेवाले **आसन्**=थे, जिन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम में अपना पालन व पूरण किया, ऋतज्ञान को, वेद के सत्य ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न किया, जिन्होंने **देवेभिः साकम्**=ज्ञानी आचार्यों के साथ **ऋतानि अवदन्**=सत्य ज्ञानों का ही उच्चारण किया **ते चित्**=वे भी **अवासुः**=(षोऽन्तकर्मणि) जीवन के अन्त की ओर बढ़ गये—उनका जीवन ढलने को आया, पर **अन्तं नहि आपुः**=ज्ञान के अन्त को प्राप्त नहीं किया। २. ज्ञान के अन्त तक पहुँचकर गृहस्थ बनने का विचार करना तो व्यर्थ ही है, अतः **नु**=अब—पूर्व इसके कि जीवन ढलना आरम्भ हो जाए अर्थात् युवावस्था में ही **उ**=निश्चय से **पत्नीः**=पत्नियाँ **वृषभिः**=शक्तिशाली पतियों के साथ **संजगम्युः**=संगत हों। इस प्रकार मिलकर अपने वंशकर सन्तान को वे जन्म देनेवाले हों।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञानी आचार्यों के साथ ऋत-ज्ञान को प्राप्त करनेवाले युवकों को युवा पत्नियाँ प्राप्त हों।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

श्रमशील समन्वित जीवन

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत्स्पृधो अभ्यश्नवाव।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत्सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव॥ ३॥

१. अब अगस्त्य कहते हैं कि—**न मृषा**=यह असत्य नहीं है **यत्**=कि **श्रान्तम्**=श्रम के द्वारा श्रान्त पुरुष को **देवाः**=सब देव **अवन्ति**=रक्षित करते हैं। 'न ऋते श्रन्तस्य सख्याय देवाः'—जो श्रमशील नहीं देव उसके मित्र नहीं होते। २. इस प्रकार श्रम करते हुए, सब देवों से रक्षित होकर हम पति-पत्नी **इत्**=निश्चय से **विश्वाः**=सब **स्पृधः**=स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं को **अभि अश्नवाव**=(to make oneself master of) जीत लें। श्रम के द्वारा शक्तिशाली बनकर ही हम काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित कर सकेंगे। ३. **अत्र**=इस जीवन में हम **शतनीथम्**=सौ वर्ष तक चलनेवाले **आजिम्**=इस जीवन-संग्राम को **जयाव इत्**=जीतेंगे ही, **यत्**=यदि **सम्यञ्चा**=मिलकर चलनेवाले **मिथुनौ**=हम दोनों **अभ्यजाव**=इन शत्रुओं पर आक्रमण करेंगे। वस्तुतः पति-पत्नी का परस्पर समन्वय जीवन-यात्रा की सफलता के लिए पहली मौलिक बात है। इनका समन्वय न होने पर इनकी शक्तियाँ व्यर्थ हो जाती हैं, व्यर्थ ही नहीं एक-दूसरे को नीचा दिखाने में लगी रहती हैं। ऐसे अवसर पर ये क्रोधादि के शिकार हुए रहते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी श्रमशील हों, परस्पर मिलकर चलनेवाले हों तब ये सब शत्रुओं को जीतकर दीर्घजीवी व सफल जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वाञ्छनीय 'काम'

नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित्।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्॥ ४॥

१. अगस्त्य कहते हैं कि इस गृहस्थ का मूल 'काम' है। यही काम मनुष्य को अपने में फँसाकर विनष्ट कर डालता है, अतः **मा**=मुझे तो वही **कामः**=काम **आगन्**=प्राप्त हो जो कि **नदस्य**=एक स्तोता का है। प्रभु-स्तवन करनेवाले का काम पवित्र बना रहता है। मुझे **रुधतः**=अपना संयम करनेवाले का काम प्राप्त हो। संयमी पुरुष सन्तानोत्पत्ति के लिए ही इस काम को अपनाता है। यह काम धर्म के विरुद्ध नहीं है। २. यह 'काम' **इतः**=इस लोक के दृष्टिकोण से **आजातः**=उत्पन्न हुआ है, परन्तु केवल लौकिक दृष्टिकोण से न होकर यह **कुतश्चित्**=आँखों से न दीखनेवाले किसी **अमुतः**=परलोक के दृष्टिकोण से भी हुआ है। इस काम का उद्देश्य इस लोक का अभ्युदय ही नहीं है, अपितु परलोक के निःश्रेयस को भी दृष्टि में रखकर यह मुझे प्राप्त हुआ है। ३. इस प्रकार कामात्मा न बने हुए मुझ **वृषणम्**=शक्तिशाली पुरुष को **लोपामुद्रा**=वासनाओं को लुप्त करनेवाली—प्रसन्न मनोवृत्तिवाली पत्नी **निरिणाति**=निश्चय से प्राप्त होती है। यह मेरे अनुकूल है। मैं कामात्मा नहीं तो यह भी कामासक्ति से ऊपर उठी हुई है। मैं धीर हूँ तो यह भी धीर है। ४. परन्तु कदाचित् पति धीर हो और पत्नी धीर न हो इस प्रकार परस्पर समन्वय न होने पर **धीरम्**=ज्ञान में रमण करनेवाले धीर पति को **अधीरा**=ज्ञान में रुचि न रखनेवाली, भोगप्रधान वृत्तिवाली पत्नी **श्वसन्तम्**=आहें भरते हुए व अपने भाग्य का ही रोना रोते हुए पति को **धयति**=पी-सा जाती है, उसे शीघ्र ही अशक्त बना देती है। एवं गृहस्थ में पति-पत्नी दोनों का धीर होना आवश्यक है। दोनों धीर हों तो गृहस्थ स्वर्ग बन जाता

है, अन्यथा यह नरक बनकर निरन्तर दुःख और चिन्ताओं का कारण बन जाता है।

भावार्थ—हमारा 'काम' स्तोता व संयमी पुरुष का काम हो। यह अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों के दृष्टिकोण से प्रवृत्त हो। पति-पत्नी दोनों ही धीर हों, ज्ञान की रुचिवाले हों, अन्यथा जीवन एकदम भोगप्रधान बनकर गृहस्थ को नरक-सा बना देता है।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—निचृद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः।

सोम का रक्षण

इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप ब्रुवे।
यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळतु पुलुकामो हि मर्त्यः॥५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब हम कामात्मा ही नहीं बन जाते तो **नु**=अब **इमं सोमम्**=इस सोमशक्ति को **अन्तितः**=प्रभु के सान्निध्य के द्वारा **हृत्सु पीतम्**=हृदय में ही पान किया हुआ **उपब्रुवे**=हम चाहते हैं। हम यही प्रार्थना करते हैं कि हम इस सोमशक्ति को अपने अन्दर ही सुरक्षित रख पाएँ। २. **यत्**=जो **सीम्**=निश्चय से **आगः**=अपराध **चकृम**=हम कर बैठें **तत्**=तो वे प्रभु **सुमृळतु**=हमारे जीवन को सुखी ही करें, क्योंकि **मर्त्यः**=मनुष्य **हि**=निश्चय से **पुलुकामः**=बहुत कामनावाला है। इस 'काम' का जीतना सुगम नहीं होता। इससे अभिभूत होकर हमसे अपराध हो जाए तो प्रभु हमें शक्ति दें कि हम भविष्य में ऐसे अपराधों से ऊपर उठ पाएँ। इस प्रकार वे प्रभु हमारे जीवनों को सुखी करें। ३. जीवन का वास्तविक आनन्द इसी बात पर निर्भर करता है कि हम कितने अंश में वासना को जीतकर अपने अन्दर सोम का पान कर पाये हैं।

भावार्थ—हमारी आराधना यही हो कि हम वासना से ऊपर उठकर सोम का रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—लोपामुद्राऽगस्त्यौ। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

दोनों वर्णों [ब्रह्म+क्षत्र] का पोषण

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम॥६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कामना को जीकर सोम का पान करनेवाला **अगस्त्यः**=कुटिलता का संहार करनेवाला मनुष्य **खनित्रैः**=कुदालों से **खनमानः**=खोदता है अर्थात् श्रमशील बनता है। इस श्रमशीलता के कारण ही तो वस्तुतः वासनाओं का शिकार नहीं होता। यह अगस्त्य **प्रजाम्**=अपने प्रकृष्ट विकास को, **अपत्यम्**=सन्तान को तथा **बलम्**=बल को **इच्छमानः**=चाहता हुआ होता है। विकास, उत्तम सन्तान व बल—सभी का आधार सोम-रक्षण ही है। २. यह अगस्त्य **ऋषिः**=मन्त्रद्रष्टा, तत्त्वज्ञानी व **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ अपने जीवन में **उभौ वर्णौ**=ब्राह्मण व क्षत्रिय इन दोनों ही वर्णों का **पुपोष**=पोषण करता है—'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'। मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह 'ऋषि' बनता है तो शरीर के दृष्टिकोण से 'उग्र'। ३. यह अगस्त्य **देवेषु**=देवों के विषय में **सत्याः आशिषः**=उत्तम इच्छाओं को **जगाम**=प्राप्त होता है। यह दिव्य गुणों को प्राप्त करने की ही कामना करता है। इस प्रकार इसकी इच्छाएँ सत्य ही होती हैं, असत्य नहीं।

भावार्थ—कामात्मा ही न बन जाएँ तो हमारे जीवन का उत्तम विकास होता है, हम

तत्त्वद्रष्टा व तेजस्वी बनते हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त का भाव यही है कि यौवनावस्था में गृहस्थ में प्रवेश करने पर (१-२) हम श्रमशील बनें (३)। कामात्मा न बनकर स्तोता व संयमी पुरुष के काम को अपनाएँ (४)। सोम का रक्षण करते हुए (५) तत्त्वद्रष्टा व तेजस्वी बनें (६)। ऐसा बनने के लिए प्राणायाम मुख्य साधन है, अतः अगले सूक्त की देवता ये अश्विनौ—प्राणापान ही हैं—

चतुर्विंशोऽनुवाकः

[१८०] अशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उत्तम लोक-प्राप्ति

युवो रजांसि सुयमासो अश्वा रथो यद्वां पर्यर्णांसि दीयत्।
हिरण्यया वां पवयः प्रुषायन्मध्वः पिबन्ता उषसः सचेथे॥ १॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जीवन बनानेवाले पति-पत्नी प्राणसाधना के द्वारा अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए यत्नशील होते हैं, अतः उनके लिए कहते हैं कि **युवोः**=(युवयोः) आप दोनों के **रजांसि**=उत्कृष्ट लोक होते हैं अर्थात् आपको उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति होती है, क्योंकि आपके **अश्वाः**=इन्द्रियाश्व **सुयमासः**=उत्तमता से नियन्त्रित होते हैं। **यत्**=जो **वाम्**=आपका **रथः**=शरीररूप रथ है वह **अर्णांसि परिदीयत्**=ज्ञान जलों की ओर गति करनेवाला होता है, अर्थात् आपका झुकाव ज्ञान की ओर होता है। २. **वाम्**=आपकी **पवयः**=रथ की नेमियाँ **हिरण्यया**=ज्योतिर्मयी हैं और **प्रुषायन्**=(पुष्णन्ति अभिमतम्) इष्ट का पूरण करनेवाली हैं (प्रुष्=to fill) आपका जीवन ज्ञानप्रधान होकर मर्यादित है और इन मर्यादाओं में चलने के कारण इष्ट को प्राप्त करनेवाला है। ३. **मध्वः पिबन्तौ**=ओषधियों के सारभूत मधु अर्थात् सोम (वीर्यशक्ति) का पान करते हुए आप **उषसा सचेथे**=उषाकालों के साथ संगत होते हो। उषाकाल में जागरित होकर अपने नित्यकृत्यों में प्रवृत्त हो जाते हो।

भावार्थ—उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि—(क) हम जितेन्द्रिय बनें, (ख) हमारा झुकाव ज्ञान की ओर हो, (ग) जीवन में मर्यादाओं का पालन हो, (घ) सोमशक्ति का रक्षण करें, (ङ) उषाकाल में प्रबुद्ध होकर कार्यों में प्रवृत्त हो जाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अत्य, विपत्मा, नर्य, प्रयज्यु

युवमत्यस्याव नक्षथो यद्विपत्मनो नर्यस्य प्रयज्योः।
स्वसा यद्वां विश्वगूर्ती भराति वाजायेट्टे मधुपाविषे च॥ २॥

१. हे अश्विनीदेवो! प्राणापानो! **यत्**=जब **युवम्**=आप दोनों **अत्यस्य**=सतत गमनशील, सदा क्रिया में लगनेवाले, **विपत्मनः**=विशिष्ट मार्गवाले **नर्यस्य**=नरहित में प्रवृत्त **प्रयज्योः**=प्रकृष्ट यज्ञशील पुरुष के इस शरीररूप रथ को **अवनक्षथः**=प्राप्त होते हो तो **यत्**=जो **वाम्**=आपकी यह **विश्वगूर्ती**=सम्पूर्ण ज्ञानों का उद्यमन करनेवाली सब सत्य विद्याओं की प्रतिपादिका **स्वसा**=(स्व+सृ) आत्मतत्त्व की ओर ले-चलनेवाली वेदवाणी है, वह **भराति**=हमारा भरण करती है, यह हमारी कमियों को दूर करनेवाली होती है। २. वस्तुतः प्राणसाधना के द्वारा ही मनुष्य 'अत्य, विपत्मा, नर्य व प्रयज्यु' बनता है। इस प्राणसाधक को ही वेदज्ञान प्राप्त होता है,

जो वेदज्ञान उसे सब सत्य विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कराता हुआ प्रभुप्रवण करता है (स्वसा)। हे **मधुपौ**=मेरे ओषधियों के सारभूत सोम (वीर्यशक्ति) को मेरे शरीर में ही रक्षित करनेवाले प्राणापानो! यह आपका उपासक **वाजाय**=शक्ति के लिए **ईट्टे**=उपासना करता है, **च**=और **इषे**=प्रेरणा की प्राप्ति के लिए आपकी आराधना करता है। प्राणायाम करनेवाला व्यक्ति इस प्राणसाधना के द्वारा शरीर में सोम का पान करता हुआ शरीर को शक्तिसम्पन्न बनाता है और अपने निर्मल हृदय में प्रभु-प्रेरणा को सुन पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य गतिशील, विशिष्ट मार्ग पर चलनेवाला, नर-हितकारी व यज्ञशील बनता है। इस साधक को वेदज्ञान प्राप्त होता है। यह शरीर में शक्तिशाली व निर्मल हृदय में प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अकुटिल, शुचि, यज्ञशील, हविष्मान्

युवं पय उस्रियायामधत्तं पक्वमामायामव पूर्व्यं गोः।
अन्तर्यद्वनिनो वामृतप्सू ह्वारो न शुचिर्यजते हविष्मान्॥ ३॥

१. हे प्राणापानो! आप ही **गोः**=इस वेदवाणी के **पूर्व्यम्**=सृष्टि के आरम्भ में दिये जानेवाले **पक्वम्**=पूर्ण परिपक्व **पयः**=ज्ञानदुग्ध को हमारी इस **आमायाम्**=अपरिपक्व बुद्धि में **उस्रियायाम्**=(brightness, light) प्रकाश के निमित्त **अवाधत्तम्**=स्थापित करते हो। वेदज्ञान सृष्टि के आरम्भ में दिये जाने से 'पूर्व्य' है, भ्रान्तिशून्य, पूर्ण होने से यह पक्व है। हमारी अपरिपक्व बुद्धि में इसकी स्थापना प्राणसाधना के द्वारा होती है। इसके स्थापित होने पर हमारी बुद्धि प्रकाशित हो उठती है। २. **यत्**=जब **वाम्**=आप दोनों **वनिनः**=उपासक के **अन्तः**=अन्दर **ऋतप्सू**=(One whose form is truth) सत्य स्वरूपवाले होते हो तो वह उपासक न **ह्वारः**=कुटिल नहीं होता—कुटिलता को छोड़कर सरलता को अपनाता है, **शुचिः**=पवित्र होता है, सदा सुपथ से ही धनार्जन करता है 'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः'। **यजते**=यह यज्ञशील होता है, यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहता है, **हविष्मान्**=उत्तम हविवाला बनता है, सदा त्यागपूर्वक अदनवाला होता है (हु दानादनयोः)। प्राण से जीवन दग्धदोष होकर पवित्र हो जाता है, इसीलिए प्राणापानों को यहाँ 'ऋतप्सु' कहा गया है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश होता है। हमारे दोषों का दहन होकर हम अकुटिल, पवित्र, यज्ञशील व दानपूर्वक अदन करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मधुमान् घर्म

युवं ह घर्मं मधुमन्तमत्रयेऽपो न क्षोदोऽवृणीतमेषे।
तद्वां नरावश्विना पश्वइष्टी रथ्येव चक्रा प्रति यन्ति मध्वः॥ ४॥

१. हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ह**=निश्चय से **अत्रये**=(अ+त्रि) काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले के लिए **मधुमन्तं घर्मम्**=माधुर्यवाली शक्ति का (घर्मम्=गर्मी=शक्ति व उत्साह) **अवृणीतम्**=वरण करते हो। प्राणसाधक शक्ति का संयम करके शक्तिशाली तो बनता ही है, इस शक्ति के साथ उसमें माधुर्य भी होता है। प्राणापानो! तुम **इषे**=प्रभु-प्रेरणा की प्राप्ति के लिए

अपः न=कर्मों की भाँति शत्रुओं के **क्षोदः**=(grinding) सम्पेषण (पीसने) का (अवृणीतम्) वरण करते हो। वस्तुतः (सात्त्विक) कर्मों के अनुपात में ही वासनाओं का पेषण होता है। वासनाओं का पेषण होने पर ही प्रभु-प्रेरणा सुनाई पड़ने लगती है। हे **नरौ**=नेतृत्व के देनेवाले, हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **तत्**=वह **पश्वः इष्टिः**=प्रभु-प्राप्ति की कामना तथा **मध्वः**=(इष्टिः)=सोम को सुरक्षित रखने की कामना **रथ्या चक्रा इव**=रथ के दो चक्रों के समान **प्रति यन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। जैसे रथ दो चक्रों से चलता है, उसी प्रकार जीवन का रथ भी दो चक्रों से उन्नति-पथ पर बढ़ा करता है। ये दो चक्र 'प्रभु-प्राप्ति व सोमरक्षण की कामना' हैं। ये दोनों कामनाएँ प्राणसाधना की अपेक्षा रखती हैं, उन्नति के लिए दोनों आवश्यक हैं। ये परस्पर सम्बद्ध-सी हैं, क्योंकि प्रभु-प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण साधन होता है। इस सोम की रक्षा से ही उस सोम (प्रभु) की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से माधुर्यवाली शक्ति प्राप्त होती है। क्रियाशीलता के अनुपात में वासनाओं का सम्पेषण होता है। प्रभु-प्राप्ति व सोमरक्षण की कामना हमारे जीवन-रथ के दो चक्रों के समान होती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणापान की देन

आ वां दानाय ववृतीय दस्रा गोरोहेण तौग्र्यो न जिव्रिः।
अपः क्षोणी सचते माहिना वां जूर्णो वामक्षुरंहसो यजत्रा॥ ५॥

१. हे **दस्रा**=मेरे शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपको **दानाय**=उत्तम वस्तुओं के दान के लिए **आववृतीय**=मैं अपने अभिमुख करनेवाला बनूँ। आपको अपने अभिमुख करके मैं आपसे उत्तम दानों को प्राप्त करूँ। सर्वप्रथम आपकी साधना से मैं **गोः ओहेण**=ज्ञान की वाणी के वहन के द्वारा **तौग्र्यः**=(तुग्र्या=water, आपः=रेतः) रेतःकणों को धारण करनेवाला अथवा (तुज् हिंसायाम्) कामादि शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होऊँ और **न जिव्रिः**=जीर्णशक्ति न हो जाऊँ। प्राणसाधना का सर्वोत्कृष्ट लाभ यही है कि—(क) हम ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले बनते हैं, (ख) शत्रुओं का संहार कर पाते हैं, (ग) जीर्ण नहीं होते। २. हे प्राणापानो! **वां माहिना**=आपकी महिमा से यह साधक **अपः**=अन्तरिक्षलोक को तथा **क्षोणी**=पृथिवीलोक को **सचते**=अपने में समवेत करता है। शरीर ही पृथिवीलोक है और हृदय अन्तरिक्ष है। इसका शरीर स्वस्थ व दृढ़ होता है तथा हृदयान्तरिक्ष भी व्यापक व उदार वृत्तिवाला होता है। शरीर में पृथिवी की भाँति दृढ़ता होती है, हृदय में जलों की भाँति व्यापकता। जल व्यापक-से हैं, व्यापकता के कारण इनका नाम 'आपः' है (आप् व्याप्तौ)। ३. हे प्राणापानो! **यजत्रा**=आप यष्टव्य व उपासनीय हो। **वाम्**=आपकी उपासना से **जूर्णः**=जीर्णपुरुष भी **अंहसः**=सब कष्टों व पापों से मुक्त होकर **अक्षुः**=व्याप्त जीवनवाला (अश् व्याप्तौ) दीर्घजीवी बनता है। ('असतो मा सद् गमय' की भाँति 'अंहसः' यह पञ्चमी 'छोड़कर' इस अर्थ को दे रही है।)

भावार्थ—प्राणसाधना से वेदज्ञान की प्राप्ति होती है। हम वासनाओं को विनष्ट कर पाते हैं, जीर्णशक्ति नहीं होते, दृढ़ शरीर व उदार हृदय को प्राप्त करते हैं, रोगों से ऊपर उठकर दीर्घजीवी बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्वधा+पुरन्धि

नि यद्युवेथे नियुतः सुदानू उप स्वधाभिः सृजथः पुरंन्धिम्।
प्रेषद्वेषद्वातो न सूरिरा महे ददे सुव्रतो न वाजम्॥ ६॥

१. हे **सुदानू**=शोभन दानवाले प्राणापानो! गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से उत्तम दानों के देनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जब आप **नियुतः**=हमारे इन इन्द्रियाश्वों को **नियुवेथे**=निश्चय से हमारे शरीर-रथ में जोतते हो तो आप **स्वधाभिः**=आत्मधारण-शक्तियों के साथ **पुरन्धिम्**=पालक व पूरक बुद्धि को **उपसृजथः**=हममें उत्पन्न करते हो। प्राणसाधना से, (क) ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगती हैं, कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों में, (ख) उस समय हमारे हृदय आत्मतत्त्व को धारण करने की शक्तिवाले होते हैं, निर्मल हृदयों में हम आत्मा को प्रतिष्ठित करते हैं, (ग) हमारा मस्तिष्क पालक व पूरक बुद्धि से भूषित होता है। इस प्रकार प्राणसाधना से हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि—ये असुरों के अधिष्ठान नहीं बने रहते। इनमें असुरों से बनाये गये अधिष्ठान नष्ट हो जाते हैं। इनमें देवस्थान बन जाते हैं। २. उस समय यह **सूरिः**=ज्ञानी स्तोता **वातः न**=वायु के समान शीघ्रता से कार्य करता हुआ **प्रेषत्**=प्रभु को प्रीणित करता है (प्रीणातेः लेटि रूपम्)। कर्मों से ही तो प्रभु का आराधन होता है। **वेषत्**=(वी गतौ) यह प्रभु की ओर ही चलनेवाला होता है। यह **सुव्रतः न**=एक उत्तम व्रतोंवाले पुरुष की भाँति **महे**=(मह पूजायाम्) महत्त्वपूर्ण जीवन के लिए **वाजम्**=शक्ति व त्याग को (वाज=Sacrifice) **आ ददे**=स्वीकार करता है। शक्तिशाली वा त्यागशील बनकर ही हम प्रभु का पूजन कर पाते हैं, तभी हमारे जीवनों में कुछ महत्त्व प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ स्वकार्य में ठीक से प्रवृत्त होती हैं, हृदय में आत्मा का प्रतिष्ठान होता है, मस्तिष्क बुद्धि से सुभूषित होता है। हम शक्ति व त्याग को अपनाकर जीवन को महत्त्वपूर्ण बना पाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रशस्त जीवन

वयं चिद्धि वां जरितारः सत्या विपन्यामहे वि पणिर्हितावान्।
अधा चिद्धि ष्माश्विनावनिन्द्या पाथो हि ष्मा वृषणावन्तिदेवम्॥ ७॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **वयम्**=हम **चित् हि**=निश्चय से **वाम्**=आपके **जरितारः**=स्तोता हैं **सत्याः**=हम आपकी कृपा से सत्य जीवनवाले होते हुए **विपन्यामहे**=विशिष्टरूप से प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं। **विपणिः**=विशिष्टरूप से स्तवन करनेवाला व्यक्ति ही **हितावान्**=निहित ऐश्वर्यवाला होता है। प्राणसाधना से दोष दग्ध होते हैं, हमारा जीवन सत्य होता है और ऐसे जीवनवाले बनकर हम प्रभु का सच्चा स्तवन कर रहे होते हैं। **अध**=अब हे प्राणापानो! आप **चित् हि**=निश्चय से **अनिन्द्या स्म**=अनिन्द्य हैं। प्राणसाधना से सब निन्द्य बातें दूर हो जाती हैं। शरीर के रोग और मन की वासनाएँ इससे नष्ट हो जाती हैं, अतः प्राणसाधना से जीवन अत्यन्त प्रशस्त व सुन्दर बन जाता है। ३. हे **वृषणौ**=हममें शक्ति का सञ्चार करनेवाले प्राणापानो! आप **हि स्म**=निश्चय से **अन्तिदेवम्**=(अन्तिदेवो यस्मात्) जिसके द्वारा देव (प्रभु) की समीपता होती है उस सोम (वीर्य) को शरीर में ही **पाथः**=रक्षित करते हो। इस सोम-रक्षण के द्वारा ही प्राणसाधना के सब लाभ होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवन को सत्य बनाती है। हम इससे परमेश्वर के सच्चे उपासक बनते हैं, ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। हमारा जीवन अनिन्द्य होता है और हम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रभु के अधिकाधिक समीप

युवां चिद्धि ष्मांश्विनावनु द्यून्विरुंद्रस्य प्रस्त्रवंणस्य सातौ।
अगस्त्यो नरां नृषु प्रशंस्तः कारांधुनीव चितयत्सहस्त्रैः॥ ८॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **युवाम्**=आप **चित् हि**=निश्चय से **प्रस्त्रवणस्य**=जल-प्रवाह की भाँति स्वभाविकी क्रियावाले **रुद्रस्य**=(रुत् र) सृष्टि के प्रारम्भ में वेद द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान देनेवाले प्रभु की **विसातौ**=विशिष्ट प्राप्ति के निमित्त **अनुद्यून्**=दिनप्रति-दिन **स्म**=होते हो। प्राणसाधना के द्वारा मनुष्य प्रभु के अधिकाधिक समीप होता जाता है। प्राणसाधना मलों को नष्ट करती है, ज्ञान को दीप्त करती है और विवेकख्याति का कारण बनती है। २. यह साधक **नरां अगस्त्यः**=मनुष्यों में कुटिलता को नष्ट करनेवाला होता है। कुटिलता को नष्ट करके **नृषु प्रशस्तः**=मनुष्यों में प्रशस्त जीवनवाला होता है। यह **काराधुनी इव**=(कारा शब्दः। तस्य धूनितोत्पादयिता इव) शंख द्वारा शब्द उत्पन्न करनेवाले के समान **सहस्त्रैः**=अपरिमित स्तोत्रों से **चितयत्**=चेतानेवाला होता है। जैसे शंख बजानेवाला प्रातः शंख की ध्वनि द्वारा सबको प्रबुद्ध करता है, उसी प्रकार यह स्तोत्रों के द्वारा सभी को प्रबुद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम निर्मल जीवनवाले होते हुए प्रभु के अधिकाधिक समीप होते चलें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

रयीश (रईस)

प्र यद्वहेथे महिना रथस्य प्र स्पन्द्रा याथो मनुषो न होता।
धत्तं सूरिभ्य उत वा स्वश्व्यं नासत्या रयिषाचः स्याम॥ ९॥

१. हे प्राणापानो! **यत्**=क्योंकि आप **रथस्य महिना**=इस शरीर-रथ की महिमा के हेतु से **प्रवहेथे**=इसका प्रकर्षेण वहन करते हो। वस्तुतः आपके कारण ही इस रथ का महत्त्व है। आँख-कानादि में से किसी के न होने पर भी यह रथ चलता है, परन्तु आपके न रहने पर इसके चलने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। **प्रस्पन्द्रा**=इस शरीर-रथ को प्रकृष्ट गति देनेवाले आप **याथः**=उसी प्रकार प्राप्त होते हो **न**=जैसे कि **मनुषः होता**=मनुष्य का होता (ऋत्विज्) आया करता है। यह होता यज्ञ के आरम्भ में आता है और यज्ञ के अन्त तक उपस्थित रहता है। इसी प्रकार आप जीवन-यज्ञ के आरम्भ से ही आते हो। आपके आने पर ही यह यज्ञ आरम्भ होता है। जीवन-यज्ञ की समाप्ति पर ही आप जाते हो। २. **उत**=और हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप ही **वा**=निश्चय से **सूरिभ्यः**=ज्ञानी स्तोताओं के लिए **स्वश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियाश्व-समूह को **धत्तम्**=धारण करते हो। इन्द्रियों के सब दोष आपके द्वारा दग्ध कर दिये जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियदोषों को दग्ध करके आप हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम **रयिषाचः**=वास्तविक ऐश्वर्य का सेवन करनेवाले **स्याम**=हों। आपकी कृपा से इस इष्ट रयि (मोक्ष-साधक-धन) का हमारे साथ समन्वय होता है।

भावार्थ—जीवन-यज्ञ के चलानेवाले प्राणापान हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराके रयि का स्वामी बनाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'अरिष्टनेमि' रथ

तं वां रथं वयमद्या हुवेम स्तोमैरश्विना सुविताय नव्यम्।
अरिष्टनेमिं परि द्यामियानं विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ १०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अद्य**=आज **वाम्**=आपके **तं रथम्**=उस रथ को **वयम्**=हम **स्तोमैः**=स्तुतियों के द्वारा **हुवेम**=पुकारते हैं, प्रार्थित करते हैं जोकि **सुविताय**=(सु+इताय) उत्तम कर्मों के लिए **नव्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस शरीर-रथ से हम सतत उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। २. जो रथ **अरिष्टनेमिम्**=अहिंसित चक्रवलयवाला है, जिसके अङ्ग सुदृढ़ हैं तथा **द्यां परि इयानम्**=जो रथ प्रकाश की ओर गति कर रहा है, जिस रथ में स्थित होकर हम प्रकाशमय लोक की ओर बढ़ रहे हैं। 'अरिष्टनेमिं' शब्द रथ की दृढ़ता व शक्ति की सूचना देता है तथा 'द्यां परि इयानम्' शब्द प्रकाशमयता का संकेत कर रहे हैं। इस शरीर-रथ को प्राप्त करके हमें शक्ति व प्रकाश का ही आराधन करना है। यही क्षत्र+ब्रह्म का पोषण है। ३. इस शरीर-रथ को प्राप्त करके हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन को व **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—इस शरीर-रथ को प्राप्त करके हम सुवितवाले हों, न कि दुरितवाले। यह शरीर शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न हो।

विशेष—सूक्त का मुख्य विषय यही है कि प्राणसाधना से हमारा यह शरीररथ दृढ़ व उज्ज्वल हो। अगले सूक्त में भी ऋषि और देवता का अपरिवर्तन इसी विषय के होने की सूचना देता है। इस सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि ये प्रियतम प्राणापान ही जीवन-यज्ञ के प्रशस्त अध्वर्यु हैं—

[१८१] एकाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीवनयज्ञ का सञ्चालन

कदु प्रेष्ठाविषां रयीणामध्वर्यन्ता यदुन्निनीथो अपाम्।
अयं वां यज्ञो अकृत प्रशस्तिं वसुधिती अवितारा जनानाम्॥ १॥

१. हे **प्रेष्ठौ**=प्रियतम प्राणापानो! **कत् उ**=वह समय कब होगा **यत्**=जब कि आप **अध्वर्यन्ता**=हमारे जीवन-यज्ञ के चलाने की कामनावाले होते हुए **इषाम् अपां रयीणाम्**=अन्नों, जलों व धनों के **उन्निनीथः**=प्राप्त करानेवाले होओगे? 'इष्' अन्न है तो 'आप्' जल है। प्राणापान हमें शक्तिसम्पन्न करके अन्न-जल को प्राप्त करानेवाले होते हैं तथा जीवन के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधक को चाहिए कि खान-पान को सादा रखे और धन को साधन के रूप में ही प्राप्त करे, धन को जीवन का साध्य न बनाए। ऐसा होने पर ही जीवन-यज्ञ सुन्दरता से चलता है। २. हे प्राणापानो! **अयं यज्ञः**=यह सुन्दरता से चलता हुआ जीवन-यज्ञ **वाम्**=आपकी **प्रशस्तिं अकृत**=प्रशंसा करता है। आपकी शक्ति से सुन्दरता से चलता हुआ जीवन-यज्ञ आपकी प्रशंसा का कारण बन जाता है। इसकी सुन्दरता आपकी महिमा का स्मरण कराती है। ३. आप

ही **वसुधिती**=सब वसुओं—जीवन के लिए आवश्यक सब तत्त्वों के धारण करनेवाले हैं और इन वसुओं के धारण के द्वारा **जनानाम् अवितारा**=लोगों का रक्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणापान जीवन-यज्ञ के अध्वर्यु हैं। ये ही जीवन-यज्ञ को सुन्दरता से चलाते हैं। सब वसुओं को प्राप्त कराके जीवन का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

कैसे इन्द्रियाश्व

आ वामश्वासः शुचयः पयस्पा वातरंहसो दिव्यासो अत्याः।
मनोजुवो वृषणो वीतपृष्ठा एह स्वराजो अश्विना वहन्तु॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके वे **अश्वासः**=इन्द्रियरूप अश्व **इह**=यहाँ—जीवन-यज्ञ में **आवहन्तु**=आपको (वह सब) प्राप्त कराएँ जो कि **शुचयः**=पवित्र हैं, जिनके द्वारा अपवित्र मार्ग से धन नहीं कमाया जाता, **पयस्पाः**=जो रेतःकणरूप जलों का पान करनेवाले हैं, विषयों में न फँसकर जो शक्ति का शरीर में ही रक्षण करनेवाले हैं, **वातरंहसः**=वायु के समान वेगवाले हैं, शक्तिसम्पन्न होने के कारण जिनके वेग में न्यूनता नहीं **दिव्यासः**=जो ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व प्रकाश में विचरण करनेवाले हैं तथा **अत्याः**=कर्मेन्द्रियों के रूप में निरन्तर यज्ञादि कर्मों में गतिवाले हैं (अत सातत्यगमने)। २. प्राणापान ऐसे इन्द्रियाश्वों से हमारे जीवन-यज्ञ में आएँ जो कि **मनोजुवः**=मन के समान वेगवाले हैं, **वृषणः**=शक्तिशाली हैं तथा **वीतपृष्ठाः**=कान्त पृष्ठवाले हैं अर्थात् तेजस्वी हैं और सबसे बड़ी बात यह कि **स्वराजः**=स्वयमेव राजमान हैं, विषयों के पराधीन नहीं हो गये। विषयों के अधीन न होने के कारण ही 'स्व' को, आत्मतत्त्व को प्रकाशित करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निर्दोष बनती हैं और ये निर्दोष इन्द्रियाँ हमें आत्मतत्त्व की ओर ले-जाती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

महत्त्वपूर्ण शरीर-रथ

आ वां रथोऽवनिर्न प्रवत्वान्त्सृप्रवन्धुरः सुवितायं गम्याः।
वृष्णः स्थातारा मनसो जवीयानहंपूर्वो यजतो धिष्ण्या यः॥ ३॥

१. हे **धिष्ण्या**=शरीर में उन्नत स्थान के योग्य **स्थातारा**=शरीर के अधिष्ठातृरूप प्राणापानो! **वाम्**=आपका **यः**=जो यह **रथः**=शरीररूप रथ है वह **सुविताय**=शोभन आचरण के लिए **आगम्याः**=हमें प्राप्त हो। इस शरीर में प्राणापान का स्थान सबसे उत्कृष्ट है। आँख आदि के चले जाने पर भी यह रथ चलता ही है, परन्तु प्राणापान के चले जाने पर इसके चलने का प्रश्न नहीं रहता। वस्तुतः प्राणापान इसके अधिष्ठाता हैं अर्थात् उनकी क्रिया के ठीक होने पर यह वशीभूत रहता है और विकृत नहीं होता। २. यह रथ **अवनिः न**=इस पृथिवी के समान **प्रवत्वान्**=(प्रवत्=Height, elevation) उत्कर्षवाला है, अर्थात् इसका महत्त्व उतना ही है जितना पृथिवी का। अथवा (प्रवत=गतिकर्मा—नि० २।१४) जो पृथिवी की भाँति प्रशस्त वेगादि गुणवाला है, **सृप्रवन्धुरः**=(वन्धुर=beautiful) बड़ी सुन्दर गतिवाला है, गति से सुन्दर प्रतीत होता है। शरीर क्रियामय हो और सब क्रियाएँ सुन्दर हों। ३. यह शरीर-रथ **वृष्णः मनसः**

जवीयान्=शक्तिशाली मन से भी अधिक वेगवान् है, अर्थात् खूब क्रियाशील है, **अहं पूर्वः**=अहं का इसमें मुख्य स्थान है। इसमें सबसे मधुर वस्तु यह 'अहं' ही है। प्राणसाधना के द्वारा इस 'अहं' को ही जीतना है। **यजतः**=यह शरीर-रथ प्रभु के साथ संगतिकरण का साधन है 'यज् संगतिकरणे', इसीलिए यह आदरणीय है 'यज् पूजायाम्'। शरीर को उचित आदर देते हुए इसे स्वस्थ रखने का प्रयत्न करना चाहिए और ठीक मार्ग पर चलते हुए हम इसके द्वारा लक्ष्यस्थान पर पहुँचें।

भावार्थ—यह शरीर-रथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राणसाधना के द्वारा इसे वश में करके हम आगे बढ़ेंगे तो अवश्य लक्ष्यस्थान पर पहुँचेंगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

जीवन-यज्ञ के प्रवर्तक 'प्राणापान'

इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा३ नामभिः स्वैः।
जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे॥ ४॥

१. **इह इह जाता**=शरीर में इस-इस स्थान में अर्थात् ऊर्ध्वकाय में प्राण तथा अधरकाय में अपान तुम दोनों विकास को प्राप्त होते हुए **समवावशीताम्**=इस जीवन-यज्ञ को चलाने की कामना करो। इस जीवन-यज्ञ को आप **अरेपसा तन्वा**=दोषशून्य शरीर से तथा **स्वैः नामभिः**=आत्म-सम्बन्धी नामों से पूर्ण करने की कामना करो अर्थात् प्राणापान की साधना से हमारा यह शरीर रोगशून्य हो तथा हमारे चित्त में प्रभु के नामों का स्मरण हो। इस प्रकार स्वस्थ एवं प्रभुपूजा-परायण यह जीवन सचमुच एक सुन्दर यज्ञ ही बन जाएगा। २. **वाम्**= आप दोनों में से **अन्यः**=एक 'प्राण' **जिष्णुः**=रोगों को जीतने की कामनावाला होता है। रोगों को जीतकर यह **सुमखस्य**=उत्तम जीवन-यज्ञ का **सूरिः**=प्रेरक होता है। **अन्यः**=दूसरा 'अपान' **दिवः**=प्रकाश का **पुत्रः**=(पुनाति त्रायते) पवित्र करने व रक्षण करनेवाला **सुभगः**=उत्तम ऐश्वर्यवाला **ऊहे**=जाना जाता है (ऊह्=to be regarded as)। अपान के कार्य के ठीक होने पर मस्तिष्क-कार्य ठीक से होता है। इस प्रकार यह अपान ज्ञान का रक्षक हो जाता है। ज्ञानरूप ऐश्वर्य से यह 'सु-भग' कहलाता है। ३. प्राण स्वास्थ्य देता है तो अपान ज्ञान। 'भूरिति प्राणः'=प्राण 'भू' है। 'होना=स्वस्थ बनना' यह प्राण पर निर्भर करता है। 'भुवरित्यपानः'='भुवः' अपान है। 'भुवोऽवकल्कने, अवकल्कनं चिन्तनम्'=भुवः अर्थात् चिन्तन व ज्ञान अपान पर आश्रित है।

भावार्थ—प्राणापान स्वास्थ्य व ज्ञान देकर जीवन-यज्ञ के प्रवर्तक बनते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

वाज, मन्थन, विघोष

प्र वां निचेरुः ककुहो वशाँ अनु पिशङ्गरूपः सदनानि गम्याः।
हरी अन्यस्य पीपयन्त वाजैर्मथ्ना रजांस्यश्विना वि घोषैः॥ ५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों जैसा **प्रनिचेरुः**=प्रकर्षेण गतिवाला **ककुहः**=श्रेष्ठ, **पिशङ्गरूपः**=तेजस्वी रूपवाला यह प्राण **वशान् अनु**=जितना-जितना हम इसे वश कर पाते हैं उतना **सदनानि**=हमारे अधिष्ठानभूत इन कोशों को **गम्याः**=प्राप्त होता है। एक-एक कोश को यह निर्दोष बनाता है और उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है। २. **अन्यस्य**=दूसरे 'अपान' के ये **हरी**=इन्द्रियाश्व **वाजैः**=शक्तियों से **मथ्ना**=ज्ञान के मन्थन

से तथा **विघोषैः**=विशिष्ट स्तुतियों के उच्चारण से **रजांसि**=सब लोकों को **पीपयन्त**=आप्यायित करते हैं। शक्तियों से शरीररूप पृथिवीलोक को, विशिष्ट स्तुतियों के उच्चारण से हृदयरूप अन्तरिक्षलोक को तथा ज्ञान-मन्थन से मस्तिष्करूप द्युलोक को ये इन्द्रियाश्व आप्यायित करते हैं। ३. प्राण शरीर को तेजस्विता प्रदान करता है और इसे श्रेष्ठ बनाता है। अपान निर्दोषता प्राप्त कराके सर्वाङ्गीण उन्नति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्राण हमें तेजस्वी व श्रेष्ठ बनाता है, अपान सब अङ्गों को निर्दोष बनाकर उन्नत करता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्ञान के प्रवाहों की प्राप्ति

प्र वां शरद्वान्वृषभो न निष्षाट् पूर्वीरिषश्चरति मध्व इष्णन्।
एवैरन्यस्य पीपयन्त वाजैर्वेषन्तीरूर्ध्वा नद्यो न आगुः॥ ६॥

१. हे अश्विनौ! **वाम्**=आपमें से एक (प्राण) **शरद्वान्**=सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला **वृषभः न**=शक्तिशाली के समान **निष्षाट्**=शत्रुओं का पूर्ण पराभव करनेवाला, **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाले **इषः**=अन्नों का **प्रचरित**=प्रकर्षेण सेवन करता है। यह प्राण **मध्वः इष्णन्**=मधुरतम, मधुसदृश, सारभूत पदार्थों की ही इच्छा करता है। प्राण शरीर पर आक्रमण करनेवाले सब रोगकृमियों का पराभव करता है। इस प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए अन्नों व मधु का ही सेवन करना चाहिए। २. **अन्यस्य**=दूसरे अपान की **एवैः**=गतियों से तथा **वाजैः**=शक्तियों से लोग अपने अङ्गों को **पीपयन्त**=आप्यायित करते हैं। इस अपान की क्रिया के ठीक होने पर **वेषन्तीः**=सब विषयों का व्यापन करनेवाली **ऊर्ध्वाः**=उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति की कारणभूत **नद्यः**=ये ज्ञान की वाणियाँ **नः आगुः**=हमें प्राप्त होती हैं। 'सरस्वती' ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता है। यहाँ वेदवाणियों को नदियों के रूप में चित्रित किया है।

भावार्थ—प्राण हमारे रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करके शक्तिशाली बनाता है। अपान हमें निर्दोष बनाकर तीव्रबुद्धि बनाता है और ज्ञान प्राप्त कराता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

त्रेधा क्षरन्ती (वेदवाणी)

असर्जि वां स्थविरा वेधसा गीर्बाळ्हे अश्विना त्रेधा क्षरन्ती।
उपस्तुताववतं नाधमानं यामन्नयामञ्छृणुतं हवं मे॥ ७॥

१. हे **वेधसा**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वां बाळ्हे**=आपकी स्थिरता होने पर, हमारे शरीरों में आपका पोषण होने पर **स्थविरा गीः**=यह सनातन वेदवाणी **असर्जि**=हममें निर्मित की जाती है। प्राणापान की साधना से, इनकी क्रियाओं के ठीक होने पर यह वाणी **त्रेधा**=तीन प्रकार से **क्षरन्ती**=मलों का क्षरण करती है। यह शरीर के रोगों को हटाती है, मन की मलिनता को दूर करती है तथा बुद्धि की मन्दता का नाश करती है। २. हे प्राणापानो! **उपस्तुतौ**=स्तुति किये गये आप **नाधमानम्**=याचना करते हुए मेरी **अवतम्**=रक्षा करो। **यामन् अयामन्**=जीवन के जाने और न जाने योग्य प्रत्येक मार्ग में **मे हवम्**=मेरी पुकार को **शृणुतम्**=आप सुनो। आपकी आराधना से मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें वह ज्ञान की वाणी प्राप्त हो जोकि हमारे शरीर, मन व बुद्धि के मलों का क्षरण करती है।

सूचना—यह वेदवाणी प्रभु का सनातन ज्ञान होने से यहाँ 'स्थविरा' कहलायी है। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होने पर हम इसे प्राप्त करते हैं। यह हमारे सब मलों का विध्वंस करती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्ञान व ध्यान

उत स्या वां रुशतो वप्ससो गीस्त्रिबर्हिषि सदसि पिन्वते नॄन्।
वृषा वां मेघो वृषणा पीपाय गोर्न सेके मनुषो दशस्यन्॥ ८॥

१. **उत**=और **स्या**=वह **वाम्**=हे प्राणापानो! आपकी, आपके द्वारा प्राप्त होनेवाली **रुशतः**=देदीप्यमान **वप्ससः**=(सुरूपस्य—द०) तेजस्वी रूपवाले प्रभु की **गीः**=वाणी **त्रिबर्हिषि**=जिसमें 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को उखाड़ फेंका गया है उस **सदसि**=आत्मा के निवास-स्थान हृदय में **नॄन्**=उन्नतिशील पुरुषों को **पिन्वते**=आप्यायित करती है। प्राणसाधना के द्वारा इस वेदवाणी के अर्थ का प्रकाश होता है। यह वाणी हमें भी प्रभु के अनुरूप 'देदीप्यमान, तेजस्वी रूपवाला' बनाती है। इस वाणी का प्रकाश उस हृदय में होता है जिसमें से 'काम, क्रोध, लोभ' का उन्मूलन कर दिया गया है। यह उन्मूलन प्राणसाधना के द्वारा ही होता है। २. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! **वाम्**=आपकी—आपकी साधना द्वारा उत्पन्न होनेवाला **मेघः**=धर्ममेघसमाधि का मेघ **वृषा**=हमपर सुखों का वर्षण करता है और **पीपाय**=हमारा उसी प्रकार आप्यायन करता है **न**=जैसे **गोः**=ज्ञान की वाणियों का **सेके**=सेचन होनेपर **मनुषः**=विचारशील पुरुषों को **दशस्यन्**=यह सब सुखों को देनेवाला होता है। प्राणसाधना से बुद्धि के तीव्र होनेपर ज्ञान प्राप्त होता है और मनुष्य का जीवन सुखी होता है। इसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा समाधि की स्थिति में पहुँचने पर अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—मुख्यतया प्राणसाधना के दो लाभ हैं—(क) बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करती है, (ख) चित्तवृत्ति केन्द्रित होकर समाधि के आनन्द की प्राप्ति का साधन बनती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'उषा, अग्नि व अश्विनौ' का आराधन

युवां पूषेवाश्विना पुरन्धिरग्निमुषां न जरते हविष्मान्।
हुवे यद्वां वरिवस्या गृणानो विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवाम्**=आपको **पूषा इव**=अपना पोषण करनेवाले की भाँति **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धिवाला तथा **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्तिवाला **जरते**=स्तुत करता है। आपकी आराधना के द्वारा ही वस्तुतः वह 'पूषा, पुरन्धि व हविष्मान्' बनता है। यह आपकी आराधना उसी प्रकार करता है **न**=जैसे कि **अग्निम्**=अग्नि को आराधित करता है और **उषाम्**=उषाकाल को आराधित करता है। यह प्रातःकाल प्रबुद्ध होकर प्रभु के ध्यान के द्वारा सब अशुभवृत्तियों को दग्ध करने का प्रयत्न करता है, यही उषा का आराधन है। यह अग्निहोत्र करता है, यही अग्नि का आराधन है और प्राणायाम के द्वारा यह प्राणापान का आराधन करता

है। २. **यत्**=जब मैं **वाम्**=आपको **हुवे**=पुकारता हूँ, आपकी आराधना करता हूँ तो **वरिवस्या**=उपासना के द्वारा **गृणानः**=प्रभु का स्तवन करनेवाला होता हूँ। ऐसा होने पर हम **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पाप के वर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर अग्निहोत्र करें। प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना करनेवाले बनें। उपासना द्वारा प्रभुस्तवन करें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त का विषय भी यही है—

[१८२] द्व्यशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

धियञ्जिन्वा शुचिव्रता

अभूदिदं वयुनमो षु भूषता रथो वृषण्वान्मदता मनीषिणः।
धियंजिन्वा धिष्ण्या विश्पलावसू दिवो नपाता सुकृते शुचिव्रता॥ १॥

१. हे **मनीषिणः**=बुद्धिमान् पुरुषो! **मदत**=यह जानकर तुम प्रसन्न होओ कि **इदं वयुनम् अभूत्**=यह प्रज्ञान उत्पन्न हुआ है। **आ उ षु भूषत**=उस प्रभु के स्तवन के लिए अभिमुख होओ। **रथः वृषण्वान्**=तुम्हारा यह शरीररूप रथ शक्तिशाली बना है। मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति जगी है, हृदय में प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बने हो, शरीर दृढ़ हुआ है। इस त्रिविध उन्नति को करके तुम प्रसन्नता का अनुभव करो। २. तुम्हारे ये प्राणापान **धियञ्जिन्वा**=बुद्धियों को प्रीणित करनेवाले हैं, **धिष्ण्या**=स्तुति में उत्तम हैं। इनकी साधना से मनुष्य की चित्तवृत्ति एकाग्र होकर प्रभु की ओर झुकाववाली होती है। **विश्-पला-वसू**=ये प्रजाओं के पालक धनवाले हैं, आवश्यक सब धनों को प्राप्त कराते हैं। हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम सब आवश्यक धनों को प्राप्त कर सकें। **दिवः न पाता**=ये ज्ञान को नष्ट न होने देनेवाले हैं तथा **सुकृते**=उत्तमता से साधना करनेवाले के लिए **शुचिव्रता**=पवित्र व्रतोंवाले हैं। प्राणसाधना से हमारे कर्म भी पवित्र होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर दृढ़ बनता है, हृदय प्रभुस्तवनवाला बनता है, मस्तिष्क ज्ञानवाला होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

इन्द्रतमा रथीतमा

इन्द्रतमा हि धिष्ण्या मरुत्तमा दस्रा दंसिष्ठा रथ्या रथीतमा।
पूर्णं रथं वहेथे मध्व आचितं तेन दाश्वांसमुप याथो अश्विना॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **हि**=निश्चय से **इन्द्रतमा**=इन्द्रियों को अधिक-से-अधिक वश में करनेवाले हो। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ स्वाधीन होती हैं, **धिष्ण्या**=आप उत्तम स्तुति के योग्य हो। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होता है और चित्त प्रभुस्तवन में लगता है। **मरुत्तमा**=ये अधिक-से-अधिक मितरावी (मितभाषी) हैं। इन्द्रियाँ ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का गर्व करती हैं और बढ़-बढ़कर बातें करती हैं पर प्राण शान्त हैं, वे गर्व में कुछ बोलते नहीं। प्राणसाधक भी कर्मवीर बनता है, वाग्वीरता को नहीं अपनाता, **दस्रा**=ये हमारे शत्रुओं का उपक्षय

करनेवाले हैं, **दंसिष्ठा**=उत्तम कर्मोंवाले हैं, **रथ्या**=शरीररूप रथ को उत्तम बनाते हैं, **रथीतमा**=नेतृत्व में सर्वोत्तम हैं, हमें लक्ष्यस्थान की ओर ले-चलनेवाले हैं। २. ये प्राणापान **पूर्णं रथम्**=न्यूनता से रहित शरीर-रथ को **वहेथे**=मार्ग पर ले-चलते हैं। उस शरीर-रथ को जो कि **मध्वः आचितम्**=ओषधियों की सारभूत सोमशक्ति से व्याप्त है। प्राणापान सोम की ऊर्ध्व गति का कारण बनते हैं। यह सोमशक्ति शरीर में व्याप्त होकर इसे दृढ़ बनाती है। ३. हे प्राणापान! आप **तेन**=उस शरीर-रथ से **दाश्वांसम् उपयाथः**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले को प्राप्त होते हो। जो भी प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है, उसका यह शरीर-रथ पूर्ण होता है और सोमशक्ति से व्याप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम जितेन्द्रिय और मितरावी (मितभाषी) बनते हैं। हमारा यह शरीररथ इस प्राणसाधना से दृढ़ व सोम से व्याप्त बनता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः।

युक्ताहार-विहार के साथ प्राणसाधना

किमत्र॑ दस्रा कृणुथः॒ किमा॑साथे॒ जनो॒ यः कश्चि॒दह॑विर्म॒हीय॑ते।
अति॑ क्रमिष्टं जु॒रतं॑ प॒णेरसुं॒ ज्योति॒र्विप्रा॑य कृणुतं वच॒स्यवे॑॥ ३॥

१. हे **दस्रा**=शत्रुओं के नाशक प्राणापानो! **यः**=जो **कश्चित्**=कोई **जनः**=मनुष्य **अहविः**=हविरहित होकर, त्यागपूर्वक अदन करनेवाला न होता हुआ **महीयते**=(to be glad) सांसारिक आनन्दों का अनुभव करता है, या अपने को महत्त्वपूर्ण मानता है, **अत्र**=इस पुरुष में **किं कृणुथः**=आप क्या करते हो? **किम् आसाथे**=क्यों इसमें आसीन होते हो? अर्थात् त्यागपूर्वक अदन न करनेवाला, खान-पान में आनन्द लेनेवाला, खूब खानेवाला व्यक्ति प्राणसाधना से लाभ प्राप्त नहीं करता। युक्ताहार-विहारवाले के लिए ही प्राणसाधना लाभप्रद होती है। २. **अति क्रमिष्टम्**=ऐसे व्यक्ति को तो आप लाँघ ही जाते हो, **पणेः**=इस वणिक् वृत्तिवाले, अयज्ञशील पुरुष के **असुम्**=प्राण को **जुरतम्**=आप विनष्ट करते हो। यज्ञशील, हवि का सेवन करनेवाला व्यक्ति ही प्राणसाधना से लाभान्वित होता है। आप **विप्राय**=(वि+प्रा) विशेषरूप से औरों का पूरण करनेवाले, **वचस्यवे**=प्रभु के स्तुति-वचनों की कामना करनेवाले के लिए **ज्योतिः कृणुतम्**=ज्ञान की ज्योति प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना तभी लाभप्रद होती है जब कि यह युक्ताहार-विहार के साथ की जाए। अयज्ञशील, सब-कुछ खा जानेवाले के लिए इसका कुछ लाभ नहीं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः।

भौंकनेवाले कुत्ते का विनाश

ज॒म्भय॑तम॒भितो॒ राय॑तः॒ शुनो॑ ह॒तं मृधो॑ वि॒दथु॒स्तान्य॑श्विना।
वाचं॑वाचं जरि॒तू र॒त्निनीं॑ कृतमु॒भा शंसं॑ नासत्याव॒तं मम॑॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **अभितः**=सब ओर से **रायतः**=(रै=to bark at) हम पर भौंकते हुए, हमें मारने के लिए आगे बढ़ते हुए **शुनः**=इन कुत्तों की, लोभ के कारण परस्पर झगड़े की वृत्तियों को **जम्भयतम्**=नष्ट करो। **मृधः**=हमें नष्ट करनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओं को **हतम्**=मार दो। हे प्राणापानो! आप **तानि**=उन साधनों को **विदथुः**=जानते हो जिनसे कि इन अशुभ वृत्तियों का संहार होता है। प्राणसाधना से लोभ, काम, क्रोध नष्ट होते हैं। २. हे

नासत्या=सब असत्यों को नष्ट करनेवाले प्राणापानो! आप **जरितुः**=स्तोता की **वाचं वाचम्**=प्रत्येक वाणी को **रत्निनीम्**=रमणीय शब्दोंवाला **कृतम्**=कीजिए। स्तोता की वाणी ऐसी सुन्दर हो मानो रत्नजटित हो। **उभा**=आप दोनों **मम**=मेरे **शंसम्**=शंसन को—प्रभु-स्तवन को **अवतम्**=रक्षित करो। आपकी कृपा से मैं सदा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बना रहूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) लोभ व काम-क्रोध नष्ट होते हैं, (ख) वाणी शुभ शब्दों से रमणीय होती है, (ग) प्रभु-उपासन की वृत्ति बनी रहती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

भवसागर-नौका

युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्तं पक्षिणं तौग्र्याय कम्।
येन देवत्रा मनसा निरूहथुः सुपप्तनी पेतथुः क्षोदसो महः ॥ ५ ॥

१. 'तुग्र्या' शब्द का अर्थ जल=water है। यहाँ भवसागर के जल 'विषय' ही हैं। इन विषयों में फँसा हुआ व्यक्ति 'तौग्र्य' है। इस **तौग्र्याय**=तौग्र्य के लिए, इसे भवसागर से तारने के लिए **युवम्**=हे प्राणापानो! आप दोनों **सिन्धुषु**=इस भवसागर के जलों में **एतम्**=इस शरीर को **प्लवम्**=एक बेड़े के रूप में **चक्रथुः**=करते हो, जो बेड़ा **आत्मन्वन्तम्**=प्रशस्त मनवाला है, **पक्षिणम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों-रूप दो पक्षों=पांसोंवाला (भटकाने, पथभ्रष्ट करनेवाले) है। यह बेड़ा तौग्र्य को विषय-जल में डूबने न देता हुआ **कम्**=सुख को देनेवाला है। २. यह वह बेड़ा है **येन**=जिससे **देवत्रा मनसा**=उस परमदेव प्रभु में लगे मन के द्वारा **निरूहथुः**=हे प्राणापानो! आप हमें इस भवसागर से पार करते हो। **सुपप्तनी**=आप दोनों बड़ी उत्तम गतिवाले हो। आप **महः क्षोदसः**=इस महान् विषय-जल से **पेतथुः**=हमें पार करने के लिए गति करते हो (पत् गतौ)।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर एक बेड़ा बन जाता है, जो हमें भवसागर के विषय-जल में डूबने से बचाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वेदरूप नौकाचतुष्टय

अवविद्धं तौग्र्यमप्स्व१न्तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्।
चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टा उदश्विभ्यामिषिताः पारयन्ति ॥ ६ ॥

१. **अप्सु अन्तः**=इस भवसागर के विषय-जलों में **अवविद्धम्**=वासनारूप शत्रुओं से बींधकर नीचे गिराये हुए, अतएव गोते खाते हुए **अनारम्भणे**=आश्रय से शून्य **तमसि**=अज्ञान के अन्धकार में **प्रविद्धम्**=वासना के शरों से घायल हुए-हुए **तौग्र्यम्**=तुग्र्य को **जठलस्य**=(जठरवत् धारकस्य—सा०) सारे ब्रह्माण्ड को अपने जठर (पेट) में धारण करनेवाले प्रभु की **चतस्रः नावः**=चारों वेदों के रूप में ज्ञान की चार नौकाएँ **जुष्टाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन की हुईं तथा **अश्विभ्याम्**=प्राणापानों से **इषिताः**=प्रेरित की हुईं **उत्पारयन्ति**=समुद्र के पार लगानेवाली होती हैं। २. ये ज्ञान की नावें अन्धकार को नष्ट करके वासनाओं को समाप्त कर देती हैं। वासनाओं का विनाश हमें विषय-जल में डूबने से बचा देता है। ये ज्ञान की नावें प्राणापान से प्रेरित होती हैं अर्थात् प्राणसाधना से मलक्षय होकर ज्ञानदीप्ति होती है। इस साधना से बुद्धि

तीव्र होकर सूक्ष्म विषयों का ग्रहण करनेवाली बनती है।

भावार्थ—प्रभु की वेदरूप ज्ञान की वाणियाँ चार नावें हैं जो हमें संसार-सागर के विषयरूप जलों में डूबने से बचाती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः।

भवसागर में आश्रयभूत वृक्षरूप प्रभु

कः स्विद् वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसो यं तौग्र्यो नाधितः पर्यषस्वजत्।
पर्णा मृगस्य पतरोरिवारभ उदश्विना ऊहथुः श्रोमताय कम्॥ ७॥

१. **मध्ये अर्णसः**=इस भवसागर के जल के मध्य में **स्वित्**=निश्चय से **कः**=वह अनिरुक्त प्रजापति व आनन्दमय प्रभु **वृक्षः निष्ठितः**=आलम्बनभूत वृक्ष के समान निश्चितरूप से स्थित है। **यम्**=यह वह वृक्ष है, जिसको **नाधितः**=संसार के विषयों में फँसने से उपतप्त हुआ-हुआ (नाध=उपतापे) **तौग्र्यः**=(water, आपः रेतो भूत्वा०) रेतःकणों का संयम करनेवाला व्यक्ति **पर्यषस्वजत्**=आलिंगन करता है। प्रभु का आश्रय मिलते ही यह तौग्र्य भव-सागर के विषय-जल में डूबने से बच जाता है। २. **इव**=जैसे **पतरोः**=गिरते हुए **मृगस्य**=(शाखामृगस्य) वानर के **आरभे**=आश्रय के लिए **पर्णा**=पत्ते होते हैं, उसी प्रकार **अश्विना**=हे प्राणापानो! आप इस विषयजल में डूबनेवाले मनुष्य को **श्रोमताय**=प्रशस्त कीर्तियुक्त व्यवहार के लिए **कम् उत् ऊहथुः**=उस आनन्दमय प्रभु के समीप प्राप्त कराते हो। ये प्रभु इस तौग्र्य के आश्रय बनते हैं और यह विषय-जलों में डूबने से बच जाता है।

भावार्थ—इस संसार-समुद्र में प्रभु ही आधार बनकर हमें डूबने से बचाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

नर व नासत्य

तद्वां नरा नासत्यावनु ष्याद्यद्वां मानास उचथमवोचन्।
अस्मादद्य सदसः सोम्यादा विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ८॥

१. हे **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले **नासत्या**=असत्य से रहित प्राणापानो! **तत्**=वह **वाम्**=आपका **उचथम्**=स्तोत्र **अनुष्यात्**=अनुकूल हो **यत्**=जिस **वाम्**=आपके स्तोत्र को **मानासः**=पूजा करनेवाले लोग **अवोचन्**=उच्चारित करते हैं। स्तोत्र की अनुकूलता का भाव यह है कि जैसा स्तवन किया जाए वैसी ही क्रिया हो। यहाँ प्राणापान को नरा कहा है, अतः स्तोता भी नर हो—अपने को आगे और आगे ले-चलनेवाला हो। प्राणापान को 'नासत्या' शब्द से स्मरण किया है—उपासक भी असत्य से रहित जीवनवाला हो। यही स्तोत्र का अनुकूल होना है कि हम स्तुत्य के अनुसार जीवनवाले बनें। २. **अद्य**=आज हम **अस्मात्**=इस **सदसः**=(सीदति इति) हम सबके हृदयों में आसीन होनेवाले **सोम्यात्**=शान्ति के पुञ्ज उस प्रभु से **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन व शक्ति को तथा **जीरदानुम्**= दीर्घजीवन को **आविद्याम**=सर्वथा प्राप्त करें। इस प्रेरणा व शक्ति को प्राप्त करके ही हम जीवन में 'नर व नासत्य' बन पाएँगे—आगे बढ़नेवाले तथा असत्य से दूर।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त करके 'नर व नासत्य' बनें।

विशेष—सूक्त का विषय यही है कि प्राणसाधना से हमारी बुद्धि तीव्र होगी, हम शुचिव्रत बनेंगे (१), नर व नासत्य होंगे (८)। अगले सूक्त के ऋषि-देवता भी ये ही हैं, अतः इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं—

[१८३] त्र्यशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'त्रिवन्धुर, त्रिचक्र, त्रिधातु' रथ

तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिवन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः।
येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्न पर्णैः॥ १॥

१. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! **तम्**=उस रथ को **युञ्जाथाम्**=तुम ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से युक्त करो **यः**=जो रथ **मनसः जवीयान्**=मन से भी अधिक वेगवान् है। यह शरीररूप रथ **त्रिवन्धुरः**=सत्त्व, रज और तमरूप तीन बन्धनोंवाला है, **यः**=जो शरीररूप रथ **त्रिचक्रः**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप तीन चक्रोंवाला है। २. **येन**=जिस शरीररूप रथ के द्वारा **सुकृतः**=इस ब्रह्माण्ड को उत्तमता से बनानेवाले प्रभु के **दुरोणम्**=गृह को अर्थात् ब्रह्मलोक को **उपयाथः**=समीपता से प्राप्त होते हो। इस मानव-देहरूप रथ का लक्ष्यस्थान ब्रह्मलोक ही तो है। मानव-जीवन ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ही मिलता है। ३. हे प्राणापानो! आप **त्रिधातुना**=वात-पित्त व कफ से धारण किये जानेवाले इस रथ से उसी प्रकार **पतथः**=गति करते हो **न**=जैसे कि **विः**=पक्षी **पर्णैः**=पंखों से। प्राणापान पक्षी हैं तो यह तीन धातुओंवाला रथ उस पक्षी के पंखों का स्थानापन्न है।

भावार्थ—इस शरीररूप रथ के 'सत्त्व, रज व तम' तीन बन्धन हैं; इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि तीन चक्र हैं, वात, पित्त व कफ तीन धातु हैं। इस रथ का लक्ष्यस्थान ब्रह्मलोक है। यह शरीर ब्रह्म-प्राप्ति के लिए मिला है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

यज्ञ व स्वाध्याय

सुवृद्रथो वर्तते यन्नभि क्षां यत्तिष्ठथः क्रतुमन्तानु पृक्षे।
वपुर्वपुष्या सचतामियं गीर्दिवो दुहित्रोषसा सचेथे॥ २॥

१. हे प्राणापानो! आपका यह **सुवृत्**=शोभनरूप में होनेवाला, अर्थात् जिसके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक हैं, वह **रथः**=शरीररूप रथ **क्षाम्**=इस देवयजनी पृथिवी की **अभि**=ओर **यन्**=गति करता हुआ **वर्तते**=है। यह उस समय यज्ञवेदि की ओर गति करता हुआ होता है **यत्**=जब **क्रतुमन्ता**=यज्ञशील आप **पृक्षे**=हवि देने पर अर्थात् दानपूर्वक अदन को अपनाने पर **अनुतिष्ठथः**=अनुकूलता से इस रथ पर अधिष्ठित होते हो। प्राणापान से अधिष्ठित यह शरीर-रथ यज्ञवेदि की ओर चलनेवाला होता है, अर्थात् प्राणसाधना से हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है। २. इस प्राणसाधना के होनेपर **वपुष्या**=हमारे शरीर के लिए हितकर **इयं गीः**=यह वेदवाणी **वपुः सचताम्**=हमारे शरीर के साथ समवेत हो। हम इस वेदवाणी को अपनानेवाले हों। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होती है और इस वेदवाणी का अपनाना सरल हो जाता है। ३. हे प्राणापानो! आप **दिवः दुहिता**=ज्ञान का पूरण करनेवाली **उषसा**=उषाओं के साथ **सचेथे**=समवेत होते

हो, अर्थात् प्राणसाधना से हम उषाकाल से ही स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त होकर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी वृत्ति यज्ञादि उत्तम कर्मों की ओर होती है और हम उषाकाल से ही स्वाध्याय में प्रवृत्त होकर ज्ञान का वर्धन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

व्रत, शक्ति-विस्तार, आत्म-प्राप्ति

आ तिष्ठतं सुवृतं यो रथो वामनु व्रतानि वर्तते हविष्मान्।
येन नरा नासत्येषयध्यै वर्तिर्याथस्तनयाय त्मने च॥ ३॥

१. हे **नरा**=हमें आगे ले-चलनेवाले! **नासत्या**=हमें असत्य से दूर करनेवाले प्राणापानो! उस **सुवृतम्**=रथ पर जिसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग शोभन स्थिति में है **आतिष्ठतम्**=स्थित होओ। **यः**=जो **वाम्**=आपका **रथः**=शरीररूप रथ **हविष्मान्**=हविवाला होता हुआ, सदा दानपूर्वक अदनवाला होता हुआ **व्रतानि अनुवर्तते**=पुण्य कर्मों के अनुकूल वर्तनेवाला होता है। प्राणसाधना करने से मनुष्य (क) हवि का सेवन करनेवाला, यज्ञशेष को ही खाने की वृत्तिवाला बनता है और (ख) सदा पुण्य कर्मों में प्रवृत्त होता है। २. हे प्राणापानो! यह वह रथ है **येन**=जिससे **इषयध्यै**=(promote) उन्नति के लिए **वर्तिः याथः**=गृह को प्राप्त होते हो। शरीर में हृदय ही आत्मा का निवास-स्थान है, अतः हृदय ही गृह है। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करके कुछ देर के लिए हम हृदय में ही स्थित होते हैं। यही उन्नति का मार्ग है। यह **तनयाय**=हमारी सब शक्तियों के विस्तार के लिए होता है (तनु विस्तारे) **च**=और **त्मने**=आत्मा की प्राप्ति के लिए होता है। प्रतिदिन प्राणायाम के अनुष्ठान से हम चित्त-वृत्ति का निरोध करके स्व-स्वरूप को देखने का प्रयत्न करें। इसी में विकास है—यही आत्म-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी वृत्ति शुभ कर्मों की ओर होती है। हम उन्नति के मार्ग पर चलते हुए अपनी शक्तियों का विस्तार कर पाते हैं और आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधना आवश्यक है

मा वां वृको मा वृकीरा दधर्षीन्मा परि वर्क्तमुत माति धक्तम्।
अयं वां भागो निहित इयं गीर्दस्राविमे वां निधयो मधूनाम्॥ ४॥

१. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपको **वृकः**=अदान व लोभ की वृत्ति **मा आदधर्षीत्**=धर्षित करनेवाली न हो, अर्थात् ऐसा न हो कि किसी बात के लोभ में पड़कर एक व्यक्ति अपनी साधना के लिए समय ही न निकाल सके। **मा वृकीः**=इसी प्रकार लोभ की वृत्तिवाली कोई स्त्री आपका धर्षण करनेवाली न हो, अर्थात् प्रत्येक पुरुष व स्त्री प्राणसाधना के लिए समय अवश्य निकाले, प्राणायाम अवश्य करे। २. हे प्राणापानो! **मा परिवर्क्तम्**=आप हमें छोड़ मत जाओ **उत**=और **मा अतिधक्तम्**=हमें भस्म मत कर दो। 'हम बिल्कुल प्राणायाम न करें' यह भी न हो और प्राणायाम की अति से उष्णता के बहुत बढ़ जाने के द्वारा अपने को भस्म भी न कर लें। धीरे-धीरे प्राणायामों की संख्या बढ़ाएँ। तीन से आरम्भ करके पाँच-छह वर्षों में अस्सी तक इनकी संख्या को पहुँचानेवाले बनें। ३. हे **दस्त्रौ**=हमारे मलों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका **भागः**=भाग **निहितः**=स्थापित किया गया है, अर्थात् हमारे द्वारा

प्राणसाधना के लिए अलग समय निश्चित किया गया है। उस समय को हम इस साधना में ही लगाते हैं। **इयं गीः**=यह आपकी स्तुति-वाणी है। इन वाणियों के द्वारा हम आपका स्तवन करते हैं। **इमे**=ये **मधूनां निधयः**=सोम के कोश **वाम्**=आपके ही हैं। आपकी साधना के द्वारा ही इन सोमों का शरीर में रक्षण होता है। वस्तुतः प्राणसाधना से ही ज्ञान की वाणियाँ हमें प्राप्त होती हैं। इनको समझने के लिए हम इस साधना से ही तीव्रबुद्धि बनते हैं तथा इन्हीं के द्वारा हम शरीर में सोम का रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—लोभ के कारण हम प्राणसाधना को छोड़ न बैठें। प्राणसाधना का समय निश्चित हो। प्राणसाधना से ही हमारा ज्ञान बढ़ेगा और हम सोम का रक्षण कर पाएँगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

गोतम, पुरुमीढ, अत्रि

युवां गोतमः पुरुमीळ्हो अत्रिर्दस्रा हवतेऽवसे हविष्मान्।
दिशं न दिष्टामृजूयेव यन्ता मे हवं नासत्योप यातम्॥ ५॥

१. हे **दस्रा**=सब बुराइयों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **युवाम्**=आपको **गोतमः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला पुरुष **पुरुमीळ्हः**=अपने शरीर में शक्ति का खूब सेचन करनेवाला तथा **अत्रिः**=शरीर, मन व बुद्धि के विकारों से ऊपर उठनेवाला पुरुष **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला बनकर **अवसे**=रक्षण के लिए **हवते**=पुकारता है। वस्तुतः आपकी आराधना से ही वह 'गोतम, पुरुमीढ व अत्रि' बनता है। प्राणसाधना के लिए यह आवश्यक है कि यह हविष्मान् बने, त्यागपूर्वक भोग करनेवाला बने। अतिभोजन के साथ यह प्राणसाधना नहीं चलती। प्राणायाम का लाभ परिमित-आहारवाले को ही होता है। २. हे **नासत्या**=हमारे जीवन से असत्य को दूर करनेवाले प्राणापानो! **मे हवम् उपयातम्**=मेरी पुकार को आप प्राप्त होओ उसी प्रकार **न**=जैसे कि **दिष्टां दिशम्**=संकेतित दिशा को **ऋजूया इव (एव) यन्ता**=ऋजुमार्ग से जानेवाला प्राप्त होता है। ऋजुमार्ग से जानेवाला जैसे संकेतित दिशा की ओर आता है उसी प्रकार प्राणापान मेरी ओर आनेवाले हों। मैं इन प्राणों की साधना से अपने जीवन को ऋजुमार्ग से ले-चलनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम प्राणसाधना से प्रशस्तेन्द्रिय-शक्ति को अपने में सुरक्षित करनेवाले तथा शरीर, मन व बुद्धि के विकारों से ऊपर उठे हुए होंगे।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अन्धकार से पार—देवयान-मार्ग पर

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति वां स्तोमो अश्विनावधायि।
एह यातं पथिभिर्देवयानैर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ६॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! हम **अस्य**=इस **तमसः पारम्**=अन्धकार के पार **अतारिष्म**=तैर जाएँ। प्राणसाधना से हमारी सोमशक्ति ऊर्ध्वगतिवाली होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बने। इस दीप्त ज्ञानाग्नि के द्वारा हमारा अज्ञानान्धकार नष्ट हो। हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **स्तोमः**=स्तुति-समूह **प्रति अधायि**=प्रतिदिन धारण किया जाए। हम सदा प्राणापान का स्तवन करनेवाले हों। हमारी प्राणसाधना प्रतिदिन नियम से चले। २. **इह**=यहाँ, हमारे जीवनों में **देवयानैः पथिभिः**=देवयान-मार्गों के हेतु से **आयातम्**=आप प्राप्त होओ। प्राणों की साधना हमें देवयान-मार्ग का

पथिक बनाए। हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पापवर्जन व शक्ति को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर अज्ञानान्धकार दूर होता है, मलों के दूर होने से हम देवयान-मार्ग से चलते हैं।

विशेष—सूक्त का विषय यही है कि प्राणायाम से शरीर-रथ निर्दोष बनता है। हमारी प्रवृत्ति यज्ञ व स्वाध्याय की होती है। हम शक्तियों का विस्तार करते हुए आत्मा को प्राप्त करनेवाले (आत्मा के स्वरूप को समझनेवाले) बनते हैं। यह हमें अन्धकार से दूर ले-जाती है। इसके लिए समय न निकाला तो जीवन की बहुत बड़ी भूल होगी। अगले सूक्त का विषय भी यही है।

इति द्वितीयाष्टके चतुर्थोऽध्यायः॥

अथ द्वितीयाष्टके पञ्चमोऽध्यायः

[१८४] चतुरशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

दैनिक साधना

ता वा॒म॒द्य ताव॑प॒रं हु॑वेमो॒च्छन्त्या॑मु॒षसि॒ वह्नि॑रु॒क्थैः।
नास॑त्या॒ कुह॑ चि॒त्सन्ता॑व॒र्यो दि॒वो नपा॑ता सु॒दास्त॑राय॥ १॥

१. हे **नासत्या**=असत्य को दूर करनेवाले प्राणापानो! **ता वाम्**=उन आपको **अद्य हुवेम**=आज पुकारते हैं तथा **तौ**=उन आपको **अपरम्**=अगले दिन भी **उषसि उच्छन्त्याम्**=उषाकाल के उदय होते ही हम उसी प्रकार पुकारते हैं जैसे **वह्निः**=उत्तम कर्मों का वहन करनेवाला **अर्यः**=जितेन्द्रिय पुरुष **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा आराधना करता है। २. हे प्राणापानो! आप **कुह चित् सन्तौ**=शरीर में कहीं भी होते हुए **सुदास्तराय**=उत्तमता से वासनाओं का क्षय करनेवाले के लिए **दिवः नपाता**=ज्ञान के नष्ट न होने देनेवाले होते हो। प्राणसाधना से जहाँ हम प्राणों का निरोध करते हैं, वहीं ये प्राण मलों का क्षय करते हैं। निर्मलता बुद्धि की तीव्रता का कारण बनती है। बुद्धि की तीव्रता से हमारा जीवन ज्ञान की ज्योतिवाला होता है।

भावार्थ—प्रतिदिन प्रातः प्राणसाधना करनी ही चाहिए। यह मलों को नष्ट करके हमारे ज्ञान को उज्ज्वल करेगी।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्राणसाधना से ज्ञानप्रवणता

अ॒स्मे ऊ॒ षु वृ॑षणा मादयेथा॒मुत्प॒णीँर्ह॑तमू॒र्म्या मद॑न्ता।
श्रु॒तं मे॒ अच्छो॑क्तिभिर्मती॒नामेष्टा॑ नरा॒ निचे॑तारा च॒ कर्णैः॑॥ २॥

१. हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! **ऊ**=निश्चय से **अस्मे**=हमें **सु**=उत्तमता से **मादयेथाम्**=आनन्दित कीजिए। **ऊर्म्या**=शरीर में सुरक्षित सोम (वीर्य) की तरङ्गों से **मदन्ता**=आनन्द का अनुभव करते हुए **पणीन्**=(पण् स्तुतौ) प्रभु-स्तोताओं को **उत् हतम्**=(हन् गतौ) उत्कर्षेण प्राप्त होओ। इन प्रभु-भक्तों को प्राप्त करके हम अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। इनके समीप प्राप्त होने का उत्साह उन्हीं को होता है जो अपने में सोमशक्ति का रक्षण करते हैं। २. हे प्राणापानो! आप **मे कर्णैः**=मेरे इन कानों से **मतीनां श्रुतम्**=ज्ञानप्रद वाणियों का श्रवण करो। आप **अच्छोक्तिभिः**=इन निर्मल उक्तियों द्वारा **एष्टा**=(अन्वेष्टारौ) प्रभु का अन्वेषण करनेवाले बनो। **नरा**=आप हमें आगे ले-चलनेवाले हो **च**=और **निचेतारा**=निश्चय से ज्ञान का सञ्चय करनेवाले हो। प्राणसाधक के कान, ज्ञान की वाणियों को सुननेवाले होते हैं। प्राणसाधना इसे ज्ञान की रुचिवाला बना देती है। इस साधना से ये प्रभु के अन्वेष्टा (अन्वेषक अथवा जाननेवाले) बनते हैं और ज्ञान का अधिकाधिक संग्रह करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें ज्ञानप्रवण व प्रभु का अन्वेष्टा बनाती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

सूर्या का परिणय

**श्रिये पूषन्निषुकृतेव देवा नासत्या वहतुं सूर्यायाः।
वच्यन्ते वां ककुहा अप्सु जाता युगा जूर्णेव वरुणस्य भूरेः॥ ३॥**

१. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! आपसे हमारे शरीरों में स्थापित किये गये ये **देवाः**=प्रकाश प्राप्त करानेवाले **नासत्या**=असत्य को नष्ट करनेवाले प्राणापान **सूर्यायाः वहतुम्**=प्रकाश की देवता इस सूर्या के परिणय को (वहतु=marriage) **इषुकृता इव**=आपकी प्रेरणा के द्वारा करनेवाले हैं (इषु=प्रेरणा) और इस परिणय के द्वारा **श्रिये**=ये हमारी शोभा के लिए होते हैं। प्राणसाधना से अशुद्धियों का नाश होने पर हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस प्रेरणा से अन्धकार का नाश होकर हृदयों में प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है। इस प्रकाश का होना ही सूर्या का परिणय कहलाता है। यह हमारी शोभा की वृद्धि का कारण बनता है। २. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **ककुहाः**=स्तुतियाँ **वच्यन्ते**=उच्चारण की जाती हैं। आपकी ये स्तुतियाँ **अप्सु जाताः**=आपके कर्मों के होने पर ही उत्पन्न हुई हैं। आपके अद्भुत कर्मों के कारण आपके स्तवन चलते हैं। आपके ये स्तवन उसी प्रकार चलते हैं **इव**=जिस प्रकार **भूरेः**=पालन व पोषण करनेवाले **वरुणस्य**=सब द्वेषादि मलों का निवारण करनेवाले प्रभु के स्तवन **जूर्णा युगा**=सनातन काल से चले आ रहे हैं। जैसे प्रभु का स्तवन होता है, वैसे ही प्राणापानों का भी होता है। प्रभु की महिमा का तो अन्त है ही नहीं, प्राणापान का भी शरीर में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा ही हमारा सूर्या से परिणय होता है और हमारा जीवन प्रकाशमय हो जाता है।

भावार्थ—प्राणापान शुद्ध हृदय में प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त कराके सूर्या का हमारे साथ परिणय करते हैं अर्थात् हमारे जीवन को प्रकाशमय करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

मधुर जीवन

**अस्मे सा वां माध्वी रातिरस्तु स्तोमं हिनोतं मान्यस्य कारोः।
अनु यद्वां श्रवस्या सुदानू सुवीर्याय चर्षणयो मदन्ति॥ ४॥**

१. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **सा**=वह **माध्वी**=माधुर्य से पूर्ण **रातिः**=दान **अस्मे अस्तु**=हमारे लिए हो। प्राणसाधना से सब अवाञ्छनीय तत्त्व नष्ट होते हैं और जीवन बड़ा सुन्दर बन जाता है। २. **मान्यस्य**=(मान पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले **कारोः**=कुशलता से कार्य करनेवाले के **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **हिनोतम्**=(हि वृद्धौ) बढ़ानेवाले होओ। शुद्ध हृदय होकर यह प्रभु का स्तवन करनेवाला बने। इसका स्तवन कुशलता से कर्मों को करने से युक्त हो। यह केवल शाब्दिक स्तुति में ही न पड़ा रहे, कर्मशील बने। ३. हे **सुदानू**=अच्छी प्रकार बुराइयों का खण्डन करनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जब **श्रवस्या**=उत्तम ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से **चर्षणयः**=श्रमशील मनुष्य **वाम् अनुमदन्ति**=आपकी साधना के अनुपात में आनन्द का अनुभव करते हैं तो उस समय वे **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के लिए होते हैं। प्राणसाधना से शक्ति की ऊर्ध्वगति होने से हम शक्तिसम्पन्न बनते हैं। यही शक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करती है। इस ज्ञानाग्नि की दीप्ति से हमारा ज्ञान बढ़ता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन मधुर बनता है, स्तुति की वृत्ति बनती है, शक्ति बढ़ती है और ज्ञानाग्नि दीप्त होती है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

स्तुति व पापवर्जन

एष वां स्तोमो अश्विनावकारि मानेभिर्मघवाना सुवृक्ति।
यातं वर्तिस्तनयाय त्मने चागस्त्ये नासत्या मदन्ता॥ ५॥

१. हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **मघवाना**=आप सब ऐश्वर्योंवाले हो। शरीर के सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से आप ही परिपूर्ण करते हो। **मानेभिः**=पूजा की वृत्तिवाले पुरुषों से **एषः**=यह **वाम्**=आपका **स्तोमः**=स्तवन **सुवृक्ति**=(सुष्ठु पापवर्जनं यथा भवति तथा—सा०) पापवर्जनपूर्वक **अकारि**=किया जाता है। वस्तुतः प्राणों के स्तवन से पापवृत्ति नष्ट होती है। २. **नासत्या**=सब असत्यों से रहित प्राणापानो! आप **अगस्त्ये**=कुटिलता से दूर रहनेवाले इस अगस्त्य में **मदन्ता**=हर्ष का अनुभव करते हुए **वर्तिः यातम्**=इस शरीर-गृह को प्राप्त होओ। इसलिए प्राप्त होओ कि **तनयाय**=शक्तियों का विस्तार हो सके **च**=तथा **त्मने**=आत्मदर्शन हो सके। शक्तियों के विस्तार तथा आत्मदर्शन के लिए आप हमें इस शरीर-गृह में प्राप्त होओ।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) पापवृत्ति नष्ट होती है, (ख) शक्तियों का विस्तार होता है, और अन्ततः (ग) हम आत्मदर्शन के योग्य होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अश्विनौ। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्राणापान की निरन्तर साधना

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति वां स्तोमो अश्विनावधायि।
एह यातं पथिभिर्देवयानैर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ६॥

इस मन्त्र की व्याख्या १८३।६ पर द्रष्टव्य है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। प्राणसाधना से पिण्ड में मस्तिष्क व शरीर दोनों सुन्दर बनते हैं। ब्रह्माण्ड में ये मस्तिष्क व शरीर द्यावापृथिवी हैं। अगले सूक्त में इन द्यावापृथिवी का ही वर्णन है—

[१८५] पञ्चाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—द्यावापृथिव्यौ। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

रहस्यमय संसार

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥ १॥

१. **अयोः**='इन द्यावापृथिवी में से **कतरा पूर्वा**=कौन-सा तो पहले हुआ, कतरा **अपरा**=कौन-सा पीछे हुआ तथा **कथा जाते**=किस प्रकार इनका निर्माण हुआ'—ये सब बातें हे **कवयः**=ज्ञानी पुरुषो! **कः विवेद**=कौन जानता है? अथवा (कः) वह आनन्दमय प्रभु ही जानता है। ये बातें मनुष्य के ज्ञान से ऊपर की हैं। मनुष्य इन्हें जान नहीं सकता। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।' (ऋ० १०।१२९।६) २. मनुष्य तो बस यही देखता है कि ये द्यावापृथिवी **यत्**=जो **ह नाम**=निश्चय से **अहनी**=दिन-रात की भाँति **चक्रिया इव**=चक्रयुक्त-से **विवर्तेते**=विशिष्ट चक्राकार गतिवाले होते हैं तो **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार को **त्मना**=स्वयं **बिभृतः**=धारण करते हैं अथवा त्मना=उस परमात्मा की अध्यक्षता में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का धारण

करते हैं। ब्रह्माण्ड-शकट का एक चक्र द्युलोक है तो दूसरा पृथिवी। इन दो चक्रों की गति से यह शकट गतिमय है।

भावार्थ—संसार की उत्पत्ति के विषय में उत्सुकता की अपेक्षा यह अच्छा है कि हम द्यावापृथिवी के धारण के प्रकार को समझने का यत्न करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

द्यावापृथिवी द्वारा विश्वधारण

भूरिं द्वे अचरन्ती चरन्तं पद्वन्तं गर्भमपदी दधाते ।
नित्यं न सूनुं पित्रोरुपस्थे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ २॥

१. ये द्युलोकस्थ पिण्ड व पृथिवीलोक अत्यन्त तीव्र गति में होते हुए भी स्थिर से दीखते हैं (अचरन्ती)। इन द्युलोक व पृथिवीलोक के कोई पाँव नहीं हैं (अपदी)। **अचरन्ती**=अविचल होते हुए, **अपदी**=पाँव से रहित **द्वे**=ये दोनों द्यावापृथिवी **भूरिम्**=बहुत संख्यावाले **चरन्तम्**=गतिशील, **पद्वन्तम्**=पाँवोंवाले **गर्भम्**=अपने अन्दर ठहरे हुए प्राणियों को **दधाते**=धारण करते हैं। ये दो होते हुए बहुतों का धारण कारण करते हैं। अविचलित होते हुए चलनेवालों का धारण करते हैं और बिना पाँववाले पाँववालों का धारण करते हैं। २. उसी प्रकार धारण करते हैं **न**=जैसे कि **पित्रोः उपस्थे**=माता-पिता की गोद में स्थित **नित्यं सूनुम्**=औरस पुत्र को माता-पिता धारण करते हैं। जैसे माता-पिता पुत्र को सुरक्षित करते हैं उसी प्रकार **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हमें **अभ्वात्**=बड़ी आपत्ति (calamity) से **रक्षतम्**=रक्षित करें।

भावार्थ—द्यावापृथिवी सब प्राणियों के माता-पिता के समान हैं। वे उन्हें आपत्तियों से बचाते हैं। द्यावापृथिवी की सम्मिलित क्रिया से ही अन्नादि का उत्पादन होकर हमारा रक्षण होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

निष्पाप, अक्षीण, प्रकाशमय, नम्र, नीरोग

अनेहो दात्रमदितेरनर्वं हुवे स्वर्वदवधं नमस्वत् ।
तद्रोदसी जनयतं जरित्रे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ३॥

१. **अदितेः**=अदीना देवमाता का (नि० ४।२२) **दात्रम्**=दान **अनेहः**=पाप से रहित है, **अनर्वम्**=क्षीणता से शून्य है, **स्वर्वत्**=प्रकाशमय व स्वर्गलोक को देनेवाला है, **अवधम्**=वध से शून्य है। 'अनर्वम्' शब्द यदि मानस विकारों को न आने देने का संकेत करता है तो 'अवधम्' शरीर के रोगों से शून्य होने का भाव दे रहा है। यह अदिति का दान **नमस्वत्**= नमस्वाला है, प्रभु के प्रति नमन की भावना से युक्त है। २. **तत्**=उस अदीना देवमाता के दान को **रोदसी**=द्यावापृथिवी **जरित्रे**=स्तोता के लिए **जनयतम्**=उत्पन्न करें। द्यावापृथिवी की अनुकूलता से हम 'निष्पाप, अक्षीण, प्रकाशमय, नीरोग व नम्र' बनें। इस प्रकार **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **नः**=हमें **अभ्वात्**=बड़ी भारी आपत्ति से **रक्षतम्**=बचाएँ। ब्रह्माण्ड के सब देव हमारे इस प्रकार अनुकूल हों कि हम निष्पाप जीवनवाले हों।

भावार्थ—अदिति हमें निष्पाप, अक्षीण, प्रकाशमय, नीरोग व नम्र बनाए।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अन्नोत्पत्ति व शीतोष्णादि द्वन्द्व

अतप्यमाने अवसावन्ती अनु ष्याम रोदसी देवपुत्रे।
उभे देवानामुभयेभिरह्नां द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ४॥

१. हम **अतप्यमाने**=सन्ताप को न प्राप्त कराती हुई **अवसा अवन्ती**=अन्न के द्वारा रक्षण करती हुई **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **अनु स्याम**=(अनुभवेम) अनुभव करें। द्युलोक से वृष्टि होकर तथा सूर्य-किरणों द्वारा पृथिवी में प्राणदायी तत्त्वों का समावेश होकर पृथिवी से पौष्टिक अन्न का उत्पादन होता है। इस प्रकार द्युलोक व पृथिवीलोक अन्न देनेवाले हैं। २. ये **उभे**=दोनों **देवपुत्रे**=उस महान् देव प्रभु के पुत्र-तुल्य हैं। ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **देवानाम् अह्नाम्**=द्योतमान दिनों के **उभयेभिः**=शीतोष्ण आदि के द्वारा **नः**=हमें **अभ्वात्**=आपत्तियों से **रक्षतम्**=बचाएँ। संसार के व्यवहार सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों से ही चलते हैं। उस संसार की भी कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें गर्मी-ही-गर्मी हो और न उसकी जिसमें सर्दी-ही-सर्दी हो। जीवन के लिए दोनों की ही आवश्यकता है। उष्णता व शीत दोनों ही जीवन के धन हैं, इनके बिना 'निधन'=मृत्यु है।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे लिए अन्न उत्पन्न करते हैं और शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों के द्वारा हमारे जीवन का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

यज्ञगन्ध-व्याप्त द्यावापृथिवी

संगच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे।
अभिजिघ्रन्ती भुवनस्य नाभिं द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ५॥

१. **संगच्छमाने**=मिलकर गति करते हुए, द्युलोक के सूर्य की किरणों से पृथिवी का जल आकाश में पहुँचता है और फिर वृष्टि होकर पृथिवी पर आता है, इस प्रकार द्युलोक व पृथिवीलोक मिलकर अन्नोत्पादन आदि क्रियाओं को करते हैं। पृथिवी यदि आकाश को जलवाष्प प्राप्त कराती है तो सूर्य-किरणें भी पृथिवी में प्राणशक्ति का आधान करती हैं। इस प्रकार द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों संगत हो रहे हैं। **युवती**=ये नित्य तरुण हैं। 'इनकी शक्तियाँ कभी जीर्ण हो जाएँगी'—ऐसी बात नहीं है। सूर्य का प्रकाश व पृथिवी का अन्नोत्पादन प्रारम्भ से अन्त तक सदा एक-सा चलता है। **समन्ते**=संगत अन्तोंवाले—सुदूर स्थान में आकाश और पृथिवी मिलते प्रतीत होते हैं, वही प्रदेश सामान्य व्यवहार में क्षितिज कहलाता है। ये दोनों **स्वसारा**=आत्मतत्त्व की ओर गतिवाले हैं (स्वं सरतः)। ये दोनों प्रभु की महिमा का वर्णन कर रहे हैं और इस प्रकार हमें प्रभु की ओर ले-चल रहे हैं। **पित्रोः उपस्थे**=माता-पिता की गोद में स्थित **जामी**=बहनों के समान ये परस्पर बन्धुभूत हैं। दोनों एक ही पिता—प्रभु की सन्तान होने से 'जामी' हैं। २. **भुवनस्य नाभिम्**=यज्ञ को (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) अभिजिघ्रन्ती=सूँघते हुए **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हमें **अभ्वात्**=आपत्ति से **रक्षतम्**=बचाएँ। जब इस पृथिवी पर सब घरों में यज्ञ होते हैं तो उन यज्ञों की गन्ध सर्वत्र व्याप्त होती है। मानो ये द्यावापृथिवी उस यज्ञ की गन्ध को सूँघ रहे हों। ऐसे ये द्यावापृथिवी हमें आपत्तियों से बचाते हैं। यज्ञ 'स्वर्ग की नाव' तो हैं ही, इन यज्ञों के द्वारा द्यावापृथिवी में होनेवाला ऋतुचक्र ठीक

से चलता है और हमारा रक्षण होता है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी यज्ञों की गन्ध से व्याप्त होकर हमारा रक्षण करनेवाले हों। ये यज्ञ ही 'भुवन की नाभि' हैं—केन्द्र हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अवस् व अमृत

उ॒र्वी सद्म॑नी बृह॒ती ऋ॒तेन॑ हुवे दे॒वाना॒मव॑सा॒ जनि॑त्री।
द॒धा॒ते ये अ॒मृतं॑ सु॒प्रती॑के॒ द्यावा॒ रक्ष॑तं पृथिवी नो॒ अभ्वा॑त्॥ ६॥

१. **उर्वी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक विशाल हैं, **सद्मनी**=सब प्राणियों के आधारभूत निवास-स्थान हैं, **बृहती**=वृद्धि के कारणभूत हैं, मैं उन्हें **ऋतेन**=यज्ञ के द्वारा **हुवे**=पुकारता हूँ। यज्ञ के द्वारा मैं इनकी आराधना करता हूँ। इन यज्ञों की गन्ध से व्याप्त होकर ही ये द्यावापृथिवी हमारा कल्याण करते हैं। ये द्यावापृथिवी **अवसा**=उत्तम अन्नों के द्वारा **देवानां जनित्री**=देवों को जन्म देनेवाले हैं। हमारे जीवनों में दिव्यगुणों को उत्पन्न करके ये हमें देव बनानेवाले हैं। २. **ये**=जो **सुप्रतीके**=उत्तम रूपवाले—दृढ़ता व उग्रतावाले **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक हैं ये **अमृतं दधाते**=अमृतत्व का धारण करते हैं, अमृतमय जल को प्राप्त कराते हैं। ये **नः**=हमें **अभ्वात्**=आपत्ति से **रक्षतम्**=बचाएँ।

भावार्थ—हम यज्ञों के द्वारा द्यावापृथिवी का आराधन करते हैं। ये द्यावापृथिवी हमें उत्तम अन्न व जल के द्वारा रक्षित करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

नमस् व भग

उ॒र्वी पृ॒थ्वी ब॒हु॒ले दू॒रेअ॑न्ते॒ उप॑ ब्रुवे॒ नम॑सा य॒ज्ञे अ॒स्मिन्।
द॒धा॒ते ये सु॒भगे॑ सु॒प्रतू॑र्ती॒ द्यावा॒ रक्ष॑तं पृथिवी नो॒ अभ्वा॑त्॥ ७॥

१. **उर्वी**=जो विशाल हैं, **पृथ्वी**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं, **बहुले**=बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं, **दूरेअन्ते**=विप्रकृष्ट अन्तदेशोंवाले हैं, अर्थात् अपार-से हैं—ऐसे इन द्यावापृथिवी को **अस्मिन्**=इस **यज्ञे**=जीवन-यज्ञ में **नमसा**=(नमस्=food) उत्कृष्ट भोजन की प्राप्ति के हेतु से **उपब्रुवे**=स्तुत करता हूँ। द्युलोक व पृथिवीलोक की संगत क्रिया से ही अन्न की प्राप्ति होती है। २. **ये**=जो **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्यवाले हैं तथा **सुप्रतूर्ती**=(सुप्रतरणे शोभनदाने—सा०) उत्तम अन्नादि पदार्थों के देनेवाले हैं वे **नः**=हमें **अभ्वात्**=कष्ट से **रक्षतम्**=बचानेवाले हों।

भावार्थ—ये विशाल द्युलोक व पृथिवीलोक हमें उत्तम ऐश्वर्यों व अन्नों को देनेवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'देवों, सखा व जास्पति' के विषय में निरपराधता

दे॒वान्वा॒ यच्च॑कृ॒मा कच्चि॒दाग॒: सखा॑यं वा॒ सद॒मिज्जास्प॑तिं वा।
इ॒यं धीर्भू॑या अव॒यान॑मेषां॒ द्यावा॒ रक्ष॑तं पृथिवी नो॒ अभ्वा॑त्॥ ८॥

१. **यत्**=यदि हम **देवान्**=देवताओं के विषय में—'सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु' आदि

देवों के विषय में **कश्चित्**=कोई **वा**=भी **आगः**=अपराध **चकृमः**=कर बैठे हैं। इनके सम्पर्क से दूर रहना, इनका ठीक प्रयोग न करना ही इनके विषय में पाप है। इस पाप का परिणाम मुख्यरूप से शरीर का अस्वास्थ्य है। २. **वा**=अथवा यदि हमने **सखायम्**=सनातन सखा (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया) प्रभु के विषय में कोई अपराध किया है। प्रातः-सायं प्रभु का ध्यान न करना—प्रभु को भूल जाना ही प्रभु के विषय में पाप है। इसका मुख्यरूप से मन पर प्रभाव होता है। प्रभु के विस्मरण से मन ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध आदि की दुर्भावनाओं से भरा रहता है। ३. **वा**=अथवा **सदम् इत्**=सदा ही **जास्पतिम्**=वेदवाणीरूप जाया के पति—ज्ञानी ब्राह्मण के प्रति अपराध किया है (परीमे गामनेषत्—इस मन्त्रभाग में वेदवाणी के साथ परिणय का उल्लेख है)। जिन्होंने इन वेदवाणी के साथ परिणय किया है वे जास्पति हैं। इनके विषय में अपराध यही है कि इनके सङ्ग से दूर रहना और ज्ञान के प्रति अरुचिवाला होना। इस अपराध से मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है—विचारों के शैथिल्य से आचार-शैथिल्य उत्पन्न होता है। ४. **इयं धीः**=हमारी यह बुद्धि **एषाम्**=इन—देवों, सखीभूत प्रभु व ज्ञानियों के विषय में होनेवाले पापों को **अवयानं भूयाः**=दूर करनेवाली हो और इन अपराधों से ऊपर उठनेवाले **नः**=हमें **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **अभ्वात्**=कष्ट से **रक्षतम्**=बचाएँ। पाप का परिणाम ही दुःख होता है। पापों से दूर रहेंगे तो कष्टों से बचेंगे ही।

भावार्थ—हम सूर्यादि देवों के विषय में अपराधी न होते हुए स्वस्थ शरीरवाले हों। प्रभु के विषय में अपराधी न होते हुए निर्मल एवं शान्त मनवाले हों तथा ज्ञानी पुरुषों के विषय में अपराध न करते हुए दीप्त ज्ञानवाले बनें। ऐसे बनकर हम द्यावापृथिवी के रक्षण के पात्र हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ऐश्वर्य का विनियोग दान में

उभा शंसा नर्या मामविष्टामुभे मामूती अवसा सचेताम्।
भूरि चिदर्यः सुदास्तरायेषा मदन्त इषयेम देवाः॥ ९॥

१. **उभा शंसा**=द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों ही स्तुत्य हैं, **नर्या**=दोनों ही नरों का हित करनेवाले हैं। **उभे**=ये दोनों **माम् अविष्टाम्**=मेरा रक्षण करें। **ऊती**=रक्षण करनेवाले ये दोनों **माम्**=मुझे **अवसा**=(food, wealth) रक्षण में उत्तम भोजन तथा ऐश्वर्य से **सचेताम्**=सेवन करनेवाले हों। द्यावापृथिवी की अनुकूलता से मुझे उत्तम भोजन व ऐश्वर्य प्राप्त हो। २. **अर्यः**=(स्तोतारः—सा०) प्रभु का स्तवन करनेवाले हम **सुदास्तराय**=शोभन दातृत्व के लिए—खूब धन दे सकने के लिए **भूरिचित्**=(पूजायाम्) खूब अभिपूजित धन को **इषयेम**=चाहें। **देवाः**=हे देवो! इस धन को प्राप्त करके भी स्वयं **इषा मदन्तः**=सौम्य अन्न से ही आनन्द का अनुभव करें। अनावश्यक, गरिष्ठ, स्वादिष्ठ भोजनों के प्रति आसक्त न हो जाएँ। सब देवों की ऐसी कृपा हमपर बनी रहे कि धन हमें भोजनप्रधान न बना दे। इस धन के कारण हम आस्वाद नगरी के अधिपति ही न बन जाएँ।

भावार्थ—हमें द्यावापृथिवी खूब ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ। यह ऐश्वर्य दान के लिए हो। हमारा अपना भोजन सादा, शुद्ध अन्न ही है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

अभिश्राव

ऋतं दिवे तदवोचं पृथिव्या अभिश्रावाय प्रथमं सुमेधाः।
पातामवद्याद्दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः॥ १०॥

१. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला होता हुआ मैं **दिवे**=द्युलोक के लिए **पृथिव्यै**=और इस पृथिवीलोक के लिए **तत् प्रथमं ऋतम् अवोचम्**=उस प्रकृष्ट ऋत का प्रवचन करूँ जिससे कि **अभिश्रावाय**=मैं अभिश्राव के लिए होऊँ। मैं अपराविद्या के द्वारा प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करूँ और पराविद्या मुझे उस अक्षर आत्मतत्त्व का ज्ञान देनेवाली हो। शरीर में द्युलोक मस्तिष्क है और स्थूल शरीर पृथिवी है। ऋत के पालन से, सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से मस्तिष्क व शरीर दोनों ही ठीक रहते हैं। दोनों के ठीक होने पर हमारा ज्ञान बढ़ता है। २. ज्ञानवृद्धि के द्वारा ये द्युलोक व पृथिवीलोक **अभीके**=अध्यात्म-संग्राम में **अवद्यात्**=निन्दनीय **दुरितात्**=पाप से—अशुभ आचरण से **पाताम्**=रक्षित करें। ज्ञान दुरित का ध्वंस करता ही है, ज्ञानाग्नि मलों का दहन करनेवाली है। ३. ये द्युलोक व पृथिवीलोक पिता माता **च**=हमारे पितृ व मातृस्थानापन्न हैं। ये हमें **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **अवताम्**=सुरक्षित करें। माता-पिता जैसे पुत्र का पालन व रक्षण करते हैं, इसी प्रकार ये पृथिवी और द्युलोक हमारा पालन करें।

भावार्थ—ऋत के द्वारा मस्तिष्क व शरीर दोनों सुन्दर होते हैं, प्रकृति व आत्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। हम दुरित से बचते हैं और इस प्रकार रक्षित होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—द्यावापृथिव्यौ। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

उज्ज्वल व दृढ

इदं द्यावापृथिवी सत्यमस्तु पितर्मातर्यदिहोपब्रुवे वाम्।
भूतं देवानामवमे अवोभिर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ११॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोको! **इदं सत्यं अस्तु**=यह सत्य ही हो **यत्**=जो **इह**=यहाँ **पितः मातः**=हे पितृस्थानापन्न द्युलोक तथा मातृस्थानापन्न पृथिवीलोक! **वाम्**=आपके प्रति **उपब्रुवे**=प्रार्थना करता हूँ। मैं इनसे जो प्रार्थना करता हूँ, वह अवश्य पूर्ण हो। मेरा मस्तिष्क द्युलोक की भाँति ज्ञान के सूर्य से उज्ज्वल हो और मेरा शरीर पृथिवी के समान दृढ़ हो। २. हे द्यावापृथिवी! आप **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **देवानाम् अवमे भूतम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों के (अवतम=अवम) अधिक-से-अधिक रक्षा करनेवाले होओ। इस प्रकार रक्षित होकर हम **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पापवर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—द्यावापृथिवी की अनुकूलता से हम उज्ज्वल मस्तिष्क व दृढ़ शरीर बनें।

विशेष—सूक्त का केन्द्रभूत विचार यही है कि द्यावापृथिवी की अनुकूलता से हम उन्नत-मस्तिष्क व दृढ़-शरीर होकर लक्ष्य-स्थान की ओर बढ़नेवाले होते हैं। अगले सूक्त में सब देवों की अनुकूलता के लिए ही आराधना है—

[१८६] षडशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ज्ञान व बुद्धि की प्राप्ति

आ न इळाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव एतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा॥ १॥

१. **विश्वानरः**=सम्पूर्ण विश्व का नयन करनेवाला (नृ नये), **सविता**=सबका प्रेरक व उत्पादक **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **नः**=हमें **विदथे**=ज्ञान प्राप्त कराने के लिए **इळाभिः**=वेदवाणियों

से **सुशस्ति**=अत्यन्त प्रशस्त प्रकार से **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा मेरे जीवन का प्रणयन करनेवाली हो। उस प्रेरक प्रभु की प्रेरणा से मेरा जीवन प्रकाशमय बने। २. **युवानः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) हमसे दुरितों को दूर करते हुए और भद्रों को हमारे साथ सम्पृक्त करते हुए हे देवो! **यथा**=जैसे आप **विश्वं जगत्**=सम्पूर्ण जगत् को **मत्सथा**=आनन्दित करते हो, उसी प्रकार **नः अपि**=हमें भी **अभिपित्वे**=जीवनयात्रा में इस संसाररूप सराय में ठहरने के समय (अभिपित्वम्= putting up for the night at an inn) **मनीषा**=(मनीषया) बुद्धि के द्वारा—बुद्धि को प्राप्त कराके आनन्दित करो। बुद्धिपूर्वक व्यवहार करते हुए हम कष्टों से ऊपर उठ सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान की वाणियों से प्राप्त हों। सब देव हमें मनीषी बनाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शत्रुधर्षक शक्ति

आ नो॒ विश्व॒ आस्क्रा॑ गमन्तु दे॒वा मि॒त्रो अ॑र्य॒मा वरु॑णः स॒जोषाः॑।
भुव॒न्यथा॑ नो॒ विश्वे॑ वृ॒धासः॒ कर॑न्त्सु॒षाहा॑ विथु॒रं न शवः॑॥ २॥

१. **विश्वे देवाः**=सब देव, **मित्र, अर्यमा, वरुणः**=मित्र, अर्यमा और वरुण **सजोषाः**=समान प्रीतिवाले होते हुए और **आस्क्राः**=हमारे शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले होते हुए **नः आगमन्तु**=हमें प्राप्त हों। मित्र स्नेह की देवता है। यह हमारे कामरूप शत्रु पर आक्रमण करती है। 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' इस (तै० १।१।२।४) वाक्य के अनुसार अर्यमा दान की देवता है। यह लोभ पर आक्रमण करती है। 'वरुणः' द्वेष निवारण की देवता है, यह क्रोध पर आक्रमण करती है। २. ये 'मित्र, अर्यमा, वरुण' आदि हमें ऐसे प्राप्त हों **यथा**=जिससे ये **विश्वे**=सब **नः**=हमारी **वृधासः**=वृद्धि करनेवाले **भुवन्**=हों। 'मित्र' हमारे काम को नष्ट करके हमें प्रेमवाला बनाता है। 'अर्यमा' हमारे लोभ को नष्ट करके हमें उदार वृत्ति का बनाता है और 'वरुण' हमें द्वेष व क्रोध से ऊपर उठाकर करुणावाला बनाता है। ३. इस प्रकार ये देव हमें **सुषाहा करन्**=शत्रुओं का अभिभव (पराभूत) करनेवाला बनाएँ, **न**=जैसे कि **शवः**=हमारा बल **विथुरम्**=(Demon) आसुरी वृत्तियों को समाप्त करनेवाला हो। देवों की कृपा से हम शक्तिशाली बनें और आसुरी वृत्तियों को पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—स्नेह, उदारता व करुणा आदि दैवी वृत्तियों को प्रबल करते हुए हम आगे बढ़ें। हमारी शक्ति आसुरी वृत्तियों को पराभूत करनेवाली हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सुकीर्ति

प्रेष्ठं॑ वो॒ अति॑थिं गृणीषे॒ऽग्निं श॒स्तिभि॑स्तु॒र्वणिः॑ स॒जोषाः॑।
अस॒द्यथा॑ नो॒ वरु॑णः सु॒की॒र्तिरिष॑श्च पर्षदरिगू॒र्तः सू॒रिः॥ ३॥

१. हे देवो! मैं **तुर्वणिः**=(तूर्णवनिः) शीघ्रता से शत्रुओं का पराभव करनेवाला **सजोषाः**=प्रीतिपूर्वक प्रभु-सेवन की वृत्तिवाला **वः**=तुममें **प्रेष्ठम्**=प्रियतम **अतिथिम्**=सतत क्रियाशील **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **शस्तिभिः**=शंसनों के द्वारा **गृणीषे**=स्तुत करता हूँ। मैं अग्नि का स्तवन करनेवाला बनता हूँ। यह अग्नि देवों में प्रियतम है। सब देवों का हमारे साथ स्नेह है। प्रभु का स्नेह अनन्त है। प्रभु अपने न माननेवाले को भी खान-पान प्राप्त कराते ही हैं—'अमन्तवो मां

न उपक्षियन्ति'। ये प्रभु हमारे कल्याण के लिए निरन्तर क्रियाशील हैं। २. हम इस अग्नि का स्तवन इसलिए करते हैं **यथा**=जिससे यह **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला होता हुआ **नः**=हमारे लिए **सुकीर्तिः**=उत्तम कीर्ति को प्राप्त करानेवाला **असत्**=हो। द्वेष से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति ही यशस्वी होता है **च**=और वह **अरिगूर्तः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के पराजय में **सूरिः**=ज्ञानी प्रभु **इषः पर्षत्**=हमारे लिए सात्त्विक अन्नों का पूरण करे (पूरयेत्)। इन सात्त्विक अन्नों से शुद्ध-हृदय बनकर हम प्रभु-प्रेरणाओं को सुननेवाले हों।

भावार्थ—हम अपने प्रियतम-मित्र-प्रभु का स्तवन करें। वे हमें द्वेषों से ऊपर उठाकर यशस्वी बनाते हैं और हमें सात्त्विक अन्न प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन

उप॑ व॒ एषे॒ नम॑सा जिगी॒षोषासा॒नक्ता॑ सु॒दुघे॑व धे॒नुः।
स॒मा॒ने अह॑न्वि॒मिमा॑नो अ॒र्कं विषु॑रूपे॒ पय॑सि॒ सस्मि॒न्नूध॑न्॥ ४॥

१. हे देवो! मैं **उषासानक्ता**=उषाकाल में व रात्रि के प्रारम्भ में अर्थात् प्रातः-सायं **वः**=आपके **उप**=समीप **नमसा**=नम्रता के साथ **आ इषे**=सर्वथा प्राप्त होता हूँ। आपके समीप मैं **जिगीषा**=अन्तःशत्रुओं को जीतने की कामना से प्राप्त होता हूँ। देवों के उपासन से हमारे जीवनों में दैवी सम्पत्ति का वर्धन होता है। इस उपासन से **धेनुः**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली यह वेदवाणीरूप गौ **सुदुघा इव**=सुगमता से दोहने के योग्य होती है। इसे दोहने से हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। २. मैं इस **विषरूपे पयसि**=विविध, उत्तम रूपोंवाले ज्ञानदुग्ध के निमित्त ही **समाने अहन्**=(सम आनयति) सम्यक् प्राणित करनेवाले दिन में और **सस्मिन् ऊधन्**=(ऊधस् रात्रिनाम—नि० १।७) सब रात्रियों में **अर्कम्**=प्रभु के स्तोत्रों का **विमिमानः**=निर्माण (उच्चारण) करनेवाला होता हूँ। वेदवाणीरूप गौ का ज्ञानदुग्ध विविध रूपोंवाला है, अर्थात् यह वेदवाणी सब आवश्यक ज्ञानों को देनेवाली है। इसके दोहन की क्षमता प्राप्त करने के लिए दिन व रात्रि के प्रारम्भ में प्रभु-स्मरण आवश्यक है। प्रभु-स्तवन से जीवन पवित्र बना रहता है तथा बुद्धि पर वासनाओं का परदा नहीं पड़ जाता। तीव्र बुद्धि ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रातः-सायं देवों व परमात्मा का आराधन हमारी बुद्धि को पवित्र करता है और उस बुद्धि से हमारा ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

वह अक्षीण आधार

उ॒त नोऽहि॑र्बु॒ध्न्यो॑३ मय॑स्कः॒ शिशुं॒ न पि॒प्युषी॑व वेति॒ सिन्धुः॑।
येन॒ नपा॑तम॒पां जु॒नाम॑ मनो॒जुवो॒ वृष॑णो॒ यं वह॑न्ति॥ ५॥

१. **उत**=और **नः**=हमारे लिए **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन आधारवाला—जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कभी क्षीण न होनेवाला आधार है वह प्रभु **मयः कः**=सुख प्रदान करे। वस्तुतः वह **सिन्धुः**=ज्ञान व आनन्द का समुद्रभूत प्रभु **वेति इव**=उसी प्रकार प्राप्त होता ही है (इव=एवार्थे) **न**=जैसे कि **शिशुम्**=एक बालक को **पिप्युषी**=उसका दूध से आप्यायन करनेवाली माता प्राप्त होती है। वे प्रभु हम सबकी माता हैं। वे प्रभु ही ज्ञानदुग्ध से हमारा आप्यायन करते हुए हमें सुखी करते

हैं। २. वे प्रभु हमें सुखी करें **येन**=जिससे हम **अपाम्**=रेत:कणों के **नपातम्**=नष्ट न होने देनेवाले शरीर को **जुनाम**=प्राप्त करते हैं (जुन्=to go)। प्रभु-स्मरण से वासना का विनाश होता है और हम शक्ति का रक्षण कर पाते हैं। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **मनोजुवः**=मन को प्रेरित करनेवाले, न कि मन से प्रेरित होनेवाले **वृषणः**=शक्तिशाली पुरुष **वहन्ति**=प्राप्त करते हैं। मन को स्वाधीन करके इष्ट-दिशा में ले-चलनेवाले लोग 'मनोजुव' हैं। इन्हें मन इधर-उधर भटकानेवाला नहीं होता। ये मन को प्रेरित करते हैं। प्रभु इनके लिए आनन्द प्रदान करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे न क्षीण होनेवाले आधार हैं। वे ही हमारा आप्यायन करते हैं। वे ही हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं। चित्तवृत्ति का निरोध करके हम प्रभु को जीवन में धारण करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु का सङ्ग

उत नं ईं त्वष्टा गन्त्वच्छा स्मत्सूरिभिरभिपित्वे सजोषाः।
आ वृत्रहेन्द्रश्चर्षणिप्रास्तुविष्टमो नरां न इह गम्याः॥६॥

१. **त्वष्टा**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माता व ज्ञानदीप्त प्रभु (त्वक्षतेः, त्विषतेर्वा) **ईम्**=निश्चय से **नः अच्छ**=हमारी ओर **आगन्तु**=आये अर्थात् हमें प्राप्त हो। २. **उत**=और **अभिपित्वे**=जीवन-यात्रा में संसाररूप सराय में ठहरने के समय **स्मत्सूरिभिः**=(स्मत्=प्राशस्त्ये) प्रशस्त विद्वानों के साथ **सजोषाः**=समान रूप से प्रीतिवाला हो। इस जीवन-यात्रा में हमें विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो—उनके साथ-सङ्ग में हमें रुचि हो तथा हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। २. **नः**=हमें **इह**=इस जीवन में वह प्रभु **आगम्याः**=प्राप्त हो जो **वृत्रहा**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाला है, **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला है, **चर्षणिप्राः**=श्रमशील पुरुषों का पूरक है और **नरां तुविष्टमः**=हमें आगे ले-चलनेवालों में सर्वमहान् है (नृ नये)। माता-पिता, आचार्य, अतिथि व परमात्मा—ये पाँच ही हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। प्रभु इनमें सर्वमहान् हैं। ये प्रभु हमें प्राप्त हों और हमें उन्नतिपथ पर ले-चलें।

भावार्थ—इस जीवन-यात्रा में हमें विद्वानों व प्रभु का सङ्ग प्राप्त हो। यह सङ्ग हमारी सतत उन्नति का कारण बने।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

'सुरभिष्टम' प्रभु का स्तवन

उत नं ईं मतयोऽश्वयोगाः शिशुं न गावस्तरुणं रिहन्ति।
तमीं गिरो जनयो न पत्नीः सुरभिष्टमं नरां नसन्त॥७॥

१. **ईम्**=निश्चय से **नः**=हमारी **अश्वयोगाः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली (अश् व्याप्तौ) इन्द्रियों से मेलवाली **मतयः**=बुद्धियाँ उस **तरुणम्**=संसार-समुद्र से तारनेवाले प्रभु का **रिहन्ति**=आस्वाद लेती हैं अर्थात् स्तवन करती हैं, उसी प्रकार **न**=जैसेकि **गावः**=गौएँ **शिशुम्**=एक छोटे बच्चे को चाटती हैं। २. **उत**=और **नराम्**=मनुष्यों की **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **ईम्**= निश्चय से **तम्**=उस **सुरभिष्टमम्**=अत्यन्त दीप्त, (shining), सर्वोत्तम मित्र (friendly), सर्वाधिक कीर्तिवाले (famous) प्रभु को **नसन्त**=उसी प्रकार प्राप्त होती हैं **न**=जैसे कि **जनयः**=सन्तानों

को जन्म देनेवाली **पत्नीः**=पालियाँ पति को प्राप्त होती हैं। प्रभु को 'सुरभिष्टमं' रूप में स्तवन करती हुई ये वाणियाँ हमें भी 'दीप्त, सर्वमित्र व कीर्तिमय' जीवनवाला बनने की प्रेरणा देती हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ व बुद्धियाँ प्रभु की ओर झुकें। हमारी वाणियाँ उस दीप्त प्रभु का गुणगान करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

मरुतः

उत न ईं मरुतो वृद्धसेनाः स्मद्रोदसी समनसः सदन्तु।
पृषदश्वासोऽवनयो न रथा रिशादसो मित्रयुजो न देवाः॥ ८॥

१. **वृद्धसेना**=बढ़ी हुई शक्तिशाली इन्द्रिय-सेनावाले **मरुतः**=प्राण रोदसी **स्मत्**=(स्मत् सहार्थे) द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर के साथ **समनसः**=समान मनवाले होते हुए **ईम्**=निश्चय से **नः सदन्तु**=हममें आसीन हों। हमारी प्राणशक्ति बढ़ी हुई हो। हमारा मस्तिष्क व शरीर उज्ज्वल व दृढ़ हो। २. **उत**=और **रथाः**=हमारे शरीर-रथ **पृषदश्वासः**=(पृष्=to sprinkle) शक्ति से सिक्त (सिंचित) इन्द्रियाश्वोंवाले हों और **अवनयः न**=रक्षक पृथिवी के समान हों। जैसे यह पृथिवी हमारा आधार बनकर हमारा रक्षण करती है, उसी प्रकार ये शरीर-रथ हमारे आधार हों। ३. **देवाः**=सब दिव्यगुण **रिशादसः**=हमारे हिंसक काम-क्रोधादि शत्रुओं का नाश करनेवाले हों तथा **मित्रयुजः न**=उस परम मित्र प्रभु से हमें मिलानेवालों की भाँति हों। देवों के द्वारा हमारा परमात्मा से मेल हो।

भावार्थ—प्राणों के निवास के साथ हममें उत्तम मस्तिष्क व शरीर की स्थिति हो। हमारे शरीर-रथ सशक्त इन्द्रियों से जुते हों। दिव्यगुण हमारा प्रभु से मेल करनेवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

प्रकाशमय जीवन

प्र नु यदेषां महिना चिकित्रे प्र युञ्जते प्रयुजस्ते सुवृक्ति।
अध यदेषां सुदिने न शरुर्विश्वमेरिणं प्रुषायन्त सेनाः॥ ९॥

१. **नु**=अब **यत्**=जब **एषाम्**=इन मरुतों—प्राणों की **महिना**=महिमा से **प्रचिकित्रे**=मनुष्य प्रकृष्ट ज्ञानी बनता है, प्राणों की साधना से अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञानवृद्धि होती है तब **ते**=वे **प्रयुजः**=प्राणों के प्रकृष्ट योग को करनेवाले **सुवृक्ति**=उत्तमता से पापों के वर्जन के द्वारा **प्रयुञ्जते**=प्रभु से अपना मेल करते हैं। २. **अध**=अब **यत्**=जब **एषाम्**=इन व्यक्तियों के जीवनों में वे प्रभु इस प्रकार होते हैं **न**=जैसे कि **सुदिने शरुः**=मेघों के आवरण से रहित दिन अन्धकार को शीर्ण करनेवाला होता है। प्रभु के साथ मेल होने पर सब अन्धकार समाप्त हो जाता है। ३. **सेनाः**=ये मरुतों की सेनाएँ—अनेक विभागों में विभक्त हुए-हुए प्राण **विश्वम् इरिणम्**=सब ऊषर को **आप्रुषायन्त**=शक्ति से खूब ही सींचनेवाली होती हैं। प्राणसाधना से शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर सब अङ्ग इस शक्ति से सिक्त होकर उपजाऊ भूमि के समान हो गये हैं। अशक्त अङ्गों में कोई क्रिया न थी। अब सशक्त होकर वे क्रियाओं से पुष्पित हो उठे हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, प्रभु से मेल होता है, जीवन प्रकाशमय हो जाता है और सब अङ्ग सशक्त होकर क्रियाओं से पुष्पित हो उठते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

देवों का अभिमुखीकरण

प्रो अश्विनाववसे कृणुध्वं प्र पूषणं स्वतवसो हि सन्ति।
अद्वेषो विष्णुर्वात ऋभुक्षा अच्छा सुम्नाय ववृतीय देवान्॥ १०॥

१. **अश्विनौ**=प्राणापान को **उ**=निश्चय से **अवसे**=रक्षण के लिए **प्रकृणुध्वम्**=खूब ही स्तवन करो। प्राण के सब भेदों का जहाँ विचार होता है वहाँ 'मरुतः' शब्द का प्रयोग होता है। 'प्राण और अपान' का ही मुख्यरूप से संकेत होने पर 'अश्विनौ' शब्द प्रयुक्त होता है। इन प्राणापान का स्तवन यही है कि प्राण की अपान में आहुति दी जाए और अपान की प्राण में। इस प्रकार प्राणायाम करना ही प्राणस्तवन है। **पूषणम्**=पोषण की देवता का **प्र**=प्रकर्षेण स्तवन करो। अङ्ग-प्रत्यङ्गों को पुष्ट करने का हम प्रयत्न करें। ऐसा करनेवाले व्यक्ति—प्राणापान व पूषा के स्तोता लोग **हि**=निश्चय से **स्वतवसः**=आत्मा के बलवाले **सन्ति**=हैं, अर्थात् इनका आत्मिक बल बढ़ता है। २. **अद्वेषः**=यह स्तोता द्वेष से रहित होता है, **विष्णुः**= व्यापक मनोवृत्तिवाला होता है (विष् व्याप्तौ), **वातः**=वायु के समान सतत क्रियाशील होता है, **ऋभुक्षाः**=उस देदीप्यमान (उरु भाति) प्रभु में निवास करनेवाला होता है (क्षि निवासे)। ३. मैं भी **सुम्नाय**=सुख-प्राप्ति के लिए **देवान् अच्छ ववृतीय**=सब देवों को अपनी ओर आवृत्त करनेवाला बनूँ। देवों को अपने अभिमुख करके ही मैं जीवन को सुखी बना पाता हूँ।

भावार्थ—हम प्राणापान की साधना करें और अङ्ग-प्रत्यङ्गों को पुष्ट करें। आत्मिक बलवाले होकर हम सब देवों को स्वाभिमुख करें। यही सुख-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

देवों की दीप्ति

इयं सा वो अस्मे दीधितिर्यजत्रा अपिप्राणी च सदनी च भूयाः।
नि या देवेषु यतते वसूयुर्विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥ ११ ॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि हम देवों को स्वाभिमुख करें। उन्हीं देवों से प्रार्थना करते हैं कि **इयम्**=यह **सा**=वह **वः**=आपकी **दीधितिः**=दीप्ति **अस्मे**=हमारे लिए **यजत्रा**=संगतिकरण के द्वारा त्राण करनेवाली **अपिप्राणी**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग को प्राणित करनेवाली **च**=और **सदनी**=उत्तम निवासवाली **भूयाः**=हो। २. यह दीप्ति वह है **या**=जो **वसूयुः**=(वसुमती) उत्तम वसुओंवाली होकर **देवेषु**=दिव्यगुणों के निमित्त **नियतते**=निश्चय से यत्नवाली होती है। इस दीप्ति से हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का वर्धन होता है। इन दिव्यगुणों का वर्धन करते हुए हम **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=शक्ति व पापवर्जन को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घ जीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हमें देवों की वह दीप्ति प्राप्त हो जो हमारा त्राण करती है, हमें प्राणित करती है तथा हमारे निवास को उत्तम बनाती है।

विशेष—सूक्त का केन्द्रभूत विचार यह है कि हमारा मन व मस्तिष्क निर्मल व उज्ज्वल हो तथा शरीर भी स्वस्थ हो। इसके लिए अन्न की सात्त्विकता आवश्यक है, अतः अगले सूक्त में इस अन्न (पितु) का ही विषय प्रस्तुत है। अन्न को पितु नाम इसलिए दिया है, क्योंकि यह रक्षक है (पा रक्षणे)। 'ओषधयः' देवता से यह स्पष्ट है कि मांस-भोजन तो सर्वथा परिहरणीय त्याज्य ही है—

[१८७] सप्ताशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

वृत्र का अर्दन

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥ १॥

१. मैं **नु**=निश्चय से **पितुम्**=उस रक्षक अन्न का **स्तोषम्**=स्तवन करता हूँ जोकि **महः**=(power, light) शक्ति व तेजस्विता को देनेवाला है, जो शक्ति ही है, **धर्माणम्**=जो शरीर का धारण करनेवाला है **तविषीम्**=जो वृद्धि के कारणभूत बलवाला है। अन्न वही ठीक है जो हमें तेजस्वी बनाए, जो हमारा धारण करे और जो हमारे बल को बढ़ाकर हमारी वृद्धि का कारण हो। २. इस अन्न के स्तवन से मनुष्य 'त्रित' बनता है—'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों की शक्ति का विस्तार करनेवाला बनता है (त्रीन् तनोति), अतः मैं उस अन्न का स्तवन करता हूँ **यस्य**=जिसके **वि ओजसा**=विशिष्ट ओज से **त्रितः**='काम-क्रोध-लोभ'—इन तीनों को तैर जानेवाला व्यक्ति (त्रीन् तरति) **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **विपर्वम्**=(विच्छिन्नसन्धिकम्—सा०) एक-एक पर्व को विच्छिन्न करके **अर्दयत्**=हिंसित करता है। वृत्र ही बुद्धि में 'लोभ' के रूप से रहता है, मन में यह 'क्रोध' के रूप में है तथा इन्द्रियों में इसका स्वरूप 'काम' होता है। त्रित इस वृत्र के इन तीनों ही पर्वों को विच्छिन्न कर डालता है। सात्त्विक अन्न उसकी वृत्ति को सात्त्विक बनाता है, सात्त्विक वृत्ति होने पर वृत्र का विनाश होता है।

भावार्थ—हम उन्हीं ओषधि-वनस्पतियों को अपना अन्न बनाएँ जो हमें तेजस्वी, धारक व शक्तिशाली बनाएँ। इस अन्न से ओजस्वी बनकर हम वासनाओं को तैर जाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

स्वादु व मधुर अन्न

स्वादो पितो मधो पितो वयं त्वा ववृमहे। अस्माकमविता भव॥ २॥

१. हे **पितो**=रक्षक अन्न! **स्वादो**=जो तू स्वादवाला है, हृदय को प्रिय प्रतीत होता है, हृद्य है। **मधो पितो**=हे अन्न! जो तू मधुर है—ओषधियों के सारभूत मधु (शहद) के समान गुणकारी है, ऐसे **त्वा**=तुझे **वयम्**=हम **ववृमहे**=वरण करते हैं। अन्न के चुनाव में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—एक वह रुचिकर हो और दूसरे वह मधु के समान सारभूत हो। जो अन्न रुचिकर न होगा—प्रसन्नतापूर्वक न खाया जाएगा, वह शरीर में उत्तम धातुओं का निर्माण करनेवाला न होकर विष-सा बन जाएगा। सम्भवतः इस प्रकार का अन्न ही दीर्घकाल तक अरुचि से खाये जाने पर कैंसर का कारण बन जाता है। इसी दृष्टिकोण से मनु के ये शब्द स्मरणीय हैं कि—'दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च'—भोजन को देखकर हर्ष व प्रसाद का अनुभव करे। २. हे अन्न! तू **अस्माकम्**=हमारा **अविता**=रक्षण करनेवाला **भव**=हो। रक्षणात्मक (protective) भोजन ही सर्वोत्तम है। ऐसा ही भोजन दीर्घायुष्य का कारण बनता है।

भावार्थ—भोजन रुचिकर व हृद्य होना चाहिए। नीरस भोजन ठीक नहीं है। यह भोजन मधुर होना चाहिए। ओषधियों के सारभूत मधु के समान यह सारवान् हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

नीरोगता, निर्द्वेषता

उप॑ नः पितवा च॑र शि॒वः शि॒वाभि॑रू॒तिभिः॑।
म॒यो॒भुर॑द्विषे॒ण्यः सखा॑ सु॒शेवो॒ अद्व॑याः॥ ३॥

१. हे **पितो**=रक्षक अन्न तू **शिवः**=कल्याणकर होता हुआ **शिवाभिः ऊतिभिः**=कल्याणकर रक्षणों के साथ **नः**=हमें **उप आचर**=(आगच्छ—सा०) समीपता से प्राप्त हो। हमें अन्न वही प्राप्त हो जो कि कल्याण करनेवाला है। **मयोभूः**=जो शरीर में नीरोगता के द्वारा सुख उत्पन्न करनेवाला तथा **अद्विषेण्यः**=मन में द्वेषादि की राजस वृत्तियों को पैदा न होने देनेवाला है। अन्न वही ठीक है जो कि नीरोगता के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखता है तथा द्वेषादि से रहित करके मन को शान्त करता है। २. ऐसा अन्न वस्तुतः **सखा**=मित्र होता है, मित्रवत् हितकारी होता है, **सुशेवः**=उत्तम सुख देनेवाला होता है, **अद्वयाः**=यह अन्न हमें आधि और व्याधि दोनों से ऊपर उठानेवाला होता है (न द्वयं यस्मात्)।

भावार्थ—अन्न वही ठीक है जोकि शरीर को नीरोग व मन को निर्मल बनाए। राजस अन्न शरीर में रोग पैदा करता है और मन में द्वेषादि वृत्तियों को। सात्त्विक अन्न हमें नीरोग व निर्द्वेष बनाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—विराड् गायत्री।। **स्वरः**—षड्जः।

जीवनप्रद अन्न-रस

तव॒ त्ये पि॑तो॒ रसा॒ रजां॒स्यनु॒ विष्ठि॑ताः। दि॒वि वाता॑इव श्रि॒ताः॥ ४॥

१. हे **पितो**=रक्षक अन्न **तव**=तेरे **त्ये**=वे **रसाः**=रस **रजांसि अनुविष्ठिताः**=इस शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में क्रमशः विशेष रूप से स्थित होते हैं। अन्न के ही मध्य अंश से मांस, अस्थि आदि धातुओं का निर्माण होता है। इसके ही सूक्ष्म अंश से बुद्धि का निर्माण होता है। 'रजांसि' शब्द लोकवाचक होता हुआ यहाँ शरीर के सब अङ्गों का प्रतिपादक है। २. ये रस इस प्रकार इन अङ्गों में स्थित होते हैं **इव**=जैसे कि **दिवि**=सारे आकाश में **वाताः श्रिताः**=वायुएँ स्थित होती हैं। ये वायुएँ जीवन का कारण हैं। वायुओं के बिना आकाश मृत-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार इन अन्नों के बिना सब अङ्ग मृत-से हो जाते हैं।

भावार्थ—अन्नों के रस ही अङ्ग-प्रत्यङ्गों में जीवन का संचार करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

देकर, बचे हुए को खाना

तव॒ त्ये पि॑तो॒ दद॑त॒स्तव॑ स्वादिष्ठ॒ ते पि॑तो।
प्र स्वा॒द्मानो॒ रसा॑नां तुवि॒ग्रीवा॑इवेरते॥ ५॥

१. हे **पितो**=रक्षक अन्न! **त्ये**=वे व्यक्ति जो कि **तव ददतः**=तेरा दान करते हैं, दानपूर्वक बचे हुए को ही खाते हैं, यज्ञशेष (अमृत) का सेवन करते हैं और २. हे **स्वादिष्ठ पितो**=स्वादुतम अन्न! **तव**=तेरे **रसानाम्**=रसों का **प्रस्वाद्मानः**=प्रकृष्ट स्वाद लेनेवाले, तेरे रसों का प्रसन्नतापूर्वक सेवन करनेवाले **तुविग्रीवा इव ईरते**=प्रवृद्ध गर्दनवालों के समान गति करते हैं। दुर्बलता में गर्दन झुक-सी जाती है। इन अन्न-रसों के सेवन से शक्ति की उत्पत्ति होती है

और गर्दन झुकती नहीं।

भावार्थ—अन्न को हविरूप करके ही खाना चाहिए। देकर बचे हुए को खाना ही ठीक है। 'केवलाघो भवति केवलादी'—अकेला खानेवाला पाप खाता है। यज्ञावशिष्ट एवं सुस्वादु अन्न से शक्तिशाली बनकर हम सीधी गर्दन से गति करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

अन्नमयं हि (सौम्य) मनः

त्वे पि॑तो म॒हानां॑ दे॒वानां॒ मनो॑ हि॒तम्।
अका॑रि॒ चारु॑ के॒तुना॒ तवाहि॒मव॒सावधीत्॥ ६॥

१. हे **पितो**=अन्न **त्वे**=तुझमें **महानाम्**=महिमाशाली **देवानाम्**=देवों का **मनः**=मन **हितम्**=रखा हुआ है, अर्थात् अन्न के सेवन से दिव्य मन प्राप्त होता है। 'जैसा अन्न वैसा मन'—इस उक्ति के अनुसार भोजन से ही मन बनता है। सात्त्विक भोजनों के सेवन से दिव्य मन प्राप्त होता है। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की भी शुद्धि होती है। २. इस अन्न के द्वारा **चारु अकारि**=अत्यन्त सुन्दर अन्तःकरण का निर्माण होता है। हे अन्न! **तव**=तेरे **केतुना**=ज्ञान से तथा **अवसा**=रक्षण से तेरा सेवन करनेवाला **अहिम्**=वासनारूप अहि को **अवधीत्**=नष्ट करता है। अन्न से बुद्धि का निर्माण होता है; यह अन्न ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होता है; यह अन्न शरीर को नीरोग बनाता है। नीरोगता व ज्ञान के संगत हो-(मिल) जाने पर वासना स्वतः समाप्त हो जाती है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न से दिव्य मन प्राप्त होता है। नीरोगता व ज्ञान की वृद्धि होकर वासना का विनाश होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

मेघ-जल से उत्पन्न अन्न

यद॒दो पि॑तो॒ अज॑गन्वि॒वस्व॒ पर्व॑तानाम्।
अत्रा॑ चिन्नो मधो पितो॒ऽरं॑ भ॒क्षाय॑ गम्याः॥ ७॥

१. हे **पितो**=अन्न! **यत्**=जब तू **विवस्व**=(विवासनवतां विद्युद्रूपप्रकाशनवताम्—सा०) विद्युद्रूप प्रकाशवाले **पर्वतानाम्**=मेघों के **अदः**=उस प्रसिद्ध अमृतजल को **अजगन्**=प्राप्त होता है तो **अत्र**=यहाँ, इस जीवन में **चित्**=निश्चय से **नः**=हमें **भक्षाय**=खाने के लिए **अरम्**=पर्याप्त **मधो पितो**=हे सारभूत अन्न! तू **गम्याः**=प्राप्त हो। २. मेघ-जल से उत्पन्न अन्न अधिक गुणकारी हैं। मेघजल 'अमृत' है। उससे उत्पन्न अन्न भी अमृत है। मात्रा में यह अन्न सम्भवतः कम होगा, पर गुणों में यह अन्न अत्यन्त उत्कृष्ट है।

भावार्थ—हम मेघजल से उत्पन्न अन्नों का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

जल व वनस्पति

यद॒पामोष॑धीनां परिं॒शमा॑रि॒शाम॑हे। वाता॑पे॒ पीव॒ इद्भ॑व॥ ८॥

१. **यत्**=जब **अपाम्**=जलों के व **ओषधीनाम्**=ओषधियों के **परिंशम्**=(परिलेशम्—

सा०) अंश को—मात्रा में प्रयोग को **आरिशामहे**=आस्वादित करते हैं, रुचिपूर्वक ग्रहण करते हैं तो हे **वातापे**=(वातेन आप्यायते) वायु से आप्यायित होनेवाले शरीर! **इत्**=निश्चय से **पीवः भव**=आप्यायित होनेवाला हो। २. मुख्यतया शरीर का धारण वायु पर निर्भर करता है, अतः शरीर 'वातापि' कहलाता है। इस शरीर के आप्यायन के लिए जल व वनस्पतियों का प्रयोग ही श्रेयस्कर हैं। इनका प्रयोग भी (उचित) मात्रा में करना ही ठीक है। 'अरिशामहे' शब्द से यह भी स्पष्ट है कि इनका प्रयोग भी आस्वाद के साथ करना है। रुचि से ग्रहण किया हुआ अन्न उत्तम धातुओं का निर्माण करनेवाला होता है।

भावार्थ—जल व ओषधियों के मात्रा में प्रयोग से हम शरीर को आप्यायित करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

गवाशिर, यवाशिर

यत्ते सोम गवाशिरो यवाशिरो भजामहे। वातापे पीव इद्भव॥ ९॥

१. भोजन दो भागों में बँटे हुए हैं—कुछ सौम्य भोजन हैं और कुछ आग्नेय। सौम्य भोजन ही दीर्घजीवन के लिए अधिक उपयुक्त हैं। आग्नेय पदार्थ सामान्यतः औषधरूपेण विनियुक्त होते हैं। हे **सोम**=सौम्य भोजन! **यत्**=जो **ते**=तेरा **गवाशिरः**=गोदुग्ध के साथ परिपक्व किये गये का अथवा **यवाशिरः**=जौ के साथ परिपक्व किये गये का **भजामहे**=हम सेवन करते हैं तो हे **वातापे**=वायु से आप्यायित होनेवाले शरीर! **इत्**=निश्चय से **पीवः**=अङ्ग-प्रत्यङ्गों में आप्यायित **भव**=हो। २. वनस्पतियों में भी आग्नेय भोजनों की अपेक्षा सौम्य भोजन ही ठीक हैं। सौम्य भोजन भी गोदुग्ध या जौ के साथ परिपक्व किये गये हों तभी ठीक हैं।

भावार्थ—गवाशिर व यवाशिर सौम्य भोजन ही ठीक हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

पीव, वृक्क व उदारथिः

करम्भ ओषधे भव पीवो वृक्क उदारथिः। वातापे पीव इद्भव॥ १०॥

१. हे **करम्भ**=दधिमिश्रित यवसक्तु—जौ के सत्तू (flour-mixed with curds) **ओषधे**=तू दोषों का दहन करनेवाला है। तू **पीवः भव**=हमें आप्यायित करनेवाला हो। तेरे प्रयोग से शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्ट हों। **वृक्कः**=तू व्याधि को दूर करनेवाला हो, **उदारथिः**=(ऊर्ध्वं गमः, इन्द्रियाणामुद्दीपकः—सा०) स्वास्थ्य को उन्नत करनेवाला, इन्द्रियों की शक्ति को दीप्ति करनेवाला हो। २. इस प्रकार हे **वातापे**=वायु से आप्यायित होनेवाले शरीर! तू **इत्**=निश्चय से **पीवः**=आप्यायित अङ्गोंवाला हो।

भावार्थ—दधिमिश्रित जौ के सत्तू का प्रयोग हमें आप्यायित, नीरोग व दीप्त-शक्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

मिलकर भोजन

तं त्वा वयं पितो वचोभिर्गावो न हव्या सुषूदिम।
देवेभ्यस्त्वा सधमादमस्मभ्यं त्वा सधमादम्॥ ११॥

१. हे **पितो**=पालक अन्न! **वयम्**=हम **तं त्वा**=उस तुझे **वचोभिः**=वेदवचनों के द्वारा—वेद निर्दिष्ट मार्ग से सेवन के द्वारा **सुषूदिम**=शरीर से दोषों का क्षरण करनेवाला करें (षूद क्षरणे), उसी प्रकार **न**=जैसे कि **गावः**=गोदुग्धों को तथा **हव्या**=हव्य पदार्थों को। जैसे गोदुग्ध से तथा हव्य पदार्थों के सेवन से मलों का क्षरण होता है, उसी प्रकार पालक अन्न के प्रयोग से हम शरीर-मलों को क्षरित करके नीरोग-शरीरवाले बनें। २. उस **त्वा**=तुझे जो तू **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **सधमादम्**=(सह मादयितारम्) साथ ही आनन्दित करनेवाला है। देवलोग मिलकर ही तेरा सेवन करते हैं, अकेले नहीं खाते। वे इस बात को समझते हैं कि—'केवलाघो भवति केवलादी'—अकेला खानेवाला पापी होता है। उस **त्वा**=तुझे हम सेवन करते हैं जो तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सधमादम्**=साथ ही आनन्दित करनेवाला है।

भावार्थ—हम वेद में दी गई प्रभु की आज्ञा के अनुसार दूध व यज्ञिय पदार्थों का ही सेवन करें। ये हमारे मलों का क्षरण करनेवाले होंगे। साथ ही अन्नों का सेवन मिलकर करें, अकेले नहीं।

विशेष—यह सूक्त भोजन के विषय में सब आवश्यक निर्देश करता हुआ हमें सात्त्विक वृत्ति का बनाता है। हमारा जीवन यज्ञिय होता है। यज्ञिय जीवनवाला यह व्यक्ति प्रार्थना करता है कि—

[१८८] अष्टाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

हव्य-प्रापण

समिद्धो अद्य राजसि देवो देवैः सहस्रजित्। दूतो हव्या कविर्वह॥ १॥

१. गत सूक्त के अनुसार सात्त्विक अन्न के सेवन से शुद्ध बने हुए हृदय में **समिद्धः**=दीप्त हुए-हुए प्रभो! आप **अद्य**=आज **राजसि**=मेरे जीवन में दीप्त होते हो। मेरे जीवन की सब क्रियाएँ आपकी सत्ता का प्रतिपादन करती हैं। २. **देवः**=आप प्रकाशमय हैं, दिव्यगुणों के पुञ्ज हैं, **देवैः**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों के द्वारा मेरे लिए **सहस्रजित्**=सहस्रशः पदार्थों का विजय करनेवाले हैं, **दूतः**=हमें ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं अथवा तपस्या की अग्नि में तपाकर हमें शुद्ध बनानेवाले हैं (टु उपतापे), **कविः**=अनन्तप्रज्ञ हैं—सर्वज्ञ हैं। आप हमारे लिए **हव्या वह**=हव्य पदार्थों को प्राप्त कराइए। इन यज्ञिय (हव्य) पदार्थों के प्रयोग से हम अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें समिद्ध होकर हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं। देवों का सम्पर्क प्राप्त कराके हमें देव बनाते हैं। वे ही हमें सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

ऋत को अपनाने के तीन लाभ

तनूनपादृतं यते मध्वा यज्ञः समज्यते। दधत्सहस्रिणीरिषः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमारे जीवनों में समिद्ध हुए प्रभु **ऋतं यते**=ऋत की ओर चलनेवाले के लिए, यज्ञों को अपनानेवाले के लिए (ऋत=यज्ञ) अथवा प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले के लिए (ऋत=right) **तनूनपात्**=शरीर को न गिरने देनेवाले हैं। प्रभु ऋत को अपनानेवाले के शरीर को स्वस्थ बनाते हैं। इसका **यज्ञः**=जीवन-यज्ञ **मध्वाः**=माधुर्य

से **समज्यते**=अलंकृत किया जाता है। स्वास्थ्यादि की प्राप्ति से इसके जीवन में मधुरता बनी रहती है। ३. प्रभु इसके लिए **सहस्त्रिणीः इषः**=सहस्रशः अन्नों को **दधत्**=धारण करते हैं। इसे संसार में अन्न-रस की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—ऋत को अपनाने से (क) हमारा शरीर स्वस्थ होगा, (ख) जीवन मधुर बनेगा और (ग) अन्न की कमी नहीं रहेगी।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

देवों का सम्पर्क व आवश्यक धनों का लाभ

आजुह्वानो न ईड्यो देवाँ आ वक्षि यज्ञियान्। अग्ने सहस्रसा असि॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **आजुह्वानः**=आप ही हमसे सदा आहूयमान होते हो, हम सदा आपका ही द्वार खटखटाते हैं। **नः ईड्यः**=आप ही हमारे स्तुत्य हो। २. आप हमें **यज्ञियान् देवान्**=संगतिकरण योग्य देवों को **आवक्षि**=(आ वह) प्राप्त कराइए। इन देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देववृत्ति के बन पाएँ। हे प्रभो! आप **सहस्रसाः**=अपरिमित धनों के दाता **असि**=हैं। सब आवश्यक धनों का हमारे लिए प्रभु ही विजय करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रार्थना व स्तवन करें। प्रभु हमें देवों का सम्पर्क प्राप्त कराते हैं और अपरिमित धनों को देते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

अग्रगति, वीरता-ओजस्विता

प्राचीनं बर्हिरोजसा सहस्रवीरमस्तृणन्। यत्रादित्या विराजथ॥ ४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-कृपा से देवसम्पर्क को प्राप्त करके **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **सहस्रवीरम्**=सहस्रशः वीर भावनाओं से युक्त **प्राचीनम्**=(प्र अञ्च) अग्रगति की भावनावाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन को **अस्तृणन्**=बिछाते हैं (आच्छादयन्), अर्थात् अपने हृदय को अग्रगति की भावनावाला (प्राचीनम्), वीर भावनाओं से युक्त (सहस्रवीरम्) व ओजस्वी बनाते हैं। २. यह बर्हि वह है **यत्र**=जहाँ **आदित्याः**=हे आदित्यो! **विराजथ**=आप शोभायमान होते हो। आपमें सब गुणों का आधान करनेवाले ये आदित्य हैं। आदित्य गुणों का आधान करते हुए अपने हृदय को वासनाशून्य बनाते हैं। इसी हृदयासन पर तो इन्होंने प्रभु को आसीन करना है।

भावार्थ—हमारा हृदय अग्रगति की भावनावाला, वीरतापूर्ण व ओजस्वी हो।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद् गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

दीप्त इन्द्रियाँ

विराट् सम्राड्विभ्वीः प्रभ्वीर्बह्वीश्च भूयसीश्च याः। दुरो घृतान्यक्षरन्॥ ५॥

१. यह शरीर यज्ञवेदि है। इन्द्रियाँ इस यज्ञभवन के द्वार-स्थानापन्न हैं। ये **दुरः**=इन्द्रिय-द्वार **विराट्**=(विशेषेण राजन्ते) विशिष्टरूप से दीप्तिवाले हैं, **सम्राट्**=मिलकर दीप्तिवाले हैं, अर्थात् सबके-सब इन्द्रिय-द्वार दीप्त हैं, **विभ्वीः**=(विविधं भविष्यः) विविध कार्यों में ये व्यापृत होनेवाले हैं, **प्रभ्वीः**=अपने-अपने कार्य को शक्ति से करनेवाले हैं। २. **बह्वीः**=(बृह वृद्धौ) ये इन्द्रिय-द्वार वृद्धिवाले हैं **च**+**च**=और **याः**=जो **भूयसीः**=अत्यन्त वृद्धिवाले हैं, वे इन्द्रिय-द्वार

घृतानि=दीप्तियों को **अक्षरन्**=टपकाते हैं। वस्तुतः जब गत मन्त्र में वर्णित आदित्य अपने जीवन को निर्मल बनाते हैं तो उनकी इन्द्रियाँ तेजस्विता से चमक उठती हैं।

भावार्थ—हमारे सब इन्द्रिय-द्वार तेजस्विता से दीप्त हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद् गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

नक्तोषासा=उषासा

सुरुक्मे हि सुपेशसाधि श्रिया विराजतः। उषासावेह सीदताम्॥ ६॥

१. 'नक्तोषासा' के स्थान में यहाँ 'उषासा' पद का प्रयोग है, जैसे सत्यभामा के लिए भामा। ये **उषासा**=रात्रि और दिन **हि**=निश्चय से **सुरुक्मे**=(रुच् दीप्तौ) उत्तम दीप्तिवाले होते हैं, **सुपेशसा**=उत्तम रूपवाले होते हैं, **श्रिया**=शोभा से **अधिविराजतः**=अत्यधिक शोभायमान होते हैं। २. ऐसे ये रात्रि और दिन **इह**=हमारे जीवन में **आसीदताम्**=सर्वथा आसीन हों। हमारे जीवन में दिन व रात्रि दीप्त व सुन्दर रूपवाले हों। प्रत्येक दिन हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बनता हुआ चमक उठे। प्रत्येक रात्रि हमारी बलवृद्धि का कारण होती हुई हमारे रूप को सुन्दर बनानेवाली हो। दिन ज्ञान के प्रकाश से चमके तो रात्रि शक्तिवर्धन करती हुई रूप-सौन्दर्य का कारण बने।

भावार्थ—दिन व रात हमारे ज्ञान व रूप को बढ़ाते हुए हमें श्रीसम्पन्न करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद् गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

दिन व रात हमारे जीवन-यज्ञ के होता हों

प्रथमा हि सुवाचसा होतारा दैव्या कवी। यज्ञं नो यक्षतामिमम्॥ ७॥

१. **प्रथमा**=(प्रथ विस्तारे) ये दिन व रात हमारे लिए शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों। **हि**=निश्चय से **सुवाचसा**=उत्तम वचनों वाले हों—हम दिन व रात्रि दोनों के प्रारम्भ में प्रभु के गुणों का उत्तमता से उच्चारण करनेवाले हों, **होतारा**=ये दोनों हमारे जीवन-यज्ञ के होता हों अथवा हम इनमें दानपूर्वक अदनवाले हों। इस होतृत्व के द्वारा ये **दैव्या**=उस देव की ओर हमें ले-चलनेवाले हों और उस देव की ओर चलते हुए हम **कवी**=क्रान्तदर्शी व क्रान्तप्रज्ञ हों। २. इस प्रकार ये दिन व रात हमारे लिए 'प्रथमा, सुवाचसा, होतारा, दैव्या, कवी' होते हुए **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=जीवन-यज्ञ को **यक्षताम्**=(यजताम्) सम्पन्न करनेवाले हों।

भावार्थ—दिन-रात यज्ञमय जीवन बिताते हुए हम अपनी शक्तियों का विस्तार करें, दोनों समय प्रभु का गुणगान करें, अग्निहोत्र करें, प्रभु की ओर चलनेवाले हों और क्रान्तप्रज्ञ बनें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

भारती, इडा, सरस्वती

भारतीळे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे। ता नश्चोदयत श्रिये॥ ८॥

१. 'भरत' सूर्य का नाम है, उसकी सम्बन्धिनी भारती द्युलोक की देवता है। 'इळा' भूदेवी है और 'सरस्वती' अन्तरिक्ष की देवता है (सरः वाग्, उदकं वा अस्यास्तीति)। हे **भारति**=द्युलोक देवते! **इळे**=भूदेवि! **सरस्वति**=अन्तरिक्ष देवते! **याः सर्वाः**=जो आप सब हैं, **वः**=(युष्मान्) उनको **उपब्रुवे**=मैं प्रार्थना करता हूँ। २. **ताः**=वे आप सब **नः**=हमें **श्रिये**=शोभा के लिए **चोदयत्**=(प्रेरयत) प्रेरित कीजिए। अध्यात्म में 'मस्तिष्क' द्युलोक है, 'शरीर' पृथिवीलोक है

और 'हृदय' अन्तरिक्षलोक है। मस्तिष्क की देवता आदित्य की भाँति चमकता हुआ ज्ञान है। शरीर की देवता पृथिवी के समान 'दृढ़ता' व 'शक्ति' है। हृदय की देवता वायु की भाँति 'कर्म का संकल्प' है। 'ज्ञान, शक्ति व कर्मसंकल्प'—ये सब मिलकर हमें श्रीसम्पन्न करें।

भावार्थ—'भारती, इडा व सरस्वती' हमारे जीवन की त्रिलोकी की देवता हों। ये हमारे जीवन को श्रीयुक्त करें। हम इन तीनों देवताओं का आराधन करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

पशुओं की स्फाति का लाभ

त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः पशून्विश्वान्त्समानजे। तेषां नः स्फातिमा यज॥ ९॥

१. **त्वष्टा**=निर्माता **प्रभुः**=प्रभु **हि**=निश्चय से **रूपाणि**=सब रूपों को **समानजे**=व्यक्त करता है। इन रूपों के द्वारा **विश्वान् पशून्**=सब पशुओं को (समानजे) समलंकृत करता है। २. हे प्रभो! **तेषाम्**=उन पशुओं की **स्फातिम्**=वृद्धि को **नः**=हमारे लिए **आ यज**=सब प्रकार से संगत कीजिए। हमें गवादि पशुधन पर्याप्त संख्या में प्राप्त हो। इन पशुओं का हमारी जीवन-यात्रा में पर्याप्त भाग है। इन्हीं से हमें 'पयः पशूनाम्' दुग्धादि पदार्थ प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए पर्याप्त पशुधन को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

वानस्पतिक भोजन

उप त्मन्या वनस्पते पाथो देवेभ्यः सृज। अग्निर्हव्यानि सिष्वदत्॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विविध प्रकार से सहायक ये पशु हमें प्राप्त हों, परन्तु 'हमें इनके मांस का प्रयोग नहीं करना है', इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि हे **वनस्पते**=ओषधे! तू **त्मन्या**=स्वयं **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **पाथः**=अन्न को **उपसृज**=समीपता से उत्पन्न कर, अर्थात् देववृत्ति के पुरुष वानस्पतिक भोजन ही करनेवाले हों। २. **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति **हव्यानि**=हव्य पदार्थों को ही **सिष्वदत्**=आस्वादित करता है। यज्ञिय पवित्र पदार्थों का ही भोजन करता हुआ वह सात्त्विक वृत्तिवाला बनता है।

भावार्थ—मनुष्य का भोजन ओषधि व वनस्पति ही है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—आप्रियः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः।

गायत्र का गान

पुरोगा अग्निर्देवानां गायत्रेण समज्यते। स्वाहाकृतीषु रोचते॥ ११॥

१. गत मन्त्र के अनुसार वानस्पतिक भोजन करता हुआ यह **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति **देवानां पुरोगाः**=देवों का पुरोगामी बनता है, उन्नति करता हुआ देवों का मुखिया होता है। २. यह **गायत्रेण**=गायत्रीवल्लभ प्रभु से **समज्यते**=अलंकृत जीवनवाला किया जाता है। प्रभु 'गायत्र' हैं—गान करनेवाले का त्राण करते हैं। जो प्रभु का स्तवन करता है, वह स्तोता प्रभु के उस-उस गुण से समलंकृत हो जाता है। ३. **स्वाहाकृतीषु**=स्वाहाकृतियों में, त्याग के कार्यों में यह **रोचते**=दीप्त होता है। जितना-जितना त्याग करता है, उतना-उतना चमकता जाता है, त्याग के अनुपात में दीप्तिवाला होता है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ते हुए देवों के मुखिया बनें। इसके लिए प्रभु का स्मरण करें। प्रभु-स्मरण के लिए त्याग की वृत्ति को अपनाएँ।

विशेष—सूक्त का प्रारम्भ 'देवों के सम्पर्क से देव बनना' इन शब्दों से होता है (१) और समाप्ति पर 'देवों का अग्रणी बनना' यह कहा गया है (११)। इसका साधन यही है कि हम प्रभु का स्मरण करें, और धन के दास न बन जाएँ। इसी भावना से अगले सूक्त का आरम्भ होता है—

[१८९] एकोननवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

शुभ मार्ग से न कि अशुभ से

अग्ने॒ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒ये अ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य१॒॑स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम॥ १॥

१. **अग्ने**=हे अग्रणी परमात्मन्! **अस्मान्**=हमें **राये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **सुपथा नय**=उत्तम मार्ग से ले-चलिए। हम कुमार्ग से धन कमाने में प्रवृत्त न हों। अवनति का प्रारम्भ यहीं से होता है कि लोभ में पड़कर हम जैसे-तैसे धन कमाने में प्रवृत्त हो जाते हैं। धन ही हमारे जीवन का लक्ष्य हो जाता है और अन्ततः हमारे निधन का कारण होता है। २. हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज, प्रकाशमय प्रभो! आप **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। आप हमारे मनों में आनेवाले अशुभ विचारों को ही समाप्त कर दीजिए। **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता को तथा **एनः**=पाप को **युयोधि**=पृथक् कीजिए। इस पापवृत्ति से बचने के लिए ही हम **ते**=आपकी **भूयिष्ठाम्**=बहुत अधिक **नमउक्तिम्**=नमन की उक्ति को **विधेम**=करते हैं, निरन्तर आपका स्तवन करते हैं। आपका यह स्तवन हमें पाप से पृथक् रखता है। शुभ मार्ग से ही धन कमाते हुए हम जीवन-यात्रा को शोभा से पूर्ण कर पाते हैं।

भावार्थ—हम शुभ मार्ग से ही धन कमाएँ। प्रभु-स्तवन करते हुए अशुभ की ओर झुकाव से अपने को बचाएँ।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

पृथिवी 'पूः' और बहुला 'उर्वी'

अग्ने॒ त्वं पा॑रया॒ नव्यो॑ अ॒स्मान्त्स्व॒स्तिभि॒रति॑ दु॒र्गाणि॒ विश्वा॑।
पूश्च॑ पृ॒थ्वी ब॑हु॒ला न॑ उ॒र्वी भवा॑ तो॒काय॒ तन॑याय॒ शं योः॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्मान्**=हमें **स्वस्तिभिः**=(सु अस्ति) उत्तम, अभिपूजित मार्गों के द्वारा **विश्वा**=सब **दुर्गाणि**=पापों के **अतिपारया**=पार कीजिए। आप ही हमारे लिए **नव्यः**=स्तुति के योग्य हैं। हम आपका स्तवन करते हैं। आप हमें सब अशुभ वृत्तियों से दूर कीजिए। २. **च**=और आपकी कृपा से सब पापों से ऊपर उठने पर पूः=यह शरीररूप नगरी **पृथ्वी**=विस्तारवाली हो। इसकी सब शक्तियाँ विस्तृत हों—अङ्ग-प्रत्यङ्ग सबल व सशक्त हों। **नः**=हमारे लिए **उर्वी**=पृथिवी भी **बहुला**=बहुत पदार्थों को देनेवाली **भव**=हो, पृथिवी हमारे लिए उर्वरा हो। वस्तुतः विलासमय जीवन से ऊपर उठ जाने पर आध्यात्मिक व आधिभौतिक कष्ट दूर हो जाते हैं। अध्यात्म-कष्टों के दूर होने का संकेत 'पूश्च पृथ्वी' शब्दों से हुआ है और 'बहुला नः उर्वी' इन शब्दों से आधिदैविक कष्टों के दूर होने का। ३. हे प्रभो! आप हमारे **तोकाय**=पुत्रों के लिए तथा **तनयाय**=पौत्रों के लिए **शंयोः**=रोगों के शमन

करनेवाले व भयों का यावन (पार्थक्य) करनेवाले हों। हमारे जीवन की उत्तमता पर ही भावी सन्तति के उत्कृष्ट जीवन का सम्भव हुआ करता है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें पापों से पृथक् कीजिए जिससे हमारे शरीर सशक्त हों और पृथिवी हमारे लिए भरपूर अन्नों को देनेवाली हो। हमारे पुत्र-पौत्र भी नीरोग व निर्मल जीवनवाले हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

पाप से रोग

अग्ने त्वमस्मद्युयोध्यमीवा अनग्नित्रा अभ्यमन्त कृष्टीः।
पुनरस्मभ्यं सुवितायं देव क्षां विश्वेभिरमृतेभिर्यजत्र॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अस्मत्**=हमसे **अमीवाः**=रोगों को **युयोधि**=पृथक् कर दीजिए। **अनग्नित्राः**=अग्नि के द्वारा अपना त्राण न करनेवाले—प्रभु की उपासना व अग्निहोत्र न करनेवाले **कृष्टीः**=मनुष्य ही **अभ्यमन्त**=रोगों से आक्रान्त होते हैं। प्रभु की उपासना व अग्निहोत्र, अर्थात् 'ब्रह्मयज्ञ' और 'देवयज्ञ' नीरोगता देनेवाले हैं। २. **अस्मभ्यं पुनः**=हम जो उपासना व अग्निहोत्र करनेवाले हैं, उनके लिए तो आप हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **सुविताय**=सुवित् के लिए हों। आपसे मार्गदर्शन प्राप्त करते हुए हम सदा दुरित से दूर हों और सुवित को प्राप्त हों। ३. हे **यजत्र**=यज्ञों के द्वारा त्राण करनेवाले प्रभो! आप **क्षाम्**=हमारे इस निवासस्थानभूत पृथिवीरूप शरीर को **विश्वेभिः अमृतेभिः**=सब अमृततत्त्वों से युक्त कीजिए। हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग नीरोग हों।

भावार्थ—उपासना व यज्ञों को अपनाते हुए हम नीरोग हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

निर्भय जीवन

पाहि नो अग्ने पायुभिरजस्त्रैरुत प्रिये सदन आ शुशुक्वान्।
मा ते भयं जरितारं यविष्ठ नूनं विदन्मापरं सहस्वः॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **नः**=हमें **अजस्त्रैः**=अनवच्छिन्न, निरन्तर **पायुभिः**=रक्षणों से **पाहि**=रक्षित कीजिए **उत**=और **प्रिये**=नीरोगता के कारण कान्त **सदने**=मेरे शरीर-गृह में आप **आशुशुक्वान्**=चारों ओर दीप्त होओ। प्रभुस्मरण से हमारा शरीर नीरोग हो तथा हम प्रभु के प्रकाश (ज्ञान) से दीप्त हों। २. हे **यविष्ठ**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों से पृथक् करनेवाले और शुभ से हमारा मेल करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **जरितारम्**=स्तोता को **नूनम्**= निश्चय से आज (इस समय) **भयम्**=भय **मा विदत्**=प्राप्त न हो। तथा हे **सहस्वः**=सब शत्रुओं का मर्षण करनेवाले प्रभो! **अपरम्**=आगे आनेवाले समय में भी **मा**—भय मत प्राप्त हो। आपसे रक्षित होने पर हमारा जीवन सुरक्षित हो।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें। प्रभु से रक्षित स्तोता का जीवन निर्भय होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

काम-क्रोध-लोभ का शिकार न होना

मा नो अग्नेऽव सृजो अघायाविष्यवे रिपवे दुच्छुनायै।
मा दत्वते दशते मादते नो मा रीषते सहसावन्परा दाः॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=सब बुराइयों को भस्म करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **अघाय**=महापाप्मा 'काम' के लिए **मा अवसृजः**=मत छोड़ दीजिए। हमें उसकी दया पर मत छोड़िए। हम काम के शिकार न हो जाएँ। यह काम हमें विविध पापों में फँसाता है। यह तो है ही 'अघ'। २. **अविष्यवे**=(अविष्यतिरत्तिकर्मा) हमें खा जानेवाले क्रोध के लिए भी मत फेंक दीजिए। हम क्रोध के भी शिकार न हो जाएँ। ये ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध तो हमें भस्म ही कर देते हैं। ३. इस **दुच्छुनायै**=दुष्ट गतिवाले (शुन गतौ) **रिपवे**=लोभरूप शत्रु के लिए भी हमें मत छोड़ दीजिए। लोभ आने पर मनुष्य टेढ़े-मेढ़े मार्गों से धन कमाने लगता है। इन अशुभ गतियों में प्रेरित करनेवाले लोभ के भी हम शिकार न हो जाएँ। ४. **दत्वते**=दाँतोंवाले **दशते**=डसनेवाले क्रोधरूप शत्रु के लिए **नः**=हमें **मा परा दाः**=मत दे डालिए। क्रोध में दाँत कटकटाते हैं, अतः क्रोध को 'दत्वान्' कहा है। साथ ही **अ-दते**=बिना दाँतवाले इस रूप में सुकुमार तथा कोमलता से ही आक्रमण करनेवाले 'पुष्पधन्वा-कुसुमशर' कामदेव के लिए भी हमें मत दे डालिए। हे **सहसावन्**=शत्रुओं का मर्षण करने की शक्तिवाले प्रभो! **रीषते**=हमारी हिंसा करनेवाले इस लोभ के लिए भी हमें मत दे डालिए। ५. यहाँ मन्त्र के पूर्वार्द्ध में काम को 'अघ' कहा है। यह पाप ही पाप है। उत्तरार्द्ध में इसे 'बिना दाँतोंवाला विनाशक' (अदते दशते) कहा है। यह काम 'पुष्पधन्वा' के रूप में चित्रित किया गया है। इसका धनुष व इसके बाण सब फूलों के बने हैं। इसके विपरीत क्रोध 'दत्वते दशते' दाँतोंवाला शत्रु है, इसमें उग्रता है। यह हमें खा ही जाता है (अविष्यवे)। लोभ के कारण सब अशुभ मार्गों का आक्रमण होता है, अतः यह 'दुच्छुनायै' शब्द से याद किया गया है। यह हमारे विनाश का कारण बनता है, अतः 'रीषते' इस रूप में इसका स्मरण हुआ है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें और काम, क्रोध व लोभ का शिकार होने से बचें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

अपने को शत्रुओं से मुक्त करना

वि घ त्वावाँ ऋतजात यंसद् गृणानो अग्ने तन्वे३ वरूथम्।
विश्वाद्रिरिक्षोरुत वा निनित्सोरभिह्रुतामसि हि देव विष्पट्॥ ६॥

१. हे **ऋतजात**=(ऋतं जातं यस्मात्) ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभो! (ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत); अथवा ऋत के पालन से हृदय में प्रादुर्भूत होनेवाले (ऋतेन जातः) प्रभो! **गृणानः**=स्तवन करता हुआ व्यक्ति **घ**=निश्चय से **त्वावान्**=आपवाला होकर आपको अपने हृदय में आसीन करके **विश्वाद् रिरिक्षोः**=सब हिंसा करने की इच्छावालों से **उत वा**=तथा **निनित्सोः**=निन्दा करने की इच्छावालों से अपने को **वियंसत्**=विमुक्त करता है। आप उसके **तन्वे**=शरीर के लिए **वरूथम्**=आच्छादक होते हो। आपको आवरण के रूप में प्राप्त करके यह अपना रक्षण कर पाता है। २. हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **हि**=ही **अभिह्रुतम्**=कुटिलता करनेवाले शत्रुओं के **विष्पट् असि**=विशेषरूप से बाधन करनेवाले हैं। हमसे सब कुटिलताओं को आप ही दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ सब नाशक शत्रुओं से अपने को रक्षित कर पाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः।

प्रपित्व-अभिपित्व

त्वं ताँ अग्न उभयान्वि विद्वान्वेषि प्रपित्वे मनुषो यजत्र।
अभिपित्वे मनवे शास्यो भूर्मर्मृजेन्य उशिग्भिर्नाक्रः॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **तान् उभयान्**=उन दोनों प्रकार के दैव तथा आसुर **मानुषः**=मनुष्यों को **विविद्वान्**=अच्छी प्रकार जानते हो। हे **यजत्र**=उपास्य—संगतिकरण-योग्य व सब-कुछ देनेवाले प्रभो! आप दैव पुरुषों के **प्रपित्वे**=प्रातःकाल के लिए और आसुर पुरुषों के लिए **अभिपित्वे**=(close, evening) सायंकाल के लिए **वेषि**=प्राप्त होते हो। दैवपुरुषों का आप उदय करते हो और आसुर पुरुषों का अस्त। २. आप **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **शास्यः भूः**=अनुशासन करनेवाले होते हो। अनुशासन के द्वारा **मर्मृजेन्यः**=आप उसके जीवन को शुद्ध करते हैं। ३. ये प्रभु **उशिग्भिः**=मेधावी पुरुषों से **अक्रः न**=(अक्र=Rampart, fortification) एक प्राकार की भाँति ग्रहण किये जाते हैं। प्रभु प्राकार होते हैं। उनसे रक्षित होकर ये किसी भी शत्रु के आक्रमणीय नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु दैव पुरुषों का उत्थान व आसुर पुरुषों का पराभव करते हैं। प्रभु का उपासक प्रभु को अपना रक्षक प्राकार (चारदीवारी) बनाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

ज्ञानदाता प्रभु

अवोचाम निवचनान्यस्मिन्मानस्य सूनुः सहसाने अग्नौ।
वयं सहस्रमृषिभिः सनेम विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ८॥

१. **वयम्**=हम **अस्मिन्**=इस **सहसाने**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले **अग्नौ**=अग्रणी प्रभु के विषय में **निवचनानि**=निश्चित स्तुतिवचनों को **अवोचाम**=उच्चारित करते हैं। ये प्रभु **मानस्य**=(मनु अवबोधे) अवबोध व ज्ञान का **सूनुः**—प्रेरक है। इस ज्ञानाग्नि से ही वस्तुतः ये हमारे शत्रुओं को भस्म करते हैं। २. हम **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों के द्वारा **सहस्रम्**=सहस्रशः ज्ञानधनों को **सनेम**=प्राप्त करें और **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के निवारण व बल को तथा **जीरदानुम्**= दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु-प्रेरणा द्वारा ज्ञान प्राप्त करें। ज्ञानियों का सम्पर्क हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण हो।

विशेष—सूक्त का विषय यही है कि प्रभु-स्तवन हमारे पापों को दूर करता है, हमारे ज्ञान का वर्धन करता है। यही विषय अगले सूक्त का भी है। इस सूक्त में 'अग्नि' शब्द से प्रभु का स्मरण था, अब 'बृहस्पति' शब्द से प्रभु-स्मरण करेंगे—

[१९०] नवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—बृहस्पतिः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

देव मनुष्यों का प्रभु-प्रेरणा को सुनना

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः॥ १॥

१. उस **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के पति प्रभु को **अर्कै:**=स्तुतिमन्त्रों से **वर्धय**=बढ़ा। प्रभु का स्तवन करता हुआ तू उसकी महिमा को सबमें फैलानेवाला हो, जो प्रभु **अनर्वाणम्**=(ऊर्व्=to kill) हिंसित न करनेवाले हैं। प्रभु-भक्त प्रभु द्वारा रक्षित होता है, अतः यह आधि-व्याधियों से पीड़ित नहीं होता, **वृषभम्**=जो प्रभु शक्तिशाली हैं व सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **मन्द्रजिह्वम्**=आनन्दप्रद वेदवाणीवाले हैं (मादकवाचम्)। प्रभु हृदयस्थरूपेण सदा प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। उस प्रेरणा को सुननेवाले ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर आनन्द का अनुभव करते हैं। **नव्यम्**=(नु स्तुतौ) वे प्रभु स्तुत्य हैं। २. ये प्रभु वे हैं **यस्य**=जिन **नवमानस्य**=स्तुति किये जाते हुए की प्रेरणा को **देवा: मर्ता:**=देव मनुष्य **आशृण्वन्ति**=सदा सुनते हैं। वे सुनते हैं जो कि **गाथान्य:**=अपने को प्रभु-गुणगान में ले-चलते हैं (गाथा+नी) और **सुरुच:**=उत्तम ज्ञान-दीप्तिवाले होते हैं। मनुष्य दो भागों में बँटे हुए हैं—'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च' दैव और आसुर। इनमें देववृत्ति के पुरुष प्रभु का स्तवन करते हुए तथा स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए प्रभु की प्रेरणा को सुन पाते हैं।

भावार्थ—ध्यान व स्वाध्याय से हम प्रभु-प्रेरणा को सुनने के योग्य होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

ऋत के पालन से प्रभु-दर्शन

तमृत्विया उप वाचः सचन्ते सर्गो न यो देवयतामसर्जि।
बृहस्पतिः स ह्यञ्जो वरांसि विभ्वाभवत्समृते मातरिश्वा॥ २॥

१. **तम्**=उस बृहस्पति को ही **ऋत्विया: वाच:**=समय-समय पर होनेवाली वाणियाँ **उपसचन्ते**=समीपता से प्राप्त होती हैं। देववृत्ति के पुरुष सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। आसुर भाववाले भी कष्ट आने पर प्रभु को ही याद करते हैं। ये प्रभु वे हैं जो कि **देवयताम्**=दिव्य भावनाओं को अपनानेवाले व्यक्तियों के लिए **सर्गः न**=(सर्ग=a horse) अश्व के समान **असर्जि**=बन जाते हैं। ये देवयन् पुरुष इस प्रभुरूप अश्व को प्राप्त करके अपनी जीवनयात्रा को सुगमता से पूर्ण कर पाते हैं। २. इन देवयन् पुरुषों के लिए प्रभु **बृहस्पतिः**=ज्ञान की वाणियों के पति हैं। इनसे वह देवयन् ज्ञानवाणियों को प्राप्त करता है। **सः हि**=वे प्रभु ही **अञ्जः**=ज्ञान के सब प्रकाशों को प्रकट करनेवाले हैं, **वरांसि विभ्वा**=सब वरणीय पदार्थों को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु **मातरिश्वा**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में गति व वृद्धिवाले हैं। प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं, सर्वत्र प्रभु की क्रिया दृष्टिगोचर होती है। ३. ये प्रभु **ऋते**=ऋत के होनेपर **समभवत्**=प्रकट होते हैं। प्रभु सर्वत्र हैं, हमारे अन्दर ही विद्यमान हैं, परन्तु उस प्रभु का दर्शन तभी होगा जब कि हम ऋत को अपनाएँगे। (क) ऋत अर्थात् सत्य को अपनानेवाला प्रभु को देखता है, (ख) 'ऋत' अर्थात् यज्ञात्मक-कर्मों में चलनेवाला प्रभु-द्रष्टा बनता है, (ग) 'ऋत' अर्थात् ठीक, प्रत्येक कार्य के ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाला प्रभु-दर्शन का पात्र बनता है।

भावार्थ—सर्वत्र व्याप्त प्रभु का दर्शन देववृत्ति के पुरुष ऋत के पालन द्वारा कर पाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

स्तुति, नमस्कार, श्लोक

उपस्तुतिं नमस उद्यतिं च श्लोकं यंसत्सवितेव प्र बाहू।
अस्य क्रत्वाहन्यो३ यो अस्ति मृगो न भीमो अरक्षसस्तुविष्मान्॥ ३॥

१. **उपस्तुतिम्**=उपासना में की जानेवाली हुई स्तुति को (उपेत्य क्रियमाणां स्तुतिम्), **नमसः उद्यतिं**=नमस् की उद्यति को (नमस्कार में हाथों के उठाने को) **च**=और **श्लोकम्**=यशोगान को (श्लोकः यशः) **प्र यंसत्**=उपासक प्रभु के लिए देता है। इस उपासक के जीवन में प्रभु का स्तवन, प्रभु का नमस्कार व प्रभु का ही यशोगान चलता है। २. **सविता इव बाहू**=सूर्य के समान इस उपासक की भुजाएँ होती हैं। सूर्य जिस प्रकार अपने किरणरूप हाथों से सर्वत्र प्रकाश व शक्ति का संचार कर रहा है, यह उपासक भी प्रकाश व शक्ति के विस्तार के लिए सतत प्रयत्नशील होता है। ३. **यः**=जो उपासक **अस्य**=अपने उपास्य प्रभु की **क्रत्वा**=(क्रतु=power, ability) शक्ति से—प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर **अहन्यः**=न मारने योग्य **अस्ति**=है। यह उपासक **मृगः**=(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाला होता है, **न भीमः**=भयंकर नहीं होता, करुणा की वृत्ति के कारण यह औरों को हानि नहीं पहुँचाता। **अरक्षसः**=(न रक्षो यस्मिन्) राक्षसी वृत्ति से रहित होता है और **तुविष्मान्**=बल-सम्पन्न होता है।

भावार्थ—उपासक के जीवन में प्रभु का स्तवन, उसी को नमस्कार और उसी का यशोगान चलता है। यह प्रकाश और शक्ति का विस्तार करता है। यह आत्मान्वेषण करता हुआ दयालु, राक्षसी वृत्ति से रहित और बल-सम्पन्न होता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

'यक्षभृत् विचेताः' प्रभु

अस्य श्लोको दिवीयते पृथिव्यामत्यो न यंसद्यक्षभृद्विचेताः।
मृगाणां न हेतयो यन्ति चेमा बृहस्पतेरहिमायाँ अभि द्यून्॥४॥

१. **अस्य**=इस परमात्मा का **श्लोकः**=यश **दिवि**=द्युलोक में तथा **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर **ईयते**=गति करता है, व्याप्त होता है (गच्छति, व्याप्नोति—सा०)। ब्रह्माण्ड का एक-एक पदार्थ प्रभु का यशोगान कर रहा है 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'। **अत्यः न**=सतत गमनशील (अत गतौ) आदित्य के समान वे प्रभु हैं 'आदित्यवर्णम्', **यंसत्**=(offer, give, bestow) सब उत्तम पदार्थों को प्रभु प्राप्त कराते हैं, **यक्षभृत्**=(यज=देवपूजा, संगतिकरण, दान) प्रभु के पूजकों, उनसे मेल करनेवालों व उनके प्रति अर्पण करनेवालों को धारण करनेवाले हैं। **विचेताः**=विशिष्ट ज्ञान को देनेवाले हैं। २. **च**=और **बृहस्पतेः**=ज्ञान की वाणियों के पति प्रभु की **इमाः**=ये ज्ञानवाणियाँ **द्यून्**=(दिवसान्) प्रतिदिन **अहिमायान्**=(अहे इव माया येषाम्) सर्प के समान कुटिलाचारी पुरुषों के **अभि**=प्रति **यन्ति**=जाती हैं। इस प्रकार जाती हैं **न**=जैसे कि **मृगाणाम्**=पशुओं का अन्वेषण करनेवालों के **हेतयः**=आयुध हन्तव्य पशुओं को प्राप्त होते हैं। आयुधों से हन्तव्य पशुओं का विनाश होता है, इसी प्रकार प्रतिदिन प्राप्त होनेवाली प्रभु की ज्ञानवाणियों से इन अहिमाय पुरुषों की मायाविता का विनाश होता है। मायावृत्ति के विनाश से इसका जीवन पवित्र बन जाता है। ज्ञान की वाणियाँ वे आयुध बनती हैं जिनसे कपटी पुरुषरूप पशुओं का विनाश होता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा सर्वत्र प्रकट हो रही है। इस प्रभु की ज्ञानवाणियाँ मायावी पुरुषों की माया का विनाश करके उन्हें पवित्र जीवनवाला बनाती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

प्रभु को उस्त्रिक समझनेवाले

ये त्वा देवोस्रिकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवन्ति पज्राः।
न दूढ्ये३ अनु ददासि वामं बृहस्पते चयस इत्पियारुम्॥५॥

१. **ये**=जो **पापाः**=पापी लोग **मघाः**=(wealth, rich) अन्याय-मार्ग से धन कमाकर ऐश्वर्यसम्पन्न बने हुए **भद्रं त्वा**=कल्याण करने और सुख देनेवाले आपको हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **उस्त्रिकं मन्यमानाः**=(उस्त्रि=an old ox) बूढ़ा बैल जानते हुए **उपजीवन्ति**=इस संसार में विलासमय जीवन बिताते हैं, जो श्रेयमार्ग को छोड़कर प्रेयमार्ग को अपनाते हैं, परलोक को न मानते हुए केवल इस लोक की मौज का ही ध्यान करते हैं, इन **दूढ्ये**=दुर्बुद्धि पुरुषों में आप **वामम्**=सुन्दर, श्रेयस्कर वस्तुओं को **न अनुददासि**=नहीं देते हैं। २. ये लोग औरों की हिंसा करके भी अपने स्वार्थ को सिद्ध करनेवाले होते हैं। हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **पियारुम्**=इस हिंसक को **इत्**=निश्चय से **चयसे**=(to detest, to hate) प्रेम नहीं करते हो। इसका आप विनाश ही करते हो। इनके भोग ही इनके विनाश का कारण बन जाते हैं। ये लोग 'आत्मा-परमात्मा की चर्चाओं' को व्यर्थ समझते हैं, परमात्मा की उपासना को निरर्थक जानते हैं। ये भोगों को भोगने में लगे रहते हैं और परिणामतः भोगों से भोगे जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु को बूढ़ा बैल समझते हुए जो प्रकृति के भोगों को ही सब-कुछ समझते हैं, वे इन भोगों में फँसकर नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

सुप्रैता, दुर्नियन्ता

सुप्रैतुः सूयवसो न पन्था दुर्नियन्तुः परिप्रीतो न मित्रः।
अनर्वाणो अभि ये चक्षते नोऽपीवृता अपोर्णुवन्तो अस्थुः॥ ६॥

१. वे प्रभु **सुप्रैतुः**=उत्तम मार्ग से चलनेवाले के लिए **सूयवसः**=उत्तम अन्नवाले **पन्थाः न**=मार्ग के समान होते हैं, अर्थात् शुभ मार्ग से जीवन बितानेवाले के लिए प्रभु कभी अन्नों की कमी नहीं होने देते। २. **दुर्नियन्तुः**=बुराइयों को रोकनेवाले के प्रभु **परिप्रीतः मित्रः न**= सब प्रकार से प्रसन्न मित्र के समान होते हैं। जो भी अपने से बुराइयों को दूर करता है, वह प्रभु को अपने प्रिय मित्र के रूप में प्राप्त करता है। ३. ये जो **अनर्वाणः**=(अर्व्=to kill) किसी की भी हिंसा न करनेवाले हैं, वे **नः**=हमें **अभिचक्षते**=(बोधयन्ति—सा०) अभ्युदय और निःश्रेयस—दोनों के विषय में ज्ञान देते हैं। इस प्रकार 'अपरा व परा' दोनों विद्याओं को प्राप्त कराते हुए ये हमारे ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों कल्याणों को सिद्ध करते हैं। ४. ये व्यक्ति **अपीवृताः**=उस प्रभु से आच्छादित हुए-हुए **अपोर्णुवन्तः**=अपगत आचरणवाले, अज्ञान-अन्धकार से रहित हुए-हुए ज्ञान के प्रकाशों में विचरनेवाले होकर **अस्थुः**=स्थित होते हैं। प्रभु में स्थित हुए-हुए, ज्ञान के प्रकाश से दीप्त ये पुरुष औरों के लिए इस ज्ञान के प्रकाश को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम उत्तम मार्ग से चलें, बुराई का नियमन करें, ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—स्वराट् पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः।

नरः, आप (गृध्रः)

सं यं स्तुभोऽवनयो न यन्ति समुद्रं न स्रवतो रोधचक्राः।
स विद्वाँ उभयं चष्टे अन्तर्बृहस्पतिस्तर आपश्च गृध्रः॥ ७॥

१. **न**=जैसे **अवनयः**=मनुष्य अपने-अपने कर्म के प्रति जाते हैं और **न**=जैसे **स्रवतः**=बहती

हुई **रोधचक्राः**=रोधनशील चक्रोंवाली नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र को **यन्ति**=जाती हैं, उसी प्रकार **यम्**=जिसको **स्तुभः**=सब स्तुतियाँ **सं** (यन्ति)=सम्यक् प्राप्त होती हैं। **सः विद्वान्**=वह सर्वज्ञ प्रभु **अन्तः**=अन्दर स्थित हुआ **उभयम्**=दोनों चर और अचर पदार्थों को—स्थावर-जङ्गम सब संसार को **चष्टे**=देखता है। अन्दर स्थित हुआ-हुआ वह सबका नियमन करता है। २. **बृहस्पतिः**=बड़े-बड़े आकाशादि लोकों का स्वामी वह प्रभु **आपः**=(आपयति, प्रापयति) इस संसार के विषय-जलों का प्राप्त करानेवाला है **च**=और **तरः**=इनसे तरानेवाला है। ऐहलौकिक उन्नति के लिए ये विषय साधनभूत हैं, अतः आवश्यक हैं, परन्तु पारलौकिक उन्नति के लिए आवश्यक है कि हम इनमें फँसें नहीं। वे प्रभु 'अपः व तरः' बनकर **गृध्रः**=(गृध अभिकांक्षायाम्) हमारी दोनों प्रकार की ही उन्नति की कांक्षा करते हैं। हमें अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को प्राप्त करने के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—सब स्तुतियाँ प्रभु को प्राप्त होती हैं। ये प्रभु हमें सब विषयों को प्राप्त कराते हैं उनसे तैरने की शक्ति भी देते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः।

तुविजातः, तुविष्मान्

एवा म॒हस्तु॑विजा॒तस्तुवि॑ष्मा॒न्बृह॒स्पति॑र्वृष॒भो धा॑यि दे॒वः।
स नः॑ स्तु॒तो वी॒रव॑द्धातु॒ गोम॑द्वि॒द्यामे॒षं वृ॒जनं॑ जी॒रदा॑नुम्॥ ८॥

१. **एव**=इस प्रकार **महः**=वह महान् प्रभु **तुविजातः**=महान् विकासवाले हैं, **तुविष्मान्**=शक्तिशाली हैं, **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान के पति हैं, **वृषभः**=शक्तिशाली हैं व सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। वे **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **धायि**=हमारे द्वारा हृदय में धारण किये जाते हैं। २. **स्तुतः सः**=स्तुति किये गये वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **वीरवत्**=वीरता से युक्त तथा **गोमत्**=ज्ञान की वाणियों से युक्त फल को **धातु**=धारण करें। प्रभु-कृपा से हम वीर व ज्ञानी बनें। **इषम्**=प्रेरणा को, **वृजनम्**=पाप के वर्जन व शक्ति को तथा **जीरदानुम्**=दीर्घजीवन को **विद्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु-शक्ति व ज्ञान के पुञ्ज हैं। वे हमें वीरता व ज्ञान प्राप्त कराएँ।

विशेष—सूक्त का मूलभाव यही है कि हम प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए निरन्तर आगे बढ़ें। ज्ञान व शक्ति का सम्पादन करते हुए आदर्श बनने का प्रयत्न करें। अब इस मण्डल की समाप्ति पर यह संकेत करते हैं कि जहाँ हम अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करके 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठकर शरीर, मन व बुद्धि को उत्तम बनाएँ, जहाँ जीवन-संघर्ष में सुपथ से धन कमाते हुए जीवन को धन्य बनाने के लिए यत्नशील हों, वहाँ कुछ प्रमादवश सर्पादि से दष्ट होकर मृत्यु का शिकार न हो जाएँ, अतः सर्पादि की चिकित्सा को कहते हैं—

[१९१] एकनवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

द्विविध विषधर

कङ्क॑तो॒ न क॒ङ्कतो॒ऽथो॑ स॒ती॒नक॑ङ्कतः।
द्वावि॑ति प्लु॒षी इति॒ न्य१॒॑दृष्टा॑ अलिप्सत॥ १॥

१. **कङ्कतः**=अल्पविषवाला, **न कङ्कतः**=अल्पविष से विपरीत महाविषवाला **अथो**=और **सतीनकङ्कतः**=(सतीनम्=उदकम्) उदकचारी अल्पविषवाला डुण्डुभादि—इस प्रकार अल्पविष व महाविष भेद से अथवा जलचर व स्थलचर भेद से **द्वौ इति**=दो प्रकार के ये विषैले कृमि **प्लुषी इति**=(प्लुष दाहे) दो प्रकार से दाहकत्ववाले हैं। अल्पविषवालों का दहन भी अल्प है, तीव्रविषवालों के दहन में तीव्रता है। २. इनके अतिरिक्त कितने ही विषकृमि **अदृष्टाः**=अदृश्यमान रूप हैं। इस प्रकार के जो भी विषधर प्राणी हैं वे सब निश्चय से मुझे **नि+अलिप्सत**=विशेषेण लिप्त करते हैं। मेरे सब अङ्ग उनके विष से आवृत हो जाते हैं।

भावार्थ—विषधर प्राणी अल्पविष व महाविष भेद से, जलचर व स्थलचर भेद से अथवा दृष्ट-अदृष्ट भेद से दो प्रकार के हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

चतुर्विध प्रयोग

अदृष्टान्हन्त्यायत्यथो हन्ति परायती।
अथो अवघ्नती हन्त्यथो पिनष्टि पिंषती॥ २॥

१. **आयती**=विषघ्नी ओषधि विषदष्ट के समीप आती हुई **अदृष्टान्**=अदृश्यमान विषधरों को **हन्ति**=नष्ट करती है **अथो**=और **परायती**=दूर जाती हुई भी अपनी मादकता से **हन्ति**=उन विषधरों का नाश करती है। २. **अथ उ**=और अब **अवघ्नती**=कूटी जाती वह ओषधि **हन्ति**=गन्ध द्वारा विष-प्रभाव को नष्ट करती है **अथो**=और **पिंषती**=पीसी जाती हुई यह ओषधि **पिनष्टि**=उन विषधरों को मानो पीस ही डालती है।

भावार्थ—'आयती, परायती, अवघ्नती, पिंषती' शब्दों से विषघ्नी ओषधि के विविध प्रकारों से प्रयोग का उल्लेख है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—स्वराडुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः।

शर आदि में रहनेवाले विषधर

शरासः कुशरासो दर्भासः सैर्या उत।
मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्सत॥ ३॥

१. **शरासः**=सरकण्डों में रहनेवाले, **कुशरासः**=छोटे-छोटे सरकण्डों में रहनेवाले, **दर्भासः**=डाभ या कुश-घास में रहनेवाले **उत**=और **सैर्याः**=नदी व तालाब के तटों पर उत्पन्न घासों में होनेवाले, **मौञ्जाः**=मूँज में रहनेवाले, **वैरिणाः**=वीरण नामक तृणों में रहनेवाले, **अदृष्टाः**=न दीखनेवाले **सर्वे**=सब विषैले कृमि **साकम्**=उन-उन तृणादि पदार्थों के साथ चिपटे हुए **न्यलिप्सत**=हमारे अङ्गों को विषलिप्त करते हैं।

भावार्थ—घास-फूस व झाड़-झंखाड़ों में फँसे हुए विषैले प्राणी हमें काट लेते हैं और हमारे अङ्गों को विषव्याप्त कर देते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

छिपकर रहनेवाले कृमि

नि गावो गोष्ठे असदन्नि मृगासो अविक्षत।
नि केतवो जनानां न्यदृष्टा अलिप्सत॥ ४॥

१. **गावः**=गौएँ **गोष्ठे**=गोशाला में **नि असदन्**=शान्तभाव से आसीन होती हैं। **मृगासः**=मृग आदि वन्यपशु **नि अविक्षत**=अपने-अपने बिल में घुसे रहते हैं **जनानाम्**=लोगों के **केतवः**=प्रज्ञान **नि**=नीचे अर्थात् नम्रतावाले होते हैं अथवा नम्र पुरुषों में ज्ञानों का निवास होता है। २. इसी प्रकार **अदृष्टाः**=ये अदृष्ट विषधर प्राणी भी **नि अलिप्सत**=हमारे अङ्गों को विषलिप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—अपने-अपने स्थानों में छिपे हुए विषधर जीव हमें काटकर हमारे अङ्गों को विष-व्याप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

अदृष्ट परन्तु विश्वदृष्ट

एत उ त्ये प्रत्यदृश्रन्प्रदोषं तस्कराइव।
अदृष्टा विश्वदृष्टाः प्रतिबुद्धा अभूतन॥ ५॥

१. **एत**=और **उ**=निश्चय से **त्ये**=वे विषधर कृमि उसी प्रकार **प्रत्यदृश्रन्**=दिखते हैं, **इव**=जैसे **प्रदोषम्**=रात्रि के प्रारम्भ में **तस्कराः**=चोर। चोरों का कार्य अन्धकार में अधिक होता है, इसी प्रकार विषधर कृमि भी अन्धकार में अधिक काटनेवाले होते हैं। २. ये कृमि **अदृष्टाः**=लोगों से दिखते नहीं। लोग इन्हें नहीं देख रहे होते, परन्तु ये **विश्वदृष्टाः**=(विश्वं दृष्टं यैस्ते) सबको देख रहे होते हैं। इसलिए कहते हैं कि **प्रतिबुद्धाः अभूतन**=हे लोगो! खूब सावधान रहो।

भावार्थ—ये विषैले कृमि प्रायः अन्धकार में काट जाते हैं, अतः ऐसे प्रसङ्गों में सावधान रहना चाहिए।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

प्राणियों का परस्पर बन्धुत्व

द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा।
अदृष्टा विश्वदृष्टास्तिष्ठतेलयता सु कम्॥ ६॥

१. हे सर्पादि कृमियो! **द्यौः**=द्युलोक **वः**=तुम्हारा **पिता**=पिता है, **पृथिवी**=पृथिवी **माता**=माता है, **सोमः**=चन्द्रमा तुम्हारा **भ्राता**=भाई है तथा **अदितिः**=यह अन्तरिक्ष **स्वसा**=स्वसृस्थानापन्न बहिन है। इस प्रकार तुम्हारा महत्त्व है। २. **अदृष्टाः**=तुम हमसे अदृष्ट हो। अँधेरे के कारण और छुपे हुए होने के कारण हम तुम्हें देख नहीं पाते, परन्तु तुम **विश्वदृष्टाः**=सबको देखनेवाले हो, **तिष्ठत**=तुम अपने-अपने स्थान पर स्थित हो और वहाँ स्थित होते हुए वायुशोधन आदि कार्यों को करते हुए तुम **सु**=अच्छी प्रकार **कम्**=सुख को **इलयता**=हम सबके लिए प्रेरित करनेवाले होओ। ३. वस्तुतः जो द्युलोक हमारा पितृस्थानापन्न है, वही द्युलोक इन सर्पादि का भी पिता है। इसी प्रकार पृथिवी प्राणिमात्र की माता है। चन्द्रमा भाई के समान है और अन्तरिक्ष बहिन के। इस प्रकार इन सर्पादि से भी हमारा बन्धुत्व है। यदि गलती से हमारा हाथ-पाँव इन पर न पड़ जाए तो ये हमें काटते नहीं। इन सब कृमियों की भी इस ब्रह्माण्ड में अपनी-अपनी उपयोगिता है जिसका ज्ञान न होने से ये हमें व्यर्थ व हानिकर दिखने लगते हैं।

भावार्थ—सब प्राणियों के पिता व माता द्युलोक व पृथिवीलोक हैं। इस प्रकार प्राणियों का परस्पर बन्धुत्व है। अपने-अपने स्थान में स्थित सभी प्राणी कल्याणकर हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अबोषधिसूर्याः। छन्दः—स्वराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

अंस्य, अंग्य, सूचिक व प्रकंकत

ये अंस्या ये अङ्ग्याः सूचीका ये प्रकङ्कताः।
अदृष्टाः किं चनेह वः सर्वे साकं नि जस्यत॥ ७॥

१. **ये**=जो कृमि **अंस्याः**=(अंसगाः) कन्धों के बल सरकनेवाले हैं, ये **अङ्ग्याः**=हन्तारः) जो कन्धों से विनाश करनेवाले हैं अथवा शरीर से नष्ट करनेवाले लूतिका (मकड़ी) आदि कृमि हैं। २. **सूचीकः**=जो सुई के समान पूँछ के बालोंवाले बिच्छू आदि हैं और **ये**=जो **प्रकङ्कताः**=प्रकृष्ट विषवाले, अति तीव्र वेदना देनेवाले बड़े साँप हैं। ३. **अदृष्टाः**=अदृश्यमान **किञ्चन**=जो कुछ सर्पादि का समूह **इह**=यहाँ है **वः**=तुम **सर्वे**=सब **साकम्**=साथ-साथ **नि जस्यत**=हमें छोड़नेवाले होओ। हम तुम्हारे दंश आदि से पीड़ित न हों।

भावार्थ—'अंस्य, अंग्य, सूचीक व प्रकंकत' भेद से शतशः विषकृमि हैं। ये हमें पीड़ित करनेवाले न हों।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अबोषधिसूर्याः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सूर्यप्रकाश 'विषकृमि-नाशक'

उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान्त्सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ८॥

१. **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **सूर्यः**=सूर्य **उत् एति**=उदय हो रहा है। यह **विश्वदृष्टः**=सबसे देखा जाता है और **अदृष्टहा**=अदृष्ट भी कृमियों का विनाश करनेवाला है। २. यह सूर्य **सर्वान्**=सब **अदृष्टान्**=छिपकर रहनेवाले कृमियों का **जम्भयन्**=संहार करता है **च**=और **सर्वाः**=सब **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाली सर्पिणी आदि को भी नष्ट करता है।

भावार्थ—विषकृमि सूर्य के प्रकाश में घातक प्रभाव नहीं कर पाते। सामान्यतः ये विषकृमि सूर्य-प्रकाश से बचकर अन्धकारमय बिलों का आश्रय करते हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अबोषधिसूर्याः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

विष का आदान करनेवाला आदित्य

उदपप्तदसौ सूर्यः पुरु विश्वानि जूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा॥ ९॥

१. **असौ**=वह **सूर्यः**=सूर्य **विश्वानि**=सब विषकृमियों को **पुरु**=खूब **जूर्वन्**=हिंसित करता हुआ **उदपप्तत्**=उदय होता है। यह **आदित्यः**=(आदानात्) विषप्रभावों को अपनी किरणों से खेंच लेनेवाला होने से आदित्य है। २. यह **विश्वदृष्टः**=सम्पूर्ण विश्व से देखा गया सूर्य **पर्वतेभ्यः**=पर्वतवाले प्राणियों के लिए **अदृष्टहा**=अदृष्ट कृमियों को नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—सूर्य-किरणें विषैले प्रभावों को नष्ट करनेवाली हैं। ये विष को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अबोषधिसूर्याः। छन्दः—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

सूर्य में विष का मधु बन जाना

सूर्ये विषमा सजामि दृतिं सुरावतो गृहे।
सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥ १०॥

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अबोषधिसूर्याः। छन्दः—विराडुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः।

निन्यानवें प्रकार के विषों के निन्यानवें प्रतिकार

नवानां नवतीनां विषस्य रोपुषीणाम्।
सर्वासामग्रभं नामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥ १३॥

१. **नवानां नवतीनाम्**=निन्यानवें **विषस्य रोपुषीणाम्**=(लोपुषीणाम्) विष का लोप करनेवाली **सर्वासाम्**=सब ओषधियों के **नाम अग्रभम्**=नाम का मैं ग्रहण करता हूँ। इन सब ओषधियों के नाम-रूप को जानकर **अस्य**=इस विष के **योजनम्**=सम्पर्क को **आरे**=मैं दूर करता हूँ। २. **हरिष्ठाः**=विषहरण करनेवालों में इनका विशिष्ट स्थान है। हे विष! **त्वा**=तुझे **मधु चकार**=यह ओषधि मधुर बना देती है। यह विष को मधु में परिवर्तित करके मधु को लानेवाली ही **मधुला**=मधुविद्या है।

भावार्थ—विविध प्रकार के विषकृमियों के दंशों में उपाय भी विविध ही हैं। सम्भवतः निन्यानवें प्रकार के विष हैं और निन्यानवें प्रकार के ही उनके प्रतिबन्धक उपाय हैं।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अबोषधिसूर्याः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

विषहर्त्री मयूरी

त्रिः सप्त मयूर्यः सप्त स्वसारो अग्रुवः।
तास्ते विषं वि जभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव॥ १४॥

१. **त्रिः सप्त**=इक्कीस प्रकार की **मयूर्यः**=मयूर जाति की पक्षिणियाँ हैं और **सप्त**=सात **स्वसारः**=स्वयं सरणशील **अग्रुवः**=गङ्गादि नामवाली नदियाँ हैं (अग्रुः=a river)। स्वयं सरणशील वे नदियाँ हैं जो वर्षा ऋतु में ही न चलकर सदा प्रवाहित रहती हैं। **ताः**=वे **ते**=तेरे **विषम्**=विष को **विजभ्रिरे**=विशेषरूप से हरण करनेवाली हैं, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि **उदकम्**=पानी को **कुम्भिनीः**=कहारिन हरनेवाली होती हैं। २. जैसे सदा प्रवाहशील नदियों के जल का विष पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार मयूरी भी विष का हरण करनेवाली है। सम्भवतः ये मयूरी-जाति के पक्षी इक्कीस प्रकार के हैं।

भावार्थ—मयूरी विषहरण करनेवाली है। इसी प्रकार सदा प्रवाहवाली नदियों का जल विष को दूर करता है।

सूचना—मुर्गी के बच्चों का गुदा-भाग सर्प-काटे स्थान पर बार-बार लगाने से विष को चूस लेता है। क्रमशः इक्कीस मुर्गियों को लगाने से विष का शमन हो जाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। देवता—अबोषधिसूर्याः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

नकुल का पाषाण द्वारा भेदन

इयत्तकः कुषुम्भकस्तकं भिनद्म्यश्मना।
ततो विषं प्र वावृते पराचीरनु संवतः॥ १५॥

१. **इयत्तकः**=कुत्सित इयत्तावाला—अल्पप्रमाण यह **कुषुम्भकः**=नकुल (नेवला) है। **तकम्**=उसको **अश्मना**=पत्थर से **भिनद्मि**=विदीर्ण करता हूँ। २. **ततः**=विदीर्ण करने पर उस नेवले से **संवतः**=संविभागवाली **पराचीः**=दूर-दूर तक जानेवाली इन दिशाओं को **अनु**=लक्ष्य करके **विषं प्रवावृते**=विष प्रवृत्त होता है। यह विष दिशाओं में बह जाता है, मेरी ओर नहीं आता।

भावार्थ—नेवले को पत्थर से विदीर्ण करने पर उसका विष विविध दिशाओं में बह जाता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

पर्वतीय नकुल का तीव्र विष

कुषुम्भकस्तदब्रवीद् गिरेः प्रवर्तमानकः।
वृश्चिकस्यारसं विषमरसं वृश्चिक ते विषम्॥ १६॥

१. **गिरेः प्रवर्तमानकः**=पर्वत से शीघ्रता से आता हुआ **कुषुम्भकः**=नकुल **तत् अब्रवीत्**=वह बात कहता है कि **वृश्चिकस्य विषम्**=बिच्छू का विष **अरसम्**=रस-शून्य है। हे **वृश्चिक**=बिच्छू! **ते विषम्**=तेरा विष **अरसम्**=विषरहित है। नेवले के विष के सामने बिच्छू का विष अत्यन्त तुच्छ है। उसके विष में कोई सार प्रतीत नहीं होता।

भावार्थ—नेवले का रस (विष) अत्यन्त तीव्र है। उसकी तुलना में वृश्चिक का विष सारशून्य है।

विशेष—जीवन को जहाँ शारीरिक, मानस व बुद्धि के दृष्टिकोण से उन्नत करना आवश्यक है वहाँ यह भी आवश्यक है कि तनिक-से प्रमाद से विषकृमि से दष्ट होकर हम कहीं अपने जीवन का ही अन्त न कर बैठें। अंधेरे में इधर-उधर हाथ डालने से या घास-फूस में फिरने से या झाड़ी आदि में पैर पड़ने से यह खतरा हो सकता है, अतः इस दृष्टि से अप्रमत्तता भी आवश्यक है।

यहाँ प्रथम मण्डल समाप्त होता है।

॥ इति प्रथमं मण्डलम्॥

अथ द्वितीयं मण्डलम्

प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आशुशुक्षणि

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥ १॥

१. **हे अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **द्युभिः**=इन ज्योतिर्मय सूर्यादि पिण्डों से **जायसे**=आविर्भूत होते हो। सूर्यादि पिण्ड आपकी महिमा को प्रकट करते हैं—आपकी ज्योति से ही तो ये ज्योतिर्मय हो रहे हैं। **त्वम्**=आप **आशुशुक्षणिः**=(आ शुच् सन्) सर्वतः दीप्यमान हैं—सब सूर्यादि पिण्डों को दीप्ति देनेवाले हैं। (आशु सनोति) 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। **त्वम्**=आप ही **अद्भ्यः**=इन जलों से (जायसे=) प्रकट होते हैं। किस प्रकार ज्वलनशील हाईड्रोजन तथा ज्वलन की पोषक ऑक्सीजन से यह शान्ति को देनेवाला जल बन जाता है? **त्वम्**=आप **अश्मनः**=इन पाषाणों से भी तो **परि** (जायसे)=सब ओर प्रकट हो रहे हैं। एक मही भिन्न-भिन्न दबावों से प्रभावित होकर किस प्रकार विविध रूपों को धारण कर लेती है? २. हे **नृणां नृपते**=प्रगतिशील व्यक्तियों के रक्षक प्रभो! **त्वम्**=आप **वनेभ्यः**=इन वनों से तथा **त्वम्**=आप **ओषधीभ्यः**=इन ओषधियों से **जायसे**=प्रकट होते हैं। पर्वतों पर वनों की शोभा आपकी महिमा को प्रकट करती है। विविध प्रभावों से युक्त ओषधियाँ आपकी महिमा को किस ज्ञानी के लिए व्यक्त नहीं करतीं! **शुचिः**=आप ही सर्वत्र दीप्त हैं।

भावार्थ—देखनेवाले के लिए ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहा है। प्रभु ही सर्वत्र देदीप्यमान हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सब कार्य प्रभु ही कर रहे हैं

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ऋतायतः**=यज्ञ को चाहनेवाले, पुरुष का **होत्रम्**=होतृकर्म **तव**=आपका ही है। यज्ञ को करनेवाले जो भिन्न-भिन्न ऋत्विज् हैं—उनसे किये जानेवाले कर्म आपकी शक्ति से ही हो रहे हैं। होता नामक ऋत्विज् निमित्तमात्र है, वस्तुतः उसके माध्यम से आप ही सब कार्य कर रहे हैं। **पोत्रं तव**=पोता नामक ऋत्विज् का कार्य भी आपका ही है। **ऋत्वियम्**=समय-समय पर होनेवाला **नेष्ट्रम्**=नेष्टा का कार्य भी **तव**=आपका है। **त्वम् अग्नित्**=आप ही अग्नीध्र हो। २. **प्रशास्त्रं तव**=प्रशास्ता का कार्य भी आपका ही है। **त्वम्**=आप ही **अध्वरीयसि**=अध्वर्यु का कार्य करते हैं। **च**=और आप ही **ब्रह्मा असि**=ब्रह्मा हैं, **च**=और **नः दमे**=हमारे इस घर

१. **सूर्ये**=सूर्य में **विषम्**=विष को **आसजामि**=आसक्त करता हूँ जैसे **सुरावतः**=शराब निकालनेवाले के **गृहे**=घर में **दृतिम्**=चर्मपात्र को। सुरावान् के घर में सुरापात्र बुरा नहीं लगता, इसी प्रकार सूर्यकिरणों में स्थापित विष अशोभन नहीं। सूर्यकिरणें प्राणिशरीर से विष को खेंचकर अपने में स्थापित करती हैं, उनपर विष का घातक प्रभाव नहीं होता। २. **सः**=वह सूर्य—विष का आदान करनेवाला आदित्य **चित् नु**=निश्चय से **न मराति**=इस विष के कारण मरता नहीं। **वयम्**=हम भी **नो मराम**=मरने से बच जाते हैं। **अस्य**=इस विष का **योजनम्**=सम्पर्क **आरे**=हमसे दूर हो जाता है। **हरिष्ठाः**=विष का अपहरण करनेवाली किरणों का अधिष्ठाता (हरि-स्था) यह सूर्य है विष! **त्वा**=तुझे **मधु चकार**=मधु बना देता है। यही **मधुला**=सूर्यकिरणों में विष को संसक्त कर उसे अमृत बना देना ही मधु को प्राप्त करानेवाली 'मधुविद्या' है।

भावार्थ—सूर्यकिरणों में स्थापित विष विष नहीं रहता, वह अमृत हो जाता है।

सूचना—जिस प्रकार पृथिवी मल को लेकर उसे फिर से अन्न में परिवर्तित कर देती है, उसी प्रकार सूर्य विष को लेकर मधु में परिवर्तित कर देता है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

विषहर्त्री कपिञ्जली

इयत्तिका शकुन्तिका सका जघास ते विषम्।
सो चिन्नु न मराति नो वयं मरामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥ ११॥

१. **इयत्तिका**=(इयत्तां कुर्वाणा बाला—सा०) छोटी-सी यह **शकुन्तिका**=पक्षिणी कपिञ्जली है। **सका**=(सा) वह **ते**=तेरे **विषम्**=विष को **जघास**=खा जाती है। २. **सा उ**=वह भी **नु चित्**=निश्चय से **न मराति**=नहीं मरती है। **वयम्**=हम भी **नो मराम**=नहीं मरते हैं। **अस्य**=इस विष का **योजनम्**=सम्पर्क **आरे**=हमसे दूर हो जाता है। **हरिष्ठाः**=यह शकुन्तिका भी विष का हरण करनेवालों में विशेष स्थान रखती है (हरि+स्थाः)। हे विष! यह **त्वा**=तुझे मधु **चकार**=मधुर बना देती है। यही **मधुला**=मधुत्व को प्राप्त करानेवाली मधुविद्या है।

भावार्थ—कपिञ्जली विषहर्त्री है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अबोषधिसूर्याः। **छन्दः**—विराड् ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः।

विषहर्त्री विष्पुलिङ्गका

त्रिः सप्त विष्पुलिङ्गका विषस्य पुष्यमक्षन्।
ताश्चिन्नु न मरन्ति नो वयं मरामारे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार॥ १२॥

१. **त्रिः सप्त**=तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस प्रकार की **विष्पुलिङ्गका**=विष को खा जानेवाली छोटे पक्षियों (चटकाओं) की जातियाँ हैं। **विषस्य**=विष के **पुष्यम्**=प्रबल अंश को **अक्षन्**=खा जाती हैं। २. **ताः**=वे **नु चित्**=निश्चय से **न मरन्ति**=मरती नहीं। **वयं नो मराम**=हम भी मरने से बच जाते हैं। **अस्य योजनम्**=इस विष का सम्पर्क **आरे**=हमसे दूर हो जाता है। ३. **हरिष्ठाः**=इन विष्पुलिङ्गकाओं का विषहरण करनेवालों में ऊँचा स्थान है। ये **त्वा**=तुझे मधु **चकार**=मधु बना देती हैं। यह विष का मधु बना देना ही **मधुला**=मधु को प्राप्त करानेवाली मधुविद्या है।

भावार्थ—छोटी-छोटी चिड़ियाँ विष का हरण करनेवाली हैं।

में **गृहपतिः**=गृहपति भी आप ही हैं। सब ऋत्विजों के माध्यम से तो आप कार्य कर ही रहे हैं, यज्ञ करनेवाले गृहपति के माध्यम से भी तो आप ही गृह का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—सब कार्य प्रभु कर रहे हैं, मनुष्य तो निमित्तमात्र है, अतः हमें कर्तृत्वाभिमान छोड़कर कर्म करते जाना चाहिए। वेदों का सार यही है—'**तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च। तस्माद्धर्मानिमान्सर्वान्नाभिमानात् समाचरेत्।**'

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा-विधर्ता

त्वम॑ग्न इन्द्रो॑ वृष॒भः स॒ताम॑सि॒ त्वं विष्णु॑रुरुगा॒यो न॑म॒स्यः॑।
त्वं ब्र॒ह्मा र॑यि॒विद् ब्र॑ह्मणस्पते॒ त्वं वि॑धर्तः सचसे॒ पुर॑न्ध्या॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं, **सताम्**=सज्जनों के **वृषभः**=सब सुखों के वर्षण करनेवाले **असि**=हैं। २. **त्वम्**=आप ही **विष्णुः**=सर्वव्यापक हैं, **उरुगायः**=ख़ूब गायन के योग्य व स्तुत्य हैं, **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य हैं। ३. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **ब्रह्मा**=सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए हैं, सब गुणों की वस्तुतः चरमसीमा ही हैं। **रयिविद्**=सम्पूर्ण धनों के प्राप्त करानेवाले हैं। ४. हे **विधर्तः**=सबके धारण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **पुरन्ध्या**=पालक व पूरक बुद्धि से **सचसे**=समवेत होते हैं। सम्पूर्ण बुद्धि के आप स्वामी हैं। ५. मन्त्र के चार स्तुतिवाक्यों से स्तोता यह प्रेरणा प्राप्त करता है कि (क) ऐश्वर्यवान् व शक्तिशाली बनकर वह सज्जनों का रक्षक बने (ख) व्यापक मनोवृत्तिवाला बनकर प्रशंसनीय जीवनवाला हो (ग) ज्ञानी बनकर वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करे (घ) बुद्धि का सम्पादन करके धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो।

भावार्थ—हम अपने पिता प्रभु की तरह 'इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा व विधर्ता' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा-मित्र-अर्यमा-अंश

त्वम॑ग्ने॒ राजा॒ वरु॑णो धृ॒तव्र॑त॒स्त्वं मि॒त्रो भ॑वसि द॒स्म ईड्यः॑।
त्वम॑र्य॒मा सत्प॑ति॒र्यस्य॑ सं॒भुजं॒ त्वमंशो॑ वि॒दथे॑ देव भाज॒युः॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **राजा**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं, **वरुणः**=दुःखों का निवारण करनेवाले हैं, **धृतव्रतः**=सूर्यादि सब देवों को अपने-अपने व्रत में (=नियमित कर्म में) धारण करनेवाले हैं। २. **त्वम्**=आप **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाले—मृत्यु से व पाप से त्राण करनेवाले हैं, **दस्मः**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले हैं, **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं। ३. **त्वम्**=आप **अर्यमा**=(अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) सब कुछ देनेवाले हैं, **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक हैं, **यस्य**=जिन आपका दान **सम्भुजम्**=उत्तम पालन करनेवाला व (सततभुजम्=) निरन्तर पालन करनेवाला है। ४. हे **देव**=सब व्यवहारों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **अंशः**=उचित संविभाग करनेवाले हैं, **विदथे**=हमारे ज्ञानयज्ञों में **भाजयुः**=(फलानां भाजयिता) फलों के प्राप्त करानेवाले हैं। ५. राष्ट्र में राजा को भी प्रभु का प्रतिनिधि बनकर (क) प्रजाओं के दुःखों का निवारण करना चाहिए सबको स्वकार्य में स्थापित करना चाहिए (ख) प्रजाओं के प्रति स्नेहवाला होना चाहिए (ग) सबके पालन का ध्यान करना चाहिए (घ) और धन के उचित विभाग का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—प्रभु 'राजा, वरुण, धृतव्रत, मित्र, दस्म, ईड्य, अर्यमा, सत्पति व अंश' हैं। स्तोता

को भी चाहिए कि इन गुणों को अपने में धारण करें।

ऋषिः—आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

त्वष्टा-पुरूवसुः

त्वम॑ग्ने॒ त्वष्टा॑ विध॒ते सु॒वीर्यं॒ तव॒ ग्नावो॑ मित्रमहः सजा॒त्य॑म्।
त्वमा॑शु॒हेमा॑ ररिषे॒ स्वश्व्यं॒ त्वं न॒रां शर्धो॑ असि पुरू॒वसुः॑ ॥ ५ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप ही **त्वष्टा**=इस ब्रह्माण्ड के निर्माता व दीप्तिवाले हैं। **विधते**=उपासक के लिए आप **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति होते हैं, आपकी उपासना से उपासक उत्कृष्ट शक्ति को प्राप्त करता है। २. **तव ग्नावः**=यह सब स्तुतिवचन आपके ही हैं, **मित्रमहः**=हे हितकारी तेजवाले प्रभो! **सजात्यम्**=आपका ही हमारे साथ सच्चा बन्धुत्व है। ३. **त्वम्**=आप **आशुहेमा**=शीघ्रता से प्रेरणा देनेवाले हैं, **स्वश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वसमूह को **ररिषे**=देते हैं। ४. **त्वम्**=आप ही **नराम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों के **शर्धः असि**=बल हैं, **पुरूवसुः**=पालक व पूरक धनों के देनेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही उपासक को शक्ति देते हैं। आप ही सच्चे बन्धु हैं। उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को आप प्राप्त कराते हैं। आप ही पालक व पूरक धनों के दाता हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

शंगयः='शान्ति के गृह' प्रभु

त्वम॑ग्ने रु॒द्रो असु॑रो म॒हो दि॒वस्त्वं शर्धो॒ मारु॑तं पृ॒क्ष ई॑शिषे।
त्वं वातै॑ररु॒णैर्या॑सि शंग॒यस्त्वं पू॒षा वि॑ध॒तः पा॑सि॒ नु त्मना॑ ॥ ६ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **रुद्रः**=(रुत् दुःखं, दुःखहेतुः, पापं वा, तद्द्रावयति) दुःखों व पापों को दूर करनेवाले हैं। **असुरः**=(असून् राति) प्राणशक्ति को देनेवाले हैं। वस्तुतः प्राणशक्ति को देकर ही आप हमारे दुःखों व अशुभवृत्तियों को दूर करते हैं। आप **दिवः महः**=द्युलोक से भी महान् हैं। द्युलोक आपमें स्थित है, आप द्युलोक में स्थित हो (इसमें ही समा गये हो) ऐसी बात नहीं। **त्वम्**=आप ही **मारुतं शर्धः**=वायु सम्बन्धी बल हैं। वायु का सब वेग आप ही के कारण है। **पृक्षः**=हवीरूप अन्न के **ईशिषे**=आप ही स्वामी हैं। २. **त्वम्**=आप ही **अरुणैः**=(ऋ गतौ) निरन्तर गतिशील **वातैः**=इन वायुवों में **यासि**=गति करते हैं। वायु को गति आप ही प्राप्त कराते हैं। **शंगयः**=आप शान्ति व सुख के घर हैं। **त्वं पूषा**=आप ही सबका पोषण करनेवाले हैं। **विधतः**=पूजा करनेवाले यज्ञशील पुरुषों को **नु**=निश्चय से **त्मना**=आप स्वयं ही **पासि**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—अग्नि वायु सूर्य आदि सब देवों में प्रभु की शक्ति ही काम करती है। प्रभु ही शान्ति के गृह हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

द्रविणोदा-रत्नधा

त्वम॑ग्ने द्रविणो॒दा अ॑रं॒कृते॒ त्वं दे॒वः स॑वि॒ता र॑त्न॒धा अ॑सि।
त्वं भगो॑ नृपते॒ वस्व॑ ई॑शिषे॒ त्वं पा॒युर्दमे॒ यस्तेऽवि॑धत् ॥ ७ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अरंकृते**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करनेवाले के लिए **द्रविणोदाः**=आप धनों के देनेवाले हैं। **त्वम्**=आप **देवः**=सब कुछ देनेवाले **सविता**=सबके प्रेरक **रत्नधाः असि**=रमणीय रत्नों के धारण करनेवाले हैं। २. **त्वम्**=आप **भगः**=ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। **नृपते**=हे नरों के रक्षक प्रभो! आप **वस्वः ईशिषे**=सब वसुओं के ईश हैं। **यः**=जो **दमे**=इस शरीररूप गृह में **ते अविधत्**=आपकी उपासना करता है, उसके **त्वं पायुः**=आप रक्षक हो।

भावार्थ—हम अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करें तो प्रभु हमें धनों के देनेवाले होते हैं, सब रमणीय रत्नों को प्राप्त कराते हैं। उपासक प्रभु की रक्षा का पात्र बनता है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

अनन्त तेजःपुञ्ज प्रभु

त्वामग्ने दम आ विश्पतिं विशस्त्वां राजानं सुविदत्रमृञ्जते।
त्वं विश्वानि स्वनीक पत्यसे त्वं सहस्राणि शता दश प्रति॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विश्पतिम्**=प्रजाओं के पालक **त्वाम्**=आपको **विशः**=प्रजाएँ **दमे**=इस शरीरगृह में **आऋञ्जते**=प्रसाधित करती हैं **त्वाम्**=उन आपको, जो आप **राजानम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के व्यवस्थापक (Regulator) हैं, तथा **सुविदत्रम्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले हैं, अथवा 'सुधन'–(विद् लाभे)–वाले हैं। २. हे **स्वनीक**=उत्तम बल व दीप्तिवाले प्रभो! आप (अनीक Splendour, brilliance, form तेजस्) **विश्वानि**=सम्पूर्ण बलों व दीप्तियों के **पत्यसे**=ईश्वर हैं। **त्वम्**=आप **सहस्राणि**=हजारों **शता**=सैकड़ों व **दश**=दसियों, अथवा 'दशशता सहस्राणि'=१०००००० तेजों के **प्रति**=प्रतिनिधि हो। 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता–यदि भाःसदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः' सहस्रशः सूर्यों के तेज के समान प्रभु का तेज है। वस्तुतः सब पिण्डों को प्रभु ही तो दीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही रक्षक हो–सुविदत्र हो–तेजःपुञ्ज हो।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पिता, भ्राता व पुत्र

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।
त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत्त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नरः**=उन्नति पथ पर चलनेवाले मनुष्य **पितरं त्वाम्**=सबके पालक आपको **इष्टिभिः**=यज्ञों से (विधन्ति) पूजते हैं। वस्तुतः प्रभु यज्ञों के द्वारा ही हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु ने वेद के द्वारा इन यज्ञों का उपदेश देकर हमारे रक्षण की व्यवस्था की है। २. **तनूरुचम्**=हमारे शरीरों को दीप्ति प्रदान करनेवाले **त्वाम्**=आपको **शम्या**=कर्मों के द्वारा **भ्रात्राय**=भ्रातृत्व के लिए—भरण व पोषण के लिए पूजते हैं। वस्तुतः कर्मों में लगे रहना ही भरण का सर्वोत्तम साधन है। ३. **यः**=जो **ते**=आपका **अविधत्**=पूजन करता है, उसके लिए **त्वम्**=आप **पुत्रः**='पुनाति त्रायते' पवित्र करनेवाले व रक्षा करनेवाले **भवसि**=होते हैं। प्रभु पूजन ही पवित्रता व रक्षा का मूल साधन है। ४. **त्वम्**=आप **सखा**=उपासक के मित्र होते हुए **सुशेवः**=उत्तम सुखों के देनेवाले हैं और **आधृषः**=समन्तात् शत्रुओं के घर्षण करनेवाले होकर **पासि**=उस उपासक का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'पिता–भ्राता व पुत्र' हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अन्न-भूख-धन

त्वम॑ग्न ऋ॒भुरा॒के न॑म॒स्य१॒॑स्त्वं वाज॑स्य क्षु॒मतो॑ रा॒य ई॑शिषे।
त्वं वि भा॒स्यनु॑ दक्षि दा॒वने॒ त्वं वि॒शिक्षु॑रसि य॒ज्ञमा॒तनिः॑॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **ऋभुः**=ख़ूब ही भासमान हैं अथवा ऋत से देदीप्यमान हैं। आप **आके**=अन्तिकतमस्थान हृदय में **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य हैं। २. **त्वम्**=आप **क्षुमतः**=भूखवाले **वाजस्य**=अन्न के तथा **रायः**=ऐश्वर्यों के **ईशिषे**=ईश हैं। आप अन्न को देते हैं, साथ ही खाने की शक्ति भी देते हैं। जीवनरक्षा के लिए अन्य आवश्यक धनों को भी देते हैं। ३. **त्वम्**=आप **विभासि**=ख़ूब ही दीप्त हैं। आप **दावने**=हवि के देनेवाले यजमान के लिए **अनुदक्षि** (धक्षि)=क्रमशः वासनाओं का दहन करनेवाले हैं। त्याग के अनुपात में आप वासना को दग्ध करते हैं। ४. **त्वम्**=आप **विशिक्षुः असि**=विशिष्ट शिक्षा को देनेवाले हैं और हमारे जीवनों में **यज्ञमातनिः**=यज्ञ का विस्तार करनेवाले हैं। प्रभु वेदज्ञान द्वारा हमें यज्ञों का उपदेश करते हैं और इस प्रकार हमारे जीवनों में यज्ञों का विस्तार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें अन्न, खाने की शक्ति व धनों को देकर इस योग्य बनाते हैं कि हम वेदज्ञान को प्राप्त करके यज्ञमय-जीवनवाले बनें।

ऋषिः—आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

वृत्रहा सरस्वती

त्वम॑ग्ने॒ अदि॑ति॒र्देव दा॒शुषे॒ त्वं होत्रा॒ भार॑ती वर्धसे गि॒रा।
त्वमिळा॑ श॒तहि॑मासि॒ दक्ष॑से॒ त्वं वृ॑त्र॒हा व॑सुपते॒ सर॑स्वती॥ ११॥

१. हे **देव**=सब कुछ देनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—हवि देनेवाले के लिए **अदितिः**=(अविद्यमाना दितिः यस्मात्) न खण्डन होने देनेवाले हो। इस दाश्वान् के स्वास्थ्य को आप ठीक रखते हो। २. **त्वम्**=आप ही **होत्रा**=होमनिष्पादिका—यज्ञादि सिद्ध करनेवाली **भारती**=आदित्य-रश्मिरूप वाणी हैं। **गिरा**=इस वाणी के द्वारा आप **वर्धसे**=बढ़ते हैं—इस वाणी से आपका ही स्तवन होता है। ३. **त्वम्**=आप ही **शतहिमा**=शत हिम ऋतुओं तक चलनेवाली **इडा**=यह पृथिवी **असि**=हैं और **दक्षसे**=सब प्रकार उन्नतियों का कारण होते हैं (दक्ष् to grow)। अध्यात्म में पृथिवी 'शरीर' है। यह सामान्यतः सौ वर्ष तक चलता है, अतः 'शतहिमा' कहा गया है। ४. हे **वसुपते**=सब वसुओं—ऐश्वर्यों के स्वामिन्! **त्वम्**=आप ही **वृत्रहा**=सब वासनाओं को नष्ट करनेवाली **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे स्वास्थ्य को नष्ट नहीं होने देनेवाले हैं (अदिति)। ज्ञान की वाणियों से यज्ञों का उपदेश देते हैं (होत्रा भारती)। शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाले इस शरीर को देकर हमारा वर्धन करते हैं (शतहिमा इडा)। वासनाओं के विनाशक ज्ञान को प्राप्त कराते हैं (वृत्रहा सरस्वती)।

ऋषिः—आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

उत्तमं वयः-श्रियः-वाजः-रयिः

त्वम॑ग्ने सुभृत उ॒त्तमं॒ वय॒स्तव॑ स्पा॒र्हे वर्ण॒ आ सं॒दृशि॒ श्रियः॑।
त्वं वाजः॑ प्र॒तर॑णो बृ॒हन्न॑सि॒ त्वं र॒यिर्ब॑हु॒लो वि॒श्वत॒स्पृथुः॑॥ १२॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वाम्**=आपको **सुभृतः**=उत्तमता से धारण किये हुए होने पर **उत्तमं वयः**=उत्कृष्ट जीवन होते हैं। आपको धारण करने पर हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनते हैं। २. **तव**=आपके **स्पार्हे**=स्पृहणीय **सन्दृशि**=दर्शनीय **वर्णे**=वर्ण में **श्रियः आ**=सब लक्ष्मियाँ आश्रय पाकर रहती हैं। प्रभु 'आदित्यवर्णम्' हैं, इस आदित्य के समान चमकते वर्ण में सब लक्ष्मियों का निवास है। अथवा 'वर्णे' का अर्थ है—वर्णन-गुणस्तवन। प्रभु के गुणस्तवन में सब लक्ष्मियों का निवास है। प्रभु के स्तोता को सब लक्ष्मियाँ प्राप्त होती हैं। ३. **त्वम्**=आप ही **वाजः**=वह बल **असि**=हैं, जो कि **प्रतरणः**=हमें सब शत्रुओं से तरानेवाला है—सब शत्रुओं को जीतने की क्षमता प्रदान करता है तथा **बृहन्**=वृद्धि का कारणभूत है। ४. **त्वम्**=आप ही **रयिः**=वह धन हैं, जो कि **बहुलः**=बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाला है और **विश्वतः पृथुः**=सब दृष्टिकोणों से विस्तारवाला है। आप से दिया हुआ धन हमारी आवश्यकताओं का पूरण करता हुआ हमारी सब शक्तियों का विस्तार करता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमें उत्कृष्ट जीवन-श्री-शक्ति व धन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु ही हमारे आस्य व जिह्वा हैं

त्वाम॑ग्न आ॒दि॒त्यास॑ आ॒स्यं॑१ त्वां जि॒ह्वां शुच॑यश्चक्रिरे कवे।
त्वां रा॑ति॒षाचो॑ अध्व॒रेषु॑ सश्चिरे॒ त्वे दे॒वा ह॒विर॑द॒न्त्याहु॑तम्॥ १३॥

१. **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **आदित्यासः**=सब गुणो का आदान करनेवाले देव **आस्यं चक्रिरे**=अपना मुख बनाते हैं। हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **शुचयः**=ये पवित्रान्तःकरणवाले देव **जिह्वां चक्रिरे**=अपनी जिह्वा बनाते हैं। आपको ही अपना मुख, आपको ही अपनी जिह्वा समझते हैं, अर्थात् इन खानपान की क्रियाओं को भी आपकी शक्ति से ही होता हुआ जानते हैं। २. **रातिषाचः**=दान से मेलवाले, अर्थात् सदा दान देनेवाले लोग **अध्वरेषु**=यज्ञों में **त्वाम्**=आपका ही **सश्चिरे**=सेवन करते हैं। **त्वे**=आप में ही **आहुतम्**=आहुति रूपेण डाली गयी **हविः**=हवि को **देवाः**=देव **अदन्ति**=खाते हैं। जब मनुष्य त्याग की वृत्तिवाला होता है तो यज्ञ को अपना पाता है। इन यज्ञों के द्वारा वह प्रभु का उपासन करता है। यज्ञ भी तो प्रभु द्वारा ही हो पाते हैं।

भावार्थ—वस्तुतः खानपान आदि भौतिक क्रियाओं और यज्ञादि अध्यात्म क्रियाएँ प्रभु- शक्ति से ही हुआ करती हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु से ही सब अन्न-रस प्राप्त होता है

त्वे अ॑ग्ने॒ विश्वे॑ अ॒मृता॑सो अ॒द्रुह॑ आ॒सा दे॒वा ह॒विर॑द॒न्त्याहु॑तम्।
त्वया॒ मर्ता॑सः स्वदन्त आसु॒तिं त्वं गर्भो॑ वी॒रुधां॑ जज्ञि॒षे शुचिः॑ ॥ १४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विश्वे**=सारे **अमृतासः**=विषयवासनाओं के पीछे न मरनेवाले **अद्रुहः**=द्रोह की वृत्ति से रहित **देवाः**=दिव्यगुणोंवाले पुरुष **त्वे आहुतम्**=आपमें आहुत की गयी **हविः**=हवि को **आसा**=मुख से **अदन्ति**=खाते हैं, सदा त्यागपूर्व अदन करते हैं—यज्ञशेष को खाते हैं और वस्तुतः यह यज्ञशेष का सेवन ही इनके देवत्व का रहस्य है। २. **मर्तासः**=मनुष्य

त्वया=आपसे ही **आसुतिम्**=ओषधियों के रस को और गौ के दूध को **स्वदन्ते**=आस्वादित करते हैं। **शुचिः**=पूर्ण पवित्र व देदीप्यमान आप ही **वीरुधाम्**=सब लताओं के **गर्भः**=गर्भस्थानीय **जज्ञिषे**=होते हैं। 'पुष्णामि ओषधीः सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मकः'=रसात्मक सोम के रूप में होकर आप ही सब ओषधियों का पोषण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब अन्न-रस को प्राप्त करानेवाले हैं। सब ओषधियों का पोषण प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु की अद्वितीय शक्ति

त्वं तान्त्सं च प्रति चासि मज्मनाऽग्ने सुजात प्र च देव रिच्यसे।
पृक्षो यदत्र महिना वि ते भुवदनु द्यावापृथिवी रोदसी उभे॥ १५॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **मज्मना**=अपने बल से **तान्**=गतमन्त्र में वर्णित उन सब देवों के साथ **सं** (गच्छसि)=संगत होते हैं। वस्तुतः आपके बल से ही तो वे बलवाले होते हैं। **च**=और आप **प्रति**=सब देवों के बल के प्रतिनिधि **असि**=हो। सब देवों का बल मिलकर एक ओर हो तो आपका बल उन सबके समान होता है। **च**=और इतना ही नहीं, हे **सुजात**=उत्तम विकासवाले **देव**=दिव्यगुणोंवाले प्रभो! आप बल के दृष्टिकोण से **प्ररिच्यसे**=उन सबके बल से अधिक बलवाले हो। उनके सम्मिलित बल से आपका बल अधिक है। उन सबकी शक्तियाँ आपके तेज के अंश के कारण ही हैं। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यद्**=जो **पृक्षः**=अन्न **अत्र**=यहाँ पृथिवीस्थ अग्नि में डाला जाता है वह **ते महिना**=आपकी ही अग्नि में स्थापित भेदक शक्ति से—**उभे**=दोनों **रोदसी**=परस्पर एक-दूसरे को आह्वान-सा करते हुए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक के **अनु विभुवत्**=अनुसार व्याप्त हो जाता है। अग्नि में डाले हुए घृत आदि पदार्थ अदृश्य सूक्ष्मकणों में विभक्त होकर सारे द्युलोक व पृथिवीलोक में व्याप्त हो जाते हैं। यह भी प्रभु की ही महिमा है। प्रभु ने ही पृथ्वीस्थ अग्नि में यह अद्भुत भेदकशक्ति रखी है।

भावार्थ—सब देवों के सम्मिलित बल से भी प्रभु का बल अधिक है। इस पृथ्वीस्थ अग्नि को प्रभु ने ही अद्भुत भेदकशक्ति प्राप्त करायी है।

ऋषिः—**आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यजमान व ऋत्विजों को स्वर्गप्राप्ति

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसमग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरयः।
अस्माञ्च तांश्च प्र हि नेषि वस्य आ बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १६॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ये सूरयः**=जो ज्ञानी यज्ञशील पुरुष **स्तोतृभ्यः**=प्रभुस्तवन करनेवाले स्तोताओं के लिए **गोअग्राम्**=गौवों की है प्रधानता जिसमें **अश्वपेशसम्**=अश्वों के सौन्दर्यवाली **रातिम्**=राति को—दक्षिणा को **उपसृजन्ति**=देते हैं, अर्थात् जब यजमान स्तोताओं को उत्तम गौ या घोड़ों को प्राप्त कराते हैं तो उस समय **अस्मान् च तांश्च**=हम यजमानों को और उन ऋत्विजों को **हि**=निश्चय से **वस्यः**=उत्कृष्ट वसु की ओर—स्वर्गरूप उत्कृष्ट निवासस्थान की ओर—**प्रनेषि**=ले चलते हैं। प्रभु यज्ञशील पुरुषों को स्वर्ग प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद्वदेम**=खूब ही आपका स्तवन करें। प्रभुस्तवन करते हुए हम

यज्ञिय जीवनवाले हों।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो। ज्ञानयज्ञों में हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की व्यापक महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। अगला सूक्त भी प्रभुस्तवन के उपदेश से ही प्रारम्भ होता है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'यज्ञेन-हविषा-तना-गिरा'

यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा।
समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम्॥ १॥

१. **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा **जातवेदसम्**=सर्वव्यापक व सर्वज्ञ प्रभु का **वर्धत**=वर्धन करो। प्रभु का उपासन यज्ञ से ही तो होता है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **यजध्वम्**=पूजो, उसके साथ मेल करो व उसके प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनो। यह पूजन **हविषा**=हवि के द्वारा होता है—दानपूर्वक अदन ही 'हवि' है। **तना**=शक्तियों के विस्तार के द्वारा यह पूजन होता है। 'तनु विस्तारे'='शरीर की शक्तियों का विस्तार करना' यह प्रभु का समुचित समादर है—प्रभु से दिये हुए शरीर को स्वस्थ रखना यह हमारा कर्त्तव्य है ही। **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से यह आदर होता है। 'हविषा' शब्द हृदय की पवित्रता का संकेत करता है, 'तना' शरीर की शक्ति को बतलाता है तथा 'गिरा' मस्तिष्क की ज्ञानोज्ज्वलता का प्रतिपादक है। २. उस प्रभु का हम पूजन करें जो कि **समिधानम्**=ज्ञान से समिद्ध व दीप्त हैं, **सुप्रयसम्**=उत्तम अन्नोंवाले हैं। वस्तुतः उत्तम अन्नों के द्वारा हमें सात्त्विक बुद्धि प्राप्त कराके हमारे ज्ञान को प्रभु उज्ज्वल करते हैं। **स्वर्णरम्**=इस प्रकार वे प्रभु हमें स्वर्ग की ओर ले जानेवाले हैं। **द्युक्षम्**=वे प्रभु दीप्त हैं—प्रकाशमयलोक में निवास करनेवाले हैं। हम भी अपने हृदयों को निर्मल बनाते हैं तो उन हृदयों में प्रभु का निवास होता है। **होतारम्**=वे प्रभु हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। **वृजनेषु**=बलों में **धूर्षदम्**=मुख्य पद पर विराजनेवाले हैं—अपने उपासकों को भी शक्तिसम्पन्न बनानेवाले हैं।

भावार्थ—'यज्ञ, त्यागपूर्वक अदन, शक्तियों का विस्तार तथा ज्ञान की वाणियों का अध्ययन' यही प्रभुपूजन है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभुस्तवन से प्रकाश की प्राप्ति

अभि त्वा नक्तीरुषसो ववाशिरेऽग्ने वत्सं न स्वसरेषु धेनवः ।
दिव इवेदरतिर्मानुषा युगा क्षपो भासि पुरुवार संयतः॥ २॥

१. **न**=जिस प्रकार **धेनवः**=गौवें **स्वसरेषु**=(स्वयं सरणाधिकरणेषु सा०) स्वतन्त्रता से विचरण के आधारभूत गोष्ठों में **वत्सम्**=बछड़े के प्रति शब्द करती हैं, इसी प्रकार प्रजाएँ हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा अभि**=आपके प्रति **नक्तीः उषसः**=रात्रि और दिन **ववाशिरे**=प्रार्थना शब्दों को करते हैं। सब प्रजाएँ आपको ही पुकारती हैं। २. हे **पुरुवार**=पालक व पूरक है वरण जिनका ऐसे प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **दिवः इव अरतिः**=द्युलोक की तरह व्याप्त हैं (अरतिः व्याप्तः विस्तृतः) 'खं ब्रह्म' है। **संयतः**=पूजा के द्वारा हृदय में बद्ध किये गये आप **मानुषा युगा**=इन मानव-दम्पतियों को **क्षपः**=रात्रियों में **भासि**=दीप्त करते हैं। कितना भी अन्धकारमय समय जीवन में आ जावे प्रभु

की आराधना से प्रकाश प्राप्त होता है और सब व्याकुलता दूर हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक घने अन्धकार में भी प्रकाश को देखता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदय के अन्तस्तल में प्रभु का प्रेरण

तं दे॒वा बु॒ध्ने रज॑सः सु॒दंस॑सं दि॒वस्पृ॑थि॒व्योर॑र॒तिं न्ये॑रिरे।
रथ॑मिव॒ वेद्यं॑ शु॒क्रशो॑चिषम॒ग्निं मि॒त्रं न क्षि॒तिषु॑ प्र॒शंस्य॑म्॥ ३॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **रजसः बुध्ने**=हृदयान्तरिक्ष के मूल में—हृदय के अन्तस्तल में **तम्**=उस प्रभु को **न्येरिरे**=निश्चय से प्रेरित करते हैं, जो **सुदंससम्**=उत्तम कर्मोंवाले हैं व सुदर्शनीय हैं, **दिवस्पृथिव्योः**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक में **अरतिम्**=गति करनेवाले व व्याप्त हैं अथवा इन द्युलोक व पृथ्वीलोक के ईश्वर हैं। २. जो प्रभु **रथम् इव वेद्यम्**=रथ की तरह जानने योग्य हैं—जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए वे प्रभु रथ के समान हैं—प्रभु को आधार बनाकर हम निश्चय से इस जीवनयात्रा को पूरा कर पाते हैं। **शुक्रशोचिषम्**=उज्ज्वल ज्ञान की दीप्तिवाले हैं, अथवा प्रभुज्ञानदीप्ति हमारे जीवनों को निर्मल करनेवाली है। **अग्निम्**=वे प्रभु अग्रणी हैं। **मित्रं न**=सूर्य के समान देदीप्यमान हैं 'आदित्यवर्णम्'। **क्षितिषु प्रशंस्यम्**=मनुष्यों में प्रकर्षेण स्तुत्य हैं—अथवा सब लोकलोकान्तरों में स्तुति के योग्य हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष परमात्मा का ही हृदय के अन्तस्तल में स्मरण करते हैं। उसी का प्रशंसन करते हैं। यह शंसन ही वस्तुतः उन्हें देव बनाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सर्वत्र व्याप्त आनन्दमय प्रभु

तमु॒क्षमा॑णं॒ रज॑सि॒ स्व आ दमे॑ च॒न्द्रमि॑व सु॒रुचं॑ ह्वा॒र आ द॑धुः।
पृश्न्याः॑ पत॒रं चि॒तय॑न्तम॒क्षभिः॑ पा॒थो न पा॒युं जन॑सी उ॒भे अनु॑॥ ४॥

१. **तम्**=उस प्रभु को, जो कि **रजसि**=हृदयान्तरिक्ष में **आ उक्षमाणम्**=आनन्द रस का सर्वतः सेचन करनेवाले हैं, तथा **चन्द्रम् इव सुरुचम्**=चन्द्रमा के समान उत्कृष्ट दीप्तिवाले हैं, उन प्रभु को **स्वे दमे**=अपने ही शरीरगृह में **ह्वारे**=(उपह्वारे=The solitary place) वासनाशून्य एकान्त हृदयदेश में **आदधुः**=स्थापित करते हैं। २. उस प्रभु को स्थापित करते हैं, जो कि **पृश्न्याः पतरम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्षलोक में व्याप्त होनेवाले हैं। **अक्षभिः**=अपनी अनन्त आखों से (विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतस्पात्) **चितयन्तम्**=सबके सब कर्मों को जान रहे हैं। **पाथः न पायुम्**=उदक की तरह जो हम सबके रक्षक हैं—पानी जैसे भेषज है—सब रोगों का निवारण करनेवाला 'वारि' है, उसी प्रकार प्रभु हम सबके रक्षक हैं। **उभे जनसी**=दोनों जन्म देनेवाले पिता-माता के रूप में द्यावापृथिवी को **अनु**=व्याप्त किये हुए हैं। इस प्रभु को हृदय गुहा में धारण करते हैं। वस्तुतः इस प्रकार प्रभु को हृदय में धारण करने पर ही अद्‌भुत आनन्दरस का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु को अपने शरीर में वासनाशून्य विजन हृदयदेश में हम धारण करें। यह धारण ही हमें आनन्द की अनुभूति का देनेवाला होगा।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञिय भावना व ज्ञान की वाणी

स होता॒ विश्वं॒ परि॑ भूत्वध्व॒रं तमु॑ ह॒व्यैर्मनु॑ष ऋञ्जते गि॒रा।
हि॒रि॒शि॒प्रो वृ॑धसा॒नासु॒ जर्भु॑रद् द्यौर्न स्तृ॒भिश्चि॑तय॒द्रोद॑सी॒ अनु॑॥ ५॥

१. **सः**=वे प्रभु **होता**=होता हैं—यज्ञों के लिए सब पदार्थों को देनेवाले हैं। **विश्वम् अध्वरम्**=सब यज्ञों को **परिभूतु**=सर्वतः व्याप्त करनेवाले हैं। **तम् उ**=उस प्रभु को ही **मनुषः**=विचारशील पुरुष **हव्यैः**=सब हव्य पदार्थों से—दानपूर्वक अदन से (हु दानादनयोः) तथा **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से **ऋञ्जते**=प्रसाधित करते हैं। प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें—यज्ञशेष का सेवन करें और ज्ञान की वाणियों को अपनाएँ। २. इस प्रभुप्राप्ति के लिए ही एक उपासक **हिरिशिप्रः**=दीप्त हनु व नासिकावाला होता हुआ अर्थात् ख़ूब चबाकर खानेवाला तथा प्राणसाधना करनेवाला होता हुआ **वृधसानासु**=ओषधियों पर ही **जर्भुरत्**=अपना भरणपोषण करता है। वस्तुतः एक उपासक किसी प्राणी के मांस से अपने मांस को बढ़ाने का विचार कर ही नहीं सकता। ३. **न**=जिस प्रकार **द्यौः**=द्युलोक **स्तृभिः**=तारों से सारे लोक को प्रकाशयुक्त करता है, उसी प्रकार वे प्रभु **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **अनु चितयत्**=अपने प्रकाश से परिपूर्ण करते हैं—सारे ब्रह्माण्ड को चेतना से युक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हमारे मनों में यज्ञ की भावना हो और मस्तिष्क में ज्ञान की वाणी।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

धन+प्रभुस्मरण

स नो रेवत्समिधानः स्वस्तये सन्ददस्वान्रयिमस्मासु दीदिहि।
आ नः कृणुष्व सुविताय रोदसी अग्ने हव्या मनुषो देव वीतये॥ ६॥

१. **समिधानः**=गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों व ज्ञान की वाणियों से हृदय देश में समिद्ध किये जाते हुए **सः**=वह आप **नः**=हमारे लिए **रेवत्**=(रयिमत्) प्रशस्त धनयुक्त **स्वस्तये**=कल्याण के लिए हों। **रयिम्**=ऐश्वर्य को व धन को **सन्ददस्वान्**=देनेवाले आप **अस्मासु दीदिहि**=हमारे में दीप्त हों। २. **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **नः सुविताय**=हमारे भद्राचरण के लिए **आकृणुष्व**=सर्वथा करिए। 'द्यावा' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है। मेरा मस्तिष्क व शरीर—ज्ञान व शक्ति दोनों सुवित के लिए हों। ज्ञान और शक्ति प्राप्त करके मैं शुभमार्ग पर ही चलूँ। ३. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **हव्या**=हव्यपदार्थ **देववीतये**=दिव्यगुणों के विकास के लिए हों।

भावार्थ—प्रभु हमें धन दें—धन के साथ हमें प्रभु का स्मरण रहे। हमारा ज्ञान व बल हमें शुभमार्ग पर ले चले। 'त्यागपूर्वक अदन' हमारे में दिव्यगुणों के विकास का कारण बने।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

धन+ज्ञान+शक्ति व प्रभुस्मरण

दा नो अग्ने बृहतो दाः सहस्रिणो दुरो न वाजं श्रुत्या अपा वृधि।
प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि स्वर्ण शुक्रमुषसो वि दिद्युतुः॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमारे लिए **बृहतः**=वृद्धि के साधनभूत ख़ूब ही धन को **दाः**=दीजिए। **सहस्रिणः**=सहस्र संख्यावाले धनों को **दाः**=दीजिए। २. **दुरः न**=द्वारों की तरह **श्रुत्या**=ज्ञान के लिए **वाजम्**=शक्ति को **अपावृधि**=हमारे लिए खोल दीजिए। जैसे किसी भवन के द्वारों को खोलकर भवन में प्रवेश के लिए सुगमता पैदा की जाती है, इसी प्रकार आप हमारे लिए शक्ति के द्वारों को खोलकर हमें ज्ञान में प्रवेश के लिए योग्य कीजिये। हम शक्ति व ज्ञान दोनों को प्राप्त करनेवाले हों। ३. आप हमारे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवी को **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **प्राची**=आगे बढ़नेवाला **कृधि**=करिए। इस ज्ञान को प्राप्त

करने से हमारे जीवनों में **स्वः न शुक्रम्**=आदित्य के समान देदीप्यमान आपको **उषसः**=उषाकाल **विदिद्युतुः**=(विद्योतयन्ति) विद्योतित करते हैं, अर्थात् हम उषाकालों में आपका ध्यान व स्तवन करते हुए आपको देखने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें जीवनयात्रा के लिए आवश्यक धन दीजिए, शक्ति व ज्ञान को प्राप्त कराइए, हमारे मस्तिष्क व शरीर को उन्नत करिए। हम प्रतिदिन आपका स्मरण करते हुए आपके देदीप्यमान रूप को देखने में समर्थ हों।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण व प्रकाशमय सुन्दर जीवन

स इधान उषसो राम्या अनु स्व१र्ण दीदेदरुषेण भानुना।
होत्राभिरग्निर्मनुषः स्वध्वरो राजा विशामतिथिश्चारुरायवे॥ ८॥

१. **सः**=वह **राम्या**=प्रभुस्मरण के कारण अत्यन्त रमणीय **उषसः अनु**=उषाकालों को लक्ष्य करके, अर्थात् उषाकालों में **इधानः**=हृदयान्तरिक्ष में ध्यान द्वारा दीप्त किया जाता हुआ प्रभु **अरुषेण भानुना**=आरोचमान दीप्ति से **स्वः न दीदेत्**=सूर्य के समान चमकता है, अर्थात् जब उपासक प्रभु का तल्लीनता से स्मरण करता है तो वे प्रभु एक उज्ज्वल प्रकाश के रूप में दिखते हैं। २. **मनुषः**=विचारशील पुरुष की **होत्राभिः**=स्तुतिवाणियों से वे प्रभु **अग्निः**=इस स्तोता को उन्नति पथ पर आगे ले चलनेवाले होते हैं। **स्वध्वरः**=वे प्रभु इस उपासक के जीवन में उत्तम अहिंसात्मक कर्मों को करानेवाले होते हैं। ये प्रभु इन सब **विशाम्**=प्रजाओं के **राजा**=जीवन को व्यवस्थित (Regulated) करनेवाले होते हैं। **अतिथिः**=उन्हें निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं **आयवे**=गतिशील पुरुष के लिए ये प्रभु **चारुः**=सब गति को देनेवाले हैं (चरणशीलः) और उनके जीवन को सुन्दर बनानेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हैं—प्रभु हमारे जीवनों को प्रकाशमय करते हैं और उससे हमारे जीवन सुन्दर बनते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

बुद्धि से ज्ञानधेनु का दोहन

एवा नो अग्ने अमृतेषु पूर्व्य धीष्पीपाय बृहद्दिवेषु मानुषा।
दुहाना धेनुर्वृजनेषु कारवे त्मना शतिनं पुरुरूपमिषणि॥ ९॥

१. हे **अमृतेषु पूर्व्य**=न नष्ट होनेवाले 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' इन तीन तत्त्वों में सर्वप्रथम स्थान में स्थित प्रभो! **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **एवा**=इस प्रकार गतमन्त्रों के अनुसार प्रतिदिन आपका स्मरण करने से **नः**=हमें, **बृहद् दिवेषु**=खूब ज्ञान की ज्योतियों की प्राप्ति के निमित्त **मानुषा धीः**=मनुष्य के लिए हितकारिणी बुद्धि **पीपाय**=आप्यायित करनेवाली हो। उपासना से हमें वह बुद्धि प्राप्त हो जो कि हमारी ज्ञानज्योति को निरन्तर बढ़ानेवाली हो। २. **कारवे**=कुशलता से कर्मों को करनेवाले के लिए **धेनुः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली यह वेदवाणी रूप गौ **वृजनेषु**=पापवर्जन के निमित्त व शक्ति को प्राप्त कराने के निमित्त **दुहाना**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली होती है। यह धेनु **इषणि**=(एषणायां सत्यां) ज्ञानप्राप्ति की प्रबल कामना होने पर **त्मना**=स्वयं ही **शतिनम्**= शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाले अथवा सैकड़ों धनों को प्राप्त करानेवाले **पुरुरूपम्**=अनन्त रूपोंवाले—विविध विषयों का निरूपण करनेवाले ज्ञान को दोहती है।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि देते हैं। इस बुद्धि के होने पर वेदवाणीरूप गौ हमारे लिए आवश्यक ज्ञान का दोहन करती है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुवीर्य-द्युम्न

वयमग्ने अर्वता वा सुवीर्यं ब्रह्मणा वा चितयेमा जनाँ अति।
अस्माकं द्युम्नमधि पञ्च कृष्टिषूच्चा स्वर्ण शुशुचीत दुष्टरम्॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वयम्**=हम **अर्वता वा**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों से **ब्रह्मणा वा**=अथवा ज्ञानप्राप्ति की साधनभूत ज्ञानेन्द्रियों से **जनान् अति**=सब मनुष्यों से लाँघकर **सुवीर्यम्**=उत्कृष्ट शक्ति को **आ चितयेम**=प्रकाशित करें। सब इन्द्रियों के अपने-अपने कार्य को ठीक प्रकार से करने के द्वारा हम अपनी शक्ति के द्वारा लोगों में चमक उठें। २. **अस्माकम्**=हमारा **द्युम्नम्**=ज्ञान धन **पञ्च कृष्टिषु**='ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र व निषाद रूप' पाँच भागों में विभक्त हुए मनुष्यों में **उच्चा**=ख़ूब उच्च हो, **दुस्तरम्**=किसी से पराजित न किया जानेवाला हो और **स्वः न**=सूर्य के समान **अधिशुशुचीत**=आधिक्येन दीप्त हो उठे।

भावार्थ—सब कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के ठीक होने से हम शक्ति व ज्ञान के द्वारा दीप्त हो उठें। कर्मेन्द्रियों के ठीक होने से हम **सुवीर्य,** दीप्त हों तथा ज्ञानेन्द्रियों के ठीक होने से **द्युम्न** से प्रकाशित हों।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्तिशाली ही प्रभु को पाता है

स नो बोधि सहस्य प्रशंस्यो यस्मिन्त्सुजाता इषयन्त सूरयः।
यमग्ने यज्ञमुपयन्ति वाजिनो नित्ये तोके दीदिवांसं स्वे दमे॥ ११॥

१. हे **सहस्य**=शत्रुओं के मर्षण करनेवाले बल में उत्तम प्रभो! **सः**=वे आप **नः बोधि**=हमारा ध्यान करिए। आपने ही तो हमारा पालन-पोषण करना है। **प्रशंस्यः**=आप ही शंसन के योग्य हैं। **यस्मिन्**=जिन आप में स्थित होनेवाले **सूरयः**=ज्ञानी पुरुष **सुजाता**=उत्तम विकासवाले होते हुए **इषयन्त**=गति करते हैं। २. वे आप हमारा पालन व पोषण करिए **यं यज्ञम्**=जिन उपासनीय आप को **वाजिनः**=शक्तिशाली पुरुष **उपयन्ति**=समीपता से प्राप्त होते हैं। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! उन आपको ये शक्तिशाली पुरुष प्राप्त होते हैं, जो आप **नित्ये तोके**=और सुपुत्र में जैसे पिता चमकता है उसी प्रकार **स्वे दमे**=अपने इस शरीरगृह में **दीदिवांसम्**=चमकनेवाले हैं। यह शरीर प्रभु से निर्मित होने से प्रभु-पुत्र के समान है। इसमें प्रभु दीप्त होते हैं—इसकी रचना में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। इस शरीर को शक्तिशाली बनाये रखना ही प्रभुपूजन है—प्रभु की दी हुई वस्तु को विकृत न करना प्रभु का समादर है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारा ध्यान करते हैं। हमें प्रभु में स्थित होकर कार्यों को करते हुए अपनी शक्तियों का विकास करना चाहिए। हमें प्रभु के दिये हुए इस शरीर को विकृत न होने देना चाहिए।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञानी भक्त

उभयासो जातवेदः स्याम ते स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि।
वस्वो रायः पुरुश्चन्द्रस्य भूयसः प्रजावतः स्वपत्यस्य शग्धि नः॥ १२॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **उभयासः**=दोनों **स्तोतारः**=आपका स्तवन करनेवाले **सूरयः च**=और ज्ञानी बनकर हम **ते शर्मणि स्याम**=आपकी शरण में हों (शर्म=Protection)। प्रभु का शरण ज्ञानी भक्तों को प्राप्त होता है। २. आप **नः**=हमें **रायः**=उस

धन को **शग्धि**=देने में समर्थ (दातुं शक्ती भवास सा०) जो धन **वस्वः**=(निवासयति) उत्तम निवास का कारण बनता है, **पुरुश्चन्द्रस्य** (पृ पालनपूरणयोः, चदि आह्लादे) पालक व पूरक है तथा आह्लाद को प्राप्त करानेवाला है, **भूयसः**=जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त है, **प्रजावतः**=उत्तम विकास से युक्त है तथा **स्वपत्यस्य**=उत्तम सन्तानोंवाला है। जिस धन के कारण सन्तानों में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। संसार में प्रायः धनी पुरुषों के सन्तान कुछ प्रमादी होकर हीन जीवनवाले हो जाते हैं। हमारा धन इस कमी को पैदा करने का कारण न बने।

भावार्थ—हम ज्ञान व भक्ति को अपनाकर प्रभु की शरण में स्थित हों, प्रभु हमें उत्कृष्ट धनों के प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्वर्गप्राप्ति

ये स्तोतृभ्यो गोअग्रामश्वपेशसमग्ने रातिमुपसृजन्ति सूरयः।
अस्माञ्च तांश्च प्र हि नेषि वस्य आ बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ १३ ॥

२.१.१६ पर इसका व्याख्यान हो चुका है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुस्तवन के प्रकार का प्रतिपादन कर रहा है। 'प्रभु हमें दिव्यगुणों से युक्त करें' इस प्रार्थना से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-यजन

समिद्धो अग्निर्निहितः पृथिव्यां प्रत्यङ्विश्वानि भुवनान्यस्थात्।
होता पावकः प्रदिवः सुमेधा देवो देवान्यजत्वग्निरर्हन् ॥ १ ॥

१. **समिद्धः**=ज्ञान और भक्ति के द्वारा (२.२.१२) हृदय में दीप्त किये गये वे प्रभु **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पृथिव्यां प्रत्यङ् निहितः**=इस शरीररूप पृथिवी में स्थापित किये गये हैं। ये प्रभु ही **विश्वानि भुवनानि अस्थात्**=सब भुवनों के अधिष्ठाता हैं। प्रभु सब लोकों के अधिष्ठाता होते हुए हमारे हृदयों में आसीन हैं। ज्ञान व भक्ति के द्वारा इस हृदय के पवित्र होने पर हमें प्रभु का दर्शन होता है। २. इस प्रकार साक्षात् किये गये प्रभु **होता**=हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं, **पावकः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले हैं, **प्रदिवः**=अत्यन्त प्रकाशमय हैं, **सुमेधा**=उत्तम बुद्धि को देनेवाले हैं, **देवः**=हमारी सब वासनाओं को—काम, क्रोध आदि को जीतने की कामना करनेवाले हैं (दिव् विजिगीषा), **अग्निः**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं, **अर्हन्**=पूजा के योग्य हैं, ३. ये प्रभु **देवान् यजतु**=हमारे साथ देवों का संगतिकरण (मेल) करें। वस्तुतः जितना-जितना हम प्रभु के समीप होते हैं उतना-उतना दिव्यगुणों के साथ सम्पर्क वाले होते हैं। महादेव का उपासन हमें अधिक से अधिक दिव्यवृत्तिवाला बनाता ही है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों में स्थित हैं। वे हमें उत्तम बुद्धि प्राप्त कराते हैं। प्रभु के उपासन से हमारे में दिव्यता का विकास होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञों द्वारा दिव्यगुणों का विकास

नराशंसः प्रति धामान्यञ्जन्तिस्त्रो दिवः प्रति मह्ना स्वर्चिः।
घृतप्रुषा मनसा हव्यमुन्दन्मूर्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान्॥ २॥

१. **नराशंसः**=मनुष्यों से शंसन के योग्य वे प्रभु **धामानि प्रति अंजन्**=तेजों को प्रत्येक स्थान में व्यक्त करते हैं। शंसन करनेवाले लोगों के तेजों को वे प्रभु ही व्यक्त करते हैं। बुद्धिमान् पुरुषों की बुद्धि प्रभु ही हैं और बलवालों का बल भी वे प्रभु ही हैं। २. **तिस्त्रः**=तीनों **दिवः**='अग्नि विद्युत् व सूर्य' रूप ज्योतियों को **प्रति**=लक्ष्य करके वे प्रभु ही **मह्ना**=अपनी महिमा से **स्वर्चिः**=शोभनज्वाला वाले हैं। अग्नि आदि प्रकाशमय पिण्डों को प्रभु ही प्रकाश प्राप्त करा रहे हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। ३. **घृतप्रुषा**=मलों के क्षरण अर्थात् निर्मलता तथा ज्ञानदीप्ति से सिक्त **मनसा**=मन से **हव्यम् उन्दन्**=हव्य पदार्थों को घृत से क्लिन्न करता हुआ यह यज्ञशील पुरुष **यज्ञस्य मूर्धन्**=यज्ञ के अग्रभाग में **देवान् समनक्तु**=दिव्यगुणों को प्राप्त होनेवाला हो। (अंज्=गतौ) प्रभु जैसे अग्नि आदि देवों को प्रकाश से युक्त करते हैं उसी प्रकार इस यज्ञशील पुरुष के जीवन को भी दिव्यगुणों से अलंकृत करते हैं। यज्ञियवृत्ति दिव्यगुणों के विकास के लिए साधन बनती है।

भावार्थ—प्रभु से ही सूर्यादि सब देवों को देवत्व प्राप्त होता है। हम भी यज्ञशील बनें ताकि प्रभु हमें भी देवत्व को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणों का बल

ईळितो अग्ने मनसा नो अर्हन्देवान्यक्षि मानुषात्पूर्वो अद्य।
स आ वह मरुतां शर्धो अच्युतमिन्द्रं नरो बर्हिषदं यजध्वम्॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अर्हन्**=पूजा के योग्य आप **मनसा ईडितः**=मन के द्वारा उपासित हुए **नः**=हमारे लिए **मानुषात् पूर्वः**=सब मनुष्यों से अधिक **अद्य**=आज **देवान् यक्षि**=देवों को संगत करिए। माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि देव भी हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाने में अपना-अपना स्थान रखते हैं। पर प्रभु का स्थान हमारे जीवनों के साथ दिव्यगुणों को संगत करने में सर्वप्रथम है। जो भी प्रभु की उपासना करता है प्रभु उसके जीवन को दिव्य बनाते हैं। २. हे प्रभो! **सः**=वे आप **अच्युतम्**=कभी भी च्युत न होनेवाले, मार्गभ्रष्ट न होनेवाले **मरुतां शर्धः**=प्राणों के बल को **आवह**=प्राप्त कराइए। अन्य इन्द्रियाँ असुरों से आक्रान्त होकर मार्ग भ्रष्ट हो जाती हैं—वाणी अपशब्दों को बोलने लगती हैं, आँख सिनेमा देखने लगती है और कान स्तुति-निन्दा की बातें सुनने लगते हैं, पर प्राणों पर आक्रमण करनेवाले असुर स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं—इन प्राणों का बल अच्युत है। ३. इस प्राणों के बल को प्राप्त करने के लिए हे **नरः**=उन्नति पथ पर चलनेवाले लोगो! **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य हृदय में आसीन होनेवाले **इन्द्रम्**=उन सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभु को **यजध्वम्**=पूजो—अपने साथ संगत करो तथा उसी के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनो।

भावार्थ—प्रभु हमारे साथ दिव्यगुणों का सम्पर्क करते हैं। हमें प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। हम हृदय को पवित्र बनाएँ और वहाँ प्रभु को आसीन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वसु-विश्वेदेव-आदित्य'

देवं बर्हिर्वर्धमानं सुवीरं स्तीर्णं राये सुभरं वेद्यस्याम्।
घृतेनाक्तं वसवः सीदतेदं विश्वे देवा आदित्या यज्ञियासः॥ ४॥

१. हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **अस्याम् वेदी (वेद्याम्)**=इस पृथ्वीरूप शरीर में—जो कि देवों के यज्ञ करने का स्थान है, उसमें **बर्हिः**=यह वासनाशून्य हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्**=मेरे द्वारा बिछाया गया है। यह **वर्धमानम्**=सब उत्तम दृष्टिकोणों से बढ़ा हुआ है, **सुवीरम्**=उत्तम वीरत्व की भावना से परिपूर्ण है, **राये सुभरम्**=ऐश्वर्य के लिए धारण किया गया है—सब उत्तम गुणों के ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। यह हृदयरूप आसन **घृतेन**=मलों के क्षरण—निर्मलता तथा ज्ञानदीप्ति से **अक्तम्**=अलंकृत है—कान्त व सुन्दर है। २. **इदम्**=इस मेरे हृदयासन पर **सीदत**=बैठें। कौन? **वसवः**=वसु **विश्वेदेवाः**=सब देव तथा **आदित्याः**=आदित्य जो कि **यज्ञियासः**=आदरणीय व संगतिकरण योग्य हैं। 'वसु' वे सब दिव्यगुण हैं जो कि हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं, शरीर के स्वास्थ्य का कारण बनते हैं। 'विश्वेदेवाः' से उन दिव्यगुणों का संकेत है जो कि मन को निर्मल बनानेवाले हैं तथा 'आदित्याः' शब्द से सूर्य की किरणों की तरह चमकनेवाली आदित्य- रश्मियों का प्रतिपादन है। हृदय के शुद्ध होने पर शरीर में वसुओं का स्थान बनता है तो मन में 'विश्वेदेवा' का और मस्तिष्क में 'आदित्यों' का।

भावार्थ—हमारा हृदय निर्मल हो। हम वसुओं—विश्वेदेवों तथा आदित्यों का अधिष्ठान बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रियद्वार

वि श्रयन्तामुर्विया हूयमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा नमोभिः।
व्यचस्वतीर्वि प्रथन्तामजुर्या वर्णं पुनाना यशसं सुवीरम्॥ ५॥

१. **देवीः द्वारः**=प्रकाशमय व सब व्यवहारों के साधक इन्द्रियद्वार **विश्रयन्ताम्**=विशेष रूप से हमारा आश्रय व वे इन्द्रियद्वार जो कि **उर्विया हूयमानाः**=ख़ूब ही प्रभु के स्तवन में लगे हैं। ज्ञानेन्द्रियों का प्रभुस्तवन यही है कि वे ज्ञानप्राप्ति में लगी रहें तथा कर्मेन्द्रियों का प्रभुस्तवन यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहना है। ये इन्द्रियद्वार **नमोभिः**=प्रभु के प्रति नमन की भावना के साथ **सुप्रायणाः**=प्रकृष्ट मार्ग पर गति करनेवाले हों। २. **व्यचस्वतीः**=व्याप्तिवाले—अपनी-अपनी शक्ति के विस्तारवाले ये इन्द्रियद्वार **अजुर्याः**=न जीर्ण होते हुए **विप्रथन्ताम्**=विशेषरूप से फैलें। इनकी शक्तियों का पोषण हो। ये इन्द्रियद्वार **यशसम्**=यश से युक्त **सुवीरम्**=उत्तम शक्तिवाले **वर्णम्**=रूप को **पुनानाः**=(संपादयित्र्यः-शोधयित्र्यः सा०) शुद्ध करनेवाले हों, अर्थात् ये अपने अधिष्ठानभूत शरीर को ख़ूब तेजस्वी बनाएँ।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार अपने-अपने कार्यों को करते हुए प्रभु का स्तवन करें। ये हमें तेजस्वी व यशस्वी बनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषासानक्ता

साध्वपांसि सनता न उक्षिते उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती॥ ६॥

१. हे **उषासानक्ता**=दिन और रात्रि के अधिष्ठातृ देवो! **नः**=हमें **साधु अपांसि**=उत्तम कर्मों को **सनता**=प्राप्त कराइए। हम दिनरात उत्तम ही कर्मों को करनेवाले बनें। आप दोनों **उक्षिते**=प्रभु के प्रति श्रद्धा की भावना से सिक्त होवो। श्रद्धा व भक्ति से युक्त होकर हम प्रभुस्मरण करनेवाले बनें। **वय्या इव**=वयनकुशल जुलाहों की तरह **रण्वित**=आप स्तुत होवो। बुनने में कुशल जुलाहों की जिस प्रकार प्रशंसा होती है उसी प्रकार ये दिनरात भी उत्तम कर्मावरण को बुनने के कारण प्रशंसित हों। **ततम्**=ताने के रूप में फैलाये गये **तन्तुम्**=कर्मसूत्र को **संवयन्ती**=ये सम्यक् बुननेवाले हों। २. **समीची**=सम्यक् उत्तम गतिवाले (सम् अञ्च्) ये दिनरात **यज्ञस्य पेशः**=यज्ञ के सुन्दर रूप को (पेशः=रूप) **सुदुघे**=उत्तमता से हमारे में पूरित करनेवाले हों और **पयस्वती**=हमारा आप्यायन करनेवाले हों। 'दुह प्रपूरणे, प्यायी वृद्धौ'। हम दिनरात उत्तम विद्याओं को करते हुए यज्ञमय जीवनवाले हों, और अपनी सब शक्तियों का आप्यायन व वर्धन कर सकें।

भावार्थ—हम दिनरात उत्तम कर्मों को करते हुए यज्ञमय जीवनवाले बनें और अपना वर्धन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दैव्या होतारा (विदुष्टरा-वपुष्टरा)

दैव्या होतारा प्रथमा विदुष्टर ऋजु यक्षतः समृचा वपुष्टरा।
देवान्यजन्तावृतुथा समञ्जतो नाभा पृथिव्या अधि सानुषु त्रिषु॥ ७॥

१. जीवनयज्ञ को चलानेवाले प्राणापान यहाँ 'दैव्या होतारा' कहे गये हैं। प्रभु से उत्पन्न किये जाने व प्राप्त कराए जाने के कारण से 'दैव्या' हैं—जीवनयज्ञ को चलाने के कारण 'होता' हैं। अन्य सब इन्द्रियाँ थक जाती हैं, परन्तु प्राणापान अनथक हैं यही इनकी दिव्यता व अलौकिकता है। चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा प्रभु को प्राप्त कराने के कारण भी ये 'दैव्या' कहलाते हैं—देवप्राप्ति के साधनभूत। २. ये **दैव्या होतारा प्रथमा**=शरीर में सर्वप्रथम स्थान रखते हैं और ये ही सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले हैं (प्रथ विस्तारे)। **विदुष्टरा**=ये प्राणापान उत्कृष्ट ज्ञानी हैं—शक्ति के संयम द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ये हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले हैं। ये **ऋचा**=स्तुतियों के द्वारा **ऋजु**=सरलता से **संयक्षतः**=उस प्रभु का पूजन करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध होने पर प्रभुस्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है और स्वभाव में सरलता आती है। यह आर्जव सरलता ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है 'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'। ३. **वपुष्टरा**=हमारे शरीरों को भी सुन्दर बनाने वाले **देवान् यजन्तौ**=दिव्य गुणों को हमारे साथ संगत करते हुए ये प्राणापान **ऋतुथा**=(ऋ गतौ) नियमित गति के अनुसार—जितना-जितना हम दिनचर्या को नियमित रूप से करनेवाले होते हैं। उतना-उतना **समञ्जतः**=हमारे जीवनों को अच्छाइयों से अलंकृत करते हैं। ये प्राणापान हमें **पृथिव्याः नाभा**=पृथिवी के केन्द्र में अर्थात् यज्ञों में 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' स्थापित करते हैं और **त्रिषु सानुषु अधि**=तीनों शिखरों पर पहुँचाते हैं। शरीर के दृष्टिकोण से पूर्ण स्वास्थ्य ही उन्नतिपर्वत का शिखर है। मन के दृष्टिकोण से यह शिखर 'नैर्मल्य' है, तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह शिखर परा व अपरा विद्या की प्राप्ति है। प्राणसाधना हमें स्वस्थ निर्मल व ज्ञानदीप्त बनाकर शिखरत्रयी पर पहुँचाती है।

भावार्थ—प्राणापान हमारे जीवन यज्ञ के दैव्य होता हैं। ये हमारे ज्ञान व शरीर दोनों को ही उत्तम बनानेवाले हैं 'विदुष्टरा-वपुष्टरा'।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सरस्वती-इळा-भारती'

सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य॥ ८॥

१. **नः**=हमारी **धियम्**=बुद्धि को व कर्म को **साधयन्ती**=सिद्ध करती हुई **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी 'सरस्वती', **देवी**=हमारे सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली **इळा**=वाणी, तथा **विश्वतूर्तिः**=सब दोषों का संहार करनेवाली **भारती**=भरण-पोषण की देवी। ये **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियाँ **स्वधया**=अपनी-अपनी धारणशक्ति के साथ **इदम्**=इस **बर्हिः**=मेरे वासनाशून्य हृदय में **आ निषद्य**=सर्वथा आसीन होकर **शरणम्**=इस शरीरगृह को **अच्छिद्रं पान्तु**=निरन्तर रक्षित करें। २. 'सरस्वती' की उपासना हमारे मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करके सुन्दर बनाती है। 'इळा' की उपासना हमारे सब व्यवहारों को ठीक करती है। हमारे सब व्यवहार वेदवाणी के अनुकूल होने लगते हैं। यह वेदवाणी हमारे लिए 'इ-डा'=एक कानून बन जाती है—वेद के अनुसार हमारे सब कर्म होते हैं 'श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै'। 'भारती' का उपासन हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है और हम स्वस्थ बनकर इस शरीर को प्रभु का सुन्दर मन्दिर बना पाते हैं।

भावार्थ—हम 'सरस्वती, इळा व भारती' की उपासना से मस्तिष्क, वाणी व शरीर को सुन्दर बना पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पिशंगरूप-देवकाम' सन्तान

पिशङ्गरूपः सुभरो वयोधाः श्रुष्टी वीरो जायते देवकामः।
प्रजां त्वष्टा वि ष्यतु नाभिमस्मे अथा देवानामप्येतु पाथः॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब पति-पत्नी 'सरस्वती, इळा व भारती' के उपासक बनते हैं तो उनकी सन्तान **देवकामः**=प्रभुप्राप्ति की कामनावाली या दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाली होती है। **पिशंगरूपः**=यह हिरण्यवर्ण=स्वर्ण के समान देदीप्यमान—तेजस्वीरूपवाली होती है। **सुभरः**=यह उत्तमता से अपने भरण-पोषणवाली बनती है, **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करती है। **श्रुष्टी**=(श्रुष्टिः=Prosperity) यह अभ्युदय को प्राप्त करनेवाली व **वीरः**=वीरता से युक्त होती है। २. **त्वष्टा**=वह संसार का निर्माता प्रभु **अस्मे**=हमारे लिए **नाभिम्**=(नह बन्धने) वंशतन्तु को बांधे रखनेवाली—वंश को विच्छिन्न न होने देनेवाली **प्रजाम्**=सन्तान को **विष्यतु**=(विमुंचतु= वितरतु सा०) प्राप्त कराए। **अथा**=और **देवानाम्**=देवों का **पाथः**=(पाथस्=Food) भोजन **अपि एतु**=हमें प्राप्त हो। हम देवताओं से किये जानेवाले भोजन को अपनाएँ, हमारा भोजन सात्त्विक हो। वस्तुतः उत्तम सन्तान के लिए भोजन की सात्त्विकता का भी पूर्ण महत्त्व है। जहाँ हम 'सरस्वती, इळा व भारती' की आराधना करें, वहाँ देवान्न के भक्षण का भी ध्यान करें। ऐसा होने पर हमारी सन्तान अवश्य उत्तम होगी।

भावार्थ—हमें 'पिशंगरूप, सुभर, वयोधा, श्रुष्टी, वीर व देवकाम' सन्तान प्राप्त हो।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रजानन्-दैव्य-शमिता'

वनस्पतिरवसृजन्नुप स्थादग्निर्हविः सूदयाति प्र धीभिः।
त्रिधा समक्तं नयतु प्रजानन्देवेभ्यो दैव्यः शमितोप हव्यम्॥ १०॥

१. **वनस्पतिः**=(वनस् a ray of light) ज्ञानरश्मियों का स्वामी **अवसृजन्**=काम-क्रोधादि को छोड़ता हुआ, इन वासनाओं से दूर होता हुआ **उपस्थात्**=प्रभु का उपासन करता है। **अग्निः**=आगे बढ़ने की वृत्तिवाला बनकर **धीभिः**=प्रज्ञानों के साथ **हविः प्रसूदयाति**=अपने जीवन में हवि को प्रेरित करता है ज्ञान को प्राप्त करता है और सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनता है (हु दानादनयोः)। २. **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ, **दैव्यः**=दिव्यवृत्तियों को अपनानेवाला, **शमिता**=शान्त-स्वभाव यह पुरुष **त्रिधा**=तीन प्रकार से **समक्तम्**=सम्यक् अलंकृत किये हुए—शरीर में स्वास्थ्य से, मन में निर्मलता से तथा मस्तिष्क में ज्ञान से अलंकृत किये हुए **हव्यम्**=इस हवि से परिपुष्ट किये हुए देह को **देवेभ्यः उपनयतु**=देवताओं के लिए प्राप्त करानेवाला हो। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'=माता, पिता, आचार्य व अतिथियों की इस देह से सेवा करता है। वस्तुतः इन देवों का उपासन करता हुआ ही वह 'प्रजानन्-दैव्य व शमिता' बनता है।

भावार्थ—हम स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करते हुए, क्रोधादि का परित्याग करके प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घृतम्

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम।
अनुष्वधमा वह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम्॥ ११ ॥

१. 'घृत' शब्द 'घृ क्षरणदीप्त्योः' धातु से बनकर मलों के क्षरण व दीप्ति का प्रतिपादन करता है। मलों के क्षरण से शरीर स्वस्थ बनता है और मानसमलों का क्षरण 'मनःप्रसाद' का साधक होता है। 'स्वस्थ शरीर' व 'प्रसन्न मन' के होने पर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। इस **घृतम्**=घृत को **मिमिक्षे**=मैं अपने में सिक्त करता हूँ। **घृतम्**=यह मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति **अस्य योनिः**=इस जीव की सब उन्नतियों का कारण है। **घृते श्रितः**=वस्तुतः इस घृत में ही यह आश्रित है, **उ**=और **घृतम्**=घृत ही **अस्य**=इसका **धाम**=तेज है। सारी शक्तियाँ घृतमूलक हैं। २. इस घृतप्राप्ति के लिए जीव को निर्देश करते हैं कि (क) **अनुष्वधम् आवह** (स्व-धाम् अनु)=आत्मधारण के अनुपात में तू भोजन को प्राप्त कर। उतना ही भोजन करनेवाला बन, जितना कि तेरे पोषण के लिए पर्याप्त हो। 'मात्रा बलम्' यह मात्रा में किया हुआ भोजन तुझे बलवान् बनाएगा। (ख) **मादयस्व**=शरीर धारण के लिए भोजन करता हुआ तू आनन्द का अनुभव कर। 'मानस आनन्द' भी तेजस्विता-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। (ग) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् जीव! तू **स्वाहाकृतम्**= यज्ञों में अर्पित किये हुए यज्ञशेष के रूप में बचे हुए **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को ही **वक्षि**=(वह) धारण कर। अर्थात् सदा यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बन। ३. इस प्रकार 'घृत'=मलों के क्षरण से होनेवाले स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं (क) मात्रा में भोजन (ख) मनः प्रसाद (ग) यज्ञशेष का सेवन।

भावार्थ—सब उन्नतियों का मूल 'घृत' है, ऐसा जानकर हम स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति के लिए मात्रा में भोजन करनेवाले हों—प्रसन्न रहें तथा यज्ञशेष का सेवन करें।

सारा सूक्त इस देह को यज्ञवेदि के रूप में चित्रित करता है। इस देह को यज्ञमन्दिर बनाकर हम इसे बड़ा पवित्र प्रकाशमय तेजोयुक्त बनाएँ। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि हम सोम की (वीर्य की) शरीर में ही आहुति देनेवाले 'सोमाहुति' बनें और अपने को परिपक्व ज्ञानवाले 'भार्गव' बनाएँ। यह 'सोमाहुति भार्गव' ही अगले सूक्त का ऋषि है।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आदेवे जने जातवेदाः

हुवे वः सुद्योत्मानं सुवृक्तिं विशामग्निमतिथिं सुप्रयसम्।
मित्रइव यो दिधिषाय्यो भूद्देव आदेवे जने जातवेदाः॥ १॥

१. मैं उस परमात्मा को **हुवे**=पुकारता हूँ जो कि **वः**=तुम्हारा **सुद्योत्मानम्**=उत्तम प्रकाशक है—हृदयस्थ होकर जो सब मनुष्यों को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करा रहा है। **सुवृक्तिम्**=जो उपासकों के पापों का वर्जन करनेवाला है। वस्तुतः ज्ञान देकर वे प्रभु अशुभवृत्तियों को दूर करते ही हैं। **विशाम् अग्निम्**=सब प्रजाओं का जो अग्रणी है—उत्तम प्रेरणा व शक्ति को देकर वे प्रभु सबको आगे ले चल रहे हैं। **अतिथिम्**=वे प्रभु अतिथि हैं—निरन्तर गतिवाले हैं—सदा हमें प्राप्त होनेवाले हैं। **सुप्रयसम्**=(प्रयस्=Delight; food) आनन्दमय हैं, उपासकों को आनन्दित करनेवाले हैं अथवा उत्तम भोजनों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. ये प्रभु **मित्रः इव**=सूर्य की तरह **दिधिषाय्यः भूत्**=सबके धारक हैं। सूर्य प्राणशक्ति के संचार द्वारा सबका धारण करता है। इसी प्रकार प्रभु सबका धारण करनेवाले हैं। वस्तुतः सूर्य के अन्दर भी धारकशक्ति को प्रभु ही स्थापित करते हैं। वे प्रभु ही **देवः**=प्रकाशमय हैं। **आदेवे**=समन्तात् वर्तमान इन सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि देवों में तथा **जने**=शक्तियों के विकासवाले मनुष्यों में प्रभु ही **जातवेदाः**=(जातं वेदो धनं यस्मात्) सब धनों के उत्पन्न करनेवाले हैं। 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः, रसोऽहमप्सु कौन्तेय, तेजश्चास्मि विभावसौ। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि, तेजस्तेजस्विनामहम्, बलं बलवतां चाहम्'।

भावार्थ—प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं। प्रभु ही सब देवों व सब मनुष्यों में विभूतियों का स्थापन करते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान व भक्ति के द्वारा प्रभु का धारण

इमं विधन्तो अपां सधस्थे द्वितादधुर्भृगवो विक्ष्वा३योः।
एष विश्वान्यभ्यस्तु भूमा देवानामग्निररतिर्जीराश्वः॥ २॥

१. 'अपां सधस्थ' शब्द अन्तरिक्ष के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ हृदयान्तरिक्ष का प्रतिपादक है। 'आपः' शब्द प्रजाओं का वाचक है 'आपो नारा इति प्रोक्ताः'। हृदय वह स्थान है जहाँ कि प्रजाएँ परमेश्वर के साथ मिलकर (सध+स्थ) रहती हैं। इस **अपां सधस्थे**=हृदयान्तरिक्ष में **इमम्**=इस प्रभु को **विधन्तः**=पूजते हुए **विक्षु**=प्रजाओं में **भृगवः**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले पुरुष (भ्रस्ज पाके) **द्विता**=ज्ञान व भक्ति के विस्तार द्वारा (द्वि+तन्) **दधुः**=धारण करते हैं। ज्ञान व भक्ति रूप दो अरणियों की रगड़ से ही प्रभु रूप अग्नि प्रकट होती है। २. प्रकट होनें पर **एषः**=यह प्रभु **भूमा**=(भूमन्=Wealth) अपने ऐश्वर्य के द्वारा **आयोः**=गतिशील पुरुष के **विश्वानि**=सब कष्टों को **अभ्यस्तु**=अभिभूत करनेवाला हो। ३. यह प्रभु **देवानाम् अग्निः**=सब देवों का अग्रणी है—सभी देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाला है **अरतिः**=निरन्तर गतिशील है। **जीराश्वः**= क्षिप्रगतिवाले अश्वोंवाला है—इन क्षिप्रगतिवाले इन्द्रियाश्वों को यह हमें प्राप्त करानेवाला है।

भावार्थ—ज्ञान और भक्ति के द्वारा हम प्रभु को अपने हृदयों में धारण करें। ये प्रभु अपने

ऐश्वर्य से हमारे कष्टों का निवारण करते हैं। हमें क्षिप्रगतिवाले इन्द्रियरूप अश्वों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अन्धकार में प्रकाश

अ॒ग्निं दे॒वासो॒ मानु॑षीषु वि॒क्षु प्रि॒यं धुः॑ क्षे॒ष्यन्तो॒ न मि॒त्रम्।
स दी॑दयदुश॒तीरूर्म्या॒ आ द॒क्षाय्यो॒ यो दास्व॑ते॒ दम॒ आ॥ ३॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को, जो कि **प्रियम्**=सबको प्रीणित करनेवाला है, उसे **देवासः**=दिव्यगुण **मानुषीषु विक्षु**=विचारशील प्रजाओं में **धुः**=स्थापित करते हैं। जितना-जितना हम दिव्यगुणों का धारण करेंगे, उतना-उतना प्रभु का धारण करनेवाले बनेंगे। **नः**=जिस प्रकार **क्षेष्यन्तः**=(क्षि गतौ) कार्यार्थ बाहर जानेवाले लोग **मित्रम्**=मित्र को अपने घर में स्थापित कर जाते हैं। २. **सः**=वह प्रभु **उशतीः**=(कामयमानाः नि० ६.१३) प्रकाश की कामनावाली प्रजाओं को **ऊर्म्याः**=रात्रियों में **दीदयत्**=प्रकाश को प्राप्त कराता है। प्रभु वे हैं **यः**=जो कि **दमे**=शरीरगृह में आ (हितः) स्थापित किये जाने पर **दास्वते**=अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **आदक्षाय्यः**=सब प्रकार से वृद्धि का कारण हैं। प्रभु हमारे लिए घने अन्धकारों में प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। वे हमारे लिए सब प्रकार से वृद्धि का कारण हैं।

भावार्थ—जीवनयात्रा की अन्धकारमय घड़ियों में भी प्रभु हमारे लिए प्रकाश को प्राप्त कराते हैं। उनको धारण करने पर हम उन्नति पथ पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु का धारण, प्रभु का दर्शन

अ॒स्य र॒ण्वा स्वस्ये॑व पु॒ष्टिः सं॒दृष्टि॑रस्य हिया॒नस्य॒ दक्षोः॑।
वि यो भरि॑भ्रदोष॑धीषु जि॒ह्वामत्यो॒ न रथ्यो॑ दोधवीति॒ वारा॑न्॥ ४॥

१. **अस्य**=इस अग्नि नामक प्रभु की **पुष्टिः**=अपने अन्दर धारण उसी प्रकार **रण्वा**=रमणीय है, **इव**=जैसे कि **स्वस्य**=आत्मा का धारण रमणीय होता है। प्रभु के धारण से हम वस्तुतः अपना ही धारण करते हैं। २. **अस्य**=इस **हियानस्य**=(हि गतौ वृद्धौ च) वृद्धि को प्राप्त कराते हुए **दक्षोः**=वासनाओं का दहन करते हुए प्रभु की **सन्दृष्टिः**=संदर्शना—आविर्भाव भी (रण्वा) रमणीय है। प्रभु का जो भी दर्शन करने का प्रयत्न करता है, प्रभु उसके ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं और उसकी वासनाओं का दहन करते हैं। ३. **यः**=जो उपासक **ओषधीषु**=ओषधियों में **जिह्वाम्**= जिह्वा को **वि भरिभ्रत्**=विशेषरूप से धारित करता है, अर्थात् ओषधि वनस्पतिरूप भोजन को ही करता है, वह **अत्यः न**=सतत गतिशील घोड़े के समान **रथ्यः**=अपने शरीररूप रथ के वहन में उत्तम होता है। सात्त्विक भोजन के कारण इसकी बुद्धि सात्त्विक होती है, और यह इस शरीररथ से लक्ष्यस्थान की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता है। यह उस घोड़े के समान ही **वारान्**=बालों को **दोधवीति**=कम्पित करता है। जैसे एक शक्तिशाली घोड़ा पूँछ के बालों से मक्खी आदि को दूर करने का प्रयत्न करता है, इसी प्रकार यह अपनी ज्ञानज्वालाओं से वासनाओं को दूर करने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—प्रभु का धारण व प्रभु का दर्शन हमारे जीवन को रमणीय बनाता है। ओषधि वनस्पतियों का सात्त्विक भोजन हमारी बुद्धियों को सात्त्विक बनाकर हमारी वासनाओं को दूर करता है।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

जुजुर्वान्-युवा

आ यन्मे अभ्वं वनदः पनन्तोशिग्भ्यो नामिमीत वर्णम्।
स चित्रेण चिकिते रंसु भासा जुजुर्वाँ यो मुहुरा युवा भूत्॥ ५॥

१. **यत्**=जो **मे**=मेरा **अभ्वम्**=महत्त्व है उसे **वनदः**=(अव-नदः, अव के अ का लोप होकर 'वनदः') स्तोता लोग **आपनन्त**=सर्वथा स्तुत करते हैं। **न**=और (न=च सा०) उस समय यह प्रभु **उशिग्भ्यः**=इन मेधावी स्तोताओं के लिए **वर्णम्**=रूप को **अमिमीत**=निर्मित करते हैं। अपने रूप को इन स्तोताओं के लिए भी प्राप्त कराते हैं। स्तोता की स्तुति का उत्कर्ष इसी में है कि वह प्रभु के रूप में अपने को रंग ले 'विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्'। २. सब **रंसु**=रमणीय पदार्थों में वे प्रभु ही **चित्रेण भासा**=अद्भुत दीप्ति से **चिकिते**=जाने जाते हैं। सूर्य चन्द्र तारों में वस्तुतः उस प्रभु की दीप्ति ही दीप्त हो रही है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। ३. वे प्रभु **यः**=जो **जुजुर्वान्**=अत्यन्त पुराणकाल से चले आ रहे हैं, **मुहुः**=फिर **युवा आभूत्**=सर्वथा युवा ही है। प्रभु कभी जीर्णशक्तिवाले नहीं होते। उनकी शक्ति सदा एकरस बनी रहती है।

भावार्थ—स्तोता भी प्रभु के अनुरूप बनता है। उस प्रभु की दीप्ति ही सर्वत्र दीप्ति का प्रसार करती है। वे सनातन होते हुए भी सदा युवा हैं। उपासक भी प्रभु के समान एकरस बनने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दीप्ति की प्राप्ति व मार्ग का आक्रमण

आ यो वना तातृषाणो न भाति वार्ण पथा रथ्येव स्वानीत्।
कृष्णाध्वा तपू रण्वश्चिकेत द्यौरिव स्मयमानो नभोभिः॥ ६॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जो **वना**=उपासकों को (वन्=संभजन) **तातृषाणः न**=अत्यन्त तृषित की तरह **आभाति**=दीप्त करते हैं (आभासयति सा०)। जैसे प्यासा पानी पीने के लिए आतुर होता है, उसी प्रकार प्रभु भक्त को ज्ञानदीप्त करने के लिए आतुर होते हैं—उसे शीघ्रता से ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराते हैं। प्रभु से ज्ञानदीप्ति प्राप्त करके यह उपासक **वाः न पथा**=जल की तरह मार्ग से बढ़ता है—जल जैसे शान्तभाव से आगे और आगे बढ़ता चलता है, इसी प्रकार यह अपने कर्त्तव्यपथ पर अग्रगति वाला होता है। **रथ्या इव स्वानीत्**=रथ में जुते हुए घोड़ों के समान यह उत्साहयुक्त ध्वनि करनेवाला होता है अथवा (सु+आनीत्) उत्तम प्राणशक्ति-सम्पन्न होता है। प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके यह उत्साह व शक्ति से युक्त होकर मार्ग का आक्रमण करता है। २. **कृष्णाध्वा**=यह कृष्ण मार्गवाला होता है। 'कृष्ण' शब्द रंगों के अभाव का सूचक है—यह रंगीले मार्गवाला नहीं होता—जीवन में निर्लेपता से चलता है। **तपुः**=तपस्वी होता है, **रण्वः**=प्रभु का स्तवन करनेवाला (रण शब्दे) अतएव रमणीय जीवनवाला होता है। ३. **नभोभिः**=नक्षत्रों से **स्मयमानः**=मुस्कराते हुए **द्यौःइव**=आकाश की तरह यह **चिकेत**=जाना जाता है। जैसे द्युलोक नक्षत्रों से दीप्त है, उसी प्रकार इसका मस्तिष्करूप द्युलोक विज्ञान के नक्षत्रों से दीप्त होता है। यह सब दीप्ति उसे प्रभु ही तो प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दीप्ति को प्राप्त करके उपासक निर्लेपता से कर्त्तव्यपथ पर बढ़ता है।

ऋषिः—सोमाहुतिर्भार्गवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'पशुः-स्वयुः-अगोपाः'

स यो व्यस्थादभि दक्षदुर्वीं पशुर्नैति स्वयुरगोपाः ।
अग्निः शोचिष्माँ अतसान्युष्णन्कृष्णव्यथिरस्वदयन्न भूम ॥ ७ ॥

१. **सः**=वे प्रभु **यः**=जो कि **वि अस्थात्**=विशेषरूप से सब लोकों को अधिष्ठित कर रहे हैं, वे **उर्वीम्**=इस विस्तृत पृथिवी को **अभिदक्षत्**=सब प्रकार से बढ़ाते हैं। इस लोक में स्थित प्राणियों की वृद्धि का कारण वे प्रभु ही हैं। **पशुः न**=(पश्यति इति, न=इव) द्रष्टा के समान **एति**=वे गति कर रहे हैं 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'। सारे संसार का निर्माण करते हुए भी वे प्रभु निर्लेपता के कारण अकर्ता ही हैं 'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'। **स्वयुः**=वे (स्वयमेव गच्छन्) स्वयं गति देनेवाले हैं, उन्हें यह शक्ति किसी और से प्राप्त नहीं होती। **अगोपाः**=उनका कोई रक्षक नहीं है—प्रभु ही सबके रक्षक हैं। सब प्राकृतिक पिण्डों को वे प्रभु स्वयं गति दे रहे हैं और सब जीवरूप भेड़ों के वे 'गोपा' (चरवाहे) हैं। २. वे प्रभु **अग्निः**=अग्रणी हैं। **शोचिष्मान्**=दीप्तिवाले हैं। **अतसानि**=(अतसं=a weapon) आयुधों को—जीवों को जीवनसंग्राम के लिए प्राप्त कराये गये 'इन्द्रिय मन व बुद्धि रूप' आयुधों को **उष्णान्**=अग्नि में सन्तप्त करके निर्मल कर रहे हैं। **कृष्णव्यथिः**=(कृष्टाः व्यथयः येन, कृष्ण=कृष्ट) व्यथा के कारणभूत काम-क्रोधादि शत्रुओं को उखाड़ फेंकनेवाले वे प्रभु हैं। उपासक की वासनाओं को वे दग्ध करनेवाले हैं। **न**=और (न=च) इस प्रकार वे प्रभु उपासकों के जीवन को **भूम**=अत्यधिक **अस्वदयत्**=(आस्वादयति इव) आनन्दयुक्त कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु-उपासकों के इन्द्रियादि आयुधों को ख़ूब चमका देते हैं, काम-क्रोधादि को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार उपासक के जीवन को आनन्दमय कर देते हैं।

ऋषिः—सोमाहुतिर्भार्गवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'प्रभुरक्षण का स्मरण' व 'प्रभु-स्तवन'

नू ते पूर्वस्यावसो अधीतौ तृतीये विदथे मन्म शंसि ।
अस्मे अग्ने संयद्वीरं बृहन्तं क्षुमन्तं वाजं स्वपत्यं रयिं दाः ॥ ८ ॥

१. हे प्रभो! **ते**=आपके **पूर्वस्य**=प्रारम्भिक काल में होनेवाले **अवसः**=रक्षण का **अधीतौ**=स्मरण होने पर, 'किस प्रकार आपने गर्भावस्था में रक्षण की व्यवस्था की और किस प्रकार उत्पन्न होने पर मातृस्तनों में दूध प्राप्त कराके आपने रक्षण किया' इन बातों का स्मरण होने पर, **नु**=अब **तृतीये विदथे**=प्रकृति और जीवात्मा के बाद तीसरे स्थान में परमात्मा का (=आपके) ज्ञान होने पर **मन्म**=आपका स्तोत्र **शंसि**=हमारे से उच्चारण किया जाता है। वस्तुतः ज्ञान से ध्यान में विशेषता आ ही जाती है। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! अब **अस्मे**=हमारे लिए **रयिं दाः**=उस धन को दीजिए जो कि **संयद्वीरम्**=संयम के द्वारा वीरता को पैदा करनेवाला है, **बृहन्तम्**=वृद्धि का कारणभूत है, **क्षुमन्तम्**=(क्षु: Food) उत्तम भोजन को प्राप्त करानेवाला है, **वाजम्**=शक्ति को देनेवाला है तथा **स्वपत्यम्**=उत्तम सन्तानोंवाला है। संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि धन के साथ संयम का कुछ अभाव सा होता है—वीरता जाती रहती है। हम हीन मार्ग की ओर झुक जाते हैं, पैशाचिक भोजनों में फँस जाते हैं, वैषयिक-वृत्तियों के कारण निर्बलता आ जाती है, सन्तान भी प्रायः सच्चरित्र नहीं रहते। हम प्रभु से उस धन की याचना करते हैं जो कि इन दोषों से रहित है और हमारे उत्कर्ष में सहायक होता है।

भावार्थ—जितना प्रभु के रक्षणप्रकार का स्मरण करते हैं उतना ही प्रभुस्तवन की ओर झुकते हैं। प्रभु हमें वह धन देते हैं जो कि हमें वीर व उत्तम सन्तानोंवाला बनाता है।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासना व उत्कृष्ट जीवन

त्वया यथा गृत्समदासो अग्ने गुहा वन्वन्त उपराँ अभि ष्युः।
सुवीरासो अभिमातिषाहः स्मत्सूरिभ्यो गृणते तद्वयो धाः॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **गुहा वन्वन्तः**=हृदयरूप गुहा में उपासन करते हुए **गृत्समदासः**=(गृणन्ति माद्यन्ति) आपका स्तवन करनेवाले व प्रसन्न रहनेवाले भक्त **यथा**=जितना-जितना (जैसे-जैसे) आपके सम्पर्क में आते हैं उतना-उतना **उपरान् अभिष्युः**=(उपर region, direction) सब दिशाओं का विजय करते हैं, अथवा ज्ञानरूप सूर्य पर आवरण के रूप में आ जानेवाले वासनारूप बादल को अभिभूत कर लेते हैं। प्रभुस्तवन से विजय प्राप्त होती है, हम वासना के मेघों को विनष्ट करनेवाले होते हैं। २. इन वासनाओं को विनष्ट करके हम **सुवीरासः**=उत्तम वीर बनते हैं, **अभिमातिषाहः**=अभिमान आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले होते हैं। ३. हे प्रभो! आप **सूरिभ्यः**=ज्ञानियों के लिए तथा **गृणते**=स्तवन करनेवाले के लिए **तत्**=उस **स्मत्** (स्मत् इति श्रेष्ठार्थे)=उत्कृष्ट अथवा (सुमत् अतिप्रभूतम् सा०) दीर्घ **वयः**=जीवन को **धाः**=धारण करते हैं। ज्ञानी उपासक का जीवन उत्कृष्ट बनता है।

भावार्थ—हम जितना-जितना प्रभु का स्मरण करते हैं, उतना-उतना वासनाओं को अभिभूत करनेवाले बनते हैं। वासनाओं को अभिभूत करने के अनुपात में ही हमारा जीवन उत्कृष्ट बनता है।

यह सम्पूर्ण सूक्त प्रभु स्मरण—प्रभुदर्शन व प्रभुस्तवन के भाव से ओत-प्रोत है। अगले सूक्त के भी ऋषि व देवता 'सोमाहुतिः भार्गवः' व 'अग्नि' ही हैं। सो यही विषय अगले सूक्त में भी प्रस्तुत है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'प्रयक्ष-जेन्य-यम' वसु

होताजनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये। प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम्॥ १॥

१. **होता**=वह सब कुछ देनेवाला—हमारे जीवनयज्ञों को भी चलानेवाला प्रभु **चेतनः अजनिष्ट**=हमारे लिए ज्ञान देनेवाला हुआ है। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु वेदज्ञान देते ही हैं। अब भी हमारे हृदयों में स्थित हुए-हुए सदा हमें चेताते रहते हैं। **पिता**=वे हमारे पिता हैं। पिता पुत्र को चेताता ही है। वे प्रभु **पितृभ्यः**=माता, पिता, आचार्य आदि के द्वारा हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए होते हैं। २. प्रभु की कृपा से **वाजिनः**=शक्तिशाली बने हुए हम **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धन को **शकेम**=सिद्ध करने में समर्थ हों। उस धन को जो कि (क) **प्रयक्षम्**=प्रकर्षेण पूज्य है, उत्तम साधनों से ही जिसका अर्जन किया गया है। (ख) **जेन्यम्**=पुरुषार्थ से जिसका विजय किया गया है तथा (ग) **यमम्**=जो आत्मसंयम की भावना से युक्त है। वस्तुतः प्रभु का उपासक सदा 'प्रयक्ष-जेन्य व यम' वसु को ही सिद्ध करता है। यह धन जीवन में उन्नति का ही कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु की चेतना के साथ जीवन में चलने पर हम पवित्र धन का ही अर्जन करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सप्त रश्मियों के अष्टम पति' प्रभु

आ यस्मिन्त्सप्त रश्मयस्तता यज्ञस्य नेतरि। मनुष्वद्दैव्यमष्टमं पोता विश्वं तदिन्वति॥ २॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'होता' कहा था। ये प्रभु ही यज्ञ के नेता हैं। **यस्मिन्**=जिस **यज्ञस्य नेतरि**=यज्ञ के नायक प्रभु में **सप्त रश्मयः**=सात रश्मियाँ **आतताः**=समन्तात् विस्तृत हैं। वेदज्ञान सात छन्दोंवाली वाणियों में दिया गया है। ये सात छन्द ही सात रश्मियाँ हैं। सूर्य-किरणों की तरह ये ज्ञानप्रकाश को देनेवाली हैं। हमारे यज्ञात्मक-कर्तव्यों का ये उपदेश देती हैं। इस प्रकार वे प्रभु ही सब यज्ञों के प्रवर्तक हैं। २. स्वयं वे प्रभु **मनुष्वत्**=उत्कृष्ट ज्ञानवाले हैं, **दैव्यम्**=देवों के देव हैं, **अष्टमम्**=सात छन्दोंवाली वेदवाणी के पति आठवें हैं। **पोता**=सबको पवित्र करनेवाले है। **तद्**=वे प्रभु **विश्वम् इन्वति**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त किये हुए हैं।

भावार्थ—सात छन्दोंवाली वेदवाणी के पति आठवें प्रभु हैं। वे ही हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले व सर्वत्र व्याप्त हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'आनन्दों व ज्ञानों के निधि' प्रभु

दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्माणि वेरु तत्।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत्॥ ३॥

१. प्रभु ही **वा**=निश्चय से **दधन्वे**=इस सृष्टि को धारण करते हैं, **यत्**=और जो **ईम्**=निश्चय से **ब्रह्माणि**=ज्ञान की वाणियों को **अनुवोचत्**=क्रमशः 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' आदि के हृदयों में उच्चरित करते हैं। **तत्**=वे प्रभु ही **उ**=निश्चय से **वेः**=(कामयते) इस सृष्टियज्ञ के विस्तार की कामना करते हैं। २. वे प्रभु ही **विश्वानि**=सब **काव्या**=(Happiness; Wisdom) आनन्दों व ज्ञानों के **परि अभवत्**=चारों ओर इस प्रकार होते हैं, **इव**=जैसे कि **चक्रम्**=चक्र के चारों ओर **नेमिः**=नेमि (हाल) होती है। सब आनन्दों व ज्ञानों की सीमा प्रभु ही हैं। प्रभु का उपासक ही इन काव्यों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु ही संसार को धारण करते हैं—वे ज्ञान देते हैं। इस सृष्टियज्ञ के विस्तार की कामनावाले प्रभु ही ज्ञानों व आनन्दों के निधि हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शुचिना शुचिः अजनि

साकं हि शुचिना शुचिः प्रशास्ता क्रतुनाजनि। विद्वाँ अस्य व्रता ध्रुवा वया इवानु रोहते॥ ४॥

१. वे प्रभु **शुचिः**=पूर्ण पवित्र हैं। **प्रशास्ता**=सारे ब्रह्माण्ड के प्रशासक हैं। हृदयस्थरूपेण धर्माधर्म का शासन (=उपदेश) करनेवाले हैं। **शुचिना क्रतुना साकम्**=पवित्र यज्ञ के साथ **अजनि**=प्रादुर्भूत होते हैं। यदि हम अहंकारशून्य होकर यज्ञादि कर्मों में लगे रहें तभी प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। ऐसे यज्ञ 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। पवित्र=शुचि बनने पर ही शुचि प्रभु का दर्शन होता है। २. **अस्य**=इस पवित्र प्रभु के **ध्रुवा व्रता**=ध्रुव व्रतों को **विद्वान्**=जानता हुआ पुरुष उन व्रतों के अनुसार अपने व्रतों को बनाता हुआ ऊँचा और ऊँचा उठता चलता है, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि एक वृक्ष पर **वयाः**=आरोहण करनेवाला **अनुरोहते**=निचली शाखा से उपरली शाखा पर चढ़ता चला जाता है। यह पवित्र यज्ञिय जीवनवाला व्यक्ति प्रभु के व्रतों के अनुसार अपने व्रतों को बनाता हुआ इस संसारवृक्ष की सर्वोत्कृष्ट

शाखा पर पहुँचकर उससे ऊपर उठ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम पवित्र यज्ञों के द्वारा पवित्र प्रभु का उपासन करें। प्रभु के अनुरूप अपने व्रतों को बनाएँ।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आयुवः-धेनवः-स्वसारः

ता अस्य वर्णमायुवो नेष्टुः सचन्त धेनवः। कुवित्तिसृभ्य आ वरं स्वसारो या इदं ययुः ॥ ५ ॥

१. **ताः**=वे **आयुवः**=(एति इति) गतिशील **धेनवः**=(धे=to absorb) सोमशक्ति को अपने अन्दर सिक्त करनेवाले लोग **अस्य नेष्टुः**=इस ब्रह्माण्ड के नायक प्रभु के **वर्णम्**=रूप को **सचन्त**=सेवन करते हैं, अपने साथ समवेत करते हैं। ये प्रभु के अनुरूप रूपवाले होते हैं। २. वे लोग **याः**=जो **स्वसारः**=(स्वं सरन्ति) आत्मा की ओर गतिवाले होते हुए **तिसृभ्यः**=ऋग् यजु साम रूप तीन वाणियों से **कुवित्**=ख़ूब ही **इदम्**=इस **वरम्**=उत्कृष्ट ज्ञान को **आययुः**=प्राप्त होते हैं। ज्ञान प्राप्त करके ही तो हम प्रभु के अनुरूप बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु के अनुरूप वे होते हैं जो कि (क) आयुवः=गतिशील होते हैं (ख) धेनवः=शक्ति को अपने में ही सिक्त करते हैं (ग) ऋग् यजु सामरूप वाणियों से ख़ूब ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आत्मतत्व की ओर

यदी मातुरुप स्वसा घृतं भरन्त्यस्थित। तासामध्वर्युरागतौ यवो वृष्टीव मोदते॥ ६ ॥

१. **स्वसा**=आत्मा की ओर चलनेवाला व्यक्ति **यदी**=यदि **मातुः**=इस वेदरूप माता से (स्तुता मया वरदा वेदमाता) **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति का **भरन्ती**=अपने में भरण करता हुआ **उपास्थित**=उपासना करता है तो **तासाम्**=उन ज्ञान वाणियों के **आगतौ**=प्राप्त होने पर **अध्वर्युः**=अध्वर-यज्ञ को अपने साथ जोड़नेवाला यह व्यक्ति **यवः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को अपने से पृथक् करता हुआ तथा अच्छाइयों को अपने साथ जोड़ता हुआ **वृष्टी इव**=(वृष्ट्या इव) आनन्द की वर्षा से ही **मोदते**=प्रसन्नता का अनुभव करता है। २. आत्मतत्त्व की ओर चलना (स्वसा), वेदमाता से अपने अन्दर ज्ञान को भरना (मातुः=घृत भरन्ती), उपासना (उपास्थित), यज्ञात्मक कर्मों को अपने साथ जोड़ना (अध्वर्युः) बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों से अपने को भरना (यवः) वह मार्ग जो हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है।

भावार्थ—आनन्द-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम आत्मतत्त्व की ओर चलें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

स्तोम यज्ञ और दान

स्वः स्वाय धायसे कृणुतामृत्विगृत्विजम्। स्तोमं यज्ञं चादरं वनेमा ररिमा वयम्॥ ७ ॥

१. **स्वः**=आत्मा **स्वाय**=परमात्मतत्त्व के **धायसे**=धारण के लिए **ऋत्विक्**=यज्ञशील बनकर **ऋत्विजम्**=उस ऋतु में उपासना योग्य प्रभु को **कृणुताम्**=अपने हृदय में स्थापित करे। प्रभु को हृदय में स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञशील बनें। २. **आत्**=इसके बाद **अरम्**=ख़ूब ही **स्तोमं यज्ञं च**=स्तुति और यज्ञ को **वनेम**=सेवन करनेवाले हैं तथा **वयम्**=हम **ररिमा**=ख़ूब ही दान देनेवाले हैं। स्तोम=यज्ञ और दान ही प्रभुप्राप्ति के मार्ग हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हमारा जीवन प्रभु-स्तवन, यज्ञ व दान से ओत-

प्रोत हो।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यज्ञ करना और उसका प्रभु के प्रति अर्पण कर देना

यथा विद्वाँ अरं करद्विश्वेभ्यो यजतेभ्यः। अयमग्ने त्वे अपि यं यज्ञं चकृमा वयम्॥ ८॥

१. **यथा**=क्योंकि **विद्वान्**=वह सर्वज्ञ प्रभु **विश्वेभ्यः**=सब **यजतेभ्यः**=पूजा करनेवाले संगतिकरण-वाले व आत्मदान—आत्मसमर्पण करनेवाले लोगों के लिए **अरम् करत्**=खूब ही ज्ञान को करनेवाला होता है और इस ज्ञान से ही मनुष्यों के लिए यज्ञादि के मार्ग को दिखाता है सो हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यं यज्ञम्**=जिस यज्ञ को **वयं चकृम**=हम करते हैं, **अयम्**=यह यज्ञ **त्वे अपि**=आप में ही अर्पित किया जाता है। आपकी ही प्रेरणा व आपकी ही शक्ति से तो वह यज्ञ चलता है। २. वस्तुतः प्रभु ही ज्ञान व शक्ति को देकर हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम यज्ञों को कर सकें, अतः इन यज्ञों को उस प्रभु से ही होता हुआ हमें समझना चाहिए। इन यज्ञों का गर्व न करके हम इन्हें प्रभु के प्रति ही अर्पण करनेवाले बनें। 'यज्ञों को करना और उन्हें प्रभु के प्रति अर्पण कर देना' ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो और इन यज्ञों को प्रभुकृपा से होता हुआ जानें।

सूक्त की मूल भावना यही है कि प्रभु ही होता हैं (१) सब यज्ञादि कर्मों का ज्ञान प्रभु ही देते हैं (२) एवं सब यज्ञ प्रभु से ही हो रहे हैं। इसी प्रभु से अगले सूक्त में प्रार्थना करते हैं कि—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञ-उपासना-ज्ञान

इमां मे अग्ने समिधमिमामुपसदं वनेः। इमा उ षु श्रुधी गिरः॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मे**=मेरी **इमाम्**=इस **समिधम्**=समिधा को—यज्ञों में अग्नि के समिन्धन को **वनेः**=आप स्वीकार करिए। मैं यज्ञों के द्वारा आपको प्रीणित करनेवाला बनूँ। २. **इमाम्**=इस **उपसदम्**=(Sitting at the feet of) आपके चरणों में प्रातःसायं उपस्थित होने को आप स्वीकार करिए। मैं आपकी उपासना करूँ और यह उपासना मुझे आपका प्रिय बनाए। ३. **उ**=और आप **इमाः**=इन **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **सु श्रुधि**=उत्तमता से सुनिए, अर्थात् मैं सदा ज्ञानवाणियों का ही उच्चारण करनेवाला बनूँ। मेरे मुख से व्यर्थ के शब्दों का उच्चारण ही न हो। इन ज्ञानवाणियों से मैं आपका प्रिय बनूँ।

भावार्थ—मैं यज्ञशील बनूँ, उपासना की वृत्तिवाला बनूँ, सदा ज्ञानवाणियों में विचरूँ इस प्रकार मैं प्रभु का प्रिय बनूँ।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आहुति व सूक्त

अया ते अग्ने विधेमोर्जो नपादश्वमिष्टे। एना सूक्तेन सुजात॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अश्वमिष्टे**=(अशू व्याप्तौ, इष्टि यज्ञ) व्यापक यज्ञोंवाले प्रभो! **ऊर्जः नपात्**=आप हमारे बल व प्राणशक्ति को नष्ट न होने देनेवाले हैं। वस्तुतः यज्ञात्मक जीवन ही वह प्रकार है जिससे कि शक्ति स्थिर रहती है। इससे विपरीत भोगप्रधान-जीवन हमारी शक्तियों को क्षीण करता है। **अया**=(अनया) इन यज्ञों में दी जानेवाली आहुति के द्वारा हम **ते**=आपका **विधेम**=परिचरण करनेवाले हों। यज्ञों से उस यज्ञरूप प्रभु का उपासन होता है। २. हे **सुजात**=

उत्तम विकास के कारणभूत प्रभो! हम **एना सूक्तेन**=इस सूक्त से आपका उपासन करें। 'सूक्त' शब्द 'सु+उक्त'=मधुर भाषण के लिए प्रयुक्त होता है और वेद के सूक्तों का संकेत करता हुआ ज्ञानवाणियों का प्रतिनिधि है। इन मधुर भाषणों व ज्ञानवाणियों से प्रभु का उपासन होता है और हमारे जीवन का उत्तम विकास होता है।

भावार्थ—हम यज्ञों, मधुरभाषणों व ज्ञानवाणियों से प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गिर्वणस्-द्रविणस्यु

तं त्वा गीर्भिर्गिर्वणसं द्रविणस्युं द्रविणोदः। सपर्येम सपर्यवः ॥ ३ ॥

१. हे **द्रविणोदः**=सब इन्द्रियों (=धनों) के देनेवाले प्रभो! **गिर्वणसम्**=ज्ञानवाणियों द्वारा स्तुति करने योग्य, **द्रविणस्युम्**=धनों के चाहनेवाले **तं त्वा**=उन आपको **सपर्यवः**=पूजा करनेवाले हम **गीर्भिः**=इन ज्ञानवाणियों से **सपर्येम**=पूजित करें। २. प्रभु धनों को देते हैं—'द्रविणोदा' हैं, परन्तु इन सब धनों को वे चाहते हैं (द्रविणस्यु), अर्थात् प्रभु इन धनों को देकर हमारे द्वारा इन धनों के संविभाग की वे कामना करते हैं। इन धनों को हम अपने भोग-विलास में ही व्ययित करने लगें यह प्रभु को प्रिय नहीं है। प्रभु बाँटने के लिए ही हमें धनों को देते हैं। ३. वे प्रभु 'गिर्वणस्' हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में वे हमारे लिए इन ज्ञानवाणियों को प्राप्त कराते हैं और इन्हें अपनानेवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय बनता है—यह प्रभु का ज्ञानी भक्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानवाणियों को अपनाते हुए और धनों का संविभाग करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वसुपते, वसुदावन्

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्। युयोध्य१स्मद् द्वेषांसि ॥ ४ ॥

१. हे **वसुपते**=सब वसुओं (=धनों) के स्वामिन्! **वसुदावन्**=सब वसुओं के देनेवाले प्रभो! **सूरिः**=आप ही ज्ञानी हैं, **मघवा**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं अथवा (मघ=मख) सब यज्ञों के करनेवाले हैं। आप **अस्मत्**=हमारे से **द्वेषांसि**=सब द्वेष की भावनाओं को **युयोधि**=पृथक् कीजिए। २. **सः**=वे आप **बोधि**=हमारा ध्यान करिए (Look after)। आपने ही हमें उत्तम प्रेरणाओं व साधनों को प्राप्त कराके उत्कृष्ट मार्ग पर ले चलना है। आपके उपासक बनकर हम भी यज्ञियवृत्तिवाले बनें। सब 'वसु' आपके हैं, आप ही इन्हें हमें प्राप्त कराते हैं। आपके ही कार्यों में हम इनका विनियोग करें। ईर्ष्या, द्वेष के हम कभी वशीभूत न हो जाएं। सभी के साथ बन्धुत्व का अनुभव करें।

भावार्थ—सब धनों के स्वामी प्रभु हैं, यह समझकर हम ईर्ष्या, द्वेष से सदा दूर रहें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृष्टि-शक्ति-अन्न

स नो वृष्टिं दिवस्परि स नो वाजमनर्वाणम्। स नः सहस्रिणीरिषः ॥ ५ ॥

१. **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमारे लिए **दिवः परि**=अन्तरिक्षलोक से (परिः पञ्चम्यर्थे) **वृष्टिम्**= वृष्टि देनेवाले हैं। वस्तुतः गतमन्त्र के अनुसार जब समाज में पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष नहीं होता तो पापों की वृद्धि न होकर पवित्रता का वायुमण्डल आधिदैविक आपत्तियों को दूर करने का कारण बनता है। उस समय वृष्टि बड़े ठीक समय पर होती है। २. **सः**=वे आप **नः**=हमें **वाजम्**=

शक्ति को दीजिए, जो कि **अनर्वाणम्**=(अर्व् to kill) हिंसा करनेवाली नहीं। वही शक्ति ठीक है जो कि रक्षा के कार्यों में विनियुक्त होती है। ३. **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **सहस्त्रिणीः**=सहस्रसंख्यक **इषः**=अन्नों को प्राप्त कराइए। अन्नों की किसी प्रकार से कमी न हो। 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः'=अन्न ही प्राणियों के प्राण हैं। उत्तम अन्नों को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को ठीक बना पाएँ।

भावार्थ—वृष्टि की कमी न हो, रक्षकशक्ति प्राप्त हो तथा अन्न पर्याप्त हो।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यविष्ठ-यजिष्ठ-होतः

ईळानायावस्यवे यविष्ठ दूत नो गिरा। यजिष्ठ होतरा गहि॥ ६॥

१. हे **यविष्ठ**=हमारे से बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले—अच्छाइयों को हमारे साथ जोड़नेवाले प्रभो! **दूत**=ज्ञान का सन्देश करानेवाले प्रभो! **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! **गिरा**=ज्ञानवाणियों से **नः**=हमारे लिए **यजिष्ठ**=पूजा योग्य व संगतिकरण योग्य प्रभो! आप **ईळानाय**=स्तुति करनेवाले **अवस्यवे**=रक्षण की इच्छावाले मेरे लिए **आगहि**=प्राप्त होइए। २. प्रभु हमारे से अशुभों को दूर करते हैं। इन्हें दूर करने के लिए ही वे हमें ज्ञान प्राप्त कराते हैं। सब आवश्यक वस्तुओं को देते हैं। इसीलिए वे प्रभु हमारे से स्तुति किये जाने योग्य हैं। प्रभु का सच्चा पूजन हम इन ज्ञानवाणियों को अपनाकर ही कर पाते हैं। ये ज्ञानवाणियाँ ही हमारे रक्षण का साधन बनती हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु का पूजन करूँ। प्रभु मुझे प्राप्त हों।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हृदयस्थ प्रभु

अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे। दूतो जन्येव मित्र्यः ॥ ७॥

१.हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **अन्तः ईयसे**=हमारे हृदयों में ही विचरते हैं। हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभो! आप हमारे हृदयों में उठनेवाले **उभयाजन्म**=शुभाशुभ दोनों भावों की उत्पत्ति को **विद्वान्**=जानते हैं। 'एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं, न हृदयं वेत्सि मुनिं पुराणम्'=वे पुराण मुनि सबके हृदयों में निवास करनेवाले हैं। २. हे प्रभो! **दूतः**=आपने ही हमारे लिए ज्ञान के सन्देश को प्राप्त कराना है। **जन्या इव**=(Pleasure, happiness. affection) आप ही हमारे लिए वस्तुतः आनन्द हैं व प्रेम हैं। आपके सम्पर्क में ही हम आनन्द व प्रेम का अनुभव करते हैं। **मित्र्यः**=आप ही उत्तम मित्र हैं—हमें सब पापों व रोगों से बचानेवाले हैं (प्रमीतेः त्रायते)।

भावार्थ—प्रभु का वास हमारे हृदय में हैं। हमारे लिए ज्ञान का सन्देश देते हुए हमें पापों व रोगों से बचाते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पूरण

स विद्वाँ आ च पिप्रयो यक्षि चिकित्व आनुषक्। आ चास्मिन्त्सत्सि बर्हिषि॥ ८॥

१. **सः**=वे **विद्वान्**=हमारे सब भावों को जानते हुए आप **आपिप्रयः**=पूरण करिए—हमारी न्यूनताओं को दूर करिए। **च**=और हे **चिकित्वः**=चेतनावन् प्रभो! आप **आनुषक्**=निरन्तर **यक्षि**=(यज) हमारे सम्पर्क में होते हुए हमारे लिए सब कुछ दीजिए। उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुएँ आपने ही तो प्राप्त करानी हैं। २. **च**=और हे प्रभो! **अस्मिन्**=इस हमारे

बर्हिषि=वासनाशून्य हृदय में आप **आसीत्स**=सर्वथा आसीन होइए। हम अपने हृदयों में आपको आसीन कर सकें। आपकी उपस्थिति में ही हम अपनी न्यूनताओं को दूर कर पाएँगे।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयस्थ करें। हृदयस्थित प्रभु का उपासन करते हुए बुराइयों से दूर रहें।

सम्पूर्ण सूक्त इस भावना से भरा हुआ है कि प्रभु को हम हृदयस्थरूपेण अनुभव करें और यज्ञ, उपासन व ज्ञान के द्वारा अपनी कमियों को दूर करें। अगले सूक्त का भी यही विषय है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'श्रेष्ठ-द्युमान्-पुरुस्पृह' रयि

श्रेष्ठं यविष्ठ भारताऽग्ने द्युमन्तमा भर। वसो पुरुस्पृहं रयिम्॥ १॥

१. हे **यविष्ठ**=सब बुराइयों को हमारे से दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले प्रभो! आप हमारे लिए **श्रेष्ठम्**=प्रशस्यतम—अधिक से अधिक उत्तम साधनों से कमाए गये **रयिम्**=धन को **आभर**=हमारे में पोषित करिए। आपकी प्रेरणा को प्राप्त करके हम सदा सुपथ से ही धनों को कमानेवाले बनें, २. हे **भारत**=सबका भरण करनेवाले प्रभो! आप उस धन को हमारे में पोषित करिए जो **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय हो। हम धन के द्वारा घृत, लवण, तण्डुलेन्धन की चिन्ता से मुक्त होकर ज्ञानवर्धन कर सकें। वह धन ज्ञानसाधनों को जुटाने में सहायक बने। इस धन से हम अपना सुन्दरतम पुस्तकालय बना पाएँ। इसी प्रकार अन्य साधनों को एकत्रित करके ज्योतिर्मय जीवनवाले हों। ३. हे **अग्ने**=सबको नेतृत्व देने वाले व **वसो**=सबके उत्तम निवास के कारणभूत प्रभो! आप **पुरुस्पृहम्**=बहुतों से चाहने योग्य धन को हमें दीजिए। हमारे धनों में आधार देने योग्य सुपात्रों (आध्र) का भी हिस्सा हो—आदरणीय राष्ट्रसेवकों का भी भाग हो (मन्यमान तुर), इस धन में राजा का भी भाग हो (राजा)। इस प्रकार हमारा धन 'पुरुस्पृह' हो।

भावार्थ—हमें 'श्रेष्ठ-द्युमान्-पुरुस्पृह' रयि की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अदान की भावना से दूर

मा नो अरातिरीशत देवस्य मर्त्यस्य च। पर्षि तस्या उत द्विषः॥ २॥

१. गतमन्त्र में 'पुरुस्पृह' रयि की प्रार्थना थी। उसी प्रसंग में कहते हैं कि **नः**=हमें **अरातिः**=न देने की भावना **मा ईशत**=शासित करनेवाली न हो जाए। हमारे में अदान की भावना प्रबल न हो जाए। चाहे यह अदान की भावना **देवस्य**=देवसम्बन्धिनी हो **च**=अथवा **मर्त्यस्य**=मनुष्य सम्बन्धिनी हो। देवों के विषय में अदान की भावना के होने पर हमारे जीवनों से 'देवयज्ञ' आदि श्रेष्ठ कर्मों का लोप हो जाता है और मनुष्यों के विषय में अदान की भावना अन्य सब यज्ञों को हमारे से लुप्त कर देती है—हम कोई भी लोकहित का कार्य नहीं कर पाते। २. इसलिए हे प्रभो! **तस्याः पर्षि**=हमें अदान की भावना से पार करिए—हम अदान की भावना में न डूब जाएँ। **उत**=और, हमें **द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं से भी पर्षि—ऊपर उठाइए। हम ईर्ष्या, द्वेष में ही न फंसे रह जाएँ।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें अदान की भावना से ऊपर उठाइए। सब द्वेषों से दूर करिए।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्वेष की नदी का तैर जाना

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव। अति गाहेमहि द्विषः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वया**=आपके साथ मिलकर—आपकी उपासना में स्थित होते हुए—**उत**=निश्चय से **विश्वा**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे में घुस आनेवाली **द्विषः**=इन सब द्वेष की भावनाओं को **अतिगाहेमहि**=लांघ कर पार हो जाएँ। इन द्वेष की धाराओं में डूब न जाएँ। २. हम इन द्वेषभावों को इस प्रकार पारकर जाएँ **इव**=जैसे कि **उदन्याः**=जलसम्बन्धिनी **धाराः**=धाराओं को पार कर जाते हैं। तेज़ जलधारा में अकेले व्यक्ति के डूबने की आशंका होती है, परन्तु दूसरे का हाथ पकड़कर हम उस धारा को जैसे पार कर जाते हैं, उसी प्रकार प्रभु का हाथ पकड़कर हम ईर्ष्या, द्वेष की प्रबल धाराओं को लाँघ जाएँगे। प्रभु की उपासना का सर्वमहान् लाभ यही है कि हम सर्वत्र बन्धुत्व का अनुभव करते हुए द्वेष में कभी नहीं फंसते।

भावार्थ—प्रभु के आश्रय से हम द्वेष की इस भयंकर नदी को तैर जाएँ।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शुचिता व वन्द्यता

शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने बृहद्वि रोचसे। त्वं घृतेभिराहुतः॥ ४॥

१. हे **पावक**=पवित्र करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **शुचिः**=पूर्ण पवित्र हैं, अत एव **वन्द्यः**=अभिवादन व स्तुति के योग्य हैं। पवित्रता ही किसी की स्तुति का कारण बनती है। जो जितना-जितना पवित्र होता है, वह उतना ही वन्दनीय व स्तुत्य होता है। हे प्रभो! आप तो **बृहद् विरोचसे**=ख़ूब ही दीप्त हैं। यह ज्ञानदीप्ति ही तो पवित्रता की जननी है। हम भी ज्ञान प्राप्त करें—पवित्र बनें और स्तुत्य जीवनवाले हों। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **घृतेभिः**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण (=निर्मलता) व ज्ञानदीप्तियों से **आहुतः**=हमारे द्वारा अपने हृदयों में आहुत किये जाते हैं। जैसे घृत बाह्य अग्नि में आहुत होता है, इसी प्रकार नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति से मैं आपको अपने में आहुत करता हूँ। नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति आपकी प्राप्ति के साधन हो जाते हैं।

भावार्थ—जो जितना शुद्ध होता है—वह उतना ही वन्द्य होता है। नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति से हम प्रभु को अपने में धारण करते हैं।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्पिपीलिकामध्यागायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

वशा-उक्षा-अष्टापदी

त्वं नो असि भारताऽग्ने वशाभिरुक्षभिः। अष्टापदीभिराहुतः॥ ५॥

१. गतमन्त्र में प्रभुप्राप्ति के लिए नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति को साधन के रूप में कहा था। प्रस्तुत मन्त्र में अन्य अपेक्षणीय बातों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—हे **भारत**=हम सब का भरण करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **वशाभिः**=आत्मसंयम की भावनाओं से—इन्द्रियों के वशीकरणों से **आहुतः**=अपने अन्दर प्राप्त कराए जाकर **नः असि**=हमारे होते हो। इन्द्रियों के वशीकरण द्वारा हम आपको पानेवाले बनते हैं—आप हमारे हो जाते हैं। २. इसी प्रकार **उक्षभिः** (उक्ष सेचने)=शरीर में उत्पन्न शक्ति के शरीर में ही सेचन द्वारा आप हमारे हृदयों में प्राप्त होकर हमारे हो जाते हैं। ३. **अष्टापदीभिः**='यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि' नामक आठ योगाङ्गरूप आठ चरणों से अपने अन्दर आहुत हुए-हुए आप हमारे हो जाते हो।

भावार्थ—प्रभु को पाने के लिए तीनों ही बातें आवश्यक हैं (क) हम इन्द्रियों को वश में करें (ख) उत्पन्न सोमशक्ति को शरीर में ही सिक्त करें (ग) योग के अंगों को अपनाएँ।

सूचना—वशा का अर्थ "वन्ध्या गौ" भी है, उक्षा का बैल (Ox) तथा सवत्साधेनु का नाम अष्टापदी। इन अर्थों को लेकर यज्ञाग्नि में इनके माँस की आहुति देने का यहाँ विधान कई विद्वानों ने निकाला, अतः मध्यकाल में 'गोमेध' यज्ञ में गौवों की हिंसा करके उनकी आहुति दी जाती रही। वस्तुतः इस प्रकार के अर्थ वेदों के साथ घोर अन्याय के सूचक हैं। जिन वेदों में "गां मा हिंसीरदितिं विराजम्" यजु० १३।४३, "मा गामनागामदितिं वधिष्ट" ऋ० ८।१०।१५ आदि कहकर गाय, अश्व, अवि आदि सभी पशुओं की हिंसा का निषेध किया गया हो, उन्हीं वेदों में हिंसा का विधान कैसे हो सकता है? अतः वेदमन्त्रों का हिंसारहित अर्थ करना ही उचित है, विशेष व्याख्या के लिए ऋषि दयानन्द कृत भाष्य एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका देखें।

ऋषिः—**सोमाहुतिर्भार्गवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वानस्पतिक भोजन व घृत

द्रुवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः। सहसस्पुत्रो अद्भुतः॥ ६॥

१. वे प्रभु (द्रु+अन्नः) **द्रुवन्नः**=वनस्पतिरूप अन्नवाले हैं, अर्थात् प्रभुप्राप्ति के लिए वानस्पतिक भोजन ही अपेक्षित है। माँसाहार हमें भौतिक प्रवृत्तिवाला बनाता है—प्रभु की भावना से दूर करता है। गाय का घृत ही प्रभु के अभिषव का साधन है (सु—अभिषवे)। गोघृत का प्रयोग बुद्धि को तीव्र करता है और यह तीव्रबुद्धि प्रभुदर्शन में साधन बनती है। २. यह तीव्र बुद्धि प्रभु को इस रूप में देखती है कि वे प्रभु **प्रत्नः**=अत्यन्त चिरन्तन व पुराण हैं। **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। **वरेण्यः**=ये प्रभु सर्वथा वरण के योग्य हैं। जीव के सामने प्रकृति और परमात्मा दोनों उपस्थित हैं। सामान्यतः जीव आपातरमणीय प्रकृति की ओर झुकता है और अन्ततः कष्टों को प्राप्त करता है। ज्ञानी पुरुष प्रभु का वरण करके वास्तविक आनन्द का भागी होता है। **सहसः पुत्रः**=वे प्रभु शक्ति के पुतले हैं, सर्वशक्तिमान् हैं। वस्तुतः अद्भुत, अनुपम हैं। संसार की किसी भी वस्तु से प्रभु की उपमा नहीं दी जा सकती। वे अलौकिक व दिव्य हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन के लिए आवश्यक है कि हम वानस्पतिक भोजन व घृत के प्रयोग को करते हुए तीव्रबुद्धिवाले बनें।

प्रभु से 'श्रेष्ठ ज्योतिर्मय पुरुस्पृह' रयि की प्रार्थना से सूक्त का आरम्भ हुआ है। भक्त की प्रार्थना है कि हमारे में अदान की भावना न हो (२) द्वेष से हम ऊपर उठें (३) हमारा जीवन पवित्र हो। इस पवित्रता के लिए हम इन्द्रिय संयम—वीर्यरक्षण व योगमार्ग को महत्त्व दें (५) वानस्पतिक भोजन व घृत प्रयोग करें। अगले सूक्त में भी प्रभु का स्तवन चलता है और कहते हैं कि—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यशस्तम-मीढ्वान्

वाजयन्निव नू रथान्योगाँ अग्नेरुप स्तुहि। यशस्तमस्य मीळ्हुषः॥ १॥

१. **नु**=अब **अग्नेः**=उस प्रभु के—उस प्रभु से प्राप्त कराये गये, इन **रथान्**=शरीररूप रथों को **योगान्**=और इन रथों में जुते घोड़ों को **वाजयन् इव**=शक्तिशाली सा बनाता हुआ **उपस्तुहि**=उसका स्तवन करनेवाला बन। मन्त्र में 'इव' शब्द का प्रयोग यह संकेत करता है कि इनको शक्तिशाली जीव ने क्या बनाना है, शक्ति प्राप्त कराना तो प्रभु का ही कार्य है। 'जीव इस शक्ति का अपव्यय न करे' यही पर्याप्त है। प्रभु द्वारा दिये गये शरीर को स्वस्थ शान्ति सम्पन्न रखने से प्रभु का पूजन ही हो जाता है। २. उस प्रभु का तू पूजन कर जो **यशस्तमस्य**=अत्यन्त यशस्वी

हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभु का यशोगान कर रहा है। **मीढुषः**=उस प्रभु का तू पूजन कर जो सब पर सुखों की वर्षा करनेवाले हैं। वस्तुतः स्तोता को चाहिए कि वह भी यशस्वी जीवनवाला बनें, और अन्यों के जीवन को सुखी करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु का वस्तुतः स्तवन वही करता है जो (क) अपने शरीर को जीर्णशक्ति नहीं होने देता, (ख) यशस्वी जीवनवाला बनता है तथा (ग) सब पर सुखों के वर्षण का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पिपीलिकामध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुनीथ-चारुप्रतीक

यः सुनीथो ददाशुषेऽजुर्यो जरयन्नरिम्। चारुप्रतीक आहुतः ॥ २ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **ददाशुषे**=अपना समर्पण करनेवाले के लिए **सुनीथः**=(सुनयनः) उत्तम नेतृत्व देनेवाले हैं। जो भी प्रभु के प्रति अपना समर्पण करता है, प्रभु उसे ठीक ही मार्ग पर ले चलते हैं। **अजुर्यः**=वे प्रभु कभी जीर्ण होने वाले नहीं—किन्हीं भी शत्रुओं से वह अभिभूत करने योग्य नहीं। **अरिं जरयन्**=काम-क्रोधादि हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। २. **आहुतः**=अपने हृदयों में जब हम उस प्रभु को आहुत करते हैं तो वे **चारुप्रतीकः**=सुन्दर सब अंगोंवाला बनाते हैं। (चारवः प्रतीकाः यस्मात्)। हम प्रभु को हृदय में धारण करते हैं तो वे प्रभु हमारे सब शत्रुओं का संहार करके हमारे सब अंगों को सौन्दर्य प्रदान करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें—प्रभु हमें ठीक ही मार्ग से ले चलेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अहिंसित व्रतोंवाला

य उ श्रिया दमेष्वा दोषोषसि प्रशस्यते। यस्य व्रतं न मीयते ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र में प्रभु को 'चारुप्रतीक' कहा था। वस्तुतः वे प्रभु ही सब शरीरों को—शरीरावयवों को—श्रीयुक्त करते हैं। **यः**=जो प्रभु **उ**=निश्चय से **दमेषु**=सब शरीरों में **श्रिया**=श्री की स्थापना से **दोषा उषसि**=रात्रि और दिन में **आ प्रशस्यते**=सर्वत्र स्तुति किये जाते हैं। शरीर में बल है तो वह बल उस प्रभु का ही है, बुद्धि है तो वह बुद्धि उस प्रभु की ही है। सब तेज़ उसी का तो है। २. ये प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनका **व्रतम्**=व्रत व नियम **न मीयते**=हिंसित नहीं किया जाता। प्रभु के नियमों को कोई भी तोड़ने में समर्थ नहीं है।

भावार्थ—सब श्री उस प्रभु की है। उसके नियम अटूट हैं। उपासक को भी अपने जीवन को व्रतीजीवन बनाना है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य सम दीप्तिवाले

आ यः स्वर्ण भानुना चित्रो विभात्यर्चिषा। अञ्जानो अजरैरभि ॥ ४ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **अर्चिषा**=ज्ञानाग्नि की ज्वालाओं से इस प्रकार **आविभाति**=सर्वतः दीप्त होते हैं, **न**=जैसे कि **भानुना**=किरणों की दीप्ति से **स्वः**=सूर्य चमकता है। आदित्य=वर्ण तो वे हैं ही। इसी कारण वे प्रभु **चित्रः**=अद्भुत हैं अथवा (चायनीयः) पूजनीय आदरणीय हैं। २. ये प्रभु **अजरैः**=अपने न जीर्ण होनेवाले ज्ञान के प्रकाशों से **अभि अञ्जानः**=हमारे जीवनों को अन्दर बाहर से अलंकृत कर रहे हैं—हमें आन्तरिक व बाह्य दीप्ति प्राप्त कराके वे प्रभु हमें स्वलंकृत

जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु अपनी ज्ञानदीप्ति से सूर्य के समान चमकते हैं। हमारे जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अत्रि व स्वराज्य

अत्रिमनु स्वराज्यमग्निमुक्थानि वावृधुः। विश्वा अधि श्रियो दधे॥ ५॥

१. हमारे जीवनों में **अत्रिम् अनु**=अत्रि का लक्ष्य करके (अनुर्लक्षणे) **उक्थानि वावृधुः**=प्रभु के स्तोत्र बढ़ते हैं, अर्थात् हम इसलिए प्रभु के स्तोत्रों को करते हैं कि हम अत्रि बन सकें—हमारे जीवन से 'काम-क्रोध-लोभ' ये तीनों ही आसुरभाव लुप्त हो जाएँ। २. इसी प्रकार **स्वराज्यम्**=अनु—आत्मशासन का लक्ष्य करके हमारे जीवन में प्रभु के स्तोत्र बढ़ते हैं। प्रभु-स्तवन से हम आत्मसंयमवाले होते हैं और इस प्रकार वे प्रभु **विश्वाः**=सब **श्रियः**=श्रियों को **अधिदधे**=आधिक्येन धारण करते हैं, जो भी पुरुष 'अत्रि व स्वराज्य' बनता है, 'काम, क्रोध, लोभ' से ऊपर उठता है तथा अपना शासन अपने आप करता है' वह श्रीसम्पन्न जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम अत्रि व स्वराज्य बनने के लिए ख़ूब ही प्रभुस्तवन करें। इसी प्रकार हमारा जीवन श्रीसम्पन्न बनेगा।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'अग्नि-इन्द्र-सोम-देव'

अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य देवानामूतिभिर्वयम्। अरिष्यन्तः सचेमह्यभि ष्याम पृतन्यतः॥ ६॥

१. **वयम्**=हम **अरिष्यन्तः**=न हिंसित होने के हेतु से ('अधीयन् वसति' में अर्थ है 'अध्ययन के हेतु से') **अग्नेः**=अग्नि की **इन्द्रस्य**=इन्द्र की **सोमस्य**=सोम की तथा **देवानाम्**=अन्य सब देवों की **ऊतिभिः**=रक्षाओं से **सचेमहि**=संगत हों। अग्नि का रक्षण यही है कि हम अपने अन्दर आगे बढ़ने की भावना को सुरक्षित करें। इसी प्रकार 'इन्द्र का रक्षण' यह है कि हम इन्द्रियों को वश में रखने का पूर्ण यत्न करें। सोम का रक्षण दो भावों को प्रकट करता है। एक तो सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित करना तथा दूसरा 'सौम्य' (=विनीत) बनना। देवों का रक्षण 'दिव्यगुणों को अपनाना' है। इन बातों से संगत होने पर हिंसित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। २. इन सबके रक्षण से युक्त होकर हम **पृतन्यतः**=हमारे ऊपर अपनी सेना से आक्रमण करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को **अभिष्याम**=अभिभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—हम 'अग्नि, इन्द्र, सोम व देव' शब्दों की भावनाओं को अपने में मूर्त रूप दें तथा कामादि शत्रुओं को परास्त करें।

सम्पूर्ण सूक्त अग्नि की उपासना द्वारा यशस्वी जीवनवाला बनने की प्रेरणा दे रहा है। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सहस्रम्भरः-शुचिजिह्वः

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत्सुदक्षः।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः॥ १॥

१. यह मानव शरीर 'होतृषदन' कहा गया है। इसमें 'सप्तहोतृक-यज्ञ' निरन्तर चलता है—'कर्णाविमौ नासिके चक्षुषी मुखम्'='दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' ये सात होता हैं—इन सात होताओंवाला यज्ञ यहाँ मन के द्वारा चलाया जा रहा है। ये सात होता ही 'सप्तर्षि' हैं—कान 'गोतम-भरद्वाज' हैं, आँखे 'विश्वामित्र-जमदग्नि' हैं, नासिका 'वसिष्ठ-कश्यप' हैं, वाक् 'अत्रि' है। इस **होतृषदने**=होतृषदन में वह सर्वमहान् **होता**=हमारे जीवनयज्ञों को चलानेवाले प्रभु—सब कुछ देनेवाले प्रभु **नि असदत्**=निश्चय से आसीन होते हैं। वे प्रभु **विदानः**=सर्वज्ञ हैं, **त्वेषः**=तेज़ से दीप्त हैं, **दीदिवान्**=ज्ञानज्योति से जगमगा रहे हैं। **सुदक्षः**=प्रवृद्ध बलवाले हैं। २. वे प्रभु **अदब्धव्रतप्रमतिः**=न नष्ट व्रतों व प्रकृष्ट बुद्धिवाले हैं। प्रभु के **व्रत**=नियम अटूट हैं—वे प्रभु बुद्धिपूर्वक इन नियमों को बनाते हैं, अतः ये नियम पूर्ण हैं और अपरिवर्तनीय हैं। **वसिष्ठः**=वे सबको अधिक से अधिक उत्तम निवास देनेवाले हैं। वे वसुओं में श्रेष्ठ हैं। **सहस्रम्भरः**=(सहस्रं=सर्वम्) सबका भरण करनेवाले हैं। **शुचिजिह्वः**=पूर्ण पवित्र वाणीवाले हैं—उनसे सृष्टि के आरम्भ में उच्चरित यह वेदवाणी भी निर्दोष है। इसके द्वारा ही वे **अग्निः**=हमें निरन्तर आगे ले चलनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे जीवनयज्ञ को चलाते हैं। वे ही ज्ञान देकर हमें शुभ मार्ग पर आगे ले चलते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान व धन द्वारा रक्षण

त्वं दूतस्त्वमु नः परस्पास्त्वं वस्य आ वृषभ प्रणेता।
अग्ने तोकस्य नस्तने तनूनामप्रयुच्छन्दीद्यद्बोधि गोपाः॥ २॥

१. हे प्रभो! **त्वं दूतः**=आप ही हमारे लिए ज्ञानसन्देश देनेवाले हैं। **उ**=और इस ज्ञान द्वारा **त्वम्**=आप ही **नः**=हमें **परस्पाः**=ज्ञानसन्देश देनेवाले हैं। हे **वृषभ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही **वस्यः**=उत्कृष्ट धन के **आ प्रणेता**=सर्वथा प्राप्त करानेवाले हो। ज्ञान द्वारा आप हमें काम, क्रोधादि आन्तर-शत्रुओं से बचाते हैं, तथा धन देकर आप हमें भौतिक कष्टों से बचानेवाले होते हैं। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **दीद्यत्**=दीप्ति से शोभित होते हुए **तोकस्य**=हमारे सन्तानों का, **तने**=पौत्रों के विषय में, **नः तनूनाम्**=और हमारे शरीरों का **बोधि**=ध्यान करिए (बुध्यस्व) (Look after)। **गोपाः**=आप ही इस सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। हम गौवें हैं तो आप गोपा हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान व धन देकर हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान स्तवन व यज्ञ

विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे॥ ३॥

१. 'जायते अस्मिन् इति जन्मन्' इस व्युत्पत्ति से द्युलोक व मस्तिष्क 'परम जन्मन्' हैं—यह प्रभु के प्रकाश का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। इस मस्तिष्क में ज्ञानप्रकाश द्वारा हम प्रभु का दर्शन करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! हम **परमे जन्मन्**=इस सर्वोत्कृष्ट प्रादुर्भाव के स्थान मस्तिष्क में **ते विधेम**=आपका पूजन करते हैं। २. हृदय मस्तिष्क के बीच होने से 'अवर' कहलाया है। मस्तिष्करूप द्युलोक हृदयान्तरिक्ष से ऊपर है ही। यहाँ आत्मा परमात्मा दोनों का मेल है, अतः यह 'सधस्थ' (सह-स्थ) कहलाता है। इस **अवरे सधस्थे**=अवर सधस्थ में, अर्थात् हृदयान्तरिक्ष में

स्तोमैः=स्तोत्रों के द्वारा **विधेम**=आपकी परिचर्या करते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान द्वारा प्रभु का पूजन था तो हृदय में स्तवन के द्वारा। ३. **यस्माद् योनेः**=जिस उत्पत्तिस्थान से आप **उदारिथाः**=उद्गत होते हैं—प्रादुर्भूत होते हैं—मैं **तं यजे**=उस यज्ञरूप योनि को अपने साथ संगत करता हूँ। जब मनुष्य इस शरीर से—शरीर के अवयव हाथों से यज्ञादि कर्मों में ही प्रवृत्त होता है तो वह इन यज्ञों से उस यज्ञरूप प्रभु का पूजन कर रहा होता है और यज्ञों से प्रीणित प्रभु का वह दर्शन करता है। इस **समिद्धे**=सम्यक् दीप्त **त्वे**=आप में **हवींषि प्रजुहुरे**=हवियाँ आहुत होती हैं, अर्थात् आपका दर्शन करने पर हमारा जीवन हविरूप हो जाता है—हम अधिक से अधिक लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभुपूजन मस्तिष्क में ज्ञान से, हृदय में स्तवन से तथा शरीर में (हाथों में) यज्ञों से होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देष्णं राधः (धन दान के लिए)

अग्ने यजस्व हविषा यजीयाञ्छ्रुष्टी देष्णमभि गृणीहि राधः।
त्वं ह्यसि रयिपती रयीणां त्वं शुक्रस्य वचसो मनोता॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप हमें **हविषा यजस्व**=हवि से संगत करिए। आपकी कृपा से हम सदा यज्ञों को करनेवाले हों। **यजीयान्**=आप ही सर्वोत्तम यष्टा हैं। हमने यज्ञों को क्या करना है। इन यज्ञों ने तो आपकी शक्ति से ही होना है। आप **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **देष्णम्** (देयं)=दान देने योग्य **राधः**=धन को-सर्वकार्य साधक ऐश्वर्य को **अभिगृणीहि**=(प्रयच्छ सा०) आभिमुख्येन देने की कृपा करिए। इन धनों से ही तो हम यज्ञों को सिद्ध कर सकेंगे। २. **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **रयीणां रयिपतिः**=धनों के स्वामी **असि**=हैं। और **त्वम्**=आप **शुक्रस्य**=शुद्ध **वचसः**=वेदज्ञान के **मनोता**=प्रज्ञापक हैं (मानयिता सा०)। इस वेदज्ञान के कारण हम धनों का दुरुपयोग करने से बचकर उनका यज्ञादि उत्तम कार्यों में ही विनियोग करते हैं। धन हमारे कार्यों को सिद्ध करता है तो वेदज्ञान उन धनों की हानि से हमें बचाता है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें धनों को देते हैं और उनके ठीक प्रयोग के लिए वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उभयं वसव्यम् (ज्ञान+धन)

उभयं ते न क्षीयते वसव्यं दिवेदिवे जायमानस्य दस्म।
कृधि क्षुमन्तं जरितारमग्ने कृधि पतिं स्वपत्यस्य रायः॥ ५॥

१. हे **दस्म**=दर्शनीय व हमारे सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **जायमानस्य**=उपासना द्वारा हृदय में आविर्भूत होनेवाले **ते**=आपका **उभयं वसव्यम्**=दोनों प्रकार का धन, ज्ञानरूप दिव्य धन, तथा द्रविण रूप पार्थिवधन **न क्षीयते**=नष्ट नहीं होता। आपका दिव्य व भौमधन अनन्त है। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! उन धनों द्वारा **जरितारम्**=इस स्तवन करनेवाले भक्त को **क्षुमन्तं कृधि**=('क्षु' अन्न नाम नि० २.७) प्रशस्त अन्नवाला करिए। धन द्वारा यह अन्न जुटा पाए, ज्ञान द्वारा उत्कृष्ट अन्न ही जुटानेवाला हो। ३. हे प्रभो! आप इस स्तोता को **स्वपत्यस्य**=उत्तम सन्तानोंवाले **रायः**=धन का **पतिं कृधि**=स्वामी बनाइए। धन के कारण सन्तानों में किसी प्रकार की कमी न आ जाए। वही धन ठीक है जो सभी के उत्थान का कारण बने।

इन धनों द्वारा हम सन्तानों को ऊँची से ऊँची शिक्षा दे पाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान व धन दोनों को प्राप्त कराएँ। धनों से हम उत्कृष्ट अन्न को जुटाएँ और सन्तानों को सुशिक्षा के द्वारा उत्तम बनाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**गृत्समदः शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुविदत्रः आयजिष्ठः

सैनानीकेन सुविदत्रो अस्मे यष्टा देवाँ आयजिष्ठः स्वस्ति।
अदब्धो गोपा उत नः परस्पा अग्ने द्युमदुत रेवद्दिदीहि॥ ६॥

१. **सः**=वे आप **एना**=इस **अनीकेन** (Splendour, Brilliance) तेजस्विता से **अस्मे**=हमारे लिए **सुविदत्रः**=उत्तम धनोंवाले होइए (विद् लाभे)। **देवान् यष्टा**=देवों का हमारे साथ संगतिकरण करिए, **आयजिष्ठः**=आप ही सर्वाधिक पूज्य हैं। २. **अदब्धः**=अहिंसित होते हुए आप **गोपाः**=हमारे रक्षक हैं। **उत**=और **नः**=हमें **परस्पाः**=शत्रुओं से बचानेवाले हैं। **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **द्युमत्**=ज्योतिर्मय रूप से **उत**=और **रेवत्**=ऐश्वर्यसम्पन्न रूप से **स्वस्ति**=बड़े कल्याण के साथ (स्वस्ति यथा स्यात्तथा) **दिदीहि**=दीप्त होइए। हम आपसे ज्योति व ऐश्वर्य प्राप्त करके कल्याणपूर्वक दीप्त-जीवन बितानेवाले हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें तेजस्विता व उत्तम धन प्राप्त कराते हैं। आप हमारे जीवनों में ज्योतिर्मय व ऐश्वर्यसम्पन्न होकर दीप्त होइए।

सूक्त का सार यह है कि हम प्रभु का ज्ञानस्तवन व यज्ञों द्वारा पूजन करें। प्रभु हमारे लिए ज्ञान व धन प्राप्त कराके हमारे जीवनों को दीप्त व ऐश्वर्यसम्पन्न बनाते हैं। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपास्य प्रभु

जोहूत्रो अग्निः प्रथमः पितेवेळस्पदे मनुषा यत्समिद्धः।
श्रियं वसानो अमृतो विचेता मर्मृजेन्यः श्रवस्यः स वाजी॥ १॥

१. **जोहूत्रः**=(ह्वयतेर्जुहोतेर्वा) सबसे पुकारने योग्य अथवा सब कुछ देनेवाले वे प्रभु हैं, **अग्निः**=वे अग्रणी हैं **प्रथमः**=सर्वव्यापक हैं (प्रथ विस्तारे)। **पिता इव**=पिता के समान हैं अथवा 'स पूर्वेषामपि गुरुः' की तरह वे प्रभु प्रथम पिता हैं—पिताओं के भी पिता हैं। २. ये प्रभु **यत्**=जब **इडस्पदे**=वाणी के स्थान में **मनुषा**=विचारशील पुरुष से **समिद्धः**=दीप्त होते हैं तो **श्रियं वसानः**=श्री को आच्छादित करनेवाले होते हैं। जो ज्ञान वाणियों को ग्रहण करता हुआ प्रभु का स्तवन करता है, प्रभु उसे श्री से आच्छादित कर देते हैं—उसका जीवन श्रीसम्पन्न बनता है। ३. ये प्रभु **अमृतः**=अमृत हैं—उपासक को अमृतत्व प्राप्त कराते हैं। **विचेताः**=प्रभु विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। **मर्मृजेन्यः**=उपासक के जीवन को अत्यन्त शुद्ध बनानेवाले हैं। **अवस्यः**=उत्तम यशवाले **सः**=वे प्रभु **वाजी**=शक्तिशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमारा जीवन 'श्री से आच्छादित पवित्र, यशस्वी व शक्तिशाली' बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्यावा-रोहिता-अरुषा

श्रूया अग्निश्चित्रभानुर्हवं मे विश्वाभिर्गीर्भिरमृतो विचेताः।
श्यावा रथं वहतो रोहिता वोतारुषाह चक्रे विभृत्रः॥ २॥

१. **चित्रभानुः**=वह अद्भुत दीप्तिवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **विश्वाभिः गीर्भिः मे हवम्**= सब वाणियों से किये जाते हुए मेरे स्तवन व आराधन को **श्रूयाः**=सुने। प्रभु की आराधना के लिए भाषा व शब्दों का कोई प्रतिबन्ध नहीं। यह उपासना सब वाणियों द्वारा हो सकती है। वे प्रभु **अमृतः**=अमृत हैं, **विचेताः**=विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। २. उस प्रभु की ओर **श्यावा**=(श्यैङ् गतौ) गतिशील इन्द्रियाश्व **रथम्**=हमारे शरीररथ को **वहतः**=प्राप्त कराते हैं। **वा**=अथवा **रोहिता**= प्रादुर्भूतशक्तियोंवाले इन्द्रियाश्व उस प्रभु की ओर हमें ले चलनेवाले होते हैं। **ह**=निश्चय से **विभृत्रः**=विशेष रूप से धारण करनेवाले वे प्रभु इन इन्द्रियाश्वों को **अरुषा**=आरोचमान **चक्रे**= बनाते हैं। प्रभु की ओर हमें ले जानेवाली कर्मेन्द्रियाँ सतत गतिशील (श्यावा) होती है, ज्ञानेन्द्रियाँ आरोचमान (अरुषा) होती हैं। इस प्रकार ये सभी इन्द्रियाँ विकसित शक्तिशाली होती हैं (रोहिता)।

भावार्थ—हम प्रभु की आराधना करें। प्रभु हमारी पुकार सुनेंगे और हमारी इन्द्रियों को गतिशील, विकसित व आरोचमान बनाएँगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उत्तान हृदय में प्रभु का प्रकाश'

उत्तानायामजनयन्त्सुषूतं भुवदग्निः पुरुपेशासु गर्भः।
शिरिणायां चिदक्तुना महोभिरपरीवृतो वसति प्रचेताः॥ ३॥

१. 'उत्तान' शब्द का अर्थ है (frank, candid)=प्राञ्जल=छलछिद्रशून्य, सरल, उपासक। **उत्तानायाम्**=प्राञ्जल हृदय-स्थली में **सुषूतम्**=(षू प्रेरणे) उत्तम प्रेरणा को (शोभनं सूतं) अथवा (शोभनं सूतं यस्मात्) उत्तम प्रेरणा प्राप्त करानेवाले प्रभु को **अजनयत्**=प्रादुर्भूत करता है। निर्मल हृदय में प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है। २. वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पुरुपेशासु**=अनेक रूपोंवाली प्रजाओं में **गर्भः**=गर्भरूप से मध्य में रहनेवाला होता है। सब के अन्दर प्रभु का वास है। वे प्रभु **शिरिणायाम्**=रात्रि में **चित्**=भी **महोभिः**=अपनी तेजस्विताओं के कारण **अक्तुना**= अन्धकार से **अपरीवृतः**=आच्छादित नहीं होते। वे **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले होते हुए **वसति**=सर्वत्र निवास करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा पवित्र हृदय में सुन पड़ती है। वे प्रभु अन्धकार से आच्छादित नहीं होते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हविषा घृतेन

जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्॥ ४॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से तथा **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से (घृ क्षरणदीप्त्योः) **जिघर्मि**=मैं अपने अन्दर दीप्त करता हूँ। प्रभु का प्रकाश हवि व घृत के द्वारा अलभ्य है। वे प्रभु **विश्वा भुवनानि प्रतिक्षियन्तम्**=सब प्राणियों में निवास कर रहे हैं। हवि स्वीकार करनेवाला तथा मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तिवाला व्यक्ति सर्वत्र प्रभु का

प्रकाश देखता है 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'=सब प्राणियों में स्थित आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में देखनेवाला यह व्यक्ति शोक-मोह से ऊपर उठ जाता है। २. हवि व घृत द्वारा मैं उस प्रभु का दर्शन करता हूँ जो कि **पृथुम्**=अत्यन्त विस्तृत हैं—सर्वव्यापक हैं। **तिरश्चा**=एक कोने से दूसरे कोने तक (तिरः अञ्च्) जानेवाले **वयसा**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) इस सृष्टितन्तु के विस्तार से भी **बृहन्तम्**=बढ़े हुए वे प्रभु हैं—ये सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एक देश में है। **व्यचिष्ठम्**=अत्यधिक विस्तारवाले वे प्रभु हैं—इस सारे ब्रह्माण्ड को उन्होंने घेरा हुआ है। **अन्नैः रभसम्**=इन अन्नों के द्वारा हमें शक्तिशाली (robust) बनानेवाले हैं। **दृशानम्**=दर्शनीय हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन 'हवि व घृत' से होता है। वे प्रभु हमें अन्नोंद्वारा शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अरक्षसा मनसा

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा३ जर्भुराणः ॥ ५ ॥

१. **विश्वतः**=सब ओर **प्रत्यञ्चम्**=अभिमुख प्राप्त होनेवाले उस प्रभु को **आजिघर्मि**=मैं अपने हृदय में समन्तात् दीप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। मनुष्य को चाहिए कि **अरक्षसा**=राक्षसी वृत्ति से रहित **मनसा**=मन से **तत् जुषेत**=उस प्रभु का प्रीतिपूर्वक सेवन करे। २. जो भी प्रभु का उपासन करता है वह **मर्यश्रीः**=(मर्याणां श्रीः) मनुष्यों की शोभा बनता है—मनुष्यों में शोभायुक्त जीवनवाला होता है। **स्पृहयद्वर्णः**=स्पृहणीयरूपवाला होता है—तेजस्विता के कारण चाहने योग्य होता है। **अग्निः न**=अग्नि के समान **अभिमृशे**=(is to be considered) सोचने योग्य होता है—लोगों को यह अग्नि के समान प्रतीत होता है। **तन्वा जर्भुराणः**=शक्तियों के विस्तार से (तनु विस्तारे) ख़ूब ही भरण किया जाता हुआ व पूर्यमाण होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हृदय की शुद्धता से होता है। उपासक शोभामय जीवनवाला—स्पृहणीय वर्णवाला—अग्नि के समान—तेज से पूर्यमाण होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जुह्वा वचस्या

ज्ञेया भागं सहसानो वरेण त्वादूतासो मनुवद्वदेम।
अनूनमग्निं जुह्वा वचस्या मधुपृचं धनसा जोहवीमि ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! **वरेण सहसानः**=श्रेष्ठ बुद्धि आदि के द्वारा हमारे शत्रुओं का पराभव करते हुए आप **भागम्**=(भज सेवायाम्) मुझ उपासक को **ज्ञेयाः**=जानें, अर्थात् मैं आपकी कृपादृष्टि से ओझल न हो जाऊँ। २. **त्वा दूतासः**=आपको ज्ञानसन्देशवाहक के रूप में प्राप्त करके हम **मनुवद्वदेम**=विचारशील पुरुष की तरह सदा आपकी स्तुतियों का उच्चारण करें। ज्ञानपूर्वक आपका हम स्तवन करें। ३. **अनूनम्**=(न ऊनं) सर्वथा पूर्ण **अग्निम्**=अग्रणी **मधुपृचम्**=माधुर्य के साथ हमारे जीवन को संपृक्त करनेवाले आपको **जुह्वा**=आहुति द्वारा तथा **वचस्या**=स्तुति के द्वारा **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। आपकी आराधना करनेवाला मैं **धनसाः**=धनों का संविभाग करनेवाला होता हूँ। वस्तुतः यह धनों का संविभाग ही आहुति है—यह प्राजापत्य यज्ञ में पड़नेवाली आहुति है। धनों का त्याग ही हमें प्रभु-प्रवण बनाता है।

भावार्थ—त्याग व स्तुति के द्वारा हम प्रभु की आराधना करनेवाले हों। प्रभु हमारे जीवन को मधुर बनाएँगे।

चला रहे हैं। इस यज्ञ में वासना विध्वंस हो जाती है। इस वासना को प्रभु विनष्ट करते हैं। २. **यः**=जो **वलस्य**=ज्ञान पर परदे के रूप में आ जाने वाले (Veil) वल नामक असुरभाव के **अपधा**=दूर धारण द्वारा **उदाजत्**=प्रकर्षेण प्रेरित करता है। प्रभु वल या वृत्र को विनष्ट करके हमारे ज्ञान को दीप्त करते हैं। ३. **यः**=जो **अश्मनोः अन्तः**= (अश्मा इति मेघनाम नि० १.१०) दो बादलों के अन्दर परस्पर समीप आने पर **अग्निम्**=विद्युत् रूप अग्नि को **जजान**=प्रकट करता है। जैसे दो पत्थरों के संघर्ष से आग प्रकट होती है, इसी प्रकार दो बादलों में विद्युत्। इसी प्रकार मानवजीवन में भी विद्या व श्रद्धा रूप दो पाषाणों में कर्मरूप अग्नि का प्रादुर्भाव होता है। इस अग्नि के प्रादुर्भाव द्वारा वे प्रभु **समत्सु**=अध्यात्म-संग्रामों में **संवृक्**=हमारे वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाले हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं।

भावार्थ—वासना को विनष्ट करके ज्ञान-प्रवाहों के चलानेवाले वे प्रभु हैं। प्रभु ही अध्यात्म संग्रामों में हमारे वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निचली योनियों में

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहा कः।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥ ४ ॥

१. **येन**=जिसने **इमा विश्वा**=इन सब लोकों को **च्यवना कृतानि**=अस्थिर बनाया है। दृढ़-से-दृढ़ प्रतीयमान लोक को भी वे प्रभु प्रलयकाल आने पर विदीर्ण करते हैं। प्रभु ने सारे संसार को ही नश्वर बनाया है। वस्तुतः इस अस्थिरता का चिन्तन ही मनुष्य को मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है। २. **यः**=जो **दासं वर्णम्**=औरों का उपक्षय करनेवाले मानवसमूह को **अधरम्**=निचली योनियों में **गुहा कः**=संवृत ज्ञान की (गुह संवरणे) स्थिति में करते हैं, अर्थात् पशु-पक्षियों की योनि में व वृक्षादि स्थावर योनियों में ही जन्म देते हैं। यहाँ उनकी बुद्धि सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। ३. **यः**=जो **जिगीवान्**=सदा विजयी प्रभु **अर्यः**=वैश्यवृत्तिवाले कृपण व्यक्ति की **पुष्टानि**=सम्पत्तियों को इस प्रकार **आदत्**=छीन लेते हैं **इव**=जैसे कि **श्वघ्नी**=एक व्याघ्र (शिकारी) **लक्षम्**=अपने लक्ष्यभूत मृगादि को **आदद्**=ग्रहण कर लेता है। हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे कृपणों के धनों का हरण करनेवाले प्रभु ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु ने सब लोकों को नश्वर बनाया है। पापवृत्तिवाले को वे निचली योनियों में जन्म देते हैं, कृपणवृत्ति वालों के धन का अपहरण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु में अनास्था

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सब लोकों को नश्वर बनानेवाले **यं घोरम्**=जिस उग्र प्रभु को आसुरीवृत्तिवाले लोग **कुह सः**='कहाँ है वह!' **इति**=इस प्रकार **पृच्छन्ति स्म**=पूछते हैं। **उत**=और **ईम्**=निश्चय से **एनम्**=इस परमात्मा को **एषः न अस्ति**=यह नहीं है **इति**=इस प्रकार **आहुः**=कहते हैं। सामान्यतः 'वे प्रभु नहीं हैं' ऐसा ही उनका विचार बनता है। ऐसा मानकर वे अन्याय्य मार्गों से धनों का संग्रह करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **अर्यः**=इन धनार्जन-प्रसित पुरुषों की **पुष्टीः**=(Pressessions) धनों व सम्पत्तियों को **विजः इव**=भूकम्प की तरह **आमिनाति**=सर्वथा

सूक्त का केन्द्रीभूत विचार यह है कि हम प्रभु 'हविषा, घृतेन, अरक्षसा मनसा-जुह्वा-वचस्या' प्रभु का आराधन करें। प्रभु हमारे जीवनों को मधुर बनाएँगे। अगले सूक्त में प्रभु का 'इन्द्र' नाम से उपासन करते हैं—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्वास्थ्य व दान

श्रुधी हवमिन्द्र मा रिषण्यः स्याम ते दावने वसूनाम्।
इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **हवं श्रुधि**=हमारी पुकार को सुनिए। **मा रिषण्यः**=हमें हिंसित न करिए। हम **ते**=आपके **वसूनाम्**=धनों के **दावने**=देने में **स्याम**=हों। आपसे प्राप्त धनों के हम देनेवाले हों। धनों का मुख्य उपयोग हम 'दान' ही समझें। आप इन्द्र हैं और सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी हैं। आपसे प्राप्त धन को हम आपकी प्रजाओं के हित साधन में ही लगाएँ। २. **हि**=निश्चय से **इमाः**=ये **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न प्रजाएँ **त्वा वर्धयन्ति**=आपका वर्धन करती हैं। वस्तुतः शरीर को सबल बनाए रखनेवाले लोग ही आपके सच्चे उपासक हैं। ये सबल पुरुष ही आपको प्राप्त करते हैं। ३. **वसूयवः**=धनों को कमानेवाले वे पुरुष आपका वर्धन करते हैं जो कि **सिन्धवः न**=नदियों के समान **क्षरन्तः**=बहनेवाले हैं। बहती नदियों का जल जिस प्रकार सबके लिए उपयुक्त होता है, उसी प्रकार इनके धन प्रजाहित के कार्यों के लिए विनियुक्त होते हैं। ये धनों को वस्तुतः दान के लिए ही चाहते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक (क) शरीर को स्वस्थ रखता है (ख) धनों को कमाता है और देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु-स्तवन व वासना-विनाश

सृजो महीरिन्द्र या अपिन्वः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः।
अमर्त्यं चिद्दासं मन्यमानमवाभिनदुक्थैर्वावृधानः ॥ २ ॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **याः**=जो **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले **महीः**=महत्त्वपूर्ण **अपः**=वीर्यरूप जल हैं, जो कि **अहिना**=वासनारूप शत्रुओं से **परिष्ठिताः**=आक्रान्त होते हैं, उन्हें वासना-विनाश के द्वारा आप **सृजः** (व्यसृजः) मुक्त करते हैं और **अपिन्वः**=उन्हें बढ़ाते हैं। शरीर में जल (=आपः) रेतस् के रूप में रहते हैं। ये ही शरीर को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते तथा जीवन को महत्त्वपूर्ण बनाते हैं। इनपर वासना का सदा आक्रमण होता है और इनके विनाश का भय बना रहता है। प्रभु वासना-विनाश के द्वारा इन्हें सुरक्षित करते हैं और इस प्रकार हमारा वर्धन करते हैं। २. हे प्रभो! **उक्थैः**=स्तोत्रों से **वावृधानः**=ख़ूब बढ़ाये जाते हुए आप—इस **अमर्त्यं मन्यमानं चित्**=अपने को अमर्त्य मानते हुए **दासम्**=विनाशक काम रूप शत्रुको **अवाभिनत्**=विदीर्ण करते हैं। पौराणिक भाषा में महादेव की तृतीय नेत्रज्योति से कामदेव का दहन हो गया, परन्तु क्या काम विनष्ट हो गया? काम उसी प्रकार जीवित जागरित है—यह तो अमर्त्य सा है। हम हृदयों में प्रभु को धारण करते हैं, तभी इस काम को जीत पाते हैं। वस्तुतः प्रभु ही हमारे लिए इस कामरूप शत्रु का विध्वंस करते हैं। इसके विध्वंस होने पर वीर्यरक्षण होता है। इस रक्षित वीर्य से हमारा पालन व पूरण होकर

हमारा जीवन महत्त्वपूर्ण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारी वासनाओं का विनाश करेंगे और हमें वीर्यरक्षण में समर्थ करेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उक्थ-स्तोम-रुद्रिय

उक्थेष्विन्नु शूर येषु चाकन्त्स्तोमेष्विन्द्र रुद्रियेषु च।
तुभ्येदेता यासु मन्दसानः प्र वायवे सिस्रते न शुभ्राः ॥ ३ ॥

१. हे **शूर**=हमारी शत्रुभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **येषु**=जिन **उक्थेषु**=होताओं से किये जानेवाले स्तुतिवचनों में **इत् नु**=निश्चय से **चाकन्**=आप दीप्त होते हैं (कनी दीप्तौ), हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! **स्तोमेषु**=जिन उद्गाताओं से किये जानेवाले स्तोत्रों में **च**=तथा अध्वर्यु से सम्पादित **रुद्रियेषु**=रोगों के द्रावण के कारणभूत स्तुतिवचनों में **मन्दसानः**=आप प्रसन्न होते हैं, वे सब, सब स्तुतिवचन **इत्**=निश्चय से **तुभ्य**=आपके लिए ही हैं। २. **एताः**=ये सब **शुभ्राः**=उज्ज्वल स्तुतियाँ, **यासु**=जिनमें **मन्दसानः**=स्तोता आपका प्रिय बनता है, **न**=अब (न सम्प्रत्यर्थे सा०) **वायवे**=गति द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले आपके लिए ही **प्रसिस्रते**=प्रवृत्त होती हैं।

भावार्थ—सब उक्थ-स्तोम व रुद्रिय प्रभु के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। ये ही हमें सुन्दर जीवनवाला बनाकर प्रभु का प्रिय बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'शुभ्र शुष्म' तथा 'शुभ्र वज्र'

शुभ्रं नु ते शुष्मं वर्धयन्तः शुभ्रं वज्रं बाह्वोर्दधानाः।
शुभ्रस्त्वमिन्द्र वावृधानो अस्मे दासीर्विशः सूर्येण सह्याः ॥ ४ ॥

१. हे प्रभो! हम **ते**=आपके दिये हुए **शुभ्रं शुष्मम्**=उज्ज्वल शत्रुशोषक बल को **वर्धयन्तः**=बढ़ाते हुए हों। हम **बाह्वोः**=अपनी भुजाओं में **शुभ्रं वज्रम्**=उज्ज्वल क्रियाशीलतारूप वज्र को **दधानाः**=धारण करते हुए हों। इस क्रियाशीलता द्वारा ही तो वस्तुतः शक्ति का रक्षण होना है। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **शुभ्रः**=उज्ज्वल होते हुए **वावृधानः**=सदा बढ़े हुए हैं। आप **अस्मे**=हमारे लिए **दासीः**=हमारा उपक्षय करनेवाली **विशः**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर घुस आनेवाली कामक्रोधादि वासनाओं को **सूर्येण**=ज्ञानसूर्य के द्वारा **सह्याः**=कुचल दीजिए। आपकी कृपा से हम इन वासनाओं को ज्ञानसूर्य के उदय से नष्ट कर सकें।

भावार्थ—हम शुभ्र शुष्म का वर्धन करें। क्रियाशील बनें। प्रभु हमारी वासनाओं के अन्धकार को ज्ञानरूप सूर्य से विनष्ट करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराड् बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

अहि-हनन

गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्स्वपीवृतं मायिनं क्षियन्तम्।
उतो अपो द्यां तस्तभ्वांसमहन्नहिं शूर वीर्येण ॥ ५ ॥

१. **गुहाहितम्**=हृदय रूप गुहा में स्थापित हुए-हुए (मनसि-ज), **गुह्यम्**=अत्यन्त रहस्यमय **गूढम्**=छुपे रहनेवाले, **अप्सु अपीवृतम्**=(आपः रेतः) रेतःकणों के विषय में आच्छादन बने हुए अथवा रेतःकणों को आक्रान्त कर अपने अधीन कर लेनेवाले, **मायिनम्**=अत्यन्त मायावी,

क्षियन्तम्=हम को क्षीण करते हुए **अहिम्**=हमारे नाशक इस वासनारूप शत्रु को हे **शूर**=शत्रुनाशक प्रभो! शक्ति से **अहन्**=आप ही नष्ट करते हैं। २. उस वासनारूप शत्रु को नष्ट करते हैं जो कि निश्चय से **अपः उत द्यां तस्तभ्वांसम्**=(स्तम्भ् stupefy, paralyse, benumb) हमारे ज्ञानों को मूर्छित व समाप्त कर देता है। काम के आक्रमण होने पर सब क्रियाशीलता व ज्ञान नष्ट हो जाता है। ३. यह कामरूप शत्रु छिपकर हमारे अन्दर निवास कर रहा है, अत्यन्त मायावी माया करनेवाला है। हमारी शक्तियों को नष्ट करता है। हमारे कर्मों व ज्ञानों को समाप्त करता है। निश्चित ही इसका विनाश होता है।

भावार्थ—मनुष्य का सर्वमहान् शत्रु काम है। प्रभु ही इसको नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु की महिमा का गायन

स्तवा नु त इन्द्र पूर्व्या महान्युत स्तवाम नूतना कृतानि।
स्तवा वज्रं बाह्वोरुशन्तं स्तवा हरी सूर्यस्य केतू॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो! **नु**=अब **ते**=आपके **पूर्व्या**=पालनात्मक व **महानि**=महत्त्वपूर्ण कर्मों का **स्तवा**=मैं स्तवन करता हूँ। **उत**=और **नूतना**=अत्यन्त स्तुत्य प्रशंसनीय **कृतानि**=कर्मों का भी **स्तवाम**=हम स्तवन करते हैं। २. आपने **बाह्वोः**=हमारी बाहुओं में जो देदीप्यमान **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र स्थापित किया है, उसका **स्तवा**=मैं स्तवन करता हूँ। **सूर्यस्य** (सुष्ठु प्रेरकस्य सुवीर्यस्य वा) उत्तम प्रेरक व शक्तिशाली आपके **केतू**= प्रज्ञापक जो **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व हैं, उनका **स्तवा**=मैं स्तवन करता हूँ। वस्तुतः ही आपने हमारे शरीरों में यह क्रियाशीलता रूप वज्र ऐसा दृढ़ व सुन्दर स्थापित किया है कि यह हमारे सब वासनारूप शत्रुओं को मारनेवाला प्रमाणित होता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ अपनी अद्भुत रचना के द्वारा आपकी महिमा का प्रतिपादन कर रही हैं।

भावार्थ—प्रभु के कर्म पालनात्मक व पूरणात्मक हैं—वे सब कर्म स्तुत्य हैं। इन्द्रियों की रचना भी प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'भूमि-प्रथन' तथा 'पर्वत-रमण'

हरी नु त इन्द्र वाजयन्ता घृतश्चुतं स्वारमस्वार्ष्टाम्।
वि समना भूमिरप्रथिष्टारंस्त पर्वतश्चित्सरिष्यन्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **नु**=अब **ते**=तेरे **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **घृतश्चुतम्**= ज्ञानदीप्ति को क्षरित करनेवाले (श्च्युत् to sprinkle)=ज्ञानदीप्ति से अन्तःकरण को सिक्त करनेवाले **स्वारम् अस्वार्ष्टाम्**=शब्द को करनेवाले हों। ये इन्द्रियाश्व **वाजयन्ता**=(वाजं कुर्वन्तौ) शक्ति को हमारे में सम्पादित करते हुए सदा प्रकाशवृद्धि के कारणभूत शब्दों को ही उच्चरित करें। २. इन ज्ञान के जनक शब्दों के उच्चारण से **समना**=(सम्+अना) उत्तम प्राणशक्तिवाली यह **भूमिः**= शरीररूप पृथिवी **अप्रथिष्ट**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत होती है। इसकी शक्तियों का विकास होता है। ज्ञान हमें अन्य सब व्यसनों से बचानेवाला होता है। व्यसनों में न फंसने से शक्तिवर्धन होता है। ३. शक्तियों का वर्धन ही क्या! **पर्वतः चित्**=पर्वत भी **सरिष्यन्**=गतिवाला होता हुआ **अरंस्त**=क्रीड़ा सा करता प्रतीत होता है (रमु क्रीडायाम्)।

भावार्थ—इन्द्रियाँ विषयों के मार्ग से न जाकर ज्ञान शब्दों का ही उच्चारण करें। इससे शरीर

की शक्तियों का विस्तार होगा।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वाणी-वर्धन

नि पर्वतः साद्यप्रयुच्छन्त्सं मातृभिर्वावशानो अक्रान्।
दूरे पारे वाणीं वर्धयन्त इन्द्रेषितां धमनिं पप्रथन्नि॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनाने पर **पर्वतः**=मेरुपर्वत—शरीरस्थ मेरुदण्ड **अप्रयुच्छन्**=सब प्रकार की शक्तियों को शरीर में सुरक्षित करता हुआ (अत्र विवासयन्) **निसादि**=निश्चय से स्वस्थान में स्थित होता है। उस समय यह पुरुष **मातृभिः**=जीवन का निर्माण करनेवाली इन वेदवाणियों के साथ **संवावशानः**=ख़ूब शब्द करता हुआ—प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **अक्रान्**=गति करता है—कर्मशील होता है। वेदवाणियों से प्रभु का स्तवन करता है—तदनुसार ही कर्म करता है। २. 'रायः समुद्राँश्चतुरः' इस मन्त्रभाग के अनुसार वेदज्ञान समुद्र है। इसका यह सिरा 'अपरा विद्या' है तो परला सिरा 'परा विद्या' है। उस **दूरे पारे**=सुदूर परले सिरे तक **वाणीं वर्धयन्तः**=वाणी को बढ़ाते हुए अर्थात् अपरा विद्या से प्रारम्भ करके परा विद्या तक ज्ञानवर्धन करते हुए **इन्द्र इषिताम्**=प्रभु से सृष्टि के प्रारम्भ में प्रेरित की गई **धमनिम्**=(ध्मा=शब्दे) इस शब्दमयी वेदवाणी को **निपप्रथन्**=निश्चय से अपने में विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—शरीर की शक्तियों को शरीर में सुरक्षित करने से—ज्ञान का चरम सीमा तक वर्धन होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वृत्र-वध

इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानं मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः।
अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात्॥ ९॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **महां सिन्धुम्**=इस महनीय ज्ञानसमुद्र को **आशयानम्**=आवृत्त करके निवास करनेवाले (शी—'गिरिश'=पर्वतनिवासी) **मायाविनम्**=अत्यन्त मायामय **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत काम को **निः अस्फुरत्**=विनष्ट करता है। 'इन्द्र' वृत्र का वध करता है। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष है। 'वृत्र' कामवासना है। यह कामदेव अपनी माया में सभी को फंसा लेता है। ज्ञान को यह आवृत करके हमारा विनाश करता है, इसी से यह 'वृत्र' है। २. **कनिक्रदतः**=प्रभु के नामों का ख़ूब ही उच्चारण करते हुए **वृष्णः**=शक्तिशाली **अस्य**=इस इन्द्र के **वज्रात्**=क्रियाशीलता रूप वज्र से **भियाने रोदसी**=भयभीत होते हुए द्युलोक व पृथिवीलोक **अरेजेताम्**=काँप उठते हैं। क्रियाशीलता सारे ब्रह्माण्ड को वशीभूत करने में समर्थ होती है, 'काम' को तो वह वश में कर ही लेती है। 'भियाने रोदसी अरेजेताम्' का अर्थ इस प्रकार भी उचित है कि क्रियाशीलता के होने पर **भियाने**=(to be anxious as solicitous about) प्रभुप्राप्ति के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हुए-हुए **रोदसी**=मस्तिष्क व शरीर **अरेजेताम्**=(रेज् to shine) चमक उठते हैं। वासनाविनाश से शरीर व मस्तिष्क की दीप्ति निश्चित ही है।

भावार्थ—काम ज्ञानसमुद्र को आवृत कर लेता है, परन्तु जब हम इन्द्र बनकर क्रियाशीलता रूप वज्र हाथ में लेते हैं तो काम का विनाश होकर मस्तिष्क व शरीर दोनों दीप्त हो उठते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मानुष द्वारा अमानुष-वध

अरोरवीद् वृष्णो अस्य वज्रोऽमानुषं यन्मानुषो निजूर्वात्।
नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत्पपिवान्त्सुतस्य॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन को बनानेवाले **अस्य**=इस **वृष्णः**=शक्तिशाली इन्द्र का **वज्रः**= क्रियाशीलतारूप वज्र **अरोरवीत्**=ख़ूब ही शब्द करता है, अर्थात् यह इन्द्र क्रियाशील होता है और प्रभु के नामों का उच्चारण करता है—प्रभुस्मरणपूर्वक कर्म करता है। **यद्**=जब यह ऐसा करता है तो **मानुषः**=विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाला यह व्यक्ति **अमानुषम्**=मनुष्यों के अहित करनेवाले इस काम को **निजूर्वात्**=हिंसित करता है। कामविध्वंस के लिए 'प्रभुस्मरणपूर्वक कर्म करना' ही उपाय है। २. यह इन्द्र **सुतस्य पपिवान्**=उत्पन्न हुए सोम का (वीर्यशक्ति का) ख़ूब ही पान करनेवाला होता है और **मायिनः**=अत्यन्त मायामय **दानवस्य**=हमारा विनाश करनेवाले (दाप् लवने) काम की **मायाः**=मायाओं को—जादू को **नि अपादयत्**=पाँव तले कुचल देता है।

भावार्थ—प्रभुस्मरण करें, कर्म में लगे रहें। सोमरक्षण करनेवाले हम काम के प्रभाव को कुचलनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमो रक्षति रक्षितः

पिबा पिबेदिन्द्र शूर सोमं मन्दन्तु त्वा मन्दिनः सुतासः।
पृणन्तस्ते कुक्षी वर्धयन्त्वित्था सुतः पौर इन्द्रमाव॥ ११॥

१. हे **शूर**=कामरूप शत्रु का हिंसन करनेवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सोमम्**=शरीर में उत्पन्न हुई सोमशक्ति को **पिबा पिब इत्**=निश्चय से पी ही। तू सोमपान करनेवाला बन। २. **मन्दिनः**=हर्ष को उत्पन्न करनेवाले **सुतासः**=शरीर में उत्पन्न हुए सोमकण **त्वा मन्दन्तु**=तुझे हर्षित करनेवाले हों। सोम से शरीर व मस्तिष्क दोनों दीप्त हो उठते हैं और इस प्रकार जीवन उल्लासमय हो जाता है। ३. **ते कुक्षी**=तेरी कोखों को **पृणन्तः**=पूरित करते हुए वे सोम—तेरे शरीर में ही व्याप्त होते हुए वे सोम **वर्धयन्तु**=तेरा वर्धन करें। **इत्था**=सचमुच **सुतः**=उत्पन्न हुआ यह **पौरः**=इस शरीर पुरी का पालन व पूरण करनेवाला सोम **इन्द्रम्**=तुझ जितेन्द्रिय पुरुष को **आव**=तृप्त व प्रीणित करनेवाला हो। सोमरक्षण से शरीर के सब दोष दूर होते हैं—विशेषतः कुक्षि प्रदेशों में हो जानेवाले वृक्क विकार नहीं होने पाते। इस प्रकार जीवन नीरोग और परिणामतः आनन्दमय बीतता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षण करें। यह रक्षित सोम हमारा रक्षण करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु के गुणों का स्मरण व धारण

त्वे इन्द्राप्यभूम विप्रा धियं वनेम ऋतया सपन्तः।
अवस्यवो धीमहि प्रशस्तिं सद्यस्ते रायो दावने स्याम॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=हमारी सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! हम **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले होते हुए **त्वे अपि अभूम**=तेरे में ही निवास करनेवाले हों। आपसे हम कभी दूर न हों, आपकी उपासना से ही वस्तुतः हम अपना पूरण कर पाएँगे। २. **ऋतया**=ऋत को अपनाने

के द्वारा **सपन्तः**=आपका उपासन करते हुए हम **धियम्**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों को **वनेम**=सेवन करें। ऋत को अपनाने से हम आपका पूजन करते हैं—उससे हमारे कर्म प्रज्ञापूर्वक होते हैं। ३. **अवस्यवः**=वासनारूप शत्रुओं के आक्रमण से अपने रक्षण की कामनावाले हम **प्रशस्तिं धीमहि**=आपके प्रशस्त गुणों का ध्यान व धारण करते हैं। आपकी दयालुता का स्मरण करते हुए हम भी दयालु बनने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार आपके गुणों का धारण करनेवाले हम **सद्यः**=शीघ्र ही **ते रायः**=आपकी इन सम्पत्तियों के **दावने स्याम**=देने में तत्पर हों, आपसे दिये गये धनों का लोकहित में व्यय करनेवाले बनें। 'धनों का विनियोग दान है न कि भोग' ऐसा समझकर व्यवहार करें।

भावार्थ—ऋत के पालन से प्रभुपूजन होता है। प्रभु के गुणों का स्मरण व धारण करते हुए हम धनों का सदा दान करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शुष्मिन्तम रयि

स्याम ते त इन्द्र ये त ऊती अवस्यव ऊर्जं वर्धयन्तः।
शुष्मिन्तमं यं चाकनाम देवास्मे रयिं रासि वीरवन्तम्॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **ते स्याम**=आपके ही हों—आपके ही उपासक बनें। **ते**=तेरे ही हों, हम प्रकृति की ओर न झुक जाएँ। **ये**=जो हम **ते ऊती**=आपके रक्षण द्वारा **अवस्यवः**=अपने रक्षण की कामनावाले हैं। **ऊर्जं वर्धयन्तः**=बल और प्राणशक्ति के हम वर्धनवाले हैं। २. हे **देव**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले प्रभो! **यम्**=जिस **रयिम्**=धन की **चाकनाम**=हम कामना करें, उस **शुष्मिन्तमम्**=शत्रुओं के अत्यधिक शोषक, बलवाले **वीरवन्तम्**=वीरता की भावनाओं से युक्त व वीर पुत्रोंवाले धन को आप **अस्मे**=हमारे लिए **रासि**=देते हैं।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में हम वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाते हुए बल व प्राणशक्ति का वर्धन करें। हमारा धन शत्रुशोषक बल व वीरता से युक्त हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

घर-साथी और प्राणशक्ति

रासि क्षयं रासि मित्रमस्मे रासि शर्ध इन्द्र मारुतं नः।
सजोषसो ये च मन्दसानाः प्र वायवः पान्त्यग्रणीतिम्॥ १४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **अस्मे**=हमारे लिए **क्षयं रासि**=उत्तम गृह (क्षि निवासे) को प्राप्त कराते हैं। उस घर में **मित्रं रासि**=उत्तम जीवनसाथी (पत्नी के रूप में) प्राप्त कराते हैं (Marriages are made in heaven)। हे परमात्मन्! आप **नः**=हमें **मारुतं शर्धः**=प्राणसम्बन्धी बल **रासि**=देते हैं। प्रभुकृपा से उत्तम घर, उत्तम जीवनसखा व प्राणशक्ति प्राप्त होती है। ये तीनों ही बातें इस जीवनयात्रा में उन्नति के लिए आवश्यक हैं। २. इनको प्राप्त करके **ये**=जो व्यक्ति **सजोषसः**=साथ मिलकर (सह) प्रीतिपूर्वक कर्म करनेवाले होते हैं, **च**=और जो **मन्दसानाः**=सदा सन्तुष्ट व आनन्दित रहते हैं, वे **वायवः**=प्रगतिशील व्यक्ति **अग्रणीतिम्**=अपने को आगे प्राप्त कराने की **प्रपान्ति**=प्रकर्षेण रक्षा करते हैं, अर्थात् निरन्तर उन्नत होते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से उत्तम घर साथी व प्राणशक्ति प्राप्त करके हम मिलकर प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्य-कर्म को करें और इस प्रकार उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ज्ञान+स्तवन

व्यन्त्विन्नु येषु मन्दसानस्तृपत्सोमं पाहि द्रुह्यदिन्द्र।
अस्मान्त्सु पृत्स्वा तरुत्रावर्धयो द्यां बृहद्भिरर्कैः॥ १५॥

१. सोम शरीर में सुरक्षित होने पर मनुष्य पूर्ण स्वस्थ होकर आनन्द का अनुभव करता है अतः कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **येषु**=जिन सोमकणों के सुरक्षित होने पर तू **मन्दसानः**=तृप्ति व आनन्द को अनुभव करता है वे सोमकण **नु**=अब **व्यन्तु इत्**=निश्चय से तुझे प्राप्त हों। **द्रुह्यत्**=अपने को दृढ़ करता हुआ तू—वासनाओं का अपने को शिकार न होने देता हुआ तू—**तृपत्**=तुझे प्रीणित करनेवाले इस **सोमम्**=सोम को—रेतःकणों को **पाहि**=अपने में सुरक्षित कर। २. प्रभु के उत्तम निर्देश को सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि हे **पृत्सु**=संग्रामों में **आतरुत्र**=समन्तात् शत्रुओं से तरानेवाले प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **सुअवर्धयः**=उत्तमता से वृद्धि को प्राप्त कराइए। आप **द्याम्**=हमारे ज्ञान के प्रकाश को **बृहद्भिः**=वृद्धि के कारणभूत **अर्कैः**=स्तुतिसाधन मन्त्रों के साथ बढ़ाइए। आपकी कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े, हमारे में स्तवन की भावना उत्पन्न हो। ये ज्ञान और स्तवन हमें वासनाओं के साथ संग्राम में विजयी बनाएँगे।

भावार्थ—हम सोमरक्षण करें। रक्षित सोम हमें आनन्दित करेंगे। इसी उद्देश्य से प्रभु हमारे ज्ञान व स्तवन के भाव को बढ़ाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

स्वस्थ शरीर-सबल अंग

बृहन्त इन्नु ये ते तरुत्रोक्थेभिर्वा सुम्नमाविवासान्।
स्तृणानासो बर्हिः पस्त्यावत्त्वोता इदिन्द्र वाजमग्मन्॥ १६॥

१. हे **तरुत्र**=वासनाओं से तरानेवाले प्रभो! **ये**=जो **उक्थेभिः**=स्तोत्रों द्वारा **वा**=निश्चय से **सुम्नम्**=आनन्दमय आपका **आविवासान्**=परिचरण करते हैं, **ते**=वे **इत् नु**=निश्चय से **बृहन्तः**=वृद्धि को प्राप्त करते हैं—बढ़ते ही चलते हैं। प्रभुस्तवन करनेवाला अपने सामने एक ऊँची लक्ष्यदृष्टि रखता है और उसकी ओर बढ़ता हुआ निश्चय से उन्नत होता चलता है। २. आपके स्तवन द्वारा वासनाओं का उन्मूलन करनेवाले ये लोग **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **स्तृणानासः**=आच्छादित करनेवाले होते हैं। वासनाशून्य हृदयरूप आसन को ये आपके लिए बिछाते हैं और **त्वा ऊताः**=आपसे रक्षित हुए ये व्यक्ति, हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **पस्त्यावत्**=उत्तम शरीररूप गृहवाले **वाजम्**=बल को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। इनका शरीर स्वस्थ होता है—इनका एक-एक अंग बलसम्पन्न होता है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से हमारी वृद्धि होती है। इससे शरीर स्वस्थ होता है, अंग सबल बनते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तीन अनड्वान काल

उग्रेष्विन्नु शूर मन्दसानस्त्रिकद्रुकेषु पाहि सोममिन्द्र।
प्रदोधुवच्छ्मश्रुषु प्रीणानो याहि हरिभ्यां सुतस्य पीतिम्॥ १७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले पुरुष! **तू उग्रेषु**=तेरे जीवन को तेजस्वी बनानेवाले **त्रिकद्रुकेषु**='बाल्य-यौवन व वार्धक्य' इन तीनों जीवन के कालों में

होनेवाले प्रभु के आह्वानों में **इत् नु**=निश्चय से **मन्दसानः**=आनन्द का अनुभव करता हुआ **सोमं पाहि**=सोम का रक्षण कर। सदा प्रभु का स्मरण कर और वासनाओं से आक्रान्त न हुआ-हुआ तू सोम का रक्षण कर। २. प्रभु-स्मरण के द्वारा **श्मश्रुषु**=(श्मनि श्रितं) शरीरस्थ इन्द्रियों मन व बुद्धि में लिप्त मल को **प्रदोधुवत्**=पुनः-पुनः कम्पित करके दूर करता हुआ **प्रीणानः**=प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ **सुतस्य पीतिम्**=उत्पन्न सोम के रक्षण के उद्देश्य से **हरिभ्यां याहि**=अपने ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से गतिवाला हो। इन्द्रियों का मल 'काम' है, मन का 'क्रोध' तथा बुद्धि का 'लोभ'। इन मलों का दूर रहना नितान्त आवश्यक है। इसके दूर होने पर ही प्रसन्नता का अनुभव होता है। गतिशील बने रहने से ही इनके दूर होना सम्भव है और इनके दूर होने पर ही सोम का शरीर में रक्षण होता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण करें। यह स्मरण हमारे इन्द्रिय मन व बुद्धि के मलों को दूर करेगा और हम सोम का शरीर में रक्षण कर पाएँगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दानु-और्णवाभ-दस्यु' रूप वृत्र का वशीकरण

धिष्वा शवः शूर येन वृत्रमवाभिनद्दानुमौर्णवाभम्।
अपावृणोर्ज्योतिरार्याय नि सव्यतः सादि दस्युरिन्द्र॥ १८॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षण के द्वारा **शवः आ धिष्व**=उस बल को धारण कराइए **येन**=जिस बल से **दानुम्**=(दाप् लवने) शक्तियों का खण्डन करनेवाले **और्णवाभम्**=ऊर्णनाभि के समान जाल को ताननेवाले—उस जाल में हमें फँसानेवाले **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत 'काम' को **अवाभिनद्**=विदीर्ण करके दूर करते हैं। २. इस काम के विनाश द्वारा ही आप **आर्याय**=(ऋ गतौ) नियमित गतिवाले पुरुष के लिए **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **अपावृणः**=आवरणरहित करते हैं। आवरणभूत 'काम' नष्ट हुआ तो ज्ञान दीप्त हो ही उठता है। इस ज्ञान के दीप्त हो उठने पर हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **दस्युः**=यह शक्तियों के उपक्षय को करनेवाला 'काम' **सव्यतः निसादि**=बाईं ओर नीचे बिठाया जाता है, अर्थात् पूर्णतया वशीभूत कर लिया जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें वह बल दें जिससे कि हम इस 'दानु-और्णवाभ-दस्यु' रूप वृत्र को पूर्णतया अभिभूत कर पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विश्वरूप दर्शन

सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वाः स्पृध आर्येण दस्यून्।
अस्मभ्यं तत्त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रितायं॥ १९॥

१. **ये**=जो हम **ते**=आपके **ऊतिभिः**=रक्षणों से **विश्वाः स्पृधः**=सब स्पर्धा करते हुए शत्रुओं को **तरन्तः**=तैरनेवाले हैं तथा **आर्येण**=आर्यभाव से **दस्यून्**=दस्युओं को तैरते हैं, वे हम **सनेम**=आपका संभजन करनेवाले हों। प्रभु के भक्त आर्यभाव से दस्युओं को पराजित करते हैं—'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्'। २. **अस्मभ्यम्**=ऐसे हमारे लिए आप **तत्**=उस **त्वाष्ट्रम्**=विश्वनिर्मातृ- सम्बद्ध **विश्वरूपम्**=विश्वरूप को **अरन्धयः**=सिद्ध करिए। हम प्रत्येक पिण्ड में आपकी महिमा देखनेवाले बनें। हमें सर्वत्र आपका ही रूप दिखे। ३. हे प्रभो! **त्रिताय**='काम, क्रोध व लोभ' को तैर जानेवाले मेरे लिए (त्रीन् तरति) अथवा ज्ञान, कर्म व भक्ति तीनों का विस्तार करनेवाले मेरे

लिए (त्रीन् तनोति) आप **साख्यस्य**=मित्रता सम्बन्धी (सख्यस्य इदम्) रूप को सिद्ध करिए, अर्थात् त्रित बनकर मैं अपने को आपकी मित्रता के योग्य बना पाऊँ।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण से हम सब शत्रुओं को जीत पाएँ। आर्यभाव से दस्युओं को समाप्त करते हुए हम प्रभु के विश्वरूप को देखें। सर्वत्र प्रभु को देखते हुए हम त्रित बनें और प्रभु की मित्रता के पात्र हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

बल-विभेदन

अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः।
अवर्तयत्सूर्यो न चक्रं भिनद्बलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान्॥ २०॥

१. **अस्य**=इस **सुवानस्य**=अपने अन्दर सोम का (=वीर्य का) सम्पादन करनेवाले **मन्दिनः**=सदा प्रसन्न रहनेवाले **त्रितस्य**=काम, क्रोध, लोभ को तैरनेवाले (त्रीन् तरति) त्रित के **अर्बुदम्**=(मेघं) ज्ञानरूप सूर्य पर आवरण रूप से आ जानेवाले वासनारूप मेघ को **वावृधानः**= स्तुतियों से वर्धन किये जाते हुए आप **नि अस्तः**=निश्चय से दूर फेंकते हो—छिन्न-भिन्न कर देते हो। २. यह त्रित **सूर्यः न**=सूर्य के समान **चक्रम्**=चक्र को **अवर्तयत्**=घुमाता है। सूर्य जैसे अपने अक्ष पर निरन्तर घूम रहा है—चक्राकार गति में चल रहा है इसी प्रकार यह त्रित चक्राकार गति में चलता है। इसका दिन का कार्यचक्र बड़ी नियमित गति से घूमता है। कार्यचक्र में चलता हुआ यह **वलम्**=(Veil) ज्ञान के आवृत करनेवाले वृत्र को **भिनद्**=विदीर्ण करता है। **इन्द्रः**= शक्तिशाली कर्मों का करनेवाला होता है। **अङ्गिरस्वान्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला होता है।

भावार्थ—सूर्य की तरह अपने कार्यचक्र में चलने पर हम वृत्र का विनाश करके 'इन्द्र' व 'अङ्गिरस्वान्' बनते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः'

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ २१॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नूनम्**=निश्चय से **सा**=वह **ते**=आपकी **मघोनी**=(मघवती) ऐश्वर्यवाली **दक्षिणा**=दक्षिणा (=दान) **जरित्रे**=स्तोता के लिए **वरम्**=श्रेष्ठ पदार्थों को **प्रतिदुहीयत्**=एक-एक करके हमारे लिए प्राप्त कराए। आपके दान के हम पात्र हों। आपके इस दान से हमें सब उत्कृष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो। २. **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **शिक्षा**=उत्तम ऐश्वर्य को दीजिए। **भगः**=ऐश्वर्य के पुञ्ज आप **नः**=हमारे लिए **मा अति धक्**=इस ऐश्वर्य को दग्ध न कीजिए। हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद् वदेम**=ख़ूब ही आपके स्तुतिवचनों का उच्चारण करें। आपके स्तोता बनते हुए हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनें। प्रभु-स्तवन हमें विषयों का शिकार होने से बचाता है। इस प्रकार हम वैषयिक-वृत्ति से ऊपर उठकर अपने में शक्ति का संग्रह करते हुए वीर बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दिया गया ऐश्वर्य हमें सब उत्तम वस्तुओं को प्राप्त कराए। हम प्रभुस्तवन करते हुए वीर बनें।

सम्पूर्ण सूक्त का भाव यही है कि प्रभुस्तवन से वासना को पराजित करके हम शक्तिशाली बनें। यह प्रभुस्तवन ही अगले सूक्त का विषय है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

द्वितीयोऽनुवाकः

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जातः प्रथमः मनस्वान्

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥ १ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **जातः एव**=सदा से प्रादुर्भूत हैं—'प्रभु कभी जन्म लेंगे' ऐसा प्रश्न ही नहीं पैदा होता। वे सदा से हैं। **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अतिशय विस्तारवाले हैं। **मनस्वान्**=ज्ञानवान् हैं—सर्वत्र हैं। **देवः**=प्रकाशमय वे प्रभु **देवान्**=सब देवों को **क्रतुना**=शक्ति से **पर्यभूषत्**=अलंकृत करते हैं। सूर्य-चन्द्र को वे प्रभा प्राप्त कराते हैं—अग्नि को तेज देते हैं तो जल को रसयुक्त करते हैं। वस्तुतः प्रभु ही इन्हें देवत्व प्राप्त कराते हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'। २. हे **जनासः**=लोगो! **यस्य शुष्मात्**=जिसके बल से **रोदसी**=द्यावापृथिवी **अभ्यसेताम्**=भयभीत हो उठते हैं—वस्तुतः जिसके भय से ही ये सारे ब्रह्माण्डस्थ लोक अपने-अपने मार्ग पर गति कर रहे हैं **सः**=वह **नृम्णस्य**=बल की **मह्ना**=महिमा से **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु ही सब देवों को शक्ति प्रदान करते हैं, इस प्रभु के शासन में ही सब लोक गति कर रहे हैं। ये प्रभु सदा से प्रादुर्भूत सर्वव्यापक व सर्वत्र हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वाधार प्रभु

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥ २ ॥

१. **जनासः**=हे लोगो! **स इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वह है **यः**=जो **व्यथमानाम्**=भूकम्पादि से कम्पित होती हुई पृथिवी को **अदृंहत्**=दृढ़ करता है। २. इन्द्र वह है **यः**=जो **प्रकुपितान्**=कुपित होकर लावा के रूप में गर्म पदार्थों को बाहर फेंकते हुए **पर्वतान्**=पर्वतों को **अरम्णात्**=बड़ा रमणीय बनाता है। २.इन्द्र वह है **यः**=जो **वरीयः**=इस उरुतर अत्यन्त विशाल **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **विममे**=बनाता है और **यः**=जो इस **द्याम्**=प्रकाशमय द्युलोक को **अस्तभ्नात्**=थामता है।

भावार्थ—प्रभु पृथिवी को दृढ़ बनाते हैं और पर्वतों को रमणीय। वे अन्तरिक्ष को विशाल बनाते हैं और द्युलोक को थामते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सप्त सिन्धु-स्रवण

यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ ३ ॥

१. **यः**=जो **अहिं**=हमारा विनाश करनेवाली (आहन्ति) वासना को **हत्वा**=विनष्ट करके **सप्त**=सात सर्पणशील **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **अरिणात्**=गतिमय करता है। वासना के विनष्ट होने पर सब ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक प्रकार से कार्य करती हैं और इन इन्द्रियों से ज्ञानप्रवाह ठीक प्रकार से चलता है। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षुषी मुखम्' इस मन्त्रभाग में दो कान दो नासिका छिद्र दो आँखें व मुख रूप सप्तर्षियों का उल्लेख है। ये सप्तर्षि इस मानव देह रूप आश्रम में अपने ज्ञानयज्ञ को निरन्तर

नष्ट कर देते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **अस्मै**=इस बात के लिए **श्रत् धत्त**=श्रद्धा धारण करो। **सः इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं। सब शक्तिशाली कर्मों के वे करनेवाले हैं। अन्यायार्जित धनों का भी वे विनाश कर देते हैं।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु को भूल कर अन्याय्य मार्ग से धर्नाजन में लगता है। वे प्रभु इन धनों का विनाश कर देते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रेरक प्रभु

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः॥ ६॥

१. **यः**=जो **रध्रस्य**=(रध संराद्धौ) समृद्ध का **चोदिता**=प्रेरक है और **यः**=जो **कृशस्य**=दुर्बल अर्थात् दरिद्र के लिए भी आवश्यक धन का प्रेरक है। **यः**=जो **ब्रह्मणः**=(ब्रह्म, बृहि वृद्धौ) परिवृद्ध ज्ञानी का प्रेरक है तथा **नाधमानस्य**=याचमान-मांगते हुए **कीरेः**=स्तोता को धनों का प्राप्त करानेवाला है। २. **यः**=जो **युक्तग्राव्णः**=(ग्रावा=प्राण श० १४.२.२.३३) प्राणों को योग द्वारा निरुद्ध करके आत्मा में लगानेवाले, **सुतसोमस्य**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष का **अविता**=रक्षक है **सः**=वह **सुशिप्रः**=उत्तम हनू व नासिका प्राप्त करानेवाला (शोभने शिप्रे-यस्मात् सः), हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु है। जो भी व्यक्ति प्रभु का आराधक बनता है वह प्रभुकृपा से सुशिप्र होता है। उसके जबड़े उत्तम होते हैं—वह सदा उत्तम ही भोजनों को खानेवाला बनता है। उस की नासिका उत्तम होती है—वह सदा प्राणायाम का अभ्यासी होकर प्राणों को वश में करता है और उत्तम प्राणशक्तिवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु ही धनी-निर्धन, ज्ञानी स्तोता व प्राणायाम के अभ्यासी पुरुषों का प्रेरक व शासक है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वानुशासक

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥ ७॥

१. अध्यात्म जगत् में **यस्य**=जिसके **प्रदिशि**=प्रदेशन व अनुशासन में **अश्वासः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियाँ कर्मव्यापृत होती हैं। **यस्य**=जिसके अनुशासन में **गावः** (गमयन्ति अर्थान्) अर्थों का ज्ञान प्राप्त करनेवाली ज्ञानेन्द्रियां ज्ञानप्राप्ति में प्रवृत्त होती हैं। २. **यस्य**=जिसके अनुशासन में **ग्रामाः**=यह सब इन्द्रियों व प्राणों का समूह कार्य में प्रवृत्त होता है और **यस्य**=जिसके अनुशासन में **विश्वे**=ये सब **रथासः**=शरीररूप रथ गति करते हैं। २. इस आधिदैविक जगत् में भी **यः**=जो **सूर्यम्**=सूर्य को **जजान**=प्रादुर्भूत करते हैं और जो **उषसम्**= उषाकाल को प्रकट करते हैं। **यः**=जो सूर्यकिरणों द्वारा मेघनिर्माण करते हुए **अपां नेता**=जलों को प्राप्त करानेवाले हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं।

भावार्थ—अध्यात्म में प्रभु ही कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, प्राणसमूहों व शरीररथों के प्रवर्तक हैं। अधिदैवत में भी सूर्य व उषा को वे प्रादुर्भूत करनेवाले व जलों के प्रवर्तक हैं। वे प्रभु ही सर्वानुशासक हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आराध्य प्रभु

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ ८ ॥

१. **यम्**=जिसको **संयती**=(सम् यती) सम्यक् गतिवाले **क्रन्दसी**=परस्पर आह्वान सा करनेवाले द्युलोक व पृथिवीलोक **विह्वयेते**=विविध रूपों में पुकारते हैं। पृथिवीलोक को प्रभु ही दृढ़ बनाते हैं, वे ही द्युलोक को सूर्यादि द्वारा तेजस्वी करते हैं 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'। २. **परे**=उत्कृष्ट योगमार्ग पर चलनेवाले भी उस प्रभु को पुकारते हैं और **अवरे**=सकाम कर्म मार्ग का अवलम्बन करनेवाले लोग भी उसी का आराधन करते हैं। योगियों को वे प्रभु ही निःश्रेयस प्राप्त कराते हैं और इन सकामकर्मियों के अभ्युदय के साधक भी वे ही हैं। ३. **उभयाः अमित्राः**=दोनों परस्पर स्नेह न करनेवाले शत्रु उस प्रभु को ही विजय के लिए पुकारते हैं और **चित्**=निश्चय से **समानं रथम्**=एक ही रथ पर **आतस्थिवांसा**=बैठे हुए—एक ही घर को मिलकर बनानेवाले पति-पत्नी भी **नाना हवेते**=आप से भिन्न-भिन्न प्रार्थना करते हैं। पति-पत्नी की प्रार्थना में भी पार्थक्य होता है। उनकी प्रार्थना विरोधी न होती हुई भी पृथक्-पृथक् होती है।

भावार्थ—सारा संसार उस-उस वस्तु के लिए प्रभु को ही पुकार रहा है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विजेता प्रभु

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥ ९ ॥

१. **यस्माद् ऋते**=जिसके बिना **जनासः**=लोग **न विजयन्ते**=विजय को नहीं प्राप्त करते हैं। सब विजय उस प्रभु की ही होती है 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्'। बलवानों के बल वे प्रभु हैं—तेजस्वियों का तेज वे हैं और बुद्धिमानों की बुद्धि वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार सब विजय प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। २. **युध्यमानाः**=युद्ध करते हुए लोग **अवसे**=रक्षण के लिए **यम्**=जिसको **हवन्ते**=पुकारते हैं। परस्पर युद्ध करते हुए लोग विजय के लिए प्रभु का स्मरण करते हैं। २. **यः**=जो **विश्वस्य**=सम्पूर्ण संसार का **प्रतिमानम्**=(An adversary) मुकाबला करनेवाले योद्धा **बभूव**=हैं। सारा संसार भी एक ओर हो और प्रभु दूसरी ओर हों तो यह संसार उस प्रभु का साम्मुख्य नहीं कर सकता। **यः**=जो **अच्युतच्युत्**=दृढ़ से दृढ़ भी लोकों को हिला देनेवाले हैं, हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं।

भावार्थ—अनन्तशक्तिवाले वे प्रभु हैं। उन्हें सारा ब्रह्माण्ड भी पराजित नहीं कर सकता। वे ही सब विजयों के करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दस्युहन्ता' प्रभु

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

१. **यः**=जो **शश्वतः**=सदा-निरन्तर **महि एनः**=बड़े-बड़े पापों को **दधानान्**=धारण करते हुए लोगों को, **अमन्यमानान्**=प्रभु में आस्था न रखनेवालों को **शर्वा**=हिंसा के साधनभूत वज्र आदि से **जघान**=नष्ट करता है। पापी को अन्ततः प्रभु ही पीड़ित करते हैं। २. **यः**=जो **शर्धते**=बल

के घमण्ड में औरों पर अत्याचार करनेवाले पुरुष के लिए **शृध्याम्**=बल व सहनशक्ति को **न अनुददाति**=नहीं देता है। इन बल के घमण्ड में परपीडक पुरुषों को प्रभु ही निर्बल करनेवाले होते हैं—इनके बल को वे ही छीन लेते हैं। इस प्रकार **यः**=जो **दस्योः**=इन उपक्षय करनेवाले पुरुषों का **हन्ता**=नाश करनेवाले हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले प्रभु हैं।

भावार्थ—प्रभु पापियों को पीड़ित करते हैं। अत्याचारियों को वे निर्बल करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ओजायमान दानु का विनाश

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥ ११॥

१. अविद्या पाँच पर्वोंवाली है सो पर्वत कहलाती है। इस अविद्यारूप पर्वत में ही ईर्ष्या का निवास है। अज्ञानवश ही मनुष्य ईर्ष्या करता है। यह ईर्ष्या सब शान्ति को उचाट कर देने के कारण यहाँ 'शंबर' नामक असुर के रूप में चित्रित हुई है। मनुष्य साधना में चलता-चलता है। चालीसवें वर्ष में भी वह अपने में ईर्ष्या को देखता है। इस वर्ष तक जीवन की सम्पूर्णता हो जाती है, परन्तु ईर्ष्या अभी भी बची रहती है। **यः**=जो **पर्वतेषु क्षियन्तम्**=अज्ञानरूप पर्वत में निवास करनेवाली **शंबरम्**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाली इस ईर्ष्या को **चत्वारिंश्यां शरदि**=चालीसवें वर्ष में भी मनुष्य में **अन्वविन्दत्**=पीछा करते हुए पाता है—'चालीसवें वर्ष में भी मनुष्य इससे ऊपर नहीं उठ पाया है' ऐसा देखता है और **ओजायमानम्**=अत्यन्त ओजस्वी की तरह आचरण करते हुए **शयानम्**=हमारे अन्दर ही निवास करनेवाले **दानुम्**=हमारा खण्डन व विनाश करनेवाले **अहिम्**=इस अशुभ वृत्तिरूप सर्प को **जघान**=नष्ट करता है। ईर्ष्या एक सर्पिणी है, जो अपने विष से हमें जलाती रहती है 'ईर्ष्यालोर्मृतं मनः'। २. **यः**=जो यह हमारी ईर्ष्यावृत्ति को नष्ट करनेवाला है, **जनासः**=हे लोगो! **सः इन्द्रः**=वही परमैश्वर्यशाली प्रभु है। प्रभुस्मरण से मनुष्य इन भौतिक प्रलोभनों में फंसने से बचता है। भौतिक प्रलोभन ही नहीं रहे तो ईर्ष्या का प्रश्न ही जाता रहता है।

भावार्थ—ईर्ष्या से ऊपर उठना बड़ा कठिन है। प्रभुस्मरण ही हमें इससे ऊपर उठाता है। ईर्ष्या से दूर करके प्रभु हमें फिर से शान्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान्' (रौहिणासुर वध)

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥ १२॥

१. **यः**=जो **सप्तरश्मिः**=सर्पणशील ज्ञान के प्रकाशवाले हैं अथवा सात छन्दों में होनेवाली ज्ञान की रश्मियोंवाले हैं। **वृषभः**=इन ज्ञानरश्मियों द्वारा हमारे ऊपर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **तुविष्मान्**=अत्यन्त प्रबुद्ध बलवाले हैं। जो **सप्त सिन्धून्**=सात प्रवाहों में चलनेवाले इन ज्ञानसमुद्रों को **सर्तवे**=सम्यक् गति के लिए **अवासृजत्**=हमारे जीवनों में कामादि के आवरण से मुक्त करते हैं। २. **यः**=जो **रौहिणम्**=निरन्तर ऊपर और ऊपर उठनेवाले और अन्ततः **द्याम् आरोहन्तम्**=द्युलोक तक पहुँचनेवाले—सीमा से अधिक बढ़ जानेवाले इस लोभ को **वज्रबाहुः**=हाथ में वज्र लेकर वध कर डालते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभु हैं। लोभ बढ़ता

ही चलता है, इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। यह लोभ द्युलोक तक जा पहुँचता है, अर्थात् बहुत अधिक बढ़ जाता है। प्रभुस्मरण ही इसे विनष्ट करता है।

भावार्थ—प्रभु 'सप्तरश्मि-वृषभ व तुविष्मान्' हैं प्रभु ही हमारे लोभ रूप शत्रु का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वज्रहस्त' प्रभु

द्यावा॑ चिदस्मै पृथि॒वी न॑मेते॒ शुष्मा॑च्चिदस्य॒ पर्व॑ता भयन्ते।
यः सो॑म॒पा नि॑चि॒तो वज्र॑बाहु॒र्यो वज्र॑हस्तः॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ १३ ॥

१. **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **द्यावा पृथिवी चित्**=द्युलोक व पृथिवीलोक भी निश्चय से **नमेते**=नमन करते हैं, अर्थात् इसके शासन में चलते हैं। **अस्य शुष्मात्**=इसके शत्रुशोषक बल से **पर्वताः चित्**=पर्वत भी **भयन्ते**=भयभीत होते हैं, अर्थात् दृढ़ से दृढ़ पर्वत को भी विदीर्ण करने में वे प्रभु समर्थ हैं। २. **यः**=जो **सोम-पाः**=इस उत्पन्न जगत् के रक्षक हैं। **नि-चितः**= (चिकेति=to observe, see, perceive) निश्चय से सर्वद्रष्टा हैं। **वज्रबाहुः**=वज्रसदृश बाहुवाले हैं—कभी न थकनेवाले हैं—अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं। **यः**=जो **वज्रहस्तः**=अशुभमार्ग पर जानेवालों के लिए हाथ में वज्र को लिये हुए हैं, अर्थात् पापियों को दण्डित करनेवाले हैं। **जनासः**=लोगो! **स इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' नामवाले हैं।

भावार्थ—अनन्तशक्तिसम्पन्न वे प्रभु हैं। वे ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं। पापियों को दण्ड देनेवाले वे ही हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-रक्षण का पात्र कौन? रक्षणीय व रक्षणसाधन

यः सु॒न्वन्त॒मव॑ति॒ यः पच॑न्तं॒ यः शंस॑न्तं॒ यः श॑शमा॒नमू॒ती।
यस्य॒ ब्रह्म॒ वर्ध॑नं॒ यस्य॒ सोमो॒ यस्ये॒दं राधः॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ १४ ॥

१. **यः**=जो **सुन्वन्तम्**=सोम का अभिषव करनेवाले का **अवति**=रक्षण करता है। सोमशक्ति का अपने अन्दर सम्पादन करनेवाला पुरुष 'सुन्वन्' है। प्रभु इसका रक्षण करते हैं। **यः**=जो **पचन्तम्**=आचार्य के समीप रहकर अपने को तपस्या व ज्ञान की अग्नि में परिपक्व करता है, प्रभु उसका रक्षण करते हैं। २. **यः**=जो **शंसन्तम्**=सदा प्रभु का शंसन—गुणस्मरण करनेवाले का रक्षण करता है और **शशमानम्**=प्लुतगति से—स्फूर्ति से—क्रियाओं में प्रवृत्त होनेवाले को **ऊती**= रक्षण क्रिया से प्राप्त होता है। ३. **यस्य**=जिसका दिया हुआ **ब्रह्म वर्धनम्**=ज्ञानवर्धन हमारी वृद्धि का कारण होता है और **यस्य**=जिसका यह **सोमः**=सोम—शरीर में रसादि क्रम से उत्पन्न किया गया सोम—हमारी सब वृद्धियों का कारण बनता है और **यस्य**=जिसका **इदम्**=यह सब **राधः**=हमारे कार्यों को सिद्ध करनेवाला यह ऐश्वर्य है। हे **जनासः**=लोगो! **स इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षण 'सुन्वन्, पचन्, शंसन् व शशमान' को प्राप्त होता है। इस रक्षण के लिए प्रभु हमें 'ब्रह्म, सोम व राधः (ऐश्वर्य)' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'शक्तिप्रदाता' प्रभु

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥ १५॥

१. **यः**=जो **दुध्रः**=दुर्धर्ष व अजेय प्रभु **सुन्वते**=अपने शरीर में सोम का अभिषव करनेवाले के लिए तथा **पचते**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले के लिए **चित्**=निश्चय से **वाजम्**=शक्ति को **आदर्दर्षि**=ख़ूब ही प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे आप **किल**=निश्चय से **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्—सर्वशक्तिमान् प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपके **विश्वह**=सदा **प्रियासः**=प्रिय हों और **सुवीरासः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथम्**=ज्ञान का **आवदेम**=सर्वत्र प्रचार करें। ज्ञान की वाणियों को ही परस्पर बोलनेवाले हों।

भावार्थ—'सुन्वन्' व 'पचन्' बनकर हम प्रभु से शक्ति को प्राप्त करें। वीर बनकर प्रभु के प्रिय हों। सदा ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु का भिन्न-भिन्न रूपों में स्तवन करता है। 'इन्द्र' का स्वरूप अत्यन्त सुन्दरता से प्रतिपादित हुआ है। अगले सूक्त के ऋषि देवता भी क्रमशः गृत्समद व इन्द्र ही हैं—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानामृत

ऋतुर्जनित्री तस्या अपस्परि मक्षू जात आविशद्यासु वर्धते।
तदाहना अभवत्पिप्युषी पयोऽंशोः पीयूषं प्रथमं तदुक्थ्यम्॥ १॥

१. **ऋतुः**=(ऋतु Light, splendour) ज्ञान का प्रकाश **अपः**=कर्मों का **जनित्री**=उत्पादक है। यह ऋतु—यह ज्ञानज्योति—मानो माता है और कर्म उसकी सन्तान हैं। **तस्याः**=उस ज्ञानज्योति से **मक्षू**=शीघ्र **परिजातः**=सब प्रकार से विकास को प्राप्त हुआ ज्ञानी **आविशत्**=प्रभु में प्रवेश को प्राप्त करता है। ये ज्ञान-ज्योतियाँ वे हैं **यासु**=जिनके होने पर **वर्धते**=वृद्धि को प्राप्त करता है। २. **तद्**=सो यह ज्ञानज्योति **आहनाः**=आहन्तव्य (हन् गतौ) प्राप्तव्य होती है। यह **पिप्युषी अभवत्**=सब तरह से हमारा आप्यायन (वर्धन) करती हुई होती है। **अंशोः**=(अंशु Ray of light) ज्ञानकिरणों का **पयः**=दुग्ध **प्रथमं पीयूषम्**=सर्वोत्कृष्ट अमृत है—**तद्**=वह अमृत ही **उक्थ्यम्**=अति प्रशंसनीय है।

भावार्थ—ज्ञान सर्वोत्कृष्ट अमृत है। इसका पान हमारा वर्धन करता है। इससे उत्पन्न कर्म हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम गृहस्थ

सध्रीमा यन्ति परि बिभ्रतीः पयो विश्वप्स्न्याय प्र भरन्त भोजनम्।
समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो ज्ञानी पुरुष होते हैं, वे **सध्रीम्**=(सह=सध्रि) मिलकर चलने की वृत्तिको **आयन्ति**=प्राप्त होते हैं। इस प्रकार मिलकर चलनेवाली प्रजाएँ **पयः परिबिभ्रतीः**=आप्यायन को धारण करती हैं—वृद्धि को प्राप्त होती हैं। **विश्वप्स्न्याय**=(प्स्नानं=Food) सबके खाने के

लिए **भोजनम्**=भोजन को **प्रभरन्त**=प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार मिलकर चलनेवाली इन प्रज्ञाओं का **अध्वा समानः**=मार्ग समान है—घर में ये एक उद्देश्य से प्रेरित होकर चलती हैं। **प्रवताम्**=(प्रवणवताम्) निम्न मार्ग से—नम्रता के मार्ग से चलनेवालों का यही मार्ग **अनुष्यदे**=गति के लिए होता है। ये प्रजाएँ (क) मिलकर चलती हैं (ख) वृद्धि को धारण करती हैं (ग) सबके लिए भोजन को प्राप्त कराती हैं। (घ) एक उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। हे प्रभो! **यः**=जो आप **ता प्रथमं आकृणोः**=उन सब कार्यों को सबसे पहले करते हैं, **सः**=वे आप ही **उक्थ्यः असि**=स्तुति योग्य हैं।

भावार्थ—जिन पर प्रभुकृपा होती है वे (१) मिलकर चलते हैं (२) वृद्धि को प्राप्त करते हैं (३) सबके लिए भोजनों को देते हैं (४) नम्रतापूर्वक समान मार्ग पर आक्रमण करते हैं।

सूचना—सबके लिए भोजनों को प्राप्त कराने के लिए वे पञ्चयज्ञ को अपनाते हैं। 'ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ व बलिवैश्वदेवयज्ञ' को करते हुए ये सबके साथ बाँट कर भोजन को करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवनयात्रा

अन्वेको॑ वदति॒ यद् ददा॑ति॒ तद्रूपा मि॒नन्तद॑पा॒ एक॒ ईयते।
विश्वा॒ एक॑स्य वि॒नुद॑स्तितिक्षते॒ यस्ताकृ॑णोः प्रथ॒मं सास्यु॒क्थ्यः॑ ॥ ३ ॥

१. जीवन के प्रथमाश्रम में **एकः**=एक ब्रह्मचारी उस पाठ को **अनुवदति**=पीछे बोलता है, **यद् ददाति**=जिसे कि आचार्य देता है। ज्ञानप्राप्ति का क्रम यही होता है कि आचार्य बोलता है और विद्यार्थी उसके पीछे उच्चारण करता है। २. अब ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करके **एकः**=एक गृहस्थ **तद्रूपा**=उन-उन रूपों का—घर की आवश्यक सामग्रियों का (रूप Any visible object) **मिनन्**=निर्माण करता हुआ (to erect, to build) **तद् अपाः**=घर के निर्माण रूप कर्म में ही लगा हुआ **ईयते**=गति करता है। गृहस्थ घर को अच्छे से अच्छा बनाने का यत्न करता है ३. अब गृहस्थ से ऊपर उठकर वनस्थ व संन्यस्त होता हुआ यह **एकस्य**=उस अद्वितीय प्रभु की **विश्वाः**=सब **विनुदः**=प्रेरणाओं को **तितिक्षते**=सहन करता है—बड़ी तपस्या के साथ प्रभु-प्रेरणाओं के अनुसार ही सब कार्यों को करता है। हे प्रभो! **यः**=जो आप **ता**=इन सब कर्मों को **प्रथमं आकृणोः**=सर्वप्रथम करते हैं **सः**=वे आप ही **उक्थ्यः असि**=प्रशंसनीय हैं। प्रभुकृपा से ही प्रजाओं का जीवन ऐसा बनता है

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हम ज्ञान प्राप्त करें। गृहस्थ में घर को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। अब वनस्थ व संन्यस्त होकर प्रभुप्रेरणा के अनुसार जीवन में आगे बढ़ने का यत्न करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रजाहितकारी राजा

प्र॒जाभ्यः॑ पुष्टिं॑ वि॒भज॑न्त आसते र॒यिमि॑व पृ॒ष्ठं प्र॒भव॑न्तमा॒यते।
असि॑न्व॒न्दंष्ट्रैः॑ पि॒तुर॑त्ति॒ भोज॑नं॒ यस्ताकृ॑णोः प्रथ॒मं सास्यु॒क्थ्यः॑ ॥ ४ ॥

१. उत्तम राजा **प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **पुष्टिम्**=सम्पूर्ण धनों को (Possessions) **विभजन्तः**=बाँटते हुए **आसते**=राष्ट्र के सिंहासन पर बैठते हैं। ये प्रजाओं से कर आदि के रूप में प्राप्त धनों को प्रजाहित के लिए व्ययित करनेवाले होते हैं। ये उसी प्रकार प्रजाओं के लिए धनों को देते हैं **इव**=जैसे कि **आयते**=आनेवाले अतिथि के लिए **पृष्ठम्**=माँगे हुए (asked)

प्रभवन्तम्=कार्यपूर्ति के लिए समर्थ (पर्याप्त) धन दिया जाता है। २. यह प्रजापालक राजा **असिन्वन्**=किसी भी वस्तु को अपना बन्धन न बनाता हुआ **दंष्ट्रैः**=अपने दाँतों से **पितुः**=(द्यौष्पिता) पितृरूप द्युलोक के **भोजनम्**=भोजन को **अत्ति**=खाता है। द्युलोक से वृष्टि द्वारा पृथिवी में उत्पन्न हुए अन्नादि का ही यह सेवन करता है। इसी से यह क्रूर व अत्याचारी न होकर प्रजाओं को अपने पुत्रवत् पालने की प्रवृत्तिवाला बनता है। हे प्रभो! **यः**=जो आप **ता**=इन प्रजापालनादिरूप कर्मों को **प्रथमं आकृणोः**=सर्वप्रथम करते हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः असि**=प्रशंसनीय हैं। प्रभुकृपा से ही राजा उत्कृष्ट गुणों से युक्त बना करता है।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि प्रजाओं से प्राप्त धन को प्रजाहित में ही विनियुक्त करे। सदा वानस्पतिक भोजन का सेवन करे ताकि क्रूरवृत्ति न हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दर्शनीय प्रकाशमय जीवन

अधाकृणोः पृथिवीं संदृशे दिवे यो धौतीनामहिहन्नारिणक्पथः।
तं त्वा स्तोमेभिरुदभिर्न वाजिनं देवं देवा अजनन्त्सास्युक्थ्यः ॥ ५ ॥

१. हे **अहिहन्**=वासना रूप 'अहि' वृत्र का विनाश करनेवाले प्रभो! **यः**=जो आप **धौतीनाम्** (धाव् गतिशुद्ध्योः)=जीवन को शुद्ध बनानेवाले ज्ञानप्रवाहों के **पथः**=मार्गों को **आरिणक्**=वासनारूप विघ्नों से खाली कर देते हैं और इस प्रकार ज्ञानप्रवाहों को ठीक से गतिमय करते हैं, वे आप **अध**='अहि' का विनाश करने के बाद **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **संदृशे**=देखने योग्य, दर्शनीय व सुन्दर बनाते हैं और **दिवे आकृणोः**=प्रकाशमय करते हैं। २. **तं देवं त्वा**=उन प्रकाशमय आपको **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **स्तोमेभिः**=स्तुतियों द्वारा **अजनन्**=अपने में प्रकट करते हैं। उसी प्रकार आपको अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं, **न**=जैसे कि **उदभिः**=जलों अर्थात् रेतःकणों से (आपः रेतः) **वाजिनम्**=अपने को शक्तिशाली बनाते हैं। वस्तुतः ज्ञानप्रवाहों के ठीक चलने पर ये वासनाओं को दग्ध करके अपने में शक्ति का रक्षण करते हैं। शक्तिरक्षण से शक्तिशाली बनकर ये आपके दर्शनों के अधिकारी होते हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः असि**=स्तुति के योग्य हैं। आपकी कृपा से ही वासना का विनाश होकर ज्ञानप्रवाहों का ठीक से चलना होता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से वासना का विनाश होकर ज्ञान दीप्ति होती है और हमारा जीवन दर्शनीय व प्रकाशमय बनता है। इसीलिए देववृत्ति के पुरुष स्तवन द्वारा प्रभुदर्शन के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सर्वेश प्रभु

यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद्दुदोहिथ।
स शेवधिं नि दधिषे विवस्वति विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! **यः**=जो आप **भोजनं च दयसे**=शरीरपालन के लिए पर्याप्त भोजन देते हैं, **वर्धनं च**=और सब प्रकार से शक्तियों की वृद्धि प्राप्त कराते हैं २. **आर्द्रात्**=एकदम गीले काण्ड (तने) से **आशुष्कम्**=एकदम शुष्क व्रीहि (चावल) आदि को, **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्य से युक्त रूप में **दुदोहिथ**=प्रपूरित करते हैं (दुह् प्रपूरणे)। काण्ड गीला होता है—फल के रूप में प्राप्त होनेवाला 'व्रीहि' शुष्क। ये भी वस्तुतः प्रभु की सृष्टि का वैचित्र्य ही है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य बात है कि सर्वव्यापक व गतिशून्य आकाश से सदागति वायु की उत्पत्ति होती है

'गतिशून्य से गतिवाला होना' यह प्रथम आश्चर्य है। द्वितीय आश्चर्य यह कि नीरूप वायु से रूपवाली अग्नि की उत्पत्ति है। तीसरी बात यह है कि इस उष्ण अग्नि से शीत जल का निर्माण होता है और अन्ततः इस आर्द्र जल से शुष्क भूमि का सम्भव होता है। ३. **सः**=वे आप **विवस्वति**=इस किरणोंवाले सूर्य में **शेवधिम्**=प्राणशक्ति के कोश को **निदधिषे**=स्थापित करते हैं 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। वस्तुतः **एकः**=अद्वितीय आप ही **विश्वस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **ईशिषे**=ईश हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः**=प्रशंसनीय **असि**=हैं। आपके स्तवन से ही हम पापों से बचकर शुभमार्ग पर चलने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सबको भोजन व वर्धन प्राप्त कराते हैं। अद्भुत वैचित्र्योंवाली सृष्टि का निर्माण करते हैं। सूर्यकिरणों में प्राणशक्ति को स्थापित करते हैं। सबके ईश हैं—स्तुत्य हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वनिर्माता प्रभु

यः पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणाधि दाने व्य१वनीरधारयः।
यश्चासमा अजनो दिद्युतो दिव उरुरूर्वाँ अभितः सास्युक्थ्यः ॥ ७ ॥

१. **यः**=जो आप **पुष्पिणीः च**=फूलोंवाली **प्रस्वः च**=और फलोंवाली **वि अवनीः**=विशेषरूप से हमारे जीवनों का रक्षण करनेवाली ओषधियों—लताओं को **दाने**=(दाप् लवने) जिनमें इन ओषधियों का परिपाक होने पर लवन किया जाता है—उन क्षेत्रों में **अधि अधारयः**=आधिक्येन धारण करते हैं। २. **यः च**=और जो आप **दिवः**=सूर्य की **असमाः**=सात किरणों से प्रकट होनेवाली भिन्न-भिन्न **दिद्युतः**=ज्योतियों को **अजनः**=प्रकट करते हैं। सूर्य की सम्पूर्ण किरणों में सात प्रकार के प्राणदायी तत्त्व हैं—इन सब प्राणदायी तत्त्वों का शरीर में भिन्न-भिन्न कार्य है, वस्तुतः इन किरणों से ही सात प्रकार के विटामिन्स ओषधियों में स्थापित किये जाते हैं। गोदुग्ध आदि में भी इन विटामिन्स की स्थापना इन किरणों से ही होती है। ३. हे प्रभो! **उरुः**=आप विशाल हैं और **अभितः**=सब ओर **ऊर्वान्**=विशाल लोकों का निर्माण करनेवाले हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः**=प्रशंसनीय व स्तुत्य **असि**=हैं।

भावार्थ—प्रभु ही फूल-फलवाली लताओं को क्षेत्रों में धारण करते हैं। वे ही सूर्यकिरणों में विविध प्राणदायी तत्त्वों को स्थापित करते हैं। विशाल लोकों का सब ओर निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सहवसु 'नार्मर' का विनाश

यो नार्मरं सहवसुं निहन्तवे पृक्षाय च दासवेशाय चावहः।
ऊर्जयन्त्या अपरिविष्टमास्यमुतैवाद्य पुरुकृत्सास्युक्थ्यः ॥ ८ ॥

१. हमारे जीवन में कामदेव अपने सुन्दर रूप से युक्त हुए आते हैं, विषयरूप शतशः वसुओं को हमारे लिए भेंट रूप में उपस्थित करते हैं। जब हम उन भेंटों को देख रहे होते हैं तो ये अपने पुष्पनिर्मित धनुष व पञ्चवाणों से हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर प्रहार करके हमें मूर्छित कर देते हैं और समाप्त कर देते हैं इसीलिए 'काम' का नाम 'मदन, मन्मथ व मार' हो गया है। इस **यः नार्मरम्**=जो मनुष्यों को मार डालनेवाले **सहवसुम्**=सब वसुओं के साथ उपस्थित हुए कामदेव को **निहन्तवे**=मारने के लिए **अद्य एव**=आज ही **ऊर्जयन्त्याः**=अत्यन्त शक्तिशालिनी वज्रधारा के **अपरिविष्टम्**=यज्ञों से अव्याप्त **आस्यम्**=मुख को **अवहः**=प्राप्त कराता है। इस वज्रधारा की चमकती हुई धार पर पड़कर काम का कृन्तन हो जाता है। क्रियाशीलता ही वस्तुतः यह वज्रधारा

है। सदा क्रियाशील बने रहकर हम कामदेव के शिकार नहीं होते। २. इस प्रकार हे प्रभो! आप ही हमारे **पृक्षाय**=हविर्लक्षण अन्नप्राप्ति के लिए तथा **दासवेशाय**=दस्युओं के—दास्यव-प्रवृत्तियों के विनाश के लिए—**पुरुकृत्**=इस पालनात्मक व पूरणात्मक कर्म को करते हैं। 'काम' के विनष्ट होने पर हम संसार के विषयों में नहीं फंसते और सदा त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनते हैं—यही हवि का ग्रहण है। हमारी सब अशुभ वृत्तियों का विनाश हो जाता है। (दासवेशाय-दस्यूनां विनाशाय सा०)। इस महत्त्वपूर्ण कर्म को करनेवाले **सः**=वे आप ही **उक्थ्यः**=स्तुति के योग्य **असि**=हैं।

भावार्थ—निर्मल कर्मों में लगे रहना ही 'काम' को जीतने का उपाय है। इस विजय के होने पर हम सदा त्यागपूर्वक अदन करते हैं और दास्यव वृत्तियों से ऊपर उठे रहते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'आद्य-सुप्राव्य' प्रभु

शतं वा यस्य दश साकमाद्य एकस्य श्रुष्टौ यद्ध चोदमाविथ।
अरज्जौ दस्यून्त्समुनब्दभीतये सुप्राव्यो अभवः सास्युक्थ्यः ॥ ९ ॥

१. **यस्य**=जिन **एकस्य**=अद्वितीय आपके **श्रुष्टौ**=(Hearing; help; assistance) निर्देशों के श्रवण में **वा**=निश्चय से **दश**=पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रूप अश्व **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **साकम्**=हमारे साथ रहते हैं अर्थात् पूर्ण आयुष्य पर्यन्त क्षीणशक्ति नहीं होते। **यत् ह**=और जो निश्चय से **चोदम्**=आपकी प्रेरणा प्राप्त करनेवाले को **आविथ**=आप रक्षित करते हो। २. **दभीतये**=वासनाओं का संहार करनेवाले के लिए आप **अरज्जौ**=रज्जु के अभाव में भी **दस्यून्**=दास्यव-वृत्तियों को **समुनब्**=हिंसित करते हैं। 'दभीति' आपकी सहायता से ही इन दस्युओं का नाश हो पाता है। वस्तुतः **अभवः**=आप ही सबके उपजीव्य हैं—आपके आधार से ही सब जीते हैं। **सुप्राव्यः**=आप ही रक्षण करनेवालों में उत्तम हैं। **सः**=वे आप ही **उक्थ्यः असि**=स्तुति के योग्य हैं।

भावार्थ—प्रभु के निर्देश में चलने पर सब इन्द्रियशक्तियाँ आजीवन ठीक बनी रहती हैं। वे प्रभु ही सबको जिलाते हैं व रक्षित करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'परि-पर' प्रभु

विश्वेदनु रोधना अस्य पौंस्यं ददुरस्मै दधिरे कृत्नवे धनम्।
षळस्तभ्ना विष्टिरः पञ्च संदृशः परि परो अभवः सास्युक्थ्यः ॥ १० ॥

१. 'रोधना' शब्द चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा शरीर में शक्ति के संयम के लिए प्रयुक्त होता है। **विश्वा रोधनाः**=सब चित्तवृत्तियों के निरोध **अनु**=अनुसार **इत्**=निश्चय से **अस्य**=इस साधक के लिए **पौंस्यं ददुः**=शक्ति को प्राप्त कराते हैं। **अस्मै कृत्नवे**=इस कर्मशील के लिए **धनं दधिरे**=धन को धारण करते हैं। चित्तवृत्ति के निरोध से यह शक्ति को प्राप्त करता है और क्रियाशीलता से धन का अर्जन करनेवाला होता है। २. शक्ति और धन को प्राप्त करके आन्तर व बाह्य चिन्ताओं से मुक्त हुआ-हुआ यह पुरुष **विष्टिरः**=विशिष्ट विस्तारवाली—प्रबुद्ध शक्तिवाली **षट्**=मनःषष्ठ पाँच ज्ञानेन्द्रियों को **अस्तभ्नाः**=थामता है—इनको विषयों में जाने से रोकता है। विषयों में जाने से इन्हें रोककर यह साधक **पञ्च संदृशः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेवाला बनता है। हे प्रभो! आप इस व्यक्ति के **परिपरः**=सर्वथा पारयिता **अभवः**=होते हैं। इसे संसार समुद्र में डूबने से बचाते हैं। **सः**=वे आप **उक्थ्यः**=स्तुति के योग्य—प्रशंसनीय

असि=हैं।

भावार्थ—संयम से शक्ति तथा क्रियाशीलता से धन का हम अर्जन करें। इन्द्रियों व मन का विरोध करके भवसागर से पार हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'जातूष्ठिर' का उत्कृष्ट जीवन

सुप्रवाचनं तव वीर वीर्यं१ यदेकेन क्रतुना विन्दसे वसु।
जातूष्ठिरस्य प्र वयः सहस्वतो या चकर्थ सेन्द्र विश्वास्युक्थ्यः ॥ ११ ॥

१. हे **वीर**=गतमन्त्र के अनुसार संयम द्वारा शक्तिशाली बननेवाले पुरुष! **तव वीर्यम्**=तेरी वह शक्ति **सुप्रवाचनम्**=उत्तमता से श्लाघनीय होती है, **यत्**=जो तू **एकेन क्रतुना**=अद्वितीय पुरुषार्थ से **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धनों को **विन्दसे**=प्राप्त करता है। २. **जातु+स्थिरस्य**=कभी भी, अर्थात् हर समय स्थिरवृत्ति के **सहस्वतः**=बलशाली पुरुष का **प्रवयः**=प्रकृष्ट जीवन होता है। चित्तवृत्ति के न भटकने से शक्ति का वर्धन होता है, शक्ति के बने रहने पर जीवन उत्तम होता है। ३. हे **इन्द्र**=शक्तिशालिन् प्रभो! **या विश्वा चकर्थ**=जो ये सब कर्म आप करते हो **सः**=वे आप **उक्थ्यः असि**=स्तुति के योग्य हो।

भावार्थ—साधक को शक्ति प्रभुकृपा से ही प्राप्त होती है। प्रभु ही स्थिरवृत्तिवाले पुरुष के जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कल्याणकारी प्रभु

अरमयः सरपसस्तराय कं तुर्वीतये च वय्याय च स्रुतिम्।
नीचा सन्तमुदनयः परावृजं प्रान्धं श्रोणं श्रवयन्त्सास्युक्थ्यः ॥ १२ ॥

१. 'रप् व्यक्तायां वाचि' धातु से 'स-रपस्' शब्द बना है—प्रभु के गुणों का व्यक्तोच्चारण करनेवाला। **स-रपसः**=प्रभुस्तवन करनेवालों को **तराय**=संसार-सागर से तराने के लिए **अरमयः**=आप क्रीड़ा कराते हैं। उन्हें सब कर्मों को एक क्रीड़क की मनोवृत्ति से करने की शक्ति देते हैं। इस प्रकार कर्मों को करते हुए वे भवसागर से तैर जाते हैं। २. **तुर्वीतये**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले के लिए तथा **वय्याय**=कर्मतन्तु का सन्तान (=विस्तार) करनेवाले के लिए आप **स्रुतिम्**=मार्ग को **कम्**=सुखप्रद करते हैं। तुर्वीति और वय्य बनकर मनुष्य जीवन में उस मार्ग से चलता है जो उसके लिए सुखप्रद होता है। ३. **नीचा सन्तम्**=कितनी भी नीची स्थिति में होते हुए **परावृजम्**=पाप का सुदूर वर्जन करनेवाले को **उद् आनयः**=आप उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कराते हो। **प्रान्धम्**=एकदम दृष्टिशक्ति से हीन तथा **श्रोणम्**=पंगु को भी दृष्टिशक्ति देकर तथा अपंगु बनाकर **श्रवयन्**=आप कीर्तिमान् करते हो। **सः**=वे आप **उक्थ्यः**=अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो।

भावार्थ—स्तोता को आप भवसागर से तराते हो। तुर्वीति व वय्य को कल्याणप्रद मार्ग प्राप्त कराते हो। पापवर्जक को उन्नत करते हो। अन्धे को दृष्टि देते हो और पंगु को अपंगु बनाते हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दानार्थ धन

अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राधः समर्थयस्व बहु ते वसव्यम्।
इन्द्र यच्चित्रं श्रवस्या अनु द्यून्बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ १३ ॥

१. हे **वसो**=सम्पूर्ण वसुओं के स्वामिन्! इन वसुओं द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **तद् राधः**=उस धन को—कार्यसाधक धनों को **दानाय**=दान देने के लिए **समर्थयस्व**=(to make ready, prepare; approve) तैयार कीजिए अथवा स्वीकार कीजिए। **ते**=आपका **वसव्यम्**=धन **बहु**=बहुत है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत् चित्रम्**=जो आपका अद्भुत धन है, उसे **श्रवस्याः**=हमारे यश व त्याग के लिए चाहिए। (to long for glory or a sacrifice) आपसे हमें धन प्राप्त हो और हम उस धन का इस प्रकार यज्ञों में विनियोग करें कि हमारा यश बढ़े। ३. हे प्रभो! हम **सुवीराः**=धनों के उत्तम विनियोग से वीर बनते हुए **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **अनु द्यून्**=प्रतिदिन **बृहद् वदेम**=ख़ूब ही आपके गुणों का उच्चारण करें। आपका स्मरण करते हुए ही हम धनों का सद्व्यय करेंगे और उन्हें केवल भोगवृद्धि और परिणामतः रोगवृद्धि का कारण न बनने देंगे।

भावार्थ—हमें धन प्राप्त हो। हम उसका सद्व्यय करते हुए यशस्वी हों। इसके लिए सदा प्रभु का स्मरण करें।

सूक्त का सार यह है कि प्रभु ही सम्पूर्ण संसार के निर्माता हैं और उनकी कृपा से ही हमारा जीवन भी सुन्दर बनता है। वे ही हमें आवश्यक धनों को देते हैं और उनकी कृपा से ही इन धनों को हम केवल भोगवृद्धि का साधन नहीं बनने देते। प्रभु ही हमारी वासनाओं का पराजय करते हैं। अगले सूक्त में यह विषय इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि वासनाओं को जीतकर हम 'अध्वर्यु' बनते हैं। हमारी सब इन्द्रियाँ व मन हिंसारहित कर्मों व यज्ञों में लगे हुए सचमुच 'अध्वर्यवः' कहलाने योग्य होते हैं। प्रस्तुत सूक्त के ग्यारह मन्त्रों का प्रारम्भ इस 'अध्वर्यवः' शब्द से ही होता है। दस इन्द्रियाँ व ग्यारहवाँ मन ये सब ही 'अध्वर्यवः' हैं। इनसे कहते हैं कि—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का सर्वप्रथम आदेश

अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोममामत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः।
कामी हि वीरः सदमस्य पीतिं जुहोत वृष्णे तदिदेष वष्टि॥ १ ॥

१. **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों की कामना करते हुए मन व इन्द्रियो! तुम **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोमशक्ति का—वीर्य का **भरत**=शरीर में भरण करो। **अमत्रेभिः**=इन शरीर रूप चमसों के हेतु से (चमस=अमत्र) 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इस मन्त्र में शरीर को चमस कहा गया है। **मद्यम्**=इस हर्ष के जनक **अन्धः**=सोमरूप अन्न को **आसिञ्चत**=शरीर में सिक्त करो। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोमरूप अन्न नीरोगता का जनक होकर आनन्दवृद्धि का हेतु होता है। २. इसलिए **वीरः**=वीर पुरुष **सदम्**=सदा **अस्य पीतिं कामी**=इस सोमपान की कामनावाला होता है। उस **वृष्णे**=सब सुखों के वर्षण करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए **जुहोत**=इस सोम की शरीर में ही जीवनयज्ञ के सम्यक् संचालन के लिए आहुति दो। वस्तुतः **एषः**=ये प्रभु **तद् इत्**=केवल इस ही बात को **वष्टि**=चाहते हैं। प्रभु का मौलिक उपदेश यही है कि इस शरीर में उत्पन्न सोम का शरीर में ही सेचन व व्यापन करो।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें। यह हमारे शरीरों को नीरोग बनाएगा। हमें प्रसन्नता प्राप्त कराएगा। हम प्रभु को प्राप्त करेंगे। प्रभु का सर्वप्रथम आदेश यही है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृत्रं जघान

अध्वर्यवो यो अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघानाशन्येव वृक्षम्।
तस्मा एतं भरत तद्वशायँ एष इन्द्रो अर्हति पीतिमस्य॥ २॥

१. हे **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों की कामना करते हुए मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु **अपः वव्रिवांसम्**=हमारे सब कर्मों व शक्तियों को (आपः=कर्म व रेतः) आवृत करके स्थित हुए **वृत्रम्**='काम' को उसी प्रकार **जघान**=नष्ट करते हैं **इव**=जैसे **अशन्या वृक्षम्**=विद्युत् से वृक्ष को। **तस्मा**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **एतम्**=इस सोम को शरीर में **भरत**=धारण करो। **तद्वशायम्**=यह प्रभु हमारे से यही चाहते हैं 'तद्वशायम्' इस मूल पाठ के अनुसार यहाँ 'अयं तद्वशा' ऐसा सन्धिच्छेद करके अर्थ किया गया है। सायण भाष्य में 'तद्वशाय' यह लिखकर 'सोमकामाय' यह अर्थ किया है। उससे यह चतुर्थ्यन्त शब्द प्रतीत होता है। भाव में अन्तर नहीं है। २. प्रभु हमारी वासना को विनष्ट करके हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम सोम का रक्षण कर सकें। इसलिए **एषः इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **अस्य पीतिम् अर्हति**=इस सोमपान व रक्षण के योग्य है। 'इन्द्र' के लिए यही उचित है कि इस सोम का पान करे और अपने को प्रभुप्राप्ति के योग्य बनाए।

भावार्थ—'वृत्र' (कामवासना) हमारी शक्ति का विनाशक है उसका विनाश करके हम शक्तिरक्षण करें और प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दृभीकं जघान

अध्वर्यवो यो दृभीकं जघान यो गा उदाजदप हि वलं वः।
तस्मा एतमन्तरिक्षे न वातमिन्द्रं सोमैरोर्णुत जूर्न वस्त्रैः॥ ३॥

१. हे **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों की कामना करते हुए मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु तुम्हारे लिए इस **दृभीकम्**=दृभीक को—(विदारयति, भियं करोति) शक्तियों का विदारण करनेवाले और अतएव भयजनक वासनारूप शत्रु को—**जघान**=नष्ट करते हैं। इस वासनारूप शत्रु को नष्ट करके **यः**=जो **गाः**=इन्द्रियरूप गौवों को **उदाजत्**=उत्कृष्ट मार्ग पर गतिवाला करते हैं और **हि**=निश्चय से इस **वलम्**=ज्ञान के आवरणभूत (Veil) वलासुर को **अप वः**=(अपावृणोत्) हिंसित करते हैं। **तस्मा**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **एतं इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **सोमैः**=सोमकणों से **आ ऊर्णुत**=सम्यक् आच्छादित करो। २. प्रभुप्राप्ति के लिए मार्ग यही है कि हम वासना को जीत कर सोम को शरीर में सुरक्षित करें। वस्तुतः शरीर को सोमकणों से इस प्रकार व्याप्त कर दें **न**=जैसे कि **अन्तरिक्षे वातम्**=अन्तरिक्ष में प्रभु वायु को व्याप्त कर देते हैं। इस प्रकार हम सोम से अपने को आच्छादित करें **न**=जैसे कि **जूः**=एक जीर्ण (वृद्ध) पुरुष **वस्त्रैः**=वस्त्रों से अपने को आच्छादित करता है। ये वस्त्र उसे सर्दी व गर्मी से बचाते हैं, इसी प्रकार सोमकण हमें रोगों का शिकार नहीं होने देते। इसलिए जैसे अन्तरिक्ष में वायु सर्वत्र व्याप्त है, इसी प्रकार सोम हमारे शरीर में सर्वत्र व्याप्त हो। यह सब होगा तभी जब हम वासना को जीत पाएँगे। वासना को जीतना प्रभुकृपा से होगा। हमारे लिए तो यह वासना दृभीक है—हमारी शक्तियों का विदारण करती हुई बड़ी भयंकर है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी वासना का विनाश होकर सोम का शरीर में ही व्यापन होगा

और हम प्रभुदर्शन कर पाएँगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उरणं जघान

अध्वर्यवो य उरणं जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून्।
यो अर्बुदमव नीचा बबाधे तमिन्द्रं सोमस्य भृथे हिनोत॥ ४॥

१. **अध्वर्यवः**=हे हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों की कामना करते हुए मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु **उरणं जघान**=(Sheepish, foolish, diffident) हमारे जीवन में से मूर्खतापूर्ण कायरता को नष्ट कर देते हैं, जो कायरता **नव नवतिं च**=निन्यानवे **बाहून्**=प्रयत्नों को **चख्वाँसम्**=खोद डालती है। जिस मूर्खतापूर्ण कायरता के कारण हम प्रयत्न करने से संकोच करते रहते हैं—कितने ही करने योग्य कर्मों को करते ही नहीं। प्रभु इस कायरता को नष्ट करते हैं और हमें जीवन में आगे बढ़ने योग्य बनाते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **अर्बुदम्**=सूर्य के आवरणभूत मेघ की तरह ज्ञान के आवरणभूत कामवासना रूप मेघ को **नीचा अव बबाधे**=नीचे पीड़ित करते हैं, अर्थात् पाँव तले कुचल देते हैं। **तम् इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सोमस्य भृथे**=सोम का—वीर्यशक्ति का भरण करने पर **हिनोत**=अपने में बढ़ाएँगे। जितना-जितना हम सोम का भरण करते हैं उतना-उतना हम प्रभु के समीप होते चलते हैं।

भावार्थ—कायरतापूर्ण संकोच नष्ट करके हम आगे बढ़ने के लिए यत्नशील हों। वासना जीतकर सोम का पान करते हुए हम प्रभु का हृदयों में दर्शन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्वश्नं जघान

अध्वर्यवो यः स्वश्नं जघान यः शुष्णमशुषं यो व्यंसम्।
यः पिप्रुं नमुचिं यो रुधिक्रां तस्मा इन्द्रायान्धसो जुहोत॥ ५॥

१. हे **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु **स्वश्नम्**=स्वादिष्ट पदार्थों के खाने की वृत्ति—खाने के चस्के को **जघान**=नष्ट कर देते हैं। **यः**=जो **शुष्णम्**=हमें सुखा डालनेवाले **अशुषम्**=स्वयं न सूखनेवाले 'काम' को नष्ट कर देते हैं। **यः**=जो **व्यंसम्**=(व्यंस्=to deceive, cheat) छलकपट को हमारे से दूर करते हैं। २. **यः पिप्रुं**=जो प्रभु अपने ही पेट भरने की वृत्ति को (प्रा पूरणे) नष्ट करते हैं। **नमुचिम्**=अन्त तक पीछा न छोड़नेवाली अहंकार की वृत्ति को दूर करते हैं। **यः**=जो **रुधिक्राम्**=(रुध्=मर्यादा में रोकना, क्रम्-उल्लंघन करना) मर्यादोल्लंघनवृत्ति को नष्ट करते हैं। **तस्मा इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अन्धसः**=इस सोम की **जुहोत**=अपने में आहुति दो। सोमरक्षण करने पर ही प्रभुप्राप्ति सम्भव है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम प्रभुदर्शन के योग्य बनें। वे प्रभु ही 'स्वश्न, शुष्ण, व्यंस, पिप्रु, नमुचि व रुधिक्रा' आदि असुरों का संहार करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईर्ष्या व क्रोध का विनाश

अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद्भरता सोमस्मै॥ ६॥

१. **अध्वर्यवः**=हे हिंसारहित कर्मों को अपनाने वाले मन व इन्द्रियो!

यः=जो प्रभु **शंबरस्य**=शान्ति को आवृत कर लेनेवाले 'ईर्ष्या' नामक असुर की **पूर्वीः**=पुरातन—न जाने कब से चली आ रही **शतं पुरः**=सैकड़ों पुरियों को इस प्रकार **बिभेद**=विदीर्ण कर डालते हैं, **इव**=जैसे कि **अश्मना**=वज्र से किसी वस्तु का विदारण कर दिया जाता है। ईर्ष्या आई और मानसशान्ति गई। ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत सा हो जाता है। सैकड़ों रूपों में यह ईर्ष्या प्रकट होती है। प्रभुस्मरण से ही इसका विनाश होता है। २. **यः इन्द्रः**=जो परमैश्वर्यशाली प्रभु **वर्चिनः**=(वर्च दीप्तौ) चेहरे की तमतमाहट के रूप में प्रकट होनेवाले क्रोधरूप असुर के **शतम्**=सैकड़ों व **सहस्रम्**=हज़ारों आक्रमणों **अपावपद्**=(भूमावपातयत् सा०) भूमि पर गिरा देता है—क्रोध के आक्रमणों को व्यर्थ कर देता है। **अस्मै**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोम को—वीर्यशक्ति को **भरता**=अपने में धारण करो।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही ईर्ष्या व क्रोध का विनाश होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कुत्स-आयु-तथा अतिथिग्व के शत्रुओं का नाश

अध्व॑र्यवो॒ यः श॒तमा स॒हस्रं॒ भूम्या॑ उ॒पस्थेऽव॑पज्जघ॒न्वान्।
कुत्स॑स्या॒योर॑तिथि॒ग्वस्य॑ वी॒रान् न्यावृ॑ण॒ग्भर॑ता॒ सोम॑मस्मै॥ ७॥

१. हे **अध्वर्यवः**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को अपने साथ जोड़नेवाले मन व इन्द्रियो! **यः**=जो प्रभु **शतम्**=सैकड़ों **सहस्रम्**=व हजारों आसुरभावों को **भूम्याः उपस्थे**=पृथ्वी की गोद में **अवपत्**=(अपातयत्) गिरा देता है, अर्थात् नष्ट कर देता है, वे प्रभु ही **जघन्वान्**=सब शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं। २. **कुत्सस्य**=कामादि का संहार करनेवाले 'कुत्स' के **आयोः**=निरन्तर गतिशील और अतएव क्रोध, ईर्ष्या आदि के शिकार न होनेवाले पुरुष के तथा **अतिथिग्वस्य**=अतिथियों के प्रति जानेवाले—उनका सत्कार करनेवाले और अतएव लोभ से ऊपर उठे हुए पुरुष के **वीरान्**=(वि+ईर) प्रबल आक्रमण करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रुओं को **न्यावृणक्**=विनष्ट करते हैं **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **सोमम् भरत**=सोम को—वीर्यशक्ति को अपने में धारण करो। धारित हुए-हुए प्रभु ही कुत्स के काम को नष्ट करते हैं, आपके क्रोध को तथा अतिथिग्व के लोभ को वे समाप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही काम-क्रोध-लोभ को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्राप्ति व सर्वकामावाप्ति

अध्व॑र्यवो॒ यन्न॑रः का॒मया॑ध्वे श्रु॒ष्टी वह॑न्तो नशथा॒ तदिन्द्रे॑।
ग॒भस्ति॑पूतं भरत श्रु॒ताये॑न्द्राय॒ सोमं॑ यज्यवो जुहोत ॥ ८॥

१. हे **अध्वर्यवः नरः**=यज्ञों को अपने साथ जोड़नेवाले मनुष्यो! **यत् कामयाध्वे**=आप जो कामना करते हो, **तत्**=उसे **इन्द्रे**=प्रभुप्राप्ति के निमित्त **श्रुष्टी**=शीघ्र **वहन्तः**=सोम का धारण करते हुए **नशथाः**=प्राप्त करते हो। प्रभुप्राप्ति से सब कामनाएँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। प्रभुप्राप्ति में सर्व काम प्राप्त हो जाते हैं। २. इसलिए **श्रुताय**=उस प्रसिद्ध ज्ञानपुञ्ज **इन्द्राय**= परमैश्वर्यशाली प्रभुप्राप्ति के लिए **गभस्तिपूतम्**=ज्ञानरश्मियों द्वारा पवित्र किये हुए (ज्ञान होने पर वासना विनष्ट होती है और सोमकण पवित्र बने रहते हैं) **सोमम्**=सोम को **भरत**=शरीर में धारित करो। हे **यज्यवः**=यज्ञशील व्यक्तियो! **जुहोत**=इन सोमकणों की इस शरीर की वैश्वानराग्नि में ही आहुति दो। ये सोमकण शरीर में ही व्याप्त रहें।

भावार्थ—सोमरक्षण से प्रभुप्राप्ति होती है। प्रभुप्राप्ति से सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से कार्यकुशलता

अध्वर्यवः कर्तना श्रुष्टिमस्मै वने निपूतं वन उन्नयध्वम्।
जुषाणो हस्त्यमभि वावशे व इन्द्राय सोमं मदिरं जुहोत॥ ९॥

१. **अध्वर्यवः**=हे हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के करनेवाले लोगो! **अस्मै**=इस प्रभुप्राप्ति के लिए **श्रुष्टिम्**=सुख देनेवाले सोम को **कर्तन**=सम्पादित करो। सोमरक्षण से ही तुम प्रभु को पानेवाले बनोगे। २. **वने**=ज्ञानरश्मियों में **निपूतम्**=निश्चय से पवित्र किये हुए इस सोम को **वने**=इस शरीर रूप गृह में **उन्नयध्वम्**=ऊर्ध्वगतिवाला करो। इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करो। ३. **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाता हुआ यह सोम **वः**=तुम्हारे **हस्त्यम्**=हस्तकौशल को **अभिवावशे**=नितरां चाहता है, अर्थात् जब तुम सोम को शरीर में सुरक्षित करते हो तो यह सोम तुम्हें कर्मों में कुशल बनाता है। ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता हुआ यह हमारे ज्ञान को बढ़ाता है और ज्ञानी बनकर हम इस प्रकार कुशलता से कर्म करते हैं कि वे कर्म हमारे बन्धन का कारण नहीं बनते। इस प्रकार हम प्रभु को पानेवाले होते हैं। **इन्द्राय**=उस प्रभुप्राप्ति के लिए **मदिरम्**=हर्ष के जनक **सोमम्**=सोम को **जुहोत**=अपने में आहुत करो।

भावार्थ—सोमरक्षण से ज्ञानवृद्धि होकर कर्मों को हम इस प्रकार कुशलता से करते हैं कि वे कर्म हमें बाँधते नहीं और हम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम की पोषणशक्ति

अध्वर्यवः पयसोधर्यथा गोः सोमेभिरीं पृणता भोजमिन्द्रम्।
वेदाहमस्य निभृतं म एतद्दित्सन्तं भूयो यजतश्चिकेत॥ १०॥

१. **अध्वर्यवः**=हे यज्ञशील लोगो! **यथा**=जैसे **गोः ऊधः**=गौ के ऊधस् को **पयसा**=दूध से पूरित करते हैं उसी प्रकार इस **भोजम्**=पालन करनेवाले **इन्द्रम्**=प्रभु को **ईम्**=निश्चय से **सोमेभिः**=सोमों से—सोमकणों से—**पृणता**=पूरित करो। जितना-जितना हम सोम का रक्षण करते हैं उतना-उतना ही प्रभु को प्रीणित करने वाले बनते हैं। २. **अहम्**=मैं **अस्य**=इस सोम के **मे एतत्**=मेरे इस **निभृतम्**=निश्चय से भरण व पोषण रूप कर्म को **वेद**=जानता हूँ। शरीर में धारण किया हुआ सोम निश्चय से हमारा पोषण करता है और हमें रोगादि से बचाता है। ३. **यजतः**=यष्टव्य=उपासना योग्य प्रभु **दित्सन्तम्**=दान की इच्छावाले पुरुष को **भूयः**=खूब **चिकेत**=जानता है, अर्थात् उसका बहुत ही ध्यान करता है। यह दान की वृत्तिवाला पुरुष भोगों में न फंसकर सोमरक्षण करनेवाला होता है और अतएव प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—शरीर में रक्षित सोम शरीर का उचित भरण करता है। '**सोमो रक्षति रक्षितः**'।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

लोकत्रयी की सम्पत्ति

अध्वर्यवो यो दिव्यस्य वस्वो यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा।
तमूर्दरं न पृणता यवेनेन्द्रं सोमेभिस्तदपो वो अस्तु॥ ११॥

१. **अध्वर्यवः**=हे यज्ञशील पुरुषो! **यः**=जो प्रभु **दिव्यस्य वस्वः**=द्युलोक के धन का **राजा**=राजा है **यः**=जो **पार्थिवस्य**=(पृथिवी अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष के धन का राजा है और जो

क्षम्यस्य=इस पृथिवी के धन का राजा है। शरीर में द्युलोक 'मस्तिष्क' है, इसका धन 'ज्ञान' है। अन्तरिक्ष 'हृदय' है, इसका धन 'श्रद्धा व उपासना' है। पृथिवी 'शरीर' है, इसका धन 'शक्ति व दृढ़ता' है। इस ज्ञान, श्रद्धा व शक्ति को देनेवाले वे प्रभु ही हैं। २. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=प्रभु को **सोमेभिः**=सोमों से इस प्रकार **पृणता**=प्रीणित करो **न**=जैसे **यवेन**=जौ से **ऊर्दरम्**=ऊखल को भरते हैं। हे अध्वर्युवो! **वः**=तुम्हारा **तदपः**=यही मुख्य कर्म **अस्तु**=हो (तत् अपः)। जीव का मौलिक कर्त्तव्य सोमरक्षण ही है। यही उसे सब 'दिव्य-अन्तरिक्ष व पार्थिव' धनों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मस्तिष्क ज्ञानदीप्त होता है, हृदय श्रद्धा से पूर्ण होता है और शरीर शक्तिसम्पन्न बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऐश्वर्य की प्राप्ति

अस्मभ्यं तद्वसो दानाय राधः समर्थयस्व बहु ते वसव्यम्।
इन्द्र यच्चित्रं श्रवस्या अनु द्यून्बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ १२ ॥

यह २.१३.१३ पर व्याख्यात है।

सम्पूर्ण सूक्त यज्ञशील बनकर सोमरक्षण से उत्कर्ष को प्राप्त करने व प्रभुदर्शन के योग्य बनने का प्रतिपादन करता है। यह प्रभुदर्शन करनेवाला प्रभुस्तवन करते हुए कह उठता है कि—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महान् सत्य प्रभु

प्र घा न्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि वोचम्।
त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्यास्य मदे अहिमिन्द्रो जघान ॥ १ ॥

१. **घा**=निश्चय से **नु**=अब **अस्य सत्यस्य**=इस सत्यस्वरूप **महतः**=महान् प्रभु के **महानि**=महान् **सत्या**=सत्य **करणानि**=कार्यों का **प्रवोचम्**=शंसन करता हूँ। प्रभु महान् हैं—सत्य हैं। उनके कार्य भी महान् व सत्य हैं। उनका बनाया हुआ यह ब्रह्माण्ड भी महान् व सत्य है। 'इन्द्रः सत्यः सम्राट्'=वे प्रभु सत्य सम्राट् हैं। २. इस प्रकार प्रभु का स्तवन करता हुआ **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **त्रिकद्रुकेषु**='बाल्य, यौवन व स्थविर' तीनों प्रभु के आह्वान कालों—आराधना के समयों में **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का **अपिबत्**=पान करता है। प्रभु के स्मरण द्वारा वासनाओं को अपने से दूर रखकर यह सोम का रक्षण कर पाता है। **अस्य मदे**=इस सोम के शरीर में व्याप्त करने के द्वारा उत्पन्न उल्लास में यह जितेन्द्रिय पुरुष **अहिम्**=(आहन्ति) सब शक्तियों का संहार करनेवाली कामवासना को **जघान**=नष्ट करता है।

भावार्थ—सदा प्रभुस्मरण करता हुआ व्यक्ति वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है और सोमरक्षण कर पाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य का स्थापन, पृथिवी का धारण

अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ २ ॥

१. **अवंशे**=अनवलम्बन—आधार रहित आकाश में **द्याम्**=देदीप्यमान सूर्य को **अस्तभायद्**=

वे प्रभु थामते हैं और **रोदसी**=द्यावापृथिवी को तथा **बृहन्तम् अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्षलोक को **आ अपृणत्**=समन्तात् तेज व प्रकाश से पूरित कर देते हैं। २. **स**=वे प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **धारयत्**=धारण करते हैं **च**=और **पप्रथत्**=विस्तृत करते हैं। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **सोमस्य मदे**=सोम के उल्लास में **ता**=उन महत्त्वपूर्ण कार्यों को **चकार**=करते हैं। प्रभु तो सोम के—शक्ति के पुञ्ज हैं। इस शक्ति के कारण ही वे इन कार्यों को कर पाते हैं। एक प्रभु का उपासक भी **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनकर सोमरक्षण करता हुआ मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-सूर्योदय करता है—शरीर, हृदय व मस्तिष्क को प्रकाशमय करता है और पृथिवीरूप शरीर की शक्तियों का विस्तार करता है।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु ही निराधार आकाश प्रदेश में सूर्य की स्थापना करके त्रिलोक को प्रकाश से परिपूर्ण करते हैं और इस विस्तृत पृथिवी को धारण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

लोकनिर्माण व नदियों का प्रवाहण

सद्मेव प्राचो वि मिमाय मानैर्वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्।
वृथासृजत्पथिभिर्दीर्घयाथैः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ३॥

१. उस प्रभु ने **प्राचः**=(प्र अञ्च्) इन निरन्तर आगे बढ़नेवाले लोकों को **सद्म इव**=घर की भाँति—प्राणियों में स्थित होने के स्थान की तरह **मानैः**=बड़े मानपूर्वक मापकर **विमिमाय**=बनाया है। २. **नदीनाम्**=नदियों के **खानि**=निर्गमन धारों को—मार्गों को **वज्रेण**=वज्र से ही **अतृणत्**=खोद डाला है। इन नदियों के मार्गों को भी बनानेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार इनके मार्गों को बनाकर **दीर्घयाथैः पथिभिः**=दीर्घकाल में गन्तव्य अर्थात् बहुत लम्बे इन मार्गों से **वृथा**=अनायास ही—बिना ही श्रम के **असृजत्**=इन्हें सृष्ट किया है—प्रवाहित किया है। **ता**=उन सब कार्यों को **इन्द्रः**=सर्वशक्तिशाली प्रभु ने **सोमस्य मदे**=शक्ति के उल्लास में **चकार**=किया है।

भावार्थ—प्राणियों के निवासस्थानभूत निरन्तर अग्रगतिवाले लोकों को प्रभु ने बनाया है। प्रभु ने ही मार्गों को बनाकर नदियों को प्रवाहित किया है।

सूचना—'सद्म' शब्द से यह संकेत स्पष्ट है कि सब लोकों में प्राणियों का निवास है। 'प्राचः' शब्द से यह स्पष्ट है कि ये सब लोकों को अन्तरिक्ष में आगे और आगे गति कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रु-शस्त्र-विनाश

स प्रवोळ्हॄन्परिगत्या दभीतेर्विश्वमधागायुधमिद्धे अग्नौ।
सं गोभिरश्वैरसृजद्रथेभिः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ४॥

१. 'दभीति' वह साधक है जो कि काम-क्रोधादि को जीतने में लगा हुआ है, परन्तु ये शत्रु इतने प्रबल हैं कि ये उसे अपने प्रवाह में बहा ही ले जाते हैं। प्रभुकृपा से रक्षित हुआ-हुआ सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और तब उस सुसमिद्ध ज्ञानाग्नि में इन काम-क्रोधादि के सब आयुध भस्म हो जाते हैं। इन आयुधों के भस्म होने पर ही तो जीवन सुन्दर बनेगा। **दभीतेः**=काम-क्रोधादि का हिंसन करनेवाले दभीति को भी **प्रवोढॄन्**=बहा ले जानेवाले इन काम-क्रोधादि को **परिगत्य**=चारों ओर से घेर कर **इद्धे अग्नौ**=दीप्त ज्ञानाग्नि में **विश्वम् आयुधम्**=इनके सब आयुधों को **अधाक्**=भस्म कर देते हैं, अर्थात् काम-क्रोध आदि को निरस्त्र करके समाप्त कर देते हैं। २. इन शत्रुओं को समाप्त करके **गोभिः**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों से **अश्वैः**=उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियों से तथा **रथेभिः**=उत्तम

शरीररूप रथों से **सम् असृजत्**=संसृष्ट करते हैं—युक्त करते हैं। काम-क्रोधादि के समाप्त होने पर इन सबका उत्कृष्ट होना निश्चित ही है। काम-क्रोध ही तो इनकी शक्तियों को क्षीण करते हैं। काम, क्रोध नष्ट हुए और इनकी शक्तियाँ विकसित हो उठती हैं। **ता**=इन सब कार्यों को **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **सोमस्य मदे**=सोम के, उल्लास के होने पर **चकार**=करते हैं। हमारे जीवनों में सोमरक्षण होने पर ही ये सब बातें होती हैं। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है—दीप्त ज्ञानाग्नि में काम-क्रोध भस्म होते हैं एवं इनके भस्म होने पर सब इन्द्रियाँ व शरीर सशक्त व नीरोग बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक के शत्रुओं के आयुधों को दीप्त ज्ञानाग्नि में भस्म कर देते हैं। इनको समाप्त करके उसे उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व शरीर को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रोध-वेग-निरोध

स ईं॑ म॒हीं धुनि॒मेतो॑ररम्णा॒त्सो अ॑स्ना॒तॄन॑पारयत्स्व॒स्ति ।
त उ॒त्स्नाय॑ र॒यिम॒भि प्र त॑स्थुः सोम॑स्य॒ ता मद॒ इन्द्र॑श्चकार ॥ ५ ॥

१. **सः**=वे प्रभु **ईम्**=निश्चय से **महीम्**=इस प्रबल **धुनिम्**=कम्पित करनेवाले क्रोधरूप शत्रु को **एतोः अरम्णात्**=गति से रोकते हैं, अर्थात् क्रोध को भड़कने नहीं देते। क्रोध आए भी तो प्रभुस्मरण से उसका वेग रुक जाता है। स्तोता क्रोध में बह नहीं जाता। **सः**=वे प्रभु **अस्नातॄन्**=क्रोधनदी में न स्नान करनेवालों को, अर्थात् क्रोध में न बह जानेवालों को **स्वस्ति अपारयत्**=कल्याण से पार लगा देते हैं। क्रोध न करनेवाले अन्ततः इन वासनाओं से ऊपर कल्याण को प्राप्त करते हैं। २. **ते**=वे **उत्स्नाय**=इस क्रोधनदी से पार होकर **रयिम् अभिप्रतस्थुः**=ये वास्तविक ऐश्वर्य की ओर चलते हैं। क्रोध से ऊपर उठकर ही शान्ति को मनुष्य प्राप्त करता है। जीवन का सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य 'मानस शान्ति' ही है। **ता**=इन कार्यों को **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सोमस्य मदे**=सोम का उल्लास होने पर **चकार**=करते हैं। हम सोमरक्षण करेंगे, तभी क्रोध आदि को जीत पाएँगे।

भावार्थ—क्रोध के वेग को रोककर ही हम शान्तिरूप ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानप्रकाश व स्फूर्ति

सो॑द॒ञ्चं सिन्धु॑मरिणान्महि॒त्वा वज्रे॒णान॑ उ॒षसः॒ सं पि॑पेष ।
अ॒ज॒वसो॑ ज॒विनी॑भिर्वि॒वृश्च॒न्त्सोम॑स्य॒ ता मद॒ इन्द्र॑श्चकार ॥ ६ ॥

१. **सः**=वे प्रभु **महित्वा**=अपनी महिमा से **सिन्धुम्**=शरीर में बहनेवाले रेतःकणों के प्रवाह को **उदञ्चम्**=ऊर्ध्वगतिवाला **अरिणात्**=करते हैं। इस रेतः प्रवाह को ऊर्ध्वोन्मुख करते हैं। प्रभु ही **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र द्वारा **उषसः** (रात्रिर्वा उषाः तै० ३.८.१६.४) अज्ञानरूप रात्रि के **अनः**=शकट को **संपिपेष**=पीस डालते हैं, अर्थात् हमारे जीवनों को क्रियामय बनाकर हमारे अज्ञान का विध्वंस करते हैं। २. **जविनीभिः**=वेगयुक्त क्रियाओं द्वारा **अजवसः**=आलस्य के भावों को—वेगशून्यताओं को **विवृश्चन्**=काटते हुए **इन्द्रः**=वे प्रभु **सोमस्य**=सोम के—वीर्यशक्ति के **मदे**=उल्लास होने पर **ता**=उन कार्यों को **चकार**=करते हैं। प्रभुकृपा से ही सोम की ऊर्ध्वगति होती है। ऐसा होने पर अज्ञानान्धकार नष्ट होता है—आलस्य का स्थान स्फूर्ति ले लेती है।

भावार्थ—प्रभुस्मरण होने पर शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। इससे ज्ञान का प्रकाश

व स्फूर्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अपंगु व अनन्ध 'परावृक्'

स विद्वाँ अपगोहं कनीनामाविर्भवन्नुदतिष्ठत्परावृक् ।
प्रति श्रोणः स्थाद् व्यनगचष्ट सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ७॥

१. **सः**=वह **कनीनाम्**=वेदरूप माता की कन्यारूप मन्त्रवाणियों के **अपगोहम्**=अपने से दूर होकर छिपने को **विद्वान्**=जानता हुआ **आविर्भवन्**=पुनः शक्तियों के विकास को करता हुआ **उदतिष्ठत्**=उठ खड़ा होता है। **परावृक्**=यह पापों का अपने से दूर (परा) वर्जन करनेवाला होता है (वृजी)। जब यह देखता है कि मुझे अन्धा (=ज्ञानवाणियों के अर्थ न समझनेवाला) तथा लंगड़ा (=उनके अनुसार न चलनेवाला) देखकर ये मन्त्ररूप कन्याएँ दूर भाग गई हैं तो यह उनका प्रिय बनने के लिए अपनी शक्तियों का विकास करता है और उन्नत होता हुआ पापों को अपने से दूर करता है। २. **श्रोणः**=आज तक पंगु होता हुआ भी अब यह **प्रतिस्थात्**=गतिशील होता हुआ—उन वेदवाणियों के अनुसार क्रियाओं को करनेवाला बनता है और **अनक्**=आज तक आँखों से रहित होता हुआ भी यह अब **व्यचष्ट**=विशेष रूप से देखने लगता है—उन वेद-वाणियों के भाव को खूब समझने लगता है। पंगु को प्रस्थानवाला तथा अन्ध को देखनेवाला करते प्रभु ही हैं। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **सोमस्य**=सोम के **मदे**=उल्लास होने पर **ता**=उन कार्यों को **चकार**=करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम वेदवाणियों के अर्थ को समझनेवाले, अर्थात् आँखोंवाले बनें तथा उनके अनुसार चलनेवाले अर्थात् अपंगु हों तभी हम इन ज्ञानदीप्त (कन दीप्तौ) वेदवाणीरूप कन्याओं के प्रिय होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पर्वत के दृढ़ द्वारों का उद्घाटन

भिनद्वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत् ।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ८॥

१. **अंगिरोभिः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले अंगिरसों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए प्रभु **वलम्**=ज्ञान की आवरणभूत (Veil) वासना को **भिनद्**=विदीर्ण करते हैं। वासनाओं का शिकार न होकर शक्ति का रक्षण करनेवाले पुरुष ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। प्रभु इनके ज्ञान की आवरणभूत वासना को दूर करते हैं। **पर्वतस्य**=अविद्यारूप पर्वत के **दृंहितानि**=बड़े दृढ़ द्वारों को **वि ऐरत्**=उद्घाटित कर देते हैं। अविद्यापर्वत ने ही ज्ञानप्राप्ति की साधनभूत ज्ञानेन्द्रिय रूप गौवों को रोका हुआ था। इस पर्वत के द्वारों को खोलकर प्रभु इन ज्ञानेन्द्रियरूप गौवों को फिर से हमें प्राप्त कराते हैं। २. **एषाम्**=इन अविद्यापर्वतों के **कृत्रिमाणि**=हमारे अभक्ष्यभक्षणादि कर्मों से उत्पन्न हुए **रोधांसि**=ज्ञानेन्द्रियरूप गौवों के निरोधक द्वारों को **रिणक्**=वे प्रभु खोल डालते हैं, अर्थात् हमारी ज्ञानेन्द्रियरूप गौवों को अविद्या के बन्धन से मुक्त करते हैं। **ता**=इन सब कार्यों को **इन्द्रः**=प्रभु **सोमस्य मदे**=सोम का उल्लास होने पर ही **चकार**=करते हैं। सोमरक्षण होने पर ही ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्रकाश को देनेवाली होती हैं।

भावार्थ—अज्ञानरूप पर्वत का विदारण करके प्रभु हमें ज्ञानेन्द्रिय रूप गौवों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हिरण्य-प्राप्ति

स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्र दभीतिमावः।
रम्भी चिदत्र विविदे हिरण्यं सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ९॥

१. हे प्रभो! आप ही **दस्युम्**=हमारी शक्तियों का उपक्षय करनेवाले **चुमुरिम्**=हमें पी जानेवाले—हमारी सब शक्तियों को निचोड़ लेनेवाले—काम को **च**=और **धुनिम्**=कम्पित करनेवाले क्रोध रूप शत्रु को **स्वप्नेन**=निद्रा से **अभ्युप्य**=संयुक्त करके **आ जघन्थ**=नष्ट कर देते हैं। इन दोनों प्रबल शत्रुओं को पहले स्वप्नावस्थाओं में ले जाकर—Latent करके फिर समाप्त कर देते हैं। इनको समाप्त करके **दभीतिम्**=इस शत्रु-हिंसन करनेवाले को आप **प्रआवः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। २. हे प्रभो! **अत्र**=इस जीवन में **चित्**=निश्चय से **रम्भी**=आपका आश्रय करनेवाला **हिरण्यम्**=हितरमणीय ज्ञानज्योति को **विविदे**=प्राप्त करता है। **ता**=उन सब कार्यों को **इन्द्रः**=परमात्मा **सोमस्य मदे**=सोमजनित उल्लास के होने पर ही **चकार**=करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे काम-क्रोध का विनाश करते हैं और हमें हितरमणीय ज्योति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मघोनी दक्षिणा

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १०॥

२.११.२१ पर इसका व्याख्यान द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु के महान् कार्यों का प्रतिपादन कर रहा है। वे सूर्यादि का निर्माण करते हैं और जीव को ज्ञान प्राप्त कराके उसके वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं। इस प्रभु को ही हम रक्षण के लिए पुकारते हैं—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सन्ध्या-हवन-प्रार्थना

प्र वः सतां ज्येष्ठतमाय सुष्टुतिमग्नाविव समिधाने हविर्भरे।
इन्द्रमजुर्यं जरयन्तमुक्षितं सनाद्युवानमवसे हवामहे॥ १॥

१. तीन वस्तुएँ **सत्**=त्रिकालाबाधित हैं 'प्रकृति-जीव-परमात्मा'। इनमें 'सत् चित् व आनन्द' रूप होने के कारण प्रभु ज्येष्ठतम हैं। **वः सताम्**=तुम सत् वस्तुओं में **ज्येष्ठतमाय**=प्रशस्यतम प्रभु के लिए **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को उसी प्रकार मैं **भरे**=धारण करता हूँ **इव**=जैसे कि **समिधाने अग्नौ**=देदीप्यमान अग्नि में **हविः**=हवि देनेवाला बनता हूँ। संक्षेप में, मैं अग्निहोत्र करता हूँ और प्रभु का स्तवन करता हूँ। २. उस प्रभु का स्तवन करता हूँ जो कि **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं जो मेरे शत्रुओं को विद्रावण करनेवाले हैं। **अजुर्यम्**=कभी जीर्ण नहीं होनेवाले हैं। **जरयन्तम्**=दृढ़-से-दृढ़ पदार्थ को व प्रबलतम शत्रुओं को जीर्ण करनेवाले हैं। **उक्षितम्**=शक्ति से सिक्त हैं—भक्तों पर सुखों का सेचन करनेवाले हैं। **सनात्**=सनातन काल से **युवानम्**=बुराइयों को हमारे से दूर करनेवाले अच्छाइयों का हमारे से मिश्रण करनेवाले हैं। इन प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए हम

हवामहे=पुकारते हैं।

भावार्थ—हम सन्ध्या करें—हवन करें—प्रभु की प्रार्थना करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—२ **भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—२ **धैवतः** ॥

तेजस्विता व प्रज्ञा

यस्मादिन्द्राद् बृहतः किं चनेमृते विश्वान्यस्मिन्त्संभृताधि वीर्या।
जठरे सोमं तन्वी३ सहो महो हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम्॥ २॥

१. **यस्मात् बृहतः इन्द्रात् ऋते**=जिस महान् शक्तिशाली प्रभु के बिना **ईं किं च न**=निश्चय से कुछ भी नहीं है। जो कुछ है उस प्रभु से व्याप्त है—प्रभु की व्याप्ति के कारण ही 'विभूति-श्री व ऊर्ज' से युक्त है। 'पृथिवी में गन्ध, जलों में रस, अग्नि में तेज, वायु में वेग व आकाश में शब्द' ये सब प्रभु के कारण हैं। बुद्धिसम्पन्नों में बुद्धि, बलवानों में बल व तेजस्वियों में तेज प्रभु के ही कारण है। सब विजय प्रभु की ही है। **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **वीर्या**=सब शक्तियाँ **अधिसम्भृता**=आधिक्येन सम्भृत हैं। उस प्रभु का हम गतमन्त्र के अनुसार आह्वान करते हैं। २. पुकारे गये वे प्रभु ही **जठरे सोमम्**=हमारे शरीर के मध्य में सोम (वीर्य) का **भरति**=भरण करते हैं। हमारे शरीर को सोमशक्ति से व्याप्त कराते हैं। जिससे **तन्वी**=हमारे शरीरों में **सहः**=रोगों के मर्षण की शक्ति व **महः**=तेजस्विता होती है। इस तेजस्विता के साथ वे प्रभु **हस्ते वज्रम्**= हमारे हाथों में क्रियाशीलता रूप वज्र को धारण करते हैं और **शीर्षणि**=हमारे मस्तिष्क में **क्रतुम्**=प्रज्ञान का धारण कराते हैं। वस्तुतः प्रभुभक्त का जीवन ऐसा बन जाता है—(क) शरीर में सोम की व्याप्ति है—परिणामतः (ख) सहनशक्ति व तेजस्विता से वे पूर्ण हैं (ग) उनका जीवन क्रियाशील है (घ) और वे दीप्तप्रज्ञ व सुलझे हुए मस्तिष्कवाले होते हैं।

भावार्थ—शक्तिशाली प्रभु का उपासन हमें तेजस्वी व दीप्तप्रज्ञ बनाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विघ्न-निराकरण

न क्षोणीभ्यां परिभ्वे त इन्द्रियं न समुद्रैः पर्वतैरिन्द्र ते रथः।
न ते वज्रमन्वश्नोति कश्चन यदाशुभिः पतसि योजना पुरु॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु अपने भक्त के जीवन में 'हस्ते वज्रम्' और 'शीर्षणि क्रतुम्' को स्थापित करते हैं तो **ते**=हे भक्त! तेरा **इन्द्रियम्**=बल **क्षोणीभ्याम्**=द्यावापृथिवी से—सारे संसार से **न परिभ्वे**=परिभवनीय नहीं होता। सारे संसार के विरोध में भी तू निर्बल नहीं हो जाता। हे **इन्द्र**=शक्तिसम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष! **समुद्रैः पर्वतैः**=समुद्रों व पर्वतों से परिभूत नहीं होता। समुद्र व पर्वत भी **ते रथः**=तेरे रथ की गति को रोक नहीं सकते। बड़े से बड़े विघ्न को भी दूर करके तू आगे बढ़ता है। २. **यदा**=जब तू **पुरु योजना**=विशाल योजनाओं को लक्ष्य बना कर **आशुभिः पतसि**=तीव्र गतिवाले इन्द्रियाश्वों से आगे बढ़ता है तो **ते वज्रम्**=तेरी क्रियाशीलता को **कश्चन**=कोई भी **न अनु अश्नोति**=व्याप्त नहीं कर पाता है। तेरी क्रियाशीलता का कोई भी मुकाबला नहीं कर सकता।

भावार्थ—प्रभुभक्त को कोई भी मार्ग विचलित नहीं कर सकता। सब विघ्नों को दूर करता हुआ आगे बढ़ता है, यह योजनाओं के अनुसार निरन्तर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सर्वदेवानुकूलता

विश्वे ह्य॑स्मै यज॒ताय॑ धृ॒ष्णवे॒ क्रतुं॒ भर॑न्ति वृ॒ष॒भाय॒ सश्च॑ते।
वृषा॑ यजस्व ह॒विषा॑ वि॒दुष्ट॑रः॒ पिबे॑न्द्र॒ सोमं॑ वृ॒ष॒भेण॑ भा॒नुना॑॥ ४॥

१. **विश्वे**=सब देव **हि**=निश्चय से **अस्मै**=इस **यजताय**=प्रभु के उपासक के लिए, **धृष्णवे**= कामादि शत्रुओं का घर्षण करनेवाले के लिए, **वृषभाय**=शक्तिशाली के लिए, **सश्चते**=(to cling, to stick, to follow) अपने व्रतों पर दृढ़ता से चलनेवाले के लिए **क्रतुं भरन्ति**=शक्ति व प्रज्ञा को प्राप्त कराते हैं। सामान्यतः व्यवहार में 'जलवायु' की अननुकूलता की हम चर्चा किया करते हैं—उस प्रतिकूलता से स्वास्थ्य में कमी आ जाती है। यदि जलवायु आदि सब देव हमारे अनुकूल हों तो हमारा स्वास्थ्य बहुत ही ठीक रहता है और हमारा ज्ञान व बल दोनों ही वृद्धि को प्राप्त करते हैं। २. प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ **यजस्व**=यज्ञशील बन। **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति के कारण **विदुष्टरः**=तू अधिक से अधिक ज्ञानी बन। त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति मनुष्य को स्वस्थ बुद्धिवाला बनाती है। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वृषभेण**=उस शक्तिशाली **भानुना**=ज्ञानदीप्त प्रभु के उपासन द्वारा **सोमं पिब**=सोमपान करनेवाला बन। उपासना से तेरी वासनाओं का विलय होगा और तू सोमशक्ति का शरीर में रक्षण कर पाएगा। वस्तुतः रक्षित हुई यह शक्ति ही तुझे प्रभुप्राप्ति का पात्र बनाएगी।

भावार्थ—इस उपासक के सब देव अनुकूल होते हैं। वे इसमें शक्ति व प्रज्ञा का भरण करते हैं। उपासना से ही यह वासनाओं को जीतकर सोम का शरीर में रक्षण कर पाता है।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शक्ति का कोश

वृष्णः॒ कोशः॑ पवते॒ मध्व॑ ऊ॒र्मिर्वृ॑ष॒भान्ना॑य वृष॒भाय॒ पात॑वे।
वृष॑णाध्व॒र्यू वृ॑ष॒भासो॒ अद्र॑यो॒ वृष॑णं॒ सोमं॑ वृष॒भाय॑ सुष्वति॥ ५॥

१. **वृष्णः कोशः**=सुखों के वर्षक सोम का कोश **पवते**=गतिमय होता है। जब हम सोम का रक्षण करते हैं तो यह हमारे में क्रियाशीलता को उत्पन्न करता है। यह कोश **मध्व ऊर्मिः**= माधुर्य की तरंग के समान होता है—यह जीवन में माधुर्य का संचार करता है। **वृषभान्नाय**= शक्तिशाली अन्नवाले के लिए, अर्थात् जो पौष्टिक ही भोजन करता है और स्वाद के लिए नहीं खाता उस **वृषभाय**=औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाले के लिए यह **पातवे**=पीने के लिए व रक्षण के लिए होता है। २. इस सोमपान के होने पर ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **वृषणा**= शक्तिशाली होते हैं और **अध्वर्यू**=जीवनयज्ञ को सुन्दरता से चलानेवाले होते हैं। इस सोम का पान करनेवाले पुरुष **वृषभासः**=शक्तिशाली बनते हैं और **अद्रयः**=(अ दृ) मार्ग से विचलित न किये जाने योग्य होते हैं, अथवा आदरणीय होते हैं (आदृ)। ये लोग **वृषणं सोमम्**=इस शक्तिशाली व सुखवर्षक सोम को **वृषभाय**=उस सर्वशक्तिमान् सुखों के वर्षक प्रभु की प्राप्ति के लिए **सुष्वति**=(सुन्वन्ति) अपने में उत्पन्न करते हैं। इनके रक्षण से ही तो उस सोमप्रभु की प्राप्ति होगी।

भावार्थ—'सोम' तो एक कोश है जिसके रक्षण से ही वास्तविक ऐश्वर्य की प्राप्ति सम्भव है। इसी से जीवन में उत्साह रहता है—शक्ति उत्पन्न होती है और बुद्धि की तीव्रता होकर प्रभुदर्शन की योग्यता आती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वृषभ' सोम

वृषा॑ ते॒ वज्र॑ उ॒त ते॒ वृषा॒ रथो॒ वृष॑णा॒ हरी॒ वृष॒भाण्यायु॑धा।
वृष्णो॒ मद॑स्य वृषभ॒ त्वमी॑शिष॒ इन्द्र॒ सोम॑स्य वृष॒भस्य॑ तृष्णुहि ॥ ६ ॥

१. हे **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते वज्रः**=तेरी क्रियाशीलता ही तेरा वज्र बनती है (वज् गतौ)। यह **वृषा**=तुझे शक्तिशाली बनाती है और तेरे पर सुखों का वर्षण करती है। **उत**=और, **ते**=तेरा **रथः**=यह शरीररूप रथ भी **वृषा**=शक्तिशाली होता है और तेरे पर सुखों का वर्षण करता है। **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व भी **वृषणा**=शक्तिशाली होते हैं। **आयुधा**=तेरे प्राण, मन व बुद्धिरूप सभी जीवनसंग्राम में विजयप्राप्ति के लिए दिये गये आयुध **वृषभाणि**=शक्तिशाली होते हैं। २. यह सब कुछ होता तभी है जबकि **वृषभ**=ऐश्वर्यशाली जीव! **त्वम्**=तू **मदस्य**=हर्ष के जनक **वृष्णः**=सुखवर्षक सोम का **ईशिषे**=ईश बनता है। इसलिए हे इन्द्र! तू इस **वृषभस्य**=तुझे शक्तिशाली बनानेवाले **सोमस्य**=सोम का **तृष्णुहि**=पान करते हुए तृप्ति का अनुभव कर। इस सोमरक्षण के अभाव में निर्बलता व निरुत्साह का ही तुझे अन्ततः अनुभव होगा।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम क्रियाशील बनते हैं। इससे शरीर, इन्द्रियाँ व मन आदि सब स्वस्थ बनते हैं। जीवन में शक्ति व तृप्ति का अनुभव होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वसु का उत्स

प्र ते॒ नावं॒ न सम॑ने वच॒स्युवं॒ ब्रह्म॑णा यामि॒ सव॑नेषु॒ दाधृ॑षिः।
कु॒विन्नो॑ अ॒स्य वच॑सो नि॒बोधि॑ष॒दिन्द्र॒मुत्सं॒ न वसु॑नः सिचामहे ॥ ७ ॥

१. **सवनेषु**=जीवन के प्रथम २४ वर्ष के प्रातःसवन में, अगले ४४ वर्षों के माध्यन्दिन सवन में तथा अन्तिम ४८ वर्षों के तृतीय सवन में **दाधृषिः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला मैं **समने**=इस जीवन संग्राम में **नावं न**=नाव के समान **ते**=(त्वाम् सा०) आपके प्रति **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से **प्रयामि**=प्राप्त होता हूँ, जो आप **वचस्युवम्**=ज्ञान की वाणियों को मेरे साथ संपृक्त करनेवाले हैं (वचस्+यु)। इस ज्ञान द्वारा ही तो मैं भवसागर को तैर पाता हूँ। २. वे प्रभु **नः**=हमारे **अस्य वचसः**=इस वचन को **कुवित्**=खूब ही **निबोधिषत्**=जानें। हमारी इस प्रार्थना को प्रभु सुनें और हम उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सिचामहे**=अपने हृदयक्षेत्र में सिक्त करते हैं, जो प्रभु **वसुनः उत्सं न**=सब ऐश्वर्यों के स्रोत के समान हैं। प्रभु के उपासन से जहाँ हमारा जीवन पवित्र व प्रकाशमय होता है, वहाँ सांसारिक ऐश्वर्य की भी कोई कमी नहीं रहती। वे प्रभु ही तो सम्पूर्ण वसुओं के कोश हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देकर हमें संसार-सागर से तैरने की शक्ति देते हैं। संसारयात्रा के लिए आवश्यक धन भी प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पुरा सम्बाधात्

पु॒रा सं॑बा॒धाद॒भ्या व॑वृत्स्व नो धे॒नुर्न व॒त्सं यव॑सस्य पि॒प्युषी॑।
स॒कृत्सु॒ ते॑ सुम॒तिभि॑: शतक्रतो॒ सं पत्नी॑भि॒र्न वृष॑णो नसीमहि ॥ ८ ॥

१. हे प्रभो! **सम्बाधात् पुरा**=शत्रु हमें पूरी तरह बाँध ही लें—कुचल ही डालें—इससे पहले ही **नः अभ्याववृत्स्व**=आप हमें प्राप्त होइए। **न**=जैसे कि **यवसस्य पिप्युषी**=यवस से—घास

से तृप्त हुई-हुई **धेनुः**=गायें **वत्सम्**=बछड़े को प्राप्त होती हैं। आप हमें प्राप्त होइए। आप ही हमें शत्रुओं की बाधा से बचाएँगे। २. हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! हम **सकृत्**=एक बार तो **ते**=आपकी **सुमतिभिः**=कल्याणी मतियों से **संनसीमहि**= सम्यक् व्याप्त किये जाएँ, **न**=जैसे कि **वृषणः**=शक्तिशाली पति **पत्नीभिः**=पत्नियों से व्याप्त किये जाते हैं। पत्नी जैसे पति का अंग (Part and parcel) बन जाती है, उसी प्रकार आपकी कल्याणी मति हमारा अंग बन जाए और हम सब प्रकार के अशुभों से दूर होकर शुभमार्ग पर चलनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु की कल्याणी मति को प्राप्त करके हम शत्रुओं द्वारा कुचले जाने से अपने को बचा पाएँगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मघोनी दक्षिणा

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ९॥

२.११.२१ पर यह व्याख्यात है।

सम्पूर्ण सूक्त का सार यह है कि हम सदा प्रभुस्तवन करें। प्रभु हमें वासनारूप शत्रुओं का शिकार होने से बचाएँ। सोमरक्षण करते हुए उत्कर्ष को प्राप्त करें। इसी प्रभु के उपासन का ही विषय अगले सूक्त में भी है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासना से शक्ति की प्राप्ति

तदस्मै नव्यमङ्गिरस्वदर्चत शुष्मा यदस्य प्रत्नथोदीरते ।
विश्वा यद् गोत्रा सहसा परीवृता मदे सोमस्य दृंहितान्यैरयत्॥ १॥

१. **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **तद्**=उस **नव्यं** (नु स्तुतौ) स्तुतिवचन को **अर्चत**=पूजित करो जो कि **अंगिरस्वत्**=अंगिरस्वाला है—तुम्हें अंग-प्रत्यंग में रसमय बनानेवाला है। हम प्रभु का स्तवन करते हैं तो यह स्तवन हमें शक्ति प्राप्त कराता है। इस स्तवन द्वारा हमारा प्रत्येक अंग रसमय बनता है। **यद्**=क्योंकि **अस्य**=इस उपासक के **शुष्मा**=शत्रुशोषक बल **प्रत्नथा**=पहले की तरह **उदीरते**=उद्गत होते हैं। जब जीवन प्रभु की उपासना से दूर होता है तभी जीवन में शक्तियों का ह्रास होने लगता है। प्रभु की उपासना अंग-प्रत्यंग को सुदृढ़, सजीव व सरस बना देती है। २. **विश्वा**=सब **यद् गोत्रा**=इन्द्रियरूप गौवों का समूह **परीवृता**=वासनारूप वृत्र से आवृत हुआ-हुआ है, उसे **सोमस्य मदे**=सोम के उल्लास में **सहसा**=बल से **दृंहितानि**=दृढ़ीभूत हुए-को **ऐरयत्**=यह कार्यों में प्रेरित करता है। वासना से मुक्त करके—इन्द्रियों को स्वाधीन करके यह उन्हें अपने-अपने कार्य में व्यापृत करता है। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ बड़ी दृढ़शक्तिशाली बनती हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से इन्द्रियाँ आसुरभावों से मुक्त होकर शक्तिशाली बनती हैं और सक्षम होती हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्र=जितेन्द्रिय पुरुष

स भूतु यो ह प्रथमाय धायस ओजो मिमानो महिमानमातिरत्।
शूरो यो युत्सु तन्वं परिव्यत शीर्षणि द्यां महिना प्रत्यमुञ्चत॥ २॥

१. **सः**=वह जितेन्द्रिय पुरुष **भूतु**=(भवतु वर्धताम् सा०) फूले-फले **यः**=जो **ह**=निश्चय से **प्रथमाय धायसे**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले (प्रथ विस्तारे) सोमपान (=वीर्यरक्षण, धेट् पाने) के लिए **महिमानम्**=(मह पूजायाम्) प्रभुपूजन के भाव को **आतिरत्**=अपने में बढ़ाता है और इस प्रकार **ओजः मिमानः**=ओजस्विता का अपने अन्दर निर्माण करता है। प्रभुपूजा से वासनात्मक वृत्ति नष्ट होती है। इससे सोमरक्षण सम्भव होता है। सोमरक्षण से ओजस्विता में वृद्धि होती है। २. **शूरः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाला वीर वही है **यः**=जो कि **युत्सु**=इन अध्यात्म-युद्धों में **तन्वं परिव्यत**=अपने शरीर को कर्मों से आच्छादित रखता है और **शीर्षणि**=मस्तिष्क में **द्याम्**=ज्ञानसूर्य को—देदीप्यमान ज्ञान को **महिना**=प्रभु-उपासन के भाव के साथ **प्रत्यमुञ्चत**=धारण करता है। 'शरीर में कर्मव्यापृतता—मस्तिष्क में ज्ञान' यही वस्तुतः जितेन्द्रिय पुरुष का जीवन है।

भावार्थ—'इन्द्र' वह है जो सोमरक्षण के लिए प्रभु का उपासन करता है, वासनाओं को दूर रखने के लिए हाथों से कर्मों में लगा रहता है तथा मस्तिष्क में ज्ञान धारण करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रुओं का रण में भंग (पराजय)

अधाकृणोः प्रथमं वीर्यं महद्यदस्याग्रे ब्रह्मणा शुष्ममैरयः।
रथेष्ठेन हर्यश्वेन विच्युताः प्र जीरयः सिस्रते सध्र्यक् पृथक् ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! **यद्**=जब आप **अस्य**=इस उपासक के **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **अग्रे ऐरयः**=आगे प्रेरित करते हैं—ज्ञान द्वारा जब आप इसके 'शुष्म' को बढ़ाते हैं, **अध**=तब **प्रथमम्**=अति विस्तृत व उत्तम **महत्**=महान् **वीर्यम्**=सामर्थ्य को **अकृणोः**=उत्पन्न करते हैं। २. इस शक्ति के उत्पन्न हो जाने पर **रथेष्ठेन**=इस शरीररूप रथ के अधिष्ठाता **हर्यश्वेन**=गतिशील व तेज, कान्त इन्द्रियाश्वों वाले (हर्य अश्व—पररूप सन्धि) उपासक से **विच्युताः**=स्थानभ्रष्ट किये हुए **जीरयः**=हमारी शक्तियों को जीर्ण करनेवाले आसुरभाव **सध्र्यक्**=परस्पर संगत होकर रहनेवाले भी **पृथक्**=अलग-अलग होकर **प्रसिस्रते**=भाग खड़े होते हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' ये सब परस्पर सम्बद्ध हैं। 'कामात् क्रोधोऽभिजायते'=काम से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ तो इन दोनों का ही मूल है। ये इन्द्रियाँ मन व बुद्धि में अपने स्थान बनाकर निवास करते हैं। उपासक की शक्ति से परास्त हुए ये कोई किसी दिशा में और कोई किसी दिशा में भाग खड़े होते हैं। ये 'कान्दिशीक' हो उठते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि यह उपासक कामादि शत्रुओं को दूर भगा देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शासक व प्रकाशक प्रभु

अधा यो विश्वा भुवनाभि मज्मनैशानकृत्प्रवया अभ्यवर्धत।
आद्रोदसी ज्योतिषा वह्निरातनोत्सीव्यन्तमांसि दुधिता समव्ययत् ॥ ४ ॥

१. **यः**=जो **प्रवयाः**=अत्यन्त पुरातन पुरुष **अधा**=अब **विश्वाभुवना**=सब लोकों को **मज्मना**=बल से **अभि** (भूय) अभिभूत करके **ईशानकृत्**=इन सब लोकों का अपने को अधिपति बनाता हुआ **अभ्यवर्धत**=सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हैं। २. वह **वह्निः**=इन सब लोकों का धारण करनेवाला प्रभु ही **आत्**=अब **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **ज्योतिषा**=ज्योति से **आतनोत्**=विस्तृत करता है। सारे ब्रह्माण्ड को वे प्रभु दीप्तिमय बनाते हैं। वे प्रभु

दुधिता=(दु:स्थितानि) बड़ी प्रबलता से जमकर स्थित हुए-हुए **तमांसि**=अन्धकारों को **सीव्यन्**=सिल-सिलाकर (बोरी में मानो बन्द करके) **समव्ययत्**=ढक देते हैं। इन अन्धकारों को इधर-उधर फैलने नहीं देते। प्रभु सर्वत्र प्रकाश को फैला देते हैं, अन्धकार को मानो बोरी में सिल कर कहीं छिपा देते हैं। अन्धकार समाप्त कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही शासक हैं। वे सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाश से व्याप्त करते हैं। अन्धकार दूर कर देते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वह अद्भुत पालक

स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाऽधराचीनमकृणोदुपामपः।
अधारयत्पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः॥ ५॥

१. अन्तरिक्षस्थ मेघ भी वाष्पों के कई पर्वों से बने हुए होने के कारण पर्वत कहलाते हैं। ये पर्वत पृथिवीस्थ पर्वतों से इस अंश में भिन्न हैं कि ये आकाश में इधर-उधर उड़ते होते हैं। **सः**=वह इन्द्र **प्राचीनान् पर्वतान्**=इन आगे-आगे बढ़ते हुए पर्वतों को (मेघों को) **ओजसा**=अपने ओज से **दृंहत्**=दृढ़ व स्थिर कर देता है। मानसून विण्ड्स (वार्षिक वायुओं) के साथ आगे बढ़ते हुए ये बादल स्थान-विशेष में पहुँचकर स्थिर होते हैं। यह इनका स्थिर होना ही पुराण की भाषा में पर्वतों का पक्षच्छेद है। उस समय वे प्रभु **अपाम्**=इन मेघस्थ जलों के **अपः**=स्पन्दन-लक्षण कर्म को—बहने के काम को **अधराचीनम्**=निम्न गतिवाला **अकृणोत्**=कर देते हैं, अर्थात् इन मेघों से जलों की वृष्टि को इसी पृथिवी पर प्राप्त कराते हैं। २. इस वृष्टि द्वारा ही यहाँ विविध अन्न उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वे प्रभु **विश्वधायसम्**=सबका धारण करनेवाली **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **अधारयत्**=धारण करते हैं। इसी वृष्टि रूप कार्य के लिए जलों को वाष्पीभूत करके ऊपर ले जानेवाले **द्याम्**=प्रकाशमय सूर्य को, वे प्रभु ही **मायया**=अपनी प्रज्ञा व शक्ति से **अवस्रसः**=नीचे गिरने से **अस्तभ्नात्**=थामते हैं। इस सूर्य के अभाव में वृष्टि आदि कार्य का सम्भव ही न होते।

भावार्थ—आकाश में सूर्य को थाम कर तथा बादलों की उत्पत्ति से वृष्टि द्वारा पृथिवी में अन्नों को उत्पन्न करके वे प्रभु सबका धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

भोगापवर्गार्थं दृश्यम्

सास्मा अरं बाहुभ्यां यं पिताकृणोद्विश्वस्मादा जनुषो वेदसस्परि।
येना पृथिव्यां नि क्रिविं शयध्यै वज्रेण हत्व्यवृणक्तुविष्वणिः॥ ६॥

१. **सः**=वे प्रभु **अस्मै**=इस जगत् के रक्षण के लिए **अरम्**=समर्थ होते हैं—पर्याप्त होते हैं। **यम्**=जिस जगत् को **पिता**=वे रक्षक प्रभु **बाहुभ्याम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस रूप प्रयत्नों के उद्देश्य से (भोगापवर्गार्थं दृश्यं) **विश्वस्माद्**=सब **आ जनुषः**=चारों ओर होनेवाले इन विकासों (जन् प्रादुर्भावे) के हेतु से तथा **वेदसः परि**=ज्ञान का लक्ष्य करके **अकृणोत्**=बनाते हैं। प्रभु ने संसार को बनाया, इस उद्देश्य से बनाया कि इसमें जीव अपनी शक्तियों का विकास कर सके (जनुषः) ज्ञान को बढ़ा सके (वेदसः), ऐहिक भोगों व पारलौकिक निःश्रेयस को (बाहुभ्यां) प्राप्त कर सके। २. **तुविष्वणिः**=महान् स्वनोंवाले वे प्रभु, सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देनेवाले वे प्रभु उस ज्ञान को देते हैं **येना**=जिससे **क्रिविम्**=(क्रिव् to kill) हिंसक विनाश करनेवाले इस काम को **पृथिव्यां**

निशयध्यै=पृथिवी पर नीचे सुलानेवाले होते हैं। प्रभु इस काम को विनष्ट कर देते हैं। **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र से **हत्वी**=इसे मारकर **आवृणक्**=हिंसित कर देते हैं। ज्ञान और क्रियाशीलता के बीच में यह 'काम' पिस जाता है।

भावार्थ—संसार 'भोग और अपवर्ग' के लिए बनाया गया है। प्रभु हमें ज्ञान व क्रियाशीलता प्राप्त कराके 'काम' का विध्वंस कर देते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अविवाहित

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो३ येन मामहः॥ ७॥

१. एक कन्या विवाहित होकर पितृगृह से दूर चली जाती है। उसका पितृगृह में भाग नहीं रहता, परन्तु यदि वह अविवाहित रहकर माता-पिता से दूर न हो तो उसी घर से वह भाग प्राप्त करती रहती है। इसी प्रकार जीव यदि प्रभुरूप पिता व वेदमाता से दूर नहीं होता तो उसे प्रभु से धन प्राप्ति का अधिकार प्राप्त रहता है, परन्तु यदि वह प्राकृतिक भोगों की ओर चला जाए तो उसका यह अधिकार छिन जाता है। **अमाजूः इव**=घर में ही माता-पिता के साथ जीर्ण होनेवाली कन्या जैसे **पित्रोः सचा सती**=माता-पिता के साथ रहती हुई **समानात् सदसः**=भाइयों के साथ समान गृह से ही धन के भाग को प्राप्त करती है, इसी प्रकार मैं भी प्रकृति के साथ परिणीत न होकर **त्वाम्**=हे प्रभो! आप से ही **भगम्**=सेवनीय धन को **आ इये**=सर्वथा माँगता हूँ। २. आप मेरे लिए **प्रकेतं कृधि**=प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त कराइए। **उप मासि**=(build) समीपता से मेरे जीवन का निर्माण करिए। **आभर**=मेरा सब प्रकार से पोषण करिए। मुझे **भागं दद्धि**= उस भजनीय धन को दीजिए, **येन**=जिससे **तन्वः मामहः**=शरीर का मैं उचित पूजन कर सकूँ। शरीर स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक धन आप मुझे दीजिए।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु व वेदवाणी रूप पिता-माता से दूर न हो तो प्रभु उसका पालन करते ही हैं। शरीररक्षा के लिए आवश्यक धन की उसे कमी नहीं रहती। प्रभु से दूर न होना—प्रकृति में न फंस जाना—ही अविवाहित होना है। प्रकृति इसे प्रभु से दूर नहीं ले जाती।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'भोज व ददि'

भोजं त्वामिन्द्र वयं हुवेम ददिष्ट्वमिन्द्रापांसि वाजान्।
अविड्ढीन्द्र चित्रया न ऊती कृधि वृषन्निन्द्र वस्यसो नः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **भोजम्**=सबका पालन करनेवाले **त्वाम्**=आपको **हुवेम**=पुकारते हैं। हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप ही **अपांसि**=कर्मों को और कर्मों द्वारा **वाजान्**=शक्तियों को **ददिः**=देनेवाले हैं। प्रभु हमें क्रियाशक्ति देते हैं—इन क्रियाओं में लगे रहने से हमारी शक्ति बढ़ती है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **चित्रया**=अद्भुत **ऊती**=रक्षण द्वारा **अविड्ढि**=रक्षित करिए। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **वृषन्**=सब धनों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **वस्यसः**=अतिशयेन वसुमान् **कृधि**=करिए। आप हमें निवास के लिए सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु ही 'भोज' हैं—'ददि' हैं। वे ही शक्ति देते हैं—वे ही रक्षण करते हैं। प्रभुकृपा से हम वसुमान् बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वर-दोहन

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ९ ॥

इसकी व्याख्या २.११.२१ पर देखिए।

सूक्त का सार यही है कि प्रभु के उपासन से शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति से तरोताजा होकर मनुष्य आगे बढ़ता है—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नवीन रथ

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत् ॥ १ ॥

१. **प्रातः**=प्रतिदिन प्रातःकाल **रथः**=यह शरीररूप रथ **योजि**=इन्द्रियाश्वों से युक्त किया जाता है। यह रथ **नवः**=प्रतिदिन नवीन है। रात्रि को इसकी मरम्मत होकर यह प्रातः फिर से शक्तिसम्पन्न, दृढ़ व नया का नया हो जाता है—इसमें जीर्णता नहीं आती। **सस्निः**=यह शुद्ध होता है, इसकी मैल प्रतिदिन दूर कर दी जाती है। मैल ही तो इसको जीर्ण करने का कारण होती है। इस प्रकार यह निर्मलरथ **चतुर्युगः**=चार युगोंवाला होता है—चार युगों तक चलनेवाला—'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' रूप सब मञ्जिलों को पूरा करनेवाला बनता है। **त्रिकशः**=(कश गतिशासनयोः) ज्ञान, कर्म व भक्ति इन तीन मार्गों में गतिवाला होता है। **सप्तरश्मिः**=सात छन्दों से युक्त वेदवाणी से प्रकाश की किरणों को प्राप्त करनेवाला यह रथ है अथवा 'कर्णाविमौ नासिके चक्षुणी मुखम्' इन सात ऋषियों की प्रकाशरश्मियोंवाला होता है। २. **दशारित्रः**=यह दश इन्द्रिय रूप दश अरित्रोंवाला है (अरित्रं=A part of a carriage) ये दश अरित्र इसकी गति का साधन बनते हैं (ऋ गतौ)। **मनुष्यः**=विचारशील पुरुष का यह हित करनेवाला है। उसे **स्वर्षाः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त कराता है। ३. यह शरीर रूप रथ **इष्टिभिः**=यज्ञों से तथा **मतिभिः**=बुद्धियों से **रंह्यः**=तीव्र गति के योग्य **भूत्**=होता है। यदि मनुष्य यज्ञों व स्वाध्याय में प्रवृत्त रहे तो यह रथ सदा तीव्र गतिवाला बना रहता है।

भावार्थ—यह शरीर रूप रथ इसीलिए प्राप्त कराया गया है कि हम यज्ञों व स्वाध्याय में प्रवृत्त रहकर प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एक सौ सोलह वर्ष तक चलनेवाला रथ

सास्मा अरं प्रथमं स द्वितीयमुतो तृतीयं मनुषः स होता।
अन्यस्या गर्भमन्य ऊं जनन्त सो अन्येभिः सचते जेन्यो वृषा ॥ २ ॥

१. **सः**=गत मन्त्र में वर्णित शरीर रूप रथ **अस्मै**=इस स्वाध्याय व यज्ञ में प्रवृत्त रहनेवाले पुरुष के लिए **प्रथमं अरम्**=जीवन के २४ वर्षों से बने प्रातःसवन में पर्याप्त होता है। **सः**=वह रथ **द्वितीयम्**=जीवन के अगले ४४ वर्षों से बने माध्यन्दिन सवन में पर्याप्त होता है। **उत उ**=और निश्चय से **तृतीयम्**=तृतीय सवन के अन्तिम ४८ वर्षों के लिए भी समर्थ होता है। **सः**=वह रथ **मनुषः**=विचारशील पुरुष के लिए **होता**=सब इष्टों को प्राप्त करानेवाला होता है। २. इन

शरीर रथों का निर्माण बड़े विचित्र प्रकार से होता है। स्त्रीशरीर में पुरुष अपने बीज से इसे उत्पन्न करते हैं। यह शरीररथ किसी अन्य जीव से अधिष्ठित होता है। **अन्यस्याः गर्भम्**=किसी एक स्त्री के गर्भरूप इस रथ को **अन्ये उ**=और लोग भी **जनन्त**=उत्पन्न करते हैं। **सः**=वह शरीररथ **अन्येभिः**=अन्य ही जीवों से **सचते**=समवेत (युक्त) होता है। किसी दूसरे ही जीव का यह भोगाधिष्ठान बनता है। 'इस शरीररथ को कोई पैदा करता है—किसी में यह पैदा होता है और किसी के भोग का यह आयतन बनता है' यह सब विचित्र ही है। यह शरीररथ **जेन्यः**=विजयशील होता है—सब विघ्नों से हमें पार करता हुआ विजयी बनाता है। **वृषा**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—यह शरीर रथ सामान्यत: ११६ वर्षों तक चलता है—यह विजयशील व सुखवर्षक है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इस शरीररथ का लक्ष्य

हरी नु कं रथ इन्द्रस्य योजमायै सूक्तेन वचसा नवेन।
मो षु त्वामत्र बहवो हि विप्रा नि रीरमन्यजमानासो अन्ये॥ ३॥

१. **इन्द्रस्य**=उस जितेन्द्रिय पुरुष के **रथे**=शरीररूपरथ में **नु कम्**=अब सुख से **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों का **सूक्तेन**=मधुरता से बोले गये **नवेन**=स्तुतिरूप (नु स्तुतौ) **वचसा**=वचन से **आयै**=लक्ष्यस्थान पर पहुँचने के लिए **योजम्**=जोड़ता हूँ। प्रभु ने इस शरीररथ में इन्द्रियाश्वों को जोता है। जोता इसलिए है कि इसका अधिष्ठाता जीव लक्ष्यस्थान पर पहुँच सके। उस लक्ष्यस्थान पर न पहुँचने में ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध व तज्जनित कटु निन्दात्मक शब्द ही कारण बना करते हैं। हमें चाहिए कि हम इस रथ पर आरूढ़ होकर कटु निन्दात्मक शब्दों से दूर रहते हुए लक्ष्यस्थान की ओर बढ़ें। २. हे जीव! **त्वाम्**=तुझे **अत्र**=इस जीवनयात्रा में **हि**=निश्चय से **बहवः विप्राः**=ये बहुत ज्ञानी पुरुष **मा उ**=मत ही **षु**=अच्छी प्रकार **नि रीरमन्**=नितरां रमण करानेवाले न हो जाएँ, अर्थात् तू व्यर्थ की उत्कण्ठाओं को शान्त करनेवाले ज्ञानों में ही न उलझ जाए तथा **अन्ये**=दूसरे **यजमानासः**=यज्ञों में उलझे हुए विप्र भी तुझे रमण करानेवाले न हो जाएँ। तू यज्ञों की परिपाटियों में ही उलझ कर स्वर्ग प्राप्त करने की धुनवाला न बन जाए। लौकिकज्ञानों व सकामयज्ञों से भी ऊपर उठकर तू ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाला हो। इस शरीररूप रथ का मुख्य प्रयोजन यही है।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे शरीररथ में इन्द्रियाश्व जोते हैं, इसलिए कि हम लौकिकज्ञानों व सकाम यज्ञों में भी न उलझते हुए आगे बढ़ें। मधुरस्तुतिरूप शब्दों को ही बोलते हुए ब्रह्म के समीप पहुँचनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ब्रह्म की ओर

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥ ४॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **द्वाभ्यां हरिभ्याम्**=इन दो ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से **आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त होनेवाला हो। यदि ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगी रहें तथा कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों में व्याप्त रहें तो हम उस प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। **चतुर्भिः**=शरीर के चारों अंगों से 'शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे। शं मे चतुर्भ्यो अंगेभ्यो शमस्तु तन्वे मम' (अथर्व) **आ**=तू हमारे समीप प्राप्त होनेवाला हो। **हूयमानः**=सदा प्रभु को पुकारता हुआ

तू **षड्भिः**=(मनःषष्ठानि०) मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से **आ**=तू हमारे समीप प्राप्त हो। २. **अष्टाभिः**=पाँचों महाभूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार से तू **सोमपेयम्**=सोमपान को **आ**=प्राप्त हो। सोमपान से ही ये सब स्वस्थ व सशक्त बने रहते हैं। **दशभिः**=दशों प्राणों से तू सोमपान के लिए आनेवाला हो। प्राणसाधना से सोम सुरक्षित रहता है और सुरक्षित सोम प्राणशक्ति को बढ़ाता है। 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय' ये दस के दस प्राण सोमरक्षण से ही शक्तिशाली बनते हैं। २. **अयं सुतः**=यह सोम तेरे अन्दर उत्पन्न किया गया है। हे **सुमख**=उत्तम यज्ञों में व्यापृत रहनेवाले पुरुष! तू इस सोम का **मृधः**= हिंसन **मा कः**=मत कर। इस सोम को सर्वथा सुरक्षित करने का प्रयत्न कर। इस सोमरक्षण से ही तू मुझे (ब्रह्म को) प्राप्त करेगा।

भावार्थ—हम अपने सब अंगों से इस प्रकार क्रियाओं को करें कि ब्रह्म के समीप पहुँचते जाएं। सोमरक्षण द्वारा सब प्राणों को सशक्त बनाएँ, ताकि ब्रह्म को प्राप्त कर पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

जितना जल्दी उतना ठीक

आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङा चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्राऽऽषष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम्॥ ५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **विंशत्या**=बीस वर्ष की आयु तक (by the of 20 years) **अर्वाङ् आयाहि**=अन्तर्मुखवृत्तिवाला होता हुआ हमारी ओर आनेवाला बन। बीस वर्ष तक साधना में कुछ कमी रह जाए तो **त्रिंशता**=तीस वर्ष की आयु तक तो अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनने का प्रयत्न कर ही। **हरिभिः युजानः**=इन्द्रियाश्वों से शरीररथ को सम्यक् जोतता हुआ तू **चत्वारिंशता**=चालीस वर्ष की उमर तक तो वृत्ति को अन्तर्मुखी कर ही ले। २. हे इन्द्र! तू **सुरथेभिः**=इन उत्तम शरीररथों से **पञ्चाशता**=पचास वर्ष की आयु में पहुँचकर के तो **सोमपेयम्**=सोम को शरीर में ही पी लेने की शक्ति को **आयाहि**=प्राप्त करले,यह शरीर में व्याप्त किया हुआ सोम ही तेरे शरीररथों को ठीक बनाएगा। **षष्ट्या**=साठ वर्ष में तो यह तेरी साधना पूर्ण हो ही जाए। साठवें वर्ष में भी कुछ कमी रह जाए तो **सप्तत्या**=सत्तरवें वर्ष के अन्त तक तो इस सोमपान की साधना को पूर्ण कर ही ले। सोमपान की साधना से ही तू प्रभु को प्राप्त करनेवाला होगा।

भावार्थ—बीसवें वर्ष में ही हम प्रभु की ओर झुक जाएँ तो सबसे अच्छा, अन्यथा तीसवें, चालीसवें, पचासवें, साठवें व सत्तरवें वर्ष में तो उसकी ओर झुक ही जाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सौवें वर्ष से और देर में नहीं

आशीत्या नवत्या याह्यर्वाङा शतेन हरिभिरुह्यमानः।
अयं हि ते शुनहोत्रेषु सोम इन्द्र त्वाया परिषिक्तो मदाय॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **हरिभिः उह्यमानः**=इन्द्रियाश्वों से आगे ले जाया जाता हुआ तू **आशीत्या**=अस्सीवें वर्ष के अन्त तक तो **अर्वाङ् आयाहि**=अन्दर की ओर हमारे समीप आ ही जा। **नवत्या**=नव्वे वर्ष के अन्त में तो **आ**=हमारे समीप आनेवाला बन ही जा। **शतेन आ**=सौवें वर्ष में तो अवश्य आ ही जा। इसके बाद तो फिर पता नहीं इस साधना का अवसर कब प्राप्त हो। 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नचेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'। २. हे इन्द्र! **अयं सोमः**=यह

सोम **त्वाया**=तेरे हित की कामना से **मे**=तेरे **शुनहोत्रेषु**=सुखकर होत्रोंवाले इन शरीररूप पात्रों में **हि**=निश्चय से **परिषिक्तः**=सिक्त किया गया है। यह सोम **मदाय**=तेरे उल्लास के लिए हो। जिस शरीर से स्वार्थत्यागवाले कर्म किये जाएँ, वह शरीर 'शुनहोत्र' कहलाता है। इन शरीरों में सोम का रक्षण किया जाए तो जीवन उल्लासमय बना रहता है और अन्ततः हम प्रभु को पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—मनुष्य सौवें वर्ष में भी साधना में सफल होकर प्रभुप्रवण हो गया तो भी उसका कल्याण ही होगा। प्रभुप्रवण होकर वह सोम को शरीर में सिक्त करके सशक्त व सोल्लास बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान-प्रवणता

मम ब्रह्मेन्द्र याह्यच्छा विश्वा हरी धुरि धिष्वा रथस्य।
पुरुत्रा हि विहव्यो बभूथास्मिञ्छूर सवने मादयस्व॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मम**=मेरे से दिये गये **ब्रह्म अच्छा**=ज्ञान की ओर **याहि**=जानेवाला बन। तू ज्ञान की रुचिवाला हो। **विश्वा**=इन शरीररूप रथ में प्रविष्ट **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **रथस्य धुरि धिष्वा**=शरीररथ की धुरी में धारण कर। ये तेरे शरीररथ को खींचने में धुरन्धर हों। २. तू **हि**=निश्चय से **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **विहव्यः**=विशिष्ट पुकारवाला हो। सदा प्रभु का आराधन करनेवाला बन। तेरा प्रत्येक कार्य प्रभु आराधन से प्रारम्भ हो और **शूर**=हे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **इन्द्र!** तू **अस्मिन् सवने**=इस उत्पन्न जगत् में अथवा सोम के सम्पादन में (स्तवन) **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर।

भावार्थ—हम ज्ञानरुचिवाले बनें। इन्द्रियों को कर्मव्यापृत रखें। सदा प्रभु का स्मरण करें और सोम का सम्पादन करते हुए आनन्दित हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अजर्य संगत (मैत्री)

न म इन्द्रेण सख्यं वि योषदस्मभ्यमस्य दक्षिणा दुहीत।
उप ज्येष्ठे वरूथे गभस्तौ प्रायेप्राये जिगीवांसः स्याम॥ ८॥

१. जीव प्रार्थना करता है कि **मे**=मेरा **इन्द्रेण**=प्रभु से **सख्यम्**=मित्रभाव **न वियोषत्**=कभी पृथक् न हो। मैं सदा प्रभु का मित्र बना रहूँ। **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अस्य**=इस प्रभु का **दक्षिणा**=दान **दुहीत**=सब कामनाओं का पूरण करनेवाला हो। यहाँ प्रथम वाक्य में 'मे' एक वचन है। दूसरे वाक्य में 'अस्मभ्यं' बहुवचनान्त है। 'मैं प्रभु की मित्रता से कभी दूर न होऊँ—मेरे में दूषितवृत्ति न उत्पन्न हो' ऐसी प्रार्थना करता हुआ वह औरों की दूषितवृत्ति की कल्पना नहीं करता, परन्तु प्रभु का दान वह केवल अपने लिए नहीं चाहता। २. हम उस प्रभु के **ज्येष्ठे**=श्रेष्ठ **वरूथे**=रक्षण करनेवाली **गभस्तौ**=भुजा में **उप**=समीप रहते हुए—उस प्रभु की भुजच्छाया में रहते हुए—**प्राये प्राये**=(प्रकर्षेण ईयते गम्यते योद्धृभिरत्र सा०) प्रत्येक संग्राम में **जिगीवांसः**=जीतनेवाले **स्याम**=हों। प्रभु की छत्रछाया में हारने का प्रश्न ही नहीं।

भावार्थ—हम प्रभु के मित्र हों। उस मित्र की भुजच्छाया में सदैव विजयी बनें।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

खूब स्तवन

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ९॥

यह व्याख्या २.११.२१ पर देखिए।

सूक्त का भाव यह है कि यह शरीररथ प्रभुप्राप्ति के लिए दिया गया है, प्रभु की ओर ही हम चलनेवाले बनें। सोमरक्षण से इस रथ को ठीक बनाये रखें और प्रभुप्रियता में सदा विजयी हों। अगला सूक्त इसीलिये सोमपान का आदेश देता है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्र व ब्रह्मण्यन् का ओकस्

अपाय्यस्यान्धसो मदाय मनीषिणः सुवानस्य प्रयसः।
यस्मिन्निन्द्रः प्रदिवि वावृधान ओको दधे ब्रह्मण्यन्तश्च नरः॥ १॥

१. **अस्य**=इस **सुवानस्य**=शरीर में उत्पन्न किये जाते हुए **मनीषिणः**=बुद्धिवाले—बुद्धि को तीव्र करनेवाले **प्रयसः**=प्रीतिकर **अन्धसः**=सोम का **अपायि**=पान किया जाता है। **मदाय**=हवि के लिए। इस सोम का पान करने से जीवन में उल्लास का अनुभव होता है। २. **यस्मिन् प्रदिवि**=जिस प्रकृष्ट प्रकाशवाले सोम में **वावृधानः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त करता हुआ **ओकः दधे**=निवास को धारण करता है। इन्द्र का आधार यह सोम ही बनता है। **च**=और **ब्रह्मण्यन्तः**=ज्ञान (ब्रह्म) की कामनावाले **इन्द्रः नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग इस सोम मे ही निवास को धारण करते हैं। जीवन का मूल आधार यह सोम ही है।

भावार्थ—सोम का शरीर में व्यापन करने से यह उल्लास का कारण बनता है—बुद्धि को यह तीव्र करता है।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अर्णोवृत' अहि का विध्वंस

अस्य मन्दानो मध्वो वज्रहस्तोऽहिमिन्द्रो अर्णोवृतं वि वृश्चत्।
प्र यद्वयो न स्वसराण्यच्छा प्रयांसि च नदीनां चक्रमन्त॥ २॥

१. **अस्य**=इस **मध्वः**, **मन्दानः**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम से प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ **वज्रहस्तः**=क्रियाशील हाथोंवाला—सदा स्फूर्ति के साथ क्रियाओं को करता हुआ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **अहिम्**=(अपाहन्ति) हिंसन करनेवाले 'कार्य' को **विवृश्चत्**=काट डालता है। उस 'काम' को, जो कि **अर्णोवृतम्**=ज्ञानजलों के प्रवाह को आवृत कर लेनेवाला है। यह कामवासना ज्ञान पर परदे के रूप में पड़ जाती है और ज्ञान को प्रतिबद्ध कर देती है। २. **यद्**=(यदा) जब इन्द्र क्रियाशीलता द्वारा इस 'काम' को विध्वंस करता है तो **नदीनां प्रयांसि**=ज्ञानजल की नदियों के प्रीणित करनेवाले जल **चक्रमन्त**=फिर से खूब गतिवाले हो जाते हैं। वासनारूप परदे के हट जाने से ज्ञान फिर से चमक उठता है। ज्ञानजल फिर से हमें उसी प्रकार प्राप्त होने लगते हैं, **न**=जैसे कि **वयः**=पक्षी **स्वसराणि अच्छा**=घोंसलों की ओर (सुष्ठु अर्यन्ते प्राप्यन्ते इति सा०) जाते हैं। पक्षी घोंसलों की ओर तथा ज्ञान हमारी ओर। 'काम' ही तो इसका प्रतिबन्धक

कारण था। वह नष्ट हुआ और ज्ञान जलों प्राप्त होने लगे।

भावार्थ—इन्द्र क्रियाशीलता द्वारा ज्ञान के प्रतिबन्धक 'काम' को विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

माहिनः इन्द्रः

स माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्।
अजनयत्सूर्यं विदद्गा अक्तुनाह्नां वयुनानि साधत्॥ ३॥

१. **सः**=वह **माहिनः**=पूजा की वृत्तिवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अहिहा**=वासनारूप अहि का हनन करनेवाला होता हुआ **अपाम् अर्णः**=ज्ञान जलों के प्रवाह को **समुद्रम् अच्छा**=(स मुद्) उस आनन्दमय प्रभु की ओर **प्रैरयत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् जब हम प्रभुपूजन करते हैं तो वासना विनष्ट होती है और हमारा ज्ञानप्रवाह हमें आनन्दमय प्रभु की ओर ले-चलनेवाला होता है। २. यह अहिहा इन्द्र अहि का हनन करने पर **सूर्यम् अजनयत्**=ज्ञानसूर्य को प्रादुर्भूत करता है। बादल के हटने पर जैसे सूर्य चमक उठता है, इसी प्रकार वासना के विनष्ट होने पर ज्ञान के सूर्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह **अहिहा गाः**=ज्ञान की वाणियों को **विदद्**=प्राप्त करता है और **अक्तुना**=ज्ञानरश्मियों द्वारा **अह्नाम्**=दिनों के **वयुनानि**=प्रज्ञानों व कर्मों को **साधत्**=सिद्ध करता है, अर्थात् जहाँ दैनिक कार्यक्रम को ठीक प्रकार निभाता है वहाँ प्रतिदिन स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को भी बढ़ाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—वासनारूप आवरण के हटते ही ज्ञान के सूर्य का उदय होता है और हमारे दैनिक प्रज्ञान व कर्म ठीक प्रकार चलते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्य-प्रभजन स्पर्धा

सो अप्रतीनि मनवे पुरूणीन्द्रो दाशद्दाशुषे हन्ति वृत्रम्।
सद्यो यो नृभ्यो अतसाय्यो भूत्पस्पृधानेभ्यः सूर्यस्य सातौ॥ ४॥

१. **सः इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **पुरूणि**=बहुत अथवा पालक व पूरक **अप्रतीनि**=अनुपम (उत्कृष्ट) बलों को **दाशत्**=देते हैं। **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **हन्ति**=विनष्ट करते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **सद्यः**=शीघ्र ही **सूर्यस्य सातौ**=ज्ञानसूर्य की प्राप्ति में **पस्पृधानेभ्यः**=स्पर्धा से आगे बढ़ते हुए **नृभ्यः**=पुरुषों के लिये **अतसाय्यः**=निरन्तर जाने योग्य (प्राप्त होने योग्य) **भूत्**=होता है। वस्तुतः संसार में दो ही प्रवृत्तियाँ हैं (क) ज्ञानाभिमुखी (ख) भोगप्रवणा। ज्ञानाभिमुखी वृत्ति वाले लोग ज्ञानप्राप्ति में परस्पर स्पर्धा से आगे बढ़ते हुए प्रभु के प्रिय होते हैं। भोगप्रवणा वृत्तिवाले भोगों में फंसकर प्रकृति के बन्धन में बद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु विचारशील पुरुष को शक्ति प्राप्त कराते हैं और उसकी वासनाओं को विनष्ट करके उसके ज्ञानसूर्य को दीप्त करते हैं। इन ज्ञानप्रवण लोगों को ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्योदय

स सुन्वत इन्द्रः सूर्यमा देवो रिणङ्मर्त्याय स्तवान्।
आ यद्रयिं गुहदवद्यमस्मै भरदंशं नैतशो दशस्यन्॥ ५॥

१. **स इन्द्रः**=वे शक्तिशाली प्रभु **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **देवः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले (देवः द्योतनात्) होते हुए **सुन्वते**=अपने अन्दर सोमशक्ति का संपादन करनेवाले मनुष्य के लिए **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **आरिणक्**=वासनारूप मेघों से पृथक् करते हैं (to separate)। मनुष्य प्रभु का स्तवन करता है—प्रभु उसके लिए वासना को जीतते हैं और इसके ज्ञानसूर्य को दीप्त कर देते हैं। २. **यद्**=जब **एतशः**=(एतः=शुद्ध, शी=निवास करना) शुद्धता में निवास करनेवाला—जीवन को शुद्ध बनानेवाला **दशस्यन्**=यज्ञों में आहुतियों को देता हुआ होता है तो वे प्रभु **अस्मै**=इसके लिए उस **रयिम्**=ज्ञानैश्वर्य को **भरत्**=प्राप्त कराते हैं, जो कि **गुहद् अवद्यम्**=सब बुराइयों को संवृत कर डालनेवाला है। ज्ञान होने पर बुराइयों का विध्वंस हो जाता है। प्रभु उसी प्रकार इस एतश के लिए ज्ञानैश्वर्य को देते हैं, **न**=जैसे कि पिता प्रभु के लिए **अंशं भरत्**=सम्पत्ति के अंश को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—स्तुति किये जाते हुए प्रभु यज्ञशील पुरुष के लिए ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराते हैं। यह ज्ञानैश्वर्य सब अशुभवृत्तियों को विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुष्ण व शंबर का विनाश

स रन्धयत्सदिवः सारथये शुष्णमशुषं कुयवं कुत्साय।
दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छम्बरस्य॥ ६॥

१. **सः**=वे **सदिवः**=दीप्तियुक्त प्रभु **सारथये**=अपना सारथ्य करते हुए—अपने शरीररथ का उत्तम संचालन करते हुए **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले कुत्स के लिए **अशुषम्**=कभी भी न सूखनेवाले—न समाप्त होनेवाले **शुष्णम्**='काम' रूप शुष्णासुर को (जिस पर यह आक्रमण करता है, उसे सुखा डालता है) **रन्धयत्**=(rend) नष्ट करता है। उस शुष्णासुर को नष्ट करता है जो कि **'कुयवम्'** बुराइयों को हमारे साथ जोड़नेवाला है (यु मिश्रणे) (कु+यु)। "काम" अन्य सब वासनाओं का मूल बनता है। २. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **दिवःदासाय**= ज्ञान के भक्त के लिए **शम्बरस्य**=शक्ति को आवृत्त कर लेनेवाले शम्बरासुर के **नवतिं च नव**=निन्यानवे **पुरः**=नगरियों को **व्यैरत्**=विदारित करता है।

भावार्थ—जब हम अपने शरीररथ का संचालन करते हैं (मन हमें इधर उधर ले-जानेवाला नहीं होता) उस समय प्रभु हमारी कामवासना को दूर करते हैं। हम ज्ञान के भक्त बनें तो प्रभु हमारे से ईर्ष्या को दूर करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासना से ज्ञान व आत्मशक्ति का विकास

एवा त इन्द्रोचथमहेम श्रवस्या न त्मना वाजयन्तः।
अश्याम तत्साप्तमाशुषाणा ननमो वधरदेवस्य पीयोः॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **एवा**=इस प्रकार **ते**=आपके **उचथम्**=स्तोत्र को **अहेम**=प्राप्त हों **न**=जैसे **श्रवस्या**=ज्ञान की कामना से वैसे ही **त्मना**=आत्मिक दृष्टिकोण से **वाजयन्तः**=शक्ति को अपनाना चाहते हुए हम आपका स्तवन करनेवाले बनें। आपके उपासन से जहाँ बुद्धि की निर्मलता से ज्ञान की वृद्धि होती है वहाँ आत्मिक बल भी बढ़ता है। २. हम आपकी उपासना के साथ **आशुषाणाः**=उपासना द्वारा आपका व्यापन करते हुए (अश् व्याप्तौ) अथवा शीघ्रता से कार्यों का सेवन करते हुए **तत्**=उस आपकी **साप्तम्**=मित्रता को (साप्तपदीनं सख्यम्)

अश्याम=प्राप्त करें। हम आपकी मित्रता को प्राप्त करते हैं तो आप **अदेवस्य**=देवभावना से विपरीत **पीयोः**=हिंसक आसुरभाव के **वधः**=आयुध को **ननमः**=हमारे लिए झुका देते हैं। आपके मित्रों पर यह असुरों का आयुध आक्रमण नहीं कर पाता।

भावार्थ—उपासना से हमारा ज्ञान बढ़ता है और आत्मिकशक्ति बढ़ती है। प्रभु की मित्रता में हमारे पर असुरों के आयुध आक्रमण नहीं कर पाते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इष-ऊर्ज-सुक्षिति-सुम्न

एवा ते गृत्समदाः शूर मन्मावस्यवो न वयुनानि तक्षुः।
ब्रह्मण्यन्त इन्द्र ते नवीय इषमूर्जं सुक्षितिं सुम्नमश्युः ॥ ८ ॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **गृत्समदाः**=(गृणन्ति, माद्यन्ति) आपका स्तवन करनेवाले व प्रसन्न रहनेवाले व्यक्ति **एवा**=इस प्रकार **ते**=आपके **मन्म**=स्तोत्र को **तक्षुः**=बनाते हैं—आपकी स्तुति करते हैं। उसी प्रकार **न**=जैसे कि **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले **वयुनानि**=प्रज्ञानों व कर्मों को सम्पादित करते हैं, प्रज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों से ही रक्षण होता है। २. **ब्रह्मण्यन्तः**=ज्ञान व स्तोत्रों की कामना करते हुए लोग हे **इन्द्र**=हे प्रभो! **ते**=आपके—आपसे दिये गये **नवीयः इषम्**=प्रशंसनीय (नु स्तुतौ) अन्नों को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को, **सुक्षितिम्**=उत्तम निवास को तथा **सुम्नम्**=सुख को **अश्युः**=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—उपासक को प्रभु उत्कृष्ट अन्न, बल, उत्तम निवास व सुख प्राप्त कराते हैं, अर्थात् उपासना से ऐहिक अभ्युदय भी प्राप्त होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानयज्ञों में

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ९ ॥

इस मन्त्र की व्याख्या २.११.२१ पर देखिए।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु उपासक के वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं—उसके जीवन में ज्ञान के सूर्य को उदित करते हैं—और उसे अभ्युदय को प्राप्त कराके उसके ऐहिक जीवन को भी उत्तम बनाते हैं। सो हम प्रभु के ही बनें।

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुभक्तों के सम्पर्क में

वयं ते वय इन्द्र विद्धि षु णः प्र भरामहे वाजयुर्न रथम्।
विपन्यवो दीध्यतो मनीषा सुम्नमियक्षन्तस्त्वावतो नॄन् ॥ १ ॥

१. **वयम्**=हम हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयः**=अपने जीवन को **ते**=आपके प्रति **सुप्रभरामहे**=अच्छी प्रकार प्राप्त कराते हैं। आपके उपासन में ही अपने जीवन को बिताते हैं। **नः**=हमारा **विद्धि**=आप ध्यान करिए (Look after) हमारे भले-बुरे का आपने ही ध्यान करना है। **न**=जैसे **वाजयुः**=संग्राम की कामनावाला **रथम्**=रथ का प्रभरण (सम्पादन) करता है, उसी प्रकार हम अपने जीवन को उत्तम बनाने का यत्न करते हैं। जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए

आपको ही रथ के रूप में जानते हैं। २. वे हम आपका धारण करते हैं जो कि (क) **विपन्यवः**=विशिष्ट स्तुतिवाले बनने का प्रयत्न करते हैं—अपने मनों को आपके स्तवन में लगाने का प्रयत्न करते हैं (ख) **मनीषा दीध्यतः**=बुद्धि द्वारा दीप्त होते हैं। स्वाध्याय को जीवन का दैनिक कृत्य बनाकर बुद्धि दीप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं। (ग) **त्वावतःनृन्**= आप जैसे—अपने को आपका ही छोटा रूप बनानेवाले—लोगों से **सुम्नम्**=स्तोत्रों को **इयक्षन्तः**= अपने साथ हम जोड़ने की कामनावाले बनते हैं। (Longing for) आपके उपासकों के सम्पर्क में आकर हम भी आपके उपासक बनते हैं। वस्तुतः प्रभुतुल्य जीवनवाले—प्रभुपरायण लोगों का संग हमें भी प्रभु जैसे बनने की प्रेरणा व उत्साह देता है।

भावार्थ—हम प्रभु को ही अपनी जीवनयात्रा का रथ बनाएँ। प्रभुभक्तों के संग से हम भी प्रभुभक्त बन कर जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'अभिष्टिपा+वरूता' प्रभु

त्वं न॑ इन्द्र॒ त्वाभि॑रू॒ती त्वा॑य॒तो अ॑भिष्टि॒पासि॒ जना॑न्।
त्वमि॒नो दा॒शुषो॑ वरू॒तेत्थाधी॑र॒भि यो नक्ष॑ति त्वा॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=हमारे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हम **जनान्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले (जनी प्रादुर्भावे) **त्वायतः**=आपको प्राप्त होने की कामना वाले लोगों को **त्वाभिः**=अपने (त्वदीयाभिः) **ऊती**=रक्षण द्वारा **अभिष्टिपा असि**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण से रक्षित करनेवाले हैं। आपसे रक्षित होने पर ही हम वासनाओं का शिकार नहीं होते। २. **दाशुषः**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले के **त्वम्**=आप ही **इनः**=स्वामी हैं। **वरूता**=आप ही उसके विघ्नों का निवारण करनेवाले हैं। वस्तुतः **यः**=जो भी पुरुष **त्वा अभिनक्षति**=(नक्ष् to come near. approach) आपके समीप प्राप्त होता है, वह **इत्था धीः**=सत्य बुद्धिवाला होता है (Performing true works) वह सदा सत्यकर्मों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक का रक्षण करते हैं। रक्षित हुआ वह सत्यबुद्धिवाला व सत्य-कर्मोंवाला होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शिवः सखा

स नो॒ यु॒वेन्द्रो॑ जो॒हूत्रः॒ सखा॑ शि॒वो न॒राम॑स्तु पा॒ता ।
यः शंस॑न्तं॒ यः श॑शमा॒नमू॒ती पच॑न्तं च स्तु॒वन्तं॑ च प्र॒णेष॑त्॥ ३॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **युवा**=बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले **सखा**=मित्र हैं। वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं, **जोहूत्रः**=निरन्तर ह्वातव्य=पुकारने योग्य हैं। **शिवः**=कल्याणकर हैं। वे प्रभु **नराम्**=कर्मों का प्रणयन करनेवाले लोगों के **पाता अस्तु**=रक्षक हैं। वस्तुतः अकर्मण्य व्यक्ति कभी भी प्रभु की रक्षा का पात्र नहीं होता। २. वे प्रभु रक्षक होते हैं, **यः**=जो कि **शंसन्तम्**=शंसन करनेवाले को—सदा स्तुतिवचनों के बोलनेवाले को **ऊती**=रक्षण द्वारा **प्रणेषत्**=उन्नतिपथ पर ले-चलते हैं। **यः**=जो **शशमानम्**=प्लुत गति से कार्य करनेवाले को अपने रक्षण में आगे ले-चलते हैं। **पचन्तं च स्तुवन्तं च**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले को तथा स्तवन करनेवाले को आगे ले-चलते हैं। सुन्दर जीवन यही है कि हम ज्ञान से अपने को परिपक्व करें तथा स्तवन करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक होते हैं—हमारा कर्तव्य है कि हम ज्ञानपरिपक्व तथा स्तोता बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञानी-कर्मठ-उपासक

तमु॑ स्तुष॒ इन्द्रं॒ तं गृ॑णीषे॒ यस्मि॒न्पुरा वा॑वृ॒धुः शा॑श॒दुश्च॑।
स वस्वः॒ कामं॑ पीपरदिया॒नो ब्र॑ह्मण्य॒तो नूत॑नस्या॒योः॥ ४॥

१. **तम् इन्द्रम् उ**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **स्तुषे**=मैं स्तवन करता हूँ, **तम्**=उस प्रभु के ही **गृणीषे**=नामों का उच्चारण करता हूँ। **यस्मिन्**=जिस प्रभु में आसीन होनेवाले उपासक **वावृधुः**=खूब वृद्धि को प्राप्त होते हैं, **च**=और **पुरा**=(पृ पालनपूरणयोः) इस शरीरनगरी के पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **शाशदुः**=काम-क्रोध-लोभ का संहार करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **इयानः**=याच्यमान होते हुए—प्रार्थना किये जाते हुए **ब्रह्मण्यतः**=ज्ञान की कामनावाले, **नूतनस्य**=(नु स्तुतौ) सदा स्तुति में स्थित होनेवाले, **आयोः** (इ गतौ)=गतिशील क्रियामयजीवन वाले पुरुष के **वस्वः कामम्**=धन की अभिलाषा को **पीपरत्**=पूर्ण करते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान, हृदय में स्तवन तथा हाथों में क्रिया के होने पर प्रभु हमें सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ही नाम जपें। प्रभु हमारा वर्धन करते हैं—हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। ज्ञानी, उपासक व क्रियाशील बनने पर प्रभु हमें 'वसुमान्' बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अश्न का शिथिलीकरण

सो अ॑ङ्गिर॒सामु॒चथा॑ जुजु॒ष्वान्ब्रह्मा॑ तूतो॒दिन्द्रो॑ गा॒तुमि॒ष्णन्।
मु॒ष्णन्नु॒षसः॒ सूर्ये॑ण स्त॒वानश्न॑स्य चिच्छिश्नथत्पू॒र्व्याणि॑॥ ५॥

१. **सः**=वे प्रभु **अङ्गिरसाम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले उपासकों के—स्वस्थ, सबल व सुन्दर शरीरवाले उपासकों के **उचथा**=स्तोत्रों को **जुजुष्वान्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। शरीर को जीर्ण कर लेनेवाला क्या प्रभु का उपासक है? यह अङ्गिरसों के स्तोत्रों से प्रीणित हुआ-हुआ **इन्द्रः**=प्रभु **गातुम् इष्णन्**=मार्ग की प्रेरणा देता हुआ **ब्रह्म**=उनके ज्ञान को **तूतोत्**= बढ़ाता है। वस्तुतः ज्ञानवर्धन के द्वारा ही प्रभु उन्हें मार्गप्रदर्शन करते हैं। २. **स्तवान्**=स्तुति किये जाते हुए वे प्रभु जैसे **सूर्येण**=सूर्य के प्रकाश द्वारा **उषसः मुष्णन्**=उषाओं का अपहरण करते हैं, इसी प्रकार **अश्नस्य**=इस कभी न तृप्त होनेवाले, बड़े खानेवाले महाशन काम की **पूर्व्याणि चित्**=अत्यन्त प्रबल शक्तियों को भी **शिश्नथत्**=शिथिल कर देते हैं। 'पूर्व्याणि'=पूर्व स्थान में होनेवाली—अत्यन्त प्रबल काम की शक्तियों को प्रभु ढीला कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन काम के प्रबल आक्रमणों को भी ढीला कर देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काम-शिरश्छेदन

स ह॑ श्रु॒त इन्द्रो॒ नाम॑ दे॒व ऊ॒र्ध्वो भु॑व॒न्मनु॑षे द॒स्मत॑मः।
अव॑ प्रि॒यम॑र्शसा॒नस्य॑ सा॒ह्वाञ्छिरो॑ भरद्दा॒सस्य॑ स्व॒धावा॑न्॥ ६॥

१. **सः**=वे **हः**=निश्चय से **श्रुतः**=(श्रुतमस्यासीति) ज्ञान के पुञ्ज **इन्द्रः नाम**=शक्तिशाली प्रभु ही **देवः**=प्रकाशमय हैं, सब कुछ देनेवाले हैं (देवः द्योतनात्, दानात्)। **दस्मतमः**=अत्यन्त दर्शनीय अथवा सब दुःखों को विनष्ट करनेवाले प्रभु **मनुषे**=विचारशील पुरुष के लिए—इसके हित के लिए **ऊर्ध्वः भुवत्**=उद्यत होते हैं, विचारशील पुरुष का कल्याण करते ही हैं।

२. वे **स्वधावान्**=बलवान् प्रभु अपनी धारणशक्तिवाले **साह्वान्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले प्रभु **अर्शसानस्य**=(लोकं बाधमानस्य=striving to hurt) लोकों को पीड़ित करनेवाले **दासस्य**=शक्तियों को क्षीण करनेवाले काम के **प्रियं शिरः**=दर्शनीय व सुन्दर सिर को **अवभरत्**=पृथक् कर देते हैं—काट डालते हैं। काम को विनष्ट करके प्रभु हमें पीड़ित होने से बचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हित के लिये सदा उद्यत हैं। वे ही काम के सिर को काटकर हमें उससे पीड़ित नहीं होने देते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कृष्णयोनि वृत्तियों का विनाश

स वृ॒त्र॒हेन्द्रः॑ कृ॒ष्णयो॑नीः पुरन्द॒रो दासी॑रैरय॒द्वि ।
अज॑नय॒न्मन॑वे॒ क्षाम॒पश्च॑ स॒त्रा शंसं॒ यज॑मानस्य तूतोत् ॥ ७ ॥

१. **सः**=वह **वृत्रहा**=वासना का विनष्ट करनेवाला **पुरन्दरः**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला—इन्द्रियों में बनी हुई काम की पुरी को, मन में बनी हुई क्रोध की पुरी को तथा बुद्धि में बनी हुई लोभ की पुरी को विनष्ट करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **कृष्णयोनीः**=मलिन-चित्तवृत्तियों को जन्म देनेवाली **दासीः**=उपक्षय की कारणभूत वासनाओं को **वि ऐरयत्**=विदीर्ण करता है। प्रभु की उपासना अशुभ-वृत्तियों को हमारे से दूर करती है। २. इस प्रकार अशुभवृत्तियों को दूर करके प्रभु **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **क्षाम्**=पृथिवी को **अपः च**=अन्तरिक्षलोक को **अजनयत्**=आविर्भूतशक्तिवाला करता है। प्रभु इसके पृथिवीरूप शरीर को तथा अन्तरिक्षरूप हृदय को बड़ा उत्तम बनाते हैं। वस्तुतः वासनाजनित रोग यदि शरीर को निर्बल करते हैं तो वासनाएँ हृदय को मलिन करती हैं। वासनाओं के विनाश से शरीर और हृदय दोनों ही सुन्दर बन जाते हैं। ३. इस प्रकार वे प्रभु **यजमानस्य**=इस यज्ञशील पुरुष की **शंसम्**=कामना को **सत्रा**=सदा **तूतोत्**=पूर्ण करके बढ़ाते हैं। इसकी यज्ञियवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही चलती है। यज्ञमय बनकर अन्ततः यह यज्ञरूप प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी अशुभवृत्तियों को दूर करके हमें स्वस्थ शरीर व निर्मल मन प्रदान करते हैं। हमारी यज्ञियवृत्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुरों की लौहपुरियों का विध्वंस

तस्मै॑ त॒वस्य१॒॑मनु॑ दायि स॒त्रेन्द्रा॑य दे॒वेभि॒रर्ण॑सातौ ।
प्रति॒ यद॑स्य॒ वज्रं॑ बा॒ह्वोर्धुर्ह॒त्वी दस्यू॒न्पुर॒ आय॑सी॒र्नि तारी॑त् ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जिसका जीवन अधिकाधिक यज्ञमय होता जाता है **तस्मै**=उस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **अर्णसातौ**=ज्ञानजल की प्राप्ति के निमित्त **देवेभिः**=सब देवों से **सत्रा**=सदा **तवस्यम्**=वृद्धि का कारणभूत बल **अनुदायि**=क्रमशः दिया जाता है। सूर्य, चन्द्र व जलवायु आदि सब देव इसके अनुकूल होते हैं—इन देवों की अनुकूलता से इसके बल की वृद्धि होती है। बल की वृद्धि के साथ यह ज्ञानजल को प्राप्त करनेवाला होता है। सूर्यादि देव इसे बल देते हैं और ज्ञानी-विद्वान्-पुरुष इसके ज्ञान का वर्धन करनेवाले होते हैं। २. ये देव **अस्य बाह्वोः**=इसकी बाहुओं में **यद्**=जब **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **प्रति धुः**=धारण करते हैं, अर्थात् इसे स्वस्थ व ज्ञानी बनाकर क्रियाशील बनाते हैं तो यह **दस्यून् हत्वी**=दस्युओं को मारकर, अर्थात् दास्यववृत्तियों को विनष्ट करके **आयसीः पुरः**=लोहे के बने हुए, अर्थात् बड़े दृढ़ दस्युओं के पुरों

को **नितारीत्**=विनष्ट करता है। ये 'आयसीः पुरः' दस्युओं के तीन पुर ही हैं। काम का इन्द्रियों में, क्रोध का मन में तथा लोभ का बुद्धि में जो किला बन जाता है उन अति दृढ़ तीनों किलों को विदीर्ण करके यह 'त्रिपुरारि' बन जाता है। यही प्रभु जैसा बनना है।

भावार्थ—सूर्य, चन्द्र व जलवायु आदि देवों से हमें स्वास्थ्य व शक्ति प्राप्त हो, ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त हो। अब क्रियाशील बनकर हम असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वरवस्तु-दोहन

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ९ ॥

इसका व्याख्यान २.११.२१ पर द्रष्टव्य है।

यह सारा सूक्त प्रभु के उपासन से अशुभवृत्तियों के विध्वंस का संकेत करता है। अगले सूक्त में कहते हैं कि प्रभु ही विश्वजित् हैं, वे ही शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। अतः इस प्रभु का ही स्तवन करना व प्रसन्न रहना हमारा कर्त्तव्य है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विश्वजित् प्रभु

विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजित उर्वराजिते।
अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरेन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम् ॥ १ ॥

१. उस **विश्वजिते**=सब का विजय करनेवाले **यजताय**=उपास्य **इन्द्राय**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए **हर्यतम्**=कमनीय—चाहने योग्य व सुन्दर **सोमं भर**=सोम का भरण करो। सोम के शरीर में रक्षण द्वारा ही ज्ञानाग्नि की दीप्ति होकर प्रभु की प्राप्ति होती है। वे प्रभु विश्वविजयी हैं। प्रभु की प्राप्ति से हम भी विश्वविजेता बनते हैं। २. उस प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम का भरण करो जो कि **धनजिते**=सब धनों का विजय करनेवाले हैं। **स्वर्जिते**=प्रकाश व स्वर्ग का विजय करनेवाले हैं। प्रभुप्राप्ति से प्रकाश की प्राप्ति होती है—जीवन स्वर्गतुल्य, सुखसम्पन्न बनता है। **सत्राजिते**=वे प्रभु सदा विजय प्राप्त करनेवाले हैं। **नृजिते**=शत्रुओं के नायकों को पराजित करनेवाले हैं। ३. उपासकों के लिए **उर्वराजिते**=सर्वसस्याढ्या (fertile) उपजाऊ भूमि को प्राप्त करानेवाले हैं। **अश्वजिते गोजिते**=घोड़ों व गौओं को प्राप्त करानेवाले हैं तथा **अब्जिते**=उत्तम जलों को देनेवाले हैं। अध्यात्म में नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि ही 'उर्वरा' है, कर्मेन्द्रियाँ 'अश्व' हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ 'गौवें' हैं तथा रेतःकण 'आपः' हैं। प्रभु 'बुद्धि-उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व रेतःकणों' को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु विश्वजित् हैं। उपासक प्रभु को प्राप्त करने के द्वारा सब कुछ ही प्राप्त कर लेता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अभिभू' प्रभु

अभिभुवेऽभिभङ्गाय वन्वतेऽषाळ्हाय सहमानाय वेधसे।
तुविग्रये वह्नये दुष्टरीतवे सत्रासाहे नम इन्द्राय वोचत ॥ २ ॥

१. **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **नमः वोचत**=नमस्कार करो। जो प्रभु **अभिभुवे**=तुम्हारे सब शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले हैं। **अभिभंगाय**=चारों दिशाओं में शत्रुओं को पराजित करनेवाले हैं (रणे भंगः पराजयः)। शत्रुओं को अभिभूत व पराजित करके **वन्वते**=उनके सब धनों को जीतनेवाले हैं (वन्=win)। **अषाढाय**=कभी पराजित होनेवाले नहीं, **सहमानाय**=सब शत्रुओं का मर्षण (कुचलना) करनेवाले हैं। **वेधसे**=सबके विधाता हैं। २. **तुविग्रये**=महान् ज्ञानोपदेश करनेवाले हैं। प्रभु ही सृष्टि के प्रारम्भ में वेदरूप ज्ञान को देते हैं। **वह्नये**=प्रभु ही इस संसार-शकट को वहन करनेवाले हैं। **दुष्टरीतवे**=सब शत्रुओं को तैर जाने के लिए प्रभु ही साधन हैं। **सत्रासाहे**=प्रभु ही सदा हमारे शत्रुओं का मर्षण कर रहे हैं। इन प्रभु के लिये हम नमस्कार करें। प्रभु की शरण में जाकर सब शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु सब शत्रुओं को पराजित करनेवाले हैं। प्रभु की शरण में जानेवाला सब शत्रुओं को कुचल पाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'च्यवन' प्रभु

सत्रासाहो जनभक्षो जनंसहश्च्यवनो युध्मो अनु जोषमुक्षितः।
वृतंचयः सहुरिर्विक्ष्वारित इन्द्रस्य वोचं प्र कृतानि वीर्या॥ ३॥

१. वे प्रभु **सत्रासाहः**=सदा शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। **जनभक्षः**=अपनी शक्ति का प्रादुर्भाव करनेवाले लोगों से सम्भजनीय होते हैं—वस्तुतः प्रभु की भक्ति यही है कि हम अपनी शक्तियों का ठीक प्रकार से विकास करें। **जनंसहः**=प्रभु बलाभिमानी जनों का अभिभव करनेवाले हैं, **च्यवनः**=इन शत्रुभूत पुरुषों को स्वस्थान से च्युत करनेवाले **युध्मः**=योद्धा हैं। **जोषम् अनु**=प्रीतिपूर्वक उपासना के अनुपात में **उक्षितः**=हमारे जीवनों में सिक्त होते हैं। जितनी हम उपासना करते हैं—उतना ही प्रभु को पाते हैं। प्रभुप्राप्ति के अनुपात में ही हमारे शत्रुओं का क्षय होता है। **वृतंचयः**=(वर्तते-पुनः-पुनः=अभिमुखमागच्छति इति वृत् शत्रुः, तं चयते हिनस्ति) हमारे शत्रुओं का वे प्रभु हिंसन करनेवाले हैं। **सहुरिः**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले हैं तथा **विक्षु आरितः**=सब प्रजाओं में पालकरूप से वे प्रभु प्राप्त हैं। इस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **कृतानि वीर्या**=किये हुए वृत्रहननादि कर्मों का **प्रवोचम्**=मैं प्रवचन व स्तवन करता हूँ।

भावार्थ—जितना हम प्रभु का उपासन करते हैं, उसी अनुपात में वे हमारे शत्रुओं का संहार करके हमारे जीवन को सुखी करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वासनादहन व ज्ञानसूर्योदय

अनानुदो वृषभो दोधतो वधो गम्भीर ऋष्वो असमष्टकाव्यः।
रध्रचोदः श्नथनो वीळितस्पृथुरिन्द्रः सुयज्ञ उषसः स्वर्जनत्॥ ४॥

१. **अनानुदः**=(अनुददाति अनुदः) उस प्रभु के समान देनेवाला कोई भी नहीं है, **वृषभः**=वह सब सुखों का वर्षण करनेवाला है। **दोधतः**=हमारे हिंसक शत्रुओं का **वधः**=वे वध करनेवाले हैं। **गंभीरः**=अपनी महिमा के कारण गाम्भीर्य से युक्त हैं। **ऋष्वः**=महान् व दर्शनीय हैं। **असमष्टकाव्यः**=(अ सम्, अश व्याप्तौ) अन्यों से अव्याप्त क्रान्तदर्शिता व बुद्धिमत्तावाले हैं। २. **रध्रचोदः**=(रध संराद्धौ) सब समृद्धियों के प्रेरक हैं। **श्नथनः**=शत्रुओं के बलापहरण के द्वारा उनका शातन करनेवाले हैं। **वीळितः**=दृढ़ अङ्गोंवाले हैं। **पृथुः**=अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् को

व्याप्त करके (प्रथ विस्तारे) वर्तमान हैं। **सुयज्ञः**=उत्तम सृष्टिरूप यज्ञ के प्रवर्तक हैं। ये प्रभु ही **उषसः**=उषाओं को व **स्वः**=सूर्य को **जनत्**=उत्पन्न करते हैं। ३. अध्यात्म में 'उषसः' का भाव 'वासनाओं का दहन' है (उष दाहे) तथा 'स्वः' का भाव 'ज्ञानसूर्य' है। प्रभु उपासक की वासनाओं को दग्ध करते हैं और उसके मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य को उदित करते हैं।

भावार्थ—वे अनुपम प्रभु हमारी वासनाओं को दग्ध करके हमारे अन्दर ज्ञानसूर्य को उदित करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मार्गदर्शन व द्रविणप्राप्ति

यज्ञेन गातुमप्तुरो विविद्रिरे धियो हिन्वाना उशिजो मनीषिणः।
अभिस्वरा निषदा गा अवस्यव इन्द्रे हिन्वाना द्रविणान्याशत॥ ५॥

१. **यज्ञेन**=उपासना के द्वारा (यज् देवपूजा) **गातुम्**=मार्ग को **विविद्रिरे**=जान पाते हैं। कौन? (क) **अप्तुरः**=कर्मों को त्वरा से करनेवाले—कर्मों को अपने अन्दर प्रेरित करनेवाले। (ख) **धियः हिन्वानाः**=बुद्धियों को अपने अन्दर प्रेरित करनेवाले। (ग) **उशिजः**=प्रभुप्राप्ति की कामना वाले (घ) **मनीषिणः**=बुद्धिमान्—बुद्धि द्वारा मन का शासन करनेवाले। ये लोग उपासना द्वारा हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनते हैं और अपने कर्तव्यमार्ग का ज्ञान प्राप्त करते हैं। २. ये **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **गाः हिन्वानाः**= स्तुतिवचनों को प्रेरित करते हुए **अभिस्वराः**=दिन के दोनों ओर प्रातः व सायं प्रभु के नामों का उच्चारण करने द्वारा तथा **निषदा**=प्रभु के चरणों में नम्रता से बैठने द्वारा (नि+सद्) **द्रविणा नि**=जीवनयात्रा को सुन्दरता से चलानेवाले धनों को **आशत**=व्याप्त करते हैं। इन धनों को प्राप्त करके वे सुन्दरता से जीवनयात्रा पूर्ण करते हैं।

भावार्थ—उपासना के दो लाभ हैं (क) मार्गदर्शन (ख) द्रविणप्राप्ति।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रेष्ठ द्रविण

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **श्रेष्ठानि द्रविणानि अस्मे धेहि**=श्रेष्ठ धनों का हमारे लिए धारण करिए। (क) सबसे प्रथम तो **दक्षस्य**=कार्यों को करने में कुशल पुरुष की **चित्तिम्**=चेतना हमें प्राप्त कराइए। हम कभी भी कर्ममार्ग में कुण्ठमस्तिष्क (Confused), न हो जाएँ—हम प्रत्येक समस्या को सुलझा करके आगे बढ़नेवाले हों। (ख) **सुभगत्वम्**=हमें सौभाग्यसम्पन्न बनाइए। हमारी प्रत्येक क्रिया में यश व श्री टपके। (ग) **रयीणां पोषम्**=धनों के पोषण हमें प्राप्त कराइए। हम जीवन यात्रा के लिए आवश्यक धनों का पोषण करनेवाले हों (घ) **तनूनाम् अरिष्टिम्**=शरीरों की अहिंसा को, अर्थात् स्वास्थ्य को हमें प्राप्त कराइए। (ङ) **वाचः स्वाद्मानम्**= वाणी की स्वादुता को—माधुर्य को हमें दीजिए तथा (च) **अह्नाम् सुदिनत्वम्**= दिनों की शोभनता को दीजिये, अर्थात् हमारा एक-एक दिन बड़ा सुन्दर व्यतीत हो। २. जीवनयात्रा के सौन्दर्य के लिए उल्लिखित छह बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—हम कुशलता से कार्यों को करनेवाले हों, सौभाग्यसम्पन्न हमारे काम हों, धनों की कमी न हो, शरीर स्वस्थ हों, वाणी मधुर हो तथा एक-एक दिन सुन्दर व्यतीत हो।

भावार्थ—गतमन्त्र में संकेतित द्रविणों का प्रस्तुत मन्त्र में परिगणन हुआ है। इन द्रविणों के होने पर जीवन सफल हो जाता है।

सम्पूर्ण सूक्त इस भाव को व्यक्त कर रहा है कि प्रभु ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। हम अकेले काम-क्रोध आदि को जीत नहीं सकते। प्रभु ही हमें विजयी बनाते हैं। और उपासकों को श्रेष्ठ द्रविण प्राप्त कराके यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करने में सक्षम करते हैं। अतः हमें सदा उस प्रभु का उपासन करना चाहिये—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अष्टिः** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'देव-सत्य-इन्दु' बनना

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशत्।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ १ ॥

१. **त्रिकद्रुकेषु**=(कदि आह्वाने) जीवन के तीनों आह्वान कालों में—बाल्य, यौवन व वार्धक्य में **महिषः**=उस प्रभु का पूजन करनेवाला और अतएव **तुविशुष्मः**=महान् बलवाला **विष्णुना**=परमात्मा द्वारा **सुतम्**=उत्पन्न किये गये **यवाशिरम्**=(यौति, आशृणाति) अशुभों को दूर करनेवाले, शुभों को हमारे साथ सम्पृक्त करनेवाले और सब रोगकृमियों व वासनाओं को शीर्ण करनेवाले **सोमम्**=सोम को **तृपत्**=तृप्ति अनुभव करता हुआ **अपिबत्**=अपने अन्दर ही पीता है—शरीर में ही उसे व्याप्त करता है। उतना-उतना व्याप्त कर पाता है **यथा अवशत्**=जितना-जितना इन्द्रियों को वश में करता है। २. इस प्रकार सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ और इन्द्रियों को वश में करता हुआ वह सोमपान करता है, वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करता है। **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से **ममाद**=प्रसन्नता अनुभव करता है। **महि कर्म कर्तवे**=महान् कर्म करने के लिए समर्थ होता है और अन्त में यह सोमपान करनेवाला एवं इस **महाम्**=महान्—पूजनीय **उरुम्**=सर्वव्यापक प्रभु को **सश्चत्**=प्राप्त होता है। यह सोमपान करनेवाला उपासक **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला बन करके **एनं देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करता है। **सत्यः**=सत्यवादी व **इन्दु**=शक्तिशाली बन करके **सत्यम्**=उस सत्यस्वरूप **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को पाता है।

भावार्थ—उपासक सोमरक्षण कर पाता है। सोमरक्षण से उल्लासमय जीवनवाला होता है, महान् कर्म करनेवाला होता है, तथा 'देव, सत्य व इन्दु' बनकर उस महान् 'देव, सत्य व इन्द्र' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होना

अध त्विषीमाँ अभ्योजसा क्रिविं युधाभवदा रोदसी अपृणदस्य मज्मना प्र वावृधे।
अधत्तान्यं जठरे प्रेमरिच्यत सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ २ ॥

१. **अध**=अब यह गतमन्त्र का 'देव सत्य व इन्द्र' **त्विषीमान्**=ज्योतिवाला बनता है, **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **युधा**=युद्ध द्वारा **क्रिविम्**=हिंसा करनेवाले इस 'काम' को **अभ्यभवत्**=अभिभूत कर लेता है। काम को पूर्णरूप से अपने वश में कर लेता है। काम को वशीभूत करके **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **अपृणत्**=(आपूरयत्) पूर्ण बनाता है—मस्तिष्क का ज्ञान से पूरण करता है और शरीर का शक्ति से। वस्तुतः वह उपासक **अस्य मज्मना**=इस उपास्य प्रभु के बल से **प्रवावृधे**=वृद्धि को प्राप्त करता है। उपासक में उपास्य प्रभु

के बल का सञ्चार होता है और उसके बल से बलसम्पन्न होकर यह सब प्रकार से उन्नत होता है। २. वस्तुतः यह **अन्यम्**=उस अपने विलक्षण प्रिय प्रभु को **जठरे अधत्त**=अपने अन्दर धारण करता है और **ईम्**=निश्चय से **अरिच्यत**=खूब शक्तियों के अतिरेक (वृद्धि) को प्राप्त करता है। **सः**=वह **एनं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **देवः**=देव बनकर **सश्चत्**=प्राप्त होता है। **सत्यम्**=सत्यस्वरूप प्रभु को **सत्यः**=सत्यमय बनकर प्राप्त होता है और **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **इन्दु**=शक्तिशाली बनकर पाता है। 'देव' को देव बनकर, 'सत्य' को सत्य बनकर तथा 'इन्द्र' को इन्दु बनकर यह पानेवाला होता है।

भावार्थ—उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होता है और वासनारूप शत्रु को विनष्ट करके शरीर को शक्ति से भरता है तो मस्तिष्क को ज्ञान से।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्शक्वरी** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

क्रतु-ओज-वीर्य

साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः।
दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः॥ ३॥

१. गतमन्त्र का उपासक **क्रतुना**=प्रज्ञा व शक्ति के **साकम्**=साथ **जातः**=आविर्भूत शक्तियों-वाला होता है। मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में शक्ति होने पर यह **ओजसा साकम्**=ओजस्विता के साथ **ववक्षिथ**=बढ़ता है (वक्ष्=Vase)। **वीर्यैः साकम्**=शक्तियों के साथ **वृद्धः**=बढ़ा हुआ यह उपासक **मृधः**=हिंसक शत्रुओं को **सासहिः**=कुचलनेवाला होता है। इन 'काम-क्रोध-लोभ' को कुचलकर यह **विचर्षणिः**=तत्त्वद्रष्टा बनता है (seeing, observing)। प्रत्येक पदार्थ को यह ठीक ही रूप में देखता है। किसी भी पदार्थ की आपातरमणीयता इसे धोखे में नहीं डाल सकती। २. वे प्रभु इस **स्तुवते**=स्तोता के लिए **काम्यम्**=चाहने योग्य **राधः**=कार्यसाधक **वसु**=धन को **दाता**=देनेवाले होते हैं। प्रभु इसे जीवनयात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करने के लिए सब आवश्यक धनों को देते हैं। **सः**=वह उपासक **देवः**=देव बनकर **एनं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **सश्चत्**=प्राप्त करता है। **सत्य**=सत्यवाला होकर **सत्यम्**=सत्यस्वरूप प्रभु को पाता है और **इन्दुः**=शक्तिशाली होकर **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को पानेवाला होता है।

भावार्थ—उपासक प्रज्ञान व शक्ति के साथ वृद्धि को प्राप्त होता हुआ इन काम आदि शत्रुओं को विनष्ट करता है—तत्त्वद्रष्टा बनता है। प्रभु इसे आवश्यक धन प्राप्त कराते ही हैं। इससे इसकी जीवनयात्रा सफलता के साथ व्यतीत होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऊर्ज व इष की प्राप्ति

तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्।
यद्देवस्य शवसा प्रारिणा असुं रिणन्नपः ।
भुवद्विश्वमभ्यादेवमोजसा विदादूर्जं शतक्रतुर्विदादिषम्॥ ४॥

१. हे **नृतो**=सबको नृत्य करानेवाले—इस संसार-नेपथ्य में सभी को भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में उपस्थित करनेवाले **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **तव**=आपका **त्यत्**=वह प्रसिद्ध **नर्यम्**=नरहितकारी **अपः**=कर्म **प्रथमम्**=अत्यन्त विस्तारवाला है—**पूर्व्यम्**=यह आपका कर्म हमारा पालन व पूरण करनेवाला है (पृ पालनपूरणयोः) **दिवि**=यह सम्पूर्ण द्युलोक में **प्रवाच्यं कृतम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय हुआ है। प्रभु का यह ब्रह्माण्ड-निर्माणरूप कर्म अत्यन्त अद्भुत व प्रशंसनीय है। यह हमारे हित

के लिए है। २. इसमें **यद्**=जब **देवस्य**=उस प्रकाशमय प्रभु के **शवसा**=बल से **असुम्**=प्राणशक्ति को **रिणन्**=प्रेरित करता हुआ **अपः**=कर्मों को **प्रारिणाः**=अपने में प्रेरित करता है—अर्थात् जब तू सदा क्रियाशील बनता है, तो **विश्वम्**=सब **आ अदेवम्**=चारों ओर होनेवाली अदेववृत्तियों को **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **अभिभुवत्**=अभिभूत कर लेता है। इन अदेववृत्तियों को जीतकर **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **विदात्**=प्राप्त करता है और **शतक्रतुः**=सैकड़ों कर्मों व प्रज्ञानों वाला **इषम्**=प्रभुप्रेरणा को व वाञ्छनीय अन्नों को **विदात्**=प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु का गुणगान करनेवाला प्रभु से शक्ति प्राप्त करता है और सब अदेववृत्तियों को अभिभूत करके ऊर्ज व इष को प्राप्त करता है।

यही सूक्त का सार है कि हम प्रभु की उपासना से शक्तिसम्पन्न बनें। प्रभु ही सर्वोपरि है।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

अथ तृतीयोऽनुवाकः

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गणपति प्रभु

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥ १ ॥

१. हमारा शरीर पंचभूतों के गण से बना है। उसके अन्दर पाँच प्राणों का एक गण है (प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान), पाँच कर्मेन्द्रियों का दूसरा गण है, पाँच ज्ञानेन्द्रियों का तीसरा, पाँच अन्तःकरण के भागों का चौथा (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार-हृदय)। इस प्रकार इन **गणानाम्**=गणों के **गणपतिम्**=स्वामी **त्वा**=आपको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। आपने ही तो हमारे इन गणों का रक्षण करना है। **कवीनां कविम्**=आप कवियों के कवि हैं—महान् क्रान्तदर्शी हैं। 'वेद' आपका महान् अजरामर काव्य है। **उपमश्रवस्तमम्**=उपमा देने योग्य है ज्ञान जिनका, उनमें आप सर्वोपरि हैं। एक ऊँचे योगी ऋषि के लिए इसी प्रकार कहते हैं कि वे तो परमात्मा के समान ज्ञानी हैं 'ब्रह्म इव'। इस प्रकार आपके ज्ञान से ही किसी के ज्ञान की उपमा दी जाती है। **ज्येष्ठराजम्**=आप सबसे श्रेष्ठ राजा है। अन्य राजा थोड़े से काल के लिए प्रदेश का शासन करते हैं। आप सदा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं 'इन्द्रो विश्वस्य राजति'। **ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते**=सम्पूर्ण ज्ञानों के आप पति हैं—गुरुओं के गुरु हैं—आदि गुरु हैं 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। २. हे प्रभो! आप **नः शृण्वन्**=हमारी प्रार्थना को सुनते हुए **ऊतिभिः**=हमारे रक्षणों के हेतु से **सादनम् आसीद**=हमारे हृदयरूप आसन पर बैठिए—हमारा हृदय आपका घर बने। हृदयस्थ आपके द्वारा हम रक्षण को प्राप्त हों। जहाँ आप हैं—वहाँ कामदेव नहीं होता। अतः हृदयों में आपके स्थित होने पर काम का स्वभावतः वहाँ प्रवेश न होगा।

भावार्थ—प्रभु सब गणों के पति हैं। हमारे हृदयों में स्थित हुए-हुए वे हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

असुर्य-बृहस्पति

देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः।
उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता ब्रह्मणामसि॥ २ ॥

१. हे **असुर्य**=(असु, र, य) प्राणशक्ति को प्राप्त करानेवालों में उत्तम, **बृहस्पते**=ज्ञान के

स्वामिन् प्रभो! **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट चेतना व ज्ञानवाले **देवाः**=देव **चित्**=निश्चय से **ते**=आपसे ही **यज्ञियं भागम्**=यज्ञों के लिए साधनभूत भजनीय धन को **आनशुः**=प्राप्त करते हैं। देवों को देवत्व आप से ही प्राप्त होता है। वे यज्ञों के लिए धनों को भी आपसे ही प्राप्त करते हैं। २. **इव**=जैसे **ज्योतिषा महः**=प्रकाश के कारण महनीय **सूर्यः**=सूर्य **उस्राः**=किरणों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार हे प्रभो! आप **विश्वेषाम्**=सब **ब्रह्मणाम्**=ज्ञान की वाणियों के **जनिता**=उत्पन्न करनेवाले हैं। सूर्य किरणों के द्वारा सर्वत्र प्रकाश फैलाते हैं, आप इन ज्ञानवाणियों द्वारा हमारे हृदयान्धकार को दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राणशक्ति व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। सूर्य जैसे किरणों को प्रादुर्भूत करता है, प्रभु उसी प्रकार ज्ञान की वाणियों को।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

परिवाद व अज्ञान से दूर

आ विबाध्यां परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्तं रथमृतस्य तिष्ठसि।
बृहस्पते भीममीमित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम्॥ ३॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **परिरापः**=(रप्=लप्) इधर-उधर निन्दा की बातों को—परिवादों को **च**=और **तमांसि**=अज्ञानान्धकारों को—तामसी वृत्तियों को **आ विबाध्य**=पूर्णतया बाधित करके—इनको हमारे से दूर करके आप **ज्योतिष्मन्तम्**=ज्ञान ज्योति से दीप्त **ऋतस्य रथम्**=ऋत के रथ पर **तिष्ठसि**=स्थित होते हैं। आप ही हमारे जीवनों को सुन्दर बनाते हैं—और हमारे इन निर्मलीभूत शरीररथों में स्थित होते हैं। २. यह शरीररथ **भीमम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता है, **अमित्रदम्भनम्**=अमित्रों का हिंसन करनेवाला **रक्षोहणम्**=राक्षसीवृत्तियों का हनन करनेवाला बनता है। **गोत्रभिदम्**=अविद्यारूप पर्वत का विदारण करनेवाला और **स्वर्विदम्**=प्रकाश का प्राप्त करानेवाला होता है। यह सब होता तभी है जब यह उस 'बृहस्पति' ज्ञान के स्वामी प्रभु से अधिष्ठित होता है।

भावार्थ—जब हमारा यह शरीररथ प्रभु से अधिष्ठित होता है तो हमारे में परिवादरुचिता समाप्त हो जाती है—हम स्वाध्यायशील होकर ज्योतिर्मय जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञानरुचि बनना और क्रोध से ऊपर उठना

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत्ते महित्वनम्॥ ४॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **यः तुभ्यं दाशात्**=जो उपासक अपने को आपके प्रति अर्पित कर देता है **तम् जने**=उस मनुष्य को आप **सुनीतिभिः**=उत्तम मार्गों से **नयसि**=ले चलते हैं और **त्रायसे**=उसका रक्षण करते हैं। उस पुरुष को **अंहः**=पाप व कुटिलता **न अश्नवत्**= व्याप्त नहीं करती। वह पाप व कुटिलता की ओर नहीं चलता। २. हे प्रभो! आप **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान के साथ अप्रीतिवाले के **तपनः**=संतप्त करनेवाले हैं तथा **मन्युमीः असि**=क्रोध का विनाश करनेवाले हैं। हे प्रभो! वस्तुतः **तत्**=वह **ते**=आपका **महि महित्वनम्**=महान् महत्त्व है—यह आपका अद्भुत महिमापूर्ण कार्य है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को उत्तममार्ग से ले-चलते हैं। ज्ञान में अरुचि वाले को संतप्त करते हैं। क्रोध को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कुटिलता व पाप से दूर

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितिरुर्न द्वयाविनः।
विश्वा इदस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते॥ ५॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **सुगोपाः**=उत्तम रक्षक आप **यं रक्षसि**=जिसका रक्षण करते हैं, **तं**=उसको **न अंहः**=न तो कुटिलता, **न दुरितम्**=न पाप और **न अरातयः**=न ही अन्य शत्रु **तितिरुः**=हिंसित करते हैं। **द्वयाविनः**=मन में कुछ और क्रिया में कुछ और छलावी पुरुष भी प्रभुरक्षित को हिंसित नहीं कर पाते। २. हे प्रभो! आप **अस्मात्**=इस अपने रक्षणीय उपासक से **विश्वाः ध्वरसः**=सब हिंसाओं को **इत्**=निश्चय से **विबाधसे**=दूर ही रखते हैं। हम गौवें हैं, प्रभु 'गोपा' हैं। प्रभु से रक्षित होने पर हम कुटिलताओं व पापों से बचे रहते हैं। हमारे में 'अ-दान' की वृत्ति नहीं उत्पन्न होती, और हम द्वयावी नहीं बनते। सब प्रकार की हिंसक-वृत्तियों से ऊपर उठकर हम प्रभु के सच्चे भक्त बन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित व्यक्ति कुटिलता, पाप, अदान की वृत्ति, छलछिद्र व हिंसा से ऊपर उठ जाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कटु विचारों का परिणाम

त्वं नो गोपाः पथिकृद्विचक्षणस्तव व्रताय मतिभिर्जरामहे।
बृहस्पते यो नो अभि ह्वरो दधे स्वा तं मर्मर्तु दुच्छुना हरस्वती॥ ६॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **गोपाः**=रक्षक हैं, **पथिकृत्**=हमारे लिए मार्ग बनानेवाले हैं, **विचक्षणः**=विशेषेण द्रष्टा हैं—हमारा ध्यान करनेवाले हैं (Look after)। **तव व्रताय**=आपके व्रत के लिए **मतिभिः जरामहे**=बुद्धिपूर्वक आपका स्तवन करते हैं। आपके गुणों का चिन्तन करते हुए उन गुणों को अपनाने के लिए यत्नशील होते हैं। उपासक प्रभु के व्रतों का चिन्तन करता है—उन व्रतों को अपनाने के लिए यत्नशील होता है और इस प्रकार प्रभु जैसा—प्रभु का ही छोटा रूप बनने का प्रयत्न करता है। २. हे प्रभो! **यः**=जो भी **नः अभि**=हमारा लक्ष्य करके **ह्वरः दधे**=कुटिलता धारण करता है, **तम्**=उसको **स्वा दुच्छुना**=अपना ही दुरित (शुन गतौ)—अपना ही दुष्टाचरण **हरस्वती**=प्रबल वेगवाला होता हुआ **मर्मर्तु**=प्राणत्याग करानेवाला हो। अपनी कुटिलता का वह स्वयं शिकार हो जाय।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों—हम कुटिलता से दूर रहें। जो हमारे साथ कुटिलता करता है—यह कुटिलता उसी का नाश करनेवाली हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अविघ्नम्

उत वा यो नो मर्चयादनागसोऽरातीवा मर्तः सानुको वृकः।
बृहस्पते अप तं वर्तया पथः सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि॥ ७॥

१. **उत वा**=और **यः**=जो **अरातीवा**=शत्रुवत् हमारी ओर आनेवाला, **सानुकः**=(समुच्छ्रितः) अभिमान के कारण ऊपर उठाये हुए सिरवाला, **वृकः**=लोभी पुरुष **अनागसः**=निष्पाप **नः**=हमें **मर्चयात्**=हिंसित करे, **तम्**=उसको **पथः**=हमारे मार्ग से **अपवर्तया**=दूर करिए। वह हमें मार्ग पर आगे बढ़ने से रोक न सके। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! उसे हमारे मार्ग से दूर

करके आप **नः**=हमारी **अस्थै**=इस **देववीतये**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए व (देवानां वीतिर्यस्मिन्) यज्ञ के लिए **सुगं कृधि**=मार्ग को सुगमता से आने योग्य करिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से दुष्टपुरुष हमारे उत्तम कर्मों में विघ्न न डाल सकें। हमारे कर्म निर्विघ्नता से पूर्ण हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दुराचरण से कल्याण असम्भव

त्रातारं त्वा तनूनां हवामहेऽवस्पर्तरधिवक्तारमस्मयुम्।
बृहस्पते देवनिदो नि बर्हय मा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन् ॥ ८ ॥

१. हे **अवस्पर्तः**=सब उपद्रवों से पार करनेवाले **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के **त्रातारम्**=रक्षक **त्वाम्**=आपको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। **अधिवक्तारम्**=आप हमें आधिक्येन उपदेश देनेवाले हैं अथवा अधिष्ठातृरूपेण उपदेश देनेवाले हैं। **अस्मयुम्**=हमारे हित की कामनावाले हैं। प्रभु पूर्ण निःस्वार्थ होने से कभी किसी के अहित की कामना कर ही नहीं सकते। २. हे बृहस्पते! आप **देवनिदः**=देवों की निन्दा करनेवाले को—दिव्यगुणों का उपहास करनेवालों को **निबर्हय**=नष्ट करिए। वस्तुतः जब वे दिव्यगुणों से दूर होते जाते हैं तो मृत्यु वा विनाश के समीप होते चलते हैं। **दुरेवाः**=दुष्टगतिवाले पुरुष कभी **उत्तरं सुम्नम्**=उत्कृष्ट सुख को **मा उन्नशन्**=मत प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीरों के रक्षक हैं। दिव्यगुणों से दूर होनेवालों का वे विध्वंस करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

धनप्राप्ति व दानशीलता

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि।
या नो दूरे तळितो या अरातयोऽभि सन्ति जम्भया ता अनप्नसः ॥ ९ ॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **सुवृधा**=हमारा उत्तम वर्धन करनेवाले **त्वया**=आपके द्वारा **वयम्**=हम **मनुष्याः**=विचारपूर्वक कर्म करनेवाले (मत्वा कर्माणि सीव्यति इति मनुष्यः) लोग **स्पार्हा**=स्पृहणीय **वसु**=धनों को **आददीमहि**=प्राप्त करें। विचारपूर्वक कर्म करते हुए हम उत्तम धनों की प्राप्ति के पात्र होते हैं। २. इन उत्तम धनों को प्राप्त करनेवाले हम सदा दानशील हों। **याः**=जो **अरातयः**=अदान की भावनाएँ **नः दूरे**=हमारे से कुछ दूरी पर हैं **याः तडितः**=जो अदानवी वृत्तियाँ हमारे समीप हैं (तडितः=अन्तिके नि०) **ताः जम्भय**=उन सबको नष्ट करिए। **ताः अनप्नसः**=ये अदान की वृत्तियाँ (अप्नस् Shape, form) उत्तम रूपवाली नहीं है—ये हमारे जीवन की शोभा को बढ़ाती नहीं अथवा ये धन की वृद्धि करनेवाली नहीं (अप्नस् Possesion)।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें धन प्राप्त हों और उन धनों को हम देनेवाले बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उत्तमं वयः=उत्कृष्ट जीवन

त्वया वयमुत्तमं धीमहे वयो बृहस्पते पप्रिणा सस्निना युजा।
मा नो दुःशंसो अभिदिप्सुरीशत प्र सुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि ॥ १० ॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **पप्रिणा**=हमारा पूरण करनेवाले **सस्निना**=हमारे जीवन का शोधन करनेवाले **युजा**=सदा साथ रहनेवाले **त्वया**=तेरे से **वयम्**=हम **उत्तमं वयः**=उत्कृष्ट

जीवन को **धीमहे**=धारण करें। हम आपकी उपासना करें और आप हमारे जीवन की न्यूनताओं को दूर करके हमारे जीवन का शोधन करिए। इस प्रकार आपको साथी पाकर हम उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त हों। २. **दुःशंसः**=बुराइयों का शंसन करनेवाला—सदा अशुभ को शुभ के रूप में चित्रित करके हमें अशुभ की ओर ले-जानेवाला **अभिदिप्सुः**=हमारे इहलोक व परलोक दोनों का हिंसन करनेवाला व्यक्ति **नः**=हमारा **मा ईशत्**=ईश मत बन जाए। हम उसके प्रभाव में न आ जाएँ। उससे बहकाये जाकर हम अपना नाश न कर बैठें। ३. हम सदा **मतिभिः**=बुद्धिपूर्वक **सुशंसाः**=उत्तम स्तवन करते हुए **प्रतारिषीमहि**=इस भवसागर को तैर जाएँ। यहाँ विषयवासनारूप ग्राहों से गृहीत होकर बीच में ही डूब न जाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करते हुए उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करें। दुःशंस पुरुषों के प्रभाव में न आ जाएँ। प्रभुस्तवन से हमारी बुद्धि ठीक बनी रहे और हम भवसागर से तैर जाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासक के 'ऋणयाः' तथा कामुक के 'दमिता' प्रभु

अनानुदो वृषभो जग्मिराहवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद्दमिता वीळुहर्षिणः ॥ ११ ॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **अनानुदः**=अनुपम दाता हैं—आपके समान दूसरा देनेवाला नहीं है। **वृषभः**=आप सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **आहवं जग्मिः**=हे प्रभो! आप हमारे अध्यात्मयुद्ध में कामादि शत्रुओं के प्रति आक्रमण करनेवाले हैं। **शत्रुं निष्टप्ता**=इन कामादि शत्रुओं को पूर्णरूप से संतप्त करनेवाले हैं। **पृतनासु**=संग्रामों में **सासहिः**=इन शत्रुओं को कुचल देनेवाले हैं। २. हे प्रभो! आप **सत्यः असि**=सत्यस्वरूप हैं। **ऋणयाः**=हमारे ऋणों की अदायगी के लिए हमें समर्थ करनेवाले हैं—वस्तुतः आप ही हमें ऋणों से मुक्त करते हैं। आप से शक्ति पाकर हम इन ऋणों को चुका पाते हैं। आप **उग्रस्य चित्**=अत्यन्त प्रबल भी **वीळुहर्षिणः**=दृढ़ हर्षवाले (Erection) कामुक पुरुष के **दमिता असि**=दमन करनेवाले हैं।

भावार्थ—उपासक को प्रभु सब ऋणों को चुकाने का सामर्थ्य देते हैं और कामुक पुरुष का दमन करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दुष्टों का शमन

अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासामुग्रो मन्यमानो जिघांसति।
बृहस्पते मा प्रणक्तस्य नो वधो नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः ॥ १२ ॥

१. **यः**=जो **अदेवेन मनसा**=अदेव अर्थात् आसुरवृत्तिवाले मन से **रिषण्यति**=हमारी हिंसा करना चाहता है और यदि कोई **शासाम् उग्रः**=शासकों में उग्र पुरुष भी **मन्यमानः**=अभिमान की वृत्तिवाला होकर **जिघांसति**=हमें मारने की कामना करता है, हे **बृहस्पते**=ज्ञानी प्रभो! **नः**=हमें **तस्य वधः**=उसका हिंसक आयुध या **प्रणक्**=मत प्राप्त हो। प्रभु की व्यवस्था से कोई अत्याचारी हमारे पर अत्याचार न कर सके। २. **दुरेवस्य**=दुष्ट आचरणवाले **शर्धतः**=बल के अभिमान में औरों को अपमानित करते हुए पुरुष के **मन्युम्**=क्रोध को **नि कर्म**=हम निश्चय से निराकृत करनेवाले हों। उसके अभिमान को तोड़कर उसे ठीक मार्ग पर ला सकें।

भावार्थ—आसुरभाववाले व्यक्ति हमें नुकसान न पहुँचा सकें। दुराचरणवाले पुरुषों के घमण्ड को हम तोड़नेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सब धनों के दाता' प्रभु

भरेषु हव्यो नमसोपसद्यो गन्ता वाजेषु सनिता धनंधनम्।
विश्वा इदर्यो अभिदिप्स्वो३ मृधो बृहस्पतिर्वि ववर्हा रथाँइव॥ १३॥

१. वे प्रभु **भरेषु**=संग्रामों में **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। प्रभु ने ही तो वस्तुतः इन संग्रामों में हमें विजयी बनाना है। **नमसा**=नमन के द्वारा वे प्रभु **उपसद्यः**=उपस्थान के योग्य हैं। हमें विनीत होकर सदा प्रभुचरणों में उपस्थित होना चाहिये। **वाजेषु गन्ता**=संग्रामों में प्रभु ही हमारे शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं—उनकी ओर जानेवाले हैं और वे प्रभु **धनंधनम्**=प्रत्येक धन को **सनिता**=देनेवाले हैं (दाता सा०)। २. वे **अर्यः**=स्वामी **बृहस्पतिः**=ज्ञान के रक्षक प्रभु **इद्**=निश्चय से **विश्वाः**=सब **अभिदिप्स्वः**=हमारा हिंसन करनेवाले **मृधः**=हिंसक शत्रुओं को **विववर्ह**=विशेषरूप से उखाड़ फेंकते हैं, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि एक वीरयोद्धा संग्राम में **रथान्**=शत्रुरथों को तोड़-फोड़कर दूर फेंकनेवाला होता है।

भावार्थ—हम नम्रता से प्रभु का उपासन करें। प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी करेंगे। वे ही हमें सब धनों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु का दण्ड

तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम्।
आविस्तत्कृष्व यदसत्त उक्थ्यं१ बृहस्पते वि परिरापो अर्दय॥ १४॥

१. हे प्रभो! **ये**=जो **दृष्टवीर्यम्**=दृष्ट पराक्रमवाले भी **त्वा**=आपको **निदे दधिरे**=निन्दा के लिए धारण करते हैं, अर्थात् एक-एक रचना में जिन आपकी शक्ति का प्रकाश हो रहा है—उन आपको जो सदा निन्दित करते हैं, उन **रक्षसः**=राक्षसीवृत्तिवाले पुरुषों को **तेजिष्ठया**=अत्यन्त तीव्र **तपनी**=तपन-साधन आयुध से **तप**=सन्तप्त करिए। धनादि के मद में आसुरवृत्तिवाले पुरुष 'ईश्वरोऽहं' अपने को ईश्वर समझने लगते हैं और नास्तिकवृत्ति के बन जाते हैं। इन पर प्रभु का कोप होता है—किसी तीव्र विपत्ति के पड़ने पर ही ये संतप्त होते हैं और अपने राक्षसीभाव को दूर करने का फिर से विचार करते हैं। २. हे **बृहस्पते**=इन महान् आकाशादि लोकों के स्वामिन् प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **उक्थ्यम्**=प्रशंसनीय—स्तुति के योग्य पराक्रम **असत्**=है **तत्**=उसे **आविष्कृष्व**=प्रकट करिए और इस पराक्रम से **परिरापः**=चारों ओर परिवादवृत्तिवाले इन लोगों को **वि अर्दय**=विशेषरूप से पीड़ित करिए। इस पीड़ा से ही इनका हृदय परिवर्तित हो पायेगा।

भावार्थ—नास्तिकवृत्तिवाले लोग प्रभुविस्मरण से विलास में डूब जाते हैं। प्रभु का दण्ड इन्हें फिर से सावधान करनेवाला होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युमत्+क्रतुमत् (दीप्ति+शक्ति)

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद् दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्॥ १५॥

१. हे **ऋतप्रजात**=ऋत द्वारा प्रादुर्भूत होनेवाले! जब मनुष्य जीवन में 'ऋत' धारण करता है, सब क्रियाओं को बड़े नियम से करनेवाला होता है तभी उसे हृदयस्थ प्रभु का दर्शन होता है। **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **यद्**=जिस ब्रह्मवर्चस् को **अर्यः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अति**

अर्हात्=सब वस्तुओं से अधिक पूजित करता है, वह ब्रह्मवर्चस् **जनेषु**=लोगों में **द्युमत्**=ज्योतिर्मय होकर और **क्रतुमत्**=शक्तिवाला होकर **विभाति**=चमकता है अर्थात् उस ब्रह्मवर्चस् के कारण मस्तिष्क दीप्त होता है तो शरीर शक्तिसम्पन्न। २. **यत्**=जो ब्रह्मवर्चस् **शवसः**=बल के रूप में **दीदयत्**=चमकता है **तत्**=उस **चित्रं द्रविणम्**=अद्भुत ब्रह्मवर्चस् रूप धन को **अस्मासु**=हमारे में **धेहि**=स्थापित करिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे में ब्रह्मवर्चस् की स्थापना हो, जो ब्रह्मवर्चस् हमें मस्तिष्क में दीप्त व शरीर में शक्तिसम्पन्न करे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अदेवों से दूर

मा नः स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः।
आ देवानामोहते वि व्रयो हृदि बृहस्पते न परः साम्नो विदुः ॥ १६ ॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! जो **साम्नः**=शान्ति से **परः**=कुछ भी उत्कृष्ट है ऐसा **न विदुः**=नहीं जानते, अर्थात् जो शान्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं, उन **नः**=हमें **स्तेनेभ्यः मा**=चोरों के लिए मत दे डालिए, अर्थात् हम चोरों से अभिभूत न हो जाएँ। **ये**=जो लोग **द्रुहस्पदे**=द्रोह के स्थान में **निरामिणः**=नितरां रमण करनेवाले हैं, उनके लिए मत दे डालिए। जो **रिपवः**=औरों का विदारण करनेवाले शत्रुभूत पुरुष **अन्नेषु**=औरों के अन्नों में **जागृधुः**=लालचवाले होते हैं, उनके लिए हमें मत दे डालिए। २. हमें उनके लिए भी मत दे डालिए जो कि **हृदि**=हृदय में **देवानाम्**=दिव्यवृत्तियों के **विव्रयः**=वर्जन को **ओहते**=धारण करते हैं, अर्थात् जो हृदय में शुभभावों को न धारण करके सदा अशुभभावों को ही स्थान देते हैं, हम उनसे अभिभूत न हो जाएँ।

भावार्थ—हम चोरों 'द्रोहवृत्तिवालों' लोभियों तथा अदिव्य भावनाओंवालों से दूर रहते हुए शान्तजीवन बिता सकें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋणचित्+ऋणयाः

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नःसाम्नः कविः।
स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि ॥ १७ ॥

१. **त्वष्टा**=वह निर्माता प्रभु **हि**=निश्चय से **त्वा**=तुझे **विश्वेभ्यः भुवनेभ्यः**=सब प्राणियों के लिए—सबके हितसाधन के लिए—**परि अजनत्**=उत्पन्न करता है। तुमने अकेले अपने स्वार्थ सिद्ध करते हुए—मौज मारते हुए जीवन नहीं बिताना। परार्थ को सिद्ध करना ही तेरा स्वार्थ होना चाहिए। २. वे प्रभु **'साम्नः साम्नः कविः'**=प्रत्येक शान्तिप्राप्ति साधन के उपदेष्टा हैं (कु शब्दे)। **सः**=वे **ऋणचित्**=(ऋण Strong hold, fort) इस दृढ़शरीररूप किले का चयन करनेवाले हैं। **ऋणयाः**=सब 'पितृऋण-ऋषिऋण-देवऋण व मानवऋण' आदि ऋणों को हमारे से पृथक् करनेवाले हैं—इन ऋणों से अनृण होने की हमें क्षमता प्रदान करनेवाले हैं (ऋणस्य यावयिता)। २. **ब्रह्मणस्पतिः**=ये ज्ञान के स्वामी प्रभु **द्रुहः हन्ता**=द्रोहवृत्ति को नष्ट करनेवाले हैं उस व्यक्ति के जीवन में ये द्रोह की वृत्ति को नष्ट करते हैं जो कि **महः**=पूजा का तथा **ऋतस्य**=यज्ञ का **धर्तरि**=धारण करनेवाला है। संध्या व अग्निहोत्र को नियम से करनेवाले में प्रभु द्रोहवृत्ति को नहीं उत्पन्न होने देते।

भावार्थ—प्रभु ने हमें सबके हित सिद्ध करने के लिए यह जन्म दिया है। यथासम्भव शान्तजीवन बिताने का हमें प्रयत्न करना है। ध्यान व यज्ञ में प्रवृत्त होकर द्रोह से दूर रहना है। वे प्रभु हमें दृढ़ शरीर प्राप्त कराते हैं—इस योग्य बनाते हैं कि हम सब ऋणों को ठीक से अदा करके मुक्त हो सकें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गौवों का उत्सर्ग

तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्॥ १८॥

१. हे **अङ्गिरः**=गतिशील पुरुष (अगि गतौ) **तव श्रिये**=तेरी शोभा के लिए **पर्वतः**=यह अविद्या का पर्वत **व्यजिहीत**=हिल जाता है। जब मनुष्य क्रियाशील जीवन बिताता है तो वह अज्ञानान्धकार से भी ऊपर उठता है। **यद्**=जब हे अङ्गिरः! तू **गवां गोत्रम्**=गौओं के—इन्द्रियों के—समूह को **उद् असृजः**=विषयों के बन्धन से मुक्त करता है। अविद्या के कारण ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में रागद्वेषवाली थीं। अविद्या गई और रागद्वेष गया। यही इन्द्रियों का विषय बन्धन से मुक्त होना है। २. **इन्द्रेण युजा**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभुरूप मित्र के साथ **तमसा परीवृतम्**=तमोगुण से आवृत्त हुए-हुए **अपाम् अर्णवम्**=ज्ञानजलों के समुद्र को हे **बृहस्पते**=श्रेष्ठ ज्ञानिन्! **निर् औब्जः**=सरल प्रवाहवाला बनाता है (To make straight) प्रभु की मित्रता में हम वृत्रविनाश करके ज्ञानसूर्य को दीप्त करनेवाले बनते हैं। ज्ञानसूर्य की दीप्ति हमारी शोभा बढ़ाती है।

भावार्थ—अविद्या विनष्ट करके हमें चाहिये कि इन्द्रियों को बन्धनमुक्त करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान द्वारा 'भद्र जीवन'

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १९॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **त्वम्**=आप ही **अस्य सूक्तस्य**=इस सूक्त के—उत्तम ज्ञानमयी वाणी के **यन्ता**=प्राप्त करानेवाले हैं। **बोधि**=आप हमारा भी ध्यान करिए। **च**=और **तनयं जिन्व**=आपके सन्तानरूप हमको प्रीणित करिए। आपने ही तो हमें ज्ञान देना है। २. आपसे ज्ञान प्राप्त करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यद् अवन्ति**=जिस बात का अपने में रक्षण करते हैं **विश्वं तद् भद्रम्**=वह सब भद्र ही है। उनका जीवन उत्तम बातों से ही परिपूर्ण होता है। अतः हम भी **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद् वदेम**=खूब ही आपके स्तोत्रों का उच्चारण करें। आपका स्तवन करते हुए हम देव बनें। देव बनकर अपने में शुभ का धारण करें। इस प्रकार अपने जीवन को भद्र बनानेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान देते हैं—ज्ञान देकर वे हमारे जीवन को भद्र बनाते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु का स्तवन करता हुआ प्रभु से जीवनयात्रा की निर्विघ्न पूर्ति के लिए प्रार्थना करता है। उसी के लिए ज्ञान, शक्ति, धन आदि की याचना करता है। अगले सूक्त का भी यही विषय है। प्रस्तुत सूक्त का अन्तिम मन्त्र अगले सूक्त का भी अन्तिम मन्त्र है।

अथ द्वितीयाष्टके सप्तमोऽध्यायः

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सुमति' द्वारा 'प्रभृति'

सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषेऽया विधेम नवया महा गिरा।
यथा नो मीढ्वान्त्स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम्॥ १ ॥

१. **सः**=वे आप **यः**=जो कि **ईशिषे**=सारे ब्रह्माण्ड के ईश हैं, **इमाम्**=इस **प्रभृतिम्**=हमारे प्रकृष्ट भरण को **अविड्ढि**=जानिए-आप हमारे भरण का ध्यान करिए। आप ही हमारे माता-पिता है—हम पुत्रों का पोषण आपके द्वारा ही तो होता है। हम **अया**=इस **नवया**=(नु स्तुतौ) स्तुतियुक्त **महा**=महनीय **गिरा**=वाणी द्वारा **विधेम**=आपका पूजन करते हैं। हम आपके ही गुणों का धारण करते हैं। यह आपके गुणों का स्मरण ही वस्तुतः हमारे सामने लक्ष्यदृष्टि को उत्पन्न करके हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है। इस प्रकार यह स्तवन हमारा भरण करता है। २. **यथा नः मीढ्वान्**=आप जैसे हमारे लिए सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं; अतः **तव सखा**=यह आपका मित्र **स्तवते**=आपका स्तवन करता है। **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **सः**=वे आप **उत**=निश्चय से **नः मतिम् सीषधः**=हमारी बुद्धि को सिद्ध करिए। हमें बुद्धि देकर हमारा पालन करिए। यह 'प्रभृति' इस 'मति' पर ही तो निर्भर है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें—प्रभु हमें सुमति दें। सुमति द्वारा वे हमारी प्रभृति (भरण) का कारण हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वसुमान् पर्वत में प्रवेश

यो नन्त्वान्यनमन्न्योजसोतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि ।
प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद्वसुमन्तं वि पर्वतम्॥ २ ॥

१. **यः**=जो **ओजसा**=ओजस्विता द्वारा **नन्त्वानि**=नमनीय—दबाने के योग्य—काम, क्रोध आदि वृत्तियों को **अनमत्**=झुका देता है—दबा देता है—वशीभूत कर लेता है। **उत**=और **मन्युना**=ज्ञानदीप्ति द्वारा **शम्बराणि**=शान्ति को आवृत कर लेनेवाली ईर्ष्या द्वेषादि की भावना को **वि अदर्दः**=विदीर्ण कर देता है। **अच्युता**=असुरों के बने हुए दृढ़ किलों को भी **प्राच्यावयत्**=अपने स्थान से च्युत कर देता है—काम, क्रोध, लोभ के इन्द्रिय, मन व बुद्धि में बने हुए दृढ़ दुर्गों को नष्ट कर डालता है। वह **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्राणसाधना करता हुआ **आ च**=शीघ्र ही **वसुमन्तम्**=उत्कृष्ट वसुओंवाले **पर्वतम्**=शरीर में मेरुदण्ड के रूप में स्थित मेरुपर्वत में **वि अविशत्**=विशेषरूप से प्रवेश करता है। २. मेरुदण्ड में स्थित भिन्न-भिन्न चक्रों में प्राणों का संयम करता हुआ उत्कृष्ट वसुओं को यह प्राप्त करता है। एक-एक चक्र में प्राणों का संयम विविध शक्तियों को प्राप्त कराता है। ये शक्तियाँ ही योगदर्शन में विभूतियों के रूप में वर्णित हैं।

भावार्थ—काम-क्रोध को हम ओजस्विता द्वारा वश में रखें। ईर्ष्या को ज्ञानाग्नि में भस्म कर दें। असुरों के किलों को विदीर्ण कर दें। प्राणों को मेरुदण्डस्थ चक्रों में निरुद्ध करके उत्कृष्ट वसुओं को प्राप्त करें।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुप्राप्ति का मार्ग

तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन्दृळ्हाव्रदन्त वीळिता।
उद्गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत्स्वः॥ ३॥

१. **देवानां देवतमाय**=देवों में देवाधिदेव प्रभु के लिए **तद् कर्त्वम्**=यह कर्तव्य होता है कि (क) **दृढा**=बड़े दृढ़ असुरों के दुर्ग **अश्रथ्नन्**=शिथिल हो जाएँ। आसुरभावों की जड़ों को हम हिला दें। (ख) **वीडिता**=बड़े प्रबल आसुरभाव **अव्रदन्त**=मृदु हो जाएँ। इनकी प्रबलता समाप्त हो जाए। ३. **गाः**=इन्द्रियरूप गौओं को यह विषयों के बाड़े से **उद् आजत्**=बाहर हांकनेवाला हो। इन्द्रियों को विषयबन्धन से मुक्त करे। **ब्रह्मणा**=ज्ञान द्वारा **वलम्**=(Veil) शान्ति पर परदे के रूप में पड़ जानेवाले ईर्ष्यारूप वलासुर को **अभिनद्**=विदीर्ण करे। ईर्ष्यालु पुरुष कभी प्रभु को नहीं प्राप्त करता। ५. **तमः अगूहत्**=अन्धकार को संवृत कर देता है और **स्वः**=प्रकाश को **व्यचक्षयत्**=प्रकट करता है। स्वाध्याय को अपनाने द्वारा अज्ञानान्धकार दूर करके ज्ञानप्रकाश प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति का मार्ग यह है कि हम काम क्रोधादि के किलों को तोड़ डालें, प्रबल आसुरभावों की तीव्रता समाप्त कर दें, इन्द्रियों को विषयबन्धन से मुक्त करें, ईर्ष्या से ऊपर उठें और स्वाध्याय द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर करें।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अश्मास्य अवत का हिंसन

अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत्।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्॥ ४॥

१. हमारे जीवनों में 'काम' (कामदेव) **अश्मास्यं**=अशनवान् आस्य (मुख) वाला है (अशनवन्तं नि) बहुत खानेवाला है—कभी न तृप्त होनेवाला है। **मधुधारं**=अत्यन्त मधुर प्रवाह वाला है। हमारे पर आक्रमण भी करता है तो अपने पुष्पों से बने धनुष से तथा पुष्पों के बाणों से ही आक्रमण करता है। इस **अवतम्**=जो एक कुएँ के रूप में है—जिसमें मनुष्य के पतन का सदा भय है। ऐसे **यम्**=जिस काम को **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु **ओजसा**=ओजस्विता द्वारा **अभि अतृणत्**=हिंसित करते हैं। २. **विश्वे**=सब **स्वर्दृशः**=प्रकाश को देखनेवाले ज्ञानी पुरुष **तम् एव**=उस ब्रह्मणस्पति को ही **पपिरे**=पीने का प्रयत्न करते हैं—उस प्रभु को ही अपनी सूक्ष्मदृष्टि से देखने के लिए यत्नशील होते हैं और **साकम्**=साथ मिलकर **उद्रिणम् उत्सम्**=उस ज्ञान जल से परिपूर्ण ज्ञान के स्रोत प्रभु को बहु **सिसिचुः**=खूब ही अपने में सींचने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानपुञ्ज प्रभु हमारी वासना विनष्ट करते हैं और ज्ञानी लोग प्रभु को ही देखने का प्रयत्न करते हैं—प्रभु को ही अपने में सींचने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सनातन ज्ञान के द्वारों का उद्घाटन

सना ता का चिद् भुवना भवीत्वा माद्भिः शरद्भिर्दुरो वरन्त वः।
अयतन्ता चरतो अन्यदन्यदिद्या चकार वयुना ब्रह्मणस्पतिः॥ ५॥

१. **या**=जिन **वयुना**=प्रज्ञानों को **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **चकार**=करता है **ता**=वे **सना**=सनातन हैं—सदा से चले आ रहे हैं—प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जाते हैं। वे **का चित्**=निश्चय से आनन्द देनेवाले हैं। **भुवना**=वे वर्तमान में भी दिए जा रहे हैं। **भवीत्वा**=भविष्यत् काल में भी दिए जाएँगे। अगली सृष्टियों के प्रारम्भ में भी इसी प्रकार प्राप्त कराएँ जाएँगे। इन ज्ञानों के **दुरः**=द्वार **माद्भिः**=महीनों से वा **शरद्भिः**=वर्षों से **वः वरन्त**=तुम्हारे लिए खोले जाते हैं, अर्थात् कई बार इन मन्त्रों के भाव पूर्णतया महीनों व वर्षों में स्पष्ट होते हैं। २. कई बार **अयतन्ता**=न यत्न करते हुए ही पति-पत्नी **अन्यत् अन्यत् इत्**=निश्चय से नये-नये ज्ञान में **चरतः**=विचरण करनेवाले होते हैं, अर्थात् स्वाध्याय द्वारा निरन्तर अभ्यास करते हुए वे कई बार अन्तःप्रकाश के रूप में ही वेदार्थ को जान पाते हैं—यह ज्ञान वस्तुतः उन्हें अन्तःस्थित प्रभु द्वारा ही प्राप्त हो रहा होता है। इसे ही (Flash of light) प्रातिभिक ज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु द्वारा दिए इस सनातन ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सदा यत्नशील रहें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

फिर ब्रह्मलोक में

अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्।
ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन्तदुदीयुराविशम्॥ ६॥

१. **ये**=जो **अभिनक्षन्तः**=प्रातःसायं प्रभु की ओर जाते हुए (अभि=दोनों ओर—दिन के प्रारम्भ में व अन्त में) प्रभु की प्रातःसायं उपासना करते हुए **पणीनाम्**=(पण स्तुतौ) स्तोताओं की **गुहा हितम्**=बुद्धिरूप गुहा में स्थापित **तं परमं निधिम्**=उस उत्कृष्ट ज्ञाननिधि को **अभि आनशुः**=सब तरह से प्राप्त करते हैं—पूर्णतया प्राप्त करते हैं—उसके भौतिक व अध्यात्म अर्थों को जानते हुए प्राप्त करते हैं। २. **ते विद्वांसः**=वे विद्वान् **अनृता प्रतिचक्ष्य**=सब अनृतों को अपने से दूर करके **यतः उ आयन्**=जिधर से निश्चयपूर्वक आये थे पुनः फिर **तत्**=उसी ब्रह्मलोक में **आविशम्**=प्रवेश करने के लिए **उदीयुः**=उत्कृष्ट गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान को पानेवाले अनृत को छोड़कर फिर उस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं जो कि उनका वास्तविक घर है। वहीं से आये थे, वहीं लौट जाते हैं। इस संसार की चमक से मूढ़ नहीं बन जाते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सकामयज्ञों में न उलझना

ऋतावानः प्रतिचक्ष्यानृता पुनरात आ तस्थुः कवयो महस्पथः।
ते बाहुभ्यां धमितमग्निमश्मनि नकिः षो अस्त्यरणो जहुर्हि तम्॥ ७॥

१. **ऋतावानः**=ऋत का पालन करनेवाले **कवयः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोग **अनृता प्रतिचक्ष्य**=अनृतों को छोड़कर **पुनः**=फिर **अतः**=इस संसार से हटकर **महस्पथः**=महान् पथ पर **आतस्थुः**=आस्थित होते हैं। संसारमार्ग छोड़कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर होते हैं। संसारमार्ग अनृत से परिपूर्ण है—इसे वे छोड़ते हैं, ऋत को अपनाते हैं और प्रभु की ओर चलनेवाले बनते हैं। २. **ते**=वे **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से **धमितम्**=तप्त की हुई—दीप्त की हुई **तम् अग्निम्**=उस स्वर्गादिप्राप्ति की साधनभूत अग्नि को भी **हि**=निश्चय से **जहुः**=छोड़ देते हैं। वे समझ जाते हैं कि 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'=यज्ञरूप बेड़े भी दृढ़ नहीं हैं—ये हमें पार न लगाएँगे। वे समझ लेते हैं कि **सः**=वह **अश्मनि**=पत्थर में होनेवाला—अग्निकुण्ड में होनेवाला **नकिः अस्ति**=कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं है—

अरणः=ये रमण व आनन्द को देनेवाला नहीं। इस प्रकार सकामयज्ञों में भी न उलझते हुए ये उपासक प्रभु को आराधित करते हैं।

भावार्थ—ऋतरक्षक ज्ञानी लोग प्रभु का उपासन करते हुए महान् पथ के पथिक होते हैं। वे सकामयज्ञों में भी उलझते नहीं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रणवो धनुः

ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्र तदश्नोति धन्वना।
तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः ॥ ८ ॥

१. ज्ञानीपुरुष 'प्रणव' (ओ३म्) को ही अपना धनुष बनाता है। खाली समय में 'ओ३म्' का ही जप करता है। इस प्रणवरूप धनुष की 'ज्या' (डोरी) ऋत है। यह प्रणव का जप करनेवाला अनृत से सदा दूर रहता है। इसका जीवन क्रियाशील होता है—क्रियाशीलता के द्वारा यह वासनारूप शत्रुओं को अपने से दूर रखता है। वासना-विनाश करके यह उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त होता है। **ब्रह्मणस्पतिः**=यह ज्ञानीपुरुष **ऋतज्येन**=ऋत की ज्यावाले **क्षिप्रेण**=शत्रुओं को दूर प्रेरित करनेवाले **धन्वना**=प्रणवरूप धनुष से **यत्र**=जहाँ **वष्टि**=चाहता है **तत्**=उस स्थान को **अश्नोति**=प्राप्त करता है। २. **तस्य**=उस ज्ञानी के **इषवः**=बाण **साध्वीः**=बड़े उत्तम होते हैं। ये बाण **कर्णयोनयः**=श्रोत्रमूलक हैं। श्रोत्र द्वारा श्रवण किये जानेवाले मन्त्र='ज्ञान के वचन' ही वस्तुतः वे बाण हैं। **याभिः**=जिन बाणों द्वारा **नृचक्षसः**=(Demon, goblin) दैत्यभावों को **अस्यति**=दूर फेंकता है। इस प्रकार राक्षसवृत्तियों को दूर करके यह **दृशये**=प्रभुदर्शन के लिए होता है।

भावार्थ—हम प्रणव को धनुष बनाकर आसुरीभावों को क्रियाशीलतारूप बाणों से परे फेंकनेवाले हों। ऋत को जीवन में स्थान दें। ऐसा होने पर ही हम प्रभुदर्शन कर सकेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सूर्य के समान

स संनयः स विनयः पुरोहितः स सुष्टुतः स युधि ब्रह्मणस्पतिः।
चाक्ष्मो यद्वाजं भरते मती धनादित्सूर्यस्तपति तप्यतुर्वृथा॥ ९ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रणवरूप धनुषवाला **सः**=वह उपासक **सन्नयः**=अपने जीवन को सम्यक् प्रणीत करनेवाला होता है। **सः**=वह **विनयः**=विनीत होता है। **सः**=वह **पुरोहितः**=औरों के सामने (पुरः) आदर्शरूप से स्थापित होता है। **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनकर **सः**=वह **युधि**=अध्यात्मसंग्राम में **सुष्टुतः**=उत्तम स्तुतिवाला होता है। यह प्रभुस्तवन ही उसे वासनाओं से पराजित नहीं होने देता। २. **चाक्ष्मः**=द्रष्टा बनकर अथवा क्षमाशील बनकर (चक्ष् अथवा क्षम्) **यद्**=जब यह **वाजम्**=शक्ति को तथा **मती**=बुद्धि के साथ **धना**=धनों को **भरते**=धारण करता है। **आत् इत्**=तब शीघ्र ही **तप्यतुः**=शत्रुओं को संतप्त करनेवाला यह व्यक्ति **वृथा**=अनायास ही **सूर्यः तपति**=ज्ञानसूर्य बनकर दीप्त होता है।

भावार्थ—जीवन को सम्यक् चलाते हुए हम विनीत बनें। औरों के लिए आदर्श जीवनवाले होते हुए अध्यात्म-संग्राम में प्रभुस्तवन द्वारा विजयी बनें। द्रष्टा व क्षमाशील बनकर शक्तिवृद्धि व धनों को प्राप्त करें तथा सूर्य की तरह चमकें।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः ॥ छन्दः—स्वाराड् जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सब धनों के स्वामी प्रभु

विभु प्रभु प्रथमं मेहनावतो बृहस्पतेः सुविदत्राणि राध्या।
इमा सातानि वेन्यस्य वाजिनो येन जना उभये भुञ्जते विशः ॥ १० ॥

१. **मेहनावतः**=धनों की वर्षा करनेवाले **बृहस्पतेः**=आकाशादि महान् लोकों के रक्षक प्रभु के **सुविदत्राणि**=उत्तम धन (विद् लाभे) **विभु**=व्यापक हैं, **प्रभु**=शक्ति के देनेवाले हैं, **प्रथमम्**=अत्यन्त विस्तृत हैं, **राध्या**=ये हमारे सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं। २. **इमा सातानि**=ये सब दिये गये धन उस **वेन्यस्य**=सबका हित चाहनेवाले **वाजिनः**=सब अन्नों के स्वामी उस ब्रह्मणस्पति प्रभु के हैं, **येन**=जिससे **जनाः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले लोग तथा **विशः**=विविध योनियों में प्रवेश करनेवाले प्राणी **उभये**=दोनों ही **भुञ्जते**=अपने शरीरों का पालन करते हैं। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी सभी इस धन से अपना पालन करते हैं। यह धन सभी के पालन का साधन बनता है। एक भक्त धन को प्रभु का दिया हुआ समझ कर सभी के हित के लिए उसका विनियोग करता है।

भावार्थ—सब धनों के स्वामी वे प्रभु हैं। उनसे दिये गये धनों को हम सब प्राणियों के लिए उपयुक्त करें।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सर्वव्यापक प्रभु

योऽवरे वृजने विश्वथा विभुर्महामु रण्वः शवसा ववक्षिथ।
स देवो देवान्प्रति पप्रथे पृथु विश्वेदु ता परिभूर्ब्रह्मणस्पतिः ॥ ११ ॥

१. **यः**=जो **अवरे**=इस अवर (Lower) निचले **वृजने**=(Moving) संसार में **विश्वथा विभुः**=सब प्रकार से व्याप्त है—इस ब्रह्माण्ड में जिसकी व्याप्ति से कोई भी स्थान खाली नहीं है। 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः' इस मन्त्र भाग में कहा है कि यह सारा संसार परमेश्वर के इस अवर एक देश में स्थित है—उसका त्रिपात् तो इस ब्रह्माण्ड से ऊपर ही है। इस अवर ब्रह्माण्ड में प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। **उ**=निश्चय से वे प्रभु **महाम्**=महान् व महनीय (पूजनीय) हैं। **रण्वः**=वे रमणीय प्रभु **शवसा**=बल से **ववक्षिथ**=बढ़े हुए हैं। अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं। २. **सः**=वे **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **देवान् प्रति**=सब देवों का लक्ष्य करके **पृथु पप्रथे**=खूब ही विस्तृत होते हैं। वस्तुतः इन सब देवों को वे महादेव ही देवत्व प्राप्त कराते हैं और **ब्रह्मणस्पतिः**= वे ज्ञान के स्वामी प्रभु **उ इत्**=निश्चित ही **ता**=उन **विश्वा**=सब प्राणियों को **परिभूः**=व्याप्त कर रहे हैं। सब प्राणियों में भी जो कुछ विभूति—श्री व ऊर्जित है वह सब उस प्रभु की व्याप्ति के कारण ही है। सब सूर्यादि देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले वे प्रभु हैं और सब प्राणियों को शक्ति प्राप्त करानेवाले वे ही हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। देवों को देवत्व तथा प्राणियों को अमुक-अमुक शक्ति प्रभु ही प्राप्त करा रहे हैं।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिरिन्द्रश्च ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व ज्ञान का समन्वय

विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्र मिनन्ति व्रतं वाम्।
अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम् ॥ १२ ॥

१. 'इन्द्र' शक्ति का देवता है और 'ब्रह्मणस्पति' ज्ञान का। हे **मघवाना**=ऐश्वर्यवाले इन्द्राब्रह्मणस्पती=इन्द्र और ब्रह्मणस्पति **युवोः**=आप दोनों का **विश्वं सत्यम् इत्**=सब सत्य ही है। जब इन्द्र और ब्रह्मणस्पति का मेल हो जाता है तो सब कुछ सत्य ही प्रतीत होता है। शक्ति और ज्ञान का मेल सब असत्य को दूर कर देता है। **च**=और **आपः**=('आपो वै सर्वा देवताः' ऐ० २.१६ 'आपो वै सर्वे देवाः' श० १०.५.४.१४) सब देव **वाम्**=आपके **व्रतम्**=व्रत को न **प्रमिनन्ति**=हिंसित नहीं करते हैं। वस्तुतः देववृत्ति के व्यक्ति 'इन्द्र व ब्रह्मणस्पति' दोनों के ही पूजक होते हैं। वे शक्ति और ज्ञान को लक्ष्य बना करके ही सब कर्म करते हैं। २. **नः**=हमारा भी **हविः**=त्यागपूर्वक अदन, यज्ञशेष का सेवन **इन्द्राब्रह्मणस्पती अच्छा**=इन्द्र और ब्रह्मणस्पति का लक्ष्य करके हो। इन्द्र व ब्रह्मणस्पति हमारी हवि को इस प्रकार प्राप्त हों **इव**=जैसे **युजा वाजिना**=इकट्ठे जुतनेवाले घोड़े **अन्नं जिगातम्**=अन्न की ओर जाते हैं। 'युजा वाजिना' में कोई घोड़ा छोटा और कोई बड़ा नहीं है। इसी प्रकार 'इन्द्र और ब्रह्मणस्पति' में कोई छोटा व कोई बड़ा नहीं। शक्ति व ज्ञान दोनों का ही महत्त्व समानरूप से है। इनको प्राप्त करने के लिए हम हवि को स्वीकार करें।

भावार्थ—हमारा जीवन शक्ति व ज्ञान का समन्वय करके चले।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आशिष्ठा वह्नयः

उताशिष्ठा अनु शृण्वन्ति वह्नयः सभेयो विप्रो भरते मती धना।
वीळुद्वेषा अनु वश ऋणमाददिः स ह वाजी समिथे ब्रह्मणस्पतिः ॥ १३ ॥

१. **उत**=और **आशिष्ठाः**=उत्तम इच्छाओंवाले **वह्नयः**=कर्त्तव्यभार उठानेवाले व्यक्ति **अनुशृण्वन्ति**=उस अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा सुनते हैं। २. इस प्रेरणा को सुननेवाला **सभेयः**=सभा में उत्तम—सभ्यता से व्यवहार करनेवाला **विप्रः**=ज्ञानी **मती**=बुद्धि से **धना**=धनों का **भरते**=भरण करता है। सभा में सदा उत्तम व्यवहारवाला होता है—ज्ञान को प्राप्त करता है तथा बुद्धिपूर्वक उत्तम मार्गों से धनार्जन करता है। २. **वीडुद्वेषाः**=प्रबल काम-क्रोध आदि राक्षसीभावों से प्रीति न करनेवाला, **अनुवश**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुसार **ऋणम् आददिः**=(ऋण=दुर्गभूमि= Fort) असुरों के दुर्गों को ले-लेनेवाला होता है। असुरों के किलों को छीन लेता है। असुरों को तीनों पुरियों से निकाल भगाता है—इस प्रकार त्रिपुरारि बनता है। ३. **सः**=वह **ह**=निश्चय से **समिथे**= संग्राम में **वाजी**=शक्तिशाली होता है **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनता है। शरीर में वाजी—मस्तिष्क में ब्रह्मणस्पति।

भावार्थ—हम उत्तम इच्छाओंवाले व कर्त्तव्य का पालन करनेवाले हों। सभ्य व ज्ञानी बनकर बुद्धिपूर्वक धनों का अर्जन करें। इन्द्रियों को वश में करते हुए असुरों के किलों का विध्वंस करें। शक्तिशाली व ज्ञानी बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्रियों का विषयों से उन्नयन

ब्रह्मणस्पतेरभवद्यथावशं सत्यो मन्युर्महि कर्मा करिष्यतः ।
यो गा उदाजत्स दिवे वि चाभजन्महीव रीतिः शवसासरत्पृथक् ॥ १४ ॥

१. **ब्रह्मणस्पतेः**=ज्ञानी का सब कुछ **यथावशम्**=इच्छा के अनुसार **अभवत्**=हो जाता है। इसका **मन्युः**=ज्ञान **सत्यः**=सत्य होता है। **महि कर्मा करिष्यतः**=महत्त्वपूर्ण कर्मों को करते हुए

इसका कभी भी कुछ इच्छा के विपरीत नहीं होता। इसका ज्ञान सत्य होता है—अतः इसके कर्म भी सत्य होते हैं 'सत्यप्रतिष्ठायां सर्वकर्मफलाश्रयत्वम्' (योग द०)। २. यह ब्रह्मणस्पति वह है **यः**=जो **गाः उदाजत्**=इन्द्रियरूप गौवों को विषयों से ऊपर उठाता है—विषयों से बद्ध नहीं होने देता। **च**=और **सः**=वह **दिवे**=ज्ञानप्राप्ति के लिए **अभजत्**=इन्हें भागी बनाता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति के लिए अर्थों के सम्पर्क में आती हैं। **मही रीतिः इव**=महान् जलधारा की भाँति (री प्रस्रावणे) **शवसा**=शक्ति के साथ **पृथक्**=अनायास ही **असरत्**=इसकी ज्ञानधारा प्रवाहित होती है। कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में व्यापृत होकर इसे सशक्त बनाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों में न फंसकर इसके ज्ञानप्रवाह को अविच्छिन्नरूप से चलाती हैं।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों में न फंसने देंगे तो कर्मेन्द्रियाँ शक्तिवृद्धि का कारण बनेंगी और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानवृद्धि का।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संयमयुक्त उत्कृष्ट जीवनवाला 'धन'

ब्रह्मणस्पते सुयमस्य विश्वहा रायः स्याम रथ्योः वयस्वतः।
वीरेषु वीराँ उप पृङ्धि नस्त्वं यदीशानो ब्रह्मणा वेषि मे हवम्॥ १५ ॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हम **विश्वहा**=सदा **रायः**=धन के **रथ्यः**=स्वामी **स्याम**=हों। उस धन के हम स्वामी हों जो कि **सुयमस्य**=उत्तम नियमवाला है—जिस धन के कारण हमारा जीवन असंयत नहीं बन जाता तथा उस धन के हम स्वामी हों जो कि **वयस्वतः**=उत्कृष्ट जीवनवाला है—जो धन हमें प्रशस्त जीवनवाला बनाता है। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **नः वीरेषु**=हमारे वीर सन्तानों में **वीरान्**=वीर ही सन्तानों को **उपपृङ्धि**=सम्पृक्त करिए। धनों का ठीक ही प्रयोग करते हुए हम तो वीर हों ही—हमारे सन्तान भी वीर हों—उनके सन्तान भी वीर हों। आप **यत्**=क्योंकि **ईशानः**=ईशान हैं—स्वामी हैं, अतः आप **मे**=मेरी **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक की गई **हवम्**=पुकार व स्तुति को **वेषि**=प्राप्त होते हैं। मैंने और किससे आराधना करनी! आप ही ईशान हो, आपको छोड़कर मैंने और कहाँ जाना? आप मेरी प्रार्थना को अवश्य सुनेंगे ही।

भावार्थ—हे प्रभो! आप मुझे संयमयुक्त उत्कृष्ट जीवनवाले धन प्राप्त कराइए। हमारा वंश वीरतावाला हो। आप ही हमारे ईशान हैं। आप से ही हम याचना करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-गोष्ठियों में प्रभुचर्चा

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १६ ॥

यह २.२३.१९ पर व्याख्यात है।

सम्पूर्ण सूक्त उत्कृष्ट स्तवन द्वारा प्रभुप्राप्ति का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार ब्रह्मणस्पति की उपासना करनेवाला स्वयं भी ब्रह्मणस्पति बनता है, ब्रह्मणस्पति का मित्र बनता है और कहता है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शत्रुविजय-वृद्धि व दीर्घजीवन

इन्धानो अग्निं वनवद्वनुष्यतः कृतब्रह्मा शूशुवद्रातहव्य इत्।
जातेन जातमति स प्र सर्सृते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः॥ १ ॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयम्**=जिस-जिस को **युजं कृणुते**=साथी बनाता है, अर्थात् जो प्रभु का मित्र बन पाता है वह **अग्निम् इन्धानः**=उस प्रकाशमय प्रभु को अपने अन्दर समिद्ध करता हुआ—अपने हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करता हुआ **वनुष्यतः**=हिंसा करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **वनवत्**=जीत लेता है। यह प्रभु की मित्रता में इन प्रबल शत्रुओं को हिंसन करने में समर्थ होता है। २. **कृतब्रह्मा**=(कृतं ब्रह्म येन) स्तुति करनेवाला अथवा ज्ञान का सम्पादन करनेवाला **रातहव्यः**=(रातं हव्यं येन) हव्यों को देनेवाला, अर्थात् अग्निहोत्रादि यज्ञों को करनेवाला यह प्रभु का मित्र **इत्**=निश्चय से **शूशुवत्**=वृद्धि को प्राप्त होता है और ३. यह दीर्घजीवनवाला होता हुआ **जातेन**=पुत्र से **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए पौत्र को भी **अति**=लाँघकर **प्रसर्सृते**=खूब चलता है, अर्थात् पुत्र-पौत्र तथा प्रपौत्र को भी देखनेवाला होता है। पुत्र के होने पर यह सामान्यतः छब्बीस वर्ष का था तो पौत्र के होने पर इकावनवें वर्ष में होगा तथा प्रपौत्र को देखनेवाला यह छहत्तरवें वर्ष से ऊपर होगा।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु का मित्र बनकर यह (क) काम-क्रोधादि को जीत पाता है (ख) ज्ञान स्तवन व यज्ञों में चलता हुआ यह निश्चय से बढ़ता है (ग) दीर्घजीवनवाला होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शत्रुविजय तथा ज्ञान वृद्धि

वीरेभिर्वीरान्वनवद्वनुष्यतो गोभीं रयिं पप्रथद्बोधति त्मना।
तोकं च तस्य तनयं च वर्धते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥ २ ॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयं युजं कृणुते**=जिस-जिस को अपना साथी बनाता है, वह **वीरेभिः**=वीर-सन्तानों के साथ **वनुष्यतः**=हिंसा करनेवाले **वीरान्**=प्रबल कामादि शत्रुओं को **वनवत्**=पराजित करता है स्वयं तो कामादि को जीतता ही है—इसके सन्तान भी काम-क्रोध को जीतनेवाले होते हैं। २. काम-क्रोध को जीतकर यह **गोभिः**=अपनी इन्द्रियों से **रयिम्**=ऐश्वर्य को **पप्रथत्**=विस्तृत करता है। इसकी इन्द्रियाँ इसके ज्ञानैश्वर्य को बढ़ाने का साधन बनती हैं। अन्ततः यह **त्मना**=अन्तःस्थित आत्मतत्त्व से **बोधति**=ज्ञान प्राप्त करता है। इसे अन्तः-प्रकाश प्राप्त होता है ३. तथा **तोकं च**=इसके पुत्र **च**=और **तनयम्**=पौत्र **वर्धते**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसके सन्तानों को भी उत्तम संस्कार प्राप्त होते हैं और वे सब दृष्टिकोणों से बढ़नेवाले होते हैं।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु को मित्ररूप में पाकर (क) हम सन्तानों के साथ वासनाओं को जीतनेवाले होते हैं (ख) हमारा ज्ञान बढ़ता है (ग) हमारे पुत्र-पौत्र सब दृष्टिकोणों से उन्नत होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विजेता-अपराजित

सिन्धुर्न क्षोदः शिमीवाँ ऋघायतो वृषेव वध्रीँरभि वष्ट्योजसा।
अग्नेरिव प्रसितिर्नाह वर्तवे यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयम्**=जिस-जिस को **युजं कृणुते**=साथी बनाता है, वह **शिमीवान्**=उत्कृष्ट कर्मोंवाला होता हुआ **ऋघायतः**=हिंसा करनेवाले शत्रुओं को **ओजसा**=बल द्वारा **अभिवष्टि**=(अभितः हन्तुं कामयते सा०) अन्दर-बाहर नष्ट करने की कामना करता है। उसी प्रकार **नः**=जैसे कि **सिन्धुः**=नदी **क्षोदः**=किनारे को (क्षुद्यमानं कूलं सा०) और

इव=जैसे कि **वृषा**=शक्तिशाली वायु... **अग्नेः**=अग्नि की ... २. जैसे **अग्नेः**=अग्नि की **प्रसितिः**=ज्वाला **अह**=निश्चय से **वर्तवे न**=निवारण के लिए नहीं होती है, उसी प्रकार यह प्रभुमित्र शत्रुओं से पराजित नहीं किया जा सकता।

भावार्थ—प्रभुमित्र शत्रुओं का विजेता तथा शत्रुओं से सदा अपराजित होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

निरन्तर प्रकाश

तस्मा अर्षन्ति दिव्या असश्चतः स सत्वभिः प्रथमो गोषु गच्छति।
अनिभृष्टतविषिर्हन्त्योजसा यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥ ४॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयम्**=जिस-जिस को **युजं कृणुते**=साथी बनाता है **तस्मा**=उसके लिए **असश्चतः**=अनिरुद्ध अर्थात् निरन्तर **दिव्याः**=प्रकाश की किरणें **अर्षन्ति**=प्राप्त होती हैं। इसे अन्तःप्रकाश दिखने लगता है और इसके अन्दर ज्ञान का स्रोत उमड़ आता है। २. **सः**=वह **सत्वभिः प्रथमः**=सात्त्विकभावों के दृष्टिकोण से प्रथम स्थान में स्थित हुआ-हुआ **गोषु गच्छति**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त होता है। ३. **अनिभृष्टतविषिः**=शत्रुओं से अबाधित बलवाला होता हुआ **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **हन्ति**=शत्रुओं को नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—प्रभु का मित्र (क) निरन्तर प्रकाश को प्राप्त होता है (ख) सात्त्विकवृत्तिवाला होता हुआ उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियोंवाला होता है (ग) ओजस्वी बनकर शत्रुओं को पराजित करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवताओं के रक्षण में

तस्मा इद्विश्वे धुनयन्त सिन्धवोऽच्छिद्रा शर्म दधिरे पुरूणि।
देवानां सुम्ने सुभगः स एधते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः ॥ ५॥

१. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यंयम्**=जिस-जिस को **युजं कृणुते**=साथी बनाता है **तस्मै इत्**=उसके लिए निश्चय से **विश्वे**=(विश्=प्रवेशने) शरीर में ही प्रविष्ट होनेवाले **सिन्धवः**= स्पन्दनशील रेतःकण **धुनयन्त**=रोगकृमियों को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं और इस प्रकार इसके शरीर को नीरोग बनाते हैं। २. नीरोग बने हुए इन व्यक्तियों के लिए **अच्छिद्रा**=छिद्ररहित—लगातार **पुरूणि**=बहुत अथवा पालन व पूरण करनेवाले **शर्म**=सुख **दधिरे**=धारण किये जाते हैं। इसका जीवन निरन्तर आनन्दमय होता है। ३. **सः**=वह **देवानाम्**=देवताओं के **सुम्ने**=आनन्द में (Happiness) अथवा रक्षण में (protection) **सुभगः**=सौभाग्यवाला होता हुआ **एधते**=वृद्धि को प्राप्त होता है। इसके आनन्द देवताओं के आनन्द होते हैं, न कि राक्षसों के। यह यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही आनन्द अनुभव करता है, मांस शराब आदि के सेवन में नहीं। देवताओं के रक्षण प्राप्त करके यह अपने सौभाग्य को निरन्तर बढ़ानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का मित्र (क) वीर्यकणों के रक्षण से नीरोग शरीरवाला होता है (ख) इसका आनन्द अच्छिद्र होता है (ग) देवों के रक्षण में इसका सौभाग्य बढ़ता चलता है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु के मित्र के लक्षणों का वर्णन करता है। प्रभु का मित्र (१) प्रभु को हृदय में दीप्त करता हुआ कामादि शत्रुओं का हिंसन करता है (२) ज्ञान-ध्यान व यज्ञोंवाला होता हुआ निरन्तर बढ़ता है (३) पुत्रों-पौत्रों व प्रपौत्रों को भी देखनेवाला दीर्घजीवी होता है (४) वीरसन्तानों

के साथ प्रबल शत्रुओं को भी जीतता है (५) ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानैश्वर्य को बढ़ाता है, अन्तःस्थित आत्मा से प्रकाश प्राप्त करता है (६) इसके पुत्र-पौत्र भी उन्नतिपथ पर चलनेवाले होते हैं (७) यह ओजस्विता से शत्रुओं को सब ओर से समाप्त करता है (८) अग्निज्वाला के समान शत्रुओं से रोका नहीं जा सकता (९) अनिरुद्ध ज्ञानधाराएँ इसे प्राप्त होती हैं (१०) सात्त्विकभावों में प्रथम होता हुआ ज्ञान वाणियों को प्राप्त होता है। (११) अबाधित बलवाला होता है (१२) इसके शरीर में व्याप्त वीर्यकण इसे नीरोग बनाते हैं (१३) निरन्तर आनन्द धारण करता है (१४) देवों के रक्षण में सदा बढ़ता चलता है। अगला सूक्त भी इसी का चित्रण करता है।

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋजुः-शंसः

ऋजुरिच्छंसो वनवद्वनुष्यतो देवयन्निददेवयन्तमभ्यसत्।
सुप्रावीरिद्वनवत्पृत्सु दुष्टरं यज्वेदयज्योर्वि भजाति भोजनम्॥ १॥

१. गतसूक्त के अनुसार प्रभु जिसको मित्र बनाते हैं वह **ऋजुः इत्**=निश्चय से सरलता से युक्त होता है। इसका जीवन सरल होता है—छलछिद्र से रहित होता है। **शंसः**=यह सदैव प्रभुस्तवन करनेवाला होता है। इस प्रभुशंसन के कारण प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर **वनुष्यतः वनवद्**=हिंसक काम-क्रोध आदि शत्रुओं को हिंसित करनेवाला होता है। काम-क्रोधादि को यह पराजित करता है। २. **देवयन् इत्**=सदा उस देव प्रभु की प्राप्ति की कामनावाला होता हुआ **अदेवयन्तम्**=अदिव्य-भावनाओं को **अभ्यसत्**=अभिभूत करता है। दिव्य भावनाओं को अपने अन्दर उपजाता हुआ यह उस महादेव प्रभु को प्राप्त करता है। ३. यह **इत्**=निश्चय से **सुप्रावीः**=बड़ी उत्तमता से अपना रक्षण करता है। **पृत्सु**=संग्रामों में **दुष्टरम्**=बड़ी कठिनता से जीतने योग्य शत्रुओं को भी **वनवत्**=यह जीत लेता है और **इत्**=निश्चय से **यज्वा**=यज्ञशील बनता है **अयज्योः**=अयज्यु के—यज्ञ न करनेवाले के **भोजनम्**=भोजन को **विभजाति**=अपने से विभक्त—पृथक् करता है, अर्थात् कभी यज्ञ किये बिना भोजन करनेवाला नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु का मित्र सरल, स्तुति करनेवाला, प्रभुप्राप्ति की कामनावाला—वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचानेवाला व यज्ञशील होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

भद्रं मनः कृणुष्व

यजस्व वीर प्र विहि मनायतो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये।
हविष्कृणुष्व सुभगो यथाससि ब्रह्मणस्पतेरव आ वृणीमहे॥ २॥

१. प्रभु इस भक्त से कहते हैं कि हे **वीर**=शत्रुओं को नष्ट करनेवाले! **यजस्व**=तू यज्ञशील हो। **मनायतः**=अभिमन्यमान—अभिमानयुक्त—शत्रुओं के प्रति **प्रविहि**=प्रकर्षेण युद्ध के लिए जानेवाला हो। **मनः भद्रं कृणुष्व**=अपने मन को भद्र बना। २. **वृत्रतूर्ये**=वासना के हिंसन के निमित्त **हविः कृणुष्व**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बन। **यथा**=जिससे तू **सुभगः**=उत्तम सौभाग्यवाला **असंसि**=होता है। दानपूर्वक अदन से ही जीवन सुन्दर बनता है। अन्यथा यह जीवन असुर बन जाता है। असुर यज्ञ न करके सब स्वयं खा जाते हैं। ३. इस प्रकार दानपूर्वक अदन करते हुए हम **ब्रह्मणस्पतेः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु के **अवः**=रक्षण की **आवृणीमहे**=प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों। यज्ञशीलपुरुष ही प्रभुरक्षा का पात्र होता है।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

श्रद्धामनाः हविषा

स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्॥ ३॥

१. **यः**=जो **श्रद्धामनाः**=श्रद्धायुक्त मनवाला होकर **हविषा**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशेष का सेवन करने से—**देवानां पितरम्**=सब देवों के पालक **ब्रह्मणस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी प्रभु को **आविवासति**=पूजता है; **सः इत्**=वह निश्चय से **अनेन**=अपने बन्धुजनों के साथ **वाजं भरते**=अन्न का भरण करनेवाला होता है। **सः**=वह **विशा**=अपनी प्रजा के साथ अन्न का भरण करता है, **सः**=वह **जन्मना**=जन्म से ही—स्वभाव से ही अन्नों का धारण करनेवाला होता है, **सः**=वह **पुत्रैः**=अपने सन्तानों से वाजं भरते=अन्न का पोषण करता है। यह **नृभिः**=कर्मों का प्रणयन करनेवाले लोगों के साथ **धना**=धनों का सम्पादन करता है। २. श्रद्धायुक्त मन से—यज्ञशेष के सेवन से—प्रभु की उपासना करनेवाले को अन्न व धन की कमी नहीं रहती। यह अपने बन्धुजनों-प्रजाओं-पुत्रों व कर्मकरों के साथ अन्न और धन को सिद्ध करता है और इसे जन्म से ही अन्न धन प्राप्त होता है, अर्थात् 'शुचीनां श्रीमतां गेहे' यह पवित्र व श्रीसम्पन्न घरों में ही जन्म लेता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन श्रद्धा व हवि से होता है। यह उपासक अन्न व धन के दृष्टिकोण से क्षीण नहीं होता।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—ब्रह्मणस्पतिः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उरुचक्रिरद्भुतः

यो अस्मै हव्यैर्घृतवद्भिरविधत्प्र तं प्राचा नयति ब्रह्मणस्पतिः।
उरुष्यतीमंहसो रक्षती रिषोंऽहोश्चिदस्मा उरुचक्रिरद्भुतः॥ ४॥

१. **यः**=जो **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **घृतवद्भिः**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तिवाले **हव्यैः**=दानपूर्वक अदन से **अविधत्**=पूजा करता है। वस्तुतः प्रभु का पूजन इसी प्रकार होता है कि हम (क) मलों को अपने से दूर करें (ख) ज्ञान को दीप्त करें (ग) दानपूर्वक अदन करनेवाले हों। **तम्**=उस व्यक्ति को **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **प्राचा**=आगे बढ़ने के मार्ग से (प्र अञ्च्) **प्रणयति**=ले-चलता है। २. **अद्भुतः**=वह आश्चर्यभूत प्रभु **ईम्**=निश्चय से इसे **अंहसः**=पाप से **उरुष्यति**=बचाता है। **रिषः**=हिंसक **अंहोः**=दारिद्र्य व कुटिलता से **रक्षति**=रक्षित करता है और **चित्**=निश्चय से **अस्मै**=इसके लिए **उरुचक्रिः**=महान् उपकार को करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'मलों के क्षरण, ज्ञानदीप्ति तथा यज्ञशेष के सेवन' से होती है। प्रभु उपासक को पाप से बचाते हैं—दारिद्र्य से रक्षित करते हैं।

सूक्त की मूल भावना यह है कि हम प्रभु का उपासन करें, प्रभु हमारा रक्षण करेंगे। प्रभु से रक्षित होकर हम दिव्यभावों को प्राप्त करेंगे।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा ॥ देवता—आदित्याः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मित्र आदि देवों का धारण

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः॥ १॥

१. आदित्य ही देव हैं। ये सदा अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाले हैं 'आदानात्'। अच्छाइयों को ग्रहण करने के कारण ही ये देव बने हैं। ये देव ज्ञान से दीप्त होने के कारण यहाँ 'राजभ्यः' इस प्रकार कहे गये हैं 'राजृ दीप्तौ'। मैं **राजभ्यः**=इन चमकनेवाले **आदित्येभ्यः**=देवों के लिए—इन देवों को प्राप्त करने के लिए **इमाः**=इन **घृतस्नूः**=ज्ञानदीप्ति का स्रवण करनेवाली **गिरः**=वाणियों को **सनात्**=सदा **जुह्वा**=वाणी से **जुहोमि**=(करोमि –सा०) सदा अपने अन्दर आहुत करता हूँ। इन ज्ञानवाणियों द्वारा मैं दिव्य गुणों को अपने में धारण करता हूँ। २. (क) **मित्रः**=मित्र **नः**=हमारी प्रार्थना **शृणोतु**=सुने। 'प्रमीतेस्त्रायकः' प्रमीति से बचानेवाला मित्र है—मैं अपने को रोगों व पापों से बचानेवाला बनूँ। (ख) **अर्यमाः**='अरीन् यच्छति' काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का नियमन करनेवाला सुने, अर्थात् मैं भी काम-क्रोध-लोभ का नियमन करनेवाला बनूँ। (ग) **भगः**=भजनीय ऐश्वर्य मेरी प्रार्थना को सुने। मैं भजनीय ऐश्वर्य का प्राप्त करनेवाला होऊँ। (घ) **तुविजातः**=महान् विकासवाला मेरी वाणी को सुने। मैं अधिक से अधिक विकासवाला बनूँ। (ङ) **वरुणः**=पाप से निवारण करनेवाला देव मेरी प्रार्थना सुने। मैं पाप से अपने को बचाता हुआ वरुण बनूँ। (च) **दक्षः**=सब कार्यों को कुशलता से करने में समर्थ 'दक्ष' मेरी वाणी को सुने। मैं भी कार्यकुशल 'दक्ष' बनूँ। (छ) **अंशः**=अंश मेरी प्रार्थना सुने। धनों को बांटकर खानेवाला 'अंश' ही मैं बन पाऊँ। (अंश् to divide)।

भावार्थ—मैं ज्ञान प्राप्त करता हुआ नियमन करनेवाला, भजनीय ऐश्वर्यवाला, महान् विकासवाला, पाप से अपना निवारण करनेवाला, कार्यकुशल, बाँटकर खानेवाला बनूँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मित्र-अर्यमा-वरुण

इमं स्तोमं सक्रतवो मे अद्य मित्रो अर्यमा वरुणो जुषन्त।
आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः॥ २॥

१. **अद्य**=आज **मे इमं स्तोमम्**=मेरे इस स्तवन को **सक्रतवः**=समान संकल्प व प्रज्ञानवाले **मित्रः अर्यमा वरुणः**=मित्र, अर्यमा और वरुण **जुषन्त**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले बनें। मैं मित्र बनूँ—अर्यमा बनूँ और वरुण बनूँ। सबके साथ स्नेह करनेवाला—काम-क्रोध-लोभ को वश में करनेवाला तथा द्वेष का निवारण करनेवाला होऊँ। २. 'मित्र, अर्यमा और वरुण' ये **आदित्यासः**=आदित्य हैं—सब अच्छाइयों का अपने में आदान करनेवाले हैं। **शुचयः**=ये पवित्र हैं। **धारपूताः**=अपनी धारकशक्ति द्वारा पवित्र ही पवित्र हैं। **अवृजिनाः**=वृजिन व पाप से रहित हैं। **अनवद्याः**=प्रशस्त ही प्रशस्त हैं और **अरिष्टाः**=हमें हिंसित न होने देनेवाले हैं।

भावार्थ—स्नेह, संयम व निर्द्वेषता धारण करके मैं जीवन को बड़ा पवित्र बना पाऊँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा**॥ देवता—**आदित्याः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देव-लक्षण

त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षाः।
अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति॥ ३॥

१. **ते**=वे **आदित्यासः**=देव **उरवः**=विशाल होते हैं—सम्पूर्ण वसुधा को कुटुम्ब मानकर चलते हैं। **गभीराः**=गम्भीरवृत्ति के होते हैं—उथले स्वभाव के नहीं। झट तैश में नहीं आ जाते। **अदब्धासः**=कभी दबते नहीं—अहिंसित होते हैं। **दिप्सन्तः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के हिंसन की कामनावाले, **भूर्यक्षाः**=(भूरि अक्षि) दूरदृष्टि व बहुत तेजवाले होते हैं (बहुतेजसः –

सा०)। २. ये **अन्तः**=अपने अन्दर **वृजिना**=पापों को **उत**=और **साधु**=जो उत्तमता है, उसको **पश्यन्ति**=देखते हैं। पाप दूर करने के लिए यत्नशील होते हैं। औरों के ही पाप-पुण्यों को नहीं देखते रहते। ३. इन **राजभ्यः**=देदीप्यमान ज्ञानदीप्त देवों के लिए **परमाचित्**=सामान्य लोगों से दूर देश में स्थित भी ज्ञानतत्त्व निश्चय से **सर्वम् अन्ति**=सब समीप ही समीप होते हैं। सामान्य लोग जिन तत्त्वों को नहीं देख रहे होते, वे उन्हें साक्षात् करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—'देव' विशालहृदय-गम्भीर-अहिंसित व कामादि का हिंसन करनेवाले तेजस्वी होते हैं। वे अपने पाप-पुण्यों को देखते हैं। उत्कृष्ट ज्ञानतत्त्वों का ये साक्षात्कार करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धारण करनेवाले देव

धा॒रय॑न्त आदि॒त्यासो॒ जग॒त्स्था दे॒वा विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य गो॒पाः।
दी॒र्घाधि॑यो॒ रक्ष॑माणा असु॒र्य॑मृ॒तावा॑न॒श्चय॑माना ऋ॒णानि॑ ॥ ४ ॥

१. **आदित्यासः**=देव **जगत्**=जंगम प्राणिसमूह को और **स्थाः**=स्थावर जगत् को भी **धारयन्तः**=धारण करते हुए होते हैं। **देवः**=ये प्रकाशमय जीवनवाले **विश्वस्य भुवनस्य**=सारे प्राणियों के **गोपाः**=रक्षक होते हैं। इनके कर्म सदा धारणात्मक होते हैं। 'विनाश' वृत्ति तो दस्युओं की है। २. **दीर्घाधियः**=ये दीर्घबुद्धि व कर्मोंवाले होते हैं—अल्पदृष्टि न होकर विशाल दृष्टिवाले होते हैं तथा संकुचित कर्मोंवाले न होकर विशाल कर्मोंवाले होते हैं। ये **असुर्यम्**=उस महान् असुर-प्राणशक्ति दाता प्रभु की प्राप्ति के लिए हितकर सोमशक्ति (वीर्यशक्ति) का **रक्षमाणाः**=रक्षण करते हैं। इस सोमरक्षण से ही तो उस सोम की प्राप्ति होनी है। **ऋतावानः**=ये ऋतवाले होते हैं—सदा सब कर्मों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले होते हैं और इसप्रकार **ऋणानि**='पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण तथा देव-ऋण' को **चयमानाः** (अपगमयन्तः -सा०)=अपने से अपगत करते हैं। इन ऋणों को उतारनेवाले होते हैं। सन्तानों का पालन, स्वाध्याय व यज्ञों को करते हुए इन ऋणों से मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—देव सदा रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इसीलिये वे शक्तिरक्षण करके प्रभुप्राप्ति की ओर अग्रसर होते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पापगर्त में गिरने से बचाव

वि॒द्यामा॑दित्या॒ अव॑सो वो अ॒स्य यद॑र्यमन्भ॒य आ चि॒न्मयो॒भु।
यु॒ष्माकं॑ मित्रावरुणा॒ प्रणी॑तौ॒ परि॒ श्वभ्रे॑व दुरि॒तानि॑ वृज्याम् ॥ ५ ॥

१. हे **आदित्याः**=देवो! मैं **वः**=आपके **अस्य अवसः**=इस रक्षण का **विद्याम्**=लाभ करूँ (विद् लाभे)। आपके इस रक्षण को प्राप्त करनेवाला बनूँ **यत्**=जो हे **अर्यमन्**=शत्रुओं का नियमन करनेवाले! **भये**=इस भयावह संसार में **चित्**=निश्चय से **आमयोभु**=सर्वतः कल्याण देनेवाला है। २. हे अर्यमन्! **मित्रावरुणा**=स्नेह की देवते! तथा निर्द्वेषता की देवते! **युष्माकं प्रणीतौ**=आपके प्रणयन में **दुरितानि**=पापों को **परिवृज्याम्**=मैं इस प्रकार चारों ओर से छोड़नेवाला बनूँ **इव**=जैसे कि कोई भी व्यक्ति **श्वभ्रा**=गड्ढों को छोड़कर चलता है। मैं दुरितों से ऐसे बचूँ जैसे गड्ढों से।

भावार्थ—अर्यमा मित्र और वरुण का आराधन—'न्यायकारित्वस्नेह तथा निर्द्वेषता' का साधन मुझे सब पापों से बचाए।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुगम मार्ग

सुगो हि वो अर्यमन्मित्र पन्था अनृक्षरो वरुण साधुरस्ति।
तेनादित्या अधि वोचता नो यच्छता नो दुष्परिहन्तु शर्म ॥ ६ ॥

१. हे **अर्यमन्**=काम-क्रोध-लोभ का नियमन करनेवाले! **वः पन्थाः**=आपका मार्ग **हि**=निश्चय से **सुगः**=सुखेन गन्तव्य है। उस मार्ग में कुटिलता नहीं—भटकने का खतरा नहीं। हे **मित्र**=स्नेह की देवते! तेरा मार्ग **अनृक्षरः**=(ऋक्षर=कण्टक) कण्टकरहित है अथवा (अ-नृ-क्षर) मनुष्यों को विनाश न करनेवाला है। हे **वरुण**=पाप व द्वेष का निवारण करनेवाले! आपका मार्ग **साधुः अस्ति**=सदा कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। २. अर्यमा, मित्र, और वरुण का मार्ग सुग, अनृक्षर व साधु है, अतः **तेन**=उस कारण से हे **आदित्याः**=अर्यमा आदि देवो! **नः**=हमारे लिए **अधिवोचत**=आधिक्येन इस मार्ग का उपदेश दीजिए और **नः**=हमारे लिए **दुष्परिहन्तु**=सब बुराइयों का परिहनन (हिंसन) करनेवाले **शर्म**=सुख को **यच्छता**=दीजिए। हम अर्यमा का आराधन करते हुए अपने जीवन के मार्ग को सुग बनावें, मित्र का आराधन हमारे मार्ग को अनृक्षर बनाए, वरुण के आराधन से हमारा मार्ग साधु हो। इस मार्ग पर चलते हुए हम उस सुख को प्राप्त करें, जिसमें कि किसी अशुभ का समावेश न हो। हमारा सुख भी शुद्ध व पवित्र हो। मलिन-वस्तुओं में हम आनन्द लेनेवाले न हों।

भावार्थ—हमारा मार्ग सुख से गन्तव्य, कण्टक रहित व उत्तम हो। मेरा सुख सब अशुभों का हनन करनेवाला हो।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

निर्द्वेषता में ही सुख है

पिपर्तु नो अदिती राजपुत्राति द्वेषांस्यर्यमा सुगेभिः।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य शर्मोप स्याम पुरुवीरा अरिष्टाः ॥ ७ ॥

१. यह **अदितिः**=माता **राजपुत्रा**=देदीप्यमान पुत्रोंवाली **नः**=हमें **द्वेषांसि अति पिपर्तु**=द्वेष की वृत्तियों से पार करे। **अर्यमा**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को वश में करनेवाला अर्यमा **सुगेभिः**=सुष्ठु गन्तव्य मार्गों से हमें द्वेषादि वृत्तियों से ऊपर उठाये। २. **मित्रस्य**=सबके साथ स्नेह करनेवाले का तथा **वरुणस्य**=द्वेष व पाप के निवारण करनेवाले का **शर्म**=सुख **बृहत्**=महान् है। वस्तुतः स्नेह व निर्द्वेषता में ही सुख है। हम **पुरुवीराः**=खूब वीर सन्तानोंवाले होते हुए **अरिष्टाः**=वासनाओं से अहिंसित होते हुए मित्र और वरुण के **शर्म**=सुख को **उपस्याम**=उपगत हों। हमें भी मित्र और वरुण का सुख प्राप्त हो।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठें, इसी में सुख है।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वास्थ्य-शान्ति-दीप्ति

तिस्रो भूमीर्धारयन्त्रीँरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन्वरुण मित्र चारु ॥ ८ ॥

१. मित्र, अर्यमा और वरुण ये क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक को धारण करते हैं। मित्र इन्द्रियों में असुरों (काम) के बनाये हुए किले को नष्ट करता है। वरुण हृदयान्तरिक्ष में बनाये हुए क्रोध के किले को तथा अर्यमा मस्तिष्क में बनाये हुए लोभ के किले को समाप्त करता है। इस

प्रकार ये मित्र, अर्यमा और वरुण **तिस्रः भूमीः**=तीनों भूमियों को—प्राणियों के निवासस्थान भूत लोकों को **धारयन्**=धारण करते हैं। **उत**=और **त्रीन् द्यून्**=इन लोकों के तीन देवों को—अग्नि, विद्युत् व सूर्य को भी धारण करते हैं। शरीर में अग्नि को, हृदय में विद्युत् को तथा मस्तिष्क में सूर्य को ये धारण करते हैं। काम के विनाश से शरीर में अग्नितत्त्व ठीक रूप में रहता है, क्रोध के विनाश से हृदय में विद्युत्तत्त्व ठीक रूप में होता है और लोभ के विनाश से मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से देदीप्यमान रहता है। **अन्तः विदथे**=शरीर के अन्दर चलनेवाले यज्ञ में **एषाम्**=इन मित्र, वरुण, अर्यमा के **त्रीणि व्रता**=तीन व्रत हैं। 'मित्र' शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करता है। 'वरुण' हृदय को क्रोधशून्य कर शान्ति देता है। 'अर्यमा' लोभ को दूर करके मस्तिष्क को दीप्ति प्राप्त कराता है। २. हे **आदित्याः**=देवो! **ऋतेन**=ऋत के कारण—सब कार्यों को ठीक व ठीक स्थान में करने के कारण **वः**=आपका **महि महित्वम्**=महान् महत्त्व है। हे **अर्यमन् वरुण मित्र**=अर्यमा, वरुण व मित्र देवो! आपका वह महत्त्व **चारुः**=बड़ा सुन्दर है। इनकी महिमा से जीवन भी सौन्दर्य से परिपूर्ण हो उठता है।

भावार्थ—'मित्र, वरुण व अर्यमा' हमारे जीवनों में स्वास्थ्य, शान्ति व दीप्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

देव क्या करते हैं?

त्री रो॑च॒ना दि॒व्या धा॑रयन्त हिर॒ण्यया॒: शुच॑यो॒ धार॑पूताः।
अस्व॑प्नजो अनिमि॒षा अद॑ब्धा उरु॒शंसा॑ ऋ॒जवे॒ मर्त्या॑य॥ ९॥

१. देववृत्ति के पुरुष **ऋजवे मर्त्याय**=ऋजुमार्ग से चलनेवाले मनुष्य के लिए **त्री**=तीन **दिव्या**=अलौकिक **रोचना**=दीप्तियों को—'स्वास्थ्य, शान्ति व ज्ञानदीप्ति' को **धारयन्त**=धारण करते हैं। ये देववृत्ति के पुरुष **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय-जीवनवाले होते हैं, **शुचयः**=पवित्र मनोंवाले तथा **धारपूताः**=शुक्र को धारण करने से पवित्र व नीरोग शरीरवाले होते हैं। मस्तिष्क में हिरण्यम, मन में शुचि व शरीर में धारपूत। २. ये देव **अस्वप्नजः**=स्वप्नक्—सोने की वृत्तिवाले नहीं होते। **अनिमिषाः**=आँख की पलक नहीं मारते—सदा सावधान रहते हैं। इसीलिए **अदब्धाः**=वासनाओं से हिंसित नहीं होते। **उरुशंसाः**=खूब ही प्रभु का स्तवन करनेवाले होते हैं। यह प्रभुस्तवन इन्हें वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। ३. इस प्रकार स्वयं उत्तमजीवनवाले बनकर ये देव अपने क्रियात्मक उदाहरण से औरों के जीवन को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—देव 'ज्योतिर्मय, पवित्र व स्वस्थ' होते हैं। सदा सावधान रहते हुए, वासनाओं के शिकार न होकर, औरों को वासनाओं का शिकार होने से बचाते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दीर्घ, सशक्त व निष्पाप' जीवन

त्वं विश्वे॑षां वरुणासि॒ राजा॒ ये च॑ दे॒वा अ॑सुर॒ ये च॒ मर्ता॑:।
श॒तं नो॑ रास्व श॒रदो॑ वि॒चक्षे॒ऽश्यामायूं॑षि॒ सुधि॑तानि॒ पूर्वी॑॥ १०॥

१. हे **असुर**=सब वासनाओं को हमारे से परे फेंकनेवाले (असु क्षेपणे) **वरुण**=पाप के निवारक! **त्वम्**=आप **विश्वेषाम्**=सबके **राजा**=शासक हैं। **ये च देवाः**=जो देववृत्ति के हैं, **ये च**=और जो **मर्ताः**=सामान्य मनुष्य हैं—उन सबके आप शासक हैं। २. आप **नः**=हमें **शतं शरदः**=सौ वर्ष **विचक्षे**=विशिष्ट दर्शन के लिए **रास्व**=दीजिए। हम सौ वर्ष तक इन्द्रियों से ठीक

कार्य करते हुए उत्तम जीवन को बितानेवाले हों। उन **आयूंषि**=जीवनों को **अश्याम**=हम व्याप्त करें—प्राप्त करनेवाले हों जो कि **सुधितानि**=उत्तमता से धारण किये गये हैं (सु-हितानि) तथा **पूर्वा**=पालन व पूरण वाले हैं। जिन जीवनों में शरीर रोगों से रहित हैं, तथा मन न्यूनताओं से रहित हैं उन पूर्णजीवनों को हम प्राप्त करें।

भावार्थ—वरुण की कृपा से हमारे जीवन दीर्घ, सशक्त व निष्पाप हों।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिङ् मोह-निवृत्ति (सत्संग-लाभ)

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद्युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्॥ ११ ॥

१. **न दक्षिणा विचिकिते**=न दक्षिण दिशा जानी जाती है, **न सव्या**=न ही दक्षिण से विपरीत उत्तर दिशा। हे **आदित्याः**=अमरो! **न प्राचीनम्**=न पूर्व सूझता है, **उत**=और **न पश्चा**=न पश्चिम। दायां-बायां व आगे-पीछे कुछ सूझता नहीं। आनन्द अज्ञान के कारण मुझे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का स्पष्ट बोध नहीं होता। 'क्या करूँ, क्या न करूँ' कुछ सूझता नहीं। २. हे **वसवः**=मेरे निवास को उत्तम बनानेवाले देवो! **पाक्या चित्**=मैं निश्चय से पक्तव्यप्रज्ञावाला हूँ—अपरिपक्व बुद्धि हूँ। **धीर्या चित्**=धैर्य देने योग्य हूँ, अर्थात् कातर व भयभीत हूँ। पर **युष्मानीतः**=आपसे ले-जाया जाता हुआ मैं **अभयं ज्योतिः**=अभय ज्योति को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ। उस प्रकाश को प्राप्त करूँ जो कि मुझे सब भयों से ऊपर उठानेवाला हो—जिससे मेरी सारी कातरता दूर हो जाय। यह प्रकाश मुझे बुद्धि की परिपक्वता प्राप्त कराए। परिपक्व बुद्धिवाला होकर मैं कर्तव्यपथ को जाननेवाला बनूँ। मैं दिङ्मूढ़ न बना रहूँ।

भावार्थ—ज्ञानीपुरुषों के संग से मुझे वह प्रकाश प्राप्त हो, जो कि मेरे दिङ्मोह को दूर करनेवाला हो। उस प्रकाश में मैं कर्त्तव्यपथ पर निरन्तर आगे बढ़ता चलूँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन के तीन प्रयोग

यो राजभ्य ऋतनिभ्यो ददाश यं वर्धयन्ति पुष्टयश्च नित्याः।
स रेवान्याति प्रथमो रथेन वसुदावा विदथेषु प्रशस्तः॥ १२ ॥

१. (क) **यः**=जो **रेवान्**=धनवान् पुरुष **राजभ्यः**=राजाओं के लिए **ददाश**=कर के रूप में धन देता है। (ख) जो **ऋतनिभ्यः**=ऋत के नेताओं के लिए—युवकों को सन्मार्ग पर ले चलनेवाले उपाध्यायों व आचार्यों के लिए इसी प्रकार (ऋत=यज्ञ) लोकहित के कर्मों को करनेवालों के लिए देता है। (ग) **च**=और **यम्**=जिसको **नित्याः**=स्थिर **पुष्टयः**=पोषक पदार्थ **वर्धयन्ति**=बढ़ाते हैं, अर्थात् जो धनों का विनियोग जीवन के पोषक तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए करता है—अर्थात् जो विलास में धनों का अपव्यय नहीं करता। २. **सः देवान्**=वह धनी **प्रथमः**=सबसे आगे **रथेन याति**=रथ से चलता है, अर्थात् इस धनी को जनसमूह में सम्मान प्राप्त होता है। यह **वसुदावा**=धनों का देनेवाला होता है और **विदथेषु प्रशस्तः**=यज्ञों में प्रशंसनीय होता है। यज्ञस्थलों में एकत्रित होनेवाले इसकी प्रशंसनीय शब्दों में चर्चा करते हैं।

भावार्थ—धन हमें धन्य बनाता है यदि हम (क) उचित कर राजकोष में दें (ख) लोकहित में लगे हुए व्यक्तियों व संस्थाओं को इसे प्राप्त कराएँ (ग) तथा जीवन के पोषक तत्त्वों को प्राप्त करने में इसका व्यय करें।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जल व अन्न

शुचि॒र॒पः सू॒यव॑सा॒ अद॑ब्ध॒ उप॑ क्षेति वृ॒द्धव॑याः सु॒वीरः॑।
नकि॒ष्टं घ्न॒न्त्यन्ति॑तो॒ न दू॒राद्य आ॑दि॒त्यानां॒ भव॑ति॒ प्रणी॑तौ॥ १३॥

१. **शुचिः**=गतमन्त्र में वर्णित पवित्र जीवनवाला यह व्यक्ति **अपः**=जलों को तथा **सूयवसाः**=शोभन सस्यों को **अदब्धः**=अहिंसित होता हुआ **उपक्षेति**=खाकर जीवन धारण करता है (उप जीवति)। जलों और अन्नों का ही सेवन करता है—उनका भी सेवन मात्रा में ही करता है ताकि वे इसे हिंसित करनेवाले न हों। इस प्रकार यह **वृद्धवयाः**=दीर्घ व उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है। **सुवीरः**=उत्तम वीर होता है। २. **यः**=जो भी इस प्रकार **आदित्यानाम्**=देवों के **प्रणीतौ**=प्रणयन में होता है, अर्थात् देवों की तरह ही हविर्भुक् होता है न कि पिशाच, **तम्**=उसको **नकिः अन्तितः**=न तो समीप से और न **दूरात्**=न दूर से **घ्नन्ति**=शत्रु मारनेवाले होते हैं। न आन्तर-शत्रु उसे मार पाते हैं और न ही बाह्य-शत्रु।

भावार्थ—मनुष्य देवों का अनुकरण करता हुआ जल पीये और अन्न खाये तो वह शत्रुओं के आक्रमण से बचा रहता है। मांसभोजन ही काम, क्रोध, लोभादि को जन्म देता है।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रकाश, न कि अन्धकार

अदि॑ते॒ मित्र॒ वरु॑णो॒त मृ॑ळ॒ यद्वो॑ व॒यं च॑कृ॒मा कच्चि॒दागः॑।
उ॒र्व॑श्या॒मभ॑यं॒ ज्योति॑रिन्द्र॒ मा नो॑ दी॒र्घा अ॒भि न॑श॒न्तमि॑स्राः॥ १४॥

१. **अदिते**=हे अदीने! **मित्र उत वरुण**=स्नेह तथा निष्पापता के देवताओ! **मृड**=आप हमें सुखी करो **यद्**=चाहे **वयम्**=हम **वः**=आपके विषय में **कच्चिद्**=कुछ **आगः**= अपराध **चकृमा**=कर बैठें। 'अदिति' अखण्डन व स्वास्थ्य का देवता है। हम असावधानी से स्वास्थ्य के विषय में कुछ अपराध कर बैठें तथा स्नेह के स्थान में कभी कटुता को अपना बैठें और निर्द्वेषता से पूरे-पूरे ऊपर न उठ पाएँ तो भी आप हमें कृपादृष्टि से ही देखना। २. हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विनाश करनेवाले प्रभो! मैं **उरु**=विशाल **अभयम्**=निर्भयता के आधारभूत **ज्योतिः**=प्रकाश को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ। और **नः**=हमें **दीर्घाः**=ये न समाप्त होनेवाले—दीर्घकाल तक चलनेवाले **तमिस्राः**=अन्धकार **मा अभिनशन्**=मत प्राप्त हों। रात्रि के कुछ निद्रा के घण्टों को छोड़कर हम सदा चैतन्य अवस्था में बने रहें।

भावार्थ—अदिति, मित्र और वरुण की कृपा से हम प्रकाश को प्राप्त हों—अन्धकार हमारे से दूर हो।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सौभाग्यशाली

उ॒भे अ॑स्मै पीपयतः स॒मीची॑ दि॒वो वृ॒ष्टिं सु॒भगो॒ नाम॒ पुष्य॑न्।
उ॒भा क्षया॑वा॒जय॑न्याति पृ॒त्सूभा॒वर्धौ॒ भव॑तः सा॒धू अ॑स्मै॥ १५॥

१. **अस्मै**=इस प्रकाशमय जीवनवाले के लिए **उभे**=दोनों **समीची**=संगत हुए-हुए अर्थात् एक-दूसरे के पूरक होते हुए द्युलोक और पृथ्वीलोक **पीपयतः**=आप्यायन=वर्धन-करनेवाले होते हैं। मस्तिष्करूप द्युलोक इसे ज्ञान से बढ़ाता है और शरीररूप पृथ्वीलोक इसे दृढ़ता व शक्ति से पुष्ट करता है। यह **सुभगः**=उत्तम भाग्यवाला पुरुष **दिवः**=प्रकाशमय द्युलोक से **वृष्टिम्**=ज्ञान

की वर्षा को **नाम**=निश्चय से **पुष्यन्**=अपने में प्राप्त (Possess) करनेवाला होता है। २. यह व्यक्ति **पृत्सु**=अध्यात्म-संग्रामों में चलता हुआ **उभौ क्षयौ**=दोनों लोकों को—द्युलोक व पृथिवीलोक को—मस्तिष्क व शरीर को **आजयन्**=पूर्णरूप से जीतता हुआ **याति**=गति करता है। विजयी बनकर जीवनयात्रा में आगे बढ़ता है। **अस्मै**=इसके लिए **उभौ अर्धौ**=ये दोनों आधे-आधे लोक **साधू भवतः**=इसके स्वास्थ्य को सिद्ध करनेवाले होते हैं। शरीर की शक्ति के बिना मस्तिष्क अधूरा है, मस्तिष्क के बिना शक्ति अधूरी है। ये दोनों अलग-अलग अधूरे हैं। मिलकर एक दूसरे की पूर्ति करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सौभाग्यशाली वह है जिसके जीवन में द्युलोक व पृथिवीलोक का मेल होता है। 'ज्ञान' शक्ति का पूरक है, 'शक्ति' ज्ञान की। दोनों मिलकर इसके जीवन को पूर्ण बनाते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

न द्रोह न रिपुता

या वो माया अभिद्रुहे यजत्राः पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ताः।
अश्वीव ताँ अति येषं रथेनारिष्टा उरावा शर्मन्त्स्याम॥ १६॥

१. हे **यजत्राः**=पूज्य **आदित्याः**=अमरो! **याः**=जो **वः**=आपकी **मायाः**=मायाएँ **अभिद्रुहे**=औरों का द्रोह करनेवालों के लिए हैं तथा जो आपके **पाशाः**=जाल **रिपवे**=शत्रुओं के लिए **विचृत्ताः**=ग्रथित हुए हैं मैं **तान्**=उन सब मायाओं व पाशों को **अतियेषम्**=लांघकर पार करनेवाला बनूँ—इन मायाओं व पाशों को तैर जाऊँ। उसी प्रकार तैर जाऊँ **इव**=जैसे कि **अश्वी**=उत्तम घोड़ेवाला **रथेन**=रथ से दुर्गम मार्गों को लांघ जाता है। द्रोह करनेवाले पुरुष प्रभु की इस माया में फंस जाते हैं—वस्तुतः माया में फंसने के कारण ही वे द्रोहवृत्तिवाले हो जाते हैं। परमात्मा औरों के साथ शत्रुता से वर्तनेवालों को पाशों में जकड़ता है। हम न रिपु हों और न द्रोही ही। तभी हम माया व पाशों से बच पाएँगे। २. **अरिष्टाः**=अहिंसित होते हुए हम **उरौ आ शर्मन्**=प्रभु की विशाल शरण में **स्याम**=हों। हम द्रोह व शत्रुता के भावों से ऊपर उठकर विशाल सुखों को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम द्रोह व शत्रुता से ऊपर उठें—तभी माया के चक्कर से बच पाएँगे और प्रभु के पाशों में जकड़े न जाएँगे।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संयमयुक्त धन

माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः।
मा रायो राजन्त्सुयमादव स्थां बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १७॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक देव! **अहम्**=मैं **मघोनः**=ऐश्वर्यों के स्वामी **भूरिदाव्नः**=खूब देनेवाले **प्रियस्य आपेः**=प्रिय मित्र आपके आगे **शूनम्**=दारिद्र्यजनित कष्ट को **मा आविदम्**=मत निवेदन करूँ। मुझे दारिद्र्य-कष्ट का रोना न रोना पड़े। २. हे **राजन्**=सम्पूर्ण संसार के शासक प्रभो! **सुयमात्**=उत्तम संयम से युक्त **रायः**=धन से मैं **मा अवस्थाम्**=मत दूर स्थित होऊँ, अर्थात् मुझे सदा वह धन प्राप्त रहे जो कि मेरे जीवन में संयम को नष्ट करनेवाला न हो। हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **विदथे**=ज्ञान-यज्ञों में **बृहद्वदेम**=खूब ही आप का स्तवन करें।

भावार्थ—मुझे दारिद्र्य-कष्ट न हो। मेरा जीवन संयमयुक्त धन से सम्पन्न हो।

सम्पूर्ण सूक्त 'देवों की ... का संकेत ... देवों का धन संयमयुक्त

होता है। अदेवों के लिए धन मायामय हो जाता है। अगला सूक्त भी वरुण के व्रतों को धारण करने का उपदेश करता है।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुकीर्ति-भिक्षा

इदं क॒वेरा॑दि॒त्यस्य॑ स्व॒राजो॒ विश्वा॑नि॒ सान्त्य॒भ्य॑स्तु म॒ह्ना।
अति॒ यो म॒न्द्रो य॒जथा॑य दे॒वः सु॑की॒र्तिं भि॑क्षे॒ वरु॑णस्य॒ भूरेः॑ ॥ १ ॥

१. **इदम्**=यह स्तोत्र उस प्रभु का है जो कि **कवेः**=क्रान्तदर्शी हैं—तत्त्वज्ञानी हैं—सर्वज्ञ हैं। **आदित्यस्य**=जो प्रभु आदित्य हैं—सूर्यसम तेज से देदीप्यमान हैं, अथवा सबको अपने अन्दर लिये हुए हैं 'आदानादादित्यः'। **स्वराजः**=स्वयं राजमान हैं—किसी अन्य से शासित नहीं होते—'प्रशासितारं सर्वेषाम्'=सबके शासक हैं। वे प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से **विश्वानि सान्ति**=सब वर्तमान पदार्थों को **अभ्यस्तु**=अभिभूत किये हुए हैं। प्रभु के शासन से कोई भी वस्तु अतीत नहीं। २. **यः देवः**=जो प्रकाशयुक्त प्रभु **यजथाय**=(देवपूजा) पूजा करनेवाले के लिए **अतिमन्द्रः**=अतिशयेन हर्षयिता है। मैं उस **भूरेः**=(भृ=धारणपोषणयोः) धारण व पोषण करनेवाले **वरुणस्य**=वरुण के, पाप-निवारक प्रभु के **सुकीर्तिम्**=उत्तम कीर्तन की **भिक्षे**=माँगता हूँ। अथवा उस प्रभु से उत्तम कीर्तियुक्त जीवन की भिक्षा चाहता हूँ—मेरा जीवन अपयशवाला न हो जाए।

भावार्थ—पापनिवारक वरुणदेव की कृपा से मेरा जीवन उत्तमकीर्तिवाला हो।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्वाध्यः तुष्टुवांसः (ध्यान-निष्पापता-सौभाग्य)

तव॑ व्र॒ते सु॒भगा॑सः स्याम स्वा॒ध्यो॑ वरुण तुष्टु॒वांसः॑।
उ॒पाय॑न उ॒षसां॒ गोम॑तीनाम॒ग्नयो॒ न जर॑माणा॒ अनु॒ द्यून् ॥ २ ॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक देव! हम **स्वाध्यः**=उत्तम ध्यानवाले होकर **तुष्टुवांसः**=स्तवन करनेवाले बनकर **तव व्रते**=आपके व्रत में स्थित हुए-हुए, अर्थात् निर्द्वेषता व निष्पापता को ही ध्येय बनाते हुए **सुभगासः**=उत्तम सौभाग्यवाले **स्याम**=हों। निष्पापता का परिणाम सौभाग्य है। निष्पापता के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु का ध्यान व स्तवन करें। २. **गोमतीनाम्**=प्रकाशक की किरणोंवाली **उषसाम्**=उषाओं के **उपायने**=आने पर **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **जरमाणाः**=आपका स्तवन करते हुए हम **अग्नयः न**=अग्नियों के समान समिद्ध हों। जैसे अग्निकुण्ड में प्रतिदिन प्रातः अग्निहोत्र की अग्नि समिद्ध होती है, इसी प्रकार प्रभु का स्तवन करता हुआ मैं ज्ञान से समिद्ध होऊँ।

भावार्थ—ध्यान व स्तवन द्वारा प्रभु के व्रत में चलते हुए हम सौभाग्यवाले हों। प्रतिदिन प्रातः प्रभुचिन्तन करते हुए हम अग्नियों की तरह चमकें।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के मित्र

तव॑ स्याम पु॒रु॒वीर॑स्य॒ शर्म॑न्नुरु॒शंस॑स्य वरुण प्रणेतः।
यू॒यं नः॑ पुत्रा अदितेरदब्धा अ॒भि क्ष॑मध्वं॒ युज्या॑य देवाः ॥ ३ ॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक देव! **पुरुवीरस्य**=खूब ही शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले

उरुशंसस्य=महान् स्तवनवाले **प्रणेतः**=प्रणेता प्रभो! आपकी **शर्मन्**=शरण में (गृहे सा०) **स्याम**=हम हों। प्रभु की शरण में चलने पर हमारे शत्रु नष्ट हो जाएँगे—प्रभु का उपासक कामादि वासनाओं से प्रतारित नहीं होता। २. **अदितेः पुत्राः**=अमृत के पुत्रो—आदित्यो **देवाः**=देवो! **अदब्धाः**=अहिंसित होते हुए **यूयम्**=आप **नः**=हमें **युज्याय**=उस प्रभु की मित्रता के लिए **अभिक्षमध्वम्**=सहनशक्ति से युक्त करो। आप हमें सब प्रकार से प्रभु के मेल के लिए सक्षम बनाओ। जितना-जितना हम देवों के समीप होते जाते हैं—जितनी-जितनी वे दिव्यवृत्तियाँ अहिंसित रूप से हमारे में स्थित होती हैं, उतना-उतना हम प्रभु की मित्रता के योग्य होते जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की शरण में रहें। देववृत्तियों का वर्धन करते हुए प्रभु के मित्र बनने योग्य हों।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृष्टिरूप कर्म

प्र सीमादित्यो असृजद्विधर्ताँ ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति।
न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते वयो न पप्तू रघुया परिज्मन्॥ ४॥

१. **आदित्यः**=वह सूर्यसम दीप्त **विधर्ता**=सबका धारण करनेवाला प्रभु **सीम्**=सर्वतः **ऋतम्**=(Rain water) वृष्टिजल को **प्रासृजत्**=खूब ही बरसाता है। इस वृष्टिजल से ही **वरुणस्य**=उस सब कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभु की **सिन्धवः**=ये नदियाँ **यन्ति**=प्रवाहित होती हैं। वृष्टिजल से नदियाँ वह चलती हैं। २. **एते**=ये नदियाँ **न श्राम्यन्ति**=न तो थक ही जाती हैं, **न विमुचन्ति**=न ही अपने प्रवाहरूप कर्म को छोड़ देती हैं। ये तो **वयः न**=आकाश में उड़नेवाले पक्षियों के समान **रघुया**=तीव्र गतिवाली होती हुई **परिज्मन्**=इस पृथ्वी पर चारों ओर **पप्तू**=गतिवाली होती हैं। इन नदियों के प्रवहण से ही हमारे लिए जल की प्राप्ति सम्भव होती है। अन्यथा यह सब पानी समुद्र में पहुँचा हुआ हमारे लिए दुर्लभ ही हो जाता।

भावार्थ—प्रभु के वृष्टिरूप कर्म से नदियाँ प्रवाहित होती हैं और हमारे लिए जलप्राप्ति सम्भव होती है। इस वृष्टिरूप-कर्म द्वारा ही प्रभु हमारा धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्त तक क्रियाशीलता

वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य।
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः॥ ५॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **रशनाम् इव**=एक रज्जु (रस्सी) की तरह **मत्**=मेरे से **आगः**=अपराध को **विश्रथाय**=ढीला करिए। पाप को मेरे से दूर करिए, उस तरह दूर करिए जैसे कि किसी से रस्सी के बन्ध को दूर करते हैं। हे प्रभो! हम **ते**=आपकी **ऋतस्य खाम्**=इस वृष्टिजल की नदी को—गतमन्त्र में वर्णित निरन्तर चलनेवाली नदी को **ऋध्याम**=बढ़ानेवाले हों। इसी उद्देश्य से **धियम्**=यज्ञात्मक कर्म को **वयतः**=निरन्तर सतत करते हुए **मे**=मेरा **तन्तुः**=यह यज्ञतन्तु **मा छेदि**=मत विनष्ट हो। 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'=इन यज्ञों से ही तो बादल होता है। यज्ञों द्वारा वृष्टि में सहायक होते हुए हम इस ऋत की नदी को बढ़ानेवाले हों। २. **ऋतोः पुरा**=ऋतु से पहले—समाप्ति काल से पूर्व, अर्थात् १०० वर्ष के जीवन के अन्त से पहले **अपसः**=कर्म की **मात्रा**=माप **मा शारि**=शीर्ण मत हो जाए। हम अन्तिम दिन तक यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने में प्रमाद न करें। इन यज्ञों द्वारा वृष्टि में सहायक हों। समय पर ठीक वर्षा के होने से हमारे ऐश्वर्यों में वृद्धि हो। इन यज्ञों को न करना ही पाप है 'अपश्चयज्ञो मलिम्लुचः'। यज्ञचक्र को न चलानेवाला

तो व्यर्थ ही जीता है।

भावार्थ—हम यज्ञ करें—पाप से ऊपर उठें—यज्ञों द्वारा वृष्टि में सहायक होकर, प्रभु के इन वृष्टिजल से प्रवृत्त होनेवाली नदियों को हम बढ़ानेवाले हों। जीवन के अन्त तक क्रियाशील बने रहें।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बन्धनमुक्ति व अनुग्रह

अपो सु म्यक्ष वरुण भियसं मत्सम्राळृतावोऽनु मा गृभाय।
दामेव वत्साद्वि मुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे ॥ ६ ॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! आप **मत्**=मेरे से **भियसम्**=भय को **सु**=अच्छी तरह **अपः म्यक्ष**=(अपगमय) दूर करिए। **सम्राट्**=आप सम्यग् राजमान हैं—आप ही सबके शासक हैं। **ऋतावः**=ऋतवाले हैं—ऋत का रक्षण करते हैं। आप **मा अनुगृभाय**=मेरे पर अनुग्रह कीजिए। २. **इव**=जैसे **वत्सात्**=बछड़े से **दाम**=रस्सी को छुड़ाते हैं, उसी प्रकार आप मेरे से **अंहः**=पाप को **विमुमुग्धि**=मुक्त करिए। आप ही सब कुछ करनेवाले हैं। **त्वत् आरे**=आपसे दूर कोई भी **निमिषः चन**=एक पलक मारने का भी **नहि ईशे**=ईश नहीं है—सामर्थ्य नहीं रखता। पलक मारने की शक्ति भी आपसे ही प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे से भय को दूर करें। अनुग्रह करके पाप को हमारे से छुड़ाएँ। आप से प्राप्त कराई गई शक्ति से ही सब कार्य होते हैं।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्योति का अप्रवास

मा नो वधैर्वरुण ये त इष्टावेनः कृण्वन्तमसुर भ्रीणन्ति।
मा ज्योतिषः प्रवसथानि गन्म वि षू मृधः शिश्रथो जीवसे नः ॥ ७ ॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **असुर**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभो! **ये**=जो **ते इष्टौ**=तेरे यज्ञ में **एनः कृण्वन्तम्**=पाप करते हुए को **भ्रीणन्ति**=हिंसित करते हैं **नः**=हमें **वधैः**=उन वधों से **मा**=मत हिंसित करिए। वरुण पाशी हैं। वरुण सम्बन्धी यज्ञ यही है कि हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधें। इस यज्ञ में पाप का स्वरूप यही है कि जीवन अव्रती हो। इस अव्रती का हिंसन होता ही है। हम व्रतमय जीवनवाले हों और हिंसित न हों। २. हम व्रतमय जीवनवाले तभी नहीं होते जबकि हमारा ज्ञान लुप्त हो जाता है। सो प्रार्थना करते हैं कि हम **ज्योतिषः**=ज्ञानज्योति के **प्रवसथानि**=प्रवासों को **मा गन्म**=मत प्राप्त हों, अर्थात् हमारी ज्योति सदा हमारे में बसे। इस ज्ञानाग्नि के द्वारा **मृधः**=हमारा वध करनेवाली वासनाओं को **सु**=अच्छी तरह **विशिश्रथः**=हमारे से मुक्त करिए—पृथक् करिए और इस प्रकार **नः जीवसे**=हमारे उत्कृष्टजीवन के लिए होइए।

भावार्थ—हमारा जीवन व्रती हो—हम ज्ञानज्योति से सदा युक्त रहें। इस ज्ञानज्योति में वासनाएँ भस्म हो जाएँ, ताकि हमारा जीवन उत्कृष्ट हो। हमारी बुद्धि कहीं चरने न चली जाए।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दृढ़व्रतित्व

नमः पुरा ते वरुणोत नूनमुतापरं तुविजात ब्रवाम।
त्वे हि कं पर्वते न श्रितान्यप्रच्युतानि दूळभ व्रतानि ॥ ८ ॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक देव! **ते**=आपके लिए **पुरा**=पूर्वकालों में **नमः**=नमस्कार का **ब्रवाम**=हम उच्चारण करें। **उत**=और **नूनम्**=निश्चय से **तुविजात!**=हे महान् विकासवाले वरुण! **अपरम् उत**=अपरकालों में भी नमस्कार का उच्चारण करें। दिन के प्रारम्भ में और दिन के अन्त में दोनों समय हम आपका स्तवन करनेवाले हों। आपके प्रति खूब ही 'नम उक्ति' को करनेवाले हों। इस नमन से ही हमारे जीवनों का ठीक विकास होगा। २. हे **दूडभ**=हिंसित न होनेवाले वरुण! **त्वे**=आपमें ही **व्रतानि**=व्रत **अप्रच्युतानि श्रितानि**=न च्युत होनेवाले रूप में आश्रित हैं। उसी प्रकार **न**=जैसे कि **पर्वते**=पर्वत में। पर्वत को कोई स्थानभ्रष्ट नहीं कर सकता, इसी प्रकार वरुण को कोई भी शक्ति व्रतभ्रष्ट नहीं कर पाती। वरुण की उपासना मुझे भी दृढ़ व्रतोंवाला बनाए।

भावार्थ—वरुण का उपासक बनकर मैं दृढ़व्रतमय जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'आत्मना भुजमश्नुताम्'

परं ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान्वरुण तासु शाधि॥ ९॥

१. हम छोटे होते हैं—असहाय होते हैं। माता-पिता कष्ट उठाकर हमारा पालन करते हैं। उनका हमारे पर एक ऋण चढ़ जाता है। अब हम अबोध बालकों को आचार्य ज्ञान देकर सुबोध बनाते हैं। इन आचार्यों, ऋषियों का हमारे पर दूसरा ऋण होता है। वायु आदि देवों का भी हमारे पर ऋण है—क्योंकि ये ही हमारे स्वास्थ्य के लिए निरन्तर क्रियाशील हैं। इस प्रकार हम अपने ऊपर इन ऋणों का भार लादे हुए हैं। हे **वरुण**=वरुण! **अध**=अब **मत्कृतानि**=मेरे से पैदा कर लिये गये इन **ऋण**=ऋणों को **पर आ सावीः**=हमारे से दूर करिए हे **राजन्**=ब्रह्माण्ड के शासक प्रभो! **अहम्**=मैं **अन्यकृतेन**=दूसरे से उत्पन्न किये गये श्रमों से **मा भोजम्**=अपना पालन करनेवाला न होऊँ। दूसरों की कमाई पर न जीऊँ। अपनी कमाई पर जीनेवाला ही श्रेष्ठ है। पिता की कमाई पर जीनेवाला मध्यम है—मामा की कमाई पर जीनेवाला अधम तथा श्वसुर की कमाई पर जीनेवाला अधमाधम है। सब ऋणों को उतार कर ही मैं अपने जीवन को सुन्दर बना पाता हूँ। २. जब तक ये ऋण उतर नहीं जाते तब तक **भूयसीः उषासः**=ये बहुत-से उषाकाल **इत् नु**=निश्चय से **अव्युष्टाः**=उदय होते हुए भी मेरे लिए अनुदित से ही हैं—ऋणों का भार मेरे प्रसाद को समाप्त-सा कर देता है। हे **वरुण**=मेरे ऋणों के बन्धन को दूर करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **तासु**=उन उषाओं में **जीवान्**=उज्जीवित करते हुए **आशाधि**=समन्तात् शासित करिए। आपके दिये हुए ज्ञान के प्रकाश से हम ऋणों को दूर करने के मार्ग पर चलें और प्रकाशमय जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम वरुण के व्रतों में चलते हुए ऋणों को दूर करनेवाले हों तथा अपने पोषण के लिए औरों पर निर्भर न हों। 'आत्मना भुजमश्नुताम्'।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

भयंकर स्वप्न क्यों?

यो मे राजन्युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह।
स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद्वरुण पाह्यस्मान्॥ १०॥

१. हे **राजन्**=ब्रह्माण्ड के शासक प्रभो! **यः**=जो ये **युज्यः वा**=मेरे साथ काम करनेवाला **वा**=अथवा **सखा**=मेरा मित्र **भीरवे मह्यम्**=मुझ भीरु के लिए **स्वप्ने**=स्वप्न में **भयम् आह**=भय को कहता है। हमने किसी युज्य वा सखा के विषय में कोई अपराध किया होता है तो कई बार

रात्रि में स्वप्न में भय लगता है—वह पाप भयंकर होकर हमें पीड़ित करनेवाला बनता है। हे वरुण! आप हमें उससे बचाइए। २. **वा**=अथवा **यः**=जो **स्तेनः**=चोर **नः**=हमें **दिप्सति**=हिंसित करना चाहता है, **वा**=अथवा कोई **वृकः**=भेड़िया आदि हिंस्रपशु हमें मारना चाहता है। हे **वरुण**=हमारे पापों व कष्टों को दूर करनेवाले प्रभो! आप **तस्मात्**=उससे **अस्मान्**=हमें **पाहि**=रक्षित करिए। हम चोरों व हिंस्र पशुओं के शिकार न हो जाएं। वस्तुतः जब हम अपने युज्यों (साथ काम करनेवालों व रिश्तेदारों) व सखाओं से धोखा करके अपने को धनी बनाना चाहते हैं तो यह पाप हमारे भयंकर स्वप्नों का कारण बनता है अथवा हमें चोरों व वृकों से पीड़ित करता है।

भावार्थ—मैं पाप से ऊपर उठूँ। परिणामतः न भयंकर स्वप्नों को देखूँ—न चोरों व वृकों का शिकार होऊँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भूरिदावा वरुण

माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः।
मा रायो राजन्त्सुयमादव स्थां बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ११॥

यह २.२७.१७ पर व्याख्यात है।

सम्पूर्ण सूक्त वरुण की उपासना द्वारा जीवन को श्रेष्ठ बनाने पर बल देता है। अगले सूक्त में भी वरुण की उपासना से दिव्यगुणों के उत्पादन का संकेत है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धृतव्रत, आदित्य व इषिर

धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त रहसूरिवागः।
शृण्वतो वो वरुण मित्र देवा भद्रस्य विद्वाँ अवसे हुवे वः॥ १॥

१. **इव**=जिस प्रकार **रहसूः**=एकान्त में—विजन में बच्चों को जन्म देनेवाली कोई अविवाहित युवति उत्पन्न बच्चे को अपने से दूर करने के लिए यत्नशील होती है, इस प्रकार हे **धृतव्रताः**=व्रतों के धारण करनेवाले **आदित्याः**=सूर्यसम तेजस्वी अथवा सूर्य के समान प्रकाश को फैलानेवाले **इषिराः**=जातिमय जीवनवाले देवो! **मत्**=मेरे से **आगः**=अपराध को **आरे कर्त**=दूर करो। आपके उपदेश व प्रेरणा से मेरा जीवन निष्पाप बने। मैं भी आपकी तरह 'धृतव्रत-आदित्य व इषिर' बनूँ। २. हे **वरुण**=पापनिवारक **मित्र**=सबके साथ स्नेह करनेवाले! **देवाः**=प्रकाशमय जीवनवाले लोगो! **वः**=आपकी **भद्रस्य विद्वान्**=भद्रता को जानता हुआ मैं **शृण्वतः वः**=मेरी प्रार्थना को सुननेवाले आप लोगों को **अवसे**=रक्षण के लिये **हुवे**=पुकारता हूँ। आपके सम्पर्क में मैं भी 'वरुण-मित्र व देव' बन पाता हूँ। धृतव्रत होने से 'वरुण' होता हूँ। वरुण पाशी है—मैं भी व्रतों के पाशों से अपने को जकड़ता हूँ। आदित्य होने से 'मित्र' बनता हूँ। सूर्य के समान प्रकाश को फैलाता हुआ पापगर्त में गिरने से अपने को बचा पाता हूँ। इषिर व गतिशील बनकर 'देव' बनता हूँ।

भावार्थ—हम धृतव्रत, आदित्य व इषिर बनें।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रमति-ओज-निर्द्वेषता

यूयं देवाः प्रमतिर्यूयमोजो यूयं द्वेषांसि सनुतर्युयोत।
अभिक्षत्तारो अभि च क्षमध्वमद्या च नो मृळयतापरं च॥ २॥

१. हे **देवाः**=देवो! आप **प्रमतिः**=प्रकृष्टबुद्धि हो—आपके द्वारा मुझे यह प्रकृष्ट बुद्धि प्राप्त हो। **यूयम्**=आप **ओजः**=ओज हो। आपका उपासक बनता हुआ मैं ओजस्वी बनूँ। **यूयम्**=आप **द्वेषांसि**=द्वेषों को **सनुतः**=अन्तर्हित रूप में **युयोत**=हमारे से पृथक् करो। द्वेषों को इस प्रकार से हमारे से अन्तर्हित करिए कि ये हमें कभी न प्राप्त हों। वस्तुतः बुद्धि व ओज के होने पर द्वेष स्वयं ही नष्ट हो जाएँगे। २. **च**=और **अभिक्षत्तारः**=सब ओर शत्रुओं का हिंसन करनेवाले देवो! **अभिक्षमध्वम्**=हमारे शत्रुओं को आप अभिभूत करो, **च**=और **नः**=हमें **अद्य**=आज **आ मृडयत**=सुखी करो। **अपरं च**=आगे आनेवाले दिनों में भी सुखी करो। वस्तुतः काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को जीतकर ही हमारा जीवन सुखी होता है।

भावार्थ—हम देवों की आराधना से प्रकृष्टबुद्धि व ओज प्राप्त करके द्वेषों से ऊपर उठें। इन अन्तःशत्रुओं के जीतने पर ही जीवन सुखी होता है।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवाराधन से कल्याण

किमू नु वः कृणवामापरेण किं सनेन वसव आप्येन।
यूयं नो मित्रावरुणादिते च स्वस्तिमिन्द्रामरुतो दधात॥ ३॥

१. हे देवो! **वः**=तुम्हारा **नु**=अब **किम् ऊ**=क्या ही **कृणवाम**=कर्म करें। अर्थात् किस कर्म द्वारा आपकी आराधना करें। **अपरेण**=आगे होनेवाले कर्म से आपकी क्या सेवा करें। हे **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले देवो! **सनेन आप्येन किम्**=सनातन आप्तव्यकर्म से हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं? हम आपका उचित आराधन करने में समर्थ नहीं, आपको पूरा-पूरा अपना नहीं पाते तो भी। २. **यूयम्**=आप हे **मित्रावरुणा**=मित्र, वरुण व **अदिते**=अदिति **च**=तथा **इन्द्रामरुतः**=इन्द्र और मरुतो! **इत्**=निश्चय से **स्वस्तिम् दधात**=कल्याण को धारण करो। 'मित्र' स्नेह का देवता है। 'वरुण' निर्द्वेषता का। 'अदिति'=स्वास्थ्य का सूचक है। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का प्रतिपादन करता है और 'मरुतः'=प्राणवाचक हैं। 'स्नेह-निर्द्वेषता-स्वास्थ्य-जितेन्द्रियता व प्राणसाधना' हमारा पूर्णरूपेण कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—मित्रादि देवों के आराधन के लिए यत्नशील हों। ये हमारा कल्याण करेंगे।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञशीलता व अशान्ति

हये देवा यूयमिदापयः स्थ ते मृळत नाधमानाय मह्यम्।
मा वो रथो मध्यमवाळृते भून्मा युष्मावत्स्वापिषु श्रमिष्म॥ ४॥

१. **हये**=हे **देवाः**=देवो! **यूयम् इत्**=आप ही निश्चय से **आपयः स्थ**=मित्र हो। **ते**=वे आप **नाधमानाय**=वासनाओं से उपतप्त होते हुए (नाध=उपतापे) **मह्यम्**=मेरे लिए **मृडत**=सुख देनेवाले होओ। आप मेरी वासनाओं को नष्ट करो और उपताप के कारण को दूर करके मुझे सुखी करो। २. **वः**=आपका **रथः**=यह शरीररूप रथ **ऋते**=यज्ञों के निमित्त **मध्यमवाट्**=मध्यम (=धीमी) गतिवाला **मा भूत्**=मत हो। मेरा यह शरीररूप रथ आपसे अधिष्ठित है 'सर्वा ह्यस्मिन् देवताः गावो गोष्ठ इवासते'। यह यज्ञों के प्रति जाने में आलस्यवाला न हो। मैं इस मानव-शरीर को प्राप्त करके सदा यज्ञशील बना रहूँ। ३. **युष्मावत्सु**=आप जैसे **आपिषु**=मित्रों के होने पर **मा श्रमिष्म**=हम थक न जाएँ। हम सदा शक्तिशाली बने रहें—eschousted न हो जाएँ।

भावार्थ—देवों की मित्रता में हम यज्ञशील बने रहें। हमारी शक्ति समाप्त न हो जाए।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों के अनुशासन से पाप-अपवृत्ति

प्र व एको मिमय भूर्यागो यन्मा पितेव कितवं शशास।
आरे पाशा आरे अघानि देवा मा माधि पुत्रे विमिव ग्रभीष्ट ॥ ५ ॥

१. हे देवो! **वः**=आपका यह **एकः**=अकेला भी मैं **आगः**=पाप को **प्रमिमय**=प्रक्षेपण हिंसित करनेवाला हुआ हूँ। **यत्**=क्योंकि आपने उसी प्रकार **मा**=मेरा अनुशासन किया है **इव**=जैसे कि **पिता**=रक्षक पिता **कितवम्**=जुए में प्रवृत्त सन्तान को **शशास**=शासित करता है। २. हे **देवाः**=देवो! **पाशा आरे**=मेरे से विषयों के पाश दूर हुए हैं—**अघानि आरे**=सब पाप मेरे से दूर हुए हैं। हे विषयपाशो! **मा**=मुझे **अधिपुत्रेः**=उत्कृष्ट पुत्रों के होने पर तुम इस प्रकार **मा**=मत **ग्रभीष्ट**=पकड़ लो, **इव**=जैसे कि **विम्**=एक व्याध पक्षी को पकड़ता है। मैं उन पुत्रों के निर्माण आदि कार्यों में इस प्रकार प्रवृत्त रहूँ कि मेरा पाप की ओर झुकाव ही न हो। अथर्व में कहा कि हे पाप! तू मेरे से दूर हो क्योंकि 'गृहेषु गोषु मे मनः'=मेरा मन घर के कार्यों व गौवों की सेवा में प्रवृत्त है। उसी प्रकार यहाँ कहा गया है कि मैं अपने मन को सन्तान के निर्माण में लगाए हुए हूँ, मुझे अवकाश नहीं। पाप तो अवकाशवाले को ही बांधता है न?

भावार्थ—मैं देवों के उपदेश से पापवृत्तियों को नष्ट करनेवाला बनूँ। पुत्रादि के उत्तमनिर्माण में लगा हुआ मैं पापों से बचा रहूँ।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवरक्षण द्वारा पापों से बचाव

अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्रा आ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम्।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्तादवपदो यजत्राः ॥ ६ ॥

१. हे **यजत्राः**=पूज्य देवो! **अद्य**=आज **अर्वाञ्चः भवत**=हमारे अभिमुख होइए—हमें आपकी अनुकूलता प्राप्त हो। **भयमानः**=इन पापों से डरता हुआ मैं **वः**=आपके **हार्दि**=हृदय में अवस्थित रक्षण को **आव्ययेयम्**=सर्वथा प्राप्त होऊँ। मैं हृदय में दिव्यभावों का उद्बोधन करता हुआ पाप से बचा रहूँ। २. हे **देवाः**=देवो! आप **वः**=हमें **वृकस्य**=इस लोभरूप वृक के (वृक आदाने) **निजुरः**=निहनन से **त्राध्वम्**=रक्षित करो। तथा **यजत्राः**=हे पूज्य देवो! **अवपदः**=अवनति के (अव=नीचे, पद गतौ) **कर्तात्**=करनेवाले इस काम-क्रोध से **त्राध्वम्**=हमारा रक्षण करिए।

भावार्थ—देवों के रक्षण से हम लोभादि से आहत न हों।

ऋषिः—**कूर्मो गार्त्समदो गृत्समदो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का खूब स्तवन

माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः।
मा रायो राजन्त्सुयमादव स्थां बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ७ ॥

इसकी व्याख्या २.२७.१७ पर देखिए।

सूक्त का मूलभाव यही है कि हम देवों के रक्षण द्वारा पापों से बचे रहें। अगला सूक्त भी गृत्समद ऋषि का ही है। उसमें प्रभु का इन्द्रादि नामों से स्मरण है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु की ओर झुकाव कब?

ऋतं देवाय कृण्वते सवित्र इन्द्रायाहिघ्ने न रमन्त आपः।
अहरहर्यात्यक्तुरपां कियात्या प्रथमः सर्ग आसाम्॥ १॥

१. **ऋतं कृण्वते**=सृष्टि के प्रारम्भ में अपने तीव्र तप से 'ऋत' को जन्म देनेवाले 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'। **देवाय**=ज्ञान से दीप्त **सवित्रे**=प्रेरणा देनेवाले अथवा सृष्टि उत्पन्न करनेवाले **अहिघ्ने**=वासना को (वृत्र=अहि) विनष्ट करनेवाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **आपः**=प्रजाएँ (आपो वै नरसूनवः) **न रमन्ते**=रमण व क्रीड़ावाली नहीं होतीं। सामान्यतः मनुष्यों का झुकाव प्रभु की ओर नहीं होता। जैसे एक बच्चा खिलौने से खेलने में मस्त रहता है—माता को भूल जाता है। इसी प्रकार इस संसार के विषयों में बद्ध हुए हम प्रभु को भूल जाते हैं। २. **अहरहः**=प्रतिदिन **अक्तुः**=प्रकाश की किरण **याति**=मनुष्य को प्राप्त होती है। जैसे सूर्योदय होता है और सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैलता है। पर कितने ही कम वे व्यक्ति हैं जो कि सूर्य के प्रकाश का पूरा लाभ उठाते हैं। इसी प्रकार प्रभु की प्रेरणा सभी के हृदयों में प्राप्त होती है, परन्तु विरले ही व्यक्ति उसे सुनते व उससे लाभ उठाते हैं। ३. **आसाम् अपाम्**=इन प्रजाओं का यह **प्रथमः सर्गः**=मुख्य निश्चय (सर्ग=Determination, Resolve) न जाने **कियात्या**=कितने समय में हो पाएगा। 'हमने संसार के विषयों में न उलझकर प्रभु को ही पाना है' मनुष्य का यह निश्चय सर्वोत्तम है। इस निश्चय के होने में समय लग ही जाता है। कई जन्म बीत जाते हैं 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। वही दिन सौभाग्य का होगा जिस दिन हम प्रभु को पाने का दृढ़ निश्चय कर लेंगे।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश तो हमें सदा प्राप्त होता है, परन्तु हम उसको पाने के लिए कुछ कम उत्सुक होते हैं। यदि हमारा प्रभु की ओर झुकाव हुआ तो हम सचमुच सौभाग्यवाले होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना का नियमन व ज्ञानप्रवाह

यो वृत्राय सिनमत्राभरिष्यत्प्र तं जनित्री विदुषं उवाच।
पथो रदन्तीरनु जोषमस्मै दिवेदिवे धुनयो यन्त्यर्थम्॥ २॥

१. **यः**=जो **वृत्राय**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना के लिए **अत्र**=इस जीवन में **सिनम्**=(सि=बन्धने) बन्धन को **अभरिष्यत्**=प्राप्त कराता है, अर्थात् जो कामरूप पशु को नियन्त्रित करके—बाँधकर रखता है **जनित्री**=यह वेदमाता **तम्**=उसे **विदुषे**=उस सर्वज्ञ प्रभु के लिए **प्र उवाच**=कहती है—संस्तुति recommend करती है, अर्थात् यदि मनुष्य वासनाओं को नियन्त्रित करके ज्ञानप्राप्ति में लगता है तो प्रभु को पानेवाला बनता है। २. **अस्मै**=इसके लिए **धुनयः**=ज्ञान की नदियाँ—सरस्वती के प्रवाह **अनुजोषम्**=जितना-जितना यह उनका प्रीतिपूर्वक सेवन करता है उतना-उतना **पथः रदन्तीः**=मार्गों को बनाती हैं और **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **अर्थम्**=उस अन्तिम गन्तव्य देश की ओर—परमात्मा की ओर **यन्ति**=चलती हैं, अर्थात् वासना का नियमन करनेवालों को ज्ञान की वाणियाँ प्रभु को प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—वासना का नियमन ज्ञानप्रवाह का कारण बनता है। ज्ञानप्रवाह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शत्रु-विजय

ऊर्ध्वो ह्यस्थादध्यन्तरिक्षेऽधा वृत्राय प्र वधं जभार।
मिहं वसान उप हीमदुद्रोत्तिग्मायुधो अजयच्छत्रुमिन्द्रः ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वासना का नियमन करनेवाला **हि**=निश्चय से **ऊर्ध्वः**=विषयों से ऊपर उठा हुआ **अन्तरिक्षे**=मध्यमार्ग में **अधि अस्थात्**=स्थित होता है। वासना ही हमें मध्यमार्ग से विचलित करके 'अति' में ले-जाती हैं। **अधा**=अब यह मध्यमार्ग में चलनेवाला व्यक्ति **वृत्राय**=वासना के लिए **वधम्**=नाशक आयुध को **प्रजभार**=प्रहृत करता है—नाशक आयुध से उस पर प्रहार करता है। २. वासनाविनाश द्वारा **मिहम्**=शक्तिसेचन को **वसानः**=धारण करता हुआ—शक्ति को अपने में ही सुरक्षित करता हुआ **हि ईम्**=निश्चय से इस प्रभु के **उप अदुद्रोत्**=समीप गतिवाला होता है। इस सोमशक्ति के रक्षण से प्रभुरूप सोम को प्राप्त होने का सम्भव होता है। ३. यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तिग्मायुधः**=इन्द्रिय मन व बुद्धिरूप आयुधों को तीव्र करके **शत्रुम्**=वासनारूप शत्रु को **अजयत्**=जीत लेता है।

भावार्थ—मध्यमार्ग में चलता हुआ मनुष्य वासना को नष्ट करता है—ज्ञान को बढ़ाता है और अन्ततः प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काम-वेधन

बृहस्पते तपुषाश्नेव विध्य वृकद्वरसो असुरस्य वीरान्।
यथा जघन्थ धृषता पुरा चिदेवा जहि शत्रुमस्माकमिन्द्र ॥ ४ ॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **तपुषा**=अपनी ज्ञान की दीप्ति से आप **वृकद्वरसः**=इन्द्रियद्वारों को छिन्न करनेवाले **असुरस्य**=कामरूप असुर के (आसुरभाव के) **वीरान्**=वीरों को—काम से उत्पन्न प्रबल विकारों को इस प्रकार **विध्य**=विद्ध करिए जैसे **अश्ना इव**=(अशन्या इव) जैसे विद्युत् से किसी को छिन्न करते हैं। आपकी यह ज्ञानदीप्ति आसुरभावों के लिए विद्युत्पतन के समान हो। इन आसुरभावों को विनष्ट करके आप हमारे इन्द्रियद्वारों को अपना-अपना कार्य करने में समर्थ करिए। २. हे **इन्द्र**=असुरों का संहार करनेवाले प्रभो! **यथा**=जैसे **पुरा चित्**= आज से पहले भी **धृषता**=अपनी धर्षणशक्ति से **जघन्थ**=आप हमारे शत्रुओं का नाश करते रहे हैं, **एवा**=इसी प्रकार आप **अस्माकम्**=हमारे **शत्रुम्**=इस कामरूप शत्रु को **जहि**=नष्ट करिए। आपकी शक्ति से ही इसका विनाश होना है।

भावार्थ—प्रभु से दी गई ज्ञानज्योति से आसुरभावों के मूलभूत 'काम' का विनाश हो। इसके विनाश से ही सब इन्द्रियाँ ठीक से कार्य करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान तथा गोधन

अव क्षिप दिवो अश्मानमुच्चा येन शत्रुं मन्दसानो निजूर्वीः।
तोकस्य सातौ तनयस्य भूरेरस्माँ अर्धं कृणुतादिन्द्र गोनाम् ॥ ५ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विध्वंसक प्रभो! **दिवः अश्मानम्**=ज्ञान के वज्र को (अश्मवत् कठिनं वज्रम् सा०) **उच्चा**=खूब ऊँचाई से **अवक्षिप**=नीचे इन शत्रुओं पर फेंकिए। **येन**=जिस वज्र से **शत्रुम्**=शत्रु को **निजूर्वाः**=आप हिंसित करते हो। ज्ञानाग्नि ही 'काम' रूप शत्रु को भस्म करती

है। २. **मन्दसानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **भूरेः**=(भर्तव्यस्य) भरणीय **तोकस्य**=सन्तानों के व **तनयस्य**=पौत्रों के **सातौ**=सम्भजन के निमित्त—उत्तम पालन व पोषण के लिए **अस्मान्**=हमारे लिए **गोनाम् अर्धम्**=गवादि पशुओं की समृद्धि को **कृणुतात्**=करिए। हमारे घरों में गौवों की कमी न हो ताकि सन्तानों को हम दूध आदि से अच्छी प्रकार पाल सकें।

भावार्थ—हमें ज्ञानरूप वज्र प्राप्त हो, जिससे कि हम कामरूप शत्रु का विध्वंस कर सकें तथा हमें गोधन की कमी न हो ताकि हम पुत्र-पौत्रों को गोदुग्ध पर पालकर सुन्दर शरीर, मन व मस्तिष्कवाला बना पाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र और सोम

प्र हि क्रतुं वृहथो यं वनुथो रध्रस्य स्थो यजमानस्य चोदौ।
इन्द्रासोमा युवमस्माँ अविष्टमस्मिन्भयस्थे कृणुतमु लोकम्॥ ६॥

१. 'इन्द्र' शक्ति व शत्रुसंहार का देवता है तो 'सोम' उस शत्रुसंहार व शक्ति का गर्व न करने का देवता है—सौम्यता का देवता है। हे **इन्द्रासोमा**=इन्द्र और सोम! आप **हि**=निश्चय से **यं वनुथः**=जिस क्रतु को प्राप्त करते हो (वन् to possess) उस **क्रतुम्**=ज्ञान व शक्ति को **प्रवृहथः**=(to expend) खूब ही बढ़ाते हो। हमारे जीवनों में इन्द्र और सोमतत्त्व का मेल होने पर ज्ञान व शक्ति का खूब वर्धन होता है। आप **रध्रस्य**=संराधना करनेवाले **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **चोदौ स्थः**=प्रेरक हो। यह रध्र यजमान अपने अन्दर इन्द्र और सोम का स्थापन करता हुआ अपने क्रतु को बढ़ानेवाला होता है। २. हे इन्द्र और सोम! **युवम्**=आप दोनों **अस्मान् अविष्टम्**=हमारा रक्षण करो। इन्द्र और सोम मिलकर हमारे जीवन को पूर्ण-सा बना देते हैं। हमारे में शक्ति होती है, परन्तु हमें उस शक्ति का गर्व नहीं होता। हमारे में सौम्यता होती है, परन्तु वह निर्बलता को लिये हुए नहीं होती। ३. हे शक्ति और सौम्यते! आप दोनों मिलकर **अस्मिन् भयस्थे**=इस भय के स्थान में—संसाररूप युद्धक्षेत्र में **उ**=निश्चय से **लोकम्**=हमारे लिए प्रकाश को **कृणुतम्**=करो। हम तम व अन्धकार से आवृत्त होकर मूढ़ न बन जाएँ। मूढ़ बन गये, तब तो पराजय निश्चित ही है।

भावार्थ—'शक्ति व सौम्यता' हमारे जीवन में क्रतु का वर्धन करें तथा हमें इस संसार के रणक्षेत्र में विजयी बनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ग्लानि, खेद व आलस्य से दूर

न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम मा सुनोतेति सोमम्।
यो मे पृणाद्यो दद्यो निबोधाद्यो मा सुन्वन्तमुप गोभिरायत्॥ ७॥

१. इन्द्र **मा**=मुझे **न तमत्**=ग्लानियुक्त न करदे—मैं कर्त्तव्यकर्मों को करने से कभी ऊबूँ नहीं। **न श्रमत्**=मुझे खिन्न भी न करे—मैं उदास होकर कर्त्तव्यकर्मों में कभी प्रमाद न करूँ। 'तमु ग्लानौ, श्रमु खेदे'। **उत**=और वह इन्द्र **न तन्द्रत्**=मुझे तन्द्रायुक्त न कर दे—मुझे आलस्य में मत जाने दे। हम '**सोमम् मा सुनोत**'=सोम का सम्पादन न करो—वीर्यशक्ति के रक्षण का इतना महत्त्व नहीं है—**इति मा वोचाम्**=इस प्रकार की बातें न करें। २. इन्द्र वे हैं **यः**=जो **मे पृणात्**= मेरी उत्तम कामनाओं को पूर्ण करते हैं, **यो ददत्**=जो मुझे सब आवश्यक वस्तुओं व धनों को देते हैं, **यः निबोधात्**=जो मुझे ज्ञानयुक्त करते हैं और **यः**=जो **सुन्वन्तम्**=सोम का अभिषव—वीर्यशक्ति का

सम्पादन करते हुए **मा**=मुझको **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के साथ—प्रकाश की किरणों के साथ **उप आयत्**=समीपता से प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हमें ग्लानि, खेद व आलस्य न सताये। हम सोम का (वीर्य का) रक्षण करें। प्रभु हमें प्रकाश की किरणों के साथ प्राप्त हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वाध्याय-प्राणायाम-उपासना

सरस्वति त्वमस्माँ अविड्ढि मरुत्वती धृषती जेषि शत्रून्।
त्यं चिच्छर्धन्तं तविषीयमाणमिन्द्रो हन्ति वृषभं शण्डिकानाम्॥ ८॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवते! **त्वम्**=तू **अस्मान्**=हमें **अविड्ढि**=रक्षित कर। ज्ञान ही हमारा रक्षण करता है। हे सरस्वति! तू **मरुत्वती**=प्राणोंवाली होती हुई, **धृषती**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाली होकर **शत्रून् जेषि**=हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतती है। सरस्वती की आराधना का अभिप्राय है—स्वाध्याय करना। 'मरुत्वती' का भाव है—प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना में प्रवृत्त होना। इस प्रकार प्राणायाम के साथ स्वाध्याय हमारे शत्रुओं का धर्षण करता है। २. **इन्द्रः**=वे प्रभु **त्यम्**=उस **चित्**=निश्चय से **शर्धन्तम्**=प्रसहनशील **तविषीयमाणम्**=बल की तरह आचरण करते हुए, अर्थात् अत्यन्त प्रबल **शण्डिकानां वृषभम्**=(शंड् to heart) नाश करनेवालों में उत्तम अर्थात् प्रबल विध्वंसक शत्रु को **हन्ति**=नष्ट करते हैं। हम प्रभु का उपासन करते हैं—प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं।

भावार्थ—काम आदि शत्रुओं के नाश के लिए आवश्यक है कि हम 'स्वाध्याय, प्राणायाम व उपासना' का आश्रय लें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सनुत्य-जिघत्नु-द्रुह' का विनाश

यो नः सनुत्य उत वा जिघत्नुरभिख्याय तं तिगितेन विध्य।
बृहस्पत आयुधैर्जेषि शत्रून्द्रुहे रीषन्तं परि धेहि राजन्॥ ९॥

१. **यः**=जो **नः**=हमारा **सनुत्यः**=अन्तर्हित शत्रु है—मन में ही छिपकर रहनेवाला 'काम' रूप शत्रु है **उत वा**=अथवा **जिघत्नुः**=हमारी हिंसा करनेवाला क्रोध रूप शत्रु है, **तम्**=उसको **अभिख्याय**=अच्छी तरह देखकर **तिगितेन**=तीव्र ज्ञानरूप अस्त्र से **विध्य**=वींध डाल। देदीप्यमान ज्ञानरूप शस्त्र से ही इनका वेधन होता है। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **आयुधैः**=इन्द्रिय मन व बुद्धिरूप आयुधों द्वारा **शत्रून्**=शत्रुओं को **जेषि**=तू जीतता है। हमने इन शत्रुओं को क्या जीतना! प्रभु ही हमारे लिए इस विजय को करते हैं। ३. हे **राजन्**=शासक प्रभो! अथवा ज्ञानदीप्त प्रभो! **द्रुहे**=हमारे जिघांसु—मारने की इच्छावाले—इन कामादि शत्रुओं के लिए **रीषन्तम्**= हिंसक वज्र को **परिधेहि**=धारण करिए। ज्ञानरूप वज्र द्वारा इन शत्रुओं का हिंसन कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानरूप वज्र प्राप्त कराते हैं। इस ज्ञानरूप वज्र से हम अन्तर्हित रूप से हमारे अन्दर रहनेवाले हिंसक द्रोही काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रेम, करुणा व दानवृत्ति

अस्माकेभिः सत्वभिः शूर शूरैर्वीर्या कृधि यानि ते कर्त्वानि।
ज्योगभूवन्ननुधूपितासो हत्वी तेषामा भरा नो वसूनि॥ १०॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! **अस्माकेभिः**=हमारे से दिये हुए **शूरैः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **सत्वभिः**=बलों से **वीर्या कृधि**=शक्तिशाली कर्मों को तू करनेवाला हो। **यानि**=जो शक्तिशाली कर्म **ते कर्त्वानि**=तेरे कर्त्तव्य हैं। वस्तुतः जीव का मूल कर्त्तव्य यही है कि यह अन्तःशत्रुओं को पराजित करने का प्रयत्न करे। काम-क्रोध-लोभ का विजय ही सब उन्नतियों का मूल है। ३. तेरे शत्रु **ज्योक्**=चिरकाल तक **अनुध्रूपितासः**=सन्तप्त **अभूवन्**=हों। **हत्वी**=इनको मारकर **तेषां वसूनि**=उनके वसुओं को **नः**=हमारी प्राप्ति के लिए **आभर**=धारण कर। काम के विनाश से 'प्रेम' का विकास होता है। क्रोध विनष्ट होकर करुणा के रूप में हो जाता है और लोभ नष्ट होकर सद्गुणों के संग्रह की रुचि को व दानवृत्ति को जन्म देता है। 'प्रेम, करुणा व दान' ही वे वसु हैं, जो हमें इन शत्रुओं के विनाश से प्राप्त होते हैं। इनको प्राप्त करनेवाला प्रभुप्राप्ति का अधिकारी बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके काम, क्रोध, लोभ को नष्ट करें तथा 'प्रेम, करुणा व दान' को धारण करनेवाले बनकर प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सर्ववीर-अपत्यसाच-श्रुत्य' रयि

तं वः शर्धं मारुतं सुम्नयुर्गिरोप ब्रुवे नमसा दैव्यं जनम्।
यथा रयिं सर्ववीरं नशामहा अपत्यसाचं श्रुत्यं दिवेदिवे॥ ११॥

१. प्रभु कहते हैं कि **तम्**=उस **वः**=आपके **सुम्नयुः**=सुख चाहने वाला मैं **मारुतं शर्धम्**=प्राण-सम्बन्धी बल को **उपब्रुवे**=स्तुत करता हूँ। प्राणसाधना द्वारा प्राप्त होनेवाला बल वस्तुतः स्तुति योग्य है। **गिरा**=ज्ञानवाणियों के हेतु से **नमसा**=नमन द्वारा **दैव्यं जनम्**=देव की ओर चलनेवाले मनुष्यों को स्तुत करता हूँ, अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करने के उद्देश्य से तुम नम्रतापूर्वक देवजनों के समीप उपस्थित होवो। यह ज्ञान तुम्हारे मनों को पवित्र बनाकर तुम्हारे जीवन को अधिक से अधिक शक्तिवाला बनाएगा। एवं प्राणसाधना से शरीर तथा देवसम्पर्क से मस्तिष्क की उन्नति होकर जीवन पूर्ण बन पाएगा। २. जीव प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप ऐसा करिए कि **यथा**=जिससे **रयिम्**=उस धन को **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **नशामहा**=प्राप्त करें जो कि **सर्ववीरम्**=सब प्रकार से हमें वीर बनानेवाला है, **अपत्यसाचम्**=अपतन के साथ हमारा मेल करनेवाला है—जो हमारे पतन का कारण नहीं है और **श्रुत्यम्**=ज्ञान प्राप्ति के लिए साधनभूत है। जब हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होंगे तथा विद्वानों के सम्पर्क में आकर ज्ञान प्राप्त करेंगे तो हमें यह 'सर्ववीर-अपत्यसाच-श्रुत्य' धन प्राप्त होगा।

भावार्थ—हम प्राणसाधना व देवजनसम्पर्क को अपनाकर उस धन को प्राप्त करें जो कि हमें वीर बनाए—हमें पतन से बचाए तथा हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बने।

सूक्त का मूलभाव यही है कि अन्तर्हित शत्रुओं पर विजय पाएँ। इसके लिए प्रभु का स्मरण करें। अपने अन्दर इन्द्र और सोमशक्ति का वर्धन करें। प्राणायाम को अपनाएँ। देवजनों के सम्पर्क में होकर अपने ज्ञान को बढ़ाएँ। यही भाव अगले सूक्त के प्रारम्भ में निम्न शब्दों में है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मित्रावरुणा

अस्माकं मित्रावरुणावतं रथमादित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा।
प्र यद्वयो न पप्तन्वस्मनस्परि श्रवस्यवो हृषीवन्तो वनर्षदः॥ १॥

१. हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—प्राण और अपान अथवा स्नेह व निर्द्वेषता के देवताओ! आप **अस्माकम्**=हमारे **रथम्**=शरीररूप रथ को **अवतम्**=रक्षित करो। प्राणायाम से तो शरीर का रक्षण होता ही है। प्रेम व निर्द्वेषता की भावनाएँ भी दीर्घजीवन का कारण बनती हैं। हे मित्रावरुणो! आप **आदित्यैः रुद्रैः वसुभिः**=आदित्यों, रुद्रों और वसुओं के **सचाभुवा**=साथ मिलकर होनेवाले हो, अर्थात् प्रेम व निर्द्वेषता के होने पर आदित्यों, रुद्रों और वसुओं का हमारे में निवास होता है। 'आदित्य' द्युलोक के देवता हैं—'रुद्र' अन्तरिक्षलोक के तथा 'वसु' पृथिवीलोक के। शरीर में ये 'मस्तिष्क, हृदय व स्थूलशरीर' के देव हैं। प्रेम व निर्द्वेषता के होने पर शरीर में इन सबका निवास होता है। यही 'दिव्य जीवन' है। २. **यद्**=जब इस प्रकार का जीवन हम बना पाते हैं तो **श्रवस्यवः**=उत्तम ज्ञान की कामनावाले होते हुए, **हृषीवन्तः**=हृदय में प्रसन्न-मनोवृत्तिवाले तथा **वनर्षदः**=शरीररूप गृह में निवास करनेवाले अर्थात् स्व-स्थ शरीरवाले होते हुए **वस्मनःपरि**=इन शरीररूप निवासस्थानों से ऊपर इस प्रकार **प्रपप्तन्**=उड़ जाएँ **न**=जैसे कि **वयः**=पक्षी घोंसले से उड़ जाते हैं। हम शरीरों से ऊपर, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठकर मुक्त हो सकें।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हम जीवन को दिव्य बनाएँ। 'ज्ञानी प्रसादयुक्त स्वस्थ' जीवन बिताकर मोक्ष के अधिकारी हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पद्याभिः-पाणिभिः

अध स्मा न उदवता सजोषसो रथं देवासो अभि विक्षु वाजयुम्।
यदाशवः पद्याभिस्तित्रतो रजः पृथिव्याः सानौ जङ्घनन्त पाणिभिः ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र में मित्र और वरुण के साथ 'आदित्य, रुद्र व वसु' इन सब देवों के लिए आराधना की गई थी। **सजोषसो देवासः**=सब समान रूप से प्रीतिवाले देवो! अब आप **नः रथम्**=हमारे इस शरीररथ को **उदवता स्म**=उत्कर्षेण रक्षित करो। यह हमारा रथ **विक्षु**=प्रजाओं में **अभिवाजयुम्**=शरीर व आत्मा दोनों के बल की कामनावाला हो। २. **यद्**=जब **आशवः**=शरीररूप रथ में जाते हुए मार्ग का व्यापन करनेवाले इन्द्रियाश्व **पद्याभिः**=अपनी गतियों से—अपने-अपने कार्य द्वारा **रजः तित्रतः**=रजोगुण को तैरते हुए **पाणिभिः**=(पण व्यवहारे स्तुतौ च) उत्तम व्यवहारों व स्तुतियों द्वारा **पृथिव्याः सानौ**=पृथिवी के उन्नत देश में, अर्थात् अधिक से अधिक उन्नत स्थिति में **जङ्घनन्त**=गतिवाले होते हैं। 'सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में ठीक से लगें' यही उन्नति का मार्ग है।

भावार्थ—हम जीवन को दिव्य बनाते हुए शरीर व आत्मा दोनों के बल को प्राप्त करें। गतिशीलता से राजसभाओं से ऊपर उठकर अधिक से अधिक उन्नत स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु से अधिष्ठित शरीररथ

उत स्य न इन्द्रो विश्वचर्षणिर्दिवः शर्धेन मारुतेन सुक्रतुः।
अनु नु स्थात्यवृकाभिरूतिभी रथं महे सनये वाजसातये॥ ३ ॥

१. **उत**=और **स्यः**=वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वचर्षणिः**=(विश्वे चर्षणयो यस्य) सब मनुष्यों का द्रष्टा-ध्यान व पालन करनेवाला है (Look after)। वह प्रभु **नः**=हमारे लिए **दिवःशर्धेन**=ज्ञान के बल से तथा **मारुतेन**=प्राणों के **शर्धेन**=बल से **सुक्रतुः**=शोभन प्रज्ञा व

शक्ति देनेवाले हैं। स्वाध्याय व प्राणसाधना से हमारा ज्ञान व बल बढ़ता है। २. वे प्रभु **नु**=अब **अवृकाभिः ऊतिभिः**=हिंसा से रहित रक्षणों से **रथम् अनुस्थाति**=हमारे शरीररथों पर अधिष्ठित होते हैं। हमारे शरीरों में स्थित हुए-हुए वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। इसी से हम **महे सनये**=महान् ज्ञानधन की प्राप्ति के लिए तथा **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं। जब हमारे शरीररथ के सारथि प्रभु होते हैं तो हमारा रथ दृढ़ होता है तथा प्रकाश से युक्त होता है। हमारा जीवन बल व ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—हमारा शरीररथ प्रभु से अधिष्ठित हो। ऐसा होने पर ही हम ज्ञान तथा शक्ति से सम्पन्न होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभुप्रेरणा के अनुसार

उत स्य देवो भुवनस्य सक्षणिस्त्वष्टा ग्नाभिः सजोषा जूजुवद्रथम्।
इळा भगो बृहद्दिवोत रोदसी पूषा पुरंधिरश्विनावधा पती॥ ४॥

१. **उत**=और **भुवनस्य सक्षणिः**=सारे ब्रह्माण्ड का सेव्य **स्यः देवः**=वह प्रकाशमय प्रभु **ग्नाभिः**=छन्दोयुक्त वेदवाणियों से **सजोषाः**=समान प्रीतिवाला वह **त्वष्टा**=सारे संसार का निर्माता प्रभु **रथं जूजुवत्**=मेरे शरीररथ को प्रेरित करे। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार मैं चलूँ। २. **इडा**=वेदवाणी मेरे रथ को प्रेरित करे। वेदवाणी के अनुसार मेरा जीवन हो। **भगः**=ऐश्वर्य का देवता मेरे रथ को प्रेरित करे। मैं ऐश्वर्य कमानेवाला बनूँ। **बृहद्दिवा**=यह भग महान् प्रकाशवाला हो **उत**=और **रोदसी**=द्यावापृथिवी 'मस्तिष्क व शरीर दोनों मेरे रथ को प्रेरित करें।' शरीर का जहाँ मैं ध्यान करूँ, उतना ही मस्तिष्क का भी ध्यान करूँ। ३. **पूषा**=पोषण का देवता मेरे रथ को प्रेरित करे। इस शरीर में सब अंगों का पोषण ठीक से हो। **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धि इस रथ को प्रेरित करे, अर्थात् बुद्धि का विकास पूर्णरूपेण हो। **अधा**=अब **अश्विना**=प्राणापान इस शरीररथ के **पती**=रक्षक हों। प्राणापान की साधना से यहाँ सब अंग ठीक बने रहें—किसी प्रकार की कमी न आये।

भावार्थ—मेरा जीवन प्रभु-प्रेरणा से प्रेरित हो—वेदानुकूल मेरा जीवन हो। इसमें ज्ञानयुक्त ऐश्वर्य हो (भगो बृहद्दिवा) अङ्गों के पोषण के साथ पालक बुद्धि हो। प्राणापान साधना से इसका मैं समुचित रक्षण करूँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

त्रिवयाः

उत त्ये देवी सुभगे मिथूदृशोषासानक्ता जगतामपीजुवा।
स्तुषे यद्वां पृथिवि नव्यसा वचः स्थातुश्च वयस्त्रिवया उपस्तिरे॥ ५॥

१. **उत**=और **त्ये**=वे **देवी**=दिव्य गुणोंवाले **सुभगे**=हमारे उत्तमभाग्य के कारणभूत **मिथूदृशा**=परस्पर मिलकर सब प्राणियों का ध्यान करनेवाले **उषासानक्ता**=दिन और रात **जगताम्**=सब गतिशील प्राणियों के **अपीजुवा**=प्रेरक होते हैं। ये दिन-रात हमारे शरीररथ के भी प्रेरक हों। ये हमारे जीवनों को दिव्य बनानेवाले हैं। हमें शोभन धनों को प्राप्त कराते हैं। एक-दूसरे के पूरक हैं। ये दिन-रात हमें जीवनयात्रा में आगे और आगे प्रेरित करनेवाले हों। २. इन दिन-रात में हे (द्यावा) **पृथिवी**=द्युलोक और पृथिवी लोको! **यद्**=जब मैं **वाम्**=आपके **नव्यसा**=(नु स्तुतौ) स्तुति के हेतु **वचः स्तुषे**=वचन का उच्चारण करता हूँ, **च**=और **स्थातुः**=स्थावर पदार्थों के ही **वयः**=अन्न

को **उपस्तिरे**=आच्छादित करता हूँ तो **त्रिवयाः**=त्रिगुण जीवनवाला बनता हूँ। (त्रि+वयस्)—मेरे शरीर व हाथों से यज्ञादि प्रवृत्त होते हैं—मन में अर्चना तथा मस्तिष्क में ज्ञान ज्योति दीप्त होती है। मेरा जीवन कर्म, भक्ति व ज्ञान तीनों को लेकर चलता है। ३. यह सब होता तभी है जब कि (क) मैं दिन को अहन् बना डालता हूँ 'अ+हन्'=जिसका एक पल भी नष्ट नहीं होता और रात्रि में मैं निद्रा में रमण करता हूँ। (ख) जब मैं द्यावापृथिवी दोनों का ध्यान करता हूँ। मस्तिष्क व शरीर दोनों को ज्ञान व शक्ति से उज्ज्वल करने का प्रयत्न करता हूँ और (ग) तब मैं मांसभोजन से दूर रहता हूँ। ४. 'त्रिवयाः' का अर्थ यह भी है कि यह मनुष्य तीन गुण आयुष्यवाला—३००वर्ष के जीवनवाला होता है। 'त्र्यायुषं जमदग्नेः, कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' (यजु० ३।६२)। शरीर में जमदग्नि=दीप्त जाठराग्निवाला, मस्तिष्क में कश्यप=ज्ञानी तथा मन में देव बनकर यह त्र्यायुष व **त्रिवयाः** बनता है।

भावार्थ—हम उषासानक्ता=दिन-रात का अपने जीवन में सुन्दर समन्वय करें। द्यावापृथिवी= मस्तिष्क व शरीर दोनों को उन्नत करके चलें तथा वानस्पतिक भोजनों को ही करें। इस प्रकार ३०० वर्ष का जीवन प्राप्त करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-शंसन

उत वः शंसमुशिजामिव श्मस्यहिर्बुध्न्योऽज एकपादुत।
त्रित ऋभुक्षाः सविता चनो दधेऽपां नपादाशुहेमा धिया शमि ॥ ६ ॥

१. **उत**=और **वः शंसम्**=हे देवो! आपके स्तवन को **उशिजाम् इव**=मेधावियों की भाँति **श्मसि** (उश्मसि)=हम चाहते हैं। हम सब देवों का शंसन करते हैं—इन देवों के शंसन से हम देवों जैसे ही बनने का प्रयत्न करते हैं। देवों के शंसन की तरह हम मेधावियों का भी शंसन करते हैं, उन जैसे ही मेधावी बनने के लिए यत्नशील होते हैं। २. **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन बुध्न (=मूल) वालों में उत्तम-विशाल आधारवाला, **अजः**=गति के द्वारा सब मलों को दूर फेंकनेवाला (अज गतिक्षेपणयोः), **एकपात्**=एकचाल चलनेवाला—बहुरूपिया न बननेवाला **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ (त्रीन् तरति) **ऋभुक्षाः**=विशाल दीप्ति में निवास करनेवाला, **सविता**=उत्पन्न करनेवाला—निर्माण करनेवाला, ये सब **चनः दधे**=अन्न को धारण करें, अर्थात् हम अन्न को इस दृष्टिकोण से खाएँ कि हम 'अहिर्बुध्न्य व अज' आदि बन पाएँ। जैसा अन्न वैसा ही मन बनता है—अन्न ने ही हमें बनाना है। ३. **अपांनपात्**=शक्तिकणों को न नष्ट होने देनेवाला **आशुहेमा**=शीघ्रता से कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला हमें **धिया शमि**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों में धारण करे, अर्थात् हम सदा समझदारी से कर्मों को करते हुए शक्तिकणों के रक्षण में समर्थ हों। शक्तिकणों के रक्षण द्वारा क्रियाशील बनें।

भावार्थ—हम देवों का शंसन करते हुए देव बनें। उत्तम अन्नों के सेवन से अपने में दिव्यता को बढ़ाएँ। बुद्धिपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

श्रवस्यवः-वाजं चकानाः

एता वो वश्म्युद्यता यजत्रा अतक्षन्नायवो नव्यसे सम् ।
श्रवस्यवो वाजं चकानाः सप्तिर्न रथ्यो अह धीतिमश्याः ॥ ७ ॥

१. हे **यजत्राः**=पूजनीय देवो! मैं **एता**=इन **वः**=आपके **उद्यता**=उद्यत स्तुतिवचनों को

वशिम=चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि सदा आपका स्तवन करनेवाला बनूँ। २. **आयवः**=गतिशील मनुष्य **श्रवस्यवः**=उत्तम ज्ञान की कामनावाला होते हुए तथा **वाजं चकानाः**=शक्ति की कामना करते हुए **नव्यसे**=आपके स्तवन के लिए **समतक्षन्**=स्तुतिवचनों का निर्माण करते हैं। देवों के स्तवन से स्तोता की वृत्ति भी दिव्य बनती है और वह अपने ज्ञान और शक्ति को बढ़ा पाता है। ३. हे देवो! आपका यह स्तोता **रथ्यः सप्तिः न**=रथ में जुते उत्तम घोड़े की भाँति **अह**=निश्चय से **धीतिम्**=(धीति=कर्म नि० २.२४) कर्म को **अश्याः**=प्राप्त हो। इसका सारा समय उत्तम कर्मों में ही व्यतीत हो।

भावार्थ—हम देवों का स्तवन करें—ज्ञान और शक्ति की कामना करें तथा कर्मों में लगे रहें।

सूक्त का सार यही है कि हम जीवन को दिव्य बनाने का प्रयत्न करें। अगले सूक्त में भी इसी विषय को द्यावापृथिवी के आराधन से आरम्भ करते हैं।

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋतायत्-सिषासत्

अस्य मे द्यावापृथिवी ऋतायतो भूतमवित्री वचसः सिषासतः।
ययोरायुः प्रतरं ते इदं पुर उपस्तुते वसूयुर्वां महो दधे ॥ १ ॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक, **ऋतायतः**=ऋत का आचरण करनेवाले **सिषासतः**=सम्भजन की इच्छावाले अथवा धन को संविभागपूर्वक सेवन करनेवाले **मे**=मेरे **अस्य वचसः**=इस स्तुतिवचन के **अवित्री भूतम्**=रक्षक हों। द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर मेरे ऐसे बने रहें कि मैं प्रभु का स्तवन करता हुआ सदा ऋतमार्ग पर चलता रहूँ तथा संविभाग-पूर्वक खाने की वृत्तिवाला बना रहूँ। ३. **ययोः**=जिन द्यावापृथिवी का—मस्तिष्क व शरीर का **आयुः प्रतरम्**=आयुष्य अत्यन्त दीर्घ है, **ते**=वे द्यावापृथिवी **इदम्**=(इदानीम्) अब **पुरः उपस्तुते**=सबसे पहले स्तुत होते हैं, अर्थात् जितने दीर्घकाल तक मस्तिष्क व शरीर ठीक रहें उतने ही वे अधिक प्रशंसनीय होते हैं। **वसूयुः**=सब वसुओं की कामनावाला जीवनधनों की इच्छावाला मैं **वाम्**=आपके **महः**=तेज को **दधे**=धारण करता हूँ। मस्तिष्क व शरीर दोनों को मैं तेजस्वी बनाता हूँ।

भावार्थ—मेरे जीवन में ऋत हो—मैं संविभागपूर्वक चीज़ों का सेवन करूँ मेरे शरीर व मस्तिष्क दोनों तेजस्वी हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रस्त्वष्टा वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अटूट मित्रता

मा नो गुह्या रिप आयोरहन्दभन्मा न आभ्यो रीरधो दुच्छुनाभ्यः।
मा नो वि यौः सख्या विद्धि तस्य नः सुम्नायता मनसा तत्त्वेमहे ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **सुम्नायता**=(सुम्न Hymn) स्तुति की कामनावाले **मनसा**=मन से **त्वा तत् ईमहे**=आपसे यही चाहते हैं कि (क) **नः**=हमें **आयोः**=मनुष्य के **गुह्याः**=हृदयरूप गुहा में ही छिपकर रहनेवाले **रिपः**=हिंसक काम आदि शत्रु **अहन्**=इस जीवन के दिनों में **मा दभन्**=हिंसित करनेवाले न हों। हम इन शत्रुओं के वश में न हो जाएँ। (ख) आप **नः**=हमें **आभ्यः**=इन **दुच्छुनाभ्यः**=दुर्गतियों के लिए **मा रीरधः**=मत वशीभूत करिए। हम दुराचारों के काबू में न हो जाएँ। ३. इन दोनों बातों से भी बड़ी बात तो यह है कि **नः**=हमारी **सख्या**=(सख्यानि) मित्रता

को **मा वियौः**=अपने से पृथक्-मत करिए। हम सदा आपके मित्र बने रहें। कभी यह मित्रता टूटे नहीं। **तस्य विद्धि**=इस बात का आप अवश्य ध्यान करिए। हमारी सर्वोपरि कामना यही है कि हम आपके मित्र बने रहें।

भावार्थ—हम अन्त:शत्रुओं से हिंसित न हों। हम दुराचारों के वशीभूत न हों। हमारी प्रभु से मित्रता बनी रहे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रस्त्वष्टा वा** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पद्याभिः वचसा च

अहेळता मनसा श्रुष्टिमा वह दुहानां धेनुं पिप्युषीमसश्चतम्।
पद्याभिराशुं वचसा च वाजिनं त्वां हिनोमि पुरुहूत विश्वहा॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अहेडता**=न क्रोध करते हुए **मनसा**=मन से आप **श्रुष्टिम्**=सब सुखों को देनेवाली, **दुहानाम्**=ज्ञानदुग्ध को दोहन करनेवाली **पिप्युषीम्**=ज्ञान द्वारा हमारा आप्यायन व वर्धन करनेवाली **असश्चतम्**=(not sticking) संसार में हमें आसक्त न होने देनेवाली **धेनुम्**= इस वेदवाणीरूप गौ को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए। २. हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **विश्वहा**=सदा मैं **आशुम्**=सर्वत्र व्याप्त व शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले **वाजिनम्**=शक्तिशाली **त्वाम्**=आपको **पद्याभिः**=क्रियाओं द्वारा **वचसा च**=और स्तुतिवचनों द्वारा **हिनोमि**=अपने में प्रेरित करता हूँ। मैं निरन्तर आपकी दृश्य व श्रव्य भक्ति को करता हुआ आपके समीप और समीप होता चलता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानवाणियों को प्राप्त कराएँ। हम उत्तम क्रियाओं व स्तुतिवचनों से प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**राका** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राका

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्॥ ४॥

१. जीवनयात्रा में सफलता बहुत कुछ पत्नी पर निर्भर है। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि **अहम्**=मैं **राकाम्**=पूर्णचन्द्रवाली रात्रि के समान रमयित्री इस नवयुवति को (राका=A girl in whom menstruation has just commenced) **सुष्टुती**=उत्तम स्तुतिवचनों से **हुवे**=पुकारता हूँ। प्रभु से आराधना करता हूँ कि मुझे राका के समान जीवनसाथी की प्राप्ति हो। जो **सुहवाम्**=आसानी से पुकारी जा सकती है, अर्थात् जिसको आवाजें लगाते-लगाते ही पुरुष थक नहीं जाता। यह **सुभगा**=घर के सौभाग्य की कारणभूत पत्नी **नः**=हमारी बात को **शृणोतु**=सुने। **त्मना बोधतु**=स्वयं सब कार्यों को समझती हो। "क्या कार्य कैसे करना है कैसे नहीं", इस बात को स्वयं समझती हो। २. जो **अच्छिद्यमानया सूच्या**=न टूटती हुई सुई से **अपः**=कर्मरूप वस्त्रों को **सीव्यतु**=सीनेवाली हो। निरन्तर कर्मों को करनेवाली हो। ऐसी यह पत्नी हमारे लिए **वीरम्**=वीरसन्तान को **ददातु**=दे। जो सन्तान **शतदायम्**=सैकड़ों ही दान देनेवाला हो तथा **उक्थ्यम्**=सब प्रकार से प्रशंसनीय जीवनवाला हो।

भावार्थ—पत्नी पूर्णचन्द्र निशा के समान रमयित्री, सुहवा तथा सुभगा हो। समझदार, निरन्तर क्रियाशील व वीर सन्तान को जन्म देनेवाली हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**राका** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुपेशसः सुमतयः

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा॥ ५॥

१. हे **राके**=पूर्णचन्द्र निशा के समान आनन्द देनेवाली पत्नी! **याः**=जो **ते**=तेरी **सुपेशसः**=उत्तम रूपों का निर्माण करनेवाली **सुमतयः**=उत्तम बुद्धियाँ हैं **याभिः**=जिनके द्वारा तू **दाशुषे**=गृहस्थी उन्नति के लिए सब कुछ देनेवाले पति के लिए **वसूनि**=सब वसुओं को—घर को उत्तम बनानेवाले धनों को **ददासि**=देती है **ताभिः**=उन सुमतियों से **सुमनाः**=उत्तम मनवाली तू **अद्य**=आज **नः**=हमें **उपागहि**=समीपता से प्राप्त हो। पति अपनी सारी कमाई घर की उन्नति के लिए दे डालता है सो 'दाश्वान्' है। पत्नी उस धन का बुद्धिपूर्वक प्रयोग करती हुई घर को सब वस्तुओं से पूर्ण कर देती है। २. इस प्रकार **सुभगे**=गृह के उत्तम भाग्य की कारणभूत पत्नि! तू **सहस्रपोषं** **रराणा**=सहस्रसंख्यावाले धन की पुष्टि को देती है, हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—पति अपना अर्जित धन गृह-उन्नति के लिए दे। पत्नी उसका सद्व्यय करती हुई घर को सब वस्तुओं से परिपूर्ण करनेवाली हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सिनीवाली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सिनीवाली

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ ६॥

१. **सिनीवालि**=(षिञ् बन्धने) उत्तम व्रतों के बन्धनवाली व उत्तम अन्नवाली—घर में अन्न की व्यवस्था को उत्तम रखनेवाली, **पृथुष्टुके**=उत्तम जघनोंवाली व उत्तम केशपाशवाली, **या**=जो तू **देवानां स्वसा असि**=देवों की बहिन है, अर्थात् तेरे भाई देववृत्ति के हैं—झगड़ालु नहीं हैं। २. वह तू **आहुतम्**=देवयज्ञ में—अग्नि में आहुत हुए-हुए **हव्यम्**=यज्ञशिष्ट पदार्थों को ही **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो, अर्थात् यज्ञ करके सदा यज्ञशेष को ग्रहण करनेवाली हो तथा हे **देवि**=उत्तम व्यवहारवाली गृहपत्नी! तू **नः**=हमारे लिए **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को **दिदिड्ढि**=देनेवाली हो। यज्ञशील-पत्नी की सन्तान अवश्य उत्तम होगी।

भावार्थ—पत्नी उत्तम व्रतबन्धनों वाली—यज्ञशेष का सेवन करनेवाली व उत्तम सन्तान को बनानेवाली हो।

सूचना—व्यवहारिक दृष्टिकोण से पत्नी वही दिव्य है 'या देवानामसि स्वसा'=जो देववृत्तिवाले भाइयों की बहिन है—यह भी कुलीन होने से घर को उत्तम ही बनाएगी। जिसके भाई झगड़े की वृत्तिवाले होंगे, उसके साथ सम्बन्ध होने पर झगड़ा ही होता रहेगा। 'देवानां स्वसा' का भाव यह भी है कि जो दिव्यगुणों को अपने में अच्छी तरह स्थापित करनेवाली है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सिनीवालीः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सुषूमा

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी। तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन॥ ७॥

१. **या**=जो **सुबाहुः**=उत्तम प्रयत्नोंवाली है अथवा उत्तम भुजाओंवाली है। **सु अंगुरिः**=जो उत्तम अंगुलियोंवाली है अथवा सदा 'अगि गतौ' क्रियाशील है—आलस्य से सदा दूर है। क्रियामय जीवन के कारण ही **सुषूमा**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली है और **बहुसूवरी**=अनेक सन्तानों को जन्म देनेवाली है—अनेक सन्तानों को जन्म देने का सामर्थ्य रखती है। २. **तस्यै**=उस

विश्पत्न्यै=प्रजाओं का उत्तम पालन करनेवाली, **सिनीवाल्यै**=उत्तम व्रत बन्धनोंवाली पत्नी के लिए **हविः जुहोतन**=हवि को देनेवाले बनो। पति को चाहिए कि अपने प्रतिमास अर्जित धन को पत्नी के लिए दे दे। वह घर की सम्राज्ञी है। जैसे प्रजा सम्राट् को कर देती है और सम्राट् उस कर-प्राप्त धन से प्रजा का हित करता है उसी प्रकार पति गृहपत्नी को अपना वेतन दे दे। घर की सम्राज्ञी उसके द्वारा घर की सुव्यवस्था करने का यत्न करे।

भावार्थ—पत्नी क्रियामय जीवनवाली है। वह उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली है। वह घर की सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिये हुए है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आदर्श पत्नी

या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती। इन्द्राणीमह्व ऊतये वरुणानीं स्वस्तये॥ ८॥

१. **या**=जो **गुङ्गूः**=अव्यक्त, अर्थात् न बहुत ऊँचा बोलनेवाली है—उचित लज्जा modesty वाली है। **या**=जो **सिनीवाली**=उत्तम व्रतों के बन्धनवाली व उत्तम अन्नादि की व्यवस्थावाली है। **या राका**=जो पूर्णचन्द्रनिशा के समान रमयित्री है। **या सरस्वती**=जो ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी के समान है—खूब उत्कृष्ट ज्ञानवाली है। २. उस **इन्द्राणीम्**=इन्द्रियों की स्वामिनी—जितेन्द्रिय पत्नी को **ऊतये**=रक्षण के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। ऐसी पत्नी ही इन्द्रियों की शक्ति के रक्षण के अनुकूल होती है। भोगप्रधानवृत्तिवाली पत्नी पति को क्षीणशक्ति बना देती है। २. **वरुणानीम्**= द्वेष का निवारण करनेवाली पत्नी को **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए पुकारते हैं। पत्नी वही ठीक है, जिसके कारण भाइयों में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष व क्रोध बढ़ न जाएँ।

भावार्थ—पत्नी को 'गुङ्गू-सिनीवाली-सरस्वती-इन्द्राणी व वरुणानी' बनना चाहिए।

सूक्त का भाव यह है कि हम प्रभु की मित्रता द्वारा जीवन को पवित्र बनाएँ। उत्तम पत्नी प्राप्त करके घर को सद्गृह बना पाएँ।

अगले सूक्त में जीवन की उत्तमता के लिए रुद्र से आराधना करते हैं।

चतुर्थोऽनुवाकः

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण व दीर्घजीवन

आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य संदृशो युयोथाः।
अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत प्र जायेमहि रुद्र प्रजाभिः॥ १॥

१. 'रुद्र' (रुत्+र)=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देनेवाले प्रभु हैं। ये प्रभु हमारे में प्राणों का स्थापन करते हैं। ये प्राण ही मरुत् हैं। रुद्र इनके पिता हैं। गृत्समद ऋषि प्रार्थना करते हैं कि हे **मरुतां पितः**=हमारे प्राणों के रक्षक प्रभो! हमें **ते**=आपका **सुम्नम्**=स्तवन (Hymn) **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनें। आप **नः**=हमें **सूर्यस्य सन्दृशः**= सूर्य के सन्दर्शन से **मा युयोथाः**=पृथक् मत करिए। आपके रक्षण में हम दीर्घजीवी बनें। २. **नः**=हमारी **वीरः**=वीर सन्तान **अर्वति**=शत्रु के विषय में **अभिक्षमेत**=पराभव करने में समर्थ हो—शत्रुओं को वह सदा पराजित करनेवाली हो। हे **रुद्र**=प्रभो! हम **प्रजाभिः प्रजायेमहि**=उत्तम सन्तानों से वंश के विकासवाले हों। हमारे वंश में प्रजातन्तु विच्छिन्न न हो जाए।

भावार्थ—प्रभुस्तवन करते हुए हम दीर्घजीवी हों। हमारे सन्तान भी शत्रुओं का अभिभव

करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

निर्द्वेषता-निष्पापता-नीरोगता

त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।
व्य१स्मद् द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः॥ २॥

१. हे **रुद्र**=(रुत्+र) रोगों का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वादत्तेभिः**=आप से दी गई, **शन्तमेभिः**=अधिक-से-अधिक शान्तिप्राप्ति की साधनभूत **भेषजेभिः**=ओषधियों से **शतं हिमा**=सौ हेमन्त ऋतुओं को, अर्थात् सौ वर्षों को **अशीय**=व्याप्त करनेवाला बनूँ—सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ। २. इस दीर्घजीवन की प्राप्ति के लिए ही **अस्मत्**=हमारे से **द्वेषः वि**=द्वेष की भावनाओं को पृथक् करिए। **अहः**=पाप व कुटिलता को **वितरम्**=अत्यन्त **वि चातयस्व**=दूर विनष्ट करिए तथा **विषूचीः**=विविध प्रकार से शरीर में व्याप्तिवाले **अमीवाः**=रोगों को **विचातयस्व**=आप विशेषरूप से नष्ट करिए। द्वेष व पाप से ऊपर उठकर हम रोगों से बचते हैं और रोगाक्रान्त न होने से दीर्घजीवी बनते हैं। ओषधिद्रव्यों का ठीक प्रयोग करते हुए भी हम रोगों को शान्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु की ओषधियाँ हमारे रोगों को शान्त करें। हम द्वेष व पाप से ऊपर उठकर विविध रोगों को विनष्ट करनेवाले हों। यही दीर्घजीवन का मार्ग है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पाप से पार

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥ ३॥

१. हे **रुद्र**=परमात्मन्! आप **जातस्य**=इस ब्रह्माण्ड में **श्रिया श्रेष्ठः असि**=श्री के दृष्टिकोण से सर्वश्रेष्ठ हैं! ठीक-ठीक बात तो यह है कि जहाँ-जहाँ श्री है वह आपकी ही है। 'यद् यद् विभूतिमतां सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशं सम्भवम्'। २. हे **वज्रबाहो**=आयुधहस्त अथवा सतत क्रियाशील प्रभो! (वजगतौ) आप **तवसाम्**=बढ़े हुओं में **तवस्तमः**=सबसे अधिक बढ़े हुए हैं। सर्वव्यापक हैं, सब गुणों की चरमसीमा हैं। आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप के **पारम्**=पार **स्वस्ति**=क्षेमेण (=कुशलतापूर्वक) **पर्षि**=प्राप्त कराइए। पाप से हमें दूर कीजिए ताकि हम मंगलमय जीवन बिता पाएँ। **विश्वाः**=सब **रपसः**=पाप व दोष की **अभीतीः**=(अभि इतीः) प्राप्तियों—अभिगमनों को **युयोधि**=हमारे से पृथक् करिए। हमारा पाप के साथ सम्पर्क न हो। पाप के आक्रमण को हम निष्फल कर सकें।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें पाप से पार ले जानेवाला हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भिषजां भिषक्तमम्

मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि॥ ४॥

१. हे **रुद्र**=ज्ञान देनेवाले व रोगों का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हमारे मस्तिष्कों को ज्ञानोज्ज्वल व शरीरों को नीरोग बनानेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपको **नमोभिः**=हर समय नमस्ते ही नमस्ते करते

हुए और अपने आपसे निर्दिष्ट, कर्त्तव्यों को न करते हुए **मा चुक्रुधाम**=मत क्रुद्ध करलें। हर समय के नमस्ते की अपेक्षा अपने कर्त्तव्यों को करनेवाले बनें। २. **दुष्टुती मा**=गलत स्तुति से हम आपको क्रुद्ध न कर लें। गलत स्तुति क्या है? प्रभु को दयालु नाम से स्मरण करना और स्वयं क्रूरवृत्ति का बनना—प्रभु को न्यायकारी कहना और स्वयं सदा अन्याय में प्रवृत्त होना। इस दुष्टुति को हम करनेवाले न हों। ३. हे **वृषभ**=सब सुखों के व सुखसाधनों के वर्षण करनेवाले प्रभो! हम **सहूती मा**=आपके साथ अन्य बातों की पुकार द्वारा आपको क्रुद्ध न कर लें। आप तो स्वयं सब चीजों को हमारे लिए दे रहे हैं। हम व्यर्थ की प्रार्थनाओं से आपको क्रुद्ध न कर लें। ४. आप **नः वीरान्**=हमारी वीर सन्तानों को भी **भेषजेभिः**=रोगनिवारक ओषधियों से **उत् अर्पय**=उत्कर्ष से संयुक्त करिए। **त्वा**=आपको मैं **भिषजाम्**=वैद्यों में **भिषक्तमम्**=सर्वमहान् वैद्य **शृणोमि**=सुनता हूँ। आप हमारे सब रोगों का निवारण करके हमें उत्कर्ष को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम नमस्ते ही नमस्ते न करते रहें, गलत स्तुति न करें, बहुत माँगते न रहें। प्रभु स्वयं सब कुछ देनेवाले हैं—हमारे सब रोगों का प्रतिकार करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हवीमभिः+हविर्भिः

हवीमभिर्हवते यो हविर्भिरव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय ।
ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै ॥ ५ ॥

१. **यः**=जो रुद्र **हवीमभिः**=पुकारों द्वारा—आराधनाओं द्वारा तथा **हविर्भिः**=दानपूर्वक अदन द्वारा **हवते**=स्तुत किया जाता है (हूयते) उस **रुद्रम्**=रुद्र को **स्तोमेभिः**=स्तुतिमन्त्रों द्वारा **अवदिषीय**=(अपगतक्रोधं करोमि सा०) क्रोधरहित करता हूँ। मैं केवल प्रभु को पुकारता ही नहीं रहता। प्रभु की आराधना के साथ त्यागपूर्वक अदन व यज्ञात्मकवृत्ति को भी अपनाता हूँ। केवल नमस्ते से ही मैं प्रभु का कोपभाजन हुआ था (मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिः)। नमस्ते के साथ यज्ञों को अपनाकर—वास्तविक स्तवन को करता हुआ—मैं प्रभु का प्रिय बनता हूँ। २. वह प्रभु **ऋदूदरः**=कोमलहृदय-दयालु हैं। **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य हैं—हम सुगमता से उन प्रभु को आराधित कर सकते हैं। **बभ्रुः**=वे सबका भरण करनेवाले हैं। **सुशिप्रः**=शोभन हनू वा नासिकाओं को देनेवाले हैं। (शोभने शिप्रे हनू नासिके वा यस्मात्) अर्थात् प्रभुस्मरण करनेवाला उत्तम जबड़ोंवाला होता है—हितकर वस्तुओं को ही परिमित रूप में खाता है यह उत्तम नासिकाओंवाला, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला होता है। ये सुशिप्र प्रभु **नः**=हमें **अस्यै**=इस **मनायै**=(हन्मीति मन्यमाना बुद्धिः=मना सा०) हनन बुद्धि के लिए **मा रीरधत्**=मत सिद्ध करें, अर्थात् हम प्रभु के हननयोग्य न हों। उत्तम कर्मों को करते हुए प्रभु के कृपापात्र ही बनें।

भावार्थ—हम प्रार्थना के साथ यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए सदा प्रभु के प्रिय बने रहें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दीप्त व गतिमय' जीवन

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम् ।
घृणीव च्छायामरपा अशीयाविवासेयं रुद्रस्य सुम्नम् ॥ ६ ॥

१. वह **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला—प्राणशक्तियों को प्राप्त करानेवाला—**वृषभः**=सब सुखों का वर्षक प्रभु **नाधमानम्**=याचना करते हुए **मा**=मुझको **त्वक्षीयसा वयसा**=दीप्त व गतिमय (त्विष्, त्वक्ष्) जीवन से **उन्ममन्द**=खूब आनन्दित करे। प्रभुकृपा से मेरी प्राणशक्ति ठीक हो। इसके ठीक होने से मेरा जीवन दीप्त व गतिमय हो। यह जीवन मेरे आनन्द का कारण बने। २.

घृणी=सूर्यसन्तापवाला पुरुष **इव**=जैसे **छायाम्**=छाया को प्राप्त करता है और ताप के सन्ताप से बचकर शान्ति प्राप्त करता है, उसी प्रकार **अरपाः**=दोषरहित—निर्दोष जीवनवाला बनकर **रुद्रस्य सुम्नम्**=उस रुद्र प्रभु के स्तोत्र को **आविवासेयम्**=सेवित करूँ। मैं प्रभु के स्तोम को सेवन करता हुआ विषयों के संताप से बचा रहूँ।

भावार्थ—प्रभु से दी गई प्राणशक्ति मेरे जीवन को निर्दोष बनाए। मैं स्तोत्रों को अपनाकर विषयसन्ताप से बचनेवाला होऊँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मृळयाकुः हस्तः

क्व१ स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥ ७ ॥

१. हे **रुद्र**=सब दुःखों का द्रावण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपका **स्यः**=वह **मृडयाकुः**=अत्यन्त सुख प्राप्त करानेवाला **हस्तः**=हाथ **क्व**=कहाँ है? **यः**=जो **भेषजः**=सब रोगों का औषध है और अतएव **जलाषः**=सुखकर है या सब जनों से चाहने योग्य है। (जनैः अभिलष्यते) २. आपका यह हाथ **दैव्यस्य**=सब देवों के विषय में होनेवाले **रपसः**=दोषों का **अपभर्ता**=दूर करनेवाला है। प्रभु का हाथ जब हमारे सिरों पर होता है तो (क) हमें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता—(ख) सब रोग दूर हो जाते हैं (ग) यह सुखकर होता है (घ) दोषों व अपराधों को दूर करता है। (३) हे **वृषभ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! आप **नु**=अब **मा**=मुझे **अभिचक्षमीथाः**=क्षमा करिए। अल्पज्ञता के कारण होनेवाले अपराधों के लिए इस प्रकार प्रेरित कीजिए कि मैं उन अपराधों से ऊपर उठ सकूँ।

भावार्थ—प्रभु का वरदहस्त=आशीर्वाद हमारे पर सदा बना रहे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कल्मलीकी का उपासन

प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि।
नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम ॥ ८ ॥

१. **बभ्रवे**=सबका पोषण करनेवाले, **वृषभाय**=सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले, **श्वितीचे**=(श्वैत्यमञ्चते) शुद्ध पवित्र जीवन प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **महःमहीम्**=महान् से भी महान् **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **प्र ईरयामि**=प्रेरित करता हूँ। इस प्रभु के स्तवन से मैं भी धारण करनेवाला—सुखों का वर्षण करनेवाला व पवित्र जीवनवाला बनता हूँ। २. 'कलयति अपगमयति मलं इति कल्मलीकं तेजः' **कल्मलीकिनम्**=इस तेजस्वी प्रभु को **नमस्य**=तू पूजा करनेवाला हो। **नमोभिः**=नमस्कारों के साथ हम **रुद्रस्य**=उस दुःख द्रावक प्रभु **त्वेषम्**=दीप्त **नाम**=नाम का **गृणीमसि**=उच्चारण करते हैं। इस नामोच्चारण से प्रेरणा को प्राप्त होते हुए हम अपने जीवन में दीप्त बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमें तेजस्वी—निर्मल व दीप्त बनाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्वास्थ्य व ज्ञान' प्राप्ति द्वारा उपासन

स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम् ॥ ९ ॥

१. वह **पुरुरूपः**=एक रूप को अनेक रूप कर देनेवाला प्रभु 'एकं रूपं बहुधा यः करोति', **उग्रः**=अत्यन्त तेजस्वी है। **बभ्रुः**=वह सबका भरण करनेवाला है। वह प्रभु **स्थिरेभिः अङ्गैः**=दृढ़ अङ्गों से तथा **शुक्रेभिः**=दीप्त **हिरण्यैः**=ज्ञानज्योतियों से (हिरण्यं वै ज्योतिः) **पिपिशे**=(पिश अवयवे) अपना अङ्ग बनाया जाता है, अर्थात् शरीर के अङ्गों को स्वस्थ व दृढ़ बनाने से तथा ज्ञान प्राप्त करने से हम अपने जीवनों को प्रभु द्वारा अलंकृत करते हैं। प्रभु का सच्चा उपासक वही है जो कि (क) शरीर को स्वस्थ रखता है और (ख) स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाता है। २. **अस्य**=इस **भुवनस्य ईशानात्**=भुवन के स्वामी, **भूरेः**=सबका भरण करनेवाले **रुद्रात्**= दुःखद्रावक प्रभु से **असुर्यम्**=शक्ति **न वा उ**=नहीं ही **योषत्**=पृथक् होती है वे प्रभु सदा शक्ति के आधार हैं। उपासक भी अपने जीवन को इस शक्ति से शक्तिसम्पन्न करता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना स्वास्थ्य व ज्ञान की प्राप्ति से होती है। उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अर्हन्

अर्ह॑न्बिभर्षि॒ साय॑कानि॒ धन्वार्ह॑न्नि॒ष्कं य॑ज॒तं वि॒श्वरू॑पम्।
अर्ह॑न्नि॒दं द॑यसे॒ विश्व॒मभ्वं॒ न वा ओजी॑यो रुद्र॒ त्वद॑स्ति॥ १०॥

१. हे **अर्हन्**=पूजनीय रुद्र! आप ही **सायकानि बिभर्षि**=सब दुःखों का अन्त करने के साधनों को धारण करते हैं—शत्रुओं को विद्रावण करने के साधनभूत शरों को आप ही धारण करनेवाले हैं। इसी उद्देश्य से **धन्व**=धनुष को आप अपने हाथ में लेते हैं। २. **अर्हन्**=पूजा के योग्य होते हुए आपही **निष्कम्**=सम्पूर्ण स्वर्ण (gold) को धारण करते हैं—सब धनों के स्वामी आप ही हैं, जो निष्क **यजतम्**=(यज दाने) दान करने योग्य है तथा **विश्वरूपम्**=सब वस्तुओं का निर्माण करनेवाला है। धन के मुख्य उपयोग दो ही हैं (क) दान (ख) निर्माण। ३. **अर्हन्**= हे पूज्य प्रभो! आप ही **इदम्**=इस **अभ्वम्**=महान् **विश्वम्**=संसार को **दयसे**=रक्षित करते हैं। हे **रुद्र**=सब रोगों का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वद्**=आपसे अधिक **ओजीयः**=अधिक ओजस्वी **न वा**=नहीं ही **अस्ति**=है। ओजस्वितम होते हुए आप सब कष्टों का निवारण करते हैं, और सारे ब्रह्माण्ड का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु धनुर्धर होकर सारे ब्रह्माण्ड का रक्षण कर रहे हैं। सम्पूर्ण धनों के स्वामी वे ही हैं, उनसे अधिक ओजस्वी कोई नहीं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गर्तसद् युवा

स्तु॒हि श्रु॒तं ग॑र्त॒सदं॒ युवा॑नं मृ॒गं न भी॒मम॑प॒हत्नु॑मु॒ग्रम्।
मृ॒ळा ज॑रि॒त्रे रु॑द्र॒ स्तवा॑नो॒ऽन्यं ते॑ अ॒स्मन्नि व॑पन्तु॒ सेनाः॑॥ ११॥

१. उस **श्रुतम्**=प्रसिद्ध व ज्ञानस्वरूप प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन करो। जो कि **गर्तसदम्**=हृदय रूप गुफा में आसीन है अथवा (गर्त=रथ) शरीररूप रथ में विद्यमान हैं। **युवानम्**=हमारे से दुर्गणों को पृथक् करनेवाले तथा सुगुणों को हमारे से मेल करनेवाले हैं। **मृगम्**=हमारा शोधन करनेवाले हैं, **न भीमम्**=हमारे लिए भयंकर नहीं। **उपहत्नुम्**=हमारे शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं **उग्रम्**=तेजस्वी हैं। २. हे **रुद्र**=हे परमात्मन्! आप **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **जरित्रे**=स्तोता के लिए **मृडा**=सुख को करिए। स्तोता का जीवन शत्रुरूप वासनाओं के संहार से कल्याणमय हो। हे प्रभो! **ते**=आपकी **सेनाः**=शत्रुविनाशकारिणी सेनाएँ **अस्मत् अन्यम्**=हमारे से भिन्न पुरुष को

ही **निवपन्तु**=काटनेवाली हों।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमारे जीवन के शोधन के लिए प्रेम से सुन्दर प्रेरणा दे रहे हैं। उस प्रभु के अस्त्र हमारे से भिन्न को ही नष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

संसार में रहें, पर प्रभु को न भूलें

कुमारश्चित्पितरं वन्दमानं प्रति नानाम रुद्रोपयन्तम्।
भूरेर्दातारं सत्पतिं गृणीषे स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे॥ १२॥

१. **कुमारः चित्** (कुमार क्रीडायाम्)=संसार में क्रीड़ा करता हुआ भी मैं **वन्दमानम्**='आयुष्मान् भव सौम्य' 'दीर्घजीवी होवो' इन शब्दों में प्रत्यभिवादन करते हुए **पितरम्**=रक्षक, हे **रुद्र**=प्रभो! **उपयन्तम्**=समीप प्राप्त होते हुए आपको **प्रतिनानाम**=प्रणत होता हूँ—आपको नमस्ते करता हूँ। 'संसार में क्रीड़ा तो करना, परन्तु प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हुए इसमें न उलझना' यही उत्तम जीवन है। २. **भूरेः दातारम्**=पालन-पोषण के लिए पर्याप्त धन देनेवाले **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक आपका मैं **गृणीषे**=स्तवन करता हूँ। **स्तुतस्त्वम्**=स्तुति किये गये आप **अस्मे**=हमारे लिए **भेषजा**=सब औषध-द्रव्यों को **रासि**=देते हैं। आपकी इन औषधों से हम नीरोग, निर्मल व दीप्त बन पाते हैं।

भावार्थ—संसार में हम क्रीड़ा करनेवाले बनें—उस क्रीड़ा में ऐसे आसक्त न हों कि प्रभु को भूल जाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुचि-शन्तम-मयोभु

या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शन्तमा वृषणो या मयोभु।
यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि॥ १३॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **या**=जो **वः**=आपके **भेषजाः**=औषध **शुचीनि**=(शुच दीप्तौ) मस्तक को ज्ञानोज्ज्वल करनेवाली हैं। **या**=जो औषध **शन्तमा**=मन को अधिक-से-अधिक शान्त करनेवाली हैं। **वृषणः**=हे शक्तिशाली प्राणो! **या मयोभु**=जो आपके औषध नीरोगतारूपकल्याण को उत्पन्न करनेवाले हैं वस्तुतः प्राणसाधना से शक्ति का रक्षण होकर शरीर स्वस्थ व सुखी बनता है। २. **यानि**=जिन भेषजों को **नः**=हमारे **पिता**=रक्षक **मनुः**=ज्ञानस्वरूप प्रभु ने **अवृणीता**=हमारे लिए वरा है व चुना है, मैं **रुद्रस्य**=उस रुद्र—दुःखों का द्रावण करनेवाले प्रभु के **ता**=उन भेषजद्रव्यों को, जो कि **शं**=शान्ति देनेवाले हैं **च**=और **योः**=भयों का यावन—पृथक्करण करनेवाले हैं, **वश्मि**=चाहता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से उत्पन्न किये गये वानस्पतिक पदार्थों का ही हम सेवन करें और प्राणायाम करें तो हम ज्ञानदीप्त, शान्त मनवाले व नीरोग शरीरवाले होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की हेति व दुर्मति से दूर

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ॥ १४॥

१. **रुद्रस्य**=उन दुष्टों को दण्ड देकर रुलानेवाले रुद्र का **हेतिः**=हनन साधन आयुध **नः**=हमें

परिवृज्याः=छोड़नेवाला हो। हमें प्रभु का दण्डभाजन न बनना पड़े। **त्वेषस्य**=उस दीप्तप्रभु की **मही**=अतिप्रबल **दुर्मतिः**=दुःख की कारणभूत दुष्टबुद्धि **परिगात्** (परेर्वर्जने)=हमें छोड़कर अन्यत्र जानेवाली हो। हमें दुर्मति न प्राप्त हो। 'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये, मत्त एवेति तान् विद्धि' सात्त्विक राजस व तामसभावों को जन्म देनेवाले वे प्रभु ही हैं। जिनका प्रभु ने रक्षण करना होता है, उन्हें सुबुद्धि देते हैं और जिनका विनाश करना होता है उनकी बुद्धि हर लेते हैं।
२. हे रुद्र! आप **स्थिरा**=अपने दृढ़ धनुषों को **मघवद्भ्यः**=हम यज्ञशील पुरुषों के लिए **अवतनुष्व**=उतारी हुई डोरीवाला करिए—अवततज्यावाला करिए। हमारे पर आपके कठिन बन्धन न पड़ें। हे **मीडवः**=सुखों का सेचन करनेवाले प्रभो! **तोकाय**=हमारे पुत्रों के लिए तथा **तनयाय**=पौत्रों के लिए **मृड**=सुख करिए। हमारे पुत्र-पौत्रों का जीवन भी सुखी हो।

भावार्थ—हम प्रभु के दण्डपात्र न हों। हमें दुर्बुद्धि न प्राप्त हो। हमारे सन्तान भी सुखी हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

न हृणीषे, न हंसि

एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ १५ ॥

१. हे **बभ्रो**=भरण करनेवाले प्रभो! **वृषभ**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **चेकितान**=सर्वज्ञ प्रभो! **एवा**=हम इस प्रकार व्यवहार करें, **यथा**=जिससे हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **न हृणीषे**=न तो आप हमारे पर क्रुद्ध हों, **न हंसि**=न हमारा हनन करें, **यथा**=जिससे हे **रुद्र**=हमारे सब कष्टों को व रोगों को दूर करनेवाले प्रभो! **इह**=इस जीवन में **हवनश्रुत्**=हमारी पुकार को सुननेवाले आप **नः बोधि**==हमारा ध्यान करिए। हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए **बृहद् वदेम**=खूब ही आपका स्तवन करें।

भावार्थ—हम ऐसे वर्तें कि प्रभु के क्रोध के पात्र न हों। प्रभु हमारी पुकार को सुनते हैं—हमारा ध्यान करते हैं। हम प्रभु का स्तवन करें।

सूक्त का भाव यही है कि 'रुद्र' की प्रेरणा के अनुसार चलें। उससे दिये गये वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करें। संसार में रहते हुए भी संसार में फंस न जाएँ। प्रभु का स्मरण करे और उत्तम व्यवहारवाले हों। इसके लिए प्राणसाधना द्वारा प्राणों का संयम आवश्यक है। अगले सूक्त में इन्हीं प्राणों का विषय है।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मरुतः (प्राण)

धारावरा मरुतो धृष्ण्वोजसो मृगा न भीमास्तविषीभिरर्चिनः।
अग्नयो न शुशुचाना ऋजीषिणो भृमिं धमन्तो अप गा अवृण्वत ॥ १ ॥

१. **मरुतः**=प्राण **गाः**=इन्द्रियों को **अप अवृण्वत**=विषयों से पृथक् करके वासनाजनित अन्धकार के आवरण से दूर करते हैं। प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं। 'प्राणायामैर्दहेद्दोषान्'। ये प्राण **धारावराः**=अपनी धारणात्मक शक्ति से सब रोगों का निवारण करनेवाले हैं (धारया वारयितारः) **धृष्णु ओजसः**=ये शत्रुओं के धर्षक बलवाले हैं—काम-क्रोध-लोभ को नष्ट करनेवाले हैं। **मृगाः न**=सिंहों के समान **भीमाः**=शत्रुओं के लिए भयङ्कर हैं। **तविषीभिः**=बलों के द्वारा—शक्तियों को स्थिर करने के द्वारा **अर्चिनः**=प्रभु का पूजन करनेवाले हैं। (नायमात्मा बलहीनेन

लभ्य:)। शक्तियों को स्थिर करके हम प्रभु का अर्चन करते हैं। २. ये प्राण **अग्नयः न**=अग्नियों की तरह **शुशुचानाः**=खूब दीप्त हैं। वस्तुतः प्राणसाधना द्वारा ज्ञानाग्नि का दीपन होता है। प्राणायाम से रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती हैं—ये रेतःकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। **ऋजीषिणः**=ये प्राण पिष्ट का पाचन करनेवाले हैं। दाँतों से पिष्ट होकर जो भोजन पेट में पहुँचता है, उसका उदर में पाक होने में ये सहायक होते हैं। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'। **भूमिं धमन्तः**=भटकानेवाली लोभवृत्ति को संतप्त करके दूर करनेवाले हैं। इस प्रकार प्राणसाधना शरीर, मन व बुद्धि सबको बड़ा सुन्दर बनानेवाली है।

भावार्थ—हम प्राणों के महत्त्व को समझकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। इससे हमारा मस्तिष्क, मन व शरीर सब ठीक होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राष्ट्र के सैनिक (मरुतः)

द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः।
रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि॥ २॥

१. अध्यात्म में 'मरुतः' प्राण हैं तो आधिभौतिक क्षेत्र में 'मरुतः' सैनिक हैं। इन राष्ट्र के रक्षक सैनिकों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **न**=जैसे **द्यावः**=द्युलोक **स्तृभिः**=सितारों से **चितयन्त**=प्रकाशित होते हैं इसी प्रकार **खादिनः**=ये शत्रुओं को खा जानेवाले सैनिक अपने (खादः कटकम्) कटक आदि आभूषणों से शोभायमान होते हैं। २. ये **वृष्टयः**=शत्रुओं पर बाणों की वर्षा करनेवाले सैनिक **अभ्रियाः न**=मेघों में होनेवाली विद्युत् के समान **विद्युतयन्तः**=विशेष रूप से दीप्त होते हैं। ३. हे **मरुतः** (म्रियन्ते) रणांगण में पीठ न दिखाकर मरनेवाले सैनिको! **रुक्मवक्षसः**=चमकती हुई छातीवाले **वः**=आप लोगों को वे **यत्**=जो **रुद्रः**=महान् सेनापति प्रभु (रोरूयमाणो द्रवति), **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु हैं, वे **पृश्न्याः**=आदित्य के (पृश्निः आदित्यः नि० २.१४) **शुक्रे**=चमकते हुए **ऊधनि**=(उद्धते प्रदेशे सा०) उन्नत प्रदेश में **अजनि**=जन्म देते हैं। रणांगण में मृत्यु को प्राप्त करनेवाले वीर सैनिक सूर्यलोक में जन्म प्राप्त करते हैं। इनकी क्षत्रियों में वही स्थिति है जो कि ब्राह्मणों में योगयुक्त परिव्राट् की।

भावार्थ—वीर सैनिक खूब ही शोभा प्राप्त करते हैं। रणांगण में मृत्यु होने पर ये स्वर्ग प्राप्त करते हैं 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु का सम्पर्क

उक्षन्ते अश्वाँ अत्याँइवाजिषु नदस्य कर्णैस्तुरयन्त आशुभिः।
हिरण्यशिप्रा मरुतो दविध्वतः पृक्षं याथ पृषतीभिः समन्यवः॥ ३॥

१. मरुतः प्राण **अश्वान्**=इन्द्रियाश्वों को, शरीर में रक्षित किये हुए रेतःकणों से **उक्षन्ते**=सिक्त करते हैं। रक्षित रेतःकणों की शक्ति से इन्द्रियों को परिपूर्ण करते हैं। इस प्रकार शक्ति से सिक्त करते हैं **इव**=जैसे कि **आजिषु**=संग्रामों में **अत्यान्**=घोड़ों को। संग्राम में घोड़ों को स्वेदादि के अपनोदन के लिए जल से सिक्त करते हैं, इसी प्रकार यहाँ अध्यात्म-संग्राम में इन्द्रियाश्वों को रेतःकणों से सिक्त करते हैं। २. **नदस्य**=स्तोता के **आशुभिः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **कर्णैः**=स्तुति-शब्दों से **तुरयन्तः**=इन अश्वों को शीघ्र गतिवाला करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला पुरुष प्रभु का स्तवन करता है और इन्द्रियों से कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है ३. **हिरण्यशिप्राः**=(शिप्रं शिरस्त्राणम्) ज्योतिर्मय शिरस्त्राणवाले—ज्ञान ही जिनके मस्तिष्क का रक्षक

है, ऐसे **दविध्वतः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **मरुतः**=प्राणो! आप **समन्यवः**=ज्ञानयुक्त होकर (मन्=अवबोधने) **पृषतीभिः**=अपने इन इन्द्रियाश्वों से **पृक्षं याथ**=प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हो। प्राणसाधना से (क) रेतःकणों का रक्षण होकर, ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ये रेतःकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। (ख) काम-क्रोध आदि शत्रु कम्पित होकर दूर हो जाते हैं। (ग) अन्ततः सब इन्द्रियाँ अपने नियत कर्मों को करती हुई हमें प्रभुप्राप्ति के योग्य बनाती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। रेतःकणों का रक्षण होकर ज्ञानवृद्धि होती है और अन्ततः हमें प्रभु का सम्पर्क प्राप्त होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राणसाधक का जीवन

पृक्षे ता विश्वा भुवना ववक्षिरे मित्राय वा सदमा जीरदानवः।
पृषदश्वासो अनवभ्रराधस ऋजिप्यासो न वयुनेषु धूर्षदः॥ ४॥

१. **पृक्षे**=गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के साथ सम्पर्क होने पर **मित्राय**=इस प्रभुमित्र के लिए **ता विश्वा भुवना**=वे सब भुवन **ववक्षिरे**=प्राप्त कराये जाते हैं। प्रभुप्राप्ति के होने पर सारे ब्रह्माण्ड की प्राप्ति हो जाती है। प्रभु के प्राप्त हो जाने पर कुछ आप्तव्य नहीं रह जाता। २. इस प्रभुमित्र के लिए वे प्राण (मरुत्) **वा**=निश्चय से **सदम्**=सदा **आ जीरदानवः**=शीघ्रता से देनेवाले होते हैं (जीरा इति क्षिप्रनाम नि०) अथवा दीर्घजीवन को देनेवाले होते हैं। **पृषदश्वासः**=(पृषत्=speinkle) इन्द्रियाश्वों को शक्ति से सिक्त करनेवाले होते हैं। **अनवभ्रराधसः**=अनष्ट सम्पत्तिवाले होते हैं। **ऋजिप्यासः**=अकुटिलता को प्राप्त करानेवाले होते हैं तथा **वयुनेषु**=प्रज्ञानों में **धूर्षदः**=धुरा में स्थित होनेवाले अर्थात् ज्ञानधुरन्धर होते हैं। प्राणसाधना से ज्ञानाग्नि तो दीप्त होती ही है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना करनेवाले का जीवन (क) दीर्घ होता है (ख) इसके इन्द्रियाश्व शक्तिसम्पन्न होते हैं (ग) अनष्टसम्पत्तिवाला यह होता है (घ) ऋजुमार्ग से चलनेवाला (ङ) तथा ज्ञानधुरन्धर यह बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ब्रह्मलोक रूप गृह में लौटना

इन्धन्वभिर्धेनुभी रप्शदूधभिरध्वस्मभिः पथिभिर्भ्राजदृष्टयः।
आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन मधोर्मदाय मरुतः समन्यवः॥ ५॥

१. हे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **मधोः मदाय**=इस शरीर में मधु के समान सारभूत सोम के हर्ष के लिए—वीर्यरक्षण से उत्पन्न प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए **समन्यवः**=ज्ञान से युक्त होकर, **हंसासः न**=हंसों के समान, अथवा 'हन हिंसायाम्'=पाप नष्ट करनेवालों के समान, **भ्राजदृष्टयः**=(भ्राजत् ऋष्टयः) देदीप्यमान आयुधोंवाले आप **स्वसराणि आगन्तन**=अपने घरों को पुनः प्राप्त होनेवाले होवें। मनुष्य प्राणसाधना करे। प्राणसाधना से शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति होगी। उससे जहाँ ज्ञानाग्नि दीप्त होगी वहाँ अशुभवृत्तियाँ भी विनष्ट होंगी। ऐसा होने पर हम ब्रह्मलोकरूप घर में फिर लौटनेवाले होंगे। कवि सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि वर्षा से नदीजल के मलिन होने पर हंस मानसरोवर को लौट जाते हैं। इसी प्रकार यह प्राणसाधक ब्रह्मलोकरूप गृह को वापिस लौट जाता है। इसी उद्देश्य से यह अपने 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों को बड़ा सुन्दर बनाता है। २. 'यह किन **पथिभिः**=मार्गों से अपने गृह को लौटता है?' इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि (क) **इन्धन्वभिः**=दीप्तिवाले—ज्ञान के प्रकाशवाले मार्गों से, अर्थात् प्रतिदिन स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवर्धन करता हुआ। (ख) **धेनुभिः**=प्रीणित करनेवाले मार्गों से, अर्थात् ज्ञान द्वारा

प्रभु को प्रीणित करता हुआ प्रभु को पाता है। (ग) **रप्शदूधभिः**=(रप् व्यक्तायां वाचि, ऊधस् उद्धत-समुच्छ्रित-प्रदेश, (शब्दायमानोच्छ्रितप्रदेशैः सा०) शब्दायमान उच्छ्रित प्रदेशवाले मार्गों से, अर्थात् जिन में सदा उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति का निश्चय किया गया है। 'पृथिवीलोक से अन्तरिक्षलोक में, अन्तरिक्षलोक से द्युलोक में तथा द्युलोक से ब्रह्मलोक में मैं पहुँचूँगा' ऐसा जिनमें निश्चय किया गया है। (घ) **अध्वस्मभिः**=जो मार्ग भ्रंशनरहित हैं—जिन मार्गों में हम न्याय्यपथ से विचलित नहीं होते, उन मार्गों से चलते हुए हम ब्रह्मलोक रूप गृह को प्राप्त हों।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा वीर्यरक्षण से ज्ञानप्रकाश का वर्धन करते हुए ब्रह्मलोक रूप गृह में लौटनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान+स्तवन+व यज्ञ

आ नो ब्रह्माणि मरुतः समन्यवो नरां न शंसः सवनानि गन्तन।
अश्वामिव पिप्यत धेनुमूधनि कर्ता धियं जरित्रे वाजपेशसम्॥ ६ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **समन्यवः**=ज्ञानवाले—सदा ज्ञान की रुचिवाले—**मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! तुम **नः**=हमारे **ब्रह्माणि**=इन ज्ञानों को इस प्रकार **आगन्तन**=प्राप्त होओ **न**=जैसे कि **नरां शंसः**=नर=मनुष्यों के स्तवन को। आलसियों का स्तवन यह होता है, जिसमें वे प्रभु का कीर्तन तो करते हैं, परन्तु उन स्तवनों के अनुसार अपने जीवनों को बनाने का यत्न नहीं करते। नरों का शंसन यह है कि प्रभु दयालु हैं तो वे दयालु बनने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु न्यायकारी हैं तो वे भी न्याय्य पथ का अनुसरण करते हैं। साथ ही **सवनानि**=यज्ञों को तुम प्राप्त होओ। समझदार पुरुष ज्ञान-स्तवन व यज्ञों की ओर झुकते हैं। २. **अश्वाम् इव धेनुम् ऊधनि पिप्यत्**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली (अश् व्याप्तौ) कर्मेन्द्रियों की भाँति, (धेनुं) ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को समुच्छ्रित प्रदेश में (ऊधनि) आप्यायित करो। कर्मेन्द्रियाँ उत्कृष्ट कर्मों में व्यापृत हों तथा ज्ञानेन्द्रियां ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त कराने में सहायक हों। ३. वे प्रभु **जरित्रे**=स्तोता के लिए **वाजपेशसम्**=शक्ति का निर्माण करनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **कर्ता**= करनेवाले हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं— प्रभु हमें शक्तियुक्त-ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करें। पुरुषार्थ के साथ प्रार्थना व स्तवन करें। यज्ञशील हों। कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को उत्कृष्ट कर्मों व ज्ञानप्राप्तियों में व्याप्त करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शक्ति-ज्ञान-चेतना

तं नो दात मरुतो वाजिनं रथ आपानं ब्रह्म चितयद्दिवेदिवे।
इषं स्तोतृभ्यो वृजनेषु कारवे सनिं मेधामरिष्टं दुष्टरं सहः॥ ७॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **नः स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **रथ**=इस शरीररूप रथ में **तम् इषं दात**=उस अन्न को प्राप्त कराओ जो कि **वाजिनम्**=शक्ति देनेवाला है, **ब्रह्म आपानम्**=ज्ञान प्राप्त करानेवाला है (आप्नुवन्तम्) **दिवे दिवे चितयत्**=दिन-प्रतिदिन चेतना को बढ़ानेवाला है। २. हे मरुतो! **कारवे**=कुशलता से कर्म करनेवाले के लिए **वृजनेषु**=पापों का वर्जन होने पर **सनिम्**=संभजनीय धन को व उपासनावृत्ति को **मेधाम्**=बुद्धि को **अरिष्टम्**=अहिंसन को—नीरोगता को तथा **दुष्टरं सहः**=शत्रुओं से न तैरनेयोग्य बल को प्राप्त कराओ। ३. प्राणसाधना के साथ उत्तम सात्त्विक अन्न का सेवन करने पर शक्ति व ज्ञान बढ़ते हैं (वाजिनं ब्रह्म आपानम्)। मानसवृत्ति

उत्तम बनने से चेतना ठीक बनी रहती है (चितयत् दिवे दिवे)। पापवृत्ति इस प्राणसाधना से नष्ट होती है (वृजनेषु)। मनुष्य उपासना की वृत्तिवाला (सनिं) मेधावी (मेधाम्) नीरोग (अरिष्टं) तथा सहनशील (सहः) बनता है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा सब प्रकार के मल नष्ट होकर जीवन उत्तम बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राष्ट्ररक्षकों का मूलकर्त्तव्य (धन का उचित विभाग)

यद्युञ्जते मरुतो रुक्मवक्षसोऽश्वान्रथेषु भग आ सुदानवः।
धेनुर्न शिश्वे स्वसरेषु पिन्वते जनाय रातहविषे महीमिषम्॥ ८॥

१. **यद्**=जब **रुक्मवक्षसः**=देदीप्यमान छातीवाले (=शक्तिशाली) **मरुतः**=राष्ट्ररक्षक पुरुष **रथेषु अश्वान् युञ्जते**=रथों में घोड़ों को जोत लेते हैं, अर्थात् अपना कार्य करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं, उस समय ये **भगे आसुदानवः**=ऐश्वर्य के विषय में चारों ओर उत्तम दानवाले होते हैं। राष्ट्ररक्षकों का मूल कर्तव्य यह होता है, कि वे इस बात का ध्यान करें कि राष्ट्र में Haves (अत्यधिक धनी) व Have-nots (अति दरिद्रों) के दो वर्ग न पैदा हो जाएँ। ऐसा होने पर समाज की स्थिति उस शरीर के समान हो जाती है, जिसमें कहीं तो खून अत्यधिक जमा हो जाए और कहीं रुधिर की पहुँच ही न हो। सब अपराधों का उद्गम इन दो वर्गों की उत्पत्ति में ही है। भूखे मरनेवाले सम्पन्नों को लूटेंगे ही। २. राष्ट्ररक्षक पुरुषों का दूसरा कर्तव्य यह है कि यज्ञशील पुरुषों के लिए धन का अभाव न होने दें। **न**=जैसे **धेनुः**=गाय **शिश्वे**=बछड़े के लिए दूध प्राप्त कराती है, इसी प्रकार से मरुत् **रातहविषे जनाय**=हवि देनेवाले यज्ञशील पुरुष की **महीम्**=अत्यन्त इषम्=इच्छा को **स्वसरेषु**=गृहों में ही **पिन्वते**=धन का सेचन करते हैं। राष्ट्र की सेवा के लिए—लोकहित के कार्यों को करने के लिए—इन्हें धन की कमी नहीं होने देते।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षकों का मूलकर्त्तव्य यह है कि अतिधनी व अतिदरिद्र इन दो वर्गों को न पैदा होने दें तथा यज्ञात्मकवृत्तिवालों को धन की कमी न होने दें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'लोभी घातक' का नाश

यो नो मरुतो वृकताति मर्त्यो रिपुर्दधे वसवो रक्षता रिषः।
वर्तयत तपुषा चक्रियाभि तमव रुद्रा अशसो हन्तना वधः॥ ९॥

१. हे **मरुतः**=राष्ट्ररक्षक पुरुषो! **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **वृकताति**=आदान की वृत्तिवाला होकर, औरों के धन को छीननेवाला बनकर **नः**=हमारा **रिपुः दधे**=शत्रु बनकर अपने को स्थापित करता है, हे **वसवः**=सबके उत्तम निवास के कारणभूत वसुओ! उस **रिषः**=हिंसक शत्रु से **आ रक्षत**=हमारा रक्षण करो। मरुतों का यह कर्त्तव्य है कि लोभ के कारण चोरी आदि वृत्ति को अपनानेवाले पुरुषों से प्रजाओं का रक्षण करें। २. **तम्**=उस वृकताति पुरुष को **तपुषा**=संतप्त करनेवाले **चक्रिया**=ऋष्टि नामक आयुध से **अभिवर्तयत**=सब ओर से दूर करो। तापकचक्र से उसे संतप्त करके चोरी आदि से दूर करने का यत्न करो। हे **रुद्राः**=प्रजा के कष्टों का निवारण करनेवाले पुरुषो! अथवा दुष्टों को रुलानेवाले पुरुषो! **अशसः**=इन प्रजाभक्षकों के **वधः**
अवहन्तन=आयुधों को नष्ट करो। इनके आयुधों का हमारे पर प्रहार न होने दो।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षकों का कर्त्तव्य है कि लोभ के कारण चोरी में प्रवृत्त लोगों से प्रजा का रक्षण करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राष्ट्ररक्षकों के तीन कर्त्तव्य

चित्रं तद्वो मरुतो याम चेकिते पृश्न्या यदूधरप्यापयो दुहुः।
यद्वा निदे नवमानस्य रुद्रियास्त्रितं जराय जुरतामदाभ्याः ॥ १० ॥

१. हे **मरुतः**=राष्ट्ररक्षक पुरुषो! **वः**=आपका **तद्**=वह **याम**=गमन **चित्रम्**=अद्भुत **चेकिते**=जाना जाता है **यद्**=जब **आपयः**=राष्ट्र में सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले आप **पृश्न्या ऊधः**=('इयं पृथिवी वै पृश्निः' तै० १.४.१५) पृथिवी के ऊधस् का **दुहुः**=दोहन करते हो, अर्थात् पृथिवी में पर्याप्त अन्न उपजाते हो। २. **वा**=अथवा **यद्**=जब **रुद्रियाः**=(रुद्रस्य इमे) दुःखद्रावक राजा के पुरुषो! आप **अदाभ्याः**=अहिंसित होते हुए **नवमानस्य**=स्तुति करनेवाले के **निदे**=निन्दा करनेवाले के **जराय**=हिंसन के लिए होते हो तथा **त्रितम्**=काम-क्रोध-लोभ को तैरनेवाले के **जुरताम्**=हिंसन करनेवालों के विनाश के लिए होते हैं, प्रभुस्तोताओं की जो निन्दा करें—उनके उपहास द्वारा स्तवनवृत्ति का ह्रास होता है तथा 'त्रित' जैसे सज्जनों का हिंसन करनेवाले दुर्जन दण्डनीय होने ही चाहिएँ।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षकों का कर्त्तव्य है कि (क) पृथिवी से अधिक से अधिक अन्न प्राप्त करने की व्यवस्था करें ताकि राष्ट्र में कोई भूखा न रहे। (ख) प्रभुस्तोताओं का समुचित आदर हो (ग) काम आदि को जीतनेवाले पुरुषों को दुष्टों का शिकार न होने दें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उन्नति के शिखर पर

तान्वो महो मरुत एवयाव्नो विष्णोरेषस्य प्रभृथे हवामहे।
हिरण्यवर्णान्ककुहान्यतस्रुचो ब्रह्मण्यन्तः शंस्यं राध ईमहे ॥ ११ ॥

१. हे **महः मरुतः**=महत्त्वपूर्ण प्राणो! **तान् वः**=उन आप को, जो आप **एवयाव्नः**=मार्ग पर चलनेवाले हो (एव=मार्ग), **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु की **एषस्य**=(आ इषस्य) व्यापक प्रेरणा के **प्रभृथे**=प्रकर्षेण धारण के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। प्राणसाधना होने पर अशुद्धि का क्षय होने से मनुष्य कभी मार्ग से विचलित नहीं होता। हृदय की शुद्धता के कारण प्रभुप्रेरणा को सुनने योग्य बनता है। २. इन **हिरण्यवर्णान्**=ज्योतिर्मय वर्णवाले **ककुहान्**=श्रेष्ठ-शिखर पर पहुँचानेवाले प्राणों को, **यतस्रुचः**=यज्ञार्थ चम्मचों को हाथ में लेनेवाले—यज्ञशील, **ब्रह्मण्यन्तः**=ज्ञान की कामनावाले हम **शंस्यम्**=प्रशंसनीय **राधः**=धन को **ईमहे**=मांगते हैं। प्राणसाधना से मनुष्य तेजस्वी बनता है—चमकते हुए वर्णवाला होता है। इससे उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और श्रेष्ठ धन को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा सब दोषों का नाश होकर पवित्र हृदय में प्रभुप्रेरणा सुन पड़ती है। तेजस्विता व श्रेष्ठता प्राप्त होती है और मनुष्य श्रेष्ठ धन को प्राप्त करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सत्संग व उत्तम प्रेरणा

ते दशग्वाः प्रथमा यज्ञमूहिरे ते नो हिन्वन्तूषसो व्युष्टिषु।
उषा न रामीररुणैरपोर्णुते महो ज्योतिषा शुचता गोअर्णसा ॥ १२ ॥

१. **ते**=वे गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाले व्यक्ति **दशग्वाः**=जीवन के दशम दशक तक जानेवाले होते हैं। **प्रथमाः**=ये उन्नति के मार्ग में प्रथम स्थान पर स्थित होते हैं। **यज्ञम्**

ऊहिरे=यज्ञ को धारण करते हैं—यज्ञशील होते हैं। **ते**=वे **नः**=हमें **उषसः व्युष्टिषु**=उषाकालों के आने पर **हिन्वन्तु**=प्रेरित करें—उत्कृष्ट मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। २. **नः**=जैसे **उषाः**=उषाकाल **अरुणैः**=अपने अरुण प्रकाशों से **रामीः**=रमण व आनन्द की साधनभूत कृष्णावर्ण रात्रियों को **अप ऊर्णुते**=दूर करता है, इसी प्रकार ये 'दशग्व' **गो अर्णसा**=ज्ञानवाणीरूप जलवाले **शुचता**=देदीप्यमान **महो ज्योतिषा**=महान् ज्ञान से हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। वेदवाणी का ज्ञानरूप जल हमारे सब मलों को धो डालता है।

भावार्थ—हमें उत्कृष्ट दीर्घायुष्यवाले यज्ञशील व्यक्तियों द्वारा मार्ग का उपदेश प्राप्त हो। वे ज्ञान द्वारा हमारे जीवनों को शुद्ध करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शासकों की विशेषताएँ

ते क्षोणीभिररुणेभिर्नाञ्जिभी रुद्रा ऋतस्य सदनेषु वावृधुः।
निमेघमाना अत्येन पाजसा सुश्चन्द्रं वर्णं दधिरे सुपेशसम्॥ १३॥

१. **ते**=वे गतमन्त्र के 'दशग्व' **क्षोणीभिः**=पृथिवियों से—पृथिवीरूप शरीरों से (पृथिवी शरीरम्) **अरुणेभिः**=अरुण प्रकाशों से, अर्थात् असंतापक ज्ञानरूप प्रकाशों से, जो कि **अञ्जिभिः**=उनकी शोभा बढ़ानेवाले अलंकारों के समान हैं, इनसे युक्त हुए-हुए **रुद्राः**=लोगों के दुःखों का द्रावण करनेवाले राष्ट्र के अध्यक्ष **ऋतस्य सदनेषु**=ऋत के घरों में **वावृधुः**=वृद्धि प्राप्त करते हैं। ऋतपूर्वक सब क्रियाओं को करते हुए जीवन में बढ़ते हैं। इनका कोई भी काम अनृत को लिए हुए नहीं होता। २. **निमेघमानाः**=प्रजा पर सुखों का वर्षण करते हुए, **अत्येन पाजसा**=निरन्तर गतिशील शक्ति से **सुश्चन्द्रम्**=उत्तम आह्लाद के जनक **वर्णम्**=वर्ण को **दधिरे**=धारण करते हैं। यह वर्ण **सुपेशसम्**=उत्तम आकृतिवाला है—एक-एक अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक आकार से बना हुआ है। ये सदा सुन्दर अङ्गोंवाले, प्रसन्न मुखवाले होते हैं। वस्तुतः शासक की आकृति का उत्तम होना भी नितान्त आवश्यक है—अन्यथा वह उत्तम प्रभाव नहीं पैदा कर पाता।

भावार्थ—शासकों के शरीर भी अच्छे हों—वे ज्ञान के तेज से युक्त हों। ऋत का पालन करें—गतिशील शक्तिवाले हों। सदा प्रसन्नमुख व सुन्दर आकारवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राणसाधना व महनीय धन

ताँ इयानो महि वरूथमूतय उप घेदेना नमसा गृणीमसि।
त्रितो न यान्पञ्च होतृनभिष्टय आववर्तदवराञ्चक्रियावसे॥ १४॥

१. **तान्**=उन मरुतों को—प्राणों को **महि वरूथम्**=महनीय धन को **ऊतये**=रक्षा के लिए **इयानः** (इयानाः)=माँगते हुए **घा इत्**=निश्चय से **एना नमसा**=इस नमन द्वारा **उपगृणीमसि**=स्तुत करते हैं। हम प्राणायाम के साथ प्रभुस्तवन करते हुए अपने रक्षण के लिए आवश्यक धन माँगते हैं। २. **यान् पञ्च होतॄन्**=जिन पाँच जीवनयज्ञ के होतृभूत 'प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान' को **त्रितः**='काम-क्रोध-लोभ' से तैरनेवाला अथवा 'ज्ञान कर्म उपासना' तीनों का विस्तार करनेवाला **अभिष्टये**=इष्टप्राप्ति के लिए, अथवा रोगों पर आक्रमण के लिए **आववर्तत्**=शरीर में समन्तात् आवृत्त करता है। **अवरान्**=(Most excellent नास्ति वरो यस्मात्) इन अवर प्राणों को—अत्यन्त उत्कृष्ट प्राणों को **चक्रिया**=चक्राकार गति से—मेरुदण्ड में स्थित चक्रों में गति से (अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या) **अवसे**=रक्षण के लिए आवृत्त करता है। एक चक्र से दूसरे चक्र में

उन प्राणों का धारण करता हुआ मूलाधार चक्र से सहस्रार चक्र तक उन्हें पहुँचाता है। इसे ही योग की भाषा में चक्रभेदन कहते हैं। इससे शरीर में अद्भुत शक्तियों का विकास होता है। योगदर्शन का विभूतिपाद उन शक्तियों के वर्णन से भरा हुआ है। उन शक्तियों में भी न फंसकर आगे बढ़ने से प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से महनीय धन की प्राप्ति होती है। चक्रों का भेदन होकर अद्भुत शक्ति का विकास होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पाप व निन्दा से दूर, सुमति के समीप

यया रध्रं पारयथात्यंहो यया निदो मुञ्चथ वन्दितारम्।
अर्वाची सा मरुतो या व ऊतिरो षु वाश्रेव सुमतिर्जिगातु॥ १५॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **यया** (ऊत्या)=जिस रक्षण से आप **रध्रम्**=आराधना करनेवाले साधक को **अंहः अतिपारयथ**=कुटिलता व पाप से पार करते हो। और **यया**=जिस रक्षण से **वन्दितारम्**=स्तोता को **निदः**=निन्दा से **मुञ्चथ**=मुक्त करते हो, **सः**=वह **वः**=आपका **ऊतिः**=रक्षण **अर्वाची**:=अस्मदभिमुख हो—हमें प्राप्त हो। प्राणसाधना से मनुष्य कुटिलता व पाप से ऊपर उठता है और कभी स्तुति-निन्दा में फंसता नहीं। प्रभु का स्तवन करते हुए वह अपने कर्त्तव्य-कर्मों में व्यापृत रहता है। २. हे प्राणो! **वाश्रा इव**=जैसे रंभाती हुई गौ बछड़े को प्राप्त होती है, इसी प्रकार **सुमतिः**=उत्तम बुद्धि **ओ सुजिगातु**=हमें अच्छी प्रकार सर्वथा प्राप्त हो। इस सुमति से सुविचार व सदाचारवाले बनकर हम जीवन को सुन्दर बनायें और अन्ततः उस प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से पाप दूर होते हैं और मनुष्य स्तुति-निन्दा से ऊपर उठ जाता है। यह प्राणसाधना सुमति को देनेवाली है।

इस मरुत् सूक्त में अध्यात्म में प्राणों का महत्त्व स्पष्ट किया गया है और आधिभौतिक क्षेत्र में राष्ट्ररक्षक पुरुषों के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन हुआ है। अध्यात्म में 'मरुत्' प्राण हैं, आधिभौतिक क्षेत्र में राष्ट्ररक्षक पुरुष। आधिदैविक क्षेत्र में मरुतों का—वायुओं का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ। प्राणसाधना से मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बनता है। यह शक्ति का रक्षण करनेवाला पुरुष 'अपां न पात्' है **अपाम्**=वीर्यकणों का **न पात्**=न गिरने देनेवाला। अगले सूक्त का देवता यही 'अपान्नपात्' है।

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति रक्षण के साधन व फल

उपेमसृक्षि वाजयुर्वचस्यां चनो दधीत नाद्यो गिरो मे।
अपां नपादाशुहेमा कुवित्स सुपेशसस्करति जोषिषद्धि॥ १॥

१. **वाजयुः**=शक्ति की कामना वाला मैं **ईम्**=निश्चय से **वचस्याम्**=स्तुति को **उप असृक्षि**=उपासना के साथ करनेवाला होता हूँ। 'वाजयुः' शब्द में प्रत्यय का अंश 'प्रार्थना' के भाव को व्यक्त करता है, 'वचस्याम्' शब्द 'स्तुतिवाचक' है। 'उप' उपासना का संकेत करता है। इस प्रकार यहाँ 'प्रार्थना-स्तुति-उपासना' का समन्वय हो जाता है। २. **नाद्यः**=उत्तम स्तुति के योग्य वह प्रभु अथवा स्तोताओं में निवास करनेवाला वह प्रभु **मे**=मेरे लिए **चनः**=अन्न को तथा **गिरः**=ज्ञानवाणियों को **दधीत**=धारण करे। प्रभुकृपा से मैं अन्न का सेवन करनेवाला बनूँ और ज्ञानवाणियों को अपनाऊँ। ३. **अपां न पात्**=शक्तियों को न नष्ट होने देनेवाला **आशुहेमा**=शीघ्रता

से कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला **सः**=वह अपने को तपस्या द्वारा **कुवित्**=खूब **सुपेशसः**=उत्तम आकृति व अवयवोंवाला **करति**=करता है। **हि**=निश्चय से **जोषिषत्**=वह हमें प्रीतिपूर्वक कार्यों का सेवन करानेवाला होता है। प्रस्तुत मन्त्र में यह कहा गया है कि (क) प्रभु की उपासना से उसके गुणों को देखकर उन गुणों द्वारा प्रभु का स्तवन करना और उन गुणों के धारण से अपने को शक्तियुक्त करना ही योग है—प्रभु की शक्ति से अपने को शक्तिसम्पन्न करना। (ख) इस योग के लिए अन्न का सेवन करना तथा ज्ञानवाणियों को अपनाना आवश्यक है (ग) योगी का जीवन चार बातोंवाला होता है (१) ब्रह्मचर्य-शक्ति को यह नहीं गिरने देता (२) गृहस्थ में शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला बनता है (३) वानप्रस्थ में अपने को तप व स्वाध्याय द्वारा फिर से उत्तम आकृतिवाला बनाता है (४) संन्यास में स्वयं कार्य करता हुआ लोगों को क्रियामय जीवन की प्रेरणा देता है (जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्)।

भावार्थ—शक्ति रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम सात्त्विक वानस्पतिक आहार करनेवाले हों और ज्ञानवाणियों में रुचिवाले हों। शक्तिरक्षण का परिणाम यह होगा कि हम उत्तम आकृतिवाले व स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

हृदय से मन्त्रोच्चारण

इ॒मं स्व॑स्मै हृ॒द आ सुत॑ष्टं मन्त्रं॑ वोचेम कु॒विद॑स्य॒ वेद॑त्।
अ॒पां नपा॑दसु॒र्य॑स्य म॒ह्ना विश्वा॑न्य॒र्यो भुव॑ना जजान॥ २॥

१. हम **स्वस्मै**=अन्तःस्थित आत्मतत्त्व के लिए **हृदः**=हृदय से **सुतष्टम्**=उत्तमता से निर्मित **इमं मन्त्रम्**=इस मन्त्र का **आवोचेम**=सतत उच्चारण करें। वे प्रभु **अस्य**=इस हमारे मन्त्र को **कुवित् वदेत्**=खूब ही जानें। २. **अपां न पात्**=वह शक्तियों को न नष्ट होने देनेवाला प्रभु **असुर्यस्य**=(अस्यति) शत्रुक्षेपक बल की **मह्ना**=महिमा से **अर्यः**=स्वामी होता है और **विश्वानि भुवना जजान**=सब लोकों को जन्म देता है—सब लोकों का निर्माण करता है। ३. इस प्रकार प्रभु का स्मरण करनेवाला उपासक (क) स्वयं 'अपां न पात्' बनता है—शक्तियों का संयम करता है (ख) इस प्रकार शत्रुक्षेपक बल का अपने में संचय करता है (ग) जितेन्द्रिय बनता है (घ) इन्द्रियों का स्वामी बनकर सब लोकों के हित के लिए प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—हम हृदय से प्रभु का स्मरण करते हुए प्रभु जैसा ही बनने का प्रयत्न करें। प्रभु के लिए मन्त्र बोलें। उस मन्त्र को अपने जीवन में अनूदित करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'आश्चर्यवत् पश्यति का कश्चिदेनम्'

सम॒न्या यन्त्युप॑ यन्त्य॒न्याः स॑मा॒नमू॒र्वं न॒द्यः॑ पृणन्ति।
तमू॒ शुचिं॒ शुच॑यो दीदि॒वांस॑म॒पां नपा॑तं॒ परि॑ तस्थु॒राप॑ः॥ ३॥

१. **अन्याः**=कुछ विलक्षण पुरुष ही **संयन्ति**=इस संसार में मिलकर चलते हैं। सामान्यतः प्रकृति के वरण के परिणामस्वरूप परस्पर वैर-विरोध में ही लोगों का जीवन बीत जाता है। **अन्याः**=उनमें भी कुछ ही व्यक्ति **उपयन्ति**=उस परमात्मा की ओर आनेवाले होते हैं—परमात्मा के उपासक बनते हैं। **नद्यः**=ये प्रभु के स्तोता **समानम्** (सम्यक् आनयति)=उस प्राणित करनेवाले **ऊर्वम्**=विशाल प्रभु को **पृणन्ति**=अपने नियत कर्मों को करने के द्वारा प्रीणित करते हैं। २. **तम् उ**=उस प्रभु के स्तोता को ही जो कि **शुचिम्**=पवित्र जीवनवाला बनता है, तथा **दीदिवांसम्**=

ज्ञान से दीप्त होता है, जो **अपां न पात्**=यथासम्भव रेत:कणों का पतन नहीं होने देता, इस स्तोता को **शुचय:**=शरीर, मन व बुद्धि को पवित्र बनानेवाले **आप:**=रेत:कण **परितस्थु:**=(परिवृत्य तस्थु: सा०) घेर कर ठहरते हैं। इसके रेत:कण शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित होते हैं। इन्हीं के कारण उसका जीवन पवित्र व आधि-व्याधि से शून्य बनता है।

भावार्थ—प्रभु की ओर झुकाव विरल ही व्यक्तियों का होता है। ये प्रभु को अपने नियत कर्मों के करने से प्रीणित करते हैं। रेत:कणों का शरीर में ही संयम करते हैं। इन्हीं से इनका जीवन स्वस्थ होता है।

ऋषि:—**गृत्समद:** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

निरभिमान-निर्मल दीप्त जीवन

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः ।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ॥ ४ ॥

१. **तम्**=उस 'अपां न पात्' रेत:कणों के न नष्ट होने देनेवाले **युवानम्**=अपने से दोषों को पृथक् करनेवाले तथा अपने साथ गुणों का मिश्रण करनेवाले पुरुष को **आप: परियन्ति**=ये रेत:कण शरीर में सर्वत्र प्राप्त होते हैं। रुधिर में व्याप्त हुए-हुए ये रेत:कण उसके सर्वशरीरव्यापी बनते हैं। ये आप: (रेत:कण) **अस्मेरा:**=विस्मय व अभिमान से रहित होते हैं। रेत:कणों का रक्षण करनेवाला व्यक्ति कभी अभिमानी नहीं होता **युवतय:**=ये रेत:कण इसे दुरित से दूर तथा सुवित के समीप करनेवाले होते हैं और **मर्मृज्यमाना:**=ये उसे शुद्ध करनेवाले होते हैं। रेत:कणों के रक्षण से अशुभवृत्तियाँ दूर होती हैं और जीवन बड़ा शुद्ध हो जाता है। २. **अप्सु**=इन रेत:कणों का रक्षण होने पर **स:**=वह प्रभु जो कि **अनिध्म:**=किसी प्रकार के ईंधन से तो दीप्त नहीं होते पर **घृतनिर्णिक्**=दीप्तरूपवाले हैं, **रेवत्**=धनयुक्त होकर **शुक्रेभि:**=निर्मल शुभ्र **शिक्वेभि:**=तेजों से **दीदाय**=दीप्त होते हैं। प्रभु इस व्यक्ति को जीवनयात्रा के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं और निर्मलदीप्ति से युक्त करते हैं। वे प्रभु इसे दर्शन देते हैं। ये प्रभु को दीप्तरूप में देखता है—उस अग्नि के रूप में जो कि बिना किसी ईंधन के ही दीप्त हो रही है।

भावार्थ—रक्षित रेत:कण मनुष्य को निरभिमान व निर्मल जीवनवाला बनाते हैं। यह उचित धन प्राप्त करता हुआ दीप्तरूपवाला होता है। उस दीप्तरूपवाले प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषि:—**गृत्समद:** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्द:—**स्वराट्पङ्क्ति:** ॥ स्वर:—**पञ्चम:** ॥

तीन पत्नियाँ (ज्ञानामृत का पान)

अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम् ।
कृताइवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥ ५ ॥

१. **अस्मै**=गतमन्त्र में वर्णित इस **अव्यथ्याय**=शक्तिशाली होने के कारण न थकनेवाले—अनथक रूप में कर्म करनेवाले **देवाय**=दिव्यवृत्तिवाले पुरुष के लिए **तिस्र:**=तीनों **देवी:**=ज्ञान-प्रकाश को देनेवाली **नारी:**=उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाली 'ऋग्-यजु:-साम' रूप वाणियाँ (नृ नये) **अन्नम्**=ज्ञानरूप भोजन को **दिधिषन्ति**=धारण करती हैं। 'परीमेगाम् अनेषत' इस मन्त्र में वेदवाणी रूप गौ के साथ परिणय का उल्लेख है। इस प्रकार ये 'ऋग्, यजु, साम' रूप वाणियाँ मनुष्य की पत्नी बनती हैं। प्रभु की ये पुत्रीरूप हैं। सो प्रभु इस अव्यथ्य नर के 'श्वशुर' हो जाते हैं। २. **अप्सु**=रेत:कणों का रक्षण होने पर **हि**=निश्चय से **कृता: इव**=अध्यात्म-संग्राम में विजय के उपहाररूप में ये वेदवाणियाँ **उप प्रसर्स्रे**=इसमें विजेता के समीप उपस्थित होती हैं। **स:**=वह

विजेता **पूर्वसूनाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में जिनको जन्म दिया गया है, उन वेदवाणियों के **पीयूषम्**=ज्ञानामृत को **धयति**=पीता है। इस ज्ञानामृत के पान से वह अमृत बनता है।

भावार्थ—रेत:कणों का रक्षण होने पर 'ऋग्, यजुः व साम' रूप वाणियाँ मनुष्य का मार्गदर्शन करनेवाली होती हैं। यह उनके ज्ञानामृत का पान करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अरातित्व व अनृत से दूर

अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः संपृचः पाहि सूरीन्।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणियों के ज्ञानामृत का पान करने पर **अत्र**=इस जीवन में **अश्वस्य जनिम**=शक्तिशाली पुरुष का विकास होता है। **अस्य च स्वः**=और इसी का प्रकाश होता है—इसका जीवन प्रकाशमय व स्वर्गतुल्य होता है। २. हे प्रभो! आप इन **सूरीन्**=वेदवाणियों के ज्ञानामृत का पान करनेवाले विद्वानों को **द्रुहः**=द्रोह की वृत्तियों के तथा **रिषः**=हिंसाओं के **सम्पृचः**=सम्पर्क से **पाहि**=बचाओ। न इनमें द्रोह की वृत्ति उत्पन्न हो, न ये किसी की हिंसा करें। ३. **आमासु पूर्षु**=ज्ञानाग्नि में जिनका परिपाक नहीं हुआ उन शरीरनगरियों में भी **परः**=वह परम प्रभु (सर्वोत्कृष्ट प्रभु) विद्यमान हैं, परन्तु उस **अप्रमृष्यम्**=अधर्षणीय प्रभु को **अरातयः**=न दान देनेवाले **न विनशन्**=नहीं प्राप्त होते और **न अनृतानि**=न असत्य बोलनेवाले प्राप्त होते हैं। ज्ञानाग्नि से अपना परिपाक करके जब मनुष्य दान की वृत्तिवाला बनता है और अनृत से ऊपर उठता है, तभी वह प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। लोभवृत्ति के कारण अदानशील धनार्जन के लिए अनृत को अपनानेवाला व्यक्ति प्रभुदर्शन नहीं कर पाता।

भावार्थ—रेत:कणों के रक्षण से मनुष्य शक्तिशाली बनता है—प्रकाश को प्राप्त करता है। द्रोह हिंसा आदि से ऊपर उठकर असत्य से धनार्जन न करता हुआ यह दानशील बनता है और प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपां नपात् का सुन्दर जीवन

स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति।
सो अपां नपादूर्जयन्नप्स्व१न्तर्वसुदेयाय विधते वि भाति॥ ७॥

१. **अपां नपात्**=रेत:कणों का न नाश होने देनेवाला पुरुष **स्वे दमे**=अपने घर में ही निवास करता है, अर्थात् यह औरों के जीवन की आलोचना न करता हुआ अपने जीवन को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है। अपने अन्दर ही देखता है, बाहर नहीं। २. यह अपां न पात् वह होता है **यस्य**=जिसकी **धेनुः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौ **सुदुघा**=सुख से दोहने योग्य होती है। यह ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करता है। ३. **स्वधाम्**=आत्मधारण शक्ति को **पीपाय**=बढ़ाता है और इसी उद्देश्य से **सुभु अन्नम्**=उत्तम स्वास्थ्य-जनक अन्न को **अत्ति**=खाता है। ४. **सः**=वह **अपां न पात् अर्जयन्**=अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ **अप्सु अन्तः**=इन रेत:कणों में निवास करता हुआ **विधते वसुदेयाय**=प्रभु का पूजन करनेवाले के लिए धन देने के लिए **विभाति**=शोभायमान होता है। प्रभु का सच्चा उपासक वही है जो कि "सर्वभूतहिते रतः" सब प्राणियों के हित में लगा हुआ है। इस व्यक्ति के लिए यह अपां न पात् धन देनेवाला होता है।

'अराति'=धन को न देनेवाले कृपण व्यक्ति तो प्रभु को प्राप्त करते ही नहीं। यह अपां न पात् इन प्रभुस्तोताओं के लिए—लोक सेवकों के लिए धन को देनेवाला होता है। इसकी शोभा इस दान से होती है।

भावार्थ—अपां न पात्=शक्ति का रक्षण करनेवाला पुरुष अपने में निवास करता है—ज्ञान को प्राप्त करता है—आत्मधारण-शक्तिवाला होता है—सात्त्विक अन्न का सेवन करता है—प्रभुभक्तों व लोकसेवकों के लिए खूब दान देता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दिव्य प्रकाश', 'धन' तथा 'उत्तम सन्तान'

यो अप्स्वा शुचिना दैव्येन ऋतावाजस्त्र उर्विया विभाति।
वया इदन्या भुवनान्यस्य प्र जायन्ते वीरुधश्च प्रजाभिः॥ ८॥

१. **यः**=जो **अप्सु**=रेत:कणों में रहता है—इनका रक्षण करता है, वह **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाला **अजस्त्रः**=(न जस्त्रं यस्य, जस्त्रं=Exhaustion, fatigue) न थकनेवाला (अव्यथ्य ३.५.५) तथा **शुचिना**=पवित्र **दैव्येन**=दिव्य प्रकाश से **उर्विया विभाति**=खूब ही चमकता है। २. **अन्या**=इस दिव्य प्रकाश से भिन्न **भुवनानि**=ऐश्वर्य तो (भुवनं=becoming prosperous) **अस्य**=इसके **वयाः इत्**=शाखाएँ ही होती हैं। इसकी मुख्य सम्पत्ति तो वह दिव्य प्रकाश होता है—सांसारिक ऐश्वर्य भी गौणरूप से इसके समीप होते ही हैं। **च**=और ये **वीरुधः**=विशिष्ट रोहण-प्रादुर्भाववाले ये व्यक्ति **प्रजाभिः**=उत्तम सन्तानों से **प्रजायन्ते**=प्रजावाले होते हैं।

भावार्थ—रेत:कणों का रक्षक 'दिव्य प्रकाश' प्राप्त करता है। सांसारिक-सम्पत्ति व उत्तम सन्तान भी प्राप्त करता है। इसका मौलिक धन दिव्यप्रकाश होता है और बाह्य धन व उत्तम सन्तान इसके आनुषंगिक धन होते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण, अकुटिलता व ज्ञान

अपां नपादा ह्यस्थादुपस्थं जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः।
तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः परि यन्ति यह्वीः॥ ९॥

१. **अपां न पात्**=शक्तिकणों को न नष्ट होने देनेवाला पुरुष **हि**=निश्चय से **उपस्थम् आ अस्थात्**=उपासना में सदा स्थित होता है। इसका प्रतिदिन का पहला कार्य प्रभु का उपस्थान होता है। अब यह दिनभर के कार्यों में **जिह्मानाम् ऊर्ध्वः**=कुटिलताओं से ऊपर उठा रहता है। कुटिलता से कोई कार्य नहीं करता। छलछिद्र से रहित जीवनवाला होता है। 'सर्वं जिह्मं मृत्युपदं'=कुटिलता मृत्यु का मार्ग है—इस बात को यह नहीं भूलता **विद्युतं वसानः**=विशिष्ट ज्ञानज्योति को यह धारण करनेवाला होता है। धन कमाने के लिए कार्यों से अवकाश होते ही यह स्वाध्याय द्वारा ज्ञानज्योति बढ़ाने का प्रयत्न करता है। २. **तस्य**=उस प्रभु की **ज्येष्ठं महिमानम्**=सर्वश्रेष्ठ महिमा को **वहन्तीः**=धारण करती हुई—अर्थात् प्रभु की महिमा को हृदय से स्मरण करती हुई ये **यह्वीः**=(या, ह्वे) उस प्रभु की ओर जानेवाली-उस प्रभु को पुकारनेवाली प्रजाएँ **हिरण्यवर्णाः**=उस ज्योतिर्मय प्रभु का वर्णन करनेवाली बनकर (हिरण्यं वर्णयन्ति) **परियन्ति**=अपने विविध कार्यों में प्रवृत्त होती हैं।

भावार्थ—संयमी पुरुष (क) प्रभु का स्मरण करता है (ख) छलछिद्र से शून्य होकर कार्यों को करता है (ग) स्वाध्याय द्वारा ज्ञानज्योति को बढ़ाता है (ग) प्रभु की महिमा का हृदय से स्मरण

करता हुआ विविध कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हिरण्यरूप-हिरण्यसंदृक्-हिरण्यवर्ण

हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥ १०॥

१. **सः**=वह **अपां नपात्**=शक्ति न नष्ट होने देनेवाला पुरुष **हिरण्यरूपः**=(रूपं शरीरम्) तेजस्वीरूपवाला होता है। **हिरण्यसंदृक्**=(संपश्यन्ति इति संदृशः इन्द्रियाणि सा०) दीप्त इन्द्रियोंवाला होता है। **सः इत् उ**=वही निश्चय से **हिरण्यवर्णः**=उस ज्योतिर्मय प्रभु का वर्णन (=कीर्तन स्मरण) करनेवाला होता है। २. इस **हिरण्ययात्**=दीप्त तेजस्वी **योनेः**=शरीररूप गृह से **परि निषद्या**=ऊपर उठकर (परेर्वर्जने)—शरीर में रहता हुआ भी शरीर में अनासक्त हुआ-हुआ सदेह होते हुए भी विदेह की भाँति रहता हुआ **हिरण्यदाः**=वह धनों का दान करनेवाला होता है। ३. **अस्मै**=इस प्रभुप्राप्ति के लिए इस अपां नपात् की वृत्तिवाले पुरुष **अन्नं ददति**=अन्न देनेवाले होते हैं। इनके द्वार से कोई भूखा विना अन्नप्राप्ति के लौटता नहीं। ये भूखे के लिए अन्न देते ही हैं। संसार में आसक्त न होने से ये अपने भोगों को ही नहीं बढ़ाते जाते।

भावार्थ—संयमी पुरुष तेजस्वी, दीप्त इन्द्रियोंवाला, व प्रभु का उपासक बनता है। यह शरीर में आसक्त न हुआ-हुआ दान देनेवाला बनता है। भूखे के लिए अवश्य अन्न देता है। यह वृत्ति इसे प्रभु प्राप्त करानेवाली होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बल तथा प्रभुस्मरण

तदस्यानीकमुत चारु नामापीच्यं वर्धते नप्तुरपाम्।
यमिन्धते युवतयः समित्था हिरण्यवर्णं घृतमन्नमस्य॥ ११॥

१. **अस्य अपां नप्तुः**=इस शक्तिकणों को न नष्ट होने देनेवाले का **तद् अनीकम्**=वह बल, **उत**=और **चारु**=सुन्दर **अपीच्यम्**=अन्तर्हित—ऊँचे उच्चरित न होकर हृदय में ही उच्चरित होनेवाला—**नाम**=प्रभु का नाम स्मरण **वर्धते**=बढ़ता है। शक्तिकणों के रक्षण से बल में भी वृद्धि होती है और हृदय में प्रभुस्मरण की भावना भी बढ़ती है। २. यह 'अपां नप्ता' वह होता है **यम्**=जिसको **युवतयः**=गुणों से मिश्रण व अवगुणों से अमिश्रण करनेवाली वेदवाणीरूप युवतियाँ **इत्था**=सचमुच **समिन्धते**=दीप्त जीवनवाला बनाती हैं। यह शक्तिरक्षक पुरुष वेदवाणियों का अध्ययन करता हैं और उनसे अपने जीवन को दीप्त बनाता है। **अस्य**=इसका **अन्नम्**=अन्न **हिरण्यवर्णम्**=ज्योतिर्मय वर्णवाला और **घृतम्**=मलों के क्षरण व दीप्तिवाला होता है, अर्थात् यह उसी अन्न को खाता है, जो अन्न उसे तेजस्वी, नीरोग व दीप्त जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—शक्तिकणों के रक्षण से बल की वृद्धि होती है और प्रभुस्मरण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ+नमन व हवि

अस्मै बहूनामवमाय सख्ये यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
सं सानु मार्ज्मि दिधिषामि बिल्मैर्दधाम्यन्नैः परि वन्द ऋग्भिः॥ १२॥

१. **अस्मै**=इस **बहूनाम्**=बहुत देवताओं में=तैंतीस देवों में **अवमाय**=अन्तिकतम **सख्ये**=

उस मित्र प्रभु के लिए **यज्ञैः**=यज्ञों से—श्रेष्ठतम कर्मों से—लोकहित के लिए किये जानेवाले कर्मों से, **नमसा**=नमन द्वारा तथा **हविर्भिः**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशेष के सेवन से **विधेम**=हम पूजा करें। सब सूर्यादि देव मानव-कल्याण में प्रवृत्त हैं, परन्तु इन सबके अन्दर भी तो प्रभुशक्ति ही काम करती है। ये प्रभु ही हमारे अन्तिकतम मित्र हैं। इस प्रभु का उपासन यज्ञों से, नमन से व हवि से होता है। २. इस प्रभु का उपासन करता हुआ मैं **सानु संमार्ज्मि**=पर्वतशिखर को—मेरुदण्ड (मेरुपर्वत) के शिखरभूत मस्तिष्क को शुद्ध करता हूँ—मेरा मस्तिष्क पवित्र विचारोंवाला बनता है। **बिल्मैः**=(भेदनैः) वासनाओं के भेदन से (भासनैः) अथवा बुद्धि को ज्ञानोज्ज्वल करने द्वारा **दिधिषामि**=प्रभु को धारण करता हूँ। **अन्नैः दधामि**=अन्नों से शरीर का धारण करता हूँ—मद्यमांसादि के सेवन से दूर रहता हूँ और **ऋग्भिः परिवन्दे**=ऋचाओं द्वारा—(ऋच् स्तुतौ) स्तुत्यात्मक मन्त्रों द्वारा प्रभु का वन्दन करता हूँ। मद्यमांसादि का सेवन हमें प्रभु से दूर ले-जाता है।

भावार्थ—हम यज्ञों, नमन व त्यागपूर्वक अदन से प्रभु का पूजन करें। मस्तिष्क को पवित्र करें, वासनाओं को नष्ट करें, वानस्पतिक भोजनों को ही करें और प्रभु की स्तुति करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का ही छोटा रूप

स ईं वृषाजनयत्तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति।
सो अपां नपादनभिम्लातवर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष॥ १३॥

१. **सः**=वह शक्तिकणों का रक्षण करनेवाला **ईम्**=निश्चय से **वृषा**=शक्तिशाली होता है। यह **तासु**=ग्यारहवें मन्त्र में वर्णित युवतियों में—वेदवाणियों में **गर्भम् अजनयत्**=गर्भ को प्रकट करता है। कण-कण के अन्दर वर्तमान होने से—प्रत्येक पदार्थ के अन्दर रहने से प्रभु गर्भ हैं। यह 'अपांनपात्' ज्ञानवाणियों का अध्ययन करता है और उनमें इस अन्तःस्थित प्रभु के प्रादुर्भाव को करनेवाला होता है। २. **सः**=वह अपांनपात् **ईम्**=निश्चय से **शिशुः**=(शो तनूकरणे) अपनी बुद्धि को सूक्ष्म करनेवाला होता है और इस सूक्ष्मबुद्धि द्वारा **धयति**=वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध का पान करता है। **तं रिहन्ति**=ये ज्ञान की वाणियाँ उसको आस्वाद देती हैं। यह उनमें एक आनन्द का अनुभव करता है। ३. **सः अपांनपात्**=वह शक्तिकणों को न नष्ट होने देनेवाला व्यक्ति **अनभिम्लातवर्णः**=न मुरझाये हुए वर्णवाला होता है—खिला हुआ होता है—प्रसन्नवदन हमेशा मुस्कराता हुआ। यह तो **इह**=इस जीवन में **अन्यस्य इव तन्वा**=उस दूसरे, अर्थात् परमात्मा के ही रूप से **विवेष**=व्याप्त हो रहा होता है। इसके अन्दर प्रभु की चमक, चमक रही होती है। यह प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है।

भावार्थ—'अपांनपात्' शक्तिशाली बनता है। ज्ञानवाणियों में प्रभु का दर्शन करता है तीव्रबुद्धि बनकर उन ज्ञानवाणियों का आस्वाद लेता है। सदा प्रसन्न होता है। प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परम पद पर स्थित होना

अस्मिन्पदे परमे तस्थिवांसमध्वस्मभिर्विश्वहा दीदिवांसम्।
आपो नप्त्रे घृतमन्नं वहन्तीः स्वयमत्कैः परि दीयन्ति यह्वीः॥ १४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु के तेज से ही यह अपने को व्याप्त कर लेता है तो

अस्मिन्=इस **परमे पदे**=सर्वोच्च स्थान में **तस्थिवांसम्**=ठहरे हुए और **अध्वस्मभिः**=ध्वंसनरहित—न विनष्ट होनेवाले—तेजों से **विश्वहा**=सदा **दीदिवांसम्**=चमकनेवाले को **यह्वीः**=महत्त्वपूर्ण (आपः=) रेतःकण स्वयं **परिदीयन्ति**=अपने आप (परिगच्छन्ति) शरीर में चारों ओर प्राप्त होते हैं, परन्तु प्राप्त ये तभी होते हैं जबकि यह व्यक्ति गतिशील होता है '**अत्कैः**'=सतत गमनों द्वारा ये उसे प्राप्त होते हैं। क्रियाशीलता से मनुष्य वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है। वासनाओं के अनाक्रमण से वीर्य शरीर में सुरक्षित रहता है। २. ये '**यह्वी आपः**'=ये महत्त्वपूर्ण रेतःकण **आपोनप्त्रे**=शक्तिकणों को न नष्ट होने देनेवाले के लिए **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को तथा **अन्नम्**=(यत्तदन्नं स विष्णुर्देवता श० ७.५.१.२१) इस व्यापक देव प्रभु को **वहन्तीः**=प्राप्त कराते हुए हैं, अर्थात् जितना-जितना मनुष्य इन शक्तिकणों का रक्षण करता है, उतना-उतना ज्ञानदीप्ति व प्रभु को पानेवाला बनता है।

भावार्थ—शक्तिकणों का रक्षक अपांनपात् सर्वोच्चस्थान में स्थित होता है—तेज से दीप्त होता है। ज्ञानदीप्ति प्राप्त करके प्रभु को पानेवाला बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अपान्नपात्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुवृक्ति (पापवर्जन)

अयांसमग्ने सुक्षितिं जनायायांसमु मघवद्भ्यः सुवृक्तिम्।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ १५॥

१. **अग्ने**=हे परमात्मन्! मैं **जनाय**=अपनी शक्तियों के विकास के लिए **सुक्षितिम्**=उत्तम है निवास व गति जिनके कारण उन आपको (शोभना क्षितिः यस्मात्, क्षि निवासगत्योः) **अयांसम्**=प्राप्त होता हूँ। आपके स्मरण से मेरा जीवन उत्तम बनता है—मैं अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला बनता हूँ। २. **उ**=और **मघवद्भ्यः**=अपने ऐश्वर्यों को यज्ञों में विनियुक्त करनेवाले पुरुषों से **सुवृक्तिम्**=अच्छी प्रकार पापवर्जन को **अयांसम्**=प्राप्त करता हूँ। ऐसे पुरुषों के संग में मैं भी यज्ञशील बनता हूँ और इस प्रकार पापों का वर्जन करनेवाला होता हूँ। ३. **विश्वम्**=सब **यद्**=जो **भद्रम्**=शुभ है—कल्याण व सुखजनक है **तद्**=उसको **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अवन्ति**=अपने में रक्षित करते हैं। हम भी **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद् वदेम**=खूब ही प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें। प्रभु का स्तवन करते हुए हम अशुभ से अपने को बचानेवाले हों।

भावार्थ—हम यज्ञशील पुरुषों का संग करें—प्रभु का स्तवन करें। यही देव बनने का मार्ग है।

सारा सूक्त 'शक्ति के नष्ट न होने देने के महत्त्व' को स्पष्ट कर रहा है। 'यह शक्ति का रक्षण किस प्रकार प्रभु की ओर गमनवाला होता है' इस बात को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रो मधुश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्तिरक्षण व त्यागपूर्वक अदन

तुभ्यं हिन्वानो वसिष्ट गा अपोऽधुक्षन्त्सीमविभिरद्रिभिर्नरः।
पिबेन्द्र स्वाहा प्रहुतं वषट्कृतं होत्रादा सोमं प्रथमो य ईशिषे॥ १॥

१. गत सूक्त में वर्णित 'अपांनपात्' शक्तियों को न नष्ट होने देनेवाला **तुभ्यं हिन्वानः**=हे प्रभो! आपके लिए प्रेर्यमाण होता है। यह प्रभु की ओर चलता है—प्रकृति-प्रवण नहीं होता। **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **वसिष्ट**=धारण करता है। इनसे अपने को आच्छादित करता हुआ पापों

से अपने को बचाता है। २. ये **नरः**=(नृ नये) अपने को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले मनुष्य **सीम्**=निश्चय से **अविभिः**=वासनाओं के आक्रमण से अपने रक्षणों द्वारा **अद्रिभिः**=(adore) प्रभुपूजनों द्वारा **अपः**=शक्तिकणों को **अधुक्षन्**=अपने में प्रपूरित करते हैं। ३. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **स्वाहा प्रहुतम्**=उत्तम त्याग द्वारा आहुति दिये गये, **वषट्कृतम्**=देवों के निमित्त अर्पित किये गये **सोमम्**=सोम को—वीर्य शक्ति को **होत्रात्**=होत्र के दृष्टिकोण से, अर्थात् त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति के दृष्टिकोण से **आपिब**=सर्वथा पीनेवाला हो। शरीर में सोम का रक्षण तभी होता है, जबकि सब राजस व तामस भोजनों का त्याग किया जाए तथा दिव्यगुणों के वर्धन का निश्चय होने पर भी सोम सुरक्षित हो पाता है। सोमरक्षण करनेवाला पुरुष ही 'होता' बन पाता है। ४. सोमरक्षक पुरुष **प्रथमः**=सर्वप्रथम स्थान को प्राप्त करता है। तू वह बनता है **यः**=जो **ईशिषे**=अपना ईश होता है। अपना ईश बनकर औरों पर भी शासन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चलें—वेदवाणियों को अपना अस्त्र बनाएँ—शक्तिकणों को अपने में रक्षण करें। इससे ही हमारे अन्दर त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति उत्पन्न होगी।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतो माधवश्च** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

भरत के पुत्र

यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामञ्छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत।
आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः ॥ २ ॥

१. **नरः**=अपने को उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले मनुष्यो! **बर्हिः आसद्य**=वासनाशून्य हृदय में आसीन होकर आप **दिवः**=ज्ञानप्रकाश के हेतु से तथा **पोत्रात्**=पोतृ कर्म के हेतु से—अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **सोमं आपिबत**=सोम शक्ति का—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर ही पान करो। इस प्रकार तुम **भरतस्य सूनवः**=भरत के पुत्र बनो—अपना भरण बड़ी उत्तमता से करनेवाले बनो। २. **यज्ञैः सम्मिश्लाः**=ये सोम का पान करनेवाले यज्ञों से युक्त होते हैं—इनका जीवन यज्ञमय बनता है। ये लोग **यामन्**=इस जीवनयात्रा के मार्ग में **पृषतीभिः**=(पृष् सेचने) जिनका शक्ति से सेचन किया गया है, ऐसे **ऋष्टिभिः**=आयुधों से—इन्द्रियों मन व बुद्धिरूप साधनों से **शुभ्रासः**=उज्ज्वल होते हैं। इनकी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी चमकते हैं। **उत**=और ये सोम का पान करनेवाले लोग **अञ्जिषु**=आभरणों में **प्रियाः**=बड़े प्यारे लगते हैं। स्वास्थ्य, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता ही इनके आभरण होते हैं। इन आभरणों से इनकी शोभा बड़ी बढ़ जाती है।

भावार्थ—पवित्रता के उद्देश्य से हम शक्ति का रक्षण करें। इससे हमारा जीवन यज्ञमय, प्रकाशमय व शक्तिमय होगा।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**त्वष्टा शुक्रश्च** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवों का सह निवास

अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन।
अथा मन्दस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः ॥ ३ ॥

१. **सुहवाः**=हे शोभन आह्वान व पुकारवाले देवो! **नः**=हमें **अमा इव**=साथ-साथ ही **हि**=निश्चय से **आगन्तन**=प्राप्त होओ। एक दिव्यगुण को अपनाने का प्रयत्न करें तो सब अच्छाइयाँ हमारे अन्दर आती ही हैं। सब अच्छाइयाँ एक ही तत्त्व के विभिन्न रूप हैं। हे देवो! **बर्हिषि**=हमारे वासनाशून्य हृदय में **निसदतन**=निश्चय से बैठो और **रणिष्टन**=वहाँ उत्तमता से रमण करो (रमध्वम् सा०) २. **अथा**=अब हे **त्वष्टः**=निर्माण के देव! **देवेभिः**=सब दिव्यगुणों के साथ

जनिभिः=शक्तियों के विकास के साथ **सुमद्गणः**=(सु मत् गण) उत्तम चेतना युक्त इन्द्रियगणोंवाला होकर **अन्धसः जुजुषाणः**=सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ तू **मन्दस्व**=आनन्द का अनुभव कर। हम स्वयं निर्माण-कार्यों में प्रवृत्त हों, दिव्यगुणों को धारण करें, शक्तियों का विकास करें, इन्द्रियगण को चैतन्य से युक्त करें। इस सबके लिए सोमरक्षण करें। इसी में आनन्द है।

भावार्थ—हमारे जीवन में सब दिव्यगुणों का रमण हो। सोम के रक्षण से हमारी प्रवृत्ति निर्माण की हो, न कि ध्वंस की। हम दिव्यगुणों के साथ शक्ति का विकास करें। हमारी सब इन्द्रियाँ चैतन्ययुक्त हों—ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः शुचिश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण और अग्नितत्त्व की शरीर में स्थिति

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन्होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु।
प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात्तव भागस्य तृष्णुहि ॥ ४ ॥

१. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले! **विप्र**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले ज्ञानिन्! **इह**=इस जीवन में **देवान्**=देवों को—दिव्यगुणों को—**आवक्षि**=(आवह) प्राप्तकर **च**=और **उशन्**=प्रभुप्राप्ति की कामना करता हुआ **यक्षि**=उन गुणों को अपने साथ संगत कर। **त्रिषु योनिषु**=तीनों घरों में **निषद**=तू आसीन होनेवाला बन। स्थूल शरीर में आसीन हुआ-हुआ पूर्ण स्वस्थ बन। सूक्ष्म शरीर में आसीन हुआ-हुआ ज्ञान बढ़ानेवाला हो। कारणशरीर में स्थित हुआ-हुआ सबके साथ एकत्व का अनुभव कर। २. इस **प्रस्थितम्**=निरन्तर गतिवाले—चलने के स्वभाववाले **सोम्यं मधु**=सोम सम्बन्धी मधु को—सारभूत वस्तु को **प्रतिवीहि**=तू प्रतिदिन भक्षण कर—इसे तू शरीर में ही सुरक्षित कर। **आग्नीध्रात्**=अपने अन्दर अग्नितत्त्व के धारण के उद्देश्य से तू इसे **पिब**=अपने अन्दर पान कर। तू **तव**=तेरे **भागस्य तृष्णुहि**=इस भजनीय सोमपान से प्रीति का अनुभव कर। इस सोमपान से तुझे मन में प्रसन्नता का अनुभव हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से शरीर में अग्नितत्त्व की स्थिति ठीक बनी रहती है। इससे मनुष्य को अपने मन में प्रसन्नता का अनुभव होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रो नभश्च** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नृम्ण-सहः-ओजः

एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः।
तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत्पिब ॥ ५ ॥

१. **एषः स्यः**=गतमन्त्रों में वर्णित यह वह सोम **ते तन्वः**=तेरे शरीर के **नृम्णवर्धनः**=बल-वर्धन करनेवाला है। इसके द्वारा **प्रदिवि**=प्रकृष्ट ज्ञान होने पर **सहः**=शत्रुमर्षक बल (षह मर्षणे) तथा **ओजः**=इन्द्रिय-शक्तियों का वर्धक बल **बाह्वोः**=तेरी भुजाओं में **हितः**=स्थापित किया जाता है। २. **तुभ्यं सुतः**=तेरे लिए इस सोम को उत्पन्न किया गया है। हे **मघवन्**=यज्ञशील पुरुष! **तुभ्यम्**=तेरे हित के लिए ही **आभृतः**=यह शरीर में समन्तात् भृत हुआ है **त्वम्**=तू **ब्राह्मणात्**=ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के हेतु से **आतृपत् पिब**=खूब तृप्त होता हुआ इसे पी। इसे तू अपने अन्दर ही व्याप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम बल व सुख का बढ़ानेवाला है। यह रोगकृमिरूप शत्रुओं को कुचलनेवाला है—इन्द्रियशक्तियों का वर्धक है। अन्ततः यह ब्रह्मप्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ नभस्यश्च** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्तिरक्षण व स्वायत्तशासन

जुषेथां यज्ञं बोधतं हवस्य मे सत्तो होता निविदः पूर्व्या अनु।
अच्छा राजाना नम एत्यावृतं प्रशास्त्रादा पिबतं सोम्यं मधु॥ ६॥

१. यह सोमपान करने की कामनावाला—शक्तिरक्षण की कामनावाला 'गृत्समद' समझता है कि रागद्वेष की वृत्तियाँ भी सोमरक्षण के प्रतिकूल होती हैं। सोमरक्षण के लिए इनसे ऊपर उठना भी आवश्यक है। सो यह 'मित्रावरुणौ' को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि तुम **यज्ञं जुषेथाम्**=मेरे जीवनयज्ञ का सेवन करो। मेरे जीवन में मित्र और वरुण का निवास हो—मैं सदा स्नेह व निर्द्वेषता की वृत्ति से चलूँ। **मे हवस्य बोधतम्**=मेरी पुकार को आप जानो मेरी प्रार्थना को आप सुनो। **पूर्व्याः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी गई **निविदः**=ऋचाओं के **अनु**=अनुसार **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला यह आपका उपासक **सत्तः**=इस शरीररूप-वेदि में स्थित हुआ है। मैं यथासम्भव अपने जीवन को वेदज्ञान के अनुसार चलाने का प्रयत्न करता हूँ। इस शरीर में होता बनकर स्थित होता हूँ। २. हे **राजाना**=दीप्त होनेवाले तथा मेरे जीवन का नियमन करनेवाले मित्रावरुणो! यह **आवृतम्**=सब दृष्टियों से वरण किया गया, अर्थात् सब दृष्टियों से जो महत्त्वपूर्ण है वह **नमः**=सोमरूप अन्न (नमः=अन्न) **अच्छा एति**=आपकी ओर आता है—आपको प्राप्त होता है। आप इस **सोम्यम् मधु**=सोम सम्बन्धी सारभूत वस्तु को **प्रशास्त्रात्**=प्रकृष्ट शासन के दृष्टिकोण से **आपिबतम्**=पीनेवाले होओ। इस सोम के शरीर में ही व्यापन से शरीर में रोगों व वासनाओं का शासन न होकर, हमारा अपना शासन बना रहता है। शरीर के हम स्वयं शासक होते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाकर हम सोमरक्षण करनेवाले बनें। इसके रक्षण से शरीर पर हमारा शासन होगा न कि रोगों व वासनाओं का।

सूक्त का भाव यह है कि हम सोम का शरीर में रक्षण करेंगे तो (क) हम दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले बनेंगे (ख) हमारा जीवन पवित्र होगा (ग) सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहेगी (घ) शरीर में अग्नितत्त्व ठीक स्थिति में होगा (ङ) हमें नृम्ण, सह व ओज प्राप्त होगा (च) हम अपने शासक स्वयं होंगे।

इस सोमरक्षण का ही महत्त्व अगले सूक्त में भी द्रष्टव्य है—

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सोमरक्षण से आनन्द व प्रभुप्राप्ति

मन्दस्व होत्रादनु जोषमन्धसोऽध्वर्यवः स पूर्णां वष्ट्यासिचम्।
तस्मा एतं भरत तद्वशो ददिर्होत्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ १॥

१. **होत्रात्**=दानपूर्वक अदन द्वारा, अर्थात् सदा यज्ञशेष का सेवन करने से, वासनाओं से ऊपर उठने द्वारा, **अन्धसः**=इस आध्यानीय सोम के **जोषम् अनु**=प्रीतिपूर्वक सेवन के अनुसार **मन्दस्व**=तू आनन्द का अनुभव कर। जो मनुष्य दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला होता है, वह भोगप्रधान जीवनवाला नहीं बनता। पवित्र जीवनवाला होने से वह सोमशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित कर पाता है। जितना-जितना सोमरक्षण होता है, उतना-उतना ही आनन्द का अनुभव होता है। २. हे **अध्वर्यवः**=यज्ञों की कामनावाले—यज्ञों को अपने साथ संपृक्त करनेवाले पुरुषो! **सः**=वह प्रभु **पूर्णां आसिचम्**=पूर्णरूप से इस सोम के शरीर में ही सेचन को **वष्टि**=चाहते हैं। प्रभु हमारे से

यही चाहते हैं कि हम इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले बनें। ३. **तस्मा**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **एतं भरत**=इस सोम को शरीर में धारण करो। **तद्वशः**=प्रभु इस बात की ही कामनावाले हैं—प्रभु हमारे से यही चाहते हैं। इस सोमरक्षण के होने पर वे प्रभु **ददिः**=हमारे लिए सब कुछ देते हैं। इसलिए हे **द्रविणोदः**=धनों का दान करनेवाले पुरुष—भोगविलास में धनों का अपव्यय न करनेवाले पुरुष! तू **होत्रात्**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति द्वारा **सोमम्**=इस सोम को **ऋतुभिः पिब**=समय रहते पीनेवाला बन। किशोरावस्था में ही इस सोमपान का ध्यान करना चाहिए। वृद्धावस्था में जाकर ध्यान आया तो क्या लाभ? यही है 'समय रहते सोमपान करना'। 'प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते'।

भावार्थ—जितना-जितना हम सोम का शरीर में रक्षण करेंगे, उतना-उतना आनन्द का अनुभव करेंगे। प्रभुप्राप्ति भी इसी प्रकार होगी।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभुस्मरण व यज्ञों में लगे रहना

यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते ।
अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥ २ ॥

१. **यम् उ**=जिस प्रभु को ही **पूर्वम् अहुवे**=मैं दिन के प्रारम्भ में पुकारता हूँ। **तम् इदम्**=उस प्रभु को ही अब सायं भी **हुवे**=पुकारता हूँ। **सः इत् उ**=वह प्रभु ही **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं—आराधना के योग्य हैं। **ददिः**=वे प्रभु ही देनेवाले हैं, **यः**=जो **नाम**=निश्चय से **पत्यते**=सारे संसार के पति व ईश हैं। २. **अध्वर्युभिः**=जीवनयज्ञ को चलानेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि से **प्रस्थितम्**=इस प्रस्थान व गति के स्वभाववाले **सोम्यं मधु**=सोम सम्बन्धी मधु का तू **पिब**=पान कर। यज्ञों में लगी हुई इन्द्रियादि से सोमरक्षण सम्भव होता है। ३. हे **द्रविणोदः**=धनों का दान करनेवाले यज्ञशील पुरुष! **पोत्रात्**=अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **ऋतुभिः सोमं**=समय रहते सोम का तू पान कर। युवावस्था में ही सोम को शरीर में सुरक्षित करनेवाला बन, समय बीत जाने पर पछताना ही होता है।

भावार्थ—'हम प्रभु का स्मरण करें—यज्ञों की वृत्तिवाले बनें' यही सोमरक्षण का मूल साधन है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सोमरक्षण से सर्वांगसुदृढ़ता

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन्वीळयस्वा वनस्पते।
आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥ ३ ॥

१. हे **द्रविणोदः**=धनों का दान करनेवाले, न कि भोग-विलास में व्यय करनेवाले! **त्वं**=तू **नेष्ट्रात्**=जीवन के उत्तम प्रणयन के दृष्टिकोण से **ऋतुभिः सोमं पिब**=समय रहते सोम का पान करनेवाला बन। किशोरावस्था में ही शरीर में सोम को सुरक्षित कर। ताकि **ते वह्नयः**=तेरे कार्यवाहक इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि **मेद्यन्तु**=हृष्ट-पुष्ट हों। सोम की शक्ति से ही तो ये सब शक्तिसम्पन्न बनते हैं। वे वह्नि **येभिः**=जिनसे **ईयसे**=तू जीवनयात्रा में गतिवाला होता है, वे सब इस सोम द्वारा ही पुष्ट होते हैं। हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के रक्षक पुरुष! तू **अरिषण्यन्**=सोमरक्षण द्वारा अहिंसित होता हुआ **आ वीडयस्व**=दृढ़ अङ्गोंवाला बन। २. हे **धृष्णो**=वासनाओं का धर्षण करनेवाले पुरुष! **आयूय**=सोम को अपने साथ मिश्रित करके **अभिगूर्य**=सोम का शरीर में उद्यमन

(ऊर्ध्वगति) करके तू इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—सोमरक्षण से सब इन्द्रियाँ सशक्त होंगी और सब अङ्ग दृढ़ बनेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तुरीय स्थिति

अपाद्धोत्रादुत पोत्रादमत्तोत नेष्ट्रादजुषत प्रयो हितम्।
तुरीयं पात्रममृक्तममर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः॥ ४॥

१. **होत्रात्**=दानपूर्वक अदन के दृष्टिकोण से इसने **अपात्**=सोमपान किया। इसने यह समझ लिया कि दानपूर्वक अदन की वृत्ति से मैं भोगमार्ग से ऊपर उठूँगा और सोमरक्षण कर सकूँगा, साथ ही जितना-जितना सोमरक्षण करूँगा, उतनी-उतनी मेरी वृत्ति सुन्दर बनेगी। मैं अकेला खानेवाला न रहकर सबके साथ मिलकर खानेवाला बनूँगा। २. **उत**=और **पोत्रात्**=पोतृकर्म के दृष्टिकोण से—अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **अमत्त**=यह सोमपान करके हर्ष को अनुभव करनेवाला हुआ। सोमरक्षण से जीवन पवित्र बनता है। ३. **उत**=और **नेष्ट्रात्**=नेष्टृ कर्म के दृष्टिकोण से—अपने को प्रभु के समीप प्राप्त कराने के दृष्टिकोण से **हितं प्रयः**=शरीर में स्थापित सोमरूप अन्न का **अजुषत**=इसने प्रीतिपूर्वक सेवन किया। ४. इसके सोमपान का **तुरीयं पात्रम्**=चतुर्थपात्र **अमृक्तम्**=वे अहिंसित **अमर्त्यम्**=न नष्ट होनेवाले प्रभु हुए। सबसे प्रथम 'दानपूर्वक अदन' के हेतु से इसने सोमपान किया। दूसरे स्थान पर 'अपने को पवित्र करने' के दृष्टिकोण से पुनः अपने को आगे ले चलने के दृष्टिकोण से और अन्ततः प्रभु प्राप्त करने के दृष्टिकोण से इसने सोम का सेवन किया। सोम अर्थात् वीर्यरक्षण से हमारे अन्दर देने की वृत्ति होगी—हम पवित्र बनेंगे—आगे बढ़ेंगे और प्रभु को प्राप्त करेंगे। उपर्युक्त सम्पूर्ण वर्णन का ध्यान करते हुए यही उचित है कि **द्रविणोदाः**=धनों का दान करनेवाला व्यक्ति **द्राविणोदसः**=उस सम्पूर्ण धनों के देनेवाले प्रभु के सोम का **पिबतु**=पान करे। इस सोमरक्षण के लिए धनों का दान आवश्यक है। अन्यथा भोगवृत्ति बढ़कर मनुष्य को सोमरक्षण के योग्य नहीं रहने देती।

भावार्थ—पहला चरण यह है कि हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। दूसरा—अपने जीवन को पवित्र बनाएँ। तीसरा—अपने को निरन्तर आगे ले चलें। चौथा—उस अहिंसित-अमर्त्य प्रभु को प्राप्त करें। इन सबके लिए सोमरक्षण करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अश्विनी देवों का रथ

अर्वाञ्चमद्य यय्यं नृवाहणं रथं युञ्जाथामिह वां विमोचनम्।
पृङ्क्तं हवींषि मधुना हि कं गतमथा सोमं पिबतं वाजिनीवसू॥ ५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' है—प्राणापान। इनसे प्रार्थना करते हैं कि **अद्य**=आज आप **रथं युञ्जाथाम्**=शरीररूप रथ को जोतो। जो रथ **अर्वाञ्चम्**=बहिर्मुखी गतिवाला न होकर **अन्तः**=अर्वाङ्मुखी गतिवाला है—विषयों की ओर न जाकर आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाला है। **यय्यम्**=गतिशील है। **नृवाहणम्**=नर-मनुष्यों का जो वाहन है—जिसमें आगे बढ़ने की वृत्तिवाला व्यक्ति स्थित है। २. यह **वाम्**=आपका रथ **इह**=यहाँ इस मानवजीवन में **विमोचनम्**=हमारा विमोचयिता हो—विषयों से हमें मुक्त करनेवाला हो। हे प्राणापानो! आप **हवींषि पृङ्क्तम्**=हवियों को ही हमारे साथ संयुक्त करो—दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले ही हम सदा बनें। **मधुना**=माधुर्य से **हि**=निश्चयपूर्वक **कम्**=उस आनन्दस्वरूप प्रभु को **गतम्**=प्राप्त होनेवाले होओ। हम जीवन में

मधुरता से चलें और प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों। **अथा**=अब हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप साधनवाले अथवा अन्न (वाजिनी) के द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्राणापानो! **सोमं पिबतम्**=तुम सोम का पान करो। अपने इस शरीर में सोम को सुरक्षित करनेवाले बनो। प्राणसाधना से ही सोम की ऊर्ध्वगति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधन के द्वारा सोम का रक्षण होकर इस शरीर रथ का सौन्दर्य बना रहता है। यह रथ हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्या चाहिए?

जोष्यग्ने समिधं जोष्याहुतिं जोषि ब्रह्म जन्यं जोषि सुष्टुतिम्।
विश्वेभिर्विश्वाँ ऋतुना वसो मह उशन्देवाँ उशतः पायया हविः॥ ६ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव **समिधं जोषि**=तू 'पृथिवी, द्युलोक व अन्तरिक्ष' के पदार्थों के ज्ञान रूप तीन समिधाओं का सेवन करनेवाला होता है, अर्थात् तू सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। **आहुतिं जोषि**=तू देवयज्ञ में दी जानेवाली आहुतियों को प्रीतिपूर्वक सेवन करता है—देवयज्ञ को करनेवाला बनता है। **ब्रह्म जोषि**=परमात्मा का उपासन करता है—ध्यान में प्रभु का स्मरण करता है। और **जन्यम्**=लोकहित के कर्मों का सेवन करता है। लोकसेवा को ही तू ब्रह्म का आराधन जानता है। **सुष्टुतिम् जोषि**=उत्तम स्तुति का सेवन करता है—सदा प्रभु के गुणों का कीर्तन करता है। २. हे **वसो**=उत्तम निवास वाले **महः उशन्**=तेजस्विता की कामना करता हुआ तू **विश्वान्**=सब **उशतः**=प्रभुप्राप्ति की कामना करते हुए **देवान्**=इन इन्द्रियगणों को **ऋतुना**=समय बीतने से पूर्व ही **विश्वेभिः** (विश् to enter) सोम के शरीर में प्रवेशन के द्वारा **हविः**=(घृतमाज्यं हविः सर्पिः) घृत का **पायय**=पान करा ('घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यम्' घृतमायुः)। घृत आदि सात्त्विक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न सोम को शरीर में सुरक्षित करने पर ज्ञानदीप्ति बढ़ेगी, लोकहित के कर्मों की वृत्ति बढ़ेगी और अन्ततः हम प्रभु को प्राप्त होंगे।

भावार्थ—हम ज्ञान को दीप्त करने की रुचिवाले हों—यज्ञशील बनें—ब्रह्म की उपासना करते हुए लोकहित के कर्म करें। सदा स्तुति करते हुए, घृतादि पदार्थों का सेवन करते हुए, उत्पन्न सोमरक्षण से इन्द्रियों की शक्ति को न्यून न होने दें।

सम्पूर्ण सूक्त का सार यही है कि सोमरक्षण से हमारा जीवन 'होतृत्व' वाला होगा—पवित्र होगा—हम आगे बढ़ेंगे और प्रभु को पानेवाले होंगे। हमारे लिए अब सवितादेव रत्नों को धारण कराता हुआ उदय होगा।

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्योदय

उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात्।
नूनं देवेभ्यो वि हि धाति रत्नमथाभजद्वीतिहोत्रं स्वस्तौ॥ १ ॥

१. **स्यः**=वह **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक (षू प्रेरणे) सूर्य **उ**=निश्चय से **उत् अस्थात्**=ऊपर स्थित हुआ है—उदित हुआ है। यह सूर्य **शश्वत्तमम्**=सदा से **तद् अपाः**=इस प्रेरणात्मक कार्य को करनेवाला है। **वह्निः**=यह सूर्य सबका वोढा है—धारक है। सब लोकों का केन्द्र होता हुआ सबका धारण कर रहा है। इसी से जगत् का नाम ही 'सौर जगत्' (Solar System) हो गया

है। २. **नूनं हि**=निश्चय से ही **देवेभ्यः**=क्रीडा की वृत्ति से कर्म करनेवालों के लिए यह सूर्य **रत्नं विधाति**=रमणीय वस्तुओं को विशेष रूप से धारण करता है। **अथ**=और **वीतिहोत्रम्**='कान्त यज्ञ को'—सुन्दर यज्ञोंवाले पुरुष को **स्वस्तौ**=कल्याण में **आभजत्**=सर्वथा भागी बनाता है। सूर्योदय होते ही देववृत्ति का बन करके हमें उत्तम यज्ञ आदि कर्मों में प्रवृत्त होना है। यही रत्नों की प्राप्ति व कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ—सूर्य उदित होता है—हमें कर्मों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है। हमें चाहिए कि देववृत्ति के बनकर सुन्दर यज्ञों में प्रवृत्त हो जाएँ। यही रमणीय वस्तुओं व कल्याण प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य के तीन महान् कार्य

विश्वस्य हि श्रुष्टये देव ऊर्ध्वः प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति।
आपश्चिदस्य व्रत आ निमृग्रा अयं चिद्वातो रमते परिज्मन्॥ २॥

१. **देवः**=यह प्रकाशमय सूर्य **हि**=निश्चय से **विश्वस्य**=सारे संसार के **श्रुष्टये**=सुख के लिए **ऊर्ध्वः**=आकाश में उद्गत होता है और **पृथुपाणिः**=यह विशाल किरणरूप हाथोंवाला सूर्य **बाहवा**=अपनी भुजाओं को **प्रसिसर्ति**=फैलाता है। वस्तुतः यह सूर्य हिरण्यपाणि है—स्वर्ण को हाथ में लिए हुए है। यह हमारे शरीर में स्वर्ण को निक्षिप्त (Inject) करता है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'=यह प्राणशक्ति को देनेवाला है। इस प्रकार अपनी किरणों से सबको नीरोग बनाता हुआ यह सूर्य सुख देनेवाला है। २. **अस्य**=इस सूर्य के **व्रते**=व्रत में **चित्**=निश्चय से **आपः**=ये जल **आनिमृग्राः**=चारों ओर से शुद्ध हो जाते हैं। सूर्य कीचड़ में से भी शुद्ध जल को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है और वे वाष्प घनीभूत होकर बादल के रूप में होकर जब बरसते हैं तो यह जल अत्यन्त शुद्ध होता है। उपयुक्त होने पर यह शरीरों को नीरोग बनानेवाला होता है—यह 'देवों का मद्य' कहलाता है—देवों के हर्ष की वृद्धि का कारण बनता है। ३. **अयं वातः चित्**=यह वायु भी **परिज्मन्**=चारों ओर गये हुए—चारों ओर व्याप्त—इस अन्तरिक्ष में सूर्य के व्रत में ही **रमते**=रमण करता है। सूर्य के कारण ही वायु की गति है। सूर्य की किरणें भूमि को गरम करती हैं। भूमि की गर्मी से वायु गरम होती है—फैलकर—हल्की होकर यह ऊपर उठती है। इस प्रकार वायु का दबाव कम हो जाता है। उस समय अधिक दबाववाले स्थल की ओर से कम दबाववाले स्थल की ओर वायु चलती है। बस, यही वायु के बहाव का कारण होता है। एवं सूर्य जलों को शुद्ध करता है और वायु के बहाव का कारण बनता है।

भावार्थ—सूर्य के तीन महान् कार्य हैं—(क) हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का संचार करके उन्हें स्वस्थ करता है (ख) जलों का शोधन करता है (ग) वायु के प्रवाह का कारण बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्यास्त और गतिविराम

आशुभिश्चिद्यान्वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः।
अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात्॥ ३॥

१. **आशुभिः**=इन शीघ्रगामी व्यापक किरणों से **यान्**=गति करता हुआ **चित्**=भी यह सूर्य **नूनम्**=निश्चय से **विमुचाति**=अपने घोड़ों को खोलता है, अर्थात् सायंकाल आता है—सूर्यास्त होता है और परिणामतः यह सूर्य **अतमानं चित्**=निरन्तर गति करते हुए व्यक्तियों को भी **एतोः**=गति

से **अरीरमत्**=रोक डालता है। सब लोग सूर्यास्त होने पर कार्यों से विरत होकर गृह की ओर लौटते हैं। २. यह सूर्य **अह्यर्षूणाम्**=(अहिं आहन्तारं शत्रुम् अभिगच्छन्ति) शत्रुओं पर आक्रमण करनेवालों की **चित्**=भी **आविष्याम्**=गमनेच्छा को—शत्रु पर आक्रमण करने की इच्छा को **न्ययान्**=(नियच्छति) रोक देता है, अर्थात् रात्रि आती है तो युद्ध भी रुक जाते हैं। **सवितुः व्रतम् अनु**=सूर्य के कार्य की समाप्ति पर **मोकी**=रात्रि **आगात्**=आती है। रात्रि का 'मोकी' नाम ही स्पष्ट कर रहा है कि यह सभी को कार्यमुक्त कर देती है।

भावार्थ—सूर्यास्त होता है तो व्यापारी व्यापार से रुकते हैं और योद्धा युद्ध करने से। 'मोकी' (रात्रि) आती है और सभी को कार्यमुक्त कर देती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रम व ऋतुओं की समृद्धि

पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः।
उत्संहायास्थाद् व्यृ१तूँरदर्धरमतिः सविता देव आगात्॥ ४॥

१. **वयन्ती**=वस्त्र को बुनती हुई नारी के समान रात्रि **विततम्**=फैले हुए प्रकाश को **पुनः**=पहले की भाँति **समव्यत्**=संवेष्टित कर लेती है। पहले भी रात्रि फैले हुए सूर्यप्रकाश को संवेष्टित करती रही है, आज पहले की भाँति फिर उसे संवेष्टित करती है। इस रात्रि के आने पर **धीरः**=प्राज्ञ-पुरुष—बुद्धिमान् पुरुष **कर्तोः**=क्रियमाण कर्म को **शक्म**=चाहे वह अग्नि, बिजली आदि के प्रकाश में किया भी जा सकता है तो भी **मध्या**=बीच में ही **न्यधात्**=रख देता है। स्वाभाविक जीवन यही है कि सूर्योदय के साथ कर्म प्रारम्भ किया जाए और सूर्यास्त के साथ उसे रोक कर विश्राम के लिए तैयारी की जाए। यही स्वस्थ रहने का मार्ग है। २. रात्रि की समाप्ति पर यह धीर पुरुष **संहाय**=शय्या को छोड़कर **उद् अस्थात्**=उठ खड़ा होता है। **अरमतिः**=विराम न लेनेवाला (अनुपरतिः) **सविता देवः**=प्रेरक प्रकाशमय सूर्य भी तो **आगात्**=आ गया है—फिर से उदित हो गया है। **ऋतून्**=ऋतुओं को—कालविशेषों को **वि अदर्धः**=विशेषरूप (cause to succeed) से एक दूसरे के पीछे लाने का कारण बनता है—भिन्न-भिन्न ऋतुओं को यह सूर्य ही उपस्थित करता है, उन्हें समृद्ध बनाता है।

भावार्थ—रात्रि आती है और एक समझदार पुरुष कर्म को समाप्त करके विश्राम की तैयारी करता है रात्रि की समाप्ति पर यह शय्या को छोड़ता है। सूर्योदय के साथ कर्म में पुनः प्रवृत्त होता है। सूर्य ही सब ऋतुओं को समृद्ध करता है।

सूचना—यहाँ 'शय्या को छोड़ना' तथा 'ऋतुओं का समृद्ध होना' इनमें कार्यकारणभाव है। परिश्रमी के लिए सब ऋतुएँ समृद्ध होती हैं। आलसी के लिए नहीं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्निहोत्र

नानौकांसि दुर्यो विश्वमायुर्वि तिष्ठते प्रभवः शोको अग्नेः।
ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधादन्वस्य केतमिषितं सवित्रा॥ ५॥

१. सूर्योदय के होने पर **नाना ओकांसि**=पृथक्-पृथक् घरों में **दुर्यः**=प्रत्येक घर का हित करनेवाला **अग्नेः प्रभवः शोकः**=अग्नि से उत्पन्न होनेवाला तेज **विश्वम् आयुः**=सम्पूर्ण जीवन में अर्थात् आजीवन **वितिष्ठते**=स्थित होता है। इस वाक्य में निम्न बाते स्पष्ट हैं—(क) अग्निहोत्र प्रत्येक घर में होना चाहिए। (ख) यह अग्निहोत्र की अग्नि का तेज घर के लिए रोगकृमि

विनाश द्वारा अत्यन्त हितकर है। (ग) अग्निहोत्र जन्मभर करना ही चाहिए 'जरया ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा'। २. इस अग्निहोत्र के होने से **माता**=पृथिवी—यह भूमिमाता **सूनवे**= अपने इस यज्ञशील पुत्र के लिए **ज्येष्ठं भागम्**=श्रेष्ठ सेवनीय अन्न को (भज सेवायाम्) **आधात्**=धारण करती है और **अनु**=इस सेवनीय अन्न के पश्चात् **सवित्रा**=इस कर्मों में प्रेरक सूर्य देव से **अस्य केतम्**=इस का ज्ञान **इषितम्**=प्रेरित किया जाता है, अर्थात् सूर्य इसके मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर जब घर-घर में अग्निहोत्र होते हैं तो पृथिवी में उत्तम अन्न उत्पन्न होता है और सूर्य हमारी बुद्धि को बढ़ानेवाला होता है।

सूचना—यहाँ सूर्य का बुद्धि के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चार आश्रम

समावर्वर्ति विष्ठितो जिगीषुर्विश्वेषां काममश्चरताममाभूत्।
शश्वाँ अपो विकृतं हित्व्यागादनु व्रतं सवितुर्दैव्यस्य॥ ६॥

१. आचार्यकुल में **विष्ठितः**=विशिष्टरूप से स्थित हुआ-हुआ **जिगीषुः**=सब वासनाओं को जीतने की कामनावाला यह ब्रह्मचारी अध्ययन पूर्ण करके **समावर्वर्ति**=आज समावृत्त होता है। जीवन के प्रथम प्रयाण में ब्रह्मचारी आचार्यगर्भ में स्थित होता है 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'। आचार्य इसके जीवन की रक्षा करता है—उसे किन्हीं भी विषयों का शिकार नहीं होने देता। यहाँ आचार्यकुल में यह सब ज्ञानों का विजय करता है। ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर ही यह आचार्यकुल से लौटता है। २. **चरताम्**=इन ज्ञान का भक्षण करनेवाले **विश्वेषाम्**=सब दीक्षित ब्रह्मचारियों की **कामः**=इच्छा **अमा**=घर के विषय में **अभूत्**=होती है, अर्थात् समावृत्त होने के बाद अब ये गृहस्थ बनते हैं। गृहस्थ को सुन्दरता से निभाने के लिए यत्नशील होते हैं। परन्तु गृहस्थ में कुछ-न-कुछ रागद्वेष हो ही जाता है। इस आश्रम को इसी कारण 'मलाश्रम' यह नाम ही हो गया है। यहाँ कुछ अनृत का प्रवेश हो जाता है 'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्'। ३. यथासम्भव उत्तमता से गृहस्थ को निभाकर अब यह **शश्वान्**=आज तक गृहस्थ के कर्मों में रत पुरुष (शश प्लुतगतौ) **विकृतं अपः**=इन विकारवाले कर्मों को **हित्वी**=छोड़कर **अयात्**=फिर से वन में आ जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम में यह शहरों से दूर वनों में था। वहाँ से गृह में आया था। आज फिर वहीं लौटता है—वानप्रस्थ बनता है। ४. यहाँ वन में साधना को पूरा करके उस **दैव्यस्य**=(देवस्य अयं) प्रभु के प्रकाश को दिखानेवाले **सवितुः**=सूर्य के **व्रतम् अनु**=व्रत के अनुसार यह भी अपने जीवन व्रत को ग्रहण करता है। संन्यस्त होकर परिव्राजक बनता है और चारों ओर प्रकाश को फैलाता हुआ अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है। यही मानवजीवन का उत्कर्ष है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्य के समीप ठहर कर ज्ञान प्राप्त करना है। अब समावृत्त होकर सुन्दर घर बनाता है। घर के कार्यों से निवृत्त होने पर वनस्थ होकर साधना-सम्पन्न बनकर संन्यास में सूर्य की तरह प्रकाश को फैलाते हुए आगे बढ़ना है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रेगिस्तानों में भी जल की सुलभता

त्वया हितमप्यमप्सु भागं धन्वान्वा मृगयसो वि तस्थुः।
वनानि विभ्यो नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति॥ ७॥

१. **त्वया**=हे सवितः देव! आप के द्वारा **हितम्**=रखे हुए **अप्यं भागम्**=जल-सम्बन्धी सेवनीय अंश को **अप्सु**=प्रजाओं में **मृगयसः**=अन्वेषण करनेवाले लोग **धन्वा**=निर्जल मरुस्थलों में भी **अनु आवितस्थुः**=अनुक्रमेण समन्तात् अधिष्ठित करते हैं। रेगिस्तान में भी परमेश्वर की व्यवस्था के अनुसार इस सूर्य द्वारा वृष्टि होकर ऐसे शाद्वल प्रदेशों का सन्निवेश होता है, जहाँ कि लोगों के लिए यह जल सुलभ होता है और वह स्थान मनुष्यों के निवास योग्य बन जाता है। २. यह सूर्य **विभ्यः**=पक्षियों के लिए भी **वनानि**=(जीवनं भुवनं वनम्=उदकम्) जलों को प्राप्त कराता है। सूर्य, परमेश्वर की व्यवस्था के अनुसार गति करता हुआ जलों को वाष्पीभूत करके अन्तरिक्ष में पहुँचाता है। वहाँ से वृष्टि होकर सर्वत्र जल की प्राप्ति होती है। **अस्य सवितुः देवस्य**=इस प्रेरक प्रकाशमय सूर्य के **तानि व्रता**=उन व्रतों को **नकिः मिनन्ति**=कोई भी हिंसित नहीं करता। सूर्य के ये कर्म अविहतरूप से निरन्तर चलते हैं। इनसे सर्वत्र जल सुलभ होता है, वह जल जो कि प्राणियों का प्राण है 'आपोमयाः प्राणाः'।

भावार्थ—प्रभु सूर्य द्वारा वृष्टि करके रेगिस्तानों में भी जल को सुलभ कर देते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रात्रि घरों में सबको एकत्रित कर देती है

याद्राध्यं१ वरुणो योनिमप्यमनिशितं निमिषि जर्भुराणः।
विश्वो मार्ताण्डो व्रजमा पशुर्गात्स्थशो जन्मानि सविता व्याकः॥ ८॥

१. **वरुणः**=(रात्रिर्वरुणः ऐ० ४.१०) सारे जगत् को अन्धकार से आवृत्त करनेवाली रात्रि (वृ=वरुण) रात्रि **यात्राध्यम्**=(याताम् आराधनीयम्) चलनेवालों से—कार्यार्थ इधर-उधर गति करते हुए पुरुषों से—चाहने योग्य **अप्यम्**=सबसे प्राप्त करने योग्य **अनिशितम्**=अतीक्ष्ण अर्थात् सुखकर **योनिम्**=घर को **निमिषि**=सूर्य के अस्त होने पर **जर्भुराणः**=खूब ही प्राप्त कराती है (भृशं भरति), अर्थात् सब कार्यार्थी मनुष्य अपनी गतियों को समाप्त करके घर में लौटने की चेष्टा करते हैं। २. मनुष्य ही क्या! **विश्वः मार्ताण्डः**=सब मृत-विदीर्ण अण्ड से उत्पन्न होनेवाले पक्षी तथा **पशुः**=सब गवादि पशु **व्रजम्**=अपने-अपने बाड़े में, पक्षी अपने घोंसलों में तथा पशु अपने गोष्ठों में **आगात्**=आ जाते हैं। ३. अब **सविता**=प्रातः उदय होनेवाला सूर्य **जन्मानि**=इन जन्म लेनेवाले सब प्राणियों को **स्थशः**=अपने-अपने स्थान में **वि आकः**=फिर पृथक्-पृथक् करता है। सूर्यास्त हुआ था तो लोग कार्यों को छोड़कर, घर में एकत्रित हो गये थे। अब सूर्योदय होने पर सब अपने-अपने कार्यों पर चल पड़े हैं, और इस प्रकार अलग-अलग हो गये हैं।

भावार्थ—रात्रि सबको अपने घरों में प्राप्त कराती है। सूर्योदय के साथ सब अलग-अलग अपने कार्यों पर चले जाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वह महान् सविता

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः।
नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः॥ ९॥

१. सूर्य भी सविता है, परन्तु सूर्य को भी प्रकाश प्राप्त करानेवाला प्रभु महान् सविता है। वह वह सविता है **यस्य व्रतम्**=जिसके नियम को **इन्द्रः**=इन्द्र व **वरुणः**=वरुण **न**=नहीं **मिनन्ति**=तोड़ते हैं। **मित्रः**=मित्र व **अर्यमा**=अर्यमा भी **न**=नहीं तोड़ते और **रुद्रः न**=रुद्र भी उस सविता के व्रत को तोड़ता नहीं। २. जैसे सूर्यादि देव उस प्रभु के व्रत को तोड़ नहीं सकते, उसी प्रकार

अरातयः=अदानशील पुरुष भी–यज्ञादि उत्तम कर्मों को न करनेवाले पुरुष भी **न**=उस प्रभु के व्रत को तोड़ नहीं सकते। इन्हें भी उस प्रभु की व्यवस्था में मर्यादाओं के उल्लङ्घन का दण्ड भोगना ही पड़ता है। **तम् सवितारम्**=उस प्रेरक प्रभु को **इदम्**=(इदानीम्) अब **स्वस्ति**=कल्याण के लिए **नमोभिः**=नमन द्वारा **हुवे**=पुकारता हूँ। प्रभुस्मरण से मैं मर्यादोल्लङ्घन से बचता हूँ और इस प्रकार कल्याण को प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु के व्रत को जड़-चेतन कोई भी तोड़ नहीं सकते।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के प्रिय

भगं धियं वाजयन्तः पुरन्धिं नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः।
आये वामस्य सङ्गथे रयीणां प्रिया देवस्य सवितुः स्याम॥ १० ॥

१. **भगम्**=सेवनीय ऐश्वर्य को **धियम्**=बुद्धि को **पुरन्धिम्**=पालक व पूरक अथवा बहुत शुभगुणों की धारक बुद्धि को **वाजयन्तः**=(वाजयन्=प्राप्तुमिच्छन् द०) प्राप्त करने के लिए चाहते हुए हम **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु के **प्रियाः स्याम**=प्रिय बनें। २. **वामस्य आये**=सुन्दर दिव्यगुणों को हमारे जीवनों में आने के विषय में **रयीणां संगथे**=धनों की प्राप्ति के निमित्त **नराशंसः**=सब मनुष्यों से स्तुति करने योग्य **ग्नास्पतिः**=छन्दों व वेदवाणियों का पति वह प्रभु **नः**=हमें **अव्याः**=रक्षित करे। उस प्रभु से रक्षित होकर के ही हम सुन्दर दिव्य गुणों को धारण कर सकेंगे और उसी की रक्षा में सब ऐश्वर्यों का अर्जन कर पाएँगे।

भावार्थ—हम उत्तम ऐश्वर्य, बुद्धि व पुरन्धि को प्राप्त करने की कामनावाले होकर प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु से रक्षित होकर दिव्यगुणों व धनों का अर्जन करें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिलोकी का धन

अस्मभ्यं तद्दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास्त्वया दत्तं काम्यं राध आ गात्।
शं यत्स्तोतृभ्य आपये भवात्युरुशंसाय सवितर्जरित्रे ॥ ११ ॥

१. हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **दिवः**=आकाश से **अद्भ्यः**=अन्तरिक्षस्थ जलों से तथा **पृथिव्याः**=इस पृथिवी से **तत्**=वह **राधः**=कार्यसाधक ऐश्वर्य **आगात्**=प्राप्त हो, जो कि **काम्यम्**=कमनीय व सुन्दर है—चाहने योग्य है। तथा **त्वया दत्तम्**=आपसे दिया गया है। द्युलोक से प्राप्त होनेवाला धन 'सूर्य का प्रकाश व सूर्यकिरणों से हमारे शरीरों में स्थापित की जानेवाली प्राणशक्ति है। अन्तरिक्ष से प्राप्त होनेवाला धन चन्द्र की ज्योत्स्ना व पर्जन्यों से बरसाये जानेवाली वृष्टि धाराएँ हैं। पृथिवी से प्राप्त होनेवाला धन विविध ओषधि वनस्पतियों व विविध धातुओं के रूप में है। ये सब धन काम्य व कार्यसाधक हैं। २. हे **सवितः**=सब ऐश्वर्यों के उत्पादक प्रभो! हमें वह धन प्राप्त हो **यत्**=जो कि **स्तोतृभ्यः**=स्तवन करनेवालों के लिए **शंभवाति**=शान्ति को देनेवाला होता है तथा **आपये**=मित्रों व बन्धुओं के लिए शान्ति का कारण होता है तथा उस **शंसाय**=खूब ही शंसन करनेवाले **जरित्रे**=(जरिता, गरिता नि० १.७) गुरु व उपदेष्टा के लिए भी शान्ति का कारण बनता है। हमें वह धन प्राप्त हो जिसमें स्तोताओं, बन्धुओं व गुरुओं का भी भाग हो। हम सारे धन को स्वयं ही खा जानेवाले न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें त्रिलोकी का कमनीय धन प्राप्त हो। उस धन में स्तोताओं, मित्रों व गुरुओं का भी भाग हो।

प्रस्तुत सूक्त सूर्योदय के वर्णन से प्रारम्भ हुआ है और उस महान् सूर्य प्रभु से त्रिलोकी के धन की याचना के साथ समाप्त हुआ है 'इस त्रिलोकी के धन के सदुपयोग से हमारे प्राणापान अत्यन्त सुन्दर होंगे' इस भावना को अग्रिम सूक्त में व्यक्त करते हैं।

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ग्रावाणा-गृध्रा-ब्रह्माणा-दूता'

ग्रावाणेव तदिदर्थं जरेथे गृध्रेव वृक्षं निधिमन्तमच्छ।
ब्रह्माणेव विदथ उक्थशासा दूतेव हव्या जन्या पुरुत्रा॥ १॥

१. गत सूक्त के अन्तिम मन्त्र के अनुसार त्रिलोक का धन प्राप्त होने पर प्रस्तुत सूक्त के देवता 'अश्विनौ', अर्थात् हमारे प्राणापान **ग्रावाणा इव**=दो स्तोताओं की तरह होते हैं। ये **इत्**=निश्चय से **तद् अर्थम्**=उस सर्वव्यापक (तन् विस्तारे) गन्तव्य (ऋ गतौ) प्रभु का ही **जरेथे**=स्तवन करते हैं। हमारे प्राणापानों से प्रभु के नाम का ही जप चलता है। २. ये प्राणापान **गृध्रा इव**=दो गृध्र पक्षियों के समान होते हैं। जैसे वे निवासस्थानभूत **वृक्षम्**=वृक्ष की ओर जाते हैं उसी प्रकार ये **निधिमन्तम् अच्छ**=ऐश्वर्यसम्पन्न इस पञ्चकोशात्मक शरीर की ओर जाते हैं। यह शरीर अन्नमयकोश में 'तेज' प्राणमय में 'वीर्य' मनोमय में 'बल व ओज' विज्ञानमय में 'ज्ञान', मन्यु तथा आनन्दमय में 'सहस्' रूप ऐश्वर्यवाला है। इस निधिमान् शरीर को ये प्राणापान प्राप्त होते हैं। प्राणसाधना से ही वस्तुतः यह सब ऐश्वर्य प्राप्त होता है। ३. ये प्राणापान **ब्रह्माणा इव**=दो ब्रह्मपाठी वेदज्ञ ब्राह्मणों के समान हैं। **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में ये **उक्थशासा**=स्तोत्रों का शंसन करनेवाले हैं। प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होकर ही तो मनुष्य ब्रह्मपाठी बन पाता है। ५. **दूता इव**=ये प्राणापान दूतों के समान हैं। **हव्या**=ये पुकारने योग्य हैं। जैसे हम अन्य राष्ट्रों के दूतों को आमन्त्रित करते हैं, इसी प्रकार ये प्राणापान प्रभु के हव्य दूतों के समान हैं। **जन्या**=ये लोगों का हित करनेवाले हैं और **पुरुत्रा**=पालक व पूरक तथा त्राण करनेवाले हैं। प्राणसाधना से ही सब हित सम्भव होता है।

भावार्थ—प्राणापान द्वारा प्रभु का स्तवन होता है। ये शरीर को ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाते हैं। ज्ञानवृद्धि के ये कारण हैं तथा प्रभु के दूतों के समान हैं। ये हमारा भला ही भला करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रथ्या-अजा-मेने-दम्पती

प्रातर्यावाणा रथ्येव वीराजेव यमा वरमा सचेथे।
मेनेइव तन्वा३ शुम्भमाने दम्पतीव क्रतुविदा जनेषु॥ २॥

१. ये प्राणापान **प्रातर्यावाणा**=प्रातःकाल से ही गतिवाले **रथ्या इव**=रथ वहन में उत्तम घोड़ों की तरह **वीरा**=वीर हैं। जीवन के प्रातःकाल से ही ये इस शरीर-रथ में जुतकर वीरतापूर्वक इस शरीर-रथ का वहन करने में लग जाते हैं। जीवन के सायंकाल तक इनका यह कार्य समाप्त नहीं हो पाता। २. **अजा इव**=दो बकरियों की तरह **यमा**=साथ-साथ रहकर इस शरीर का नियमन करनेवाले ये प्राणापान **वरम्**=श्रेष्ठता को **आ सचेथे**=हमारे साथ संगत करते हैं। बकरी का दूध 'सर्वरोगापह' कहलाता है। ये प्राणापान भी सब रोगों को दूर करनेवाले और इस प्रकार शुभ को प्राप्त करानेवाले हैं। ३. **मेने इव**=दो मान्य नारियों के समान **तन्वा शुम्भमाने**=शरीर से ये अत्यन्त शोभायमान होते हैं। जैसे वे नारियाँ निर्मल वस्त्रों से दीप्त शरीरवाली होती हैं, इसी प्रकार ये प्राणापान

शरीर को नीरोग बनाकर दीप्त करनेवाले हैं। ४. **दम्पती इव**=पति-पत्नी की तरह ये प्राणापान **जनेषु**=लोगों में **क्रतुविदा**=सब यज्ञों को प्राप्त करानेवाले हैं। पति-पत्नी मिलकर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' से पत्नी शब्द बनता ही यज्ञादि उत्तम कर्मों को करने के लिए है। प्राणापान इस शरीर को सशक्त व पवित्र बनाकर इसे यज्ञाभिमुख करते हैं। प्राणसाधक सदा यज्ञशील होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान द्वारा ही सब गति होती है—सब शुभों की प्राप्ति होती है—शोभायुक्त शरीर बनता है तथा यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शृंगा-शफौ-चक्रवाका-रथ्या

शृङ्गेव नः प्रथमा गन्तमर्वाक्छफाविव जर्भुराणा तरोभिः।
चक्रवाकेव प्रति वस्तोरुस्राऽर्वाञ्चा यातं रथ्येव शक्रा॥ ३॥

१. हे प्राणापानो! आप **शृंगा इव**=गवादि पशुओं के सींगों के समान हो। जैसे शृंग उनको शत्रुओं से बचाने में साधन बनते हैं, उसी प्रकार प्राणापान हमें सब रोगादि शत्रुओं से बचानेवाले हैं। आप **नः**=हमें **प्रथमाम्**=सर्वप्रथम **अर्वाक् गन्तम्**=हमारे अभिमुख प्राप्त होओ। आपको प्राप्त करके हम शत्रुओं से अपना रक्षण कर पाएँ। २. **शफौ इव**=आप घोड़ों के दो खुरों के समान हो। जैसे घोड़ा इन खुरों से तीव्र गतिवाला होता है, उसीप्रकार हे प्राणापानो! आप भी **तरोभिः**=बड़े वेगों से **जर्भुराणा**=खूब ही गतिवाले हो। प्राणापान के कारण ही शरीर की सब गतियाँ हो रही हैं। **चक्रवाका इव**=आप चकवा-चकवी के समान हो। **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन **उस्रा**=प्रकाश की किरणोंवाले हो। चकवा-चकवी प्रकाश की किरणों के साथ प्रेमवाले हैं—प्रकाश में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। प्राणापान भी बुद्धि तीव्र करके अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले हैं। इन्हें अन्धकार से प्रेम नहीं। ४. **रथ्या इव**=ये रथ में जुतनेवाले दो घोड़ों के समान हैं। **शक्रा**=प्राणापान इस शरीर-रथ के वहन में शक्तिवाले हैं। ऐसे हे प्राणापानो! **अर्वाञ्चा यातम्**=हमारे अभिमुख आनेवाले होओ। हमें ये प्राणापान प्राप्त हों।

भावार्थ—प्राणापान सब रोगादि शत्रुओं को दूर करनेवाले हैं। तीव्रगति उत्पन्न करते हैं। प्रकाश उत्पन्न करनेवाले हैं। शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नौका व कवच

नावेव नः पारयतं युगेव नभ्येव न उपधीव प्रधीव।
श्वानेव नो अरिषण्या तनूनां खृगलेव विस्रसः पातमस्मान्॥ ४॥

१. **नावा इव**=ये प्राणापान नौकाओं के समान हैं। ये हमें भवसागर से पार करने के लिए साधन बनते हैं **नः**=हमें **पारयतम्**=पार प्राप्त कराओ। प्राणापान ही वासनाओं के दुस्तर समुद्र से बचाते हैं। २. शरीर-रथ है तो ये प्राणापान **युगा इव**=उस रथ के युगों के समान हैं, अथवा **नभ्या इव**=रथचक्रनाभि के फलकों के समान हैं। **उपधी इव**=या उनके पार्श्वों में स्थित फलकों के तुल्य हैं अथवा **प्रधी इव**=चक्रों के बाह्य वलयों के समान हैं। भाव यह है कि प्राणापान शरीर-रथ के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। इनके बिना शरीर-रथ व्यर्थ हो जाता है। ३. आप **श्वाना इव**=दो रक्षक कुत्तों के समान हो। **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों को **अरिषण्या**=न हिंसित होने देनेवाले हो। कुत्ते चोर आदि से गृह का रक्षण करते हैं। प्राणापान रोगों से शरीर को बचाते हैं। ५. **खृगला**

इव=तनुत्राणों (कवच) के समान ये प्राणापान हैं। कवच जैसे शरीर का रक्षण करता है, इसी प्रकार प्राणापानो! **अस्मान्**=हमें **विस्रसः**=शरीरध्वंस से **पातम्**=बचाओ। प्राणापान हमें रोगों से बचाकर असमय की मृत्यु से बचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान वासनासमुद्र से पार करनेवाली नाव हैं—यात्रापूर्ति के साधनभूत शरीर रथ के मुख्य अंग हैं—शरीर के रक्षक हैं व कवच के समान हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वाता-नद्या-अक्षी-हस्तौ-पादा

वातेवाजुर्या नद्येव रीतिरक्षी इव चक्षुषा यातमर्वाक्।
हस्ताविव तन्वे३ शंभविष्ठा पादेव नो नयतं वस्यो अच्छ॥ ५॥

१. **वाता इव**=दो वायुओं के समान ये प्राणापान हैं 'द्वाविमौ वातौ वात आसिन्धोरापरावतः'। ये **अजुर्या**=हमें जीर्ण नहीं होने देते। प्राणसाधना से मनुष्य जरा पर विजय पा लेता है। **नद्या इव**=ये प्राणापान दो नदियों के समान हैं **रीतिः**=ये निरन्तर गतिवाले हैं। नदियों का प्रवाह निरन्तर चलता है—प्राणापान की गति भी कभी रुकती नहीं। २. **अक्षी इव**=ये दो आँखों के समान हैं। **चक्षुषा**=दर्शनशक्ति से **अर्वाक् यातम्**=अन्दर प्राप्त होते हैं (अर्वाक् A willin)। वस्तुतः प्राणसाधना से अन्य इन्द्रियों की तरह जहाँ आँख की शक्ति भी बढ़ती है, वहाँ प्राणसाधना से अन्तश्चक्षु भी खुलते हैं। अन्दर ही अन्दर ये अन्तश्चक्षु आत्मतत्त्व का दर्शन करानेवाले बनते हैं। ३. **हस्तौ इव**=ये प्राणापान हाथों की तरह हैं। जैसे हाथ शरीर का रक्षण करते हैं उसी प्रकार ये प्राणापान **तन्वे**=शरीर के लिए **शम्भविष्ठा**=अत्यन्त शान्ति को उत्पन्न करनेवाले हैं। सब रोगों से बचाकर मानस-शान्ति को भी ये देनेवाले हैं। ४. **पादौ इव**=ये प्राणापान दो पादों की तरह हैं। जैसे पाँव हमें लक्ष्यस्थान की ओर ले जाते हैं, उसी प्रकार ये प्राणापान **नः**=हमें **वस्यः अच्छ**=उत्कृष्ट धन की ओर **नयतम्**=ले चलें।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम अजर, गतिशील, खुले हुए अन्तश्चक्षुओंवाले, नीरोग शरीरवाले व उत्कृष्ट धन को प्राप्त करनेवाले बन पाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ओष्ठौ-स्तनौ-नासा-कर्णौ

ओष्ठाविव मध्वास्ने वदन्ता स्तनाविव पिप्यतं जीवसे नः।
नासेव नस्तन्वो रक्षितारा कर्णाविव सुश्रुता भूतमस्मे॥ ६॥

१. **ओष्ठौ इव**=ये प्राणापान दो ओष्ठो की तरह हैं। ये **आस्ने**=मुख में **मधुवदन्ता**=सदा मधुर शब्दों का ही उच्चारण करते हैं। प्राणसाधक की वाणी मधुर होती है—यह कभी कड़वे शब्दों को नहीं बोलता। २. **स्तनौ इव**=ये दो स्तनों की तरह हैं। जैसे स्तन दूध द्वारा बालक का आप्यायन करते हैं, उसी प्रकार ये प्राणापान **नः**=हमें **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन के लिए **पिप्यतम्**= आप्यायित करनेवाले हों। ३. **नासा इव**=ये दो नासाछिद्रों के समान हैं। जैसे ये नासाछिद्र शुद्ध वायु को ग्रहण व अशुद्ध को बाहर फेंकने द्वारा हमारा रक्षण करते हैं, उसीप्रकार ये प्राणापान **नः**=हमारे **तन्वः**=शरीर को **रक्षितारा**=रक्षा करनेवाले हों। ४. **कर्णौ इव**=ये दो कानों की तरह **अस्मे**=हमारे लिए **सुश्रुता**=उत्तम श्रवण करनेवाले **भूतम्**=हों। प्राणसाधना से हमारी प्रवृत्ति सदा उत्तम बातों को सुनने की हो और इस प्रकार यह प्राणसाधना हमारे ज्ञान का वर्धन करे।

भावार्थ—प्राणसाधक की वाणी मधुर होती है, जीवन आप्यायित होता है। शरीर की शक्तियों

का रक्षण होता है और उत्तम बातों के सुनने की वृत्ति बनकर ज्ञानवर्धन होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हस्ता-क्षामा-क्ष्णोत्र

हस्तेव शक्तिमभि सन्ददी नः क्षामेव नः समजतं रजांसि।
इमा गिरो अश्विना युष्मयन्तीः क्ष्णोत्रेणेव स्वधितिं सं शिशीतम्॥ ७॥

१. **हस्ता इव**=प्राणापान दो हाथों के समान हैं। ये **नः**=हमारे लिए **शक्तिम्**=शक्ति को **अभिसन्ददी**=आभिमुख्येन प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः प्राणसाधना से ही तो हाथों में शक्ति उत्पन्न होती है तभी वे विविध कार्यों के करने में समर्थ होते हैं। २. **क्षामा इव**=ये प्राणापान पृथिवी-लोक और द्युलोक की तरह हैं। जैसे द्युलोकस्थ सूर्य से पृथिवी का जल वाष्परूप में ऊपर उठता है, उसी प्रकार प्राणापान **नः**=हमारे **रजांसि**=(उदकानि) शरीरस्थ रेतःकणरूप जलों को **समजतम्**=सम्यक् प्रेरित करनेवाले हों। प्राणसाधना से इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। ये रेतःकण सारे शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। ३. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **इमाः गिरः**=ये ज्ञान की वाणियाँ भी तो **युष्मयन्तीः**=तुम्हें प्राप्त होने की कामनावाली हैं, अर्थात् प्राणसाधना से ही बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान की वृद्धि होती है। ४. हे प्राणापानो! आप मेरी बुद्धि को **संशिशीतम्**=सम्यक् तीक्ष्ण करनेवाले होओ। इसी प्रकार **इव**=जैसे कि **क्ष्णोत्रेण**=शाणोपल (शान का पत्थर) से **स्वधितिम्**=परशु को तेज करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शक्ति की वृद्धि होती है, रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है, ज्ञान बढ़ता है और बुद्धि तीव्र होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणापान का आराधन

एतानि वामश्विना वर्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन्।
तानि नरा जुजुषाणोप यातं बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ८॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **एतानि**=ये हमारे सब कार्य **वाम्**=आपके **वर्धनानि**=बढ़ानेवाले हों। हम सब कार्यों को इस प्रकार व्यवस्थित करें कि प्राणसाधना किसी भी प्रकार उपेक्षित न हो। २. इसी उद्देश्य से **गृत्समदासः**=(गृणाति माद्यति) प्रभु का स्तवन करनेवाले और आनन्द में रहनेवाले लोग **ब्रह्म**=ज्ञान को व **स्तोमम्**=स्तुति को **अक्रन्**=करते हैं। ज्ञानप्राप्ति व स्तुति की प्रवृत्तिवाला व्यक्ति प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान की और वृद्धि होती है तथा मन की वृत्ति अन्तर्मुखी होकर यह साधक को प्रभुस्तवन की ओर ले-चलती है। ३. हे **नरा**=हमें उन्नति पथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! आप **तानि**=उन ज्ञानों (ब्रह्म) (स्तोमं) स्तुतियों का **जुजुषाणा**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **उपयातम्**=हमें प्राप्त होओ, अर्थात् तुम्हारे द्वारा हम ज्ञान व स्तवन की वृत्ति को प्राप्त करें। हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद् वदेम**=खूब ही आपके महत्त्व का प्रतिपादन करें। प्राणापान के महत्त्व को अपने हृदयों पर अंकित करते हुए हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों और अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाएं।

भावार्थ—प्राणापान का हम स्तवन करें—इनके गुणों को समझकर प्राणसाधना करनेवाले बनें। इस प्राणसाधना से अपने ज्ञान व स्तवन की वृत्ति को बढ़ाएँ।

सारा सूक्त प्राणापान के महत्त्व को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त कर रहा है। इस साधना का सर्वमहान् लाभ यह होगा कि हमारे में सोम व पूषन् दोनों तत्त्वों का वर्धन होगा। 'सोम' चन्द्रमा है, यह रस का संचार करता है। 'पूषा' सूर्य है यह उस रस का परिपाक करता है। इसके संचार के अभाव में सब अन्न के दाने पत्थरों के कंकर प्रतीत होंगे तथा परिपाक के अभाव में कच्चा रस शरीर में रोगोत्पादन करेगा। मानव स्वभाव में भी सौम्यता व तेजस्विता का समन्वय ही अपेक्षित है। अकेली सौम्यता व अकेली तेजस्विता दोनों ही अभीष्ट नहीं। घर में माता पिता की सौम्यता ही सौम्यता सन्तानों को बिगाड़ देती है तथा तेजस्विता ही तेजस्विता उन्हें जला देती है—उनकी शक्तियाँ दबी रही जाती हैं—विकसित नहीं हो पातीं। प्राणसाधना से 'सोम व पूषा' दोनों का विकास होता है। अग्रिम सूक्त में इन्हीं का उल्लेख है।

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ऐश्वर्य व अमृतत्व' की प्राप्ति

सोमा॑पूषणा॒ जन॑ना रयी॒णां जन॑ना दि॒वो जन॑ना पृथि॒व्याः।
जा॒तौ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य गो॒पौ दे॒वा अ॑कृण्वन्न॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म्॥ १ ॥

१. **सोमापूषणा**=सोम और पूषा—सौम्यता व तेजस्विता—दोनों मिलकर **रयीणाम्**=धनों को **जनना**=पैदा करनेवाले हैं। सब ऐश्वर्य सोम और पूषा के मेल से ही उत्पन्न होते हैं। ये **दिवः**=प्रकाश के **जनना**=पैदा करनेवाले हैं तथा **पृथिव्याः** (प्रथ विस्तारे)=तथा हृदय के विस्तार को **जनना**=पैदा करते हैं। सोम व पूषा के मेल से मस्तिष्क में ज्ञानप्रकाश को हम प्राप्त करते हैं तथा हृदय में उदारता व विशालता प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. **जातौ**=उत्पन्न हुए-हुए वे सोम व पूषा **विश्वस्य भुवनस्य**=सारे विश्व के **गोपौ**=रक्षक होते हैं। सोम एक वस्तु को उत्पन्न करता है, पूषा उसे परिपक्व करता है। इस प्रकार संसार का रक्षण होता है **देवाः**=सब समझदार (ज्ञानी) व्यक्ति सोम व पूषा के समन्वय से **अमृतस्य**=अमृत के **नाभिम्**=(नह बन्धने) बन्धन को **अकृण्वन्**=करते हैं, अर्थात् अपने में अमरता का संचार करते हैं। अन्यत्र 'सोम' को 'आपः' शब्द से तथा 'पूषा' को 'ज्योतिः' शब्द से कहा है और 'आपः+ज्योतिः' के समन्वय से ही 'रसः' जीवन का रस तथा 'अमृतम्' नीरोगता की प्राप्ति का उल्लेख है 'आपो ज्योतीरसोऽमृतम्०'।

भावार्थ—जीवन में 'सोम व पूषा' के समन्वय से सब ऐश्वर्यों का प्रादुर्भाव होता है। इसी से प्रकाश व शक्तियों का विस्तार अथवा विशालहृदयता प्राप्त होती है। ये ही सबके रक्षक हैं और अमरता को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्धकार विनाश

इ॒मौ दे॒वौ जाय॑मानौ जुषन्ते॒मौ तमां॑सि गूहता॒मजु॑ष्टा।
आ॒भ्यामिन्द्रः॑ प॒क्वमा॒मास्व॒न्तः सोमा॑पू॒षभ्यां॑ जनदु॒स्रिया॑सु॥ २ ॥

१. **इमौ**=गतमन्त्र में वर्णित इन **देवौ**=सब उत्तमताओं को विजय करनेवाले सोम व पूषा को **जायमानौ**=प्रादुर्भूत होते हुओं को ही **जुषन्त**=सब देव प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, अर्थात् 'सौम्यता+तेजस्विता' का धारण करने पर सब दिव्यगुण हमारे में उत्पन्न होते हैं। २. **इमौ**=ये सोम और पूषा ही **अजुष्टा**=न सेवन के योग्य—घने **तमांसि**=अन्धकारों को **गूहताम्**=संवृत व नष्ट करते हैं (नाशयतः सा०) सौम्यता व तेजस्विता के होने पर अन्धकार का नामोनिशान नहीं रहता। गतमन्त्र

के अनुसार ये 'जनिता दिवः'=प्रकाश को पैदा करनेवाले हैं। ३. **आभ्यां सोमापूषभ्याम्**= इन सोम व पूषन् तत्त्वों द्वारा ही—चन्द्र व सूर्य—जल व अग्नि तत्त्वों के द्वारा ही **इन्द्रः**= परमात्मा **आमासु उस्त्रियासु अन्तः**=तरुण गौओं के अन्दर—इन गौओं के ऊधस् प्रदेश में **पक्वम्**=पूर्ण परिपक्व पयस् (=दूध) को **जनयत्**=उत्पन्न करता है। जिन गौओं को सोम (चन्द्र) द्वारा रससिक्त और पूषा (=सूर्य) द्वारा परिपक्व घास आदि के सेवन का अवसर होता है उन तरुण गौओं के ऊधस् से हमें परिपक्व=उष्ण दूध की प्राप्ति होती है। यह एक दम ताज़ा दूध सहज पक्व है—इसी का सेवन 'देवों का अमृतपान' है। इस प्रकार देव इन सोम व पूषा में ही अमृतत्व को प्राप्त करते हैं—'देवाः अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम्'। यह काव्यमयी भाषा है कि गौएँ परिपक्व नहीं, उनमें दूध परिपक्व है। 'अपरिपक्व में परिपक्व' यह विरोधाभास अलंकार है।

भावार्थ—सौम्यता व तेजस्विता के होने पर सब दिव्य गुण उत्पन्न होते हैं—ये अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। ये सोम व पूषा ही मिलकर अपरिपक्व (अवृद्ध) गौओं में परिपक्व दूध का स्थापन करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अहुत शरीर-रथ

सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथमविश्वमिन्वम्।
विषूवृतं मनसा युज्यमानं तं जिन्वथो वृषणा पञ्चरश्मिम्॥ ३॥

१. **वृषणा**=शक्तिशाली व सब सुखों का वर्षण करनेवाले **सोमापूषणा**=सोम व पूषन् तत्त्व सौम्यता तथा तेजस्विता **तं रथम्**=उस शरीररूप रथ को **जिन्वथ**=हमें देते हैं—हमारे प्रति प्रेरित करते हैं (अस्मान् प्रति प्रेरयथः सा०) जो कि **रजसः विमानम्**=रजोगुण के विशिष्ट मानवाला है—जिसमें रजोगुण का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण है। **सप्तचक्रम्**=जो रस-रुधिर-मांस-अस्थि-मज्जा-मेदस् व वीर्य नामक सात धातुरूप सात चक्रोंवाला है। **अविश्वमिन्वम्**=जो विश्व का अपरिच्छेद्य है (विश्वस्यापरिच्छेद्यम्)—जिसे पूरा-पूरा समझना बड़ा कठिन है अथवा जो उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का हिंसन करनेवाला नहीं, अर्थात् प्रभु का विस्मरण करनेवाला नहीं है। २. जो रथ **विषूवृतम्**=विविध उत्तम क्रियाओं में वर्तनवाला है। **मनसा युज्यमानम्**=मन से युक्त हो रहा है—मन जिसमें घोड़ों की लगाम के स्थानापन्न है। **पञ्चरश्मिम्**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों की रश्मियोंवाला है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जिसमें प्रकाश करनेवाली हैं।

भावार्थ—सोम व पूषा का समन्वय होने पर यह शरीर-रथ अत्यन्त उत्तम बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्य व चन्द्रमा

दिव्य१न्यः सदनं चक्र उच्चा पृथिव्यामन्यो अध्यन्तरिक्षे।
तावस्मभ्यं पुरुवारं पुरुक्षुं रायस्पोषं वि ष्यतां नाभिमस्मे॥ ४॥

१. सोम और पूषा में से **अन्यः**=एक पूषा **दिवि उच्चा**=द्युलोक में उच्चस्थान में **सदनं चक्रे**=अपना स्थान बनाता है। **अन्यः**=दूसरा सोम (चन्द्र) **पृथिव्याम्**=ओषधीश के रूप में इस पृथ्वी पर तथा **अधि अन्तरिक्षे**=अधिष्ठातृत्वरूपेण इस अन्तरिक्ष में स्थान को करता है। किसी समय यह चन्द्र इस पृथिवी से ही पृथक् हुआ था—उस पृथ्वी के चारों ओर ही अन्तरिक्ष में यह गति कर रहा है। २. **तौ**=वे दोनों **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रायस्पोषम्**=उस धन के पोषण को **विष्यताम्**=(विमुञ्चत-प्रयच्छताम्) दें। जो धन **अस्मे नाभिम्**=हमारे लिए (नह बन्धने) सब

आवश्यक भोगों का हेतुभूत होता है—साधक बनता है। **पुरुवारम्**=बहुतों से चाहने योग्य होता है—सबके लिए उपयुक्त होने के कारण सब जिसके लिए चाहते हैं। एक उदार दानी पुरुष से लोकहित के कार्यों को होते देखकर सब कहते हैं कि 'प्रभु धन दें तो ऐसों को ही दें'। **पुरुक्षुम्**=(क्षु शब्दे) जो धन बहुत कीर्तिवाला होता है। जिस धन के कारण हमारा यश बढ़े। ३. सोम और पूषा के द्वारा ही पृथिवी में सब धनधान्यों का उत्पादन होता है तथा 'सौम्यता व तेजस्विता' वाला पुरुष ही धन प्राप्त करने की योग्यतावाला होता है।

भावार्थ—सोम और पूषा ही सब धनों के जनक हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विजय

विश्वा॑न्य॒न्यो भुव॑ना ज॒जान॒ विश्व॑म॒न्यो अ॑भि॒चक्षा॑ण एति।
सोमा॑पूषणा॒वव॑तं॒ धियं॑ मे यु॒वाभ्यां॒ विश्वाः॒ पृत॑ना जयेम॥ ५॥

१. सोम और पूषा में से **अन्यः**=एक सोम **विश्वानि भुवना**=सब भुवनों को **जजान**=पैदा करता है। 'सोम' अर्थात् वीर्यशक्ति से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है। सोम शब्द ही 'षू' धातु से बना है—जिसका अर्थ उत्पादन करना है। उत्पादकशक्ति ही सोम नाम से कही जाती है। २. **अन्यः**=दूसरा पूषा **विश्वम्**=सारे संसार को **अभिचक्षाणः**=प्रकाशित करता हुआ **एति**=गति करता है। सूर्य प्रकाश को तो देता ही है—यह हमारे जीवनों में बुद्धि का वर्धन करनेवाला भी है। ३. **सोमापूषणा**=ये सोम और पूषा **मे**=मेरी **धियम्**=बुद्धि व कर्म को **अवतम्**=सुरक्षित करें। इन तत्त्वों के कारण मैं उत्तम बुद्धिवाला बनूँ तथा सदा उत्तम कर्मों को करनेवाला होऊँ। हे सोम व पूषन्! **युवाभ्याम्**=आपके द्वारा हम **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सेनाओं को **जयेम**=जीतनेवाले बनें। सब शत्रुओं को जीतकर हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते चलें। 'सोम व पूषा' का समन्वय हमें उस शक्ति को प्राप्त कराएगा, जिससे हम सब शत्रुओं का पराभव कर सकेंगे।

भावार्थ—'सौम्यता व तेजस्विता' का समन्वय मुझे विजयी बनाए।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सोमापूषणावदितिश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धी+रयि (बुद्धि+शक्ति)

धियं॑ पू॒षा जि॑न्वतु विश्व॒मि॒न्वो र॒यिं सोमो॑ रयि॒पति॑र्दधातु।
अव॑तु दे॒व्यदि॑तिरन॒र्वा बृ॒हद्व॑देम वि॒दथे॑ सु॒वीराः॑ ॥ ६॥

१. **विश्वम् इन्वः**=सम्पूर्ण विश्व को प्रीणित करनेवाला **पूषा**=पोषक सूर्य **धियम् जिन्वतु**=हमारे में बुद्धि को प्रेरित करे—हमें बुद्धि को प्राप्त कराए तथा **रयिपतिः**=सब ऐश्वर्यों व रयिशक्ति का स्वामी **सोमः**=चन्द्र **रयिं दधातु**=हमारे में रयि का धारण करे। सूर्य बुद्धि को उज्ज्वल करके हमारे मस्तिष्क को प्रकाशमय करता है और चन्द्रमा हमारे में रयि का स्थापन करके हमारे शरीर को स्वस्थ रखता है। 'वीर्यं वै रयिः' श० १३.४.२.१३ इस वीर्य के स्थापन द्वारा सोम हमें अमृतत्व व नीरोगता को प्राप्त कराता है। २. बुद्धि व वीर्य के स्थापन होने पर **देवी**=सब व्यवहारों को उत्तमता से सिद्ध करनेवाली **अनर्वा**=अहिंसित **अदितिः**=यह स्वाध्याय की देवता **अवतु**=हमारा रक्षण करे। मस्तिष्क व शरीर दोनों का ठीक होना ही पूर्ण स्वास्थ्य है। इस प्रकार स्वस्थ बनकर **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद्वदेम**=खूब ही इन सोम व पूषा की महिमा का गायन करें। इनके महत्त्व को समझकर दोनों का अपने में स्थापन करे और अधिकाधिक स्वस्थ बनें।

भावार्थ—'पूषा' हमें बुद्धि दे और 'सोम' शक्ति दे। इस प्रकार हम पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करें।

सम्पूर्ण सूक्त का सार यही है कि सुन्दर जीवन वही है, जिसमें कि सौम्यता व तेजस्विता का समन्वय है। इनका समन्वय हमें बुद्धिमान् व वीर्यमान् बनाता है। 'सोम व पूषा की कृपा से हमारा शरीर-रथ सुन्दर बनता है' इसी भावना को अग्रिम सूक्त में कहते हैं—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सहस्री रथ

वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरा गहि। नियुत्वान्त्सोमपीतये॥ १॥

१. 'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्' इस मन्त्रभाग में कहा है कि शरीर भस्मान्त है तो आत्मा अपार्थिव व अमृत है। 'अत् सातत्य गमने' से आत्मा शब्द बनता है और 'वा गतौ' से वायु। इस वायु को कर्मानुसार शरीर प्राप्त होते रहते हैं। ये शरीर जीवनयात्रा के रथ हैं। मन के दृष्टिकोण से ये सहस्रिणः=(स+हस्) प्रसन्नता युक्त होने चाहिएं। शरीर के दृष्टिकोण से सहस्रिणः=दीर्घकाल तक चलनेवाले होने चाहिएं। मन्त्र में कहते हैं कि **वायो**=हे गतिशील जीव! **ये**=जो **ते**=तेरे **सहस्रिणः**=प्रसन्नतायुक्त तथा दीर्घकाल तक चलनेवाले **रथासः**=शरीर-रथ हैं **तेभिः**=उनसे **आगहि**=तू प्रभु के समीप प्राप्त होनेवाला हो। प्रभु को वही व्यक्ति प्राप्त होता है जो कि इस शरीर-रथ को बड़ा ठीक रखे। सामान्यतः हमें सबल व प्रसन्न बनने का प्रयत्न करना ही चाहिए—यही प्रभु का प्रिय बनने का मार्ग है। २. इस वायु नामक आत्मा के इन्द्रियरूप घोड़ों को 'नियुत्' कहते हैं, चूँकि इन्हें निश्चय से अपने-अपने कार्य में लगे ही रहना चाहिए। हे वायो! **नियुत्वान्**=इन प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला बनकर **सोमपीतये**=तू सोम का—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर ही पान करनेवाला हो। इस सोम को तू शरीर में ही व्याप्त कर। वस्तुतः सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम ही तुझे दीर्घजीवी व प्रसन्नचित्त बनानेवाला होगा—यह सोम ही तुझे 'सहस्री' बनाएगा।

भावार्थ—'हम मन में प्रसन्न हों और शरीर में दीर्घजीवी हों' तभी प्रभु को प्राप्त करेंगे। इसके लिए प्रशस्तेन्द्रिय बनकर सोम का रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ब्रह्मभुवन-प्राप्ति

नियुत्वान्वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते। गन्तासि सुन्वतो गृहम्॥ २॥

१. **नियुत्वान्**=हे प्रशस्तेन्द्रिय! **वायो**=गतिशील पुरुष **आगहि**=तू प्रभु के समीप प्राप्त हो। इस प्राप्तिरूप कार्य में साधनभूत **अयं शुक्रः**=यह सोम है। इस वीर्यशक्ति का रक्षण होनेपर ही तू प्रभु को प्राप्त करेगा। **ते**=तेरे लिए ही **अयामि**=(यमेः कर्मणि लुङ्) यह सोम नियत व गृहीत हुआ है। शरीर में संयत हुआ-हुआ सोम ही मनुष्य की सब उन्नतियों का कारण बनता है। २. इस सोम के रक्षण से तू **सुन्वतः**=इस सृष्टि-यज्ञ करनेवाले प्रभु के **गृहं गन्तासि**=गृह को प्राप्त करेगा। प्रभु का गृह ही 'ब्रह्मभुवन' कहलाता है। यह सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु इसे पाता तो वही है, जो इसे जाननेवाला होता है। यहाँ पहुँचने पर ही जन्म-मरण चक्र से एक अति दीर्घकाल तक मुक्ति मिल जाती है।

भावार्थ—शरीर में जब सोम निगृहीत होता है तभी प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता

शुक्रस्याद्य गवाशिर इन्द्रवायू नियुत्वतः । आ यातं पिबतं नरा ॥ ३ ॥

१. **इन्द्रवायू**=हे इन्द्र और वायु—जितेन्द्रिय व गतिशील पुरुषो! **आयातम्**=आप दोनों आवो और **नरा**=अपने को उन्नतिपथ पर प्राप्त करानेवाले इन्द्र और वायु! आप दोनों **अद्य**=आज **शुक्रस्य पिबतम्**=इस सोम का तृप्तिपर्यन्त पान करनेवाले बनो। शरीरस्थ सोम का पान वस्तुतः इन्द्र और वायु ही करते हैं। जितेन्द्रियता व गतिशीलता वे साधन हैं जिनसे कि सोमपान सम्भव होता है। २. उस सोम का आप पान करो, जो कि **गवाशिरः**=(गो आ शृ) इन्द्रियों को समन्तात् हिंसित करनेवाला है। 'मन को मार लेता' मुहावरे में मारने का भाव जीत लेना ही है। सोम का पान करनेवाला इन्द्रियों को जीत लेना है। **नियुत्वतः**=यह सोम प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है। सोमरक्षण से इन इन्द्रियाश्वों की शक्ति बढ़ती है; परन्तु साथ ही ये इन्द्रियाश्व इस सोमरक्षक की अधीनता में होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के साधन जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता हैं। सोमरक्षण से इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं और इस सोमरक्षक के वश में होती हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नीरोग व निष्पाप

अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा । ममेदिह श्रुतं हवम् ॥ ४ ॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'मित्रावरुण' द्वारा जीव को यह कहते हैं कि 'प्रमीतेः अयते' मृत्यु व रोगों से अपने को बचानेवाला हो; 'पापात् निवारयति' पाप से अपने को निवारित करे। 'शरीर के दृष्टिकोण से रोगों से बचना तथा मन के दृष्टिकोण से पाप से दूर रहना' यही मित्र और वरुण बनना है। ये मित्र और वरुण अपने में ऋत का वर्धन करते हैं—इनके सब कार्य ठीक समय व ठीक स्थान पर होते हैं। हे **ऋतावृधा मित्रावरुणा**=ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले मित्र और वरुण! (नीरोग व निष्पाप जीवनवाले व्यक्ति!) **अयं सोमः**=यह सोम (=वीर्यशक्ति) **वाम्**=आप के लिए **सुतः**=उत्पादित हुआ है। इस सोम द्वारा ही तो वस्तुतः वे मित्र और वरुण नीरोगता व निष्पापता को प्राप्त करते हैं। इस सोम रक्षण के लिए सब कार्यों को ऋत से करना आवश्यक है। यह ऋत का पालन—ठीक समय व ठीक स्थान पर कार्यों को करना—मनुष्य को सोमरक्षण के योग्य बनाएगा। २. प्रभु इन मित्र वरुण से कहता है कि इस प्रकार ऋतपालन द्वारा सोमरक्षण करते हुए तुम **इह**=इस जीवन में **इत्**=निश्चय से **मम**=मेरी **हवम्**=प्रेरणा को **श्रुतम्**=सुनो। यह सोमरक्षक-पुरुष हृदयस्थ-प्रभु की प्रेरणा को सुनने के योग्य बनता है।

भावार्थ—ऋतपालन से वीर्य का शरीर में रक्षण होता है। इस सोमरक्षण से मनुष्य नीरोग व निष्पाप बनता है। ऐसा बनने पर हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को यह सुन पाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

व्यवस्थित जीवन व द्रोहशून्यता

राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे । सहस्रस्थूण आसाते ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र में 'मित्रावरुणा' को 'ऋतावृधा' कहा था। उन्हें ही प्रस्तुत मन्त्र में 'राजानौ' कहा है। (राज् regulate) **राजानौ**=बड़े regulated=व्यवस्थित जीवनवाले तथा **अनभिद्रुहा**=किसी का द्रोह न करनेवाले पति-पत्नी **सदसि**=स्थानविशेष में उपविष्ट होते हैं। पति-पत्नी को घर में

बड़े व्यवस्थित जीवनवाला और सब प्रकार की द्रोह-वृत्ति से ऊपर उठा हुआ बनकर रहना चाहिए। २. कैसे घर में? (क) **ध्रुवे**=जो ध्रुव है—मर्यादा से विचलित नहीं होता। घर में मर्यादाओं का पालन आवश्यक है। (ख) **उत्तमे**=जो उत्तम है। भोगाधिक्यवाला गृह अधम है। अर्थरुचितावाला मध्यम है। धर्म व यश की अभिरुचिवाला गृह उत्तम है। इस उत्तम घर में रहनेवालों की मानसवृत्ति धर्मप्रवण तथा यशःप्रवण होती है। (ग) **सहस्रस्थूणे**—यह घर हजारों स्तम्भोंवाला हो—विशाल हो। अथवा हजारों के लिए स्तम्भ के समान हो—उनका धारण करनेवाला हो। आनेवाले शतशः पुरुषों को वहाँ 'न' सुनने को न मिले। **आसाते**=आधार देने योग्य अपाहिजों को तो वह धारण करता ही हो।

भावार्थ—घर मर्यादावाला—धर्म व यश की अभिरुचिवाला—विशाल व बहुतों को धारण करनेवाला हो। इसमें रहनेवाले पति-पत्नी व्यवस्थित जीवनवाले तथा द्रोहरहित हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निष्कपटता व परस्पर प्रेम

ता स॒म्राजा॑ घृ॒तासु॑ती आदि॒त्या दानु॑न॒स्पती॑। सचे॑ते॒ अन॑वह्वरम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **ता**=वे पति-पत्नी **सम्राजा**=सम्यक् दीप्त-व्यवस्थित जीवनवाले होते हैं। **घृतासुती**=(घृतस्य आसुतिर्ययोः) मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति को अपने अन्दर उत्पन्न करनेवाले होते हैं। **आदित्या**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले होते हैं तथा **दानुनः पती**=(दानस्य धनस्य वा सा०) दान के पति होते हैं। सदा दानशील होते हैं। अथवा धन के स्वामी बनते हैं—धन के दास नहीं होते। २. इस प्रकार (क) सम्यक् दीप्त व्यवस्थित जीवनवाले—निर्मल व ज्ञानदीप्त—भद्र के आदाता-दानशील बनकर वे पति-पत्नी **अनवह्वरम्**=अकुटिलता के साथ **सचेते**=परस्पर समवेत होते हैं—मिलकर चलते हैं। इनमें किसी प्रकार से परस्पर वैमनस्य नहीं होता। छलछिद्र ही वैमनस्य का मूल बना करता है। न इनमें छलछिद्र होता है—ना ही वैमनस्य पैदा होता है।

भावार्थ—पति-पत्नी व्यवस्थित जीवनवाले-निर्मल-दीप्तज्ञानवाले-अच्छाइयों को लेने की वृत्तिवाले-दानशील हों। निष्कपटता से वर्तते हुए परस्पर प्रेम वाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गोमत्+अश्वावत्

गोम॑दू॒ षु ना॑स॒त्याश्वा॑वद्यातमश्विना। व॒र्ती रु॑द्रा नृ॒पाय्य॑म्॥ ७॥

१. हे **नासत्या**=असत्य से रहित—सब प्रकार के असत्य को हमारे से दूर करनेवाले—अथवा नासाछिद्रों में चलनेवाले—**अश्विना**=प्राणापानो! **रुद्रा**=(रुत्+द्रावयतः) आप रोगों को दूर करनेवाले हो। प्राणायाम से सब दोषों का दहन होकर नीरोगता प्राप्त होती है। आप **उ**= निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **वर्तिः**=(abode residence) शरीरगृह को **यातम्**=प्राप्त कराओ। २. उस शरीरगृह को जो कि (क) **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है (**गावः**=ज्ञानेन्द्रियां) (ख) **अश्वावत्**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला है, तथा (ग) **नृपाय्यम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों से रक्षणीय है।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर शरीर उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाला होता है—इसके द्वारा हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अनभिभवनीय शरीरगृह

न यत्परो नान्तर आदुधर्षद् वृषण्वसू। दुःशंसो मर्त्यो रिपुः ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हे **वृषण्वसू**=सब धनों का वर्षण करनेवाले—निवास के लिए आवश्यक सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! आप हमें उस शरीरगृह को प्राप्त कराओ; **यत्**=जिसका कि **न परः**=न तो बाहर का **न आन्तरः**=और ना ही अन्दर का शत्रु **आदधर्षत्**=किसी प्रकार से धर्षण करनेवाला हो। मन में ही पैदा हो जाने वाले काम-क्रोध आदि आन्तर शत्रु हैं और बाहर से अन्दर घुसनेवाले रोग बाह्य शत्रु हैं। प्राणसाधना होने पर ये दोनों ही शरीर को आक्रान्त नहीं कर पाते। वशीभूत प्राणापान शरीर के रोगों को तथा मन की वासनाओं को विनष्ट करते हैं। २. यह हमारा शरीरगृह ऐसा हो कि **दुःशंसः**=अशुभ का शंसन करनेवाला **रिपुः मर्त्यः**= शत्रुभूत मनुष्य भी (न आदधर्षत्=) इसका धर्षण न कर पाए। प्राणसाधना से हमारा यह शरीर तेजस्वी बनता है और इन शत्रुओं से शातनीय (नष्ट करने योग्य) नहीं होता।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर काम-क्रोधादि से, रोगों से, तथा बाह्य-शत्रुओं से अभिभवनीय न हो।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अभ्युदय व तेजस्विता

ता न आ वोळ्हमश्विना रयिं पिशङ्गसन्दृशम्। धिष्ण्या वरिवोविदम्॥ ९ ॥

१. **धिष्ण्या**=(धिषणाभवः नि० ८.३) उत्तम बुद्धि में स्थित होनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! (प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र बनती ही है) **ता**=वे आप **नः**=हमारे लिए **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आवोढम्**=प्राप्त कराओ। प्राणसाधना से बुद्धि तो तीव्र होती ही है। मनुष्य उस तीव्रबुद्धि द्वारा सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाला बनता है। २. हमें आप उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराओ, जो कि **पिशंगसन्दृशम्**=(पिशांग=reddist-brown) स्वर्ण के समान देदीप्यमान वर्णवाला है तथा **वरिवः विदम्**=सब वरणीय धनों व वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है। प्राणापान से प्राप्त होनेवाला बाह्य-धन अभ्युदय के रूप में हमें सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराने का साधन बनता है। प्राणापान से प्राप्त होनेवाला आन्तर-धन हमें स्वर्ण के समान देदीप्यमान वर्णवाला तेजस्वी बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें बाह्यधन प्राप्त करने की भी शक्ति मिले और इससे हम तेजस्वी बनकर स्वर्ण के समान चमकें। प्रभु भी तो 'रुक्मवान' हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्थिर विचर्षणि

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्। स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ १० ॥

१. 'अत् सातत्य गमने' से आत्मा, 'वा गतौ' से वायु, तथा 'अगि गतौ' से अङ्ग शब्द बनता है। हे **अङ्ग**=क्रियाशील जीव! **इन्द्रः**=वह सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु ही **महद्भयम्**=इस महान् भय के कारणभूत 'जीवन-मरण-चक्र' व संसार का **अभीषत्**=अभिभव करता है और **अपचुच्यवत्**=इसे हमारे से पृथक् करता है संसार में भय ही भय है। प्रभुकृपा होती है और इस संसार से हम ऊपर उठ पाते हैं। २. **सः हि**=वे प्रभु ही **स्थिरः**=अच्युत हैं, किसी भी शत्रु से विचलित किये जाने योग्य नहीं हैं। **विचर्षणिः**=सर्वद्रष्टा हैं, सब को देखनेवाले हैं—वे ही सबका ध्यान करते हैं (Look after)।

भावार्थ—इस संसार में पदे-पदे पर भय है। नाममात्र गलती हुई और पीड़ा प्राप्त हुई। प्रभु ही हमें इससे बचानेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

न पीछे पाप, न आगे दुःख

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ११ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=भी **नः मृळयाति**=हमें सुखी करता है, प्रभु की हमारे पर कृपा होती है तो **नः पश्चात्**=हमारे पीछे **अघम्**=पाप **न नशत्**=नहीं प्राप्त होता है। प्रभुकृपा होने पर पापों से हमारा बचाव हो जाता है। प्रभु से विमुखता ही हमें पापों की ओर ले-जाती है। २. जब हम पापों से दूर होते हैं तो उस समय **नः पुरः**=हमारे आगे **भद्रं भवाति**=कल्याण होता है। पाप का ही परिणाम दुःख है। न पाप—न कष्ट। यहाँ 'पश्चात् और पुरः' शब्द का प्रयोग पाप और कष्ट में कार्यकारणभाव को सुव्यक्त कर रहा है। पाप होता है तो कष्ट भी आता है। पीछे पाप नहीं, तो आगे दुःख नहीं।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें पापों से व उनसे उत्पन्न होनेवाले कष्टों से बचाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निर्भयता

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून्विचर्षणिः ॥ १२ ॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **सर्वाभ्यः**=सब **आशाभ्यः परि**=दिशाओं से पापों का वर्जन करता हुआ (परेर्वर्जने) **अभयं करत्**=हमें निर्भय बनाए। निष्पापता से ही निर्भयता आती है। २. **शत्रून् जेता**=प्रभु ही हमारे शत्रुओं को जीतते हैं। काम-क्रोधादि को पराजित करने की शक्ति हमारे में नहीं है। प्रभु ही इन शत्रुओं को पराजय किया करते हैं। **विचर्षणिः**= इस प्रकार सबके द्रष्टा वे प्रभु ही हैं—वे ही सबका ध्यान करते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से ही वासना-विनाश द्वारा निर्भयता प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विश्वे देवासः

विश्वे देवास आ गत शृणुता म इमं हवम्। एदं बर्हिर्नि षीदत ॥ १३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमें निर्भयता प्राप्त होती है। यह अभय ही दैवी-सम्पत्ति का प्रारम्भ है। इससे सब दिव्यगुणों की प्राप्ति होती है। **विश्वे देवासः**=सब देव **आगत**=आइए—सब दिव्यगुण मुझे प्राप्त हों। **मे**=मेरे **इमं हवम्**=इस आह्वान को—पुकार व प्रार्थना को **आ शृणुत**=सुनो। २. **इदं बर्हिः**=मेरे इस वासनाशून्य हृदय में **आनिषीदत**=आकर बैठिए। जिस हृदय में अभय है—वहाँ अन्य दिव्यगुण भी आएँगे ही।

भावार्थ—हमारा हृदय सब दिव्यगुणों का आधार बने।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शुनहोत्र

तीव्रो वो मधुमाँ अयं शुनहोत्रेषु मत्सरः। एतं पिबत काम्यम् ॥ १४ ॥

१. सब देव सोम का पान करते हैं—वीर्य का अपने में ही रक्षण करते हैं। वस्तुतः इस सोमरक्षण के अनुपात में ही उनमें दिव्यता की उत्पत्ति होती है। हे देवो! **वः**=तुम्हारा **अयम्**=यह

सोम **तीव्रः**=बड़ा तीव्र है—तुम्हें तेजस्वी बनानेवाला है—तुम्हारे शत्रुओं के लिए भयंकर है। परन्तु साथ ही यह मधुमान् है—अत्यन्त माधुर्यवाला है—जीवन को मधुर बनाता है। तेजस्विता व मधुमान् मधुरता का इनके द्वारा समन्वय होता है। २. **शुन-होत्रेषु**=(शुन गतौ) क्रियाशील (हु दाने) व दानशील पुरुषों में यह **मत्सरः**=हर्ष का संचार करनेवाला है। क्रियाशील-पुरुष ही वासनाओं से बचकर सोम का रक्षण कर पाता है। दानशीलता उसे भोगवृत्ति से बचाती है और इस प्रकार यह वीर्य के विनाश से बचा रहता है। **एतम्**=इस **काम्यम्**=अत्यन्त कमनीय, सुन्दर व चाहने योग्य सोम को **पिबत**=पीनेवाले बनो। इसे शरीर में ही सुरक्षित करो। रक्षित हुआ-हुआ यह तुम्हें 'तेजस्वी, मधुर व प्रसन्न' बनाएगा।

भावार्थ—क्रियाशील व दानशील पुरुष ही सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह सुरक्षित सोम उन्हें 'तेजस्वी, मधुर व आनन्दमय' बनाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

देवराट् इन्द्र

इन्द्र॑ज्येष्ठा॒ मरु॑द्गणा॒ देवा॑सः॒ पूष॑रातयः। विश्वे॒ मम॑ श्रु॒ता हव॑म्॥ १५ ॥

१. हे **विश्वे देवासः**=सब देवो! आप **मम हवम्**=मेरी प्रार्थना को **आ श्रुत**=सुनो। आपकी आराधना करता हुआ मैं आपको अपने हृदय में आसीन कर सकूँ। आपको आमन्त्रित करके ही तो प्रभु के आमन्त्रण की तैयारी होती है। २. आप सब मुझे प्राप्त होओ, आप **इन्द्रज्येष्ठाः**= ज्येष्ठ इन्द्रवाले हो। आपमें सर्वाग्रणी इन्द्र ही तो है। 'इन्द्र' देवराट् कहलाते हैं। **मरुद्गणाः**= आप मरुतों के गणवाले हो। मरुत् प्राण हैं। प्राणों की साधना द्वारा ही अन्य देवों की शरीर में स्थापना होती है। अन्त में देवराट् इन्द्र (प्रभु) का साक्षात्कार भी इस प्राणसाधना से ही होता है। देवासः=आप दीप्तिवाले हो। **पूषरातयः**=पोषण के लिए सब आवश्यक तत्त्वों के देनेवाले हो।

भावार्थ—हमारे अन्दर देवों का स्थान हो। देवों के स्थापन द्वारा प्रभुदर्शन की हम तैयारी करें। देवों के स्थापन के लिए ही प्राणसाधना को अपनाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अप्रशस्तता से प्रशस्ति की ओर

अम्बि॑तमे॒ नदी॑तमे॒ देवि॑तमे॒ सर॑स्वति। अ॒प्र॒श॒स्ता इ॑व स्मसि॒ प्रश॑स्तिमम्ब नस्कृधि॥ १६ ॥

१. 'सरस्वती' ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। यह मनुष्य के लिए माता की तरह हितकारिणी है—यह उसके जीवन को बनानेवाली है—सचमुच माता है—अम्बितमा—dearest mother है। यह ज्ञान भी एक नदी के समान है—ज्ञानजल की नदी सर्वोत्तम नदी है। यह ज्ञान ही सब व्यवहारों का साधक है—अतः यह देवी है। आचार्य से शिष्य की ओर प्रवाहरूप में प्रवृत्त होने से सरस्वती है। इसमें स्नान किये बिना मनुष्य स्नातक नहीं कहलाता। इसमें स्नान से मनुष्य पवित्र बन जाता है। इस स्नान के अभाव में अपवित्रता बनी रहती है। २. इसलिए प्रार्थना करते हैं कि हे **अम्बितमे**=प्रशस्त मातृतुल्य! **नदीतमे**=सर्वोत्तम नदी के समान! **देवितमे**=सर्वोत्कृष्ट देवता! **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्रि देवि! हम तेरे विना **अप्रशस्ताः इव**=कुछ अप्रशस्त से जीवनवाले **स्मसि**=हैं। तेरे बिना हमारा जीवन पवित्र नहीं बन पाया। हे **अम्ब**=उत्तम ज्ञानोपदेश देनेवाली मातः! **नः प्रशस्तिं कृधि**=हमारे जीवन में प्रशस्ति को करिए। अप्रशस्तता को हटाकर हमें प्रशस्तता को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—ज्ञान से जीवन प्रशस्त बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

जीवन विकास

त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम्। शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १७ ॥

१. मानवजीवन का आधार ज्ञान ही है। ज्ञान से ही मानव मानव बनता है—इसके बिना वह पशु के समान ही रह जाता है। इसी बात को मन्त्र में कहते हैं कि हे **सरस्वति**=ज्ञानाधिष्ठात्रि देवि! **त्वे देव्याम्**=तुझ सर्वव्यवहार साधिका प्रकाशमयी देवी में ही **विश्वा आयूंषि**=सब जीवन **श्रिता**=आश्रित हैं। जीवन की यही तो आधार है। २. हे सरस्वति! तू **शुनहोत्रेषु**=गतिशील आलस्यरहित तथा दानशील भोगों में अनासक्त पुरुषों में **मत्स्व**=आनन्द का अनुभव कर। ज्ञान वस्तुतः आलस्यशून्य, भोगों में अनासक्त, पुरुषों को ही प्राप्त होता है। ३. हे **देवि**=प्रकाशमयी मातः! तू **नः**=हमारे लिए **प्रजाम्**=उत्कृष्ट विकास व प्रादुर्भाव को **दिदिड्ढि**=देनेवाली हो। ज्ञान से ही वस्तुतः सब शक्तियों का सुन्दर विकास होता है।

भावार्थ—ज्ञान से ही जीवन उत्तम बनता है—इसी से सब शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सरस्वती का आराधन

इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति ।
या ते मन्म गृत्समदा ऋतावरि प्रिया देवेषु जुह्वति ॥ १८ ॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञानाधिष्ठात्रि देवि! **इमा ब्रह्म जुषस्व**=इन ज्ञानवाणियों का तू प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो। **वाजिनीवति**=हे उत्तम अन्नोंवाली सरस्वति! तू ज्ञानवाणियों का ही सेवन कर। वस्तुतः ज्ञान से हमें अन्नों के सम्पादन की योग्यता भी प्राप्त होती है। पर हम सदा सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करनेवाले हों। सात्त्विक अन्नों का ही सेवन सरस्वती की आराधना के लिए आवश्यक है। २. हे सरस्वति! तू इन **मन्म**=मननीय स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों को स्वीकार कर, **या**=जिन **ते**=तेरे स्तोत्रों को **गृत्समदाः**=स्तवन करनेवाले व प्रसन्न रहनेवाले लोग करते हैं। हे **ऋतावरि**=ऋत का हमारे जीवन में रक्षण करनेवाली सरस्वति! जो **प्रियाः**=तेरे प्रिय होते हैं वे **देवेषु जुह्वति**=देवों के प्रति अपने को देनेवाले होते हैं। वस्तुतः इन 'माता, पिता व आचार्य' आदि देवों के प्रति अपने को देकर ही ये ज्ञानी बनते हैं।

भावार्थ—सरस्वती का आराधन हमें ज्ञानी बनाता है, उत्तम अन्न प्राप्त कराता है, हमारे जीवनों में ऋत (सत्य) का धारण करता है। इस आराधना के लिए हमें 'माता, पिता व आचार्य' के प्रति अपना अर्पण अवश्य करना है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ हविर्धाने वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्वास्थ्य+ज्ञान तथा यज्ञ

प्रेतां यज्ञस्य शंभुवा युवामिदा वृणीमहे। अग्निं च हव्यवाहनम् ॥ १९ ॥

१. जीवन में शरीर व मस्तिष्क दोनों ठीक हों तो यज्ञ चलते हैं। इनमें से किसी एक के भी ठीक न होने पर यज्ञ समाप्त हो जाते हैं। सो द्यावा पृथिवी से प्रार्थना करते हैं कि **यज्ञस्य शंभुवा**=इस जीवनयज्ञ को शान्ति से चलानेवाले मस्तिष्क व शरीर! आप दोनों **प्रेताम्**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त होओ। हमारा मस्तिष्क भी ठीक हो और हमारा शरीर भी ठीक हो। **युवाम् इत्**= आप दोनों

को ही निश्चय से **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरते हैं। हम चाहते हैं कि हमारा मस्तिष्क भी ठीक हो और हमारा शरीर भी ठीक हो। २. **च**=और **हव्यवाहनम्**=हव्य पदार्थों का वहन करनेवाले **अग्निम्**=अग्नि को हम वरते हैं। हम चाहते हैं कि स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीरवाले बनकर हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क सर्वथा ठीक हो—शरीर स्वस्थ हो और हम यज्ञों के करनेवाले हों।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ हविर्धाने वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सफलता व स्वर्गप्राप्ति

द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम्॥ २०॥

१. **द्यावापृथिवी**=देदीप्यमान मस्तिष्क तथा विस्तृत शक्तियोंवाला शरीर **नः**=हमारे लिए **इमम्**=इस **यज्ञम्**=यज्ञ को **देवेषु**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त **यच्छताम्**=दें—प्राप्त कराएँ। हमारा मस्तिष्क ज्ञानसम्पन्न हो—शरीर शक्तिसम्पन्न हो। इस ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करके हम यज्ञशील बनें। इस यज्ञशीलता से हमारे में दिव्यगुणों का विकास हो। २. यह यज्ञ **सिध्रम्**= हमारी इष्ट कामनाओं का साधक हो। 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'। इस लोक में यह यज्ञ हमें सफल बनाए और **अद्य**=आज **दिविस्पृशम्**= (दिव्=स्वर्ग) स्वर्ग के स्पर्श का साधन बने। इस यज्ञ द्वारा हम अपने घर को स्वर्गोपम बना पाएँ। 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य, कुतोऽन्यः कुरुसत्तम' बिना यज्ञ के तो न इस लोक में कल्याण है, न उस लोक में। यज्ञ से ही तो हमारा जीवन कल्याणमय बनता है। जिस घर में गृहवासियों की प्रवृत्ति यज्ञिय होती है—वह घर स्वर्ग सा बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति प्राप्त करके हम यज्ञशील बनें। यज्ञ से इस लोक की हमारी कामनाएँ पूर्ण होंगी और हम अपने घरों को स्वर्ग बना सकेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ हविर्धाने वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अद्रुहाः-देवाः-यज्ञियाः

आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः। इहाद्य सोमपीतये॥ २१॥

१. हे द्यावापृथिवी! **वाम्**=आपकी **उपस्थम्**=गोद में **आसीदन्तु**=बैठें। कौन? **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष जो कि **अद्रुहाः**=द्रोह की भावना से रहित हैं। **यज्ञियाः**=जो यज्ञशील हैं, अर्थात् लोग ज्ञान प्राप्त करें—शक्तिशाली हों। इस ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करके वे द्रोह से रहित हुए-हुए देववृत्तिवाले व यज्ञशील बनें। (यहाँ 'अद्रुहा' को द्विवचनान्त रखें तो वह द्यावापृथ्वी का विशेषण होगा। 'अद्रुहाः' इस रूप में सन्धिछेद करने पर 'देवाः' का ही विशेषण बन जाता है) २. ये सब देव द्रोहवृत्ति से ऊपर उठे हुए यज्ञशील बनकर **इह**=इस जीवन में **अद्य**=आज **सोमपीतये**=सोमपान के लिए हों। सोम=वीर्य का रक्षण करना यज्ञियवृत्ति के होने पर ही सम्भव है। भोगवृत्ति सोम के विनाश का कारण बनती है।

भावार्थ—हमारी वृत्ति द्रोहशून्य हो—दिव्यगुणों को अपनाने का हम प्रयत्न करें—यज्ञशील हों। तभी हम सोमपान—वीर्यरक्षण कर पाएंगे।

सम्पूर्ण सूक्त भिन्न-भिन्न शब्दों में जीवन को उत्तम बनाने का उपदेश कर रहा है। इस उत्तमता की प्रेरणा देनेवाले जितेन्द्रिय (इन्द्र) आकुल-पुरुषों को (पिञ्जल) सुखी करनेवाले संन्यासी का

अग्रिम सूक्त में वर्णन है। यह कपिञ्जल है—दुःखाकुल संसार को सद्वचनामृतों से सुखी व शान्त करनेवाला है। स्वयं जितेन्द्रिय बनकर औरों को वैसा बनने का उपदेश करता है—

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आदर्श परिव्राजक

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभिभा विश्व्या विदत् ॥ १ ॥

१. **कनिक्रदत्**=प्रभु का निरन्तर आह्वान करता हुआ, **जनुषं प्रब्रुवाणः**=इस संसार में जन्म लेनेवाले इन मानवों को **प्रब्रुवाणः**=प्रकर्षेण धर्म का उपदेश करता हुआ यह **वाचम् इयर्ति**=वाणी को प्रेरित करता है। परिव्राजक की प्रथम विशेषता यही है कि (क) वह निरन्तर प्रभु के नाम का जप करता है। (ख) फिर, यह लोगों को सत्य का उपदेश देता है (ग) उपदेश के लिए ही यह वाणी का प्रयोग करता है—अन्यथा मौन रहता है। यह वाणी का प्रयोग ऐसे करता है, **इव**=जैसे कि **अरिता**=चप्पू चलानेवाला (Darsman) **नावम्**=नाव का प्रयोग करता है। नाव द्वारा वह लोगों को नदी के पार करता है, इसी प्रकार यह वाणीरूप नाव द्वारा लोगों को पाप समुद्र में डूबने से बचाता है। २. हे **शकुने**=शक्तिशालिन् संन्यासिन्! तू लोगों के लिए इन सदुपदेशों से **सुमंगलः भवासि**=उत्तम कल्याण करनेवाला होता है। **च**=और तू इस बात का पूरा ध्यान करना कि **त्वा**=तुझे **काचित्**=कोई भी **विश्व्या**=सब दिशाओं में होनेवाला—अथवा सबके अन्दर आ जानेवाला **अभिभा**=अभिभव—वासनाओं से होनेवाला तिरस्कार **मा विदत्**=मत प्राप्त हो। तुझे कोई भी वासना कभी आक्रान्त न कर ले। इन्हें छोड़कर ही तू संन्यस्त हुआ है। वासनाएँ ही नहीं छुटी तो संन्यास क्या? और वासनाओं में फंसे हुए पुरुष से दिए जानेवाले उपदेश का प्रभाव भी क्या होना?

भावार्थ—परिव्राजक (क) सदा प्रभुस्मरण करनेवाला हो (ख) सत्योपदेश के लिए ही वाणी का प्रयोग करे (ग) लोगों को भवसागर में डूबने से बचानेवाला मल्लाह बने (घ) स्वयं शक्तिशाली होता हुआ वासनाओं में न फंसे। ऐसा संन्यासी ही लोककल्याण कर पाता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हिंसा अभिमान व काम से दूर

मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मा त्वा विददिषुमान्वीरो अस्ता।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों का ही कुछ व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **श्येनः**=बाज़ **मा उद्वधीत्**=मत हिंसित करनेवाला हो। यह श्येन 'हिंसा' का प्रतीक है। कोश में इसका 'हिंसा' (Violence) भी अर्थ दिया है। एक संन्यस्त पुरुष में लोभादि के कारण औरों के हिंसन की वृत्ति होनी ही नहीं चाहिए। २. **मा सुपर्णः**=सुपर्ण भी तुझे हिंसित न करे। सुपर्ण गरुड़ का नाम है। यह 'अभिमान' का प्रतीक है। एक संन्यस्त पुरुष अभिमान से ऊपर उठा हुआ ही ठीक है। ३. कामदेव पञ्चबाण कहलाता है। यह 'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य सायकाः' अथवा 'संमोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा। स्तंभनञ्चेति

कामस्य पंचवाणाः प्रकीर्तिताः' अरविन्दादि अथवा संमोहनादि बाणों से हमारे पर आक्रमण करता है। इस आक्रमण से हमें कम्पित कर देनेवाला यह वीर (वि+ईर=कम्पने) है। कम्पित करके धर्ममार्ग से हमें परे फेंकनेवाला यह 'अस्ता' है (असु क्षेपणे) यह **इषुमान्**=संमोहनादि बाणोंवाला **वीरः**=कम्पित करनेवाला **अस्ता**=धर्ममार्ग से दूर फेंकनेवाला कामदेव **त्वा**=तुझे **मा विदत्**=मत प्राप्त करनेवाला हो। तू हिंसा, अभिमान व काम का शिकार न बन। ४. **पित्र्यां प्रदिशम् अनु**= पितरों की प्रकृष्ट दिशा के अनुसार **कनिक्रदत्**=खूब उपदेश देता हुआ **सुमंगलः**=उत्तम मंगल कर्मोंवाला, **भद्रवादी**=सदा प्रशस्त शब्दों को बोलनेवाला **इह**=इस हमारे घर में **वद**=उपदेश देनेवाला हो। हमारे घरों में इन संन्यस्त-पुरुषों का आना हो। हम इन्हें भिक्षादि द्वारा पूजित करें और ये हमें उत्तम उपदेश दें। उसी प्रकार उपदेश दें, जैसे कि एक पिता पुत्र को उपदेश देता है। वस्तुतः सब लोग संन्यासी के लिए पुत्र तुल्य हैं। संन्यासी का यज्ञ 'प्राजापत्य' यज्ञ ही तो है। वह उपदेश द्वारा इन प्रजाओं का रक्षण करनेवाला है। स्वयं मंगलकर्मों को करता हुआ—सबके मंगल को चाहता हुआ—सदा भद्र शब्दों को बोलता हुआ सबको कल्याण का उपदेश करता है।

भावार्थ—संन्यासी 'हिंसा, अभिमान व काम' का शिकार न होकर सदा सबको हित का उपदेश करे—उसी प्रकार जैसे कि पिता पुत्र को उपदेश करता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चोर व अघशंस से बचें

अव॑ क्रन्द दक्षिण॒तो गृ॒हाणां॑ सु॒म॒ङ्गलो॑ भद्रवा॒दी श॑कुन्ते।
मा नः॑ स्ते॒न ई॑शत॒ माघशं॑सो बृ॒हद्व॑देम वि॒दथे॑ सु॒वीरा॑:॥ ३॥

१. संन्यासी घर में आये तो गृहस्थ उसे अपने दाहिने पार्श्व में (उत्तराभिमुख) बिठाते हैं। दाहिनी ओर बिठाना आदर का सूचक होता है। उपदेश लेनेवाले गृहस्थ लोग पूर्वाभिमुख बैठें तो इस संन्यासी को वे अपने दक्षिण हाथ की ओर उत्तराभिमुख बिठाते हैं। **गृहाणाम्**=गृहस्थ लोगों के **दक्षिणतः**=दक्षिण की ओर बैठा हुआ **शकुन्ते**=शक्तिशाली तू **अवक्रन्द**=इन नीचे बैठे लोगों को आहूत कर—इन्हें सम्बोधित करके उपदेश देनेवाला हो। 'अव' नीचे की भावना देता है, 'क्रन्द' सम्बोधन की। उपदेश लेनेवाले कुछ नीचे नम्रतापूर्वक बैठते हैं। २. संन्यासी का हृदय सबके लिए **सुमङ्गलः**=मंगलकामनावाला हो और वह सदा **भद्रवादी**=भद्र शब्दों में ही उपदेश दे। ३. हे प्रभो! **नः**=हमें कभी भी कोई छद्मवेशवाला **स्तेन**=चोर साधु **मा ईशत**=अपने वश में मत कर ले। **अघशंसः**=बुराइयों को भी अच्छाइयों के रूप में कहनेवाला भी **मा**=हमारे पर प्रभुत्ववाला मत हो। हम उसकी बातों में न आ जाएँ। **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद्वदेम**=हम खूब ही आपकी चर्चा करें और **सुवीराः**=उत्तम वीर बनें व वीर-प्रजाओंवाले हों।

भावार्थ—सुमंगल भद्रवादी शक्तिशाली संन्यासी का हम आदर करें। छद्मवेश चोर व अघशंस से बचें।

इस सूक्त में आदर्श संन्यासी का सुन्दर चित्रण है। यही विषय अगले सूक्त का भी है—

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इहलोक+परलोक

प्र॒द॒क्षि॒णिद॒भि गृ॑णन्ति का॒रवो॒ वयो॒ वद॑न्त ऋतु॒था श॒कुन्त॑यः।
उ॒भे वाचौ॑ वदति साम॒गाइ॑व गाय॒त्रं च॒ त्रैष्टु॑भं॒ चानु॑ राजति॥ १॥

१. **प्रदक्षिणिदभि**=(प्रदक्षिणं एति यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा) इस पृथ्वी की प्रदक्षिणा सी करते हुए—सर्वत्र विचरते हुए ये परिव्राजक **अभिगृणन्ति**=प्रातः-सायं प्रभु का स्तवन करते हैं। **कारवः**=अपने कार्य द्वारा प्रभुस्तवन करनेवाले **शकुन्तयः**=शक्तिशाली—सुशक्त शरीरवाले ये संन्यासी **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **वयः वदन्तः**=(अन्तं सूचयन्तः सा०) अन्त की सूचना देते हुए आगे बढ़ते हैं। सब लोगो को खानपान के विषय में सचेत करते हुए ये उन्हें स्वस्थ रहने के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करते हैं। 'वयः' का अर्थ मार्ग भी होता है (Way)। ये लोगों को मार्ग का ज्ञान देते हैं। उस-उस ऋतु की दिनचर्या की ओर लोगों के ध्यान को आकृष्ट करते हैं। २. यह परिव्राजक **सामगाः**=सामगान करनेवाला **इव**=जैसे **गायत्रं त्रैष्टुभं च**=गायत्र और त्रैष्टुभ दोनों सामों का गान करता है, उसी प्रकार **उभे वाचौ**=दोनों वाणियों को **वदति**=बोलता है। 'गायत्र' वाणी में (गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणरक्षण के साधनों का संकेत करता है और 'त्रैष्टुभ' वाणी में (त्रि+स्तुभ्=Stop) काम, क्रोध, लोभ तीनों को रोकने का उपदेश देता है। गायत्र वाणी द्वारा उनके इस लोक को सुन्दर बनाता है तो त्रैष्टुभ द्वारा परलोक को। इस प्रकार वह उनको अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाले मार्ग का ज्ञान देता है ३. इस प्रकार उपदेश देता हुआ वह **अनुराजति**=(अनुरागान् करोति) उन्हें इन मार्गों पर चलने के लिए अनुरागवाला करता है। केवल परलोक का उपदेश लोगों को आकृष्ट नहीं कर पाता, वह उन्हें अक्रियात्मक-सा प्रतीत होता है और केवल इस लोक का उपदेश संसार-सम्बद्ध होने से तुच्छ-सा लगने लगता है।

भावार्थ—संन्यासी ऋतु के अनुसार दिनचर्या का उपदेश दे। इहलोक व परलोक के सुधार का समन्वय करता हुआ लोगों को मार्ग के प्रति अनुरागवाला करे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**कपिञ्जलइवेन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उद्गाता व ब्रह्मा

उ॒द्गा॒तेव॑ शकुने॒ साम॑ गायसि ब्रह्मपु॒त्रइ॑व॒ सव॑नेषु शंससि।
वृषे॑व वा॒जी शिशु॑मतीर॒पीत्या॑ स॒र्वतो॑ नः शकुने भ॒द्रमा व॑द
वि॒श्वतो॑ नः शकुने॒ पुण्य॒मा व॑द　॥ २ ॥

१. हे **शकुने**=शक्तिसम्पन्न संन्यासिन्! तू **उद्गाता इव**=उद्गाता ऋत्विज् की भाँति **साम गायसि**=साम का गान करता है। उपासना मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ तू उद्गाता की तरह प्रतीत होता है। प्रातःसायं प्रभु की उपासना के साथ तू उद्गाता बन जाता है। **ब्रह्मपुत्रः इव**=ब्रह्मा के समान तू **सवनेषु शंससि**=(षू प्रेरणे) प्रेरणात्मक यज्ञों में लोगों को उपदेश करता है। ब्रह्मा चुप बैठा रहता है, और कुछ विकृति होने पर उस-उस ऋत्विज् को उसे ठीक कर लेने का संकेत करता है। इसी प्रकार संन्यासी लोगों को ठीक मार्ग का उपदेश देता है। २. यह संन्यासी **वृषा इव वाजी**=एक बैल के समान शक्तिशाली होता है—शक्तिसम्पन्न बने विना इसने कार्य भी क्या करना। हे **शकुने**=शक्तिशाली संन्यासिन्! तू **शिशुमतीः अपि इत्या**=सन्तानोंवाली इन प्रजाओं—अर्थात् गृहस्थों की ओर आकर **सर्वतः नः भद्रम्**=सब प्रकार से हमारे कल्याण करनेवाले वचनों को **आवद**=प्रतिपादित करनेवाला हो। **नः विश्वतः**=हमारे शरीर में प्रविष्ट सब तत्त्वों के **पुण्यम्**=कल्याण की बात को **आवद**=कह। हमें आप ऐसा उपदेश दीजिए कि बाह्यदृष्टिकोण से भी हमारा कल्याण हो और अन्दर के दृष्टिकोण से भी हम कल्याण को प्राप्त करें।

भावार्थ—संन्यासी उद्गाता के समान प्रभु के स्तोत्रों का गायन करता है और ब्रह्मा के समान लोगों को प्रेरणा देता है।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—कपिञ्जलइवेन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सुमति की कामना

आवदंस्त्वं शकुने भद्रमा वद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः।
यदुत्पतन्वदसि कर्करिर्यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ३ ॥

१. हे **शकुने**=सशक्त शरीरवाले संन्यासिन्! **आवदन्**=चारों ओर उपदेश देता हुआ **त्वम्**=तू **भद्रम् आवद**=कल्याण का ही उपदेश कर। **तूष्णीम् आसीनः**=उपासना में चुपचाप शान्त बैठा हुआ भी तू **नः**=हमारे लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति की **चिकिद्धि**=(कित् to desire) कामना कर। 'सबको शुभबुद्धि प्राप्त हो' यही तेरी आराधना हो। संन्यासी ने कभी किसी के अशुभ की तो कामना करनी ही नहीं। २. **यद्**=जब तू **उत्पतन्**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलता हुआ होता है तो ऐसे **वदसि**=उपदेश देता है **यथा**=जैसे **कर्करिः**=वाद्यविशेष। जैसे वीणा से मधुर ही स्वर निकलता है, इस प्रकार तू मधुर ही बोलता है। तेरे सम्पर्क में **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में बैठे हुए हम भी **सुवीराः**= कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले वीर बनकर **बृहद्वदेम**=खूब ही ज्ञान की बातों का प्रतिपादन करें। परस्पर ज्ञानचर्चा को करनेवाले ही हम बनें।

भावार्थ—संन्यासी कल्याण का उपदेश करे और सबके लिए शुभबुद्धि की कामना करे। उपदेश मधुर शब्दों में ही दे।

॥ इति द्वितीयं मण्डलम् ॥

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है "हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।"

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२७२

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरूप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेदभाष्यम्

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(अथ तृतीयं मण्डलम्)

(१-६२ सूक्तम्)

एवं

(चतुर्थं मण्डलम्)

(१-५८ सूक्तम्)

[तृतीयं भागः]

भाष्यकार :

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

अनुष्ठानकर्त्ता :

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

श्री घूड़मल प्रह्लादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

ISBN-978-93-80209-13-5

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
"अभ्युदय" भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)–३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६–७०४४८
चलभाष : ०–९४१४०–३४०७२, ०–९८८७४–५२९५९

संस्करण : २०६७ विक्रमी संवत्, २०१० ई०

मूल्य : ३५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली–११०००६,
चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. **श्री गणेशदास–गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि–निवास,
नया बाजार, दिल्ली–११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

३. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्यपुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी,
बरेली (उ०प्र०) चलभाष : ०९८९७८८०९३०

शब्द-संयोजक : **आर्य लेज़र प्रिंट्स,** हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक : **अजय प्रिंटर्स,** नवीन शाहदरा, दिल्ली

वेदानार्थ के सहयोगी

स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द
सरस्वती, नई दिल्ली

आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी
होशंगाबाद (म०प्र०)

श्री हरिश्चन्द्र साहित्यानी
दाहोद, (गुजरात)

प्रिय नीतेश, आपकी स्मृति में–
श्रीमती गरिमा गोयल-श्री गणेशदास गोयल

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी
आगरा (उ०प्र०)

श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल

श्री मित्रावसु
माडल टाउन, दिल्ली

श्री कृष्ण चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)

श्रीमती रक्षा चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)

श्री गोपालचन्द्र
बरमिंघम (यू०के०)

श्री राधेश्याम, दिल्ली
(श्री मनोहर विद्यालंकार)

स्वामी श्री श्रद्धानन्द सरस्वती
अलीगढ़ (उ०प्र०)

श्री प्रशान्तकुमार आर्य
(स्मृति में–परिवारीजन)

आर्यसमाज (वैदिक मिशन)
वैस्ट मिडलैण्ड्स,
बरमिंघम (यू०के०)

श्री [illegible]
बरमिंघम (यू०के०)

ओ३म्
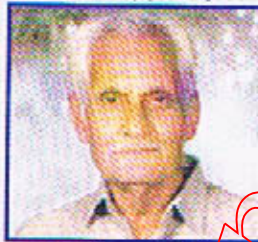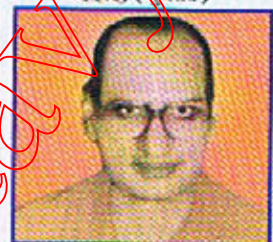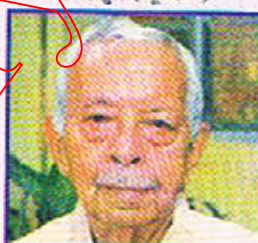
ऋग्वेदभाष्यम्

प्रथम सूक्त का अन्तिम वाक्य ही अन्तिम सूक्त का भी अन्तिम वाक्य है। प्रभु के सर्वत्र दर्शन से यह मण्डल प्रारम्भ होता है और 'यह द्रष्टा किस प्रकार संन्यस्थ होकर लोगों को उपदेश देता हुआ आगे बढ़े' इन शब्दों के साथ यह मण्डल समाप्त होता है। अब तृतीय मण्डल का प्रारम्भ 'विश्वामित्रः गाथिनः' ऋषि के सूक्त से होता है। गतमण्डल की समाप्ति पर संन्यासी का चित्रण हुआ था। संन्यासी वही है, जो किसी के साथ द्वेष नहीं करता (विश्वामित्र), प्रभु का गायन करता है (गाथिनः)। यह कहता है कि—

अथ तृतीयं मण्डलम्

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण व प्रभुप्राप्ति

सोम॑स्य मा त॒वसं॒ वक्ष्य॑ग्ने॒ वह्निं॑ चकर्थ वि॒दथे॒ यज॑ध्यै।
दे॒वाँ अच्छा॒ दीद्य॑द्युञ्जे॒ अद्रिं॑ शमा॒ये अ॑ग्ने त॒न्वं॑ जुषस्व॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **मा**=मेरे लिए **सोमस्य तवसम्**=सोम के, वीर्य के-बल को **वक्षि**=आप कहते हो। सोम का महत्त्व मेरे लिए प्रतिपादन करते हो और आप मुझे **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **यजध्यै**=यज्ञात्मक कर्मों को करने के लिए **वह्निं चकर्थ**=कार्य का वहन करनेवाला बनाते हो, अर्थात् मैं आपकी कृपा से सोम का महत्त्व समझकर सोम-रक्षण करता हूँ। ज्ञानप्राप्ति के निमित्त उत्तम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता हूँ। (२) **देवान् अच्छा**=माता, पिता व आचार्य आदि देवों की ओर जाता हुआ मैं **दीद्यत्**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त होता हुआ-हुआ मैं **युञ्जे**=मन को योगयुक्त करने का प्रयत्न करता हूँ। इस प्रकार योग का अभ्यास करता हुआ **अद्रिं शमाये**=आदरणीय प्रभु का स्तवन करता हूँ (शमाये=स्तौमि सा०), (३) **अग्ने**=हे परमात्मन्! **तन्वम्**=यज्ञ, ज्ञान व स्तवन का विस्तार करनेवाले मुझको आप **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक प्राप्त होइये। मैं आपको प्राप्त करने की योग्यतावाला बनूँ।

भावार्थ—सोम का मैं रक्षण करूँ, ज्ञान और यज्ञ का वहन करूँ, देवों के सम्पर्क से ज्ञान बढ़ाऊँ। योगाभ्यासी बनूँ। प्रभु-स्तवन करूँ। मुझे प्रभु प्राप्त हों।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ-ज्ञान-उपासना

प्राञ्चं॑ य॒ज्ञं च॑कृम॒ वर्ध॑तां॒ गीः स॒मिद्भि॑र॒ग्निं नम॑सा दुवस्यन्।
दि॒वः श॑शासुर्वि॒दथा॑ कवी॒नां गृत्सा॑य चित्त॒वसे॑ गा॒तुमी॑षुः॥ २॥

(१) हम **यज्ञम्**=यज्ञ को **प्राञ्चम्**=(प्र अञ्च्) दिन व दिन बढ़नेवाले को **चकृम**=करते हैं। हमारे जीवन में यज्ञियवृत्ति दिन व दिन बढ़ती जाए। **गीः वर्धताम्**=हमारे जीवन में ज्ञान-वाणी भी बढ़े, अर्थात् हम यशस्वी हों और स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। हमारे सब व्यक्ति **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **समिद्भिः**=पृथिवीस्थ पदार्थों के ज्ञानरूप प्रथम समिधा से द्युलोकस्थ पदार्थों के ज्ञानरूप द्वितीय समिधा से तथा अन्तरिक्षलोकस्थ पदार्थों के ज्ञानरूप तृतीय समिधा से तथा **नमसा**=नमन द्वारा **दुवस्यन्**=(परिचरेयुः) परिचर्या करनेवाले हों। प्रभु का वस्तुतः उपासन इन प्रभुरचित पदार्थों में प्रभुमहिमा देखने द्वारा तथा नम्रता द्वारा ही होता है। इस प्रकार हमारे जीवनों में 'यज्ञ, ज्ञान तथा उपासन' तीनों का सुन्दर समन्वय हो। (२) हमारे लिए **दिवः**=ज्ञानी लोग **कवीनां विदथा**=ज्ञानियों के ज्ञानों का **शशासुः**=उपदेश करते हैं और ये सब देव **गृत्साय**=स्तोता के लिए **चित्**=निश्चय से **तवसे**=वृद्धि व शक्ति के लिए **गातुं ईषुः**=मार्ग को चाहते हैं, अर्थात् उसे मार्ग का उपदेश करके-उस मार्ग द्वारा उसके वर्धन की कामना करते हैं। हमारे जीवनों में पाँच वर्ष तक 'मातृ देवो भव' मातृरूप देवता का स्थान है फिर आठवें वर्ष तक 'पितृ देवो भव' पितृ रूप देवता का स्थान है, तदनन्तर पच्चीसवें वर्ष तक 'आचार्य देवो भव' आचार्यरूप देवता का स्थान है। फिर गृहस्थ में भी 'अतिथि देवो भव' विद्वान् अतिथिरूप देवों का स्थान है। ये सब देव हमें समय-समय पर ज्ञान देते रहते हैं और इस प्रकार हमें मार्गदर्शन करा के हमारी वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'यज्ञ, ज्ञान व उपासना' का समन्वय हो। ज्ञानियों से हमें ज्ञान प्राप्त हो।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कल्याण का मार्ग

मयो॑ दधे मे॒धिरः॑ पू॒तद॑क्षो दि॒वः सु॒बन्धु॑र्ज॒नुषा॑ पृथि॒व्याः।
अवि॑न्दन्नु दर्श॒तम॒प्स्व१॒॑न्तर्दे॒वासो॑ अ॒ग्निम॒पसि॒ स्वसॄ॑णाम्॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **मयः दधे**=कल्याण व नीरोगता को धारण करता है। चूँकि **मेधिरः**=मेधावाला होता है, **पूतदक्षः**=पवित्र बलवाला होता है। **दिवः सुबन्धुः**=ज्ञान को उत्तमता से अपने में बाँधनेवाला होता है और **पृथिव्याः**=शरीररूप पृथिवी के **जनुषा**=विकास से, अर्थात् शारीरिक शक्तियों के विकास से यह **मयः**=नीरोगता को **दधे**=धारण करता है। कल्याण प्राप्त करने का मार्ग यही है कि—(क) हम मेधा-सम्पन्न बनें, (ख) पवित्र बलवाले हों, (ग) ज्ञान को अपने में उत्तमता से स्थापित करें, (घ) तथा शरीर के अंग-प्रत्यंग को सशक्त बनाएँ। (२) **देवासः**=देववृत्ति के लोग **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के अन्दर स्थित उस **दर्शतम्**=दर्शनीय **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **स्वसॄणां अपसि**=आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाली (स्व-सृ) इन वेदवाणियों के, इन वेदवाणियों से निर्दिष्ट कर्मों में **नु अविन्दन्**=निश्चय से प्राप्त करते हैं। ये देवपुरुष वेदानुसार कर्मों को करते हैं और अन्तःस्थित प्रभु को देखते हैं।

भावार्थ—कल्याणप्राप्ति का मार्ग यही है कि हम मेधावी बनें, पवित्र बलवाले हों, ज्ञान प्राप्त करें, शरीर की शक्तियों को विस्तृत करें। वेदवाणी के अनुसार कर्म करते हुए अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्राह्म-तेज

अवर्धयन्त्सुभगं सप्त यह्वीः श्वेतं जज्ञानमरुषं महित्वा।
शिशुं न जातमभ्यारुरश्वा देवासो अग्निं जनिमन्वपुष्यन्॥ ४॥

(१) वेदवाणियाँ सात छन्दों में होने के कारण 'सप्त' हैं, अर्थ के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण होने के कारण 'यह्वी' हैं। ये **सप्त यह्वीः**=सातों महत्त्वपूर्ण वाणियाँ **सुभगम्**=उस उत्तम भगवाले भगवान् (प्रभु) को, समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य के आधारभूत प्रभु को **अवर्धयन्**=बढ़ाती हैं। ये सब उस प्रभु का ही वर्णन करती हैं, 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'। उस प्रभु का वर्णन करती हैं, जो कि **श्वेतम्**=शुद्ध ही शुद्ध हैं, निर्मल हैं **जज्ञानम्**=सर्वत्र प्रादुर्भूत हो रहे हैं-सब पदार्थों में उन्हीं की तो दीप्ति दीप्त हो रही है। **महित्वा**=अपनी महिमा से जो आरोचमान हैं, क्या समुद्र में, क्या पृथिवी में, अन्तरिक्ष में बहनेवाली वायु में और द्युलोकस्थ सूर्य में सर्वत्र प्रभु की महिमा व्याप्त है। (२) **जातं शिशुं न**=जैसे उत्पन्न हुए-हुए बच्चे को देखने के लिए सब बन्धु आते हैं, इसी प्रकार प्रादुर्भूत हुए-हुए उस **अग्निम्**=अग्नि को, अग्रणी प्रभु को **अश्वाः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **देवासः**=देववृत्ति के लोग **अभ्यासः**=सब ओर से आते हैं और **जनिमन्**=उस प्रभु के प्रादुर्भाव में **वपुष्यन्**=(वपुर्दीप्तिमकुर्वन्) अपने शरीर की दीप्ति को करते हैं। हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है, तो सारा शरीर चमक उठता है। वस्तुतः यही ब्रह्म-तेज की प्राप्ति के नाम से कहा जाता है, इस तेज के सामने अन्य तेज फीके पड़ जाते हैं।

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ प्रभु का प्रतिपादन करती हैं। वस्तुतः सब पदार्थों में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। कर्मशील देव प्रभु के प्रकाश को अपने में देखते हैं और ब्रह्म-तेज से दीप्त हो उठते हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्त्व में रजोगुण का पुट

शुक्रेभिरङ्गै रज आततन्वान्क्रतुं पुनानः कविभिः पवित्रैः।
शोचिर्वसानः पर्यायुरपां श्रियो मिमीते बृहतीरनूनाः॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार ब्रह्मतेज प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति **शुक्रेभिः अंगैः**=निर्मल दीप्त अंगों से युक्त हुआ **रजः आततन्वान्**=अपने अन्दर कुछ (आ=ईषत्) रजोगुण का विस्तार करता है। यह रजोगुणी तो नहीं बन जाता, पर अपने सत्त्वगुण में कुछ रजोगुण के पुट का समावेश करनेवाला होता है। इस रजोगुण से उसका सत्त्वगुण क्रियाशील बना रहता है। (२) यह अपनी **क्रतुम्**=यज्ञात्मक उत्तम क्रियाओं को **कविभिः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों के सम्पर्क से तथा **पवित्रैः**=पवित्रीकरण के साधनभूत ज्ञानों से 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते' **पुनानः**=और अधिक पवित्र करनेवाला होता है। गतमन्त्र के ये 'अश्वाः देवासः'=कर्मशील देव वैसे ही पवित्र क्रियाओंवाले होते हैं, परन्तु विद्वानों का सम्पर्क और ज्ञान इनके कर्मों में और अधिक पवित्रता उत्पन्न करनेवाला होता है। (३) **शोचिः**=ज्ञानदीप्ति को यह **वसानः**=धारण करनेवाला होता है। इस ज्ञानदीप्ति द्वारा **परि आयुः**=सर्वतः पूर्ण जीवन को, शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से पूर्ण जीवन को यह प्राप्त करता है। स्वस्थ शरीरवाला बनता है, निर्मल मनवाला व दीप्त ज्ञानवाला। (४) और यह **अपाम्**=कर्मों की **श्रियः**=श्री को **मिमीते**=निर्माण करता है। जो कि **बृहतीः**=दिन-

प्रतिदिन बढ़नेवाली हैं, वृद्धि का कारण होती है तथा **अनूनाः**=न्यूनता से रहित हैं। स्वयं पुरुषार्थ से प्राप्त लक्ष्मी वृद्धि का ही कारण बनती है, उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। अनायास प्राप्त लक्ष्मी मनुष्य को विलास में फँसाकर समाप्त कर देती है।

भावार्थ—उपासक अपने में उचित मात्रा में रजोगुण उत्पन्न करके क्रियाशील बनता है, पुरुषार्थ से ही धनार्जन करता है। यह धन उसकी वृद्धि का ही कारण बनता है, ह्रास का नहीं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सप्त वाणीः (अवसानाः अनग्नाः) कामात्मता व अकामता से ऊपर

व॒व्राजा॑ सी॒मन॑दती॒रद॑ब्धा दि॒वो य॒ह्वीरव॑साना॒ अन॑ग्नाः।
सना॒ अत्र॑ युव॒तयः॒ सयो॑नी॒रेकं॒ गर्भं॑ दधिरे स॒प्त वाणीः॑॥ ६॥

(१) उपासक **सीम्**=निश्चय से **सप्त वाणीः**=सात छन्दों में परिणत वेदवाणियों को **वव्राज**=प्राप्त होता है (व्रज गतौ) जो वेदवाणियाँ **अनदतीः**=कुछ खाती नहीं (न अदतीः)। वस्तुतः इनके अध्ययन से मानव शक्तियों का विकास ही होता है, ह्रास नहीं। **अदब्धाः**=जो अहिंसित हैं। वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है। **दिवः यह्वीः**=ये उस प्रकाशमय प्रभु की सन्तान के समान हैं। प्रभु ही इन्हें जन्म देते हैं-प्रभु से ही ये प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित की जाती हैं, **अवसानाः अनग्नाः**=ये न तो बहुत कपड़े पहनती हैं, नां ही नग्न रहती हैं, अर्थात् वेदवाणियों का उपदेश यही है कि मनुष्य न तो काममय बन जाए और नां ही बिलकुल अकाम हो जाए। न तो कपड़ों की संख्या बढ़ाते ही बढ़ाते जाना और नां ही बिलकुल समाप्त कर देना। (२) ये वेदवाणियाँ **सनाः**=अत्यन्त सनातन हैं। **अत्र**=यहाँ संसार में-हमारे जीवनों में **युवतयः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अच्छाइयों को हमारे साथ मिश्रण करनेवाली और बुराइयों को हमारे से पृथक् करनेवाली हैं। **सयोनीः**=ये वेदवाणियाँ एक ही उत्पत्ति-स्थानवाली हैं-सब प्रभु से उत्पन्न होती हैं, प्रभु ही इनके निधान हैं। ये सब की सब **एकम्**=उस अद्वितीय **गर्भम्**=सब के अन्दर गर्भरूप से रहनेवाले-सर्वव्यापक प्रभु को **दधिरे**=धारण करती हैं। सब का प्रतिपाद्य विषय वह प्रभु ही है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। इनके अध्ययन से हम सशक्त बने रहेंगे। इनका मौलिक उपदेश 'कामात्मता व अकामता' से ऊपर उठना है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी का जीवन पर प्रभाव

स्ती॒र्णा अ॑स्य सं॒हतो॑ वि॒श्वरू॑पा घृ॒तस्य॒ योनौ॑ स्र॒वथे॒ मधू॑नाम्।
अस्थु॒रत्र॑ धे॒नवः॒ पिन्व॑माना म॒ही द॒स्मस्य॑ मा॒तरा॑ समी॒ची॥ ७॥

(१) **संहतः**=(सं+हन्+क्विप्) सम्यक्तया कामादि वासनाओं का हनन करनेवाले **अस्य**=इस उपासक के अन्तःकरण में **विश्वरूपाः**=सब सत्य विद्याओं का निरूपण करनेवाली ये वेदवाणियाँ **स्तीर्णाः**=स्तीर्ण होती हैं-बिछ-सी जाती हैं-उसका हृदय इन वाणियों से आच्छादित हो जाता है। ये हृदय में बिछी हुई वेदवाणियाँ **घृतस्य योनौ**=मलों के क्षरण तथा ज्ञानदीप्ति का निमित्त बनती हैं, इन दोनों बातों को जन्म देती हैं और **मधूनां स्रवथे**=मधुरता के प्रवाह का कारण बनती हैं। वेदवाणियों से उसका जीवन 'निर्मल, ज्ञानदीप्त व मधुर' बनता है। (२) **अत्र**=इसके जीवन में **धेनवः**=ये ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौवें **पिन्वमानाः**=इसको प्रीणित करती हुई **अस्थुः**=स्थित

होती हैं। इस ज्ञान द्वारा प्रीणन का परिणाम यह होता है कि **दस्मस्य**=इस वासना विनाशक की **मातरा**=द्यावापृथिवी रूप माता-पिता-द्युलोकरूप मस्तिष्क और पृथिवीरूप शरीर दोनों ही **मही**=महत्त्वपूर्ण होते हैं और **समीची**=परस्पर संगत होकर चलनेवाले होते हैं। इसकी बुद्धि और शक्ति दोनों ही उत्तम होती हैं, परस्पर उपकारक होती हैं। यही इसके जीवन में 'ब्रह्म व क्षत्र' का समन्वय कहलाता है।

भावार्थ—जीवन वेदवाणी से प्रभावित होने पर उसमें निर्मलता आ जाती है, वहाँ ज्ञान दीप्त हो उठता है तथा मधुर शब्दों का ही प्रवाह होता है। शक्ति व बुद्धि का समन्वय होकर जीवन वस्तुतः सुन्दर बन जाता है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शुक्रा रभसा वपूंषि

बभ्राणः सूनो सहसो व्यद्यौद्दधानः शुक्रा रभसा वपूंषि।
श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन॥ ८॥

(१) हे **सहसः सूनो**=शक्ति के पुत्र-शक्ति के पुतले-शक्तिपुञ्ज प्रभो! **बभ्राणः**=आपकी वेदवाणियों से धारण किया जाता हुआ यह व्यक्ति **व्यद्यौत्**=चमक उठता है। यह **शुक्रा**=ज्ञान से दीप्त, पवित्र व **रभसा**=शक्तिशाली (robust) **वपूंषि**=शरीरों को **दधानः**=धारण करता है। इसका शरीर निर्मल, ज्ञानदीप्त व शक्तिशाली होता है। (२) इसके जीवन में **मधुनः**=मधु की तथा **घृतस्य**=ज्ञानदीप्ति की **धाराः**=धाराएँ **श्चोतन्ति**=क्षरित होती हैं। इसकी वाणी में मिठास होता है। इसका मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल हो जाता है। कब? **यत्र**=जिस समय **वृषा**=यह शक्तिशाली पुरुष **काव्येन**=इस वेदरूप काव्य से **वावृधे**=निरन्तर वृद्धि प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु की इन ज्ञानवाणियों से धारण किये जाने पर मनुष्य का शरीर ज्ञानदीप्त व शक्तिसम्पन्न होता है। उसके मुख से मधुर ही शब्द प्रवाहित होते हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदयरूप गुहा में, पर गुहा में ही नहीं

पितुश्चिदूधर्जनुषा विवेद व्यस्य धारा असृजद्वि धेनाः।
गुहा चरन्तं सखिभिः शिवेभिर्दिवो यह्वीभिर्न गुहा बभूव॥ ९॥

(१) गतमन्त्र का 'वेदरूप काव्य से वृद्धि प्राप्त करनेवाला' व्यक्ति **पितुः**=उस पालक पिता के **ऊधः**=ज्ञानदुग्ध के आधारभूत ऊधस् को **जनुषा**=शक्तियों के विकास के हेतु से **विवेद**=प्राप्त करता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने से, वासनाओं का क्षय होकर इसकी शक्तियों का विकास होता है। यह ज्ञानदुग्ध **अस्य**=इस उपासक की **धाराः**=धारणशक्तियों को **वि असृजत्**=विशेषरूप से उत्पन्न करता है और **धेनाः**=इस के अन्दर ज्ञानवाणियों को **वि**=(असृजत्) उत्पन्न करता है। 'धारा' शब्द शक्ति की सूचना देता है, तो 'धेना'=ज्ञान की। इसकी शक्ति भी बढ़ती है और ज्ञान भी बढ़ता है। इसके ब्रह्म और क्षत्र का विकास होता है। (२) इस प्रकार इस 'ऊधस्' के दो लाभों का प्रतिपादन करके सर्वमहान् लाभ का इन शब्दों में उल्लेख करते हैं कि यह ऊधस् उन परमात्मा का भी इसे दर्शन कराता है जो **गुहा चरन्तम्**=हृदयरूप गुहा में ही विचरण कर रहे हैं किनके साथ? **शिवेभिः सखिभिः**=अपने इन जीवरूप मित्रों के साथ जो कि शिव-मंगलमय कार्यों में ही लगे हुए हैं और **दिवः यह्वीभिः**=जो ज्ञान के अपत्य व सन्तान बने हैं, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति में

निरन्तर लगे रहकर ज्ञानपुञ्ज से बन रहे हैं। ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगानेवाले तथा कर्मेन्द्रियों को शिव-कार्यों में लगानेवाले व्यक्ति ही हृदय में प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। (३) प्रभु का दर्शन अवश्य हृदय में ही होता है, पर वे प्रभु **न गुहा बभूव**=हृदय में ही रहते हों (भू=to stay) ऐसी बात नहीं। वे सर्वव्यापक हैं। 'हृदयरूप गुहा प्रभु को अपने में समा लेती हो' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—वेद के अध्ययन से (क) धारणशक्ति प्राप्त होती है, (ख) ज्ञान बढ़ता है, (ग) हृदय में प्रभु का दर्शन होता है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण व वेदाध्ययन

पितुश्च गर्भं जनितुश्च बभ्रे पूर्वीरेको अधयत्पीप्यानाः।
वृष्णे सपत्नी शुचये सबन्धू उभे अस्मै मनुष्ये३ नि पाहि॥ १०॥

(१) गतमन्त्र का वेदाध्येता **पितुः**=उस पालक पिता के **जनितुः च**=और शक्तियों का विकास करनेवाले प्रभु के **गर्भं बभ्रे**=गर्भ को धारण करता है, अर्थात् अपने हृदय में प्रभु को स्थापित करता है। हृदयस्थ प्रभु का सदा स्मरण करता हुआ ही तो यह धर्ममार्ग से विचलित नहीं होता। (२) यह **एकः**=(इ गतौ) क्रियामय जीवनवाला व्यक्ति **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी गई अथवा पालन व पूरण करनेवाली **पीप्यानाः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाली वेदवाणियों का **अधयत्**=पान करता है। 'प्रभुस्मरण व वेदाध्ययन' इस के जीवन को सुन्दर बनानेवाले होते हैं। (२) हे अग्ने (परमात्मन्)! **अस्मै**=इस **वृष्णो**=शक्तिशाली, **शुचये**=पवित्र व्यक्ति के लिये **उभे**=दोनों द्यावापृथिवी को **निपाहि**=निश्चय से रक्षित करिए। जो द्यावापृथिवी **सपत्नी**=समान प्रभुरूप पतिवाली हैं-दोनों का ही पति प्रभु है। **सबन्धू**=ये दोनों समानरूप से मनुष्य की बन्धुभूत हैं, अथवा 'द्युलोक' पृथिवी से सम्बद्ध है और पृथिवी द्युलोक से। **मनुष्ये**=(मनुष्येभ्यो हिते) विचारशील पुरुष के लिये हितकर हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण करनेवाले वेदाध्येता के लिये द्युलोक व पृथिवी लोक कल्याणकर होते हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुदर्शन के उपाय

उरौ महाँ अनिबाधे ववर्धापो अग्निं यशसः सं हि पूर्वीः।
ऋतस्य योनावशयद्दमूना जामीनामग्निरपसि स्वसॄणाम्॥ ११॥

(१) वे प्रभु **महान्**=पूजा के योग्य हैं। वे **उरौ**=विशाल व **अनिबाधे**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं की बाधा से रहित हृदय में **ववर्ध**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं। तंग दिलवाला व काम आदि से पीड़ित हृदयवाला व्यक्ति प्रभु का दर्शन नहीं कर पाता। वे महान् प्रभु संकुचित हृदय में आयें भी कैसे? **यशसः**=यशस्वी जीवनवाली, **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाली **आपः**=प्रजाएँ **हि**=वही **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **सं (ववर्ध)**=अपने में सम्यक् बढ़ानेवाली होती हैं। परमात्मप्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम यशस्वी कर्मों को ही करें, अपने शरीर का पालन (रोगों से रक्षण) करें व मनों को न्यूनता से रहित कर उनका पूरण करनेवाले हों। मनों में वासनाओं को न अंकुरित होने दें। (२) **ऋतस्य योनौ**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **दमूनाः**=दान्तमनवाला

अशयत्=निवास करता है। ऋत और सत्य को प्रभु ही अपने तीव्र तप से जन्म देते हैं, सो प्रभु ऋत के योनि हैं। अपने मन का दमन करनेवाला व्यक्ति प्रभु में निवास करता है। इस व्यक्ति के जीवन में भी सब भौतिक क्रियाएँ ऋत के अनुसार ही होती हैं। (३) वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अपसि**=कर्मों में स्थित हैं। किन के कर्मों में? **जामीनाम्**=विकास की कारणभूत (जनी प्रादुर्भावे) **स्वसृणाम्**=(स्व+सृ) आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाली वेदवाणियों के, अर्थात् जब हम इन वेदवाणियों के अनुसार कर्म करते हैं तो हमें प्रभुप्राप्ति होती है। इन वेदवाणियों से हमारे में दिव्यताओं का विकास होता है (जामि) और ये हमें आत्मतत्त्व की ओर ले चलती हैं (स्व+सृ)।

भावार्थ—प्रभुदर्शन उसे होता है (क) जो विशाल हृदयवाला है, (ख) जिसके हृदय में वासनाओं की बाधा नहीं, (ग) जो यशस्वी कर्मोंवाला है, (घ) जो अपना पालन व पूरण करता है, (ङ) जो मन का दमन करता है, (च) वेद से निर्दिष्ट कर्मों में व्यापृत होता है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का स्वरूप

अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनां दिदृक्षेयः सूनवे भाऋजीकः।
उदुस्रिया जनिता यो जजानापां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः ॥ १२ ॥

(१) गतमन्त्र में प्रभुदर्शन का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अक्रः न**=वे हमारे पर आक्रमण करनेवाले नहीं। वे रुद्र हैं, पर शिव हैं। उनके हाथ में वज्र है, तो वह सर्जन के हाथ में वर्तमान चाकू की तरह है। **बभ्रिः**=वे चाकू से आपरेशन (शल्यक्रिया) करके हमारा धारण ही करनेवाले हैं। **महीनाम्**=(मह पूजायाम्) पूजा करनेवाली प्रजाओं के **समिथे**=संगम में-सभा में **दिदृक्षेयः**=दर्शन योग्य हैं। उपासकों की संसद् में ही प्रभुदर्शन होता है। पानगोष्ठियों में प्रभुदर्शन नहीं हुआ करता। **सूनवे भाऋजीकः**=अपने सन्तानों के लिये दीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं (ऋज्=to acquire) इस ज्ञानदीप्ति से ही तो सन्तानों का वे कल्याण करते हैं। (२) **यः जनिता**=जो प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न करनेवाले हैं वे **उस्रियाः**=प्रकाश की किरणों को **उत् जजान**=उत्कर्षेण उत्पन्न करते हैं। **अपां गर्भः**=सब प्रजाओं के अन्दर रह रहे हैं। अन्तःस्थित हुए-हुए ही हम सब को प्रेरणा देनेवाले हैं। **नृतमः**=वे हमारे सर्वोत्कृष्ट नेता हैं। **यह्वः**=महान् हैं अथवा अन्ततः सब प्राणियों से जापे जाते हैं और पुकारे जाते हैं। **अग्निः**=अग्रणी हैं, हमें आगे और आगे ले चल रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु कल्याण ही कल्याण करनेवाले हैं। ज्ञानदीप्ति देनेवाले हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों का प्रभु से मेल

अपां गर्भं दर्शतमोषधीनां वना जजान सुभगा विरूपम्।
देवासश्चिन्मनसा सं हि जग्मुः पनिष्ठं जातं तवसं दुवस्यन् ॥ १३ ॥

(१) जो प्रभु **ओषधीनाम्**=ओषधियों के **सुभगा वना**=सौभाग्ययुक्त, सब ऐश्वर्यों से युक्त, अद्भुत रोगनिवारणादि गुणों से युक्त वनों को **जजान**=उत्पन्न करता है, उस **अपां गर्भम्**=सब प्रजाओं के गर्भरूप-सब प्रजाओं में निवास करनेवाले, **दर्शतम्**=दर्शनीय, **विरूपम्**=विशिष्टरूपवाले प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के व्यक्ति **चित्**=निश्चय से **मनसा**=मन द्वारा **हि**=ही **संजग्मुः**=प्राप्त होते हैं। प्रभुदर्शन मन से होता है। देववृत्तिवाले व्यक्तियों का मन पवित्र होता है, अतः वे मन द्वारा

प्रभु को प्राप्त होते हैं। इस मन की पवित्रता के लिये ही प्रभु ने इस वानस्पतिक जगत् को उत्पन्न किया है। ओषधियों-वनस्पतियों का प्रयोग मन को मलिन नहीं होने देता, मांस-भोजनादि से ही तो वह दूषित होता है। (२) ये देव उस परमात्मा का **दुवस्यन्**=पूजन करते हैं, जो कि सचमुच **पतिष्ठम्**=स्तुत्यतम हैं। **जातम्**=अधिक से अधिक निरतिशय विकासवाले हैं तथा **तवसम्**=अत्यन्त बढ़े हुए हैं व बलवान् हैं। प्रभु के उपासन से इन देवों का जीवन भी स्तुत्य, विकसित व शक्तिसम्पन्न बनता है।

भावार्थ—प्रभु ओषधियों के सुन्दर वनों को जन्म देते हैं। इनके प्रयोग से पवित्र मनवाले देव प्रभु से मेल प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अमृतदोहन

बृहन्त इद्भानवो भाऋजीकमग्निं सचन्त विद्युतो न शुक्राः ।
गुहेव वृद्धं सदसि स्वे अन्तरपार ऊर्वे अमृतं दुहानाः ॥ १४ ॥

(१) **इत्**=निश्चय से **बृहन्तः**=अधिक से अधिक बढ़ी हुई **भानवः**=ज्ञानदीप्तियाँ **अग्निं सचन्त**=उस अग्रणी प्रभु के साथ समवेत होती हैं, जो कि **भाऋजीकम्**=अपने मित्र जीव के लिये दीप्ति का अर्जन करनेवाले हैं। ये दीप्तियाँ इस प्रकार प्रभु के साथ समवेत होती हैं **न**=जैसे कि **शुक्राः विद्युतः**=चमकती हुई (शुद्ध) बिजलियाँ। (२) **स्वे**=अपने **सदसि**=शरीररूप गृह के **अन्तः**=अन्दर **गुहा इव**=हृदयरूप गुहा की तरह **वृद्धम्**=बढ़े हुए उस परमात्मा को (सचन्त=) सेवित करते हैं। वे व्यक्ति सेवित करते हैं जो कि **अपारे ऊर्वे**=इस अनन्त से संसार में **अमृतं दुहानाः**=(यज्ञशेषं=अमृतम्) यज्ञशेष का अपने में पूरण करनेवाले होते हैं, अर्थात् जो यज्ञ करके सदा यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं। यह यज्ञशेष का सेवन इन्हें पवित्र हृदय बनाता है और इस पवित्र हृदय में ये प्रभु का दर्शन व उपासन करते हैं। (३) प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु उनका दर्शन हृदय में ही होता है। हृदय में वे हृदयपरिमाण ही प्रतीत होते हैं 'गुहेव वृद्धम्'।

भावार्थ—प्रभु दीप्तिमय हैं। उस दीप्त प्रभु को हृदयों के अन्दर वे व्यक्ति देखते हैं जो कि यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं, यह यज्ञशेष का सेवन ही 'अमृतदोहन' है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासना का प्रकार व लाभ

ईळे च त्वा यजमानो हविर्भिरीळे सखित्वं सुमतिं निकामः ।
देवैरवो मिमीहि सं जरित्रे रक्षा च नो दम्येभिरनीकैः ॥ १५ ॥

(१) मन्त्र का पूर्वार्ध उपासना के प्रकार का उल्लेख करता है और मन्त्र का उत्तरार्ध उपासना के फल का। हे प्रभो! **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **हविर्भिः**=त्यागपूर्वक अदन द्वारा गतमन्त्र के यज्ञशेष के सेवन व अमृतदोहन द्वारा **त्वा ईडे**=आपकी उपासना करता है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'=हवि द्वारा ही तो आपका उपासन होता है। (२) **च**=और वह व्यक्ति **ईडे**=आपकी उपासना करता है जो **सखित्वम्**=सखित्व को तथा **सुमतिम्**=सुमति को-कल्याणी मति को **निकामः**=नितरां चाहनेवाला होता है। प्रभु का सच्चा उपासन यही है कि (क) हम यज्ञशील हों, (ख) सब के सखा बनकर रहें-विशेषतः इस सखित्व से प्रभु के सखा बनने की कामनावाले हों, (ग) सदा शुभ बुद्धि की कामना करें। (३) हे प्रभो! (अब) **जरित्रे**=स्तोता के लिये

देवैः=सूर्यादि देवों से **अवः**=रक्षण को **सं मिमीहि**=सम्यक्तया निर्मित करिए। सब सूर्यादि देव हमारे अनुकूल हों। इन जलवायु आदि देवों की अनुकूलता से हमारा स्वास्थ्य ठीक हो। **च**=और आप **दम्येभिः**=पूर्णरूप से नियन्तव्य **अनीकैः**=बलों द्वारा **रक्षा**=हमारी रक्षा करिए। हमें शक्ति प्राप्त कराईए। वह शक्तिपूर्ण रूप से हमारे नियन्त्रण में हो। यही नियन्त्रित शक्ति ही तो हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाएगी।

भावार्थ—उपासना का प्रकार यह है कि—(क) हम यज्ञशील बनें, (ख) सखा बनें, (ग) उत्तम बुद्धि की कामनावाले हों। उपासना का लाभ यह है कि—(क) सूर्य जल वायु आदि सब देव हमारे अनुकूल होंगे, (ख) तथा हमें नियन्त्रित शक्ति प्राप्त होगी जिससे कि हम लक्ष्यस्थान पर पहुँच सकेंगे।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुरेतसा+श्रवसा

उपक्षेतारस्तव सुप्रणीतेऽग्ने विश्वानि धन्या दधानाः ।
सुरेतसा श्रवसा तुञ्जमाना अभि ष्याम पृतनायूँरदेवान्॥ १६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी! **सुप्रणीते**=उत्तम प्रणयन-नेतृत्व-मार्गदर्शन करनेवाले प्रभो! **तव**=आपके **उपक्षेतारः (क्षि निवासगत्योः)**=समीप रहकर क्रियामय जीवन बितानेवाले व्यक्ति **विश्वानि**=सब **धन्या**=उन वस्तुओं को जो कि हमारे जीवन को धन्य बनाती हैं **दधानाः**=धारण करते हुए होते हैं। प्रभु के उपासक कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होते। माता-पिता की दृष्टि में रहनेवाली सन्तान का जीवन सदा उत्तम बनता है। इसी प्रकार उपासक का जीवन पवित्र बना रहता है। (२) मार्गभ्रष्ट न होते हुए हम **सुरेतसा**=उत्तम शक्ति से तथा **श्रवसा**=ज्ञान से **तुञ्जमानाः**=रोगों व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करते हुए, रेतस् से रोगों को तथा श्रवस् से वासनाओं को विनष्ट करते हुए, **पृतनायून्**=हमारे पर आक्रमण करनेवाले **अदेवान्**=अदिव्य व आसुरभावों को **अभिष्याम**=अभिभूत करनेवाले हों। शरीर पर आक्रमण करनेवाले राक्षसों, रोगकृमियों को भी हम जीतनेवाले हों। मन पर आक्रमण करनेवाले काम आदि भाव असुर हैं और शरीर पर आक्रमण करनेवाले रोगकृमि असुर हैं। हम इन्हें ज्ञान व शक्ति द्वारा पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु के प्रणयन में चलते हुए हम शक्तिरक्षण से रोगों को जीतें तथा ज्ञान से आसुरभावों को।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों के रथ के सारथि प्रभु

आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्।
प्रति मर्ताँ अवासयो दमूना अनु देवान्रथिरो यासि साधन्॥ १७ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **देवानाम्**=देववृत्ति के व्यक्तियों के लिये **केतुः**=प्रज्ञापक **आ अभवः**=समन्तात् होते हैं। वस्तुतः प्रभु के मार्गदर्शन से ही ये देव बनते हैं। प्रभु की प्रेरणा सुननेवाले देव बन जाते हैं, न सुननेवाले असुर हो जाते हैं। (२) हे प्रभो! आप **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप हैं, उपासकों के जीवन को आनन्दमय बनानेवाले हैं। **विश्वानि**=सब **काव्यानि**=ज्ञानों को **विद्वान्**=आप जानते हैं। यह वेदरूप अजरामर काव्य आपका ही तो है। प्रति सृष्टि के प्रारम्भ में आप इसे योग्यतम व्यक्तियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। (३) **दमूनाः**=(दानमनाः नि० ४।४)

दान के मनवाले आप–जीवों के लिये सब हितकर पदार्थों को प्राप्त करानेवाले आप **मर्तान्**=सब मनुष्यों को **प्रति अवासयः**=अपने–अपने घर में उत्तम निवासवाला बनाते हैं। जिस घर में प्रभु–पूजन चलता है, वहाँ योगक्षेम की तो कमी होती ही नहीं। वह घर बड़ा सुन्दर बना रहता है। (४) हे प्रभो! आप **रथिरः**=उत्तम सारथि के रूप में होकर **साधन्**=सब विजयों को सिद्ध करते हुए **देवान्**=देवों को **अनुयासि**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। देवों के आप सारथि बनते हैं और उन्हें विजयी बनाकर उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार जैसे कि अर्जुन को कृष्ण ने सफलता प्राप्त करायी।

भावार्थ—देवताओं के मार्गदर्शक प्रभु ही हैं। प्रभु इनके निवास को उत्तम बनाते हैं। प्रभु इनके रथ के सारथि होते हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

घर के राजा प्रभु

नि दुरोणे अमृतो मर्त्यानां राजा ससाद विदथानि साधन्।
घृतप्रतीक उर्विया व्यद्यौदग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्॥ १८॥

(१) **अमृतः**=वे अविनाशी प्रभु **मर्त्यानाम्**=जन्म–मरण के चक्र में फँसे हुए मनुष्यों के **दुरोणे**=गृह में **राजा**=दीप्ति के देनेवाले होकर **नि ससाद**=विराजमान हैं। प्रभु इस शरीर–रथ में प्रकाश के समान हैं। हृदयस्थरूपेण वे **विदथानि**=ज्ञानों को **साधन्**=सिद्ध कर रहे हैं। प्रभु कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान हमें निरन्तर देते हैं। (२) **घृतप्रतीकः**=दीप्त अंगोंवाले, सर्वतः दीप्त वे प्रभु **उर्विया व्यद्यौत्**=अत्यन्त ही द्योतित होते हैं। वे प्रभु प्रकाश ही प्रकाश हैं। **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **विश्वानि काव्यानि विद्वान्**=सब ज्ञानों को जानते हैं। सर्वज्ञता के नाते कोई भी बात उनसे छिपी नहीं। सब तत्त्वों के ज्ञाता होते हुए वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में इस ज्ञान को अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वज्ञ हैं। हमारे हृदयों में स्थित हुए–हुए हमें अन्तःप्रकाश प्राप्त कराते हैं। इस शरीरगृह के वे ही राजा=दीप्त करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की मित्रता रक्षण तथा तरुत्र धन

आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान्महीभिरूतिभिः सरण्यन्।
अस्मे रयिं बहुलं सन्तरुत्रं सुवाचं भागं यशसं कृधी नः॥ १९॥

(१) हे **महान्**=पूज्य **सरण्यन्**=निरन्तर गतिशील प्रभो! आप **शिवेभिः सख्येभिः**=कल्याणकर मित्रताओं के साथ तथा **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों के साथ **नः**=हमें **आगहि**=प्राप्त होइये। आपकी मित्रता में हमारा सदा कल्याण ही कल्याण है तथा आपके रक्षण सदा महनीय हैं। आपका उपासन करते हुए हम इन्हें प्राप्त हों। (२) आप **अस्मे**=हमारे लिये **रयिम्**=धन को **कृधि**=करिये। जो धन (क) **बहुलम्**=(बहून् लाति) बहुत अर्थों को प्राप्त करानेवाला है–प्रचुर मात्रावाला है। (ख) **सन्तरुत्रम्**=हमें सब वासनाओं व उपद्रवों से तरानेवाला है। **नः**=हमारे लिये आप उस धन को करिये, जो कि (ग) **सुवाचम्**=उत्तम वाणीवाला है, जिसको प्राप्त करके हम अभिमानवश तेज वाणी नहीं बोलते। (घ) **भागम्**=जो धन संविभागपूर्वक बहुतों से सेवन करने योग्य है। जिसको हम अकेले ही नहीं खा जाते। (ङ) **यशसम्**=जो धन

हमारे जीवन को यशस्वी बनाता है। जिस धन का हम यज्ञों में विनियोग करके यश प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हमें प्रभु की मित्रता व रक्षण प्राप्त हो। वह धन प्राप्त हो, जो आवश्यकताओं को पूर्ण करे और हमारे यश का भी कारण बने।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु का पूजन

एता ते अग्ने जनिमा सनानि प्र पूर्व्याय नूतनानि वोचम्।
महान्ति वृष्णे सवना कृतेमा जन्मंजन्मन्निहितो जातवेदाः ॥ २० ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **एता**=इन **सनानि**=प्राचीन व **नूतनानि**=नवीन **जनिमा**=विकासों को, उत्पादन कार्यों को **पूर्व्याय ते**=पालन व पूरण करनेवाले आप के लिये **प्रवोचम्**=मैं प्रकर्षेण कथन करनेवाला होऊँ। आपके निर्मित इन कार्यों की महिमा का अनुभव करता हुआ आपका स्मरण करनेवाला बनूँ। (२) **वृष्णे**=शक्तिशाली आप की प्राप्ति के लिये ही **इमा महान्ति**=ये महान् **सवना**=यज्ञ **कृता**=किये गये हैं। आपकी उपासना यज्ञों द्वारा ही तो होती है। (३) वे **जातवेदाः**=(जाते जाते विद्यते) प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले पदार्थ में होनेवाले प्रभु **जन्मन् जन्मन्**=प्रत्येक प्राणी में **निहितः**=निहित हैं, वर्तमान हैं। इस प्रभु के प्रकाश को यज्ञशील पुरुष ही देखते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उत्पादित प्रत्येक वस्तु स्तुत्य है। यज्ञों द्वारा प्रभु की पूजा होती है, उस प्रभु की जो कि सब प्राणियों में विद्यमान हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विश्वामित्र द्वारा प्रभुदीप्ति का दर्शन

जन्मंजन्मन्निहितो जातवेदा विश्वामित्रेभिरिध्यते अजस्रः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ २१ ॥

(१) **जातवेदाः**=प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में रहनेवाले वे प्रभु **जन्मन् जन्मन्**=प्रत्येक प्राणी में **निहितः**=निहित हैं। प्रत्येक प्राणी के हृदयदेश में वे वर्तमान हैं। वे **अजस्रः**=(जसु मोक्षणे) जिनका छूटना संभव ही नहीं, अर्थात् जो सदा हमारे साथ वर्तमान हैं, वे प्रभु **विश्वामित्रेभिः इध्यते**=विश्वामित्रों से दीप्त किये जाते हैं। उन प्रभु का प्रकाश उन व्यक्तियों के हृदयों में होता, है जो कि सब के साथ स्नेह से चलते हैं। प्राणिमात्र के प्रति स्नेह ही हृदय की निर्मलता का प्रतीक है, इस पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। सब जगह होते हुए भी वे प्रभु मलिन हृदयवालों को दिखते नहीं। (२) **तस्य यज्ञियस्य**=उस पूज्य प्रभु की **वयम्**=हम **अपि**=भी **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे सौमनसे**=सबका कल्याण करनेवाले सौमनस (उत्तम-मनस्कता)=उत्तम मन में **स्याम**=हों। प्रभुकृपा से हमें सदा सुमति प्राप्त हो और हम उस उत्तम मन को प्राप्त हों, जो कि सदा सबका कल्याण ही सोचता है।

भावार्थ—हम सब के प्रति स्नेहवाले होकर प्रभु को अपने हृदयों में दीप्त कर पाते हैं। ऐसा करने पर ही हमें सुमति व भद्र-सौमनस की प्राप्ति होती है। तब, हमारे विचार व हमारी सब कामनाएँ उत्तम ही होती हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**ज्योतिष्मतीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ+सात्त्विक अन्न+महती धन

इमं यज्ञं सहसावन्त्वं नो देवत्रा धेहि सुक्रतो ररांणः।
प्र यंसि होतर्बृहतीरिषो नोऽग्ने महि द्रविणमा यंजस्व॥ २२॥

(१) हे **सहसावन्**=बलसम्पन्न! **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञावाले प्रभो! (क्रतु=प्रज्ञा नि० ३।९) **रराणः**=उत्तम उपदेश व प्रेरणा देते हुए (रण शब्दे) **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **देवत्रा**=देवों की प्राप्ति के निमित्त, अर्थात् दिव्यगुणों के विकास के लिये **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **धेहि**=स्थापित करिये। मेरा जीवन यज्ञमय हो। इन यज्ञों से ही तो मेरे में दिव्यगुणों का विकास होगा। प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करके मैं यज्ञों में प्रवृत्त होऊँ और सद्गुणों को प्राप्त करूँ। (२) हे **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **बृहतीः**=वृद्धि के कारणभूत **इषः**=अन्नों को **प्रयंसि**=दीजिये। उन अन्नों को हम प्राप्त करें जिनसे कि हमारा 'शरीर, मन व बुद्धि' सब विकास को प्राप्त करें। (३) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **महि द्रविणम्**=महतीय द्रव्य को **आयजस्व**=हमारे साथ संगत करिए। हमें वह धन प्राप्त हो, जो कि सुपथ से कमाया गया है, तथा जिसका संविभागपूर्वक सेवन किया जाता है।

भावार्थ—प्रभुप्रेरणा द्वारा यज्ञों को करते हुए हम दिव्यगुणों का वर्धन करें। सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करें तथा महतीय धन का हमें लाभ हो।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वेदवाणी, उत्तम सन्तान व सुमति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ २३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **हवमानाय**=आपको पुकारते हुए मेरे लिये आप **इडाम्**=इस वेदवाणी को **साध**=सिद्ध करिए। जो वाणी **पुरुदंसम्**=पालनात्मक व पूरणात्मक (पुरु) कर्मों (दंस) वाली है, जिसमें ऐसे कर्मों का उपदेश है जो कि हमारे शरीरों का पालन करते हैं व मनों का पूरण करनेवाले हैं। जो **गोः सनिम्**=ज्ञानवाणियों को देनेवाली है, हमारे ज्ञान का वर्धन करनेवाली है। **शश्वत्तमम्**=अत्यन्त सनातन है, अनादिकाल से प्रभु द्वारा जीवों में स्थापित की जा रही है। (२) इस वेदवाणी के सिद्ध करने से **नः सूनुः**=हमारी सन्तान भी **तनयः**=शक्तियों का विस्तार करनेवाली **विजावा**=विविध व विशिष्ट विकासोंवाली **स्यात्**=हो। वेदवाणी की आराधना सन्तानों को भी उत्तम बनाती है। (३) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सा**=वह **ते सुमतिः**=आपकी कल्याणी मति **अस्मे**=हमारे लिये **भूतु**=हो। यह वेदाध्ययन हमारी बुद्धि को शुद्ध करें।

भावार्थ—हमें प्रभु की वेदवाणी प्राप्त हो। इससे हमारे सन्तान भी उत्तम होंगी। हमें भी सुमति प्राप्त होगी।

सूक्त का प्रारम्भ 'सोमरक्षण द्वारा प्रभुप्राप्ति' से हुआ है, (१) समाप्ति पर 'प्रभु से वेदवाणी द्वारा सुमतिप्राप्ति की याचना है।' अगले सूक्त में भी सुमति प्राप्त करके विश्वनरहित में प्रवृत्त होने का उपदेश है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वैश्वानर+ऋतावृध्+अग्नि

वैश्वानराय धिषणामृतावृधे घृतं न पूतमग्नये जनामसि।
द्विता होतारं मनुषश्च वाघतो धिया रथं न कुलिशः समृण्वति॥ १॥

(१) **वैश्वानराय**=(विश्वनरहिताय) सब मनुष्यों के हित करनेवाले, **ऋतावृधे**=उपासकों के जीवन में ऋत (=सत्य) का वर्धन करनेवाले, **अग्नये**=उस अग्रणी प्रभु के लिये, उस प्रभुप्राप्ति के लिये, **पूतं घृतं न**=पवित्र ज्ञानदीप्ति की तरह **धिषणाम्**=स्तुति को **जनामसि**=उत्पन्न करते हैं। प्रभुप्राप्ति के लिये जितना ज्ञान आवश्यक है, उतना ही स्तवन भी। ज्ञान और स्तवन मिलकर हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं, प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी 'वैश्वानर' बनते हैं, ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले होते हैं और सदा अपने को आगे बढ़ाने की प्रवृत्तिवाले बनते हैं। (२) **द्विता**=इस प्रकार ज्ञान व स्तवन के विस्तार से (द्वि+तन्) **मनुषः च**=ज्ञानी लोग और **वाघतः**=स्तवन करनेवाले लोग **होतारम्**=उस सृष्टि-यज्ञ के होता प्रभु को-सब कुछ देनेवाले प्रभु को **समृण्वति**=अपने हृदयों में सुसंस्कृत करते हैं। इस प्रकार सुसंस्कृत करते हैं **न**=जैसे कि **धिया**=बुद्धिपूर्वक व्यापृत किये गये **कुलिशः**=वासी आदि औजार **रथम्**=रथ को संस्कृत करनेवाले होते हैं। यह उपमा इस बात को स्पष्ट कर रही है कि ज्ञानपूर्वक की गई स्तुति भी जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए एक सुसंस्कृत रथ का काम देती है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करके प्रभुस्तवन करते हुए हम सब नरों के हित में प्रवृत्त हों, अपने जीवन में ऋतवर्धन करें और निरन्तर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ईड्य पुत्र

स रोचयज्जनुषा रोदसी उभे स मात्रोरभवत्पुत्र ईड्यः।
हव्यवाळग्निरजरश्चनोहितो दूळभो विशामतिथिर्विभावसुः॥ २॥

(१) **सः**=वह गतमन्त्र के अनुसार अपने जीवन में ऋतवर्धन करनेवाला **जनुषा**=शक्तियों के विकास द्वारा **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **रोचयत्**=दीप्त करता है। इसका मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से दीप्त होता है, तो इसका शरीर स्वास्थ्य की दीप्तिवाला होता है। **सः**=वह **मात्रोः**=द्युलोक व पृथिवीलोकरूपी माता-पिता का **ईड्यः**=स्तुत्य **पुत्रः**=पुत्र **अभवत्**=होता है। 'पुत्र' की भावना है 'पुनाति त्रायते'=अपने को पवित्र बनाता है और रोगों से अपना 'त्राण' बचाव करता है, माता-पिता 'द्युलोक व पृथिवीलोक' हैं 'द्यौ पिता पृथिवी माता'। द्युलोकस्थ सूर्य की तरह मस्तिष्क में उदित ज्ञान से यह अपने को पवित्र बनाता है 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'। पृथिवी की दृढ़ता की तरह शरीर की दृढ़ता होने से यह रोगाक्रान्त नहीं होता। (२) इस प्रकार बनकर यह अपने गृहस्थ में **हव्यवाट्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करनेवाला, **अग्निः**=आगे और आगे बढ़नेवाला बनता है। यज्ञशील होता है और प्रगतिशील बनता है। गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ में **अजरः**=न जीर्ण शक्तिवाला, **चनोहितः**=सात्त्विक वन्य-अन्नों को ही अपने में स्थापित करनेवाला बनता है और अन्ततः **दूळभः**=वासनाओं से न हिंसित होनेवाला यह **विशां अतिथिः**=सब प्रजाओं का अतिथि बनता है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' समस्त वसुधारूप परिवार में विचरता है।

विभावसुः=ज्ञानरूप धनवाला होता है–सब प्रजाओं के लिये इस ज्ञानरूप धन को देनेवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य में दो ही कार्य हैं, 'ज्ञान व शक्ति' प्राप्त करना। गृहस्थ में यज्ञमय बनकर आगे बढ़ना। वानप्रस्थ में शक्ति को न जीर्ण होने देते हुए सात्त्विक अन्नों का सेवन करना तथा अन्त में संन्यस्त हो सब वासनाओं से ऊपर उठकर ज्ञान का प्रसार करना।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभुदर्शन के साधन

क्रत्वा दक्षस्य तरुषो विधर्मणि देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभिः।
रुरुचानं भानुना ज्योतिषा महामत्यं न वाजं सनिष्यन्नुप ब्रुवे ॥ ३ ॥

(१) **दक्षस्य क्रत्वा**=बल के कर्मों से, अर्थात् उन कार्यों द्वारा जिनसे कि बलवर्धन होता है तथा **तरुषः**=वासनाओं को तैर जाने के **विधर्मणि**=विशेषरूप से धारण करने पर, **चित्तिभिः**=ज्ञानों द्वारा **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अग्निं जनयन्त**=उस अग्नि नामक प्रभु को अपने में प्रादुर्भूत करते हैं। प्रभुदर्शन तब होता है जब कि हम (क) शरीर में बल का सम्पादन करें, (ख) मन में वासनाओं को न आने दें तथा (ग) मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करें। (२) **वाजं सनिष्यत्**=बल प्राप्त करने की कामनावाला होता हुआ मैं उस प्रभु को स्तुत करता हूँ, जो कि **भानुना रुरुचानम्**=दीप्ति से रोचमान हैं। **ज्योतिषा महाम्**=ज्योति से महान् हैं। इस प्रभुकृपा से ही मैं **अत्यं न**=घोड़े के समान (वाजं) शक्ति प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम शरीर में बल का सम्पादन करें, मन को वासनाशून्य बनाएँ और मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करें। प्रभुकृपा से ही हमें शक्ति प्राप्त होगी।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभुस्तवन व बलप्राप्ति

आ मन्द्रस्य सनिष्यन्तो वरेण्यं वृणीमहे अह्रयं वाजमृग्मियम्।
रातिं भृगूणामुशिजं कविक्रतुमग्निं राजन्तं दिव्येन शोचिषा ॥ ४ ॥

(१) **मन्द्रस्य**=उस आनन्दमय स्तुत्य प्रभु का **सनिष्यन्तः**=संभजन करते हुए हम **वरेण्यम्**=वरणीय **अह्रयम्**=अलज्जावह, जो लज्जा का कारण नहीं बनता, अर्थात् जिसद्वारा हम कोई अशुभ कार्य नहीं करते, **ऋग्मियम्**=स्तुत्य **वाजम्**=बल को **वृणीमहे**=वरते हैं। प्रभु का स्तवन करते हैं और प्रशंसनीय शक्ति की याचना करते हैं। (२) उस प्रभु से हम शक्ति की याचना करते हैं जो कि **भृगूणां रातिम्**=तपस्वियों के अभिलषितार्थ को देनेवाले हैं। **उशिजम्**=मेधावी हैं (नि० ३।१५)। **कविक्रतुम्**=क्रान्त-प्रज्ञावाले व शक्तिसम्पन्न हैं। **अग्निम्**=अरोणी हैं और **दिव्येन शोचिषा राजन्तम्**=दिव्यदीप्ति से दीप्त हैं, अद्भुत कान्ति-सम्पन्न हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु से प्रशंसनीय बल प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पापशून्यता व वाणी का संयम

अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जना वाजश्रवसमिह वृक्तबर्हिषः।
यतस्रुचः सुरुचं विश्वदेव्यं रुद्रं यज्ञानां साधदिष्टिमपसाम् ॥ ५ ॥

(१) **इह**=इस जीवन में **वृक्तबर्हिषः**=हृदय से पापवर्जन करनेवाले **जनाः**=लोग **वाजश्रवसम्**= शक्ति के कारण, यशवाले **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **सुम्नाय**=सुखप्राप्ति के लिए **पुरः दधिरे**=सामने धारण करते हैं। सदा प्रभु का स्मरण करते हैं। इस प्रभु के उपासन से ही ये पापों में फँसने से बचते हैं और यशस्वी बल प्राप्त करके सुखी होते हैं। (२) **यतस्रुचः**=यज्ञ के चम्मचों को हाथ में पकड़नेवाले, अर्थात् यज्ञशील लोग अथवा (स्रुक्=वाणी श० ६।३।१।८) नियतवाणीवाले ये लोग, परिमित बोलनेवाले, उस प्रभु का स्तवन करते हैं, जो कि **सुरुचम्**=उत्तम दीप्तिवाले हैं, **विश्वदेव्यम्**=सब उत्तम दिव्यगुणोंवाले हैं। **रुद्रम्**=दुःखों का द्रावण करनेवाले हैं तथा **अपसाम्**=कर्मशील लोगों के **यज्ञानाम्**=यज्ञों के **साधदिष्टिम्**=इष्ट रूप में सिद्ध करनेवाले हैं। सब यज्ञों के पालक प्रभु ही हैं, उन्हीं की कृपा से सब यज्ञ सिद्ध हुआ करते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों को पापशून्य बनाते हुए तथा वाणी का संयम करते हुए या यज्ञशील बनते हुए प्रभु के उपासक हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासना द्वारा पवित्रता

पावकशोचे तव हि क्षयं परि होतर्यज्ञेषु वृक्तबर्हिषो नरः।
अग्ने दुव इच्छमानास आप्यमुपासते द्रविणं धेहि तेभ्यः॥ ६॥

(१) **पावकशोचे**=हे पवित्र दीप्तिवाले प्रभो! **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! **यज्ञेषु**=यज्ञों में **वृक्तबर्हिषः**=हृदय से पाप का वर्जन करनेवाले **नरः**=लोग **तव**=आपके **हि**=ही **क्षयम्**=निवास का **परि उपासते**=उपासन करते हैं। आपकी ही शरण में आते हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **दुवः इच्छमानासः**=परिचर्या (=उपासना) को चाहते हुए ये लोग **आप्यम्**=प्राप्त करने योग्य आपकी **उपासते**=उपासना करते हैं। आपको प्राप्त कर लेने पर सब कुछ स्वयं प्राप्त हो जाता है। **तेभ्यः**=उन उपासकों के लिये आप **द्रविणम्**=संसारयात्रा को पूर्ण करने के लिये आवश्यक धन को **धेहि**=धारण करिए। (३) वस्तुतः जितना-जितना हम प्रभु का उपासन करते हैं, उतना-उतना हमारा जीवन पवित्र बनता है। प्रभु की ज्ञानदीप्ति हमारे जीवनों का शोधन करनेवाली है। प्रभु की उपासना से पाप तो नष्ट होते ही हैं, इहलोक की यात्रा के लिये आवश्यक सब धन भी प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करके पवित्र जीवनवाले हों। प्रभु हमें सब आवश्यक धन प्राप्त कराएँगे। हमारा पाप की ओर झुकाव ही समाप्त हो जाएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

लोकत्रयी का पूरण

आ रोदसी अपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसो अधारयन्।
सो अध्वराय परि णीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः॥ ७॥

(१) **यत्**=जब, गतमन्त्र के अनुसार, **जातम्**=सदा से प्रादुर्भूत **एनम्**=इस प्रभु को **अपसः**=कर्मशील लोग **अधारयन्**=अपने हृदयों में धारण करते हैं तो यह प्रभु **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आ अपृणत्**=समन्तात् पूरित करता है, अर्थात् इन उपासकों के मस्तिष्क व शरीर को न्यूनताओं से रहित करता है। इनके शरीर को दृढ़ व नीरोग बनाता है और इनके मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करता है। इसी प्रकार वे प्रभु **महत् स्वः**=इस महान् अन्तरिक्ष को भी पूरित करते हैं, हृदयान्तरिक्ष

में भी किसी प्रकार की न्यूनता को नहीं आने देते। उपासक का हृदय महान् व पवित्र बनता है। (२) **सः**=वह प्रभु **अध्वराय**=यज्ञों के लिये **परिणीयते**=सर्वतः प्राप्त किया जाता है। उस प्रभु द्वारा ही तो हमारे यज्ञ पूर्ण होते हैं। **कविः**=वे प्रभु सर्वज्ञ हैं, **अत्यः न**=अश्व के समान हैं-सतत क्रियाशील हैं। प्रभु ज्ञान व क्रिया (शक्ति) की पराकाष्ठा हैं। वे प्रभु **वाजसातये**=शक्ति-प्राप्ति के लिये होते हैं, प्रभु से हमें शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति को प्राप्त कराने के लिए ही **चनोहितः**=वे अन्न का धारण करनेवाले हैं। अन्नों द्वारा वे हमारे शरीरों में प्राणशक्ति को स्थापित करते हैं 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः'।

भावार्थ—प्रभु का हम उपासन करेंगे तो प्रभु हमारे शरीर, हृदय व मस्तिष्क सभी को बड़ा सुन्दर बनाएँगे। हमारा जीवन यज्ञमय होगा और अन्नों का सेवन करते हुए हम शक्तिशाली बनेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वह महान् पुरोहित

नमस्यत हव्यादातिं स्वध्वरं दुवस्यत दम्यं जातवेदसम्।
रथीर्ऋतस्य बृहतो विचर्षणिरग्निर्देवानामभवत् पुरोहितः॥ ८॥

(१) **हव्यदातिम्**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले, **स्वध्वरम्**=उत्तम यज्ञोंवाले प्रभु को **नमस्यत**=प्रातः-सायं नमन करनेवाले बनो। प्रभु सब उत्कृष्ट पदार्थों को हमें प्राप्त कराते हैं। सब आवश्यक हव्यों को प्राप्त कराके वे हमारे सब यज्ञों को पूर्ण किया करते हैं। **दम्यम्**=(दमेभ्यो हितं) सब गृहों के लिये हितकर **जातवेदसम्**=उस सर्वज्ञ व सब धनोंवाले प्रभु को **दुवस्यत**=तुम पूजो। जिस घर में प्रभु-पूजन सम्मिलित रूप से होता रहता है, वह घर उत्तम वृत्तिवाला बनकर सदा ठीक बना रहता है और किसी प्रकार के आवश्यक धन की कमी नहीं रहती। (२) वे प्रभु, जिनका नमन व पूजन हमें गृहों में करना है, **बृहतः ऋतस्य**=महान् ऋत के **रथीः**=प्रणेता हैं। प्रभु के शासन में प्रत्येक प्राकृतिक पिण्ड व लोक बड़ी नियमित गति से चल रहा है। प्रकृति के इन नियमों को ही 'ऋत' कहते हैं। अनन्त लोक-लोकान्तर इस ऋत के अनुसार अपने-अपने मार्ग पर चल रहे हैं। **विचर्षणिः**=वे प्रभु विशेषरूप से हमारे ब्रह्माण्ड के द्रष्टा हैं, अध्यक्ष हैं, प्रभु की अध्यक्षता में यह सारा ब्रह्माण्ड-यन्त्र घूम रहा है। **अग्निः**=वे ही अग्रणी हैं, सबको आगे ले चल रहे हैं। (३) **देवानां पुरोहितः अभवत्**=देवों के वे पुरोहित हैं। देववृत्ति के लोगों के लिये वे आदर्श के रूप में हैं। उनके सामने (पुरः) विद्यमान हैं (हितः)। प्रभु को देखकर देव भी वैसा बनने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु अनन्त दयालु हैं, ये भी दया को अपनाते हैं। प्रभु न्यायकारी हैं, ये भी न्याय को अपनाने के लिये यत्नशील होते हैं। इस प्रकार ये देव भी परमात्मा के गुणों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का हम उपासन करें, प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तीन समिधाएँ

तिस्रो यह्वस्य समिधः परिज्मनोऽग्नेरपुनन्नुशिजो अमृत्यवः।
तासामेकामदधुर्मर्त्ये भुजमु लोकमु द्वे उप जामिमीयतुः॥ ९॥

(१) **यह्वस्य**=उस महान् प्रभु की **तिस्रः समिधः**=तीन समिधाएँ हैं। 'इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति'=यह पृथिवीलोक पहली समिधा है, द्युलोक दूसरी और

तीसरी समिधा अन्तरिक्ष है। जैसे इस अग्नि में डाले जानेवाली समिधा से अग्नि दीप्त होती है, उसी प्रकार पृथिवीलोक के पदार्थों में द्युलोक के सूर्यादि पिण्डों में तथा अन्तरिक्ष लोक के मेघ विद्युत् आदि में प्रभु की महिमा दिखती है एवं ये पदार्थ प्रभु को हमारे लिये दीप्त करते हैं। उस प्रभु को जो कि **परिज्मनः**=चारों ओर गतिवाले हैं, सर्वव्यापक हैं। **अग्नेः**=जो अग्रणी हैं। उन प्रभु के ये तीनों लोक तीन समिधाएँ हैं। **उशिजः**=तेजस्वी लोग **अमृत्यवः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले लोग **अपुनन्**=इन तीनों समिधाओं का शोधन करते हैं। इन लोकों के पदार्थों का गहरा ज्ञान प्राप्त करते हैं और इनमें प्रभु की महिमा देखते हैं। (२) **तासाम्**=उन समिधाओं में से **एकाम्**=एक इस पृथ्वीरूप समिधा को **उ**=निश्चय से **मर्त्ये**=मनुष्य के निमित्त **भुजम्**=पालन करनेवाली के रूप में **अदधुः**=स्थापित करते हैं। इस पृथ्वी के पदार्थों का प्रयोग करता हुआ मनुष्य इनमें प्रभु की महिमा को देखना भूल जाता है। इस प्रकार यह पृथिवी रूप समिधा तो मनुष्य का पालन करनेवाली ही हो जाती है। **उ**=और **द्वे उ**=दो समिधाएँ निश्चय से **जामिम्**=सारे ब्रह्माण्ड को जन्म देनेवाले **लोकम्**=प्रकाशमय प्रभु के **उप ईयतुः**=समीप प्राप्त होती हैं, अर्थात् अन्तरिक्ष व द्युलोक के पदार्थों में प्रभु की महिमा सदा दिखती है और मनुष्य को प्रभु का स्मरण कराती है।

भावार्थ—पृथ्वी के पदार्थ मनुष्य के प्रयोग में आकर उसका पालन करते हैं। अन्तरिक्ष व द्युलोक के पदार्थ उसे प्रभु की महिमा दिखाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मानवोचित इच्छाएँ

विशां कविं विश्पतिं मानुषीरिषः सं सीमकृण्वन्त्स्वधितिं न तेजसे।
स उद्वतो निवतो याति वेविषत्स गर्भमेषु भुवनेषु दीधरत्॥ १०॥

(१) **मानुषीः इषः**=मानवोचित इच्छाएँ **सीम्**=निश्चय से उस प्रभु को अपने में **सं अकृण्वन्**=संस्कृत करती हैं जो कि **कविम्**=क्रान्तप्रज्ञ हैं और **विशां विश्पतिम्**=प्रजाओं के पालक हैं। प्रभु को अपने में इस प्रकार संस्कृत करते हैं, **न**=जैसे कि **स्वधितिम्**=परशु को **तेजसे**=(तैक्ष्यार्थं) तेज करने के लिये संस्कृत किया करते हैं। परशु को सान पर घिसकर तेज करते हैं, इसी प्रकार अपनी बुद्धि का परिमार्जन करके ये प्रभु का दर्शन करते हैं, यही प्रभु का संस्कृत करना है। प्रभुदर्शन के अभिलाषी के लिये आवश्यक है कि वह पाशविक-भोगविषयक इच्छाओं से ऊपर उठे। उसमें मानव के योग्य इच्छाएँ ही हों (मानुषीः इषः)। (२) वैसे तो वे प्रभु **उद्वतः**=उत्कृष्ट प्रदेशों में तथा **निवतः**=निम्न प्रदेशों में सर्वत्र **वेविषत्**=व्याप्त होता हुआ **याति**=गति करता है। **सः**=वह **एषु भुवनेषु**=इन लोकों में **गर्भम्**=गर्भ को **दीधरत्**=धारण करता है। सब पदार्थों के गर्भ में वे प्रभु हैं। अपनी व्यापकता से वे सर्वत्र हैं, परन्तु महत्त्व तो इस बात का है कि हम अपनी बुद्धि को परिष्कृत करके प्रभुदर्शन करनेवाले बनें। पाशविक-इच्छाओं से ऊपर उठें। मानव-इच्छाओं को महत्त्व दें।

भावार्थ—बुद्धि परिष्कृत करके, मानवोचित इच्छाओं को धारण करते हुए हम उस व्यापक प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शेर के समान गर्जना करते हुए

स जिन्वते जठरेषु प्रजज्ञिवान्वृषा चित्रेषु नानदन्न सिंहः।
वैश्वानरः पृथुपाजा अमर्त्यो वसु रत्ना दयमानो वि दाशुषे॥ ११॥

(१) **सः**=वे **प्रजज्ञिवान्**=सदा से प्रादुर्भूत (जात) **वृषा**=शक्तिशाली प्रभु **चित्रेषु जठरेषु**=नाना प्रकार के जठरों में-भुवनों (प्राणियों) के गर्भों में **जिन्वते**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं (वर्धते सा०), अर्थात् प्रभु प्राणभेद से नाना प्रकार के जठरों में विद्यमान हैं-सब प्राणियों के अन्दर प्रभु स्थित हैं। वहाँ स्थित हुए-हुए वे प्रभु **सिंहः न**=शेर के समान **नानदत्**=गर्जना कर रहे हैं। अत्यन्त ऊँचे प्रेरणा दे रहे हैं, परन्तु कोई विरल ही व्यक्ति उस प्रेरणा को सुननेवाला होता है। (२) वे प्रभु तो **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **पृथुपाजाः**=विस्तृत शक्तिवाले हैं। **अमर्त्यः**=कभी नष्ट होनेवाले नहीं। **दाशुषे**=दाश्वान् के लिये-प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये अथवा दानशील के लिये वे प्रभु **वसु**=सब धनों को तथा **रत्ना**=रत्नों को **विदयमानः**=विशेषरूप से देनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभुप्रेरणा को सुनें, तदनुसार चलें। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करेंगे तो प्रभु हमारे लिये सब रत्नों को देंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ज्ञानमय आनन्दमय' एकरस प्रभु

वैश्वानरः प्रत्नथा नाकमारुहद्दिवस्पृष्ठं भन्दमानः सुमन्मभिः।
स पूर्ववज्जनयञ्जन्तवे धनं समानमज्मं पर्येति जागृविः॥ १२॥

(१) **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु **दिवस्पृष्ठम्**=द्युलोक रूप पृष्ठवाले-ज्ञानप्रकाशरूप आधारवाले, **नाकम्**=आनन्दमय लोक में **प्रत्नथा**=सनातन काल की तरह अर्थात् सदा **आरुहत्**=आरूढ़ होते हैं, अर्थात् प्रभु ज्ञानमय हैं और आनन्दमय हैं। वे प्रभु **सुमन्मभिः**=उत्तम विचारशील स्तोताओं से **भन्दमानः**=स्तूयमान होते हैं। ज्ञानीपुरुष सदा प्रभुस्तवन करते हैं। प्रभुस्तवन करते हुए ये भी अपने ज्ञान को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए आनन्दमयता प्राप्त करते हैं। (२) वे प्रभु **पूर्ववत्**=पहले की तरह, जैसे पिछली सृष्टि में, उसी तरह इस सृष्टि में भी, **जन्तवे**=प्राणी के लिये **धनम्**=धन को **जनयन्**=उत्पन्न करते हैं। सब मनुष्यों को वे प्रभु आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। **जागृविः**=सदा जागरित वे प्रभु **समानम्**=समान ही **अज्मम्**=मार्ग पर **पर्येति**=गति करते हैं। प्रभु एकरस हैं। वे अपनी व्यवस्थाओं को न भंग करते हुए समान मार्ग से आगे और आगे बढ़ते चल रहे हैं। कोई भी घटना प्रभु को मार्ग से विचलित नहीं कर सकती। 'पिछली सृष्टि के नियमों से अब की बार कुछ परिवर्तन हो गया है', ऐसी बात नहीं है। वे प्रभु एकरस हैं, उनके नियम अपरिवर्तनीय हैं। प्रभु का मार्ग सदा एक समान है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानमय व आनन्दमय हैं। सब के लिये वे आवश्यक धन देते हैं। प्रभु का मार्ग सदा एक समान है, प्रभु के नियमों में परिवर्तन नहीं होता रहता।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मातरिश्वा

ऋतावानं यज्ञियं विप्रमुक्थ्य१मा यं दधे मातरिश्वा दिवि क्षयम्।
तं चित्रयामं हरिकेशमीमहे सुदीतिमग्निं सुविताय नव्यसे॥ १३॥

(१) **ऋतावानम्**=ऋतवाले व ऋत का अवन (=रक्षण) करनेवाले-प्राकृतिक संसार में काम करनेवाला नियम ऋत कहलाता है, प्रभु इस ऋत का रक्षण करते हैं, प्रभु की व्यवस्था में प्रत्येक पिण्ड ऋत के अनुसार गति कर रहा है। **यज्ञियम्**=पूज्य, संगतिकरण योग्य व समर्पणीय।

विप्रम्=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले, **उक्थ्यम्**=स्तुत्य, **दिवि क्षयम्**=प्रकाशमय स्वरूप में निवास करनेवाले **यम्**=जिस ईश को **मातरिश्वा**=वेदमाता के अनुसार गति करनेवाला व वृद्धि प्राप्त करनेवाला जीव **दधे**=धारण करता है। **तम्**=उसी प्रभु की हम **ईमहे**=याचना करते हैं। प्रभु का यह उपासक भी ऋतरक्षण करनेवाला, यज्ञशील, अपना पूरण करनेवाला व स्तुतिमय जीवनवाला बनता है। (२) **तम्**=उस **चित्रयामम्**=अद्भुत गतिवाले-उस प्रभु की गतियाँ जीव के लिये अज्ञेय हैं। **हरिकेशम्**=दुःख के हरण करनेवाली ज्ञानरश्मियोंवाले। **सु-दीतिम्**=उत्तम दीप्तिवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **नव्यसे**=अत्यन्त स्तुत्य **सुविताय**=सुवित के लिये **ईमहे**=याचना करते हैं। प्रभुकृपा से हम प्रशस्त-जीवन-मार्गवाले हों।

भावार्थ—प्रभुस्तवन करते हुए हम प्रशस्त-जीवन-मार्ग का आक्रमण करें। प्रभु-धारण के लिये वेदानुकूल जीवनयापन का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'शोधक' प्रभु

शुचिं न यामन्निषिरं स्वर्दृशं केतुं दिवो रोचनस्थामुषर्बुधम्।
अग्निं मूर्धानं दिवो अप्रतिष्कुतं तमीमहे नमसा वाजिनं बृहत्॥ १४॥

(१) **यामन्**=हमारी जीवनयात्रा में **शुचिं न**=शोधक के समान जो प्रभु हैं। प्रभु वस्तुतः हमारे जीवन का शोधन करनेवाले हैं। प्रभुस्मरण हमें पाप से बचाता है। **इषिरम्**=वे प्रभु हमें सतत प्रेरणा देनेवाले हैं (इष प्रेरणे), **स्वर्दृशम्**=प्रकाश को दिखानेवाले हैं, **दिवः केतुम्**=ज्ञान के प्रज्ञापक हैं। प्रभु ही तो सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देते हैं। **रोचनस्थाम्**=दीप्त हृदय में स्थित होनेवाले हैं। मैं अपने हृदय को निर्मल करने का प्रयत्न करता हूँ-उस निर्मल हृदय में प्रभु को आमन्त्रित करने का अधिकारी होता हूँ। **उषर्बुधम्**=वे प्रभु प्रातः हमारे में प्रबुद्ध होनेवाले हैं। उस समय का नाम ही 'ब्राह्ममुहूर्त' पड़ गया है। रात्रि की निद्रा से उस समय हम जागे हैं और अभी सांसारिक व्यवहारों का प्रारम्भ नहीं हुआ। इस प्रकार यह उषाकाल प्रभुस्मरण का सर्वोत्तम समय है। (२) **तम्**=उस **अग्निम्**=अग्रणी, **दिवः मूर्धानम्**=ज्ञान के शिखरभूत, **अप्रतिष्कुतम्**=किसी से (अप्रतिष्कृतः अप्रस्खलितः नि० ६।१६) विचलित न किये जानेवाले, **वाजिनम्**=शक्तिशाली प्रभु को **नमसा**=नमन द्वारा **बृहत्**=अत्यन्त ही **ईमहे**=याचना करते हैं।

भावार्थ—यह प्रभुस्मरण ही हमें पवित्र, प्रकाशमय व अस्खलित जीवनवाला बनायेगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सब ऐश्वर्यों के दाता' प्रभु

मन्द्रं होतारं शुचिमद्वयाविनं दमूनसमुक्थ्यं विश्वचर्षणिम्।
रथं न चित्रं वपुषाय दर्शतं मनुर्हितं सदमिद्राय ईमहे॥ १५॥

(१) **मन्द्रम्**=स्तुत्य, **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले, **शुचिम्**=पवित्र, **अद्वयाविनम्**=कुटिलता से रहित (अद्वयावी), **दमूनसम्**=दान के मनवाले, **उक्थ्यम्**=स्तुतियोग्य, **विश्वचर्षणिम्**=सर्वद्रष्टा, सबका ध्यान करनेवाले, **रथं न**=जो प्रभु जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये रथ के समान हैं। **चित्रम्**=अद्भुत अथवा ज्ञान देनेवाले **वपुषाय दर्शतम्**=(वपुषं=beauty) सौन्दर्य के लिये दर्शनीय, अर्थात् जहाँ-जहाँ भी सौन्दर्य है, वह सब प्रभुतेज के अंश के कारण ही तो है, **मनुर्हितम्**=मानवहित करनेवाले उस प्रभु से **सदम्**=सदा **इत्**=ही **रायः**=धनों को **ईमहे**=माँगते हैं।

(२) सब धनों के स्वामी वे प्रभु हैं, उस प्रभु से ही हम धनों की याचना करते हैं। प्रभु से जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धनों को प्राप्त करते हुए हम अपनी जीवनयात्रा को सुन्दरता से निभानेवाले बनते हैं। प्रभुस्तवन करते हैं, प्रभु पर पूर्ण विश्वास के साथ चलते हैं। 'प्रभु सदा देनेवाले हैं, वे हमारा हित करनेवाले हैं' यह धारणा हमें जीवन के सौन्दर्य को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु से ही हम सब आवश्यक ऐश्वर्यों की याचना करते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त इसी भाव से परिपूर्ण है कि प्रभु ही सब इष्ट धनों के देनेवाले हैं। इस प्रभु की ही उपासना अगले सूक्त में भी उपदिष्ट है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभुस्तवन तथा देवसंग

वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो रत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे।
अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूदुषत्॥ १॥

(१) **विपः**=मेधावी पुरुष **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **पृथुपाजसे**=अनन्त शक्तिवाले प्रभु के लिये **रत्ना**=रमणीय स्तोत्रों को **विधन्त**=करते हैं, **धरुणेषु गातवे**=ताकि वे धारणात्मक कर्मों में चल सकें (गाङ् गतौ)। प्रभु के स्तोत्र इन स्तोताओं के सामने गन्तव्य-मार्ग को उपस्थित करते हैं। स्तुति से उनके सामने एक लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है कि हमें इस प्रकार का बनना है। इस प्रकार स्तोता सदा धारणात्मक कर्मों को ही करनेवाले होते हैं। (२) इस प्रकार यह स्तोता **अग्निः**=प्रगतिशील होता हुआ **हि**=निश्चय से **अमृतः**=विषयों के पीछे न मरता हुआ और अतएव नीरोग होता हुआ **देवान् दुवस्यति**=देवों की परिचर्या करता है। यह सज्जनों का संग उसके जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। **अथा**=अब यह अग्नि **सनता धर्माणि**=सनातन धर्मों को **न दूदुषत्**=दूषित नहीं करता। अहिंसा सत्य आदि सार्वकालिक धर्मों का यह सदा पालन करता है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से स्तोता में सदा धारणात्मक कार्यों को करने की रुचि उत्पन्न होती है तथा विद्वानों का संग करता हुआ यह नित्य धर्मों का पालन करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दर्शनीय दूत

अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते होता निषत्तो मनुषः पुरोहितः।
क्षयं बृहन्तं परि भूषति द्युभिर्देवेभिरग्निरिषितो धियावसुः॥ २॥

(१) **दूतः**=ज्ञान का सन्देश देनेवाला **दस्मः**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाला, दर्शनीय प्रभु **रोदसी अन्तः**=द्युलोक और पृथिवीलोक के अन्दर **ईयते**=गतिवाला होता है, वे प्रभु सम्पूर्ण अवकाश को व्याप्त किये हुए हैं। **होता**=वे सब हव्य पदार्थों को देनेवाले हैं। **निषत्तः**=सब के हृदयों में आसीन हैं। **मनुषः पुरोहितः**=एक विचारशील पुरुष के सामने विद्यमान हैं। वह सर्वत्र प्रभु को देखता है। प्रभु को देखता हुआ प्रभु से ही प्रेरणा प्राप्त करता है। (२) वे प्रभु **बृहन्तं क्षयम्**=महान् हृदयरूपी गृह को **द्युभिः**=ज्ञान-ज्योतियों से **परिभूषति**=अलंकृत करते हैं। हम हृदय को कुछ विशाल बनायें, उस विशाल हृदय में प्रभु के दर्शन होंगे। यह विशाल हृदय प्रभु के प्रकाश से दीप्त हो उठेगा। (३) **देवेभिः**=देववृत्ति के पुरुषों से **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु

इषितः=अपने अन्दर प्रेरित किये जाते हैं। ये व्यक्ति अपने हृदयों में प्रभुप्रेरणा को सुन पाते हैं। आसुर-वृत्तियों के होने पर प्रभु का आभास नहीं होता। **धियावसुः**=वे प्रभु प्रज्ञापूर्वक कर्मों द्वारा सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः प्रभुप्रेरणा को सुननेवाले व्यक्ति सदा ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और ये कर्म उनको सब वसुओं=निवास के लिये आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु दूत हैं, उनका सन्देश विशाल हृदय में ही सुन पड़ता है, उस सन्देश को सुननेवाला, ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त हुआ-हुआ सब वसुओं को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु के प्रति अर्पण

केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः।
अपांसि यस्मिन्नधि सन्दधुर्गिरस्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके॥ ३॥

(१) **विप्रासः**=ज्ञानी लोग **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **चित्तिभिः**=बड़े ज्ञानपूर्वक **महयन्त**=पूजित करते हैं। समझकर-अर्थभावनपूर्वक प्रभु का पूजन करते हैं। उस प्रभु का जो कि **यज्ञानां केतुम्**=यज्ञों के प्रज्ञापक हैं तथा **विदथस्य**=ज्ञानों को **साधनम्**=सिद्ध करनेवाले हैं। पूजित हुए-हुए प्रभु कर्त्तव्यकर्मों की प्रेरणा तो देते ही हैं, सब ज्ञानों को प्राप्त करानेवाले भी होते हैं। (२) **गिरः**=स्तोता लोग **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **अपांसि**=सब कर्मों को **अधिसन्दधुः**=आधिक्येन धारण करते हैं, अर्थात् उस ब्रह्म में स्थित होकर ही कर्मों को करते हैं और सब कर्मों को उसमें ही अर्पित कर देते हैं-उन कर्मों को प्रभुशक्ति से होता हुआ जानकर उनका अहंकार नहीं करते। **तस्मिन्**=उस प्रभु के विषय में ही **यजमानः**=यह यज्ञशील पुरुष **सुम्नानि**=स्तोत्रों की (सुम्न=hymn) **आचके**=कामना करता है। सदा प्रभुविषयक स्तोत्रों का उच्चारण करता हुआ प्रभु जैसा बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—ज्ञानी लोग अर्थभावनपूर्वक प्रभु के नाम का जप करते हैं। सब कर्मों को प्रभु में ही अर्पित करते हैं, प्रभु के स्तोत्रों की ही कामना करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'यज्ञरक्षक' प्रभु

पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम्।
आ विवेश रोदसी भूरिवर्पसा पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः॥ ४॥

(१) वे प्रभु **यज्ञानाम्**=सब यज्ञों के-लोकहित के लिये किये जानेवाले कर्मों के **पिता**=रक्षक हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता (युजपालने) च प्रभुरेव च'। इन यज्ञों के करनेवाले **विपश्चिताम्**=ज्ञानी पुरुषों के अन्दर वे प्रभु **असुरः**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं। **च**=और **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **वाघताम्**=इन यज्ञभारों का वहन करनेवाले ऋत्विजों की **विमानम्**=विशिष्ट शक्तियों का निर्माण करनेवाले तथा **वयुनम्**=प्रज्ञान का साधन हैं। प्रभु यज्ञों का रक्षण करते हैं, ज्ञानी लोग यज्ञों को करते हैं और प्रभु उनमें प्राणशक्ति का संचार करते हैं, यज्ञभार का वहन करनेवालों को प्रभु विशिष्ट शक्ति तथा ज्ञान प्राप्त कराते हैं। (२) **पुरुप्रियः**=इस प्रकार पालन व पूरण करनेवाले तथा हमें प्रीणित करनेवाले **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभु **भूरिवर्पसा**=(भृ=धारणपोषणयोः) पालक व पूरक आकृतिवाले-जिनका निर्माण इस रूप में हुआ है कि यह हमारा पालन व पूरण करते हैं,

रोदसी=द्युलोक व पृथिवीलोक में **आविवेश**=सर्वत्र प्रविष्ट हो रहे हैं तथा **धामभिः**=अपने तेजों के हेतु से **भन्दते**=वे प्रभु सदा स्तुत होते हैं। इन धामों के अभाव में 'प्रभु' प्रभु ही नहीं रहते।

भावार्थ—प्रभु यज्ञों के रक्षक हैं। यज्ञशील को वे ज्ञान व शक्ति देते हैं। सर्वत्र व्याप्त हुए-हुए वे प्रभु अपने तेजों से सब का धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आनन्दमय प्रभु

चन्द्रम॒ग्निं च॒न्द्रर॑थं॒ हरि॑व्रतं वैश्वान॒रम॑प्सु॒षदं॑ स्व॒र्विद॑म्।
वि॒गा॒हं तूर्णिं॒ तवि॑षीभि॒रावृ॑तं॒ भूर्णिं॑ दे॒वास॑ इ॒ह सु॒श्रियं॑ दधुः ॥ ५ ॥

(१) **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **इह**=इस जीवन में **सुश्रियम्**=उत्तम श्री वाले-लक्ष्मीपति प्रभु को **दधुः**=धारण करते हैं-अपने हृदयों में प्रतिष्ठापित करते हैं। जो प्रभु **चन्द्रम्**=आह्लादमय हैं, **अग्निम्**=अग्रणी हैं। **चन्द्ररथम्**=आह्लादयुक्त शरीर-रथ को प्राप्त करानेवाले हैं, यहाँ कष्ट तो हमारे रथ के ठीक न संचालन से होते हैं। **हरिव्रतम्**=प्रभु के नियम हमारे कष्टों का हरण करनेवाले हैं (नियमः पुण्यकं व्रतम्)। यदि हम प्रभुनियमों के अनुसार चलते हैं तो कष्ट का प्रश्न ही नहीं रहता। **वैश्वानरम्**=वे प्रभु सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **अप्सुषदम्**=सब प्रजाओं में आसीन होनेवाले हैं, सब के हृदयों में स्थित हैं और **स्वर्विदम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं (स्वः=प्रकाश, विद् लाभे) हृदयस्थरूपेण वे प्रेरणा दे ही रहे हैं। (२) **विगाहम्**=सर्वत्र अवगाहन व प्रवेश करनेवाले-सर्वव्यापक हैं। **तूर्णिम्**=शीघ्रता से सब कार्यों को करनेवाले हैं। **तविषीभिः आवृतम्**=बलों से आवृत हैं, बलों के पुञ्ज हैं और **भूर्णिम्**=सब का भरण व पोषण कर रहे हैं। प्रभु की शक्ति पालन में ही व्ययित होती है। उपासक को भी शक्ति का यही विनियोग समझना चाहिये।

भावार्थ—प्रभु आनन्दमय हैं, प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं, शक्ति के पुञ्ज हैं और सब का पोषण करनेवाले हैं। इस प्रभु का ही धारण करके हम देव बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'अभिशस्ति चातन' प्रभु

अ॒ग्निर्दे॒वेभि॒र्मनु॑षश्च ज॒न्तुभि॑स्तन्वा॒नो य॒ज्ञं पु॑रु॒पेश॑सं धि॒या।
र॒थीर॒न्तरी॑यते॒ साध॑दिष्टिभिर्जी॒रो दमू॑ना अभिशस्ति॒चात॑नः ॥ ६ ॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **साधत् इष्टिभिः**=यज्ञों को सिद्ध करनेवाले **देवेभिः**=विद्वानों (देवताओं) द्वारा **च**=तथा **जन्तुभिः**=प्राणियों द्वारा-गौ इत्यादि पशुओं द्वारा **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **पुरुपेशसम्**=नानारूपोंवाले **यज्ञम्**=यज्ञ को **धिया**=बुद्धिपूर्वक **तन्वानः**=विस्तृत करता हुआ है। यज्ञों की पूर्णता में विद्वान् तो सहायक होते ही हैं। इन विद्वानों ने ही विधिपूर्वक यज्ञों को करवाना होता है। गौ इत्यादि पशु भी यज्ञ के लिये घृत आदि पदार्थों को प्राप्त कराके सहायक होते हैं। अन्त में सब व्यवस्था प्रभु द्वारा ही होती है। (२) **रथीः**=वह सब यज्ञों का प्रणेता प्रभु **अन्तः ईयते**=हम सब के हृदयों के अन्दर ही गति करता है। **जीरः**=वह प्रभु क्षिप्रकारी हैं। **दमूनाः**=दान के मनवाले हैं, सदा सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं। **अभिशस्तिचातनः**=यज्ञ में विघ्न करनेवाले राक्षसीवृत्ति के व्यक्तियों का नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही यज्ञ के सब साधनों को जुटाते हैं और आनेवाले विघ्नों का निराकरण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उत्तम सन्तान+उत्तम जीवन

अग्ने जरस्व स्वपत्य आयुन्यूर्जा पिन्वस्व समिषो दिदीहि नः ।
वयांसि जिन्व बृहतश्च जागृव उशिग्देवानामसि सुक्रतुर्विपाम् ॥ ७ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **स्वपत्ये**=उत्तम सन्तानों के निमित्त तथा **आयुनि**=उत्तम आयुष्य के निमित्त **जरस्व**=स्तुत होओ। हम आपका स्तवन करें ताकि हमारी सन्तानें भी उत्तम हों तथा हमारी आयु भी दीर्घ हो। जिस घर में प्रभुस्तवन होता है, वहाँ सन्तानें भी अच्छी होती हैं–सब के जीवन भी अच्छे बनते हैं। (२) हे अग्ने! **ऊर्जः**=बल और प्राणशक्ति से **पिन्वस्व**=आप हमें प्रीणित करिए। **नः**=हमारे लिये **इषः**=प्रेरणाओं को **संदिदीहि**=सम्यग् दीप्त करिये। हम आपकी प्रेरणाओं को सुननेवाले बनें। **च**=और **बृहतः**=वृद्धिशील पुरुष के **वयांसि**=जीवनों को **जिन्व**=दीजिये। हम जीवन में निरन्तर आगे बढ़नेवाले हों। हे **जागृवे**=सदा जागरित प्रभो! आप **देवानाम्**=देवों के **उशिक्**=चाहनेवाले हैं तथा **विपाम्**=मेधावियों के **सुक्रतुः**=उत्तम प्रज्ञानों व कर्मों के सम्पादक हैं। देव आपको प्रिय होते हैं और आपकी कृपा से ही मेधावी पुरुष उत्तम कर्मों को कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से उत्तम सन्तान व उत्तम आयुष्य प्राप्त होता है। प्रभु हमें बल व प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। हमारे जीवन को वृद्धिशील बनाते हैं। देवों के प्रिय व मेधावियों के उत्तम कार्यों के साधक होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

बुद्धि+यज्ञ+धन

विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः सदा यन्तारं धीनामुशिजं च वाघताम् ।
अध्वराणां चेतनं जातवेदसं प्र शंसन्ति नमसा जूतिभिर्वृधे ॥ ८ ॥

(१) **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले व्यक्ति **वृधे**=वृद्धि के लिये–जीवन में उत्कर्ष के लिये **नमसा**=नमन द्वारा तथा **जूतिभिः**=क्रियाशीलताओं द्वारा उस प्रभु का **प्रशंसन्ति**=शंसन करते हैं, जो प्रभु **विश्पतिम्**=प्रजाओं के पालक व रक्षक हैं, **यह्वाम्**=महान् हैं, **अतिथिम्**=जीवहित के लिये सदा गतिशील हैं 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'। **सदा**=हमेशा **धीनाम्**=बुद्धियों को **यन्तारम्**=देनेवाले हैं। (२) उस प्रभु का शंसन करते हैं जो कि **वाघताम्**=यज्ञादि कार्यभारों का वहन करनेवालों के **उशिजम्**=प्रिय हैं, उनको चाहनेवाले हैं। ये यज्ञशीलपुरुष प्रभु को सदा प्रिय होते हैं। **अध्वराणां चेतनं (यज्ञस्य केतुं)**=यज्ञों के ये प्रज्ञापक हैं, हृदयस्थरूपेण सदा यज्ञों की प्रेरणा देनेवाले हैं। वेदों में सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाले हैं। **जातवेदसम्**=यज्ञों की सिद्धि के लिये सब ऐश्वर्यों को देनेवाले हैं (जातं वेदः=धनं यस्मात्)।

भावार्थ—प्रभु प्रजाओं के रक्षक हैं। वे बुद्धि देते हैं, यज्ञों की प्रेरणा देते हैं। यज्ञों की सिद्धि के लिये धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पापवर्जन व प्रभुव्रत स्वीकार

विभावा देवः सुरणः परि क्षितीरग्निर्बभूव शवसा सुमद्रथः ।
तस्य व्रतानि भूरिपोषिणो वयमुप भूषेम दम आ सुवृक्तिभिः ॥ ९ ॥

(१) वे प्रभु **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाले हैं (दीपनात्), **देवः**=उस दीप्ति को हमें देनेवाले हैं (द्योतनात्)। इस दीप्ति को देने के लिये **सुरणः**=हृदयस्थरूपेण उत्तम शब्दों को करनेवाले हैं (सु+रण् शब्दे)। इस प्रकार वे प्रभु **अग्निः**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं और **शवसा**=शक्ति द्वारा **क्षितीः परिबभूव**=सब मनुष्यों को व्याप्त करनेवाले हैं। वस्तुतः जो भी शक्ति है, वह सब प्रभु की है। जितना-जितना हम प्रभु को अपनाते हैं, उतना-उतना शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। शक्ति को देकर **सुमद् रथः**=उत्तम आनन्दमय शरीररथवाले वे हैं-प्रभु हमारे शरीररथों को सुन्दर बनाते हैं और हमारे जीवनों को आनन्दयुक्त करते हैं। (२) **तस्य**=उस **भूरिपोषिणः**=अत्यन्त ही पोषण करनेवाले प्रभु के **व्रतानि**=व्रतों को **दमे**=इस शरीररूप गृह में **सुवृक्तिभिः**=अच्छी प्रकार पापों के वर्जन द्वारा **वयम्**=हम **उपभूषेम**=उपभूषित करते हैं-प्रकाशित करते हैं (प्रकाशयाम:)। हमारा जीवन प्रभु के व्रतों से सुशोभित होता है। हम प्रभु की तरह न्याय व दया आदि गुणों को अपनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु से ज्ञानदीप्ति व शक्ति प्राप्त करके हम पापों का वर्जन करते हैं और प्रभु के व्रतों को स्वीकार करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तेजस्विता व सुख

वैश्वा॑नर॒ तव॒ धामा॒न्या च॑के॒ येभि॑: स्व॒र्विदभ॑वो विचक्षण।
जा॒त आपृ॑णो॒ भुव॑नानि॒ रोद॑सी॒ अग्ने॒ ता विश्वा॑ परि॒भूर॑सि॒ त्मना॑ ॥ १० ॥

(१) हे **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभो! **तव**=आपके **धामानि**=तेजों की **आचके**=मैं कामना करता हूँ, **येभिः**=जिनद्वारा हे **विचक्षण**=सर्वद्रष्टाः प्रभो! आप **स्वर्वित्**=सुख प्राप्त करानेवाले **अभवः**=होते हैं। आप हमें तेजस्वी बनाते हैं, उन तेजों द्वारा हमारे जीवनों को सुखी करते हैं। (२) **जातः**=सदा से प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **भुवनानि**=सब लोकों को तथा **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **आपृणः**=आपूरित करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ता विश्वा**=उन सब लोकों को **त्मना**=स्वयं **परिभूः असि**=आप व्याप्त किये हुए हैं। वस्तुतः आपकी व्यापकता के कारण ही उन लोकों में अमुक-अमुक श्री व ऊर्ज उपलभ्य है।

भावार्थ—हम प्रभु के तेजों को प्राप्त करने की कामना करें। इसी से हमारा जीवन सुखी होगा। सारे संसार को प्रभु ने व्याप्त किया हुआ है, प्रभु की सत्ता के कारण ही वहाँ श्री व ऊर्ज् उपलभ्य है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञार्थ धन

वै॒श्वा॒न॒रस्य॑ दं॒सना॑भ्यो बृ॒हदरि॑णा॒देक॑: स्वप॒स्यया॑ क॒विः।
उ॒भा पि॒तरा॑ म॒हय॑न्नजायता॒ग्निर्द्यावा॑पृथि॒वी भूरि॑रेतसा ॥ ११ ॥

(१) **वैश्वानरस्य**=उस सब मनुष्यों के हित करनेवाले प्रभु की **दंसनाभ्यः**=दर्शनीय क्रियाओं से **बृहत्**=अत्यन्त ही धन प्राप्त होता है। वह **एकः**=अद्वितीय **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभु **स्वपस्यया**=उत्तम यज्ञादि कर्मों की इच्छा से **अरिणात्**=धनों को देता है। प्रभु का धनदान इसलिए है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों को करने में समर्थ हो सकें। (२) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **भूरिरेतसा**=पालक व पोषक शक्तिवाले **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक रूप **उभा**

पितरा=दोनों पितरों को **महयन्**=महिमायुक्त करता हुआ **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है। द्युलोक व पृथिवीलोक सब प्रजाओं के माता-पिता के समान हैं। इनमें प्रभु की महिमा प्रकट होती है। इनके अन्दर होनेवाली क्रियाओं को देखकर एक ज्ञानी मनुष्य प्रभुमहिमा को अनुभव करता है। उसे इनमें प्रभु का साक्षात्कार होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें अत्यन्त ही धन प्राप्त कराते हैं ताकि हम यज्ञ आदि उत्तम कार्यों को कर सकें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुमहिमा का वर्णन करता है। प्रभु ही हमें बुद्धि, शक्ति व धन देते हैं कि हम यज्ञादि उत्तम कर्म कर सकें। अगले सूक्त का भी विषय यह है कि हम एक-एक अंग को बड़ा सुन्दर बनायें। प्रत्येक अंग को आप्रीणित करनेवाले हों। इसी से यह 'आप्री' सूक्त है। प्रार्थना का प्रारम्भ इस तरह है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञानदीप्ति-पवित्रता

समित्संमित्सुमना बोध्यस्मे शुचाशुचा सुमतिं रासि वस्वः।
आ देव देवान्यजथाय वक्षि सखा सखीन्त्सुमना यक्ष्यग्ने॥ १॥

(१) 'इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति' इस मन्त्र के अनुसार हमें पृथिवीस्थ पदार्थों का, द्युलोक के पदार्थों का तथा अन्तरिक्षस्थ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना है। यही तीन समिधाएँ कहलाती हैं। **समित् समित्**=जितना-जितना हम त्रिलोकी के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते चलते हैं, उतना-उतना **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **अस्मे बोधि**=हमारे लिये होइए, अर्थात् आप हमें उत्तम मन प्राप्त कराइए। वस्तुतः ज्ञान ही तो मन को पवित्र बनाएगा। (२) **शुचा शुचा**=मन की अधिकाधिक शुचिता के अनुसार आप **वस्वः**=धन की **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **रासि**=हमारे लिए देते हैं। पवित्रता होने पर हम कभी भी छलछिद्र से धन को कमाने का ध्यान नहीं करते। (३) **देव**=हे प्रकाशमय-दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **यजथाय**=संगतिकरण के लिये **देवान्**=देवों को **आवक्षि**=हमें प्राप्त कराते हैं। इन देवों के संग से हम भी देववृत्तिवाले बनते हैं। (४) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सखा**=सब के मित्र आप **सुमनाः**=उत्तम मनवाले होते हुए **सखीन् यक्षि**=हम सखाओं को सब धनादि आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं। प्रभु हमें उत्तम मन प्राप्त कराते हैं। साथ ही सब आवश्यक धनादि पदार्थों को देते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के अनुपात में हमारा मन पवित्र होता है। पवित्रता के अनुपात में हम धन कमाने के विषय में सुमति को बनाये रखते हैं। देवों के सम्पर्क में चलते हैं। प्रभुरूप मित्र से सब धनों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पाप व रोग-निवारण द्वारा अग्रगति

यं देवासस्त्रिरहन्नायजन्ते दिवेदिवे वरुणो मित्रो अग्निः।
सेमं यज्ञं मधुमन्तं कृधी नस्तनूनपाद् घृतयोनिं विधन्तम्॥ २॥

(१) **यम्**=जिस प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के लोग **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **अहन् त्रिः**=दिन में तीन बार **आयजन्ते**=उपासित करते हैं। दिन के प्रारम्भ में जो उठते ही प्रभु का ध्यान करते

ही हैं और इसी प्रकार सायं कार्य समाप्ति पर भी ध्यान में प्रवृत्त होते हैं। दिन में भोजन से पूर्व प्रभु का स्मरण कर लेते हैं। इस प्रकार आदि, मध्य व अवसान में इनका पूजन चलता है। पूजित हुआ-हुआ वह प्रभु **वरुणः**=(पापात् निवारयति) पाप से हमारा निवारण करता है। **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) रोगों से हमें बचाता है और **अग्निः**=हमें उन्नतिपथ पर आगे ले चलता है। (२) **सः**=वह प्रभु **तनूनपात्**=हमारे शरीरों को न गिरने देनेवाले हैं। हे प्रभो! आप **इमं नः यज्ञम्**=हमारे इस जीवन-यज्ञ को **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाला **घृतयोनिम्**=ज्ञान का उत्पत्ति-स्थान व **विधन्तम्**=प्रभु परिचर्यावाला **कृधि**=करिये। हम इस जीवन में सदा मधुर बोलनेवाले हों, स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाले हों तथा प्रभुपूजा की वृत्तिवाले बनें। देवताओं की तरह प्रातः मध्याह्न (भोजन से पूर्व) व सायं उस प्रभु का स्मरण अवश्य करें। यह स्मरण ही तो वस्तुतः हमें देव बनाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु हमें पापों व रोगों से बचाकर आगे ले चलेंगे। हमारा जीवन मधुर, ज्ञानप्रवण व पूजावृत्तिवाला बनेगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तवन द्वारा ज्ञान व दिव्यता की प्राप्ति

प्र दीधितिर्विश्ववारा जिगाति होतारमिळः प्रथमं यजध्यै।
अच्छा नमोभिर्वृषभं वन्दध्यै स देवान्यक्षदिषितो यजीयान्॥ ३॥

(१) **विश्ववारा**=सब से वरने योग्य **दीधितिः**=हमारी ज्ञानदीप्ति व स्तुति **होतारम्**=इस सृष्टियज्ञ के होता प्रभु को, सब कुछ देनेवाले प्रभु को **प्रजिगाति**=प्राप्त होती है। हम प्रभु का स्तवन करते हैं। यह प्रभुस्तवन सब से वरने योग्य है। हम प्रभु का स्तवन इसलिए करते हैं कि **प्रथमम्**=सब से पूर्व **इडः**=(इडायाः) वेदवाणी का **यजध्यै**=अपने साथ संगतिकरण के लिये। प्रभुस्तवन से हमारा सम्पर्क प्रभु के साथ स्थापित होगा। इस सम्पर्क से हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले होंगे। (२) हम **वृषभं अच्छा**=उस सुखों के वर्षण करनेवाले प्रभु की ओर **नमोभिः**=नमन के साथ **वन्दध्यै**=वन्दना के लिये जाते हैं। **इषितः**=अपने हृदयों में हमारे से प्रेरित किया गया वह प्रभु-हृदयों में ध्यान किया गया वह प्रभु **देवान् यक्षत्**=दिव्यगुणों को हमारे साथ संगत करता है। इसी से वे प्रभु **यजीयान्**=सर्वाधिक उपास्य हैं। जितना-जितना हम प्रभु का उपासन करेंगे, उतना-उतना अपने में दिव्यगुणों का संचार कर पाएँगे।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करें। हमें वेदवाणी प्राप्त होगी और दिव्यगुणों का हमारे साथ सम्पर्क होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञशीलता द्वारा ज्ञान व पवित्रता

ऊर्ध्वो वां गातुरध्वरे अकार्यूर्ध्वा शोचींषि प्रस्थिता रजांसि।
दिवो वा नाभा न्यसादि होता स्तृणीमहि देवव्यचा वि बर्हिः॥ ४॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अध्वरे**=यज्ञों में **वां गातुः**=तुम दोनों पतिपत्नी का मार्ग **ऊर्ध्वः अकारि**=उत्कृष्ट बनाया गया है। पति-पत्नी मिलकर यज्ञों को करनेवाले हों, यही उत्कृष्ट मार्ग है। इससे तुम्हारी **शोचींषि**=ज्ञानदीप्तियाँ (ज्वालाएँ) **ऊर्ध्वा प्रस्थिता**=ऊपर की ओर प्रस्थित होती हैं, अर्थात् तुम्हारा ज्ञान बढ़ता है। **रजांसि**=तुम्हारे रजोगुण के अंश भी ऊर्ध्व दिशा में प्रस्थित होनेवाले होते हैं, अर्थात् तुम्हारे रजोगुण में सत्त्वगुण का संमिश्रण होता है। (२) ऐसा होने पर

प्रत्येक व्यक्ति **होता**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला होता है और **दिवः नाभा**=ज्ञान के केन्द्र में **न्यसादि**=निषण्ण होता है। हे प्रभो! हम भी उक्त वृत्ति के बनकर **देवव्यचाः**=दिव्यगुणों के विस्तारवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **विस्तृणीमहि**=विशेषरूप से बिछाते हैं। इस निर्मल हृदय में ही तो हम आपको आमन्त्रित कर पाएँगे।

भावार्थ—यज्ञों को करते हुए हम ज्ञान बढ़ाते हैं और हृदय को वासनाशून्य करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर

सप्त होत्राणि मनसा वृणाना इन्वन्तो विश्वं प्रति यन्नृतेन।
नृपेशसो विदथेषु प्र जाता अभीइमं यज्ञं वि चरन्त पूर्वीः ॥ ५ ॥

(१) 'कर्णाविभौ नासिके चक्षणी मुखम्' इस मन्त्रभाग में जीवनयज्ञ के सात होताओं का उल्लेख है। ये ही सात ऋषि कहलाते हैं 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'। इन सातों होताओं के **सप्त**=सात **होत्राणि**=होतृकर्मों का **मनसा वृणानाः**=मन से वरण करते हुए **विश्वं इन्वन्तः**=और शरीर के सब अंगों को प्रीणित करते हुए **ऋतेन प्रतियन्**=ऋत से प्रत्येक कार्य में प्रवृत्त होते हैं। प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करते हैं। (२) इस प्रकार सब कार्यों को ऋतपूर्वक करते हुए **नृपेशसः**=अपने को नर (=प्रगतिशील) बनानेवाले, **विदथेषु प्रजाताः**=ज्ञान-यज्ञों में विकास को प्राप्त हुए-हुए **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले ये लोग **इमं यज्ञं अभि**=इस पूज्य प्रभु की ओर (यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः) **विचरन्त**=विचरण करते हैं। प्रभु की ओर जाने का मार्ग यही है कि ऋत का पालन करते हुए हम अपने को प्रगतिशील बनाएँ।

भावार्थ—हमारे कान, नासिका, आँखें व मुख जीवनयज्ञ के होता बनें। ऋतपूर्वक चलते हुए हम नर बनकर प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर बढ़ें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विकसित दिन और रात

आ भन्दमाने उषसा उपाके उत स्मयेते तन्वा विरूपे।
यथा नो मित्रो वरुणो जुजोषदिन्द्रो मरुत्वाँ उत वा महोभिः ॥ ६ ॥

(१) 'उषसा' यह द्विवचनान्त शब्द 'उषासानक्त' के लिये प्रयुक्त हुआ है। **उषसा**=ये दिन और रात परस्पर **उपाके**=संगत हुए-हुए, **उत**=और **भन्दमाने**=प्रभु का स्तवन करते हुए, **तन्वा विरूपे**=शरीर से भिन्न-भिन्न रूपवाले (अहश्च कृष्णं अहरर्जुनञ्च) **आ स्मयेते**=सर्वथा हँसते हुए हैं-खिले हुए हैं। दिन और रात के परस्पर संगत होने का भाव यह है कि दिन रात्रि से और रात्रि दिन से जुड़ी हुई हों। दिन में (अ+हन्) एक-एक क्षण को नष्ट न करते हुए हम अत्यन्त क्रियामय जीवनवाले हों, ताकि रात्रि में गाढ़निद्रा प्राप्त करके हम अपने में तेज भर सकें। हमारा जागरित स्थान (=दिन का समय) 'वैश्वानर' हो-नरहित के कार्यों में लगा हुआ हो, ताकि स्वप्नस्थान (=रात्रि का समय) 'तैजस' बन सके। दिन-रात हमें प्रभु का स्मरण बना रहे। हम सब कार्यों को प्रभुस्मरणपूर्वक करें। सोते समय भी प्रभुस्मरण के साथ सोएँ। ऐसा होने पर ये दिन-रात हमारे लिये खिले हुए होंगे। हम दिन-रात सदा प्रसन्न रहेंगे। (२) बस इस प्रकार का हमारा जीवन बन जाए **यथा**=जिससे **नः**=हमें **मित्रः**=दिन का अभिमानी देव 'सूर्य' तथा **वरुणः**=रात्रि का अभिमानी देव 'चन्द्र' **जुजोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। सूर्य हमें 'प्रमीतेः त्रायते'=रोगों

से बचाएँ तो 'चन्द्र' हमें मनःप्रसाद प्राप्त कराके निष्पाप बनाएँ (पापान् निवारयति इति वरुणः)। (३) **उत**=और **मरुत्वान्**=(मरुतः प्राणाः) प्राणोंवाला **इन्द्रः**=इन्द्र **वा**=निश्चय से **महोभिः**=तेजस्विताओं के साथ हमारा सेवन करे, अर्थात् हम प्राणसाधना करते हुए जितेन्द्रिय बनें, ताकि अपने अन्दर तेजस्विता का पूरण करनेवाले हों। प्राणायाम द्वारा मनुष्य इन्द्रिय-दोषों को दूर करके ऊर्ध्वरेता बनता है। इस प्रकार यह ऊर्ध्वरेतस्कता इसे तेजस्वी बनाती है।

भावार्थ—हम दिन में क्रियाशील रहकर रात्रि को अपने लिये वस्तुतः रमयित्री बनाएँ। सदा प्रभुस्मरण करनेवाले हों। इस प्रकार नीरोग, निष्पाप व तेजस्वी बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दो मुख्य होता अथवा ऋत व व्रत का पालन

दैव्या होतारा प्रथमा न्यृञ्जे सप्त पृक्षासः स्वधया मदन्ति।
ऋतं शंसन्त ऋतमित्त आहुरनु व्रतं व्रतपा दीध्यानाः॥ ७॥

(१) **प्रथमा होतारा**=इस जीवनयज्ञ के मुख्य होता प्राण और अपान हैं। ये **दैव्या**=हमें देव=प्रभु की ओर ले चलते हैं। इनको मैं **निऋञ्जे**=निश्चय से प्रसाधित करता हूँ। प्राणायाम द्वारा इनकी शक्ति को बढ़ाना ही इनका प्रसाधन है। उस समय **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो आँखें व मुख ये सात होता (येन यज्ञस्तायते सप्त होता) अथवा ये सात ऋषि (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) **पृक्षासः**=सदा ज्ञानों व उत्तम कर्मों के साथ सम्पर्कवाले होते हैं और **स्वधया**=आत्मधारण शक्ति के साथ **मदन्ति**=आनन्द व हर्ष का अनुभव करते हैं। प्राणसाधना से निर्दोष बनी हुई इन्द्रियाँ ज्ञान व उत्तम कर्मों में ही प्रवृत्त होती हैं और मनुष्य को 'स्व-धा' द्वारा आनन्दित करती हैं। 'सुख' है ही 'सु+ख'=इन्द्रियों का उत्तम होना (खं=इन्द्रिय)। (२) इस प्रकार के लोग **ऋतं शंसन्तः**=सदा ऋत का शंसन करते हैं। **ते**=वे **इत्**=निश्चय से **ऋतं आहुः**=अपने जीवनों में ऋतपालन करते हैं, जीवन में ऋत करते हैं, अर्थात् इनकी कोई क्रिया अनृतवाली नहीं होती। ये व्यक्ति **अनुव्रतम्**=व्रतों के अनुसार अपना जीवन चलाते हैं। **व्रतपाः**=व्रतों का रक्षण करते हैं और अतएव **दीध्यानाः**=दीप्यमान होते हैं-दीप्त जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। हमारी इन्द्रियाँ आत्मधारण-शक्तिवाली हों। ऋतपालन करते हुए, व्रतों के रक्षण द्वारा हम दीप्त-जीवनवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भारती, इडा व सरस्वती

आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु॥ ८॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में 'भारती' द्युलोक की देवी है, 'इडा' पृथ्वीलोक की तथा 'सरस्वती' अन्तरिक्षस्थ देवी है। 'भरत' आदित्य हैं, उसकी रश्मियाँ 'भारती' हैं इन **भारतीभिः**=सूर्य-रश्मियों के साथ **सजोषाः**=संगत हुई-हुई **भारती**=यह द्युलोकस्थ देवी हमें **आ अर्वाक्**=सर्वथा अभिमुख प्राप्त हो। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है। ज्ञानरश्मियाँ ही भारती हैं। यह ज्ञान की अधिष्ठातृ देवी 'भारती' ज्ञान-रश्मियों से संगत हुई-हुई हमें प्राप्त हो। (२) **इडा**=यह पृथिवीस्थ देवी, वाग्देवता (वेदवाणी) **देवैः**=देववृत्तिवाले लोगों के साथ तथा **मनुष्येभिः**=विचारशील पुरुषों के साथ हमारे लिये **अग्निः**=अग्रणी हो, हमें आगे ले चलनेवाली हो। देववृत्तिवाले विचारशील पुरुषों के सम्पर्क

में आकर हम इस वेदवाणी को प्राप्त हों और जीवन में आगे बढ़ें। (३) **सारस्वतेभिः**=संस्कृति के उपासकों द्वारा **सरस्वती**=यह हृदयों को परिष्कृत करनेवाली–हृदयान्तरिक्ष को निर्मल करनेवाली सरस्वती हमें प्राप्त हो। (४) हमारा मस्तिष्क ज्ञानरश्मियों से दीप्त हो, हमारी वाणी ज्ञानप्रधान शब्दों का ही उच्चारण करनेवाली हो, हमारा हृदय परिष्कृत हो। इस प्रकार **तिस्त्रः देवीः**=ये तीनों देवियाँ **इदं बर्हिः**=इस वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**=आसीन हों। हमारे हृदय में ज्ञान–परिष्कृत वाणी व संस्कृत–व्यवहारों (आचारों) को प्राप्त करने का संकल्प हो।

भावार्थ—हम 'भारती, इडा व सरस्वती' के उपासक बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति का परिपाक

तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नु देव त्वष्टर्वि रराणः स्यस्व।
यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः॥ ९॥

(१) हे **देव**=दिव्यगुणों के पुञ्ज, **त्वष्टः**=निर्माण करनेवाले प्रभो! **रराणः**=सदा (रममाणः) हमारे हृदयों में रमण करते हुए अथवा (रा दाने) सदा उत्तम तत्त्वों को हमारे लिए देते हुए आप **नः**=हमारे लिए **तत्**=उस **तुरीयम्**=दुःखों से तरानेवाले–रोगों को नष्ट करनेवाले **अध**=और **पोषयित्नु**=पोषक बल को **वि स्यस्व**=(Complete) पूर्ण कीजिये, अर्थात् हमारे अन्दर रस–रुधिरादि के क्रम से वीर्य का ठीक परिपाक कीजिए। (२) **यतः**=जिस वीर्य द्वारा **वीरः जायते**=हमें वीर सन्तान की प्राप्ति होती है, जो सन्तान **कर्मण्यः**=क्रियाशील होता है, **सुदक्षः**=उत्तम दक्षता, उन्नति व कुशलतावाला होता है, **युक्तग्रावा**=ज्ञानीगुरुओं के मेलवाला, ज्ञानियों के सम्पर्क की ओर झुकाववाला **देवकामः**=दिव्यगुणों की कामनावाला होता है।

सूचना—यहाँ सन्तान की भावना न लेकर इस प्रकार भी अर्थ ठीक है कि हमें वह शक्ति दीजिए जिससे कि मनुष्य 'वीर, कर्मण्य, सुदक्ष–युक्त ग्रावा व देवकाम' बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे में रोगतारक पोषक वीर्य शक्ति का परिपाक करें, जिससे कि हम वीर, क्रियाशील, कुशल, ज्ञानियों के सम्पर्कवाले व दिव्यगुणों की कामनावाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शमिता अग्नि

वनस्पतेऽव सृजोप देवानग्निर्हविः शमिता सूदयाति।
सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद॥ १०॥

(१) **वनस्पते**=(वनस्=loveliness, glory, wealth) सौन्दर्य, यश व धन के स्वामिन्! आप **देवान् उप**=देवों के समीप **अवसृज**=इस ऐश्वर्य को प्राप्त कराइए। यह **अग्निः**=प्रगतिशील **शमिता**=शान्त स्वभाववाला, वासनारूप पशुओं को नष्ट करनेवाला व्यक्ति (कामः पशुः, क्रोधः पशुः) **हविः**=हवि को–दानपूर्वक अदन की वृत्ति को **सूदयाति**=अपने में प्रेरित करता है। (२) **उ**=और **सः**=वह **इत्**=निश्चय से **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **सत्यतरः**=अधिक सत्य–जीवनवाला होता हुआ **यजाति**=प्रभुपूजन करता है **यथा**=जिससे वह **देवानाम्**=देवों के **जनिमानि**=जन्मों को, अपने अन्दर विकास को **वेद**=प्राप्त करता है। प्रभुपूजन की वृत्ति से दिव्यगुणों की इसमें वृद्धि होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ, जिससे कि हम यज्ञों को सिद्ध करें। सत्यमय

जीवनवाले होते हुए हम प्रभुपूजन करें, जिससे कि हमारे में दिव्यगुणों का विकास हो। हम कामादि पशुओं का हनन करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'त्याग+दिव्यता+अमृतत्त्व'

आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङिन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः।
बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ११ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जीवन में दिव्यगुणों का विकास होने के पश्चात् हम इस प्रार्थना के अधिकारी बनते हैं कि हे **अग्ने**=हे परमात्मन्! **अर्वाङ् आयाहि**=आप हमारे अन्दर आइए। **समिधानः**=हमारे अन्तःकरण को दीप्त करिए। (२) **सुपुत्रा अदितिः**=शक्ति व बुद्धि आदि उत्तम पुत्रोंवाली स्वास्थ्य की देवी (अ-दीना देवमाता) **इन्द्रेण**=उस प्रभु के साथ तथा **तुरेभिः**=त्वरा के साथ कार्य करनेवाले देवों के साथ **सरथम्**=इस समान शरीररूप रथ में **नः**=हमारे **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में आसीन हो। हमारा हृदय इस देवमाता अदिति का अधिष्ठान बने। इस अदिति के साथ देवों व देवराट् इन्द्र का भी यह निवास बने। स्वास्थ्य के सर्वथा समीचीन होने पर दिव्यगुणों का विकास होता है। दिव्यगुणों के विकास से प्रभुप्राप्ति होती है। (३) वस्तुतः इस संसार में **स्वाहा**=स्वाहाकार से युक्त, त्याग की भावना से युक्त **अमृताः**=अमरणशील-विषयों के पीछे न मरनेवाले अथवा नीरोग **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **मादयन्ताम्**=अद्भुत हर्ष का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति हमारे जीवन को प्रकाशमय कर दे। हमें 'स्वास्थ्य, दिव्यगुणों व प्रभु' की प्राप्ति हो। हम त्यागी, नीरोग व देववृत्तिवाले बनकर आनन्द का अनुभव करें।

यह सूक्त जीवन की पवित्रता पर बल दे रहा है। इस जीवन को पवित्र बनाने के लिए ही अगले सूक्त में प्रभु से अन्धकार को दूर करने के लिये प्रार्थना करते हैं—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अन्धकार-ध्वंसक प्रभु

प्रत्यग्निरुषसश्चेकितानोऽबोधि विप्रः पदवीः कवीनाम्।
पृथुपाजा देवयद्भिः समिद्धोऽप द्वारा तमसो वह्निरावः ॥ १ ॥

(१) **प्रति उषसः**=प्रत्येक उषाकाल में **चेकितानः**=जाना जाता हुआ, **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला, **कवीनाम्**=ज्ञानियों का **पदवीः**=मार्ग, अर्थात् ज्ञानी लोग जिसका स्तवन करते हुए अपने जीवनमार्ग का निर्णय करते हैं वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अबोधि**=जाना जाता है। प्रभु का दर्शन उषाकाल में होता है, यह वह समय है जब कि हम चेतना में आते हैं और अभी संसार की बातों में उलझे नहीं होते। ये प्रभु हमारी न्यूनताओं को दूर करने के लिये सतत प्रेरणा दे रहे हैं। ज्ञानी लोग प्रभु के अनुसार दयालु व न्यायकारी आदि बनने का प्रयत्न करते हैं। (२) ये **पृथुपाजाः**=अनन्त शक्तिवाले प्रभु **देवयद्भिः**=दिव्यगुणों की कामनावाले पुरुषों से अपने हृदयों में **समिद्धः**=दीप्त किए जाते हैं। यह **वह्निः**=हमें उन्नतिपथ पर प्राप्त करानेवाले प्रभु **तमसः द्वारा**=अन्धकार द्वारा निर्गमन द्वारों को **अपावः**=खोल डालते हैं। सारे अन्धकार को हमारे से दूर भगा देते हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन का उपयुक्त काल ब्राह्ममुहूर्त (उषाकाल) है, ये प्रभु अन्धकार को हमारे से दूर भगा देते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभुदर्शन के साधन—'स्तवन व स्वाध्याय'

प्रेद्वग्निर्वावृधे स्तोमेभिर्गीर्भिः स्तोतॄणां नमस्य उक्थैः ।
पूर्वीर्ऋतस्य सन्दृशश्चकानः सं दूतो अद्यौदुषसो विरोके ॥ २ ॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **स्तोमेभिः**=स्तुतियों द्वारा तथा **गीर्भिः**=ज्ञानवाणियों द्वारा **इत् उ**=निश्चय से **प्रवावृधे**=बढ़ता है, अर्थात् स्तुतियों व ज्ञानवाणियों द्वारा हम प्रभु के अधिकाधिक समीप होते हैं। वे प्रभु **स्तोतॄणाम्**=स्तोताओं के **उक्थैः**=स्तोत्रों से **नमस्यः**=पूजा योग्य हैं। (२) वे प्रभु पूजित होने पर **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाली **ऋतस्य**=ऋत की, जो ठीक है उसकी अथवा यज्ञ की **संदृशः**=दृष्टियों को **चकानः**=चाहता है व दीप्त करता है। हम प्रभु का पूजन करते हैं, प्रभु हमें ऋत का मार्ग दिखलाते हैं। यही प्रभु का सर्वमहान् अनुग्रह है। (३) **दूतः**=ये ज्ञान का सन्देश देनेवाले प्रभु **उषसः विरोके**=उषाकाल प्रकाशित होने पर **समद्यौत्**=हमारे हृदयों में दीप्त होते हैं। उषाकाल में हम प्रभु का ध्यान करें, तो उस समय एकाग्रता के कारण हम प्रभु के सन्देश को सुन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभुपूजन के लिये स्तवन व स्वाध्याय साधन हैं। ये प्रभु हमें ऋत का मार्ग दिखाते हैं। उषाकाल पूजा का सर्वोत्तम काल है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शिखरस्थ-प्रभु

अधाय्यग्निर्मानुषीषु विक्ष्वपां गर्भो मित्र ऋतेन साधन् ।
आ हर्यतो यजतः सान्वस्थादभूदु विप्रो हव्यो मतीनाम् ॥ ३ ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **मानुषीषु विक्षु**=विचारशील मानवहितकारी प्रजाओं में **अधायि**=स्थापित होते हैं। प्रभु का दर्शन विचारशील व मानवहित करनेवाले लोगों को ही होता है। **अपां गर्भः**=वैसे तो वे प्रभु सब प्रजाओं के गर्भभूत हैं। सब के अन्दर प्रभु का निवास है, सब का निवास प्रभु में है। **मित्रः**=ये हमें मृत्यु व रोग से बचानेवाले हैं। **ऋतेन साधन्**=ऋत द्वारा वे प्रभु हमारे सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं। (२) **हर्यतः**=वे गतिशील कान्त **यजतः**=पूज्य प्रभु **सानु आस्थात्**=शिखर पर स्थित हैं। प्रत्येक गुण की चरमसीमा हैं। ज्ञान व शक्ति की पराकाष्ठा ही तो वे प्रभु हैं। **उ**=निश्चय से वे प्रभु **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले **अभूत्**=हैं और अतएव **मतीनाम्**=विचारशील पुरुषों के **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। प्रभु को पुकारते हुए ये अपनी न्यूनताओं को दूर कर पाते हैं। प्रभु के गुण इनके सामने जीवन के सर्वोत्तम मार्ग को उपस्थित करते हैं।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु का दर्शन विचारशील पुरुषों को होता है। वे प्रभु प्रत्येक गुण की चरमसीमा हैं। वे हमारा पूरण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सिन्धुओं व पर्वतों का मित्र

मित्रो अग्निर्भवति यत्समिद्धो मित्रो होता वरुणो जातवेदाः ।
मित्रो अध्वर्युरिषिरो दमूना मित्रः सिन्धूनामुत पर्वतानाम् ॥ ४ ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **यत् समिद्धः**=जब दीप्त होते हैं, अर्थात् स्वाध्याय व स्तवन द्वारा जब हृदयों में प्रभु का प्रकाश होता है तो वे **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) हमें पाप व रोगों से बचानेवाले **भवति**=होते हैं। वे **मित्रः**=रोगों व पापों से बचानेवाले प्रभु **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं, **वरुणः**=हमें पापों से बचानेवाले हैं तथा **जातवेदाः**=ज्ञान का प्रकाश करनेवाले हैं। वस्तुतः आवश्यक चीजें देकर, पाप से रोककर तथा ज्ञान प्राप्त कराके ही प्रभु हमारे मित्र होते हैं। (२) वे **मित्रः**=मित्र प्रभु **अध्वर्युः**=हमारे जीवनयज्ञ को चलानेवाले हैं, **इषिरः**=प्रेरणा को देनेवाले हैं तथा **दमूनाः**=सदा हमारे लिये दान के मनवाले हैं, अथवा हमें दान्त मनवाला बनाते हैं। वे प्रभु **मित्रः**=मित्र उन्हीं के हैं जो कि **सिन्धूनाम्**=(स्यन्दन्ते) नदियों के प्रवाह की तरह कर्म के प्रवाहवाले हैं-क्रियाशील स्वभाववाले हैं। **उत**=और **पर्वतानाम्**=(पर्व पूरणे) जो आत्मालोचन द्वारा अपनी कमियों को देखकर उन कमियों को दूर करनेवाले हैं। कमियों को दूर करके अपना पूरण करनेवाले हैं। इन सिन्धुओं व पर्वतों के ही प्रभु मित्र हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशील व न्यूनताओं को दूर करने की वृत्तिवाले बनें। ऐसा होने पर हम प्रभु की मित्रता पा सकेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन कदमों को रखकर प्रभु के समीप पहुँचना

पाति प्रियं रिपो अग्रं पदं वेः पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य।
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुपमादमृष्वः॥ ५॥

(१) **रिपः**=(रिप्-क) हृदयस्थरूपेण उपदेश देनेवाले वे प्रभु **वेः**=इस गतिशील पृथ्वी के **अग्रम्**=श्रेष्ठ **प्रियम्**=प्रिय **पदम्**=कदम को **पाति**=रक्षित करते हैं। 'पृथ्वी का कदम' शरीर को स्वस्थ रखना है ('पृथिवी शरीरम्')। यह मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है, इसके बिना अगले कदमों का रखना सम्भव ही नहीं। यह प्रिय इसलिए है कि स्वास्थ्य में ही सब आनन्दों का आधार है। स्वास्थ्य न होने पर सब आनन्द नीरस हो जाते हैं। प्रभु भोजनादि के विषय में उचित प्रेरणा देते हुए हमें स्वस्थ रहने योग्य बनाते हैं। (२) **यह्वः**=वे महान् प्रभु **सूर्यस्य**=सूर्यसम्बन्धी **चरणम्**=कदम का **पाति**=रक्षण करते हैं। यही द्युलोक सम्बद्ध कदम है। 'द्युलोक में जैसे सूर्योदय होता है, इसी प्रकार मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-सूर्य का उदय' यह दूसरा कदम है। (३) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **नाभा**=इन दोनों के मध्य में, नाभि में, अन्तरिक्ष में **सप्तशीर्षाणम्**=सात सिरोंवाले को **पाति**=सुरक्षित करता है। हृदय में धर्मभावना का रक्षण ही अन्तरिक्ष सम्बन्धी कदम है। 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' इस मन्त्रभाग में सप्त मर्यादाओंवाले धर्म का संकेत है, ये सात मर्यादाएँ ही धर्म के सात सिर हैं। यास्क के शब्दों में ये सात मर्यादाएँ इस प्रकार होती हैं—'**स्तेयम्**=चोरी, **तल्पारोहणम्**=परस्त्रीगमन, **ब्रह्महत्या**=वेदज्ञ ब्राह्मण की हत्या अथवा अस्वाध्याय, **भ्रूणहत्या**=गर्भपात, **सुरापान**=शराब पीना, **दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः-पुनः सेवा**=बुरे काम का बार-बार करना, **पातके अनृतोद्यम्**=किसी पाप के छिपाने में झूठ बोलना।' (४) एवं पहला कदम 'शरीर को स्वस्थ बनाना, दूसरा ज्ञानसूर्योदय तथा तीसरा हृदय में सात मर्यादाओं के पालन की वृत्ति है। वह **ऋष्वः**=दर्शनीय प्रभु **देवानाम्**=तीन कदमों को रखकर देव बन जानेवाले पुरुषों के **उपमादम्**=परमेश्वर की उपासना में प्राप्त होनेवाले आनन्द का **पाति**=रक्षण करते हैं। देववृत्तिवाले पुरुष प्रभु का उपासन करते हैं और आनन्द को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हमारा शरीर स्वस्थ हो, मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य उदित हो, हृदय में सात मर्यादाओंवाले

धर्मपालन का भाव हो। इस प्रकार देव बनकर प्रभु की उपासना में हम आनन्द का अनुभव करें। तीन कदम रख कर हम चौथे स्थान में प्रभु के उपासक होते हैं 'सोमनात्मा चतुष्पात्'।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋभुकृत 'प्रभु-स्मरण'

ऋभुश्चक्र ईड्यं चारु नाम विश्वानि देवो वयुनानि विद्वान्।
ससस्य चर्म घृतवत्पदं वेस्तदिदग्नी रक्षत्यप्रयुच्छन् ॥ ६ ॥

(१) **ऋभुः**='ऋतेन भाति' ऋत से-ठीक कार्यों से दीप्त होनेवाला पुरुष **ईड्यम्**=स्तुति योग्य **चारु नाम**=सुन्दर नाम को **चक्रे**=करता है, अर्थात् उत्तमता से प्रभु का नामस्मरण करता है। उसके प्रभुस्मरण का प्रकार यह है कि—'वह **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं, अर्थात् वे प्रभु सर्वज्ञ हैं। मेरा कोई भी विचार उस प्रभु से अज्ञात नहीं। (२) उस **वेः**=सर्वव्यापक-सर्वत्र गतिवाले प्रभु का **पदम्**=मार्ग **घृतवत्**=मलों के क्षरण व दीप्तिवाला है। उस प्रभु की ओर चलने से हमारे मानस-मल दूर होते हैं और हमारा ज्ञान सूर्य की तरह चमक उठता है। यह प्रभु का मार्ग **ससस्य चर्म**=अन्न की ढाल है। यह हमारे भोजनों में मद्य-मांसादि को प्रविष्ट नहीं होने देता। प्रभुस्मरण करनेवाला व्यक्ति, सभी को प्रभुपुत्र के रूप में देखता हुआ, कभी भी परमांस से स्वमांस के पोषण का विचार भी नहीं कर सकता। (३) वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अप्रयुच्छन्**=किसी भी प्रकार का प्रमाद न करता हुआ **तद् इदम्**=इस विस्तृत ब्रह्माण्ड का **रक्षति**=रक्षण करते हैं।

भावार्थ—ऋतमार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति प्रभुस्मरण करता हुआ कहता है कि प्रभु सर्वत्र हैं, हमारे भोजनों को विकृत नहीं होने देते, हमें ज्ञानदीप्त बनाते हैं और हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दीप्त, पवित्र व गतिमय'

आ योनिमग्निर्घृतवन्तमस्थात्पृथुप्रगाणमुशन्तमुशानः ।
दीद्यानः शुचिर्ऋष्वः पावकः पुनःपुनर्मातरा नव्यसी कः ॥ ७ ॥

(१) **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **उशानः**=प्रभुप्राप्ति की कामना करता हुआ **उशन्तम्**=सब का हित चाहनेवाले, **घृतवन्तम्**=ज्ञानदीप्तिवाले, **योनिम्**=सब के उत्पत्ति-स्थान, **पृथुप्रगाणम्**=विशाल गतिवाले अथवा विस्तृत यशवाले प्रभु में **आ अस्थात्**=सर्वथा स्थित होता है। (२) यह प्रभु में स्थित होनेवाला **दीद्यानः**=ज्ञानज्योति से दीप्त होता है **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है, **ऋष्वः**=गतिशील होता है। मस्तिष्क में 'दीद्यान', हृदय में 'शुचि' और शरीर व हाथों में 'ऋष्व'। इस प्रकार यह 'ज्ञान, भक्ति व कर्म' तीनों का अपने जीवन में समन्वय करता है। **पावकः**=औरों के जीवन को भी पवित्र बनाने का ध्यान करता है। **पुनः पुनः**=फिर-फिर **मातरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक रूप माता-पिता को, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को (द्यौः=मस्तिष्क, पृथिवी=शरीर) **नव्यसी**=अत्यन्त स्तुत्य **कः**=बनाता है। मस्तिष्क में 'ब्रह्म' के व शरीर में 'क्षत्र' के विकास का ध्यान करता है। ब्रह्म और क्षत्र का विकास करके यह प्रभु का मित्र बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु में स्थित हों, अपने जीवन को 'दीप्त, पवित्र व गतिमय' बनाएँ। ब्रह्म व क्षत्र का विकास करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वानस्पतिक भोजन

सद्यो जात ओषधीभिर्ववक्षे यदी वर्धन्ति प्रस्वो घृतेन।
आप इव प्रवता शुम्भमाना उरुष्यदग्निः पित्रोरुपस्थे ॥ ८ ॥

(१) विद्यार्थी आचार्यकुल में आचार्य के समीप रहता हुआ, विद्याध्ययन की समाप्ति पर जिस दिन वापिस घर को लौटता है, यह उसका द्वितीय जन्म माना जाता है। 'तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः' इस उत्पन्न हुए-हुए को देखने के लिये देव लोग एकत्र होते हैं। यह **सद्यः जातः**=शीघ्र जन्म को प्राप्त हुआ-हुआ **ओषधीभिः ववक्षे**=ओषधियों से वृद्धि प्राप्त करता है। आचार्यकुल में तो वन्य फल-मूल आदि ही इसके पवित्र भोजन होते थे। अब गृहस्थ में आने पर भी यह वानस्पतिक भोजन पर ही अपना आधार रखता है। यह मांस-भोजन में प्रवृत्त नहीं हो जाता। (२) **यत् ई**=चूँकि निश्चय से **घृतेन**=घृत के साथ **प्रस्वः**=फल ही **वर्धन्ति**=इसके वर्धन का कारण बनते हैं (वर्धयन्ति)। इसलिए यह **शुम्भमानाः आपः**=शोभायमान जल **इव**=जैसे **प्रवता**=निम्न मार्ग से गतिवाले होते हैं, इसी प्रकार नम्रता से सदा गतिशील बना रहता है। इसकी क्रिया जल-प्रवाह की तरह शान्त व स्वाभाविक-सी हो जाती है और यह कभी उन कर्मों का गर्व नहीं करता। (३) यह **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **पित्रेः उपस्थे**=द्युलोक व पृथिवीलोक रूप पिता-माता की गोद में **उरुष्यत्**=अपने को सुरक्षित रखता है। मस्तिष्क व शरीर में ब्रह्म व क्षत्र के ठीक विकास द्वारा यह जीवन को बड़ा सुन्दर बना पाता है।

भावार्थ—हमें अपना भोजन फल-फूल, घृत आदि शुद्ध वानस्पतिक पदार्थों को ही रखना चाहिए। इससे हमारे जीवन में नम्रतायुक्त क्रियाशीलता बनी रहती है और ब्रह्म-क्षत्र का ठीक विकास होकर जीवन सुरक्षित रहता है और वासनाओं व रोगों के आक्रमण से बचा रहता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्तुति+ज्ञान+यज्ञात्मक कर्म'

उदु ष्टुतः समिधा यह्वो अद्यौद्वर्ष्मन्दिवो अधि नाभा पृथिव्याः।
मित्रो अग्निरीड्यो मातरिश्वा दूतो वक्षद्यजथाय देवान्॥ ९ ॥

(१) **उ**=निश्चय से **स्तुतः**=स्तुति किया गया **यह्वः**=महान् प्रभु **समिधा**=ज्ञानदीप्ति द्वारा **दिवः वर्ष्मन्**=द्युलोक के शिखर पर, अर्थात् ज्ञान के उत्कर्ष में तथा **पृथिव्याः नाभा अधि (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः)**=यज्ञों में **उद् अद्यौत्**=उत्कर्षेण दीप्त होता है। प्रभुप्रकाश के लिये 'स्तुति, ज्ञान व यज्ञ' तीनों का समन्वय आवश्यक है। 'स्तुतः' शब्द स्तुति के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। '**दिवः वर्ष्मन्**' से ज्ञान का महत्त्व स्पष्ट है, तथा 'पृथिव्याः नाभा' शब्द यज्ञ की आवश्यकता को स्पष्ट कर रहे हैं। (२) यह दीप्त हुए-हुए प्रभु **मित्रः**=हमें रोगों से बचानेवाले हैं, **अग्निः**=हमारी अग्रगति के कारण हैं, **ईड्यः**=स्तुति योग्य हैं। यह स्तुति ही तो हमारे सामने लक्ष्यदृष्टि को उपस्थित करके हमें आगे ले चलती है। **मातरिश्वा**=ये प्रभु वेदमाता में वृद्धि को प्राप्त होते हैं, अर्थात् ये वेद प्रभु का ही मुख्यतया प्रतिपादन कर रहे हैं। **दूतः**=ये हमारे लिये ज्ञान-सन्देश देनेवाले हैं। ये **देवान्**=देववृत्ति के लोगों को **यजथाय**=यज्ञ के लिये **वक्षत्**=(आवहत्) प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन 'स्तुति, ज्ञान व कर्म' के समन्वय से होता है और प्रभु ही हमें यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रियामयता+ज्ञानशीलता=स्वर्ग

उर्दस्तम्भीत्समिधा नार्कमृष्वो३ऽग्निर्भवन्नुत्तमो रोचनानाम्।
यदी भृगुभ्यः परि मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे॥ १०॥

(१) **ऋष्वः**=गतिशील पुरुष–सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्तिवाला पुरुष **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **नाकम्**=स्वर्गलोक को–सुखमय लोक को **उद् अस्तम्भीत्**=थामनेवाला होता है। ये यज्ञादि कर्म तथा ज्ञान उसे स्वर्ग प्राप्त कराते हैं–इसका गृहस्थ एक स्वर्ग ही बन जाता है। (२) यह **रोचनानाम्**=ज्ञान से दीप्त पुरुषों में **उत्तम**=श्रेष्ठ **भवन्**=होता हुआ **अग्निः**=आगे और आगे बढ़ता है। यह सब होता तभी है **यदि**=जब यह **मातरिश्वा**=वेदवाणी में गतिवाला–वेद का स्वाध्याय करनेवाला और तदनुसार गति करनेवाला, **भृगुभ्यः परि**=ज्ञान–परिपक्व (विदग्ध) आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके उस **गुहा सन्तम्**=हृदय रूप गुहा में होनेवाले **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों के देनेवाले प्रभु को **समीधे**=अपने अन्दर समिद्ध करता है। वस्तुतः प्रभुदर्शन से ही मनुष्य की प्रवृत्ति यज्ञादि में होती है और वह ज्ञान की रुचिवाला बनता है।

भावार्थ—'क्रियामय ज्ञानप्रवण' व्यक्ति अपने जीवन को स्वर्ग बना पाता है। इस प्रकार का यह तब बनता है जब कि आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वेदज्ञान+उत्तम सन्तान+उत्तम मति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ११॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **हवमानाय**=आराधना करनेवाले के लिये–आपको पुकारनेवाले के लिये, **इडाम्**=इस वेदवाणी को **साध**=सिद्ध कीजिए। जो वेदवाणी **पुरुदंसम्**=पालक व पूरक (पुरु) कर्मों (दंस) का उपदेश देनेवाली है। **गोः सनिम्**=ज्ञान प्राप्त करानेवाली है तथा **शश्वत्तमम्**=सनातन काल से चली आ रही है। (२) **नः**=हमारा **सूनुः**=सन्तान (Son) भी **तनयः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला तथा **विजावा**=विशिष्ट विकासवाला **स्यात्**=हो। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सा**=वह **ते**=आपकी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अस्मे**=हमारे लिये **भूतु**=हो।

भावार्थ—उत्तम कर्मों का उपदेश देनेवाली सनातन वेदवाणी हमें प्राप्त हो। हमारा सन्तान उत्तम हो, हमें सुमति प्राप्त हो।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुस्मरण द्वारा जीवन को उत्तम बनाने पर बल दे रहा है। अगले सूक्त में भी इसी उत्तम जीवन का चित्रण है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्तवन व यज्ञशीलता

प्र कारवो मनना वच्यमाना देवद्रीचीं नयत देवयन्तः।
दक्षिणावाड् वाजिनी प्राच्येति हविर्भरन्त्यग्नये घृताची॥ १॥

(१) **कारवः**=कुशलता से कर्म करनेवालो! **देवयन्तः**=प्रभुप्राप्ति की कामनावालो! **मनना**

वच्यमानाः=मनन द्वारा प्रेरित किए जाते हुए पुरुषो! **देवद्रीचीम्**=उस देव की ओर जानेवाली वाणी को **प्र नयत**=प्राप्त कराओ। 'कारु, देवयन् व मनना वच्यमान' पुरुषों को प्रभु का स्मरण करना चाहिए ताकि वे सचमुच उत्तम जीवनवाले बन पाएँ। (२) हे **अग्ने**=प्रभो! इन व्यक्तियों के जीवन में **दक्षिणावाड्**=दक्षिणा व दान प्राप्त करानेवाली, **वाजिनी**=इनके जीवनों को शक्तिशाली बनानेवाली, **हविः भरन्ती**=हवि का भरण करती हुई, **घृताची**=घृत से सक्त 'जुहू' चम्मच **प्राची एति**=सब से आगे आनेवाली होती है, अर्थात् इनके जीवनों में यज्ञों का स्थान प्रमुख होता है। ये यज्ञ इन्हें शक्तिशाली बनाते हैं। यज्ञियवृत्ति भोग्यवृत्ति की विरोधिनी होने से इनकी शक्ति को नष्ट नहीं होने देती। इन यज्ञों का प्रारम्भ अग्निहोत्र से होता है। इस अग्निहोत्र में चम्मच घृताक्त होता है और हव्यद्रव्यों से पूर्ण होता है। यह व्यक्ति लोकहित के लिये सदा दान की वृत्तिवाला बना रहता है।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करें और यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सात छन्दोंवाली वेदवाणी द्वारा प्रेरणा

आ रोदसी अपृणा जायमान उत प्र रिक्था अध नु प्रयज्यो।
दिवश्चिदग्ने महिना पृथिव्या वच्यन्तां ते वह्नयः सप्तजिह्वाः ॥ २ ॥

(१) हे परमात्मन्! **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए आप **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आ अपृणाः**=समन्तात् पूरित कर रहे हैं-इनमें भरे हुए हैं। **उत**=और हे **प्रयज्यो**=प्रकर्षेण **यष्टव्य**=उपास्य प्रभो! हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **महिना**=अपनी महिमा से **दिवः चित्**=द्युलोक से भी **अध नु**=और निश्चय से **पृथिव्याः**=पृथिवी से भी **प्ररिक्थाः**=अतिरिक्त हैं-बढ़े हुए हैं। ये द्युलोक व पृथिवीलोक आपकी महिमा को सीमित नहीं कर पाते। (२) **ते**=आपकी **सप्तजिह्वाः**=सात छन्दरूप जिह्वाओंवाली **वह्नयः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाली वेदवाणियाँ **वच्यन्ताम्**=उच्चारण की जाएँ। इन द्वारा अपने कर्त्तव्यों को जानकर हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। हमारे हृदयों में भी स्थित हैं। उनसे हम सात छन्दोंवाली वेदवाणियों द्वारा कर्त्तव्यज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शुक्र अर्चि' की उपासना

द्यौश्च त्वा पृथिवी यज्ञियासो नि होतारं सादयन्ते दमाय।
यदी विशो मानुषीर्देवयन्तीः प्रयस्वतीरीळते शुक्रमर्चिः ॥ ३ ॥

(१) **द्यौः**=यह द्युलोक **पृथिवी च**=और पृथिवी लोक तथा **यज्ञियासः**=पूज्य व संगतिकरण-योग्य माता, पिता व आचार्य आदि देव **होतारं त्वा**=सब कुछ देनेवाले आपको **दमाय**=हमारे इस शरीररूप गृह के लिये **निसादयन्ते**=निश्चय से बिठाते हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक के प्रत्येक पिण्ड में आपकी महिमा को देखता हुआ मैं अपने हृदय में आपका ध्यान करने के लिये प्रवृत्त होता हूँ। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य आदि यज्ञिय देव मुझे आपकी ओर झुकाते हैं। वे अपने उपदेशों व शिक्षणों से आपको मेरे हृदय में स्थापित करते हैं। हृदय में आपका ध्यान करता हुआ मैं इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर शासन करनेवाला बनता हूँ। मेरा यह शरीर वस्तुतः 'दम' बन जाता है। (२) ऐसा होने पर वह स्थिति आती है **यदि** (यदा)=जब कि **देवयन्तीः**=उस महान् देव प्रभु को

प्राप्त करने की कामनावाली होती हुई, **प्रयस्वतीः**=उन्नति के लिये उद्योगवाली (यस्) व सात्त्विक अन्न का (प्रयस्) सेवन करनेवाली **मानुषी विशः**=विचारशील प्रजाएँ उस प्रभु के **शुक्रम्**=शुद्ध-देदीप्यमान **अर्चिः**=(light, lustre) प्रकाश की **ईडते**=उपासना करते हैं। इन्हें ज्ञान ही रुचिकर होता है—इनका झुकाव ही ज्ञान की ओर हो जाता है। प्रकृति=प्रवण न रहकर ये प्रभुप्रवण हो जाते हैं।

भावार्थ—जब हम प्रभु को अपने हृदयों में आसीन कर पाते हैं, तब हम ज्ञान की ही रुचिवाले हो जाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उस 'उरुगाय' की दो धेनुएँ

महान्त्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तोऽन्तर्द्यावा माहिने हर्यमाणः।
आस्क्रे सपत्नी अजरे अमृक्ते सबर्दुघे उरुगायस्य धेनू॥ ४॥

(१) **महान्**=वह पूजनीय प्रभु **सधस्थे**=जीव और प्रभु मिलकर बैठने के स्थान (सह+स्थ) हृदय में **ध्रुवः**=स्थिरता से विद्यमान है। वह प्रभु **द्यावा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के **अन्तः**=अन्दर **आनिषत्तः**=चारों ओर निषण्ण है। सर्वत्र उस प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है। ये प्रभु **माहिने**=पूजा करनेवाले के लिये **हर्यमाणः**=गति व कान्तिवाले होते हैं। इस पूजा करनेवाले को ही प्रभु प्राप्त होते हैं, इसे ही वे चाहते हैं। (२) ये द्युलोक व पृथिवीलोक **आस्क्रे**=आक्रमणशील हैं—वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड का कोई पदार्थ ठहरा हुआ नहीं। **सपत्नी**=ये एक ही प्रभुरूप पतिवाले हैं, **अजरे**=कभी जीर्ण नहीं होते—द्युलोक व पृथिवी लोक जीर्ण होकर न्यूनशक्ति होते जाते हों सो बात नहीं है। **अमृक्ते**=ये किसी से हिंसित नहीं हो सकते। **सबर्दुघे**=अमृतरूप जल का ये दोहन करनेवाले हैं। पृथ्वी से वाष्पीभूत होकर पानी ऊपर जाता है और फिर घनीभूत होने पर बिन्दुओं में परिणत होकर बरसता है। यह जल अमृत ही होता है। इस प्रकार ये द्युलोक व पृथिवी लोक उस **उरुगायस्य**=विशाल गति व अनन्त स्तुतिवाले प्रभु की **धेनू**=दो प्रीणन करनेवाली गायें ही हैं। प्रभु इनद्वारा सभी प्राणियों का पोषण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक रूप दो धेनुओं द्वारा सभी का पालन कर रहे हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महतो महान् प्रभु

व्रता ते अग्ने महतो महानि तव क्रत्वा रोदसी आ ततन्थ।
त्वं दूतो अभवो जायमानस्त्वं नेता वृषभ चर्षणीनाम्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **महतः**=महान् व पूजनीय **ते**=आपके **व्रता महानि**=कर्म भी महान् हैं। ब्रह्माण्ड में यह पृथ्वीलोक अत्यन्त छोटा होता हुआ भी कितना महान् है। जीव के लिये तो यह भी अनन्त-सा प्रतीत होता है। पन्द्रह मिनिट की वृष्टि विशाल जलधाराओं के प्रवाह का कारण हो जाती है। (२) आप **तव**=अपने **क्रत्वः**=प्रज्ञान व शक्ति से **रोदसी**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक को **आततन्थ**=विस्तृत करते हैं और **जायमानः**=हमारे हृदयों में आविर्भूत होते हुए **त्वम्**=आप **दूतः अभवः**=हमारे लिये ज्ञानसन्देश देनेवाले होते हैं। हे **वृषभ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले शक्तिशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **चर्षणीनाम्**=श्रमशील व्यक्तियों के **नेता**=नेतृत्व करनेवाले—उन्हें मार्गदर्शन करनेवाले हैं। पुरुषार्थी को प्रभु सदा उचित मार्ग से ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु महान् हैं, उनके व्रत महान् हैं। सब लोकों का वे विस्तार करते हैं, जीवों को ज्ञानसन्देश देते हैं और पुरुषार्थियों का वे मार्गदर्शन करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कैसी ज्ञानेन्द्रियाँ व कैसी कर्मेन्द्रियाँ?

ऋतस्य वा केशिना योग्याभिर्घृतस्नुवा रोहिता धुरि धिष्व।
अथा वह देवान्देव विश्वान्त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः ॥ ६ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप हमारे इस शरीररथ के **धुरि**=जुए में **धिष्व**=उन इन्द्रियाश्वों को धारण कीजिये जो कि **ऋतस्य केशिना**=ऋत के प्रकाशक हैं (नि० १२.२५), सत्यज्ञान देनेवाले हैं तथा **योग्याभिः**=उचित क्रियाओं के निरन्तर अभ्यास द्वारा (Exercise) **घृतस्नुवा**=निर्मलता को टपकानेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थों का ठीक प्रकाशन करती हैं तो कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहकर मलिनता को नहीं आने देतीं। (२) **अथ**=अब **देव**=हे दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें **विश्वान् देवान्**=सब देवों को-सब दिव्यगुणों को **आवह**=प्राप्त कराइए और हमें **स्वध्वरा**=उत्तम यज्ञोंवाला **कृणुहि**=करिए।

भावार्थ—आपकी कृपा से हम दिव्यगुणों को अपने में धारण करें और सदा उत्तम यज्ञादि कर्मों के करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति

दिवश्चिदा ते रुचयन्त रोका उषो विभातीरनु भासि पूर्वीः।
अपो यदग्न उशधग्वनेषु होतुर्मन्द्रस्य पनयन्त देवाः ॥ ७ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते रोकाः**=तेरी दीप्तियाँ **दिवः चित्**=सूर्य से भी अधिक **रुचयन्त**=चमकती हैं। 'दिवि सूर्यसहस्रस्य०' इन शब्दों में प्रभु की दीप्ति को हजारों सूर्यों की दीप्ति से भी अधिक ही कहा है। आप ही **विभातीः**=चमकती हुई **पूर्वीः**=इन पालन व पूरण करनेवाली **उषः**=उषाओं को **अनुभासि**=दीप्त करते हैं, अथवा इन उषाकालों में प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है। (२) हे अग्ने! **यत्**=जब **वनेषु**=इन उपासकों में आप **अपः**=इन रेतःकणरूप जलों की **उशधक्**=कामना करते हैं-चाहते हैं और जला देते हैं तब **देवाः**=ये देववृत्ति के लोग **होतुः**=सब कुछ देनेवाले **मन्द्रस्य**=आनन्दमय व स्तुत्य आपका **पनयन्त**=स्तवन करते हैं। 'रेतःकणों का उत्पन्न होना और उनका ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना' यह प्रभुकृपा से ही होता है। जब ये रेतःकण विनष्ट न होकर शरीर में ही व्ययित होते हैं तो उस समय हमारी वृत्ति देववृत्ति बनती है। हम तब प्रभु का शंसन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—'क्या सूर्य, क्या उषा' ये सब प्रभु की दीप्ति से दीप्त हैं। मानवहृदय को भी प्रभु ही दीप्त करते हैं। इसके लिये वे रेतःकणों को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्व-देवाधिष्ठानता

उरौ वा ये अन्तरिक्षे मदन्ति दिवो वा ये रोचने सन्ति देवाः।
ऊमा वा ये सुहवासो यजत्रा आयेमिरे रथ्यो अग्ने अश्वाः ॥ ८ ॥

(१) **ये**=जो **देवाः**=देव **उरौ अन्तरिक्षे वा**=या तो इस विशाल अन्तरिक्षलोक में **मदन्ति**=हर्ष का अनुभव करते हैं **वा**=या **ये**=जो **दिवः रोचने**=द्युलोक के प्रकाशमय प्रदेश में **सन्ति**=हैं, **वा**=अथवा **ये**=जो **ऊमाः**=हमारे रक्षक यहाँ पृथिवी पर स्थित **सुहवासः**=सुगमता से पुकारने योग्य **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य व पूज्य देव हैं, ये सब देव **आयेमिरे**=हमें प्राप्त कराए जाते हैं। 'द्युलोक के ग्यारह देव, अन्तरिक्ष के ग्यारह देव तथा पृथिवी के ग्यारह देव' ये सब तेतीस देव हमें प्राप्त हों। हमारा शरीर सब देवों का अधिष्ठान बने। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **रथ्यः**=शरीर-रथ के वहन में उत्तम **अश्वाः**=इन्द्रियरूप अश्व हमें प्राप्त हों। इन अश्वों द्वारा हमारा यह शरीर-रथ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाला हो।

भावार्थ—हमारा शरीर सब देवों का अधिष्ठान बने और उत्तम इन्द्रियाश्वों से युक्त होकर यह शरीर-रथ हमें लक्ष्य पर पहुँचानेवाला हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महादेव का आगमन

ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! देवों के अग्रणी प्रभो! **एभिः**=इन, गतमन्त्र में उल्लिखित देवों के साथ **सरथम्**=समान रथ पर आरूढ़ हुए-हुए आप **अर्वाङ् आयाहि**=हमें अन्दर प्राप्त होइए। हमारे अन्दर देवों का निवास हो, देवों के निवास के साथ हम आपको अपने हृदयों में आसीन कर सकें। **वा**=अथवा यदि इस शरीर में हम आपको न भी प्राप्त कर सकें तो **नानारथम्**=इस शरीर से भिन्न शरीरों में हम आपको पानेवाले बनें। हम आपकी प्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए इस जन्म में मार्ग का पूरा आक्रमण न कर सकें तो अगले जन्म में इसी यात्रा को करते हुए आप तक पहुँचनेवाले बनें। मार्गभ्रष्ट न हों। आपके दिये हुए **अश्वाः**=ये इन्द्रियाश्व **हि विभवः**=निश्चय से हमें आप तक पहुँचाने में समर्थ हैं। हम भटकेंगे नहीं तो अवश्य आपको प्राप्त करेंगे ही। (२) **पत्नीवतः**=पत्नियोंवाले **त्रिंशतम्**=तीस **त्रीन् च**=और तीन, अर्थात् तेतीस **देवान्**=देवों को **अनुष्वधम्**=आत्मतत्त्व के धारण का लक्ष्य करके **आवह**=प्राप्त कराइए। और **मादयस्व**=हमें इस जीवन में वास्तविक हर्ष को दीजिए। देवों की शक्ति ही देवपत्नी कहलाती है। हम शक्ति सहित देवों का धारण करें। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है। देवों के धारण से ही महादेव का धारण होता है। उस प्रभु के धारण में ही आनन्द है।

भावार्थ—देवों को धारण करते हुए हम इसी जीवन में व अगले जीवन में प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। इसी में आनन्द है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम मस्तिष्क व शरीर

स होता यस्य रोदसी चिदुर्वी यज्ञंयज्ञमभि वृधे गृणीतः।
प्राची अध्वरेव तस्थतुः सुमेके ऋतावरी ऋतजातस्य सत्ये ॥ १० ॥

(१) **सः**=गतमन्त्र में प्रभु का आवाहन करनेवाला साधक **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है-यह भोगवृत्ति को नहीं अपनाता। यह वह होता है **यस्य**=जिस के **रोदसी**=द्यावापृथिवी, मस्तिष्क और शरीर **चित्**=निश्चय से **उर्वी**=विशाल होते हैं। यह शरीर और

मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाता है। इसके मस्तिष्क और शरीर **यज्ञं यज्ञम्**=प्रत्येक यज्ञ की **अभि**=ओर चलते हैं और **वृधे**=वृद्धि के लिये **गृणीतः**=उन यज्ञों का ही उच्चारण करते हैं, अर्थात् इसके मस्तिष्क और शरीर यज्ञ की ही अभिरुचि व झुकाववाले होते हैं। यह यज्ञों को ही सोचता है, यज्ञों को ही करता है। (२) इसके मस्तिष्क और शरीर **प्राची**=आगे बढ़नेवाले, **अध्वरा इव**=यज्ञमय से, **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाले **ऋतावरी**=ऋत का अवन (रक्षण) करनेवाले होकर **तस्थतुः**=स्थित होते हैं। **ऋतजातस्य**=ऋत के प्रादुर्भाववाले इस व्यक्ति के ये द्यावापृथिवी **सत्ये**=बिलकुल ठीक होते हैं। शरीर बिलकुल नीरोग, मस्तिष्क दीप्तिमय। ये इसे आगे बढ़ाते हैं (प्राची), इसके जीवन को यज्ञमय बनाते हैं (अध्वरा इव) सदा शुभ कर्मों को कराते हैं (सुमेके) और इसके जीवन में ऋत का रक्षण करते हैं (ऋतावरी)।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों उत्तम हों—हमें यज्ञप्रवण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वेदज्ञान—उत्तम सन्तान—सुमति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ११ ॥

व्याख्या ५.११ पर द्रष्टव्य है।

प्रभु से जीवन को उत्तम बनाने के लिये प्रार्थना से परिपूर्ण यह सूक्त है। अगले सूक्त में उत्तम जीवन का चित्रण करते हुए कहते हैं—

अथ तृतीयाऽष्टके प्रथमोऽध्यायः

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माता—पिता का संचरण

प्र य आरुः शितिपृष्ठस्य धासेरा मातरा विविशुः सप्त वाणीः।
परिक्षिता पितरा सं चरेते प्र सर्स्राते दीर्घमायुः प्रयक्षे ॥ १ ॥

(१) **ये**=जो **प्र आरुः**=प्रकृष्ट मार्ग पर चलते हैं—उस प्रभु के प्रकृष्ट मार्ग पर जो कि **शितिपृष्ठस्य**=(शिति=White) देदीप्यमान पृष्ठवाले हैं, अर्थात् चमकते हैं और **धासेः**=धारण करनेवाले हैं। प्रभु की कल्पना प्रकाश के ही रूप में होती है। वे प्रभु सूर्य की तरह दीप्त हैं 'आदित्यवर्ण' हैं। (२) **ये**=जो **मातरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **विविशुः**=प्रवेश करते हैं, मस्तिष्क व शरीर का उत्तम निर्माण करते हैं और **सप्त वाणीः**=सात छन्दों में प्रतिपादित वेदवाणियों में प्रवेश करते हैं। (३) इनके जीवन में **परिक्षिता**=चारों ओर वर्तमान—व्याप्त **पितरा**=द्युलोक व पृथ्वीलोक **संचरेते**=मिलकर गतिवाले होते हैं, अर्थात् यह मस्तिष्क और शरीर दोनों की समन्वित उन्नति करनेवाला होता है। मस्तिष्क में ब्रह्म तथा शरीर में क्षत्र का विकास करता है। इस प्रकार विकसित हुए-हुए ब्रह्म और क्षत्र इसके **आयुः**=जीवन को **प्रयक्षे**=प्रकृष्ट यज्ञों की सिद्धि के लिये **दीर्घं प्रसर्स्राते**=अत्यन्त दीर्घ कर देते हैं, अर्थात् यह व्यक्ति दीर्घजीवन को प्राप्त करता है और उस जीवन में यज्ञशील होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के मार्ग पर चलें, शरीर व मस्तिष्क दोनों के विकास का ध्यान करें, वेद

का स्वाध्याय करें (ज्ञानोपार्जन करें) इससे हमारे में ब्रह्म व क्षत्र का विकास होकर हमें दीर्घ जीवन प्राप्त होगा और वह जीवन यज्ञमय होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानवाणियों की प्राप्ति

दिवक्षसो धेनवो वृष्णो अश्वा देवीरा तस्थौ मधुमद्वहन्तीः।
ऋतस्य त्वा सदसि क्षेमयन्तं पर्येका चरति वर्तनिं गौः॥ २॥

(१) **वृष्णः**=इस गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनानेवाले शक्तिशाली पुरुष के **अश्वाः**=इन्द्रियाश्व **दिवक्षसः**=ज्ञान के प्रकाश में निवास करनेवाले (दिव्+क्षि) तथा **धेनवः**=उत्तम कर्मों द्वारा प्रीणित करनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान में निवास करती हैं तो कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत होती हैं। (२) यह व्यक्ति **मधुमद् वहन्तीः**=अत्यन्त माधुर्ययुक्त ज्ञान प्राप्त कराती हुई **देवीः**=दिव्यगुणों की जननी इन वेदवाणियों का **आतस्थौ**=अधिष्ठाता बनता है। इनका अध्ययन करता हुआ इनका अत्यन्त परिमार्जन करता है। (३) **ऋतस्य**=ऋत के-ठीक ज्ञान व ठीक कर्मों के **सदसि**=गृह में **क्षेमयन्तम्**=निवास को चाहते हुए **वर्तनिम्**=उस ज्ञान के अनुसार वर्तनेवाले **त्वा**=तुझ को **एका**=यह अद्वितीय **गौः**=वेदवाणी **परिचरति**=सेवित करती है। वेदवाणी इसके कार्यों को सिद्ध करती है।

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में लगें और कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कर्मों में। वेदवाणी के हम प्रिय हों। सदा ऋत में निवास की कामनावाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रयिविद् रयीणाम् (पुरुधप्रतीकः)

आ सीमरोहत्सुयमा भवन्तीः पतिश्चिकित्वान्रयिविद्रयीणाम्।
प्र नीलपृष्ठो अतसस्य धासेस्ता अवासयत्पुरुधप्रतीकः॥ ३॥

(१) यह व्यक्ति **सीम्**=निश्चय से **सुयमाः**=उत्तम नियमनवाली **भवन्तीः**=होती हुई इन इन्द्रियों का **आ अरोहत्**=आरोहण करता है। इन इन्द्रियाश्वों पर आरूढ़ हुआ-हुआ इन्हें अपने वश में करता है। यह इन इन्द्रियाश्वों का **पतिः**=स्वामी व रक्षक बनता है। **चिकित्वान्**=ज्ञानी होता है। **रयीणां रयिविद्**=उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाला होता है। (२) यह **नीलपृष्ठः**=(नील=an auspicious proclamation) प्रभु की शुभ उद्घोषणा को जीवन का आधार बनानेवाला पुरुष, **अतसस्य**=निरन्तर गतिशील, स्वाभाविकी क्रियावाले **धासेः**=धारक प्रभु को **ताः**=उन उद्घोषणाओं को **अवासयत्**=अपने अन्दर निवास देता है, अर्थात् उनको अपने जीवन में घटाता है-उनके अनुसार अपने जीवन को बनाता है और इस प्रकार **पुरुन्ध-प्रतीकः**=बहुत अच्छे प्रकार से अपने अंगों का धारण करता है। प्रभु की उद्घोषणा के अनुसार जीवन बिताने से सब अंग अन्त तक ठीक बने रहते हैं-मनुष्य जीर्ण नहीं हो जाता। वृद्ध नहीं बनता है।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में करें। उत्तम धन प्राप्त करें। प्रभु की उद्घोषणा के अनुसार चलते हुए सब अंगों को ठीक प्रकार से धारण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अजुर्य+स्तभूयमान

महि त्वाष्ट्रमूर्जयन्तीरजुर्यं स्तभूयमानं वहतो वहन्ति ।
व्यङ्गेभिर्दिद्युतानः सधस्थ एकामिव रोदसी आ विवेश॥ ४॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित 'सुयमाः भवन्तीः' उत्तम नियमन में चलती हुई इन्द्रियाँ **वहतः**=सब कार्यों का वहन करती हुई **महि**=इस पूजा की वृत्तिवाले **त्वाष्ट्रम्**=निर्माता प्रभु के उपासक अतएव **अजुर्यम्**=न जीर्ण होनेवाली **स्तभूयमानम्**=अपनी शक्तियों का स्तम्भन करते हुए पुरुष को **ऊर्जयन्तीः**=बल व प्राण से युक्त करती हुई **वहन्ति**=कार्यचक्र को पूर्ण करती हैं। (२) यह पुरुष **अंगेभिः**=एक-एक अंग से **विदिद्युतानः**=विशेषरूप से दीप्तिवाला होता है। **सधस्थे**=प्रभु के साथ एक स्थान में स्थित होने पर **रोदसी**=द्यावापृथिवी में इस प्रकार **प्राविवेश**=प्रवेश करता है, **इव**=जैसे कि **एकाम्**=ये दोनों एक हों। मस्तिष्क व शरीर ही द्यावापृथिवी हैं। यह केवल मस्तिष्क को ही नहीं विकसित करता, शरीर का भी पूरा ध्यान करता है। शरीर के साथ मस्तिष्क को भी विकसित करते हुए चलता है। शरीर व मस्तिष्क को एक ही वस्तु के दो सिरे बना देता है। प्रभु का स्मरण करता हुआ यह ब्रह्म और क्षत्र दोनों का विकास करता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के नियमन से शक्ति व ज्ञान का वर्धन होता है। मनुष्य अजीर्ण व स्थिर शक्तियोंवाला बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृषा+अरुष्य (दिवोरुचः, सुरुचः व रोचमानाः)

जानन्ति वृष्णो अरुषस्य शेवमुत ब्रध्नस्य शासने रणन्ति।
दिवोरुचः सुरुचो रोचमाना इळा येषां गण्या माहिना गीः॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के साधक लोग **वृष्णः**=शक्तिशाली **अरुषस्य**=आरोचमान अथवा (अ+रुष) क्रोधरहित पुरुष के **शेवम्**=सुख को **जानन्ति**=जानते हैं। जब ये शक्ति व ज्ञान का विकास करते हैं तो इन्हें वह सुख प्राप्त होता है जो कि शरीर में शक्ति-सम्पन्न व मस्तिष्क में ज्ञान से आरोचमान पुरुष को प्राप्त होता है। (२) **उत**=और ये लोग **ब्रध्नस्य**=उस महान् प्रभु के **शासने**=शासन में **रणन्ति**=(रमन्ते) आनन्द अनुभव करते हैं। प्रभु की आज्ञा में चलते हुए आनन्दमय जीवनवाले होते हैं। (३) ये लोग **दिवः रुचः**=ज्ञान की रुचिवाले होते हैं, **सुरुचः**=मन में उत्तम रुचियोंवाले व शुभ इच्छाओंवाले होते हैं, **रोचमानाः**=अपनी तेजस्विता के कारण चमकते हैं। कौन? **येषाम्**=जिनकी **इडा**=वाणी **गण्या**=गणनीय-संख्यावाली-ज्ञानवाली होती है। जिनकी **गीः**=वाणी **माहिना**=पूजावाली होती है, अर्थात् जो ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करते हैं तथा स्तुतिवाणियों का उच्चारण करते हैं, वे ही 'दिवोरुच्, सुरुच् व रोचमान' होते हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय व ध्यान की रुचिवाले लोग ज्ञानी, शुभ इच्छाओंवाले व तेजस्वी बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानवस्त्र व आत्मिक तेज

उतो पितृभ्यां प्रविदानु घोषं महो महद्भ्यामनयन्त शूषम्।
उक्षा ह यत्र परि धानमक्तोरनु स्वं धाम जरितुर्ववक्ष॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के ज्ञानीपुरुष **उत**=और **उ**=निश्चय से **अनु घोषम्**=प्रभु के गुणों के उच्चारण के अनुसार **प्रविदा**=प्रकृष्ट ज्ञान से **महो महद्भ्याम्**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **पितृभ्याम्**=द्युलोक व पृथिवीलोक रूप माता-पिता के लिए-मस्तिष्क व शरीर के लिए **शूषम्**=बल को **अनयन्त**=प्राप्त कराते हैं। शरीर व मस्तिष्क दोनों को सबल बनाते हैं। इनको सबल बनाने के लिये वे प्रभु के नामों के उच्चारण व स्वाध्याय को अपनाते हैं। ध्यान व स्वाध्याय इन्हें व्यसनों से बचाए रखते हैं, इस प्रकार इनका शरीर भी ठीक बना रहता है और मस्तिष्क भी। (२) यह होता तभी है **यत्र**=जब कि **उक्षा**=सब को सुखों व शक्तियों से सिक्त करनेवाला प्रभु **ह**=निश्चय से **अक्तोः**=प्रकाश की रश्मियों के **परिधानम्**=वस्त्र को **स्वं धाम अनु**=आत्मतेज के अनुसार **जरितुः**=इस स्तोता को **ववक्ष**=प्राप्त कराता है। प्रभु स्तोता को ज्ञान प्राप्त कराते हैं और आत्मिक तेज भी। ऐसा होने पर इस स्तोता के मस्तिष्क व शरीर दोनों ही बड़े ठीक बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु जब स्तोता को आत्मिक तेज व ज्ञान प्राप्त कराते हैं तो स्तोता के शरीर व मस्तिष्क दोनों ही बड़े सुन्दर बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों के व्रतों का अनुगमन

अ॒ध्व॒र्युभिः॑ प॒ञ्चभिः॑ स॒प्त विप्राः॑ प्रि॒यं र॑क्षन्ते॒ निहि॑तं प॒दं वेः।
प्राञ्चो॑ मदन्त्यु॒क्षणो॑ अजु॒र्या दे॒वा दे॒वाना॒मनु॒ हि व्र॒ता गुः॥ ७॥

(१) **सप्त विप्राः**=शरीरस्थ सात ऋषि 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्', अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ **पंचभिः**=पाँच **अध्वर्युभिः**=जीवनयज्ञ को चलानेवाली कर्मेन्द्रियों से **वेः**=उस सर्वव्यापक गतिशील प्रभु के **निहितम्**=हमारे लिए स्थापित **प्रियम्**=आनन्द के कारणभूत **पदम्**=मार्ग को **रक्षन्ते**=रक्षित करती हैं। शरीर में 'सप्त विप्राः' ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, ये ही सात ऋषि भी कहलाती हैं। 'पाँच अध्वर्यु' यहाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। प्रभु ने हमारे लिये यज्ञरूप-मार्ग की स्थापना की है। यह मार्ग अन्ततः स्वर्गप्राप्ति का साधनभूत होने से अत्यन्त प्रिय है ज्ञानेन्द्रियरूप सप्तऋषियों ने कर्मेन्द्रियरूप अध्वर्युओं द्वारा इस जीवनयज्ञ को सुन्दरता से चलाता है। (२) इस यज्ञ को चलानेवाले व्यक्ति **प्राञ्चः**=(प्र+अञ्च्) अग्रगतिवाले होते हैं। ये सदा उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं और **मदन्ति**=सदा हर्ष को प्राप्त-प्रसन्न-मनोवृत्तिवाले होते हैं। **उक्षणः**=सदा अपने को शक्ति से सिक्त करनेवाले और अतएव **अजुर्याः**=जीर्ण नहीं होते। इनकी सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहती है। (३) ये **देवाः**=देववृत्तिवाले बनकर **हि**=निश्चय से **देवानाम्**=देवों के **व्रता**=व्रतों का **अनुगुः**=अनुगमन करते हैं। देवों के व्रतों को अपने में धारण करने का प्रयत्न करते हैं। सूर्य की तरह निरन्तर गतिमय व प्रकाशमय बनने का प्रयत्न करते हैं, वायु से गति द्वारा सब बुराइयों के हिंसन का पाठ सीखते हैं और अग्नि बनकर क्रियाशीलता द्वारा दोषों का दहन करनेवाले बनते हैं। इसी प्रकार सब देवों के व्रतों धारण करते हुए देव बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में यज्ञ का विलोप न हो। हम देवों के व्रतों को धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋत का शंसन, ऋत का कथन

दैव्या॒ होता॑रा प्रथ॒मा न्यृ॑ञ्जे स॒प्त पृ॒क्षासः॑ स्व॒धया॑ मदन्ति।
ऋ॒तं शंस॑न्त ऋ॒तमित्त आ॑हु॒रनु॑ व्र॒तं व्र॑त॒पा दीध्या॑नाः ॥ ८॥

(१) शरीर में प्राणापान **प्रथमा**=सर्वमुख्य **दैव्या होतारा**=देव (प्रभु) द्वारा स्थापित होता है। इनकी ही शक्ति अन्य सब इन्द्रियों में काम करती हैं। ये दैव्य इसलिए भी कहलाते हैं कि ये हमें देव (प्रभु) की ओर ले चलनेवाले हैं। इन प्राणापान को मैं **नि-ऋञ्जे**=प्रसाधित करता हूँ। इनके प्रसाधन से अन्य सब इन्द्रियों का शोधन तो हो ही जाता है। इन प्राणापान-साधन के होने पर **सप्त**=सात **पृक्षासः**=(पृची संपर्के) पदार्थों के साथ सम्पर्क में आनेवाली इन्द्रियाँ (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख) उन पदार्थों में प्रभु की महिमा देखती हुई **स्वधया**=आत्मधारण-शक्ति से **मदन्ति**=आनन्द अनुभव करती हैं। (२) इस प्रकार प्राणापान का साधन करनेवाले लोग **ऋतं शंसन्तः**=ऋत का शंसन करनेवाले होते हैं। **ते**=वे **इत्**=निश्चय से **ऋतं आहुः**=अपने जीवन से भी ऋत का ही प्रतिपादन करते हैं। ऋत की प्रशंसा करते हुए ऋत को जीवन में लाने का प्रयत्न करते हैं। ये **व्रतपाः**=व्रत का पालन करनेवाले होते हैं। व्रत का पालन ही ऋत है। **अनुव्रतम्**=व्रत के अनुसार **दीध्यानाः**=ये दीप्त-जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक रहती है। इस साधना के परिणामस्वरूप जीवन व्रती होता है। व्रतपालन से हम दीप्त हो उठते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुयामाः रश्मयः

वृषायन्ते महे अत्याय पूर्वीर्वृष्णे चित्राय रश्मयः सुयामाः।
देव होतर्मन्द्रतरश्चिकित्वान्महो देवान्रोदसी एह वक्षि॥ ९॥

(१) **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली **सुयामाः**=हमारे जीवनों को बड़ा नियमित बनानेवाली **रश्मयः**=ज्ञानरश्मियाँ **वृषायन्ते**=हमारे लिये सुखों का वर्षण करती हैं, अथवा हमें बड़ा शक्तिशाली बनाती हैं ये ज्ञानरश्मियाँ उस प्रभुप्राप्ति के लिये होती हैं जो कि **महे**=पूजनीय हैं, **अत्याय**=सतत गतिवाले हैं, **वृष्णे**=शक्तिशाली हैं तथा **चित्राय**=अद्भुत हैं, अथवा हमें ज्ञान देनेवाले हैं। (२) हे **देव**=प्रकाशमय **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! आप **मन्द्रतरः**=अत्यन्त आनन्दमय व स्तुत्य हैं, **चिकित्वान्**=ज्ञानी हैं, हमारे लिये नीरोग जीवन देनेवाले हैं (कित् रोगापनमने)। आप **महः देवान्**=तेजस्वी देवों को-तेजस्वितायुक्त दिव्यगुणों को तथा **रोदसी**=द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **इह**=यहाँ, इस जीवन में हमें **आवक्षि**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—जीवन को सुनियन्त्रित बनानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमें प्रभु प्राप्त कराती हैं। प्रभु हमें तेजस्विता-दिव्यगुण व उत्तम शरीर व मस्तिष्क को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम उषाकाल

पृक्षप्रयजो द्रविणः सुवाचः सुकेतव उषसो रेवदूषुः।
उतो चिदग्ने महिना पृथिव्याः कृतं चिदेनः सं महे दशस्य॥ १०॥

(१) हे प्रभो! हमारे लिए **उषसः**= उषाकाल **रेवत्**=धनसम्पन्न होकर **ऊषुः**=अन्धकार दूर करनेवाले हों। ये उषाएँ **पृक्षप्रयजः**=संपर्चनीय प्रभु के साथ प्रकृष्ट संगतिवाली हों-इनमें हम प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। ये उषाएँ **द्रविणः**=(द्रु गतौ) गतिवाली हों-हमारे जीवनों में क्रियाशीलता की प्रेरणा देनेवाली हों। **सुवाचः**=उत्तम वाणीवाली हों, उषाकालों में तो हम कभी भी कोई अभद्र

शब्द न बोलें। **सुकेतवः**=ये उत्तम ज्ञानवाली हों, इनमें स्वाध्याय करते हुए हम अपने ज्ञानों को बढ़ानेवाले हों। (२) **उता चित्**=और निश्चय से हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पृथिव्याः महिना**=पृथिवी, अर्थात् विशालता की महिमा से **कृतं चित् एनः**=किये हुए बड़े भी पाप को **संदशस्व**=आप विनष्ट करिए (संक्षपय) ताकि हम इस पापनाश द्वारा **महे**=आपके पूजन के लिये हों। पापवृत्ति का नाश ही प्रभुपूजन है, पाप को नष्ट कर सत्य अपनाने से हम सत्यस्वरूप-प्रभु का पूजन करते हैं।

भावार्थ—हमारे उषाकाल प्रभु पूजनवाले, गतिशील, मधुरवाणीवाले व उत्तम ज्ञानवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वेदज्ञान-उत्तम सन्तान-सुमति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ११ ॥

अर्थ ५.११ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त जीवन की उत्तम स्थिति के साधनों का प्रतिपादन करता है। अगले सूक्त में भी यही विषय प्रवृत्त है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्राप्ति के साधन

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे ॥ १ ॥

(१) हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन्! **देवयन्तः**=दिव्यगुणों की कामनावाले पुरुष **त्वा**=आपको **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **अञ्जन्ति**=प्राप्त होते हैं। **दैव्येन मधुना**=देव से उत्पादित मधु द्वारा वे आपको प्राप्त होते हैं। शरीर में ओषधियों का सारभूत अन्तिम तत्त्व **सोम**=वीर्य है। यही 'मधु' है। परमात्मा की व्यवस्था से उत्पन्न होने के कारण यह 'दैव्य मधु' कहलाता है। इसके रक्षण से बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म बनती है और इस सूक्ष्मबुद्धि द्वारा यह साधक प्रभु का दर्शन करनेवाला बनता है एवं प्रभुप्राप्ति के निम्न उपायों का संकेत स्पष्ट है—(क) जीवन को अहिंसावाला व यज्ञात्मक बनाना (अध्वरे), (ख) दिव्यगुण-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होना (देवयन्तः), (ग) शरीर में सोमशक्ति का रक्षण करना (मधुना दैव्येन)। (२) हे प्रभो! **यद्**=जब आप **ऊर्ध्वः तिष्ठा**=हमारे जीवनों में सबसे ऊपर स्थित होते हैं तो **इह**=यहाँ हमारे जीवन में आप **द्रविणा धत्तात्**=सब आवश्यक धनों को धारण करते हैं। **यद्वा**=अथवा कम से कम इस उपासक का **अस्याः मातुः उपस्थे**=इस पृथिवी माता की गोद में **क्षयः**=निवास होता है। इसका जीवन उसी प्रकार सौन्दर्य से बीत जाता है, जैसे कि बच्चे का माता की गोद में। इसको जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कभी चिन्ता नहीं करनी पड़ती। इनकी पूर्ति के लिये आवश्यक धन इसे सदा प्राप्त रहते हैं।

भावार्थ—हम जीवन को यज्ञमय बनायें, दिव्यगुणों की कामनावाले हों और सोम का रक्षण करें। ऐसा करने पर हमें प्रभु प्राप्त होंगे। प्रभु हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सौभाग्य-सम्पन्न जीवन

समिद्धस्य श्रयमाणः पुरस्ताद् ब्रह्म वन्वानो अजरं सुवीरम्।
आरे अस्मदमतिं बाधमान उच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ २॥

(१) **समिद्धस्य**=ज्ञान से दीप्त पुरुष के **पुरस्तात्**=सामने **श्रयमाणः**=वर्तमान होते हुए, अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूप समिधाओं से अपनी ज्ञानाग्नि को समिद्ध करनेवाला, इन लोकों में स्थित सब पदार्थों की रचना के अन्दर आपकी महिमा को देखनेवाला पुरुष आपको सर्वत्र अनुभव करता है। (२) **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले-अजरामर **सुवीरम्**=हमें उत्तम वीर बनानेवाले **ब्रह्म**=ज्ञान को **वन्वानः**=(प्रयच्छन्) देते हुए, तथा **अस्मत्**=हमारे से **अमतिम्**=अविचारशीलता को **आरे बाधमानः**=दूर करते हुए आप **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिये **उच्छ्रयस्व**=उद्गत होइए। हमारे जीवनों में आपका स्थान सर्वोपरि हो। आपकी पूजा करते हुए हम (क) ज्ञानदीप्त होकर सर्वत्र आपकी महिमा को देखें, (ख) आपके अजरामर हमें वीर बनानेवाले वेदज्ञान को प्राप्त करें तथा (ग) अविवेक को सदा अपने से दूर रखें। ऐसा करने पर ही हमारा जीवन सौभाग्य-सम्पन्न होगा।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु को देखते हुए, प्रभु के अजरामर काव्य का ज्ञान प्राप्त करते हुए, अविवेक से दूर होते हुए हम सौभाग्य-सम्पन्न जीवनवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

युक्तचेष्टता द्वारा प्रभु का ज्ञान

उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन्पृथिव्या अधि। सुमिती मीयमानो वर्चो धा यज्ञवाहसे॥ ३॥

(१) हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन् प्रभो! आप **पृथिव्याः वर्ष्मन् अधि**=इस शरीररूप पृथिवी के सर्वोत्कृष्ट प्रदेश हृदय में **उच्छ्रयस्व**=आश्रय कीजिए। मेरा हृदय आपका निवास-स्थान बने। मैं इस हृदय को 'बर्हिः' बनाऊँ, इसमें से सब वासनाओं का उद्बर्हण कर दूँ और इसे आपके लिये पवित्र करनेवाला बनूँ। (२) **सुमिती**=उत्तम मिति द्वारा, अर्थात् प्रत्येक चीज को माप-तौलकर करने द्वारा **मीयमानः**=जाने जाते हुए आप **यज्ञवाहसे**=यज्ञों को धारण करनेवाले मेरे लिए **वर्चः धाः**=शक्ति का धारण कीजिये। मैं खान-पान, सोने-जागने, उठने-बैठने आदि सब कर्मों में युक्तचेष्ट बनूँ तथा जीवन को यज्ञमय बनाऊँ और इस प्रकार शक्ति प्राप्त करने का पात्र होऊँ।

भावार्थ—हमारे हृदयों में प्रभु का निवास तब होता है, जब हम हृदयों को पवित्र बनाते हैं, सब कर्मों में युक्तचेष्ट होते हैं और यज्ञमय जीवनवाले बनते हैं। ये प्रभु हमें वर्चस् प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आचार्य के लक्षण

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ ४॥

(१) **युवा**=दोषों का अमिश्रण व गुणों का अपने साथ मिश्रण करनेवाला, **सुवासाः**=उत्तम

ज्ञानवस्त्र धारण करनेवाला **परिवीतः**=रशना से परिवेष्टित हुआ-हुआ, अर्थात् कटिबद्धता व संयम के जीवनवाला यह **आगात्**=आया है। आचार्यकुल से समावृत्त होकर घर को प्राप्त हुआ है। **सः**=वह **उ**=निश्चय से **जायमानः**=आचार्यकुल से उत्पन्न होता हुआ **श्रेयान्**=उत्कृष्ट जीवनवाला **भवति**=होता है। (२) **तम्**=उसको आचार्यकुल में वे उपाध्याय **उन्नयन्ति**=उन्नत करते हैं जो कि (क) **धीरासः**=ज्ञान देनेवाले हैं (धियं रान्ति), (ख) **कवयः**=क्रान्तदर्शी हैं, (ग) **स्वाध्यः**=उत्तम ध्यान से युक्त हैं और (घ) **मनसा**=मन से **देवयन्तः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाले हैं। वस्तुतः ऐसे आचार्य व उपाध्याय ही विद्यार्थी का जीवन सुन्दर बना सकते हैं।

भावार्थ—'धीर कवि ध्यानशील व देवयन्' आचार्य ही विद्यार्थी को श्रेष्ठ जीवनवाला बना पाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्नातक

जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥ ५ ॥

(१) **जातः**=आचार्यकुल से उत्पन्न हुआ-हुआ गतमन्त्र का युवा **अह्नां सुदिनत्वे जायते**=दिनों की सुदिनता-शोभनता के निमित्त होता है, अर्थात् आचार्यकुल से समावृत्त होकर यह युवक अपने गृह के लिए सुदिन लाने का कारण बनता है। घरवालों के लिए वह सुदिन होता है, जिस दिन कि यह युवक ज्ञानी बनकर घर वापिस लौटता है। यह **अर्यः**=स्वामी बनकर-इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर **विदथे**=ज्ञान-यज्ञ में **सं आवर्धमानः**=सम्यक् समन्तात् वृद्धिवाला होता है। जितेन्द्रियता द्वारा अपने ज्ञान की निरन्तर वृद्धि करनेवाला होता है, अथवा **स-मर्ये विदथे**=उत्तम लोगों से युक्त ज्ञानगोष्ठियों में यह **आवर्धमानः**=सब ओर वृद्धि व शोभावाला होता है। (२) इस प्रकार के **धीराः**=ज्ञान को देनेवाले **अपसः**=कर्मशील पुरुष **मनीषा**=अपनी बुद्धि से **पुनन्ति**=सब लोगों का जीवन पवित्र करनेवाले होते हैं। ज्ञानी व ज्ञान के अनुसार कर्म करनेवाले लोग ही औरों को उत्तम प्रेरणा दे पाते हैं। **देवयाः**=(देवं यजति) उस महान् देव प्रभु का पूजन करनेवाला **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला ज्ञानी पुरुष **वाचं उदियर्ति**=सदा स्तुतिवचनों का उच्चारण करता है, अथवा ऐसा ही पुरुष औरों के लिये उपदेश की वाणी का प्रयोग करता है।

भावार्थ—ज्ञानप्राप्त युवक घर के लिये सुदिनों को लानेवाला होता है। ज्ञानगोष्ठियों में यह ऊँची स्थिति प्राप्त करता है। ये औरों के जीवन को भी पवित्र करनेवाले होते हैं, सदा स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रजावत् रत्नम्

यान्वो नरो देवयन्तो निमिम्युर्वनस्पते स्वधितिर्वा ततक्ष।
ते देवासः स्वरवस्तस्थिवांसः प्रजावदस्मे दिधिषन्तु रत्नम्॥ ६ ॥

(१) हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन् प्रभो! **यान्**=जिनको **वः नरः**=('नृ' का बहुवचन) आपके मनुष्य, **देवयन्तः**=सदा दिव्यगुणों की कामनावाले **निमिम्युः**=निश्चय से बनाते हैं, **वा**=अथवा **स्वधितिः**=(स्व+धितिः) आत्मतत्त्व का धारण **ततक्ष**=हमारा निर्माण करता है **ते**=वे सब **देवासः**=देववृत्ति के बन पाते हैं, **स्वरवः**=सदा प्रभुस्तवन करनेवाले होते हैं तथा

तस्थिवांसः=स्थिरवृत्तिवाले बनते हैं। मनुष्य के जीवन का निर्माण 'माता, पिता, आचार्य' आदि देवों से होता है। 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'। इनद्वारा किए जानेवाले शिक्षण के साथ यदि आत्मतत्त्व-धारण का अभ्यास भी हो, अर्थात् कुछ देर के लिये आत्मचिन्तन का अभ्यास भी किया जाए, तब तो जीवन का बहुत ही सुन्दर परिष्कार हो जाता है। इस परिष्कार के होने पर (क) मनुष्य कुछ दैवी-वृत्तिवाला बनता है, (ख) प्रभुस्तवन की ओर झुकाववाला होता है और (ग) स्थिरवृत्तिवाला बनता है, विषयों में उसका चित्त भटकता नहीं रहता। (२) **अस्मे**=ऐसा बननेवाले हमारे लिए देव **प्रजावत् रत्नम्**=उत्तम विकासवाले रमणीय धन को **दिधिषन्तु**=धारण करें-हमें इस धन को प्राप्त कराएँ। 'प्रजावत्' का अर्थ 'उत्तम सन्तानवाला' भी यहाँ ग्राह्य ही है। हमें धन भी प्राप्त हो, वह धन उत्तम सन्तानोंवाला हो। उस धन द्वारा हम सन्तानों का उत्तम शिक्षण करने-कराने में समर्थ हों।

भावार्थ—देववृत्ति के माता, पिता, आचार्य हमारे जीवनों का सुन्दर निर्माण करें। 'आत्मचिन्तन' से हमारा जीवन परिष्कृत बने। हमें उत्तम सन्तान के साथ रमणीय धन प्राप्त हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

देवत्रा वार्यम्

ये वृक्णासो अधि क्षमि निमितासो यतस्रुचः। ते नो व्यन्तु वार्यं देवत्रा क्षेत्रसाधसः ॥ ७ ॥

(१) **ये**=जो **वृक्णासः**=(वृज्) पाप का वर्जन करनेवाले हैं अथवा जो (torn away) पाप से पृथक् हो गए हैं। **अधि क्षमि**=इस शरीररूप पृथिवी में **निमितासः**=प्रत्येक क्रिया बड़े परिमित रूप में करनेवाले हैं-खान-पान, सोना-जागना, उठना-बैठना ये सभी क्रियाएँ इनकी बड़ी नियमित रूप से चलती हैं। **यतस्रुचः**=जिन्होंने चम्मच हाथ में लिया हुआ है, अर्थात् जो सदा यज्ञशील हैं (स्रुच्=वाक् श० ६।३।१।८) अथवा संयत वाणीवाले हैं। **क्षेत्रसाधसः**=जो शरीररूप क्षेत्र बड़ा ठीक सिद्ध करनेवाले हैं। **ते**=वे **नः**=हमारे लिए **देवत्रा**=देवों में जो भी **वार्यम्**=वरणीय वस्तु है, उसे **व्यन्तु**=प्राप्त कराएँ (गमयन्तु)। (२) प्रचारकार्य व नरनिर्माण-कार्य में लगे हुए लोगों को (क) पाप से दूर होना चाहिए, अन्यथा वे औरों को क्या सुपथ पर ला सकेंगे? (ख) इनकी सब क्रियाएँ नपी-तुली होनी चाहिए, ऐसे ही व्यक्ति औरों को प्रभावित कर पाते हैं। (ग) ये यज्ञशील व संयतवाक् हों। बहुत बोलनेवाले का भी प्रभाव नहीं पड़ता। (३) इनका शरीर स्वस्थ होना चाहिए। अस्वस्थ व्यक्ति चाहता हुए भी औरों का हित नहीं कर पाता। ये लोग प्रचारकार्य को करते हुए 'सूर्य से प्रकाश को, वायु से क्रियाशीलता को तथा अग्नि से दोषदहन शक्ति को' ग्रहण करने का लोगों को उपदेश दें। देवों के मार्ग पर चलने का भाव यही है कि प्रत्येक देव से वरणीय गुण को ग्रहण करते हुए हम अपने जीवन को दिव्यजीवन बनाने का यत्न करें।

भावार्थ—निष्पाप, संयमी, यज्ञशील व स्वस्थ पुरुष हमें अपने उपदेशों से दिव्यगुणों को प्राप्त करने के लिये प्रेरित करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

('आदित्य, रुद्र और वसु') यज्ञ-रक्षण

आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम्।
सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् ॥ ८ ॥

(१) प्रकृतिविद्या को पढ़नेवाले विद्वान् प्राकृतिक पदार्थों का ठीक प्रयोग करते हुए 'वसु'

कहलाते हैं, ये अपने निवास को उत्तम बना पाते हैं। समाजशास्त्र के अध्ययन से जीव-स्वभाव को भी अच्छी तरह समझनेवाले विद्वान् 'रुद्र' कहलाते हैं, ये उचित व्यवहार करते हुए दुःखों का द्रावण करनेवाले होते हैं। आत्मविद्या का अध्ययन करते हुए सब सद्गुणों के आदान से ये 'आदित्य' बनते हैं। ये 'आदित्याः रुद्राः वसवः'=आदित्य, रुद्र व वसु विद्वान् **सुनीथाः**=हमें उत्तम मार्ग से ले चलनेवाले हों। (२) जब हम उत्तम मार्ग पर चलें तो उस समय **द्यावाक्षामा**=द्युलोक और पृथिवीलोक तथा **पृथिवी**=अतिविस्तृत **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष ये सब **सजोषसः**=समान रूप से प्रीतिपूर्वक हमारा सेवन (=हमारी सहायता) करते हुए **यज्ञम्**=हमारे जीवन-यज्ञ का **अवन्तु**=रक्षण करें। सब पदार्थों की हमें अनुकूलता हो और हमारा जीवन-यज्ञ बड़ी सुन्दरता से चले। (३) इस प्रकार हमारे जीवन-यज्ञ का रक्षण करते हुए **देवाः**=सब देव **अध्वरस्य केतुम्**=यज्ञज्ञान को **ऊर्ध्वं कृण्वन्तु**=हमारे में सर्वोपरि करें, अर्थात् हम यज्ञों को समझें और इन यज्ञों को ही जीवन में सर्वप्रथम स्थान दें।

भावार्थ—देव हमें उत्तम मार्ग से ले चलनेवाले हों। सब संसार हमारे लिए अनुकूल हो ताकि हम यज्ञों को सिद्ध कर पाएँ। विद्वान् लोग इन यज्ञों का हमें मुख्यरूप से उपदेश दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कवि सम्पर्क

हंसाइव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः।
उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद्देवा देवानामपि यन्ति पाथः ॥ ९ ॥

(१) **नः**=हमें विद्वान् लोग, लोक विध्वंस रहित जो विद्वान् **स्वरवः**=सदा प्रभु का शंसन करने में प्रवृत्त हैं। **शुक्रा वसानाः**=निर्मल ज्ञानदीप्तियों को धारण करनेवाले हैं। **हंसाः इव**=हंसों की तरह निर्मल व श्वेत हैं, शुद्ध जीवनवाले हैं। **श्रेणिशः यतानाः**=एक श्रेणि के रूप में यत्न करनेवाले हैं, अर्थात् जिनके कार्य एक-दूसरे का विरोध करनेवाले नहीं, जिनके कार्य एक-दूसरे के पूरक ही होते हैं। यदि इनके उपदेश एक-दूसरे के विरुद्ध हों तो लोगों को सिवाय मतिभ्रम के और कुछ नहीं होता और वे मार्ग को ठीक रूप में जान नहीं पाते। (२) इस प्रकार के **कविभिः**=क्रान्तदर्शी लोगों के उपदेशों से **पुरस्तात् उन्नीयमानाः**=आगे उन्नतिपथ पर ले जाये जाते हुए ये लोग **देवाः**=देववृत्ति के बनते हैं। और **देवानाम्**=देवों के **पाथः**=मार्ग पर **अपियन्ति**=चलनेवाले होते हैं। 'सूर्य से, चन्द्र से, पर्जन्य से' सभी से अपने जीवनव्रतों का ये ग्रहण करते हैं तथा विद्वान् लोगों के जीवन का अनुकरण करते हैं।

भावार्थ—हमें 'हंसों की तरह उज्ज्वल जीवनवाले (श्वेत), परस्पर अविरुद्ध यत्न करनेवाले, दीप्तज्ञानों को धारण करनेवाले, प्रभु के उपासक' विद्वान् प्राप्त हों। इनसे उन्नतिपथ पर ले जाये जाते हुए हम देव बनें। सूर्यादि देवों से व्रतों को धारण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आदर्श प्रचारक

शृङ्गाणीवेच्छृङ्गिणां सं ददृशे चषालवन्तः स्वरवः पृथिव्याम्।
वाघद्भिर्वा विहवे श्रोषमाणा अस्माँ अवन्तु पृतनाज्येषु ॥ १० ॥

(१) **स्वरवः**=ये प्रभु का उपासन करनेवाले लोग **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **चषालवन्तः**=(चषाल=bee hive) मधु के छत्तेवाले **सं ददृशे**=दिखते हैं। इनके मुख से सदा

मधुर शब्द ही उच्चरित होते हैं। ये लोग **इत्**=निश्चय से **शृंगिणाम्**=सींगवाले पशुओं के **शृंगाणि इव**=सींगों के समान होते हैं। जैसे सींग अवाञ्छनीय रुकावट को दूर करनेवाले होते हैं, इसी प्रकार ये भी लोक-विध्वंसक तत्त्वों को दूर करके लोकरक्षण करनेवाले होते हैं। (२) ये उपासक **विहवे**=यज्ञों में (विशेषेण हूयन्ते अज) **वाघद्भिः**=ज्ञान का वहन करनेवाले विद्वानों से **श्रोषमाणाः**=ज्ञान का श्रवण करते हुए और इस प्रकार अपने ज्ञानों को निरन्तर बढ़ाते हुए **अस्मान्**=हमें **पृतनाज्येषु**=संग्रामों में **अवन्तु**=रक्षित करें। इनके उपदेशों से उत्कृष्ट प्रेरणाओं को प्राप्त करते हुए हम काम-क्रोध आदि को जीतनेवाले बनें, कभी इनसे अभिभूत न हों।

भावार्थ—आदर्श प्रचारक लोकविध्वंस एक तत्त्वों को दूर करते हुए, मधुर शब्दों को बोलते हुए प्रभु के उपासक होते हैं। ये ज्ञानियों से और अधिक ज्ञान का श्रवण करते हुए, अपने उपदेशों से, हमें काम-क्रोध आदि को अभिभूत करने में प्रेरित व सशक्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शतवल्श विरोहण

वन॑स्पते श॒तव॑ल्शो॒ वि रो॑ह स॒हस्र॑वल्शा॒ वि व॒यं रु॑हेम।
यं त्वाम॒यं स्वधि॑ति॒स्तेज॑मानः प्र॒णि॒नाय॑ मह॒ते सौभ॑गाय॥ ११ ॥

(१) **वनस्पते**=हे ज्ञान-रश्मियों के स्वामिन्! **यं त्वाम्**=जिस तुझको **अयं स्वधितिः**=यह आत्मतत्त्व का धारण करनेवाला, **तेजमानः**=तेजस्वी होता हुआ **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिये **प्रणिनाय**=प्राप्त कराता है वह तू **शतवल्शः**=सैकड़ों शाखाओंवाला होकर **विरोह**=विशेषरूप से उन्नत हो, अर्थात् आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले तेजस्वी पुरुषों के सम्पर्क में महान् उत्कृष्ट ज्ञान को (भग=ज्ञान) प्राप्त कर। ज्ञानरश्मियोंवाला बनकर सैंकड़ों प्रकार से जीवन को उन्नत करनेवाला हो। (२) **वयम्**=तेरे सम्पर्क में आनेवाले हम भी **सहस्रवल्शाः**=हजारों शाखाओंवाले होते हुए **विरुहेम**=विशेषरूप से उन्नत हों। हमें ज्ञान देनेवाले आचार्य अपने ब्रह्मनिष्ठ तेजस्वी आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके उन्नत हों। इनसे ज्ञान प्राप्त करके हम भी सब दिशाओं में उन्नति कर सकें।

भावार्थ—हमारे आचार्य, अपने आत्मनिष्ठ तेजस्वी आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें और हमें उत्कृष्ट ज्ञान को देनेवाले हों।

सूक्त का मुख्य भाव यह है कि हम ज्ञानियों के सम्पर्क में उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके उन्नत हों। हमें प्रभुप्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त हो। 'हम प्रभु के सखा बनें' इन शब्दों से अगले सूक्त का आरम्भ होता है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु का वरण

सखा॑यस्त्वा ववृमहे दे॒वं मर्ता॑स ऊ॒तये॑। अ॒पां नपा॑तं सु॒भगं॑ सु॒दीदि॑तिं सु॒प्रतू॑र्तिमने॒हस॑म्॥ १ ॥

(१) जीव प्रभु से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हम **मर्तासः**=बारम्बार इस जीवन-मरण के चक्र में फँसनेवाले व्यक्ति **सखायः**=मित्र बनकर **ऊतये**=रक्षा के लिए **देवं त्वा**=सब आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले, ज्ञानदीप्त-हमें ज्ञान से दीप्त करनेवाले आपका **ववृमहे**=वरण करते हैं। आपका वरण ही हमें भोगमार्ग से बचाकर योगमार्ग से प्रवृत्त करेगा, तभी हम जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो पाएँगे। आपके वरण के अतिरिक्त रक्षा का कोई अन्य मार्ग नहीं है। (२) आप **अपां**

नपातम्=हमारे शक्तिकणों का नाश न होने देनेवाले हैं। हमें भोगमार्ग से ऊपर उठाकर आप इस योग्य बनाते हैं कि हम शक्तिकणों का रक्षण करनेवाले हों। **सुभगम्**=आप उत्तम भगवाले हैं। आपके वरण से हमें भी यह उत्तम भग प्राप्त होता है। हम भी 'ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्य' रूप भगवाले होते हैं। **सुदीदितम्**=आप उत्तम कर्मोंवाले हैं। आपके उपासन से हमारे भी कर्म उत्तम होते हैं। **सुप्रतूर्तिम्**=आप बहुत अच्छी तरह शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं। आपका उपासक बनकर मैं काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार कर पाता हूँ। **अनेहसम्**=आप निष्पाप हैं। मैं भी शत्रुओं का संहार करता हुआ अथवा त्वरा से सब कार्यों को सिद्ध करता हुआ पाप से रहित होता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु का वरण करें। यह प्रभु का वरण हमें 'शक्तिकणों का रक्षक, उत्तम भगवाला, उत्तम कर्मोंवाला, शत्रुओं को त्वरा से हिंसित करनेवाला तथा निष्पाप' बनाएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

निवर्तन की अवाञ्छनीयता

कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः। न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभवः ॥ २ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं—गतमन्त्र के अनुसार **वना**=उपासना की वृत्ति को तथा ज्ञानरश्मियों को **कायमानः**=(कामयमानः) चाहता हुआ **त्वम्**=तू **यत्**=जो **मातॄः**=धन का निर्माण करनेवाले **अपः**=कर्मों को **अजगन्**=प्राप्त हुआ है, अतः हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **ते**=तेरे **तत्**=उस **निवर्तनम्**=फिर लौट जाने को **न प्रमृषे**=मैं सह नहीं सकता-क्षमा नहीं कर सकता। तेरा वह कार्य ठीक नहीं। वानप्रस्थ व संन्यास में जाकर फिर गृहस्थ में लौट आने की तरह यह तेरा कार्य है। (२) संसार बड़ा चमकीला है। न जाने कब यह हमें अपनी ओर आकृष्ठ करले। हम प्रभु की उपासना की ओर चलते हैं, परन्तु हो सकता है कि धन अपनी चमक से हमें फिर अपनी ओर झुका ले। इसलिए सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। प्रभु कहते हैं कि यह '**यत्**=जो तू **दूरे सन्**=इन विषयों से दूर जाकर **इह अभवः**=फिर यहीं हो गया' यह ठीक नहीं है। विषयों को तो छोड़ना और फिर दृढ़ता से छोड़ ही देना ठीक है। फिर उनकी ओर न झुकना चाहिए।

भावार्थ—उपासना व ज्ञान की कामनावाले बनकर हम आगे बढ़ें और फिर विषयों से विनिवृत्त ही हो जाएँ। इन विषयों की चमक हमें फिर वापिस आकर्षित न करले।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तृष्णा से ऊपर (सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः)

अति तृष्टं ववक्षिथाथैव सुमना असि ।
प्रप्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः ॥ ३ ॥

(१) प्रभु ही जीव से कह रहे हैं—**तृष्टं अतिववक्षिथ**=तू तृष्णा से ऊपर उठ जाता है और **अथ एव**=अब त्यों ही **सुमनाः असि**=उत्तम मनवाला हो जाता है। तृष्णा के चक्र में रमते रहने पर मन कभी शान्ति का अनुभव नहीं करता। तृष्णा के चक्र से ऊपर उठते ही शान्ति प्राप्त हो जाती है। (२) **अन्ये**=दूसरे तो-वे व्यक्ति तो जो कि तृष्णा से ऊपर नहीं उठ पाये **प्र प्रयन्ति**=अत्यन्त और अत्यन्त ही भटकते हैं। धन की तृष्णा इन्हें शान्त नहीं बैठने देती। ये भटकते ही रहते हैं। व्यास के शब्दों में 'अनृणी चाप्रवासी च' सुखी वही है जो कि ऋणग्रस्त नहीं और

जिसे घर से बाहिर भटकने का अवसर नहीं होता, परन्तु तृष्णा कहाँ शान्त बैठने देती है। (३) इन तृष्णाग्रस्तों से **अन्ये**=दूसरे वे व्यक्ति भी हैं जो कि **परि** (परेर्वर्जने)=तृष्णा को छोड़कर, तृष्णा से परे होकर, **आसते**=प्रभु के उपासन में स्थित होते हैं। ये वे व्यक्ति हैं **येषाम्**=जिनकी **सख्ये**=मित्रता में **श्रितः असि**=तूने आश्रय किया है। तू भी इन उपासकों की मित्रता में स्थित होकर धन के पीछे मारा-मारा न फिरता रह।

भावार्थ—तृष्णा से ऊपर उठने पर ही मानस-शान्ति प्राप्त होती है। तृष्णाग्रस्त पुरुष भटकते ही रहते हैं। हमें उन्हीं का सखा बनना चाहिए जो कि तृष्णा से भटक नहीं रहे-तृष्णा छोड़कर प्रभु की उपासना कर रहे हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

गुणचयन व अद्रोह

ई॒यि॒वांस॒मति॒ स्रिधः॒ शश्व॑ती॒रति॑ स॒श्चतः॑।
अन्वी॑मविन्दन्नि॒चिरा॑सो अ॒द्रुहो॒ऽप्सु सिं॒हमि॑व श्रि॒तम्॥ ४॥

(१) **स्रिधः अति ईयिवांसम्**=सब हिंसाओं व कुत्साओं के पार गये हुए को तथा **शश्वतीः**=प्लुतगतिवाली, चुस्ती व चालाकियोंवाली **सश्चतः**=गतियों से अति (ईयिवांसं) लाँघकर कर्म करनेवाले का **अनु**=अनुगमन करके **ईम्**=निश्चय से **अविन्दन्**=प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए हिंसाओं व कुत्साओं से ऊपर उठना आवश्यक है, इसी प्रकार चुस्ती व चालाकीवाली गतियों से ऊपर उठकर शान्त सरलभाव से कार्य करना जरूरी है। (२) ये प्रभु को प्राप्त करनेवाले **निचिरासः**=निश्चय से गुणों का चयन करनेवाले होते हैं और **अद्रुहः**=किसी से द्रोह नहीं करते। ये व्यक्ति उस प्रभु को पाते हैं जो कि **अप्सु**=कर्मशील प्रजाओं में **सिंहं इव**=(हिनस्ति) वासनाओं के संहारक के समान **श्रितम्**=विद्यमान हैं। वासनारूप मृगों के लिए प्रभु सिंह के समान हैं। उपासकों की वासनाओं का प्रभु विनाश करते हैं।

भावार्थ—अकुटिल-वृत्तिवाला व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है। यह अपने में उत्तरोत्तर गुणों का चयन व अद्रोह की भावना का वर्धन करता है। प्रभु इसके वासनारूप मृगों के लिए सिंह के समान होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्राणसाधना व स्वाध्याय

स॒सृ॒वांस॑मिव॒ त्मना॒ग्निमि॒त्था ति॒रोहि॑तम्। ऐनं॑ नयन्मात॒रिश्वा॑ परा॒वतो॑ दे॒वेभ्यो॑ मथि॒तं परि॑॥ ५॥

(१) **त्मना**=स्वयं **ससृवांसं इव**=निरन्तर गति करते हुए के समान, अर्थात् स्वाभाविकी क्रियावाले **अग्निम्**=उस प्रभु को **इत्था**=इस प्रकार **तिरोहितम्**=हृदय देश में ही छिपकर रहते हुए **एनम्**=इस प्रभु को **मातरिश्वा**=वायु, अर्थात् प्राण **परावतः**=दूर देश से **आनयत्**=समीप प्राप्त कराता है। प्रभु स्वाभाविकी क्रियावाले हैं। वे किसी स्वार्थ से कभी क्रिया नहीं करते और नां ही उन्हें अपनी क्रियाओं में किसी की सहायता की अपेक्षा होती है। ये प्रभु हमारे हृदयों में ही गुप्त रूप से रह रहे हैं। प्राणसाधना द्वारा दोषों को दूर करके निर्मल हृदय बनने पर हम प्रभु को देख पाते हैं। (२) उस प्रभु को हम देख पाते हैं, जो कि **देवेभ्यः**=विद्वानों व देववृत्तिवाले पुरुषों से **परिमथितम्**=चारों ओर मथित हुए हैं। ये देववृत्तिवाले विद्वान् प्रत्येक पिण्ड के तत्त्व का अवगाहन करते हुए उसमें प्रभु की रचना-चातुरी को देखते हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन के लिए प्राणसाधना व स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवर्धन आवश्यक है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

यज्ञरक्षक प्रभु

तं त्वा मर्ता अगृभ्णत देवेभ्यो हव्यवाहन ।
विश्वान्यद्यज्ञाँ अभिपासि मानुष तव क्रत्वा यविष्ठ्य ॥ ६ ॥

(१) हे **हव्यवाहन**=सब हव्यपदार्थों को देनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **मर्ताः**=मनुष्य **देवेभ्यः**=विद्वानों द्वारा ज्ञान प्राप्त करके **अगृभ्णत**=ग्रहण करते हैं। जब एक मनुष्य देवों के सम्पर्क में आकर ज्ञान प्राप्त करता है तो वह निर्मलचित्त होकर प्रभुदर्शन करनेवाला बनता है। वह प्रभु को इस रूप में अनुभव करने लगता है कि सब हव्यपदार्थों को देनेवाले प्रभु ही हैं। (२) हे **मानुष**=विचारशील पुरुष का हित करनेवाले प्रभो! **यद्**=जब आप **विश्वान् यज्ञान्**=सब उत्तम कर्मों को **अभिपासि**=रक्षित करते हैं तो **तव क्रत्वा**=आप अपने प्रज्ञानों व कर्मों से **यविष्ठ्य**=हमारी बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले होते हैं और अच्छाइयों के साथ हमारा सम्पर्क करते हैं। आप 'यविष्ठ्य' हैं ('यु मिश्रणामिश्रणयोः')।

भावार्थ—हम देवों के सम्पर्क में आकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हुए प्रभुदर्शन करनेवाले बनें। प्रभु ही हमारे सब यज्ञों का रक्षण करते हैं, वे ही हमारी बुराइयों को दूर करके हमारे साथ अच्छाइयों का मिश्रण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

भद्रम्

तद्भद्रं तव दंसना पाकाय चिच्छदयति । त्वां यदग्ने पशवः समासते समिद्धमपिशर्वरे ॥ ७ ॥

(१) **तद् भद्रम्**=कल्याण व सुख यही है कि **तव दंसना**=तेरे कर्मों से, अर्थात् तेरे पुरुषार्थ के होने पर **पाकाय**=जीवन ठीक से परिपाक हो सकने के लिए **चित्**=निश्चय से **छदयति**=वे प्रभु तुझे धन से परिवृत करनेवाले होते हैं। प्रभु तुझे तेरे पुरुषार्थ के अनुपात में धन प्राप्त कराते हैं, जिससे कि तेरे जीवन का ठीक परिपाक हो सके। पुरुषार्थ से प्राप्त धन उन्नति का कारण बनता है, व्यर्थ में (बिना पुरुषार्थ के) मिला धन जीवन की व्यर्थता का कारण बनता है। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! दूसरी भद्रता की बात यह है **यत्**=कि **त्वाम्**=तुझे **पशवः समासते**=गौ आदि पशु समीपता से प्राप्त होते हैं। गौ तेरा दाहिना हाथ होती है तो घोड़ा तेरा बांया हाथ होता है। ये पशु तेरे जीवन में 'ब्रह्म व क्षत्र' के विकास का कारण बनते हैं। (३) तीसरी बात यह है कि **शर्वरे अपि**=(darkness) चारों ओर अन्धकार होने पर भी **समिद्धम्**=तेरे अन्दर ज्ञान-दीप्ति होती है। तेरा हृदय प्रकाशमय होता है। बाहर विषाद के होने पर भी तेरे अन्दर प्रसाद होता है, अर्थात् आपत्ति में भी तू घबराता नहीं।

भावार्थ—कल्याण की बात यही है कि (क) जीवनपरिपाक के लिये पुरुषार्थ से पर्याप्त धन की प्राप्ति हो, (ख) गौ आदि पशुओं की कमी न हो, (ग) आपत्तियों में अव्याकुल भाव से हम रह सकें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभुपूजन

आ जुहोता स्वध्वरं शीरं पावकशोचिषम् । आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यं श्रुष्टी देवं सपर्यत ॥ ८ ॥

(१) **आजुहोता**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करो जो प्रभु **स्वध्वरम्**=उत्तम अध्वर (हिंसारहित यज्ञ) वाले हैं, उत्तम सृष्टियज्ञ करनेवाले हैं। **शीरम्**=हमारी सब वासनाओं को शीर्ण करनेवाले हैं। **पावकशोचिषम्**=पवित्र दीप्तिवाले हैं। **आशुम्**=शीघ्रता से सब कार्यों को करनेवाले हैं, अथवा सर्वत्र व्याप्त हैं। **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं, अथवा कष्टों की अग्नि में तपाकर हमारा जीवन उज्ज्वल करनेवाले हैं। (२) इस **अजिरम्**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति द्वारा सब बुराइयों को सुदूर फेंकनेवाले प्रभु को **श्रुष्टी**=(happiness) आनन्दप्राप्ति के लिए **सपर्यत**=पूजो। ये प्रभु ही **प्रत्नम्**=सनातन हैं, **ईड्यम्**=स्तुति के योग्य हैं, **देवम्**=प्रकाशमय हैं, सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभुपूजन करें। प्रभु ही हमारे जीवनों को निर्मल व दीप्त बनानेवाले हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञानदीप्ति व निर्मल हृदय

त्रीणि॑ श॒ता त्री स॒हस्रा॑ण्य॒ग्निं त्रिं॒शच्च॑ दे॒वा नव॑ चासपर्यन्।
औक्ष॑न्घृ॒तैरस्तृ॑णन्ब॒र्हिर॑स्मा आदिद्धोता॑रं॒ न्य॑सादयन्त ॥ ९ ॥

(१) **त्रीणि शता**=तीन सौ, **त्री सहस्राणि**=तीन हजार, **त्रिंशत् च**=और तीस **नव च**=और नौ, अर्थात् तीन हजार तीन सौ उनतालीस **देवाः**=देव **अग्निं असपर्यन्**=उस अग्रणी प्रभु का पूजन करते हैं। यह तीन हजार तीन सौ उनतालीस संख्या तेतीस देवों के महत्त्व प्रतिपादन के लिए ही है। सब देव प्रभु की पूजा करते हैं। सूर्यादि सब देवों में देवत्व उस प्रभु द्वारा ही स्थापित होता है। प्रभु महादेव हैं, वे इन देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। इनमें प्रभु की ही महिमा का दर्शन उपासक करता है। (२) इस प्रभुप्राप्ति के लिए **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन **अस्तृणन्**=बिछाते हैं। और **आत् इत्**=शीघ्र इसके बाद **होतारम्**=इस सृष्टियज्ञ के महान् होता उस प्रभु को **न्यसादयन्त**=उस हृदयासन पर बिठाते हैं, अर्थात् उस निर्मल हृदय में प्रभु का दर्शन करते हैं।

भावार्थ—सब देव प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभुपूजन के लिए हमें अपने को ज्ञानदीप्त करना है-हृदय निर्मल करना है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु सखा बनने व प्रभुदर्शन के उपायों का संकेत करता है। इन उपायों को क्रियान्वित करते हुए मनीषी प्रभु को अपने में समिद्ध करते हैं—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

मनीषियों को प्रभुदर्शन

त्वाम॑ग्ने मनी॒षिण॑ः स॒म्राजं॑ चर्षणी॒नाम्। दे॒वं मर्ता॑स इन्धते॒ सम॑ध्व॒रे ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मनीषिणः मर्तासः**=बुद्धिमान् मनुष्य **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **त्वां समिन्धते**=आपको ही समिद्ध करते हैं-आपका ही दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु का दर्शन 'मनीषा'=बुद्धि से ही होता है 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'। (२) बुद्धिमान् पुरुष देखता है कि वे प्रभु ही **चर्षणीनां सम्राजम्**=श्रमशील पुरुषों के जीवनों को दीप्त करनेवाले हैं। **देवम्**=प्रकाशमय हैं, इन चर्षणियों को-श्रमशील व्यक्तियों को प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—श्रमशील पुरुषों के जीवनों को दीप्त करनेवाले उस प्रकाशमय प्रभु का दर्शन मनीषी

(बुद्धिमान्) ही कर पाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आत्मदमन करनेवाले के हृदय में प्रभु का प्रकाश

त्वां यज्ञेष्वृत्विज़मग्ने होतारमीळते। गोपा ऋतस्य दीदिहि स्वे दमे॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यज्ञेषु**=यज्ञात्मक कर्मों में **त्वां ईडते**=उन कर्मों को करनेवाले आपका ही उपासन करते हैं। जो आप **ऋत्विजम्**=ऋतु-ऋतु में उपासनीय हैं, सदा उपासनीय हैं तथा **होतारम्**=उन यज्ञों की पूर्ति के लिये सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। (२) आप ही **ऋतस्य गोपाः**=ऋत के रक्षक हैं। 'ऋत का रक्षण, अनृत का विध्वंस' यह आपका व्रत ही है। आप **स्वे दमे**=(home) आत्मदमन के होने पर **दीदिहि**=दीप्त होइए। जब कोई भी व्यक्ति अपनी इन्द्रियों आदि का दमन करता है, तो आप उसके हृदय में प्रकाशित होते हैं। उसका हृदय आपका घर बन जाता है, उसका हृदय आपका स्व-दम (Home) होता है।

भावार्थ—यज्ञों द्वारा हम उस प्रभु का उपासन करें, जो कि ऋत के रक्षक हैं और आत्मदमन करनेवाले पुरुष के हृदय में दीप्त होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

समर्पण से सुवीर्य व पोषण

स घा यस्ते ददाशति सुमिधा जातवेदसे। सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति॥ ३॥

(१) **सः**=वह पुरुष ही **घा**=निश्चय से, **यः**=जो कि **समिधा**=ज्ञानदीप्ति द्वारा **जातवेदसे**=सर्वज्ञ **ते**=आपके लिये **ददाशति**=अपना अर्पण करता है, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सः**=वह ही **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **धत्ते**=धारण करता है, **सः**=वह ही **पुष्यति**=अपना ठीक प्रकार से पोषण करता है। (२) जितना-जितना हमारा ज्ञान दीप्त होता जाता है, उतना-उतना हम प्रभु के समीप होते जाते हैं। ज्ञानी प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला होता है। इस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले को वासनाएँ नहीं सतातीं। यह शक्ति का रक्षण करता है और सब दृष्टिकोणों से फलता-फूलता है।

भावार्थ—हम ज्ञानदीप्ति द्वारा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें और शक्ति धारण करते हुए अपना पोषण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

यज्ञ प्रकाशक प्रभु

स केतुरध्वराणामग्निर्देवेभिरा गमत्। अञ्जानः सप्त होतृभिर्हविष्मते॥ ४॥

(१) **सः**=वह **अध्वराणाम्**=सब हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों का **केतुः**=ज्ञान देनेवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **देवेभिः**=दिव्यगुणों द्वारा **आगमत्**=प्राप्त होता है। हम जितना-जितना अच्छे गुणों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप होते चलते हैं। 'देव बनना' महादेव की प्राप्ति का महान् साधन है। (२) ये प्रभु **हविष्मते**=हविवाले पुरुष के लिए, यज्ञशील पुरुष के लिए, त्यागपूर्वक अदन करनेवाले पुरुष के लिए **सप्त होतृभिः**=इन दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख रूप सात जीवनयज्ञ को चलानेवाले होताओं से **अञ्जानः**=व्यक्त किए जाते हैं। यज्ञशील-पुरुष की ज्ञानेन्द्रियाँ सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखती हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश उसे दिखता है जो कि दिव्यगुणों को धारण करने की कामना

करे तथा हविष्मान् बने। प्रभु यज्ञों के प्रकाशक हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभुस्तवन का महत्त्व

प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्। विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥ ५ ॥

(१) उस प्रभु के लिए **पूर्व्यं वचः**=उन स्तुति-वचनों को जो कि स्तोता का पालन व पूरण करनेवाले हैं, स्तोता के सामने उसके जीवन का लक्ष्य स्थापित करके उसे ऊँचा उठानेवाले हैं तथा **बृहत्**=जो स्तुतिवचन, उसे अन्य व्यसनों से बचाकर, वृद्धिपथ पर ले चलते हैं (बृहि वृद्धौ) उन स्तुतिवचनों को **प्रभरत**=अत्यन्त ही सम्पादित करो। जितना हम प्रभुस्तवन करते हैं, उतना ही जीवन में आगे बढ़ते हैं और उन्नत होते हैं। (२) उस प्रभु के लिए स्तुतिवचनों को धारण करिए, जो प्रभु **होत्रे**=होता हैं, सब कुछ देनेवाले हैं। **अग्नये**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं। **वेधसे न**=जैसे वे विधाता हैं-सृष्टि को बनानेवाले हैं (नः इव) उसी प्रकार **विपाम्**=मेधावियों के जीवन में **ज्योतींषि**=ज्योतियों को **बिभ्रते**=धारण करनेवाले हैं। प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं और उस समय उत्पन्न किये गये अपने मानसपुत्रों में सर्वश्रेष्ठ बुद्धिवाले 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' के (पूर्वे चत्वारः) हृदयों में वेदज्ञान का स्थापन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु होता हैं, अग्नि हैं, विधाता हैं और ज्ञान देनेवाले हैं। प्रभु का ही हमें स्तवन करना चाहिए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु का साक्षात्कार

अग्निं वर्धन्तु नो गिरो यतो जायत उक्थ्यः। महे वाजाय द्रविणाय दर्शतः ॥ ६ ॥

(१) **नः गिरः**=हमारी स्तुतिवाणियाँ **अग्निं वर्धन्तु**=उस अग्रणी प्रभु का ही वर्धन करें। **यतः**=जिन स्तुतिवचनों से **उक्थ्यः**=वह प्रशंसनीय प्रभु **जायते**=प्रादुर्भूत होता है। इन स्तुतिवचनों द्वारा प्रभु की महिमा प्रकट होती है। स्तोता सर्वत्र प्रभु की महिमा देखने लगता है। (२) ये प्रभु **महे वाजाय**=महान् वाज (=शक्ति) के लिए होते हैं। स्तोता को वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि वह पर्वत के समान कष्टों को भी अनायास उठाने में समर्थ हो जाता है। ये प्रभु **महे द्रविणाय**=महान् ज्ञानरूप धन के लिए होते हैं, प्रभुस्तवन से अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है, वास्तविक ज्ञान तो यही है। ये प्रभु **दर्शतः**=दर्शनीय हैं। शक्ति व ज्ञान प्राप्त करके यह उपासक प्रभु का साक्षात्कार करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का ही स्तवन करें। इस स्तवन से ही प्रभु की महिमा दिखेगी। शक्ति व ज्ञान प्राप्त करके हम प्रभु का साक्षात्कार कर पाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभुप्रकाश-प्राप्ति

अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान्देवयते यज। होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥ ७ ॥

(१) **अग्ने**=हे परमात्मन्! आप ही **यजिष्ठः**=सर्वोत्तम उपास्य हैं, हमारे साथ सद्गुणों का सम्पर्क करनेवाले हैं। **अध्वरम्**=इस जीवनयज्ञ में **देवयते**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाले पुरुष के लिए **देवान् यज**=दिव्यगुणों को उसके साथ संगत करिए। प्रभु की उपासना ही हमें दिव्यता की प्राप्ति करानेवाली होती है। (२) **होता**=हे प्रभु आप ही सब कुछ देनेवाले हैं।

मन्द्रः=आनन्दमय व स्तुत्य हैं। **स्त्रिधः अति**=सब विनाशक शत्रुओं को लाँघकर **विराजसि**=विशेषरूप से देदीप्यमान हो रहे हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं, इससे सब अशुभ वृत्तियों का ध्वंस होता है और प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे साथ दिव्यगुणों का सम्पर्क करते हैं, वे ही उपास्य हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अन्तिकतम (अ+न्तम) प्रभु

स नः पावक दीदिहि द्युमदस्मे सुवीर्यम्। भवा स्तोतृभ्यो अन्तमः स्वस्तये ॥ ८ ॥

(१) **सः**=वे आप ही **नः पावकः**=हमारे लिए पवित्रता करनेवाले प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिये **द्युमत्**=ज्योतिर्मय **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति **दीदिहि**=दीजिए। प्रभु ही हमें पवित्र करते हैं और ज्योति तथा शक्ति प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **अन्तमः**=अन्तिकतम मित्र **भवा**=होइए। **स्वस्तये**=आप ही हमारे कल्याण के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्योति व शक्ति प्राप्त कराते हैं। वे ही हमारे अन्तिकतम मित्र हैं-वे ही हमारे कल्याण को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभुदर्शन किनको?

तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। हव्यवाहममर्त्यं सहोवृधम् ॥ ९ ॥

(१) **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, **अमर्त्यम्**=इन हव्य पदार्थों द्वारा अमरता प्राप्त करानेवाले, इस अमरता के लिए ही **सहोवृधम्**=सहस् (बल) वर्धन करनेवाले **तं त्वा**=उन आपको **विप्राः**=ज्ञानी, **विपन्यवः**=स्तुतिकर्ता, **जागृवांसः**=सदा सावधान और अतएव वासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त न होनेवाले पुरुष **समिन्धते**=अपने हृदयदेश में समिद्ध करते हैं। आपका दर्शन इन 'विप्र, विपन्युव जागृवान्' पुरुषों को ही होता है। (२) प्रभु सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। इन पदार्थों के प्रापण से वे हमें अकालमृत्यु से बचाते हैं। इसी दृष्टिकोण से वे हमारे में बलवर्धन करते हैं। इस प्रभुदर्शन के लिये आवश्यक है कि हम ज्ञान प्राप्त करें, स्तवन की वृत्तिवाले हों और सदा सावधान होकर जीवनयात्रा में आगे बढ़ें।

भावार्थ—हम प्रभुदर्शन के लिये ज्ञान व ध्यान को अपनाते हुए सदा जागरित रहकर कामादि आक्रमण से अपना रक्षण करें। प्रभु हमें सब उत्तम पदार्थों को प्राप्त करा के हमारा बलवर्धन करेंगे।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुदर्शन के उपायों का संकेत कर रहा है। अगले सूक्त का भी विषय यही है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निरन्तर यज्ञ

अग्निर्होता पुरोहितोऽध्वरस्य विचर्षणिः। स वेद यज्ञमानुषक् ॥ १ ॥

(१) वे प्रभु **अग्निः**=अग्रणी हैं। **होता**=सब पदार्थों को देनेवाले हैं। **पुरोहितः**=हमारे सामने (पुरः) आदर्श के रूप रखे हुए हैं (हितः) अर्थात् हमें प्रभु के गुणों को देखकर ही अपने जीवनों का निर्माण करना है। प्रभु दयालु हैं, तो हमें भी दयालु बनना है। प्रभु न्यायकारी हैं, अतः हमें भी न्यायकारी बनना है। प्रभु की तरह ही ज्ञानी व न्यायकारी बनने का यत्न करना है। **अध्वरस्य**

विचर्षणिः=वे यज्ञों के विशेषरूप से द्रष्टा हैं—ध्यान करनेवाले हैं। हम यज्ञ करते हैं तो प्रभु उन यज्ञों का रक्षण व पालन करते हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (भुज पालने)। (२) **सः**=वे प्रभु **आनुषक्**=निरन्तर **यज्ञम्**=यज्ञ को **वेद**=जानते हैं। प्रभु का ब्रह्माण्ड का निर्माण, धारण व प्रलयवाला यज्ञ निरन्तर चल रहा है। प्रभु यज्ञरूप ही हैं—यज्ञ ही हैं। इनकी उपासना हम भी यज्ञशील बनकर ही कर सकते हैं 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'।

भावार्थ—प्रभु यज्ञरूप हैं। हमें भी यज्ञ करने के लिए सब आवश्यक पदार्थों को देते हैं और हमारे यज्ञों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सात्त्विक अन्न का सेवन

स ह॒व्य॒वाळम॑र्त्य उ॒शिग्दू॒तश्चनो॑हितः। अ॒ग्निर्धि॒या सम्‍॑ृण्वति॥ २ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु **हव्यवाट्**=सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **अमर्त्यः**=हव्यपदार्थों को प्राप्त कराके हमें मृत्यु से बचानेवाले हैं। **उशिक्**=सदा जीव के हित की कामनावाले हैं। इस हितसाधन के लिए ही **दूतः**=उसे ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं तथा **चनोहितः**=सात्त्विक अन्न में निहित हैं, अर्थात् सात्त्विक अन्न के सेवन से ही सत्त्वशुद्धि होकर, स्मृति की प्राप्ति होती है। 'मैं कौन हूँ? क्यों आया हूँ?' इन बातों का स्मरण होने पर वासना का विनाश होता है और वासना-विनाश से प्रभुदर्शन होता है। (२) वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **धिया**=बुद्धि द्वारा **समृण्वति**=संगत होते हैं 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या' सूक्ष्म बुद्धि से ही तो प्रभुदर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु हव्यपदार्थों को देकर हमें असमय की मृत्यु से बचाते हैं। हमारे हित के लिए हमें ज्ञान देते हैं। सात्त्विक अन्न के सेवन से बुद्धि सूक्ष्म होने पर प्रभु का दर्शन होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु का स्मरण 'तारक' है

अ॒ग्निर्धि॒या स चे॑तति के॒तुर्य॒ज्ञस्य॑ पू॒र्व्यः। अर्थं॒ ह्य॑स्य त॒रणि॑॥ ३ ॥

(१) **सः अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु! **धिया चेतति**=बुद्धि द्वारा हमारे में चेतते हैं, अर्थात् बुद्धि द्वारा हमें प्रभु का ज्ञान होता है। वे प्रभु **यज्ञस्य केतुः**=यज्ञों के प्रकाशक हैं, वेद द्वारा यज्ञों का हमें उपदेश देते हैं। **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं। प्रभु का स्मरण करने से हम आधि-व्याधियों से ऊपर उठते हैं। (२) **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस प्रभु का **अर्थम्**=गमन (ऋ गतौ) अर्थात् प्रभु की ओर चलना **तरणि**=हमारा तरानेवाला है। प्रभु के स्मरण से हम वासनाओं को तैर जाते हैं, रोगों से भी आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हुए हम प्रभु को पाने का प्रयत्न करें। प्रभु की ओर चलना ही हमें वासनाओं से तराता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु हमारे 'वह्नि' (वाहक) हैं

अ॒ग्निं सू॒नुं सन॑श्रुतं॒ सह॑सो जा॒तवे॑दसम्। वह्निं॑ दे॒वा अ॑कृण्वत॥ ४ ॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **वह्निम्**=अपना वहन करनेवाला **अकृण्वत**=करते हैं। प्रभु पर ये आश्रित होते हैं—प्रभु इनके रथ बनते हैं। इस रथ द्वारा ये अपनी जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाते हैं। (२) वे प्रभु इनके रथ बनते हैं जो कि **सहसः सूनुम्**=बल

के पुत्र हैं-बल के पुतले-बल के पुञ्ज। वे इन देवों को भी बल प्राप्त कराते हैं। **सन-श्रुतम्**=वे प्रभु सनातन ज्ञानवाले हैं। प्रभु का ज्ञान नैमित्तिक नहीं। प्रभु से ही उपासक को ज्ञान प्राप्त होता है। प्रभु का ज्ञान स्वाभाविक है। **जातवेदसम्**=प्रत्येक पदार्थ को वे प्रभु जानते हैं, अथवा कण-कण में वे विद्यमान हैं (जाते-जाते विद्यते)।

भावार्थ—देववृत्ति के व्यक्ति प्रभु को अपना आधार बनाते हैं। वस्तुतः प्रभु को आधार बनाना ही उन्हें 'देव' बनानेवाला होता है। प्रभु इन्हें शक्ति व ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सदा नवीन 'रथ'

अदा॑भ्यः पुरए॒ता वि॒शाम॒ग्निर्मानु॑षीणाम्। तूर्णी॒ रथः॒ सदा॒ नवः॑ ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि देव प्रभु को अपना आधार बनाते हैं। उस प्रभु रूप रथ का ही वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है, वे प्रभु **अदाभ्यः**=किसी से हिंसित होने योग्य नहीं। **अग्निः**=वे अग्रणी हैं। **मानुषीणां विशाम्**=विचारशील प्रजाओं के **पुरः एता**=आगे चलनेवाले हैं, उनके पथ-प्रदर्शक हैं। प्रभु की प्रेरणा विचारशील पुरुष ही सुनते हैं। (२) प्रभु इन विचारशील पुरुषों के लिए एक रथ के समान हैं, जो **रथः**=रथ **तूर्णिः**=त्वरायुक्त है-त्वरित गतिवाला है-हमें शीघ्रता से लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाला है। यह रथ **सदानवः**=सदा नवीन है। इसमें मरम्मत की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव यह **नवः**=स्तुत्य है (नु स्तुतौ)। एवं ये विचारशील पुरुष इस प्रभुरूप रथ द्वारा अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए एक रथ के समान हैं, जो रथ कभी हिंसित नहीं होता, हमारी अग्रगति का कारण बनता है-त्वरायुक्त है-सदा नवीन है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वासनाओं का मर्षण

सा॒ह्वान्विश्वा॑ अ॒भियुजः॒ क्रतु॑र्दे॒वाना॒मम॑क्तः। अ॒ग्निस्तु॒विश्र॑वस्तमः ॥ ६ ॥

(१) ये प्रभु **विश्वाः अभियुजः**=सब हमें अभियुक्त करनेवाली-हमारे पर आक्रमण करनेवाली वासनाओं का **साह्वान्**=अभिभव करनेवाले हैं। हमारी वासनाओं को प्रभु कुचल देते हैं। इन वासनाओं को कुचलकर ये देवों को शक्ति प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः प्रभु ही **देवानां क्रतुः**=देवों की शक्ति हैं। **अमृक्तः**=वे प्रभु कभी हिंसित होनेवाले नहीं। (२) ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तुविश्रवस्तमः**=अत्यन्त विशाल ज्ञानवाले हैं (तुवि=महान्)। इस ज्ञान को देकर ही हमें आगे और आगे ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को अभिभूत करके हमें शक्तिशाली बनाते हैं। ज्ञान देकर हमें उन्नतिपथ पर बढ़नेवाला करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

युक्ताहार-विहार व प्रभुप्राप्ति

अ॒भि प्रयां॑सि॒ वाह॑सा दा॒श्वाँ अ॑श्नोति॒ मर्त्यः॑। क्षयं॑ पाव॒कशो॑चिषः ॥ ७ ॥

(१) **दाश्वान् मर्त्यः**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति **वाहसा**=शरीरवहन के दृष्टिकोण से **प्रयांसि**=अन्नों को **अभि अश्नोति**=सर्वतः प्राप्त करता है। यह शरीर धारण के लिए ही भोजन करता है और शरीर धारण के लिए आवश्यक भोजन इसे प्राप्त हो ही जाता है। (२)

शरीरधारण के लिए ही भोजन करता हुआ यह व्यक्ति **पावकशोचिषः**=उस पवित्र दीप्तिवाले प्रभु के **क्षयम्**=गृह को **अभि अश्नोति**=प्राप्त करता है। भोजनादि में बड़ी 'युक्तता' वाला होता हुआ यह इस लोक को भी स्वास्थ्य द्वारा सुन्दर बनाता है और परलोक में तो प्रभुप्राप्ति का अधिकारी बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। नपा-तुला भोजन करते हुए हम पवित्र ज्ञानदीप्तिवाले प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम हितकर वस्तुओं की प्राप्ति

परि विश्वानि सुधिताग्नेरश्याम मन्मभिः। विप्रासो जातवेदसः॥ ८॥

(१) हम **अग्नेः मन्मभिः**=उस प्रभु के मनन व स्तोत्रों द्वारा **विश्वानि**=सब **सुधिता**=उत्तम हितकर वस्तुओं को **परिअश्याम**=प्राप्त करें। जितना-जितना हम ज्ञान प्राप्त करते हैं और प्रभुस्मरण करनेवाले होते हैं, उतना-उतना ही उत्तम हितकर वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। (२) इन वस्तुओं द्वारा, इनके ठीक प्रयोग द्वारा हम **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले होते हैं (वि+प्रा पूरणे) और **जातवेदसः**=ज्ञानी बन पाते हैं। इस ठीक प्रयोग से हमारे शरीरों में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं होती और हमारे मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक उत्तम हितकर वस्तुओं को प्राप्त करता है। उनके ठीक प्रयोग से यह शक्ति-सम्पन्न व ज्ञानी बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु में प्रवेश

अग्ने विश्वानि वार्या वाजेषु सनिषामहे। त्वे देवास एरिरे॥ ९॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हम **वाजेषु**=(वाज गतौ) गतियों के होने पर-श्रम करने पर **विश्वानि वार्या**=सब वरणीय वस्तुओं को **सनिषामहे**=प्राप्त करें (संभजामहे)। श्रम से प्राप्त वस्तु ही उत्थान का कारण बनती है। 'वाजेषु' का अर्थ 'संग्रामों में' भी है। वासनाओं के साथ संग्राम करते हुए हम वाञ्छनीय वस्तुओं को प्राप्त करें। (२) इस प्रकार श्रमशील व वासनाओं के साथ संग्राम करनेवाले व्यक्ति ही **देवासः**=देव बनते हैं। ये देव **त्वे एरिरे**=हे प्रभो! आप में गतिवाले होते हैं। आपकी ओर चलते हुए ये अन्ततः आप में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ—हम इस जीवन में गतिशील हों, वासनाओं के साथ संग्राम करें। इसी से हम वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करेंगे और अन्ततः प्रभु को भी पानेवाले होंगे।

यह सूक्त प्रभुदर्शन व प्राप्ति के उपायों का ही संकेत करता है। उन उपायों का प्रयोग करते हुए हम अन्ततः प्रभु में प्रवेश करनेवाले होते हैं। अगला सूक्त केवल अग्नि देवता का न होकर 'इन्द्राग्नी' का है, वहाँ बल व प्रकाश के पुञ्ज के रूप में प्रभु को देखना है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वरेण्य नभस्

इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता॥ १॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि-शक्ति व प्रकाश के देवताओ! **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के हेतु से इस **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **वरेण्यम्**=वरणीय **नभः**=(Water) रेतःकणों के प्रति **आगतम्**=आओ। ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस सोम का (रेतःकणों का) पान आवश्यक है। (२) **धिया इषिता**=बुद्धि से प्रेरित हुए-हुए आप **अस्य पातम्**=इसका पान करो। प्रत्येक समझदार व्यक्ति इसके महत्त्व को समझता है और इस सोमपान का प्रयत्न करता है। इस सोमरक्षण से ही शरीर में शक्ति प्राप्त होती है तथा मस्तिष्क में प्रकाश का भी यही साधन बनता है। इन्द्र व अग्नि दोनों तत्त्वों का निर्भर इस सोमरक्षण पर ही है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम शक्ति व प्रकाश का वर्धन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञ+चेतन

इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः। अया पातमिमं सुतम्॥ २॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि देवो! शक्ति व प्रकाश के देवो! यह सोम (नभस्=रेतःकण) **जिगाति**=तुम्हें प्राप्त होता है। जो सोम **जरितुः सचा**=स्तोता के साथ रहनेवाला है, अर्थात् जिसका प्रभुस्तवन द्वारा रक्षण होता है। स्तवन से भोगवृत्ति का विनाश होकर सोमरक्षण की अनुकूलता होती है। **यज्ञः**=यह सोम प्रभु के साथ मेल करानेवाला है (यज् संगतिकरणे)। इस सोमरक्षण से ही उस सोम (प्रभु) की प्राप्ति होती है, **चेतनः**=यही ज्ञानप्राप्ति का साधन बनता है-हमारी चेतना को यह जगानेवाला है। (२) **अया**=(अनया) इस दृष्टिकोण से कि यह 'यज्ञ' है और यह 'चेतन' है **इमं सुतम्**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम का तुम **पातम्**=पान करो-शरीर में ही इसका रक्षण करो।

भावार्थ—प्रभुस्तवन की वृत्ति से सोमरक्षण होता है। रक्षित सोम प्रभु के साथ हमारा मेल कराने का साधन बनता है और हमारी चेतना को स्थिर रखता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु प्रसादन

इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे। ता सोमस्येह तृम्पताम्॥ ३॥

(१) **कविच्छदा**=(कवेः छन्दकौ, छद to please, gratify) प्रभु को प्रसन्न करनेवाले **इन्द्रं अग्निम्**=बल के देव व प्रकाश के देव को **यज्ञस्य जूत्या**=यज्ञप्रेरणा के हेतु से **वृणे**=वरण करता हूँ। शक्ति व प्रकाश का साधन प्रभु को प्रसन्न करता है। इनद्वारा हम यज्ञों को सिद्ध कर पाते हैं। शक्ति व ज्ञान मेल होने पर ही यज्ञात्मक कर्म हुआ करते हैं। (२) **ता**=वे इन्द्र और अग्नि **इह**=इस जीवन में **सोमस्य तृम्पताम्**=सोम से तृप्ति का अनुभव करें। सोमरक्षण से शरीर में शक्ति-वर्धन होता है, तो मस्तिष्क में यह प्रकाश-वर्धन का कारण बनता है। शक्ति और प्रकाश में ही यज्ञात्मक कर्मों का सम्भव होता है और इस प्रकार हम प्रभु के प्रीति-पात्र बन पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम शक्ति व प्रकाश प्राप्त करके, यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए, प्रभु को आराधित कर पाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाजसातमा

तोशा वृत्रहणा हुवे सजित्वानापराजिता। इन्द्राग्नी वाजसातमा॥ ४॥

(१) ये **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि-शक्ति व प्रकाश के तत्त्व **तोशा**=शत्रुओं का बाधन

करनेवाले हैं (तुश् to strike, kill)। **वृत्रहणा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। **सजित्वाना**=सदा विजयशील हैं। **अपराजिता**=कभी पराजित होनेवाले नहीं। इन इन्द्र और अग्नि को **हुवे**=मैं पुकारता हूँ-इन्हें प्राप्त करने की प्रार्थना करता हूँ। (२) ये इन्द्र और अग्नि **वाजसातमा**=(वाज=strength, wealth, speed, sacrifice) शक्ति, धन, गति व त्याग आदि के अतिशयेन देनेवाले हैं। इन चीजों को देकर ये हमारे जीवनों को बड़ा सुन्दर बनानेवाले हैं।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमारे जीवनों में शक्ति, धन, गति व त्याग आदि का संचार करनेवाले हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तवनमार्ग पर चलना-वासना क्षय

प्र वा॑मर्च॒न्त्यु॒क्थिनो॑ नीथा॒विदो॑ जरि॒तारः॑। इन्द्रा॑ग्नी॒ इष॒ आ वृ॑णे ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि, **वाम्**=आपको **उक्थिनः**=स्तोता लोग-आपके गुणों का उच्चारण करनेवाले लोग **प्र अर्चन्ति**=प्रकर्षेण पूजित करते हैं। **नीथाविदः**=मार्ग को जाननेवाले लोग, अर्थात् मार्ग पर चलनेवाले लोग आपका अर्चन करते हैं। **जरितारः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले लोग आपका अर्चन करते हैं। प्रभुस्तवन से (उक्थ) मार्गदर्शन होता है (नीथा) और शक्ति प्राप्त करके विघ्नों को हम दूर करनेवाले बनते हैं (जरितारः)। यही उन्नति का मार्ग है। (२) मैं इन इन्द्र और अग्नि से ही **इषः**=प्रेरणाओं को **आवृणे**=वरता हूँ-प्रेरणाओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। मेरा प्रत्येक कार्य शक्ति व प्रकाश-वर्धन के लिए होता है।

भावार्थ—बल व प्रकाश प्राप्त करनेवाले व्यक्ति (क) प्रभु स्तवन करते हैं, (ख) भक्ति मार्ग पर चलते हैं, (ग) वासनाओं को जीर्ण करने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दासों की नगरियों का विध्वंस

इन्द्रा॑ग्नी नव॒तिं पुरो॑ दा॒सप॑त्नीरधूनुतम्। सा॒कमेके॑न॒ कर्म॑णा ॥ ६ ॥

(१) हमारे शरीरों में वासनाएँ हमारा क्षय करनेवाली हैं। इसीलिए ये 'दास' कहलाती हैं (दसु उपक्षये) ये वासनाएँ हमारे अन्दर अपने निवास-स्थान बना लेती हैं। 'काम' इन्द्रियों में, 'क्रोध' मन में तथा 'लोभ' बुद्धि में अपना किला बनाता है। इस प्रकार वासनाओं की शतशः पुरियाँ यहाँ बन जाती हैं। इन्द्र और अग्नि, शक्ति व प्रकाश के तत्त्व इनका विनाश करते हैं। हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! **दासपत्नीः**=काम आदि जिनके पति हैं, ऐसी **नवतिं पुरः**=इन नब्बे नगरियों को **साकम्**=साथ मिलकर, **एकेन कर्मणा**=एक अद्भुत कर्म से **अधूनुतम्**=कम्पित कर देते हो। (२) शक्ति व प्रकाश अलग-अलग इन असुरपुरियों का विध्वंस नहीं कर पाते। ये मिलकर ही इनका विनाश कर पाते हैं। यही भाव 'साकं' शब्द से व्यक्त किया गया है। 'एकेन कर्मणा' शब्द का अर्थ 'अद्भुत कर्म' है। वस्तुतः इन नगरियों का विध्वंस स्वयं अपने में एक महान् कर्म है।

भावार्थ—हम शक्ति व प्रकाश का समन्वय करते हुए वासनाओं का विध्वंस कर डालें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**यवमध्याविराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'कर्मठ-ध्यानी' पुरुष

इन्द्रा॑ग्नी॒ अप॑स॒स्पर्युप॒ प्र य॑न्ति धी॒तयः॑। ऋ॒तस्य॑ प॒थ्या॒३॒॑ अनु॑ ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! **अपसः**=कर्मशील पुरुष तथा **धीतयः**=ध्यानशील पुरुष **परि उप प्रयन्ति**=चारों ओर से प्रभु के समीप प्रकर्षेण जानेवाले होते हैं। शक्ति इन्हें कर्मशील बनाती है, प्रकाश (=ज्ञान) इनके ध्यान में विशेषता उत्पन्न करता है। (२) ये व्यक्ति सदा **ऋतस्य पथ्याः अनु**=ऋतमार्गों का लक्ष्य करके गतिवाले होते हैं। ये ऋतमार्ग पर चलते हैं। अनृत से सदा दूर रहते हैं। शक्ति व प्रकाश दोनों मिलकर मनुष्य को ऋतपालन के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश द्वारा ऋतमार्ग पर चलते हुए हम कर्मशील व ध्यानशील बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्ति व प्रकाश का समन्वय

इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च। युवोरप्तूर्यं हितम्॥ ८॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! **वाम्**=आप दोनों के **तविषाणि**=बल **च**=और **प्रयांसि**=प्रयत्न **सधस्थानि**=मिलकर होनेवाले हैं। प्रकाश के बिना शक्ति अधूरी है, शक्ति के बिना प्रकाश अधूरा है। दोनों के मेल में ही मानव का कल्याण है। (२) **युवोः**=आप दोनों में ही **अप्तूर्यम्**=कर्मों द्वारा वासनाओं का संहार **हितम्**=रखा है। शक्ति व प्रकाश द्वारा जब मनुष्य कर्मों में लगा रहता है तब वासनाओं का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश का समन्वय करके हम कर्मों में लगे रहें, यह कर्मव्यापृति हमारी वासनाओं का विनाश करेगी।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मस्तिष्क की दीप्ति व संग्रामविजय

इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः। तद्वां चेति प्र वीर्यम्॥ ९॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! आप **दिवः रोचना**=मस्तिष्करूप द्युलोक के दीप्त करनेवाले हो। ज्ञानरूपी सूर्य से मस्तिष्करूप द्युलोक चमक उठता है। और आप **वाजेषु**=सब संग्रामों में व गतियों में **परिभूषथः**=शोभायमान होते हो अथवा शत्रुओं का पराभव करते हो (परिभवथः सा०)। (२) **वाम्**=आप दोनों का **तद् वीर्यम्**=वह वीर्य (शक्ति) **प्रचेति**=प्रकर्षेण ज्ञात होता है। 'शक्ति व प्रकाश के मेल में किस प्रकार मनुष्य दीप्त मस्तिष्क होता है और संग्रामों में शत्रु विजय कर पाता है' यह साधक अनुभव करते हैं।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश का समन्वय हमें दीप्तमस्तिष्क व संग्रामविजयी बनाता है।

सम्पूर्ण सूक्त 'शक्ति व प्रकाश के समन्वय' का माहात्म्य व्यक्त कर रहा है, इस समन्वय को करनेवाला व्यक्ति 'ऋषभः='श्रेष्ठ बनता है। सब का यह मित्र तो होता ही है 'वैश्वामित्रः'। यह 'ऋषभ वैश्वामित्र' प्रार्थना करता है कि—

द्वितीयोऽनुवाकः

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

देवों व महादेव की प्राप्ति

प्र वो देवायाग्नये बर्हिष्ठमर्चास्मै। गमद्देवेभिरा स नो यजिष्ठो बर्हिरा सदत्॥ १॥

(१) **वः**=तुम्हारे **देवाय**=जीवन को द्योतित करनेवाले (देवः द्योतनात्) **अग्रये**=अग्रणी

अस्मै=इस प्रभु के लिए **बर्हिष्ठम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध (बृहि वृद्धौ) इस स्तोत्र को **प्र अर्च**=(उच्चारयत सा०) प्रकर्षेण उच्चरित करो। इस स्तोत्र द्वारा प्रभु की अर्चना करो। (२) इस स्तवन के करने पर **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **देवेभिः**=दिव्यगुणों के साथ **आगमत्**=प्राप्त होते हैं और **यजिष्ठः**=वे पूज्यतम प्रभु हमारे **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदत्**=आसीन होते हैं।

भावार्थ—स्तवन से हमें दिव्यगुण प्राप्त होते हैं और अन्ततः प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

हविष्मान्-सनिष्यन्

ऋतावा यस्य रोदसी दक्षं सचन्त ऊतयः। हविष्मन्तस्तमीळते तं सनिष्यन्तोऽवसे॥ २॥

(१) **ऋतावा**=वे प्रभु ऋतवाले हैं-ऋत का रक्षण करनेवाले हैं। **यस्य**=जिनके **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी हैं। द्यावापृथिवी के स्वामी वे प्रभु हैं। **ऊतयः**=(अव अवगम, प्राप्ति) प्रभु को जानने व प्राप्त करनेवाले व्यक्ति **दक्षं सचन्ते**=बल को प्राप्त करते हैं। (२) **तम्**=उस ऋत का रक्षण करनेवाले प्रभु को **हविष्मन्तः**=प्रशस्त हविवाले लोग **ईडते**=उपासित करते हैं। (हु दानादनयोः 'हविः') दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाले लोग प्रभु के सच्चे उपासक हैं। **तम्**=उस परमात्मा को **सनिष्यन्तः**=सम्पत्तियों का संविभागपूर्वक सेवन करते हुए लोग **अवसे**=रक्षण के लिए उपासन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के सच्चे उपासक सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले-यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हैं तथा उपासक वे हैं जो कि संविभागपूर्वक सम्पत्तियों का सेवन करते हैं।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वनिता व दाता

स यन्ता विप्र एषां स यज्ञानामथा हि षः। अग्निं तं वो दुवस्यत दाता यो वनिता मघम्॥ ३॥

(१) **सः**=वे प्रभु ही **यन्ता**=सब कुछ देनेवाले हैं अथवा नियामक हैं। **सः**=वे प्रभु ही **एषाम्**=इन उपासकों के, गतमन्त्र में वर्णित 'हविष्मान्' व 'सनिष्यन्' पुरुषों के **विप्रः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। **अथा**=और **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **यज्ञानाम्**=सब यज्ञों के (विप्रः) पूरक हैं। (२) **तम्**=उस **वः** **अग्निम्**=तुम्हें आगे ले चलनेवाले उस प्रभु को **दुवस्यत**=पूजित करो। **दाता**=वे प्रभु ही सब कुछ देनेवाले हैं, **यः**=जो **मघं वनिता**=सब ऐश्वर्यों को विजय करते हैं। 'अहं धनानि संजयामि शश्वतः'।

भावार्थ—प्रभु ही सब धनों के विजेता व दाता हैं। उसी की पूजा करनी योग्य है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शन्तम शर्म (शान्त गृह)

स नः शर्माणि वीतयेऽग्निर्यच्छतु शन्तमा। यतो नः प्रुष्णवद्वसु दिवि क्षितिभ्यो अप्स्वा॥ ४॥

(१) **सः अग्निः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **वीतये**=(वी=प्रजन) अन्धकार दूर करने के लिए अथवा उत्तम गुणों के विकास के लिए **शन्तमा**=अत्यन्त शान्ति व सुख प्राप्त करानेवाले **शर्माणि**=गृहों को **यच्छतु**=दें। शान्त वातावरणवाले घरों में ही गुणों का विकास सम्भव है। (२) इन शान्त घरों को प्रभु हमें इसलिए दें **यतः**=जिससे कि हमें **दिवि**=द्युलोक में, **अप्सु**=अन्तरिक्षलोक में **क्षितिभ्यः**=इन पृथिवियों से **प्रुष्णवत्**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **वसु**=धन **आ**=(गच्छतु) प्राप्त हो। द्युलोक यहाँ मस्तिष्क है, उसमें हमें ज्ञानरूप धन प्राप्त हो, वह ज्ञान निरन्तर बढ़ता चले।

अन्तरिक्ष यहाँ हृदय है, उसमें श्रद्धा का धन हमें प्राप्त हो। हमारी श्रद्धा निरन्तर बढ़नेवाली हो। ये ज्ञान व श्रद्धा के धन क्षितियों से प्राप्त हों। **क्षिति**=पृथिवी, अर्थात् शरीर। शरीर स्वस्थ होने पर ही मस्तिष्क में ज्ञान का व हृदय में श्रद्धा का विकास होता है। ये हमारे ज्ञान व श्रद्धा के धन निरन्तर बढ़ते चलें।

भावार्थ—गृह के शान्त वातावरण में हम ज्ञान, श्रद्धा व स्वास्थ्य का विकास करनेवाले हों।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'दीप्त-सदा तेजस्वी, दाता व रक्षक' प्रभु

दीदिवांसमपूर्व्यं वस्वीभिरस्य धीतिभिः। ऋक्वाणो अग्निमिन्धते होतारं विश्पतिं विशाम्॥ ५॥

(१) **अस्य**=उस प्रभु की **वस्वीभिः**=निवास को उत्तम बनानेवाली **धीतिभिः**=ध्यानवृत्तियों से **ऋक्वाणः**=स्तुति करता हुआ पुरुष **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **इन्धते**=अपने हृदय देश में दीप्त करता है। ध्यानपूर्वक प्रभु का स्तवन हमें प्रभुदर्शन के योग्य बनाता है। यह ध्यान हमारे इस जीवन के निवास को उत्तम करता है। (२) इस ध्यान द्वारा हम उस प्रभु को अपने में समिद्ध करते हैं, जो कि **दीदिवांसम्**=ज्ञान से दीप्त हैं-दीप्तिमय हैं। **अपूर्व्यम्**=तेजस्विता के कारण जो सदा अभिनव (नवीन) हैं-जो कभी पुराणे नहीं हो जाते। **होतारम्**=हमें उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं। **विशां विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं।

भावार्थ—ध्यान द्वारा प्रभु का दर्शन होता है। वे प्रभु दीप्त-सदा तेजस्वी, दाता व रक्षक हैं।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ब्रह्म+उक्थ (ज्ञान+स्तवन)

उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः। शं नः शोचा मरुद् वृधोऽग्ने सहस्रसातमः॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **देवहूतमः**=आप देवों द्वारा अधिक से अधिक आह्वान योग्य होते हैं। आप **नः**=हमें **ब्रह्मन्**=(ब्रह्मणि) ज्ञानप्राप्ति में **अविषः**=रक्षित करिए। आप से रक्षित होकर हम ज्ञान प्राप्त करनेवाले हों। **उत**=और **उक्थेषु**=स्तोत्रों में (अविषः) आप हमारा रक्षण करिए। आप से रक्षित हुए-हुए हम स्तुति आदि कार्यों को सम्यक् सम्पन्न करनेवाले हों। (२) हे प्रभो! आप **मरुद् वृधः**=प्राणों से बढ़नेवाले हैं। प्राणायाम से चित्तवृत्ति का निरोध होकर हमें आपका दर्शन होता है। **सहस्रसातमः**=आप हजारों धनों को देनेवाले हैं। आप **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्तिकर होते हुए **शोच**=दीप्त होइए। आपके उपासन से हमें शान्ति व दीप्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे ज्ञान व स्तवन की वृत्ति को बढ़ायें। हमें शान्ति व दीप्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रार्थनीय धन

नू नो रास्व सहस्रवत्तोकवत्पुष्टिमद्वसु। द्युमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम्॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः**=हमारे लिए **नु**=शीघ्र ही **वसु**=धन को **रास्व**=दीजिए। जो धन **सहस्रवत्**=हजारों की संख्यावाला है, अर्थात् पर्याप्त है। **तोकवत्**=उत्तम सन्तानवाला है- जो धन हमारी सन्तानों को उत्तम बनाने में विनियुक्त होता है। **पुष्टिमत्**=हमारे पोषणवाला है। जिस धन द्वारा हम उचित आहार-विहार प्राप्त करते हुए अपना ठीक से पोषण कर पाते हैं। (२) जो धन **द्युमत्**=ज्योतिवाला है, ज्ञान की साधनभूत पुस्तकों आदि के क्रय का साधन बनता हुआ हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। **सुवीर्यम्**=जो धन उत्तम वीर्य व पराक्रमवाला है-जिस धन

द्वारा हम सौम्य भोजनों को प्राप्त करके अपनी शक्ति का वर्धन करते हैं। **वर्षिष्ठम्**=जो धन बढ़ता ही है, **अनुपक्षितम्**=क्षीण नहीं होता, अर्थात् आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सदा पर्याप्त रहता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें वह धन प्राप्त हो जो कि हमारी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त होता हुआ हमारी '**वृद्धि, पुष्टि, ज्योति व शक्ति**' का कारण बनता है।

सम्पूर्ण सूक्त में प्रभु का अग्नि नाम से उपासन करते हुए उन्नति के लिए साधनभूत वस्तुओं की याचना की गई है। अगले सूक्त में भी प्रभु का अग्नि नाम से ही उपासन करते हुए कहते हैं—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्यः-यज्वा

आ होता मन्द्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः।
विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत्॥ १॥

(१) प्रभु **विदथानि**=ज्ञानयज्ञों में **आ अस्थात्**=सर्वथा प्रतिष्ठित होते हैं। हम मिलकर ज्ञानचर्चा करें तो यह प्रभु का पूजन होता है और इन ज्ञानयज्ञों में ही हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। उन प्रभु की, जो कि **होता**=हमें सब कुछ देनेवाले हैं। **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप हैं, हमें आनन्द प्राप्त करानेवाले हैं। **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। **यज्वा**=इस सृष्टियज्ञ को करनेवाले हैं। **कवितमः**=सर्वज्ञ हैं। **सः**=वे प्रभु ही **वेधाः**=विधाता व सब सृष्टि के निर्माता हैं। (२) **विद्युद्रथः**=वे प्रभु हमारे इस शरीर रूप रथ को विशेषरूप से द्योतित करनेवाले हैं। **सहसः पुत्रः**=बल के (पुतले=) पुञ्ज हैं। **अग्निः**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं। **शोचिष्केशः**=ज्योतिर्मय दीप्त-ज्ञानरश्मियोंवाले हैं। ये प्रभु **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीरूप शरीर में **पाजः**=शक्ति को **अश्रेत्**=(श्रयते प्रापयति सा०) प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में प्रभु का पूजन करनेवाले बनें। हमारा जीवन सत्यवाला, यज्ञोंवाला व आनन्दमय होगा। हमें किसी आवश्यक चीज की कमी न रहेगी—अन्त तक हम शक्तिशाली बने रहेंगे।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋत+सहस् (ऋतावः सहस्वः)

अयामि ते नमउक्तिं जुषस्व ऋतावस्तुभ्यं चेतते सहस्वः।
विद्वाँ आ वक्षि विदुषो नि षत्सि मध्य आ बर्हिरूतये यजत्र॥ २॥

(१) हे **ऋतावः**=ऋतवाले प्रभो! **ते**=आपके लिए **नमः उक्तिम्**=नमस्कार वचन को **अयामि**=(प्रेरयामि-उच्चारयामि) उच्चरित करता हूँ। वह नमस्कार वचन **जुषस्व**=आपको प्रिय हो। **चेतते**=ज्ञान को देनेवाले **तुभ्यम्**=आपके लिए मैं इस वचन का उच्चारण करता हूँ। हे **सहस्वः**=शक्तिमान् प्रभो! वह वचन आपकी प्रीति का कारण बने। (२) **विद्वान्**=सर्वज्ञ आप **विदुषः**=ज्ञानी पुरुषों को **आवक्षि**=हमें प्राप्त कराइए। इन ज्ञानियों के सम्पर्क में रहते हुए हम अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। हे **यजत्र**=पूज्य प्रभो! आप **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **बर्हिः मध्ये**=इस वासना-शून्य हृदय के मध्य में **आनिषत्सि**=सर्वथा आसीन होइए। हृदयस्थ आप से प्रेरणा प्राप्त करके हम सदा सदाचार के मार्ग में आगे बढ़ें।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति नमनवाले होकर 'ऋत और सहस्' को प्राप्त करें। विद्वानों के सम्पर्क में ज्ञानवृद्धि करें। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुनें।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति+क्रियाशीलता+हवि

द्रवतां त उषसा वाजयन्ती अग्ने वातस्य पथ्याभिरच्छ।
यत्सीमञ्जन्ति पूर्व्यं हविर्भिरा वन्धुरेव तस्थतुर्दुरोणे॥ ३॥

(१) **उषसा**=उषाकाल से ही **वाजयन्ती**=शक्ति का सम्पादन करते हुए पति-पत्नी **ते द्रवताम्**=आपके प्रति आनेवाले हों। हमारे सारे व्यवहार शक्तिसम्पादन के अनुकूल हों। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'=बल हीनों से प्रभु पाए भी तो नहीं जा सकते। (२) हे **अग्ने**=प्रभो! आप **वातस्य पथ्याभिः**=वायु के मार्गों से हमें **अच्छ**=आभिमुख्येन प्राप्त होइए। जैसे वायु निरन्तर गतिशील है, इसी प्रकार निरन्तर गतिशील व्यक्तियों को ही प्रभु प्राप्त होते हैं। (३) **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम आपको **हविर्भिः**=हवियों द्वारा-त्यागपूर्वक अदन द्वारा **अञ्जन्ति**=प्राप्त होते हैं (अञ्ज् गतौ) तो ये पति-पत्नी **वन्धुरा इव**=बड़े सुन्दर से जीवनवाले बनकर **दुरोणे**=गृह में **आतस्थतुः**=स्थित होते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के तीन उपाय हैं—(क) शक्ति का सम्पादन, (ख) वायु की तरह निरन्तर क्रियाशीलता, (ग) हवि का स्वीकार, अर्थात् त्यागपूर्वक अदन। इस प्रकार के पति-पत्नी सुन्दर जीवनवाले बनकर गृह में स्थित होते हैं।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मित्र, वरुण व मरुत्'

मित्रश्च तुभ्यं वरुणः सहस्वोऽग्ने विश्वे मरुतः सुम्नमर्चन्।
यच्छोचिषा सहसस्पुत्र तिष्ठा अभि क्षितीः प्रथयन्त्सूर्यो नॄन्॥ ४॥

(१) हे **सहस्वः**=शक्ति के पुञ्ज, **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिए **मित्रः च**=मित्र **वरुणः**=वरुण और **विश्वे**=सब **मरुतः**=प्राण **सुम्नं अर्चन्**=स्तोत्र को करते हैं। वस्तुतः प्रभु के उपासक 'मित्र, वरुण व प्राण' हैं, अर्थात् प्रभु का उपासक वही है जो कि—(क) सबके साथ स्नेह करता है, (ख) किसी के साथ द्वेष नहीं करता (ग) तथा प्राणसाधना का करनेवाला होता है। प्रभु की अर्चना से यह भी शक्तिशाली बनता है और जीवन में आगे बढ़ता है। (२) हे **सहसस्पुत्र**=बल के पुञ्ज प्रभो! **यत्**=जब आप **सूर्यः**=सूर्यसम ज्योतिवाले होते हुए **शोचिषः**=दीप्ति से **क्षितीः अभि**=मनुष्यों की ओर **तिष्ठा**=स्थित होते हैं तो **नॄन्**=इन अग्रगतिवाले पुरुषों को **प्रथयन्**=विस्तृत शक्तिवाला करते हैं। सूर्य-प्रकाश में मनुष्य मार्ग पर आगे बढ़ता है, इसी प्रकार उस सुष्ठु प्रेरक (सूर्य) प्रभु प्रेरणा में ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य विस्तृत शक्तिवाला बनता है।

भावार्थ—उपासक सबके प्रति स्नेहवाला, निर्द्वेष व प्राणसाधना करनेवाला होता है। प्रभु की दीप्ति से दीप्त होकर प्रवृद्ध-शक्तिवाला होता है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तानहस्त

वयं ते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वयम्**=हम **अद्य**=आज **ते**=तेरे प्रति **कामम्**=अपनी इच्छा को **ररिमा हि**=दे ही डालते हैं। हम अपनी इच्छा को आपकी इच्छा में मिला देते हैं। **उत्तानहस्ताः**=ऊपर फैलाए हुए हाथोंवाले हम (उत्तान=elevated), हाथ पर हाथ रखकर जो बैठ नहीं गए, अपितु कार्यों में लगे हुए हैं, ऐसे हम **नमसा उपसद्य**=नमन द्वारा आपकी उपासना करते हुए अपनी इच्छा को आपकी इच्छा में मिला देते हैं। (१) प्रभु अपने इस उपासक से कहते हैं कि **यजिष्ठेन**=अधिक से अधिक यज्ञ की वृत्तिवाले **मनसा**=मन से **देवान् यक्षि**=तू दिव्यगुणों को अपने साथ संगत कर। हम यदि यज्ञादि कर्मों में लगते हैं तो उससे हमारे में दिव्यता का वर्धन होता है। तथा **अस्त्रेधता**=न क्षीण होते हुए **मन्मना**=ज्ञान से तू **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बन। जितना अधिक ज्ञान में प्रवृत्त होंगे, उतना ही हमारा जीवन अधिकाधिक पवित्र होता चलेगा।

भावार्थ—हम अपनी इच्छा को परमात्मा की इच्छा में मिला दें। हाथ पर हाथ रखकर बैठ न जाएँ। यज्ञिय-वृत्तिवाला हमारा मन हो। हमारा ज्ञान अक्षीण हो।

सूचना—'उत्तानहस्त' शब्द की यह भी भावना है कि हमारा हाथ सदा उत्तान हो, उत्तम हो, ऊपर हो नीचे नहीं। हम सदा देनेवाले हों-उत्तमर्ण न कि अधमर्ण।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्रोहशून्य सत्यवाणी

त्वद्धि पुत्र सहसो वि पूर्वीर्देवस्य यन्त्यूतयो वि वाजाः।
त्वं देहि सहस्रिणं रयिं नोऽद्रोघेण वचसा सत्यमग्ने॥ ६॥

(१) हे **सहसः पुत्र**=बल के पुतले, सर्वशक्तिमान् प्रभो! **देवस्य**=गतमन्त्र के अनुसार देववृत्तिवाले पुरुष की **पूर्वीः ऊतयः**=पालन व पूरण करनेवाली अथवा उसे प्रथम स्थान में पहुँचानेवाली रक्षाएँ **हि**=निश्चय से **त्वत्**=आप से ही **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। **वाजाः**=सब शक्तियाँ **वि (यन्ति)**=आप से ही विशेषरूप से प्राप्त होती हैं। जो भी देववृत्तिवाला बनता है, प्रभु उसका रक्षण करते हैं और उसे शक्तियाँ प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **सहस्रिणं रयिम्**=सहस्र संख्याक धन को **देहि**=दीजिये। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमारे लिए **अद्रोघेण वचसा**=द्रोह-शून्य वचन के साथ **सत्यम्**=सत्य को दीजिए। हमारी वाणी में कटुता व हिंसा का भाव न हो, यह सदा सत्य हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें आप से रक्षण प्राप्त हो, शक्तियाँ प्राप्त हों, सहस्र संख्याक धन हमें प्राप्त हों और द्रोहशून्य सत्यवाणी प्राप्त हो।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दक्षता, प्रज्ञा, शक्ति व प्रकाश'

तुभ्यं दक्ष कविक्रतो यानीमा देव मर्तासो अध्वरे अकर्म।
त्वं विश्वस्य सुरथस्य बोधि सर्वं तदग्ने अमृत स्वदेह॥ ७॥

(१) हे **दक्ष**=सब दृष्टिकोणों से समृद्ध प्रभो! **कविक्रतो**=क्रान्तप्रज्ञ सर्वशक्तिमन् प्रभो! **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **मर्तासः**=हम मरणधर्मा मनुष्य **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **यानि**=जिन **इमा**=इन **अकर्म**=कर्मों को करते हैं, तो आप **विश्वस्य**=सब **सुरथस्य**=उत्तम शरीर रूप रथवालों का **बोधि**=ध्यान करते हैं। प्रभु ऐसे व्यक्तियों को 'दक्षता, प्रज्ञा, शक्ति व प्रकाश' प्राप्त कराते हैं। इनको प्राप्त करके इनके जीवन सुन्दर बन जाते हैं। (२)

हे **अमृत**=अमर व अमरता को देनेवाले (न मृतं यस्मात्) **अग्ने**=परमात्मन्! आप **इह**=इस जीवन में **तत् सर्वम्**=उन इन्द्रिय, मन व बुद्धि आदि सब को **स्वद**=मधुर बना दीजिए। इन्द्रियों के माधुर्य से हमारे सब व्यवहार मधुर होंगे। मन का माधुर्य हमें शान्ति देगा। बुद्धि की मधुरता हमें वह विवेक प्राप्त कराएगी जो कि हमारे मोक्ष का कारण बन पाएगा।

भावार्थ—प्रभु कृपा से कर्मशील हम लोगों को 'दक्षता, प्रज्ञा, शक्ति व प्रकाश' प्राप्त हो। इन्हें प्राप्त करके हम 'सुरथ' बनें। हमारे सब इन्द्रिय, मन व बुद्धि मधुर हों।

इस सूक्त में प्रथम मन्त्र में 'विद्युद्रथः' तथा अन्तिम मन्त्र में 'सुरथस्य' शब्द का प्रयोग स्पष्ट कर रहा है कि सूक्त का विषय जीवन को सुन्दर बनाना है। जीवन को सुन्दर बनाने के लिए ही यह 'उत्कील'=उत्कृष्ट व्रतों के बन्धनवाला बनकर 'कात्य' (क+तम्) सुख का विस्तार करनेवाला बनता है। इसकी प्रार्थना है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्वेषों, राक्षसीभावों व रोगों से दूर

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पृथुना**=विस्तृत **पाजसा**=बल से **विशोशुचानः**=विशेषरूप से दीप्त होते हुए आप हमारे **द्विषः**=द्वेष के भावों को **रक्षसः**=राक्षसी-वृत्तियों को तथा **अमीवाः**=रोगों को **बाधस्व**=हमारे से दूर रोक दीजिए। हमारे तक इन द्वेषों, राक्षसीभावों व रोगों की पहुँच ही न हो। (२) मैं **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **सुशर्मणः**=उत्तम रक्षण के (शर्म protection) **शर्मणि**=सुख में **स्याम्**=निवास करूँ। **अहम्**=मैं **सुहवस्य**=सुगमता से पुकारने योग्य आपके **प्रणीतौ**=प्रणयन में चलूँ। आपकी प्रेरणा सुनकर उसके अनुसार चलनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके हम द्वेष व राक्षसीभावों से ऊपर उठें, नीरोग जीवनवाले हों। प्रभु के रक्षण में सुख प्राप्त करें। प्रभु की प्रेरणा में चलें।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शक्तियों के विस्तार द्वारा उत्तम विकास

त्वं नो अस्या उषसो व्युष्टौ त्वं सूर उदिते बोधि गोपाः।
जन्मेव नित्यं तनयं जुषस्व स्तोमं मे अग्ने तन्वा सुजात ॥ २ ॥

(१) **त्वम्**=हे परमात्मन्! आप **अस्याः**=इस **उषसः**=उषा के **व्युष्टौ**=उदित होने पर **नः**=हमारे **गोपाः**=रक्षक होते हुए **बोधि**=ध्यान करिए। **त्वम्**=आप **सूरे उदिते**=सूर्य के उदय होने पर हमारा ध्यान करिए, आप से रक्षा प्राप्त करके हम प्रत्येक उषा को-प्रत्येक सूर्योदय के समय को बड़ी सुन्दरता से बितानेवाले हों। (२) **इव**=जैसे **जन्म**=जनक व पिता **नित्यं तनयम्**=अपने औरस पुत्र को प्रेम करता है, इसी प्रकार **अग्ने**=हे परमात्मन्! **तन्वा**=प्रत्येक शक्ति के विस्तार से **सुजात**=उत्तम प्रादुर्भाववाले प्रभो! **मे स्तोमं जुषस्व**=मेरे स्तवन का सेवन करिए। मेरे द्वारा किया गया आपका स्तवन आपके लिये प्रिय हो। आपका मेरे द्वारा किया गया सच्चा स्तवन यही तो है कि मैं भी अपनी शक्तियों का विस्तार करता हुआ उत्तम विकासवाला बनूँ। मैं शरीर को अधिक से अधिक स्वस्थ बनाऊँ, मन की निर्मलता को सिद्ध करूँ और तीव्रबुद्धि बनने का यत्न करूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के रक्षण में चलें। प्रभुस्तवन करते हुए, प्रभु जैसे बनते हुए प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अन्धकार में भी प्रकाश

त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो वि भाहि।
वसो नेषि च पर्षि चात्यंहः कृधी नो राय उशिजो यविष्ठ॥ ३॥

(१) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् व सब सुखों का वर्षण करनेवाले **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले हैं। **अरुषः**=आरोचमान आप **कृष्णासु**=अन्धकारमयी रात्रियों में **अनु**=क्रमशः **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली ज्ञान-ज्योतियों को **विभाहि**=विशेषरूप से प्रकाशित करिए। हमारे जीवनों में जब भी अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत हो, उस समय आपका ध्यान हमें प्रकाश प्राप्त करानेवाला हो। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **नेषि च**=आप हमें सन्मार्ग से ले चलते हैं, **च**=और **अंहः अतिपर्षि**=पाप से पार प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार हे **यविष्ठ**=हमें बुराइयों से दूर तथा अच्छाइयों के समीप करनेवाले प्रभो! **उशिजः**=आपकी ही कामनावाले **नः**=हमें **राये**=दान देने योग्य धनों के लिए **कृधी**=करिए। हमें धनों की कमी न हो, उन धनों में हमें आसक्ति न हो। आपका उपासन करते हुए हम सदा धनों को सत्कार्यों में व्यय करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से चारों ओर अन्धकार होने पर भी हमें अन्दर प्रकाश प्राप्त हो। पाप से दूर रहते हुए हम धनों को देनेवाले हों।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ व रक्षण

अषाळ्हो अग्ने वृषभो दिदीहि पुरो विश्वाः सौभगा संजिगीवान्।
यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोर्जातवेदो बृहतः सुप्रणीते॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अषाढः**=शत्रुओं से कभी पराजित न होनेवाले तथा **वृषभः**=शक्तिशाली व सब सुखों का वर्षण करनेवाले आप **दिदीहि**=हमारे अन्तःकरणों में दीप्त होइये। आप **विश्वाः पुरः**=शत्रुओं की सब पुरियों को तथा **सौभगा**=धनों को **संजिगीवान्**=जीतनेवाले होइये। इन्द्रियों में बनी हुई कामासुर की पुरी को जीतकर मुझे स्वास्थ्य का धन प्राप्त कराइये। इस धन से मेरी सब इन्द्रियाँ सशक्त बनें। मन में क्रोधासुर की पुरी का विध्वंस करके मुझे मानस शान्ति प्राप्त कराइये। तथा बुद्धि में बने हुए लोभ के किले का विध्वंस करके मेरी बुद्धि को प्रकाशमय करिए। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **सुप्रणीते**=हमारा उत्तम प्रणयन करनेवाले प्रभो! आप हमारे जीवनों में **यज्ञस्य नेता**=यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रणयन करनेवाले हैं तथा **प्रथमस्य**=सर्वमुख्य व विस्तृत **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **पायोः**=रक्षण के **नेता**=प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु काम-क्रोध-लोभ को विनष्ट करके हमें सब सौभाग्यों व ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। हमें यज्ञशील बनाते हैं तथा हमें सर्वोच्च रक्षण प्राप्त कराते हैं। काम-क्रोध-लोभ के आक्रमण से बचाना ही सर्वोच्च रक्षण है। यज्ञात्मक-वृत्ति ही वस्तुतः रक्षण का साधन बन जाती है।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमेके रोदसी

अच्छिद्रा शर्म जरितः पुरूणि देवाँ अच्छा दीद्यानः सुमेधाः ।
रथो न सस्निरभि वक्षि वाजमग्ने त्वं रोदसी नः सुमेके ॥ ५ ॥

(१) हे **जरितः**=हमारी वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! हमारे **शर्म**=सुख **अच्छिद्रा**=बिना छिद्र के हों, निरन्तर हों, ये सुख **पुरूणि**=पालक व पूरक हों। आप **देवान् अच्छा**=देवों की ओर **दीद्यानः**=चमकनेवाले हों और **सुमेधाः**=उन्हें शोभन-बुद्धि को प्राप्त करानेवाले हों। (२) **रथः न**=उन देववृत्ति के व्यक्तियों के लिये आप रथ के समान हों। **सस्निः**=उनके जीवन का शोधन करनेवाले हों। उन्हें **वाजं अभिवक्षि**=बल को प्राप्त कराएँ। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः**=हमारे **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाला करें। 'द्यावा' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है। प्रभु हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों को क्रमशः प्रकाश व शक्ति से युक्त करें।

भावार्थ—हमारे सुख 'वासनामय' न हों। प्रभु को अपना रथ बनाकर हम जीवनयात्रा को पूर्ण करें। हमारा मस्तिष्क व शरीर दोनों बड़े उत्तम हों।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुर्मति से दूर

प्र पीपय वृषभ जिन्व वाजानग्ने त्वं रोदसी नः सुदोघे ।
देवेभिर्देव सुरुचा रुचानो मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परि ष्ठात् ॥ ६ ॥

(१) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् प्रभो! **प्र पीपय**=आप हमारा प्रकर्षेण आप्यायन करनेवाले होइये। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **वाजान्**=शक्तियों को **जिन्व**=दीजिए। **त्वम्**=आप **नः रोदसी**=हमारे द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **सुदोघे**=उत्तम प्रपूरणवाला करिए (दुह प्रपूरणे) मस्तिष्क ज्ञान से पूर्ण हो और शरीर शक्ति-सम्पन्न हो। (२) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **देवेभिः**=दिव्यगुणों के साथ तथा **सुरुचा**=उत्तम ज्ञानदीप्ति के साथ **रुचानः**=हमें चमकाते हुए आप हों। प्रभुकृपा से हम मनों में दिव्यगुणोंवाले हों और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तिवाले हों। **मर्तस्य**=विषयों के पीछे मरनेवाले प्राकृत मनुष्य की **दुर्मतिः**=दुष्टबुद्धि **नः मा परिष्ठात्**=हमारे चारों ओर स्थित न हो। हम दुर्बुद्धि से घिरे न रहें। दुर्बुद्धि से सदा दूर रहें।

भावार्थ—हमारा आप्यायन हो-हम शक्तिसम्पन्न बनें। दुर्मति से दूर रहें।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'विजावा तनयः' सूनुः

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ७ ॥

३.६.११ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त 'द्वेष, राक्षसीभाव व रोगों' से ऊपर उठने पर बल देता है। अगले सूक्त में भी 'सुवीर्य' द्वारा जीवन उत्तम बनाने के लिए प्रार्थना है—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सुवीर्य,, धन व ज्ञान

अयमग्निः सुवीर्यस्येशे महः सौभगस्य। राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम्॥ १ ॥

(१) **अयम्**=यह **अग्निः**=प्रगतिशील-जीव **सुवीर्यस्य ईशे**=उत्तम शक्ति का ईश बनता है। सात्त्विक भोजन के सेवन से इसमें सात्त्विक शक्ति उत्पन्न होती है, इस शक्ति का यह औरों के रक्षण में ही विनियोग करता है और इस प्रकार यह **महः सौभगस्य**=महान् सौभाग्य का-यश का ईश बन जाता है। यह सुवीर्य इसके सौभग का कारण बनता है। बल के साथ यश का मेल हो जाता है। (२) यह अग्नि **रायः ईशे**=धन का स्वामी बनता है। उस धन का स्वामी बनता है, जिसे कि यह 'रा दाने' दान देनेवाला होता है। इस दान के कारण ही यह धन '**स्वपत्यस्य**'=उत्तम सन्तानवाला होता है 'श्रदस्मै वचसे नरो दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः'। दान देनेवाली पति-पत्नियों के सन्तान उत्तम ही होते हैं। 'स्वपत्यस्य' का अर्थ न पतन के हेतुभूत यह भी है। 'अग्नि' उस धन का स्वामी बनता है, जो धन उसके पतन का कारण नहीं बनता। इस धन द्वारा वह उत्थान के साधनों को ही जुटाता है। (३) **गोमतः ईशे**=यह गोमानों का ईश बनता है 'गावः वेदवाचः' वेदवाणियों के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ बनता है और इसीलिए **वृत्रहथानाम्**=वृत्र के मारनेवालों में भी अग्रणी होता है। ज्ञान द्वारा यह वासना (वृत्र) का संहार करता है।

भावार्थ—'अग्नि'=प्रगतिशील वह है जो कि रक्षण में विनियुक्त होनेवाले यशस्वी बल का ईश बनता है, धनों को दान देता हुआ उन्हें पतन का कारण नहीं बनने देता और ज्ञान की वाणियों को ग्रहण करता हुआ वासनाओं का विनाश करता है।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दुर्विचारों व दुर्भावों का अभिभव

इमं नरो मरुतः सश्चता वृधं यस्मिन्रायः शेवृधासः ।
अभि ये सन्ति पृतनासु दूढ्यो विश्वाहा शत्रुमादभुः॥ २॥

(१) हे **मरुतः नरः**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **इमम्**=इस **वृधम्**=सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए परमात्मा का **सश्चता**=सेवन करनेवाले बनो। **प्राणसाधना द्वारा** चित्तवृत्ति का निरोध होकर प्रभु का साक्षात्कार होता है। उस प्रभु का, **यस्मिन्**=जिसमें कि **शेवृधासः**=सुखों का वर्धन करनेवाले **रायः**=धन हैं। प्रभु उन सब धनों का आधार हैं जो कि हमारे सुख का कारण बनते हैं। (२) प्रभु का सेवन करनेवाले वे हैं **ये**=जो कि **पृतनासु**=संग्रामों में **दूढ्यः**=(दुर्धियः) दुष्ट विचारों को **अभिसन्ति**=अभिभूत करते हैं और **विश्वाहा**=सदा **शत्रुम्**=विनाश करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' आदि का **आदभुः**=हिंसन करते हैं। प्रभु का उपासक दुष्ट विचारों से व काम-क्रोध आदि दुष्ट वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए हम सुखवर्धक धनों को प्राप्त करें और दुर्विचारों व दुर्भावों को अभिभूत करनेवाले हों।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

उत्कृष्ट धन

स त्वं नो रायः शिशीहि मीढ्वो अग्ने सुवीर्यस्य ।
तुविद्युम्न वर्षिष्ठस्य प्रजावतोऽनमीवस्य शुष्मिणः ॥ ३ ॥

(१) हे **मीढ्वः**=सुखों का वर्षण करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **नः रायः शिशीहि**=हमारे धनों को तीक्ष्ण करिए-बढ़ाइए। उन धनों को जो कि **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य व शक्तिवाले हैं। धन प्राप्त करके, विषय वासनाओं में फँसकर, हम अपनी शक्ति को नष्ट न कर लें। (२) हे **तुविद्युम्न**=बढ़े हुए महान् धनवाले प्रभो! हमें वह धन दीजिए जो कि **वर्षिष्ठस्य**=वृद्धतम-प्रभूत है (more than sufficient। **प्रजावतः**=जो उत्तम सन्तानवाला है अथवा उत्तम विकासवाला है। धन के कारण हमारी सन्तान बिगड़ न जाएँ। **अनमीवस्य**=जो धन नीरोगता देनेवाला है। धन के कारण, विषयों में फँसकर, हम रोगी ही न हो जाएँ। **शुष्मिणः**=हमें वह धन दीजिए जो कि शत्रु-शोषक बलवाला है। धन के कारण हम काम-क्रोध आदि के लिये गम्य न हो जाएँ।

भावार्थ—हमें वह धन दीजिए जो कि हमें 'सुवीर्य, प्रजावान्, नीरोग व शत्रुशोषक शक्तिवाला' बनाए तथा पर्याप्त हो।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

देव-शंस व सुवीर्य

चक्रिर्यो विश्वा भुवनाभि सासहिश्चक्रिर्देवेष्वा दुवः ।
आ देवेषु यतत आ सुवीर्य आ शंस उत नृणाम् ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **विश्वा भुवना**=सब लोकों को **चक्रिः**=बनाते हैं, जो **अभिसासहिः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। जो प्रभु **देवेषु**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों में **दुवः**=(Wealth) धन को **आचक्रिः**=सब प्रकार से करनेवाले हैं। (२) ये प्रभु **देवेषु**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों में **आयतते**=(आभिमुख्येन गच्छति) आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं, **सुवीर्ये**=उत्तम शक्तिवाले में प्राप्त होते हैं। **उत**=और **नृणाम्**=मनुष्यों में **शंसे**=शंसन करनेवाले व स्तुति करनेवाले में **आ**=प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्राप्ति 'देव, सुवीर्य व शंसों' को होती है। 'विद्वांसो हि देवाः' ज्ञानी पुरुष ही देव हैं। इसी प्रकार प्रभुप्राप्ति उसको होती है जो कि (क) मस्तिष्क के दृष्टिकोण से देव है, (ख) मन के दृष्टिकोण से शंस है, (ग) तथा शरीर के दृष्टिकोण से सुवीर्य है। (३) ये प्रभु ही देवों को धन प्राप्त कराते हैं। शंसन व स्तवन करनेवालों के काम-क्रोध आदि का पराभव करते हैं। सुवीर्य पुरुषों के अंग-प्रत्यंगों का सुन्दर निर्माण करते हैं।

भावार्थ—हम देव बनकर धन के पात्र हों। स्तवन करनेवाले होकर काम आदि का पराभव करनेवाले हों। सुवीर्य बनकर सुन्दर अंग-प्रत्यंगवाले हों।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'अज्ञान, अवीरता व अप्रशस्तेन्द्रियता' से दूर

मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः । मागोतायै सहसस्पुत्र मा निदेऽप द्वेषांस्या कृधि ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमें **अमतये**=अज्ञान के लिये **मा रीरधः**=मत सिद्ध करिए,

हमें अज्ञान का विषय न बनाइये। **अवीरतायै**=अवीरता के लिए भी हमें मत सिद्ध करिए। न हम अज्ञानी हों, न अवीर हों। मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न व शरीर में शक्ति-सम्पन्न हों। (२) हे **सहसस्पुत्र**=बल के पुतले-बल के पुञ्ज प्रभो! हमें **अगोतायै**=(गावः इन्द्रियाणि) अप्रशस्तेन्द्रियता के लिए **मा**=मत सिद्ध करिए। हमारी सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य बड़ी अच्छी तरह से करनेवाली हों। हमें **निदे**=निन्दा के लिये **मा**=मत सिद्ध करिए। हम कभी भी निन्दा के पात्र न हों। हे प्रभो! आप **द्वेषांसि**=द्वेषों को **अपाकृधि**=हमारे से दूर करिए।

भावार्थ—हम 'ज्ञान, वीरता, प्रशस्तेन्द्रियता व अनिन्दा' को प्राप्त हों, तथा धर्म का प्रतिपालन आवश्यक है तथा ज्ञानप्राप्ति हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। प्रभु हमें पवित्र बनाते हैं और हमारे साथ दिव्यगुणों का सम्पर्क करते हैं।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञ से समृद्धि

शग्धि वाजस्य सुभग प्रजावतोऽग्ने बृहतो अध्वरे।
सं राया भूयसा सृज मयोभुना तुविद्युम्न यशस्वता॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=विद्वन्! तू **अध्वरम्**=अहिंसित उत्तम व्यवहार में **प्रजावतः**=प्रजा से युक्त **बृहतः**=बड़े **वाजस्य**=बल को प्राप्त करने में **शग्धि**=समर्थ हो बलवान् बन। (२) हे **सुभग**=विभूतियों के स्वामिन्! हे **तुविद्युम्न**=ऐश्वर्यों के स्वामिन् तू **मयोभुना**=सुख उत्पादक **यशस्वता**=कीर्त्ति से सम्पन्न **राया**=धन से **संसृज**=हमें सम्पन्न कर।

भावार्थ—मनुष्य को हिंसा रहित उद्यमों द्वारा समृद्ध बनना चाहिये।

इस सूक्त में मनुष्यों को तेजस्वी, बलवान् और सम्पन्न बनने की प्रेरणा दी गयी है। अग्रिम सूक्त भी इसी की पुष्टि करता है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्नि के समान तेजस्वी

समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा समक्तुभिरज्यते विश्ववारः।
शोचिष्केशो घृतनिर्णिक्पावकः सुयज्ञो अग्निर्यजथाय देवान्॥ १॥

(१) जैसे **यजथाय**=यज्ञ के लिये **समिध्यमानः**=प्रदीप्त अग्नि **प्रथमा धर्मा अनु**=विस्तृत, श्रेष्ठ, प्रसिद्ध धर्मों के अनुसार **अक्तुभिः**=घृतादि से **अज्जते**=दीप्त किया जाता है। **विश्ववारः**=सबसे वरणीय **शोचिष्केशः**=किरणों से युक्त **घृतनिर्णिक्**=घृत से पवित्र **पावकः**=पवित्र करनेवाला **सुयज्ञः**=उत्तम यज्ञ का साधन होकर **अग्नि देवान् यजथाय भवति**=जो अग्रणी प्रभु विद्वानों को ज्ञान देने में समर्थ होता है।

भावार्थ—सभी मनुष्यों को दीप्तमान अग्नि के समान ऊपर उठना चाहिए।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुकृत ज्ञानयज्ञ

यथायजो होत्रमग्ने पृथिव्या यथा दिवो जातवेदश्चिकित्वान्।
एवानेन हविषा यक्षि देवान्मनुष्वद्यज्ञं प्र तिरेममद्य ॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यथा**=जिस प्रकार आपने **पृथिव्याः**=पृथिवी के **होत्रम्**=ज्ञानदान रूप यज्ञ को **अयजः**=किया और **जातवेदः**=सर्वज्ञ, **चिकित्वान्**=हमारे सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले प्रभो! **यथा**=जैसे **दिवः**=द्युलोक के होत्र को आपने किया। **एवा**=इस प्रकार **अनेन हविषा**=इस ज्ञानदानरूप प्रक्रिया से **देवान् यक्षि**=सब देवों को हमारे साथ संगत करिए। अन्तरिक्षस्थ सब देवों के पदार्थों का हमें ज्ञान दीजिए। 'इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति' इस मन्त्रभाग में इसी ज्ञानयज्ञ का उल्लेख है। यहाँ ज्ञानाग्नि की तीन समिधाएँ 'पृथिवी, द्युलोक व अन्तरिक्षलोक' कही गई हैं। (२) हे प्रभो! आप **अद्य**=आज हमारे **इमम्**=इस **मनुवत् यज्ञम्**=ज्ञानवाले यज्ञ को **प्रतिर**=बढ़ाइये। आप से ज्ञान प्राप्त करके इसी ज्ञान को हम औरों के लिए देनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे लिए 'पृथिवी, द्युलोक व अन्तरिक्ष' में स्थित सभी देवों (पदार्थों) का ज्ञान दिया। हम भी सदा इस ज्ञानयज्ञ को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभुस्मरण से कामादि का दहन

त्रीण्यायूंषि तव जातवेदस्तिस्र आजानीरुषसस्ते अग्ने ।
ताभिर्देवानामवो यक्षि विद्वानथा भव यजमानाय शं योः ॥ ३ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! हमारे **त्रीणि आयूंषि**=तीनों जीवन **तव**=आपके हों। जीवन का प्रातःसवन, माध्यन्दिन-सवन तथा सायन्तन-सवन ये तीनों आपकी उपासना में बीतें। बाल्य, यौवन व वार्धक्य तीनों कालों में हम आपका स्मरण करें। **तिस्रः उषसः**=(उष दाहे) तीनों दहन, 'काम-क्रोध-लोभ' का दहन, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते आजानीः**=आपको जन्म देनेवाले हों। काम आदि को दग्ध करके हम आपका दर्शन करनेवाले हों। (२) **ताभिः**=उन उषाओं से, उन काम-क्रोध-लोभ के दहन से **देवानां अवः**=देवताओं का रक्षण हमारे साथ **यक्षि**=संगत करिए। काम-क्रोध-लोभ का दहन होने पर ही 'प्रेम, करुणा व उदारता' का उद्भव होता है। इस प्रकार दिव्यगुणों को उत्पन्न करके **अथा**=अब **शं योः भव**=यजमान के लिए शान्ति को देनेवाले तथा भयों का यावन (पार्थक्य) करनेवाले होइये।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, इससे काम-क्रोध-लोभ का दहन होता है, दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है और शान्ति व निर्भयता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की उपासना से अमृतत्त्व की प्राप्ति

अग्निं सुदीतिं सुदृशं गृणन्तो नमस्यामस्त्वेड्यं जातवेदः ।
त्वां दूतमरतिं हव्यवाहं देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् ॥ ४ ॥

(१) **अग्निम्**=निरन्तर गतिशील (अगि गतौ) **सुदीतिम्**=उत्तम दीप्तिवाले, **सुदृशम्**=अत्यन्त दर्शनीय (सुन्दर) **त्व**=आपका **गृणन्तः**=स्तवन करते हुए, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ईड्यम्**=स्तुत्य आपको **नमस्यामः**=नमस्कार करते हैं। आपके उपासन से ही हमारा जीवन 'क्रियाशील, दीप्तिवाला, तेजस्वी व स्तुत्य' बनता है। (२) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **त्वाम्**=आपको ही **अकृण्वन्**=उपासित करते हैं, जो आप **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं, **अरतिम्**=सर्वभूत होते हुए भी अ-सक्त हैं (असक्तं सर्वभृच्चैव) अथवा (ऋ गतौ) गतिशील हैं और **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों को प्राप्त

करानेवाले हैं। ये प्रभु ही **अमृतस्य नाभिम्**=अमृतत्त्व का केन्द्र हैं। इनकी उपासना से अमृतत्त्व प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु दीप्त व दर्शनीय हैं। प्रभु की उपासना से ही अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है।

ऋषि:—**उत्कीलः कात्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ व दिव्य भाव

यस्त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान्द्विता च सत्ता स्वधया च शंभुः।
तस्यानु धर्म प्र यजा चिकित्वोऽथा नो धा अध्वरं देववीतौ ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **त्वत् होता**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला है, **पूर्वः**=अपना पालन व पूरण करनेवाला है, **यजीयान्**=अतिशयेन यज्ञशील है, **द्विता च सत्ता**=और दो के विस्तार से आसीन होनेवाला है, अर्थात् शक्ति व ज्ञान दोनों का विस्तार करनेवाला है अथवा इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करते हुए चलनेवाला है–अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करता है, **च**=और जो **स्वधया**=आत्मधारण द्वारा **शंभुः**=अपने अन्दर शान्ति का भावन करनेवाला है। **तस्य**=उसके **अनुधर्म**=धर्मों के अनुसार **प्रयजा**=उसके साथ मेल करनेवाले होइये, अर्थात् उसको प्राप्त होइये। वस्तुतः जितना–जितना हमारा जीवन धर्म के अनुसार होता जाता है, उतना–उतना हम प्रभु के समीप होते जाते हैं। (२) **अथा**=अब हे **चिकित्वः**=सर्वज्ञ व हमारे रोगों का अपनयन करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे लिए **देववीतौ**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित **अध्वरं धाः**=यज्ञ को धारण करिए। यह यज्ञ ही हमें आसुरभावों से दूर करके दिव्यभावों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु उसे प्राप्त होते हैं जो कि शक्ति व ज्ञान दोनों को सिद्ध करता है। प्रभु ही हमें यज्ञिय वृत्तिवाला बनाते हैं, जिससे हमें दिव्यगुण प्राप्त होते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की उपासना के साधनों व फलों का वर्णन करता है। अगले सूक्त का भी विषय यही है—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषि:—**कतो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासना के तीन लाभ

भवा नो अग्ने सुमना उपेतौ सखेव सख्ये पितरेव साधुः।
पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानां प्रति प्रतीचीर्दहतादरातीः ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **उपेतौ**=उपासना के होने पर **नः**=हमारे लिए **सुमनाः भव**=उत्तम मन को देनेवाले होइये (शोभनं मनो यस्मात्) प्रभु की उपासना का पहला लाभ यह है कि हमारा मन उत्तम होता है। (२) हे प्रभो! इस उपासना के होने पर आप **साधुः**=इस प्रकार हमारे कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं **इव**=जैसे **सखा**=मित्र **सख्ये**=मित्र के लिए कार्यों को सिद्ध करता है और **इव**=जिस प्रकार **पितरा**=माता–पिता पुत्र के कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। (३) हे प्रभो! **जनानाम्**=लोगों के **क्षितयः**=लोग **हि**=ही **पुरुद्रुहः**=बड़ा द्रोह करनेवाले हैं अतः आप **प्रतीचीः**=हमारी ओर आनेवाले **अरातीः**=इन शत्रुओं को **प्रतिदहतात्**=एक–एक करके दग्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—उपासना के तीन लाभ हैं—(क) उत्तम मन की प्राप्ति, (ख) कार्यसिद्धि, (ग)

शत्रुदहन (शत्रु-विनाश)।

ऋषिः—**कतो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रु-दहन

तपो ष्वग्ने अन्तराँ अमित्रान्तपा शंसमररुषः परस्य ।
तपो वसो चिकितानो अचित्तान्वि ते तिष्ठन्तामजरा अयासः ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अन्तरान् अमित्रान्**=अन्दर के शत्रुओं को—काम-क्रोध-लोभ को **उ**=निश्चय से **सु तप**=अच्छी तरह दग्ध कर दीजिए। (२) **अररुषः**=दान की वृत्ति से शून्य **परस्य**=शत्रु के **शंसम्**=अशुभ के शंसन को **तप**=(क्षपय) नष्ट करिए। ये जो अशुभ को शुभ के रूप में चित्रित करें तो हम उनकी बातों में न आ जाएँ। (३) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **चिकितानः**=सर्वज्ञ व हमारी चिकित्सा करनेवाले होते हुए आप **अचित्तान्**=अज्ञानियों को **तप उ**=निश्चय से दग्ध करिए। हमारे लिए **ते**=आपके **अजराः**=जीर्णता को न उत्पन्न करनेवाले **अयासः**=गमन व कार्य **वितिष्ठन्ताम्**=विशेषरूप से स्थित हों, अर्थात् प्रभु का प्रत्येक कार्य हमें अजर बनानेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं को दग्ध करें। प्रभु की प्रत्येक क्रिया हमें अजीर्ण करनेवाली हो।

ऋषिः—**कतो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्निहोत्र व सन्ध्यावन्दन

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! मैं **इच्छमानः**=चाहता हुआ, अर्थात् इच्छापूर्वक **इध्मेन**=समिधाओं से (काष्ठखण्डों से) **घृतेन**=घृत से **हव्यम्**=आहुति के योग्य द्रव्यों को **जुहोमि**=अग्नि में आहुत करता हूँ। अग्निहोत्र को सम्यक्तया सिद्ध करता हूँ, **तरसे**=वेग के लिए और **बलाय**=बल के लिए। मैं अग्निहोत्र करता हूँ ताकि मेरा जीवन नीरोग व स्फूर्तिवाला बने। (२) मैं **ब्रह्मणा**=इन ज्ञान की वाणियों से आपका **वन्दमानः**=वन्दन करनेवाला बनता हूँ **यावत्**=जिससे कि **इमाम्**=इस **देवीम्**=दिव्यगुणोंवाली **धियम्**=बुद्धि का **ईशे**=ईश बनूँ। यह बुद्धि मेरे लिए **शतसेयाय**=शतशः वासनाओं का अन्त करनेवाली हो (षो अन्तकर्मणि)।

भावार्थ—अग्निहोत्र द्वारा मुझे स्फूर्ति व बल प्राप्त हो। प्रभु-वन्दन से मैं दिव्यबुद्धि प्राप्त करूँ, जो कि वासनाओं का अन्त करनेवाली हो।

ऋषिः—**कतो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानयुक्त उत्कृष्ट जीवन

उच्छोचिषा सहसस्पुत्र स्तुतो बृहद्वयः शशमानेषु धेहि ।
रेवदग्ने विश्वामित्रेषु शं योर्मर्मृज्मा ते तन्वं१ भूरि कृत्वः ॥ ४ ॥

(१) हे **सहसः पुत्र**=बल के पुतले—बल के पुञ्ज प्रभो! आप **शशमानेषु**=शंसन व स्तवन करनेवालों में अथवा प्लुत गतिवालों, अर्थात् स्फूर्ति के साथ कार्य करनेवालों में **उत् शोचिषा**=उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति के साथ **बृहद्वयः**=दीर्घ जीवन को **धेहि**=धारण करिए। इनको ज्ञानयुक्त दीर्घजीवन प्राप्त

कराइये। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विश्वामित्रेषु**=इन सब के प्रति स्नेह की वृत्तिवालों में **रेवत्**=धन से युक्त **शंयोः**=शान्ति व भयों के यावन (दूरीकरण) को **धेहि**=स्थापित करिए। इन्हें धन की कमी न हो। शान्तियुक्त इनका जीवन हो, ये निर्भय व नीरोग हों। (३) हे प्रभो! हम इसी उद्देश्य से **ते तन्वम्**=आपके इस शरीर को **भूरिकृत्यः**=बहुत बार **मर्मृज्म**=शुद्ध करते हैं। इस शरीर को आपका जानते हुए इसे मलिन नहीं होने देते।

भावार्थ—हम स्तोताओं को उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति के साथ वृद्धिशील जीवन प्राप्त हो। इस जीवन में 'धन, शान्ति व निर्भयता' हो। हम शरीर को प्रभु का समझें और मलिन न करें।

ऋषिः—**कतो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'धन, क्रियाशील भुजाएँ व उत्तम रूप'

कृधि रत्नं सुसनितर्धनानां स घेदग्ने भवसि यत्समिद्धः।
स्तोतुर्दुरोणे सुभगस्य रेवत्सृप्रा करस्ना दधिषे वपूंषि॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **धनानां सुसनितः**=धनों के उत्तम दाता आप **यत्**=जब **समिद्धः भवसि**=हृदयों में दीप्त किये जाते हैं तो **सः**=वे आप **घा इत्**=निश्चय से ही **रत्नं**=हमारे लिए रमणीय धनों को **कृधि**=करिए। (२) **सुभगस्य**=उत्तम ज्ञानवाले (भग=ज्ञान) **स्तोतुः**=स्तोता के **दुरोणे**=गृह में **रेवत्**=धनयुक्त **सृप्रा**=कार्यों में सर्पणशील **करस्ना**=बाहुओं को तथा **वपूंषि**=उत्कृष्टरूपवाले शरीरों को **दधिषे**=धारण करते हैं। ज्ञानी स्तोता 'धन को, कार्यव्यापृत भुजाओं को तथा उत्कृष्ट रूपवाले शरीरों को' प्राप्त करता है।

भावार्थ—उपासक को 'धन, क्रियाशील भुजाएँ व उत्कृष्टरूप सम्पन्न शरीर' प्राप्त होता है। उपासना के लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—(क) उत्तम मन की प्राप्ति होती है, (ख) कार्यसिद्धि मिलती है और (ग) विघ्नों का विनाश होता है। (१) प्रभु हमारे आन्तर शत्रुओं का दहन करते हैं, (२) स्फूर्तिबल और वासना-विनाशक दिव्य बुद्धि प्राप्त होती है, (३) ज्ञान-ज्योति युक्त उत्कृष्ट जीवन मिलता है, (४) प्रभु हमें 'धन, क्रियाशील भुजाएँ व उत्तम रूप देते हैं।

अगले सूक्त में यह प्रभु का स्तवन करनेवाला 'गाथी' 'कौशिक' है 'साधु विक्रोशयिता अर्थानाम्' (नि०) अर्थों का उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाला है। यह अर्थों का ठीक निश्चय करता हुआ प्रभु का ही वरण करने का निश्चय करता है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राये-वाजय

अग्निं होतारं प्र वृणे मियेधे गृत्सं कविं विश्वविदममूरम्।
स नो यक्षद्देवताता यजीयान्राये वाजाय वनते मघानि॥ १॥

(१) **मियेधे**=इस जीवनयज्ञ में **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु का **प्रवृणे**=वरण करता हूँ, जो प्रभु **होतारम्**=मेरे लिए सब पदार्थों को देनेवाले हैं। **गृत्सम्**=ज्ञान का उपदेश करनेवाले हैं (गृणाति)। **कविम्**=सर्वज्ञ हैं, **विश्वविदम्**=सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **अमूरम्**=हमारी मूढता नष्ट करनेवाले हैं (मूर=मूढ)। (२) **सः**=वे **यजीयान्**=अतिशयेन पूज्य प्रभु **नः**=हमारे लिए **देवताता**=यज्ञ के होने पर **यक्षत्**=सब कुछ देनेवाले हों। वस्तुतः ये प्रभु हमारे

लिए **मघानि**=सब ऐश्वर्यों को **वनते**=विजय करते हैं (Win) ताकि **राये**=हम उचित यज्ञादि कार्यों के लिए इन्हें देनेवाले हों (रा दाने) तथा **वाजाय**=इनका उचित आहार-विहार के सम्पादन के लिए विनियोग करते हुए शक्ति सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रकृति में न उलझकर हम प्रभु का वरण करें। ये प्रभु ही हमें ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं ताकि हम इनका दान करें तथा इनद्वारा शक्ति-सम्पादन के लिए आवश्यक साधनों को जुटा पाएँ।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम स्तुति

प्र ते॑ अग्ने ह॒विष्म॑तीमिय॒र्म्यच्छा॑ सुद्यु॒म्नां रा॒तिनीं॑ घृ॒ताचीम्।
प्र॒द॒क्षि॒णिद्दे॒वता॑तिमुरा॒णः सं रा॒तिभि॒र्वसु॑भिर्य॒ज्ञम॑श्रेत् ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते अच्छा**=आपके प्रति उस स्तुति को **इयर्मि**=प्रेरित करता हूँ जो कि **हविष्मतीम्**=हविवाली है-दानपूर्वक अदन से युक्त है, **सुद्युम्नाम्**=जो उत्तम ज्योतिवाली है, **रातिनीम्**=दान से युक्त है, **घृताचीम्**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति की ओर गतिवाली है। स्तुति वही ठीक है, जो त्याग व ज्ञान से युक्त है। (२) हे प्रभो! आप **प्रदक्षिणित्**=(प्रदक्षिणं करोति) बड़ी दक्षिणतापूर्वक **देवतातिम्**=दिव्यगुणों के विस्तार को **उराणः**=(उरु कुर्वाणः) बहुत करते हुए **रातिभिः**=आवश्यक वस्तुओं को देने के साथ तथा **वसुभिः**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों के साथ **यज्ञम्**=हमारे इस जीवनयज्ञ का **सं अश्रेत्**=सम्यक् सेवन करें। हमारा यह जीवनयज्ञ प्रभु से आश्रित हो। प्रभु हमें सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराएँ तथा निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को दें। हमारे जीवन में प्रभु दिव्यगुणों का विस्तार करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, ज्ञान व त्याग को अपनाएँ। प्रभु हमारे जीवन में दिव्यगुणों का विस्तार करें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तेजस्वी मन

स तेजी॑यसा॒ मन॑सा॒ त्वोत॑ उ॒त शि॑क्ष स्वप॒त्यस्य॑ शि॒क्षोः।
अग्ने॑ रा॒यो नृत॑मस्य॒ प्रभू॑तौ भू॒याम॑ ते सुष्टु॒तय॑श्च॒ वस्वः॑ ॥ ३ ॥

(१) **सः**=वह **त्वा ऊतः**=आपसे रक्षा किया हुआ पुरुष **तेजीयसा मनसा**=तेजस्वी मन से युक्त होता है। **उत**=और **शिक्षोः**=दान में समर्थ होने की इच्छावाले के प्रति **स्वपत्यस्य**=उत्तम सन्तानोंवाले अथवा अपतन के कारणभूत धन को **शिक्ष**=आप दीजिए (शिक्षतिर्दानकर्मा)। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! हम **ते**=आपके **नृतमस्य**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **रायः**=धन के **प्रभूतौ**=ऐश्वर्य में (prosperity) **भूयाम**=हों। **च**=और **सुष्टुतयः**=उत्तम स्तुतिवाले होते हुए **वस्वः**=वसु के भाजन हों-वसु को प्राप्त करें। उन सब आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करें जो कि जीवन को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें तेजस्वी मन, प्रचुर ऐश्वर्य व निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्य शक्ति व दिव्यगुण

भूरीणि हि त्वे दधिरे अनीकाग्ने देवस्य यज्यवो जनासः।
स आ वह देवतातिं यविष्ठ शर्धो यदद्य दिव्यं यजासि॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **देवस्य यज्यवः**=प्रकाशमय आपके उपासक **जनासः**=लोग **त्वे**=आप में स्थित हुए-हुए **भूरीणि**=बहुत **अनीका**=बलों को **हि**=निश्चय से **दधिरे**=धारण करते हैं। उपासक को प्रभु का बल प्राप्त होता है। (२) **सः**=वे आप हे **यविष्ठ**=सब बुराइयों को पृथक् करनेवाले प्रभो! **देवतातिम्**=दिव्यगुणों के विस्तार को **आवह**=प्राप्त कराइये। यह आपकी महती कृपा है **यत्**=जो **अद्य**=आज आप हमारे लिए **दिव्यं शर्धः**=दिव्य बल को **यजासि**=हमारे साथ संगत करते हैं। इस दिव्य बल को प्राप्त करके हम अपने में दिव्यगुणों का विस्तार करते हैं।

भावार्थ—उपासना से दिव्य बल प्राप्त होता है। इसके परिणामस्वरूप दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। शक्ति में ही गुणों का वास है।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासक के रक्षक प्रभु

यत्त्वा होतारमनजन्मियेधे निषादयन्तो यजथाय देवाः।
स त्वं नो अग्नेऽवितेह बोध्यधि श्रवांसि धेहि नस्तनूषु॥ ५॥

(१) **यत्**=जब **होतारं त्वा**=सब कुछ देनेवाले आपको **मियेधे**=जीवनयज्ञ में **अनजन्**=प्राप्त होते हैं (अञ्ज् गतौ) तो **देवाः**=ये देववृत्ति के पुरुष **यजथाय**=उपासना के लिए **निषादयन्तः**=आपको अपने हृदयासन पर बिठाते हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **स त्वम्**=वे आप **इह**=इस जीवनयज्ञ में **नः**=हमारे **अविता**=रक्षक होते हुए **बोधि**=हमारा ध्यान करिए। **नः तनूषु**=हमारे शरीरों में **श्रवांसि**=ज्ञानों को **अधिधेहि**=आधिक्येन धारण करिए। इन ज्ञानों द्वारा ही वस्तुतः आप हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं-प्रभु हमारा रक्षण करते हैं।

हम प्रभु की उपासना करते हैं तो प्रभु हमें दान व शक्ति प्राप्ति के लिये धन देते हैं, (१) प्रभु हमारे में दिव्यगुणों का विस्तार करते हैं, (२) हमारे मनों को तेजस्वी बनाते हैं, (३) दिव्यशक्ति को देते हैं, (४) और ज्ञान द्वारा हमारा रक्षण करते हैं। इस रक्षण के परिणामस्वरूप हमारे जीवनों में सब देवताओं का वास होता है।

सम्पूर्ण सूक्त उपासक को दिव्यगुणों से पूर्ण करने की प्रेरणा दे रहा है। अग्रिम सूक्त भी इसी विषय से सम्बन्धित है—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्नि, उषा, अश्विना व दधिक्रा

अग्निमुषसमश्विना दधिक्रां व्युष्टिषु हवते वह्निरुक्थैः ।
सुज्योतिषो नः शृण्वन्तु देवाः सजोषसो अध्वरं वावशानाः॥ १॥

(१) **वह्निः**=अपने कर्तव्यभार का सम्यक् वहन करनेवाला व्यक्ति **व्युष्टिषु**=उषाकालों द्वारा

अन्धकार के दूर होने पर **अग्निम्**=अग्नि को, **उषसम्**=उषा को, **अश्विना**=प्राणापानों को, **दधिक्राम्**=दधिक्रा को **हवते**=पुकारता है। इन देवों के पुकारने का भाव इन वृत्तियों को अपने अन्दर धारण करना है। 'अग्नि' को पुकारना, अर्थात् आगे बढ़ने की भावना को धारण करना। 'उषस्' को पुकारना, अर्थात् 'उषदाहे' वासनाओं के दहन की वृत्ति को धारण करना। 'अश्विना' को पुकारना, अर्थात् 'प्राणापान' की साधना करना। 'दधिक्रा' को पुकारना, अर्थात् 'दधत् क्रामति' यह निश्चय करना कि मैं निर्माणात्मक कार्यों को करते हुए ही आगे बढूँगा। (२) **सुज्योतिषः**=उत्तम ज्योतिवाले **देवाः**=सब देव **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होकर **नः शृण्वन्तु**=हमारी प्रार्थना को सुनें, और **अध्वरं वावशानः**=हमारे यज्ञ की कामनावाले हों, अर्थात् देवों की कृपा से हमें भी ज्योति प्राप्त हो और हम यज्ञशील जीवन बितानेवाले हों।

भावार्थ—हमारे में आगे बढ़ने की भावना हो, हम वासनाओं को दग्ध कर दें, प्राणापान की साधना करें, धारणात्मक कर्मों को करते हुए गतिशील हों। देवों से ज्योति प्राप्त करके यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन

अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजात पूर्वीः।
तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन्॥ २॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं—हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **ते**=तेरे **त्री वाजिना**=तीन अन्न हैं–'ओषधि–वनस्पति, दूध और घृत'। इनद्वारा ही तूने अपने जीवन का पोषण करना है। **त्री**=तीन **सध-स्था**=तेरे मिलकर बैठने के स्थान हैं, 'समाधि–सुषुप्ति, मोक्षेषु–ब्रह्मरूपता' समाधि में–सुषुप्ति में और मोक्ष में यह जीव प्रभु के साथ विचरता है। हे **ऋतजात**=ऋत द्वारा, नियमित गति द्वारा अपना विकास करनेवाले जीव! **ते**=तेरी **तिस्रः**=तीन **पूर्वीः**=तेरा पालन व पूरण करनेवाली **जिह्वाः**=जिह्वायें हैं–वाणियाँ हैं–'ऋग्, यजुः और साम'। ऋचाओं द्वारा तू प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करता है। यजुः द्वारा अपने यज्ञात्मक कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा साम द्वारा प्रभु का तू उपासन करता है। (२) **ते**=तेरी **तिस्रः तन्वः**=तीनों शरीर—'स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर' **उ**=निश्चय से **देववाताः**=दिव्यगुणों को अपने में प्रेरित करनेवाले हैं अथवा देवों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। स्थूल शरीर अग्नि से प्रेरित होकर गतिशील होता है, सूक्ष्म शरीर वायु से प्रेरित होकर वासनाओं का गन्धन व हिंसन करनेवाला होता है, कारण शरीर आदित्य से प्रेरित होकर सूर्यसम ज्योतिवाला होता है। (३) हे जीव! **ताभिः**=उन शरीरों से **अप्रयुच्छन्**=प्रमाद न करते हुए **नः**=हमारी **गिरः**=ज्ञानवाणियों का **पाहि**=रक्षण कर। यदि जीव इन वेदवाणियों को अपनाएगा, तो ये वाणियाँ उसी प्रकार इसका कल्याण करेंगी, जैसे कि माता पुत्र का।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से प्रभु को पानेवाले बनें। ज्ञानवाणियों को अपनाएँ और तीनों शरीरों में 'अग्नि, वायु व आदित्य' आदि देवों से प्रेरणा प्राप्त करें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नामस्मरण का लाभ

अग्ने भूरीणि तव जातवेदो देव स्वधावोऽमृतस्य नाम।
याश्च माया मायिनां विश्वमिन्व त्वे पूर्वीः सन्दधुः पृष्टबन्धो॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी **जातवेदः**=सर्वज्ञ, **देव**=प्रकाशमय, **स्वधा वः**=आत्मधारण शक्ति युक्त (=अपराश्रित) प्रभो! **अमृतस्य तव**=अविनाशी आपके **भूरीणि नाम**=अनन्त नाम हैं अथवा **नाम भूरीणि**=आपके नाम हमारा भरण करनेवाले हैं। आपके नामों का स्मरण हमें प्रेरणा देता है और हमारे जीवनों को उन्नत करता है। 'अग्नि' नाम आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है, 'जातवेदः' ज्ञानप्राप्ति की प्रेरणा देता है, 'देव' नाम हमें प्रकाशमय बनाता है और 'स्वधावः' का स्मरण अपराश्रितता का पाठ सिखाता है। (२) हे **विश्वमिन्व**=विश्व को प्रीणित करनेवाले, **पृष्टबन्धो**=(जिज्ञासायाम्) जिज्ञासु के बन्धुभूत प्रभो! **याः**=जो **मायिनाम्**=प्रज्ञावालों की **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली अथवा पालन व पूरण करनेवाली **मायाः**=प्रज्ञाएँ हैं, उन प्रज्ञाओं को वे **त्वे**=आप में ही **सन्दधुः**=धारण करते हैं, अर्थात् जिज्ञासुओं को ज्ञान देनेवाले आप ही हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके नामों से हम प्रेरणाओं को प्राप्त करें तथा आप में स्थित होते हुए, आपकी उपासना द्वारा ज्ञान को निरन्तर बढ़ाएँ।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋतुपा ऋतावा

अ॒ग्निर्ने॒ता भग॑इव क्षिती॒नां दैवी॑नां दे॒व ऋ॑तु॒पा ऋ॒तावा॑।
स वृ॑त्र॒हा स॒नयो॑ वि॒श्ववे॑दा॒: पर्ष॒द्विश्वाति॑ दुरि॒ता गृ॒णन्त॑म्॥ ४॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **भगः इव**=सूर्य की तरह जैसे सूर्य पृथिवी आदि को अपने साथ आगे और आगे ले चल रहा है, उसी प्रकार **दैवीनां क्षितीनाम्**=देववृत्तिवाले मनुष्यों का **नेता**=आगे ले चलनेवाला है। **देवः**=वह प्रकाशमय है। **ऋतुपाः**=प्रकृति में सब ऋतुओं का पालन करनेवाला है और जीव में **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाला है। जो भी जीव प्रभु का स्मरण करता है, प्रभु उसके जीवन को ऋतवाला बनाते हैं। ब्रह्मवादी ऋतवादी होता है। (२) **सः**=वह ऋतावा प्रभु **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करते हैं। **सनयः**=सनातन पुराण पुरुष हैं अथवा 'स-नयः'=सदा नीति के साथ हैं—भक्त को नीतिमार्ग से ले चलते हैं। **विश्ववेदाः**=सर्वज्ञ हैं अथवा सर्वैश्वर्यवाले हैं तथा **गृणन्तम्**=स्तुति करनेवाले को **विश्वा दुरिता**=सब बुराईयों के **अति पर्षत्**=पार ले जाते हैं। उपासक की वासनाओं को विनष्ट करके प्रभु उसे नीतिमार्ग से ले चलते हैं और उसे सब ज्ञानों व ऐश्वर्यों को प्राप्त कराके बुराइयों से दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब के नेता हैं। देवों में प्रभु ही ऋत का रक्षण करते हैं। वे ही उपासक को सब दुरितों के पार ले जाते हैं।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्य-जीवन

द॒धि॒क्राम॒ग्निमु॒षसं॑ च दे॒वीं बृह॒स्पतिं॑ सवि॒तारं॑ च दे॒वम्।
अ॒श्विना॑ मि॒त्रावरु॑णा॒ भगं॑ च॒ वसू॑न्रु॒द्राँ आ॑दि॒त्याँ इ॒ह हु॑वे॥ ५॥

(१) **इह**=इस जीवन में **हुवे**=मैं इन देवों को पुकारता हूँ! (क) **दधिक्राम्**='दधत्क्रामति' दधिक्रा को। मैं चाहता हूँ कि मैं धारणात्मक कार्यों में लगा हुआ गतिशील बना रहूँ। (ख) **अग्निम्**=अग्नि को पुकारता हूँ। दधिक्रा बनकर मैं उन्नतिपथ पर आगे और आगे बढ़ता ही चलूँ। (ग) **च**=और **उषसं देवीम्**=प्रकाशमयी उषा को। उन्नतिपथ पर चलते हुए मेरा जीवन अधिकाधिक

प्रकाशमय बनता जाए। जैसे उषा अन्धकार का दहन करती है, इसी प्रकार मैं जीवन में अज्ञानान्धकार का दहन करनेवाला बनूँ। (घ) **बृहस्पतिम्**=ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति को पुकारता हूँ। अज्ञानान्धकार का दहन मुझे उन्नति शिखर पर पहुँचानेवाला हो। (२) इस प्रकार जीवन को उन्नत करके (ङ) **सवितारं च देवम्**=सविता देव को भी मैं पुकारता हूँ। इस प्रकाशमय प्रेरक सूर्य से प्रेरणा प्राप्त करके मैं भी प्रकाशमय बनकर सभी को कर्मों में प्रेरणा देनेवाला बनता हूँ। (च) इस कार्य में शिथिल न पड़ जाने के उद्देश्य से **अश्विना**=प्राणापान को पुकारता हूँ। प्राणसाधना करता हुआ अपनी शक्ति को स्थिर रखने का प्रयत्न करता हूँ। (छ) **मित्रावरुणा**=मैं सभी का मित्र बनने का प्रयत्न करता हूँ-निर्द्वेष होने के लिए यत्नशील होता हूँ-द्वेष का निवारण करता हूँ। (ज) **भगं च**=भग को पुकारता हूँ-ऐश्वर्य के देवता की आराधना करता हूँ। लोकहित के कार्यों के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को जुटाता हूँ। (३) अन्त में (झ) **वसून्**=वसुओं को, (ञ) **रुद्रान्**=रुद्रों को, (ट) **आदित्यान्**=आदित्यों को **हुवे**=पुकारता हूँ। उत्तम निवासवाला स्वस्थ बनता हूँ। वासनारूप हत्-मानस रोगों का द्रावण करनेवाला बनता हूँ। ऊँचे से ऊँचे ज्ञान का आदान करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को देवों की आराधना से देवमय बनाएँ।

सम्पूर्ण सूक्त जीवन को दिव्य बनाने की प्रेरणा दे रहा है। अगले सूक्त में जीवन को यज्ञमय बनाने की प्रेरणा है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ, हव्य व घृत

इमं नो यज्ञममृतेषु धेहीमा हव्या जातवेदो जुषस्व।
स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान प्रथमो निषद्य॥ १॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **इमम्**=इस **नः यज्ञम्**=हमारे द्वारा प्रतिपादित किये गये यज्ञ को **अमृतेषु**=नीरोगताओं के निमित्त **धेहि**=धारण कर। यज्ञों को करते हुए अपने जीवन को नीरोग बना। हे **जातवेदः**=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें ऐसा तू **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। ज्ञानी पुरुष सदा पवित्र पदार्थों का ही सेवन करता है-वह सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील, **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू **प्रथमः निषद्य**=सर्वप्रथम उपासना में स्थित होकर, अर्थात् प्रभुस्मरण के अनन्तर **घृतस्य**=घृत के **मेदसः**=मेदस्तत्त्व के **स्तोकान्**=कणों को **प्राशान**=खानेवाला बन। भोजन में मेदस्तत्त्व (Fat) का होना भी आवश्यक है, परन्तु वह मेदस्तत्त्व घृत से ही प्राप्त किया जाए। इसे अधिक मात्र में न खाकर थोड़ा ही खाया जाए 'आज्यं तौलस्य प्राशान'। तेल से भी व चरबी से भी यह तत्त्व प्राप्त हो सकता है, परन्तु वह मनुष्य के लिये वाञ्छनीय नहीं। घृत से ही इस तत्त्व को लेना चाहिए।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों। हव्य-पदार्थों का ही सेवन करें। मेदस्तत्त्व को प्राप्त करने के लिए मितरूप में घृत का प्रयोग करें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

घृत तथा आवश्यक धन

घृतवन्तः पावक ते स्तोकाः श्चोतन्ति मेदसः। स्वधर्मन्देववीतये श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम्॥ २॥

(१) जीव प्रभु से निवेदन करता है कि हे **पावक**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **घृतवन्तः**=घृतवाले **मेदसः स्तोकाः**=मेदस्तत्त्व के कण **श्चोतन्ति**=मेरे में क्षरित होते हैं, अर्थात् मैं घृत द्वारा मेदस्तत्त्व के कणों को प्राप्त करता हूँ। (२) **स्वधर्मन्**=अपने धारण के निमित्त अर्थात् जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त तथा **देववीतये**=अतिथिरूपेण आये हुए देवों के भक्षण के निमित्त **नः**=हमारे लिए **श्रेष्ठम्**=उत्तम **वार्यम्**=वरणीय धन को **धेहि**=धारण करिए। हमें इतना धन प्राप्त कराइये कि हम अपने जीवन को धारण कर सकें तथा आये-गये को खिला सकें। इस धन को हम उत्तम साधनों से ही कमानेवाले हों।

भावार्थ—हम घृत से मेदस्तत्त्व के कणों को प्राप्त करें तथा आवश्यक धन को उत्तम साधनों से कमानेवाले हों।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ऋषिः श्रेष्ठः

तुभ्यं स्तोका घृतश्चुतोऽग्ने विप्राय सन्त्य। ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव॥ ३॥

(१) प्रभु कहते हैं—हे **सन्त्य**=संविभागपूर्वक धनों का सेवन करनेवाले **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विप्राय तुभ्यम्**=समझदार तेरे लिए ये **घृतश्चुतः स्तोकाः**=घृत का क्षरण करनेवाले कण हैं, अर्थात् घृतकणों का ही सेवन करनेवाला बनता है। (२) **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा बनता है, **श्रेष्ठः**=अत्यन्त प्रशस्त जीवनवाला होता है। **समिध्यसे**=तू ज्ञान से दीप्त होता है। **यज्ञस्य प्राविता भव**=यज्ञ का प्रकर्षेण रक्षण करनेवाला हो।

भावार्थ—हम घृत का प्रयोग करें। तत्त्वद्रष्टा उत्तम जीवनवाले बनकर यज्ञशील बने रहें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानदीप्त

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य।
कविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्व मेधिर ॥ ४॥

(१) प्रभु कहते हैं—हे **अध्रिगो**=अधृतगमन-सदा क्रियाशील **शचीवः**=प्रज्ञापूर्वक कर्म करनेवाले **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **घृतस्य मेदसः**=घृत के मेदस्तत्त्व के (Fat के) **स्तोकासः**=कण **श्चोतन्ति**=क्षरित होते हैं। तू मेदस्तत्त्व को प्राप्त करने के लिए घृतकणों का ही प्रयोग करता है। इस प्रयोग से तू (क) क्रियाशील, (ख) प्रज्ञा व शक्ति-सम्पन्न तथा (ग) प्रगतिवाला होता है। (२) **कविशस्तः**=कवियों-ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट हुआ-हुआ तू **बृहता भानुना**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान द्वारा **आ अगाः**=हमें प्राप्त हो। प्रभुप्राप्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है। (३) हे **मेधिर**=मेधावी पुरुष! तू **हव्या जुषस्व**=हव्य-पदार्थों का ही सेवन कर। हव्य-पदार्थों के प्रयोग से ही जीवन सात्त्विक बनता है।

भावार्थ—घृत व हव्य-पदार्थों का प्रयोग करते हुए हम मेधावी बनें। ज्ञानदीप्ति प्राप्त करके प्रभु की ओर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तैल व घृत का अभ्यञ्जन

ओजिष्ठं ते मध्यतो मेद उद्भृतं प्र ते वयं ददामहे ।
श्चोतन्ति ते वसो स्तोका अधि त्वचि प्रति तान्देवशो विहि ॥ ५ ॥

(१) प्रभु कहते हैं—**ते**=तेरे लिए **ओजिष्ठं मेदः**=अत्यन्त ओज देनेवाला मेदस्तत्त्व **मध्यतः**=दूध में से अथवा फलों के गूदे से अथवा तिल व सरसों आदि ओषधियों में से **उद्भृतम्**=निकाला गया है। **वयम्**=हम **ते**=तेरे लिये **प्रददामहे**=इसे देते हैं। (२) हे **वसो**=निवास को उत्तम बनानेवाले जीव! **ते**=तेरे **त्वचि अधि**=त्वचा पर **स्तोकाः**=इस मेदस्तत्त्व के कण **श्चोतन्ति**=क्षरित होते हैं, अर्थात् इस घृत व तैल से त्वचा पर मालिश करता है और **तान्**=उन मेदस्तत्त्व के कणों को **देवशः**=देवों के उत्पादन के दृष्टिकोण से अपने में दिव्य भावों को जगाने के हेतु से **प्रतिविहि**=प्रतिदिन सेवन कर। केवल शरीर के दृष्टिकोण से इनका सेवन करनेवाला मांस आदि से इस मेदस्तत्त्व को प्राप्त करने की कामना करता है। उस व्यक्ति के स्वभाव में क्रूरता आदि आसुरभाव जाग उठते हैं। इनका सेवन 'देवत्व' प्राप्ति के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। शरीर पर इस घृत व तैल का मर्दन भी हितकर है। तैल कुछ उष्णता का कारण बनता है, घृत शीतलता का।

भावार्थ—हमें मेदस्तत्त्व को दूध व फलों से ही प्राप्त करना चाहिए। यही देव बनने का मार्ग है।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि शरीर के लिये मेदस्तत्त्व की प्राप्ति घृतकणों के सेवन द्वारा ही वाञ्छनीय है। इन घृतकणों द्वारा उत्पन्न सोमशक्ति के रक्षण के भाव से अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**पुरीष्या अग्नयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से शक्ति की प्राप्ति

अयं सो अग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः ।
सहस्रिणं वाजमत्यं न सप्तिं ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः ॥ १ ॥

(१) **अयम्**=यह **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु हैं, **यस्मिन्**=जिनकी प्राप्ति के निमित्त **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष, **वावशानः**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामना करता हुआ, **सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **जठरे दधे**=अपने उदर में ही धारण करता है। सोम को नष्ट न होने देकर उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह रक्षित सोम इसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। दीप्त ज्ञानाग्नि से यह प्रभु का दर्शन करता है। एवं इस सोमरक्षण से उस सोम (=प्रभु) की प्राप्ति होती है। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप इस सोमरक्षक को **अत्यं न सप्तिम्**=सततगामी अश्व के समान **सहस्रिणं वाजम्**=सहस्र गुणित शक्ति **ससवान्**=प्राप्त कराते हुए **स्तूयसे**=स्तुति किए जाते हो। प्रभु का उपासक विषयों में न फँसकर सोम का रक्षण कर पाता है। इस सोमरक्षण से उसे शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्तिरक्षण के लिए वह प्रभु का स्तवन करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही सोम (प्रभु) का दर्शन होता है। इस सोमरक्षक को प्रभु सहस्रगुणित शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**पुरीष्या अग्नयः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तेजोमय प्रभु

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=जो **दिवि**=द्युलोक में सूर्यरूप से रहनेवाला **वर्चः**=तेज है, वह **ते**=आपका ही है। **पृथिव्याम्**=पृथिवी में अग्निरूप से **यत्**=जो तेज है, वह भी आपका ही है। हे **यजत्र**=पूज्य प्रभो! **ओषधीषु**=ओषधियों में सोमरूप से जो तेज है और **अप्सु**=जलों में 'और्व' नामक जो तेज **आ**=समन्तात् विद्यमान है, वह सब आपका ही है। (२) **येन**=जिस वायुरूप तेज से **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **आततन्थ**=आप विस्तृत करते हो **सः**=वे आप **त्वेषः**=दीप्ति ही दीप्ति हो, **भानुः**=सूर्य के समान देदीप्यमान आप हो। **अर्णवः**=आप ज्ञान के समुद्र हो। **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले हो। प्रभु अपने तेज से व ज्ञान से सब प्राणियों का पालन करते हैं। वस्तुतः तेज व ज्ञान देकर ही प्रभु पालन करते हैं।

भावार्थ—द्युलोक में, पृथिवीलोक में, अन्तरिक्ष में, ओषधियों व जलों में सर्वत्र प्रभु के ही तेज का अंश दीप्त हो रहा है। प्रभु तेज व ज्ञान के पुञ्ज हैं। तेज व ज्ञान द्वारा वे सब मनुष्यों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**पुरीष्या अग्नयः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अग्नि' का लक्षण

अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये।
या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **दिवः अर्णम्**=ज्ञानजल की **अच्छा**=ओर **जिगासि**=तू जाता है, अर्थात् ज्ञानजल प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। तू **देवान् अच्छा**=देवों की ओर जाता है, अर्थात् दिव्यगुणों को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। **ये**=जो **धिष्ण्याः**=(धिषणाभवः धिष्ण्य=power, strength) प्राणाग्नियाँ हैं, उन्हें **ऊचिषे**=तू अपने में समवेत करता है। संक्षेप में अग्नि वह है, जो (क) ज्ञान प्राप्त करता है, (ख) दिव्यगुणों का सम्पादन करता है, (ग) प्राणाग्नियों का अपने में समवेत करता है। (२) इस अग्नि को **आपः**=वे रेतःकण **उपतिष्ठन्ते**=उपस्थित होते हैं, **याः**=जो **सूर्यस्य परस्तात्**=मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र से भी ऊपर **रोचने**=प्रकाशमय लोक में हैं। जो रेतःकण ऊर्ध्वगतिवाले होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। **च**=और **या**=जो रेतःकण **अवस्तात्**=नीचे होते हैं, अर्थात् जो रेतःकण सन्तान निर्माण के कार्य में विनियुक्त होते हैं अथवा शरीर में शक्ति-संचार का कारण बनते हैं। अग्नि वह है, जो रेतःकणों का विनियोग ज्ञानाग्नि की दीप्ति में अथवा शरीर में शक्ति-संचार के लिये करता है।

भावार्थ—अग्नि (क) ज्ञानप्रवण होता है, (ख) दिव्यगुणों का सम्पादन करता है, (ग) प्राणशक्ति को बढ़ाता है, (घ) रेतःकणों को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाता है, तथा (ङ) इनद्वारा शरीर को शक्ति-सम्पन्न करता है।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**पुरीष्या अग्नयः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अद्रोह

पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः। जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः ॥ ४ ॥

(१) **अग्नयः**=प्रगतिशील जीव! **पुरीष्यासः**=सदा उत्तम अन्न का सेवन करनेवाले होते हैं (पुरीष=अन्नम् श० ८।१।४।५)। सात्त्विक अन्न का सेवन इनकी बुद्धि को भी सात्त्विक बनाता है। ये अग्नि **प्रावणेभिः**=प्रकृष्ट रक्षणों के साथ **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हैं। ये शरीर, मन व बुद्धि तीनों का रक्षण करते हैं-तीनों के रक्षण को समान महत्त्व देते हैं। (२) ये अग्नि **यज्ञं जुषन्ताम्**=सदा यज्ञात्मक उत्तम कार्यों का सेवन करते हैं। **अद्रुहः**=कभी किसी का द्रोह नहीं करते। **अनमीवाः**=रोगरहित होते हैं और **महीः इषः**=महत्त्वपूर्ण प्रेरणाओं को ये प्राप्त करनेवाले होते हैं, अर्थात् अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणाओं को ये सुनते हैं।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए हम शरीर, मन व बुद्धि का रक्षण करें। यज्ञशील हों। द्रोह से ऊपर उठें, नीरोग हों। प्रभु-प्रेरणाओं को सुननेवाले बनें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**पुरीष्या अग्नयः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वेदवाणी की प्राप्ति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या ३.१.२३ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि सोमरक्षण से शक्ति प्राप्त करके हम अग्नि बनें। अग्नि बनने के लिए ही यह 'देवश्रवाः' देवों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला बनता है तथा 'देववातः'=सूर्यादि देवों से प्रेरणा प्राप्त करता है। सूर्य से 'गति द्वारा चमकने' की प्रेरणा प्राप्त करता है, तो चन्द्रमा से 'आह्लाद' की प्रेरणा प्राप्त करता है। इस प्रकार ये देवश्रवा और देववात अपना उत्तम भरण करने के कारण 'भारतौ' कहलाते हैं। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं। ये प्रभु से प्रार्थना करते हैं—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**देवश्रवा देववातश्च भारतौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अमृतत्त्व का धारण

निर्मथितः सुधित आ सधस्थे युवा कविरध्वरस्य प्रणेता।
जूर्यत्स्वग्निरजरो वनेष्वत्रा दधे अमृतं जातवेदाः ॥ १ ॥

(१) **अत्रा**=यहाँ इस संसार में **जातवेदाः**=वे सर्वज्ञ प्रभु **वनेषु**=उपासकों में **अमृतम्**=अमृतत्त्व को **दधे**=धारण करते हैं। उपासकों को प्रभु जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठाकर अमरता प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु जो कि **जूर्यत्सु अजरः**=(विनश्यत्सु अविनश्यन्तम्) जीर्ण होनेवाले पदार्थों में अजर हैं-कभी जीर्ण होनेवाले नहीं। **अग्निः**=अग्रणी हैं, सब से अग्र स्थान में स्थित हैं, हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं। (२) ये हमें उन्नतिपथ पर तब ले चलते हैं, जब कि **निर्मथितः**=ज्ञान व श्रद्धा रूप अरणियों की रगड़ द्वारा प्रकट किए जाते हैं। 'ध्यान निर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्' ध्यानरूप रगड़ द्वारा प्रभु का मन्थन होता है। इस रगड़ द्वारा ही वे प्रभु **सधस्थे**=जीव व प्रभु के साथ-साथ ठहरने के स्थान हृदय में **आसुधितः**=सर्वथा उत्तमता से स्थापित होते हैं। हृदयस्थ होकर ये प्रभु 'युवा'=हमें बुराइयों से पृथक् करनेवाले तथा अच्छाइयों से मिलानेवाले हैं। बुराइयों से दूर करने के लिए ही **कविः**='कौति सर्वाः विद्याः' सब ज्ञानों को देनेवाले हैं और ज्ञान देकर **अध्वरस्य प्रणेता**=यज्ञों का प्रणयन करनेवाले हैं-प्रभु हमें यज्ञों के मार्ग पर ले चलते हैं। ये यज्ञ ही हमारे अमृतत्त्व का कारण बनते हैं।

भावार्थ—अजर प्रभु उपासकों को भी अजर बनाते हैं।

ऋषिः—**देवश्रवा देववातश्च भारतौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का मन्थन

अमन्थिष्टां भारता रेवदग्निं देवश्रवा देववातः सुदक्षम् ।
अग्ने वि पश्य बृहताभि रायेषां नो नेता भवतादनु द्यून्॥ २॥

(१) **देवश्रवाः**=देवों-विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला तथा **देववातः**=सूर्यादि देवों से प्रेरणा प्राप्त करनेवाला ये दोनों **भारता**=अपना उचित भरण करनेवाले हैं। ये **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु का **अमन्थिष्टाम्**=ध्यान द्वारा प्रकाश करते हैं, जो प्रभु **रेवत्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाले हैं और **सुदक्षम्**=उत्तम उन्नति व विकास का कारण हैं। (२) ये प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **अग्ने**=हे परमात्मन्! आप **बृहता**=वृद्धि के कारणभूत **अभिराया**=आन्तर व बाह्य द्विविध धन से (=ज्ञान व हिरण्य से) **विपश्य**=हमारा विशेषरूप से पालन करें (दृश्=to look after) और आप **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **नः**=हमारे लिए **इषाम्**=प्रेरणाओं के **नेता**=प्राप्त करानेवाले **भवतात्**=होइये। इन प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए ही हम अजरामर बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का हम मन्थन करें। प्रभु हमें उत्कृष्ट प्रेरणा द्वारा उन्नतिपथ पर ले चलेंगे।

ऋषिः—**देवश्रवा देववातश्च भारतौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्रकाश किनको?

दश क्षिपः पूर्व्यं सीमजीजनन्त्सुजातं मातृषु प्रियम्।
अग्निं स्तुहि दैववातं देवश्रवो यो जनानामसद्वशी ॥ ३॥

(१) **दश क्षिपः**=दसों इन्द्रियों के विषयों को परे फेंकनेवाले-दशानन की बजाय दशक्षिप् बननेवाले-दसों इन्द्रियों से भोगों को भोगने के स्थान में, विषयों को अपने से दूर फेंकनेवाले उपासक ही **सीम्**=निश्चय से **पूर्व्यम्**=उस पालन व पूरण करनेवाले परमात्मा को **अजीजनन्**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं। जो प्रभु **सुजातम्**=(शोभनं जातं यस्मात्) उत्तम विकास (=प्रादुर्भाव) के कारण हैं। **मातृषु प्रियम्**=निर्माण के कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों के विषय में प्रिय हैं, अर्थात् निर्माता लोग जिन्हें प्रिय हैं। (२) हे **देवश्रवः**=विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करनेवाले उपासक! तू **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन कर। जो **दैववातम्**=(देवेभ्यः वातं यस्मात्) सूर्यादि देवों द्वारा उपासकों को प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं और **यः**=जो **जनानाम्**=सब लोगों को **वशी असत्**=वश में करनेवाले हैं। प्रभु की न्याय-व्यवस्था के सब अधीन हैं, उनकी अधीनता में ही यह ब्रह्माण्डचक्र चल रहा है।

भावार्थ—प्रभुदर्शन उन्हीं को होता है, जो इन्द्रियों को विषयों से दूर कर पाते हैं। दृष्ट-प्रभु हमारे उत्तम विकास का कारण होते हैं।

ऋषिः—**देवश्रवा देववातश्च भारतौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दृषद्वती आपया व सरस्वती' में स्नान

नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि॥ ४॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वरे**=उत्कृष्ट स्थान में **निदधे**=स्थापित

करता हूँ। विविध पार्थिव शरीरों में यह मानव शरीर सर्वोत्कृष्ट है। इससे ऊँची योनि सम्भव नहीं। पिछली सब भोग-योनियाँ थीं तो यही कर्मयोनि है। इस कर्मयोनि में भी **इडायाः पदे**=वेदवाणी के पद में तुझे स्थापित करता हूँ। प्रभु मानव शरीर देकर यह उत्कृष्ट वेदज्ञान हमें प्राप्त कराते हैं। वेदज्ञान देकर **अह्नां सुदिनत्वे**=दिनों में भी हमें शुभ दिनों में स्थापित करते हैं, अर्थात् हमें उत्तम माता-पिता व आचार्यों का सम्पर्क प्राप्त कराते हैं। संक्षेप में प्रभु हमें (क) सर्वोत्कृष्ट मानव शरीर देते हैं, (ख) उसमें वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं (ग) उत्तम माता-पिता व आचार्य आदि के सम्पर्कवाले शुभ दिन हमें दिखाते हैं। (२) इस सबको प्राप्त कराके कहते हैं कि **मानुषे**=इस मानव जीवन में **दृषद्वत्याम्**=(दृषद्=पत्थर, 'अश्मा भवतु नस्तनूः') पत्थर के समान दृढ़ शरीर में **आपयायाम्**=(आपृ=प्राप्तौ, या=गतौ) प्रभुप्राप्ति के लिए गति की भावनावाले मन में तथा **सरस्वत्याम्**=(सरस्=प्रवाह) ज्ञान के प्रवाहवाले मस्तिष्क में स्थित हुआ-हुआ **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **रेवत्**=धनयुक्त होकर **दिदीहि**=दीप्त हो। हमारा कर्त्तव्य यह है कि—(क) हम शरीर को पत्थर जैसा दृढ़ बनाएँ, (ख) मन में प्रभुप्राप्ति की भावना से सब गतिविधियोंवाले हों, (ग) मस्तिष्क द्वारा सरस्वती (=ज्ञानाधिष्ठातृदेवता) का आराधन करें। (घ) उचित धनार्जन करते हुए दीप्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें मानव शरीर, वेदज्ञान तथा शुभ दिन प्राप्त होते हैं। इन्हें प्राप्त करके हम इस मानव जीवन में 'दृढ शरीर, प्रभुप्राप्ति के लिए गतिमय, सरस्वती के आराधक, धनयुक्त दीप्त जीवनवाले' बनें।

ऋषिः—**देवश्रवा देववातश्च भारतौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या ३.१.२३ पर द्रष्टव्य है।

यह सारा सूक्त प्रभुदर्शन द्वारा अमृतत्त्व की प्राप्ति का उल्लेख करता है। यह प्रभु का उपासक, सब का मित्र 'विश्वामित्र' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शत्रु-मर्षण

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य। दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसे॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पृतनाः**=हमारे पर आक्रमण करनेवाले शत्रुसैन्यों को **सहस्व**=(षह मर्षणे) कुचलनेवाले होइये। इन शत्रुसैन्यों को हम अपनी शक्ति से सम्भवतः न जीत पाएँगे। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम इनका विजय कर पाएँगे। इस विजय के उपरान्त उत्पन्न हो जानेवाली **अभिमातीः**=अभिमान की भावनाओं को **अपास्य**=हमारे से दूर करिए। इन काम-क्रोध आदि के विजय का कहीं हम गर्व न कर बैठें। (२) हे **दुष्टरः**='शत्रुओं से जिन आपकी शक्ति तैरी नहीं जा सकती' ऐसे आप! **अरातीः**=इन सब शत्रुओं को **तरन्**=तैरते हुए, अर्थात् इन्हें संग्राम में पराजित करते हुए **यज्ञवाहसे**=यज्ञशील पुरुष के लिए **वर्चः**=शक्ति को **धाः**=धारण करिए।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। प्रभुकृपा से हम कभी अभिमान के

शिकार न हों। प्रभु ही हमें शक्ति देते हैं कि हम यज्ञात्मक-कर्मों को कर सकें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञ-रक्षण

अग्ने इळा समिध्यसे वीतिहोत्रो अमर्त्यः। जुषस्व सू नो अध्वरम्॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=शत्रुओं का दहन करनेवाले प्रभो! आप **इडा**=वेदवाणी द्वारा **समिध्यसे**=निर्मल हृदयों में दीप्त किए जाते हो, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन से शुद्ध हृदय होकर हम आपका दर्शन कर पाते हैं। आप **वीतिहोत्रः**=(वीतिः प्रीतिविषयं होत्रं यस्य सा०) यज्ञों में प्रीतिमान् हैं-यज्ञशील पुरुष आपको प्रिय होते हैं। यज्ञों द्वारा आपका उपासन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। **अमर्त्यः**=आप अमर्त्य हैं, उपासक को भी आप अमृतत्त्व प्राप्त कराते हैं। (२) आप **नः**=हमारे **अध्वरम्**=यज्ञ को **सु**=अच्छी प्रकार **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करिए। हमारा यज्ञ आपको प्रिय हो। आपके सहाय्य से ही यह यज्ञ पूर्ण होना है। आप ही सब यज्ञों के रक्षक हैं। मेरे जीवन-यज्ञ का रक्षण भी आपके ही हाथ में है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान अपनाकर प्रभु को हृदयों में समिद्ध करें। प्रभु हमारे जीवन-यज्ञ का रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हृदय को प्रभु का आसन बनाना

अग्ने द्युम्नेन जागृवे सहसः सूनवाहुत। एदं बर्हिः सदो मम॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **द्युम्नेन जागृवे**=ज्ञान-ज्योति से जागनेवाले प्रभो! (वैसे तो प्रभु सदा सर्वत्र व्याप्त हैं, पर प्रभु का दर्शन ज्ञान-ज्योति के जगने पर ही होता है) **सहसः सूनो**=हे बल के पुञ्ज प्रभो! **आ-हुत**=(आहुतं यस्य) चारों ओर जिनके दान विद्यमान हैं ऐसे प्रभो! आप **मम**=मेरे **इदम्**=इस **बर्हिः**=वासना शून्य हृदय में **आसदः**=आसीन होइये। (२) प्रभु को हृदयासन पर बिठाने का तरीका यही है कि हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ। यदि हम ऐसा करेंगे तो प्रभु हमें आगे और आगे ले चलेंगे (अग्नि), प्रभु हमारे रक्षक होंगे (जागृति) हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे (सहस्) तथा सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराएँगे (आहुत)।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयासन पर आसीन करें। प्रभु हमारी सब उन्नतियों को सिद्ध करेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तुति व यज्ञ

अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्देवेभिर्महया गिरः। यज्ञेषु य उ चायवः॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विश्वेभिः**=सब **अग्निभिः**=अग्नियों द्वारा, माता के रूप में दक्षिणाग्नि द्वारा, पिता के रूप में गार्हपत्य अग्नि द्वारा तथा आचार्य के रूप में आहवनीय अग्नि द्वारा तथा **देवेभिः**=विद्वान् अतिथियों द्वारा **गिरः**=(गृणन्ति स्तुवन्ति) स्तुति करनेवाले लोगों को **ये उ**=और जो निश्चय से **यज्ञेषु चायवः**=(चायृ पूजायाम्) यज्ञों में प्रभु का पूजन करनेवाले हैं, उन्हें **महय**=महिमायुक्त कर। (२) जिन घरों में माता-पिता उत्तम होते हैं, जिन बालकों व युवकों को उत्तम आचार्य प्राप्त होते हैं, जिन गृहस्थों को विद्वान् अतिथियों का सम्पर्क प्राप्त होता रहता है, उनकी वृत्ति सदा उत्तम बनती है। ये प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले होते हैं और यज्ञों द्वारा प्रभु का पूजन करते हैं।

भावार्थ—'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' जब उत्तम प्रेरणा देनेवाला होते हैं तो स्तुति व यज्ञ की वृत्ति बनी रहती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धन तथा तीव्रबुद्धि

अग्ने दा दाशुषे रयिं वीरवन्तं परीणसम्। शिशीहि नः सूनुमतः ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **दाशुषे**=आपके प्रति अर्पण करनेवाले मेरे लिए **रयिं दाः**=धन को दीजिए। जो धन **वीरवन्तम्**=वीरसन्तानोंवाला है अथवा हमें वीरतायुक्त करनेवाला है तथा **परीणसम्**=पर्याप्त है (परिपूर्वक व्याप्त्यर्थक नस् धातु)। हम धन द्वारा अपनी सब आवश्यकताओं को पूरा कर सकें तथा धन प्राप्त करके विलास के मार्ग पर न चल पड़ें। यह मार्ग हमारी अवीरता का कारण बनेगा। (२) **सूनुमतः**=प्रशस्त पुत्रोंवाले **नः**=हमें आप **शिशीहि**=बड़ा तीव्रबुद्धि व तेजस्वी बनाइए। धन के कारण हम सन्तानों का उचित पालन व पोषण कर सकें। उनके जीवनों को प्रशस्त बनायें। स्वयं भी धन द्वारा स्वाध्याय के साधनों को जुटाते हुए हम तीव्र बुद्धि बनें। यह धन हमें तेजस्वी बनाए।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन दें, जिससे कि हम सन्तानों का उत्तम निर्माण करें और स्वयं तेजस्वी व तीव्रबुद्धि बनें।

सूक्त की मूल भावना इतनी ही है कि मैं प्रभुस्मरण करता हूँ, प्रभु मेरे जीवन को उत्तम बनाते हैं। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

दिवः सूनुः—पृथिव्याः तना

अग्ने दिवः सूनुरसि प्रचेतास्तना पृथिव्या उत विश्ववेदाः। ऋधग्देवाँ इह यजा चिकित्वः ॥ १ ॥

(१) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **दिवः सूनुः**=प्रकाश के पुञ्ज (पुतले व पुञ्ज) हों-प्रकाश ही प्रकाश हो। **प्रचेता**=हमें प्रकृष्ट चेतना प्राप्त करानेवाले हो। **पृथिव्याः तना**=पृथिवी के तनय हैं-पृथिवी के पुत्र। दृढ़ता के पुञ्ज आप हैं (पृथिवी दृढ़ता या शक्ति विस्तार का प्रतीक है) **उत**=और **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। आप मुझे भी 'ज्ञान का प्रकाश, शरीर में दृढ़ता तथा धन' प्राप्त कराते हैं। शरीर की दृढ़ता से मेरे में कार्य करने की शक्ति होती है, ज्ञान के प्रकाश में मैं मार्ग से भटकता नहीं तथा धन उन सब साधनों को जुटाने में मुझे क्षम करते हैं, जिनसे कि मैं उस-उस कार्य को सिद्ध कर पाता हूँ। (२) हे **चिकित्वः**=हमारे सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले प्रभो! आप **इह**=इस जीवन में **ऋधक्**=पृथक्-पृथक्, उस-उस स्थान में **देवान्**=देवों को **यजा**=संगत करिए। चक्षु में सूर्य का निवास हो, नासिका में वायु का, मुख में अग्नि का, मन में चन्द्रमा का, पाँवों में पृथिवी का और इसी प्रकार मस्तिष्क में आकाश का। सब के सब देव मेरे शरीर में स्थित हों। इन देवों की अनुकूलता से मुझे पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु मुझे 'ज्ञान, दृढ़ता व धन' प्राप्त कराएँ। मेरे शरीर में सब देवों का निवास हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वीर्य+वाज

अग्निः सनोति वीर्याणि विद्वान्त्सनोति वाजममृताय भूषन्। स नो देवाँ एह वहा पुरुक्षो ॥ २ ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **वीर्याणि**=वीर्यों को **सनोति**=प्राप्त कराते हैं। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय को प्रभु शक्तिशाली बनाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय की सशक्तता में ही सुख है। **विद्वान्**=वे ज्ञानी प्रभु **वाजं सनोति**=बल को देते हैं। प्रभुकृपा से हमारा शरीर सबल बना रहता है। इस प्रकार इन्द्रियों को सशक्त तथा शरीर को सबल बनाकर प्रभु हमें **अमृताय भूषन्**=अमृतत्त्व के लिए-नीरोगता के लिए अलंकृत करते हैं। (२) हे **पुरुक्षो**=पालक व पूरक अन्नोंवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **इह**=यहाँ इस जीवन में **देवान्**=देवों को **आवह**=प्राप्त कराइये, अर्थात् हमारे शरीर में यथास्थान सब देवों का निवास हो। यह देवों का आनुकूल्य हमारे स्वास्थ्य को सिद्ध करे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी इन्द्रियाँ सशक्त हों, शरीर सबल हो। हमारे शरीर में देवों का निवास हो। हम स्वस्थ हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बल+अन्न

अ॒ग्निर्द्यावा॑पृथि॒वी वि॒श्वज॑न्ये॒ आ भा॑ति दे॒वी अ॒मृते॒ अमू॑रः।
क्षय॒न्वाजैः॑ पुरुश्च॒न्द्रो नमो॑भिः ॥ ३ ॥

(१) **अमूरः अग्निः**=वे सर्वज्ञ अग्रणी प्रभु **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **आभाति**=दीप्तिमय करते हैं। द्युलोक को उग्र तथा पृथिवीलोक को दृढ़ बनाते हैं। इनके निर्माण में उस 'अमूर' सर्वज्ञ प्रभु ने कोई कमी नहीं रहने दी। ये **विश्वजन्ये**=सब लोगों का हित करनेवाले हैं, **देवी**=सब व्यवहारों के साधक हैं (दिव् व्यवहारे) **अमृते**=ये अमृतत्त्व के साधक हैं। द्युलोक पिता है तो पृथिवी माता। माता-पिता के समान ये हमारा हित करनेवाले हैं। (२) **पुरुश्चन्द्रः**=वे पालक पूरक व आह्लादमय प्रभु **वाजैः**=बलों से तथा **नमोभिः**=अन्नों से (नमः अन्न नि०) **क्षयन्**=हमारे निवास व हमारी गति को उत्तम बनाते हैं। अन्नों द्वारा शक्ति को देते हुए वे प्रभु हमारा पालन करते हैं, पूरण करते हैं और हमारे जीवनों को आह्लादमय बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु के बनाये द्यावापृथिवी हमें अन्न व बल प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार ये हमारे अमृतत्त्व के साधक होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्नि+इन्द्र

अग्न॒ इन्द्र॑श्च दा॒शुषो॑ दुरो॒णे सु॒ताव॑तो य॒ज्ञमि॒होप॑ यातम्। अम॑र्धन्ता सोम॒पेया॑य देवा ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप **च**=और **इन्द्र**=इन्द्र सर्वशक्तिमान् प्रभु **दाशुषः**=देनेवाले **सुतावतः**=यज्ञशील पुरुष के **दुरोणे**=गृह में **इह**=यहाँ **यज्ञम्**=यज्ञ को **उपयातम्**=प्राप्त होते हो। वस्तुतः जिस समय हम देने की वृत्तिवाले बनते हैं और निर्माण के कार्यों में लगते हैं, यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं, तो उस समय हमें प्रभुकृपा से प्रकाश व शक्ति की प्राप्ति होती है। 'दाश्वान्' बनकर मैं अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता हूँ, 'सुतावान्' बनकर मैं अपने जीवन को शक्तिशाली बनाता हूँ। (२) ये अग्नि और इन्द्र **अमर्धन्ता**=मेरे जीवन को अहिंसित करनेवाले होते हैं। **सोमपेयाय**=ये मुझे सोमपान के योग्य करते हैं। प्रभु का मैं अग्नि और इन्द्र के रूप में स्मरण करता हुआ सोम को (=वीर्य को) अपने शरीर में सुरक्षित कर पाता हूँ। **देवा**=ये मेरे जीवन को द्योतित करते हैं (देवः द्योतनात्)। सोमरक्षण से शरीर तेजस्विता से तथा मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से द्योतित हो उठता है।

भावार्थ—मैं दान की वृत्तिवाला व यज्ञशील बनकर अग्नि व इन्द्र को प्राप्त करता हूँ-प्रकाश व शक्तिवाला बनता हूँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उन्नति, शक्ति व ज्ञान

अग्ने॑ अ॒पां समि॑ध्यसे दुरो॒णे नित्यः॑ सूनो सहसो जातवेदः। स॒धस्था॑नि म॒हय॑मान ऊ॒ती ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज (पुत्र=पुतले) **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **अपां दुरोणे**=कर्मों के घर में अथवा रेतःकणों से सम्बद्ध गृह में **समिध्यसे**=दीप्त होते हैं। वैसे तो आप **नित्यः**=(नि=In) सब के अन्दर होनेवाले हैं, परन्तु आपका दर्शन उसी व्यक्ति को होता है जो कि कर्मशील है, तथा रेतःकणों का शरीर में ही रक्षण करनेवाला है। (२) आप **ऊती**=रक्षण द्वारा **सधस्थानि**=आप के साथ मिलकर बैठने के स्थानभूत हृदय देशों को **महयमानः**=महिमायुक्त करते हैं। ये हृदय देश आपके उपासन से दीप्त हो उठते हैं।

भावार्थ—कर्मशील व सोमरक्षण करनेवाले बनकर हम प्रभु का दर्शन करते हैं। प्रभु हमें उन्नत करते हैं, शक्ति प्राप्त कराते हैं व प्रकाश हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त इस भाव को व्यक्त कर रहा है कि प्रभु उपासक को बल व प्रकाश प्राप्त कराके उन्नतिपथ पर ले चलते हैं। अगले सूक्त में प्रभु को 'वैश्वानर' रूप में उपासित करते हैं—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वैश्वानर प्रभु का दर्शन

वै॒श्वा॒न॒रं मन॑सा॒ग्निं नि॒चाय्या॑ ह॒विष्म॑न्तो अनुष॒त्यं स्व॒र्विद॑म्।
सु॒दानुं॑ दे॒वं र॑थि॒रं व॑सू॒यवो॑ गी॒र्भी र॒ण्वं कु॑शि॒कासो॑ हवामहे ॥ १ ॥

(१) **वसूयवः**=सब वसुओं को अपनाने की कामनावाले-शरीर में निवास को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक तत्त्वों को जुटानेवाले **कुशिकासः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले हम **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों से **रण्वम्**=रमणीय प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। उस प्रभु को जो कि **सुदानुम्**=सब उत्तम वस्तुओं को देनेवाले हैं अथवा (दाप् लवने) हमारी वासनाओं का उत्तमता से खण्डन करनेवाले हैं। **देवम्**=प्रकाशमय हैं-हमारे जीवनों को द्योतित करनेवाले हैं। **रथिरम्**=हमारे शरीर रूप रथ के सारथि हैं। (२) **हविष्मन्तः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले व्यक्ति इस **अग्निम्**=प्रकाशमय प्रभु को **मनसा**=शुद्ध अन्तःकरण द्वारा **निचाय्या**=निश्चय करके पुकारते हैं (हवामहे)। उस प्रभु को जो कि **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **अनुषत्यम्**=सत्य से अनुगत हैं, सत्यस्वरूप हैं और सत्य द्वारा प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हम सत्य को अपनाते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप होते हैं। **स्वर्विदम्**=ये प्रभु प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। (स्वः=प्रकाश, विद् लाभे)।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन शुद्ध अन्तःकरण से होता है। जितना-जितना हम सत्य को अपनाते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप होते हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

रक्षक का दिव्यगुण विस्तारक प्रभु

तं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे वैश्वानरं मातरिश्वानमुक्थ्यम्।
बृहस्पतिं मनुषो देवतातये विप्रं श्रोतारमतिथिं रघुष्यदम्॥ २॥

(१) **तम्**=उस **शुभ्रम्**=शुद्धस्वरूप **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। जो प्रभु **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **मातरिश्वानम्**=वेदमाता में वृद्धि को प्राप्त होनेवाले हैं, सारे वेद उस प्रभु का ही तो प्रतिपादन करते हैं। **उक्थ्यम्**=स्तुति-योग्य हैं। (२) **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **देवतातये**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिए उस प्रभु को पुकारते हैं, जो कि **बृहस्पतिम्**=बड़े-बड़े आकाशादि लोकों के स्वामी हैं। **विप्रम्**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। **श्रोतारम्**=हमारी पुकार को सुननेवाले हैं। **अतिथिम्**=हमारे हित के लिए निरन्तर गतिवाले हैं। **रघुष्यदम्**=तीव्र वेगवाले हैं। सब कार्यों को शीघ्रता से-स्फूर्ति के साथ करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें। प्रभु ही हमारा रक्षण करते हैं, प्रभु ही हमारे में दिव्यगुणों का विस्तार करते हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुवीर्य, स्वश्व्य व रत्न

अश्वो न क्रन्दञ्जनिभिः समिध्यते वैश्वानरः कुशिकेभिर्युगेयुगे।
स नो अग्निः सुवीर्यं स्वश्व्यं दधातु रत्नममृतेषु जागृविः॥ ३॥

(१) **अश्वः न**=अश्व के समान **क्रन्दन्**=शब्द करता हुआ। वेद में प्रभु को 'अश्व न त्वा वारवन्ति'=इस मन्त्र भाग में अश्व से उपमा दी है। 'हरिरेति कनिक्रदत्' इन शब्दों में भी अश्व के समान प्रभु के क्रन्दन (ऊँचे शब्द करने) का उल्लेख है। सबके हृदय में व्याप्त होते हुए प्रभु 'तिस्रो वाचः उदीरते' तीन वाणियों का उच्चारण कर रहे हैं कि—(क) विज्ञान का अध्ययन करो (ऋच्), (ख) इसके अनुसार कर्मों को करनेवाले बनो (यज्), (ग) इन कर्मों को प्रभु के प्रति अर्पण करके, इस त्याग से शान्ति को प्राप्त करो (साम) 'त्यागात् शान्तिः अनन्तरम्'। ये तीन वाणियों का उपदेश करनेवाले प्रभु **जनिभिः**=निर्माण के कार्यों को करनेवाले अथवा शक्तियों का विकास करनेवाले पुरुषों से **समिध्यते**=अपने हृदय देश में दीप्त किये जाते हैं। **वैश्वानरः**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभु **कुशिकेभिः**=स्तुति वचनों का उच्चारण करनेवाले पुरुषों से **युगे युगे**=समय-समय पर स्मरण किये जाते हैं। (२) **सः**=वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **नः**=हमारे लिए **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को, **स्वश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वों को, **रत्नम्**=रमणीय रस रुधिर आदि धातुओं को **दधातु**=धारण करें। ये प्रभु **अमृतेषु**=विषयों के पीछे न मरनेवाले नीरोग पुरुषों में **जागृविः**=जागते हैं। इन अमृत पुरुषों में ही प्रभु का प्रकाश होता है। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं। पर अन्य व्यक्ति प्रभु के प्रकाश को नहीं देख पाते, उनमें प्रभु का प्रबोध नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश निर्माण के कार्यों में लगे हुए, विषयों के पीछे न मरनेवाले व्यक्तियों को ही होता है। प्रभु सुवीर्य, उत्तम इन्द्रियाश्वों व रत्नों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पर्वत-प्रवेपन

प्र यन्तु वाजास्तविषीभिरग्नयः शुभे संमिश्लाः पृषतीरयुक्षत।
बृहदुक्षो मरुतो विश्ववेदसः प्र वेपयन्ति पर्वताँ अदाभ्याः ॥ ४॥

(१) हे प्रभो! हमें आपकी कृपा से **वाजाः प्रयन्तु**=बल प्राप्त हों। **तविषीभिः**=वृद्धि के साधनभूत बलों के साथ **अग्नयः**=ज्ञान के प्रकाश प्राप्त हों। इस प्रकार **शुभे संमिश्लाः**=सदा शुभ कार्यों में लगे हुए आपके उपासक **पृषतीः**=शरीर-रथ में इन्द्रियरूप उषाओं को (घोड़ियों को) **अयुक्षत**=जोतते हैं, अर्थात् सदा क्रियाशील जीवनवाले बनते हैं। (२) ये **बृहदुक्षः**=अत्यन्त ही अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले पुरुष **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले व परिमित बोलनेवाले होते हैं। **विश्ववेदसः**=सब ज्ञानों को प्राप्त करनेवाले (विद् ज्ञाने) अथवा अन्नमयादि कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से युक्त करनेवाले (विद् लाभे) ये पुरुष **अदाभ्याः**=अहिंसित होते हैं-ये रोगों व वासनाओं के शिकार नहीं होते। **पर्वतान् प्रवेपयन्ति**=ये पञ्चपर्वा अविद्या को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम शक्ति व ज्ञान प्राप्त करके सदा शुभ कार्यों में लगे रहें। यही वासनाओं से ऊपर उठने का मार्ग है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासक का स्वरूप

अग्निश्रियो मरुतो विश्वकृष्टय आ त्वेषमुग्रमव ईमहे वयम्।
ते स्वानिनो रुद्रिया वर्षनिर्णिजः सिंहा न हेषक्रतवः सुदानवः ॥ ५॥

(१) **अग्निश्रियः**=अग्नि के समान श्री वाले, अर्थात् तेजस्वी, **मरुतः**=प्राणसाधना को करनेवाले अथवा मितरावी-परिमित बोलनेवाले **विश्वकृष्टयः**=सब कृषि आदि काम साध्य कर्मों को करनेवाले **वयम्**=हम **त्वेषम्**=दीप्त **उग्रम्**=तेजस्वी **अवः**=रक्षण को **आ ईमहे**=सर्वथा माँगते हैं। प्रभु का रक्षण हमें ज्ञान से दीप्त करता है तथा तेजस्वी शरीरवाला बनाता है। वस्तुतः प्रभु का उपासक अग्नि के समान श्रीवाला बनने का प्रयत्न करता है। इसके लिए ही प्राणसाधना को अपनाता है, परिमित बोलता है और श्रमसाध्य कर्मों में आनन्द का अनुभव करता है। (२) **ते**=वे प्रभु के उपासक **स्वानिनः**=उत्तम स्वनों व शब्दोंवाले होते हैं-प्रभु के नामों का जप करते हैं। **रुद्रियाः**=उस रुद्र (रुत्+र) ज्ञान देनेवाले प्रभु के उपासक बनते हैं। प्रकृति के उपासक न बनकर प्रभु के उपासक बनते हैं। **वर्षनिर्णिजः**=(वृष् सेचने) अपने में शक्ति के सेचन द्वारा अपना शोधन करनेवाले होते हैं। **सिंहा न**=शेरों के समान **हेषक्रतवः**=गम्भीर शब्द को करनेवाले होते हैं। इनकी वाणी में ओज होता है। **सुदानवः**=(दाप् लवने) बुराई को पूर्णतया नष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षण प्राप्त करके हम तेजस्वी व पवित्र जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासना का फल

व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिरग्नेर्भामं मरुतामोज ईमहे।
पृषदश्वासो अनवभ्रराधसो गन्तारो यज्ञं विदथेषु धीराः ॥ ६॥

(१) शरीर में सर्वप्रथम पञ्चभूतों का एक **व्रात**=समूह है, इसी व्रात से यह शरीर बना हुआ है। दूसरा व्रात पाँच प्राणों का है, तीसरा पाँच कर्मेन्द्रियों का, चौथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों का तथा पाँचवाँ 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' का अन्तःकरण पंचक है। इन **व्रातं व्रातम्**=सारे समूहों को, **गणंगणम्**=(गणनाद् गुणश्च नि०) प्रत्येक दिव्यगुण को, **अग्नेर्भामम्**=अग्नि की तेजस्विता को (अग्नि श्रियः ५) तथा **मरुतां ओजः**=प्राणों के बल को **सुशस्तिभिः**=उत्तम स्तुतियों द्वारा हम **ईमहे**=चाहते हैं। हे प्रभो! हम आपका स्तवन करते हुए इन्हीं चीजों की याचना करते हैं। (२) **पृषद् अश्वासः**=शक्ति से सिक्त इन्द्रियाश्वोंवाले, **अनवभ्रराधसः**=अहिंसित ज्ञानैश्वर्यवाले, **यज्ञं गन्तारः**=यज्ञों में जानेवाले तथा **विदथेषु धीराः**=ज्ञानयज्ञों में ज्ञान देनेवाले हम बनें। हमारे में शक्ति तथा गतिशीलता हो। सदा हम स्वाध्याय करनेवाले हों। यज्ञशील हों तथा ज्ञान का प्रसार करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए हम शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य को, मन की पवित्रता को, अग्नि के समान तेजस्विता को व प्राणशक्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**आत्मा** ॥ देवता—**अग्निरात्मा वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासक का आत्म परिचय

अ॒ग्निर॑स्मि॒ जन्म॑ना जा॒तवे॑दा घृ॒तं मे॒ चक्षु॑र॒मृतं॑ म आ॒सन्।
अ॒र्कस्त्रि॒धातू॒ रज॑सो वि॒मानोऽज॑स्रो घ॒र्मो ह॒विर॑स्मि॒ नाम॑॥ ७॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में उपासक के आत्म-परिचय के रूप में उपासक के जीवन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः अस्मि**=मैं अग्नि के समान तेजस्वी हूँ (अग्निश्रियः ५, अग्नेर्भामं ६) उपासक उस अग्नि (=ब्रह्म) के तेज से तेजस्वी बनता ही है। **जन्मना जातवेदाः**=जन्म से ही मैं ज्ञानी हूँ-मानो ज्ञानप्राप्ति के लिए ही मेरा जन्म हुआ है। **मे चक्षुः घृतम्**=मेरी आँख दीप्त है-सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी हुई है। **मे आसन् अमृतम्**=मेरे मुख में अमृत है, मैं सदा अमृतमय मधुर वचनों को ही बोलता हूँ। (२) **अर्कः**=सदा प्रभु की अर्चना करनेवाला बनता हूँ। **त्रिधातुः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का धारण करनेवाला बनता हूँ। **रजसः विमानः**=रजोगुण का ठीक माप में धारण करनेवाला हूँ-उतना रजोगुण, जितना कि वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग के लिए आवश्यक है। **अजस्रः**=(जसु मोक्षणे) कर्मों का त्याग न करके केवल कर्मफल का ही त्याग करनेवाला हूँ। **घर्मः**=प्राणशक्ति की उष्णतावाला व उत्साहवाला हूँ। **हविः अस्मि नाम**=निश्चय से त्यागपूर्वक अदन करनेवाला हूँ। (३) उपासना करने पर इस प्रकार का जीवन बनता है। उपासक ने सदा मन्त्र के इन शब्दों में अपने को प्रेरणा देनी है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करता हुआ मैं मन्त्र के शब्दों में 'अग्नि' बनने से जीवन को प्रारम्भ करता हूँ, हवि बनने पर मेरे जीवन का अन्तिम रूप आता है।

सूचना—ब्रह्मचर्याश्रम में 'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः'। गृहस्थ में 'घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्'। वानप्रस्थ में 'अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानः' संन्यास में 'अजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम'। यह उपासक का जीवन होता है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निरात्मा वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'श्रद्धा, मनन व ज्ञान' से प्रभुदर्शन

त्रि॒भिः प॒वित्रै॒रपु॑पो॒द्ध्य१॒॑र्कं हृ॒दा म॒तिं ज्योति॒रनु॑ प्रजा॒नन्।
वर्षि॑ष्ठं॒ रत्न॑मकृत स्व॒धाभि॒रादिद् द्यावा॑पृथि॒वी पर्य॑पश्यत्॥ ८॥

(१) गतमन्त्र का उपासक **त्रिभिः पवित्रैः**=पवित्र शरीर, पवित्र मन व पवित्र बुद्धि द्वारा **हि**=निश्चय से **अपुपोत्**=अपने को पूर्ण पवित्र बनाता है। शरीर को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता, मन को वासनाओं से वासित नहीं होने देता तथा मस्तिष्क को कुविचारों से मलिन नहीं करता। **हि**=निश्चय से **हृदा**=हृदय से-हृदयस्थ श्रद्धा से **मतिम्**=मनन व **ज्योतिः**=ज्ञानप्रकाश के **अनु**=अनुसार **अर्कम्**=उस उपासनीय परमात्मा को **प्रजानन्**=यह जानता है। (२) परमात्मा को जानता हुआ यह **वर्षिष्ठम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **रत्नम्**=रमणीय धातुओं को **अकृतः**=शरीर में उत्पन्न करता है। इसका आहार-विहार इतना उत्तम होता है कि उससे इसके शरीर में सात्त्विक ही रस रुधिर आदि धातुओं का निर्माण होता है। **आत् इत्**=अब यह शीघ्र ही **स्वधाभिः**=आत्मधारण शक्तियों से **द्यावापृथिवीः**=मस्तिष्क व शरीर का **पर्यपश्यत्**=पूरा ध्यान करता है (look after)। शरीर को दृढ़ बनाता है और मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल करनेवाला होता है।

भावार्थ—उपासक 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को पवित्र बनाता है। 'श्रद्धा, मनन व ज्ञान' से परमात्मा को जानने का प्रयत्न करता है। शरीर में युक्ताहार-विहार से रमणीय धातुओं को उत्पन्न करता है और शरीर को दृढ़ तथा मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल बनाता है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वामित्रोपाध्यायः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शतधार-सत्यवाक्

शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम्।
मेळिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम्॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के **तम्**=उस उपासक को **पित्रोः उपस्थे**=प्रकृति और परमात्मा की गोद में (जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ) **रोदसी**=द्यावापृथिवी **पिपृतम्**=पालित करें। 'द्युलोक और पृथिवीलोक' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् इस उपासक का रक्षण करनेवाला हो। सब सूर्य-चन्द्र आदि देवों की इसके लिए अनुकूलता हो। यह उपासक प्रकृति व परमात्मा की गोद में उसी प्रकार निवास करता है, जैसे कि एक बालक माता व पिता की गोद में। (२) ये रोदसी उस उपासक का रक्षण करते हैं, जो कि **शतधारम्**=सौ वर्ष पर्यन्त शक्तियों को धारण करता है, अथवा शतशः धारणात्मक कार्यों को करनेवाला होता है। **उत्सम्**=ज्ञान का यह स्रोत ही बन जाता है, अथवा 'वदति इति' प्रभु के नामों का सदा उच्चारण करनेवाला बनता है। **अक्षीयमाणम्**=क्षीण शक्ति नहीं होता। **विपश्चितम्**=ज्ञानी बनता है। **पितरम्**=पालक होता है। **वक्त्वानां मेडिम्**=वेदवाक्यों का परस्पर संगतिकरण करनेवाला होता है-उनके परस्पर समन्वय से वेदार्थ को स्पष्ट करनेवाला होता है। **मदन्तम्**=सदा प्रसन्न रहता है और **सत्यवाचम्**=सत्य वाणी को ही बोलता है। ठीक बात तो यह है कि इसके मुख से जो कुछ निकलता है, वह सत्य ही हो जाता है (ऋषीणां पुनरश्चानां वाचमर्थोऽनुवर्तते)।

भावार्थ—हम धारणात्मक कर्मों में लगे हुए सत्य वाणीवाले बनें। सारा संसार हमारे अनुकूल होगा।

यह सम्पूर्ण सूक्त प्रभुदर्शन के साधनों व फलों का सुन्दर चित्रण कर रहा है। अगले सूक्त का भी विषय यही है कि 'अग्नि' नामक प्रभु का उपासक 'अग्नि' ही बनता है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋतवोऽग्निर्वा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्ति, ज्ञान व त्याग

प्र वो॒ वाजा॑ अ॒भिद्य॑वो ह॒विष्म॑न्तो घृ॒ताच्या॑। दे॒वाञ्जि॑गाति सुम्न॒युः ॥ १ ॥

(१) प्रभु उपासकों से कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे **वाजाः**=बल **अभिद्यवः**=प्रकाश की ओर चलनेवाले हैं, अर्थात् तुम्हारी शक्ति ज्ञानप्राप्ति के लिए सहायक हो। शक्ति स्वयं अपने में साध्य न होकर ज्ञान के लिए साधनभूत हो। ये बल **घृताच्या**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति द्वारा (घृत+अञ्च्, घृ क्षरणदीप्त्योः) **हविष्मन्तः**=त्याग की वृत्तिवाले हों, अर्थात् तुम शक्तियों को प्राप्त करके शरीर को रोगों से रहित रखते हुए तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाते हुए हृदयों में त्याग की वृत्तिवाले बनो। तुम सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हों-यज्ञशेष के सेवन की वृत्तिवाले बनो। (२) **सुम्नयुः**=(सुम्न=happiness) आनन्द की कामनावाला व्यक्ति **देवान् जिगाति**=दिव्यगुणों की ओर गति करता है, अर्थात् जो भी जीवन को वास्तविक आनन्द से परिपूर्ण करना चाहता है, वह उत्तम गुणों से जीवन को अलंकृत करने का प्रयत्न करता है। सब से प्रथम यह आवश्यक है कि—(क) शक्ति का सम्पादन किया जाए (वाजाः)। बिना शक्ति के गुण निराधार रहते हैं-शक्ति के साथ ही गुणों का होना सम्भव है। शक्ति को प्राप्त करके, (ख) हम ज्ञान के संचयी बनें (अभि द्यवः) ज्ञान ही हमारे जीवन को पवित्र करता है। (ग) इस ज्ञान को प्राप्त करके हम त्याग की वृत्तिवाले हों। (हविष्मन्तः) त्याग के अभाव में ज्ञान का क्या महत्त्व है? त्याग से ही तो हम परमात्मा को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—हम 'शक्ति, ज्ञान व त्याग' के उपासक हों। इनको प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

श्रुष्टीवानं-धितावानम्

ई॒ळे अ॒ग्निं वि॒प॒श्चितं॒ गि॒रा य॒ज्ञस्य॒ साध॑नम्। श्रु॒ष्टी॒वानं॑ धि॒ताव॑नम् ॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र में प्रभु के निर्देश को सुनकर जीव निश्चय करता है कि **गिरा अग्निं ईडे**=वेदवाणी द्वारा मैं उस अग्रणी प्रभु की उपासना करता हूँ। प्रभु ने ही मुझे 'शक्ति, ज्ञान व त्याग की भावना' को प्राप्त कराना है। मैं उस प्रभु की उपासना करता हूँ, जो कि **विपश्चितम्**=ज्ञानी हैं। ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करता हुआ मैं प्रभु की ज्ञानयज्ञ से उपासना करता हूँ। उस प्रभु की जो कि **'यज्ञस्य साधनम्'**=सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं। प्रभुकृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। (२) उस प्रभु का मैं उपासन करता हूँ, जो कि **श्रुष्टीवानम्**=(सुखवन्तम् सा०) सब सुखोंवाले हैं, प्रभु ही सब सुखों को प्राप्त कराते हैं। **धितावानम्**=वननीय (=प्रशस्त) धन को वे धारण करानेवाले हैं। इन वननीय धनों के धारण द्वारा ही वे हमारे जीवनों को सुखी करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से हमारा ज्ञान बढ़ता है (विपश्चितं), हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है (यज्ञस्य साधनम्) हम सुखी होते हैं (श्रुष्टीवानं) तथा वननीय धनों को प्राप्त करते हैं (धितावानम्)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाजिनः-देवस्य

अग्ने॑ शके॒म॑ ते व॒यं यमं॑ दे॒वस्य॑ वा॒जिनः॑ । अति॑ द्वेषां॑सि तरेम ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वयम्**=हम **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवस्य**=प्रकाशमय **ते**=आपके **यमम्**=नियमन में, अर्थात् अपने हृदयों के अन्दर अवस्थापन में **शकेम**=शक्त हों-समर्थ हों। शक्तिशाली व प्रकाशस्वरूप आपका ध्यान करते हुए हम भी शक्ति का संपादन करें और अपने जीवन को ज्ञान से दीप्त बनाने का पूर्ण प्रयत्न करें। (२) इस प्रकार शक्तिशाली व ज्ञानी बनकर **द्वेषांसि अतितरेम**=द्वेषों को तैर जाएँ। सब द्वेषों से हम ऊपर उठ जाएँ। द्वेषों से ऊपर उठने का मार्ग 'शक्ति व ज्ञान का सम्पादन' ही है।

भावार्थ—शक्तिशाली प्रकाशमय प्रभु में चित्तवृत्ति को स्थिर करते हुए हम शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करके द्वेषों से दूर हो जाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अग्निः पावकः

स॒मि॒ध्यमा॑नो अध्व॒रे३॑ऽग्निः पा॑व॒क ईड्यः॑ । शो॒चिष्के॑शस्तमी॑महे ॥ ४ ॥

(१) **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **समिध्यमानः**=दीप्त किए जाते हुए वे प्रभु **अग्निः**=हमारे आगे ले चलनेवाले होते हैं। हम प्रभु का ध्यान करते हैं। यह प्रभुस्मरण हमें उन्नतिपथ पर ले चलता है। **पावकः**=वे प्रभु हमें पवित्र करते हैं। उन्नतिपथ पर ले चलने का यही तो मार्ग है। प्रभु हमारी मलिनताओं को दूर करते हैं। इसीलिए वे प्रभु **ईड्यः**=स्तुत्य हैं। यदि स्तुति से हमारा जीवन पवित्र न बने, तो वह स्तुति किस काम की? (२) वे प्रभु **शोचिष्केशः**=दीप्तज्ञान-रश्मियोंवाले हैं। **तं ईमहे**=उस प्रभु को हम उपासित करते हैं। इसकी उपासना हमें उन दीप्तज्ञान-रश्मियों में स्नान कराती है। यह स्नान हमारे जीवन को पवित्र करता है। पवित्रता द्वारा हम उन्नत होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें ज्ञान से धो डालता है। हम पवित्र होकर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

घृतनिर्णिक्

पृ॒थुपा॑जा॒ अम॑र्त्यो घृ॒तनि॑र्णि॒क्स्वा॑हुतः । अ॒ग्निर्य॒ज्ञस्य॑ हव्य॒वाट् ॥ ५ ॥

(१) मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र प्रभु का उपासन करते हुए कहता है कि वे प्रभु **पृथुपाजाः**=विस्तृत शक्तिवाले हैं-सर्वत्र शक्तिमान् हैं। मैं भी प्रभु की तरह ही शक्तियों का विस्तार करनेवाला बनूँ। (२) **अमर्त्यः**=प्रभु अमर हैं। मैं भी शक्तिसम्पन्न बनकर नीरोगता की साधना करता हुआ असमय की मृत्यु से बचूँ। (३) **घृतनिर्णिक्**=वे प्रभु ज्ञानदीप्ति द्वारा उपासनों का शोधन कर रहे हैं। उन ज्ञानधाराओं से मैं भी अपने को पवित्र करूँ। (४) **स्वाहुतः**=(सु आ हुतं यस्य) उस प्रभु के सर्वत्र उत्तम दान हैं। उन दानों का अपने को पात्र बनाता हुआ मैं भी दान की वृत्तिवाला बनूँ। (५) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **यज्ञस्य हव्यवाट्**=यज्ञ के साधनभूत सब हव्यों को प्राप्त करानेवाले हैं। इन हव्यपदार्थों को प्राप्त करके मैं यज्ञशील बनूँ।

भावार्थ—प्रभु का उपासक 'शक्तिशाली, नीरोग, ज्ञानधौत, दानशील व उन्नतिपथ पर चलनेवाला यज्ञशील' होता है।

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

(यज्ञवन्त:) रक्षक प्रभु

तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः । आ चक्रुरग्निमूतये ॥ ६ ॥

(१) **तं अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **आचक्रु:**=अभिमुख करते हैं। प्रभुरक्षण को कौन प्राप्त करते हैं? (क) **सबाध:**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के बाधन से जो युक्त हैं, अर्थात् प्रभुरक्षण उन्हें ही प्राप्त होता है, जो कि इन वासनारूप शत्रुओं को पीड़ित करने का प्रयत्न करते हैं। (ख) **यतस्रुच:**=जिन्होंने यज्ञ के चम्मच को पकड़ा है, अर्थात् जो यज्ञशील हैं अथवा 'वाग्वै स्रुच: श० ६।३।१।८' जो संयतवाक् हैं। परिमित-नपा-तुला बोलनेवाले व्यक्ति प्रभु से रक्षणीय होते हैं। (ग) **इत्था**=सत्य **धिया**=बुद्धिपूर्वक **यज्ञवन्त:**=प्रशस्त यज्ञों में लगे रहनेवाले व्यक्ति प्रभुरक्षण के पात्र बनते हैं। (२) इस प्रलोभनों से परिपूर्ण मायामय संसार में इस माया को वे ही तैर पाते हैं, जो कि प्रभु को प्राप्त करते हैं 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'। प्रभु को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति (क) वासनाओं को पीड़ित करने का प्रयत्न करते हैं, (ख) परिमित बोलते हैं तथा (ग) बुद्धिपूर्वक यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हम 'काम-क्रोधादि को पीड़ित करनेवाले, संयतवाक् व यज्ञशील' बनकर प्रभु से रक्षणीय हों।

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

रक्षण का प्रकार

होता देवो अमर्त्य: पुरस्तादेति मायया । विदथानि प्रचोदयन् ॥ ७ ॥

(१) वे प्रभु **होता**=हमारे लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं। **देव:**=प्रकाशमय हैं-हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनाते हैं। आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराके तथा प्रकाश देकर **अमर्त्य:**=वे प्रभु हमें मृत्यु से बचाते हैं। (२) वे प्रभु **मायया**=ज्ञान के साथ **पुरस्ताद् एति**=हमारे सामने आते हैं और **विदथानि**=ज्ञानों को **प्रचोदयन्**=हमारे अन्त:करणों में प्रेरित करते हैं। वस्तुत: इन ज्ञान की प्रेरणाओं से ही ठीक मार्ग को दिखलाते हुए वे हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें आवश्यक पदार्थ व प्रकाश को प्राप्त कराते हैं। हमारे अन्त:करणों में ज्ञान को प्रेरित करते हैं।

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वर:—**षड्ज:** ॥

युद्ध व यज्ञ

वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्र णीयते । विप्रो यज्ञस्य साधन: ॥ ८ ॥

(१) **वाजी**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **वाजेषु**=संग्रामों में **धीयते**=धारण किया जाता है, अर्थात् जब हम काम-क्रोध-लोभ आदि आन्तर हेय-वृत्तियों से संग्राम करते हैं, तो इस संग्राम में विजय के लिए प्रभु को ही आगे स्थापित करते हैं। प्रभु ने ही इन काम आदि को पराजित करना होता है। (२) **अध्वरेषु**=यज्ञों में भी वे प्रभु **प्रणीयते**=प्राप्त कराए जाते हैं। सब यज्ञों को भी तो प्रभु ने ही पूर्ण करना होता है। प्रभु ही **वि-प्र:**=विशेषरूप से यज्ञों को पूरण करनेवाले हैं। **यज्ञस्य साधन:**=सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं। वस्तुत: इन अध्यात्म-संग्रामों व यज्ञों द्वारा ही प्रभु का पूजन होता है।

भावार्थ—सब संग्रामों में विजय तथा यज्ञों में सफलता प्रभुकृपा से ही प्राप्त होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु का उपासन

धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे। दक्षस्य पितरं तना॥ ९॥

(१) वह प्रभु **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा **चक्रे**=(कृतः अभूत्) हृदयों में स्थापित किया जाता है। यह प्रभु ही **वरेण्यः**=वरणीय व श्रेष्ठ है। सब **भूतानाम्**=भूतों के **गर्भम्**=गर्भ को **आदधे**=धारण करता है। 'मम यो निर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्, संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत' महत् तत्त्ववाली प्रकृति में प्रभु ही गर्भ को धारण करते हैं और उससे सब भूतों का जन्म होता है। (२) वे प्रभु ही **दक्षस्य पितरम्**=(दक्ष=Growth) उन्नति के रक्षक पुरुष को **तना**=शक्तियों के विस्तार द्वारा धारण करते हैं। जो भी व्यक्ति अपने जीवन में उन्नति व विकास के लिये यत्नशील होता है, प्रभु उसकी शक्तियों का विस्तार करते हैं और इस प्रकार उसको धारण करते हैं।

भावार्थ—बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु का उपासन होता है। ये प्रभु ही सब भूतों को उत्पन्न करते हैं और उन्नतिशील जीवों की शक्तियों का विस्तार करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्तिशालिता

नि त्वा दधे वरेण्यं दक्षस्येळा सहस्कृत। अग्ने सुदीतिमुशिजम्॥ १०॥

(१) हे **सहस्कृत**=शक्ति द्वारा किए जानेवाले, अर्थात् शक्ति द्वारा उपासित होनेवाले प्रभो! हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा**=आपको **दक्षस्य**=उन्नतिशील पुरुष की **इडा**=वाणी **निदधे**=अपने हृदय में स्थापित करती है। जो भी व्यक्ति दक्ष बनता है, कार्यों को कुशलता से करता हुआ आगे बढ़ता है, उस पुरुष से उच्चरित स्तुति-वाणी प्रभु को प्रिय लगती है, उसी के हृदय में प्रभु का वास होता है। (२) उस प्रभु का जो कि **वरेण्यम्**=वरणीय है। प्रकृति का वरण न करके प्रभु का वरण करना ही ठीक है। **सुदीतिम्**=शोभन दीप्तियुक्त हैं, और **उशिजम्**=(कामयमानं) हमारे हित की कामनावाले हैं। प्रभु को हृदयों में धारण करने से हमारा जीवन श्रेष्ठ दीप्तियुक्त बनता है।

भावार्थ—प्रभु शक्ति के सम्पादन तथा कुशलता से कार्यों को करते हुए स्तवन द्वारा प्राप्त होते हैं। प्रभुप्राप्ति हमारे जीवनों को दीप्त बनाती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यन्तुरं व अप्तुरम्

अग्निं यन्तुरमप्तुरमृतस्य योगे वनुषः। विप्रा वाजैः समिन्धते॥ ११॥

(१) **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को, जो कि **यन्तुरम्**=सब के नियामक हैं-सब सूर्य-चन्द्र-तारों तथा पृथिवी आदि के अन्तःस्थित हुए-हुए उनका धारण व नियमन कर रहे हैं। जो **अप्तुरम्**=सब को कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं-हृदयस्थरूपेण सदा कर्मों की वे प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं। इन प्रभु को **अमृतस्य योगे**=अमृतत्त्व व नीरोगता का सम्पर्क होने पर **वाजैः**=शक्तियों द्वारा **वनुषः**=काम-क्रोधादि को जीतनेवाले **विप्राः**=ज्ञानीपुरुष **समिन्धते**=अपने में समिद्ध करते हैं। (२) प्राकृतिक संसार के दृष्टिकोण से प्रभु 'यन्तुर' हैं, जीवों के दृष्टिकोण से 'अप्तुर' हैं। प्रकृति पूर्ण परत का है, सो सूर्यादि की गति में किसी प्रकार की गलती नहीं होती। जीव को प्रभु ने कर्म करने की स्वतन्त्रता दी है। प्रभु प्रेरणा देते हैं। यदि जीव (सुनकर उसके) अनुसार कार्य करता

है तो ठीक होता है। नहीं सुनता और मनमाना चलता है तो कष्ट पाता है। (३) इस प्रभु को पाने के लिए आवश्यक है कि हम (क) नीरोग बनें (अमृतस्य योगे), (ख) शक्ति का सम्पादन करें (वाजैः), (ग) काम-क्रोधादि को अभिभूत करें (वनुषः) तथा (घ) ज्ञानी बनें (विप्राः)।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति के नियामक हैं, जीव के प्रेरक हैं। प्रभुप्राप्ति के लिए 'नीरोगता, काम आदि का अभिभव, ज्ञान व शक्ति का सम्पादन' साधन हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रज्ञावान्+शक्तिसम्पन्न

ऊर्जो नपातमध्वरे दीदिवांसमुप द्यवि। अग्निमीळे कविक्रतुम्॥ १२॥

(१) मैं उस प्रभु को **ईडे**=उपासित करता हूँ, जो कि **ऊर्जः नपातम्**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवाले हैं। प्रभु की उपासना से चित्तवृत्ति वासनाक्रान्त नहीं होती। चित्तवृत्ति का वासनाक्रान्त न होना 'शक्तिरक्षण' का साधन हो जाता है। (२) उस प्रभु का मैं उपासन करता हूँ, जो कि **अध्वरे दीदिवांसम्**=यज्ञों में दीप्त होनेवाले हैं। प्रभु का दर्शन वहाँ होता है, जहाँ जीवन यज्ञमय होते हैं। वस्तुतः वे सब यज्ञ प्रभुकृपा से ही पूर्ण होते हैं। (३) उस प्रभु का मैं उपासन करता हूँ, जो कि **उपद्यवि अग्निम्**=ज्ञान की समीपता में आगे ले चलनेवाले हैं, अर्थात् ज्ञान वृद्धि द्वारा हमें उन्नत करनेवाले हैं। (४) उस प्रभु का उपासन करता हूँ, जो कि **कविक्रतुम्**=क्रान्तप्रज्ञ व शक्तिशाली हैं। उपासित हुए-हुए प्रभु हमें प्रज्ञा व शक्ति से सम्पन्न करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। हमारी शक्ति का इससे रक्षण होगा, हम यज्ञों में दीप्त होंगे, ज्ञान द्वारा आगे बढ़ेंगे, प्रज्ञावान् व शक्तिसम्पन्न बनेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ईडेन्य व नमस्य

ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा॥ १३॥

(१) ये प्रभु **ईडेन्यः**=स्तुति-योग्य हैं, **नमस्यः**=नमस्कार-योग्य हैं। **तमांसि तिरः**=सब अन्धकारों को तिरोभूत करनेवाले हैं और **दर्शतः**=दर्शनीय हैं। प्रभु का हम स्तवन करते हैं, तो प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। (२) ये **वृषा**=शक्तिशाली **अग्निः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्रभु **सं इध्यते**=स्तवन व नमन द्वारा हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। प्रभु का दर्शन उन्हीं को होता है जो कि शक्ति का सम्पादन करें (वृषा) तथा उन्नतिपथ पर आगे बढ़ने का प्रयत्न करें (अग्नि)।

भावार्थ—स्तवन व नमन से प्रीत प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं और शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'हविष्मान्' उपासक

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते॥ १४॥

(१) **वृषः**=शक्तिशाली, **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **समिध्यते**=उपासकों से हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। वे प्रभु **अश्वः न**=अश्व के समान हैं। जैसे घोड़ा अपने सवार को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाता है, इसी प्रकार प्रभु उपासकों को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। **देववाहनः**=देवों से ये प्रभु धारण किये जाते हैं। देववृत्ति के पुरुष ही हृदयों में प्रभु का दर्शन करते हैं। (२) **तम्**=उस प्रभु

को **हविष्मन्तः**=प्रशस्त हविवाले पुरुष ही **ईडते**=पूजते हैं। प्रभु का पूजन 'हवि' से होता है 'हविषा विधेम'। यज्ञशेष का सेवन करनेवाला यज्ञशील पुरुष ही प्रभु का सच्चा पूजन करता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु हमें शक्तिशाली व उन्नत बनाकर लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्ति व ज्ञान

वृषणं त्वा वयं वृषन्वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत्॥ १५ ॥

(१) हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वृषणं त्वा**=शक्तिशाली आपको **वयम्**=हम **वृषणः**=शक्तिशाली बने हुए **समिधीमहि**=अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। प्रभुप्राप्ति का मार्ग यही है कि हम प्रभु जैसे बनें। प्रभु 'वृषा' हैं, हम भी 'वृषा' बनें। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' निर्बल को तो प्रभु प्राप्त नहीं होते। (२) वे प्रभु **दीद्यतम्**=देदीप्यमान हैं, **बृहत्**=महान् हैं। अथवा 'बृहद् दीद्यतं' अत्यन्त ही देदीप्यमान हैं। प्रभु को अपने में समिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए हम भी अत्यन्त ही ज्ञान-ज्योति से दीप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु वृषा हैं। हम भी वृषा बनकर प्रभु के सच्चे उपासक होते हैं। इस उपासना से हमारा जीवन दीप्त हो उठेगा।

सूक्त की मूल भावना यही है कि 'अग्नि' नामवाले प्रभु का उपासन करते हुए हम भी अग्नि बनें। प्रभु वृषा हैं, हम भी वृषा (शक्तिशाली) बनें। अग्नि व वृषा बनने के लिए जीवन के तीनों सवनों में वेदवाणी का अध्ययन आवश्यक है। प्रातःसवन २४ वर्ष का है। माध्यन्दिन-सवन अगले ४४ वर्ष का है और सायन्तन-सवन अन्तिम ४८ वर्ष का है। इन तीनों ही सवनों में सोम का पान (वीर्य का रक्षण) करते हुए सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दिये गये ज्ञान को हमें अपनाना है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हवि+पुरोडाश

अग्ने जुषस्व नो हविः पुरोळाशं जातवेदः। प्रातःसावे धियावसो॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्रभो! **नः**=हमारा **हविः**=यह दानपूर्वक अदन **जुषस्व**=आपके लिए प्रीतिकर हो (जुष्=take delight in)। जैसे पुत्र को पढ़ने में व्यस्त देखकर पिता को प्रसन्नता होती है, इसी प्रकार हमारा यह यज्ञशेष का सेवन आपके लिये प्रीतिकर हो। हमें यज्ञमग्न देखकर आपको हम प्रिय लगें। यह यज्ञशेष का सेवन ही तो उन्नति का मार्ग है। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ-सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देनेवाले प्रभो! आप **पुरोडाशम्**=(पुरः दाश्यते) हमारे इस वेदाध्ययन-ज्ञानप्राप्ति को देखकर प्रसन्न होइये। सृष्टि के प्रारम्भ में यह वेदज्ञान दिया गया है। इससे इसका नाम 'पुरोडाश' पड़ गया है। यह पुरोडाश आपको प्रसन्न करे। हम प्रतिदिन प्रातः इसका अध्ययन करें। हमारे जीवन का प्रातःकाल, अर्थात् प्रथम २४ वर्ष तो इसके अध्ययन में ही व्यतीत हों। हे **धियावसो**=बुद्धिपूर्वक कर्मों से वसुओं को-धनों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आपकी कृपा व प्रेरणा से **प्रातःसावे**=इस जीवन के प्रातःसवन में हम 'हवि' और 'पुरोडाश' का ही ध्यान करें, दानपूर्वक अदन करनेवाले, यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें और सृष्टि के आरम्भ

में आपसे दिये गये इस वेदज्ञान को अपनाएँ। हमारे ये दोनों काम आप के लिए प्रिय हों।

भावार्थ—हम जीवन के प्रातःसवन में यज्ञशेष का सेवन व वेदाध्ययन करते हुए प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान का परिपाक व परिष्कार

पुरोळा अग्ने पचतस्तुभ्यं वा घा परिष्कृतः ॥ तं जुषस्व यविष्ठ्य ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **पुरोडाः**=यह (पुरः दाश्यते) सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया वेदज्ञान **पचतः**=मेरे से पकाया गया है। जैसे एक बालक अपने पाठ को अभ्यास से पकाता है, इसी प्रकार इस जीवन के प्रातःसवन में (प्रथम २४ वर्षों में) मैंने इस वेदज्ञान को परिपक्व किया है और **वा घा**=निश्चय से **परिष्कृतः**=इसे परिष्कृत किया है- आचार्यों द्वारा इसे अत्यन्त परिमार्जित कर लिया है। (२) हे **यविष्ठ्य**=हमारे अज्ञानों को दूर करने व ज्ञानों को प्राप्त करानेवालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभो! आप **तं जुषस्व**=हमारे इस वेदज्ञान के परिपक्व व परिष्कृत करने को देखकर प्रसन्न होइये। आपके लिए हमारा यह कार्य प्रीतिकर हो।

भावार्थ—जीवन का प्रथमकाल ज्ञान की परिपक्वता व परिष्कार के लिए ही हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ज्ञान व वासना-विनाश

अग्ने वीहि पुरोळाशमाहुतं तिरोअह्न्यम्। सहसः सूनुरस्यध्वरे हितः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पुरोडाशम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले इस वेदज्ञान को **वीहि**=(वी=convey) हमें प्राप्त कराइये। यह वेदज्ञान **आहुतम्**=इस ब्रह्माण्ड के लोक-लोकान्तरों में चारों ओर दिया गया है। **तिरः अह्न्यम्**=(अ हन् य) यह ज्ञान न नष्ट करने योग्य कामवासना को तिरोभूत करनेवाला है। काम को नष्ट करना बड़ा कठिन है। जब हम इस ज्ञान प्राप्ति में लगते हैं, तो यह ज्ञान ही वासना को विनष्ट करता है। (२) हे **सहसः सूनो**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! आप **अध्वरे हितः असि**=यज्ञ में निहित होते हैं, जो भी अपने जीवन को यज्ञमय बनाने का प्रयत्न करता है, प्रभु उसे प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वेदज्ञान दें। यह ज्ञान ही वासना को विनष्ट करनेवाला है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माध्यन्दिन-सवन में ज्ञानयज्ञ

माध्यंदिने सवने जातवेदः पुरोळाशमिह कवे जुषस्व।
अग्ने यह्वस्य तव भागधेयं न प्र मिनन्ति विदथेषु धीराः ॥ ४ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभो! **इह**=इस जीवन में **माध्यन्दिन सवने**=जीवन के २५ से ६८ वर्ष तक के ४४ वर्ष के माध्यन्दिनसवन में **पुरोडाशम्**=इस सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये वेदज्ञान को **जुषस्व**=देने में प्रीतिवाले होइये (delight in granting) अर्थात् आपकी कृपा से इस जीवन के मध्याह्न में हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले हों। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यह्वस्य**=महान् **तव**=आपके **भागधेयम्**=भाग को **धीराः**=ज्ञानी पुरुष **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **न प्रमिनन्ति**=हिंसित नहीं करते हैं, अर्थात् धीरपुरुष संसार के सब कार्यों को करते हुए भी स्वाध्याय के समय को समाप्त नहीं कर देते। इसे वे बड़ा पवित्र समय समझते

हैं। यह समय ज्ञानयज्ञ द्वारा आपकी उपासना का होता है। यह 'माध्यन्दिन सवन' गृहस्थ का समय है। इसमें भी वे स्वाध्याय का विलोप नहीं होने देते।

भावार्थ—जीवन के माध्यन्दिनसवन में भी—२५ से ६८ वर्ष तक भी हम स्वाध्याय को विलुप्त न होने दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान+यज्ञ

अग्ने तृतीये सवने हि कानिषः पुरोळाशं सहसः सूनवाहुतम्।
अथा देवेष्वध्वरं विपन्यया धा रत्नवन्तममृतेषु जागृविम्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हे **सहसः सूनो**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! आप इस **आहुतम्**=सब लोक-लोकान्तरों में दिये गये **पुरोडाशम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये वेदज्ञान को **तृतीये सवने**=जीवन के तृतीय सवन में भी ६९ से ११६ वर्ष तक के जीवन के सायन्तन-सवन में भी **हि**=निश्चयपूर्वक **कानिषः**=दीप्त करिए, अर्थात् हम गृहस्थ से ऊपर उठकर वानप्रस्थ व संन्यास में भी इस वेदज्ञान को उपेक्षित न करें। (२) **अथा**=अब, इस वेदज्ञान के साथ **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के साथ **अध्वरम्**=यज्ञ को **धाः**=धारण करिए। उस यज्ञ को धारण करिए, जो कि **रत्नवन्तम्**=रत्नोंवाला है—सब रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है 'एष वो स्विष्टकामधुक्'। उस यज्ञ को धारण करिए, जो कि **अमृतेषु जागृविम्**=देवों में-संसार के विषयों के पीछे न मरनेवाले मनुष्यों में सदा जागता है। वैषयिक-पुरुष ही यज्ञ को छोड़ बैठते हैं।

भावार्थ—हम जीवन के तृतीय सवन में भी, अर्थात् ६९ से ११६ वर्ष तक भी ज्ञान व यज्ञ को अपनानेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आहुति+पुरोडाश

अग्ने वृधान आहुतिं पुरोळाशं जातवेदः। जुषस्व तिरोअह्न्यम्॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **आहुतिं वृधानः**=आप हमारे जीवन में आहुति का वर्धन करिए, अर्थात् हम अधिकाधिक यज्ञिय-वृत्तिवाले बनते चलें। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **पुरोडाशम्**=इस सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले वेदज्ञान को **जुषस्व**=हमारे लिए कृपा करके दीजिए (जुष्=delight in granting), जो वेदज्ञान **तिरो अह्न्यम्**=जिनका नाश बड़ा कठिन है उन कामादि को तिरोभूत करनेवाला है। इस वेदज्ञान को प्राप्त करने में लगे रहनेवाला व्यक्ति वासना का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे में यज्ञवृत्ति का वर्धन हो तथा वेदज्ञान हमारे लिए रुचिकर हो।

सूक्त के प्रारम्भ व अन्त में समान ही प्रार्थना है कि हम वेदज्ञान में रुचिवाले हों तथा यज्ञों की ओर झुकाववाले बनें। अगला सूक्त का इस वेदज्ञान की प्राप्ति के लाभ के प्रतिपादन के साथ प्रारम्भ होता है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अधिमन्थन+प्रजनन

अस्तीदमधिमन्थनमस्ति प्रजननं कृतम्। एतां विश्पत्नीमा भराग्निं मन्थाम पूर्वथा॥ १॥

(१) जैसे दूध का जमा रूप दही 'मक्खन' की उत्पत्ति का आधार होती है तथा मथानी (मन्थनदण्ड) उस मक्खन की प्राप्ति का साधन बनती है, इसी प्रकार **इदं अधिमन्थनं अस्ति**=यह बुद्धि (=अन्तःकरण) तो उत्कृष्ट मन्थनदण्ड है तथा सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाला यह गत सूक्त का पुरोडाश (=वेदज्ञान) **प्रजननं कृतं अस्ति**=प्रजनन किया गया है। यह वेदज्ञान ही परमात्म-प्रकाश का आधार बनता है 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'। (२) बुद्धिरूप मन्थनदण्ड द्वारा इस वेदज्ञान रूप दधि का मन्थन करने से ज्ञानप्रकाश की उत्पत्ति होती है। **एताम्**=इस **विश्पत्नीम्**=प्रजाओं की पालिका वेदविद्या को **आभर**=तू अपने में भरनेवाला बन। इस वेदज्ञान से हम **पूर्वथा**=पहले की तरह **अग्निम्**=उस अग्नि नामक प्रभु को **मन्थाम**=मथित करें। इस वेदज्ञान रूप दधि के मन्थन से प्रभु प्रकाश रूप 'नवनीत' को हम प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी रूप दधि के बुद्धि रूप मन्थनदण्ड से मन्थन करने पर परमात्म-प्रकाशरूप नवनीत (मक्खन) की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

जागरण, हवि व मनन

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइव सुधितो गर्भिणीषु।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥ २॥

(१) **जातवेदाः**=(जाते-जाते विद्यते) अग्नि **अरण्योः निहितः**=दो अरणियों में निहित होता है। जैसे दो अरणियों की रगड़ से वह प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार प्रभु भी 'विद्या व श्रद्धा' रूप दो अरणियों में निहित हैं। विद्या व श्रद्धा के परस्पर सम्पर्क होने पर ही प्रभु रूप अग्नि का दर्शन होता है। वैसे प्रभु 'जातवेदाः'=सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रभु का दर्शन मस्तिष्क व हृदयरूप अरणियों की रगड़ के होने पर ही होगा। वे प्रभु इन ज्ञान व श्रद्धा रूप अरणियोंवाले पुरुषों में उसी प्रकार **सुधितः**=उत्तमता से निहित (स्थापित) हैं **इव**=जैसे कि **गर्भिणीषु**=गर्भिणी स्त्रियों में **गर्भः**=गर्भ सुधित होता है। (२) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **ईड्यः**=स्तुति योग्य होते हैं। किनसे? (क) **जागृवद्भिः**=जागनेवाले पुरुषों से, अर्थात् प्रभु के उपासक वे हैं जो कि सदा जाग रहे हैं। इस संसार में मनुष्य जरा भी प्रमाद करता है-कुछ अलसाने लगता है, त्यों ही वह विषयों से आक्रान्त हो जाता है। प्रभु का उसे स्मरण नहीं रहता और विषयों के आस्वाद में वह उत्तरोत्तर फँसता जाता है। पर जब मनुष्य इन विषयों में नहीं फँसता, तब वह 'हविष्मान्' बना रहता है। इन **हविष्मद्भिः**=हविवाले-त्यागपूर्वक अदनवाले मनुष्यों से वे प्रभु उपासित होते हैं, अर्थात् प्रभु का उपासक विषयाकृष्ट न होकर सदा यज्ञशील बना रहता है। ऐसा बने रहने के लिए ही वह विचारशील बनता है-सदा इन विषयों के स्वरूप का चिन्तन करने से वह इनमें नहीं फँसता। इन **मनुष्येभिः**=मननशील पुरुषों से वह प्रभु उपासित होता है।

भावार्थ—प्रभुदर्शन के लिये श्रद्धा व विद्या का मेल आवश्यक है। प्रभु का उपासक सदा सावधान, त्यागपूर्वक अदनवाला व विचारशील होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानबीज-वपन

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट॥ ३॥

(१) **चिकित्वान्**=समझदार ज्ञानी बनता हुआ तू **उत्तानायाम्**=(उत् तान=stretched out) उत्कृष्ट विस्तारवाली बुद्धि में **अवभरा**=ज्ञान को भरनेवाला बन। **प्रवीता**=(to conceive) ज्ञानबीज को गर्भ में धारण करनेवाली यह बुद्धि **सद्यः**=शीघ्र ही **वृषणम्**=उस शक्तिशाली प्रभु को **जजान**=उत्पन्न करती है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा प्रभु का दर्शन होता है। (२) अब यह व्यक्ति **अरुष स्तूपः**=आरोचमान तेज:संघवाला होता है (स्तूपः तेजः संघः)। **अस्य पाजः**=इसकी शक्ति **रुशत्**=देदीप्यमान होती है। यह **इडायाः पुत्रः**=वेदवाणी का पुत्र बनता है, वेदवाणी द्वारा 'पुनाति त्रायते' अपने को पवित्र करता है और इस प्रकार अपना रक्षण करता है। **वयुने**=ज्ञान में **अजनिष्ट**=प्रादुर्भाव को प्राप्त करता है-प्रादुर्भूत ज्ञानवाला बनता है।

भावार्थ—बुद्धि रूप क्षेत्र में ज्ञानबीज के बोने से मनुष्य तेजस्वी व प्रादुर्भूत ज्ञानवाला बनता है। ज्ञान का विकास इसे विषयों से बचाकर तेजस्वी बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्वाध्याय+यज्ञ

इळायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि। जातवेदो नि धीमह्यग्ने हव्याय वोळ्हवे॥ ४॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **त्वा**=आपको **वयम्**=हम **निधीमहि**=निश्चय से अपने हृदयों में धारण करते हैं एक तो **इडायाः पदे**=वेदवाणी के शब्दों में तथा दूसरे **पृथिव्याः नाभा अधि**=(अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) यज्ञों में। प्रभुदर्शन का प्रथम साधन तो यह है कि हम स्वाध्याय द्वारा इन वेदवाणी के शब्दों में आपके प्रकाश को देखें। जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ेगा, हम आपके समीप होते चलेंगे। दूसरा साधन 'यज्ञ' है। प्रभु यज्ञरूप हैं। यज्ञरूप प्रभु का यज्ञ से ही उपासन होता है। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! हम आपका उपासन इसलिए करते हैं कि **हव्याय वोढवे**=आप हमारे लिए हव्यपदार्थों का वहन करें। आपकी उपासना से सब पवित्र यज्ञिय-पदार्थों की हमें प्राप्ति होती है।

भावार्थ—स्वाध्याय तथा यज्ञ हमें प्रभु का सामीप्य प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमारे लिये हव्य-पदार्थों को देते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋत्विज अग्निर्वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-मन्थन

मन्थता नरः कविमद्वयन्तं प्रचेतसममृतं सुप्रतीकम्।
यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरस्तादग्निं नरो जनयता सुशेवम्॥ ५॥

(१) हे **नरः**=प्रगतिशील जीवो! उस प्रभु का **मन्थता**=मन्थन करो-विचार करो जो कि **कविम्**=क्रान्तप्रज्ञ-सर्वज्ञ हैं। **अद्वयन्तम्**=(द्वयं अकुर्वाणम्) जो दो अभिप्रायोंवाली-परस्पर विरुद्ध भावोंवाली, वाणी को नहीं बोलते। **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट चेतनावाले हैं। **अमृतम्**=सब रोगों से अतीत (मृत्यु=रोग) **सुप्रतीकम्**=अत्यन्त तेजस्वी हैं। इस प्रकार प्रभु का मन्थन करता हुआ मैं भी 'ज्ञानी, सत्यसरल वाणीवाला, प्रकृष्ट चेतनावाला, नीरोग व तेजस्वी' बनता हूँ। (२) हे **नरः**=मनुष्यो! उस

अग्निम्=अग्रणी प्रभु को **पुरस्ताद्**=सब से पहले **जनयता**=अपने हृदयदेश में प्रादुर्भूत करो, जो कि **यज्ञस्य केतुम्**=यज्ञों के प्रकाशक हैं-वेद द्वारा यज्ञों का ज्ञान दे रहे हैं। **प्रथमम्**=अत्यन्त विस्तारवाले-सर्वव्यापक हैं (प्रथ विस्तारे) अथवा सर्वोत्तम स्थान में स्थित हैं। **सुशेवम्**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले हैं। उठते ही प्रभु का स्मरण करने से (क) हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है, (ख) हम आगे बढ़ते हुए प्रथम स्थान में स्थित होते हैं और (ग) हम आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का मन्थन करना-प्रभु का चिन्तन करना ही हमें उन्नत करता है और आनन्द को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निर्विघ्नता

यदी मन्थन्ति बाहुभिर्वि रोचतेऽश्वो न वाज्यरुषो वनेष्वा।
चित्रो न यामन्नश्विनोरनिवृतः परि वृणक्त्यश्मनस्तृणा दहन्॥ ६ ॥

(१) **यदि**=जब **बाहुभिः**=प्रयत्नों से, अर्थात् यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहने के साथ **मन्थन्ति**=उस प्रभु का मन्थन व विचार करते हैं, तो वह प्रभु **वनेषु**=इन उपासकों में **आविरोचते**=सर्वथा विशिष्ट दीप्तिवाले होते हैं। **अश्वः न**=वे प्रभु इन उपासकों के लिए अश्व के समान होते हैं। जैसे 'अश्व' लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाने में सहायक होता है, उसी प्रकार ये उपासक प्रभु द्वारा लक्ष्य स्थान पर पहुँचते हैं। **वाजी**=प्रभु इन उपासकों के लिए शक्ति देनेवाले व **अरुषः**=आरोचमान होते हैं। प्रभु इन उपासकों को शरीर में शक्ति तथा मस्तिष्क में दीप्ति प्राप्त कराते हैं। (२) **अश्विनोः**=प्राणापान की साधना करनेवाले पति-पत्नी के **यामन्**=जीवन मार्ग में ये प्रभु **चित्रः न**=ज्ञान देनेवाले के समान होते हैं (चित्+र)। **अनिवृतः**=किसी भी अन्य से प्रभु की गति रोकी नहीं जा सकती। प्रभु **अश्मनः परिवृणक्ति**=मार्ग में विघ्नरूप से आनेवाले इन पाषाणों को दूर करते हैं और **तृणा दहन्**=घास-फूँस को जला देते हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' आदि आसुरभाव 'अश्मा' हैं, और संसार के विषय 'तृण' हैं। प्रभु इन्हें दूर करके उपासक के लिए मार्ग को निर्विघ्न करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक के मार्ग को निर्विघ्न करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वाजी, सुदानु व हव्यवाट्

जातो अग्नी रोचते चेकितानो वाजी विप्रः कविशस्तः सुदानुः।
यं देवास ईड्यं विश्वविदं हव्यवाहमदधुरध्वरेषु ॥ ७ ॥

(१) मन्थन द्वारा-मनन व चिन्तन द्वारा, **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए **अग्निः**=वे प्रभु **रोचते**=हमारे हृदय देशों में दीप्त होते हैं। **चेकितानः**=वे हमें ज्ञान देते हैं। **वाजी**=प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं। **विप्रः**=ज्ञानी हैं। **कविशस्तः**=ज्ञानी पुरुषों द्वारा स्तुत हुए-हुए वे प्रभु **सुदानुः**=अच्छी प्रकार वासनाओं का खण्डन करनेवाले हैं (दाप् लवने)। (२) **यम्**=जिस प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अध्वरेषु**=यज्ञात्मक जीवनों में **अदधुः**=स्थापित करते हैं। देव जीवन को यज्ञमय बनाते हैं और इस यज्ञिय-जीवन में प्रभु का प्रकाश देखते हैं। ये प्रभु ही **ईड्यम्**=स्तुति योग्य हैं। **विश्वविदम्**=सर्वज्ञ हैं। **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—देव बनकर हम यज्ञशील हों। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है। ये प्रभु हमें शक्ति देते

हैं, हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं और सब हव्यपदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हवि द्वारा देवयजन

सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ।
देवावीर्देवान्हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ॥ ८॥

(१) हे **होतः**=सब हव्यपदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप उ=निश्चय से **स्वे लोके**=अपने स्थान इस हृदय देश में **सीद**=आसीन होइये। मेरा हृदय आपका आसन बने। इसे निर्मल करके मैं आपको इसपर बैठने के लिए आमन्त्रित करूँ। **चिकित्वान्**=आप सर्वज्ञ हैं। **सुकृतस्य योनौ**=सब उत्तम कर्मों के उत्पत्ति स्थान बने हुए इस हृदय में **यज्ञं सादय**=आप यज्ञ को बिठाइये। आपकी कृपा से मेरा हृदय सुकृत की योनि बने और इसमें यज्ञिय भावों का ही निवास हो। प्रत्येक कर्म की उत्पत्ति इस हृदय में ही विचाररूप में होती है 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति'। 'शुद्ध विचार' शुद्ध कर्म को जन्म देता है। एवं मेरा हृदय शुद्ध विचारों से परिपूर्ण होता हुआ शुद्ध कर्मों को जन्म देनेवाला बने। इस सुकृत के योनिभूत हृदय में यज्ञात्मक कर्मों के ही विचार उठें। (२) हे प्रभो! आप **देवावीः**=सब देवों का रक्षण करनेवाले हैं-दिव्यगुणों के रक्षक आप ही हैं। **हविषा**=हवि द्वारा, त्यागपूर्वक अदन द्वारा, हमारे साथ **देवान् यजासि**=दिव्यगुणों का मेल करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यजमाने**=यज्ञशील पुरुष में **बृहद् वयः**=वृद्धिशील जीवन को **धाः**=धारण करिए। यज्ञशील पुरुष आपकी कृपा से दीर्घ उत्कृष्ट जीवन प्राप्त करे।

भावार्थ—मेरा हृदय प्रभु का निवास स्थान बने। मेरे हृदय में शुभ ही विचार उत्पन्न हों। त्यागपूर्वक अदन करता हुआ मैं दिव्यगुणों को अपने में वर्धन करूँ। मेरा यज्ञमय जीवन वृद्धिशील हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों द्वारा दस्युओं का पराभव

कृणोत धूमं वृषणं सखायोऽस्त्रेधन्त इतन वाजमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून्॥ ९ ॥

(१) हे **सखायः**=मित्रो! **धूमम्**=उस वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु को **कृणोत**=उपासित करो। जो प्रभु **वृषणम्**=शक्तिशाली हैं। हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हमें भी वे शक्तिशाली बनाते हैं। **अस्त्रेधन्तः**=अहिंसित होते हुए-अक्षीण होते हुए **वाजं अच्छ**=शक्ति की ओर **इतन**=चलो। वासनाएँ शक्ति का क्षय करती हैं। जब हम वासनाओं से हिंसित नहीं होते, तो अपनी शक्ति को सुरक्षित कर पाते हैं। (२) **अयम्**=यह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पृतनाषाट्**=शत्रु-सैन्यों का पराभव करनेवाला है। **सुवीरः**=उत्तम वीर है। **येन**=जिसद्वारा **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **दस्यून्**=दस्युओं को-विनाशक वृत्तियों को **असहन्त**=पराभूत करते हैं। वस्तुतः प्रभु को आगे करके ही देव विजयी बनते हैं। हम देव बनें, महादेव के समीप उपस्थित होनेवाले हों। ये महादेव कामदेव को अवश्य भस्म करेंगे।

भावार्थ—प्रभु का हम उपासन करें। प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करेंगे और हमें शक्तिशाली बनाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग् अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु का निवास-स्थानभूत 'हृदय'

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्न आ सीदाथा नो वर्धया गिरः ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अयम्**=यह मेरा शरीर व हृदय **ते योनिः**=आपका घर हो—आपका यहाँ निवास हो। यह **ऋत्वियः**=प्रत्येक ऋतु में आपका हो, अर्थात् मैं सदा आपका स्मरण करूँ। यह मेरा हृदय ऐसा हो कि **यतः**=जिससे **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**=देदीप्यमान हों। आपकी ज्योति से यह मेरा हृदय चमक उठे। (२) हे **जानन्**=सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तं आसीद**=उस हृदय में आप आसीन होइये **अथा**=और **अवनः**=हमारे लिए **गिरः**=इन ज्ञानवाणियों का **वर्धया**=वर्धन करिए। हृदयस्थ प्रभु हमारा ज्ञानवर्धन करें।

भावार्थ—मेरा हृदय प्रभु का निवास स्थान बने। प्रभु इसे ज्ञानदीप्त करने का अनुग्रह करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तनूनपात्

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि ॥ ११ ॥

(१) वह प्रभु 'तनूनपात्' हमारे शरीरों को न नष्ट होने देनेवाले **उच्यते**=कहे जाते हैं, अर्थात् मैं अपने को, गतमन्त्र के अनुसार, प्रभु का निवास-स्थान बनाता हूँ, तो प्रभु मेरा रक्षण करते हैं। **गर्भः**=वे सबके अन्दर गर्भरूप से रह रहे हैं 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः'। **आसुरः**='असुराणां हन्ता सा०' वे हमारे पर आक्रमण करनेवाले आसुर भावों को विनष्ट करनेवाले हैं। (२) **यद्विजायते**=जब प्रभु अपनी विभूतियों में विविधरूप से प्रकट होते हैं, तो **नराशंसः भवति**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले पुरुषों से शंसनीय होते हैं। ज्ञानी पुरुष सर्वत्र प्रभु की महिमा देखते हैं और प्रभु का गायन करते हैं। (३) **यत्**=चूँकि **मातरि**=निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पुरुष में **अभिमीत**=प्रभु सब सद्गुणों का निर्माण करते हैं, अतः वे 'मातरिश्वा' निर्माता में स्थित होकर उसका वर्धन करनेवाले कहलाते हैं। (४) **सरीमणि**=हृदय में प्रभु की गति होने पर **वातस्य**=जीवात्मा का-प्राणधारी जीव का (वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्) **सर्गः**=दृढ़ निश्चय **अभवत्**=होता है। हृदय में प्रभु की स्थिति को अनुभव करनेवाला पुरुष बड़ा दृढ़ निश्चयी होता है।

भावार्थ—मैं प्रभु का निवास-स्थान बनूँ। प्रभु मेरे शरीर को नष्ट न होने देंगे-मेरे पर होनेवाले आसुरभावों के आक्रमण से मेरा रक्षण करेंगे, मेरा वर्धन करेंगे, मुझे दृढ़ निश्चयी बनायेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग् अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सुनिर्मन्थन

सुनिर्मथा निर्मथितः सुनिधा निहितः कविः । अग्ने स्वध्वरा कृणु देवान्देवयते यज ॥ १२ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **सुनिर्मथा**=उत्तम निर्मन्थन से, स्वाध्याय व चिन्तन से **निर्मथितः**=चिन्तन किये जाते हो। **सुनिधा**=उत्तम निधान, दिव्यगुणों के स्थापन से आप **निहितः**=हृदयों में स्थापित किये जाते हो। चिन्तन से आपके स्वरूप का कुछ आभास मिलता है, तो दिव्यगुणों के धारण से हम आपका धारण करनेवाले बनते हैं। **कविः**=आप सर्वज्ञ हैं। (२) हे प्रभो! धारण किये गये आप **स्वध्वरा**=हमें उत्तम यज्ञादि कर्मोंवाला करिए और **देवयते**=दिव्यगुणों की कामनावाले पुरुष के साथ **देवान्**=दिव्यगुणों को **यज**=संगत करिए। इस 'देवयन्' पुरुष को

हैं, हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं और सब हव्यपदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हवि द्वारा देवयजन

सीद॑ होतः॒ स्व उ॑ लो॒के चि॑कि॒त्वान्त्सा॒दया॑ य॒ज्ञं सु॑कृ॒तस्य॒ योनौ॑।
दे॒वा॒वीर्दे॒वान्ह॒विषा॑ यजा॒स्यग्ने॑ बृ॒हद्यज॑माने॒ वयो॑ धाः ॥ ८ ॥

(१) हे **होतः**=सब हव्यपदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **उ**=निश्चय से **स्वे लोके**=अपने स्थान इस हृदय देश में **सीद**=आसीन होइये। मेरा हृदय आपका आसन बने। इसे निर्मल करके मैं आपको इसपर बैठने के लिए आमन्त्रित करूँ। **चिकित्वान्**=आप सर्वज्ञ हैं। **सुकृतस्य योनौ**=सब उत्तम कर्मों के उत्पत्ति स्थान बने हुए इस हृदय में **यज्ञं सादय**=आप यज्ञ को बिठाइये। आपकी कृपा से मेरा हृदय सुकृत की योनि बने और इसमें यज्ञिय भावों का ही निवास हो। प्रत्येक कर्म की उत्पत्ति इस हृदय में ही विचाररूप में होती है 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति'। 'शुद्ध विचार' शुद्ध कर्म को जन्म देता है। एवं मेरा हृदय शुद्ध विचारों से परिपूर्ण होता हुआ शुद्ध कर्मों को जन्म देनेवाला बने। इस सुकृत के योनिभूत हृदय में यज्ञात्मक कर्मों के ही विचार उठें। (२) हे प्रभो! आप **देवावीः**=सब देवों का रक्षण करनेवाले हैं-दिव्यगुणों के रक्षक आप ही हैं। **हविषा**=हवि द्वारा, त्यागपूर्वक अदन द्वारा, हमारे साथ **देवान् यजासि**=दिव्यगुणों का मेल करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यजमाने**=यज्ञशील पुरुष में **बृहद् वयः**=वृद्धिशील जीवन को **धाः**=धारण करिए। यज्ञशील पुरुष आपकी कृपा से दीर्घ उत्कृष्ट जीवन प्राप्त करे।

भावार्थ—मेरा हृदय प्रभु का निवास स्थान बने। मेरे हृदय में शुभ ही विचार उत्पन्न हों। त्यागपूर्वक अदन करता हुआ मैं दिव्यगुणों को अपने में वर्धन करूँ। मेरा यज्ञमय जीवन वृद्धिशील हो।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों द्वारा दस्युओं का पराभव

कृ॒णोत॑ धू॒मं वृष॑णं सखा॒योऽस्रे॑धन्त इतन॒ वाज॒मच्छ॑ ।
अ॒यम॒ग्निः पृ॑तना॒षाट् सु॒वीरो॒ येन॑ दे॒वासो॒ अस॑हन्त॒ दस्यू॑न् ॥ ९ ॥

(१) हे **सखायः**=मित्रो! **धूमम्**=उस वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु को **कृणोत**=उपासित करो। जो प्रभु **वृषणम्**=शक्तिशाली हैं। हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हमें भी वे शक्तिशाली बनाते हैं। **अस्त्रेधन्तः**=अहिंसित होते हुए-अक्षीण होते हुए **वाजं अच्छ**=शक्ति की ओर **इतन**=चलो। वासनाएँ शक्ति का क्षय करती हैं। जब हम वासनाओं से हिंसित नहीं होते, तो अपनी शक्ति को सुरक्षित कर पाते हैं। (२) **अयम्**=यह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पृतनाषाट्**=शत्रु-सैन्यों का पराभव करनेवाला है। **सुवीरः**=उत्तम वीर है। **येन**=जिसद्वारा **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **दस्यून्**=दस्युओं को-विनाशक वृत्तियों को **असहन्त**=पराभूत करते हैं। वस्तुतः प्रभु को आगे करके ही देव विजयी बनते हैं। हम देव बनें, महादेव के समीप उपस्थित होनेवाले हों। ये महादेव कामदेव को अवश्य भस्म करेंगे।

भावार्थ—प्रभु का हम उपासन करें। प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करेंगे और हमें शक्तिशाली बनाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग् अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु का निवास-स्थानभूत 'हृदय'

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्न आ सीदाथा नो वर्धया गिरः ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अयम्**=यह मेरा शरीर व हृदय **ते योनिः**=आपका घर हो-आपका यहाँ निवास हो। यह **ऋत्वियः**=प्रत्येक ऋतु में आपका हो, अर्थात् मैं सदा आपका स्मरण करूँ। यह मेरा हृदय ऐसा हो कि **यतः**=जिससे **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**=देदीप्यमान हों। आपकी ज्योति से यह मेरा हृदय चमक उठे। (२) हे **जानन्**=सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तं आसीद**=उस हृदय में आप आसीन होइये **अथा**=और **अवनः**=हमारे लिए **गिरः**=इन ज्ञानवाणियों का **वर्धया**=वर्धन करिए। हृदयस्थ प्रभु हमारा ज्ञानवर्धन करें।

भावार्थ—मेरा हृदय प्रभु का निवास स्थान बने। प्रभु इसे ज्ञानदीप्त करने का अनुग्रह करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तनूनपात्

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि ॥ ११ ॥

(१) वह प्रभु 'तनूनपात्' हमारे शरीरों को न नष्ट होने देनेवाले **उच्यते**=कहे जाते हैं, अर्थात् मैं अपने को, गतमन्त्र के अनुसार, प्रभु का निवास-स्थान बनाता हूँ, तो प्रभु मेरा रक्षण करते हैं। **गर्भः**=वे सबके अन्दर गर्भरूप से रह रहे हैं 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः'। **आसुरः**='असुराणां हन्ता सा०' वे हमारे पर आक्रमण करनेवाले आसुर भावों को विनष्ट करनेवाले हैं। (२) **यद्विजायते**=जब प्रभु अपनी विभूतियों में विविधरूप से प्रकट होते हैं, तो **नराशंसः भवति**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले पुरुषों से शंसनीय होते हैं। ज्ञानीपुरुष सर्वत्र प्रभु की महिमा देखते हैं और प्रभु का गायन करते हैं। (३) **यत्**=चूँकि **मातरि**=निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पुरुष में **अभिमीत**=प्रभु सब सद्गुणों का निर्माण करते हैं, अतः वे 'मातरिश्वा' निर्माता में स्थित होकर उसका वर्धन करनेवाले कहलाते हैं। (४) **सरीमणि**=हृदय में प्रभु की गति होने पर **वातस्य**=जीवात्मा का-प्राणधारी जीव का (वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्) **सर्गः**=दृढ़ निश्चय **अभवत्**=होता है। हृदय में प्रभु की स्थिति को अनुभव करनेवाला पुरुष बड़ा दृढ़ निश्चयी होता है।

भावार्थ—मैं प्रभु का निवास-स्थान बनूँ। प्रभु मेरे शरीर को नष्ट न होने देंगे-मेरे पर होनेवाले आसुरभावों के आक्रमण से मेरा रक्षण करेंगे, मेरा वर्धन करेंगे, मुझे दृढ़ निश्चयी बनायेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग् अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सुनिर्मन्थन

सुनिर्मथा निर्मथितः सुनिधा निहितः कविः । अग्ने स्वध्वरा कृणु देवान्देवयते यज ॥ १२ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **सुनिर्मथा**=उत्तम निर्मन्थन से, स्वाध्याय व चिन्तन से **निर्मथितः**=चिन्तन किये जाते हो। **सुनिधा**=उत्तम निधान, दिव्यगुणों के स्थापन से आप **निहितः**=हृदयों में स्थापित किये जाते हो। चिन्तन से आपके स्वरूप का कुछ आभास मिलता है, तो दिव्यगुणों के धारण से हम आपका धारण करनेवाले बनते हैं। **कविः**=आप सर्वज्ञ हैं। (२) हे प्रभो! धारण किये गये आप **स्वध्वरा**=हमें उत्तम यज्ञादि कर्मोंवाला करिए और **देवयते**=दिव्यगुणों की कामनावाले पुरुष के साथ **देवान्**=दिव्यगुणों को **यज**=संगत करिए। इस 'देवयन्' पुरुष को

देवों का सम्पर्क प्राप्त हो। देवों का सम्पर्क प्राप्त करके यह दिव्यगुणों को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—उत्तम चिन्तन (=स्वाध्याय) व दिव्यगुणों को धारण करते हुए हम अपने हृदयों में प्रभु को स्थापित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

एक मात्र लक्ष्य—'प्रभुप्राप्ति'

अजीजनन्नमृतं मर्त्यासोऽस्रेमाणं तरणिं वीळुजम्भम् ।
दश स्वसारो अग्रुवः समीचीः पुमांसं जातमभि सं रभन्ते ॥ १३ ॥

(१) **मर्त्यासः**=मरणधर्मा होते हुए भी उपासक लोग **अमृतं अजीजनन्**=उस अमृत प्रभु को अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं, जो प्रभु **अस्रेमाणम्**=क्षय व हिंसा से रहित हैं। **तरणिम्**=उपासक को सब वासनाओं से तरानेवाले हैं। **वीडुजम्भम्**=दृढ़ दंष्ट्राओंवाले हैं, अर्थात् इन दंष्ट्राओं से असुरों का संहार करनेवाले हैं। (२) इस प्रभु का इस रूप में स्मरण करने पर **दश**=ये दस इन्द्रियाँ **स्वसारः**=उस आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली होती हैं। इसीलिए **अग्रुवः**=आगे और आगे ले चलनेवाली होती हैं। **समीचीः**=सदा संगत व सम्यक् (उत्तम) गतिवाली होती हैं। उस **जातम्**=सदा से प्रादुर्भूत **पुमांसम्**=(पुनाति) पवित्र करनेवाले प्रभु की **अभि**=ओर **संरभन्ते**=उद्योग करनेवाली होती हैं। उपासक के सब कार्य प्रभुप्राप्ति के उद्देश्य से होते हैं। इसका खान-पान भी प्रभुप्राप्ति को लक्ष्य करके होता है। शरीररक्षण भी वह प्रभुप्राप्ति के मन्दिर के रूप में देखता हुआ करता है।

भावार्थ—हमारी सब क्रियाएँ प्रभुप्राप्ति के उद्देश्य से हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रतिदिन असुर के जठर से प्रादुर्भाव

प्र सप्तहोता सनकादरोचत मातुरुपस्थे यदशोचदूधनि ।
न नि मिषति सुरणो दिवेदिवे यदसुरस्य जठरादजायत ॥ १४ ॥

(१) **सप्त होता**='कर्णाविमौ नासिके चक्षुणी मुखम्' दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख इन सातों को होता का रूप देनेवाला व्यक्ति-इनसे जीवन यज्ञ को उत्तमता से पूर्ण करनेवाला व्यक्ति, **सनकात्**=उस सनातन पुरुष से **प्र अरोचत**=अत्यन्त ही चमक उठता है। जीवन को यज्ञ का रूप देनेवाले पुरुष के हृदय में प्रभु का प्रकाश दीप्त होता है। इस प्रकाश से इस व्यक्ति का जीवन दीप्त हो जाता है। यह होता तभी है **यत्**=जब कि यह **मातुः उपस्थे**=वेदमाता की गोद में (स्तुता मया वरदा वेदमाता०) **ऊधनि**=उसके ज्ञानदुग्ध के आधार में **अशोचत्**=दीप्त होता है, अर्थात् जब एक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता हुआ जीवन को यज्ञमय बनाता है, तो उसका हृदय प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो उठता है। (२) यह **सुरणः**=उत्तमता से प्रभु के नामों का जप करनेवाला **न निमिषति**=कभी प्रमाद नहीं करता, आलस्यवाला नहीं होता। **यत्**=चूँकि यह **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **असुरस्य**=(असून् राति) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु के **जठराद्**=जठर से **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है। यह सोने लगता है, तो प्रभु का स्मरण करता हुआ प्रभु में ही लीन हो जाता है। प्रतिदिन प्रातः जागता है, तो उस प्रभु के उदर से ही मानो बाहर आता है। सदा प्रातःसायं प्रभु में लीन होना ही प्रभु के जठर में स्थित होना है। ध्यान से उठकर कार्यों में लगना ही उस जठर से बाहर आना है। यह व्यक्ति अप्रमत्तरूप से अपने कर्त्तव्यों का पालन करनेवाला होता है।

भावार्थ—जीवन को हम यज्ञमय बनाएँ। वेदमाता की गोद में आनन्द का अनुभव करें। प्रतिदिन प्रभुस्मरण करते हुए अप्रमत्त रूप से कर्त्तव्य का पालन करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्तवन व प्रभुदीप्ति

अमित्रायुधो मरुतामिव प्रयाः प्रथमजा ब्रह्मणो विश्वमिद्विदुः।
द्युम्नवद् ब्रह्म कुशिकास एरिर एकएको दमे अग्निं समीधिरे॥ १५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों में लगनेवाले व्यक्ति **अमित्रायुधः**='काम-क्रोध-लोभ' आदि शत्रुओं से युद्ध करनेवाले होते हैं। ये व्यक्ति **मरुतां प्रयाः इव**=प्राणों के सैन्य के समान होते हैं। प्राणसाधना करनेवालों के प्राणापान रोगों व वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले सैनिक ही बन जाते हैं। ये **प्रथमजाः**=प्रथम स्थान में स्थित होनेवाले, अर्थात् उत्तम सात्त्विक गति में स्थित होनेवाले बनते हैं। **ब्रह्मणः**=वेद द्वारा **विश्वम्**=सम्पूर्ण ज्ञान को **इद्**=निश्चय से **विदुः**=जाननेवाले होते हैं। (२) ये **कुशिकासः**=(कोशते शब्दकर्मणः नि० २।२२) प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले **द्युम्नवद् ब्रह्म**=ज्योतिर्मय स्तोत्र को **एरिरे**=अपने में प्रेरित करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हैं-उन स्तवन के शब्दों के अर्थ का भावन (चिन्तन) करते हैं। उन स्तवनों से प्रेरणा प्राप्त करके ये अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं। **एकः एकः**=कुशिकों में से प्रत्येक **दमे**=इन्द्रियों के दमन में प्रवृत्त होता है, अर्थात् इन्द्रियदमन इनका मुख्य ध्येय होता है। इसमें सफल होकर ये **अग्निम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **समीधिरे**=समिद्ध करते हैं।

भावार्थ—वासनाओं के साथ संघर्ष में चलते हुए हम इन्द्रियदमन द्वारा प्रभुदर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रेयो-वरण, न कि प्रेयस् का

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्होतश्चिकित्वोऽवृणीमहीह।
ध्रुवमया ध्रुवमुताशमिष्ठाः प्रजानन्विद्वाँ उप याहि सोमम्॥ १६॥

(१) हे **होतः**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभो! **चिकित्वः**=सर्वज्ञ प्रभो! **यद्**=जब **अद्य**=आज **इह**=यहाँ **अस्मिन्**=इस **प्रयति यज्ञे**=प्रकृष्ट गतिवाले जीवनयज्ञ में **त्वा अवृणीमहि**=आपका वरण करते हैं, तब आप **ध्रुवम्**=निश्चय से **अयाः**=हमें प्राप्त होइये। वस्तुतः इस जीवन में सारा उत्कर्ष या अपकर्ष इस बात पर निर्भर करता है कि हम प्रकृति का वरण करते हैं या प्रभु का। प्रकृति का वरण हमारे अपकर्ष या समाप्ति का कारण बनता है और प्रभु का वरण हमें उत्कर्ष की ओर ले जानेवाला होता है। कठोपनिषद् के शब्दों में मन्द पुरुष प्रेय का ही वरण करता है, कोई धीर ही श्रेय का वरण करता है। (२) हे प्रभो! आप हमें प्राप्त होइये, **उत**=और **ध्रुवम्**=निश्चय से **अशमिष्ठाः**=हमारे जीवन को शान्त करिए। प्रकृति के वरण में शान्ति नहीं, वहाँ उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती जाती है और हमारा जीवन अत्यधिक अशान्त हो जाता है। **प्रजानन्**=हमारी स्थिति को पूर्णतया जानते हुए **विद्वान्**=सर्वज्ञ आप **सोमम्**=सौम्य स्वभाववाले विनीत मुझ उपासक को **उपयाहि**=प्राप्त होइये। मैं सौम्य बनकर आपकी प्राप्ति का अधिकारी बनूँ।

भावार्थ—हम इस जीवन यज्ञ में प्रभु का वरण करें, न कि प्रकृति का। प्रभु के वरण से हमारा जीवन शान्त बने। हम सौम्य-विनीत बनकर प्रभुप्राप्ति के अधिकारी बनें।

सम्पूर्ण सूक्त चिन्तन व वेदाध्ययन (स्वाध्याय) द्वारा प्रभुदर्शन पर बल दे रहा है। अन्ततः हमें चाहिए कि हम प्रभु का ही वरण करें, प्रकृति में न उलझ जाएँ। 'प्रभु की कामना' से ही अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

तृतीयोऽनुवाकः

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुभक्त का सुन्दर जीवन

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि।
तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सोम्यासः**=सौम्य वृत्ति के **सखायः**=मित्रता की भावनावाले लोग **त्वा इच्छन्ति**=आपको ही चाहते हैं। प्रकृति में फँसनेवाले लोग सोम्य न रहकर धनमदमत्त हो जाते हैं और सखा न रहकर राग-द्वेष से भरपूर होते हैं। ये आपका वरण करनेवाले लोग **सोमं सुन्वन्ति**=अपने शरीर में सोम का अभिषव करते हैं। इस सोम (=वीर्य) के रक्षण से ही वस्तुतः वे सोम्य बनते हैं और सखित्व की वृत्तिवाले होते हैं। ये प्रभु-प्रेमी भक्त **प्रयांसि दधति**=सात्त्विक अन्नों को धारण करते हैं-सात्त्विक भोजन को ही करते हैं अथवा (प्रयस्=effort) सदा श्रमशील होते हैं-इनका जीवन क्रियामय होता है। (२) **जनानाम्**=लोगों के **अभिशस्तिम्**=अपमानजनक शब्दों को (accusation) व हिंसाओं (injure) को **तितिक्षन्ते**=सहते हैं। गालियों का उत्तर गालियों में नहीं देने लगते और कभी बदले की भावना से कार्यों को नहीं करते। (३) हे प्रभो! **हि**=वस्तुतः इन लोगों के जीवनों में **त्वद्**=आपसे ही **कश्चन**=कोई अद्भुत **आ प्रकेतः**=प्रकाश प्राप्त होता है। इनके जीवनों में आपका ज्ञान ही कार्य कर रहा होता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त 'सोम्य, सखा, वीर्यरक्षक, क्रियानिष्ठ व सहनशील' होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परमलोक की प्राप्ति

न ते दूरे परमा चिद्रजांस्या तु प्र याहि हरिवो हरिभ्याम्।
स्थिराय वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः समिधाने अग्नौ ॥ २ ॥

(१) प्रभु इस भक्त से कहते हैं कि **परमाचित् रजांसि**=सर्वोत्कृष्ट लोक भी दूर से दूर 'मर्त्यलोक, पितृलोक, देवलोक व ब्रह्मलोक' इस क्रम में परतम स्थान में स्थित यह ब्रह्मलोक भी **ते दूरे न**=तेरे से दूर नहीं है। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **तु**=तो **हरिभ्याम्**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से **आ प्रयाहि**=इस ब्रह्मलोक में आनेवाला बन। (२) **स्थिराय वृष्णे**=दृढ़ चित्तवृत्तिवाले शक्तिशाली पुरुष के लिए **इमा**=ये **सवनाः**=यज्ञ **कृता**=किये गये हैं, अर्थात् वेद में उपदिष्ट इन यज्ञों को जो अपनाता है, वह चित्त में स्थिर व शरीर में वृषन् बनता है। (३) **ग्रावाणः**=स्तोता लोग **समिधाने अग्नौ**=प्रतिदिन दीप्त की जानेवाली अग्नि में **युक्ताः**=अप्रमत्त होते हैं, अर्थात् कभी भी अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रमाद नहीं करते।

भावार्थ—परागति व मोक्ष को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) जितेन्द्रिय बनें, (ख) यज्ञशील हों, (ग) प्रभुस्तवन करते हुए हम अग्निहोत्रादि में प्रमाद न करें।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

इन्द्र

इन्द्रः सुशिप्रो मघवा तरुत्रो महाव्रातस्तुविकूर्मिर्ऋघावान्।
यदुग्रो धा बाधितो मर्त्येषु क्व१ त्या ते वृषभ वीर्याणि॥ ३॥

(१) प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **इन्द्रः**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता-जितेन्द्रिय है। **सुशिप्रः**=शोभन हनु व नासिकावाला है। तेरे जबड़े उत्तम हैं-तू अभक्ष्य भोजनों को नहीं खाता तथा सदा प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना करनेवाला है। परिणामतः **मघवाः**=तू ज्ञान के ऐश्वर्यवाला है, **तरुत्रः**=काम-क्रोध आदि वासनाओं को तैरे जानेवाला है। **महाव्रातः**=महान् व्रतसमूहवाला है-तेरा जीवन व्रती है। **तुविकूर्मिः**=महान् कर्मोंवाला है-सदा क्रियाशील है। इसीसे **ऋघावान्**=काम-क्रोध आदि आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाला है। (२) **यत्**=जो **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ तू **बाधितः**=इन आसुर-वृत्तियों से पीड़ित हुआ-हुआ **मर्त्येषु**=इन मारण के स्वभाववाले आसुरभावों में **वीर्याणि**=पराक्रमों को **धाः**=करता है-इनपर शक्तिशाली आक्रमणों को करता है, तो हे **वृषभ**=शक्तिशाली जीव! **ते**=तेरे **त्या**=वे **वीर्याणि**=वीर्य व पराक्रम **क्व**=अब कहां हैं? इन आक्रमणों को करता हुआ तू वस्तुतः 'इन्द्र' होता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें। सात्त्विक भोजन व प्राणायाम द्वारा वासनाओं को तैरनेवाले बनें। व्रती जीवन को अपनाकर सदा क्रियाशील रहते हुए वासनाओं का हिंसन करें।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अच्युत च्यावक प्रभु

त्वं हि ष्मा च्यावयन्नच्युतान्येको वृत्रा चरसि जिघ्नमानः।
तव द्यावापृथिवी पर्वतासोऽनु व्रताय निमितेव तस्थुः॥ ४॥

(१) जीव प्रभुस्तवन करता हुआ कहता है कि **त्वम्**=आप **हि ष्मा**=निश्चय से **एकः**=अकेले ही **अच्युतानि**=अत्यन्त स्थिर-दृढमूल भी पदार्थों को **च्यावयन्**=उन्मूलित करते हुए **चरसि**=गति करते हैं। दृढ़ से दृढ़ पर्वतों के समान स्थिर पदार्थों को भी आप कम्पित करनेवाले हैं। आप ही सब **वृत्रा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जिघ्नमानः**=हिंसित करते हुए गति करते हैं। (२) **द्यावापृथिवी**=यह सम्पूर्ण द्युलोक व पृथिवीलोक तथा **पर्वतासः**=पर्वत भी **तव**=आपके **व्रताय**=नियम के लिए-निर्देश पालन के लिए, **निमिताः इव**=निरवात से-अपने-अपने स्थान पर स्थिर से हुए-हुए **अनुतस्थुः**=अनुकूलता से स्थित हैं। हे प्रभो! सारी शक्ति तो आपकी है। सारे ब्रह्माण्ड का शासन आप ही कर रहे हैं 'द्युलोक-पृथिवीलोक-पर्वत' सब आपके नियमन में हैं। हमारे काम-क्रोध आदि का नियमन भी आपने ही करना है। हमारी क्या शक्ति है कि हम इनका संहार कर सकें?

भावार्थ—प्रभु ही दृढ़ से दृढ़ शत्रुओं का विदारण करनेवाले हैं। मैं प्रभु का उपासक बनूँ। प्रभु की शक्ति मेरे शत्रुओं का विदारण करेगी।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अभय प्रापक 'ज्ञान'

उताभये पुरुहूत श्रवोभिरेको दृळ्हमवदो वृत्रहा सन्।
इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते॥ ५॥

(१) **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! आप **एकः**=अकेले ही **वृत्रहा सन्**=वृत्र का, वासना का विनाश करनेवाले होते हुए **उत**=निश्चय से **अभये**=अभय प्राप्त कराने के निमित्त **श्रवोभिः**=ज्ञानों को देने के हेतु से **दृढं अवदः**=दृढ़ता से इस वेदवाणी का उच्चारण करते हैं। यह हमारा दौर्भाग्य है कि हम आपकी उस गर्जना को (हरिरेति कनिक्रदत्) भी सुनते नहीं और इस प्रकार बधिर बनकर कष्ट उठानेवाले होते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **इमे**=इन **अपारे**=अत्यन्त विशाल-जिनका पार दिखता ही नहीं, उन **रोदसी चित्**=द्यावापृथिवी को भी **यत्**=जो आप **संगृभ्णाः**=सम्यक् ग्रहण करनेवाले होते हैं, यह हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **इत्**=निश्चय से **ते काशिः**=आपकी ही मुट्ठी है (काशिमुष्टिः नि०)। आपके अतिरिक्त इस सारे ब्रह्माण्ड को कौन अपने वश में कर सकता है? आपकी इस महिमा का स्मरण करता हुआ मैं आपका आराधक बनूँ। आपकी प्रेरणा को सुनता हुआ तदनुसार वर्तनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देकर हमें अभय प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही ब्रह्माण्ड को वश में करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु में प्रवेश

प्र सू तं इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विश्वं सत्यं कृणुहि विष्टमस्तु॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से युक्त **ते**=तेरा यह शरीररूप रथ **प्रवता**=निम्न मार्ग से, अर्थात् विनीतता के मार्ग से **सु**=अच्छी प्रकार **प्र एतु**=आगे और आगे गतिवाला हो। **ते**=तेरा **वज्रः**=वज्र, अर्थात् क्रियाशीलता (वज गतौ) **शत्रून्**=वासनारूप शत्रुओं को **प्रमृणन्**=हिंसित करता हुआ **प्र एतु**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। तू सदा उत्तम कर्मों में लगा रहकर इन वासनारूप शत्रुओं को कुचल डाल। (२) **प्रतीचः**=तेरे प्रति आनेवाले, **अनूचः**=पीछे से आनेवाले व **परा चः**=दूर से ही आक्रमण करनेवाले इन सब शत्रुओं को तू **जहि**=नष्ट कर। इनको नष्ट करके तू **विश्वं सत्यं कृणुहि**=सब कर्मों को सत्य करले। तेरा कोई कर्म असत् न हो। इस प्रकार सत्य को अपनाने से **विष्ट अस्तु**=तेरा उस प्रभु में प्रवेश हो। प्रभु सत्यस्वरूप हैं। सत्य प्रभु को पाने का अधिकारी वही बनता है जो कि सत्य को अपना सकता है।

भावार्थ—हम विनीततापूर्वक प्रभु की ओर गतिवाले हों। वासनाओं को विनष्ट करके सत्य को अपनाएँ। यही प्रभु में प्रवेश का प्रमुख साधन है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अभूतपूर्व धन आदि की प्राप्ति

यस्मै धायुरदधा मर्त्यायाभक्तं चिद्भजते गेह्यं१ सः ।
भद्रा त इन्द्र सुमतिर्घृताची सहस्रदाना पुरुहूत रातिः॥ ७॥

(१) **यस्मै मर्त्याय**=जिस मनुष्य के लिए **धायुः**=वह धारण करनेवाला प्रभु **अदधाः**=धारण करता है, अर्थात् प्रभु जिसके पालक होते हैं, **सः**=वह **अभक्तम्**=आज तक किसी से न सेवन किये गये, अर्थात् अद्भुत **गेह्यम्**=घर की आवश्यक सामग्री को (गेहे भवं) **भजते**=प्राप्त करता है। इस उपासक को घर की उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! **ते**=आपकी **सुमतिः**=कल्याणीमति **भद्रा**=हमारे लिए सुखद होती है और **घृताची**=दीप्ति की ओर हमें ले जानेवाली होती है (घृत=दीप्ति, अञ्च् गतौ)। हे **पुरुहूत**=बहुतों

से पुकारे जानेवाले प्रभो! आपका **राति**=दान **सहस्रदाना**=अपरिमित धनदान से युक्त है।

भावार्थ—प्रभु पालक होते हैं, तो हमें अभूतपूर्व उन्नति के साधन प्राप्त होते हैं। प्रभु से दी गई सुमति हमारे जीवन को दीप्त बनाती है। प्रभु-कृपा से किसी भी आवश्यक वस्तु की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपाद अहस्त करके वृत्र का विनाश

सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सं पिणक्कुणारुम्।
अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ॥ ८ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले परमात्मन्! आप **सहदानुम्**=दानवी वृत्रमाता सहित, **क्षियन्तम्**=विनाश करनेवाले, **कुणारुम्**=क्वणनशील इस असुर को **अहस्तम्**=निहत्था करके **संपिणक्**=सम्यक् पीस दीजिए। आसुरी-वृत्तियों को आप नष्ट करिए। इनकी कारणभूत दानु को, हमारा लवन (दाप् लवने) (विनाश) करनेवाली आसुरभावों की माता को विनष्ट करिए। ये आसुरभावनाएँ अन्ततः हमें रुलानेवाली होती हैं, अतः 'कुणारु' कहलाती हैं। हमारा विनाश करने के कारण 'क्षियन्' हैं। ये हमारे पर प्रबल न हों। हमारे साथ संग्राम में ये निहत्थे हो जाएँ। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **पियारुम्**=हिंसित करनेवाले **वर्धमानम्**=दिन प्रतिदिन बढ़ते जाते हुए **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत इस काम नामक वृत्र को **अपादम्**=पाँव से रहित-गतिशून्य करके **तवसा**=शक्ति द्वारा **अभिजघन्थ**=इसे नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से कामवासना रूप 'वृत्र' का समूल विनाश हो जाए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

लोकत्रयी का धारण

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं महीमपारां सदने ससत्थ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षमर्षन्त्वापस्त्वयेह प्रसूताः॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशालिन्-सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप इस **भूमिम्**=भूमि को **सदने नि ससत्थ**=अपने स्थान पर स्थापित करते हैं, जो भूमि **सामनाम्**=(सम अन्) सब के प्राणित करने का कारण बनती है। प्राणित करने के लिए ही **इषिराम्**=अन्नों को उत्पन्न करनेवाली है (अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः)। इसीलिए यह भूमि **महीम्**=महनीय-पूजनीय होती है, इसे मातृतुल्य समझा जाता है, जो भूमि **अपाराम्**=अत्यन्त विशाल है। इसका 'पृथिवी' नाम ही इसके पर्याप्त विस्तार का संकेत कर रहा है। (२) वह **वृषभः**=शक्तिशाली प्रभु **द्याम्**=द्युलोक व **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक को **अस्तभ्नात्**=धारण करता है। इन सब लोकों को प्रभु ही धारण करते हैं। हे प्रभो! **इह**=यहाँ **त्वया प्रसूताः**=आप से प्रेरित किए गये **आपः**=जल **अर्षन्तु**=गतिवाले हों। वृष्टि आदि की व्यवस्था से प्रभु ही नदियों के रूप में इन जलों को प्रवाहित करते हैं और इस प्रकार सब प्राणियों का प्राणन सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु ही भूमि, अन्तरिक्ष व द्युलोक को धारण करते हैं। वे ही यहाँ वृष्टि द्वारा नदियों के रूप में जल-प्रवाह की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रियाशीलता व उपासना

अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार।
सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः ॥ १० ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले, जितेन्द्रिय पुरुष! **वलः**=(Veil) तेरे ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाला यह कामरूप शत्रु (वृत्र), **पुराहन्तोः**=तेरे वज्र प्रहार से पूर्व ही **भयमानः**=भयभीत हुआ-हुआ **व्यार**=(विश्लिषो वभूव) छिन्न-भिन्न गतिवाला हो गया। जो वृत्र (=वल=काम) **अलातृणः**=अत्यन्त हिंसित करनेवाला है। जो **गोः व्रजः**=इन्द्रियों रूप गौओं को अपने में घेर लेनेवाले बाड़े के समान बन जाता है (व्रज=cow-pen)। एक जितेन्द्रिय पुरुष अपने क्रियाशीलता रूप वज्र के प्रहार से इस **वल**=वृत्र व कामवासना के 'व्रज' (बाड़े) को नष्ट कर डालता है। इसमें अवरुद्ध इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हो जाती हैं, फिर वे कामवासना का शिकार नहीं होतीं। मार्ग यही है कि मनुष्य क्रियाशील बने। क्रियाशीलता ही वासना को विनष्ट करती है। (२) इस प्रकार यह इन्द्र **गाः निरजे**=इन्द्रियों को विषयों के बाड़े से निर्गत करने के लिए **पथः सुगान् अकृणोत्**=मार्गों को सुगम करता है। इसी उद्देश्य से उपासक लोग **पुरुहूतं धमन्तीः**=उस बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभु को स्तुत करती हुई **वाणीः**=वाणियों के प्रावन् (प्रकर्षेण अभ्यागच्छन्) प्रति प्रकर्षेण आनेवाले होते हैं, अर्थात् प्रभु का प्रकर्षेण स्तवन करते हैं। प्रभुस्तवन से वासना विनष्ट होती है और इन्द्रियाँ विषयों के बाड़े से मुक्त हो पाती हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता व प्रभु की उपासना द्वारा हम इन्द्रियों को वासना के आक्रमण से बचाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

लोकत्रयी का, हमारे जीवन में, स्थान

एको द्वे वसुमती समीची इन्द्र आ पप्रौ पृथिवीमुत द्याम्।
उतान्तरिक्षादभि नः समीक इषो रथीः सयुजः शूर वाजान् ॥ ११ ॥

(१) **एकः**=वह अद्वितीय **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **द्वे आपप्रौ**=दोनों को पूरण कर रहा है। **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को-दोनों को ही वह व्याप्त कर रहा है। ये पृथिवी और द्युलोक **वसुमती**=सब वसुओंवाले हैं और **समीची**=परस्पर संगत हैं। पृथिवीस्थ जल सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत होकर द्युलोक की ओर जाता है, उस द्युलोकस्थ सूर्य से प्रकाश की किरणें पृथिवी की ओर आती हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक पिता व माता की तरह परस्पर मिलकर कार्य करते हुए प्राणियों का पालन करते हैं। (२) **उत**=और हे **शूर**=हमारे सब रोग आदि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **अन्तरिक्षात्**=इस अन्तरिक्षलोक से **नः समीके**=हमारे समीप **इषः**=उत्तम अन्नों को **अभि (आ पप्रौ)**=पूरित करते हैं और इस प्रकार **रथीः**=रथ को उत्तमता से ले चलनेवाले **सयुजः**=मिलकर इसमें जुतनेवाले **वाजान्**=इन्द्रियाश्वों को हमें प्राप्त कराते हैं। अन्तरिक्ष से वृष्टि होकर उत्तम अन्नों की प्राप्ति होती है। इन उत्तम अन्नों से इन्द्रियाँ परिपुष्ट होकर शरीर-रथ का अच्छी प्रकार (संचालन) करती हैं। यह शरीर रथ हमें उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचानेवाला होता है।

भावार्थ—परस्पर संगत द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे लिए सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

अन्तरिक्ष से वृष्टि होकर उत्तम अन्नों की प्राप्ति से शरीर व इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं और हमें लक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ करती हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्योदय व सूर्यास्त

दिशः सूर्यो न मिनाति प्रदिष्टा दिवेदिवे हर्यश्वप्रसूताः।
सं यदानळध्वन आदिदश्वैर्विमोचनं कृणुते तत्त्वस्य ॥ १२ ॥

(१) **सूर्यः**=यह सूर्य **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **हर्यश्वप्रसूताः**=(हरयः अश्वाः यस्य) हर्यश्व, अर्थात् उस प्रभु से प्रेरित **प्रदिष्टाः दिशः**=संकेतित दिशाओं को **न मिनाति**=हिंसित नहीं करता। प्रभु ने जिस-जिस दिशा में सूर्य की गति का निश्चय किया है, उस-उस दिशा में सूर्य ठीक गति कर रहा है। प्रभु 'हर्यश्व' हैं, उस प्रभु से जीवों के लिए दिये गये इन्द्रियरूप अश्व जीवों के दुःखों का हरण करनेवाले हैं। सूर्य के अन्दर स्थापित ये किरणरूप अश्व भी सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करके दुःखों का हरण करनेवाले हैं। प्रभु से निर्दिष्ट दिशा में सूर्य गति कर रहा है। (२) **यदा**=जब यह सूर्य **अध्वनः**=मार्गों को **अश्वैः**=अपने किरणरूप अश्वों से **आनट्**=व्याप्त कर चुकता है, **आत् इत्**=तब उसके बाद **विमोचनं कृणुते**=मानो वह अश्वों को खोल डालता है। अब रात्रि आती है और सर्वत्र अन्धकार का राज्य हो जाता है। **तत् तु अस्य**=वह सब तो वस्तुतः उस प्रभु का कार्य है। यह सूर्योदय व सूर्यास्त की व्यवस्था भी प्रभु के अधीन है। प्रभु के नियमों के अनुसार पृथ्वी की गति के कारण सूर्य उदय व अस्त होता हुआ प्रतीत होता है।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था के अनुसार सूर्य निश्चित दिशा में गति करता है-उदय व अस्त होता हुआ प्रतीत होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्योदय व उत्तम कर्म

दिदृक्षन्त उषसो यामन्नक्तोर्विवस्वत्या महि चित्रमनीकम्।
विश्वे जानन्ति महिना यदागादिन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि ॥ १३ ॥

(१) **विवस्वत्याः उषसः**=विवासन वर्त-अन्धकार दूर करनेवाली उषा के **यामन्**=जाने पर **अक्तोः**=प्रकाश की किरणों के **महि चित्रं अनीकम्**=महनीय अद्भुत तेज को **दिदृक्षन्ते**=देखने की इच्छा करते हैं। (२) **यद्**=जब **आगात्**=यह सूर्य का प्रकाश आता है, तो **विश्वे**=सब **महिना**=(महनीयानि सा०) महनीय-आदरणीय-उत्तम अग्निहोत्रादि कर्मों को **जानन्ति**=कर्त्तव्य के रूप में जानते हैं, अर्थात् सूर्य निकलते ही अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **इन्द्रस्य**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के **कर्म**=काम **सुकृता**=उत्तमता से किये जाते हैं और **पुरूणि**=ये कर्मपालनात्मक व पूरणात्मक होते हैं।

भावार्थ—उषाकाल में जागकर हम सूर्य के स्वागत के लिए तैयार हों। उसके उदय होते ही उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ। इन कर्मों को उत्तमता से करें-ये कर्म पालनात्मक हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जल, दुग्ध व अन्न

महि ज्योतिर्निहितं वक्षणास्वामा पक्वं चरति बिभ्रती गौः।
विश्वं स्वाद्म संभृतमुस्रियायां यत्सीमिन्द्रो अदधाद्भोजनाय ॥ १४ ॥

(१) **वक्षणासु**=नदियों में **महि**=महनीय **ज्योतिः**=(ज्योतिरमृतम्=जलम् श० १४।४।१।३२) अमृत (=जल) **निहितम्**=स्थापित किया गया है। प्रभु ने नदियों में उस जल की स्थापना की है, जो सचमुच अमृत है। ठीक उपयुक्त होने पर जल सब रोगों का औषध ही है, इसका नाम ही 'भेषजम्' है। अन्य पेय द्रव्यों की अपेक्षा जल का प्रयोग ही ठीक है। (२) **आमा गौः**=न पकी उमरवाली-तरुणी गौ **पक्वम्**=अपने ऊधस् में पक्व दुग्ध को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **चरति**=वायु के साथ खुले प्रदेशों में विचरण करती है (वायुर्येषां सहचारं जुजोष)। गौ से दोहा गया ताजा दूध अमृत तुल्य है, उसे उबाले बिना ही पीना अत्यन्त श्रेयस्कर है। दोहे जाते समय वह वस्तुतः उष्ण होता ही है। (३) **विश्वम्**=सब **स्वाद्म**=स्वादिष्ट भोज्य द्रव्य **उस्त्रियायाम्**=(पृथिव्याम् द०, उस्रा=the earth) पृथिवी से उत्पन्न होनेवाले अन्नों में **सम्भृतम्**=सम्यक् भृत हुए हैं। **यत्**=जिन पदार्थों को **सीम्**=निश्चय से **इन्द्रः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु ने **भोजनाय**=भोजन के लिए **अदधात्**=धारण किया है-स्थापित किया है।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे पालन-पोषण के लिए 'नदियों में जल, गौवों में दूध व पृथिवी में सब स्वादिष्ट अन्नों व फलों' का स्थापन किया है। वस्तुतः 'जल, दूध, अन्न व फल' आदि पर ही हमें अपना भरण-पोषण रखना चाहिये।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुष्ट शत्रुओं का संहार

इन्द्र दृह्य यामकोशा अभूवन्यज्ञाय शिक्ष गृणते सखिभ्यः।
दुर्मायवो दुरेवा मर्त्यासो निषङ्गिणो रिपवो हन्त्वासः॥ १५॥

(१) **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **दृह्य**=दृढ़ हो। इस जीवनयात्रा में ढिल-मिल बने रहने से काम न चलेगा। जो तेरे साथी **यामकोशाः**=संयत कोशोंवाले-अन्नमयादि कोशों को वश में करनेवाले **अभूवन्**=हुए हैं, उन **सखिभ्यः**=मित्रों से **यज्ञाय**=यज्ञों के लिए तथा **गृणते**=(गृणाति उपदिशति) सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञानोपदेश देनेवाले उस प्रभुप्राप्ति के लिए **शिक्ष**=विद्या का उपादान कर। हमें उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जो कि हमें यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करे तथा प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर ले चले। ज्ञान देनेवाले गुरुओं की साधना ऐसी होनी चाहिए कि वे सब अन्नमयादि कोशों पर प्रभुत्ववाले हों, ताकि उनका 'शरीर मानस व बौद्धिक' स्वास्थ्य ठीक हो। (२) इस ज्ञान को प्राप्त करना इसलिए आवश्यक है कि इस संसार में मनुष्य के लिए **रिपवः**=कितने ही शत्रु हैं, जिन्हें कि **हन्त्वासः**=उसने समाप्त करना है। ये शत्रु **दुर्मायवः**=(मायु=आयुध, मिनन्ति प्रक्षिपन्ति इति) बड़े बुरे अस्त्रोंवाले हैं, **दुरेवाः**=दुष्ट आचरणवाले हैं, **मर्त्यासः**=(मारयितारः सा०) मार डालनेवाले हैं, **निषङ्गिणः**=बड़े-बड़े निषङ्गों-तरकसोंवाले हैं। कामदेव का साहित्य में चित्रण ही 'कुसुमायुध' के रूप में है। वह फूलों से बने धनुष व बाणों को लेकर हमारे पर आक्रमण करता है और हमें मार डालता है। 'मारः' उसका नाम ही है। इसके तरकस में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर प्रहार करने के लिए पञ्चविध बाण हैं। उन्हें यह बुरी तरह हमारे पर फेंकता है और हमें मूर्छित करके समाप्त कर देता है। प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए हमें इसे समाप्त करना है। इसे समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में सदा तत्पर रहें।

भावार्थ—ज्ञानियों से यज्ञों व प्रभुप्राप्ति का ज्ञान प्राप्त करते हुए हम कामादि दुष्ट शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें। इस जीवनयात्रा में दृढ़ बनकर आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञ व प्रभुस्तवन द्वारा शत्रुओं का समूल विनाश

सं घोषः शृण्वेऽवमैरमित्रैर्जही न्येष्वशनिं तपिष्ठाम् ।
वृश्चेमधस्ताद्वि रुजा सहस्व जहि रक्षो मघवन्रन्धयस्व॥ १६ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों व प्रभुप्राप्ति के मार्ग का उपदेश प्राप्त करके जब यह **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष यज्ञों में मन्त्रोच्चारण करे व प्रभु स्तवन करे, तो **घोषः**=यह शब्द **अवमैः**=इन निकृष्ट **अमित्रैः**=काम आदि शत्रुओं से **संशृण्वे**=सुना जाए। उस शब्द को सुनकर ही वे भयभीत होकर हमारे से दूर चले जाएँ। **एषु**=इन शत्रुओं पर **तपिष्ठाम्**=अत्यन्त संताप करनेवाले **अशनिम्**=(sacrificial role to kill an enemy) अनुयाज नामक यज्ञास्त्र को **वि जहि**=निश्चय से फेंक (हन् गतौ) इन कामादि शत्रुओं का संहार इस अनुयाज से ही होता है। हम यज्ञादि कर्मों में लगे रहें, काम आदि शत्रु स्वयं विनष्ट हो जाते हैं। (२) **ईम्**=निश्चय से इन शत्रुओं को **अधस्ताद् वृश्च**=नीचे से काट डाल, अर्थात् इनका मूल से उच्छेद कर दे। **विरुजा**=इनको विशेषरूप से भंगकर। **सहस्व**=इनको कुचल दे। हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न जीव! तू **जहि**=इनको मार डाल। **रक्षः**=इन राक्षसी वृत्तियों को **रन्धयस्व**=चीर-फाड़ दे। इन अशुभ वृत्तियों को समाप्त करके जीवनयात्रा में आगे बढ़।

भावार्थ—हम काम-क्रोध आदि का विनाश करके जीवनयात्रा में आगे बढ़ें। इनका विनाश यज्ञों व प्रभु-स्तवन में लगे रहने से ही होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राक्षसों का समूल विनाश

उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि।
आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य॥ १७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् शत्रुविद्रावक प्रभो! **अह रक्षः**=राक्षसीवृत्तियों को **सहमूलम्**=मूलसहित **उद्वृह**=उखाड़ दीजिए, **मध्यं वृश्चा**=इनके मध्य को भी छिन्न कर दीजिए, **अग्रं प्रतिशृणीहि**=इनके अग्रभाग को भी हिंसित करनेवाले होइये। आपकी कृपा से हमारे पर आक्रमण करनेवाली राक्षसीवृत्तियों का 'आदि, मध्य, अन्त' सब विच्छिन्न हो जाए। इनका नामोनिशान भी न बचे। (२) **कीवतः**=(कियतोऽपि दूरदेशात्) कितने भी दूरदेश से **सललूकम्**=(सृ) गति करनेवाले इस लोभरूप राक्षस को **आचकर्थ**=नष्ट करिए। लोभवृत्ति के कारण ही मनुष्य दूर-दूर भागा फिरता है और उसे न किसी प्रकार की शान्ति है, न अध्यात्म उन्नति का अवसर। इस **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान से प्रीति न रखनेवाले लोभ के लिए **तपुषिं हेतिम्**=तापक अस्त्र को **अस्य**=फेंकिए (असु क्षेपणे)। इस सन्तापक अस्त्र से इसे नष्ट करिए। वस्तुतः तप व क्रियाशीलता ही इस लोभ-विनाश के लिए तापक अस्त्र है। यही लोभ का विनाश करता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से राक्षसी-वृत्ति का समूल विनाश हो। भटकानेवाले लोभ को हम तप व क्रियाशीलता द्वारा विनष्ट करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रायः वन्तारः (धन का संविभाग करनेवाले)

स्वस्तये वाजिभिश्च प्रणेतः सं यन्महीरिष आसत्सि पूर्वीः।
रायो वन्तारो बृहतः स्यामास्मे अस्तु भग इन्द्र प्रजावान्॥ १८ ॥

(१) हे **प्रणेतः**=संसार-चक्र के संचालक प्रभो! आप **वाजिभिः**=शक्तिशाली इन्द्रियों द्वारा **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिए होते हैं। **यत्**=जब आप **सं आसत्सि**=हमारे हृदयों में आसीन होते हैं, तो हम **महीः**=महनीय **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाले **इषः**=अन्नों को तथा **बृहतः रायः**=बढ़ते हुए धनों को **वन्तारः**=सम्भक्त करनेवाले **स्याम**=हों। प्रभु को हृदय में आसीन हुआ-हुआ जानकर हम पुरुषार्थवाले होते हैं, तो हमें उत्तम अन्न व धन प्राप्त होते हैं, उन अन्नों व धनों का हम संविभागपूर्वक सेवन करते हैं। (२) **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावान्**=उत्तम सन्तानोंवाला **भगः**=ऐश्वर्य **अस्तु**=हो, अर्थात् हमें ऐश्वर्य प्राप्त हो और वह ऐश्वर्य हमारी सन्तानों की शक्तियों के विकास का कारण बने। धन का संविभागपूर्वक सेवन ही हमें वस्तुतः उत्तम सन्तानों को प्राप्त कराता है 'श्रदस्मै वचसे नरो दधातन, यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः' दानपूर्वक धन का उपभोग ही यज्ञशेष का सेवन है, यही अमृत का पान है।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ उत्तम हों। उत्तम अन्न व धन हमें प्राप्त हों, हम उन्हें बाँटकर सेवन करनेवाले हों। हमारा धन इस प्रकार विनियुक्त हो कि हमारी प्रजाएँ उत्तम बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युमान् भग

आ नो भर भगमिन्द्र द्युमन्तं नि ते देष्णस्य धीमहि प्रेरेके।
ऊर्वइव पप्रथे कामो अस्मे तमा पृण वसुपते वसूनाम्॥ १९॥

(१) हे **इन्द्र**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय **भगम्**=ऐश्वर्य को **आभर**=समन्तात् भरनेवाले होइये। **ते देष्णस्य**=आपके धन दानों के **प्रेरेके**=प्रेरेचन में (over flowing) **निधीमहि**=हम धारण किये जाएँ, अर्थात् हमें आपका अत्यन्त ही धन प्राप्त हो। उस धन का विनियोग हम ज्ञानवृद्धि के लिए करें। (२) यह ठीक है कि **ऊर्वः इव**=वडवानल (समुद्राग्नि) की तरह **अस्मे**=हमारी **कामः**=कामना **पप्रथे**=बढ़ती जाती है। हे **वसूनां वसुपते**=सर्वोत्तम धनों के अधिपति प्रभो! **तम्**=उस कामना को **आपृण**=आप ही पूरा करें। वस्तुतः प्रभुप्राप्ति के होने पर ही धन आदि पदार्थों की कामना पूर्ण होती है। प्रभुप्राप्ति की तुलना में धनप्राप्ति अत्यन्त तुच्छ है। अतः जब प्रभु प्राप्त होते हैं, तो धन की कामना अपने आप ही समाप्त हो जाती है। प्रभुप्राप्ति से दूर रहने पर धनादि की कामना बढ़ती ही जाती है। वस्तुतः धन में तृप्ति है ही नहीं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्योतिर्मय धन दें। प्रभु हमें अत्यन्त ही धन दें। प्रभुप्राप्ति में ही धन की कामना की पूर्ति है, अन्यथा यह धन की कामना बढ़ती ही जाती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गौवें, घोड़े तथा आह्लादक धन

इमं कामं मन्दया गोभिरश्वैश्चन्द्रवता राधसा पप्रथश्च।
स्वर्यवो मतिभिस्तुभ्यं विप्रा इन्द्राय वाहः कुशिकासो अक्रन्॥ २०॥

(१) हे प्रभो! आप **इमं कामम्**=हमारी इस कामना को **गोभिः**=उत्तम गौवों से, **अश्वैः**=उत्तम घोड़ों से **चन्द्रवता**=आह्लाद प्राप्त करानेवाले **राधसा**=धन से **मन्दया**=आनन्दित करिए **च**=और **पप्रथः**=विस्तारवाला करिए। हम सदा उत्तम गौवों, घोड़ों व आह्लादक धन की ही कामना करें। (२) **स्वर्यवः**=प्रकाश को अपने साथ जोड़नेवाले **विप्राः**=ज्ञानी **कुशिकासः**=स्तुति-मन्त्रों का

उच्चारण करनेवाले हम **इन्द्राय तुभ्यम्**=आपके लिए **मतिभिः**=मनन के साथ **वाहः अक्रन्**=स्तोत्रों को करनेवाले हों। मननपूर्वक इन स्तोत्रों को करते हुए हम आपके प्रिय हों और आपकी कृपा से उत्तम गौवों, घोड़ों व धनों को प्राप्त करें। इन धनों का उपयोग हम, गतमन्त्र के अनुसार, ज्ञानवृद्धि के लिए करें।

भावार्थ—हमें गौवें, घोड़े और प्रसन्नता का कारणभूत धन प्राप्त हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान+शक्ति

आ नो॑ गो॒त्रा द॑र्दृहि गोपते॒ गाः सम॒स्मभ्यं॑ स॒नयो॑ यन्तु॒ वाजाः॑ ।
दि॒वक्षा॑ असि वृषभ स॒त्यशु॑ष्मो॒ऽस्मभ्यं॑ सु म॑घवन्बोधि गो॒दाः ॥ २१ ॥

(१) हे **गोपते**=ज्ञानवाणियों के रक्षक प्रभो! **नः**=हमारे लिए **गोत्रा**=इन ज्ञानवाणियों के समूह को **आदर्दृहि**=(आद्रियस्व) आदर युक्त करिये। हमारे हृदयों में इन ज्ञानवाणियों के प्रति आदर की भावना हो। **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गाः**=ये ज्ञानवाणियाँ तथा **सनयः वाजाः**=सम्भजनीय बल (शक्तियाँ) **संयन्तु**=प्राप्त हों। (२) **दिवक्षाः असि**=द्युलोक में व्याप्त होकर निवास करनेवाले आप हैं। सदा प्रकाशमय लोक में रहनेवाले आप हैं। हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् प्रभो! आप **सत्यशुष्मः**=सच्चे शत्रुशोषक बलवाले हैं। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गोदाः**=इन ज्ञानवाणियों को देनेवाले होते हुए **सुबोधि**=भली प्रकार हमारा ध्यान करिए। इन ज्ञानवाणियों द्वारा ही तो आप हमारा रक्षण करते हैं। इनको प्राप्त करके हम भी प्रकाशमय लोक में निवासवाले बनें (दिवक्षाः) सच्चे शत्रुशोषक बल को प्राप्त करें (सत्यशुष्मः)।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानवाणियों को तथा सम्भजनीय शक्तियों को प्राप्त कराके हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण व विजय

शु॒नं हु॑वेम म॒घवा॑न॒मिन्द्र॑म॒स्मिन्भरे॒ नृत॑मं॒ वाज॑सातौ ।
शृ॒ण्वन्त॑मु॒ग्रमू॒तये॑ स॒मत्सु॒ घ्नन्तं॑ वृ॒त्राणि॑ सं॒जितं॒ धना॑नाम् ॥ २२ ॥

(१) **अस्मिन्**=इस **भरे**=जीवन-संग्राम में **वाजसातौ**=शक्तिप्राप्ति के निमित्त **शुनम्**=(सुखकरं) सुख देनेवाले **मघवानम्**=ऐश्वर्यशाली **नृतमम्**=सर्वोत्तम नेता **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं। प्रभु ने ही तो इस संग्राम में विजयी बनाना है। प्रभुस्मरण से ही शक्ति का लाभ होता है। (२) उस प्रभु को हम **ऊतये**=रक्षा के लिए पुकारते हैं, जो कि **शृण्वन्तम्**=हमारी प्रार्थना को सुनते हैं, **उग्रम्**=तेजस्वी हैं। **समत्सु**=संग्रामों में **वृत्राणि**=हमारे ज्ञान पर परदा डाल देनेवाले कामरूप शत्रु को **घ्नन्तम्**=नष्ट करनेवाले हैं और **धनानां सञ्जितम्**=धनों का विजय करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का आराधन करें। प्रभु हमें जीवन-संग्राम में अवश्य विजयी बनाएँगे।

सम्पूर्ण सूक्त इसी भाव को पुष्ट कर रहा है कि हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें अवश्य विजय प्राप्त कराएँगे। अगले सूक्त का भी यही भाव है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दुहिता का अपतन

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ १॥

(१) **शासत्**=अपना शासन करता हुआ-अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपने वश में करता हुआ, **वह्निः**=अपने कर्त्तव्य-कर्मों का सम्यक् वहन करनेवाला यह पुरुष **दुहितुः**=(दुह प्रपूरणे) ज्ञान का प्रपूरण करनेवाली वेदवाणी के **नप्त्यम्**=अपतन, अत्याग को **गात्**=प्राप्त होता है। यह इस वेदवाणीरूप गौ के दोहन में कभी प्रमाद नहीं करता-नियमितरूप से इसके ज्ञानदुग्ध का पान करता ही है। **विद्वान्**=इसीलिए यह ज्ञानी बनता है और **ऋतस्य दीधितिम्**=उस ऋत को-सत्य को धारण करनेवाले प्रभु का **सपर्यन्**=पूजन करता है। वेदवाणीरूप गौ के दोहन के दो परिणाम हैं—(क) यह दोग्धा व उस दुग्ध का पान करनेवाला व्यक्ति ज्ञानी बनता है और (ख) प्रभु का उपासक होता है। (२) अब यह **पिता**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला व्यक्ति **यत्र**=जहाँ **दुहितुः**=उस ज्ञान का प्रपूरण करनेवाली वेदवाणी के **सेकम्**=ज्ञानदुग्ध के सेचन को **ऋञ्जन्**=(प्रसाधयन्) सिद्ध करनेवाला होता है, वहाँ **शग्म्येन मनसा**=बड़े शान्त सुखकर मन से **संदधन्वे**=अपना धारण करता है, अर्थात् यह सदा शान्त प्रसन्न मनवाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौ के दोहन व उस ज्ञानदुग्ध-पान के तीन परिणाम हैं—(क) ज्ञान प्राप्ति, (ख) प्रभु के उपासन की वृत्ति और (ग) रक्षणात्मक कार्यों में लगना।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानप्राप्ति ही मूल धर्म है

न जामये तान्वो रिक्थमारैक्चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥ २॥

(१) **तान्वः**=(तनु विस्तारे) यह अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला व्यक्ति **जामये**=सद्गुणों को जन्म देनेवाली इस वेदवाणी रूप बहिन के लिए **रिक्थम्**=धन को **न आरैक्**=नहीं बचा रखता, अर्थात् अधिक से अधिक इस धन का व्यय करता हुआ ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह उस **सनितुः**=सब ऐश्वर्यों का सम्भजन (सेवन) करनेवाले प्रभु के **गर्भम्**=ग्रहण को (गर्भ=joining, union) मेल को, **निधानं चकार**=अपना कोश बनाता है। प्रभु के साथ मेल को ही अपनी सर्वमहान् सम्पत्ति समझता है। (२) **यद् ई**=जब निश्चय से **मातरः**=जीवन का निर्माण करनेवाली ये ज्ञानवाणियाँ **वह्निं जनयन्त**=अपने कर्त्तव्य-कर्म करनेवाले को बनाती हैं, तब **अन्यः**=कोई एक **सुकृतोः कर्ता**=उत्तम यज्ञादि कर्म करनेवाला बनता है तथा **अन्यः**=दूसरा **ऋन्धन्**=अपने को सद्गुणों से सुभूषित करता हुआ होता है।

भावार्थ—हम ज्ञानप्राप्ति के लिए धन का व्यय करें-प्रभुप्राप्ति को ही अपना कोश समझें। ज्ञानवाणियों का अध्ययन करते हुए उत्तम कर्मों को करनेवाले बनें तथा सद्गुणों से अपने को सुभूषित करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महान् विकास

अग्निर्जज्ञे जुह्वा३ रेजमानो महस्पुत्राँ अरुषस्य प्रयक्षे।
महान्गर्भो मह्याजातमेषां मही प्रवृद्धर्यश्वस्य यज्ञैः॥ ३॥

(१) यह **अग्निः**=अग्रणी-उन्नतिपथ पर अपने को ले चलनेवाला, **जज्ञे**=बनता है। **जुह्वा**=दानपूर्वक अदन की क्रिया से (हु दानादनयोः) यज्ञशेष-सेवन द्वारा **रेजमानः**=यह दीप्तजीवनवाला होता है। **महः पुत्रान्**=तेजस्विता के पुतलों को-तेजस्वी पुरुषों को **प्रयक्षे**=यह अपने साथ सम्पृक्त करने के लिए होता है। इनके सम्पर्क द्वारा **अरुषस्य**=उस आरोचमान प्रभु के **प्रयक्षे**=पूजन के लिए प्रवृत्त होता है। (२) प्रभुपूजन द्वारा यह **महान् गर्भः**=(यो गृह्णाति स गर्भः) उस प्रभु को अपने अन्दर ग्रहण करनेवाला 'महान् गर्भ' बनता है। **एषाम्**=इन व्यक्तियों का-प्रभु का ग्रहण करनेवालों का **महि आजातम्**=महान् प्रादुर्भाव होता है। इस प्रभुप्राप्ति द्वारा शक्तियों के विकासवाले **हर्यश्वस्य**=(हरिः अश्व) दुःखों का हरण करनेवाले इन्द्रियाश्वोंवाले की **यज्ञैः**=यज्ञों द्वारा **प्रवृत्**=प्रवृत्ति **मही**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व आदरणीय होती है, अर्थात् यह सदा यज्ञादि महत्त्वपूर्ण कार्यों में प्रवृत्त रहता है।

भावार्थ—प्रभुपूजन द्वारा प्रभु को अपने अन्दर धारण करनेवाला व्यक्ति सदा यज्ञादि उत्तम कार्य करनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रकाशमय जीवन

अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधानं महि ज्योतिस्तमसो निरजानन्।
तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः॥ ४॥

(१) **स्पृधानम्**=वासनारूप शत्रुओं के साथ स्पर्धा करनेवाले-उनको पराजित करने की कामनावाले इन्द्र के **अभिप्रति जैत्रीः असचन्त**=शत्रुओं को पराजित करनेवाली शक्तियाँ संगत होती हैं। यह विजय की शक्तियों को प्राप्त करता है। ये **तमसः**=अन्धकार से दूर होकर (तमसो मा ज्योतिर्गमय) **महि ज्योतिः**=महनीय ज्ञान प्रकाश को **निरजानन्**=निश्चय से जानते हैं। इनके जीवन में से अन्धकार विनष्ट हो जाता है और ये प्रकाश को प्राप्त करते हैं। (२) **तं प्रति**=इसके प्रति ही **जानतीः**=ज्ञानप्रकाश को देनेवाली **उषासः**=उषाएँ **उदायन्**=उद्गत होती हैं, अर्थात् यह प्रतिदिन उषाकालों में स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। इस प्रकार यह **गवां पतिः अभवत्**=इन्द्रियों का स्वामी बनता है और **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **एकः**=(एके मुख्यान्यकेवलाः) मुख्य स्थिति-परम पद को प्राप्त करता है-इसका जीवन सामान्य लोगों के जीवनों से विलक्षण ही होता है और यह सदा आनन्द में विचरता है (वल्)।

भावार्थ—वासनाओं को पराजित करनेवाला व्यक्ति प्रकाशमय जीवन प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

(आवृत्त-चक्षुष्कता) प्रत्यगात्मदर्शन

वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन्प्राचाहिन्वन्मनसा सप्त विप्राः।
विश्वामविन्दन्पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश॥ ५॥

(१) **वीडौ**=बड़ी दृढ़ विषयरूपी पर्वत गुफा में **सतीः**=होती हुई इन इन्द्रियरूप गौवों का **अभि**=लक्ष्य करके **धीराः**=धीर-पुरुष **अतृन्दन्**=इस विषय-पर्वत को हिंसित करते हैं। इस पर्वत को विदीर्ण करके ही तो वे इन्द्रियरूप गौवों को फिर से प्राप्त कर सकेंगे। विषय इन्द्रियों का अपहरण करते हैं। धीर-पुरुष उन्हें विषय-व्यावृत्त करके पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। **विप्राः**=ये ज्ञानी पुरुष **सप्त**=इन सात इन्द्रियों को (कर्णाविमौ नासिके चक्षुणी मुखम्) **प्राचा**=प्रकृष्ट गतिवाले **मनसा**=मन से **अहिन्वन्**=विषयजाल से बाहिर निकालते हैं (निरगमयन् सा०)। मन को उत्कृष्ट चिन्तनवाला बनाते हुए ये धीर-पुरुष इन्द्रियों को विषयों की ओर नहीं जाने देते। (२) इसी उद्देश्य से ये धीर-पुरुष **विश्वाम्**=सब सत्यज्ञानों से युक्त **ऋतस्य**=सत्य की **पथ्याम्**=साधनभूत-सत्य व यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाली इस वेदवाणी को **अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं। **ता**=उन सत्य ज्ञानों को **प्रजानन्**=जानता हुआ **इत्**=निश्चय से **नमसा**=नमन द्वारा **आविवेश**=प्रभु में प्रवेश करता है।

भावार्थ—धीर-पुरुष इन्द्रियों को विषय-व्यावृत्त करके, सत्यज्ञान की साधनभूत वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करता हुआ, नमन द्वारा प्रभु में प्रवेश करता है।

अथ षष्ठो वर्गः॥ ६॥

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अविनाशी तत्त्वों की ओर

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥ ६॥

(१) गतिशील होने से-विषयों में प्रसृत होने से बुद्धि 'सरमा' कहलाती है (सृगतौ)। **यदि**=यदि **सरमा**=बुद्धि **अद्रेः**=पर्वत के **रुग्णम्**=विदारण को **विदद्**=प्राप्त करती है, अर्थात् विषय-पर्वत को विनष्ट करती है, तो **महि**=महनीय **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवाले **सध्र्यक्**=(सह अञ्चति) प्रभुस्मरण के साथ गतिवाले **पाथः**=मार्ग को **कः**=करती है, अर्थात् यदि बुद्धि से विषयों की हेयता को सोचकर मनुष्य इन विषयों में नहीं फँसता तो प्रभुस्मरण के साथ उत्कृष्ट मार्ग पर चलता है। (२) **सुपदी**=उत्तम गतिवाली यह बुद्धि **अग्रं नयत्**=मनुष्य को आगे और आगे ले चलती है। **रवम्**=हृदयस्थ प्रभु की वाणी को **जानती**=जानती हुई यह बुद्धि **प्रथमा**=अत्यन्त विस्तारवाली होती हुई, **अक्षराणां अच्छा**=अविनाशी तत्त्वों की ओर **गात्**=चलनेवाली होती है। यह बुद्धि विषयरूप क्षर पदार्थों की ओर झुकाववाली नहीं होती।

भावार्थ—बुद्धि विषय-पर्वत का विदारण करके उत्कृष्ट मार्ग पर चलती है। प्रभु-प्रेरणा को सुनती हुई नश्वर विषयों की ओर झुकाववाली नहीं होती।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का मित्र कौन?

अगच्छदु विप्रतमः सखीयन्नसूदयत्सुकृते गर्भमद्रिः।
समान मर्यो युवभिर्मखस्यन्नथाभवदङ्गिराः सद्यो अर्चन्॥ ७॥

(१) **विप्रतमः**=ज्ञानी पुरुष **उ**=निश्चय से **सखीयन्**=प्रभु से मित्रता की कामना करता हुआ-सखा प्रभु को अपनाना चाहता हुआ **अगच्छत्**=गति करता है। इसके सब कार्य इस दृष्टिकोण से होते हैं कि यह प्रभु को प्रीणित कर सके। (२) **अद्रिः**=(one who adores) यह प्रभु का

पूजन करनेवाला **सुकृते**=उत्तम कर्मों के होने पर (कृतं=कर्म) **गर्भम्**=उस सबके अन्दर निवास करनेवाले प्रभु को **असूदयत्**=अपने अन्दर प्रेरित करता है, अर्थात् यह प्रभु को अपने अन्दर देखने के लिए यत्नशील होता है। (३) **मर्यः**=यह आसुरवृत्तियों को नष्ट करनेवाला मनुष्य **युवभिः**=अपने युवा सन्तानों के साथ **मखस्यन्**=यशों की कामना करता हुआ **ससान**=उस प्रभु का सम्भजन करता है। **अथ**=अब यह **अर्चन्**=प्रभु-पूजन करता हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **अंगिराः अभवत्**=अंग-प्रत्यंग में रसवाला होता है। इसका शरीर सूखे काठ की तरह जीवनीशक्ति से शून्य नहीं हो जाता।

भावार्थ—प्रभुमित्रता की कामनावाला, (क) ज्ञान प्राप्त करता है, (ख) उत्तम कर्मों को करता है, (ग) सन्तानों के साथ यज्ञादि में प्रवृत्त होता है और (घ) अंग-प्रत्यंग में जीवनीशक्ति से परिपूर्ण होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अवद्य-मोचन

सतःसतः प्रतिमानं पुरोभूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम्।
प्र णो दिवः पदवीर्गव्युरर्चन्त्सखा सखीँरमुञ्चन्निरवद्यात्॥ ८॥

(१) वे प्रभु **सतः सतः**=प्रत्येक सद्वस्तु के **प्रतिमानम्**=प्रतिमान हैं-अपनी इयत्ता से मापनेवाले हैं। वस्तुतः प्रत्येक सद्वस्तु को उस-उस उत्तमता को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **पुरोभूः**=वे इस सृष्टि से पहले से ही हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'। वे प्रभु **जनिमा वेद**=सब उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं को जानते हैं। उनकी अध्यक्षता में ही प्रकृति इन चराचर पदार्थों को जन्म देती है। प्रभु ही **शुष्णम्**=हमारा शोषण करनेवाले इस कामदेव को **हन्ति**=विनष्ट करते हैं। (२) वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **दिवः पदवीः**=ज्ञानमार्ग पर ले चलनेवाले हैं। **गव्युः**=हमारे लिए इन प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त कराने की कामनावाले हैं। **अर्चन् सखा**=(अर्च् to shine) वे हमारे देदीप्यमान मित्र हैं। अपनी इस ज्ञानदीप्ति द्वारा **सखीन्**=हम मित्रों को **अवद्यात्**=अशुभ व पाप से **निरमुञ्चत्**=मुक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक हैं। सब सूर्यादि को जहाँ देवत्व (दीप्ति) प्राप्त करा रहे हैं, वहाँ हमें भी, वासना-विनाश द्वारा पाप से मुक्त कर रहे हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मोक्ष-मार्ग

नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
इदं चिन्नु सदनं भूर्येषां येन मासाँ असिषासन्नृतेन॥ ९॥

(१) **अमृतत्वाय**=मोक्षप्राप्ति के लिए-नीरोग पद की प्राप्ति के लिए **गव्यता**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की प्राप्ति की कामनावाले **मनसा**=मन से **अर्कैः**=स्तुति मन्त्रों के साथ **निसेदुः**=उपासना में निषण्ण होते हैं। नीरोगता व अन्ततः मोक्षप्राप्ति का मार्ग यह है कि—(क) मन में इन्द्रियों को पवित्र बनाने की कामना करें, (ख) प्रभु की अर्चना के साधनभूत मन्त्रों को अपनाएँ, (ग) सदा नियमितरूप से उपासना में बैठें। (२) **एषाम्**=इनका **इदम्**=यह **सदनम्**=उपासना में बैठना, **चित् नु**=निश्चय से **भूरि**=अत्यन्त उत्तम पोषण करनेवाला है (भृ=धारण पोषणयोः)। यह उपासना में स्थित होना वह है **ये न**=जिस से **मासान्**=मासों को, काल विभागों को **ऋतेन**=ऋत द्वारा **असिषासन्**=सेवन करने की कामनावाले होते हैं। उपासना के होने पर इनका सारा समय ऋत व्यवहारपूर्वक बीतता

है–उपासना इनके जीवन में से अनृत को दूर कर देती है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें ऋत (सत्य) की ओर ले चलता है। यह ऋत हमारी नीरोगता व मोक्ष का कारण होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आत्मदर्शन का आनन्द

संपश्यमाना अमदन्नभि स्वं पयः प्रत्नस्य रेतसो दुघानाः।
वि रोदसी अतपद्घोष एषां जाते निःष्ठामदधुर्गोषु वीरान्॥ १०॥

(१) गतमन्त्र के उपासक **स्वं अभि**=आत्मा को लक्ष्य करके **संपश्यमानाः**=सम्यक् दर्शन करते हुए **अमदन्**=आनन्द प्राप्त करते हैं। आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हुए आनन्द का अनुभव करते हैं। **प्रत्नस्य रेतसः**=सनातन रेतस् के, विज्ञान के (उदकमिव विज्ञानं द० ७।३३।१३) **पयः दुघानाः**=दुग्ध का अपने में प्रपूरण करते हैं। वेद ही 'प्रत्न रेतस्' है–सनातन विज्ञान है। इससे दिये जानेवाले ज्ञान का ये अपने में पूरण करते हैं। (२) **एषाम्**=इन (क) आत्मतत्त्व का दर्शन करनेवाले व (ख) वेद विज्ञान का अपने में पूरण करनेवाले लोगों का **घोषम्**=प्रभुस्तवन का शब्द **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **वि अतपद्**=विशिष्टरूप से दीप्त करता है। प्रभु–स्तवन द्वारा ये मस्तिष्क को उज्ज्वल व शरीर को तेजोदीप्त (तेजस्वी) बनाते हैं। (३) **जाते**=विकास में **निष्ठाम्**=(firm adherence) दृढ़ विश्वास को **अदधुः**=धारण करते हैं। विकास के लिए कटिबद्ध होकर चलते हैं और **गोषु वीरान्**=(प्राणा वै दश वीराः यजु० १९।४८) इन्द्रियों में प्राणों को स्थापित करते हैं–इन्द्रियों को सशक्त बनाते हैं। इनकी एक–एक इन्द्रिय प्राणशक्ति–सम्पन्न बनी रहती है।

भावार्थ—उत्कृष्ट जीवन यह है कि—(क) आत्मदर्शन करते हुए हम आनन्द का अनुभव करें, (ख) सनातन वेदवाणी के ज्ञान का अपने में पूरण करें, (ग) प्रभुस्तवन से मस्तिष्क को उज्ज्वल व शरीर को तेजस्वी बनाएँ, (घ) विकास में निष्ठा को करें और (ङ) इन्द्रियों को सशक्त बनाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हव्य+अर्क

स जातेभिर्वृत्रहा सेदु हव्यैरुदुस्रिया असृजदिन्द्रो अर्कैः।
उरूच्यस्मै घृतवद्भरन्ती मधु स्वाद्म दुदुहे जेन्या गौः॥ ११॥

(१) **सः**=वह गतमन्त्र का उपासक **जातेभिः**=इन्द्रिय–शक्तियों के विकास द्वारा **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करनेवाला होता है। **सः इत् उ**=यह वासना को विनष्ट करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष ही **हव्यैः**=अग्निहोत्रादि द्वारा तथा **अर्कैः**=उपासना–मन्त्रों द्वारा, अर्थात् यज्ञों व उपासनाओं द्वारा **उस्त्रियाः**=(brightness, light) ज्ञान–प्रकाशों को **उद् असृजत्**=अपने अन्दर उत्कर्षेण निर्मित करता है। (२) **अस्मै**=इसके लिए **उरूची**=(उरु अञ्चति) व्यापक ज्ञानवाली, **घृतवत् भरन्ती**=मलों के क्षरण व दीप्तिवाले भरण (=पोषण) को करती हुई, अर्थात् इसके जीवन को निर्मल व दीप्त बनाती हुई, **जेन्या**=विजय प्राप्त करानेवाली यह **गौः**=वेदवाणीरूप गौ **स्वाद्म मधु**=अत्यन्त आनन्दप्रद सारभूत ज्ञान को **दुदुहे**=दोहती है। वेदवाणी से इसे वह ज्ञान प्राप्त होता है, जो इसके जीवन को मधुर बनाता है। वेदवाणी व्यापक ज्ञानवाली होने से 'उरूची' है। हमारे जीवनों को निर्मल व दीप्त बनाने के कारण यह 'घृतवद् भरन्ती' है। हमें विजयी बनाने

से यह 'जेन्या' है। इसका ज्ञानदुग्ध 'मधु स्वाद्म' है। इसका स्वादिष्ट व मधुर ज्ञानदुग्ध हमारे जीवन को भी आनन्दयुक्त व मधुर बनाता है।

भावार्थ—वासना को विनष्ट करके हम ज्ञान प्राप्त करें। इससे ही हमारा जीवन मधुर व आनन्दमय बनेगा। यह जीवन यज्ञों (हव्य) व स्तवन (अर्क) से परिपूर्ण होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पितृ-सदन

पित्रे चिच्चक्रुः सदनं समस्मै महि त्विषीमत्सुकृतो वि हि ख्यन्।
विष्कभ्नन्तः स्कम्भनेना जनित्री आसीना ऊर्ध्वं रभसं वि मिन्वन्॥ १२ ॥

(१) **अस्मै**=इस **पित्रे**=सम्पूर्ण संसार के पिता (रक्षक) परमात्मा के लिए **चित्**=निश्चय से **महि**=पूजा की वृत्तिवाले, **त्विषीमत्**=ज्ञान की दीप्तिवाले **सदनम्**=हृदयरूप निवास-स्थान को **संचक्रुः**=सम्यक् बनाते हैं, अर्थात् हृदय को उपासना व ज्ञान से निर्मल व दीप्त करके उसमें प्रभु को आसीन करते हैं। ये **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **हि**=ही **विख्यन्**=विशेषरूप से उस प्रभु का साक्षात्कार करते हैं। (२) ये लोग **जनित्री**=सब शक्तियों के आविर्भाववाले (जनी प्रादुर्भावे) द्यावापृथिवी, मस्तिष्क व शरीर को **स्कम्भनेन**=वीर्यशक्ति के स्कम्भन द्वारा **विष्कभ्नन्तः**=विशेषरूप से धारण करते हुए, **ऊर्ध्वं आसीनाः**=वासनाओं से ऊपर स्थित हुए-हुए, अर्थात् विषय वासनाओं में न फँसे हुए **रभसम्**=(joy, pleasure, delight) आनन्द का **विमिन्वन्**=अपने में विशेषरूप से स्थापन करते हैं (विशेषेणास्थापयन् सा०)।

भावार्थ—हम हृदयों को पवित्र व दीप्त बनाकर वहाँ प्रभु को आसीन करें-प्रभु की उपासना करें। वीर्य के संयम से मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाकर, विषयों में न फँसते हुए, आनन्द में स्थित हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अजय्यता

मही यदि धिषणा शिश्नथे धात्सद्योवृधं विभ्वं१ रोदस्योः।
गिरो यस्मिन्ननवद्याः समीचीर्विश्वा इन्द्राय तविषीरनुत्ताः॥ १३ ॥

(१) **यदि**=यदि **मही धिषणा**=प्रभुपूजन की वृत्तिवाली बुद्धि **शिश्नथे**=वासनाओं के संहार के लिए (श्नथति हिंसाकर्मा नि० २।१९) उस प्रभु को **धात्**=धारण करती है, जो कि **सद्योवृधम्**=शीघ्र ही उपासक की वृद्धि का कारण बनते हैं, जो **रोदस्योः विभ्वम्**=द्यावापृथिवी में व्याप्त हैं और **यस्मिन्**=जिनमें **अनवद्याः**=अत्यन्त प्रशस्त **गिरः**=ये वेदवाणियाँ **समीचीः**=संगत हैं, तो इस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **विश्वाः**=सब **तविषीः**=बल **अनुत्ताः**=न धकेले जानेवाले, अर्थात् स्थिर होते हैं। (२) प्रभु उपासक को शीघ्र वृद्धि को प्राप्त करानेवाले हैं। वे सर्वत्र व्याप्त हैं। सब प्रशस्त ज्ञानवाणियों के आधार हैं। यदि हम अपनी बुद्धि को परमात्मा में स्थापित करें, अर्थात् बुद्धि द्वारा प्रभु का ही उपासन करें, तो प्रभु हमें वह शक्ति प्राप्त कराएँगे, जिसे कि कोई भी शत्रु धकेल न सकेगा। हम अपनी शक्ति से शत्रुओं के लिए अजय्य होंगे।

भावार्थ—हम बुद्धि द्वारा प्रभु का ही उपासन करें। प्रभु हमें उस शक्ति से सम्पन्न करेंगे जो कि हमें अजय्य बना देगी।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गौवें व ग्वाला

मह्या ते सख्यं वश्मि शक्तीरा वृत्रघ्ने नियुतो यन्ति पूर्वीः।
महि स्तोत्रमव आगन्म सूरेरस्माकं सु मघवन्बोधि गोपाः॥ १४॥

(१) हे प्रभो! मैं **ते**=आपकी **महि सख्यम्**=महनीय-अत्यन्त प्रशंसनीय मित्रता को **आवश्मि**=सर्वथा चाहता हूँ। इस आपकी मित्रता द्वारा **शक्तीः**=शक्तियों को चाहता हूँ। **वृत्रघ्ने**=मेरी वासना को विनष्ट करनेवाले आपके लिए **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **नियुतः**=इन्द्रियरूप अश्व **आयन्ति**=सब ओर से आते हैं, अर्थात् मैं अपनी इन्द्रियों को विषय व्यावृत्त करके आपकी ओर लाता हूँ-आपकी कृपा से मेरी वासनाएँ विनष्ट होती हैं। (२) हम **सूरेः**=सर्वज्ञ व (सू प्रेरणे) उत्तम प्रेरणा देनेवाले आपके प्रति **महि स्तोत्रम्**=महनीय स्तोत्र को तथा **अवः**=हविर्लक्षण अन्न को **आगन्म**=प्राप्त कराते हैं। आपका स्तवन करते हैं और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवान् प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारे **सुगोपाः**=उत्तम रक्षक **बोधि**=होने का ध्यान करिए। हम गौवें हों, आप हमारे गोप। आप से रक्षित होने पर ये वासनारूप हिंस्र पशु हमारे पर आक्रमण न कर सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के मित्र बनें। हम गौवें हों, प्रभु हमारे गोप। तभी वासनाएँ हमारे पर प्रबल न हो पायेंगी।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वप्रद प्रभु

महि क्षेत्रं पुरु श्चन्द्रं विविद्वानादित्सखिभ्यश्चरथं समैरत्।
इन्द्रो नृभिरजनद्दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम्॥ १५॥

(१) वे प्रभु **महि क्षेत्रम्**=महत्त्वपूर्ण क्षेत्र को-अन्नादि की उत्पत्तिके साधनभूत भूमिभाग को **पुरुश्चन्द्रम्**=पालन व पूरण के लिए पर्याप्त हिरण्य को (चन्द्रं=हिरण्यं) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन को **विविद्वान्**=प्राप्त करानेवाले प्रभु (विद् लाभे) **आद् इत्**=अब निश्चय से **सखिभ्यः**=अपने मित्र जीवों के लिए **चरथम्**=(chariot) गाड़ी को **समैरत्**=प्राप्त कराते हैं। प्रभु कृपा से हमें 'भूमि, धन व रथ' प्राप्त होते हैं। (२) **दीद्यानः**=ज्ञानदीप्त होते हुए वे प्रभु **नृभिः**=मनुष्यों के हेतु से **साकम्**=साथ-साथ ही **सूर्यम्**=सूर्य को **उषसम्**=उषा को **गातुम्**=गमन की साधनभूत पृथिवी को **अग्निम्**=यज्ञादि कर्मों की साधनभूत अग्नि को **अजनत्**=उत्पन्न करते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य, उषा, पृथिवी, अग्नि आदि की साथ-साथ ही उत्पत्ति हुई। इनके होने पर ही मनुष्यों के सब कार्य सम्पन्न हो सकते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए अन्नोत्पादक भूमिभागों को, धनों को व रथों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ने हमारे लिए 'सूर्य, उषा, पृथिवी व अग्नि' को उत्पन्न किया है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

जल

अपश्चिदेष विभ्वो३ दमूनाः प्र सध्रीचीरसृजद्विश्वश्चन्द्राः।
मध्वः पुनानाः कविभिः पवित्रैर्द्युभिर्हिन्वन्त्यक्तुभिर्धनुत्रीः॥ १६॥

(१) **एषः**=यह **दमूनाः**=सब का दमन करनेवाला प्रभु **विभ्वः**=संसार में सर्वत्र व्याप्त **सध्रीचीः**=प्रजाओं के साथ विचरण करनेवाले, प्राण आपोमय हैं, अतः ये जल प्राणियों के साथ विचरते ही हैं, **विश्वश्चन्द्राः**=सबको आह्लादित करनेवाले **अपः**=जलों को **प्र असृजत्**=प्रकर्षेण रचता है। प्रभु ने जलों की रचना की है-ये जल सर्वत्र व्याप्त हैं, सब प्राणियों की प्राणशक्ति का कारण होते हैं, आह्लाद को प्राप्त कराते हैं। (२) उत्पन्न हुए-हुए ये जल **पवित्रैः**=पवित्र हृदयवाले **कविभिः**=ज्ञानियों से सम्यग् विनियुक्त हुए-हुए **मध्वः**=शरीरस्थ सोमकणों (वीर्यकणों) को **पुनानाः**=पवित्र करते हुए हैं-शीतलजल से कटि-स्नान वीर्यदोषों को उत्पन्न नहीं होने देता और इस प्रकार **धनुत्रीः**=प्रजाओं को प्रीणित करनेवाले हैं, उनकी कमियों को दूर करके तृप्ति की अनुभव करानेवाले हैं। ये जल **द्युभिः अहुभिः**=दिन-रात **हिन्वन्ति**=गति कर रहे हैं। गति ही इन्हें पवित्र बनाती है। ठहरा हुआ पानी सड़ने लगता है।

भावार्थ—प्रभु ने जलों का निर्माण किया है, ये हमारे जीवनों को आह्लादमय बनाते हैं। हमारे सोमकणों को ये पवित्र करते हैं। इन शक्तियों को पवित्र करके ये हमें प्रीणित करनेवाले हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अहोरात्र व मरुत्

अनु॑ कृ॒ष्णे वसु॑धिती जिहाते उ॒भे सूर्य॑स्य मं॒हना॒ यज॑त्रे।
परि॒ यत्ते॑ महि॒मानं॑ वृ॒जध्यै॒ सखा॑य इन्द्र॒ काम्या॑ ऋजि॒प्याः॥ १७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! **सूर्यस्य**=सम्पूर्ण जगत् के उत्तम प्रेरक आपकी **मंहना**=महिमा से **उभे**=ये दोनों **वसुधिती**=सब वसुओं (धनों) को धारण करनेवाले **कृष्णे**=एक दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले **यजत्रे**=परस्पर संगत दिन व रात **अनुजिहाते**=एक दूसरे के बाद गतिवाले होते हैं। रात्रि के बाद दिन व दिन के बाद रात्रि का क्रम चलता ही है। रात्रि अपनी ओर दिन को आकृष्ट करती है, दिन अपनी ओर रात्रि को। ये दोनों परस्पर पति-पत्नी की तरह संगत हैं, दिन पति है तो रात्रि पत्नी। (२) हे इन्द्र! **यत्**=जब **ते महिमानं (अनु)**=तेरी महिमा के अनुसार **ऋजिप्याः**=ऋजु गतिवाले (ओप्यायी वृद्धौ) व ऋजुता का वर्धन करनेवाले **काम्याः**=कमनीय-सुन्दर **सखायः**=तेरे मित्रभूत ये मरुत् (वायु) **परि**=चारों ओर गतिवाले होते हैं, ये **वृजध्यै**=सब रोगकृमि आदि के वर्जन के लिए होते हैं। प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना के समय शरीर के अन्दर गति करते हुए ये प्राणरूप वायु शरीरस्थ रोगों व वासनाओं को विनष्ट करते हैं। वासनाओं को विनष्ट करके ये हमें प्रभु सामीप्य प्राप्त कराते हैं, अतएव ये हमारे सच्चे सखा हैं। प्राणसाधना द्वारा ये हमारे में ऋजुता का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा से ही दिन-रात का सुन्दर चक्र चलता है और वायुओं का प्रवाह बहता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुप्राप्ति का मार्ग

पति॑र्भव वृत्रहन्त्सू॒नृता॑नां गि॒रां वि॒श्वायु॑र्वृष॒भो व॑यो॒धाः।
आ नो॑ गहि स॒ख्येभि॑: शि॒वेभि॑र्म॒हान्म॒हीभि॑रू॒तिभि॑: सर॒ण्यन्॥ १८॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले! तू **सूनृतानां गिराम्**=प्रिय सत्यवाणियों का **पतिः**=स्वामी **भव**=हो। सदा प्रिय सत्यवाणियों को ही तू बोल। **विश्वायुः**=तू पूर्ण जीवनवाला

हो—शरीर में स्वस्थ, मन में शान्त तथा मस्तिष्क में दीप्त। **वृषभः**=सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला हो। **वयोधाः**=(वयः=अन्नं) उत्कृष्ट अन्न का धारण करनेवाला हो। इस उत्कृष्ट अन्न के सेवन से ही तेरा जीवन उत्तम बनेगा। (२) **शिवेभिः**=कल्याणकर **सख्येभिः**=मित्रताओं से तू **नः**=हमारे प्रति **आगहि**=आनेवाला हो। संसार में सबके प्रति तेरा मित्रता का भाव हो। तेरी मित्रता शिव हो—सबका कल्याण करनेवाली हो। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है। **महान्**=तू विशाल हृदय बन। **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों द्वारा **सरण्यन्**=गमन की इच्छावाला हो। तू सदा क्रियामय जीवनवाला हो और तेरी क्रियाएँ सभी का रक्षण करनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) प्रिय सत्यवाणी को अपनाएँ, (ख) शरीर, मन व बुद्धि तीनों को ठीक रखते हुए जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करें, (ग) सबके साथ मित्रता से चलें, (घ) हमारी प्रवृत्ति रक्षणात्मक हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्रोह से दूर

तम॑ङ्गिर॒स्वन्नम॑सा स॒प॒र्यन्नव्यं॑ कृणोमि॒ सन्य॑से पु॒रा॒जाम्।
द्रुहो॒ वि या॑हि बहु॒ला अदे॑वीः॒ स्व॑श्च नो मघवन्त्सा॒तये॑ धाः॥ १९॥

(१) हे इन्द्र! **तम्**=उन आपको **अंगिरस्वत्**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले पुरुष की तरह **नमसा**=नमन द्वारा **सपर्यन्**=पूजा करता हुआ मैं **पुराजाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रादुर्भूत होनेवाली वेदवाणी के **सन्यसे**=सम्भजन के लिए-प्राप्त करने के लिए **नव्यं कृणोमि**=अपने अन्दर फिर से नया करता हूँ-आपकी स्मृति को तरोताजा करता हूँ। प्रतिदिन आपका स्तवन करता हुआ आपको न भूलने का प्रयत्न करता हूँ। प्रभु के स्मरण से पवित्रता व बुद्धि की निर्मलता होकर ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। (२) हे प्रभो! **अदेवीः**=दिव्यता से दूर ले जानेवाली **बहुलाः**=अनेकों **द्रुहः**=द्रोह की भावनाओं को **वियाहि**=हमारे से दूर करिए। **च**=और हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिये **स्वः**=प्रकाश को **धाः**=धारण कीजिए, ताकि **सातये**=हम आपका सम्भजन कर सकें। जब हम प्रकाश को प्राप्त करते हैं और अदिव्य भावनाओं से ऊपर उठते हैं, तभी प्रभुप्राप्ति के पात्र बन पाते हैं।

भावार्थ—सबल अंगोंवाले (अंगिरस्वत्) होते हुए हम प्रतिदिन प्रभु का स्तवन करें ताकि प्रभु को भूल न जाएँ। इसी से हमें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होगा और हम द्रोह आदि अशुभ वृत्तियों से ऊपर उठकर प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञानों के पारंगत

मिहः॑ पाव॒काः प्रत॑ता अभूवन्त्स्व॒स्ति नः॑ पिपृहि पा॒रमा॑साम्।
इन्द्र॒ त्वं र॑थिरः पा॒हि नो॑ रि॒षो म॒क्षूम॑क्षू कृणुहि गो॒जितो॑ नः॥ २०॥

(१) हे **इन्द्र**=सहस्र सूर्य सम ज्योतिवाले प्रभो! आपके **पावकाः**=पवित्र करनेवाले **मिहः**=ज्ञानजलों के वर्षण **प्रतताः**=प्रकर्षेण विस्तृत **अभूवन्**=हुए हैं। आपने कृपा करके हमारे लिए इन ज्ञानजलों का वर्षण किया है। इन द्वारा **नः स्वस्ति**=हमारा कल्याण हो। आप हमारे में **आसां पारं पिपृहि**=इनके परले सिरे का पूरण करिए, अर्थात् आप हमें इन ज्ञानों से पारंगत करिए। हम इन ज्ञानों को पूर्णतया प्राप्त करनेवाले हों। (२) हे इन्द्र! **त्वम्**=आप ही **रथिरः**=मेरे इस शरीर

रथ के संचालक हैं। आप **नः**=हमें **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=बचाइये। हम वासनाओं से हिंसित न हों। **मक्षूमक्षू**=शीघ्र ही-अत्यन्त शीघ्र **नः**=हमें **गोजितः**=इन इन्द्रियरूप गौवों का विजेता **कृणुहि**=करिए। हम जितेन्द्रिय बनकर, वासनाओं से हिंसित न होते हुए आपको प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये ज्ञानों के हम पारंगत हो। इनद्वारा जीवनों को पवित्र बनाते हुए, जितेन्द्रिय बनकर, प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वासना-विनाश

अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गा अन्तः कृष्णाँ अरुषैर्धामभिर्गात्।
प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः॥ २१॥

(१) **वृत्रहा**=हमारी वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **गोपतिः**=सब ज्ञान की वाणियों के स्वामी प्रभु **गाः**=ज्ञानवाणियों को **अदेदिष्ट**=हमारे लिए देते हैं-इन ज्ञानवाणियों का उपदेश हमारे लिए करते हैं। और इस प्रकार इन ज्ञान-वाणियों के **अरुषैः धामभिः**=आरोचमान तेजों से **कृष्णान्**=इन कालिमा को लिए हुए आसुरभावों को **अन्तः गात्**=अन्तर्हित कर देते हैं। प्रभु ज्ञानप्रकाश द्वारा हमारे आसुरभावों को विनष्ट करते हैं। (२) वे प्रभु **ऋतेन**=ऋत के हेतु से, इसलिए कि हमारा जीवन ऋतवाला हो, **सूनृताः**=प्रिय सत्य वेदवाणियों का **प्रदिशमानः**=उपदेश करते हैं **च**=और **विश्वाः**=सब **दुरः**=इन्द्रिय-द्वारों को और **स्वाः**=अपनी उन ज्ञान-वाणियों को (गाः) हमारे लिए **अवृणोत्**=विवृत कर देते हैं-खोल देते हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को विकसित करते हैं और हमारे लिए ज्ञानवाणियों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानदेकर हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नृतम प्रभु

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ २२॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात का प्रतिपादन कर रहा है कि वासनाओं का विनाश करें, ज्ञान को बढ़ाते हुए परमात्मा को प्राप्त करनेवाले बनें। इसी उद्देश्य से हमें सोम का रक्षण करना है। गृहस्थ में भी इस सोम का अपव्यय नहीं करना। इसी भावना के प्रतिपादन से अगले सूक्त का प्रारम्भ है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

माध्यन्दिन-सवन को सुन्दर बनाना

इन्द्र सोमं सोमपते पिबेमं माध्यंदिनं सवनं चारु यत्ते।
प्रप्रुथ्या शिप्रे मघवन्नृजीषिन्विमुच्या हरी इह मादयस्व॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सोमपते**=सोम का रक्षण करनेवाले! **इमं सोमं पिब**=इस सोम को (=वीर्यशक्ति को) तू अपने अन्दर पीनेवाला बन-सोम को अपने अन्दर सुरक्षित कर।

यत्=जो **ते**=तेरा **माध्यन्दिनं सवनम्**=जीवन का मध्याह्न यज्ञ है-गृहस्थ का समय है, २४ से ६८ तक ४४ वर्ष का मध्य जीवन है वह भी **चारु**=अत्यन्त सुन्दर हो। जीवन के प्रातःसवन में, प्रथम २४ वर्षों में तूने सोम का पान किया था, अब इन ४४ वर्षों में भी सोम का रक्षण करना है। (२) हे **मघवन्**=(मघ=मख) यज्ञमय जीवनवाले, **ऋजीषिन्**=ऋजुमार्ग से गति करनेवाले (ऋजु+इष्) इन्द्र! तू **शिप्रे**=हनू व नासिकाओं का **प्रपुथ्या**=(पोथृपर्यासौ) पूरण करके-इनकी कमियों को दूर करके **हरी**=अपने इन्द्रियाश्वों को **विमुच्या**=प्रतिक्षण विषयरूप घास चरने से मुक्त करके **इह**=इस जीवन में **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर। हनुओं (जबड़ों) की न्यूनता को दूर करने का भाव यह है कि हम हितकर भोजन को मात्रा में चबाकर खाएँ। नासिका के पूरण का भाव यह है कि हम प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना करनेवाले बनें। इन्द्रियाश्वों की मुक्ति यही है कि उन्हें विषयों से पृथक् रखें। इस प्रकार सोमरक्षण करते हुए हम जीवन को सुन्दर बनाएँ।

भावार्थ—गृहस्थ जीवन में भी सोमरक्षण का हम पूरा ध्यान करें। परिमित खाएँ, प्राणायाम करें। इन्द्रियों को विषयों में न फँसने देकर जीवन के वास्तविक आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण के लाभ

गवाशिरं मन्थिनमिन्द्र शुक्रं पिबा सोमं ररिमा ते मदाय।
ब्रह्मकृता मारुतेना गणेन सजोषा रुद्रैस्तृपदा वृषस्व॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सोमं पिबा**=तू सोमपान करनेवाला हो। यह सोम **गवाशिरम्**=इन्द्रियों के दोषों को विनष्ट करनेवाला है। (गौ=इन्द्रिय, शृ हिंसायाम्) **मन्थिनम्**=विचार (मन्थ्) शक्ति को जन्म देनेवाला है। **शुक्रम्**=यह जीवन को शुक्र (उज्ज्वल) बनानेवाला है। प्रभु कहते हैं कि हम **ते मदाय**=तेरे आनन्द के लिए **ररिमा**=इसे तुझे देते हैं। इसके रक्षण में ही शक्ति का रक्षण है-शक्ति रक्षण में ही आनन्द है। (२) **ब्रह्मकृता**=ज्ञान उत्पन्न करनेवाले **मारुतेन गणेन**=इन प्राणों के समूह से **सजोषाः**=समान प्रीतिवाला होता हुआ तू **रुद्रैः**=रोगों का द्रावण करनेवाले इन प्राणों से **तृपत्**=प्रीणित होता हुआ **आवृषस्व**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाला बन। प्राणसाधना द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, उससे ज्ञानाग्नि का दीपन होता है-इसीलिए यहाँ इस 'मारुतगण' को 'ब्रह्मकृत्' कहा गया है। ये मरुत् रोगों का द्रावण करने से रुद्र व रुद्रपुत्र कहलाते हैं। इन द्वारा शरीर में शक्ति का रक्षण होता है। यही शरीर में शक्ति का सेचन है।

भावार्थ—सब उन्नतियों का मूल सोम का रक्षण है। प्राणसाधना द्वारा इसका रक्षण होता है। रक्षित हुआ-हुआ सोम इन्द्रियदोषों को शीर्ण करता है, ज्ञान को बढ़ाता है और जीवन को उज्ज्वल बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुष्म-तविषी-ओजस्

ये ते शुष्मं ये तविषीमवर्धन्नर्चन्त इन्द्र मरुतस्त ओजः।
माध्यन्दिने सवने वज्रहस्त पिबा रुद्रेभिः सगणः सुशिप्र॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ये मरुतः**=जो प्राण **अर्चन्तः**=प्रभु का उपासन करते हुए **ते**=तेरे **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को, मानस बल को तथा **ये**=जो **तविषीम्**=तेरे शारीरिक बल को **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं, ये मरुत् (प्राण) **ते ओजः**=तेरे ओज को भी **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं। इस ओज

से ही तेरे अंग-प्रत्यंगों की शक्ति का वर्धन होता है। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का भी निरोध होता है। निरुद्ध चित्तवृत्ति प्रभु का स्मरण करती है। यही प्राणों का प्रभु अर्चन है। (२) हे **वज्रहस्त**=क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथ में लिये हुए जीव! **सुशिप्र**=शोभन हनू व नासिकाओंवाले, अर्थात् भोजन को ठीक रूप में खानेवाले तथा प्राणसाधना करनेवाले जीव! तू **रुद्रेभिः सगणः**=इन प्राणों द्वारा कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के गण से युक्त हुआ हुआ **माध्यन्दिने सवने**=इस माध्यन्दिन-सवन में-जीवन के मध्याह्न में-गृहस्थ काल में भी **पिबा**=सोम पान करनेवाला बन। सोमरक्षण के लिये प्रथम साधन 'क्रियाशीलता' है-क्रिया में लगे रहने से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता। इस प्रकार यह क्रियाशीलता सोमरक्षण का साधन हो जाती है। सोमरक्षण का दूसरा साधन भोजन का नियम है-सौम्य भोजन ही, समय पर मात्रा में किया जाये तो सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। तीसरा साधन प्राणायाम है, इससे सोमकणों की ऊर्ध्वगति होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मानसबल बढ़कर वासनाओं का शोषण होता है (शुष्म)। इससे शरीर का बल बढ़कर नीरोगता प्राप्त होती है (तविषी)। इससे ओजस्विता बढ़कर सब इन्द्रियशक्तियाँ ठीक रहती हैं (ओजस्)। सोमरक्षण के लिए 'क्रियाशीलता-सौम्य भोजन व प्राणायाम' साधन हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

इन्द्र के साथी मरुत्

त इन्न्वस्य मधुमद्विविप्र इन्द्रस्य शर्धो मरुतो य आसन्।
येभिर्वृत्रस्येषितो विवेदामर्मणो मन्यमानस्य मर्म ॥ ४ ॥

(१) **ये**=जो **मरुतः**=प्राण **आसन्**=थे **ते**=वे ही **इत् नु**=निश्चय से **अस्य इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के **मधुमत् शर्धः**=माधुर्य से युक्त बल को **विविप्रे**=(विप् क्षेपणे-प्रेरणे) प्रेरित करते हैं। प्राणों द्वारा ही शरीर में शक्ति का रक्षण होता है और नीरोगता व निर्मलता से जीवन माधुर्य-युक्त होता है, (२) ये बल वे होते हैं **येभिः**=जिनसे **इषितः**=प्रेरित हुआ-हुआ यह इन्द्र **अमर्मणः**=अज्ञात मर्मवाले **मन्यमानस्य**=अतएव अहन्तव्यता के गर्ववाले **वृत्रस्य**=ज्ञान के आवरणभूत कामदेव के **मर्म**=मर्म को **विवेद**=अच्छी प्रकार जान लेता है। इस ज्ञानाग्नि के बल द्वारा ही इस काम का यह विध्वंस कर देता है। यह सब कार्य इन्द्र इन मरुतों के साहाय्य से ही कर पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होकर वह बल प्राप्त होता है, जिससे कि इन्द्र वृत्र का (काम का) विध्वंस करनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

निरन्तर यज्ञशीलता

मनुष्वदिन्द्र सवनं जुषाणः पिबा सोमं शश्वते वीर्याय।
स आ ववृत्स्व हर्यश्व यज्ञैः सरण्युभिरपो अर्णा सिसर्षि ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष तू **मनुष्वत्**=एक समझदार व्यक्ति की तरह **सवनं जुषाणः**=यज्ञों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **शश्वते वीर्याय**=प्लुतगतिवाले-स्फूर्ति को जन्म देनेवाले वीर्य के लिए **सोमम्**=सोम का **पिबा**=पान कर। यज्ञों में लगे रहने से तू सोमरक्षण करनेवाला हो। इस सोमरक्षण से तुझे वह शक्ति प्राप्त होगी, जिससे कि तेरे में स्फूर्ति बनी रहेगी। (२) इसलिए हे **हर्यश्व**=प्रभु की ओर मुझे ले जानेवाले इन इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **सरण्युभिः**=निरन्तर चलनेवाले **यज्ञैः**=यज्ञों से **आववृत्स्व**=जीवन में वर्तनेवाला हो। इन यज्ञों में लगे रहने से तू रक्षित

अपः=रेत:कणों द्वारा **अर्णा**=ज्ञानजलों को **सिसर्षि**=अपने अन्दर प्रेरित करता है। यज्ञों में लगे रहने से वासनाएँ आक्रमण नहीं कर पातीं। वासना-विनाश से रेत:कणों का रक्षण होता है। रेत:कणों के रक्षण से ज्ञानाग्नि का दीपन होकर ज्ञान बढ़ता है।

भावार्थ—'यज्ञों में लगे रहना, उससे वासना विनाश, उससे रेत:रक्षण, उससे ज्ञानाग्नि का दीपन' इस क्रम को समझते हुए पुरुष को चाहिए कि जीवन में यज्ञों को न रुकने दे। निरन्तर यज्ञमय बने।

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**विराट्पङ्क्ति:** ॥ स्वर:—**पञ्चम:** ॥

शरीरांगण में रेत:कण रूप अश्वों की गति

त्वमपो यद्ध वृत्रं जघन्वाँ अत्याँइव प्रासृज: सर्तवाजौ।
शयानमिन्द्र चरता वधेन वव्रिवांसं परि देवीरदेवम्॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **यत्**=जब **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **जघन्वान्**=नष्ट करता है, तब **अप:**=रेत:कणों को **सर्तव:**=शरीर में गति के लिए **प्रासृज:**=उसी प्रकार प्रसृष्ट करता है, **इव**=जैसे कि **आजौ**=संग्राम में **अत्यान्**=घोड़ों को प्रसृष्ट किया जाता है। युद्ध में प्रेरित घोड़े रणांगण में गति करते हुए शत्रुओं का विनाश करते हैं, इसी प्रकार शरीर में प्रेरित रेत:कण रोगकृमिरूप शत्रुओं का विनाश करते हैं। (२) हे इन्द्र! तू **चरता वधेन**=क्रियाशीलतारूप वृत्रवधसाधना आयुध से **देवी:**=दिव्य ज्ञानजलों को **वव्रिवांसम्**=आवृत किये हुए **अदेवम्**=इस कामवासनारूप आसुरभाव को, **शयानम्**=अपने अन्दर ही निवास करते हुए को नष्ट करता है। इस वृत्र विनाश होने पर रेत:कण शरीर में ही व्याप्त होते हैं। शरीर नीरोग बनता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता से वृत्र का विनाश होकर रेत:कणों की शरीर में ही गति होती है। उसी से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है।

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

'वृद्ध, बृहन्, ऋष्व, अजर व युवा' इन्द्र

यजाम इन्नमसा वृद्धमिन्द्रं बृहन्तमृष्वमजरं युवानम्।
यस्य प्रिये ममतुर्यज्ञियस्य न रोदसी महिमानं ममाते॥ ७ ॥

(१) हम **नमसा**=नमन द्वारा **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **यजाम**=यजन (पूजन) करते हैं, जो कि **वृद्धम्**=सदा से बढ़े हुए हैं, **बृहन्तम्**=महान् हैं, **ऋष्वम्**=दर्शनीय हैं व स्तोतव्य हैं **अजरम्**=न जीर्ण होनेवाले हैं, **युवानम्**=सदा युवा हैं। अजर होने से नित्यतरुण हैं। अथवा सब बुराइयों का अमिश्रण व अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले हैं। इन प्रभु का पूजन करता हुआ मैं भी प्रभु की तरह 'वृद्ध, बृहन्, ऋष्व, अजर व युवा' बनता हूँ। (२) ये प्रभु वे हैं **यस्य**=जिन **यज्ञियस्य**=उपास्य की **महिमानम्**=महिमा को ये **प्रिये**=प्राणिमात्र को प्रीणित करनेवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी **न ममतु:**=नहीं मापते **न ममाते**=और नहीं ही माप पाते। अनन्त से विशाल होते हुए भी ये द्यावापृथिवी प्रभु की महिमा को मापने में समर्थ नहीं। वे प्रभु इन दिक् काल आदि से अवच्छिन्न नहीं हैं।

भावार्थ—दिक् कालादि से न सीमित प्रभु का उपासन नमन द्वारा होता है। इसके उपासन से हम वृद्ध व युवा बनते हैं—बढ़ते हुए, नित्यतरुण।

सूचना—यहाँ 'वृद्ध होते हुए युवा' यह वचन विरोधाभास अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की अटल व्यवस्था

इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः॥ ८॥

(१) **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **कर्म**=काम **सुकृता**=उत्तमता से किये गये हैं और **पुरूणि**=वे सब जीवों का पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु के बनाये हुए सूर्य-चन्द्र आदि देव हमारे लिए सब आवश्यक पदार्थों को देते हुए हमारा पालन करते हैं। (२) **विश्वे**=ये सब **देवाः**=सूर्य आदि देव **व्रतानि**=प्रभु के नियमों का **न मिनन्ति**=हिंसन नहीं करते हैं। प्रभु की व्यवस्था में चलते हुए ये सूर्यादि देव कभी भी मार्ग का अतिक्रमण नहीं करते। (३) **यः**=जो प्रभु **पृथिवीम्**=अन्तरिक्ष को, **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमा**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहे हैं, वे **सुदंसाः**=उत्तम कर्मोंवाले प्रभु ही **सूर्यम्**=सूर्य को व **उषसम्**=उषा को **जजान**=जन्म देते हैं-प्रादुर्भूत करते हैं। बाह्य संसार के इन लोकों की तरह वे हमारे जीवनों में भी विस्तृत हृदयान्तरिक्ष को (पृथिवीम्), दीप्त मस्तिष्करूप द्युलोक को, दृढ़ शरीररूप पृथिवी को, ज्ञान के सूर्य को तथा वासनान्धकार का दहन करनेवाली उषा (उष दाहे) को जन्म देते हैं।

भावार्थ—प्रभु के कर्म उत्तमता से किये गये व पालक हैं। सब लोक व देव प्रभु की व्यवस्था को नहीं तोड़ते। प्रभु ही 'अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथिवी, सूर्य व उषा' को जन्म देते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिक् कालानवच्छिन्न प्रभु

अद्रोघ सत्यं तव तन्महित्वं सद्यो यज्जातो अपिबो ह सोमम्।
न द्याव इन्द्र तवसस्त ओजो नाहा न मासाः शरदो वरन्त॥ ९॥

(१) हे **अद्रोघ**=द्रोहवर्जित प्रभो! सब प्रकार की द्रोह भावनाओं से रहित प्रभो! **तव**=आपकी **तत् महित्वम्**=वह महिमा **सत्यम्**=सत्य है, **यत्**=जो कि **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **ह**=निश्चय से **सोमं अपिबः**=सोमपान करते हो। वस्तुतः जिस समय हम ध्यान द्वारा हृदय में प्रभु को आसीन करते हैं, त्यों ही वासनाओं का विनाश हो जाता है और हम शरीर में सोम का रक्षण कर पाते हैं। यही प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभु का सोमपान है। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **तवसः**=महान् **ते**=आपके **ओजः**=ओज को **द्यावः**=द्युलोक से उपलक्षित सब लोक **न वरन्त**=आवृत नहीं कर पाते। आपका ओज सर्वलोकातीत है। लोकों की तरह आपके ओज को **अहा**=दिन **न वरन्त**=आवृत नहीं करते। **मासाः**=चैत्र आदि मास भी आपके तेज को आवृत नहीं कर पाते। **शरदः**=वर्ष भी आपके उस तेज को परिच्छिन्न करनेवाले नहीं होते। आपका तेज स्थान व समय से सीमित नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु दिक् काल आदि से अनवच्छिन्न व अनन्त हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभुस्मरण व सोमरक्षण

त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन्।
यद्ध द्यावापृथिवी आविवेशीरथाभवः पूर्व्यः कारुधायाः॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए **परमे व्योमन्**=इस हृदय-देश रूप परम आकाश में **सद्यः**=शीघ्र ही **सोमं अपिबः**=सोम का पान करते हैं और **मदाय**=हर्ष के लिए होते हैं। हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही वासनाओं का विनाश होता है, सोम का (वीर्य का) रक्षण होता है और जीवन में उल्लास का अनुभव होता है। (२) **यत्**=जो **ह**=निश्चय से आप **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **आविवेशीः**=प्रवेश करते हैं-उनमें व्याप्त होते हैं तो **अथा**=तब **पूर्व्यः**=हमारा पालन व पूरण करनेवालों में सर्वोत्तम **अभवः**=होते हैं और **कारुधायाः**=कुशलतापूर्वक सबका निर्माण व धारण करनेवाले होते हैं, हमारे द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्कों व शरीरों का भी पालन व पूरण व धारण प्रभु ही करते हैं।

भावार्थ—हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश होने पर शरीर में सोमरक्षण होकर आनन्द की प्राप्ति होती है। हमारे मस्तिष्क व शरीर का तभी उत्तमता से धारण होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्माण्ड को एक कक्ष में धारण करनेवाले प्रभु

अहन्नहिं परिशयानमर्णं ओजायमानं तुविजात तव्यान्।
न ते महित्वमनु भूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या३ क्षामवस्थाः ॥ ११ ॥

(१) हे **तुविजात**=महान् विकासवाले-अत्यन्त विशाल आकाश आदि लोकों को जन्म देनेवाले प्रभो! **तव्यान्**=अत्यन्त प्रवृद्ध-बलवान्, आप **अर्णः परिशयानम्**=ज्ञानजल को आवृत करके निवास करनेवाले, ज्ञान के आवरणभूत, **ओजायमानम्**=अत्यन्त प्रबल **अहिम्**=इस विनाशक 'काम' को (=वृत्र को) **अहन्**=नष्ट करते हैं। प्रभु का प्रकाश होते ही वासना का विनाश हो जाता है। (२) **अध**=अब **द्यौः**=यह विशाल आकाश **ते महित्वम्**=आपकी महिमा को **न अनुभूत्**=नहीं अनुभव कर पाता-नहीं माप पाता **यत्**=चूँकि आप **अन्यया स्फिग्या**=एक पार्श्व से (कटि प्रदेश से) **क्षाम्**=पृथिवी को **अवस्थः**=आच्छादित करके ठहर रहे हैं। आप एक ओर द्युलोक को व दूसरी ओर पृथिवी को छू रहे हैं और वास्तव में तो इनको अपने एक देश से व्याप्त करके इनसे महान् हो रहे हैं 'त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः'।

भावार्थ—प्रभु महान् हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में व्याप्त किये हुए हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञों में व्यापृति

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूदुत प्रियः सुतसोमो मियेधः।
यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन्यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत्॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यज्ञः**=यज्ञ **हि**=निश्चय से **ते**=तेरा **वर्धनः**=बढ़ानेवाला **भूत्**=हो। यज्ञ द्वारा तू अपने जीवन को पवित्र बना सके 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'। यह तेरी सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करता हुआ तुझे बढ़ाये 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'। **उत**=और यह यज्ञ तुझे **प्रियः**=प्रिय हो-यज्ञ में तेरी रुचि हो। यज्ञ में लगे रहने से **सुतसोमः**=तू सोम का सम्पादन करनेवाला हो। यज्ञ में व्यापृति तुझे वासनामय दुनिया से दूर रखेगी और तू सोम का रक्षक होगा-शक्ति को शरीर में सुरक्षित कर पाएगा। इस शक्तिरक्षण से **मियेधः**=तू पवित्र होगा। (२) इस प्रकार **यज्ञियः**=यज्ञों में प्रवृत्त रहनेवाला **सन्**=होता हुआ तू **यज्ञेन**=इन यज्ञों द्वारा **यज्ञम्**=उस उपास्य प्रभु को **अव**=प्राप्त होनेवाला हो (अव् गतौ)। **यज्ञः**=यह उपास्य प्रभु **अहिहत्ये**=वासना

को विनष्ट करने के निमित्त **ते वज्रम्**=तेरे क्रियाशीलतारूप इस वज्र को **आवत्**=रक्षित करे। प्रभु की उपासना से तू क्रियाशील बने और इस क्रियाशीलता द्वारा वासना का शिकार होने से बचा रहे।

भावार्थ—हम यज्ञों में सदा लगे रहें। यही प्रभु की उपासना का भी मार्ग है और प्रभु हमें वासनाओं से बचाने के लिये ही इन यज्ञों में प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु को अपने अभिमुख करना

यज्ञेनेन्द्रमवसा चक्रे अर्वागैनं सुम्नाय नव्यसे ववृत्याम्।
यः स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिर्यो मध्यमेभिरुत नूतनेभिः॥ १३॥

(१) **यज्ञेन**=यज्ञ द्वारा **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवसा**=रक्षण के हेतु से **अर्वाग्**=अपने अभिमुख **आचक्रे**=मैं सर्वथा करता हूँ। **एनम्**=इस प्रभु को **नव्यसे**=अत्यन्त स्तुत्य व उत्कृष्ट **सुम्नाय**=सुख व धन के लिए मैं **आववृत्याम्**=अपनी ओर आवृत्त करता हूँ। यज्ञों द्वारा हम प्रभु को अपने अभिमुख करनेवाले होते हैं। ऐसा करने पर हमें प्रभु से रक्षण प्राप्त होता है तथा प्रभु हमारे लिए अत्यन्त स्तुत्य सुख व धन प्राप्त कराते हैं। (२) उस प्रभु को मैं अपनी ओर आवृत्त करता हूँ, **यः**=जो **पूर्व्येभिः स्तोमेभिः**=दिन के पूर्वभाग में-उषाकाल प्रबुद्ध होने के समय किये जानेवाले स्तोत्रों से **वावृधे**=बढ़ते हैं-इन स्तोमों द्वारा प्रभु की महिमा का प्रतिपादन होता है। **यः**=जो प्रभु **मध्यमेभिः**=दिन के मध्य में होनेवाले स्तोमों से हमारे जीवनों में वृद्धि को प्राप्त होते हैं **उत**=तथा **नूतनेभिः**=इस दिन के अवसान में, अभी होनेवाले, नवीन स्तोमों से भी वे प्रभु वृद्धि को प्राप्त होते हैं। यहाँ हमारे अन्दर प्रभु की भावना के बढ़ने को ही 'प्रभु का बढ़ना' कहा गया है। जितना-जितना हम प्रभु का अपने में वर्धन करते हैं, उतना-उतना ही हम वासनाओं से अपने को बचा पाते हैं और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्रातः, सायं व दिन मध्य में भी समय-समय पर हम प्रभु का स्मरण करें। यह स्मरण हमारा रक्षण करेगा और हमें स्तुत्य धन व सुख प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवन में प्रभुस्मरण (मृत्यु से पूर्व ही)

विवेष यन्मा धिषणा जजान स्तवै पुरा पार्यादिन्द्रमह्नः।
अंहसो यत्र पीपरद्यथा नो नावेव यान्तमुभये हवन्ते॥ १४॥

(१) **यत्**=जब **मा**=मुझे **धिषणा**=बुद्धि **विवेष**=व्याप्त करती है और **जजान**=मेरे में प्रादुर्भूत व विकसित होती है, तब मैं **पार्यात् अह्नः पुरा**=जीवन के परले पार होनेवाले दिन से पूर्व ही, अर्थात् मृत्युदिवस से पहले ही **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **स्तवै**=स्तवन करता हूँ। समझदार व्यक्ति जीवनकाल में प्रभु का स्मरण करता है ताकि उसकी शक्ति ठीक बनी रहे और वह वैषयिक-पंक में न फँस जाए। (२) इसलिए मैं प्रभु का स्मरण करता हूँ कि **यथा**=जिससे वे प्रभु **यः**=हमें **अंहसः**=पाप से **पीपरत्**=पार करते हैं। पाप से वे प्रभु हमें इस प्रकार पार ले जाते हैं कि **यत्र**=जहाँ पाप से पार हो जाने पर इस उपासक को **उभये**=भौतिक व अध्यात्म वृत्तिवाले दोनों ही पुरुष इस प्रकार **हवन्ते**=पुकारते हैं, **इव**=जैसे कि **नावा**=नौका से **यान्तम्**=जाते हुए को **उभये**=दोनों तटों पर होनेवाले लोग **हवन्ते**=पुकारते हैं। इस पार के लोग यदि भौतिकवृत्ति के हैं, तो उस पार के लोग अध्यात्मवृत्ति के हैं। उपासक ब्रह्मरूप नाव से पार जानेवाला है। उपासक को भौतिकवृत्ति

के लोग उत्कृष्ट होने के कारण आदर देते हैं तथा अध्यात्मवृत्तिवालों के प्रेम का यह पात्र होता है।

भावार्थ—समझदार व्यक्ति मृत्यु से पूर्व ही प्रभु का स्मरण करता है। यह भौतिकवृत्तिवालों के आदर व अध्यात्मवृत्तिवालों के प्रेम का पात्र होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कलश की आपूर्णता

आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।
समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम्॥ १५ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित यौवन में ही प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होनेवाले **अस्य**=इसका **कलशः**=यह शरीररूप कलश **आपूर्णः**=सोम से पूर्ण होता है। इसके रेतःकण इस शरीर-कलश में ही सुरक्षित रहते हैं। इनके रक्षण से **स्वाहा**=यह व्यक्ति उत्तम त्यागवाला होता है-अपने जीवन को ही यह प्राजापत्य यज्ञ में आहुत कर देता है। **इव**=जैसे एक **सेक्ता**=सेचन करनेवाला भूमि का सेचन करता है, उसी प्रकार मैं **कोशे**=इस शरीरकोष को सुरक्षित रेतःकणों से **सिसिचे**=सिक्त करता हूँ। इस प्रकार यह सोम **पिबध्यै**=मेरे पान के लिए होता है। इसे मैं शरीर में ही पीने का प्रयत्न करता हूँ। (२) **उ**=निश्चय से **प्रियाः**=प्रीणित करनेवाले ये **सोमासः**=सोमकण **इन्द्रं अभि**=इन्द्र की ओर **प्रदक्षिणित्**=प्रकृष्ट दाक्षिण्य (सरलता) के साथ **सं अववृत्तन्**=सम्यक् प्राप्त होते हैं और ये **मदाय**=उस इन्द्र को-जितेन्द्रिय पुरुष को हर्षित करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष अपने शरीर-कलश को सोमकणों से पूर्ण करने का प्रयत्न करता है। वीर्य को शरीर में ही पीने का प्रयत्न करता है। यह सुरक्षित वीर्य उसके आनन्द का कारण बनता है।

सूचना—'कलश' शब्द का अर्थ 'कलाः शेरतेऽस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से १६ कलाओं का आधारभूत यह शरीर है। इसका अर्थ सोम ही किया जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा 'अस्य कलशः आपूर्णः' इस जितेन्द्रिय पुरुष का सोम शरीर में ही आपूर्ण होता है-चारों ओर व्याप्त होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्राप्ति में रुकावट का न होना

न त्वा गभीरः पुरुहूत सिन्धुर्नाद्रयः परि षन्तो वरन्त।
इत्था सखिभ्य इषितो यदिन्द्रा दृळ्हं चिदरुजो गव्यमूर्वम्॥ १६ ॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **न**=न तो **त्वा**=आपको **गभीरः सिन्धुः**=यह गहरा समुद्र, **च**=और नां ही **परि**=चारों ओर **सन्तः**=होते हुए ये **अद्रयः**=पर्वत **वरन्त**=हमारे समीप प्राप्त होने से रोक सकते हैं। प्रभुप्राप्ति में समुद्र व पर्वतों ने क्या बाधक होना! प्रभु तो हमारे हृदयों के ही अन्दर विद्यमान हैं। (२) **इत्था**=सचमुच हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब आप **सखिभ्यः**=अपने मित्रभूत इन जीवों से **इषितः**=चाहे जाते हैं-प्रार्थना किए जाते हैं तो **दृढं चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **गव्यम्**=इन्द्रियों के लिए बने हुए **उर्वम्**=विषयों के बाड़े को **अरुजः**=आप विदीर्ण करनेवाले होते हैं। इस विषय-व्रज को विदीर्ण करके आप अपने मित्रभूत उपासक की इन्द्रियरूप गौवों को मुक्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—उपासक के मार्ग में प्रभुप्राप्ति के लिए समुद्र व पर्वत रुकावट नहीं बन पाते। प्रभु

उपासकों से प्रार्थित होने पर उनकी इन्द्रियरूप गौवों को विषयों के बाड़े से मुक्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन विजय

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ १७॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त गृहस्थ में भी संयम का महत्त्व स्पष्ट कर रहा है। संयम ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है। इस संयम के लिए ही प्राणसाधना करनेवाला पुरुष इडा, पिंगला व सुषुम्णा आदि नाड़ियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। ये नाड़ियाँ 'नद्यः' कहलाती हैं, रुधिररूप जल के प्रवाहवाली नदियाँ तो ये हैं ही। इन पर प्रभुत्व को पा लेनेवाला इर्ष्या, द्वेष व क्रोध से ऊपर उठा हुआ 'विश्वामित्र' अगले सूक्त का ऋषि है। यह इन नाड़ियों के लिए कहता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विपाट्+शुतुद्रि

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वेइव विषिते हासमाने ।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥ १ ॥

(१) 'शुतुद्री' शब्द सुषुम्णा के लिए प्रयुक्त होता है। इसमें ध्यान करने से योगी शीघ्र (शु) ब्रह्मलोक को जाता है (द्रु) सो यह शुतुद्रि है (शुद्रुद्री=शुतुद्री)। इडा 'विपाश्' कहलाती है। इस नाड़ी में अभ्यास करने से योगी के अज्ञानपाश कट जाते हैं—यह अज्ञान का उत्पाटन कर देती है। ये **विपाट् शुतुद्री**=इडा व सुषुम्णा **पयसा**=ज्ञानजल के साथ **प्रजवेते**=शीघ्र गतिवाली होती हैं। इनमें प्राणों के संयम से ज्ञान की वृद्धि होती है। (२) **पर्वतानाम्**=मेरुदण्ड ही शरीरस्थ मेरुपर्वत है। उन मेरुपर्वतों के **उपस्थात्**=गोद से यह आगे बढ़ती हैं। इनका स्थान इस मेरु पर्वत में है। **उशती**=(कामयमाने) ये साधक के हित-कामनावाली हैं। ये इस प्रकार शीघ्र गतिवाली होती हैं, **इव**=जैसे कि **विषिते अश्वे**=बन्धन से रहित दो घोड़ियाँ हों। **हासमाने**=(हासतिः स्पर्धाकर्मा) घोड़ियाँ भी वे, जो कि परस्पर स्पर्धा करती हुई वेग से आगे बढ़ती हैं। ये विपाट् व शुतुद्री **शुभ्रे गावा इव**=दो शुभ्र गौवों के समान हैं। अथवा **मातरा**=दो धेनु-माताओं के समान हैं, जो कि **रिहाणे**=वत्स को चाटने की कामनावाली आगे बढ़ती है। (३) यहाँ 'शुतुद्रि' का ध्यान करते हुए घोड़ियों की उपमा दी गई है, यह परमात्मप्राप्ति के मार्ग पर हमें शीघ्रता से ले चलती है। 'विपाट्' के लिये 'मातरा गावा' की उपमा दी गई है, यह ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करानेवाली है। ये दोनों ज्ञानजल को लिये हुए, वेग से उस परमात्मा की ओर हमें ले चलती हैं। नदियाँ समुद्र की ओर, ये नाड़ियाँ उस आनन्दमय प्रभु की ओर (स+मुद्)।

भावार्थ—इडा व सुषुम्णा में प्राणों का संयम करने से हम अपना ज्ञान बढ़ाते हुए प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इडा व सुषुम्णा का मेल

इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः।
समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे॥ २॥

(१) **इन्द्रेषिते**=जितेन्द्रिय पुरुष से प्रेरित हुई-हुई, **प्रसवं भिक्षमाणे**=अन्तःस्थित प्रभु-प्रेरणा की याचना करती हुई इडा और सुषुम्णा **समुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु की ओर **याथः**=गति करती हैं। इस प्रकार गति करती हैं, **इव**=जैसे कि **रथ्या**=दो उत्तम रथवाले रथी हों। (२) ये इडा और सुषुम्णा **समाराणे**=परस्पर संगत होकर गति करती हुईं, **ऊर्मिभिः पिन्वमाने**=(ऊर्मि=Light) ज्ञानप्रकाशों से संतृप्त करती हुई, **शुभ्रे**=अत्यन्त शुभ्र हैं। जीवन को ये उज्ज्वल बनानेवाली हैं। **वाम्**=इन दो नाड़ियों में से **अन्या**=एक (इडा), **अन्यां अपि**=दूसरी (सुषुम्णा) की ओर **एति**=आती है।

भावार्थ—एक साधक इडा में प्राणों का संयम प्रारम्भ करके सुषुम्णा की ओर बढ़ता है। अब प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ने लगती है और साधक प्रभु की ओर गतिवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मातृतमा (सुषुम्णा), सुभगा (इडा)

अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु संचरन्ती॥ ३॥

(१) मैं विश्वामित्र **मातृतमाम्**=मेरे जीवन के निर्माण में सर्वोत्तम स्थान रखनेवाली, **सिन्धुम्**=उस प्रभु की ओर निरन्तर ले चलनेवाली सुषुम्णा की **अच्छा**=ओर **अयासम्**=आता हूँ। इसमें प्राणों के संयम द्वारा इसके जागरण का प्रयत्न करता हूँ। (२) **उर्वीम्**=अन्धकार दूर करके ज्ञानप्रकाश को फैलानेवाली **सुभगाम्**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली **विपाशम्**=अज्ञान की उत्पाटिका इस इडा को भी **अगन्म**=प्राप्त होता हूँ। इसमें प्राणसंयम द्वारा मस्तिष्क-गगन में ज्ञानसूर्य के उदय का प्रयत्न करता हूँ। (३) **इव मातरा**=जैसे दो गौ माताएँ **वत्सं संरिहाणे**=बछड़े को चाटकर उसे चमका रही होती हैं, इसी प्रकार ये इडा व सुषुम्णा मेरे जीवन को उज्ज्वल बनाती हुई उस **समानं योनिम्**=प्राणिमात्र के समान निवास-स्थान प्रभु की ओर **अनुसञ्चरन्ती**=गति करती हुई हैं। इनमें प्राणों का संयम करनेवाला प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ता चलता है।

भावार्थ—सुषुम्णा की साधना मेरे जीवन का निर्माण करती है तो इडा की साधना मुझे ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिवेणी-स्नान

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति॥ ४॥

(१) इडा, पिंगला, सुषुम्णा आदि नाड़ियों की ही पुरुषविधता को करके उनसे कहलाते हैं कि **वयम्**=हम **एना पयसा**=अपने इस ज्ञानजल से **पिन्वमानाः**=संतृप्त करती हुई **देवकृतं योनिम्**=प्रभु से निश्चित किये गये मार्ग पर **अनुचरन्तीः**=क्रमशः गति कर रही हैं। (२) हमारा

यह **सर्गतक्तः**=गमन में प्रवृत्त **प्रसवः**=उद्योग **वर्तवे न**=रोकने के लिए नहीं होता। एक साधक प्राणसाधना प्रारम्भ करता है, तो उसे इस प्राणसाधना में विच्छेद नहीं करना होता। 'दीर्घकाल-नैरन्तर्य-आदर सेवितो दृढभूमिः' इस योगसूत्र के अनुसार प्राणसाधना का निरन्तर चलना आवश्यक है। **किं-युः**=उस आनन्दमय-अनिरुक्त प्रजापति को प्राप्त करने की कामनावाला **विप्रः**=ज्ञानी पुरुष **नद्यः**=इन नाड़ियों को **जोहवीति**=पुकारता है। इनकी साधना से ही तो वह प्रभु को प्राप्त करेगा। इनमें प्राणों के निरोध से सब अशुभवृत्तियां दग्ध हो जाती हैं, जीवन उज्ज्वल बनता है और प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—इडा, पिंगला व सुषुम्णा में प्राणों का निरोध ही त्रिवेणी में स्नान है। इससे जीवन के नैर्मल्य की सिद्धि होती है और साधक प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कुशिक सूनु

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥ ५ ॥

(१) मैं **अवस्युः**=रक्षण की कामनावाला **कुशिकस्य सूनुः**=कुशिक का पुत्र-अत्यन्त उत्तम शब्दों का उच्चारण करनेवाला (क्रोशतेः शब्दकर्मणः नि० २।२।५) अथवा उत्तम ज्ञान के प्रकाशवाला (क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयति कर्मणः नि० २।२।५) अथवा (साधु विक्रोशयिता अर्थानाम् नि० २।२।५) अर्थों का उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाला **अह्वे**=मैं इन नाड़ियों को पुकारता हूँ कि **बृहती मनीषः**=दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई बुद्धि से **सिन्धुं अच्छा**=उस ज्ञानसमुद्र प्रभु की ओर **प्र (नयत)**=प्रकर्षेण मुझे ले चलो। इन नाड़ियों में प्राणनिरोध द्वारा मेरा अन्तःप्रकाश विकसित हो और मैं प्रभु का दर्शन करनेवाला बनूँ। (२) हे नाड़ियो! **मे**=मेरे **सोम्याय वचसे**=मेरे इस विनीततापूर्ण वचन के लिए **रमध्वम्**=तुम प्रीतिवाली होओ और **मुहूर्तम्**=कुछ देर के लिए **उप**=उस प्रभु की उपासना में स्थित हुई-हुई तुम **एवैः**=अपनी गतियों द्वारा मेरे लिए **ऋतावरीः**=उत्कृष्ट ज्ञान के जलवाली होओ। इन नाड़ियों में प्राणनिरोध होने पर ज्ञानाग्नि दीप्त होती ही है, यही विवेकख्याति की प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—इडा आदि नाड़ियों में प्राणनिरोध करता हुआ मैं अन्तःप्रकाश को प्राप्त करूँ। इसी उद्देश्य से मैं कुशिक सूनु बनूँ। (क) सदा उत्तम शब्दों का उच्चारण करनेवाला, (ख) उत्तम ज्ञान के प्रकाशवाला, (ग) अर्थों का उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाला।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नाड़ी-चक्र शुद्धि

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥ ६ ॥

(१) नाड़ियाँ मानो कहती हैं कि **वज्रबाहुः**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अस्मान्**=हमको **अरदत्**=विलेखित करता है-हमारे में मलों को जमने नहीं देता। यह **नदीनाम्**=हम नाड़ियों को **परिधिम्**=घेरकर वर्तमान **वृत्रम्**=वासनारूप ज्ञान-आवरण को **अपाहन्**=सुदूर विनष्ट करता है। वासना नाड़ियों के अन्दर विकृति को पैदा करने का कारण बनती है। इन्द्र इस वासना का विनाश करता है और नाड़ी संस्थान को विकृत नहीं होने देता।

(२) वस्तुतः सविता सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक **सुपाणिः**=उत्तम हाथोंवाला, अर्थात् प्रत्येक कार्य को बड़ी सुन्दरता से करनेवाला **देवः**=ज्ञान के प्रकाशवाला प्रभु **अनयत्**=सब नाड़ियों को ले चलता है, अर्थात् उस प्रभु की व्यवस्था में ही नाड़ियों का चक्र भी गति करता है। **तस्य**=उस प्रभु के **प्रसवे**=प्रेरण व आज्ञा में ही **वयम्**=हम **उर्वीः**=प्रभूत रुधिर जलवाली नाड़ियाँ **याम**=गति करती हैं। प्रभु ने इस नाड़ी-चक्र को बनाया है। प्रभु की अनुज्ञा में ही यह नाड़ी-चक्र चल रहा है। इसको शुद्ध रखना जितेन्द्रिय पुरुष का कर्त्तव्य है।

भावार्थ—वासना को विनष्ट करके हम नाड़ी-चक्र को शुद्ध रखें-इसमें मल का संचय न होने दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वृत्र विनाश व 'अयन'

प्रवाच्यं शश्वधा वीर्यं१ तदिन्द्रस्य कर्म यदहिं विवृश्चत्।
वि वज्रेण परिषदो जघानायन्नापोऽयनमिच्छमानाः॥ ७॥

(१) **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **तत् कर्म**=वह कार्य, **यत्**=जो कि **अहिं विवृश्चत्**=समन्तात् विनाश करनेवाली वासना को इसने छिन्न-भिन्न कर दिया, **शश्वधा**=सदा **प्रवाच्यम्**=प्रशंसनीय है-इस इन्द्र का **वीर्यम्**=यह पराक्रम वस्तुतः प्रशंसनीय है। (२) असुरों का सेनापति यह अहि (=वृत्र) है। इसके विनष्ट होने पर अन्य असुरों का पराजय कठिन नहीं होता। **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र द्वारा **परिषदः**=चारों ओर आसीन होनेवाले आसुरभावों को भी **विजघान**=इस इन्द्र ने विनष्ट कर दिया। (३) इन आसुरभावों के विनष्ट हो जाने पर **अयनम्**=(नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय) परमात्मप्राप्ति की **इच्छमानाः**=कामना करती हुई **आपः**=प्रजाएँ **आयन्**=सर्वभूतहित के दृष्टिकोण से गतिवाली हुईं। वासना को विनष्ट करके ये ब्रह्मप्राप्ति की कामनावाले लोक प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति दे डालते हैं। ये क्रियाशील होते हैं, परन्तु इनकी सब क्रियाएँ लोकहित के लिए होती हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष (क) वासना को विनष्ट करता है, (ख) परमात्म-प्राप्ति की कामनावाला होता है, (ग) लोकहित में सदा प्रवृत्त रहता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-भजन

एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठा आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि।
उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व मा नो नि कः पुरुषत्रा नमस्ते॥ ८॥

(१) हे **जरितः**=स्तोतः! **एतद् वचः**=प्रभु के लिए किये जानेवाले इन स्तुति-वचनों को **मा अपिमृष्ठाः**=तू मत भूल जाना। प्रभु स्तवन तुझे विस्मृत न हो जाए। **यत्**=जो **ते**=तेरे **उत्तरा युगानि**=आनेवाले जीवन के काल हों वे **आघोषान्**=प्रभु के नामों का घोषण करनेवाले हों। उत्तरोत्तर तेरी स्तवन की वृत्ति बढ़ती जाए। (२) हे **कारो**=स्तुति करनेवाले जीव! **उक्थेषु**=इन स्तोत्रों में **नः**=हमें **प्रति जुषस्व**=तू प्रतिदिन प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। **नः**=हमें **मा निकः**=निरादृत न करना। प्रभु को भूल जाना ही प्रभु का निरादर करना है। **पुरुषत्रा**=पुरुषों में **ते नमः**=तेरे लिए आदर का भाव हो। तुझे प्रभु-भक्त जान तुझे वे अपने हृदयों में उचित मान देनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु-भजन करनेवाले हों। उत्तरोत्तर हमारी प्रभु-भक्ति बढ़ती चले। प्रभु-भजन के कारण ही लोगों के हम समादरणीय हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नाड़ियों का वशीकरण

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन।
नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः ॥ ९ ॥

(१) यहाँ इडा आदि नाड़ियों को 'स्व-सारः' कहा है। ये जीव को आत्मतत्त्व की ओर ले चलती हैं। इनमें प्राणनिरोध होने पर वह विवेकख्याति उत्पन्न होती है, जिसमें कि शरीर व आत्मा को हम विविक्तरूप में देख रहे होते हैं। हे **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर गतिवाली नाड़ियो! **कारवे**=मुझ स्तोता के लिए **सु**=अच्छी प्रकार **अशृणोत उ**=तुम सुननेवाली होओ-तुम मेरी बात को भली प्रकार सुनो। मैं **अनसा**=इस प्राणशक्ति-सम्पन्न **रथेन**=रथ के साथ **वः**=तुम्हें **दूरात् ययौ**=दूर से प्राप्त हुआ हूँ। संसार के विषयों का परित्याग करके मैं तुम्हारी साधना में प्रवृत्त हुआ हूँ। (२) तुम मेरे प्रति **सु**=अच्छी प्रकार **निनमध्वम्**=झुकनेवाली होओ, अर्थात् मेरे वश में होओ। मैं जिस भी नाड़ी में प्राणों का संयम करना चाहूँ, वहीं प्राणों का संयम कर पाऊँ। तुम मुझे **सुपाराः भवता**=विषय-समुद्र से अच्छी प्रकार पार ले जानेवाली होओ। हे **सिन्धवः**=रुधिर के प्रवाहवाली नाड़ियो! तुम **स्रोत्याभिः**=अपने प्रवाहों से **अधो अक्षाः**=इन्द्रियों को मेरे नीचे (अधीन) करनेवाली होओ। प्राणसाधना करता हुआ मैं तुम्हारे में प्राणनिरोध द्वारा इन्द्रियों को अपने वश में करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा मैं नाड़ियों पर पूर्ण प्रभुत्ववाला बनूँ। इनको वश में करके मैं इन्द्रियों को वश में करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नाड़ियों की अनुकूलता

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥ १० ॥

(१) नाड़ियाँ साधक को उत्तर देती हैं—हे कारो! स्तुति-वचनों के कर्तः! **ते**=तेरे **वचांसि**=वचनों को **आशृणवाम**=सर्वथा सुनती हैं। तू **अनसा रथेन**=इस प्राणशक्ति-सम्पन्न शरीर-रथ द्वारा **दूरात् ययाथ**=विषय वासनाओं का परित्याग करके दूर से हमारे पास आया है। (२) **इव**=जैसे **पीप्याना**=बच्चे को दूध पिलाती हुई **योषा**=स्त्री दुग्धपायी बालक के लिए झुकती है, इसी प्रकार हम **ते**=तेरे लिए **नंसै**=झुकती हैं-अनुकूल होती हैं। **इव**=उसी प्रकार हम **ते**=तेरे लिए झुकती हैं, **इव**=जैसे कि **कन्या**=एक कन्या **मर्याय**=पिता व भाई आदि के लिए **शश्वचै**=आलिंगन के लिए झुकती है। वस्तुतः प्राणसाधना द्वारा इन नाड़ियों को जब ठीक प्रकार से रुधिर की गतिवाला हम करते हैं, तो इनकी अनुकूलता प्राप्त करते ही हैं। विषय-वासनाओं को छोड़कर इस साधना में लगना ही, सुदूर रथ से इनके समीप प्राप्त होना है। जब एक साधक इस साधना में प्रवृत्त होता है, तो नाड़ियाँ उसके अनुकूल होती हैं-मानो उसकी बात को सुनती हैं।

भावार्थ—हम विषयव्यावृत्त होकर प्राणसाधना द्वारा नाड़ियों में रुधिर की गति को ठीक करें। इस प्रकार नाड़ियों की अनुकूलता से हमें पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भरत

यद॒ङ्ग त्वा॑ भर॒ताः स॒न्तरे॑युर्ग॒व्यन्ग्राम॑ इषि॒त इन्द्र॑जूतः।
अर्षा॒दह॑ प्रस॒वः सर्ग॑तक्त॒ आ वो॑ वृणे सु॒म॒तिं य॒ज्ञिया॑नाम्॥ ११ ॥

(१) हे **अंग**=(अगि गतौ) गतिशील नाड़ीचक्र! **त्वा**=तुझे **भरताः**=अपना उचित भरण-पोषण करनेवाले व्यक्ति **संतरेयुः**=तैर जाएँ। नाड़ी-चक्र में उत्पन्न हो जानेवाले दोषों को ये दूर कर सकें। यह भरतों का **ग्रामः**=समूह **गव्यन्**=इन्द्रियों को अपनाने की कामनावाला है-इन्द्रियों का शक्तिवर्धन उसका उद्देश्य है। **इषितः**=यह इसी उद्देश्य से निरन्तर प्रेरित हो रहा है, शक्तिवर्धन के कार्यों में निरन्तर लगा हुआ है। **इन्द्रजूतः**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से निरन्तर प्रेरित होकर ही यह कार्यों में व्यापृत होता है। (२) इन भरतों का **सर्गतक्तः**=यह गमन में प्रवृत्त **प्रसवः**=उद्योग **अह**=निश्चय से **अर्षात्**=गतिवाला बना रहे, अर्थात् ये अपने इस कार्य में कभी शिथिल न हो जाएँ। ये साधना में लगे ही रहें। मैं भी **वः**=आपके (इन नाड़ियों के) **यज्ञियानाम्**=(यज संगतिकरणे) इन संगतिकरण में उत्तम पुरुषों की **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **आवृणे**=सर्वथा वरता हूँ। जो पुरुष इस नाड़ी-चक्र की शुद्धि की साधना में प्रवृत्त हैं, उन पुरुषों की सुमति का मैं भी वरण करता हूँ, अर्थात् मैं भी उनकी ही तरह साधना में प्रवृत्त होता हूँ।

भावार्थ—हमारा प्राणसाधना द्वारा नाड़ी-चक्र शोधन का कार्य अविरतरूप से सदा चले। इस कार्य में प्रवृत्त होने पर हम युक्ताहार-विहार द्वारा अपना ठीक से भरण करनेवाले 'भरत' बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमति की प्राप्ति

अता॑रिषुर्भर॒ता ग॒व्यवः॒ सम॑भक्त॒ विप्रः॑ सु॒म॒तिं न॒दीना॑म्।
प्र पि॑न्वध्वमि॒षय॑न्तीः सु॒राधा॒ आ व॒क्षणाः॑ पृ॒णध्वं॑ या॒त शीभ॑म्॥ १२ ॥

(१) **गव्यवः**=इन्द्रियरूप गौवों को चाहते हुए **भरताः**=युक्ताहार-विहार द्वारा अपना ठीक भरण करनेवाले पुरुष **अतारिषुः**=इस नाड़ी-चक्र के सब दोषों को दूर करनेवाले होते हैं। **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला विश्वामित्र **नदीनाम्**='इडा, पिंगला व सुषुम्णा' नामक नाड़ियों की शुद्धि से प्राप्त होनेवाली **सुमतिम्**=शुभ बुद्धि को **समभक्त**=सेवन करनेवाला होता है। (२) **इषयन्तीः**=प्रभुप्रेरणा प्राप्त करानेवाली होती हुई **प्र-पिन्वध्वम्**=हमारा प्रकर्षेण प्रीणन करनेवाली होओ। **सुराधाः**=उत्तम सफलता प्राप्त करानेवाली **वक्षणाः**=उन्नति की कारणभूत (वक्ष्=to grow) नाड़ियो! **आपृणध्वम्**=(सर्वतः पूरयत) सब उत्तमताओं को हमारे में भरनेवाली होओ और **शीभम्**=शीघ्रता से **यात**=गतिवाली होओ। इन नाड़ियों में रुधिर का प्रवाह ठीक से होता रहे और हमारे स्वास्थ्य में किसी प्रकार की कमी न रहे।

भावार्थ—हम नाड़ियों को निर्दोष बनाकर अपनी सब कमियों को दूर करनेवाले हों। इस साधना से हमें सुमति प्राप्त हो और हम सब प्रकार से अपना पूरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

उत्साह व निष्पापता

उद्व॑ ऊ॒र्मिः शम्या॑ ह॒न्त्वापो॒ योक्त्रा॑णि मुञ्चत। मादु॑ष्कृतौ॒ व्ये॑नसा॒घ्न्यौ शून॒मार॑ताम्॥ १३ ॥

(१) हे नाड़ियो! **वः**=तुम्हारी **ऊर्मिः**=तरंग-उत्साह, **शम्याः आपः**=शान्त स्वभाववाली प्रजाओं को **हन्तु**=प्राप्त हो। नाड़ी-चक्र को वश में करने पर, शक्ति का संयम होकर, जीवन में उत्साह दिखता है। इस साधना को करनेवाले लोग शान्त तो होते ही हैं। इन शान्त कर्म में व्याप्त रहनेवाले लोगों का जीवन सदा उत्साहमय बना रहे। **योक्त्राणि**=संसार-विषयों के साथ आसक्तियों को **मुञ्चत**=छोड़ो। संसार के विषय हमें बाँधनेवाले न हों। (२) हे विषा व शुतुद्रि=इडा व सुषुम्णा नाड़ियो! आप **अदुष्कृतौ**=सब दुष्कृतों से हमारे जीवन को रहित करनेवाली हो। **वि एनसा**=सब पापों व दोषों से आप रहित हो। अतएव **अघ्न्यौ**=नष्ट न करनेवालों में उत्तम हो। आप **मा**=मुझे **शूनम्**=समृद्धि को **आरताम्**=प्राप्त कराओ। वस्तुतः प्राणसाधना की पूर्ति इन नाड़ियों के वशीकरण में ही है। उस समय हमारा जीवन दुष्कृतों व पापों से दूर होता है-हम वास्तविक समृद्धि को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—नाड़ीचक्र का वशीकरण होने पर हमारा जीवन निष्पाप बनता है-हम विषयों के बन्धन से मुक्त होकर वास्तविक समृद्धि को प्राप्त करते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त 'इडा-सुषुम्णा' आदि नाड़ियों को प्राणसाधना द्वारा वश में करने का निर्देश कर रहा है। यही मोक्ष का मार्ग है। इन्हीं शब्दों से अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पूर्भित्' इन्द्र

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय धीर **पूर्भित्**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला होता है। 'काम' ने इन्द्रियों में अपने दुर्ग को बनाया है, 'क्रोध' ने मन में तथा 'लोभ' ने बुद्धि में। इन्द्र इन तीनों दुर्गों का विदारण करके असुरों की पुरियों का ध्वंस कर डालता है। यह **दासम्**=(दसु उपक्षये) हमारा उपक्षय करनेवाली इस वासनावृत्ति को **अर्कैः**=प्रभु की उपासनाओं द्वारा **आतिरत्**=हिंसित करता है। जहाँ प्रभु, वहाँ इस वासना का स्थान नहीं रहता। यह काम का विध्वंस करके **विदद्वसुः**=सब निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करनेवाला बनता है। **शत्रून् विदयमानः**=काम आदि व रोग आदि सब शत्रुओं को यह हिंसित करता है। (२) शत्रुओं को हिंसित करके यह **ब्रह्मजूतः**=उस प्रभु से प्रेरित होता है। अन्धकार के विनाश से यह अन्तःप्रेरणा को सुन पाता है। इस प्रेरणा के अनुसार चलता हुआ यह **तन्वा**=अपने शरीर से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ होता है। इसकी सब शक्तियों का ठीक प्रकार से विकास होता है। **भूरिदात्रः**=(दात्रं=लवन साधनं आयुधं) यह अत्यन्त ही शत्रु-संहारक अस्त्रोंवाला होता है। अथवा अत्यन्त (दात्रं=दानं) दान देनेवाला होता है। दान ही वस्तुतः बुराईयों को विध्वस्त करनेवाला आयुध है। (३) सब बुराइयों को दूर करके यह **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **आ अपृणात्**=सर्वतः तृप्त करता है। उनकी कमियों को दूर करके इनका पूरण करता है। शरीर को स्वस्थ, मस्तिष्क को दीप्त बनाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर, वासनाओं का विध्वंस करते हुए, शरीर व मस्तिष्क को शक्ति व दीप्ति से युक्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जूति वाक्

मखस्यं ते तविषस्य प्र जूतिमिर्यर्मि वाचममृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा॥ २॥

(१) **इन्द्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! **मखस्य**=यज्ञरूप **तविषस्य**=शक्ति के पुञ्ज (महान्) **ते**=आपकी **जूतिम्**=मन से प्रेरित **वाचम्**=वाणी को–हृदयदेश में प्रेरणा के रूप में उच्चारण की गयी वाणी को **प्र इयर्मि**:=मैं प्रकर्षेण प्राप्त होता हूँ। इस प्रेरणा को सुनता हुआ मैं **अमृताय भूषन्**=अमृतत्त्व के लिए अपने को अलंकृत करता हूँ। वस्तुतः यह प्रेरणा मुझे भी यज्ञमय जीवनवाला (मखस्य) तथा शक्तिशाली (तविष) बनाती है। ये यज्ञ व शक्ति मुझे नीरोग व अमर बनाते हैं। (२) हे इन्द्र! आप **मानुषीणां क्षितीनाम्**=विचारशील उत्तम निवास व गतिवाले लोगों को (क्षि निवासगत्योः) **पूर्वयावा**=आगे चलनेवाले **असि**=हैं। आप उनके मार्गदर्शक हैं। **उत**=और **दैवीनां विशाम्**=दिव्यगुण सम्पन्न प्रजाओं के (पूर्वयावा असि) पथ प्रदर्शक हैं–आपके पथप्रदर्शन से गति करते हुए ही वस्तुतः ये देव बन पाए हैं।

भावार्थ—हम हृदयदेश में उच्चरित प्रभु की प्रेरणात्मक वाणी को सुनें। उसके अनुसार चलते हुए हम उत्तम मनुष्य व देव बन पाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शर्धनीति-वर्पणीति

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः।
अहन्व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम् ॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-प्रेरणा सुनकर कार्य करनेवाला यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **शर्धनीतिः**=(नीतिः कर्म सा०) शक्तिशाली कर्मोंवाला होता हुआ **वृत्रं अवृणोत्**=ज्ञान के आवरणभूत वासनारूप शत्रु का निरोध करता है तथा **वर्पणीतिः**=शत्रुओं के निवारक कर्मोंवाला यह इन्द्र **मायिनाम्**=अत्यन्त मायावी काम आदि शत्रुओं को **प्र अमिनात्**=प्रकर्षेण हिंसित करता है। (२) यह **उशधक्**=शत्रु-वध की कामनावाला इन्द्र अपने शत्रुओं 'वृत्र' आदि को **व्यंसं अहन्**=(विगतांसं यथा स्यात्तथा) इस प्रकार विनष्ट करता है कि उनके कन्धे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यह अपने शत्रुओं की शक्ति नष्ट कर देता है। शत्रुओं की शक्ति नष्ट करके यह **वनेषु**=एकान्त देशों में **राम्याणाम्**=रात्रियों की **धेनाः**=वाणियों को **आविः अकृणोत्**=अपने में प्रकट करता है। रात्रि का अभिप्राय यहाँ इतना ही है कि जिस समय संसार की वस्तुएँ आँखों को आकृष्ट करनेवाली न हों, उस समय अन्तर्मुखी वृत्ति के होने पर अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है। जब तक बाहर के शब्द सुनते रहते हैं, तब तक अन्दर के शब्द सुनाई नहीं पड़ते।

भावार्थ—हम वासनाओं को विनष्ट करके, अन्तर्मुखी वृत्तिवाले होकर अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रकाश-प्राप्ति

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥ ४॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **अहानि**=दिन के प्रकाशों को **जनयन्**=उत्पन्न करता हुआ **स्वर्षः**=सुख प्राप्त करानेवाला है। वह **अभिष्टिः**=शत्रुओं का अभिभावुक प्रभु **उशिग्भिः**=शत्रु-वध की कामनावाले इन उपासकों के साथ **पृतनाः**=शत्रु-सैन्यों को **जिगाय**=जीतता है। वस्तुतः विजय तो प्रभु ही करते हैं। जीव की यदि विजय की कामना हो, उसके लिये वह यत्न करे, तो प्रभु उसे विजय अवश्य प्राप्त कराते हैं। (२) **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **अह्नां केतुम्**=दिनों के प्रकाश को **प्रारोचयत्**=दीप्त करते हैं। इन विचारशील पुरुषों के अन्दर भी उसी प्रकार प्रकाश होता है, जैसा कि बाहिर। **बृहते रणाय**=इस काम-क्रोध-लोभ के साथ चलनेवाले महान् संग्राम के लिए **ज्योतिः**=प्रकाश को **अविन्दत्**=प्रभु प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—उपासक को प्रभु प्रकाश प्राप्त कराते हैं, जिससे कि वह कामादि शत्रुओं को पराभूत कर सके।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र द्वारा चेतना प्रदान

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद्दधानो नर्या पुरूणि।
अचेतयद्धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्॥ ५॥

(१) **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **तुजः**=हमारा हिंसन करनेवाली **बर्हणाः**=उद्बर्हण व विनाश करनेवाली शत्रु-सेनाओं में **आविवेश**=प्रवेश करता है। इन शत्रु-सेनाओं का संहार करके प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। **नृवत्**=एक नेता की तरह **पुरूणि**=पालक व पूरक **नर्या**=नरहितकारी बलों व धनों को **दधान**=हमारे लिए धारण करते हैं। एक नायक सैनिकों के अन्दर उत्साह का संचार करता है, इसी प्रकार प्रभु अपने उपासकों में शक्ति का संचार करते हैं। (२) प्रभु **जरित्रे**=उपासक के लिए **इमाः धियः**=इन वेद में प्रतिपादित ज्ञानों को **अचेतयत्**=ज्ञात कराते हैं तथा **आसाम्**=इन बुद्धियों के **इमं शुक्रं वर्णम्**=इस उज्ज्वलरूप को **प्र अतिरत्**=प्रकर्षेण बढ़ाते हैं। प्रभु ज्ञान देते हैं और ज्ञान को अत्यन्त उज्ज्वल कर देते हैं। इस उज्ज्वल ज्ञान द्वारा इस उपासक की वासनाओं का विनाश हो जाता है और इसके कर्मों में पवित्रता का संचार होता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक की शत्रुभूत वासनाओं को विनष्ट करते हैं और उसके ज्ञान को उज्ज्वल करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभुमहिमा का स्तवन

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥ ६॥

(१) उपासक लोग **महः**=तेजस्विता के पुञ्ज **अस्य इन्द्रस्य**=इस सर्वशक्तिमान् प्रभु के **महानि**=अत्यन्त महान् **सुकृता**=उत्तमता से किये जानेवाले **पुरूणि**=पालक व पूरक **कर्म**=कर्मों को **पनयन्ति**=स्तुत करते हैं। प्रभु की एक-एक रचना अद्भुत है। सृष्टि के प्रारम्भ से प्रकाश देता हुआ सूर्य उसी प्रकार दीप्तिवाला है-यह प्रचण्ड सूर्याग्नि जरा भी क्षीण नहीं हो रही। पृथ्वी की उर्वरता उसी प्रकार कायम है। नदियाँ अनन्त काल से समुद्र को भरने में लगी हुई हैं। वस्तुतः एक-एक कण में प्रभु की महिमा का दर्शन होता ही है। (२) ये प्रभु **वृजनेन**=बल व शक्ति द्वारा **वृजिनान्**=सब पापों को **संपिपेष**=पीस डालते हैं। उपासक को प्रभु शक्ति प्राप्त कराते हैं। उस

शक्ति द्वारा उपासक पापवृत्तियों को कुचलने में समर्थ होता है। ये प्रभु **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं के अभिभावक बलवाले हैं, ये प्रभु **मायाभिः**=प्रज्ञानों द्वारा **दस्यून्**=दस्युओं को पीस डालते हैं। उपासक को प्रभु ज्ञान व शक्ति देते हैं। प्रभु के ज्ञान व शक्ति से ज्ञानी व शक्ति-सम्पन्न बनकर यह उपासक सब दस्युओं को समाप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के महान् कर्मों के स्मरण से महान् कर्मों के करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। उससे वह शक्ति मिलती है, जिससे कि हम काम आदि दास्यव-वृत्तियों को समाप्त कर पाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

युद्ध द्वारा

युधेन्द्रो मह्वा वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति॥ ७॥

(१) **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक **चर्षणिप्राः**=श्रमशील व्यक्तियों का पूरण करनेवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **युधा**=युद्ध द्वारा और **मह्वा**=(मह पूजायाम्) पूजा द्वारा **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **वरिवः चकार**=वरणीय धन प्राप्त कराते हैं। देववृत्तिवालों पुरुषों की दो विशेषताएँ हैं—(क) वे प्रभु का उपासन करते हैं (मह्वा), (ख) वे काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के साथ संग्राम में प्रवृत्त होते हैं (युधा)। यह संग्राम ही वस्तुतः सात्त्विक संग्राम है। इस द्वारा हमारे में सत्त्वगुण का वर्धन होता है। इस संग्राम को करनेवाले व्यक्ति ही 'सत्' कहाते हैं। वे प्रभु से रक्षित होते हैं। प्रभु इनके लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराते ही हैं। (२) **अस्य**=इस प्रभु के **प्रानि**=उन कर्मों को—(क) सज्जनों के रक्षण, (ख) श्रमशील व्यक्तियों की न्यूनताओं को दूर करना तथा (ग) काम आदि से संग्राम में प्रवृत्त उपासकों के लिये वरणीय धनों को प्राप्त कराना आदि कर्मों को **विवस्वतः सदने**=सूर्य के गृह में, अर्थात् ज्ञान से दीप्त गृह में **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **कवयः**=ज्ञानी लोग **उक्थेभिः**=स्तोत्रों द्वारा **गृणन्ति**=प्रशंसित करते हैं, अर्थात् ये विप्र अपने घरों को ज्ञान से दीप्त करते हैं। उन घरों में प्रभु के कर्मों की ही चर्चा करते हैं। इन कर्मों की चर्चा द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—उपासना द्वारा तथा काम-क्रोध आदि से युद्ध द्वारा प्रभु की पूजा होती है। प्रभु इन पुजारियों के योगक्षेम का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सत्राषाट्' प्रभु

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्वरपश्च देवीः।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः॥ ८॥

(१) **धीरणासः**=(धिया रणन्ति) बुद्धिपूर्वक प्रभु का स्तवन करनेवाले लोग **इन्द्रं अनुमदन्ति**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करते हैं। उपासना द्वारा जितना-जितना प्रभु के समीप होते जाते हैं, उतना-उतना आनन्द का अनुभव करते हैं। (२) उस प्रभु की अनुकूलता में, जो कि **सत्रासाहम्**=सदा शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं-काम-क्रोध आदि महान् शत्रुओं को ये प्रभु ही कुचलते हैं। **वरेण्यम्**=ये प्रभु वरणीय हैं व श्रेष्ठ हैं। **सहोदाम्**=उपासकों के लिए सहस् (बल) को देनेवाले हैं। **स्वः**=प्रकाश को **च**=और **देवीः अपः**=सब रोगों को जीतने की कामना करनेवाले (दिव्=विजिगीषा) रेतःकणों को **ससवांसम्**=(षण् संभक्तौ) सम्भक्त

करनेवाले (देनेवाले) हैं। (३) उस परमात्मा की अनुकूलता में ये हर्ष का अनुभव करते हैं **यः**=जो कि **पृथिवीं ससान**=अन्तरिक्षलोक को हमारे लिए देते हैं, **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को देते हैं तथा **इमाम्**=इस पृथिवी को हमारे लिए देते हैं। बाहर की त्रिलोकी को तो वे प्रभु देते ही हैं, शरीरस्थ त्रिलोकी को भी वे प्रभु प्राप्त कराते हैं। 'दृढ़ शरीर' ही पृथ्वीलोक है, निर्मल हृदय ही अन्तरिक्षलोक है तथा ज्ञानदीप्त मस्तिष्क ही द्युलोक है। इन सबके दाता प्रभु का स्तवन करते हुए स्तोता लोग आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी-भक्त प्रभु का स्तवन करते हुए आनन्दमग्न होते हैं। प्रभु इनके सब शत्रुओं का पराभव करते हैं और इन्हें सबल बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दस्युविनाश व आर्यरक्षण

ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून्प्रार्यं वर्णमावत्॥ ९॥

(१) वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाले प्रभु **अत्यान्**=सततगामी अश्वों को **ससान**=हमारे लिए देते हैं। **उत**=और **सूर्यम्**=सब प्रकाश व प्राणशक्ति के देनेवाले सूर्य को **ससान**=देते हैं। ये इन्द्र **पुरुभोजसम्**=बहुतों का पालन करनेवाली अथवा दुग्धरूप पूर्ण भोजन को प्राप्त करानेवाली **गाम्**=गौ को **ससान**=वे हमारे लिए देते हैं। (२) **उत**=और **हिरण्ययं भोगम्**=स्वर्ण के धन को वे हमारे लिए **ससान**=देते हैं। तथा वे प्रभु **दस्यून्**=नाशक-वृत्तिवाले लोगों को **हत्वी**=नष्ट करके **आर्यम्**=अपने आचरण में स्थित (कर्तव्यमाचरन् कर्म, अकर्तव्यमानचरत् तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः) **वर्णम्**=(वर्णयति) प्रभु का स्तवन करनेवाले व्यक्ति को **प्र आवत्**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। (३) प्रभु ने घोड़ों द्वारा, व्यायाम से हमारी शक्ति-वृद्धि की व्यवस्था की है। गौ के पूर्ण भोजनरूप दुग्ध द्वारा हमारे ज्ञान की वृद्धि का प्रबन्ध किया है तथा सूर्य से हमें प्रकाश व प्राणशक्ति को प्राप्त कराया है। जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धनों को तो वे प्रभु देते ही हैं। यहाँ धन (=भोग) के लिए 'हिरण्यय' विशेषण धन के लिए स्वर्ण को ही मापक बनाने का संकेत कर रहा है। ये प्रभु ही हमारी अशुभवृत्तियों को विनष्ट करते हैं। हमें आर्य बनाकर हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु घोड़ों, गौवों व स्वर्ण धनों को हमारे लिए प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही प्राण संचार के लिए सूर्य का उदय करते हैं। हमारी दास्यव वृत्तियों को भी प्रभु ही विनष्ट करते हैं। हम आर्य बनते हैं और प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वल-विभेदन व ज्ञानवाक्-प्रेरण

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीँरसनोदन्तरिक्षम्।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद्दमिताभिक्रतूनाम्॥ १०॥

(१) **इन्द्रः**=वह शक्तिशाली प्रभु **ओषधीः**=ओषधियों को **असनोत्**=हमारे लिए देते हैं। इन ओषधियों का ठीक प्रयोग हमारे जीवनों को नीरोग बनाता है। वे प्रभु ही **अहानि**=कार्यों को पूर्णता तक ले जाने के लिए दिनों को हमारे लिए देते हैं। वे प्रभु ही **वनस्पतीन्**=शरीर की रक्षा के लिए वनस्पतियों को हमारे लिए **असनोत्**=देते हैं। शरीर-रक्षण के लिए इन्हीं का हमें प्रयोग

करना है-माँस-भोजनों का नहीं। वे प्रभु **अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को भी हमारे लिए प्राप्त कराते हैं। दिन के लिए प्रयुक्त 'अ-हन्' शब्द इस बात का संकेत करता है कि हमें इसका एक-एक क्षण उपयुक्त करना है-इसे नष्ट नहीं करना। 'अन्तरिक्ष' शब्द का संकेत यह है कि हमें हृदयान्तरिक्ष में किसी भी भाव की अति नहीं होने देनी। सब बातों में मध्य मार्ग को अपनाना है। (२) ऐसा होने पर वे प्रभु **वलम्**=(Veil) ज्ञान पर परदे के रूप में आ जानेवाले इस वासनारूप वलासुर को **बिभेद**=विदीर्ण करते हैं। **वि-वाचः**=ज्ञान की उत्कृष्ट वाणियों को **नुनुदे**=हमारे में प्रेरित करते हैं। वासना विनष्ट होने पर ज्ञान दीप्त होता ही है। **अथ**=अब वासना-विनाश होकर ज्ञानदीप्ति होने पर **अभिक्रतूनाम्**=(अभि आभिमुख्येन क्रतुः युद्धार्थं कर्म येषां, ते बलीयांसः शत्रवः सा०) यज्ञादि कर्मों में विघ्न करनेवाले प्रबल शत्रुओं के **दमिता**=दमन करनेवाले **अभवत्**=होते हैं। हमारे अन्दर यज्ञादि उत्तम कर्मों के विरोधी विचार उत्पन्न ही नहीं होते। अशुभ विचारों का दमन होता है और शुभ विचारों का उत्थान।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे लिए ओषधि, वनस्पतियाँ, दिन व अन्तरिक्ष को प्राप्त कराया है। प्रभु हमारे ज्ञान के आचरण को दूर करके हमारे में ज्ञानवाणियों को प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शृण्वन्' प्रभु (सुननेवाले)

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ११ ॥

(१) मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का मूलभाव यही है कि हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे लिए अशुभ वृत्तियों का विनाश करेंगे और हमारा रक्षण करेंगे। अशुभ वृत्तियों के विनाश के लिए ही इन्द्रिय-निरोध आवश्यक है। इसी भाव से अगले सूक्त का प्रारम्भ है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मवश्य इन्द्रियों से कार्यों में प्रवृत्त होना

तिष्ठा हरी रथ आ युज्यमाना याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छ।
पिबास्यन्धो अभिसृष्टो अस्मे इन्द्र स्वाहा ररिमा ते मदाय॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **रथे**=इस शरीर-रथ में **आयुज्यमाना**=जोते जाते हुए **हरी**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **तिष्ठा**=अधिष्ठित कर। इन इन्द्रियाश्वों का तू अधिष्ठाता हो। **न**=जैसे **वायुः**=वायु देवता **नियुतः**=अपने नियुत् नामक घोड़ों पर अधिष्ठित होता है। वायुदेव अपने घोड़ों पर अधिष्ठित हुआ-हुआ निरन्तर चल रहा है। तू भी आत्मवश्य इन्द्रियों से सतत कार्य करनेवाला हो। इन पर अधिष्ठित होकर तू **नः**=हमारी **अच्छ**=ओर **आयाहि**=आ। (२) तू **अन्धः**=सोम का **पिबासि**=पान करता है-सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता है। **अस्मे**=हमारे लिए **अभिसृष्टः**=अभिसृष्ट होता है-हमारी ओर आनेवाला होता है। इस सोम के रक्षण से उस सोम की प्राप्ति होती ही है। हे इन्द्र! **स्वाहा**=यह उत्तम वाणी कही गई है (सु आह) **ते मदाय** **ररिमा**=तेरे हर्ष के लिए हमने इस सोम को तेरे लिए दिया है। इसके रक्षण से शरीर, मन व बुद्धि का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। इस स्वास्थ्य से मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम आत्मवश्य इन्द्रियों से सदा कर्म में प्रवृत्त रहें। सोम (वीर्य) का रक्षण करते हुए प्रभु की ओर गतिवाले हों। सुरक्षित सोम, स्वास्थ्य प्राप्ति द्वारा, आनन्द देनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतना

उपाजिरा पुरुहूताय सप्ती हरी रथस्य धूर्ष्वा युनज्मि ।
द्रवद्यथा संभृतं विश्वतश्चिदुपेमं यज्ञमा वहात इन्द्रम् ॥ २ ॥

(१) मैं **पुरुहूताय**=बहुतों से पुकारे जानेवाले उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए **अजिरा**=गतिशील **हरी**=हमें मार्ग पर आगे ले चलनेवाले **सप्ती**=इन्द्रियाश्वों को **रथस्य धूर्षु**=शरीर रथ की धुराओं में **उपायुनज्मि**=जोतता हूँ। **यथा**=जिससे यह रथ **द्रवत्**=शीघ्रता से प्रभु की ओर गतिवाला होता है। वस्तुतः कर्मों में लगे रहना ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है, कर्मों द्वारा ही प्रभु की अर्चना होती है। (२) हमारे ये इन्द्रियाश्व **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **संभृतं चित्**=सम्यक् भरण किये गये **इमं यज्ञम्**=इस जीवनयज्ञ में **इन्द्रम्**=उस प्रभु को **उप**=समीपता से **आवहातः**=प्राप्त कराते हैं। जिस समय इस जीवनयज्ञ में आवश्यक सब सामग्रियों को उपस्थित किया जाता है, तो हम अवश्य प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं। 'इन्द्रियों की शक्ति, मन की पवित्रता, बुद्धि की तीव्रता' ये बातें ऐसी हैं, जो कि जीवनयज्ञ को पूर्ण बनाती हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता से प्रभु प्राप्त होते हैं। जीवनयज्ञ को हम पूर्ण बनाएँ, तो अवश्य प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विषयासक्ति से बचना मुख्य भोजन 'जौ'

उपो नयस्व वृषणा तपुष्पोतेमव त्वं वृषभ स्वधावः ।
ग्रसेतामश्वा वि मुचेह शोणा दिवेदिवे सदृशीरद्धि धानाः ॥ ३ ॥

(१) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन्! **स्व-धावः**=आत्मधारण शक्तिवाले जीव! तू **वृषणा**=इन शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों को, जो कि **तपुष्पा**=संतापक शत्रुओं से हमारा रक्षण करनेवाले हैं, उन इन्द्रियाश्वों को **उ**=निश्चय से **उपनयस्व**=समीपता से प्राप्त करा। तू शक्तिशाली व शत्रु-संतापक इन्द्रियाश्वोंवाला बन। **उत**=और **ईम्**=निश्चय से **त्वम्**=तू **अव**=इन इन्द्रियाश्वों का रक्षण कर। (२) तेरे ये **अश्वा**=इन्द्रियाश्व **ग्रसेताम्**=अपने भोजनों को करनेवाले हों, परन्तु तू **इह**=इस जीवन में इन **शोणा**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को **वि-मुचः**=विषयासक्ति से मुक्त कर। तू **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **सदृशीः धानाः अद्धि**=समानरूप से धानों का खानेवाला बन। धान ही तेरे मुख्य भोजन हों। इन से तेरी मनोवृत्ति सात्त्विक बने 'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों में आसक्त न होने दें। सात्त्विक भोजन को अपनाएँ। धान, अर्थात् भृष्टयव (भुने जौ) ही हमारा मुख्य भोजन हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सा काष्ठा, सा परागतिः

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू ।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन्प्रजानन्विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥ ४ ॥

(१) **ब्रह्मयुजा**=प्रभु से इस शरीर-रथ में जोते गये **ते**=तेरे **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **ब्रह्मणा युनज्मि**=मैं ज्ञान से युक्त करता हूँ। ये इन्द्रियाश्व **सखाया**=तेरे सखा व मित्र हैं-हित को सिद्ध करनेवाले हैं। **सधमादे**=संग्राम में **आशू**=शीघ्रता से गति करनेवाले हैं। इन्द्रियों को उत्तम बनाकर ही हम अध्यात्म-संग्राम में विजयी होते हैं। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **स्थिरम्**=दृढ़ **सुखम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले (सु+ख) **रथम्**=इस शरीररथ पर **अधितिष्ठन्**=आरूढ़ हुआ-हुआ **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ **विद्वान्**=समझदार बनकर **सोमं उपयाहि**=उस सोम परमात्मा को प्राप्त होनेवाला हो। यह रथ वस्तुतः उसी यात्रा के लिए दिया गया है, जिसका कि अन्तिम लक्ष्य 'प्रभु' हैं 'सा काष्ठा, सा परागतिः'। उस प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि शरीर ठीक हो और उसमें जुते इन्द्रियाश्व ठीक हों।

भावार्थ—इन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति आदि उत्तम कर्मों में व्यापृत रखना चाहिए। इस शरीर-रथ से हमने जीवनयात्रा के अन्तिम लक्ष्य प्रभु को प्राप्त करना है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सकाम यज्ञों से ऊपर

मा ते हरी वृषणा वीतपृष्ठा नि रीरमन्यजमानासो अन्ये।
अत्यायाहि शश्वतो वयं तेऽरं सुतेभिः कृणवाम सोमैः॥ ५॥

(१) **अन्ये**=प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर न चलकर-स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए **यजमानासः**=यज्ञ करनेवाले इतर लोग **ते**=तेरे **वृष्णा**=शक्तिशाली **वीत पृष्ठा**=कान्त पृष्ठभागवाले-तेजस्विता से चमकते हुए **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **मा निरीरमन्**=मत आनन्दित करनेवाले हों। तू अन्य सकाम यज्ञों में लगे हुए लोगों की तरह, स्वर्गादि की प्राप्ति को ही लक्ष्य न बना ले। (२) **अति आयाहि**=इनको तू लाँघकर आगे बढ़ आ। **वयम्**=हम **ते**=तेरे लिए **शश्वतः**=सदा से **सुतेभिः सोमैः**=उत्पन्न इन सोमों (वीर्यकणों) से **अरं कृणवाम**=शक्ति व सामर्थ्य को पैदा करते हैं। इन सोमों का रक्षण करता हुआ तू प्रभु को प्राप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—हम सकाम यज्ञों में न उलझकर, सोमरक्षण द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमनाः

तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमं सुमना अस्य पाहि।
अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अयं सोमः तव**=यह सोम (वीर्यशक्ति) तेरा है। इसके रक्षण के लिए **त्वम्**=तू **अर्वाङ् एहि**=अन्दर की ओर आनेवाला हो-अन्तर्मुखी वृत्तिवाला हो। **शश्वत्तमम्**=(शश प्लुतगतौ) अत्यन्त प्लुत गति से, अर्थात् सदा स्फूर्ति से कार्यों में लगे रहकर, **सुमनाः**=उत्तम मनवाला होता हुआ तू **अस्य पाहि**=इस सोम का रक्षण कर। सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम सदा कर्मों में लगे रहें और मन में वासनात्मक विचारों को न आने दें। (२) **अस्मिन् यज्ञे**=इस यज्ञ में, **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषद्य**=सब प्रकार से बैठकर **इमं इन्दुम्**=इस सोम को **जठरे**=अपने उदर के अन्दर ही **दधिष्व**=धारण कर। 'सोम को शरीर में व्याप्त करना' ही सब उन्नतियों का मूल है। इस को शरीर में व्याप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञात्मक कर्मों में व्यापृत रहें-हृदय में से वासनाओं को उखाड़ फेंकें।

भावार्थ—क्रिया में लगे रहकर व मन में वासनाओं को न आने देकर हम सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तदोकस्-पुरुशाक

स्तीर्णं ते बर्हिः सुत इन्द्र सोमः कृता धाना अत्तवे ते हरिभ्याम्।
तदोकसे पुरुशाकाय वृष्णे मरुत्वते तुभ्यं राता हवींषि ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपके लिए **बर्हिः**=यह वासनाशून्य हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्**=बिछाया गया है। मैंने हृदय को वासनाशून्य करके निर्मल किया है। इसी हृदय में आपकी स्थिति होती है। आपकी प्राप्ति के लिए ही **सोमः सुतः**=सोम का (वीर्यशक्ति का) सम्पादन हुआ है। इस सोम के रक्षण से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। **ते**=आपके दिये हुए **हरिभ्याम्**=इन इन्द्रियाश्वों के **अत्तवे**=खाने के लिए **धानाः कृताः**=भुने हुए जौ किए गये हैं। इस सात्त्विक भोजन के परिणाम स्वरूप मेरी इन्द्रियाँ व मन सात्त्विक वृत्तिवाले बने हैं। (२) इस जीव से प्रभु कहते हैं कि **तदोकसे**=(तत्=That वह सर्वव्यापक प्रभु) प्रभु को अपना घर बनानेवाले, **पुरुशाकाय**=पालक व पूरक शक्तिवाले, **वृष्णे**=शक्तिशाली **मरुत्वते**=प्रशस्त प्राणोंवाले-प्राणसाधना में प्रवृत्त होनेवाले **तुभ्यम्**=तेरे लिए **हवींषि राता**=हवि दी गई हैं। दानपूर्वक अदन ही 'हवि' है 'हु दानादनयोः'। इस हवि का सेवन करनेवाला ही प्रभु का उपासक होता है। यही 'तदोकस्'=प्रभुरूप गृहवाला बनता है-प्रभु में निवास करता है। यही वासनाओं में न फँसने के कारण 'पुरुशाक'=अत्यन्त शक्तिशाली बनता है। यह अपनी शक्ति द्वारा सब पर सुखों की वर्षा करनेवाला 'वृषा' बनता है। ऐसा बनने के लिए ही यह प्राणसाधना में प्रवृत्त होकर 'मरुत्वान्' होता है।

भावार्थ—हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ, सोम (वीर्य) का रक्षण करें और जौ आदि सात्त्विक भोजनों को ही करें। सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले-यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-माधुर्य

इमं नरः पर्वतास्तुभ्यमापः समिन्द्र गोभिर्मधुमन्तमक्रन्।
तस्यागत्या सुमना ऋष्व पाहि प्रजानन्विद्वान्पथ्या३ अनु स्वाः ॥ ८ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **पर्वताः**=अपना पूरण करनेवाले-न्यूनताओं को दूर करनेवाले **आपः**=व्यापक, उदार, कर्मों में प्रवृत्त (आप् व्याप्तौ) **नरः**=लोग **इमम्**=इस अपने जीवन को, **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए, **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाला **तं अक्रन्**=सम्यक्‌तया करते हैं। वस्तुतः प्रभुप्राप्ति के लिए इस जीवन को परिष्कृत बनाना अत्यन्त आवश्यक है। इसका परिष्कार ज्ञान-माधुर्य से होता है। 'मनुष्य ज्ञानी बने, मधुर व्यवहारवाला हो' तभी वह लोकप्रिय भी होता है और प्रभु प्रिय भी। (२) हे **ऋष्व**=महान् व दर्शनीय प्रभो! आप **आगत्य**=आकर **सुमनाः**=हमारे लिए उत्तम मन को देनेवाले होते हुए (शोभनं मनो यस्मात्) **तस्य पाहि**=उस जीवन का रक्षण करिए। इस रक्षण के लिए ही आप **विद्वान्**=हमारे सब कर्मों को जानते हुए **स्वा पथ्याः**=आत्मप्राप्ति के लिए हितकर मार्गों को **अनु**=लक्ष्य करके **प्रजानन्**=हमें प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाले होइये। हम आत्मज्ञान को प्राप्त करते हुए प्रकृति में फँसने से बचनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन ज्ञान व माधुर्यवाला हो। हम आत्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना व सात्त्विक भोजन

याँ आभ॑जो म॒रुत॑ इन्द्र॒ सोमे॒ ये त्वामव॑र्धन्नभ॑वन्ग॒णस्ते॑।
तेभि॑रे॒तं स॒जोषा॑ वावश॒ानो३॑ऽग्नेः पि॑ब जि॒ह्वया॒ सोम॑मिन्द्र॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यान् मरुतः**=जिन प्राणों को तूने **सोमे**=सोमरक्षण के निमित्त **आभजः**=सेवन किया है। प्राणसाधना द्वारा ही तो मनुष्य ऊर्ध्वरेता बनता है। प्राणसाधना ही मनुष्य के लिए सोमरक्षण का साधन बनती है। इस प्रकार सोमरक्षण द्वारा **ये**=जो प्राण **त्वां अवर्धन्**=तेरा वर्धन करते हैं। वस्तुतः **ते**=वे मरुत् (प्राण) **गणः अभवन्**=तेरे गण व सहायक बनते हैं। (२) **तेभिः**=उन मरुतों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होता हुआ तू **वावशानः**=प्रबल इच्छावाला होकर, **अग्नेः जिह्वया**=अग्नि की जिह्वा से **एतं सोमम्**=इस सोम को **पिब**=पीनेवाला हो। सोम-रक्षण के दो मुख्य साधन 'प्राणसाधना व सात्त्विक भोजन' ही हैं। प्राणसाधना का संकेत 'तेभिः सजोषाः' इन शब्दों से हो रहा है और सात्त्विक भोजन का संकेत 'अग्नेः जिह्वया' इन शब्दों से किया गया है। अग्नि में अपवित्र पदार्थों को नहीं डाला जाता। मन्त्र का पूर्वार्ध भी प्राणसाधना का प्रबलरूप में प्रतिपादन कर रहा है, उसके बिना किसी प्रकार की उन्नति का सम्भव नहीं।

भावार्थ—प्राणसाधना व सात्त्विक भोजन द्वारा हम सोम का (वीर्य का) रक्षण करनेवाले बनें। यही उन्नति का मार्ग है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमपान (वीर्यरक्षण) के साधन

इन्द्र॒ पिब॑ स्व॒धया॑ चित्सु॒तस्या॒ग्नेर्वा॑ पाहि जि॒ह्वया॑ यजत्र।
अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ प्रय॑तं शक्र॒ हस्ता॒द्धोतु॑र्वा य॒ज्ञं ह॒विषो॑ जुषस्व॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम का **स्वधया**=आत्मधारण (स्व-धा) द्वारा **चित्**=निश्चय से **पिब**=पान कर। सोमरक्षण का प्रथम साधन यह है कि हम हृदय में आत्मतत्त्व का चिन्तन करें। यह आत्मतत्त्व का चिन्तन हमें वासनात्मक संसार से दूर करता है और इस प्रकार हमारे सोम का विनाश नहीं होता। (२) हे **यजत्र**=यज्ञों द्वारा अपना त्राण करनेवाले पुरुष! तू **अग्नेः जिह्वया**=अग्नि की जिह्वा से **वा**=निश्चयपूर्वक **पाहि**=इस सोम का रक्षण कर। 'अग्नि की जिह्वा से' का भाव यह है कि जैसे अग्निहोत्र में सात्त्विक पदार्थों का ही प्रयोग होता है, उसी प्रकार तू सात्त्विक पदार्थों का सेवन करता हुआ सोम का रक्षण करनेवाला बन। (३) **वा**=अथवा हे **शक्र**=शक्ति का सम्पादन करनेवाले जीव! **अध्वर्योः हस्तात्**=अध्वर्यु के हाथ से-हिंसारहित कर्मों को करनेवाले के हाथ से **प्रयतम्**=पवित्र कर्मों को **जुषस्व**=तू सेवन करनेवाला हो। इन पवित्र कर्मों के परिणामस्वरूप तू सोम का रक्षण करनेवाला बनेगा। (३) **वा**=अथवा **होतुः यज्ञम्**=होता के यज्ञ का **जुषस्व**=सेवन कर और यज्ञ का सेवन करते हुए **हविषः जुषस्व**=सदा हवि का सेवन करनेवाला हो। यज्ञशेष का सेवन ही हवि का सेवन है। तू यज्ञशेष को खानेवाला बन। यह यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति कभी भी मनुष्य को विलासी नहीं बनने देती। विलास से बचा हुआ मनुष्य ही सोम का रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के साधन ये हैं कि—(क) आत्मतत्त्व का चिन्तन, (ख) सात्त्विक भोजन, (ग) पवित्र कर्मों का सेवन और (घ) यज्ञशेष, अर्थात् हवि का ग्रहण।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण व विजय

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ११॥

मन्त्र की व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का मुख्य विषय यही है कि इन्द्रियों को वश में करके सोमरक्षण के लिए यत्नशील होना है। इसी उद्देश्य से 'प्राणसाधना, सात्त्विक भोजन व यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति' को अपनाना है। अगले सूक्त में कहते हैं कि इस सोमरक्षण को करनेवाला पुरुष ही महान् कर्मों द्वारा प्रसिद्धि को पाता है—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महान् कर्म व कीर्ति लाभ

इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः शश्वच्छश्वदूतिभिर्यादमानः।
सुतेसुते वावृधे वर्धनेभिर्यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत्॥ १॥

(१) प्रकृष्ट भरण का कारण होने से प्रस्तुत मन्त्र में सोम को 'प्रभृति' कहा गया है। 'अवन्ति रक्षन्ति' इस व्युत्पत्ति से मरुतों (प्राणों) को 'ऊति' कहा गया है। **शश्वत् शश्वत्**=सदा और सदा ही, अर्थात् अवश्य बिना विच्छेद के सदा **ऊतिभिः**=प्राणों के साथ **यादमानः**=(संगतिं याचमानः) संगति को चाहता हुआ, अर्थात् प्राणसाधना करता हुआ तू उ=निश्चय से **इमां प्रभृतिम्**=इस सोम को **सातये**=उत्कृष्ट पद की प्राप्ति के लिए **सुधाः**=अच्छी प्रकार धारण कर। प्राणसाधना द्वारा सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है। सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम उत्कृष्ट पद की प्राप्ति का साधन बनता है। (२) यह इन्द्र **सुते सुते**=जितना-जितना सोम का सम्पादन करता है, उतना-उतना **वर्धनेभिः वावृधे**=शक्तियों के वर्धन से वृद्धि को प्राप्त करता है और हे इन्द्र! तू वह बनता है **यः**=जो कि **महद्भिः कर्मभिः**=महान् कर्मों से **सुश्रुतः भूत**=प्रसिद्ध होता है। सोमरक्षणवाला पुरुष ही महान् कर्मों को कर पाता है और इन महान् कर्मों से कीर्ति प्राप्त करता है।

भावार्थ—सोमरक्षणवाला पुरुष ही महान् कर्मों द्वारा उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋभु, वृषपर्वा व विहायाः

इन्द्राय सोमाः प्रदिवो विदाना ऋभुर्येभिर्वृषपर्वा विहायाः।
प्रयम्यमानान्प्रति षू गृभायेन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्णः॥ २॥

(१) **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **प्रदिवः**=प्रकृष्ट प्रकाशवाले **सोमाः**=सोमकण **विदानाः**=प्राप्त कराए जाते हैं (विद् लाभे)। वे सोमकण प्राप्त कराए जाते हैं, **येभिः**=जिनसे कि वह **ऋभुः**=दीप्त बनता है, **वृषपर्वा**=अंग-प्रत्यंग में-पर्व पर्व में शक्तिशाली बनता है और

विहायाः=महान् होता है। मस्तिष्क में 'ऋभु', शरीर में 'वृषपर्वा' तथा हृदय में 'विहायाः' बनानेवाले ये सोमकण ही होते हैं। (२) इसलिए **प्रयम्यमानान्**=शरीर में ही जिनका संयम किया जा रहा है, उन सोमकणों को **प्रति षू गृभाय**=प्रतिदिन सम्यक् ग्रहण करनेवाला तू हो। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वृष्णः**=इस शक्तिशाली **वृषधूतस्य**=शक्ति द्वारा रोगकृमिरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाले (वृषः च असौ धूतः) इस सोम का **पिब**=पान कर।

भावार्थ—सोम के रक्षण से ही मनुष्य दीप्त मस्तिक, विशाल हृदय व सशक्त शरीरवाला दृढांग बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमो रक्षति रक्षितः

पिबा वर्धस्व तव घा सुतास इन्द्र सोमासः प्रथमा उतेमे।
यथापिबः पूर्व्याँ इन्द्र सोमाँ एवा पाहि पन्यो अद्या नवीयान्॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये **सोमासः**=सोमकण **घा**=निश्चय से **तव**=तेरे हैं। तू **पिबा**=इनका पान कर और **वर्धस्व**=वृद्धि को प्राप्त हो। **उत**=और **इमे**=ये सोमकण **प्रथमाः**=(प्रथ विस्तारे) तेरी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हैं। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यथा**=जिस प्रकार तू **पूर्व्यान्**=इन पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम **सोमान्**=सोमकणों को **अपिबः**=पीता है-अपने अन्दर व्याप्त करता है, **एवा**=इस प्रकार **पन्यः**=स्तुति में उत्तम **नवीयान्**=(नव गतौ) उत्कृष्ट गतिवाला तू **अद्या**=आज **पाहि**=अपना रक्षण करनेवाला हो। सोमरक्षण द्वारा वस्तुतः हम अपना रक्षण करते हैं। सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें (पन्य) और सतत क्रियाशील हों (नवीयान्)। अकर्मण्य पुरुष ही वासनाओं का शिकार होता है और सोम का अपव्यय कर बैठता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण द्वारा हम अपना रक्षण करते हैं। रक्षित सोम हमारी शक्तियों का विस्तार करते हैं। इनके रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों और सदा कर्मों में अपने को व्यापृत रखें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमरक्षण-महिमा

महाँ अमत्रो वृजने विरप्श्युग्रं शवः पत्यते धृष्ण्वोजः।
नाह विव्याच पृथिवी चनैनं यत्सोमासो हर्यश्वममन्दन्॥ ४॥

(१) **यत्**=जब **सोमासः**=शरीर में सुरक्षित सोम (वीर्य) कण **हर्यश्वम्**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले इस इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) को **अमन्दन्**=आनन्दित करते हैं, तो यह **महान्**=बड़ा बनता है-महान् कर्मों को करनेवाला होता है। **वृजने अमत्रः**=(वृजनम्=battle, fight) संग्राम में शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होता है-उनका पराभव करता है। शरीर में रोगकृमियों को विनष्ट करता है, मन में वासनाओं को। **विरप्शी**=यह प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला बनता है और इस प्रकार **उग्रं शवः**=प्रबल शक्ति का **पत्यते**=स्वामी होता है, इस शक्ति द्वारा यह बाह्य शत्रुओं को जीतनेवाला होता है। **धृष्णु ओजः**=शत्रुओं के धर्षक ओज का यह (पत्यते=) स्वामी बनता है। इस ओज से यह काम-क्रोध-लोभ आदि वासनाओं को विनष्ट करता है। (२) **एनम्**=इस 'उग्र शवस्' व 'धृष्णु ओजस्' वाले पुरुष को **अह**=निश्चय से **पृथिवी चन**=सम्पूर्ण पृथिवी भी

न विव्याच=व्याप्त करने में समर्थ नहीं होती। सारी पृथिवी भी इसका पराभव नहीं कर सकती। सारा संसार एक ओर हो, तो भी यह सोमरक्षक उससे घबराकर रणांगण से भाग खड़ा नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण से वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि यह सोमरक्षक सारे संसार का भी सामना कर सकता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमरक्षक का उत्तम जीवन

म॒हाँ उ॒ग्रो वा॑वृधे वी॒र्या॑य स॒माच॑क्रे वृष॒भः काव्ये॑न।
इन्द्रो॒ भगो॑ वाज॒दा अ॒स्य गाव॒: प्र जा॑यन्ते॒ दक्षि॑णा अ॒स्य पू॒र्वीः ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षण करनेवाला यह व्यक्ति **महान्**=बड़ा बनता है–उन्नत होता है, **उग्रः**=तेजस्वी होता है–शत्रुओं के लिये भयङ्कर होता है। **वीर्याय वावृधे**=यह शक्ति के लिए निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करता है–दिन व दिन इसकी शक्ति बढ़ती जाती है। यह **वृषभः**=शक्तिशाली बनकर **काव्येन**=प्रभु के अजरामर काव्य वेद के अनुसार **समाचक्रे**=कार्यों को करता है–इसका जीवन वेदानुकूल होता है। (२) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही इसका **भगः**=ऐश्वर्य होता है–यह भगवान् को ही अपना भग समझता है। **गावः**=गोदुग्ध **अस्य वाजदाः**=इसके लिए शक्ति को देनेवाले होते हैं। गौवें ही दुग्ध द्वारा इसकी शक्ति का कारण बनती हैं, अर्थात् यह सदा गोदुग्ध का ही सेवन करता है और **अस्य**=इसकी **दक्षिणा**=दक्षिणाएँ **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाली **प्रजायन्ते**=होती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष 'महान्, तेजस्वी व शक्तिशाली बनकर वेदानुकूल जीवन बिताता है' गोदुग्ध का सेवन करता है तथा दान की प्रवृत्तिवाला होता है। प्रभु को ही यह अपना ऐश्वर्य समझता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नदियाँ जैसे समुद्र की ओर

प्र यत्सिन्ध॑वः प्रस॒वं यथाय॒न्नाप॑: समु॒द्रं र॒थ्ये॑व जग्मुः।
अत॑श्चि॒दिन्द्र॒: सद॑सो॒ वरी॑या॒न्यदीं॒ सोम॑: पृ॒णति॑ दु॒ग्धो अं॒शुः ॥ ६ ॥

(१) **यत्**=जो **सिन्धवः**=नदियाँ **यथा**=जैसे **प्रसवम्**=अपने उत्पत्ति-स्थान समुद्र की ओर **प्र आयन्**=प्रकर्षेण गतिवाली होती हैं, उसी प्रकार **आपः**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः, नारा वै नरसूनवः) प्रजाएँ **समुद्रम्**=उस आनन्दस्वरूप (स+मुद्) परमात्मा की ओर **जग्मुः**=जाती हैं। **रथ्या इव**=रथियों की तरह ये प्रजाएँ परमात्मा की ओर गतिवाली होती हैं। जैसे रथी रथारूढ़ होकर इष्ट-स्थान पर पहुंच जाते हैं इसी प्रकार प्रजाएँ इस शरीर रथ पर आरूढ़ होकर परमात्मा को प्राप्त करनेवाली होती हैं। नदियाँ समुद्र को प्राप्त करके समुद्र में मिल जाती हैं, प्रजाएँ प्रभु को प्राप्त करके प्रभु जैसी हो जाती हैं। (२) **अतः**=इसलिए ही कि ये परमात्मा से मिल जाता है, यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सदसः**=सारी ब्रह्माण्डरूप सभा से **वरीयान्**=श्रेष्ठ होता है। प्रभु के सम्पर्कवाला जीव प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होने के कारण अति-मानव तो प्रतीत होता ही है। यह सब कुछ होता तब है, **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **दुग्धः**=गौ से दोहे गये दूध के समान **अंशु**=प्रकाश की किरणों को प्राप्त करानेवाला यह **सोमः**=सोम (=वीर्य) **पृणति**=इस व्यक्ति को प्रीणित करता है।

भावार्थ—शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर मनुष्य की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। यह मनुष्य परमात्मा की ओर झुकाववाला होता है और प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न व अतिमानव प्रतीत होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भरित्रैः-धारया-पवित्रैः

स॒मु॒द्रेण॒ सिन्ध॑वो॒ याद॑माना॒ इन्द्रा॑य॒ सोमं॒ सुषु॑तं॒ भर॑न्तः।
अं॒शुं दु॑हन्ति ह॒स्तिनो॑ भ॒रित्रै॒र्मध्वः॑ पुन॒न्ति धार॑या प॒वित्रैः॑ ॥ ७ ॥

(१) **समुद्रेण**=(स+मुद्) उस आनन्दमय प्रभु के साथ **सिन्धवः**=(स्यन्दन्ते) निरन्तर कर्मप्रवाह में चलनेवाली प्रजाएँ **यादमानाः**=(संगतिं याचमानाः सा०) मेल को चाहती हुईं तथा **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सुषुतं सोमम्**=उत्तम प्रकार से उत्पन्न हुए-हुए सोम को **भरन्तः**=अपने अन्दर धारण करती हुईं **अंशुम्**=प्रकाश की किरणों को **दुहन्ति**=अपने में भरती हैं। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ज्ञानाग्नि दीप्त होकर प्रभु का दर्शन होता है। (२) **हस्तिनः**=उत्तम हाथोंवाले, अर्थात् हाथों से सदा कर्मों में व्यापृत **शोभनम् भरित्रैः**=अंग-प्रत्यंग में शक्ति के उचित भरण के हेतु से, **धारया**=प्राणशक्ति के धारण के हेतु से **जायते पवित्रैः**=भावनाओं को पवित्र करने के हेतु से **मध्वः पुनन्ति**=सोम को अपने में पवित्र करते हैं। सोम को पवित्र करने का भाव यह है कि सौम्य भोजनों के सेचन से ये इन सोमकणों में उबाल नहीं आने देते। रक्षित हुए-हुए ये सोमकण अंग-प्रत्यंग में शक्ति का भरण करते हैं (भरित्रैः), शरीर में प्राणशक्ति का संचार करके उसका धारण करते हैं (धारया), मन को पवित्र करते हैं (पवित्रैः)।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति का मार्ग यही है कि शरीर में सोम का रक्षण किया जाए। रक्षित सोम ज्ञान-किरणों को दीप्त करता है। ज्ञानदीप्ति से हृदय पवित्र बनते हैं और हम प्रभु का प्रकाश प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से दीर्घजीवन

ह्र॒दाइ॑व कु॒क्षयः॑ सोम॒धानाः॒ समीं॒ वि॒व्याच॒ सव॑ना पु॒रूणि॑।
अन्ना॒ यदिन्द्रः॑ प्रथ॒मा व्याश॑ वृ॒त्रं ज॑घ॒न्वाँ अ॑वृणीत॒ सोम॑म् ॥ ८ ॥

(१) **ह्रदाः इव**=जैसे जलाशय जल के आधार बनते हैं, उसी प्रकार **कुक्षयः**=इस इन्द्र की कुक्षियाँ **सोमधानाः**=सोम का आधार बनती हैं। अपनी कुक्षियों को सोम का आधार बनाकर **ईम्**=निश्चय से **पुरूणि सवना**=जीवन के विशाल तीनों सवनों को **संविव्याच**=सम्यक् व्याप्त करनेवाला होता है, अर्थात् सोम के रक्षण से जीवन के प्रथम २४ वर्षों के प्रातःसवन को, अगले ४४ वर्षों के माध्यन्दिन-सवन को, अन्तिम ४८ वर्षों के सायन्तन-सवन को यह व्याप्त करता है और इस प्रकार ११६ वर्ष तक आयुष्य को स्थिर रखता है। (२) **यत्**=जब **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **प्रथमा अन्ना**=सात्त्विक कोटि के अन्नों का **व्याश**=भक्षण करता है, तो **वृत्रं जघन्वान्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करता है और **सोमं आवृणीत**=सोम का वरण करता है। सोमरक्षण के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन आवश्यक है।

भावार्थ—सोमरक्षण से दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से सोमरक्षण होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महत्वपूर्ण धन की प्राप्ति

आ तू भ॑र॒ माकि॑रे॒तत्परि॑ ष्ठाद्वि॒द्मा हि त्वा॒ वसु॑पतिं॒ वसू॑नाम्।
इन्द्र॒ यत्ते॒ माहि॑नं॒ दत्र॒मस्त्य॒स्मभ्यं॒ तद्ध॑र्यश्व॒ प्र य॑न्धि॥ ९॥

(१) हे परमात्मन्! **आभर तु**=निश्चय से हमारे में धन का भरण करिए। **एतत्**=यह आप से दिया जानेवाला धन **माकिः परिष्ठात्**=हमारे इधर-उधर मत स्थित हो, अर्थात् हमें यह आपसे दिये जानेवाला धन अवश्य प्राप्त हो। **त्वा**=आपको हम **हि**=निश्चय से **वसूनां वसुपतिं विद्म**=धनों का उत्तम स्वामी जानते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **माहिनं दत्रम्**=महत्त्वपूर्ण दातव्य धन **अस्ति**=है, हे **हर्यश्व**=अत्यन्त कान्त व गतिशील इन्द्रियाश्वों को देनेवाले प्रभो! (हरयः अश्वाः यस्मात्) आप, **तत्**=उस धन को **अस्मभ्यं प्रयन्धि**=हमारे लिए दीजिये।

भावार्थ—हम प्रभु से दिये जानेवाले धनों के पात्र हों। प्रभु हमारे लिए महत्त्वपूर्ण धनों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**घोर आङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम धन, दीर्घजीवन व वीर सन्तान

अ॒स्मे प्र य॑न्धि मघवन्नृजीषि॒न्निन्द्र॑ रा॒यो वि॒श्ववा॑रस्य॒ भूरेः॑।
अ॒स्मे श॒तं श॒रदो॑ जी॒वसे॑ धा अ॒स्मे वी॒राञ्छश्व॑त इन्द्र शिप्रिन्॥ १०॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **ऋजीषिन्**=ऋजुमार्ग की प्रेरणा देनेवाले (ऋजु+इष) **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **विश्ववारस्य**=सब से वरणीय **भूरेः**=हमारा पालन-पोषण करनेवाले **रायः**=धन को **प्रयन्धि**=दीजिये। हमें प्रभु कृपा से वह धन प्राप्त हो, जो कि सदा उत्तम मार्ग से कमाया जाता है, जो पापी लक्ष्मी नहीं है। उतना धन प्राप्त हो, जो कि हमारा पालन व पोषण करने के लिए पर्याप्त हो। (२) **अस्मे**=हमारे लिए **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करने के लिए **शतं शरदः धाः**=सौ वर्षों को धारण करिए। हम प्रभु कृपा से शतायु बनें। (३) हे **शिप्रिन्**=शोभन शिरस्त्राणवाले **इन्द्र**=शक्तिमान् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **शश्वतः**=प्लुतगतिवाले (चुस्त) **वीरान्**=वीर सन्तानों को **धाः**=धारण करिए। हमारे सन्तान प्लुत-गतिवाले व वीर हों। वे भी आपकी कृपा से शोभन-शिरस्त्राण (ज्ञान) वाले हों और शक्तिमान् हों।

भावार्थ—हमें प्रभु उत्तम धन, दीर्घजीवन व वीर सन्तान प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शु॒नं हु॑वेम म॒घवा॑न॒मिन्द्र॑म॒स्मिन्भरे॒ नृत॑मं॒ वाज॑सातौ ।
शृ॒ण्वन्त॑मु॒ग्रमू॒तये॑ स॒मत्सु॒ घ्नन्तं॑ वृ॒त्राणि॑ सं॒जितं॒ धना॑नाम्॥ ११॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त सोमरक्षण द्वारा प्राप्त होनेवाले प्रशस्त जीवन का ही चित्रण कर रहा है। अगले सूक्त में भी वासना-विनाश के लिए ही प्रार्थना है—

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अन्तः व बाह्य शत्रुओं का अभिभव

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्, सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हम **वार्त्रहत्याय**=वृत्र-हननरूप कार्य के लिए **शवसे**=बल प्राप्ति के लिए **त्वा**=आपको **वर्तयामसि**=प्रवृत्त करते हैं। आपने ही इन ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं का विनाश करना है। हमारे लिए तो इस काम का विनाश असम्भव-सा प्रतीत होता है। आपकी कृपा होगी और हम वासना को जीत पाएँगे। (२) हे प्रभो! **पृतनाषाह्याय च**=परायी सेनाओं के अभिभव के लिए भी हम आपको ही प्रवृत्त करते हैं। इन शत्रु-सैन्यों पर भी आपकी कृपा से ही हमने विजय पानी है। चाहे अन्तः-शत्रु हों, चाहे बाह्य, प्रभु से शक्ति पाकर ही हम इन्हें जीतते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें वह शक्ति देता है, जिससे कि हम अन्तः व बाह्य-शत्रुओं को जीत पाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु की अनुग्रह-बुद्धि व कृपादृष्टि

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो। इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥ २ ॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! **वाघतः**=(वहन्ति यज्ञियां धुरम् सा०) यज्ञिय-कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले स्तोता लोग **ते**=आपके **सु**=हमारे अभिमत फल-सम्पादन में उत्तम **मनः**=मन को **अर्वाचीनम्**=अभिमुख **कृण्वन्तु**=करें। आपकी अनुग्रह-बुद्धि को प्राप्त करनेवाले ये स्तोता लोग हों। (२) **उत**=और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वाघतः**=ये स्तोता लोग **चक्षुः**=आपकी कृपादृष्टि को अपने अभिमुख करनेवाले हों।

भावार्थ—हम स्तोता बनें और प्रभु की अनुग्रह-बुद्धि व कृपादृष्टि को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निरभिमानता

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे। इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥ ३ ॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! वे **नामानि**=आपके नामों को **विश्वाभिः गीर्भिः**=सब वाणियों से **ईमहे**=चाहते हैं। विविध वाणियों से आपके नामों का उच्चारण करते हैं। आपके नाम का जप करते हैं (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! हम **अभिमातिषाह्ये**=अभिमान को कुचलने के निमित्त आपका स्मरण करते हैं। आपका स्मरण हमें गर्व से बचाता है। आपके विस्मरण में ही हम धनादि की विंजय का गर्व करने लगते हैं।

भावार्थ—प्रभु-नाम-स्मरण हमें अभिमान का शिकार नहीं होने देता।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शत-धाम

पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि। इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ॥ ४ ॥

(१) हम **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **महयामसि**=स्तोत्र का उच्चारण करते हैं, जो

कि **पुरुष्टुतस्य**=बहुतों से स्तुति किए जाते हैं, अथवा पालक व पूरक स्तुतिवाले हैं। प्रभु का स्तवन स्तोता के शरीर का पालन करता है, तो यह स्तवन उसके मन का पूरण करता है। (२) हम उस प्रभु का स्मरण करते हैं, जो कि **शतेन धामभिः**=सैंकड़ों तेजों से **चर्षणीधृतः**=श्रमशील मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं। इन श्रमशील मनुष्यों को प्रभु शतवर्ष पर्यन्त तेजस्वी बनाए रखते हैं। इन शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाले तेजों से ही वस्तुतः उन श्रमशील मनुष्यों का धारण होता है।

भावार्थ—प्रभु स्तोता का पालन व पूरण करते हैं और उन्हें शतवर्ष पर्यन्त तेजस्वी बनाये रखते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

संग्राम में शक्तिलाभ

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे। भरेषु वाजसातये॥ ५॥

(१) मैं **इन्द्रम्**=उस शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभु को **उपब्रुवे**=पुकारता हूँ, ताकि **वृत्राय हन्तवे**=वे प्रभु मेरे ज्ञान पर आवरणभूत इस वृत्र का हनन करनेवाले हों–मुझे 'वार्त्रहत्य-शवस्' प्राप्त कराएँ। (२) मैं **पुरुहूतम्**=बहुतों से पुकारे जानेवाले उस प्रभु को **उपब्रुवे**=पुकारता हूँ, ताकि **भरेषु वाजसातये**=इन काम-क्रोध-लोभ आदि के साथ चलनेवाले संग्राम में वे मुझे शक्ति के प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—वृत्र के विनाश व संग्राम में शक्ति की प्राप्ति के लिए मैं प्रभु को पुकारता हूँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृत्र-विदारण

वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो। इन्द्र वृत्राय हन्तवे॥ ६॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञ व अनन्त शक्तिवाले प्रभो! आप **वाजेषु**=संग्रामों में **सासहिः भव**=हमारे शत्रुओं का मर्षण करनेवाले होइये। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! **वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के लिए **त्वां ईमहे**=आप से प्रार्थना करते हैं। आपने ही हमें वृत्र-विदारण का सामर्थ्य प्राप्त कराना है।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रार्थना करें। प्रभु ही हमें वृत्र के विदारण का सामर्थ्य प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अभिमान-मर्दन

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च। इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो! आप **द्युम्नेषु**=प्राप्तव्य धनों में (सायण) **अभिमातिषु**=अभिमानवाले शत्रुओं का **साक्ष्व**=पराभव करिए, अर्थात् धन को प्राप्त करके जो गर्वीले हो गये हैं, उनके गर्व को आप विनष्ट करिए। (२) इसी प्रकार **पृतनाज्ये**=(पृतनानां अजनं यस्मिन्) संग्राम में, **पृत्सु**=सेनाओं में, **तूर्षु**=(तुर्वी हिंसायाम्) शत्रु-संहारक वीरों में जो अभिमानवाले हुए हैं, जिन्हें संग्रामों-सेनाओं व वीरों का गर्व हुआ है, उन्हें भी आप पराभूत करिए। इनके भी गर्व को दूर करिए।

भावार्थ—हे प्रभो! आप 'धन, संग्राम, सेना व वीर-पुरुषों' विषयक गर्व को समाप्त करिए। इन सब विजयों को हम आपकी ही विजय समझें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'शुष्मिन्तम, द्युम्नी व जागृवि' सोम

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम्। इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ ८ ॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञ! **इन्द्र**=शत्रुविदारक प्रभो! **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए **सोमम्**=इस सोम शक्ति का (वीर्य का) **पाहि**=रक्षण करिए। आपका स्मरण करते हुए हम वासनाओं से बचकर इस सोम को अपने में सुरक्षित कर पाएँ। (२) यह सोम ही हमें **शुष्मन्तमम्**=अधिक से अधिक शत्रुशोषक बल को प्राप्त करानेवाला है। **द्युम्निनम्**=हमारी ज्ञान-ज्योति को बढ़ानेवाला है तथा **जागृविम्**=हमें सदा जागरित व सावधान रखनेवाला है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम सोम का रक्षण करते हुए बल, ज्ञान व जागरणशीलता (अप्रमत्तता) को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्रिय (वीर्य सामर्थ्य) वरण

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ ९ ॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्तिवाले प्रभो! **पंचसु जनेषु**=(पचि विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले लोगों में **या**=जो **ते**=आपकी **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ, वीर्य व सामर्थ्य हैं। हे **इन्द्र**=सब इन्द्रियों, वीर्यों व बलोंवाले प्रभो! **ते**=आपकी **तानि**=उन इन्द्रियों का **आवृणे**=मैं वरण करता हूँ। (२) हे प्रभो! आपने ही सब लोगों को ये इन्द्रियों के सामर्थ्य प्राप्त कराए हैं। मैं आपकी कृपा से इन इन्द्रिय-सामर्थ्यों को प्राप्त करूँ। इन्हें आपका ही जानूँ। इनका गर्व न करने लगूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप से हम सब इन्द्रियों के सामर्थ्यों की याचना करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

श्रवस्-द्युम्न-शुष्म

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद्द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम्। उत्ते शुष्मं तिरामसि ॥ १० ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! आपकी कृपा से हमें **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत **श्रवः**=सौम्य अन्न **अगन्**=प्राप्त हो। हम सोमरक्षण की अनुकूलतावाले ही अन्न का सेवन करें। (२) आप हमारे में इस सात्त्विक अन्न के सेवन के परिणामस्वरूप **दुष्टरम्**=काम आदि शत्रुओं से अभिभूत न करने योग्य **द्युम्नम्**=ज्ञान-ज्योति को **दधिष्व**=धारण करिए। (३) इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करके हम **ते शुष्मम्**=आपसे दिये जानेवाले इस शत्रुशोषक बल को **उत् तिरामसि**=अत्यन्त ही बढ़ानेवाले हों।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के प्रयोग से ज्ञान का वर्धन करते हुए शत्रुशोषक बल को बढ़ाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभुप्राप्ति की अभिलाषा

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः। उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ११ ॥

(१) हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **अर्वावतः**=समीप देश से **नः**=हमें **आगहि**=प्राप्त होइये। **अथ उ**=और निश्चय से **परावतः**=दूर देश से भी हमें प्राप्त होइये। दूर व निकट जहाँ भी आप

हों, वहाँ से आप हमें प्राप्त होइये। (२) **उ**=और हे **अद्रिवः**=(अत्तिभक्षयति शत्रून् इति अद्रिः=वज्रम्) हे वज्रहस्त **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **यः ते लोकः**=जो भी आपका लोक हो, **ततः**=वहाँ से **इह आगहि**=यहाँ प्राप्त होइये। संक्षेप में, प्रार्थना यह है कि समीप व दूर अथवा जहाँ कहीं भी आप हों, वहाँ से आप हमें प्राप्त होइये। आप सर्वव्यापक हैं। पर हम आपको ठीक-ठीक जान तो नहीं पाते, अतः यही प्रार्थना करते हैं कि जहाँ कहीं भी आप हों, आप वहाँ से हमें प्राप्त होइये।

भावार्थ—हमारी एक ही प्रबल अभिलाषा हो कि हम प्रभु को प्राप्त कर सकें।

सूक्त का सार यही है कि हम वासना को विनष्ट करके प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें। अगले सूक्त में भी प्रभुदर्शन का ही विषय चलता है—

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बुद्धि का दीपन

अभि तष्टेव दीधया मनीषामत्यो न वाजी सुधुरो जिहानः।
अभि प्रियाणि मर्मृशत्पराणि कवीँरिच्छामि सन्दृशे सुमेधाः ॥ १ ॥

(१) **तष्टा इव**=बढ़ई की तरह, जैसे बढ़ई एक लकड़ी को रन्दा फेरकर दीप्त करता है, इसी प्रकार **मनीषाम्**=बुद्धि को **अभिदीधयाः**=तू दीप्त करनेवाला हो। **अत्यः**=सततगामी **वाजी**=घोड़े की **न**=तरह **सुधुरः**=तू उत्तमता से धुरा में जुतनेवाला हो-सदा उत्तम कार्यों में लगा हुआ हो। **जिहानः**=सदा कार्यों में प्रवृत्त रहनेवाला तू **पराणि**=उत्कृष्ट **प्रियाणि**=प्रिय कर्मों का **अभिमर्मृशत्**=विचार करता है। (२) उल्लिखित जीवनवाला मैं **सुमेधः**=उत्तम बुद्धिवाला बनकर **कवीन्**=ज्ञानियों को **संदृशे**=देखने के लिए **इच्छामि**=चाहता हूँ। सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहकर मैं भी उन जैसा ही बनने के लिये यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—एक समझदार व्यक्ति (क) बुद्धि को दीप्त करता है, (ख) सदा कार्य में तत्पर रहता है, (ग) उत्कृष्ट सत्कर्मों के करने का विचार करता है और (घ) ज्ञानियों के सम्पर्क में रहने की कामना करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मनोधृतः+सुकृतः

इनोत पृच्छ जनिमा कवीनां मनोधृतः सुकृतस्तक्षत द्याम्।
इमा उ ते प्रण्योई वर्धमाना मनोवाता अध नु धर्मणि ग्मन् ॥ २ ॥

(१) **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शी लोगों के **जनिमा**=जन्म को **उत**=और **इना**=स्वामित्वों को, इन्द्रियों के अधिष्ठातृत्व को **पृच्छ**=जानने की इच्छा कर। 'ये कवि किस प्रकार कवि बनते हैं, कैसे ये **इन**=स्वामी बनते हैं' इन बातों को जानकर तू भी वैसा बनने का प्रयत्न कर। ये कवि **मनोधृतः**=मनों को धारण करनेवाले होते हैं-मन को वश में करते हैं। मन को वशीभूत करके **सुकृतः**=उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। ये **द्याम्**=प्रकाश को **तक्षत**=बनाते हैं। ये अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का उदय करते हैं। (२) **अथ नु**=अब **धर्मणि**=इस धर्मपूर्वक चलाये जाते हुए जीवनयज्ञ में **उ**=निश्चय से **इमाः**=ये **प्रण्यः**=प्रकर्षेण जीयमान (प्राप्त कराई जाती हुई) **वर्धमानाः**=दिन-प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होती हुई **मनोवाताः**=मन को प्रेरणा देनेवाली स्तुतियाँ **ते अनुग्मन्**=तेरा अनुगमन करती हैं। हम तेरी स्तुति करते हैं। ये स्तुतियाँ हमें उस-उस

प्रकार का बनने के लिए प्रेरणा देती हैं।

भावार्थ—हम मन को वश में करनेवाले व उत्तम कर्मों को करनेवाले बनकर ज्ञानवर्धन करें। प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मस्तिष्क व शरीर का धारण

नि षीमिदत्र गुह्या दधाना उत क्षत्राय रोदसी समञ्जन्।
सं मात्राभिर्ममिरे येमुरुर्वी अन्तर्मही समृते धायसे धुः॥ ३॥

(१) **अत्र**=इस जीवन में **सीं इत्**=निश्चय से **गुह्या**=रहस्यमय ज्ञानों को **निदधानाः**=धारण करते हुए गतमन्त्र में वर्णित कवि लोग **उत**=और **क्षत्राय**=बल के लिए **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **सं अञ्जन्**=सम्यक् अलंकृत करते हैं। मस्तिष्क में (द्यावा में) गुह्य ज्ञानों को धारण करते हैं, तो शरीर (पृथिवी) में बल को धारण करनेवाले होते हैं। 'मस्तिष्क में ब्रह्म, शरीर में क्षत्र' इस प्रकार इनके द्यावापृथिवी सुशोभित हो जाते हैं। (२) ये **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **मात्राभिः संममिरे**=सब कार्यों को माप-तोल से करने द्वारा निर्मित होते हैं। 'मात्रा बलम्'=मात्रा ही वस्तुतः बल है। इन **उर्वी**=विशाल **मही**=महत्त्वपूर्ण **समृते**=परस्पर संगत द्यावापृथिवी का ये लोग **अन्तःयेमुः**=अन्दर स्थित होकर नियमन करते हैं। इनका मस्तिष्क व शरीर इनके वश में होता है। यथासंभव ये अन्तर्मुखी-वृत्तिवाले बनते हैं और इनका धारण कर पाते हैं। ये लोग **धायसे**=अपने धारण के लिए **धुः**=इन द्यावापृथिवी का-मस्तिष्क व शरीर का धारण करते हैं। जो व्यक्ति मस्तिष्क व शरीर का धारण करता है, धारण किये हुए ये मस्तिष्क और शरीर उसका धारण करते हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क गुह्य ज्ञानों से परिपूर्ण हो, शरीर शक्ति से। हम अन्तर्मुखी-वृत्तिवाले होकर मस्तिष्क व शरीर का नियमन करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वरोचिः

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥ ४॥

(१) **आतिष्ठन्तम्**=सर्वतः स्थित होते हुए उस प्रभु को **विश्वे**=सब देव **परि अभूषन्**=अपने में अलंकृत करते हैं। वस्तुतः उस प्रभु से ही वे देव देवत्व को प्राप्त करते हैं। **श्रियः वसानः**=सब शोभाओं को धारण करता हुआ वह प्रभु **स्वरोचिः**=स्वयं दीप्तिवाला **चरति**=गति करता हैं। प्रभु उस-उस पिण्ड में उस-उस शोभा को स्थापित करते हैं, परन्तु स्वयं किसी अन्य से शोभा को नहीं प्राप्त करते। प्रभु की दीप्ति से ही सब दीप्त हैं-प्रभु को कोई अन्य दीप्ति प्राप्त नहीं कराता। (२) **वृष्णः**=उस शक्तिशाली **असुरस्य**=सब में प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु का **तद्**=वह **नाम**=शत्रुओं को नत करने का कर्म **महत्**=महान् है। **विश्वरूपः**=सम्पूर्ण संसार को रूप देनेवाला वह प्रभु **अमृतानि तस्थौ**=अमृतत्त्वों का अधिष्ठाता है। प्रभु ही अमृतत्त्व को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति से ही सब देव दीप्तिवाले हैं। वे प्रभु ही अमृतत्त्व को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र+वरुण=शक्ति+ज्ञान

असूत पूर्वो वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः।
दिवो नपाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाते॥ ५॥

(१) जो व्यक्ति **असूत**=अपने अन्दर सोम का उत्पादन करता है, वह **पूर्वः**=अपना पालन व पूरण करनेवाला होता है। **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है, **ज्यायान्**=यह प्रशस्त-जीवनवाला होता है। **इमाः**=ये रेतःकण रूप जल (आपः) **अस्य**=इस सोम का पान करनेवाले पुरुष के **शुरुधः सन्ति**=शोक को रोकनेवाले होते हैं-ये इसकी स्थिति को कभी शोचनीय नहीं होने देते। **पूर्वीः**=ये इसका पालन व पूरण करते हैं। (२) इस सोम का पान करनेवाले के जीवन में इन्द्र और वरुण। इन्द्र शक्ति देवता है 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य', वरुण 'प्रचेताः' होता हुआ प्रकृष्ट ज्ञान को प्राप्त कराता है। शक्ति व पाप-निवारण के देवता **दिवः नपाता**=ज्ञान को नष्ट न होने देनेवाले होते हैं, **राजाना**=ये इसके जीवन को व्यवस्थित (Regvlated) व दीप्त (राज् दीप्तौ) बनाते हैं। ये इसके जीवन में **विदथस्य धीभिः**=ज्ञान प्राप्ति की बुद्धियों द्वारा **दिवः**=ज्ञानों को तथा **क्षत्रम्**=बल को **प्रदधाथे**=प्रकर्षेण धारण करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा इन्द्र हमारे में बल को धारण करता है तो वरुण (प्रचेताः) हमारे में ज्ञान को स्थापित करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गन्धर्वों व वायुकेशों का दर्शन

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वाँ अपि वायुकेशान्॥ ६॥

(१) **राजाना**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाले 'इन्द्र और वरुण' **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **त्रीणि**=तीनों **पुरूणि**=पालन व पूरण से युक्त **विश्वानि**=सम्पूर्ण **सदांसि**=अधिष्ठानों को-इन्द्रिय, मन व बुद्धि को **परिभूषथः**=सब तरह से अलंकृत करते हैं। हम यथासम्भव इन्द्रियों, मन व बुद्धि को ज्ञानप्राप्ति के कर्मों में व्यापृत रखें। ऐसा करने पर ये स्वस्थ रहेंगे-इनमें किसी प्रकार की कमी न आएगी, ये 'पुरु' होंगे, 'विश्व' होंगे। 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' यहाँ सदस् कहे गये हैं, चूँकि अच्छी व बुरी सब भावनाओं व वासनाओं के ये ही अधिष्ठान बनते हैं। (२) जब इन्द्र और वरुण, शक्ति व प्रकृष्ट ज्ञान के देवता, इन इन्द्रिय, मन व बुद्धि को अलंकृत करते हैं, तो **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **मनसा**=मन से **जगन्वान्**=प्रभु के प्रति गतिवाला मैं **अपश्यम्**=उस प्रभु का दर्शन करता हूँ और **व्रते**=व्रतों के होने पर-जीवन के व्रतमय होने पर **गन्धर्वान् अपि**=(प्राणो वै गन्धर्वः जै० उ० ३।३६।३) प्राणों को भी देखता हूँ-अपने अन्दर प्राणशक्ति का अनुभव करता हूँ तथा **वायुकेशान्**=गति द्वारा सब बुराइयों को हिंसन करनेवाली (वा गतिगन्धनयोः) ज्ञानरश्मियों को (केश=a rag of Light) देखता हूँ। जब जीवन व्रतमय होता है तो प्राणशक्ति भी बढ़ती है, ज्ञान की रश्मियाँ भी बढ़ती हैं।

भावार्थ—बल व प्रकृष्ट ज्ञान हमारी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अलंकृत करें। हम व्रतमय-जीवनवाले बनकर प्राणशक्ति व ज्ञान का साधन करें। यह ज्ञान हमें गतिमय बनाकर हमारी सब बुराइयों का हिंसन करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नामस्मरण से ज्ञान का प्रकाश

तदिन्न्वस्य वृषभस्य धेनोरा नामभिर्ममिरे सक्म्यं गोः।
अन्यदन्यदसुर्यं वसाना नि मायिनो ममिरे रूपमस्मिन्॥ ७॥

(१) **इत् नु**=निश्चय से अब, **अस्य**=इस **वृषभस्य**=शक्तिशाली **धेनोः**=ज्ञानदुग्ध द्वारा प्रीणित करनेवाले प्रभु के **नामभिः**=नामों से–नामों के जप से **गोः**=इस वेदवाणीरूप गौ के **तत्**=उस **सक्म्यम्**=समवाय व सम्बन्ध को **ममिरे**=निर्मित करते हैं। प्रभु–नाम–स्मरण से वासना का विनाश होता है। हृदय की पवित्रता से वहाँ ज्ञान का प्रकाश सम्भव होता है। यही नामों द्वारा वेदवाणी के सम्बन्ध का भाव है। (२) इस वेदवाणी के साथ सम्बन्ध के कारण **अन्यत् अन्यत्**=विलक्षण और अत्यन्त विलक्षण **असुर्यम्**=(असुराय हितं) परमात्म–प्राप्ति के साधनभूत बल को **वसानाः**=धारण करते हुए, **मायिनः**=ये प्रज्ञावान् मनुष्य **अस्मिन्**=इस प्रभु में **रूपम्**=रूप को **निममिरे**=निर्मित करनेवाले होते हैं। प्रभु में ये स्थित होते हैं और ब्रह्मनिष्ठ होते हुए प्रभु के तेज से तेजस्वी होकर उत्कृष्टरूप को धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु–नाम–स्मरण से पवित्र हृदय में ज्ञान के प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। इस ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति को अद्भुत बल व उत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम मस्तिष्क व शरीर

तदिन्न्वस्य सवितुर्नकिर्मे हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत् ।
आ सुष्टुती रोदसी विश्वमिन्वे अपीव योषा जनिमानि वव्रे॥ ८॥

(१) **इत् नु**=निश्चय से अब **अस्य**=इस **सवितुः**=सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक **मे**=मेरी **हिरण्ययीम्**=अत्यन्त ज्योतिर्मयी **अमतिम्**=दीप्ति को **नकिः**=कोई भी परिच्छिन्न नहीं कर पाता। **तत्**=अतः यह दीप्ति वह है, **याम्**=जिसको **अशिश्रेत्**=यदि एक उपासक सेवित करता है, तो वह **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आवव्रे**=सर्वथा वृत करनेवाला होता है, **इव**=जैसे **योषा**=एक स्त्री **जनियानि**=उत्पन्न सन्तान को **अपि** (**वव्रे**)=वरण करती है। द्यावापृथिवी को वह वृत करनेवाला होता है, इस वाक्य का भाव यही है कि यह प्रभु की ज्योति का सेवन करनेवाला अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा शरीररूप पृथिवीलोक को बड़ा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। (२) उसके ये मस्तिष्क व शरीर **सुष्टुती**=(शोभना स्तुतिर्ययोः) उत्तम स्तुति के योग्य होते हैं। मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से उज्ज्वल होता है, तो शरीर पृथिवी की तरह दृढ़ होता है। सभी इसके मस्तिष्क व शरीर की प्रशंसा करते हैं। उसके मस्तिष्क व शरीर **विश्वमिन्वे**=सब को संतृप्त करनेवाले होते हैं। इसका मस्तिष्क व शरीर सभी के हितसाधन में प्रवृत्त होता है। यह ज्ञान व शक्ति से औरों का कल्याण ही कल्याण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति को कोई भी परिच्छिन्न नहीं कर सकता। जो भी इसका धारण करता है, वह स्तुत्य मस्तिष्क व शरीरवाला होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'गोपाजिह्व' प्रभु का उपासन

युवं प्रत्नस्य साधथो महो यद्दैवी स्वस्तिः परि णः स्यातम्।
गोपाजिह्वस्य तस्थुषो विरूपा विश्वे पश्यन्ति मायिनः कृतानि॥ ९॥

(१) हे इन्द्रावरुणौ! **युवम्**=आप दोनों **प्रत्नस्य महः साधथः**=उस सनातन तेज को सिद्ध करते हैं, **यत्**=जो तेज **दैवी स्वस्तिः**=देवों व इन्द्रियों सम्बन्धी कल्याण का कारण बनता है। 'इन्द्र' शक्ति का देवता है और 'वरुण' पाप-निवारण का। जब एक व्यक्ति इन 'इन्द्र-वरुण' का उपासक बनता है, तो वह उस तेज को प्राप्त करता है, जिस तेज से कि वह अपनी सब इन्द्रियों को उत्तम स्थिति में करनेवाला होता है। सो यह प्रार्थना करता है कि हे इन्द्रावरुणौ! आप **नः**=हमारे **परिस्यातम्**=चारों ओर होनेवाले होइये, अर्थात् हमारे रक्षक होइये। (२) ये इन्द्र-वरुण के **विश्वे**=सब उपासक **गोपाजिह्वस्य**=(गोप्त्री जिह्वा यस्य) उस रक्षक जिह्वावाले, अर्थात् जिनकी वेदवाणी सभी का रक्षण करती है, उस **तस्थुषः**=कूटस्थ-अविचल, **मायिनः**=प्रज्ञावान् प्रभु की माया के अधिष्ठाता परमात्मा के **विरूपा कृतानि**=विविधरूपोंवाले वृत्रहनन आदि कर्मों को **पश्यन्ति**=देखते हैं। अपने जीवन में वे अनुभव करते हैं कि किस प्रकार प्रभु उनकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—शक्ति व निष्पापता की उपासना हमें वह तेज प्राप्त कराती है, जो कि हमारी सब इन्द्रियों को उत्तम स्थिति में रखता है। वस्तुतः प्रभु-कृपा से ही वासनाओं का विनाश होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आनन्दस्वरूप प्रभु का आह्वान

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ १०॥

मन्त्र-व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त उपासना द्वारा 'मस्तिष्क व शरीर' को उज्ज्वल व तेजस्वी बनाने का संकेत करता है। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

चतुर्थोऽनुवाकः

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदय से प्रभुस्तवन

इन्द्रं मतिर्हृद आ वच्यमानाच्छा पतिं स्तोमतष्टा जिगाति।
या जागृविर्विदथे शस्यमानेन्द्र यत्ते जायते विद्धि तस्य॥ १॥

(१) **इन्द्रम्**=इन्द्र के **स्तोमतष्टा**=स्तोत्रसमूहों द्वारा निर्मित, **हृदः आवच्यमाना**=हृदय के अन्तस्तल से उच्चारण की जाती हुई **मतिः**=विचारपूर्वक की गई स्तुति **पतिं अच्छा**=उस संसार-रक्षक प्रभु की ओर **जिगाति**=जाती है। प्रभु को लक्ष्य करके हमारे से स्तवन किया जाता है। (२) यह स्तुति वह है, **या**=जो **जागृविः**=हमारे जागरण का कारण बनती है, इसके द्वारा हमारे सामने लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न हो जाती है। **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **शस्यमाना**=शंसन की जाती हुई, **यत्**=जो हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **ते**=आपकी **जायते**=यह स्तुति होती है **तस्य विद्धि**=उस स्तवन को आप जानिए। यह हमारे से किया जाता हुआ स्तवन आपके लिए प्रिय हो। इस स्तवन द्वारा, अपने जीवन को तदनुरूप बनाते हुए हम आपके प्रिय हों।

भावार्थ—हृदय से प्रभु-स्तवन करते हुए, तदनुरूप अपने जीवन को बनाते हुए हम प्रभु के प्रीति पात्र हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्तवन से ज्ञानवाणी का प्रादुर्भाव

दिवश्चिदा पूर्व्या जायमाना वि जागृविर्विदथे शस्यमाना।
भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः॥ २॥

(१) **दिवः चित्**=द्योतमान सूर्य से भी **पूर्व्या आजायमाना**=पहले होनेवाली-उषाकाल में होनेवाली **विदथे शस्यमाना**=ज्ञानयज्ञों में उच्चारण की जाती हुई यह स्तुति **विजागृविः**=हमें विशेषरूप से जगानेवाली है। उषाकाल में हम प्रभु का स्तवन करते हैं, यह स्तवन हमें उस प्रकार का बनने की प्रेरणा देता है। (२) **सा**=वह **इयम्**=यह **सनजा**=सनातनकाल से प्रादुर्भूत होनेवाली **पित्र्या**=सबके पिता उस प्रभु से दी जानेवाली **धीः**=वेदरूप ज्ञानवाणी **अस्मे**=हमारे लिए **भद्रा**=कल्याणकर **अर्जुनाः**=शुभ्र **वस्त्राणि**=वस्त्रों को **वसाना**=धारण कराती है, अर्थात् इस ज्ञानवाणी से हमारा जीवन शुभ कर्मरूप वस्त्रों से आच्छादित होता है-हम सदा शुभ ही कर्म करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारे लिए ज्ञान की वाणी प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्म व क्षत्र के यम को जन्म देनेवाली वेदवाणी

यमा चिदत्र यमसूरसूत जिह्वाया अग्रं पतदा ह्यस्थात्।
वपूंषि जाता मिथुना सचेते तमोहना तपुषो बुध्न एता॥ ३॥

(१) गतमन्त्र में स्तवन के होने पर वेदवाणी की प्राप्ति का उल्लेख था। यह **यमसूः**=शक्ति व ज्ञान के युग्म को (जोड़े को) पैदा करनेवाली वेदवाणी **अत्र**=यहां हमारे जीवन में **चित्**=निश्चय से **यमा**=शक्ति व ज्ञान की इस जोड़ी को **असूत**=पैदा करती है। वेदवाणी द्वारा हमारे में 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास होता है। यह वेदवाणी हमारी **जिह्वायाः**=जिह्वा के **अग्रम्**=अग्रभाग में **पतत्**=प्राप्त होती हुई **हि**=निश्चय से **आ अस्थात्**=सर्वथा स्थित होती है। हम इसे जिह्वाग्र करने का प्रयत्न करते हैं। (२) **तपुषः**=(तपति अस्मिन् सूर्यः) दिन के **बुध्ने**=मूल में, अर्थात् प्रातःकाल **आर इना**=सर्वथा प्राप्त होनेवाले **तमोहना**=अन्धकार को विनष्ट करनेवाले **जाता**=उत्पन्न हुए-हुए **मिथुना**=ये ज्ञान व शक्ति के युग्म **वपूंषि सचेते**=हमारे शरीरों के साथ समवेत (संगत) होते हैं। हमारा सर्वप्रथम कार्य यही होता है कि प्रभुस्तवन द्वारा हम हृदय को शुद्ध करें। शुद्ध हृदय में ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करें। यह वेदज्ञान हमारे जीवनों में 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास करेगा।

भावार्थ—प्रातः-प्रातः किया गया वेदवाणी का स्वाध्याय हमारे जीवनों में 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जितेन्द्रियता व प्रशस्त जीवन

नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥ ४॥

(१) **ये**=जो **अस्माकम्**=हमारे में से कुछ व्यक्ति **गोषु योधाः**=इन्द्रियों के विषय में युद्ध करनेवाले होते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में आसक्त होने से बचाते हैं, वे **पितरः**=पिता-रक्षक

कहलाते हैं। ये विषयों के आक्रमण से अपना रक्षण करते हैं। **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **एषाम्**=इनका **निन्दिता नकिः**=निन्दा करनेवाला कोई नहीं होता। सब इनके जीवन की प्रशंसा ही करते हैं। (२) **माहिनावान्**=अनन्त महिमावाला **इन्द्रः**=वह प्रभु **एषाम्**=इनका **दृंहिता**=दृढ़ करनेवाला है। प्रभु इनके जीवन को दृढ़ बनाते हैं। **दंसनावान्**=उत्तम कर्मोंवाले वे प्रभु **गोत्राणि**=इन पितरों के इन्द्रिय समूहों को **उत् ससृजे**=विषयों में फँसने से बचाते हैं। प्रभु का स्मरण व पूजन इन्हें वह शक्ति देता है, जिससे कि ये विषयवासनाओं को पराभूत करनेवाले होते हैं और अपनी इन्द्रियों को विषयासक्ति से मुक्त रखते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को विषयों में न फँसने देनेवाला व्यक्ति सदा प्रशस्त-जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-सूर्य का उदय

सखा॑ ह॒ यत्र॒ सखि॑भि॒र्नव॑ग्वैरभि॒ज्ञ्वा सत्व॑भि॒र्गा अ॑नु॒ग्मन्।
स॒त्यं तदिन्द्रो॑ द॒शभि॒र्दश॑ग्वैः॒ सूर्यं॑ विवेद॒ तम॑सि क्षि॒यन्त॑म्॥ ५॥

(१) जीवन के नौवें दशक पर्यन्त जानेवाले अंगिरस् व्यक्ति 'नवग्व' कहलाते हैं। दसवें दशक तक पहुँचनेवाले ये 'दशग्व' नामवाले हैं। **यत्र**=जहाँ **नवग्वैः**=नव्वे वर्ष तक पहुँचनेवाले **अभिज्ञु**='अभिगतजानुकं यथा स्यात्तथा' घुटने टेककर **सत्वभिः**=(सद्) प्रभु की उपासना में बैठनेवाले **सखिभिः**=मित्रों के साथ **सखा**=मित्रभाववाला व्यक्ति **ह**=निश्चय से **गाः अनुग्मन्**=वेदवाणियों का अनुगमन करता हुआ **सूर्यं विवेद**=ज्ञानसूर्य को प्राप्त करता है। (२) **सत्यं तत्**=वह बात सत्य है कि **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **दशग्वैः**=दसवें दशक तक चलनेवाली-ठीक कार्य करनेवाली, **दशभिः**=इन दस इन्द्रियों से **तमसि क्षियन्तम्**=अन्धकार में निवास करते हुए, अर्थात् अस्त हुए-हुए **सूर्यम्**=ज्ञान-सूर्य को **विवेद**=प्राप्त करता है। अजितेन्द्रिय पुरुष के जीवन में ज्ञान सूर्य अस्त हो जाता है। इन्द्रियों को जीतकर यह सूर्य का फिर उदय करनेवाला होता है। यह जितेन्द्रिय पुरुष वेदवाणियों का अनुगमन करता है और ज्ञान के सूर्य को अपने जीवन में उदित करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर हम ज्ञान के सूर्य को अपने जीवन में उदित करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोदुग्ध के प्रयोग का महत्व

इन्द्रो॒ मधु॒ संभृ॑तमु॒स्रिया॑यां प॒द्वद्वि॑वेद श॒फव॒न्नमे॒ गोः ।
गुहा॑ हि॒तं गुह्यं॑ गू॒ळ्हम॒प्सु हस्ते॑ दधे॒ दक्षि॑णे॒ दक्षि॑णावान्॥ ६॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **उस्त्रियायाम्**=गौ में **संभृतम्**=सम्यक् धारण किये गये **मधु**=ओषधियों के सारभूत दूध को **विवेद**=प्राप्त करता है। इस मधु तुल्य दुग्ध को प्राप्त करने के लिए **गोः नमे**=गौ के प्रह्वीभूत होने पर-प्राप्त होने पर **पद्वत्**=पाँववाले और **शफवत्**=खुरोंवाले गोरूप धन को **विवेद**=प्राप्त करता है। (२) गोरूप धन से प्राप्त गोदुग्ध के सेवन से सात्त्विक वृत्तिवाला बनकर यह **दक्षिणावान्**=अत्यन्त दान की वृत्तिवाला बनकर **गुहाहितम्**=हृदयरूप गुहा में स्थापित **गुह्यम्**=रहस्यमय **अप्सु**=सब प्रजाओं में **गूढम्**=छिपे हुए इस प्रभु के ज्ञान को **हस्ते दधे**=हाथ में धारण करता है। उसे यह ज्ञान हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट जीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) गोधन को अपनाएँ, (ख)

गोदुग्ध का सेवन करें, (ग) सात्त्विक-वृत्तिवाले बनकर दानशील हों, (घ) रहस्यमय आत्मज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अज्ञानान्धकार व पाप' का विनाश

ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके ।
इमा गिरः सोमपाः सोमवृद्ध जुषस्वेन्द्र पुरुतमस्य कारोः ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार गोदुग्ध का सेवन करनेवाला **विजानन्**=समझदार पुरुष **तमसः**=अन्धकार को छोड़कर **ज्योतिः वृणीत**=प्रकाश का वरण करे। इसकी प्रार्थना यही हो कि 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। इस ज्ञान को प्राप्त करके हम **दुरितात् आरे**=पाप से दूर **अभीके**=भयरहित स्थान में **स्याम**=हों। ज्ञान से हमारे में निष्पापता हो, निष्पापता से हम निर्भयता प्राप्त करें। (२) हे **सोमपाः**=सोम का-वीर्य का रक्षण करनेवाले **सोमवृद्ध**=रक्षित सोम से बढ़ी हुई शक्तियोंवाले **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक जीव! तू **पुरुतमस्य**=(पुरून् तमयति) कितने ही शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले, **कारोः**=कुशलता से सब कार्यों को करनेवाले उस प्रभु की **इमाः गिरः**=इन ज्ञान की वाणियों का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। ये ज्ञानवाणियाँ ही वस्तुतः उसे ज्ञानवृद्धि द्वारा दुरित से ऊपर उठाएँगी।

भावार्थ—हम प्रभु से दी गई ज्ञान की वाणियों का सेवन करें। इन से हमारा अज्ञानान्धकार दूर होगा और हम पाप में न फँसकर निर्भय जीवन बिता सकेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दान व धनवृद्धि

ज्योतिर्यज्ञाय रोदसी अनु ष्यादारे स्याम दुरितस्य भूरेः ।
भूरि चिद्धि तुजतो मर्त्यस्य सुपारासो वसवो बर्हणावत् ॥ ८ ॥

(१) **यज्ञाय**=यज्ञों के लिए-इसलिए कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों को कर सकें **ज्योतिः रोदसी अनु स्यात्**=ज्ञान द्यावापृथिवी के अनुकूल हो। ज्ञान का सूर्य हमारे मस्तिष्क व शरीर को प्रकाशित करनेवाला हो। इस ज्ञान को प्राप्त करके हम **भूरेः दुरतिस्य**=इन अनेक (बहुत) पापों के **आरे स्याम**=दूर हों। हम ज्ञान को प्राप्त करें, ज्ञान की प्राप्ति हमें पापों से बचानेवाली हो। (२) पापों से बचने के लिए ही हम दान की वृत्ति को भी अपनाएँ और यह सदा स्मरण रखें कि **तुजतः मर्त्यस्य**=इस धनों के दान करनेवाले मनुष्य के **वसवः**=धन **सुपारासः**=उसके सब कार्यों को सम्यक् पार लगानेवाले होते हैं। इस दानी पुरुष का जीवन **चित् हि**=निश्चय से **भूरि**=अत्यन्त ही **बर्हणावत्**=वृद्धिवाला होता है। यह जीवन में निष्पाप होकर आगे और आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—ज्ञान होने पर जीवन निष्पाप बनता है। हम दान की वृत्तिवाले बनते हैं। हमारे धनों की भी वृद्धि होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धनों के विजेता प्रभु

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ९ ॥

मन्त्र की व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु-स्तवन से पवित्रता व ज्ञानवृद्धि का प्रतिपादन कर रहा है। प्रभु की उपासना द्वारा सोमरक्षण का महत्त्व अगले सूक्त में प्रतिपादित हुआ है—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वृषभ' प्रभु का आराधन

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे। स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=(इन्दौ रयते) सोमरक्षण होने पर हमारे जीवनों में रमण करनेवाले प्रभो! **वृषभम्**=सुखों के वर्षक **त्वा**=आपको **वयम्**=हम **सोमे सुते**=सोम का उत्पादन होने पर **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना करते हुए हम यही चाहते हैं कि आपकी कृपा से हम इस सोम के रक्षण में समर्थ हों। **सः**=वे आप **मध्वः**=इस मधुर-जीवन को मधुर बनानेवाले, **अन्धसः**=सोम का (आध्यातव्यः भवति) **पाहि**=रक्षण करिए। (२) प्रभु की उपासना में तत्पर व्यक्ति जीवन में व्यर्थ की बातों में-विलासिता में फँसता नहीं। यह विलासिता में न फँसना ही सोमरक्षण का साधन बनता है। इस सोमरक्षक के लिए ही प्रभु सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं। इस प्रकार जब हम सोम का रक्षण कर पाते हैं, तो अपने हृदयों में प्रभु का दर्शन करने की योग्यतावाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना द्वारा उत्पन्न सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यही सब सुखों की प्राप्ति का मूल है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'शक्ति व प्रज्ञान' देनेवाला सोम

इन्द्रं क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत। पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! इस **क्रतुविदम्**=शक्ति व प्रज्ञान के प्रापक (विद् लाभे) **सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **हर्य**=(पातुं कामयस्व) पीने की कामना करिए। आपके अनुग्रह से यह उत्पन्न हुआ-हुआ सोम हमारे शरीरों में ही सुरक्षित रहे। (२) इस **तातृपिम्**=अत्यन्त प्रीतिजनक सोम को, हे **पुरुष्टुत**=अत्यन्त स्तुति किये जानेवाले प्रभो! **पिब**=शरीर के अन्दर ही व्याप्त करिए और **आवृषस्व**=इसे हमारे शरीर में ही सिक्त करिए। आपके अनुग्रह से यह सोम शरीर का ही अंग बनता हुआ, इस को अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाला हो।

भावार्थ—सोम का रक्षण हमें शक्तिशाली व प्रज्ञावान् बनाए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञमय जीवन

इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः। तिर स्तवान विश्पते ॥ ३ ॥

(१) हे **स्तवान**=स्तूयमान **विश्पते**=सब प्रजाओं के रक्षक **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **विश्वेभिः देवेभिः**=सब देवों के साथ **नः**=हमारे **धितावानम्**=(वन्यते संभज्यते इति वानं हविः, धितं हविर्यस्मिन्, संभृत हविष्य) इस हवि के संभरणवाले **यज्ञम्**=यज्ञ को **प्रतिरः**=प्रकर्षेण बढ़ाइये। सूर्यादि सब देवों तथा उपस्थित विद्वान्जनों की अनुकूलता से हमारा यज्ञ अवश्य पूर्ण हो। (२) जीवन ही यज्ञ है। इसमें हम सदा हवि का सेवन करनेवाला बनना है। ऐसा होने पर हम प्रभु का

सच्चा पूजन कर रहे होते हैं। इस प्रभु-पूजन से हमें सब सूर्यादि देवों की अनुकूलता तो प्राप्त होती ही है। यह जीवन हमें विद्वानों का भी प्रिय बनाता है। इस हवि के स्वीकार-यज्ञशेष के सेवन से हमारे में सभी दिव्यगुणों का विकास होता है। इस प्रकार 'विश्वेभिः देवेभिः' में ये देव आधिदैविक जगत् में सूर्यादि हैं, आधिभौतिक जगत् में विद्वान् हैं और अध्यात्म में सब दिव्यगुण हैं। यह यज्ञमय जीवन हमें इन सब देवों का तथा महादेव प्रभु का प्रिय बनाता है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवन द्वारा हम देवों व महादेव के प्रिय बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चन्द्रासः-इन्दवः (उल्लास व शक्ति)

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते। क्षयं चन्द्रास इन्दवः ॥ ४ ॥

(१) हे **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **इमे**=ये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **चन्द्रासः**=आह्लाद के जनक (चदि आह्लादे) **इन्दवः**=(इन्द् to be Powerful) शक्ति को देनेवाले **सोमाः**=सोमकण **तव क्षयम्**=आपके गृह की ओर **प्रयन्ति**=आते हैं, अर्थात् ये हमें आपको प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) सोमकणों के रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र) तथा सदा सत्कार्यों में व्यापृत रहें (सत्पति)। इनके रक्षण से हम जीवन में उल्लास का अनुभव करेंगे (चन्द्रासः) तथा ये सोमकण हमें शक्तिशाली बनाएँगे (इन्दवः) इनके रक्षण का सर्वमहान् लाभ यह है कि ये हमें प्रभु को प्राप्त कराएँगे।

भावार्थ—रक्षित सोम हमें उल्लास व शक्ति प्राप्त कराते हैं, अन्ततः हम इनके रक्षण से ही प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान व शक्ति (द्युक्षासः इन्दवः)

दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम्। तव द्युक्षास इन्दवः ॥ ५ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **वरेण्यम्**=वरने के योग्य **सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम को **जठरे**=अपने जठर में ही-अपने अन्दर ही **रधिष्व**=धारण कर। क्षणिक आनन्द की अपेक्षा सोमरक्षण की तपस्या ही श्रेष्ठ है। (२) ये सोमकण धारित होने पर **तव द्युक्षासः**=तेरी ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले हैं-तुझे दीप्त ज्ञानवाला बनानेवाले हैं और **इन्दवः**=ये तुझे शक्तिशाली बनानेवाले हैं। सोम अंग-प्रत्यंग में व्याप्त होकर उन्हें सुपुष्ट करते हैं और ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त करते हैं। इनसे बुद्धि तीव्र होती है।

भावार्थ—रक्षित सोमकण ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं और हमें शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवित्र सोम

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे। इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥ ६ ॥

(१) **गिर्वणः**=हे (गीर्भिः वननीय) ज्ञानवाणियों से उपासना योग्य प्रभो! **नः**=हमारे **सुतम्**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम को **पाहि**=हमारे शरीरों में ही रक्षित करिए। आप इस **मधोः**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम की **धाराभिः**=धारणशक्तियों से ही **अज्यसे**=जाये जाते हैं (अज्ज् गतौ), अर्थात् जब हम सोम का रक्षण कर पाते हैं, तभी आपको प्राप्त होनेवाले होते हैं। (२) हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यशः**=यश **इत्**=निश्चय से **त्वादातम्**=आपद्वारा

ही शुद्ध किया जाता है (दैप् शोधने)। 'यशो वै सोमः' (श० ४।२।४।९) सोम ही यश है। प्रभु के उपासन से यह शुद्ध बना रहता है-इसमें वासनाओं के कारण उबाल नहीं आता। तभी तो इसका रक्षण सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से सोम पवित्र बना रहता है। यह पवित्र सोम हमें प्रभु की प्राप्ति करानेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण व सर्वाङ्गीण उन्नति

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता। पीत्वी सोमस्य वावृधे॥ ७॥

(१) **वनिनः**=उस सम्भजनीय (उपासनीय) प्रभु के **द्युम्नानि**=द्योतमान, अर्थात् ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले **अक्षिता**=सब क्षयों से बचानेवाले ये सोमकण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अभिसचन्ते**=प्राप्त होते हैं। प्रभु इसलिए उपासना के योग्य हैं कि प्रभु हमें उन सोमकणों को प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारे जीवनों को ज्योतिर्मय बनाते हैं और हमें सब प्रकार के विनाशों से बचाते हैं। (२) यह इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) **सोमस्य पीत्वी**=सोम का पान करके **वावृधे**=अत्यन्त ही वृद्धि को प्राप्त करता है। सोम उसकी सब प्रकार की उन्नतियों का मूल बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मनुष्य सर्वांगीण उन्नति करनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु का आगमन

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन्। इमा जुषस्व नो गिरः॥ ८॥

(१) हे **वृत्रहन्**=हमारी वासनाओं का विनाश करनेवाले प्रभो! गतमन्त्रों के अनुसार सोमरक्षण के होने पर आप **अर्वावतः**=समीप देश से **परावतः च**=और दूरदेश से-जहाँ कहीं भी आप हों, **नः आगहि**=हमें प्राप्त होइये। वस्तुतः प्रभु सर्वव्यापक हैं, उनका समीप व दूर होना हमारे ज्ञान व अज्ञान के कारण से ही है। यह भाषा का प्रयोग ही है कि 'आप जहाँ कहीं भी हों, वहाँ से हमें प्राप्त होइये।' इस प्रकार का प्रयोग प्रभु की अज्ञेयता (अचिन्त्यता) का प्रतिपादन करता है। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमारी **इमाः**=इन **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करिए। हमारी ये वाणियाँ आपके लिए प्रिय हों-हमें ये आपका प्रीतिपात्र बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए, वासना को विनष्ट करके हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हृदय में प्रभु का आराधन

यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे। इन्द्रेह तत आ गहि॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **परावतम्**=सुदूर देश द्युलोक **च**=व **अर्वावतम्**=समीप देश इस पृथिवीलोक के **अन्तरा**=बीच में, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक के मध्य में-हृदयान्तरिक्ष में **हूयसे**=आप पुकारे जाते हैं, तो **इह**=यहाँ हमें **ततः**=तब **आगहि**=अवश्य प्राप्त होइये। (२) हृदय में प्रभु का आराधन करते हुए हम उस प्रभु का दर्शन करनेवाले हों। वस्तुतः प्रभु का दर्शन यहाँ हृदय में ही होता है। हृदय देश में आत्मा व परमात्मा दोनों का ही वास है। इसीलिए यह सर्वोत्तम देश (परम परार्ध) कहलाता है।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का आराधन करते हुए हम उस प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

सम्पूर्ण सूक्त उपासना को ही सोमरक्षण का साधन बताता है। इस रक्षित सोम से ही शक्ति व ज्ञान की वृद्धि को प्राप्त करके हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनते हैं। यही भाव अगले सूक्त में भी दर्शनीय है—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभुस्मरण व सोमरक्षण

आ तू न॑ इन्द्र म॒द्र्य॑ग्घुवा॒नः सोम॑पीतये। हरि॑भ्यां याह्यद्रिवः ॥ १ ॥

(१) हे **नः इन्द्र**=हमारे सब वासनारूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **अद्रिवः**=(आदृणाति अनेन) वज्रहस्त प्रभो! आप **हुवानः**=प्रार्थना किए जाते हुए **मद्र्यक्**=मेरी ओर **सोमपीतये**=सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के लिए **हरिभ्याम्**=इन्द्रियाश्वों के साथ **आयाहि तू**=आइये ही तो, अर्थात् अवश्य आइये। (२) प्रभु को हम पुकारते हैं, तो प्रभु हमें प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्राप्ति से हम वासनारूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले होते हैं। वासना का विनाश होने पर सोम का (वीर्य का) शरीर में ही रक्षण होता है। यह रक्षित सोम इन्द्रियों की शक्ति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से वासनाओं का विनाश होकर सोमरक्षण होता है। और रक्षित सोम इन्द्रियाश्वों को शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभुभक्त का जीवन

स॒त्तो होता॑ न ऋ॒त्विय॑स्तिस्ति॒रे ब॒र्हिरा॑नु॒षक्। अयु॑ज्रन्प्रा॒तरद्र॑यः ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! यह आपका भक्त **होता न**=होता की तरह **सत्तः**=इस शरीरगृह में स्थित हुआ है। हमें चाहिए कि हम इस मानुष देह को प्राप्त करके होता बनें–सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। (२) यह आपका भक्त **ऋत्वियः**=प्रत्येक कार्य को ऋतु के अनुसार करनेवाला है–समय पर सब कार्यों को करता है। इस नियमित कार्यक्रमवाले पुरुष से **आनुषक्**=निरन्तर **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय **तिस्तिरे**=आस्तीर्ण किया गया है। इस प्रकार प्रभु भक्त (क) होता बनता है, (ख) समयानुसार कार्य करता है, (ग) हृदय को वासनाशून्य बनाता है। (३) ये **अद्रयः**=those who adore) उपासना करनेवाले लोग **प्रातः**=उषाकाल में ही **अयुज्रन्**=(युजिर् योगे) योग का अभ्यास करते हैं। उषाकाल की उपासना इन्हें वह शक्ति प्राप्त कराती है, जिससे कि वे दिनभर के कार्यक्रम को अनथकरूप से करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—हम (क) दानपूर्वक अदन करनेवाले हों, (ख) समयानुसार कार्य करें, (ग) हृदय को वासनाशून्य बनाएँ, (घ) उषाकाल में प्रतिदिन योगाभ्यास करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निरन्तर यज्ञ

इ॒मा ब्रह्म॑ ब्रह्मवाहः क्रि॒यन्त॒ आ ब॒र्हिः सी॑द। वी॒हि शू॑र पुरो॒ळाश॑म् ॥ ३ ॥

(१) **ब्रह्मवाहः**=ज्ञानवाणियों को प्राप्त करानेवाले उस प्रभु के **इमा ब्रह्म**=ये ज्ञानपूर्वक किए जानेवाले स्तवन **क्रियन्ते**=किए जाते हैं। हम उस प्रभु से दिए जानेवाले इन ज्ञान के उपदेशों को ग्रहण करें–उन ज्ञानप्रद मन्त्रों द्वारा ही हम उस प्रभु का स्तवन करें। (२) हे प्रभो! आप

बर्हिः=हमारे इस वासनाशून्य हृदय में **आसीद**=आसीन होइये। हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ। ऐसा करने पर हम वहाँ प्रभु का दर्शन करनेवाले होंगे। (३) हे **शूर**=हमारी वासनाओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप हमें **पुरोडाशम्**=('ततिर्वै यज्ञस्य पुरोडाशः' कौ० १०।५) यज्ञ की सन्तति को, अर्थात् निरन्तर यज्ञ-प्रवृत्ति को **वीहि**=(वी गतौ) प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु का स्तवन करें। प्रभु को वासनाशून्य हृदय में बिठाएँ। वासनाओं से बचने के लिए निरन्तर यज्ञों को करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सवन, स्तोम व उक्थ

रारन्धि सवनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन्। उक्थेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ ४ ॥

(१) हे **वृत्रहन्**=हमारी वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **एषु सवनेषु**=इन यज्ञों में **रारन्धि**=रमण करिए। हमारे ये यज्ञ आपके लिए प्रीतिकर हों। इन यज्ञों को करते हुए हम सचमुच वासनाओं से अपने को बचानेवाले हों। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **एषु स्तोमेषु**=इन स्तोत्रों में रमण करिए। हमारे से की जानेवाली ये स्तुतियाँ हमें आपका प्रिय बनाएँ। इन स्तवनों को करते हुए हम आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनें। (३) हे **गिर्वणः**=वेदवाणियों से उपासनीय प्रभो! हमारे इन **उक्थेषु**=उच्चैः उच्चारणीय वेदवचनों में आप रमण करिए। हमारे से उच्चारण की जाती हुई ये वेदवाणियाँ हमें आपका प्रिय बनाएँ। इनके अध्ययन से हम निरन्तर अपना ज्ञान बढ़ानेवाले हों।

भावार्थ—यज्ञों में लगे रहकर हम वासनाओं के शिकार न हों (वृत्रहन्) स्तवन द्वारा शक्ति-वर्धन करनेवाले हों (इन्द्र)। ज्ञानवाणियों के उच्चारण से ज्ञान को बढ़ानेवाले हों (गिर्वणः)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमपा-उरु-शवसस्पति

मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम्। इन्द्रं वत्सं न मातरः ॥ ५ ॥

(१) **मतयः**=ज्ञानपूर्वक (मननपूर्वक) स्तवन करनेवाले ज्ञानी उपासक **इन्द्रम्**=उस सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभु को **रिहन्ति**=आस्वादित करते हैं। इस प्रकार आस्वादित करते हैं, **न**=जैसे कि **मातरः**=मातृभूत धेनुएँ **वत्सम्**=बछड़े को स्वाद से चाटती हैं। एक ज्ञानी भक्त प्रभुभक्ति में ही आनन्द का अनुभव करता है। (२) उस प्रभु की भक्ति में आनन्द का अनुभव करता है, जो प्रभु **सोमपाम्**=सोम का रक्षण करते हैं। प्रभुभक्ति से वासना विनष्ट होती है और सोम का रक्षण होता है। **उरुम्**=जो प्रभु विशाल हैं। प्रभु-भक्त सदा विशाल हृदयवाला होता है। **शवसः पतिम्**=जो प्रभु बल के स्वामी हैं। प्रभु-भक्त प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होता है।

भावार्थ—ज्ञानी भक्त (क) सोम का रक्षण कर पाता है, (ख) विशाल हृदयवाला होता है, (ग) शक्ति का स्वामी होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अनिन्दित जीवन

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे। न स्तोतारं निदे करः ॥ ६ ॥

(१) हे प्रभो! **सः**=वे आप **हि**=निश्चय से **अन्धसः**=इस हमारे द्वारा शरीर में रक्षित किए हुए सोम से **मन्दस्वा**=आनन्दित होइये। हम सोम का रक्षण करते हुए आपको प्रसन्न करनेवाले

हों। एक पुत्र अपने उत्तम कार्यों से पिता को प्रसन्न करनेवाला होता है। हमारा यह सोमरक्षणात्मक कार्य आपको प्रसन्न करनेवाला हो। (२) इस सोमरक्षण के होने पर आप **राधसे**=हमारे कार्यों की सिद्धि के लिए हों। **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार द्वारा **महे**=हमारे महत्त्व के लिये हों तथा हे प्रभो! **स्तोतारम्**=आपका स्तवन करनेवाले मुझको **निदे न करः**=निन्दा के लिए न करिए-हम निन्दा के पात्र न हों।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) आनन्द की प्राप्ति होती है, (ख) कार्यों में सफलता प्राप्त होती है, (ग) शक्तियों के विस्तार से महत्त्व प्राप्त होता है और (घ) हम कभी निन्दा का विषय नहीं बनते।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हम तुझे, तू हमें

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे। उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=हमारे सब वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वायवः**=आपको ही अपनाने की कामनावाले हैं (त्वां आत्मन इच्छन्तः), हम त्वत्काम हैं। इसीलिए **हविष्मन्तः**=हविवाले बनकर-त्यागपूर्वक अदनवाले होते हुए **जरामहे**=हम आपका स्तवन करते हैं। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **उत त्वम्**=और आप भी **अस्मयुः**=हमारी कामनावाले होइये। मेरे लिए आप से यही शब्द कहे जाएँ कि 'ज्ञानी स्वात्मैव मे मतम्' यह ज्ञानीभक्त तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है।

भावार्थ—मैं प्रभु को चाहूँ-प्रभु से चाहा जाऊँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु के समीप

मारे अस्मद्वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ्याहि। इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह ॥ ८ ॥

(१) हे **हरिप्रिय**=भक्तों के दुःख हरण करनेवाले (हरि) तथा उन्हें उत्तमोत्तम वसुओं (धनों) से प्रीणित करनेवाले प्रभो! (प्रिय) आप **अर्वाङ् याहि**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइये। **अस्मद् आरे**=हमारे से दूर ही **मा**=मत **विमुमुचः**=अपने रथ के घोड़ों को खोलिए। वस्तुतः प्रभु तो सर्वत्र हैं ही। उन्हें किसी रथ से आना हो, ऐसी बात नहीं। पर काव्यमय भाषा में ऐसा प्रयोग किया गया है कि प्रभु का रथ हमारे घर पर ही पहुँचे, दूर ही उसके अश्व न खोल दिये जाएँ। (२) हे **स्वधा-वः**=आत्मधारण शक्तिवाले प्रभो! **इह**=यहाँ हमारे हृदय देश में **मत्स्व**=आप आनन्द से स्थित होइये। हम आपका स्मरण करें और आपके आधार में आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—हम प्रभु से दूर न हों। उस सर्वाधार प्रभु के आधार में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुख रथ

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना। घृतस्नू बर्हिरासदे ॥ ९ ॥

(१) शरीर रथ है। इसमें सब इन्द्रियाँ ठीक हों तो यह 'सु-ख' (ख=इन्द्रिय) रथ कहलाता है। इसमें इन्द्रियरूप अश्व जुते हुए हैं। कर्मेन्द्रियाँ तो श्रम-जनित-जल (पसीने) के प्रस्रवण से युक्त होने के कारण 'घृत-स्नू' हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाश की रश्मियों के कारण 'केशी' हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **सुखे रथे**=इस शोभन इन्द्रियोंवाले शरीर रथ में

बर्हिः=वासनाशून्य हृदय में **आसदे**=बिठाने के लिए **घृतस्नू**=ये श्रम जनित दीप्तिवाले तथा **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले इन्द्रियाश्व **अर्वाञ्चम्**=हमारी ओर **वहताम्**=प्राप्त करानेवाले हों। हम कर्मेन्द्रियों से सदा कार्यों में व्यापृत रहें तथा ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करनेवाले हों, तो अवश्य उस प्रभु को अपने हृदयों में आसीन कर सकेंगे। यज्ञ और ज्ञान हमारे हृदयों को पवित्र करनेवाले होते हैं और पवित्र हृदय में हम प्रभु को आसीन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम कर्मेन्द्रियों को यज्ञरूप उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रखें और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाए रखें। इस प्रकार हृदयों को पवित्र बनाकर वहाँ प्रभु को आसीन करें।

सम्पूर्ण सूक्त उपासना द्वारा प्रभु के सान्निध्य का उपदेश कर रहा है। अगले सूक्त में भी इसी सान्निध्य के लिए सोमरक्षण का उपदेश है—

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गवाशिर् सोम

उप॑ नः सु॒तमा ग॑हि॒ सोम॑मिन्द्र॒ गवा॑शिरम्। हरि॑भ्यां॒ यस्ते॑ अस्म॒युः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **गवाशिरम्**=(गां श्रीणाति=to cook, गो=A ray of Light या सरस्वती) ज्ञानरश्मियों को परिपक्व करनेवाले **सुतं सोमं उप**=उत्पन्न हुए-हुए सोम के समीप **आगहि**=आइये, अर्थात् जब हम इस सोम का (वीर्य का) शरीर में स्थापन करें, तो यह सोम हमारे ज्ञान को परिपक्व करनेवाला हो और हमें आपकी प्राप्ति करानेवाला हो। (२) हे प्रभो! यह सोम वह है **यः**=जो **ते**=आपका होता हुआ **अस्मयुः**=हमारी कामनावाला होता है। सोम आप द्वारा उत्पादित हुआ है, इससे ही हमारा सारा हित सिद्ध होता है। आप **हरिभ्याम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ हमें प्राप्त होइये। आपकी कृपा से हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम हों।

भावार्थ—रक्षित हुआ-हुआ सोम हमारे ज्ञान को परिपक्व करता है और हमारे इन्द्रियाश्वों को सबल बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तृप्ति-प्रद सोम

तमि॑न्द्र॒ मद॒मा ग॑हि ब॒र्हि॒ःष्ठां ग्राव॑भिः सु॒तम्। कु॒विन्न्व॑स्य तृ॒ष्णवः॑ ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तम्**=उस **ग्रावभिः**=स्तोताओं से **सुतम्**=उत्पन्न किए जानेवाले सोम को **आगहि**=प्राप्त हो, जो कि **मदम्**=सुरक्षित होने पर हर्ष का कारण बनता है तथा **बर्हिःष्ठाम्**=वासनाशून्य हृदय में स्थित होनेवाला है। हृदय के वासनाशून्य होने पर ही सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। (२) **नु**=अब **कुवित्**=अत्यन्त ही **अस्य तृष्णवः**=इसके पान से (=शरीर में ही व्याप्त करने से) तू तृप्ति का अनुभव कर (तृप का लेट् में रूप है)। हमारा सारा प्रयत्न इस सोमरक्षण के लिए हो। इसका रक्षण होने पर ही वास्तविक प्रीति का अनुभव होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही तृप्ति का अनुभव होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आवृते-सोमपीतये

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छांगुरिषिता इतः। आवृते सोमपीतये॥ ३॥

(१) **मम**=मेरी **इत्था**=इस प्रकार सत्य-सत्य **इषिताः**=प्रेरित की हुईं-उच्चारण की गयीं **गिरः**=वाणियाँ **इतः**=यहाँ इस यज्ञभूमि से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अच्छ अगुः**=आभिमुख्येन प्राप्त हों। यज्ञों को करते हुए हम प्रभु की स्तुतिवाणियों का उच्चारण करें। (२) इसलिए इन स्तुति-वाणियों का उच्चारण करें कि **आवृते**=(आवर्तयितुं) इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त कर सकें और इस प्रकार **सोमपीतये**=सोम का शरीर में पान कर सकें-सोम को शरीर में ही सुरक्षित रख पायें।

भावार्थ—हम यज्ञों में प्रभु का स्तवन करें। इससे इन्द्रियाँ विषयों में न फँसेंगी और हम सोम का (वीर्य का) रक्षण कर सकेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तोम व उक्थ

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे। उक्थेभिः कुविदागमत्॥ ४॥

(१) **इह**=इस जीवन में **सोमस्य पीतये**=सोम के (वीर्य के) शरीर में ही व्यापन के लिए **इन्द्रम्**=उस शत्रु-विद्रावक प्रभु को **स्तौमैः**=स्तोत्रों द्वारा **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) **उक्थेभिः**=ज्ञान-वाणियों के उच्चारण से वह प्रभु **कुवित्**=अत्यन्त ही **आगमत्**=हमें प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता है, उतना-उतना हम प्रभु के समीप होते जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन द्वारा हम सोम का रक्षण करनेवाले हों और ज्ञान-वाणियों के उच्चारण से प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्र, शतक्रतु व वाजिनीवसु

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान्दधिष्व शतक्रतो। जठरे वाजिनीवसो॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इमे**=ये **सोमाः**=सोम (वीर्यकण) **सुत्यः**=उत्पन्न किये गये हैं, हे **शतक्रतो**=शतवर्षपर्यन्त यज्ञों को करनेवाले जीव! **तान् दधिष्व**=उनको तू अपने में धारण कर। यज्ञादि कर्मों में लगे रहना ही सोमरक्षण का साधन है। (२) हे **वाजिनीवसो**=शक्तिप्रद अन्नों से अपने निवास को उत्तम बनानेवाले जीव! तू इन सोमों को **जठरे**=अपने अन्दर ही धारण कर। सोम्य अन्नों का सेवन होने पर सोम का रक्षण अधिक सम्भव होता है। आग्नेय भोजन सोमरक्षण के अनुकूल नहीं हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए हम (क) जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र), (ख) यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें (शतक्रतो), (ग) उत्तम सोम्य अन्नों का सेवन करें (वाजिनीवसो)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धनों का विजय-शत्रुपराजय

विद्मा हि त्वा धनञ्जयं वाजेषु दधृषं कवे। अधा ते सुम्नमीमहे॥ ६॥

(१) हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्-सर्वज्ञ प्रभो! **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको ही **धनञ्जयम्**=सब

धनों का विजय करनेवाला **विद्म**=जानते हैं। वस्तुतः आप ही धनों का विजय करते हैं। आपकी शक्ति से ही हम उन-उन धनों को प्राप्त किया करते हैं। (२) **वाजेषु**=संग्रामों में आपको ही **दधृषम्**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला हम समझते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलने की शक्ति आप में ही है। हमारी शक्ति से इनका विजय सम्भव नहीं। **अधा**=इसलिए **ते सुम्नम्**=आप से ही सुख की **ईमहे**=याचना करते हैं। आपका स्तवन करते हुए ही हम आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर धनों का विजय करते हैं और शत्रुओं का धर्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमें धनों का विजेता व शत्रुओं का पराजेता बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'गवाशिर्+यवाशिरं' सोम

इममिन्द्र यवाशिरं च नः पिब। आगत्या वृषभिः सुतम्॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **इमम्**=इस **वृषभिः सुतम्**=शक्तिशाली पुरुषों से सम्पादित **नः**=हमारे सोम को **पिब**=हमारे शरीर में ही व्याप्त करने की कृपा करिए। **आगत्य**=हमारे हृदयदेश में आकर आप इस सोम का पान करिये। आपके यहाँ आने पर वासनाओं का रहना सम्भव नहीं रहता और सोम सुरक्षित रहता है। (२) यह सोम वह है जो कि **गवाशिरम्**=हमारे ज्ञानों को परिपक्व करनेवाला है (गो=ज्ञान, श्रीणाति to prepare) **च**=और **यवाशिरम्**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) भद्र के मिश्रण व अभद्र के अमिश्रण को करनेवाला होता है (श्रीणाति=to cook)।

भावार्थ—प्रभु को हृदयदेश में स्थापित करके हम सोमरक्षण करें। यह हमारे ज्ञान को परिपक्व करेगा और हमारे से अभद्र को दूर करता हुआ भद्र का हमारे साथ मिश्रण करनेवाला होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमजनित हृदयोल्लास

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३ सोमं चोदामि पीतये। एष रारन्तु ते हृदि॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्य इत्**=निश्चय से तेरे लिए ही **स्वे ओक्ये**=इस आत्मा के निवास-स्थानभूत शरीर में (ओक्य=गृह) **सोमम्**=सोम को-वीर्य को **पीतये**=अन्दर ही व्याप्त करने के लिए **चोदामि**=प्रेरित करता हूँ। इसके शरीर में व्याप्त होने से नीरोगता आदि द्वारा मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। (२) **एषः**=ये **ते**=तेरे **हृदि**=हृदय में **रारन्तु**=रमण करनेवाला हो। सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हृदय में आनन्द को उत्पन्न करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमारी उन्नति का कारण होता है और यह हृदय में आनन्द उत्पन्न करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कुशिकासः-अवस्यवः

त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे। कुशिकासो अवस्यवः॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **कुशिकासः**=(स्तुति के शब्दों का क्रोशन करनेवाले) हाथों में हल को लिये हुए (कुशिक=plough) **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले, हम **सुतस्य पीतये**=उत्पन्न सोम को शरीर में ही व्यापन के लिए **प्रत्नं त्वा**=पुराण पुरुष आपको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। (२) आपकी आराधना हमारी वासनाओं को दूर करके हमें इस योग्य बनाती है कि हम सोम का रक्षण कर सकें। इसी भाव को 'कुशिकासः' शब्द व्यक्त कर रहा है। प्रभु का स्तवन

हमें वासनाओं से ऊपर उठाकर सोमरक्षण के योग्य बनाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण द्वारा हम वासनाओं से ऊपर उठकर सोम का रक्षण कर पाएँ।

सम्पूर्ण सूक्त गवाशिर् व यवाशिर् सोम के महत्त्व को ही व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त में भी प्रभु का उपासन करते हुए कहते हैं कि—

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उत्तम हृदय व उत्तम इन्द्रियाँ

आ याह्यर्वाङुप वन्धुरेष्ठास्तवेदनु प्रदिवः सोमपेयम्।
प्रिया सखाया वि मुचोप बर्हिस्त्वामिमे हव्यवाहो हवन्ते ॥ १ ॥

(१) हे इन्द्र! **अर्वाङ्**=हमारी ओर **उप आयाहि**=समीपता से प्राप्त होइये। **वन्धुरेष्ठाः**= (वन्धुर=Lovely, Beautiful, Handsome) आप वासना से शून्य-निर्मल अतएव सुन्दर हृदय में आसीन होते हैं। **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **तव**=तेरे **अनु इत्**=अनुसार ही **सोमपेयम्**=सोम का पान होता है, अर्थात् जितना-जितना हम आपको अपने हृदय में स्थापित कर पाते हैं, उतना-उतना ही सोम का रक्षण भी करनेवाले होते हैं। (२) हे प्रभो! आप अपने इन **प्रिया**=प्रीति के कारणभूत-अच्छे लगनेवाले **सखाया**=परस्पर मिलकर कार्य करनेवाले इन्द्रियाश्वों को **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय के **उप**=समीप **विमुच**=खोलिए। आपकी कृपा से हमारा हृदय वासनाशून्य हो और हमें इस प्रकार की इन्द्रियाँ प्राप्त हों कि वे मिलकर कार्य करनेवाली हों-मानो वे परस्पर मित्र ही हों। ज्ञानेन्द्रियों से दिये गये ज्ञान के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ कर्म करें। (३) इस प्रकार उत्तम हृदय व प्रिय इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करने के लिए ही **इमे**=ये **हव्यवाहः**=हव्य पदार्थों का वहन करनेवाले लोग **त्वाम्**=आपको **हवन्ते**=पुकारते हैं। आपने ही वस्तुतः हमें उत्तम हृदय व उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराना है। आप इन वस्तुओं को प्राप्त उन्हें ही कराते हैं, जो कि हव्य का वहन करनेवाले हों-सदा त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम सोम का रक्षण करें। इससे हमारा हृदय भी उत्तम बनेगा और इन्द्रियाँ भी। हम सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रमशीलता द्वारा पालन व पूरण

आ याहि पूर्वीरति चर्षणीराँ अर्य आशिष उप नो हरिभ्याम्।
इमा हि त्वा मतयः स्तोमतष्टा इन्द्र हवन्ते सख्यं जुषाणाः ॥ २ ॥

(१) **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **चर्षणीः**=श्रमशील मनुष्यों को **अति**=अतिशयेन **आयाहि**=प्राप्त होइये। प्रभु उन्हें ही प्राप्त होते हैं, जो कि शरीर के दृष्टिकोण से अपना पालन करते हैं-शरीरों को रुग्ण नहीं होने देते और मन के दृष्टिकोण से जो अपना पूरण करते हैं, अर्थात् मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्भावों को उत्पन्न नहीं होने देते। इसी दृष्टिकोण से जो सदा कार्यों में लगे रहते हैं, कभी अनाश्रमी होकर स्थित नहीं होते। (२) **नः**=हमारी **आशिषः**=इच्छा के **अर्यः**=आप ही स्वामी हैं। आप **हरिभ्याम्**=इन इन्द्रियाश्वों के साथ **नः उप**=हमारे समीप प्राप्त होइये। हमें आपकी कृपा से उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हों। (३) **इमाः**=ये **हि**=निश्चय से **स्तोमतष्टाः**=स्तोताओं से की गयी **मतयः**=बुद्धिपूर्वक स्तुतियाँ **त्वा**=तुझे ही प्राप्त होती हैं। हे

इन्द्र=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! ये स्तोता **सख्यं जुषाणाः**=आपकी मित्रता का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए आपको ही **हवन्ते**=पुकारते हैं।

भावार्थ—अपना पालन व पूरण करते हुए श्रमशील बनकर हम प्रभुप्राप्ति के पात्र बनते हैं। प्रभु हमारी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं, हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

घृत प्र-याः

आ नो यज्ञं नमोवृधं सजोषा इन्द्र देव हरिभिर्याहि तूयम्।
अहं हि त्वा मतिभिर्जोहवीमि घृतप्रयाः सधमादे मधूनाम्॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **नः**=हमारे **नमोवृधम्**=अन्नों के वर्धक (यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसंभवः) **यज्ञम्**=यज्ञ को **सजोषाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **तूयम्**=शीघ्र **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों के साथ **आयाहि**=आइये। हम यज्ञ करें, यह यज्ञ आपको प्रिय हो, आप हमें इन यज्ञों द्वारा उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराइये। (२) **अहम्**=मैं **हि**=निश्चय से **मतिभिः**=मननपूर्वक किये गये स्तोत्रों से **त्वा जोहवीमि**=तुझे पुकारता हूँ। आपके पुकारनेवाला मैं **मधूनाम्**=ओषधियों के सारभूत सोमकणों के **सधमादे**=साथ हर्ष में **घृतप्रयाः**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति की ओर प्रकृष्ट गतिवाला होता हूँ (प्रया)। मैं सोम का रक्षण करता हूँ—उससे आनन्द व प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। इस सोमरक्षण द्वारा मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तिवाला बनता हूँ।

भावार्थ—मैं यज्ञशील बनूँ, प्रभु मुझे उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराएँ। उपासन द्वारा सोमरक्षण करता हुआ मैं निर्मल शरीरवाला व दीप्त मस्तिष्कवाला होऊँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रियाशीलता व सात्त्विक भोजन

आ च त्वामेता वृषणा वहातो हरी सखाया सुधुरा स्वङ्गा।
धानावदिन्द्रः सवनं जुषाणः सखा सख्युः शृणवद्वन्दनानि॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वाम्**=तुझे **एता**=ये **वृषणा**=शक्तिशाली **हरी**=इन्द्रियाश्व **आवहातः**=समन्तात् कार्यों में ले चलनेवाले हों। ये इन्द्रियाश्व **सखाया**=परस्पर मित्रभूत हों-मिलकर कार्यों को करनेवाले हों। ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञानानुसार कर्मेन्द्रियाँ कर्मों को करनेवाली हों। **सुधुरा**=कार्य धुरा को ये इन्द्रियाश्व सम्यक् धारण करनेवाले हों। **स्वंगा**=उत्तम अंगोंवाले व उत्तम गतिवाले हों (अगि गतौ)। (२) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **धानावत्**=भुने हुए जौवाले **सवनं जुषाणः**=जीवन-यज्ञ का सेवन करता हुआ जीवनयापन करे। इसका भोजन ये द्यावा ही हों। इन सात्त्विक भोजनों से जीवन की वृत्ति भी सात्त्विक बनी रहती है। इस सात्त्विक वृत्ति के होने पर वह **सखा**=प्राणिमात्र का मित्र प्रभु **सख्युः**=मुझ सखा के **वन्दनानि**=वन्दनों को **शृणवत्**=सुनता है। यदि मैं इन्द्रियाश्वों को शक्तिशाली बनाकर कार्यों में निरन्तर लगा रहता हूँ और जौ आदि सात्त्विक भोजनों को करता हूँ, तो प्रभु मेरे से की गयी स्तुति को सुनते हैं। जीवन को मैं कुछ बनाने का प्रयत्न न करूँ और वन्दन ही वन्दन करता रहूँ, तो यह वन्दन व्यर्थ है, ऐसा वन्दन प्रभु को प्रिय नहीं।

भावार्थ—जीवन क्रियामय हो और भोजन सात्त्विक हो, तो हमारा वन्दन अवश्य सुना जाएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मैं कैसा बनूँ!

कुविन्मा गोपां करसे जनस्य कुविद्राजानं मघवन्नृजीषिन्।
कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः ॥ ५ ॥

(१) हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **कुवित्**=अत्यन्त **जनस्य गोपाम्**=लोगों का रक्षक **करसे**=करिये। मैं सब के रक्षण में प्रवृत्त होऊँ। (२) हे मघवन्! (मघ:मख) हे यज्ञशील व ऐश्वर्यशालिन् **ऋजीषिन्**=(ऋजु+इष) सरलता की प्रेरणा देनेवाले प्रभो! आप मुझे **कुवित्**=अत्यन्त ही **राजानम्**=बड़े व्यवस्थित (Regulated) व दीप्त जीवनवाला बनाइये। (३) **कुवित्**=अत्यन्त ही **मा**=मुझे **ऋषिम्**=तत्त्वद्रष्टा बनाइये। और **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का **पपिवांसम्**=पीनेवाला करिए। (४) ये सबकुछ करके **मे**=मेरे लिए **कुवित्**=अत्यन्त ही **अमृतस्य**=नीरोगता को जन्म देनेवाले-अथवा विषयों के पीछे न मरनेवाले **वस्वः**=धन को **शिक्षाः**=दीजिए। हमें यह धन दीजिए जिससे कि हम पापों में तो फँसे नहीं, पर हमारे सब कार्य जिससे सिद्ध हो सकें।

भावार्थ—लोगों का रक्षक, नियमित जीवनवाला तत्त्वद्रष्टा व सोमपान करनेवाला मैं बनूँ। प्रभुकृपा से मुझे कार्यसाधक धन प्राप्त हो, वह धन जिससे मैं विषयों में न फँस जाऊँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कैसे इन्द्रियाश्व!

आ त्वा बृहन्तो हरयो युजाना अर्वागिन्द्र सधमादो वहन्तु।
प्र ये द्विता दिव ऋञ्जन्त्याताः सुसंमृष्टासो वृषभस्य मूराः ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **हरयः**=इन्द्रियाश्व **अर्वाग्**=अन्दर की ओर (=प्रभु के समीप) **आ वहन्तु**= ले चलनेवाले हों। कैसे इन्द्रियाश्व जो कि **बृहन्तः**=दिन व दिन बढ़ती हुई शक्तिवाले हैं। **युजानः**=सदा शरीररूप रथ में जुते हुए हैं-योगमार्ग की ओर प्रवृत्तिवाले हैं। **सधमादः**=परस्पर हर्ष के साथ रहनेवाले हैं-'ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञानानुसार कर्म, कर्मेन्द्रियों के कर्म से ज्ञान की वृद्धि' इस प्रकार ये दोनों इन्द्रियाश्व मिलकर चलते हैं-दोनों मिलकर शरीर रथ का वहन करते हैं। (२) **ये**=जो घोड़े **द्विता**=दो प्रकार से-शक्ति व प्रकाश से **दिवः आताः**=इस द्युलोक की सब दिशाओं को **प्र ऋञ्जन्ति**=प्रसाधित करते हैं। सब दिशाओं में ये शक्ति व प्रकाश का प्रसार करते हैं। ये इन्द्रियाश्व **सुसंमृष्टासः**=सम्यक्तया शोधित हैं। ये **वृषभस्य**=शक्तिशाली पुरुष के इन्द्रियाश्व **मूराः**=शत्रुओं के मारक हैं-शत्रुओं का विनाश करके ये यात्रा में आगे और आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—हमारे शरीर रथ के ये इन्द्रियाश्व वृद्धिवाले, सतत कार्यशील, मिलकर चलनेवाले निर्मल व शत्रुओं के मारक होकर सब ओर शक्ति व प्रकाश का प्रसार करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विषयाकर्षण को दूर करना

इन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्ण आ यं ते श्येन उशते जभार।
यस्य मदे च्यावयसि प्र कृष्टीर्यस्य मदे अप गोत्रा ववर्थ ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वृषधूतस्य**=शरीर में सुखों का वर्षण करनेवाले (वृष)

व रोगकृमियों को कम्पित करके दूर करनेवाले (धूत) **वृष्णः**=शक्तिशाली सोम का **पिब**=पान कर, इसे तू शरीर में ही सुरक्षित कर। उस सोम (वीर्य) का तू पान कर, **यम्**=जिसको **उशते**=चाहनेवाले तेरे लिए **श्येनः**=वह शंसनीय गतिवाला प्रभु **आजभार**=प्राप्त कराता है। वस्तुतः सोमपान का उपाय भी 'श्येन' बनना ही है, शंसनीय गतिवाला बनना। सदा क्रिया में लगे रहने से ही सोम का रक्षण होता है। (२) यह सोम वह है, **यस्य**=जिसके **मदे**=मद में-हर्ष में **कृष्टीः**=(कृष्टिः=drawing, attracting) विषयों के आकर्षणों को **प्रच्यावयसि**=तू दूर करता है। सोम का रक्षण करने पर तू विषयों से आकृष्ट नहीं होता और **यस्य मदे**=जिसके मद में तू **गोत्रा**=इन्द्रियसमूह को **अपववर्थ**=सदा वासनात्मक विषयों से विनिवृत्त करता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करने पर मनुष्य विषयों के आकर्षण से ऊपर उठता है और इन्द्रियों को इस विषयपंक में फँसने नहीं देता।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मघवान् प्रभु को पुकारना

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ८ ॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त सोमरक्षण के महत्त्व का ही प्रतिपादन कर रहा है। अगले सूक्त का भी विषय यही है—

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सोमरक्षण से प्रभुप्राप्ति

अयं ते अस्तु हर्यतः सोम आ हरिभिः सुतः ।
जुषाण इन्द्र हरिभिर्न आगह्या तिष्ठ हरितं रथम् ॥ १ ॥

(१) **अयम्**=यह **हर्यतः**=कान्त-चाहने योग्य **सोमः**=सोम (वीर्य) **ते अस्तु**=तेरे लिए हो। यह **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के हेतु से **आसुतः**=समन्तात् उत्पन्न किया गया है। **जुषाणः**=यह सोम तेरे लिए प्रीति का विषय हो। इसका पान तुझे प्रिय हो। इसको शरीर में सुरक्षित करता हुआ तू प्रीति का अनुभव करे। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! इस सोम का पान करता हुआ तू **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **नः**=हमें (प्रभु को) **आगहि**=प्राप्त हो। ये इन्द्रियाश्व विषयों में न फँसे रहकर सर्वत्र प्रभु की विभूति को देखनेवाले बनें। तू **हरितं रथम्**=न शुष्क-जिसके अंग-प्रत्यंग सूखे काठ की तरह नहीं हो गये, ऐसे शरीर-रथ को **आतिष्ठ**=अधिष्ठित कर। तेरा शरीर रसमय अंगोंवाला बना रहे-तू आंगिरस बन।

भावार्थ—सोमरक्षण से शरीर का अंग-प्रत्यंग रसवाला बनता है और इस शरीर-रथ पर अधिष्ठित होकर यह सोमपान करनेवाला प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सोमरक्षण से 'ज्ञान व श्री' की प्राप्ति

हर्यन्नुषसमर्चयः सूर्यं हर्यन्नरोचयः। विद्वांश्चिकित्वान्हर्यश्व वर्धस इन्द्र विश्वा अभि श्रियः ॥ २ ॥

(१) **हर्यन्**=सोमरक्षण की कामनावाला होता हुआ तू **उषसं अर्चयः**=(अत्यन्त संयोग में द्वितीया है) सम्पूर्ण उषा काल में प्रभु की अर्चना करता है-तू उषाकाल को अर्चना में व्यतीत करता है। यह प्रभु की अर्चना हृदय को पवित्र बनाती है और हमें सोमरक्षण के योग्य करती है। (२) **हर्यन्**=इस सोमरक्षण की कामनावाला होता हुआ तू **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **नः रोचयः**=दीप्त करनेवाला बन। यह रक्षित सोम ही तो तेरी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनेगा। (२) इस प्रकार **विद्वान्**=ज्ञानी व **चिकित्वान्**=(कित निवासे रोगापनयने च) उत्तम निवासवाला व नीरोग बनकर हे **हर्यश्व**=कान्त-चमकते हुए इन्द्रियाश्वोंवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **विश्वाः श्रियः अभि**=सब श्रियों व लक्ष्मियों की ओर **वर्धसे**=तू बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है, सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। यह दीप्त ज्ञानाग्निवाला पुरुष श्री-सम्पन्न बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दीप्त मस्तिष्क व तेजस्वी शरीर

द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम्। अधारयद्धरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तर्हरिश्चरत्॥ ३॥

(१) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **हरि-धायसम्**=दुःखों का हरण करनेवाली ज्ञानरश्मियोंवाले (धायसो धारका रश्मयः सा०) **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अधारयत्**=धारण करता है। इसका मस्तिष्क ज्ञानरश्मियोंवाला होता है। अपने ज्ञान द्वारा यह औरों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करता है। (२) यह इन्द्र **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **हरिवर्पसम्**= (हरि=like fire) अग्नि के समानरूपवाली बनाकर धारण करता है। इसका शरीर अग्नि के समान तेजस्वी होता है। (३) यह **हरितोः**=इन दीप्त शरीर व मस्तिष्क के **भूरि भोजनम्**=पोषक भोजन को धारण करता है। ऐसा ही भोजन इसके शरीर व मस्तिष्क को पुष्ट रखनेवाला होता है। **ययोः अन्तः**=जिन शरीर व मस्तिष्क के अन्दर-शरीर व मस्तिष्क के मध्य, अर्थात् हृदय में, **हरिः**=सबके दुःखों का हरण करनेवाला यह **चरत्**=गति करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम दीप्त मस्तिष्क व तेजस्वी शरीरवाले बनकर सबके दुःखों को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

जज्ञानः हरितो वृषा

जज्ञानो हरितो वृषा विश्वमा भाति रोचनम्। हर्यश्वो हरितं धत्त आयुधमा वज्रं बाह्वोर्हरिम्॥ ४॥

(१) **जज्ञानः**=सोमरक्षण द्वारा शक्तियों का विकास करता हुआ, **हरितः**=दीप्तियुक्त, **वृषा**=शक्तिशाली यह इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) **विश्वं रोचनं याभाति**=सब दीप्त लोकों को प्रकाशित करता है। सब लोकों से अधिक दीप्तिवाला होता है, जहाँ जाता है, वहाँ दीप्ति को फैलानेवाला होता है। (२) **हर्यश्वः**=यह कान्त (चमकते हुए) इन्द्रियाश्वोंवाला इन्द्र **बाह्वोः**=अपनी भुजाओं में **आवज्रम्**=समन्तात् गतिरूप **हरितम्**=दीप्त **आयुधम्**=आयुध को-अस्त्र को **धत्ते**=धारण करता है। गति ही इसका वह आयुध बनती है, जिससे कि यह वासनारूप शत्रु को विनष्ट करनेवाला बनता है। यही इन्द्र का वज्र द्वारा वृत्र को विनष्ट करना है।

भावार्थ—शक्तियों का विकास करके दीप्त व शक्तिशाली बनकर हम क्रियाशीलतारूप दीप्त वज्र से वासनारूप शत्रु का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

क्रियाशीलता व उपासना

इन्द्रो हर्यन्तमर्जुनं वज्रं शुक्रैरभीवृतम्। अपावृणोद्धरिभिरद्रिभिः सुतमुद्गा हरिभिराजत ॥ ५ ॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **हर्यन्तम्**=कान्त-चमकते हुए **अर्जुन**=श्वेत, अर्थात् निर्मल **वज्रम्**=वज्र को-क्रियाशीलतारूप आयुध को **शुक्रैः अभीवृतम्**=(शुच दीप्तौ शुक गतौ) निर्मल गतियों से घिरा हुआ व व्याप्त करके **अपावृणोत्**=वासना से अपावृत करता है। यह इन्द्र सदा उत्तम क्रियाओं में लगा रहता है और इस प्रकार अपने पर वासनाओं के आक्रमण को नहीं होने देता। (२) यह अपने जीवन में **अद्रिभिः**=(आ दृङ्=आद्रियते those who adore) उपासना में तत्पर **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों से **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **अपावृणोत्**=वासनाओं से आवृत नहीं होने देता। यह **हरिभिः**=इन गतिशील इन्द्रियाश्वों द्वारा **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **उद् आजत**=अपने में उत्कर्षेण प्रेरित करता है।

भावार्थ—क्रियाओं में लगे रहना व उपासना में प्रवृत्त होना आवश्यक है। इसी प्रकार वासनाओं का विनाश होता है और उत्कृष्ट ज्ञानवाणियों की प्राप्ति होती है।

सम्पूर्ण सूक्त सोमरक्षण की आवश्यकता पर बल दे रहा है। इसी दृष्टिकोण से अगले सूक्त का प्रारम्भ विषयों में न फँसने के उपदेश से होता है—

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

विषय-मरुस्थली का उलंघन

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिन्नि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥ १ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **आयाहि**=हमारे समीप आनेवाला हो। उन इन्द्रियाश्वों से जो कि **मन्द्रैः**=(praiseworthy) प्रशंसनीय हैं और **मयूररोमभिः**=(मीनाति हिनस्ति इति मयूरः, 'रोम'=रुशब्दे) वासना-विध्वंसक शब्दों का उच्चारण करनेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व गम्भीर ज्ञानवाले होकर प्रशंसनीय हैं, तो कर्मेन्द्रियरूप अश्व प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए वासनाओं का विनाश करनेवाले हैं। ऐसे इन्द्रियाश्व ही हमें प्रभु की ओर ले चलते हैं। (२) **त्वा**=तुझे इस यात्रा में **केचित्**=कोई भी विषय **मा नियमन्**=मत रोकनेवाले हों। तू विषयों से बीच में ही पकड़ न लिया जाए, **न**=जैसे कि **विम्**=पक्षी को **पाशिनः**=व्याधे पकड़ लेते हैं। विषय व्याध के समान हैं, हम इनके शिकञ्जे में न पड़ जाएँ। **त्वान्**=उन विषयों को **धन्व इव**=मरुस्थल की तरह **अति इहि**=लाँघकर तू हमारे समीप प्राप्त होनेवाला हो। विषय वस्तुतः मरुस्थल हैं, उनमें कोई वास्तविक आनन्द नहीं। उनमें फँसना तो मूढ़ता ही है।

भावार्थ—हम विषयों में न फँसते हुए प्रभु की ओर आगे और आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

असुरों की पुरियों का विध्वंस

वृत्रखादो वलंरुजः पुरां दर्मो अपामजः। स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृळ्हा चिदारुजः ॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार विषयों से न जकड़े जानेवाला व्यक्ति **वृत्र-खादः**=वासना को खा जानेवाला, अर्थात् वासना को पूर्णरूपेण विनष्ट करनेवाला। **वलंरुजः**=ज्ञान पर परदे के रूप में आ जानेवाले इस वलासुर को यह भग्न करनेवाला होता है (वल=veil)। इस प्रकार **पुरां दर्मः**=असुर-पुरियों का यह विदारण करता है। काम ने इन्द्रियों में, क्रोध ने मन में तथा लोभ ने बुद्धि में अपना नगर बसाया था। यह इन्द्र इन तीनों का विध्वंस करता है, 'पुरां दर्मः' बनता है। इस दृष्टिकोण से ही यह **अपां अजः**=कर्मों का अपने निरन्तर प्रेरण करनेवाला होता है-सदा क्रियाशील होता हुआ यह वासनाओं का शिकार नहीं होता। (२) इस प्रकार यह **रथस्य स्थाता**=अपने शरीररथ का अधिष्ठाता बनता है, **हर्योः**=अपने इन्द्रियाश्वों का भी यह अधिष्ठाता होता है। **अभिस्वरे**=(स्‍ृ शब्दे) प्रातः-सायं प्रभु की स्तुति के शब्दों के उच्चारण होने पर **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **दृढा चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी वासनाओं को **आरुजः**=छिन्न-भिन्न करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से शक्तिशाली बनकर हम असुर-पुरियों का विदारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सोमकणों का समुद्र

गम्भीराँ उदधींरिव क्रतुं पुष्यसि गाइव। प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्याइवाशत॥ ३॥

(१) हे प्रभो! जैसे आप **गम्भीरान् उदधीन्**=गहरे समुद्रों को जल से परिपूर्ण करते हैं, उसी प्रकार **क्रतुम्**=इस यज्ञशील पुरुष को भी आप **पुष्यसि**=शक्ति व धनादि से पुष्ट करते हैं। **इव**=जैसे **सुगोपाः**=उत्तम ग्वाला **गाः**=गौओं को **प्र (पुष्यति)**=रक्षण द्वारा पुष्ट करता है, इसी प्रकार आप इन जीवरूप गौओं का रक्षण करते हैं। (२) **यथा**=जैसे **धेनवः**=गौएँ **यवसम्**=चरी को **आशत**=खाती हैं और **इव**=जैसे **कुल्याः**=छोटी-छोटी नदियाँ **ह्रदम्**=बड़ी भारी झील को **आशत**=व्याप्त करती हैं, उसी प्रकार आपके भक्त इस क्रतु (यज्ञकर्ता) को सोम (=शक्तिकण) प्राप्त होते हैं। यह भक्त सोमकणों का समुद्र बनता है, यह सोम कुल्याओं के लिये ह्रद के समान होता है।

भावार्थ—प्रभु यज्ञकर्ता का पोषण करते हैं। इसे वे शक्तिरूप जल का समुद्र बनाते हैं। इसमें सोमकणों का इस प्रकार निवास होता है, जैसे छोटी-छोटी नदियों का ह्रद में।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सम्पारण वसु

आ नस्तुजं रयिं भरांशं न प्रतिजानते। वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहीन्द्र संपारणं वसु॥ ४॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **तुजं रयिम्**=शत्रुओं के बाधक धन को **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइये। हमें वह धन दीजिए, जो कि हमारी सब आवश्यकताओं का पूरण करता हुआ हमें वासनाओं व विषयों का शिकार नहीं होने देता। आप इस प्रकार हमें धन दीजिए **न**=जैसे कि **प्रतिजानते**=ज्ञानी-समझदार-पुत्र के लिए (not minor) पिता **अंशम्**=धनांश को प्राप्त कराता है। हम भी आप से धनांश प्राप्त करके समझदार पुत्र की तरह व्यवहार करनेवाले हों। (२) **इव**=जैसे **अङ्की**=हुक (hook) वाले दण्डवाला पुरुष **पक्वं फलम्**=पके हुए फल को लक्ष्य करके **वृक्षम्**=वृक्ष को कम्पित करता है और उन पके फलों को वृक्ष से नीचे प्राप्त कराता है, इसी प्रकार हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभु आप हमारे लिये उस **वसु**=धन को **धूनुहि**=कम्पित करिए-प्राप्त कराइये जो कि **सम्पारणम्**=हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें वह धन प्राप्त हो, जो कि हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाला हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

स्वराट्-स्मद्दिष्टिः

स्वयुरिन्द्र स्वराळसि स्मद्दिष्टिः स्वयशस्तरः। स वावृधान ओजसा पुरुष्टुत भवा नः सुश्रवस्तमः॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार 'सम्पारण वसु' को प्राप्त करनेवाले **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **स्वयुः**=(स्व=धन) धन को अपने साथ जोड़नेवाला धनवान् बनता है। इस प्रकार तू **स्व-राट् असि**=आत्मदीप्तिवाला होता है। **स्मद्दिष्टिः**=(स्मत्=सुमत्) आत्मदीप्ति के कारण सदा भद्र वाक्योंवाला होता है-सदा शुभ शब्दों का ही उच्चारण करता है। **स्वयशस्तरः**=अपने उत्तम कर्मों के कारण अत्यन्त यशस्वी होता है। धन के साथ आत्मप्रवणता (स्वराट्) व भद्र शब्दों का उच्चारण इसे बड़ा यशस्वी बनाता है। सामान्यतः धन के साथ विषयासक्ति व अभिमान का सम्बन्ध है। इसके जीवन में विषयासक्ति का स्थान आत्मदीप्ति लेती है और अभिमान के स्थान में यह भद्रता व विनीततावाला होता है। (२) **सः**=वह तू **ओजसा**=ओजस्विता से **वावृधानः**=अत्यन्त बढ़ता हुआ हे **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुत होनेवाला! **नः**=हमारे लिए **सुश्रवस्तमः**=अत्यन्त उत्तम ज्ञानवाला **भव**=हो- हमें सदा उत्तम ज्ञान को देनेवाला बन।

भावार्थ—धनवान् होकर हम आत्मदीप्तिवाले व भद्रवाक्य बोलनेवाले बनें। इस प्रकार यशस्वी जीवनवाले हों। बहुतों से प्रशंसित होते हुए हम ओजस्वी व उत्तम ज्ञानी बनें।

यह सूक्त मुख्यरूप से विषयों में न फँसने का संकेत करता है। अगले सूक्त में भी यही विषय अन्य शब्दों में वर्णित हो रहा है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महान् शक्तिशाली प्रभु

युध्मस्य ते वृषभस्य स्वराज उग्रस्य यूनः स्थविरस्य घृष्वेः।
अजूर्यतो वज्रिणो वीर्या३णीन्द्र श्रुतस्य महतो महानि॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **वीर्याणि**=शक्तिशाली कर्म **महानि**=अत्यन्त महान् हैं। उन आपके कर्म महान् हैं, जो आप **युध्यस्य**=योधनशील हैं-हमारी काम-क्रोध आदि वासनाओं से वस्तुतः आप ही युद्ध करते हैं। **वृषभस्य**=इस युद्ध द्वारा इन शत्रुओं का संहार करके आप हमारे पर सुखों का वर्षण करते हैं। **स्वराजः**=आप अपनी दीप्तिवाले हैं **उग्रस्य**=शत्रुओं के लिए भयङ्कर हैं। **यूनः**=नित्यतरुण होते हुए **स्थविरस्य**=वृद्ध हैं। 'यूनः स्थविरस्य' यह विरोधाभास है, परन्तु वस्तुतः यूनः का अर्थ है 'दुरितों का अमिश्रण व सुवितों का मिश्रण करनेवाले' तथा स्थविरस्य का अर्थ है 'स्थिर-अविचल'। ये युवा स्थविर प्रभु **घृष्वेः**=शत्रुओं का घर्षण करनेवाले हैं। (२) उन प्रभु के कर्म महान् हैं, जो कि **अजूर्यतः**=कभी जीर्ण नहीं होते-प्रभु की शक्तियाँ कभी क्षीण नहीं होतीं। **वज्रिणः**=वे प्रभु हाथ में वज्र लिये हुए हैं-प्रभु का यह वज्र सब दुष्टों का दलन करता है। **श्रुतस्य**=वे प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं और **महतः महानि**=महान् से महान् हैं। इन प्रभु के कर्म वस्तुतः महान् हैं।

भावार्थ—शक्तिशाली महान् प्रभु के सब कर्म महान् हैं-सब कर्म शक्तिशाली हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

युद्ध द्वारा उत्तम निवास करानेवाले प्रभु

महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान्॥ २॥

(१) हे **महिष**=पूज्य प्रभो! आप **वृष्ण्येभिः**=शक्तियों से **अन्यान् सहमानः**=शत्रुओं का पराभव करते हुए **महान् असि**=महान् हैं। **धनस्पृत्**=सब धनों के देनेवाले हैं, (स्पृ=to grant) और **उग्रः**=तेजस्वी हैं। (२) आप **एकः**=अकेले ही **विश्वस्य भुवनस्य**=सारे ब्रह्माण्ड के व सब प्राणियों के **राजा**=शासक व व्यवस्थापक हैं। **सः**=वे आप **जनान्**=शक्तियों का विकास करनेवाले इन भक्त लोगों को **योधया**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से युद्ध कराइये **च**=और शत्रुसंहार कराके **क्षयया**=उत्तम निवासवाला बनाइये (क्षि निवासे)। वस्तुतः प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वह शक्ति प्राप्त कराते हैं, जिससे कि हम काम-क्रोध आदि का विनाश करके उत्तम निवासवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अमेय-अचित्य' प्रभु

प्र मात्राभी रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीतः।
प्र मज्मना दिव इन्द्रः पृथिव्याः प्रोरोर्महो अन्तरिक्षादृजीषी॥ ३॥

(१) **सः**=वह प्रभु **मात्राभिः**=मात्राओं से (मात्रा=measure, the material world) मापों से व भौतिक संसार से **प्ररिरिचे**=बहुत बड़ा है-अतिरिक्त है। प्रभु किसी माप से मापे नहीं जा सकते। वे दिक्कालाद्यनवच्छिन्न हैं, न दिशा नां ही काल उन्हें सीमित कर पाता है। इस सारे संसार से ये बड़े हैं 'एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'। वे अमेय प्रभु **रोचमानः**=अपनी तेजस्विता से दीप्त हो रहे हैं। वे प्रभु **देवेभिः**=बड़े-बड़े ज्ञानियों से भी **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **अ-प्रतीतः**=पूर्णरूप से ज्ञेय नहीं हैं। देव भी उनके विषय में इतना ही जानते हैं कि 'वे हैं'। इस से अधिक देव भी उन्हें नहीं जान पाते। (२) वे **ऋजीषी**=ऋजुता की (सरलता की) प्रेरणा देनेवाले व ऋजुता से पाने योग्य (आर्जवं 'ब्रह्मणः पदम्'=सरलता ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है) **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **मज्मना**=बल से **दिवः**=सम्पूर्ण द्युलोक से भी **प्र**=अधिक हैं, **पृथिव्याः**=इस सम्पूर्ण पृथिवी से भी अधिक हैं और **उरोः**=इस विशाल **महः अन्तरिक्षात्**=महान् अन्तरिक्ष से भी **प्र**=वे प्रभु अधिक हैं। त्रिलोकी भी प्रभु की तुलना नहीं कर सकती।

भावार्थ—वे प्रभु अमेय हैं, देवों से भी अचित्य हैं, त्रिलोकी से भी महान् हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रम्'

उरुं गभीरं जनुषाभ्युऽग्रं विश्वव्यचसमवतं मतीनाम्।
इन्द्रं सोमासः प्रदिवि सुतासः समुद्रं न स्त्रवत आ विशन्ति॥ ४॥

(१) **प्रदिवि**=प्रकृष्ट ज्ञान के निमित्त **सुतासः**=(सुतं अस्य अस्ति इति सुतः) सोम का सम्पादन करनेवाले **सोमासः**=सौम्य स्वभाववाले शान्त पुरुष **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में इस

प्रकार **आविशन्ति**=प्रवेश कर जाते हैं, **न**=जैसे कि **स्त्रवतः**=बहती हुई नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र में प्रवेश करती हैं। वस्तुतः जलरूप नदियाँ तो समुद्र में प्रविष्ट होने पर रहती ही हैं, उनका नाम रूप नहीं रहता। इसी प्रकार जीव अपने भौतिक सम्पर्क को छोड़कर प्रभु में प्रवेश कर जाता है-ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। (२) उस परमात्मा में प्रवेश करते हैं, जो कि **उरुम्**=विशाल हैं, **गभीरम्**=अत्यन्त गम्भीर हैं, **जनुषा**=जन्म से ही **अभि उग्रम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर हैं, **विश्वव्यचसम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विस्तारवाले हैं और **मतीनाम्**=मननशील पुरुषों के **अवतम्**=रक्षक हैं।

भावार्थ—सोम का सम्पादन करनेवाला सौम्यपुरुष प्रभु में प्रवेश पाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम का शोधन व पान

यं सोममिन्द्र पृथिवीद्यावा गर्भं न माता बिभृतस्त्वाया।
तं ते हिन्वन्ति तमु ते मृजन्त्यध्वर्यवो वृषभ पातवा उ॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यम् सोमम्**=जिस सोम को **पृथिवी द्यावा**=द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वाया**=(त्वत् कामनया) आपको प्राप्त करने की कामना से उसी प्रकार **बिभृतः**=धारण करते हैं, **नः**=जैसे कि **माता गर्भम्**=माता गर्भ को धारण करती है। **तम्**=उस सोम को **ते**=वे **अध्वर्यवः**=यज्ञशील लोग **हिन्वन्ति**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। यहाँ 'माता गर्भं न' इस उपमा से सोमरक्षण में किसी प्रकार के प्रमाद न करने का सुन्दर संकेत है। 'पृथिवी द्यावा बिभृतः' का भाव यह है कि सारा संसार धारण करता है। इन शब्दों का प्रयोग यह भी स्पष्ट संकेत कर रहा है कि सोम का रक्षण 'शरीर रूप पृथिवी को दृढ़ बनाने व मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानोज्ज्वल बनाने' से होता है। सोम का व्यय शरीर को दृढ़ बनाने व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाने में हो जाता है और इस प्रकार सोम का रक्षण हो जाता है। (२) हे **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=उस सोम को **ते**=वे अध्वर्यु लोग **उ**=निश्चय से **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। इस सोम को वासनाओं से मलिन नहीं होने देते। इसको पवित्र रखकर वे **पातवा उ**=निश्चय से इस सोम का पान करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुप्राप्ति का प्रतिपादन करता हुआ सोमरक्षण के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त में प्राणसाधना द्वारा सोमपान का वर्णन करते हैं—

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मरुत्वान् इन्द्र का सोमपान

मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **मरुत्वान्**=प्रशस्त प्राणोंवाला-प्राणसाधना द्वारा प्राणों को प्रशस्त करनेवाला **वृषभः**=शक्तिशाली तू **रणाय**=काम-क्रोध आदि से संग्राम के लिए-इनके पराजय द्वारा रमणीयता को उत्पन्न करने के लिए **सोमं पिब**=सोम का पान कर। यह सोम **अनुष्वधम्**=आत्मतत्त्व के धारण के अनुपात में **मदाय**=तेरे लिए हर्ष का साधन बनेगा। सोमरक्षण

से आत्मतत्त्व का दर्शन होगा—उसी अनुपात में आनन्द की प्राप्ति होगी। (२) इस दृष्टिकोण से तू **मध्वः**=इन ओषधियों के सारभूत—जीवन को मधुर बनानेवाले सोम की **ऊर्मिम्**=तरंग को **जठरे**=अपने अन्दर ही **आसिञ्चस्व**=सिक्त करनेवाला बन। **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला तू (प्रदीव्यति इति, दिव्यक) **सुतानाम्**=शरीर में उत्पन्न इन सोमकणों का **राजा असि**=स्वामी है—इनको अपने शरीर में ही व्यवस्थित करनेवाला है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम सोम का शरीर में ही रक्षण करें। यह रक्षित सोम हमारे उल्लास का कारण होगा और अन्ततः प्रभुदर्शन करानेवाला होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अभय' का साधन

सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्।
जहि शत्रूँरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सजोषाः**=सब इन्द्रियों से प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करनेवाला, **सगणः**=पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' के गणों से युक्त हुआ—हुआ **मरुद्भिः**=प्राणों द्वारा—प्राणसाधना द्वारा **सोमं पिब**=सोम को अपने अन्दर पीनेवाला हो—सोम को शरीर में व्याप्त कर। इस प्रकार हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! तू **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाला हो और **विद्वान्**=ज्ञानी बन। (२) **शत्रून्**=इन शातन करनेवाले—विनाशक काम—क्रोध आदि को **जहि**=तू नष्ट कर। **मृधः**=इन संहार करनेवाली वृत्तियों को **अपनुदस्व**=दूर धकेलनेवाला हो। **अथ**=इन वासनाओं को विनष्ट करके अब **नः**=हमारी प्राप्ति के लिए—प्रभु की प्राप्ति के लिए, **विश्वतः**=सब ओर से **अभयं कृणुहि**=अपने में निर्भयता को उत्पन्न कर। यह अभय ही दैवी—सम्पत्ति का प्रारम्भ है।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन व प्राणसाधना करते हुए सोम का रक्षण करें। तभी हम सब वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करके अभय पद प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना के तीन लाभ

उत ऋतुभिर्ऋतुपाः पाहि सोममिन्द्र देवेभिः सखिभिः सुतं नः।
याँ आभजो मरुतो ये त्वान्वहन्वृत्रमदधुस्तुभ्यमोजः ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **उत**=और **ऋतुभिः**=(ऋ गतौ) नियमित गतियों द्वारा सब कार्यों को ठीक रूप में ठीक समय पर करने द्वारा **ऋतुपाः**=(ऋतु light, splendour) ज्ञान के प्रकाश का रक्षण करनेवाला तू **सखिभिः**=अपने मित्रभूत **देवेभिः**=इन मरुतों व प्राणों द्वारा **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पन्न किये हुए **सोमं पाहि**=इस सोम का पान करनेवाला हो। (२) उन मित्रभूत प्राणों के साथ तू सोम का पान करनेवाला हो, **यान् मरुतः**=जिन प्राणों को तू **आभजः**=सर्वथा सेवित करनेवाला होता है—जिन प्राणों की साधना तू निरन्तर करता है। **ये**=जो प्राण **त्वा अनु**=तेरी अनुकूलता में **वृत्रं अहन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करते हैं (अघ्नन्) और **तुभ्यम्**=तेरे लिए **ओजः**=ओजस्विता को **अदधुः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) सोम का रक्षण होता है, (ख) वासना का विनाश होता है और (ग) ओजस्विता की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अहि व शम्बर का हनन

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमं सगणो मरुद्भिः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **सगणः**=पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों आदि के गणोंवाला होता हुआ **सोमं पिब**=सोम का पान कर-इसे शरीर में ही व्याप्त कर। (२) उन प्राणों के साथ, **ये**=जो कि **विप्राः**=विशेषरूप से तेरा पूरण करनेवाले प्राण (वि+प्रा), हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले जीव! **अहिहत्ये**=आहनन करनेवाली कामवासना के विनाश में **त्वा**=तेरा **अवर्धन्**=वर्धन करते हैं। (३) उन प्राणों के साथ, **ये**=जो कि **शाम्बरे**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाले ईर्ष्यारूप असुर के विनष्ट होने पर तेरा वर्धन करते हैं। **हरिवः**=हे प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले! **ये**=जो प्राण **गविष्टौ**=ज्ञानवाणियों की इष्टि (इच्छा) में तेरा वर्धन करते हैं और **ये**=जो **त्वा**=तुझे **अनुमदन्ति**=(अनुमादयन्ति) अनुकूलता से हर्षित करते हैं। इन प्राणों के साथ तू सोमपान कर।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) वासनाविनाश होता है, (ख) ईर्ष्या दूर होती है, (ग) ज्ञानवाणियों को प्राप्त करने की कामना बढ़ती है, (घ) उल्लास प्राप्त होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सहोदा प्रभु

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम्।
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम ॥ ५॥

(१) हम **नूतनाय अवसे**=नवतर-अत्यन्त स्तुत्य=रक्षण के लिये **तम्**=उस **विश्वासाहम्**=सब शत्रुओं का मर्षण करनेवाले, **उग्रम्**=तेजस्वी, **सहोदाम्**=बल को देनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं। उस प्रभु ने ही तो हमारे काम आदि शत्रुओं का संहार करना है। (२) उस प्रभु को पुकारते हैं, जो कि **मरुत्वन्तम्**=प्रशस्त प्राणोंवाले हैं-हमारे लिए प्रशस्त प्राणों को देनेवाले हैं। इन प्राणों को प्राप्त कराके **वृषभम्**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **वावृधानम्**=हमारा अत्यन्त ही वर्धन करनेवाले हैं। **अकवारिम्**=(अकुत्सितम् इयर्ति आप्टे) अकुत्सित ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं-प्रभु स्वयं ऐश्वर्य के निधान हैं। **दिव्यम्**=प्रकाश के पुञ्ज हैं और **शासम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदवाणी द्वारा हमारे कर्तव्यों का अनुशासन करनेवाले हैं। इस अनुशासन में चलना हमारी सतत वृद्धि का कारण होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त होगा।

सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना पर बल दे रहा है। यह प्राणसाधना ही सब उन्नतियों का कारण बनती है। इसी से सोम का रक्षण होता है। अगले सूक्त में सब कार्यों के साधक इस सोमपान का ही वर्णन है—

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सर्वकामपूरक' सोम

सद्यो ह जातो वृषभः कनीनः प्रभर्तुमावदन्धसः सुतस्य।
साधोः पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिरः प्रथमं सोम्यस्य॥ १॥

(१) **सद्यः**=शीघ्र **ह**=निश्चय से **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभु-जिनका हृदय में ध्यान किया गया है, वे प्रभु **वृषभः**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं, **कनीनः**=कमनीय व सुन्दर वे प्रभु हमारे जीवनों को भी सुन्दर बनाते हैं। इसीलिए वे प्रभु **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसः**=सोम के **प्रभर्तुम्**=(प्रभर्तारम्) भरण करनेवाले को **आवत्**=रक्षित करते हैं। वस्तुतः प्रभु के ध्यान से ही वासनाओं से बचना सम्भव होता है और तभी सोम का शरीर में रक्षण होता है। (२) इसलिए हे जीव! तू इस **साधोः**=सब कार्यों व शक्तियों को सिद्ध करनेवाले **रसाशिरः**=रस द्वारा परिपक्व हुए-हुए (रस के परिपाक से ही रुधिर आदि के क्रम से वीर्य की उत्पत्ति होती है) **ते**=तेरे **सोम्यस्य**=स्वभाव को सोम (=शान्त) बनाने में उत्तम सोम का **यथा**=जैसे भी हो **प्रतिकामम्**=प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिए **पिब**=पान कर।

भावार्थ—प्रभु सोम का भरण करनेवाले का रक्षण करते हैं। सोमरक्षण से सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासना व स्वाध्याय से सोमरक्षण

यज्जायथास्तदहरस्य कामेंऽशोः पीयूषमपिबो गिरिष्ठाम्।
तं ते माता परि योषा जनित्री महः पितुर्दम आसिञ्चदग्रे॥ २॥

(१) **यज्जायथाः**=जब आप प्रादुर्भूत होते हो, **तद् अहः**=उसी दिन **अस्य अंशोः**=इस सोम के **पीयूषम्**=अमृत की **कामे**=इच्छा होने पर **अपिबः**=मेरे शरीर में ही व्याप्त करो। मेरे में सोमपान की कामना हो। और आपके प्रादुर्भाव से, वासनाओं से बचकर मैं सोमरक्षण कर सकूँ। उस सोम के अमृत का मैं पान करूँ, जो कि **गिरिष्ठाम्**=वेदवाणी में स्थित है। इस सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि की दीप्ति होती है और हम ज्ञानवाणियों को धारण करनेवाले बनते हैं। (२) **तम्**=उस सोम को **ते माता**=तेरे जीवन के निर्माण को करनेवाली, **योषा**=गुणों का मिश्रण व अवगुणों का अमिश्रण करनेवाली, **जनित्री**=सब शक्तियों के विकास की कारणभूत यह वेदमाता उस **महः पितुः दमे**=महान् पिता प्रभु के आश्रय में **अग्रे परि आसिञ्चत्**=सर्वप्रथम चारों ओर आसिक्त करती है। 'वेद सोम को शरीर में आसिक्त करता है' का भाव यह है कि जब मनुष्य वेद का अध्ययन करनेवाला बनता है, तो सोम का शरीर में रक्षण स्वभावतः होता है-यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बन जाता है। 'उस महान् पिता प्रभु के आश्रय में' इन शब्दों का भाव यह है कि उपासना से वासना दूर होती है और सोम का रक्षण होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय व उपासना सोमरक्षण के साधन बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वाध्याय के बाद भोजन

उपस्थाय मातरमन्नमैट्ट तिग्ममपश्यदभि सोममूधः ।
प्रयावयन्नचरद् गृत्सो अन्यान्महानि चक्रे पुरुधप्रतीकः ॥ ३ ॥

(१) **मातरं उपस्थाय**=वेदमाता का उपस्थान करके, अर्थात् नैत्यिक स्वाध्याय करके **अन्नं ऐट्ट**=अन्न की यह याचना करता है (इडि: अध्येषणाकर्त्ता)। इस प्रकार यह **तिग्मं सोमं अभि**=तेजस्विता को देनेवाले सोम (=वीर्य) का लक्ष्य करके **ऊधः अपश्यत्**=वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार को **अपश्यत्**=देखता है। ज्ञानप्राप्ति में लगे रहने से यह सोम का रक्षण कर पाता है। रक्षित सोम उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। (२) **गृत्सः**=(Wise) मेधावी पुरुष **अन्यान्**=अपने से भिन्न—काम-क्रोधरूप सर्पों को **प्रयावयन्**=अपने से पृथक् करता हुआ **अचरत्**=गति करता है। यह **पुरुधप्रतीकः**=अनेक प्रकार से अपने अंगों का धारण करनेवाला, अर्थात् उनकी शक्ति को न नष्ट होने देनेवाला **महानि चक्रे**=महत्त्वपूर्ण कार्यों को करनेवाला होता है। काम-क्रोध आदि के विनाश से यह अपने अन्दर शक्ति का संचय करता है और इस शक्ति से अंगों का धारण करता हुआ यह महान् कार्यों को कर पाता है।

भावार्थ—हम स्वाध्याय करके ही भोजन करनेवाले हों। सोम का रक्षण करते हुए हम ज्ञानाग्नि को दीप्त करें। वासनाओं से ऊपर उठकर, अंगों को शक्तिशाली बनाकर हम महान् कार्यों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य का भी अभिभव

उग्रस्तुराषाळभिभूत्योजा यथावशं तन्वं चक्र एषः ।
त्वष्टारमिन्द्रो जनुषाभिभूयामुष्या सोममपिबच्चमूषु ॥ ४ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षण करनेवाला व्यक्ति **उग्रः**=तेजस्वी बनता है, **तुराषाट्**=त्वरा से शत्रुओं का मर्षण करता है। **अभिभूति ओजाः**=शत्रुओं के अभिभावक बलवाला होता है। **एषः**=यह **तन्वम्**=अपने शरीर को **यथावशम्**=इच्छा के अनुसार **चक्रे**=बनाता है। शक्ति का रक्षण करके शरीर को अधिक से अधिक सुन्दर बना पाता है। (२) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **जनुषा**=इस प्रकार शक्तियों के विकास से **त्वष्टारम्**=सूर्य को भी **अभिभूय**=तिरस्कृत करके—सूर्य से भी अधिक तेजस्वी बनकर **अमुष्य**=उस प्रभु द्वारा उत्पन्न किये गये इस सोम को **चमूषु**=इन शरीरूप चमसों में—शरीररूप पात्रों में **अपिबत्**=पीता है। सोम का शरीर में ही रक्षण करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें शत्रुओं का अभिभव करनेवाला बल प्राप्त होता है। यह सोमपान करनेवाला सूर्य से भी अधिक तेजस्वी बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

भरे नृतमम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ५ ॥

(१) मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त सोम का महत्त्व व्यक्त कर रहा है। इसी सोमरक्षण के लिए वासना का विनाश करना है। इसी भाव से अगले सूक्त का प्रारम्भ है—

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवतः** ॥

प्रभुस्तवन व सोमरक्षण

शंसा महामिन्द्रं यस्मिन्विश्वा आ कृष्टयः सोमपाः काममव्यन्।
यं सुक्रतुं धिषणे विभ्वतष्टं घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः॥ १॥

(१) उस महान् **इन्द्रम्**=पूजनीय (महान्) सर्वशक्तिमान् प्रभु को **शंसा**=तू शंसित कर-उसकी स्तुति कर, **यस्मिन्**=जिस प्रभु में स्थित हुए-हुए **विश्वाः**=सब **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **सोमपाः**=सोम का रक्षण करते हैं और **कामम्**=चाहने योग्य स्वर्ग आदि को **आ अव्यन्**=सर्वथा प्राप्त करते हैं। (२) उस प्रभु का तू उपासन कर **यं सुक्रतुम्**=जिस उत्तम प्रज्ञान व शक्तिवाले **विभ्वतष्टम्**=(विभुः च असौ अतष्टः) व्यापक व कभी भी न बनाए गये, अर्थात् स्वयंभू **वृत्राणां घनम्**=वासनाओं के विनष्ट करनेवाले को **धिषणे**=द्यावापृथिवी तथा **देवाः**=सब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि देव **जनयन्त**=प्रकट करते हैं। द्यावापृथिवी में तथा तदन्तर्गत सब देवों में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। इस प्रकार ये सब देव उस प्रभु का प्रकाश करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभुस्तवन द्वारा सोमरक्षण करते हुए स्वर्गादि को सिद्ध करें। द्यावापृथिवी में सर्वत्र प्रभु की महिमा देखें।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवतः** ॥

सत्त्वभिः शूषैः

यं नु नकिः पृतनासु स्वराजं द्विता तरति नृतमं हरिष्ठाम्।
इनतमः सत्वभिर्यो ह शूषैः पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः॥ २॥

(१) **यम्**=जिस **पृतनासु**=संग्रामों में **स्वराजम्**=स्वयं देदीप्यमान, **हरि-ष्ठाम्**=इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठाता **नृतमम्**=सर्वोत्तम नेता को **नु**=अब **द्विता**=ज्ञान व शक्ति दोनों के समन्वय के कारण **नकिः तरति**=कोई भी पराभूत नहीं कर सकता, वह प्रभु ही **इनतमः**=सर्वश्रेष्ठ स्वामी हैं। प्रभु को संग्रामों में विजय के लिए किसी अन्य के सहाय की आवश्यकता नहीं है-वे संग्रामों में स्वयं दीप्त हैं। हमारे इन्द्रियाश्वों के वे ही स्वामी हैं। प्रभु ही हमें नेतृत्व देते हैं। ज्ञान व शक्ति की वे चरमसीमा हैं। इन प्रभु को कोई पराभूत नहीं कर सकता। (२) ये प्रभु वे हैं, **यः**=जो **ह**=निश्चय से **सत्वभिः**=ज्ञानों से (wisdom) से व **शूषैः**=शत्रुशोषक शक्तियों से **पृथुज्रया**=अत्यन्त वेगवाले हैं और **दस्योः**=नाशक वृत्तिवाले की **आयुः**=आयु को **अमिनात्**=हिंसित करते हैं। दस्युओं के वे प्रभु विनाशक हैं, आर्यों के (श्रेष्ठों के) वे रक्षक हैं-सत्पति हैं।

भावार्थ—प्रभु शक्ति व ज्ञान की चरमसीमा हैं, उन्हें कोई पराभूत नहीं कर सकता।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्द:—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वर:—**पञ्चमः** ॥

सुहवो वयोधाः

सहावा पृत्सु तरणिर्नार्वा व्यानशी रोदसी मेहनावान्।
भगो न कारे हव्यो मतीनां पितेव चारुः सुहवो वयोधाः॥ ३॥

(१) वे प्रभु **सहावा**=बलवान् हैं, **पृत्सु तरणिः**=संग्रामों में शत्रुसागर को तैर जानेवाले हैं। **न अर्वा**=व्यर्थ में संहार करनेवाले नहीं हैं। प्रभुकृत संहार भी जीवहित के लिए हैं। **रोदसी व्यानशीः**=द्यावापृथिवी को व्याप्त किये हुए हैं और **मेहनावान्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। (२) वे प्रभु **कारे**=यज्ञादि कार्यों में **भगः न**=ऐश्वर्य के समान हैं। **मतीनां हव्यः**=मननशील पुरुषों से पुकारे जाने योग्य हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि पुत्र से **पिता**=पिता पुकारे जाने योग्य होता है। वे प्रभु **चारुः**=सुन्दर हैं, **सुहवः**=सुगमता से पुकारे जाने योग्य हैं, हमारी प्रार्थनाओं को सुनते हैं और **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को हमारे लिए धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं, वे ही हमारे लिए यज्ञों को पूर्ण करने के साधन जुटाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धारक प्रभु

धर्ता दिवो रजसस्पृष्ट ऊर्ध्वो रथो न वायुर्वसुभिर्नियुत्वान्।
क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य विभक्ता भागं धिषणेव वाजम्॥ ४॥

(१) वे प्रभु **दिवः धर्ता**=द्युलोक व ज्ञान को धारण करनेवाले हैं। **रजसः (धर्ता)**=अन्तरिक्षलोक को भी वे प्रभु धारण करनेवाले हैं। **पृष्टः**=वे प्रभु ही ज्ञानियों से, ज्ञीप्सित होते हैं-प्रत्येक पिण्ड में रचना विशेष को देखकर उसकी ही जिज्ञासा होती है। **ऊर्ध्वः**=इन सब लोक-लोकान्तरों का भरण करते हुए भी वे इनसे ऊपर हैं 'असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च'। **रथः न**=वे प्रभु हमारे लिए रथ के समान हैं। प्रभु में स्थित हुए-हुए हम सम्यक् यात्रा को पूर्ण कर पाते हैं। **वायुः**=वे गति द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले हैं (वा गति गन्धनयोः)। **वसुभिः**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों के साथ वे प्रभु **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप अश्वोंवाले हैं। वे प्रभु हमें वसुओं को प्राप्त कराते हैं और इन वसुओं के साथ उत्तम इन्द्रियाश्वों को देनेवाले हैं। इन वसुओं व इन्द्रियों के स्वामी तो वे प्रभु ही हैं। (२) **क्षपां वस्ता**=वे प्रभु रात्रियों को आच्छादित करनेवाले हैं। दिन की समाप्ति पर सारे जगत् को रात्रिरूप वस्त्र से आच्छादित कर देते हैं। रात्रि की समाप्ति पर **सूर्यस्य जनिता**=सूर्य का पुनः प्रादुर्भाव करते हैं। इस दिन-रात्रि के चक्र द्वारा वे प्रभु **भागम्**=भजनीय (सेवनीय) धनों को तथा **धिषणा इव**=बुद्धि की तरह (धिषणा=understanding) **वाजम्**=शक्ति को **विभक्ता**=सर्वत्र विभक्त करते हैं। प्रभु धनों को, बुद्धियों को व शक्ति को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही धारण करनेवाले हैं और प्रभु ही धन, ज्ञान व शक्ति को देनेवाले हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भरे नृतमम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त यही कह रहा है कि प्रभु के शंसन से वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि हम शत्रुओं को जीतनेवाले बनते हैं। अगले सूक्त में भी यही कहते हैं कि प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करके हमें सोमरक्षण के योग्य बनाते हैं—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्यागवृत्ति

इन्द्रः स्वाहा पिबतु यस्य सोम आगत्या तुम्रो वृषभो मरुत्वान्।
ओरुव्यचाः पृणतामेभिरन्नैरास्य हविस्तन्वः॑ काममृध्याः॥ १॥

(१) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष! **स्वाहा**=त्याग-वृत्तिवाला बने। त्यागवृत्तिवाला बनकर, भोगवृत्ति से ऊपर उठे और **पिबतु**=सोम का पान करे-सोम को शरीर में ही सुरक्षित करे। **यस्य सोमः**=जिसका यह सोम होता है, वह **आगत्य**=समन्तात् गतिवाला होता हुआ **तुम्रः**=शत्रुओं का हिंसक होता है, **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है और **मरुत्वान्**=प्रशस्त प्राणोंवाला होता है। (२) यह **ओरुव्यचाः**=अत्यन्त विस्तारवाला होता हुआ **एभिः**=इन **अन्नैः**=अन्नों से **आपृणताम्**=अपना पूरण करे। यह अन्नों का ही सेवन करे-अन्नों का सेवन इसकी शक्तियों का विस्तार करे। **हविः**=दानपूर्वक अदन **अस्य**=इसके **तन्वः**=शरीर की **कामम्**=अभिलाषा को **आ ऋध्याः**=समन्तात् समृद्ध करे। हवि ही इसकी तृप्ति का कारण बने। यह कभी केवलादी न बने।

भावार्थ—त्याग की वृत्ति हमें भोगों से दूर करके सोमरक्षण के योग्य बनाए। अन्नों से ही हम अपना तर्पण करें। दानपूर्वक अदन हमें समृद्ध करे-हम केवलादी बनकर पापी न बन जाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

आ ते सपर्यू जवसे युनज्मि ययोरनु प्रदिवः श्रुष्टिमावः।
इह त्वा धेयुर्हरयः सुशिप्र पिबा त्व१स्य सुषुतस्य चारोः॥ २॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं **ते**=तेरे लिए इन **सपर्यू**=तेरी उत्तम सेवा करनेवाले इन इन्द्रियाश्वों को **जवसे**=वेग के लिए-शीघ्रता से कार्यों को करने के लिए **आयुनज्मि**=शरीर-रथ में जोतता हूँ। **ययोः**=जिनकी **अनु**=अनुकूलता में **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ तू **श्रुष्टिम्**=क्षिप्रता व शीघ्रता को **आवः**=सुरक्षित करता है। इन्द्रियों के ठीक होने पर ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त होता है और कर्मेन्द्रियों से हम शीघ्रता से कार्य करनेवाले बनते हैं। (२) हे **सुशिप्र**=उत्तम हनू व नासिकाओंवाले, अर्थात् जबड़ों से सात्त्विक अन्न का ही सेवन करनेवाले तथा प्राणसाधना को करनेवाले जीव! **हरयः**=ये इन्द्रियाश्व **त्वा**=तुझे **इह**=यहां हमारे समीप **धेयुः**=स्थापित करनेवाले हों। हमारी प्राप्ति के उद्देश्य से ही **तु**=तो **अस्य**=इस **सुषुतस्य**=उत्तमता से सम्पादित **चारोः**=जीवन को सुन्दर बनानेवाले सोम का **पिबा**=पान कर। इसके पान से तेरा जीवन नीरोग, निर्मल व ज्ञानदीप्त बनेगा और तू हमें प्राप्त होनेवाला होगा।

भावार्थ—प्रभु ने हमें इन्द्रियाश्व ज्ञानप्राप्ति व क्रियाशीलता के लिए दिये हैं। इनद्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। इसी दृष्टिकोण से हम सोम का भी रक्षण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्यैष्ठ्याय धायसे

गोभिर्मिमिक्षुं दधिरे सुपारमिन्द्रं ज्यैष्ठ्याय धायसे गृणानाः।

मन्दानः सोमं पपिवाँ ऋजीषिन्त्समस्मभ्यं पुरुधा गा इषण्य॥ ३॥

(१) **गृणानाः**=स्तोता लोग **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठता के सम्पादन के लिए तथा **धायसे**=अपने धारण के लिए **इन्द्रम्**=उस ऐश्वर्यवान् प्रभु को **दधिरे**=धारण करते हैं, जो प्रभु **गोभिः मिमिक्षुम्**=हमें ज्ञानवाणियों से सिक्त करने की कामनावाले हैं और **सुराम्**=हमें अच्छी प्रकार वासना-समुद्र से पार ले जानेवाले हैं। (२) ये स्तोता लोग प्रभु से यही प्रार्थना करते हैं कि **मन्दानः**=अत्यन्त आनन्दमय आप **सोमं पपिवान्**=सोम का पान करनेवाले हैं। हम आपका स्तवन करते हैं और आप हमारे लिए इस सोम का रक्षण करते हैं। आपकी उपासना हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है। हे **ऋजीषिन्**=ऋजुता की प्रेरणा देनेवाले प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गाः**=इन ज्ञानवाणियों को **समिषण्य**=सम्यक् प्रेरित करिये। आपकी उपासना करते हुए हम इन ज्ञानवाणियों को प्राप्त करनेवाले बनें। वस्तुतः ये ज्ञानवाणियाँ ही हमारे जीवन को पवित्र बनाती हैं और हम वासनाओं को दग्ध करके सोमरक्षण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमें ज्ञानवाणियाँ प्राप्त होती हैं, जो कि हमें वासनाओं को विनष्ट करके, ज्येष्ठ बनाती हैं और हमारा धारण करती हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वर्यवः-वाहः-कुशिकासः

इमं कामं मन्दया गोभिरश्वैश्चन्द्रवता राधसा पप्रथश्च।
स्वर्यवो मतिभिस्तुभ्यं विप्रा इन्द्राय वाहः कुशिकासो अक्रन्॥ ४॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२० पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शृण्वन्तम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

यह सूक्त त्यागवृत्ति द्वारा संयमी बनकर सोमरक्षण का प्रतिपादन करता है। अगले सूक्त में भी सोमरक्षण के लिए प्रभुस्तवन का उपदेश है—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रतिदिन स्तूयमान प्रभु

चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्य१मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत।
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे॥ १॥

(१) **बृहतीः गिरः**=हमारी वृद्धि की कारणभूत ये ज्ञानवाणियाँ **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अभ्यनूषत**=स्तवन करें, जो कि **चर्षणीधृतम्**=मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं, **मघवानम्**=पवित्र ऐश्वर्यवाले हैं **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य हैं। (२) उस प्रभु का हमारी वाणियाँ स्तवन करें, जो कि **वावृधानम्**=अत्यन्त ही बढ़े हुए हैं, **पुरुहूतम्**=जिनकी पुकार-जिनका आराधन आराधक का पालन व पूरण करनेवाली है, **अमर्त्यम्**=जो अमर्त्य हैं-जिनका उपासन हमें भी अमर्त्य बनाता है। और जो प्रभु **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **सुवृक्तिभिः**=अच्छी प्रकार पाप-

वर्जनवाले पुरुषों से **जरमाणम्**=स्तुति किए जाते हैं। वस्तुतः प्रभु के उपासन का सुन्दर प्रकार यही है कि हम आत्मनिरीक्षण द्वारा अपनी कमियों को देखकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। स्तुति किए जाते हुए प्रभु हमारा धारण करते हैं और हमारी वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञानवाणियों से व पापों के वर्जन से हम प्रतिदिन प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

निरन्तर प्रभुस्तवन

शतक्रतुमर्णवं शाकिनं नरं गिरो म इन्द्रमुप यन्ति विश्वतः।
वाजसनिं पूर्भिदं तूर्णिमप्तुरं धामसाचमभिषाचं स्वर्विदम्॥ २॥

(१) **मे गिरः**=मेरी स्तुति-वाणियाँ **विश्वतः**=सब ओर से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर **उपयन्ति**=समीपता से प्राप्त होती हैं-मैं सतत उस प्रभु का स्तवन करता हूँ, जो कि **शतक्रतुम्**=सैंकड़ों प्रज्ञानों व शक्तियोंवाले हैं, **अर्णवम्**=ज्ञान के समुद्र हैं, **शाकिनम्**=शक्तिशाली हैं, **नरम्**=उपासकों को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हैं (नृ नये)। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ, जो कि **वाजसनिम्**=मुझे शक्ति देनेवाले हैं, **पूर्भिदम्**=काम-क्रोध-लोभरूप असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाले हैं, **तूर्णिम्**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं, **अप्तुरम्**=कर्मों के प्रेरक हैं, **धामसाचम्**=शक्तियों से समवेत (युक्त) हैं, **अभिषाचम्**=शत्रुओं के प्रति जाते हुए उनका अभिभव करनेवाले हैं और **स्वर्विदम्**=सुख व प्रकाश के प्रापक हैं।

भावार्थ—निरन्तर प्रभुस्तवन करता हुआ मैं शतक्रतु व स्वर्वित् बनूँ-अनन्त प्रज्ञानवाला और सुख को प्राप्त करनेवाला।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

निष्पापता=प्रभुस्मरण

आकरे वसोर्जरिता पनस्यतेऽनेहसः स्तुभ इन्द्रो दुवस्यति।
विवस्वतः सदन आ हि पिप्रिये सत्रासाहमभिमातिहनं स्तुहि॥ ३॥

(१) **आकरे**=युद्ध में (आकीर्यन्ते शत्रवः अस्मिन्) **वसोः**=(वसति आभिमुख्येन इति वसुः शत्रुः) शत्रुओं को **जरिता**=जीर्ण करनेवाला वह प्रभु **पनस्यते**=हमारे से स्तुत किया जाता है। प्रभुस्तवन ही हमें शक्ति देता है, जिससे कि हम शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं। (२) इसीलिए **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अनेहसः**=निष्पाप **स्तुभः**=स्तुति द्वारा **दुवस्यति**=उस प्रभु की परिचर्या करता है। वस्तुतः स्तुति वही ठीक है, जो कि निष्पापता के साथ है। सच्चा स्तोता पाप कर ही कैसे सकता है? (३) वे प्रभु **विवस्वतः**=(विशेषेण यज्ञार्थं वसतः हविष्मतो यजमानस्य सा०) यज्ञशील पुरुष के **सदने**=गृह में **हि**=निश्चय से **आपिप्रिये**=प्रीति का अनुभव करते हैं, अर्थात् यज्ञशील मनुष्य ही प्रभु को प्रसन्न कर पाता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। 'इन यज्ञों का हमें गर्व न हो जाए' इसके लिए कहते हैं कि **सत्रासाहम्**=सदा शत्रुओं का पराभव करनेवाले **अभिमातिहनम्**=अभिमान को विनष्ट करनेवाले प्रभु को **स्तुहि**=तू स्तुत कर। प्रभुस्मरण से हम यज्ञशील तो बनेंगे, पर उन यज्ञों का हमें गर्व न होगा।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से हमारे शत्रु (काम-क्रोध) विनष्ट होते हैं, हम यज्ञशील बनते हैं और उन यज्ञों को निरमानता से करते हैं।

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिए **ब्रह्माणि**=इन ज्ञानवाणियों का **सत्रा**=सदा **दधिरे**=धारण किया जाता है। इन ज्ञानवाणियों के अध्ययन से आपकी प्राप्ति होती है। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले-उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **गिरः**=इन स्तुतिवाणियों को सदा धारण करते हैं। इन स्तुति-वाणियों से हम आपके समीप प्राप्त होते हैं। हे प्रभो! **जुषस्व**=इन स्तुति-वाणियों को आप प्रीतिपूर्वक सेवन करिए-ये आपके लिए प्रिय हों। (२) आप **आपिः**=सर्वत्र व्याप्त हैं। **नूतनस्य अवसः**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) रक्षण को आप **बोधि**=जानिए। आप हमारा सर्वथा रक्षण करनेवाले हों। हे **सखे**=मित्र! **वसो**=हमें वसानेवाले प्रभो! **जरितृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **वयः धाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करिए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारा रक्षण करें और हमारे लिए उत्कृष्ट जीवन को धारण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के प्रणयन में व शरण में

इन्द्र॑ मरुत्व इ॒ह पा॑हि॒ सोमं॒ यथा॑ शार्या॒ते अपि॑बः सु॒तस्य॑।
तव॒ प्रणी॑ती॒ तव॑ शूर॒ शर्म॒न्ना वि॑वासन्ति क॒वयः॑ सुय॒ज्ञाः॥ ७॥

(१) हे **मरुत्वः**=प्रशस्त प्राणोंवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इह**=इस जीवन में **सोमं पाहि**=सोम का रक्षण कर-वीर्य का रक्षण कर। **यथा**=जैसे **शार्याते**=(शर्यया-शत्रुहिंसया सह-अतति, शर्यातिः, तस्य भावः शार्यातम्) शत्रु-हिंसा के लिए गति के निमित्त तूने **सुतस्य**=उत्पन्न सोम का **अपिबः**=पान किया। इस सोम के पान से ही रोगकृमिरूप शत्रुओं का संहार होता है। सोमपान के लिए प्राणसाधना आवश्यक है। (२) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **तव**=आपके प्रणयन में, **तव शर्मन्**=आपकी शरण में **कवयः**=ज्ञानी, **सुयज्ञाः**=उत्तम यज्ञोंवाले पुरुष **आविवासन्ति**=आपका उपासन करते हैं। प्रभु का सच्चा उपासन यही है कि हम प्रभु के प्रणयन में चलें-प्रभु की शरण में रहें। प्रभु की शरण में सुरक्षित होकर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा सोम का रक्षण करें और प्रभु की शरण में यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मरुतों के साथ

स वा॑वशा॒न इ॒ह पा॑हि॒ सोमं॑ म॒रुद्भि॑रिन्द्र॒ सखि॑भिः सु॒तं नः॑।
जा॒तं यत्त्वा॒ परि॑ दे॒वा अभू॑षन्म॒हे भरा॑य पुरुहू॒त विश्वे॑॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सः**=वह तू **वावशानः**=सोमरक्षण की प्रबल कामनावाला होता हुआ **सखिभिः मरुद्भिः**=अपने मित्रभूत इन प्राणों के साथ **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पन्न किये हुए **सोमं पाहि**=सोम का रक्षण कर। प्रभु ने शरीर में सोम के उत्पादन की व्यवस्था की है। प्राणसाधना द्वारा इस सोम का शरीर में ही रक्षण होता है। (२) इस सोमरक्षण से **जातम्**=आविर्भूत शक्तियोंवाले **त्वा**=तुझे **यत्**=चूँकि **विश्वे देवाः**=सब देव-सब उत्तम गुण, **महे भराय**=महान् संग्राम के लिए **परि अभूषन्**=सर्वतः अलंकृत करते हैं। इसलिए तूझे सोम का रक्षण करना ही

है। इसके रक्षण से ही तू रोगकृमि आदि का संहार कर सकेगा। हे **पुरुहूत**=(पुरु हूतं यस्य) अत्यन्त ही प्रभु का उपासन करनेवाले जीव! महादेव के सान्निध्य में सब देव तो तेरे समीप होंगे ही।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण होने पर सब देव हमें अलंकृत करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कर्मों के प्रेरक प्रभु

अप्तूर्यै मरुत आपिरेषोऽमन्दन्निन्द्रमनु दातिवाराः ।
तेभिः साकं पिबतु वृत्रखादः सुतं सोमं दाशुषः स्वे सधस्थे ॥ ९ ॥

(१) हे **मरुतः**=मनुष्यो! **अप्तूर्ये**=कर्मों की प्रेरणा में **एषः**=यह इन्द्र **आपिः**=तुम्हारा बन्धु है। **दातिवाराः**=(वारः वरणीयं धनम्) दत्तधन-धनों का दान करनेवाले लोग **इन्द्रं अनु**=उस प्रभु को प्राप्त करने की कामना के अनुसार **अमन्दन्**=हर्ष का अनुभव करते हैं (अनुवीप्सायाम्, वीप्सा=व्याप्तुमिच्छा)। जितना-जितना हम धन का दान करते हैं, उतना-उतना धनासक्ति से ऊपर उठकर प्रभु के समीप होते हैं और प्रभुप्राप्ति के आनन्द का अनुभव करते हैं। (२) **वृत्रखादः**=वृत्र को समाप्त करनेवाला वह प्रभु **तेभिः साकम्**=उन प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यों के साथ **सुतं सोमं पिबतु**=उत्पन्न किये गये सोम का पान करे। वस्तुतः प्रभुस्मरण ही वासना-विनाश का साधन बनता है और तभी सोमरक्षण संभव होता है, अतः कहते हैं कि प्रभु इस सोम का पान करें। प्रभु इस सोम का रक्षण **दाशुषः**=दाश्वान् पुरुष के-आत्मसमर्पण करनेवाले पुरुष के **स्वे सधस्थे**=अपने सधस्थ में करते हैं। यह शरीर ही सधस्थ है-यह आत्मा व परमात्मा दोनों का साथ मिलकर ठहरने का स्थान है। इस शरीर में सोम का रक्षण होने पर ही शरीर का पूर्ण स्वास्थ्य निर्भर है।

भावार्थ—प्रभु उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाले मित्र हैं। प्रभुस्मरण से ही वासना का विनाश होकर सोम का रक्षण सम्भव होता है। सोमरक्षण से प्रभुप्राप्ति के आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण का साधन व फल

इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते। पिबा त्वऽस्य गिर्वणः ॥ १० ॥

(१) हे **राधानां पते**=सब सफलताओं के स्वामिन् प्रभो! **इदं**=यह सोम **हि**=निश्चय से **ओजसा**=ओजस्विता के हेतु से **अनुसुतम्**=दिन-प्रतिदिन उत्पन्न किया गया है। हे **गिर्वणः**=स्तुति-वाणियों द्वारा स्तवनीय प्रभो! आप **अस्य पिबातु**=इसका अवश्य पान करिए। (२) 'गिर्वणः' शब्द सोमपान के साधन का संकेत कर रहा है। मैं इन ज्ञान-वाणियों से प्रभु का स्तवन करता हूँ और सोम का रक्षण कर पाता हूँ। 'राधानां पते' यह सम्बोधन सोमपान के फल का संकेत करता है कि सोमरक्षण से सदा सफलता प्राप्त होगी।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन द्वारा मैं सोम का रक्षण करूँ और सोमरक्षण से सब कार्यों में सफलता प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण से आनन्द प्राप्ति

यस्ते अनु स्वधामसत्सुते नि यच्छ तन्वम्। स त्वा ममत्तु सोम्यम् ॥ ११ ॥

(१) **यः**=जो सोम **ते स्वधां अनु**=तेरे आत्मधारक अन्न के अनुसार **असत्**=उत्पन्न होता है। आग्नेय भोजनों से उष्णवीर्य उत्पन्न होता है और सौम्य भोजनों से शीतवीर्य। **सुते**=उस सोम

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अर्चना व वैरि-विनाश

नृणामु त्वा नृतमं गीर्भिरुक्थैरभि प्र वीरमर्चता सबाधः।
सं सहसे पुरुमायो जिहीते नमो अस्य प्रदिव एक ईशे॥ ४॥

(१) **उ**=और **नृणाम्**=नेतृत्व करनेवालों में-मार्गदर्शकों में **नृतमम्**=सर्वाधिक मार्गदर्शक **प्रवीरम्**=प्रकृष्ट वीर **त्वा**=तुझे **गीर्भिः**=ज्ञानवाणियों से व **उक्थैः**=स्तुति-वचनों से **सबाधः**=(बाधनम् इति बाध् भावे क्विप्) शत्रु-बाधन के साथ रहनेवाले लोग **अभि अर्चता**=दिन के प्रारम्भ में व दिन की समाप्ति पर दोनों ओर पूजित करते हैं। **सः**=वह प्रभु का पूजन करनेवाला व्यक्ति **पुरुमायः**=अत्यन्त प्रज्ञावान् बनकर **सहसे**=शत्रु-पराभव के लिए **जिहीते**=गति करता है। प्रभु-पूजन से प्रज्ञा का प्रकर्ष प्राप्त होता है और उस प्रज्ञा-प्रकर्ष से रिपुओं का मर्षण होता है। (२) उस प्रभु के लिए ही **नमः**=हम नमन करते हैं। वह **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला प्रभु **एकः**=अकेला ही **अस्य ईशे**=इस ब्रह्माण्ड का ईशन करता है। वह अकेला ही बिना किसी दूसरे की सहायता के, इस सारे ब्रह्माण्ड का शासन करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का अर्चन करें। प्रभु का उपासक प्रज्ञा-प्रकर्ष को प्राप्त करके शत्रुओं का पराभव करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की निषेधाज्ञाएँ

पूर्वीरस्य निष्षिधो मर्त्येषु पुरू वसूनि पृथिवी बिभर्ति।
इन्द्राय द्याव ओषधीरुतापो रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि॥ ५॥

(१) **अस्य**=इस हृदयस्थ प्रभु की **निष्षिधः**=निषेधाज्ञाएँ-किसी कर्म को न करने की प्रेरणाएँ **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली हैं। हमें सब अशुभ कर्मों को करने के समय इस हृदयस्थ प्रभु की ओर से 'भय, शंका व लज्जा' उत्पन्न होती है और इस प्रकार हम अशुभ कर्म करने से रुक जाते हैं। (२) यह उस पिता प्रभु की ही कृपा है कि **पृथिवी**=यह पृथिवी माता हमारे लिए **पुरु**=पालक व पूरक **वसूनि**=धनों को **बिभर्ति**=धारण करती है। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **द्यावः**=ये प्रकाशमय लोक **ओषधीः**=ओषधियाँ **उत**=और **आपः**=जल **रयिम्**=धन को **रक्षन्ति**=रखते हैं-प्राप्त कराते हैं। इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **जीरयः**=जीर्ण होनेवाले वृद्ध मनुष्य **वनानि**=(वन् संभक्तौ) उपासनाओं को रक्षित करते हैं, अर्थात् वृद्ध जन इन्हें उपासना के लिए प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—हम हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें। प्रभु ने हमारे लिए इस पृथिवी में सब वसुओं को रखा है। ओषधियाँ व जल हमें उस रयि (धन) को प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारी वृत्ति को प्रभुप्रवण बनाती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्तवन से उत्कृष्ट जीवन

तुभ्यं ब्रह्माणि गिर इन्द्र तुभ्यं सत्रा दधिरे हरिवो जुषस्व।
बोध्या३पिरवसो नूतनस्य सखे वसो जरितृभ्यो वयो धाः॥ ६॥

के उत्पन्न होने पर **तन्वं नियच्छ**=तू अपने शरीर का नियमन कर। शरीर के नियमन से सोम का शरीर में रक्षण होगा। (२) **सः**=वह रक्षित सोम **सोम्यम्**=सोमरक्षण में कुशल **त्वा**=तुझे **ममत्तु**=आनन्दित करें। सोमरक्षण के अनुपात में ही नीरोगता, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होती है और हम वास्तविक आनन्द को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक सोम्य भोजन द्वारा शरीर में सोम का उत्पादन व रक्षण करें। यह रक्षित सोम हमारे आनन्द का वर्धन करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'कुक्षि, शिर व बाहुओं' में सोम का प्रवेश

प्र ते॑ अश्नोतु कु॒क्ष्योः प्रेन्द्र॒ ब्रह्म॑णा॒ शिरः॑। प्र बा॒हू शू॑र॒ राध॑से ॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! यह उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **ते कुक्ष्योः**=तेरे कुक्षि-प्रदेशों को **प्र अश्नोतु**=प्रकर्षेण व्यापनेवाला हो। उनमें व्याप्त हुआ-हुआ यह गुर्दे आदि में उत्पन्न हो जानेवाले भयंकर विकारों से हमारा रक्षण करे। (२) यह सोम **ब्रह्मणा**=ज्ञानवर्धन के हेतु से **शिरः**=प्र (अश्नोतु) तेरे सिर में व्यापनेवाला हो। मस्तिष्क में प्रज्वलित होनेवाली ज्ञानाग्नि का यही ईंधन होता है। (३) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! **राधसे**=सब कार्यों में सफलता की प्राप्ति के लिए यह तेरी **बाहू**=भुजाओं में प्र (अश्नोतु) व्यापनेवाला हो।

भावार्थ—कुक्षियों में प्रविष्ट सोम रोगों का विनाशक है। मस्तक में पहुँचा हुआ यह सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और भुजाओं में यह शक्ति का संचार करता है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुस्तवन व सोमरक्षण द्वारा जीवन को उत्तम बनाने का उपदेश दे रहा है। अगले सूक्त में भी सोमरक्षण पर बल देते हुए कहते हैं कि—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रातःसवन में सोम का रक्षण

धा॒नाव॑न्तं कर॒म्भिण॑मपू॒पव॑न्तमु॒क्थिन॑म्। इन्द्र॑ प्रा॒तर्जु॑षस्व नः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जीव! तू **प्रातः**=जीवन के इस प्रातःसवन में-जीवन के प्रथम चौबीस वर्षों में **नः**=हमारे इस सोम का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। सोम को तू शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न कर। (२) यह सोम **धानावन्तम्**=प्रशस्त **धान**=अवधान व रक्षणवाला है। इसके रक्षण से तेरी चित्तवृत्ति केन्द्रित होगी और तू अपना रक्षण कर पाएगा। **करम्भिणम्**=यह (क+रम्भ्) आनन्द से आलिंगन करनेवाला है। इसके रक्षण से तेरा जीवन आनन्दयुक्त होगा। **अपूपवन्तम्**=(इन्द्रियमपूपः ऐ० २।२४) यह रक्षित हुआ-हुआ सोम तेरी इन्द्रियों को उत्तम बनाएगा। **उक्थिनम्**=यह तुझे प्रशस्त उक्थों व स्तोत्रोंवाला करेगा। इसके रक्षण से तेरा झुकाव प्रभुस्तवन की ओर होगा।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। इससे हमारे शरीर का रक्षण होगा, आनन्द की प्राप्ति होगी, इन्द्रियाँ प्रशस्त होंगी और हम प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बनेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पचत्य पुरोडाश का सेवन

पुरोळाशं पचत्यं जुषस्वेन्द्रा गुरस्व च। तुभ्यं हव्यानि सिस्रते॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **पचत्यम्**=पचने में उत्तम **पुरोडाशम्**=(पुरः दाश्यते यज्ञार्थम्) जिसका पहले यज्ञ के लिए अर्पण किया गया है, उस यज्ञशेष को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला बन। **च**=और **आ गुरस्व**=अत्यन्त उद्यमशील जीवनवाला हो। हम भोजन के लिए यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें और सदा श्रमशील हों। (२) प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार का जीवन बितानेवाले **तुभ्यम्**=तेरे लिए **हव्यानि सिस्रते**=सब हव्य-पदार्थ प्राप्त होते हैं। इसे आवश्यक पदार्थों की किसी प्रकार कमी नहीं रहती।

भावार्थ—हम यज्ञशेष के रूप में सुपच भोजन का ही सेवन करें और क्रियाशील जीवनवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पुरोडाश का भक्षण+वेदवाणियों का सेवन

पुरोळाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम्॥ ३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू **नः**=हमारे इस **पुरोडाशम्**=(पुरः दाश्यते यज्ञार्थम्) यज्ञशेष का **घसः**=भक्षण कर, **च**=और **नः**=हमारी **गिरः**=इन वेदवाणियों का-ज्ञानवाणियों का **जोषयासे**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। (२) वेदवाणियों का तू इस तरह प्रेम से सेवन करनेवाला हो **इव**=जैसे कि **वधूयुः**=वधू की कामनावाला पुरुष **योषणाम्**=अपनी पत्नी का प्रेमपूर्वक ग्रहण करता है। वेदवाणी हमें पत्नी तुल्य प्रिय हो, वेदवाणी से हमारा परिणय हो।

भावार्थ—हम यज्ञशेष का सेवन करें और वेदवाणी की उपासना करें। सात्त्विक भोजन हमें ज्ञान की रुचिवाला करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रज्ञान व शक्तिवर्धन

पुरोळाशं सनश्रुत प्रातःसावे जुषस्व नः। इन्द्र क्रतुर्हि ते बृहन्॥ ४॥

(१) (सन=Food) हे **सन-श्रुत**=अपने सात्त्विक भोजन के कारण प्रसिद्ध जीव तू **प्रातःसावे**=जीवन के प्रथम चौबीस वर्षरूप प्रातःसवन में **नः**=हमारे इस **पुरोडाशम्**=(पुरः दाशते यज्ञार्थम्) यज्ञशेषरूप अमृत का ही **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! इस प्रकार यज्ञशेष का सेवन करने से **हि**=निश्चयपूर्वक **ते**=तेरा **क्रतुः**=प्रज्ञान व बल **बृहन्**=महान् होता है। यज्ञशेष का सेवन मस्तिष्क में प्रज्ञान को व शरीर में शक्ति को स्थापित करता है।

भावार्थ—हम यज्ञशेष का सेवन करें। इससे हमारी बुद्धि व बल दोनों बढ़ेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माध्यन्दिन सवन में

माध्यंन्दिनस्य सवनस्य धानाः पुरोळाशमिन्द्र कृष्वेह चारुम्।
प्र यत्स्तोता जरिता तूर्ण्यर्थो वृषायमाण उप गीर्भिरीट्टे॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **माध्यन्दिनस्य सवनस्य**=जीवन के पच्चीस से अड़सठ वर्ष तक के माध्यन्दिन सवन के **धानाः**=धारण करनेवाले **पुरोडाशम्**=(पुरः दाश्यते यज्ञार्थम्) यज्ञशेष को **इह**=यहाँ **चारुं कृष्व**=(चर भक्षणे) भोजन बना। तू इस गृहस्थ के समय में यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बन। यह यज्ञशेष अमृत है, यह तेरा उत्तमता से धारण करेगा। (२) इस माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश का ही–यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला **यत्**=जब होता है, तो यह **स्तोता**=प्रभु का स्तवन करनेवाला, **जरिता**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाला, **तूर्ण्यर्थः**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला, **वृषायमाणः**=शक्तिशाली की तरह आचरण करता हुआ **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों से **प्र उप ईट्टे**=अत्यन्त ही स्तवन करता है।

भावार्थ—गृहस्थ का समय ही जीवन का माध्यन्दिन सवन है। इसमें यज्ञशेष का सेवन ही मुख्य धारणात्मक कर्म है। यज्ञशेष का सेवन करता हुआ गृहस्थ प्रभु का स्तोता बने। यही वासनाओं को जीर्ण करने का मार्ग है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तृतीय सवन में

तृतीये धानाः सवने पुरुष्टुत पुरोळाशमाहुतं मामहस्व नः।
ऋभुमन्तं वाजवन्तं त्वा कवे प्रयस्वन्त उप शिक्षेम धीतिभिः॥ ६॥

(१) हे **पुरुष्टुत**=(पुरु स्तुतं यस्य) प्रभु का अत्यन्त स्तवन करनेवाले जीव! तू **तृतीये सवने**=उनहत्तर से एक सौ सोलह तक अड़तालीस वर्ष के इस तृतीय सवन में **धानाः**=धारण करनेवाले, **नः**=हमारे लिए (प्रभु के लिए) **आहुतम्**=दिये गये, **पुरोडाशम्**=इस यज्ञशेष को **मामहस्व**=पूजित कर–आदर दे। तू जीवन के तृतीय सवन में भी यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला हो, यह यज्ञशेष तुझे इस सायन्तन सवन में भी धारण करनेवाला होगा। (२) जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **कवे**=कान्तप्रज्ञ प्रभो! **ऋभुमन्तम्**=अत्यन्त दीप्तिवाले, **वाजवन्तम्**=शक्तिशाली **त्वा**=तुझे **प्रयस्वन्तः**=उत्तम अन्नों का सेवन करनेवाले होते हुए हम **धीतिभिः**=ध्यानों द्वारा **उपशिक्षेम**=समीप पूजित करनेवाले हों। वस्तुतः उत्तम अन्नों का सेवन व प्रभु–पूजन हमें भी शक्तिशाली व दीप्तिवाला बनाता है। उत्तम अन्न शक्ति को देते हैं और प्रभु–पूजन दीप्ति को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—जीवन के सन्ध्याकाल में भी हम यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों। उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए प्रभु–पूजन की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'करम्भ–धाना–अपूप (पुरोडाश)'

पूषण्वते ते चकृमा करम्भं हरिवते हर्यश्वाय धानाः ।
अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्॥ ७॥

(१) **पूषण्वते**=शरीर का उत्तम पोषण करनेवाले **ते**=तेरे लिए **करम्भम्**=दधिमिश्रित सत्तुओं को **चकृमा**=करते हैं। ये दधिमिश्रित सत्तु तेरा उत्तम पोषण करनेवाले होंगे। (२) **हरिवते**=दुःखों का हरण करनेवाले प्रभु के उपासक, **हर्यश्वाय**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वोंवाले तेरे लिए **धानाः**=भुने हुए जौ को करते हैं। भुने हुए जौ तेरी वृत्ति को इतना सात्त्विक बनाएँ कि तू प्रभु का उपासक बने–प्रभु की ही तरह औरों के दुःखों के हरण में प्रवृत्त हो। ये जौ का भोजन तेरी इन्द्रियों को

भी तेजस्वी बनाए। (३) **सगणः**=कर्मेन्द्रिय-पञ्चक व ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक रूप गणों से युक्त हुआ-हुआ तू **अपूपम्**=पुरोडाश को-यज्ञशेष रूप अमृत को **अद्धि**=खानेवाला बन। यह अपूप-भक्षण तेरी इन्द्रियों को अपवित्र व निर्बल न होने देगा। इसी दृष्टि से सम्भवतः ऐतरेय में 'इन्द्रियमपूपः' (२।१४) ऐसा उल्लेख हुआ है। इन्द्रियों का नाम ही अपूप रख दिया गया है। (४) हे **वृत्रहा**=वासनारूप वृत्र को विनष्ट करनेवाले, **शूर**=सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **सोमं पिब**=सोम का पान करनेवाला हो। सोमरक्षण से ही वस्तुतः शूरता व विद्वत्ता प्राप्त होती है।

भावार्थ—मनुष्य का उत्तम भोजन दधिमिश्रित सत्तु व भुने जौ हैं। इन्हें भी यज्ञशेष के रूप में ही सेवन करना है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम्य भोजन

प्रति॑ धा॒ना भ॑रत॒ तूय॑मस्मै पु॒रो॒ळाशं॑ वी॒रत॑माय नृ॒णाम्।
दि॒वेदि॑वे स॒दृशी॑रिन्द्र॒ तुभ्यं॒ वर्ध॑न्तु त्वा सोम॒पेया॑य धृष्णो ॥ ८ ॥

(१) **अस्मै**=इस जीव के लिए **तूयम्**=शीघ्र **धानाः**=भुने यवों को **प्रतिभरत**=प्रतिदिन प्राप्त करानेवाले होओ। **नृणां वीरतमाय**=मनुष्यों में अत्यन्त वीर इस उपासक के लिए **पुरोडाशम्**=यज्ञशेषरूप अमृत को प्राप्त कराओ। (२) **दिवे दिवे**=प्रतिदिन हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सदृशीः**=समान रूपवाली ही वे धाना प्राप्त करायी जाती हैं। हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले इन्द्र! ये धाना **त्वा**=तुझे **सोमपेयाय**=सोमपान के लिए **वर्धन्तु**=बढ़ाएँ। इन धानाओं के सेवन से तू सोम का शरीर में रक्षण करनेवाला हो। ये भुने यव अत्यन्त सोम्य भोजन हैं। इनके सेवन से सोम (वीर्य) शरीर में सुरक्षित रहता है।

भावार्थ—हम धानाओं का प्रयोग करते हुए सोम का रक्षण करें। यज्ञशेष का सेवन हमें वीर बनाए।

प्रस्तुत सूक्त का मुख्य विषय जीवन के तीनों सवनों में सोम्य भोजनों द्वारा सोम का रक्षण है। 'भुने जौ व दधिमिश्रित सत्तु' सर्वोत्तम भोजन हैं। इन्हें भी यज्ञशेष के रूप में ही सेवित करना चाहिए। अगले सूक्त का प्रारम्भ भी हव्यपदार्थों के सेवन की प्रेरणा से ही होता है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रापर्वतौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र और पर्वत का जीवन

इन्द्रा॑पर्वता बृह॒ता रथे॑न वा॒मीरिष॒ आ व॑हतं सु॒वीराः॑।
वी॒तं ह॒व्यान्य॑ध्व॒रेषु॑ देवा॒ वर्धे॑थां गी॒र्भिरिळ॑या॒ मद॑न्ता ॥ १ ॥

(१) जीव जितेन्द्रिय बनकर 'इन्द्र' कहलाता है तथा अपना पूरण व पालन करता हुआ 'पर्वत' होता है। यह पर्वत शरीर को नीरोग रखता है तथा मन को हीन भावनाओं से बचाकर अपना पूरण करता है। हे **इन्द्रापर्वता**=इन्द्र व पर्वत! आप **बृहता रथेन**=निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए इस शरीर-रथ के हेतु से, अर्थात् शरीर-रथ को उन्नत बनाने के लिए **सुवीराः**=उत्तम वीरत्व को प्राप्त करानेवाले **वामीः**=सुन्दर **इषः**=अन्नों को **आवहतम्**=प्राप्त करो। इन सात्त्विक अन्नों से ही तुम 'इन्द्र व पर्वत' बन पाओगे। (२) हे **देवा**=दिव्यवृत्ति को धारण करनेवाले इन्द्र व पर्वतो!

आप **अध्वरेषु**=यज्ञों में **हव्यानि**=हव्य-पदार्थों को **वीतम्**=प्राप्त करानेवाले बनो (गमयतम्)। यज्ञ करके यज्ञशेष के रूप में हव्य पदार्थों का ही सेवन करो। **इडया**=इस वेदवाणी से **मदन्ता**=हर्ष का अनुभव करते हुए आप **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों से **वर्धेथाम्**=वृद्धि को प्राप्त करो। वस्तुतः हमारे मौलिक कर्त्तव्य तीन हैं—(क) हव्य-पदार्थों का सेवन, (ख) ज्ञान की वाणियों में आनन्द का अनुभव तथा (ग) स्तुतियों द्वारा उत्कृष्ट लक्ष्यदृष्टि को प्राप्त करके आगे बढ़ना।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, अपना पूरण करें। इसके लिए हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करें, यज्ञों में हव्य-पदार्थों की आहुति दें, ज्ञानप्राप्ति में आनन्द लें तथा स्तुति-वचनों का उच्चारण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मैं पुत्र बनूँ और प्रभु मेरे पिता हों

तिष्ठा सु कं मघवन्मा परा गाः सोमस्य नु त्वा सुषुतस्य यक्षि।
पितुर्न पुत्रः सिचमा रभे त इन्द्र स्वादिष्ठया गिरा शचीवः॥ २॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! यहाँ हमारे जीवनयज्ञ में **कम्**=सुख से **सुतिष्ठ**=सम्यक् स्थित होइये। **मा परा गाः**=हमारे जीवन से आप दूर न होइये। **नु**=अब **सुषुतस्य**=उत्तमता से उत्पन्न किये गये **सोमस्य**=इस सोम द्वारा **त्वा यक्षि**=मैं आपका यजन करता हूँ। वस्तुतः प्रभु का सम्पर्क इस सोम के रक्षण से ही प्राप्त होता है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **शचीवः**=शक्तिशालिन् प्रभो! मैं **स्वादिष्ठया गिरा**=अत्यन्त मधुर स्तुति-वाणियों द्वारा **ते सिचम्**=आपके वस्त्र प्रान्त को इस प्रकार **आरभे**=पकड़ता हूँ **न**=जैसे कि **पुत्रः**=पुत्र **पितुः**=पिता के वस्त्र प्रान्त को पकड़ता है, अर्थात् मैं अत्यन्त मधुर स्तुति-वचनों का उच्चारण करता हुआ आपका ही आश्रय करता हूँ। आपका ही तो पुत्र हूँ। पुत्र ने पिता को छोड़कर कहाँ जाना?

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम जीवन-यज्ञ में प्रभु को आमन्त्रित करें। प्रभु का ही हमें आश्रय हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पत्नी को पति की उपासना के लिए प्रेरणा

शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम्।
एदं बर्हिर्यजमानस्य सीदाथा च भूदुक्थमिन्द्राय शस्तम्॥ ३॥

(१) वैदिक संस्कृति में यज्ञसंयोग के लिए ही पत्नी का स्वीकार होता है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस नियम के अनुसार पत्नी शब्द यज्ञसंयोग में ही बनता है। यज्ञशील पति 'अध्वर्यु' है-अध्वर को (=यज्ञ को) अपने साथ जोड़नेवाला। पत्नी कहती है कि हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील मेरे साथी! **शंसाव**=हम मिलकर प्रभु का शंसन करें। आप **मे प्रतिगृणीहि**=(होतुरुत्साहजननः प्रतिगरः) यज्ञविषयक मेरे उत्साहवर्धक शब्दों को कहिए। हम दोनों **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **जुष्टम्**=प्रिय **वाहः**=(स्तोत्रं) स्तोत्र को **कृणवाव**=करें। (२) **इदम्**=इस **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **बर्हिः**=आसन पर **आसीद**=बैठिए। **च**=और **अथा**=अब **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **शस्तम्**=प्रशस्त **उक्थम्**=स्तुतिवचन **भूत्**=(भवतु) हो। हम मिलकर प्रभु के लिए उत्तम स्तुतिवचनों का उच्चारण करें।

भावार्थ—पत्नी पति को, मिलकर प्रभुस्तवन के लिए, प्रेरित करती है। इसी में पत्नी का पत्नीत्व है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गृहिणी गृहमुच्यते

जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु।
यदा कदा च सुनवाम सोममग्निष्ट्वा दूतो धन्वात्यच्छ॥ ४॥

(१) पति प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **जाया इत् अस्तम्**=पत्नी ही घर है 'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते'। हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सा इत् उ योनिः**=पत्नी ही निश्चय से सब उत्तमताओं के मिश्रण व बुराईयों के अमिश्रण का स्थान है। **युक्ता हरयः**=अपने कार्य में ठीक रूप से लगे हुए इन्द्रियाश्व **इत्**=निश्चय से **त्वा**=आपको **तद् वहन्तु**=उस घर की ओर लेनेवाले हों, अर्थात् जब पत्नी के सुप्रबन्ध से घर में हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम कर्मों में व्याप्त हों, तो वहाँ आपकी उपस्थिति को हम अनुभव करें। (२) **च**=और **यदा कदा**=जब भी अवसर प्राप्त हो हम **सोमं सुनवाम**=सोम का सम्पादन करें-शरीर में सोम का रक्षण करें। हमारा कोई भी कार्य सोम का विनाशक न हो। हे प्रभो! **अग्निः**=प्रगतिशील जीव ही **दूतः**=तप की अग्नि में अपने को तपाता हुआ **त्वा अच्छ**=आपकी ओर **धन्वाति**=गतिवाला होता है। अतः हम भोग-प्रधान जीवन को न बिताते हुए तपस्वी हों और आपकी ओर आनेवाले हों।

भावार्थ—सद्गृहस्थों के घर में ही प्रभु की उपस्थिति अनुभव होती है। ये भोग-प्रधान जीवन न बिताते हुए सोम का रक्षण करते हैं और तपस्वी बनकर प्रभु की ओर चलते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घर में तथा घर से बाहिर

परा याहि मघवन्ना च याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो रासभस्य॥ ५॥

(१) पर्वत ने घर के पालन के लिए आवश्यक धन कमाना है। अतः यहाँ पति को 'मघवन्' शब्द से सम्बोधित किया है-इस धन को उसने सुपथ से ही कमाना है (मा+अघ)। अजितेन्द्रिय बनकर विलासी जीवनवाला नहीं बनना, अतः उसे 'इन्द्र' कहा गया है। घर का भार उठाने के कारण उसे 'भ्रातः' कहा गया है। सदा घर पर बैठे रहने से कमाया नहीं जा सकता और क्लबों में फिरने से घर बरबाद हो जाता है। सो कहते हैं कि हे **मघवन्**=सुपथ से धनार्जन करनेवाले पति! तू **परा याहि**=घर से बाहर दूर-दूर स्थानों पर जानेवाला हो **च**=और धनार्जन के लिए आवश्यक गति की समाप्ति पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पति! तू **आयाहि**=सर्वथा घर पर आनेवाला हो। हे **भ्रातः**=घर के बोझ को उठानेवाले पति! **उभयत्रा**=घर के बाहर भी और अन्दर भी **ते अर्थम्**=तेरा प्रयोजन है। बाहर जाकर तूने धनार्जन करना है, अन्दर आकर घर का रक्षण करना है, सन्तानों की शक्तियों के सन्तान के लिए (फैलाव) यत्नशील होना है। (२) इस प्रकार घर के अन्दर व बाहर दोनों स्थानों में ठीक प्रकार कार्य करना ही वह मार्ग है, **यत्रा**=जिसमें **बृहतः**=वृद्धिशील **रथस्य**=शरीर-रथ का **निधानम्**=स्थापन होता है तथा **रासभस्य**=प्रभु के नामों का उच्चरण करनेवाले (रासृ शब्दे) **वाजिनः**=शक्तिशाली इन्द्रियाश्व का **विमोचनम्**=विषयों से छुड़ाना होता है। अन्दर व बाहर के कार्यों को ठीक से करने पर शरीररूप रथ वृद्धिशील व सुन्दर बनता है तथा इन्द्रियाँ विषयासक्त नहीं होतीं।

भावार्थ—पति ने धनार्जन के लिए घर से बाहर जाना है-घर पर ही नहीं बैठे रहना। तदनन्तर

घर पर ही आना है-इधर-उधर सैर नहीं करनी, ताकि घर का समुचित ध्यान किया जा सके। यही वृद्धि व विषय-विमुक्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्लबों में नहीं

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सोमं अपाः**=तूने तो सोम का पान किया है, सो **अस्तं प्रयाहि**=बाह्य प्रयोजन के समाप्त होने पर घर को ही आनेवाला बन। इधर-उधर क्लबों में जाने की न सोच। **जाया**=तेरी पत्नी **कल्याणीः**=अत्यन्त मंगल करनेवाली है। **ते गृहे**=तेरे घर में **सुरणम्**=शुभ ही शुभ शब्द हैं। (२) यह घर में ही वापिस आना वह मार्ग है, **यत्रा**=जहाँ **बृहतः रथस्य**=वृद्धिशील शरीर रथ का **निधानम्**=स्थापन होता है और **वाजिनः**=इन्द्रियाश्वों का **विमोचनम्**=विषयों से मोचन होता है, जो कि **दक्षिणावत्**=(दक्ष To grow) अतिशयेन वृद्धि का साधन होता है, अर्थात् इधर-उधर न भटकने से शरीर स्वस्थ बना रहेगा और विषयों में अनासक्त इन्द्रियाँ दिन-व-दिन बढ़ती हुई शक्तिवाली होंगी।

भावार्थ—मनुष्य यदि अपनी उन्नति चाहता है, तो उसे एक सद्गृहस्थ का ही जीवन बिताना चाहिये, न कि क्लब का।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भोज बनना व दीर्घजीवी होना

इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥ ७॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार एक सद्गृहस्थ का जीवन बितानेवाले **इमे**=ये व्यक्ति **भोजाः**=अपना व दूसरों का पालन करनेवाले होते हैं-परिवार का समुचित पालन करते हैं। विषयासक्त न होने से **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले होते हैं। **विरूपाः**=विशिष्टरूपवाले होते हैं-तेजस्वी होते हैं। **दिवः पुत्रासः**=ये ज्ञान के पुतले बनते हैं-अत्यन्त ज्ञानी तथा **असुरस्य**=उस महान् प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु के **वीराः**=वीरपुत्र होते हैं। (२) ये व्यक्ति **विश्वामित्राय**=सब के मित्र उस प्रभु के लिए **मघानि**=धनों को **ददतः**=देते हुए **सहस्रसावे**=शतशः यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए **आयुः प्रतिरन्ते**=अपने आयुष्य को बढ़ाते हैं। प्रभु के लिए धन देने का भाव यही है कि लोकहित के लिए धनों को देना। वस्तुतः लोकहित के लिए धनों को देना ही यज्ञ है। इस यज्ञ में प्रवृत्त होने पर जीवन विलासमय नहीं बनता, परिणामतः यह व्यक्ति दीर्घजीवन प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम औरों का पालन करते हुए, लोकहित के लिए धन का विनियोग करते हुए यज्ञशील बनें और दीर्घजीवनवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनृतुपा, ऋतावा

रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं१ परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा॥ ८॥

(१) **मघवा**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **स्वां तन्वं परि**=(परिः पञ्चम्यर्थे) प्रकृतिरूप अपने शरीर से **मायाः कृण्वानः**=(extra ordinary power or wisdom) अनन्त शक्ति व प्रज्ञा को प्रकट करता हुआ **रूपं रूपं बोभवीति**=नानारूपों को उत्पन्न करता है (भावयति)। संसार के ये सब पदार्थ प्रभु की महिमा को प्रकट करते हैं। इनके वैज्ञानिक अध्ययन से हमारे लिए प्रभु की शक्ति व प्रज्ञा का प्रकाश होता है। (२) **यत्**=जब **दिवः त्रिः**=दिन में तीन बार **मुहूर्तं परि अगात्**=कुछ देर के लिए हमें ये प्रभु प्राप्त होते हैं, तो **स्वैः मंत्रैः**=अपनी ज्ञान की प्रेरणाओं से **अनृतुपाः**=हमें असमय के कार्यों से बचाते हैं तथा **ऋतावा**=हमारे जीवन में ऋत का रक्षण करते हैं। उपासक 'प्रातः, मध्याह्न व सायं-प्रारम्भ, मध्य व अन्त' में प्रभु का ध्यान करता है, तो उसे सतत प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस प्रेरणा से वह असमय के कार्यों से बचता है और समय पर कार्य करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ की रचना में प्रभु की शक्ति व प्रज्ञा का प्रकाश होता है। इस प्रभु के स्मरण से हमें वह प्रेरणा प्राप्त होती है, जो कि हमें असमय के कार्यों से बचाकर ऋत का पालन करनेवाला बनाती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रभुप्रिय' कुशिक

म॒हाँ ऋषि॑र्देव॒जा दे॒वजू॑तोऽस्तभ्ना॒त्सिन्धु॑मर्ण॒वं नृ॒चक्षाः॑।
वि॒श्वामि॑त्रो॒ यदव॑हत्सु॒दास॒मप्रि॑यायत कुशि॒केभि॒रिन्द्रः॑॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **देवजूतः**=उस प्रकाशमय प्रभु से प्रेरित हुआ-हुआ यह **महान्**=बड़ा बनता है, **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा होता है, **देवजाः**=द्योतमान तेजों को अपने में उत्पन्न करनेवाला होता है। यह **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाला होता हुआ **अर्णवं सिन्धुम्**=इस ज्ञान जलवाली ज्ञानसरित् (नदी=सरस्वती) को अपने अन्दर **अस्तभ्नात्**=थामता है। अपने ज्ञान को अत्यन्त बढ़ाता हुआ अधिक से अधिक लोकहित करनेवाला बनता है। (२) **विश्वामित्रः**=सबका मित्र वह प्रभु **यद्**=जब **सुदासम्**=उत्तम दान देनेवाले को अपने समीप प्राप्त कराता है, तो यह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **कुशिकेभिः**=(क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयति कर्मणा साधु विक्रोशयितार्थानाम् नि० २।२५) इन अर्थों का उत्तमता से प्रकाश करनेवाले ज्ञानी पुरुषों से **अप्रियायत**=प्रीति को अनुभव करता है। ये ज्ञानीपुरुष लोकहित के लिए ज्ञान को तो देते ही हैं, आवश्यक होने पर धन देने का भी ध्यान करते हैं। इन सर्वभूतहितरत पुरुषों से प्रभु प्रीणित होते हैं और उन्हें अपने समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करके हम महान् बनें। तत्त्वद्रष्टा बनकर औरों के लिए भी ज्ञान देनेवाले हों। औरों का हितसाधन करते हुए ही हम प्रभु के प्रिय बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विप्र-ऋषि-नृचक्षाः

हं॒साइ॑व कृणुथ॒ श्लोक॒मद्रि॑भि॒र्मद॑न्तो गी॒र्भिर॑ध्व॒रे सु॒ते सचा॑।
दे॒वेभि॑र्विप्रा ऋषयो नृचक्षसो॒ वि पि॑बध्वं कुशिकाः सो॒म्यं मधु॑॥ १०॥

(१) **हंसाः इव**=जैसे हंस **अद्रिभिः**=मेघों सहित **मदन्तः**=प्रसन्न होते हुए **श्लोकं कृणुथ**=शब्द करते हैं। **सोम्यं मधु पिबन्ति**=मीठा सोम पीते हैं वैसे ही **विप्रः**=हे विद्वानों **ऋषयः**=तत्त्व

ज्ञानियों **नृचक्षसः**=निरीक्षकों **कुशिकाः**=ज्ञानियों आप हंस के समान **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **अध्वरे सुते**=हिंसा रहित यज्ञ में सोम ब्रह्मज्ञानरूपी मधु का **देवेभिः सचा**=विद्वानों सहित **पिबध्वम्**=पान करो।

भावार्थ—विद्वान् पुरुषों को हंस के समान सोम ब्रह्म चिन्तन करना चाहिए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अश्व मोचन

उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्र मुञ्चता सुदासः।
राजा वृत्रं जङ्घनत्प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः॥ ११ ॥

(१) हे **कुशिकाः**=प्रभु के स्तुति-शब्दों का उच्चारण करनेवाले पुरुषो! **उप प्रेत**=प्रभु के समीप प्राप्त होओ। **चेतयध्वम्**=चेतनावाले बनो, 'हम कौन हैं, क्यों आये हैं?' इन प्रश्नों को उत्पन्न करते हुए सदा सचेत बने रहो। हे **सुदासः**=उत्तम दान देनेवाले पुरुषो! **राये**=वास्तविक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **अश्वम्**=अपने इन्द्रियाश्व को **प्रमुञ्चत**=विषयों से मुक्त करो। विषय-विमुक्ति ही ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति का साधन बनती है। (२) **राजा**=अपने जीवन को व्यवस्थित करनेवाला पुरुष **प्राग् अपाक् उदग्**=अग्रगति करता हुआ (प्र अञ्च्) इन्द्रियों को विषय-व्यावृत्त करता हुआ (अप अञ्च्) और उन्नत होता हुआ (उद् अञ्च्) **वृत्रं जङ्घनत्**=वासना को अत्यन्त ही विनष्ट करता है। **अथा**=और **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वरे**=श्रेष्ठ स्थान में **आयजाते**=सर्वथा यज्ञशील होता है। घर में अग्निहोत्र का कमरा ही सर्वश्रेष्ठ कमरा है 'अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तुरस्मिन्'। यह वासना को विनष्ट करनेवाला पुरुष उस उत्कृष्ट स्थान में यज्ञशील होता है।

भावार्थ—हम स्तवन करते हुए प्रभु के समीप हों। दानवृत्तिवाले बनकर इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करें। वासना को विनष्ट करके यज्ञशील हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्तवन व स्वाध्याय

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्। विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥ १२ ॥

(१) **यः**=जो **इमे उभे रोदसी**=इन दोनों द्यावापृथिवी को **रक्षति**=रक्षित करता है, **अहम्**=मैं उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अतुष्टवम्**=स्तुत करता हूँ। वस्तुतः प्रभुस्तवन ही मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। (२) **विश्वामित्रस्य**=प्राणिमात्र के मित्र उस प्रभु का **इदं ब्रह्म**=यह सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया ज्ञान **भारतं जनम्**=लोक-भरण, लोक-संग्रह में प्रवृत्त मनुष्य को **रक्षति**=सुरक्षित करनेवाला होता है। इस ज्ञान के अध्ययन से उसका जीवन पवित्र बना रहता है 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करें-प्रभुप्रदत्त ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वज्री इन्द्र' का स्तवन

विश्वामित्रा अरासत ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे। करदिन्नः सुराधसः॥ १३ ॥

(१) प्रभु विश्वामित्र हैं। प्रभु की उपासना से उपासक भी विश्वामित्र बनता है। ये **विश्वामित्राः**=सभी के साथ स्नेह करनेवाले पुरुष उस **वज्रिणे इन्द्राय**=वज्रहस्त-सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभु के लिए **ब्रह्म**=स्तोत्र को **अरासत**=उच्चरित करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए

ये भी 'वज्री व इन्द्र' बनते हैं। (२) ये विश्वामित्र **नः**=हमें भी अपने ज्ञानोपदेशों से **इत्**=निश्चयपूर्वक **सुराधसः**=उत्तम सफलतावाला **करत्**=करें।

भावार्थ—हम विश्वामित्र बनकर प्रभुस्तवन करें व औरों को भी ज्ञानोपदेश दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'कीकट, प्रमगन्द व नीचीशाखों' के धन का अपहरण

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन्रन्धया नः॥ १४॥

(१) 'किं कृतैः यज्ञादिभिः'='यज्ञादि से क्या लाभ है? ये तो व्यर्थ हैं' ऐसा सोचनेवाले लोग जहाँ रहते हैं, उन अनार्यों के निवास-स्थानभूत **कीकटेषु**=देशों में **ते गावः**=हे प्रभो! आपकी ये गौवें **किं कृण्वन्ति**=क्या करती हैं? अर्थात् वहाँ ये व्यर्थ ही हैं। ये कीकट देशों के निवासी **नाशिरम्**=(Milk) न दूध को **दुह्रे**=दुहते हैं और **न**=नां ही **घर्मम्**=घृत को (दुग्ध प्राप्य घृत को) **तपन्ति**=तपाते हैं। वस्तुतः यज्ञादि में प्रवृत्त न होने से उनके लिए दूध व घी का महत्त्व नहीं है। इसलिए उन गौवों को **नः**=हमारे लिए **आभर**=प्राप्त कराइये। हमारे यहाँ यज्ञादि में उनके दूध व घी का प्रयोग होगा। (२) इसी प्रकार **प्रमगन्दस्य**=अत्यन्त कुसीद की वृत्तिवाले अतएव कृपण धनी पुरुष के **वेदः**=धन को भी हमारे लिए प्राप्त कराइये। यहाँ उस धन का भी यज्ञादि उत्तम कार्यों में विनियोग होगा। (३) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **नैचाशाखम्**=संसार वृक्ष की निम्न शाखा बने हुए इन नीचाचरण पुरुषों के धनों को भी **नः**=हमारे लिए **रन्धय**=(साधय) प्राप्त कराइये (नीचाशाखस्य इदं नैचाशाखम्)। (४) इन कीकटों ने गौवों को खा ही तो जाना है, अतः उनके पास इनका न रहना ही ठीक है। प्रमगन्द पुरुष अत्यन्त धनलुब्ध होने से धन का धर्मकार्यों में प्रयोग न करेगा। और ये नीचाशाख पुरुष तो धन का अत्यन्त निकृष्ट विलासों में व्यय करेंगे। सो इनका धन भी इनसे पृथक् किया ही जाना चाहिए। राष्ट्र में भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि राजा इनके धन को छीन ले।

भावार्थ—कीकटों प्रमगन्दों व नीचाशाखों से राजा को धन छीन लेना चाहिए और उसका यज्ञादि उत्तम कार्यों में विनियोग कराना चाहिए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अमति का बाधन

ससर्परीरमतिं बाधमाना बृहन्मिमाय जमदग्निदत्ता।
आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्यम्॥ १५॥

(१) **जमदग्निदत्ता**=(जम to eat) जिसकी अग्नि ठीक खाती है, अर्थात् जो पूर्ण स्वस्थ है, ऐसे आचार्य से दी गई **ससर्परीः**=आचार्य से विद्यार्थी की ओर सर्पणशील यह ज्ञान की वाणी **अमतिं बाधमाना**=अज्ञान को विनष्ट करती हुई **बृहत्**=अत्यन्त ही **मिमाय**=ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करती है, अर्थात् स्वस्थ जीवनवाला आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त कराता है, यह ज्ञान विद्यार्थी में अमति को-अविचार को बाधित करता है और उसे सुमतिवाला बनाता है। (२) **सूर्यस्य दुहिता**=ज्ञान का पूरण करनेवाली (दुह प्रपूरणे) श्रद्धा (सूर्यस्य दुहिता=श्रद्धा) **देवेषु**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों में उस **श्रवः**=ज्ञान को **आततान**=विस्तृत करती है, जो कि **अमृतम्**=अमृत है और **अजुर्यम्**=कभी जीर्ण नहीं होता 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। श्रद्धा सत्य ज्ञान के धारण

का कारण बनती ही है।

भावार्थ—स्वस्थ आचार्य ज्ञान देकर हमारी अमति को दूर करते हैं। श्रद्धा उस ज्ञान का हमारे में पूरण करती है, जो कि अजरामर है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पलस्ति व जमदग्नि

स॒स॒र्प॒रीर॑भर॒त्तूय॑मे॒भ्योऽधि॒ श्रवः॒ पाञ्च॑जन्यासु कृ॒ष्टिषु॑।
सा प॒क्ष्या॒३ नव्य॒मायु॒र्दधा॑ना॒ यां मे॑ पलस्तिजमद॒ग्नयो॑ द॒दुः॥ १६ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **ससर्परीः**=यह आचार्य से विद्यार्थी की ओर सर्पणशील वाणी **एभ्यः**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **श्रवः**=ज्ञान को **तूयम्**=शीघ्र **आधि अभरत्**=आधिक्येन भरनेवाली होती है। (२) वह वेदवाणी **पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु**=पाँचों पृथिवी आदि भूतों, पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' इन पाँचों का विकास करनेवाले मनुष्यों में **पक्ष्या**=(पक्ष परिग्रहे) परिग्रह के योग्य होती है। वस्तुतः इसके ग्रहण से ही वे पाँचजन्य बन पाते हैं। ये उनमें **नव्यं आयुः**=स्तुत्य जीवन को **दधाना**=धारण करती है। (३) यह वेदवाणी वह है, **याम्**=जिसे **मे**=मेरे लिए **पलस्ति जमदग्नयः**=(पलस्ति=पलितः=दीर्घायुः) दीर्घायुवाले स्वस्थ जीवनवाले व्यक्ति **ददुः**=देते हैं। वस्तुतः उनका दीर्घस्वस्थ जीवन ही उस ज्ञानवाणी का क्रियात्मक उपदेश दे रहा होता है। उनसे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले अनुभव करते हैं कि हम भी इस ज्ञानवाणी को अपनाते हुए इनकी तरह ही पलस्ति व जमदग्नि बनेंगे।

भावार्थ—ज्ञान का उपदेश दीर्घायु के स्वस्थ व्यक्तियों से दिया गया प्रभावशाली होता है। इस ज्ञान से हम पञ्चजन बन पाते हैं।

सूचना—यहाँ 'पलस्ति' शब्द अध्यापकों के दीर्घायु के होने का संकेत कर रहा है। प्राचीनकाल में वानप्रस्थ ही इस शिक्षण-कार्य को प्रायः करते थे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**रथाङ्गानि** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शरीर-रथ का ठीक होना

स्थि॒रौ गावौ॑ भवतां वी॒ळुरक्षो॒ मेषा वि व॑र्हि॒ मा यु॒गं वि शा॑रि।
इन्द्रः॑ पात॒ल्ये॑ ददतां॒ शरी॑तो॒ररि॑ष्टनेमे अ॒भि नः॑ सचस्व॥ १७ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुसार सब व्यवहार करता हुआ पुरुष प्रार्थना करता है कि **गावौ**=शरीर-रथ में जुते हुए इन्द्रियरूप बैल (ज्ञानेन्द्रियाँ एक गौ हैं, कर्मेन्द्रियाँ दूसरा) **स्थिरौ भवताम्**=स्थिर हों। हमारी इन्द्रियशक्ति बड़ी ठीक बनी रहे। **अक्षः**=(axle pole) मनरूप अक्ष-दण्ड **वीडुः**=बड़ा दृढ़ हो। **ईषा**=(the pole of a cart) बुद्धिरूप रथदण्ड **मा विवर्हि**=हिंसित न हो जाए। **युगम्**=ज्ञान व श्रद्धा का युग (yoke) **मा विशारि**=शीर्ण न हो। इस प्रकार यह शरीर-रथ बड़ा ही सुन्दर बना रहे। (२) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **पातल्ये**=पतनशील ग्रन्थिरूप कीलकों में **शरीतोः प्राक्**=शीर्णता से पूर्व ही **ददताम्**=धारण करनेवाले हों। प्रभु कृपा से शरीर में सब glands (ग्रन्थियाँ) ठीक काम करती रहें। हे **अरिष्टनेमे**=अहिंसित परिधियोंवाले रथ! **नः**=हमें **अभिसचस्व**=अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों के दृष्टिकोण से सेवित करनेवाला हो। इस शरीररूप रथ द्वारा हम अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारा शरीररूपी रथ बड़ा सुन्दर बना रहे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**रथाङ्गानि** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'बलदा' प्रभु

बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः ।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि ॥ १८ ॥

(१) हे प्रभो! **नः**=हमारे **तनूषु**=शरीरों में **बलं धेहि**=बल को धारण करिए। हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **नः**=हमारे **अनुडुत्सु**=इन्द्रियरूप बैलों में **बलम्**=बल को धारण करिए। (२) **तोकाय तनयाय**=हमारे पुत्रों व पौत्रों में **बलम्**=बल को धारण करिए, **जीवसे**=ताकि उनका जीवन उत्तम बने। **त्वं हि**=आप ही **बलदाः**=बल को देनेवाले **असि**=हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें बल दीजिए, ताकि हम उत्तम जीवन को बिता सकें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**रथाङ्गानि** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रथ की दृढ़ता

अभि व्ययस्व खदिरस्य सारमोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम्।
अक्ष वीळो वीळित वीळयस्व मा यामादस्मादव जीहिपो नः ॥ १९ ॥

(१) खदिर (खैर) वृक्ष की लकड़ी बड़ी पक्की होती है। शरीररूप रथ को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि तू **खदिरस्य**=इस खदिर वृक्ष के **सारम्**=बल व स्थिरांश को **अभि वि अयस्व**=सब ओर विशेषरूप से प्राप्त हो, अर्थात् तेरा अंग-प्रत्यंग दृढ़ हो। **स्पन्दने**=इस शरीररूप रथ की गति में **शिंशपायाम्**=शीशम के समान दृढ़ शरीर-रथ में **ओजो धेहि**=ओज को धारण कर। यह शरीर-रथ गति करता हुआ ओजस्वी प्रतीत हो। (२) हे **वीडो**=दृढ़ **वीडित**=संकल्प आदि से दृढ़ीकृत **अक्ष**=मनरूपी अक्ष (axle pole) तू **वीडयस्व**=अत्यन्त दृढ़ हो। **अस्मात्**=इस **यामात्**=जीवनयात्रा के साधनभूत रथ से **नः**=हमें **मा अवजीहिपः**=गिरा मत दे। हम इस रथ में स्वस्थरूप से स्थित हों और जीवनयात्रा को पूर्ण कर सकें। मनःसंकल्प दृढ़ होगा तो अवश्य हम दीर्घायुष्यवाले बनेंगे ही। तभी हम जीवनयात्रा को पूर्ण भी कर सकेंगे।

भावार्थ—यह शरीर-रथ उस रथ के समान दृढ़ हो, जो कि खैर व शीशम की लकड़ी से बना होता है। इसमें मनरूपी अक्ष भी बड़ा दृढ़ हो। अक्ष के टूटते ही रथ समाप्त-सा हो जाता है। यही स्थिति शरीर में मन की है। उसका दृढ़ होना अत्यन्त आवश्यक है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**रथाङ्गानि** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'वानस्पतिक भोजनों से बना हुआ' शरीर-रथ

अयमस्मान्वनस्पतिर्मा च हा मा च रीरिषत्।
स्वस्त्या गृहेभ्य आवसा आ विमोचनात् ॥ २० ॥

(१) जैसे बाह्यरथ वनस्पति=लकड़ी का बना होता है, उसी प्रकार यह शरीर-रथ भी वानस्पतिक भोजनों का ही बना हो। **अयम्**=यह **वनस्पतिः**=वानस्पतिक भोजनों से बना हुआ शरीर-रथ **अस्मान्**=हमें **च**=(certainty) निश्चय से **मा हाः**=मत छोड़ जाए, **च**=और **मा रीरिषत्**=हिंसित न हो, अर्थात् हमारा यह शरीररथ ठीकठाक बना रहे—इसमें किसी प्रकार की कमी न आ जाए। (२) यह **आगृहेभ्यः**=जब तक हम अपने ब्रह्मलोकरूप गृह में नहीं पहुँचते, तब

तक **स्वस्ति**=उत्तम स्थिति में बना रहे (सु अस्ति) **आ अवसा**=(अवसै) यात्रा के अवसान (=अन्त) तक यह ठीक रहे। **आ विमोचनात्**=इन्द्रियरूप अश्वों के विमोचन तक (खोलने तक) यह ठीक ही बना रहे। यहाँ अश्वों के विमोचन में 'इन्द्रियाश्वों के विषयों से मुक्त करने' का संकेत बड़ा स्पष्ट है। जब तक हमारी साधना विषय-विमुक्ति तक नहीं पहुँच जाती, तब तक यह शरीर-रथ ठीक-ठाक बना ही रहे।

भावार्थ—शरीर-रथ का निर्माण हम वानस्पतिक भोजनों से ही करें। यह शरीर-रथ हमें ब्रह्मलोकरूप घर में पहुँचाने तक बड़ा ठीक बना रहे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुरक्षण-प्राप्ति

इन्द्रो॒तिभि॑र्बहु॒लाभि॑र्नो अ॒द्य या॑च्छ्रे॒ष्ठाभि॑र्मघवञ्छूर जिन्व।
यो नो॒ द्वेष्ट्यध॑रः॒ सस्प॑दीष्ट॒ यमु॑ द्वि॒ष्मस्तमु॑ प्रा॒णो ज॑हातु ॥ २१ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **अद्य**=आज **यात् श्रेष्ठाभिः**=(यातयति हिनस्ति) शत्रुहिंसन में श्रेष्ठ **बहुलाभिः**=बहुत **ऊतिभिः**=रक्षणों से **जिन्व**=प्रीणित करिए। आपके इन शत्रुनाशक रक्षणों को प्राप्त करके हम प्रसन्नता का अनुभव करें। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो **नः**=हमें **द्वेष्टि**=द्वेष का विषय बनाता है **सः**=वह **अधरः पदीष्ट**=अवनति की ओर जानेवाला हो। **उ**=और **यं द्विष्मः**=सारे समाज का अहित करनेवाला होने के कारण जिसको हम प्रीति से नहीं देख पाते, **तम्**=उसको **उ**=निश्चय से **प्राणः जहातु**=प्राण छोड़ जाए। हमारे उन्नति-पथ में वह विघ्न करनेवाला न हो।

भावार्थ—हम प्रभु के रक्षणों को प्राप्त करके आगे और आगे बढ़ते जाएँ। हमारे मार्ग में विघ्नभूत लोगों को प्रभु दूर करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परशु से शत्रुछेदन

प॒र॒शुं चि॒द्वि त॑पति शिम्ब॒लं चि॒द्वि वृ॑श्चति।
उ॒खा चि॑दिन्द्र॒ येष॑न्ती॒ प्रय॑स्ता॒ फेन॑मस्यति ॥ २२ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ व्यक्ति **चित्**=निश्चय से **परशुम्**=शत्रुओं को तनूकृत (Thin) करनेवाले कुल्हाड़े को **वितपति**=दीप्त करता है। मन ही वह परशु है, जो कि आसुरवृत्तिरूप शत्रुओं को काट डालता है। यह उन शत्रुओं को **शिम्बलं चित्**=शाल्मली कुसुम के समान **विवृश्चति**=छिन्न कर देता है। (सेमल के फूल को जैसे सुगमता से काट दिया जाता है, उसी प्रकार यह वासनारूप शत्रुओं को आसानी से काटनेवाला होता है। (२) **उखा चित्**=देगची भी **चित्**=निश्चय से, **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **येषन्ती**=उबलती हुई (to bubble) उबलने के कारण जिसमें बुलबुले उठ रहे हैं, **प्रयस्ता**=पीड़ित हुई-हुई **फेनम्**=झाग को **अस्यति**=फेंकती है। इसी प्रकार यह शरीररूपी देगची भी यदि सदा वासनाओं के उबालवाली होगी, तो इससे शक्ति की झाग गिरेगी ही। इसलिए इसे वासनाओं से सदा उबलने न देना चाहिए। वासनारूप शत्रुओं को तो विनष्ट करना ही ठीक है।

भावार्थ—हम वासनारूप शत्रुओं के लिए परशु के समान हों। वासना का उबाल दूर करके

शक्ति का रक्षण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सायक' प्रभु का स्मरण

न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति॥ २३॥

(१) 'षो अन्तकर्मणि' से 'सायक' शब्द बना है। यहाँ सबका अन्त करनेवाले प्रभु का वाचक यह शब्द है। हे **जनासः**=लोगो! **सायकस्य न चिकिते**=उस अन्त करनेवाले प्रभु का तुम्हें ज्ञान नहीं। उसके उग्ररूप का ज्ञान न होने के कारण ही **मन्यमानाः**='आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया' 'मैं धनी हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान और कोई है ही कौन ?' इस प्रकार अभिमान करते हुए लोग **लोधं पशु**=लुब्ध पशु के समान **नयन्ति**=जीवन को बिताते हैं। वस्तुतः आसुरवृत्ति में 'ईश्वरोऽहम्' अपने को ही ईश्वर मानकर चलते हैं। लोभ का वहाँ अन्त नहीं होता। इन्हें ईश्वर का स्मरण होता ही नहीं। ये पाशविक (=भोगप्रधान) ही जीवन बिताते हैं। (२) इनकी आवृत्तचक्षु विषयव्यावृत्त पुरुषों से तुलना हो ही क्या सकती है? **अवाजिनम्**=शक्तिरहित पुरुष को **वाजिना**=शक्तिशाली पुरुष से **न हासयन्ति**=स्पर्धा नहीं कराया करते। तुलना के लिए **गर्दभम्**=गधे को **अश्वात् पुरः**=घोड़े से पहले **न नयन्ति**=नहीं ले चलते। निर्बल की शक्तिशाली से क्या तुलना! और गधे-घोड़े का क्या मुकाबिला! इसी प्रकार अभिमानी आसुरी सम्पत्तिवाले का दैवी संपत्वाले के साथ कोई साम्य नहीं।

भावार्थ—हम प्रभु के रुद्र स्वरूप का स्मरण करते हुए पशुवत् जीवन न बिता कर अभिमानशून्य पवित्र जीवनवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपपित्व, न कि प्रपित्व

इम इन्द्र भरतस्य पुत्रा अपपित्वं चिकितुर्न प्रपित्वम्।
हिन्वन्त्यश्वमरणं न नित्यं ज्यावाजं परि णयन्त्याजौ॥ २४॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **इमे**=ये **भरतस्य पुत्राः**=अपना उत्तम भरण करनेवाले (भरत=भरण करनेवाला। उसका पुत्र, अर्थात् अत्यन्त भरण करनेवाला) पुरुष **अपपित्वम्**=(separation) विषयों से पृथक्ता को **चिकितुः**=जानते हैं, **प्रपित्वं न**=मेल को नहीं। ये सदा इस बात का ध्यान करते हैं कि कहीं विषयों में फँस न जाएँ। विषयों से दूर रहना ही इन्हें अभीष्ट होता है। (२) ये लोग **अश्वम्**=इन्द्रियाश्व को **नित्यम्**=सदा **अरणं न**=शत्रु की तरह **हिन्वन्ति**=प्रेरित करते हैं। इन्हें यह भूलता नहीं कि सामान्यतः 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' प्रभु ने इन्द्रियों को बाह्य विषयों के चरने के स्वभाववाला बनाया है। इन्हें काबू रखा जाए तो ये मित्र हैं, वेकाबू हुई-हुई ये भयंकर शत्रु हैं। ये लोग **आजौ**=इन वासनाओं के साथ संग्राम में **ज्यावाजम्**=ज्या (डोरी) के बलवाले धनुष को **परिणयन्ति**=सर्वतः प्राप्त करते हैं। 'प्रणव' ही इनका धनुष होता है। इस द्वारा ये शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं। प्रभुस्मरण से इन्द्रियों को ये वशीभूत करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—विषयों से व्यावृत्त होते हुए हम अपना उत्तम भरण करें। इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करें।

सूक्त का मुख्य विषय इन्द्रियों का वशीकरण ही है। इस द्वारा ही हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं। प्रभु का स्मरण व स्तवन करनेवाला 'वाच्य' अगले सूक्त का ऋषि है। यह स्तवन करता हुआ कहता है—

पञ्चमोऽनुवाकः

५४. [चतुःपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दम्य अनीक व दिव्य ज्ञान

इमं महे विदथ्याय शूषं शश्वत्कृत्व ईड्याय प्र जभ्रुः।
शृणोतु नो दम्येभिरनीकैः शृणोत्वग्निर्दिव्यैरजस्रः ॥ १ ॥

(१) **इमं शूषम्**=इस सुखकर स्तोत्र को **महे**=महान् **विदथ्याय**=ज्ञानयज्ञ में मन्थन द्वारा प्रादुर्भूत होनेवाले, अर्थात् ज्ञान द्वारा हृदय में प्रकट होनेवाले **ईड्याय**=स्तुत्य प्रभु के लिए **शश्वत् कृत्वः**=बारम्बार **प्रजभ्रुः**=धारण करते हैं। प्रभु महान् हैं, विदथ्य हैं, ईड्य हैं। प्रभु के लिए निरन्तर स्तोत्रों को करना स्तोता के लिए सुख का साधक होता है। (२) वह प्रभु **दम्येभिः अनीकैः**=दमनकुशल बलों से **नः**=हमारी प्रार्थना को **शृणोतु**=सुने, अर्थात् हमें वह शक्ति प्रदान करे, जिससे कि हम इन्द्रियों का दमन कर सकें। **दिव्यैः**=दिव्य ज्ञान से **अजस्रः**=निरन्तर युक्त हुआ-हुआ, इनसे कभी न पृथक् होनेवाला **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **नः**=हमारी प्रार्थना को **शृणोतु**=सुने। हमें भी वह प्रभु दिव्य ज्ञानों को प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें शत्रुदमन कुशल बलों व दिव्य शक्तियों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्यावापृथिवी का अर्चन

महि महे दिवे अर्चा पृथिव्यै कामो म इच्छञ्चरति प्रजानन्।
ययोर्ह स्तोमे विदथेषु देवाः सपर्यवो मादयन्ते सचायोः ॥ २ ॥

(१) हे स्तोतः! तू **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ **महे दिवे**=इस महान् द्युलोक के लिए तथा **पृथिव्यै**=पृथिवी के लिए **महि अर्च**=अत्यन्त ही अर्चना करनेवाला हो। शरीर में द्युलोक मस्तिष्क है। मस्तिष्क की अर्चना यही है कि हम अत्यन्त स्वाध्यायशील बनें। 'पृथिवी' यह स्थूल शरीर है। इसकी अर्चना यही है कि उचित आहार-विहार द्वारा इसकी शक्ति को स्थिर रखा जाए। **मे कामः**=मेरी अभिलाषा **इच्छन्**=द्युलोक व पृथिवी को **इच्छन्**=चाहती हुई **चरति**=गतिवाली होती है। मैं मस्तिष्क व शरीर दोनों की उन्नति चाहता हूँ, और उसके लिये गतिवाला होता हूँ, अर्थात् पुरुषार्थ करता हूँ। (२) **आयोः**=मनुष्य के **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **ह**=निश्चय से **ययोः स्तोमे**=जिन द्यावापृथिवी का स्तवन होने पर **सपर्यवः देवाः**=उसका पूजन करनेवाले देव **सचा मादयन्ते**=उसके साथ आनन्द का अनुभव करते हैं। जब मनुष्य समझदार होता हुआ मस्तिष्क व शरीर का ध्यान करता है-इन दोनों के विकास के लिए यत्नशील होता है, तो सब उत्तम गुण उसके अन्दर पनपते हैं। यही देवों द्वारा इस मनुष्य का पूजन है।

भावार्थ—हम शरीर व मस्तिष्क के विकास के लिए इच्छापूर्वक यत्नशील हों। इससे हम सब दिव्यगुणों के अधिष्ठान बन पाएँगे।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ऋत द्वारा पृथिवी का व सत्य द्वारा द्युलोक का' अर्चन

युवोर्ऋतं रोदसी सत्यमस्तु महे षु णः सुविताय प्र भूतम्।
इदं दिवे नमो अग्ने पृथिव्यै सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम्॥ ३॥

(१) हे **रोदसी**=द्यावापृथिवी! **युवोः**=आप दोनों का **ऋतं सत्यम्**=ऋत और सत्य **अस्तु**=मेरे में हो। पृथिवी का ऋत तथा द्युलोक का सत्य मेरे में निवास करे। पृथिवी, अर्थात् शरीर की प्रत्येक क्रिया को मैं ऋतपूर्वक, अर्थात् पूरी नियमितता के साथ करनेवाला होऊँ तथा मेरे मस्तिष्क में सत्यज्ञान हो। इस प्रकार के द्यावापृथिवी **नः**=हमारे **महे सुविताय**=महान् सुवित, सदाचरण के लिए **सु प्रभूतम्**=अच्छी प्रकार हों। नियमित गति द्वारा स्वस्थ शरीरवाले तथा सत्यज्ञान से दीप्त मस्तिष्कवाले बनकर हम सदाचरण में ही प्रवृत्त हों। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **दिवे**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्क के लिए तथा **पृथिव्यै**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर के लिए **इदम्**=यह **नमः**=नमन हो। आपका नमन करते हुए हम दीप्तमस्तिष्क व स्वस्थ शरीर को प्राप्त करें। हे प्रभो! मैं **प्रयसा**=(प्रयस्=sacrifice) त्याग द्वारा **सपर्यामि**=पूजन करता हूँ और **रत्नं यामि**=रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करता हूँ। जितना-जितना त्याग, उतना-उतना रमणीय वस्तुओं की प्राप्ति।

भावार्थ—ऋत, अर्थात् नियमित गति द्वारा मैं शरीर (=पृथिवी) का अर्चन करता हूँ और सत्य द्वारा मस्तिष्क (द्युलोक) का। इस प्रकार स्वस्थ शरीर व दीप्त-मस्तिष्कवाला बनकर सदाचरण में प्रवृत्त होता हूँ। त्याग द्वारा प्रभु का उपासन करता हुआ रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वस्थ शरीर व ज्ञानदीप्त-मस्तिष्क का महत्व

उतो हि वां पूर्व्या आविविद्र ऋतावरी रोदसी सत्यवाचः।
नरश्चिद्वां समिथे शूरसातौ ववन्दिरे पृथिवि वेविदानाः॥ ४॥

(१) **उतो**=और हे **ऋतावरी रोदसी**=ऋत व सत्यवाले द्यावापृथिवि! **पूर्व्याः**=अपना पालन व पूरण करने में उत्तम **सत्यवाचः**=सत्यवाणीवाले लोग **हि**=निश्चय से **वां आविविद्रे**=आप से ही उस-उस आपेक्षित अर्थ को प्राप्त करते हैं। सब अपेक्षित लाभ स्वस्थ शरीर व ज्ञानदीप्त मस्तिष्क से ही प्राप्य हैं। ऋत द्वारा-नियमित आचरण द्वारा शरीर स्वस्थ होता है तो सत्य द्वारा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बनता है। ऐसा होने पर वस्तुतः हमारी सब सत्य कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। (२) **नरः**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले लोग **चित्**=निश्चय से **वेविदानाः**=द्यावापृथिवी का महत्त्व समझते हुए हे **पृथिवि**=द्यावापृथिवि! **शूरसातौ**=शूरों के लाभ के निमित्तभूत **समिथे**=संग्राम में **वां ववन्दिरे**=आप दोनों की वन्दना करते हैं। द्यावापृथिवी की वन्दना इन्हें स्वाध्याय व युक्ताहार-विहार द्वारा दीप्त व स्वस्थ बनाना ही है। इस जीवनसंग्राम में इनका महत्त्व स्पष्ट है। जीवन-संग्राम में शूरवीर ही विजयी बनते हैं।

भावार्थ—जीवन संग्राम में स्वस्थ शरीर व ज्ञानदीप्त मस्तिष्क का महत्त्व समझते हुए लोग इन्हें ऐसा बनाने का ही प्रयत्न करते हैं।

सूचना—यहाँ उत्तरार्ध में पृथिवि=द्यावापृथिवि के लिए आया है, जैसे सत्यभामा के लिए केवल भामा का प्रयोग हो जाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

देवमार्ग की दुर्विज्ञानता

को अद्धा वेद क इह प्र वोचद्देवाँ अच्छा पथ्या का समेति।
ददृश्र एषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥ ५ ॥

(१) **देवाँ अच्छा**=दिव्यगुणों की ओर **का पथ्या**=कौन-सा मार्ग **समेति**=जाता है? इस बात को **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **अद्धा**=साक्षात्रूपेण **वेद**=जानते हैं और **इह**=यहाँ **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **प्रवोचत्**=वेदज्ञान द्वारा उस मार्ग का प्रवचन करते हैं। वेद द्वारा ही सत्यमार्ग का ज्ञान होता है। (२) **परेषु**=उत्कृष्ट **गुह्येषु**=रहस्यमय **व्रतेषु**=व्रतों में **या**=जो **अवमा**=(अवम=protector) रक्षक **सदांसि**=स्थितियां हैं वे **एषां ददृश्रे**=इन देवों के जीवनों में दिखती हैं। दिव्यगुणों को धारण करनेवाले पुरुषों के जीवनों में उनके व्यवहारों को देखकर हम अपने कर्त्तव्यों को जान पाते हैं। उनके अनुसार चलते हुए हम भी उन मार्गों पर ही चल रहे होते हैं, जो कि अन्ततः हमें देव बनानेवाले होते हैं। उनका अनुसरण करते हुए हम भी गुह्य व्रतों में पहुँच जाते हैं। ये व्रत हमें सब प्रकार की वासनाओं का शिकार होने से बचाते हैं और अन्ततः प्रभु को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने वेद में देवयान (देवमार्ग) का प्रतिपादन किया है। देववृत्ति के व्यक्तियों के जीवन में हम इन गुह्य व्रतों की झलक देख पाते हैं। एवं श्रुति व सदाचार धर्मज्ञान के उत्तम साधन हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शरीर व मस्तिष्क का संज्ञान

कविर्नृचक्षा अभि षीमचष्ट ऋतस्य योना विघृते मदन्ती।
नाना चक्राते सदनं यथा वेः समानेन क्रतुना संविदाने ॥ ६ ॥

(१) **कविः**=तत्त्वज्ञान को प्राप्त करनेवाला क्रान्तदर्शी **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों को देखनेवाला, सबका ध्यान करनेवाला, केवल अपने हित को न देखनेवाला, **सीम्**=निश्चय से **ऋतस्य योना**=ऋत की योनि में, ऋत के स्थान में, एकदम नियमित (right) आचरण में **विधृते**=विशेषरूप से धारण किये गये, **मदन्ती**=हर्ष से युक्त द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **अभि अचष्ट**=सर्वतः देखता है। कवि व नृचक्षा बनकर हम ऋत का पालन करेंगे तो हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों ही सम्यक् पोषित होते हुए हमारे आनन्द का कारण बनेंगे। (२) **समानेन क्रतुना**=(सम्यक् आनयति-प्राणयति) सम्यक् प्राणित करनेवाले कर्म से **सं विदाने**=परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए ये **नाना**=अलग-अलग होते हुए भी शरीर और मस्तिष्क **वेः**=इस गतिशील भिन्न-भिन्न योनियों में जानेवाले जीव के **यथा**=जैसे चाहिये उस प्रकार **सदनं चक्राते**=गृह को, स्थिति स्थानभूत शरीर को **चक्राते**=बनाते हैं। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है। ये दोनों परस्पर पूरक हैं। शरीर मस्तिष्क का व मस्तिष्क शरीर का पूरण करता है। ये द्यावापृथिवी के समान एक दूसरे को पूरक होते हैं। जब ये एक-दूसरे का पूरण करते हैं, तभी जीव का यह उचित घर बनता है। ऐसे ही घर में यह उत्तम कर्मों को करता हुआ उन्नत हो पाता है।

भावार्थ—शरीर व मस्तिष्क परस्पर एक दूसरे का पूरण करते हुए हमारे लिये उचित निवास स्थान बनते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ध्रुव पद में स्थिति

समान्या वियुते दूरेअन्ते ध्रुवे पदे तस्थतुर्जागरूके ।
उत स्वसारा युवती भवन्ती आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम ॥ ७ ॥

(१) अध्यात्म में द्यावापृथिवी 'मस्तिष्क और शरीर' हैं। ये **समान्या**=मिलकर हमें सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं (सं आनयतः प्राणयतः)। **वि-युते**=परस्पर पृथक्-पृथक् होते हुए, **दूरे**=एक दूसरे से दूर होते हुए भी **अन्ते**=समीप ही हैं। शरीर व मस्तिष्क पृथिवी व द्युलोक की तरह अलग-अलग व दूर हैं, पर दूर होते हुए भी मिलकर कार्य करने से समीप ही हैं। **जागरूके**=जब ये दोनों जागरित व सावधान रहते हैं, अर्थात् शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होता और मस्तिष्क दुर्विचारों का शिकार नहीं होता, तो ये **ध्रुवे पदे तस्थतुः**=उस ध्रुव पद प्रभु में स्थित होते हैं। स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क के होने पर हम प्रभु को प्राप्त करते हैं यही प्रभु में स्थित होता है, ब्रह्मनिष्ठ होना है। (२) **उत**=और **युवती भवन्ती**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) दोषों को पृथक् व गुणों को संयुक्त करती हुई ये द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर) **स्व-सारा**=आत्मतत्त्व की ओर गतिवाली होती हैं। ये शरीर व मस्तिष्क दोनों मिलकर ही हमें परमात्मा को प्राप्त कराते हैं। केवल शरीर व केवल मस्तिष्क हमें प्रभु को नहीं प्राप्त करा सकता। **आत्**=इसलिए ही तो **मिथुनानि नाम ब्रुवाते**=छन्दात्मक नामों से कहे जाते हैं, जैसे 'द्यावापृथिवी', 'रोदसी' आदि। ये द्वन्द्वात्मक नाम इसी बात का संकेत करते हैं कि हमें शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही ठीक करना है। दोनों के स्वस्थ होने पर ही हम प्रभु को प्राप्त कर पायेंगे।

भावार्थ—'शरीर को हम नीरोग बनायें, मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनायें' यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्यावापृथिवी का महत्त्व

विश्वेदेते जनिमा सं विविक्तो महो देवान्बिभ्रती न व्यथेते ।
एजद् ध्रुवं पत्यते विश्वमेकं चरत्पतत्रि विषुणं वि जातम् ॥ ८ ॥

(१) **एते**=ये आधिदैविक जगत् के द्यावापृथिवी **विश्वा इत्**=सब ही **जनिमा**=प्राणियों को **संविविक्तः**=पृथक्-पृथक् धारण करते हैं-सभी को संविभागपूर्वक अवकाश प्राप्त कराते हैं। अध्यात्म में ये शरीर और मस्तिष्क सब **जनिमा**=शक्तियों के प्रादुर्भावों-विकासों को अलग-अलग धारण करते हैं। शरीर शक्ति को धारण करता है तो मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति को। (२) ये द्यावापृथी **महो देवान्**=अग्नि व सूर्य आदि महान् देवों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **न व्यथेते**=पीड़ित नहीं होतीं। शरीर और मस्तिष्क भी महनीय दिव्यगुणों को धारण करते हुए-शक्ति व ज्ञान को अपनाते हुए व्यथित नहीं होते। (३) यह **एजत्**=गति करता हुआ या **ध्रुवे**=मर्यादा में स्थित लोकसमूह तथा **चरत्**=पृथ्वी पर चलता हुआ या **पतत्रि**=आकाश में उड़ता हुआ **विषुणम्**=यह चारों ओर होनेवाला (विष्वक्) **विजातम्**=नानारूपोंवाला प्राणिसमूह मिलकर **एकं विश्वम्**=एक ही यह संसार **पत्यते**=गतिमय होता है। ये सारे लोक-लोकान्तर व प्राणिसमूह द्यावापृथिवी में ही गतिवाले हो रहे हैं। 'एजत् ध्रुवं' शब्द प्रकृति पिण्डों का निर्देश करते हैं, तथा 'चरत् पतत्रि विषुणं विजातम्' प्राणिसमूह का। यह सब मिलकर एक विश्व है। इस सब की गति इन द्यावापृथिवी में ही होती है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी के महत्त्व को समझते हुए हम अध्यात्म में शरीर व मस्तिष्क के भी सुन्दर विकास का पूरा ध्यान करें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कर्मों द्वारा प्रभु का उपासन

सना॑ पुरा॒णमध्ये॒म्या॒रान्म॒हः पि॒तुर्ज॑नि॒तुर्जा॒मि तन्नः॑।
दे॒वासो॒ यत्र॑ पनि॒तार॒ एवै॑रु॒रौ प॒थि व्यु॑ते त॒स्थुर॒न्तः॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार द्यावापृथिवी में उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ मैं **सना**=उस सनातन **पुराणम्**=पुराण पुरुष परमात्मा को **आशत्**=समीप ही—अपने हृदय देश में **अध्येमि**=स्मरण करता हूँ। उस **महः**=महान् **पितुः**=हम सबके रक्षक **जनितुः**=उत्पादक परमात्मा का **तत्**=वह **नः**=हमारा **आमि**=बन्धुत्व है। उसके हम पुत्र हैं—रक्षणीय हैं, वह हमारा पिता व रक्षक है। (२) **देवासः**=देववृत्ति के लोग **यत्र**=जहाँ **एवैः**=गतियों द्वारा—कर्मों द्वारा **पनितारः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले होते हैं, वहाँ वे **उरौ**=विशाल **व्युते**=(वि उते) कर्म-तन्तुओं से व्याप्त **पथि अन्तः**=मार्ग में ही **तस्थुः**=स्थित होते हैं। वस्तुतः प्रभु का उपासन कर्मों से ही होता है, उन कर्मों से जो कि विशाल हृदय से किये जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु को पिता व जनिता के रूप में हम स्मरण करें। विशाल हृदय से कर्म करते हुए हम उसका उपासन करें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का उपदेश किनने सुना!

इ॒मं स्तोमं॑ रोदसी॒ प्र ब्र॑वीम्यृदू॒दराः॑ शृणवन्न॒ग्निजि॒ह्वाः।
मि॒त्रः स॒म्राजो॒ वरु॑णो॒ युवा॑न आ॒दि॒त्यासः॑ क॒वयः॑ पप्रथा॒नाः॥ १०॥

(१) हे **रोदसी**=द्यावापृथिवी—द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य रहनेवाले सब लोगो! मैं **इमं स्तोमम्**=इस मन्त्रसमूह को तुम्हारे लिए **प्रब्रवीमि**=कहता हूँ। इन मन्त्रों द्वारा तुम्हारे कर्त्तव्यों का संकेत करता हूँ। (२) इस को उन्होंने ही **शृणवन्**=सुना जानो जो कि (क) **ऋदूदराः**=कोमल उदरवाले हैं—जिनका पेट मात्रा में भोजन के कारण सदा कोमल रहता है—जो कभी अतिभोजन नहीं करते। (ख) **अग्निजिह्वाः**=जो अग्नि के समान तेजस्वी जिह्वावाले हैं—प्रकाश को प्राप्त करानेवाले ज्ञानोपदेश को करनेवाले हैं, अथवा जो अग्नि को ही जिह्वा स्थानीय बनाते हैं, अर्थात् यज्ञ करके (अग्नि में आहुति देकर) यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं। (ग) **मित्रः**=जो सब के साथ स्नेह से वर्तता है अथवा मृत्यु व रोगों से अपना रक्षण करता है (प्रमीतेः त्रायते)। (घ) **सम्राजः**=जो अपने सब कार्यों को सम्यक् व्यवस्थित (regulated) करते हैं। (ङ) **वरुणः**=जो अपने को पाप से रोकता है—किसी से द्वेष नहीं करता, (च) **युवानः**=जो दुरित से अपने को अमिश्रित व सुवित से अपने को मिश्रित करते हैं (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। (छ) **आदित्यासः**=जो सब जगह से गुणों का आदान करते हैं। (ज) **कवयः**=क्रान्तप्रज्ञ बनते हैं तथा (झ) **पप्रथानाः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं अथवा हृदय को विशाल बनाते हैं। (३) ऋदूदर आदि नौ व्यक्तियों ने ही वस्तुतः प्रभु के उपदेश को सुना। जो ऋदूदर आदि नहीं बने उन्होंने इस वेदज्ञान को क्या सुना! वेदज्ञान यदि उनके जीवन में नहीं आया तो सुना भी अनसुना ही हो गया।

भावार्थ—हम प्रभु के उपदेश को सुनें। यह हमें 'ऋदूदर, अग्निजिह्व, मित्र, सम्राट्, वरुण,

युवा, आदित्य, कवि व पप्रथान' बनाएगा। कितना ही सुन्दर वह जीवन होगा।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सर्वताति' के लिये याचना

हिरण्यपाणिः सविता सुजिह्वस्त्रिरा दिवो विदथे पत्यमानः।
देवेषु च सवितः श्लोकमश्रेरादस्मभ्यमा सुव सर्वतातिम्॥ ११॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाला वह है, जो कि (क) **हिरण्यपाणिः**=हितरमणीय कर्मों को हाथ में लिये हुए हैं–सदा हितकर कार्यों में प्रवृत्त है। (ख) **सविता**=जो अपने अन्दर सोम का सवन करता है–वीर्यशक्ति को उत्पन्न करने के लिए यत्नशील होता है, (ग) **सुजिह्वः**=सदा शोभन शब्दों को बोलता है–उत्तम जिह्वावाला है। (घ) **दिवः त्रिः**=दिन में तीन बार **विदथे**=ज्ञानयज्ञ में **आपत्यमानः**=सर्वथा गतिवाला होता है। अधिक से अधिक अध्ययन की वृत्तिवाला बनता है। (२) हे **सवितः**=वेदज्ञान द्वारा प्रेरणा देनेवाले प्रभो! आप **च**=निश्चय से **देवेषु**=देववृत्तिवाले पुरुषों में ही **श्लोकम्**=इस यशस्वी ज्ञान को **अश्रेः**=सेवित कराइये–उन्हीं को यह वेदज्ञान दीजिए **आत्**=और अब **अस्मभ्यम्**=हम सबके लिए **सर्वतातिम्**=सब सद्गुणों के विस्तार को **आसुव**=प्रेरित करिए, आपकी कृपा से हम अपने अन्दर सब सद्गुणों का विकास करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु के उपदेश को सुननेवाला 'हिरण्यपाणि, सविता व सुजिह्व' बनता है। प्रातः, मध्याह्न व सायं स्वाध्यायशील होता है। प्रभु देवों को यह ज्ञान दें और हम सबके लिए कल्याण करें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञमय जीवन

सुकृत्सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा देवस्त्वष्टावसे तानि नो धात्।
पूषण्वन्त ऋभवो मादयध्वमूर्ध्वग्रावाणो अध्वरमतष्ट ॥ १२॥

(१) **सुकृत्**=सब शोभन कर्मों को करनेवाला, **सुपाणिः**=सब शुभों को हाथ में लिये हुए, **स्ववान्**=सब धनोंवाला, **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाला, **देवः**=प्रकाशमय **त्वष्टा**=सब लोकों का निर्माता प्रभु **अवसे**=रक्षण के लिए **तानि**=उन वेदज्ञानों को **नः**=हमारे लिए **धात्**=धारण करता है। इन ज्ञानों को प्राप्त करके हम भी शोभन कर्मों को करनेवाले (सुकृत्) कल्याणमय हाथोंवाले (सुपाणि) धन-सम्पन्न (स्ववान्) ऋत का पालन करनेवाले (ऋतावा) प्रकाशमय (देव) व निर्माण करनेवाले (त्वष्टा) बनें। (२) हे **पूषण्वन्तः**=उस पोषक प्रभु को अपनानेवाले **ऋभवः**=अत्यन्त देदीप्यमान लोगो! **मादयध्वम्**=तुम हर्ष का अनुभव करो। प्रभुप्राप्ति में ही तुम्हें आनन्द का अनुभव हो। **ऊर्ध्वग्रावाणः**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले स्तोता बनकर **अध्वरम्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को **अतष्ट**=तुम करनेवाले होओ। तुम्हारे से यज्ञों का ही तक्षण (निर्माण) हो। यज्ञों से ही तो तुम प्रभु का पूजन करोगे 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये ज्ञान को सुनते हुए हम यज्ञमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विद्युद्रथ बनना

विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः ।
सरस्वती शृणवन्यज्ञियासो धाता रयिं सहवीरं तुरासः ॥ १३ ॥

(१) **विद्युद्रथाः**=देदीप्यमान शरीररूप रथवाले, **ऋष्टिमन्तः**='इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप' उत्तम आयुधोंवाले, **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले, **दिवः मर्याः**=(दीव्यति इति) ज्ञान से दीप्त और अतएव शत्रुओं को मारनेवाले (शत्रूणां मारयितारः), **ऋतजाताः**=ऋत द्वारा अपना विकास करनेवाले अथवा अपने जीवन में ऋत का विकास करनेवाले, **अयासः**=गतिशील, **सरस्वती**=ज्ञान के पुञ्ज (सरस्वती का रूप धारण करनेवाले) **यज्ञियासः**=यज्ञशील लोग **शृणवन्**=(गतमन्त्र में उल्लिखित) वेदज्ञान को सुनते हैं। वस्तुतः वेदज्ञान को सुननेवाले ऐसे बनते हैं। जो ऐसे बने, उन्होंने ही समझो वेदज्ञान को सुना। (२) प्रभु कहते हैं कि हे वेद ज्ञान को सुननेवाले **तुरासः**=(तुर्वी हिंसायाम्) काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले लोगो! **सहवीरं रयिम्**=वीरसन्तानों से युक्त धन को तुम **धात**=धारण करो।

भावार्थ—वेदज्ञान के अनुकूल जीवन बनाने पर हम 'विद्युद्रथ' आदि विशेषणों से विशिष्ट जीवनवाले बनेंगे। उस समय हम वीरसन्तानों को प्राप्त करेंगे और ऐश्वर्य-सम्पन्न भी होंगे।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का स्तवन व पूजन

विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का भगस्येव कारिणो यामनि ग्मन् ।
उरुक्रमः ककुहो यस्य पूर्वीर्न मर्धन्ति युवतयो जनित्रीः ॥ १४ ॥

(१) हमारी **स्तोमासः**=स्तुतियाँ तथा **अर्काः**=पूजाएँ **पुरुदस्मम्**=अत्यन्त ही शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले **विष्णुम्**=उस व्यापक प्रभु को **यामनि**=इस जीवनयात्रा में **ग्मन्**=प्राप्त होती हैं। वे स्तोम व पूजाएँ प्रभु को प्राप्त होती हैं, जो कि **भगस्य कारिणः इव**=ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाली हैं। इन स्तोमों व अर्कों द्वारा हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। (२) **उरुक्रमः**=वे प्रभु अत्यन्त विशाल पराक्रम व व्यवस्थावाले हैं **यस्य**=जिनकी आज्ञाओं, क्रमों व व्यवस्थाओं को **पूर्वीः**=ये पालन व पूरण करनेवाली, **युवतयः**=सदा युवति रहनेवाली व परस्पर असंकीर्ण (यु अमिश्रणे) **जनित्रीः**=सब प्राणियों व ओषधि वनस्पतियों को जन्म देनेवाली **ककुहः**=दिशाएँ **न मर्धन्ति**=हिंसित नहीं करतीं। सब दिशाएँ प्रभु की व्यवस्था में ही चलती हैं, उसी प्रभु का हम स्तवन व पूजन करते हैं। यह पूजन हमें भी उस भगवान् की तरह भगवाला बनाता है।

भावार्थ—सब दिशाओं में प्रभु का ही शासन है। इस प्रभु का पूजन हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण व वासनाविनाश

इन्द्रो विश्वैर्वीर्यै३ः पत्यमान उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।
पुरंदरो वृत्रहा धृष्णुषेणः संगृभ्या न आ भरा भूरि पश्वः ॥ १५ ॥

(१) **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **विश्वैः**=सब **वीर्यैः**=पराक्रमों से **पत्यमानः**=गति करता

हुआ **उभे**=दोनों **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **महित्वा**=अपनी महिमा से **आ पप्रौ**=पूरित व व्याप्त करनेवाला है। सर्वत्र द्यावापृथिवी में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। (२) वे प्रभु **पुरन्दरः**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाले हैं-हमारे जीवन में आ जानेवाले काम-क्रोध-लोभ को प्रभु ही विनष्ट करते हैं। इन्द्रियों में कामासुर, मन में क्रोधासुर, बुद्धि में लोभासुर अपना-अपना दुर्ग बनाता है। प्रभु इन्हें विनष्ट कर डालते हैं। **वृत्रहा**=वे प्रभु हमारी वासना को (वृत्र=ज्ञान पर आवरणभूत) नष्ट करते हैं। **धृष्णुषेणः**=प्रभु की सेना शत्रुओं का धर्षण करनेवाली है। प्रभु महादेव हैं, देव ही उनके सैनिक हैं। दिव्य विचारों से वासनारूप शत्रुओं का विनाश होता है। (३) हे प्रभो! आप **नः**=हमें **संगृभ्य**=सम्यक् ग्रहण करके **पश्वः**=इन इन्द्रियाश्वों को **भूरि आभर**=इस प्रकार प्राप्त कराइये कि ये हमारा भरण करनेवाले बनें, न कि विनाश।

भावार्थ—सर्वत्र द्युलोक व पृथ्वीलोक में हम प्रभु की महिमा को देखें। प्रभु का स्मरण हमारी वासनाओं को विनष्ट करे और इससे हमारे इन्द्रियाश्व हमारे वश में हों।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणापान का महत्व

नास॑त्या मे पि॒तरा॑ बन्धु॒पृच्छा॑ सजा॒त्य॑म॒श्विनो॒श्चारु॒ नाम॑।
यु॒वं हि स्थो र॑यि॒दौ नो॑ रयी॒णां दा॒त्रं र॑क्षेथे॒ अक॑वै॒रद॑ब्धा ॥ १६ ॥

(१) **नासत्या**=(नासायां भवौ) नासिका में गतिवाले ये प्राणापान **मे पितरा**=मेरे रक्षक हैं। **बन्धुपृच्छा**=एक बन्धु की तरह मेरे कुशल को पूछने (ask) वाले हैं। **अश्विनोः**=इन प्राणापान का **सजात्यम्**=समानरूप से विकसित होना **चारु नाम**=सचमुच सुन्दर है ('नाम'='निश्चय से' की भावना दे रहा है) 'प्राण और अपान दोनों समानरूप से प्रादुर्भाव (जनी प्रादुर्भावे) वाले हों' यह वास्तव में बहुत ही सुन्दर होता है। 'प्राण' शक्ति का संचार करता है, तो 'अपान' दोषों को दूर करता है। (२) **युवम्**=तुम दोनों **नः**=हमारे लिए **हि**=निश्चय से **रयीणां रयिदौ**=उत्कृष्ट धनों के देनेवाले हो। वस्तुतः ये ही शरीर में 'सोम' (वीर्य) के रक्षण के साधन बनते हैं और उस सोमरक्षण द्वारा शरीर को स्वस्थ, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। **अदब्धा**=अहिंसित हुए-हुए ये प्राणापान **अकवैः**=अकुत्सित कर्मों द्वारा **दात्रम्**=वासनाओं को विदारण करनेवाले (दाप् लवने) मुझको **रक्षेथे**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान हमारे रक्षक हैं-बन्धुवत् हितकर हैं। हमें उत्कृष्ट ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु अपने प्रिय ज्ञानियों द्वारा

म॒हत्तद्वः॑ कवय॒श्चारु॒ नाम॒ यद्ध॑ देवा॒ भव॑थ॒ विश्व॒ इन्द्रे॑।
सख॑ ऋ॒भुभिः॑ पुरुहूत प्रि॒येभि॑रि॒मां धियं॑ सा॒तये॑ तक्षता नः ॥ १७ ॥

(१) हे **कवयः**=क्रान्तदर्शी विद्वानो! **वः**=आपका **तत्**=वह कर्म **नाम**=निश्चय से **महत् चारु**=अत्यन्त सुन्दर है, **यत्**=जो **ह**=निश्चय से **विश्वे**=आप सब **इन्द्रे**=उस प्रभु में स्थित होते हुए **देवाः भवथ**=देववृत्ति के होते हो। प्रभु में स्थित होना ही आपको देव बनाता है। (२) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! हे **सखे**=मित्र प्रभो! आप **प्रियेभिः**=इन प्रिय **ऋभुभिः**=(उरु भान्ति) ज्ञान से दीप्त देवों **स नः**=हमारे **सातये**=लाभ के लिये **इमां धियम्**=इस

बुद्धि को **तक्षता**=सम्पादित करिए। हम इन देवों के सम्पर्क में आएँ और अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु में स्थित होकर हम देव बनें। देव बनकर औरों के लिए ज्ञान को देनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एक सद्गृहस्थ

अर्यमा णो अदितिर्यज्ञियासोऽदब्धानि वरुणस्य व्रतानि।
युयोत नो अनपत्यानि गन्तोः प्रजावान्नः पशुमाँ अस्तु गातुः ॥ १८ ॥

(१) (क) **अर्यमा**=(ऋ गतौ, अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) वह गतिशील सर्वदाता प्रभु **नः**=हमारा हो। हम प्रभुप्रवण बनें। प्रकृति की ओर न झुक जाएँ। (ख) **अदितिः**=वह अदीना देवमाता (नः) हमारी हो अथवा **अदितिः**=(अखण्डन) पूर्ण स्वास्थ्य हमारा हो। प्रभुप्रवण होते हुए हम पूर्ण स्वस्थ बनें। (ग) **यज्ञियासः**=सब यज्ञिय पवित्र भावनाएँ हमारी हों। प्रभुप्रवण व स्वस्थ बनकर हम पवित्र भावनाओंवाले हों। (घ) **वरुणस्य**=उस पाप निवारक प्रभु के **व्रतानि**=पुण्यकर्म **अदब्धानि**=हमारे में हिंसित न हों। प्रभु ने जिन पवित्र कर्मों का निर्देश किया है, हम उनका पालन करनेवाले बनें। (२) **नः**=हमारे **गन्तोः**=मार्ग से **अनपत्यानि**=सन्तानराहित्य की स्थितियों को **युयाते**=पृथक् करिए। हम सद्गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तानवाले हों। **नः**=हमारा **गातुः**=गृह व जीवनमार्ग **प्रजावान्**=उत्तम प्रजाओंवाला तथा **पशुमान्**=गौ आदि उत्तम पशुओंवाला हो। हमारे घर में उत्तम गौ आदि पशु हों। उनके दुग्ध आदि पदार्थों से सन्तानों का उत्तम निर्माण हो।

भावार्थ—सद्गृहस्थ होकर हम प्रभुप्रवण-वृत्तिवाले हों, स्वस्थ हों, पवित्र भावनाओं को अपनाएँ और प्रभु निर्दिष्ट व्रतों का हिंसन न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निष्पाप जीवन

देवानां दूतः पुरुध प्रसूतोऽनागान्नो वोचतु सर्वताता ।
शृणोतु नः पृथिवी द्यौरुतापः सूर्यो नक्षत्रैरुर्व१न्तरिक्षम् ॥ १९ ॥

(१) **देवानां दूतः**=देवों का सन्देशवाहक वह प्रभु, देवों के लिए सन्देश को प्राप्त करानेवाला वह प्रभु **पुरुध**=अनेक प्रकार से **प्रसूतः**=हृदयों में प्रेरणा देनेवाला (प्रकृतं सूतं यस्य) है। वह **नः**=हमें **सर्वताता**=सब शक्तियों के विस्तार के निमित्त **अनागान् वोचतु**=इस प्रकार उपदेश करें कि हमारा जीवन निष्पाप बने। (२) **पृथिवी**=यह पृथिवी, **द्यौः**=द्युलोक **उत**=और **आपः**=जल, **सूर्यः**=सूर्य, **नक्षत्रैः**=नक्षत्रों के साथ **उरु अन्तरिक्षम्**=यह विशाल अन्तरिक्ष **नः**=हमारी **शृणोतु**=इस प्रार्थना को सुनें। सारा संसार हमारे लिए इस प्रकार अनुकूल हो कि हम प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए जीवन को निष्पाप बना पाएँ। इस निष्पाप जीवन में पृथिवी की तरह हम दृढ़ शरीरवाले बनें, द्युलोक की तरह दीप्त मस्तिष्कवाले हों, जलों की तरह रसमयी वाणीवाले हों, सूर्य की तरह ('पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्') आलस्यशून्य गतिवाले होकर चमकें, नक्षत्रों की तरह अपने मार्ग पर आक्रमण करनेवाले हों और अन्ततः इस विशाल अन्तरिक्ष की तरह अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु प्रेरणा को सुनते हुए जीवनों को निष्पाप बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना द्वारा 'ध्रुव-क्षेममय जीवन' का निर्माण

शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः।
आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम्॥ २०॥

(१) **नः**=हमारी प्रार्थना को **वृषणः**=हमारे में शक्ति का सेचन करनेवाले मरुत् (=प्राण) **शृण्वन्तु**=सुनें। प्राणसाधना करते हुए हम अपने में शक्ति का संचार करें। (२) **ध्रुवक्षेमासः**=(क्षि: निवासे) ध्रुव निवासवाले-अपने स्थान से न डिगनेवाले, **इडया**=अन्नों से **मदन्तः**=हर्ष को अनुभव करते हुए हमारे प्रार्थना-शब्दों को सुनें। पर्वतों पर नाना प्रकार की ओषधि वनस्पतियाँ प्रादुर्भूत होती हैं, उनसे पर्वत हराभरा प्रसन्न प्रतीत होता है। हम भी पर्वतों की तरह अपने मार्ग से अडिग हों तथा अन्नों का ही सेवन करते हुए आनन्द का अनुभव करें। (३) **आदित्यैः**='प्रकृति, जीव, परमात्मा' के ज्ञानवाले आदित्य विद्वानों के साथ **अदितिः**=स्वास्थ्य (अ-दिति) **नः शृणोतु**=हमारी प्रार्थना को सुने। हम स्वस्थ हों और सदा आदित्य विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त करें। (४) **मरुतः**=प्राण **नः**=हमारे लिए **भद्रं शर्म**=कल्याणकारक सुख को **यच्छन्तु**=दें। प्राणसाधना करते हुए हम नीरोग व वासनाशून्य सुखी जीवनवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम शक्तिशाली व सुखी जीवनवाले हों। पर्वतों की तरह अपने मार्ग से अडिग बनें। स्वस्थ बनकर ज्ञानियों के संग से ज्ञान को बढ़ाएँ।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ व अन्त प्राणसाधना पर बल दे रहा है। वस्तुतः प्राणसाधना ही जीवन की निर्मात्री है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सात्त्विक भोजन तथा उत्कृष्ट समृद्ध जीवन

सदा सुगः पितुमाँ अस्तु पन्था मध्वा देवा ओषधीः सं पिपृक्त।
भगो मे अग्ने सख्ये न मृध्या उद्रायो अश्यां सदनं पुरुक्षोः॥ २१॥

(१) हे परमात्मन्! **सदा**=हमेशा हमारा **पन्थाः**=मार्ग **सुगः**=शोभनगमनवाला, निष्पाप व **पितुमान्**=प्रशस्त अन्नवाला **अस्तु**=हो। (२) हे **देवाः**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, वायु आदि देवो! **ओषधीः**=ओषधियों को **मध्वा**=मधु से-अत्यन्त माधुर्य से **संपिपृक्त**=संपृक्त करो। हमारे सब अन्न अत्यन्त माधुर्य से युक्त हों। प्रस्तुत मन्त्रभाग का अर्थ यह भी है कि हे **देवाः**=देववृत्तिवाले पुरुषो! तुम **ओषधीः**=ओषधियों को **मध्वा**=मधु से **संपिपृक्त**=जोड़ दो, अर्थात् ओषधियों (=वनस्पतियों) व शहद का ही सेवन करनेवाले बनो। (३) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सख्ये**=आपकी मित्रता में **मे**=मेरा **भगः**=ऐश्वर्य **न मृध्याः**=हिंसित न हो। मैं **रायः**=धन के तथा **पुरुक्षोः**=पालक व पूरक अन्न के **सदनम्**=गृह को **उत् अश्याम्**=उत्कर्षेण प्राप्त होऊँ, अर्थात् मुझे धनों की व अन्नों की कमी न हो।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए उत्कृष्ट मार्ग से चलें। भोजन में ओषधियों व मधु का प्रयोग करें। हमें धन व अन्न की कमी न हो।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सात्त्विक अन्न, ज्ञानवृद्धि व प्रभुदर्शन

स्वदस्व हव्या समिषो दिदीह्यस्मद्र्य१क्सं मिमीहि श्रवांसि।
विश्वाँ अग्ने पृत्सु ताञ्जेषि शत्रूनहा विश्वा सुमना दीदिही नः ॥ २२ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **हव्या स्वदस्व**=हव्य पदार्थों का ही तू स्वाद लेनेवाला बन। सात्त्विक पदार्थों का सेवन कर। अपने हृदय में **इषः**=प्रेरणाओं को **संदिदीहि**=दीप्त कर। सात्त्विक भोजन से पवित्र बने हृदय में तुझे उत्तम प्रेरणाएँ सुनाई पड़ेंगी ही। **अस्मद्र्यक्**=हमारी ओर (प्रभु की ओर) आनेवाला तू **श्रवांसि संमिमीहि**=अपने अन्दर ज्ञानों का अत्यन्त निर्माण कर। ज्ञानप्राप्ति से ही तू प्रभु को प्राप्त करेगा। (२) इस प्रकार करने पर हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विश्वा उअहा**=सब दिन-सदा **तान् शत्रून्**=उन काम-क्रोध आदि प्रसिद्ध शत्रुओं को **पृत्सु**=इन अध्यात्म संग्रामों में **जेषि**=पराजित करनेवाला होगा। शत्रुओं को परास्त करके **सुमनाः**=प्रसन्न मनवाला तू **नः दीदिहि**=हमें अपने हृदय में दीप्त करनेवाला हो। हृदय के निर्मल होने पर ही प्रभु का प्रकाश दिखेगा।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से सात्त्विक मनवाले बनकर प्रभुप्रेरणा को सुनें। ज्ञान को बढ़ाते हुए प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर बढ़ें। अध्यात्म-संग्राम में शत्रुओं को जीतकर निर्मल हृदय में प्रभु के प्रकाश का अनुभव करें।

सम्पूर्ण सूक्त जीवन को उत्तम बनाकर प्रभु को प्राप्त करने का उपदेश कर रहा है। अगले सूक्त के भी ऋषि देवता ये ही हैं। सो उसमें भी यही विषय प्रस्तुत हुआ है—

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः-उषा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

उषाकालीन स्वाध्याय

उषसः पूर्वा अध यद् व्यूषुर्महद्वि जज्ञे अक्षरं पदे गोः।
व्रता देवानामुप नु प्रभूषन्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १ ॥

(१) **अध**=अब **यद्**=ज्यों ही **पूर्वाः**=सूर्योदय से पूर्व आनेवाली अथवा हमारा पालन व पूरण करनेवाली (पृ पालन पूरणयोः) **उषसः**=उषाएँ **व्यूषुः**=अन्धकार को विवासित करती हैं, तो उस समय देववृत्तिवाले पुरुषों के जीवन में **गोः पदे**=वेदवाणी के शब्दों में **महद् अक्षरं**=(परमं अक्षरं) महान् अविनाशी प्रभु का **विजज्ञे**=प्रादुर्भाव होता है। ये स्वाध्याय करते हैं और ज्ञान की वृद्धि करते हुए प्रभु के उस ब्रह्माण्ड की रचना आदि कार्यों में उस प्रभु की महिमा को देखते हैं। (२) उषाकाल में प्रबुद्ध होकर स्वाध्याय करते हुए जब ये प्रभु की महिमा का चिन्तन करते हैं, तो इनके जीवन को **देवानां व्रता**=सूर्य आदि देवों के व्रत **नु**=निश्चय से **उप प्रभूषन्**=समीपता से अलंकृत करते हैं, अर्थात् सूर्यादि देवों से अपने जीवन में व्रतों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं। रामायण में राम के लिए कहते हैं कि 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव। विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः। कालाग्नि सदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः' (१।१।१८) राम ने समुद्र से गम्भीरता का पाठ पढ़ा, हिमालय से धैर्य को सीखा, विष्णु के पराक्रम को अपनाया और चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन बनने का यत्न किया। राजा होने के नाते वे कालाग्नि के समान क्रोध में हुए तो पृथिवी

के समान क्षमाशील बनें। (३) इस प्रकार सूर्यादि देवों से व्रतों को धारण करके इनका जीवन अत्यन्त सुन्दर बनता है। वस्तुतः **देवानाम्**=इन सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=हमारे जीवनों में प्राणशक्ति के संचार का कार्य **एकम्**=अद्भुत ही है और **महत्**=महान् है। हम इन देवों के व्रतों को धारण करते हैं। ये देव हमारे में **असुरत्व**=प्राबल्य की स्थापना करते हैं।

भावार्थ—हम उषाकालों में स्वाध्याय द्वारा प्रभु-महिमा को अपने हृदयों में अनुभव करें। सूर्यादि देवों के व्रतों से अपने जीवन को अलंकृत करें। ये सूर्यादि देव हमारे में शक्ति की स्थापना करेंगे।

सूचना—इस सूक्त के सभी मन्त्रों का अन्तिम भाग 'महद् देवानामसुरत्वमेकम्' यही है। उसे अगले मन्त्रों में पुनः पुनः लिखने की आवश्यकता न होगी।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों व पितरों के सम्पर्क में

मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः।
पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ २ ॥

(१) **अत्र**=यहाँ **नः**=हमें **देवाः**=सूर्यादि देव **मो**=(मा उ) मत ही **सु जुहुरन्त**=विनष्ट करनेवाले हों। हम इनके सम्पर्क में जीवन बिताते हुए अत्यन्त प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। 'देवाः' का भाव 'ज्ञानी पुरुष' भी है। वे हमें हिंसित करनेवाले न हों, अर्थात् हमें सदा उनका संग सुलभ रहे। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन् **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **पदज्ञाः**=मार्ग को जाननेवाले **पितरः**=रक्षक लोग **मा**=हमें हिंसित न करें। हमें इनका सम्पर्क सदा प्राप्त रहे। (३) इन देवों व पितरों की कृपा से **पुराण्योः**=इन सनातन **सद्मनोः**=(सीदन्त्यनयोर्देवमनुष्या इति सद्मनी रोदसी सा०) द्यावापृथिवी के **अन्तः**=अन्दर **केतुः**=प्रज्ञान ही प्रज्ञान हो। हम द्यावापृथिवी के अन्तर्गत सभी पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें। तभी हमें यह अनुभव होगा कि इन देवों का प्राणशक्ति संचार का कार्य अद्भुत है व महान् है।

भावार्थ—देवों व पितरों के सम्पर्क में हमें द्यावापृथिवी का उत्तम ज्ञान होगा। तब ये सब सूर्यादि देव हमें प्राणशक्ति देनेवाले होंगे।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ऋत का पालन

वि मे पुरुत्रा पतयन्ति कामाः शम्यच्छा दीद्ये पूर्व्याणि।
समिद्धे अग्नावृतमिद्वदेम महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ३ ॥

(१) **मे**=मेरी **कामाः**=कामनाएँ **पुरुत्रा**=अनेक प्रकार से **विपतयन्ति**=विविध दिशाओं में गतिवाली होती हैं। प्रभुकृपा से मैं **समि अच्छा**=उत्तम कर्मों का लक्ष्य करके **पूर्व्याणि**=पालक व पूरक ज्ञानों को अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये इन ज्ञानों को **दीद्ये**=अपने अन्दर दीप्त करता हूँ। इन दीप्त ज्ञानों के होने पर मेरे कर्म उत्तम ही होते हैं। (२) **अग्नौ समिद्धे**=इस ज्ञानाग्नि के समिद्ध होने पर **इत्**=निश्चय से **ऋतं वदेम**=हम अपने जीवन से ऋत का ही प्रतिपादन करें। हम ऋत को ही बोलें। हमारे सब कार्य ऋत के अनुसार हों। 'अनृतात् सत्यमुपैमि' अनृत को छोड़कर ऋत को बोलना ही तो सर्वमहान् व्रत है। यह ऋत का पालन करनेवाला अनुभव करता है कि देवों का प्राणशक्ति संचार का कार्य अद्भुत व महान् है। ऋत का पालन करनेवाले के जीवन को

सूर्यादि देव प्राणशक्ति से परिपूर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—हमारे में विविध कामनाएँ उठती हैं। सर्वोत्तम कामना यही है कि हम ज्ञानदीप्त होकर ऋत के अनुसार कार्यों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रसुप्त व जागरित' प्रभु

समानो राजा विभृतः पुरुत्रा शये शयासु प्रयुतो वनानु।
अन्या वत्सं भरति क्षेति माता महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ४॥

(१) **समानः**=(सम्यक् आनयति) सबको प्राणित करनेवाला, **राजा**=दीप्त, **विभृतः**=(विशिष्टं भृतं यस्य) सबका विशिष्ट रूप से भरण करनेवाला, **पुरुत्रा**=अनेक स्थानों में **शयासु**=निवास करनेवाली प्रजाओं में **शये**=निवास करता है। **वना अनु**=(वन संभक्तौ) उपासनाओं के अनुसार **प्रयुतः**=यह प्रकर्षेण युक्त होता है। सामान्यतः सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सब प्रजाओं में हैं ही। पर मानो वे सुप्त अवस्था में हों। 'शये' शब्द इसी भाव को व्यक्त कर रहा है। पर जो प्रजाएँ जागरित होकर उपासना में प्रवृत्त होती हैं, उनमें यह प्रभु प्रकर्षेण युक्त होते हैं। प्रभु की सत्ता उनमें जागरित हो उठती है। (२) प्रभु के बनाए हुए इन द्यावापृथिवी में **अन्या**=यह एक द्युलोक तो **वत्सम्**=जीवरूप वत्स (सन्तान) को **भरति**=वृष्टि द्वारा अन्न पैदा करके पोषित करता है। **माता**=यह भूमि माता **क्षेति**=इस वत्स को निवास देती है। इस प्रकार प्रभु के बनाए हुए इन सूर्यादि देवों का प्राणशक्ति संचार का कार्य विलक्षण व महान् है।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र वर्तमान हैं—उपासक उसकी सत्ता को अनुभव करते हैं। प्रभु के बनाए ये द्यावापृथिवी जीवरूप सन्तानों का भरण-पोषण करते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'आक्षित्' प्रभु

आक्षित्पूर्वास्वपरा अनूरुत्सद्यो जातासु तरुणीष्वन्तः।
अन्तर्वतीः सुवते अप्रवीता महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ५॥

(१) वह प्रभु **पूर्वासु**=प्रारम्भ में होनेवाली प्रजाओं व वस्तुओं में **आक्षित्**=समन्तात् निवास करता है। आरम्भ की अमैथुनी सृष्टि में होनेवाली प्रजाओं में भी उसका निवास है। **अपराः**=पीछे मैथुनी सृष्टि में होनेवाली प्रजाओं को भी **अनूरुत्**=वह अपने में अनुरुद्ध-आवृत करनेवाला है। **एवः जातासु**=अभी उत्पन्न हुई-हुई प्रजाओं में तो वह है ही, **तरुणीषु अन्तः**=युवतियों में भी उसकी सत्ता है। (२) यह भी प्रभु की अद्भुत ही महिमा है कि **अप्रवीताः**=किसी से भी आहित गर्भवाली न होती हुई भी ओषधियाँ **अन्तर्वतीः**=गर्भिणी होकर **सुवते**=पुष्प-फलों को उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार उत्पन्न हुए-हुए ये सब सूर्यादि देव अद्भुत व महान् प्रकार से प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु 'पूर्वभावी, अपरकालीन, सद्योजात व तरुण' सब में हैं। प्रभु की महिमा से ही अमैथुनी सृष्टि में सब प्रजाएँ, ओषधियाँ व पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'तदु सर्वस्य अस्य बाह्यतः'

शयुः परस्तादध नु द्विमाताबन्धनश्चरति वत्स एकः।
मित्रस्य ता वरुणस्य व्रतानि महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ६॥

(१) वह प्रभु गतमन्त्र के अनुसार 'आक्षित्' हैं, ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थों में हैं, परन्तु **परस्तात्**=इस ब्रह्माण्ड से परे भी **शयुः**=वे निवास करते हैं 'एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' 'अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्'। **अध**=अब **नु**=निश्चय से **द्विमाता**=वे प्रभु द्यावापृथिवी दोनों के निर्माता हैं, अथवा चराचर का निर्माण करनेवाले हैं। वे **एकः**=अद्वितीय **अबन्धनः**=सबका भरण करते हुए भी इसमें न फँसे हुए 'असक्तं सर्वभृच्चैव' **वत्सः**=वेदज्ञान का उच्चारण करनेवाले प्रभु **चरति**=सर्वत्र गति कर रहे हैं। (२) **ता**=वे सब दृश्यमान सूर्यादि पिण्डों के **व्रतानि**=निर्माणरूप कार्य उस **मित्रस्य**=सबके प्रति स्नेह करनेवाले **वरुणस्य**=पाप से रोकनेवाले प्रभु के हैं। प्रभु ने ही इन सबको बनाया है। प्रभु ही वस्तुतः सूर्यादि द्वारा दीप्ति दे रहे हैं। सूर्यादि सब पिण्डों में प्रभु की ही शक्ति काम कर रही है। इन सूर्यादि देवों का प्राणशक्ति संचार का कार्य अद्भुत व महान् है।

भावार्थ—प्रभु ब्रह्माण्ड से परे भी हैं। सबका धारण करते हुए भी असक्त हैं। सूर्यादि द्वारा प्रभु ही दीप्ति दे रहे हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्विमाता-होता

द्विमाता होता विदथेषु सम्राळन्वग्रं चरति क्षेति बुध्नः।
प्र रण्यानि रण्यवाचो भरन्ते महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ७॥

(१) एक प्रभु भक्त **द्विमाता**=मस्तिष्क व शरीर दोनों का निर्माण करनेवाला बनता है। **होता**=यह सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला होता है। **विदथेषु सम्राट्**=ज्ञानयज्ञों में यह दीप्त होता है। **अनु अग्रं चरति**=दिन-प्रतिदिन आगे और आगे चलता है। (बुध्नं=Body, अस्य अस्ति इति) **बुध्नः**=उत्तम शरीरवाला होता हुआ **क्षेति**=यहाँ निवास करता है। (२) ये प्रभु भक्त **रण्यवाचः**=रमणीय-वाणियोंवाले होकर **रण्यानि**=रमणीय स्तुति-वचनों को **प्रभरन्ते**=प्रकर्षेण धारण करते हैं और अनुभव करते हैं कि **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है और **महत्**=महान् है। प्रभुभक्त प्रभु से बनाए गए इन सूर्यादि से अपने अन्दर अद्भुत शक्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु भक्त शरीर व मस्तिष्क दोनों का सुन्दर निर्माण करनेवाला होता है। रमणीय स्तुति-वचनों को धारण करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रभुभक्त' एक शूर योद्धा के रूप में

शूरस्येव युध्यतो अन्तमस्य प्रतीचीनं ददृशे विश्वमायत्।
अन्तर्मतिश्चरति निष्षिधं गोर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ८॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **अन्तमस्य**=प्रभु के अन्तिकतम, अतएव **शूरस्य इव**=एक शूरवीर

के समान **युध्यतः**=वासनाओं से युद्ध करते हुए इस भक्त के प्रति **आयत्**=आक्रमण के लिए **आयत्**=प्राप्त हुआ **विश्वम्**=सब आसुरभाव **प्रतीचीनम्**=पराङ्मुख होकर लौटता हुआ ही **ददृशे**=दिखता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर यह भक्त सब आसुरभावों के आक्रमणों को विफल कर देता है। वस्तुतः इसके हृदय में स्थित प्रभु ही इसके उन शत्रुओं का संहार करते हैं। (२) यह **मतिः**=मननशील उपासक **गोः**=इस वेदवाणी की **निष्षिधम्**=सब पापों की हिंसिका दीप्ति को **अन्तः चरति**=अपने अन्दर ग्रहण करता है (धारयति सा०) प्रभु की उपासना से वासनाएँ विनष्ट होती हैं और हृदय की पवित्रता होने पर अन्तः प्रकाश दीप्त हो उठता है। उस समय सब सूर्यादि देव इसके अनुकूल होते हैं और यह अनुभव करता है कि इन सूर्यादि देवों का प्राणशक्ति-संचार का कार्य अद्भुत व महान् है।

भावार्थ—प्रभुभक्त शूरवीर योद्धा के समान वासनाओं को पराजित करता है और अन्तर्ज्योति से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदयस्थ प्रभु का प्रकाश

नि वे॑वेति पलि॒तो दू॒त आ॑स्व॒न्तर्म॒हाँश्च॑रति रोच॒नेन॑।
वपूं॑षि॒ बिभ्र॑द॒भि नो॒ वि च॑ष्टे म॒हद्दे॒वाना॑मसुर॒त्वमेक॑म्॥ ९ ॥

(१) वे प्रभु ज्ञानसन्देश देनेवाले होने से 'दूत' हैं, अत्यन्त सनातन होने से 'पलित' (पुराण) हैं अथवा पालन करनेवाले होने से 'पलित' हैं। वे **दूतः**=ज्ञानसन्देश देनेवाले और इस ज्ञान-सन्देश द्वारा **पलितः**=पालन करनेवाले प्रभु **आसु**=इन प्रजाओं में **नि वेवेति**=निश्चय से व्याप्त हो रहे हैं। वे **महान्**=महान् प्रभु इन उपासकों के **अन्तः**=अन्दर, इनके हृदयदेश में **रोचनेन चरति**=ज्ञानदीप्ति के साथ विचरण करते हैं। प्रभु इनके हृदयों को प्रकाशमय कर देते हैं। (२) **वपूंषि बिभ्रत्**=हमारे शरीरों को धारण करते हुए वे प्रभु **नः**=हमें **अभिविचष्टे**=पूर्ण अनुग्रह बुद्धि से देखते हैं। हमारे पर अनुग्रह करके ही प्रभु ने सूर्यादि देवों का निर्माण किया है। इन **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का काम **एकम्**=अद्वितीय ही है, अद्भुत है और **महत्**=महान् है।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमें ज्ञानसन्देश देकर प्रकाशमय जीवनवाला करते हैं। हमारे शरीरों का धारण करते हुए हमारा पूर्णरूप से पालन करते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

○ धामों व अमृतों का धारण

विष्णु॑र्गो॒पाः प॑र॒मं पा॑ति॒ पाथः॑ प्रि॒या धामा॑न्य॒मृता॒ दधा॑नः।
अ॒ग्निष्टा विश्वा॒ भुव॑नानि वेद म॒हद्दे॒वाना॑मसुर॒त्वमेक॑म्॥ १० ॥

(१) **विष्णुः**=वे प्रभु व्यापक हैं। **गोपाः**=गोरूप सब प्राणियों के रक्षक हैं-प्रजाएँ गौवें हैं, तो प्रभु गोपाल। वे प्रभु **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट **पाथः पाति**=मार्ग का रक्षण करते हैं। प्रभुकृपा से हम अपने जीवनों में मार्गभ्रष्ट नहीं होते। इस मार्ग पर चलाने द्वारा वे प्रभु **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **दधानः**=धारण करते हैं और **अमृता** (दधानः)= नीरोगता को प्राप्त कराते हैं। (२) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **ता विश्वा भुवनानि**=उन सब प्राणियों को **वेद**=जानते हैं। प्रभु सब प्राणियों का ध्यान करते हैं। इन सब प्राणियों के पालन के लिए ही सूर्यादि दिव्यपिण्डों की रचना उस प्रभु ने की है और इन दिव्यपिण्डों का (देवों का) प्राणशक्ति-संचार का कार्य अद्वितीय है व महान् है।

भावार्थ—वे व्यापक प्रभु हमें मार्ग का ज्ञान देते हैं। मार्ग पर आक्रमण द्वारा तेजस्विता व नीरोगता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**अहोरात्रौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिन और रात

नाना चक्राते यम्या॒३ वपूंषि तयो॑र॒न्यद्रोच॑ते कृ॒ष्णम॒न्यत्।
श्यावी॑ च॒ यदरु॑षी च॒ स्वसा॑रौ म॒हद्दे॒वाना॑मसुर॒त्वमेक॑म्॥ ११॥

(१) प्रभु की व्यवस्था में **यम्या**=नियन्त्रित होनेवाले, अथवा युगल रूप, दिन और रात **नाना**=भिन्न-भिन्न **वपूंषि**=शरीरों को-रूपों को **चक्राते**=बनाते हैं। **तयोः**=उन दोनों में से **अन्यत्**=एक (दिन) **रोचते**=सूर्य के प्रकाश से चमकता है तथा **अन्यत्**=दूसरी (रात्रि) **कृष्णम्**=अन्धकार के कारणवाली प्रतीत होती है। (२) ये **श्यावी च**=कृष्णवर्ण रात्रि और **यत्**=जो **अरुषी**=सूर्य-प्रकाश से आरोचमान दिन है, ये दोनों **स्वसारौ**=परस्पर बहिनों के समान हैं। एक दूसरे के साथ ये सम्बद्ध हैं। दिन के बाद रात्रि होती है, रात्रि के बाद दिन आता है। ठीक प्रकार से विनियुक्त हुए-हुए ये दिन-रात हमें **स्व-सारौ**=उस आत्मतत्त्व की ओर-प्रभु की ओर ले चलनेवाले हैं। इनका ठीक विनियोग यही है कि हम 'अहन्' अर्थात् दिन को 'अ-हन्' न नष्ट करने योग्य समझें-एक-एक मिनिट को कीमती समझते हुए उसे कार्य-विनियुक्त करें। रात्रि को रमयित्री बनाएँ, दिन भर के श्रम के बाद उस समय निद्रा का विश्राम लें। ऐसा करने पर हम अनुभव करेंगे कि **देवानाम्**=सब सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है तथा **महत्**=महान् है।

भावार्थ—प्रभु के बनाए दिन-रात का ठीक विनियोग करते हुए हम पूर्ण स्वस्थ बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**रोदसी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माता और दुहिता

मा॒ता च॒ यत्र॑ दुहि॒ता च॑ धे॒नू स॑ब॒र्दुघे॑ धा॒पये॑ते समी॒ची।
ऋ॒तस्य॒ ते सद॒सीळे अ॒न्तर्म॒हद्दे॒वाना॑मसुर॒त्वमेक॑म् ॥ १२ ॥

(१) अन्नादि को देनेवाली पृथिवी 'माता' है और सुदूर स्थित होने से (दूरे हिता) अथवा वृष्टि आदि द्वारा पृथिवीलोक का पूरण करने से (दुह प्रपूरणे) द्युलोक 'दुहिता' है। **माता च**=निश्चय से यह मातृतुल्य पृथिवी, **च**=और सुदूरस्थित **दुहिता**=द्युलोक **यत्र**=जिस प्रभु के आधार में **धेनू**=हम सबका प्रीणन करते हैं, **ते**=वे **सबर्दुघे**=(सब शब्दः क्षीरपर्यायः सा०) उत्तम क्षीररूप रस का दोहन करनेवाले हैं और **समीची**=परस्पर संगत हुए-हुए **धापयेते**=वत्सरूप हम जीवों को उस क्षीर का पान कराते हैं। मैं उस प्रभु का **ऋतस्य सदसि अन्तः**=ऋत के स्थानभूत अन्तःकरण में **ईडे**=उपासन करता हूँ। (२) हृदय को मैं अनृत से दूर करके ऋतमय बनाता हूँ। ऋत (सत्य) से मेरा यह हृदय पवित्र होता है। इस पवित्र अन्तःकरण में मैं प्रभु का दर्शन व उपासन करता हूँ। मुझे प्रभु के बनाये द्यावा-पृथिवी माता-पिता सदृश पालें। ऐसा विश्वास साधक को होना चाहिए।

भावार्थ—द्यावा-पृथिवी सब प्राणियों का पालन करते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**रोदसी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अ॒न्यस्या॑ व॒त्सं रि॑ह॒ती मि॑माय॒ कया॑ भु॒वा नि द॑धे धे॒नुरूधः॑ ।
ऋ॒तस्य॒ सा पय॑सापिन्व॒तेळा॑ म॒हद्दे॒वाना॑मसुर॒त्वमेक॑म् ॥ १३ ॥

(१) **धेनुः**=गौ के समान **द्यौः कया भुवा**=जलमय भूमि के द्वारा **ऊधः**=मेघ को **नि दधे**=धारण करती है। **अन्यस्याः**=दूसरी पृथिवी के **वत्सम्**=बछड़े के समान **रिहती**=मेघ को चाहती हुई **मिमाय**=ध्वनि करती है। तब **सा इडा**=वह भूमि **ऋतस्य पयसा**=सूर्य से उत्पन्न जल से **अपिन्वत**=सींचती है **देवानाम्**=सूर्य देव का **एकं महत असुरत्वम्**=एक बड़ा भारी जीवन दान करने का विशेष धर्म है।

भावार्थ—सूर्य देव हमें जीवन दान देता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**रोदसी**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा।
ऋतस्य सद्म वि चरामि विद्वान्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ १४॥

पद्या=सूर्य किरणों से प्रकाशित होने योग्य भूमि जो **पुरुरूपा**=प्रभु के बनाए इन द्यावा नानारूपोंवाले **वपूंषि**=शरीरों को **वस्ते**=धारण करती है। यहाँ स्थावर जंगम कितनी ही आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। उधर दूसरी ओर **त्र्यविम्**=तीनों लोकों के रक्षक सूर्य को **रेरिहाणा**=चाटती-सी हुई यह द्यौः **ऊर्ध्वा**=ऊपर **तस्थौ**=स्थित है। (२) मैं इन पृथिवी व द्युलोक को **विद्वान्**=अच्छी प्रकार समझता हुआ **ऋतस्य सद्म**=ऋत के-यज्ञ के गृह में **विचरामि**=विचरण करता हूँ। इस यज्ञ द्वारा पार्थिव पदार्थ द्युलोक में पहुँचते हैं। वहाँ द्युलोक से वर्षा होकर इस पृथ्वी पर अन्न उत्पन्न होता हैं। इस प्रकार यह यज्ञ पृथ्वीलोक व द्युलोक के परस्पर सम्बन्ध को स्थापित करनेवाला होता है। पृथ्वी इन नानारूपों का धारण, वृष्टि के अभाव में न कर सकती। न अन्न पैदा होता, न इन प्राणियों का धारण होता। पृथ्वी के पदार्थों के यज्ञों में आहुति न पड़ने पर मेघ-निर्माण की क्रिया ही न हो पाती 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'। इस प्रकार यज्ञ से परस्पर सम्बद्ध इन **देवानाम्**=पृथ्वीस्थ व द्युलोकस्थ अग्नि, सूर्य आदि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है और **महत्**=महान् है।

भावार्थ—पृथिवी प्राणियों का धारण करती है, द्युलोक सूर्य का आस्वाद-सा लेता प्रतीत होता है। यज्ञ इन दोनों लोकों के परस्पर सम्बद्ध होने का कारण बनता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**रोदसी द्युनिशौ वा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

विराट् पुरुष के दो पाँव

पदेइव निहिते दस्मे अन्तस्तयोरन्यद् गुह्यमाविरन्यत्।
सध्रीचीना पथ्या३ सा विषूची महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ १५॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित द्युलोक व पृथ्वीलोक विराट् पुरुष के **पदे इव**=पाँवों के समान **निहिते**=स्थापित हैं। विराट् पुरुष का एक पाँव पृथ्वीलोक है, तो दूसरा पाँव द्युलोक है। ये दोनों **दस्मे**=अत्यन्त दर्शनीय व प्राणियों के दुःखों का विनाश करनेवाले हैं (दसु उपक्षये)। (२) **तयोः अन्तः**=उन दोनों के अन्दर **अन्यद् गुह्यम्**=एक तो अत्यन्त गुह्य व रहस्यमय है-इस द्युलोक का समझना सुगम नहीं है। **अन्यत्**=दूसरा यह पृथ्वीलोक **आविः**=प्रकट ही है-इस पर तो हम चल फिर ही रहे हैं-यह उतना छिपा हुआ नहीं। यह पृथिवी **सध्रीचीना**=सूर्य के साथ (पतिपरायणा स्त्री के समान) गतिवाली है तथा **पथ्या**=(धर्ममार्ग से विचलित न होनेवाली स्त्री के समान) स्वक्रान्तिपथ से न विचलित होनेवाली है, परन्तु **सा**=वह **द्यौ विषूची**=विविध दिशाओं में गतिवाली व व्यापक है। इन द्युलोक व पृथ्वीलोक में स्थित सब देवों का प्राणशक्ति-संचार का

कार्य अद्वितीय व महान् है।

भावार्थ—पृथिवीलोक व द्युलोक विराट् पुरुष के दो पाँवों के समान हैं, पृथ्वी प्रकट है, द्युलोक गुह्य है। पृथ्वी मार्ग पर चल रही है, द्युलोक व्यापक है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**दिशः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अप्रदुग्ध धेनुएँ

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः ।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १६ ॥

(१) **धेनवः**=वेदवाणीरूप ये धेनुएँ-ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली वेदवाणियाँ हमारे लिए **आधुनयन्ताम्**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करें (आदुहन्तु)। ये ज्ञानवाणियाँ **अशिश्वीः**=(शिशवो न भवन्ति) अत्यन्त सनातन हैं-नवोत्पन्न शिशु की तरह नहीं हैं-प्रत्न हैं (पुरातन), कभी जीर्ण न होनेवाली। **सबर्दुघाः**=ज्ञानदुग्ध का हमारे में पूरण करनेवाली हैं (दुह प्रपूरणे)। **शशयाः**=वस्तुतः हमारी बुद्धिरूप-गुहा में ये शयन करनेवाली हैं-वासनावरण के कारण ही इनका प्रकाश हमें नहीं दिखता। **अप्रदुग्धाः**=ये वेदवाणीरूप धेनुएँ कभी प्रदुग्ध नहीं हो जातीं, ऐसी स्थिति कभी नहीं होती कि 'हम यह कह सकें कि अब इनसे और क्या ज्ञान प्राप्त होना ?' 'जो ज्ञान मिलना था मिल गया'। (२) ये वेदवाणियाँ तो **नव्याः नव्याः**=प्रत्येक पारायण में (पाठ में) नवीन और नवीन ही प्रतीत होती हैं। इनके फिर-फिर अध्ययन से उत्तरोत्तर ज्ञान का प्रकर्ष होता चलता है। **युवतयः भवन्तीः**=ये हमारे जीवनों में दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाली होती जाती हैं। इनके अध्ययन से ही हम सूर्यादि देवों के ठीक सम्पर्क में आते हुए अनुभव करते हैं कि इन **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है व **महत्**=महान् है।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौवों का ज्ञानदुग्ध हमारे जीवनों को बुराइयों से रहित व अच्छाइयों से युक्त करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वे प्रभु ही भग हैं, राजा हैं

यदुन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे नि दधाति रेतः ।
स हि क्षपावान्त्स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १७ ॥

(१) **यत्**=जो **वृषभः**=शक्तिशाली व सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु **अन्यासु**=विलक्षण बुद्धिवाली कई प्रजाओं में **रोरवीति**=ज्ञानशब्दों का अत्यन्त ही उच्चारण करते हैं 'तिस्रो वाच उदीरते, हरिरेति कनिक्रदत्'। **सः**=वही प्रभु **अन्यस्मिन् यूथे**=दूसरे मनुष्यों के समूह में **रेतः निदधाति**=शक्ति का स्थापन करते हैं। इस शक्तिस्थापन द्वारा **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **क्षपावान्**=शत्रुओं का क्षपण व विनाश करनेवाले होते हैं। ब्राह्मणवृत्ति के पुरुषों में प्रभु ज्ञान का स्थापन करते हैं, तो क्षत्रियवृत्तिवालों में वे ही शक्ति को स्थापित करनेवाले हैं। (२) **सः**=वे प्रभु ही **भगः**=ऐश्वर्य हैं। वैश्यों का ऐश्वर्य प्रभु ही हैं 'अहं धनानि संजयामि शश्वतः'। किसी वैश्य को ऐसा नहीं समझना कि ऐश्वर्य का अर्जन वह करता है-वस्तुतः प्रभु ही उसके लिए धनार्जन करनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **राजा**=सारे समाज का व्यवस्थापन करनेवाले व शासक हैं। उनके शासन का कोई उल्लंघन नहीं कर पाता। इस प्रभु के शासन से शासित **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति

संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है व **महत्**=महान् है।

भावार्थ—प्रभु ही ब्राह्मणों के लिए ज्ञान, क्षत्रियों के लिए बल व वैश्यों के लिए धन देनेवाले हैं। वे प्रभु ही पर्जन्यरूप हैं–सब वस्तुओं का वर्षण वे ही कर रहे हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वीर की स्वश्वता

वीरस्य नु स्वश्व्यं जनासः प्र नु वोचाम विदुरस्य देवाः।
षोळ्हा युक्ताः पञ्चपञ्चा वहन्ति महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ १८॥

(१) हे **जनासः**=लोगो! हम **नु**=अब **वीरस्य**=वीर व्यक्ति की **स्वश्व्यम्**=स्वश्वता का–इन्द्रियाश्वों के उत्तम होने का **प्रवोचाम**=प्रतिपादन करें–कथन करें। उसकी स्वश्वता का प्रशंसन करते हुए हम भी स्वश्व बनने के लिए यत्नशील हों **अस्य**=इसकी स्वश्वता को **देवाः**=सब देव **विदुः**=जानें अथवा प्राप्त कराएँ। (२) वस्तुतः इस शरीर–रथ में **षोढा**=इस प्रकार से **युक्ताः**=युक्त हुए–हुए 'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा छठा मन' ये ठीक प्रकार से अपने कार्य में लगे हुए, **वहन्ति**=इस शरीर–रथ का वहन करते हैं। इसी प्रकार **पञ्च**=पाँच **पञ्च**=जो पाँच हैं= वे इस शरीर–रथ को चलाते हैं। इस शरीर–रथ में पाँच पंचक हैं। पहला पंचक है—'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश'। दूसरा है—'प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान'। तीसरा—'पाँच कर्मेन्द्रियाँ'। चौथा—'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ'। पाँचवा—'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय'। ये पाँच पंचक शरीर का वहन कर रहे हैं। इन सब की क्रियाओं में उन **देवानाम्**=सूर्यादि का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति–संचार का कार्य **एकम्**=विलक्षण है व **महत्**=महान् है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'त्वष्टा' द्वारा निर्माण व पोषण

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ १९॥

(१) **देवः**=वे प्रभु (दिवु क्रीडायाम्) इस 'ब्रह्माण्ड के निर्माण, धारण व प्रलय' रूप क्रीडा को करनेवाले हैं। **त्वष्टा**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त हैं (त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः), **सविता** (षू प्रेरणे)=इस ज्ञानप्रेरणा को देनेवाले हैं। **विश्वरूपः**=सारे संसार के पदार्थों का विरूपण करनेवाले हैं। (२) **प्रजाः पुपोष**=सारी प्रज्ञाओं का प्रभु ही पोषण करते हैं, **पुरुधा जजान**=अनेक प्रकार से उनको उत्पन्न करते हैं। प्रजाओं के पोषण के लिए उन्होंने सूर्यादि देवों का भिन्न–भिन्न लोकों में स्थापन किया है। ग्यारह देव पृथिवीलोक में, ग्यारह अन्तरिक्षलोक में तथा ग्यारह देव द्युलोक में उस प्रभु द्वारा स्थापित किये गए हैं। **देवानाम्**=इन सब सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति–संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है तथा **महत्**=महान् है।

भावार्थ—प्रभु ही निर्माता व पोषक हैं। प्रजाओं के पोषण के लिए उन्होंने ही सूर्यादि देवों का उस–उस लोक में स्थापन किया है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु के तेज से व्याप्त 'द्यावापृथिवी'

मही समैरच्चम्वा समीची उभे ते अस्य वसुना न्यृष्टे।
शृण्वे वीरो विन्दमानो वसूनि महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ २०॥

(१) **मही**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व महान् **समीची**=परस्पर संगत **चम्वा**=द्यावापृथिवी को वे प्रभु **समैरत्**=प्रजा, पशु आदि से सम्यक् युक्त करते हैं। ये द्यावापृथिवी 'चम्वा' कह गये हैं, चूँकि 'चमन्ति अदन्ति अनयोर्देवमनुष्याः' सब देव व मनुष्य इन्हीं में भोजन प्राप्त करते हैं। सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव हमारे लिए प्राणनीय शक्ति प्राप्त करानेवाले हैं। **ते उभे**=वे दोनों द्यावापृथिवी **अस्य**=इस इन्द्र के **वसुना**=तेज व ऐश्वर्य से **न्यृष्टे**=नितरां व्याप्त हैं। सर्वत्र प्रभु का ही तेज व ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है। (२) **वीरः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **वसूनि**=सब वसुओं को **विन्दमानः**=प्राप्त करते हुए **शृण्वे**=सुने जाते हैं। 'तवेदिदयभिश्वेकिते वसु'। प्रभु ही सूर्यादि को तेज व दीप्ति आदि प्राप्त कराते हैं। सब बुद्धिमान् पुरुषों को बुद्धि देनेवाले भी वे प्रभु ही हैं। बल तेज सब प्रभु ही देते हैं। प्रभु के बनाए **देवानाम्**=इन सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=विलक्षण है व **महत्**=महान् है।

भावार्थ—द्युलोक व पृथ्वीलोक प्रभु के तेज से व्याप्त हैं। ये सब का पालन करते हैं। प्रभु ही सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पुरः सदः+शर्मसदः

इमां च नः पृथिवीं विश्वधाया उप क्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ २१॥

(१) वह **विश्वधायाः**=सब का धारण करनेवाला व प्रीणन (तृप्ति) करनेवाला प्रभु **नः**=हमारी **इमां पृथिवीं च**=इस पृथिवी को निश्चय से **उपक्षेति**=अपना निवास-स्थान बनाता है। इस पृथिवी में निवास करता हुआ वह हम सबका धारण करता है। वह प्रभु **हितमित्रः न**=हित करनेवाले मित्र के समान **राजा**=सब का आश्रय है। **पुरःसदः**=आगे जानेवाले व्यक्ति **शर्मसदः न**=सदा प्रभु की शरण में रहनेवालों के समान **वीराः**=वीर होते हैं। प्रभु के उपासक प्रभु की शरण में निवास करते हैं-वे प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होते हैं। ये अपने जीवन में अनुभव करते हैं कि **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है तथा **महत्**=महान् है। इन्हें सब देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है, सो अपने में ये शक्ति का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही इस पृथिवी के शासक हैं। उनके उपासक प्रभु की शरण में शक्ति का अनुभव करते हैं। सदा आनन्द में बने रहते हैं।

सूचना—'शर्मसदः' का अर्थ 'आनन्द में रहनेवाले' भी है। सदा प्रसन्न रहनेवाला वीर होता है। 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' आदि प्रसन्नता के विरोधी भाव ही शक्ति को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ओषधि व जल

निष्षिध्वरीस्त ओषधीरुतापो रयिं त इन्द्र पृथिवी बिभर्ति।
सखायस्ते वामभाजः स्याम महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ २२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपका ये **ओषधीः**=ओषधियाँ **उत**=और **आपः**=जल **निःषिध्वरीः**=निश्चय से रोगों का निषेध व निराकरण करनेवाली हैं। हे परमात्मन्! **ते**=आपकी यह **पृथिवी**=भूमि माता **रयिं बिभर्ति**=हमारे लिए सब धनों का व रयि शक्ति का पोषण करती

है। इस पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करते हुए व जलों का प्रयोग करते हुए हम स्वस्थ रहते हैं। यह पृथिवी अन्य भी आवश्यक धनों को हमारे लिए अवश्य प्राप्त कराती है। (२) हे प्रभो! हम **ते सखायः**=आपके मित्र बनें-आपकी ओर हमारा झुकाव हो-हम प्रकृति में आसक्त न हो जाएँ। तथा **वामभाजः**=सब रमणीय वसुओं के भागी बनें। प्रकृति के विषयों में आसक्ति ही हमें निम्न मार्ग की ओर ले जाती है और हमारे कष्टों का कारण बनती है। आपका उपासन करते हुए हम अनुभव करें कि **देवानाम्**=आपके बनाए इन सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है व **महत्**=महान् है।

भावार्थ—हम ओषधि व जलों का सेवन करते हुए सदा स्वस्थ रहें। पृथिवी हमारे लिए सब आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाली हो। प्रभु के मित्र बनकर हम सदा सुन्दर वसुओं के भागी हों।

सूक्त का विषय ही है कि प्रभु का बनाया संसार सदा हमारा हित करनेवाला है। हम प्रभु के सम्पर्क में रहकर इस संसार के प्रत्येक पदार्थ से कल्याण प्राप्त करें। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मायी धीर पुरुषों की दृढ़ता

न ता मिनन्ति मायिनो न धीरा व्रता देवानां प्रथमा ध्रुवाणि।
न रोदसी अद्रुहा वेद्याभिर्न पर्वता निनमे तस्थिवांसः॥ १॥

(१) **देवानाम्**=देवों के **व्रता**=व्रत **प्रथमा**=सर्वमुख्य हैं और **ध्रुवाणि**=ध्रुव हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, जल तेज आदि सब देव अपने व्रतों में चल रहे हैं-कभी अपने व्रत से ये विचलित नहीं होते। **ता**=इनके उन व्रतों को **न मायिनः**=न तो प्रज्ञावान् पुरुष और **न धीराः**=न धीर-धैर्य वृत्तिवाले पुरुष **मिनन्ति**=हिंसित करते हैं। ये तो सूर्य और चन्द्रमा (आदि) की तरह कल्याण के मार्ग पर चलते रहते हैं। (२) **वेद्याभिः**=ज्ञातव्य बातों के ज्ञान द्वारा **अद्रुहा**=परस्पर द्रोह से वर्जित **रोदसी**=द्यावापृथिवी को-शरीर व मस्तिष्क को ये प्रज्ञावान् धीर पुरुष **न (मिनन्ति)**=हिंसित नहीं करते। 'शरीर को कैसे स्वस्थ रखना तथा मस्तिष्क को कैसे दीप्त बनाना' इन बातों को समझकर ये पुरुष शरीर व मस्तिष्क को हिंसित नहीं होने देते। इनके जीवन में स्वस्थ शरीर मस्तिष्क को दीप्त करता है तथा दीप्त मस्तिष्क शरीर को स्वस्थ बनाता है। (३) ये मायी धीर पुरुष **तस्थिवांसः**=स्थिरवृत्ति के होते हैं, **पर्वताः**=पर्वतों के समान अविचल होते हैं अथवा (पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवाले होते हैं। **न निनमे**=किन्हीं प्रलोभनों व भयों के कारण ये अपने व्रतों से नत नहीं हो जाते-झुक नहीं जाते।

भावार्थ—प्रज्ञावान् धीर पुरुष (क) सूर्य-चन्द्रादि की तरह अपने मार्ग का आक्रमण करते हैं। (ख) शरीर व मस्तिष्क को स्वस्थ व दीप्त बनाते हैं, (ग) स्थिरवृत्ति बनकर व्रतों से विचलित नहीं होते।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

जीव का स्वरूप

षड् भाराँ एको अचरन्बिभर्त्यृतं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः।
तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका॥ २॥

(१) **एकः**=एक जीव **अचरन्**=वस्तुतः कूटस्थरूपेण रहता हुआ या न खाता हुआ (चर भक्षणे) **षड्द्वः भारान्**=(भ्रियते ज्ञानादिकं यैः) ज्ञानप्राप्ति के साधनभूत ज्ञानेन्द्रियों व मन (अन्तःकरण) को **बिभर्ति**=धारण करता है। (२) इनके द्वारा इसे **गावः उप आगुः**=ज्ञान-वाणियाँ समीपता से प्राप्त होती हैं। प्राप्त तब होती हैं, जब कि यह **ऋतम्**=ऋत का पालन करता हुआ 'ऋतमय' व ऋत ही बन जाता है, जब यह सब कार्य बड़े नियमित रूप से करता है तथा जब यह **वर्षिष्ठम्**=वृद्धतम बनता है-अपनी शक्तियों को बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। (३) इस जीव के इस भौतिक जीवन में **अत्या**=निरन्तर गतिशील **तिस्रः**=तीन **महीः**=चित्त की भूमिकाएँ **उपराः**=(उपर्युपरि) एक के ऊपर दूसरी इस प्रकार **तस्थुः**=स्थित हैं। 'जागरित' के बाद 'स्वप्न' की भूमिका आती है, स्वप्न के बाद 'सुषुप्ति'। इस प्रकार इनका क्रम चलता ही रहता है। इनमें **द्वे**=स्वप्न व सुषुप्तिरूप दो भूमिकाएँ तो **गुहा निहिते**=बुद्धिरूप गुहा में ही स्थापित होती हैं। **एका**=एक यह जागरित ही है, जो कि **दर्शि**=इन्द्रियों का विषय बनती है।

भावार्थ—जीव पाँच ज्ञानेन्द्रियों व छठे अन्तःकरण को धारण करता हुआ सब ज्ञानों को प्राप्त करता है। यह प्रतिदिन जागिरत, स्वप्न व सुषुप्ति रूप तीन चित्त की भूमिकाओं में से गुजरता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रिपाजस्य

त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्।
त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम्॥ ३॥

(१) पाँच ज्ञानेन्द्रियों व मन को धारण करनेवाला जीव **त्रिपाजस्यः**=तीनों शक्तियों में उत्तम होता है। इसके शरीर, मन व बुद्धि तीनों बलवान् होते हैं। **वृषभः**=यह सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला होता है। **विश्वरूपः**=उस सर्वव्यापक प्रभुवत यह निरूपण करनेवाला होता है। प्रभु के गुणों का स्तवन करता है। **उत**=और **त्र्युधा**=(त्रीणि ऊधांसि यस्य) तीन ऊधसोंवाला होता है, जैसे गौ का 'ऊधस्' दुग्ध का आधार होता है, उसी प्रकार इसके ज्ञानदुग्ध के आधारभूत तीन ऊधस् होते हैं। 'ऋचाएँ, यजु व साम' ही वे तीन ऊधस् हैं। इन ज्ञानदुग्ध के ऊधसों के कारण यह **पुरुध प्रजावान्**=अनेक प्रकार से शक्तियों के विकासवाला होता है। (२) **अनीकः**=(अनीकं=बलं) इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्तिरूप तीन बलोंवाला यह **पत्यते**=ऐश्वर्यवाला होता है-स्वामी बनता है। **माहिनावान्**=महत्त्वपूर्ण जीवनवाला होता हुआ अथवा (मह पूजायाम्) प्रभु-पूजा की वृत्तिवाला होता हुआ **सः**=वह उपासक **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है-प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होता है और **शश्वतीनाम्**=सनातन वेदवाणियों के **रेतोधाः**=रेतस् को अपने अन्दर धारण करनेवाला होता है। इनको अपने जीवन में परिणत करना ही इनके रेतस् को धारण करना है।

भावार्थ—हम शरीर, मन व बुद्धि तीनों को उत्तम शक्ति-सम्पन्न बनाएँ। वेदवाणी को अपने जीवन में अनूदित करें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आदित्यों की तीन बातें

अभीकं आसां पदवीरबोध्यादित्यानामह्वे चारु नाम।
आपश्चिदस्मा अरमन्त देवीः पृथग्व्रजन्तीः परि षीमवृञ्जन्॥ ४॥

(१) गतमन्त्र में 'त्रिपाजस्य' व्यक्ति सब उत्तमताओं का आदान करते हुए आदित्य बनते हैं। **आसाम्**=इन **आदित्यानाम्**=आदित्य-वृत्तिवाले व्यक्तियों को **पदवीः**=(पदानि वेति प्रजनयति) ज्ञानशब्दों को प्राप्त करानेवाला प्रभु **अभीक**=समीप होता है। ये आदित्य प्रभु का सान्निध्य अनुभव करते हैं। (२) इन आदित्यों द्वारा उस प्रभु का **चारु नाम**=सुन्दर नाम **अह्वे**=पुकारा जाता है- ये प्रभु के नाम का स्मरण करते हैं। (३) **अस्मै**=इस आदित्य-वृत्तिवाले व्यक्ति के लिए **देवीः आपः**=दिव्यगुणोंवाले अथवा रोगकृमियों पर आक्रमण करनेवाले रेतःकणरूप जल **अरमन्त**=रमण करनेवाले होते हैं। वीर्यकण इसके शरीर के अन्दर ही क्रीडा करते हैं। और वे वीर्यकण रूप (आपः) जल **पृथग् व्रजन्तीः**=सामान्य क्रम से भिन्न तरीके से जाते हुए, अर्थात् निम्न गतिवाले न होकर ऊर्ध्वगतिवाले होते हुए **सीम्**=निश्चय से **परि अवृञ्जन्**=शरीर में चारों ओर पवित्रता को करनेवाले होते हैं (वृज्=purify)।

भावार्थ—आदित्य-वृत्ति के व्यक्ति (क) प्रभु के समीप निवास करते हैं, (ख) प्रभु के प्रिय नाम का जप करते हैं, (ग) इनके शरीर में रेतःकण ऊर्ध्वगतिवाले होकर पवित्रता का साधन बनते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रिमाता

त्री षधस्था सिन्धवस्त्रिः कवीनामुत त्रिमाता विदथेषु सम्राट्।
ऋतावरीर्योषणास्तिस्रो अप्यास्त्रिरा दिवो विदथे पत्यमानाः॥ ५॥

(१) **त्री सध-स्था**=तीन लोक हैं, जो कि मिलकर ही स्थित होते हैं। जैसे बाहर आधिदैविक जगत् में पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक का परस्पर सम्बन्ध है, इसी प्रकार अध्यात्म में शरीर, मन व मस्तिष्क का परस्पर सम्बन्ध है। **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शी तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के **त्रिः सिन्धवः**=तीन प्रकार से ज्ञान प्रवाह बहते हैं। प्रकृति का विज्ञानरूप सिन्धु 'ऋक्' है, जीव का विज्ञानरूप सिन्धु 'यजुः' है तथा परमात्मा का विज्ञान-सिन्धु 'साम' है। इन ज्ञानीपुरुषों की बुद्धिरूप गुहा में 'ऋग्, यजुः, साम' रूप तीन सिन्धुओं का प्रवाह चलता है। **उत**=और यह कवि **त्रिमाता**=ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों का निर्माण करनेवाला होता है। **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में यह **सम्राट्**=दीप्त होता है। (२) इस कवि की **तिस्रः**=तीन **योषणाः**=पत्नी के रूप में स्थित वेदवाणियाँ ('परीमे गामनेषत०') **ऋतावरीः**=इसके जीवन में ऋत का रक्षण करनेवाली होती हैं और **अप्याः**=कर्मों में उत्तम होती हैं, अर्थात् यह कवि वेदवाणी के अपनाने से ऋतमय जीवनवाला-सब कार्यों को ऋतपूर्वक करनेवाला तथा क्रियाशील होता है। ये कवि लोग **दिवः त्रिः**=दिन में तीन वार **विदथे**=ज्ञानयज्ञ में **पत्यमानाः**=गतिवाले होते हैं। 'प्रातः, मध्यान् व सायं' तीनों समय इनका ज्ञानयज्ञ चलता है-ये तीनों कालों में स्वाध्याय को अपनाते हैं।

भावार्थ—ज्ञानीपुरुष 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करने के लिए यत्नशील होते हैं। प्रातः, मध्याह्न व सायं तीनों कालों में इनका ज्ञानयज्ञ चलता है। 'ज्ञान, कर्म व उपासना' का अपने में समन्वय करता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान तथा वसुओं की प्राप्ति

त्रिरा दिवः सवितर्वार्याणि दिवेदिव आ सुव त्रिर्नो अह्नः।
त्रिधातु राय आ सुवा वसूनि भग त्रातर्धिषणे सातये धाः॥ ६॥

(१) हे **सवितः**=हमारे हृदयों में प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **अह्नः त्रिः**=दिन में तीन वार **नः**=हमें **त्रिः**=तीन प्रकार से विभक्त **दिवः**=ज्ञान के (प्रकृति विज्ञान, जीवज्ञान, प्रभु का ज्ञान) **वार्याणि**=वरणीय धनों को **आसुव**=सर्वथा प्राप्त कराइये। हम प्रातः, मध्याह्न व सायं तीनों कालों में ज्ञानधन प्राप्त करने का प्रयत्न करें। (२) **त्रि धातु रायः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का धारण करनेवाले धनों को तथा **वसूनि**=विकास के लिए आवश्यक सब पदार्थों को हे **भग**=सर्वैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! **आसुव**=प्राप्त कराइये। हे **त्रातः**=रक्षक प्रभो! **सातये**=सब धनों के लाभ के लिए आप हमें **धिषणे**=बुद्धि में **धाः**=स्थापित करिए। हम ज्ञानी बनकर सब आवश्यक धनों का उपार्जन करनेवाले हों। 'धिषण' शब्द 'घर' का वाचक है। सो **धिषणे**=घर में **धाः**=स्थापित करा, अर्थात् हम विलास की वृत्तिवाले बनकर इधर-उधर भटकनेवाले न हों। विलासवृत्तिवाले हम हुए और धनों का विनाश हुआ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ज्ञानधनों को प्राप्त करके हम सब आवश्यक धनों व वसुओं को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्नेह, निष्पापता व उदारता

त्रिरा दिवः सविता सोषवीति राजाना मित्रावरुणा सुपाणी।
आपश्चिदस्य रोदसी चिदुर्वी रत्नं भिक्षन्त सवितुः सवाय॥ ७॥

(१) वह **सविता**=प्रेरक प्रभु **दिवः त्रिः**=दिन में तीन वार **आसोषवीति**=हमारे लिए धनों को प्रेरित करें, अर्थात् हम सदा आवश्यक धनों को अपने जीवन में प्राप्त करनेवाले हों। जीवन का प्रातःकाल प्रथम २४ वर्ष हैं, मध्याह्न अगले ४४ वर्ष हैं तथा सायं अन्तिम ४८ वर्ष हैं। हमें प्रभु इन सब समयों में आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। **राजाना**=ज्ञान से दीप्त होनेवाले, **सुपाणी**=उत्तम हाथों (कर्मों) वाले **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण, सब के साथ स्नेह करनेवाले व द्वेष का निवारण करनेवाले लोग और **आपः**=(आप्लृ व्याप्तौ) व्यापक (उदार) वृत्तिवाले पुरुष **अस्य सवितुः**=इस प्रेरक प्रभु के यज्ञों के लिए **रत्नम्**=रमणीय धनों की **भिक्षन्त**=याचना करते हैं। प्रभु से रमणीय धनों को प्राप्त करके वे यज्ञों में उनका विनियोग करते हैं। (२) **चित्**=निश्चय से **उर्वी रोदसी**=विशाल द्यावापृथिवी उस परमात्मा से ही रत्नों की याचना करते हैं। इन विशाल द्यावापृथिवी में रहनेवाले सब प्राणी प्रभु से ही धनों को प्राप्त करते हैं। प्रभु से प्राप्त धनों द्वारा ही वे यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें जीवन को यज्ञमय बनाने के लिए धनों को प्राप्त कराते हैं। हम स्नेह की वृत्तिवाले, निष्पाप जीवनवाले व व्यापक (उदार) भावनावाले बनकर यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन उत्तम दीप्तियाँ

त्रिरुत्तमा दूणशा रोचनानि त्रयो राजन्त्यसुरस्य वीराः।
ऋतावान इषिरा दूळभासस्त्रिरा दिवो विदथे सन्तु देवाः॥ ८॥

(१) **असुरस्य**=(अस्यति क्षिपति) सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभु के **त्रिः**=तीन **उत्तमा**=सर्वोत्कृष्ट व **दूणशा**=कठिनता से नष्ट करने योग्य **रोचनानि**=दीप्तियाँ व तेज हैं। ये **त्रयः**=तीनों तेज **वीराः**=(वि ईरयति) शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले होते हुए

राजन्ति=चमकते हैं। शरीर में यह तेज 'अग्नि' के रूप में है। जब तक यह जाठराग्नि ठीक बनी रहती है, तब तक शरीर में रोगों का प्रादुर्भाव नहीं होता। मन में यह तेज 'विद्युत्' के रूप में है 'वैद्युतं मनः'। यह मानस-विद्युत् वासनावृक्षों को दग्ध करने का कारण बनती है। मस्तिष्क में यह तेज 'सूर्य' के रूप में है। मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का उदय होने पर अन्धकार में पनपनेवाले कुविचार विलुप्त हो जाते हैं। (२) ये अग्नि, विद्युत् व सूर्य रूप तीन तेज **ऋतावानः**=ऋत (यज्ञ) का रक्षण करनेवाले, **इषिराः**=सदा कर्म में प्रेरित करनेवाले व **दूडभासः**=न हिंसा करने योग्य हैं। शरीर में अग्नितत्त्व के ठीक होने पर सब क्रियाएँ ऋतपूर्वक (ठीक-ठीक) चलती हैं। मानस-विद्युत् के ठीक होने पर मन सदा उत्तम कार्यों की प्रेरणावाला बना रहता है। मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य के उदय होने पर हम वासनान्धकार से हिंसित नहीं होते। (३) **देवाः**=देव **दिवः त्रिः**=दिन में तीन वार अवश्य प्रातः, मध्याह्न व सायं समय **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **सन्तु**=हों। इन ज्ञानयज्ञों द्वारा ही प्रभु का सच्चा उपासन होता है।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में अग्नितत्त्व, मन में विद्युत्-तत्त्व व मस्तिष्क में सूर्य की (सहस्रार-चक्र) स्थापना की है। इनके कारण हमारा जीवन ऋतवाला, कर्मशील व प्रकाशमय बनता है।

प्रस्तुत सूक्त में मानव जीवन की तीन-तीन के रूप में होनेवाली बातों का बड़ी सुन्दरता से चित्रण है। इस चित्रण की समाप्ति शरीरस्थ 'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' के वर्णन से हुई है। अगले सूक्त में प्रभु से दी गई वेदवाणी का उल्लेख है। यह हमारे जीवन में सब देवों का स्थापन करती है—

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्र, अग्नि व पनिता' वेदवाणी को प्राप्त करते हैं

प्र मे विविक्वाँ अविदन्मनीषां धेनुं चरन्तीं प्रयुतामगोपाम्।
सद्यश्चिद्या दुदुहे भूरि धासेरिन्द्रस्तदग्निः पनितारो अस्याः॥ १॥

(१) **विविक्वान्**=विवेकी पुरुष **मे**=मेरी **मनीषाम्**=इस बुद्धि को **प्र अविदत्**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। जो बुद्धि (प्रज्ञा) **धेनुम्**=इस वेदवाणीरूप धेनु के रूप में प्रकट हुई है, जो **चरन्तीम्**=सब ज्ञानों को व्याप्त करती है (चर् गतौ) **प्रयुताम्**=जिसका जीवन के साथ प्रकृष्ट सम्बन्ध है, यह तो उसकी हृदयरूप गुहा में ही स्थित है। **अगोपाम्**=यह धेनु बिना गोप के है। इसके रक्षण के लिए किसी ग्वाले की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः 'अगोपा' होने के कारण ही वासनारूप असुरों से (पणियों) से इसका अपहरण हो जाता है। इसके अपहृत हो जाने पर 'देवशुनी सरमा' इसको पुनः प्राप्त कराती है। यह देवताओं की शुनी 'बुद्धि' ही है, जो कि सब विषयों के तत्त्वान्वेषण में अत्यन्त प्रसृत होती है ('सृ' से सरमा)। इस बुद्धि से ही वेदज्ञान प्राप्त होता है। (२) यह धेनु वह है, **या**=जो कि **सद्यः**=शीघ्र **चित्**=ही **धासेः**=जीवन के धारक ज्ञानदुग्ध का **भूरि दुदुहे**=अत्यन्त ही दोहन करती है **अस्याः**=इस धेनु के **तत्**=उस ज्ञानदुग्ध को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय व्यक्ति, **अग्निः**=(अग्रणी) प्रगतिशील व्यक्ति तथा **पनितारः**=प्रभु के स्तोता लोग सेवित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञानवाणी को विवेकी पुरुष प्राप्त करते हैं। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र), प्रगतिशील हों-आगे बढ़ने की भावनावाले हों (अग्नि) तथा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनकर वासनाओं से आक्रान्त न हों (पनिता)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी में सब दिव्यगुणों का विकास

इन्द्रः सु पूषा वृषणा सुहस्ता दिवो न प्रीताः शशयं दुदुह्रे।
विश्वे यदस्यां रणयन्त देवाः प्र वोऽत्र वसवः सुम्नमश्याम्॥ २॥

(१) **इन्द्रः**=इन्द्रियों का विजेता और अतएव **सु-पूषा**=अपना उत्तम पोषण करनेवाला, **सुहस्ता**=उत्तम हाथोंवाले-सदा उत्तम कार्यों को करनेवाले, **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापान (अश्विना) अर्थात् प्राणापान की साधना करनेवाले पुरुष, **दिवः न**=(दीव्यन्ति इति) ज्ञान से दीप्त होनेवालों के समान **प्रीताः**=मनःप्रसाद का अनुभव करनेवाले लोग **शशयम्**=हृदयगुहा में शयन करनेवाले इस ज्ञानदुग्ध को **दुदुह्रे**=दोहते हैं। वेदवाणी का दोहन इन्द्र आदि ही कर पाते हैं। वेद-ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें 'इन्द्रत्व' आदि को अपने जीवन में उत्पन्न करना है। (२) **यत्**=चूँकि **विश्वेदेवाः**=सब देव **अस्याम्**=इस वेदवाणी में **रणयन्त**=रमण करते हैं, अर्थात् चूँकि इस वेदवाणी के होने पर सब दिव्यगुणों का विकास होता है, इसलिए हे **वसवः**=उत्तम निवासवाले देवो! मैं भी **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **वः**=आपके **सुम्नम्**=सुख को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ। वेदवाणी की प्राप्ति से दिव्यगुणों के विकास द्वारा, मेरा जीवन सुखी हो।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर मैं वेदज्ञान प्राप्त करूँ। इससे मेरे जीवन में दिव्यगुणों का विकास हो और परिणामतः मेरा जीवन उत्तम व सुखी हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदज्ञान से 'शक्ति-विनय व प्रभुदर्शन'

या जामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिं नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन्।
अच्छा पुत्रं धेनवो वावशाना महश्चरन्ति बिभ्रतं वपूंषि॥ ३॥

(१) **याः**=जो **जामयः**=सद्गुणों को जन्म देनेवाली (विश्वे यदस्यां रणयन्त देवाः) वेदवाणियाँ **वृष्णे**=शक्तिशाली पुरुष के लिए **शक्तिं इच्छन्ति**=शक्ति को चाहती हैं, अर्थात् इस वेदज्ञान में रुचिवाले पुरुष की शक्ति को वे नष्ट नहीं होने देती। ये **नमस्यन्तीः**=इसके नमन व विनय को चाहती हुई-इसे विनीत बनाती हुई **अस्मिन्**=इस पुरुष में **गर्भं जानते**=सबके अन्दर रहनेवाले व सबका अपने अन्दर ग्रहण करनेवाले प्रभु को जनाती हैं-इसके लिए उस प्रभु का प्रकाश करती हैं। (२) **वावशानाः**=कामना करती हुई **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली ये वेदवाणीरूप धेनुएँ **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र करनेवाले व वासनाओं से अपना त्राण करनेवाले पुरुष को **अच्छा**=आभिमुख्येन **चरन्ति**=प्राप्त होती हैं। उस व्यक्ति को प्राप्त होती हैं, जो कि **महः बिभ्रतम्**=तेजस्विता को धारण करता है तथा **वपूंषि बिभ्रतम्**=तेजस्वी शरीरों को धारण करता है, जो अपने 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' सभी शरीरों का उत्तमता से धारण करता है। ऐसे ही पुरुष को तो वेदवाणी प्राप्त होती है।

भावार्थ—वेदज्ञान हमें 'सशक्त, नम्र व प्रभुदर्शन करनेवाला' बनाता है। इससे हमारा जीवन पवित्र व तेजस्वी बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान द्वारा यज्ञिय जीवन

अच्छा विवक्मि रोदसी सुमेके ग्राव्णो युजानो अध्वरे मनीषा।
इमा उ ते मनवे भूरिवारा ऊर्ध्वा भवन्ति दर्शता यजत्राः॥ ४॥

(१) प्रभु कहते हैं कि मैं **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाली **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **अच्छा**=लक्ष्य करके **ग्राव्णः**=स्तोताओं को **अध्वरे युजानः**=हिंसारहित कर्मों में युक्त करने के हेतु से (हेतौ शानच्) **मनीषाः**=बुद्धि द्वारा **विवक्मि**=विशेषरूप से उपदिष्ट करता हूँ। द्यावापृथिवी का इन स्तोताओं को ज्ञान देता हूँ। द्यावापृथिवीस्थ सब पदार्थों के ठीक ज्ञान से ही ये स्तोता अपने अध्वरों को ठीक प्रकार से कर सकेंगे। (२) **ते मनवे**=तुझ विचारशील पुरुष के लिए **उ**=निश्चय से **इमाः**=ये ज्ञान की वाणियाँ **भूरिवाराः**=अत्यन्त ही वरणीय पदार्थों को प्राप्त करानेवाली होती हैं तथा **दर्शताः**=काव्यमय रूप में सुन्दर व दर्शनीय ये वाणियाँ **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य होती हैं और **ऊर्ध्वाः भवन्ति**=इसके जीवन में सर्वोपरि होती हैं। विचारशील पुरुष ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व देता है। वह नचिकेता की तरह कभी भी सांसारिक वस्तुओं में न फँसकर आत्मज्ञान की ही कामना करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें द्यावापृथिवी का ज्ञान देते हैं, ताकि हम उत्तम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हो सकें। ज्ञानीपुरुष अपने जीवन में इस ज्ञान को ही सर्वोपरि स्थान देता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की मधुमती जिह्वा

या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा अग्ने देवेषूच्यत उरूची।
तयेह विश्वाँ अवसे यजत्राना सादय पायया चा मधूनि॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=सृष्टि के अग्रणी प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपकी **मधुमती**=अत्यन्त माधुर्यवाली **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धि प्राप्त करानेवाली **उरूची जिह्वा**=अतिशयेन व्यापक ज्ञानवाली वाणी **देवेषु उच्यते**='अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा' आदि देवपुरुषों के हृदयों में उच्चरित होती है। **तया**=उस वाणी को प्राप्त कराने के हेतु से **इह**=इस जीवन में **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए **विश्वान्**=सब **यजत्रान्**=संगतिकरण योग्य देवों को **आसादय**=प्राप्त कराइये। प्रभु जिस व्यापक ज्ञानवाली वेदवाणी को सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों को प्राप्त कराते हैं, यजनीय विद्वानों द्वारा वह हमें भी प्राप्त हो, ताकि उसके अनुसार आचरण करते हुए हम अपना रक्षण कर सकें। (२) हे प्रभो! आपकी कृपा से हमें संगतिकरण योग्य विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो। **च**=और इन विद्वानों द्वारा आप हमें **मधूनि**=वेद-वाणी रूप गौ के इन मधुर ज्ञानदुग्धों को **पायय**=पिलाइये। इन से ही तो हमारा ठीक पोषण होगा।

भावार्थ—प्रभु जिस वेदवाणी को देवों को प्राप्त कराते हैं, उन देवों के सम्पर्क में आकर हम भी उस वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विश्वजन्या वेदवाणी

या ते अग्ने पर्वतस्येव धारासश्चन्ती पीपयद्देव चित्रा।
तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो वसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम्॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=सृष्टि के अग्रणी प्रभो! **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपकी **पर्वतस्य धारा इव**=पर्वत की धारा की तरह **असश्चन्ती**=(सश्च् cling or stick to) कहीं आसक्त न होती हुई **चित्रा**=अद्भुत व ज्ञानप्रदा (चित्+र) वेदज्ञान की धारा है, वह **पीपयत्**=हमारा आप्यायन करती है। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ, **वसो**=ज्ञान द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **ताम्**=उस **प्रमतिम्**=प्रकृष्ट ज्ञान को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रास्व**=दीजिए। जो वेदज्ञान **सुमतिम्**=हमें उत्तम मति देनेवाला है तथा **विश्वजन्याम्**=सब लोगों का हित करनेवाला है।

भावार्थ—वेदज्ञान की धारा सतत प्रवाहवाली है। इसमें स्नान करके हम भी सुमति प्राप्त करें तथा सर्वलोकहित में प्रवृत्त हों।

प्रस्तुत सूक्त में वेदवाणी के विषय में सब कुछ कह दिया गया है। क्या तो उसकी प्राप्ति के साधन हैं? और क्या फल है? इसका सम्यक् प्रतिपादन हो गया है। अगले सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि हम प्रातः-प्रातः इसका अध्ययन करें—

५८. [अष्टापञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषाकालीन स्वाध्याय

धेनुः प्रत्नस्य काम्यं दुहानान्तः पुत्रश्चरति दक्षिणायाः।
आ द्योतनिं वहति शुभ्रयामोषसः स्तोमो अश्विनावजीगः ॥ १ ॥

(१) **धेनुः**=ज्ञानदुग्ध द्वारा प्रीणित करनेवाली वेदवाणीरूप गौ **प्रत्नस्य**=उस सनातन पुरुष परमात्मा के **काम्यम्**=कमनीय ज्ञान का **दुहाना**=दोहन करती हैं-हमारे जीवन में वेदवाणी द्वारा ज्ञान का प्रपूरण होता है। इस वेदवाणी द्वारा **पुत्रः**=(पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र करनेवाला व अपना त्राण करनेवाला व्यक्ति **दक्षिणायाः अन्तः चरति**=दान के अन्दर विचरण करता है-सदा दान की वृत्तिवाला बनता है। (२) दानप्रवृत्ति द्वारा लोभ से ऊपर उठा हुआ यह व्यक्ति **शुभ्रयामा**=उज्ज्वल जीवन के मार्गवाला **द्योतनिं आवहति**=ज्ञान के प्रकाश को सर्वतः प्राप्त करता है। इसके जीवन में **उषसः स्तोमः**=उषाकाल का यह मन्त्रसमूह **अश्विनौ**=प्राणसाधना करनेवाले स्त्री-पुरुषों को **अजीगः**=जागरित करता है, अर्थात् ये प्राणायाम के अभ्यासी स्त्री-पुरुष प्रातः जागते हैं और प्रातःकालिक क्रियाओं को करके स्वाध्याय में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हमारे लिए वेदवाणी पवित्र ज्ञान को प्राप्त कराएँ। हम दान की वृत्तिवाले बनें। ज्ञान को सब प्रकार से प्राप्त करें। उषाकाल में अवश्य स्वाध्याय करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मेधा का विकास व कृपणता का विनाश

सुयुग्वहन्ति प्रति वामृतेनोर्ध्वा भवन्ति पितरेव मेधाः।
जरेथामस्मद्वि पणेर्मनीषां युवोरवश्चकृमा यातमर्वाक् ॥ २ ॥

(१) **सुयुक्**=इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में उत्तमता से जोतनेवाले लोग **ऋतेन**=ऋत द्वारा-सब क्रियाओं को ठीक समय पर करने द्वारा **वां प्रति**=हे अश्विनी देवो! प्राणापानो! आपके प्रति **वहन्ति**=अपने को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना में प्रवृत्त होते हैं-प्राणायाम के अभ्यासी बनते हैं। उस समय इनके जीवन में **मेधाः**=बुद्धियाँ **ऊर्ध्वाः भवन्ति**=उद्गत होती हैं-उन्नत होती हैं। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **पितरा**=माता-पिता के प्रति पुत्र उठ खड़े होते हैं। माता-पिता

के आदर के लिए पुत्र उठते हैं, इन अभ्यासी पुरुषों के आदर के लिए मानो बुद्धियाँ उठ खड़ी होती हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **पणेः मनीषाम्**=कृपण वणिक की बुद्धि को **अस्मद्**=हमारे से **विजरेथाम्**=दूर करके नष्ट करिए। हम कृपणवृत्तिवाले न बने रहें। **युवोः**=आप दोनों के **अवः**=रक्षण व भोजन को हम **चकृमा**=करते हैं। प्राणापानरक्षण के लिए ही भोजन को करते हैं। हमारे भोजन का मापक स्वाद न होकर प्राणापान का रक्षण होता है। आप दोनों हमें **अर्वाक् यातम्**=आभिमुख्येन प्राप्त होओ। हमारी प्राणापानशक्ति दिन व दिन बढ़ती चले।

भावार्थ—इन्द्रियाश्वों को उत्तम कार्यों में प्रेरित करके ऋत के अनुसार क्रियाओं को करते हुए हम प्राणापानशक्ति को बढ़ाएँ। इससे हमारी मेधा का विकास होगा और कृपणता-वृत्ति का विनाश होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शरीर व इन्द्रियों की उत्तमता व दौर्भाग्य का विनाश

सुयुग्भिरश्वैः सुवृता रथेन दस्त्राविमं शृणुतं श्लोकमद्रेः।
किमङ्ग वां प्रत्यवर्तिं गमिष्ठाहुर्विप्रासो अश्विना पुराजाः॥ ३॥

(१) हे **दस्त्रौ**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आप **सुयुग्भिः**=शरीर-रथ में उत्तमता से जोते हुए इन्द्रियाश्वों से तथा **सुवृता रथेन**=उत्तम मार्ग से अच्छी प्रकार चलनेवाले रथ से **अद्रेः इमं श्लोकम्**=(आद्रियते इति अद्रिः one who adores) स्तोता के इस स्तवन को (यशोगान को) **शृणुतम्**=सुनो। आप अपने इस स्तोता को उत्तम इन्द्रियाश्व व उत्तम रथ प्राप्त कराओ। (२) हे **अंग**=प्रिय **अश्विना**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! **पुराजाः**=(पुरि आ अजन्ति) शरीररूप नगरी में समन्तात् गतिवाले, अर्थात् अत्यन्त क्रियाशील **विप्रासः**=अपना पूरण करनेवाले ज्ञानीपुरुष **वाम्**=आपको **अवर्तिं प्रति**=(bad fortune) दौर्भाग्य पर **गमिष्ठा**=अतिशयेन आक्रमण करनेवाला **किं आहुः**=क्या यों ही कहते हैं, अर्थात् वे सच ही तो कहते हैं कि प्राणापान से दौर्भाग्य विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व उत्तम होंगे। रथ ठीक होगा। दौर्भाग्य विनष्ट होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रातःकालीन साधना

आ मन्येथामा गतं कच्चिदेवैर्विश्वे जनासो अश्विना हवन्ते।
इमा हि वां गोऋजीका मधूनि प्र मित्रासो न ददुरुस्रो अग्रे॥ ४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **आमन्येथाम्**=आप हमें अवबोध (ज्ञान) देनेवाले होओ। **कच्चित्**=क्या आप हमें **एवैः**=गतियों द्वारा **आगतम्**=प्राप्त होते हो? अर्थात् आप अवश्य प्राप्त होते हो। हम अपने प्राणापान की शक्ति को बढ़ाकर क्रियाशील बनें। आपको **विश्वे जनासः**=सब लोग **हवन्ते**=पुकारते हैं। सब प्राणापान की साधना करते हैं। सब कुछ इस प्राणापान पर ही निर्भर करता है। हम प्रातः उठकर प्राणसाधना करें, स्वाध्यायशील हों और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ। (२) अश्विनी देवो! **वाम्**=आपके लिए **इमा**=इन **गोऋजीका मधूनि**=गोदुग्ध मिश्रित मधुओं को-ओषधियों से सारभूत पदार्थों को **ददुः**=देते हैं। इस प्रकार देते हैं, **न**=जैसे कि **मित्रासः**=मित्र मित्रों के लिए उत्तम पदार्थों को देते हैं, अर्थात् प्राणापान-शक्ति का वर्धन करने के लिए गोदुग्ध मिश्रित मधु (मधुर पदार्थों) का ही प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार **उस्रः**=इनकी ज्ञानरश्मियाँ

अग्रे=आगे और आगे बढ़ती हैं–इनका ज्ञान उत्तरोत्तर दीप्त होता जाता है।

भावार्थ—हम प्रातः उठकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों, ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। यज्ञादि कार्यों में प्रवृत्त हों। गोदुग्ध व मधु आदि सारभूत पदार्थों का ही प्रयोग करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रजोगुण से ऊपर उठना

ति॒रः पु॒रू चि॑दश्विना॒ रजां॑स्याङ्गू॒षो वां॑ मघवाना॒ जने॑षु।
एह या॑तं प॒थिभि॑र्देव॒यानै॒र्दस्रा॑वि॒मे वां॑ नि॒धयो॒ मधू॑नाम्॥ ५॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापाणो! **पुरूचित्**=बहुत भी **रजांसि**=राजसभावों को **तिरः**=तिरस्कृत करके **इह**=इस जीवन में **देवयानैः पथिभिः**=देवयानमार्गों से **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणापान की साधना करते हुए हम रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित हों और सदा देवयान मार्गों से गतिवाले हों। (२) हे **मघवाना**=ज्ञानैश्वर्यवाले प्राणापानो! **जनेषु**=लोगों में **वाम्**=आपका **आंगूषः**=स्तोत्र हो। लोग प्राणापान का स्तवन करते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। (३) हे **दस्रौ**=सब दोषों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **इमे**=ये **मधूनाम्**=सोमों के **निधयः**=कोश **वाम्**=आपके ही हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना से ही इनकी शरीर में ऊर्ध्वगति होती है और ये शरीर में सुरक्षित होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) रजोगुण से ऊपर उठकर सत्वगुण में हमारी स्थिति होती है, (ख) सोमकणों की ऊर्ध्वगति होकर शरीर में उनका रक्षण होकर बुद्धि विकास में सहायक होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्राणापान के साथ मित्रता

पु॒राण॒मोकः॑ स॒ख्यं शि॒वं वां॑ यु॒वोर्न॑रा॒ द्रवि॑णं ज॒ह्नाव्या॑म्।
पुन॑ः कृण्वा॒नाः स॒ख्या शि॒वानि॒ मध्वा॑ मदेम स॒ह नू स॑मा॒नाः ॥ ६ ॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **सख्यम्**=मित्रता **पुराणं ओकः**=सनातन गृह के समान है, **शिवम्**=वह कल्याणकर है। जैसे घर में व्यक्ति सदा सुख का अनुभव करता है, उसी प्रकार प्राणापान की मित्रता में सुख ही सुख है। (२) **युवोः**=आपका **द्रविणम्**=धन **जह्नाव्याम्**=त्यागशील पुरुष में होता है, अर्थात् प्राणापान की शक्ति से प्राप्त धन का विनियोग सदा दान आदि उत्तम कर्मों में होता है। अनायास मिला धन सदा मनुष्य को विलासी बना देता है। अन्यायोपार्जित धन चोरी आदि में चला जाता है। (३) हे प्राणापानो! हम **नू**=निश्चय से **पुनः**=फिर प्राणापान की **शिवानि सख्या**=कल्याणकर मित्रताओं को **कृण्वानाः**=करते हुए **मध्वा सह**=प्राणसाधना द्वारा शरीर में ऊर्ध्व स्थितिवाले सोम के साथ **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें और **समानाः**=(सम्यक् अन्=प्राणने) उत्तम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। प्राणापान के साथ मित्रता का भाव यही है कि प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से प्राणापान को विकसित करने द्वारा हम कल्याण के भागी हों। प्राणशक्ति से प्राप्त धन का सात्त्विक कर्मों में विनियोग करें। प्राणायाम हमें ऊर्ध्वरेता बनाए, जिससे हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणायाम के लाभ

अश्विना वायुना युवं सुदक्षा नियुद्भिश्च सजोषसा युवाना।
नासत्या तिरोअह्न्यं जुषाणा सोमं पिबतमस्त्रिधा सुदानू॥ ७॥

(१) **अश्विना**=हे कर्मों में व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **वायुना**=वायु द्वारा **सुदक्षा**=उत्तम बल को प्राप्त करानेवाले हो। शुद्ध वायु में किया गया प्राणायाम बलवर्धक है। (२) **नियुद्भिः च**=और इन इन्द्रियाश्वों के साथ **सजोषसा**=समानरूप से प्रीतिपूर्वक कार्यों को करते हुए आप **युवाना**=हमें बुराइयों से पृथक् करते हो और अच्छाईयों से मिलाते हो (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। जब हम प्राणायाम करते हैं, तो इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं, परिणामतः हमारे कार्य पवित्र होते हैं, 'दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव' यह प्रार्थना हमारे जीवन में क्रियान्वित होती है। (३) हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **जुषाणा**=प्रीतिपूर्वक कर्मों का सेवन करते हुए आप **सोमम्**=सोम शक्ति को (वीर्य को) **तिरः अह्न्यम्**=तिरोहितरूप में शरीर में व्याप्त होनेवाला (अह व्याप्तौ) करते हुए **पिबतम्**=पीते हो। प्राणसाधना से सोम की शरीर में ही ऊर्ध्वगति होती है। यह सोम रुधिर में इस प्रकार व्याप्त हो जाता है, जैसे कि तिलों में तेल व दधि में माखन। इस रुधिर में व्याप्त हुआ-हुआ अलग दिखता नहीं, तिरोहित हुआ-हुआ रहता है। इस प्रकार ये प्राणापान **अस्त्रिधा**=हमें रोगों से हिंसित न होने देनेवाले तथा **सुदानू**=अत्यन्त अच्छी तरह वासनाओं का (दाप् लवने) विनाश करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—(क) शुद्ध वायु में प्राणायाम से बल बढ़ता है, (ख) इन्द्रियों के दोष दूर होकर ये सदा शुभ कर्मों में व्याप्त रहती हैं, (ग) सोम की ऊर्ध्वगति होकर रोगकृमि विनष्ट होते हैं और वासनाओं का विलय हो जाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दृढ़ व दीप्त शरीररथ

अश्विना परि वामिषः पुरूचीरीयुर्गीर्भिर्यतमाना अमृध्राः।
रथो ह वामृतजा अद्रिजूतः परि द्यावापृथिवी याति सद्यः॥ ८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपको **पुरूचीः**=पालक व पूरक ज्ञानों को व्याप्त करनेवाली **इषः**=प्रभु की प्रेरणाएँ **परि ईयुः**=सर्वतः प्राप्त होती हैं। प्राणसाधना से हृदय की वासनाएँ विनष्ट होकर पवित्रता का सम्पादन होता है। पवित्र हृदय में प्रभु की प्रेरणाएँ सुन पड़ती हैं। (२) ये प्रेरणाएँ **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **यतमानाः**=कर्मों में लगी होती हैं और इस प्रकार **अमृध्राः**=हमारा हिंसन नहीं करतीं। प्रभु प्रेरणाओं को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति वेदानुकूल कर्मों को करता है और परिणामतः हिंसित नहीं होता। (३) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **रथः**=यह शरीर-रथ **ह**=निश्चय से **ऋतजाः**=ऋत से आविर्भूत शक्तियोंवाला होता है और **अद्रिजूतः**=प्रभु के उपासक से प्रेरित होता है, अर्थात् प्राणसाधना से शरीररूप-रथ निर्दोष बनता है और इस पर आरूढ़ व्यक्ति में उपासना की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह शरीर-रथ **सद्यः**=शीघ्र ही द्यावापृथिवी **परियाति**=द्यावापृथिवी को प्राप्त करता है, (या प्रापणे) अर्थात् उत्तम मस्तिष्क व शरीरवाला होता है। यहाँ द्यावा शब्द मस्तिष्क व ज्ञान का प्रतीक है और पृथिवी शब्द शरीर व बल का सूचक है। प्राणसाधना से ज्ञान व बल दोनों का वर्धन होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से निर्मल हृदय में प्रभु-प्रेरणाएँ सुन पड़ती हैं और इन प्रेरणाओं को सुननेवाले व्यक्ति वेदानुकूल कर्म करते हैं। इस साधना से यह शरीर-रथ दृढ़ व दीप्त (प्रकाशमय) बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मधुषुत्तम युवाकु' सोम

अश्विना मधुषुत्तमो युवाकुः सोमस्तं पातमा गतं दुरोणे।
रथो ह वां भूरि वर्पः करिक्रत्सुतावतो निष्कृतमागमिष्ठः ॥ १ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **सोमः**=सोम (वीर्य) **मधुषुत्तमः**=अत्यन्त माधुर्य को उत्पन्न करनेवाला है, **युवाकुः**=यह सब बुराईयों को दूर करनेवाला अच्छाईयों को मिलानेवाला है। **तम्**=उस सोम को आप **पातम्**=रक्षित करो। प्राणसाधना से इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती ही है। हे प्राणापानो! आप **दुरोणे**=हमारे इस शरीरगृह में **आगतम्**=आओ। आपके आने से यह सचमुच दुरोण बनता है-इससे सब बुराईयों का अपनयन हो जाता है। (दुर्+ओण्) **ह**=निश्चय से **वाम्**=आपका यह **रथः**=शरीर-रथ **भूरिवर्पः**=बहुत अधिक तेज को **करिक्रत्**=करता है। आपकी साधना से यह दीप्तरूपवाला बनता है। आपका यह रथ **सुतावतः**=इस सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष के **निष्कृतम्**=संस्कृतगृह में **आगमिष्ठः**=अतिशयेन आनेवाला होता है। जब मनुष्य प्राणायाम का अभ्यासी बनता है, तो यह शरीर-रथ प्राणापान का रथ हो जाता है। यह सुतावान् के संस्कृतगृह में आता है, अर्थात् सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष को ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है और उससे शरीर-रथ दीप्त बनता है। रक्षित सोम जीवन को मधुर व निर्दोष बनाता है।

यह सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व का सुन्दरता से प्रतिपादन कर रहा है।

अगले सूक्त का देवता 'मित्र' है—सूर्य। सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है—

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य की मित्रता

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥ १ ॥

(१) 'मित्र' सूर्य है, यह 'प्रमीति' से हमारा त्राण करता है 'प्रमीतेः त्रायते'। यह **मित्रः**=सूर्य **ब्रुवाणः**=अपनी क्रिया से उपदेश करता हुआ **जनान्**=मनुष्यों को **यातयति**=कृष्यादि कर्मों में यत्नशील करता है। सूर्य अपने किरणरूप हाथों द्वारा हमें जगाता है और कर्म में प्रवृत्त होने के लिए उपदेश करता है। इस प्रकार **मित्रः**=यह सूर्य **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **दाधार**=धारण करता है, सामान्यतः सूर्य ही सर्वत्र प्रकाश व प्राणशक्ति का संचार करता है और इस प्रकार द्यावापृथिवी का धारण करनेवाला है। (२) **मित्रः**=यह सूर्य **कृष्टीः**=श्रमशील मनुष्यों को **अनिमिषा**=बिना पलक मारे, अर्थात् सतत सावधान होकर **अभिचष्टे**=देखता है (Look after) उनका पालन करता है। प्रभु कहते हैं कि इस **मित्राय**=सूर्य के लिए **घृतवत्**=घृत से युक्त **हव्यम्**=हव्य को **जुहोत**=आहुत करो। घृत व सामग्री द्वारा सूर्योदय के समय अवश्य

अग्निहोत्र करो। यह तुम्हारे घरों के वायुमण्डल को शुद्ध करेगा, रोगकृमियों का संहार करेगा। इस प्रकार यह अग्निहोत्र 'सौमनस्य व दीर्घायुष्य' को देनेवाला होगा।

भावार्थ—उदय होता हुआ सूर्य हमें कर्मों में प्रवृत्त करता है। यह सबका धारण करता है। सूर्योदय के समय घरों में अग्निहोत्र करना स्वास्थ्य के लिए अतिशयेन हितकर है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य का शिष्य बनना

प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥ २॥

(१) हे **मित्र**=सूर्य! **स मर्तः**=वह मनुष्य **प्रयस्वान्**=उत्तम श्रमवाला **प्र अस्तु**=प्रकर्षेण हो, **यः**=जो, हे **आदित्य**=अत्यन्त उत्कृष्ट स्वास्थ्य को देनेवाले सूर्य! (अदितेः अपत्यम्) **ते व्रतेन**=तेरे व्रत से **शिक्षति**=शिक्षा को ग्रहण करता है। सूर्य का व्रत निरन्तर सरण (गमन) है। सूर्य से इस क्रियाशीलता का पाठ पढ़नेवाला व्यक्ति भी क्रियाशील बनकर सूर्य की तरह चमकनेवाला होता है। (२) हे सूर्य! **त्वा ऊतः**=तेरे द्वारा रक्षित हुआ-हुआ यह पुरुष **न हन्यते**=मारा नहीं जाता, **न जीयते**=नां ही पराभूत किया जाता है। सूर्य से क्रियाशीलता का व्रत ग्रहण करके यह पुरुष स्वस्थ व पवित्र जीवनवाला बना रहता है। **न**=नां तो **एनम्**=इसे **अन्तितः**=समीप से **अंहः अश्नोति**=पाप व कष्ट व्यापता है और **न**=नां ही **दूरात्**=दूर से। अध्यात्म कष्ट समीप से होनेवाले कष्ट हैं, अधिभूत से होनेवाले कष्ट दूर से होनेवाले कष्ट हैं। सूर्य के शिष्य को ये कष्ट नहीं प्राप्त होते, उसका जीवन निष्पाप होता है। सूर्य उसका मित्र है, वह उसे पाप से मानो निवारित करता है।

भावार्थ—सूर्य से क्रियाशीलता का पाठ पढ़कर मनुष्य निष्पाप जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अनमीव-मितज्ञु-इडयामदन्'

अनमीवास इळया मदन्तो मितज्ञवो वरिमन्ना पृथिव्याः।
आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सूर्य का शिष्य बननेवाले लोग **अनमीवासः**=नीरोग बनते हैं। **इडया मदन्तः**=ये वेदवाणी से आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् इन्हें ज्ञानप्राप्ति में आनन्द आता है। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के-शरीर के **वरिमन्ना**=विस्तार व उत्कर्ष के निमित्त **मितज्ञवः**=(मितं जानन्ति) परिमितता को-मर्यादा को जाननेवाले होते हैं 'मितभुक्' होते हैं-परिमित बोलनेवाले होते हैं। यह परिमितता-मात्रा ही तो बल है। सब वस्तुओं को मात्रा में करने के कारण ये शरीर की सब शक्तियों का विस्तार कर पाते हैं। (२) **आदित्यस्य**=सूर्य के **व्रतम्**=व्रत को-सब स्थानों से अच्छाई के ही ग्रहण के भाव को **उपक्षियन्तः**=(क्षि निवासगत्योः) प्राप्त होते हुए-अपने जीवन का अंग बनाते हुए **वयम्**=हम **मित्रस्य**=इस सूर्य की **सुमतौ**=कल्याणीमति में **स्याम्**=हों। वस्तुतः सूर्य के सम्पर्क में रहने से हमारा मस्तिष्क भी विकसित होता है। सूर्य से केवल शरीर का ही स्वास्थ्य नहीं, अपितु मन व मस्तिष्क का स्वास्थ्य भी प्राप्त होता है।

भावार्थ—सूर्य के सम्पर्क में निवास से व सूर्य के व्रत से शिक्षा लेने से हम शरीर में अनमीव (नीरोग) बनते हैं, मन में **मितज्ञ**=परिमितता को जाननेवाले-मर्यादापालक तथा मस्तिष्क में 'इडया मन्दन्तः'=ज्ञानवाणियों में आनन्द को लेनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुक्षत्र, सुमति व सौमनस

अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ४॥

(१) **अयम्**=यह **मित्रः**=सूर्य **नमस्यः**=नमन के योग्य है। हमें चाहिए कि सूर्योदय होने पर सूर्याभिमुख आसन पर बैठकर प्रभु का ध्यान करें। इस प्रकार करने से यह सूर्य हमारे लिए **सुशेवः**=उत्तम कल्याण करनेवाला होगा। **राजा**=यह सूर्य दीप्त है-हमारे जीवन को regulated (व्यवस्थित) करनेवाला है। **सुक्षत्रः**=हमारे में उत्तम बल को स्थापित करता है। हमारे लिए **वेधाः** **अजनिष्ट**=यह विधाता के रूप में प्रादुर्भूत होता है। हमारे जीवन का यह निर्माण करनेवाला है। (२) **तस्य**=उस **यज्ञियस्य**=संगतिकरण योग्य सूर्य की **वयम्**=हम **सुमतौ**=कल्याणीमति में तथा **भद्रे सौमनसे**=कल्याणकर शुभ मन में **अपि**=भी **स्याम**=हों। यदि हम सूर्य के सम्पर्क में अधिक से अधिक समय बिताने का ध्यान करेंगे, तो हमारी बुद्धि भी विशद होगी और मन भी प्रसाद गुणयुक्त होगा। सूर्यकिरणें हमारे शरीर को तो नीरोग बनाती ही हैं, ये हमारे मनों व बुद्धि को भी अच्छा बनाती हैं।

भावार्थ—सूर्य शरीर में सुक्षत्र (=उत्तम बल) को स्थापित करता है, मस्तिष्क में सुमति को और मन में भद्रता को।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नमसोपसद्य-यातयज्जन

महाँ आदित्यो नमसोपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेवः।
तस्मा एतत्पन्यतमाय जुष्टमग्नौ मित्राय हविरा जुहोत॥ ५॥

(१) **आदित्यः**=यह सूर्य **महान्**=प्रभु की सर्व-महती विभूति है। **नमसा उपसद्यः**=नमन द्वारा यह समीप स्थित होने योग्य है। सूर्योदय होने पर हमें सूर्याभिमुख होकर प्रभु का उपासन करना है। **यातयज्जनः**=यह सूर्य सब लोगों को कर्मों में प्रेरित करनेवाला है। **गृणते**=स्तोता के लिए यह **सुशेवः**=उत्तम सुख प्राप्त करानेवाला है। (२) **तस्मा**=उस **पन्यतमाय**=अत्यन्त प्रशंसनीय **मित्राय**=सूर्य के लिए **अग्नौ**=अग्नि में **जुष्टम्**=सेवनीय **हविः**=घृत व हव्य पदार्थों को **जुहोत**=आहुत करो। सूर्योदय होने पर अग्निहोत्र करना प्रत्येक गृहस्थ का परम धर्म है। इसने ही रोगों को नष्ट करना है 'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर सन्ध्या व अग्निहोत्र करना हमारा मुख्य धर्म है। (नमसोपसद्यः, जुहोत)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्तिसम्पन्नता व ज्ञानसम्पन्नता

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि। द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम्॥ ६॥

(१) **चर्षणीधृतः**=वृष्टि आदि द्वारा मनुष्यों का धारण करनेवाले **मित्रस्य**=सब रोगों से बचानेवाले **देवस्य**=प्रकाशमय सूर्य का **अवः**=रक्षण **सानसि**=सब से सम्भजनीय (=सेवनीय) है। सूर्य द्वारा हमारे में प्राणशक्ति का संचार होता है। इसद्वारा सूर्य हमें रोगों से बचाता है। इस प्रकार यह सूर्य द्वारा किया गया रक्षण सम्भजनीय ही है। (२) सूर्य द्वारा प्राप्त कराई गई **द्युम्नम्**=शक्ति

सम्भजनीय है और सूर्य द्वारा प्राप्त कराया गया **चित्त श्रवस्तमम्**=अतिशयेन अद्भुत ज्ञान अवश्य ही सम्भजनीय है। सूर्यकिरणों का सम्पर्क हमें शरीर में शक्ति-सम्पन्न बनाता है तथा मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न।

भावार्थ—सूर्यकिरणों का सम्पर्क हमें रोगों से बचाकर शरीर में शक्ति-सम्पन्न तथा मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य की व्यापक महिमा

अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः। अभि श्रवोभिः पृथिवीम्॥ ७॥

(१) **यः**=जो **मित्रः**=सूर्य **सप्रथाः**=किरणों द्वारा अत्यन्त विस्तारवाला है, वह **दिवम्**=द्युलोक को **महिना**=अपनी महिमा से **अभिबभूव**=अभिभूत करनेवाला है। सूर्योदय होते ही सारा द्युलोक उसके प्रकाश से व्याप्त हो जाता है। (२) यह सूर्य **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को भी **श्रवोभिः**=(praiseworthy actions) वृष्टि द्वारा अन्नोत्पादनादि व प्राणशक्ति-संचाररूप प्रशंसनीय कार्यों से **अभि**=अभिव्याप्त कर लेता है।

भावार्थ—सूर्य द्युलोक को अपने प्रकाश की महिमा से तथा पृथिवी को प्राणशक्ति-संचार रूप प्रशंसनीय कर्म से अभिव्याप्त कर लेता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'अभिष्टिशवस्' सूर्य

मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे। स देवान्विश्वान्बिभर्ति॥ ८॥

(१) 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच भागों में बटे हुए **पञ्चजनाः**=समाज के ये पाँचों जन **अभिष्टिशवसे**=(शत्रूणामभिगन्तृ- बलयुक्ताय सा०) रोगरूप शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले बल से युक्त **मित्राय**=सूर्य के लिए **येमिरे**=हवियों को उद्यत करते हैं (हवींषि उद्यच्छन्ति सा०), अर्थात् सूर्योदय होने पर पञ्चजन अग्निहोत्र करते हैं। यह अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य तक पहुँचती है। इस प्रकार सूर्य के लिए ये हवियाँ दी जाती हैं। 'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति, निम्लोचन् हन्ति रश्मिभिः'=यह उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियों को नष्ट करता है, अस्त होता हुआ भी रश्मियों से इन क्रिमियों को समाप्त करता है। इस प्रकार यह सूर्य 'अभिष्टिशवस्' है। (२) **सः**=वह रोगकृमियों को विनष्ट करनेवाला सूर्य **विश्वान् देवान्**=सब दिव्यगुणों को **बिभर्ति**=हमारे में धारण करता है। सूर्य हमें नीरोग बनाता है, हमारे में प्राणशक्ति के संचार का कार्य करता है। इस प्रकार पूर्ण स्वस्थ बने शरीर में यह स्वस्थ मन को उत्पन्न करता है। मन में आसुरभावों का विनाश होकर दिव्यभाव ही उपजते हैं।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर पञ्चजन अग्निहोत्र करते हैं। इस प्रकार रोगकृमियों का विनाश होता है और दिव्यगुणों का विकास।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वृक्ति बर्हिस्' लोग

मित्रो देवेष्वायुषु जनाय वृक्तबर्हिषे। इषं इष्टव्रता अकः॥ ९॥

(१) **मित्रः**=रोगों से त्राण करनेवाला सूर्य **देवेषु आयुषु**=देववृत्तिवाले मनुष्यों में भी **वृक्तबर्हिषे**=जिसने हृदयस्थली से वासनाओं को उखाड़ दिया है, उस **जनाय**=मनुष्य के लिए

इष्टव्रता=वाञ्छनीय व्रतोंवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **अकः**=करता है। (२) देववृत्तिवाले मनुष्य सूर्योदय से पूर्व ही जाग-जाते हैं 'उषर्बुधो हि देवाः'। इन देवों में भी जो व्यक्ति वासनाओं के विनाश से हृदय को पवित्र बनाते हैं वे, 'वृक्तबर्हिस्' हैं। इन वृक्तबर्हिस् लोगों को प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है। यह प्रेरणा उन्हें इष्ट व्रतों की ओर प्रेरित करती है।

भावार्थ—प्रभु का बनाया हुआ सूर्य 'निरन्तर क्रियाशीलता' रूप प्रेरणा देता हुआ वस्तुतः मित्र होता है। यह निरन्तर क्रियाशीलता हमें वासनाशून्य हृदय से युक्त 'वृक्तबर्हिस्' बनाती है-यह व्यक्ति देववृत्तिवाला बनता है।

यह सूक्त सूर्य-किरणों के सम्पर्क से सब रोगों के विनष्ट होने का संकेत करता है। ये नीरोग व्यक्ति ज्ञानप्राप्ति में रुचिवाले होकर ज्ञानदीप्ति से अत्यन्त दीप्त होते हैं, सो 'ऋभवः' कहलाते हैं— उरु भान्ति। अगले सूक्त का देवता 'ऋभवः' ही है—

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विश्वबन्धुत्व

इहेह वो मनसा बन्धुता नर उशिजो जग्मुरभि तानि वेदसा।
याभिर्मायाभिः प्रतिजूतिवर्पसः सौधन्वना यज्ञियं भागमानश॥ १॥

(१) हे **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगो! **वः**=तुम्हारे **मनसा**=मन द्वारा **इह इह**=इस-इस स्थान पर **बन्धुता**=बन्धुत्व है। आप मन में उस प्रभु को सबका पिता जानते हुए परस्पर बन्धुत्व का अनुभव करते हो। शारीरिक बन्धुत्व न भी हो, तो भी 'अन्ततः हम सब उस प्रभु के ही तो पुत्र हैं' ऐसा ध्यान करते हुए आप सब में भ्रातृत्व के भाव को धारण करते हो। (२) **उशिजः**=सब के हित की कामना करते हुए **वेदसा**=ज्ञान द्वारा **तानि**=उन बन्धुत्वों को अनुभव करते हुए **अभिजग्मुः**=क्रियाओं को करते हैं। उनके कार्य सभी के हित के लिए होते हैं। (३) **याभिः मायाभिः**=जिन प्रज्ञानों द्वारा ये **प्रतिजूतिवर्पसः**=(प्रति पक्षाभिभवनशीलतेजोयुक्ताः सा०) काम-क्रोध आदि प्रतिपक्षियों के पराभवकारी तेज से युक्त हुए-हुए, ये **सौधन्वनाः**=उत्तम प्रणवरूप धनुषवाले होते हैं 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा'। उन द्वारा ये **यज्ञियं भागम्**=यज्ञिय भाग का **आनश**=सेवन करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रज्ञान को प्राप्त करके (क) मनुष्य काम-क्रोध आदि का संहार तो करता ही है, (ख) यह प्रणव का जप करता हुआ प्रभु से मेल के लिए उत्सुक होता है और (ग) सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—चिन्तनशील पुरुष सबके साथ बन्धुत्व को अनुभव करते हुए सर्वहितकारी कर्मों को करते हैं। ज्ञानवृद्धि द्वारा काम-क्रोध को पराभूत करके, प्रणव का जप करते हुए सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवत्वप्राप्ति

याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणः।
येन हरी मनसा निरतक्षत तेन देवत्वमृभवः समानश ॥ २॥

(१) **याभिः**=जिन **शचीभिः**=शक्तियों से **चमसान्**=इन शरीरों को (स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीरों को) **अपिंशत**=अलंकृत करते हो (adorn, decorate)। (२) **यया धिया**=जिस बुद्धि

से **गाम्**=वेदवाणी को **चर्मण:**=उपरले आवरण से **अरिणीत**=(to separate) पृथक् करते हो, अर्थात् उपरले आवरण को हटाकर अन्तर्निहित अर्थ को देखनेवाले बनते हो। (३) **येन मनसा**=जिस मन द्वारा **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **निरतक्षत**=(to create) बनाते हो, अर्थात् मनरूपी लगाम द्वारा इन्द्रियों को वश में करके उत्तम कार्यों में व्यापृत करते हो। (४) **तेन**=इन बातों के कारण हे **ऋभव:**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **देवत्वम्**=देवत्व को **समानश**=प्राप्त करते हो। इस प्रकार देवत्व-प्राप्ति के तीन साधन हैं (क) शरीर को शक्तियों से अलंकृत करना, (ख) बुद्धि द्वारा वेद के गूढ़ार्थ को समझना तथा (ग) इन्द्रियों को मन द्वारा निगृहीत करके कार्यों में व्यापृत करना।

भावार्थ—'हम शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाएँ। बुद्धि को तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवाली करें। इन्द्रियों का संयम करके कार्यों में व्यापृत हों' यही देवत्व-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**ऋभव:** ॥ छन्द:—**जगती** ॥ स्वर:—**निषाद:** ॥

इन्द्रसख्यम्

इन्द्रस्य सख्यमृभव: समानशुर्मनोर्नपातो अपसो दधन्विरे।
सौधन्वनासो अमृतत्वमेरिरे विष्ट्वी शमीभि: सुकृत: सुकृत्यया॥ ३॥

(१) **ऋभव:**=(उरु भान्ति) ज्ञानदीप्त पुरुष **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **समानशु:**=प्राप्त करते हैं। ये **मनो:**=ज्ञान के **नपात:**=न नष्ट होने देनेवाले **अपस:**=कर्मशील पुरुष **दधन्विरे**=अपने अन्दर उस प्रभु का धारण करते हैं। प्रभु का धारण ज्ञानपूर्वक कर्मों के करने से ही होता है। (२) **सौधन्वनास:**='प्रणव' रूप उत्तम धनुषवाले **अमृतत्वम्**=नीरोगता व अमरता को **एरिरे**=अपने में प्रेरित करते हैं। स्वस्थ बनकर ये **शमीभि:**=देवत्व-प्राप्ति के प्रतिबन्ध के निवारक कर्मों से तथा **सुकृत्यया**=उन कर्मों को उत्तमता से करने से **विष्ट्वी**=अपने को व्याप्त करके **सुकृत:**=पुण्यशाली बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता के लिए आवश्यक है कि हम (क) ज्ञान प्राप्त करें, (ख) कर्मशील हों, (ग) प्रणव को-प्रभु-नाम-स्मरण को अपना धनुष बनाएँ।

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**ऋभव:** ॥ छन्द:—**निचृज्जगती** ॥ स्वर:—**निषाद:** ॥

(प्रभु के साथ एक-रथ में) अनुपम शक्ति

इन्द्रेण याथ सरथं सुते सचाँ अथो वशानां भवथा सह श्रिया।
न व: प्रतिमै सुकृतानि वाघत: सौधन्वना ऋभवो वीर्याणि च॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के सौधन्वनों के लिए कहते हैं कि तुम **इन्द्रेण सचा**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु के साथ **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **रथम्**=समान ही शरीररूप रथ में **याथ**=गति करते हो। प्रभु के साथ गति करने का भाव यह है कि तुम प्रभु को भूलते नहीं हो। **अथ उ**=और अब निश्चय से **वशानाम्**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले पुरुषों की श्री के साथ होते हो। तुम्हें वह भी प्राप्त होती है, जो कि जितेन्द्रियों को प्राप्त हुआ करती है। (२) हे **वाघत:**=उत्तम यज्ञात्मक कर्मों का वरण करनेवाले! **सौधन्वना:**=प्रणवरूप उत्तम धनुषवाले, अर्थात् प्रभु का सतत नामस्मरण करनेवाले, **ऋभव:**=ज्ञान से दीप्त पुरुषो! **व:**=तुम्हारे **सुकृतानि**=उत्तम कर्म **च**=और **वीर्याणि**=पराक्रम **प्रतिमै न**=उपमित करने के लिए नहीं होते, अर्थात् तुम्हारे सुकृत और वीर्य अनुपम होते हैं। वस्तुत: प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनकर यह अनुपम शक्तिवाले प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—कर्मकाण्ड (वाघत) उपासनाकाण्ड (सौधन्वन) व ज्ञानकाण्ड (ऋभु) में उत्कृष्ट

होकर हम प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होते हैं और हमारी शक्ति अनुपम होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वाजवान् ऋभु'=शक्तिशाली ज्ञानदीप्त

इन्द्र ऋभुभिर्वाजवद्भिः समुक्षितं सुतं सोममा वृषस्वा गभस्त्योः।
धियेषितो मघवन्दाशुषो गृहे सौधन्वनेभिः सह मत्स्वा नृभिः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **वाजवद्भिः**=शक्तिवाले **ऋभुभिः**=ज्ञानदीप्त पुरुषों से, शरीर में शक्ति-सम्पन्न, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त पुरुषों से **समुक्षितम्**=शरीर में ही सिक्त किये गये **सुतं सोमम्**=उत्पन्न सोम को **गभस्त्योः**=अपनी भुजाओं में **आवृषस्व**=सींचनेवाला बन। जितेन्द्रिय बनकर सोम को विनष्ट मत होने दें। यह सुरक्षित सोम तेरी भुजाओं को पराक्रमवाला बनाएगा। (२) हे **मघवन्**=(मख=मघ) यज्ञशील जीवनवाले पुरुष! **धिया इषितः**=बुद्धि से प्रेरित हुआ-हुआ-सदा बुद्धिपूर्वक कर्मों को करनेवाला तू **दाशुषः**=दाश्वान्, देने की वृत्तिवाले के **गृहे**=घर में **सौधन्वनेभिः नृभिः**=प्रणवरूप उत्तम धनुषवाले, उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों के **सह**=साथ **मत्स्वा**=आनन्द का अनुभव कर। (३) तू यज्ञशील हो (मघवन्) तेरा घर 'दाश्वान् का घर' हो, अर्थात् तू सदा देने की वृत्तिवाला हो। तेरा साथ प्रभुस्मरण करनेवाले उन्नतिशील पुरुषों के साथ हो।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करके 'वाजवान् ऋभु'='शक्तिशाली ज्ञानदीप्त' पुरुष बनें। बुद्धिपूर्वक कार्यों में लगे रहें। हमारा साथ सौधन्वन ऋभुओं के साथ हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवव्रत तथा मनुर्धर्म (ऋत तथा सत्य)

इन्द्र ऋभुमान्वाजवान्मत्स्वेह नोऽस्मिन्त्सवने शच्या पुरुष्टुत।
इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः॥ ६॥

(१) **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **ऋभुमान्**=विशाल ज्ञानदीप्तिवाला तथा **वाजवान्**=शक्तिवाला तू **इह**=यहाँ इस जीवन में **मत्स्व**=आनन्द का अनुभव कर। **शच्या**=प्रज्ञानों व कर्मों के साथ **पुरुष्टुत**=(पुरु स्तुतं यस्य) बहुत स्तुतिवाले जीव! तू **नः**=हमारे **अस्मिन्**=इस **सवने**=जीवनयज्ञ में (मत्स्व) आनन्द का अनुभव कर। जीवन को तू यज्ञमय बना। (२) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे जीव! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **इमानि**=ये **स्वसराणि**=आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाले **देवानां व्रता**=देवों के व्रत **मनुषः धर्मभिः च**=मननशील पुरुष के धर्मों के साथ **येमिरे**=दिए जाते हैं। सूर्यादि देवों के व्रतों को पालन करते हुए तू अपने जीवन को ऋतमय बनाता है तथा मननशील पुरुष के धर्मों से तेरा जीवन सत्य से युक्त होता है। जीवन को ऋत व सत्य से युक्त करके ही हम प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—सूर्यादि देवों के व्रतों को धारण करते हुए ऋतमय बनें। मानवधर्मों का पालन करते हुए सत्यमय हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सहस्रणीथ प्रभु

इन्द्र ऋभुभिर्वाजिभिर्वाजयन्निह स्तोमं जरितुरुप याहि यज्ञियम्।
शतं केतेभिरिषिरेभिरायवे सहस्रणीथो अध्वरस्य होमनि॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **वाजिभिः**=शक्तिशाली **ऋभुभिः**=ज्ञानदीप्त पुरुषों के संग से **इह**=इस जीवन में **वाजयन्**=अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ, **जरितुः**=स्तोता के **यज्ञियम्**=पूजा में उत्तम व संगतिकरण योग्य **स्तोमम्**=स्तोम को-स्तुति साधनाभूत मन्त्र समूह को **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त हो, अर्थात् ज्ञानदीप्त शक्तिशाली पुरुषों का तू संग कर तथा अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ प्रभु के स्तोमों को करनेवाला हो। (२) वे प्रभु **अध्वरस्य होमनि**=इस जीवनयज्ञ के होम में, अर्थात् जीवनयज्ञ को सम्यक् चलाने में **शतम्**=सौ के सौ वर्ष पर्यन्त, अर्थात् आजीवन **इषिरेभिः**=कर्म के अन्दर प्रेरित करनेवाले **केतेभिः**=ज्ञानों से **आयवे**=मनुष्य के लिए **सहस्त्रणीथः**=हजारों प्रणयनोंवाले हैं-हजारों प्रकार से हमें आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। प्रभु के इन प्रणयनों से ही यज्ञ पूर्ण हुआ करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानदीप्त शक्तिशाली पुरुषों का संग करें। प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें ज्ञानों द्वारा मार्गदर्शन करेंगे।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात पर बल दे रहा है कि हम शक्तिशाली व ज्ञानदीप्त बनें। ऐसा बनने के लिए ही अगले सूक्त में उषाकाल में जागरण, स्तवन व स्वाध्याय के महत्त्व पर प्रकाश डाला जा रहा है—

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषाकाल के व्रत

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे॥ १॥

(१) हे **उषः**=उषे! **वाजेन वाजिनि**=अन्नों से उत्तम अन्नोंवाली, **प्रचेता**=प्रकृष्ट ज्ञानवाली, **मघोनि**=(मघ=मख) यज्ञोंवाली, तू **गृणतः**=स्तोता के **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो। हम उषाकाल में शक्तिप्रद सात्त्विक अन्नों के सेवन का विचार करें। स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाएँ। यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों। तथा प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। (२) हे **देवि**=प्रकाशमय उषे! तू **पुराणी**=सदा से चली आ रही है, सदा नवीन है 'पुराणि नवा'। **युवतिः**=हमारे जीवनों में बुराइयों को दूर करनेवाली तथा अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाली है। **पुरन्धिः**=तू पालक व पूरक बुद्धिवाली है, अथवा बहुत बुद्धिवाली है। हे **विश्ववारे**=सब से वरणीय (=चाहने योग्य) अथवा सब वरणीय वस्तुओंवाली उषे! तू **व्रतं अनुचरसि**=व्रतों के अनुकूल होकर गतिवाली होती है। उषाकाल में जागरण से अशुभवृत्तियाँ दूर होकर शुभवृत्तियाँ जागती हैं, बुद्धि का वर्धन होता है और मनुष्य का जीवन 'व्रती जीवन' बनता है। यह उषाजागरण सब नियमों की पूर्ति में सहायक होता है।

भावार्थ—उषाकाल में जागकर हम (क) उत्तम अन्नों के सेवन का ही संकल्प करें, (ख) स्वाध्यायशील हों, (ग) यज्ञ को अपनाएँ, (घ) प्रभु-स्तवन करें। ऐसा करने से (क) हमारी बुराईयाँ दूर होंगी, (ख) बुद्धि बढ़ेगी, (ग) जीवन 'व्रती' बनेगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उषाजागरण' के लाभ

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती ।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये॥ २॥

(१) हे **उषः देवि**=प्रकाशमय उषे! तू **अमर्त्या**=मनुष्यों को मृत्यु से बचानेवाली है। उषाकाल में जागनेवाला व्यक्ति दीर्घजीवन को प्राप्त करता है। तू **चन्द्ररथा**=इस शरीर-रथ को आनन्दमय बनाती हुई **विभाहि**=दीप्त हो। उषाजागरण से स्वास्थ्य ठीक होकर मनुष्य उल्लासमय जीवनवाला बनता है। ये उषा हमारे जीवनों में **सूनृताः**=प्रिय सत्यवाणियों को **ईरयन्ती**=प्रेरित करती है। उषाजागरण से मनोवृत्ति भी उत्तम होती है और मनुष्य प्रिय सत्य-वाणियों को ही बोलनेवाला होता है। (२) हे उषः! **हिरण्यवर्णाम्**=प्रकाश के कारण दीप्त वर्णवाली **त्वा**=तुझ को **सुयमासः**=अच्छी प्रकार जिनका नियन्त्रण किया गया है, **ये**=जो **पृथुपाजसः**=विशाल बलवाले **अश्वाः**=इन्द्रियाश्व हैं, वे **आवहन्तु**=यहाँ हमारे समीप प्राप्त कराएँ, अर्थात् यह उषा हमारे इन्द्रियाश्वों को नियन्त्रित व शक्तिशाली बनानेवाली हो।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध हों। इससे हम 'नीरोग, आह्लादमय, प्रिय सत्यवाणीवाले तथा नियन्त्रित व शक्तिशाली इन्द्रियाश्वोंवाले बनेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अमृत की केतु' उषा

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व॥ ३॥

(१) हे **उषः**=उषाकाल! **विश्वा भुवनानि प्रतीची**=सब लोकों के प्रति गति करती हुई तू **ऊर्ध्वा तिष्ठसि**=उन्नत होकर स्थित होती है, तू **अमृतस्य केतुः**=अमृतत्त्व की प्रज्ञापिका है। उषा आती है-सब लोगों के लिए प्रकाश को प्राप्त कराती हुई, यह अमृतत्त्व व नीरोगता का संकेत करती है। (२) **नव्यसि**=सदा नवीन उषे! तू **चक्रं इव**=चक्र की तरह **समानं अर्थम्**=समान ही मार्ग पर (अर्थ=मार्ग, अर्थते) **चरणीयमाना**=चलने की कामना करती हुई **आववृत्स्व**=हमारे लिए पुनः-पुनः आवर्तनवाली हो। उषा फिर-फिर आती है-सदा नवीन ही प्रतीत होती है।

भावार्थ—उषा अमृतत्त्व का सन्देश लेकर आती है। समान ही मार्ग पर सदा चल रही है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सुभगा सुदंसाः' उषा

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी।
स्वर्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद्दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः॥ ४॥

(१) रात्रि के लिए फैले हुए **स्यूम इव**=अन्धकाररूप वस्त्र को ही **अवचिन्वती**=अवचित करती हुई, विनष्ट करती हुई, **मघोनी**=प्रकाशरूप ऐश्वर्यवाली **उषा**=उषा **याति**=प्राप्त होती है। यह उषा **स्वसरस्य**=(सु+अस्) अच्छी प्रकार अन्धकार का क्षेपण करनेवाले सूर्य की **पत्नी**=मानो पत्नी ही है। **स्वः जनन्ती**=प्रकाश को प्रादुर्भूत करती हुई, **सुभगा**=यह उत्तम सौभाग्य को देनेवाली है। **सुदंसाः**=इसमें सदा यज्ञादि उत्तम कर्म होते हैं। (२) यह उषा **दिवः आ अन्तात्**=द्युलोक के अन्तिम सिरे से **आपृथिव्याः**=पृथिवी के अन्तिम सिरे तक **पप्रथे**=विस्तृत होती है। उषा का प्रकाश व्यापक है। यह रात्रि के अन्धकार को समाप्त करके सारे लोक को प्रकाशमय बना देता है। इस उषा में सात्त्विक पुरुषों के यज्ञादि उत्तम कर्म-प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—उषा के आते ही अन्धकार समाप्त होता है और इसमें यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रारम्भ होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मधुधा' उषा

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम्।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत्प्र रोचना रुरुचे रण्वसन्दृक् ॥ ५ ॥

(१) **वः अच्छा विभातीम्**=तुम्हारा लक्ष्य करके प्रकाश को करती हुई **उषसं देवीम्**=प्रकाशमय उषा के प्रति **नमसा**=नमन के साथ **वः सुवृक्तिम्**=अपनी उत्तम पापवर्जनरूप स्तुति को **प्रभरध्वम्**=प्रकर्षेण भरण करनेवाले बनो। उषाकाल में नम्रतापूर्वक प्रभुस्तवन करना आवश्यक है-उस समय प्रभु से पाप-परित्याग की शक्ति की याचना करनी चाहिए। हमारी यही प्रार्थना हो कि हम दिनभर के कार्यों में यथासम्भव पाप से ऊपर ही उठे रहें। (२) यह **मधुधा**=माधुर्य का धारण करनेवाली उषा **दिवि**=द्युलोक में **ऊर्ध्वं पाजः अश्रेत्**=उत्कृष्ट शक्ति का आश्रय करती है। द्युलोक मस्तिष्क है, यह उषा मस्तिष्क में ज्ञान के आधार में उत्कृष्ट शक्ति को स्थापित करती है। यह **रण्वसंदृक्**=रमणीय दर्शनवाली उषा **रोचना**=सब लोकों को **प्ररुरुचे**=अपने तेज से प्रकर्षेण दीप्त करती है।

भावार्थ—उषाकाल में हम नम्रतापूर्वक पापवर्जन के संकल्प द्वारा प्रभु का स्तवन करें। यह उषा हमें ज्ञान व उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वाम द्रविण-प्रदा' उषा

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥ ६ ॥

(१) **ऋतावरी**=ऋत का रक्षण करनेवाली यह उषा **दिवः अर्कैः**=प्रकाश की किरणों से **अबोधि**=जानी जाती है-इसका प्रकाश सर्वत्र फैलता है। यह **रेवती**=प्रकाशरूप धनवाली उषा **रोदसी**=द्यावापृथिवी में **चित्रं आ अस्थात्**=अद्भुत प्रकाशमयरूप से स्थित होती है, अर्थात् यह सम्पूर्ण द्यावापृथिवी को प्रकाशित करती है। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **आयतीम्**=प्रतिदिन आती हुई **विभातीम्**=प्रकाशमयी **उषसम्**=उषा से **भिक्षमाणः**=याचना करता हुआ **वामं द्रविणं एषि**=सुन्दर धनों को प्राप्त करता है। उषाकाल से जिसने याचना करनी है, वह अवश्य उषा से पूर्व ही उद्बुद्ध हो चुका होगा। यह उषाजागरण ही 'स्वास्थ्य मनःप्रसाद व तीव्रबुद्धि' रूप द्रविणों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—उषा से हम उत्तम द्रविणों की याचना करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की माया

ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन्वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा ॥ ७ ॥

(१) **वृषा**=वृष्टि द्वारा सब प्रकार के सुखों का सेचन करनेवाला वह प्रभु **ऋतस्य बुध्ने**=ऋत के मूल में **उषसां इषण्यन्**=उषाओं को प्रेरित करता हुआ **मही रोदसी**=इन महान् द्यावापृथिवी में **आविवेश**=प्रवेश करता है। उषा का आना इसीलिए है कि हम ऋतपालन में प्रवृत्त हो जाएँ।

प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने का निश्चय करें। (२) उस **मित्रस्य**=हमें प्रमीति से-मृत्यु से बचानेवाले **वरुणस्य**=पापों से निवारित करनेवाले प्रभु की **माया मही**=प्रज्ञा महान् है। यह **चन्द्रा इव**=आह्लाद को प्राप्त करानेवाली है। **पुरुत्रा**=सर्वत्र **भानुं विदधे**=प्रकाश को करती है। प्रभु का प्रकाश अद्भुत आनन्द की अनुभूति को देनेवाला है। इसीलिए उसे 'चन्द्रा' कहा है। हमारा जीवन इससे प्रकाशमय बनता है (भानु)।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक हैं। प्रभु का प्रकाश हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है।

सम्पूर्ण सूक्त उषा-जागरण के महत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है। यह हमें 'जितेन्द्रिय, निवृत्त पाप, ज्ञानी, पुष्ट, ऐश्वर्यशाली, शक्ति का पुञ्ज तथा सब के प्रति स्नेहवाला' बनाता है। यही भाव अग्रिम सूक्त में ६ तृचों द्वारा वर्णित हुआ है। प्रथम तृच 'इन्द्र व वरुण' का है, 'जितेन्द्रिय+निवृत्त=पाप' का—

६२. [द्विषष्टिमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भृमयो मन्यमानाः=आलस्यशून्य-ज्ञानतत्पर

इमा उ वां भृमयो मन्यमाना युवावते न तुज्या अभूवन्।
क्व१ त्यदिन्द्रावरुणा यशो वां येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र व वरुण देवो! **वाम्**=आप की **इमाः**=ये **भृमयः**=भ्रमणशील-आलस्यशून्य **मन्यमानाः**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाली प्रजाएँ **युवावते**=यौवनवाले, अर्थात् अत्यन्त प्रबल कामरूप शत्रु के लिए **तुज्याः**=हिंसनीय **न अभूवन्**=नहीं होतीं। 'इन्द्र और वरुण की प्रजाओं' का भाव है 'वे व्यक्ति, जो जितेन्द्रिय व निवृत्त-पाप बनने का प्रयत्न करते हैं'। ये 'आलस्यशून्य' व 'ज्ञानतत्पर' होते हुए कामवासना के शिकार नहीं होते। (२) **इन्द्रावरुणा**=हे इन्द्र और वरुण देवो! **वाम्**=आपका **त्यत् यशः**=वह यश **क्व**=कहाँ है, **येन**=जिसके द्वारा **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिए **सिनम्**=शरीर को **भरथः**=निश्चय से पुष्ट करते हो (सिनम्=the Body)। 'जितेन्द्रियता व पापनिवृत्ति' हमारे शरीर की सब शक्तियों का उचित रूप में पोषण करती हैं। हम 'इन्द्र और वरुण' के मित्र बनते हैं और वे हमारे शरीर का पोषण करते हैं।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण की हम प्रजा बनें, अर्थात् जितेन्द्रिय बनकर पाप-भावनाओं से निवृत्त हों। ऐसा होने पर हमारी सब शक्तियों का समुचित पोषण होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रयीयन्=वास्तविक ऐश्वर्य की कामनावाला

अयमु वां पुरुतमो रयीयञ्छश्वत्तममवसे जोहवीति।
सजोषाविन्द्रावरुणा मरुद्भिर्दिवा पृथिव्या शृणुतं हवं मे ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण देवो! **अयम्**=यह **उ**=निश्चय से **वाम्**=आपका **पुरुतमा**=अधिक से अधिक पालन व पूरण करनेवाला, अर्थात् अधिक से अधिक जितेन्द्रिय व निष्पाप बननेवाला व्यक्ति **रयीयन्**=वास्तविक ऐश्वर्य को चाहता हुआ **शश्वत्तमम्**=सदा **अवसे**=रक्षण के लिए **जोहवीति**=पुकारता है। इसकी यही प्रार्थना होती है कि मैं इन्द्रियों को वश में करनेवाला बनूँ और पाप से निवृत्त रहूँ, ताकि वास्तविक ऐश्वर्य का लाभ कर सकूँ। (२) हे इन्द्रावरुणा! **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **दिवा**=मस्तिष्करूप द्युलोक के साथ **पृथिव्या**=शरीररूप

पृथिवी के साथ **सजोषा**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए आप **मे हवम्**=मेरी प्रार्थना को **शृणुतम्**=सुनिए। प्राणसाधना द्वारा मस्तिष्क व शरीर दोनों ही सुन्दर बनते हैं। यह साधना हमें जितेन्द्रिय व निष्पाप बनाती है। जितेन्द्रियता से शरीर की शक्तियाँ स्थिर बनी रहती हैं-शरीररूप पृथिवी दृढ़ बनी रहती है। निष्पापता से मस्तिष्क ठीक रहता है। मस्तिष्करूप द्युलोक को निष्पापता ही दीप्त रखती है।

भावार्थ—'प्राणसाधना, (मरुत्) स्वाध्याय (दिवा) व इन्द्रिय-विजय हमारे जीवन का उत्तमता से रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सरल व उदार

अस्मे तदिन्द्रावरुणा वसु ष्यादस्मे रयिर्मरुतः सर्ववीरः।
अस्मान्वरूत्रीः शरणैरवन्त्वस्मान्होत्रा भारती दक्षिणाभिः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र व वरुण देवो! **अस्मे**=हमारे लिए **तत्**=वह आपका प्रसिद्ध **वसु**=धन **स्यात्**=हो। हम आपकी कृपा से जितेन्द्रिय बनकर शरीर की शक्ति को तथा निष्पाप बनकर मस्तिष्क का ज्ञान प्राप्त करें। हे **मरुतः**=प्राणो! **अस्मे**=हमारे लिए वह **रयिः**=धन प्राप्त हो, जो कि **सर्ववीरः**=हमारी सब इन्द्रियों को वीर बनानेवाला है। प्राणसाधना से शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर हमारी सब इन्द्रियाँ सशक्त बनी रहें। (२) **वरूत्रीः**=पापनिवारक-शक्तियाँ **शरणैः**=अपनी शरणों द्वारा **अस्मान्**=हमें **अवन्तु**=रक्षित करें-हम पापों में न फँसें। **अस्मान्**=हमें **होत्रा**=यह ज्ञानवाणी, जो कि **भारती**=हमारा समुचित भरण करनेवाली है। **दक्षिणाभिः**=(दक्षिणे सरलोदारौ) सरल व उदारवृत्तियों द्वारा रक्षित करे। यह ज्ञानवाणी हमारे जीवन में सरलता व उदारता को लानेवाली हो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व निष्पापता हमारे जीवन को उत्तम बनाए। प्राणसाधना से हमारा अंग-प्रत्यंग सशक्त हो। वेदज्ञान हमें सरल व उदार वृत्तिवाला बनाए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'विश्वदेव्य बृहस्पति' का आराधन

बृहस्पते जुषस्व नो हव्यानि विश्वदेव्य। रास्व रत्नानि दाशुषे॥ ४॥

(१) **विश्वदेव्य**=यह ज्ञान द्वारा हमारे जीवनों में सब दिव्यगुणों को जन्म देता है, सो 'विश्वदेव्य' है। हे **विश्वदेव्य बृहस्पते**=सब देवों के लिए हितकर ज्ञान के स्वामिन्! आप **नः**=हमारे लिए **हव्यानि**=दानपूर्वक अदनों को **जुषस्व**=(जोषयस्व) प्रीतिपूर्वक सेचन कराइये। हम आपकी कृपा से सदा हव्यों का सेवन करनेवाले बनें। यह हव्य-सेवन ही तो हमें देवी-वृत्तिवाला बनाएगा। इसी से हम ज्ञानवृद्धि कर पाएँगे। (२) हे बृहस्पते! आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए-सदा दान की वृत्तिवाले के लिए **रत्नानि रास्व**=रत्नों को दीजिए। दान की वृत्ति हमारे ऐश्वर्य का वर्धन करती है। बृहस्पति का उपासक, ज्ञान का आराधक, धन का लोभी न होने से अत्यन्त देने की वृत्तिवाला बनता है। इससे इसके ऐश्वर्य की और वृद्धि होती है 'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्'।

भावार्थ—सब देवों के हितकारी ज्ञान के स्वामी हमें दानशील बनायें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**बृहस्पति** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अनामि ओजः=(न झुकनेवाला बल)

शुचिमर्कैर्बृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत। अनाम्योज आ चके॥ ५॥

(१) हे मनुष्यो! **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञादि उत्तम कर्मों में **शुचिम्**=उस पूर्ण पवित्र **बृहस्पतिम्**=ब्रह्मणस्पति,-ज्ञान के स्वामी प्रभु का **अर्कैः**=अर्चन साधन मन्त्रों से **नमस्यत**=पूजन करो। 'शुचि बृहस्पति' का पूजन यही है कि 'सदा ज्ञान-प्रधान बनकर, पवित्र जीवनवाला बने रहना-विषयों में न फँसना'। (२) इस प्रकार 'शुचि बृहस्पति' का पूजन करके मैं **अनामि ओजः**=रोग व वासनारूप शत्रुओं से न झुकाए जा सकनेवाले बल को **आचके**=चाहता हूँ। पवित्र ज्ञानस्वरूप प्रभु की उपासना से उपासक भी प्रभु के समान ही पवित्रता व ज्ञान की उस शक्ति को प्राप्त करता है, जिसे काम-क्रोध आदि शत्रु झुका नहीं सकते।

भावार्थ—पवित्र ज्ञानस्वरूप प्रभु की उपासना से हम अदम्य बल प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**बृहस्पति** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'विश्वरूप अदाभ्य' बृहस्पति की उपासना

वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम्। बृहस्पतिं वरेण्यम्॥ ६॥

(१) हे मनुष्यो! उस **बृहस्पति**=ज्ञान के पति प्रभु का तुम (नमस्यत) उपासन करो, जो प्रभु **चर्षणीनां वृषभम्**=श्रमशील मनुष्यों के लिए सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **विश्वरूपम्**=इस सम्पूर्ण विश्व को रूप देनेवाले हैं-इसके निर्माता हैं। (२) उस प्रभु का स्तवन करो, जो कि **अदाभ्यम्**=किसी से हिंसित होनेवाले नहीं तथा **वरेण्यम्**=वरण करने योग्य हैं। इन प्रभु के वरण में ही सब दुःखों का अन्त है।

भावार्थ—ज्ञानरूप-प्रभु की उपासना से हम भी मनुष्यों के सुखों का वर्धन करनेवाले, निर्माण के कार्यों को करनेवाले व किसी भी काम-क्रोध आदि शत्रु से हिंसित होनेवाले न होंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'पूषा का आघृणि' बनना

इयं ते पूषन्नाघृणे सुष्टुतिर्देव नव्यसी। अस्माभिस्तुभ्यं शस्यते॥ ७॥

(१) प्रभु तो 'पूषा' हैं ही। सूर्य को भी पूषा कहते हैं, यह अपनी किरणों से सर्वत्र प्राण-शक्ति का संचार करता है, यह सर्वतो दीप्यमान होने से 'आघृणि' है। सूर्य अपनी किरणों से (घृणि) चमक रहा है, प्रभु ज्ञान की किरणों से दीप्त हैं। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'। हे **पूषन्**=सब का पोषण करनेवाले! **आघृणे**=सर्वतः दीप्यमान **देव**=प्रकाशमय व सब व्यवहारों के साधक प्रभो! (दिव्=व्यवहारे) **इयम्**=यह **नव्यसी**=अत्यन्त प्रशस्त **सुष्टुतिः**=उत्तम स्तुति **ते**=आपके लिए है। हम प्रतिदिन आपका स्तवन करते हैं। (२) **अस्माभिः**=हमारे से **तुभ्यम्**=आपके लिए **शस्यते**=सुष्टुति उच्चरित होती है। आपका 'पूषन् आघृणि' रूप में स्मरण करते हुए हम भी 'पूषा व आघृणि' बनने का प्रयत्न करते हैं, शरीर में पुष्ट, मस्तिष्क में दीप्त। वस्तुतः ऐसा बनना ही प्रभु का सच्चा पूजन है।

भावार्थ—प्रभु का पूजन 'पूषा व आघृणि' रूप में करते हुए हम 'शरीर में पुष्ट व मस्तिष्क में दीप्त' बनने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्वाध्याय करना' तथा 'बुद्धि का रक्षण'

तां जुषस्व गिरं मम वाजयन्तीमवा धियम्। वधूयुरिव योषणाम्॥ ८॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **मम**=मेरी **ताम्**=उस प्रसिद्ध **गिरम्**=ज्ञानवाणी का **जुषस्व**=तू

प्रीतिपूर्वक सेवन कर। वेदवाणी को प्रेमपूर्वक पढ़नेवाला बन। (२) **वाजयन्तीम्**=तुझे शक्तिशाली बनानेवाली **धियम्**=बुद्धि का **अव**=रक्षण कर। उस बुद्धि को तू धारण कर, जो तुझे शक्ति-सम्पन्न बनाए रखे। इस प्रकार इस बुद्धि का रक्षण कर **इव**=जैसे कि **वधूयुः**=वधू की कामनावाला पुरुष **योषणाम्**=अपनी पत्नी का रक्षण करता है। वस्तुतः यह बुद्धि ही तेरी पत्नी है, इसी में तेरी शक्ति निहित है, यही तुझे बलवान् बनाती है (वाजयन्ती)।

भावार्थ—प्रभु के दो आदेश हैं—(क) वेदवाणी का अध्ययन करना, (ख) बुद्धि का रक्षण करना।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सर्व पोषक' प्रभु

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पूषाविता भुवत्॥ ९॥

(१) **सः**=वे **पूषा**=सब का पोषण करनेवाले प्रभु **नः**=हमारे **अविता**=रक्षण करनेवाले **भुवत्**=हों। वस्तुतः जैसे माता-पिता सन्तानों का रक्षण करते हैं, वैसे ही हम सब के रक्षक प्रभु ही हैं। (२) वे प्रभु हमारा रक्षण करें **यः**=जो **विश्वा भुवना**=सब प्राणियों को **अभिवि-पश्यति**=आभिमुख्येन देखनेवाले हैं। प्रभु सब का ध्यान करते हैं। **च**=और **संपश्यति**=सम्यक्तया ध्यान करते हैं। प्रभु सबका पालन कर रहे हैं और अत्यन्त अच्छी प्रकार पालन कर रहे हैं। सांसारिक माता-पिता ज्ञान व शक्ति की अल्पता के कारण पालन में कुछ कमी कर जाएँ तो कर जाएँ, पर प्रभु के पालन में कोई कमी नहीं, वे सर्वज्ञ हैं व सर्वशक्तिमान् हैं। सो उनका पालन भी पूर्ण है।

भावार्थ—सर्वपोषक प्रभु के हम पालनीय बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ १०॥

(१) 'स चासौ सविता तत्सविता' **तत्सवितुः**=उस प्रसिद्ध (व्यापक) प्रेरक व उत्पादक **देवस्य**=सब व्यवहारों के साधक व प्रकाशमय प्रभु के **वरेण्यं भर्गः**=वरणीय तेज को **धीमहि**=हम धारण करें-उस तेज का ही ध्यान करें। प्रकृति के दृष्टिकोण से 'सविता' उत्पादक हैं, जीव के दृष्टिकोण से वे प्रेरक हैं। हृदयस्थरूपेण प्रभु जीव को प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। इसी प्रकार प्रकृति के दृष्टिकोण से 'देव' सब व्यवहारों के साधक व सब क्रीड़ाओं को करनेवाले हैं, जीव के दृष्टिकोण से वे प्रकाशमय हैं-हृदयस्थरूपेण वे ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करा रहे हैं। (२) उस परमेश्वर के तेज को हम धारण करें, **यः**=जो कि **नः धियः**=हमारी बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=प्रकृष्ट प्रेरणा दें। वे प्रभु हमें निरन्तर उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करा रहे हैं। इन प्रेरणाओं के अनुसार चलने से ही हम प्रभु का तेज धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन का लक्ष्य 'प्रभु के तेज का धारण' हो। यह लक्ष्य हमें सदा उत्कृष्ट मार्ग पर चलने की प्रेरणा देगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

बुद्धि के साथ धन

देवस्य सवितुर्वयं वाजयन्तः पुरन्ध्या। भगस्य रातिमीमहे॥ ११॥

(१) **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए **वयम्**=हम **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु की **पुरन्ध्या**=पालक व पूरक बुद्धि के साथ **भगस्य रातिम्**=ऐश्वर्य के दान को

ईमहे=माँगते हैं। (२) प्रभु से जहाँ हम धन की याचना करते हैं, वहाँ पालक बुद्धि की भी प्रार्थना करते हैं। बुद्धि के साथ धन हमारी वृत्तियों की विकृति का कारण नहीं बनता है। अन्यथा यह सम्पत्ति हमें विलास के मार्ग पर ले जाकर हमारी विपत्तियों का कारण बनती है। उस समय हम शक्ति-सम्पन्न बनने के स्थान में क्षीणशक्ति हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि के साथ धन दें। बुद्धि पहले और धन पीछे। इस प्रकार धन ठीक विनियुक्त होकर हमारी शक्ति बढ़ाने का साधन होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'नर, विप्र व धियेषित' बनना

देवं नरः सवितारं विप्रा यज्ञैः सुवृक्तिभिः। नमस्यन्ति धियेषिताः ॥ १२ ॥

(१) **नरः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रणयन करनेवाले, **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले, **धिया इषिताः**=बुद्धि से प्रेरित होनेवाले, अर्थात् सब कार्यों को बुद्धिपूर्वक करनेवाले लोग **सवितारं देवम्**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु को **यज्ञैः**=यज्ञों से, लोकहित के लिए किये गये कर्मों से तथा **सुवृक्तिभिः**=उत्तमता से-पापवर्जन द्वारा **नमस्यन्ति**=पूजते हैं। (२) प्रभु के उपासक (क) 'नर' होते हैं-यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रणयन करनेवाले, (ख) ये 'विप्र' होते हैं-अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले-न्यूनताओं को दूर करनेवाले (ग) धियेषिताः=बुद्धि से प्रेरित होनेवाले-बुद्धिपूर्वक कार्यों को करनेवाले। (३) ये प्रभु के उपासक प्रभु की उपासना 'यज्ञों' व 'सुवृक्तियों' द्वारा करते हैं। यज्ञादि उत्तम कर्मों का करना ही प्रभु की उपासना है। 'सुवृक्ति' अर्थात् अच्छी प्रकार पापवर्जन से प्रभु की उपासना होती है।

भावार्थ—हम यज्ञों व पापवर्जन द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए आगे बढ़ें, अपनी न्यूनताओं को दूर करें और बुद्धिपूर्वक कर्मों को करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सोम** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षक

सोमो जिगाति गातुविद्देवानामेति निष्कृतम्। ऋतस्य योनिमासदम् ॥ १३ ॥

(१) शरीर में उत्पन्न होनेवाली अन्तिम धातु 'सोम' है। इसका रक्षक पुरुष भी 'सोम' है। यह **सोमः**=सोमरक्षक पुरुष **गातुवित्**=मार्ग को जाननेवाला **जिगाति**=गतिवाला होता है, अर्थात् यह सोम सदा सुमार्ग पर चलता है। यह **देवानाम्**=देवों के **निष्कृतम्**=परिष्कृत स्थान को **प्रति**=प्राप्त करता है, अर्थात् यह अपने घर को देवों का घर बनाता है। (२) इस प्रकार मार्ग पर चलता हुआ व अपने घर को देवगृह बनाता हुआ यह **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु को **आसदम्**=प्राप्त करने के लिए होता है। प्रभुप्राप्ति का मार्ग यही है कि हम सोमरक्षण द्वारा अपने जीवन को बड़ा परिष्कृत जीवन बनाएँ।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा मार्ग पर चलते हुए-अपना जीवन दिव्य बनाते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सोम** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आरोग्यप्रद अन्न

सोमो अस्मभ्यं द्विपदे चतुष्पदे च पशवे। अनमीवा इषस्करत् ॥ १४ ॥

(१) **सोमः**=सोम-अत्यन्त शान्त प्रभु **अस्मभ्यं द्विपदे**=हम दो पाँववाले मनुष्यों के लिए

च=और **चतुष्पदे**=चार पाँववाले **पशवे**=पशुओं के लिए **अनमीवाः**=रोगरहित **इषः**=अन्नों को **करत्**=करें। (२) हम प्रभुकृपा से ऐसे अन्नों को प्राप्त करें, जो कि हमारे लिए नीरोगता को देनेवाले हों। हमारे साथ सम्बद्ध इन पशुओं के लिए भी ऐसे ही अन्न हों, ताकि हम उनके नीरोगता को देनेवाले दूध आदि प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—प्रभु हमें नीरोगता के साधक अन्नों को दें। इन अन्नों से ही उत्तम मनवाले बनकर हम सोम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सोम** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण के तीन लाभ

अस्माकमायुर्वर्धयन्नभिमातीः सहमानः। सोमः सधस्थमासदत् ॥ १५ ॥

(१) **सोमः**=शरीर में उत्पन्न होनेवाली यह अन्तिम धातु **अस्माकम्**=हमारी **आयुः**=आयु को **वर्धयन्**=बढ़ाता है-रक्षित हुआ-हुआ सोम दीर्घजीवन का कारण बनता है। (२) यह सोम **अभिमातीः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का **सहमानः**=मर्षण करता है-उन शत्रुओं को कुचलनेवाला होता है। (३) वह **सोमः**=सोम **सधस्थम्**=सब के एक स्थान में स्थित होने के आधारभूत उस प्रभु को **आसदत्**=प्राप्त होता है। प्रभु को 'सध-स्थ' कहते हैं, सारा ब्रह्माण्ड, सारे प्राणी इस प्रभु में एक स्थान में स्थित हैं। सोमरक्षण से ही इस प्रभु की प्राप्ति सम्भव होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) आयु दीर्घ होती है, (ख) काम-क्रोध आदि शत्रु नष्ट होते हैं और (ग) प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दीप्त ज्ञान+मधुर कर्म

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ १६ ॥

(१) 'मित्र' स्नेह का देवता है और 'वरुण' पापनिवारण का। हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **नः**=हमारी **गव्यूतिम्**=इन्द्रियरूप गौओं के प्रचार क्षेत्र को **घृतैः**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तियों से **आ उक्षतम्**=समन्तात् सिक्त करिए। हृदय में 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' न हों तथा हृदय पाप की भावना से रहित हो, तो शरीर व मन जहाँ मलों से रहित रहते हैं, वहाँ बुद्धि सूक्ष्म होकर ज्ञान दीप्त हो उठता है। (२) हे **सुक्रतू**=शोभन कर्मोंवाले मित्र वरुणो! आप **रजांसि**=हमारे सब कर्मों को (रजः कर्मणि भारत) **मध्वा**=माधुर्य से सिक्त करिए। हमारे कर्म मधुरता लिए हुए हों। कहीं भी हमारे कर्मों में उग्रता न हो।

भावार्थ—स्नेह व निष्पापता होने पर हमारा ज्ञान दीप्त होता है और हमारे कर्म मधुरता लिये हुए होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्तुति, नम्रता, बल व पवित्रता'

उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथः। द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता ॥ १७ ॥

(१) मित्र और वरुण, स्नेह व निष्पापता, **उरुशंसा**=अत्यन्त प्रशंसनीय हैं अथवा बहुत शंसन (प्रभुस्तवन) वाले हैं, **नमोवृधा**=ये नम्रता की भावना बढ़ानेवाले हैं। ये दोनों **दक्षस्य**=बल की **मह्ना**=महिमा से **राजथः**=दीप्त होते हैं, अर्थात् स्नेह व निष्पापता से (क) स्तवन की ओर झुकाव होता है, (ख) नम्रता की भावना बढ़ती है, (ग) बल की वृद्धि होती है। (२) ये मित्र और

वरुण **द्राघिष्ठाभिः**=दीर्घ स्तुति लक्षण वाणियों से युक्त होते हुए **शुचिव्रता**=पवित्र कर्मोंवाले होते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निष्पापता का जीवन 'स्तुति, नम्रता, बल व पवित्रता' वाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋत की योनि में

गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम्। पातं सोममृतावृधा ॥ १८ ॥

(१) हे मित्रावरुणा स्नेह व निष्पापता के देवताओ! आप **जमदग्निना**=दीप्त जाठराग्निवाले से **गृणाना**=स्तुति किये जाते हुए **ऋतस्य यो नौ**=ऋत की योनि में-ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **सीदतम्**=आसीन होओ। वस्तुतः ईर्ष्या-द्वेष आदि के अभाव में तथा पापवृत्ति के न होने पर शरीर ठीक बना रहता है-जाठराग्नि अपना कार्य ठीक प्रकार से करती है। इस प्रकार यह पूर्ण स्वस्थ पुरुष परमात्मा को पानेवाला बनता है। (२) हे **ऋतावृधा**=ऋत का वर्धन करनेवाले मित्रवरुणो! आप **सोमं पातम्**=सोम का पान करो। मित्रता व निष्पापता मनुष्य को सोमरक्षण के योग्य बनाते हैं। मित्रता व निष्पापता से जीवन में ऋत का वर्धन होता है। यह ऋत (regularity) सोमरक्षण में सहायक होती है।

भावार्थ—मित्रता व निष्पापता सोमरक्षण में सहायक होते हैं और हमें प्रभुप्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

यह सूक्त जितेन्द्रिय बनकर निष्पाप बनने के भाव से प्रारम्भ हुआ था, समाप्ति पर सब के प्रति स्नेहवाला बनकर निष्पाप बनने के लिए प्रेरित कर रहा है। यह निष्पाप व्यक्ति अब चतुर्थ मण्डल के प्रारम्भ में 'अग्नि' नाम से प्रभु का स्मरण करता है।

इति तृतीयं मण्डलम्॥

अथ चतुर्थं मण्डलम्

प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडतिशक्वरी ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'समन्यु देवों का प्रभु दर्शन'

त्वां ह्यग्ने सदमित्समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे।
अमर्त्यं यजत मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत प्रचेतसं विश्वमादेवं जनत प्रचेतसम्॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वां हि**=आप को निश्चय से **सदम् इत्**=सदा ही **समन्यवः**=ज्ञान से युक्त **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **नि एरिरे**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। **देवम्**=प्रकाशमय **अरतिम्**=संसार में अनासक्त आपको देव अपने अन्दर प्रेरित करते हैं **इति**=इसलिए हम यज्ञशील पुरुष **क्रत्वा**=यज्ञों के द्वारा **न्येरिरे**=आपको अपने अन्दर प्रेरित करने का प्रयत्न करते हैं। (२) हे मनुष्यो! **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **आ-देवम्**=समन्तात् प्रकाश को करनेवाले **अमर्त्यम्**=उस अमरणधर्मा प्रभु को **यजत**=तुम पूजनेवाले बनो। **आदेवम्**=उस समन्तात् दीप्तिवाले **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु को **जनत**=ध्यान आदि के द्वारा अपने अन्दर आविर्भूत करो। **विश्वम्**=उस सर्वत्र प्रविष्ट-सर्वव्यापक **आदेवम्**=सर्वतो दीप्तिमान् **प्रचेतसम्**=प्रकर्षेण चेतानेवाले प्रभु को **जनत**=अपने हृदयों में आविर्भूत करो।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रकाश को अपने हृदयों में अनुभव करने का प्रयत्न करें। इसके लिये 'स्वाध्याय की प्रवृत्तिवाले देव' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निर्वा वरुणश्च ॥ छन्दः—अतिजगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभुप्राप्ति के पात्र

स भ्रातरं वरुणमग्न आ ववृत्स्व देवाँ अच्छा सुमती यज्ञवनसं ज्येष्ठं यज्ञवनसम्।
ऋतावानमादित्यं चर्षणीधृतं राजानं चर्षणीधृतम् ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः**=वे आप **आववृत्स्व**=आभिमुख्येन प्राप्त हों। उस व्यक्ति को प्राप्त हों जो कि **भ्रातरम्**=अपने कर्त्तव्यभार को सम्यक् उठाता है (बिभर्ति)। **वरुणम्**=जो यथाशक्ति अपने को पाप से बचाता है (पापात् निवारयति)। **सुमती**=कल्याणीमति के द्वारा **देवान् अच्छा**=दिव्यगुणों की ओर चलता है। **यज्ञवनसम्**=जो यज्ञों का सेवन करता है। **ज्येष्ठम्**=जो सर्वोत्तम (the most generous) दाता है, ऊर्ध्वादिक् का अधिमति बृहस्पति बनता है और **यज्ञवनसम्**=यज्ञ का सेवन करनेवाला होता है, देवों का पूजन करनेवाला होता है। (२) हे प्रभो! आप उस व्यक्ति को प्राप्त होते हो जो कि **ऋतावानम्**=जीवन में ऋत का पालन करता है, सब कार्यों को ठीक समय पर करता है। **आदित्यम्**=आदान की वृत्तिवाला होता है, सब स्थानों से अच्छाइयों का ग्रहण करता है। **चर्षणीधृतम्**=मनुष्यों का धारण करता है, अर्थात् सदा धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। **राजानम्**=ज्ञान से दीप्त होता है (राजृ दीप्तौ) अथवा अपना शासक बनता

है, इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपने अधीन करता है और चर्षणीधृतम्=सब का धारण करनेवाला होता है 'सर्वभूतहिते रतः'।

भावार्थ—प्रभु उस व्यक्ति को प्राप्त होते हैं जो कि (क) कर्तव्यभार का वहन करता है, (ख) पाप से अपने को बचाता है, (ग) कल्याणीमति के द्वारा दिव्यगुणों की ओर चलता है, (घ) यज्ञों का सेवन करनेवाला होता है, (ङ) सर्वोत्तम बनने का प्रयत्न करता है, (च) व्यवस्थित जीवनवाला होता है, (छ) अच्छाइयों का ग्रहण करता है, (ज) मनुष्यों का धारण करनेवाला होता है, (झ) ज्ञानदीप्त व अपना शासक बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्वा वरुणश्च॥ छन्दः—अष्टि॥ स्वरः—मध्यमः॥

'वरुण-मरुत् व विश्वभानु' का आनन्द

सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशुं न चक्रं रथ्येव रंह्यास्मभ्यं दस्म रंह्या।
अग्ने मृळीकं वरुणे सचा विदो मरुत्सु विश्वभानुषु।
तोकाय तुजे शुशुचान शं कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि॥ ३॥

(१) हे **सखे**=सबके मित्र प्रभो! **न**=जैसे **आशुं चक्रम्**=शीघ्रगामी रथ को **रंह्या**=तीव्र गति में उत्तम अश्व लक्ष्य देश की ओर प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार **सखायं अभि**=मुझ मित्र की ओर **आववृत्स्व**=आवृत्त होइये। हे **दस्म**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रंह्या**=गति में उत्तम इन्द्रियाश्वों को (आववृत्स्व) प्राप्त कराइये। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वरुणे**=पाप से निवारण करनेवाले में **सचा**=समवेत होकर रहनेवाले **मृडीकम्**=सुख को **विदः**=प्राप्त कराइये। मुझे वह सुख प्राप्त कराइये, जो कि निष्पाप व्यक्ति के जीवन में (वरुण में) होता है। जो सुख **मरुत्सु**=प्राणसाधकों में होता है तथा **विश्वभानुषु**=व्यापक ज्ञान दीप्तिवालों में होता है, उस सुख को हमें प्राप्त कराइये। (२) हे **शुशुचान**=अत्यन्त दीप्त व पवित्र प्रभो! **तोकाय**=हमारे सन्तानों के लिये **तुजे**=पौत्रों के लिये **शंकृधि**=शान्ति को करिये। उनके जीवन नीरोगता आदि के कारण सुखी हों, हे **दस्म**=दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **अस्यभ्यम्**=हमारे लिये **शं कृधि**=शान्ति को करिये।

भावार्थ—हमें प्रभु की प्राप्ति हो। प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करायें। हमें वह सुख प्राप्त हो जो कि निष्पाप जीवनवाले को, प्राणसाधक को तथा व्यापक ज्ञानदीप्तिवाले को प्राप्त होता है। हमारे सन्तानों व हमारे लिये शान्ति को प्राप्त कराइये।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्वा वरुणश्च॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वरुण देव के निरादर का अपगमन

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विद्वान्**=सर्वज्ञ आप **वरुणस्य देवस्य**=पाप निवारक देव सम्बन्धी **नः**=हमारे **हेडः**=अनादर के भाव को **अवयासिसीष्ठाः**=पृथक् करिये। हम पापनिवारक देव के पूजन को करते हुए निष्पाप बनने का प्रयत्न करें (२) **यजिष्ठः**=हे प्रभो! आप पूज्यतम हो, **वह्नितमः**=हमारे सब कार्यों का वहन करनेवाले आप ही हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। **शोशुचानः**=आप ज्ञानदीप्त हैं, पवित्र हैं। आप **अस्मत्**=हमारे से भी **विश्वा**=सब **द्वेषांसि**=द्वेष की भावनाओं को **प्रभुमुग्धि**=प्रकर्षेण पृथक् करिये। ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध से ऊपर उठकर हम निष्पाप

जीवनवाले बनें। निष्पाप जीवनवाला बनना ही 'वरुण देव का पूजन' है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम पाप निवारक देव का अनादर न करें। ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु की समीपता

स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **स त्वम्**=वह आप **नः**=हमारे **अवमः**=अन्तिकतम **भव**=हों, हमारे अत्यन्त समीप होइये। **ऊती**=रक्षण के द्वारा, **अस्याः उषसः व्युष्टौ**=इस उषा के उदित होने पर **नेदिष्ठः**=अत्यन्त समीप होइये। (२) **नः**=हमारे लिये **वरुणम्**=पापनिवारण को **रराणः**=देते हुए आप **अवयक्ष्व**=सब पापों को हमारे से पृथक् करिये। **मृडीकम्**=सुख को **वीहि**=प्राप्त कराइये। **नः**=हमारे लिये **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य **एधि**=होइये। हम सुगमता से आपका आराधन कर सकें, आपके समीप उपस्थित होकर जहाँ सुखों का याचन कर सकें वहाँ आपकी उपासना में निष्पाप भी बने रहें।

भावार्थ—प्रभु के हम समीप हों ताकि सदा निष्पाप व सुखी जीवनवाले बने रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'सुभग देव' की चित्रतमा संदृग्

अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य सन्दृग्देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु।
शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः॥ ६॥

(१) **अस्य**=इस **सुभगस्य**=उत्तम ऐश्वर्यवाले **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु की **संदृक्**=दृष्टि **श्रेष्ठा**=सर्वोत्तम है यह **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **चित्रतमा**=अद्भुत ज्ञान को देनेवाली है (चित्+र)। प्रभु की कृपादृष्टि होने पर हमारा जीवन श्रेष्ठ व प्रकाशमय बनता है। (२) इसलिए **देवस्य**=उस प्रकाशमय प्रभु की दृष्टि इस प्रकार **स्पार्हा**=स्पृहणीय (चाहने योग्य) है, **न**=जैसे कि **अध्यायाः**=अहन्तव्या गौ का **तप्तम्**=तपाया हुआ **शुचि**=पवित्र **घृतम्**=घृत स्पृहणीय होता है। अथवा **इव**=जैसे **धेनोः**=गौ के **मंहना**=दुग्ध के दान स्पृहणीय होते हैं वस्तुतः गोघृत व गोदुग्ध अमृत के समान है। उसी प्रकार प्रभु की दृष्टि हमें अमर बनानेवाली है। इस दृष्टि के होने पर हमारा जीवन भी 'सुभग व देवत्ववाला' होता है।

भावार्थ—प्रभु की दृष्टि हमें अद्भुत ज्ञान प्राप्त कराती है। वह तपे हुए परिशुद्ध गोघृत के समान है, धेनु के दुग्ध दान के समान है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिविध ज्ञान

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः॥ ७॥

(१) **अस्य देवस्य**=इस प्रकाशमय **अग्नेः**=अग्रणी प्रभु के **ता**=वे **परमा**=सर्वोत्कृष्ट या 'परः मीयते यैः' प्रभु का ज्ञान देनेवाले **त्रिः**=तीन 'ऋग्-यजु-साम' रूप **सत्या**=सत्य **स्पार्हा**=स्पृहणीय **जनिमानि**=प्रादुर्भाव हैं। हृदय में स्थित हुए-हुए वे प्रकाशमय प्रभु 'ऋग्-यजु-साम' रूप वाणियों

का प्रकाश करते हैं। ये ज्ञान सत्य हैं, उत्कृष्ट हैं। अन्ततः प्रभु का ज्ञान देनेवाले हैं, प्रभु के साक्षात्कार में सहायक हैं। इन ज्ञानों के देनेवाले प्रभु देव हैं, प्रकाशमय हैं, अग्नि हैं, अग्रणी हैं। हमें भी इन ज्ञानों के द्वारा वे 'देव व अग्नि' बनाते हैं। (२) **अनन्ते अन्तः परिवीतः**=इस अनन्त ज्ञान में संवृत हुआ-हुआ, अर्थात् जिसने इस अनन्त ज्ञान को अपना वस्त्र बनाया है, वह व्यक्ति **आगात्**=समन्तात् क्रियाशील होता है **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है, **शुक्रः**=ज्ञान से दीप्त होता है, **अर्यः**=अपना स्वामी बनता है, **रोरुचानः**=तेजस्विता के कारण खूब दीप्त होता है। प्रभु का दिया हुआ ज्ञान जब हमारा आच्छादन बनता है, तब हम शरीर में तेजस्वी, मन में पवित्र तथा बुद्धि में ज्ञानदीप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का तीन प्रकार का ज्ञान हमें त्रिविध उन्नति को प्राप्त कराके प्रभु के समीप प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रमणीय जीवन

स दूतो विश्वेद॒भि व॑ष्टि सद्मा॒ होता॒ हिर॑ण्यरथो॒ रंसु॑जिह्वः।
रो॒हिद॑श्वो वपु॒ष्यो॑ वि॒भावा॒ सदा॑ र॒ण्वः पि॑तु॒मती॑व सं॒सत् ॥ ८ ॥

(१) **सः**=वह **दूतः**=ज्ञान-सन्देश को देनेवाला प्रभु **विश्वा इत्**=सब ही **सद्मा**=गृहों को **अभिवष्टि**=चाहता है, अर्थात् 'प्रभु किसी घर को प्यार करें, किसी को नहीं' ऐसी बात नहीं है। यह ठीक है कि उस प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान को कोई सुनता है और कोई नहीं। (२) जो सुनता है, वह **होता**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनता है। **हिरण्यरथः**=ज्योतिर्मय रथवाला होता है। **रंसुजिह्वः**=रमणीय जिह्वावाला होता है, सदा मधुर शब्द बोलता है। यह व्यक्ति **रोहिदश्वः**=प्रवृद्ध शक्तिवाले इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। **वपुष्यः**=उत्तम शरीरवाला, **विभावा**=विशिष्ट ज्ञान दीप्तिवाला सदा **एवः**=यह सदा रमणीय होता है। इस प्रकार रमणीय जीवनवाला होता है **इव**=जैसे कि **पितृमती**=अन्नवाला **संसत्**=घर। अन्न से परिपूर्ण गृह सदा सुन्दर लगता है। इसी प्रकार इसका जीवन भी सदा सुन्दर होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्यार करते हुए वेदज्ञान देते हैं। यदि इस ज्ञान को हम सुनते हैं तो हमारा जीवन अत्यन्त रमणीय बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स-धनित्व

स चे॑तय॒न्मनु॑षो य॒ज्ञब॑न्धुः॒ प्र तं म॒ह्या र॑श॒नया॑ नयन्ति।
स क्षे॑त्यस्य॒ दुर्या॑सु॒ साध॑न्दे॒वो मर्त॑स्य सधनि॒त्वमा॑प ॥ ९ ॥

(१) **सः**=वह **मनुषः**=मनुष्यों को **चेतयत्**=चेतना प्राप्त कराता है, ज्ञान देता है। **यज्ञबन्धुः**=वे प्रभु यज्ञों के द्वारा हृदय देश में बद्ध होते हैं, अर्थात् यज्ञशील पुरुष प्रभु को हृदय में देखनेवाले बनते हैं। **तम्**=उस प्रभु को **मह्या**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **रशनया**=मेखला से, कटिबद्धता से, दृढ़-निश्चय से **प्र नयन्ति**=प्राप्त कराते हैं। प्रभुप्राप्ति के लिये तीव्रतम कामनावाला पुरुष ही प्रभु को प्राप्त करता है। (२) **सः देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **साधन्**=इसके प्रयत्नों को सफल करते हुए **अस्य दुर्यासु**=इसके शरीर रूप गृहों में **क्षेति**=निवास करते हैं। वस्तुतः उस अन्तःस्थित प्रभु की कृपा से ही सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। ये प्रभु इस **मर्तस्य**=उपासक पुरुष के **सधनित्वम्**=साथ धनित्व

को **आप**=प्राप्त करते हैं, अर्थात् उस उपासक को भी वे ऐश्वर्यशाली बना देते हैं।

भावार्थ—दृढ़ कामना के होने पर प्रभु अवश्य प्राप्त होते हैं। यज्ञों के द्वारा वे उपासित होते हैं और ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। उपासक प्रभु के सधनित्य को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवों से सेवनीय रत्न

स तू नो॑ अ॒ग्निर्न॑यतु प्रजा॒नन्नच्छा॒ रत्नं॑ दे॒वभ॑क्तं॒ यद॑स्य।
धि॒या यद्विश्वे॑ अ॒मृता॒ अकृ॑ण्व॒न्द्यौष्पि॒ता ज॑नि॒ता स॒त्यमु॑क्षन्॥ १०॥

(१) **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तु**=निश्चय से **नः**=हमें **प्रजानन्**=प्रकर्षेण जानता हुआ **रत्नं अच्छा**=उस रत्न की ओर **नयतु**=ले चले **यद्**=जो **अस्य**=इसका **देवभक्तम्**=देवों से सम्भजनीय रत्न है। शरीर में सप्त धातुएँ ही 'सप्त रत्न' कहलाती हैं। विशेषकर अन्तिम धातु 'वीर्य' तो मणि नाम से ही प्रसिद्ध है। देव लोग इसे अपने अन्दर सुरक्षित रखते हैं। प्रभु कृपा से हम भी इसे अपने अन्दर सुरक्षित करनेवाले हों। (२) **यद्**=जिस रत्न को **विश्वे**=सब **अमृताः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले लोग **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **अकृण्वन्**=अपने अन्दर सम्पादित करते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहना ही उस रत्न के सम्पादन का साधन बनता है। इन कर्मों में प्रवृत्ति मनुष्य को वासनाओं के आक्रमण से बचाती है और उसे इस रत्न (वीर्य) की रक्षा के योग्य करती है। (३) **द्यौः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त **पिता**=पिता व **जनिता**=माता (जनित्री) **सत्यम्**=इस सत्ता के कारणभूत सोमरूप रत्न को (वीर्य को) **उक्षन्**=शरीर में ही सिक्त करते हैं। माता-पिता जितना इस रत्न का रक्षण करते हैं, उतना ही उनके सन्तानों में भी इस रत्न के रक्षण का सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम देवों से सेवनीय वीर्यरूप रत्न को शरीर में ही सुरक्षित करें। ज्ञानी माता-पिता इस सत्य रत्न का अपने शरीर में ही सेचन करते हुए सन्तानों को भी इसके रक्षण की प्रवृत्तिवाला बनायें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अनाद्यनन्त प्रभुरूप नीड

स जा॑यत प्रथ॒मः प॒स्त्या॑सु म॒हो बु॒ध्ने रज॑सो अ॒स्य योनौ॑।
अ॒पाद॑शी॒र्षा गु॒हमा॑नो॒ अन्ता॒योयु॑वानो वृष॒भस्य॒ नी॒ळे॥ ११॥

(१) **सः**=वे प्रभु **प्रथमः**=अत्यन्त विस्तृत हैं, सर्वव्यापक हैं। **पस्त्यासु जायत**=सब प्रजाओं में उनका प्रादुर्भाव है। वे **महः रजसः**=इस महान् लोक समूह के **बुध्ने**=मूल में हैं, **अस्य**=इस लोक समूह का **योनौ**=योनि (उत्पत्ति-स्थान), प्रकृति में भी वे विद्यमान हैं। चराचर जगत् के अन्दर वे व्यापक हैं। (२) **अपात्**=वे पाँववाले नहीं। पाँव, अर्थात् अन्त, उस प्रभु का कोई अन्त नहीं। **अशीर्षा**=वे सिरवाले नहीं। सिर, अर्थात् आदि, उस प्रभु का कोई आदि नहीं। वे प्रभु अनन्त और अनादि हैं। **अन्ता गुहमानः**=इस संसार के आदि अन्त को अपने में संवृत कर रहे हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में ही तो है। वे प्रभु वृषभ हैं, सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले व अनन्त शक्ति-सम्पन्न हैं उस **वृषभस्य**=शक्ति सम्पन्न अपने **नीडे**=घोंसले में **आयोयुवानः**=सब लोकों को परस्पर संबद्ध कर रहे हैं। सारे लोक उस प्रभुरूप नीड में ही निवास कर रहे हैं। वे प्रभु ब्रह्माण्ड के एक नीड हैं। हम सब के घर वे प्रभु ही हैं। एवं वे प्रभु हम सब के बन्धु हैं।

प्रभु भक्त इस बन्धुत्व का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्रभु सब लोक-लोकान्तरों के मूल हैं। वे अनादि अनन्त प्रभु सब लोकों को अपने में समाये हुए हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वपुष्यः विभावा'

प्र शर्धं आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासोऽजनयन्त वृष्णे ॥ १२ ॥

(१) **ऋतस्य योना:**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में, **वृषभस्य नीडे**=उस शक्तिशाली सुखवर्षक प्रभु के घोंसले में उपासक **विपन्या**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा **प्रथमं शर्धः**=उत्कृष्ट बल को **प्र आर्त**=प्रकर्षेण प्राप्त करता है। वस्तुतः जब एक उपासक प्रभु को ऋत के उत्पत्ति-स्थान के रूप में स्मरण करता है, तो वह ऋत के अनुसार ही आचरण करनेवाला बनता है, सब क्रियाओं को बड़ी नियमितता के साथ करता है। प्रभु को 'वृषभ' के रूप में सोचता हुआ स्वयं भी शक्तिशाली व औरों पर सुख वर्षण करनेवाला बनने के लिये यत्नशील होता है। इस प्रकार जीवन की साधना करता हुआ यह प्रकृष्ट बल को प्राप्त करता है। (२) **स्पार्हः युवा**=यह स्पृहणीय युवक बनता है। सब बुराइयों को अपने से दूर करता हुआ और अच्छाइयों को अपने से मिलाता हुआ यह युवा सचमुच स्पृहणीय जीवनवाला होता है। **वपुष्यः**=उत्तम शरीरवाला व **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाला बनता है। देखने योग्य सुन्दर सशक्त शरीरवाला होता है और मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से द्योतित किये हुए होता है। (२) इसके **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=सातों कान आदि इन्द्रियरूप होता **वृष्णे**=उस शक्तिशाली सुख वर्षक प्रभु के लिये **अजनयन्त**=स्तोत्रों को प्रादुर्भूत करते हैं। इसके सातों कान आदि उस प्रभु का स्तवन करते हैं। यह सब इन्द्रियों से प्रभु की स्तुति करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए हम 'सुन्दर सशक्त शरीर' वाले तथा दीप्त मस्तिष्कवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पितरो मनुष्याः

अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥ १३ ॥

(१) **अत्र**=यहाँ संसार में **अस्माकम्**=हमारे में से **पितरः**=पालनात्मक कर्मों को करनेवाले **मनुष्याः**=विचारशील लोग **ऋतं आशुषाणाः**=यज्ञ को व ऋत को अपने में व्याप्त करते हुए **अभिप्रसेदुः**=उस प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं (प्रसद्=moving towards)। प्रभुप्राप्ति का मार्ग यही है कि हम (क) यज्ञात्मक कर्मों को करें, तथा (ख) सब क्रियाओं को ठीक समय व स्थान पर, ऋत के अनुसार, करनेवाले हों। (२) ये 'पितर मनुष्य' **उस्राः**=ज्ञान की रश्मियों को **उद् आजन्**=बाहिर प्रेरित करते हैं, अर्थात् उन ज्ञान रश्मियों का प्रादुर्भाव करते हैं, जो कि **अश्मव्रजाः**=इस पाषाण तुल्य दृढ़ शरीर रूप बाड़ेवाली हैं, **सुदुघाः**=उत्तम ज्ञानदुग्ध का पूरण करनेवाली हैं, तथा **वव्रे अन्तः**=(वृणोति आच्छादयति) आत्मा को अपने में आच्छादित करनेवाले हृदय के अन्दर स्थित हैं। हमारे में वर्तमान इन ज्ञानरश्मियों को 'गौ'

कहें तो यह पाषाण तुल्य शरीर ही इनका बाड़ा है। यह उत्तम ज्ञानदुग्ध का दोहन करती हैं। ये 'पितर मनुष्य' इन ज्ञान रश्मियों के प्रादुर्भाव के लिये ही **उषसः हुवानाः**=उषाकालों में प्रभु को पुकारनेवाले होते हैं, उषाकालों में प्रभु का स्मरण करते हैं।

भावार्थ—हम ऋत का सेवन करते हुए प्रभु की ओर चलें। प्रातः प्रभु का आह्वान करते हुए ज्ञान रश्मियों को अपने में प्रादुर्भूत करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अद्रिं ददृवांसः

ते मर्मृजत ददृवांसो अद्रिं तदेषामन्ये अभितो वि वोचन्।
पश्वयन्त्रासो अभि कारमर्चन्विदन्त ज्योतिश्चकृपन्त धीभिः॥ १४॥

(१) **ते**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'पितर मनुष्य' **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **ददृवांसः**=विदीर्ण करते हुए **मर्मृजत**=अपने जीवन का शोधन करते हैं। **एषाम्**=इन विद्या के प्रकाश के द्वारा अविद्यान्धकार के पर्वत को छिन्न-भिन्न करनेवाले मनुष्यों के **तद्**=उस अविद्या-पर्वत भेदन व जीवन शोधन के कार्य को **अन्ये**=अन्य लोग **अभितः**=चारों ओर **विवोचन्**=प्रशंसित करते हैं। इनके इस कार्य की सब ओर प्रशंसात्मक शब्दों में चर्चा होती है। (२) 'कामः पशुः, क्रोधः पशुः' इन उपनिषद् शब्दों के अनुसार 'काम-क्रोध' पशु हैं। **पश्वयन्त्रासः**=इन काम-क्रोध से वशीभूत न किये जानेवाले 'पितर मनुष्य' **कारम्**=उस सृष्टिकर्ता प्रभु को **अभि अर्चन्**=दिन के दोनों ओर प्रातः-सायं अर्चना करते हैं। वस्तुतः यह प्रभु स्मरण ही इन्हें काम-क्रोध के वशीभूत नहीं होने देता। (३) इस प्रकार प्रभु स्मरण को करते हुए ये **ज्योतिः विदन्त**=ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करते हैं। **च**=और **धीभिः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **चकृपन्त**=(कृपू सामर्थ्ये) अपने को सामर्थ्य सम्पन्न (शक्तिशाली) बनाते हैं।

भावार्थ—अज्ञान-पर्वत का विदारण करके जीवन का शोधन करनेवाले लोग प्रभु स्मरण करते हुए और काम-क्रोध के वशीभूत न होते हुए, ज्योति को प्राप्त करते हैं और ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा शक्तिशाली बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

गोमान् व्रज का उद्घाटन

ते गव्यता मनसा दृध्रमुब्धं गा येमानं परि षन्तमद्रिम्।
दृळ्हं नरो वचसा दैव्येन व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः॥ १५॥

(१) **ते**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'अद्रिं ददृवांसः' अविद्या-पर्वत का विदारण करनेवाले **नरः**=लोग **गव्यता मनसा**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने की कामनावाले मन से तथा **दैव्येन वचसा**=सृष्टि के प्रारम्भ में देव द्वारा दिये गये इन वेदवचनों से, **उशिजः**=ज्ञान प्राप्ति की कामना करते हुए **गोमन्तं व्रजम्**=प्रशस्त ज्ञानवाणी रूप गौवोंवाले बाड़े को **विवव्रुः**=खोल डालते हैं (उद्घाटितवन्तः)। इस बाड़े को खोलकर वे इन ज्ञानवाणी रूप गौवों को प्राप्त करते हैं, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि (क) ज्ञान प्राप्ति की कामना हो, (ख) वेदवाणी की ओर (प्रभु की वाणी की ओर) हमारा झुकाव हो। (२) ज्ञान-वाणीरूप गौओं को आवृत कर लेनेवाला यह बाड़ा **दृध्रम्**=गौवों के निर्गमन द्वार का निरोधक है, **उब्धं**=(सं हतं) बड़ा संहत है (large enclave), **गाः येमानम्**=ज्ञान वाणी रूप गौवों को अवरुद्ध किये हुए है, **परिषन्तम्**=सब ओर है, सब मनुष्यों

में यह इन गौवों के निरोध के कार्य को कर रहा है, **अद्रिम्**=(अ दृ) इसका विदारण बड़ा कठिन है, **दृढम्**=ये बड़ा मजबूत है (उशिक् इसका विदारण करके उन गौवों को प्राप्त करते हैं। इन्हें ही ज्ञान रश्मियों की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति की प्रबल कामना के होने पर ज्ञान रश्मियों के आवरणभूत वासना पर्वत का विदारण करके मेधावी लोग ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रथम नाम (ओ३म्) का मनन

ते म॑न्वत प्रथ॒मं नाम॑ धे॒नोस्त्रिः स॒प्त मा॒तुः प॑र॒माणि॑ विन्दन्।
तज्जा॑न॒तीर॒भ्य॑नूषत॒ व्रा आ॒विर्भु॑वदरु॒णीर्य॒शसा॒ गोः॥ १६॥

(१) **ते**=गतमन्त्र में वर्णित अविद्या पर्वत के विदारण करनेवाले लोग, ज्ञानरूपी गौओं के बाड़े को खोलनेवाले लोग, **धेनोः**=इस ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली वेदवाणी रूप गौ के **प्रथमं नाम**=सर्वमुख्य नाम (=शब्द) 'ओ३म्' का **मन्वत**=अपने हृदयों में मनन करते हैं। वे इस **मातुः**=वेदमाता के **त्रिः सप्त**=इक्कीस **परमाणि**=(परः मीयते यैः) प्रभु का ज्ञान देनेवाले गायत्र्यादि छन्दों को **विन्दन्**=प्राप्त करते हैं। (२) ऐसा होने पर **तत्**=उस प्रभु को **जानतीः**=जानती हुई **व्राः**=प्रभु का वरण व सम्भजन (वृ-वरणे, वृङ् संभक्तौ) करनेवाली प्रजाएँ **अभि अनूषत**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में उसका स्तवन करती हैं। इस स्तवन के परिणामस्वरूप **गोः यशसा**=वेदवाणी रूप गौ की महिमा से **अरुणीः**=ज्ञान प्रकाश रूप उषा **आविर्भुवत्**=प्रादुर्भूत होती है। प्रभु का स्तवन करने से निर्मल हृदय में ज्ञान का प्रकाश चमक उठता है।

भावार्थ—वेदवाणी के सारभूत 'ओ३म्' शब्द का हम जप व अर्थभावन करें। वेद के छन्दों को समझें। प्रभु स्तवन करते हुए निर्मल हृदय में ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सूर्योदय व पापपलायन

नेश॒त्तमो॒ दुधि॑तं॒ रोच॑त॒ द्यौरुद्दे॒व्या उ॒षसो॑ भा॒नुर॑र्त।
आ सूर्यो॑ बृह॒तस्ति॑ष्ठ॒दज्रा॑ँ ऋ॒जु मर्ते॑षु वृजि॒ना च॒ पश्य॑न्॥ १७॥

(१) उषा से **दुधितम्**=प्रेरित हुआ-हुआ धकेला हुआ **तमः**=रात्रि का अन्धकार **नेशत्**=नष्ट हुआ है। **द्यौः**=द्युलोक **रोचत**=चमक उठा है। **देव्याः**=प्रकाशमयी **उषसः**=उषा का **भानुः**=प्रकाश **अर्त**=उद्गत हुआ है। (२) अब **सूर्यः**=सूर्य **बृहतः**=विशाल **अज्रान्**=(areas) क्षेत्रों में **आतिष्ठत्**=स्थित हुआ है, सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल गया है। यह सूर्य **मर्तेषु**=मनुष्यों में **ऋजु**=सरलता को **च**=और **वृजिना**=कुटिलताओं व पापों को **पश्यन्**=देख रहा है। रात्रि के अन्धकार में तो पाप छिप सकते हैं। परन्तु सूर्य के प्रकाश में इनके छिपने का सम्भव नहीं। हमारे जीवनों में भी ज्ञान सूर्य का उदय होने पर सब पाप वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—उषा आती है, अन्धकार दूर होता है। सूर्योदय के साथ सर्वत्र प्रकाश हो जाता है, कुटिलताएँ भी रात्रि के अन्धकार के साथ ही चली जाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रत्याहार

आदित्पश्चा बुबुधाना व्यख्यन्नादिद्रत्नं धारयन्त द्युभक्तम्।
विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु॥ १८॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जीवन में ज्ञान सूर्य का उदय होने पर **बुबुधानाः**=ये ज्ञानी लोग **आत् इत्**=शीघ्र ही **पश्चा व्यख्यन्**=पीछे की ओर देखते हैं, इन्द्रियों को प्रत्याहृत करके अन्तर्मुखी वृत्तिवाले होते हैं। वस्तुतः यह प्रत्याहार ही इनके जीवनों को उत्तम बनाता है। **आत् इत्**=इस प्रत्याहार के बाद ये ज्ञानी पुरुष **द्युभक्तम्**=दीप्ति से युक्त **रत्नम्**=रत्न को **धारयन्त**=धारण करते हैं। शरीर में सोम-वीर्य ही दीप्तियुक्त रत्न है। इस रत्न के धारण से जहाँ शरीर तेजस्वी बनता है वहाँ मस्तिष्क दीप्तिमय होता है। इसीलिए इस रत्न को 'द्युभक्त' कहा गया है। (२) इनके **विश्वासु**=(सर्वासु in totality स्वस्थ) सब अंग-प्रत्यंगों की शक्ति से युक्त स्वस्थ **दुर्यासु**=शरीर रूप गृहों में **विश्वे देवाः**=सब देव अपने-अपने स्थान में स्थित होते हैं 'सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते'। हे **मित्र**=रोगों व पापों से बचानेवाले (प्रमीतेः त्रायते) **वरुण**=द्वेषों के निवारक प्रभो! इस **धिये**=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले पुरुष के लिये **सत्यं अस्तु**=सत्य हो। इसका जीवन सत्यमय बने और यह सत्य प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रत्याहार की वृत्तिवाले बनकर शरीर में सोम का रक्षण करें। हमारा शरीर सब देवों का अधिष्ठान हो। ज्ञान पूर्वक कर्मों को करते हुए हम 'सत्य' प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अंशोः परिषिक्तम्

अच्छा वोचेय शुशुचानमग्निं होतारं विश्वभरसं यजिष्ठम्।
शुच्यूधो अतृणन्न गवामन्धो न पूतं परिषिक्तमंशोः॥ १९॥

(१) मैं **अच्छा वोचेय**=उस प्रभु का लक्ष्य करके स्तुति-वचनों का उच्चारण करूँ। जो प्रभु **शुशुचनम्**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हैं, **अग्निम्**=मुझे आगे ले चलनेवाले हैं, **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले हैं, **विश्वभरसम्**=सारे ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले हैं। **यजिष्ठम्**=पूज्यतम हैं। (२) वे प्रभु **गवाम्**=गौवों के **शुचिः ऊधः**=पवित्र ऊधस् के समान हैं। जैसे यह ऊधस् दूध को देकर हमारा पोषण करता है, उसी प्रकार प्रभु ज्ञानदुग्ध के द्वारा हमारा पोषण करते हैं। **न अतृणत्**=हमारा संहार नहीं करते। **पूतं अन्धः न**=वे प्रभु पवित्र सोम के समान हैं। जिस प्रकार वासना के उबाल से शून्य-पवित्र-सोम शरीर का रक्षण करता है, उसी प्रकार ये प्रभु हमारे शरीरों का रक्षण करनेवाले हैं। वे प्रभु **अंशोः**=ज्ञान किरणों का **परिषिक्तम्**=परितः सेचन ही हैं, अर्थात् जब हम हृदयों में प्रभु का स्मरण करते हैं, तब हमारा अन्तस्तल ज्ञान रश्मियों से प्रकाशित हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु का हम स्मरण करें। हमारा अन्तस्तल ज्ञानरश्मियों से प्रकाशित हो उठता है, और सोमरक्षण द्वारा शरीर नीरोग व सुरक्षित बना रहता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अदितिः-अतिथिः

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृळीको भवतु जातवेदाः॥ २०॥

(१) वे प्रभु **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञियानाम्**=यज्ञशील पुरुषों के **अदितिः**=न खण्डन होने देनेवाले हैं। **विश्वेषाम्**=सब **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। (२) ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **देवानां अवः**=सब देवों के रक्षण को **आवृणानः**=(वृ संभक्तौ) सम्भक्त करनेवाले, प्राप्त करानेवाले हैं। **जातवेदाः**=ये सर्वज्ञ प्रभु **सुमृडीकः**=उत्तम सुख को देनेवाले **भवतु**=हों।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम स्वस्थ हों। विचारशील बनकर प्रभु को प्राप्त हों। देव बनकर प्रभु से रक्षणीय हों तथा उस प्रभु से सुख को प्राप्त हों।

यह सम्पूर्ण सूक्त प्रभुप्राप्ति के साधनों व फलों का उल्लेख करता हुआ हमें प्रभु प्रवण बनाता है। प्रभु प्रवण होते हुए हम 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाले बनते हैं। यही भाव अगले सूक्त का भी है—

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

मर्त्येषु अमृतः

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै॥ १॥

(१) **यः**=जो **मर्त्येषु अमृतः**=मरणधर्मा प्राणियों में व वस्तुओं में अमर हैं, **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाले हैं, **देवः**=प्रकाशमय हैं, **अरतिः**=(ऋ गतौ) निरन्तर गतिशील हैं व (अ रतिः) कहीं भी सक्त नहीं हैं 'असक्तं सर्वभृद्वैव', वह प्रभु **देवेषु**=देव वृत्ति के पुरुषों मे **निधायि**=निहित होते हैं। (२) **होता**=वे प्रभु सब कुछ देनेवाले हैं, **यजिष्ठः**=पूज्यतम हैं, **मह्ना**=अपनी महिमा से **शुचध्यै**=हमारे जीवनों का शोधन करने के लिये होते हैं। ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हव्यैः**=हव्यों के द्वारा, त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **मनुषः**=विचारशील पुरुषों को **ईरयध्यै**=स्वर्ग की ओर प्रेरित करने के लिये होते हैं। जब एक मनुष्य प्रभु की महिमा का चिन्तन करता है तो उसका हृदय पवित्र होता चलता है। हृदय के पवित्र होने पर यह यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है, यह यज्ञ प्रवृत्ति उसके घर को स्वर्ग बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनकर हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। जितना-जितना प्रभु का स्मरण करते हैं, उतना-उतना पवित्र होते चलते हैं। पवित्र होकर यज्ञों को करते हुए घरों को स्वर्ग बना पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वृषा व शुक्र' इन्द्रियाश्व

इह त्वं सूनो सहसो नो अद्य जातो जाताँ उभयाँ अन्तरग्ने।
दूत ईयसे युयुजान ऋष्व ऋजुमुष्कान्वृषणः शुक्रांश्च॥ २॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, बल के पुतले शक्ति के पुञ्ज **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **अद्य**=आज **जातान्**=विकसित शक्तिवाले **उभयान्** **अन्तः**=शरीर व मस्तिष्क दोनों के अन्दर, दोनों के मध्य हृदयान्तरिक्ष में **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए, **दूतः**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले होकर **ईयसे**=गति करते हैं। हम शरीर को तेजस्वी व मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनायें। तब हमारे हृदयों में प्रभु का प्रादुर्भाव होगा। ये प्रभु हमें ज्ञान का सन्देश दे रहे होंगे। (२) हे **ऋष्व**=दर्शनीय प्रभो! आप हमारे शरीर-रथों में उन इन्द्रियाश्वों को **युयुजानः**=जोतनेवाले होते हैं जो कि **ऋजुमुष्कान्**=ऋजु, अर्थात् प्रसाधक-सरलता से अपने मार्ग पर बढ़नेवाले तथा **मांसल**=(बलवान्) हैं, **वृषणः**=हमारे लिये सुखों का सेचन करनेवाले व शक्तिशाली हैं, **च**=तथा **शुक्रान्**=(शुक् गतौ, शुच् दीप्तौ) तीव्र गतिवाले व दीप्त हैं। कर्मेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'वृषणः' और ज्ञानेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'शुक्रान्' शब्द का प्रयोग हुआ है, ये इन्द्रियरूप घोड़े शक्तिशाली व ज्ञानदीप्त हैं।

भावार्थ—हम शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। ये प्रभु हमारे शरीर-रथों में कर्मेन्द्रिय रूप सशक्त अश्वों को तथा ज्ञानेन्द्रियरूप ज्ञानदीप्त अश्वों को जोतते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रियों द्वारा देवों व मर्तों का सम्बन्ध

अत्या॑ वृध॒स्नू रोहि॑ता घृ॒तस्नू॑ ऋ॒तस्य॑ मन्ये॒ मन॑सा॒ जवि॑ष्ठा।
अ॒न्तरी॑यसे अरु॒षा यु॑जा॒नो यु॒ष्मांश्च॑ दे॒वान्विश॒ आ च॒ मर्ता॑न्॥ ३ ॥

(१) **ऋतस्य**=ऋत के, सब कार्यों को बड़ी नियमितता से करनेवाले के **अत्या**=निरन्तर गतिशील इन्द्रियाश्व **वृधस्नू**=वृद्धि के शिखर पर पहुँचनेवाले हैं (स्नु-सानु=शिखर)। ये इन्द्रियाश्व **रोहिता**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले व तेजस्वी तथा **घृतस्नू**=ज्ञानदीप्ति के शिखर पर पहुँचनेवाले हैं। **मन्ये**=मैं तो ऐसा समझता हूँ कि ये इन्द्रियाश्व **मनसा जविष्ठा**=मन से भी अधिक वेगवान् होते हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अरुषा**=इन आरोचमान इन्द्रियाश्वों के द्वारा **युष्मान्**=(युष्माकं) आपके **देवान्**=इन सूर्य आदि देवों को **च**=तथा **विशः**=संसार में प्रवेश करनेवाले, विविध योनियों में आनेवाले, इन **मर्तान्**=मरणधर्मा प्राणियों को **आ युजानः**=सर्वथा जोड़नेवाले होते हैं। 'सूर्य' चक्षु का रूप धारण करके आँख में रहता है, 'वायु' प्राण बनकर नासिका में 'अग्नि' वाक् बनकर मुख में, 'चन्द्रमा' मन बनकर हृदय में रहने लगता है। इसी प्रकार सब देव इन शरीरों में रहते हैं। इस प्रकार देवों व मर्तों का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

भावार्थ—'देव' ही विविध इन्द्रियों के रूप में शरीर में निवास करते हैं। इस प्रकार प्रभु ने देवों व इन्द्रियों को परस्पर जोड़ दिया है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वदेवमयता

अ॒र्य॒मणं॒ वरु॑णं मि॒त्रमे॑षा॒मिन्द्रा॒विष्णू॑ म॒रुतो॑ अ॒श्विनो॒त।
स्वश्वो॑ अग्ने सु॒रथः॑ सु॒राधा॒ एदु॑ वह सुह॒विषे॒ जना॑य॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले हैं, **सुरथः**=उत्तम शरीर-रथ को देनेवाले हैं, **सुराधाः**=(राध् (संसिद्धौ) धनों) के प्रदाता हैं। आप

सु हविषे जनाय=उत्तम हविवाले मनुष्य के लिये, त्यागपूर्वक अदन करनेवाले मनुष्य के लिये इन देवों को **इत्**=निश्चय से **आवह**=प्राप्त कराइये। (२) **अर्यमणम्**=अर्यमा को प्राप्त कराइये। 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' देने के वृत्ति को प्राप्त कराइये। इस दानवृत्ति द्वारा 'वरुण'='पापान्निवारयति' पापवृत्ति को दूर करिये। दानवृत्ति लोभ को समाप्त करके निष्पापता को पैदा करती है। **मित्रम्**=(प्रमीतेः त्रायते) निष्पाप बनाकर इन रोगों से बचाइये। (३) दान, निष्पापता व नीरोगता को प्राप्त करके **एषाम्**=इनके जीवन में **इन्द्राविष्णू**=जितेन्द्रियता व व्यापकता (विष् व्याप्तौ) को स्थापित करिये। इन बातों की सिद्धि के लिये ये **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले हों, **उत**=और **अश्विना**='इममेह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्' श० ४।१।५।१६ इनको द्यावापृथिवी की प्राप्ति हो, इसका मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से चमके और इनका शरीर पृथिवी की तरह दृढ़ हो।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा जीवन सर्वदेवमय हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुन्दर जीवन-यज्ञ

गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः।
इळावाँ एषो असुर प्रजावान्दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **एषः यज्ञः**=हमारा यह जीवन-यज्ञ **गोमान्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला हो, **अविमान्**=उत्तम रक्षणतत्त्वोंवाला हो। **अश्वी**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला हो। **नृवत् सखा**=उत्तम नेतृत्व को देनेवाले मनुष्यों के साथ मैत्रीवाला हो। यह जीवन-यज्ञ **सदं इत्**=सदा ही **अप्रमृष्यः**=अप्रधृष्य हो, धर्षण के योग्य न हो। काम-क्रोध आदि शत्रुओं का इस पर आक्रमण न हो सके। (२) हे **असुर**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभो! यह **इडावान्**=प्रशस्त अन्नोंवाला हो, **प्रजावान्**=उत्तम प्रजाओं (सन्तानों) वाला हो। यह यज्ञ **दीर्घः रयिः**=अविच्छिन्न अनुष्ठान से युक्त दीर्घकाल तक चलनेवाला व ऐश्वर्य-सम्पन्न हो (रयिः=रयिमान्)। **पृथुबुध्नः**=यह विशाल आधारवाला हो **सभावान्**=सभावाला हो। विशाल आधार का भाव यह है कि इसमें 'शरीर स्वस्थ हो, मन निर्मल हो तथा बुद्धि बड़ी परिमार्जित' हो। सभावाले होने का भाव यह है कि हम वैयक्तिक स्वार्थमय जीवन बिताने के स्थान में औरों के साथ मिलकर सर्वहितकर जीवन को बितानेवाले बनें। ऐसा ही जीवन 'यज्ञमय जीवन' कहला सकता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को यज्ञमय बनाते हुए उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला, उत्तम कर्मेन्द्रियाँवाला, उत्तम साथियोंवाला व काम-क्रोध से अनाक्रान्त बनायें। घरों में हम उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए उत्तम सन्तानोंवाले हों। धन-सम्पन्न व परार्थसाधन की भावना से सम्पन्न हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देव-यज्ञ-ब्रह्म-यज्ञ

यस्त इध्मं जभरत्सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया।
भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुरग्ने विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **ते**=आपके लिये **सिष्विदानः**='स्विद्यद् गात्र' होता हुआ, पसीने को बहाकर कमाता हुआ **इध्मम्**=ईंधन को **जभरत्**=प्राप्त कराता है, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिये धनार्जन करके यज्ञादि उत्तम कार्यों में उस धन का विनियोग करता है। **वा**=अथवा **त्वाया**=हे प्रभो! आपकी प्राप्ति की कामना से **मूर्धानम्**=अपने मस्तिष्क को **ततपते**=ज्ञान से दीप्त

करता है, अर्थात् देवयज्ञ को करता है (इध्मं जभरत्) तथा ब्रह्मयज्ञ को करता है (मूर्धानं ततपते), **तस्य**=उस देव-यज्ञ व ब्रह्म-यज्ञ करनेवाले पुरुष के आप **स्वतवान्**=ऐश्वर्य का वर्धन करनेवाले व **पायुः**=रक्षक **भुवः**=होते हैं। आपकी कृपा से इसको यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिये धन भी प्राप्त होता है और यह काम-क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण से भी बचा रहता है। (२) हे प्रभो! आप इस देवयज्ञ व ब्रह्मयज्ञ के करनेवाले को **सीम्**=निश्चयपूर्वक **विश्वस्मात्**=सब **अघायतः**=अघ (=बुरे) की कामनावाले से **उरुष्य**=रक्षित करते हैं। यज्ञशील पुरुष का आप रक्षण करते ही हैं। वस्तुतः आपके रक्षण से ही वे यज्ञ पूर्ण होते हैं। 'विश्वामित्र यज्ञ करता है, राम रक्षण करते हैं'।

भावार्थ—जो धनार्जन करके देवयज्ञ में उस धन का विनियोग करता है तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करता हुआ ब्रह्मयज्ञ करता है प्रभु उसका रक्षण करते हैं, उसे ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अतिथि-यज्ञ

यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत्।
आ देवयुरिनधते दुरोणे तस्मिन्रयिर्ध्रुवो अस्तु दास्वान्॥ ७॥

(१) **यः**=जो **अन्नियते**=अन्न की कामनावाले के लिये **चित्**=निश्चय से **ते अन्नम्**=आपके इस अन्न को **भरात्**=प्राप्त कराता है। **मन्द्रम्**=सुखकर वचनों को **निशिषत्**=(शासु अनुशिष्टौ) कहता है, 'आइये, बैठिये' आदि मधुर शब्दों को ही अतिथि के लिये बोलता है तथा **अतिथिं उदीरत्**=उस अतिथि के स्वागत के लिये (उत्=उठकर) घर से बाहर तक आता है। यह **देवयुः**=देवों के सम्पर्क की कामनावाला **दुरोणे**=अपने (दुर्-ओण्-अपनयने) बुराइयों के अपनयनवाले घर में **आ इनधते**=सर्वथा आपको दीप्त करता है, अर्थात् उन विद्वान् अतिथियों का सत्कार करता हुआ, उनसे ज्ञान चर्चा को करता हुआ, प्रभु के प्रकाशवाला बनता है। (२) **तस्मिन्**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले पुरुष में **दास्वान्**=देने की वृत्तिवाला **ध्रुवः**=स्थिर **रयिः**=ऐश्वर्य **अस्तु**=हो। इसे धन प्राप्त हो, यह धन दान की वृत्ति से युक्त हो तथा न नष्ट होनेवाला हो।

भावार्थ—हम अतिथियों को अन्न प्राप्त करायें, उनके लिये सुखकर शब्दों को कहें, उनका उठकर स्वागत करें। इन अतिथियों से ज्ञानचर्चा करते हुए हम प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करें और ऐश्वर्य-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु-प्रार्थना व दानवृत्ति (बलि वैश्वदेव-यज्ञ)

यस्त्वा दोषा य उषसि प्रशंसात्प्रियं वा त्वा कृणवते हविष्मान्।
अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान्तमंहसः पीपरो दाश्वांसम्॥ ८॥

(१) हे अग्ने! **यः**=जो **त्वा**=आपको **दोषा**=रात्रि के प्रारम्भ में और **यः**=जो **उषसि**=दिन के प्रारम्भ में **प्रशंसात्**=(adoration) प्रशंसित करता है, अर्थात् जो प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करता है। **वा**=तथा **हविष्मान्**=दानपूर्वक अदनवाला होता हुआ, यज्ञशेष का सेवन करता हुआ **त्वा**=आपको अपना **प्रियम्**=प्रिय **कृणवते**=करता है, वह **स्वे दमे**=अपने गृह में **आ हेम्यावान्**=सब प्रकार से सुवर्ण निर्मित कक्ष्यावाले **अश्वः न**=अश्व के समान होता है, अर्थात् यह व्यक्ति खूब धन सम्पत्ति से लद जाता है। इसे खूब ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है। (२) **तम्**=उस आपका स्तवन करनेवाले **दाश्वांसम्**=दान की वृत्तिवाले पुरुष को आप **अंहसः**=सब पापों से **पीपरः**=पार करते

हो। सम्पत्ति से लद जाने पर, दान की वृत्तिवाला प्रभु का उपासक ही पाप में फँसने से बच पाता है। अन्यथा यह सम्पत्ति ही उसकी विपत्ति का कारण हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन व दानवृत्ति हमारी सम्पत्ति को बढ़ाते हैं। उस सम्पत्ति को लोकहित में विनियुक्त करते हुए हम पापों में फँसने से बचे रहते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के प्रति अर्पण

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय दाशद्दुवस्त्वे कृणवते यतस्रुक्।
न स राया शशमानो वि योषन्नैनमंहः परि वरदघायोः ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **तुभ्यं अमृताय**=आप अमृत के लिये **दाशत्**=अपने को दे डालता है, अर्थात् आपके प्रति अपना अर्पण करके जीवन में चलता है और **यतस्रुक्**=(वाग्वै स्रुचः श० ६।३।१।८) संयत वाणीवाला होकर **त्वे**=आपके लिये **दुवः कृणवते**=परिचर्या को करता है। **सः**=वह **शशमानः**=प्लुत गतिवाला होता हुआ **राया न वियोषत्**=धन से कभी पृथक् नहीं होता। (क) प्रभु के प्रति अपना अर्पण करना, (ख) संयतवाणीवाला होकर प्रभु की परिचर्या करना, उसके नाम का अर्थभावनपूर्वक जप करना, (ग) श्रमशील होना, आलस्यशून्य। यह मार्ग है ऐश्वर्य-सम्पन्न होने का। (२) **एनम्**=इस व्यक्ति को **अघायोः**=पाप की कामनावाले का **अंहः**=कष्ट **न परिवरत्**=परिवृत नहीं करता, नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अर्पण, प्रभु का पूजन तथा श्रम हमें ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाता है। इसे पाप नहीं छूता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु प्रियता

यस्य त्वमग्ने अध्वरं जुजोषो देवो मर्तस्य सुधितं रराणः।
प्रीतेदसद्धोत्रा सा यविष्ठासाम यस्य विधतो वृधासः ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **देवः**=प्रकाशमय **रराणः**=सब आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले **त्वम्**=आप **यस्य**=जिस **मर्तस्य**=मनुष्य के **सुधितम्**=उत्तमता से स्थापित किये गये **अध्वरम्**=हिंसा रहित यज्ञात्मक कर्म को **जुजोषः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। उसकी **सा होत्रा**=यज्ञों में उच्चारण की गई वह वाणी **इत्**=निश्चय से **प्रीते असत्**=प्रीति को देनेवाली हो। उस मनुष्य को यज्ञों में उच्चारण की जानेवाली यह वेदवाणी रुचिकर हो। (२) उस मनुष्य को यह वाणी प्रिय हो, **यविष्ठ**=हे सब बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! हम सब देव **विधतः यस्य**=पूजा करनेवाले जिसके **वृधासः**=वृद्धि को करनेवाले **असाम**=हों। चतुर्थ मन्त्र में अर्यमा आदि देवों का उल्लेख था। ये देव जिसकी वृद्धि का कारण बनते हैं, उसे सदा ज्ञान की वाणी प्रिय होती है।

भावार्थ—हम यज्ञ करें। ये यज्ञ प्रभु के लिये प्रिय हों। यज्ञों में उच्चरित वाणी प्रिय हो, इस प्रिय वाणीवाले व्यक्ति को सब देव बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चित्ति-अचित्ति

चित्तिमचित्तिं चिनवद्वि विद्वान्पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ॥ ११ ॥

(१) **विद्वान्**=वे ज्ञानी प्रभु हमारे लिये **चित्तिम्**=विद्या तथा **अचित्तिम्**=अविद्या को, पराविद्या तथा अपराविद्या को, **चिनवत्**=संचित करें। हमें प्रभु कृपा से प्रकृति का विज्ञान भी प्राप्त हो और आत्मा का ज्ञान भी। **इव**=जैसे **मर्तान्**=रणांगण में योद्धा मनुष्यों को **वीता**=कान्त **च**=और **वृजिना**=(leaning) झुकी हुई **पृष्ठा**=घोड़ों की पीठें (वि चिनवत्) अलग-अलग करके प्राप्त करायी जाती हैं। झुकी हुई पीठवाले घोड़े बोझ आदि के उठाने के लिये प्रयुक्त होते हैं और कान्त पृष्ठवाले योद्धा के लिये। (२) हे **देव**=सर्वप्रद प्रभो! आप **नः**=हमें **राये**=धन के लिये **च**=और **स्वपत्याय**=उत्तम सन्तान के लिये **दितिम्**=दान की वृत्ति को **रास**=दीजिये। दान देते हुए हम अपने धनों का वर्धन भी करें (दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्) और उत्तम सन्तान को भी प्राप्त करें (आशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः)। हे प्रभो! आप हमारे **अदितिम्**=स्वास्थ्य (अ+दिति=खण्डन) **उरुष्य**=रक्षित करिये।

भावार्थ—हमें अपरा व परा दोनों विद्याओं की प्राप्ति हो। हमें दानवृत्ति के द्वारा धन तथा उत्तम सन्तान प्राप्त हो। हमारा स्वास्थ्य सुरक्षित रहे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

उपासक का क्रियाशील जीवन

कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः।
अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान्पड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः॥ १२॥

(१) **कवयः**=ज्ञानी पुरुष **अदब्धाः**=वासनाओं से हिंसित न होते हुए, **दुर्यासु**=गृहों में **आयोः**=आनेवाली सन्तान का **निधारयन्तः**=धारण करते हुए पुरुष **कविम्**=सर्वज्ञ प्रभु को **शशासुः**=प्रशंसित करते हैं। प्रभु का ये प्रातः-सायं ध्यान करते हैं। ये प्रभु का उपासन करनेवाले पुरुष स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानवृद्धि को करके 'कवि' बनते हैं। ध्यान के द्वारा वासनाओं से हिंसित नहीं होते। कर्त्तव्य भावना के प्रबल होने से सन्तानों का उत्तम पालन करते हैं। (२) **अतः**=चूँकि ये स्वाध्याय, ध्यान व कर्त्तव्यपालन करनेवाले बनते हैं, इसलिए **एतान्**=इन **दृश्यान्**=दर्शनीय जीवनवाले **अद्भुतान्**=आश्चर्य रूपोंवाले उपासकों को **अर्यः**=ब्रह्माण्ड के स्वामी आप, हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **एवैः पड्भिः**=गतिशील पाओं से **पश्येः**=देखते हैं, अर्थात् इन्हें आप गतिशील पाँओं से प्राप्त कराते हैं। प्रभु इन उपासकों को क्रियाशील जीवनवाला बनाते हैं। 'क्रियावानेव ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। इस क्रियामयता के कारण ही उनका जीवन दृश्य व अद्भुत बनता है।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा उपासन ज्ञान प्राप्ति-वासनाओं से हिंसित न होने व सन्तान को उत्तम बनाने से होता है। प्रभु इन्हें क्रियाशील जीवन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वाघते सुप्रणीतिः

त्वमग्ने वाघते सुप्रणीतिः सुतसोमाय विधते यविष्ठ।
रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथु श्चन्द्रमवसे चर्षणिप्राः॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **वाघते**=अपने कर्त्तव्यभार का वहन करनेवाले के लिये **सुप्रणीतिः**=उत्तम प्रणयन करनेवाले हैं। इन कर्त्तव्यपरायण लोगों को आप सदा मार्गदर्शन करते हैं। (२) हे **यविष्ठ**=बुराइयों से हमें पृथक् करनेवाले, अच्छाईयों से हमें मिलानेवाले प्रभो! आप **सुत सोमाय**=जो अपने अन्दर सोम का सम्पादन करता है उस **विधते**=उपासक के लिये

रत्नं भर=रमणीय वसुओं को प्राप्त कराइये। जीवन के लिये आवश्यक रमणीय तत्त्वों को प्राप्त कराइये। (३) हे **घृष्वे**=शत्रुओं का घर्षण व विनाश करनेवाले प्रभो! आप **शशमानाय**=प्लुत गति से कार्य करनेवाले के लिये **पृथु**=विशाल, खूब अधिक **चन्द्रम्**=आह्लाद आदि धन को **अवसे**=रक्षण के लिये (भर) प्राप्त कराइये। आप ही तो **चर्षणिप्राः**=सब मनुष्यों का पूरण करनेवाले हैं। सब अपेक्षित धनों को प्राप्त कराके आप उनका पूरण करते हैं।

भावार्थ—कर्त्तव्यपालन करनेवाले के लिये प्रभु मार्गदर्शन करते हैं। सोम के सम्पादक उपासक के लिये रमणीय वसुओं को देते हैं। शीघ्र गतिवाले पुरुष के लिये आप विशाल आह्लादकारी धन को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पड्भिः हस्तेभिः तनूभिः

अधा ह यद्वयमग्ने त्वाया पड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः॥ १४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अधा**=अब **ह**=निश्चय से **वयम्**=हम **त्वाया**=आप की प्राप्ति की कामना से **पड्भिः**=पाँवों से **हस्तेभिः**=हाथों से तथा **तनूभिः**=शरीरों से **चकृमा**=कर्मों को करते हैं। (२) **न**=जैसे **क्रन्तः**=शिल्पी लोग **रथम्**=रथ को **भुरिजोः अपसा**=भुजाओं के कर्म से **येमुः**=उद्यत करते हैं, तैयार करते हैं, इसी प्रकार **सुध्यः**=उत्तम बुद्धियोंवाले **आशुषाणाः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले लोग अपनी भुजाओं की क्रियाओं से **ऋतम्**=ऋत को, यज्ञ को **येमुः**=अपने जीवन में उद्यत करनेवाले होते हैं। सदा यज्ञशील जीवन बिताते हुए ये लोग प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं।

भावार्थ—क्रियामय जीवनवाला ही प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिवस्पुत्रा अंगिरसः

अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः॥ १५॥

(१) **अधा**=अब **उषसः**=(उष दाहे) सब दोषों का दहन करनेवाली **मातुः**=वेदमाता से, **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले, **प्रथमाः**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले, **वेधसः**=बुद्धिमान् लोग **सप्त**=सात **नॄन्**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' कान आदि को **जायेमहि**=(जनयाम:) उत्पन्न करते हैं। वेद के अध्ययन में प्रवृत्त होने से सब कान आदि इन्द्रियाँ विषयासक्ति से बचकर हमें उन्नति की ओर ले चलनेवाली बनती हैं। (२) **दिवस्पुत्राः**=हम ज्ञान के पुत्र, ज्ञान के पुतले, ज्ञान के पुञ्ज बनें। **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले **भवेम**=हों। **शुचन्तः**=अपने जीवन को पवित्र करते हुए हम **धनिनम्**=धन में आसक्तिवाले **अद्रिम्**=अविद्या-पर्वत को **रुजेम**=भग्न करनेवाले हों। अविद्या में फँसा हुआ व्यक्ति धन का ही उपासक बन जाता है। इस धनासक्ति से जीवन अपवित्र बन जाता है। हम इस अविद्या-पर्वत का विदारण करके पवित्र बनते हैं।

भावार्थ—वेदाध्ययन से हम सातों कान आदि इन्द्रियों को उन्नतिपथ पर चलनेवाला बनाते हैं। ज्ञान के पुञ्ज शक्तिशाली बनते हुए हम धनासक्ति को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पवित्र ज्ञानदीप्ति की ओर

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ १६ ॥

(१) **अधा**=अब हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यथा**=जैसे **नः**=हमारे **पितरः**=पालक लोग **परासः**=उत्कृष्ट जीवनवाले व **प्रत्नासः**=बड़ी उमरवाले **ऋतम्**=यज्ञों का **आशुषाणाः**=अपने में व्यापन करते हुए, अर्थात् यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए **इत्**=निश्चय से **शुचि**=पवित्र **दीधितिम्**=ज्ञान की दीप्ति को **अयन्**=प्राप्त होते हैं। हम भी उसी प्रकार इस पवित्र ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करें। (२) **उक्थशासः**=प्रभु के स्तोत्रों का शंसन करनेवाले, **क्षामा**=क्षय के कारणभूत तम (अन्धकार) को **भिन्दन्तः**=विदीर्ण करते हुए, **अरुणीः**=अरुण प्रकाशवाली ज्ञान किरणों को **अपव्रन्**=वासना के आवरण से रहित करते हैं। प्रभु के उपासन से अज्ञानान्धकार का ध्वंस होकर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम यज्ञात्मक कर्मों का सेवन करते हुए पवित्र ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करें। प्रभु का उपासन हमारे अज्ञानान्धकार को समाप्त करे और हमारे जीवन में ज्ञान की किरणों को प्रकाशित करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुकर्माण सुरुचः देवयन्तः (देवों का लक्षण)

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन् ॥ १७ ॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **सुकर्माणः**=सदा उत्तम कर्मोंवाले होते हैं, ये यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। **सुरुचः**=ये उत्तम ज्ञान की दीप्तिवाले होते हैं। **देवयन्तः**=शुद्ध अन्तःकरण में देववृत्तियों को प्राप्त करने की कामनावाले होते हैं। ये लोग **जनिमा**=अपने जीवनों को **धमन्तः**=तपस्या की अग्नि के संयोग से इस प्रकार निर्मल करते हैं **न**=जैसे कि **अयः**=अग्नि संयोग से धातु को शुद्ध करते हैं। (२) **शुचन्तः**=ज्ञान से दीप्त होते हुए ये व्यक्ति **अग्निम्**=यज्ञाग्नि को **ववृधन्तः**=हवि के द्वारा बढ़ाते हुए, **इन्द्रं परिषदन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के समीप, सब विषयों के वर्जनपूर्वक (परिवर्जने), बैठते हुए, उस प्रभु की उपासना करते हुए **ऊर्वम्**=(sublime) महान् **गव्यम्**=गोसंघ को, वेदवाणियों के समूह को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। अग्निहोत्र करते हैं, प्रभु की उपासना करते हैं, ज्ञान की वाणियों का स्वाध्याय करते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष हाथों से उत्तम कर्म करते हैं, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तिवाले होते हैं, हृदय में दिव्य वृत्तियों का धारण करते हैं, तपस्या की अग्नि में अपने जीवन का शोधन करते हुए अग्निहोत्र करते हैं, प्रभु का उपासन व ज्ञानवाणियों का अध्ययन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना के लाभ

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवानां यज्जनिमान्त्युग्र।
मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ १८ ॥

(१) हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **इव**=जैसे **क्षुमति**=अन्नवाले स्थान में (चारागाह में) एक व्यक्ति **पश्वः यूथा**=पशुओं के झुण्ड को **आ अख्यत्**=देखता है, इसी प्रकार एक उपासक **अन्ति**=उस प्रभु के समीप **देवानां यत् जनिम**=देवों का जो विकास है उसे देखता है। चारागाह में पशुसंघ उपस्थित होता है, इसी प्रकार प्रभु की उपासना में दिव्यगुण उपस्थित होते हैं। (२) उपासना के द्वारा **मर्तानां चित्**=सामान्य मनुष्यों की भी **उर्वशीः**=(उरु वशो यस्याः) अपने पर शासन करनेवाली प्रजाओं को **अकृप्रन्**=शक्तिशाली बनाते हैं। सामान्य मनुष्य, उपासना के द्वारा, अपने पर शासन करनेवाला व शक्तिशाली बन जाता है। **अर्यः**=(स्वामी) यह जितेन्द्रिय पुरुष **उपरस्य**=(उप्तस्य) बीजवपन द्वारा उत्पन्न हुई-हुई अपनी **आयोः**=सन्तान को **वृधे चित्**=निश्चय से वृद्धि के लिये होता है।

भावार्थ—उपासना से (क) दिव्य गुणों का वर्धन होता है, (ख) मनुष्य जितेन्द्रिय बनता है, (ग) सन्तानों को उत्तम बना पाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञ और प्रभु स्मरण

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः।
अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मृजतश्चारु चक्षुः॥ १९॥

(१) 'वेद ज्ञान' उस देव (प्रभु) की दी हुई सुन्दर चक्षु है, इससे सब कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है। यह सब के लिये मार्गदर्शन कराती है। उस **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु की **चारु चक्षुः**=इस सुन्दर वेदज्ञान रूप आँख को **मर्मृजतः**=खूब ही शुद्ध करते हुए, अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त करते हुए **ते अकर्म**=हे प्रभो! आपका पूजन करते हैं। **स्वपसः अभूम**=उत्तम कर्मोंवाले होते हैं। वस्तुतः उत्तम कर्त्तव्य कर्मों को करना ही प्रभु का सच्चा पूजन है। (२) हमारे लिये **विभातीः**=विशिष्ट प्रकाशवाली **उषसः**=उषाएँ **ऋतम्**=यज्ञ को **अवस्रन्**=आच्छादित करती हैं, धारण करती हैं, अर्थात् उषाकालों में ही यज्ञादि उत्तम कर्मों को धारण करनेवाले बनते हैं। ये उषाएँ **अनूनं अग्निम्**=न्यूनता से रहित, पूर्ण अग्नि को, परमात्मा को हमारे लिये धारण करती हैं जो कि **पुरुधा**=अनेक प्रकार से **सुश्चन्द्रम्**=उत्तम आह्लाद को प्राप्त करानेवाले हैं। उषाकाल में हम प्रभु का स्मरण करते हैं और यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के दिये हुए वेदज्ञान का अभ्यास करते हुए हम उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु का अर्चन करें। उषाकाल में प्रभु स्मरण व यज्ञ ही हमारे समय को व्याप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'प्रभु प्रकाश प्रदीप्त' अन्तःकरण

एता ते अग्न उचथानि वेधोऽवोचाम कवये ता जुषस्व।
उच्छोचस्व कृणुहि वस्यसो नो महो रायः पुरुवार प्र यन्धि॥ २०॥

(१) हे **वेधः**=विधातः, सृष्टि के रचनेवाले **अग्ने**=प्रभो! **कवये**=सर्वज्ञ **ते**=आपके लिये **एता उचथानि**=इन स्तोत्रों को **अवोचाम**=बोलें। **ता जुषस्व**=उन स्तोत्रों को आप प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले होइये, आपके लिये वे स्तोत्र प्रिय हों। (२) **उत् शोचस्व**=आप मेरे हृदयाकाश में दीप्त होइये। **नः**=हमें **वस्यसः**=उत्कृष्ट जीवनवाला **कृणुहि**=करिये। हे **पुरुवार**=पालक व पूरक वरणीय वस्तुओंवाले प्रभो! हमें **महो रायः**=महत्त्वपूर्ण धनों को **प्रयन्धि**=दीजिये।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। हमारा हृदय प्रभु के प्रकाश से दीप्त हो। हमारा जीवन उत्तम बने और प्रभु हमें महत्त्वपूर्ण धनों को प्राप्त करायें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु स्मरण से जीवन को सुन्दर बनाने का उल्लेख कर रहा है। यही भाव अगले सूक्त में भी द्रष्टव्य है—

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मृत्यु से पूर्व ही

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्॥ १॥

(१) **वः**=तुम्हारे **अध्वरस्य**=इस जीवन-यज्ञ के **राजानम्**=दीप्त करनेवाले **रुद्रम्**=(रुत् द्रावयति) सब कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभु को **अवसे**=रक्षा के लिये **आकृणुध्वम्**=अपने हृदयों में उपासित करो। उस प्रभु को, जो कि **होतारम्**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। जो **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी के साथ **सत्य यजम्**=सत्य का मेल करनेवाले हैं, अर्थात् जो प्रभु मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान को तथा शरीररूप पृथिवी में दृढ़ता को स्थापित करनेवाले हैं। **अग्निम्**=जो निरन्तर उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले हैं तथा **हिरण्यरूपम्**=ज्योतिर्मय रूपवाले हैं। (२) इस प्रभु का स्मरण **तनयित्नोः**=आकस्मिक पतनवाली अशनि (विद्युत्) के समान न जाने कब आ जानेवाली **अचित्तात्**=अचेतना, अर्थात् मृत्यु से **पुरा**=पहले ही उस प्रभु को अपने हृदयों में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करो। 'इह चेदवेदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'। 'न जाने कब मृत्यु आ जाये', सो हमें सदा उस प्रभु की भावना से हृदय को भावित करने का प्रयत्न करना चाहिये। 'नहि प्रतीक्षते मृत्युः' मृत्यु हमारे प्रभु स्मरण के लिये प्रतीक्षा न करेगी। सदा प्रभु का स्मरण करेंगे तो प्रभु जैसे ही बन पायेंगे।

भावार्थ—हम मृत्यु से पूर्व ही प्रभु स्मरण का प्रयत्न करें। हमारा जीवन संसार की आसक्ति में ही न समाप्त हो जाए। प्रभु स्मरण का अभाव हमें विषयों के आक्रमण से न बचायेगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शरीर को प्रभु का निवास स्थान बनाना

अयं योनिश्चकृमा यं वयं ते जायेव पत्य उशती सुवासाः।
अर्वाचीनः परिवीतो नि षीदेमा उ ते स्वपाक प्रतीचीः॥ २॥

(१) हे प्रभो! **अयम्**=यह मेरा शरीर (हृदय) **योनिः**=आपका गृह है, **यम्**=जिसको **वयम्**=हम **ते**=आपके लिये **चकृमा**=करते हैं। शरीर को बड़ा परिशुद्ध करके, इस नीरोग शरीर में हृदय को बड़ा निर्मल बनाकर, उसमें प्रभु को बिठाना चाहिये। हम इस गृह को इस प्रकार आपके लिये संस्कृत करते हैं **इव**=जिस प्रकार **उशती**=कामयमाना, पति प्राप्ति के लिये कामना करती हुई **सुवासाः**=शोभन वस्त्रोंवाली **जाया**=पत्नी **पत्ये**=पति के लिये स्थान को बनाती है। जीवात्मा पत्नी स्थानापन्न है। उसने प्रभुरूप पति को प्राप्त करने की कामनावाला होना। पति के स्वागत के लिये गृह को स्वच्छ करना। इसी प्रकार जीव प्रभु के स्वागत के लिये हृदय-मन्दिर को बड़ा पवित्र बनाता है। (२) हे प्रभो! **अर्वाचीनः**=हमारे अभिमुख होते हुए **परिवीतः**=(वी परिदेवने) तेजस्विता से चमकते हुए आप **निषीद**=हमारे हृदय में स्थित होइये। हे **स्वपाक**=(सु अपाक) शोभन

कर्मोंवाले प्रभो! **उ**=निश्चय से **ते**=आपकी **इमाः**=ये ज्ञानरश्मियाँ **प्रतीचीः**=हमारे प्रति प्राप्त होनेवाली होती हैं।

भावार्थ—हम अपने हृदय को शुद्ध करके उसे प्रभु का गृह बनायें। उस सर्वतः तेजोमय प्रभु की कान्तियाँ हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का उपासक 'ग्रावा-स्तोता-मधुषुत्'

आ॒शृ॒ण्व॒ते अदृ॑पिताय॒ मन्म॑ नृ॒चक्ष॑से सुमृळी॒काय॑ वेधः।
दे॒वाय॑ श॒स्तिम॒मृता॑य शंस॒ ग्रावे॑व॒ सोता॑ मधु॒षुद्यमी॒ळे॥ ३॥

(१) हे **वेधः**=स्तोत्रों को करनेवाले धीमन्! तू **देवाय**=उस प्रकाशमय प्रभु के लिये **मन्म**=स्तोत्र का **शंस**=शंसन कर। उस देव के लिये जो कि **आशृण्वते**=हमारी पुकार को सदा सुनते हैं, **अदृपिताय**=जो कभी हमारे हित में प्रमाद नहीं करते, **नृचक्षसे**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले हैं और **सुमृडीकाय**=उत्तम सुख प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **ग्रावा इव**=ज्ञान के स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवाले के समान तू **अमृताय**=उस अमृत प्रभु के लिये **शस्तिम्**=प्रशंसा के वचनों को **शंस**=उच्चरित कर। उस प्रभु के लिये स्तुति कर **यम्**=जिस प्रभु को **सोता**=सोम का सम्पादन करनेवाला, शरीर में सोम को सुरक्षित रखनेवाला **मधुषुत्**=सदा मधुर शब्दों को उत्पन्न करनेवाला, जीवन को मधुर बनानेवाला, **ईडे**=उपासित करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन 'ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला, सोम का सम्पादक, जीवन को मधुर बनानेवाला' करता है। प्रभु की उपासना से हम दिव्य गुणोंवाले व नीरोग (अमृत) बन पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

शरीर-गृह में 'मित्र प्रभु' के साथ निवास

त्वं चि॑न्नः शम्या॑ अग्ने अ॒स्या ऋ॒तस्य॑ बोध्यृतचित्स्वा॒धीः।
क॒दा त॑ उ॒क्था स॑ध॒मा॒द्या॑नि क॒दा भ॑वन्ति स॒ख्या गृ॒हे ते॑॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=यथार्थ ज्ञान को **बोधि**=जनाइये। मुझे मेरे कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान दीजिये। आप ही **ऋतचित्**=ऋत को जाननेवाले हैं, आपका ज्ञान यथार्थ है। **स्वाधीः**=आप उत्तम कर्मोंवाले (सुकर्मा सुध्यानोष सा०) हैं, सब प्रजाओं का उत्तमता से ध्यान करनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! **कदा**=वह दिन कब होगा जब कि हम **ते**=आपके **उक्था**=स्तोत्रों को करनेवाले होंगे और **सधमाद्यानि**=आपके सहनिवास के आनन्दों का अनुभव करेंगे। **कदा**=कब **गृहे**=इस शरीर रूप गृह में **ते**=आपकी **सख्या**=मित्रताएँ **भवन्ति**=होती हैं। वह दिन सचमुच सौभाग्य का होगा जब कि इस शरीरगृह में मैं आपकी मित्रता के साथ निवासवाला हूँगा।

भावार्थ—प्रभु हमें कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान देते हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के सहवास के आनन्द का अनुभव करें। इस शरीरगृह में हमें प्रभु की मित्रता का अनुभव हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु की प्रेरणा से

क॒था ह॒ तद्वरु॑णाय॒ त्वम॑ग्ने क॒था दि॒वे ग॑र्हसे॒ कन्न॒ आगः॑।
क॒था मि॒त्राय॑ मी॒ळ्हुषे॑ पृथि॒व्यै ब्रवः॒ कद॑र्य॒म्णे कद्भगा॑य॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **कथा**=कैसे **ह**=निश्चयपूर्वक **तत्**=वह बात होगी कि **त्वम्**=आप **वरुणाय**=वरुण के लिये **ब्रवः**=हमें उपदेश देंगे, अर्थात् कब आपकी प्रेरणा से मैं 'वरुण' बनूँगा, पापों से अपना निवारण करनेवाला (पाप निवारयति)। **कथा दिवे**=कैसे आप द्युलोक के लिये, प्रकाशमय लोक के लिये कहेंगे, अर्थात् कब आपकी प्रेरणा से मैं अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक को प्रकाशमय बनाऊँगा। आप **नः गर्हसे**=हमारे से गर्हा करते हैं, **कत् नः आगः**=क्या हमारा अपराध है? हमारी तो यही कामना है कि हम आपके प्रिय बनें। आपके प्रिय बनकर आपसे प्रेरणा को प्राप्त करके 'वरुण व दिव्' बनें, 'निष्पाप-प्रकाशमय'। (२) **कथा**=कैसे आप हमें **मीढुषे**=सुखों का वर्षण करनेवाले **मित्राय**=मित्र के लिये कहते हैं, अर्थात् कब मैं आपकी प्रेरणा से सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला मित्र बनता हूँ? कब आप हमें **पृथिव्यै**=पृथिवी के लिये कहते हैं? कब हम आपकी प्रेरणा से इस शरीर को पृथिवी की तरह दृढ़ बनानेवाले बनते हैं। **कद्**=कब आप हमें **अर्यम्णे**=अर्यमा के लिये कहते हैं? अर्थात् कब हम आपसे प्रेरित होकर दान की वृत्तिवाले बनते हैं? 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'। **कद्**=कब आप मुझे **भगाय**=ऐश्वर्य के लिये कहते हैं, कब मैं आपके निर्देश में चलता हुआ ऐश्वर्य को प्राप्त करता हूँ?

भावार्थ—हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु से प्रेरित होकर हम निष्पाप, प्रकाशमय, सबके मित्र, दृढ़ शरीर, दान की वृत्तिवाले व ऐश्वर्यशाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्राणसाधक-रुद्र का उपासक

कद्धिष्ण्यासु वृधसानो अग्ने कद्वाताय प्रतवसे शुभंये।
परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने ॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **कद्**=कब आप **धिष्ण्यासु**=(strength) शक्तियों में **वृधसानः**=मेरा वर्धन करनेवाले होंगे। कब आपकी कृपा से मैं निरन्तर बढ़ती हुई शक्तिवाला हूँगा? **कद्**=कब आप मुझे **प्रतवसे**=प्रकृष्ट बलवाले, **शुभंये**=शुभ को प्राप्त करानेवाले **वाताय**=वायु के लिये **ब्रवः**=कहेंगे? अर्थात् कब आपसे प्रेरणा को प्राप्त करके मैं 'वा गतौ' निरन्तर गतिशील हूँगा? और इस प्रकार क्रियाशीलता के द्वारा अपने बल को बढ़ानेवाला व शुभ को प्राप्त करनेवाला बनूँगा? (२) कब आप मुझे **परिज्मने**=शरीर में चारों ओर गति करनेवाले **नासत्याय**=प्राणापान के लिये तथा **क्षे**=इस निवास स्थानभूत शरीर रूप पृथिवी के लिये कहेंगे? अर्थात् कब आपकी प्रेरणा से मैं प्राणापान की साधना करनेवाला बनकर शरीर में उत्तम निवासवाला बनूँगा? हे **अग्ने**=परमात्मन्! कब आप मुझे **नृघ्ने**=शत्रु नायकों को विनष्ट करनेवाले **रुद्राय**=(रोदयति) उस रुलानेवाले प्रभु के लिये कहेंगे? अर्थात् कब मैं आपके रुद्र रूप का स्मरण करता हुआ काम-क्रोध आदि शत्रु सेनानियों को समाप्त कर पाऊँगा?

भावार्थ—प्रभु मेरी शक्ति का वर्धन करें। मैं 'गतिशील, प्राणसाधक व रुद्र का उपासक' बनूँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

रेतःकणों के रक्षण के द्वारा

कथा महे पुष्टिंभराय पूष्णे कद्रुद्राय सुमखाय हविर्दे।
कद्विष्णव उरुगायाय रेतो ब्रवः कदग्ने शरवे बृहत्यै॥ ७॥

(१) **कथा**=किस प्रकार **महे**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **पुष्टिंभराय**=पोषण का धारण करनेवाले

पूष्णे=पूषा के लिये **रेतः**=शक्ति को हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ब्रवः**=साधनरूप से आप प्रतिपादित करते हैं, अर्थात् 'रेतःकणों के रक्षण के होने पर ही सूर्य के द्वारा हमें पोषण प्राप्त होता है' यह बात आप हमें उपदेश के रूप में कहते हैं। (२) **कद्**=कब **रुद्राय**=सब रोगों को भगानेवाले **हविर्दे**=वायु आदि देवों में हविर्द्रव्य को अग्निरूप मुख से प्राप्त करानेवाले **सुमखाय**=उत्तम यज्ञ के लिये **रेतः**=शक्ति को साधनरूप से आप प्रतिपादित करते हैं। रेतः रक्षण करनेवाला व्यक्ति ही यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। (३) **कद्**=कब **विष्णवे**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक व उदारवृत्तिवाले **उरुगायाय**=व्यापक गतिवाले के लिये **रेतः**=शक्ति को **ब्रवः**=साधनरूप से प्रतिपादित करते हैं, अर्थात् रेतःरक्षण के द्वारा हम उदारवृत्तिवाले व खूब गतिशील बनते हैं। (४) कद्=कब **बृहत्यै**=महान् व वृद्धि की कारणभूत **शरवे**=काम-क्रोध आदि की हिंसा के लिये **रेतः ब्रवः**=शक्ति को साधनरूप से प्रतिपादित करते हैं। सोमरक्षण के द्वारा ही काम-क्रोध आदि पर हम विजय पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा (रेतःकणों की ऊर्ध्वगति के द्वारा) हम (क) सूर्यादि के सम्पर्क में अपना पोषण करते हैं, (ख) यज्ञशील बनकर रोगों को दूर भगाते हैं, (ग) व्यापक मनोवृत्तिवाले बनते हैं, (घ) काम-क्रोध आदि का हिंसन कर पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्राणशक्ति-ज्ञान व स्वास्थ्य

कथा शर्धाय मरुतामृताय कथा सूरे बृहते पृच्छ्यमानः।
प्रति ब्रवोऽदितये तुराय साधा दिवो जातवेदश्चिकित्वान्॥ ८॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **चिकित्वान्**=हमारी स्थिति को पूरा-पूरा जानते हुए आप **कथा**=कैसे मुझे **ऋताय**=ऋतभूत जीवन से असत्य को दूर करनेवाले, **मरुतां शर्धाय**=प्राणों के बल के लिये **प्रतिब्रवः**=मुझे कहेंगे? आप से उपदेश को प्राप्त करके मैं प्राणों के बल को प्राप्त करनेवाला बनूँ। यह प्राणशक्ति ही मेरे जीवन को अनृत से शून्य करके ऋतवाला बनाती है। (२) **पृच्छ्यमानः**=हे प्रभो! प्रार्थना किये जाते हुए आप **बृहते**=वृद्धि के कारणभूत **सूरे**=ज्ञानसूर्य के लिये मुझे **कथा**=कैसे **प्रतिब्रवः**=उपदेश करोगे। आपसे उपदिष्ट हुआ-हुआ मैं ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। हे प्रभो! आप **तुराय**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले **अदितये**= स्वास्थ्य के लिये **दिवः साध**=ज्ञान को सिद्ध करिये। आप से ज्ञान को प्राप्त करके हम युक्ताहार विहारवाले बनकर स्वस्थ बनें। शरीर में उत्पन्न होनेवाली सब कमियों को हम दूर करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु से प्रेरित होकर हम 'प्राणशक्ति' का वर्धन करें, ज्ञान को तथा स्वास्थ्य को प्राप्त करके सब कमियों को विनष्ट करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदवाणी रूप गौ का ज्ञानदुग्ध

ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गोरामा सचा मधुमत्पक्वमग्ने।
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय॥ ९॥

(१) **ऋतेन**=यज्ञ के द्वारा अथवा बड़े नियमित आचरण के द्वारा **गोः**=वेदवाणीरूपी गौ से **ऋतम्**=सत्यज्ञान की **नियतम्**=निश्चय से **आ ईडे**=समन्तात् याचना करता हूँ। नियमित जीवन बिताता हुआ सत्य ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **आमा**=यह अग्नि पक्व न होती हुई भी वेदवाणी रूप गौ **सचा**=हमारे जीवन में समवेत होती हुई **मधुमत्**=माधुर्यवाले **पक्वम्**=पूर्ण

परिपक्व ज्ञानदुग्ध को **पीपाय**=हमारे लिये बढ़ाती है (प्यायी वृद्धौ) (२) **कृष्णा सती**=(कृष् प्राप्तौ) प्राप्त हुई-हुई **एषा**=यह **रुशता**=देदीप्यमान, **धासिना**=धारण करनेवाले, **जामर्येण**=(जायनेत इति जाः प्रजाः, अमर्येण) प्रजाओं के अमरण हेतुभूत **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **पीपाय**=वेदवाणीरूप गौ हमारा आप्यायन करती है।

भावार्थ—ऋत के पालन से, नियमित जीवन से वेदज्ञान प्राप्त होता है। वेदवाणी रूप गौ का ज्ञानदुग्ध मधुर व पक्व होता है। यह ज्ञानदुग्ध देदीप्यमान-धारक व अमरण हेतुभूत है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अचर होते हुए चर होना (अस्पन्दमानः अचरत्)

ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद्वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः ॥ १० ॥

(१) **वृषभः**=अपने को शक्तिशाली बनानेवाला, **पुमान्**=जीवन को पवित्र बनानेवाला (पुनाति), **अग्निः**=अग्रगतिवाला व्यक्ति **हि ष्मा चित्**=निश्चय से **ऋतेन**=सत्य **पृष्ठ्येन**=धारक **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **अक्तः**=संपृक्त होता है (अञ्ज गतौ)। यह इस सत्य-धारक वेदज्ञान को प्राप्त करता है। (२) इस ज्ञान को प्राप्त करने से **अस्पन्दमानः**=विचलित व चंचल न होता हुआ यह **अचरत्**=गति करता है, कर्त्तव्य मार्ग पर दृढ़ता से चलता है इसीलिए **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करता है। **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ **पृश्निः**=(संस्पृष्टाभासः) ज्ञानदीप्तियों के स्पर्श करनेवाले **ऊधः**=वेदवाणीरूप गौ के ऊधस् से **शुक्रम्**=देदीप्यमान पवित्र ज्ञानदुग्ध का **दुदुहे**=दोहन करता है।

भावार्थ—सत्य ज्ञान को प्राप्त करके हम अविचल भाव से कर्त्तव्य मार्ग पर आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ऋत से अविद्यापर्वत का विदारण

ऋतेनाद्रिं व्यसन्भिदन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नरः परि षदन्नुषासमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ ॥ ११ ॥

(१) **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग को रसमय बनानेवाले उपासक **ऋतेन**=व्यवस्थित जीवन के द्वारा **अद्रिम्**=अविद्या-पर्वत को **सं भिदन्तः**=सम्यक् विदीर्ण करते हुए **व्यसन्**=अपने से दूर फेंकते हैं और **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **सं नवन्त**=संगत होते हैं। (२) **नरः**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले लोग **उषासम्**=उषाकाल में **शुनम्**=उस सुखस्वरूप परमात्मा की **परिषदन्**=उपासना करते हैं। **अग्नौ जाते**=उस प्रकाशमय प्रभु के आविर्भूत होने पर **स्वः**=प्रकाश **आविः अभवत्**=प्रकट होता है। प्रभु का आभास होने पर सारा अन्तःकरण प्रकाश से दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—व्यवस्थित जीवन के द्वारा हमारा अज्ञान दूर हो और हमें ज्ञान प्राप्त हो। प्रातः प्रभु के उपासन से हृदय प्रकाशित हो उठे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृत-अमृक्त

ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित्स्रवितवे दधन्युः ॥ १२ ॥

(१) **ऋतेन**=नियमित जीवन के द्वारा, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मधुमद्भिः अर्णोभिः**=माधुर्यवाले ज्ञानजलों के समुद्रों से (अर्णस्=ocean रायः समुद्राँश्चतुरः) **देवीः**=प्रकाशमय **अमृताः**=मृत्यु से बचानेवाले (न मृतं याभिः) **अमृक्ताः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से बाधित न होनेवाले **आपः**=ज्ञानजल **सदं इत्**=सदा ही **सवितवे**=गतिशीलता के लिये **प्रदधन्युः**=(प्रगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे **वाजी**=शक्तिशाली घोड़ा **सर्गेषु**=(attacks) आक्रमणों में **प्रस्तुभानः**=प्रोत्साहित किया जाता हुआ आगे बढ़ता है। (२) यहाँ 'मधुमान् अर्णस्' वेद हैं। उन वेदों से हमें नियमित जीवन के होने पर, यह ज्ञान प्राप्त होता है जो कि प्रकाशमय है, मृत्यु से हमें बचाता है, काम-क्रोध आदि शत्रुओं से बाधित नहीं होने देता। इस ज्ञान को प्राप्त करके हम सदा क्रियाशील होते हैं (सवितवे)।

भावार्थ—नियमित जीवन के द्वारा वेदज्ञान को प्राप्त करके हम प्रकाशमय जीवनवाले, रोगों मृत्यु से रहित, वासनाओं से अनाक्रान्त जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्मरणीय बातें

मा कस्यं यक्षं सदमिद्धुरो गा मा वेशस्यं प्रमिनतो मापेः।
मा भ्रातुरग्ने अनृजोर्ऋणं वेर्मा सख्युर्दक्षं रिपोर्भुजेम॥ १३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **कस्य**=किसी भी **हुरः**=हिंसक के **यक्षम्**=सम्पर्क को **सदं इत्**=सदा ही **मा गाः**=मत प्राप्त हो हिंसा की मनोवृत्तिवाले पुरुष के सम्पर्क में मत रह। **प्रमिनतः**=तेरे ह्रास को करनेवाले, तेरी कमी को चाहनेवाले, **वेशस्य**=पड़ोसी के सम्पर्क को **मा**=मत प्राप्त हो। तेरे ह्रास की कामनावाले **आपेः**=मित्र का दम्भ करनेवाले पुरुष के सम्पर्क में भी **मा**=मत हो। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अनृजोः**=कुटिल **भ्रातुः**=भाई के **ऋणम्**=ऋण को **मा वेः**=मत भोगनेवाला हो। कुटिल वृत्तिवाले से भी कभी ऋण नहीं लेना। **सख्युः**=मित्र के व **रिपोः**=शत्रु के **दक्षम्**=बल को **मा भुजेम**=भोगनेवाले न हों। इनके बल पर हम निर्भर न करें। सदा स्वाश्रित हों।

भावार्थ—हिंसक मनोवृत्तिवाले तथा हमारी कमी को चाहनेवाले पड़ोसी व मित्र के सम्पर्क से बचें। कुटिल भाई से भी कभी ऋण न लें। शत्रु व मित्र किसी भी अन्य के बल पर निर्भर न करके स्वाश्रित हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पापों व राक्षसीभावों का विनाश

रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः सुमख प्रीणानः।
प्रति ष्फुर वि रुज वीड्वंहो जहि रक्षो महि चिद्वावृधानम्॥ १४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **तव रक्षणेभिः**=अपने रक्षणों से **नः रक्ष**=हमारा रक्षण करिये। हे **सुमख**=उत्तम यज्ञोंवाले प्रभो! आप **रारक्षाणः**=हमारा खूब ही रक्षण करते हुए, **प्रीणानः**=हमारे उत्तम कर्मों से प्रीणित होते हुए **प्रतिष्फुर**=दीप्त होइये। (२) हमारे हृदयों में दीप्त होकर आप **वीडु अंहः**=प्रबल पापों को **विरुज**=हमारे से दूर कर दीजिये, उन्हें भग्न कर दीजिये, हमारे से दूर भगा दीजिये। और **महि वावृधानम्**=बहुत अधिक बढ़ते हुए, प्रबल होते हुए, **चित्**=भी **रक्षः**=राक्षसी भाव को **जहि**=नष्ट कर दीजिये।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम प्रबल पापों व राक्षसी भावों को विनष्ट कर सकें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देववाता शस्ति

एभिर्भव सुमना अग्ने अर्कैरिमान्त्स्पृश मन्मभिः शूर वाजान्।
उत ब्रह्माण्यङ्गिरो जुषस्व सं ते शस्तिर्देववाता जरेत ॥ १५ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **एभिः अर्कैः**=इन स्तुति साधनभूत मन्त्रों से **सुमनाः भव**=उत्तम मनवाला हो। जिस समय हम मन्त्रों द्वारा प्रभु स्तवन करते हैं, उस समय मानसवृत्ति अच्छी बनती ही है। (२) हे **शूर**=काम आदि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! तू **इमान् वाजान्**=इन बलों को **मन्मभिः**=ज्ञानों के साथ **स्पृश**=छूनेवाला बन, ज्ञानों और बलों को प्राप्त करनेवाला बन। मस्तिष्क तेरा ज्ञान-सम्पन्न हो, शरीर बल सम्पन्न। (३) **उत**=और हे **अंगिरः**=प्रगतिशील जीव! तू **ब्रह्माणि**=इन ज्ञान की वाणियों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। **ते**=तेरी **देववाता**=दिव्य गुणों की प्रेरणा को देनेवाली **शस्तिः**=प्रभु की प्रशस्ति **संजरेत**=सम्यक् स्तुत हो। (जरिता=स्तोता) प्रभु का स्तवन जिन दिव्य गुणों के द्वारा किया जाता है, उस-उस दिव्यगुण को प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त होती ही है। एवं यह शस्ति 'देववाता' है। प्रभु को 'दयालु' नाम से स्मरण करता हुआ व्यक्ति दया के गुण को अपना पाता है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन करते हुए हम उत्तम दिव्य गुणोंवाले, प्रशस्त मनवाले बनें। शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वैदिक जीवन

एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि।
निवचना कवये काव्यान्यशंसिषं मतिभिर्विप्र उक्थैः ॥ १६ ॥

(१) हे **वेध**=मेधाविन्! **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विदुषे**=ज्ञानी **तुभ्यम्**=तेरे लिये **एता**=ये **विश्वा**=सब **निण्या**=अन्तर्निहित गूढ अर्थवाले **वचांसि**=वेदवचन **नीथानि**=मार्ग पर ले चलनेवाले हैं, मार्गदर्शक हैं। इनके भाव को समझकर तदनुसार तूने जीवनयात्रा में मार्ग का आक्रमण करना है। (२) **कवये**=क्रान्तदर्शी पुरुष के लिये **काव्यानि**=प्रभु के ये वेद-वचन रूप काव्य (देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति) **निवचना**=निश्चय से कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाले हैं। हे **विप्र**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले जीव! मैंने **मतिभिः**=बुद्धियों के साथ **उक्थैः**=स्तोत्रों के साथ **अशंसिषम्**=इन वचनों का तेरे लिये शंसन किया है। इन वचनों से अपने कर्त्तव्यों को जानकर तदनुसार से अपना जीवन बिताना है। बुद्धि को परिष्कृत रखते हुए, प्रातः-सायं स्तवन करते हुए, कर्ममय जीवनवाला तूने बनना है।

भावार्थ—प्रभु ने बुद्धि दी है, स्तुति की भावना प्राप्त करायी है। हम बुद्धि व स्तुति को अपनाते हुए वेदानुकूल कर्मों में प्रवृत्त हों।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करें और प्रभु प्रेरणा के अनुसार चलें। अगले सूक्त को भी इन्हीं शब्दों से प्रारम्भ करते हैं कि ये अग्नि प्रभु हमारे राक्षसी भावों को दूर करें। राजा राष्ट्र से राक्षसी वृत्ति के लोगों को दूर करे—

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

राजा के दो मूल कर्त्तव्य

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥ १॥

(१) **पाजः**=शक्ति को **कृणुष्व**=करनेवाला हो। अपने शरीर में शक्ति का सम्पादन कर। **पृथ्वीम्**=विशाल **प्रसितिं न**=सेना की तरह 'प्रकृष्टा सितिः-बन्धनं-यस्याः' (जो क्रम में बद्ध होकर चलती है)। राजा शक्ति का सम्पादन करके अपने अनुभावविशेष से सेना परिवृत-सा प्रतीत हो। **इभेन**=(गतभयेन सा०) भयशून्य तेजस्विता से **अमवान्**=शक्तिशाली होता हुआ तू **राजा इव**=राजा की तरह **याहि**=गतिवाला हो। अपना शासक बनता हुआ कार्यों में व्यापृत हो। (२) **तृष्वीं प्रसितिं अनु**=क्षिप्रगामिनी सेना के साथ **द्रूणानः**=गति करता हुआ **अस्ता असि**=तू शत्रु-सैन्य का नष्ट करनेवाला है। तू **रक्षसः**=अपने रमण के लिये औरों का क्षय करनेवाले राक्षसी वृत्ति के लोगों को **तपिष्ठैः**=संतापक अस्त्रों से **विध्य**=बींधनेवाला हो। राजा के राष्ट्र रक्षण के लिये दो महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य होते हैं, (क) शत्रु-सैन्य के आक्रमण को विफल करके शत्रु-सैन्य का विनाश करना तथा (ख) अन्दर के अपराधियों को उचित दण्ड देना। ये दोनों कार्य वही कर सकता है जो कि अपना राजा हो, जितेन्द्रिय हो। ऐसा ही व्यक्ति तेजस्विता के साथ विचरता हुआ प्रजा के लिये प्रभाववाला होता है। निस्तेज विषयासक्त व्यक्ति ने क्या शासन करना?

भावार्थ—राजा तेजस्विता का सम्पादन करे। पहले अपना राजा बने। सेना के साथ गति करता हुआ शत्रु-शैन्य को परास्त करे और राक्षसी वृत्ति के लोगों को दण्डित करे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अभ्रः निरीक्षण तथा शत्रु संहार

तव भ्रमास आशुया पतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसन्दितो वि सृज विष्वगुल्काः॥ २॥

(१) हे राजन्! **तव भ्रमासः**=तेरी गतियाँ (movements) (सताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम्=राजा स्वयं भ्रमण करके अध्यक्षों के कार्यों को देखनेवाला हो) **आशुया**=शीघ्रता से **पतन्ति**=होती हैं, अर्थात् तू राष्ट्र में स्वयं चक्कर लगाता हुआ सब के कार्यों को देखनेवाला होता है। **शोशुचानः**=खूब दीप्त होता हुआ तू **धृषता**=धर्षण सामर्थ्य से **अनुस्पृश**=सब का स्पर्श करनेवाला हो, अर्थात् जहाँ भी तू कमी देखे, उसे तू तत्काल दूर करनेवाला बन। (२) अवसर आने पर हे **अग्ने**=राष्ट्र की प्रगति के कारणभूत राजन्! **जुह्वा**=अपनी शक्ति की अग्नि की ज्वालाओं के कारण (हूयते शत्रवः अस्यां) **असन्दितः**=न खण्डित हुआ-हुआ तू **तपूंषि**=शत्रु-संतापक अस्त्रों को (तलवार आदि) **पतंगान्**=(पतन् गच्छति) आकाश में फेंके जाने पर गति करनेवाले वाण आदि को तथा **उल्काः**=उल्काओं की तरह प्रतीत होनेवाले बम्ब आदि (bombs) को **विष्वग्**=चारों ओर **विसृज**=विसृष्ट करनेवाला हो। इन त्रिविध अस्त्र-शस्त्रों से तू शत्रुओं को सन्तप्त कर।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में भ्रमण करके निरीक्षण करता हुआ बुराइयों को दूर करे। शत्रुओं को त्रिविध शस्त्रास्त्र से विनष्ट करने के लिये यत्नशील हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गुप्तचरों का प्रेषण

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत् ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=राष्ट्र की अग्रगति के साधक राजन्! तू **स्पशः**=गुप्तचरों को **प्रति विसृज**=प्रत्येक दिशा में भेज। **तूर्णितमः भव**=कार्यों को शीघ्रता से करनेवाला हो। **अदब्धः**=काम-क्रोध आदि से न हिंसित होता हुआ तू **अस्याः विशः**=इस प्रजा का **पायुः**=रक्षक हो। (२) **यः**=जो **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला **नः दूरे**=हमारे से दूर है अथवा **यः अन्ति**=जो समीप है, वह **व्यथिः**=पीड़ित करनेवाला **ते**=तुझे **माकिः**=मत **आदधर्षीत्**=धर्षित करनेवाला हो। कोई भी अघशंस तुझे पराभूत न कर सके। वह तेरे लिये दण्डनीय हो। उसे दण्ड देकर तू प्रजा का रक्षण करनेवाला बन।

भावार्थ—राजा गुप्तचर रूप आँखों से राष्ट्र को सम्यक् देखता हुआ, उचित व्यवस्थाओं को शीघ्रता से करनेवाला हो। कोई भी अघशंस राजा को अपने वशीभूत न करले। इन अघशंसों को राजा उचित दण्ड दे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सदा उठा हुआ (जागृवि)

उदग्ने तिष्ठ प्रत्या तनुष्व न्य१मित्राँ ओषतात्तिग्महेते।
यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=राजन्! **उत्तिष्ठ**=आलस्य रहित होकर 'जागृवि' होता हुआ उठ खड़ा हो। **प्रति आ तनुष्व**=समन्तात् अपनी शक्ति का विस्तार कर। हे **तिग्महेते**=तीक्ष्ण शस्त्रोंवाले राजन्! **अमित्रान्**=शत्रुओं को **नि ओषतात्**=निश्चय से आप जलाने, भस्म करनेवाले हों। (२) हे **समिधान**=शक्ति व ज्ञान से अपने को दीप्त करनेवाले राजन्! **यः**=जो **नः**=हमारी **अरातिम्**=शत्रुता को **चक्रे**=करता है, **तम्**=उस शत्रुभूत पुरुष को आप **नीचा**=न्यग्भूत करके (to put under) **धक्षि**=ऐसे जला देते हैं, **न**=जैसे कि **शुष्कं अतसम्**=सूखे काठ को जला दिया करते हैं।

भावार्थ—राजा सदा सावधान (जागृवि) होता हुआ राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को भस्म कर डाले। राष्ट्र-रक्षा ही राजा का प्राथमिक कर्त्तव्य है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शत्रु विनाश में लिहाज नहीं

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने।
अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून् ॥ ५ ॥

(१) **ऊर्ध्वः भव**=लेटा न रह, उठ खड़ा हो। **अस्मद् अधि**=हमारे पर गालिब होनेवाले इन राक्षसों को **प्रतिविध्य**=तू विद्ध करनेवाला हो। हे **अग्ने**=राष्ट्रोन्नति साधक राजन्! तू **दैव्यानि आविष्कृणुष्व**=दिव्य शक्तियों को प्रकट करनेवाला हो, तू अलौकिक शक्तिवाला बन। (२) **यातुजूनाम्**=पीड़ा के लिये ही जिनका जव (वेग) है उन यातुधानों, राक्षसों के **स्थिरा**=दृढ़ धनुषों को **अवतनुहि**=अवपतित [illegible] जोरी से रहित कर। **जामिम्**=चाहे [illegible]दार हो **अजामिम्**=चाहे

रिश्तेदार न हो जो भी **शत्रून्**=शत्रु हैं उनको **प्रमृणीहि**=कुचल दे। राष्ट्र के शत्रुओं को तू विनष्ट करनेवाला हो, वहाँ रिश्तेदारी का भाव तुझे लिहाज के लिये प्रेरित न करे।

भावार्थ—राष्ट्र के अन्तः व बाह्य शत्रुओं को विनष्ट करने के लिये राजा सदा उद्यत हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदज्ञान का लाभ

स ते जानाति सुमतिं यविष्ठ य ईवते ब्रह्मणे गातुमैरत्।
विश्वान्यस्मै सुदिनानि रायो द्युम्नान्यर्यो वि दुरो अभि द्यौत्॥ ६॥

(१) ये **यविष्ठ**=हमारे से बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को मिलानेवाले प्रभो! **सः**=वह **ते**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणीमति को **जानाति**=जानता है, **यः**=जो **ईवते**=(गमनवते) इस कर्म का उपदेश देनेवाले **ब्रह्मणे**=वेदज्ञान के लिये **गातुम्**=मार्ग को **ऐरत्**=आक्रान्त करता है (ईर गतौ), अर्थात् जो वेदज्ञान की प्राप्ति के मार्ग पर चलता है, वह शुभ बुद्धि को प्राप्त करता है। इस वेद में प्रभु ने सुमति दी है। इस सुमति को अपनाने में ही कल्याण है। (२) जो इस सुमति को अपनाता है **अस्मै**=इस पुरुष के लिये **विश्वानि सुदिनानि**=सब दिन उत्तम व्यतीत होते हैं। इसके लिये **रायः**=ऐश्वर्य होते हैं, **द्युम्नानि**=इसे ज्ञान-ज्योतियाँ प्राप्त होती हैं। यह **अर्यः**=अपनी इन्द्रियों का स्वामी होता हुआ **दुरः**=सब इन्द्रिय द्वारों को **वि अभिद्यौत्**=विशिष्टरूप से दीप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति सुमति को प्राप्त करके सब दिनों को सुदिन बनाता है, ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है, ज्ञान-ज्योतिवाला होता है, दीप्त इन्द्रिय द्वारोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

कैसा बने?

सेदग्ने अस्तु सुभगः सुदानुर्यस्त्वा नित्येन हविषा य उक्थैः।
पिप्रीषति स्व आयुषि दुरोणे विश्वेदस्मै सुदिना सासदिष्टिः॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सः इत्**=गतमन्त्र के अनुसार वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला वह पुरुष निश्चय से **सुभगः**=उत्तम सौभाग्यवाला **अस्तु**=हो। **सुदानुः**=यह खूब दानवाला हो अथवा वासनाओं का खण्डन करनेवाला हो। **यः**=जो **त्वा**=आपको **नित्येन हविषा**=सदा हवि के द्वारा **पिप्रीषति**=प्रीणित करना चाहता है, वह 'सुभग व सुदानु' हो। (२) **यः**=जो **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा आपको (पिप्रीषति) प्रीणित करता है, वह **स्वे आयुषि**=अपने जीवन में **असत्**=सदा बने रहे, पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करे। वह **दुरोणे**=घर में बना रहे, इसे इधर-उधर भटकना न पड़े। **अस्मै**=इसके लिये **विश्वा इत्**=सब ही **सुदिना**=दिन सुदिन हों। **सा**=वह **इष्टिः**=यज्ञ की **असत्**=फल साधन से सम्पन्न हो।

भावार्थ—प्रभु भक्त सुभग व सुदानु बनता है। दीर्घ जीवन को प्राप्त करता है, इसे भटकना नहीं पड़ता। इसके दिन सुन्दर व्यतीत होते हैं, इसके यज्ञ सफल होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु की वाणी हमारे हृदयों में उच्चरित हो

अर्चामि ते सुमतिं घोष्यर्वाक्सं ते वावाता जरतामियं गीः।
स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेमास्मे क्षत्राणि धारयेरनु द्यून्॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणीमति का **अर्चामि**=अर्चन करता हूँ। **ते**=तेरे **प्रति वावाता**=निरन्तर गति करती हुई **इयं गीः**=हमारी यह वाणी **संजरताम्**=स्तवन करनेवाली हो। आपके स्तवन से ही तो हम इस कल्याणीमति को प्राप्त करनेवाले होंगे। यह वेदवाणी **अर्वाक्** हमारे अन्दर **घोषि**=उच्चारित हो, हम हृदयों में इस वाणी की प्रेरणा को प्राप्त करें। (२) और इस वाणी के अनुसार चलते हुए **स्वश्वाः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले, **सुरथाः**=उत्तम शरीर-रथवाले होते हुए **त्वा**=आपका **मर्जयेम**=अपने हृदयों में शोधन व अलंकरण करें, आपकी ही परिचर्या करें। आप **अस्मे**=हमारे लिये **अनुद्यून्**=प्रतिदिन अधिकाधिक **क्षत्राणि**=बलों को **धारयेः**=धारण करिये। आपकी उपासना से हमारा बल प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता चले।

भावार्थ—प्रभु पूजन करते हुए हम कल्याणीमति को प्राप्त करें। हृदयों में प्रभु का शोधन करते हुए हम प्रतिदिन प्रवृद्ध बलवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

क्रीडन्तः सुमनसः

इह त्वा भूर्या चरेदुप त्मन्दोषावस्तर्दीदिवांसमनु द्यून्।
क्रीळन्तस्त्वा सुमनसः सपेमाभि द्युम्ना तस्थिवांसो जनानाम्॥ ९ ॥

(१) **इह**=इस जीवन में **त्वा**=हे प्रभो! आपको यह जीव **त्मन्**=अपने अन्दर (आत्मनि) **भूर्या**=खूब ही **अनु द्यून्**=प्रतिदिन **उपाचरेत्**=उपासित करे। जो आप **दोषावस्तः**=दिन-रात **दीदिवांसम्**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त हो रहे हैं। यह प्रभु का उपासन ही हमें ज्ञानदीप्त बनाता है। और इस ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करके हम संसार में फँसते नहीं। (२) उस समय **क्रीडन्तः**=संसार में क्रीडा करते हुए, क्रीडक की मनोवृत्ति से चलते हुए, (moving joyfully) **सुमनसः**=उत्तम मनोंवाले होकर **त्वा सपेम**=आपका पूजन करें। हम **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों के **द्युम्ना**=ज्योतिर्मय धनों को **अभि**=लक्ष्य करके **तस्थिवांसः**=स्थित होनेवाले हों। हमारी (faith) आस्था यह हो कि हमने द्युम्नों को प्राप्त करना है, ज्योतिर्मय धनों को, नकि उन धनों को जो कि हमें अन्धा बनाकर कर्त्तव्य विमुख कर देते हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रभु का उपासन करें। संसार में क्रीडक की मनोवृत्ति से अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ज्योतिर्मय धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तस्य त्राता, तस्य सखा (उसका रक्षक, उसका मित्र)

यस्त्वा स्वश्वः सुहिरण्यो अग्न उपयाति वसुमता रथेन।
तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यस्त आतिथ्यमानुषग्जुजोषत्॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यः**=जो **त्वा**=आपको **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनकर तथा **सुहिरण्यः**=उत्तम ज्योतिवाले होकर (हिरण्यं वै ज्योतिः) **वसुमता रथेन**=निवास के लिये सब आवश्यक वस्तुओं से युक्त शरीर-रथ से **उपयाति**=प्राप्त होता है, **तस्य**=उसके आप **त्राता भवसि**=रक्षक होते हैं। **तस्य सखा**=उसके मित्र होते हैं, **यः**=जो कि **ते आतिथ्यम्**=आपके लिये किये जानेवाले आतिथ्य को **आनुषक्**=निरन्तर **जुजोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, अर्थात् जो प्रतिदिन आपका अतिथिरूपेण स्वागत करने के लिये तैयार होता है। आप प्रतिदिन 'ब्रह्ममुहूर्त में आते हैं। यह उससे पूर्व ही उठकर आपके स्वागत के लिये उद्यत होता है। यही आपकी मित्रता

का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्रभु उसके रक्षक होते हैं जो कि प्रभु की क्रियात्मक उपासना करता हुआ अपनी इन्द्रियों व शरीर को ठीक रखता है, ज्ञान को प्राप्त करता है। प्रभु उसके मित्र हैं जो कि प्रतिदिन प्रभु के आतिथ्य के लिये प्रेमपूर्वक उद्यत होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उपासना से प्रभु के बन्धुत्व की प्राप्ति

महो रुजामि बन्धुता वचोभिस्तन्मा पितुर्गोतमादन्वियाय।
त्वं नो अस्य वचसश्चिकिद्धि होतर्यविष्ठ सुक्रतो दमूनाः॥ ११॥

(१) हे **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! **यविष्ठ**=सब बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञा व शक्तिवाले प्रभो! **वचोभिः**=आपके स्तुति-वचनों के द्वारा होनेवाली **बन्धुता**=बन्धुता से मैं **महः**=शक्तिशाली भी राक्षसीभावों को **रुजामि**=भग्न करता हूँ, छिन्न-भिन्न करता हूँ। **तत्**=वह उपासन का भाव **मा**=मुझे **पितुः**=अपने पिता, जो कि **गोतमात्**=अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियोंवाले थे, उनसे **अनु इयाय**=अनुक्रम से प्राप्त हुआ है। मैं जन्म से ही उपासना की वृत्ति को पा सका हूँ। वस्तुतः जो पिता 'गोतम' बनते हैं, उनके सन्तान उपासना की वृत्तिवाले होते ही हैं। (२) **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अस्य वचसः**=इस स्तुति-वचन को **चिकिद्धि**=जानिये। हमारा यह स्तुति-वचन आपको प्राप्त हो। आप **दमूनाः**=(दानमनाः) दान के मनवाले हैं अथवा दान्त मनवाले हैं। आपकी स्तुति करता हुआ मैं दानमनवाला व दान्तमनवाला बनूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके स्तुति-वचनों का उच्चारण करता हुआ मैं आपके बन्धुत्व को प्राप्त करके प्रबल भी राक्षसीभावों को विनष्ट करनेवाला बनूँ। यह उपासन मुझे दान्तमनवाला बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु के बन्धुओं का जीवन (दैव-सर्ग)

अस्वप्नजस्तरणयः सुशेवा अतन्द्रासोऽवृका अश्रमिष्ठाः।
ते पायवः सध्र्यञ्चो निषद्याग्ने तव नः पान्त्वमूर॥ १२॥

(१) हे अमूर! (मूङ बन्धने+रक्) हे अप्रतिहतगते **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तव**=आपके बन्धुभूत **ते**=वे **पायवः**=प्रजाओं के रक्षक लोग **सध्र्यञ्चः**=(सह अञ्चन्ति) प्रजाओं के साथ मिलकर गतिवाले होते हुए **निषद्य**=प्रजाओं में ही स्थित होकर **नः**=हमारा **पान्तु**=रक्षण करें। प्रभु के ये भक्त सर्वभूतहित को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। ये अकेले में समाधि के आनन्द को ही लेते रहना भी ठीक नहीं समझते। (२) ये लोग **अस्वप्नजः**=स्वापशील नहीं होते, **अतन्द्रासः**=इन्हें तन्द्रा व आलस्य नहीं घेरे रहता। ये **तरणयः**=विपत्तियों से तरानेवाले होते हैं, लोगों के कष्टों को दूर करते हैं। **सुशेवाः**=उत्तम कल्याण करनेवाले होते हैं। **अवृकाः**=लोभ से रहित होते हैं, ये अपने सेवाकार्यों के लिये किन्हीं फलों की कामना नहीं करते (वृन्द आदाने) **अश्रमिष्ठाः**=ये थक नहीं जाते। अनथक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु भक्त आलस्यशून्य होकर लोकहित के कार्यों में लगे रहते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मामतेय का रक्षण

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः ॥ १३ ॥

(१) सामान्यतः मनुष्य ममता से ऊपर नहीं उठ पाता। ममता में फँसा हुआ वह तत्त्व को नहीं देख पाता तत्त्वदर्शन के अभाव में, पाप में प्रवृत्त हो जाता है। यह ममता में फँसा व्यक्ति यहाँ ममता का पुत्र 'मामतेय' कहलाया है। तत्त्वदर्शन न करने के कारण यह अन्धा है। गतमन्त्र के ज्ञानी पुरुष इन पुरुषों के लिये ज्ञान को देकर उसे पाप से बचाते हैं। ये **पायवः**=जो रक्षक हैं **ते**=वे **पश्यन्तः**=ज्ञानी पुरुष, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मामतेयम्**=ममता में फँसे हुए मुझ ममता के पुत्र 'पुतले' को, **अन्धम्**=तत्त्वदर्शन करने में असमर्थ हुए-हुए को ज्ञान देकर **दुरितात्**=पाप से **अरक्षन्**=बचाते हैं। (२) **विश्ववेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु **तान्**=उन **सुकृतः**=उत्तम कर्म में व्यापृत लोगों को **ररक्ष**=रक्षित करता है। प्रभु से रक्षित हुए-हुए इनको **दिप्सन्तः**=हिंसित करने की कामनावाले **रिपवः**=शत्रु **इत्**=भी **अह**=निश्चय से **न देभुः**=हिंसित नहीं कर पाते। ये प्रभु का कार्य करते हैं, प्रभु इनका रक्षण करते हैं। इन प्रभु स्मरण करनेवालों को वासनाएँ पीड़ित नहीं कर पातीं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ममता ग्रस्त कर्त्तव्यच्युत लोगों को ज्ञानोपदेश देकर पापों से बचाते हैं। इन ज्ञानियों का रक्षण प्रभु करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—स्वराड्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अनुष्ठुया

त्वया वयं सधन्य१स्त्वोतास्तव प्रणीत्यश्याम वाजान्।
उभा शंसा सूदय सत्यतातेऽनुष्ठुया कृणुह्यह्रयाण ॥ १४ ॥

(१) हे **अह्रयाण**=अह्रीतगमन, अत्यन्त प्रशस्त कार्योंवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वया**=आपकी कृपा से **सधन्यः**=समान धनवाले हों। वस्तुतः हम आपको ही अपना महान् धन जानें। इस सांसारिक धन को आप से ही प्राप्त हुआ-हुआ समझें। हमारे समाज में भी धन की बहुत विषमता न आ जाये। हम बहुत कुछ समान-धन बने रहें। (२) **त्वा**=आपसे **ऊतासः**=रक्षित हुए-हुए **तव प्रणीती**=आपके प्रणयन से हम **वाजान्**=शक्तियों को **अश्याम**=प्राप्त करें। आपका रक्षण हमें वासनाओं से बचाये। आपका मार्गदर्शन हमें मार्ग पर चलाये और इस प्रकार हम शक्ति का लाभ करें। (२) हे **सत्यताते**=सत्य का विस्तार करनेवाले प्रभो! आप हमारे जीवनों में **उभः शंसा**=दोनों शंसनों को **सूदय**=प्रेरित करिये। हम प्रातः-सायं दोनों समय प्रभु का उपासन करनेवाले बनें। वस्तुतः यह उपासन ही हमारे जीवन में सत्य का विस्तार करता है। **अनुष्ठुया कृणुहि**=हे प्रभो! (O, Almighty!) आप हमारे जीवन में प्रत्येक क्रिया को क्रम में होनेवाला करिये। आप 'उरुक्रम' हैं, हम भी क्रम को महत्त्व देनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु द्वारा हम समान धनवाले हों, प्रभु से प्रणीत होते हुए शक्ति को प्राप्त करें। प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करें और क्रम से कार्यों को करते हुए प्रभु के प्रिय हों। हमारा मार्ग अलज्जाजनक हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'द्रोह-निन्दा व अवद्य' से दूर

अया ते अग्ने समिधा विधेम प्रति स्तोमं शस्यमानं गृभाय।
दहाशसो रक्षसः पाह्य१स्मान्द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात्॥ १५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अया समिधा**=इस ज्ञानदीप्ति के द्वारा **ते विधेम**=हम आपका पूजन करते हैं। पृथिवीस्थ पदार्थों का ज्ञान ही प्रथम समिधा है, अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान द्वितीय समिधा तथा द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान ही तृतीय समिधा है। इन समिधाओं के द्वारा हम प्रभु का पूजन करते हैं। (२) हे प्रभो! आप **शस्यमानम्**=हमारे से उच्चारण किये जाते हुए **स्तोमम्**=इस स्तुति समूह को **प्रतिगृभाय**=ग्रहण करिये। हमारे से की जानेवाली स्तुति हमें आपका प्रिय बनाये। (३) **अशसः**=प्रातः-सायं शंसन न करनेवाले और अतएव **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तिवालों को **दह**=आप भस्म कर दीजिये। हमारे जीवन में न शंसन व राक्षसीभाव उत्पन्न हों। हे **मित्रमहः**=मृत्यु व रोगों से बचानेवाले तेजवाले प्रभो (प्रमीतेः त्रायते, महस्=तेजस्) आप **अस्मान्**=हमें **द्रुहः**=द्रोह की भावना से **निदः**=परनिन्दा से तथा **अवद्यात्**=गर्हित कर्मों से **पाहि**=बचाइये। हम द्रोह-निन्दा व पापों से ऊपर उठें।

भावार्थ—प्रभु का पूजन हमें 'द्रोह, निन्दा व गर्हित कर्मों' से दूर करे।

इस सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ था कि राजा राष्ट्र का आन्तरिक व बाह्य शत्रुओं से समुचित रक्षण करे। उस सुरक्षित राष्ट्र में हम प्रभु का उपासन व वेदज्ञान प्राप्त करते हुए सुन्दरतम जीवनवाले बनें। अगले सूक्त में प्रभु का ही आराधन 'वैश्वानर' इस नाम से करते हैं—

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वैश्वानर प्रभु का उपासन

वैश्वानराय मीळ्हुषे सजोषाः कथा दाशेमाग्नये बृहद्भाः।
अनूनेन बृहता वक्षथेनोप स्तभायदुपमिन्न रोधः ॥ १ ॥

(१) **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले, **मीढुषे**=सब पर सुखों का सेचन करनेवाले उस **अग्नये**=अग्रगति के साधक प्रभु के लिये **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवाले हम **कथा**=स्तुति-कथनों के द्वारा, स्तोत्रों के उच्चारण के द्वारा **दाशेम**=अपना अर्पण करते हैं। वस्तुतः घर में सभी को मिलकर उस प्रभु की उपासना करनी चाहिए। यह प्रभु का उपासन ही हमें सब व्यसनों से बचाता है। (२) वे **बृहद्भाः**=अत्यन्त प्रवृद्ध ज्योतिवाले प्रभु **अनूनेन**=किसी भी प्रकार की न्यूनता से रहित **बृहता**=महान् **वक्षथेन**=(by upliftment) विकास के द्वारा **उपस्तभायत्**=हमें थामते हैं। इस प्रकार हमारा धारण करते हैं, **न**=जैसे कि **उपमित्**=(स्थूणा) स्तम्भ **रोधः**=बड़े-बड़े बाँधों को (stoppage) थामनेवाले होते हैं। हमारे जीवनरूप बाँधों के स्तम्भ वे प्रभु हैं। प्रभु की ज्ञान-ज्योति हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाती है। उस ज्ञान-ज्योति से हमारे जीवनों में मलिनताएँ नहीं आतीं। इस प्रकार वे प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—हम वैश्वानर प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें ज्ञान-ज्योति प्राप्त करायेंगे और इस ज्ञान के द्वारा हमारा धारण करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृतो विचेताः

मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान्।
पाकाय गृत्सो अमृतो विचेता वैश्वानरो नृतमो यह्वो अग्निः॥ २॥

(१) **मा निन्दत**=मत निन्दा करो, उस प्रभु की, **यः**=जो **देवः**=प्रकाशमय **स्वधावान्**=आत्मधारण शक्तिवाला प्रभु **पाकाय**=परिपक्तव्य प्रज्ञावाले **मर्त्याय**=मरणधर्मा **मह्यम्**=मेरे लिये **इमां रतिम्**=इस ज्ञान के दान को **ददौ**=देता है। प्रभु ही वस्तुतः ज्ञान को देकर हमारी बुद्धियों का ठीक परिपाक करते हैं। 'ज्ञान की ओर रुचि न करना' ही प्रभु का निन्दन है। (२) वे प्रभु **गृत्सः**='गृणाति' वेदज्ञान का उपदेश करते हैं। **अमृतः**=अमरणधर्मा हैं, **विचेताः**=विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **नृतमः**=सर्वोत्तम नेता हैं। **मह्वः**=महान् हैं। **अग्निः**=गतिशील हैं (अगि गतौ)। वस्तुतः उस प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके हमें भी उस प्रभु जैसा ही बनना है शक्तिशाली दीप्त मस्तिष्क।

भावार्थ—हमें सदा प्रभु का स्तवन करना। वे प्रभु ही ज्ञान देकर हमें परिपक्व प्रज्ञावाला बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मनीषा-साम-वेदवाणी

साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्रेता वृषभस्तुविष्मान्।
पदं न गोरपगूळ्हं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम्॥ ३॥

(१) वे प्रभु **द्विबर्हाः**=ज्ञान व शक्ति दोनों दृष्टिकोणों से बढ़े हुए हैं। **तिग्मभृष्टिः**=तीव्र तेजवाले हैं। शत्रुओं को भून देनेवाली शक्ति से युक्त हैं। **सहस्त्ररेताः**=अपना वीर्य व पराक्रमवाले हैं। **वृषभः**=सर्वश्रेष्ठ हैं। **तुविष्मान्**=(बहुधनः सा०) अनन्त ऐश्वर्यवाले हैं। (२) यह **विष्मान्**=विशिष्ट ज्ञानवाले **अग्निः**=प्रकाशमय प्रभु **गोः**=वेदवाणी के **अपगूढम्**=अत्यन्त रहस्यमय **पदं न**=शब्दों की तरह **मनीषाम्**=बुद्धि को तथा **महि साम**=महनीय साम को, शान्ति प्राप्ति के साधन को **मह्यम्**=मेरे लिये **इत् उ**=निश्चय से **प्रवोचत्**=उपदिष्ट करें। ज्ञान की वाणियों को, बुद्धि को शान्ति को प्राप्त कराके ये प्रभु मुझे भी ज्ञान व शक्ति दोनों के दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ बनाते हैं। इस प्रकार मैं शक्तिशाली व ऐश्वर्यसम्पन्न बन पाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु मुझे ज्ञानवाणी के गूढ़ पदों को, बुद्धि को व शान्ति को प्राप्त करायें। इससे मेरा ज्ञान, बल व ऐश्वर्य बढ़ेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वरुण व मित्र' के प्रिय धामों का अहिंसन

प्र ताँ अग्निर्बभसत्तिग्मजम्भस्तपिष्ठेन शोचिषा यः सुराधाः।
प्र ये मिनन्ति वरुणस्य धाम प्रिया मित्रस्य चेततो ध्रुवाणि॥ ४॥

(१) **यः सुराधाः**=जो उत्तम ऐश्वर्योंवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु है, वह **तिग्मजम्भः**=तीक्ष्ण दष्ट्राओंवाला होता हुआ, न्याय की तीव्र जबड़ोंवाला, **तपिष्ठेन शोचिषा**=संतापक दीप्तियों (ज्वालाओं) से **तान्**=उनको **प्र**=प्रकर्षेण **बभसत्**=भस्म कर देता है, **ये**=जो कि **चेततः**=उस

सर्वज्ञ व चेतानेवाले **वरुणस्य**=पापों से निवारण करनेवाले प्रभु के तथा **मित्रस्य**=स्नेह करनेवाले प्रभु के **प्रिया ध्रुवाणि धाम**=प्रिय ध्रुव (अविनश्वर) तेजों को **प्रमिनन्ति**=हिंसित करते हैं। (२) वरुण व मित्र के प्रिय धामों के हिंसन का अभिप्राय यह है कि वह अपने को पापों से रोकता नहीं और सब के प्रति स्नेहवाला नहीं होता। जो इन प्रिय धामों का हिंसन न करता हुआ अपने को पापों से रोकता है और स्नेह की वृत्ति को अपनाता है वह अवश्य तेजस्वी बनता है। इन धामों का हिंसन करनेवाला प्रभु से दण्डनीय होता है।

भावार्थ—हम पापों का निवारण करते हुए वरुण के प्रिय बनें। सब के साथ स्नेह करते हुए मित्र के प्रिय बनें। निष्पाप व स्नेही बनकर हम प्रभु से दण्ड्य न हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पाप और नरक

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥ ५॥

(१) **अभ्रातरः**=जिनका भरण-पोषण करनेवाला कोई नहीं ऐसी **योषणः नः**=युवतियों के समान **व्यन्तः**=इधर-उधर भटकते हुए तथा **पतिरिपः**=पति से द्वेष करनेवाली **जनयः न**=पत्नियों के समान **दुरेवाः**=बुरे आचरणवाले **पापासः सन्तः**=पापी होते हुए पुरुष **अनृताः**=शरीर-सम्बन्धी क्रियाओं में ऋत का पालन न करते हुए, कामहैतुक क्रियाओं को करते हुए तथा **असत्याः**=असत्य व्यवहारवाले, धनोपार्जन में छलछिद्र से चलनेवाले **इदं गभीरं पदम्**=इस गहरे नरकरूप स्थान को **अजनत**=अपने लिये उत्पन्न करते हैं। इसी गभीर पद को गीता में 'ततो यात्यधमां गतिम्'=इन शब्दों में 'अधम गति' कहा गया है। 'निकृष्ट योनि में जाना या नरक में पड़ना' यही है। (२) जिन युवतियों का कोई रक्षक नहीं होता उनका आचरण विकृत हो ही जाता है। युवावस्था व असहायावस्था उन्हें पाप में धकेल देती है। इसी प्रकार पति द्वेषिणी स्त्री कभी सदाचार सम्पन्न नहीं हो सकती। इनकी तरह इधर-उधर भटकनेवाले व दुराचारी लोग अनृत व असत्य जीवनवाले होते हैं। इन्हें नरक भोगना पड़ता है। ये अधम गति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—अनृत व असत्यमय जीवन के होने पर नरक मिलता है, दुर्गति में जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

विज्ञान-सम्पत्तिमय स्वर्ग

इदं मे अग्ने कियते पावकामिनते गुरुं भारं न मन्म।
बृहद्दधाथ धृषता गभीरं यह्वं पृष्ठं प्रयसा सप्तधातु॥ ६॥

(१) गतमन्त्र में मित्र व वरुण के धाम का हिंसन करनेवाले, अनृत में चलनेवाले व्यक्ति का उल्लेख था। वह नरक व दुर्गति में पड़ता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति वरुण व मित्र के प्रिय धामों का हिंसन नहीं करता वह शुभ मार्ग पर चलता हुआ इतनी सम्पत्ति को प्राप्त करता है कि उसका उठाना भी कठिन-सा होता है। यह कहता है कि हे **पावक**=पवित्र करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अमिनते**=मित्र व वरुण के धाम (तेज) का हिंसन न करनेवाले **मे**=मेरे लिये, **कियते**=जो कि मैं अत्यल्प परिमाणवाला हूँ (मेरा परिमाण है ही कितना?) **इदम्**=इस **गुरुं भारं न**=गुरु भार की तरह **बृहत्**=बहुत अधिक **मन्म**=ज्ञान को **दधाथ**=आप धारण करते हैं। (२) उस ज्ञान को आप मेरे लिये धारण करते हैं, जो ज्ञान **गभीरम्**=अत्यन्त गम्भीर है, तत्त्व का दर्शक है,

यह्वम्=महान् है तथा **पृष्ठम्**=मानव जीवन के लिये पृष्ठ के समान है, धारक है तथा **धृषता प्रयसा**=शत्रुओं के धर्षणशील प्रयत्न के द्वारा **सप्तधातु**=शरीरस्थ सप्त ऋषियों का धारण करनेवाला है। 'सप्तर्षयः प्रतिहिताः शरीरे' शरीरस्थ सात ऋषि 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिकाछिद्र दो आँखें व मुख हैं। प्रभु से दिया हुआ ज्ञान इनका धारण करता है। ये स्वयं ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में दिये गये हैं। ज्ञान प्राप्ति में लगे रहने से ही इनका रक्षण होता है। इस ज्ञान में विचरना ही स्वर्ग में विचरना है 'स्वः गमयति'।

भावार्थ—यदि हम निष्पाप व स्नेह वृत्तिवाले बनते हैं तो प्रभु से हमें वह ज्ञान मिलता है जिससे हम सदा स्वर्ग में विचरते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पवित्र वेदज्ञान

तमिन्न्वे३॒व स॑म॒ना स॑मा॒नम॒भि क्रत्वा॑ पुन॒ती धी॒तिर॑श्याः।
स॒सस्य॒ चर्म॒न्नधि॒ चारु॒ पृश्ने॒रग्रे॑ रु॒प आरु॑पितं॒ जबा॑रु ॥ ७ ॥

(१) **तं इत् नुरव**=गतमन्त्र के अनुसार मित्र और वरुण के प्रिय तेजों का विनाश न करनेवाले थे, अर्थात् स्नेह व निष्पापता की वृत्तिवाले को, अतएव **समानम्**=(सं अनिति) उत्तम प्राणशक्तिवाले को **क्रत्वा**=कर्मों के द्वारा **समना**=सम्यक् प्राणित करनेवाली **धीतिः**=ज्ञानदुग्ध के पान की क्रिया **अभि क्रश्याः**=आभिमुख्येन प्राप्त होती है। यह स्नेह व निष्पापता की वृत्तिवाला ज्ञान को प्राप्त करता है, उस ज्ञान को जो कि उसकी प्राणशक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। (२) यह ज्ञान-ज्योति **ससस्य**=सर्वत्र शयान उस प्रभु की है। प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं, परन्तु वे हमारे हृदयों में प्रसुप्त अवस्था में ही है। उपासना आदि के द्वारा, मस्तिष्क व हृदयरूप अरणियों की रगड़ के द्वारा, वह प्रभु की ज्योति हमारे में जागरित होती है। **पृश्नेः**=यह ज्ञान-ज्योति उस प्रभु की है जो कि ज्योतियों के संस्प्रष्टा हैं। **रूपः**=यह ज्ञान-ज्योति उस प्रभु की है जो कि इसका अग्नि आदि ऋषियों के पवित्र हृदयक्षेत्र में आरोपण करनेवाले हैं। (३) यह ज्ञान-ज्योति **चर्मन् अधि**=चर्म के विषय में, हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाने के विषय में **चारु**=सुन्दर हैं 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'=यह ज्ञान तेरा आन्तर कवच बनता है, मेरी ढाल (चर्म) बनता है। इसके द्वारा मैं वासनाओं के आक्रमण को रोक पाता हूँ। यह **अग्रे आरुपितम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि' आदि के हृदयक्षेत्र में आरोपित हुआ है। **जबारु**=यह जबमानरोहि है, तीव्रगति से उन्नति का साधक है।

भावार्थ—हम स्नेह व निष्पापता की वृत्तिवाले बनेंगे तो प्रभु से पवित्र ज्ञान को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'परम पद प्रापक' वेदज्ञान

प्र॒वाच्यं॒ वच॑सः॒ किं मे॑ अ॒स्य गुहा॑ हि॒तमुप॑ नि॒णिग्व॑दन्ति।
यदु॒स्रिया॑णा॒मप॒ वारि॑व॒ व्रन्पाति॑ प्रि॒यं रु॒पो अग्रं॑ प॒दं वेः ॥ ८ ॥

(१) **मे**=मेरे लिये दिये गये **अस्य वचसः**=इस वेदज्ञानरूप वाणी का **किं प्रवाच्यम्**=कहना ही क्या है? यह तो एक अद्भुत ज्ञान है जो कि **गुहाहितम्**=बुद्धिरूप गुहा में स्थापित किया गया है। इसे **निणिक्**='नितरां नेक्ति शोणयति' अत्यन्त शोधक क्षीर (ज्ञानदुग्ध) **उपवदन्ति**=कहते हैं। (२) **यत्**=जिसको **उस्रियाणाम्**=क्षीर की उत्स्राविणी गौओं के **वाः इव**=रोगनिवारक

(वारयति इति) दूध की तरह **अपव्रन्**=प्रकट करते हैं। इस ज्ञानदुग्ध को वेदवाणीरूप गौ से प्राप्त करते हैं। यह ज्ञानदुग्ध सब मानस आधियों का निवारक होता है, उसी प्रकार निवारक होता है जैसे कि गौवों का दूध शरीर की व्याधियों का। यह ज्ञान **रुपः**=ज्ञान को अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में आरोपित करनेवाले **वे**=गतिशील प्रभु के **अग्रं प्रियं पदम्**=सर्वश्रेष्ठ सर्वानन्दमय पद को **पाति**=हमारे लिये रक्षित करता है। यह ज्ञान हमें उस विष्णु के परम पद को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—यह वेदज्ञान अद्भुत है। यह शोधक है और हमें प्रभु के प्रिय परमपद को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'उपासकों का शक्ति भूत' वेदज्ञान

इदमु त्यन्महि महामनीकं यदुस्रिया सचत पूर्व्यं गौः।
ऋतस्य पदे अधि दीद्यानं गुहा रघुष्यद्रघुयद्विवेद ॥ ९ ॥

(१) **इदम्**=यह गतमन्त्र में वर्णित **त्यत्**=वह वेदज्ञान **उ**=निश्चय से **महित्यन्**=महत्त्वपूर्ण है। यह **महाम्**=(मह पूजायाम्) उपासना की वृत्तिवालों का **अनीकम्**=बल है। यह वह ज्ञान है **यत्**=जिस **पूर्व्यम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले (पूर्वस्मिन् काले भवम्) या पालन व पूरण करने में उत्तम ज्ञान का **उस्रिया**=ज्ञानक्षीर का उत्स्रावण करनेवाली यह **गौः**=वेदवाणीरूप गौ **सचत**=अपने में समवेत करती है। (२) **ऋतस्य पदे**=ऋत के मार्ग में, अर्थात् जहाँ भी ऋत का आचरण होता है, अर्थात् जहाँ सब कार्य ऋतपूर्वक होते हैं, वहाँ **अधिदीद्यानम्**=आधिक्येन दीप्त होते हुए, **गुहा**=हृदय रूप गुहा में **रघुष्यद्**=तीव्र गति से प्रवाहित होते हुए इस वेदज्ञान को **रघुयत्**=शीघ्रता से गति करनेवाला, अपने कर्त्तव्य कर्मों को स्फूर्ति से करनेवाला **विवेद**=जानता है। वेदज्ञान को वह प्राप्त करता है जो कि (क) ऋतपूर्वक आचरण करे, (ख) अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में आलस्य न करे। ऐसे व्यक्ति के हृदय में ही यह प्रादुर्भूत होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को 'उपासक-ऋत का आचरण करनेवाले, कर्त्तव्य कर्मों को अप्रमाद से करनेवाले' प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले ऐसे बन जाते हैं। यह ज्ञान ही उनका बल होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शक्तिशाली-ज्ञानदीप्त-पवित्र

अध द्युतानः पित्रोः सचासामनुत गुह्यं चारु पृश्नेः।
मातुष्पदे परमे अन्ति षद्गोर्वृष्णः शोचिषः प्रयतस्य जिह्वा ॥ १० ॥

(१) **अध**=अब **द्युतानः**=ज्ञान-ज्योति का विस्तार करनेवाला **पित्रोः**=माता-पिता के **सचा**=साथ रहनेवाला यह बालक **आसः**=अपने मुख से **पृश्नेः**=ज्योतियों का स्पर्श करनेवाली इस वेदवाणी रूप गौ के **गुह्यम्**=रहस्यमय या बुद्धिरूप गुहा में स्थापन के योग्य **चारु**=सुन्दर ज्ञानदुग्ध को **अमनुत**=पीने का ध्यान करता है। जिस बालक को माता-पिता का ठीक संरक्षण प्राप्त होता है वह वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध को पीनेवाला बनता है। (२) **मातुः**=इस वेदमाता के **परमे पदे अन्ति षद्**=उत्कृष्ट चरणों के समीप होता हुआ, वेदमाता की उपासना करता हुआ, यह **वृष्णः**=शक्तिशाली **शोचिषः**=ज्ञान दीप्त **प्रयतस्य**=पवित्र प्रभु की **गोः**=वेदवाणी के ज्ञानदुग्ध को **जिह्वा**=जिह्वा से (अमनुत) पीने का ध्यान करता है। इस ज्ञानदुग्ध के पान से ही यह भी शक्तिशाली ज्ञानदीप्त

व पवित्र बन पायेगा। ऐसा बनकर यह प्रभु जैसा ही हो जाएगा।

भावार्थ—वेदवाणी के ज्ञानदुग्ध के पान से मैं शरीर में शक्तिशाली, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त व हृदय में पवित्र बनूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानम् अगर्वम्

ऋतं वोचे नमसा पृच्छ्यमानस्तवाशसा जातवेदो यदीदम्।
त्वमस्य क्षयसि यद्ध विश्वं दिवि यदु द्रविणं यत्पृथिव्याम्॥ ११॥

(१) ज्ञानी पुरुष कहता है कि **पृच्छ्यमानः**=औरों से प्रश्न किया जाता हुआ कि 'यह ज्ञान तुम्हें कहाँ से प्राप्त हुआ?' **नमसा**=नम्रता से **ऋतं वोचे**=सत्य-सत्य यही कहता हूँ यदि **इदम्**=यदि यह ज्ञान मेरे में है तो **तव आशसा**=हे प्रभो! आपकी स्तुति के द्वारा ही है, अर्थात् प्रभु की उपासना से ही यह ज्ञान प्राप्त हुआ है 'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्'। (२) वस्तुतः हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **अस्य**= इसका **क्षयसि**=ऐश्वर्य करनेवाले हैं, इस ज्ञान धन के मालिक आप ही हैं। **यद्**=जो **ह**=निश्चय से **विश्वम्**=सम्पूर्ण **दिवि**=द्युलोक में, मस्तिष्क में ज्ञानरूप **द्रविणम्**=धन है और **यत्**=जो **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी में, शरीर में शक्तिरूप धन है उस सब के आप ही ईश्वर हैं 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि' 'बलं बलवतां चाहम्'।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ज्ञान का गर्व न करता हुआ उसे प्रभु का ही ऐश्वर्य मानता है। इसे न ज्ञान का गर्व होता है न शक्ति का। यह दोनों को ईश्वर प्रभु का जानता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रविण व रत्न

किं नो अस्य द्रविणं कद्ध रत्नं वि नो वोचो जातवेदश्चिकित्वान्।
गुहाध्वनः परमं यन्नो अस्य रेकु पदं न निदाना अगन्म॥ १२॥

(१) **नः**=हमारे **अस्य**=इस जीवन का **किं द्रविणम्**=क्या द्रविण है, जीवनयात्रा की पूर्ति का साधनभूत धन क्या है। **कद् ह**=और क्या निश्चय से रत्न है, इसे रमणीय बनानेवाली वस्तु है? यह बात, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **नः विवोचः**=हमारे लिये आप उपदिष्ट करिये। (२) **चिकित्वान्**=ज्ञानी आप **नः**=हमारे लिये **यत्**=जो **अस्य अध्वनः**=इस मार्ग का **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट रूप है, उसे **गुहा**=हमारी बुद्धिरूप गुहा में (विवोचः) प्रतिपादित करिये। आप से मार्ग को जानकर, उस पर चलते हुए, हम यात्रा पूर्ति के साधनभूत 'द्रविणों व रत्नों को प्राप्त करें।' कहीं ऐसा **न**=न होकि अज्ञानवश **रेकु पदम्**=रिक्त मार्ग पर ही हम **अगन्म**=भटकते रहें और **निदानाः**=लोगों से निन्दमग्र हों, लोक निन्दा के पात्र न बन जाएँ। ज्ञान को प्राप्त करके ठीक ही मार्ग पर चलें। द्रविणों व रत्नों को प्राप्त करके यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करें।

भावार्थ—वस्तुतः 'द्रविण व रत्न क्या हैं?' प्रभु इसका हमें ज्ञान दें। उनकी प्राप्ति के साधनभूत मार्ग का भी ज्ञान दें। ताकि हम उस मार्ग पर चलते हुए द्रविणों व रत्नों को प्राप्त करके यात्रा को ठीक से पूरा कर पायें, भटकते ही न रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मर्यादा-प्रज्ञान व सुन्दर दिव्यगुण

का मर्यादा वयुना कद्ध वाममच्छा गमेम रघवो न वाजम्।
कदा नो देवीरमृतस्य पत्नीः सूरो वर्णेन ततनन्नुषासः॥ १३॥

(१) हे प्रभो! आप ही हमें यह बतायेंगे कि **का मर्यादा**=हमारे जीवन में क्या मर्यादाएँ हैं, किन नियमों में हमें चलना है? इसी प्रकार **(का) वयुना**=क्या प्रज्ञान हैं, किन चीजों को हमें जानना है? **कत् ह वाम**=और क्या निश्चय से सुन्दर है? सुन्दर दिव्य गुण कौन-कौन से हैं? ताकि हम **अच्छा गमेम**=उनकी ओर चलनेवाले हों। उसी प्रकार **न**=जैसे कि **रघवः**=शीघ्रगामी घोड़े **वाजम्**=संग्राम की ओर चलते हैं। मर्यादाओं को, प्रज्ञानों को व सुन्दर दिव्य गुणों को जानकर उनको प्राप्त करने के लिये हम यत्नशील हों हमारा जीवन मर्यादित हो, हम प्रज्ञानवाले हों, दिव्यगुण सम्पन्न बनें। (२) **कदा**=कब हमारा यह सौभाग्य होगा कि **वः**=हमारे लिये **देवीः**=प्रकाशमयी **अमृतस्य पत्नीः**=नीरोगता की रक्षिका **सूरः**=शक्तियों को उत्पन्न करनेवाली (प्रसवित्र्यः) **उषासः**=उषाएँ वर्णेन **ततनन्**=प्रभु के गुणवर्णन के साथ हमारी शक्तियों के विस्तार को करेंगी? हम उषाकाल में स्वाध्याय व चिन्तन के द्वारा जीवन को प्रकाशमय बनायें, प्राणायाम व आसनों के द्वारा शरीर व मन को स्वस्थ व नीरोग बनायें। प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए अपने अन्दर उत्तम गुणों को उत्पन्न करें।

भावार्थ—प्रभु हमें मर्यादाओं, प्रज्ञानों व सुन्दर दिव्य गुणों का ज्ञान दें। हमारे लिये उषाकाल प्रकाशमय-नीरोगता को देनेवाले व शक्ति को उत्पन्न करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अनिर वचस् का परिणाम

अनिरेण वचसा फल्ग्वेन प्रतीत्येन कृधुनातृपासः।
अधा ते अग्ने किमिहा वदन्त्यनायुधास आसता सचन्ताम्॥ १४॥

(१) **अनिरेण**=न उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले **वचसा**=वचन से **अतृपासः**=अतृप्ति को अनुभव करनेवाले लोग **असता**=असत् कार्यों से **आसचन्ताम्**= समवेत हों, युक्त हों। जिस समय मनुष्य को उत्कृष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त होता, तो वह व्यर्थ समय को नष्ट करनेवाले उत्तेजक साहित्य को पढ़कर क्षणिक आनन्द को प्राप्त करके भी, किसी उत्कृष्ट प्रेरणा के न मिलने से असत् कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए ज्ञान वही ठीक है जो कि उत्कृष्ट प्रेरणा को दे। इसके विपरीत साहित्य 'असत्' है। **फल्ग्वेन**=वह तो व्यर्थ व निःसार है। **प्रतीत्येन**=(प्रति न) विरुद्ध मार्ग पर ले जानेवाला है। **कृधुना**=अल्प है, मनोवृत्ति को व दृष्टिकोण को संकुचित बनानेवाला है। ऐसे ज्ञान से सन्तोष व तृप्ति का अनुभव नहीं हो सकता। (२) ऐसे न उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले, निस्सार, विरुद्ध मार्ग पर ले जानेवाले अल्प ज्ञान से अतृप्त वे लोग **अधा**=अब, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इह**=इस जीवन में, **ते**=आपका **किम्**=क्या **आवदन्ति**=चर्चण करते हैं? वे आपकी चर्चा न कर व्यर्थ की सांसारिक बातों में उलझे रहते हैं। **अनायुधासः**=इस संसार संग्राम में काम-क्रोध आदि से लड़ने के लिये उन्हें उत्तम ज्ञान शस्त्र प्राप्त नहीं होता। वे आयुध रहित होते हुए इनके शिकार हो जाते हैं और असत् कार्यों में प्रवृत्त होते रहते हैं।

भावार्थ—उत्कृष्ट वेदज्ञान न प्राप्त होने पर व्यर्थ के उत्तेजनात्मक साहित्य में उलझे हुए लोग

उत्कृष्ट प्रेरणा न मिलने से भटक जाते हैं। वे असत् मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के तेज से शोभा की प्राप्ति

अस्य श्रिये समिधानस्य वृष्णो वसोरनीकं दम आ रुरोच।
रुशद्वसानः सुदृशीकरूपः क्षितिर्न राया पुरुवारो अद्यौत्॥ १५ ॥

(१) **अस्य**=इस **समिधानस्य**=हृदय देश में दीप्त होते हुए **वृष्णः**=शक्तिशाली **वसोः**=हम सबके निवास के कारणभूत प्रभु का **अनीकम्**=तेज (brightness) **दमे**=इस शरीर-गृह में **आरुरोच**=समन्तात् दीप्त होता है। यह प्रभु के तेज का दीप्त होना ही **श्रिये**=इस की श्री के लिये होता है। जो श्री है वह उस प्रभु के तेज के अंश से ही तो उत्पन्न हुई है 'यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश संभवम्'। (२) वे प्रभु **रुशत्**=देदीप्यमान हैं, **वसानः**=सब को बसानेवाले हैं, **सुदृशीकरूपः**=उत्तम दर्शनीय रूपवाले हैं। वे प्रभु **पुरुवारः**= बहुतों से वरणीय हैं, अर्थात् अनन्तः सभी प्रभु का वरण करते हैं। अथवा अनन्त वरणीय वस्तुओंवाले हैं। **अद्यौत्**=वे प्रभु हमारे अन्दर दीप्त होते हैं। वे प्रभु इस प्रकार हमारे अन्दर दीप्त होते हैं **न**=जैसे कि **राया**=धन से **क्षितिः**=इस पृथिवी पर निवास करनेवाला मनुष्य शोभा वाला होता है। धन से मनुष्य धन्य बनता है, तो सब धनों के ईश्वर उस पुरुवार प्रभु से तो वह कितनी ही अधिक शोभावाला होगा।

भावार्थ—प्रभु का तेज हमारे में दीप्त होता है तो हम शोभा ही शोभावाले हो जाते हैं।

सूक्त का भाव यह है कि हम वैश्वानर प्रभु का उपासन करें। प्रभु से वेदज्ञान को प्राप्त करके तदनुसार आचरण करते हुए हम प्रभु के तेज से अपने जीवन को दीप्त करें। अगले सूक्त में भी प्रभु का ही अग्नि नाम से स्मरण है—

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'यजीयान्' प्रभु

ऊर्ध्व ऊ षु णो अध्वरस्य होतरग्ने तिष्ठ देवताता यजीयान्।
त्वं हि विश्वमभ्यसि मन्म प्र वेधसश्चित्तिरसि मनीषाम्॥ १ ॥

(१) हे **अध्वरस्य होतः**=हमारे जीवनयज्ञ के होता **अग्ने**=प्रभो! आप **नः**=हमारे जीवनों में **उ**=निश्चय से **ऊर्ध्वः सुतिष्ठ**=उन्नत होकर स्थित होइये। हम जीवन में सर्वोपरि स्थान आपको ही दें। आप से प्राप्त शक्ति से ही यह जीवन-यज्ञ पूर्ण होता है। **देवताता**=दिव्यगुणों के विस्तार के निमित्त **यजीयान्**=आप ही उपास्य हैं। आपकी उपासना ही हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का वर्धन होता है। (२) **त्वं हि**=आप ही **विश्वं मन्म**=सम्पूर्ण इच्छाओं (मन्म desires) को **अभि असि**=अभिभूत करनेवाले हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति के होने पर संसार के सब पदार्थों की इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'। हे प्रभो! आप अपनी प्राप्ति के द्वारा **वेधसः चित्**=ज्ञानी की भी **मनीषाम्**=बुद्धि को **तिरसि**=बढ़ाते हैं। प्रभु हमारी सांसारिक इच्छाओं को प्रबल नहीं होने देते और हमारी बुद्धि को सूक्ष्म करते हैं।

भावार्थ—हम जीवन-यज्ञ में प्रभु को सर्वोपरि स्थान दें। यही दिव्यगुणों के विस्तार का मार्ग है। प्रभु ही सांसारिक इच्छाओं को अभिभूत करके हमारी बुद्धियों को विकसित करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

द्युलोक में 'धूम' स्तम्भन

अमूरो होता न्यसादि विक्ष्वग्निर्मन्द्रो विदथेषु प्रचेताः।
ऊर्ध्वं भानुं सवितेवाश्रेन्मेतेव धूमं स्तभायदुप द्याम्॥ २॥

(१) वे प्रभु **अमूरः**=अमूढ़ व सर्वज्ञ हैं। **होता**=सब पदार्थों के देनेवाले हैं। **विक्षु न्यसादि**=सब प्रजाओं में प्रभु स्थित हैं। सब में स्थित होकर सबके जीवन-यज्ञों को वे प्रभु ही चला रहे हैं। **अग्निः**=वे अग्रणी हैं, **मन्द्रः**=आनन्द को प्राप्त करानेवाले हैं। **विदथेषु**=ज्ञान यज्ञों में **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञान देनेवाले हैं। (२) **सविता इव**=सूर्य की तरह **भानुम्**=दीप्ति को **ऊर्ध्वं अश्रेत्**=उत्कृष्ट रूप में आश्रय करनेवाले हैं। और **मेता इव**=एक स्तम्भ की तरह **उपद्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **धूमम्**=सब वासनाओं को कम्पित करके विनष्ट करनेवाले ज्ञान को **स्तभायत्**=थामनेवाले हैं। प्रभु हमें वह ज्ञान प्राप्त कराते हैं, जो ज्ञान हमारी वासनाओं को विनष्ट करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। ज्ञान द्वारा हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पशुओं का उत्कृष्ट अञ्जन

यता सुजूर्णी रातिनी घृताची प्रदक्षिणिद्देवतातिमुराणः।
उदु स्वरुर्नवजा नाक्रः पश्वो अनक्ति सुधितः सुमेकः॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से दी जानेवाली ज्ञानदीप्ति **यता**=संयमवाली है, यह हमारे जीवन को संयमवाला बनाती है। **सुजूर्णी**=यह वासनाओं को जीर्ण करनेवाली है। ज्ञान से वासनाएँ दग्ध होती ही हैं। यह **रातिनी**=दान की वृत्तिवाली है। ज्ञान को प्राप्त करके हम दानशील बनते हैं। **घृताची**=यह हमारे लिये मलों का क्षरण करनेवाली है, मलों को हमारे से दूर करनेवाली है और दीप्ति को देनेवाली है। (२) इस वेदवाणी को अपनानेवाला व्यक्ति **प्रदक्षिणित्**=(प्र-दक्षिण-इ 'गतौ') प्रकृष्ट सरल व उदार मार्ग से चलनेवाला है (दक्षिणे सरलो दारौ)। **देवतातिं उराणः**=यह यज्ञों का विस्तार करता है। **उ**=और निश्चय से **स्वरुः**=(स्व शब्दे) प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला होता है, **नवजाः न**=नव उत्पन्न के समान, एकदम अजीर्ण के समान **अनक्तः**=आक्रमण करनेवाला, मार्ग पर आगे बढ़नेवाला होता है। **सुधितः**=(सुहितः) उत्तम तृप्ति का अनुभव करता हुआ, **सुमेकः**=प्रत्येक कार्य को उत्तमता से करता हुआ **पश्वः**=काम-क्रोध-लोभ आदि पशुओं को **उद् अनक्ति**=उत्कर्षेण प्राप्त करनेवाला होता है। इनको पूर्ण रूप से अपने वश में रखता हुआ इन्हें किसी भी प्रकार हानिकर नहीं होने देता। वशीभूत काम से यह वैदिक कर्मयोग की कामनावाला होता है। वशीभूत क्रोध से यह पापों को अपने से दूर रखता है और वशीभूत लोभ से यह ज्ञान को अधिकाधिक प्राप्त करता हुआ भी तृप्त नहीं हो जाता।

भावार्थ—प्रभु से दी गई वेदवाणी हमारे जीवनों को दिव्य जीवन बना देती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञान विस्तार व वासना क्षय

स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्ना ऊर्ध्वो अध्वर्युर्जुजुषाणो अस्थात्।
पर्यग्निः पशुपा न होता त्रिविष्ट्येति प्रदिव उराणः॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणी को अपनाने पर जीवन पवित्र बनता है। उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन के **स्तीर्णे**=बिछाने पर **अग्नौ समिधाने**=उस आसन पर उस अग्रणी प्रभु के दीप्ति के साथ विराजमान होने पर, अर्थात् पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर यह उपासक **ऊर्ध्वः**=सदा ऊपर स्थित होता है, आलस्य से खाट पर नहीं पड़ा रहता। यह **अध्वर्युः**=यज्ञों को अपने साथ विनियुक्त करनेवाला **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक उन यज्ञों का सेवन करता हुआ **अस्थात्**=स्थित होता है। (२) जब इस प्रकार यह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में प्रवृत्त होता है, तो उस समय **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **पशुपाः न**=ग्वाले के समान **परि**=इसका चारों ओर से रक्षण करते हैं। वस्तुतः हम गौओं के समान होते हैं, प्रभु ग्वाले के रूप में हमारे रक्षक होते हैं। यह प्रभु से रक्षित व्यक्ति **होता**=यज्ञशील होता है। **त्रिविष्टि एति**=शरीर, मन, बुद्धि तीनों का व्यापन करता हुआ गति करता है। **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानों को **उराणः**=विस्तृत करता हुआ होता है। यह ज्ञान का विस्तार ही वासनाओं के लाघव का साधन बनता है जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वासनाएँ समाप्त होती जाती हैं।

भावार्थ—आदर्श जीवन यही है कि ज्ञान का विस्तार करते हुए हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ। उस हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मधुवचा ऋतावा

परि त्मना मितद्रुरेति होताग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा।
द्रवन्त्यस्य वाजिनो न शोका भयन्ते विश्वा भुवना यदभ्राट् ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र का ज्ञान विस्तार करनेवाला व्यक्ति **त्मना**=उस आत्मा के साथ, अर्थात् प्रभु का विस्मरण न करता हुआ **मितद्रुः**=नपी-तुली गतिवाला होता हुआ **परि एति**=अपने कर्त्तव्य कर्मों में गतिवाला होता है। **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। **अग्निः**=प्रगतिशील, **मन्द्रः**=आनन्दमय स्वभाववाला, **मधुवचाः**=मधुर वचनोंवाला व **ऋतावा**=ऋत का पालन करनेवाला होता है। सब कार्यों को यह ठीक समय व ठीक स्थान पर करता है। (२) **अस्य शोकाः**=इसकी ज्ञानदीप्तियाँ (शुच दीप्तौ) **वाजिनः न**=शक्तिशाली अश्वों की तरह **द्रवन्ति**=गतिवाली होती हैं। इसके ज्ञान का प्रकाश चारों ओर फैलता है और उस ज्ञान के अनुसार इसकी सब क्रियाएँ होती हैं। इन ज्ञानपूर्वक क्रियाओं से **यद्**=जब यह **अभ्राट्**=चमकता है तो **विश्वाभुवना**=सब लोक **भयन्ते**=इससे भयभीत होते हैं। इस को कोई भी अभिभूत नहीं कर पाता। यह अपराजित होता है।

भावार्थ—हम नपी तुली गतिवाले बनें। ज्ञानपूर्वक गति करते हुए सदा अपराजित हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

भद्रा संदृक्

भद्रा ते अग्ने स्वनीक सन्दृग्घोरस्य सतो विषुणस्य चारुः।
न यत्ते शोचिस्तमसा वरन्त न ध्वस्मानस्तन्वी३ रेप आ धुः ॥ ६ ॥

(१) गतमन्त्र के 'मितद्रु' के लिये ही कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील **स्वनीक**=उत्तम तेजस्वितावाले (अनीक=extreme brightness) जीव! **घोरस्य सतः**=अपनी तीव्र ज्योति के कारण शत्रुओं के लिये भयंकर होते हुए भी तेरी **संदृक्**=दृष्टि **भद्रा**=कल्याणकारिणी है।

विषुणस्य=चारों ओर व्याप्त होनेवाली ज्योतिवाले तेरी दृष्टि **चारुः**=रमणीय है, अर्थात् शत्रु भयंकर ज्ञान–ज्योतिवाला यह पुरुष कल्याणकारिणी रमणीय दृष्टि से ही सबको देखता है। (२) **यत्**=जो **ते**=तेरी **शोचिः**=ज्ञानदीप्ति है, उसे कोई भी **नमसा**=अन्धकार से **न वरन्त**=आच्छादित करनेवाले नहीं होते, अर्थात् इसका ज्ञान वासनान्धकार से आवृत नहीं हो जाता। तथा **ध्वस्मानः**=ध्वंसक वृत्तिवाले राक्षसी भाव **तन्वी**=इसके शरीर में **रेपः न आधुः**=दोषों का आधान नहीं करते, अर्थात् इसका शरीर रोगादि से आक्रान्त नहीं होता और मन वासनाओं से अभिभूत नहीं होता।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष तेजस्वी व शत्रु भयंकर होता हुआ कल्याणकारिणी व रमणीय दृष्टि से सब को देखता है। इसका ज्ञान वासनान्धकार से आवृत नहीं होता और इसका शरीर नीरोग बना रहता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अविहत शक्तिवाले प्रभु

न यस्य सातुर्जनितोरवारि न मातरापितरा नू चिदिष्टौ।
अधा मित्रो न सुधितः पावकोऽग्निर्दीदाय मानुषीषु विक्षु॥ ७॥

(१) **यस्य**=जिस **जनितोः**=सर्वोत्पादक उस प्रभु का **सातुः**=दान **न अवारि**=रोका नहीं जा सकता, **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **मानुषीषु विक्षु**=मानव प्रजाओं में **दीदाय**=दीप्त होते हैं। **नु चित्**=शीघ्र ही **इष्टौ**=(इष प्रेरणे) उस प्रभु के प्रेरण में चलते हुए **मातरा पितरा**=द्यावापृथिवी न (अवारि) किसी से रोके नहीं जा सकते। प्रभु की प्रेरणा में चलते हुए इन द्यावापृथिवी की गति को कोई विहत नहीं कर पाता। (२) **अधा**=अब यह अनिवारित शक्तिवाला प्रभु **मित्रः न**=सबके हित चाहनेवाले के समान **सुधितः**=सब में उत्तमता से स्थापित होता है और **पावकः**=सबको पवित्र करनेवाला है। मित्र का सर्वमहान् कार्य यही है कि वह अपने साथी के जीवन को पवित्र बनाये।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति किसी से विहत नहीं की जाती। वे प्रभु हमारे सच्चे मित्र व हमारे जीवन को पवित्र करनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्राणसाधना-प्रभु दर्शन

द्विर्यं पञ्च जीजनन्त्संवसानाः स्वसारो अग्निं मानुषीषु विक्षु।
उषर्बुधमथर्यो३ न दन्तं शुक्रं स्वासं परशुं न तिग्मम्॥ ८॥

(१) शरीर में 'द्विः पञ्चः'=दस प्राण हैं। ये प्राणायाम के द्वारा निरुद्ध होने पर चित्त की एकाग्रता के द्वारा प्रभु का प्रकाश करनेवाले हैं। सो ये 'स्वः-सारः' आत्मतत्त्व की ओर गतिवाले कहलाते हैं। ये प्राण **संवसानाः**=शरीर में उत्तमता से निवास करते हुए **मानुषीषु विक्षु**=मानव प्रजाओं में **यं अग्निम्**=जिस अग्रणी प्रभु को **जीजनन्**=प्रादुर्भूत करते हैं। (२) इस प्रकार प्रादुर्भूत करते हैं **न**=जैसे कि **अथर्यः**=ज्ञान ज्योतिवाली स्त्रियाँ एक ऐसी सन्तान को जन्म देती हैं जो कि (क) **उषर्बुधम्**=प्रातःकाल प्रबुद्ध होनेवाली है। (ख) **दन्तम्**=(दम्+त) इन्द्रियों का दमन करनेवाली है, (ग) **शुक्रम्**=ज्ञान से दीप्त है, (घ) **स्वासम्**=उत्तम मुखवाली है, सदा शुभ शब्द बोलनेवाली है। (ङ) **परशुं न तिग्मम्**=कुठार की तरह तीव्र है। जैसे एक कुल्हाड़ा वृक्ष को काट डालता है, इसी प्रकार ये वासनावृक्ष को काटनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा प्रभु-दर्शन करनेवाले हों, जैसे कि ज्ञान ज्योतिवाली स्त्रियाँ एक उत्तम सन्तान का दर्शन करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

(देवतातिके लिये प्रार्थना) इन्द्रियाँ

तव त्ये अंग्ने हरितों घृतस्ना रोहितास ऋज्वञ्चः स्वञ्चः।
अरुषासो वृषण ऋजुमुष्का आ देवतातिमह्वन्त दस्माः॥ ९॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **तव**=आपके **त्ये**=वे **हरितः**=इन्द्रियाश्व **घृतस्नाः**=दीप्ति को टपकानेवाले हैं, बड़े दीप्त हैं। **रोहितासः**=तेजस्विता के कारण रक्तवर्ण के हैं। **ऋज्वञ्चः**=सरल गतिवाले हैं, **स्वञ्चः**=उत्तम गतिवाले हैं। **अरुषासः**=ये आरोचमान है, **वृषणः**=शक्तिशाली हैं। **ऋजुमुष्काः**=सरल व शक्तिशाली (straight and strong) हैं। ये **दस्माः**=दर्शनीय इन्द्रियाश्व **देवतातिम्**=दिव्यगुणों के विस्तार को, व यज्ञ को **आ अह्वन्त**=पुकारते हैं। दिव्यगुणों के विस्तार के लिये व यज्ञों के लिये प्रार्थना करते हैं। (२) जिस समय हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानदीप्त आरोचमान होती हैं और कर्मेन्द्रियाँ तेजस्वी, शक्तिशाली होती हैं, उस समय हमारी वृत्ति दिव्यगुणों के विस्तारवाली होती है, हमारा झुकाव यज्ञात्मक कर्मों की ओर होता है।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानदीप्त व तेजस्वी हों। हम दिव्यगुणों के विस्तारवाले व यज्ञिय वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अर्चयः-ज्ञान-ज्योतियाँ

ये ह त्ये ते सहमाना अयासस्त्वेषासो अग्ने अर्चयश्चरन्ति।
श्येनासो न दुंवसनासो अर्थं तुविष्वणसो मारुतं न शर्धः॥ १०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ये**=जो **ह**=निश्चय से **त्ये**=वे प्रसिद्ध **ते**=आपकी **अर्चयः**=ज्योतियाँ हैं, वे **सहमानाः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का अभिभव करनेवाली हैं। **अयासः**=गतिशील हैं, कर्मों में हमें प्रेरित करनेवाली हैं। **त्वेषासः**=दीप्तिवाली हैं। **दुवसनासः**=परिचरणीय हैं, सेवनीय हैं। इन ज्ञान-ज्योतियों को हमें प्राप्त करना ही चाहिए। (२) **श्येनासः न**=तीव्र गतिवाले बाजों की तरह **अर्थं चरन्ति**=अर्थनीय-वाञ्छनीय-वस्तु की ओर गतिवाली होती हैं। शीघ्रता से अर्थ को प्राप्त करानेवाली होती हैं। ये ज्ञान-ज्योतियाँ **तुविष्वणसः**=महान् स्वनवाली होती हैं, खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाली होती हैं। ये **मारुतं शर्धः न**=प्राणों के सैन्य के समान होती हैं। जिस प्रकार शरीर में प्राणों की सेना रोगकृमियों का विनाश करती है, उसी प्रकार ये अर्चियाँ वासनाओं को विदग्ध करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रभु की दी हुई ज्ञान-ज्योतियाँ हमें गतिशील बनाती हैं, हमारे आन्तर शत्रुओं का विनाश करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-स्तवन-यज्ञ

अकारि ब्रह्म समिधान तुभ्यं शंसात्युक्थं यजते व्यू धाः।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्नमस्यन्त उशिजः शंसमायोः॥ ११॥

(१) हे **समिधान**=हृदय देश को दीप्त करनेवाले प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिये **ब्रह्म अकारि**=हमारे से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। ज्ञान ही तो आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है। आपकी प्राप्ति के लिये ही स्तोता **उक्थम्**=स्तोत्र का **शंसाति**=शंसन करता है। इसी उद्देश्य से यजमान **यजते**=यज्ञ करता है। आप **ऊ**=निश्चय से **विधाः**=इन सबके लिये धनों का धारण करते हैं, इनके योगक्षेम को चलाते हैं। (२) **मनुषः**=विचारशील **उशिजः**=प्रभुप्राप्ति की कामनावाले पुरुष **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले **आयोः शंसम्**=मनुष्य के शंसनीय **अग्निम्**=उस प्रभु को **नमस्यन्तः**=पूजित करते हुए **निषेदुः**=उपासना में बैठते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिये (क) ज्ञान, (ख) स्तवन, (ग) यज्ञ साधनरूप हैं। उस प्रभु का प्रतिदिन उपासन करना ही चाहिए।

प्रभु की उपासना से चलनेवाले सुन्दर जीवन का सारे सूक्त में चित्रण है। अगले सूक्त में कहते हैं कि जीवन के सौन्दर्य के लिये प्रभु ही उपास्य है—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धाता-अप्नवान्-भृगु

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥ १॥

(१) **अयम्**=यह, **इह**=इस मानव जीवन में, **प्रथमः**=सर्वश्रेष्ठ (=उत्तम) प्रभु **धातृभिः**=अपने अन्दर सोम का धारण करनेवालों से **धायि**=धारण किया जाता है। सोम (वीर्य) का धारण करनेवाला पुरुष ही उस प्रभु का हृदय देश में दर्शन करनेवाला होता है। यह देखता है कि ये प्रभु ही **होता**=इस सृष्टियज्ञ के होता हैं, वे ही सब कुछ देनेवाले हैं (हु दाने)। **यजिष्ठः**=वे प्रभु ही संगतिकरण योग्य व समर्थनीय हैं, प्रभु के प्रति ही हमें अपना अर्पण कर देना चाहिए। **अध्वरेषु ईड्यः**=वे प्रभु ही हिंसा रहित कर्मों में स्तुति के योग्य हैं। सब अध्वर प्रभु कृपा से ही तो पूर्ण होते हैं। (२) प्रभु वे हैं **यं**=जिनको **अप्नवानः**=कर्मशील-कर्मतन्तु का ताना तानेवाले लोग **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) तपस्या की अग्नि में अपना परिपाक करनेवाले लोग **विरुरुचुः**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं। उस प्रभु को अपने हृदयों में दीप्त करते हैं, जो कि **वनेषु**=उपासकों में (वन संभक्तौ) **चित्रम्**=(चित्) ज्ञान को देनेवाले हैं तथा **विशे विशे**=प्राणिमात्र के लिये, संसार में प्रविष्ट प्रत्येक प्राणी के लिये **विभ्वम्**=व्याप्तिवाले हैं (pervading) अथवा ध्यान करनेवाले हैं (contemplating)। प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं, पर उपासक ही अन्तःस्थित प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति 'धाता, अप्नवान् व भृगुओं' को होती है, सोम (वीर्य) का धारण करनेवाले, क्रियाशील तपस्वी ही प्रभु को देखते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभु का निरन्तर स्मरण (आनुषक् चेतन)

अग्ने कदा त आनुषग्भुवद्देवस्य चेतनम्। अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्वीड्यम्॥ २॥

(१) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **कदा**=जब कभी भी **देवस्य ते**=प्रकाशमय आपका **चेतनम्**=(चिती संज्ञाने) संज्ञान **आनुषक्**=निरन्तर **भुवत्**=होता है, **अधा हि**=तब ही **विक्षु**

ईड्वम्=सब प्रजाओं में उपास्य **त्वा**=आपको **मर्तासः**=मनुष्य **जगृभ्रिरे**=ग्रहण करते हैं। (२) प्रभु के निरन्तर संज्ञान का भाव यह है कि हम जब अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनकर विषयासक्ति से ऊपर उठ जाते हैं तभी प्रभु का ग्रहण होता है। आपत्ति के समय स्वल्पकाल के लिये प्रभु का स्मरण हुआ और फिर उसे भूल गये तो इस प्रकार प्रभु का ग्रहण नहीं होता। यह आर्तभक्त (दु:खी भक्त) प्रभु का अनन्य भक्त नहीं बनता, यह प्रभु का दर्शन भी नहीं कर पाता। ज्ञानी भक्त ही अनन्य भक्ति को करता हुआ प्रभु का ग्रहण करता है। वह प्राणिमात्र में उस 'सम' प्रभु का प्रकाश देखता है 'विद्या विनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'।

भावार्थ—प्रभु का निरन्तर स्मरण ही हमें प्रभु ग्रहण के योग्य बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु ग्रहण किस रूप में ?

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः। विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे ॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि जब प्रभु का निरन्तर संज्ञान होता है तब ये ज्ञानी भक्त प्रभु का दर्शन करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि वे उसे किस रूप में देखते हैं? **ऋतावानम्**=ऋत का रक्षण करनेवाले के रूप में **पश्यन्तः**=देखते हुए होते हैं। प्रभु के निर्मित संसार में प्रत्येक पिण्ड 'ऋत' पूर्वक गति कर रहा है। नाम मात्र भी वहाँ गलती नहीं, सब पिण्ड ठीक समय व ठीक स्थान पर गति में हैं। **विचेतसम्**=हृदयस्थरूपेण वे सभी को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करा रहे हैं। पवित्र हृदय लोग उस ज्ञान का ग्रहण करते हैं, दूसरे नहीं। उस प्रभु को ये इस प्रकार देखते हैं, **इव**=जैसे कि **द्याम्**=द्युलोक को **स्तृभिः**=नक्षत्रों से। नक्षत्र जहाँ दीप्त हो रहे हैं वही द्युलोक है। इसी प्रकार ये सूर्य-चन्द्र-तारे जिसके द्वारा दीप्त किये जा रहे हैं, वे ही प्रभु हैं। इस प्रकार इन पिण्डों में प्रभु की महिमा को देखते हुए वे प्रभु का दर्शन करते हैं। (२) उस प्रभु का दर्शन करते हैं, जो कि **दमे दमे**=प्रत्येक गृह में **विश्वेषां अध्वराणाम्**=सब यज्ञों के **हस्कर्तारम्**=प्रभासक (प्रकाशक) हैं। प्रभु ही सब यज्ञों का ज्ञान देते हैं, वे ही इन यज्ञों के रक्षक (भोक्ता) व स्वामी (प्रभु) हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'।

भावार्थ—प्रभु प्राकृतिक जगत् में ऋत का रक्षण करते हैं, चेतन जगत् में हृदयस्थरूपेण ज्ञान प्राप्त कराते हैं। पिण्ड-पिण्ड में प्रभु की महिमा दिखती है। वे ही सब यज्ञों के भोक्ता व प्रभु हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

विवस्वान् का दूत

आशुं दूतं विवस्वतो विश्वा यश्चर्षणीरभि। आ जभ्रुः केतुमायवो भृगवाणं विशेविशे ॥ ४ ॥

(१) **आयवः**=गतिशील पुरुष उस प्रभु को **आजभ्रुः**=ग्रहण करते हैं **यः**=जो कि **विश्वाः चर्षणीः अभि**=सब मनुष्यों का लक्ष्य करके **केतुम्**=प्रज्ञान को देनेवाले हैं। **आशुम्**=सब में व्याप्त हैं (अशू व्याप्तौ), इसी से **विवस्वतः**=(विवासन वतः) अज्ञान का विवासन (निराकरण) करनेवाले पुरुष के लिये **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं। जो भी व्यक्ति वासनाओं के आवरण को हटाने का प्रयत्न करता है प्रभु उसके लिये ज्ञान को प्राप्त कराते हैं। (२) वे प्रभु तो **विशे विशे**=प्रत्येक प्रजा के लिये **भृगवाणम्**=भृगु की तरह आचरण कर रहे हैं। जैसे आचार्य शिष्य को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करता है, इसी प्रकार वे प्रभु सभी के लिये ज्ञान दे रहे हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु सभी के लिये ज्ञान का सन्देश दे रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सप्त धामभिः

तमीं होतारमानुषक्चिकित्वांसं नि षेदिरे। रण्वं पावकशोचिषं यजिष्ठं सप्त धामभिः॥ ५॥

(१) **ईम्**=निश्चय से **तम्**=उस प्रभु को **आनुषक् निषेदिरे**=निरन्तर उपासित करते हैं। जो कि **होतारम्**=इस सृष्टि यज्ञ के होता हैं, सब कुछ देनेवाले हैं तथा **चिकित्वांसम्**=ज्ञानी हैं। वे प्रभु ही सब जीवों को कर्त्तव्य का ज्ञान देते हैं। (२) **रण्वम्**=वे रमणीय हैं अथवा हृदयस्थरूपेण (रण शब्दे) इस ज्ञान का उच्चारण करनेवाले हैं। **पावक शोचिषम्**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा हमें पवित्र करनेवाले हैं। वे प्रभु **सप्त धामभिः**=योग के सात धामों के द्वारा, 'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान' को तप करने के द्वारा समाधि में **यजिष्ठम्**=संगतिकरण योग्य हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रभु का उपासन करें। यम, नियम आदि का पालन करते हुए प्रभु को पानेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

क्रियाशीलता उपासना

तं शश्वतीषु मातृषु वन आ वीतमश्रितम्। चित्रं सन्तं गुहा हितं सुवेदं कूचिदर्थिनम्॥ ६॥

(१) **तम्**=उस प्रभु को (निषेदिरे)=उपासित करते हैं, जो कि **शश्वतीषु**=प्लुत गतिवाले, स्फूर्ति से कार्य करनेवाले **मातृषु**=निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त लोगों में बने (वननं वनः) उपासना के होने पर **आवीतम्**=प्राप्त हुए-हुए को। प्रभु उन लोगों को प्राप्त होते हैं, जो कि (क) स्फूर्ति से क्रियाओं में प्रवृत्त हैं, आलस्यशून्य हैं। (ख) निर्माण के कार्यों में लगे हुए हैं। (ग) उपासना में प्रवृत्त हैं। (२) उस प्रभु को उपासित करते हैं, जो कि **अश्रितम्**=किसी के आधार से रहनेवाले नहीं, निराधार होते हुए सर्वाधार हैं। **चित्रम्**=ज्ञान को देनेवाले हैं। **सन्तम्**=सत्यस्वरूप हैं। **गुहाहितम्**=बुद्धिरूप गुहा में स्थित हैं। **सुवेदम्**=सब उत्तम वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं (विद् लाभे) **कूचिद् अर्थिनम्**=किसी भी पदार्थ के लिये अभ्यर्थना के योग्य हैं, 'ज्ञान-शक्ति-धन' जो कुछ भी हो सब प्रभु से भोगा जा सकता है।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति उनको होती है जो कि (क) क्रियाशील हों, (ख) निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों, (ग) उपासनामय जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विषय निद्रा त्याग

ससस्य यद्वियुता सस्मिन्नूधन्नृतस्य धामन्रणयन्त देवाः।
महाँ अग्निर्नमसा रातहव्यो वेरध्वराय सदमिदृतावा॥ ७॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **ससस्य यद् वियुता**=निद्रा के जब समाप्त होने पर, नींद से उठ बैठने पर **सस्मिन् ऊधन्**=(सर्वस्मिन्) सम्पूर्ण ज्ञानदुग्ध के आधार के होने पर, वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार को प्राप्त करने पर, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करने पर, **ऋतस्य धामन्**=यज्ञ के स्थान में, यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होने पर **रणयन्त**=उस प्रभु का स्तवन करते हैं (रण शब्दे)। (क) संसार के विषयों में फँसे रहना ही सोये रहना है। इस नींद से जागकर ही हम प्रभु का स्तवन करते हैं। (ख) ज्ञान के अभाव में भी स्तवन सम्भव नहीं। (ग) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होने से ही प्रभु का स्तवन होता है। (२) वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **महान्**=महान् हैं, पूजनीय

हैं। **नमसा**=नमन के द्वारा **रातहव्यः**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले हैं। हम प्रभु का नमन करते हैं, प्रभु हमारे लिये सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। **अध्वराय वेः**=यज्ञों के लिये वे जानेवाले होते हैं (वेः=गन्ता)। जहाँ भी यज्ञ होते हैं, वहाँ प्रभु का निवास होता है। **सदं इत्**=सदा ही वे प्रभु **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्त होते हैं, जब हम (क) विषयनिद्रा से उठ बैठें, (ख) ज्ञानदुग्ध का पान करें, (ग) यज्ञादि में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ के सन्देशवाहक प्रभु

वेर॑ध्व॒रस्य॑ दू॒त्या॑नि वि॒द्वानु॒भे अ॒न्ता रोद॑सी संचिकि॒त्वान्।
दू॒त ई॑यसे प्र॒दिव॑ उरा॒णो वि॒दुष्ट॑रो दि॒व आ॒रोध॑नानि॥ ८॥

(१) वह **विद्वान्**=ज्ञानी प्रभु **अध्वरस्य**=यज्ञ के **दूत्यानि**=दूत कर्मों को **वेः**=(गन्ता) करनेवाला होता है, अर्थात् वे प्रभु सब प्रजाओं के लिये यज्ञों का सन्देश प्राप्त कराते हैं 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः, अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्'। वे प्रभु **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी के **अन्तः**=बीच में, अन्तरिक्ष में मस्तिष्क व शरीर के मध्य हृदयान्तरिक्ष में **संचिकित्वान्**=सम्यक् निवास करनेवाले होते हैं (कित निवासे) हृदय देश ही प्रभु का 'परम परार्ध' है। इस हृदय देश में, हे प्रभो! आप **दूतः ईयसे**=ज्ञान का सन्देश देते हुए गति करते हैं। (२) **दिवः**=स्वर्गलोक के, प्रकाशमय लोक के **आरोधनानि**=आरोहणों को (सीढ़ियों को) **विदुष्टरः**=(विद्वत्तरः) खूब जानते हुए आप **प्रदिवः**=हमारे प्रकृष्ट ज्ञानों को **उराणः**=विशाल करनेवाले हैं। हमारे ज्ञानों को बढ़ाकर आप हमें स्वर्गलोक को प्राप्त करानेवाले हैं। 'प्रदिवः' का भाव 'सनातन काल से' यह भी है। तब वाक्य योजना इस प्रकार होगी कि आप प्राचीनकाल से हमारे हृदयों को विशाल बना रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें हृदयान्तरिक्ष में स्थित होकर यज्ञ का व ज्ञान का सन्देश देते हैं। यह ज्ञान ही हमारे लिये प्रकाशमय लोक का आरोहण बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यत्तदग्रे विषमिव

कृ॒ष्णं त॒ एम॒ रुश॑तः पु॒रो भाश्च॑रि॒ष्ण्व१॒॑र्चिर्वपु॑षा॒मिदेक॑म्।
यदप्र॑वीता॒ दध॑ते ह॒ गर्भं॑ स॒द्यश्चि॑ज्जा॒तो भव॒सीदु॑ दू॒तः॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **रुशतः**=देदीप्यमान **ते**=आपका **एम**=गमनमार्ग **कृष्णम्**=प्रारम्भ में कृष्ण है, शुरू में इस पर चलना बड़ा नीरस व कठिन प्रतीत होता है। परन्तु **पुरः भाः**=आगे प्रकाश है 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' **वपुषाम्**=शरीर धारियों के लिये **चरिष्णु अर्चिः**=यह गतिमय ज्ञानदीप्ति **इत्**=निश्चय से **एकम्**=मुख्य है। आपसे दी जानेवाली ज्ञान-ज्योति कर्मों में प्रेरित करती है, यह अर्चि (ज्ञानदीप्ति) चरिष्णु है। (२) **यत्**=जिन आपको **अप्रवीताः**=(seeds of knowledge not sown) 'जिनमें ज्ञान बीज का वपन नहीं हुआ' वे लोग **ह**=निश्चय से **गर्भं दधते**=अन्दर ही अन्दर धारण करते हैं, वे आप **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए **इत् उ**=निश्चय से **दूतः**=ज्ञान के सन्देशवाहक **भवसि**=होते हैं। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं। परन्तु जब प्रभु का हमारे में प्रादुर्भाव होता है तभी वे हमारे लिये ज्ञान-सन्देश को देते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति का मार्ग प्रथम नीरस, पर पीछे अनुपम रसवाला है। प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभु हमारे लिये ज्ञान सन्देश को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सात्विक आहार

सद्यो जातस्य ददृशानमोजो यदस्य वातो अनुवाति शोचिः।
वृणक्ति तिग्मामतसेषु जिह्वां स्थिरा चिदन्ना दयते वि जम्भैः ॥ १० ॥

(१) **सद्यः जातस्य**=अभी अभी प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभु का **ओजः**=ओज (=तेज) **ददृशानम्**=दर्शनीय होता है। हृदय में प्रभु का आभास होते ही भक्त ओजस्विता का अनुभव करता है। **अस्य शोचिः अनु**=इसकी दीप्ति के अनुसार **यत्**=जब **वातः वाति**=प्राण गति करता है तो **अतसेषु**=(souls) आत्माओं में **तिग्मां जिह्वाम्**=शत्रुओं के लिये अत्यन्त तीक्ष्ण इस ज्ञानाग्नि की ज्वाला रूप जिह्वा को **वृणक्ति**=(gives) देता है। प्रभु अपने उपासक को वह ज्ञान-ज्वाला प्राप्त कराते हैं, जिसमें वह सब शत्रुओं का दहन कर पाता है। (२) उस समय यह उपासक **जम्भैः**=अपने दाँतों से **स्थिरा चित् अन्ना**=स्थिर ही अन्नों को, सात्विक अन्नों को 'रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृषाः आहाराः सात्विक प्रियाः' **विदयते**=(accept) ग्रहण करता है। इस सात्विक अन्न के सेवन से उसकी सत्व शुद्धि होकर, उसका ज्ञान बढ़ता है। इस ज्ञानाग्नि में उनके सब शत्रुओं का दहन् हो जाता है। 'काम-क्रोध-लोभ' के विनाश का यही मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु का आभास होते ही तीव्र ज्ञान-ज्योति प्राप्त होती है। इसमें उसके सब शत्रुओं का दहन हो जाता है। इसके लिये वह सात्विक ही अन्नों का सेवन करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धीमे-धीमे चबाकर-मात्रा में

तृषु यदन्ना तृषुणा ववक्ष तृषुं दूतं कृणुते यह्वो अग्निः।
वातस्य मेळिं सचते निजूर्वन्नाशुं न वाजयते हिन्वे अर्वा ॥ ११ ॥

(१) **यत्**=जब **तृषु**=शीघ्रता के साथ (speedily) **अन्ना**=अन्नों को **तृषुणा**=(by temptation) लालच से **ववक्ष**=अपने अन्दर (वहति) ले जाता है, तो वह **यह्वः**=महान् **अग्नि**=प्रभु **तृषुं दूतम्**=शीघ्र सन्तापयुक्त को **कृणुते**=करता है, अर्थात् भोजन धीमे-धीमे चबाकर खाना चाहिए, और लालच से अधिक न खा जाना चाहिए। धीमे-धीमे चबाकर मात्रा में खाया हुआ अन्न ही सन्तापक नहीं होता। अन्यथा प्रभु व्यवस्था से शरीर में रोग आते ही हैं। (२) यदि वह अन्नों का ठीक सेवन करता है तो **निजूर्वन्**=सब रोगों व वासनाओं को विनष्ट करता हुआ **वातस्य**=निरन्तर गतिवाले उस प्रभु के **मेडिम्**=(संगमक दः) मेल को **सचते**=प्राप्त होता है। यह **अर्वा**=सब वासनाओं का हिंसन करनेवाला होता हुआ **आशुं न**=शीघ्रगामी अश्व के समान **वाजयते**=अपने को शक्तिशाली बनाता है, **च**=और **हिन्वे**=उत्तम मार्ग पर अपने को प्रेरित करता है।

भावार्थ—भोजन को चबाकर मात्रा में खाते हुए हम रोग सन्तापों से अपने को बचाएँ। सब वासनाओं को विनष्ट करते हुए प्रभु से मेलवाले हों। अपने को शक्तिशाली बनाकर आगे बढ़ें।

सूक्त में प्रभु को धारण करने के साधनों का उल्लेख हुआ है। इसी भाव को अगले भी सूक्त में कहते हैं—

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सम्पत्ति व विपत्ति की परीक्षा

दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्। यजिष्ठमृञ्जसे गिरा॥ १॥

(१) **वः**=तुम उपासकों के **दूतम्**=तपस्या की अग्नि में सन्तप्त करनेवाले, धृति की परीक्षा के लिये सन्ताप को प्राप्त करानेवाले उस प्रभु को **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से **ऋञ्जसे**=प्रसाधित करता हूँ। प्रभु अपने भक्तों पर आपत्ति को भेजते हैं, ताकि वे धैर्य के अभ्यास में दृढ़ हो सकें। इस प्रभु को पाने का मार्ग यही है कि हम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें। ज्ञान से ही हमें प्रभु का दर्शन होगा। (२) उस प्रभु का, जो कि **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। आपत्ति की परीक्षाओं में उतीर्ण होने के बाद प्रभु हमें सम्पत्ति की परीक्षा में बैठने का अवसर देते हैं। प्रभु हमें खूब ही सम्पत्ति प्राप्त कराते हैं। और यदि हम उस सम्पत्ति को विषयोपभोग का साधन न बनाकर यज्ञों व लोकहित के कार्यों में विनियुक्त करते हैं तो हम उस परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो जाते हैं। (२) सम्पत्ति को परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाले व्यक्ति 'हव्य' हैं, जिन्होंने लोकहित के कार्यों में अपनी आहुति दी है। प्रभु **हव्य-वाहम्**=इन हव्यों को अपने समीप प्राप्त करानेवाले हैं। और **अमर्त्यम्**=हमें जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठानेवाले हैं। अतएव वे प्रभु **यजिष्ठम्**=अधिक से अधिक उपासनीय हैं, संगतिकरण योग्य हैं व समर्थनीय हैं। 'यज्ञ देव पूजा-संगतिकरण-दानेषु'।

भावार्थ—प्रभु हमें विपत्ति व सम्पत्ति की परीक्षाओं में बिठा के उन्नत करते हैं, अन्ततः हमें जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठाते हैं। इन प्रभु को ज्ञानवाणियों से मैं प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वसु-ज्ञान-दिव्यगुण

स हि वेदा वसुधितिं महाँ आरोधनं दिवः। स देवाँ एह वक्षति॥ २॥

(१) **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **वसुधितिम्**=सब धनों के धारण को **वेद**=जानते हैं। वे प्रभु हमें सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। वे **महान्**=पूजनीय प्रभु ही **दिवः आरोधनम्**=(आरोहणं) प्रकाशमय लोक के आरोहण को (सीढ़ी को) प्राप्त कराते हैं, अर्थात् उस मार्ग का ज्ञान देते हैं, जिस पर चलकर हम उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाने बनते हैं और अन्ततः प्रकाशमय लोक में हमारा निवास होता है। (२) **सः**=वे प्रभु ही सब वसुओं को प्राप्त कराके तथा प्रकाशमय लोक पहुँचने के मार्ग का ज्ञान देकर **इह**=इस जीवन में **देवान्**=सब दिव्य गुणों को **आवक्षति**=प्राप्त कराते हैं। 'निर्धनता व अज्ञान' ये दोनों ही बातें दिव्यगुणों के विकास की विरोधिनी हैं। दिव्य गुणों के विकास के लिये वसुओं की प्राप्ति व ज्ञान आवश्यक हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये वसुओं को प्राप्त कराते हैं, ज्ञान के मार्ग को दिखाते हैं और इस प्रकार हमें दिव्यगुणों के विकास के लिये तैयार कर देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

नम्रता (देवों का मुख्य गुण)

स वेद देव आनमं देवाँ ऋतायते दमे। दाति प्रियाणि चिद्वसु॥ ३॥

(१) **सः देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **देवान्**=दिव्य गुणोंवाले इन पुरुषों को **आनमं वेद**=झुकाना

जानते हैं (आनमयितुं), अर्थात् प्रभु इनमें नम्रता की भावना का संचार करते हैं। दैवी सम्पत्ति की चरम सीमा 'नातिमानिता' ही तो है। अभिमान दैवी सम्पत्ति को आसुरी सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित कर देता है। (२) **ऋतायते**=ऋत को अपनाने की कामनावाले पुरुष के लिये वे प्रभु **दमे**=घर में **चित्**=निश्चय से **प्रियाणि वसु**=प्रिय वसुओं को **दाति**=देते हैं, प्राप्त कराते हैं। ऋत के आचरणवाला पुरुष सब इष्ट वसुओं को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—देवों की दो मुख्य विशेषताएँ हैं—(क) वे नम्र होते हैं, (ख) उनका आचरण ऋतवाला होता है, सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान-सन्देश की प्राप्ति

स होता सेदु दूत्यं चिकित्वाँ अन्तरीयते। विद्वाँ आरोधनं दिवः॥ ४॥

(१) **सः**=वे प्रभु **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। **सः इत् उ**=और वे प्रभु ही **दूत्यम्**=दूत कर्म को **चिकित्वान्**=जानते हुए, ज्ञान-सन्देश को प्राप्त कराने का ध्यान करते हुए **अन्तः ईयते**=हृदय देशों में गति करते हैं। द्यावापृथिवी के मध्य में अन्तरिक्ष में गति का भाव यही है मस्तिष्क व शरीर के मध्य में हृदय देश में गति करना। यहाँ हृदय में गति करते हुए ही वे प्रभु ज्ञान का उपदेश करते हैं। (२) वे प्रभु **दिवः**=प्रकाशमय लोक के **आरोधनम्**=आरोहण को (सीढ़ी का) **विद्वान्**=जानते हैं। प्रभु से इस आरोहण के ज्ञान को प्राप्त करके हम भी स्वर्गलोक में आक्रमणवाले होते हैं।

भावार्थ—वे सब कुछ देनेवाले प्रभु हृदयस्थरूपेण ज्ञान का सन्देश देते हैं, प्रकाशमय लोक में पहुँचने के मार्ग को बतलाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यज्ञ व प्रभु की प्राप्ति

ते स्याम ये अग्नये ददाशुर्हव्यदातिभिः। य ईं पुष्यन्त इन्धते॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से ज्ञान के सन्देश को सुनकर हम **ते**=वे **स्याम**=हों, **ये**=जो **अग्नये**=अग्नि के लिये **हव्यदातिभिः**=हव्य पदार्थों के देने के द्वारा **ददाशुः**=अपना अर्पण करनेवाले होते हैं। यज्ञों में हव्य पदार्थों की आहुति देते हुए ये लोग यज्ञमय जीवनवाले बन जाते हैं। (२) हम वे बनें **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **पुष्यन्तः**=इन यज्ञों से अपना पोषण करते हुए (अपने प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्) **इन्धते**=अपने हृदयों में उस प्रभु को समिद्ध करते हैं। यज्ञों से स्वार्थ वृत्ति विनष्ट होती है और हमें प्रभु का दर्शन होता है। स्वार्थ ही एक ऐसा आवरण है, जो हमें प्रभु दर्शन से वञ्चित करता है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवनवाले बनकर हम अपना पोषण करें और हृदयदेश में प्रभु को समिद्ध करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

राया-सुवीर्यैः

ते राया ते सुवीर्यैः ससवांसो वि शृण्विरे। ये अग्ना दधिरे दुवः॥ ६॥

(१) **ये**=जो पुरुष **अग्ना**=उस परमात्मरूप अग्नि में **दुवः दधिरे**=परिचर्या को करते हैं, अर्थात् जो प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करते हैं **ते राया**=वे धनों से **ससवांसः**=(संभजमानाः)

लोक सेवा के कार्यों में प्रवृत्त हुए **विशृण्विरे**=सुने जाते हैं। **ते**=वे **सुवीर्यैः**=उत्तम पराक्रमों से (ससवांसः विशृण्विरे) लोक सेवा करते हुए सब प्राणियों के हित में लगे हुए सुन पड़ते हैं। (२) प्रभु का उपासक धनों व सुवीर्यों को प्राप्त करता है। पर वह इनका विनियोग दान व रक्षण में करता हुआ सभी का हित करता है। यह अधिक से अधिक प्राणियों का हित करना ही प्रभु का सच्चा सम्भजन है, यही सत्य है, यही धर्म है।

भावार्थ—प्रभु उपासना से धनों व सुवीर्यों को प्राप्त करके हम उनसे लोक सेवा में प्रवृत्त हों और इस प्रकार यशस्वी बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रायः-वाजासः

अ॒स्मे रायो॑ दि॒वेदि॑वे॒ सं च॑रन्तु पुरु॒स्पृहः॑। अ॒स्मे वाजा॑स ईरताम् ॥ ७ ॥

(१) **दिवे दिवे**=प्रतिदिन-दिन दूने रात चौगुने, **रायः**=धन **अस्मे संचरन्तु**=हमें सम्यंक् प्राप्त हों, उत्तम मार्ग से प्राप्त हों। ये धन **पुरुस्पृहः**=पालक और पूरक व स्पृहणीय हों, अर्थात् भोगविलास में व्ययित होते हुए ये नाशक व न्यूनताओं की ओर ले जानेवाले न हों, तथा अवाञ्छनीय न बन जायें। 'दिवे दिवे' का भाव यही है कि मुझे धन प्रतिदिन प्राप्त हों 'getting prosperity continuously' की तरह मुझे प्रतिदिन आवश्यक धन प्राप्त होती रहे, अनावश्यक धन के रक्षण का मुझे बोझ उठाना ही न पड़े। मैं 'उप-मुक्त-धन' ही बनूँ। मुझे 'मुक्त-धन' न बनना हो। (२) हे प्रभो! इन धनों के ठीक प्रयोग से **अस्मे**=हमारे लिये **वाजासः**=शक्तियाँ, **ईरताम्**=प्राप्त हों। हमारा अंग-प्रत्यंग शक्ति सम्पन्न बने।

भावार्थ—हमें पुरुस्पृह धन प्राप्त हों और उनके ठीक विनियोग से हम सर्वाङ्ग सुन्दर सबल शरीरवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्राजापत्य यज्ञ में आहुति

स विप्र॑श्चर्षणी॒नां शव॑सा॒ मानु॑षाणाम्। अति॑ क्षि॒प्रेव॑ विध्यति ॥ ८ ॥

(१) **सः**=वह प्रभु भक्त **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों में **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला (वि+प्रा) होता हुआ **शवसा**=अपने बल व बल सम्पादित कर्मों से **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के सब कष्टों को **क्षिप्रा इव**=क्षेप्य वस्तुओं की तरह, विनष्ट करने योग्य वस्तुओं की तरह **अति विध्यति**=खूब ही दूर करता है। (२) एक प्रभु भक्त पहले अपना पूरण करता है, अपनी कमियों को दूर करता है और अपना ठीक परिपाक करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—हम अपना ठीक परिपाक करके प्राजापत्य यज्ञ (लोक रक्षण) में अपनी आहुति देनेवाले बनें।

सूक्त भाव यही है कि मनुष्य अपने जीवन को उत्कृष्ट बना के प्राजापत्य यज्ञ में आहुति देनेवाला बने। अगले सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्रभु इन देववृत्ति के व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

देवयु को प्रभु की प्राप्ति

अग्ने॑ मृळ म॒हाँ अ॑सि॒ य ई॑मा दे॑व॒युं जन॑म्। इ॒येथ॑ ब॒र्हिरा॒सद॑म्॥ १ ॥

(१) **अग्ने**=हे प्रभो! **मृड**=आप हमारे जीवन को सुखी करिये। **महान् असि**=आप ही महान् हैं, पूजा के योग्य हैं। आपके पूजन से ही मेरा जीवन व्यर्थ की बातों से बचा रहकर सुखी बना रहता है। (२) आप वे हैं **यः**=जो **ईम्**=निश्चय से **देवयुं जनम्**=दिव्य गुणों की प्राप्ति की कामनावाले मनुष्य को **बर्हिः आसदम्**=वासनाशून्य हृदय में बैठने के लिये **इयेथ**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति देवयु पुरुष को ही होती है। दिव्य गुणों की प्राप्ति की कामना मुझे देव बनाकर महादेव के समीप प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु पूजन के द्वारा मैं अशुभ वृत्तियों से बचता हूँ। दिव्य वृत्तिवाला बनकर मैं प्रभु को अपने हृदयासन पर बिठाता हूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'दूडभ' प्रभु

स मानु॑षीषु दू॒ळभो॑ वि॒क्षु प्रा॒वीरम॑र्त्यः। दू॒तो विश्वे॑षां भुवत्॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु पूजन करता हुआ देवयु बनकर मैं प्रभु को अपने हृदयासन पर बिठाता हूँ। उस समय **सः**=वे प्रभु **मानुषीषु विक्षु**=इन मानव प्रजाओं में **दूडभः**=हिंसित होनेवाला नहीं होता। काम-क्रोध आदि राक्षसीभाव प्रभु पर आक्रमण नहीं कर पाते। जब हम प्रभु को अपने हृदय में निवास कराते हैं तो प्रभु की ज्ञानाग्नि में भस्म होने के भय से 'काम' वहाँ आता ही नहीं। इस प्रकार वे प्रभु प्रजाओं में **प्रावीः**=प्रकर्षेण प्राप्त होनेवाले होते हैं, **अमर्त्यः**=उनको मृत्यु व पापों से बचाते हैं, उनको विषयों के पीछे मरनेवाला नहीं होने देते। (२) ये प्रभु **विश्वेषाम्**=सब उपासकों के **दूतः**=ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करानेवाले होते हैं। प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करके ये अपने जीवन को उत्तम बना पाते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमें काम-क्रोध आदि का शिकार नहीं होने देते। हमें ज्ञान का सन्देश देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

होता-पोता

स सद्म॒ परि॑ णीयते॒ होता॑ म॒न्द्रो दिवि॑ष्टिषु। उ॒त पोता॒ नि षी॑दति ॥ ३ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु **सद्म**=शरीरूपी गृह में **परिणीयते**=प्राप्त कराये जाते हैं। उपासक प्रभु को अपने हृदयासन पर बिठाने का प्रयत्न करते हैं। वे प्रभु **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। **मन्द्रः**=आनन्दमय हैं। (२) **उत**=और **दिविष्टिषु**=(दिव्+इष्) ज्ञान की प्रेरणाओं के होने पर **पोता**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हुए **निषीदति**=वे प्रभु हमारे में आसीन होते हैं।

भावार्थ—उपासक का कार्य यह है कि प्रभु को शरीरगृह में प्राप्त कराये। प्रभु का हृदय में ध्यान करे। प्रभु इसे ज्ञान की प्रेरणा देकर पवित्र जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु किस-किस रूप में ?

उत ग्रा अग्निरध्वर उतो गृहपतिर्दमे। उत ब्रह्मा नि षीदति॥ ४॥

(१) **उत**=और **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **ग्राः**='द्वन्द्वांसि वै ग्राः, छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति' (श० ५।५।४।७) छन्दों के रूप में होते हैं। इन छन्दों के रूप में प्रेरणा को देकर वे हमें पापों से बचाते हैं। (२) **उत उ**=और निश्चय से वे प्रभु **दमे**=इस शरीर-गृह में **गृहपतिः**=गृहपति हैं। प्रभु द्वारा ही सब क्रियाओं की व्यवस्था हो रही है। प्रभु ही 'वैश्वानर' अग्नि के रूप में पाचनादि क्रियाओं को भी कर रहे हैं। (३) **उत**=और **ब्रह्मा**=सब वेदों का, ज्ञानवाणियों का ज्ञान देनेवाले होकर **निषीदति**=हमारे हृदयों में निषण्ण होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें पापों से बचाकर जीवन-यज्ञ को चलाते हैं। प्रभु ही हमारे रक्षक हैं। वे ही ज्ञान देनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के प्रिय कौन ?

वेषि ह्यध्वरीयतामुपवक्ता जनानाम्। हव्या च मानुषाणाम्॥ ५॥

(१) हे प्रभो! आप **अध्वरीयताम्**=यज्ञों की कामनावाले पुरुषों की **वेषि**=कामना करते हैं। ये पुरुष ही आपको प्रिय होते हैं। आप **जनानाम्**=(जनी प्रादुर्भावे) अपनी शक्तियों के विकास में लगे हुए पुरुषों के **उपवक्ता**=हृदयस्थ होकर समीप से ज्ञानोपदेश करनेवाले हैं, मार्ग दिखानेवाले हैं। (२) **च**=और आप ही **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के **हव्या**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। हे प्रभो! आप से प्राप्त हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हुए ये अपने मानव जीवन को सफल कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे हृदयस्थ होकर ज्ञानोपदेश देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञशीलता

वेषीद्वस्य दूत्यं१ यस्य जुजोषो अध्वरम्। हव्यं मर्तस्य वोळ्हवे॥ ६॥

(१) हे प्रभो! आप **इत् उ**=निश्चय से **अस्य**=इस पुरुष के **दूत्यम्**=ज्ञान-सन्देश के प्राप्त कराने के काम को **वेषि**=चाहते हैं (कामयसे), अर्थात् उसे ज्ञान प्राप्त कराते हैं, **यस्य**=जिसके **अध्वरम्**=यज्ञ का **जुजोषः**=आप प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष को ही आप ज्ञान प्राप्त कराते हैं। (२) आप इस **मर्तस्य**=यज्ञशील पुरुष के **हव्यं वोढवे**=हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले होते हैं। हम यज्ञशील बनें, प्रभु हमें सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करायेंगे। इन हव्य पदार्थों के सेवन से हमारा जीवन अधिकाधिक पवित्र होता जाएगा।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त करायेंगे और हव्य पदार्थों को हमारे लिये देनेवाले होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अध्वर-यज्ञ-प्रार्थना

अस्माकं जोष्यध्वरमस्माकं यज्ञमङ्गिरः। अस्माकं शृणुधी हवम्॥ ७॥

(१) हे **अंगिरः**=हमारे अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले प्रभो! **अस्माकम्**=हमारे **अध्वरम्**=हिंसारहित कर्मों को **जोषि**=प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। हमारे ये अध्वर हमें आपका प्रिय बनायें। **अस्माकम्**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करिये, हमारे ये यज्ञ (=लोकसंग्रहात्मक कार्य) हमें आपका प्रिय बनायें। (२) **अस्माकम्**=हमारी **हवम्**=पुकार को **शृणुधी**=सुनिये। हमारी प्रार्थना आपसे स्वीकृत हो। हम आपके प्रिय बनें और प्रार्थनीय वस्तु को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—अध्वरों व यज्ञों को अपनाते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें। हमारी प्रार्थना अवश्य पूर्ण हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अहिंसित शरीर-रथ

परि ते दूळभो रथोऽस्माँ अश्नोतु विश्वतः। येन रक्षसि दाशुषः॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपका वह **दूडभः**=हिंसित न होनेवाला **रथः**=शरीर-रथ **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परि अश्नोतु**=व्याप्त करनेवाला हो। हमें वह शरीर-रथ प्राप्त हो जो कि रोगों व वासनाओं से हिंसित नहीं होता। (२) यह शरीर-रथ वह है **येन**=जिससे **दाशुषः रक्षसि**=हे प्रभो! आप दाश्वान् का रक्षण करते हैं, जो भी प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, प्रभु से वह उत्तम शरीर-रथ प्राप्त कराते हुआ अपना रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—उपासक को प्रभु रोगों व वासनाओं से हिंसित न होनेवाला शरीर-रथ प्राप्त कराते हैं।

अगले सूक्त में भी 'अग्नि' नाम से प्रभु का आराधन करते हैं—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तवन द्वारा प्रभु का सान्निध्य

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते**=आपके **ओहैः**=प्राप्त करानेवाले **स्तोमैः**=स्तोमों से **अद्य**=आज **तम्**=उन प्रसिद्ध आपको **ऋध्याम**=हम अपने अन्दर समृद्ध करें। हम आपको अपने हृदयों में स्तोमों के द्वारा बढ़ानेवाले हों। आप की स्तुति करते हुए, उन स्तुति-वाचक शब्दों से प्रेरणा को लेकर वैसे ही बनते हुए, आपको अपने में दीप्त करनेवाले हों। (२) उन आपको हम अपने में समृद्ध करें, जो आप **अश्वं न**=घोड़े के समान हैं। जैसे घोड़ा हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार आप हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। **क्रतुं न**=यज्ञ के समान **भद्रम्**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं। यज्ञ से जीवन नीरोग बनता है, प्रभु की उपासना से भी नीरोगता व निर्मलता प्राप्त होती है। हे प्रभो! आप **हृदिस्पृशम्**=हमारे हृदयों में सम्पर्कवाले हैं। हम हृदयों में ही आपका दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम स्तवन के द्वारा प्रभु की समीपता को प्राप्त करें। प्रभु हमारा कल्याण करनेवाले हैं। हृदयों में हम उस प्रभु का दर्शन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'क्रतु व ऋत के नेता प्रभु'

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अधा हि**=अब निश्चय से **क्रतोः**=हमारे जीवन में यज्ञ के **रथीः**=नेता **बभूथ**=आप होते हैं। आपकी कृपा से हमारा जीवन यज्ञमय बनता है। इस हमारे जीवन में उस यज्ञ के आप नेता होते हैं, जो कि **भद्रस्य**=हमारा कल्याण करनेवाला है, **दक्षस्य**=हमारी betterment (वृद्धि) का कारण है तथा **साधोः**=हमारे सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। (२) इस यज्ञ के साथ आप **बृहतः**=महान् व वृद्धि के कारणभूत **ऋतस्य**=ऋत के आप रथी (नेता) होते हैं। आपके स्तवन से हमारा जीवन ऋतमय बनता है, हम सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाले बनते हैं। यह ऋत हमारी वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन के होने पर हमारा जीवन क्रतु व ऋतवाला होता है। हम जीवन में यज्ञमय बनते हैं और सब कार्यों को ठीक समय पर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्योति-तेज व शोभन मन की प्राप्ति

एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ्स्व१र्ण ज्योतिः। अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **एभिः नः अर्कैः**=इन हमारे अर्चना के साधनभूत मन्त्रों से **नः अर्वाङ् भव**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होनेवाले होइये। आप हमारे लिये **स्वः न ज्योतिः**=सूर्य के समान देदीप्यमान प्रकाश हैं। आपकी उपासना में चलते हुए हम सूर्यसम ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करते हैं। (२) आप **विश्वेभिः अनीकैः**=सब बलों व तेजस्विताओं के द्वारा **सुमनाः**=हमें उत्तम मन को प्राप्त कराते हैं। आपकी उपासना हमें तेजस्विता प्राप्त कराती है। इस तेजस्विता से हम 'सुमना'=उत्तम मनवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासना से हमें ज्ञान, तेजस्विता व उत्तम मन प्राप्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दिवः-शुष्माः

आभिष्टे अद्य गीर्भिर्गृणन्तोऽग्ने दाशेम। प्र ते दिवो न स्तनयन्ति शुष्माः ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अद्य**=आज **आभिः**=इन **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **गृणन्तः**=आपका स्तवन करते हुए **ते दाशेम**=आपके प्रति हम अपना अर्पण करें। वस्तुतः जब एक व्यक्ति अपने जीवन को ज्ञान में लगाता है तो सांसारिक वासनाओं से बचता हुआ वह प्रभु के प्रति झुकाववाला होता है। (२) उस समय **ते**=आपके **शुष्माः**=शत्रु-शोषक बल **स्तनयन्ति**=हमारे अन्दर गर्जना करनेवाले होते हैं, अर्थात् आपसे शक्तियों को प्राप्त करके हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को युद्ध में ललकारनेवाले बनते हैं। ये आपकी शक्तियाँ हमारे जीवनों में इस प्रकार गर्जती हैं **न**=जैसे कि **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश हमारे अन्दर स्तनित हों उठते हैं। विद्युद् गर्जना प्रकाश को लिये हुए होती है, इसी प्रकार ये **शुष्मः**=ज्ञान को लिये हुए होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों से प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं तो प्रभु हमें प्रकाश व बल प्राप्त कराते हैं (दिवः-शुष्माः)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

स्वादिष्ठा संदृष्टि

तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः। श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **तव**=आपकी **संदृष्टिः**=यह कल्याणकारिणी दृष्टि

स्वादिष्ठा=हमारे जीवनों को अत्यन्त मधुर बनानेवाली है। यह आपकी संदृष्टि **इदाचित् अह्नः**=इस समय दिन में, **इदा चित् अक्तोः**=और इस समय रात्रि में **श्रिये**=हमारी शोभा के लिये होती है। आपकी संदृष्टि दिन-रात हमारी श्री का वर्धन करती है। (२) आपकी यह संदृष्टि **उपाके**=हमारे समीप, हमारे हृदयों में **रुक्मः न**=स्वर्ण के समान **रोचते**=दीप्त होती है। हमारा हृदय आपकी इस संदृष्टि से जगमगा उठता है।

भावार्थ—प्रभु की कल्याणी दृष्टि से (क) हमारा जीवन मधुर बनता है, (ख) दिन दूनी रात चौगुनी श्री का वर्धन होता है, (ग) हमारा हृदय स्वर्ण के समान ज्ञान-ज्योति से जगमगा उठता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

निर्दोष शरीर

घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम्। तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ॥ ६ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की 'स्वादिष्ठा संदृष्टि' के प्राप्त होने पर हमारा **तनूः**=शरीर **अरेपाः**=इस प्रकार दोषरहित हो जाता है **न**=जैसे कि **पूतं घृतम्**=शुद्ध किया हुआ घी। उस समय हमारी **हिरण्यम्**=ज्ञान-ज्योति **शुचि**=अत्यन्त शुद्ध होती है। (२) हे **स्वधावः**=(स्व-धाव्) हमारी आत्माओं का शोधन करनेवाले प्रभो! **ते तत्**=आपकी वह ज्ञान-ज्योति **रुक्म न**=स्वर्ण के समान **रोचते**=दीप्त होती है। हमारे जीवनों के सब मलों का हरण करती हुई वह ज्योति सचमुच चमक उठती है।

भावार्थ—प्रभु से प्राप्त करायी गई ज्ञान-ज्योति से हमारा शरीर निर्दोष होकर चमक उठता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दृढ़मूल द्वेष का भी दूरीकरण

कृतं चिद्धि ष्मा सनेमि द्वेषोऽग्न इनोषि मर्तात्। इत्था यजमानादृतावः ॥ ७ ॥

(१) हे **अग्ने**=सब दोषों को दग्ध करनेवाले प्रभो! आप **मर्तात्**=मनुष्य से **कृतं चित्**=किये हुए भी **सनेमि**=पुराने **द्वेषः**=द्वेष को **हि ष्मा**=निश्चय से **इनोषि**=प्रेरित करते हो, दूर भगाते हो (नाशयसि सा०)। कितनी भी द्वेष की भावना पुरानी व दृढ़मूल हो जाये, प्रभु उपासना से वह नष्ट हो जाती है। (२) हे **ऋतावः**=ऋत का रक्षण करनेवाले, अथवा ऋतवाले प्रभो! **इत्था**=सचमुच **यजमानात्**=यज्ञशील पुरुष से आप द्वेष आदि को दूर भगाते हो।

भावार्थ—प्रभु उपासना से दृढ़मूल भी द्वेष नष्ट हो जाते हैं। हम यज्ञशील बनते हैं और जीवन को पवित्र करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

देव सम्पर्क

शिवाः नः सख्या सन्तु भ्रात्राग्ने देवेषु युष्मे। सा नो नाभिः सदने सस्मिन्नूधन् ॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **युष्मे**=आपके **देवेषु**=देववृत्ति के पुरुषों में **नः**=हमारी **सख्या**=मित्रताएँ **शिवा**=कल्याणकर **सन्तु**=हों। इसी प्रकार इन आपके देवों में **भ्रात्रा**=हमारे भ्रातृत्व कल्याण कर हों। हम प्रभु कृपा से देववृत्ति के व्यक्तियों के ही बन्धु व भाई बनें। (२) **सा**=वह **नः**=हमारा **नाभिः**=देवों के साथ सम्बन्ध (णह बन्धने) **सदने**=(उपसदने) उपासना के निमित्त हो अथवा

प्रभुरूप सवन की प्राप्ति का साधन हो। प्रभु ही तो हमारे घर हैं, यहाँ तो जीवनयात्रा पर आये हुए हैं। देवों के सम्पर्क में आने से हम यात्रा को पूर्ण करके प्रभु को पानेवाले बनते हैं तथा **तस्मिन् ऊधन्**=सम्पूर्ण ज्ञानदुग्ध के आधार के निमित्त हो, अर्थात् उस देव सम्बन्ध के द्वारा हम आपकी (प्रभु की) उपासनावाले बनें तथा वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार के ही स्वामी बन जाएँ, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में रहते हुए हम उपासना व ज्ञानवाले बनें। उपासनामय हमारा जीवन हो, सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हम बनें।

इसी अग्नि से अगले सूक्त में भी प्रार्थना करते हैं—

द्वितीयोऽनुवाकः

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भद्रं 'अनीकम्'

भद्रं ते अग्ने सहसिन्ननीकमुपाक आ रोचते सूर्यस्य।
रुशद् दृशे ददृशे नक्तया चिदरूक्षितं दृश आ रूपे अन्नम् ॥ १ ॥

(१) हे **सहसिन्**=बलवन्! **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ते अनीकम्**=आपका तेज **भद्रम्**=कल्याणकर है। **सूर्यस्य उपाके**=सूर्य की समीपता में **आ रोचते**=आपका ही तेज चमकता है, अर्थात् आपके तेज से ही दीप्त होकर यह सूर्य चारों ओर प्रकाश कर रहा है। (२) सूर्य दिन में ही प्रकाश करता है, पर (क) आपका **रुशत्**=चमकीला **दृशे**=दर्शनीय यह तेज **नक्तया चित्**=रात्रि में भी **ददृशे**=प्रकाश को करनेवाला होता है। (ख) **अरूक्षितम्**=आपका यह तेज रूक्ष नहीं। अन्य तेज स्निग्धता को नष्ट करके रूक्षता को पैदा करते हैं। आपका यह तेज अरूक्षित व स्निग्ध है, स्निग्धता का यह तेज वर्धन करनेवाला है। (३) **दृशे**=यह दर्शनीय तेज **आरूपे**=समन्तात् रूप के निमित्त शोभा के निमित्त **अन्नम्**=अन्न होता है। जैसे अन्न से शरीर रूपवान् होता है, स्वाध्याय से मस्तिष्क श्री सम्पन्न बनता है, उसी प्रकार उपासना से यह दर्शनीय तेज प्राप्त होता है जो कि हृदय को उत्तम रूपवाला (=श्री सम्पन्न) बना देता है।

भावार्थ—उपासना के द्वारा हम प्रभु के उस तेज को प्राप्त करते हैं जो कि हमें सदा 'प्रकाशमय स्निग्ध व श्री सम्पन्न' बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमहः, भूरि मन्म

वि षाह्यग्ने गृणते मनीषां खं वेपसा तुविजात स्तवानः।
विश्वेभिर्यद्वावनः शुक्र देवैस्तन्नो रास्व सुमहो भूरि मन्म ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **गृणते**=स्तवन करनेवाले के लिये **मनीषाम्**=बुद्धि को **विषाहि**=(षिष्य-विमुञ्च, षोऽन्तकर्मणि) खोलिये, इसके लिये बुद्धि को दीजिये। हे **तुविजात**=महान् विकासवाले प्रभो! आप **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **वेपसा**=शत्रुओं को कम्पित करने के द्वारा (वेपृ कम्पने) **खम्**=इन्द्रियों को **विषाहि**=(निष्य विमुञ्च) विषयों से पृथक् करिये। स्तुति करनेवाला [illegible] विषयों में [illegible] इन्द्रियोंवाला हो। (२)

हे **शुक्रः**=दीप्त प्रभो! **विश्वेभिः देवैः**=सब देवों से **यद् वावनः**=जिस धन के लिये काम याचना किये जाते हैं, **नः**=हमारे लिये **तत्**=उस **सुमहः**=शोभन तेज को तथा **भूरि मन्म**=पालन व पोषण करनेवाले मननीय ज्ञान को **रास्व**=दीजिये। तेजस्विता व ज्ञान ही वे धन हैं, जो देवों से प्रार्थनीय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तवन से हमें बुद्धि व विषयों में अनासक्त इन्द्रियां प्राप्त हों। प्रभु हमें उत्तम तेज व पालन व पोषण करनेवाला ज्ञान दें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

तत्त्वज्ञान, बुद्धि, स्तोत्र, धन

त्वद॑ग्ने काव्या॒ त्वन्म॑नी॒षास्त्वदु॒क्था जा॑यन्ते॒ राध्या॑नि।
त्वदे॑ति॒ द्रवि॑णं वी॒रपे॑शा इ॒त्थाधि॑ये दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वद्**=आपसे ही **काव्या**=सब तत्त्वज्ञान **जायन्ते**=प्रादुर्भूत होते हैं। **त्वत्**=आप से ही **मनीषाः**=सब बुद्धि प्रादुर्भूत होती हैं। **त्वत्**=आप से ही **राध्यानि**=सिद्धि प्राप्ति में उत्तम **उक्था**=स्तोत्र उत्पन्न होते हैं। प्रभु ही तत्व ज्ञान प्राप्त कराते हैं, वही बुद्धि देते हैं और उन स्तोत्रों को प्राप्त कराते हैं जो कि हमें संसार में उत्तम सफलता प्राप्त कराते हैं, इन स्तोत्रों के द्वारा ही तो हम वासनाओं पर विजय पाते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वद्**=आप से ही **इत्थाधिये**=सत्य कर्मोंवाले, **दाशुषे**=दाश्वान्, आत्मसमर्पण करनेवाले **मर्त्याय**=मनुष्य के लिये वह **द्रविणम्**=धन **एति**=प्राप्त होता है जो कि **वीरपेशाः**=वीर रूपवाला है (इदं विक्रान्तरूपं द्रविणम्), अर्थात् प्रभु से हमें वह धन प्राप्त होता है जो कि हमें वीर बनानेवाला है। यह धन हमें वासनासक्त करके निर्बल बनानेवाला नहीं।

भावार्थ—प्रभु हमें तत्त्वज्ञान, बुद्धि, स्तोत्र व वीरतायुक्त धन प्राप्त करायें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

कैसा सन्तानरूप धन?

त्वद्वा॒जी वा॑जंभ॒रो विहा॑या अभिष्टि॒कृज्जा॑यते स॒त्यशु॑ष्मः।
त्वद्र॒यिर्दे॒वजू॑तो मयो॒भुस्त्वदा॒शुर्जू॑जु॒वाँ अ॑ग्ने॒ अर्वा॑॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वद्**=आप से वह सन्तानरूप **रयिः**=धन **जायते**=प्राप्त होता है जो कि **वाजी**=शक्तिशाली होता है, **वाजम्भरः**=शक्ति के द्वारा सबका भरण करनेवाला होता है, **विहायाः**=महान्, उदार, विशाल हृदय होता है, **अभिष्टिकृत्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होता है (अभिष्टि worth desiring), **सत्यशुष्मः**=सत्य के बलवाला होता है। (२) हे प्रभो! **त्वद्**=आपकी गृह से वह सज्ञानरूप धन प्राप्त होता है जो **देवजूतः**=सूर्यादि देवों से प्रेरणा को प्राप्त करता है, सूर्य की तरह निरन्तर गतिशील होकर चमकता है। इसी प्रकार पृथिवी से दृढ़ता का पाठ पढ़ता है, अन्यान्य देवों से विविध प्रेरणाओं को प्राप्त करता है। **मयोभुः**=कल्याण को करनेवाला होता है। **त्वद्**=आपसे वह सन्तान धन प्राप्त होता है जो कि **आशुः**=सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला, **जजुवान्**=वेगवाला, स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला तथा **अर्वा**=कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमें सर्वगुण सम्पन्न संतति की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृत अग्नि का उपासन

त्वामग्ने प्रथमं देवयन्तो देवं मर्ता अमृत मन्द्रजिह्वम्।
द्वेषोयुतमा विवासन्ति धीभिर्दमूनसं गृहपतिममूरम् ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी, **अमृत**=अमर प्रभो! **देवयन्तः**=दिव्य गुणों की कामनावाले **मर्ताः**=मनुष्य **धीभिः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **त्वाम्**=आपको **आविवासन्ति**=पूजित करते हैं। आपकी पूजा करते हुए वे भी 'अग्नि व अमृत' बनने का प्रयत्न करते हैं। (२) उन आपकी वे पूजा करते हैं, जो आप **प्रथमम्**=सर्वश्रेष्ठ हैं, अत्यन्त विस्तृत हैं (प्रथ विस्तारे) उ **देवं**=प्रकाशमय हैं। **मन्द्र जिह्वम्**=देवों के लिये आनन्दप्रद जिह्वावाले हैं, अर्थात् हृदयस्थ प्रभु की वाणी देवों को आनन्द के देनेवाली हैं, **द्वेषोयुतम्**=द्वेष को वे प्रभु हमारे से पृथक् करनेवाले हैं, प्रभु स्मरण से सर्वत्र बन्धुत्व की प्रतीति होती है और द्वेष के लिये कोई स्थान नहीं रहता। **दमूनसम्**=दान के मनवाले हैं, प्रभु हमारे लिये सब उन्नति के स्तवनभूत पदार्थों के देनेवाले हैं। **गृहपतिम्**=हमारे इस शरीररूप गृह के वे पति हैं, वस्तुतः यह शरीररूप गृह प्रभु का ही है, मुझे उपयोग के लिये यह प्राप्त हुआ है, मकान मालिक तो प्रभु ही है। **अमूरम्**=वे सर्वज्ञ हैं। (३) उस 'प्रथम-देव-मन्द्रजिह्व-द्वेषोयुत-दमूनस-गृहपति-अमूर' प्रभु का उपासन करता हुआ मैं भी ऐसा ही बनने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—हमें ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए प्रभु जैसा बनने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अमति व दुर्मति' का दूरीकरण

आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि।
दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित्सचसे स्वस्ति ॥ ६ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, शक्ति के पुञ्ज **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यंचित्**=जिसको भी **आसचसे**=आप प्राप्त होते हैं, उसके लिये आप **शिवः**=कल्याणकर होते हैं। **दोषा**=रात्रि में भी **देवः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले होते हैं। **स्वस्ति**=वह पुरुष सदा उत्तम स्थिति में होता है। (२) हे प्रभो! **यत्**=जब **निपासि**=आप हमारा निश्चय से रक्षण करते हैं तो **अस्मत्**=हमारे से **अमतिम्**='अशनाया वै पाया मति' अपनाया रूप पापमति को **आरे**=दूर करिये। हमारे से महाशन, कभी भी न तृप्त होनेवाले, काम को पृथक् करिये। उस धनादि विषयों की इच्छा को दूर करिये जो कि कभी तृप्त नहीं होती। **अंहः**=कुटिलता को **आरे**=हमारे से पृथक् करिये। और **विश्वां दुर्मतिम्**=सब अशुभ विचारों को **आरे**=दूर कीजिये। इस दुर्मति के दूर होने पर ही हमारे जीवन से सब अशुभ कर्म दूर होते हैं।

भावार्थ—प्रकाशमय प्रभु के प्राप्त होने से हमारी 'अमति, अंहस् व दुर्मति' दूर हो जाती है। यही कल्याण का मार्ग है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु उपासन से ज्ञान प्राप्ति तथा दुर्मति के विनाश का प्रतिपादन कर रहा है। अगले सूक्त का प्रारम्भ भी इन्हीं शब्दों से है कि प्रभु के उपासन से ज्ञान-ज्योति प्राप्त होती है—

[१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संयतवान् का प्रभु उपासन

यस्त्वाम॑ग्न इ॒नध॑ते य॒तस्रु॒क्त्रिस्ते॒ अन्नं॑ कृ॒णव॒त्सस्मि॒न्नह॑न्।
स सु द्यु॒म्नैर॒भ्य॑स्तु प्र॒सक्ष॒त्तव॒ क्रत्वा॑ जातवेदश्चिकि॒त्वान्॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **यत स्रुक्**=(वाग्वै स्रुचः श० ६।३।१।८) संयत वाणीवाला होकर **त्वाम्**=आपको **इनधते**=अपने हृदय में दीप्त करता है, वह **ते**=आपके लिये **सस्मिन् अहन्**=सम्पूर्ण दिनों में **त्रिः**=तीन बार **अन्नम्**=अन्न को **कृणवत्**=करता है। मौन होकर अन्तःस्तल में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करना ही यतस्रुक् होकर प्रभु को समिद्ध करना है। इस (दीर्घ) जीवन रूप दिन में प्रथम २४ वर्षों के प्रातःसवन में अगले ४४ वर्षों के मध्यन्दिन सवन में और अन्तिम ४८ वर्षों के सायन्तन सवन में, तीनों समयों पर प्रभु के अन्न को करना, अर्थात् ध्यान के द्वारा प्रभु की भावना का पोषण करना ही प्रभु के तेज से तेजस्वी बनने का मार्ग है। (२) **सः**=इस ध्यानरूप अन्न द्वारा आत्मचिन्तन में दृढ़ होनेवाला व्यक्ति **सुद्युम्नैः**=उत्तम ज्ञान–ज्योतियों से **अभ्यस्तु**=काम–क्रोध आदि सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाला हो। हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! वह आपका उपासक **चिकित्वान्**=ज्ञानी होता हुआ **तव क्रत्वा**=आपकी शक्ति से **प्रसक्षत्**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का ध्यान करें। संयतवाक् होकर प्रभु को अपने में दीप्त करें। प्रभु की ज्योति से ज्योतिर्मय बनें। प्रभु की शक्ति से शक्ति–सम्पन्न होकर काम–क्रोध आदि शत्रुओं का मर्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अमित्रों का हिंसन

इ॒ध्मं यस्ते॑ ज॒भर॑च्छश्रमा॒णो म॒हो अ॑ग्ने॒ अनी॑क॒मा स॑प॒र्यन्।
स इ॑धा॒नः प्रति॑ दो॒षामु॒षासं॒ पुष्य॑न्र॒यिं स॑चते॒ घ्नन्न॒मित्रा॑न्॥ २॥

(१) **यः**=जो **शश्रमाणः**=श्रम करता हुआ, बड़ा (hard working) मेहनती होता हुआ, **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **इध्मम्**=पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ व द्युलोकस्थ पदार्थों के ज्ञानरूप समिधाओं को **जभरत्**=प्राप्त कराता है। तथा हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! जो आपके **महः अनीकम्**=महान् तेज को **आ सपर्यन्**=सर्वथा पूजित करनेवाला बनता है **सः**=वह **प्रति दोषां उषासम्**=प्रतिदिन रात्रि व प्रातःकाल **इधानः**=आपकी भावना को दीप्त करता हुआ और इस प्रकार **पुष्यन्**=अपना वास्तविक पोषण करता हुआ **रयिं सचते**=ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करता है। (२) इस ज्ञानैश्वर्य के द्वारा यह **अमित्रान् घ्नन्**=अमित्रों का हिंसन करता है। वस्तुतः इस ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करने पर वह हृदय में प्रभु को आसीन करता है। ये प्रभु ही इसके सब आन्तर शत्रुओं का विनाश करते हैं।

भावार्थ—लोकत्रयी के पदार्थों का ज्ञान होने पर उन पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। इससे प्रभु का तेज प्राप्त होता है। प्रतिदिन प्रातः–सायं प्रभु का उपासन हमारे में उस ज्ञानैश्वर्य का पोषण करता है, जिससे कि सब काम–क्रोध आदि अमित्र भावनाओं का हम हिंसन कर पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

क्षत्रिय-वाज-परमधन-रत्न

अ॒ग्निरी॑शे बृह॒तः क्ष॒त्रिय॑स्या॒ग्निर्वाज॑स्य पर॒मस्य॑ रा॒यः।
दधा॑ति॒ रत्नं॑ विध॒ते यवि॑ष्ठो॒ व्या॑नुषङ्मर्त्या॑य स्व॒धावा॑न्॥ ३॥

(१) **अग्निः**=वे प्रभु **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **क्षत्रियस्य**=बल के **ईशे**=ईश हैं। **अग्निः**=वे प्रभु ही **वाजस्य**=(वज गतौ) सब गतिशीलता के व **परमस्य रायः**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य के ईश हैं। उपासक को भी क्षतों से त्राण करनेवाला बल, गतिशीलता व उत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराते हैं। (२) वे **यविष्ठः**=बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभु **स्वधावान्**=आत्मधारण शक्तिवाले हैं। वे **विधते मर्त्याय**=पूजा करनेवाले मनुष्य के लिये **आनुषक्**=निरन्तर **रत्नम्**=रमणीय पदार्थों को **विदधाति**=विशेषरूप से धारण करते हैं। इन रत्नों को प्राप्त करके यह उपासक भी 'स्व-धावान्' बनता है, अपना धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासक को 'क्षतों से बचानेवाला बल, गतिशीलता, उत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य व रमणीय वस्तुएँ' प्राप्त होती हैं। इनके द्वारा वह आत्मधारण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पाप-विश्रन्थन

यच्चि॒द्धि ते॑ पुरुष॒त्रा य॑विष्ठाचि॑त्तिभिश्चकृ॒मा कच्चि॒दागः॑।
कृ॒धी ष्व१॒॑स्माँ अदि॑ते॒रना॑गा॒न्व्येनां॑सि शिश्रथो॒ विष्व॑गग्ने॥ ४॥

(१) हे **यविष्ठ**=पापों से हमें पृथक् करनेवाले प्रभो! **यत् चित् हि**=जो कुछ भी **ते**=आपके विषय में अथवा **पुरुषत्रा**=पुरुषों के विषय में **अचित्तिभिः**=अज्ञानों, नासमझियों के कारण **कच्चित्**=कोई **आगः चकृम**=पाप कर बैठें तो **अदितेः**=(वाङ् नाम नि० १।११) इस वेदवाणी के द्वारा **अस्मान्**=हमें **सु**=अच्छी प्रकार **अनागान्**=निष्पाप **कृधि**=कीजिये। हम अज्ञानवश पाप तो कर ही बैठते हैं। प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त कराके इन पापवृत्तियों से दूर करें। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विष्वक्**=चारों ओर से इन **एनांसि**=पापों को **विशिश्रथः**=हमारे से पृथक् करिये। आपकी कृपा से ज्ञान को प्राप्त करके हम उस ज्ञानाग्नि में सब पापों को भस्म करनेवाले हों। सब ओर से इन पापों का हमारे पर आक्रमण होता है। ज्ञानाग्नि ही इन पाप रूप हिंस्र पशुओं को हमारे से दूर रखती है। नियमों का उल्लंघन करके शरीरादि को अस्वस्थ कर लेना प्रभु के विषय में पाप करना है, उस गृहपति (मकान मालिक) के मकान को ठीक रखना हमारा कर्त्तव्य है। यमों का पालन न करते हुए असत्य व्यवहार से समाज को दूषित करना मनुष्यों के विषय में पाप है। प्रभु ज्ञान द्वारा इन दोनों पापों से हमें बचाएँ। यमनियमों का पालन करते हुए हम प्रभु के प्रिय हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ज्ञान को प्राप्त करके हम पापों का विश्रन्थन करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शान्त व निर्भीक जीवन

म॒हश्चि॑दग्न॒ एन॑सो अ॒भीक॑ ऊ॒र्वाद्दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम्।
मा ते॒ सखा॑यः॒ सद॒मिद्रि॑षाम॒ यच्छा॑ तो॒काय॒ तन॑याय॒ शं योः॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=पापों को भस्म करनेवाले प्रभो! **देवानाम्**=देवों के **उत**=और **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों

के **अभीके**=समीप हमारे से अज्ञानवश हो जानेवाले **महः चित्**=महान् भी **ऊर्वात्**=अत्यन्त विशाल **एनसः**=पाप से, **ते सखायः**=आपके मित्र होते हुए हम **सदं इत्**=सदा ही **मा रिषाम** मत हिंसित हों। स्वास्थ्य के नियमों का अपालन ही देवों के विषय में होनेवाला पाप है, सत्य आदि यमों का न पालना मनुष्यों के विषय में पाप है। प्रभु की मित्रता में रहते हुए हम इन पापों से बचे रहें। (२) इन पापों से दूर रहनेवाले हमारे **तोकाय**=पुत्रों के लिये व **तनयाय**=पौत्रों के लिये **शं योः**=शान्ति व भयों के यावन को **यच्छा**=प्राप्त कराइये। हमारी निष्पापता हमारे वंशजों के कल्याण के लिये हो। प्रभु का स्मरण करते हुए हम देव विषयक व मर्त्य विषयक पापों को न करें। इन पापों से ऊपर उठने पर हमारे जीवन शान्त व निर्भय हों। यही शान्ति व निर्भयता हमारे सन्तानों में प्रवाहित हो।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम पापों से बचे रहें। पापों से बचकर शान्त व निर्भीक बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वसवः यजत्राः

यथा॑ ह॒ त्यद्व॑सवो गौ॒र्यं॑ चित्प॒दि षि॒ताममु॑ञ्चता यजत्राः।
ए॒वो ष्व१॒॑स्मन्मु॑ञ्चता॒ व्यंह॒ प्र ता॑र्यग्ने प्रत॒रं न॒ आयुः॑ ॥ ६ ॥

(१) **यथा**=जैसे **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा अपना त्राण करनेवाले **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोग **ह**=निश्चय से **पदि षिताम्**=पाँव में बन्धी हुई **गौर्यं चित्**=गौ को निश्चय से **अमुञ्चत**=मुक्त करते हैं। 'गौ' यहाँ इन्द्रिय है। यह विषयरूप बन्धन से बद्ध हो जाती है। यजत्र वसु लोग इस इन्द्रियरूप गौ को विषयों के बन्धन से मुक्त करते हैं। (२) **एवो**=इस प्रकार ही, अर्थात् इन्द्रियरूप गौ को विषय-बन्धन से मुक्त करके ही **अस्मान्**=हमें **अंहः विमुञ्चत**=पापों से छुड़ाओ, पाप को हमारे से पृथक् करो। हे **अग्ने**=परमात्मन्! निष्पाप बनाकर **नः**=हमारी **प्रतरम्**=इस प्रवृद्ध **आयुः**=आयु को **प्रतारि**=और अधिक प्रवृद्ध करिये, हम खूब ही दीर्घजीवनवाले हों। पाप आयुष्य को नष्ट करता है। आप पाप को नष्ट करके हमारे आयुष्य का वर्धन करिये।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों के बन्धन से मुक्त करके, जीवन को निष्पाप बनायें। निष्पापता से दीर्घ आयुष्य को प्राप्त करें।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु का उपासन करके हम निष्पाप व दीर्घ जीवन को प्राप्त करें। अगले सूक्त का प्रारम्भ प्रभु उपासन से ही प्रारम्भ होता है—

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उषा द्वारा रत्नों का आधान

प्रत्य॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्यद्वि॒भाती॒नां सु॒मना॑ रत्न॒धेय॑म्।
या॒तम॑श्विना सु॒कृतो॑ दुरो॒णमुत्सूर्यो॒ ज्योति॑षा दे॒व ए॑ति ॥ १ ॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **सुमनाः**=उत्तम मनों को देनेवाले हैं (शोभनं मनो यस्मात्)। वे **विभातीनाम्**=दीप्त होती हुई **उषसाम्**=उषाओं के **अग्रम्**=प्रारम्भ में **रत्नधेयम्**=रत्नों के आधान को **प्रति अख्यत्**=प्रतिदिन देखते हैं। प्रभु इस बात का ध्यान करते हैं कि हम प्रतिदिन उषाओं में प्रभु का ध्यान करते हुए उत्तम मनोंवाले बनें और रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करें। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **सुकृतः**=पुण्यशाली के **दुरोणम्**=गृह को **यातम्**=प्राप्त करो। हमारे

शरीररूप गृह में प्राणापान की स्थिति हो। प्राणसाधना करते हुए हम प्राण और अपान की शक्ति को बढ़ानेवाले बनें। ऐसा होने पर **देवः सूर्यः**=प्रकाशमय ज्ञान का सूर्य **ज्योतिषा**=ज्योति के साथ **उद् एति**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में उदित होता है। हमारे ज्ञान की दीप्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई हमें उस प्रभु का दर्शन कराती है।

भावार्थ—उषा का जागरण हमें उत्तम मन व रमणीय वसुओं को प्राप्त कराये। हम प्राणसाधना करते हुए ज्ञानदीप्ति को बढ़ानेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान सूर्य का उदय

ऊर्ध्वं भानुं सविता देवो अश्रेद् द्रप्सं दविध्वद्गविषो न सत्वा।
अनु व्रतं वरुणो यन्ति मित्रो यत्सूर्यं दिव्यारोहयन्ति ॥ २ ॥

(१) **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **ऊर्ध्वं भानुम्**=उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति को **अश्रेत्**=आश्रय करते हैं, उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति के वे प्रभु आधार हैं, उपासकों के लिये इस ज्ञान-ज्योति को वे प्राप्त कराते हैं। इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करने पर **द्रप्सं दविध्वत्**=(द्रप्स=worshipper) यह उपासक सोम के नष्ट होने की वृत्ति को **दविध्वत्**=कम्पित करके दूर कर देता है, सोम का रक्षण करनेवाला होता है। **गविषः न**=यह गौओं को ज्ञान की वाणियों को धारनेवाला होता है। **सत्वा**=शक्तिशाली होता है। (२) **वरुणः**=द्वेष निवारण करनेवाले **मित्रः**=सब के प्रति स्नेहवाले व्यक्ति **व्रतं अनुयन्ति**=व्रत के अनुकूल गतिवाले होते हैं, **यत्**=जब कि ये **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **दिवि आरोहयन्ति**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आरूढ़ करते हैं। वरुण और मित्र बनकर, व्रती जीवन बिताने से ज्ञान की आवरणभूत वासना के होने से ज्ञान का सूर्य दीप्त हो उठता है। अब इस ज्ञानसूर्य के दीप्त होने पर वासनाओं का मल पूर्णरूप से विनष्ट हो जाता है। परिणामतः सोम का, वीर्य का शरीर में रक्षण होता है और ज्ञानाग्नि की और अधिक दीप्ति से ज्ञान की रुचि बढ़ती है, और शरीर भी शक्ति सम्पन्न बनता है।

भावार्थ—ज्ञानसूर्य के उदय होने पर वासनान्धकार विनष्ट हो जाता है, ज्ञान की रुचि बढ़ती है और शरीर शक्ति सम्पन्न बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु दर्शन व अन्धकार विनाश

यं सीमकृण्वन्तमसे विपृचे ध्रुवक्षेमा अनवस्यन्तो अर्थम्।
तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति ॥ ३ ॥

(१) **ध्रुवक्षेमाः**=निश्चय से कल्याण के मार्ग पर चलनेवाले, **अर्थम्**='धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' रूप पुरुषार्थों को **अनवस्यन्तः**=न समाप्त करते हुए, अर्थात् सदा इनका साधन करते हुए लोग **यम्**=जिसको **सीम्**=निश्चय से **तमसे विपृचे**=अन्धकार के पृथक् करने के लिये **अकृण्वन्**=उपासित करते हैं। **तम्**=उस **सूर्यम्**=प्रकाशमय प्रभु को **सप्त**=सात **यह्वीः**=महान्, अर्थ के गौरववाली, **हरितः**=अन्धकार का हरण करनेवाली छन्दोरूप वाणियाँ **वहन्ति**=उपासक के लिये प्राप्त कराती हैं। ध्रुवक्षेम पुरुष प्रभु का उपासन करते हैं। इसलिए उपासन करते हैं कि अज्ञानान्धकार दूर हो जाए। इस उपासक के लिये ये वेद की सात छन्दों में बद्ध ज्ञान की वाणियाँ प्रभु का ज्ञान देती हैं 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'। (२) ये प्रभु ही **विश्वस्य जगतः**=सम्पूर्ण जगत् के **स्पशम्**=द्रष्टा

हैं, सम्पूर्ण संसार का ध्यान करनेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रभु को वेदवाणियों के द्वारा वे ही लोग देखते हैं, जो कि 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' रूप चारों पुरुषार्थों के सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करना ही 'चतुर्भुज' बनना है।

भावार्थ—कल्याण के मार्ग पर चलते हुए, चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करते हुए हम प्रभु का पूजन करें, यही अन्धकार को दूर करने का उपाय है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान सूर्योदय

वहिष्ठेभिर्विहरन्यासि तन्तुमवव्ययन्नसितं देव वस्म।
दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्व१न्तः॥ ४॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **वहिष्ठेभिः**=लक्ष्य-स्थान को प्राप्त कराने में सर्वोत्तम ज्ञान किरणों से **तन्तुम्**=(तन् विस्तारे) इस फैले हुए अन्धकार को **वि-हरन्**=विशेषरूप से हरते हुए और **असितम्**=इस कृष्ण वर्ण के **वस्म**=आच्छादन करनेवाले अज्ञान वस्त्र को **अवव्ययन्**=अवाचीन करते हुए, तिरस्कृत करते हुए **यासि**=गति करते हैं। प्रभु ज्ञान के द्वारा हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। (२) **सूर्यस्य**=उस ज्ञानसूर्य प्रभु की **दविध्वतः**=अज्ञानान्धकार को कम्पित करती हुई (धुन्वाभाः सा०) **रश्मयः**=ज्ञानरश्मियाँ **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के अन्दर **चर्म इव**=त्वचा की तरह आच्छादन करनेवाला होकर विद्यमान इस **तमः**=अन्धकार को **अव अधुः**=नीचे स्थापित करती है। प्रभुरूप सूर्य के उदय होते ही सब अज्ञान का आवरण विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु सूर्य हैं। प्रभु के प्रकाश में अज्ञानान्धकार विनष्ट हो जाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

न अवपद्यते

अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्॥ ५॥

(१) **अनायतः**=चारों ओर से विषयों से न जकड़ा हुआ, **अनिबद्धः**=वासनाओं के बन्धन में न बँधा हुआ, **उत्तानः**=ऊर्ध्वमुख होकर स्थित हुआ-हुआ **अयम्**=यह **कथा**=किस प्रकार **न्यङ् न अवपद्यते**=नीचे की ओर गतिवाला नहीं होता, अर्थात् अवनति के मार्ग पर नहीं चल पड़ता और **कया स्वधया याति**=किस आत्मधारण शक्ति के साथ इस संसार में गतिवाला होता है? इस बात को **कः**=वह आनन्दस्वरूप प्रभु **ददर्श**=देखते हैं। जैसे एक पिता सन्तान के लिये इस बात का ध्यान करता है कि वह अवनतिपथ पर न चला जाये और अपने पाँव पर खड़ा हो सके इसी प्रकार प्रभु हम जीवों का ध्यान करते हैं। प्रभु ही तो हमारे पिता हैं। (२) वे प्रभु इसीलिए **दिवः स्कम्भः**=ज्ञान के प्रकाश का हमारे में धारण करनेवाले हैं। **समृतः**=हमें सम्यक् प्राप्त हैं। सदा हमारे साथ विद्यमान हैं। वे प्रभु ही हमारे लिये **नाकम्**=मोक्ष सुख का **पाति**=रक्षण करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान को देकर निष्पाप बनाते हैं और मोक्ष सुख को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे पिता हैं। वे इस बात के लिये हमें प्रेरित करते हैं कि हम विषयबद्ध होकर निम्न गतिवाले न हो जाएँ तथा आत्मधारण शक्ति का विकास करें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु को ज्ञानसूर्य के रूप में चित्रित करता है। ये प्रभु हमें ज्ञान देकर अवनत होने से बचाते हैं।

यही भाव अगले सूक्त में भी पुष्ट हुआ है—

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दीप्त उषाएँ

प्रत्यग्निरुषसो जातवेदा अख्यद्देवो रोचमाना महोभिः।
आ नासत्योरुगाया रथेनेमं यज्ञमुप नो यातमच्छ ॥ १ ॥

(१) **जातवेदाः**=सर्वज्ञ **अग्निः**=अग्रणी **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **महोभिः**=तेजस्विताओं से **रोचमानाः**=देदीप्यमान **उषसः**=उषाओं को **प्रति अख्यत्**=प्रतिदिन प्रकाशित करते हैं। हमारे लिये प्रभु कृपा से उन उषाओं का प्रादुर्भाव होता है जो कि हमें तेजस्विता व दीप्ति प्राप्त करानेवाली होती हैं। इन उषाओं में प्राणायाम से हम ऊर्ध्वरेता बनकर तेजस्विता को सिद्ध करते हैं, तथा स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानदीप्ति को बढ़ाते हैं। (२) हे **नासत्या**=असत्य को विनष्ट करनेवाले प्राणापानो! आप **उरुगाया**=अत्यन्त गायन के योग्य, प्रशंसनीय हो। अथवा प्रभूतगमन वाले हो, हमारे शरीरों में स्फूर्ति के बढ़ानेवाले हो। आप **इमं नः यज्ञं अच्छ**=हमारे इस जीवनयज्ञ की ओर **रथेन**=इस उत्तम शरीर-रथ के साथ **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होवो। आपकी साधना से हमें उत्तम शरीर-रथ प्राप्त हो।

भावार्थ—हमारे लिये उषाकाल तेजस्विता व दीप्ति को देनेवाला हो। प्राणसाधना से हमारा यह शरीर-रथ निर्दोष बने।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊर्ध्व केतु

ऊर्ध्वं केतुं सविता देवो अश्रेज्ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन्।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः ॥ २ ॥

(१) **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **ऊर्ध्वं केतुम्**=उत्कृष्ट ज्ञान का **अश्रेत्**=आश्रय करते हैं। उपासक को इस उत्कृष्ट ज्ञान को प्रभु प्राप्त कराते हैं। **विश्वस्मै भुवनाय**=सब लोकों के लिये **ज्योतिः कृण्वन्**=प्रकाश को वे प्रभु करते हैं। यह ठीक है कि सब कोई उस ज्योति का लाभ उठाते नहीं 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्'=कोई विरल ही उस ज्योति को देखनेवाला होता है। (२) वे प्रभु द्यावापृथिवी, द्युलोक तथा पृथिवीलोक को और **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **आप्राः**=पूरण किये हुए हैं, त्रिलोकी में वे व्याप्त हो रहे हैं। और **सूर्यः**='ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' सूर्यसम ज्योति वे प्रभु **रश्मिभिः**=ज्ञानरश्मियों से **विचेकितानः**=विशिष्टरूप से मार्ग का ज्ञान दे रहे हैं। प्रेरणा के रूप में दिये जानेवाले इस ज्ञान को हम सुनेंगे तो मार्ग पर चलते हुए इहलोक में सुख को प्राप्त कर परम मोक्ष को प्राप्त करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश कर रहे हैं। हम उस प्रकाश को देखें। तदनुसार मार्ग पर चलते हुए कल्याण को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'तीव्र बुद्धि' 'स्वस्थ शरीर'

आवहन्त्यरुणीर्ज्योतिषागान्मही चित्रा रश्मिभिश्चेकिताना।
प्रबोधयन्ती सुविताय देव्युषा ईयते सुयुजा रथेन ॥ ३ ॥

(१) **अरुणीः**=अरुण वर्णवाली प्रकाश की किरणों को **आवहन्ती**=धारण करती हुई **देवी**=प्रकाशमयी **उषा**=उषा **ज्योतिषा आगात्**=ज्योति के साथ आती है। यह हमारे लिये प्रकाश को करनेवाली होती है। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानवर्धन का साधन बनती हुई यह उषा **मही**=हमारे लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है, **चित्रा**=अद्भुत व (चित्+र) ज्ञान को देनेवाली है। यह **रश्मिभिः**=अपनी रश्मियों के द्वारा **चेकिताना**=हमारे निवास को उत्तम बनाती है व रोगों का अपनयन करती है (कित निवासे रोगापनयेन च)। (२) यह हमें **सुविताय**=उत्तम आचरण के लिये **प्रबोधयन्ती**=जगानेवाली है। यह **सुयुजा**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों के योगवाले **रथेन**=शरीर-रथ से **ईयते**=प्राप्त होती है। उषाकाल का जागरण बुद्धि के वर्धन का भी साधन है (प्रबोधयन्ती) शरीर की स्वस्थता का भी (सुयुजा रथेन)।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण हमें स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वहिष्ठ 'रथ व अश्व'

आ वां वहिष्ठा इह ते वहन्तु रथा अश्वास उषसो व्युष्टौ।
इमे हि वां मधुपेयाय सोमा अस्मिन्यज्ञे वृषणा मादयेथाम्॥ ४॥

(१) हे अश्विनी देवो, प्राणापानो! **इह**=इस जीवन में **वहिष्ठाः**=लभ्य स्थान की ओर ले जाने में उत्तम **ते रथाः**=वे शरीरस्थ तथा **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व **उषसः व्युष्टौ**=उषा के उदित होते ही **वाम्**=आपको **आवहन्तु**=प्राप्त करानेवाले हों। हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर, स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों से निवृत्त होकर, प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। यह प्राणसाधना ही हमें जीवनयात्रा में सफल बनायेगी। (२) हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! **इमे**=ये **सोमाः**=सोम **वाम्**=आपके हैं। ये **हि**=निश्चय से **मधुपेयाय**=माधुर्य के पान के लिये हैं। प्राणसाधना के द्वारा शरीर में ही ऊर्ध्वगतिवाले ये सोम जीवन को मधुर बनाते हैं। इसलिए हे प्राणापानो! आप **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **मादयेथाम्**=हर्ष का अनुभव करानेवाले होवो। प्राणसाधना से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी का स्वास्थ्य प्राप्त होता है, परिणामतः एक अद्भुत आनन्द का भी अनुभव होता है।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारा शक्ति की ऊर्ध्वगति से त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त करके (शरीर, मन व बुद्धि में) हम आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अनायत अनिबद्ध

अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या १३.५ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त ज्ञान प्राप्ति द्वारा मार्ग पर चलते हुए शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य को प्राप्त करने का प्रतिपादन कर रहा है। अगले सूक्त में भी अग्नि नाम से प्रभु का शंसन है—

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवो देवेषु यज्ञियः

अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन्परि णीयते। देवो देवेषु यज्ञियः॥ १॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **नः अध्वरे**=हमारे इस जीवनरूप यज्ञ में **होता**=होता होते हैं। प्रभु की शक्ति से ही जीवन-यज्ञ की सब क्रियाएँ चलती हैं। **वाजी सन्**=सब गतियों के स्वामी होते हुए **परिणीयते**=समन्तात् कार्यों में प्राप्त कराये जाते हैं, प्रभु की शक्ति से ही सब गति का सम्भव है। (२) **देवः**=वे प्रभु प्रकाशमय हैं। **देवेषु यज्ञियः**=सूर्य आदि देवों में वे प्रभु ही उपास्य हैं। सूर्य में प्रभु की शक्ति ही तो काम कर रही है, सूर्यादि सब देवों में प्रभु की दीप्ति ही तो दीप्त हो रही है 'तस्य भासा सर्व मिदं विभाति'। सब देव वस्तुतः उस प्रभु से ही देवत्व को प्राप्त करते हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'।

भावार्थ—प्रभु ही होता हैं, वे ही वाजी=सब गति के स्रोत हैं, वे ही सब देवों को देवत्व प्राप्त करा रहे हैं। ये सब उस प्रभु की दीप्ति से ही दीप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

देवेषु प्रयः दधत्

परि॑ त्रिवि॒ष्ट्य॑ध्व॒रं यात्य॒ग्नी र॒थीरि॑व। आ दे॒वेषु॒ प्रयो॒ दध॑त् ॥ २ ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **त्रिविष्टि**=तीनों लोकों में व्याप्ति के द्वारा **अध्वरम्**=इस सृष्टि यज्ञ में **परियाति**=सब ओर गति कर रहे हैं। सारी गति के आदि स्रोत प्रभु ही हैं। **रथीः इव**=वे रथी के समान हैं। रथवाला व्यक्ति जिस प्रकार शीघ्रता से गतिवाला होता है, उसी प्रकार वे प्रभु शीघ्रता से गतिवाले हैं। (२) वे प्रभु **देवेषु**=इन सब सूर्यादि देवों में **प्रयः**=(प्रयस्=strength to work) कार्य करने की शक्ति को **दधत्**=स्थापित करते हैं। सूर्यादि सब पिण्ड प्रभु की शक्ति से ही उस-उस कार्य को कर रहे हैं।

भावार्थ—सृष्टि यज्ञ के संचालक प्रभु ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'वाजपतिः कविः'

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत्। दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ ॥ ३ ॥

(१) वे प्रभु **वाजपतिः**=सब शक्तियों के स्वामी हैं। **कविः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञ हैं। **अग्निः**=सम्पूर्ण सृष्टि को गति देनेवाले हैं prime mover प्रथम संचालक हैं। (२) ये प्रभु **दाशुषे**=आत्मार्पण करनेवाले के लिये **रत्नानि**='शक्ति ज्ञान' आदि रमणीय वस्तुओं को धारण करते हुए **हव्यानि**=हव-आहव में उत्तम, अर्थात् काम-क्रोध आदि शत्रुओं से लड़ाई करने में उत्तम उपासकों को **परि अक्रमीत्**=प्राप्त होते हैं। वस्तुतः प्रभु ही वह शक्ति व ज्ञान देते हैं जिसके द्वारा यह उपासक इन शत्रुओं को जीत पाता है।

भावार्थ—प्रभु ही शक्ति के स्वामी हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। अग्रणी होते हुए हमें शक्ति व ज्ञान आदि रमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'सृञ्जय व दैववात' में प्रभु का प्रकाश

अ॒यं यः सृञ्ज॑ये पु॒रो दै॑ववा॒ते स॑मि॒ध्यते॑। द्यु॒माँ अ॑मित्र॒दम्भ॑नः ॥ ४ ॥

(१) **अयम्**=यह **यः**=जो प्रभु हैं वे **द्युमान्**=ज्योतिर्मय हैं, सम्पूर्ण ज्ञान के आधार हैं। **अमित्रदम्भनः**=अमित्रों का हिंसन करनेवाले हैं। वस्तुतः ज्ञान को प्राप्त कराके ही प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार किया करते हैं। इस ज्ञानाग्नि में वासनाओं के सब मल भस्म हो जाते

हैं। (२) ये प्रभु **पुरः**=सब से प्रथम **सृञ्जये**=(प्राप्तान् शत्रून् जयति इति सृञ्जयः द०) हमारे में प्रविष्ट हो जानेवाले काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को पराजित करनेवाले पुरुष में **समिध्यते**=दीप्त होते हैं। **दैववाते**=(देववातस्य अपत्यम्) उस व्यक्ति में दीप्त होते हैं, जो कि सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि देवों से प्रेरणा को प्राप्त करता है (देवेभ्यः वातं अस्ति अस्य)। सूर्य से यह गति द्वारा दीप्ति को प्राप्त करने का पाठ पढ़ता है। चन्द्रमा से सदा शान्त सौम्य बनने की शिक्षा लेता है तथा विद्युत् से वासना-वृक्षों को भस्म करने का पाठ पढ़ता है। इसी प्रकार सब देवों से प्रेरणा को लेता हुआ यह अपने में प्रभु को दीप्त कर पाता है।

भावार्थ—हम प्राप्त शत्रुओं का नाश करनेवाले 'सञ्जय' बनें, सूर्यादि देवों से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले 'दैववात' हों। ताकि हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'तिग्मजम्भ मीढवान्' प्रभु

अस्य घा वीर ईवतोऽग्नेरीशीत मर्त्यः। तिग्मजम्भस्य मीळ्हुषः ॥ ५ ॥

(१) **वीरः**=गतमन्त्र के अनुसार शत्रुओं का संहार करनेवाला वीर **मर्त्यः**=मनुष्य **घा**=ही **अस्य**=इस **ईवतः**=सर्वत्र गमनवाले **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु के **ईशीत**=ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला होता है। प्रभु के ऐश्वर्य से यह अपने को ऐश्वर्य सम्पन्न बना पाता है। (२) उस प्रभु के ऐश्वर्य से जो कि **तिग्मजम्भस्य**=तीक्ष्ण दाढ़ोंवाले हैं, अर्थात् काम-क्रोध आदि शत्रुओं को चीर-फाड़ डालनेवाले हैं तथा **मीढुषः**=शत्रु विनाश द्वारा हमारे पर सुखों का सेचन करनेवाले हैं। वस्तुतः प्रभु का उपासक भी कामादि शत्रुओं के लिये तिग्म दाढ़ोंवाला बनता है और अपने जीवन का ठीक परिपाक करके सब पर सुखों का सेचन करने का प्रयत्न करता है। यह समाजहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है। लोकहित के कार्यों में सदा गतिशील बना रहता है।

भावार्थ—वीर पुरुष उपास्य प्रभु की तरह ही गतिशील, कामादि शत्रुओं का विनाशक तथा सुखों का सेचक बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अर्वन्तम्-अरुषम्

तमर्वन्तं न सानसिमरुषं न दिवः शिशुम्। मर्मृज्यन्ते दिवेदिवे ॥ ६ ॥

(१) **तम्**=उस **अर्वन्तं न**=(अर्व killing enemies) शत्रुओं का संहार करनेवाले की तरह **सानसिम्**=सम्भजनीय, **दिवः शिशुं न**=द्युलोक के पुत्र सूर्य की तरह **अरुषम्**=आरोचमान उस प्रभु को उपासक लोग **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **मर्मृज्यन्ते**=अपने हृदयों में शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। (२) उस प्रभु को शुद्ध करने का भाव यह है कि हृदय में उत्पन्न हुई-हुई वासनाओं को दूर करते हैं। ये वासनाएँ ही तो वह मलिन आवरण हैं जो कि हमें प्रभु का दर्शन नहीं होने देते। इस प्रभु का दर्शन होने पर सब वासनाओं का संहार हो जाता है और ज्ञान की दीप्ति चमक उठती है।

भावार्थ—ध्यान द्वारा हृदय को परिमार्जित करते हुए हम प्रतिदिन उस प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारे सब वासनारूप शत्रुओं का संहार करके हमें दीप्त जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सोमकः साहदेव्यः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कुमार साहदेव्य

बोधद्यन्मा हरिभ्यां कुमारः साहदेव्यः। अच्छा न हूत उदरम् ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के उपासन से वासनाओं को विनष्ट करनेवाला व्यक्ति 'कुमार' है, 'कु', अर्थात् बुराई को 'मार' समाप्त करनेवाला। यह 'साहदेव्य' है, दिव्य गुणों के साथ होनेवालों में उत्तम। यह **कुमारः साहदेव्यः**=कुमार साहदेव्य **यत्**=जब **मा**=मुझे (प्रभु को) **हरिभ्याम्**=अपने इन्द्रियाश्वों के द्वारा **बोधत्**=जानता है। इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करके यह कुमार प्रभु को देखने का प्रयत्न करता है 'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'। उस समय **अच्छा हूतः**=अपने अभिमुख उस कुमार से पुकारा गया मैं **न उत् अरम्**=बाहर नहीं जाता। प्रभु इस कुमार के हृदय में निवास करते हैं। (२) हम (क) कुमार बनें, बुराइयों को मारनेवाले। (ख) साहदेव्य बनें=दिव्यगुणों के साथ अपने जीवन को बनानेवाले। (ग) आवृत्तचक्षु होकर प्रभु को देखने का प्रयत्न करें। (घ) प्रभु को अपने अभिमुख पुकारनेवाले हों, प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों। ऐसा होने पर अवश्य हमारे हृदयों में प्रभु का निवास होगा।

भावार्थ—बुराइयों को नष्ट करनेवाले, दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले बनकर हम प्रभु के दर्शन कर पायें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सोमकः साहदेव्यः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'पयजता प्रयता' हरी

उत त्या यजता हरी कुमारात्साहदेव्यात्। प्रयता सद्य आ ददे ॥ ८ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि मैं इस **कुमारात्**=बुराइयों को समाप्त करनेवाले **साहदेव्यात्**=दिव्य गुणों से युक्त उपासक के हेतु से **त्या**=उन **यजता**=यज्ञों के करनेवाले **प्रयता**=पवित्र **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **उत**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र ही **आददे**=प्राप्त करता हूँ। (२) प्रभु इस कुमार साहदेव्य को उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं जो कि यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं तथा ज्ञानाग्नि में तपकर सदा पवित्र बने रहते हैं। कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में लगी रहती हैं तो ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति का साधन बनी रहकर पवित्र बनी रहती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वे इन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं जो कि यज्ञादि कर्मों में व ज्ञान प्राप्ति में लगी रहती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोमक

एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः। दीर्घायुरस्तु सोमकः ॥ ९ ॥

(१) हे **देवौ**=प्रकाशमय **अश्विनौ**=प्राणापानो! **एषः**=यह उपासक **वाम्**=आपकी साधना करनेवाला **अस्तु**=हो। प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करता हुआ यह प्राणापान की शक्ति को बढ़ानेवाला हो। (२) इस शक्ति के बढ़ाने से यह (क) **कुमारः**=सब बुराइयों को विनष्ट करनेवाला हो, (ख) **साहदेव्यः**=दिव्यगुणों से युक्त जीवनवालों में उत्तम हो। (३) **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवन को प्राप्त करे और (घ) **सोमकः**=अत्यन्त सोम्य व विनीत स्वभाववाला हो अथवा अपने अन्दर सोम का रक्षण करनेवाला बने।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम कुमार, साहदेव्य, दीर्घायु व सोमक बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दीर्घ जीवन

तं युवं देवावश्विना कुमारं साहदेव्यम्। दीर्घायुषं कृणोतन॥ १०॥

(१) हे **देवौ**=प्रकाशमय व ज्ञानवृद्धि के कारणभूत अथवा रोगों को जीतने की कामनावाले (दिव्=विजिगीषा) **अश्विनौ**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **तम्**=उस **कुमारम्**=बुराइयों को समाप्त करनेवाले **साहदेव्यम्**=दिव्य गुणों से युक्त उपासक को **दीर्घायुषं कृणोतन**=दीर्घजीवनवाला करो। (२) प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है। इस सोमरक्षण से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से बुराइयाँ नष्ट होती हैं, अच्छाइयाँ प्राप्त होती हैं और दीर्घ जीवनवाले हम बनते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि हम प्रभु का उपासन करते हैं, तो उत्तम व दीर्घ जीवनवाले बनते हैं। प्रभु का उपासन अब 'इन्द्र' नाम से करते हैं—

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमपान करनेवाला इन्द्र

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः॥ १॥

(१) **सत्यः**=सत्यस्वरूप, **मघवान्**=ऐश्वर्यशाली व (मघ=मख) यज्ञोंवाला **ऋजीषी**=ऋजुता की प्रेरणा देनेवाला (ऋजु+इष्)-कुटिलता को दूर करनेवाला प्रभु **आयातु**=हमें प्राप्त हो। **अस्य**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **हरयः**=इन्द्रियाश्व **नः उपद्रवन्तु**=हमें समीपता से प्राप्त हों। 'प्रभु के इन्द्रियाश्व' का भाव यह है कि वे इन्द्रियाँ, जो कि प्रभु की ओर जानेवाली हैं। (२) **तस्मा**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **इत्**=ही **अन्धः**=सोम को **सुषुम**=हम उत्पन्न करते हैं। यह सोम **सुदक्षम्**=उत्तम बल को प्राप्त करानेवाला है। हमें बलसम्पन्न बनाकर ही यह सोम प्रभुप्राप्ति का पात्र बनाता है। **इह**=इस जीवन में यह प्रभु **गृणानः**=स्तुति किया जाता हुआ **अभिपित्वम्**=हमारे अभिमत की प्राप्ति को **करते**=करता है। प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम उस प्रभु से उत्पादित इस सोम का रक्षण करनेवाले हों। सोम का पान करते हुए हम भी शक्तिशाली व 'इन्द्र' बनते हैं। इन्द्र बनकर ही तो इन्द्र का उपासन होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को वश में करते हुए प्रभु की ओर चलनेवाले बनें। सोमरक्षण द्वारा शक्तिशाली बनकर उस सर्वशक्तिमान् के सच्चे उपासक हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

इन्द्रियाश्वों को विषय-बन्धन से छुड़ाना

अव स्य शूराध्वनो नान्तेऽस्मिन्नो अद्य सवने मन्दध्यै।
शंसात्युक्थमुशनेव वेधाश्चिकितुषे असुर्याय मन्म ॥ २॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अध्वनः अन्ते न**=जिस प्रकार मार्ग की समाप्ति पर अश्वों को खोलते हैं, उसी प्रकार आप **नः**=हमारे **अस्मिन् सवने**=इस जीवनयज्ञ में **अद्य**=आज **मन्दध्यै**=आनन्दप्राप्ति के लिए **अव स्य**=(षोऽन्तकर्मणि) इन्द्रियाश्वों को विषयों के

बन्धन से मुक्त करिए। (२) **उशनाः इव**=सर्वहित की कामना करते हुए उपासक के समान यह भक्त **उक्थम्**=स्तोत्रों का शंसन करता है। इस प्रभुभक्ति से ही इसकी उदार लोकहितात्मक वृत्ति बनी रहती है। **वेधाः**=यह ज्ञानी बनकर **चिकितुषे**=उस सर्वज्ञ **असुर्याय**=प्राणशक्ति का संचार करनेवालों में उत्तम प्रभु के लिए **मन्म**=मननीय ज्ञान को प्राप्त करता है। जितना-जितना ज्ञान प्राप्त करता चलता है, उतना-उतना प्रभु के समीप होता जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी इन्द्रियों को विषयबन्धन से मुक्त करें, ताकि हम जीवनयात्रा ठीक से पूर्ण कर सकें। हम ज्ञानवर्धन करते हुए प्रभु के स्तोता बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान के सात दीपक

कविर्न निण्यं विदथानि साधन्वृषा यत्सेकं विपिपानो अर्चात्।
दिव इत्था जीजनत्सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः॥ ३॥

(१) **कविः न निण्यम्**=जैसे एक क्रान्तदर्शी पुरुष (piercing sight वाला) अन्तर्हित-गूढ़-तत्त्वार्थ को जान लेता है, इसी प्रकार **विदथानि**=ज्ञानों को **साधन्**=सिद्ध करता हुआ, **वृषा**=शक्तिशाली पुरुष **यत्**=जब **सेकम्**=शरीर में सेचनीय सोम को **विपिपानः**=विशेषरूप से पीता हुआ-शरीर में ही वीर्य को सुरक्षित करता हुआ **अर्चात्**=उस प्रभु की उपासना करता है। वस्तुतः वीर्य का रक्षण ही प्रभु का महान् अर्चन है। प्रभु ने यही हमें सर्वोत्तम धातु प्राप्त कराई है। इसे हम शरीर में धारण करते हैं, तो प्रभु का समादर कर रहे होते हैं। (२) **इत्था**=इस प्रकार वीर्यरक्षण द्वारा **सप्त**='दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व जिह्वा' इन सातों को **दिवः कारून्**=प्रकाश (ज्ञान) उत्पन्न करनेवाला **जीजनत्**=बनाता है और **अह्ना चित्**=एक ही दिन में, अर्थात् अतिशीघ्र, **गृणन्तः**=स्तुति करते हुए ये लोग **वयुना चक्रुः**=प्रज्ञानों को करते हैं- अपने अन्दर प्रज्ञानों का सम्पादन करते हैं। सुरक्षित वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाता है। ज्ञानाग्नि की दीप्ति से इनके प्रज्ञान चमक उठते हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय में लगने से वीर्यरक्षण सम्भव होता है। वीर्य-रक्षण ही प्रभु का सच्चा आदर है। यह सुरक्षित वीर्य सब ज्ञानेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाता है और शीघ्र ही हमारी ज्ञानाग्नि की दीप्ति का कारण बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान का प्रकाश व वासना विलय

स्व१र्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ॥ ४॥

(१) **अर्कैः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों द्वारा **यत्**=जब **सुदृशीकम्**=उत्तम दर्शनीय **स्वः**=प्रकाश **वेदि**=जाना जाता है, या प्राप्त किया जाता है। **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **वस्तोः**=निवास को उत्तम बनाने के उद्देश्य से **महि ज्योतिः**=महनीय व महान् ज्योति में ही **रुरुचुः**=रुचिवाले होते हैं। उस समय **नृतमः**=वह सर्वोत्तम नेता प्रभु **नृभ्यः**=इन उन्नतिपथ पर बढ़नेवाले लोगों के लिए **अभिष्टौ**=वासनाओं पर आक्रमण के निमित्त **अन्धा तमांसि**=घने अन्धकारों को **दुधिता चकार**=(नाशितानि सा०) नष्ट करते हैं और **विचक्षे**=उन लोगों के लिए विशेषरूप से मार्गदर्शन के लिए होते हैं। (२) प्रभु की उपासना से प्रकाश प्राप्त होता है। इसी से हमारी रुचि ज्ञानप्राप्ति की ओर होती है।

उस समय प्रभु हमारे घने अज्ञानान्धकारों को नष्ट करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में वासनान्धकार का विलय हो जाता है।

भावार्थ—उपासक को प्रभु वह ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं, जिसमें वासनाएँ विलीन हो जाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अनन्त प्रभु

ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्युभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा।
अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव॥ ५॥

(१) **ऋजीषी**=ऋजुता (सरलता) की प्रेरणा देनेवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अमितं ववक्षे**=असीम वृद्धिवाले होते हैं (वक्ष् to grow)। इतनी वृद्धिवाले कि **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **महित्वा**=अपनी महिमा से **आपप्रौ**=पूरित कर लेते हैं। (२) वस्तुतः **अतः चित्**=इन द्यावापृथिवी से भी **अस्य**=इन प्रभु की **महिमा**=महिमा **विरेचि**=अतिरिक्त होती है। ये द्यावापृथिवी उसकी महिमा को अपने अन्दर समा लेने में समर्थ नहीं होते। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' ये सब भूत तो उस प्रभु के चतुर्थांश में ही समा जाते हैं। प्रभु तो वे हैं, **यः**=जो कि **विश्वा भुवना**=सब भुवनों को **अभिबभूव**=अभिभूत किये हुए हैं। 'एतावान् अस्य महिमा' ये सब भुवन प्रभु की महिमा हैं, 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' प्रभु इससे बहुत अधिक हैं। प्रभु इस सारे ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में लिये हुए हैं। अनन्त हैं वे प्रभु।

भावार्थ—द्यावापृथिवी उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। प्रभु इनसे महान् हैं, ये तो प्रभु के एक देश में ही स्थित हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु द्वारा शक्तिकणों का हमारे साथ मेल

विश्वानि शक्रो नर्याणि विद्वानपो रिरेच सखिभिर्निकामैः।
अश्मानं चिद्ये बिभिदुर्वचोभिर्व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः॥ ६॥

(१) **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **विश्वानि**=सब **नर्याणि विद्वान्**=नरहित साधनभूत बातों को जानता हुआ **निकामैः**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले **सखिभिः**=मित्रभूत जीवों के साथ **अपः रिरेच**=वीर्यकणों को (आपः रेतोभूत्वा) मिलाता है (to join, mix रिच्)। वस्तुतः इन वीर्यकणों से ही सब हित सिद्ध होते हैं। जीवन-भवन की नीव ये वीर्यकण ही हैं। (२) **ये**=जो उपासक **वचोभिः**=स्तुति-वचनों द्वारा **अश्मानं चित्**=पत्थर के समान दृढ़ भी वासना को **बिभिदुः**=विदीर्ण करते हैं, वे **उशिजः**=मेधावी प्रभुप्राप्ति की कामनावाले पुरुष **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले **व्रजम्**=वाड़े को **विवव्रुः**=वासना के आच्छादन से रहित करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को वासनाओं से मुक्त करते हैं। अपने को वासनाओं से मुक्त करके ही तो वे वीर्यरक्षण कर पाते हैं। इस वासना को विनष्ट करने का सर्वोत्तम साधन ज्ञानवाणियों द्वारा प्रभु का उपासन है।

भावार्थ—हमारे जीवनों को मंगलमय बनाने के लिए प्रभु हमारे साथ वीर्यकणों को जोड़ते हैं। इन वीर्यकणों के रक्षण के लिए प्रभु की उपासना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-जलों का प्रेरण

अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन्प्रावत्ते वज्रं पृथिवी सचेताः।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवञ्छवसा शूर धृष्णो॥ ७॥

(१) **अपः**=रेतःकणों को **वव्रिवांसम्**=आवृत्त कर लेनेवाले **वृत्रम्**=कामरूप इस शत्रु को **परा अहन्**=आप सुदूर विनष्ट करते हो। **सचेताः**=चेतनावाला-समझदार **पृथिवी**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला मनुष्य **ते**=आपके दिये हुए **वज्रम्**=इस क्रियाशीलतारूप वज्र को **प्रावत्**=प्रकर्षेण रक्षित करता है। यह इस बात का पूरा ध्यान करता है कि कहीं यह अकर्मण्य न हो जाए। अकर्मण्य होते ही तो वृत्र का आक्रमण होता है और तब वीर्यरक्षण संभव नहीं रहता। (२) हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **धृष्णो**=धर्षकशक्ति से युक्त प्रभो! आप **शवसा**=अपने बल द्वारा **पतिः भवन्**=हमारे रक्षक होते हुए **समुद्रियाणि**=ज्ञानैश्वर्य के अधारभूत वेदरूप समुद्रों के **अर्णांसि**=ज्ञान-जलों को **प्र ऐनो**=प्रकर्षेण प्रेरित करते हैं। आप हमें शक्ति देते हैं व ज्ञान देते हैं। इसी प्रकार आप हमारा रक्षण करते हैं। इस शक्ति व ज्ञान द्वारा ही वृत्र का विनाश सम्भव होता है।

भावार्थ—समझदार पुरुष क्रियाशील बनकर वासना से बचा रहता है। वासना-विनाश से शक्ति व ज्ञान का वर्धन करके यह ज्ञानसमुद्र के रत्नों को पानेवाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविद्यापर्वत का विदारण

अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत्सरमा पूर्व्यं ते।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः॥ ८॥

(१) हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी-जिसकी प्रार्थना हमारा पालन व पूरण करती है, ऐसे प्रभो! आप **यद्**=जब **अपः**=हमारे वीर्यकणों का लक्ष्य करके **अद्रिम्**=अविद्या-पर्वत को **दर्दः**=विदीर्ण करते हैं, तो **पूर्व्यम्**=सर्वप्रथम **ते**=आपकी **सरमा**=सब विषयों में चलनेवाली-उनका अवगाहन करनेवाली बुद्धि **आविर्भुवत्**=प्रकट होती है। अविद्या-विनाश से वीर्य का रक्षण होता है। इससे हमारे में सूक्ष्मबुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। (२) **सः**=वे **नः**=हमारे **नेता**=प्रणयन करनेवाले आप **भूरिम्**=पालने व पोषण करनेवाले **वाजम्**=बल व अन्न को **आदर्षि**=प्राप्त कराते हैं। **अंगिरोभिः**=अपने अंगों को रसमय बनानेवाले पुरुषों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **गोत्रा**=अविद्यापर्वतों का **रुजन्**=विदारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करते हैं और पोषक अन्नों व बलों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मायावान् 'अब्रह्मा व दस्यु' का विनाश

अच्छा कविं नृमणो गा अभिष्टौ स्वर्षाता मघवन्नाधमानम्।
ऊतिभिस्तमिषणो द्युम्नहूतौ नि मायावानब्रह्मा दस्युरर्त॥ ९॥

(१) हे **नृमणः**=(नृभिः मन्यते) उन्नतिपथ पर चलनेवालों से मननीय **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **अभिष्टौ**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का आक्रमण होने पर **स्वः सातौ**=प्रकाश की

प्राप्ति के निमित्त **नाधमानम्**=याचना करते हुए **कविं अच्छा गाः**=ज्ञानीपुरुष की ओर प्राप्त होते हैं और **तम्**=उसको **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **इषणः**=उन्नतिपथ पर प्रेरित करते हैं। (२) इन **द्युम्नहूतौ**=(द्युम्नस्य धनस्य हूतिः यस्यां) धन की पुकारवाले युद्ध में **मायावान्**=छल-कपटवाला, **अब्रह्मा**=अज्ञानी **दस्युः**=विनाश की वृत्तिवाला पुरुष **नि अर्त**=विनष्ट होता है (=नीचे जाता है, is trampled upon)।

भावार्थ—संसार-संग्राम में कवि (ज्ञानी) अन्ततः विजयी होता है। छली, अज्ञानी व विध्वंस की वृत्तिवाला विनष्ट होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

कुत्स की प्रभुमित्रता

आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्तं भुवत्ते कुत्सः सख्ये निकामः।
स्वे योनौ नि षदतं सरूपा वि वां चिकित्सदृतचिद्ध नारी॥ १०॥

(१) **दस्युघ्ना**=दस्युओं को-दास्यव-वृत्तियों को हनन करने की कामनावाले **मनसा**=मन से **अस्तम्**=मेरे इस शरीररूप गृह में आप **आयाहि**=आइये। **कुत्सः**=यह वासनाओं का संहार करनेवाला व्यक्ति **ते**=आपकी **सख्ये**=मित्रता में **निकामः**=नितरां कामनावाला **भुवत्**=हो। वस्तुतः जीवन का मुख्य उद्देश्य कामनाओं को विनष्ट करना हो। इस कामनावाला पुरुष प्रभु की मित्रता चाहता है। प्रभु की मित्रता से ही यह वासनाओं का संहार कर पाता है। (२) गृह में निवास करनेवाले पति-पत्नी के लिए कहते हैं कि तुम दोनों प्रभु की उपासना से **सरूपा**=प्रभु के समान रूपवाले होते हुए **स्वे योनौ निषदतम्**=अपने गृह में आसीन होओ। यह **ऋतचित्**=सत्य ज्ञान का जीवनों में संचय करनेवाली **नारी**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाली यह वेदवाणी (नृ नये)। **वाम्**=आप दोनों को **ह**=निश्चय से **विचिकित्सत्**=उत्तम निवासवाला करे व आपके रोगों का अपनयन करे। वेदवाणी के अनुसार चलते हुए पति-पत्नी नीरोग व मंगलमय निवासवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों। वेदवाणी के अनुसार चलते हुए हम उत्तम निवासवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वातस्य तोदः

यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हर्योरीशानः।
ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्कविर्यदहन्पार्याय भूषात्॥ ११॥

(१) हे प्रभो! आप **कुत्सेन**=वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष के साथ **सरथं यासि**=समान रथ में गतिवाले होते हैं, अर्थात् इसके शरीर-रथ में स्थित होते हुए आप इसके सारथि होते हैं। **अवस्युः**=इस कुत्स के रक्षण की आप कामनावाले होते हैं, जो भी वासनाओं का संहार करनेवाला होता है, उसके आप रक्षक होते ही हैं। **वातस्य**=इस गति द्वारा बुराइयों का गन्धन (हिंसन) करनेवाले के आप **तोदः**=(guiding, urging, driving) प्रेरक हैं। **हर्योः**=इसकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंरूप अश्वों के आप **ईशा**=स्वामी होते हैं। इसकी इन्द्रियों को आप ही ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। (२) इस कुत्स के साथ **गध्यं वाजं न**=ग्रहण के योग्य बल की तरह **ऋज्रा**=ऋजुगामी इन्द्रियाश्वों को आप **युयूषन्**=जोड़ने की कामनावाले होते हैं-इसे उत्तम इन्द्रियाश्व व ग्रहणीय बल आप प्राप्त कराते हैं। इनको प्राप्त करके **यद् अहन्**=जिस दिन यह कुत्स **कविः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी बनता है, तो यह उस समय **पार्याय**=इस भवसागर को पार करने के लिए **भूषात्**=(प्रभवति)

समर्थ होता है।

भावार्थ—हम वासनाओं के संहार की वृत्तिवाले बनें। प्रभु हमें उत्तम प्रेरणा देंगे-इन्द्रियों को ऐश्वर्य युक्त करेंगे। ऋजुगामी इन्द्रियों को व ग्रहणीय बल को प्राप्त करके हम ज्ञानी बनेंगे और भवसागर को पार कर सकेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अशुषशुष्ण का निवर्हण

कुत्साय शुष्णमशुषं नि बर्हीः प्रपित्वे अह्नः कुयवं सहस्रा।
सद्यो दस्यून्प्र मृण कुत्स्येन प्र सूरश्चक्रं वृहतादभीके ॥ १२ ॥

(१) हे प्रभो! **कुत्साय**=वासनासंहार की वृत्तिवाले इस उपासक के लिए **अशुषम्**=(अशूषं) जिस से किसी भी सुख का सम्भव नहीं, उस **शुष्णम्**=शोषण करनेवाले कामासुर को आप **नि बर्हीः**=विनष्ट करते हैं। **अह्नः प्रपित्वे**=दिन के प्रक्रम में-प्रारम्भ में ही **कुयवम्**=कुयव नामक असुर को भी नष्ट करते हैं। 'कुयव' अर्थात् बुराई को हमारे साथ मिलानेवाला। इस बुराई का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाली वृत्ति को आप विनष्ट करते हैं। (२) हे प्रभो! आप **कुत्स्येन**=वासना-विनाश में उत्तम क्रियाशीलता रूप वज्र द्वारा **सद्यः**=शीघ्र ही **सहस्रा**=हजारों **दस्यून्**=दास्यव-वृत्तियों को **प्रमृणः**=नष्ट करते हैं। **सूरः**=यह ज्ञानीपुरुष **अभीके**=आपकी समीपता में **चक्रम्**=शत्रु-सैन्य को **प्रवृहतात्**=छिन्न करनेवाला हो। ज्ञानीपुरुष प्रभु का आत्मतुल्य प्रिय भक्त होता हुआ प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनता है और काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को विनष्ट कर पाता है।

भावार्थ—हम वासनासंहार के लिए सदा उद्यत रहें। प्रभु के उपासक बनकर प्रभु की शक्ति द्वारा शत्रुसंहार करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'पिप्रु, मृगय और शूशुवान्' का संहार

त्वं पिप्रुं मृगयं शूशुवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः।
पञ्चाशत्कृष्णा नि वपः सहस्रात्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः ॥ १३ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **वैदथिनाय**=ज्ञानयज्ञ का विस्तार करनेवाले तथा **ऋजिश्वने**=(ऋजुश्वि) सरलता के मार्ग से गति करनेवाले के लिए **पिप्रुम्**=(प्रा पूरणे) अपना ही पूरण करनेवाले आत्मम्भरि (=अत्यन्त स्वार्थी) को, **मृगयम्**=(मृग अन्वेषणे) औरों के घरों में ढूँढ़-ढूँढ़ कर सम्पत्ति-हरण करनेवाले को तथा **शूशुवांसम्**=अन्याय्य मार्गों से धनाहरण करके फूले हुए धनाभिमानी को **रन्धीः**=विनष्ट करते हैं। इनके विनाश का भाव यही है कि इस 'ऋजिश्वा वैदथिन' में आप स्वार्थ, चोरी व धनाभिमान की भावना उत्पन्न नहीं होने देते। (२) इसी प्रकार **पंचाशत्**=पचासों **सहस्रा**=हजार प्रकार की **कृष्णा**=कालिमा ली हुई पाप-भावनाओं को **निवपः**=आप विनष्ट करते हैं। **न**=जैसे **जरिमा**=बुढ़ापा **अत्कम्**=रूप को विनष्ट करता है, इसी प्रकार आप **पुरः**=असुर पुरियों को **विदर्दः**=विदीर्ण कर देते हैं। इस उपासक के शरीर में काम, क्रोध व लोभ आदि आसुरभाव नहीं पनप पाते। ये इसके जीवन को नरक नहीं बना देते।

भावार्थ—उपासक स्वार्थ, चोरी व धनाभिमान से ऊपर उठता है और असुरों को अपने अन्दर निवासस्थान नहीं बनाने देता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उपासक की शक्ति

सूर उपाके तन्वं१ दधानो वि यत्ते चेत्यमृतस्य वर्पः।
मृगो न हस्ती तविषीमुषाणः सिंहो न भीम आयुधानि बिभ्रत्॥ १४॥

(१) **सूरः**=ज्ञानीपुरुष **यत्**=जब **ते**=हे प्रभो! आपके **उपाके**=समीप **तन्वं दधानः**=शक्तियों के विस्तार को (तन् विस्तारे) **दधानः**=धारण करता हुआ होता है, उस समय उस ज्ञानीपुरुष से **अमृतस्य**=अमृत आपका **वर्पः**=रूप **विचेति**=विशेषरूप से जाना जाता है। उपासना द्वारा यह बहुत कुछ आप जैसा ही बन जाता है। (२) **मृगः न**=यह जैसे आत्मान्वेषण करनेवाला होता है (मृग अन्वेषणे), उसी प्रकार **हस्ती**=प्रशस्त हाथोंवाला होता है-सदा उत्तम कर्मों में लगा रहता है। इस प्रकार यह शत्रुओं के **तविषीम्**=बल को **उषाणः**=नष्ट करनेवाला होता है। यह प्रभु का उपासक **आयुधानि बिभ्रत्**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को धारण करता हुआ **सिंहः न**=शेर के समान **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता है।

भावार्थ—एक उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बन करके काम-क्रोध आदि शत्रुओं के बल को विनष्ट करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुरूप धन

इन्द्रं कामा वसूयन्तो अग्मन्त्स्वर्मीळ्हे न सवने चकानाः।
श्रवस्यवः शशमानास उक्थैरोको न रण्वा सुदृशीव पुष्टिः॥ १५॥

(१) **कामाः**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले **वसूयन्तः**=सब वसुओं को अपनाने की कामना करते हुए उपासक **इन्द्रं अग्मन्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को प्राप्त होते हैं। ये लोग **न**=जैसे **स्वर्मीढे**=संग्राम में-काम-क्रोध आदि शत्रुओं के साथ अध्यात्म संग्राम में उसी प्रकार **सवने**=यज्ञों में **चकानाः**=(कन् दीप्तौ) उस प्रभु की याचना करते हैं। (२) **श्रवस्यवः**=ज्ञान-प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। **उक्थैः**=स्तोत्रों से **शशमानासः**=प्रभु का शंसन करनेवाले होते हैं। वे प्रभु इनके लिए **ओकः न**=निवास-स्थान की तरह **रण्वा**=रमणीय होते हैं। प्रभु-निवास में ही ये आनन्द का अनुभव करते हैं और **सुदृशी इव पुष्टिः**=शोभन-दर्शना लक्ष्मी के समान होते हैं-प्रभु ही इनके धन होते हैं। ये प्रभुभक्त प्रवास व भटकने व भूखे मरने आदि कष्टों को नहीं प्राप्त होते।

भावार्थ—हम अध्यात्म-संग्रामों व यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमारे रमणीय गृह व शोभनदर्शना लक्ष्मी होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व स्पृहणीय धन

तमिद्व इन्द्रं सुहवं हुवेम यस्ता चकार नर्या पुरूणि।
यो मावते जरित्रे गध्यं चिन्मक्षू वाजं भरति स्पार्हराधाः॥ १६॥

(१) **तम्**=उस **इत्**=निश्चय से **वः**=आप सब के **इन्द्रम्**=शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले **सुहवम्**=(शोभन् हवो यस्य) शोभन आह्वानवाले-जिनकी प्रार्थना सदा उत्तम है, उन प्रभु को

हुवेम=पुकारते हैं। उन प्रभु को, **यः**=जो **ता**=उन **पुरूणि**=पालक व पूरक **नर्या**=नरहित के कर्मों को **चकार**=करते हैं। (२) उन प्रभु को हम पुकारते हैं, **यः**=जो कि **मा-वते जरित्रे**=लक्ष्मी-सम्पन्न स्तोता के लिए **गध्यं चित्**=निश्चय से ग्रहण के योग्य **वाजम्**=बल को **मक्षु**=शीघ्र ही **भरति**=प्राप्त कराते हैं। और जो प्रभु **स्पार्हराधाः**=स्पृहणीय धनवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का आराधक प्रभु से शक्ति व स्पृहणीय धन प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

संग्राम विजय

तिग्मा यदन्तरशनिः पताति कस्मिँश्चिच्छूर मुहुके जनानाम्।
घोरा यदर्य समृतिर्भवात्यध स्मा नस्तन्वो बोधि गोपाः॥ १७॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **यद्**=जब **कस्मिञ्चित् मुहुके अन्तः**=किसी संग्राम में **तिग्मा अशनिः**=तीव्र विद्युत् **पताति**=हमारे पर गिरती है। और **अर्य**=हे स्वामिन्! **यद्**=जब **जनानां घोरा समृतिः**=लोगों का भयंकर संग्राम (सं ऋत) होता है। **अध**=उस समय **स्मा**=निश्चय से **नः तन्वः बोधि**=हमारे शरीरों का आप ध्यान करिए। **गोपाः**=आप ही तो रक्षक हैं। (२) भयंकर से भयंकर संग्रामों में प्रभुस्मरण ही हमें शक्ति देता है और उसी से प्रेरित होकर हम विजयी बनते हैं।

भावार्थ—संग्रामों में प्रभुस्मरण ही हमें शक्ति व उत्साह प्राप्त कराके विजयी बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अवृकः सखा (निरीह मित्र)

भुवोऽविता वामदेवस्य धीनां भुवः सखावृको वाजसातौ।
त्वामनु प्रमतिमा जगन्मोरुशंसो जरित्रे विश्वध स्याः॥ १८॥

(१) हे प्रभो! आप **वामदेवस्य**=सुन्दर दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले पुरुष के **धीनाम्**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के **अविता भुवः**=रक्षक होते हैं। वस्तुतः प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होकर ही ये अपने कार्यों को कर पाते हैं। आप **वाजसातौ**=इस जीवन-संग्राम में हमारे **अवृकः**=किसी भी प्रकार के लोभ से रहित **सखा भुवः**=मित्र होते हैं। आपकी मित्रता ही हमें इस संग्राम में विजयी बनाती है। (२) **त्वाम् अनु**=आपकी उपासना के अनुपात में ही **प्रमतिम्**=प्रकृष्ट बुद्धि को **आजगन्म**=प्राप्त हों। इस बुद्धि के अनुसार कार्य करते हुए ही हम विजयी होंगे। हे प्रभो! आप **जरित्रे**=स्तोता के लिए **विश्वध**=सदा **उरु शंसः स्याः**=अत्यन्त कर्त्तव्यों का शंसनवाले होइये। आप से ही कर्त्तव्य ज्ञान को प्राप्त करके हम भटकने से बच पायेंगे।

भावार्थ—प्रभु हमारी बुद्धियों के रक्षक हैं। संग्राम में हमारे सच्चे साथी हैं। प्रभु की उपासना से ही शुद्धबुद्धि प्राप्त होती है और प्रभु ही उपासक के लिए कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सदा प्रभुस्तवन

एभिर्नृभिरिन्द्र त्वायुभिष्ट्वा मघवद्भिर्मघवन्विश्व आजौ।
द्यावो न द्युम्नैरभि सन्तो अर्यः क्षपो मदेम शरदश्च पूर्वीः॥ १९॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **मघवन्**=सब ऐश्वर्योंवाले प्रभो!

त्वायुभिः=तेरी प्राप्ति की कामनावाले, अतएव **मघवद्भिः**=(मघ=ऐश्वर्य, यज्ञ 'मख') ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले **एभिः नृभिः**=इन मनुष्यों के साथ, अर्थात् सदा ऐसे पुरुषों के संग में रहते हुए, **विश्वे आजौ**=सब युद्धों में **अर्यः**=शत्रुओं को **अभिसन्तः**=अभिभूत करते हुए **क्षपः**=रात्रियों में **च**=तथा **पूर्वीः शरदः**=इन (वह्वीः सा०) जीवन के बहुत वर्षों में **त्वा मदेम**=आपको स्तुतियों से प्रीणित करें, अर्थात् हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनें। आपका सच्चा स्तवन यही है कि हम संयोग से उत्तम वृत्तिवाले होते हुए इस जीवन-संग्राम में वासनाओं से अभिभूत न हों। (२) वासनाओं को अभिभूत करते हुए हम इस प्रकार दीप्त हों **न**=जैसे कि **द्यावः**=द्युलोक **द्युम्नैः**=ज्योतियों से दीप्त होते हैं। सत्संग ही हमारी इस ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभुप्रवण यज्ञशील लोगों के सम्पर्क में अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए वासनाओं को विनष्ट करें। प्रभुस्मरण करते हुए जीवनयात्रा में आगे बढ़ें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु से रक्षणीय

एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम्।
नू चिद्यथा नः सख्या वियोषदसन्न उग्रोऽविता तनूपाः ॥ २० ॥

(१) **भृगवः**=ज्ञानदीप्त शिल्पी **न**=जैसे **रथम्**=रथ को बनाते हैं, **एवा**=इसी प्रकार **इत्**=निश्चय से **वृषभाय**=शक्तिशाली **वृष्णे**=सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **ब्रह्म अकर्म**=स्तुति को करते हैं। यह प्रभुस्तवन ही हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए रथ बन जाता है। (२) हम ब्रह्म (स्तुति व ज्ञान) को इसलिए करते हैं कि वे प्रभु **नः**=हमारी **सख्या**=मित्रताओं को **नू चित् वियोषत्**=पृथक् नहीं कर देते, अर्थात् इस ज्ञान से ही हमारी प्रभु के साथ मित्रता बनी रहती है। इस ज्ञान से ही वे **उग्रः**=तेजस्वी प्रभु **नः**=हमारे **अविता**=रक्षक व **तनूपाः**=शरीरों का पालन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान व स्तुति द्वारा प्रभु की मित्रता पाकर प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रथ्यः सदासाः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ २१ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नु**=अब **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **नु**=निश्चय से **गृणानः**=ज्ञान का उपदेश करते हुए, **जरित्रे**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले स्तोता के लिए **इषम्**=प्रेरणा को **न**=इस प्रकार **पीपेः**=आप्यायित करते हैं, जैसे कि **नद्यः**=नदियों को जल से। हम प्रभुस्तवन करते हैं और प्रभु द्वारा प्रेरणाओं से आप्यायित (वृद्ध) होते हैं। (२) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **नव्यम्**=अतिशयेन स्तुत्य **ब्रह्म**=ज्ञान **अकारि**=हमारे से किया जाता है। प्रशस्तज्ञान को प्राप्त करके ही हम आपकी प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। हम **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा **रथ्यः**=उत्तम शरीररूप रथवाले तथा **सदासाः**=(सदा+सा 'सन् संभक्तौ') सदा सम्भजनशील व (स+दासाः) अपने को आपके प्रति अर्पण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें ज्ञानोपदेश करते हुए सत्कर्मों की प्रेरणा देंगे।

परिणामतः उत्तम शरीर-रथवाले व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनेंगे।

सूक्त का संक्षेप में भाव यही है कि 'इन्द्र' का स्तवन करते हुए हम भी आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले 'इन्द्र' ही बनेंगे। इसी इन्द्र का स्तवन अगले सूक्त में भी है—

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वासना विनाश व ज्ञान प्रवाह

त्वं म॒हाँ इ॑न्द्र॒ तुभ्यं॑ ह॒ क्षा अनु॑ क्ष॒त्रं मं॒हना॑ मन्यत॒ द्यौः।
त्वं वृ॒त्रं शव॑सा जघ॒न्वान्त्सृ॒जः सिन्धूँ॒रहि॑ना जग्रसा॒नान्॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **महान्**=पूज्य हैं। **तुभ्यम्**=आपके लिए **ह**=निश्चय से **क्षाः**=पृथिवी **मंहना**=नानाविध पदार्थों के दान द्वारा **क्षत्रम्**=आपके बल को **अनु मन्यत**=अनुमत करती है। पृथिवी से प्राप्त इन सब पदार्थों में परमात्मा की ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार **द्यौः**=द्युलोक आपके बल को अनुमत करता है। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **शवसा**=शक्ति द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **जघन्वान्**=नष्ट करते हैं। इस **अहिना**=(आहन्ति) हमारा हनन करनेवाली वासना से **जग्रसानान्**=निगले जाते हुए-विनष्ट किये जाते हुए, **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **सृजः**=आप उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवी लोक के सब पदार्थों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। प्रभु हमारी वासना को विनष्ट करते हैं और हमारे ज्ञान-प्रवाहों को उत्पन्न करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चराचर के शासक प्रभु

तव॑ त्वि॒षो जनि॑मन्रेजत॒ द्यौ रेज॒द्भूमि॑र्भि॒यसा॒ स्वस्य॑ म॒न्योः।
ऋ॒घा॒यन्त॑ सु॒भ्व१ः॒ पर्व॑तास॒ आर्द॒न्धन्वा॑नि स॒रय॑न्त॒ आपः॑ ॥ २ ॥

(१) हे इन्द्र! **तव**=आपकी **त्विषः**=दीप्ति के **जनिमन्**=प्रादुर्भूत होने पर **द्यौः**=मस्तिष्क-रूप द्युलोक **रेजत**=चमक उठता है। प्रभु की दीप्ति के प्रादुर्भूत होने पर **भूमिः**=यह शरीररूप पृथिवी भी **रेजद्**=तेजस्विता से दीप्त हो उठती है। (२) इस **स्वस्य**=आत्मा के **मन्योः**=क्रोध के **भियसा**=भय से **सुभ्वः**=महान् **पर्वतासः**=पर्वत **ऋघायन्त**=काँप उठते हैं। 'पर्वत' शब्द मेघ के लिए भी प्रयुक्त होता है। ये पर्वतरूप मेघ काँप उठते हैं और **धन्वानि**=मरुस्थलों में भी **आपः** **सरयन्ते**=जलों को प्राप्त कराते हैं और **आर्दन्**=उन मरुस्थलों की प्यास बुझाते हैं (पिपासाह अपीडयन् सा०)।

भावार्थ—चेतन जगत् में प्रभु की दीप्ति के प्रादुर्भाव होने पर मस्तिष्क व शरीर दोनों ही दीप्त होते हैं। अचेतन जगत् भी मानो प्रभु के क्रोध के भय से काँप उठता है। मेघ मरुस्थल पर भी वर्षा को करके उस मरुस्थल की प्यास बुझा देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानप्रवाह

भि॒नद्गि॒रिं शव॑सा॒ वज्र॑मि॒ष्णन्ना॑विष्कृण्वा॒नः स॑हसा॒न ओजः॑।
वधी॑द् वृ॒त्रं वज्रे॑ण मन्दसा॒नः सर॒न्नापो॒ जव॑सा ह॒तवृ॑ष्णीः ॥ ३ ॥

(१) प्रभु का उपासक **वज्रम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **इष्णन्**=अपने में प्रेरित करता हुआ **शवसा**=शक्ति द्वारा **गिरिम्**=अविद्यापर्वत को **भिनद्**=विदीर्ण करता है और **सहसानः**=शत्रुओं का मर्षण करता हुआ **ओजः**=ओज को **आविष्कृण्वानः**=प्रकट करता है (२) और जब यह **मन्दसानः**=(मन्दतेः स्तुतिकर्मणः) प्रभु का स्तवन करता हुआ **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **वधीद्**=विनष्ट करता है, तो **हतवृष्णीः**=(हतो वृषा आसां) नष्ट हो गया है वृत्तरूप प्रबल शत्रु जिनका ऐसे **अपः**=ज्ञानजल **जवसा**=वेग से **सरन्**=गतिवाले हो उठते हैं। ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश हुआ और ज्ञानजलों का प्रवाह चला। सरस्वती नदी के जलप्रवाह को इस वृत्र ने ही तो रोका हुआ था। वृत्र के हटते ही वह प्रवाह प्रवाहित हो उठता है।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र से अविद्यापर्वत का विदारण होकर ज्ञान का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुवीर-स्वपस्तम्

सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत्।
य ईं जजान स्वर्यं सुवज्रमनपच्युतं सदसो न भूम ॥ ४॥

(१) हे परमात्मन्! **तेजनिता**=आपका प्रादुर्भाव करनेवाला व्यक्ति **सुवीरः**=उत्तम वीर होता है। **द्यौः मन्यत**=यह प्रकाशमय जीवनवाला होता हुआ सदा मननशील होता है। **इन्द्रस्य कर्ता**=परमैश्वर्यवाले प्रभु का अपने हृदयों में प्रकाश करनेवाला व्यक्ति **स्वपस्तमः**=अत्यन्त उत्तम कर्मों का करनेवाला **भूत्**=होता है। (२) यह उपासक वह बनता है, **यः**=जो कि **ईम्**=निश्चय से **स्वर्यम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **सुवज्रम्**=उत्तम वज्र को-क्रियाशीलतारूप वज्र को **जजान**=उत्पन्न करता है। यह क्रियाशीलतारूप वज्र **अनपच्युतम्**=मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता, अर्थात् यह सदा मार्ग पर चलनेवाला होता है और इसका यह क्रियाशीलतारूप वज्र **सदसः न**=इस ब्रह्माण्डरूप सभा के समान **भूम**=व्यापकतावाला होता है, अर्थात् इसकी क्रियाएँ विश्वहित के दृष्टिकोण से की जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला वीर होता है, ज्ञानी बनता है, उत्तम कर्मों में लगा रहता है और इसकी क्रियाएँ विश्वहित के दृष्टिकोण से होती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'देव, गृणन् व मघवा'

य एक इच्च्यावयति प्र भूमा राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः।
सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति रातिं देवस्य गृणतो मघोनः ॥ ५॥

(१) **यः**=जो **एकः इत्**=अकेला ही **भूम**=इस सम्पूर्ण उत्पन्न ब्रह्माण्ड को **प्रच्यावयति**=प्रलयकाल में विनष्ट करता है, जो **कृष्टीनाम्**=सब श्रमशील मनुष्यों का **राजा**=दीप्त करनेवाला है, **पुरुहूतः**=जिसकी पुकार पालन व पूरण करनेवाली है। **इन्द्रः**=जो परमैश्वर्यशाली है। **एनं सत्यं अनु**=इस सत्यस्वरूप प्रभु की अनुकूलता में **विश्वे**=सब **मदन्ति**=हर्ष का अनुभव करते हैं। (२) उस प्रभु की अनुकूलता में सब हर्ष का अनुभव करते हैं, जो कि **देवस्य**=दिव्यवृत्तिवाले **गृणतः**=स्तुति करते हुए **मघोनः**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुष के **रातिम्**=बन्धु हैं (अ-राति=शत्रु,

राति=मित्र)-इसके लिए सब कुछ प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु भी 'देव, गृणन् व मघवा' हैं-दिव्यगुणों के पुञ्ज, ज्ञानोपदेश करनेवाले व सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। जो भी उपासक इस प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करता है, वही आनन्दित होता है।

भावार्थ—प्रभु की अनुकूलता में ही आनन्द है। उतना ही हमारा जीवन आनन्दमय होता है, जितना कि हम दिव्यगुणोंवाले बनते हैं (देव), ज्ञानी स्तोता बनते हैं (गृणन्) और यज्ञशील होते हैं (मघवा)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वसुपतिर्वसूनाम्

स॒त्रा सोमा॑ अभवन्न॒स्य विश्वे॑ स॒त्रा मदा॑सो बृह॒तो मदि॑ष्ठाः।
स॒त्राभ॑वो॒ वसु॑पति॒र्वसू॑नां॒ दत्रे॒ विश्वा॑ अधिथा॒ इन्द्र कृ॒ष्टीः ॥ ६ ॥

(१) **विश्वे सोमाः**=सब सोम **सत्रा**=सचमुच सदा **अस्य अभवन्**=इसके होते हैं। प्रभु ही सब सोमों के स्वामी हैं। उपासक को भी इन सोमों की प्राप्ति होती है। **बृहतः**=इस सब दृष्टिकोणों से बढ़े हुए प्रभु के **मदासः**=हर्ष **सत्रा**=सदा **मदिष्ठाः**=अत्यन्त आनन्दकर होते हैं। प्रभु का उपासक भी इन आनन्दों को अनुभव करता हुआ सदा प्रसन्न रहता है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **सत्रा**=सचमुच **वसूनां वसुपतिः**=वसुओं के सर्वश्रेष्ठ स्वामी हैं-सब धनों के आप मालिक हैं। आप **विश्वाः कृष्टीः**=सब श्रमशील प्रजाओं को **दत्रे**=धन में **अधिथाः**=धारण करते हैं। श्रम करने पर प्रभु से ही हमें धन प्राप्त कराया जाता है।

भावार्थ—प्रभु श्रमशीलों को धन प्राप्त करा कर आनन्दित करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अहि-व्रश्चन

त्वमध॑ प्रथ॒मं जाय॑मा॒नोऽमे॒ विश्वा॑ अधिथा इन्द्र कृ॒ष्टीः।
त्वं प्रति॑ प्र॒वत॑ आ॒शया॑न॒महिं॒ वज्रे॑ण मघव॒न्वि वृ॑श्चः ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **विश्वाः कृष्टीः**=इन श्रमशील प्रजाओं को **अमे**=(vital air, life-wind) प्राणशक्ति में **अधिथाः**=स्थापित करते हैं। श्रमशील पुरुष ही प्रभु के उपासक हैं। इन्हें प्रभु प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रवतः प्रति**=निम्न मार्गों में **आशयानम्**=निवास करनेवाले **अहिम्**=इस वासनारूप सर्प को **वज्रेण विवृश्चः**=क्रियाशीलतारूप वज्र द्वारा छिन्न-भिन्न कर देते हैं। प्रभु उपासक को क्रियाशील बनाते हैं-क्रियाशीलता द्वारा उसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं। वासना ही 'अहि' है (आहन्ति) विनष्ट करनेवाली है। यह निम्न मार्गों में निवास करती है, अर्थात् जब हम उन्नतिपथ पर चलने का निश्चय करते हैं, तो ये सब वासनाएँ स्वयं विलीन हो जाती हैं। इनके विनष्ट करने के लिए क्रियाशीलता ही वज्र बनती है।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश होते ही उपासक शक्ति का अनुभव करता है। क्रियाशील बनकर वासना को विनष्ट कर डालता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु विनाश व सफलता की प्राप्ति

सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम्।
हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः ॥ ८ ॥

(१) हम उस प्रभु का स्तवन करते हैं, जो कि **सत्राहणम्**=सदा शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, **दाधृषिम्**=सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं, **तुम्रम्**=शक्तिशाली हैं, **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले व परमैश्वर्यशाली हैं। **महान्**=महान् हैं, **अपारम्**=आदि अन्त रहित हैं-उन प्रभु का कोई ओर-छोर नहीं। **वृषभम्**=सब सुखों का वर्षण करनोले व **सुवज्रम्**=उत्तम क्रियाशीलतारूप वज्रवाले हैं। (२) ये प्रभु वे हैं, **यः**=जो कि **वृत्रं हन्ता**=वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। **उत**=और **वाजम्**=शक्ति को **सनिता**=देनेवाले हैं। वासनाविनाश का परिणाम शक्तिप्राप्ति है ही। वे प्रभु **मघानि दाता**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले हैं। **मघवा**=ऐश्वर्यशाली हैं। **सुराधाः**=इन ऐश्वर्यों के द्वारा उत्तम सफलताओं को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रुओं के विनाश द्वारा वास्तविक शक्ति प्राप्त कराते हैं। उत्तम ऐश्वर्यों को देकर हमें सफल बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

संग्राम विजय

अयं वृतश्चातयते समीचीर्य आजिषु मघवा शृण्व एकः।
अयं वाजं भरति यं सनोत्यस्य प्रियासः सख्ये स्याम ॥ ९ ॥

(१) **अयम्**=ये प्रभु **वृतः**=(आवृण्वन्ति) आच्छादित करनेवाली-ढक-सा लेनेवाली अपार **समीचीः**=संगत हुई-हुई शत्रु-सेनाओं को **चातयते**=विनष्ट करते हैं। ये **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यः**=जो कि **आजिषु**=संग्रामों में **एकः शृण्वे**=अद्वितीय सुने जाते हैं। प्रभुस्मरण होने पर किसी भी शत्रु का बचे रहना सम्भव नहीं। (२) **यम्**=जिस को प्रभु **सनोति**=देते हैं **अयम्**=वह व्यक्ति **वाजं भरति**=शक्ति को अपने में भरनेवाला होता है। इसलिए हम भी **अस्य सख्ये**=इसकी मित्रता में **प्रियासः स्याम**=प्रिय हों। प्रभु के मित्र होंगे तो अवश्य ही शक्ति प्राप्त करनेवाले होंगे। शक्ति प्राप्त करके शत्रुओं का संहार करनेवाले होंगे।

भावार्थ—प्रभु के हम मित्र बनें। प्रभु हमें शक्ति देंगे और हमारे शत्रुओं का संहार कर देंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'राजस व तामस' भावों का विनाश

अयं शृण्वे अध जयन्नुत घ्नन्नयमुत प्र कृणुते युधा गाः।
यदा सत्यं कृणुते मन्युमिन्द्रो विश्वं दृळ्हं भयत एजदस्मात् ॥ १० ॥

(१) **अयम्**=यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **अध**=अब **जयन्**=विजय करता हुआ **शृण्वे**=सुना जाता है, **उत**=और यह **घ्नन्**=शत्रुओं को मारता हुआ सुन पड़ता है। **उत**=और **अयम्**=यह इन्द्र **युधा**=युद्ध द्वारा, काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करने द्वारा **गाः प्रकृणुते**=ज्ञानवाणियों को हमारे में प्रकाशित करता है। काम-क्रोध आदि के पराजय से, आवरण के हट जाने से ज्ञानवाणियों का प्रकाश हो जाता है। (२) इस प्रकार **यदा**=जब यह इन्द्र **सत्यं**

मन्युम्=इस सत्यज्ञान को **कृणुते**=हमारे हृदयों में स्थापित करते हैं, तो **विश्वम्**=सब **दृढम्**=अपने स्थान पर स्थित, अचर और **एजत्**=चर संसार **अस्मात्**=इससे **भयते**=भयभीत हो उठता है। इस सत्यज्ञान के सामने राजस भाव जो अत्यन्त 'एजत्'-गतिवाले हैं तथा तामस भाव जो अत्यन्त निश्चल व 'दृढ़' हैं, वे सब के सब विनष्ट हो जाते हैं और मनुष्य सात्विक स्थिति में हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये शत्रुओं का पराजय करते हैं। वे हमें वह सत्यज्ञान देते हैं, जिससे सब राजस व तामस भाव नष्ट होकर हमारी सब गुण में स्थिति होती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उन्नति के साधनों का संग्रह

समिन्द्रो गा अजयत्सं हिरण्या समश्विया मघवा यो ह पूर्वीः।
एभिर्नृभिर्नृतमो अस्य शाकै रायो विभक्ता संभरश्च वस्वः ॥ ११ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु! **गाः**=ज्ञानेन्द्रियों को **समजयत्**=हमारे लिए विजय करते हैं, **हिरण्या**=हितरमणीय ज्ञान-ज्योतियों को **सम्**=(अजयत्) हमारे लिए जीतते हैं **अश्विया**=कर्मेन्द्रियों के समूह को **सम्**=(अजयत्) हमारे लिए विजय करते हैं। वे प्रभु हमारे लिए इनका विजय करते हैं, **यः**=जो **ह**=निश्चय से **पूर्वीः**=इन बहुत-सी शत्रु-सेनाओं का पराजय करनेवाले हैं। (२) **शाकैः**=सामर्थ्यों के साथ **नृतमः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले वे प्रभु **एभिः नृभिः**=इन उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों के दृष्टिकोण से **अस्य**=इस **रायः**=धन का **विभक्ता**=देनेवाले होते हैं **च**=और **वस्वः**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों के **सम्भरः**=भरण करनेवाले हैं। इन धनों व वसुओं के द्वारा वे प्रभु हमें सब साधनों को प्राप्त कराते हैं। इन साधनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम आगे बढ़ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानों, धनों व वसुओं को प्राप्त कराते हैं। इनके द्वारा वे हमें उन्नतिपथ पर बढ़ने के योग्य बना देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

माता 'वेद' तथा पिता 'प्रभु' का स्मरण

कियत्स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत्पितुर्जनितुर्यो जजान।
यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियर्ति वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः ॥ १२ ॥

(१) जीव के 'प्रभु' पिता हैं तो यह 'वेद' जीव की माता के समान हैं 'स्तुतामया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्'। **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **कियत् स्वित्**=भला कितना **मातुः अध्येति**=अपनी इस वेदमाता का स्मरण करता है? वेदमाता के स्मरण का भाव उसका अध्ययन करना है। सामान्यतः मनुष्य वेद का अध्ययन न कर अन्य बातों में ही लगा रहता है। पर यह इन्द्र वेदमाता को न भूलकर उसके अध्ययन का व्रत लेता है। (२) यह इन्द्र **कियत्**=कितना **पितुः**=उस रक्षक **जनितुः**=उत्पादक प्रभु का स्मरण करता है, **यः जजान**=जिस प्रभु ने इसे उत्पन्न किया है। जो प्रभु **अस्य**=इसके **शुष्मम्**=बल को **मुहुकैः**=बारम्बार **इयर्ति**=प्रेरित करते हैं। **स्तनयद्भिः अभ्रैः**=गर्जते हुए मेघों से **जूतः**=प्रेरित **वातः न**=वायु के समान उसको वे प्रभु बलसम्पन्न कर देते हैं। यह व्यक्ति शक्तिशाली होता है और 'पर्जन्यनिनदोपम' बादल के समान गर्जती हुई इसकी वाणी होती है। यह इन्द्र अपने पिता 'महेन्द्र' से ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। परन्तु सामान्य मनुष्य प्रभु को भूला ही रहता है।

भावार्थ—वेदमाता व पिता प्रभु का अध्ययन व स्मरण करना ही मनुष्य के लिए हितकर है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'दुरितानि परासुव'–'भद्रं आसुव'

क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोतीयर्ति रेणुं मघवा समोहम्।
विभञ्जनुरशनिमाँइव द्यौरुत स्तोतारं मघवा वसौ धात् ॥ १३ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जो प्रभु का स्मरण करता है उस **त्वम्**=(एकम् 'त्व' शब्दः एकवाची) **क्षियन्तम्**=क्षीण होते हुए को **अक्षियन्तम्**=न क्षीण होता हुआ **कृणोति**=कर देते हैं। और **मघवा**=वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **समोहम्**=मोह की भावना के साथ **रेणुम्**=अधोगति के कारणभूत पाप को–राजसी वृत्ति को **इयर्ति**=इस स्तोता से दूर कर देते हैं। (२) **अशनिमान् द्यौः इव**=विद्युत्वाले आकाश की तरह ये प्रभु **विभञ्जनुः**=स्तोता के सब पापों का भञ्जन करनेवाले हैं। **उत**=और **मघवा**=वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **स्तोतारम्**=स्तोता को **वसौ**=सब वसुओं में **धात्**=स्थापित करते हैं। सब अशुभों का विनाश करके निवास के लिए आवश्यक शुभ वस्तुओं को उसे प्राप्त करते हैं। 'दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव'।

भावार्थ—प्रभु स्तोता के पापों को दूर करके उसे सब वसुओं में स्थापित करते हैं। इस प्रकार वे उसे क्षीण नहीं होने देते।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सूर्य-चक्र प्रवर्तक प्रभु

अयं चक्रमिषणत्सूर्यस्य न्येतशं रीरमत्ससृमाणम्।
आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ॥ १४ ॥

(१) **अयम्**=ये प्रभु **सूर्यस्य चक्रम्**=सूर्य के चक्र को **इषणत्**=प्रेरित करते हैं, अर्थात् सूर्य को गति देनेवाले ये प्रभु ही हैं। **ससृमाणम्**=अत्यन्त गति करते हुए **एतशम्**=इस अश्व को (सूर्य के अश्व को) **निरीरमत्**=ये प्रभु ही नितरां रमण कराते हैं। सूर्य अपनी सात किरणों के कारण 'सप्ताश्व' कहलाता है। इन अश्वों को इस ब्रह्माण्ड में प्रभु ही विविध क्रियाएँ करने में समर्थ करते हैं। (२) यह **कृष्णः**=आकर्षण से आकृष्ट हुआ-हुआ, **जुहुराणः**=(The moon सा०) चन्द्र **ईम्**=निश्चय से **आजिघर्ति**=(आ ईषदर्थे) कुछ दीप्तिवाला होता है। **त्वचः**=(त्वच्=स्पर्श, वायु का यह गुण है) स्पर्श गुणवाले वायु के **बुध्ने**=आधारभूत और **अस्य रजसः**=इस उदक के **योनौ**=उत्पत्ति-स्थान इस अन्तरिक्ष में वे प्रभु सूर्य-चक्र को चलाते हैं और इन गति करते हुए सूर्याश्वों को नितरां रमण कराते हैं। वस्तुतः इन सूर्यकिरणों के कारण ही वायु का प्रवाह व जल का मेघरूप से वर्षण सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्य-चक्र को चलाते हैं। इस सूर्य से ही चन्द्रमा को प्रकाश मिलता है। सूर्यकिरणें ही वायुप्रवाह व जलवर्षण का कारण बनती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—याजुषीपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दिन-रात चलनेवाला यज्ञ

असिक्न्यां यजमानो न होता ॥ १५ ॥

(१) **असिक्न्याम्**=रात्रि में भी **यजमानः न**=यज्ञशील की तरह **होता**=वे प्रभु आहुति देनेवाले हैं। उस प्रभु का यह सृष्टियज्ञ दिन-रात चलता है। 'दिन में प्रभु कार्य करते हों और रात्रि में सो जाते हों' ऐसी बात नहीं है। प्रभु का यह सृष्टियज्ञ दिन-रात चलता है। दिन में प्रभु सूर्य द्वारा ब्रह्माण्ड को प्रकाश प्राप्त कराते हैं, तो रात्रि में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को करनेवाले हैं। (२) प्रभु का यह सृष्टियज्ञ दिन-रात चलता है।

भावार्थ—प्रभु इस सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

गव्यन्ताः अश्वायन्तः

गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः।
जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिमा च्यावयामोऽवते न कोशम्॥ १६॥

(१) **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले, **गव्यन्तः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामनावाले, **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वों की कामनावाले हम उस **इन्द्रम्**=सब इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभु को **सख्याय**=मित्रता के लिए **आच्यावयामः**=अपने में प्राप्त कराते हैं। **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए हम उस **वृषणम्**=शक्तिशाली प्रभु को अपने में प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) **जनीयन्तः**=सब प्रकार के विकासों की कामनावाले हम **जनिदाम्**=विकास को देनेवाले **अक्षित ऊतिम्**=अक्षीण रक्षणवाले उस प्रभु को अपने में आगत करते हैं। उसी प्रकार प्रभु को हम अपने में उतारते हैं, **न**=जैसे कि **अवते**=कूप में **कोशम्**=जलोद्धरण पात्र को। दिव्यता को अपने अन्दर अवतीर्ण करके हम भी प्रभु जैसा बनने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को अपने में धारण करके हम उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, शक्तियों व विकासों को प्राप्त करते हैं। कूएँ में पात्र की तरह हम अपने में दिव्यता के अवतरण के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

त्राता-आपिः

त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्।
सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः॥ १७॥

(१) **ददृशानः**=पालक के नाते सब को देखते हुए आप **नः त्राता बोधि**=हमारे रक्षक होइये। **आपिः**=आप मित्र हैं, **अभिख्याता**='प्रकृति व आत्मा' दोनों का ज्ञान देनेवाले हैं। **सोम्यानाम्**=सोम्य पुरुषों के **मर्डिता**=सुखी करनेवाले हैं। (२) **सखा**=सब के मित्र, **पिता**=पालक हैं। **पितॄणां पितृतमः**=पालकों में पालकतम हैं। **ईम्**=निश्चय से **लोकं कर्ता**=प्रकाश को (आलोक को) करनेवाले हैं, **उ**=तथा **उशते**=आपकी प्राप्ति की कामनावाले पुरुष के लिए **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले हैं। प्रकाश प्राप्त कराके आप ही उत्कृष्ट दीर्घजीवन देते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही रक्षक हैं। प्रकाश को प्राप्त कराके उत्कृष्ट जीवन देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सखा वयोधाः

सखीयतामविता बोधि सखा गृणान इन्द्र स्तुवते वयो धाः।
वयं ह्या ते चकृमा सबाध आभिः शमीभिर्महयन्त इन्द्र॥ १८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सखीयताम्**=मित्रता की कामनावालों के **अविता बोधि**=रक्षक होइये। **सखा**=आप मित्र हैं, वे मित्र जो कि **गृणानः**=उपदेश देनेवाले हैं (गृणति उपदिशति) कर्तव्य मार्ग का ज्ञान देनेवाले हैं। **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले के लिए **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन का धारण करते हैं। (२) **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **सबाधः**=शत्रुओं के बाधन के साथ होते हुए-शत्रुओं का बाधन करते हुए **ते आचकृमा**=आपका उपासन करते हैं-आपका आह्वान करते हैं। हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **आभिः शमीभिः**=इन शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मों द्वारा हम **महयन्तः**=आपका पूजन करनेवाले हों। आपका कर्मों द्वारा पूजन करते हुए हम आपको पुकारें। आपके द्वारा ही तो हम शत्रुओं का बाधन कर सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान देते हुए हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भक्तप्रिय प्रभु

स्तुत इन्द्रो मघवा यद्ध वृत्रा भूरीण्येको अप्रतीनि हन्ति।
अस्य प्रियो जरिता यस्य शर्मन्नकिर्देवा वारयन्ते न मर्ताः॥ १९॥

(१) **मघवा**=परमैश्वर्यवाला **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक प्रभु **यद्**=जब **ह**=निश्चय से **स्तुतः**=स्तुति किया जाता है, तो **एकः**=अकेला ही **भूरीणि**=अनेक **अप्रतीनि**=अत्यधिक शक्तिशाली **वृत्रा**=वासनारूप शत्रुओं को **हन्ति**=विनष्ट करता है। **जरिता**=स्तोता **अस्य प्रियः**=इस प्रभु का प्रिय होता है, (२) **यस्य शर्मन्**=जिस प्रभु की शरण में वर्तमान स्तोता को **न किः देवाः**=न तो देव और **न मर्ताः**=नां ही मनुष्य **वारयन्ते**=रोक पाते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बना हुआ यह स्तोता उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता चलता है। इसकी उन्नति को कोई भी रोकनेवाले नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनते हैं। प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। प्रभु को भक्त प्रिय होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मघवा-विरप्शी

एवा न इन्द्रो मघवा विरप्शी करत्सत्या चर्षणीधृदनर्वा।
त्वं राजा जनुषां धेह्यस्मे अधि श्रवो माहिनं यज्जरित्रे॥ २०॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक, **मघवा**=ऐश्वर्यशाली, **विरप्शी**=विशिष्ट ज्ञानों का देनेवाला प्रभु **नः**=हमारे लिए **सत्या करत्**=सत्यज्ञानों को करते हैं। प्रभु वेदवाणी द्वारा सब सत्य ज्ञानों को देते हैं। इस ज्ञान द्वारा ही वे **चर्षणीधृत्**=सब मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं। और **अनर्वा**=हमें न हिंसित होने देनेवाले हैं। ज्ञान ही हमारा रक्षक बनता है 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **जनुषाम्**=सब उत्पन्न प्राणियों के **राजा**=नियामक-शासक हैं। **अस्मे**=हमारे लिए **श्रवः**=उस ज्ञान को **अधि धेहि**=आधिक्येन धारण करिए। उस

ज्ञान को, **यत्**=जिस **माहिनम्**=महनीय ज्ञान को **जरित्रे**=स्तोता के लिए आप धारण करते हैं। वस्तुतः ज्ञान द्वारा ही प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करके हमें उत्कृष्ट जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। ज्ञान द्वारा शत्रुसंहार के योग्य बनाते हैं। ज्ञान ही प्रभु का सर्वमहान् धन है। भक्त के लिए प्रभु इसे प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

नव्यं ब्रह्म

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ २१ ॥

मन्त्र व्याख्या १६.२१ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त यही भाव व्यक्त कर रहा है कि प्रभु ज्ञान देकर हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं। अगले सूक्त में इसी ज्ञान को देनेवाली 'अदिति' (अदीना देवमाता, वेद) का उल्लेख है—

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुराण धर्ममार्ग

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे।
अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः ॥ १ ॥

(१) **अयम्**=यह **पन्थाः**=धर्म का मार्ग **अनु-वित्तः**=गुरु-शिष्य परम्परया अनुक्रमेण जाना जाता है। **पुराणः**=यह सनातन है-सदा से चला आ रहा है-सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु ने इसका ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' इन चार ऋषियों को दिया। उनसे अगले ऋषियों ने प्राप्त किया और यह क्रम से चला आया। यह वह मार्ग है, **यतः**=जिससे **विश्वे देवाः**=सब देव **उद् अजायन्त**=उत्कर्षेण प्रादुर्भूत होते हैं। इस मार्ग पर चलने से दिव्य गुणों का विकास होता है। (२) **अतः**=इसी से **चित्**=निश्चयपूर्वक **आजनिषीष्ट**=मनुष्य विकास को प्राप्त हुआ और **प्रवृद्धः**=प्रकृष्ट बुद्धिवाला हुआ। **अमुया**=इस मार्ग पर चलने द्वारा **मातरम्**=इस वेदमाता को **पत्तवे मा कः**=पतन के लिए मत कर, अर्थात् वेदमाता द्वारा कहे हुए मार्ग का आक्रमण करता हुआ तू पतन से अपने को बचानेवाला हो। तेरे उत्कर्ष में ही वेदमाता का भी उत्कर्ष है। तेरे आचरण में हीनता के आने से वेद की भी निन्दा होगी कि 'वेद पढ़े हुए ऐसे ही होते हैं?'

भावार्थ—प्रभु ने वेद द्वारा मार्ग का उपदेश दिया है। उस पर चलकर ही हम अपने विकास व उत्कर्ष को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वासना संग्राम-तत्त्वज्ञान

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥ २ ॥

(१) **अहम्**=मैं **अतः**=गतमन्त्र में वर्णित पुराण धर्ममार्ग से **न**=नहीं **निः अया**=(अयानि) बाहर जाता हूँ। उस पुराण धर्ममार्ग से ही चलता हूँ। **एतत्**=यह पुराणधर्म **दुर्गहः**=कष्टों का नाश करनेवाला है (दुर्ग-हा) अथवा 'दुर् गहा'-कठिनता से ग्रहण करने योग्य है 'क्षुरस्य धारा निशिता

दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'। **तिरश्चता**=टेढ़ी गतिवाले (तिरः अञ्च्) **पार्श्वात्**=पासों से-सीमाओं से **निर्गमाणि**=बाहर होता हूँ। सीमाओं व पासों में न जाकर मध्यमार्ग से चलता हूँ। पक्ष में न गिरते हुए आचरण करना ही तो न्याय है। (२) **मे**=मेरे द्वारा **बहूनि**=बहुत से **कर्त्वानि**=कर्त्तव्य **अकृता**=नहीं किये गये हैं। कितने ही मेरे कर्त्तव्य-कर्म बचे हुए हैं। **त्वेन**=एक कर्त्तव्य-कर्म के द्वारा तो मैं **युध्यै**=वासनाओं के साथ संग्राम करता हूँ। **त्वेन**=तथा एक के द्वारा **संपृच्छै**=(प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) ज्ञानवाणियों को परिप्रश्नों द्वारा जानने का प्रयत्न करता हूँ। मुख्य कर्त्तव्य दो ही हैं—(क) वासनाओं के साथ संग्राम, (ख) ज्ञानवाणियों के तत्त्व का दर्शन।

भावार्थ—मैं अति में न जाकर मध्यमार्ग से चलता हूँ। वासनाओं के साथ संग्राम करता हुआ तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वेदमाता का अनुसरण (follower बनना)

परायतीं मातरमन्वचष्ट न नानु गान्यनु नू गमानि।
त्वष्टुर्गृहे अपिबत्सोममिन्द्रः शतधन्यं चम्वोः सुतस्य॥ ३॥

(१) आत्मालोचन करनेवाला पुरुष **परायतीम्**=दूर जाती हुई **मातरम्**=इस वेदमाता को **अन्वचष्ट**=देखता है। देखता है कि यह वेदमाता मेरे से दूर और दूर होती जाती है-मैं इसका स्वाध्याय ठीक रूप में नहीं कर रहा। ऐसा देखकर वह निश्चय करता है कि **न न अनुगानि**='मैं इसके पीछे नहीं जाता' ऐसी बात नहीं। **नू**=निश्चय से **अनुगमानि**=इसके पीछे जाता ही हूँ। मैं इसका अनुसरण अवश्य करता हूँ। (२) इसी उद्देश्य से **त्वष्टुः**=उस निर्माता प्रभु के **गृहे**=बनाए हुए इस शरीररूप गृह में **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सोमं अपिबत्**=सोम का पान करता है। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करता है। इस सुरक्षित सोम से ही सूक्ष्म बुद्धिवाला बनकर वह वेदमाता को समझनेवाला बनता है। उस सोम का इन्द्र पान करता है, जो कि **सुतस्य**=सोम का उत्पादन करनेवाले उस निर्माता प्रभु के **चम्वोः**=इन द्यावापृथिवी में-मस्तिष्क व शरीर में **शतधन्यम्**=शतवर्ष पर्यन्त उत्तम धन को स्थापित करनेवाला है। यह सोम मस्तिष्क में ज्ञानधन की स्थापना करता है, तो शरीर में शक्तिधन की।

भावार्थ—वेदमाता का हमें अनुगमन करना चाहिए। इसके अनुगमन कर सकने के लिए शरीर में सोमरक्षण द्वारा बुद्धि को सूक्ष्म बनाना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अलौकिक शक्ति (प्रतिमान का अभाव)

किं स ऋधक्कृणवद्यं सहस्रं मासो जभार शरदश्च पूर्वीः।
नही न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वाः॥ ४॥

(१) **किम्**=क्या ही अद्भुत कार्य **सः**=वह व्यक्ति **ऋधक्**=सचमुच (truely) **कृणवत्**=करता है, **यम्**=जिसको वे प्रभु **सहस्रं मासः**=हजारों महीनों **च**=और **पूर्वीः**=(बह्वीः) बहुत से वर्षों तक **जभार**=धारण करते हैं। प्रभु से धारित यह व्यक्ति प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर अद्भुत कार्यों को कर पाता है। सामान्य मनुष्य के लिए उस प्रकार कार्य को कर सकना सम्भव नहीं होता। (२) **अस्य**=इस प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न बने हुए व्यक्ति का **नु**=निश्चय से **जातेषु अन्तः**=उत्पन्न हुए हुओं के अन्दर **उत**=और **ये जनित्वाः**=जो भविष्य में होनेवाले हैं, उनमें

प्रतिमानम्=मुकाबिले का **नहि अस्ति**=नहीं होता है। अलौकिक ही इसकी शक्ति होती है, उसकी, जिसे कि प्रभु धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु से धारित व्यक्ति अद्भुत शक्तिसम्पन्न होता है और सचमुच अलौकिक कार्य कर पाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदमाता की गोद में

अ॒व॒द्यमि॑व॒ मन्य॑माना॒ गुहा॑क॒रिन्द्रं॑ मा॒ता वी॒र्ये॑णा॒ न्यृ॑ष्टम्।
अथोद॑स्थात्स्व॒यमत्कं॒ वसा॑न॒ आ रोद॑सी अपृणा॒ज्जाय॑मानः॥ ५॥

(१) 'वेद' माता है। वह अपने सन्तान 'इन्द्र' का भला चाहती हुई उसे सुरक्षित करती है। **अवद्यम्**=पाप को **इव मन्यमाना**=समझती हुई, 'कहीं यह मेरा सन्तान अमंगल से अभिभूत न हो जाए' ऐसा सोचती हुई यह वेदमाता **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **गुहा अकः**=अपनी गोद रूप गुफा में सुरक्षित करती है-अपने संवरण में (गुह संवरणे) रखती है। उस इन्द्र को, जो कि **वीर्येण न्यृष्टम्**=वीर्य से निश्चय पूर्वक संगत है। (२) **अथ**=अब, वेदमाता से सुरक्षित हुआ-हुआ यह इन्द्र **उद् अस्थात्**=ऊपर उठता है-संसार के विषयों में फँसता नहीं। यह संसार के विषयों में न फँसने से **स्वयम्**=अपने **अत्कम्**=सब को **वसानः**=धारण किये हुए होता है। संसार के विषयों से लिप्त न होने से अपने तेजस्वी रूपवाला होता है। यह **जायमानः**=शक्तियों का विकास करता हुआ **रोदसी**=द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर दोनों को **आ अपृणात्**=समन्तात् पूरित करता है। मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से भरता है, तो शरीर को शक्ति से पूर्ण करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदमाता की गोद में सुरक्षित हुआ-हुआ व्यक्ति विषयाश्रान्त न होकर अपने तेजस्वी रूप को धारण करता है-दीप्त मस्तिष्क व तेजस्वी शरीरवाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

माता की बात सुनना

ए॒ता अ॑र्षन्त्यलला॒भव॑न्तीॠ॒तावरी॑रिव सं॒क्रोश॑मानाः।
ए॒ता वि पृ॑च्छ॒ किमि॒दं भ॑नन्ति॒ कमापो॒ अद्रिं॑ परि॒धिं रु॑जन्ति॥ ६॥

(१) **एताः**=ये गतमन्त्र में वर्णित वेदवाणियाँ-वेदमाता की वाणियाँ **अर्षन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। ये हमारे लिए **अलला भवन्तीः**=(अलं वारणं लान्ति) पाप से निवारण की शक्ति प्राप्त कराती हुई होती हैं। **ऋतावरीः इव**=ये हमारे लिए ऋत का-सत्य का रक्षण करनेवाली होती हैं। **संक्रोशमानाः**=ये हमें पुकार-पुकार कर अवध (पाप) से बचा रही हैं। (२)हे इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष)! तू **एताः विपृच्छ**=इन से पूछ-इन से यह जानने की कामनावाला हो कि **किं इदं भनन्ति**=क्या यह कह रही हैं। उनके अनुसार ही तू जीवन को बिताने का प्रयत्न कर। ये **आपः**=व्यापक ज्ञानवाली वाणियाँ (आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु), वेदवाणी रूप माताएँ, **परिधिम्**=हमें चारों ओर से घेर लेनेवाले **कं अद्रिम्**=किसी अविद्या-पर्वत को **रुजन्ति**=भग्न करती हैं। अविद्या को नष्ट करके ये हमारा कल्याण करती हैं। इन की वाणी को तू सुन। यही तुझे अवध से बचाएगी।

भावार्थ—वेदमाता की बात को हम सुनें। यह सुनना ही हमें पाप में फँसने से बचाएगा। हमारे घेर लेनेवाले अविद्या-पर्वत को विनष्ट करेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पाप-पुण्य का ज्ञान

किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्तेन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः।
ममैतान्पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून्॥ ७॥

(१) **अस्मै**=इस वेदमाता के पुत्र के लिए-वेदानुकूल जीवन बितानेवाले के लिए **निविदः**=ये निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाली वेदवाणियाँ **किं उ अवद्यम्**='क्या निश्चय से पाप है' इस बात को **स्वित्**=निश्चयपूर्वक **भनन्त**=वह देती हैं-प्रतिपादित कर देती हैं। इस प्रकार पाप का ज्ञान देकर उसे पाप से बचाती हुईं ये **आपः**=व्यापक ज्ञानवाली वेदवाणियाँ **इन्द्रस्य**=इन्द्र का **दिधिषन्ते**=धारण करती हैं। पाप-पुण्य का ज्ञान देनेवाली ये वेदवाणियाँ वस्तुतः पापों से बचाकर हमारा कल्याण करती हैं-हमें विनाश से बचाती हैं। (२) वेदमाता कहती है कि **मम पुत्रः**=मेरा यह सन्तान, मेरे द्वारा अपना पवित्रीकरण (पुनाति) व त्राण (त्रायते) रक्षण करनेवाला यह मेरा पुत्र **महता वधेन**=इस महतीय (महान्) ज्ञानरूप वज्र से **वृत्रं जघन्वान्**=वासना को विनष्ट करनेवाला होकर **एतान् सिन्धून्**=इन ज्ञानप्रवाहों को **वि असृजत्**=विशेषरूप से अपने अन्दर उत्पन्न करता है। वासना ही ज्ञानप्रवाह की प्रतिबन्धिका है। इस वासना के विनाश से ज्ञानप्रवाह फिर से ठीक रूप में होने लगता है। यह ज्ञानप्रवाह सब मलों को क्षरित कर देता है।

भावार्थ—वेदज्ञान हमें पाप-पुण्य का ज्ञान देकर पापों से बचाता हुआ हमारा धारण करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

युवति+कुषवा (स्त्री+शराब)

ममच्चन त्वा युवतिः परास ममच्चन त्वा कुषवा जगार।
ममच्चिदापः शिशवे ममृड्युर्ममच्चिदिन्द्रः सहसोदतिष्ठत्॥ ८॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि 'क्या पाप है'? इस बात का वेद ज्ञान देता है। सो प्रस्तुत मन्त्र में सर्वमहान् पापों को उल्लेख करते हैं। हे जीव! **ममच्चन**=मदमस्त अवस्था का अनुभव करती हुई **युवतिः**=एक युवा स्त्री **त्वा**=तुझे **परा आस**=धर्म के मार्ग से परे फेंक देती है। उसके सौन्दर्य से मुग्ध हुआ-हुआ तू धर्म से गिर जाता है। इस प्रकार **ममच्चन**=निश्चय से मद (नशे) वाली-मद को पैदा करनेवाली 'कुषवा'=(कुत्सितः सवो यस्याः) अत्यन्त अशुभ सव (=उत्पत्ति) वाली यह शराब (शर+आब) **त्वा**=तुझे **जगार**=निगल ही जाती है। व्यभिचार व सुरापान ही वे दो महान् पाप हैं, जो तुझे नरक के गड्ढे में गिरा देते हैं। (२) चाहिए तो यह कि **ममच्चित्**=हर्ष को देनेवाले **आपः**=ये जल **शिशवे**=बुद्धि को तीव्र करनेवाले तेरे लिए **ममृड्युः**=सुख करनेवाले हों। इन सर्वोषध सम्पन्न जलों का प्रयोग करता हुआ (अप्सु मे सोमो अवीदन्तर्विश्वानि भेषजा) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **ममच्चित्**=हर्ष को अनुभव करता हुआ **सहसा**=तुरन्त **उदतिष्ठत्**=उठ खड़ा होता है। वह इन विषयों के बन्धन से निकल भागता है। सुरापानादि व्यसनों को तुरन्त छोड़ देता है। वेदमाता की प्रेरणा का यह लाभ होना ही चाहिए।

भावार्थ—स्त्री व शराब हमारे पतन का कारण बनते हैं। हम शराब आदि को छोड़कर जलों का प्रयोग करते हुए अपनी बुद्धि को तीव्र करें और कल्याणभाक् हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

व्यंस (अतिप्रबल काम)

ममच्चन ते मघवन्व्यंसो निविविध्वाँ अप हनू जघान।
अधा निविद्ध उत्तरो बभूवाच्छिरो दासस्य सं पिणग्वधेन॥ ९॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् इन्द्र! **ममच्चन**=अत्यन्त मदवाला होता हुआ **व्यंसः**=यह अतिप्रबल 'काम' **ते**=तेरे पर **निविविध्वान्**=आक्रमण करता हुआ (प्रविध्यन् सा०) तुझे बाणों से पीड़ित करता हुआ, **हनू**=तेरे हनुओं को **अपजघान**=आहत करके नष्ट कर डालता है, अर्थात् तुझे खाने के चस्के में डाल देता है। यह जिह्वा का आस्वाद हमारे सब पतनों का कारण बनता है। (२) **अधा**=अब **निविद्धः**=इस विषयानुराग से निश्चयेन विद्ध हुआ-हुआ **उत्तरः बभूवान्**=इन विषयों से ऊपर उठने का प्रयत्न करता हुआ तू हे इन्द्र! **दासस्य**=इस विनष्ट करनेवाले 'काम' नामक असुर के **शिरः**=सिर को **वधेन**=वज्र से **संपिणक्**=पीस डाल। काम के सिर को कुचल करके ही यह उत्तर बनता है-आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—अत्यन्त प्रबल इस 'काम' का विध्वंस करके हम 'उत्तर' बनें, उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदमाता का आदर्श पुत्र

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम्।
अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम्॥ १०॥

(१) **गृष्टिः**=(गृणाति) ज्ञानोपदेश करनेवाली यह वेदवाणी रूप गौ, **माता**=हमारे जीवनों का निर्माण करनेवाली **वत्सम्**=सन्तान रूप बछड़े को **ससूव**=जन्म देती है, जो **वत्स स्थविरम्**=स्थिर वृत्ति का होता है-चञ्चल स्वभाव का नहीं होता। **तवागाम्**=प्रवृद्ध बलवाला, **अनाधृष्यम्**=शत्रुओं से न धर्षण करने योग्य, **वृषभम्**=सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला, **तुम्रम्**=शत्रुओं का हिंसक, **अरीढम्**=(रिह-आस्वादने) स्वादों से ऊपर उठा हुआ, **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय होता है। (२) यह वेदमाता ऐसे वत्स को जन्म देती है, जो कि **चरथाय**=सदा गति के लिए होता है-क्रियाशील होता है और **तन्वे**=शक्तियों के विस्तार के लिए **स्वयं गातुम्**=अन्य निरपेक्ष गमन को **इच्छमानम्**=चाहता है। यह औरों पर आश्रित होकर जीने की कामना नहीं करता। यह परवशता का अभाव ही इसे उन्नत करनेवाला बनता है।

भावार्थ—वेद के अनुसार जीवन बनानेवाला व्यक्ति स्थिरवृत्ति तथा अपराजित गतिवाला बनने की कामना करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदमाता का पुत्र को उपदेश

उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः।
अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व॥ ११॥

(१) **उत**=और **माता**=यह वेदमाता अपने सन्तान को **महिषम्**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाला **अन्ववेनत्**=चाहती है। वेद इसे प्रभुप्रवण बनाता है। वेदमाता अपने इस पुत्र को समझाती

हुई कहती है कि हे **पुत्र**=अपने को पवित्र बनाकर अपना रक्षण करनेवाले वत्स! **अमी**=वे **देवाः**=देव **त्वा**=तुझे **जहति**=छोड़े चले जा रहे हैं। जितना-जितना तू प्रभु से दूर हो रहा है उतना-उतना ही इन देवों से परित्याग हो रहा है। उपासक को ही दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। (२) माता के इस उपदेश को सुनकर **अथ**=अब **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्रं हनिष्यन्**=वासना को नष्ट करने की कामनावाला होता हुआ **अब्रवीत्**=प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सखे**=मित्र **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **वितरं विक्रमस्व**=आप अत्यन्त इन वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले होइये। आपने ही तो इन वासनाओं को विनष्ट करना है।

भावार्थ—वेदमाता अपने सन्तान को यही उपदेश देती है कि तू प्रभु का उपासक बन। तभी तू दिव्य गुणों का अधिष्ठान बनेगा तथा वासनाओं को विनष्ट कर पाएगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभुविस्मरण का परिणाम

कस्ते॑ मा॒तरं॑ वि॒धवा॑मचक्रच्छ॒युं कस्त्वाम॑जिघांस॒च्चर॑न्तम्।
कस्ते॑ दे॒वो अधि॑ मार्डी॒क आ॑सी॒द्यत्प्राक्षि॑णाः पि॒तरं॑ पाद॒गृह्य॑॥ १२॥

(१) हे जीव! **यत्**=जब तू **पितरम्**=अपने पिता को **पादगृह्य**=पाँव से पकड़कर **प्राक्षिणाः**=नष्ट कर देता है, अर्थात् जब तू अपने पिता प्रभु को बिलकुल भुला देता है, तो **कः ते**=वे प्रजापति प्रभु तेरी **मातरम्**=माता को **विधवाम्**=विधवा **अचक्रत्**=कर देते हैं, अर्थात् अवैदिक जीवनवाले सन्तान के पिता पुत्र के कार्यों से शोकातुर होकर शीघ्र ही चले जाते हैं। (२) वे **कः**=प्रजापति **शयुं चरन्तम्**=अजगर की भान्ति कुटिल मार्ग से गति करते हुए **त्वाम्**=तुझे **अजिघांसत्**=समाप्त करना चाहते हैं। प्रतिक्षण की कुटिलता कभी दीर्घ जीवन को नहीं होने देती। (३) हे जीव! तुझे यह बिलकुल भूल ही गया कि वे **कः देवः**=प्रकाशमय प्रजापति **ते**=तेरे लिए **अधि मार्डीक**=अतिशयित सुख के निमित्त **आसीत्**=थे। प्रभु के सम्पर्क में तो तुझे आनन्द ही आनन्द था। प्रभु-विमुख होकर तूने कितना अपना अकल्याण कर लिया। अपने पिताजी की भी मृत्यु का तू कारण बना। अपने जीवन को भी कुटिल बनाकर तूने असमय में ही समाप्त कर लिया। यही मंगल का मार्ग है कि तू प्रभुस्मरणपूर्वक अपने कर्त्तव्य-कर्मों के करने में प्रवृत्त रहे।

भावार्थ—प्रभु का विस्मरण पतन व अमंगल का मूल है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दुर्गति

अव॑र्त्या॒ शुन॑ आ॒न्त्राणि॑ पेचे॒ न दे॒वेषु॑ विविदे मर्डि॒तार॑म्।
अप॑श्यं जा॒याममही॑यमाना॒मधा॑ मे श्ये॒नो मध्वा जभार॥ १३॥

(१) गतमन्त्र के प्रकरण में ही कहते हैं कि प्रभु को भूल जाने पर मैं **अवर्त्या**=जीवनोपाय के अभाव में-गरीबी में **शुनः आन्त्राणि**=कुत्ते की आंतों को **पेचे**=पकानेवाला बना। कुत्ते की आंतों को ही पकाकर मुझे अपनी भूख मिटानी पड़ी। कितनी भयंकर दरिद्रता में मैं पड़ा! (२) **देवेषु**=सूर्य आदि देवों में किसी भी देव को **मर्डितारम्**=सुख देनेवाला **न विविदे**=मैंने नहीं पाया। पाप के परिणामस्वरूप देवों की भी प्रतिकूलता हो जाती है। पापी पर आधिदैविक आपत्तियाँ भी आ पड़ती हैं। (३) मैंने इस पापवृत्ति के परिणामस्वरूप **जायाम्**=अपनी पत्नी को भी **अमहीयमानाम्**=निरादृत होती हुई को तथा सेवा की निरादर करती हुई को **अपश्यम्**=देखा। इससे अधिक दुर्गति

क्या हो सकती है? (४) इस स्थिति से घबराकर व भयभीत होकर जब मैंने प्रभु का स्मरण किया, तो **अधा**=तब उस **श्येनः**=गतिशील प्रभु ने **मे**=मेरे लिए **मधु आजभार**=मधु को प्राप्त कराया। प्रभुकृपा से मेरा जीवन अतिशयेन मधुर बना गया। अवर्ति समाप्त हो गई। सब देव अनुकूल हो गए। पत्नी भी उचित सम्मान को प्राप्त करती हुई मुझे उचित आदर देनेवाली हुई। इस प्रकार जीवन की सब कटुता कट गयी और माधुर्य का अनुभव हुआ।

भावार्थ—प्रभुविस्मरण से उत्पन्न दुर्गति प्रभुस्मरण से ही दूर होती है और जीवन मधुर बन जाता है।

सारे सूक्त में जीवन को वैदिक बनाने पर बल दिया गया है। प्रभुस्मरण जीवन को वैदिक-जीवन बनाने में बड़ा सहायक है। प्रभु ने ही तो वासनाओं का विनाश करना है—

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों द्वारा प्रभु का संभजन

एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र विश्वे देवासः सुहवास ऊमाः।
महामुभे रोदसी वृद्धमृष्वं निरेकमिद् वृणते वृत्रहत्ये॥ १॥

(१) हे **वज्रिन् इन्द्र**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले शत्रु विद्रावक प्रभो! **अत्र**=इस जीवन में **सुहवासः**=सदा उत्तम पुकारवाले-आपको पुकारनेवाले **ऊमाः**=वासनाओं से अपना बचाव करनेवाले **विश्वे देवासः**=सब देव **त्वाम्**=आपको ही **वृणते**=संभक्त करते हैं। आपका ही भजन करते हुए वस्तुतः वे देव बन पाते हैं। (२) **एवा**=इसी प्रकार **उभे रोदसी**=ये दोनों द्यावापृथिवी-ब्रह्माण्डवासिनी सब प्रजाएँ, **महाम्**=महान्, **वृद्धम्**=सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए **ऋष्वम्**=दर्शनीय **एकम्**=अद्वितीय आपको **इत्**=ही **वृत्रहत्ये**=वासनाविनाश के निमित्त **निःवृणते**=पूर्ण रूप से भजती हैं। वस्तुतः प्रभु भजन ही हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें वासनाओं के विनाश के लिए समर्थ करता है। सारा ब्रह्माण्ड इस प्रभु को ही रक्षा के लिए पुकारता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु द्वारा देवों को सत्यमार्ग पर ले चलना

अवासृजन्त जिव्रयो न देवा भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनिः।
अहन्नहिं परिशयानमर्णः प्र वर्तनीररदो विश्वधेनाः ॥ २॥

(१) हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार जब देव आपका सम्भजन करते हैं, तो वे **जिव्रयः न**=जिस प्रकार आयुष्य में बड़े हैं, उसी प्रकार **देवाः**=देववृत्तिवाले ये पुरुष **अवासृजन्त**=विषयों से पृथक् किये जाते हैं। प्रभु इन बड़ी उमरवाले दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों को विषयों के आक्रमण से बचाते हैं। आचार्य (दयानन्द) ने यहाँ 'जिव्रय' का अर्थ 'दृढ़ जीवनाः' दृढ़ जीवनवाले ऐसा किया है। प्रभु इन दृढ़ जीवनवाले देवपुरुषों को विषयवासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप ही **सम्राट् भुवः**=इन 'जिव्रि देवों' के सम्राट् होते हैं, आप ही इनके जीवन को दीप्त करते हैं। **सत्ययोनिः**=आप ही सत्य के उत्पत्ति-स्थान हैं। आप ही के द्वारा इनके जीवन में सत्य की उत्पत्ति होती है। (२) आप ही **अर्णः**=ज्ञान-जल के **परिशयानम्**= चारों ओर रहनेवाले ज्ञानजल को आवृत कर सोनेवाले इस **अहिम्**=वासनारूप वृत्र को **अहन्**=नष्ट करते हैं और आप

ही **विश्वधेनाः**=सब के प्रीणित करनेवाले **वर्तनीः**=मार्गों को **प्र अरदः**= विलेखित करते हैं (chalk out)। वासनाओं को विनष्ट करके आप ही इन्हें उत्तम मार्गों पर ले चलते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष प्रभु का उपासन करते हैं। प्रभु इन्हें विषयों से पृथक् करते हैं। इनके अन्दर सत्य को उत्पन्न करते हैं। वासना को विनष्ट करके इन्हें सर्वभूतहित के मार्ग पर चलाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

काम का संहार

अतृ॑प्णुवन्तं॒ विय॑तमबु॒ध्यमबु॑ध्यमानं सुषु॒पाण॑मिन्द्र।
स॒प्त प्रति॑ प्र॒वत॑ आ॒शया॑न॒महिं॒ वज्रे॑ण॒ वि रि॑णा अप॒र्वन् ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **सप्त**=सात **प्रवतः** **प्रति**=निम्नमार्गों में **आशयानम्**=निवास करनेवाले **अहिम्**=इस वासनात्मक वृत्त को **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र द्वारा **अपर्वन्**=अपर्व रूप में (Without a joint) **विरिणाः**=नष्ट कर देते हैं। इस वासना को इस रूप में नष्ट कर देते हैं कि इसका एक भी पर्व (जोड़) बचता नहीं। यह वासना ही तो सातों मर्यादाओं को तोड़कर हमें निम्नमार्ग की ओर ले जानेवाली है। 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः'। शरीर में प्रतितित (स्थापित) सात ऋषि इन मर्यादाओं का पालन करते हैं। आहि-वृत्र=वासना इनका विनाश करती है। प्रभुकृपा से क्रियाशील बनकर हम इन वासनाओं को विनष्ट करते हैं। (२) यह अहि **अतृप्णुवन्तम्**=कभी न तृप्त होनेवाला है 'न जातु कामः कामानापभोगेन शाम्यति'। **वियतम्**= सब संयमों का तोड़नेवाला-उच्छृङ्खल है। **अबुध्यम्**=इसको समझना बड़ा कठिन है, 'मनसि-ज' है न जाने कब इसका आक्रमण हो जाता है। **अबुध्यमानम्**=ज्ञान को विनष्ट करनेवाला है 'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'। **सुषुपाणम्**=सुला-सा देनेवाला है-चेतना को विनष्ट करनेवाला है। इसको नष्ट करके प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—अत्यन्त प्रबल इस काम को प्रभु ही हमें क्रियाशीलता रूप वज्र देकर विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पर्वत ककुभ् भेदन

अक्षो॑दय॒च्छव॑सा॒ क्षाम॑ बु॒ध्नं वार्ण॒ वात॒स्तवि॑षीभि॒रिन्द्रः॑।
दृ॒ळ्हान्यौ॑भ्नादु॒शमा॑न॒ ओजोऽवा॑भिनत्क॒कुभः॒ पर्व॑तानाम् ॥ ४ ॥

(१) **न**=जिस प्रकार **वातः**=वायु **वाः**=जल को **तविषीभिः**=बलों के द्वारा क्षुब्ध कर देता है, इसी प्रकार **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **शवसा**=बल के द्वारा **क्षाम बुध्नम्**=(क्षामान्य बुध्नं च) पृथिवी व इस आकाश (अवकाश-अन्तरिक्ष) को **अक्षोदयत्**=संपिष्ट कर देते हैं। सारे ब्रह्माण्ड को प्रभु अपने वश में किये हुए हैं। प्रभु इस ब्रह्माण्ड के प्रभव हैं, तो वे अप्यय भी हैं-इसे उत्पन्न करते हैं, तो इसे विनष्ट भी करते हैं। (२) इसी प्रकार हम सब जीवों के लिए **ओजः**=शक्ति को **उशमानः**=चाहते हुए वे प्रभु **दृढा**=आसुरभावों के दृढ़ किलों को भी **न्यौभ्नात्**=नष्ट करनेवाले हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' के शरीर, मन व बुद्धि में बने हुए दुर्गों को प्रभु नष्ट कर डालते हैं। वे प्रभु **पर्वतानाम्**=अविद्या-पर्वतों के **ककुभः**=शिखरों को **अवाभिनत्**=विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—जड़ जगत् में प्रभु पृथिवी व अन्तरिक्ष को हिला डालनेवाले हैं। चेतन जगत् में वे प्रभु काम-क्रोध-लोभ के किलों को विनष्ट करते हैं और अविद्यापर्वतों का विदारण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊर्मिवध

अभि प्र दद्रुर्जनयो न गर्भं रथाइव प्र ययुः साकमद्रयः।
अतर्पयो विसृत उब्ज ऊर्मीन्त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून् ॥ ५ ॥

(१) **जनयः**=माताएँ **न**=जैसे **गर्भम्**=अपने गर्भोत्पन्न बालक की **अभि**=ओर **प्रदद्रुः**=प्रकर्षेण जाती हैं, **इव**=जैसे **रथाः**=रथ लक्ष्य स्थान की ओर जाते हैं, इसी प्रकार **अद्रयः**=उपासक लोग **साकम्**=प्रभु के साथ गतिवाले होते हैं। (२) इन **विसृतः**=(विशेषेण सरन्ति) विशिष्ट गतिवाले पुरुषों को **अतर्पयः**=हे प्रभो! आप प्रीणित करते हैं। इनकी **ऊर्मीन्**=(बुभुक्षापिपासे शोकमोहे जरामृत्यू सुदूर्मयः) भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मत्यु रूप ऊर्मियों को-लहरों को **उब्जः**=विनष्ट करते हैं (अवधीः सा०) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वम्**=आप इन **वृतान्**=वासना से आवृत हुए-हुए **सिन्धून्**=ज्ञानजलों को **अरिणाः**=फिर से प्रवाहित करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर जाते हैं तो (क) प्रभु स्व-उत्तमताओं को प्राप्त कराके हमें प्रीणित करते हैं, (ख) हमारी भूख-प्यास आदि भौतिक वृत्तियों को नष्ट करते हैं-हमें साँसारिक विषयों की भूख नहीं लगी रहती-हम तृष्णा से ऊपर उठ जाते हैं। (ग) हमारे ज्ञानजलों का प्रवाह ठीक रूप में होने लगता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

तुर्वीति व वय्य के लिए

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम्।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोरिन्द्र सिन्धून् ॥ ६ ॥

(१) **त्वम्**=हे प्रभो! आप इस **महीम्**=अतिशयेन महत्त्वपूर्ण **अवनिम्**=रक्षा करनेवाली **विश्वधेनाम्**=सब का प्रीणन करनेवाली वेदवाणी को **नमसा**=नमन के साथ **अरमयः**=रमणयुक्त करते हैं। उस वेदवाणी को, जो कि **तुर्वीतये**=त्वरा से शत्रुओं का असन (क्षेपण) करनेवालों के लिए तथा **वय्याय**=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले के लिए **एजत् अर्णः क्षरन्तीम्**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले ज्ञानजल को क्षरित करती है। वस्तुतः इस तुर्वीति और वय्य को प्रभुकृपा से ही ज्ञान का यह जल प्राप्त होता है। (२) हे इन्द्र! आप इस तुर्वीति और वय्य के लिए **सिन्धून्**=ज्ञानसमुद्रों को **सुतरणान्**=खूब तैरने योग्य अगाध ज्ञान-बल युक्त **कृधि**=करते हैं।

भावार्थ—हम त्वरा से वासनाओं को परे फेंकनेवाले तुर्वीति बनें। निरन्तर कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले वय्य बनें। प्रभु हमें वेदवाणी द्वारा ज्ञान-जल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शत्रुहिंसिका सेनाओं के समान 'वेदवाणियाँ'

प्राग्रुवो नभन्वो३न वक्वा ध्वस्रा अपिन्वद्युवतीर्ऋतज्ञाः।
धन्वान्यज्राँ अपृणक्तृषाणाँ अधोगिन्द्रः स्तर्यो३ दंसुपत्नीः ॥ ७ ॥

(१) **नभन्वः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाली **वक्वाः न**=सेनाओं के समान **ध्वस्राः**=सब

बुराइयों का ध्वंस करनेवाली, **युवतीः**=अच्छाइयों का हमारे साथ मिश्रण करनेवाली, **ऋतज्ञाः**=ऋत के ज्ञानवाली या ऋत को प्रादुर्भूत करनेवाली (जन्) **अग्रुवः**=इन ज्ञाननदियों को **इन्द्रः**=वे प्रभु **प्र अपिन्वत्**=प्रपूरित करते हैं। (२) इन ज्ञाननदियों के प्रवाहों द्वारा **धन्वानि**=मरुस्थलों को, **तृषाणान् अज्रान्**=प्यासे खेतों को, **अपृणक्**=(अ पूरयत्) पूरित करते हैं। हमारे वे जीवन, जो कि उत्तम सद्गुणों के बीजों के प्रादुर्भाव से रहित थे, उन्हें सद्गुणों के अंकुरित करने के द्वारा शोभायमान कर देते हैं। इन **दंसुपत्नीः**=दमनशील पुरुष की उत्तम रक्षिका **स्तर्यः**=निवृत्त प्रसवा गौ के समान हुई-हुई वेदवाणीरूप गौओं को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष ही **अधोक्**=दोहता है। जितेन्द्रिय पुरुष ही इन ज्ञानवाणियों को समझ पाता है।

भावार्थ—ये वेदवाणियाँ शत्रुहिंसिका सेनाओं के समान हैं। ये हमारे निर्गुण जीवनों को सगुण बना देती हैं। इन वेदवाणी रूप गौओं का दोहन जितेन्द्रिय पुरुष ही कर पाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वासनाविनाश व ज्ञानप्रवाह

पूर्वीरुषसः शरदश्च गूर्ता वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून्।
परिष्ठिता अतृणद्बद्बधानाः सीरा इन्द्रः स्रवितवे पृथिव्या॥ ८॥

(१) **पूर्वीः उषसः**=बहुत उषाकालों तक **शरदः च**=और वर्षों तक **गूर्ताः**=वासनाओं से निगीर्ण की गई (निगली गयी) **सिन्धून्**=ज्ञाननदियों को, **इन्द्रः**=वे प्रभु, **वृत्रं जघन्वान्**=वासना को विनष्ट करके **वि असृजत्**=विशेषेण सृष्ट कर देते हैं—उनके प्रवाहों को फिर से चला देते हैं। (२) **परिष्ठिताः**=वासना जिनके चारों ओर स्थित हुई है, **बद्बधानाः**=जो वासना से बध्यमान हुए हैं, ऐसे **सीराः**=ज्ञानप्रवाहों को **इन्द्रः**=वे प्रभु **पृथिव्या**=इस शरीररूप पृथ्वी के हेतु से **स्रवितवे**=प्रवाहित होने के लिए **अतृणत्**=विद्ध करता है (अविध्यत्)। आवरणभूत वासनाओं को विद्ध करके यह ज्ञानप्रवाहों को प्रवाहित करता है।

भावार्थ—प्रभु वासना को विनष्ट करके ज्ञान को प्रवाहित करते हैं। यह ज्ञान ही इस शरीर रूप पृथिवी को सत्य, शिव व सुन्दर बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उखच्छित्

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानं निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ।
व्य१न्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित्समरन्त पर्व॥ ९॥

(१) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! आप **वम्रीभिः**=विषयवासनारूप चींटियों से **अदानम्**=खाये जाते हुए **अग्रुवः पुत्रम्**=इस वेदवाणी रूप नदी के पुत्र-वेदवाणी के अपनानेवाले-वेदवाणी द्वारा अपना पवित्रीकरण व त्राण (पुनाति त्रायते) करनेवाले को **निवेशनात्**=विषयों के अभिनिवेश से-विषयों के प्रति वासना से **आजभर्थ**=बाहर खींच लाते हैं। (२) आपकी कृपा से **अंधः**=तत्त्व को न देखनेवाला भी यह **अहिम्**=इस वासनारूप सर्प को **वि अख्यत्**=विशेषरूप से देखने लगता है। **आददानः**=वेदवाणी द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हुआ यह **निर्भूत्**=वासनाओं से बाहर हो जाता है। **उखच्छित्**=यह इस पेट रूप ऊखा का छेदन करनेवाला बनता है-पेटू न बनकर बड़ा मितभुक् होता है, परिणामतः इसके **पर्व समरन्त**=सब जोड़ संगत हो जाते हैं। वासनाओं के कारण शरीर में आई सब शिथिलताएँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—मनुष्य को वासनाएँ खा जाती हैं। ज्ञान द्वारा इनका विनाश होता है। मनुष्य मितभुक् बनता है और दृढ़ अंगों (पर्वों) वाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

करणों व कर्मों का ज्ञान

प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्राविद्वाँ आह विदुषे करांसि।
यथायथा वृष्ण्यानि स्वगूर्तापांसि राजन्नर्याविवेषीः ॥ १० ॥

(१) हे **विप्र**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **पूर्वाणि**=पालन व पूरण करनेवाले **करणानि**=करणों को **आविद्वान्**=सम्यग् जानता हुआ यह पुरुष **विदुषे**=एक समझदार व्यक्ति के लिए **करांसि**=करने योग्य कर्मों को **प्र आह**=प्रकर्षेण कहता है। एक ज्ञानी-पुरुष (आचार्य) समझदार शिष्य के लिए बतलाता है कि प्रभु ने किस प्रकार 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप सुन्दर करण (साधन) दिये हैं। इनका ठीक प्रयोग करते हुए इस यज्ञादि व ज्ञानप्राप्ति के कर्मों को करना चाहिए। (२) वह आचार्य विद्यार्थी को बतलाता है कि **यथा यथा**=जिस-जिस प्रकार, **राजन्**=सम्पूर्ण संसार के शासक प्रभो! आप **वृष्ण्यानि**=सुखों के वर्षण करने में उत्तम **स्वगूर्ता**=आत्मतत्त्व को उद्गूर्ण करनेवाले-आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाले **नर्या**=नरहितकारी **अपांसि**=कर्मों को **अविवेषीः**=व्याप्त करते हैं। उन कर्मों का उपदेश करके आचार्य विद्यार्थी को वैसे ही कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को प्रभु से प्राप्त कराए गये करणों का संकेत करते हुए कर्तव्य-कर्मों का ज्ञान दे। सामान्यतः वे कर्म सुखवर्धक, आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाले तथा नरहितकारी हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तुतः गृणानः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र-व्याख्या १६.२१ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

अगले सूक्त का भी यही विषय है—

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

संग्राम में विजय करानेवाले प्रभु

आ न इन्द्रो दूरादा न आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रः**=शत्रु विद्रावक प्रभु **नः**=हमें **दूरात्**=दूर से **आयासत्**=प्राप्त हों। और **नः**=हमें **आसात्**=समीप से भी (आ-यासत्) प्राप्त हों। **अभिष्टिकृत्**=ये प्रभु हमारे शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं। **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए होते हैं। **उग्रः**=तेजस्वी हैं। (२) ये **नृपतिः**=मनुष्यों के रक्षक **वज्रबाहुः**=बाहुओं में वज्र को लिये हुए प्रभु-निरन्तर गतिशील प्रभु (वज् गतौ) **समत्सु**=संग्रामों में **सङ्गे**=शत्रुओं के साथ सङ्ग होने पर **पृतन्यून्**=आक्रान्ता शत्रुओं को

तुर्वणिः=त्वरा से पराजित करनेवाले हैं (तुद् वन्) अथवा हिंसित करनेवाले हैं (तुर्व हिंसायाम्)। वस्तुतः प्रभु ही हमारे शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—वे तेजस्वी प्रभु हमें प्राप्त हों। वे ही शत्रुओं का विनाश करके हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अवसे राधसे च

आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ ॥ २ ॥

(१) **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **नः**=हमें **हरिभिः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ **अर्वाचीनः**=अभिमुख प्राप्त होनेवाले होकर **आयातु**=आएँ। वे प्रभु हमारे **अवसे**=रक्षण के लिए हों **च**=और **राधसे**=कार्यों में सफलता के लिए हों। प्रभु द्वारा प्राप्त इन उत्तम इन्द्रियाश्वों से ही तो हम जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाएँगे। (२) वे **वज्री**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले, **मघवा**=ऐश्वर्यशाली, **विरप्शी**=महान् व सब विज्ञानों का उपदेश देनेवाले वे प्रभु **वाजसातौ**=शक्ति को प्राप्त कराने के निमित्त **नः**=हमारे **इमं यज्ञं अनु**=इस जीवनयज्ञ को लक्ष्य करके **तिष्ठाति**=स्थित होते हैं। प्रभु के रक्षण से ही यह यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होता है। प्रभुकृपा के बिना यज्ञ की पूर्ति सम्भव नहीं है।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ प्राप्त हों। वे ही हमारा रक्षण करते हैं, वे ही हमें सफल बनाते हैं। वे ही इस जीवनयज्ञ को पूर्ण कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञों के पूरक प्रभु

इमं यज्ञं त्वमस्माकमिन्द्र पुरो दधत्सनिष्यसि क्रतुं नः।
श्वघ्नीव वज्रिन्त्सनये धनानां त्वया वयमर्य आजिं जयेम ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्माकम्**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **पुरः**=आगे और आगे **दधत्**=धारण करने के हेतु से **नः**=हमारे लिए **क्रतुम्**=शक्ति को **सनिष्यसि**=अवश्य देंगे ही। आपसे दी हुई इस शक्ति द्वारा ही हम जीवन-यज्ञ को पूर्ण कर पाते हैं। (२) हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! **श्वघ्नी इव**=एक कितव (जुआरी) की तरह **वयम्**=हम **त्वया**=आपके साहाय्य से **अर्यः**=आपके स्तोता होते हुए **आजिम्**=स्पर्धा के लक्ष्य को (युद्ध को) **जयेम**=जीत जाएँ और **धनानां सनये**=धनों की प्राप्ति के लिए हों। 'श्वघ्नी इव' यह हीनोपमा है। जैसे एक कितव विजयी होकर धनों को प्राप्त करता है, हम आपके स्तवन से क्रियाशील होते हुए धनों का विजय करनेवाले बनें। इस जीवन-संघर्ष में स्पर्धा करते हुए हम आगे बढ़ें, विजयी बनें और धनों को प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके हम यज्ञों को पूर्ण कर पाते हैं। आपका स्तवन करते हुए हम संग्राम में विजयी हों और धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम का पान

उशन्नु षु णः सुमना उपाके सोमस्य नु सुषुतस्य स्वधावः।
पा इन्द्र प्रतिभृतस्य मध्वः समन्धसा ममदः पृष्ठ्येन ॥ ४ ॥

(१) हे **स्वधावः**=आत्मधारण शक्तिवाले प्रभो! **उ नः उ**=निश्चय से हमारे **उशन्**=हित की कामना करते हुए आप **सुमनाः**=हमें (शोभनं मनो यस्मात्) शोभन मन को प्राप्त कराते हुए **उपाके**=सदा हमारे समीप होते हुए **नु**=अब **सुषुतस्य**=उत्तमता से उत्पन्न किये गये **प्रतिभृतस्य**=आपके अंग में प्राप्त कराए गये **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **सोमस्य**=सोम का **पाः**=पान करते हैं। इस सोमशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करते हैं। इस रक्षित वीर्य से ही हमारे सब अंग पुष्ट होते हैं। इसी से नीरोगता प्राप्त होकर जीवन मधुर बनता है। (२) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप इस **पृष्ठ्येन**=जीवन के आधारों में उत्तम आधारभूत (पृष्ठ=back bone) **अन्धसा**=इस सोम द्वारा **संममदः**=हमारे जीवनों को आनन्दित करते हैं। यह सुरक्षित सोम ही जीवन का सर्वोत्तम आधार है। यही हमें 'नीरोग, निर्मल व दीप्त' जीवनवाला बनाता है। इस सोम को हम प्रभुस्मरण द्वारा ही, वासनाओं से बचकर, शरीर में सुरक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से सोम शरीर में सुरक्षित होता है। सुरक्षित सोम जीवन का उत्तम आधार बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वृक्षा न पक्वः

वि यो र॑रप्श ऋषि॑भि॒र्नवे॑भिर्वृ॒क्षो न प॒क्वः सृण्यो॒ न जेता॑।
मर्यो॒ न योषा॑म॒भि मन्य॑मा॒नोऽच्छा॑ विवक्मि पुरुहू॒तमिन्द्र॑म्॥ ५॥

(१) मैं **पुरुहूतम्**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी-जिसकी आराधना हमारा पालन व पूरण करती है, उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अच्छा**=लक्ष्य करके **विवक्मि**=स्तुति शब्दों का उच्चारण करता हूँ। **यः**=जो प्रभु **नवेभिः**=(नव् गतौ) गतिशील-क्रियाशील **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों से **विररप्शे**=विविध रूपों में स्तुति किया जाता है। वस्तुतः प्रभु का उपासन इसी में है कि हम क्रियाशील बनें और तत्त्वदर्शन के लिए यत्नशील हों। (२) वे प्रभु (क) **वृक्षः न पक्वः**=पके हुए फलोंवाले वृक्ष के समान हैं। जिस प्रकार परिपक्व वृक्ष मधुरतम फलों को देनेवाला है, इसी प्रकार वे प्रभु हमारे लिए हितकर मधुर फलों को प्राप्त कराते हैं। (ख) **सृण्यः न जेता**=आयुध (सृणि=अंकुश) कुशल पुरुष की तरह वे विजेता हैं। जैसे अंकुश-प्रहार-प्रवीण आधोरण (=महावत) मदमत्त हाथी को भी वशीभूत करनेवाला है, उसी प्रकार वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड के वशीभूत करनेवाले हैं। प्रभु का स्मरण हमारी प्रबल वासनाओं को भी कुचल देनेवाला है। (२) वे प्रभु **मर्यः न योषां अभिमन्यमानः**=एक मनुष्य जिस प्रकार पत्नी का आदर करता है, इसी प्रकार हम जीवों का आदर करनेवाले हैं। हमारी उत्तम इच्छाओं को पूर्ण करना ही हमारा आदर है-प्रभु हमारी सब हितकर इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। प्रभु पति हैं, हम पत्नी के रूप में।

भावार्थ—प्रभु परिपक्व वृक्ष की तरह हमारे लिए मधुर फलों को देनेवाले हैं। आयुध-कुशल पुरुष की तरह हमारी वासनाओं को पराजित करनेवाले हैं। प्रभु पति हैं, हम पत्नी के रूप में।

सूचना—यहाँ हम अन्तिम उपमाएँ में रहस्यवादी कविताओं के बीज को पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

स्वतवान् ऋष्वः

गि॒रिर्न यः स्वत॑वाँ ऋ॒ष्व इन्द्रः॑ स॒नादे॒व सह॑से जा॒त उ॒ग्रः।
आद॑र्ता॒ वज्रं॒ स्थवि॑रं॒ न भी॒म उ॒द्नेव॒ कोशं॒ वसु॑ना॒ न्यृ॑ष्टम्॥ ६॥

(१) **गिरिः न**=पर्वत के समान **यः**=जो **स्व-तवान्**=प्रवृद्ध आत्मशक्तिवाला है, **ऋष्वः**=दर्शनीय व महान् है, वह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **सनात् एव**=सदा से ही **उग्रः**=तेजस्वी **सहसे**=शत्रुओं के मर्षण के लिये **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ है। हृदयों में प्रभु का प्रकाश होने पर सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश हो जाता है। (२) वे प्रभु **स्थविरम्**=अति स्थूल (=विशाल) **वज्रम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **आदर्ता**=आदृत करते हैं। उस क्रियाशीलता रूप वज्र को, जो कि **उद्ना**=पानी से **कोशं इव**=कोश की तरह **वसुना**=सब वसुओं से **न्यृष्टम्**=नितरां संगत है। जब इस प्रकार क्रियाशीलता को हम अपनाते हैं, तो प्रभु के प्रिय बनते हैं। वे प्रभु **न भीमः**= हमारे लिए भयंकर नहीं होते। प्रभु हमारे शत्रुओं के लिए ही भयंकर होते हैं। वस्तुतः प्रभु को हृदयों में प्रादुर्भूत करके ही हम शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं। तब हमारी आत्मशक्ति बढ़ती है, हम दर्शनीय जीवनवाले तेजस्वी बनते हैं और शत्रुओं का मर्षण करते हैं।

भावार्थ—हृदयों में प्रभु को प्रादुर्भूत करके हम शत्रु का विनाश कर पाते हैं। क्रियाशील बनकर हम प्रभु के प्रिय बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

न वर्ता-न आमरीता

न यस्य॑ व॒र्ता ज॒नुषा॒ न्वस्ति॒ न राध॑स आमरी॒ता म॒घस्य॑।
उ॒द्वा॒वृ॒षा॒णस्त॑विषीव उग्रा॒स्मभ्यं॑ दद्धि पुरुहूत रा॒यः ॥ ७॥

(१) हे प्रभो! **यस्य**=जिन आपका **वर्ता**=निवारण करनेवाला-आपको अपने कार्यों से रोकनेवाला **जनुषा**=जन्म से-स्वभाव से ही **नु**=निश्चयपूर्वक **न अस्ति**=नहीं है। हे प्रभो! आपके **राधसः**=कार्यों को सिद्ध करनेवाले **मघस्य**=ऐश्वर्य का **आमरीता न**=विनाश करनेवाला कोई नहीं। आपकी शक्ति अप्रतिहत है-आपका ऐश्वर्य अनन्त है। (२) हे **तविषीवः**=बलवन् प्रभो! **उग्र**=तेजस्विन् **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **उद्वावृषाणः**=अत्यन्त धनों का वर्षण करते हुए आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रायः**=इन दान देने योग्य धनों को **दद्धि**=दीजिए। इन धनों को दान में विनियुक्त करते हुए तपस्वी जीवनवाले हम भी हे प्रभो! आपके ही समान तेजस्वी बनने का यत्न करें।

भावार्थ—प्रभु अनन्तशक्ति व अनन्त-ऐश्वर्यवाले हैं। प्रभु हमें कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

समिथेषु प्रहावान्

ईक्षे॑ रा॒यः क्षय॑स्य चर्षणी॒नामु॒त व्र॒जम॑पव॒र्तासि॒ गोना॑म्।
शि॒क्षा॒न॒रः स॑मि॒थेषु॑ प्र॒हावा॒न्वस्वो॑ रा॒शिम॑भिने॒तासि॒ भूरि॑म् ॥ ८ ॥

(१) हे प्रभो! आप **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **रायः**=धनों के तथा **क्षयस्य**=गृहों के **ईक्षे**=देखनेवाले हैं। आप इस बात का ध्यान करते हैं कि श्रमशील मनुष्य को आवश्यक धन व गृह की कमी न रहे 'उसका योगक्षेम ठीक से चलता जाये' इस बात का ध्यान प्रभु करते हैं। **उत**=और आप इन श्रमशील मनुष्यों के **गोनां व्रजम्**=इन्द्रियों के समूह को **अपवर्ता असि**=विषयों से अपावृत्त करनेवाले हैं। इन की इन्द्रियों को आप विषय-वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते। (२) हे प्रभो! आप **शिक्षानरः**=शिक्षा द्वारा ज्ञान द्वारा (शिक्षा द्वारा) आगे ले चलनेवाले हैं (नृ

नये)। **समिथेषु**=काम-क्रोध आदि से संग्राम होने पर आप ही **प्रहावान्**=इन शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले अस्त्रोंवाले हैं। इस प्रकार हमारा ज्ञान बढ़ाकर तथा काम-क्रोध आदि को विनष्ट करके आप **भूरिम्**=बहुत अधिक अथवा भरण-पोषण के लिए पर्याप्त **वस्वः राशिम्**=धनराशि को **अभिनेता असि**=प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु श्रमशील मनुष्य को योगक्षेम से वञ्चित नहीं करते। इनकी इन्द्रियों को विषयों से आक्रान्त नहीं होने देते। भरण-पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

पापविनाशक प्रभु

कया तच्छृण्वे शच्या शचिष्ठो यया कृणोति मुहु का चिदृष्वः।
पुरु दाशुषे विचयिष्ठो अंहोऽथा दधाति द्रविणं जरित्रे॥ ९॥

(१) **तत्**=वे प्रभु **कया**=किसी अद्भुत (अनिर्वचनीय) अथवा आनन्दमय **शच्या**=प्रज्ञान व कर्म से **शृण्वे**=सुने जाते हैं-प्रसिद्ध हैं। **शचिष्ठः**=अत्यन्त शक्तिशाली व प्रज्ञानवाले हैं। वह **ऋष्वः**=महान् प्रभु **यया**=जिस शक्ति द्वारा **मुहु**=फिर-फिर **काचित्**=(कानिचित्) किन्हीं कर्मों को **कृणोति**=करते हैं। सृष्टि के उत्पत्ति, धारण व प्रलय रूप कर्म प्रभु अपनी इसी शची (शक्ति व प्रज्ञान) द्वारा करते हैं। (२) ये प्रभु **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **अंहः**=पाप को **पुरु**=अत्यन्त **विचयिष्ठः**=विनष्ट करनेवाले हैं। **अथा**=और अब, पाप को विनष्ट करके, ये प्रभु **जरित्रे**=स्तोता के लिए **द्रविणम्**=धन को **दधाति**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु अद्भुत शक्ति व प्रज्ञानवाले हैं। वे महान् प्रभु स्तोता के पापों को विनष्ट करके उसके लिए आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'न हिंसित होने देनेवाले' प्रभु

मा नो मर्धीरा भरा दद्धि तन्नः प्र दाशुषे दातवे भूरि यत्ते।
नव्ये देष्णे शस्ते अस्मिन्त उक्थे प्र ब्रवाम वयमिन्द्र स्तुवन्तः॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **नः**=हमें **मा मर्धीः**=काम-क्रोध आदि से नष्ट मत होने दीजिए। **आभरा**=हमारा सब प्रकार से भरण करिए। **नः**=हमारे लिए **तत्**=उस धन को **भूरि**=बहुत **प्रदद्धि**=दीजिए, **यत्**=जो **ते**=आपका धन **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **दातवे**=देने के लिए है। जो धन आप दाश्वान् पुरुष को देते हैं, वह धन हमें दीजिए। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नव्ये**=अत्यन्त स्तुत्य, **देष्णे**=दान में प्रेरित करनेवाले **शस्ते**=प्रशस्त **अस्मिन्**=इस **ते**=आपके **उक्थे**=स्तोत्र में **वयम्**=हम **प्रब्रवाम**=आपके नामों व गुणों का उच्चारण करें। यह प्रभु के नामों का उच्चारण हमें प्रशस्त जीवनवाला बनाता है। इस से हमारे अन्दर धन को देने की वृत्ति बनती है। प्रभु हमें देते हैं और इसीलिए देते हैं कि हम धन को देनेवाले बनें। वस्तुतः देनेवाले बनकर ही हम प्रभु का **स्तुवन्तः**=स्तवन करनेवाले होते हैं। कोई भी व्यक्ति धन को न देनेवाला प्रभु का स्तोता नहीं बन पाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें सब धन देते हैं और इस प्रकार हमें हिंसित नहीं होने देते।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रथ्यः सदासाः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र व्याख्या १९.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु हमें हिंसित नहीं होने देते। अगले सूक्त का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि प्रभु हमें रक्षा के लिए प्राप्त हों—

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'सधमाद्' प्रभु

आ यात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **इह**=यहाँ **नः**=हमें **उप आयातु**=समीपता से प्राप्त हों। **अवसे**=वे हमारे रक्षण के लिए हों। **स्तुतः**=स्तुति किये गये वे प्रभु **सधमाद् अस्तु**=हमें अपने साथ आनन्द को प्राप्त करानेवाले हों। **शूरः**=हमारे सब शत्रुओं को वे शीर्ण करें। (२) **वावृधानः**=वे प्रभु हमें अत्यन्त बढ़ानेवाले हों। **यस्य**=जिन प्रभु के **तविषीः**=बल **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, वे प्रभु **द्यौः न**=प्रकाशमय ज्ञान की तरह **अभिभूति क्षत्रम्**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल को **पुष्यात्**=हमारे में पुष्ट करें। इन ज्ञानों व बलों को देकर ही वे प्रभु हमारा वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त होते हैं। वे प्रभु ही हमारा रक्षण करते हैं। रक्षण के लिए वे हमें ज्ञान तथा शक्ति देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'तुविद्युम्न तुविराधस्' प्रभु का सम्पर्क

तस्येदिह स्तवथ वृष्ण्यानि तुविद्युम्नस्य तुविराधसो नॄन्।
यस्य क्रतुर्विदथ्यो३ न सम्राट् साह्वान्तरुत्रो अभ्यस्ति कृष्टीः ॥ २ ॥

(१) **तस्य**=उस **तुविद्युम्नस्य**=महान् ज्ञानवाले **तुविराधसः**=महान् सम्पत्ति व ऐश्वर्यवाले प्रभु के **वृष्ण्यानि**=बलों को **नॄन्**=प्राप्त करानेवाले (=ले चलनेवाले) मरुतों (प्राणों) को **इत्**=निश्चय से **इह**=इस जीवन में **स्तवथ**=स्तुत करो। **यस्य क्रतुः**=जिस प्रभु का कर्म **विदथ्यः सम्राट् न**=ज्ञान में उत्तम शासक के समान है। ज्ञानी शासक जैसे प्रजाओं का नियन्त्रण करता है, इसी प्रकार वे प्रभु सब प्रजाओं का नियन्त्रण कर रहे हैं। उस प्रभु का कर्म **साह्वान्**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। **तरुत्रः**=हमें भवसागर से तरानेवाला है। **कृष्टीः**=सब प्रजाओं को **अभि अस्ति**=अभिभूत करनेवाला है। कोई भी उस प्रभु के शासन का उल्लंघन नहीं कर पाता। (२) इस प्रभु के बलों को अपने में धारण करने के लिए आवश्यक है कि हम प्राणों की साधना करें। ये **मरुत्**=प्राण ही हमें प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होकर इस चित्त का प्रभु में स्थापन होता है। इस निरुद्ध मन से ही प्रभु का साक्षात्कार व सम्पर्क प्राप्त

होता है 'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'। प्रभु के साथ सम्पर्क होने पर हम भी 'तुविद्युम्न तुविराधस्' बनेंगे। उसी समय शत्रुओं का पराभव करके हम भवसागर को तैरनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले बनकर प्रभुसम्पर्क को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'व्यापक विभूतियोंवाले' प्रभु

आ यात्विन्द्रो दिव आ पृथिव्या मक्षू समुद्रादुत वा पुरीषात्।
स्वर्णरादवसे नो मरुत्वान्परावतो वा सदनादृतस्य ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **दिवः**=द्युलोक से **आयातु**=हमें प्राप्त हों। जब हम शरत् की अमावस्या के दिन द्युलोक को अनन्त नक्षत्रों से जगमगाता देखते हैं, तो उस रचयिता का स्मरण हो उठना स्वाभाविक है। यही द्युलोक से प्रभु की प्राप्ति का भाव है। ये प्रभु **पृथिव्याः आ (यातु)**=पृथिवी से हमें प्राप्त हों। विविध वनस्पतियों को जन्म देनेवाली यह पृथिवी सचमुच प्रभु का स्मरण कराती है। अनन्त प्रकार के फूलों की गन्ध उस प्रभु की गन्ध क्यों न देगी! **मक्षू**=शीघ्र ही वे प्रभु **समुद्रात्**=इस अन्तरिक्ष से हमें प्राप्त हों **उत वा**=और अथवा वे प्रभु **पुरीषात्**=अन्तरिक्षस्थ मेघों के जल से हमें प्राप्त हों। अन्तरिक्ष में गति करते हुए मेघ एक सहृदय पुरुष को प्रभु का स्मरण कराते ही हैं। इन से बरसनेवाला जल सारी पृथिवी को आप्लावित करता हुआ हृदय में प्रभु के भाव को जागरित करता है। (२) वह **मरुत्वान्**=मरुतों (प्राणों) वाले प्रभु, प्राणसाधना द्वारा साक्षात्कार करने योग्य प्रभु, **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए हमें **स्वर्णराद्**='स्वः' प्रकाशमान सूर्य है 'नर' नेता जिसका, उस द्युलोक से प्राप्त हों। **वा**=अथवा **परावतः**=अत्यन्त सुदूर **ऋतस्य सदनात्**=ऋत के सदन से-उदक के स्थान अन्तरिक्ष से हमें प्राप्त हों। द्युलोकस्य सूर्य अपनी किरणों द्वारा हमारे में प्राणशक्ति का संचार करता हुआ हमारा रक्षण करता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष से प्राप्त होनेवाले ये मेघजल हमारे लिए अमृतत्व (नीरोगता) को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार प्रभु सूर्य व वृष्टिजलों द्वारा हमारा रक्षण करते हैं। इस सारी प्रक्रिया का विचार करते हुए उस प्रभु की अद्भुत महिमा का ध्यान आता है, यही प्रभु की प्राप्ति है।

भावार्थ—'द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी व मेघस्थ जल' ये सब हमें प्रभुमहिमा का स्मरण कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व वृद्धि का साधनभूत 'धन'

स्थूरस्य रायो बृहतो य ईशे तमु ष्टवाम विदथेष्विन्द्रम्।
यो वायुना जयति गोमतीषु प्र धृष्णुया नयति वस्यो अच्छ ॥ ४ ॥

(१) हम **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **उ**=ही **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **स्तवाम्**=स्तुत करते हैं, **यः**=जो **स्थूरस्य**=(huge) बहुत अधिक अथवा शक्तिसम्पन्न **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **रायः**=ऐश्वर्य के **ईशे**=स्वामी हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं, तो प्रभु हमें उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारी शक्ति व वृद्धि का कारण बनता है। (२) उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं **यः**=जो कि **वायुना**=प्राणों द्वारा **गोमतीषु**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले संग्रामों में **जयति**=विजय प्राप्त करता है। काम-क्रोध-लोभ के साथ चलनेवाले अध्यात्मसंग्राम में प्रभु ही हमें इस प्राणसाधना द्वारा विजय प्राप्त कराते हैं। इस विजय के परिणामस्वरूप सब इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं। इसलिए इन

संग्रामों को 'गोमती' नाम दिया गया है। **धृष्णुया**=शत्रुधर्षक बल द्वारा वे प्रभु **वस्यः अच्छ**=उत्कृष्ट वसुओं (धनों) की ओर **प्र नयति**=हमें ले चलते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं का धर्षण करके ही हम वास्तविक धन (वसु) को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें शक्ति व वृद्धि के साधनभूत धन को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमें आध्यात्मिक-संग्राम में विजयी बनाकर वसुमान् बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उपासना के लाभ

उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाचं जनयन्यजध्यै।
ऋञ्जसानः पुरुवार उक्थैरेन्द्रं कृण्वीत सदनेषु होता॥ ५॥

(१) **यः**=जो प्रभु **नमसि**=हमारे नमन करने पर-नम्रतापूर्वक उपासना करने पर **नमः**=हमारी नम्रता की भावना को **उप स्तभायन्**=थामते हैं, अर्थात् हम प्रभु का उपासन करते हैं, तो प्रभु हमें नम्र बनाए रखते हैं। जो प्रभु **यजध्यै**=यज्ञ करने के लिए **इयर्ति**=हमें प्रेरित करते हैं, **वाचं जनयन्**=वेदवाणी को हमारे में प्रादुर्भूत करते हैं। वस्तुतः वेदवाणी द्वारा ही प्रभु हमें यज्ञों की प्रेरणा देते हैं। (२) वे प्रभु **ऋञ्जसानः**=हमारे जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं (ऋञ्ज् to decorate)। **उक्थैः**=स्तोत्रों द्वारा **पुरुवारः**=अत्यन्त वरण के योग्य हैं। इस प्रभु को **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **सदनेषु**=यज्ञगृहों में **आकृण्वीत**=उपासित करे। इस प्रभु की उपासना ने ही तो हमारे जीवन को सुभूषित करना है।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमें नम्र बनाएँगे, वेदवाणी द्वारा यज्ञों की प्रेरणा देंगे और हमारे जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संवरणेषु वह्निः

धिषा यदि धिषण्यन्तः सरण्यान्त्सदन्तो अद्रिमौशिजस्य गोहे।
आ दुरोषाः पास्त्यस्य होता यो नो महान्त्संवरणेषु वह्निः॥ ६॥

(१) **धिषण्यन्तः**=बुद्धि की प्राप्ति की कामना करते हुए **यदि**=यदि **धिषा**=(Hymn) स्तोत्रों द्वारा **सरण्यान्**=उस प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं और **औशिजस्य**=(Devoted to) प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले के **गोहे**=घर में **अद्रिम्**=उस उपासनीय प्रभु का **सदन्तः**=उपासन करते हैं-उसकी उपासना में बैठते हैं, तो ये प्रभु **आ (यातु)**=अवश्य हमें प्राप्त होते हैं। (२) वे प्रभु हमें प्राप्त होते हैं, जो कि **दुरोषाः**=(दुर-उष्=दाहे) सब बुराइयों को दग्ध करनेवाले हैं। **पास्त्यस्य**=शरीरगृह को उत्तम बनानेवाले के **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। **यः**=जो **नः**=हमारे लिए **महान्**=पूजनीय हैं। **संवरणेषु**=शत्रु सम्बन्धी निरोधों में-काम-क्रोध आदि के आक्रमणों में **वह्निः**=हमें पार पहुँचानेवाले हैं। प्रभु ही हमारे लिए इन शत्रुओं का पराजय करते हैं।

भावार्थ—बुद्धिप्राप्ति की कामना से हम प्रभुस्तवन करते हुए प्रभु की ओर चलें-सदा प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले होकर प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमारी सब बुराइयों को दग्ध कर देंगे और हमें शत्रुओं से पार ले जानेवाले होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु से प्राप्त शक्ति के जीवन में परिणाम

सत्रा यदीं भार्वरस्य वृष्णः सिषक्ति शुष्मः स्तुवते भराय।
गुहा यदीमौशिजस्य गोहे प्र यद्धिये प्रायसे मदाय ॥ ७॥

(१) **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **भार्वरस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले **वृष्णः**=शक्तिशाली प्रभु का **शुष्मः**=बल **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले के लिए **सिषक्ति**=सेवन करता है, अर्थात् जब स्तोता को प्रभु का बल प्राप्त होता है, तो **सत्रा**=सचमुच **भराय**=वह उसके भरण के लिए होता है। (२) **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **औशिजस्य**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले के **गोहे**=इस शरीरगृह में **गुहा**=हृदयरूप गुहा में प्रभु का निवास होता है, तो प्रभु इस औशिज के (भराय=) भरण के लिए होते हैं। **यत्**=जो **प्रधिये**=प्रकृष्ट बुद्धि के लिए होते हैं। 'प्र अयसे' प्रकृष्ट गमन के लिए होते हैं और **मदाय**=हर्ष के लिए होते हैं।

भावार्थ—स्तवन से प्राप्त बल हमारा भरण करता है—यह हमारी बुद्धि, गति व हर्ष के लिए होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविद्या का विनाश

वि यद्वरांसि पर्वतस्य वृण्वे पयोभिर्जिन्वे अपां जवांसि।
विदद्गौरस्य गवयस्य गोहे यदी वाजाय सुध्यो३ वहन्ति॥ ८॥

(१) **यद् ई**=जब निश्चय से **सुध्यः**=उत्तम ध्यानशील पुरुष **वाजाय**=शक्तिप्राप्ति के लिए **वहन्ति**=उस प्रभु को धारण करते हैं, तो वे प्रभु (क) **यत्**=जो **पर्वतस्य**=अविद्यापर्वत के **वरांसि**=आवरणों को **विवृण्वे**=खोल डालते हैं—अविद्या के आवरणों को हटा देते हैं। (ख) **पयोभिः**=वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्धों से **अपाम्**=कर्मों के **जवांसि**=वेगों को **जिन्वे**=प्रीणित करते हैं—ज्ञान देकर हमारे कर्मों के वेग को बढ़ा देते हैं। (ग) और हमें **गौरस्य**=शुद्ध हृदयवाले **गवयस्य**=(गौः=इन्द्रियाँ) उत्तम इन्द्रियोंवाले के **गोहे**=घर में **विदत्**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् वे प्रभु हमें शुद्ध हृदय व प्रशस्तेन्द्रिय बनाते हैं। यह सब सत्य है (सत्रा) (२) उपासना के तीन लाभ हैं, (क) अविद्या-पर्वत का विदारण होता है, (ख) ज्ञान के अनुसार कर्मशीलता की वृद्धि होती है और (ग) हम शुद्धहृदय प्रशस्तेन्द्रिय बनते हैं।

भावार्थ—समझदार पुरुष शक्तिप्राप्ति के लिए प्रभु की उपासना करते हैं। इससे अज्ञान नष्ट होता है, ज्ञानपूर्वक कर्म की वृत्ति बढ़ती है और हम शुद्धहृदय प्रशस्तेन्द्रिय बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सब धनों के दाता प्रभु

भद्रा ते हस्ता सुकृतोत पाणी प्रयन्तारा स्तुवते राध इन्द्र।
का ते निषत्तिः किमु नो ममत्सि किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते हस्ता**=आपके हाथ **भद्रा**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं **उत**=और **सुकृता**=हमारे लिए शुभ ही शुभ करनेवाले हैं। आपके **पाणी**=ये रक्षक हाथ **स्तुवते**=स्तोता के लिए **राधः प्रयन्तारा**=कार्यसाधक धनों के देनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! **ते**

निषन्तिः=आपकी उपासना **का**=अद्भुत आनन्द देनेवाली है। आप **नः**=हमें **उ**=निश्चय से **किं ममत्सि**=क्या ही अद्भुत आनन्द देते हैं। **उत् उत् उ**=और निश्चय से **नः**=हमारे लिए **दातवा उ**=देने के लिए ही **किं हर्षसे**=आप क्या ही आनन्दित होते हैं? पिता पुत्र के लिए आवश्यक धनों प्राप्त कराता हुआ आनन्दित होता ही है।

भावार्थ—प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। हमारे लिए आवश्यक धनों को देते हैं। प्रभु को उपासना हमारे लिए आनन्द का कारण बनती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दिव्यरक्षण की प्राप्ति

एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड्ढन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायो भक्षीय तेऽवसो दैव्यस्य॥ १०॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **वस्वः**=सब वसुओं के **सम्राट्**=सम्राट् हैं। **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। **वृत्रं हन्ता**=उपासक की वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। **पूरवे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले के लिए **वरिवः**=सब वरणीय धनों को **कः**=करनेवाले हैं। (२) हे **पुरुष्टुत**=जिन आपकी स्तुति पालन व पूरण करनेवाली है, वे आप **नः**=हमारे लिए **क्रत्वा**=(क्रतुना) यज्ञों के हेतु से **रायः शग्धि**=धनों को दीजिए। **ते**=आपके **दैव्यस्य**=अलौकिक-सब सूर्य, चन्द्र, तारे आदि देवों से प्राप्त होनेवाले **अवसः**=रक्षण का **भक्षीय**=मैं सेवन करनेवाला बनूँ। आपके दिव्यरक्षण का पात्र बनूँ।

भावार्थ—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। वे हमें यज्ञों के लिए धनों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं और हमें दिव्यरक्षण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तोता के लिए प्रेरणा देनेवाले प्रभु

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ११॥

मन्त्र की व्याख्या २०.११ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात का प्रतिपादन करता है कि प्रभु उन्नति के लिए आवश्यक धन देते हैं। इसी उन्नति के उद्देश्य से प्रभु हमें शक्तियों को प्राप्त कराते हैं—

तृतीयोऽनुवाकः

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-स्तुतिवृत्ति-दृढ़ शरीर

यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि तन्नो महान्करति शुष्म्या चित्।
ब्रह्म स्तोमं मघवा सोममुक्था यो अश्मानं शवसा बिभ्रदेति॥ १॥

(१) **यत्**=जब **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे प्रति **जुजुषे**=प्रीतिवाला होता है, अर्थात् जब हम उसके निर्देशों के अनुसार चलते हुए उसे प्रसन्न कर पाते हैं, **यत् च वष्टि**=और

जब वे प्रभु चाहते हैं, **तत्**=तब वे **शुष्मी**=बलवान् **महान्**=पूज्य प्रभु **नः**=हमारे लिए **चित्**=निश्चय से **ब्रह्म**=ज्ञान को तथा **स्तोमम्**=इन स्तुतिमन्त्रों को **आकरति**=सर्वथा करते हैं। हमें इनका ज्ञान देते हैं। इनके अनुसार आचरण करते हुए हम निरन्तर आगे बढ़ते हैं। (२) **मघवा**=वे सर्वैश्वर्योंवाले प्रभु **सोमम्**=सोम को-वीर्यशक्ति को तथा इसके रक्षण के साधनभूत **उक्था**=स्तुति-वचनों को हमारे लिए करते हैं। इन स्तुति-वचनों से हम वासनाओं से बचे रहकर सोम का रक्षण करनेवाले होते हैं। हम उस प्रभु का स्मरण करते हैं, जो कि **अश्मानम्**=इस वज्रतुल्य दृढ़ शरीर को **शवसा**=बल के साथ **बिभ्रत्**=धारण करते हुए **रति**=हमें प्राप्त होते हैं। हम प्रभु का स्मरण करेंगे तो हमारा शरीर वज्रतुल्य दृढ़ शक्तिशाली बनेगा।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु हमें ज्ञान, स्तुति की वृत्ति व दृढ़शरीर प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चतुरश्रि वज्र (ऋग्-यजु-साम-अथर्व रूप ज्ञानवज्र)

वृषा वृषन्धिं चतुरश्रिमस्यन्नुग्रो बाहुभ्यां नृतमः शचीवान्।
श्रिये परुष्णीमुषमाण ऊर्णां यस्याः पर्वाणि सख्याय विव्ये॥ २॥

(१) वे प्रभु **वृषा**=शक्तिशाली हैं। 'चतुर् अश्रिम्'=ऋग्-यजु-साम-अथर्व रूप चार धाराओंवाले **वृषन्धिम्**=शक्ति का आधान करनेवाले वज्र को **अस्यन्**=शत्रुओं पर फेंकते हुए वे प्रभु **उग्रः**=अत्यन्त तेजस्वी हैं। प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं पर इस ज्ञानरूप वज्र को प्रहृत करते हैं। यह ज्ञानरूप वज्र 'ऋग्-यजु-साम-अथर्व' रूप चार धाराओंवाला है। इससे चारों दिशाओं से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का विनाश होता है। ये प्रभु **बाहुभ्याम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए किये गये प्रयत्नों द्वारा (वाह प्रयत्ने) **नृतमः**=हमें अत्यन्त आगे ले चलनेवाले हैं। **शचीवान्**=ये शक्ति व प्रज्ञानवाले हैं। हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं और हमारे प्रज्ञान को सिद्ध करते हैं। (२) ये प्रभु **श्रिये**=हमारे जीवन की शोभा के लिए **परुष्णीम्**=पञ्चपर्वोंवाली अविद्या को **उषमाणः**=दग्ध करनेवाले हैं। उस परुष्णी को प्रभु दग्ध करते हैं, जो कि **ऊर्णाम्**=हमारे ज्ञान पर परदे के रूप में आ जाती है-हमारे ज्ञान को ढक देती है। उस परुष्णी को प्रभु दग्ध करते हैं, **यस्याः**=जिसके **पर्वाणि**=पर्वों को-जोड़ों को **सख्याय**=जीव की प्रभु के साथ मित्रता की सिद्धि के लिए **विव्ये**=सीं डालते हैं (Sew)। इस प्रकार प्रभु अविद्या को संवृत करके हमारे लिए ज्ञानप्रकाश को विवृत करते हैं। इस ज्ञानप्रकाश को प्राप्त जीव ही प्रभु का मित्र बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे अविद्यापर्वत को विदग्ध करके हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवतमः देवः (देवाधिदेव)

यो देवो देवतमो जायमानो महो वाजेभिर्महद्भिश्च शुष्मैः।
दधानो वज्रं बाह्वोरुशन्तं द्याममेन रेजयत्प्र भूम ॥ ३ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **देवः**=प्रकाशमय हैं, **देवतमः**=सर्वाधिक प्रकाशमय हैं। जो **वाजेभिः**=अपनी गतियों द्वारा **जायमानः**=सर्वत्र प्रादुर्भूत हो रहे हैं-सभी जगह प्रभु की रचना का महत्त्व प्रकट हो रहा है। **च**=और जो प्रभु **महद्भिः शुष्मैः**=महान् बलों से **महः**=महान् व पूज्य हैं। (२) ये प्रभु **बाह्वोः**=भुजाओं में **उशन्तम्**=चमकते हुए **वज्रम्**=वज्र को **दधानः**=धारण किये हुए हैं। ये वज्रधारी प्रभु **अमेन**=बल से **द्याम्**=द्युलोक को तथा **भूम**=इस पृथिवीलोक को **प्र रेजयत्**=अत्यन्त

दीप्त करनेवाले होते हैं। ये सारा द्युलोक तथा पृथ्वीलोक प्रभु की शक्ति से ही शक्ति-सम्पन्न हो रहा है उसी से दीप्त हो रहा है 'तस्य भासा सर्वमिदं बिभाति'।

भावार्थ—प्रभु ही महान् देव हैं। प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड का शासन कर रहे हैं। वे ही सम्पूर्ण लोकों को दीप्त करनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सर्वशासक प्रभु

विश्वा रोधांसि प्रवतश्च पूर्वीर्द्यौर्ऋष्वाज्जनिमन्नेजत क्षाः।
आ मातरा भरति शुष्म्या गोर्नृवत्परिज्मन्नोनुवन्त वाताः॥ ४॥

(१) **विश्वा रोधांसि**=सब उन्नत प्रदेश, अर्थात् पर्वत आदि **च**=तथा **पूर्वीः**=ये अनेक **प्रवतः**=निम्न प्रदेश, अर्थात् समुद्र आदि **द्यौः**=द्युलोक **क्षाः**=यह पृथिवीलोक **ऋष्वात् जनिमन्**=उस महान् प्रभु से प्रादुर्भूत होने पर **रेजत**=दीप्त हो उठते हैं। प्रभु की दीप्ति से ये सब दीप्त हो रहे हैं। क्या पर्वतों में, क्या समुद्र में, क्या द्युलोक में और क्या पृथिवीलोक में सर्वत्र उस प्रभु की महिमा का प्रकाश है। (२) शुष्मी वह बलवान् प्रभु ही **आ गोः**=इस समन्तात् गमनशील सूर्य के **मातरा**=माता पितृभूत इन द्यावापृथिवी को **आभरति**=सब प्रकार से धारित व पोषित करते हैं। **नृवत्**=मनुष्यों की तरह **वाताः**=ये वायुएँ भी उस प्रभु से ही प्रेरित हुई-हुई **परिज्मन्**=अन्तरिक्ष में **नोनुवन्त**=शब्दायमान हो रही हैं। मानो उस प्रभु का ही गायन कर रही हों। प्रभु मनुष्यों को भी प्रेरित कर रहे हैं 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। वायु आदि सब देव भी उस प्रभु से प्रेरित हो रहे हैं। इन सब में प्रभुमहिमा का ही प्रकाश हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु ही सब लोकों को गति दे रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु के महान् कर्म

ता तू त इन्द्र महतो महानि विश्वेष्वित्सवनेषु प्रवाच्या।
यच्छूर धृष्णो धृषता दधृष्वानहिं वज्रेण शवसाविवेषीः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **महतः**=महान् **ते**=आपके **ता**=वे कर्म **तु**=तो **महानि**=महान् हैं। **इत्**=निश्चय से आपके वे महान् कर्म **विश्वेषु सवनेषु**=सब यज्ञों में **प्रवाच्या**=प्रकर्षेण शंसनीय होते हैं। (२) हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले इन्द्र! **दधृष्वान्**=सब लोकों का धारण करनेवाले आप **धृषता वज्रेण**=इस धर्षण करनेवाले वज्र द्वारा **शवसा**=अपने बल से **अहिम्**=इस आहन्ता वृत्र को इस विनाशक वासना को **अविवेषीः**=(वधकर्मा) समाप्त कर देते हैं। प्रभु की शक्ति से ही वासना का विध्वंस होता है। इस वासना के विध्वंस द्वारा ही प्रभु सब लोकों का धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के कर्म महान् व स्तुत्य हैं। प्रभु ही हमारे धारण के लिए वासना का विध्वंस करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

गौवें व नदियाँ

ता तू ते सत्या तुविनृम्ण विश्वा प्र धेनवः सिस्रते वृष्ण ऊध्नः।
अधा ह त्वद् वृषमणो भियानाः प्र सिन्धवो जवसा चक्रमन्त॥ ६॥

(१) हे **तुविनृम्ण**=अनन्त बलवाले प्रभो! **ते**=आपके **तु**=तो **ता**=वे **विश्वा**=सब कर्म **सत्या**=सत्य हैं। **वृष्णः**=शक्तिशाली आप से **भियानाः**=भयभीत हुई हुई ही **धेनवः**=गायें **ऊध्नः**=अपने ऊधसों से **प्रसिस्त्रते**=दूध को प्रकर्षेण स्तुत करती हैं। प्रभु की व्यवस्था से ही ये गौवें दूध दे रही हैं। (२) **अधा ह**=और निश्चय से **वृषमणः**=सब काम्य पदार्थों के वर्षणपरक मनवाले **त्वद्**=आप से **भियानाः**=भयभीत होते हुए ही **सिन्धवः**=ये समुद्र **जवसा**=वेग से **प्रचक्रमन्त**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। प्रजापालन के हेतु से होनेवाले ये सब कार्य प्रभु के शासन से ही हो रहे हैं। हमारे पीने के लिए गायें दूध दे रही हैं, नदियाँ जलों को प्राप्त करा रही हैं। इन दूध व जलों के सेवन से ही हमें महान् बल प्राप्त होता है—हम भी 'तुविनृम्ण' बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे पान के लिये दूध व जल की व्यवस्था की है। यही हमारी शक्ति के वर्धन का कारण बनती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञाननदी का पुनः प्रवाह

अत्राह ते हरिवस्ता उ देवीरवोभिरिन्द्र स्तवन्त स्वसारः।
यत्सीमनु प्र मुचो बद्बधाना दीर्घामनु प्रसितिं स्यन्दयध्यै॥ ७॥

(१) हमारे जीवन में ज्ञाननदियों का प्रवाह वृत्र (=वासना) से बद्ध हो जाता है। प्रभुकृपा से ही वह वृत्रबन्धन टूटता है और ज्ञाननदियों का प्रवाह फिर से बहने लगता है। इस प्रवाह के चलने पर हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं। हे **इन्द्र**=वृत्र (वासना) का विनाश करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से **बद्बधानाः**=वासना से बद्ध की जाती हुई इन ज्ञाननदियों को **अनुप्रमुचः**=आप अनुक्रमेण मुक्त करते हैं, **दीर्घां प्रसितिं अनु**=एक लम्बे बन्धन (रोक) के बाद इन्हें फिर **स्यन्दयध्यै**=प्रवाहित करनेवाले होते हैं। **अत्र अह**=इस समय निश्चय से हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले-इन अश्वों को हमें प्राप्त करानेवाले प्रभो! **ताः देवीः**=वे दिव्य ज्ञानजलोंवाली **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाली (स्व+सृ) ज्ञाननदियाँ **अवोभिः**=रक्षणों के हेतु से **ते उ स्तवन्त**=आपका ही स्तवन कराती हैं। (२) वासना का परदा पड़ जाने पर ज्ञान आवृत हो जाता है-हम प्रभु को भूल जाते हैं। प्रभुकृपा से जब यह आवरण हटता है, तभी ज्ञान का प्रवाह ठीक से फिर बहने लगता है। इस ज्ञानप्रवाह में हमारा जीवन शुद्ध हो जाता है और हम प्रभु का दर्शन करने योग्य बनते हैं। हमारी चित्तवृत्ति संसार के विषयों में न फँसकर फिर से प्रभुप्रवण हो उठती है।

भावार्थ—वासना के बन्धन से बद्ध हो गई ज्ञाननदी को प्रभु ही, वासना-विनाश द्वारा, फिर से प्रवाहित करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शशमान की शमी-शुशुमान की शक्ति

पिपीळे अंशुर्मद्यो न सिन्धुरा त्वा शमी शशमानस्य शक्तिः।
अस्मद्र्यक्शुशुचानस्य यम्या आशुर्न रश्मिं तुव्योजसं गोः॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **अंशुः**=ज्ञान रश्मियों को प्राप्त करानेवाला यह सोम **पिपीडे**=(Cover, wrap) हमारे से शरीर में ही संवृत (सुरक्षित) किया गया है। सोम को हमने शरीर में व्याप्त करने का प्रयत्न किया है। यह शरीर में ही सोम का प्रवाह **मद्यः**=हर्षजनक **सिन्धुः न**=नदी के

प्रवाह के समान है। (२) हे प्रभो! इस प्रकार सोम को शरीर में सुरक्षित करने पर **शशमानस्य**=आपका स्तवन करनेवाले का **शमी**=कर्म तथा **शुशुचानस्य**=अपने को पवित्र करने वाले की **शक्तिः**=शक्ति **त्वा**=आपको **अस्मद्र्यक् आयम्याः**=हमारी ओर बाँधनेवाली हो। सोमरक्षण से मैं सदा आपका स्तवन करता हुआ कर्म करूँ तथा अपने को पवित्र बनाता हुआ शक्तिसम्पन्न बनूँ। ऐसा बनकर ही मैं आपको प्राप्त करनेवाला हो सकूँगा। इस प्रकार मैं आपको अपने में बाँधनेवाला बनूँ, **न**=जैसे कि **आशुः**=एक स्फूर्तिसम्पन्न नियन्ता **गोः**=शीघ्रगामी अश्व के **तुव्योजसम्**=बड़े बलवाली-बहुत दृढ़, **रश्मिम्**=लगाम को संयत करता है। प्रभु का सदा स्मरण बनाये रखने के लिए सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। जरा प्रमत्त हुए और प्रभु से दूर हुए। उसी प्रकार जैसे कि सारथि जरा प्रमत्त हुआ और लगाम की पकड़ ढीली हुई।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। इससे हम ज्ञान प्राप्त करके प्रभुस्मरणपूर्वक कर्म करेंगे तथा पवित्र जीवनवाले होकर शक्तिशाली होंगे। ऐसे बनकर ही हम प्रभुप्राप्ति के पात्र होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वासनाविनाशक बल

अस्मे वर्षिष्ठा कृणुहि ज्येष्ठा नृम्णानि सत्रा सहुरे सहांसि।
अस्मभ्यं वृत्रा सुहनानि रन्धि जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्य॥ ९॥

(१) हे **सहुरे**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **वर्षिष्ठा**=प्रवृद्ध **ज्येष्ठा**=प्रशस्त **सहांसि**=शत्रुओं को कुचलनेवाले **नृम्णानि**=बलों को **सत्रा**=सदा **कृणुहि**=करिए। प्रभु हमें अत्यन्त प्रशस्त बलों को प्राप्त कराएँ, उन बलों को जिनसे कि हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल सकें। (२) हे प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वृत्रा**=इन ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **सुहनानि**=सुगमता से नष्ट करने योग्य रूप में **रन्धि**=(वशं नय) वशीभूत करिए। हम इन वासनाओं को इस प्रकार वश में करें कि वे हमारे से सुगमता से नष्ट की जा सकें। हे प्रभो! आप **वनुषः मर्त्यस्य**=हिंसक मनुष्य के **वधः**=आयुध को **जहि**=नष्ट करिए। हम हिंसक मनुष्य के आयुध का शिकार न हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें वह बल दें, जिससे कि हम वासना को विनष्ट कर सकें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

चित्र वाज=ज्ञानयुक्त बल

अस्माकमित्सु शृणुहि त्वमिन्द्रास्मभ्यं चित्राँ उप माहि वाजान्।
अस्मभ्यं विश्वा इषणः पुरन्धीरस्माकं सु मघवन्बोधि गोदाः ॥ १० ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **इत्**=निश्चय से **अस्माकम्**=हमारी प्रार्थना को **सुशृणुहि**=अच्छी प्रकार सुनिए। हम इस योग्य हों कि हमारी प्रार्थना आप से सुनी जाये। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **चित्रान्**=अद्भुत **वाजान्**=बलों को **उपमाहि**=दीजिये। 'चित्रान्' का भाव 'चित्+र'='ज्ञान को देनेवाले' यह भी है। हमारे बल ज्ञान से युक्त हों। (२) आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **विश्वाः**=सब **पुरन्धीः**=पालक व पूरक बुद्धियों को **इषणः**=प्रेरित करिए। हमें वह बुद्धि प्राप्त हो, जो कि हमें पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में लगाये रखे। हे **मघवन्**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारे **गोदाः**=उत्तम इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियों को देनेवाले **सु बोधि**=अच्छी प्रकार (भव) होइये। आपकी कृपा से हमें उत्तम इन्द्रियाँ व ज्ञान

की वाणियाँ प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति दें, उत्तम बुद्धि दें—उत्तम इन्द्रियाँ व ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञानरूप वज्र

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र की व्याख्या १९.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु हमें ज्ञानरूप चार धाराओंवाला वज्र प्राप्त कराते हैं। यह वज्र चतुर्दिक् आक्रमणों से हमारा रक्षण करता है। अगले सूक्त में भी ज्ञानधन की प्राप्ति का उल्लेख है—

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पवित्र-अन्न, पवित्र धन

कथा महामवृधत्कस्य होतुर्यज्ञं जुषाणो अभि सोममूधः।
पिबन्नुशानो जुषमाणो अन्धो ववक्ष ऋष्वः शुचते धनाय ॥ १ ॥

(१) **कस्य होतुः**=किस होता के **यज्ञं जुषाणः**=यज्ञ से प्रीणित होते हुए **कथा**=किस अद्भुत प्रकार से **महाम्**=(मह पूजायाम्) इस पूजा की वृत्तिवाले होता को **अवृधत्**=वे प्रभु बढ़ाते हैं। यह उपासक **सोमम् अभि**=सोमशक्ति का लक्ष्य करके-शरीर में सोमोत्पादन के निमित्त **ऊधः**=गौ के ऊधस् से प्राप्य दूध को **पिबन्**=पीता है और **उशानः**=चाहता हुआ **अन्धः**=सोम्य अन्न का **जुषमाणः**=सेवन करता है। यहाँ दूध के स्थान पर ऊधस् शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि यह ताजा ही दूध-धारोष्ण दूध पीता है तथा 'उशानः' शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत कर रहा है कि भोजन को यह प्रसन्नतापूर्वक ही खाता है। इससे इसके अन्दर उत्तम सोम आदि धातुओं का निर्माण होता है। प्रभु इस दूध व उत्तम अन्न द्वारा ही इस उपासक का वर्धन करते हैं। (२) **ऋष्वः**=वे महान् प्रभु इस उपासक को **शुचते**=पवित्र मार्गों से कमाये जानेवाले **धनाय**=धन के लिए ही **ववक्षे**=(वहति=प्रापयति) ले चलते हैं। इस पवित्र धन द्वारा इसका जीवन पवित्र ही बनता है। जीवन में अवनति का कारण अपवित्र आहार व अपवित्र धन ही होता है। आहार व धन की पवित्रता उसके उत्थान का साधन बनती है। यह व्यक्ति यज्ञ आदि उत्तम कर्मों से प्रभु को प्रीणित करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम धारोष्ण दूध का प्रयोग करें और सात्त्विक अन्न का प्रसन्नतापूर्वक सेवन करें। पवित्र साधनों से धनार्जन करते हुए यज्ञादि उत्तम कर्म करें। यही प्रभु की प्राप्ति करने का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमति की प्राप्ति

को अस्य वीरः सधमादमाप समानंश सुमतिभिः को अस्य।
कदस्य चित्रं चिकिते कदूती वृधे भुवच्छशमानस्य यज्योः ॥ २ ॥

(१) **कः**=कोई एक **वीरः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाशक व्यक्ति ही **अस्य**=इस प्रभु के **सधमादम्**=सम्पर्क के आनन्द को **आप**=प्राप्त होता है। प्रभुप्राप्ति का आनन्द वीरपुरुष ही प्राप्त करता है। (२) **कः**=कोई वीर ही **अस्य**=इस प्रभु की **सुमतिभिः**=कल्याणी मतियों से **समानंश**=(संगच्छते सा०) संगत होता है। उस प्रभु की उपासना करता हुआ उस अन्तःस्थित प्रभुप्रेरणा को सुनता हुआ विरल पुरुष ही सद्बुद्धिवाला बनता है। (३) **कत्**=कभी ही **अस्य**=इस प्रभु का **चित्रम्**=वह अद्भुत ज्ञानैश्वर्य **चिकिते**=जाना जाता है। **कद्**=कभी ही **ऊती**=वे प्रभु रक्षण द्वारा **शशमानस्य**=स्तवन करनेवाले **यज्योः**=यज्ञशील पुरुष की **वृधे भुवत्**=वृद्धि के लिए होते हैं। प्रभु ज्ञान देकर ही हमारा रक्षण करते हैं। इस को प्राप्त करने के लिए हमें ध्यान द्वारा प्रभु के सम्पर्क को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—हम वीर बनें। ध्यान द्वारा प्रभु के सम्पर्क के आनन्द का अनुभव करें। हमें प्रभु से कल्याणी मति व ज्ञान प्राप्त होगा। यह ज्ञान हमारा रक्षक होगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के अद्भुत दान व रक्षण

कथा शृणोति हूयमानमिन्द्रः कथा शृण्वन्नवसामस्य वेद।
का अस्य पूर्वीरुपमातयो ह कथैनमाहुः पपुरिं जरित्रे॥ ३॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **हूयमानम्**=(आह्वयमानम्) प्रार्थना करते हुए को **कथा**=किस अद्भुत प्रकार से **शृणोति**=सुनता है। उपासक की प्रार्थनाओं को पूर्ण करने का प्रभु का प्रकार अद्भुत ही है। **कथा**=किस प्रकार **शृण्वन्**=इसकी प्रार्थना को सुनता हुआ **अस्य**=इस उपासक के **अवसाम्**=रक्षणों को **वेद**=जानता है, प्रभु के रक्षण का प्रकार भी अद्भुत ही होता है। (२) **काः**=क्या ही अद्भुत **ह**=निश्चय से **अस्य**=इस परमात्मा के **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाले **उपमातयः**=दान हैं। **कथा**=किस प्रकार **एनम्**=इस परमात्मा को **जरित्रे**=स्तोता के लिए **पपुरि**=पालन व पूरण करनेवाला **आहुः**=कहते हैं?

भावार्थ—प्रभु आराधक की प्रार्थना को सुनते हैं। उसका रक्षण करते हैं। उस प्रभु के दान अद्भुत हैं। स्तोता के प्रभु पालक होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रविण की प्राप्ति

कथा सबाधः शशमानो अस्य नशदभि द्रविणं दीध्यानः।
देवो भुवन्नवेदा म ऋतानां नमो जगृभ्वाँ अभि यज्जुजोषत्॥ ४॥

(१) **सबाधः**=(स-बाध) काम-क्रोध आदि शत्रुओं का बाधन करनेवाला, **शशमानः**=प्रभु का शंसन करनेवाला **दीध्यानः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाला व्यक्ति **कथा**=किस अद्भुत प्रकार से **अस्य**=इस प्रभु के **द्रविणम्**=धन को **अभिनशत्**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है। (२) **देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **मे**=मेरे लिए **ऋतानाम्**=ऋतों के-यज्ञों के व ठीक मार्ग के **नवेदाः**=('न' अतिशादवाश्वी सा०) अतिशयेन ज्ञापक **भुवत्**=होते हैं। उस समय ज्ञापक होते हैं, **यत्**=जब कि वे हमारे **नमः**=नमन को (नमस्कार को) **जगृभ्वान्**=ग्रहण करनेवाले वे प्रभु **अभि जुजोषत्**=हमारे प्रति प्रीति वाले होते हैं। अतिशयेन प्रसन्न हुए-हुए वे प्रभु हमारे लिए ऋत का ज्ञान देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करते हुए प्रभु के धन को प्राप्त करते हैं। हम प्रभु के प्रति नमनवाले होते हैं, प्रभु हमारे लिए ऋत का ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु की मित्रता में काम की पवित्रता

कथा कदस्या उषसो व्युष्टौ देवो मर्तस्य सख्यं जुजोष।
कथा कदस्य सख्यं सखिभ्यो ये अस्मिन्कामं सुयुजं ततस्रे॥ ५॥

(१) **कथा**=किस अद्भुत प्रकार से **कत्**=कब **अस्याः उषसः व्युष्टौ**=इस उषा के उदय होते ही-उषा के निकलते ही **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **मर्तस्य**=मनुष्य की **सख्यं जुजोष**=मित्रता को प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं? **कथा**=किस प्रकार **कत्**=कब **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिए **अस्य सख्यम्**=इसकी मित्रता होती है? (२) **ये**=जो हम लोग **अस्मिन्**=इस प्रभु में **सुयुजम्**=सदा उत्तम कर्मों में लगनेवाली **कामम्**=इच्छा को **ततस्रे**=विस्तृत करते हैं (वितेनिरे सा०) जब हम प्रभु की मित्रता को प्राप्त करते हैं, तो हमारे अन्दर सदा 'धर्माविरुद्ध काम' का विस्तार होता है। धर्म के प्रतिकूल सब कामनाएँ विनष्ट हो जाती हैं।

भावार्थ—उषा का उदय होते ही हम प्रभु का स्मरण करें। इससे हमारी इच्छाएँ पवित्र बनेंगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु की मित्रता में

किमादमत्रं सख्यं सखिभ्यः कदा नु ते भ्रात्रं प्र ब्रवाम।
श्रिये सुदृशो वपुरस्य सर्गाः स्व१र्ण चित्रतममिष आ गोः॥ ६॥

(१) **किं आत्**=क्या ही **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिए **सख्यम्**=आपकी मित्रता **अमत्रम्**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाली होती है (शत्रूनभिभावुकम् सा०)। **कदा नु**=कब निश्चय से **ते**=आपके **भ्रात्रम्**=भ्रातृत्व को **प्रब्रवाम**=हम कह सकेंगे? (२) **अस्य सुदृशः**=इस उत्तम दर्शनीय प्रभु के **सर्गाः**=उद्योग **श्रिये**=हमारी शोभा की वृद्धि के लिए होते हैं। इस **गोः**=सदा गतिशील प्रभु का **स्वः न**=सूर्य के समान **चित्रतमः**=अत्यन्त अद्भुत दीप्तिवाला **वपुः**=शरीर **आ इमे**=समन्तात्, सब से चाहने योग्य होता है। हम जितना-जितना प्रभु की प्रेरणा में चलेंगे, उतना-उतना ही अधिक और अधिक शोभावाले बन पाएँगे। हम अपने इस शरीर को प्रभु का शरीर बनाएँ। ऐसा करने से यह सूर्य के समान दीप्तिवाला बनेगा। हृदय में प्रभु को आसीन करते ही यह शरीर प्रभु का शरीर बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाले होंगे। हमारा शरीर सूर्य के समान दीप्तिवाला बनेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रोहवृत्ति का विनाश

द्रुहं जिघांसन्ध्वरसमनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका।
ऋणा चिद्यत्र ऋणया न उग्रो दूरे अज्ञाता उषसो बबाधे॥ ७॥

(१) **ध्वरसम्**=हिंसिका **अनिन्द्राम्**=इन्द्र (प्रभु) के स्मरण से रहित **द्रुहम्**=द्रोहवृत्ति को **जिघांसन्**=नष्ट करना चाहता हुआ प्रभु इस द्रोहवृत्ति के विनाश के लिए **तिग्मा**

अनीका=अपने पहले से तीव्र आयुधों को **तेतिक्ते**=अत्यन्त तीव्र करता है। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ही आयुध हैं। इनको तीव्र बनाने से हम अशुभ वृत्तियों का विध्वंस कर पाते हैं। इन द्रोह आदि वृत्तियों के प्रबल होने पर हम प्रभुस्मरण से दूर हो जाते हैं। ये वृत्तियाँ 'अनिन्द्रा' हैं। (२) **यत्र**=जिन उषाओं में **ऋणा चित्**=निश्चय से ऋण होते हैं-जिन उषाओं में हम ऋणों के बोझ से दबे होते हैं, **ऋणयाः**=ऋण का नष्ट करनेवाला (यातिर्वधकर्मा सा०) **उग्रः**=वह तेजस्वी प्रभु **नः**=हमारी **उषसः**=उन उषाओं को **अज्ञाताः**=हमारे से अननुभूत रूप में ही **दूरे बबाधे**=सुदूर रोक देते हैं। हम ऋण के बोझवाली उषाओं का अनुभव करनेवाले नहीं होते, अर्थात् हम सब ऋणों को (पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण, देव-ऋण व मानव-ऋण) उतारनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण हमें इस योग्य बनाता है कि हम द्रोह की वृत्ति से ऊपर उठते हैं और अपने सब ऋणों को उतारनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र ऋतदेवो वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बोध व पवित्रता देनेवाला वेदज्ञान

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥ ८ ॥

(१) **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान की **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाली सनातन वाणियाँ **हि**=निश्चय से **शुरुधः**=(शुग् रुधः) हमारे सब शोकों को दूर करनेवाली **सन्ति**=हैं। हमारे जीवनों को उत्तम बनाकर ये हमारे शोकों को दूर करती हैं। **ऋतस्य धीतिः**=सत्य वेदज्ञान का धारण **वृजिनानि**=हमारे सब पापों को **हन्ति**=नष्ट करता है। यह ज्ञान हमें पवित्र बनाता है। (२) **ऋतस्य श्लोकः**=इस सत्य वेदज्ञान की स्तुतिरूप वाणी **बधिरा कर्णा**=बहिरे कानों को भी **ततर्द**=छेद डालती है-यह सब पर उत्तम प्रभाव पैदा करती है। यह **आयोः**=मनुष्य का **बुधानः**=ज्ञान बढ़ानेवाली व **शुचमानः**=उसे शुचि जीवनवाला बनानेवाली है।

भावार्थ—सत्य वेदज्ञान सृष्टि के आरम्भ में दिया गया है। यह हमारे जीवन को बोधमय व पवित्र बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र ऋतदेवो वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदज्ञान का जीवन पर यह पूर्ण प्रभाव

ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ॥ ९ ॥

(१) **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान के **धरुणानि**=धारण **दृढा सन्ति**=बहुत दृढ़ हैं। वेदज्ञान से हमारा दृढ़ धारण होता है। इस वेदज्ञान द्वारा हम वासनाओं से अपने को बचा पाते हैं। ये वेदज्ञान के धरुण **पुरूणि**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। **चन्द्रा**=ये धरुण हमारे लिए आह्लादजनक होते हैं। **वपुषे**=(वप् to sow) अपने अन्दर इस सत्य वेदज्ञान के बीज को बोनेवाले के लिए ये वपूंषि (वप् to beget) सब अच्छाइयों को जन्म देनेवाले हैं। (२) **ऋतेन**=इस सत्य वेदज्ञान द्वारा **दीर्घं पृक्षः**=सब अन्धकार का विदारण करनेवाले (पृच् संपर्के) प्रभु-सम्पर्क को **इष्णन्त**=चाहते हैं। वेदज्ञान से प्रभु-सम्पर्क प्राप्त होता है, जो प्रभु-सम्पर्क सब अन्धकार का विदारण करनेवाला होता है। **ऋतेन**=इस सत्य वेदज्ञान से **गावः**=इन्द्रियाँ **ऋतम्**=उस सत्यस्वरूप प्रभु में **आविवेशुः**=प्रवेश करती हैं। इन्द्रियाँ विषय-प्रवणता को छोड़कर प्रभु-चर्चा व ध्यान में लगती हैं।

भावार्थ—वेदज्ञान हमारा धारण करता है-हमारे में उत्तमताओं को विकसित करता है। इस वेदज्ञान से इन्द्रियाँ प्रभु में प्रवेश करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र ऋतदेवो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदज्ञान द्वारा प्रभु का संभजन

ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते॥ १०॥

(१) **ऋतं येमानः**=सत्य वेदज्ञान को अपने अन्दर धारण करता हुआ (नियच्छन्) **इत्**=निश्चय से **ऋतम्**=उस सत्यस्वरूप प्रभु को **वनोति**=भजता है। इस **ऋतस्य**=सत्यस्वरूप प्रभु का **शुष्मः**=शत्रुशोषक बल **उ**=निश्चय से **तुरया**=शीघ्र ही **गव्युः**=हमारे साथ प्रशस्त इन्द्रियों को जोड़नेवाला है। वेदज्ञान से हम प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हैं। प्रभुसम्पर्क से प्राप्त शक्ति हमारी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाती है। (२) **ऋताय**=इस सत्य वेदज्ञान के लिए **पृथ्वी**=द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **बहुले**=बहुत उत्तम वसुओं को लानेवाले तथा **गभीरे**=गम्भीर ज्ञानवाले होते हैं। सत्य वेदज्ञान का शरीर पर यह परिणाम होता है कि यह सब वसुओं से परिपूर्ण होता है तथा मस्तिष्क गम्भीर ज्ञानवाला बनता है। **ऋताय**=सत्य वेदज्ञान के लिए ही **धेनू**=ज्ञान व शक्ति से प्रीणित करनेवाले **परमे**=उत्कृष्ट द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **दुहाते**=प्रपूरण करनेवाले होते हैं। वेदज्ञान को अपनाने से मस्तिष्क व शरीर ज्ञान व शक्ति से परिपूर्ण होकर हमारा प्रीणन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—वेदज्ञान हमें प्रभु को प्राप्त कराता है। इससे मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण होता है, तो शरीर शक्ति से।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तुतः गृणानः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ११ ॥

मन्त्र की व्याख्या २२.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि वेदज्ञान हमारे जीवन को सुन्दर बनाता है। 'स्तुति किये प्रभु सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं' इस भाव से अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

○ [२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रियों के रक्षक प्रभु

का सुष्टुतिः शवसः सूनुमिन्द्रमर्वाचीनं राधस आ ववर्तत्।
ददिर्हि वीरो गृणते वसूनि स गोपतिर्निष्षिधां नो जनासः॥ १ ॥

(१) **का**=क्या अद्भुत **सुष्टुतिः**=यह उत्तम स्तुति है, जो कि **शवसः सूनुम्**=बल के पुत्र-बल के पुतले-बल के पुञ्ज सर्वशक्तिमान् उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अर्वाचीनम्**=हमारे अभिमुख **राधसे**=सम्पत्ति के लिए **आववर्तत्**=आवृत्त करती है। हम प्रभु का स्तवन करते हैं-स्तुति द्वारा प्रभु को अपने अभिमुख करते हैं, अभिमुखीभूत प्रभु हमारे लिए कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं। (२) **वीरः**=सब शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु **गृणते**=स्तोता के

लिए **हि**=निश्चयपूर्वक **वसूनि ददिः**=वसुओं को देते हैं। सब धनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु हैं। (३) हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे में से **निष्षिधाम्**=वासनाओं के निषेध करनेवालों के **गोपतिः**=इन्द्रियों के रक्षक हैं। प्रभुस्मरण द्वारा हम वासनाओं का निषेध करते हैं। ऐसा करने पर प्रभु हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—स्तुति द्वारा प्रभु को हम अपने अभिमुख करें। वे प्रभु हमें आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। प्रभुस्मरण से इन्द्रियवृत्तियाँ ठीक बनी रहती हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ब्रह्मण्यते-सुष्वये

स वृत्रहत्ये हव्यः स ईड्यः स सुष्टुत इन्द्रः सत्यराधाः।
स यामन्ना मघवा मर्त्याय ब्रह्मण्यते सुष्वये वरिवो धात्॥ २॥

(१) **सः**=वे प्रभु **वृत्रहत्ये**=वासनारूप वृत्र के विनाश के निमित्त **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। **सः**=वे प्रभु ही **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं। **सुष्टुतः**=उत्तम स्तुति किये गये **सः**=वे **इन्द्रः**=प्रभु **सत्यराधाः**=सत्य धनवाले हैं-वास्तविक ऐश्वर्यवाले हैं। (२) **सः**=वे **मघवा**=परमैश्वर्यवाले प्रभु **यामन्**=जीवनयात्रा में उस **मर्त्याय**=मनुष्य के लिए **वरिवः**=धन को **आधात्**=धारण करते हैं, जो कि **ब्रह्मण्यते**=ज्ञानवाणियों की कामनावाला होता है और **सुष्वये**=सोम का सम्पादन करता है-सोम को अपने अन्दर उत्पन्न करता है। इस सोमरक्षण द्वारा ही वस्तुतः वह अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त कर पाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हैं-प्रभु हमारी वासना का विनाश करते हैं। प्रभु ही जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए सत्यधन को प्राप्त कराते हैं। हम ज्ञानप्राप्ति की कामनावाले बनें और सोम का सम्पादन करें-प्रभु हमारे लिए धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

परस्पर त्याग से उत्तम सन्तान की प्राप्ति

तमिन्नरो वि ह्वयन्ते समीके रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत त्राम्।
मिथो यत्त्यागमुभयासो अग्मन्नरस्तोकस्य तनयस्य सातौ॥ ३॥

(१) **नरः**=युद्ध में शत्रु के प्रति आगे बढ़नेवाले लोग **समीके**=संग्राम में **तं इत्**=उस प्रभु को ही **विह्वयन्ते**=विशेषरूप से पुकारते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर ही वे विजयी बनते हैं। (२) **रिरिक्वांसः**=तप द्वारा सब मलों का विरेचन करनेवाले पुरुष प्रभु को ही **तन्वः**=शरीर का **त्राम्**=रक्षक **कृण्वत**=करते हैं। प्रभुस्मरण के साथ जीवन को तपस्वी बनाते हुए हम प्रभु को ही अपना शरीर-रक्षक बनाते हैं। (२) एक घर में **यत्**=जब **उभयासः नरः**=दोनों लोग, अर्थात् पति-पत्नी **मिथः**=परस्पर **त्यागं अग्मन्**=त्याग को प्राप्त होते हैं, जब 'पति' पत्नी के लिए तथा 'पत्नी' पति के लिए अधिक से अधिक त्याग करने को तैयार होता है तो वे **तोकस्य**=पुत्रों के तथा **तनयस्य**=पौत्रों के **सातौ**=लाभ को प्राप्त करते हैं। इनके उत्तम सन्तान होते हैं।

भावार्थ—जीवनसंग्राम में प्रभुस्मरण द्वारा प्रभु को अपना रक्षक बनाएँ। परस्पर त्यागवृत्ति से चलते हुए हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुस्मरण व वासनासंग्राम में विजय

**क्रतूयन्ति क्षितयो योगे उग्राशुषाणासो मिथो अर्णसातौ।
सं यद्विशोऽववृत्रन्त युध्मा आदिन्नेम इन्द्रयन्ते अभीके॥ ४॥**

(१) हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **आशुषाणासः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **क्षितयः**=मनुष्य **योगे**=आपकी प्राप्ति के निमित्त **क्रतूयन्ति**=यज्ञादि कर्मों की कामनावाले होते हैं। **मिथः**=परस्पर **अर्णसातौ**=ज्ञानजल की प्राप्ति के निमित्त भी ये **क्रतूयन्ति**=यज्ञादि कर्मों की कामना करते हैं। (२) **यद्**=जब **विशः**=प्रजाएँ **सं अववृत्रन्त**=शत्रुओं से समन्तात् घिर जाती हैं तो **युध्माः**=उन वासनारूप शत्रुओं से युद्ध करनेवाले ये **नेमे**=कई सौभाग्यशाली लोग **आत् इत्**=शीघ्र ही **अभीके**=संग्राम में **इन्द्रयन्ते**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की कामनावाले होते हैं। प्रभु द्वारा ही तो वे संग्रामों में विजयी होते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के निमित्त तथा ज्ञानप्राप्ति के निमित्त यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होना आवश्यक है। वासनासंग्राम में प्रभुस्मरण ही हमें विजयी बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना से सम्पर्क तक

**आदिद्ध नेम इन्द्रियं यजन्त आदित्पक्तिः पुरोळाशं रिरिच्यात्।
आदित्सोमो वि पपृच्यादसुष्वीनादिज्जुजोष वृषभं यजध्यै॥ ५॥**

(१) गतमन्त्र के अनुसार जब वासनाओं के साथ संग्राम प्रारम्भ होता है **आत् इत् ह**=तभी निश्चय से **नेमे**=कई सौभाग्यशाली लोग **इन्द्रियं यजन्ते**=उस शक्ति के पुञ्ज (इन्द्रियं वीर्यं बलम्) प्रभु का उपासन करते हैं। **आत् इत्**=तभी **पक्तिः**=अपना ठीक परिपाक करनेवाला यह साधक **पुरोडाशम्**=(मस्तिष्को वै पुरोडाशः तै० ३।२८।७) मस्तिष्क को **रिरिच्यात्**=सब अशुभ विचारों से रिक्त करके पवित्र करता है। प्रभु की उपासना के समान जीवन को पवित्र करनेवाली अन्य वस्तु नहीं है। (२) **आत् इत्**=अब मस्तिष्क के पवित्र होने पर यह **सोमः**=सौम्य स्वभाव का पुरुष **असुष्वीन्**=यज्ञ आदि न करने की भावनाओं को **विपपृच्यात्**=अपने से पृथक् करता है। **आत् इत्**=इन अयज्ञिय भावनाओं को दूर करने के बाद यह **वृषभं यजध्यै**=उस शक्तिशाली प्रभु का यजन करने के लिए **जुजोष**=प्रीतिवाला होता है। उस प्रभु के साथ सम्पर्क को प्राप्त करता है।

भावार्थ—कुछ ही लोग शक्तिशाली प्रभु का उपासन करते हैं। वे मस्तिष्क को कुविचारों से शून्य कर पाते हैं। अयज्ञिय भावों को अपने से पृथक् करते हैं और उस शक्तिशाली प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुप्राप्ति के सोम का सवन

**कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्थेन्द्राय सोममुशते सुनोति।
सध्रीचीनेन मनसाविवेनन् तमित्सखायं कृणुते समत्सु॥ ६॥**

(१) **यः**=जो **अस्मै इन्द्राय**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **इत्था**=सचमुच **वरिवः**=पूजा

को **कृणोति**=करता है। वह **उशते**=सदा हमारे हित की कामनावाले प्रभु के लिए **सोमम्**=सोम को **सुनोति**=अपने अन्दर उत्पन्न करता है—इस सोम (वीर्य) के रक्षण से ही तो ज्ञानदीप्ति होकर प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) यह **सध्रीचीनेन मनसा (सह अञ्चति)**=प्रभु के साथ विचरनेवाले मन से **अविवेनन्**=हमारे हित की कामना से कभी पृथक् न होनेवाले **तं इत्**=उस प्रभु को ही **समत्सु**=इन जीवन संग्रामों में **सखायम्**=मित्र **कृणुते**=करता है। इस प्रभु की मित्रता द्वारा ही तो सब संग्रामों में विजय प्राप्त होती है। हम अपने मन को प्राणायाम आदि द्वारा विषयों से विनिवृत्त करके प्रभु के साथ मिलाएँगे तभी इस प्रभु की मित्रता को पा सकेंगे। सध्रीचीन मन ही हमें प्रभु का सम्पर्क प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करें। उसकी प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें। विषयव्यावृत्त मन द्वारा प्रभु को मित्र बनाकर वासनासंग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रुशोषक बल की प्राप्ति

य इन्द्राय सुनवत्सोममद्य पचात्पक्तीरुत भृज्जाति धानाः।
प्रति मनायोरुचथानि हर्यन्तस्मिन्दधद् वृषणं शुष्ममिन्द्रः॥ ७॥

(१) **यः**=जो **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अद्य**=आज **सोमं सुनवत्**=सोम का सवन करता है—इस सोम से ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रभु का दर्शन करता है। **पक्तीः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाले पाँच ज्ञान के ओदनों को **पचात्**=पकाता है (पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमताम्)। **उत**=और इन ज्ञानौदनों के परिपाक के साथ **धानाः**=धारणशक्तियों को **भृज्जातिः**=परिपक्व करता है। (२) इस **मनायोः**=विचारशील पुरुष के (मन्, इ)—विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले के **उचथानि**=स्तोत्रों को **प्रतिहर्यन्**=चाहता हुआ व प्राप्त होता हुआ **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **तस्मिन्**=उस उपासक में **वृषणम्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को **दधत्**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए हम (क) सोम का सवन करें, (ख) ज्ञानौदनों का परिपाक करें और (ग) धारणात्मक कर्मों को करनेवाले हों। प्रभु हमें शत्रुशोषक बल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दीर्घ संग्राम

यदा समर्यं व्यचेदृघावा दीर्घं यदाजिमभ्यख्यदर्यः।
अचिक्रदद् वृषणं पत्न्यच्छा दुरोण आ निशितं सोमसुद्भिः॥ ८॥

(१) **यदा**=जब **ऋघावा**=शत्रुओं का हिंसक पुरुष **समर्यम्**=(सह मर्तव्यं शत्रुम्) जिसके साथ हमारी मृत्यु का हो जाना सम्भव है, उस 'काम-क्रोध' रूप शत्रु को **व्यचेत्**=(व्यज्ञासीत्) जान लेता है। **यद्**=जब **अर्यः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **दीर्घं आजिम्**=इस लम्बे संग्राम को **अभि आख्यत्**=देख लेता है—जब वह यह देख लेता है कि यह जीवन तो एक दीर्घ संग्राम है। तब वह उस **वृषणम्**=शक्तिशाली प्रभु को **अचिक्रदत्**=पुकारता है। प्रभु की सहायता के बिना इस लम्बे जीवनसंग्राम में जीतना सम्भव नहीं है। (२) यह 'अर्य' उसी प्रकार प्रभु को पुकारता है जैसे **दुरोणे**=गृह में **पत्नी**=पत्नी **वृषणं अच्छा**=शक्तिशाली पति को लक्ष्य करके पुकारती है। यह 'अर्य' उस प्रभु को पुकारता है, जो कि **सोमसुद्भिः**=अपने अन्दर सोम का सवन करनेवालों

से **आनिशितम्**=तीक्ष्ण किया जाता है, अर्थात् अपने अन्दर सोमरक्षण करने द्वारा हम प्रभु का प्रकाश देख पाते हैं। इन प्रभु को हम शत्रुओं के साथ संग्राम में पुकारते हैं। इन्हीं की सहायता से हम संग्राम में विजयी होते हैं।

भावार्थ—हम संग्राम में प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु की सहायता से ही हम संग्राम में विजयी होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविक्रीत

भूयसा वस्नमचरत्कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद्दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम् ॥ ९ ॥

(१) गतमन्त्र में जीवन को एक दीर्घ संग्राम के रूप में चित्रित किया था। एक मार्ग विषय-प्रवृत्ति का है, दूसरा विषयों से निवृत्ति का। विषयों का सुख क्षणिक होता है और उसके लिए बहुत अधिक मूल्य देना पड़ जाता है। मन्त्र में कहते हैं कि **भूयसा**=बहुत अधिक हानि से-बहुत अधिक अपने द्रव्य को देकर **कनीयः वस्नमचरत्**=अत्यल्प मूल्य को पाता है। स्वास्थ्य व शक्ति को विनष्ट करके क्षणिक सुख को लेना ऐसा ही तो है। **पुनः**=फिर, इसके विपरीत **अविक्रीतः**=(न विक्रीतं येन) 'जिसने विषयों के लिए अपने को नहीं बेचा' ऐसा मैं **यन्**=मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ **अकानिषम्**=(कन् दीप्तौ) चमक उठता हूँ। प्रभु के समीप पहुँचता हुआ अधिकाधिक तेजस्वी होता जाता हूँ। (२) **सः**=वह उपर्युक्त प्रकार से सोचनेवाला व्यक्ति **भूयसा**=बहुत अधिक द्रव्य देकर **कनीयः**=अत्यल्प मूल्य को **न अरिरेचीत्**=नहीं प्राप्त करता (न लभते सा०), अर्थात् यह वैषयिक सुख के लिए वीर्य को विनष्ट नहीं करता। ये **दीनाः**=हृदय में नम्रता को धारण करनेवाले (humble, meek) **दक्षाः**=कार्यकुशल पुरुष **प्रवाणम्**=प्रभु से दी गई इस प्रकृष्ट वेदवाणी को **विदुहन्ति**=विशेषरूप से दोहते हैं। दीन शब्द लोक में 'दुःखी' इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेद में 'दी' का अर्थ to shine=चमकना अथवा to appear good=अच्छा प्रतीत होना है। इस प्रकार 'दीन' शब्द ज्ञान से दीप्त होनेवाला अथवा नम्रता से उत्तम प्रतीत होनेवाला है। ये व्यक्ति वीर्य को विनष्ट करके वैषयिक सुख की ओर नहीं झुकते।

भावार्थ—हम अपने को विषय सुख के लिए न बेच डालें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

दस धेनुओं से इन्द्र का क्रयण

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत् ॥ १० ॥

(१) **कः**=कौन **दशभिः धेनुभिः**=(धेनु=gift, Present) दस इन्द्रियों के दस विषयरूप भेंटों से **इमं मम इन्द्रम्**=इस मेरे परमैश्वर्यशाली प्रभु को **क्रीणाति**=खरीदता है, अर्थात् न जाने यह मुझे विषयों की ओर प्रेरित करनेवाला 'काम' मुझे दस विषयों की भेंटें देकर किस प्रकार प्रभु का विस्मरण करा देता है। (२) **यदा**=जब कभी **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत इन वासनाओं को **जङ्घनत्**=नष्ट करता है, तो **अथ**=उस समय **एनम्**=इस प्रभु को **मे**=मेरे लिए **पुनः**=फिर **ददत्**=देता है। जब कभी वासना का विनाश होता है, तब ही प्रभु का स्मरण होता है। तभी वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—दस विषय हमें प्रभु का विस्मरण करा देते हैं। वासना का विनाश होने पर प्रभु

का स्मरण होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तोता के लिए प्रेरणा

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्योऽ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र की व्याख्या २३.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का विषय यही है कि प्रभु ही हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। इसलिए प्रभु की मित्रता ही चाहने योग्य है—

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

नर्यः देवकामः

को अद्य नर्यो देवकाम उशन्निन्द्रस्य सख्यं जुजोष।
को वा महेऽवसे पार्याय समिद्धे अग्नौ सुतसोम ईट्टे॥ १ ॥

(१) **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **अद्य**=आज **नर्यः**=नरहितकारी कर्मों में लगा हुआ **देवकामः**=दिव्यगुणों की कामनावाला व देव (प्रभु)-प्राप्ति की कामनावाला **उशन्**=चाहता हुआ, अर्थात् इच्छापूर्वक **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **सख्यम्**=मित्रता को **जुजोष**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। कोई विरल व्यक्ति ही प्रभु की ओर झुकता है। (२) **कः वा**=या कौन **सुतसोमः**=सोम का सम्पादन करनेवाला **अग्नौ समिद्धे**=ज्ञानाग्नि के समिद्ध होने पर **महे**=महान् **पार्याय**=भवसागर को पार करने में उत्तम **अवसे**=रक्षण के लिये **ईट्टे**=प्रभु का उपासन करता है। प्रभु के उपासन का प्रकार यही है कि, (क) हम शरीर में सोम का रक्षण करें, (ख) इससे ज्ञानाग्नि समिद्ध होगी, (ग) हम विषयों में न फँसेंगे। इस प्रकार हम प्रभु का वास्तविक पूजन कर रहे होंगे।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम नरहितकारी कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। विषयों में न फँसकर भवसागर से पार हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

युज्य-सखा-भाव

को नानाम वचसा सोम्याय मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥ २ ॥

(१) **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **सोम्याय**=अत्यन्त शान्त प्रभु के लिए **वचसा**=स्तुतिवाणियों द्वारा **नानाम**=नमन करता है। **वा**=अथवा कोई विरल व्यक्ति ही **मनायुः भवति**=विचारपूर्वक क्रियाओं को करनेवाला होता है (मन्-ई गतौ)। यह मनायु ही **उस्राः**=ज्ञानरश्मियों को **वस्ते**=धारण करता है। प्रभु के प्रति नमन 'उपासना काण्ड' है, ज्ञानपूर्वक कर्मों को करना 'कर्मकाण्ड' है, ज्ञानरश्मियों का धारण 'ज्ञानकाण्ड' है। इस प्रकार यह व्यक्ति तीनों काण्डों का अपने जीवन में समन्वय करता है। (२) **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **युज्यम्**=मेल को **वष्टि**=चाहता है। **कः**=कोई व्यक्ति ही **सखित्वम्**=प्रभु का सखा बनने की कामनावाला होता है। **कः**=कोई विरल पुरुष ही **भ्रात्रम्**=उस प्रभु के साथ भ्रातृत्व की कामना

करता है। **कः**=कोई ही **कवये**=उस क्रान्तदर्शी प्रभु के लिए **ऊती**=अपने कर्मों द्वारा तर्पणवाला होता है। उसकी सदा यही कामना होती है कि मैं इस प्रकार से कर्म करूँ कि प्रभु का प्रिय बन पाऊँ।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'उपासना, कर्म व ज्ञान' का समन्वय करें। हम प्रभु को ही अपना 'मेलवाला, साथी व भाई' जानें। उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु को प्रीणित करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आदित्य, अदिति व ज्योति की उपासना

को देवानामवो अद्या वृणीते क आदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे।
कस्याश्विनाविन्द्रो अग्निः सुतस्यांशोः पिबन्ति मनसाविवेनम्॥ ३॥

(१) **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **अद्य**=आज इस जीवन में **देवानां अवः**=देवों के-दिव्यगुणों के रक्षण का **वृणीते**=वरण करता है। सामान्यतः मनुष्य संसार के भोगों में फँस जाता है दिव्यगुणों के रक्षण का उसे ध्यान नहीं रहता। **कः**=कोई विरल पुरुष ही **आदित्यान्**=सब स्थानों से अच्छाई ग्रहण (आदान) की भावना को, **अदितम्**=स्वास्थ्य (अखण्डन) को और **ज्योतिः**=प्रकाश को **ईट्टे**=उपासित करता है। सामान्यतः मनुष्य बुराई को ही देखता है-अच्छाई को देखने का प्रयत्न ही नहीं करता। स्वाद आदि में फँसकर स्वास्थ्य को खो बैठता है और ज्ञानप्राप्ति की ओर झुकाववाला नहीं होता। (२) **कस्य**=किसी ही यत्नशील पुरुष के **सुतस्य अंशोः**=उत्पन्न किये गये सोम का **अश्विनौ**=प्राणापान **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता तथा **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **मनसा**=मन से **अ-वि-वेनम्**=चाहते हुए **पिबन्ति**=पान करते हैं, अर्थात् कोई विरल व्यक्ति ही प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है (अश्विना), कोई ही इन्द्रियों के वश करने में यत्नशील होता है (इन्द्र), कोई पुरुष ही सदा आगे बढ़ने की मनोवृत्तिवाला बनता है (अग्नि)। 'प्राणायाम, जितेन्द्रियता व अग्रगति की भावना' ये तीनों बातें सोमरक्षण की साधन बनती हैं।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम दिव्य गुणों के रक्षण की कामनावाले हों, सब जगह से अच्छाई का आदान करें, स्वास्थ्य का ध्यान करें और ज्योति प्राप्ति के लिए यत्नशील हों। प्राणायाम, जितेन्द्रियता व अग्रगति की भावना हमें सोमरक्षण के योग्य बनाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु प्रवणता व दीर्घ जीवन

तस्मा अग्निर्भारतः शर्म यंसज्ज्योक्पश्यात्सूर्यमुच्चरन्तम्।
य इन्द्राय सुनवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम्॥ ४॥

(१) **यः**=जो पुरुष **इन्द्राय**=प्रभुप्राप्ति के लिए **सुनवाम**=हम सोम का सवन करें **इति आह**=ऐसा कहता है। 'शरीर में सोमरक्षण से बुद्धि की तीव्रता होकर प्रभु का दर्शन होता है', इस प्रकार सोचकर जो सोम का रक्षण करता है-उसे भोग-विलास में व्ययित नहीं करता। **तस्मै**=उस पुरुष के लिए **भारतः**=सब का भरण करनेवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **शर्म**=सुख को **यंसत्**=देता है। यह पुरुष **उच्चरन्तं सूर्यम्**=उदय होते हुए सूर्य को **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **पश्यात्**=देखता है, अर्थात् यह अत्यन्त दीर्घ जीवनवाला बनता है। (२) इसलिए यही ठीक है कि हम उस प्रभुप्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें, जो कि **नरे**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं, **नर्याय**=सदा नरहित करनेवाले हैं और **नृणां नृतमाय**=नेताओं में सर्वोत्तम नेता हैं। सोमरक्षण से

इस प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु हमें आगे ले चलते हैं। प्रभु नेता होते हैं और हम उनके अनुयायी। इस प्रकार पवित्र जीवन बिताते हुए हम दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम प्रभु के समीप होते हैं। इससे हम पवित्र होकर सुखी व दीर्घ जीवनवाले बन पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का प्रिय कौन?

न तं जिनन्ति बहवो न दभ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत्।
प्रियः सुकृत्प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभुप्राप्ति के लिए सोम का सवन करनेवाले **तम्**=उस पुरुष को **न दभ्राः**=न कम और न **बहवः**=नां ही बहुत शत्रु **जिनन्ति**=हिंसित करनेवाले होते हैं। **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अदितिः**=स्वास्थ्य **उरु शर्म**=विशाल कल्याण को **यंसत्**=देता है। पूर्ण स्वस्थ होने से यह पुरुष अत्यन्त सुखी होता है। (२) **सुकृत्**=शोभन कर्मों को करनेवाला पुरुष **प्रियः**=इसे प्रिय होता है। **इन्द्रे**=उस प्रभु में **मनायुः**=विचारपूर्वक गति करनेवाला पुरुष **प्रियः**=मित्र होता है। **सुप्रावीः**=उत्तमता से प्रकर्षेण अपना रक्षण करनेवाला **प्रियः**=इस प्रभु को प्रिय होता है और **सोमी**=सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष प्रभु को **प्रियः**=प्रिय होता है।

भावार्थ—हम 'सुकृत्, मनायु, सुप्रावी व सोमी' बनकर प्रभु के प्रिय बनें।

सूचना—ब्रह्मचर्याश्रम हमें सोमरक्षण करनेवाला सोमी बनाए। गृहस्थ में हम 'सुप्रावी' बनें, सन्तानों का उत्तम रक्षण करनेवाले हों। वानप्रस्थ में सदा प्रभु का मनन करनेवाले 'मनायु' बनें। संन्यस्त होकर हम सदा शोभन लोकहित के कर्म करनेवाले 'सुकृत्' बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सुष्वि व अशुष्वि

सुप्राव्यः प्राशुषाळेष वीरः सुष्वेः पक्तिं कृणुते केवलेन्द्रः।
नासुष्वेरापिर्न सखा न जामिर्दुष्प्राव्योऽवहन्तेदवाचः॥ ६॥

(१) **प्राशु-षाड्**=प्रकर्षेण शीघ्र ही शत्रुओं का अभिभव करनेवाला **एषः**=यह **वीरः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सुप्राव्यः**=उत्तमता से प्रकर्षेण गतिवाले **सुष्वेः**=उत्तम सोम का सवन करनेवाले पुरुष की **केवला**=असाधारण अवस्था (के) आनन्द में (बल) संचरण करानेवाले **पक्तिम्**=ज्ञान के परिपाक को **कृणुते**=करता है। प्रभु हमारे ज्ञान को परिपक्व करते हैं। वस्तुतः इस ज्ञान के परिपाक से ही हम प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं और सोम का सवन करनेवाले बनते हैं। (२) **असुष्वेः**=सोम का सवन न करनेवाले का वे प्रभु **आपिः न**=मित्र नहीं होते। **न सखा**=इस अयज्ञमान के वे प्रभु सखा नहीं होते। **न जामिः**=इसके प्रभु बन्धु नहीं होते। **दुष्प्राव्यः**=अशुभ तीव्र गतिवाले-दुरुपगमनवाले **अवाचः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले के प्रभु **अवहन्ता इत्**=नाश ही करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—उपासक के प्रभु मित्र हैं। न उपासक के विनष्ट करनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सुष्वि व पक्ति' नकि 'देवान् पणि'

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलो भूत्॥ ७॥

(१) **सुतपाः**=अभिषुत सोम का रक्षण करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **रेवता**=धनवान् **असुन्वता**=अयज्ञशील **पणिना**=लुब्ध वणिक् वृत्तिवाले पुरुष के साथ **सख्यम्**=मित्रता को **न संगृणीते**=नहीं स्वीकार करता (गृ=agrce)–इसकी मित्रता को प्रभु अच्छा नहीं समझते। (२) **अस्य**=इस असुन्वन् वणिक् के **वेदः**=धन को **आखिदति**=नष्ट कर देते हैं। **नग्नं हन्ति**=(न+ग्ना) स्तुतिवाणी से रहित पुरुष को प्रभु विनष्ट करते हैं। वे प्रभु **सुष्वये**=सोम का सम्पादन करनेवाले यज्ञशील **पक्तये**=ज्ञान का परिपाक करनेवाले पुरुष के लिए **केवलः**=आनन्द में संचरित करनेवाले **विभूत्**=विशेष रूप से होते हैं।

भावार्थ—हम सुष्वि व पक्ति बनें। केवल धनार्जन में फँसे हुए अयज्ञशील न बन जाएँ। यही प्रभु की मित्रता की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'पर-अवर-मध्यम' सभी उसे पुकारते हैं

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम्।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते॥ ८॥

(१) **परे**=उत्कृष्ट सात्त्विक वृत्तिवाले लोग, **अवरे**=निकृष्ट तमोगुणी पुरुष तथा **मध्यमासः**=मध्यम रजोगुण में विचरनेवाले व्यक्ति अन्ततः **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **हवन्ते**=पुकारते हैं। (२) **यान्तः**=अपने-अपने कार्य के लिए जाते हुए पुरुष **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही पुकारते हैं और **अवसितासः**=कार्य की समाप्ति पर पहुँचनेवाले दृढनिश्चयी पुरुष भी **इन्द्रम्**=प्रभु को ही पुकारते हैं। (३) **क्षियन्तः**=घर में निवास करते हुए, **उत**=और इसके विपरीत **युध्यमानः**=रणांगण में युद्ध करते हुए लोग **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही पुकारते हैं। (४) **वाजयन्तः**=शक्तिप्राप्ति की कामनावाले पुरुष उस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही **हवन्ते**=पुकारते हैं। वस्तुतः प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं, सब उन्नति प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके ही होती है।

भावार्थ—सभी अनन्तः प्रभु को ही पुकारते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं। अन्ततः वे ही सहायक होते हैं। प्रभु कहते हैं कि—

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'मनु व सूर्य' बनना

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥ १॥

(१) **अहम्**=मैं ही **मनुः अभवम्**=मनु हूँ। ज्ञानशील पुरुष को 'मनु' कहते हैं–ज्ञानियों का ज्ञान प्रभु ही हैं। प्रभु ही सब ज्ञानों का स्रोत हैं। **च**=और **अहम्**=मैं ही **सूर्यः**=सूर्य हूँ। सूर्य को

दीप्ति देनेवाले प्रभु ही हैं। प्रभु की दीप्ति से ही यह सूर्य दीप्त हो रहा है 'प्रभास्मि शशि-सूर्ययोः'। मैं **कक्षीवान्**=बद्ध कक्ष्यावाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **अस्मि**=हूँ। बद्ध कक्ष्यावाला, कटिबद्ध, अर्थात् दृढ़निश्चयी। प्रभु ही एक व्यक्ति को दृढ़निश्चयी तत्त्वद्रष्टा बनाते हैं। मैं ही **विप्रः**=विप्र हूँ। 'वि+प्रा'=विशेषरूप से किसी भी व्यक्ति का पूरण करनेवाला मैं ही हूँ। (२) **अहम्**=मैं ही **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले **आर्जुनेयम्**=अर्जुनी के पुत्र (अर्जुन=श्वेत) अत्यन्त शुद्ध जीवनवाले को **न्यृञ्जे**=निश्चय से प्रसाधित करता हूँ। इसके जीवन को मैं ही सद्गुणों से सुभूषित करता हूँ। मैं ही इसे वासनाओं के संहार के योग्य बनाता हूँ। **अहम्**=मैं ही **कविः**=क्रान्तदर्शी **उशना**=सबका हित चाहनेवाला हूँ। हे मनुष्यो! **मा पश्यत**=मुझे देखो, मुझे देखने के लिए यत्नशील होओ। वस्तुतः प्रभु के स्वरूप का चिन्तन करते हुए हमें प्रभु जैसा ही बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हम 'ज्ञानी (मन), सूर्यवत् तेजस्वी, दृढ़निश्चयी तत्त्वद्रष्टा, विप्र, वासनाओं का संहार करनेवाले (कुत्स) कवि (तत्त्वद्रष्टा)' बन पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'संसार का संचालक' प्रभु

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥ २॥

(१) **अहम्**=मैं **आर्याय**=श्रेष्ठ श्रमशील मनुष्य के लिए **भूमिम्**=भूमि को **अददाम्**=देता हूँ। यह भूमि उसके लिए सब अन्नों को प्राप्त कराती हुई उसका पालन करती है। **अहम्**=मैं **दाशुषे मर्त्याय**=दाश्वान् मनुष्य के लिए, यज्ञों में त्याग करनेवाले पुरुष के लिए, **वृष्टिम्**=वृष्टि को देता हूँ। दाश्वान् पुरुष यज्ञ करता है और इन यज्ञों के परिणामस्वरूप वृष्टि होती है 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'। (२) मैं ही मेघों को उत्पन्न करके **वावशानाः**=शब्द करते हुए **अपः**=जलों को **अनयम्**=लाता हूँ। 'शंनः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु'। प्रभु की व्यवस्था से ही गर्जना करते हुए मेघ बरसते हैं और सर्वत्र जलों को प्राप्त कराते हैं। **देवासः**='अग्नि, वायु, सूर्य' आदि सब देव **मम केतं अनु**=मेरे संकेत व निर्देश के अनुसार **आयन्**=गति कर रहे हैं 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'। प्रभु के संकेत के अनुसार चलते हुए ये सब देव जीवहित के लिए अपने-अपने कार्य कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे लिए अन्नदात्री इस भूमि को बनाते हैं, वृष्टि की व्यवस्था करते हैं और सूर्यादि सब देवों को गतिमय करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शंवर की पुरियों का विध्वंस

अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम्॥ ३॥

(१) हमारे जीवन में 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' के कारण मानस-शान्ति का विनाश हो जाता है। यह ईर्ष्या ही 'शंबर' है-शान्ति पर परदा डाल देनेवाली है। यह नाना रूपों में हमें परेशान करती है। मानो इसकी निन्यानवे नगरियाँ ही हमारे अन्दर बन जाती हों। प्रभु ही इन्हें नष्ट करते हैं। **अहम्**=मैं **मन्दसानः**=उपासक को आनन्दमय जीवनवाला बनाता हुआ **नव नवतीः**=निन्यानवे

शंबरस्य पुरः=शंबरासुर की नगरियों को **साकम्**=साथ-साथ ही **व्यैरम्**=विनष्ट कर डालता हूँ। ईर्ष्या आदि आसुरभावों को मैं समाप्त कर देता हूँ (२) यह मैं तब करता हूँ, **यदा**=जब कि **सर्वताता**=सब शक्तियों के विस्तार के निमित्त **शततमम्**=सब आसुरभावों से ऊपर उठे हुए सौवे **वेश्यम्**=प्रवेश के योग्य शरीरगृह को **दिवोदासम्**=ज्ञान के दास, अर्थात् ज्ञान की आराधना करनेवाले **अतिथिग्वम्**=प्रभुरूप अतिथि की ओर चलनेवाले इस उपासक को **आवम्**=(अगमयं अव् गतौ) प्राप्त कराता हूँ। ज्ञानप्रवण प्रभु के उपासक को प्रभु वासनाशून्य पवित्र शरीरगृह प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ईर्ष्या आदि सैंकड़ों आसुरभावों को विनष्ट करके ज्ञानप्रवण भक्त के लिये पवित्र शरीरगृह प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

महान् वि-महान् श्येन

प्र सु ष विभ्यो मरुतो विरस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा।
अचक्रया यत्स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम्॥ ४॥

(१) 'जीव व परमात्मा' दोनों को वैदिक साहित्य में सुपर्ण (पक्षी) के रूप में चित्रित किया गया है। ये दोनों ही इस संसार-वृक्ष पर निवास कर रहे हैं। हे **मरुतः**=मनुष्यो! **सः विः**=वह प्रसिद्ध प्रभुरूप पक्षी **विभ्यः**=जीवरूप पक्षियों से **प्र सु अस्तु**=बल के दृष्टिकोण से प्रकृष्ट है। सारे जीव मिलकर भी बल में प्रभु के समान नहीं हो सकते। वह **प्र श्येनः**=प्रकृष्ट श्येन (=गतिशील प्रभु) **श्येनेभ्यः**=इन गतिशील जीवों से **आशुपत्वा**=अत्यन्त शीघ्र गतिवाला है। गति में कोई भी इसको पराजित नहीं कर सकता 'तद्धावतो ऽन्यानत्येति'। (२) **सुपर्णः**=उत्तम पालन करनेवाले ये प्रभु **अचक्रया**=बिना ही चक्रोंवाली-बिना ही किन्हीं उपकरणोंवाली **स्वधया**=आत्मधारणशक्ति से **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **यत्**=जो **देवजुष्टम्**=विद्वानों से प्रीतिपूर्वक सेवन किया गया **हव्यम्**=पुकारने योग्य (चाहने योग्य) ज्ञान है, उसे **भरत्**=प्राप्त कराते हैं। इस ज्ञान द्वारा ही वस्तुतः प्रभु जीव का भरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वाधिक बलवाले व सर्वाधिक गतिवाले हैं। प्रभु अपनी आत्मधारण शक्ति से हमारे लिए वह ज्ञान प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारा उत्तम पालन करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मधुरता व ज्ञान

भरद्यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि।
तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र॥ ५॥

(१) गतमन्त्र में जीव को भी 'वि' कहा है। यदि यह प्रकृष्ट बलवाले प्रभु से भयभीत होता हुआ वासनाओं से बचता है और सोम का रक्षण करता है, तो यह अपने अन्दर प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला बनता है। **यदि**=यदि **विः**=जीव **अतः**=इस सर्वाधिक बलवाले प्रभु से **वेविजानः**=भय करता हुआ **भरत्**=अपने अन्दर सोम का रक्षण करता है, तो **उरुणा पथा**=विशाल मार्ग से गति द्वारा **मनोजवाः**=मन से भी अधिक वेगवान् वे प्रभु **असर्जि**=इसके साथ संसृष्ट होते हैं। सोमरक्षण द्वारा पवित्र मनवाला बनकर यह विशाल मार्ग से चलता है। इस उदार मार्ग का आक्रमण करता हुआ यह प्रभु को देखनेवाला बनता है। (२) यह **सोम्येन**=सोमरक्षण से उत्पन्न

मधुना=माधुर्य के साथ **तूयं ययौ**=शीघ्रता से गतिवाला होता है। **उत**=और **श्येनः**=यह गतिशील जीव **अत्र**=इस जीवन में **श्रवः**=ज्ञान को **विविदे**=प्राप्त करता है। 'सोम' सुरक्षित होने पर, इसके ज़ीवन को मधुर बनाता है और इसे गतिमय जीवनवाला बनाता हुआ ज्ञान-सम्पन्न करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही प्रभु के साथ मेल होता है। इसी प्रकार जीवन मधुर व ज्ञान-सम्पन्न होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दादृहाणो देवावान्

ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम्।
सोमं भरद्दादृहाणो देवावान्दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय ॥ ६ ॥

(१) **ऋजीपी**=(ऋजु, प्यायी वृद्धौ) ऋजुता से मार्ग पर आगे बढ़नेवाला **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला जीव **परावतः**=उस दूर से दूर वर्तमान 'सर्वोत्कृष्ट' प्रभु से **अंशुम्**=प्रकाश की किरण को **ददमानः**=ग्रहण करता हुआ (धारयन् सा०) **शकुनः**=शक्तिशाली बनता है और **मन्द्रम्**=स्तुत्य **मदम्**=हर्ष के जनक **सोमम्**=सोम को **भरत्**=अपने में धारण करता है। प्रभु से प्राप्त ज्ञान हमें वासनाओं से बचाता है। वासनाओं से बचकर हम शक्तिशाली बनते हैं और सोम के महत्त्व को समझते हुए उसे सुरक्षित रखते हैं। (२) यह सोम का भरण करनेवाला पुरुष **अमुष्माद्**=उस **उत्तरात्**=उत्कृष्ट **दिवः**=प्रकाशमय प्रभु से **आदाय**=ज्ञान को (=प्रकाश को) प्राप्त करके **दादृहाणः**=खूब ही दृढ़ शरीरवाला तथा **देवावान्**=दिव्य गुणोंवाला बनता है। प्रभुप्रदत्त ज्ञान इसे दृढ़ शरीरवाला व दिव्यवृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—सोम को धारण करनेवाला व्यक्ति दृढ़ शरीरवाला तथा दिव्य गुणोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सोमरक्षण व यज्ञ-प्रवणता

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥ ७ ॥

(१) **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला यह जीव **सोमं आदाय**=सोमशक्ति का ग्रहण करके **सहस्रम्**=हजारों **च**=व **अयुतम्**=लाखों **सवान्**=यज्ञों को **साकम्**=साथ-साथ **अभरत्**=अपने में धारण करता है। यह अपने जीवन को यज्ञशील बनाता है। (२) **अत्रा**=यहाँ **सोमस्य मदे**=सोम के मद में-हर्ष में **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धिवाला यह **अमूरः**=संसार के विषयों में अमूढ़ बना हुआ यह श्येन **मूराः**=मूढ़ता के कारणभूत **अरातीः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **अजहात्**=छोड़नेवाला होता है। सोमरक्षण से बुद्धि का वर्धन होता है, शक्ति के कारण गतिशीलता प्राप्त होती है। यह ज्ञानपूर्वक यज्ञों में प्रवृत्त होता हुआ पुरुष काम-क्रोध आदि को विनष्ट करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम यज्ञप्रवण बन पाते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर हम अमूढ़ बनते हैं।

'प्रभु उपासन से किसी ऊँची स्थिति को प्राप्त करते हैं' इस बात का इस सूक्त में सुन्दर चित्रण है। इस उपासना के द्वारा अन्ततः हम इस जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाते हैं। यही वर्णन अगले सूक्त में है—

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के गर्भ में

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥ १॥

(१) **गर्भे नु सन्**=उस प्रभु के गर्भ में अब होता हुआ **अहम्**=मैं **एषाम्**=इन **देवानाम्**=देवों के **विश्वा**=सब **जनिमानि**=जन्मों को **अवेदम्**=जानता हूँ। 'प्रभु की उपासना में स्थित होना' ही 'प्रभु के गर्भ में स्थित होना' है। इससे जीवन में दिव्य गुणों का विकास होता है। (२) आज तक **मा**=मुझे **शतम्**=सैकड़ों **आयसी**=लोहमयी-बड़ी दृढ़ **पुरः**=शरीररूप नगरियों ने **अर क्षन्**=अपने अन्दर कैद करके रखा। **अध**=अब प्रभु की उपासना से **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला होकर मैं **जवसा**=बड़े वेग से **निरदीम्**=इन से बाहर निकल गया हूँ, अर्थात् जन्म-मरणचक्र से ऊपर उठ गया हूँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से दिव्यगुणों का विकास होता है और हम इन शरीर नगरियों में प्रवेश से बच जाते हैं-मुक्त हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ईर्मा पुरन्धि

न घा स मामप जोषं जभाराभीमास त्वक्षसा वीर्येण।
ईर्मा पुरन्धिरजहादरातीरुत वाताँ अतरच्छूशुवानः ॥ २॥

(१) प्रभु के गर्भ में रहनेवाले **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक प्रभु की उपासना करनेवाले **माम्**=मुझ को **घा**=निश्चय से **सः**=यह चमकीला संसार **न अपजभार**=हर ले जाने में समर्थ नहीं हुआ। मैं **त्वक्षसा**=ज्ञानदीप्त (त्विषेर्वा दीप्ति कर्मणः) **वीर्येण**=सामर्थ्य से **ईम्**=निश्चयपूर्वक **अभि आस**=इस संसार का अभिभव करनेवाला हुआ हूँ। (२) **ईर्मा**=गतिशील **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धिवाला पुरुष **अरातीः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **अजहात्**=छोड़नेवाला होता है। गतिशील बुद्धिमान् पुरुष को वासनाएँ नहीं सता पातीं। **उत**=और यह **शूशुवानः**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गति द्वारा निरन्तर बढ़नेवाला पुरुष **वातान्**=संसार की हवाओं को **अतरत्**=तैर जाता है। यह शूशुवान पुरुष चटक-मटक का गुलाम नहीं बन जाता।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम विषयों में नहीं फँसते।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानाग्नि में वासना का भस्मीकरण

अव यच्छ्येनो अस्वनीदध द्योर्वि यद्यदि वात ऊहुः पुरन्धिम्।
सृजद्यदस्मा अव ह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन्॥ ३॥

(१) **अध**=अब **यत्**=जो **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला पुरुष **द्योः**=ज्ञानवाणियों का अब **अस्वनीत्**=नम्रता से उच्चारण करता है, अर्थात् जब आचार्य स्वयं उत्तम आचरणवाला होता हुआ-स्वयं नम्र होता हुआ विद्यार्थियों के लिए ज्ञान देता है और **यदि**=यदि **ते**=वे विद्यार्थी **यद्**=जब उस आचार्य से **पुरन्धिम्**=पालक व पूरक बुद्धि को **व्यूहुः**=विशेषरूप से धारण करते हैं।

(२) इस प्रकार **यद्**=जब **अस्मै**=इस विद्यार्थी के लिए आचार्य **सृजत्**=ज्ञान का सर्जन करता है, तो **ह**=निश्चय से यह विद्यार्थी **ज्याम्**=कामदेव (वासना) के धनुष् की डोरी को **अवक्षिपत्**=सुदूर फेंकनेवाला होता है—वासनाओं को अपने से परे फैंकता है। **कृशानुः**=अग्नि के समान तेजस्वी होता हुआ यह **मनसा भुरण्यन्**=मन से उस प्रभु का अपने में भरण करता हुआ **अस्ता**=अब बुराइयों को दूर क्षिप्त करता है। ज्ञान द्वारा अपने जीवन को निर्मल कर लेता है।

भावार्थ—आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके, उस ज्ञानजल में अपने को शुद्ध करता हुआ विद्यार्थी दीप्त जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानदीप्त अन्तर्वृत्ति मन

ऋ॒जि॒प्य ई॒मिन्द्रा॑वतो॒ न भु॒ज्युं श्ये॒नो ज॑भार बृह॒तो अधि॒ ष्णोः।
अ॒न्तः प॑तत्पत॒त्र्य॑स्य प॒र्णमध॒ याम॑नि॒ प्रसि॑तस्य॒ तद्वेः ॥ ४॥

(१) **ऋजिप्यः**=(ऋजु+प्या) ऋजुमार्ग से आगे बढ़नेवाला **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला (पुरुष) **इन्द्रावतः**=जितेन्द्रिय पुरुष से रक्षण किये जाते हुए (इन्द्र=अव) **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **ष्णोः**=सुखवर्षक ज्ञान द्वारा **न भुज्युम्**=भोगों में न फँसे हुए शिष्य को **अधिजभार**=विषयों से ऊपर ले जाता है—उत्कृष्ट मार्ग की ओर ले जाता है। अत्यन्त विषयप्रवण वृत्तिवाले शिष्य को ज्ञान देना भी कठिन होता है। विद्यार्थी के लिए 'न भुज्यु' होना आवश्यक है। (२) अब ज्ञान प्राप्त करने पर **अस्य**=इसका **पतत्रि**=उड़नेवाला—निरन्तर इधर-उधर भटकनेवाला **पर्णम्**=पंख—पालक मनरूप पंख, **अन्तः**=अन्दर **पतत्**=गतिवाला होता है—अब इसका मन बाहर विषयों में नहीं भटकता। **अध**=अब **यामनि**=मार्ग में **प्रसितस्य**=बन्धे हुए—निरन्तर मार्ग में चलते हुए इसका **तद्**=वह मनरूप **पर्ण वेः**=कान्तिमान् होता है (वी=कान्ति)। अब यह चमकते हुए जीवनवाला बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञान द्वारा निर्मल मन अन्तर्मुखी वृत्तिवाला होता हुआ सदा मार्ग पर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृच्छक्वरी॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'श्वेत कलश', जो कि सोम का आधार बनता है

अध॑ श्वे॒तं क॒लशं॒ गोभि॑र॒क्तमा॑पिप्या॒नं म॒घवा॑ शु॒क्रमन्धः॑ ।
अ॒ध्व॒र्युभिः॒ प्रय॑तं॒ मध्वो॒ अग्र॒मिन्द्रो॒ मदा॑य॒ प्रति॑ ध॒त्पिब॑ध्यै॒ शूरो॒ मदा॑य॒ प्रति॑ ध॒त्पिब॑ध्यै॥ ५॥

(१) **अध**=गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान से मन निर्मल होने पर **श्वेतम्**=शुभ्र **कलशम्**=शरीर घर को **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **प्रतिधत्**=धारण करता है। यह श्वेत कलश **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **अक्तम्**=कान्त बना हुआ है, **आपिप्यानम्**=समन्तात् सब शक्तियों से बढ़ा हुआ है। (२) **मघवा**=यह ज्ञानैश्वर्यवाला जीव **शुक्रम्**=निर्मल **अन्धः**=सोम को **मदाय**=हर्ष की प्राप्ति के लिए **पिबध्यै**=अन्दर ही पीने के लिए **प्रतिधत्**=धारण करता है। यह सोम **अध्वर्युभिः**=शरीरस्थ सात यज्ञप्रणेताओं से—यज्ञों में लगी हुई इन्द्रियों से, **प्रयतम्**=पवित्र किया गया है तथा **मध्वः अग्रम्**=मधुओं में सर्वश्रेष्ठ है। इन्द्रियाँ यज्ञों में लगी रहें, तो यह सोम शरीर में संयत रहता है तथा जीवन को अत्यन्त मधुर बनाता है। इसलिए **शूरः**=वासनाओं को शीर्ण करनेवाला व्यक्ति **मदाय**=हर्ष प्राप्ति के लिए **पिबध्यै**=इसे अन्दर पीने के लिए **प्रतिधत्**=धारण करता है।

भावार्थ—जब इस शरीर को हम ज्ञान द्वारा निर्मल बनाते हैं, तो यह 'श्वेत कलश' कहलाता है। यह सोम (वीर्यशक्ति) का आधार बनता है 'इन्द्र' वासनाओं को शीर्ण करके इस सोम को शरीर में सुररिक्षत करता है। इस का शरीर में पान करके हम आनन्दानुभव करते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त 'उपासना द्वारा जीवन को निर्मल बनाने का वर्णन कर रहा है। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुप्राप्ति के लिए निरन्तर कर्मशीलता

त्वा युजा तव तत्सोम सख्य इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस्कः।
अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धूनपावृणोदपिहितेव खानि ॥ १ ॥

(१) हे सोम! **त्वा युजा**=तुझ साथी के साथ, **तव**=तेरी **तत्**=उस **सख्ये**=मित्रता में **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **मनवे**=उस सर्वज्ञ प्रभुप्राप्ति के लिए **अपः**=कर्मों को **सस्रुतः**=समानरूप से बहनेवाला **कः**=करता है। जिस समय हम सोमरक्षण कर पाते हैं, तो शक्ति प्राप्त करके निरन्तर उत्तम कर्मों में लगे हुए हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। (२) **अहिं अहन्**=वासनारूप वृत्र का विनाश करते हैं। 'निरन्तर कर्म में लगे रहना' वासनाविनाश का सर्वोत्तम साधन है। वासना को विनष्ट करके यह **सप्त सिन्धून्**=शरीरस्थ सात ऋषियों के सात ज्ञानप्रवाहों को **अरिणात्**=गतिमय करता है और **अपिहिता इव**=वासनाओं से ढकी हुई-सी **खानि**=इन इन्द्रियों को **अपावृणोत्**=अज्ञान का आवरण हटाकर खोल देता है। वासनाओं के परदे को दूर करके इन इन्द्रियों को स्वकार्य करने में सशक्त करता है।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए निरन्तर कर्मशील बनना आवश्यक है। यही वासनाविनाश का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सूर्यचक्र का पराभव

त्वा युजा नि खिदत्सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो।
अधि ष्णुना बृहता वर्तमानं महो द्रुहो अप विश्वायु धायि ॥ २ ॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **त्वा युजा**=तुझ साथी के साथ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **सद्यः**=शीघ्र ही **सहसा**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल से **सूर्यस्य**=सूर्य के **चक्रम्**=चक्र को **निखिदत्**=(overpower) पराभूत कर देता है। इस इन्द्र की तेजस्विता के सामने सूर्य की तेजस्विता भी हीन प्रतीत होने लगती है। सूर्य के उस चक्र को यह पराभूत कर देता है, जो कि **बृहता**=बड़े **ष्णुना**=शिखर के साथ (स्नु=top) **अधिवर्तमानम्**=वर्तमान है, अर्थात् जो अत्युच्च स्थान में स्थित है, उस सूर्य-चक्र को भी यह पराभूत कर देता है। (२) इस प्रकार सूर्य-चक्र को पराभूत करनेवाले तेज से युक्त हुआ-हुआ यह पुरुष **विश्वायु**=सम्पूर्ण जीवन में **महः द्रुहः**=महान् द्रोह से **अपधायि**=दूर रखा जाता है। तेजस्वी बनकर यह किसी के **प्रति** द्रोहवृत्तिवाला नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम तेजस्वी बनते हैं। अपने तेज से सूर्य-मण्डल को भी पराभूत करनेवाले होते हैं। यह सोमरक्षण हमें द्रोहवृत्ति से पृथक् रखता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुरा मध्यन्दिनात्

अहन्निन्द्रो अदहदग्निरिन्दो पुरा दस्यून्मध्यन्दिनादभीके।
दुर्गे दुरोणे क्रत्वा न यातां पुरू सहस्रा शर्वा नि बर्हीत्॥ ३॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अभीके**=संग्राम में **मध्यन्दिनात् पुरा**=जीवन के मध्याह्न से पूर्व-जीवन के पूर्वाह्ण में ही, **दस्यून्**=दास्यववृत्तियों को **अहन्**=नष्ट करता है। **अग्निः**=यह प्रगतिशील जीव इन शत्रुओं को **अदहत्**=जला देता है। जीवन के अपराह्ण में तो वासनाएँ स्वयं भी कुछ शान्त ही हो जाती हैं। जीवन के पूर्वाह्ण में ही इन वासनाओं को नष्ट करना व दग्ध करना आवश्यक है 'प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते'। (२) **न**=और (न इति चार्थे) **दुरोणे**=(दुरवने-रक्षितुमशक्ये) जिस में रक्षण बड़ा कठिन है, ऐसे **दुर्गे**=कठिन संसारमार्ग में **क्रत्वा**=पुरुषार्थ के साथ व यज्ञों के साथ **याताम्**=जाते हुओं के **पुरूसहस्रा**=बहुत हजारों शत्रुओं को **शर्वा**=वह शत्रुओं का संहार करनेवाला प्रभु **निबर्हीत्**=विनष्ट करता है। हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, तो प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र' बनें-जितेन्द्रिय बनें। 'अग्नि' बनें-प्रगतिशील बनें, तभी हम यौवन में वासनाओं को जीत पाएँगे। इस कठिन जीवनमार्ग में यदि हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, तो प्रभु हमारी वासनाओं का संहार करते हैं। सोमरक्षण हमें वासना-विजय के लिए समर्थ करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रुसंहार

विश्वस्मात्सीमधमाँ इन्द्र दस्यून्विशो दासीरकृणोरप्रशस्ताः।
अबाधेथाममृणतं नि शत्रूनविन्देथामपचितिं वधत्रैः ॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **सीम्**=निश्चय से **दस्यून्**=इन दास्यववृत्तिवाले लोगों को **विश्वस्मात्**=सब से **अधमान्**=हीन **अकृणोः**=करते हैं। **दासीः**=(अकर्मा दस्युः) कर्महीन **विशः**=प्रजाओं को **अप्रशस्ताः**=अप्रशस्त जीवनवाला **अकृणोः**=कर देते हैं। क्रियाशील पुरुष ही उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है। (२) हे इन्द्र और सोम! आप दोनों मिलकर **शत्रून्**=शत्रुओं को, काम-क्रोध आदि अप्रशस्तवृत्तियों को **अबाधेथाम्**=बाधित करते हैं, **निअमृणतम्**=इन्हें निश्चय से कुचल डालते हैं। इन **वधत्रैः**=शत्रुओं पर किये गये प्रहारों से आप **अपचितिम्**=पूजा को **अविन्देथाम्**=प्राप्त करते हैं। वस्तुतः काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतना ही इस जीवन की सर्वमहान् साधना है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर दास्यव वृत्तियों से ऊपर उठें। क्रियाशील बनकर प्रशस्त जीवनवाले हों। जितेन्द्रियता व सोमरक्षण द्वारा सब शत्रुओं को पराजित करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

इन्द्रियों का समादर

एवा सत्यं मघवाना युवं तदिन्द्रश्च सोमोर्वमश्व्यं गोः।
आदर्दृतमपिहितान्यश्ना रिरिचथुः क्षाश्चित्ततृदाना॥ ५॥

(१) हे **सोम**=सोम! तू **च**=और **इन्द्रः**=वह शत्रु-विनाशक प्रभु **युवम्**=आप दोनों **एवा**=इस प्रकार **सत्यम्**=सचमुच ही **तत्**=उस **अश्व्यम्**=कर्मेन्द्रियों के समूह को और **गोः ऊर्वम्**=ज्ञानेन्द्रियों के समूह को **आदर्दृतम्**=(आदरयतम्) आदृत करो। इनको काम-क्रोध आदि से आक्रान्त न होने देकर इनको पवित्र बनाए रखो। इन्द्रियों की पवित्रता के लिए आवश्यक है कि हम इन्हें विषयों में फँसने से बचाएँ। हमारे जीवन का लक्ष्य सोम का रक्षण हो तथा हम उस शत्रु-विद्रावक प्रभु का स्मरण करें। (२) **अश्ना**=नाना प्रकार के विषयों के खाने की वृत्ति से **अपिहितानि**=आच्छादित हुई-हुई इन इन्द्रियों को इन्द्र और सोम **रिरिचथुः**=रिक्त करते हैं-इन्हें इन विषयों में नहीं फँसने देते। **ततृदाना**=शत्रुओं के हिंसक सोम और इन्द्र **क्षाः चित्**=इन शरीर-भूमियों को भी रोग आदि से रिक्त करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण को जीवन का लक्ष्य बनाकर इन्द्र का स्मरण करते हुए हम इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करते हैं। शरीरों को नीरोग बनाते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि हम वासनारूप शत्रुओं को जीतकर सूर्यसम तेजस्वी बनें और प्रभु को प्राप्त करें। उपासना से शक्तिप्राप्ति के भाव से ही अगले सूक्त का प्रारम्भ है—

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सत्यराधाः' प्रभु

आ नः स्तुत उप वाजेभिरूती इन्द्र याहि हरिभिर्मन्दसानः।
तिरश्चिदर्यः सवना पुरूण्याङ्गूषेभिर्गृणानः सत्यराधाः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **नः**=हमारे **उप**=समीप **ऊती**=रक्षा करने के लिए **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **आयाहि**=आइये। शक्तियों को प्राप्त कराके आप हमें आत्मरक्षण के योग्य बनाते हैं **मन्दसानः**=आनन्दित करते हुए आप **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ हमें प्राप्त होते हैं। उत्तम इन्द्रियाश्वों द्वारा आप हमारे आनन्द का कारण बनते हैं। (२) **अर्यः**=स्वामी आप **तिरः चित्**=तिरोहित होते हुए भी-हमें न दिखते हुए भी आप **पुरूणि**=पालक व पूरक **सवना**=यज्ञों के प्रति रक्षणार्थ प्राप्त होते हैं-सर्व यज्ञों के रक्षक आप ही तो हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। आप **आंगूषेभिः**=हमारे से किये जानेवाले स्तोत्रों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हैं और **सत्यराधाः**=सत्यधनवाले हैं। स्तुत होने पर आप सत्यधन हमें प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। स्तुत-प्रभु हमारा रक्षण करते हैं, हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराते हैं और यज्ञों की प्रेरणा देते हैं। वे सत्यधन देनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'स्वश्व-अभीरु मन्यमान'

आ हि ष्मा याति नर्यश्चिकित्वान्हूयमानः सोतृभिरुप यज्ञम्।
स्वश्वो यो अभीरुर्मन्यमानः सुष्वाणेभिर्मदति सं ह वीरैः॥ २॥

(१) **नर्यः**=सब नरों का हित करनेवाले-उन्नतिपथ पर चलनेवालों का कल्याण करनेवाले **चिकित्वान्**=सर्वज्ञ प्रभु **सोतृभिः**=सोम का सवन करनेवालों से **हूयमानः**=पुकारे जाते हुए **उपयज्ञम्**=उनके यज्ञों में **हि**=निश्चय से **आयातिस्म**=आते ही हैं। हम सोम का अपने में सम्पादन करें। यज्ञशील बनने पर उन यज्ञों के रक्षक के रूप में हम प्रभु को अनुभव करेंगे। (२)

स्वश्वः=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले, **यः**=जो **अभीरुः**=सब भयों से रहित हैं, **मन्यमानः**=सर्वज्ञ हैं, वे प्रभु **सुष्वाणेभिः**=सोम का सवन करनेवाले **वीरैः**=वीर पुरुषों के साथ **ह**=निश्चयपूर्वक **संमदति**=आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् इन सोम को शरीर में उत्पन्न करनेवाले वीरपुरुषों से प्रभु प्रसन्न होते हैं। ये व्यक्ति प्रभुकृपा से ही उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करते हैं, निर्भय होते हैं और उत्तरोत्तर ज्ञान बढ़ानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम सोम का शरीर में रक्षण करें-वीर बनें। ऐसा करने पर हम प्रभु के प्रिय होंगे। प्रभु हमें 'स्वश्व-अभीरु-मन्यमान' बनाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुतीर्थ व अभय

श्रा॒वयेद॑स्य॒ कर्णा॑ वाज॒यध्यै॒ जुष्टा॒मनु॒ प्र दिशं॑ मन्द॒यध्यै॑।
उ॒द्वा॒वृ॒षा॒णो राध॑से तु॒विष्मा॒न्कर॑न्न॒ इन्द्रः॑ सुती॒र्थाभ॑यं च ॥ ३ ॥

(१) हे जीव! तू **वाजयध्यै**=शक्ति प्राप्त करने के लिए **कर्णा**=अपने कानों को **अस्य प्रदिशम्**=इस प्रभु के प्रकृष्ट निर्देशों को **इत्**=निश्चय से **श्रावय**=सुन। यदि तेरे कान प्रभु के निर्देशों को सुनेंगे, तो तू अवश्य शक्ति-सम्पन्न बनेगा। उस निर्देश को तू अपने को सुनानेवाला बन, जो कि **जुष्टां अनु**=सेवित होने के अनुपात में **मन्दयध्यै**=हर्षप्राप्ति के लिए होता है। जितना-जितना हम प्रभु के निर्देशों को सुनते हैं और पालते हैं (जुष्टां) उतना-उतना हमारा जीवन आनन्दमय बनता है। (२) **उद्वावृषाणः**=अत्यन्त सुखों का हमारे पर वर्षण करता हुआ प्रभु **नः**=हमें **राधसे करत्**=सफलता के लिए करते हैं। **तुविष्मान्**=वे बलवान् (शक्तिशाली) **इन्द्रः**=प्रभु हमारे लिए **सुतीर्था**='उत्तम माता-पिता-आचार्य' रूप तीर्थों को प्राप्त कराते हैं **च**=और इनके द्वारा **अभयम्**=निर्भयता को प्राप्त कराते हैं। माता हमारे चरित्र का निर्माण करती है, पिता आचार का तथा आचार्य ज्ञान का निर्माण करता है। इस प्रकार सच्चरित्रता, सदाचार व ज्ञान हमारे जीवन को निर्भय बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के निर्देशों को सुनें, उन्हें पालें। प्रभु हमें उत्तम माता-पिता-आचार्य रूप तीर्थों द्वारा सच्चरित्र, सदाचारी व ज्ञानी बनाकर निर्भयता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्वों की प्राप्ति

अच्छा॒ यो गन्ता॒ नाध॑मानमू॒ती इ॒त्था विप्रं॒ हव॑मानं गृ॒णन्त॑म्।
उप॒ त्मनि॒ दधा॑नो धु॒र्या॑३॒॑शून्त्स॒हस्रा॑णि श॒तानि॒ वज्र॑बाहुः ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **ऊती**=रक्षण के साथ **इत्था**=ठीक-ठीक **नाधमानम्**=प्रार्थना करते हुए की **अच्छा**=ओर **गन्ता**=जानेवाले हैं। आराधक की रक्षा करने के लिए प्रभु प्राप्त होते ही हैं। उसको प्राप्त होते हैं, जो कि **विप्रम्**=विशेषरूप से अपना पूरण करने का प्रयत्न करता है, **हवमानम्**=प्रभु को पुकारता है, **गृणन्तम्**=प्रभु का स्तवन करता है। (२) **वज्रबाहुः**=वे वज्रहस्त प्रभु सतत क्रियावाले प्रभु **धुरि**=हमारे शरीररूप रथों के धुराओं में **सहस्राणि**=आनन्द के देनेवाले-जिन की गति हमारे आनन्द का कारण बनती है, **शतानि**=सौ वर्ष तक चलनेवाले-जीवन के अन्त तक सशक्त बने रहनेवाले **आशून्**=शीघ्रगामी इन्द्रियाश्वों को **त्मनि**=आत्मा में, अर्थात् आत्मवश्यता में **उपदधानः**=स्थापित करता है। प्रभु हमें ऐसे इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं, जो कि (क) आनन्द-

वृद्धि का कारण बनते हैं (सहस्राणि), (ख) जीवनभर-शतवर्ष पर्यन्त सशक्त रहते हैं और (ग) आत्मवश्य होते हैं (त्मनि)।

भावार्थ—आराधक को प्रभु प्राप्त होते हैं और उसके लिए उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'बृहद्दिव, आकाय्य व पुरुक्षु'

त्वोतासो मघवन्निन्द्र विप्रा वयं ते स्याम सूरयो गृणन्तः।
भेजानासो बृहद्दिवस्य राय आकाय्यस्य दावने पुरुक्षोः॥ ५॥

(१) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यवाले! **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **त्वा**=आपसे **ऊतासः**=रक्षित हुए-हुए **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले **वयम्**=हम **ते स्याम**=आपके हों। **सूरयः**=हम ज्ञानी बनें और **गृणन्तः**=सदा स्तवन करनेवाले हों। प्रभु से रक्षित हुए-हुए हम मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ज्ञानी तथा मन के दृष्टिकोण से स्तवन की वृत्तिवाले हों। (२) हे प्रभो! हम **बृहद्दिवस्य**=महान् ज्ञानवाले, **आकाय्यस्य**=समन्तात् स्तुत्य **पुरुक्षोः**=बहुत कीर्तिवाले आपके **रायः दावने**=धन के दान में **भेजानासः**=भागीदार हों। आप से दिये जानेवाले ऐश्वर्य के हम भी पात्र हों। वह धन हमारे ज्ञान की वृद्धि में सहायक हो-हमें भी 'बृहद्दिव' बनाए। यह धन हमारे जीवन को स्तुत्य बनानेवाला हो-इस धन के द्वारा हम 'आकाय्य' बनें। यह धन दान में विनियुक्त होकर हमारी कीर्ति बढ़ानेवाला हो-हम 'पुरुक्षु' बनें।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम ज्ञानी व स्तवन की वृत्तिवाले बनें। प्रभु हमें वह धन दें, जो कि हमें 'ज्ञानी, प्रशस्त जीवनवाला व कीर्ति-सम्पन्न' बनाए।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु हमारे जीवन को 'स्वश्व, अभीरु, मन्यमान, बृहद्दिव, आकाय्य व पुरुक्षु' बनाएँ। ऐसा बनने के लिए ही आराधक प्रभु की उपासना करता हुआ कहता है कि—

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'अनुपम' प्रभु

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्। नकिरेवा यथा त्वम्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शक्ति के कर्मों को करनेवाले परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य, इदि परमैश्वर्ये) **त्वद्**=आप से **उत्तरः**=उत्कृष्टतर **नकिः**=कोई भी नहीं है। आपकी शक्ति व ऐश्वर्य को कोई भी अभिभूत नहीं कर सकता। (२) हे **वृत्रहन्**=सब ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप से **ज्यायान्**=अधिक प्रशस्यतर **न**=कोई भी नहीं है। आप ही उपासक को वासना शून्य जीवनवाला बनाकर उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कराते हैं। परन्तु एक उपासक कितना भी उत्कृष्टतर व प्रशस्यतर जीवनवाला बनता जाए, तो भी वह **यथा त्वम्**=जैसे आप हैं, वैसा **नकिः एव**=नहीं ही बन सकता 'न मुक्तानामपि हरेः साम्यम्'। प्रभु अनुपम हैं 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'।

भावार्थ—प्रभु से न कोई उत्कृष्टतर है, न प्रशस्यतर। प्रभु जैसा भी कोई नहीं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भ्रामयन् सर्वभूतानि

स॒त्रा ते॒ अनु॑ कृ॒ष्टयो॒ विश्वा॑ च॒क्रेव॑ वावृतुः। स॒त्रा म॒हाँ अ॑सि श्रु॒तः॥ २॥

(१) हे इन्द्र! **सत्रा**=सचमुच **विश्वा चक्रा इव**=जैसे सब चक्र आपकी शक्ति से ही चल रहे हैं—क्या दिन-रात का चक्र, सप्ताह का चक्र, शुक्ल-कृष्ण पक्षों का चक्र, मासों का चक्र, ऋतुओं का चक्र, वर्षों व युगों का चक्र और क्या सूर्यादि पिण्डों के चक्र सब आपकी शक्ति से ही चल रहे हैं, इसी प्रकार **कृष्टयः**=सब मनुष्य **ते अनु वावृतुः**=आपके शासन के अनुसार चल रहे हैं। 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। (२) हे प्रभो! आप **सत्रा**=सचमुच ही **महान् श्रुतः**=महान् प्रसिद्ध **असि**=हैं। सर्वत्र आपकी कीर्ति विद्यमान है। कण-कण में आपकी महिमा दृष्टिगोचर हो रही है। आप ही पूज्य हैं, ज्ञानी हैं।

भावार्थ—सब प्रजाएँ प्रभु की शक्ति से ही गतिवाली हो रही हैं। वे प्रभु ही महान् हैं, प्रसिद्ध हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दिन-रात शत्रु-विनाश

विश्वे॑ च॒नेद॒ना त्वा॑ दे॒वास॑ इन्द्र युयु॒धुः। यदहा॒ नक्त॒माति॑रः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **विश्वे चन देवासः**=सब ही देववृत्ति के व्यक्ति-असुरों को पराजित करने की कामनावाले (दिव् विजिगीषा) व्यक्ति **इत्**=निश्चय से **अना**=प्राणशक्तिरूप **त्वा**=आप से मेल को प्राप्त करके **युयुधुः**=युद्ध करते हैं। आपकी सहायता के बिना उनके लिए काम-क्रोध आदि शत्रुओं से युद्ध करना सम्भव नहीं होता। (२) **यत्**=क्योंकि आप ही **अहानक्तम्**=दिन-रात **आ अतिरः**=समन्तात् शत्रुओं का वध करते हैं। प्रभु की शक्ति से ही इन शत्रुओं का संहार होता है।

भावार्थ—देववृत्ति के लोग प्रभु को हृदयस्थ करके काम-क्रोध आदि शत्रुओं से युद्ध करते हैं। प्रभु ही इनके शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सहस्रार-चक्र का उद्बोधन

यत्रो॒त बा॑धि॒तेभ्य॑श्च॒क्रं कुत्सा॑य॒ युध्य॑ते। मु॒षा॒य इ॑न्द्र॒ सूर्य॑म्॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **यत्र**=जिस, आसुरभावों के साथ होनेवाले युद्ध में **उत**=और **बाधितेभ्यः**=(बाधा संजाता अस्य) काम-क्रोध आदि पीड़ित करनेवाले आसुरभावों के लिए, अर्थात् इन आसुरभावों के विनाश के लिए **युध्यते कुत्साय**=आसुरभावों से युद्ध करनेवाले वासनाओं के हिंसक कुत्स के लिए हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप **सूर्यं चक्रम्**=सूर्य सम्बन्धी चक्र को **मुषायः**=पराभूत करते हैं, अर्थात् कुत्स को आप सूर्य-चक्र से भी अधिक तेजस्वी चक्र प्राप्त कराते हैं। (२) शरीर में मेरुदण्ड के मूल में मूलाधार-चक्र है और शिखर पर 'सहस्रार-चक्र' है। यह सहस्रार-चक्र सूर्य से भी अधिक तेजस्वी है। इस चक्र के विकसित होने पर सब अन्धकार समाप्त हो जाता है। अन्धकार के विलय के साथ सब वासनाओं का विलय हो जाता है। वासनाविलय करनेवाला यह सचमुच 'कुत्स' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सहस्रार-चक्र विकसित होने पर सब पीड़ाकर आसुरभाव विनष्ट

हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

हिंसकों की हिंसा

यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत्। त्वमिन्द्र वनूँरहन्॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **यत्र**=जब **देवान्**=दिव्य गुणों को **ऋघायतः**=हिंसित करनेवाले **विश्वान्**=सब आसुरभावों को **एकः इत्**=आप अकेले ही **अयुध्यः**=युद्ध द्वारा परास्त करते हैं। बिना आपके इनका पराभव सम्भव नहीं होता। (२) हे इन्द्र! **त्वम्**=आप ही **वनून्**=इन हिंसक शत्रुओं को **अहन्**=विनष्ट करते हैं। इनका विनाश होने पर ही दिव्यगुणों का विकास होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हिंसक भावों का विनाश होकर दिव्यगुणों का विकास होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

एतश

यत्रोत मर्त्याय कमरिणा इन्द्र सूर्यम्। प्रावः शचीभिरेतशम्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विनाशक प्रभो! **उत यत्र**=और जब **मर्त्याय**=वासनाओं से निरन्तर आक्रान्त होनेवाले इस पुरुष के लिये आप के **सूर्यम्**=सुखप्रद सूर्य को **अरिणाः**=(रिणाति give grant) देते हैं, अर्थात् जब आप सब अज्ञानान्धकार को विनष्ट करने के लिए इसमें 'सहस्रार-चक्र' का विकास करते हैं, तो उस समय **शचीभिः**=शक्तियों व प्रज्ञानों के साथ **एतशम्**=(Shining) इस दीप्त ज्ञानवाले को **प्रावः**=सुरक्षित करते हैं। (२) सहस्रार-चक्र के उद्बोधन से पूर्व काम-क्रोध के आक्रमण की आशंका बनी ही रहती है। इस चक्र का उद्बोधन होने पर इन शत्रुओं का दहन हो जाता है और मनुष्य 'मर्त्य' न रहकर 'अमर' हो जाता है। इसे प्रभुकृपा से शक्ति व प्रज्ञान प्राप्त होता है। यह दीप्त जीवनवाला 'एतश' (Shining) इस यथार्थ नामवाला होता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से सहस्रार-चक्र का उद्बोधन होने पर शक्ति व प्रज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दानवी वृत्तियों का दहन

किमादुतासि वृत्रहन्मघवन्मन्युमत्तमः। अत्राह दानुमातिरः॥ ७॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले और **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभो! आप **किम्**=क्या ही **मन्युमत्तमः**=अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानवाले हैं? अनन्त है आपका ज्ञान। (२) **उत**=और **आत्**=शीघ्र ही आप **अत्र अह**=इस जीवन में ही **दानुम्**=हमारी दानवी वृत्ति को **आतिरः**=विनष्ट कर देते हैं। मैं आपकी उपासना करता हूँ। इस उपासना से ही आपकी उस ज्ञान की ज्वाला में मेरी सब वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। सचमुच आश्चर्य होता है कि किस प्रकार मैं वासनाओं से परेशान हो रहा था। आपकी उपासना करते ही वे सब वासनाएँ अत्यन्त निर्बल पड़ जाती हैं, निर्बल क्या, विनष्ट ही हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की प्रचण्ड ज्वालावाले हैं, उसमें उपासक की सब दानवी वृत्तियाँ दग्ध हो जाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उषा का वध

एतद्घेदुत वीर्यं१मिन्द्र चकर्थ पौंस्यम्। स्त्रियं यद्दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ॥ ८ ॥

(१) जीवन में रात्रि का समय स्वप्नावस्था में बीतता है-अचेतन-सी अवस्था में। इसलिए उस समय पाप की सम्भवाना नहीं रहती। दिन में जागरित हो जाने से पुरुष पापों से अपना बचाव कर लेता है। उषाकाल ऐसा है, जो कि न स्वप्न का और नां ही पूर्ण जागरण का है। इस समय ही पापों का होने सम्भव है। उन पापों से बचने का उपाय यही है कि हम पूर्ण जागरण की स्थिति में होने का प्रयत्न करें। इसी को काव्यमय भाषा में इस प्रकार कहेंगे कि उषा के रथ का विदारण करके आगे बढ़ें। उषा तो मानो 'उष दाहे' हमें 'काम' आदि वासनाओं से संतप्त करती है। इसका वध आवश्यक है। (२) सो मन्त्र में कहते हैं कि, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **उत**=और **एतत्**=यह **घा इत्**=निश्चय से तू **पौंस्यम्**='पुंसः योग्यम्' (पू+मसुन्) जीवन को पवित्र करनेवाले **वीर्यम्**=शक्तिशाली कर्म को **चकर्थ**=करता है **यत्**=कि **दुर्हणायुवम्**=(दुष्टं हननमिच्छन्तीम्) हमारे भयंकर नाश को चाहती हुई इस **दिवः दुहितरम्**=(दिव्=स्वप्न) स्वप्न की दुहिता को-स्वप्न की पूरिका को स्वप्न की समाप्ति पर आनेवाली **स्त्रियम्**=हमारे संघात की कारणभूत (स्त्यै संघाते) इस उषा को **वधाः**=तुम नष्ट करते हो। उषा को नष्ट करके जीवन में ज्ञान सूर्य का उदय करके पापवृत्ति से ऊपर उठते हो।

भावार्थ—हम स्वप्न की समाप्ति पर उषा की अर्धजागरित स्थिति को शीघ्र समाप्त करके, जागरित स्थिति में आने का प्रयत्न करें, ताकि पापवासनाओं से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र उषाश्च ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अर्ध चेतनावस्था का विनाश

दिवश्चिद्घा दुहितरं महान्महीयमानाम्। उषासमिन्द्र सं पिणक् ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **महान्**='मह पूजायाम्' प्रभुपूजा की वृत्तिवाला बन। प्रभु का उपासक बन करके **इत्**=ही **चित् घा**=निश्चय से तू **उषासम्**=उषा को **संपिणक्**=संपिष्ट करनेवाला होता है। इस अर्ध जागरित स्थिति को समाप्त करके तू जागरित स्थिति में आ जाता है। (२) यह उषा **दिवः दुहितरम्**=(दिव् स्वप्ने) स्वप्न की पुत्री है। स्वप्नावस्था से इसकी उत्पत्ति होती है। स्वप्न के अनन्तर आनेवाली यह पूर्ण जागरित न होने से हमारे पापों के उदय का कारण बनती है। सो इसका विनाश आवश्यक है। **महीयमानाम्**=यह पूर्ण जागरण के अभाव में बड़े-बड़े स्वप्न देखती है-गर्व का अनुभव करती है-वास्तविक स्थिति से सदा ओझल रहती है।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष को चाहिए कि रात्रि समाप्त होने पर पूर्ण जागरित स्थिति में आने का प्रयत्न करे। अर्धचेतन अवस्था में व्यर्थ के गर्व को न अनुभव करता रहे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र उषाश्च ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उषा के रथ का संपेषण

अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह बिभ्युषी। नि यत्सीं शिश्नथद्वृषा ॥ १० ॥

(१) **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से **वृषा**=शक्ति का अपने अन्दर सेचन करनेवाला इन्द्र **निशिश्नथद्**=उषा के शकट को हिंसित करता है, अर्थात् शीघ्रता से पूर्ण जागरित स्थिति में आने का यत्न करता है तो **अह**=निश्चय से **उषा**=यह वासनाओं से संतप्त करनेवाला कालक्षण **बिभ्युषी**=मानो

भयभीत हुए-हुए **संपिष्टाद् अनसः**=पिसे हुए शकट से **अप असरत्**=दूर भाग जाता है। (२) अर्धचेतनावस्था को परे फेंककर जाग उठना ही ठीक है। इसी से हम वासनाओं से संतप्त होने से बच पाएँगे। इस प्रकार अर्ध चेतनावस्था को परे फेंकना ही उषा के रथ का संपेषण है।

भावार्थ—उषा के रथ का संपेषण करके हम पूर्ण चेतनावस्था में आने का प्रयत्न करें। यही वासनाओं से असंतप्त होने का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्र उषाश्च॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आत्मप्रेरणा

एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या। ससार सीं परावतः॥ ११॥

(१) हम प्रातः जागें तो अपने को निम्न प्रकार से आत्मप्रेरणा देते हुए पूर्णतया जाग उठें कि—**अस्याः**=इस उषा का **एतत्**=यह **अनः**=शकट **विपाशि**=एक-एक पाश के छिन्न-भिन्न कर देने पर **सुसम्पिष्टम्**=सम्यक् चूर्णित हुआ-हुआ **आशये**=इधर-उधर (चारों ओर) तितर-बितर हुआ पड़ा है। (२) यह उषा **सीम्**=निश्चय से **परावतः ससार**=सुदूर देश में निकल गई है। अब मैं जाग उठा हूँ। अपूर्ण जागृति में उत्पन्न होनेवाली वासनाएँ अब मुझे सन्तप्त नहीं कर सकतीं।

भावार्थ—हम उषा के शकट को तोड़कर सूर्य के रथ पर आरूढ़ हों, ताकि उसके प्रचण्ड प्रकाश में वासनान्धकार विलीन हो जाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विबाल्य सिन्धु

उत सिन्धुं विबाल्यं वितस्थानामधि क्षमि। परि ष्ठा इन्द्र मायया॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप काम आदि शत्रुओं का संहार करते हैं, **उत**=और **विबाल्यम्**=बाल्यावस्था से ऊपर उठे हुए अथवा मूर्खता से शून्य **वितस्थानाम्**=(वितिष्ठमानां) विशेषरूप से स्थित **सिन्धुम्**=इस ज्ञाननदी को **अधिक्षमि**=इस पृथिवी रूप शरीर में **मायया**=प्रज्ञान द्वारा **परिष्ठाः**=सर्वतः स्थापित करते हैं। (२) हे प्रभो! आप हमारी वासना को विनष्ट करते हैं और आपकी कृपा से हमारे जीवन में ज्ञान का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। यह ज्ञान-नदी ज्ञानजल से भरपूर होती है। हमारे इस शरीर में इस ज्ञान का विशिष्ट स्थान होता है। शरीररूप पृथिवी की यह विशिष्ट नदी होती है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से मेरी ज्ञाननदी का प्रवाह भरपूर रूप से बहनेवाला हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शुष्णासुर का विध्वंस

उत शुष्णस्य धृष्णुया प्र मृक्षो अभि वेदनम्। पुरो यदस्य संपिणक्॥ १३॥

(१) **उत**=और हे प्रभो! आप गतमन्त्र के अनुसार मेरे जीवन में ज्ञाननदी के प्रवाह को चलाते हैं और **धृष्णुया**=इस ज्ञान की शत्रुधर्षक शक्ति द्वारा **शुष्णस्य**=हमारा शोषण करनेवाले कामदेव के **वेदनम्**=धन को **अभि प्रमृक्षः**=बाधित करनेवाले होते हैं। शुष्ण के वेदन का आप सफाया कर देते हैं। कामदेव की सम्पत्ति को विनष्ट करके आप हमें ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) यह सब तब होता है, **यद्**=जब कि आप **अस्य पुरः**=इस कामदेव की नगरियों को **सम्पिणक्**=सम्यक् पीस डालते हैं। कामदेव की नगरियों के भस्मावशेष पर ही सरस्वती के भवन का निर्माण होता है।

भावार्थ—कामभावना समाप्त होने पर ही ज्ञानैश्वर्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शम्बर-हनन

उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम्॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विनाशक प्रभो! आप गतमन्त्र के अनुसार शुष्ण को तो समाप्त करते ही हो। **उत**=और **दासम्**=हमारा उपक्षय करनेवाले **कौलितरम्**=(कुलिः Hand, तेन प्रतारयति) हाथों से धोखा देनेवाले-छलछिद्र में चलनेवाले, **शम्बरम्**=शान्ति को आवृत कर लेनेवाले 'ईर्ष्या-द्वेष' रूप इस शम्बरासुर को **बृहतः**=दिन व दिन वृद्धि को प्राप्त होते हुए **पर्वतात्**=(ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादिना वा द०) ज्ञान से **अधि अवाहन्**=नीचे नष्ट करते हैं। (२) जब मनुष्य ईर्ष्या से आक्रान्त हो जाता है, तब छलछिद्र का अवलम्बन करता ही है। टेढ़े-मेढ़े साधनों से शत्रु को विनष्ट करता है। ईर्ष्या में सरलता समाप्त हो जाती है। इसलिए यहाँ 'शम्बर' को 'कौलितर' कहा गया है। हमारे स्वास्थ्य का भी विनाश करने से इसे 'दास' कहा गया है ज्ञान की वृद्धि होने पर ही ईर्ष्या समाप्त होती है। इसी बात को इस रूप में कहा गया है कि इसे बृहत् पर्वत से गिराकर चकनाचूर कर दिया जाए।

भावार्थ—ज्ञान की वृद्धि से ईर्ष्या का विनाश होता है। ईर्ष्या के कारण हम छलछिद्र को अपनाते हैं, यह हमारे स्वास्थ्य को भी विनष्ट कर देती है। सो इसका विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'वर्ची' के शतशः दुर्गों का संहार

उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः। अधि पञ्च प्रधीँरिव॥ १५॥

(१) 'वर्चस्' शब्द शक्ति के लिये प्रयुक्त होता है। इस शक्ति का प्रयोग उत्तम मार्ग से करनेवाला 'वर्चस्वी' कहलाता है। इस शक्ति का दुरुपयोग करनेवाला 'वर्ची' हो जाता है। **उत**=और **दासस्य**=औरों का उपक्षय करनेवाली **वर्चिनः**=दुष्ट शक्तिवाली आसुर-भावना के **पञ्चशता**=पाँच सौ अथवा **सहस्राणि**=हजारों रूपों को हे प्रभो! आप **अधि अवधीः**=आधिक्येन नष्ट करते हैं। (२) इस प्रकार इन्हें नष्ट करते हैं, **इव**=जैसे कि **प्रधीन्**=चक्र के चारों ओर स्थित शंकुओं को नष्ट करते हैं। आसुरभावनाएँ हमें ऐसे ही घेरे रखती हैं, जैसे कि चक्र को शंकु घेरे हुए होते हैं। ये आसुर-भावनाएँ अत्यन्त प्रबल होती हैं। ये हमारे विनाश का कारण बनती हैं। प्रभुकृपा से ही इनका विनाश होता है।

भावार्थ—हम वर्चस्वी बनें, नकि वर्ची। हमारी शक्ति परपीड़न में विनियुक्त होती हुई आसुर न बन जाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु उपासना से 'परावृक्त' बनना

उत त्यं पुत्रमग्रुवः परावृक्तं शतक्रतुः। उक्थेष्विन्द्र आभजत्॥ १६॥

(१) जैसे भिक्षु आदि शब्दों में 'उ' प्रत्यय है, इसी प्रकार 'अग्रु' में भी यही प्रत्यय है। स्त्रीलिंग में 'ऊङ्' प्रत्यय आकर 'अग्रू' हो जाता है। निरन्तर प्रगतिशील व्यक्ति 'अग्रु' है। इसका पुत्र, अर्थात् अत्यन्त प्रगतिशील यहाँ 'अग्रुवः पुत्रम्' कहा गया है। **शतक्रतुः**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **उत**=निश्चय से **त्यम्**=उस **अग्रुवः पुत्रम्**=अत्यन्त प्रगतिशील

परावृक्तम्=व्यसनों से रहित (वृजी वर्जने) व्यक्ति को **उक्थेषु**=स्तोत्रों में **आभजत्**=भागी करते हैं। इसे स्तोत्रों की ओर झुकाववाला बनाते हैं। (२) वस्तुतः प्रभु-स्तवन की ओर झुकाव ही इसे प्रगतिशील व व्यसनों में न फँसा हुआ बनाता है। शतक्रतु प्रभु की उपासना से हमारा जीवन भी यज्ञमय बनता है, स्वभावतः हम व्यसनों से बच जाते हैं। व्यसनों से बचना हमारी प्रगति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम व्यसनों से बचकर निरन्तर प्रगतिपथ पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'शचीपति इन्द्र विद्वान्' आचार्य

उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः। इन्द्रो विद्वाँ अपारयत्॥ १७॥

(१) **शचीपतिः**=कर्म व प्रज्ञान का स्वामी **इन्द्रः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **उत**=निश्चय से **त्या**=उन **तुर्वशायदू**=शीघ्रता से शत्रुओं को वश में करनेवाले तथा यत्नशील पुरुषों को, **अस्नातारा**=जो ज्ञान समुद्र में स्वयं स्नान नहीं कर सके, **अपारयत्**=इस समुद्र में स्नान कराके पार लगाता है। (२) आचार्य की विशेषताएँ 'शचीपति, इन्द्र व विद्वान्' शब्दों से व्यक्त की गई हैं। आचार्य को (क) कर्म व प्रज्ञान का स्वामी होना चाहिए, (ख) यह जितेन्द्रिय हो, (ग) अत्यन्त ज्ञानी हो। विद्यार्थी को तुर्वश व यदु बनना है। (क) यह शीघ्रता से काम-क्रोध आदि को वशीभूत करनेवाला हो, (ख) यत्नशील हो-आलस्य शून्य। ऐसे ही विद्यार्थी को आचार्य ज्ञानसमुद्र के पार लगाने में समर्थ होता है। अस्नात को स्नात बनाता है। उस समय इसका नाम 'स्नातक' हो जाता है।

भावार्थ—'शचीपति-इन्द्र-विद्वान्' आचार्य 'तुर्वश यदु' विद्यार्थी को ज्ञान समुद्र में स्नान कराके स्नातक बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अर्णाचित्ररथा' का सरयू के पार पहुँचना

उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथावधीः॥ १८॥

(१) **उत**=और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **सद्यः**=शीघ्र ही **त्या**=उन **आर्या**=श्रेष्ठ **अर्णाचित्ररथा**=(अर्ण=Being in motion) गतिशील और गतिशीलता के कारण ही (चित्र) अद्भुत, ज्ञानसम्पन्न, शरीर-रथवाले उपासकों को **सरयोः पारतः**=इस ज्ञाननदी के पार **अवधीः**=(हन् गतौ) ले जाते हैं। (२) उल्लिखित मन्त्र के 'अपारयत्' का भाव यहाँ 'सरयोः पारतः अवधीः' इन शब्दों से कहा गया है। 'तुर्वशायदू' के स्थान में यहाँ 'अर्णाचित्ररथा' है। सरस्वती नदी यहाँ सरयू है। इसके पार जाना ही ज्ञानी बनना व स्नातक बनना है। आचार्य का मुख्य गुण 'इन्द्र' होना-जितेन्द्रिय होना है। विद्यार्थी को 'आर्य'=नियमित गतिवाला बनना है disciplined।

भावार्थ—गतिशील व ज्ञानरुचि विद्यार्थी को आचार्य ज्ञाननदी के पार ले जाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अन्ध व श्रोण' का नीरोग होना

अनु द्वा जहिता नयोऽन्धं श्रोणं च वृत्रहन्। न तत्ते सुम्नमष्टवे॥ १९॥

(१) हे **वृत्रहन्**=सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **अन्धम्**=जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक काम नहीं करतीं और **अतएव** जो मार्ग को नहीं देख पाता **च**=और **श्रोणम्**=लंगड़े को जिसकी

कर्मेन्द्रियाँ ठीक काम नहीं करतीं और अतएव जो मार्ग पर नहीं चल पाता, उन **द्वा**=दोनों को ही **जहिता**=जो धर्ममार्ग से त्यक्त हो गये हैं, उन्हें आप **अनुनयः**=ज्ञान और शक्ति देकर अनुकूलता से मार्ग पर आगे ले चलते हैं। प्रभु अन्धे को मानो आँखें दे देते हैं, लंगड़े को चलने की शक्ति प्राप्त करा देते हैं। (२) **ते**=आपका **तत्**=वह **सुम्नम्**=आनन्द (happiness) व रक्षण (protection) **अष्टवे न**=व्याप्त करने के लिए नहीं होता। आपके अतिरिक्त इस आनन्द व रक्षण को कोई और नहीं प्राप्त करा सकता।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराके अनुकूलता से धर्ममार्ग पर ले चलते हुए अद्भुत सुख प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'दिवोदास-दाश्वान्' के लिये पुरों का विदारण

शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्। दिवोदासाय दाशुषे॥ २०॥

(१) **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु **अश्मन्मयीनाम्**=पत्थरों से बनी हुई, अत्यन्त दृढ़ **पुराम्**=शत्रुनगरियों के **शतम्**=सैकड़े को **व्यास्यत्**=परे फेंकते हैं-नष्ट करते हैं। प्रभुकृपा से ही इन 'काम-क्रोध-लोभ' की नगरियों का विध्वंस होता है। (२) पर प्रभु यह शत्रुनगरियों का विध्वंस '**दिवोदासाय**'=ज्ञान के दास (भक्त) के लिए करते हैं, उसके लिए करते हैं, जो कि **दाशुषे**=दाश्वान् है-देने की वृत्तिवाला है। हम ज्ञानी बनने का प्रयत्न करें, त्याग की वृत्तिवाले हों, तभी प्रभु हमारे शत्रुओं का विध्वंस करेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञानप्रवण व दानशील बनें। प्रभु हमारे शत्रुओं का विध्वंस करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'दभीति' के शत्रुओं का सो जाना

अस्वापयद्दभीतये सहस्रा त्रिंशतं हथैः। दासानामिन्द्रो मायया॥ २१॥

(१) **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **मायया**=अपने अद्भुत ज्ञान व सामर्थ्य से (extraordinary power, wisdom) अथवा दया से (pity, compassion) **दासानाम्**=हमारा उपक्षय करनेवाली **त्रिंशतं सहस्रा**=तीसों हजार आसुर वृत्तियों को **हथैः**=हननसाधन आयुधों से **अस्वापयत्**=सुला देते हैं। प्रभु की शक्ति से आसुरभावों का विनाश होता है। (२) प्रभु यह आसुरभावों का विनाश **दभीतये**=दभीति के लिए करते हैं। उस व्यक्ति के लिए करते हैं, जो कि आसुरभावों के हिंसन के लिए यत्नशील होते हैं। प्रभु हमारे लिए साधन प्राप्त कराते हैं, उन साधनों को क्रिया में परिणत करने के लिए शक्ति देते हैं। इन साधनों का ठीक प्रयोग करने की प्रेरणा देते हुए वे प्रभु इस 'दभीति' के लिए सहायक होते हैं।

भावार्थ—हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं के हिंसन में प्रवृत्त हों। प्रभु के साहाय्य से हम अवश्य सफल होंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'समान+गो पति' इन्द्र

स घेदुतासि वृत्रहन्त्समान इन्द्र गोपतिः। यस्ता विश्वानि चिच्युषे॥ २२॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का प्रच्यावन करनेवाले प्रभो! **उत**=और **सः**=वे आप **घा इत्**=निश्चय से **समानः**=(सम् आनयति) हमें सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं। हे **वृत्रहन्**=हमारी सब

वासनाओं के विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप ही **गो पतिः**=हमारी सब इन्द्रियों के रक्षक हो। वासना के विनाश से ही तो इन्द्रियों की शक्ति का रक्षण होता है। (२) आप वे हैं, **यः**=जो **ता विश्वानि**=उन सब शत्रुओं को **चिच्युषे**=प्रच्यावित करते हैं। आपकी शक्ति व प्रेरणा से ही इन शत्रुओं का विनाश हुआ करता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमें प्राणित करके काम आदि शत्रुओं का पराजय कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पौंस्यं इन्द्रियम्

उत नूनं यदिन्द्रियं करिष्या इन्द्र पौंस्यम्। अद्या नकिष्टदा मिनत्॥ २३॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **उत**=और **नूनम्**=निश्चय से **यत्**=जो **पौंस्यम्**=(पू) सब पवित्रताओं के करनेवाले **इन्द्रियम्**=(वीर्यं) बल को आप **करिष्याः**=हमारे लिए करते हैं। **तत्**=उस आपके बल को **अद्या**=अब **नकिः आमिनत्**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाता। (२) प्रभु से हमें शक्ति प्राप्त होती है तो हम काम आदि शत्रुओं से फिर पराजित नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें वह पवित्र बल प्राप्त कराएँगे, जो कि हमें शत्रुओं से पराजित न होने देगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

वामम्

वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा। वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती॥ २४॥

(१) हे **आदुरे**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विदारण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! **ते**=तेरे लिए **अर्यमा**=शत्रुओं का नियमन करनेवाला (अरीणां नियमयिता) **देवः**=शत्रुओं का विजेता (दिव्-विजिगीषा) प्रभु **वामं वामं ददातु**=सब सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं को दे। काम-क्रोध आदि के संहार द्वारा यह अर्यमा देव हमें सुन्दर दिव्य गुणों को प्राप्त कराएँ। (२) **पूषा**=सब का पोषण करनेवाला **देव वामम्**=सुन्दर, स्वस्थ शरीर को प्राप्त करानेवाला हो। **भगः**=सेवनीय धन का अधिष्टातृदेव हमारे लिए **वाम्**=सुन्दर सुपथार्जित धन को दे। **करूडती**=(कृत्तदन्तः) जिसने दान्तों को काट दिया है, अर्थात् जो खान-पान में ही फँसा हुआ नहीं है, वह **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **वामम्**=हमारे लिए भोगों में अनासक्त सुन्दर जीवन को प्राप्त कराए। (३) 'अर्यमा' नाम से प्रभु का स्मरण करता हुआ स्तोता काम-क्रोध आदि अरियों का नियमन करता है और अपने जीवन को सुन्दर दिव्य गुणों से युक्त करता है। 'पूषा' नाम से प्रभु का स्मरण उसे उचित पोषण के लिए युक्ताहार-विहार बनाता है, इससे वह स्वस्थ सुन्दर शरीरवाला होता है। 'भग' नाम से प्रभु का स्मरण उसे सेवनीय धन के ही अर्जन के लिए प्रेरित करता है। प्रभु बिलकुल नहीं खाते, सो वे 'कृत्तदन्त' हैं। हम भी भोगों में अनासक्त बने हुए कृत्तदन्त ही होते हैं। उस समय हम अनासक्तिवाला सुन्दर जीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम शत्रुओं का नियमन करें। शरीर के पोषण के लिए युक्ताहार-विहार करें। सुपथ से धनार्जन करें। भोगों में अनासक्त जीवनवाले हों।

सूक्त का सार यही है कि हम उस अनुपम प्रभु का स्मरण करते हुए अधिक से अधिक सुन्दर जीवनवाले बनने का यत्न करें। प्रभु की तरह ही 'अर्यमा, पूषा, भग व कृत्तदन्त देव' बनें। इस प्रभु से रक्षण के लिए प्रार्थना के साथ अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का कल्याणकारक रक्षण

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

(१) **चित्रः**=वे चायनीय-पूजनीय, **सदावृधः**=सदा से बढ़े हुए **सखा**=हमारे मित्र प्रभु **कया ऊती**=कल्याणकारक रक्षण द्वारा **नः आभुवत्**=हमारे अभिमुख होते हैं-प्रभु हमें आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। (२) वे प्रभु **कया**=कल्याणकारक **शचिष्ठया**=प्रज्ञावत्तम-अधिक से अधिक बुद्धि से युक्त, **वृता**=आवर्तन द्वारा हमें आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। प्रातः से सायं तक समस्त दैनिक कार्यक्रम 'वृत्' कहलाता है। इस समस्त कार्यक्रम को बुद्धिमता से करें, तो यह वृत् 'शचिष्ठा' होता है। प्रभु उपासक को इस 'शचिष्ठ वृत्' में चलाते हैं। इस 'शचिष्ठवृत्' द्वारा ही प्रभु उपासक का कल्याण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का कल्याणकारक रक्षण हमें प्राप्त हो। प्रभुकृपा से हम प्रज्ञापूर्वक दैनिक कार्य-चक्र को करनेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'आनन्दमय सत्यनिष्ठ' जीवन

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृळ्हा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥

(१) **कः**=आनन्दमय **सत्यः**=सत्यस्वरूप **मदानां मंहिष्ठः**=आनन्दों का सर्वाधिक देनेवाला वह प्रभु **त्वा**=तुझ उपासक को **अन्धसः**=सोम द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करे। वस्तुतः सोम द्वारा हमारा जीवन भी आनन्दमय व सत्यनिष्ठ बनता है। (२) इस सोम के मद में यह उपासक **दृढा चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **वसु**=काम-क्रोध-लोभ के निवास स्थानों को **आरुजे**=तोड़ने के लिए समर्थ होता है। इन्द्रियों में बने हुए 'काम' के किले को, मन में बने हुए क्रोध के दुर्ग को तथा बुद्धि में बने हुए लोभ के निवास-स्थान को यह सुरक्षित सोम नष्ट कर देता है। इन आसुर-दुर्गों के विदारण से ही वस्तुतः इस उपासक का जीवन आनन्दमय व सत्यनिष्ठ होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम सोमरक्षण करते हुए आनन्दमय सत्यनिष्ठ जीवनवाले बनते हैं। प्रभु हमारे शत्रुभूत काम-क्रोध-लोभ के दुर्गों का विदारण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के सखा-प्रभु के जरिता

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतिभिः ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हम **सखीनाम्**=सखाओं के-मित्रों के **जरितॄणाम्**=स्तोताओं के **शतं ऊतिभिः**=शतवर्ष पर्यन्त-जीवनभर रक्षणों से **सु अविता**=उत्तमता से रक्षण करनेवाले **अभिभवासि**=आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। (२) प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति वासनाओं द्वारा आक्रान्त नहीं होता। प्रभु ही मानो उसका रक्षण कर रहे होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता-प्रभु के मित्र बनने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्वों की प्राप्ति

अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः। नियुद्भिश्चर्षणीनाम्॥ ४॥

(१) हे प्रभो! **अर्वतः**=वासनाओं का संहार करनेवाले (अर्व् to kill) **नः**=हमें **अभि आववृत्स्व**=आप आभिमुख्येन प्राप्त होइये। वासनाओं का संहार करके हम अपने को आपकी प्राप्ति के योग्य बनाएँ। (२) **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **नियुद्भिः**=शरीर-रथ में जुतनेवाले इन इन्द्रियाश्वों के साथ आप हमें उसी प्रकार प्राप्त होइये, **न**=जैसे कि **वृत्तं चक्रम्**=एक वृत्ताकार चक्र को घोड़े प्राप्त होते हैं। प्रभुकृपा से हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त हों।

भावार्थ—हम वासनाओं के संहार की वृत्तिवाले बनें। हम प्रभुप्राप्ति के लिए यत्नशील हों। प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'यज्ञ, नम्रता व ज्ञान'

प्रवता हि क्रतूनामा हा पदेव गच्छसि। अभक्षि सूर्ये सचा॥ ५॥

(१) हे प्रभो! आप **क्रतूनाम्**=यज्ञमय जीवनवाले पुरुषों के **प्रवता**=निम्न मार्ग से **हि**=निश्चयपूर्वक **आगच्छसि**=हमें प्राप्त हों, **इव**=उसी प्रकार, जैसे कि **ह**=निश्चयपूर्वक **पदा**=(पदानि) कोई अपने स्थानों को प्राप्त होता है। वस्तुतः यज्ञमय जीवनवाले बनकर जब हम नम्रता की वृत्तिवाले बनते हैं, अर्थात् उन यज्ञों का गर्व नहीं करते, तो हम प्रभु के प्राप्ति स्थान बनते हैं। प्रभु का निवास अहंकार शून्य यज्ञशील पुरुषों में ही होता है। (२) हे प्रभो! मैं **सूर्ये**=ज्ञानसूर्य में **सचा**=सम्पर्कवाला होकर **अभक्षि**=आपका भजन करता हूँ। आपका ज्ञानीभक्त बनने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि—(क) हम यज्ञमय जीवनवाले बनें, (ख) नम्र हों और (ग) सदा ज्ञान के साथ सम्पर्कवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभुचिन्तन व कर्त्तव्यकर्मों का करना

सं यत्त इन्द्र मन्यवः सं चक्राणि दधन्विरे। अध त्वे अध सूर्ये॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब हम **ते**=आपके **संमन्यवः**=सम्यक् मनन व चिन्तन करनेवाले बनते हैं, **अध**=तो तब **त्वे**=(त्वयि) आप में निवास करनेवाले होते हैं। सदा प्रभु का स्मरण हमें प्रभुनिष्ठ बनाता है। (२) इसी प्रकार जब **चक्राणि**=दिनभर के कर्त्तव्य कर्म-चक्र **संदधन्विरे**=हमारे से सम्यक् धारण किये जाते हैं, तो **अध**=अब **सूर्ये**=ज्ञान के सूर्य में-प्रकाश में हमारा निवास होता है। कर्त्तव्यकर्मों का क्रमिक पालन हमारी बुद्धि के विकास का कारण बनता है और हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का चिन्तन व कर्त्तव्यकर्मों का करना हमें प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर ले चलता है और हमारे जीवन में ज्ञानसूर्योदय का कारण बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मघवा, दाता व दीधयु

उत स्मा हि त्वामाहुरिन्मघवानं शचीपते। दातारमविदीधयुम्॥ ७॥

(१) हे **शचीपते**=सब कर्मों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **उत**=और **त्वां हि**=आपको ही **इत्**=निश्चय से **आहु स्म**=कहते हैं कि **मघवानम्**=आप ज्ञानैश्वर्यवाले हैं। सब ऐश्वर्यों के स्वामी आप ही हैं। **दातारम्**=सब धनों व वसुओं के आप ही देनेवाले हैं। **अविदीधयुम्**=आप कभी न दीप्यमान हों, सो नहीं है, अर्थात् आप सदा दीप्यमान हैं। (२) आपकी उपासना करता हुआ मैं भी ऐश्वर्यशाली बनूँ, दाता बनूँ और सदा दीप्त जीवनवाला होऊँ। ऐश्वर्यशाली होकर अकस्मात् उस ऐश्वर्य का संग्रही (न कि दाता) बनकर मैं ज्ञान दीप्ति को विनष्ट कर बैठता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु को 'मघवा, दाता व दीधयु' शब्दों से स्मरण करता हुआ ऐश्वर्यशाली (वैश्य) बनूँ, देनेवाला (क्षत्रिय) होऊँ और इस प्रकार ज्ञानदीप्त (ब्राह्मण) बन पाऊँ। यह धन मेरे ज्ञान पर परदे के रूप में न हो जाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शशमान+सुन्वन्

उत स्मा सद्य इत्परि शशमानाय सुन्वते। पुरू चिन्मंहसे वसु ॥ ८ ॥

(१) **उत**=और हे प्रभो! आप **सद्यः इत्**=शीघ्र ही **पुरू चित्**=अत्यन्त **वसु**=धन **परि मंहसे स्म**=सब ओर से देते ही हैं। प्रभु सब वसुओं के स्वामी हैं, 'वसूनां वसुपति' वे प्रभु हैं। उनसे दिये जानेवाले वसुओं में किसी प्रकार की कमी सम्भव ही नहीं। (२) हम उन वसुओं की प्राप्ति का अपने को पात्र बनाएँ। **शशमानाय**=(शंसमानाय) स्तवन करनेवाले के लिए प्रभु इन वसुओं को प्राप्त कराते हैं। **सुन्वते**=सोम का अभिषव करनेवाले के लिए प्रभु के ये वसु प्राप्त होते हैं। हम 'शशमान व सुन्वन्' बनकर प्रभु से सब वसुओं को प्राप्त करें। सदा प्रभु का शंसन करें और शरीर में सोम का संपादन करें। सोम का रक्षण करते हुए ही तो हम अपने अन्दर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—'शशमान व सुन्वन्' बनकर हम प्रभु से दिये जानेवाले वसुओं के पात्र हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

राधः+च्यौत्नानि

नहि ष्मा ते शतं चन राधो वरन्त आमुरः। न च्यौत्नानि करिष्यतः ॥ ९ ॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके **राधः**=कार्यसाधक धनों को **शतं चन**=सैंकड़ों भी **आमुरः**=समन्तात् हिंसन करनेवाले शत्रु **हि**=निश्चय से **न वरन्ते स्म**=नहीं रोक सकते। प्रभु उपासक को कार्यसाधक ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। कितने भी शत्रु मिलकर भी इसमें विघातक नहीं बन पाते। (२) उस **करिष्यतः**=(हिंसायां कृणोति=kills) शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभु के **च्यौत्नानि**=शत्रुनाशक बलों को कोई भी रोक नहीं सकता।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनते हैं। प्रभु हमें कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं और शत्रुविनाशक बल को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऊतयः-अभिष्टयः

अस्माँ अवन्तु ते शतमस्मान्त्सहस्रमूतयः। अस्मान्विश्वा अभिष्टयः ॥ १० ॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त-जीवनभर चलनेवाले **ऊतयः**=रक्षण **अस्मान् अवन्तु**=हमारा रक्षण करें। आपके **सहस्रम्**=हजारों प्रकार से होनेवाले **ऊतयः**=रक्षण हमारा रक्षण

करें। (२) आपके द्वारा होनेवाले **विश्वाः**=सब **अभिष्टयः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं पर होनेवाले आक्रमण **अस्मान्**=हमारा रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें आजीवन प्रभु के सहस्रशः रक्षण प्राप्त हों। प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को आक्रान्त करके विनष्ट करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु को मित्रता में कल्याण व दीप्तियुक्त ऐश्वर्य

अस्माँ इहा वृणीष्व सख्याय स्वस्तये। महो राये दिवित्मते॥ ११॥

(१) हे प्रभो! **इह**=इस जीवन में **अस्मान्**=हमें **आवृणीष्व**=आप चुनिए, स्वीकार करिए। एक तो **सखाय**=अपनी मित्रता के लिए और मित्रता के द्वारा **स्वस्तये**=कल्याण के लिए, उत्तम स्थिति के लिए। प्रभु प्राणियों के दो विभाग करते हैं, एक तो वे, जो कि प्रकृति की ओर झुके हुए हैं और दूसरे वे जो कि प्राकृतिक भोगों में न फँसकर प्रभु-प्रवण हैं। उस समय हम पिछले विभाग में आकर प्रभु के ही मित्र बनें और परिणामतः प्राकृतिक भोगों से न कुचले जाकर उत्तम स्थिति को प्राप्त करें। (२) हे प्रभो! आप हमें इसलिए भी चुनिए कि हम **दिवित्मते**=दीप्तिवाले **महः राये**=महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले हों। प्रभु की शरण में जाने पर धन की कमी तो रहती ही नहीं, इस धन के साथ ज्ञानदीप्ति का भी निवास होता है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में कल्याण है, इसी में दीप्ति से युक्त महान् ऐश्वर्य का लाभ है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

योगक्षेम के दाता प्रभु

अस्मां अविड्ढि विश्वहेन्द्र राया परीणसा। अस्मान्विश्वाभिरूतिभिः॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मान्**=हमें **विश्वहा**=सदा **परीणसा**=(महता) बहुत पालन व पोषण के लिए पर्याप्त **राया**=धन से **अविड्ढि**=रक्षित करिए। वस्तुतः यदि हम अपने कर्त्तव्यपथ का आक्रमण करते हैं, तो प्रभु हमें पालन व पोषण के लिए पर्याप्त धन देते ही हैं 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमंवहो हरिः'। (२) हे प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **विश्वाभिः**=सब **ऊतिभिः**=रक्षणों द्वारा सुरक्षित करिए। हमें सदा आपका रक्षण प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु हमें पर्याप्त धन व रक्षण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विषयव्रज से मुक्ति

अस्मभ्यं ताँ अपा वृधि व्रजाँ अस्तेव गोमतः। नवाभिरिन्द्रोतिभिः॥ १३॥

(१) 'गो' शब्द इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होता है। ये इन्द्रियाँ विषयों के बाड़े में कैद ही हो जाती हैं। मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **अस्ता इव**=अस्त्रों को शत्रु-सैन्य पर फेंकनेवाले एक योद्धा के समान **नवाभिः ऊतिभिः**=अपने अत्यन्त प्रशंसनीय रक्षणों द्वारा अथवा नौ संख्यावाले रक्षणों द्वारा **तान्**=उन **गोमतः व्रजान्**=इन्द्रियरूप गौवों से युक्त बाड़ों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अपावृधि**=खोल डालिए। हमारी इन्द्रियों को विषयों के बाड़े से मुक्त करने की कृपा कीजिए। (२) इन्द्रियाँ सामान्यतः 'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ' मिलकर दस हैं। इनमें 'जिह्वा' बोलने का काम करती हुई कर्मेन्द्रियों में हैं, तो रस को चखती हुई ज्ञानेन्द्रियों में। इस प्रकार वस्तुतः इन्द्रियाँ नौ ही हो जाती हैं। इनके रक्षण भी इसी

कारण यहाँ **नव**=नौ कह गये हैं। प्रभु ही इन इन्द्रियों को विषयों के बाड़े से मुक्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, ताकि इन्द्रियाँ विषयव्रज में अवरुद्ध न हो जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम शरीर-रथ

अस्माकं धृष्णुया रथो द्युमाँ इन्द्रानपच्युतः। गव्युरश्वयुरीयते ॥ १४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप ऐसी कृपा करिए कि **अस्माकम्**=हमारा **रथः**=यह शरीररूप रथ **धृष्णुया**=शत्रुधर्षण शक्ति द्वारा **द्युमान्**=ज्योतिर्मय हो तथा **अनपच्युतः**= शत्रुओं द्वारा मार्गभ्रष्ट न किया जा सके, अर्थात् अत्यन्त सुदृढ़ शक्तिशाली हो। मस्तिष्क में ज्योति हो, मन व शरीर में शक्ति। (२) हे प्रभो! बस, ऐसी कृपा करिए कि यह **गव्युः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला तथा **अश्वयुः**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला **ईयते**=सदा गतिमय हो। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान को बढ़ाते हुए और कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि कर्मों को करते हुए हम आगे बढ़ते चलें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा शरीर-रथ बुद्धि में 'द्युमान्', मन में 'अनपच्युत' तथा प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला 'गव्यु' तथा प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला 'अश्वयु' हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान से सर्वाधिक हों

अस्माकमुत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य। वर्षिष्ठं द्यामिवोपरि ॥ १५ ॥

(१) हे **सूर्य**=सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाश व गति देनेवाले प्रभो! आप **देवेषु**=सब ज्ञानियों में **अस्माकम्**=हमारे **श्रवः**=ज्ञान को **उत्तमं कृधि**=सर्वोत्तम करिए। (२) आप हमारे ज्ञान को इस प्रकार सर्वोपरि करिए **इव**=जैसे कि **वर्षिष्ठम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध **द्याम्**=द्युलोक को **उपरि**=सब लोकों में ऊपर करते हैं। जैसे यह द्युलोक सूर्य से दीप्त है, इसी प्रकार हमारा मस्तिष्क ज्ञान सूर्य से दीप्त हो।

भावार्थ—हम देवों में ज्ञान से इस प्रकार सर्वोपरि हों, जैसे कि लोकों में द्युलोक सर्वोपरि है।

सूक्त का सार यही है कि प्रभु हमारा रक्षण करते हैं और इस रक्षण से हम सर्वोत्तम स्थिति को प्राप्त करते हैं। प्रभुरक्षण की प्रार्थना से ही अगले सूक्त का भी प्रारम्भ है—

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वृत्रहा प्रभु का सान्निध्य

आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि। महान्महीभिरूतिभिः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **तु**=तो **अस्माकम्**=हमारे **अर्धम्**=समीप **आ आगहि**=सर्वथा प्राप्त होइये। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **महान्**=पूजनीय हैं। आप **महीभिः ऊतिभिः**=महान् रक्षणों द्वारा हमें प्राप्त हों। प्रभु का सान्निध्य ही हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है। प्रभु 'वृत्रहा' हैं, वे हमारे वृत्रों (=वासनाओं) का विनाश करते हैं। तभी हमारा ज्ञान दीप्त होता है। यह ज्ञान ही हमें रक्षित करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों। हमारी वासनाओं का विनाश करके हमारे ज्ञान को बढ़ाएँ और

इस प्रकार हमें रक्षित करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भूमि+तूतुजि

भूमिश्चिद्घासि तूतुजिरा चित्र चित्रिणीष्वा। चित्रं कृणोष्यूतये॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप **चित् घ**=निश्चय से **भूमिः**=गलत मार्ग पर जा रहे सोम्य व्यक्तियों के मुख को मोड़कर उन्हें ठीक मार्ग पर ले चलनेवाले **असि**=हैं ('सोम्यानां भ्रमिरसि') इस प्रकार ठीक मार्ग पर चलनेवाले इन सोम्य पुरुषों के **तूतुजिः**=वासनात्मक शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। (२) **आ**=और (आकारस्वार्थे सा०) **चित्र**=हे (चित् र) सब ज्ञानों के देनेवाले प्रभो! **चित्रिणीषु**=इन ज्ञानपूर्वक उत्तम कर्म करनेवाली प्रजाओं में **ऊतये**=रक्षण के लिए **चित्रम्**=चायनीय, पूजनीय, प्रशस्त, सुपथार्जित धन को **आकृणोषि**=सर्वथा करते हैं। इस धन द्वारा वे अपनी जीवनयात्रा को ठीक से पूरा कर पाती हैं।

भावार्थ—वे प्रभु मार्गदर्शक हैं, वासनाओं का संहार करनेवाले हैं। कर्मशील प्रजाओं को कार्यसाधक धन देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के ओज से शत्रुसंहार

दभ्रेभिश्चिच्छशीयांसं हंसि व्राधन्तमोजसा। सखिभिर्ये त्वे सचा॥ ३॥

(१) हे प्रभो! आप उन **दभ्रेभिः**=(दभ् हिंसायाम्) शत्रुओं के संहार में लगे हुए **सखिभिः**=मित्रों के साथ, **ये**=जो कि **त्वे सचा**=आप में मिलकर रहने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् सब कार्यों को प्रभुस्मरण के साथ करते हैं, उन मित्रों के साथ आप **शशीयांसम्**=(उत्प्लवमानम्) अत्यन्त कूदते फाँदते हुए–धर्ममार्ग का उल्लंघन करते हुए, **व्राधन्तं चित्**=महान् शत्रु को भी **ओजसा**=ओजस्विता से **हंसि**=नष्ट करते हैं। (२) काम-क्रोध आदि शत्रु 'शशीयान्' हैं, बड़े क्रियाशील हैं और (शधत् महत् नाम नि० ३।३) महान् हैं। इन शत्रुओं को सुगमता से जीता नहीं जा सकता। प्रभु के ओज से ओजस्वी बनने पर ही हम इनका पराजय कर पाते हैं। एवं प्रभु के सखा ही इन्हें जीतने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम अति प्रबल काम आदि शत्रुओं का भी पराजय करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के साथ मिलकर

वयमिन्द्र त्वे सचा वयं त्वाभि नोनुमः। अस्माँअस्माँ इदुदव॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **त्वे सचा**=आप में मेलवाले होते हैं–हम आपके साथ मिलकर सदा चलने का प्रयत्न करते हैं। हमारा कोई भी कर्म आपके विस्मरण के साथ नहीं होता। **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **अभिनोनुमः**=प्रातः-सायं प्रणाम करनेवाले होते हैं। आपके चरणों में बैठकर अपने में शक्ति को भरते हैं। (२) हे प्रभो! आप **अस्मान्**=('अस्ति' इति प्रतिः येषां) आस्तिक वृत्तिवाले–आप में श्रद्धावाले **अस्मान्**=हमें **इत्**=निश्चय से **उद् अव**=इन संसार के विषयों से ऊपर उठाकर रक्षित करिए। हम आपका स्मरण करें। आपका स्मरण हमें विषयों में फँसने से बचाए।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण की वृत्तिवाले हों। प्रभुस्मरण हमें विषयासक्ति से ऊपर उठाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'चित्र-अनवद्य-अनाधृष्ट' रक्षण

स नश्चित्राभिरद्रिवोऽनवद्याभिरूतिभिः। अनाधृष्टाभिरा गहि ॥ ५ ॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रवन्-क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **ऊतिभिः**=रक्षणों के साथ **आगहि**=प्राप्त होइये। वस्तुतः प्रभु के बिना हम शत्रुओं के आक्रमण से अपना रक्षण किसी भी प्रकार नहीं कर सकते। (२) हे प्रभो! आप उन रक्षणों के साथ हमें प्राप्त होइये, जो कि **चित्राभिः**=(चित् र) हमारे लिए उत्कृष्ट ज्ञानों को देनेवाले हैं। **अनवद्याभिः**=जो रक्षण अत्यन्त प्रशस्त हैं, जिन रक्षणों द्वारा हमारा मन वासनाओं से मलिन नहीं होता। **अनाधृष्टाभिः**=जो रक्षण अनाधृष्ट हैं। इन रक्षणों के होने पर हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण हमें मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न (चित्र), मन में अनवद्य (=प्रशस्त भावोंवाला) तथा शरीर में अनाधृष्ट (नीरोग) बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभुमित्रों की मित्रता

भूयामो षु त्वावतः सखाय इन्द्र गोमतः। युजो वाजाय घृष्वये ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हम **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **त्वावतः**=आपकी उपासना से आप जैसे बने हुए व्यक्ति के **सु**=उत्तम **सखायः**=मित्र **भूयामो**=हों ही। जो 'ब्रह्म इव' प्रभु जैसा बनता है, उसके मित्र भी उस जैसे बनते हुए प्रभु के समीप होते जाते हैं। इस प्रभु के सान्निध्य से हमारा जीवन निर्मल बनता है। (२) **युजः**=आपके मित्र बने हुए हम आपके सम्पर्क में आनेवाले होकर **वाजाय**=शक्ति के लिए हों-आपकी शक्ति से हम शक्तिसम्पन्न बनें तथा **घृष्वये**=शत्रुओं के घर्षण के लिए हों। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम शत्रुओं को कुचल डालें।

भावार्थ—हम प्रशस्तेन्द्रिय प्रभु मित्रों के मित्र बनें। इस प्रकार शक्तिसम्पन्न होकर शत्रुओं को कुचल डालें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रशस्तेन्द्रिय+शक्तिशाली

त्वं ह्येक ईशिष इन्द्र वाजस्य गोमतः। स नो यन्धि महीमिषम् ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वं हि एकः**=आप ही अकेले **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **वाजस्य**=बल के **ईशिषे**=ईश हैं। आप ही हमें प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले व बल को देनेवाले हैं। (२) **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **महीम्**=अत्यन्त महनीय-हमारे जीवन को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली **इषम्**=प्रेरणा को **यन्धि**=दीजिए। आपकी इस उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त करके ही हम अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बना सकेंगे और सबल हो सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु की उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त करके हम प्रशस्तेन्द्रिय व शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तोता के लिए ज्ञानैश्वर्य का प्रापण

न त्वा वरन्ते अन्यथा यद्दित्ससि स्तुतो मघम्। स्तोतृभ्य इन्द्र गिर्वणः ॥ ८ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **गिर्वणः**=वेदवाणियों के द्वारा संभजनीय प्रभो! **यत्**=जब **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **मघम्**=ज्ञानैश्वर्य को **दित्ससि**=देने की कामना करते हैं, तो **त्वा**=आपको **अन्यथा न वरन्ते**=प्रकारान्तर से कोई भी रोक नहीं पाता। प्रभु को संसार की कोई शक्ति रोक नहीं पाती। (२) प्रभु का स्तवन यही है कि हम ज्ञानवाणियों को ग्रहण करने का प्रयत्न करें। सर्वमहान् ऐश्वर्य यही है। जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं, तो प्रभु हमें इस ज्ञान को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं और प्रभु हमारे लिए ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

गोतम द्वारा प्रभुस्तवन

अभि त्वा गोतमा गिरानूषत प्र दावने। इन्द्र वाजाय घृष्वये॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोतमाः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुष **गिरा**=इन ज्ञान-वाणियों द्वारा **प्रदावने**=ज्ञानैश्वर्य के प्रकृष्ट दान के निमित्त **त्वा अभि**=आपका लक्ष्य करके **अनूषत**=स्तवन करते हैं। आपके स्तवन से ही वस्तुतः इस ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति होती है। (२) ये गोतम आपका स्तवन **वाजाय**=शक्तिप्राप्ति के लिए करते हैं और **घृष्वये**=शत्रुओं के घर्षण के लिए करते हैं। प्रभुस्तवन से यह स्तोता (=गोतम=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष) प्रभु की शक्ति से अपने को शक्तिसम्पन्न करता है और काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष प्रभु का स्तवन करके (क) ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करते हैं, (ख) शक्ति-सम्पन्न बनते हैं (ग) और काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दास-पुर विध्वंस

प्र ते वोचाम वीर्या३ या मन्दसान आरुजः॥ पुरो दासीरभीत्य॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **मन्दसानः**=अत्यन्त आनन्दमय होते हुए आप, अपने भक्तों को आनन्दित करनेवाले आप **याः**=जिन **दासीः**=हमारा उपक्षय करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं के **पुरः**=नगरों को **अभीत्य**=आक्रमण करके **आरुजः**=छिन्न-भिन्न कर देते हैं, तो हम **ते**=आपके **वीर्या**=उन शक्तिशाली कर्मों का **प्रवोचाम**=प्रवचन करते हैं। (२) प्रभु का उपासन हमारे जीवन में असुर-पुरियों का विध्वंस करके पवित्रता का संचार करता है। यह पवित्रता जीवन में आनन्द का कारण बनती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवनों में असुर-पुरियों का विध्वंस करके, पवित्रता द्वारा आनन्द प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पौंस्य कर्म

ता ते गृणन्ति वेधसो यानि चकर्थ पौंस्या। सुतेष्विन्द्र गिर्वणः॥ ११॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले! **गिर्वणः**=ज्ञानवाणियों द्वारा उपासनीय प्रभो! **सुतेषु**=सोम का (वीर्यशक्ति का) सम्पादन करने पर **यानि**=जिन **पौंस्या**=शक्तिशाली कर्मों को **चकर्थ**=आप करते हैं। **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष **ते**=आपके **ता**=उन शक्तिशाली कर्मों को **गृणन्ति**=स्तुतिरूपेण कहते हैं। (२) जब हम शरीर में सोम का सम्पादन करते हैं-वीर्य का उत्पादन व रक्षण

करते हैं, तो प्रभु की व्यवस्था के अनुसार न केवल रोग-कृमियों का ही संहार होता है, अपितु वासनाओं का विनाश होकर मन भी पवित्र हो जाता है। उस समय हम स्वभावतः प्रभु का स्तवन कर उठते हैं कि कितनी ही अद्भुत उस प्रभु द्वारा होनेवाली रचना व व्यवस्था है?

भावार्थ—ज्ञानीपुरुष प्रभु से किये जानेवाले शक्तिशाली कर्मों का स्तवन करते हैं और अपने अन्दर सोम की अद्भुत महिमा को देखते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वीरवद् यशः

अवीवृधन्त गोतमा इन्द्र त्वे स्तोमवाहसः। एषु धा वीरवद्यशः॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोतमाः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **अवीवृधन्त**=आपका अत्यन्त वर्धन करते हैं। ये गोतम **त्वे**=आप में **स्तोमवाहसः**=स्तोमों को धारण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु का स्तवन ही इन गोतमों की सर्वांगीण वृद्धि का कारण बनता है। (२) **एषु**=इन स्तोताओं में हे प्रभो! आप **वीरवत्**=वीरता से युक्त **यशः**=यश को **आधाः**=सर्वथा स्थापित करिए। इनको वीर बनाइये और यशस्वी कर्मोंवाला करिए।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से वीरतायुक्त यश प्राप्त होता है। स्तोता वीर बनता है और यशस्वी कर्मों को करनेवाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का प्रिय बनना

यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्र साधारणस्त्वम्। तं त्वा वयं हवामहे॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत् चित् हि**=यद्यपि **त्वम्**=आप **शश्वताम्**=(शश्वत् बहुनाम नि० ३।१) अनन्त संख्यावाली प्रजाओं के **साधारणः असि**=निष्पक्षपात रूप से वर्तनेवाले हैं, तो भी **तं त्वा**=उन आपको **वयम्**=हम **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) प्रभु किसी के प्रति राग-द्वेषवाले नहीं हैं-सब के प्रति समरूप से वर्तनेवाले हैं। तो भी हम 'ज्ञानप्राप्ति, स्तवन व यज्ञादि कर्मों' के द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले होते हैं। प्रभुभक्तों में भी प्रभु के ज्ञानीभक्त बनकर हम प्रभु के आत्मतुल्य प्रिय बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सबके प्रति समवर्ती हैं। तो भी हम 'ज्ञान, स्तवन व यज्ञादि कर्मों' से प्रभु का प्रिय बनने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'सोमानां सोमपाः' इन्द्रः

अर्वाचीनो वसो भवास्मे सु मत्स्वान्धसः। सोमानामिन्द्र सोमपाः॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप ही **सोमानां सोमपाः**=इन सोमों के सर्वोत्कृष्ट पान करनेवाले हैं। शरीर में सोम का (वीर्य का) रक्षण आपके स्तवन द्वारा ही होता है। आपका स्तवन हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाता है और इस प्रकार सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। (२) इसलिए हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! आप **अस्मे**=हमारे लिए **अर्वाचीनः भव**=अभिमुख होइये-हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइये। और **अन्धसः**=इस सोम द्वारा **सुमत्स्व**=अत्यन्त आनन्दित करिए। सोमरक्षण से शरीर में नीरोगता, मन में निर्मलता व मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति को प्राप्त कराके आनन्द प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षण करनेवाले हैं। सोमरक्षण द्वारा वे हमारे जीवन को आनन्दित करते हैं। इस सोमरक्षण से ही तो हमारा निवास उत्तम होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तवन व इन्द्रियों का प्रत्याहरण

अस्माकं त्वा मतीनामा स्तोम इन्द्र यच्छतु। अर्वागा वर्तया हरी ॥ १५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **मतीनाम्**=मननपूर्वक स्तवन करनेवाले **अस्माकम्**=हमारा **स्तोमः**=स्तुतिसमूह **त्वा आयच्छतु**=आपको हमारे में स्थापित करनेवाला हो, अर्थात् आपकी स्तुति द्वारा हम अपने हृदयों को आपका अधिष्ठान बना सकें। (२) आप **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **अर्वाग् आवर्तय**=अन्तर्मुख वृत्तिवाला करिए। आपके स्तवन से हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी वृत्तिवाली न रहें। विषयव्यावृत्त होकर ये प्रत्याहृत हों अन्दर ही स्थापित हों।

भावार्थ—मनन पूर्वक प्रभु का स्तवन हमारे हृदयों को प्रभु का अधिष्ठान बनाए। हमारी इन्द्रियाँ विषयव्यावृत्त होकर अन्तर्मुख यात्रावाली हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञशेष का सेवन करें, ज्ञान में रुचिवाले हों

पुरोळाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम् ॥ १६ ॥

(१) प्रभु गतमन्त्र में की गई 'अर्वाग् आवर्तया हरी' इस प्रार्थना का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू **नः**=हमारे **पुरोडाशम्**=पुरोडाश को **च**=ही **घसः**=खानेवाला हो। 'पुरोडाश' वह भोजन है, जिसको कि प्रथम (पुरः) यज्ञ के लिए देकर (दाश्) यज्ञशेष के रूप में सेवन किया गया है। एवं पुरोडाश का सेवन करनेवाला व्यक्ति यज्ञशील होता है और सदा यज्ञशेष को खानेवाला होता है। इसकी कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त रहती हैं। (२) **च**=और हे जीव! तू **नः**=हमारी **गिरः**=इन वेदवाणियों का **जोषयासे**=प्रेमपूर्वक सेवन करनेवाला हो। तेरी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति के पवित्र कार्य में लगी रहें। उसी प्रकार ज्ञान के प्रति ये प्रेमवाली हों, **इव**=जैसे कि **वधूयुः**=पत्नी की कामनावाला एक व्यक्ति **योषणाम्**=पत्नी को चाहता है। हम पति हों वेदवाणी को पत्नी के रूप में प्राप्त करें 'परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत'। (३) वस्तुतः यज्ञादि कर्मों में लगी हुई कर्मेन्द्रियाँ ही सशक्त व पवित्र बनी रहती हैं और इसी प्रकार ज्ञानप्राप्ति में लगी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ पवित्र रहती हैं।

भावार्थ—हम सदा यज्ञशील बनकर यज्ञशेष का ही सेवन करें और ज्ञान की वाणियों में प्रीतिवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'शतं सोमस्य खार्यः'

सहस्रं व्यतीनां युक्तानामिन्द्रमीमहे। शतं सोमस्य खार्यः ॥ १७ ॥

(१) हम **व्यतीनाम्**=(वि-अत् गतौ) विशिष्ट गतिवाले **सहस्रं युजानाम्**=शरीर रथ में सदा आनन्दपूर्वक जुते हुए इन्द्रियाश्वों को **इन्द्रम्**=उस इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभु से **ईमहे**=माँगते हैं। प्रभु हमारे लिए उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराएँ, जो कि प्रसन्नतापूर्वक कार्यों में तत्पर रहें। कर्मेन्द्रिय रूप अश्व यज्ञमार्ग का प्रसन्नतापूर्वक आक्रमण करें और ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व ज्ञानप्राप्ति के

मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते चलें। (२) इस प्रकार अपने-अपने कर्म में लगी हुई इन्द्रियाँ विषयों से अनाक्रान्त रहती हैं और शरीर में सोम का रक्षण होता है। हम प्रभु से **सोमस्य**=इस सोम के (वीर्यशक्ति के) **शतं खार्यः**=सैंकड़ों मनों को चाहते हैं। हमें बहुत ही इस सोमशक्ति की प्राप्ति हो।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ सदा अपने-अपने कार्य में लगी रहें और हमारे शरीर में सोमशक्ति सुरक्षित रहे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति

सहस्रा ते शता वयं गवामा च्यावयामसि। अस्मत्रा राध एतु ते ॥ १८ ॥

(१) हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करके, उस सोम से ज्ञानाग्नि की दीप्ति द्वारा **वयम्**=हम **ते**=आपकी **गवाम्**=वेदवाणियों के **शता सहस्रा**=सैंकड़ों व हजारों को **आच्यावयामसि**=अपने अन्दर प्राप्त करते हैं। सुरक्षित सोम से बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होती है। इस तीव्र बुद्धि से हम ज्ञानवाणियों को प्राप्त करते हैं। (२) हे प्रभो! **ते राधः**=आपका यह ज्ञानैश्वर्य **अस्मत्रा एतु**=हमारे जीवन में प्राप्त हो। इस ज्ञानैश्वर्य द्वारा ही हम अपने जीवनों को पवित्र व सफल बना पाएँगे।

भावार्थ—हम शतशः ज्ञानवाणियों को प्राप्त करें। प्रभु का ज्ञानैश्वर्य हमारे जीवन की सफलता का साधन बने।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दश 'हिरण्य कलश'

दश ते कलशानां हिरण्यानामधीमहि। भूरिदा असि वृत्रहन् ॥ १९ ॥

(१) प्रस्तुत ऋग्वेद के दस मण्डल मानो दस कलश हैं, जो कि हितरमणीय ज्ञानजल से परिपूर्ण हैं। हे प्रभो! हम **ते**=आपके इन **दश**=दस **हिरण्यानाम्**=हितरमणीय ज्ञान-जल से परिपूर्ण **कलशानाम्**=कलशों का-घटों का **अधीमहि**=स्मरण करते हैं-इन्हें धारण करने का प्रयत्न करते हैं। इनके धारण से हमारे जीवन में 'प्राण श्रद्धा' आदि सब कलाओं का उत्तम निवास होगा 'कलाः शेरते अस्मिन्'। (२) हे **वृत्रहन्**=सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप निश्चय से **भूरिदाः**=अत्यन्त देनेवाले **असि**=हैं। 'भूरि'=जीवन के पालन व पोषण के लिए आवश्यक सब वस्तुओं के देनेवाले हैं। इस वेदज्ञान से हमारा जीवन सब कलाओं से परिपूर्ण हो जाता है।

भावार्थ—हम दश हिरण्य-कलशों का धारण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भूरिदाः

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर। भूरि घेदिन्द्र दित्ससि ॥ २० ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **भूरिदाः**=अत्यन्त देनेवाले हैं। **नः**=हमारे लिए भी **भूरि देहि**=अत्यन्त दीजिए। **मा दभ्रम्**=कम मत दीजिए। **भूरि आभर**=अत्यन्त दीजिए। (२) हे इन्द्र! आप **इत्**=निश्चय से **भूरि दित्ससि**=खूब ही देना चाहते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप बहुत ही देनेवाले हैं। हमें बहुत ही दीजिए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऐश्वर्य के भागी बनें

भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन्। आ नो भजस्व राधसि ॥ २१ ॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **भूरिदाः**=अत्यन्त देनेवाले **श्रुतः असि**=प्रसिद्ध हैं। हे **वृत्रहन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **पुरुत्रा**=पालन व पूरण करनेवाले के रूप में (पृ पालन-पूरणयोः) तथा रक्षक के रूप में (त्रा) प्रसिद्ध हैं। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमें **राधसि**=कार्यसाधक ऐश्वर्य में **आभजस्व**=भागी बनाइये। हमें आपकी कृपा से वह धन प्राप्त हो, जो कि सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपके ऐश्वर्य में भागी हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञानवाणियों का अहिंसन

प्र ते बभ्रू विचक्षण शंसामि गोषणो नपात्। माभ्यां गा अनु शिश्रथः ॥ २२ ॥

(१) हे **विचक्षण**=प्राज्ञ इन्द्र! **ते**=आपके **बभ्रू**=इन भरण करनेवाले इन्द्रियाश्वों का **प्रशंसामि**=खूब ही शंसन करता हूँ। इन में कर्मेन्द्रियाँ हमारे जीवन में यज्ञादि उत्तम कर्मों का भरण करती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे जीवन में ज्ञान का पोषण करती हैं, एवं ये 'बभ्रू' हैं। (२) हे **गोषणः**=ज्ञानवाणियों के देनेवाले, **नपात्**=न गिरने देनेवाले प्रभो! आप **आभ्याम्**=इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से **गाः**=ज्ञानवाणियों को **मा**=मत **अनुशिश्रथः**=हिंसित करिए। इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हम खूब ही ज्ञानवाणियों को प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी ज्ञान की इन्द्रियाँ ज्ञानवाणियों को हिंसित न करनेवाली हों। कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों का भरण करें। इस प्रकार हम पतन से बचे रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राश्वौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्रियाश्व?

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते ॥ २३ ॥

(१) हे **इन्द्रियाश्व यामेषु**=जीवनयात्रा के मार्गों में गति करते हुए **शोभेते**=अत्यन्त ही शोभावाले होते हैं। ये **कनीनका इव**=(कन दीप्तौ) अत्यन्त ही दीप्तिवाले से हैं-चमकते हुए हैं। **विद्रधे**=अत्यन्त दृढ़ हैं। **नवे**=(नु स्तुतौ) प्रशंसनीय हैं। **द्रुपदे**=गतिमय पाँवोंवाले हैं-अत्यन्त क्रियाशील हैं। **अर्भके**=ये (like, similar) सर्वत्र समान हैं। पशुओं में व मनुष्यों में इन इन्द्रियों का अन्तर नहीं हैं। मन व बुद्धि के कारण ही सारा अन्तर पड़ता है। **बभ्रू**=ये हमारा भरण करनेवाले हैं। कर्मेन्द्रियाँ सब कर्मों को तथा ज्ञानेन्द्रियाँ सब ज्ञानों को सिद्ध करती हुई हमारा भरण करती हैं। (२) इन्द्रियाश्व दीप्त तो हैं ही-अपने-अपने कार्य को करने में अद्भुत इनकी क्षमता है। ये दृढ़ हैं-थोड़े से विरोध से विकृत होनेवाले नहीं। अत्यन्त प्रशंसनीय हैं, सदा गतिशील हैं। सब प्राणियों में समानरूप से हैं। हमारा भरण इन्हीं के द्वारा होता है।

भावार्थ—प्रभु ने इन्द्रियाश्वों की रचना अद्भुत ही की है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राश्वौ ॥ छन्दः—स्वराडार्चीगायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उस्त्रयामा-अनुस्त्रयामा

अरं म उस्त्रयाम्णेऽरमनुस्त्रयाम्णे। बभ्रू यामेष्वस्रिधा ॥ २४ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **बभ्रू**=अत्यन्त हमारा भरण करनेवाले इन्द्रियाश्व **उस्रयाम्णे**=(उस्र=प्रकाश की किरण ray of light) प्रकाश की किरणों की ओर जानेवाले **मे**=मेरे लिए **अरम्**=पर्याप्त हैं, अर्थात् मुझे ज्ञानप्राप्ति के कार्य में ठीक से सहायक होते हैं। (२) इसी प्रकार **यामेषु**=जीवनयात्रा के मार्गों में **अस्रिया**=न हिंसित होनेवाले ये इन्द्रियाश्व **अनुस्रयाम्णे**=ज्ञान किरणों से भिन्न यज्ञादि कर्मों की ओर जानेवाले मेरे लिए **अरम्**=पर्याप्त हैं, अर्थात् ये मेरे सब यज्ञादि कर्मों को सिद्ध करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रभु से बनायी गयी ये ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-रश्मियों को प्राप्त कराती हैं, तो कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों को सिद्ध करती हैं।

सूक्त का सार यही है कि प्रभु की मित्रता में जीवन उत्तम ही उत्तम बनता है। हम मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त बनकर 'ऋभु' होते हैं (उरु भाति), मन में विशालतावाले 'विभ्वा' होते हैं तथा शरीर में शक्ति-सम्पन्न बनकर 'वाज' होते हैं। अगले सूक्त के ये 'ऋभवः' (ऋभु, विभ्वा व बाज) ही देवता हैं—

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

श्वैतरी धेनु

प्र ऋ॒भुभ्यो॑ दू॒तमि॑व॒ वाच॑मिष्य उप॒स्तिरे॒ श्वैत॑रीं धे॒नुमी॑ळे।
ये वात॑जूतास्त॒रणि॑भि॒रेवैः॒ परि॒ द्यां स॒द्यो अ॒पसो॑ ब॒भूवुः॑॥ १ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि मैं **ऋभुभ्यः**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाले 'ऋभु' के लिए, विशाल हृदय 'विभ्वा' के लिए तथा शक्ति-सम्पन्न शरीरवाले 'वाज' के लिए **दूतं इव**=सन्देशवाहक दूत की तरह **वाचम्**=इस ज्ञानवाणी को **इष्ये**=प्रेरित करता हूँ। **उपस्तिरे**=आच्छादन के लिए, अर्थात् सब अशुभों से बचाने के लिए **श्वैतरी धेनुम्**=(श्वेततरां) अत्यन्त शुद्ध ज्ञानदुग्ध को देनेवाली इस वेदवाणी रूप गौ को **ईडे**=प्रस्तुत करता हूँ (to praise)। इस वेदवाणी रूप गौ से वह ज्ञान इन ऋभुओं को प्राप्त होगा, जो कि इन्हें सब अशुभों से बचानेवाला होगा। (२) उन ऋभुओं के लिए मैं इसे प्रस्तुत करता हूँ, **ये**=जो कि **वातजूताः**=वायु से प्रेरणा को प्राप्त हुए-हुए **अपसः**=कर्मशील **तरणिभिः एवैः**=वासनाओं को तरानेवाली गतियों द्वारा **सद्यः**=शीघ्र ही **द्याम्**=ज्ञान-ज्योति को **परिबभूवुः**=व्याप्त करते हैं। जीवन में जो भी आलस्य से आक्रान्त हो जाते हैं, वे कभी भी ज्ञान को नहीं प्राप्त कर पाते 'अलसस्य कुतो विद्या'। क्रियाशीलता ही हमें ज्ञानप्राप्ति का पात्र बनाती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए वेदवाणीरूप गौ को प्रस्तुत करते हैं। इसे हम प्राप्त तभी करते हैं, जब कि हमारे जीवन में आलस्य नहीं होता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सशक्त शरीर, दीप्त मस्तिष्क व प्रशस्त मन

य॒दार॒मक्र॑न्नृ॒भवः॑ पि॒तृभ्यां॒ परि॑विष्टी वे॒षणा॑ दं॒सना॑भिः।
आदिद्दे॒वाना॒मुप॑ स॒ख्यमा॑य॒न्धीरा॑सः पु॒ष्टिम॑वहन्म॒नायै॑ ॥ २ ॥

(१) **यदा**=जब **ऋभवः**='ऋभु, विभ्वा और वाज' (ज्ञानदीप्त, विशाल हृदय सशक्त पुरुष) **पितृभ्याम्**=द्यावापृथिवी के लिए-मस्तिष्क व शरीर के लिए, **परिविष्टी**=परिचर्या के द्वारा-बड़ों की सेवा के द्वारा, **वेषणा**=(विष् to go against, to encounter) वासनाओं पर आक्रमण

के द्वारा तथा **दंसनाभिः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहने के द्वारा **अरं अक्रन्**=पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं, अर्थात् जब बड़ों के आदर आदि के द्वारा शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही सशक्त व दीप्त बनाते हैं, तो **आत् इत्**=शीघ्र ही ये ऋभु **देवानाम्**=देवों के **सख्यम्**=मित्रत्व को **उप आयन्**=समीपता से प्राप्त होते हैं। देव बनने के लिए आवश्यक है कि हम शारीरिक व बौद्धिक उन्नतियों को करके ब्रह्म व क्षत्र का विकास करनेवाले बनें। (२) ये **धीरासः**=धीर पुरुष **मनायै**=प्रशस्त-मनस्कता के लिए **पुष्टिं अवहन्**=पुष्टि को धारण करते हैं। निर्बलता मन की भी अप्रशस्तता का कारण बनती है।

भावार्थ—ऋभु, शरीर व मस्तिष्क को सशक्त व ज्ञानदीप्त बनाकर मन को प्रशस्त बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रवन्तः-मधुप्सरसः

पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना।
ते वाजो विभ्वाँ ऋभुरिन्द्रवन्तो मधुप्सरसो नोऽवन्तु यज्ञम्॥ ३॥

(१) **ये**=जो **पितरा**=द्यापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **पुनः**=फिर **युवाना चक्रुः**=युवा कर देते हैं-सब प्रकार की जीर्णता से रहित कर देते हैं। जो इन द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **सना**=सदा (always) **यूपा इव**=यज्ञ-स्तम्भों के समान बना देते हैं, अर्थात् जिनके मस्तिष्क व शरीर सदा यज्ञों को करनेवाले होते हैं। अतएव **जरणा**=आधि-व्याधियों को जीर्ण करनेवाले तथा **शयाना**=सदा प्रभु में निवास करनेवाला बनाते हैं। शरीर भी प्रभु में, मस्तिष्क भी प्रभु में। (२) **ते**=वे **वाजः**=शरीर को शक्तिशाली बनानेवाले, **विभ्वा**=हृदय को विशाल बनानेवाले **ऋभुः**=मस्तिष्क को अत्यन्त ज्ञानदीप्त करनेवाले **इन्द्रवन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभुवाले बनते हैं-सदा प्रभु का स्मरण करते हैं। **मधुप्सरसः**=सोम का भक्षण करनेवाले-सोम को अपने अन्दर ही सुरक्षित करनेवाले होते हैं। प्रभु कहते हैं कि ये व्यक्ति ही **नः**=हमारे इस **यज्ञम्**=यज्ञ का **अवन्तु**=रक्षण करते हैं-मेरे से उपदिष्ट यज्ञ को सदा करनेवाले होते हैं। प्रभु का आदेश वस्तुतः ये ही पालते हैं। प्रभु ने यही तो आदेश दिया है कि 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वो स्त्विष्टकामधुक्'=इस यज्ञ से ही तुमने फलना-फूलना।

भावार्थ—'ऋभु-विभ्वा व वाज' मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ बनाकर 'प्रभु का स्मरण करते हैं, सोम का शरीर में रक्षण करते हैं और यज्ञशील होते हैं'।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणीरूप गौ का रक्षण

यत्संवत्समृभवो गामरक्षन्यत्संवत्समृभवो मा अपिंशन्।
यत्संवत्समभरन्भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः॥ ४॥

(१) 'संवसन्ति भूतानि अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से 'संवत्स' वर्ष का नाम है। **यत्**=क्योंकि **ऋभवः**='ऋभु, विभ्वा और वाज', ये दीप्त मस्तिष्क, विशाल हृदय, सशक्त पुरुष **संवत्सम्**=सम्पूर्ण वर्ष **गाम्**=इस वेदवाणीरूप धेनु का **अरक्षत्**=रक्षण करते हैं-सदा इसका स्वाध्याय करते हैं और **यत्**=क्योंकि ये **ऋभवः**=ऋभु लोग **संवत्सम्**=सम्पूर्ण वर्ष, अर्थात् सदा **माः**=ज्ञानलक्ष्मियों को **अपिंशन्**=अपने जीवन में अलंकृत करते हैं। वेदवाणीरूप गौरक्षण से ज्ञान प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। और **यत्**=क्योंकि **संवत्सम्**=वर्षभर, अर्थात् अविच्छिन्न रूप से प्रतिदिन ही **अस्याः**=इस

वेदवाणीरूप गौ की **भासः**=ज्ञानदीप्तियों को **अभरन्**=अपने अन्दर भृत करते हैं। **ताभिः**=उन **शमीभिः**=शान्त भाव से किये जानेवाले कर्मों द्वारा ये ऋभु **अमृतत्वं आशुः**=अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। (२) यदि मनुष्य सारा वर्ष वेदवाणीरूप गौ का रक्षण करे-इसके स्वाध्याय द्वारा अपने जीवन को ज्ञानलक्ष्मी-सम्पन्न बनाए-इसकी ज्ञान-ज्योतियों का भरण ही जीवन का लक्ष्य बन जाए तो मनुष्य कभी वासनाओं का शिकार न होगा। यह वासनाओं का शिकार न होना ही अमर बनना है। विषयों के पीछे न मर कर यह जीवन को पवित्र बनाता है और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी रूप गौ का रक्षण करें, अर्थात् सदा स्वाध्याय करें। इस प्रकार ज्ञानलक्ष्मियों से जीवन को अलंकृत करें। ज्ञान-ज्योति को अपने में भरकर अमर बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रमिक विकास 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप, दान'

ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान्त्रीन्कृणवामेत्याह।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद्वचो वः॥ ५॥

(१) **ज्येष्ठः**=सब से बड़ा, अर्थात् सब से पहले आनेवाला व्यक्ति **आह**=कहता है कि **चमसा**=इस शरीररूप पात्र द्वारा **द्वा कर इति**='तप व दान' रूप दो धर्मों का पालन करते हैं। इसके बाद आनेवाला **कनीयान्**=पहले से छोटा पर (कन दीप्तौ) अधिक दीप्त होनेवाला **आह**=कहता है कि **त्रीन् कृणवाम इति**='यज्ञ, तप व दान' इन तीन धर्मों का आचरण करते हैं। (२) **कनिष्ठः**=सब से छोटा-सब के बाद में आनेवाला-सर्वाधिक दीप्त व्यक्ति **आह**=कहता है कि **चतुरः कर इति**='स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' इन चार को करते हैं। यही तो वस्तुतः चतुष्पाद् धर्म है। हे **ऋभवः**=ऋभुओ! **वः**=तुम्हारे **तद् वचः**=उस वचन को **त्वष्टा**=(त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः नि०) ज्ञानस्वरूप प्रभु **पनयत्**=प्रशंसित करते हैं। प्रभु के लिए यह ऋभुओं की वाणी प्रिय होती है। 'तप और दान' को अपनाने का निश्चय स्तुत्य है। 'तप व दान के साथ यज्ञ' को सम्मिलित करने का निश्चय स्तुत्यतर है तथा इनके साथ स्वाध्याय को जोड़कर चतुष्पाद् धर्म के पालन का निश्चय स्तुत्यतम हो जाता है।

भावार्थ—हम 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चतुष्पाद् धर्म के पालन का निश्चय करें। हमारा यह निश्चय हमें प्रभु के लिए प्रिय बनाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्यवचन, सत्य कर्म

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्।
विभ्राजमानांश्चमसाँ अहेवावेनत्त्वष्टा चतुरो ददृश्वान्॥ ६॥

(१) **नरः**=(नृ नये) आगे और आगे बढ़नेवाले ये ऋभु **सत्यं ऊचुः**=सदा सत्य ही बोलते हैं और **हि**=निश्चय से **एवा चक्रुः**=इस प्रकार सत्य के अनुसार ही करते हैं। **अनु**=सत्यवचन व सत्यकर्म के अनुसार **ऋभवः**=ये ऋभु **एतां स्वधाम्**=इस आत्मधारणशक्ति को **जग्मुः**=प्राप्त होते हैं। (२) **चमसान् ददृश्वान्**=हमारे इन शरीररूप पात्रों का ध्यान करनेवाला **त्वष्टा**=वह सर्वनिर्माता प्रभु (त्वक्षतेर्वा नि०) **अह एव**=निश्चय से **चतुरः**=चारों को ही-'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' इन चारों धर्म के चरणों को **विभ्राजमानान्**=अत्यन्त चमकता हुआ **अवेनत्**=चाहता है।

प्रभु की कामना यही है कि हम इन प्रभु से रक्षित किये जाते हुए चमसों (शरीरों) के द्वारा चतुष्पाद् धर्म का पालन करें।

भावार्थ—हम (क) सत्य बोलें, (ख) सत्य ही करें, (ग) आत्मधारण शक्तिवाले हों और (घ) 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चतुष्पाद् धर्म का पालन करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु का आतिथ्य

द्वादश द्यून्यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः।
सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिधून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ॥ ७ ॥

(१) सूर्य एक-एक राशि में से गुजरता हुआ एक-एक मास का निर्माण करता है। इस सूर्य की गति से १२ मासों का निर्माण होता है। यहाँ उन्हें 'द्यु' (द्यु गतौ) शब्द से स्मरण किया गया है। **यद्**=जब **ऋभवः**='ऋभु, विभ्वा और वाज' ज्ञानदीप्त, विशाल हृदय, शक्तिशाली पुरुष **द्वादश द्यून्**=बारहों मास **अगोह्यस्य**=जिनका सर्वव्यापकता के कारण संवरण नहीं किया जा सकता, उन प्रभु के **अतिथ्ये**=अतिथ्य में-पूजन में **ससन्तः**=निवास करते हुए **रणन्**=आनन्द का अनुभव करते हैं, तो **सुक्षेत्रा अकृण्वन्**=अपने क्षेत्रों को बड़ा उत्तम बनाते हैं। शरीर ही क्षेत्र है 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'। प्रभु का पुजारी कामवासना से आक्रान्त नहीं होता, परिणामतः शरीररूप क्षेत्र बड़ा उत्तम बना रहता है। शरीर की शक्तियों को यह वासना ही जीर्ण करती है-न वासना होती है, न शक्तियों का ह्रास। (२) केवल शरीर ही स्वस्थ बना रहे, ऐसी बात नहीं। ये प्रभु का आतिथ्य करनेवाले ऋभु **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **अनयन्त**=अपने अन्दर प्राप्त कराते हैं। इनके ज्ञान प्रवाह ठीक प्रकार से चलते हैं। प्रभु के आतिथ्य के परिणामस्वरूप जीवन में ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि मानो **धन्व**=मरुस्थल में भी **ओषधीः**=ओषधियाँ तथा **निम्नं आपः**=(निम्न=Deep) गहरे जल **अतिष्ठन्**=स्थित हो जाते हैं। कहाँ मरुस्थल और कहाँ लहलहाते खेत। प्रभु का आतिथ्य जीवन को कुछ का कुछ बना देता है।

भावार्थ—प्रभु का पुजारी उत्तम शरीर व उत्तम ज्ञानप्रवाहोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'स्ववसः, स्वपसः, सुहस्ताः'

रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्।
त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः ॥ ८ ॥

(१) ऋभु वे हैं, **ये**=जो **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **सुवृतम्**=उत्तम वर्तनवाला, अर्थात् उत्तमता से चलनेवाला तथा **नरेष्ठाम्**=उस संसार का प्रणयन करनेवाले प्रभु में स्थित **चक्रुः**=करते हैं, अर्थात् इस शरीर-रथ को सदा उत्तम मार्ग में ले चलते हैं और प्रभु को वे कभी भूलते नहीं। (२) ऋभु वे हैं, **ये**=जो **धेनुम्**=इस वेदवाणीरूप गौ को करते हैं, अर्थात् अपनाते हैं, जो वेदवाणी रूप गौ **विश्वजुवम्**=सब यज्ञादि उत्तम कर्मों की प्रेरणा देती है और **विश्वरूपाम्**=सब सत्य विद्याओं का निरूपण करती है। कर्मेन्द्रियों के दृष्टिकोण से यह वेदवाणी 'विश्वजू' है, ज्ञानेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'विश्वरूपा'। (३) प्रभु कहते हैं कि **ते ऋभवः**=वे ऋभु **नः**=हमारे **रयिम्**=इस ज्ञानैश्वर्य को **आतक्षन्तु**=सर्वतः सम्पादित करनेवाले हों। ये **स्ववसः**=उत्तम सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें (अवस्=food) सात्त्विक अन्न से सात्त्विक स्वभाववाले होकर ये सदा **स्वपसः**=उत्तम

कर्मों को करनेवाले हों और **सुहस्ताः**=शोभन हाथोंवाले हों, अर्थात् सब कार्यों को सुन्दरता से करनेवाले बनें।

भावार्थ—अपने शरीर-रथ को उत्तम बनाकर हम 'वाज' बनें। ज्ञान की वाणी को अपनाकर हम 'ऋभु' बनें। सात्त्विक अन्न के सेवन से सात्त्विक मनवाले बनकर हम 'विभ्वा' हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'वाज' देवों का, 'ऋभुक्षा' इन्द्र का, 'विभ्वा' वरुण का

अपो ह्येषामजुषन्त देवा अभि क्रत्वा मनसा दीध्यानाः।
वाजो देवानामभवत्सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा ॥ ९ ॥

(१) **हि**=निश्चय से **एषाम्**=इन ऋभुओं के **देवाः**=इन्द्रियरूपेण शरीरस्थ देव **अपः**=अपने-अपने कर्मों का **अजुषन्त**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। ऋभु लोग ज्ञानेन्द्रियों द्वारा 'सब विषयों का निरूपण करनेवाली' वेदवाणी का सेवन करते हैं और कर्मेन्द्रियों द्वारा इस वेदवाणी से प्रेरणा दिये गये यज्ञों को करनेवाले बनते हैं। (२) इस प्रकार ये ऋभु **क्रत्वा**=यज्ञादि कर्मों से तथा **मनसा**=मनन व ज्ञान से **अभिदीध्यानाः**=कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों में उभयत्र दीप्त बनते हैं। (३) **सुकर्मा**=उत्तम कर्मों का करनेवाला **वाजः**=यह शक्ति-सम्पन्न पुरुष **देवानां अभवत्**=देवों का होता है-सब देवों का यह सम्बन्धी बनता है-इसमें सब दिव्य गुणों का विकास होता है। **ऋभुक्षाः**=उत्कृष्ट ज्योति में निवास करनेवाला ऋभु **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का होता है। ज्ञानी तो प्रभु को आत्मतुल्य ही प्रतीत होता है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। और उदार विशाल हृदयवाला 'विभ्वा' **वरुणस्य**=वरुण का होता है। वरुण 'पाशी' हैं। यह वरुण का बनकर अपने को व्रतों के पाशों में बाँधनेवाला होता है।

भावार्थ—ऋभु सदा इन्द्रियों से यथोचित कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। ये कर्मों व ज्ञानों से दीप्त होते हैं। शक्तिशाली बनकर दिव्यगुणों को अपनाते हैं। ज्ञानी बनकर प्रभु के प्रिय होते हैं। विशाल व पवित्र हृदयवाले बने रहने के लिए सदा अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुयुज अश्व

ये हरी मेधयोक्था मदन्त इन्द्राय चक्रुः सुयुजा ये अश्वा।
ते रायस्पोषं द्रविणान्यस्मे धत्त ऋभवः क्षेमयन्तो न मित्रम् ॥ १० ॥

(१) ऋभु वे हैं, **ये**=जो **हरी**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **मेधया**=बुद्धि से तथा **उक्था**=स्तोत्रों से **मदन्तः**=(हर्षयन्तः) हर्षित होता हुआ **चक्रुः**=करते हैं। जिनकी इन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति व स्तुतिरूप कर्म में ही आनन्द का अनुभव होता है। (२) ऋभु वे हैं, **ये**=जो कि **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अश्वा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **सुयुजा चक्रुः**=उत्तम रूप से शरीर-रथ में जुता हुआ करते हैं। उत्तम रूप से जुतने का भाव यही है कि अपने-अपने कार्य को उत्तमता से करना। ज्ञानेन्द्रियाँ 'ज्ञान प्राप्ति में लगी रहें, कर्मेन्द्रियाँ स्तुतिरूप कर्मों में प्रवृत्त रहें' यही इनका शरीर-रथ में सुयोग है। (३) प्रभु कहते हैं कि **ते ऋभवः**=वे ऋभु **अस्मे**=हमारे **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को तथा **द्रविणानि**=जीवनयात्रा के संचालक (द्रु गतौ) वसुओं को **धत्त**=धारण करें। उसी प्रकार धारण करें, **न**=जैसे कि **क्षेमयन्तः**=कल्याण की कामनावाले **मित्रम्**=मित्र को प्राप्त होते हैं। मित्र को प्राप्त करके 'प्रमीतेः त्रायति योजयते हिताय'

पापों से बचते हैं और हितकर कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हमें बुद्धि व स्तोत्र प्रिय हों। हमारे इन्द्रियाश्वों का शरीर-रथ में उत्तम योग हो। हम धन व द्रविणों को धारण करके सचमुच 'ऋभु' बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'

इदाह्नः पीतिमुत वो मदं धुर्न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।
ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन्त्सवने दधात॥ ११॥

(१) **इदा**=अब सब देव तुम्हारे लिए **अह्नः**=(अ हन्) न नष्ट करने योग्य इस सोम के **पीतिम्**=पान को, **उत**=और **मदम्**=सोमपान-जनित हर्ष को **वः**=तुम्हारे लिए **धुः**=धारण करें। **देवाः**=देव **ऋते श्रान्तस्य**=श्रम करनेवाले के अतिरिक्त किसी से **सख्याय न**=मित्रता के लिए नहीं होते-सब देव श्रमशील के ही मित्र होते हैं। इसलिए 'ऋभु' श्रमशील बनकर देवों की मैत्री को प्राप्त करते हैं। आसुर भावों से अनाक्रान्त होने के कारण ही वे सोमरक्षण द्वारा जीवन को उल्लासमय बना पाते हैं। (२) प्रभु इन ऋभुओं से कहते हैं कि **ते ऋभवः**=ऋभुओ! तुम **नूनम्**=निश्चय से **अस्मे**=हमारे **वसूनि**=वसुओं को-निवास को उत्तम बनानेवाले तत्त्वों को **अस्मिन् तृतीये सवने**=जीवन के इस तीसरे सवन में-अड़सठ से एक सौ सोलह वर्ष तक के इस सायन्तन सवन में भी **दधात**=धारण करो। वस्तुतः जीवन का वास्तविक उत्थान व आनन्द सोमरक्षण पर ही निर्भर करता है। सोमरक्षण के लिए वासनाओं से अनाक्रान्ति आवश्यक है। इसके लिये सदा कर्म में लगे रहना आवश्यक है।

भावार्थ—ऋभु सदा कर्म में लगे रहकर दिव्यगुणों का वर्धन करते हैं। सोमरक्षण द्वारा जीवन के सायंकाल में भी शक्ति-सम्पन्न बने रहते हैं।

इन्हीं ऋभुओं का ही वर्णन अगले सूक्त में भी है—

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'ऋभु विभ्वा वाज इन्द्र'

ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो नो अच्छेमं यज्ञं रत्नधेयोप यात।
इदा हि वो धिषणा देव्यह्नामधात्पीतिं सं मदा अग्मता वः॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **ऋभुः**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाला, **विभ्वा**=विशाल हृदयवाला, **वाजः**=शक्ति-सम्पन्न शरीरवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **नः**=हमारे से प्राप्त कराये गये **इमं यज्ञं अच्छ**=इस जीवन-यज्ञ की ओर **रत्नधेया**=रमणीय तत्त्वों को धारण करने के लिए **उपयात**=प्राप्त हों। वस्तुतः जीवन को यज्ञमय-उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि हम 'ऋभु, विभ्वा, वाज व इन्द्र' बनें। (२) ऐसा होने पर **इदा**=अब **हि**=निश्चय से **वः**=तुम्हारी **देवी**=दिव्य गुणों का वर्धन करनेवाली **धिषणा**=धारणात्मिका बुद्धि **अह्नाम्**=न नष्ट करने योग्य इन सोमकणों की **पीतिम्**=शरीर के अन्दर व्याप्ति को **अधात्**=धारण करे। **वः**=तुम्हें **मदाः**=वास्तविक आनन्द **सं अग्मत**=सम्यक् प्राप्त हों। सोमरक्षण द्वारा आनन्द की प्राप्ति तो होती ही है।

भावार्थ—जीवन को उत्तम बनानेवाले ४ तत्त्व हैं—(क) दीप्त मस्तिष्क, (ख) विशाल हृदय, (ग) शक्ति (घ) जितेन्द्रियता। इन तत्त्वों की प्राप्ति के लिए यत्न करें, तब ही जीवन

उल्लासमय बनेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋभुओं का लक्षण

विदानासो जन्मनो वाजरत्ना उत ऋतुभिर्ऋभवो मादयध्वम्।
सं वो मदा अग्मत सं पुरन्धिः सुवीरामस्मे रयिमेरयध्वम् ॥ २ ॥

(१) हे ऋभुओ! **विदानासः**=तुम ज्ञान को प्राप्त करने के स्वभाववाले होते हो। **जन्मनः**=(जनी प्रादुर्भावे) शक्तियों के विकास द्वारा **वाजरत्नाः**=बल व त्याग (वाज=strength, sacrifice) से रमणीय जीवनवाले हो। **उत**=और तुम **ऋतुभिः**=ऋतुओं के अनुसार नियमित गतियों से **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। (२) **वः**=तुम्हें **मदाः**=आनन्द व उल्लास **सं अग्मत**=संगत हों-प्राप्त हों। **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धि **सं (अग्मत)**=प्राप्त हो। प्रभु कहते हैं कि **अस्मे**=हमारी **सुवीरां रयिम्**=उत्कृष्ट वीरता से युक्त सम्पत्ति को **एरयध्वम्**=अपने अन्दर प्रेरित करो।

भावार्थ—ऋभु (क) ज्ञान की रुचिवाले होते हैं, (ख) बल व त्याग से जीवन को रमणीय बनाते हैं, (ग) नियमित गतिवाले होते हैं, (घ) सदा 'प्रसन्नता, पालक बुद्धि व वीरतायुक्त धन' को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

जीवन-यज्ञ की साधना

अयं वो यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्वत्प्रदिवो दधिध्वे।
प्र वोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः ॥ ३ ॥

(१) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **अयम्**=यह जीवन **वः**=आपके द्वारा **यज्ञः अकारि**=यज्ञ बना दिया जाता है। जीवन को आप यज्ञ का रूप दे देते हो। **यम्**=जिस जीवन-यज्ञ को **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले आप **मनुष्वत्**=एक समझदार व्यक्ति की तरह **आदधिध्वे**=धारण करते हैं। इस जीवनयज्ञ को आप बड़ी कुशलता से पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। आप कर्मों में कुशलता को ही योग समझते हैं। (२) इसीलिए आप सोमरक्षण का भी पूरा ध्यान करते हैं। ये सोमकण **वः अच्छा**=आपकी ओर **प्र अस्थुः**=प्रस्थित होते हैं-आप के शरीर में ही व्याप्त होते हैं। ये सोमकण **जुजुषाणासः**=प्रीतिपूर्वक आपका सेवन करनेवाले होते हैं। इसीलिए आप **विश्वे**=सब **अग्रिया**=अग्रगति-उन्नति के सिद्ध करनेवाले **उत**=और **वाजाः**=शक्ति-सम्पन्न **अभूत**=होते हो। सोमरक्षण से ही सब उन्नति व शक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—ऋभु जीवन-यज्ञ को बड़ी समझदारी से पूर्ण करते हैं। सोमरक्षण द्वारा उन्नति व शक्ति का साधन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तृतीय सवन में भी उल्लासमयता

अभूदु वो विधते रत्नधेयमिदा नरो दाशुषे मर्त्याय।
पिबत वाजा ऋभवो ददे वो महि तृतीयं सवनं मदाय ॥ ४ ॥

(१) हे **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यो! **इदा**=अब **वः**=तुम्हारे में से **विधते**=प्रभु का

पूजन करनेवाले, **दाशुषे मर्त्याय**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए **रत्नधेयम्**=रत्नों का आधान **अभूत् उ**=निश्चय से होता है। जो भी व्यक्ति प्रभु के साथ अपने को जोड़ता है, वह सब रमणीय पदार्थों को प्राप्त करता है। (२) हे **वाजाः**=अपने को शक्ति-सम्पन्न बनानेवाले पुरुषो! **पिबत**=इस सोम का पान करो। **ऋभवः**=हे ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=तुम्हारे लिए मैं इस सोम को **ददे**=देता हूँ। इस सोम के पान से यह **महि**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **तृतीयं सवनम्**=जीवन यज्ञ का तृतीय सवन-अड़सठ से एक सौ सोलह वर्ष तक का समय, **मदाय**=अत्यन्त आनन्द के लिए हो। बाल्यकाल (प्रातः सवन) कुछ नासमझी का होता है। यौवन (माध्यन्दिन सवन) गृहस्थ के बोझ से दबा हुआ होता है। यह तृतीय सवन ही वास्तविक आत्मोत्थान का कारण बनता है। इसमें हम जीर्ण-शीर्ण न हो जाएँ। इसके लिए आवश्यक है कि हम सोमपान करनेवाले बनें। यह सोमपान ही हमारी शक्ति को स्थिर रखेगा।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले को रत्नों की प्राप्ति होती है। सोमपान करके हम जीवन-यज्ञ के तृतीय सवन में भी शक्तिशाली व सोत्साह बने रहें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वाज व ऋभुक्षा को प्रभु की प्राप्ति

आ वाजा यातोप न ऋभुक्षा महो नरो द्रविणसो गृणानाः।
आ वः पीतयोऽभिपित्वे अह्नामिमा अस्तं नवस्वइव ग्मन्॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **वाजाः**=शक्तिशाली मनुष्यो! **ऋभुक्षाः**=सद्गुणों से महान् बननेवाले **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यो! (ऋभुक्षाः महन्नाम नि० ३३, सद्गुणैर्महान्तः द०) **नः उप आयात**=तुम हमारे समीप आओ, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) अपने अन्दर शक्ति का सम्पादन करें, (ख) सद्गुणों से महान् बनें, (ग) सदा उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले हों। (२) प्रभु कहते हैं कि तुम **महः द्रविणसः**=इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सोमरूप धन का **गृणानाः**=स्तवन करनेवाले बनो। इसके महत्त्व को समझकर ही तो हम इसका पान करनेवाले होंगे। **वः**=तुम्हें **अभिपित्वे**=जीवन के इस सायन्तन-सवन में **अह्नाम्**=इन न नष्ट करने योग्य सोमकणों की **पीतयः**=शरीर में व्याप्तियाँ **आवग्मन्**=सर्वथा इस प्रकार प्राप्त हों, **इव**=जैसे कि **नवस्वः**=नव प्रसूत धेनुएँ **अस्तम्**=गृह को प्राप्त होती हैं। बछड़े का स्मरण करती हुई वे शीघ्रता से घर की ओर आती हैं, इसी प्रकार ये सोमकण शरीररूप गृह की ओर आनेवाले हों। प्रभु कहते हैं कि ये ही तुम्हें 'वाज व ऋभुक्षा' बनाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शवसः नपातः

आ नपातः शवसो यातनोपेमं यज्ञं नमसा हूयमानाः।
सजोषसः सूरयो यस्य च स्थ मध्वः पात रत्नधा इन्द्रवन्तः॥ ६॥

(१) हे **शवसः नपातः**=शक्ति को न गिरने देनेवाले लोगो! शक्ति का रक्षण करनेवाले पुरुषो! **इमं यज्ञं उप आयातन**=इस उपासनीय, संगतिकरण योग्य व समर्पणीय प्रभु के समीप प्राप्त होओ। तुम जो कि **नमसा हूयमानाः**=नम्रता से पुकार रहे हो-नम्रता से प्रभु प्रार्थना में प्रवृत्त हो, **सजोषसः**=परस्पर मिलकर प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करनेवाले हो। **सूरयः**=जो तुम ज्ञानी हो। (२) तुम उस प्रभु के समीप प्राप्त होओ **यस्य**=जिस **स्थ**=निश्चय से जिसके तुम हो।

वस्तुतः तुम प्रभु के ही मित्र हो। **मध्वः पातः**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम का तुम पान करो। परिणामतः **रत्नधाः**=रत्नों का धारण करनेवाले बनो। **इन्द्रवन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभुवाले बनो। प्रभु के तुम होओ।

भावार्थ—सोम का रक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सोमपान के चार साधन

सजोषा इन्द्र वरुणेन सोमं सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः।
अग्रेपाभिर्ऋतुपाभिः सजोषा ग्नास्पत्नीभी रत्नधाभिः सजोषाः॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वरुणेन**=वरुण के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होकर **सोमं पाहि**=सोम का पान कर। वरुण 'पाशी' है-व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला। जिस समय हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं, तभी सोम का रक्षण कर पाते हैं। (२) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से प्रभु का स्तवन करनेवाले! तू **मरुद्भिः सजोषाः**=प्राणों के साथ प्रीतिवाला होता हुआ (सोमं) **पाहि**=सोम का पान कर। प्राणसाधना से शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। (३) **अग्रेपाभिः**=अग्रगति का रक्षण करनेवाली, **ऋतुपाभिः**=नियमितता का रक्षण करनेवाली वृत्तियों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होता हुआ तू सोम का पान कर। जिस समय हमारे जीवन में आगे बढ़ने की भावना होती है तथा हम दिनचर्या में बड़े नियमित होते हैं, तो सोम का रक्षण कर पाते हैं। (४) **रत्नधाभिः**=रमणीय तत्त्वों का हमारे में धारण करनेवाली **ग्नास्पत्नीभिः**=ज्ञानवाणियों का रक्षण करनेवाली इन वेदवाणियों से **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होता हुआ तू सोम का पान कर।

भावार्थ—सोम के शरीर में सुरक्षित करने के चार साधन हैं, (क) व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना, (ख) प्राणसाधना (प्राणायाम), (ग) अग्रगति की भावना व नियमित गति, (घ) ज्ञानवाणियों को अपनाना।

चार का संग (आदित्यों के सम्पर्क से स्वाध्यायशील तथा पर्वतों के सम्पर्क से उपासना-प्रवृत्त बनें)।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सजोषस आदित्यैर्मादयध्वं सजोषस ऋभवः पर्वतेभिः।
सजोषसो दैव्येना सवित्रा सजोषसः सिन्धुभी रत्नधेभिः॥ ८॥

(१) **आदित्यैः**=जिन्हें प्रकृति जीव व परमात्मा तीनों का ज्ञान है, उन आदित्य विद्वानों के साथ **सजोषसः**=संगत हुए-हुए तुम **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। (२) इसी प्रकार **ऋभवः**=हे ज्ञान से दीप्त पुरुषो! तुम **पर्वतेभिः**=(पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवाले-न्यूनताओं से रहित पुरुषों से **सजोषसः**=संगत हुए-हुए आनन्दित होओ। (३) **सवित्रा दैव्येन**=(देव एव दैव्यम्, स्वार्थे ष्यञ्) उस सर्वप्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से **सजोषसः**=संगत हुए-उसकी उपासना में बैठे हुए तुम आनन्दित होओ। (४) **रत्नधेभिः**=सब रमणीय ज्ञानों का आधान करनेवाले **सिन्धुभिः**=ज्ञान के समुद्रभूत इन चार वेदों से **सजोषसः**=संगत हुए-हुए, अर्थात् इनका स्वाध्याय करते हुए तुम आनन्दित होओ।

भावार्थ—हमें प्रकृति, जीव, परमात्मा का ज्ञान देनेवाले विद्वानों का और सब न्यूनताओं

को दूर करनेवाले प्रभुभक्तों का संग प्राप्त हो। प्रभुभक्तों के संग से हम भी प्रभु की उपासना में बैठनेवाले बनें और आदित्यों का सम्पर्क हमें भी स्वाध्याय की रुचिवाला बनाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

विभू नर क्या करते हैं?

ये अश्विना ये पितरा य ऊती धेनुं ततक्षुर्ऋभवो ये अश्वा।
ये अंसत्रा य ऋधग्रोदसी ये विभ्वो नरः स्वपत्यानि चक्रुः॥ ९॥

(१) **ये**=जो **विभ्वः नरः**=व्यापक उदार हृदयवाले उन्नतिपथ पर चलनेवाले व्यक्ति होते हैं, वे **ऊती**=अपने रक्षण के उद्देश्य से-रोगों व वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाने के हेतु से **अश्विना**=प्राणापान को **ततक्षुः**=बनाते हैं। ये विभू नर प्राणायाम के द्वारा प्राणापान की शक्ति को विकसित करके नीरोग व निर्मल हृदय बनते हैं। (२) **ये**=जो विभू नर हैं, वे **पितरा**=माता-पिता को रक्षण के उद्देश्य से उपासित करते हैं। 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव'=माता-पिता को देववत् पूजते हुए पवित्र जीवनवाले बने रहते हैं। (३) **ये**=जो **ऋभवः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाले पुरुष हैं, वे **धेनुं ततक्षुः**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली इस वेदवाणी रूप गौ को निर्मित करते हैं। इससे वे सदा ज्ञानदुग्ध का दोहन करते हैं। (४) **ये**=जो ऋभु हैं, वे **अश्वा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों का निर्माण करते हैं। इन इन्द्रियाश्वों से ही तो शरीर-रथ में आगे और आगे बढ़ते हुए वे लक्ष्य पर पहुँचा करते हैं। (५) ऋभु व विभू वे हैं, **ये**=जो कि **अंसत्रा**=कवचों का निर्माण करते हैं। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'=इन ज्ञान-वाणियों को ही वे अपना आन्तर कवच बनाते हैं। (६) विभू वे हैं, **ये**=जो **रोदसी**=द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **ऋधक्**=एक-एक करके (One by One) बनाते हैं। शरीर को सबल बनाते हैं, तो मस्तिष्क को वे ज्ञानदीप्त बनाते हैं। इस प्रकार ये विभू नर **स्वपत्यानि**=(स्व-पत्य) आत्मप्राप्ति के साधनभूत कर्मों को करते हैं (पत् गतौ) अथवा (सु अपत्) अच्छी प्रकार अपतन के साधनभूत कर्मों को करते हैं। ये कर्म ही उन्हें 'ऋभु, विभ्वा व वाज' बनाते हैं।

भावार्थ—जीवन-निर्माण के लिए आवश्यक है कि (क) प्राणसाधना करें, (ख) माता-पिता को देव मानें, (ग) वेदवाणीरूप गौ का दोहन करें, (घ) कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को प्रशस्त बनाएँ, (ङ) ब्रह्मज्ञानरूप कवच का धारण करें, (च) मस्तिष्क व शरीर दोनों के निर्माण का ध्यान करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ते अग्रेपाः ऋभवः मंदसानाः

ये गोमन्तं वाजवन्तं सुवीरं रयिं धत्थ वसुमन्तं पुरुक्षुम्।
ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त ये च रातिं गृणन्ति॥ १०॥

(१) **ते**=वे **अग्रेपाः**=सर्वप्रथम सोमपान करनेवाले **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त **मंदसानाः**=स्तोता होते हैं, **ये**=जो **रयिम्**=धन को **धत्थ**=धारण करते हैं। जो धन **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है, **वाजवन्तम्**=प्रशस्त शक्तिवाला है, **सुवीरम्**=उत्तम वीरता व उत्तम सन्तानोंवाला है, **वसुमन्तम्**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वोंवाला है तथा **पुरुक्षुम्**=(क्षु=Food) पालक व पूरक भोजनवाला है। वस्तुतः यह धन ही इन्हें (क) सोमपान द्वारा सशक्त शरीरवाला बनाता है, (ख) ज्ञान की दीप्ति प्राप्त कराता है और (ग) स्तुति की वृत्तिवाला बनाता है। (२) **अस्मे**=हमारे लिए

ऐसे ही धन को **धत्त**=धारण करो। उनके लिए धन को धारण करो **ये च**=और जो **रातिं गृणन्ति**=दान की स्तुति करते हैं–दान की वृत्तिवाले होते हैं।

भावार्थ—हम सोमपान करनेवाले ज्ञानदीप्त स्तोता बनें। प्रशस्त धनों को प्राप्त करें और उन्हें देनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ऋभुओं का संग

नापाभूत न वोऽतीतृषामानिः शस्ता ऋभवो यज्ञे अस्मिन्।
समिन्द्रेण मदथ सं मरुद्भिः सं राजभी रत्नधेयाय देवाः ॥ ११ ॥

(१) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **न अप अभूत**=हमारे से दूर न होओ। **नः वः अतीतृषाम**=हम आपके प्यासे ही न रह जाएँ–'आपके सम्पर्क को न प्राप्त कर सकें' ऐसा न हो। **अनिः शस्ताः**=हम इस जीवन में अनिन्दित बनें। (२) हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! तुम **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **संमदथ**=सम्यक् आनन्दित होओ। तुम्हें प्रभु की उपासना ही में आनन्द आये। **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ तुम **सम्**=आनन्द का अनुभव करो, प्राणसाधना में–प्राणायाम में तुम्हें आनन्द आये। **राजभिः**=ज्ञानदीप्त व व्यवस्थित (regulated) जीवनवाले पुरुषों के साथ तुम्हें **सम्**=आनन्द प्राप्त हो–ऐसों का संग ही तुम्हारे लिए रुचिकर हो। इस प्रकार तुम **रत्नधेयाय**=सब रमणीय वस्तुओं को धारण करनेवाले होओ।

भावार्थ—हमें ऋभुओं का संग प्राप्त हो। देववृत्ति के पुरुष प्रभु की उपासना में, प्राणसाधना में व व्यवस्थित जीवन में आनन्द का अनुभव करें।

अगला सूक्त भी इन ऋभुओं का ही वर्णन करता है—

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुप्राप्ति के तीन साधन

इहोप यात शवसो नपातः सौधन्वना ऋभवो माप भूत।
अस्मिन्हि वः सवने रत्नधेयं गमन्त्विन्द्रमनु वो मदासः ॥ १ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **इह उपयात**=यहाँ हमारे समीप तुम प्राप्त होओ। प्रभुप्राप्ति के लिए ज्ञानदीप्ति तो आवश्यक है ही। तुम जो कि **शवसः नपातः**=अपनी शक्ति को न गिरने देनेवाले हो। शक्तिशाली ही प्रभु को पाते हैं 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। **सौधन्वनाः**=उत्तम धनुषवाले तुम **मा**=मत **अपभूत**=हमारे से दूर होओ। 'प्रणवोधनुः'=प्रणव (ओ३म्) ही धनुष है। इस प्रणवरूप धनुष द्वारा हम आत्मारूप शर को ब्रह्म रूप लक्ष्य में प्रविष्ट करनेवाले बनें। एवं प्रभुप्राप्ति के तीन साधन हैं, (क) ज्ञानदीप्ति, (ख) शक्ति का संचय व (ग) ओ३म् के जप से चित्तवृत्तिनिरोध। (२) इस प्रकार जीवन को बनाने से **अस्मिन् सवने**=इस जीवन के तृतीय सवन में भी **हि**=निश्चय से **वः**=तुम्हारा **रत्नधेयम्**=रमणीय पदार्थों का धारण होता है। सोमरक्षण से ६८ साल से प्रारम्भ होनेवाले तृतीय सवन में भी रमणीय तत्त्वों का धारण बना रहता है। (३) इस प्रकार सोमरक्षण के साथ **वः**=तुम्हें **मदासः**=आनन्द **इन्द्रं अनु**=प्रभु के सामीप्य के अनुपात में **गमन्तु**=प्राप्त हों। सोमरक्षण द्वारा प्रभु के समीप और समीप होते हुए आनन्द का अनुभव करो। वस्तुतः जीवन का प्रथम सवन (प्रथम चौबीस वर्ष) उतनी सुबोधता का नहीं

होता। माध्यन्दिन सवन (२५ से ६८ तक) गृहस्थ के बोझ में दबा-सा रहता है अब तृतीय सवन (६८ से ११६ तक) अध्यात्म उन्नति के लिए सर्वथा अनुकूल होता है। इस समय सोम का रक्षण करते हुए हम आगे और आगे बढ़ते चलते हैं। प्रभु का सान्निध्य करते हुए प्रभु के आनन्द से आनन्दित हो पाते हैं।

भावार्थ—'शक्ति का रक्षण, 'ओ३म्' का जप व ज्ञान' ये प्रभुप्राप्ति के साधन हैं। हम जीवन के तृतीय सवन में भी (६८-११६) सोमरक्षण करते हुए आनन्द को प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुषुत सोम का पान

आग॑न्नृभूणामि॒ह र॑त्न॒धेय॒मभू॒त्सोम॑स्य॒ सुषु॑तस्य पी॒तिः।
सु॒कृ॒त्यया॒ यत्स्व॑प॒स्यया॑ चँ॒ एकं॑ विच॒क्र च॑म॒सं च॑तु॒र्धा॥ २॥

(१) **इह**=इस जीवन में **ऋभूणाम्**=ज्ञानदीप्त पुरुषों को **रत्नधेयम्**=रत्नों का आधान-रमणीय तत्त्वों की प्राप्ति **आगन्**=प्राप्त हो। **सुषुतस्य**=उत्तम सात्त्विक भोजनों से उत्पन्न **सोमस्य**=सोम का **पीतिः**=पान **अभूत्**=हो। इस सोम के पान से ही तो रत्नों की स्थापना होती है। (२) यह सब तब होता है, **यत्**=जब कि ये ऋभु **सुकृत्यया**=उत्तम कर्मों द्वारा **च**=और **स्वपस्यया**=सदा उत्तम कर्मों की इच्छा से **एकं चमसम्**=इस एक शरीररूप पात्र को **चतुर्धा**=चार प्रकार से **विचक्र**=करते हैं। चार प्रकार से करने का भाव यह है कि ये इस शरीर से चलनेवाली जीवनयात्रा को चार भागों में बाँटकर पूरा करते हैं। ये चार भाग ही 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' ये चार आश्रम हैं। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम को सुन्दरता से निभाते हुए ये ऋभु सोम का रक्षण करते हैं और सोमरक्षण द्वारा रत्नों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम शरीर द्वारा चारों आश्रमों का ठीक से पालन का निश्चय करें। सोमरक्षण करते हुए जीवन को रमणीय तत्त्वों से परिपूर्ण करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अमृत मार्ग का आक्रमण

व्य॑कृणोत चम॒सं च॑तु॒र्धा सखे॒ वि शि॒क्षेत्य॑ब्रवीत।
अथै॑त वाजा अ॒मृत॑स्य॒ पन्थां॑ ग॒णं दे॒वाना॑मृभवः सुहस्ताः॥ ३॥

(१) हे ऋभुओ! तुम लोगों ने **चमसम्**=इस शरीर पात्र को **चतुर्धा**=चार प्रकार से **व्यकृणोत**=किया है, अर्थात् इसके द्वारा 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' चारों आश्रमों को बिताने का निश्चय किया है तथा प्रभु से **इति अब्रवीत्**=इस रूप में प्रार्थना की है कि **सखे**=हे मित्र प्रभो! **विशिक्ष**=हमें विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कराइये, अथवा (शक् सन्) हमें सशक्त बनाने की कामना करिए। (२) **अथ**=अब इस प्रार्थना के साथ **वाजाः**=हे शक्तिशाली पुरुषो! तुम **अमृतस्य पन्थां एत**=अमृत के मार्ग पर आक्रमण करो। उस मार्ग पर चलो, जो कि तुम्हें मोक्ष की ओर ले जाए-तुम विषय-वासनाओं के पीछे मरनेवाले मत होओ। हे **सुहस्ताः**=उत्तम हाथोंवाले कार्यकुशल **ऋभवः**=ज्ञानी पुरुषो! **देवानां गणं (एत)**=दिव्यगुणों के समूह को प्राप्त होओ। गीता में प्रतिपादित दैवी सम्पत्ति के २७ तत्त्वों को प्राप्त करो।

भावार्थ—जीवन को हम चार आश्रमों में चलाएँ। प्रभु से शक्ति की प्रार्थना करें। अमृत के मार्ग पर चलें। दैवी-सम्पत्ति के अर्जन के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम्य मधु का रक्षण

किंमयः स्विच्चमस एष आस यं काव्येन चतुरो विचक्र।
अथा सुनुध्वं सवनं मदाय पात ऋभवो मधुनः सोम्यस्य॥ ४॥

(१) **एषः चमसः**=यह शरीरूप पात्र **यम्**=जिसको **काव्येन**=वेदज्ञान द्वारा **चतुरः विचक्र**=आपने चार आश्रमों में बाँटकर बिताने का निश्चय किया, वह **स्वित्**=निश्चय से **किंमयः आस**=आनन्द के प्राचुर्यवाला हुआ है। वेद में मानव-जीवन को चार मंजिलों में बाँटकर बिताने का उपदेश हुआ है। जब हम उस प्रभु के महान् काव्य वेद के अनुसार जीवन को इस प्रकार चार भागों में बाँटकर चलते हैं, तो जीवन आनन्दमय बना रहता है। (२) **ऋभवः**=हे ऋभुओ! तुम **मदाय**=जीवन को उल्लासमय बनाने के लिए **सवनम्**=(सूयते इति) सोम को **सुनुध्वम्**=अपने अन्दर उत्पन्न करो। और इस **सोम्यस्य**=सोमसम्बन्धी-सोम से उत्पन्न हुए-हुए **मधुनः**=माधुर्य का **पात**=रक्षण करो। हम शरीर में सोम को उत्पन्न करें और इस सोम को सुरक्षित रखते हुए जीवन को मधुर बनाएँ।

भावार्थ—जीवन की चारों मंजिलों को सुन्दरता से बिताने से जीवनयात्रा अच्छी निभती है। इसको अच्छा बनाने के लिए ही हम सोम (वीर्य शक्ति) का उत्पादन व रक्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

देवपान चमस

शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्।
शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहावृभवो वाजरत्नाः ॥ ५॥

(१) हे **वाजरत्नाः**=शक्तिरूपी रमणीय धनवाले, **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! आप **शच्या**=कर्म व प्रज्ञान द्वारा **पितरा**=द्यावापृथिवी रूप माता-पिता को-मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा शरीररूप पृथिवी को **युवाना**=युवा **अकर्त**=कर देते हो। इन्हें जीर्णशक्तिवाले नहीं होने देते। (२) तुम **शच्या**=कर्म व प्रज्ञान द्वारा **चमसम्**=इस शरीरपात्र को **देवपानम्**=दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों का सोमपान का स्थान **अकर्त**=करते हो-इसमें सोम का पान करते हुए इसे अत्यन्त दृढ़ व ज्ञान-सम्पन्न बनाते हो। (३) **शच्या**=कर्म व प्रज्ञान द्वारा ही **हरी**=इन इन्द्रियाश्वों को **धनुतरौ**=(शीघ्रं गंतृतरौ) शीघ्र गतिवाला तथा **इन्द्रवाहौ**=उस प्रभु का वहन (धारण) करनेवाला **अतष्ट**=बनाते हो। कर्मेन्द्रियाँ यदि शीघ्रता से यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होती हैं, तो ज्ञानेन्द्रियाँ प्रभु का ज्ञान प्राप्त करनेवाली बनती हैं।

भावार्थ—कर्म व प्रज्ञान द्वारा शरीर व मस्तिष्क की शक्ति जीर्ण नहीं होती। इस शरीर में देववृत्ति के पुरुष सोम (वीर्यशक्ति) का रक्षण करते हैं और इन्द्रियों को कर्मप्रवृत्त व आत्मज्ञान का धारण करनेवाली बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋभु, वृषा व मन्दसान

यो वः सुनोत्यभिपित्वे अह्नां तीव्रं वाजासः सवनं मदाय।
तस्मै रयिमृभवः सर्ववीरमा तक्षत वृषणो मन्दसानाः ॥ ६॥

(१) **यः**=जो प्रभु हे **वाजासः**=शक्तिशाली पुरुषो! **वः**=तुम्हारे लिए **अह्नां अभिपित्वे**=दिनों की (अभिपतने) समाप्ति के समय-जीवन की सन्ध्यावेला में भी **तीव्रं सवनम्**=इस शत्रुसंहार के लिए उग्र सोम को **मदाय**=उल्लास-प्राप्ति के लिए **सुनोति**=उत्पन्न करता है। **तस्मै**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए, हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त **वृषणः**=शक्तिशाली **मन्दसानाः**=स्तुति करनेवाले लोगो! **सर्ववीरं रयिम्**=सब वीरताओं के देनेवाले धन को **आनक्षत**=सर्वथा सम्पादित करो। (२) हम ऋभु (ज्ञानदीप्त) वृषा (शक्तिशाली) व मन्दसान (स्तुति करनेवाले) बनें। प्रभु हमारे लिए जिस सोम का सम्पादन करते हैं, उसका हम रक्षण करें। वीरता से युक्त धन का सम्पादन करें। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु को प्राप्त करने के लिए हम ऋभु 'ज्ञानदीप्त' बनें। शक्ति का सम्पादन करें (वृषा) तथा स्तुति की वृत्तिवाले हों (मन्दसान)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तीनों सवनों में सोमपान

प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यंन्दिनं सवनं केवलं ते।
समृभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः सखीँर्यौं इन्द्र चकृषे सुकृत्या॥ ७॥

(१) हे **हर्यश्व**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **प्रातः**=जीवन के प्रातःसवन में (प्रथम २४ वर्षों में) **सुतं अपिबः**=इस उत्पन्न किये गये सोम का पान करता है। वीर्य का रक्षण ही सोम का पान है। **माध्यन्दिनं सवनम्**=जीवन का माध्यन्दिन सवन तो **केवलं ते**=सिर्फ तेरे लिए ही है। २४ से ६८ तक के जीवन के मध्याह्न में (गृहस्थ काल में) केवल इन्द्र ही सोमपान करता है, अर्थात् इस समय एक जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ही सोमरक्षण सम्भव होता है। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सुकृत्या**=उत्तम कर्मों के हेतु से **यान्**=जिनको **सखीन् चकृषे**=अपना मित्र बनाता है, उन **रत्नधेभिः**=रमणीय तत्त्वों का धारण करनेवाले **ऋभुभिः**=ज्ञानदीप्त पुरुषों के साथ उठता-बैठता हुआ-इन्हीं के संग में रहता हुआ तू **संपिबस्व**=सोम का सम्यक् पान कर। हीनवृत्ति पुरुषों का संग ही हमें भटकानेवाला व सोमपान के अयोग्य बना देता है।

भावार्थ—हम जीवन के तीनों सवनों में सोम का पान करनेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मोक्ष-प्राप्ति

ये देवासो अभवता सुकृत्या श्येनाइवेदधि दिवि निषेद।
ते रत्नं धात शवसो नपातः सौधन्वना अभवतामृतासः॥ ८॥

(१) **ये**=जो तुम **सुकृत्या**=उत्तम कर्मों द्वारा **देवासः अभवत**=देव बने हो। **श्येनाः इव**=जो तुम अत्यन्त शंसनीय गतिवाले हो। शंसनीय गतिवाले की भाँति तुम **इत्**=निश्चय से **दिवि**=प्रकाश में **अधिनिषेद**=आधिक्येन निषण्ण होओ। जैसे उत्तम कर्मोंवाले बनो, उसी प्रकार ज्ञान में स्थित होनेवाले बनो। (२) **ते**=वे तुम **रत्नं धात**=रमणीय पदार्थों के धारण करनेवाले बनो। **शवसः नपातः**=शक्ति के न गिरने देनेवाले होओ। **सौधन्वनाः**=उत्तम प्रणवरूप धनुष्वाले बनो। इस प्रकार **अमृतासः अभवत**=तुम अमृत हो जाओ, जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाओ।

भावार्थ—मोक्षप्राप्ति का मार्ग यह है, (क) उत्तम कर्मों द्वारा देव बनें, (ख), प्रशंसनीय गतिवाले व ज्ञान की रुचिवाले हों, (ग) रत्न (मणि=सोम) का धारण करें, (घ) शक्ति को नष्ट

न होने दें, (ङ) प्रणव (ओ३म्) का जप करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मदेभिः इन्द्रियेभिः

यत्तृतीयं सवनं रत्नधेयमकृणुध्वं स्वपस्या सुहस्ताः।
तदृभवः परिषिक्तं व एतत्सं मदेभिरिन्द्रियेभिः पिबध्वम्॥ ९॥

(१) **यत्**=जब **तृतीयं सवनम्**=जीवन-यज्ञ के सायन्तन सवन को भी **रत्नधेयम्**=रत्नों का आधान करनेवाला **अकृणुध्वम्**=करते हो, अर्थात् ६८ से ११६ वर्ष तक भी सोम (रत्न=मणि) का शरीर में धारण करते हो, तो **स्वपस्या**=उत्तम कर्मों की इच्छा से **सुहस्ताः**=उत्तम हाथोंवाले होते हो। सोमरक्षण से उत्तम कर्मों की इच्छा तो होती ही है, साथ ही साथ शक्तिसम्पन्न बने रहते हैं। (२) **तद्**=तब **ऋभवः**=हे ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **एतत्**=यह **परिषिक्तम्**=सोम का सर्वतः सेचन होता है। सो तुम **मदेभिः**=उल्लासों के हेतु से तथा **इन्द्रियेभिः**=वीर्यों व बलों के हेतु से-प्रत्येक अंग की शक्ति के हेतु से **संपिबध्वम्**=सम्यक् सोम का पान करो। सोमरक्षण से जीवन में उल्लास बना रहता है तथा शक्ति स्थिर रहती है।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें उत्तम कर्मों की इच्छावाला, उत्तम हाथोंवाला, उल्लासयुक्त व सशक्त बनाता है।

अगले सूक्त में भी इन ऋभुओं का ही वर्णन है—

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिचक्रः रथः

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो३ रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ॥ १॥

(१) हे ऋभुओ! तुम्हारा यह **रथः**=शरीर-रथ **अनश्वः जातः**=इन्द्रियरूप अश्वों के शासनवाला नहीं रहा। इसमें इन्द्रियों का शासन नहीं रहा। **अनभीशुः**=यह मनरूप लगाम के प्रभुत्ववाला भी नहीं हुआ। इसमें मन का भी शासन नहीं है। **उक्थ्यः**=यह अत्यन्त स्तुत्य है। इन्द्रियों व मन के शासन न होने से यह अत्यन्त प्रशंसनीय बना है। यह रथ **त्रिचक्रः**=ज्ञान, कर्म व उपासनारूप तीन चक्रोंवाला है। यह रथ **रजः परिवर्तते**=इस लोक में निरन्तर गतिवाला होता है। यह रथ सदा क्रियाशील है। (२) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **तत्**=वह **देव्यस्य**=देवप्राप्ति का साधनभूत कर्म **प्रवाचनम्**=प्रकर्षेण कथन योग्य है **यत्**=कि तुम **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **च**=तथा **पृथिवीम्**=शरीररूप पृथिवी को **पुष्यथ**=पुष्ट करते हो। शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाना और मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बनाना ही प्रभुप्राप्ति का साधन है।

भावार्थ—हम इस शरीररथ में इन्द्रियों व मन का प्रभुत्व न होने दें। इस में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का स्थान हो। हम शरीर व मस्तिष्क दोनों का ही पोषण करें। इस रथ में न घोड़े हैं, न लगाम। तीन चक्र हैं, यह अन्तरिक्ष में उड़ता है, सो प्रशस्य है। इसका एञ्जिन दृढ़ है तो प्रकाश की भी व्यवस्था इसमें ठीक है। एवं वायुयान का उल्लेख यहाँ स्पष्ट संकेतित है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शोभन-गति अकुटिल रथ

रथं ये चक्रुः सुवृतं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया।
ताँ ऊ न्वस्य सवनस्य पीतय आ वो वाजा ऋभवो वेदयामसि ॥ २ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **ये**=जो ऋभु **सुचेतसः**=उत्तम ज्ञानवाले हैं। **मनसः परिध्यया**=मन के समन्तात् ध्यान से **सुवृतम्**=उत्तम वर्तनवाले, **अविह्वरन्तम्**=अकुटिल **रथं चक्रुः**=शरीररूप रथ को बनाते हैं। वस्तुतः ऋभु समझदार होते हैं। समझदारी से ऐसे शरीर-रथ को बनाते हैं, जो सदा उत्तम गतिवाला होता है तथा कुटिलता से रहित होता है। (२) हे **वाजाः**=शक्तिशाली **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **तान् वः**=उन आपको **ऊ नु**=निश्चय से **अस्य सवनस्य**=इस उत्तम सवनवाले सोम के **पीतये**=पान के लिए-शरीर में सुरक्षित करने के लिए, **आवेदयामसि**=सब प्रकार से समझाते हैं।

भावार्थ—ऋभु शरीर से कुटिलताशून्य उत्तम गतिवाले होते हैं। ये सोम का पान करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वृद्ध होते हुए भी युवा

तद्वो वाजा ऋभवः सुप्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन्महित्वनम्।
जिव्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तक्षथ ॥ ३ ॥

(१) हे **वाजाः**=शक्ति-सम्पन्न शरीरवाले, **विभ्वः**=विशाल हृदयवाले **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=आपका **तत्**=वह **महित्वनम्**=महत्त्वपूर्ण कार्य **देवेषु**=देवों में **सुप्रवाचनम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय होता है, **यत्**=कि जो **जिव्री सन्ता**=वृद्ध होते हुए भी **सनाजुरा**=सदा जीर्ण होनेवाले **पितरा**=द्यावापृथिवी रूप माता-पिता को-मस्तिष्क व शरीर को **चरथाय**=मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए **पुनः**=फिर **युवाना**=युवा **तक्षथ**=कर देते हो। आप मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाते हो, तो शरीर को बड़ा दृढ़ बना देते हो। (२) सामान्यतः आयु बढ़ने के साथ शक्तियों में क्षीणता आने लगती है। मस्तिष्क भी उतना काम नहीं करता, शरीर भी शिथिल हो जाता है। पर यदि हम जीवन के प्रातः-सवन से ही सोमपान का ध्यान करें, विशेषतः इस तृतीय सवन में (६८ से ११६ तक) सोमपान का पूरा ध्यान करें तो हमारे ये मस्तिष्क व शरीर फिर युवा से हो जाते हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यही है। विद्वान् लोग इस कार्य के महत्त्व का ही शंसन करते हैं। यह कार्य ही हमें 'ऋभु, विभ्वा व वाज' बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व सशक्त बनाए रखें। वृद्धावस्था में भी ये जीर्ण न होकर युवा से बने रहते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

चतुर्वय चमस

एकं वि चक्र चमसं चतुर्वयं निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिः।
अथा देवेष्वमृतत्वमानश श्रुष्टी वाजा ऋभवस्तद्व उक्थ्यम् ॥ ४ ॥

(१) हे ऋभुओ! आप **एकं चमसम्**=इस एक शरीररूप पात्र को **चतुर्वयम्**=(वय=शाखा) चार शाखाओंवाला **विचक्र**=विशेषरूप से करते हो। 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' ही

इसकी चार शाखाएँ हैं। इन आश्रमों में चलते हुए आप **धीतिभिः**=ध्यान द्वारा **गाम्**=वेदवाणी-रूप गौ को **चर्मणः**=चमड़ी से-आवरण से **निः अरिणीत**=बाहिर करते हैं। इसको चमड़े से बाहिर करने का भाव है 'इसके अन्तर्निहित अर्थ को देखना'। अपने चारों आश्रमों में इनका स्वाध्याय चलता ही चलता है। (२) **अथा**=अब ऐसा करने पर तुम **देवेषु**=सब इन्द्रियों में **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को-नीरोगता को **आनक्ष**=व्याप्त करते हो। इनकी सब इन्द्रियाँ अविकृत व सशक्त बनी रहती हैं। हे **वाजाः**=शक्तिसम्पन्न शरीरवाले **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **तत्**=वह कार्य-जीवन को चार शाखाओंवाला बनाना तथा ध्यान द्वारा वेदवाणी के अन्तर्निहित अर्थ को देखना **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य होता है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि जीवन को चार भागों में बाँटकर सुन्दरता से जीवन को सफल बनाएँ और स्वाध्याय का एक नैत्यिक कर्त्तव्य के रूप में पालन करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रथमश्रवस्तम रयि

ऋभुतो रयिः प्रथमश्रवस्तमो वाजश्रुतासो यमजीजनन्नरः।
विभ्वतष्टो विदथेषु प्रवाच्यो यं देवासोऽवथा स विचर्षणिः॥ ५॥

(१) **ऋभुतः**=ज्ञानदीप्त आचार्यों से प्राप्त होनेवाला **रयिः**=ज्ञानैश्वर्य **प्रथमश्रवस्तमः**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत यश का कारण बनता है (श्रवस्=glory)। यह ज्ञानैश्वर्य वह है, **यम्**=जिसको **वाजश्रुतासः**=शक्ति व त्याग के कारण प्रसिद्ध **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **अजीजनन्**=अपने अन्दर उत्पन्न करते हैं। विद्यार्थी को, (क) शक्ति का संचय करना चाहिए, (ख) त्याग की वृत्तिवाला होना चाहिए, (ग) उन्नतिपथ पर बढ़ने की भावनावाला होना चाहिए (progressive)। (२) **विभ्वतष्टः**=विभ्वा से बना हुआ-विशाल हृदयवाले पुरुष से बनाया हुआ यह शरीर-रथ **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रवाच्यः**=प्रशंसनीय होता है, अर्थात् हृदय की विशालता होने पर शरीर-रथ ऐसा सुन्दर बनता है कि यह ज्ञानप्राप्ति में अतिशयेन उत्तम होता है। (३) हे **देवासः**=देवो! **यं अवथ**=जिसका आप रक्षण करते हैं, **सः**=वह **विचर्षणिः**=विशेषरूपेण द्रष्टा होता है, अर्थात् उसकी बुद्धि इस प्रकार सूक्ष्म बनती है कि वह सब वस्तुओं के तत्त्व को देखनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम शक्ति का संयम करते हुए प्रगति की वृत्तिवाले बनकर ज्ञानदीप्त आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें। विशाल हृदय बनकर शरीर को ऐसा बनाएँ कि यह ज्ञानप्राप्ति में अत्यन्त अनुकूलतावाला हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वाजी, अर्वा व ऋषिः

स वाज्यर्वा स ऋषिर्वचस्यया स शूरो अस्ता पृतनासु दुष्टरः।
स रायस्पोषं स सुवीर्यं दधे यं वाजो विभ्वाँ ऋभवो यमाविषुः॥ ६॥

(१) **यम्**=जिस पुरुष को **वाजः**=शक्तिशाली, **विभ्वा**=विशालहृदय माता-पिता **आविषुः**=रक्षित करते हैं और **यम्**=जिसको **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त आचार्य (आविषुः) रक्षित करते हैं, अर्थात् जिसका रक्षण शक्ति-सम्पन्न माता द्वारा होता है, जिसका रक्षण विशाल हृदय (=अकृपण) पिता से होता है और जिसका रक्षण ज्ञानदीप्त आचार्य द्वारा होता है **सः वाजी**=वह शक्तिशाली

बनता है। माता के निर्बल होने पर बालक भी निर्बल ही रह जाता है। (सः) **अर्वा**=वह सब लोभ आदि वृत्तियों का संहार करनेवाला होता है। पिता कृपण होगा, तो सन्तान भी लोभप्रवण होगी। (सः) **ऋषिः**=वह तत्त्वद्रष्टा बनता है। आचार्य ज्ञानदीप्त होता है, तो विद्यार्थी भी ज्ञानी बनता है। 'वाज' से रक्षित यह 'वाजी' बनता है, 'विभ्वा' से रक्षित यह 'अर्वा' होता है, 'ऋभु' से रक्षित 'ऋषि' बनता है। (२) **वचस्यया**=स्तुति से युक्त हुआ-हुआ **सः**=वह **शूरः**=शूरवीर बनता है, **अस्ता**=शत्रुओं का सुदूर विनष्ट करनेवाला होता है। **पृतनासु**=संग्रामों में **दुष्टरः**=शत्रुओं से न तैरने योग्य होता है। **सः**=वह **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को व ज्ञानैश्वर्य को **दधे**=धारण करता है और **सः**=वह **सुवीर्यं दधे**=उत्तम शक्ति को धारण करता है।

भावार्थ—हम शरीर में 'वाजी' (शक्तिशाली) बनें। मन में 'अर्वा' हों (वासनाओं का संहार करनेवाले) मस्तिष्क में हम 'ऋषि' हों, तत्त्वद्रष्टा। एक सन्तान को उत्तम माता-पिता-आचार्य मिलते हैं, तो वह ऐसा बन पाता है। इसके बाद 'ध्यान' (स्तुति) उसके जीवन का निर्माण करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

धीर, कवि व विपश्चित्

श्रेष्ठं वः पेशो अधि धायि दर्शतं स्तोमो वाजा ऋभवस्तं जुजुष्टन।
धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान्व एना ब्रह्मणा वेदयामसि॥ ७॥

(१) गतमन्त्र में 'वचस्या' (स्तुति) का उल्लेख था। इस वचसा द्वारा **वः**=तुम्हारे में **श्रेष्ठम्**=अतिप्रशस्त **दर्शतम्**=दर्शनीय **पेशः**=रूप **अधिधायि**=अधिनिहित होता है। इस रूप का आधान करनेवाला यह **स्तोमः**=स्तुति-वचन है। प्रभुस्तवन से जीवन प्रशस्त व सुन्दर बनता है। हे **वाजाः**=शक्तिशाली **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **तं जुजुष्टन**=उस स्तोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करो। (२) इस स्तोम का सेवन करते हुए तुम **हि**=निश्चय से **धीरासः**=धीर (ज्ञान में रमण करनेवाले) **कवयः**=क्रान्तदर्शी-वस्तुतत्त्व को देखनेवाले **विपश्चितः**=विद्वान् **ष्ठा (स्थ)**=होते हो। **तान्**=उन **वः**=आपको **एना ब्रह्मणा**=इस ब्रह्म से (ब्रह्म वेदः)-वेद से-प्रभुप्रदत्त ज्ञान की वाणियों से **आवेदयामसि**=ज्ञानसम्पन्न करते हैं। यह ज्ञान ही वस्तुतः जीवन को सुन्दरतम रूप देता है। यह ज्ञान ही हमें 'धीर, कवि व विपश्चित्' बनाता है। (thinker, sober strongminded, learned)।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से जीवन प्रशस्त बनता है। प्रशस्त जीवन का भाव है 'धीर, कवि व विपश्चित्' बनना।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सात्त्विक भोजन

यूयमस्मभ्यं धिषणाभ्यस्परि विद्वांसो विश्वा नर्याणि भोजना।
द्युमन्तं वाजं वृषशुष्ममुत्तममा नो रयिमृभवस्तक्षता वयः॥ ८॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **विद्वांसः**=ज्ञानी पुरुषो! **यूयम्**=तुम **अस्मभ्यम्**=हमारी प्राप्ति के लिए **धिषणाभ्यः**=बुद्धियों के लिए व स्तुतियों के लिए **विश्वा**=सब **नर्याणि**=नरहितकारी **भोजना**=भोजनों को **परितक्षत**=सम्पादित करो। ऐसे ही भोजनों का सेवन करो, जो कि तुम्हारा हित करनेवाले हों-जिन भोजनों के सेवन से बुद्धि भी उत्तम बने तथा प्रभु स्तवन की वृत्ति बने,

अर्थात् राजस व तामस भोजनों को न करके सात्त्विक भोजनों को ही करो। (२) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **नः**=हमारे लिए **द्युमन्तं वाजम्**=प्रशस्तज्ञान से युक्त बल को **आतक्षत**=सम्पादित करो। **वृषशुष्मम्**=सुखसेचक बलों से युक्त **उत्तमं रयिम्**=प्रशस्त धन को सम्पादित करो तथा (उत्तम) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन की साधना करो। प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) प्रशस्त ज्ञानवाले बल से युक्त हों, (ख) सुखसेचक बल से युक्त उत्तम धन से युक्त हों, (ग) उत्कृष्ट जीवनवाले बनें।

भावार्थ—सात्त्विक आहार से सात्त्विक बुद्धिवाले बनकर हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रजा-रयि-वीरवत् श्रव

इह प्रजामिह रयिं रराणा इह श्रवो वीरवत्तक्षता नः।
येन वयं चितयेमात्यन्यान्तं वाजं चित्रमृभवो ददा नः॥ ९॥

(१) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त आचार्यो! आप **इह**=इस जीवन में **प्रजाम्**=प्रकृष्ट विकास को तथा **इह**=इस जीवन में **रयिम्**=ज्ञानैश्वर्य को **रराणाः**=देते हुए, **नः**=हमारे लिए **इह**=यहाँ **वीरवत्**=वीरता से युक्त **श्रवः**=(glory) यश को **तक्षता**=सम्पादित करिए। विकसित शक्तियोंवाला शरीर, ज्ञानैश्वर्य सम्पन्न मस्तिष्क, तथा यशस्वी मन हमें प्राप्त हो। (२) आप **नः**=हमारे लिए **तम्**=उस **चित्रम्**=(चित् र) ज्ञानैश्वर्यवाले **वाजम्**=बल को **ददा**=दीजिए, **येन**=जिससे **वयम्**=हम **अन्यान् अति**=औरों से आगे बढ़े हुए **चितयेम**=जाने जाएँ। 'शक्ति+ज्ञान' हमारे जीवन को बड़ा सुन्दर बना दें।

भावार्थ—शक्तिसम्पन्न ज्ञान प्राप्त करके हमारा जीवन अत्यन्त सुन्दर बन जाए।

अगला सूक्त भी ऋभुओं का वर्णन करता है—

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवयान मार्ग

उप नो वाजा अध्वरमृभुक्षा देवा यात पथिभिर्देवयानैः।
यथा यज्ञं मनुषो विक्ष्वा३सु दधिध्वे रण्वाः सुदिनेष्वह्नाम्॥ १॥

(१) हे **वाजाः देवाः**=शक्तिसम्पन्न देववृत्ति के वाजो! तथा **ऋभुक्षाः देवाः**=देववृत्ति के ऋभुओ! (=ज्ञानदीप्त पुरुषो) **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों के द्वारा **नः**=हमारे **अध्वरम्**=जीवन यज्ञ में **उपयात**=प्राप्त होओ, अर्थात् हमें इस जीवन में शक्ति-सम्पन्न देववृत्ति के माता-पिता तथा देववृत्ति के ही ज्ञानदीप्त आचार्यों का सम्पर्क प्राप्त हो। इनके सम्पर्क में हम देवयान मार्गों से चलनेवाले बनें। (२) ये **रण्वाः**=रमणीय जीवनवाले 'वाज व ऋभुक्षा देव' हमें इसलिए भी प्राप्त हों, **यथा**=जिससे **आसु विक्षु**=इन प्रजाओं में **अह्नां सुदिनेषु**=दिनों की उत्तमता के निमित्त **मनुषः यज्ञम्**=एक विचारशील ज्ञानी के यज्ञ को **दधिध्वे**=धारण करें। इस जीवन में हम शक्ति-सम्पन्न शरीरवाले (वाज) पवित्र दिव्यवृत्तियों से युक्त मनवाले (देव) तथा ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाले (ऋभु) बन पाएँ। ऐसा बनकर हम जीवन को एक यज्ञ का ही रूप दे दें।

भावार्थ—हम उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके देवयान मार्गों से चलते हुए जीवन को यज्ञमय बना पाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवयान मार्ग का स्वरूप

ते वो हृदे मनसे सन्तु यज्ञा जुष्टासो अद्य घृतनिर्णिजो गुः।
प्र वः सुतासो हरयन्त पूर्णाः क्रत्वे दक्षाय हर्षयन्त पीताः ॥ २ ॥

(१) हे मनुष्यो! **ते**=वे **यज्ञाः**=यज्ञ **वः**=तुम्हारे **हृदे मनसे**=हृदय के लिए व मन के लिए **सन्तु**=हों। इन यज्ञों के प्रति तुम्हारे हृदयों में श्रद्धा हो तथा मनों में इनके लिए प्रबल कामना हो। ये यज्ञादि कर्म श्रद्धा व कामना के होने पर ही चलते हैं। श्रद्धा के अभाव में ये व्यर्थ प्रतीत होते हैं और इनका हमारे जीवनों में स्थान नहीं रहता। वस्तुतः जिन भी बातों का फल एक मिनिट में नहीं दिखता, वे सब श्रद्धा से ही चलती हैं। (२) **जुष्टासः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **घृतनिर्णिजः**=(घृ दीप्तौ, निजिर् शौचपोषणयोः) ज्ञानों की पवित्रताएँ व पोषण हमें **अद्य**=आज **गुः**=प्राप्त हों। हम ज्ञान को प्रीतिपूर्वक उपासित करें। यह ज्ञान हमें पवित्र व पुष्ट जीवनवाला बनाए। (२) **वः**=तुम्हारे **पूर्णाः**=किसी भी प्रकार की कमी से रहित **सुतासः**=सोमों के उत्पादन (वीर्यशक्ति का निर्माण) **प्रहरयन्त**=शरीर में रोगकृमियों पर प्रबल आक्रमण करनेवाले हों। ये सोमकण ही **पीताः**=शरीर में पिये हुए-शरीर में ही व्याप्त किये हुए **क्रत्वे**=यज्ञों के लिए तथा **दक्षाय**=कर्मों की कुशलता के लिए **हर्षयन्त**=हमें हर्षित करें। इन सोमकणों के रक्षण से हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हों तथा कर्मों को कुशलता से करनेवाले बनें।

भावार्थ—देवयान मार्ग यह है, (क) श्रद्धा व इच्छा से यज्ञों को करना, (ख) ज्ञानदीप्तियों के द्वारा पोषण व पवित्रता को प्राप्त करना, (ग) सोम (वीर्य) के उत्पादन द्वारा रोगों से ऊपर उठना और (घ) सोम को शरीर में व्याप्त करके यज्ञशील कुशलकर्मा बनना।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तोम और सोम

त्र्युदायं देवहितं यथा वः स्तोमो वाजा ऋभुक्षणो ददे वः।
जुह्वे मनुष्वदुपरासु विक्षु युष्मे सचा बृहद्दिवेषु सोमम् ॥ ३ ॥

(१) हे **वाजाः**=शक्तिशाली पुरुषो! **ऋभुक्षणः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **यथा**=जिस प्रकार **वः**=आपका **त्र्युदायम्**=तीनों 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' उन्नतियोंवाला **देवहितम्**=देवों में स्थापन हो, सो **वः**=तुम्हारे लिए **स्तोमः ददे**=यह स्तोम दिया जाता है। इस स्तोम (=स्तुति) द्वारा तुम सब प्रकार की उन्नति करके अपने को देवों में स्थापित करनेवाले होंगे। यह स्तोम तुम्हें देव बना देगा। प्रभु का स्तवन हमें प्रभु जैसा बनने के लिए प्रेरित करता ही है। (२) **मनुष्वत्**=एक विचारशील व्यक्ति की तरह **उपरासु** (उप रमन्ते)=प्रभु की उपासना में (स्तोम में) रमण करनेवाली **विक्षु**=प्रजाओं में, **युष्मे सचा**=तुम्हारे साथ **बृहद्दिवेषु**=प्रभूत ज्ञानदीप्तिवाली प्रजाओं में **सोमं जुह्वे**=मैं इस सोम को देता हूँ। यह सोम ही सुरक्षित हुआ-हुआ तुम्हारी सब उन्नतियों का कारण बनेगा।

भावार्थ—हम स्तोम (स्तुति) को अपनाएँ और सोम का (वीर्य का) रक्षण करें। यही विविध (शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक) उन्नति का मार्ग है। यही देवत्व-प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

देव कौन?

पीवोअश्वाः शुचद्रथा हि भूतायःशिप्रा वाजिनः सुनिष्काः।
इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातोऽनु वश्चेत्यग्रियं मदाय ॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार स्तोम व सोम को अपनाकर देव बननेवाले व्यक्ति **पीवो अश्वाः**=परिपुष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले होते हैं। **शुचद्रथाः**=उनका शरीर-रथ अत्यन्त पवित्र होता है, यह कभी रोगों की मलिनता व टूट-फूटवाला नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि **हि**=निश्चय से **भूत**=तुम ऐसे ही होओ। तुम्हारी इन्द्रियाँ सशक्त हों, शरीर शुचितावाला हो तथा **अयः शिप्राः**=तुम्हारे हनू (जबड़े) लोहे के समान दृढ़ हों। दाँत लोह दृढ़ता को लिये हुए हों। **वाजिनः**=तुम शक्ति-सम्पन्न (vigorous) होओ। **सुनिष्काः**=उत्तम गर्दन (Neck) वाले होवो। तुम्हारी गर्दन निर्बलता के कारण झुकी हुई न हो। (२) हे **इन्द्रस्य सूनो**=इन्द्र के पुत्रो! अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुषो! **शवसः न पातः**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवालो! यह **वः मदाय**=तुम्हारी आनन्दप्राप्ति के लिए **अग्रियम्**=सर्वमुख्य (अग्रे भवम्) सोमपानरूप धर्म **अनुचेति**=अनुज्ञात किया जाता है। यह 'सोमपान' (वीर्यरक्षण) ही तुम्हारा सर्वोपरि धर्म है। यही तुम्हारे जीवन को 'दिव्य जीवन' बनाएगा। यही देवत्व प्राप्ति का साधन है।

भावार्थ—सोमपान द्वारा तुम परिपुष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले व पवित्र शरीर-रथवाले, दृढ़ दाँतोंवाले शक्तिशाली न गिरी गर्दनवाले बनो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

कैसा धन?

ऋभुमृभुक्षणो रयिं वाजे वाजिन्तमं युजम्। इन्द्रस्वन्तं हवामहे सदासातममश्विनम् ॥ ५ ॥

(१) हे **ऋभुक्षणः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले देवो! हम **रयिं हवामहे**=धन के लिए याचना करते हैं। उस धन के लिए, जो कि **ऋभुम्**=ज्ञानदीप्तिवाला है (उरु भाति)। इस धन को प्राप्त करके हम ज्ञानविमुख न हो जाएँ, प्रत्युत धन को ज्ञानप्राप्ति का साधन बनाएँ। **वाजे**=संग्राम में **वाजिन्तमम्**=जो अत्यन्त शक्तिशाली है-संग्राम में जो हमें शक्ति-सम्पन्न बनाता है, उस धन की हम याचना करते हैं। इस धन से हम वासनाओं में फँस न जाएँ। **युजम्**=हम उस धन को चाहते हैं, जो हमें परस्पर मेलवाला बनाए। धन के कारण हमारा परस्पर विरोध न हो जाए। (२) हम उस धन को चाहते हैं, जो कि **इन्द्रस्वन्तम्**=इन्द्रवाला है, हमें उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर ले चलनेवाला है और इसी दृष्टिकोण से **सदासातमम्**=सदा दान की वृत्ति से युक्त है। जो धन सदा दान में विनियुक्त होता है, वह हमें भोगों में फँसने से बचाता है। तभी यह धन हमें प्रभु की ओर ले जानेवाला होता है। और **अश्विनम्**=हम प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले धन को चाहते हैं। उस धन को, जो कि इन्द्रियों को विषयासक्ति से ऊपर उठाकर सशक्त बनाए।

भावार्थ—हमें धन प्राप्त हो। यह धन हमें 'ज्ञान, शक्ति, परस्पर प्रेम, प्रभुप्रवणता, त्यागवृत्ति व प्रशस्त इन्द्रियों' वाला बनाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उत्तम बुद्धि व उत्तम इन्द्रियाँ

सेदृभवो यमवथ यूयमिन्द्रश्च मर्त्यम्। स धीभिरस्तु सनिता मेधसाता सो अर्वता ॥ ६ ॥

(१) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **यूयम्**=आप **इन्द्रः च**=और वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य को **अवथ**=रक्षित करते हो, **स इत्**=वह ही **धीभिः सनिता**=उत्तम बुद्धियों व कर्मों से मेलवाला **अस्तु**=हो। वस्तुतः जीवन में 'माता, पिता व आचार्य' ही ऋभु हैं। जिस भी व्यक्ति को ये उत्तम ऋभु प्राप्त होते हैं और जिस पर प्रभुकृपा बनी रहती है, वह उत्तम बुद्धिवाला बनता है और सदा सत्कर्मों का करनेवाला होता है। (२) इन ऋभुओं से व प्रभु से रक्षित होनेवाला, **सः**=वह पुरुष **मेधसाता**=इस जीवन-संग्राम में **अर्वता**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से सम्भक्त होता है। इसकी इन्द्रियाँ भी प्रशस्त बनती हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगी रहती हैं और कर्मेन्द्रियाँ उत्तम यज्ञादि कर्मों में व्यापृत होती हैं। इस प्रकार यह इन्द्रियों को विषयपंक से मलिन नहीं होने देता।

भावार्थ—ज्ञानदीप्त माता, पिता व आचार्यों से रक्षित तथा प्रभु से रक्षित पुरुष उत्तम बुद्धि व उत्तम इन्द्रियोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञमार्ग

वि नो॑ वाजा ऋभुक्षणः पथश्चितन यष्ट॑वे। अस्मभ्यं॑ सूरयः स्तुता विश्वा॒ आशा॑स्तरीषणि॥ ७॥

(१) हे **वाजाः**=शक्तिशाली पुरुषो! **ऋभुक्षणः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले पुरुषो! **नः**=हमें **यष्टवे**=यज्ञादि उत्तम कर्म करने के लिए **पथः विचितन**=मार्गों का विशेषरूप से ज्ञान दीजिए। (२) हे **सूरयः**=ज्ञानी **स्तुताः**=(स्तुतमस्यास्तीति) प्रभुभक्त पुरुषो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को व इच्छाओं को **तरीषणि**=तैरने के लिए (पथः विचितन) मार्गों का ठीक ज्ञान दीजिए। आप से दत्त ज्ञान के अनुसार मार्गों का आक्रमण करते हुए हम सब इच्छाओं को तैर जाएँ।

भावार्थ—ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके मार्गों का अनुसरण करते हुए हम यज्ञशील हों और इच्छाओं से ऊपर उठ जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मघत्तये

तं नो॑ वाजा ऋभुक्षण इन्द्र नास॑त्या र॒यिम्। समश्वं॑ चर्ष॒णिभ्य॒ आ पु॒रु श॑स्त म॒घत्त॑ये॥ ८॥

(१) हे **वाजाः**=शक्तिशाली **ऋभुक्षणः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले पुरुषो! हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नासत्या**=प्राणापानो! आप सब **नः चर्षणिभ्यः**=हम श्रमशील मनुष्यों के लिए **तम्**=उस **समश्वम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से संगत (युक्त) **पुरु**=पालन व पूरण करनेवाले **रयिम्**=धन को **आशस्त**=उपदिष्ट करो। हमें उस मार्ग का ज्ञान दो, जिससे कि हम इस ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकें। (२) हमें आप धन दो। इसलिए दो कि **मघत्तये**=हम इन मघों (ऐश्वर्यों) का अत्यन्त दान कर सकें। धन हमारा पालन व पूरण करनेवाला हो। हमारी इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला हो। हमें दान के लिये समर्थ करनेवाला हो।

भावार्थ—हम धन प्राप्त करें। यह धन हमें शक्तिशाली ज्ञानदीप्त बनाए। इसे प्राप्त करके हम जीवनयात्रा को ठीक प्रकार चलाते हुए प्रभुप्रवण हों। प्राणापान की शक्ति को बढ़ाएँ। इन्द्रियों को निर्बल न होने दें। दानशील हों।

अगले सूक्त का प्रथम मन्त्र प्रभु के दानों का उल्लेख करता है और अगले मन्त्रों में 'दधिक्रा' नाम से 'मन' का उल्लेख है—

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व, बुद्धि व शत्रु-विनाशक तेज

उतो हि वां दात्रा सन्ति पूर्वा या पूरुभ्यस्त्रसदस्युर्नितोशे।
क्षेत्रासां ददथुरुर्वरासां घनं दस्युभ्यो अभिभूतिमुग्रम्॥ १॥

(१) हे द्यावापृथिवी! **वाम्**=आप के **दात्रा**=दान **उत उ हि**=निश्चय से **पूर्वा**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले **सन्ति**=हैं। **या**=जिनको वस्तुतः **पूरुभ्यः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले मनुष्यों के लिए **त्रसदस्युः**=जिन से सब शत्रु भयभीत होते हैं, वे प्रभु **नितोशे**=देते हैं। इन द्यावापृथिवी से-संसार के सब लोकों से जो भी पदार्थ हमें प्राप्त होते हैं, उन्हें वास्तव में द्यावापृथिवी द्वारा, प्रभु ही प्राप्त करा रहे हैं। जो भी व्यक्ति पालन व पूरण के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, प्रभु उनके लिए इन वस्तुओं को देते हैं। प्रभु त्रसदस्यु हैं। हम प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करते हैं, तो वहाँ काम-क्रोध आदि आसुरभावों का प्रवेश नहीं होता। (२) हे द्यावापृथिवी! आप **क्षेत्रासां**=(क्षेत्राणि सनोति इति) सब भूमियों में विचरनेवाले इन्द्रियाश्वों को **ददथुः**=देते हो। **उर्वरासाम्**=(उर्वरां सर्वसस्याढ्यां भुवं सनोति) नये-नये विचारों को जन्म देनेवाली बुद्धि को देते हो। तथा **दस्युभ्यः घनम्**=दस्युओं के विनाश के लिए (दस्युओं के लिये विनाशक) **उग्रम्**=प्रबल **अभिभूतिम्**=अभिभावक बल को देते हो।

भावार्थ—प्रभुकृपा से द्यावापृथिवी हमारे लिए पालक व पूरक दानों को देते हैं। उत्तम इन्द्रियाश्वों को, बुद्धि को तथा शत्रु-विनाशक तेज को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वस्थ मन

उत वाजिनं पुरुनिष्षिध्वानं दधिक्रामु ददथुर्विश्वकृष्टिम्।
ऋजिप्यं श्येनं प्रुषितप्सुमाशुं चर्कृत्यमर्यो नृपतिं न शूरम्॥ २॥

(१) **उत**=और **उ**=निश्चय से हे द्यावापृथिवी! आप हमारे लिए **दधिक्राम्**=उस मन को **ददथुः**=देते हो, जो कि **वाजिनम्**=शक्तिशाली है, **पुरुनिष्षिध्वानम्**=खूब ही वासनाओं का निषेध करनेवाला है, **विश्वकृष्टिम्**=सब मनुष्यों के हित की भावना को अपने में धारण करनेवाला है, **ऋजिप्यम्**=ऋजु मार्गों से गति करता हुआ हमारा वर्धन करनेवाला है (प्या वृद्धौ)। (२) उस मन को आप हमें देते हो, जो कि **श्येनम्**=शंसनीय गतिवाला है, **प्रुषितप्सुम्**= दीप्तरूपवाला है, **आशुम्**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला है। **अर्यः**=(अरेः) काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का **चर्कृत्यम्**=(कर्तनशीलम्) काटनेवाला, छेदन करनेवाला है। **नृपतिं न**=मनुष्यों के रक्षक राजा की तरह **शूरम्**=शूरवीर है। राजा जैसे शत्रुओं का पराजय करके प्रजाओं का कल्याण करता है, उसी प्रकार जो मन काम-क्रोधादि को छेदन करता हुआ हमारा कल्याण करता है, ऐसे मन को ये द्यावापृथिवी हमारे लिए दें। जैसे द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में अन्तरिक्षलोक है, इसी प्रकार यहाँ हमारे जीवनों में मस्तिष्क व स्थूल शरीर के मध्य में मन है। स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर से मन भी बड़ा स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर मिलकर स्वस्थ मन को जन्म देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

'तीव्र गतिवाला' मन

यं सीमनु प्रवतेव द्रवन्तं विश्वः पूरुर्मदति हर्षमाणः।
पड्भिर्गृध्यन्तं मेधयुं न शूरं रथतुरं वातमिव ध्रजन्तम्॥ ३॥

(१) **प्रवता इव द्रवन्तम्**=निम्न मार्ग से जाते हुए पानी की तरह शीघ्र गतिवाले **यं अनु**=जिस मन के अनुसार **विश्वः पूरुः**=सब अपना पालन व पूरण करनेवाले मनुष्य **हर्षमाणः**=प्रसन्नता का अनुभव करते हुए **सीम्**=निश्चय से **मदति**=स्तुति करते हैं। ऐसे मन को द्यावापृथिवी हमारे लिए दें। मन निम्न मार्ग से बहते हुए पानी की तरह तीव्र गतिवाला है। इस मन को वश में करके हम आनन्द का अनुभव करते हैं और प्रभु के स्तवन की वृत्तिवाले बनते हैं। (२) उस मन को ये द्यावापृथिवी हमारे लिए दें जो कि **पड्भिः गृध्यन्तम्**=(पद् गतौ) गतियों से विविध पदार्थों के ग्रहण की कामनावाला है। जो मन 'मेधयुं न शूरं'=संग्रामेच्छु शूरवीर के समान है। संग्रामेच्छु शूरवीर संपत्तियों को प्राप्त करता हुआ तृप्त नहीं। यह मन भी तृप्त नहीं होता। **रथतुरम्**=शरीररूप रथ को तीव्रगति से इधर-उधर ले जाता है। **वातं इव ध्रजन्तम्**=वायु के समान शीघ्र गतिवाला है। इस मन को अपने वश में करके हम जीवनयात्रा में सफलतापूर्वक लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाले हों।

भावार्थ—मन तीव्र गतिवाला है, शक्तिशाली है। यदि यह हमें प्राप्त हो जाता है, तो हम अवश्य जीवनयात्रा को सफलतापूर्वक पूरा कर पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सरलता व ज्ञान

यः स्मारुन्धानो गध्या समत्सु सनुतरश्चरति गोषु गच्छन्।
आविर्ऋजीको विदथा निचिक्यत्तिरो अरतिं पर्याप आयोः॥ ४॥

(१) **यः**=जो **समत्सु**=अध्यात्म संग्रामों में **स्म**=निश्चय से **गध्या**=ग्रहणीय बातों को **आरुन्धानः**=अपने में निरुद्ध करता हुआ **सनुतरः**=उत्तम सम्भक्ता होता हुआ **गोषु**=ज्ञान की वाणियों में **गच्छन्**=चलता है। जिस समय मन को हम काम-क्रोध-लोभ आदि से शून्य कर पाते हैं, तो यह मन शरीर में निवास के लिए आवश्यक सब वसुओं का स्थापन करनेवाला होता है (प्रधा आरुन्धानः), हृदय में प्रभु संभजन की वृत्तिवाला होता है (सनुतरः) और बुद्धि में दीप्ति को धारण करता हुआ ज्ञानवाणियों के प्रति रुचिवाला होता है (गोषु गच्छन्)। (२) **आविर्ऋजीकः**=(ऋजीक=इन्द्र) प्रकट किया है इन्द्र को जिसने अथवा प्रकट किया है आर्जव (=सरलता) को जिसने (आर्जवं ब्रह्मणः पदम्) ऐसा यह मन **विदथा**=ज्ञानों को **निचिक्यत्**=जानता हुआ **आपः**=व्यापक मनोवृत्तिवाले **आयोः**=गतिशील व्यक्ति के **अरतिम्**=दुःख को **तिरः परि चरति**=तिरस्कृत, अन्तर्हित व विनष्ट करनेवाला होता है। जब मन सरलता को व ज्ञान को अपनाता है, तो सब दुःख दूर हो ही जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह मन को वश में करके उदार वृत्तिवाला व गतिशील बना रहे, यही दुःख को दूर करने का मार्ग है।

भावार्थ—हम मन में सरलता को धारण करें, ज्ञान की रुचिवाले बनें। उदार हृदय व गतिशील हों। दुःखों को दूर करने का मार्ग यही है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मन, ज्ञान व इन्द्रिय समूह

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥ ५॥

(१) **उत**=और **स्म**=निश्चय से **एनम्**=इस मन को **अनु**=लक्ष्य करके **क्षितयः**=मनुष्य **भरेषु**=संग्रामों में **क्रोशन्ति**=पुकारते हैं। इस प्रकार पुकारते हैं, **न**=जैसे कि **वस्त्रमथिं तायुम्**=वस्त्रों के चुरा लेनेवाले चोर को लक्ष्य करके। इस प्रकार पुकारते हैं, **न**=जैसे कि **नीचायमानम्**=(नीचैः अयमानं) नीचे झपटा मारते हुए **जसुरिम्**=विनाशक (जस्=to hurt, injure, kill) **श्येनम्**=वाज को लक्ष्य करके। वस्तुतः मन 'वस्त्रमथि तायु' के समान है-'नीचायमान जसुरि श्येन' के समान है। यदि यह हमारे वश में न हो, तो विनाशक ही होता है। इसको वश में करने के लिए साधक प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु कृपा से ही यह वशीभूत होता है। (२) **च**=और **श्रवः अच्छा**=ज्ञान का लक्ष्य करके प्रभु को पुकारते हैं। **च**=और **पशुमत् यूथम्**=इन पशुओंवाले झुण्ड को-इन्द्रिय समूह को लक्ष्य करके प्रभु को पुकारते हैं। यहाँ एक ओर 'मन' है, दूसरी ओर 'इन्द्रिय समूह'। दोनों के बीच में 'ज्ञान'। प्रभु को इन तीनों चीजों का लक्ष्य करके पुकारते हैं। प्रभुकृपा से मन व इन्द्रियसमूह हमारे वश में हुआ, तो ज्ञान तो प्राप्त होना ही। मन इधर-उधर भटकता है। वस्तुतः भटकता हुआ यह हमारी सब अध्यात्म-सम्पत्ति को चुरा ले जाता है। इन्द्रियाँ भी विषयों में फँस जाती हैं। ये ज्ञानग्रहण व यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त नहीं रहतीं। प्रभु की उपासना ही हमें इन्द्रियों व मन के साथ चलनेवाले इस संग्राम में विजयी बनाती है। तभी हमें ज्ञान प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें मन व इन्द्रियसमूह का अधिष्ठाता बनाए। ऐसा बनकर हम ज्ञानी बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

आत्मरूप वर का 'जन्य' मन

उत स्मासु प्रथमः सरिष्यन्नि वेवेति श्रेणिभी रथानाम्।
स्रजं कृण्वानो जन्यो न शुभ्वा रेणुं रेरिहत्किरणं ददश्वान्॥ ६॥

(१) **उत**=और **आसु**=इन प्रजाओं में **स्म**=निश्चय से **प्रथमः**=सर्वमुख्य रूप में **सरिष्यन्**=गति करता हुआ यह मन **रथानां श्रेणिभिः**='स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीररूप रथों से **निवेवेति**=अत्यन्त गति करता है। मनोमय कोश सब कोशों में प्रधान है-यह सब कोशों के केन्द्र में है। वेद इस मध्यम कोश को ही ठीक करने पर बल देता है 'वि कोशं मध्यमं युवं'। इसका एक ओर स्थूल शरीर पर प्रबल प्रभाव पड़ता है तो दूसरी ओर यह कारण शरीर से सम्बद्ध होकर सब के साथ एकत्व का अनुभव करता है 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'। (२) यह मन **स्रजं कृण्वानः**=अलंकरण को करता हुआ, **जन्यः न**=वर के सेवक की तरह **शुभ्वा**=उसे अलंकृत करनेवाला है। आत्मा 'वर' है, यह मन उसका 'जन्य' है। जैसे जन्य (वर का मित्र या सेवक) वर को सजाता है, इसी प्रकार यह मन आत्मा को सद्गुणों से अलंकृत कर देता है। **रेणुं रेरिहत्**=यह सब रेणु (धूल) को चाट जाता है-नष्ट कर देता है (to kill) तथा **किरणम्**=प्रकाश व ज्ञान की किरणों को **ददश्वान्**=धारण करता है। आत्मारूप वर को मन इसी रूप में अलंकृत करता है कि उसकी राजसवृत्ति को विनष्ट करता है और ज्ञान के प्रकाशवाली सात्त्विकवृत्ति को जागरित करता है।

भावार्थ—वशीभूत मन ही आत्मा को सत्त्वगुण से अलंकृत करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सहुरिः ऋतावा

उत स्य वाजी सहुरिर्ऋतावा शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
तुरं यतीषु तुरयन्नृजिप्योऽधि भ्रुवोः किरते रेणुमृञ्जन्॥ ७॥

(१) **उत**=और **स्यः**=वह मन रूप अश्व (दधिक्रा) **वाजी**=बड़ा शक्तिशाली है। **सहुरिः**=सब शत्रुओं का मर्षण करनेवाला है। **ऋतावा**=हमारे जीवनों में ऋत का रक्षण करनेवाला है। **समर्ये**=इस जीवन-संग्राम में **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार से **शुश्रूषमाणः**=हमारी सेवा करता है। वस्तुतः इस मन के वशीभूत होने पर यह मन हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति का साधन बन जाता है। (२) **तुरं यतीषु**=शीघ्र गतिवाली इन प्रजाओं में **तुरयन्**=शीघ्रता से कार्यों को करता हुआ, **ऋजिप्यः**=ऋजुमार्ग से आगे बढ़ता हुआ-हमारा वर्धन करता हुआ **अधि भ्रुवोः**=भ्रू-स्थानों में होनेवाली **रेणुम्**=धूल को **किरते**=विक्षिप्त करता है, अर्थात् मस्तक की धूलि को दूर करता है और इस प्रकार मस्तक को ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल बनाता है। ज्ञान द्वारा **ऋञ्जन्**=यह मन हमारे जीवन को प्रसाधित करता है। इस प्रकार यह मन हमें देदीप्यमान जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—यह मन हमारे शत्रुओं का पराभव करता है। ज्ञान के आवरणभूत रजोगुण को दूर करके हमारे जीवन को दीप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'दुर्वर्तु' दधिक्रा

उत स्मास्य तन्यतोरिव द्योर्ऋघायतो अभियुजो भयन्ते।
यदा सहस्रमभि षीमयोधीद्दुर्वर्तुः स्मा भवति भीम ऋञ्जन्॥ ८॥

(१) जब मन प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होता है, तो **उत स्म**=निश्चय से **ऋघायतः**=शत्रुओं का हिंसन करते हुए **अस्य**=(अस्मात्) इस मन से **अभियुजः**=आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रु **भयन्ते**=इस प्रकार भयभीत होते हैं, **इव**=जैसे कि **द्योः**=दीप्यमान **तन्यतोः**=शब्द करती हुई अशनि (विद्युत्) से। जैसे गर्जती हुई-कड़कती हुई विद्युत् प्राणियों के लिए भयंकर होती है, इसी प्रकार शत्रुओं का हिंसन करता हुआ यह दधिक्रा (मन) काम-क्रोध आदि के लिए भयावह होता है। (२) **यदा**=जब यह मन **सीम्**=निश्चय से **सहस्रं अभि अयोधीत्**=हजारों शत्रुओं से युद्ध करता है, तो यह **स्म**=निश्चय से **दुर्वर्तुः भवति**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाला होता है और **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता हुआ **ऋञ्जन्**=उपासकों के जीवन को प्रसाधित करता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना में चलता हुआ 'मन' काम-क्रोध आदि शत्रुओं पर बिजली की तरह गिरता है। सब बुराइयों का निवारण करके हमारे जीवन को अलंकृत करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'कृष्टिप्रा आशु' दधिक्रा

उत स्मास्य पनयन्ति जना जूतिं कृष्टिप्रो अभिभूतिमाशोः।

उतैनमाहुः समिथे वियन्तः परा दधिक्रा असरत्सहस्रैः॥ ९॥

(१) **उत स्म**=और निश्चय से **जनाः**=लोग **अस्य**=इस **कृष्टिप्रः**=श्रमशील मनुष्यों का पूरण करनेवाले-उनकी न्यूनताओं को दूर करनेवाले **आशोः**=शीघ्रता से व्यापनेवाले मन के **अभिभूतिम्**=शत्रुओं के पराभूत करनेवाले **जूतिम्**=वेग को **पनयन्ति**=स्तुत करते हैं-प्रशंसित करते हैं। यह मन जिस शीघ्रतावाले बल से शत्रुओं पर आक्रमण करता है, वह इसका बल प्रशंसनीय ही होता है। (२) **उत**=और **समिथे**=संग्राम में **वियन्तः**=विविध दिशाओं में भयभीत होकर भागते हुए शत्रु **एनं आहुः**=इसके विषय में यही कहते हैं कि **दधिक्राः**=यह मनुष्यों का धारण करके गति करता हुआ मन **सहस्रैः**=हजारों बलों के साथ **परा असरत्**=सुदूर गतिवाला होता है। न जाने यह हमें कहाँ फेंकेगा। वस्तुतः स्तुति प्रवृत्त मन से शत्रु भयभीत होकर सुदूर भाग जाते हैं।

भावार्थ—मन अतिशयेन बलवान् व वेगवान् है। काम आदि शत्रु इससे भयभीत होकर दूर विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्योतिषा आततान

आ द॒धि॒क्राः शव॑सा॒ पञ्च॑ कृ॒ष्टीः सूर्य॑ इव॒ ज्योति॑षा॒पस्त॑तान।
स॒ह॒स्र॒साः श॑त॒सा वा॒ज्यर्वा॑ पृ॒णक्तु॒ मध्वा॒ समि॒मा वचां॑सि॥ १०॥

(१) **दधिक्राः**=हमारा धारण करके गति करता हुआ यह मन **शवसा**=अपने बल से **पञ्चकृष्टीः अपः**=पाँचों का विस्तार करनेवाली श्रमशील प्रजाओं को (पाँचों भूतों, पाँच प्राणों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण पञ्चक का विस्तार करनेवाली प्रजाओं को) **सूर्य इव**=सूर्य की तरह **ज्योतिषा आततान**=समन्तात् ज्योति से विस्तृत करता है। मन हमारे जीवनों को ज्ञान-ज्योति से जगमग कर देता है। हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि हम श्रमशील बनें और पाँचों तत्त्वों की शक्ति का विस्तार करने के लिए यत्नशील हों। (२) **सहस्रसाः**=हजारों शक्तियों को देनेवाला यह मन **शतसाः**=सौ के सौ वर्ष पर्यन्त हमें शक्तियों के देनेवाला है **वाजी**=यह शक्तिशाली है, **अर्वः**=शत्रु संहार में कुशल है। यह हमारे लिए **इमा वचांसि**=इन स्तुति-वचनों को **मध्वा संपृणक्तु**=माधुर्य से संपृक्त कर दे। हम बड़े मधुर शब्दों में सदा स्तुति करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभुभक्ति की भावना से पूर्ण मन हमारे जीवन को ज्योतिर्मय कर दे। यह हमें शतवर्षपर्यन्त सहस्रों शक्तियों को देनेवाला हो।

अगला सूक्त भी दधिक्रा का ही वर्णन करता है—

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अति विश्वानि दुरितानि

आ॒शुं द॑धि॒क्रां तमु॒ नु ष्ट॑वाम दि॒वस्पृ॑थि॒व्या उ॒त च॑र्किराम।
उ॒च्छन्ती॒र्माम॒ुषस॑ः सूदय॒न्त्वति॒ विश्वा॑नि दु॒रिता॑नि॒ पर्ष॑न्॥ १॥

(१) हम **आशुम्**=शीघ्रता से मार्गों का व्यापन करनेवाले **तम्**=उस **दधिक्राम्**=हमारा धारण करके क्रमण करनेवाले इस मन का **उ**=ही **नु**=अब **स्तवाम**=स्तवन करें-मन के महत्त्व को हम समझने का प्रयत्न करें। **उत**=और **दिवः पृथिव्याः**=द्युलोक व पृथिवी लोक से **चर्किराम**=इसको वि-क्षिप्त करें। द्युलोक व पृथिवीलोक में भटकते हुए इस मन को उधर से हटाकर हम अन्दर ही

स्थापित करने का प्रयत्न करें। (२) **उच्छन्तीः**=अन्धकार का निवारण करती हुई **उषसः**=ये उषाएँ **माम्**=मुझे **सूदयन्तु**=प्रेरित करें। इनमें मन को द्युलोक व पृथिवीलोक से हटाकर मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ। इस प्रकार ये उषाएँ **विश्वानि दुरितानि**=सब बुराइयों के **अतिपर्षन्**=हमें पार ले चलें।

भावार्थ—मन का महत्त्व समझकर, इसे सब ओर से हटाकर, हम प्रभुप्रेरणा को सुनें। यह प्रेरणा हमें सब दुरितों से दूर करेगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'ततुरि' दधिक्राव्णा=तारक मन

महश्चर्कर्म्यर्वतः क्रतुप्रा दधिक्राव्णः पुरुवारस्य वृष्णः।
यं पूरुभ्यो दीदिवांसं नाग्निं ददथुर्मित्रावरुणा ततुरिम्॥ २॥

(१) **क्रतुप्राः**=यज्ञों का पूरण करनेवाला-यज्ञों के द्वारा ही शक्ति व प्रज्ञान को अपने अन्दर भरनेवाला मैं **दधिक्राव्णः**=हमारा धारण करके गति करनेवाले इस मन की **चर्कर्मि**=अत्यन्त स्तुति करता हूँ, जो कि **महः**=महान् है, **अर्वतः**=सब बुराइयों का संहार करनेवाला है, **पुरुवारस्य**=पालक व पूरक और अतएव वरणीय है, **वृष्णः**=शक्तिशाली है। (२) उस दधिक्रावा मन का मैं स्तवन करता हूँ, **यम्**=जिसको **पूरुभ्यः**=अपने नियत कर्म का पालन करनेवाले मनुष्यों के लिए **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **ददथुः**=देते हैं। 'मित्र और वरुण देते हैं' इसका भाव यह है कि हम इस मन को स्नेह की भावनावाला (मित्र) तथा द्वेष भावना से रहित (वरुण) बनाने का प्रयत्न करें। ऐसा ही मन **अग्निं न दीदिवांसम्**=अग्नि की तरह देदीप्यमान होता है। तथा **ततुरिम्**=हमें इस भवसागर से तरानेवाला होता है।

भावार्थ—यज्ञों में लगे रहकर हम अपने मन को स्नेहयुक्त व निर्द्वेष बनाएँ। यही मन हमें भवसागर से तरानेवाला होगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मित्रेण वरुणेना सजोषाः (सस्नेह व निर्द्वेष मन)

यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत्समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ।
अनागसं तमदितिः कृणोतु स मित्रेण वरुणेना सजोषाः॥ ३॥

(१) **यः**=जो **उषसः व्युष्टौ**=उषःकाल के होते ही **अग्ना समिद्धे**=यज्ञाग्नि के दीप्त करने पर **अश्वस्य**=मार्गों का व्यापन करनेवाले (अश् व्याप्तौ) **दधिक्राव्णः**=इस हमारा धारण करके क्रमण करनेवाले मन की **अकरीत्**=स्तुति करता है, **तम्**=उसे **अदितिः**=यह विषयों से खण्डित न होनेवाला मन **अनागसं कृणोतु**=निष्पाप बनाए। मन अश्व है-शीघ्रता से देश-देशान्तर का व्यापन करनेवाला है। यह दधिक्रावा है-हमारा धारण करता हुआ जीवन-मार्ग में आगे बढ़ता है। हमें चाहिए कि हम उषा के होते ही यज्ञादि उत्तम कर्मों में इसे प्रवृत्त करें। यही इसका स्तवन है, यही इसे विषयों से बचाने का मार्ग है। यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहने पर यह 'अदिति' बनता है और हमें निष्पाप बनाता है। (२) **सः**=वह **मित्रेण**=मित्र से व **वरुणेन**=वरुण से **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होता है। मित्र व वरुण से संगत हुआ-हुआ यह मन सदा स्नेहवाला (मित्र) व द्वेष की भावना से रहित (वरुण) होता है।

भावार्थ—मन को उषा के होते ही यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त करना चाहिए, तभी यह विषयों

से न खण्डित हुआ-हुआ, सस्नेह व निर्द्वेष बना रहता है और हमें निष्पाप जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'वरुण-मित्र-अग्नि व इन्द्र' को पुकारना

दधिक्राव्ण इष ऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्।
स्वस्तये वरुणं मित्रमग्निं हवामह इन्द्रं वज्रबाहुम् ॥ ४॥

(१) हम **दधिक्राव्णः**=इस धारण करके गति करनेवाले **इषः**=प्रभु की प्रेरणा प्राप्त करनेवाले, **ऊर्जः**=बल व प्राण शक्ति से सम्पन्न **महः**=महान् मन का **यद्**=जब **अमन्महि**=स्तवन करते हैं-इस मन का महत्त्व समझकर इसे अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं, तो **मरुताम्**=मनुष्यों का **भद्रं नाम**=निश्चय से कल्याण होता है। वशीभूत मन ही कल्याण का साधक है। (२) **स्वस्तये**=कल्याणप्राप्ति के लिए हम **वरुणम्**=वरुण को, **मित्रम्**=मित्र को, **अग्निम्**=अग्नि को **हवामहे**=पुकारते हैं। **वज्रबाहुम्**=वज्र को हाथ में लिए हुए **इन्द्रम्**=इन्द्र को पुकारते हैं। 'मित्र को पुकारना' अर्थात् मन को सस्नेह बनाने का प्रयत्न करना। 'वरुण को पुकारना' अर्थात् मन को निर्द्वेष बनाना। 'अग्नि को पुकारना' अर्थात् सदा आगे बढ़ने की भावनावाला होना। और 'वज्रबाहु इन्द्र को पुकारना' अर्थात् सदा क्रियाशील हाथोंवाला जितेन्द्रिय बनना, कर्मों में लगे रहना और इन्द्रियों को विषयों में नहीं फँसने देना। इस प्रकार 'वरुण, मित्र, अग्नि व वज्रबाहु इन्द्र' बनना ही कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ—हम मन का महत्त्व समझें। इसे वश में करके अपना कल्याण सिद्ध करें। निर्द्वेष, सस्नेह, प्रगतिशील व कर्मठ जितेन्द्रिय बनकर कल्याण-मार्ग का अनुसरण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

युद्धों व यज्ञों में सफलता का साधक मन

इन्द्रमिवेदुभये वि ह्वयन्त उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्तः।
दधिक्रामु सूदनं मर्त्याय ददथुर्मित्रावरुणा नो अश्वम्॥ ५॥

(१) **इत्**=निश्चय से **उदीराणाः**=युद्ध के लिए उद्योग करते हुए और **यज्ञं उपप्रयन्तः**=यज्ञ को समीपता से प्राप्त होते हुए **उभये**=दोनों ही **इन्द्रं इव**=जैसे प्रभु को **विह्वयन्ते**=पुकारते हैं, इसी प्रकार वे **दधिक्राम्**=हमारा धारण करके गति करनेवाले इस मन को **उ**=भी पुकारते हैं। यह मन ही उन्हें युद्धों में विजयी बनाता है और यज्ञों में सफल करता है। (२) **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **नः**=हमारे लिए **अश्वम्**=इस मनरूप अश्व को **ददथुः**=देते हैं, जो कि **मर्त्याय**=मनुष्य के लिए **सूदनम्**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाला है। जिस समय मनुष्य मन में स्नेह (मित्र) व निर्द्वेषता (वरुण) की भावना को भरता है, उस समय सब आसुरभावों से ऊपर उठकर पवित्र भावनाओंवाला बनता है।

भावार्थ—युद्धों व यज्ञों में सफलता इस मन द्वारा ही प्राप्त होती है। यह मन ही प्रेम व निर्द्वेषता के भाव से युक्त होकर सब आसुरभावों से दूर होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मधुरभाषण व दीर्घजीवन

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६॥

(१) मैं **दधिक्राव्णः**=धारण करके गति करनेवाले इस मन का **अकारिषम्**=स्तवन करता हूँ। जो मन **जिष्णोः**=विजयशील है, **अश्वस्य**=(अशू व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला है, **वाजिनः**=जो शक्तिशाली है। इस मन को मैं अपने अनुकूल करने का प्रयत्न करता हूँ। (२) यह दधिक्रावा (मन) **नः**=हमारे **मुखा**=मुखों को **सुरभि करत्**=सुगन्धित करता है और **नः**=हमारे **आयूंषि**=आयुष्यों को **प्रतारिषत्**=अत्यन्त दीर्घ करता है। मन के वशीभूत होने पर हम मधुर शब्द बोलते हैं और दीर्घजीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—मन 'जिष्णु, अश्व व वाजी' है। इसको वशीभूत करके हम मधुरभाषी व दीर्घजीवी बनते हैं।

अगले सूक्त का प्रारम्भ भी इसी दधिक्रावा के वर्णन से करते हैं—

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्रावा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जिष्णु=सदा विजयी

दधिक्राव्ण इदु नु चर्किराम विश्वा इन्मामुषसः सूदयन्तु।
अपामग्नेरुषसः सूर्यस्य बृहस्पतेराङ्गिरसस्य जिष्णोः ॥ १ ॥

(१) **नु**=अब **इत् उ**=निश्चय से **दधिक्राव्णः**=हमारा धारण करके गति करनेवाले इस मन की **चर्किराम**=हम स्तुति करें। इस मन का महत्त्व समझें। **इत्**=निश्चय से **विश्वाः उषसः**=सब उषाकाल **माम्**=मुझे **सूदयन्तु**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करें। मन को वश में करके हम सदा यज्ञादि कर्मों में ही प्रवृत्त हों। (२) हम इन उषाओं में **अपाम्**=(आपः रेतो भूत्वा०) इन रेतःकणों का स्तवन करें। इनका स्तवन करते हुए इनके रक्षण का निश्चय करें। **अग्नेः**=हम (अग्नि वाग् भूत्वा०) वाणी का उपासन करें। वाणी से भद्र शब्दों को ही बोलने का निश्चय करें। **उषसः**=उषा का स्तवन करें। इस समय प्रबुद्ध होकर सब मलों के दग्ध करने का निश्चय करें (उष दाहे)। **सूर्यस्य**=सूर्य का स्तवन करें–ज्ञानसूर्य को उदित करने के लिए यत्नशील हों। **बृहस्पतेः**=बृहस्पति–ब्रह्मणस्पति का स्तवन करें। ऊँचे से ऊँचे स्थान में पहुँचने के लिए यत्नशील हों। ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति बनें। **आंगिरसस्य**=अंगिरस् के उपासक हों। एक-एक अंग को रसमय-लोच-लचकवाला बनाएँ। हमारे अंग सूखे काठ की तरह निर्जीव से न हो जाएँ। **जिष्णोः**=हम जिष्णु-विजयशील के उपासक हों। जीवन में सदा विजेता बनें। कभी पराजित न हों।

भावार्थ—मन को वशीभूत करके हम दिव्य भावनाओं का उपासन करते हुए सदा विजयी बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्रावा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दुवन्यसत्-तुरण्यसत्

सत्वा भरिषो गविषो दुवन्यसच्छ्रवस्यादिष उषसस्तुरण्यसत्।
सत्यो द्रवो द्रवरः पतङ्गरो दधिक्रावेषमूर्जं स्वर्जनत् ॥ २ ॥

(१) **सत्वा**=(सद् गतौ) गतिशील यह **दधिक्रावा**=हमारा धारण करके क्रमण करनेवाला मन **भरिषः**=हमारे भरण में कुशल है। मन ओजस्वी हो, तो यह शरीर का ठीक धारण करता है। **गविषः**=यह मन ज्ञानवाणियों का प्रेरक है। **दुवन्यसत्**=प्रभु के उपासकों में स्थित होता है (दुवन्येषु सीदति)। उपासना की वृत्ति होने पर मन स्थिर हो ही जाता है। उस समय यह हमारा

मन **द्रवः**=प्रभु की प्रेरणाओं द्वारा और **उषसः**=(उष दाहे) दोषों के दहन द्वारा **श्रवस्यात्**=ज्ञान की कामना करे। यही मन सर्वश्रेष्ठ होता है। **तुरण्यसत्**=सदा त्वरा से यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहनेवालों में यह आसीन होता है। मन को स्थिर करने के दो ही साधन हैं—(क) उपासना, (ख) यज्ञादि कर्मों में लगे रहना। (२) **सत्यः**=(सत्सु तायमानः) उत्तम कर्मों में यह शक्ति के विस्तार को प्राप्त करता है। **द्रवः**=गतिशील होता है। **द्रवरः**=इन्द्रियों को गतिवाला बनाता है (Driver)। **पतङ्गरः**=निम्न गतिवाला होता हुआ हमें निगल जाता है। यदि मन विषयों की ओर चला गया, तो यह विनाश का कारण बनता ही है। विषयों की ओर न गया हुआ यह दधिक्रावा=मन **इषम्**=प्रभुप्रेरणा को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को तथा **स्वः**=प्रकाश को **जनत्**=उत्पन्न करता है।

भावार्थ—वशीभूत मन 'प्रभुप्रेरणाप्राणशक्ति व प्रकाश' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्रावा॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

बहिर्मुखी मन व अन्तर्मुखी मन

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पुर्णं न वेरनु वाति प्रगर्धिनः।
श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः॥ ३॥

(१) **उत**=और **स्म**=निश्चय से **द्रवतः**=गति करते हुए **तुरण्यतः**=त्वार से कर्मों में व्याप्त होते हुए **प्रगर्धिनः**=भौतिक वस्तुओं की लालसावाले इस मनरूपी पक्षी का **पर्णम्**=पंख **वेः न**=पक्षी के पंख के समान ही **अनुवाति**=गतिवाला होता है। उस समय भौतिक विषयों की ओर गया हुआ यह मन अत्यन्त चञ्चल होता है। (२) इस **ऊर्जा सह**=बल व प्राणशक्ति के साथ **तरित्रतः**=संसार सागर को तैरनेवाले **अंकसं परि ध्रजतः**=(अंकस्=the body) शरीर की ओर गति करते हुए, विषय वासनाओं से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होते हुए **दधिक्राव्णः**=मन का **वर्णम्**=पालनात्मक कर्म **श्येनस्य इव**=श्येन की तरह होता है-शंसनीय गतिवाले पक्षी की तरह होता है। श्येन जैसे अपने शत्रुओं का विनाश कर डालता है, इसी प्रकार यह प्रत्याहृत होता हुआ मन सब शत्रुओं का विनाश करता है। आसुरभावनाओं के विनाश से हमारा मन प्रशंसनीय गतिवाला हो जाता है।

भावार्थ—विषयाभिलाषी मन तीव्र गति से इधर-उधर भटकता है। भवसागर को तैरने की कामनावाला मन शरीर की ओर लौटता है और आसुरभावों को विनष्ट करके प्रशंसनीय होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्रावा॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संयम व अभ्रंश

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत्पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत्॥ ४॥

(१) **उत**=और **स्यः**=वह **वाजी**=बलवान् मन **क्षिपणिम्**=(a net) विषय जाल को **तुरण्यति** (तुर्=overcome)=जीतता है। विषयों से युद्ध करता है। उस समय यह **ग्रीवायां बद्धः**=इस ग्रीवा में-भोज्य पदार्थों को निगलनेवाली गरदन में बँधा हुआ होता है। ग्रीवा के बन्धन को धारण करता है-खान-पान में बड़े संयम से चलता है। **अपि कक्षे**=कक्ष प्रदेश में बद्ध होकर चलता है, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करता है तथा **आसनि**=मुख में यह बँधा हुआ होता है-वाणी का संयम करके हित मितभाषी होता है। (२) **दधिक्राः**=यह मन **क्रतुम्**=प्रज्ञान व यज्ञादि कर्मों के **अनु**=अनुसार **संतवीत्वत्**=प्रवृद्ध बलवाला होता हुआ **पथां अंकांसि अनु**=मार्गों के चिह्नों

के अनुसार **आपनीफणत्**=निरन्तर गतिवाला होता है, महाजनों के मार्ग चिह्नों पर ही यह चलता है—कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता।

भावार्थ—विषयजाल को परे फेंक कर मन खाने व बोलने के व्रत को धारण करता हुआ संयमी होता है। यह मार्गभ्रष्ट नहीं होता।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रभुदर्शन

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥ ५॥

(१) गतमन्त्र का मार्ग से न भ्रष्ट होनेवाला 'मन' प्रभु को देखता है और कह उठता है कि वे प्रभु ही **हंसः**=(हन्ति पाप्मानं) सब पापों को नष्ट करते हैं और **शुचिषद्**=पवित्र हृदय में आसीन होते हैं। **वसुः**=वे ही सबको वसानेवाले हैं और **अन्तरिक्षसद्**=(अन्तरिक्ष) मध्यमार्ग में आसीन होते हैं, अर्थात् मध्यमार्ग में चलनेवाले पुरुष को प्राप्त होते हैं। **होता**=वे ही वस्तुतः सब यज्ञादि कर्मों को करनेवाले हैं और **वेदिषत्**=यज्ञवेदि में आसीन होते हैं। **अतिथिः**=निरन्तर गतिवाले वे प्रभु **दुरोणसत्**=हमारे निर्मल शरीरगृहों में (दुर् ओण्) स्थित होते हैं। (२) **नृषत्**=निरन्तर आगे बढ़नेवालों में वे स्थित होते हैं। **वरसद्**=श्रेष्ठों में स्थित होते हैं। **ऋतसद्**=सत्यकर्मा पुरुषों में स्थित होते हैं। **व्योमसद्**=(वी+ओम्, वी गतौ अव रक्षणे) गति द्वारा वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचानेवालों में ये प्रभु स्थित होते हैं। (३) **अब्जाः**=(अप्सु जायते) नदियों के निरन्तर बहते हुए जलों में प्रभु की महिमा का प्रादुर्भाव होता है। **गोजाः**=इस पृथिवी में (पुण्यगन्ध के रूप में) प्रभु प्रादुर्भूत होते हैं। **ऋतजाः**=सृष्टि के अटल नियमों में (ऋत right) प्रभु का प्रादुर्भाव हो रहा है। **अद्रिजाः**=पर्वतों के अद्भुत दृश्यों में प्रभु दिखते हैं। **ऋतम्**=वे प्रभु स्वयं ऋत हैं—सत्यस्वरूप हैं।

भावार्थ—शुद्ध हृदय होकर हम 'हंस' के रूप में प्रभु का दर्शन करें। यह प्रभुदर्शन हमारे सब पापों को नष्ट करे।

अगले सूक्त में 'इन्द्र व वरुण' के नाम से प्रभु का आराधन है—

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'नमस्वान्-क्रतुमान्' स्तोम

इन्द्रा को वां वरुणा सुम्नमाप स्तोमो हविष्माँ अमृतो न होता।
यो वां हृदि क्रतुमाँ अस्मदुक्तः पस्पर्शदिन्द्रावरुणा नमस्वान्॥ १॥

(१) 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली है (इदि परमैश्वर्ये)। 'वरुण' सब बुराइयों का निवारण करनेवाला है। सब बुराइयों के निवारण से ही परमैश्वर्य की प्राप्ति होती है। इन्हें संबोधन करते हुए कहते हैं कि **इन्द्रावरुणा**=हे इन्द्र और वरुण देवो! **कः**=कौन **वाम्**=आपके **सुम्नम्**=आनन्द को **आप**=प्राप्त करता है? संसार के विषयों में न फँसनेवाला कोई विरल व्यक्ति ही इन्द्र व वरुण के आनन्द को प्राप्त कर पाता है। वह इस आनन्द को प्राप्त करता है, **यः**=जो कि **स्तोमः**=(स्तोमः अस्य अस्ति इति) स्तुतिवाला बनता है, **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन (भक्षण) वाला होता है। **अमृतः न**=अमृत-सा, सदा नीरोग-सा बनता है अथवा विषयवासनाओं के पीछे मरता नहीं।

होता=यज्ञशील होता है। (२) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण देवो! **यः**=जो **अस्मदुक्तः**=हमारे से उच्चरित हुआ-हुआ **वां हृदि**=आपके हृदय में **पस्पर्शत्**=स्पर्श करे, वही स्तवन ठीक है। यही स्तवन हमें इन्द्र और वरुण के सुख को प्राप्त करानेवाला होता है। यह स्तोम **क्रतुमान्**=यज्ञादि उत्तम कर्मोंवाला है और **नमस्वान्**=नम्रता से युक्त है। वस्तुतः जब हम नम्र व यज्ञशील बनकर प्रभु का स्तवन करते हैं, तभी हम प्रभु के प्रिय होते हैं।

भावार्थ—हम नम्र व यज्ञशील बनकर प्रभु का स्तवन करें। यही स्तवन हमें प्रभु का प्रिय बनाएगा और हम प्रभु के आनन्द में भागी हो सकेंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

इन्द्र व वरुण के साथ मैत्री

इन्द्रा ह यो वरुणा चक्र आपी देवौ मर्तः सख्याय प्रयस्वान्।
स हन्ति वृत्रा समिथेषु शत्रूनवोभिर्वा महद्भिः स प्र शृण्वे॥ २॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित 'नमस्वान्-क्रतुमान् स्तोम' द्वारा **ह**=निश्चय से **यः**=जो **मर्तः**=मनुष्य **इन्द्रावरुणा देवौ**=परमैश्वर्यशाली पाप-निवारक देव को **आपी चक्रे**=मित्र बनाता है और जो **सख्याय**=इनकी मित्रता के लिए **प्रयस्वान्**=उद्योगवाला होता है। **सः**=वह **वृत्रा हन्ति**=ज्ञान की आवरणभूत सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला होता है। प्रभु की मित्रता में वासनारूप शत्रुओं का विनाश हो ही जाता है। महादेव के सामने कामदेव का क्या काम? (२) यह इन्द्र और वरुण को अपना मित्र बनानेवाला व्यक्ति **समिथेषु**=संग्रामों में **शत्रून् हन्ति**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को विनष्ट करता है। **वा**=और **महद्भिः अवोभिः**=महान् रक्षणों से **सः**=वह **प्रशृण्वे**=प्रसिद्ध होता है-यह बड़े-बड़े प्रलोभनों में भी अपना रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—हम इन्द्र व वरुण के मित्र बनने का प्रयत्न करें। यह मैत्री ही हमें विजयी बनाएगी।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

श्रेष्ठ रत्नों की प्राप्ति

इन्द्रा ह रत्नं वरुणा धेष्ठेत्था नृभ्यः शशमानेभ्यस्ता।
यदी सखाया सख्याय सोमैः सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते॥ ३॥

(१) हे **ता इन्द्रावरुणा**=प्रसिद्ध परमैश्वर्यशाली पापनिवारक देवो! आप **शशमानेभ्यः**=प्लुतगति से कर्म करनेवाले (शश प्लुत गतौ) और इन कर्मों द्वारा ही प्रभु का शंसन करनेवाले (शंसमानेभ्यः) **नृभ्यः**=लोगों के लिए **इत्था**=सचमुच **रत्नं धेष्ठा**=रमणीय धनों को धारण करते हो। (२) यह आप तब करते हो, **यद्**=जब कि **ई**=निश्चय से **सखाया**=मित्रभूत आप **सुतेभिः सोमैः**=उत्पन्न हुए-हुए सोमों से तथा **सुप्रयसा**=उत्तम सात्त्विक अन्नों के सेवन से **सख्याय**=मित्रता के लिए **मादयैते**=प्रसन्न होते हो। इन्द्र और वरुण हमारे मित्र तभी बनते हैं, जब कि हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए सोम का रक्षण करते हैं। यह सोमरक्षण ही हमें 'इन्द्र-वरुण' के जैसा बनने में समर्थ करता है। तभी हम रमणीय रत्नों के भागी होते हैं।

भावार्थ—(क) हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करें, (ख) सोम का शरीर में ही व्यापन करें, (ग) सदा कर्मशील बने रहें। यही मार्ग है 'इन्द्र व वरुण' के प्रिय बनने का।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'दुरेव वृकति व दभीति' का विनाश

इन्द्रा युवं वरुणा दिद्युमस्मिन्नोजिष्ठमुग्रा नि वधिष्टं वज्रम्।
यो नो दुरेवो वृकतिर्दभीतिस्तस्मिन्मिमाथामभिभूत्योजः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण! **युवम्**=आप **उग्रा**=अत्यन्त तेजस्वी हो। **अस्मिन्**=इस हमारे शत्रु पर **दिद्युम्**=दीप्त **ओजिष्ठम्**=ओजस्वितम **वज्रम्**=वज्र को **निवधिष्टम्**=निश्चय से प्रहत करो। आपके वज्र से यह हमारा शत्रु सुतरां विनष्ट हो जाए। (२) **यः**=जो **नः**=हमारा **दुरेवः**=दुष्ट आचरणवाला (दुर् एव) कामरूप शत्रु है, **वृकतिः**=आदान की वृत्तिवाला कभी न तृप्त होनेवाला लोभरूप शत्रु है, **दभीतिः**=हिंसन के स्वभाववाला क्रोधरूप शत्रु है। **तस्मिन्**=उस 'काम-लोभ-क्रोध' रूप शत्रु पर **अभिभूत्योजः**=अभिभावक बल को **मिमाथाम्**=बनाओ। इस शत्रु के विनाश के लिए इस अभिभावक बल का प्रयोग करो। इन शत्रुओं के विनष्ट होने पर ही हम विनाश से बच पाते हैं।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण का उपासन हमें 'दुराचरणवाले काम, औरों के धन को भी छीननेवाले लोभ तथा हिंसकवृत्तिवाले क्रोध' से बचाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदधेनु का हमारे जीवन में प्रेरण

इन्द्रा युवं वरुणा भूतमस्या धियः प्रेतारा वृषभेव धेनोः।
सा नो दुहीयद्यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र व वरुण देवो! **युवम्**=आप दोनों **वृषभा इव**=हमारे पर सुखों का सेचन करनेवालों के समान हो। आप **अस्याः**=इस **धेनोः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौ की **धियः**=बुद्धियों को-ज्ञानों को **प्रेतारा भूतम्**=प्रेरित करनेवाले होओ। इन्द्र व वरुण की कृपा से हमारे लिए यह वेदधेनु प्रेरित हो। (२) **सा**=वह वेदधेनु **नः**=हमारे लिए **यवसा इव**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) सब बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रण के हेतु से ही **गत्वी**=गतिवाली होकर **दुहीयत्**=ज्ञानदुग्ध का प्रपूरित करनेवाली हो। यह **गौः**=सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली वेदरूप गौ **सहस्रधारा**=सहस्रों प्रकार से हमारा धारण करनेवाली है। **पयसा मही**=अपने ज्ञानदुग्ध के कारण महनीय है। मानव जीवन में इसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण हमारे लिए वेदवाणी रूप गौ को प्रेरित करते हैं। यह हमारे लिए ज्ञानदुग्ध को प्राप्त कराके हमारा नाना प्रकार से धारण करती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु विनाश व सुन्दर जीवन

तोके हिते तनय उर्वरासु सूरो दृशीके वृषणश्च पौंस्ये।
इन्द्रा नो अत्र वरुणा स्यातामवोभिर्दस्मा परितक्म्यायाम्॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार हमारे जीवनों में वेदधेनु को प्रेरित करके ज्ञान के प्रपूरण द्वारा **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण **अत्र**=यहाँ **परितक्म्यायाम्**=अज्ञानान्धकार से आवृत जीवन- रात्रि में (परितक्म्या=रात्रि) **नः**=हमारे लिए **अवोभिः**=रक्षणों द्वारा **दस्मा**=काम-क्रोध-लोभ आदि

शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले **स्याताम्**=हों। (२) ये इन्द्र और वरुण हमें काम आदि शत्रुओं से इसलिए ऊपर उठाएँ कि **तोके हिते**=हितकर सन्तानों के निमित्त। (हिते तनये) हितकर पौत्रों के निमित्त। **उर्वरासु**=नये-नये विचारों को जन्म देनेवाली बुद्धियों के निमित्त। **सूरः दृशीके**=सूर्य के चिरकाल तक दर्शन के निमित्त-चिर जीवन के लिए। **च**=और **वृषणः पौंस्ये**=शक्तिशाली पुरुष के वीरतापूर्ण कर्मों के निमित्त। वेदज्ञान को प्राप्त करके जब काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठते हैं, तो हमें यदा (क) हितकार्यों में प्रवृत्त होनेवाले सन्तान मिलते हैं, (ख) हमारी बुद्धि उर्वरा होती है, (ग) हम दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं और (घ) शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमें 'उत्तम सन्तान, उर्वरा बुद्धि, दीर्घजीवन तथा शक्ति' प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पितरा इव शम्भू

युवामिद्ध्यवसे पूर्व्याय परि प्रभूती गविषः स्वापी।
वृणीमहे सख्याय प्रियाय शूरा मंहिष्ठा पितरेव शंभू॥ ७॥

(१) **गविषः**=(गो इष्) ज्ञानवाणियों की कामनावाले हम **पूर्व्याय अवसे**=हमारा पालन व पूरण करने में उत्तम रक्षण के लिए **युवां इत् हि**=हे इन्द्र और वरुण! आपको ही **परिवृणीमहे**=सर्वथा वरनेवाले हैं। आप ही **प्रभूती**=प्रकृष्ट ऐश्वर्यवाले हैं तथा **स्वापी**=उत्तम बन्धु हैं। (२) हम **प्रियाय सख्याय**=सदा प्रीति को देनेवाली मित्रता के लिए आप को वरते हैं। जो आप **शूरा**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हैं, **मंहिष्ठा**=हमें अधिक से अधिक उन्नति के साधनभूत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **पितरा इव शम्भू**=माता-पिता के समान हमारे लिए शान्ति को भावित करनेवाले हैं।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण ही हमारे सच्चे मित्र हैं। ये ही हमारा रक्षण करते हैं। हमारा जीवन शान्त बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

इन्द्र व वरुण का स्तवन

ता वां धियोऽवसे वाजयन्तीराजिं न जग्मुर्युवयूः सुदानू।
श्रिये न गाव उप सोममस्थुरिन्द्रं गिरो वरुणं मे मनीषाः॥ ८॥

(१) हे **सुदानू**=शोभन ज्ञानों के देनेवाले इन्द्र और वरुण! **वाजयन्तीः**=शक्ति की कामनावाली **युवयूः**=आप को प्राप्त करने की कामनावाली **ताः धियः**=वे स्तुतियाँ **अवसे**=रक्षण के लिए **वां जग्मुः**=आपके प्रति प्राप्त होती हैं। इस प्रकार प्राप्त होती हैं, **न**=जैसे कि **आजिम्**=युद्ध को सेनाएँ प्राप्त हुआ करती हैं। जीवन भी एक संग्राम है। इसमें विजय-प्राप्ति के लिए अपने को सशक्त बनाने की कामनावाली प्रजाएँ इन्द्र और वरुण का स्तवन करती हैं। (२) **न**=जैसे **गावः**=ये वेदवाणियाँ **श्रिये**=शोभा के लिए **सोमम्**=सोमरक्षण करनेवाले विनीत विद्यार्थी को **उप अस्थुः**=समीपता से प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार **मे गिरः**=मेरी ये ज्ञानवाणियाँ तथा **मनीषाः**=मननपूर्वक की जाने वाली स्तुतियाँ **इन्द्रं वरुणम्**=इन्द्र व वरुण का उपासन करती हैं। इन्द्र व वरुण का उपासन करती हुई ये मेरी शोभा की वृद्धि के लिए होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण की उपासना से ज्ञानवृद्धि को प्राप्त करके हम जीवन को शोभा-सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

धन व ज्ञान (धन) की प्राप्ति

इमा इन्द्रं वरुणं मे मनीषा अग्मन्नुप द्रविणमिच्छमानाः।
उपेमस्थुर्जोष्टारइव वस्वो रघ्वीरिव श्रवसो भिक्षमाणाः॥ ९॥

(१) **द्रविणम्**=ज्ञानधन को **इच्छमानाः**=चाहती हुई **इमाः**=ये **मे**=मेरी **मनीषाः**=बुद्धियाँ व स्तुतियाँ **इन्द्रम्**=इन्द्र को व **वरुणम्**=वरुण को **उप अग्मन्**=समीपता से प्राप्त होती हैं। इन्द्र व वरुण की उपासना से ही तो ज्ञानधन की प्राप्ति होती है। इन्द्र व वरुण की सच्ची उपासना यही है कि हम जितेन्द्रिय व निर्द्वेष बनें। यह जितेन्द्रिय (इन्द्र) निर्द्वेष (वरुण) व्यक्ति ही ज्ञानी बन पाता है। (२) मेरी बुद्धियाँ **ईम्**=निश्चय से इन्द्र व वरुण का **उप अस्थुः**=उपासन इस प्रकार करती हैं, **इव**=जैसे कि **जोष्टारः**=सेवक लोग **वस्वः भिक्षमाणाः**=धन का भिक्षण करते हुए स्वामी के समीप उपस्थित होते हैं और **इव**=जैसे कि **श्रवसः**=(भिक्षमाणाः) ज्ञान का भिक्षण करती हुई **रघ्वीः**=छोटी-छोटी प्रजाएँ (छोटे बालक) आचार्य के समीप उपस्थित होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण का उपासन ही हमें धन व ज्ञान (धन) को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अश्व्य व रथ्य धन

अश्व्यस्य त्मना रथ्यस्य पुष्टेर्नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
ता चक्राणा ऊतिभिर्नव्यसीभिरस्मत्रा रायो नियुतः सचन्ताम्॥ १०॥

(१) हम **त्मना**=स्वयं, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से **रायः**=धन के **पतयः**=स्वामी **स्याम**=हों। उस धन के, जो कि **नित्यस्य**=अस्थिर नहीं है, **अश्व्यस्य**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला है तथा **रथ्यस्य**=उत्तम शरीर रूप रथवाला है तथा **पुष्टेः**=हमारा उचित पोषण करनेवाला है। धन वही हमें धन्य बनानेवाला है, जिसके द्वारा इन्द्रियाँ सशक्त बनी रहें, शरीर दृढ़ बना रहे तथा परिवार के सभी व्यक्तियों का जिसके द्वारा उचित पोषण होता रहे। (२) **ता**=वे इन्द्र और वरुण **नव्यसीभिः ऊतिभिः**=स्तुत्य रक्षणों द्वारा **चक्राणा**=हमारे लिए सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले हों। उनकी कृपा से **अस्मत्रा**=हमारे जीवन में **रायः**=सब ऐश्वर्य तथा **नियुतः**=उत्तम इन्द्रियाश्व **सचन्ताम्**=समवेत हों। हमें ऐश्वर्य तथा उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त हों।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण की कृपा से हमें वे धन प्राप्त हों, जो कि इन्द्रियों व शरीर को उत्तम बनाएँ-हमारा ठीक से पोषण करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

क्रियाशीलता व व्रतबन्धन

आ नो बृहन्ता बृहतीभिरूती इन्द्र यातं वरुण वाजसातौ।
यद्दिद्यवः पृतनासु प्रक्रीळान्तस्य वां स्याम सनितार आजेः॥ ११॥

(१) हे **बृहन्ता**=अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त **इन्द्र वरुण**=इन्द्र और वरुण! आप **वाजसातौ**=इस जीवनसंग्राम में **बृहतीभिः**=हमारी वृद्धि की कारणभूत **ऊती**=रक्षणों के साथ **नः**=हमें **आयातम्**=प्राप्त

होओ। इन्द्र और वरुण की कृपा से ही हमने इस जीवनसंग्राम में विजयी बनना है। (२) **यद्**=जब **दिद्यवः**=दीप्त अस्त्र **पृतनासु**=शत्रु-सैन्यों पर **प्रक्रीडान्**=खेलनेवाले हों, **तस्य**=उस **वाम्**=आपके **आजेः**=संग्राम के **सनितारः**=सेवन करनेवाले **स्याम**=हों। हमारे जीवन के अध्यात्म-संग्राम में काम-क्रोध आदि शत्रु इन्द्र के वज्र से प्रहृत हों तथा वरुण के पाशों से जकड़े जाएँ। 'इन्द्र के वज्र' का भाव यह है कि हम जितेन्द्रिय बनकर सदा क्रियाशील बने रहें। 'वरुण के पाशों' का भाव यह है कि हम पापों के निवारण के लिए अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाले हों। ऐसा होने पर ही हम अध्यात्म-संग्राम में विजयी बनते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र के उपासक बनकर जितेन्द्रिय व क्रियाशील हों। वरुण के उपासक बनकर व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधकर निष्पाप बनें।

इस प्रकार इन्द्र व वरुण का उपासक 'त्रसदस्यु' बनता है, जिससे दास्यव वृत्तियाँ भयभीत होकर दूर भागती हैं। यह 'पौरुकुत्स्य' होता है, अत्यन्त ही बुराई का संहार करनेवाला यह प्रार्थना करता है कि—

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'श्रमशील उपासक' का जीवन

मम॑ द्वि॒ता रा॒ष्ट्रं क्ष॒त्रिय॑स्य वि॒श्वायो॒र्विश्वे॑ अ॒मृता॒ यथा॑ नः।
क्रतुं॑ सचन्ते॒ वरु॑णस्य दे॒वा राजा॑मि कृ॒ष्टेरु॑प॒मस्य॑ व॒व्रेः॥ १॥

(१) **क्षत्रियस्य**=क्षतों से अपना त्राण करनेवाले, **विश्वायोः**=पूर्ण जीवनवाले (शरीर में स्वस्थ, मन में निर्मल तथा बुद्धि में तीव्र) **मम**=मेरा **राष्ट्रम्**=यह शरीररूप राष्ट्र **द्विता**=दोनों का विस्तार करनेवाला है, शरीर में शक्ति का तथा मस्तिष्क में दीप्ति का। (२) मैं ऐसा प्रयत्न करता हूँ कि **विश्वे अमृताः**=सब देव **यथा**=जैसे **नः**=हमारे होते हैं। **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **वरुणस्य क्रतुम्**=वरुण के प्रज्ञान व शक्ति को **सचन्ते**=प्राप्त करते हैं। देवों को-दिव्य गुणों को अपनाकर मैं देव बनता हूँ। देव बनकर वरुण की शक्ति व प्रज्ञा को प्राप्त करता हूँ। (३) ऐसा होने पर मैं **कृष्टेः**=एक श्रमशील व्यक्ति के, **उपमस्य**=प्रभु के अन्तिकतम व्यक्ति के-प्रभु के उपासक के **वव्रेः**=रूप या **राजामि**=राजा होता हूँ। मेरा जीवन एक 'श्रमशील उपासक' का जीवन होता है।

भावार्थ—मैं क्षत्रिय व विश्वायु बनकर शरीर-राष्ट्र में शक्ति व ज्ञान का विस्तार करता हूँ। प्रयत्न करता हूँ कि मेरा जीवन एक श्रमशील उपासक का जीवन हो।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आसुरभावों का विनाशक बल

अ॒हं राजा॒ वरु॑णो॒ मह्यं॒ तान्य॑सु॒र्या॑णि प्रथ॒मा धा॑रयन्त।
क्रतुं॑ सचन्ते॒ वरु॑णस्य दे॒वा राजा॑मि कृ॒ष्टेरु॑प॒मस्य॑ व॒व्रेः॥ २॥

(१) वरुण की उपासना करता हुआ **अहम्**=मैं स्वयं भी **राजा**=राजा **वरुणः**=देदीप्यमान वरुण बन जाता हूँ। **मह्यम्**=मेरे लिए सब **देवाः**=देव **तानि**=उन **प्रथमा**=मुख्य **असुर्याणि**=असुरों के विघातक बलों को **धारयन्त**=धारण करते हैं। इन बलों को प्राप्त करके मैं आसुरभावों का विनाश करके देव बन जाता हूँ। (२) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **वरुणस्य क्रतुम्**=वरुण की प्रज्ञा व शक्ति

को **सचन्ते**=प्राप्त करते हैं। मैं भी **कृष्टेः**=श्रमशील **उपमस्य**=उपासक के **वव्रेः**=रूप का **राजामि**=राजा बनता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से असुरविघातक बलों को प्राप्त करके मैं प्रभु जैसा ही बनता हूँ।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

जितेन्द्रिय व निष्पाप

अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रजसी सुमेके।
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च॥ ३॥

(१) **अहम्**=मैं **इन्द्रः**=इन्द्र बनता हूँ–जितेन्द्रिय बनता हूँ। **वरुणः**=वरुण बनता हूँ–निष्पाप होता हूँ। जितेन्द्रिय व निष्पाप बनकर **महित्वा**=प्रभु की उपासना द्वारा **ते रजसी**=द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **उर्वी**=विशाल बनाता हूँ, **गभीरे**=गम्भीर बनाता हूँ, **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाला करता हूँ। (२) **त्वष्टा इव**=एक निर्माता के समान **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को-लोकों को-शरीर के अंग-प्रत्यंग को **विद्वान्**=जानता हुआ **समैरयम्**=सम्यक् गतिवाला करता हूँ। सब अंगों को ठीक से कार्य में व्यापृत करता हूँ। **च**=और **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **धारयम्**=धारण करता हूँ-शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही ठीक रखने के लिए यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व निष्पाप बनकर शरीर व मस्तिष्क का ठीक प्रकार से धारण करें।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अदिति का पुत्र 'ऋतावा'

अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्वि भूम॥ ४॥

(१) **अहम्**=मैं **उक्षमाणाः**=शरीर के अंग-प्रत्यंग को सिक्त करते हुए **अपः**=रेतःकणों को **अपिन्वम्**=शरीर में ही सिक्त करता हूँ। शरीर में व्याप्त होकर ये रेतःकण अंग-प्रत्यंग को सुपुष्ट करते हैं। (२) मैं **दिवं**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **ऋतस्य सदने**=ऋत के सदन में-ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में, **धारयम्**=धारण करता हूँ। अपनी बुद्धि से सदा प्रभु का चिन्तन करता हूँ। (३) मैं **ऋतेन**=ऋत द्वारा-सब कार्यों को ठीक समय पर करने द्वारा, **अदितेः पुत्रः**=अदिति का पुत्र बनता हूँ-पूर्ण स्वस्थ बनता हूँ (अ-दिति=खण्डन)-अपने स्वास्थ्य को नष्ट नहीं होने देता। मैं **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाला होता हूँ। **उत**=और **त्रिधातु**=तीनों का जिसमें धारण किया गया है (शरीर, मन व बुद्धि=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यौः) उस **भूम**=पार्थिव शरीर का **वि प्रथयत्**=विशेषरूप से विस्तार करता हूँ। इस शरीर में 'वात, पित्त व कफ़' इन तीनों का ठीक रूप में समन्वय होने पर स्वास्थ्य ठीक बना रहता है 'त्रिधातु' शब्द वस्तुतः इसी बात को व्यक्त कर रहा है। वात की अविकृति शरीर को ठीक रखती है, कफ़ की अविकृति मन को तथा पित्त की अविकृति बुद्धि को ठीक रखती है।

भावार्थ—मैं शरीर में सोमकणों का रक्षण करूँ। मस्तिष्क को प्रभु के विचार में लगाऊँ। ऋत का पालन करते हुए स्वस्थ बनूँ। शरीर में 'वात, पित्त व कफ़' तीनों का ठीक से धारण करूँ।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु को पुकारता व विजयी बनना

मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते।
कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **स्वश्वाः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले, **वाजयन्तः**=शक्ति को प्राप्त करने की कामनावाले **नरः**=उन्नतिपथ पर बढ़नेवाले लोग **माम्**=मुझे **हवन्ते**=पुकारते हैं। **वृताः**=शत्रुओं से घिरे हुए ये लोग **समरणे**=युद्ध में **माम्**=मुझे ही पुकारते हैं। मेरे साहाय्य से ही उन्होंने युद्ध में विजयी बनना होता है। (२) वस्तुतः **अहम्**=मैं **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला **मघवा**=परमैश्वर्यशाली होता हुआ **आजिं कृणोमि**=युद्ध को करता हूँ। **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं के अभिभावक बलवाला मैं ही **रेणुं इयर्मि**=शत्रुओं में भागदौड़ पैदा करके धूल को उड़ानेवाला होता हूँ।

भावार्थ—हम उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले व शक्ति का संचय करनेवाले बनकर प्रभु को पुकारें। इस संसार-संग्राम में प्रभु ही हमें विजयी बनाएँगे।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण व स्तवन

अहं ता विश्वा चकरं नकिर्मा दैव्यं सहो वरते अप्रतीतम्।
यन्मा सोमासो ममदन्यदुक्थोभे भयेते रजसी अपारे॥ ६॥

(१) **अहम्**=मैं **ता विश्वा**=उन सब शत्रुओं के साथ संग्राम आदि कार्यों को **चकरम्**=करता हूँ। **अप्रतीतम्**=युद्ध से पराङ्मुख न होनेवाले **मा**=मुझ को **दैव्यं सहः**=सब देवों का तेज भी **नकिः वरते**=रोक नहीं पाता। प्रकृति की सब सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र आदि में प्रकट होनेवाली शक्तियाँ ही 'दैव्यं सहः' हैं। इन सब का विरोध भी मुझे युद्ध में आगे बढ़ने के निश्चय से विचलित नहीं कर पाता। (२) **यत्**=जब **मा**=मुझे **सोमासः**=सोमकण शरीर में सुरक्षित होकर **ममदन्**=आनन्दित करते हैं और **यद्**=जब **उक्था**=प्रभु के स्तोत्र मुझे आनन्दित करनेवाले होते हैं, तो **उभे**=ये दोनों **अपारे**=अनन्त दूरी तक फैले हुए **रजसी**=द्यावापृथिवी **भयेते**=मेरे से भयभीत होते हैं। सारा संसार ही मेरा विरोध नहीं कर पाता।

भावार्थ—शरीर में सोमकणों का रक्षण और प्रभुस्तवन मुझे वह शक्ति प्राप्त कराते हैं कि सारा संसार भी मेरा विरोध नहीं कर पाता।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वृत्र-हनन व ज्ञान-प्रवाह

विदुष्टे विश्वा भुवनानि तस्य ता प्र ब्रवीषि वरुणाय वेधः।
त्वं वृत्राणि शृण्विषे जघन्वान्त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून्॥ ७॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाला वरुण का स्तवन करता हुआ कहता है कि **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **तस्य ते**=उस तेरी **विदुः**=महिमा को अनुभव करते हैं। हे **वेधः**=संसार के निर्माता सर्वज्ञ प्रभो! आप ही **वरुणाय**=व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले व्यक्ति के लिए **ता**=उन ज्ञानवाणियों को **प्रब्रवीषि**=कहते हैं। (२) **त्वम्**=आप ही **वृत्राणि**

जघन्वान्=वृत्रों-वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **शृण्विषे**=सुने जाते हैं और **त्वम्**=आप ही **वृतान्**=वासनाओं से आवृत हुए-हुए **सप्त सिन्धून्**=शरीरस्थ सप्तर्षियों के सात ज्ञान-प्रवाहों को **अरिणाः**=गतिमय करते हैं। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' ये शरीरस्थ सप्तर्षि हैं। प्रभु ने इन्हें ज्ञानप्राप्ति के लिए शरीर में स्थापित किया है। वासना इस ज्ञानप्रवाह को रोकती है, सो 'वृत्र' कहलाती है। प्रभु इस वृत्र को विनष्ट करके पुनः ज्ञानधाराओं को प्रवाहित करते हैं।

भावार्थ—हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधने का प्रयत्न करें। प्रभु वृत्र का विनाश करके हमारे जीवन में ज्ञान-प्रवाहों को प्रवृत्त करेंगे।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मन का बन्धन

अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ॥ ८ ॥

(१) मन का ग्रहण करना बड़ा कठिन है सो यह 'दौर्गह' है। इस **दौर्गहे**=दुर्ग्रहणीय मन के **बध्यमाने**=बाँधे जाने पर-इस मन को वश में कर लेने पर **अत्र**=इस जीवन में **अस्माकम्**=हमारे **ते**=वे **सप्त ऋषयः**=शरीरस्थ सात ऋषि (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख **पितरः**=पालक **आसन्**=हो जाते हैं। मन के वशीभूत न होने पर ये इन्द्रियाँ विषयों में फँस जाती हैं। इसके वशीभूत हो जाने पर ये ही ज्ञान को प्राप्त कराती हुई हमारा रक्षण करनेवाली होती हैं। (२) **न**=अब (संप्रत्यर्थे) **ते**=वे सप्त ऋषि **त्रसदस्युम्**=जिससे दास्यववृत्तियाँ भयभीत होती हैं, उस पुरुष को **अस्याः**=इस देह द्वारा **इन्द्रम्**=उस प्रभु के साथ **आयजन्त**=मेल कराते हैं, जो कि **वृत्रतुरम्**=वासना को विनष्ट करनेवाले हैं और **अर्धदेवम्**=देवों के समीप वर्तमान हैं (अर्धे समीपे)। मन वश में न था तो यह हमें भटकानेवाला था। वशीभूत हुआ तो यह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला बन गया।

भावार्थ—मन के वशीभूत होते ही इन्द्रियाँ हमारा रक्षण करनेवाली होती हैं और प्रभु से हमारा मेल कराने का साधन बनती हैं।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुरुकुत्सानी

पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः।
अथा राजानं त्रसदस्युमस्या वृत्रहणं ददथुरर्धदेवम् ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=परमैश्वर्यशाली पापनिवारक प्रभो! **पुरुकुत्सानी**=अपना पालन व पूरण करने के लिए वासनाओं के संहार करने की वृत्ति (पृ पालन पूरणयोः, कुथ हिंसायाम्) **हि**=निश्चय से **हव्येभिः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति से-यज्ञशीलता से तथा **नमोभिः**=नम्रता से **वाम्**=आपके प्रति **अदाशत्**=अपना अर्पण करती है। जिस समय मनुष्य में वासनाओं के संहार करने की वृत्ति उत्पन्न होती है, उस समय त्याग की भावना (हव्य) व नम्रता से (नमस्) युक्त होकर प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनता है। (२) **अथा**=अब **राजानम्**=जीवन को दीप्त बनानेवाले **त्रसदस्युम्**=दास्यव-भावों को अपने से दूर करनेवाले इस 'त्रसदस्यु' को **अस्याः**=इस देह के द्वारा **वृत्रहणम्**=वासनाओं के विनाशक **अर्धदेवम्**=सब देवों के समीप वर्तमान उस प्रभु को **ददथुः**=देते हो, अर्थात् इन्द्र और वरुण=जितेन्द्रियता व निष्पापता इसे प्रभु के समीप प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—हमारे में वासनाओं को दूर करने की वृत्ति हो। इस वृत्ति को धारण करके हम 'इन्द्र व वरुण' के उपासक बनें। जितेन्द्रियता व निष्पापता को धारण करें। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञों द्वारा धन का संविभाग

राया वयं ससवांसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः।
तां धेनुमिन्द्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीम् ॥ १० ॥

(१) **वयम्**=हम **राया**=धन के द्वारा **ससवांसः**=संविभाग करते हुए, अर्थात् सबके साथ मिलकर धन का उपभोग करते हुए **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें। हमारे धनों में से **हव्येन**=हव्य द्वारा **देवाः**=सब वायु आदि देव अपने भाग को प्राप्त करें तथा **यवसेन**=घास आदि द्वारा **गावः**=गौवें भी-पशु भी अपना भाग प्राप्त करनेवाले हों। हम 'ब्रह्मयज्ञ' द्वारा राष्ट्र के सब बच्चों के लिए धन का संविभाग करें। 'पितृयज्ञ' द्वारा अपने बड़ों के लिए तथा 'अतिथियज्ञ' द्वारा विद्वानों के लिए धन का संविभाग करते हुए, देवयज्ञ तथा बलिवैश्व देव यज्ञ भी अवश्य करें। (२) हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रियता व निष्पापता के देवो! **युवम्**=आप **नः**=हमारे लिए **विश्वाहा**=सदा **ताम्**=उस **अनपस्फुरन्तीम्**=अविहिंसित **धेनुम्**=वेदवाणी रूप गौ को **धत्तम्**=धारण करो। वेदज्ञान प्राप्त करने के लिए जितेन्द्रियता व निष्पापता सहायक हैं।

भावार्थ—धन को हम यज्ञों के द्वारा बाँटकर उपयुक्त करें। जितेन्द्रिय व निष्पाप बनकर वेदवाणी रूप गौ को प्राप्त करनेवाले हों।

इस सूक्त के अनुसार यज्ञ करनेवाले व्यक्ति 'त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य' कहलाते हैं। अगले सूक्त में 'सौहोत्र' कहलाते हैं। ये अत्यन्त सुखों का सेचन करनेवाले होने से 'पुरुमीढ' हैं और अपनी भी आहुति दे डालने से 'अजमीढ' हैं (अजो ε१०)। ये कहते हैं—

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सुहव्या देवी' सुष्टुति

क उ श्रवत्कतमो यज्ञियानां वन्दारु देवः कतमो जुषाते।
कस्येमां देवीममृतेषु प्रेष्ठां हृदि श्रेषाम सुष्टुतिं सुहव्याम् ॥ १ ॥

(१) **यज्ञियानाम्**=उपासना के योग्य देवों में **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय **कः**=अनिरुक्त-प्रजापति-शब्दों से अवर्णनीय वह प्रभु, **उ**=निश्चय से **श्रवत्**=हमारी इस प्रार्थना को सुनता है। वह **कतमः देवः**=अत्यन्त आनन्दमय देव **वन्दारु**=इस वन्दनशील स्तोत्र को **जुषाते**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। (२) **कस्य**=शब्दों से अवर्णनीय उस प्रभु की **इमाम्**=इस **देवीम्**=हमारे जीवन को प्रकाशमय करनेवाली व दिव्य गुणों से भरनेवाली **सुहव्याम्**=उत्तम शब्दों से पुकारे जानेवाली **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **हृदि श्रेषाम**=हृदय में आलिङ्गित करते हैं, जो कि **अमृतेषु प्रेष्ठाम्**=देवों में प्रियतम है-जो स्तुति देववृत्ति के लोग प्रेमपूर्वक किया करते हैं।

भावार्थ—हमारे से की गयी स्तुति प्रभु के लिए प्रिय हो। यह स्तुति उत्तम शब्दों से उच्चारित की जाती हुई हमारे जीवनों को प्रकाशमय व दिव्य गुणोंवाला बनाए।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम शरीर-रथ

को मृळाति कतुम आगमिष्ठो देवानामु कतुमः शंभविष्ठः।
रथं कमाहुर्द्रवदश्वमाशुं यं सूर्यस्य दुहितावृणीत ॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **सुष्टुत कः**=वे शब्दों से अवर्णनीय प्रभु **मृडाति**=हमें सुखी करते हैं। **कतमः**=वे अत्यन्त आनन्दमय प्रभु **आगमिष्ठः**=हमें प्राप्त होते हैं। **उ**=और **देवानाम्**=देवों के मध्य में **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय वे सर्वमहान् देव **शम्भविष्ठः**=हमारे लिए अधिक से अधिक शान्ति को देनेवाले होते हैं। (२) उस समय **रथम्**=इस शरीर-रथ को भी **कम्**=आनन्दमय **आहुः**=कहते हैं। यह रथ **द्रवदश्वम्**=शीघ्र गतिवाले इन्द्रियाश्वोंवाला होता है, **आशुम्**=शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाला होता है। यह वह रथ होता है, **यम्**=जिसको कि **सूर्यस्य दुहिता**=ज्ञानसूर्य का प्रपूरण करनेवाली बुद्धि **अवृणीत**=वरती है, अर्थात् यह शरीर-रथ बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशमय होता है।

भावार्थ—हमें प्रभु प्राप्त हों। इसी से शान्ति मिलती है। इसी से यह रथ उत्तम गतिवाला व प्रकाशमय होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अन्धकार में भी प्रकाश

मक्षू हि ष्मा गच्छथ ईवतो द्यूनिन्द्रो न शक्तिं परितक्म्यायाम्।
दिव आजाता दिव्या सुपर्णा कया शचीनां भवथः शचिष्ठा ॥ ३ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **हि स्म**=निश्चय से **ईवतः द्यून्**=आगामी दिनों में **मक्षू**=शीघ्र ही **गच्छथः**=हमें प्राप्त होते हो। **न**=जैसे **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **परितक्म्यायाम्**=रात्रि में-अन्धकार में भी **शक्तिम्**=शक्ति को प्राप्त करता है। जीवनयात्रा में घने अन्धकार के भी दिन आते हैं। उन दिनों में एक जितेन्द्रिय पुरुष घबराता नहीं। जैसे यह इन्द्र शक्ति को प्राप्त करता है, इसी प्रकार आगामी दिवसों में हम प्राणापान को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। प्राणापान की आराधना ही हमें जीवनयात्रा में अन्धकारमय दिनों में भी व्याकुलता से बचाएगी। (२) **दिवः आजाता**=ये प्राणापान प्रकाश के हेतु से प्रादुर्भूत किये गये हैं-इनकी साधना से अशुद्धि का क्षय होकर ज्ञान चमक उठता है। **दिव्या**=ये प्राणापान हमारे जीवन में दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले हैं। **सुपर्णा**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं और ये प्राणापान **कया**=अपनी आनन्दप्रद शक्ति से **शचीनां शचिष्ठा भवथः**=अतिशयेन शक्तिवाले होते हैं। प्राणसाधना से हमें अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा प्राणापान की साधना हमारे जीवन में शक्ति का संचार करती है और अन्धकारमय दिनों में भी प्रकाश को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'माध्वी दस्रा' अश्विना

का वां भूदुपमातिः कया न आश्विना गमथो हूयमाना।
को वां महश्चित्त्यजसो अभीक उरुष्यतं माध्वी दस्रा न ऊती ॥ ४ ॥

(१) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **उपमातिः**=उपमा **का भूत्**=क्या हो सकती है। आप तो

शरीर में स्थित आत्मा के अद्भुत सेवक हो। जैसे निष्ठावान् सेवक स्वामी की सेवा में तत्पर रहता है, उसी प्रकार आत्मा के सेवक ये प्राणापान हैं। जब सब सो जाते हैं, तब भी ये प्राणापान जागते ही रहते हैं। **हूयमाना**=पुकारे जाते हुए ये **अश्विना**=प्राणापान **नः**=हमारे लिए **कया**=अद्भुत ही (अवर्णनीय) शक्ति के साथ **आगमथः**=आते हैं। (२) **कः**=कौन **वाम्**=आपके **महः त्यजसः**=महान् त्याग के **अभीके चित्**=समीप भी पहुँच सकता है? ये प्राणापान दिन-रात अनथक सेवक के समान जागते हैं 'तत्र जागृतः अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ'। **माध्वी**=ये हमारे जीवन को अत्यन्त मधुर बनाते हैं। **दस्रा**=हमारी बुराइयों का उपक्षय करते हैं। **नः ऊती**=हमारे रक्षण के लिए होते हैं।

भावार्थ—प्राणपान अद्भुत शक्ति के साथ हमें प्राप्त होते हैं। ये हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं और हमारे सब रोगों का उपक्षय करते हैं।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

द्युलोक की ओर

उरु वां रथः परि नक्षति द्यामा यत्समुद्रादभि वर्तते वाम्।
मध्वा माध्वी मधु वां प्रुषायन्यत्सीं वां पृक्षो भुरजन्त पक्वाः॥ ५॥

(१) हे अश्विनी देवो! प्राणापानो! **वां रथः**=आपकी साधनावाला यह शरीररथ **उरु**=अत्यन्त **द्याम्**=द्युलोक की ओर **परिनक्षति**=सब प्रकार से गतिवाला होता है। **यत्**=क्योंकि **समुद्रात्**=(स-मुद्) उस आनन्दमय प्रभु से यह रथ **वां अभि आवर्तते**=आपकी ओर ही आनेवाला होता है। वस्तुतः प्रभु ने इस शरीर रथ को प्राणापान का ही रथ बनाया है। प्राणसाधना करने पर शरीर में शक्ति का रक्षण होता है। यह शक्ति ज्ञानाग्नि को दीप्ति करती है एवं यह रथ द्युलोक की ओर गति कर रहा होता है-प्रकाशमय लोक की ओर चलता है। (२) **मध्वा**=इस शरीर में रक्षित सोम द्वारा आप **माध्वी**=जीवन को अति मधुर बनाते हो। **वाम्**=आपका **मधु**=यह सोम-आपकी साधना से रक्षित हुआ-हुआ यह सोम **प्रुषायन्**=शरीर के सब अंगों को सिक्त करता है। यह सब होता तब है, **यत्**=जब कि **सीम्**=निश्चय से **वाम्**=आपको **पक्वाः**=पके हुए **पृक्षः**=ये वानस्पतिक अन्न **भुरजन्त**=पोषित करते हैं। (पृक्षः इति अन्ननाम नि० २।७) वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से जब प्राणापान का पोषण होता है, तो शरीर में सोम का रक्षण सुगम होता है। इसके रक्षण से जीवन सशक्त व मधुर बनता है।

भावार्थ—प्रभु ने यह शरीर-रथ वस्तुतः प्राणापान का ही बनाया है। इनकी साधना होने पर यह रथ द्युलोक की ओर (प्रकाश की ओर) गतिवाला होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

रसया-घृणा

सिन्धुर्ह वां रसया सिञ्चदश्वान्घृणा वयोऽरुषासः परि ग्मन्।
तदू षु वामजिरं चेति यानं येन पती भवथः सूर्यायाः॥ ६॥

(१) हे प्राणापानो! **सिन्धुः**=शरीर में प्रवाहित होनेवाला यह सोम **ह**=निश्चय से **वाम्**=आपके **अश्वान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **रसया**=रस से-लोच-लचक से तथा **घृणा**=दीप्ति से **सिंचत्**=सिक्त करता है। सोम के सुरक्षित होने पर इन्द्रियाश्व सूखे काठ की तरह नहीं हो जाते और ये दीप्ति से युक्त बने रहते हैं। उस समय ये इन्द्रियाश्व **वयः**=गतिवाले तथा **अरुषासः**=आरोचमान होते

हुए **परिग्मन्**=सब ओर गतिवाले होते हैं। (२) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तद्**=वह **यानम्**=गमन **ऊ षु**=निश्चय से **अजिरम्**=(अज क्षेपणे) सब मलों को परे फेंकनेवाला **चेति**=जाना जाता है, **येन**=जिस गमन से आप **सूर्यायाः**=सूर्या के **पती**=रक्षक **भवथः**=होते हैं। 'सूर्य की दुहिता' (सूर्या) शरीर में बुद्धि ही है। इसका रक्षण ये प्राणापान ही करते हैं। प्राणसाधना से सब इन्द्रियों के दोष दूर होकर–सब मलिनताओं का निराकरण होकर 'बुद्धि' दीप्त हो उठती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम जहाँ इन्द्रियों को रस व दीप्ति से युक्त करता है, वहाँ ज्ञानाग्नि को भी दीप्त करता है।

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुमति व शक्ति

इहेह यद्वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक्॥ ७॥

(१) हे **समना**=(सं अन प्राणने) सम्यक् प्राणित करनेवाले प्राणापानो! **इह इह**=इस जीवन में और इस जीवन में ही **यद्**=जब **वां पपृक्षे**=मैं आपके सम्पर्क में आता हूँ, अर्थात् आपकी साधना में प्रवृत्त होता हूँ, तो **सा इयम्**=वह यह **अस्मे**=हमारी **सुमतिः**=कल्याणीमति **वाजरत्ना**=शक्तिरूप रमणीय धनवाली होती है। आपकी साधना से जहाँ मुझे बुद्धि प्राप्त होती है, वहाँ मुझे शक्ति भी मिलती है। (२) **युवम्**=आप दोनों **जरितारम्**=स्तोता को **ह**=निश्चय से **उरुष्यतम्**=रक्षित करो। हे **नासत्या**=सब असत्य को हमारे से दूर करनेवाले प्राणापानो! **कामः**=हमारी इच्छा **युवद्रिक्**=आपकी ओर आनेवाली होती हुई **श्रितः**=हमें प्राप्त होती है, अर्थात् हमें आपकी ही साधना का विचार हो। हम प्राणायाम की रुचिवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'सुमति व शक्ति' प्राप्त होती है। सो हमारी कामना यही होती है कि हम प्राणसाधना करनेवाले बनें।

अगला सूक्त भी 'अश्विनौ' का ही है—

[४४] चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पृथुज्रय रथ

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम्॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वयम्**=हम **अद्य**=आज **वाम्**=आपके **तं रथम्**=उस शरीररथ की **हुवेम**=पुकार करते हैं–उस शरीररथ को प्राप्त करने की कामना करते हैं, जो कि **पृथुज्रयम्**=बड़े वेगवाला है–स्फूर्तियुक्त है, **गो संगतिम्**=ज्ञानकिरणों के मेलवाला है। शक्ति के कारण गतिवाला व प्रकाशमय है। (२) **यः**=जो रथ **सूर्याम्**=सूर्य की दुहिता को–बुद्धि को **वहति**=धारण करता है, **वन्धुरायुः**=सब सौन्दर्यों को अपने साथ जोड़नेवाला है। हम उस रथ की कामना करते हैं, जो कि **गिर्वाहसम्**=ज्ञानपूर्वक स्तुतिवाणियों का धारण करता है, **पुरुतमम्**=अत्यन्त पालक व पूरक है, **वसूयुम्**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों को अपने में लिये हुए है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर स्फूर्तिमय, ज्ञान के प्रकाशवाला, बुद्धिसम्पन्न, सुन्दर ज्ञानपूर्वक स्तुतिवाणियों को धारण करनेवाला, नीरोग व उत्तम निवासवाला बनता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

श्रीसम्पन्नता

युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः।
युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत्ककुहासो रथे वाम्॥ २॥

(१) हे **दिवः नपाता**=ज्ञान को न नष्ट होने देनेवाले, **देवता**=(देवते) दिव्यगुणोंवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **शचीभिः**=अपने कर्मों व प्रज्ञानों द्वारा **तां श्रियम्**=उस प्रसिद्ध श्री (शोभा) को **वनथः**=विजय करते हो (Win)। प्राणापान ही कर्मेन्द्रियों से कर्म करते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये शरीर को शोभासम्पन्न करते हैं। (२) **युवो**=आप दोनों के इस **वपुः**=शरीर को **पृक्षः**=सात्त्विक अन्न **अभिसचन्ते**=प्रातः सायं सेवन करते हैं। (**अभि**=दिन के दोनों ओर प्रातः सायम्)। यह सब तब होता है, **यत्**=जब कि **वाम्**=आप दोनों को **ककुहासः**=(महन्नाम नि० ३।७) महान् इन्द्रियाश्व **रथे**=इस शरीररथ में **वहन्ति**=धारण करते हैं। शरीर में प्राणसाधना होने पर ही अन्न का पाचन हुआ करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर श्रीसम्पन्न बनता है। प्राणसाधना से ही अन्न का ठीक से पाचन होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊतये-सुतपेयाय

को वामद्या करते रातहव्य ऊतये वा सुतपेयाय वार्कैः।
ऋतस्य वा वनुषे पूर्व्याय नमो येमानो अश्विना ववर्तत्॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **कः**=कोई विरल पुरुष ही **रातहव्यः**=दिये हैं हव्य पदार्थ जिसने, अर्थात् जो यज्ञशील है, वह **ऊतये**=रक्षण के लिए **वा**=तथा **सुतपेयाय**=सोमपान के लिए **वाम्**=आपकी **अद्या**=आज **अर्कैः**=स्तुति मन्त्रों से **करते**=आराधना करता है। स्तुति-मन्त्रों का उच्चारण करते हुए प्राणापान की साधना से जहाँ वासनाओं के आक्रमण से हमारा बचाव होता है, वहाँ शरीर में सोम का रक्षण होता है। हमारी वृत्ति यज्ञों की ओर होती है-भोगप्रवृत्ति से हम दूर होते हैं। (२) कोई विरल व्यक्ति ही **नमः येमानः**=नम्रता को अपने अन्दर धारण करता हुआ **ऋतस्य**=ऋत के-सत्य के **पूर्व्याय वनुषे**=(सर्वमुख्य विजय) सर्वोत्तम के लिए **अश्विना**=प्राणापानों को **आवर्तत्**=आवृत्त करता है। प्राणायाम करता हुआ अपने अन्दर सत्य को धारण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा शरीर का रक्षण होता है, सोम का शरीर में व्यापन होता है और ऋत का हम विजय कर पाते हैं।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

हिरण्यय रथ

हिरण्ययेन पुरुभू रथेनेमं यज्ञं नासत्योप यातम्।
पिबाथ इन्मधुनः सोम्यस्य दधथो रत्नं विधते जनाय॥ ४॥

(१) हे **पुरुभू**=(पृ पालनपूरणयोः) पालक व पूरक होते हुए **नासत्या**=अश्विनी देवो-प्राणापानो! आप **हिरण्ययेन रथेन**=ज्योतिर्मय शरीररथ से **इमं यज्ञम्**=हमारे इस जीवनयज्ञ को **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होओ। आपकी साधना से हमारा यह शरीर-रथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी

बने। इसके द्वारा हम जीवनयज्ञ को सुन्दरता से पूर्ण करनेवाले हों। (२) हे प्राणापानो! आप **इत्**=निश्चय से **सोमस्य मधुनः**=इस सोम सम्बन्धी मधु का **पिबाथः**=पान करते हो। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करते हो। हे प्राणापानो! आप **विधते जनाय**=परिचर्या करनेवाले उपासक मनुष्य के लिए **रत्नं दधथः**=रमणीय वस्तुओं को धारण करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीररथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी बनता है, सोम का रक्षण होता है तथा शरीर में सब रत्नों का धारण होता है।

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'हिरण्यय सुवृत्' रथ

आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्या हिरण्ययेन सुवृता रथेन।
मा वामन्ये नि यमन्देवयन्तः सं यद्ददे नाभिः पूर्व्या वाम्॥ ५॥

(१) हे प्राणापानो! **दिवः पृथिव्याः अच्छा**=द्युलोक व पृथिवीलोक का लक्ष्य करके, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक का ध्यान करके **आ**=हमारे लिए आप **हिरण्ययेन**=ज्योतिर्मय **सुवृता**=(सुष्ठु वर्तते) तथा बिल्कुल ठीकठाक, अर्थात् सकलांगपूर्ण **रथेन**=शरीररथ से **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणापान की साधना ही शरीर-रथ को सुन्दर बनाती है। (२) **अन्ये**=दूसरे **देवयन्तः**=द्यूत आदि क्रीड़ाओं को करते हुए लोग **वाम्**=आपको **मा नियमन्**=रोकनेवाले न हों, अर्थात् हम अन्य व्यवहारों में उलझकर आपकी साधना को कभी भूल न जाएँ। **यत्**=क्योंकि **वाम्**=आपका तो **पूर्व्या**=सर्वमुख्य-सर्वप्रथम **नाभिः**=(नह बन्धने) सम्बन्ध **संददे**=मुझे आपके साथ बाँधता है। मेरा सर्वोत्तम सम्बन्ध आपके साथ ही तो है। आत्मा के साथ प्राणों का सम्बन्ध शाश्वत है। प्राणसाधना से ही मस्तिष्क हिरण्यय (ज्योतिर्मय) बनता है तथा शरीर सुवृत् (पूर्ण स्वस्थ) होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हमारा शरीर 'हिरण्यय-सुवृत्' हो, ज्योतिर्मय-सकलांगपूर्ण।

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्राणायाम व सम्मिलित प्रार्थना

नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे।
नरो यद्वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीळ्हासो अग्मन्॥ ६॥

(१) **अस्मे**=हमारे **उभयेषु**=दोनों में-पुरुमीढ व अजमीढों में रहनेवाली **पुरुवीरम्**=अत्यन्त वीरतावाली **बृहन्तम्**=वृद्धि की कारणभूत **रयिम्**=सम्पत्ति को **नु**=निश्चय से, हे **दस्रा**=दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **नः मिमाथाम्**=हमारे लिए बनाओ। हमें वह सम्पत्ति प्राप्त कराओ, जो कि पुरुमीढ व अजमीढों में रहा करती है-जो सम्पत्ति हमें वीर बनाती है व हमारी वृद्धि का कारण बनती है। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **यद्**=जब **वाम्**=आपके **स्तोमम्**=स्तवन का **आवन्**=अपने में रक्षण करते हैं, उस समय **आजमीढासः**=गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करके सुखों का सेचन करनेवाले (अज गतिक्षेपणयोः, मिह सेचने) ये लोग **सधस्तुतिम्**=मिलकर उपासनावृत्ति को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। ये लोग परिवार में सब के सब एकत्रित होकर प्रभु की उपासनावाले बनते हैं। सब प्राणायाम करते हैं और मिलकर प्रभु का गायन करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणायाम करें और मिलकर प्रभु का स्तवन करें। इसी से पुरुवीर-बृहन् रयि को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमतिः वाजरत्ना

इहेह यद्वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक्॥ ७॥

मन्त्र की व्याख्या ४३.७ पर द्रष्टव्य है।

अगले सूक्त में भी 'अश्विनौ' का ही वर्णन है—

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

द्वन्द्व त्रयी

एष स्य भानुरुदियर्ति युज्यते रथः परिज्मा दिवो अस्य सानवि।
पृक्षासो अस्मिन्मिथुना अधि त्रयो दृतिस्तुरीयो मधुनो वि रप्शते॥ १॥

(१) **एषः**=यह **स्यः**=वह प्रसिद्ध (सुपरिचित्) **भानुः**=सूर्य **उदियर्ति**=उदय होता है और **रथः**=हमारा यह शरीररथ **युज्यते**=इन्द्रियाश्वों से युक्त किया जाता है। **परिज्मा**=यह रथ चारों ओर गतिवाला होता है–'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' इन चतुर्विध पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला होता है। **अस्य दिवः सानवि**=यह रथ हमें द्युलोक के शिखर पर पहुँचाता है। हम प्राणसाधना करते हुए ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं और ज्ञान के शिखर पर पहुँचने के लिए यत्नशील होते हैं। (२) **अस्मिन् अधि**=इस शरीर-रथ में **त्रयः मिथुनाः**=तीन द्वन्द्व **पृक्षासः**=सम्पर्कवाले होते हैं (पृची सम्पर्के)। सब से प्रथम द्वन्द्व 'ज्ञाने मौनं' ज्ञान व मौन का है। ज्ञानी होते हुए ये मौन रहते हैं–ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करते फिरते। द्वितीय द्वन्द्व 'क्षमा शक्तौ' शक्ति व क्षमा का है। विरोधी को कुचलने में समर्थ होते हुए भी ये क्षमा की वृत्तिवाले होते हैं। तृतीय द्वन्द्व 'त्यागे श्लाघाविपर्ययः' त्याग व निरहंकारता का है। त्यागी होते हुए उस त्याग के अहंकार से रहित होते हैं। प्रथम द्वन्द्व का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। दूसरे का सम्बन्ध भुजाओं से है और तीसरे का सम्बन्ध हृदय से है। यह **तुरीयः**=चौथा **मधुनः दृतिः**=सोम का (वीर्यशक्ति का) आधारभूत चर्मपात्र के समान यह शरीर **विरप्शते**=विशेषरूप से प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। शरीर में सोमरक्षण होने पर प्रभुस्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है–उस वृत्ति के प्रबल होने पर यह साधक प्रभु के नामों का जप करने लगता है।

भावार्थ—हमें सूर्योदय होते ही क्रियाशील जीवन को प्रारम्भ करना है। हमारा लक्ष्य है–ज्ञान के शिखर पर पहुँचना। हम शरीर में 'ज्ञान=मौन' 'शक्ति-क्षमा' त्याग-अश्लाघा रूप तीन द्वन्द्वों को धारण करें। शरीर को सोम (वीर्य) का पात्र बनाते हुए प्रभु के नामों का जप करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मधुर व ज्ञानदीप्त जीवन

उद्वां पृक्षासो मधुमन्त ईरते रथा अश्वास उषसो व्युष्टिषु।
अपोर्णुवन्तस्तम आ परीवृतं स्वर्ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः॥ २॥

(१) हे अश्विनौ! प्राणापानो! **वाम्**=आपके **पृक्षासः**=सम्पर्कवाले, अर्थात् प्राणसाधना से युक्त हुए-हुए और अतएव **मधुमन्तः**=माधुर्यवाले **रथाः**=ये शरीर-रथ व **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व **उषसः**

व्युष्टिषु=उषाकालों के उदित होते ही **उदीरते**=उत्कृष्ट गतिवाले होते हैं। जिस समय हम प्राणायाम के अभ्यासी बनते हैं, उस समय शरीर व इन्द्रियाँ निर्दोष होकर जीवन को मधुर बनानेवाली होती हैं। (२) **आ परीवृतम्**=चारों ओर से घिरे हुए **तमः**=अज्ञानान्धकार को **अप ऊर्णुवन्तः**=दूर करते हुए ये रथ व अश्व (शरीर व इन्द्रियाँ) **रजः**=हृदयान्तरिक्ष को **स्वः न**=सूर्य के समान **शुक्रम्**=दीप्त **आतन्वन्तः**=विस्तृत करते हैं। प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'। उस समय निर्मल हृदय ज्ञानदीप्ति से चमक उठता है 'योगाङ्गानुष्ठाद् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'।

भावार्थ—प्राणायाम से शरीर व इन्द्रियाँ निर्दोष होकर जीवन को मधुर बनाती हैं और हृदय ज्ञानदीप्ति से चमक उठता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

मधुमान् रथ

मध्वः पिबतं मधुपेभिरासभिरुत प्रियं मधुने युञ्जाथां रथम्।
आ वर्तनिं मधुना जिन्वथस्पथो दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मधुपेभिः आसभिः**=सोम (वीर्य) रूप मधु का पान करनेवाले मुखों द्वारा **मध्वः पिबतम्**=मधु का (सोम का) पान करो। प्राणायाम के होने पर सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है—उस समय सब इन्द्रियाँ इस सोम का पान करनेवाली बन जाती हैं। ये इन्द्रियाँ मानो प्राणापान की मुख बनती हैं, इनके द्वारा वे सोम का पान करते हैं। **उत**=और इस **प्रियं रथम्**=प्रीति से युक्त (प्रसन्न) शरीर-रथ को **मधुने**=इस सोमरूप मधु की प्राप्ति के लिए **युञ्जाथाम्**=निरन्तर कार्य में लगाए रखो। इस में घोड़े जुते ही रहें—यह सदा मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता ही रहे। (२) हे प्राणापानो! आप **वर्तनिम्**=इस शरीररूप गृह को तथा **पथः**=जीवनमार्गों को **मधुना**=सोमरूप मधु से **आ जिन्वथः**=सर्वथा प्रीणित करनेवाले होओ। आप **मधुमन्तम्**=सोमरूप मधु से परिपूर्ण **दृतिम्**=इस शरीररूप चर्मपात्र को **वहेथे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरूप मधु शरीर में ही सुरक्षित रहता है। इससे सारा जीवन मधुर बन जाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

कैसे इन्द्रियाश्व?

हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्रिधो हिरण्यपर्णा उहुव उषर्बुधः।
उदप्रुतो मन्दिनो मन्दिनिस्पृशो मध्वो न मक्षः सवनानि गच्छथः॥ ४॥

(१) हे अश्विनौ—प्राणापानो! **ये**=जो **वाम्**=आपके **उहुवः**=वहन करनेवाले अश्व हैं, वे हमारे **सवनानि**=जीवनयज्ञ के प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायन्तनसवनों में **गच्छथः**=प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, **न**=जैसे कि **मक्षः**=मक्खियाँ **मध्वः**=शहद के छत्ते को प्राप्त होती हैं। (२) यहाँ इन्द्रियाँ ही अश्व हैं। ये प्राणापान के इसलिए कहलाते हैं कि प्राणशक्ति ही तो इनमें काम करती है। ये इन्द्रियाश्व **हंसासः**=(हन् हिंसागत्योः) गतिशीलता द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले हैं। अपने-अपने कर्म में लगे रहने से ये विषयों में फँसती नहीं। **मधुमन्तः**=स्वस्थ इन्द्रियाँ जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाली हैं। **अस्रिधः**=हमारा द्रोह व हिंसन करनेवाली नहीं। **हिरण्यपर्णा**=वीर्य व ज्ञान द्वारा ये हमारा पालन व पूरण करनेवाली हैं। वीर्य द्वारा पालन और

ज्ञान द्वारा पूरण। (हिरण्यं वै वीर्यम्, हिरण्यं वै ज्योतिः)। **उषर्बुधः**=ये उषाकाल में ही प्रबुद्ध होनेवाली हैं। (२) ये इन्द्रियरूप अश्व **उदप्रुतः**=वीर्यरूप जल से अपने को सिक्त करनेवाले हैं। **मन्दिनः**=अत्यन्त प्रसन्नतावाले हैं और **मन्दिनिस्पृशः**=उस आनन्दमय प्रभु में स्पर्श करनेवाले हैं। सोमरक्षण से कर्मेन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ दीप्त होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व निष्पाप बनकर (हंस) अन्ततः प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं (मन्दिनिस्पृशः)।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

निक्तहस्त, तरणि व विचक्षण

स्वध्वरासो मधुमन्तो अग्नयं उस्रा जरन्ते प्रति वस्तोरश्विना।
यन्निक्तहस्तस्तरणिर्विचक्षणः सोमं सुषाव मधुमन्तमद्रिभिः॥ ५॥

(१) **स्वध्वरासः**=उत्तम यज्ञमय जीवनवाले, **मधुमन्तः**=माधुर्ययुक्त स्वभाववाले, **अग्नयः**=प्रगतिपथ के पथिक लोग **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन **उस्रा**=दीप्तिवाले (Bright, Shining) अथवा प्रातःकाल के साथ सम्बद्ध (relating to morning) इन **अश्विना**=प्राणापान को **जरन्ते**=स्तुत करते हैं। प्राणापान का स्तवन प्राणायाम के द्वारा इनकी साधना ही है। (२) **यत्**=जो **निक्तहस्तः**=यज्ञादि कर्मों के कारण शुद्ध हाथोंवाला है, **तरणिः**=सब वासनाओं को तैरनेवाला है और **विचक्षणः**=विशिष्ट द्रष्टा (ज्ञानी) है, वह **अद्रिभिः**=उपासनाओं द्वारा **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले **सोमम्**=सोम का **सुषाव**=अपने में उत्पादन करता है। इस सोम के उत्पादन व रक्षण से ही वस्तुतः वह 'शरीर में निक्तहस्त, मन में तरणि तथा मस्तिष्क में विचक्षण' बन पाता है। इस सोमरक्षण में प्राणसाधना व प्रभु की उपासना साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा 'स्वध्वर, मधुमान् अग्नि' बनें। इस प्रकार सोम का रक्षण करते हुए 'निक्तहस्त, तरणि व विचक्षण' हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

आकेनिपासः

आकेनिपासो अहभिर्दविध्वतः स्वर्ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः।
सूरश्चिदश्वान्युयुजान ईयते विश्वाँ अनु स्वधया चेतथस्पथः॥ ६॥

(१) प्राणापान के अश्व, अर्थात् प्राणसाधना करने पर इन्द्रियाश्व **आके निपासः**=(आके समीपे निपतन्ति) इधर-उधर भटकनेवाले न होकर समीप प्राप्त होनेवाले होते हैं। **अहभिः**=(अह व्याप्तौ) कर्मों में व्यापन द्वारा ये **दविध्वतः**=सब वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। **स्वः न**=सूर्य की तरह **शुक्रम्**=दीप्त **रजः**=हृदयान्तरिक्ष को **आतन्वन्तः**=विस्तृत करते हुए होते हैं। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निरुद्ध होती हैं-वासनाओं से शून्य होती हैं तथा प्रकाश करनेवाली होती हैं। (२) इसलिए **सूरः**=ज्ञानी पुरुष **चित्**=निश्चय से **अश्वान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **युयुजानः**=कर्मों में व्यापृत करता हुआ **ईयते**=जीवनयात्रा में चलता है। हे प्राणापानो! आप **विश्वान् पथः**=सब मार्गों को **स्वधया**=आत्मधारण शक्ति के साथ **अनुचेतथः**=अनुकूलता से ज्ञापित करते हो। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होता है, आत्मतत्त्व का हम धारण करनेवाले बनते हैं और हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा से हमें कर्त्तव्यमार्गों का ज्ञान होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निरुद्ध होकर प्रकाशमय होती हैं। इन इन्द्रियों को यज्ञादि

कर्मों में लगाए रहने से ये मलिन नहीं होतीं। इस समय हमें अन्तःप्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'स्वश्वः अजरः' रथः

प्र वामवोचमश्विना धियंधा रथः स्वश्वो अजरो यो अस्ति।
येन सद्यः परि रजांसि याथो हविष्मन्तं तरणिं भोजमच्छ॥ ७॥

(१) **धियन्धाः**=प्रज्ञा व कर्मों को धारण करनेवाला मैं, हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **प्रवोचम्**=प्रकृष्ट स्तुति करता हूँ। आप उस रथ से मुझे प्राप्त होइये, **यः रथा**=जो रथ कि **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला है और **अजरः**=जीर्ण-शीर्ण अंगोंवाला नहीं। (२) उस रथ से मुझे प्राप्त होइये, **येन**=जिस से कि **सद्यः**=शीघ्र ही **रजांसि परियाथः**=सब लोकों में आप शीघ्रता से प्राप्त होते हो, अर्थात् जो रथ शीघ्र गतिवाला होता है और सब कर्तव्यकर्मों को करने के लिए उस-उस स्थान पर पहुँचता है। उस रथ से मुझे प्राप्त होइये, जिससे कि आप **हविष्मन्तम्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले, **तरणिम्**=अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले सूर्य के समान **भोजम्**=अपना पालन करनेवाले-रोगों से अपने को बचानेवाले व्यक्ति की **अच्छ**=ओर आप प्राप्त होते हो, अर्थात् आपकी साधना से मन में मैं 'हविष्मान्' बनूँ, मस्तिष्क में 'तरणि' होऊँ और शरीर में 'भोज' बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर-रथ 'उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला व दृढ़ हो'। इस साधना से हम 'हविष्मान्, तरणि व भोज' बनें।

प्राणसाधना से हम जितेन्द्रिय 'इन्द्र' बनते हैं। क्रियाशील होते हैं 'वायु'। 'इन्द्रवायू' ही अगले सूक्त के देवता हैं—

पञ्चमोऽनुवाकः

[४६] षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेव ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

क्रियाशीलता द्वारा सोमरक्षण

अग्रं पिबा मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु। त्वं हि पूर्वपा असि॥ १॥

(१) **वायो**=हे गतिशील पुरुष! तू **दिविष्टिषु**=ज्ञानप्राप्ति की एषणाओं के निमित्त, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के लिए **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस **मधूनां अग्रम्**=सारभूत वस्तुओं के सर्वश्रेष्ठ इस सोम को **पिब**=पीनेवाला बन। गतिशीलता द्वारा तू इस सोम का अपने अन्दर रक्षण कर। यह सोम अत्यन्त उत्कृष्ट मधु है। यही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर तेरी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। (२) हे वायो! **त्व**=तू **हि**=ही **पूर्वपाः असि**=सब से प्रथम इस सोम का पान करनेवाला है। सोमपान का सर्वप्रथम साधन यही है कि हम क्रियाशील बने रहें। इससे वासनाओं से बचे रहेंगे और सोम को रक्षित कर पाएँगे।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए क्रियाशीलता सर्वमुख्य साधन है।

ऋषिः—वामदेव ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'इन्द्र सारथि' बनना

शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायो सुतस्य तृम्पतम्॥ २॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला, **इन्द्रसारथिः**=

परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपना सारथि बनानेवाला—उसके हाथ में जीवन की बागडोर को सौंपनेवाला होता हुआ तू **शतेन अभिष्टिभिः**=वासनाओं पर शतशः आक्रमणों द्वारा **नः**=हमारे **सुतस्य**=उत्पन्न किये हुए सोम का **तृम्पतम्**=तृप्तिपूर्वक पान करो। (२) वायु और इन्द्र ने सोम का पान करना है। क्रियाशील व जितेन्द्रिय व्यक्ति ही सोम का रक्षण करते हैं। हम अपने इस जीवन में वासनाओं पर सतत आक्रमण करते हुए प्रशस्त इन्द्रयाश्वोंवाले बनें। प्रभु को अपना सारथि बनाएँ, रथ की बागडोर प्रभु को सौंप दें। ऐसा होने पर ही वासनाओं से अनाक्रान्त रहकर हम सोम का रक्षण कर पाएँगे।

भावार्थ—हम वासनाओं पर प्रभुस्तवन द्वारा सतत आक्रमण करें। प्रशस्तेन्द्रिय बनकर सोम का पान करें।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अभि प्रयः

आ वां सहस्रं हरय इन्द्रवायू अभि प्रयः। वहन्तु सोमपीतये॥ ३॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रिय गतिशील पुरुषो! **वाम्**=आपको **हरयः**=ये इन्द्रियाश्व **सहस्रम्**=आनन्दपूर्वक (स हस्) **प्रयः अभि**=अन्न की ओर **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ, अर्थात् ये इन्द्रियाश्व प्रसन्नतापूर्वक सात्त्विक भोजन करनेवाले हों। यह भोजन ही सोमरक्षण के लिए अनुकूल होता है। 'प्रयः' शब्द का अर्थ प्रयत्न भी है। ये इन्द्रियाश्व सदा प्रयत्नपूर्वक गतिवाले हों, आलस्य ही तो सोमविनाश का कारण बनता है। (२) ये इन्द्रियाश्व **सोमपीतये**=सोमरक्षण के लिए जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुष को ले चलें। वस्तुतः जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता ही सोमरक्षण का साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें-जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनें, वायु। सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए तथा सतत प्रयत्न में लगे हुए हम सोम का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'हिरण्यवन्धुर, स्वध्वर व दिविस्पृश्' रथ

रथं हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम्। आ हि स्थाथो दिविस्पृशम्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुषो! आप **हि**=निश्चय से **रथं आस्थाथः**=इस शरीररथ पर आरूढ़ होओ, जो शरीररथ **हिरण्यवन्धुरम्**=(हिरण्यं वै वीर्यम्) वीर्य को अपने में बाँधनेवाला है अथवा वीर्यबन्धन के कारण जो सुन्दर है। (२) उस शरीररथ पर तुम स्थित होओ, जो कि **स्वध्वरम्**=उत्तम अध्वरोंवाला है, जिसके द्वारा निरन्तर यज्ञात्मक कर्मों का साधन होता है। **दिविस्पृशम्**=जो ज्ञान में स्पर्श करनेवाला है-जो ज्ञानदीप्तिवाला है। (२) इस शरीररथ की ये तीन ही विशेषताएँ हैं। प्रथम यह वीर्य के रक्षण से शक्ति-सम्पन्न व सुन्दर है, दूसरे सदा अध्वरों को सिद्ध करनेवाला तथा तृतीय स्थान में यह ज्ञान की दीप्तिवाला है।

भावार्थ—इन्द्र और वायु अपने शरीररथ को 'हिरण्यवन्धुर, स्वध्वर व दिविस्पृश्' बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता

रथेन पृथुपाजसा दाश्वांसमुप गच्छतम्। इन्द्रवायू इहा गतम्॥ ५॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलतारूप दिव्यगुणो! आप **पृथुपाजसा**=प्रभूत

बलवाले **रथेन**=इस शरीर-रथ से **दाश्वांसम्**=आप के प्रति अपने को देनेवाले पुरुष को **उपगच्छतम्**=समीपता से प्राप्त होओ। इस दाश्वान् के शरीर-रथ को आप बड़ा शक्तिशाली बनाओ। (२) हे इन्द्रवायू! आप **इह**=इसी जीवनयज्ञ में **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ। हम इस जीवन में जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनें। ऐसा बनने से हमारा यह शरीररथ प्रभूत बलवाला हो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता हमारे शरीर-रथ को अत्यन्त शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोमरक्षण से दिव्यगुणों की प्राप्ति

इन्द्र॑वायू अ॒यं सु॒तस्तं दे॒वेभि॑: स॒जोष॑सा। पिब॑तं दा॒शुषो॑ गृ॒हे॥ ६॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलतारूप दिव्य गुणो! **अयं**=यह सोम तुम्हारे लिए **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। **तम्**=उस सोम को **देवेभिः सजोषसः**=सब दिव्यगुणों के साथ प्रीतिवाले होते हुए **दाशुषः गृहे**=इस आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के घर में-इस शरीररूप गृह में **पिबतम्**=पीनेवाले होइये। (२) इस सोमशक्ति को आप इस शरीर में ही सुरक्षित करिए। जो भी व्यक्ति जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता को ही अपने जीवन का ध्येय बना लेता है, वह इस सोमशक्ति का रक्षण कर पाता है। इसके रक्षण से सब दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से सोमरक्षण करते हुए हम अपने जीवन में दिव्यगुणों को उत्पन्न करें।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इन्द्र वायू का 'प्रयाण व विमोचन'

इ॒ह प्र॒याण॑मस्तु वा॒मिन्द्र॑वायू वि॒मोच॑नम्। इ॒ह वां॒ सोम॑पीतये॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र वायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता रूप दिव्य गुणो! **इह**=यहाँ हमारे जीवन में **वाम्**=आपका **प्रयाणं अस्तु**=प्रकृष्ट गमन हो। हमारे जीवन में सब क्रियाएँ आप के उद्देश्य से ही हों। (२) हे इन्द्र वायू! इस जीवन में आपका **विमोचनम्**=सब विषय वासनाओं से छुटकारा हो। आपके कारण हमारे जीवन में कोई भी अशुभ वासना स्थान न पा सके। **इह**=हमारे जीवनों में **सोमपीतये**=सोम (वीर्य) रक्षण के लिए **वाम्**=आपका निवास हो। जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर हम सदा सोमशक्ति का रक्षण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारे जीवन में सर्वत्र जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता का प्रसार हो। इनके द्वारा सब वासनाओं का हमारे से पार्थक्य हो।

अगले सूक्त में भी 'इन्द्रवायू' का ही वर्णन है—

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

क्रियाशीलता रूप स्पृहणीय देव

वायो॑ शु॒क्रो अ॑यामि ते॒ मध्वो॒ अग्रं॒ दिवि॑ष्टिषु। आ या॑हि॒ सोम॑पीतये स्पा॒र्हो दे॑व नि॒युत्व॑ता॥ १॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशीलता रूप दिव्यगुण! **शुक्रः**=व्रत से दीप्त हुआ-हुआ मैं **ते**=तेरे लिए **दिविष्टिषु**=(दिवः एषणेषु) ज्ञानप्राप्ति की कामनाओं के होने पर **अग्रम्**=सर्वप्रथम **मध्वः**=सोम को **अयामि**=आययामि (अयतिरन्तर्भावितण्यर्थः) प्राप्त कराता हूँ। क्रियाशीलता से वासनाओं का आक्रमण न होकर, सोम का रक्षण होता है। इससे ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। (२) हे **देव**=क्रियाशीलता-

रूप दिव्यगुण! **स्पार्हः**=तू स्पृहणीय है। तू **नियुत्वता**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले इस शरीर-रथ से **सोमपीतये**=सोमरक्षण के लिए **आयाहि**=हमें प्राप्त हो। क्रियाशीलता से ही हमें सोमपान के योग्य बनाना है।

भावार्थ—क्रियाशील बनकर हम सोम का रक्षण करें। यह सोम हमें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—भुरिगुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

इन्द्रवायू का सोमपान

इन्द्रश्च वायवेषां सोमानां पीतिमर्हथः। युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक् ॥ २ ॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशीलता रूप देव! तू **च**=और **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रियतारूप देवसम्राट् **एषाम्**=इन **सोमानाम्**=सोमकणों के **पीतिम्**=पान के **अर्हथः**=योग्य होते हो। क्रियाशीलता व जितेन्द्रियता से ही सोम का रक्षण होता है। (२) **हि**=निश्चय से **युवाम्**=आप दोनों को ही **इन्दवः**=ये सोमकण **यन्ति**=प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार ये सोमकण आपको प्राप्त होते हैं, **न**=जैसे कि **आपः**=जलकण **सध्र्यक्**=साथ-साथ गतिवाले होते हुए **निम्नम्**=निम्न प्रदेश को प्राप्त होते हैं। जलों का झुकाव निम्न प्रदेश की ओर होता है, इन सोमकणों का झुकाव जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुष की ओर होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर हम सोमकणों के केन्द्र बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शुष्म व शवस्

वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती। नियुत्वन्ता न ऊतय आ यातं सोमपीतये ॥ ३ ॥

(१) **वायो**=हे क्रियाशीलता रूप देव! तू **च**=और **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रियता रूप देवसम्राट् **सुष्मिणा**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं के शोषण के बलवाले हो। **शवसः पती**=शक्ति के स्वामी हो। मानस बल '**शुष्म**' है, शरीर बल '**शवस्**' है। (२) आप दोनों **सरथम्**=इस समान रथ में **नियुत्वन्ता**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले होकर **ऊतये**=रक्षा के लिए **यः**=हमें **आयातम्**=प्राप्त होइये और **सोमपीतये**=सोम (वीर्य) रक्षण के लिये होइये। सोम को शरीर में व्याप्त करते हुए आप हमें 'शुष्म व शवस्' को प्राप्त कराते हैं। इन्द्र का बल 'शुष्म' है। इससे यह काम-क्रोध आदि शत्रुओं का शोषण करता है। वायु का बल 'शवस्' है। इससे यह सदा क्रियाशील बना रहता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर 'शुष्मी' व 'शवसस्पति' बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

चाहने योग्य इन्द्रियाश्व

या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा। अस्मे ता यज्ञवाहसेन्द्रवायू नि यच्छतम् ॥ ४ ॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु! **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **याः**=जो **वाम्**=आपके **पुरुस्पृहः**=बहुत ही चाहने योग्य **नियुतः**=इन्द्रियरूप अश्व **सन्ति**=हैं, **ताः**=उन इन्द्रियाश्वों को **अस्मे**=हमारे लिए **नियच्छतम्**=प्राप्त कराइये। (२) आप ही **यज्ञवाहसः**=हमारे जीवनयज्ञ को चलानेवाले हैं। जीवन जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से ही सफल होता है। जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से इन्द्रियाश्व सबल बने रहते हैं। इनकी सबलता ही हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाती है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से हमारे इन्द्रियाश्व सबल बनें।

अगले सूक्त में भी जीव को 'वायु' नाम से स्मरण करते हैं। क्रियाशील बनकर ही तो यह 'जितेन्द्रिय' भी बन पाता है—

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

'अवीत होत्र' ऐश्वर्य

विहि होत्रा अवीता विपो न रायो अर्यः। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥ १॥

(१) **विपः न**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले एक पुरुष के समान **अर्यः**=अपना स्वामी होता हुआ तू **होत्राः**=(होमसाधिकाः) यज्ञों को सिद्ध करनेवाले **अवीताः**=(Not gone away) जिनका विलासों में व्यर्थ ही व्यय नहीं हुआ, ऐसे **रायः**=ऐश्वर्यों का **विहि**=उपभोग कर। तू धनों को प्राप्त कर। परन्तु काम आदि शत्रुओं को कम्पित करके-जितेन्द्रिय बनकर तू उन ऐश्वर्यों का यज्ञादि उत्तम कार्यों में ही व्यय कर। ये धन विलास में व्ययित न हों, अवीत बने रहें। (२) हे **वायो**=गतिशील पुरुष तू **चन्द्रेण रथेन**=मनःप्रसाद से युक्त इस शरीर-रथ से **आयाहि**=समन्तात् कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त हो, ताकि तू **सुतस्य पीतये**=इस उत्पन्न सोम का पान कर सके-सोम को शरीर में ही सुरक्षित रख सके।

भावार्थ—हम उन ऐश्वर्यों को प्राप्त करें, जो कि यज्ञादि का साधन बनें-विलासों में व्ययित न हों। सदा प्रसन्नतापूर्वक कर्त्तव्यकर्मों में लगे हुए हम सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

इन्द्रसारथि

निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥ २॥

(१) हे **वायो**=गतिशील पुरुष! तू **अशस्तीः**=सब अप्रशस्त बातों को **निर्युवाणः**=अपने से पृथक् करता हुआ, **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला होता हुआ, **इन्द्रसारथिः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपना सारथि बनाकर, इस **चन्द्रेण**=मनःप्रसादयुक्त **रथेन**=शरीर-रथ से **आयाहि**=कर्त्तव्यों में प्रवृत्त हो, ताकि **सुतस्य पीतये**=तू सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर सके। (२) सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि, (क) हम निन्द्य बातों को अपने से दूर करें, (ख) इन्द्रियों को प्रशस्त बनाएँ, (ग) प्रभु को अपने रथ का सारथि बनाएँ। (घ) मनःप्रसाद के साथ सदा क्रिया में लगे रहें।

भावार्थ—अप्रशस्तता से दूर होकर और सदा क्रियाशील बनकर हम सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

'वसुधिती' द्यावापृथिवी

अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को सारथि बनाकर जीवनयात्रा में चलने से हमारे द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **कृष्णे**=एक दूसरे को आकृष्ट करनेवाले-परस्पर सम्बद्ध **वसुधिती**=ज्ञान व शक्ति रूप वसुओं को धारण करनेवाले-ब्रह्म व क्षत्र का अपने में समन्वय करनेवाले, **विश्वपेशसा**=सब अंग-प्रत्यंगों का ठीक से निर्माण करनेवाले **अनुयेमाते**=अनुकूलता से संयत होते हैं। मस्तिष्क व शरीर ठीक होने पर, सब ठीक ही रहता है। (२) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! तू **चन्द्रेण रथेन**=

मन:प्रसादवाले शरीर-रथ से **सुतस्य पीतये**=सोमपान के लिए-वीर्य के रक्षण के लिए, **आयाहि**=समन्तात् कर्त्तव्यों में प्रवृत्त हो। कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहने से ही तू शरीर में सोम का रक्षण कर पाएगा।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर परस्पर सम्बद्ध व ब्रह्म व क्षत्र का धारण करनेवाले हों।

ऋषि:—वामदेव: ॥ देवता—वायु: ॥ छन्द:—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

'मत्वा कर्माणि सीव्यति'

वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥ ४ ॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! **त्वा**=तुझे **मनोयुज:**=मन के साथ सम्बद्ध होकर कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले, **युक्तास:**=शरीर-रथ में जुते हुए-अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त इन्द्रियाश्व **नवतिर्नव**=निन्यानवे वर्षों तक **वहन्तु**=ले चलनेवाले हों, अर्थात् जीवन के अन्तिम क्षणों तक तू क्रियाशील बना रह। (२) **चन्द्रेण रथेन**=मन:प्रसादवाले शरीर-रथ से तू **आयाहि**=समन्तात् कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त रह, ताकि **सुतस्य पीतये**=तू सोम का पान कर सके। यह कर्त्तव्यपरायणता हमें वासनाओं से बचाती है और इस प्रकार सोमरक्षण के योग्य बनाती है।

भावार्थ—हम जीवन के अन्तिम क्षणों तक मननपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त रहें। 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' के अनुसार मनुष्य बनें।

ऋषि:—वामदेव: ॥ देवता—वायु: ॥ छन्द:—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

शतवर्षपर्यन्त क्रियाशील जीवन

वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्। उत वा ते सहस्त्रिणो रथ आ यातु पाजसा ॥ ५ ॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! **पोष्याणाम्**=जिनका उत्तमता से पोषण किया गया है, ऐसे **हरीणाम्**=इन्द्रियाश्वों को **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **युवस्व**=तू शरीर-रथ में जोतनेवाला हो। अन्त तक तेरी इन्द्रियाँ शक्तिशाली हों और तू क्रियाशील जीवनवाला हो। (२) **उत वा**=और निश्चय से **ते**=तेरा **सहस्त्रिण: रथ:**=(स हस्) सदा प्रसन्नता से युक्त यह शरीर-रथ **पाजसा**=शक्ति से युक्त हुआ-हुआ **आयातु**=सदा क्रिया में प्रवृत्त रहे और लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाला हो।

भावार्थ—हम शतवर्षपर्यन्त शक्ति-सम्पन्न होते हुए (पाजसा), प्रसन्नतापूर्वक (सहस्त्रिण:) क्रियाओं में प्रवृत्त रहें-सदा कर्त्तव्यकर्मों के करने में लगे रहें।

हम अपने जीवन का लक्ष्य 'इन्द्राबृहस्पती' को बनाएँ। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' शक्तिशाली हों तथा बृहस्पति-ब्रह्मणस्पति=ज्ञान के स्वामी बनें। इन्हीं का उल्लेख अगले सूक्त में है—

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषि:—वामदेव: ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्द:—निचृद्गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

हवि, उक्थ व मद

इदं वामास्ये हवि: प्रियमिन्द्राबृहस्पती। उक्थं मदश्च शस्यते ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले व्यक्तियो! **इदम्**=यह **वाम्**=आपके **आस्ये**=मुख में **प्रियम्**=प्रीतिकारक **हवि:**=यज्ञशेष के रूप में सात्त्विक अन्न **शस्यते**=प्रशंसा के योग्य होता है। 'आप यज्ञशेष' का सेवन करते हो। वस्तुत: यह यज्ञशेष का सेवन ही आपको शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त कराता है। (२) **उक्थम्**=आप से किया जानेवाला

यह प्रभु का स्तवन प्रशंसनीय होता है। यह स्तवन ही आपको संसार के विषयों में फँसने से बचाता है। **च**=और **मदः**=आपका यह उल्लास शंसनीय होता है। आप सात्त्विक अन्न के सेवन व स्तवन से उल्लासमय जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—यदि हम सात्त्विक अन्न के सेवन व प्रभुस्तवन को अपनाएँगे तो उत्साहमय जीवनवाले बनकर 'इन्द्र' (शक्तिशाली) व 'बृहस्पति' (ज्ञानी) बनेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

चारुर्मदाय पीतये

अयं वां परि षिच्यते सोम इन्द्राबृहस्पती। चारुर्मदाय पीतये ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के ऐश्वर्यवाले व्यक्तियो! **अयं सोमः**=यह सोम (वीर्य) **वाम्**=आपके शरीरों में **परिषिच्यते**=अंग-प्रत्यंग में सिक्त होता है। इसका शरीर में ही व्यापन होता है। (२) **चारुः**=यह शरीर में सिक्त हुआ-हुआ सोम सुन्दर होता है-यह जीवन को सुन्दर बनाता है। **मदाय**=यह जीवन में उल्लास का कारण बनता है। **पीतये**=यह रक्षण के लिए होता है। शरीर में रक्षित हुआ-हुआ यह शरीर के रक्षण का हेतु होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमारे जीवन को सुन्दर उल्लासमय व रोगों से अनाक्रान्त बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्र और बृहस्पति

आ न इन्द्राबृहस्पती गृहमिन्द्रश्च गच्छतम्। सोमपा सोमपीतये ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के देवता **इन्द्रः च**=और वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे **गृहम्**=इस शरीररूप गृह में **आगच्छतम्**=आएँ। हमारा लक्ष्य शक्ति व ज्ञान का सम्पादन हो। तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम प्रभु की उपासना करें। (२) **सोमपा**=(सोमपौ) ये इन्द्र और बृहस्पति सोम का पान करनेवाले हैं। जब हम शक्ति व ज्ञानप्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाते हैं, तो हम सोम (वीर्य) का रक्षण करने में समर्थ होते हैं। सो ये इन्द्र और बृहस्पति **सोमपीतये**=इस सोमपान (रक्षण) के लिए हमें यहाँ शरीरगृह में प्राप्त हों।

भावार्थ—शक्ति व ज्ञानप्राप्ति को जीवन का ध्येय बनाने से सोम (वीर्य) का पान सुगम हो जाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'शतग्विनम् अश्वामन्तं सहस्त्रिणम्'

अस्मे इन्द्राबृहस्पती रयिं धत्तं शतग्विनम्। अश्वावन्तं सहस्त्रिणम् ॥ ४ ॥

(१) **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के अधिष्ठातृदेव **अस्मे**=हमारे लिए **रयिं धत्तम्**=ऐश्वर्य को धारण करें। उस ऐश्वर्य का, जो कि **शतग्विनम्**=शतवर्षपर्यन्त ठीक कार्य करनेवाला ज्ञानेन्द्रियोंवाला है। जो ऐश्वर्य **अश्वावन्तम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है तथा **सहस्त्रिणम्**=जो (स+हस्) आनन्द से युक्त है। (२) शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाने पर हम उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियों व आनन्द को प्राप्त करते हैं। ये ही वस्तुतः हमारे विज्ञानमय, मनोमय व आनन्दमय कोश के धन हैं।

भावार्थ—'शक्ति व ज्ञान' प्राप्ति का लक्ष्य हमारे सब कोशों को उत्तम बनाने में सहायक होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम का सम्पादन व रक्षण

इन्द्राबृहस्पती वयं सुते गीर्भिर्हवामहे। अस्य सोमस्य पीतये॥ ५॥

(१) **वयम्**=हम **सुते**=सोम के उत्पादन के होने पर **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों द्वारा **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के अधिष्ठातृदेवों को **हवामहे**=पुकारते हैं। सोम ही शरीर में सुरक्षित होकर शक्ति का वर्धन करता है और यही ज्ञानाग्नि का भी ईंधन बनता है। (२) हम इन्द्र और बृहस्पति को **'अस्य सोमस्य पीतये'**=इस सोमपान के लिए पुकारते हैं। वस्तुतः इन दोनों देवों का आराधन ही हमें सोमपान के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सोम के सम्पादन व रक्षण के लिए हम 'इन्द्र व बृहस्पति' के उपासक बनते हैं, शक्ति व ज्ञान प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आनन्दमय जीवन

सोममिन्द्राबृहस्पती पिबतं दाशुषो गृहे। मादयेथां तदोकसा॥ ६॥

(१) हे **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के अधिष्ठातृदेवो! आप **दाशुषः**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले के **गृहे**=शरीरगृह में **सोमं पिबतम्**=सोम का पान करो। जो व्यक्ति शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति में जुट जाता है, वह सोम का रक्षण कर पाता है। (२) हे इन्द्राबृहस्पती! **तदोकसा**=सोमरक्षणवाले शरीररूप गृह के स्वामी होते हुए आप **मादयेथाम्**=हमें आनन्दयुक्त जीवनवाला करिए। वस्तुतः शक्ति-सम्पन्न ज्ञानयुक्त जीवन आनन्दवाला होता ही है। सोमरक्षण इस जीवन का साधन बनता है।

भावार्थ—हम शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करके आनन्दयुक्त जीवनवाले हों।

अगले सूक्त में भी 'बृहस्पति' का मुख्यतया उल्लेख है। समाप्ति पर उसके साथ इन्द्र का भी उल्लेख होगा—

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु के गुणों का धारण

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्॥ १॥

(१) **यः**=जो **ज्मः अन्तान्**=पृथिवी के अन्तों को, दसों दिशाओं को **सहसा**=शक्ति से **वितस्तम्भ**=थामता है। **बृहस्पतिः**=जो ब्रह्मणस्पति है-सब ज्ञानों का स्वामी है। **रवेण**='निस्तोवाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत्' ज्ञान, कर्म व उपासना की वाणियों से **त्रिषधस्थः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूप तीनों लोक में स्थित है-सर्वत्र इन वाणियों का प्रसार कर रहा है। (२) **तम्**=उस **मन्द्रजिह्वम्**=अत्यन्त मधुर जिह्वावाले-मधुरता से ज्ञानोपदेश करनेवाले प्रभु को **पुरःदधिरे**=अपने सामने धारण करते हैं-उसे आदर्श के रूप में अपने सामने स्थापित करते हैं। उसके गुणों को अपना

आदर्श बनाकर उन्हें धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं। एक तो '**प्रत्नासः ऋषयः**'=पुराणे, अर्थात् बड़ी आयु के तत्त्वज्ञानी पुरुष! फिर **दीध्यानाः**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त होनेवाले पुरुष तथा **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले पुरुष। ये सब उस प्रभु को अपना लक्ष्य बनाकर तदनुसार अपना जीवन बनाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—ऋषि व विप्र लोग प्रभु को अपना लक्ष्य बनाकर उसके गुणों को अपने में धारण करने के लिये यत्न करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वाध्याय व दोषनिवारण

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्त्रे।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २ ॥

(१) हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **ये**=जो **नः**=हमारे में से **धुनेतयः**=(धुना ईतिर्येषां) शत्रुओं को कम्पित करनेवाली गतिवाले, **सुप्रकेतं मदन्तः**=उत्कृष्ट ज्ञान के साथ आनन्द का अनुभव करते हुए **अभिततस्त्रे**=प्रातः-सायं दोनों समय दोषों को अपने से दूर फेंकते हैं (reject, cast), **अस्य**=हमारे में से इस मनुष्य के **योनिम्**=इस बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रण के प्रयत्न की **रक्षतात्**=आप रक्षा करें। (२) यह योनि ही **पृषन्तम्**=सब सुखों का सेचन करनेवाली है। **सृप्रम्**=इसे निरन्तर अग्रगति करानेवाली है। **अदब्धम्**=अहिंसित है-इसे हिंसित नहीं होने देती और **ऊर्वम्**=विशाल है। इस प्रातः-सायं दोषनिराकरण के कार्य से ही इसका जीवन सुखसिक्त, अग्रगतिवाला, अहिंसित तथा विशाल बनता है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं स्वाध्याय में आनन्द लेते हुए दोष-निराकरण के लिए यत्नशील हों। प्रभु कृपा करेंगे और हमारा यह कार्य हमारे लिए सुखवर्षक-उन्नतिकारक, अहिंसक व हमें विशाल बनानेवाला होगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञशीलता से स्वर्गप्राप्ति

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥ ३ ॥

(१) हे **बृहस्पते**=सर्वोच्च दिशा के अधिपते! परमात्मन्! **या**=जो **ते**=आपके **परावत् परमा**=सुदूर से सुदूर देश से भी उत्कृष्ट स्थान हैं, उनमें **ऋतस्पृशः**=(ऋतं=यज्ञ) यज्ञों के सम्पर्कवाले यज्ञशील पुरुष **आनिषेदुः**=आसीन होते हैं। पृथ्वीलोक से ऊपर अन्तरिक्षलोक है, अन्तरिक्ष से ऊपर द्युलोक है। यह द्युलोक ('दिवो नाकस्य पृष्ठात्') स्वर्गलोक का पृष्ठ है। इस स्थान पर यज्ञशील पुरुष ही पहुँचते हैं। (२) **तुभ्यम्**=तेरी प्राप्ति के लिए **अद्रिदुग्धाः**= उपासना द्वारा अपने अन्दर पूरित हुए-हुए **मध्वः**=सोमकण **अभितः विरप्शम्**=दोनों ओर महान् शब्दराशि को (रपृ व्यक्तायां वाचि) **श्चोतन्ति**=क्षरित करते हैं। अपरा विद्या की शब्दराशि ही प्रकृतिविद्या है और पराविद्या की शब्दराशि आत्मविद्या है। जब सोमकणों का हम रक्षण करते हैं, तो ये दोनों ही विद्याएँ हमें प्राप्त होती हैं। एक इहलोक को सुन्दर बनाती है, तो दूसरी परलोक को ('अभितः') शब्द इसी भाव का द्योतक है। ये सोमकण **खाताः अवताः**=खोदे गये कुओं के समान हैं। ये कुएँ जलराशि को प्राप्त कराते हैं और ये सोमकण ज्ञान की जलराशि को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम स्वर्ग में स्थित होते हैं। शरीर में सुरक्षित सोमकण हमें ज्ञानजलराशि को प्राप्त कराते हैं। उसमें स्नान करके हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सप्तास्यः-सप्तरश्मिः

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥ ४॥

(१) **बृहस्पतिः**=यह ज्ञान का स्वामी प्रभु **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **महः ज्योतिषः**=महान् ज्ञान-ज्योति से **प्रथमं जायमानः**=विस्तार के साथ प्रादुर्भूत होता हुआ **रवेण**=ज्ञानवाणियों के उच्चारण से **तमांसि**=अन्धकारों को **वि अधमत्**=विनष्ट करता है। हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही सब अन्धकार विनष्ट हो जाता है। (२) ये प्रभु **सप्तास्यः**=सात छन्दों से बनी हुई वेदवाणीरूप सात मुखोंवाले हैं। **तुविजातः**=महान् प्रादुर्भाववाले हैं, **सप्तरश्मिः**=सात रश्मियोंवाले सूर्य की तरह ये प्रभु सात छन्दोरूप वेदवाणी रूप सात रश्मियोंवाले हैं। इन सात रश्मियों से ही ये प्रभु 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः व सत्यम्' इन सात लोकों को प्रकाशित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्योतिर्मय हैं। सप्त छन्दोमयी वेदवाणियाँ ही प्रभु के सात मुख हैं। ये ही प्रभुरूप सूर्य की सात रश्मियाँ हैं। इनके द्वारा प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वलासुर का विनाश

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद्वावशतीरुदाजत् ॥ ५॥

(१) **सः**=वह **बृहस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु **सुष्टुभा**=उत्तम स्तुतियोंवाले **गणेन**=मन्त्र-समूह से तथा **सः**=वे प्रभु **ऋक्वता**=ऋचाओंवाले-विज्ञानवाले **गणेन**=मन्त्रसमूह से **वलं रुरोज**=ज्ञान के आवरणभूत (veil) इस वल नामक असुर को **रुरोज**=विनष्ट करते हैं। **रवेण**=हृदयस्थरूपेण इन ज्ञानवाणियों के उच्चारण से **फलिगम्**=विशीर्णता की ओर ले जाने (फल विशरणे) वाली आसुरवृत्ति को विनष्ट करते हैं। ज्ञान द्वारा प्रभु हमारे में उत्तम वृत्तियों को उत्पन्न करके हमारा कल्याण करते हैं। (२) **बृहस्पतिः**=वे ज्ञान के स्वामी प्रभु **हव्यसूदः**=सब हव्यपदार्थों को-पवित्र यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करानेवाली **वावशतीः**=हमारा अत्यन्त हित चाहती हुई **उस्रियाः**=ज्ञान-रश्मियों को **उदाजत्**=हमारे में उत्कर्षेण प्रेरित करते हैं। इन ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके ही हम इस संसार में अयज्ञिय बातों से दूर रहकर अपना हित सिद्ध कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानवाणियों द्वारा ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करते हैं। सब विशीर्ण करनेवाली आसुरवृत्तियों को विनष्ट करते हैं। हव्य-पदार्थों की ओर हमारा झुकाव होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञैः नमसा हविर्भिः

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वलासुर को विनष्ट करके हम **एवा**=सचमुच उस **पित्रे**=पालक **विश्वदेवाय**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज **वृष्णे**=शक्तिशाली व सुखवर्षक प्रभु के लिए **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों से, **नमसा**=उन कर्मों के अहंकार को छोड़कर नम्रभाव से **हविर्भिः**=सदा दानपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा को करें। (२) हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! इस प्रकार आपका यज्ञों, नमन व हवियों से पूजन करते हुए **वयम्**=हम **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले **वीरवन्तः**=वीरत्व की भावनावाले तथा **रयीणां पतयः**=धनों के स्वामी (न कि दास) **स्याम**=हों।

भावार्थ—यज्ञों, नम्रता व हवियों से प्रभुपूजन करते हुए हम 'उत्तम सन्तान, वीरता व धन का स्वामित्व' प्राप्त करें। यज्ञों से उत्तम प्रजा को प्रभु के प्रति नमन से वीरता को तथा हवियों से धन के स्वामित्व को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रतिजन्य-धनों का धारण

स इद्राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्॥ ७॥

(१) **सः**=वह बृहस्पति का उपासक **इत्**=ही **राजा**=दीप्त जीवनवाला होता है। **विश्वा**=सब **प्रतिजन्यानि**=प्रत्येक जन के लिए हितकर, अर्थात् व्यक्ति सम्बद्ध धनों का **अभितस्थौ**=अपने में धारण करनेवाला बनता है। **शुष्मेण**=शत्रुशोषक बलों द्वारा यह मानस-धनों को प्राप्त करता है और **वीर्येण**=वीर्यशक्ति द्वारा रोगकृमियों को नष्ट करके शारीरिकधनों का अधिष्ठाता बनता है। (२) इन प्रतिजन्य-धनों को वही प्राप्त कर पाता है, **यः**=जो कि **सुभृतम्**=(सुष्ठु भृतं यस्मात्) उत्तम भरण करनेवाले **बृहस्पतिम्**=उस सर्वज्ञ प्रभु को **बिभर्ति**=अपने हृदय में धारण करता है, **वल्गूयति**=उसके ही स्तुति-वचनों का उच्चारण करता है और **पूर्वभाजम्**=सब से प्रथम सेवनीय उस बृहस्पति का ही **वन्दते**=अभिवादन करता है।

भावार्थ—प्रभु का आराधक ही प्रतिजन्यधनों को प्राप्त करता है और यह शुष्म व वीर्य-सम्पन्न होकर मानस व शारीरिक बलों का धारण करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'ब्राह्मण का आदर करनेवाला' राजा

स इत्क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन्ब्रह्मा राजनि पूर्व एति॥ ८॥

(१) **सः**=वह **इत्**=ही राजा **सुधितः**=उत्तमता से तृप्त हुआ-हुआ (Satisfied) **स्वे ओकसि**=अपने गृह में **क्षेति**=निवास करता है, अर्थात् उसी का जीवन शान्तिपूर्वक बीतता है। **तस्मै**=उसी के लिए **इडा**=यह पृथिवी **विश्वदानीम्**=सदा **पिन्वते**=अन्न आदि से प्रीणन (प्रीति) करनेवाली होती है, अर्थात् इसके राज्य में कभी अकाल आदि की पीड़ा नहीं होती। तथा

तस्मै=उसके लिए **विशः**=प्रजाएँ **स्वयं एव**=अपने आप ही **आनमन्ते**=नम्र होती हैं-झुकनेवाली होती हैं-उपद्रव आदि की भावना से शून्य होती हैं। **यस्मिन् राजनि**=जिस राजा में **ब्रह्मा**=ज्ञानी ब्राह्मण **पूर्वः एति**=पहले चलनेवाला होता है, अर्थात् जिसके राज्य में ब्राह्मण को प्रथम स्थान प्राप्त होता है-जो राजा उन ब्राह्मणों से दिये गये परामर्श के अनुसार चलता है। (२) ब्राह्मण के परामर्श से सब कार्यों को करनेवाले राजा के राज्य में, (क) अशान्ति नहीं होती, (ख) अकाल नहीं पड़ते तथा (ग) प्रजाएँ सदा स्वयमेव कर आदि देती हुई उपद्रव की भावना से दूर होती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण का आदर होने पर अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत सम्बन्धी कोई कष्ट नहीं होता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों से रक्षित होनेवाला राजा

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥ ९ ॥

(१) **अप्रतीतः**=शत्रुओं से प्रतिरुद्ध न किया गया हुआ वह राजा **धनानि**=उन सब धनों को **संजयति**=सम्यक् जीतता है, जो धन **प्रतिजन्यानि**=प्रत्येक व्यक्ति से अर्जन के योग्य हैं, **उत या**=और जो **सजन्या**=समाज के लिए हितकर हैं अथवा मिलकर कमाने योग्य हैं, अर्थात् वैयक्तिक व सामाजिक धनों का वह विजेता बनता है। (२) **यः राजा**=जो राजा **अवस्यवे**=रक्षण की कामनावाले **ब्रह्मणे**=ज्ञानीपुरुष के लिए **वरिवः कृणोति**=धनों को देता है, **तम्**=उस राजा की **देवाः**=सब देव **अवन्ति**=रक्षा करते हैं। ब्राह्मणों का आदर करनेवाले इस राजा के राज्य में आधिदैविक कष्ट नहीं आते।

भावार्थ—ब्राह्मणों का आदर करनेवाला राजा 'प्रतिजन्य व सजन्य' धनों का विजेता होता है और सब देव उसका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्राह्मण+क्षत्रिय (बृहस्पति+इन्द्र)

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन्यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥ १० ॥

(१) **अस्मिन् यज्ञे**=इस राष्ट्र-यज्ञ में हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् ब्राह्मण! तू **च इन्द्रः**=और बल के कर्मों को करनेवाला इन्द्र (राजा) दोनों ही **सोमं पिबतम्**=सोम का पान करनेवाले होओ। **मन्दसाना**=तुम दोनों हर्ष का अनुभव करो और **वृषण्वसू**=शक्तिशाली धनवाले व प्रजा पर धन की वर्षा करनेवाले होओ। (२) **वाम्**=आप दोनों को **इन्दवः**=ये सोमकण **आविशन्तु**=आविष्ट हों, जो कि **स्वाभुवः**=(सुष्ठु सर्वतो भवन्ति) सम्यक् सब अंगों में व्याप्त होनेवाले हैं। आप **अस्मे**=हम सब के लिए **सर्ववीरम्**=सब वीरताओं से युक्त **रयिम्**=धन को **नियच्छतम्**=देनेवाले होइये।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण व क्षत्रिय सोम का (वीर्य का) रक्षण करनेवाले हों। ऐसे ही ब्राह्मण व क्षत्रिय (पुरोहित व राजा) प्रजाओं को आनन्दित व धन्य बना सकते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रा बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राज कर्त्तव्य

बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरन्धीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः॥ ११ ॥

(१) हे **बृहस्पते**=ज्ञानी ब्राह्मण! **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले क्षत्रिय! आप **सचा**=मिलकर **नः वर्धतम्**=हमें बढ़ानेवाले होइये। **वाम्**=आपकी **सा सुमतिः**=वह कल्याणीमति **अस्मे भूतु**=हमें प्राप्त हो। आपका प्रजा-रक्षण का शुभ विचार सदा बना रहे। हम आपके अशुभ विचार के शिकार न हो जाएँ। (२) आप दोनों मिलकर **धियः अविष्टम्**=हमारे कर्मों का रक्षण करें। **पुरन्धीः**=शरीररूप नगरियों का धारण करनेवाली बुद्धियों को **जिगृतम्**=जगाओ और **वनुषाम्**=सम्भजन करनेवाले हम लोगों के **अर्यः**=(गंत्रीः) आक्रमण करनेवाले **अरातीः**=शत्रुओं को **जजस्तम्**=(क्षपयतम्) नष्ट करनेवाले होइये।

भावार्थ—पुरोहित व राजा मिलकर राष्ट्र का रक्षण करें। वे प्रजाओं के उत्तम कर्मों का रक्षण करें, प्रजाओं में पालक बुद्धि को पैदा करने का प्रयत्न करें। शत्रुओं के आक्रमण से प्रजाओं का रक्षण करें।

ऐसे राष्ट्र में सदा उत्तम उषाओं का प्रादुर्भाव होता है। उस उषा का वर्णन अगले सूक्त में करते हैं—

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पालक व प्रज्ञापक ज्योति

इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय॥ १ ॥

(१) **इदम्**=यह **उ**=निश्चय से **त्यत्**=वह प्रसिद्ध **पुरुतमम्**=अतिशयेन पालक व पूरक **वयुनावत्**=अतिप्रशस्त प्रज्ञानवाली (प्रशस्त कान्तिवाली) **ज्योतिः**=ज्योति **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **तमसः उद् अस्थात्**=अन्धकार को विनष्ट करके उठ खड़ी हुई है। (२) **नूनम्**=निश्चय से **दिवः दुहितरः**=ज्ञान का पूरण करनेवाली **विभातीः**=चमकती हुई **उषसः**=उषाएँ **जनाय**=लोगों के लिए **गातुं कृणवन्**=मार्ग को करती हैं। ये उषायें अन्धकार को दूर करके मार्ग को दिखानेवाली होती हैं।

भावार्थ—उषाकाल का प्रकाश पालक (पुरुतमं) व प्रज्ञापक (वयुनावत्) है। ये उषाएँ प्रकाश को करती हुईं हमारे लिये मार्गदर्शन करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'दीप्त व पवित्र जीवन को बनानेवाली' उषाएँ

अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिताइव स्वरवोऽध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः ॥ २ ॥

(१) **उ**=निश्चय से **चित्राः**=चायनीय-पूजा के योग्य अथवा (चित् र) ज्ञान देनेवाली, प्रज्ञापक

उषसः=उषाएँ **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **अस्थुः**=स्थित हैं। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **अध्वरेषु**=यज्ञों में **मिताः स्वरवः**=निर्मित यज्ञस्तम्भ। जिस प्रकार उन यज्ञ-स्तम्भों की शोभा होती है, इसी प्रकार ये उषाएँ शोभावाली हैं। (२) ये उषाएँ **उ**=निश्चय से **व्रजस्य**=(वारकस्य) घेर लेनेवाले **तमसः**=अन्धकार के **द्वारा**=द्वारों को, **वि उच्छन्तीः**=अन्धकारशून्य व प्रकाशमय करती हुईं, **अव्रन्**=खोल डालती हैं। अन्धकार को दूर करती हुई ये उषाएँ **शुचयः**=दीप्ति को प्राप्त करानेवाली हैं और **पावकाः**=पवित्र करनेवाली हैं।

भावार्थ—अन्धकार को दूर करती हुई उषाएँ हमारे जीवनों को दीप्त व पवित्र बनाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भोज व पणि

उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान्राधोदेयायोषसो मघोनीः।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ॥ ३ ॥

(१) **मघोनीः उषसः**=ऐश्वर्यवाली उषाएँ **अद्य**=आज **उच्छन्तीः**=अन्धकार को दूर करती हुईं **भोजान्**=औरों का पालन करनेवाले लोगों को **राधो देयाय**=कार्यसाधक धनों को देने के लिए **चितयन्त**=प्रज्ञानयुक्त करती हैं। इन उषाओं में ये 'भोज' जागते हैं और धन का दान करनेवाले इनके लिये उषाएँ सचमुच 'मघोनी' होती हैं-ऐश्वर्योंवाली होती हैं। (२) इन भोजों के विपरीत **पणयः**=वणिक्‌वृत्तिवाले कृपण लोग **अचित्रे**=अचायनीय (अप्रशंसनीय) **तमसः विमध्ये**=अन्धकार के मध्य में, **अन्तः**=इस अन्धकार के अन्दर, **अबुध्यमानाः**=जागृति को न प्राप्त करते हुए **ससन्तु**=सोये रह जाएँ।

भावार्थ—उषाकालों में प्रबुद्ध होकर दान की वृत्तिवाले 'भोज' हम बनें। पणि बनकर-कृपण बनकर सोये ही न रह जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नवग्व अंगिर, दशग्व सप्तास्य

कुवित्स देवीः सनयो नवो वा यामो बभूयादुषसो वो अद्य।
येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये रेवती रेवदूष ॥ ४ ॥

(१) **देवीः उषसः**=दिव्य गुणोंवाली उषाओ! **सनयः**=पुराणा **नवः वा**=या नया जैसा भी वह **यामः**=शरीर-रथ है **सः**=वह **अद्य**=आज **कुवित्**=अत्यन्त ही **वः**=आपका **बभूयात्**=हो। हम वृद्ध हों या युवा हों, सदा प्रातःकाल उठनेवाले हों। प्रातःकाल उठना ही इस शरीर-रथ को उषाकालों का बनाना है। (२) **येन**=जिस रथ से **रेवतीः**=प्रशस्त धनोंवाली तुम **नवग्वे**=नवमदशक तक-नव्वे साल की आयु तक जानेवाले इस **अंगिरे**=गतिशील पुरुष में (अगि गतौ), तथा **दशग्वे**=दशम दशक तक जानेवाले-१०० वर्ष तक पहुँचनेवाले **सप्तास्ये**=सप्त छन्दोमयी वेदवाणी-रूप मुखवाले, अर्थात् अत्यन्त ज्ञान को प्राप्त करनेवाले पुरुष में **रेवत्**=प्रशस्त धनयुक्त **ऊष**=(विभातं कृतवत्य) प्रकाश को प्राप्त कराती हो।

भावार्थ—सदा प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति नव्वे साल के आयुष्य में भी गतिशील होता है। सौवें वर्ष में भी खूब ज्ञान की चेतनावाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गतिशीलता की प्रेरिका उषाएँ

यूयं हि दे॑वीॠ॑तयु॒ग्भिरश्वैः परिप्रया॒थ भुव॑नानि स॒द्यः।
प्र॒बो॒धय॑न्तीरुषसः स॒सन्तं॑ द्वि॒पाच्चतु॑ष्पाच्च॒रथा॑य जी॒वम्॥ ५॥

(१) हे **उषसः**=उषाओ! **यूयम्**=तुम **हि**=निश्चय से **देवीः**=प्रकाशमयी हो। **ऋतयुग्भिः**=ऋत के साथ जो भी ठीक है, उसके साथ मेलवाले **अश्वैः**=इन इन्द्रियाश्वों द्वारा **सद्यः**=शीघ्र ही **भुवनानि**=सब लोकों में **परिप्रयाथ**=चारों ओर आती हो। ये उषाएँ सब प्राणियों को प्राप्त हों प्रत्येक ऋतु में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराती हैं। सामान्यतः उषा में जगनेवाले लोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। (२) ये **उषसः**=उषाएँ **ससन्तम्**=सोये हुए **द्विपात् चतुष्पात्**=दोपाये व चौपाये **जीवम्**=सब जीवों को **चरथाय**=गतिशील होने के लिए-अपने-अपने कार्यों में लगने के लिए **प्रबोधयन्तीः**=प्रबुद्ध करती हैं।

भावार्थ—उषाएँ जगाती हैं। गतिशील बनने के लिए प्रेरित करती हैं। हमारे इन्द्रियाश्वों को ऋत (यज्ञ) की ओर ले जाती हैं।

अथ द्वितीयो वर्गः॥ २॥

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रारम्भ, मध्य व अन्त की उषाएँ

क्व॑ स्विदासां कत॒मा पु॒रा॒णी यया॑ वि॒धाना॑ वि॒द॒धुॠ॒भूणा॑म्।
शुभं॒ यच्छु॒भ्रा उ॒षस॒श्चर॑न्ति॒ न वि ज्ञा॑यन्ते स॒दृशी॑रजु॒र्याः॥ ६॥

(१) **आसाम्**=इन उषाओं में **कतमा**=अत्यन्त आनन्द को देनेवाली वह **पुराणी**=पुराकाल में होनेवाली उषा **क्व स्वित्**=भला अब कहाँ है। **यया**=जिस उषा से **ऋभूणाम्**=(उरु भान्ति) ज्ञानदीप्त पुरुषों के **विधाना**=कार्यों को-चार भागों में बटे वेदज्ञान प्राप्ति-रूप कार्य को **विदधुः**=करते थे। वह जीवन यज्ञ के प्रातःसवन (प्रथम चौबीस वर्षों की) की उषाएँ अब कहाँ हैं? उन उषाओं में तो हम ऋभुओं के कार्यों को करने में ही तत्पर थे-ज्ञानप्राप्ति मात्र ही हमारा कार्य था। कितना आनन्द था उन उषाकालों में। (२) **यत्**=जो **शुभ्राः**=दीप्त **उषसः**=उषाएँ **शुभम्**=यज्ञादि शुभ कार्यों को करती थीं, वे माध्यन्दिनसवन की (पच्चीस से अड़सठ वर्ष तक की) उषाएँ भी अब कहाँ है? जिस समय गृहस्थ में सदा प्रातः प्रबुद्ध होकर हम पञ्चयज्ञों में प्रवृत्त हुआ करते थे, वे उषाएँ भी जा चुकीं। (३) अब इस सायन्तनसवन में भी (उनहत्तर से एक सौ सोलह वर्ष तक) ये उषाएँ उसी प्रकार चल रही हैं। पहली उषाओं से भिन्न रूप में **न विज्ञायन्ते**=ये नहीं जानी जातीं। **सदृशीः**=ये उसी प्रकार से चल रही हैं, उन पुराणी उषाओं से भिन्न नहीं प्रतीत होती। **अजुर्याः**=ये जीर्ण हो गयी प्रतीत नहीं होतीं। हम जीर्ण होने से पहली सुन्दर उषाओं को निःसन्देह स्मरण करें। परन्तु उषाएँ तो एकरूप से चलती-चलती रहती हैं, इनमें पुराणपन नहीं आ जाता, ये अजुर्य हैं।

भावार्थ—जीवन के प्रारम्भ में हम ऋभु बनकर ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति में लगे थे। मध्य में शुभ यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहें। अब अन्त में भी ये उषाएँ हमारे लिए उसी प्रकार अक्षीणतावाली बनी रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्थान के लिये आत्मप्रेरणा

ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः।
यास्वीजानः शशमान उक्थैः स्तुवञ्छंसन्द्रविणं सद्य आप॥ ७॥

(१) **ताः**=वे **घ**=निश्चय से **ताः**=प्रसिद्ध **भद्राः**=कल्याणकर **उषसः**=उषाकाल **पुरा आसुः**=पहले थे। ये उषाकाल **अभिष्टि द्युम्नाः**=(अनिष्टि=attack) वासनाओं पर आक्रमण के कारण ज्योतिर्मय थे तथा **ऋतजातसत्याः**=ऋत के विकास के कारण ये उषाकाल सत्य थे। इन उषाकालों में हम सब कार्य ऋत के अनुसार-नियमपूर्वक करते थे। अतएव हमारे जीवन सत्य प्रधान थे। (२) **यासु**=जिन उषाओं में **ईजानः**=यज्ञ करता हुआ, **शशमानः**=प्लुत गति से कार्यों को करता हुआ यह **उक्थैः**=स्तोत्रों से **स्तुवन् शंसन्**=स्तुति व शंसन करता हुआ पुरुष **सद्यः**=शीघ्र ही **द्रविणं आप**=धन को प्राप्त करता था। हमारे जीवनों के वे उषाकाल कितने सुन्दर थे। कितना पवित्र व समृद्ध जीवन था। उन्हीं उषाओं को फिर से लाने का हम प्रयत्न करें।

भावार्थ—भद्र उषाकाल वे हैं, जिनमें हम (क) वासनाओं पर आक्रमण करके ज्ञान-ज्योति को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, (ख) नियमितता के विकास के जीवन को सत्यमय बनाते हैं, (ग) यज्ञशील व स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले होते हैं, (घ) प्रभु का स्तवन व शंसन करते हुए द्रविणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'यज्ञ, स्वाध्याय व स्तवन' वाली उषाएँ

ता आ चरन्ति समना पुरस्तात्समानतः समना पप्रथानाः।
ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो जरन्ते॥ ८॥

(१) **ताः**=वे उषाएँ **समना**=(सं अन् प्राणने) सम्यक् प्राणित करनेवाली **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **आचरन्ति**=गतिवाली होती हैं। ये उषाएँ **समानतः**=समानरूप से सब को **समना**=प्राणित करनेवाली **पप्रथानाः**=विस्तृत हो रही हैं। उषाकाल के वायुओं में ओजोन गैस प्रचुर मात्रा में होती है। वही प्राणित करने का साधन बनती है। (२) ये **देवीः उषसः**=दिव्य (प्रकाशमय) उषाएँ **ऋतस्य सदसः**=यज्ञों के स्थानों का बोध कराती हुई, **गवां सर्गाः न**=प्रकाशरश्मियों की सृष्टियों के समान **जरन्ते**=स्तुत होती हैं, अर्थात् इन उषाओं में भद्र लोग यज्ञ करते हैं, स्वाध्याय द्वारा ज्ञानरश्मियों को उत्पन्न करते हैं और स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। उषाकाल के मुख्य कार्य 'यज्ञ, स्वाध्याय व प्रभुस्तवन' ही हैं।

भावार्थ—उषाकाल का वायु स्वास्थ्यवर्धक है। इन उषाओं में प्रबुद्ध होकर हम यज्ञ, स्वाध्याय व स्तवन-स्तुति आदि पवित्र कार्यों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्तिसम्पन्न, पवित्र व दीप्त ज्ञान

ता इन्न्वे३व समना समानीरमीतवर्णा उषसश्चरन्ति।
गूहन्तीरभ्वमसितं रुशद्भिः शुक्रास्तनूभिः शुचयो रुचानाः॥ ९॥

(१) **ताः**=वे **एव**=ही **इत् नु**=निश्चय से अब **समना**=सम्यक् प्राणित करनेवाली **समानीः**=समान

रूप से चली आ रही **अमीतवर्णाः**=अहिंसित वर्णवाली-तेजस्वी **उषसः**=उषाएँ **चरन्ति**=गतिवाली होती हैं। (२) **अभ्वम्**=महान् **असितम्**=कृष्णवर्ण-रात्रि के अन्धकार को **रुशद्भिः**=चमकते हुए अपने प्रकाशों से **गूहन्तीः**=अपने अन्दर छिपाती हुई, **तनूभिः शुक्राः**=अपने शरीरों से (शुक्रम्=वीर्यम्) शक्ति-सम्पन्न, **शुचयः**=पवित्र व **रुचानाः**=दीप्तिवाली हैं। वस्तुतः ये उषाएँ हमें शरीर में (शुक्र) वीर्य-सम्पन्न, मन में (शुचि) पवित्र तथा मस्तिष्क में (रुच दीप्तौ) दीप्त ज्ञानवाला बनाती हैं।

भावार्थ—उषाएँ अन्धकार को दूर करनेवाली हैं। इनमें जागनेवाला पुरुष शक्ति-सम्पन्न, पवित्र व दीप्त ज्ञानवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उत्तम सन्तान, धन व सुवीर्य

र॒यिं दि॑वो दुहितरो विभा॒तीः प्र॒जाव॑न्तं यच्छता॒स्मासु॑ देवीः।
स्यो॒नादा वः॑ प्रति॒बुध्य॑मानाः सु॒वीर्य॑स्य॒ पत॑यः स्याम॥ १०॥

(१) **दिवः दुहितरः**=प्रकाश का हमारे जीवनों में प्रपूरण करनेवाली **विभातीः**=चमकती हुई **देवीः**=दिव्यगुणों को जन्म देनेवाली उषाओ! **अस्मासु**=हमारे में **प्रजावन्तम्**=प्रकृष्ट सन्तानोंवाले **रयिम्**=धन को **यच्छत**=प्राप्त कराओ। उषाकाल में जागरित होकर अपने कर्त्तव्यों में लगते हुए हम उत्तम सन्तानों व धनों को प्राप्त करें। (२) **वः**=आपसे दिये जानेवाले **स्योनाद्**=सुख के निमित्त **आप्रतिबुध्यमानाः**=सदा जागरित होते हुए हम **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के **पतयः**=स्वामी **स्याम**=हों। यह उषाकाल का जागरण हमें शक्तिशाली बनाए।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर अपने कर्तव्यकर्मों में तत्पर हों। इससे हमें उत्तम सन्तान, धन व सुवीर्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञकेतु का यशस्वी जीवन

तद्वो॑ दिवो दुहितरो विभा॒तीरुप॑ ब्रुव उषसो य॒ज्ञके॑तुः।
व॒यं स्या॑म य॒शसो॒ जने॑षु तद् द्यौश्च॑ ध॒त्तां पृ॑थि॒वी च॑ दे॒वी॥ ११॥

(१) **यज्ञकेतुः**=यज्ञ के ज्ञानवाला मैं-यज्ञों के महत्त्व को समझनेवाला मैं हे **दिवः दुहितरः**=प्रकाश की प्रपूरक **विभातीः**=चमकती हुई **उषसः**=उषाओ! **वः तत्**=आपके उस महत्त्व को मैं **ब्रुवः**=कहता हूँ। (२) उषाओं के महत्त्व को समझते हुए हम उषाओं में जागनेवाले बनें। और **वयम्**=हम **जनेषु**=लोगों में **यशसः स्याम**=यशस्वी हों। उत्कृष्ट जीवनवाले बनकर हम यशस्वी क्यों न होंगे! **तद्**=उस हमारे यश को **द्यौः च**=मस्तिष्करूप द्युलोक **च**=और **देवी पृथिवी**=यह (दिव गतौ) गतिमय पृथिवीरूप शरीर **धत्ताम्**=धारण करें। हमारा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त होकर तथा हमारा शरीर दृढ़ होकर हमारे जीवन को यशस्वी बनाएँ।

भावार्थ—उषाकालों में जागकर हम यज्ञशील बनें। हमारा शरीर व मस्तिष्क हमारे जीवन को यशस्वी बनाएँ।

अगले सूक्त में भी उषा का ही वर्णन है—

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'सूनरी जनी' उषा

प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः। दिवो अदर्शि दुहिता ॥ १ ॥

(१) **स्या**=वह **दिवः दुहिता**=प्रकाश का हमारे जीवनों में प्रपूरण करनेवाली उषा **प्रति अदर्शि**=प्रतिदिन उदय होती हुई दिखती है। उषा निकलती है, हमें प्रबुद्ध करके हमारे जीवनों को प्रकाश से भर देती है। (२) **सूनरी**=यह हमें उत्तमता से मार्ग पर आगे और आगे ले चलती है। **जनी**=यह हमारे जीवनों में शक्तियों का विकास करती है और **स्वसुः परि**=स्वसृ (=बहिन) के स्थानापन्न रात्रि की समाप्ति पर **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती है। यह उषा हमारे जीवन के अन्धकार को भी इसी प्रकार दूर भगाती है।

भावार्थ—उषा (क) हमें उत्तम मार्ग पर ले चलती है, (ख) हमारे जीवन में गुणों व शक्तियों का विकास करती है और (ग) प्रकाश का हमारे में प्रपूरण करनेवाली है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'अरुषी-ऋतावरी' उषा

अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी। सखाभूदश्विनोरुषाः ॥ २ ॥

(१) **अश्वा इव**=(अश् व्याप्तौ) जैसे यह उषा कर्मों में व्याप्त होनेवाली है, उसी प्रकार **चित्रा**=ज्ञान को देनेवाली है। **अरुषी**=आरोचमान है, **गवां माता**=प्रकाश की किरणों का निर्माण करनेवाली है, **ऋतावरी**=यह ऋतवाली है-यज्ञोंवाली है। हमें प्रातः प्रबुद्ध होकर कर्त्तव्यकर्मों में लग जाना चाहिए। ज्ञानप्राप्ति के लिए यत्नशील होना चाहिए। हम इस उषा जागरण से अपने जीवन को आरोचमान तेजस्वी बनाएँ। स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञानप्रकाश को बढ़ाते हुए हम यज्ञशील हों। (२) प्रातः प्राणसाधना का उषाकाल **अश्विनोः**=प्राणापान का **सखा अभूत्**=मित्र होता है, अर्थात् इस उषाकाल में प्राणसाधना चलती है। प्रातः प्रबुद्ध होकर, स्नानादि शुद्धि करके, हम सूर्याभिमुख बैठकर प्रतिदिन प्राणापान का अभ्यास करें।

भावार्थ—प्रातः प्रबुद्ध होकर अपने कर्त्तव्यकर्मों में हम लगें, स्वाध्याय करें और यज्ञ में प्रवृत्त हों। प्राणसाधना करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'प्राण, ज्ञान व वसु' प्रदा उषा

उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि। उतोषो वस्व ईशिषे ॥ ३ ॥

(१) हे **उषः**=उषा! तू **उत**=निश्चय से **अश्विनोः सखा असि**=प्राणापान की मित्र है। प्रातः प्रबुद्ध होकर हमें प्राणायाम द्वारा प्राणों को वश में करने का यत्न करना चाहिए। **उत**=और तू **गवाम्**=ज्ञानरश्मियों की **माता असि**=माता है। यह उषा प्राणसाधना द्वारा हमें ऊर्ध्वरेतस् बनाती है। यह रेतस् ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इस प्रकार स्वाध्याय से हमारी ज्ञानरश्मियाँ फैलती हैं। (२) **उत**=और हे उषः! तू **वस्वः**=सब वसुओं के **ईशिषे**=ऐश्वर्यवाली है। शरीर में निवास के लिए जो भी आवश्यक तत्त्व हैं, उन्हें तू प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—उषा प्राणों को, ज्ञान को व वसुओं को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'यावयद्द्वेषा' उषा

यावयद् द्वेषसं त्वा चिकित्वित्सूनृतावरि। प्रति स्तोमैरभुत्स्महि ॥ ४ ॥

(१) हे **चिकित्वत्**=ज्ञान को प्राप्त करानेवाली, **सूनृतावरि**=प्रिय सत्यवाणियोंवाली उषा! **त्वाम्**=तुझे **स्तोमैः**=स्तुतियों द्वारा **प्रति अभुत्स्महि**=प्रतिदिन प्रबुद्ध करते हैं। इस उषाकाल में हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हैं (चिकित्वत्) शान्तचित्त होकर प्रिय सत्यवाणियों को बोलने का ही व्रत लेते हैं (सूनृतावरि) तथा प्रभु स्तवन करते हैं (स्तोमैः)। (२) उस उषाकाल का हम स्तवन करते हैं, जो कि **यावयद् द्वेषसम्**=हमारे से सब द्वेषों को दूर करनेवाला है। उषा के शान्त वातावरण में हम द्वेष आदि बुरी वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—उषाकाल ज्ञान, प्रियसत्यवाणी, निर्द्वेष व प्रभुस्तवन के लिए है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्रियों का निर्माण-ज्ञानरश्मियाँ व तेज

प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः। ओषा अप्रा उरु ज्रयः ॥ ५ ॥

(१) इन उषाकालों में **भद्राः**=कल्याणकर **गवां सर्गाः न**=इन्द्रियों के निर्माण की तरह **रश्मयः**=ज्ञानरश्मियाँ **प्रति अदृक्षत**=प्रतिदिन दृष्टिगोचर होती हैं। उषाकाल के जागरण से इन्द्रियों का निर्माण उत्तम होता है, इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है और हमारी ज्ञानरश्मियों का विकास होता है। (२) **उषः**=यह उषावेला **उरु ज्रयः**=विशाल तेज को **आ अप्राः**=हमारे जीवन में समन्तात् भरती है। इस समय सोये हुए पुरुषों के तेज को सूर्य हर लेता है 'उद्यन सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे'।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण (क) इन्द्रियों का उत्तम निर्माण करता है, (ख) ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराता है और (ग) हमारे में तेजस्विता को भरता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्वधा का रक्षण

आपप्रुषी विभावरि व्यावर्ज्योतिषा तमः। उषो अनु स्वधामव ॥ ६ ॥

(६) **विभावरि**=ज्ञान के प्रकाशवाली उषः! तू **आपप्रुषी**=हमारे जीवनों में तेज का पूरण करती हुई **ज्योतिषा**=ज्ञान के प्रकाश से **तमः**=अज्ञानान्धकार को **व्यावत्**=दूर करनेवाली हो। (२) हे **उषः**=उषे! तू **अनु**=तेजस्विता व ज्योति को प्राप्त कराने के बाद **स्वधाम्**=आत्मधारणशक्ति को **अव**=हमारे में सुरक्षित कर।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण हमें तेजस्विता व ज्ञान से पूरित करके आत्मधारण शक्ति से युक्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'द्यां अन्तरिक्षम्'

आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरु प्रियम्। उषः शुक्रेण शोचिषा ॥ ७ ॥

(१) **उषः**=हे उषे! तू **द्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को **रश्मिभिः**=ज्ञानरश्मियों से **आ तनोषि**=समन्तात् आतत (व्याप्त) करती है। (२) तथा **उरु**=विशाल **प्रियम्**=प्रीतियुक्त, प्रसादमय

अन्तरिक्षम्=हृदयान्तरिक्ष को **शुक्रेण शोचिसा**=चमकती हुई पवित्रता से—शुचिता से आतत करता है।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण यदि हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानरश्मियों से दीप्त करता है, तो हमारे तन को यह चमकती हुई पवित्रता से चमका देता है।

उषाकाल की समाप्ति पर ज्ञान सूर्य का उदय होता है। सो अगला सूक्त सविता का है—

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'असुर प्रचेता' प्रभु

तद्देवस्य सवितुर्वार्यं महद् वृणीमहे असुरस्य प्रचेतसः।
छर्दिर्येन दाशुषे यच्छति त्मना तन्नो महाँ उदयान्देवो अक्तुभिः॥ १॥

(१) **देवस्य**=प्रकाशमय **सवितुः**=प्रेरक प्रभु के **तद्**=उस **वार्यम्**=वरणीय **महत्**=महनीय तेज को **वृणीमहे**=वरते हैं 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि'। उस प्रभु के तेज को वरते हैं, जो कि **असुरस्य प्रचेतसः**=(असून् राति) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं और प्रकृष्ट चेतनावाले हैं। प्रभु शक्ति व ज्ञान के पुञ्ज हैं। हम भी इनके तेज का वरण करते हैं। इसी तेज को धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं। (२) **येन**=जिस तेज से वे प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—आत्मार्पण करनेवाले के लिए, **छर्दिः**=शरण को **यच्छति**=देते हैं, **महान् देवः**=वे महादेव **नः**=हमारे लिए **त्मना**=स्वयं **अक्तुभिः**=अपनी प्रकाश की किरणों के साथ **तत्**=उस तेज को **उदयान्**=दें।

भावार्थ—प्रभु 'असुर हैं, प्रचेता' हैं। हमारे लिए प्रभु प्रकाश की किरणों के साथ हमें तेजस्विता प्रदान करें—जो तेजस्विता सब रक्षणात्मक कार्यों में विनियुक्त हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'तेजोमय' प्रभु

दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गं द्रापिं प्रति मुञ्चते कविः।
विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्नुर्वजीजनत्सविता सुम्नमुक्थ्यम्॥ २॥

(१) **दिवः धर्ता**=प्रकाश को धारण करनेवाले, **भुवनस्य प्रजापतिः**=सारे ब्रह्माण्ड की प्रजाओं के रक्षक **कविः**=वह क्रान्तदर्शी प्रभु **पिशंगं द्रापिम्**=तेजोमय हिरण्मय कवच को **प्रतिमुञ्चते**=धारण करते हैं। तेजोमय प्रकाशमय रूप में ही प्रतीत होते हैं। (२) **विचक्षणः**=वे विशेषरूप से सब के **सविता**=प्रेरक प्रभु सर्वत्र अपने तेज को **प्रथयन्**=विस्तृत करते हुए और **आपृणन्**=आपूरित करते हुए **उरु**=विशाल **उक्थ्यम्**=स्तुत्य **सुम्नम्**=सुख को **अजीजनत्**=उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु तेजोमय हैं। यदि मैं प्रभु का धारण करूँगा, तो वे मुझे विशाल स्तुत्य आनन्द को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'निवेशयन्-प्रसुवन्' प्रभु

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।
प्र बाहू अस्राक्सविता सवीमनि निवेशयन्प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत् ॥ ३ ॥

(१) **देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **दिव्यानि**=द्युलोकस्थ तथा **पार्थिवा**=इस पृथिवी से संम्बद्ध **रजांसि**=लोक (क्षेत्र) **आप्राः**=(आ अप्राः) आपूरित किये हुए हैं। इनको व्याप्त करनेवाले वे प्रभु **स्वाय धर्मणे**=अपनी धर्म प्रजा के लिये **श्लोकं कृणुते**=यश को करते हैं, अर्थात् अपनी धारणशक्ति के कारण यशस्वी हो रहे हैं। उस विष्णु (व्यापक प्रभु) की महिमा यही है कि वे इस अनन्त से प्रतीयमान ब्रह्माण्ड को भी अपने एकदेश में धारण करके रह रहे हैं 'पादो ऽस्य विश्वा भूतानि'। (२) वे **सविता**=सकल जगदुत्पादक-सबके प्रेरक प्रभु **सवीमनि**=इस उत्पन्न जगत् में सर्वत्र **बाहू**=अपनी भुजाओं को **प्र अस्राक्**=(प्रसारयति) फैलाते हैं। अपनी भुजाओं से इस सारे ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं। वे प्रभु **अक्तुभिः**=अपने प्रकाश की किरणों से **जगत्**=सारे ब्रह्माण्ड को **निवेशयन्**=अपने-अपने स्थान पर स्थापित कर रहे हैं और **प्रसुवन्**=सब प्राणियों को प्रेरित कर रहे हैं। प्रभु सविता हैं। प्रकृति के दृष्टिकोण से सब जगत् के उत्पादक हैं और जीव के दृष्टिकोण से सबके प्रेरक हैं। प्रभु की एक भुजा यदि सब पिण्डों को अपने-अपने स्थान में निवेशित करती है, तो दूसरी भुजा सब प्राणियों को कर्त्तव्य का निर्देश करती है।

भावार्थ—प्रभु सब प्राकृतिक पिण्डों का अपने-अपने स्थान में धारण करते हुए (निवेशयन्), उनमें निवास करनेवाले प्राणियों को अपने-अपने कर्त्तव्यों की प्रेरणा दे रहे हैं (प्रसुवन्)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—स्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

महो अज्मस्य राजति

अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशद् व्रतानि देवः सविताभि रक्षते।
प्रास्राग्बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति ॥ ४ ॥

(१) **अदाभ्यः**=वे प्रभु किसी से हिंसित होनेवाले नहीं हैं। **भुवनानि प्रचाकशत्**=वे सब भुवनों को प्रकाशित करते हुए हैं। वे **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक प्रभु **व्रतानि अभिरक्षते**=सब पुण्यकर्मों का रक्षण करते हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। (२) इस **भुवनस्य प्रजाभ्यः**=ब्रह्माण्ड की प्रजाओं के लिए **बाहू**=अपनी भुजाओं को **प्रास्राक्**=वे प्रभु फैलाते हैं। गतमन्त्र के अनुसार एक बाहु से यदि ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं, तो दूसरी बाहु से सब प्रजाओं को कर्त्तव्यों का निर्देश करते हैं। **धृतव्रतः**=सब व्रतों का धारण करनेवाले वे प्रभु **महः अज्मस्य**=इस महान् ब्रह्माण्ड का **राजति**=शासन करते हैं 'इन्द्रो विश्वस्य राजति' (अज गतौ से 'अज्म', सृ गतौ से 'संसार')।

भावार्थ—प्रभु ही लोकों को प्रकाशित करते हैं-प्राणियों को प्रेरणा देते हैं। वे ही सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सर्वव्यापक-सर्वरक्षक' प्रभु

त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना।
तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिस्र इन्वति त्रिभिर्व्रतैरभि नो रक्षति त्मना ॥ ५ ॥

(१) **सविता**=वह सर्वोत्पादक प्रभु **महित्वना**=अपनी महिमा से **त्रिः अन्तरिक्षम्**=‘वायु-विद्युत्-वरुण’ नामवाले त्रिभेद अन्तरिक्ष को **परिभूः**=व्याप्त करता है। अन्तरिक्ष का निचला प्रदेश वह है, जहाँ वायु बहती है, मध्य प्रदेश में विद्युत् चमकती है, उपरला प्रदेश जलवाष्पों का स्थान है। ये सविता **त्री रजांसि**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूप तीनों लोकों को व्याप्त कर रहे हैं। इन लोकों की **त्रीणि रोचना**=तीनों दीप्तियों को, ‘अग्नि, विद्युत् व सूर्य को’ भी वे प्रभु ही व्याप्त करनेवाले हैं। (२) ये प्रभु **तिस्रः दिवः**=द्युलोक के तीनों विभागों को ‘इन्द्र, प्रजापति, सत्य नामक तीनों द्युलोक के प्रदेशों को **इन्वति**=व्याप्त करते हैं। (३) **तिस्रः पृथिवीः**=पृथिवी के तीन प्रदेशों को भी वे प्रभु व्याप्त किये हुए हैं। पृथिवी के उपरले प्रदेश में प्राणी विचरते हैं, ३४ फीट नीचे जलवाला प्रदेश मध्यम है, उसके नीचे स्वर्ण आदि धातुओं का प्रदेश आता है, यही पृथिवी का केन्द्र प्रदेश है। इन सब को प्रभु व्याप्त किये हुए हैं। (४) ये प्रभु **त्मना**=स्वयं **त्रिभिः व्रतैः**=निर्माण धारण व प्रलय रूप मुख्य कर्मों से अथवा ‘सर्दी, गर्मी व वर्षा’ रूप ऋतुओं को यथा समय प्राप्त कराने से **नः अभिरक्षति**=हमारा सम्यक् रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रभु ही अपने व्रतों द्वारा सब का रक्षण कर रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

‘बृहत्सुम्न’ प्रभु

बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी।
स नो देवः सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः॥ ६॥

(१) **बृहत्सुम्नः**=विशाल सुखों को देनेवाला, **प्रसवीता**=सर्वोत्पादक, **निवेशनः**=सब को आधार देनेवाला, **जगतः स्थातुः**=जंगम स्थावर **उभयस्य**=दोनों का **यः वशी**=जो वश में करनेवाला है। **सः**=वह **सविता देवः**=प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **नः**=हमारे लिए **शर्म**=सुख को **यच्छतु**=दे। (२) वे प्रभु **अस्मे**=हमारे लिये **क्षयाय**=उत्तम निवास के लिए (क्षि निवासे) **अंहसः**=पाप से **त्रिवरूथम्**=तीन रक्षकों को रक्षा के लिये प्राप्त कराएँ। हमें काम से, क्रोध से व लोभ से वे प्रभु बचाएँ। अथवा शरीर सम्बन्ध के पापों से बचाएँ। अथवा मनु के अनुसार मन, वाणी व शरीर के दोषों से रक्षित करें।

भावार्थ—प्रभु हमें निष्पाप बनाएँ और सुखी करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

‘हमारे घरों को उत्तम बनानेवाले’ प्रभु

आगन्देव ऋतुभिर्वर्धतु क्षयं दधातु नः सविता सुप्रजामिषम्।
स नः क्षपाभिरहभिश्च जिन्वतु प्रजावन्तं रयिमस्मे समिन्वतु॥ ७॥

(१) **देवः आगन्**=वे प्रकाशमय प्रभु हमें प्राप्त हों। **ऋतुभिः**=सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि ऋतुओं से **वर्धतु**=हमारा वर्धन करें। **नः**=हमारे **क्षयम्**=गृहों को **दधातु**=धारण करें। वे **सविता**=प्रेरक प्रभु **सुप्रजाम्**=उत्तम सन्तानों को व **इषम्**=उत्तम अन्नों को हमारे लिए प्राप्त कराएँ। प्रभु की उपासना में व प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलते हुए हम अपने घरों को उत्तम बना पाएँ। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **क्षपाभिः च अहभिः**=रात-दिन **जिन्वतु**=उत्तम धनों के देनेवाले हों। वे प्रभु **प्रजावन्तम्**=उत्तम प्रजाओं व सन्तानोंवाले **रयिम्**=धन को **अस्मे**=हमारे लिए **समिन्वतु**=सम्यक् व्याप्त कराएँ। (व्याप्नोतु=प्रापयतु सा०)।

भावार्थ—हमें प्रभु प्राप्त हों–हमारा निरन्तर वर्धन हो। हमारा घर उत्तम बने। हमें उत्तम सन्तान, अन्न व धन प्राप्त हों। जिस घर में प्रभु का उपासन होगा, वह अवश्य उत्तम बनेगा।

अगले सूक्त में भी सविता का ही आराधन है—

[५४] चतुःपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सदा स्मरणीय' प्रभु

अभू॑द्दे॒वः स॑वि॒ता वन्द्यो॒ नु न॑ इ॒दानी॒मह्न॑ उप॒वाच्यो॒ नृभिः॑।
वि यो रत्ना॒ भज॑ति मान॒वेभ्यः॒ श्रेष्ठं॑ नो॒ अत्र॒ द्रवि॑णं॒ यथा॒ दध॑त् ॥ १ ॥

(१) **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक प्रभु **नु**=अब **नः**=हमारे लिए **वन्द्यः**=अभिवादनीय व स्तुत्य **अभूत्**=होते हैं। **अह्नः**=दिन के **इदानीम्**=इस समय में–जिस भी जीवनयज्ञ के सवन में हमारी स्थिति है, उस समय **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **उपवाच्यः**=वे प्रभु नामस्मरण के योग्य हैं। जीवन का दिन भी 'प्रातः, मध्याह्न, सायं' इन तीन भागों में बटा हुआ है। हम इस दिन के जिस भी समय में हों, अर्थात् बाल्य, युवा व वृद्ध जिस भी अवस्था में हों, सदा उस प्रभु के नाम का जप करते हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **मानवेभ्यः**=विचारशील पुरुषों के लिए **रत्ना**=रमणीय धनों को **विभजति**=प्राप्त कराते हैं, वे प्रभु **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **श्रेष्ठं द्रविणम्**=उत्तम धनों **यथा**=ठीक रूप में **दधत्**=धारण करें। प्रभु हमें यथायोग्य धनों को प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण-पूर्वक कार्यों में प्रवृत्त रहें। प्रभुकृपा से हमें उत्तम रत्न प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुन्दर जीवन

दे॒वेभ्यो॒ हि प्र॑थ॒मं य॒ज्ञियेभ्यो॑ऽमृत॒त्वं सु॒वसि॑ भा॒गमु॑त्त॒मम्।
आदिद्दा॒मानं॑ सवित॒र्व्यू॑र्णुषेऽनू॒ची॒ना जी॑वि॒ता मानु॑षेभ्यः ॥ २ ॥

(१) हे **सवितः**=सर्वोत्पादक, सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **यज्ञियेभ्यः देवेभ्यः**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहनेवाले देवों के लिए **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को–नीरोगता को **सुवसि**=प्राप्त कराते हैं। आप इनके लिए **उत्तमं भागम्**=उत्कृष्ट भजनीय धन को प्राप्त कराते हैं। (२) हे सवितः! **आत् इत्**=आप शीघ्र ही **दामानम्**=दान की वृत्तिवाले पुरुष को **व्यूर्णुषे**=प्रकाशमय जीवनवाला करते हैं। आप **मानुषेभ्यः**=विचारशील पुरुषों के लिए **अनूचीना**=(अनु अञ्च) अनुक्रम से चलनेवाले **जीविता**=जीवनों को प्रकाशित करते हैं, अर्थात् इनके जीवन को बड़ा व्यवस्थित व नियमित बनाते हैं।

भावार्थ—यज्ञादि कर्मों में लगे रहने पर नीरोगता व धन प्राप्त होता है। दानशील पुरुष का जीवन प्रकाशमय बनता है। विचारशील पुरुष का जीवन बड़ा व्यवस्थित होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पापों से दूर

अचि॑त्ती॒ यच्च॑कृ॒मा दैव्ये॒ जने॑ दी॒नैर्दक्षैः॒ प्रभू॑ती पूरु॒षत्व॑ता।
दे॒वेषु॑ च सवित॒र्मानु॑षेषु च॒ त्वं नो॒ अत्र॑ सुवता॒दना॑गसः ॥ ३ ॥

(१) हे **सवितः**=सर्वप्रेरक प्रभो! **अचित्ती**=अज्ञानवश **यत्**=जो **दैव्ये जने**=देव की ओर गतिवाले लोगों के विषय में–आपके उपासक भक्तों के विषय में **चकृमा**=हम अपराध कर बैठें, **त्वम्**=आप **अत्र**=इस विषय में **नः**=हमें **अनागसः**=निष्पाप **सुवतात्**=करिए। आपकी प्रेरणा से हमारी प्रवृत्ति इन पापों से दूर हो। (२) **दीनैः**=दीन पुरुषों के साथ **प्रभूती**=प्रकृष्ट ऐश्वर्य के कारण जो अपराध कर बैठें, उससे आप हमें दूर करिए। **दक्षैः**=दक्ष (कुशल) पुरुषों के साथ भी **पुरुषत्वता**=अपने पौरुष के घमण्ड के कारण जो अपराध कर बैठें, उससे आप हमें बचाइये। (३) **च**=तथा **देवेषु**=पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि देवों के विषय में तथा **मानुषेषु**=मनुष्यों के विषय में हम जो अपराध करें, उससे आप हमें बचने की प्रेरणा दीजिए।

भावार्थ—अज्ञानवश, ऐश्वर्यमद में या पौरुष के मद में होनेवाले पापों से प्रभु हमें बचाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'विश्व धारक' प्रभु

न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद्यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति।
यत्पृथिव्या वरिमन्ना स्वङ्गुरिर्वर्ष्मन्दिवः सुवति सत्यमस्य तत्॥ ४॥

(१) **दैव्यस्य** (स्वार्थे ष्यञ्) **सवितुः**=उस प्रकाशमय प्रेरक प्रभु का **न प्रमिये**=यह व्रत हिंसित नहीं होता कि **तद्यथा**=सो जैसे वे प्रभु **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को **धारयिष्यति**=धारण करेंगे। प्रभु धारणात्मक कर्म ही करते हैं। प्रभु का प्रलयरूप कर्म भी रात्रि की तरह धारण के लिए ही है। रात्रि जैसे बलवर्धन के लिए आवश्यक है, इसी प्रकार प्रलय भी। (२) प्रभु की यह बात भी हिंसित नहीं हो सकती **यत्**=कि वे प्रभु **पृथिव्याः**=पृथिवी के **वरिमन्**=इस विस्तार में **आ**=सर्वत्र **स्वंगुरिः**=(सु अगि गतौ) उत्तम गतिवाले हैं, प्रभु की एक-एक क्रिया सौन्दर्य को लिये हुए है। उस प्रभु का तो छेदन-भेदन व मारण भी हमारी अमरता के लिए है 'यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः'। **दिवः वर्ष्मन्**=द्युलोक के इस उरुत्व में–विस्तार में प्रभु जो कुछ करते हैं, **अस्य**=इन प्रभु का **तत्**=वह कार्य **सत्यम्**=सत्य ही है। सत्यस्वरूप प्रभु के सब कार्य सत्य ही होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के सब कार्य हमारे धारण के लिए ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'

इन्द्रज्येष्ठान्बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।
यथायथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते॥ ५॥

(१) **बृहद्भ्यः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि के मार्ग पर चलनेवाले **पर्वतेभ्यः**=अपना पूरण करनेवाले **एभ्यः**=इन लोगों के लिए, हे **सवितः**=सर्वोत्पादक प्रभो! **इन्द्रज्येष्ठान्**=(इन्द्रः ज्येष्ठः येषु) प्रभु ही जिनमें ज्येष्ठ हैं, अर्थात् सदा प्रभु के स्मरणवाले **पस्त्यावतः**=उत्तम गृहों (कमरों) वाले **क्षयान्**=निवास-स्थानों को **सुवसि**=आप प्राप्त कराते हैं। (२) इन घरों में रहते हुए वे लोग **यथा यथा**=जैसे-जैसे **पतयन्तः**=आपकी ओर गति करते हुए ये **वियेमिरे**=यम-नियम से युक्त जीवनवाले होते हैं, **एव एव**=उस-उस प्रकार **ते**=आपके **सवाय**=ऐश्वर्य के लिए **तस्थुः**=स्थित होते हैं। ये प्रभुभक्त संयत जीवनवाले होते हुए आपकी ओर आते हैं और आपके ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हमें प्रभु की उपासनावाले गृह प्राप्त हों ऐसे घरों में ही हमारा जन्म हो। वहाँ प्रभु की ओर चलते हुए जीवनवाले बनकर हम प्रभु के ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञशीलता व विश्व की अनुकूलता

ये ते त्रिरहन्त्सवितः सवासो दिवेदिवे सौभगमासुवन्ति।
इन्द्रो द्यावापृथिवी सिन्धुरद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत्॥ ६॥

(१) हे **सवितः**=प्रेरक प्रभो! **ये**=जो **अहन्**=दिन में **त्रिः**=तीन बार **सवासः**=यज्ञ हैं–प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन व सायन्तन सवन, **ते**=वे **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **सौभगम्**=उत्तम सौभाग्य को **आसुवन्ति**=प्राप्त कराते हैं। हम प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न व सायं प्रभु का स्मरण करते हुए, अर्थात् सदा प्रभु का स्मरण करते हुए सौभाग्यशील हों। जीवन-दिन का, प्रातः सवन प्रथम २४ वर्ष का है, माध्यन्दिन सवन अगले ४४ वर्ष का और सायन्तन सवन अन्तिम ४८ वर्ष का। इस प्रकार हम आजीवन प्रभु की उपासना के साथ कर्म करें। (२) **इन्द्रः**=वे प्रभु, **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवी लोक, **अद्भिः**=जलों के साथ **सिन्धुः**=ये नदियाँ तथा **आदित्यैः**=सब सूर्यादि देवों के साथ **अदितिः**=यह प्रकृति **नः**=हमारे लिए **शर्म यंसत्**=सुख दे। यज्ञात्मक जीवन होने पर यह सारा ब्रह्माण्ड सुख ही सुख देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर विश्व की अनुकूलता प्राप्त करें।

इस प्रकार यज्ञशील जीवन होने पर सब दिव्यगुणों का विकास होगा, सब देवों की अनुकूलता होगी, सो अगला सूक्त 'विश्वे देवाः' देवता का है—

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वसुओं के रक्षक प्रभु

को वस्त्राता वसवः को वरूता द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नः।
सहीयसो वरुण मित्र मर्तात्को वोऽध्वरे वरिवो धाति देवाः॥ १॥

(१) हे **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोगो! **कः**=वह अनिर्वचनीय प्रभु ही **वः**=आपके **त्राता**=रक्षक हैं। **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **वरूता**=तुम्हारे सब अशुभों का निवारण करनेवाले हैं। हे **अदिते**=अखण्डनीय **द्यावाभूमी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप **नः**=हमारा **त्रासीथाम्**=रक्षण करिए। सारा ब्रह्माण्ड हमारे उत्तम निवास के लिए अनुकूल हो। (२) हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **कः**=वे प्रभु ही **अध्वरे**=इस जीवन यज्ञ में **वः**=आपके लिए **वरिवः**=ऐश्वर्य को **धाति**=धारण करते हैं। हे **वरुण**=सब अशुभों का निवारण करनेवाले **मित्र**=सब प्रभीतियों (मृत्यु व पापों) से बचानेवाले प्रभो! **सहीयसः मर्तात्**=हमारा अभिभव करनेवाले मनुष्य से आप हमें रक्षित करिए।

भावार्थ—हम अपने निवास को उत्तम बनाएँ। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्मचर्य में व गृहस्थ में

प्र ये धामा॑नि पू॒र्व्याण्यर्चा॒न्वि यदु॒च्छान्वि॑यो॒तारो॒ अमू॑राः ।
वि॒धा॒तारो॒ वि ते द॑धु॒रज॑स्रा ऋ॒तधी॑तयो रुरुचन्त द॒स्माः ॥ २ ॥

(१) **ये**=जो लोग **पूर्व्याणि**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम **धामानि**=तेजों का **प्र अर्चान्**=प्रकर्षेण अर्चन करते हैं, अथवा पूर्व आश्रम में (ब्रह्मचर्याश्रम में) सम्पादनीय वीर्यरूप तेज का अर्चन करते हैं और **यत्**=जब इस तेज के अर्चन द्वारा, ज्ञानाग्नि को दीप्त करके, **वि उच्छान्**=अन्धकार को दूर करते हैं। **वियोतारः**=जो अज्ञानान्धकार को दूर करके बुराइयों को अपने से पृथक् करनेवाले हैं। ये लोग **अमूराः**=अमूढ़ हैं-समझदार हैं। संसार में चलने का तरीका यही है कि पूर्व्य धाम=वीर्य का समादर करें, अज्ञानान्धकार को दूर करें और बुराइयों से अपने को बचाएँ यही ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। (२) अब गृहस्थ में आकर **विधातारः**=हम विशेषरूप से धारण करनेवाले बनें। **ते**=वे धारण करनेवाले लोग **अजस्राः**=कार्यों को बीच में ही न छोड़ते हुए (जसु मोक्षणे) **विदधुः**=विशेषरूप से कार्यों को करते हैं। ये गृहस्थ **ऋत धीतयः**=सत्यकर्मा होते हुए-असत्य कर्मों से दूर हटते हुए **दस्माः**=औरों के दुःखों को दूर करनेवाले होकर अथवा दर्शनीय जीवनवाले होकर **रुरुचन्त**=संसार में चमकते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य में हम तेज का धारण करें, अविद्यान्धकार को दूर करें और बुराइयों से अपने को अलग करें। गृहस्थ में धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों, निरन्तर क्रियाशील रहें, सत्यकर्मा व दर्शनीय जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

(घर को उत्तम बनाना) गृह देवता की उपासना

प्र प॒स्त्या३॒॑मदि॑तिं॒ सिन्धु॑म॒र्कैः स्व॒स्तिमी॑ळे स॒ख्याय॑ दे॒वीम् ।
उ॒भे यथा॑ नो॒ अह॑नी नि॒पात॑ उ॒षासा॒नक्ता॑ कर॒ताम॑दब्धे ॥ ३ ॥

(१) **पस्त्यां देवीम्**=गृह का उत्तम निर्माण करनेवाली देवी को **सख्याय**=मित्रता के लिए मैं **ईडे**=स्तुत करता हूँ। घर को उत्तम बनाने के नियमों का मैं पालन करता हूँ। **अदितिम्**=(अ-दिति=खण्डन) स्वास्थ्य की देवी का मैं आराधन करता हूँ। **सिन्धुम्**=(स्यन्दते) प्रवाहमय इन रेतःकणों का मैं स्तवन करता हूँ। रेतःकणों के गुणों का ध्यान करके मैं इनके रक्षण के लिए यत्नशील होता हूँ। **अर्कैः**=मन्त्रों द्वारा मैं **स्वस्तिम्**=कल्याण की देवी का पूजन करता हूँ। ये स्तुति मन्त्र मुझे कल्याण के मार्ग से भटकने नहीं देते। (२) इन सब का मैं आराधन करता हूँ **यथा**=जिससे **उभे**=दोनों दिन-रात **नः**=हमें **निपातः**=नितरां रक्षित करते हैं। **अदब्धे**=अहिंसित होते हुए **उषासानक्ता**=दिन-रात हमारे लिए शुभों को ही **करताम्**=करनेवाले हों। दिन-रात का अहिंसित होना यही है कि हम समय को व्यर्थ में व्ययित न करके उनका सदुपयोग ही करें। (३) सब से मुख्य गृहस्थ धर्म यही है कि हम गृह को उत्तम बनाएँ। यही गृह देवता की उपासना है। इसके लिए स्वास्थ्य को ठीक रखना आवश्यक है। यही अदिति का उपासन है। स्वास्थ्य के लिए रेतःकणों का रक्षण आवश्यक है। यही सिन्धु की उपासना है। ऐसा होने पर ही कल्याण होता है। यही स्वस्ति का उपासन हो जाता है।

भावार्थ—हम घर को अच्छा बनाएँ। स्वस्थ रहें। रेतःकणों का रक्षण करें। प्रभु-स्मरणपूर्वक

कल्याण के मार्ग पर चलें। इस प्रकार प्रभु दिन-रात हमारा कल्याण ही करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमार्ग

व्य॑र्य॒मा वरु॑णश्चेति॒ पन्था॑मि॒षस्पति॑: सुवि॒तं गा॒तुम॒ग्निः।
इन्द्रा॑विष्णू नृ॒वदु॒ षु स्तवा॑ना॒ शर्म॑ नो यन्त॒मम॑वद्वरू॑थम्॥ ४॥

(१) **अर्यमा**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' देने की वृत्ति-अलोभ की वृत्ति **पन्थाम्**=मार्ग को **विचेति**=हमें बतलाती है। **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवी व व्रतबन्धन की देवी मार्ग को बतलाती है। **इषस्पतिः**=वह सब प्रेरणाओं का स्वामी प्रभु **सुवितं गातुम्**=शुभगमन-शुभ-आचरणवाले मार्ग को बतलाता है। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु हमें सुवित गातु का उपदेश करता है। वस्तुतः मार्ग यही है कि (क) हम देनेवाले बनें, (ख) व्रतबन्धन में अपने को बाँधें, द्वेष को दूर करें, (ग) प्रभुप्रेरणा को सुनें, (घ) अग्रगति की भावनावाले हों। (२) **इन्द्राविष्णू**='इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है, 'विष्णु' व्यापकता का। ये इन्द्र और विष्णु-शक्ति व व्यापकता की देवियाँ **स्तवाना**=स्तुति की जाती हुई **उ षु**=निश्चय से अच्छी प्रकार **नः**=हमारे लिए **नृवत् शर्म**=प्रशस्त मनुष्योंवाले घर को 'यथानः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्' तथा **अमवत्**=शक्ति से युक्त **वरूथम्**=(Wealth) धन को **यन्तम्**=दें। वस्तुतः घर वही अच्छा बनता है, जहाँ शक्ति व उदारता हो-जहाँ मनुष्यों का स्वभाव नम्र हो, शरीर में शक्ति हो और धन हो।

भावार्थ—हम सुमार्ग पर चलें और घरों को अच्छा बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्वस्थ निष्पापजीवन

आ पर्व॑तस्य म॒रुता॒मवां॑सि दे॒वस्य॑ त्रा॒तुर॑व्रि॒ भग॑स्य।
पात्पति॒र्जन्या॒दंह॑सो नो मि॒त्रो मि॑त्रि॒यादु॒त न॑ उरुष्येत्॥ ५॥

(१) मैं **पर्वतस्य**=शरीरस्थ इस मेरु-पर्वत के (रीढ़ की हड्डी के), **मरुताम्**=प्राणों के, **त्रातुः देवस्य**=उस रक्षक प्रभु के **भगस्य**=ऐश्वर्य की देवी के **अवांसि**=रक्षणों का **आ अव्रि**=सर्वथा वरण करता हूँ। मेरुदण्ड को सदा सीधा रखना स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है। प्राणसाधना मन की निर्मलता का साधन बनती है। रक्षक प्रभु का स्मरण हमें शक्ति-सम्पन्न व आत्मविश्वासवाला बनाता है। ऐश्वर्य संसारयात्रा की पूर्ति का साधन बनता है। एवं ये सब वस्तुएँ मिलकर हमारा पूर्ण रक्षण करती हैं। (२) **पतिः**=(यादसांपतिः अप्पतिः=वरुण) वह रक्षक वरुण **नः**=हमें **जन्यात्**=लोगों के विषय में हो जानेवाले **अहसः**=पाप से **पातु**=रक्षित करे। हम इस प्रकार व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधें और द्वेष से अपने को दूर करें कि हम लोगों के लिए कष्ट का कारण न बनें। **उत**=और **मित्रः**=वह पापों से बचानेवाला प्रभु **मित्रियात्**=मित्रों के विषय में हो जानेवाले पाप से **नः**=हमें **उरुष्येत्**=बचाए।

भावार्थ—हम रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें, प्राणायाम करें, प्रभुस्मरण करें, ऐश्वर्य का सम्पादन करें, लोगों व मित्रों के विषय में पाप करने से बचें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुस्मरण

नू रोदसी अहिना बुध्न्येन स्तुवीत देवी अप्येभिरिष्टैः।
समुद्रं न संचरणे सनिष्यवो घर्मस्वरसो नद्यो३ अप व्रन्॥ ६॥

(१) **नु**=अब **अहिना बुध्न्येन**=अहीन बुध्नवाले-अहीन आधारभूत प्रभु की प्राप्ति के दृष्टिकोण से **रोदसी**=द्यावापृथिवी **स्तुवीत**=हमारे से स्तुत हों। हम इन द्यावापृथिवी का स्तवन करें। इनके स्तवन में हम इनके उस अहीन आधारभूत प्रभु की महिमा को भी देखनेवाले बनेंगे। प्रभु ही तो इनको आधार दे रहे हैं, इस अनन्त से प्रतीयमान रोदसी के धारण करनेवाले वे प्रभु कितने ही महान् होंगे? (२) **अप्येभिः इष्टैः**=प्राप्त करने योग्य इष्ट पदार्थों के हेतु से **देवी**=यह सब व्यवहारों व गतियों को करनेवाली स्वास्थ्य की देवी (अ-दिति) हमारे से आराधित होती है। स्वास्थ्य ही सब इष्ट पुरुष का मूल है 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'। (३) **सनिष्यवः**=धनप्राप्ति की कामना करना **न**=जैसे **संचरणे**=मार्गों पर चलने के अवसर में **स-मुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु का स्मरण करना इसी प्रकार **घर्मस्वरसः**=दीप्त-स्तुति के शब्दोंवाले (धर्मः दीप्त, स्वृ=शब्दे) पुरुष ही **नद्यः अपव्रन्**=इन ज्ञान-नदियों के प्रवाहों को खोल डालते हैं। प्रभुस्तवन से ही धनार्थी धन प्राप्त करते हैं और ज्ञानार्थी ज्ञान-नदियों के प्रवाहों में स्नान करते हैं। वैदिक साहित्य में ज्ञान को देनेवाला आचार्य भी 'समुद्र' है 'तपो प्रतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे'। ज्ञान का प्रवाह भी 'सरस्वती' नदी का प्रवाह है, इसमें स्नान करके विद्यार्थी 'स्नातक' बनता है।

भावार्थ—रोदसी (द्यावापृथिवी) का स्मरण, इनके आधारभूत 'अहिर्बुध्न्य' प्रभु का स्मरण कराता है। प्रभुस्मरण से प्राप्त स्वास्थ्य सब पुरुषार्थों का आधार बनता है। प्रभुस्मरण से धनार्थी धन लाभ करता है और ज्ञानार्थी ज्ञान को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सात्त्विक अन्न व दिव्य जीवन

देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।
नहि मित्रस्य वरुणस्य धासिमर्हामसि प्रमियं सान्वग्नेः॥ ७॥

(१) **देवी**=सब व्यवहारों व गतियों को सिद्ध करनेवाली **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवी **नः**=हमें **निपातु**=नितरां रक्षित करे। **त्राता देवः**=वह रक्षक प्रभु **अप्रयुच्छन्**=सदा अप्रमत्त होता हुआ **त्रायताम्**=हमारा रक्षण करे, अर्थात् स्वास्थ्य का व प्रभुस्मरण का हम सदा ध्यान करें, इनमें प्रमाद न करें। (२) हम **मित्रस्य**=मित्र के **वरुणस्य**=वरुण के तथा **अग्नेः**=अग्नि के **सानु**=समुच्छ्रित-सर्वोन्नत **धासिम्**=आहार को **प्रमियम्**=हिंसित करने के लिए **नहि अर्हामसि**=नहीं योग्य हैं, अर्थात् हम सात्त्विक अन्न का ही प्रयोग करें, जिससे कि हम 'मित्र, वरुण व अग्नि' बनें, सब के साथ स्नेहवाले, निर्द्वेष व अग्रगतिवाले।

भावार्थ—हम स्वास्थ्यप्राप्ति व प्रभुस्मरण में अप्रमत्त हों। सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए 'सब के साथ स्नेह करनेवाले, निर्द्वेष व प्रगतिशील' बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वसव्य+सौभग

अ॒ग्निरी॑शे वस॒व्य॑स्या॒ग्निर्म॒हः सौभ॑गस्य। तान्य॒स्मभ्यं॑ रासते ॥ ८ ॥

(१) **अग्निः**=सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले प्रभु **वसव्यस्य**=सब धनसमूहों के **ईशे**=ईश हैं-प्रभु सब धनों के स्वामी हैं। **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **महः सौभगस्य**=महान् सौभाग्य के ईश हैं। (२) **तानि**=उन वसव्यों व सौभगों को **अस्मभ्यम्**=हम उपासकों के लिए **रासते**=वे देते हैं कि सच्ची उपासना यही है कि हम सब के मित्र व निर्द्वेष बनकर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले बनें। जब हम इस प्रकार प्रगतिशील होंगे तो धनसमूहों व सौभगों को अवश्य प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—हम अग्नि के उपासक बनें, अर्थात् अपने अन्दर **अग्नित्व**=प्रगतिशीलता को धारण करें। इसी से हमें धन व सौभाग्य प्राप्त होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'मघोनी-सूनृता-वाजिनीवती' उषा

उषो॑ मघो॒न्या व॑ह॒ सूनृ॑ते॒ वार्या॑ पुरु। अ॒स्मभ्यं॑ वाजिनीवति ॥ ९ ॥

(१) हे **उषः**=उषा की देवी! तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **पुरुवार्या**=पालक व पूरक वरणीय धनों को **आवह**=प्राप्त करा। हम उषा में प्रबुद्ध होकर स्वकार्य तत्पर होते हुए वरणीय धनों को प्राप्त करनेवाले बनें। (२) हे उषः! तू (क) **मघोनि**=सब ऐश्वर्योंवाली है अथवा (मघः मखः यज्ञ) सब यज्ञोंवाली है। हम ऐश्वर्यों को प्राप्त करें और यज्ञों में उनका विनियोग करें। (ख) **सूनृते**=हे उषः! तू प्रिय सत्यवाणीवाली है। तेरे में प्रबुद्ध होते हुए हम सदा प्रिय सत्यवाणी को ही बोलें। (ग) **वाजिनीवति**=तू प्रशस्त अन्नोंवाली है। उषा के उपासक हम सदा सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें।

भावार्थ—हम उषाकाल में जाएँ। यज्ञों में प्रवृत्त हों, प्रिय सत्यवाणी को ही बोलें और सात्त्विक अन्न का सेवन करें। यह उषा हमें सब वरणीय धनों को प्राप्त कराएगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

धन+धन का स्वामी (प्रकृति+परमेश्वर)

तत्सु नः॑ सवि॒ता भगो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा। इन्द्रो॑ नो॒ राध॑सा॒ ग॑मत् ॥ १० ॥

(१) उषा **नः**=हमें **तत्**=उस धन को दे, जिस **सुराधसा**=उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ **सविता**=वह प्रेरक प्रभु **आगमत्**=हमें प्राप्त हो। जिससे **भगः**=वह ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु हमारे जीवन-यज्ञ में उपस्थित हो। ऐसा न हो कि ऐश्वर्यों को प्राप्त करके ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु को हम भूल जाएँ। उस प्रभु की प्रेरणा को हम सदा सुननेवाले ही बने रहें। (२) उस ऐश्वर्य के साथ **वरुणः**=वरुण **मित्रः**=मित्र **अर्यमा**=सर्वप्रदाता **इन्द्रः**=ऐश्वर्यशाली प्रभु भी हमें प्राप्त हो। इन वाक्यों से प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी निर्द्वेष (वरुण) सब के प्रति स्नेहवाले (मित्र) त्याग व दान की वृत्तिवाले (अर्यमा) जितेन्द्रिय (इन्द्र) बनें।

भावार्थ—हम धनों को प्राप्त करें। साथ ही धनों के स्वामी प्रभु को न भूलकर 'निर्द्वेष, स्नेही, दाता व जितेन्द्रिय' बनें।

ऐसा होने पर अर्थात् धन के साथ धन स्वामी को न भूलने पर हमारे द्यावापृथिवी, मस्तिष्क

व शरीर बड़े उत्तम बनेंगे। इन 'द्यावापृथिवी' का वर्णन अगले सूक्त में है—

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'शुचयद्भिरर्कैः, पप्रथानेभिरेवैः'

मही द्यावापृथिवी इह ज्येष्ठे रुचा भवतां शुचयद्भिरर्कैः।
यत्सीं वरिष्ठे बृहती विमिन्वन्नुवद्धोक्षा पप्रथानेभिरेवैः ॥ १ ॥

(१) **इह**=इस हमारे जीवन-यज्ञ में **मही द्यावापृथिवी**=ये महनीय-अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क व शरीर रूप द्यावापृथिवी **रुचा**=दीप्ति से **ज्येष्ठे**=अत्यन्त प्रशस्त **भवताम्**=हों। मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से तथा शरीर तेजस्विता की दीप्ति से दीप्त हो। (२) **यत्**=अब **सीम्**=निश्चय से **रुवत् उक्षा**=प्रभु-स्तवन करता हुआ और प्रभु-स्तवन के द्वारा शरीर व मस्तिष्क को सोम (वीर्य) से सिक्त करता हुआ (प्रभु-स्तवन से ही तो सोम का रक्षण होता है) यह पुरुष **शुचयद्भिः अर्कैः**=जीवन को पवित्र बनानेवाले मन्त्रों से तथा **पप्रथानेभिः एवैः**=विस्तार को प्राप्त होती हुई गतियों से-उदार कर्मों से इनको **वरिष्ठे**=उरुतर (विशाल) व **बृहती**=प्रवृद्ध शक्तिवाला **विमिन्वन्**=बनाता है। मस्तिष्क को 'शुचयद्भिः अर्कैः' पवित्र ज्ञानप्रद मन्त्रों से उरुतर (विशाल) बनाता है तथा उदार कर्मों से शरीर को प्रवृद्ध शक्तिवाला। ऐसा करने पर हमारे द्यावापृथिवी महनीय व ज्येष्ठ बनते हैं, चमक उठते हैं।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के द्वारा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाएँ तथा शरीर को तेजस्विता से चमका दें। हम पवित्र ज्ञान की वाणियों व उदार कर्मों को अपनानेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋतावरी अद्रुहा

देवी देवेभिर्यजते यजत्रैरमिनती तस्थतुरुक्षमाणे।
ऋतावरी अद्रुहा देवपुत्रे यज्ञस्य नेत्री शुचयद्भिरर्कैः ॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर) **देवेभिः**=दिव्यगुणों से **देवी**=प्रकाशमय होते हुए **यजत्रैः**=यष्टव्य (यज पूजायाम्) पूजनीय बातों से **यजते**=आदरणीय होते हैं-मस्तिष्क अपनी ज्ञानप्राप्ति के कारण तथा शरीर तेजस्विता के कारण। **अमिनती**=हमारा हिंसन न करते हुए ये **उक्षमाणे**=परस्पर सिक्त होते हुए **तस्थतुः**=स्थिरता को प्राप्त होते हैं। वीर्यसेचन ही शरीररूप पृथिवी को दृढ़ और मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानदीप्त करता है। (२) ये द्यावापृथिवी **शुचयद्भिः अर्कैः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले इन मन्त्रों से (ज्ञान-वचनों से) **ऋतावरी**=ऋतवाले होते हैं-यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **अद्रुहा**=परस्पर द्रोहरहित होते हैं-शरीर मस्तिष्क का व मस्तिष्क शरीर का ध्यान करता है। ये दोनों **देवपुत्रे**=दिव्यगुणों को जन्म देनेवाले होते हैं-देव इनके पुत्र होते हैं। ये **यज्ञस्य नेत्री**=जीवनयज्ञ का उत्तम प्रणयन करते हैं।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर परस्पर मिलकर उन्नत होते हुए हमारे जीवन-यज्ञ का सुन्दर प्रणयन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्वपाः

स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान। उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत्॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **यः**=जो **इमे**=इन **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर को **जजान**=विकसित शक्तिवाला करता है **सः इत्**=वह ही **भुवनेषु**=इन लोकों में **स्वपाः आस**=उत्तम कर्मोंवाला होता है। केवल शरीर का स्वास्थ्य हमें उत्तम कर्मों में समर्थ नहीं करता और केवल मस्तिष्क का ज्ञान भी। स्वास्थ्य व ज्ञान का समन्वय-इनका परस्पर अद्रोह ही हमें 'स्वपाः' बनाता है। (२) **धीरः**=एक धीर पुरुष **शच्या**=शक्ति व प्रज्ञान द्वारा इन द्यावापृथिवी को **अ-वंशे**= उत्पत्तिरहित अथवा निराधार होते हुए उस सर्वाधार प्रभु में (जो वंशरहित है, उस प्रभु में) **समैरत्**=प्रेरित करता है। धीर पुरुष शरीर व मस्तिष्क को प्रभु की ओर ले चलता है। वस्तुतः इसीलिए इसके ये मस्तिष्क व शरीर **उर्वी**=विशाल **गभीरे**=गांभीर्य को लिये हुए **रजसी**=रञ्जनात्मक-प्रसन्नता को उत्पन्न करनेवाले व **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाले होते हैं (सु-मेक=make)।

भावार्थ—हम द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को विकसित शक्तिवाला करके उत्तम कर्मोंवाले बनें। इन्हें हम शक्ति व प्रज्ञानयुक्त कर प्रभु की ओर प्रेरित करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पत्नी की अनुकूलता

नू रोदसी बृहद्भिर्नो वरूथैः पत्नीवद्भिरिषयन्ती सजोषाः। उरूची विश्वे यजते नि पातं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ४॥

(१) **नु**=अब **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **नः**=हमारे लिए **बृहद्भिः वरूथैः**=वृद्धि के कारणभूत धनों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों। हमारा मस्तिष्क हमें ज्ञानधन प्राप्त कराए तो शरीर शक्तिधन को। **पत्नीवद्भिः**=उत्तम पत्नी दोनों धनों के साथ **इषयन्ती**=हमारे लिए ये द्यावापृथिवी उत्तम अन्नों को चाहनेवाले हों। घरों में पत्नी की अनुकूलता हो और प्रशस्त अन्न की कमी न हो। (२) हमारे ये द्यावापृथिवी **उरूची**=विशाल गतिवाले हों-मस्तिष्क भी उदार और शरीर भी उदार। **विश्वे**=ये सारे अर्थात् पूर्ण (whole) हों-इनमें कमी न हो। **यजते**=ये यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले होते हुए **निपातम्**=निश्चय से हमारा रक्षण करें। (२) हम **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा (धी=बुद्धि, कर्म) **रथ्यः**=उत्तम शरीर-रथवाले व **सदा-साः**=सदा उस प्रभु का सम्भजन करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें उत्तम धन व अन्न प्राप्त हों। पत्नी की अनुकूलता से हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों ठीक हों। बुद्धिपूर्वक कर्मों को करते हुए हम उत्तम शरीर-रथवाले, सदा प्रभु का सम्भजन करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'द्यवी-शुची'

प्र वां महि द्यवी अभ्युपस्तुतिं भरामहे। शुची उप प्रशस्तये॥ ५॥

(१) हे **द्यवी**=द्योतमान-ज्ञान व शक्ति से चमकते हुए-द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर)

वाम्=आपकी **महि उपस्तुतिम्**=महनीय स्तुति को **अभि प्रभरामहे**=प्रातः-सायं धारण करते हैं। प्रातः-सायं दोनों समय मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाने का ध्यान करते हैं। (२) **शुची**=पवित्र मस्तिष्क व शरीर को **प्रशस्तये**=प्रशस्त जीवन के लिए **उप (गच्छामः)**=समीपता से प्राप्त होते हैं। मस्तिष्क व शरीर दोनों पवित्र हों, तो सब कर्म प्रशस्त ही होते हैं।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर 'द्यवी शुची'=दीप्त व पवित्र हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऋतमय जीवन

पुनाने तन्वा मिथः स्वेन दक्षेण राजथः। ऊह्याथे सनादृतम् ॥ ६ ॥

(१) ये द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **मिथः**=परस्पर **तन्वा**=शक्ति के विस्तार के साथ **पुनाने**=एक-दूसरे को पवित्र करते हुए (शरीर स्वस्थ हो तो मस्तिष्क स्वस्थ लगता है। मस्तिष्क स्वस्थ हो तो शरीर स्वस्थ होता है) **स्वेन**=अपने **दक्षेण**=बल से **राजथः**=दीप्त होते हैं। मस्तिष्क ज्ञान से चमकता है, तो शरीर शक्ति से दीप्त है। (२) ये मस्तिष्क और शरीर **सनाद्**=सदा से **ऋतम्**=यज्ञ का-जो भी ठीक है, उसका **ऊह्याथे**=वहन करते हैं। मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने से जीवन ऋतमय बनता है।

भावार्थ—मस्तिष्क व शरीर एक दूसरे की शक्ति का वर्धन करते हुए जीवन को ऋतमय बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जीवन-यज्ञ का रक्षण

मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम्। परि यज्ञं नि षेदथुः ॥ ७ ॥

(१) **मही**=ये महनीय-महत्त्वपूर्ण द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **मित्रस्य**=अपने मित्र के-जो भी व्यक्ति मस्तिष्क व शरीर की उन्नति के लिए कटिबद्ध होता है, उसके **ऋतम्**=इस जीवन-यज्ञ को **साधथः**=सिद्ध करते हैं। **तरन्ती**=ये इस जीवन-यज्ञ में आनेवाले सब विघ्नों को तैर जाते हैं और **पिप्रती**=इस जीवन-यज्ञ का सम्यक् पूरण करते हैं। (२) ये द्यावापृथिवी इस **यज्ञं परि निषेदथुः**=यज्ञ को (परितः) सब ओर से आश्रय करते हैं-सर्वतोभावेन जीवन-यज्ञ का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—इस जीवन-यज्ञ को उत्तम बनाने के लिए 'महायन्त्र प्रधान संस्कृति' घातक ही है, कृषि-प्रधान संस्कृति ही जीवन को उत्तम बना सकती है। सो उसका चित्रण अगले सूक्त में करते हैं—

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—क्षेत्रपतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

क्षेत्रपति प्रभु

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे ॥ १ ॥

(१) **क्षेत्रस्य पतिना**=सब क्षेत्रों के स्वामी उस प्रभु के साथ **वयम्**=हम **हितेन इव**=जैसे मित्र के साथ, उसी प्रकार **गाम्**=गौओं को, **अश्वम्**=अश्वों को और **आ पोषयित्नु**=समन्तात् पोषण करनेवाले धन को **जयामसि**=जीतते हैं। दसवें मण्डल में कहेंगे कि 'तत गावः' उस कृषि-

प्रधान जीवन में गौवें हैं। इसी प्रकार कृषि-प्रधान जीवन में घोड़ों व आवश्यक धनों की कमी नहीं रहती। यह आवश्यक है कि हम प्रभु के स्वामित्व को भूल न जाएँ। अपने को ही मालिक मान गर्वीले न हो जाएँ। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **ईदृशे**=ऐसे धनों के होने पर **मृडाति**=सुखी करते हैं। जब हमारा जीवन कृषि-प्रधान होता है, तो सब जीवन के आवश्यक धन प्राप्त होते हैं और जीवन स्वर्गमय बना रहता है।

भावार्थ—हम 'सीरा युञ्जन्ति कवयः' कवि बनकर कृषि-प्रधान जीवन बिताएँ। वहाँ गौवों, घोड़ों व आवश्यक धनों को प्राप्त करके सुखी जीवनवाले हों। अपने क्षेत्र का पति प्रभु को ही जानें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—क्षेत्रपतिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दूध, घी, माधुर्य, प्रकाश व ऋत

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥ २॥

(१) हे **क्षेत्रस्य पते**=सब क्षेत्रों के स्वामिन् प्रभो! **अस्मासु**=हमारे में **मधुमन्तम्**=अत्यन्त मायुर्ध को लिये हुए **ऊर्मिम्**=(Light) प्रकाश को उसी प्रकार **धुक्ष्व**=प्रपूरित करिए, **इव**=जैसे कि **धेनुः**=गौ **पयः**=दूध को हमारे में पूरित करे। कृषि-प्रधान जीवन में प्रभु गौवों के द्वारा दूध को प्राप्त कराके हमें सात्त्विक बुद्धिवाला बनाएँगे। इसी सात्त्विक बुद्धि से हमारा जीवन माधुर्य व प्रकाश से परिपूर्ण होगा। (२) **मधुश्चुतम्**=माधुर्य को टपकानेवाले **सुपूतम्**=उत्तम पवित्र **घृतं इव**=घृत की तरह प्रभु हमें माधुर्ययुक्त प्रकाश को भी प्राप्त कराएँ। कृषि-प्रधान जीवन में जैसे पवित्र दूध था, उसी प्रकार यह अति पवित्र घृत है। इनके परिणामस्वरूप वहाँ माधुर्य व प्रकाश है। (२) इस कृषि-प्रधान जीवन में **ऋतस्य पतयः**=यज्ञों के रक्षक देव **नः**=हमें **मृडयन्तु**=सुखी करें। यहाँ हमारा जीवन यज्ञात्मक बना रहे और अनृत से हम दूर रहें। कृषि के साथ अज्ञान कहीं न आ जाए। यह अज्ञान इस ऋतमय कृषि को 'अनृत' ही बना डालेगा।

भावार्थ—कृषि-प्रधान जीवन में प्रभु हमें उत्तम दूध, पवित्र घृत, माधुर्य व प्रकाश को प्राप्त कराएँ। प्रकाश से परिपूर्ण यह जीवन ऋतमय बना रहे। (अज्ञान तो इसे अनृत बना देगा। उस समय मनुष्य गेहूँ की जगह तम्बाकू ही पैदा करने लगेगा)।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—क्षेत्रपतिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

माधुर्य ही माधुर्य

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ ३॥

(१) इस कृषि-प्रधान जीवन में **ओषधीः मधुमतीः**=ओषधियाँ माधुर्यवाली हों। **द्यावः**=द्युलोक व वहाँ से बरसनेवाले **आपः**=जल माधुर्यवाले हों। द्युलोकस्थ सूर्य ने ही तो हमारे क्षेत्रस्थ अन्नों को परिपक्व करना है। वायु देवता का निवास-स्थान यह **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **नः**=हमारे लिए **मधुमत् भवतु**=माधुर्यवाला हो। इसी वायु का नत्रजन (गैस) ही तो हमारे खेतों को उपजाऊ बनाएगा। (२) **क्षेत्रस्य पतिः**=सब क्षेत्रों का स्वामी प्रभु **नः**=हमारे लिए **मधुमान् अस्तु**=माधुर्यवाला हो-प्रभु की अनुकूलता से ही यह मही सस्यशालिनी होती है। **अरिष्यन्तः**=अहिंसित होते हुए हम **एनं अनुचरेम**=प्रभु की अनुकूलता में गतिवाले हों। प्रभु-स्मरण ही हमें

वासनाओं से हिंसित होने से बचाएगा।

भावार्थ—ओषधियाँ, द्युलोक, जल, अन्तरिक्ष और इनके स्वामी वे प्रभु सब हमारे लिए माधुर्य प्रदान करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—शुनः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सब सुखकर हो

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ४ ॥

(१) इस कृषि में **वाहाः**=हल को चलानेवाले बैल **शुनम्**=सुख से अपना कार्य करें। **नरः**=उन बैलों को हाँकनेवाले पुरुष भी **शुनम्**=सुख से अपना कार्य करें। **लांगलम्**=हल भी **शुनम्**=सुख-सुविधा से **कृणतु**=भूमि को जोते। (२) **वरत्राः**=रज्जुएँ भी **शुनम्**=सुखकर होकर **बध्यन्ताम्**=बाँधी जाएँ। तथा हे पुरुष! **अष्ट्राम्**=इस प्रतोद (चाबुक) को **शुनम्**=सुखकर रूप में ही **उद् इंगय**=ऊपर उठा। क्रूरता से इसका प्रयोग करने का अवसर ही न आए।

भावार्थ—बैल, मनुष्य, हल, रस्सियाँ और चाबुक सब सुखकर हों। इनका व्यवहार व प्रयोग इस रूप में हो कि सुखवृद्धि ही हो-उसमें कमी न आये।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—शुंनासीरौ ॥ छन्दः—पुरउष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

शुनासीरौ

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ५ ॥

(१) 'शुनो वायुः शु एति अन्तरिक्षे, सीरः आदित्यः सरणात्' नि० ९।४० के अनुसार **शुनासीरौ**=वायु और सूर्य **इमां वाचं जुषेथाम्**=हमारी इस वाणी का प्रीतिपूर्वक सेवन करें, **यत्**=कि **दिवि**=द्युलोक में ये **पयः चक्रथुः**=जल को करें और **तेन**=उस जल से **इमाम्**=इस भूमि को **उपसिञ्चतम्**=सींचें। (२) सूर्य से ही जल वाष्पीभूत होकर द्युलोक में पहुँचता है और उससे बने हुए पर्जन्यों को वायुएँ ही उस-उस स्थान पर प्राप्त कराती हैं। इन दोनों के द्वारा जल से सींची गयी यह पृथिवी जिस अन्न को पैदा करती है, वह सर्वाधिक गुणकारी होता है।

भावार्थ—वायु व सूर्य द्युलोक में मेघों को जन्म देकर पृथिवी को सींचें और हमें मधुर अन्न प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सीता ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सीता

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ॥ ६ ॥

(१) हे **सीते**=भूमिकर्षिके (द०)-हल की फाली! तू **अर्वाची भव**=(अर्वाक् अञ्चति) भूमि में पर्याप्त नीचे जानेवाली हो। कुछ गहरी ही भूमि खुदेगी तो उसकी उपजाऊ शक्ति बढ़ेगी, सूर्य की किरणों का अधिक भूभाग तक सम्पर्क होगा, यह सम्पर्क उसे उपजाऊ बनाएगा। हे **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्य की कारणभूत **सीते त्वा वन्दामहे**=तेरा हम स्तवन-गुणवर्णन करते हैं। इस स्तवन से तेरे महत्त्व को समझकर हम तेरा ठीक प्रयोग करते हैं। (२) यह हम इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे तू **नः**=हमारे लिए **सुभगा**=उत्तम ऐश्वर्य को देनेवाली **असिस**=होती है, **यथा**=जिससे **नः**=हमारे लिये **सुफला**=उत्तम फलोंवाली **असिस**=होती है।

भावार्थ—हम सीता (लांगल पद्धति) के महत्त्व को समझकर गहराई तक भूमि को जोतें, जिससे उत्तम कृषि होकर हमारा ऐश्वर्य बढ़े।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सीता ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

इन्द्रः-पूषा

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ७॥

(१) **इन्द्रः**=राष्ट्र का शासक राजा **सीताम्**=इस लांगल पद्धति को-कृषि कार्य को **निगृह्णातु**=निग्रह में रखे-उन अन्नों को उपजाने का नियम करे, जो कि मानव के लिए हितकर हैं। **पूषा**=समाज शरीर का पोषण करनेवाला वैश्य **ताम्**=उस सीता को **अनुयच्छतु**=राजाज्ञा के अनुसार काबू करे। राजा व्यवस्था करें और वैश्य उस व्यवस्था के अनुसार कृषि कराएँ। (२) **सा**=वह सीता **नः**=हमारे लिए **पयस्वती**=आप्यायन के हेतुभूत अन्नों के देनेवाली होती हुई **उत्तरां उत्तरां समाम्**=अगले-अगले वर्षों में **दुहाम्**=उत्तम अन्नों का दोहन करनेवाली हो।

भावार्थ—कृषि पर भी राजा का नियन्त्रण हो, वैश्य उसे अनुकूलता से कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—शुंनासीरौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सभी सुखकर हों

शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥

(१) **फालाः**=लोहफलक (हल के अग्रभाग में लगी फाली) **नः**=हमारे लिए **शुनम्**=सुखकर रूप में **भूमिम्**=भूमि को **विकृणन्तु**=खोदें। **कीनाशाः**=कृषक **वाहैः**=बैलों के साथ **शुनम्**=सुखकर रूप में **अभियन्तु**=खेतों में आगे-पीछे गतिवाले हों। (ग) **पर्जन्यः**=बादल भी **मधुना पयोभिः**=मधुर जलों के हेतु से **शुनम्**=सुखकर होकर बरसे **शुनासीरा**=वायु और आदित्य **अस्मासु**=हमारे में **शुनम्**=सुख को **धत्तम्**=धारण करें। इस कृषि कार्य में भाग लेनेवाले 'लोहफलक, कृषक, बैल, बादल, वायु और सूर्य' सभी सुखकर हों।

भावार्थ—कृषिकार्य में भाग लेनेवाले सभी तत्त्व व प्राणी हमारे लिए सुखकर हों।

इन सब से उत्तम अन्नों को प्राप्त करके हमारा जीवन सुखी होता है। हमें गौवों व घृत की भी प्राप्ति होती है। इनका उल्लेख अगले सूक्त में है। वेदवाणी ही गौ है। उससे प्राप्त होनेवाला ज्ञान ही घृत है—

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वाक् चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्मप्रिच्छता'

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ १ ॥

(१) वैदिक साहित्य में प्रभु तो समुद्र हैं ही (स+मुद्)-सदा आनन्दमय हैं। आचार्य भी ज्ञान का समुद्र है। **समुद्रात्**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से, तदनन्तर गुरु-शिष्य परम्परा से **मधुमान्**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए **ऊर्मिः**=ज्ञान का प्रकाश **उदारत्**=उत्कर्षेण प्राप्त होता है। ज्ञान हमारे जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करता है। **उप अंशुना**=प्रभु की उपासना से व आचार्य के चरणों में बैठने से प्राप्त ज्ञान-किरणों से मनुष्य **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **समानट्**=सम्यक् प्राप्त करता है। (२)

घृतस्य=ज्ञानदीप्ति के परिणामस्वरूप **नाम**=विनय **यत्**=जब **गुह्यम्**=हृदय-गुहा में होनेवाली **अस्ति**=है, तो उस समय **देवानाम्**=देवों की **जिह्वा**=वाणी-ज्ञान को देनेवाली वाणी **अमृतस्य नाभिः**=अमृत का केन्द्र प्रतीत होती है। ज्ञान को देती हुई देवों की वाणी अमृतवर्षण करती हुई मालूम देती है।

भावार्थ—आचार्य से प्राप्त होनेवाला ज्ञान हमें मधुर बनाता है और अन्ततः मोक्ष को प्राप्त कराता है। इस ज्ञान से विनीत हृदयवाले विद्वान् जिह्वा से ज्ञानामृत का वर्षण करते प्रतीत होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शिक्षण-व्यवस्था

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन्यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद्गौर एतत्॥ २॥

(१) **वयम्**=हम **घृतस्य**=ज्ञानदीप्ति के **नाम**=यश का **प्रब्रवाम**=कथन करते हैं-ज्ञान की महिमा का ध्यान करते हुए हम ज्ञान को धारण करनेवाले बनते हैं। **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **नमोभिः**=नम्रताओं से **धारयाम**=हम ज्ञान का धारण करते हैं-नम्रता से ही ज्ञान प्राप्त होता है 'तद्विद्धि प्रणिपातेन'। (२) **शस्यमानम्**=हमारे से उच्चारण किये जाते हुए इस ज्ञान को **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवित् आचार्य **उपशृणवत्**=समीपता से सुनते हैं। इन **चतुःशृंगः**=चार वेदवाणीरूप शृंगोंवाले **गौरः**=शुद्ध जीवनवाले आचार्य ने ही तो **एतत्**=इस ज्ञान का **अवमीत्**=उद्गिरण किया था। आचार्य ने अपनी वाणी से इस ज्ञान को दिया था। अब आचार्य उसे विद्यार्थी से सुन रहे हैं।

भावार्थ—ज्ञान की महिमा को जानते हुए हम नम्रता से इस ज्ञान का धारण करें। चतुर्वेदवित् आचार्य हमें ज्ञान दें और हमारे से उसे सुनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ज्ञानयज्ञ

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥ ३॥

(१) **अस्य**=इस ब्रह्मयज्ञ के **चत्वारि शृंगाः**=चार वेद ही चार शृंग हैं। **त्रयः पादाः**=तीन सवन ही इसके तीन पाद हैं। आचार्यकुल में बीतनेवाली तीन रात्रियाँ ही इसके तीन पाद हैं 'तिस्रो रात्रीर्मदवात्सीर्गृहे मे' (कठोपनिषत्)। **द्वे शीर्षे**=प्रकृति विद्या (अविद्या) और आत्मविद्या (विद्या) ही इसके दो सिर हैं। **अस्य**=इसके **सप्त हस्तासः**=गायत्री आदि सात छन्द ही सात हाथ हैं। (२) **त्रिधा बद्धः**='ऋग्, यजु, साम'='ज्ञान, कर्म, उपासना' के रूप से तीन प्रकार से बँधा हुआ **वृषभः**=यह सुखों का वर्षक ज्ञानवृषभ **रोरवीति**=गर्जना करता है। इस ज्ञानवृषभ पर आरूढ़ हुआ-हुआ **महो देवः**=महान् देव **मर्त्यान् आ विवेश**=मनुष्यों में प्रवेश करता है। ज्ञान ही तो प्रभुप्राप्ति का साधन है। यह सुखवर्षक होने से 'वृषभ' है। आनन्दित करनेवाला आनन्दी है। इसके होने पर, ईश्वर हमें क्यों न प्राप्त होंगे। सब ज्ञानों के अधिष्ठाता प्रभु ही तो हैं।

भावार्थ—ज्ञानवृषभ के चार वेद ही चार सींग हैं और इस वृषभ को अपनाने से इस पर आरूढ़ देवों के देव महादेव परमात्मा को हम प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

इन्द्र, सूर्य व वेन

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः ॥ ४ ॥

(१) **पणिभिः**=स्तुति की वृत्तिवाले पुरुषों से **त्रिधा**=तीन प्रकार से, माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर 'त्रिभिरेत्य सन्धिम्' (कठोपनिषत्) **हितम्**=जो अपने में स्थापित किया गया है, **गवि**=ज्ञान की इन वाणियों रूप गौ में **गुह्यमानम्**=छिपा कर जो रखा गया है, उस **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अन्वविन्दन्**=अनुक्रम से प्राप्त करते हैं। (२) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष ही **एकम्**=ऋग्, अर्थात् विज्ञानरूप ज्ञान के एक अंश को **जजान**=अपने में प्रादुर्भूत करता है। **सूर्यः**=(सरणात्) नित्य कर्मों में लगे रहनेवाला गृहस्थ-पुरुष ही **एकम्**=यजुः रूप कर्मों के ज्ञान को **जजान**=अपने में विकसित करता है। और **वेनात्**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले आत्मरति पुरुष से **एकम्**=सामरूप उपासनात्मक ज्ञान को **स्वधया**=आत्मधारण के हेतु से **निष्टतक्षुः**=सम्पादित करते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी विज्ञान को प्राप्त करता है। निरन्तर क्रियाशील गृहस्थ यज्ञों का ज्ञान प्राप्त करता है और आत्मरति वनस्थ प्रभु की उपासना का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा के धारण में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥
स्वरः—ऋषभः ॥

ज्ञानधाराओं में

एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् ॥ ५ ॥

(१) **हृद्यात्**=हृदयदेश में रहनेवाले **समुद्रात्**=सदा आनन्दमय प्रभु से **एताः**=ये **शतव्रजाः**=शतवर्षपर्यन्त चलनेवाली व अनन्त गतियोंवाली (विविध विषयों का ज्ञान देनेवाली) ज्ञानधाराएँ **अर्षन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। ये **रिपुणा**=वासनात्मक शत्रु से **अवचक्षे न**=देखने के लिये नहीं होतीं। इनके होने पर वासनात्मक शत्रु का आक्रमण नहीं होता। (२) एक उपासक कहता है कि मैं **घृतस्य**=इस ज्ञानदीप्ति की **धाराः**=धाराओं को **अभिचाकशीमि**=मैं अपने चारों ओर देखता हूँ। ज्ञानसमुद्र में ही स्नान करता हूँ और देखता हूँ कि **हिरण्ययः**=वह ज्योतिर्मय **वेतसः**=अग्नि (वी गतौ श्वेतस्, अग् गतौ अग्नि) नामक प्रभु ही **आसाम्**=इनके **मध्ये**=मध्य में हैं 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु से ज्ञानधाराओं के प्राप्त होने पर वासना का आक्रमण नहीं होता। हम अपने को इन ज्ञानधाराओं में घिरा हुआ पाते हैं और देखते हैं कि इन सबका मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—गान्धरः॥

श्रद्धा व मनन से

सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगाइव क्षिपणोरीषमाणाः ॥ ६ ॥

(१) **अन्तर्हृदा**=हृदय के अन्तस्तल से-पूर्ण श्रद्धा से तथा **मनसा**=मनन से-विचार से **पूयमानाः**=पवित्र की जाती हुई **धेनाः**=वेदवाणियाँ **सरितः न**=नदियों के समान **सम्यक्स्रवन्ति**=हमारे जीवन में सम्यक् प्रवाहित होती हैं। श्रद्धा व मनन से ही तो ज्ञान प्राप्त होता है। (२) हमारे जीवनों में **एते**=ये **घृतस्य ऊर्मयः**=ज्ञानदीप्ति की रश्मियाँ **अर्षन्ति**=प्राप्त होती हैं। इस प्रकार शीघ्रता से प्राप्त होती हैं, **इव**=जैसे कि **क्षिपणोः**=व्याध से (अस्त्रों का प्रक्षेप करनेवाले शिकारी से) **ईषमाणाः**=भय के कारण भागते हुए **मृगाः**=मृग कक्षदेश को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—श्रद्धा व मनन से हमारे में ज्ञानवाणियों का प्रवाह चलता है। उस समय ये ज्ञान-वाणियाँ हमें शीघ्रता से प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—गान्धारः॥

आशातीत उन्नति

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ॥ ७ ॥

(१) **इव**=जैसे **सिन्धोः**=नदी से जल **प्राध्वने**=(प्रवणवति देशे सा०) निम्न देश में **शूघनासः**=शीघ्र गमनवाले होते हैं, इसी प्रकार ज्ञान के समुद्र आचार्य से भी **वातप्रतिमः**=वायुवत् प्रकृष्ट वेगवाली **यह्वाः**=महान् **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ भी विनीततावाले विद्यार्थियों की ओर **पतयन्ति**=शीघ्र गतिवाली होती हैं। ये ज्ञान की धाराएँ उन्हें वायुवत् सततगामी, सदा क्रियाशील बनाती हैं और जीवन में उन्हें महान् बनाती हैं। (२) **ऊर्मिभिः पिन्वमानः**=इन ज्ञानरश्मियों से बढ़ता हुआ यह विद्यार्थी **काष्ठाः भिन्दन्**=सब सीमाओं का विदारण करता हुआ आगे बढ़ता है, **न**=जैसे कि **अरुषः**=आरोचमान **वाजी**=बलवान् घोड़ा बन्धनों को तोड़कर आगे बढ़ता है। आजकल की भाषा में प्रयोग करते हैं कि 'रिकार्ड को बीट' कर गया। यही भाव 'काष्ठाः भिन्दन्' का है। यह सब उन्नतियों की सीमाओं को लाँघ जाता है।

भावार्थ—विनीत होकर ज्ञान को प्राप्त करते हैं। ज्ञान को प्राप्त करके हम सतत क्रियाशील बनते हैं। आशातीत उन्नति को प्राप्त करते हैं।

नोट—'आशा' शब्द का अर्थ दिशा भी होता है। मन्त्र में दिशा का पर्याय 'काष्ठा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानी की कर्त्तव्यपरायणता

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ ८ ॥

(१) **समना**=समान मनवाली **योषाः**=स्त्रियाँ **कल्याण्यः**=कल्याण को करनेवाली **स्मयमानासः**=मुस्कराती हुईं **इव**=जैसे पति को प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार ये कल्याणी **घृतस्य धाराः**=ज्ञानदीप्ति की धाराएँ **अग्निम्**=इस प्रगतिशील विद्यार्थी को **अभिप्रवन्त**=आभिमुख्येन प्राप्त होती हैं। (२) इस विद्यार्थी को **समिधः**='इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयो चान्तरिक्षं समिधा पृणाति' 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक की ज्ञानरूप तीन समिधाएँ' **नसन्त**=व्याप्त करती हैं। **ताः**=इन समिधाओं को-ज्ञानदीप्तियों को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **जातवेदाः**=विकसित ज्ञानवाला व्यक्ति **हर्यति**=(हर्य गतिकान्त्योः) इच्छापूर्वक-दिल से कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—ज्ञान को प्राप्त करके यह ज्ञानी पुरुष इच्छापूर्वक कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है, इन कर्त्तव्यों को करने में ही आनन्द लेता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणी द्वारा 'यज्ञशील सोमी' पुरुष का वरण

कन्याइव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते॥ ९॥

(१) **कन्याः**=कन्याएँ जैसे **वहतुम्**=पति को **एतवा**=प्राप्त होने के लिए **उ**=निश्चय से **अञ्जि**=आभरणों को **अञ्जानाः**=अलंकृत करती हुई होती हैं, इसी प्रकार मैं इन **घृतस्य धाराः**=ज्ञानधाराओं को पतिरूप इस युवक को प्राप्त होने के लिये अलंकृत होता हुआ **अभि चाकशीमि**=देखता हूँ। (२) ये **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ **तत् अभि पवन्ते**=उसकी ओर प्राप्त होती हैं, **यत्र**=जहाँ **सोमः**=सोम (वीर्यशक्ति) **सूयते**=सम्पादित होता है और **यत्र यज्ञः**=जहाँ यज्ञादि उत्तम कर्म होते हैं। सुरक्षित सोम ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यज्ञादि कर्मों में लगे रहना सोमरक्षण का साधन बनता है। इस यज्ञशील सोमरक्षक पुरुष को ही ये घृतधाराएँ पति के रूप में बहती हैं। ये पति होते हैं, वेदवाणी इनकी पत्नी 'परीमे गामनेषत'।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हों। ऐसा होने पर वेदवाणी हमें पतिरूप से वरेगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवसम्पर्क व ज्ञानवृद्धि

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते॥ १०॥

(१) **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तवन की **अभि**=ओर **अर्षत**=गतिवाले होओ-स्तवन में प्रवृत्त होओ। **गव्यम्**=(गावः इन्द्रियाणि) इन इन्द्रियों सम्बन्धी **आजिम्**=संग्राम को प्राप्त होओ-इन्हें विषय-वासनाओं से पराजित मत होने दो। इस प्रकार **अस्मासु**=हमारे में **भद्रा द्रविणानि**=कल्याणकर धनों को **धत्त**=धारण करो। (२) इसलिए **इमम्**=इस **नः यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ को **देवता नयत**=देवों के प्रति प्राप्त कराओ। हमारा जीवन-यज्ञ मातृरूप देव को प्राप्त करे-इससे हमें चरित्र का शिक्षण मिले। पुनः पितृदेव को प्राप्त करके सदाचार को हम सीखें। आचार्य देवों के सान्निध्य से हम ज्ञानपरिपूर्ण हों। अतिथि देवों के सान्निध्य से जीवनयात्रा में निरन्तर आगे और आगे

बढ़ें। परमात्म देव को प्राप्त कर शान्ति लाभ करें। इस प्रकार जीवन-यज्ञ में देवों का सम्पर्क होने पर **घृतस्य धाराः**=ज्ञानदीप्ति के प्रवाह **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्य के साथ हमें **पवन्ते**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—उत्तम स्तुति व अध्यात्म-संग्राम (विषयों से इन्द्रियों को पृथक् करने के संग्राम) द्वारा हम कल्याण कर धनों को प्राप्त करें। देवों के सम्पर्क में आकर ज्ञान को निरन्तर बढ़ाएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

ज्ञान किसे प्राप्त होता है?

धामन्ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्य१न्तरायुषि।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम्॥ ११॥

(१) हे प्रभो! **ते धामनि**=आपके तेज में **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड **अधिश्रितम्**=आश्रित हुआ-हुआ है। हम **ते**=आपके **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले-जीवन को मधुर बनानेवाले **ऊर्मिम्**=ज्ञानप्रकाश को **अश्याम**=प्राप्त करें। (२) **तम्**=उस ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें, **यः**=जो कि **समुद्रे हृदि अन्तः**=(स-मुद्) प्रसन्नतावाले हृदय के अन्दर **आभृतः**=धारण किया गया है। **आयुषिः**=गतिशील जीवन में जो धारण किया गया है। **अपाम्**=शरीरस्थ रेतःकणों के **अनीके**=बल में जो धारण किया गया है, रेतःकणों के रक्षण के होने पर जो प्राप्त होता है, इन रेतःकणों ने ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना होता है। **समिथे**=संग्राम में जो धारण किया गया है। अध्यात्म-संग्राम में काम-क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करके जिसे पाया जाता है।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वाधार हैं। हमें प्रभु का वह ज्ञान प्राप्त हो, जो कि प्रसन्न हृदयवाले पुरुष को, गतिशील जीवनवाले को, सोमरक्षक व अध्यात्म-संग्राम विजेता को प्राप्त होता है।

इस ज्ञान को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'बुध' बनता है। यह ज्ञान की वाणियों में स्थिर होने से 'गविष्ठिर' कहलाता है। पञ्चम मण्डल का प्रारम्भ इन ऋषियों के सूक्त से ही होता है। ये आत्रेय हैं ज्ञान के कारण 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठे हुए हैं। ये अपने जीवन मात्र को निरन्तर आगे बढ़ाते हुए 'अग्नि' होते हैं। अग्नि ही इस प्रथम सूक्त का देवता है।

इति चतुर्थं मण्डलम्॥

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है "हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।"

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२७२

॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेदभाष्यम्

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रान्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो॰ राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियों द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दूसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेदभाष्यम्

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(अथ पञ्चमं मण्डलम्)

(१–८७ सूक्तम्)

एवं

(षष्ठं मण्डलम्)

(१–७५ सूक्तम्)

[चतुर्थ भागः]

भाष्यकार :

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

अनुष्ठानकर्त्ता :

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)–३२२ २३०

ISBN-978-93-80209-14-2

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
"अभ्युदय" भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०-९८८७४-५२९५९

संस्करण : २०६७ विक्रमी संवत्, २०१० ई०

मूल्य : ३५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि-निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

३. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्यपुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी,
बरेली (उ०प्र०) चलभाष : ०९८९७८८०९३०

शब्द-संयोजक : **आर्य लेज़र प्रिंट्स,** हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक : राधा प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली - ११० ०३१

वेदनिधि के सहयोगी

स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती, नई दिल्ली

आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी होशंगाबाद (म०प्र०)

श्री हरिश्चन्द्र साहित्यार्थी दाहोद, (गुजरात)

प्रिय गीतेश, आपकी स्मृति में– श्रीमती गरिमा मोहन-श्री मनोमोहन मोहन

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी आगरा (उ०प्र०)

श्रद्धेय पतिदेव डॉ० वी०एस० मित्तल आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल

श्री मित्रावसु माडल टाउन, दिल्ली

श्री कृष्ण चोपड़ा सोलिहल (यू०के०)

श्रीमती रक्षा चोपड़ा सोलिहल (यू०के०)

श्री गोवर्धनचन्द्र बरमिंघम (यू०के०)

श्री राधेश्याम, दिल्ली (श्री मनोहर विद्यालंकार)

स्वामी श्री श्रद्धानन्द सरस्वती अलीगढ़ (उ०प्र०)

श्री प्रशान्तकुमार आर्य (स्मृति में–परिवारीजन)

आर्यसमाज (वैदिक मिशन) वैस्ट मिडलैण्ड्स, बरमिंघम (यू०के०)

वैदिक मिशन बरमिंघम (यू०के०)

अथ पञ्चमं मण्डलम्

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवन-यात्रा का सुन्दर अन्त

अबो॑ध्य॒ग्निः स॒मिधा॒ जना॑नां॒ प्रति॑ धे॒नुमि॑वाय॒तीमु॒षास॑म्।
य॒ह्वाइ॑व॒ प्र व॒यामु॒ज्जिहा॑नाः॒ प्र भा॒नवः॑ सिस्रते॒ नाक॒मच्छ॑ ॥ १ ॥

(१) प्रथमाश्रम में **अग्निः**=यह ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़नेवाला विद्यार्थी **समिधा**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के पदार्थों के ज्ञानरूप समिधाओं से **अबोधि**=उद्बुद्ध होता है। ज्ञान को प्राप्त करके चमक उठता है। 'अग्निनाग्निः समिध्यते' आचार्य की ज्ञानाग्नि से विद्यार्थी की ज्ञानाग्नि समिद्ध की जाती है। (२) गृहस्थ में आने पर यह ज्ञानदीप्त युवक **प्रति आयतीं उषासम्**=प्रत्येक आनेवाली उषा में **जनानाम्**=लोगों के लिए **धेनुं इव**=धेनु की तरह होता है। जैसे धेनु प्रतिदिन दूध को देकर हमारा प्रीणन करती है, इसीप्रकार यह सद्गृहस्थ अतिथि-यज्ञ आदि यज्ञों को करता हुआ सबका प्रीणन करता है। (३) अब गृहस्थ की समाप्ति पर **यह्वाः इव**=जैसे बड़े हुए-हुए पक्षि शावक **वयाम्**=शाखा को **प्र उज्जिहानाः**=प्रकर्षेण छोड़नेवाले होते हैं, इसीप्रकार ये घर को छोड़कर आगे बढ़ते हैं। इसी को इस प्रकार कहते हैं कि ये वनस्थ बनते हैं। ये यह्व=महान् बनते हैं। परिवार के संकुचित क्षेत्र से विशाल-क्षेत्र की ओर चलते हैं अथवा 'यातश्च हूतश्च' प्रभु की ओर गतिवाले व प्रभु को पुकारनेवाले होते हैं। (४) इस प्रकार वानप्रस्थ में साधना करके, प्रभु सम्पर्क के कारण **भानवः**=खूब ज्ञानदीप्तिवाले होते हुए, सूर्य की तरह ही सर्वत्र ज्ञान के प्रकाश को फैलाते हुए, **नाकं अच्छ**=मोक्षलोक की ओर **प्रसिस्रते**=निरन्तर आगे बढ़ते हैं। मोक्षलोक ही जीवन-यात्रा का लक्ष्य स्थान है। यहाँ इनकी जीवन-यात्रा पूर्ण होती है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य में ज्ञान प्राप्त करके; गृहस्थ में यज्ञशील होकर, वानप्रस्थ में घर से ऊपर उठकर प्रभुस्मरण करते हुए ये ज्ञानी पुरुष संन्यस्त होकर मोक्ष की ओर बढ़ते हैं।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनुक्रम से आगे और आगे

अबो॑धि॒ होता॑ य॒जथा॑य दे॒वानू॒र्ध्वो अ॒ग्निः सु॒मनाः॑ प्रा॒तर॑स्थात्।
समि॑द्धस्य॒ रुश॑ददर्शि॒ पाजो॑ म॒हान्दे॒वस्तम॑सो॒ निर॑मोचि ॥ २ ॥

(१) जीवन के प्रथमाश्रम में **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला, निर्लोभ बनकर **देवान्**=ज्ञानी आचार्यों के **यजथाय**=पूजन व संगतिकरण के लिये होता है। उन आचार्यों का पूजन करता है, उनके सदा साथ रहता है (अन्तेवासी)। इस प्रकार होने से **अबोधि**=यह ज्ञान से उद्बुद्ध हो उठता

है। (२) गृहस्थ में यह सदा अग्निहोत्र आदि यज्ञों के महत्त्व को समझता हुआ **अग्निः**=प्रगतिशील होता हुआ **सुमनाः**=प्रशस्त मनवाला बनकर **प्रातः ऊर्ध्वः अस्थात्**=प्रातः उठ खड़ा होता है। यह 'प्रातः प्रबोध' ही इसे सब यज्ञों के करने में समर्थ करता है। इन यज्ञों से ही इसे यह सौमनस्य प्राप्त होता है। (३) अब वानप्रस्थ में निरन्तर स्वाध्याय से (स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्) **समिद्धस्य**=ज्ञानदीप्त इस पुरुष का **पाजः**=तेज **रुशत्**=चमकता हुआ **अदर्शि**=दिखता है। (४) इस चमकते हुए ज्ञान के प्रकाश से **महान् देवः**=बड़े प्रकाशमय जीवनवाला होता हुआ यह **तमसः निरमोचि**=अन्धकार से मुक्त हो जाता है। यह सूर्य द्वार से ऊपर उठता हुआ उस प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में देवों के सम्पर्क में द्वितीय में यज्ञों के सम्पर्क में, तृतीय में ब्राह्म-तेज के सम्पर्क में रहकर हम तुरीय स्थिति में प्रकाशमय लोक में पहुँच जाएँ।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संयम-दान-स्वाध्याय

यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः।
आद्दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अधयज्जुहूभिः ॥ ३ ॥

(१) **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **गणस्य**=इन्द्रियगण की **रशनाम्**=बन्धन-रज्जु को **अजीगः**=ग्रहण करता है (गृह्णाति सा०), अर्थात् जब इन्द्रियों को व्रत-बन्धन-रज्जु से बाँध देता है, इन्द्रियों को वश में कर लेता है तथा व्रत-बन्धन से **शुचिः**=पवित्र हुआ-हुआ यह **अग्निः**=प्रगतिशील ब्रह्मचारी **शुचिभिः**=पवित्र **गोभिः**=ज्ञान-वाणियों से व इन्द्रियों से **अङ्क्ते**=अपने को अलंकृत करता है। (२) **आत्**=अब, इस ब्रह्मचर्याश्रम के बाद **दक्षिणा**=दान की वृत्ति **युज्यते**=इसके साथ जुड़ती है। गृहस्थ में यह खूब दानशील बनता है। यह दक्षिणा ही इसे **वाजयन्ती**=(वाज=strength, wealth) शक्तिशाली व धन-सम्पन्न बनाती है। (३) **ऊर्ध्वः**=गृहस्थ से भी ऊपर उठा हुआ यह **उत्तानाम्**=(उत्तन्=try to rise) हमें उन्नत करने के लिये यत्नशील इस वेदवाणी को **जुहूभिः**=अपनी ज्ञानेन्द्रियरूप जिह्वाओं से **अधयत्**=पीने के लिये यत्नशील होता है। सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहता है। आगे चलकर इसी ज्ञान को फैलाने में यह तत्पर होगा।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में संयम, गृहस्थ में दान, वानप्रस्थ में स्वाध्याय ही प्रमुख धर्म है।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सतत प्रभुस्मरण

अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति।
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम् ॥ ४ ॥

(१) **देवयताम्**=सब दिव्यगुणों को प्राप्त करने की कामनावाले व महान् देव को प्राप्त करने की कामनावाले संन्यस्त पुरुषों के **मनांसि**=मन **अग्निं अच्छा**=उस आगे ले-चलनेवाले प्रभु की ओर इस प्रकार **संचरन्ति**=जाते हैं, **इव**=जैसे कि सामान्य लोगों की **चक्षूंषि**=आँखें **सूर्ये**=सूर्य में गतिवाली होती हैं। उदय होते हुए सूर्य की ओर जैसे हमारी आँखें जाती हैं, उसी प्रकार देवयन् पुरुषों के मन प्रभु की ओर जाते हैं। (२) **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **उषसा**=(उष दाहे) सब दोषों के दहन से **विरूपे**=विशिष्टरूपवाले मस्तिष्क व शरीर **सुवाते**=अपने में ज्ञान व शक्ति को प्रादुर्भूत करते हैं (जनयतः सा०), तो **अह्नां अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में, ब्राह्ममुहूर्त के समय,

श्वेतः=वह शुद्ध **वाजी**=शक्तिशाली प्रभु **जायते**=हमारे लिये प्रकट होते हैं।

भावार्थ—दोषों का दहन करके, मस्तिष्क व शरीर को ज्ञान व शक्ति से भर के, हम देवयन् मन से प्रभु का दर्शन करें। ऐसा करनेवाला ही आदर्श संन्यासी है।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्राणिहित में प्रवृत्त उपासक को प्रभु-प्राप्ति

जनिष्ट हि जेन्यो अग्रे अह्नां हितो हितेष्वरुषो वनेषु।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानोऽग्निर्होता नि षसादा यजीयान्॥ ५॥

(१) **जेन्यः**=(जेतुं शीलः द०) सदा विजयी वह प्रभु **अह्नां अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में **हि**=निश्चय से **जनिष्ट**=प्रादुर्भूत होते हैं। यह समय ही 'ब्राह्ममुहूर्त' है। यह हमारा दौर्भाग्य है कि हम सोये ही जाएँ (तमस्) या अन्य भोगों में फँस जाएँ (रजस्)। यह प्रभु **हितेषु**=प्राणिमात्र के प्रति हित की कामनावालों में **हितः**=स्थापित होते हैं। **वनेषु**=उपासकों में **अरुषः**=आरोचमान होते हैं। (२) वे प्रभु जहाँ भी प्रकट होते हैं, उन प्रत्येक **दमेदमे**=शरीर गृहों में **सप्त रत्ना**=सात रत्नों को (आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस् को) **दधानः**=धारण करते हैं। **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। वे **यजीयान्**=उपास्य प्रभु **निषसाद**=हमारे हृदयों में ही आसीन होते हैं,

भावार्थ—वे प्रभु प्राणिमात्र के हित में प्रवृत्त उपासकों में निवास करते हैं। सब उपासकों के लिये सात रत्नों को धारण करते हैं।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपस्थे मातुः, सुरभा उ लोके

अग्निर्होता न्यसीदद्यजीयानुपस्थे मातुः सुरभा उ लोके।
युवा कविः पुरुनिःष्ठ ऋतावा धर्ता कृष्टीनामुत मध्य इद्धः॥ ६॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। **यजीयान्**=वे सब के उपास्य प्रभु **न्यसीदत्**=हमारे हृदयों में निवास करते हैं, स्थित होते हैं। परन्तु कब? जब कि हम **मातुः उपस्थे**=प्रभु द्वारा उपस्थित की गयी इस वेदमाता की गोद में स्थित होते हैं 'स्तुता मया वरदा वेदमाता'। **उ**=और निश्चय से **सुरभौ लोके**=सुगन्धित स्थान में, अर्थात् यज्ञवेदि पर आसीन होते हैं। स्वाध्याय और यज्ञ को अपनाने पर हम अपने को प्रभु का निवास-स्थान बनाते हैं। (२) ऐसा होने पर यह व्यक्ति **युवा**=अपने से दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाला होता है। **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ बनता है। **पुरुनिःष्ठः**=पालन व पूरण करनेवाली निष्ठावाला होता है। **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करता है, ऋतमय जीवनवाला होता है। **उत**=और **कृष्टीनां मध्ये**=मनुष्यों के बीच **इद्धः**=ज्ञानदीप्त हुआ-हुआ **धर्ता**=उनका धारण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम वेदवाता की गोद में व यज्ञवेदि पर स्थित हों। तब हम प्रभु के निवास-स्थान बनेंगे। ऐसा होने पर ज्ञानदीप्त होकर हम लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नमोभिः+घृतेन

प्र णु त्यं विप्रमध्वरेषु साधुमग्निं होतारमीळते नमोभिः।
आ यस्ततान रोदसी ऋतेन नित्यं मृजन्ति वाजिनं घृतेन॥ ७॥

(१) **नु**=अब **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **विप्रम्**=सबका पूरण करनेवाले, **अध्वरेषु साधुम्**=सब यज्ञों में सिद्धि को प्राप्त करानेवाले **अग्निम्**=अग्रणी **होतारम्**=सर्वफल-प्रदाता प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **प्र ईडते**=प्रकर्षेण पूजित करते हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **ऋतेन**=ऋत के द्वारा, अपने अटल नियमों के द्वारा **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आततान**=विस्तृत करते हैं। उस **वाजिनम्**=शक्ति व सम्पत्तिवाले प्रभु को **नित्यम्**=सदा **घृतेन**=मलों के क्षरण (दूरीकरण) व ज्ञानदीप्ति के द्वारा **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। हृदय के निर्मल होने पर तथा मस्तिष्क के ज्ञानदीप्त होने पर ही प्रभु के दर्शन होते हैं।

भावार्थ—प्रतिदिन प्रभु को प्रणाम करते हुए हम निर्मलता व ज्ञानदीप्ति से प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'मार्जाल्य' प्रभु

मार्जाल्यो मृज्यते स्वे दमूनाः कविप्रशस्तो अतिथिः शिवो नः।
सहस्रशृङ्गो वृषभस्तदोजा विश्वाँ अग्ने सहसा प्रास्यन्यान्॥ ८॥

(१) **मार्जाल्यः**=यह प्रभु ही परिशोध के योग्य हैं, अन्ततः प्रभु ही ज्ञेय हैं, इनके जान लेने पर ही जीवन-यात्रा की पूर्णता होती है 'ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वा मृतमश्नुते'। **स्वे मृज्यते**=प्रत्येक व्यक्ति से अपने अन्दर ही इस प्रभु का परिशोध हुआ करता है। हृदय की शुद्धि के होने पर वहाँ ही प्रभु का दर्शन होता है। ये प्रभु **दमूनाः**=(दानमनाः) सदा हमारे लिये आवश्यक साधनों को देने के मनवाले हैं। **कविप्रशस्तः**=ज्ञानियों से सदा प्रभु का शंसन किया जाता है। वे प्रभु **अतिथिः**=निरन्तर गतिवाले हैं, हमारे यहाँ भी प्रभु का आगमन होता है, हमारे भी वे अतिथि बनते हैं और **नः शिवः**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं। (२) **सहस्रशृंगः**=अनन्त ज्ञान की ज्वालाओंवाले वे प्रभु **वृषभः**=अत्यन्त शक्तिशाली हैं। **तद् ओजः**=उस पदार्थ के ओज प्रभु ही तो हैं 'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्'। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **विश्वान् अन्यान्**=अन्य सबको **सहसा**=अपने बल से **प्र असि**=(प्रभवसि) अभिभूत कर लेनेवाले हैं।

भावार्थ—शुद्ध हृदय में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिए। वे प्रभु ही सब तेजस्वियों का तेज व बलवानों का बल हैं। वे अपने बल से सबको अभिभूत करनेवाले हैं।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सर्वातिशायी प्रभु

प्र सद्यो अग्ने अत्येष्यन्यानाविर्यस्मै चारुतमो बभूथ।
ईळेन्यो वपुष्यो विभावा प्रियो विशामतिथिर्मानुषीणाम्॥ ९॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **सद्यः**=शीघ्र ही **अन्यान्**=औरों को **प्र अत्येषि**=प्रकर्षेण लाँघ जाते हैं। आप सब गुणों की पराकाष्ठा के रूप में हैं 'तन्निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'=जहाँ ज्ञान निरतिशय हो जाता है, वे सर्वज्ञ प्रभु ही तो आप हैं। इसी प्रकार जहाँ शक्ति निरतिशय हो जाती है, वे सर्वशक्तिमान् प्रभु ही तो आप हैं। (२) **यस्मै आविः बभूथ**=जिसके लिये भी आप प्रकट होते हैं, उसके लिये **चारुतमः**=अत्यन्त सुन्दर होते हैं। वह द्रष्टा यही देखता है कि आप 'चारुतम' हैं। उसके लिये आप **ईडेन्यः**=स्तुत्य होते हैं, **वपुष्यः**=दीप्त रूपवाले होते हैं, तेजस्वी।

विभावा=विशिष्ट ज्ञानदीप्तिवाले। (३) हे प्रभो! आप **मानुषीणां विशाम्**=विचारशील प्रजाओं के **प्रियः अतिथिः**=प्रिय अतिथि होते हैं। विचारशील लोग ही आपके हृदयस्थरूपेण देखते हैं और प्रीति का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—वे सर्वातिशायी प्रभु 'सुन्दरतम स्तुत्य, तेजस्वी व ज्ञानदीप्त' हैं। विचारशील व्यक्ति उन्हें हृदय में देखते हैं और प्रीति का अनुभव करते हैं। वह प्रभु दर्शन का आनन्द तो 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दान व प्रभुस्तवन

तुभ्यं॑ भरन्ति क्षि॒तयो॑ यविष्ठ ब॒लिम॑ग्ने॒ अन्ति॑त॒ ओत दू॒रात्।
आ भन्दि॑ष्ठस्य सुम॒तिं चि॑किद्धि बृ॒हत्ते॑ अग्ने॒ महि॒ शर्म॑ भ॒द्रम्॥ १०॥

(१) हे **यविष्ठ**=सब बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का हमारे साथ मिश्रण करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिये ही **क्षितयः**=मनुष्य **अन्तितः**=समीप से **उत**=और **दूरात्**=दूर से **बलिम्**=बलि को **आभरन्ति**=प्राप्त कराते हैं। आपकी प्राप्ति के लिये ही दान आदि पुण्य कार्यों को करते हैं। (२) हे प्रभो! **आभन्दिष्ठस्य**=इस दान की वृत्तिवाले उत्तम स्तोता की **सुमतिम्**=कल्याणीमति को **आचिकिद्धि**=सब प्रकार से ज्ञात कराइये, प्राप्त कराइये। **अग्ने**=परमात्मन्! **ते**=आपका **बृहत् शर्म**=महान् कल्याण आपसे प्राप्त कराये जानेवाला कल्याण **महि**=महनीय है और **भद्रम्**=सुखकर है।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु-प्राप्ति के लिये ही दान आदि वृत्तियों को अपनाते हैं। हम भी इस दानवृत्तिवाले बनकर प्रभु के सच्चे स्तोता बनें। प्रभु से प्राप्त कराये जानेवाले महनीय सुख को प्राप्त करें।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'भानुमान् समन्त' रथ

आद्य रथं॑ भानुमो भानु॒मन्त॒मग्ने॒ तिष्ठ॑ यज॒तेभि॒: सम॑न्तम्।
वि॒द्वान्प॑थी॒नामु॒र्व१॒॑न्तरि॑क्ष॒मेह दे॒वान्ह॑वि॒रद्या॑य वक्षि॥ ११॥

(१) हे **भानुमः**=दीप्तिमन् **अग्ने**=परमात्मन्! **अद्य**=आज **भानुमन्तम्**=दीप्तिवाले **यजतेभिः**=संगतिकरण योग्य तत्त्वों से **समन्तम्**=समीचीन प्रान्तोंवाले! ज्ञानदीप्ति युक्त मस्तिष्कवाले तथा शक्ति व क्रियाशीलता से युक्त पाँवोंवाले **रथम्**=इस शरीर-रथ पर **आतिष्ठ**=अधिष्ठित होइये। आपकी कृपा से हमारा यह शरीर-रथ 'भानुमान् व समन्त' बने। (२) हे प्रभो! **पथीनां विद्वान्**=सब मार्गों को जाननेवाले आप **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को (अन्तराक्षि)=मध्यमार्ग को **इह**=इस जीवन में **आवक्षि**=प्राप्त कराइये। अथवा (अन्तरिक्ष=हृदय) विशाल हृदय को हमें प्राप्त कराइये। **देवान्**=दिव्यगुणों को प्राप्त कराइये तथा **अद्याय**=खाने के लिये **हविः**=हवि को प्राप्त कराइये। हम सदा हवि को, यज्ञशेष को ही खानेवाले हों।

भावार्थ—हमारा दीप्तिवाला, उत्तम मस्तिष्क व पाँवोंवाला, यह शरीर-रथ प्रभु से अधिष्ठित हो। हम विशाल हृदय व दिव्यगुणों को प्राप्त करें और यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों। सदा मध्यमार्ग से चलें।

ऋषिः—**बुधगविष्ठिरावात्रेयौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदय में स्तवन, मस्तिष्क में ज्ञान

अवो॑चाम क॒वये॒ मेध्या॑य॒ वचो॑ व॒न्दारु॑ वृष॒भाय॒ वृष्णे॑।
गवि॑ष्ठिरो॒ नम॑सा॒ स्तोम॑म॒ग्नौ दि॒वी॑व रु॒क्मम॑रु॒व्यञ्च॑मश्रेत्॥ १२॥

(१) उस **कवये**=क्रान्तदर्शी **मेध्याय**=(मेधृ संगमे) संगम योग्य, पवित्र **वृषभाय**=शक्तिशाली **वृष्णे**=सुखवर्षक प्रभु के लिये **वन्दारु**=अभिवादन व स्तुति करनेवाले **वचः**=वचन को **अवोचाम**=बोलते हैं। प्रभु का स्तवन करते हैं। (२) **गविष्ठिरः**=वेद-वाणियों में स्थित होनेवाला पुरुष **अग्नौ**=उस अग्रणी प्रभु में **नमसा**=नमन के साथ **स्तोमम्**=स्तुति को **अश्रेत्**=आश्रित करे, **इव**=जिस प्रकार वह **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **उरुव्यञ्चम्**=विशाल विशिष्ट गमनवाले **रुक्मम्**=देदीप्यमान ज्ञान सूर्य को धारण करता है। 'गविष्ठिर' मन में स्तवन व मस्तिष्क में ज्ञान का धारण करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। ज्ञान की वाणियों में स्थिर होनेवाला पुरुष हृदय में नम्रता युक्त स्तुति के भाव को स्थापित करता है और मस्तिष्क में दीप्त क्रियाशील ज्ञानाग्नि को।

इस प्रकार प्रभु-स्तवन व ज्ञानधारण को करनेवाला यह व्यक्ति **कुमार**=सब बुराइयों को (कु) मारनेवाला बनता है, 'अत्रेय' (अविद्यमानाः त्रयोयस्य:) 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठता है। यह 'वृश' (वृश्यति selects) ठीक चुनाव करनेवाला होता है, प्रेय व श्रेय में श्रेय का ही चुनाव करता है और 'जारः'=सब वासनाओं को जीर्ण करनेवाला होता है। यह प्रार्थना करता है कि—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

युवति माता

कु॒मा॒रं मा॒ता यु॑व॒तिः समु॑ब्धं॒ गुहा॑ बिभर्ति॒ न द॑दाति पि॒त्रे।
अनी॑कमस्य॒ न मि॒नज्जना॑सः पु॒रः प॑श्यन्ति॒ निहि॑तमर॒तौ॥ १॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में 'वेदज्ञान' ही 'माता' है 'स्तुता मया वरदा वेदमाता'। यह दोषों को दूर करके गुणों का मिश्रण करने के कारण 'युवति' है। जीव 'कुमार' है, (कु) बुराई को मारनेवाला। यह **युवतिः माता**=कभी जीर्ण व मृत न होनेवाला 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति' जीवन का निर्माण करनेवाला (माता) वेदज्ञान **कुमारम्**=बुराई को नष्ट करनेवाले इस जीव को, **समुब्धम्**=जिसे कि ज्ञान से अच्छी प्रकार भरा गया है (उम् to fill with), **गुहा बिभर्ति**=अपने अन्दर धारण करती है या बुद्धिरूप गुहा में स्थापित करती है। **पित्रे न ददाति**=प्रभु रूप पिता के लिये नहीं दे डालती, अर्थात् यह जीव सदा प्रभु का ही जप नहीं करता रहता, ज्ञान-प्राप्ति आदि निर्दिष्ट कर्मों को करनेवाला बनता है। वस्तुतः ज्ञान-प्राप्ति आदि कर्मों में लगना प्रभु की दृश्य भक्ति है, केवल नाम को जपते रहना उसकी श्रव्य भक्ति है। वेदमाता हमें दृश्यभक्ति में प्रेरित करती है, केवल श्रव्य भक्ति से बचाती है। (२) इस प्रकार यह वेदमाता **अस्य अनीकम्**=इसके बल को **न मिनत्**=नष्ट नहीं होने देती। इस प्रकार ज्ञान व शक्ति के परिपाक से **जनासः**=लोग इस कुमार को **पुरः**=अपने सामने **अरतौ निहितम्**=(अ-रतौ) विषय-वासनाओं के प्रति अरुचि में स्थापित हुआ-हुआ **पश्यन्ति**=देखते हैं। सब लोग अनुभव करते हैं कि वेदज्ञान ने इसे विषय-वासनाओं

की आसक्ति से ऊपर उठा दिया है।

भावार्थ—वेदमाता हमारे जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाती है। यह वेदमाता का पुत्र केवल नाम ही नहीं जानता रहता। इसका बल हिंसित नहीं होता और यह विषयों के प्रति रुचिवाला नहीं होता।

ऋषिः—**वृशो जारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गर्भः ववर्ध

कमे॒तं त्वं यु॑वते कुमा॒रं पेषी॑ बिभर्षि॒ महि॑षी जजान।
पू॒र्वीर्हि गर्भः॑ श॒रदो॑ व॒वर्धाप॑श्यं जा॒तं यदसू॑त मा॒ता ॥ २ ॥

(१) हे **युवते**=बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाली वेदमातः! **त्वम्**=तू **पेषी**=सब राक्षसीभावों का पेक्षण करनेवाली होती हुई **कम्**=किस अद्भुत **एतम्**=इस **कुमारम्**=बुराइयों के नष्ट करनेवाले जीव को **बिभर्षि**=धारण करती है। इसके धारण से ही तू **महिषी जजान**=महिषी के रूप में प्रादुर्भूत हुई है। इस कुमार के धारण करने से तू अत्यन्त महनीय हो गई है। (२) अपने जीवन के **पूर्वीः शरदः**=प्रारम्भिक वर्षों में **हि**=निश्चय से **गर्भः**=वेदमाता के गर्भ में रहता हुआ यह जीव (कुमार) **ववर्ध**=वृद्धि को प्राप्त हुआ है। आज **यद्**=जब **माता असूत**=वेदमाता इसे उत्पन्न करती है, यह उसके गर्भ से बाहिर आता है, तो **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए उस कुमार को **अपश्यम्**=मैं देखता हूँ 'तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः'।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में वेदमाता के गर्भ में रहता हुआ कुमार सुन्दर जीवनवाला बनता है। उत्पन्न हुए-हुए इस कुमार को, आचार्यकुल से समावृत्त इस कुमार को सब कोई देखने के लिये आते हैं।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

हिरण्यदन्त-शुचिवर्ण

हिर॑ण्यदन्तं॒ शुचि॑वर्णमा॒रात्क्षेत्रा॑दपश्य॒मायु॑धा॒ मिमा॑नम्।
द॒दा॒नो अ॑स्मा अ॒मृतं॑ वि॒पृक्व॒त्किं माम॑नि॒न्द्राः कृ॑णवन्ननु॒क्थाः ॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्धित कुमार का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **हिरण्यदन्तम्**=अत्यन्त हितरमणीय दाँतोंवाले अथवा स्वर्ण के समान चमकते हुए दाँतोंवाले, **शुचिवर्णम्**=पवित्र दीप्त वर्णवाले, तेजस्वी, इस कुमार को **अपश्यम्**=देखता हूँ। यह **क्षेत्रात् आराद्**=(आरात्=रुचि) इस क्रियाक्षेत्र शरीर में ही स्थित होकर **आयुधा मिमानम्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि आदि जीवन संग्राम के आयुधों का निर्माण करते हुए है। यह सदा इनके परिष्कार में लगा रहता है। (२) यह कुमार **अस्मा**=हमारे लिये **विपृक्वत्**=विशिष्ट सम्पर्क के साधनभूत (पृच् संपर्के) प्रभु सम्पर्क को करानेवाले, **अमृतम्**=मृत्यु से ऊपर उठानेवाले (न मृतं यस्मात्) ज्ञान को **ददानः**=धारण करता है। हमारे लिये उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त कराता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर अब **अनिन्द्राः**=प्रभु को न माननेवाले, जगद् को अनीश्वर कहनेवाले **अनुक्थाः**=प्रभु-स्तवन से सदा दूर रहनेवाले **मां किं कृणवन्**=मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं, अर्थात् अब ये मुझे व्यर्थ की बातों से बहकाकर मार्गभ्रष्ट नहीं कर सकते।

भावार्थ—उत्तम आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला कुमार पूर्ण स्वस्थ, मन, बुद्धि आदि का

परिष्कार करनेवाला औरों के लिये ज्ञान को देनेवाला बनता है।

ऋषिः—कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

वासनाओं से लिप्त न होना और युवा बने रहना

क्षेत्रा॑दपश्यं सनु॒तश्चर॑न्तं सु॒मद्यू॒थं न पु॒रु शोभ॑मानम्।
न ता अ॑गृभ्र॒न्नज॑निष्ट॒ हि षः पलि॑क्नी॒रिद्यु॑वतयो॑ भवन्ति॥४॥

(१) आचार्य गर्भ में **सनुतः**=अन्तर्हित होकर रहते हुए इस कुमार को आज **क्षेत्रात्**=आचार्य गर्भ से **चरन्तम्**=बाहर विचरते हुए को **अपश्यम्**=देखता हूँ। अध्ययन काल में आचार्य गर्भ में रहकर आज यह आचार्य गर्भ से बाहर आया है। अध्ययन को पूरा करके आज उत्पन्न हुए-हुए इस कुमार को देखने के लिये सभी विद्वान् आये हैं 'तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः'। इसका **यूथम्**=इन्द्रियगण **न**=जैसे **सुमत्**=उत्तम ज्ञानवाला है, उसी प्रकार **पुरुशोभमानम्**=खूब ही शोभावाला है। शक्ति-सम्पन्न होने से इसकी प्रत्येक इन्द्रिय सुन्दर प्रतीत होती है। (२) **ताः**=वे संसार में प्रसिद्ध विषयवासनाएँ **न अगृभ्रन्**=इसे नहीं ग्रहण कर पायीं। यह विषयवासनाओं का शिकार नहीं हुआ। **सः**=वह कुमार **हि**=निश्चय से **अजनिष्ट**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाला हुआ है। विषय वासनाओं का शिकार न होने पर **पलिक्नीः इत्**=पलित केश वृद्ध प्रजाएं भी **इत्**=निश्चय से **युवतयः**=युवतियाँ **भवन्ति**=हो जाती हैं। विषय-वासनाएँ ही तो जीर्ण करती हैं। इनके अभाव में यौवन व सौन्दर्य ठीक बना रहता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को अपने रक्षण में रखता हुआ इस प्रकार तप=परिपक्व करता है कि यह वासनाओं में लिप्त नहीं होता और तेजस्विता से शोभा-सम्पन्न बना रहता है।

ऋषिः—कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

ग्वाला व उसके पशु

के मे॑ मर्य॒कं वि य॑वन्त॒ गोभि॒र्न येषां॑ गो॒पा अर॑णश्चि॒दास॑।
य ईं॑ जगृ॒भुरव॒ ते सृ॑जन्त्वाजा॑ति प॒श्व उप॑ नश्चिकि॒त्वान्॥५॥

(१) **के**=कौन **मे मर्यकम्**=मेरे इस मनुष्य को, सन्तान को रक्षक के अभाव में जिसके मरने की निरन्तर आशंका है उस मेरे मर्यक को **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वियवन्त**=विषयवासनाओं से पृथक् करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **येषाम्**=जिनका **गोपाः**=ग्वाला **अरणः**=इधर-उधर जानेवाला **न आस**=नहीं होता। विद्यार्थी गौवें हैं, आचार्य गोपा है। ग्वाला सदा गौवें के साथ रहता है तो गौवें हिंसन पशुओं के आक्रमण से बची रहती हैं। इसी प्रकार आचार्य सदा विद्यार्थियों के साथ रहता है, तो उन्हें निरन्तर ज्ञान देता हुआ विषयवासनाओं में फँसने नहीं देता। (२) **ये**=जो आचार्य **ईम्**=निश्चय से **जगृभुः**=इन विद्यार्थियों का ग्रहण करते हैं, **ते**=वे आचार्य ही इन्हें **अवसृजन्तु**=विषयवासनाओं से पृथक् करें। यह **चिकित्वान्**=ज्ञानी आचार्य **नः**=हमारे **पश्वः**=अक्रोध बालकों को (पशुतुल्य, नासमझ बालकों को) **उप आजाति**=अपने समीप प्राप्त कराता है 'आचार्य उपनयमानः ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'। अब इस आचार्य का ही कर्त्तव्य है कि वह इनकी रक्षा करे। आचार्य गोपा हो, ये विद्यार्थी ही इसके पशु हों। इनको वह विषयवासनारूप हिंस्र पशुओं के आक्रमण से बचाये। सदा इनको ज्ञानक्षेत्र में चराये।

भावार्थ—आचार्य गोप है, विद्यार्थी उसकी गौवें हैं। इनकी उसे रक्षा करनी है, इन्हें ज्ञान का चारा चराना है।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥
स्वरः—**पञ्चमः**॥

ज्ञान द्वारा वासनाओं से बचाव

वसां राजानं वसतिं जनानामरातयो नि दधुर्मर्त्येषु।
ब्रह्माण्यत्रेरव तं सृजन्तु निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु॥ ६॥

(१) **वसाम्**=शरीर में निवास करनेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि के **राजानम्**=राजा-शासक, **जनानां वसतिम्**=लोगों को ज्ञानोपदेश आदि द्वारा बसानेवाले इस ज्ञानी पुरुष को भी **अरातयः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु **मर्त्येषु**=इन मरणधर्मा नश्वर पदार्थों में **निदधुः**=स्थापित करते हैं। ज्ञानी भी, आकस्मिक प्रमाद क्षण में, विषय वासनाओं की ओर झुक जाता है। सो सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। (२) **अत्रेः**=(अ-त्रि) काम-क्रोध-लोभ से अतीत उस 'अ-त्रि' के, उस महान् प्रभु के **ब्रह्माणि**=ज्ञान को देनेवाले ये मन्त्र **तम्**=उसे **अवसृजन्तु**=इन विषयों से युक्त करें। अर्थात् सदा स्वाध्याय में लगा रहकर यह विषय वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाये। **निन्दितारः**=इन ज्ञान की वाणियों की निन्दा करनेवाले ही **निन्द्यासः**=निन्द्य जीवनवाले **भवन्तु**=हों। ज्ञान के प्रशंसक, ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहकर अपने जीवन को प्रशस्त बना पायें।

भावार्थ—सदा सावधान रहकर खाली समय को ज्ञान-प्राप्ति में व्यतीत करते हुए ही हम अपने को विषयों के आक्रमण से बचा सकते हैं।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

'होता-चिकित्वात्' आचार्य

शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद्यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः।
एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान्होतश्चिकित्व इह तू निषद्य॥ ७॥

(१) आचार्य को ज्ञानी तो होना ही है 'चिकित्वान्', उसे लोकहित के कार्य में आहुति देनेवाला 'होता' भी बनना है। ऐसा ही आचार्य विद्यार्थियों का कल्याण कर सकता है। हे आचार्य! तूने **सहस्राद् यूपात्**=हजारों विषय वासनाओं के खम्भों से **निदितम्**=बँधे हुए **शुनः शेपम्**=सुख आराम का ही निर्माण करनेवाले सुख भोगों में मस्त **चित्**=भी इस पुरुष को **अमुञ्चः**=उन विषय स्तम्भों से मुक्त किया है। इससे अब **सः**=वह **हि**=निश्चय से **अशमिष्ट**=शान्त जीवनवाला बना है। (२) **एवा**=इसी प्रकार **होतः**=प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति देनेवाले अथवा ज्ञान को देनेवाले, **चिकित्वः**=ज्ञानी आचार्य! **इह**=यहाँ **तु**=निश्चय से **निषद्य**=हम लोगों में आसीन होकर, **अग्ने**=हे अग्नि के समान ज्ञानाग्नि से दीप्त आचार्य! **अस्मत्**=हमारे से **पाशान्**=जालों को **विमुमुग्धि**=छुड़ाइये। आपसे ज्ञान को प्राप्त करके हम विषय जालों से छूट जाएँ।

भावार्थ—ज्ञानी त्यागी आचार्यों के सम्पर्क से ज्ञान को प्राप्त करके हम विषय जाल से मुक्त हो जाएँ।

ऋषिः—कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

('जितेन्द्रिय ज्ञानी' आचार्य) फिर से प्रभु का प्रिय बनना

हृणीयमानो अप हि मदैयेः प्र मे देवानां व्रतपा उवाच।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम्॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! जब मैं विषयों में फँस गया तो मुझे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करने में लज्जा अनुभव करते हुए आप **मत्**=मेरे से **हि**=निश्चयपूर्वक **अप ऐये:**=दूर हो गये। प्रभु का पुत्र विषयों में फँसे यह प्रभु के लिये भी लज्जाकर है ही। **देवानां व्रतपाः**=देवों के व्रतों के पालन करनेवाले ज्ञानी पुरुष ने **मे**=मुझे **प्र उवाच**=इस बात को कहा। देवों के व्रतों का पालन करनेवाला यह ज्ञानी मुझे प्रेरणा देता हुआ बतला रहा था कि इस प्रकार विषय मलिन तुझे प्रभु अपने पुत्र के रूप में कैसे स्वीकार करें? (२) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको **अनुचचक्ष**=सर्वत्र आपकी महिमा का दर्शन करता हुआ देखता है। **तेन**=उसी से **अनुशिष्टः**=अनुशासन-उपदेश को प्राप्त करके **अहम्**=मैं **आगाम्**=आपके पास आया हूँ। विषय वासनाओं को छोड़कर मैं आपका पुनः प्रिय बनने की कामनावाला हूँ।

भावार्थ—जितेन्द्रिय ज्ञानी आचार्यों से अनुशिष्ट होकर, विषयों से हम ऊपर उठें और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—वृशो जारः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सद्गुणों का विकास-राक्षसीभावों का विनाश

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥ ९॥

(१) आचार्य से ज्ञान को प्राप्त करके **बृहता ज्योतिषा**=महान् ज्ञान-ज्योति से **विभाति**=यह विशेषरूप से चमकता है। **अग्निः**=प्रगतिशील होता है। **महित्वा**=ज्ञान की महिमा से **विश्वानि**=सब सद्गुणों को **आविः कृणुते**=अपने में प्रादुर्भूत करता है। (२) **अदेवीः**=अदिव्य, अर्थात् आसुरी **मायाः**=मायाओं को, छलकपट की भावनाओं को **प्रसहते**=प्रकर्षेण कुचल देता है। ये मायाएँ ही तो **दुरेवाः**=दुष्टगमनवाली हैं, उस कुटिल मार्ग पर ले-जानेवाली हैं। यह **रक्षसे विनिक्षे**=राक्षसीभावों के विनाश के लिये **शृंगे शिशीते**=अपराविद्या व पराविद्या, प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या रूप-शृंगों को तीव्र करता है। इन ज्ञानों को प्राप्त करके ही वह सब दुर्भावों से ऊपर उठ पाता है।

भावार्थ—ज्ञान-ज्योति से हमारे में सद्गुणों का विकास तथा राक्षसीभावों का विनाश होता है।

ऋषिः—कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

स्तुति शब्दों से अदिव्य भावों का दूरीकरण

उत स्वानासो दिवि षन्त्वग्नेस्तिग्मायुधा रक्षसे हन्तवा उ।
मदे चिदस्य प्र रुजन्ति भामा न वरन्ते परिबाधो अदेवीः॥ १०॥

(१) **उत**=और **अग्नेः**=इस प्रगतिशील पुरुष के **स्वानासः**=स्तुति के शब्द **दिवि**=उस

द्योतनात्मक प्रकाशमय प्रभु में **सन्तु**=हों। ये सदा उस प्रकाशमय प्रभु का स्तवन करनेवाला हो। ये स्तुति शब्द ही **रक्षसे हन्तवा**=राक्षसीभावों के विनाश के लिये **उ**=निश्चय से **तिग्मायुधाः**=तीव्र अस्त्रों के समान हों। इन स्तुति शब्दों से राक्षसीभावों का विनाश हो। (२) स्तुति के द्वारा **मदे**=आनन्द के होने पर **चित्**=निश्चय से **अस्य**=इस (अग्नि) प्रगतिशील स्तोता के **भामाः**=तेज **प्ररुजन्ति**=उन राक्षसीभावों को प्रकर्षेण पीड़ित करते हैं। इन स्तोताओं को **अदेवीः**= आसुरी **परिबाधः**=उन्नति की बाधक भावनाएँ **न वरन्ते**=घेरनेवाली नहीं होतीं। यह स्तोता आसुरीभावों से कभी आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन अदिव्य भावनाओं का विनाशक है।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्वर्वतीः अपः जयेम

एतं ते स्तोमं तुविजात विप्रो रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्।
यदीदग्ने प्रति त्वं देव हर्याः स्वर्वतीरप एना जयेम॥ ११॥

(१) हे **तुविजात**=महान् विकासवाले प्रभो! प्रत्येक गुण की चरमसीमा ही तो आप हैं, आप में ज्ञान व शक्ति का निरतिशय विकास हुआ है। मैं **विप्रः**=अपना पूरण करनेवाला **एतम्**=इस **ते स्तोमम्**=आपके स्तवन को **अतक्षम्**=करता हूँ, **न**=जैसे कि एक **धीरः**=धीर (समझदार) **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाला पुरुष **रथम्**=रथ को बनाता है। यह स्तवन ही मेरे लिये जीवन-यात्रा की पूर्ति का साधनरूप रथ बन जाता है। (२) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यदि**=यदि **इत्**=इस स्तोम को (It) **त्वम्**=आप **प्रतिहर्याः**=स्वीकार करें, यह आपके लिये प्रीतिकर हो, तो **एना**=इस स्तोम के द्वारा हम **स्वर्वतीः अपः**=स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले कर्मों का **जयेम**=विजय करें। इस स्तवन से आपको आराधित करके आपकी प्रेरणाओं से हम यज्ञादि उत्तम कर्मों को करें, जो कि हमारे घरों स्वर्गतुल्य सुखमय बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों, जिनके परिणामस्वरूप हमारे गृह स्वर्ग बनें।

ऋषिः—**कुमार आत्रेयो, वृशो वा जार उभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदतिजगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'बर्हिष्मान्-हविष्मान्'

तुविग्रीवो वृषभो वावृधानोऽशत्र्व१र्यः समजाति वेदः।
इतीमम्ग्रिममृता अवोचन्बर्हिष्मते मनवे शर्म यंसद्धविष्मते मनवे शर्म यंसत्॥ १२॥

(१) **तुविग्रीवः** (many)=अनन्त गर्दनोंवाला ('सहस्रशीर्षाः पुरुषः' की तरह ही 'तुविग्रीवः' का भाव है), अर्थात् सब प्राणियों के अन्दर विद्यमान होता हुआ अनन्त गर्दनोंवाला वह प्रभु **वृषभः**=शक्तिशाली है। **वावृधानः**=निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करानेवाला **अर्यः**=सबका स्वामी है। ये प्रभु ही **अशत्रु**=अकण्टक व न नष्ट करनेवाले **वेदः**=धन को **समजाति**=प्राप्त कराते हैं। **इति**=इस प्रकार **अमृताः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले देव पुरुष **इमं अग्निम्**=इस अग्रणी प्रभु को **अवोचन्**=पुकारते हैं। (२) ये प्रभु **बर्हिष्मते**=वासनाशून्य प्रशस्त हृदयवाले, उस हृदयवाले जिसमें से कि वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **शर्म**=सुख

को **यंसत्**=देते हैं। **हविष्मते**=हविवाले **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये, त्यागपूर्वक अदन (हवि) करनेवाले ज्ञानी पुरुष के लिये, **शर्म**=कल्याण को प्राप्त कराते हैं। विचारशील पुरुष सब प्राणियों में प्रभु का दर्शन करता है, वह प्रभु को 'तुविग्रीव' रूप में देखता है। सो यज्ञ करके यह सदा यज्ञशेष का ही सेवन करता है। प्रभु भी इस 'बर्हिष्मान्-हविष्मान्' पुरुष को सुख प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम त्याग की वृत्तिवाले व प्रशस्त हृदयवाले बनें। प्रभु हमें वह धन प्राप्त करायेंगे जो कि किसी प्रकार हमारा विनाशक न होगा।

अगले सूक्त का ऋषि इस अविनाशक ज्ञान धन को प्राप्त करनेवाला 'वसुश्रुत' है, ज्ञानधन है। यह काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठे होने के कारण 'आत्रेय' तो है ही। यह स्तुति करता हुआ कहता है कि—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वरुण मित्र इन्द्र

त्वम॑ग्ने॒ वरु॑णो॒ जाय॑से॒ यत्त्वं मि॒त्रो भ॑वसि॒ यत्समि॑द्धः।
त्वे विश्वे॑ सहसस्पुत्र दे॒वास्त्वमिन्द्रो॑ दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **यत्**=जब **जायसे**=हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते हैं, तो **वरुणः**=सब पापों का निवारण करनेवाले होते हैं। **यत् समिद्धः**=जब हमारे हृदयों में आप समिद्ध (दीप्त) होते हैं तो **त्वम्**=आप **मित्रः**=सब प्रमीतियों से, मृत्यु व रोगों से बचानेवाले **भवसि**=होते हैं। (२) हे **सहसः पुत्र**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाली शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **त्वे**=आप में **विश्वे देवाः**=सब देवों का निवास है। आपके प्राप्त होने पर सब देवों की प्राप्ति तो हो ही जाती है। आपका आना ही सब दिव्य गुणों के आने का कारण बनता है। आपका स्मरण करके हम हृदयों को पवित्र व दिव्यवृत्तियों का अधिष्ठान बना पाते हैं। (३) हे प्रभो! आप **दाशुषे मर्त्याय**=इस दाश्वान् मनुष्य के लिये, देने की वृत्तिवाले मनुष्य के लिये अथवा अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिये **त्वम्**=आप **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं तथा शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। जो भी आपके प्रति अपना अर्पण करता है, उसे आप परमैश्वर्य-सम्पन्न करते हैं और उसके काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु दाश्वान् पुरुष के लिये मित्र हैं, वरुण हैं, इन्द्र हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समनसा दम्पती

त्वम॑र्य॒मा भ॑वसि॒ यत्क॒नीनां॒ नाम॑ स्वधाव॒न्गुह्यं॑ बिभर्षि।
अ॒ञ्जन्ति॑ मि॒त्रं सुधि॑तं॒ न गोभि॒र्यद्दम्प॑ती॒ सम॑नसा कृ॒णोषि॑॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **यत्**=जब **कनीनाम्**=ज्ञानदीप्तियों के **अर्यमा**=देनेवाले (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) **भवसि**=होते हैं, तो हे **स्वधावन्**=आत्मधारण शक्तिवाले प्रभो! **गुह्यम्**=हृदयरूप गुहा में होनेवाली **नाम**=नम्रता की भावना को **बिभर्षि**=पुष्ट करते हैं। प्रभु अपने उपासकों को ज्ञानदीप्ति व नम्रता धारण कराते हैं। (२) घरों में पति-पत्नी उस **मित्रम्**=सब मृत्यु व रोगों से बचानेवाले **सुधितम्**=हृदयों में उत्तमता से स्थापित **न**=(इव) के समान प्रभु को **गोभिः**=ज्ञान

की वाणियों के द्वारा **अञ्जन्ति**=(अञ्ज् गतौ) जाते हैं, उस प्रभु को हृदय में देखने का प्रयत्न करते हैं, तो हे प्रभो! आप **दम्पती**=उन पति-पत्नी को **समनसा कृणोषि**=समान मनवाला, एक हृदयवाला करते हैं। इन्हें आप सहृदयता व सामनस्य प्राप्त कराते हैं यदि घरों में पति-पत्नी स्वाध्याय व प्रभु के ध्यान की वृत्तिवाले बनते हैं तो समान मनस्क होते हैं, परस्पर सच्चे प्रेमवाले। सिनेमा व क्लबों में जाकर परस्पर विघटित मनवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानदीप्ति व नम्रता को देते हैं। प्रभु का ध्यान व स्वाध्याय पति-पत्नी को समानमनस्क बनाता है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुद्ध हृदय में प्रभु की श्री का निवास

तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्।
पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्॥ ३॥

(१) हे **रुद्र**=सब रोगों का द्रावण करनेवाले प्रभो! **तव श्रिये**=आपका आश्रय करने के लिये, आपकी श्री को प्राप्त करने के लिये **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **मर्जयन्त**=अपने जीवन का शोधन करते हैं। अपवित्र जीवनवाले को तो आपकी श्री ने क्या प्राप्त होना? हे इन्द्र! **यत्**=जो **ते**=आपका **जनिम**=प्रादुर्भाव व विकास है, हृदयों में जो आपकी ज्योति का देखना है, वह **चारु**=अत्यन्त सुन्दर है और **चित्रम्**=अद्भुत है, हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला है (चित्+र)। (२) **यत्**=जब **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु का **उपमं पदम्**=वह सर्वोच्च (highest) ज्ञान (पद गतौ, गति=ज्ञान) **निधायि**=हृदय में स्थापित किया जाता है, तो हे प्रभो! **तेन**=उस ज्ञान से **गोनाम्**=इन ज्ञान की वाणियों के साथ सम्बद्ध **गुह्यं नाम**=हृदयस्थ नम्रता की भावना को **पासि**=आप रक्षित करते हैं। आप ज्ञान देते हैं, ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली नम्रता को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों को शुद्ध करते हुए प्रभु की श्री को प्राप्त करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान व नम्रता को प्राप्त कराते हैं। प्रभु का स्तोता 'ज्ञानी व नम्र' होता है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु धारण व अमृतत्व की प्राप्ति

तव श्रिया सुदृशो देव देवाः पुरू दधाना अमृतं सपन्त।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्दशस्यन्त उशिजः शंसमायोः॥ ४॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **देवाः**=सब सूर्य आदि देव **तव श्रिया**=आपकी श्री से ही **सुदृशः**=उत्तम दर्शनीय रूपवाले हो रहे हैं। ज्ञानी लोगों (विद्वांसो हि देवः) को ज्ञान भी आपसे ही प्राप्त होता है। 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'=सब देवों को देवत्व आपसे ही प्राप्त होता है। (२) **पुरू दधानाः**=खूब ही आपका धारण करते हुए लोग **अमृतं सपन्त**=अमृतत्व का स्पर्श करते हैं। जितना-जितना प्रभु का धारण करते हैं, उतना-उतना ही देवत्व को प्राप्त होते हुए महादेव के समीप पहुँचते हैं और जन्म-मरण-चक्र से ऊपर उठ जाते हैं। (२) **मनुषः**=विचारशील पुरुष **होतारम्**=उस सब कुछ देनेवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु की **निषेदुः**=उपासना में आसीन होते हैं। ये लोग **दशस्यन्तः**=हवि को देते हुए, यज्ञ करते हुए **उशिजः**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले **आयोः**=गतिशील पुरुष के **शंसम्**=उपासन में **निषेदुः**=निषण्ण होते हैं। प्रभु की उपासना करते हैं, पर इनकी उपासना एक मेधावी गतिशील पुरुष की उपासना होती है। ये उपासना करते हुए

सदा दानशील होते हैं। यज्ञों के द्वारा ही वे प्रभु का उपासन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु को धारण करते हुए हम अमृतत्व को प्राप्त करें। यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'होता' प्रभु का उपासक भी होता बनता है

न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान्न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः।
विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि स यज्ञेन वनवद्देव मर्तान्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वत् पूर्वः**=आपसे पहिला **होता न**=दाता कोई नहीं है। दाताओं में सर्वप्रथम दाता आप ही हैं। हे प्रभो! आपसे बढ़कर **यजीयान्**=पूजनीय कोई नहीं है। **काव्यैः**=ज्ञानों से भी **परः**=उत्कृष्ट भी **न अस्ति**=नहीं है। हे **स्वधावः**=आत्मधारणशक्तिवाले प्रभो! सर्वाधिक ज्ञानवाले आप ही हैं। आप ही सर्वश्रेष्ठ 'दाता, पूज्य व ज्ञानी' हैं। (२) **च**=और आप **यस्याः विशः**=जिस प्रजा के **अतिथिः भवासि**=अतिथि होते हैं, जिस प्रजा को आप प्राप्त होनेवाले होते हैं **सः**=वह **यज्ञेन**=यज्ञों के द्वारा, हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **मर्तान्**=मनुष्यों को **वनवत्**=संभक्त करनेवाला होता है, यह यज्ञों के द्वारा मनुष्यों की सेवा करता है। प्रभु का उपासक सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त होता ही है। प्रभु होता है, यह भी होता बनता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वश्रेष्ठ होता हैं इनका उपासक भी प्राजापत्य यज्ञ में आहुति देनेवाला बनता है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वसूयवः बुध्यमानाः

वयमग्ने वनुयाम त्वोता वसूयवो हविषा बुध्यमानाः।
वयं समर्ये विदथेष्वह्नां वयं राया सहसस्पुत्र मर्तान्॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वा ऊताः**=आपके द्वारा रक्षित हुए-हुए **वयम्**=हम **वनुयाम**=शत्रुओं का विजय करें, शत्रुओं को हिंसित करके **वसूयवः**=वसुओं की कामनावाले, जीवन के लिये आवश्यक धनों की कामनावाले, हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **बुध्यमानाः**=निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। प्रभु-रक्षण को प्राप्त करके काम-क्रोध को पराजित करें। वसुओं को प्राप्त करके, दानपूर्वक उन वसुओं का प्रयोग करते हुए हम निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। (२) **वयम्**=हम **समर्ये**=संग्राम में तथा **अह्नां विदथेषु**=सब हितों में चलनेवाले ज्ञानयज्ञों में आपसे रक्षित होकर ही विजय को प्राप्त करेंगे (त्वा ऊताः वनुयाम)। काम-क्रोध के साथ होनेवाले संग्राम में आपने ही हमें विजय प्राप्त करानी है। हमारे ज्ञानयज्ञों को भी आपने ही सफल बनाना है। (२) हे **सहसस्पुत्र**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **वयम्**=हम **राया**=धन के द्वारा **मर्तान्**=मनुष्यों को जीतनेवाले बनें। धन का विनियोग मानवहित के लिये करते हुए सर्वत्र प्रशंसनीय हों और इस प्रकार धन के विनियोग से, विलास में न फँसकर, हम खूब शक्तिशाली बनें।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम वसुओं को प्राप्त करके, उनका लोकहित में विनियोग करते हुए शक्तिशाली बनें।

ऋषि:—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अघशंस में अक्ष का धारण

यो न आगो॑ अ॒भ्येनो॒ भरा॑त्यधी॒द॒घम॒घशं॑से दधात।
ज॒ही चि॑कित्वो अ॒भिश॑स्तिमे॒तामग्ने॒ यो नो॑ म॒र्चय॑ति द्व॒येन॑॥ ७॥

(१) **यः**=जो पुरुष **नः अभि**=हमारे प्रति **आगः एनः**=अपराध को व पाप को **भरति**=करता है, तो उस अपराध व पाप से होनेवाले **अघम्**=कष्ट को (evil, harm) **इत्**=निश्चय से **अघशंसे**=इस अघ की कामना करनेवाले पुरुष में ही, हमें कष्ट देने की कामनावाले में ही **अधिदधात**=आधिक्येन धारण करिये। कोई भी व्यक्ति किसी आगस् व एनस् के द्वारा (अपराध व पाप के द्वारा) हमें कष्ठ पहुँचाने का प्रयत्न करता है तो यह कष्ट उसी अघशंस पुरुष को प्राप्त हो। (२) हे **चिकित्वः**=सर्वज्ञ प्रभो! **एताम्**=इस **अभिशस्तिम्**=(hurt, injury, attack) हानि व कष्ट के आक्रमण को **जहि**=विनष्ट करिये। हे **अग्ने**=प्रभो! **यः**=जो **नः**=हमें **द्वयेन मर्चयति**=आगस् व एनस् के दोनों के द्वारा बाधित व पीड़ित करता है उसे भी **जहि**=हमारे से दूर करिये, विनष्ट करिये। हम उसके आगस् व एनस् का शिकार न हों।

भावार्थ—हम अपराध व शाप जनित कष्टों का पात्र न बनें। बुरा चाहनेवाले को ही कष्ट प्राप्त हो।

ऋषि:—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रातः प्रभु-स्मरण

त्वाम॒स्या व्यु॑षि देव॒ पूर्वे॑ दू॒तं कृ॑ण्वा॒ना अ॑यजन्त ह॒व्यैः।
सं॒स्थे यद॑ग्न॒ ईय॑से रयी॒णां दे॒वो म॒र्तैर्वसु॑भिरि॒ध्यमा॑नः॥ ८॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **त्वाम्**=आपको **अस्याः व्युषि**=इस रात्रि के व्युष्ट (समाप्त) होने पर, अर्थात् उषाकाल में (when the day dawns) **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग **दूतं कृण्वानाः**=ज्ञान-संदेश प्राप्त करानेवाला करते हुए **हव्यैः अयजन्त**=हव्यों के द्वारा, यज्ञों के द्वारा उपासित करते हैं। उषाकाल होते ही ये पूर्व लोग आपका उपासन करते हैं, आप से ज्ञान सन्देश को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ध्यान तथा स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं तथा दानपूर्वक अदन से, यज्ञशीलता से आपका यजन करते हैं। आप सब कुछ देनेवाले हैं। ये लोग भी सदा देकर अवशिष्ट का ही सेवन करते हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **देवः**=प्रकाशमय हैं। **यत्**=चूँकि **रयीणाम्**=सब ऐश्वर्यों के **संस्थे**=संस्थान में **ईयसे**=आप गति करते हैं, सब **मर्तैः**=मनुष्यों से **वसुभिः**=वसुओं के उद्देश्य से **इध्यमानः**=दीप्त किये जाते हैं। सब मनुष्य वसुओं की प्राप्ति के लिये आपका ही ध्यान करते हैं। सब धनों के अधिष्ठाता प्रभु ही हैं, सो प्रभु ही सब को वसु प्राप्त कराते हैं। जो भी प्रभु को अपने हृदय में दीप्त करते हैं, प्रभु उन्हें सब वसु प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रातः उठकर प्रभु का हम स्मरण करें। ज्ञानपूर्वक अदन से प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें सब वसु प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता के नेतृत्व में पुत्र की यात्रा

अव स्पृधि पितरं योधि विद्वान्पुत्रो यस्ते सहसः सून ऊहे।
कदा चिकित्वो अभि चक्षसे नोऽग्ने कदाँ ऋतचिद्यातयासे ॥ ९ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, बल के पुञ्ज प्रभो! **पितरं विद्वान्**=पालक आप को जानता हुआ **यः**=जो **ते**=आपका **पुत्रः**=पुत्र होता हुआ आपको **ऊहे**=अपने हृदय में धारण करता है, उसको आप **योधि अवस्पृधि**=(योधय, स्पृह extricate from) पापों के साथ युद्ध कराइये और इन पापों से पृथक् करिये। आपका स्मरण करता हुआ यह आपका उपासक पापों से मुकाबिला कर सके और उन्हें पराजित करके अपने से दूर करनेवाला हो। (२) हे **चिकित्वः**=सर्वज्ञ प्रभो! **कदा**=हमारे जीवन में कब वह सौभाग्य का दिन होगा जब कि आप **नः अभिचक्षसे**=हमारे पर कृपा दृष्टि करेंगे? हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **कदा**=कब **ऋतचित्**=ऋतों का, सत्यों का हमारे जीवन में चयन करनेवाले आप **नः**=हमें **यातयासे**=सन्मार्ग से ले चलनेवाले होते हैं? कितना ही सुन्दर वह दिन होगा जब कि हम आपकी कृपादृष्टि को प्राप्त करके आपसे सन्मार्ग पर ले जायें जा रहे होंगे। आप मेरे नेता होंगे, मैं आपका अनुयायी।

भावार्थ—हे प्रभो! मैं आपका स्मरण करूँ। आप मुझे पापों से पृथक् करें। मैं आपका अनुयायी होऊँ, आप मुझे सन्मार्ग से ले चलें और मेरे में सत्य का वर्धन करें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता द्वारा पुत्र में नम्रता का स्थापन

भूरि नाम वन्दमानो दधाति पिता वसो यदि तज्जोषयासे।
कुविद्देवस्य सहसा चकानः सुम्नमग्निर्वनते वावृधानः ॥ १० ॥

(१) **वन्दमानः**=स्तुति करता हुआ यह उपासक **भूरि**=खूब ही **नाम**=नम्रता को **दधाति**=धारण करता है, हे **वसो**=वसानेवाले प्रभो! **पिता**=पालक व रक्षक होते हुए **यदि**=यदि **तत्**=उस नम्रता को आप **जोषयासे**=हमें प्रीतिपूर्वक सेवन कराते हैं। अर्थात् इस नम्रता को भी तो आपने ही हमारे अन्दर धारण कराना है, पुत्र में पिता ही तो सब सद्गुणों का स्थापन करता है। (२) जब इस उपासक में प्रभु नम्रता को धारण कराते हैं, तो यह उपासक **देवस्य**=उस प्रकाशमय प्रभु का **कुवित्**=खूब ही **सहसा**=बल के द्वारा **चकानः**=(कामयमानः) कामना करता हुआ **अग्निः**=प्रगतिशील होता है, **वावृधानः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त करता है और **सुम्नम्**=सुख को **वनते**=जीतता है, प्राप्त करता है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इस बात का स्मरण करता हुआ वह उपासक अपने को प्राप्त करता हुआ अपने सुख को बढ़ाता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम नम्र बनते हैं। उपासना से सबल बनकर प्रभु प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। प्रभु हमें सुखी करते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासक का निष्पाप जीवन

त्वमङ्ग जरितारं यविष्ठ विश्वान्यग्ने दुरिताति पर्षि।
स्तेना अदृश्रन्रिपवो जनासोऽज्ञातकेता वृजिना अभूवन् ॥ ११ ॥

(१) हे **अंग**=गतिशील 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च', स्वाभाविकरूप से क्रियाशील, **यविष्ठ**=हमारी बुराइयों को दूर करके हमारे साथ अच्छाइयों का सम्पर्क करनेवाले **अग्रे**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **जरितारम्**=स्तोता को **विश्वानि दुरिता**=सब पापों से **अतिपर्षि**=पार ले जाते हो। आपका उपासक, आपकी कृपा से पापवृत्तियों को पराजित करने में समर्थ होता है। (२) **अज्ञातकेताः**=(न ज्ञातं के तं यैः, केतः सं केत) आपके संकेतों को न समझनेवाले **जनासः**=लोग **स्तेनाः**=चोर व **रिपवः**=ठग (cheat, rogue) **अदृश्रन्**=देखे जाते हैं, ये **वृजिनाः**=पाप ही पाप **अभूवन्**=हो जाते हैं। जो प्रभु की ओर झुकाव नहीं रखते और प्रभु के संकेतों को नहीं समझते वे 'चोर, ठग व पापी' बन पाते हैं।

भावार्थ—उपासक निष्पाप जीवनवाला बनता है और नास्तिक पापमय जीवनवाला।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रक्षक प्रभु

इमे यामासस्त्वद्रिगभूवन्वसवे वा तदिदागो अवाचि।
नाहायमग्निरभिशस्तये नो न रीषते वावृधानः परा दात्॥ १२॥

(१) **इमे**=ये **यामासः**=गतिशील पुरुष **त्वद्रिक्**=आपकी ओर आनेवाले **अभूवन्**=होते हैं। **वा**=अथवा **तत् इत् आगः**=वह अपराध भी, जो कि हमारे से शक्ति व ज्ञान की अल्पता के कारण हो जाता है, **वसवे**=उस निवासक प्रभु के लिये **अवाचि**=कहा जाता है। हम अपने अपराध को प्रभु के सामने स्वीकार करके उसे दूर करने के लिये प्रभु से प्रार्थना करते हैं। प्रभु हमें निष्पाप बनाकर हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं। (२) **न अह अयं अग्निः**=नहीं ही यह अग्रणी प्रभु **नः**=हमें **अभिशस्तये**=वासनाओं के आक्रमण के लिये **परादात्**=छोड़ देते। अर्थात् ये प्रभु हमारे पर वासनाओं के आक्रमण को नहीं होने देते। **वावृधानः**=निरन्तर हमारा वर्धन करते हुए वे प्रभु **नः**=हमें **रीषते**=हिंसक पुरुष के लिये **न परादात्**=नहीं दे डालते। प्रभु से रक्षित हम उपासकों को हिंसक व्यक्ति भी हिंसित नहीं कर पाते।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर चलें, प्रभु से ही पापों को दूर करने की याचना करें। प्रभु हमें वासनाओं व हिंसकों के आक्रमण से बचाते हैं।

'वसुश्रुत आत्रेयः' का ही अगला सूक्त है। वह अग्नि नाम से प्रभु स्मरण करता हुआ कहता है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वसुओं व शक्तियों के दाता प्रभु

त्वामग्ने वसुपतिं वसूनामभि प्र मन्दे अध्वरेषु राजन्।
त्वया वाजं वाजयन्तो जयेमाभि ष्याम पृत्सुतीर्मर्त्यानाम्॥ १॥

हे **अग्ने**=अग्रणी **राजन्**=सबके शासक प्रभो! **वसूनां वसुपतिम्**=सब वसुओं (धनों) के पति **त्वाम्**=आपको **अध्वरेषु**=हिंसारहित परोपकार के कर्मों में **अभिप्रमन्दे**=आभिमुख्येन स्तुत करता हूँ, स्तुति करता हुआ आपके अभिमुख होता हूँ। आपने ही तो हमारे लिये सब वसुओं को प्राप्त कराना है। (२) **त्वया**=आपकी उपासना से **वाजयन्तः**=अपने साथ शक्ति को जोड़ने की कामना करते हुए हम **जयेम**=शत्रुओं को जीतनेवाले हों। हम **मर्त्यानाम्**=मरणधर्माओं की

पृत्सुतीः=सेनाओं को **अभिष्याम**=अभिभूत करें। कोई भी हमारे पर आक्रमण करे, तो हम उसका मुकाबिला कर सकें, उसके पराभव से आत्मरक्षण करने में समर्थ हों।

भावार्थ—प्रभु ही हमें वसुओं को प्राप्त कराते हैं, शत्रुओं को पराजित करने की शक्ति देते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'हव्यवाळग्निः अजरः पिता नः'

हव्यवाळग्निरजरः पिता नो विभुर्विभावा सुदृशीको अस्मे।
सुगार्हपत्याः समिषो दिदीह्यस्मद्र्य१क्सं मिमीहि श्रवांसि ॥ २ ॥

(१) **नः**=हमारे **पिता**=वे रक्षक प्रभु **हव्यवाड्**=सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं, **अग्निः**=अग्रणी हैं, हम आगे ले चलनेवाले हैं। **अजरः**=कभी जीर्ण नहीं होते। **विभुः**=व्यापक, **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाले, **अस्मे**=हमारे लिये **सुदृशीकः**=उत्तम दृष्टिवाले हैं, सदा हमारा ध्यान करनेवाले, कृपादृष्टिवाले हैं। पिता के अनुरूप बनते हुए हमें भी हव्य पदार्थों का सेवन करनेवाला (हव्यवाड्) प्रगतिशील (अग्नि), शक्तियों को न जीर्ण कर लेनेवाला (अजर), उदार (विभु), विशिष्ट ज्ञानदीप्तिवाला (विभावा) व सदा उत्तम दृष्टिवाला (सुदृशीक) बनना है। (२) हे प्रभो! आप **सुगार्हपत्माः**=गार्हपत्य यज्ञ को उत्तम बनानेवाले **इषः**=अन्नों को **अस्मद्र्यक्**=अस्मदभिमुख होकर **संमिमीहि**=सम्यक् दीजिये। आपकी कृपा से सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करके, उन अन्नों के सेवन से सात्त्विक वृत्तिवाले होते हुए हम गृहस्थ यज्ञ को उत्तमता से चलानेवाले हों। हे प्रभो! आप इन्हीं सात्त्विक अन्नों से सात्त्विक बुद्धिवाला हमें बनाकर **शवांसि**=ज्ञानों का हमारे जीवन में निर्माण करिये?

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम अन्न व ज्ञान प्राप्त करायें, ताकि हमारा 'गृहस्थ यज्ञ' बड़ी उत्तमता से चले।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'रक्षक-पावक-होता' प्रभु

विशां कविं विश्पतिं मानुषीणां शुचिं पावकं घृतपृष्ठमग्निम्।
नि होतारं विश्वविदं दधिध्वे स देवेषु वनते वार्याणि ॥ ३ ॥

(१) **मानुषीणां विशां विश्पतिम्**=विचारशील प्रजाओं के रक्षक, **कविम्**=उस क्रान्तप्रज्ञ प्रभु को **निदधिध्वे**=निश्चय से अपने हृदयों में धारण करो। वे प्रभु **शुचिम्**=पवित्र हैं, **पावकम्**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले हैं। **घृतपृष्ठम्**=दीप्त पृष्ठवाले हैं, अर्थात् दीप्ति के रूप में आभासित होते हैं। उपासक उन्हें एक प्रकाश के रूप में ही देखता है। **अग्निम्**=वे उपासक को उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले हैं। **होतारम्**=वे होता हैं, दाता हैं। **विश्वविदम्**=सर्वज्ञ हैं व सर्वललक-सब कुछ प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **सः**=वे प्रभु ही **देवेषु**=देवों में **वार्याणि**=वरणीय वस्तुओं को **वनते**=प्राप्त कराते हैं। सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले वे प्रभु ही हैं। सूर्यादि को ये ही दीप्ति प्राप्त कराते हैं। बुद्धिमानों को ये ही बुद्धि देते हैं और तेजस्वियों को तेज देनेवाले हैं। वे ही सर्वत्र विजय प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही रक्षक, पवित्र करनेवाले हैं। सब वरणीय वस्तुएँ प्रभु ही प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ब्रह्मयज्ञ-अतिथियज्ञ

जुषस्वाग्न इळया सजोषा यतमानो रश्मिभिः सूर्यस्य।
जुषस्व नः समिधं जातवेद आ च देवान्हविरद्याय वक्षि॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **इडया सजोषाः**=वेदवाणी से प्रीतिवाला होता हुआ तू ज्ञान की रुचिवाला होता हुआ तू **जुषस्व**=अपने कर्त्तव्य कर्मों को प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। तू **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों के साथ ही **यतमानः**=कर्त्तव्य कर्मों को करने के लिये यत्नशील हो। सूर्योदय से सूर्यास्त तक अपने नियत कर्मों को करने में लगा रह। (२) प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **जातवेदः**=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें ऐसा तू **नः**=हमारी **समिधम्**=वेदोपदिष्ट इस ज्ञानदीप्ति को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। **च**=और **हविः अद्याय**=सदा दानपूर्वक अदन के लिये **देवान् आवक्षि**=देवों को अपने घर पर लानेवाला हो उनका आतिथ्य करके, उनको खिला करके ही तू खानेवाला बन। यह आतिथ्य ही तुझे सब लोकों का विजेता बनायेगा।

भावार्थ—मनुष्य स्वाध्याय करे और अपने कर्त्तव्य कर्मों के करने में लगा रहे। ज्ञान में रुचिवाला हो, अतिथियों को खिला करके ही यज्ञशेष को खानेवाला बने।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मविजय से उत्पाद् विजय

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि॥ ५॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक कार्यों में लगा हुआ, **दमूनाः**=दान के मनवाला अथवा दान्त (वशीभूत) मनवाला, **अतिथिः**=निरन्तर गतिशील तू **दुरोणे**=घर में **इमम्**=इस **नः यज्ञम्**=हमारे यज्ञ को **उपयाहि**=प्राप्त हो। अर्थात् वेद में उपदिष्ट यज्ञों को तू करनेवाला बन। (२) **विद्वान्**=ज्ञानी व समझदार होता हुआ तू हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विश्वाः**=सब **अभियुजः**=आक्रमण करनेवाली वासनाओं को **विहत्य**=नष्ट करके, **शत्रूयताम्**=इन शत्रुत्व का आचरण करनेवाली प्रजाओं के **भोजनानि**=भोग साधनभूत धनों को आभर (आहर) हरण करनेवाला हो। वस्तुतः अपना विजय करके ही जगत् का विजय करनेवाला बनेगा। 'इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रियुधनं त्वया'।

भावार्थ—हम इस शरीर में दान्तमनवाले बनकर यज्ञों में प्रवृत्त रहें। सब वासनाओं को जीतकर बाह्य शत्रुओं को भी पराजित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्ञान' रूप शस्त्र से 'काम' रूप शत्रु का संहार

वधेन दस्युं प्र हि चातयस्व वयः कृण्वानस्तन्वे स्वायै।
पिपर्षि यत्सहसस्पुत्र देवान्त्सो अग्ने पाहि नृतम वाजे अस्मान्॥ ६॥

(१) हे जीव! तू **वधेन**=वध के साधनभूत आयुधों के द्वारा **दस्युम्**=इस नाशक कामरूप वृत्ति को **हि**=निश्चय से **चातयस्व**=विनष्ट कर। इसके विनाश के द्वारा **स्वायै तन्वे**=अपने शरीर के लिये **वयः**=दीर्घ आयुष्य को **कृण्वानः**=करनेवाला हो। 'काम' तेरे शरीर को जीर्ण

करनेवाला शत्रु है। इसके वध का साधन ज्ञान ही है। बुद्धि को परिष्कृत करता हुआ तू ज्ञान को बढ़ा और इस वासनारूप शत्रु को विनष्ट कर। (२) इस प्रकार कहा हुआ जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सहसस्पुत्र**=बल के पुञ्ज प्रभो! **यत्**=जो आप **देवान् पिपर्षि**=दिव्य गुणों को हमारे अन्दर पूरण करते हैं, **सः**=वे **अग्ने**=हे अग्रणी, **नृतम**=सर्वोत्तम नेतृत्व देनेवाले प्रभो! आप **वाजे**=इस जीवन संग्राम में **अस्मान्**=हमें **पाहि**=सुरक्षित कीजिये। आप से रक्षित होकर ही हम इस संग्राम में विजय को प्राप्त कर सकेंगे।

भावार्थ—जीव का कर्त्तव्य है कि ज्ञानरूप शस्त्र के द्वारा 'काम' रूप शत्रु का संहार करके दीर्घ जीवन को प्राप्त करे। प्रभु के सम्पर्क से शक्तिशाली बनकर जीवन संग्राम में विजय को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उक्थों व हव्यों द्वारा प्रभु-स्तवन

व॒यं ते॑ अग्न उ॒क्थैर्वि॑धेम व॒यं ह॒व्यैः पा॑वक भद्रशोचे।
अ॒स्मे र॒यिं वि॒श्ववा॑रं॒ समि॑न्वा॒स्मे विश्वा॑नि॒ द्रवि॑णानि धेहि॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वयम्**=हम **उक्थैः**=स्तोत्रों से **ते विधेम**=आपका पूजन करें। हे **पावक**=हमें पवित्र करनेवाले, **भद्रशोचे**=कल्याणकर ज्ञानदीप्तिवाले प्रभो! **वयम्**=हम **हव्यैः**=हव्यों के द्वारा दानपूर्वक अदन के द्वारा आपका पूजन करते हैं। यज्ञरूप प्रभु का पूजन यज्ञशेष के सेवन से ही होता है। (२) हे प्रभो! आप **अस्मे**=हमारे लिये **विश्ववारम्**=सब से वरने योग्य **रयिम्**=ज्ञानैश्वर्य को **समिन्व**=प्राप्त कराइये। इस ज्ञानैश्वर्य के द्वारा **विश्वानि**=सब **द्रविणानि**=जीवन की गति के साधक धनों को **धेहि**=हमारे में धारण करिये।

भावार्थ—हम स्तोत्रों व हव्यों के द्वारा प्रभु का पूजन करें। प्रभु हमें ज्ञानैश्वर्य व जीवन-यात्रा के साधक द्रविणों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'हव्य व अध्वर' का सेवन व सुख प्राप्ति

अ॒स्माक॑मग्ने अध्व॒रं जु॑षस्व॒ सह॑सः सूनो त्रिषधस्थ ह॒व्यम्।
व॒यं दे॒वेषु॑ सु॒कृतः॑ स्याम॒ शर्म॑णा नस्त्रि॒वरू॑थेन पाहि॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अस्माकम्**=हमारे **अध्वरम्**=जीवनयज्ञ का **जुषस्व**=आप सेवन करिये। हमारा जीवनयज्ञ आपके लिये प्रिय हो। वस्तुतः आपके द्वारा ही इसने पूर्ण होना है। हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज **त्रिषधस्थ**=तीनों लोकों में एक साथ वर्तमान सर्वव्यापक प्रभो! हमारे **हव्यम्**=हव्य को (जुषस्व) आप प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। यह हव्य आपके लिये प्रीतिकर हो। हम इस त्यागपूर्वक अदन से ही तो आपकी उपासना कर पाते हैं। (२) **वयम्**=हम **देवेषु**=देववृत्ति के पुरुषों में भी **सुकृतः**=उत्तम कर्मों को करनेवाले **स्याम**=हों। देवों में भी देववर व देवतम बनने का प्रयत्न करें। अथवा माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों में सदा शुभ कर्मों को करनेवाले हों, उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों को अच्छी प्रकार निभायें। आप **त्रिवरूथेन**=तीनों कष्टों का निवारण करनेवाले **शर्मणा**=सुख से **नः**=हमें **पाहि**=सुरक्षित करिये। हमें 'वाचिक व मानस' कोई भी कष्ट न प्राप्त हो।

भावार्थ—हम अध्वर व हव्य के द्वारा प्रभु को प्रिय हों। उत्तम कर्मों को करते हुए त्रिविध

कष्टों से सन्तप्त न हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अत्रि' बनकर नमनपूर्वक प्रभु का उपासन करें

विश्वा॑नि नो दु॒र्गहा॑ जातवेदः॒ सिन्धुं॒ न ना॒वा दु॑रि॒ताति॑ पर्षि।
अग्ने॑ अत्रि॒वन्नम॑सा गृणा॒नो३॒ऽस्माकं॑ बोध्यवि॒ता त॒नूना॑म्॥ ९ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **नः**=हमें **विश्वानि**=सब **दुर्गहा**=दुःख से ग्रहण योग्य-दुःख से भोग्य, **दुरिता**=दुरितों को, अशुभों को **अतिपर्षि**=पार कराइये, **न**=जैसे कि **सिन्धुम्**=नदी को **नावा**=नाव से पार कराते हैं। आपकी कृपा से हम सब इन दुःखभोग्य दुरितों से दूर हों। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अत्रिवत्**='काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की तरह **नमसा**=नमस्कार के द्वारा **गृणानः**=हमारे से स्तुति किये जाते हुए आप **अस्माकम्**=हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के **अविता**=रक्षक **बोधि**=होइये। हम अत्रि बनकर नमनपूर्वक आपके चरणों में उपस्थित हों और आपसे रक्षणीय हों।

भावार्थ—प्रभु हमें सब कष्टों से पार करते हैं। हम अत्रि बनकर प्रभु का स्तवन करें, प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यशस्वी व अमर जीवन

यस्त्वा॑ हृ॒दा की॒रिणा॒ मन्य॑मा॒नोऽम॑र्त्यं॒ मर्त्यो॒ जोह॑वीमि।
जात॑वेदो॒ यशो॑ अ॒स्मासु॑ धेहि प्र॒जाभि॑रग्ने अमृत॒त्वम॑श्याम्॥ १० ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अमर्त्यं त्वा**=अविनाशी आपको **यः**=जो **मर्त्यः**=मरणधर्मा मैं **कीरिणा**=स्तुतियुक्त **मनसा**=मन से **मन्यमानः**=मनन करता हुआ, स्तुति शब्दों के अर्थ का भावन करता हुआ (तज्जपः तदर्थभावनम्) **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। (२) वे आप **अस्मासु**=हमारे में **यशः धेहि**=यश का स्थापन करिये, आपकी कृपा से मैं यशस्वी कार्यों को ही करनेवाला बनूँ। **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! मैं आपकी कृपा से **प्रजाभिः**=प्रजाओं के द्वारा **अमृतत्वम्**=अमरता को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ। इस शरीर को छोड़ने के बाद भी सन्तानों के रूप में जीवित ही रहूँ। वस्तुतः यशस्वी जीवनवालों का वंश चलता ही चलता है। कोई तीव्र अपयश की बात आ जाने पर ही वंश समाप्त हुआ करता है।

भावार्थ—प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ। प्रभु मुझे यशस्वी व प्रजाओं द्वारा अमर जीवन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उत्तम धन

यस्मै॒ त्वं सु॒कृते॑ जातवेद उ लो॒कम॑ग्ने कृ॒णवः॑ स्यो॒नम्।
अ॒श्विनं॒ स पु॒त्रिणं॑ वी॒रव॑न्तं॒ गोम॑न्तं र॒यिं न॑शते स्व॒स्ति॥ ११ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यस्मै सुकृते**=जिस पुण्यशाली के लिये **त्वम्**=आप **उ**=निश्चय से **स्योनम्**=सब सुखों के साधक **लोकम्**=आलोक को (प्रकाश को) **कृणवः**=करते हैं **सः**=वह **स्वस्ति**=कल्याण करें **रयिम्**=रयि को, ऐश्वर्य को **नशते**=प्राप्त होता

है। (२) उस रयि को प्राप्त होता है जो कि **पुत्रिणम्**=प्रशस्त सन्तानोंवाला है, **वीरवन्तम्**=धन स्वामी को वीर बनानेवाला है तथा **गोमन्तम्**=उसे प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाता है। सामान्यतः ऐश्वर्य में यही कमी है कि (क) सन्तानें अधिक लाड-प्यार में पलने से बिगड़ जाती है, (ख) मनुष्य स्वयं कम काम करने से कमजोर हो जाता है, (ग) भोगविलास की वृद्धि से इन्द्रियाँ 'विषयपंक मलिन' हो जाती हैं। पर यह पुण्यशाली इन दोषों से रहित रयि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—पुण्यशाली को प्रभु पवित्र रयि प्राप्त कराते हैं जो कि उसे पवित्र पुत्रोंवाला, प्रकृष्ट बलवाला व प्रशस्तेन्द्रिय बनाता है।

वसुश्रुत आत्रेय ही अगले सूक्त का भी ऋषि है। यह ४.११ के अनुसार उस वसु के कारण श्रुत (प्रसिद्ध) है जो कि सन्तानों शक्ति व इन्द्रियों पर अशुभ प्रभाववाला नहीं। यह कहता है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु प्राप्ति के लिये ज्ञान की साधना

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे॥ १॥

(१) **सुसमिद्धाय**=खूब दीप्त-तेजस्वी, **शोचिषे**=ज्ञानदीप्तिवाले, **अग्नये**=गतिशील अग्रणी, **जातवेदसे**=(जातं वेदः यस्मात्) उत्पन्न धनवाले, सब धनों के दाता उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **तीव्रम्**=बड़ी प्रबल **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को **जुहोतन**=अपने में आहुत करो। (२) प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम ज्ञान को बढ़ायें। जितना-जितना ज्ञान बढ़ेगा, उतना-उतना प्रभु की महिमा को हम प्रत्येक पदार्थ में देखेंगे। प्रभु के समीप होते हुए हम भी तेजस्वी (समिद्ध) ज्ञानदीप्तिवाले, प्रगतिशील व आवश्यक धनों का अर्जन करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—ज्ञानवृद्धि के द्वारा हम प्रभु के सान्निध्य को प्राप्त करें। यह सान्निध्य हमें तेजस्वी, ज्ञानदीप्त, प्रगतिशील व ऐश्वर्य-सम्पन्न बनायेगा।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'अदाभ्य-कवि-मधुहस्त्य'

नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः। कविर्हि मधुहस्त्यः॥ २॥

(१) **नराशंसः**=मनुष्यों से स्तुति किये जानेवाले वे प्रभु **इयं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **सुषूदति**=सम्यक् प्रेरित करते हैं। जो भी प्रभु का स्तवन करता है, प्रभु उसे यज्ञात्मक कर्मों में चलने की प्रेरणा देते हैं। (२) वे प्रभु **अदाभ्यः**=वासनाओं व अन्य शत्रुओं से हिंसित होनेवाले नहीं, **हि**=निश्चय से **कविः**=सर्वज्ञ हैं। **मधुहस्त्यः**=मधुरता से सब कर्मों को करनेवाले हैं, हाथों में माधुर्य को लिये हुए हैं। मन में अदाभ्य, मस्तिष्क में ज्ञानी, हाथों में मधुहस्त्य।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारे जीवन को यज्ञमय बनाते हैं, हम 'अदाभ्य-कवि-मधुहस्त्य' बनते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सुख' रथ

ईळितो अग्न आ वहेन्द्रं चित्रमिह प्रियम्। सुखै रथेभिरूतये॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ईळितः**=स्तुति किये गये आप **इह**=इस जीवन में **इन्द्रम्**=इस

जितेन्द्रिय पुरुष को **प्रियम्**=प्रीति के साधक **चित्रम्**=अद्भुत ज्ञान को (चित्=ज्ञाने) **आवह**=प्राप्त कराइये। (२) इस ज्ञान के द्वारा ही तो आप **सुखैः**=(सु-ख) उत्तम इन्द्रियोंवाले **रथेभिः**=शरीर-रथों से **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिये होते हैं। प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त कराते हैं, ज्ञान के द्वारा इन्द्रियाँ उत्तम बनती हैं। सब इन्द्रियों के उत्तम होने पर ही जीवन-यात्रा का सुख निर्भर करता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को ज्ञान प्राप्त कराते हैं, ज्ञान के द्वारा इन्द्रियाँ उत्तम होती हैं, इन्द्रियों के ठीक होने पर शरीर-रथ ठीक से चलता हुआ जीवन-यात्रा की पूर्ति का साधक होता है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विशाल हृदयता-स्तुति व शुद्धता

ऊर्णम्रदा वि प्रथस्वाभ्य१र्का अनूषत। भवा नः शुभ्र सातये ॥ ४ ॥

(१) **ऊर्णम्रदाः**=(ऊर्ण् आच्छादने, मृदु) औरों के दोषों को आच्छादित करनेवाले, दोषों को न उघाड़ते फिरनेवाले और कोमल हृदय से युक्त हुआ-हुआ तू **विप्रथस्व**=विशिष्ट विस्तारवाला हो। (२) **अर्काः**=मेरे जीवन में स्तुति के साधनभूत मन्त्र (अर्कः मंत्रः अर्चन्ति अनेन) **अभि अनूषत**=तेरा आभिमुख्येन स्तवन करनेवाला हो। तू मन्त्रों द्वारा सदा प्रभु का स्तोता बन। (३) **शुभ्र**=शुभ्र जीवनवाला होता हुआ तू **नः**=हमारी **सातये**=प्राप्ति के लिये **भवा**=हो। जीवन को शुद्ध बनाकर तू प्रभु को प्राप्त होनेवाला हो।

भावार्थ—हम विशाल हृदय बनें, मन्त्रों द्वारा प्रभु का स्तवन करें, शुद्ध जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम इन्द्रिय द्वार

देवीर्द्वारो वि श्रयध्वं सुप्रायणा न ऊतये। प्रप्र यज्ञं पृणीतन ॥ ५ ॥

(१) यह मानवदेह यज्ञ की वेदि है। इसमें इन्द्रियाँ इस यज्ञशाला के द्वार हैं। इनके लिये कहते हैं कि **देवीः द्वारः**=प्रकाशमय-उत्तम व्यवहारों के साधक (दिव्-द्युतौ, व्यवहारे) इन्द्रिय द्वारो! **विश्रयध्वम्**=विशिष्टरूप से इस देह में अपना आश्रय करो। **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिये **सुप्रायणाः**=शुभ प्रकृष्ट गतिवाले होवो। सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य उत्तमता से करें, ताकि जीवन यज्ञ सुन्दरता से चले। (२) हे इन्द्रिय द्वारो! सुप्रायण होते हुए तुम **यज्ञम्**=इस जीवन यज्ञ को **प्र प्र**=खूब ही अच्छी तरह **पृणीतन**=पूरा करो। ये इन्द्रियाँ इस जीवन यज्ञ के होता हैं, इन्होंने ही तो इसे पूरा करना है।

भावार्थ—इन्द्रिय द्वार उत्तम गतिवाले होकर जीवन यज्ञ को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जीवन को बनानेवाले 'दिन-रात'

सुप्रतीके वयोवृधा यह्वी ऋतस्य मातरा। दोषामुषासमीमहे ॥ ६ ॥

(१) हम जीवन के निर्माण करनेवाले **दोषाम्**=रात्रि को व **उषासम्**=उषा (दिन) को **ईमहे**=स्तुत करते हैं। दिन व रात का ठीक उपयोग ही इनका स्तवन है। दिन के एक-एक क्षण को क्रियामय बनाते हुए हम इसे सचमुच 'उषस्' (दोष दहन करनेवाला) बनाते हैं तथा रात्रि को आराम करते हुए इसे रमयित्री करते हैं। (२) ये दिन-रात **सुप्रतीके**=उत्तम अंगोंवाले हैं। यदि दिन हमारा खूब क्रियाशील बीतता है और रात्रि हमारे लिये रमयित्री होती है तो सब अंग-प्रत्यंग

स्वास्थ्य के सौन्दर्य से दीप्त प्रतीत होते हैं। **वयोवृधा**=ये दिन-रात हमारे आयुष्य के वर्धक हैं। **यह्वी**=हमारे लिये महत्त्वपूर्ण हैं (महत्यौ)। हमारे जीवनों में **ऋतस्य**=सब ठीक चीजों का **मातरा**=निर्माण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारे दिन-रात क्रमशः निरन्तर क्रिया व आराम में बीतते हुए हमारे जीवन को 'सुरूप, दीर्घ व यज्ञिय' बनानेवाले हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जीवन यज्ञ के दैव्य होता

वातस्य पत्मन्नीळिता दैव्या होतारा मनुषः। इमं नो यज्ञमा गतम्॥ ७॥

(१) शरीर में जो जीवनयज्ञ चलता है उसके 'दो कान, दो आँखें, दो नासिका-छिद्र व मुख' ये सात होता हैं। इस जीवन यज्ञ के रक्षक प्राण व अपान हैं। उन्हें यहाँ 'दैव्य होता' कहा है। ये दोनों उस महान् देव प्रभु से शरीर में यज्ञ ही रक्षा के लिये स्थापित हुए हैं। ये दोनों **नः**=हमारे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=जीवन यज्ञ को **आगतम्**=प्राप्त हों। इन्होंने ही तो हमारे इस जीवन यज्ञ का रक्षण करना है 'तत्र जागृतः आस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ'=वे देव यज्ञ में आसीन होकर सदा जागते हैं। (२) ये दोनों **वातस्य पत्मन्**=वायु के पतन-स्थान अन्तरिक्ष में, हृदयान्तरिक्ष में **ईडिता**=स्तुत होते हैं। वायु अन्तरिक्ष की देवता है, प्राणापान हृदयान्तरिक्ष की। ये **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **दैव्या होतारा**=प्रभु से दिये गये होता हैं, अथवा विचारशील पुरुष को प्रभु की ओर ले-जानेवाले होता हैं।

भावार्थ—बाहर जो वायु का स्थान है, वही शरीर में प्राणापान का। वे मनुष्य को प्रभु की ओर ले-जानेवाले होते हैं, जीवन यज्ञ को सफल करते हैं।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इडा, सरस्वती, मही

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ ८॥

(१) पृथिवी स्थानीय अग्नि की पत्नी 'इडा' है, अन्तरिक्ष स्थानीय सरस्वान् (=वायु) की पत्नी सरस्वती है, द्युस्थान आदित्य (भरत) की पत्नी 'मही' है। शरीर के साथ 'इडा' का सम्बन्ध है, शरीर में उचित अग्नि आवश्यक ही है। हृदयान्तरिक्ष के साथ 'सरस्वती' का सम्बन्ध है, सरस्वती का आराधक हृदय ही 'हृदय' है। मस्तिष्क आदित्य पत्नी मही का निवास-स्थान है। यह मही ज्ञानवाणी ही मस्तिष्क को सुभूषित करती है। ये 'इडा सरस्वती मही'=शरीर, हृदय व मस्तिष्क की देवताएँ **तिस्रः**=तीनों मिलकर **देवीः**=हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाती हैं **मयोभुवः**=ये कल्याण व नीरोगता को जन्म देनेवाली हैं। (२) **अस्रिधः**=किसी प्रकार का हिंसन न करती हुईं ये **बर्हिः**=हमारे वासनाशून्य हृदय में **सीदन्तु**=स्थित हों। हमारे हृदयों में इन तीनों के लिये स्थान हो। इन तीनों की स्थिति हमें अहिंसित बनाये।

भावार्थ—हम जीवन में 'इडा, सरस्वती व मही' के उपासक बनकर कल्याण को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'शिव, विभु, पोष' प्रभु

शिवस्त्वष्टरिहा गहि विभुः पोष उत त्मना। यज्ञेयज्ञे न उदव॥ ९॥

(१) **त्वष्टः**=हे संसार के निर्माता (त्वक्ष्) दीप्त (त्विक्ष्) प्रभो! आप **शिवः**=सबका कल्याण

करनेवाले हैं। **विभुः**=सर्वव्यापक हैं। **उत**=और **त्मना**=स्वयं **पोषः**=पोषण करनेवाले हैं। हमारी बिना प्रार्थना के भी वे प्रभु पोषण करते ही हैं। ऐसे आप **इह**=यहाँ जीवनयज्ञ में **आगहि**=हमें प्राप्त होइये। (२) **यज्ञे यज्ञे**=प्रत्येक यज्ञ में, उत्तम कर्म में **नः**=हमें **उद् अव**=उत्कर्षेण रक्षित करिये। वस्तुतः प्रभु-कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों। हमारे सब यज्ञ प्रभु-कृपा से पूर्ण हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वनस्पति' प्रभु (ज्ञानरश्मियों के पति)

यत्र वेत्थ वनस्पते देवानां गुह्या नामानि। तत्र हव्यानि गामय॥ १०॥

(१) हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन् प्रभो! **यत्र**=जहाँ आप **देवानाम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों के **गुह्या**=हृदयरूप गुहा में होनेवाली **नामानि**=नम्रता की भावनाओं को **वेत्थ**=जानते हैं व प्राप्त कराते हैं, **तत्र**=वहाँ **हव्यानि गामय**=हव्य पदार्थों को भी प्राप्त कराइये। (२) हे प्रभो! आपकी कृपा से हम देववृत्तिवाले बनकर, खूब उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके, हृदय में नम्रता को धारण करें तथा जीवन में सदा हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाले बनें। सदा यज्ञशेष का सेवन ही हव्य का सेवन है। हम हव्यों के ग्रहण के द्वारा ही प्रभु-पूजन करते हैं।

भावार्थ—हमारे हृदयों में ज्ञानी पुरुष की नम्रता हो तथा हम हव्य पदार्थों का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हव्य सेवन के लाभ

स्वाहाग्नये वरुणाय स्वाहेन्द्राय मरुद्भ्यः। स्वाहा देवेभ्यो हविः॥ ११॥

(१) **अग्नये**=उस अग्नि नामक प्रभु की प्राप्ति के लिये **हविः स्वाहा**=मैं अपने में हवि की आहुति देता हूँ। अर्थात् हवि का सेवन करता हुआ मैं अग्नि (प्रभु) को प्राप्त होता हूँ। हवि के द्वारा ही तो अग्नि का उपासन होता है। अग्नि, अर्थात् मैं प्रगतिशील बनता हूँ। (२) **वरुणाय**=वरुण नामक प्रभु के लिये मैं अपने में हवि की **स्वाहा**=आहुति देता हूँ। हवि का सेवन करता हुआ वरुण का उपासक बनता हूँ। वरुण, अर्थात् द्वेष का निवारण करनेवाला व व्रत के बन्धन में अपने को बाँधनेवाला बनता हूँ। (३) **इन्द्राय**=इन्द्र के लिये मैं हवि को **स्वाहा**=अपने में आहुत करता हूँ। हवि का, यज्ञशेष का ही सेवन करता हुआ मैं जितेन्द्रिय बनता हूँ। (४) **मरुद्भ्यः**=प्राणों के लिये मैं हवि की अपने में आहुति देता हूँ। यज्ञशेष का सेवन करता हुआ अपनी प्राणशक्ति का वर्धन करता हूँ। (५) **देवेभ्यः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये मैं हवि को अपने में आहुत करता हूँ। हवि, अर्थात् 'हु दानादनयोः' देकर बचे हुए को ही खानेवाला बनता हूँ। इस यज्ञशेष के सेवन से हमारे में दिव्य वृत्तियों का वर्धन होता है, आसुर वृत्तियों का ह्रास।

भावार्थ—देकर बचे हुए यज्ञशेष का सेवन करता हुआ मैं 'प्रगतिशील, निर्द्वेष व व्रतबन्धनवाला, जितेन्द्रिय, प्राणशक्ति-सम्पन्न व दिव्यवृत्तिवाला' बनता हूँ।

इस प्रकार हव्य सेवन करनेवाले 'वसुश्रुत आत्रेय' को प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह भाव प्रस्तुत सूक्त में देखिये—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अग्नि=प्रगतिशील जीव

अ॒ग्निं तं म॑न्ये॒ यो वसु॒रस्तं॒ यं यन्ति॑ धे॒नवः॑।
अस्त॒मर्व॑न्त आ॒शवोऽस्तं॒ नित्या॑सो वा॒जिन॒ इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र॥ १॥

(१) **तम्**=उसको **अग्निम्**=प्रगतिशील **मन्ये**=मानता हूँ, (क) **यः**=जो **वसुः**=अपने निवास को उत्तम बनाता है और औरों के भी वास का कारण बनता है। (ख) उसे अग्नि मानता हूँ **यम्**=जिसको **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणीरूप गौवें **अस्तं यन्ति**=घर की तरह प्राप्त होती हैं। गौवें चरकर सायं घर को लौटती हैं, इसे भी ये वेदवाणी रूप धेनुएँ प्राप्त होती हैं, यह उनके लिये घर की तरह बनता है (at home, familiar), (ग) इस अग्नि को **आशवः अर्वन्तः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियाँ **अस्तम्**=घर की तरह प्राप्त होती हैं। (घ) इस अग्नि को **नित्यासः**=(नि=) अन्दर होनेवाले, बाहर विषय वासनाओं से मलिन न होनेवाले **वाजिनः**=इन्द्रियरूप अग्नि **अस्तम्**=घर की तरह प्राप्त होते हैं। (२) इन **स्तोतृभ्यः**=अपने जीवन को उत्तम बनाने के द्वारा आपका सच्चा स्तवन करनेवाले स्तोताओं के लिये **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइये। आपसे निरन्तर प्रेरणा को प्राप्त करके ही तो ये अपने जीवन को सुन्दर बना पायेंगे।

भावार्थ—प्रगतिशील वह है जो अपने निवास को उत्तम बनाये, ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करे, क्रियाशील इन्द्रियोंवाला हो, विषयों से अनाक्रान्त इन्द्रियोंवाला हो। यही स्तोता है। इस स्तोता को प्रभु प्रेरणा प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुजात सूरियों का सम्पर्क

सो अ॒ग्निर्यो वसु॑र्गृ॒णे सं यमा॒यन्ति॑ धे॒नवः॑।
समर्व॑न्तो रघु॒द्रुवः॒ सं सु॑जा॒तासः॑ सू॒रय॒ इषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र॥ २॥

(१) **सः**=वह **अग्निः**=प्रगतिशील जीव है **यः**=जो कि **वसुः**=अपने निवास को उत्तम बनाता है और औरों के निवास का कारण बनता है। **यम्**=जिसको **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौवें **सं आयन्ति**=सम्यक् प्राप्त होती हैं। जिसको **रघुद्रुवः**=शीघ्र गमनवाले, क्रियाओं को स्फूर्ति से करनेवाले **अर्वन्तः**=इन्द्रियाश्व **सम्**=सम्यक् प्राप्त होते हैं। (२) यह अग्नि ही **गृणे**=स्तुत होता है, प्रशंसनीय होता है, जिसे कि **सुजातासः**=उत्तम कुलों में जन्म लेनेवाले अथवा उत्तम विकासवाले **सूरयः**=ज्ञानी पुरुष **सम्**=प्राप्त होते हैं, जिसका उठना-बैठना कुलीन व गुण-सम्पन्न ज्ञानी पुरुषों के साथ होता है। वस्तुतः ये ही पुरुष प्रभु के सच्चे स्तोता होते हैं। हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=इन स्तोताओं के लिये **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—अग्नि वह है जो वसु है, जिसे ज्ञानदुग्धदात्री वेदवाणीरूप धेनुएँ प्राप्त होती हैं, जिसकी कर्मेन्द्रियाँ शीघ्र गतिवाली हैं, जिसका उठना-बैठना कुलीन ज्ञानी पुरुषों के साथ है। इन्हें ही प्रभु प्रेरणा प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

विशाल 'व्यापक, मनोवृत्तिवाला' प्रभु-भक्त

अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः ।
अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ३ ॥

(१) **विश्वचर्षणिः**=सब का द्रष्टा, सब का ध्यान (पालन) करनेवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हि**=निश्चय से **विशे**=प्रजाओं के लिये **वाजिनम्**=शक्ति को (strength) **ददाति**=देता है। इस शक्ति के द्वारा ही वह हमें रक्षण के योग्य बनाता है। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु ही **स्वाभुवम्**=(सु आ भू) उत्तमता से सर्वत्र व्याप्त होनेवाले पुरुष को, अर्थात् वसुधा को ही अपना परिवार बना लेनेवाले पुरुष को, **राये**=धन के लिये प्राप्त कराता है। **सः**=वह स्वाभुम्=पुरुष **प्रीतः**=प्रसन्नता का अनुभव करनेवाला हुआ-हुआ **वार्य**=सब वरणीय धनों को **याति**=प्राप्त होता है। परिवार की विशालता से प्रीति का अनुभव होता है। यह वसुधा को परिवार बनानेवाला पुरुष प्रीति का अनुभव करता हुआ, प्रभु के अनुग्रह से सब वरणीय धनों को प्राप्त करता है। (२) हे प्रभो! आप इन वसुधा को अपना परिवार बनानेवाले, विशाल हृदयवाले **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **इषं आभर**=प्रेरणा को प्राप्त कराइये। ये स्वाभू पुरुष प्रभु के भक्त होते हैं 'सर्वभूतहितेरताः'। इन्हें प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति व धन प्राप्त कराते हैं। हम हृदय को विशाल बनायें, तभी प्रभु के प्रिय होंगे और प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु के अजरामर काव्य 'वेद' का उपासक

आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **ते**=आपकी **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाली ज्ञान-ज्योति को **आ इधीमहि**=अपने में सर्वथा दीप्त करते हैं 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'=उस देव का यह वेद अजरामर काव्य है। इसे हम अपने में दीप्त करते हैं। (२) हे प्रभो! **यत्**=जो **स्या**=वह **ते**=आपकी **पनीयसी**=अति प्रशंसनीय **समित्**=ज्ञानदीप्ति है, वह **ह**=निश्चय से **द्यवि**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में **दीदयति**=चमकती है। अर्थात् आपने जो वेदज्ञान दिया है, उसे हम अपने मस्तिष्क में दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। हे प्रभो! आप इन **स्तोतृभ्यः**=आपके सच्चे स्तोताओं के लिये **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम प्रभु की वेदरूप ज्ञान-ज्योति से मस्तिष्क को दीप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विज्ञान-हवि

आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य शोचिषस्पते ।
सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिये **ते ऋचा**=आपकी इन ऋचाओं के साथ, विज्ञान वाणियों के साथ **हविः आ हूयते**=हमारे से हवि आहुत होती है। 'मंत्रोच्चारणपूर्वक हवन करते हैं' इस अर्थ के साथ 'ऋचा हविः आ हूयते' का भाव यह भी है कि हम (क) ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और (ख) सदा त्यागपूर्वक अदन करते हैं। प्रभु प्राप्ति के ये ही मुख्य साधन हैं। (२) हे प्रभो! आप **शुक्रस्य शोचिषः पते**=(शुक गतौ) हमें क्रियाशील बनानेवाली ज्ञानदीप्ति के पति हैं। आपसे प्राप्त ज्ञानदीप्ति से हमारा जीवन क्रियाशील बनता है। **सुश्चन्द्र**=आप उत्तम आह्लादवाले हैं। उपासक को अद्भुत आनन्द को प्राप्त कराते हैं। **दस्म**=आप सब दुःखों के विनाशक हैं। **विश्पते**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं **हव्यवाट्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=विज्ञान व हवि को अपनानेवाले हम स्तोताओं के लिये **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त करानेवाले होइये।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपके विज्ञान को धारण करते हुए दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। आप हमें प्रेरणा को प्राप्त कराके हमारे लिये आह्लाद को प्राप्त करानेवाले व दुःखों को दूर करनेवाले होइये।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

हिन्विरे-इन्विरे-इषणयन्ति

प्रो त्ये अ॒ग्नयो॒ऽग्निषु॒ विश्वं॑ पुष्यन्ति॒ वार्य॑म्।
ते हि॑न्वि॒रे त इ॑न्वि॒रे त इ॑षण्य॒न्त्यानु॒षगिषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ६ ॥

(१) **उ**=निश्चय से **त्ये**=वे ही **अग्नयः**=प्रगतिशील जीव हैं, जो **अग्निषु**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियों में रहते हुए, इन अग्नियों की उपासना करते हुए, **विश्वम्**=सब **वार्यम्**=वरणीय धनों को **प्रपुष्यन्ति**=अपने में प्रकर्षेण पुष्ट करते हैं। माता के सम्पर्क में 'चरित्र' को, पिता से 'सदाचार' को तथा आचार्य से ये 'ज्ञान' को प्राप्त करते हैं। (२) **ते**=वे 'चरित्र सदाचार व ज्ञान' को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति **हिन्विरे**=(cast, throw) सब बुराइयों को अपने से दूर फेंकते हैं, **ते इन्विरे**=(pervade) अच्छाइयों को वे व्याप्त करते हैं। बुराइयों के स्थान में अच्छाइयों को अपने में भरते हैं। इस प्रकार **ते**=वे **आनुषक्**=निरन्तर **इषणयन्ति**=(strengthen) अपने को शक्तिशाली बनाते हैं। **स्तोतृभ्यः**=इन स्तोताओं के लिये **इषं आभर**=प्रेरणा को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—माता, पिता व आचार्य से 'चरित्र, सदाचार व ज्ञान' रूप वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करें। बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को अपने अन्दर भरें और इस प्रकार अपने को शक्तिशाली बनायें। इस प्रकार प्रभु का स्तवन करनेवाले हमारे लिये प्रभु प्रेरणा को प्राप्त करायें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अर्चयः-वाजिनः

तव॒ त्ये अ॑ग्ने अ॒र्चयो॒ महि॑ व्राधन्त वा॒जिनः॑।
ये पत्व॑भिः श॒फानां॑ व्र॒जा भु॒रन्त॒ गोना॒मिषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ७ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्ये**=वे **तव**=आपके **अर्चयः**=उपासक, **वाजिनः**=शक्तिशाली होते हुए **महि व्राधन्त**=खूब वृद्धि को प्राप्त करते हैं। **ये**=जो **पत्वभिः**=गतिशीलता के द्वारा, पुरुषार्थ के द्वारा **शफानाम्**=(शं फणन्ति प्रापयन्ति इति) शान्ति को प्राप्त करानेवाली **गोनाम्**=ज्ञानवाणियों के **व्रजा**=समूहों को **भुरन्त**=चाहते हैं। इन ज्ञानवाणियों के द्वारा ही वस्तुतः

उनका जीवन उपासनामय व शक्तिशाली बनता है। प्रभु से दी गयी ये ज्ञान की वाणियाँ 'शफ' हैं, शान्ति का विस्तार करनेवाली हैं। सो इनका जीवन इन ज्ञानवाणियों के द्वारा शान्त बनता है। (२) इन **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये हे प्रभो! आप **इषं आभर**=प्रेरणा को प्राप्त कराइये। आपसे निरन्तर प्रेरणा को प्राप्त करके ही ये सत्पथ का अनुसरण करते हुए 'उपासक व शक्तिशाली' बनते हैं। वस्तुतः तभी ये इन ज्ञान की वाणियों की कामनावाले भी बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनकर शक्तिशाली बनें। पुरुषार्थ से ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करते हुए जीवन को शान्त बनायें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

त्वादूतासः

नवा नो अग्न आ भर स्तोतृभ्यः सुक्षितीरिषः ।
ते स्याम य आनृचुस्त्वादूतासो दमेदम इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हम **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **नवाः**=(नव गतौ) हमारे जीवन को गतिमय बनानेवाली **सुक्षितीः**=गति के द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनानेवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **आभर**=प्राप्त कराइये। (२) आपकी प्रेरणाओं को प्राप्त करके **ते स्याम**=हम वे बनें, **ये आनृचुः**=जो सदा पूजा की वृत्तिवाले हों और **दमे दमे**=प्रत्येक गृह में **त्वादूतासः**=आपके दूत हों, आपके ज्ञान सन्देश को पहुँचानेवाले हों। इन **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **इषं आभर**=आप प्रेरणा को प्राप्त कराइये। आप से प्रेरणा को प्राप्त करके ही सप्तम मन्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में हम पुरुषार्थ से ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करते हैं। अष्टम मन्त्र के पूर्वार्ध के अनुसार गृहस्थ में गतिशील बनकर अपने निवास को उत्तम बनाते हैं। उत्तरार्ध के अनुसार वानप्रस्थ में निरन्तर आपका अर्चन करते हुए संन्यास में आपके ज्ञान के सन्देश को घर-घर में पहुँचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा से हम अपने जीवन को उत्तम बनायें। निरन्तर प्रभु की उपासना से शक्तिशाली बनकर प्रभु के सन्देश को फैलानेवाले हों।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सर्पिषः उभे दर्वी (ज्ञान-विज्ञान)

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि ।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ९ ॥

(१) हे **सुश्चन्द्र**=उत्तम आह्लादवाले व आह्लाद को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **सर्पिषः**=(सृप् गतौ) (सर्पिः घृतं=दीप्तिः) हमें गतिशील बनानेवाली ज्ञानदीप्ति की **उभे दर्वी**=दोनों कड़छियों को **आसनि**=हमारे मुखों में **श्रीणीषे**=आप आश्रित करते हैं अथवा 'श्री पाके' उन्हें परिपक्व करते हैं। सर्पि की ये दो कड़छियाँ 'अपरा विद्या व पराविद्या' ही हैं। प्रभु हमारे लिये इन दोनों को ही प्राप्त कराते हैं। इनको प्राप्त कराके ही वे हमारे जीवनों को आह्लादमय बनाते हैं। (२) **उत**=और हे **शवसस्पते**=सब बलों के स्वामिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **उ**=निश्चय से **उक्थेषु**=स्तोत्रों में **उत्पुपूर्याः**=उत्पूरित करिये, हम सदा आपका स्तवन करनेवाले हों, और आपके स्तवन से अपने में शक्ति का संचार करें। **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिये **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करायें। हमें स्तुति की वृत्तिवाला बनायें।

ऋषिः—**वसुश्रुत आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

गीर्भिः-यज्ञेभिः

एवाँ अ॒ग्निम॑जुर्यमुर्गी॒र्भिर्य॒ज्ञेभि॑रानु॒षक् ।
दध॑द॒स्मे सु॒वीर्य॑मु॒त त्यदा॒श्वश्व्य॒मिषं॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ १० ॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा स्तुतियों से तथा **आनुषक्**=निरन्तर **यज्ञेभिः**=यज्ञों से उपासक लोग **अग्निं अजुः**=उस प्रभु की ओर जाते हैं और **यमुः**=उस प्रभु को अपने में स्थापित करते हैं। (२) प्रभु को प्राप्त करने के लिये यही मार्ग है कि हम ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करें (गीर्भिः) कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों को करनेवाली हों (यज्ञेभिः)। ऐसा करने पर वे प्रभु **अस्मे**=हमारे लिये **सुवीर्यं दधत्**=उत्तम वीर्य को धारण करते हैं। **उत**=और **त्यत्**=उस **आशु**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **अश्व्यम्**=इन्द्रियाश्व समूह को धारण करते हैं। हे प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=इन गिराओं व यज्ञों को अपनानेवाले स्तोताओं के लिये आप **इषम्**=प्रेरणा को **आभर**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम ज्ञानवाणियों व यज्ञों से प्रभु को प्राप्त हों। प्रभु हमें सुवीर्य व स्फूर्ति से क्रियाओं को करनेवाली इन्द्रियों को प्राप्त करायें।

सूचना—इस सूक्त में १० बार 'इषं स्तोतृभ्य आभर' यह वाक्य आवृत्त हुआ है। 'दसों की दसों इन्द्रियाँ उत्तम मार्ग पर ही प्रेरित हों' ऐसा इसका संकेत है। इन प्रेरणाओं के अनुसार चलनेवाला ऋषि 'इषः' कहलाता है, प्रेरणामय जीवन वाला। यह आत्रेय तो है ही, त्रिविध दुःखों से ऊपर उठा हुआ व काम-क्रोध-लोभ से दूर। यह कहता है—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सम्यञ्चमिषं-स्तोमं

सखा॑यः॒ सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिषं॒ स्तोमं॑ चा॒ग्नये॑ । वर्षि॑ष्ठाय क्षिती॒नामू॒र्जो नप्त्रे॒ सह॑स्वते ॥ १ ॥

(१) हे **सखायः**=समान ज्ञानवाले, मित्रभाव से चलनेवाले साथियो! तुम **वः**=अपनी **सम्यञ्चम्**=मिलकर होनेवाली **इषम्**=गति को **च**=और **स्तोमम्**=स्तुति को **सम्**=(कुरुत, संस्कुरुत) सम्यक् करनेवाले होवो। तुम्हारे काम परस्पर विरोध करनेवाले न हों 'संगच्छध्वम्, संवदध्वम्'। तुम मिलकर प्रभु-स्तवन करनेवाले बनो। समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है। परिवार में किसी भी क्रिया एक-दूसरे का विरोध करनेवाली न हो और सब मिलकर प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन करनेवाले हों। (२) यही मार्ग है **अग्नये**=उस अग्रणी प्रभु की प्राप्ति के लिये **वर्षिष्ठाय**=वृद्धतम प्रभु की प्राप्ति के लिये **क्षितीनाम्**=मनुष्यों के **ऊर्जः नप्त्रे**=बल व प्राणशक्ति को न गिरने देनेवाले प्रभु के लिये **सहस्वते**=शत्रुओं के कुचलनेवाले बलयुक्त प्रभु के लिये। यदि हमारी क्रियाएँ मिलकर होंगी और हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होंगे तो प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनकर हम भी अग्रगतिवाले, बढ़ी हुई शक्तियोंवाले, अविनष्ट बलवाले व शत्रुओं के कुचलनेवाले बन पायेंगे।

भावार्थ—हमारे क्रियाएँ परस्पर अविरुद्ध हों। हम मिलकर प्रभु-स्तवन करें। यही मार्ग है जिससे कि हम आगे बढ़ेंगे, सदा वृद्धि को प्राप्त करेंगे, शक्तियों को सुरक्षित रख पायेंगे और शत्रुओं को कुचलनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अर्हन्तः-जन्तवः

कुत्रा चिद्यस्य समृतौ रण्वा नरो नृषदने। अर्हन्तश्चिद्यमिन्धते संजनयन्ति जन्तवः ॥ २ ॥

(१) **कुत्रा चित्**=वे प्रभु कहाँ हैं? **यस्य समृतौ**=(ऋ गतौ) जिनकी प्राप्ति के होने पर **नरः**=प्रगतिशील मनुष्य **नृषदने**=मनुष्यों के मिलकर बैठने के स्थानों में, सभाओं में **रण्वाः**=अत्यन्त रमणीय जीवनवाले होते हैं। प्रभु प्राप्तिवाले मनुष्य का जीवन सुन्दर बनता ही है। ऐसा व्यक्ति सभा में अनुपम शोभा पाता है। (२) 'कहाँ हैं?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **अर्हन्तः चित्**=पूजा करते हुए लोग ही **इन्धते**=अपने में दीप्त करते हैं और **जन्तवः**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोग **सञ्जनयन्ति**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं। अर्थात् प्रभु का निवास उन लोगों में है जो कि (क) पूजा की वृत्तिवाले हैं तथा (ख) अपनी शक्तियों के विकास में लगे हैं।

भावार्थ—'हम उपासना करें तथा अपनी शक्तियों का विकास करें' यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है, प्रभु-दर्शन होने पर हमारा जीवन अद्भुत सौन्दर्य को लिये हुए होगा।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

द्युम्न-शवस्-ऋत

सं यदिषो वनामहे सं हव्या मानुषाणाम्। उत द्युम्नस्य शवस ऋतस्य रश्मिमा ददे ॥ ३ ॥

(१) **यत्**=जब हम **इषः**=प्रभु प्रेरणाओं का **संवनामहे**=सम्यक् संभजन करते हैं, अर्थात् प्रभु प्रेरणाओं के अनुसार जीवन को बनाते हैं तथा **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के **हव्या**=हव्य पदार्थों का ही **सम् (वनामहे)**=संभजन (सेवन) करते हैं। तो **द्युम्नस्य**=ज्ञान-ज्योति की **रश्मिम्**=किरणों को **आददे**=ग्रहण करता हूँ। **उत**=और **शवसः**=बल की रश्मि को ग्रहण करता हूँ। ज्ञान व बल को प्राप्त करके मैं **ऋतस्य**=ऋत की रश्मि को प्राप्त करता हूँ। मेरा जीवन तब ऋतमय बन जाता है, इसमें से सब अनृत दूर हो जाते हैं। (२) मनुष्य प्रभु प्रेरणा के अनुसार चले तथा सदा विचारशील बन करके अकेला खानेवाला न बन जाये, यज्ञ करके यज्ञशेष का ही सेवन करे। ऐसा करने पर 'ज्ञान, बल व ऋत' की प्राप्ति होती है। मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में बल तथा मन में ऋत। ज्ञान से मस्तिष्क दीप्त होता है, तो बल से शरीर स्वस्थ व नीरोग बनता है और ऋत से मन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा को सुनें और यज्ञशेष का सेवन करें। यही ज्ञान, बल व ऋत को प्राप्त करने का मार्ग है।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

संभवामि युगे युगे

स स्मा कृणोति केतुमा नक्तं चिद् दूर आ सते। पावको यद्वनस्पतीन्प्र स्मा मिनात्यजरः ॥ ४ ॥

(१) **सः**=वे **पावकः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभु **नक्तं चित्**=रात्रि में भी, अत्यन्त अन्धकार में भी तथा **दूरे आ सते**=सर्वथा दूर स्थित पुरुष के लिये भी **केतुम्**=प्रकाश को **आकृणोति स्म**=करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु कृपा से ही हमें प्रकाश प्राप्त होता है। (२) इस प्रकाश को प्राप्त कराते तब हैं **यद्**=जब कि **अजरः**=कभी जीर्ण न होनेवाले वे प्रभु **वनस्पतीन्**=ज्ञान रश्मियों के स्वामियों को, ज्ञानी पुरुषों को, मुक्त हुए-हुए पुरुषों को **प्र आ**

मिनाति स्म=(establish) एक बार फिर पृथ्वी पर स्थापित करते हैं। प्रभु प्रेरणा से ये मुक्तात्मा जन्म-मरण के कष्ट को स्वीकार करके इस पृथ्वी पर आते हैं और लोगों को प्रभु का सन्देश सुनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दूर स्थित अन्धकार मग्न पुरुषों को प्रभु, स्वेच्छा से जन्म धारण करनेवाले मुक्तात्माओं के द्वारा, ज्ञान-सन्देश सुनाते हैं और इस प्रकार उनके अज्ञानन्धकार को दूर करते हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पिता की पीठ पर

अव॑ स्म॒ यस्य॒ वेष॑णे॒ स्वेदं॑ प॒थिषु॒ जुह्व॑ति। अ॒भीम॑ह॒ स्वजे॑न्यं॒ भूमा॑ पृ॒ष्ठेव॑ रुरुहुः ॥ ५ ॥

(१) **यस्य वेषणे**=जिस प्रभु के हृदय में व्याप्त होने पर (विषू व्याप्तौ) ये उपासक **पथिषु**=मार्गों में **स्वेदं अवजुह्वति स्म**=निश्चय से पसीने की आहुति देते हैं, अर्थात् खूब श्रमशील होते हैं 'क्रियावान् एव ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। ये उपासक खाट पर आराम से लेटे हुए नहीं होते। सो ये **ईम्**=निश्चय से **अह**=ही **अभि रुरुहुः**=इहलोक व परलोक दोनों का आरोहण करनेवाले होते हैं, वे **इव**=जैसे कि **स्वजेन्यम्**=अपने से उत्पन्न हुआ-हुआ **भूम**=पुत्र **पृष्ठा**=पिता की पीठ पर आरोहण करता है। अभ्युदय व निःश्रेयस के शिखर पर पहुँचकर ये प्रभु को प्राप्त करते हैं, प्रभु की मानों पीठ पर होते हैं, उसी प्रकार जैसे कि पुत्र पिता की पीठ पर।

भावार्थ—प्रभु का उपासक खूब श्रमशील होता है। अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करके प्रभु की पीठ पर आरूढ़ होता है, जैसे कि पुत्र पिता की पीठ पर।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रस्वादनं पितूनाम्

यं मर्त्यः॑ पुरु॒स्पृहं॑ वि॒दद्विश्व॑स्य॒ धाय॑से। प्र स्वाद॑नं पितू॒नामस्त॑तातिं चिदा॒यवे॑ ॥ ६ ॥

(१) **यम्**=जिस **पुरुस्पृहम्**=खूब ही स्पृहणीय (=चाहने योग्य) प्रभु को **मर्त्यः**=मनुष्य **विदत्**=जानता है। जब मनुष्य उस प्रभु को जानता है तो यही अनुभव करता है कि वे प्रभु **विश्वस्य धायसे**=सब के धारण के लिये होते हैं। अन्ततो गत्वा ये प्रभु ही हमारा धारण कर रहे हैं। साक्षात् देखने में तो पृथिवी माता व द्यौ पिता ही हमें वृष्टि द्वारा सब धनों को प्राप्त करा रहे हैं। परन्तु इनके अन्दर भी तो उस-उस शक्ति को रखनेवाले वे प्रभु ही हैं। सो वस्तुतः, प्रभु ही सबका धारण करते हैं। (२) वे प्रभु ही सब **पितूनाम्**=अन्नों के **प्र स्वादनम्**=प्रकृष्ट स्वाद को करनेवाले हैं 'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः'। तथा **आयवे**=गतिशील पुरुष के लिये **चित्**=निश्चय से **अस्ततातिं**=गृह का विस्तार करनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्रभु ही घर व अन्न को देकर हमें उन्नति के लिये अवसर प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार वस्तुतः प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही स्पृहणीय हैं। वे ही तो सब का धारण कर रहे हैं। धारण के लिये वे ही अन्न व घर को देते हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

उपासक का पवित्र जीवन

स हि ष्मा॒ धन्वाक्षि॑तं॒ दाता॒ न दात्या प॒शुः। हिरि॑श्मश्रुः॒ शुचि॑दन्नृ॒भुरनि॑भृष्टतविषिः ॥ ७ ॥

(१) **सः**=वह **पशुः**=सर्वद्रष्टा प्रभु **हि**=निश्चय से **दाता न**=एक खेत काटनेवाले के समान

(दाप् लावने) **आक्षितम्**=चारों ओर वासना-स्तम्बों (वासनाओं के झाड़ी झंकाड़ों) से बसे हुए (क्षि निवासे)=जिसमें वासनाओं की झाड़ियाँ ही झाड़ियाँ चारों ओर उगी हुई हैं, ऐसे **धन्व**=मरुप्रदेश को उत्तम भावनाओं के लिये ऊसर बने हुए इस हृदय क्षेत्र को **आ दाति**=चारों ओर काट डालता है। इसमें से वासनाओं को काटकर, इसे साफ बना देता है। प्रभु की उपासना हृदयक्षेत्र को पवित्र करती है। (२) अब यह उपासक (श्रनि श्रितं=श्वश्रु) **हिरिश्मश्रुः**=शरीर में रहनेवाले इन्द्रियगण, मन व बुद्धि को दीप्त करनेवाला होता है (हिरि=हिरण्य=स्वर्णवत् दीप्त)। **शुचिदन्**=पवित्र दाँतोंवाला होता है, कभी अभक्ष्य भोजनों को नहीं खाता और पूर्ण स्वस्थ होता है। **ऋभुः**=खूब ही ज्ञान से दीप्त बनता है और **अनिभृष्ट तविषिः**=शत्रुओं से अपीड़ित बलवाला होता है, इसकी शक्ति वासनाओं से आक्रान्त नहीं होती।

भावार्थ—उपासक के हृदय क्षेत्र को प्रभु पवित्र कर देते हैं। अब इस पर वासनाओं का आक्रमण नहीं हो पाता।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उपासना व स्वाध्याय

शुचिः ष्म यस्मा अत्रिवत्प्र स्वधितीव रीयते। सुषूरसूत माता क्राणा यदानशे भगम्॥ ८॥

(१) वह व्यक्ति **शुचिः**=पवित्र बनता है, **यस्मै**=जिसके लिये वे प्रभु **अत्रिवत्**=(अत्ति इति अत्रिः) सब वासनाओं को दग्ध करनेवाले के समान और **स्वधिति इव**=वासनाओं के वृक्षों को काटनेवाले परशु के समान **प्र रीयते स्म**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हैं। उपासक के जीवन को प्रभु पवित्र कर डालते हैं। (२) **माता**=वेदमाता भी **सुषूः**=उत्तम भावों को जन्म देनेवाली होती हुई **असूत**=इसके जीवन में दिव्य गुणों को जन्म देती है, **यत्**=जब कि **भगम्**=ऐश्वर्य को **क्राणा**=(कुर्वाणा) करती हुई **आनशे**=इसके जीवन में व्याप्त होती है। वेदमाता ऐश्वर्य को उत्पन्न करती हुई इस उपासक को दिव्य गुणोंवाला बनाती है।

भावार्थ—प्रभु ध्यान से सब वासनाएँ विनष्ट होती हैं। वेद के स्वाध्याय से, ज्ञान की उपासना से सब दिव्य गुणों का ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्योति-कीर्ति व स्मृति

आ यस्ते सर्पिरासुतेऽग्ने शमस्ति धायसे। ऐषु द्युम्नमुत श्रव आ चित्तं मर्त्येषु धाः॥ ९॥

(१) हे **आसुते**=चतुर्दिक् ऐश्वर्यवाले **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **ते**=तेरा **सर्पिः**=(उदकं नि० १।१२) रेतःरूप उदक है, वह **आ**=शरीर में चारों ओर व्याप्त होता हुआ **शं अस्ति**=शान्ति को देनेवाला है तथा **धायसे**=धारण के लिये है। इस रेतःरूप उदक के शरीर में रक्षण से शरीर का धारण होता है और मानस शान्ति प्राप्त होती है। (२) **एषु**=इन इस सर्पि की रक्षा करनेवाले लोगों में **द्युम्नम्**=ज्ञान की ज्योति का **आधाः**=सर्वथा धारण करिये। **उत**=और इन **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **श्रवः**=यश को धारण करिये। तथा **चित्रम्**=स्मृति शक्ति को **आधाः**=सर्वथा धारण करिये। ये लोग 'कोऽहं कुत आयातः' इस बात को भूले नहीं कि मैं 'कौन हूँ और क्यों कहाँ से आया हूँ'।

भावार्थ—शरीर में सोमरक्षण से शरीर का धारण होता है, मन की शान्ति प्राप्त होती है। ज्योति, कीर्ति व स्मृति को हम प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दस्यून्-सासह्यात्द

इति॑ चिन्म॒न्युम॒ध्रिज॒स्त्वादा॑त॒मा प॒शुं द॑दे ।
आद॑ग्ने॒ अपृ॑ण॒तोऽत्रिः॑ सासह्या॒द्दस्यू॑नि॒षः सा॑सह्या॒न्नॄन् ॥ १० ॥

(१) **इति चित्**=इस प्रकार गतमन्त्र में वर्णित सोम (सर्पि) के रक्षण के द्वारा, **अध्रिजाः**=(अधृष्यं जनयिता सा०) शत्रुओं से अधर्षणीय बल को अपने में पैदा करनेवाला यह व्यक्ति, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वादातम्**=आपसे दिये गये **मन्युम्**=ज्ञान को तथा **पशुम्**=सर्वद्रष्टा आपको **आददे**=ग्रहण करता है। सोमरक्षण से ज्ञान व प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) **आत्**=अब, ज्ञान और प्रभु को प्राप्त करने के बाद, **अत्रिः**=यह काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **अपृणतः**=न पालन करनेवाली **दस्यून्**=दास्यव वृत्तियों को **सासह्यात्**=पराभूत करता है। इसके अन्दर आसुरी वृत्तियाँ प्रबल नहीं हो पातीं। यह **इषः**=प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति **नॄन्**=आक्रमण करनेवाले शत्रुभूत व्यक्तियों को भी पराभूत करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक सोमरक्षण के द्वारा ज्ञान को व प्रभु को प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त करके दास्यव वृत्तियों को, तथा शत्रुभूत मनुष्यों को पराजित करता है।

अगले सूक्त में भी यह 'इष आत्रेय' ही अग्नि का उपासन करता हुआ कहता है कि—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ऋतायु' को प्रभु के प्रकाश की प्राप्ति

त्वाम॑ग्न ऋता॒यवः॒ समी॑धिरे प्र॒त्नं प्र॒त्नास॑ ऊ॒तये॑ सहस्कृत ।
पु॒रु॒श्च॒न्द्रं य॑ज॒तं वि॒श्वधा॑यसं॒ दमू॑नसं गृ॒हप॑तिं॒ वरे॑ण्यम् ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **प्रत्नम्**=सनातन आपको **प्रत्नासः ऋतायवः**=सनातन काल से चले आनेवाले ऋतायु लोग **ऊतये**=अपने रक्षण के लिये **समीधिरे**=अपने में सम्यक् दीप्त करते हैं। ऋत का आचरण करनेवाले ऋतायु सदा से आपको ही अपने हृदय देश में देखने का प्रयत्न करते हैं। अपने को वासनाओं के आक्रमण से बचाने का यही मार्ग है। (२) हे **सहस्कृत**=शत्रुपराभव करने की शक्ति को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! आपको ही वे समिद्ध करते हैं। जो आप **पुरुश्चन्द्रम्**=खूब ही आह्लादमय हैं, उपासकों को आह्लादित करनेवाले हैं। **यजतम्**=उपासनीय हैं। **विश्वधायसम्**=सबका धारण करनेवाले हैं। **दमूनसम्**=दान के मनवाले हैं, आप हमें सब कुछ देने की कामना करते हैं। **गृहपतिम्**=आप ही हमारे शरीर रूप गृह के रक्षक हैं। **वरेण्यम्**=वरने के योग्य हैं।

भावार्थ—जीवन की क्रियाओं को ऋतपूर्वक करने से प्रभु के प्रकाश की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अतिथि का उपदेश

त्वाम॑ग्ने॒ अति॑थिं पू॒र्व्यं विशः॑ शो॒चिष्के॑शं गृ॒हप॑तिं॒ नि षे॑दिरे ।
बृ॒हत्के॑तुं पु॒रुरू॑पं धन॒स्पृतं॑ सु॒शर्मा॑णं॒ स्वव॑सं जर॒द्विष॑म् ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अतिथिम्**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर क्रियाशील **त्वाम्**=आपको **विशः**=सब प्रजाएँ **निषेदिरे**=अपने हृदय देश में बिठाने के लिये यत्नशील होती हैं। उन आपको,

जो कि **पूर्व्यम्**=हमारा पालन व पूरण करनेवालों में सर्वोत्तम हैं अथवा सृष्टि से पहिले ही होनेवाले हैं। **शोचिष्केशम्**=दीप्त ज्ञान-रश्मियोंवाले हैं। **गृहपतिम्**=हमारे गृहों के रक्षक हैं। (२) उन आपको हम हृदय में स्थापित करते हैं, जो आप **बृहत्केतुम्**=खूब बढ़े हुए ज्ञानवाले हैं, निरतिशय ज्ञानवाले हैं। **पुरुरूपम्**=अनन्त रूपोंवाले हैं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' सब प्राणी आपके ही तो रूप हैं। **धनस्पृतम्**=सब धनों के देनेवाले हैं (स्पृ=grant)। **सुशर्माणम्**=आवश्यक धनों को देकर उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले हैं, **स्ववसम्**=(सु-अवसं) खूब अच्छी प्रकार रक्षण करनेवाले हैं और **जरद्विषम्**=व्यापक ज्ञानों का (विष्) उपदेश देनेवाले हैं (जरत्)। वस्तुतः इस ज्ञानोपदेश द्वारा ही प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—हम उस अतिथि प्रभु को हृदयासन पर बिठायें। वे हमें व्यापक ज्ञानोपदेश देकर सुख व कल्याण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'होत्राविद्-सुयज' प्रभु

त्वामग्ने मानुषीरीळते विशो होत्राविदं विविचिं रत्नधातमम्।
गुहा सन्तं सुभग विश्वदर्शतं तुविष्वणसं सुयजं घृतश्रियम्॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वाम्**=आपको **मानुषीः विशः**=विचारशील प्रजाएँ **ईडते**=उपासित करती हैं उन आपको जो कि **होत्राविदम्**=शरीर-यज्ञ के संचालक सात होताओं को प्राप्त कराते हैं 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'। **विविचिम्**=हृदयस्थरूपेण इन प्रजाओं के लिये सद्-असद् के विवेचक हैं, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान देनेवाले हैं। **रत्नधातमम्**=रसरुधिर आदि रमणीय धातुओं के धारण करनेवाले हैं। (२) **सुभग**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभो! उन आपको ये विचारशील लोग उपासित करते हैं, जो आप **गुहा सन्तम्**=हृदयरूप गुहा के अन्दर निवास करनेवाले हैं। **विश्व-दर्शतम्**=सब से दर्शनीय हैं व सबके द्रष्टा हैं। **तुविष्वणसम्**=महान् स्वनोंवाले हैं, हृदयस्थरूपेण सदा धर्माधर्म की प्रेरणा देनेवाले हैं। **सुयजम्**=सब उत्तम चीजों का हमारे साथ मेल करनेवाले हैं और **घृतश्रियम्**=दीप्त ज्ञान की श्रीवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु सब उत्तम चीजों का हमारे साथ मेल करनेवाले हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यशसा-सुदीतिभिः

त्वामग्ने धर्णसिं विश्वधा वयं गीर्भिर्गृणन्तो नमसोप सेदिम।
स नो जुषस्व समिधानो अङ्गिरो देवो मर्तस्य यशसा सुदीतिभिः॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वयम्**=हम **धर्णसिम्**=सबके धारक **त्वाम्**=आपको **विश्वधा**=सब प्रकार से **गीर्भिः गृणन्तः**=ज्ञान की वाणियों से स्तुत करते हुए **नमसा उपसेदिम**=नमन के द्वारा समीप प्राप्त हों। नम्रतापूर्वक आपकी उपासना करनेवाले बनें। (२) हे **अंगिरः**=गतिशील प्रभो! **समिधानः**=हृदयदेश में दीप्त किये जाते हुए **सः**=वे आप **नः जुषस्व**=हमें उत्तम धनादि से सेवित करिये आपकी कृपा से हम धन आदि पदार्थों को प्राप्त करें। **देवः**=प्रकाशमय आप **मर्तस्य**=मनुष्य के **यशसा**=यश से व **सुदीतिभिः**=(दीति splendour) उत्तम प्रकाशों से हमें संगत करिये। मनुष्य से प्राप्य यश व उत्तम ज्ञानदीप्तियों को हम प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु के समीप नम्रता से बैठें। प्रभु हमें यशस्वी व ज्ञानदीप्त बनायेंगे।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनाधृष्ट त्विषि

त्वम॑ग्ने पुरुरूपो॑ विशेवि॑शे वयो॑ दधासि प्र॒त्नथा॑ पुरुष्टुत।
पुरूण्यन्ना॒ सह॑सा॒ वि रा॑जसि॒ त्विषि॒: सा ते॑ तित्विषा॒णस्य॒ नाधृषे॑ ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **पुरुरूपः**=अनन्तरूपोंवाले हैं, विश्वरूप हैं। हे **पुरुष्टुत**=खूब ही स्तुति किये गये प्रभो! आप **प्रत्नथा**=सदा की तरह **विशे विशे**=सब प्रजाओं के लिये **वयः दधासि**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं। (२) **सहसा**=बल के हेतु से **पुरूणि अन्ना**=पालक व पूरक अन्नों के **विराजसि**=आप राजा होते हैं। बल प्राप्ति के लिये हमें उत्कृष्ट अन्नों को प्राप्त कराते हैं और **तित्विषाणस्य**=अत्यन्त दीप्तिवाले **ते**=आपकी **सा त्विषिः**=वह दीप्ति **न आधृषे**=धर्षण के लिये नहीं होती। आपकी दीप्ति किसी अन्य देव से अतिशयित नहीं की जा सकती। वस्तुतः सब देव आपकी दीप्ति से ही दीप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये उत्कृष्ट अन्नों व ज्ञानदीप्तियों को प्राप्त कराके हमारे जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

चक्षुः-चोदयन्मति

त्वाम॑ग्ने स॒मिधा॒नं य॑विष्ठ्य दे॒वा दू॒तं च॑क्रिरे हव्य॒वाह॑नम्।
उ॒रु॒ज्रय॑सं घृ॒तयो॑नि॒माहु॑तं त्वे॒षं चक्षु॑र्दधिरे चो॒दय॑न्मति ॥ ६ ॥

(१) हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को हमारे से दूर करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे से मिलानेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **त्वां चक्रिरे**=आपको ही अपने हृदयों में स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। जो आप **समिधानम्**=सम्यग् ज्ञान से दीप्त हैं, **दूतम्**=ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करानेवाले हैं, **हव्यवाहनम्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। (२) आपको विद्वान् पुरुष **चक्षुः दधिरे**=आँख के रूप में धारण करते हैं, आपके द्वारा ही प्रकाश को प्राप्त करते हैं। जो आप **उरुज्रयसम्**=बड़े वेगवाले हैं। **घृतयोनिम्**=ज्ञानदीप्ति के उत्पत्ति-स्थान हैं। **आहुतम्**=चारों ओर दानोंवाले हैं (आ हुतं यस्य) **त्वेषम्**=दीप्त हैं तथा **चोदयन्मति**=हमारी बुद्धियों को प्रेरणा देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान-सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं, प्रभु ही हमारी आँख हैं, हमारी बुद्धियों को सत्प्रेरणा देनेवाले हैं।

ऋषिः—**इष आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रदिवः-सुम्नायवः

त्वाम॑ग्ने प्र॒दिव॒ आहु॑तं घृ॒तैः सु॑म्ना॒यव॑: सुष॒मिधा॒ समी॑धिरे।
स वा॑वृधा॒न ओष॑धीभिरु॒क्षि॒तो॒३॒॑ऽभि ज्रयां॑सि॒ पार्थि॑वा॒ वि ति॑ष्ठसे ॥ ७ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **आहुतम्**=चारों ओर दानोंवाले **त्वाम्**=आपको **प्रदिवः**=प्रकृष्ट द्युतिवाले, **सुम्नायवः**=स्तोत्रों को अपनाने की कामनावाले उपासक **सुषमिधा**=उत्तम ज्ञान दीप्ति के द्वारा **समीधिरे**=अपने अन्दर समिद्ध करते हैं। प्रभु-दर्शन का उपाय 'ज्ञान-स्तवन' ही है। (२)

हे प्रभो! **सः**=वे आप **वावृधानः**=खूब ही हमारा वर्धन करते हुए, **ओषधीभिः उक्षितः**=ओषधियों के द्वारा हृदयों में सिक्त हुए-हुए (प्रभु-दर्शन के लिये वानस्पतिक भोजन ही ठीक है) **पार्थिवा ज्रयांसि**=सब पृथिवी सम्बन्धी विजयों के (ज्रि=to conquer) **अभि वि तिष्ठसे**=अधिष्ठाता होते हैं। अर्थात् आपके द्वारा ही सब पार्थिव विजयें प्राप्त होती हैं। इस पृथ्वीरूप शरीर में होनेवाली सब विजयें आप ही करते हैं 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्'।

भावार्थ—ज्ञान व स्तवन के समन्वय से हम प्रभु को हृदयों में समिद्ध करें। प्रभु प्राप्ति के वानस्पतिक भोजनों को अपनाएँ। प्रभु ही हमें सब विजयों को प्राप्त करायेंगे।

इस सूक्त के सातों मन्त्र 'त्वामग्ने' इस प्रकार प्रारम्भ होते हैं। केवल पञ्चम मन्त्र का 'त्वमग्ने' इस प्रकार प्रारम्भ हुआ है।

प्रभु के उपासन से यह उपासक प्राणशक्ति-सम्पन्न बनता है, सो 'गय' है यह 'आत्रेय' तो है ही, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ। यह कहता है कि—

अथ चतुर्थाऽष्टके प्रथमोऽध्यायः

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

जातवेदस् प्रभु की उपासना

त्वाम॑ग्ने ह॒विष्म॑न्तो दे॒वं मर्ता॑स ईळते। मन्ये॑ त्वा जा॒तवे॑दसं॒ स ह॒व्या व॑क्ष्यानु॒षक्॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **देवं त्वाम्**=प्रकाशमय आपको **हविष्मन्तः**=हविवाले, दानपूर्वक अदन करनेवाले, यज्ञशेष का सेवन करनेवाले, **मर्तासः**=लोग **ईडते**=उपासित करते हैं। प्रभु की सच्ची उपासना वे ही करते हैं, जो कि हवि का सेवन करते हैं। (२) हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वैश्वर्यवाला (वेदस=धन) **मन्ये**=मानता हूँ। **सः**=वे आप **आनुषक्**=निरन्तर **हव्या**=हव्य पदार्थों को **वक्षि**=धारण करते हैं। हमारे लिये यज्ञ के साधनभूत सब पदार्थों को आप ही प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वज्ञ सर्वैश्वर्यवाले हैं। यज्ञशेष का सेवन करनेवाले लोग ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। इन हव्य पदार्थों को भी प्रभु ही तो प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'यज्ञासः वाजासः श्रवस्यवः' (कैसा घर?)

अ॒ग्निर्होता॒ दास्व॑तः॒ क्षय॑स्य वृ॒क्तब॑र्हिषः। सं य॒ज्ञास॒श्चर॑न्ति॒ यं सं वाजा॑सः श्र॒व॒स्यवः॑॥ २॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **दास्वतः**=(दसु उपक्षये) जिसमें से सब बुराइयों का उपक्षय कर दिया गया है अथवा (दास् दाने) दानवाले, जिसमें निरन्तर दान चलता है, **वृक्तबर्हिषः**=जिसमें से वासनाओं के बर्हि (घास) को काट दिया गया है, ऐसे वासनाशून्य **क्षयस्य**=गृह के **होता**=दाता हैं। प्रभु कृपा से हमारा घर दान की वृत्तिवाला व वासनाशून्य बनता है। (२) उस घर को प्रभु देते हैं **यम्**=जिसकी ओर **यज्ञासः**=यज्ञ **संचरन्ति**=गति करते हैं, **वाजासः**=शक्तियाँ **सम्**=गति करती हैं तथा **श्रवस्यवः**=ज्ञान की कामनावाले पुरुष गति करते हैं। इन गृहों के अन्दर रहनेवाले व्यक्ति शरीर में शक्ति-सम्पन्न (वाजासः) हृदयों में यज्ञ की भावनावाले (यज्ञासः) तथा दीप्त मस्तिष्कवाले (श्रवस्यवः) होते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा घर वासनाओं से मलिन नहीं होता। यहाँ 'यज्ञों, शक्तियों व

ज्ञानों' का निवास होता है।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

दो अरणियों द्वारा प्रभु रूप अग्नि का प्रकाश

उत स्म यं शिशुं यथा नवं जनिष्टारणी। धर्तारं मानुषीणां विशामग्निं स्वध्वरम्॥ ३॥

(१) **उत**=और उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित घरों में रहकर, हम उस परमात्मा की उपासना करें, **यम्**=जिसको **अरणी**=देह व प्रणवरूप अरणियाँ (स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं प्रोत्तरारणिं ध्याननिर्मथनाभ्यासात् पश्येद्देवं निगूढवत्) उसी प्रकार **जनिष्ट**=उत्पन्न करती हैं **यथा**=जैसे माता-पिता रूप अरणियाँ **नवं शिशुम्**=एक नव शिशु को। अथवा जैसे दो काष्ठरूप अरणियाँ इस स्तुत्य शिशु रूप अग्नि को (नु स्तुतौ)। प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करने के लिये शरीर में स्वास्थ्य की सबलता आवश्यक है तथा हृदय में प्रभु के ध्यान की आवश्यकता है। (२) हम उस प्रभु का ध्यान करें जो कि **मानुषीणां विशाम्**=मानव प्रजाओं के **धर्तारम्**=धारण करनेवाले हैं। **अग्निम्**=आगे ले चलनेवाले हैं तथा **स्वध्वरम्**=हमारे जीवन से उत्तम यज्ञात्मक कर्मों को करानेवाले हैं।

भावार्थ—शक्ति व ध्यान के द्वारा हम प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करें। वे प्रभु पोषक अग्रणी व उत्तम यज्ञादि को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

पुत्रो न ह्वार्याणाम्

उत स्म दुर्गृभीयसे पुत्रो न ह्वार्याणाम्। पुरू यो दग्धासि वनाग्ने पशुर्न यवसे॥ ४॥

(१) **उत**=और हे प्रभो! आप **दुर्गृभीयसे स्म**=बड़ी कठिनता से ग्रहण किये जाते हैं। आपको प्राप्त करने के लिये 'दीर्घकाल तक, निरन्तर आदरपूर्वक' ध्यान के अभ्यास की आवश्यकता है। आप **ह्वार्याणाम्**=कुटिल गतिवालों के **पुत्रः न**=पुत्र के समान हैं, उन कुटिल गतिवालों को 'पुनाति त्रायते' पवित्र करते हैं और उनका रक्षण करते हैं। प्रभु-स्मरण से चित्त की सब वक्रता विनष्ट हो जाती है ब्रह्मभूत (भू प्राप्तौ) पुरुष सरल वृत्ति का हो जाता है। (२) हे प्रभो! **यः**=जो आप हैं, वे **पुरू**=खूब ही **दग्धा असि**=वासनावृक्षों के वनों को जलानेवाले हैं। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **पशुः न**=सर्वद्रष्टा के समान होते हुए **यवसे**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) हमारी बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को मिलानेवाले होते हैं।

भावार्थ—ये कठिनता से प्राप्त होनेवाले प्रभु हमारी कुटिलताओं को दूर करते हैं, वासनाओं को जलाते हैं तथा हमारे साथ अच्छाइयों का मिश्रण करते हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

धूमिनः अर्चयः

अध स्म यस्यार्चयः सम्यक्संयन्ति धूमिनः।
यदीमह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति शिशीते ध्मातरी यथा॥ ५॥

(१) **यद्**=जब **ईं अह**=निश्चय से **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **उपध्माता इव**=शंख ध्वनि करनेवाले के समान **धमति**=प्रभु के नामों को ध्वमित करता है और **यथा ध्मातरि**=ध्माता में, अग्नि संयोग करनेवाले लोहार में, लोहार के समीप कोई अस्त्र अपने को तीक्ष्ण करता है उसी प्रकार जो प्रभु में, प्रभु की उपासना में **शिशीते**=अपनी बुद्धि को तीव्र करता है, **अध**=तो **यस्य अर्चयः**=जिस प्रभु की ज्ञान ज्वालाएँ

धूमिनः=वासनाओं को प्रकम्पित करनेवाली हैं वे ज्वालाएँ उसे सम्यक् **संयन्ति स्म**=सम्यक् प्राप्त होती हैं। (२) हम प्रभु के नामों का उच्चारण करें, प्रभु की उपासना से बुद्धि को तीव्र करें तो प्रभु की वे ज्ञान-ज्वालाएँ हमें प्राप्त होंगी जो कि हमारी वासनाओं को कम्पित करनेवाली हैं। ये ज्ञान ज्वालाएँ ही वासनाओं को विनष्ट करके हमें त्रित बनायेंगी।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञान ज्वालाएँ वासनाओं को कम्पित करनेवाली हैं। हम प्रभु-स्मरण द्वारा बुद्धि को तीव्र करके इन्हें प्राप्त करें। ये हमें त्रित बनायेंगी, काम-क्रोध-लोभ को तैर जानेवाला।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वाह्याभ्यन्तर शत्रु विजय

तवाहमग्न ऊतिभिर्मित्रस्य च प्रशस्तिभिः। द्वेषोयुतो न दुरिता तुर्याम मर्त्यानाम्॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अहम्**=मैं **तव**=आपकी **ऊतिभिः**=रक्षाओं से **च**=और **मित्रस्य**=पापों से बचानेवाले आपके प्रशंसनों व स्तवनों से **मर्त्यानां दुरिता**=मनुष्यों के दुरितों से **तुर्याम**=तैर जाऊँ। उन सब दोषों से अपने को ऊपर उठानेवाला बनूँ, जो कि मानव स्वभाव में सुलभ हैं। (२) मैं इन दुरितों से इसी प्रकार तैर जाऊँ **न**=जैसे कि **द्वेषोयुतः**=द्वेष युक्त जनों को तैर जाऊँ। द्वेष करनेवालों के द्वेष का मैं शिकार न हो जाऊँ।

भावार्थ—प्रभु के रक्षणों व स्तवनों से हम अन्दर के शत्रुभूत दुरितों से तथा बाह्यशत्रुभूत द्वेषी जनों से तैर जायें। न अन्दर के शत्रुओं का शिकार हों और ना ही बाहर के शत्रुओं का।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स क्षेपयत्-स पोषयत्

तं नो अग्ने अभी नरो रयिं सहस्व आ भर।
स क्षेपयत्स पोषयद्भुवद्वाजस्य सातय उतैधि पृत्सु नो वृधे॥ ७॥

(१) हे **सहस्वः**=शत्रुमर्षक बल-सम्पन्न **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **नरः**=हमें उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले आप (नृ नये) **नः**=हमारे लिये **तम्**=उस **रयिम्**=धन को **अभि**=आभिमुख्येन **आभर**=प्राप्त कराइये। इस रयि के द्वारा ही हमारी जीवन-यात्रा को आपने सफल बनाना है। (२) इस रयि को प्राप्त करानेवाले **सः**=वे प्रभु ही **क्षेपयत्**=सब अमंगलों को हमारे से दूर करते हैं, **स पोषयत्**=वे प्रभु सब पोषणों को हमें प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु **वाजस्य**=शक्ति की **सातये**=प्राप्ति के लिये **भुवत्**=होते हैं। **उत**=और हे प्रभो! आप **पृत्सु**=संग्रामों में **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिये **एधि**=होइये।

भावार्थ—प्रभु हमें वह रयि प्राप्त कराते हैं जिससे कि अमंगल दूर होता है, पोषण प्राप्त होता है, शक्ति बढ़ती है और संग्रामों में विजय प्राप्त होती है।

'गय आत्रेय' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है। वह प्रार्थना करता है कि—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ओजिष्ठ द्युम्न

अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो। प्र नो राया परीणसा रत्सि वाजाय पन्थाम्॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=हमें निरन्तर आगे ले चलनेवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये इस जीवन के

प्रथम प्रयाण में **ओजिष्ठम्**=ओजस्वितम-अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न **द्युम्नम्**=ज्ञान-ज्योति को **आभर**=भरिये, प्राप्त कराइये। इस ब्रह्मचर्याश्रम में हम शक्ति व ज्ञान का संचय करके अपने जीवन-गगन में शुक्र व बृहस्पति नक्षत्रों का उदय करनेवाले बनें। (२) अब जीवन के द्वितीय प्रयाण में, हे **अध्रिगो**=अधृतगमन प्रभो! अव्याहत गतिवाले प्रभो! **नः**=हमें **परीणसा**=(परितो व्यापकेन) यज्ञादि के द्वारा सर्वत्र फैलनेवाले **राया**=धन से भरिये। गृहस्थ में धन-सम्पन्न हों। पर हमारा धन यज्ञों द्वारा चारों ओर फैलनेवाला हो। (३) हे प्रभो! अब जीवन के तृतीय प्रयाण में आप **वाजाय**=(sacrifice) त्याग के लिये **पन्थां रत्सि**=मार्ग को बना देते हैं। हम वानप्रस्थ बनकर सांसारिक वस्तुओं के त्याग के लिये प्रवृत्त होते हैं। इस त्याग के पूर्ण होने पर संन्यस्त होकर प्रभु चरणों में निवासवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम जीवन-यात्रा में प्रथम ओजयुक्त ज्ञान का संचय करें, फिर यज्ञों में विनियुक्त होनेवाले धन का। अब तृतीय प्रयाण में इन धनों का त्याग करके आगे बढ़ें।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'सम्पूर्ण शक्ति के स्रोत' प्रभु

त्वं नो अग्ने अद्भुत क्रत्वा दक्षस्य मंहना। त्वे असुर्य१मारुहत्क्राणा मित्रो न यज्ञियः ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **क्रत्वा**=कर्म के अनुसार अथवा यज्ञादि कर्मों के करने के हेतु से **दक्षस्य मंहना**=बल के दानों को **क्राणा**=(कुर्वाणः) करते हुए हैं। आप हमें शक्ति प्रदान करते हैं कि हम यज्ञादि कर्मों को कर सकें। (२) हे **अद्भुत**=सामर्थ्य के अतिशय से सब के लिये आश्चर्यभूत प्रभो! **त्वे**=आप में ही **असुर्यम्**=सब बल **आरुहत्**=आरूढ़ हुआ है। आप ही सम्पूर्ण शक्ति के स्रोत हैं, सर्वत्र आपसे ही शक्ति का प्रसार हो रहा है। **मित्रः न**=सूर्य की तरह आप **यज्ञियः**=आप संगतिकरण योग्य हैं। सूर्य के सम्पर्क में रोग व अन्धकार नष्ट होता है। प्रभु भी उपासक के रोगों व अज्ञानान्धकारों के विनाशक हैं।

भावार्थ—सब यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिये प्रभु ही शक्ति देते हैं। प्रभु में ही सम्पूर्ण शक्ति का निवास है। वे सूर्य हैं, हमारे रोगों व अन्धकारों को दूर करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

गय-पुष्टं-मघ

त्वं नो अग्न एषां गयं पुष्टिं च वर्धय। ये स्तोमेभिः प्र सूरयो नरो मघान्यानशुः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **एषां नः**=इन हमारे **गयम्**=प्राणों को **च**=व **पुष्टिम्**=धनादि के पोषण को **वर्धय**=बढ़ाइये। प्रभु कृपा से ही प्राणशक्ति व धन की वृद्धि होती है। (२) **ये**=जो **सूरयः नरः**=ज्ञानी पुरुष हैं वे **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **मघानि**=ऐश्वर्यों को **प्र आनशुः**=प्रकर्षेण व्याप्त करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए ये ज्ञानी वास्तविक ऐश्वर्यों को, अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए 'प्राणशक्ति, धनपुष्टि व अध्यात्म ऐश्वर्य' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

स्तुति के लाभ

ये अग्ने चन्द्र ते गिरः शुम्भन्त्यश्वराधसः ।
शुष्मेभिः शुष्मिणो नरो दिवश्चिद्येषां बृहत्सुकीर्तिर्बोधति त्मना ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी **चन्द्र**=सब के आह्लाद को करनेवाले प्रभो! **ये**=जो व्यक्ति **ते**=आपकी **गिरः**=स्तुति-वाणियों को **शुम्भन्ति**=शोभन करते हैं, अर्थात् खूब ही आपका स्तवन करते हैं, वे **अश्वराधसः**=अपने इन्द्रियाश्वों को खूब ही संसिद्ध करनेवाले होते हैं। (२) ये स्तोता **नरः**=पुरुष **शुष्मेभिः**=शत्रु शोषक बलों से **शुष्मिणः**=बलवाले होते हैं। ये वे होते हैं, **येषाम्**=जिनकी **सुकीर्तिः**=उत्तम कीर्ति **दिवः चित्**=द्युलोक से भी **बृहत्**=बड़ी होती है, इनकी कीर्ति दिशाओं से अवच्छिन्न नहीं होती। इन लोगों का प्रभु **त्मना**=स्वयं **बोधति**=ध्यान करते हैं। जो व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को वश में करके मार्ग पर बढ़ते हैं, प्रभु से वे रक्षणीय होते ही हैं।

भावार्थ—स्तुति से (१) इन्द्रियाश्वों का वशीकरण होता है, (२) शत्रु शोषक बल प्राप्त होता है, (३) हम यशस्वी कर्मोंवाले बनते हैं, (४) प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु की ज्ञान-ज्वालाएँ

तव त्ये अंग्ने अर्चयो भ्राजन्तो यन्ति धृष्णुया। परिज्मानो न विद्युतः स्वानो रथो न वाजयुः ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तव**=आपकी **त्ये**=वे प्रसिद्ध **अर्चयः**=ज्ञान-दीप्तियाँ **भ्राजन्तः**=चमकती हुईं **यन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। ये ज्ञान-ज्वालाएँ **धृष्णुया**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाली हैं। इनमें काम आदि का दहन हो जाता है। (२) ये ज्ञान ज्वालाएँ **परिज्मानः**=चारों ओर गतिवाली **विद्युतः न**=विद्युतों के समान हैं। जैसे विद्युत् अन्धकार को चीरती हुई प्रकाश को करनेवाली होती है, इसी प्रकार ये ज्ञान-ज्वालाएँ अविद्यान्धकार को विलुप्त करनेवाली हैं। **वाजयुः**=संग्राम में विजय की कामनावाले **स्वानः रथः न**=शब्द युक्त रथ की तरह ये ज्ञान-ज्वालाएँ हैं। जैसे रथ शब्द करता हुआ संग्राम में आगे बढ़ता है और विजय को प्राप्त कराता है, इसी प्रकार ये ज्ञान-ज्वालाएँ, ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करती हुईं, हमें जीवन-संग्राम में विजयी बनाती है।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञान-ज्वालाएँ अज्ञानान्धकार को दूर करती हैं, जीवन-संग्राम में विजयी बनाती हैं।

ऋषिः—**गय आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

इच्छाओं से ऊपर

नू नो अग्न ऊतये सबाधसश्च रातये। अस्माकासश्च सूरयो विश्वा आशास्तरीषणि ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नु**=अब **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिये होइये। **च**=और **सबाधसः**=दारिद्र्यजनित दुःखों के बाधन से युक्त धनों के **रातये**=दान के लिये होइये। (२) **च**=और **अस्माकासः**=हमारे ये **सूरयः**=विद्वान् पुरुष **विश्वा आशाः**=सब आशाओं को, इच्छाओं को **तरीषणि**=तैरने में समर्थ हों। सब आशाओं से ऊपर उठकर ही वास्तविक सुख का लाभ होता है। इन आशाओं से ऊपर उठना तभी होता है, जब कि हम प्रभु-दर्शन कर पाते हैं 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों, प्रथमाश्रम में प्रभु-रक्षण में हम शक्ति व ज्ञान का संचय करें। द्वितीयाश्रम में प्रभु हमें दारिद्र्य दुःखनिवारक धनों को दें। तृतीय में हम इच्छाओं से ऊपर उठने की साधना करें।

ऋषिः—गय आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

विभ्वासह रयिं, स्तवन-सामर्थ्य, संग्राम-विजय

त्वं नो अग्ने अङ्गिरः स्तुतः स्तवान आ भर।
होतर्विभ्वासहं रयिं स्तोतृभ्यः स्तवसे च न उतैधि पृत्सु नो वृधे॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी, **अंगिरः**=अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले प्रभो! **स्तुतः**=पूर्वकाल में स्तुति किये गये **स्तवानः**=वर्तमान में स्तुति किये जाते हुए **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=रयि को, धन को **आभर**=प्राप्त कराइये। हे **होतः**=सर्वप्रद प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिये **विभ्वासहम्**=(विभु-आसहं) व्यापक-व्यापक हित करनेवाले, अधिक से अधिक लोगों के हित में विनियुक्त होनेवाले को दीप्ति तथा सब कष्टों का पराभव करनेवाले धन को दीजिये। (२) **च**=और **नः**=हमारे लिये **स्तवसे**=स्तवन के सामर्थ्य को **एधि**=प्राप्त कराइये, हमारे स्तवन सामर्थ्य के लिये होइये। **उत**=और इस प्रकार **पृत्सु**=संग्रामों में **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिये होइये। प्रभु-स्तवन द्वारा हमें वह सामर्थ्य प्राप्त हो, जिससे कि हम सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पराभूत कर पायें।

भावार्थ—प्रभु हमें लोकहित में विनियुक्त होनेवाले धन को, स्तुति-सामर्थ्य को और संग्राम-विजय को प्राप्त करायें।

सूचना—पूर्वार्ध में प्रार्थित रयि ऐहलौकिक संग्राम में हमें विजयी बनाती है और उत्तरार्ध में प्रार्थित स्तवन-सामर्थ्य हमें पारलौकिक (अध्यात्म) संग्राम में विजयी करता है।

यहाँ 'विम्वाविभर्ति' यज्ञों से औरों का पोषण करता है, सो 'सुतम्भर' कहलाता है। यह आत्रेय तो है ही, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ। यह प्रार्थना करता है कि—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

जनस्य गोपा

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः॥ १॥

(१) **जनस्य**=मनुष्य का **गोपाः**=रक्षक **जागृविः**=जागरणशील सदा प्रबुद्ध, **अग्निः**=अग्रणी **सुदक्षः**=उत्तम बलवाला, वह प्रभु **नव्यसे**=अत्यन्त प्रशंसनीय **सुविताय**=कल्याण के लिये **अजनिष्ट**=होता है। ये प्रभु मनुष्य का कल्याण करते हैं। (२) **घृतप्रतीकः**=दीप्त अंगोंवाला, अर्थात् सर्वतो दीप्त **शुचिः**=पवित्र प्रभु **भरतेभ्यः**=अपने कर्त्तव्य कर्मों का भरण करनेवालों के लिये **बृहता**=अत्यन्त बढ़ी हुई **दिविस्पृशा**=द्युलोक को स्पर्श करनेवाली, सर्वत्र व्याप्त दीप्ति से **द्युमत्** **विभाति**=खूब ज्योतिर्मय होकर चमकते हैं। भरत लोग आपको प्रकाशमय रूप में देखते हैं।

भावार्थ—प्रभु सदा जागरूक रक्षक हैं। अपना कर्त्तव्यभार उठानेवालों के लिये ये प्रकाशमय रूप में प्रकट होते हैं।

ऋषिः—सुतम्भर आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

यज्ञस्य होता

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समीधिरे।
इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः॥ २॥

(१) **यज्ञस्य केतुम्**=यज्ञों के प्रकाशक, यज्ञों का वेदमुखेन उपदेश देनेवाले 'यज्ञस्य देवम्', **प्रथमम्**=सर्वत्र विस्तृत-सर्वव्यापक **पुरोहितम्**=हमारे सामने आदर्श के रूप में विद्यमान **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **त्रिषधस्थे**='ज्ञान-कर्म-उपासना' तीनों के (त्रि) मिलकर (षध) ठहरने के स्थान (स्थ) शरीर में **समीधिरे**=समिद्ध करते हैं। ज्ञान, कर्म, उपासना का समन्वय करके प्रभु को अपने अन्दर दीप्त करते हैं। (२) **इन्द्रेण**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव तथा **देवैः**=इन्द्रियों के साथ **सरथम्**=समान रथ में **सः**=वे **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा व उत्तम शक्तिवाले प्रभु **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **निसीदत्**=निषण्ण होते हैं और **यजथाय**=इस जीवनयज्ञ के संचालन के लिये **होता**=होता होते हैं, सब आवश्यक सामग्री को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान, कर्म व उपासना के समन्वय से प्रभु का दर्शन होता है। जब हम इन्द्र (जितेन्द्रिय) बनते हैं, इन्द्रियों को प्रकाशमय (देव) बनाते हैं, तो प्रभु हमारे हृदयों में आसीन होकर जीवनयज्ञ को चलाते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

असम्मृष्टः-मात्रोः शुचिः

असंमृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर्मन्द्रः कविरुदतिष्ठो विवस्वतः।
घृतेन त्वावर्धयन्नग्न आहुत धूमस्ते केतुरभवद्दिवि श्रितः ॥ ३ ॥

(१) **असंमृष्टः**=किसी से शुद्ध न किये गये, स्वयं सदा से शुद्ध, हे प्रभो! आप **जायसे**=प्रादुर्भूत होते हैं। **मात्रोः शुचिः**=आप ही द्यावापृथिवी के शोधक हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को वे प्रभु शुद्ध करनेवाले हैं, वे किसी से शुद्ध नहीं किये जाते। **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप हैं। **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ हैं, सर्वज्ञ हैं। आप **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणोंवालों से **उदतिष्ठः**=उत्थित होते हैं। ज्ञान की किरणोंवाला ही आपको हृदयदेश में देखता है। (२) हे **आहुत**=चारों ओर दानोंवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति से ही उपासक **त्वा**=आपको **अवर्धयन्**=अपने में बढ़ाते हैं। हे प्रभो! **दिवि श्रितः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आश्रित हुआ-हुआ **ते केतुः**=आपका ज्ञान, आपसे दिया गया ज्ञान **धूमः**=सब वासनाओं को कम्पित करनेवाला **अभवत्**=होता है। ज्ञान से वासनाएँ विनष्ट होती हैं।

भावार्थ—प्रभु स्वयं पवित्र हैं, हमें पवित्र करनेवाले हैं। ज्ञान से प्रभु का प्रकाश होता है। प्रभु का ज्ञान वासनाओं को कम्पित करनेवाला है।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु वरण से प्रज्ञा व शक्ति की प्राप्ति

अग्निर्नो यज्ञमुप वेतु साधुयाग्निं नरो वि भरन्ते गृहेगृहे।
अग्निर्दूतो अभवद्धव्यवाहनोऽग्निं वृणाना वृणते कविक्रतुम् ॥ ४ ॥

(१) **साधुया**=सब पुरुषार्थों का साधक (साध्नोति) **अग्निः**=वह प्रभु **नः**=हमारे **यज्ञम्**=इस यज्ञ को **उपवेतु**=प्राप्त हो। प्रभु-कृपा से ही तो यज्ञ की पूर्ति होती है। **अग्निम्**=इस अग्रणी प्रभु को ही **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **गृहे गृहे**=प्रत्येक घर में **विभरन्ते**=धारण करते हैं। वस्तुतः इस प्रभु के धारण से ही वे अपने गृह का धारण करते हैं। (२) यह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **दूतः**=ज्ञान सन्देश को प्राप्त करानेवाला **अभवत्**=होता है। यही **हव्यवाहनः**=सब यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। **अग्निं वृणानाः**=इस अग्रणी प्रभु का वरण करते हुए ये उपासक **कविक्रतुं वृणते**=उस क्रान्तप्रज्ञ शक्तिशाली प्रभु का वरण करते हैं। अर्थात् प्रज्ञा और शक्ति को अपने अन्दर

धारण करनेवाले होते हैं। प्रभु के वरण से यश व शक्ति प्राप्त होती है। प्रकृति का वरण अधिक से अधिक धन को देनेवाला होता है, न प्रज्ञा का न शक्ति का। सो नर मनुष्य प्रभु का ही वरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण होते हैं। हम प्रभु का वरण करेंगे तो ज्ञान और शक्ति को प्राप्त कर रहे होंगे।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्तुति से शान्ति की प्राप्ति व बल की वृद्धि

तुभ्येदमग्ने मधुमत्तमं वचस्तुभ्यं मनीषा इयमस्तु शं हृदे।
त्वां गिरः सिन्धुमिवावनीर्महीरा पृणन्ति शवसा वर्धयन्ति च ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तुभ्य**=आपके लिये ही **इदम्**=यह **मधुमत्तमं वचः**=अत्यन्त मधुर वचन बोला जाता है। हम अत्यन्त मधुर शब्दों में आपका स्तवन करते हैं। **तुभ्य**=आपके लिये ही **मनीषा**=बुद्धिपूर्वक की गयी यह स्तुति है। **इयम्**=यह **हृदे**=हृदय के लिये **शं अस्तु**=शान्ति को देनेवाली हो। (२) यह **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **त्वाम्**=आपको ही **आपृणन्ति**=(आपूरयन्ति) भरती हैं, आपकी ओर ही आती हैं, **इव**=जैसे कि **महीः अवनीः**=बड़ी-बड़ी नदियाँ **सिन्धुम्**=समुद्र को आपूरित करनेवाली होती हैं। **च**=और ये स्तुतियाँ **शवसा**=बल के द्वारा **वर्धयन्ति**=हमें बढ़ाती हैं। प्रभु-स्तवन से स्तोता का बल बढ़ता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हृदय को शान्ति प्राप्त होती है और स्तोता का बल बढ़ता है।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सहो महत्

त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **गुहाहितम्**=हृदयरूप गुहा में स्थापित **त्वाम्**=आपको ये उपासक **अन्वविन्दन्**=प्राप्त करते हैं। **वने वने**=(वन् संभजने) प्रत्येक उपासक में **शिश्रियाणम्**=आश्रय करनेवाले प्रभु को ये उपासक प्राप्त होते हैं। (२) **स**=वे आप **मथ्यमानः**=मन्थन किये जाते हुए, चिन्तन किये जाते हुए **जायसे**=प्रादुर्भूत होते हैं। 'मनीषिणो मनसा पृच्छेत्'। हे **अंगिरः**=अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले **त्वाम्**=आपको **महत् सहः**=महान् शत्रुमर्षक बल अथवा **सहस्पुत्रम्**=बल का पुत्र (बल का पुञ्ज) **आहुः**=कहते हैं। वस्तुतः उपासक आपके बल से बलवान् होकर ही काम आदि शत्रुओं का पराभव करता है।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु को हम उपासना द्वारा देखते हैं। चिन्तन से प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है। वे बल का पुञ्ज प्रतीत होते हैं। इसी बल से उपासक बलवान् बनता है।

सुतम्भर आत्रेय ही कहता है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्तुति-वचनों का मुख में धारण

प्राग्नये बृहते यज्ञियाय ऋतस्य वृष्णे असुराय मन्म।
घृतं न यज्ञ आस्ये३ सुपूतं गिरं भरे वृषभाय प्रतीचीम् ॥ १ ॥

(१) **अग्नये**=उस अग्रणी, **बृहते**=सदा वर्धमान (वर्धमानं स्वे दमे), **यज्ञियाय**=पूजनीय, **ऋतस्य वृष्णे**=जो भी सत्य है (ठीक है) उसका सेचन करनेवाले के लिये (प्रभु हमारे हृदयों में सत्य का सेचन करते हैं) **असुराय**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले (असून् राति) प्रभु के लिये **मन्म**=मननपूर्वक की जानेवाली स्तुति को **प्रभरे**=प्रकर्षेण सम्पादित करता हूँ। (२) मैं **आस्ये**=अपने मुख में **वृषभाय**=सुखों का वर्षण करनेवाले उस प्रभु के लिये **प्रतीचीम्**=(प्रति अञ्चति) प्रभु की ओर जानेवाली **गिरम्**=स्तुतिवाणी को **प्रभरे**=प्रभृत करता हूँ, **न**=जैसे कि **यज्ञे**=यज्ञ में **सुपूतम्**=सम्यक् पवित्र किये गये **घृते**=घृत को मुख में धारण करता हूँ। मुख में धारण किया गया यह पवित्र घृत जैसे प्रीतिकर होता है, ऐसे ही मेरे लिये यह स्तुतिवाणी प्रीतिकरी होती है।

भावार्थ—प्रभु के स्तवन में, प्रभु के स्तुतिवचनों के उच्चारण में प्रीति का अनुभव करता हूँ। वे प्रभु ही मुझे प्राणशक्ति-सम्पन्न करके यज्ञों में समर्थ करते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋत का ही सेवन

ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप **ऋतम्**=ऋत को **चिकित्वः**=जाननेवाले हैं, जाननेवाले ही क्या ऋत को जन्म देनेवाले आप ही हैं। **इत्**=निश्चय से **ऋतम्**=ऋत का **चिकिद्धि**=हमें ज्ञान दीजिये। आप **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली अथवा हमारा पालन व पूरण करनेवाली **ऋतस्य धाराः**=सत्य ज्ञान की इन वाणियों को (धाराः वाक् नि०) **अनु तृन्धि**=अनुकूलता से विच्छिन्न करिये, इन्हें खोलकर इनके रहस्य को समझाइये। (ये वाणियाँ हमें strike करें-सूझें) (२) इस सत्य वेदज्ञान को प्राप्त करके **अहम्**=मैं सहसा बल के कारण या अविचार के कारण **यातुम्**=पीडाकरी हिंसा का **न सपामि**=(स्पृशामि) सेवन नहीं करता हूँ। **न द्वयेन**=मैं सत्य व अनृत का प्रयोग करता हूँ संसार में कार्यों को नहीं करता। मैं तो **अरुषस्य**=आरोचमान **वृष्णः**=सब सुखों के वर्षक प्रभु के **ऋतम्**=ऋत का ही **सपामि**=सेवन करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से ऋत का ज्ञान प्राप्त करके मैं तदनुसार ही सब कार्यों को करता हूँ। न तो पीडाकरी हिंसा की ओर मेरा झुकाव होता है और ना ही झूठ-सच बोलकर जैसे-तैसे कार्यों को सिद्ध करनेवाला होता हूँ।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञाता व अज्ञेय प्रभु

कया नो अग्न ऋतयन्नृतेन भुवो नवेदा उचथस्य नव्यः।
वेदा मे देव ऋतुपा ऋतूनां नाहं पतिं सनितुरस्य रायः॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **ऋतेन**=सत्य वेदज्ञान से **ऋतयन्**=हमारे जीवन को ऋत युक्त करते हुए **कया**=इस कल्याणकारक वेदवाणी से **नः**=हमारे **न वेदाः**=ज्ञाता (ननवेद इति) **भुवः**=होते हैं। आप सदा हमारा ध्यान करते हैं। (२) वे प्रभु **ऋतूनां ऋतुपा**=सब ऋतुओं की नियमित गति के रक्षक हैं। प्रभु की व्यवस्था में ही ये ऋतुएँ नियम से चल रही हैं। **देवः**=वे ही प्रकाशमय हैं, **नव्यः**=स्तुति के योग्य हैं **मे उचथस्य**=मेरे स्तोत्र को **वेद**=जानते हैं। मेरी स्तुति उनसे सुनी जाती है। पर **अहम्**=मैं **अस्य**=इस **रायः**=ऐश्वर्य के **सनितुः**=दाता उस प्रभु को तथा

पतिम्=उस रक्षक प्रभु को **न वेद**=जानता नहीं हूँ। प्रभु मुझे जानते हैं, मेरे ज्ञान से वे परे हैं। मैं प्रभु को पूरा ज्ञान नहीं पाता।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के व्यक्ति कौन हैं?

के ते॑ अग्ने रि॒पवे॒ बन्ध॑नासः॒ के पा॒यवः॑ सनिषन्त द्यु॒मन्तः॑।
के धा॒सिम॑ग्ने अनृ॑तस्य पान्ति॒ क आस॑तो॒ वच॑सः सन्ति गो॒पाः ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **के ते**=कौन व्यक्ति हैं, जो तेरे हैं? उत्तर—**रिपवे**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं के लिये जो **बन्धनासः**=बन्धन करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु के व्यक्ति वे ही हैं जो कि काम-क्रोध आदि में फँसते नहीं। प्रभु उपासना का यदि यह भी परिणाम न हो, तो उपासना निरर्थक ही हो जाए। (२) **के**=प्रभु-भक्त कौन हैं? उत्तर—जो **पायवः**=रक्षण करनेवाले होते हुए **द्युमन्तः**=ज्योतिर्मय जीवनवाले बनकर **सनिषन्त**=दीनों के लिये धनों का विभाग करते हैं। दीनों पर दया करनेवाला ही प्रभु-भक्त होता है। प्रभु-भक्त कभी अकेले खाने का विचार भी नहीं कर सकता। (३) हे **अग्ने**=प्रभो! कौन तेरे हैं? उत्तर—**अनृतस्य**=अनृत के **धासिम्**=धारक मनुष्य को अनृत से छुड़ाकर सन्मार्ग-दर्शन के द्वारा जो **पान्ति**=पाप से बचाते हैं। (४) **के**=कौन तेरे उपासक हैं? जो **असतः वचसः**=असत्य वचन से **गोपाः**=बचानेवाले, रक्षा करनेवाले **सन्ति**=हैं। असत्य से छुड़ाकर जो सत्य के लिये प्रेरित करते हैं ये ही प्रभु-भक्त हैं। ये प्रभु-भक्त स्वयं 'ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि' का व्रत ग्रहण करते हैं और औरों को भी अनृत से छुड़ाकर ऋत की ओर तथा असत्य से छुड़ाकर सत्य की ओर ले चलते हैं। ब्रह्म का प्रकाश जीवन में ऋत और सत्य के रूप में ही होता है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त (क) काम-क्रोध आदि में नहीं फँसता, (ख) अकेला नहीं खाता, (ग) अनृत मार्ग से, अशुभ अव्यवस्थित कर्मों से मनुष्यों को बचाता है, (घ) असत्य से हटाकर सत्य की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के मित्रों व अमित्रों में भेद

सखा॑यस्ते॒ विषु॑णा अग्न ए॒ते शि॒वासः॒ सन्तो॒ अशि॑वा अभूवन्।
अधू॑र्षत स्व॒यमे॒ते वचो॑भिर्ऋजूय॒ते वृ॑जि॒नानि॑ ब्रु॒वन्तः॑ ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **ते सखायः**=जो तेरे मित्र हैं, वे **विषुणाः**=व्यापक (उदार) मनोवृत्तिवाले होते हैं। ये अपने परिवार को व्यापक करते हुए वसुधा को ही अपना कुटुम्ब बना लेते हैं। **एते**=ये **शिवासः**=सदा कल्याण करनेवाले होते हैं। **सन्तः**=सज्जनता की वृत्तिवाले होते हैं। (२) इनके विपरीत जो प्रभु के मित्र नहीं होते वे **अशिवाः अभूवन्**=सबका अकल्याण करनेवाले बनते हैं और **ऋजूयते**=ऋजु (सरल) मार्ग पर आचरण करनेवाले के लिये **वृजिनानि**=कुटिल बातों को **ब्रुवन्तः**=कहते हुए **एते**=ये लोग, उन **वचोभिः**=कुटिल वचनों से स्वयं **अधूर्षत**=स्वयं हिंसित होते हैं। उन कुटिल वचनों का अशुभ परिणाम स्वयं इनके जीवन पर ही होता है।

भावार्थ—प्रभु के मित्र 'उदार, कल्याण करनेवाले व सज्जन' होते हैं। इनके विपरीत लोग अकल्याण में प्रवृत्त हुए-हुए, सज्जनों के लिये कुटिल शब्दों का प्रयोग करते हुए, स्वयं उन वचनों से हिंसित होते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पृथुः क्षयः'–'साधुः शेषः'

यस्ते॑ अग्ने॒ नम॑सा य॒ज्ञमीट्ट॑ ऋ॒तं स पा॑त्यरु॒षस्य॒ वृष्णः॑।
तस्य॒ क्षयः॑ पृ॒थुरा सा॒धुरे॑तु प्र॒सर्स्रा॑णस्य॒ नहु॑षस्य॒ शेषः॑॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपके प्रति **नमसा**=नमन के साथ **यज्ञं ईट्टे**=यज्ञों का आसन करता है, यज्ञशील होता है, **सः**=वह व्यक्ति **अरुषस्य**=आरोचमान **वृष्णः**=शक्तिशाली आपके **ऋतम्**=ऋत का **पाति**=रक्षण करता है। इस ऋत के पालन से वह भी प्रभु की तरह आरोचमान व शक्तिशाली ब्रह्म है। मस्तिष्क में आरोचमान, शरीर में शक्ति-सम्पन्न। (२) **तस्य**=उस प्रभु के प्रति नमनवाले, यज्ञशील ऋत के रक्षक पुरुष का **क्षयः**=घर **पृथुः**=विशाल होता है, सब प्रकार से फलता-फूलता है और इस **प्रसर्स्राणस्य**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में निरन्तर गतिवाले **नहुषस्य**=सबके साथ अपने को बाँधकर चलनेवाले मनुष्य का **शेषः**=सन्तान **आ साधुः**=सब प्रकार से साधु **एतु**=आये। अर्थात् इसके सन्तान सदा उत्तम होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति नमन के साथ हम यज्ञशील हों, ऋत का पालन करें। इससे हम चमकेंगे और शक्तिशाली होंगे। हमारा घर फले-फूलेगा, सन्तान उत्तम स्वभाव के होंगे।

अगला सूक्त भी 'सुतम्भर आत्रेय' ऋषि का ही है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अर्चना के तीन लाभ

अर्च॑न्तस्त्वा हवामहेऽर्च॑न्तः॒ समि॑धीमहि। अग्ने॒ अर्च॑न्त ऊ॒तये॑॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अर्चन्तः**=पूजा करते हुए हम **त्वा हवामहे**=आपको पुकारते हैं। पूजा के द्वारा आप से सब आवश्यक वस्तुओं की याचना करते हैं। (२) **अर्चन्तः**=पूजा करते हुए ही **समिधीमहि**=आपको समिद्ध करते हैं, हृदयदेश में आपके प्रकाश को देखने के लिये यत्नशील होते हैं। (३) हे परमात्मन्! **ऊतये**=अपने रक्षण के लिये हम **अर्चन्तः**=आपकी पूजा करते हुए होते हैं। आपकी पूजा ही हमें वासनाओं का शिकार होने से बचायेगी।

भावार्थ—प्रभु पूजन (क) हमारी कामनाओं को पूर्ण करता है, (ख) प्रभु के प्रकाश को प्राप्त कराता है, (ग) वासनाओं के आक्रमण से हमें बचाता है।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'अग्नि-दिविस्पृग्-देव'

अ॒ग्नेः स्तोमं॑ मनामहे सि॒ध्रम॒द्य दि॑वि॒स्पृशः॑। दे॒वस्य॑ द्रविण॒स्यवः॑॥ २॥

(१) **द्रविणस्यवः**=द्रविणों (धनों) की कामनावाले हम **अद्य**=आज **सिध्रम**=सब प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले **स्तोमम्**=स्तोम को, स्तुति को **मनामहे**=मननपूर्वक करते हैं। स्तोम ही सिध्र है, यह प्रभु स्तवन ही हमारे सब मनोरथों का पूरक है। (२) उस प्रभु के स्तवन को हम करते हैं जो कि **अग्नेः**=अग्रणी हैं, हमें उन्नतिपथ आगे ले-चलनेवाले हैं। **दिविस्पृशः**=सदा ज्ञान के स्पर्श करनेवाले, ज्ञानस्वरूप हैं। **देवस्य**=दिव्यगुणों के पुञ्ज हैं। वे प्रभु हमें भी शरीर के दृष्टिकोण से 'अग्नि', मस्तिष्क के दृष्टिकोण से 'दिविस्पृश' तथा हृदय के दृष्टिकोण से 'देव' बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु स्तवन द्वारा इष्ट द्रविणों को प्राप्त करनेवाले हों। शरीर में अग्नि तत्त्ववाले, मस्तिष्क में उत्कृष्ट ज्ञानवाले तथा हृदय में देव ही बनें।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स यक्षत् दैव्यं जनम्

अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा। स यक्षद्दैव्यं जनम् ॥ ३ ॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **नः गिरः**=हमारी स्तुति वाणियों को **जुषत**=प्रीतिपूर्वक सेचन करें। हमारी स्तुतिवाणियाँ प्रभु के लिये प्रिय हों। हमें स्तुति वृत्तिवाला देखकर प्रभु को हम प्रिय लगें। (२) वे प्रभु हमारी स्तुतिवाणियों को प्राप्त करें **यः**=जो कि **मानुषेषु**=विचारशील प्रजाओं में **आ होता**=समन्तात् आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले हैं। (२) **सः**=वे प्रभु **दैव्यं जनम्**=देव की ओर चलनेवाले, देव को अपनानेवाले, मनुष्य को **यक्षत्**=प्राप्त हों (यज् संगतिकरणे)। हम देववृत्तिवाले बनेंगे तो प्रभु हमें क्यों न प्राप्त होंगे।

भावार्थ—हम स्तुति द्वारा प्रभु के प्रिय होते हैं। ये प्रभु विचारशील पुरुषों के लिये सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं। देववृत्तिवाले पुरुषों को ये प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

त्वया यज्ञं वितन्वते

त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः। त्वया यज्ञं वि तन्वते ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **सप्रथाः असि**=(सर्वतः पृथुः नि ६।९) सब गुणों के दृष्टिकोण से निरतिशय (absolute) विस्तारवाले हैं। **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवित होते हुए आप **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। अतएव **वरेण्यः**=आप ही वरने के योग्य हैं, आपको प्राप्त कर लेने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। (२) **त्वया**=आपसे ही सब यजमान **यज्ञं वितन्वते**=उस-उस यज्ञ का विस्तार करते हैं। आपके द्वारा ही वे यज्ञपूर्ण होते हैं। '**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च**'। वस्तुतः आपकी शक्ति से ही ये सब यज्ञ चलते हैं। सो वस्तुतः इन यज्ञों को तो आप ही करते हैं। मैं तो निमित्त मात्र होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु सब प्रकार से महान् हैं। प्रसन्न हुए वे सब कुछ देनेवाले हैं। वरणीय हैं, क्योंकि इनके वरण में सब का वरण हो जाता है। प्रभु के आश्रय से ही हम यज्ञों का विस्तार कर पाते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुवीर्य प्राप्ति

त्वामग्ने वाजसातमं विप्रा वर्धन्ति सुष्टुतम्। स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=सर्वाग्रणी प्रभो! **विप्राः**=ज्ञानी लोग **त्वाम्**=आपको **वर्धन्ति**=स्तुति शब्दों से बढ़ाते हैं स्तुति शब्दों से वस्तुतः अपने को प्रेरणा देते हुए आपके भाव को अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। उन आपको, जो कि **वाजसातमम्**=शक्ति प्रदान करनेवालों में सर्वोत्तम हैं। जितना-जितना आपको धारण करते हैं, उतना-उतना शक्ति को भी अपने अन्दर अनुभव करते हैं। उन आपकी हम स्तुति करते हैं, जो आप **सुष्टुतम्**=उत्तम स्तुतिवाले हैं, वस्तुतः सब स्तुत्य गुणों की चरमसीमा ही तो आप हैं, आपके स्तवन से स्तोता का जीवन उत्तम ही उत्तम बनता है। (२) **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **रास्व**=दीजिये। सुवीर्य से सम्पन्न पुरुष

ही आपकी प्राप्ति का अधिकारी होता है। आप 'वाजसातम' हैं, आपका स्तोता बनकर मैं 'वाज' (बल) को क्यों न प्राप्त करूँगा अर्थात् अवश्य प्राप्त करूँगा।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम सुवीर्य को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चित्रं राधः

अग्ने नेमिर॒राँइ॑व दे॒वाँस्त्वं प॑रि॒भूर॑सि। आ राध॑श्चि॒त्रमृ॑ञ्जसे॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=सर्वाग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **देवान्**=सब देवों को **परिभूः**=व्याप्त करके **असि**=विद्यमान हो रहे हैं, **इव**=जैसे कि **नेमिः**=चक्रवलय **अरान्**=अरों को (spokes) व्याप्त करके विद्यमान होता है। सब देवों को देवत्व आपकी व्याप्ति से ही प्राप्त हो रहा है 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'। (२) आप ही उस-उस देव के उस-उस **चित्रं राधः**=अद्भुत ऐश्वर्य को **आ ऋञ्जसे**=सर्वथा प्रसाधित करते हैं। सूर्य आदि को दीप्ति के देनेवाले आप ही हैं। बुद्धिमानों को बुद्धि के दाता, तेजस्वियों के तेज व बलवानों के बल आप ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब देवों में व्याप्त होकर उस-उस विभूति श्री व ऊर्ज् को उनमें स्थापित कर रहे हैं।

अगले सूक्त में भी 'सुतम्भर आत्रेय' ही प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हव्या देवेषु नो दधत्

अ॒ग्निं स्तोमे॑न बोधय समिधा॒नो अम॑र्त्यम्। ह॒व्या दे॒वेषु॑ नो दधत्॥ १॥

(१) हे उपासक! तू **समिधानः**=अपने को ज्ञान से दीप्त करता हुआ **स्तोमेन**=स्तुति के द्वारा **अमर्त्यम्**=उस अविनाशी **अग्निम्**=सर्वाग्रणी प्रभु को **बोधय**=अपने हृदय में समिद्ध कर। प्रभु के प्रकाश को हृदय में देखने के लिये यत्नशील हो। ये प्रभु ही तुझे विषयों के पीछे न मरनेवाला (अमर्त्य) व आगे बढ़नेवाला (अग्नि) बनायेंगे। (२) ये प्रभु **देवेषु**=सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि देवों में **नः**=हमारे लिये **हव्या**=सब हव्य पदार्थों को **दधत्**=धारण करते हैं। इन सूर्यादि से इन हव्य पदार्थों को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को दिव्य बना पाते हैं।

भावार्थ—हम स्वाध्याय व स्तुति के द्वारा प्रभु के प्रकाश को देखें। प्रभु हमारे लिये सूर्यादि में हव्य पदार्थों को धारण करते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यजिष्ठं मानुषे-जने

तम॑ध्व॒रेष्वी॑ळते दे॒वं मर्ता॒ अम॑र्त्यम्। यजि॑ष्ठं॒ मानु॑षे॒ जने॑॥ २॥

(१) **तम्**=उस प्रसिद्ध **अमर्त्यम्**=अमरणधर्मा **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **मर्ताः**=मनुष्य **अध्वरेषु**=यज्ञों में **ईडते**=उपासित करते हैं। यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' प्रभु यज्ञरूप हैं। यज्ञ के द्वारा ही उपासित होते हैं। इन यज्ञों के करनेवाला भी अमर्त्य=विषयों के पीछे न मरनेवाला व देव=प्रकाशमय जीवनवाला बनता है। (२) उस प्रभु को यज्ञों के द्वारा उपासित करते हैं, जो कि **मानुषे जने**=विचारशील पुरुषों में **यजिष्ठम्**=अधिक

से अधिक संगतिवाले हैं। विचारशील पुरुषों को ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्रभु अमर्त्य हैं, देव हैं। प्रभु का उपासन हम यज्ञों के द्वारा करते हैं। विचारशील बनते हैं, ताकि प्रभु के संग को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

क्रियाशीलता व ज्ञानतत्परता

तं हि शश्वन्त ईळते स्रुचा देवं घृतश्चुता। अग्निं हव्याय वोळ्हवे॥ ३॥

(१) **तं देवम्**=उस प्रसिद्ध प्रकाशमय प्रभु को **शश्वन्तः**=प्लुतगतिवाले, स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले, **घृतश्चुता**=ज्ञानदीप्ति को टपकानेवाली, ज्ञान के प्रवाहवाली, **स्रुचा**=वाणी से (गणी वै स्रुचः श० ३।३।१।८) **हि**=निश्चयपूर्वक **ईडते**=उपासित करते हैं। प्रभु की उपासना क्रियाशीलता व ज्ञानतत्परता से होती है। (२) **अग्निम्**=उस परमात्मा को **हव्याय वोळ्हवे**=हव्य पदार्थों को प्राप्त कराने के लिये उपासित करते हैं। उपासित हुए-हुए वे प्रभु हमारे लिये सब हव्य पदार्थों को देते हैं। सूर्यादि देवों में प्रभु ने इन हव्य पदार्थों को स्थापित किया है। सूर्य आदि से हम इन हव्य पदार्थों को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता व ज्ञानतत्परता हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। प्रभु हमारे लिये सूर्यादि देवों के द्वारा सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अविन्दद् गाः अपः स्वः

अग्निर्जातो अरोचत घ्नन्दस्यूञ्ज्योतिषा तमः। अविन्दद् गा अपः स्वः॥ ४॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **जातः**=चिन्तन व श्रद्धा द्वारा प्रादुर्भूत हुए-हुए **अरोचत**=हमारे हृदयों में दीप्त होते हैं। ये प्रभु **दस्यून्**=दास्यव वृत्तियों को, आसुरीभावों को **घ्नन्**=नष्ट करते हैं और **ज्योतिषा**=अपनी ज्ञान-ज्योति से **तमः**=अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। प्रभु का प्रकाश होते ही सब अज्ञानान्धकार लुप्त हो जाता है। (२) ये प्रभु **गाः**=ज्ञान की वाणियों को, **अपः**=व्यापक कर्मों को यज्ञात्मक लोकहितवाले कर्मों को तथा **स्वः**=मानस आह्लाद को (सुख को) **अविन्दत्**=प्राप्त कराते हैं (अवेदयत् सा०)।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश होते ही आसुरवृत्तियाँ व अज्ञानान्धकार समाप्त हो जाता है। प्रभु हमें मस्तिष्क की दीप्ति के लिये ज्ञानवाणियों को, हाथों के लिये यज्ञात्मक कर्मों को तथा मन के लिये आह्लाद को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञानी व तेजस्वी

अग्निमीळेन्यं कविं घृतपृष्ठं सपर्यत। वेतु मे शृणवद्धवम्॥ ५॥

(१) **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **सपर्यत**=तुम पूजो। जो प्रभु **ईडेन्यम्**=स्तुति के योग्य हैं। **कविम्**=क्रान्तप्रज्ञ हैं, सर्वतत्त्वज्ञ हैं। **घृतपृष्ठम्**=दीप्त पृष्ठवाले हैं, अत्यन्त देदीप्यमान हैं। इन प्रभु के उपासन से हम भी कवि व घृतपृष्ठ, ज्ञानी व तेजस्वी बनेंगे। (२) वे प्रभु **मे**=मेरी **हवम्**=पुकार को **वेतु**=चाहें, मेरी पुकार प्रभु के लिये प्रिय हो और वे मेरी प्रार्थना को **शृणवत्**=सुनें। मेरी प्रार्थना प्रिय व श्रवणीय है। वस्तुतः जब हम प्रार्थनीय वस्तु के लिये पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं, तो हमारी प्रार्थना श्रवणीय होती ही है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से हम 'ज्ञानी व तेजस्वी' बनें। पुरुषार्थी बनकर श्रवणीय प्रार्थनावाले हों।

ऋषिः—**सुतम्भर आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तोमेभिः-घृतेन

अग्निं घृतेन वावृधुः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणिम्। स्वाधीभिर्वचस्युभिः ॥ ६ ॥

(१) **अग्निम्**=उस अग्निवत् प्रकाशमान प्रभु को **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **वावृधुः**=अपने अन्दर बढ़ाते हैं। जितना-जितना ज्ञान को हम प्राप्त करते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप होते हैं। **विश्वचर्षणिम्**=उस सर्वद्रष्टा परमात्मा को **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा अपने में बढ़ाते हैं। प्रभु स्तवन करते हुए हम प्रभु से रक्षणीय होते हैं। (२) **स्वाधीभिः**=(शोभनध्यानैः) उत्तम ध्यानशील पुरुषों से तथा **वचस्युभिः**=ज्ञान की वाणियों की कामनावाले पुरुषों से वे प्रभु अपने अन्दर स्थापित किये जाते हैं। ध्यानशील पुरुष स्तवनों के द्वारा तथा वचस्यु पुरुष ज्ञानदीप्ति के द्वारा प्रभु को अपने अन्दर धारण करते हैं।

भावार्थ—हम ध्यानशील बनकर स्तवनों के द्वारा प्रभु का अपने अन्दर वर्धन करें। तथा ज्ञान की वाणियों की कामनावाले होकर ज्ञानदीप्ति से प्रभु को अपने में स्थापित करें।

इस प्रकार स्तोम व घृत द्वारा प्रभु को अपने अन्दर धारण करनेवाला यह व्यक्ति 'धरुण' होता है, प्रभु धारण से ही अंग-प्रत्यंगों में रसवाला होता हुआ 'आंगिरस' होता है। यह 'धरुण आंगिरस' प्रभु का उपासन करता हुआ कहता है—

द्वितीयोऽनुवाकः

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**धरुण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रायो धर्ता, धरुणो वस्वः

प्र वेधसे कवये वेद्याय गिरं भरे यशसे पूर्व्याय।
घृतप्रसत्तो असुरः सुशेवो रायो धर्ता धरुणो वस्वो अग्निः ॥ १ ॥

(१) **वेधसे**=सृष्टि के निर्माता, **कवये**=क्रान्तप्रज्ञ, सर्वतत्त्वज्ञ, **वेद्याय**=जानने योग्य, **यशसे**=यशस्वी, **पूर्व्याय**=सृष्टि से पूर्वभावी 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' अर्थात् कभी न बननेवाले, सदा से वर्तमान प्रभु के लिये **गिरम्**=स्तुतिवाणियों को **प्रभरे**=प्रकर्षेण धारण करता हूँ। उस प्रभु का सतत स्मरण करता हूँ। सर्वज्ञ होने से उन प्रभु की यह सृष्टि पूर्ण है। इसमें हमें प्रभु को जानने का प्रयत्न करना है। प्रभु के ज्ञान के होने पर ही यह भक्ति पूर्ण होती है। (२) ये प्रभु **घृतप्रसत्तः**=ज्ञानदीप्ति से निर्मल होते हैं। प्रभु 'देदीप्यमान ज्ञान' हैं सो पूर्ण निर्मल हैं, हम भी प्रभु को इस ज्ञानदीप्ति से ही देख सकेंगे। **सुशेवः**=वे प्रभु उत्तम कल्याण करनेवाले हैं। इस कल्याण को प्राप्त कराने के लिये ही **असुरः**=(असून् राति) हमारे में प्राणशक्ति का संचार करते हैं। कल्याण को प्राप्त कराने के लिये ही **रायः धर्ता**=जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक धनों के वे धारण करनेवाले हैं। धनों के ही क्या, **वस्वः**=निवास के लिये आवश्यक सब वसुओं के **धरुणः**=धारण करनेवाले हैं। इस प्रकार **अग्निः**=हमें जीवन-यात्रा में आगे और आगे ले-चल रहे हैं।

भावार्थ—वे सृष्टि निर्माता प्रभु ही वेद्य हैं। उन्हीं का हम स्तवन करें। वे ही सब धनों व निवास के लिये आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—धरुण आङ्गिरसः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋत-यज्ञ-सत्संग

ऋतेन॑ ऋतं धरुणं॑ धारयन्त यज्ञस्य॑ शाके पर॒मे व्यो॑मन्।
दि॒वो धर्म॒न्धरु॑णे सेदुषो॒ नृञ्जा॒तैरजा॑ताँ अ॒भि ये न॑न॒क्षुः ॥ २ ॥

(१) **ऋतेन**=ऋत के द्वारा, अपने अन्दर ऋत के धारण के द्वारा सब कार्यों को नियमित गति से करने के द्वारा, **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **यज्ञस्य शाके**=यज्ञ के शक्तिशाली कर्मों के होने पर **ऋतम्**=उस सत्यस्वरूप **धरुणम्**=सबके धारक प्रभु को **धारयन्त**=धारण करते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम (क) ऋत का पालन करें, (ख) यज्ञात्मक कर्मों से भोगवृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा, हम अपने को शक्तिशाली बनायें। वे प्रभु 'ऋत' हैं, सो ऋत के द्वारा प्राप्त होते हैं। वे 'धरुण' हैं, सो लोक धारण के हेतुभूत यज्ञात्मक कर्मों से प्राप्त होते हैं। (२) प्रभु को धारण वे करते हैं **ये**=जो कि **नॄन्**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों की **अभि**=ओर **ननक्षुः**=प्राप्त होते हैं। उनके संग में बैठते हैं जो कि **दिवः धरुणे**=स्वर्ग के धारक **धर्मन्**=यज्ञात्मक (धारणात्मक) कर्मों से **सेदुषः**=स्थित होते हैं, तथा **जातैः**=शक्तियों के प्रादुर्भावों से **अजातान्**=जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठनेवाले हैं, जीवन्मुक्त हैं। इन लोगों का संग हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है और हम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के तीन मुख्य साधन हैं—(क) ऋत का पालन, सब कार्यों को नियमितरूप से करना, (ख) यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहने के द्वारा शक्ति को स्थिर रखना, (ग) उत्तम पुरुषों के संग में रहना।

ऋषिः—धरुण आङ्गिरसः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पाप से पृथक्

अं॒हो॒यु॒वस्त॒न्व॑स्तन्वते॒ वि वयो॑ म॒हद्दु॒ष्टरं॒ पू॒र्व्याय॑।
स सं॒वतो॒ नव॑जातस्तुतुर्यात्सिं॒हं न क्रु॒द्धम॒भितः॒ परि॑ ष्ठुः ॥ ३ ॥

(१) **पूर्व्याय**=उस सृष्टि के पूर्व होनेवाले, कभी न बननेवाले, सदा वर्तमान प्रभु की प्राप्ति के लिये **अंहोयुवः**=पापों से अपने को पृथक् करनेवाले लोग **तन्वः**=शरीर के **महत्**=महान् **दुष्टरम्**=शत्रुओं से अजेय **वयः**=(strength) शक्ति को **वितन्वते**=विस्तृत करते हैं। शक्ति प्राप्ति के द्वारा ही प्रभु की प्राप्ति होती है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। पापों में फँस जाने से ही शक्ति का ह्रास होता है। पापवृत्ति को अपने से दूर करने से शक्ति का संग्रह होता है और तभी प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) **सः**=वह प्रभु को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति **नवजातः**=नवीन अथवा स्तुत्य जीवनवाला बना हुआ **संवतः**=संगत शत्रुओं को, समकाम बनाकर आनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **तुतुर्यात्**=हिंसित करता है। ये शत्रु इसको **परि**=(वर्जयित्वा) छोड़कर इस प्रकार दूर **स्थुः**=स्थित होते हैं, **न**=जैसे कि **क्रुद्धं सिहं अभितः**=क्रुद्ध शेर के चारों ओर दूर भागकर मृग स्थित होते हैं। शेर से भयभीत होकर मृग दूर चले जाते हैं, इसी प्रकार प्रभु प्राप्त व्यक्ति से वासनाएं दूर भाग जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये निष्पाप बनकर शक्ति का संग्रह करना आवश्यक है। इस प्रभु प्राप्त व्यक्ति से वासनाएँ दूर भाग जाती हैं।

सूचना—'संवतः' शब्द का अर्थ आचार्य 'संभजनः' करते हैं, उन्होंने 'वन संभक्तौ' से इस

शब्द को बनाया है। तब अर्थ इस प्रकार होगा 'प्रभु का सेवन करता हुआ, स्तुत्य जीवनवाला यह व्यक्ति वासनाओं को तैर जाता है'।

ऋषिः—**धरुण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माता के समान (प्रभु)

मातेव यद्भरसे पप्रथानो जनंजनं धायसे चक्षसे च।
वयोवयो जरसे यद्दधानः परि त्मना विषुरूपो जिगासि॥ ४॥

(१) **पप्रथानः**=सर्वत्र विस्तृत होते हुए आप **माता इव**=माता के समान **यद्**=जब **जनं जनम्**=प्रत्येक व्यक्ति को **भरसे**=भरण करते हैं, तो आप सबके **धायसे**=धारण के लिये होते हैं, **च**=और **चक्षसे**=देखने के लिये होते हैं, सबका ध्यान करते हैं। (२) **यद्दधानः**=जब आप सब प्राणियों का धारण करते हैं तो **वयः वयः**=प्रत्येक अन्न को **जरसे**=आप ही जीर्ण (पचा हुआ) करते हैं 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'। आपके द्वारा ही अन्न के पाचन की व्यवस्था होती है और हमारे जीवनों का धारण होता है। (२) हे प्रभो! आप ही **विषुरूपः**=विविध रूपोंवाले होते हुए **त्मना**=स्वयं **परिजिगासि**=चारों ओर प्राप्त होते हैं। सर्वत्र आपकी ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। सूर्य में प्रभा के रूप से, अग्नि में तेज के रूप से, जल में रस, पृथिवी में गन्ध तथा बलवानों में बल के रूप से आप ही विद्यमान हो रहे हैं। सम्पूर्ण जीवन आपके ही कारण है।

भावार्थ—प्रभु ही माता की तरह सब प्राणियों का धारण करते हैं। प्रभु ही हमारे धारण के लिये अन्न का पाचन करते हैं। विविध रूपों से सर्वत्र प्रभु ही प्राप्त हैं। क्या सूर्यादि में, क्या विद्वानों व बलवानों में सर्वत्र प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है।

ऋषिः—**धरुण आङ्गिरसः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रशस्त अन्न व बल

वाजो नु ते शवसस्पात्वन्तमुरुं दोघं धरुणं देव रायः।
पदं न तायुर्गुहा दधानो महो राये चितयन्नत्रिमस्पः॥ ५॥

(१) हे **देव**=हमारे लिये सब उत्तमताओं को जीतने की कामनावाले प्रभो! **नु**=अब **ते**=आपका दिया हुआ **वाजः**=यह अन्न **शवसः अन्तम्**=बल के उत्कर्ष का **पातु**=रक्षण करे। जो बल का उत्कर्ष **उरुम्**=विशाल है **दोघम्**=सब कामनाओं का पूरण करनेवाला है तथा **रायः धरुणम्**=धन का धारक है। प्रभु प्रदत्त अन्न हमें उत्कृष्ट बल को प्राप्त कराये, जिस बल से हम सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कर सकें। (२) हे प्रभो! **तायुः न**=एक तस्कर की तरह **पदम्**=अपने चरणों को **गुहा दधानः**=हमारी हृदय गुहा में धारण करते हुए आप, अर्थात् छिपाकर रखते हुए आप (जैसे एक चोर छिपाकर रखता है) **महः राये**=(महते धनाय सा०) महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **चितयन्**=मार्ग को दिखलाते हुए **अत्रिम्**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठे हुए मनुष्य को **अस्पः**=प्रीणित करते हैं और भवसागर से पार ले जानेवाले होते हैं (स्पृ प्रीणनपारणयोः)।

भावार्थ—प्रभु ने जो अन्न दिये हैं वे हमें उत्कृष्ट बल को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ने अपने को छिपाकर हमारी हृदयगुहा में रखा है। वे प्रभु महान् ऐश्वर्य के लिये हमें मार्ग दिखाते हैं और हमें काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठाकर प्रीणित करते हैं।

प्रभु से उत्कृष्ट बल व चेतना को पाकर अपना पूरण करनेवाला यह 'पूरु' बनता है। यह आत्रेय

तो है ही, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ। यह कहता है कि—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्वाध्याय व पूजन (मानवे, देवायाग्रये)

बृहद्वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्रये। यं मित्रं न प्रशस्तिभिर्मर्तासो दधिरे पुरः ॥ १ ॥

(१) हम **बृहद् वयः**=अपने इस प्रवृद्ध व विशाल जीवन को **हि**=निश्चय से **भानवे**=उस ज्ञान की दीप्तिवाले प्रभु के लिये अर्पित करें। स्वयं भी प्रभु की तरह ही ज्ञानदीप्त बनने का प्रयत्न करें। इसी से जीवन दीर्घ व प्रवृद्ध बनेगा। (२) हे जीव! तू ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करने के साथ **देवाय**=उस दिव्य गुणों के पुञ्ज सर्वाग्रणी प्रभु के लिये **अर्चा**=अर्चना कर, तू प्रभु की पूजावाला बन। यह प्रभु पूजन तुझे भी दिव्यगुणोंवाला व प्रगतिशील बनायेगा। (३) तू उस प्रभु का पूजन कर **यम्**=जिनको **मित्रं न**=मित्र के समान **मर्तासः**=मनुष्य **प्रशस्तिभिः**=प्रशंसनों व स्तुतियों के द्वारा **पुरः दधिरे**=अपने सामने स्थापित करते हैं। प्रभु को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। प्रभु दयालु हैं, सो हमने भी दया की वृत्तिवाला बनना है। वे न्यायकारी हैं, हमें भी न्यायप्रिय होना है। इस प्रकार प्रभु का ही छोटा रूप बनने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को ज्ञानदीप्ति के लिये लगायें। प्रभु पूजन के द्वारा दिव्य गुणों को धारण करते हुए आगे बढ़ें। प्रभु को ही अपना लक्ष्य बनायें।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्ञान-ज्योति व बाहुबल

स हि द्युभिर्जनानां होता दक्षस्य बाह्वोः। वि हव्यमग्निरानुषग्भगो न वारमृण्वति ॥ २ ॥

(१) **सः अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु! **जनानाम्**=लोगों के लिये **द्युभिः**=ज्ञान-ज्योतियों के साथ **बाह्वोः**=भुजाओं के **दक्षस्य**=बल को **होता**=देनेवाले हैं। हमें ज्ञान व शक्ति प्रभु कृपा से ही प्राप्त होती है। प्रभु कृपा के पात्र वे ही बनते हैं, जो कि 'जन' बनें, अपनी शक्तियों के विकास के लिये यत्नशील हों। (२) वे प्रभु **आनुषक्**=निरन्तर **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को **ऋण्वति**=देते हैं (प्रयच्छति)। तथा **भगः न**=ऐश्वर्यशाली के समान **वारम्**=सब वरणीय धनों के देनेवाले हैं। वस्तुतः भुजाओं के बल को देकर वे हमें इस योग्य बना देते हैं कि हम वरणीय धनों का सञ्चय कर सकें तथा ज्ञान को देकर वे हमें इन धनों को हव्य के रूप में प्रयोग करना सिखाते हैं। शक्ति से प्राप्त धन को ज्ञान के कारण हम यज्ञशेष के रूप में ही सेवन करते हैं। धन हमारे यज्ञों के लिये हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देते हैं, शक्ति देते हैं। हम शक्ति से वरणीय धनों का अर्जन करते हैं और ज्ञान से यज्ञों में उनका विनियोग करते हैं।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्तोमे सख्ये च

अस्य स्तोमे मघोनः सख्ये वृद्धशोचिषः।
विश्वा यस्मिन्तुविष्वणि समर्ये शुष्ममादधुः ॥ ३ ॥

(१) हम **अस्य**=इस **मघोनः**=ऐश्वर्यशाली अथवा (मघवतः=मखवतः) महान् यज्ञशाली (यज्ञरूप) प्रभु के **स्तोमे**=स्तुति में स्थित हों। **वृद्धशोचिषः**=अत्यन्त बढ़ी हुई दीप्तिवाले प्रभु की

सख्ये=मित्रता में हों। (२) **यस्मिन् तुविष्वणि**=जिस महान् शब्दोंवाले **अर्ये**=ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु में **विश्वाः**=सब प्रजाएँ **शुष्मम्**=शत्रु शोषक बल को **सं आदधुः**=सम्यक् धारण करती हैं। प्रभु की उपासना से इस शुष्म की प्राप्ति होती है। इस शुष्म की प्राप्ति के लिये हम भी महान् शब्दोंवाले, खूब स्वाध्यायवाले व स्वामी (अर्य) अपनी इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तवन में व प्रभु की मित्रता में चलें। वे प्रभु महान् शब्दोंवाले हैं, अर्य हैं (स्वामी हैं)। उसकी उपासना में स्थित होकर हम शत्रु शोषक बल को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'सुवीर्य के दाता' प्रभु

अधा ह्य॑ग्न एषां सुवीर्य॑स्य मं॒हना॑। तमिद्य॒ह्वं न रोद॑सी॒ परि॒ श्रवो॑ बभूवतुः ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **अधा**=अब **हि**=ही **एषाम्**=इन उपासकों के **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के **मंहना**=(मंहनायै भव) दान के लिये आप होइये। प्रभु की उपासना से उपासक प्रभु के बल से सम्पन्न होता है। (२) **यह्वं न**=महान् सूर्य के समान **श्रवः**=सब से श्रवणीय ('आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्', 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः') **तम्**=उस प्रभु के **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **परि बभूवतुः**=परिग्रह करनेवाले होते हैं (परिगृह्णीतः)। उस प्रभु के आश्रय से ही ये द्यावापृथिवी स्थित हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक को सुवीर्य प्राप्त कराते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस प्रभु का ही परिग्रह करता है, उसी के आधार से स्थित है।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्तवन व संग्रामविजय

नू न॒ एहि॒ वार्य॒मग्ने॑ गृणा॒न आ भ॑र ।
ये व॒यं ये च॑ सू॒रयः॑ स्व॒स्ति धाम॑हे॒ सचो॒तैधि॑ पृ॒त्सु नो॑ वृ॒धे ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नु**=निश्चय से **नः**=हमारे लिये **एहि**=प्राप्त होइये। **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **वार्यम्**=वरणीय धनों को **आभर**=प्राप्त कराइये। (२) **ये**=जो **वयम्**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हैं, **च**=और ये **सूरयः**=जो ज्ञानी हैं, वे **स्वस्ति धामहे**=कल्याणकारक कर्मों का ही धारण करते हैं। आप **सचा एधि**=हमारे साथ होइये, **उत**=और **पृत्सु**=संग्रामों में **नः वृधे**=हमारे वर्धन के लिये होइये। वस्तुतः इन जीवन-संग्रामों में आपने ही हमें विजय प्राप्त करानी है।

भावार्थ—प्रभु ही वरणीय धनों को व संग्रामों में विजयों को प्राप्त कराते हैं। सो हम प्रभु का ही स्तवन करें और कल्याणकारक शुभ कर्मों का धारण करें। शुभ कर्मों का करना ही प्रभु का सच्चा स्तवन है।

'पूरुरात्रेय' ही अगले सूक्त में प्रार्थना करते हैं—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'यज्ञों के द्वारा उपास्य' यज्ञरक्षक प्रभु

आ य॒ज्ञैर्दे॑व॒ मर्त्य॑ इ॒त्था तव्यां॑समू॒तये॑। अ॒ग्निं कृ॒ते स्व॑ध्व॒रे पू॒रुरी॑ळी॒ताव॑से ॥ १ ॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **मर्त्यः**=मनुष्य **इत्था**=सचमुच **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा **तव्यांसम्**=सब गुणों के दृष्टिकोण से प्रवृद्ध गुणों की चरमसीमा के रूप में आपको **ऊतये**=रक्षण के लिये (आ ह्वयति)=पुकारता है। वस्तुतः आपके रक्षण से ही उसके यज्ञपूर्ण होते हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पूरुः**=पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में तत्पर मनुष्य (पृ पालनपूरणयोः) **स्वध्वरे**=उत्तम यज्ञों के **कृते**=करने पर **अवसे**=रक्षण के लिये **ईडीत**=आपका पूजन करता है। यह आपका पूजन ही उसे बल देता है, जिससे कि वह यज्ञों को कर पाता है।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन होता है। यज्ञों के रक्षण के लिये यह 'पूरु' प्रभु को पुकारता है।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आसा-मनीषया (तज्जपः, तदर्थभावनम्)

अस्य हि स्वयंशस्तर आसा विधर्मन्मन्यसे। तं नाकं चित्रशोचिषं मन्द्रं परो मनीषया ॥ २ ॥

(१) हे **स्वयशस्तरः**=अपने कर्मों द्वारा यशवाले जीव! तू **विधर्मन्**=विशिष्टरूप से धारणात्मक यज्ञादि कर्मों में **आसा**=अपने मुख से, वाणी से **हि**=निश्चयपूर्वक **अस्य मन्यसे**=इस प्रभु का स्तवन करता है। इसी के नामों का उच्चारण करता है (तज्जपः)। (२) **तम्**=उस **नाकम्**=सुखस्वरूप (दुःखरहित) **चित्रशोचिषम्**=अद्भुत दीप्तिवाले **मन्द्रम्**=आनन्दमय **परः**=सब अन्धकारों से परे विद्यमान (तमसः परस्तात्) प्रभु को **मनीषया**=बुद्धि से **मन्यसे**=मनन करता है, उसका चिन्तन करता है (तदर्थ भावनम्)। मुख से बोले गये नामों का बुद्धि से अर्थभावन करनेवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम यज्ञादि कर्मों में प्रभु के नामों का ही मुख से उच्चारण करें। उन्हीं नामों के बुद्धि द्वारा अर्थभावन से उस आनन्दस्वरूप प्रभु का ही चिन्तन करें।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तुजा, गिरा (सामर्थ्य-ज्ञान)

अस्य वासा उ अर्चिषा य आयुक्त तुजा गिरा। दिवो न यस्य रेतसा बृहच्छोचन्त्यर्चयः ॥ ३ ॥

(१) **अस्य**=इस अग्नि नामक प्रभु की **अर्चिषा**=ज्ञानज्वाला व दीप्ति से ही **वै**=निश्चयपूर्वक **असौ**=वह जो जीव है वह **उ**=भी **तुजा**=शक्ति से जगद् रक्षण समर्थ बल से तथा **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से **आयुक्तः**=युक्त होता है। (२) **दिवः न**=सूर्य के समान **यस्य रेतसा**=जिसकी शक्ति से **बृहत्**=बहुत अधिक **अर्चयः**=दीप्तियाँ **शोचन्ति**=चमकती हैं। प्रकृति के सब पिण्डों में उस प्रभु की ही दीप्ति है जिस जीव को यह दीप्ति प्राप्त होती है वह शक्ति व ज्ञान से चमक उठता है। जिस प्रकृति पिण्ड में यह पहुँचती है, वह दिव्य बन जाता है। संक्षेप में 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति उपासक को सामर्थ्य व ज्ञान से युक्त करती है। प्रकृति पिण्डों को दिव्य बनाती है।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'विचेताः दस्म' प्रभु का आराधन

अस्य क्रत्वा विचेतसो दस्मस्य वसु रथ आ। अधा विश्वासु हव्योऽग्निर्विक्षु प्र शंस्यते ॥ ४ ॥

(१) **विचेतसः**=विशिष्ट ज्ञानवाले, सर्वज्ञ, निरतिशय ज्ञानवाले, **दस्मस्य**=दर्शनीय व सब दुःखों के नाशक **अस्य**=इस प्रभु के **क्रत्वा**=सामर्थ्य से, प्रभु से प्राप्त शक्ति से उपासक लोग

रथे=इस शरीर-रथ में **वसु**=सब वसुओं को, धनों को 'तेज, वीर्य, बल, ओज, ज्ञान व सहस्' रूप सम्पत्ति को **आ** (दधति)=धारण करते हैं। 'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि०'। ये प्रभु सर्वातिशायी ज्ञानवाले हैं, इस ज्ञान के द्वारा ही वे हमारे दुःखों को दूर करते हैं। अविद्या ही तो सब क्लेशों की जननी है। (२) **अधा**=अब सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु **हव्यः**=पुकारने योग्य होते हैं, आराधनीय होते हैं। प्रभु से ही सब याचना की जाती है। वे **अग्निः**=हमारी सब प्रकार उन्नतियों के साधक प्रभु **विश्वासु विक्षु**=सब प्रजाओं में **प्रशस्यते**=प्रशंसनीय होते हैं। सब प्रभु का ही शंसन व स्तवन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्रदत्त सामर्थ्य से ही सब वसुओं की प्राप्ति होती है। सो प्रभु ही सदा शंसनीय व आराधनीय होते हैं।

ऋषिः—**पूरुरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शक्ति-प्राप्ति व संग्राम विजय

नू न इद्धि वार्यमासा सचन्त सूरयः ।
ऊर्जो नपादभिष्टये पाहि शग्धि स्वस्तय उतैधि पृत्सु नो वृधे ॥ ५ ॥

(१) **नु**=अब **नः सूरयः**=हमारे में से विद्वान्-ज्ञानी-पुरुष **इत् हि**=निश्चय से **वार्यम्**=वरणीय धनों को **आसा**=(आस्येन) स्तुति के द्वारा अथवा **आसा** (आस् उपवेशने)=उपासना के द्वारा **सचन्त**=सेवन करते हैं। स्तुति व उपासना उन ज्ञानियों के लिये सब वरणीय धनों को देनेवाली होती है। (२) **ऊर्जोनपात्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले प्रभो! **अभिष्टये**=हमें शत्रुओं पर आक्रमण के लिये **पाहि**=रक्षित करिये और **शग्धि**=शक्तिशाली बनाइये। **उत**=और इस प्रकार **स्वस्तये**=कल्याण के लिये तथा **पृत्सु**=संग्रामों में **नः वृधे**=हमारे वर्धन के लिये **एधि**=होइये।

भावार्थ—प्रभु ही सब वरणीय धनों को देते हैं। प्रभु ही शक्ति को देकर हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं।

प्रभु की उपासना से 'शक्ति व ज्ञान' दोनों का विस्तार करनेवाला यह 'द्वि-त' (द्वौ तनोति) बनता है। अपने इन्द्रियाश्वों को (शक्ति से कर्मेन्द्रियों को, ज्ञान से ज्ञानेन्द्रियों को) शुद्ध बनानेवाला यह 'मृक्त-वाहा' कहलाता है। परिणामतः 'आत्रेय' तो होता ही है, 'काम-क्रोध-लोभ' से परे। यह स्तवन करता हुआ कहता है—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु पूजन से दिन का प्रारम्भ

प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः । विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्तेषु रण्यति ॥ १ ॥

(१) हे **विशः**=प्रजाओ! **प्रातः**=दिन के प्रारम्भ में यह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **स्तवेत**=तुम्हारे से स्तुति किया जाये। जो प्रभु **पुरुप्रियः**=उत्तमोत्तम वरणीय (हव्य) पदार्थों के द्वारा हमें प्रीणित करनेवाले हैं। **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) हमें सुन्दर प्रेरणाओं को देने के लिये निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। (२) ये प्रभु वे हैं **यः**=जो कि **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा होते हुए **मर्तेषु**=मनुष्यों में **विश्वानि**=सब **हव्या**=हव्य पदार्थों को **रण्यति**=(कामयते) चाहते हैं। हमें प्रभु सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं, यदि हम अपने को उनका पात्र बनाते हैं।

भावार्थ—हम सर्वप्रथम प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु हमारे अतिथि हैं, हमारे लिये सब हव्य

पदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'द्वित वृक्तवाहस्' को शक्ति की प्राप्ति

द्वितायं मृक्तवाहसे स्वस्य दक्षस्य मंहना। इन्दुं स धत्त आनुषक्स्तोता चित्ते अमर्त्य ॥ २ ॥

(१) **द्विताय**=ज्ञान व शक्ति का विस्तार करनेवाले अथवा काम-क्रोध को वश में करनेवाले (द्वौ तरति, तौ हि अस्यपरिवन्धिनौ) किनके लिये, जो कि **मृक्तवाहसे**=इन्द्रियाश्वों को शुद्ध करनेवाला हुआ है, उसके लिये हे प्रभो! आप **स्वस्य दक्षस्य**=अपने बल के **मंहना**=देने के लिये होइये (दानाय भव सा०)। 'द्वित मृक्तवाहस्' को आप अपनी शक्ति दीजिये। यह 'द्वित मृक्तवाहस्' प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है। (२) हे **अमर्त्य**=अमरणधर्मा प्रभो! **ते स स्तोता**=आपका वह स्तोता **चित्**=निश्चय से **आनुषक्**=निरन्तर **इन्दुम्**=शक्ति को देनेवाले सोम को **धत्ते**=धारण करता है। प्रभु-स्तवन से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और इस प्रकार सोम के रक्षण का संभव होता है। यह सुरक्षित सोम ही वस्तुतः शक्ति-सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—काम-क्रोध को तैरनेवाले शुद्धेन्द्रिय पुरुष को प्रभु की शक्ति प्राप्त होती है। यह प्रभु का स्तोता सोम-रक्षण के द्वारा शक्तिशाली बनता है।

ऋषिः—**द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'दीर्घ-पवित्र-दीप्त' जीवन

तं वो दीर्घायुशोचिषं गिरा हुवे मघोनाम्। अरिष्टो येषां रथो व्यश्वदावन्नीयते ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! **मघोनाम्**=(मघः मख) यज्ञशील पुरुषों के **दीर्घायुशोचिषम्**=दीर्घ जीवन को पवित्र व दीप्त करनेवाले **तं वः** ('युष्मान्'-बहुवचनं आदरार्थं त्वाम्)=उन आपको **गिरा**=इन स्तुतिवाणियों के द्वारा **हुवे**=पुकारता हूँ। हे प्रभो! आपकी आराधना करके मैं भी उन यज्ञशील पुरुषों में होने का प्रयत्न करता हूँ, जिनके कि जीवन को आप 'दीर्घ-पवित्र व दीप्त' बनाते हैं। (२) हे **अश्वदावन्**=इन्द्रियाश्वों को देने व उनका शोधन करनेवाले प्रभो! (दा-दाने, दैप् शोधने) मैं उन यज्ञशील पुरुषों में होने का प्रयत्न करता हूँ **येषाम्**=जिनका **अरिष्टः रथः**=न हिंसित होनेवाला शरीर-रथ रोगों से न आक्रान्त होनेवाला यह शरीर, **वि ईयते**=विशिष्ट रूप से मार्ग पर गतिवाला होता है। इनमें गिना जाने पर मेरा भी शरीर दीर्घ, पवित्र व दीप्त बनेगा ही।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील पुरुषों के जीवन को दीर्घ, पवित्र व दीप्त बनाते हैं।

ऋषिः—**द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्ञान-स्तुति-यज्ञ=पवित्रता

चित्रा वा येषु दीधितिरासन्नुक्था पान्ति ये। स्तीर्णं बर्हिः स्वर्णरे श्रवांसि दधिरे परि ॥ ४ ॥

(१) **येषु**=जिनमें **वा**=निश्चय से **चित्रा**=अद्भुत **दीधितिः**=ज्ञानदीप्ति होती है, **ये**=जो **आसन्**=अपने मुखों में **उक्था**=स्तोत्रों को **पान्ति**=रक्षित करते हैं। इन पुरुषों का **स्वर्णरे**=यज्ञों में (स्वः नृ नये) **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्**=बिछाया जाता है। मस्तिष्क में ज्ञान और हृदय में स्तुति के होने पर ये हाथों से यज्ञों को करते हुए हृदय को वासनाशून्य (=बर्हिस्) बनाते हैं। (२) ये लोग **परि**=सर्वतः **श्रवांसि**=(fame, glory) यशों को **दधिरे**=धारण करते हैं। ऐसे लोग सर्वत्र यशस्वी होते हैं। वस्तुतः 'मस्तिष्क में ज्ञान, मुख में प्रभु के नाम तथा हाथों में यज्ञ' ये सब चीजें मिलकर हृदय को पूर्ण पवित्र बना देती हैं। यह पवित्र हृदयासन प्रभु के आसीन

होने के योग्य होता है।

भावार्थ—'ज्ञान, स्तुति व यज्ञ' ये सब मिलकर हमारे हृदय को पूर्ण पवित्र बनाते हैं।

सूचना—यहाँ यज्ञ को 'स्वर्णः' कहा है। यज्ञ स्वर्ग का साधन है 'स्वर्गकामो यजेत'। यज्ञों से हमारे घर स्वर्गोपम बनते हैं। 'एष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्'=यज्ञ सब कामनाओं को पूर्ण करता है।

ऋषिः—**द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

पचास वर्ष पर्यन्त माता आदि के संरक्षण में

ये मे पञ्चाशतं ददुरश्वानां सधस्तुति।
द्युमदग्ने महि श्रवो बृहत्कृधि मघोनां नृवदमृत नृणाम्॥ ५॥

(१) वैदिक संस्कृति में पच्चीस वर्ष तक 'माता, पिता व आचार्य' देव होते हैं, ये एक बालक को चरित्रवान्, सदाचारी व शिक्षित करके एक सुन्दर युवक बना देते हैं। अब पचास वर्ष तक समय-समय पर आनेवाले अतिथि उस युवक के जीवन को प्रशस्त बनाये रखने का ध्यान करते हैं। इस आश्रम में ये अतिथि ही देव होते हैं। पचास वर्ष के बाद एक वनस्थ प्रभु को ही अपना देव बनाता है। (२) सो कहते हैं कि **ये**=जिन 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देवों ने **मे**=मेरे लिये **सधस्तुति**=प्रभु के स्तवन के साथ **पञ्चाशतम्**=पचास वर्ष पर्यन्त **अश्वानां ददुः**=इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराया। हे **अग्ने**=अग्रणी **अमृत**=अविनाशी प्रभो! उन **मघोनां नृणाम्**=यज्ञशील पुरुषों के **श्रवः**=ज्ञान को **द्युमत्**=ज्योतिर्मय, **बृहत्**=वृद्धिवाला, **महि**=महान् व **नृवत्**=पौरुषवाला **कृधि**=करिये। वस्तुतः इन यज्ञशील पुरुषों ने ही हमारे इन्द्रियाश्वों को प्रशस्त बनाना है। पचास वर्ष तक इनके संरक्षण में ही हम जीवन के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते हैं तथा भटकते नहीं। ये हमें प्रभु-स्तवन की ओर प्रवृत्त करते हैं। प्रभु-स्तवन ही हमारे इन्द्रियाश्वों को पवित्र करता है।

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य व अतिथि पचास वर्ष पर्यन्त हमारे जीवनों को उत्तम बनाने के लिये यत्नशील होते हैं। प्रभु इनके ज्ञान का वर्धन करें, ताकि ये अपने कार्य को अधिक सौन्दर्य से कर सकें।

गत सूक्त के अन्तिम मन्त्र के अनुसार माता, पिता, आचार्य व अतिथियों के उत्तम संरक्षण को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति जीवन में ठीक ही चुनाव करता है। श्रेय व प्रेय में से श्रेय का ही वरण करता है। 'कृणोति' ठीक चुनाव करता है सो 'वव्रि' कहलाता है। इस ठीक चुनाव के कारण इसका रूप उत्तम बना रहता है, इसलिए भी यह 'वव्रि' कहलाता है (वव्रि=रूपम् नि० ३।८) यह वव्रि 'आत्रेय' है, तीनों काम-क्रोध व लोभ की वृत्तियों से दूर। इसका जीवन अगले मन्त्र में चित्रित हुआ है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अवस्था

अभ्यवस्थाः प्र जायन्ते प्र वव्रेर्वव्रिश्चिकेत। उपस्थे मातुर्वि चष्टे॥ १॥

(१) **वव्रेः**=ठीक चुनाव करनेवाले पुरुष की **अवस्थाः**=अवस्था में **अभि**=लक्ष्य का ध्यान करते हुए **प्रजायन्ते**=प्रकृष्ट प्रादुर्भाववाली होती हैं। पाँच वर्ष तक इसका जीवन चरित्र की शिक्षा का ग्रहण करता हुआ चरित्रवान् बन जाता है। अब यह आठ वर्ष तक शिष्टाचार का पाठ पढ़ता

है और पच्चीस वर्ष तक खूब विद्याभ्यासवाला होता है। इस प्रकार यह **वव्रिः**=उत्तम रूपवाला (वव्रि=रूप) **प्र चिकेत**=खूब ही ज्ञानवाला समझदार बन जाता है। (२) यह गृहस्थ में प्रवेश करने पर भी **मातुः**=वेदमाता की **उपस्थे**=गोद में रहता हुआ, नित्य स्वाध्याय को करता हुआ **विचष्टे**=विशिष्ट ज्ञानवाला बनता है, सब वस्तुओं को ठीक रूप में ही देखता है।

भावार्थ—हम 'वव्रि' बनकर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करें। सदा वेदमाता की गोद में रहते हुए तत्त्वदृष्टि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सद्गृहस्थ

जुहुरे वि चितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति। आ दृळ्हां पुरं विविशुः ॥ २ ॥

(१) गृहस्थ में आने पर गतमन्त्र के वव्रि **विचितयन्तः**=प्रभु के चिन्तन से व वेदमाता की उपासना से (स्वाध्याय से) विशिष्ट चेतनावाले होते हुए ये **जुहुरे**=सदा अग्निहोत्र करनेवाले होते हैं 'जरामर्यं वा सत्रं यदग्निहोत्रम्'। इस प्रकार ध्यान व यज्ञों में प्रवृत्त ये पुरुष **अनिमिषम्**=बिना किसी प्रमाद के निरन्तर **नृम्णम्**=बल का **पान्ति**=रक्षण करते हैं। (२) इस प्रकार बल का रक्षण करते हुए ये **दृढां पुरम्**=बड़े दृढ़ इस शरीर में **आविविशुः**=प्रविष्ट होते हैं। अपने शरीर को बड़ा दृढ़ बनाये रखते हैं। 'अश्मा भवतु नस्तनूः'। इनका शरीर रोगों के लिये एक दुर्भेद्य दुर्ग के समान होता है, रोग उसमें प्रविष्ट नहीं हो पाते।

भावार्थ—हम ध्यान करें, यज्ञशील हों। अपने बल का रक्षण करें, शरीर को रोगों के लिये दुर्भेद्य दुर्ग बनायें।

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'निष्कग्रीव-बृहदुक्थ-वाजयु'

आ श्वैत्रेयस्य जन्तवो द्युमद्वर्धन्त कृष्टयः। निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयुः ॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **श्वैत्रेयस्य**=(श्वित्रं=शुद्ध हृदयान्तरिक्ष) शुद्ध हृदयान्तरिक्षवाले पुरुष के **जन्तवः**=सन्तान (जायन्ते इति) **द्युमत्**=ज्योतिर्मय होते हुए **आवर्धन्त**=सर्वथा वृद्धि को प्राप्त होते हैं। **कृष्टयः**=ये खूब ही श्रमशील व ज्ञानी होते हैं (कृष्टिः=a learned man)। वस्तुतः माता-पिता के संस्कारों को लेकर ही ये सन्तान होते हैं। (२) यह **श्वैत्रेय** (=शुद्ध हृदयवाला पुरुष)=स्वयं भी **निष्कग्रीवः**=ग्रीवा में स्वर्णहार धारण किये हुए, स्वर्ण हिरण्य=ज्ञान-विज्ञान से अलंकृत गर्दनवाला, **बृहद् उक्थः**=खूब ही स्तोत्रोंवाला **च**=तथा **एना मध्वा**=इस सोम के द्वारा (वीर्यशक्ति के द्वारा) **वाजयुः**=शक्ति को अपने साथ जोड़ने की कामनावाला होता है। यह श्वैत्रेय ज्ञानों को गर्दन में धारण किये हुए, स्तुतिशील व शक्ति-सम्पन्न होता है। तभी तो इसके सन्तान भी ज्योतिर्मय व श्रमशील होते हैं।

भावार्थ—जब माता-पिता 'श्वैत्रेय' (शुद्ध जीवनवाले) होते हैं तो उनके सन्तान ज्योतिर्मय श्रमशील होते हैं। हम अपने जीवन को ज्ञान शक्ति व स्तुति से सम्पन्न बनायें।

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

माता-पिता के निरीक्षण में

प्रियं दुग्धं न काम्यमजामि जाम्योः सचा। घर्मो न वाजजठरोऽदब्धः शश्वतो दभः ॥ ४ ॥

(१) **जाम्योः सचा**=जन्म देनेवाले माता-पिता के साथ उनके सम्पर्क में रहता हुआ मैं

प्रियम्=प्रीणित करनेवाले **दुग्धं न**=दुग्ध के समान **काम्यम्**=चाहने योग्य ज्ञान को **अजामि**=प्राप्त होता हूँ (अज गतौ)। माता-पिता ने निरीक्षण में रहनेवाला सन्तान अवाञ्छनीय बातों को नहीं सीखता। वह कमनीय ज्ञान को ही प्राप्त करता है। (२) **घर्मः न**=यह (sun-shine) सूर्य के प्रकाश के समान होता है, ज्ञान से चमकता है। **वाजजठरः**=शक्ति को अपने जठर में लिये हुए होता है, शक्तिशाली होता है। **अदब्धः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से हिंसित नहीं होता। **शश्वतः**=प्लुतगतिवाला होता है तथा **दभः**=शत्रुओं का हिंसक होता है। वस्तुत: यह निरन्तर क्रियाशीलता ही इसे शत्रुओं का संहार करने में समर्थ करती है।

भावार्थ—माता-पिता के निरीक्षण में रहनेवाला सन्तान उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करता है, प्रशस्त जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**वव्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

भस्मना वायुना

क्रीळन्नो रश्म आ भुवः सं भस्मना वायुना वेविदानः।
ता अस्य सन्धृषजो न तिग्माः सुसंशिता वक्ष्यो वक्षणेस्थाः ॥ ५ ॥

(१) हे **रश्मे**=ज्ञानकिरणस्वरूप प्रभो! **भस्मना**=ज्ञानदीप्ति से तथा **वायुना**=क्रियाशीलता से **संवेविदानः**=सम्यग् ज्ञायमान होते हुए आप **क्रीडन्**=इस संसार की क्रीड़ा को करते हुए **नः आभुवः**=हमारे अभिमुख होइये। हम अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिये निरन्तर स्वाध्यायवाले हों। कभी भी आलस्य को जीवन में स्थान न दें। इस प्रकार आपके (प्रभु के) प्रकाश को देखनेवाले बनें तथा संसार की सब घटनाओं को प्रभु की लीला के रूप में देखें। (२) प्रभु की क्रीड़ा के उस रूप में संसार को देखने पर **ताः**=वे **अस्य**=इस प्रभु की **वक्षणेस्थाः**=अग्नि में स्थित (वक्षणं=in fire) **सुसंशिताः**=अतितीक्ष्ण **धृषजः**=शत्रुओं की धर्षिका **वक्ष्यः**=ज्वालाएँ भी **नतिग्माः**=इसके लिये अतीक्ष्ण **सन्**=हों। इसे अग्नि की ज्वालाओं में भी धर्मरक्षणार्थ जलना पड़े, तो यह उन ज्वालाओं से संतप्त नहीं होता, सहर्ष उनमें अपने शरीर को भस्म होने देता है।

भावार्थ—हम ज्ञानदीप्ति व क्रियाशीलता से प्रभु की लीला को देखनेवाले बनें। हमारे लिये अग्नि की ज्वालाएँ भी शान्त हों। इन्हें भी हँसते-हँसते सह सकें। इनमें भी प्रभु की क्रीड़ा का अनुभव करें।

ये व्यक्ति सदा सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हुए चित्तवृत्ति को राजस नहीं बनने देते। सो 'प्रयस्वन्तः'=प्रकृष्ट भोजनवाले कहलाते हैं, ये **अत्रयः**='अत्रि' (अविद्यमानाः त्रयो यस्य) काम-क्रोध-लोभ से दूर होते हैं। ये प्रार्थना करते हैं कि—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रयस्वन्त आत्रेयाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यशस्वी दिव्य ऐश्वर्य

यमग्ने वाजसातम त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तं नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम् ॥ १ ॥

(१) हे **वाजसातम**=अधिक से अधिक शक्ति को देनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **यं चित्**=जिस भी **रयिम्**=ऐश्वर्य को **मन्यसे**=मान्यता देते हैं, उत्कृष्ट समझते हैं, **तम्**=उस ऐश्वर्य को **नः**=हमारे लिये **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के साथ **पनय**=(प्रापय) प्राप्त कराइये। हम आपकी

कृपा से ज्ञान व ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले हों। (२) हमें आप उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराइये, जो कि **श्रवाय्य**=अत्यन्त यशस्वी है, हमारे यश का कारण बनता है तथा **देवत्रा आ युजम्**=देवों में सम्पर्कवाला है, हमें दिव्य गुणों की ओर ले चलता है। वह ऐश्वर्य जो हमें विलास में फँसानेवाला नहीं तथा जो हमारे अपयश का कारण नहीं बनता। उत्तम साधनों से कमाया जाने के कारण व दानादि में विनियुक्त होने के कारण वह 'श्रवाय्य' हो तथा विलास में व्ययित न होता हुआ वह 'देव युज्' हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें वह धन दीजिये जो कि यशस्वी व दिव्यगुणों का प्रापक हो।

ऋषिः—**प्रयस्वन्त आत्रेयाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

द्वेष व कुटिलता से दूर

ये अ॒ग्ने॒ नेर॒यन्ति॑ ते वृ॒द्धा उ॒ग्रस्य॒ शव॑सः। अप॒ द्वेषो॒ अप॒ ह्वरो॒ऽन्यव्र॑तस्य सश्चिरे॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ये**=जो भी व्यक्ति **न ईरयन्ति**=(ईर् go away) धर्म के मार्ग से, गतमन्त्र में वर्णित 'श्रवाय व देवत्रा युज् रयि की प्राप्ति के मार्ग से' विचलित नहीं होते, **ते**=वे **उग्रस्य शवसः**=शत्रु विनाशक बल के दृष्टिकोण से **वृद्धाः**=बढ़े हुए होते हैं। धर्ममार्ग पर दृढ़ता से चलनेवालों का बल बढ़ता ही है। (२) ये धर्ममार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति **अन्यव्रतस्य**=वेदोपदिष्ट व्रतों से अन्य व्रतवाले, अवैदिक व्रतवाले, पुरुष के **द्वेषः अप सश्चिरे**=द्वेष को अपने से दूर करते हैं, **अप ह्वरः**=कुटिलता व हिंसा को अपने से दूर करते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! हम धर्ममार्ग पर चलते हुए अपने बल को बढ़ाएँ तथा द्वेष तथा कुटिलता से दूर हों।

ऋषिः—**प्रयस्वन्त आत्रेयाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु का वरण-प्रभु का स्तवन

होता॑रं त्वा वृणीम॒हेऽग्ने॒ दक्ष॑स्य॒ साध॑नम्। य॒ज्ञेषु॑ पू॒र्व्यं गि॒रा प्रय॑स्वन्तो हवामहे॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **दक्षस्य साधनम्**=सब उन्नतियों के सिद्ध करनेवाले, **होतारम्**=सब साधनों के देनेवाले **त्वा**=आपको **वृणीमहे**=हम वरते हैं। प्रभु का वरण हमें शक्ति-सम्पन्न बनाता है और हमें उन्नति-पथ पर ले चलता है। प्रकृति का वरण ही हमारी अवनति व शक्ति ह्रास का कारण बनता है। (२) **प्रयस्वन्तः**=उत्तम भोजनवाले होते हुए हम सात्त्विक वृत्तिवाले बनकर, **गिरा**=स्तुति वाणियों से **यज्ञेषु**=यज्ञों में **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु की ही आराधना करते हैं। इस प्रभु की कृपा से ही हमारे यज्ञ पूर्ण होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का वरण करते हैं, प्रभु का ही स्तवन करते हैं। प्रभु कृपा से ही हमें शक्ति प्राप्त होती है और हमारे यज्ञ पूर्ण होते हैं।

ऋषिः—**प्रयस्वन्त आत्रेयाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आराधन

इ॒त्था यथा॑ त ऊ॒तये॒ सह॑सावन्दि॒वेदि॑वे।
रा॒य ऋ॒ताय॑ सुक्रतो॒ गोभिः॑ ष्याम सध॒मादो॑ वी॒रैः स्या॑म सध॒मादः॑॥ ४॥

(१) हे **सहसावन्**=शक्ति सम्पन्न प्रभो! **इत्था**=आप ऐसी कृपा करिये कि **यथा**=जिससे हम **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **ते ऊतये**=आपकी रक्षा के पात्र हों, आप से रक्षणीय हों। **राये**=हम

उस धन के लिये हों, जो कि (रा दाने) दानादि उत्तम क्रियाओं में विनियुक्त होता है। **ऋताय**=हम ऋत के लिये हों, अनृत से दूर हों। सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले हों (ऋत=right)। (२) हे **सुक्रतो**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाले, शक्ति सम्पन्न प्रभो! (क्रतु=यज्ञ, ज्ञान, शक्ति) हम घरों में यज्ञादि कर्मों को करते हुए, स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हुए, तथा शक्ति-सम्पन्न होते हुए **गोभिः**=गौओं के साथ **सधमादः**=मिलकर आनन्द को प्राप्त करें तथा **वीरैः**=वीर सन्तानों के साथ **सधमादः स्याम**=मिलकर आनन्द को प्राप्त करें। हमारे घरों में गौवें हों और वीर सन्ताने हों। 'गौ' का अर्थ वेदवाणी भी है। हमारे घरों में वेदवाणी का उच्चारण हो और वीरता बनी रहे। ये ज्ञान और शक्ति हमारे जीवन को आनन्दित करें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम प्रभु की रक्षा के पात्र हों। धन को प्राप्त करें। जीवन को ऋतमय बनायें। हमारे घरों में गौवें हों और वीर सन्तान हों।

अगले सूक्त का ऋषि 'ससः' है (ससं इति अन्न नाम नि० २।७), प्रशस्त अन्नवाला (ससं अस्य अस्ति इति)। पिछले सूक्त के ऋषि 'प्रयस्वन्तः' से इसकी भावना मिलती जुलती ही है। उत्तम वानस्पतिक अन्नों का सेवन करता हुआ यह 'सस' आत्रेय होता है, काम-क्रोध-लोभ से दूर। यह आराधना करता है कि—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सस आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

निधीमहि-समिधीमहि

मनुष्वत्त्वा नि धीमहि मनुष्वत्समिधीमहि। अग्ने मनुष्वदङ्गिरो देवान्देवयते यज ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मनुष्वत्**=मनु की तरह एक विचारशील पुरुष की तरह **त्वा**=आपको **निधीमहि**=अपने हृदयों में स्थापित करते हैं। **मनुष्वत्**=एक विचारशील पुरुष की तरह **समिधीमहि**=अपने हृदयों में आपको समिद्ध करते हैं। ध्यान द्वारा आपको हृदयों में स्थापित करने के लिये यत्न करते हैं तो स्वाध्याय द्वारा आपकी ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करके आपके प्रकाश को देखने का प्रयत्न करते हैं। (२) हे **अंगिरः**=हमारे अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले प्रभो! **मनुष्वत्**=एक विचारशील पुरुष की तरह **देवयते**=दिव्य गुणों की कामनावाले मेरे लिये **देवान् यज**=दिव्य वृत्ति के पुरुषों को आप मेरे साथ संगत करिये ताकि उनके संग से मेरे अन्दर भी दिव्य गुणों का वर्धन हो।

भावार्थ—हम ध्यान द्वारा प्रभु को हृदयों में स्थापित करें, स्वाध्याय द्वारा उनके प्रकाश को देखें। प्रभु कृपा से दिव्य पुरुषों के संग से देववृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**सस आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

स्रुचः-सर्पिः

त्वं हि मानुषे जनेऽग्ने सुप्रीत इध्यसे। स्रुचस्त्वा यन्त्यानुषक्सुजात सर्पिरासुते ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **मानुषे जने**=विचारशील पुरुष में **सुप्रीतः**=उत्तम प्रीतिवाले होते हुए **इध्यसे**=दीप्त होते हैं। विचारशील पुरुष ही अपने हृदय में प्रभु के प्रकाश को देख पाता है। (२) हे **सुजात**=उत्तम प्रादुर्भाव के कारणभूत (शोभनं जातं यस्मात्) प्रभो! **स्रुचः**=स्तुतिवाणियाँ **आनुषक्**=निरन्तर **त्वा**=आपको **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। हम सदा आपका स्तवन करते हैं। हे **आसुते**=समन्तात् ऐश्वर्यवाले प्रभो! **सर्पिः**=(सर्पि=उदक=(रेतःकण)

यह शरीर में ही स्थित रेतःकण आपको प्राप्त होते हैं। अर्थात् शरीर में सुरक्षित हुए-हुए ये रेतःकण ज्ञानाग्नि को दीप्त करके मुझे आपका दर्शन कराते हैं।

भावार्थ—हम विचारशील बनें। हमारे मुख से स्तुतिवाणियाँ उच्चरित हों। हम रेतःकणों के रक्षण से ज्ञानाग्नि को दीप्त करके आपको देखनेवाले बनें, समन्तात् आपके ऐश्वर्य का अनुभव करें।

ऋषिः—**सस आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु रूप दूत की पूजा (दूत-देव)

त्वां विश्वे सजोषसो देवासो दूतमक्रत। सपर्यन्तस्त्वा कवे यज्ञेषु देवमीळते॥ ३॥

(१) **विश्वे**=सब **सजोषसः**=मिलकर प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले (जुष्=प्रीति सेवनयोः) **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **त्वाम्**=आपको ही **दूतम्**=ज्ञान-संदेश को प्राप्त करानेवाला **अक्रत**=करते हैं। आपसे ही ज्ञान-सन्देश को सुनते हैं। (२) हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्! सर्वज्ञ प्रभो! **यज्ञेषु**=यज्ञों में, लोकहित के लिये किये जानेवाले श्रेष्ठतम कर्मों में **त्वा सपर्यन्तः**=आपका पूजन करते हुए **देवम्**=प्रकाशमय आपको **ईडते**=आराधित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करानेवाले 'दूत' हैं। प्रभु ही हमें यज्ञों में प्रेरित करनेवाले 'देव' हैं (यज्ञस्य देवम्)।

ऋषिः—**सस आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'ऋतस्य-ससस्य' योनिमासदः

देवं वो देवयज्ययाग्निमीळीत मर्त्यः।
समिद्धः शुक्र दीदिह्यृतस्य योनिमासदः ससस्य योनिमासदः॥ ४॥

(१) **मर्त्यः**=मनुष्य **वः**=तुम सब के **देवम्**=प्रकाशक **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **देवयज्यया**=देवयज्ञ के द्वारा **ईडीत**=उपासित करे। यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है। (२) हे प्रभो! **समिद्धः**=ज्ञान प्राप्ति के द्वारा हृदय में समिद्ध किये गये **शुक्रः**=दीप्तिमय आप **दीदिहि**=प्रकाशित होइये। मेरे हृदय में आपका प्रकाश हो। **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के घर में **आसदः**=आप आसीन होइये। **ससस्य योनिम्**=वानस्पतिक भोजन का सेवन करनेवाले के घर में **आसदः**=आप आसीन होइये। प्रभु का निवास वहीं होता है जहाँ सब कार्य 'ऋत' पूर्वक हों तथा जहाँ क्रूरता व हिंसा से प्राप्य भोजनों का स्थान न हो।

भावार्थ—प्रभु को हम यज्ञों द्वारा पूजित करते हैं। ऋत का पालन करते हुए, वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करते हुए हम प्रभु को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार 'ऋत का उपासक' 'वानस्पतिक अन्नों का सेवक' यह पुरुष 'विश्वसामा' (विश्व सामयस्य) अत्यन्त शान्त स्वभाव का बनता है। आत्रेय तो होता ही है। यह प्रभु की आराधना इस प्रकार करता है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वसामा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

होता-मन्द्रतमः

प्र विश्वसामन्नत्रिवदर्चा पावकशोचिषे। यो अध्वरेष्वीड्यो होता मन्द्रतमो विशि॥ १॥

(१) हे **विश्वसामन्**=काम व मत्सर में 'काम-क्रोध-लोभ' के विनाश के द्वारा

शान्ति को उत्पन्न करनेवाले! तू **अत्रि-वत्**='काम-क्रोध-लोभ' से रहित पुरुष की तरह **पावकशोचिषे**=पवित्र दीप्तिवाले प्रभु के लिये **प्र अर्चा**=पूजा को करनेवाला हो। तू वासनाओं को विनष्ट करने का प्रयत्न करता हुआ प्रभु-पूजन करनेवाला बन। (२) उस प्रभु का तू पूजन कर **यः**=जो कि **अध्वरेषु**=हिंसारहित कर्मों में **ईड्यः**=उपासना के योग्य हैं। **होता**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले हैं और **विशि**=सब प्रजाओं में **मन्द्रतमः**=स्तुत्यतम हैं।

भावार्थ—हम काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठकर प्रभु का पूजन करें, प्रभु यज्ञों में पूज्य होते हैं, सब कुछ देनेवाले हैं, स्तुत्यतम हैं।

ऋषिः—**विश्वसामा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'ध्यान' व 'निरन्तर यज्ञ'

न्य१ग्निं जातवेदसं दधाता देवमृत्विजम्। प्र यज्ञ एत्वानुषगद्या देवव्यचस्तमः ॥ २ ॥

(१) हे विश्वसामन्! आपको हम **अग्निम्**=अग्रणी, **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ, **देवम्**=प्रकाशमय, **ऋत्विजम्**=प्रत्येक ऋतु में उपासनीय प्रभु को **निदधात**=अपने हृदय में स्थापित करें। (२) **अद्य**=आज हमें **यज्ञः**=यज्ञ **आनुषक्**=निरन्तर **प्र एतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। यह यज्ञ **देवव्यचस्तमः**=देवों में अधिक से अधिक व्याप्तिवाला है। हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का संचार करता हुआ यज्ञ हमें देव बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का हृदयों में ध्यान करें। यज्ञों को अपनाएँ। ये यज्ञ ही हमारे जीवनों में दिव्यगुणों को उत्पन्न करेंगे।

ऋषिः—**विश्वसामा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु के वरणीय रक्षण का ध्यान

चिकित्विन्मनसं त्वा देवं मर्तास ऊतये। वरेण्यस्य तेऽवस इयानासो अमन्महि ॥ ३ ॥

(१) **मर्तासः**=मनुष्य **ऊतये**=रक्षण के लिये **चिकित्विन्मनसम्**=ज्ञानयुक्त मनवाले, अथवा हमारे मनों को ज्ञानयुक्त करनेवाले **देवम्**=प्रकाशमय **त्वा**=आपको **इयानासः**=प्राप्त होनेवाले होते हैं। आपकी उपासना ही हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती है और हम आपके ही छोटे रूप-देवतुल्य बन पाते हैं। (२) **वरेण्यस्य**=वरने के योग्य **ते**=आपके **अवसः**=रक्षण का ही हम **अमन्महि**=मनन करते हैं। किस प्रकार अद्भुत उपायों से आप हमारा रक्षण करते हैं। उस आपके रक्षण का स्मरण करते हुए हम आपके उपासक बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों को प्रकाशमय व दिव्यवृत्तिवाला बनाते हैं। प्रभु का रक्षण ही वरणीय है।

ऋषिः—**विश्वसामा आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

स्तोमैः-गीर्भिः

अग्ने चिकिद्ध्य१स्य न इदं वचः सहस्य ।
तं त्वा सुशिप्र दम्पते स्तोमैर्वर्धन्त्यत्रयो गीर्भिः शुम्भन्त्यत्रयः ॥ ४ ॥

(१) हे **सहस्य**=सहसः सूनो! बल के पुत्र, बल के पुञ्ज, **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **नः**=हमारे **इदम्**=इस **वचः**=स्तुति वचन को आप **चिकिद्धि**=जानिये। हमारा यह स्तुतिवचन आपके लिये प्रिय हो। (२) हे **सुशिप्र**=शोभन हनु वा नासिकावाले! **दम्पते**=गृहपते प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **अत्रयः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले व्यक्ति **स्तोमैः**=स्तुतियों से **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। ये

अत्रयः=अत्रि गीर्भिः=ज्ञान की वाणियों से शुम्भन्ति=अपने हृदयों में आपको अलंकृत करते हैं। प्रभु को 'सुशिप्र' करने का भाव यह है कि प्रभु स्मरण से हम उत्तम हनु व नासिकावाले बनते हैं। 'शोभने हनू नासिके वा यस्मात्'। प्रभु स्मरण हमें अति भोजन की वृत्ति से दूर करके, असात्त्विक भोजनों से दूर करके, उत्तम जबड़ोंवाला बनाता है तथा प्राणायाम में प्रवृत्त करता है। इस प्रकार प्रभु-स्मरण हमें 'सुशिप्र' बनाता है।

भावार्थ—हम स्तुतियों व ज्ञानवाणियों से प्रभु का अपने में धारण करें। इससे हम 'मितभोजी-प्राणायाम के अभ्यासी व शरीर गृह के रक्षक' बनेंगे।

गतमन्त्र के अनुसार जीवन के होने पर हम ज्ञानज्योतिवाले 'द्युम्न' होंगे, तत्त्वद्रष्टा 'विश्वचर्षणि' बनेंगे। यह द्युम्न विश्वचर्षणि प्रभु की आराधना करता हुआ कहता है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**द्युम्नो विश्वचर्षणिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विजय

अग्ने सहन्तमा भर द्युम्नस्य प्रासहा रयिम्।
विश्वा यश्चर्षणीरभ्याऽऽसा वाजेषु सासहत्॥ १॥

(१) **अग्ने**=हे परमात्मन्! **प्रासहा**=प्रकर्षेण शत्रुओं के अभिभावक बल से **सहन्तम्**=शत्रुओं को कुचलते हुए **रयिम्**=ऐश्वर्य को **द्युम्नस्य**=इस ज्ञान-ज्योतिवाले पुरुष के लिये **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइये। वह धन, जो हमें विषयों की ओर न ले जाकर, काम-क्रोध आदि को जीतनेवाला बनाता है, वही अभीष्ट धन है। (२) वह धन, **यः**=जो कि **आसा**=मुख में स्तोत्रों के द्वारा **वाजेषु**=संग्रामों में **विश्वाः**=सब **चर्षणीः**=शत्रुभूत मनुष्यों को **अभि सासहत्**=पराभूत करता है। वस्तुतः पूर्वार्ध में आन्तर शत्रुओं के पराभव का संकेत था, जो उत्तरार्ध में बाह्य शत्रुओं के पराभव का उल्लेख है। हम आन्तर व बाह्य दोनों शत्रुओं को जीतनेवाले बनें।

भावार्थ—हे प्रभो! हमारे लिये उस धन को प्राप्त कराइये, जो कि हमें आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विजेता बनाये।

ऋषिः—**द्युम्नो विश्वचर्षणिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शत्रुनाशक धन-ज्ञानयुक्त बल

तमग्ने पृतनाषहं रयिं सहस्व आ भर। त्वं हि सत्यो अद्भुतो दाता वाजस्य गोमतः॥ २॥

(१) हे **सहस्वः**=बलवन् **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **तम्**=उस **रयिम्**=धन को **आभर**=हमारे में सर्वथा धारण करिये जो कि **पृतनाषहम्**=शत्रु सेनाओं को कुचल देनेवाला है। अर्थात् ऐसा धन जो कि विषयों में न फँसकर हमें विषयों से दूर ले जानेवाला है। प्रभु ही हमारे लिये ऐसे धन को प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। **अद्भुतः**=अद्भुत हैं, मनुष्य ज्ञान शक्ति व धनवाले हैं। **गोमतः**=ज्ञान की वाणियोंवाले **वाजस्य**=बल के **दाता**=आप देनेवाले हैं। हमारे लिये ज्ञान व बल को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु शत्रु नाशक धन को देते हैं, ज्ञानयुक्त बल को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—द्युम्नो विश्वचर्षणिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सजोषसः-वृक्तबर्हिषः

विश्वे हि त्वा सजोषसो जनासो वृक्तबर्हिषः। होतारं सद्मसु प्रियं व्यन्ति वार्या पुरु॥ ३ ॥

(१) **विश्वे**=सब **हि**=ही **सजोषसः**=मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्यों को करनेवाले, **वृक्तबर्हिषः**=(वृक्तं बर्हिः यैः) हृदयों से वासनारूप घास-फूस को उखाड़ देनेवाले **जनासः**=लोग, हे प्रभो! **त्वा**=आप से ही **वार्या**=वरणीय वस्तुओं की **पुरु**=खूब **व्यन्ति**=याचना करते हैं (व्यन्तिः याचन्ते सा०) (२) उन आपसे याचना करते हैं, जो आप **सद्मसु**=हमारे गृहों में **होतारम्**=सब वरणीय वस्तुओं के देनेवाले हैं, तथा **प्रियम्**=प्रीति व तृप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय बनने के लिये आवश्यक है कि हम मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्य करें, तथा वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले हों। प्रभु होता हैं, प्रिय हैं। वे ही सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—द्युम्नो विश्वचर्षणिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शत्रु-हिंसक बल-धन-ज्योति

स हि ष्मा विश्वचर्षणिरभिमाति सहो दधे।
अग्न एषु क्षयेष्वा रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि॥ ४॥

(१) **सः**=वे **विश्वचर्षणिः**=विश्वद्रष्टा सबका ध्यान करनेवाले प्रभु **हि**=ही **अभिमाति**=शत्रुओं के हिंसक **सहः**=बल को **आ दधे स्म**=हमारे में धारण करते हैं। (२) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **एषु क्षयेषु**=गृहों में **रेवत्**=धनयुक्त होकर **नः**=हमारे लिये **दीदिहि**=दीप्त होइये। अर्थात् हमें आवश्यक धनों को प्राप्त कराइये। हे **पावक**=पवित्र करनेवाले, **शुक्र**=दीप्त प्रभो! **द्युमत्**=ज्योतिर्मय होकर हमारे लिये **दीदिहि**=दीप्त होइये।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रु-हिंसक बल, धन व ज्योति प्राप्त करायें।

इस प्रकार शत्रु-हिंसक बल को प्राप्त करके ये 'लौपायन' शत्रुओं का लोप करनेवाले बनते हैं। इन्द्रियों का रक्षण करते हुए 'गौपायन' होते हैं। इनके रक्षण के लिये ही **बन्धुः**=सदा यज्ञादि कर्मों में अपने को बाँधनेवाले, **सुबन्धुः**=उत्तम कार्यों में अपने को बाँधनेवाले होते हैं। ये **श्रुतबन्धु**=शास्त्रज्ञान से अपने को बाँधनेवाले व **विप्रबन्धु**=ज्ञानी पुरुषों के संगवाले बनते हैं। ये प्रार्थना करते है कि—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा ॥ देवता—अग्निः ॥
छन्दः—साम्नी बृहती ॥ स्वरः—माध्यमः ॥

अन्तमः त्राता

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=(intimate) अन्तिकतम मित्र हैं। **उत**=और **त्राता**=रक्षक हैं। (२) **शिवः भव**=आप हमारा कल्याण करनेवाले होइये। **वरूथ्यः**=आप ही हमारे रक्षकों में सर्वोत्तम हैं। (वरूथ cover) आप से आच्छादित हुए-हुए हम सदा काम-क्रोध आदि से बचे रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे अन्तिकतम मित्र रक्षक व कल्याण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**माध्यमः**॥

वसुः अग्निः

वसु॑र॒ग्निर्वसु॑श्रवा॒ अच्छा॑ नक्षि द्यु॒मत्त॑मं र॒यिं दाः॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप ही **वसुः**=हमारे बसानेवाले हैं। **अग्निः**=आगे ले चलनेवाले हैं। **वसुश्रवाः**=निवास के लिये उपयोगी ज्ञान को देनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! **अच्छा नक्षि**=मैं आपके अभिमुख प्राप्त होता हूँ अथवा आप ही हमें, कृपा करके, आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं और **द्युमत्तमं रयिं दाः**=अधिक से अधिक ज्योतिर्मय धन को देते हैं। प्रभु से प्राप्त धन हमें ज्ञान-ज्योति के वर्धन में सहायक होता है।

भावार्थ—प्रभु 'वसु' हैं, 'अग्नि' हैं, 'वसुश्रवाः' हैं। वे हमें उस धन को प्राप्त करायें जो कि हमारे लिये ज्ञान-ज्योति के वर्धन में सहायक हो।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**माध्यमः**॥

पाप चाहनेवाले से बचाव

स नो॑ बोधि श्रु॒धी हव॑मुरु॒ष्या णो॑ अघाय॒तः स॑मस्मात्॥ ३॥

१. **सः**=वे आप **नः बोधि**=हमें बोधयुक्त करिए, **हवं श्रुधी**=हमारी पुकार को सुनिए। २. **नः**=हमें **समस्मात्**=सब **अघायतः**=अघ की कामनावाले—हमारे साथ पापों व कष्टों को जोड़ने की कामनावाले—पुरुषों से **उरुष्या**=बचाइए। हम इन अघशंसों के चक्कर में पड़कर पापमय जीवनवाले न हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान दें। हमारी इस आराधना को वे सुनें कि हम अघ (पाप) की कामनावाले पुरुषों के चक्कर में न फंस जाएँ।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा**॥ देवता—**अग्निः**॥
छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**माध्यमः**॥

सुम्न+सखा

तं त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवः सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्यः॥ ४॥

१. हे **शोचिष्ठ**=अधिक-से-अधिक हमारे जीवन को पवित्र बनानेवाले, **दीदिवः**=ज्ञान दीप्ति से दीप्त प्रभो! **तं त्वा**=उन आपसे हम **सुम्नाय**=सुखप्राप्ति के लिए **नूनम्**=निश्चय से **ईमहे**=याचन करते हैं। २. इसी दृष्टिकोण से हम **सखिभ्यः**=उत्तम मित्रों की प्राप्ति के लिए याचना करते हैं। इस संसार में जीवनों के निर्माण में मित्रों का भी प्रमुख स्थान है। उत्तम मित्र को प्राप्त करके हम जीवन को उत्तम बना सकें।

भावार्थ—हे प्रभो! शुचिता व पवित्रता को प्राप्त कराके हमारे जीवनों को सुखी करिए तथा उत्तम मित्रों के द्वारा सदा हमारे ज्ञान का वर्धन करिए।

इन मित्रों के सम्पर्क में हम सदा उत्तम वसुओं को प्राप्त करनेवाले 'वसूयु' बनें। 'वसूयु' बनकर 'आत्रेय' हों—सब त्रिविध कष्टों से दूर। इन वसूयु आत्रेयों की प्रार्थना है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—वसूयव आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

वसुः+ऋतावा

अच्छा वो अग्निमवसे देवं गासि स नो वसुः। रासत्पुत्र ऋषुणामृतावा पर्षति द्विषः ॥ १ ॥

१. **वः**=तुम्हारे **अग्निम्**=अग्रणी—उन्नति के साधक **देवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु की **अच्छा**=ओर तू **अवसे**=रक्षण के लिए आता है **गासि**=उस प्रभु का ही गायन करता है। **सः**=वह प्रकाशमय प्रभु ही **नः**=हमारा **वसुः**=बसानेवाला है। **रासत्**=वही हमारे लिए सब इष्ट पदार्थों को प्राप्त कराता है। २. **ऋषूणाम्**=यह तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों का **पुत्रः** (पुनाति त्रायते)=पवित्र करनेवाला व त्राण करनेवाला है। **ऋतावा**=ज्ञान के द्वारा उन ऋषियों में ऋत का (यज्ञ का—श्रेष्ठतम कर्म का) रक्षण करनेवाला है। यह हमें सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **पर्षति**=पार करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का गायन करें। प्रभु ही हमारा निवास उत्तम बनानेवाले हैं। वे हमें ज्ञान देकर अनृत से दूर करते हैं—द्वेषों से ऊपर उठाते हैं। हमारे जीवन में ऋत का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वसूयव आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'होता-मन्द्रजिह्व-विभावसु'

स हि सत्यो यं पूर्वे चिद्देवासश्चिद्यमीधिरे। होतारं मन्द्रजिह्वमित्सुदीतिभिर्विभावसुम् ॥ २ ॥

१. **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं, **यम्**=जिनको **पूर्वे**=अपना पालन व पूरक करनेवाले लोग **चित्**=ही **ईधिरे**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं। **यम्**=जिनको **देवासः**=देववृत्तिवाले लोग—ज्ञान से अपने हृदयों को प्रकाशमय बनानेवाले लोग—**चित्**=ही अपने में समिद्ध करते हैं। २. उस परमात्मा को ये पूर्व तथा देव समिद्ध करते हैं, जोकि **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले हैं। **मन्द्रजिह्वम्** (मंदनजिह्वं, मोदमानजिह्वं वा नि० ६.२३)=प्रशंसनीय व आनन्दप्रद वाणीवाले हैं—जिनसे उच्चरित वेदज्ञान स्तुत्य व सुखद है। **इत्**=निश्चय से **सुदीतिभिः**=उत्तम ज्ञानदीप्तियों से **विभावसुम्**=ज्ञानधनवाले हैं।

भावार्थ—हम अपना पालन व पूरण करते हुए देववृत्तिवाले बनकर हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। वे प्रभु 'होता-मन्द्रजिह्व व विभावसु' हैं। हमारे लिए भी वे प्रशंसनीय आनन्दप्रद ज्ञानधन को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वसूयव आत्रेयः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

धनों द्वारा 'शुभकर्म, ज्ञानवर्धन, पापवर्जन' (धीति, सुमति, सुवृक्ति)

स नो धीती वरिष्ठया श्रेष्ठया च सुमत्या। अग्ने रायो दिदीहि नः सुवृक्तिभिर्वरेण्य ॥ ३ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **रायः**=ऐश्वर्यों को **दिदीहि**=दीजिए। ताकि हम **वरिष्ठया धीती**=श्रेष्ठतम परिचरणात्मक कर्मों को कर सकें (हेतौ तृतीया)। इन वरिष्ठ कर्मों के हेतु से हमें ऐश्वर्यों को दीजिए। ऐश्वर्य को प्राप्त करके हम इन धारणात्मक कर्मों को कर सकें। २. हे **वरेण्य**=वरने योग्य प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **श्रेष्ठया सुमत्या**=श्रेष्ठ सुमति के हेतु से धनों को दीजिए। इसलिए हमें धनों को प्राप्त कराइए ताकि उनके द्वारा ज्ञानसाधनों को जुटाकर हम सुमति का वर्धन कर सकें। **च**=और **सुवृक्तिभिः**=उत्तमता से (अच्छी प्रकार) पापवर्जन के हेतु से हमारे लिए धनों को दीजिए। कहीं दरिद्रता हमें पाप की ओर न ले जाए। (बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्)।

भावार्थ—हमें प्रभु ऐश्वर्य दें ताकि हम उत्तम परिचरणात्मक कर्म कर सकें, (ख) ज्ञानसाधनों को जुटाकर ज्ञान का वर्धन कर सकें तथा (ग) पापों को अपने से दूर रख सकें।

सूचना—वही ऐश्वर्य ठीक है जिससे हमारे हाथ धारणात्मक कर्मों में लगे हों, मन पापवर्जनवाले हों, मस्तिष्क ज्ञानदीप्तिवाले हों।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

हव्यवाहन प्रभु का 'धी' द्वारा उपासन

अ॒ग्निर्दे॒वेषु॑ राजत्य॒ग्निर्मर्ते॑ष्वावि॒शन्। अ॒ग्निर्नो॑ हव्य॒वाह॑नो॒ऽग्निं धी॒भिः स॑पर्यत ॥ ४ ॥

१. **अग्निः**=यह अग्रणी प्रभु ही **देवेषु**=सूर्य चन्द्र तारे आदि सब देवों में **राजति**=चमक रहा है। उसी की दीप्ति से सब देव दीप्त हो रहे हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु ही **मर्तेषु**=सब मरणधर्मा प्राणियों में भी **आविशन्**=प्रविष्ट हो रहे हैं। इन मनुष्यों में तो बल, ज्ञान व धन है, वह सब उस प्रभु के कारण ही है 'तेजस्तेजस्विनामहम्' 'बुद्धिबुद्धिमतामस्मि' 'अहं धनानि संजयामि शाश्वतः'। २. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **वः**=हमारे लिए **हव्यवाहनः**=सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **धीभिः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा स्तुति करते हुए **सपर्यत**=पूजो। जितना-जितना हम ज्ञान का वर्धन करते हैं व बुद्धि को सूक्ष्म बनाते हैं उतना-उतना ही प्रभु के समीप होते चलते हैं। इसी प्रकार हम प्रभु का सच्चा पूजन कर पाते हैं।

भावार्थ—सर्वत्र देवों में मनुष्यों में प्रभु का ही प्रकाश है। प्रभु ही सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। ज्ञान के द्वारा हम प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दाश्वान् का पुत्र

अ॒ग्निस्तु॒विश्र॑वस्तमं तु॒विब्र॑ह्माणमु॒त्तमम्। अ॒तूर्तं॑ श्राव॒यत्प॑तिं पु॒त्रं द॑दाति दा॒शुषे॑ ॥ ५ ॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—दान की वृत्तिवाले व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए—**पुत्रं ददाति**=उत्तम सन्तान को प्राप्त कराते हैं। जो सन्तान **तुविश्रवस्तमम्**=खूब ही उत्कृष्ट ज्ञानवाला है। **तुविब्रह्माणम्**=(ब्रह्म=स्तोत्र) खूब स्तोत्रोंवाला है—प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला है और अतएव **उत्तमम्**=उत्तम जीवनवाला है। ज्ञान व स्तवन से जो प्रशस्त जीवनवाला बना है। २. उस सन्तान को प्रभु प्राप्त कराते हैं, जो कि **अतूर्तम्**=काम-क्रोध आदि से हिंसित नहीं होता तथा **श्रावयत् पतिम्**=अपने उत्तम कर्मों से अपने रक्षकों (पति=माता-पिता आदि) की कीर्ति को फैलानेवाला है।

भावार्थ—हम दाश्वान् बनें ताकि 'तुविश्रवस्तम, तुविब्रह्मा, उत्तम अतूर्त, श्रावयत् पति' सन्तान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कैसा पुत्र?

अ॒ग्निर्द॑दाति॒ सत्प॑तिं सा॒साह॒ यो यु॒धा नृभिः॑। अ॒ग्निरत्यं॑ रघु॒ष्यदं॑ जे॒तार॒मप॑राजितम् ॥ ६ ॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **ददाति**=ऐसे पुत्र को देते हैं, जो कि **सत्पतिम्**=सत्कर्मों का रक्षक होता है। **यः**=जो **नृभिः**=मनुष्यों से **युधा**=युद्ध के द्वारा **सासाह**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। २. **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु उस सन्तान को प्राप्त कराते हैं जो कि **अत्यम्**=सततगमनशील

होता है, **रघुष्यदम्**=वेगयुक्त गतिवाला होता है—सब कार्यों को स्फूर्ति के साथ करता है, **जेतारम्**=सदा विजयी होता है, और **अपराजितम्**=कभी पराजित नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें ऐसा पुत्र प्राप्त हो जो कि सत्कर्मों का रक्षक हो। युद्ध में जीतनेवाला हो। क्रियाशील स्फूर्तिसम्पन्न—विजयी व अपराजित हो।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभुपूजन व दान

यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो। महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ ७ ॥

१. **यद् वाहिष्ठम्**=जो भी वस्तु वाहिष्ठ हो—वो दृढ़तम हो—हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचाने के लिए उत्तम हो—**तद्**=उसे **अग्नये**=उस प्रभु के लिए अर्पित करो। हमारे में 'शक्ति धन व ज्ञान' जो भी कुछ उत्कृष्ट रूप में हो, उसे प्रभु के अर्पित करना चाहिए—उसे प्रभुकृपा से प्राप्त समझना चाहिए—उसका गर्व न करना चाहिए। हे **विभावसो**=ज्ञान को धन समझनेवाले उपासक! तू इस प्रकार वाहिष्ठ वस्तु को प्रभु के अर्पण करता हुआ **बृहद् अर्च**=खूब ही प्रभु का पूजन करनेवाला हो। वस्तुतः प्रभु पूजन यही है कि सब जयों को प्रभु की विजय समझना और उसका अहंकार न करना। २. **महिषी इव**=महिषी की तरह—एक पूजा की वृत्तिवाली गृहपत्नी की तरह **त्वद् रयि**=तेरे से धन **उदीरते**=उद्गत होता है, **त्वद् वाजाः**=तेरे से सब अन्न उद्गत होते हैं। जैसे एक उत्तम गृहपत्नी सबको खिलाकर स्वयं खाती है—आये-गये व्यक्तियों के लिए दान देनेवाली होती है, उसी प्रकार विभावसु भी औरों को खिलाकर खानेवाला व दान देनेवाला बनता है। यह सदा यज्ञशेष का सेवन करता है।

भावार्थ—ज्ञानधन व्यक्ति सब विजयों को प्रभु के अर्पण करता है। खूब ही अन्नों व धनों का देनेवाला बनता है।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उस महान् गुरु के शब्दों को सुनें

तवं द्युमन्तों अर्चयो ग्रावेवोच्यते बृहत्। उतो ते तन्यतुर्यथा स्वानो अर्त त्मना दिवः ॥ ८ ॥

१. हे प्रभो! **तव**=आपकी **अर्चयः**=ज्ञान ज्वालाएँ **द्युमन्तः**=अत्यन्त ज्योतिर्मय है। आप **बृहत्**=सर्वमहान् **ग्रावा इव**=उपदेष्टा (गुरु) की तरह **उच्यते**=कहे जाते हैं 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। आप ही गुरुओं के गुरु—सर्वप्रथम गुरु हैं। २. आपके ज्ञान को किसी और से प्राप्त नहीं करते। **उत**=और **त्मना दिवः**=स्वयं ज्योतिर्मय ने आपका **स्वानः**=शब्द इस प्रकार **अर्त**=उद्गत होता है **यथा**=जैसे **उ**=निश्चय से **तन्यतुः**=मेघध्वनि हो। मेघध्वनि के समान गर्जनावाले इन शब्दों को भी हम अज्ञानी नहीं सुन पाते।

भावार्थ—उस दीप्तिमय प्रभु के कल्याणकर शब्दों को हम सुननेवाले बनें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'द्वेष समुद्र तारणी' नाव

एवाँ अग्निं वसूयवः सहसानं ववन्दिम। स नो विश्वा अति द्विषः पर्षन्नावेव सुक्रतुः ॥ ९ ॥

१. **एवम्**=इस प्रकार **वसूयवः**=सब वसुओं को प्राप्त करने की कामनावाले हम **सहसानम् अग्निम्**=हमारे बल की तरह आचरण करते हुए प्रभु को **ववन्दिम**=वन्दना करते हैं। जब हम प्रभु की वन्दना करते हैं, तो प्रभु के बल से बल सम्पन्न होते हैं। इसी बल के द्वारा हम सब वसुओं

को प्राप्त होनेवाले होते हैं। २. **सः**=वे **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा प्रभु **नः**=हमें **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेषों से इस प्रकार **अतिपर्षत्**=पार करें, **इव**=जैसे कि **नावा**=नौका से सिन्धु को पार करते हैं। नाव से समुद्र को पार करने के समान हम सुक्रतु प्रभु को द्वेषसागर से पार करने की नाव बनायें।

भावार्थ—हम प्रभु की वन्दना करें। प्रभु हमें शक्तिसम्पन्न बनाकर सब द्वेषों से दूर करें।

अगले सूक्त में 'वसूयवः आत्रेयः' ही ऋषि है, देवता भी 'अग्नि' ही है—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'रोचिषा—मन्द्रयाजिह्वया' (ज्ञान+स्तुति)

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान्वक्षि यक्षि च॥ १॥

१. हे **पावक**=पवित्र करनेवाले, **अग्ने**=अग्रणी **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **रोचिषा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा तथा **मन्द्रया जिह्वया**=स्तुतिवाली जिह्वा के द्वारा आप **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवक्षि**=हमें प्राप्त कराएँ **च**=और उन दिव्य गुणों का ही **यक्षि**=हमारे साथ संगम कराएँ। २. प्रभु हमें पवित्र करें। हमें उन्नति पथ पर आगे ले-चलें। हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाएँ। ज्ञानदीप्ति के द्वारा तथा स्तुतिशब्दों का उच्चारण करनेवाली वाणी के द्वारा प्रभु हमारे जीवनों में दिव्यता का वर्धन करें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा झुकाव ज्ञान व स्तुतिमय वाणी की ओर हो। ये दोनों ही चीजें हमें देव बनानेवाली हों।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्रीः** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

देवसम्पर्क से अज्ञानान्धकार का विनाश

तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्। देवाँ आ वीतये वह॥ २॥

१. हे **घृतस्नो**=ज्ञानदीप्ति के प्रेरक, **चित्रभानो**=अद्भुत ज्ञानरश्मियोंवाले प्रभो! **स्वर्दृशम्**=सबके देखनेवाले **तं त्वा**=उन आपको हम **ईमहे**=याचना करते हैं। आप हमें भी ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराइए। सब ज्ञानों के प्रेरक आप ही तो हैं। २. **वीतये**=सब अज्ञानान्धकारों को विनाश के लिए **देवान्**='माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देवों को **आवह**=हमें प्राप्त कराइए। हम देवों के सम्पर्क में आकर हमारा अज्ञान नष्ट हो और हम ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल जीवनवाले बनें। हमारे जीवन में 'सच्चरित्रता-सदाचार-ज्ञान व यज्ञशीलता' को ये देव उत्पन्न करें। इनके द्वारा हमारा जीवन चमक उठे।

भावार्थ—प्रभु सब ज्ञानों के प्रेरक हैं। प्रभु कृपा से हमें 'उत्तम माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देव प्राप्त होते हैं। इनके द्वारा प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्रीः** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

होत्र-ज्ञान-अध्वर

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे॥ ३॥

१. हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्—सर्वज्ञ प्रभो! **वीतिहोत्रम्**=कान्त यज्ञोंवाले **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय **त्वा**=आपको हम अपने हृदयों में **समिधीमहि**=समिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। आपको समिद्ध करने का उपाय यही तो है कि हम कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करके 'वीतिहोत्र' बनने का प्रयत्न करें तथा ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाकर 'द्युमान्' बनें। २. हे **अग्ने**=अग्रणी

प्रभो! **बृहन्तम्**=महान्—सदावृद्ध आपको **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों में दीप्त करने के लिए यत्नशील हों। हम अपने जीवनों में अध्वरात्मक कर्मों में व्यापृत होकर आगे और आगे बढ़ें। इसी प्रकार हम आपको अपने जीवनों में दीप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए हम (क) यज्ञप्रिय हों (ख) ज्ञान को बढ़ाएँ (ग) अध्वरात्मक (अहिंसात्मक) कर्मों में व्यापृत हों।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री:** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिव्यगुणों व प्रभु की प्राप्ति के लिए 'हव्यदाति' बनें

अग्ने॒ विश्वे॑भि॒रा ग॑हि दे॒वेभि॑र्ह॒व्यदा॑तये। होता॑रं त्वा वृणीमहे ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **हव्यदातये**=हव्यों के देनेवाले यज्ञशील पुरुष के लिए **विश्वेभिः देवेभिः**=सब देवों के साथ **आगहि**=प्राप्त होइए। देने के स्वभाववाला यज्ञशील पुरुष दिव्यगुणों को प्राप्त हो और इन दिव्यगुणों का वर्धन करता हुआ अन्ततः आपकी प्राप्ति का पात्र हो। २. हम **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले **त्वा**=आपको ही **वृणीमहे**=वरते हैं। आपकी प्राप्ति में सब प्राप्त हो जाता है। आपके उपासक बनने पर मनुष्य को किसी प्रकार की कमी नहीं रह जाती।

भावार्थ—हम हव्यदाति-यज्ञशील बनें। हमें सब दिव्यगुण प्राप्त होंगे। दिव्यगुणों के साथ हम प्रभु के समीप होते चलेंगे। हम में किसी बात की कमी न रहेगी।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री:** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यजमान+सुन्वत्

यज॑मानाय सुन्व॒त आग्ने॑ सु॒वीर्यं॑ वह। दे॒वैरा स॑त्सि ब॒र्हिषि॑ ॥ ५ ॥

१. **यजमानाय**=यज्ञशील और यज्ञशीलता के द्वारा **सुन्वते**=सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष के लिए हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **सुवीर्यम्**=उत्तम बल व पराक्रम को **आवह**=प्राप्त कराइए। यज्ञों में लगे रहने से हम वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते और सोमरक्षण के द्वारा सुवीर्य को प्राप्त करते हैं। २. ऐसा होने पर हे प्रभो! आप **बर्हिषि**=हमारे वासनाशून्य हृदयों में **देवैः**=सब दिव्यगुणों के साथ **आसत्सि**=आसीन होते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। वासनाओं से बचे रहकर सोम का रक्षण करें। यही दिव्यगुणों व प्रभु की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री:** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धार्मिक जीवन

स॒मि॒धा॒नः स॑हस्र॒जिद॑ग्ने॒ धर्मा॑णि पुष्यसि। दे॒वानां॑ दू॒त उ॒क्थ्यः॑ ॥ ६ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **समिधानः**=हृदयदेश में समिद्ध किये जाते हुए आप **सहस्रजित्**=सहस्रशः वासनाओं को पराजित करनेवाले हैं। इन काम, क्रोध आदि को आप ही भस्म करते हैं। इन्हें भस्म करके **धर्माणि**='देवपूजा-संगतिकरण-दान' रूप प्रथम धर्मों का **पुष्यसि**=आप ही हमारे जीवनों में पोषण करते हैं। २. **देवानां दूतः**=देववृत्तियों के लिए आप ही ज्ञानसन्देश का वहन करते हैं और आप ही **उक्थ्यः**=स्तुति के योग्य हैं। आपका स्तवन करते हुए हम (क) वासनाओं को पराजित करते हैं (ख) धर्म का अपने में पोषण करते हैं और (ग) ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। वासनाओं से आक्रान्त न होते हुए धर्म में प्रवृत्त रहकर,

ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री:** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु का धारण

न्य१॒ग्निं जा॒तवे॑दसं॒ होत्र॒वाहं॒ यवि॑ष्ठ्यम्। दधा॑ता दे॒वमृ॒त्विज॑म्॥ ७॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रगति के साधक **जातवेदसम्**=ज्ञान को हमारे में प्रादुर्भूत करनेवाले (जातः वेदः यस्मात्) **होत्रवाहम्**=हमारे सब यज्ञों का वहन करनेवाले, **यविष्ठ्यम्**=हमारे से बुराइयों को अधिक-से-अधिक दूर करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले प्रभु को **नि दधात**=अपने हृदयमन्दिरों में स्थापित करो। २. उस प्रभु को हृदय में आसीन करो जो कि **देवम्**=प्रकाशमय हैं तथा **ऋत्विजम्**=ऋतु-ऋतु में—समय-समय पर अर्थात् सदा यजनीय (उपासनीय) हैं। यह प्रभु का उपासन ही हमारे जीवनों को उत्तम बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करें। ये हमारे जीवनों को प्रगतिवाला-ज्ञानयुक्त-यज्ञमय बनाएँगे।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री:** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञ-दिव्यगुण-प्रभुप्राप्ति

प्र य॒ज्ञ ए॒त्वानु॒षग॒द्या दे॒वव्य॑चस्तमः। स्तृ॒णी॒त ब॒र्हिरा॒सदे॑॥ ८॥

१. **यज्ञः**='देवपूजा-संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ हमें **आनुषक्**=निरन्तर **प्र एतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। यह यज्ञ **अद्य**=आज हमारे लिए **देवव्यचस्तमः**=दिव्यगुणों के अधिक-से-अधिक विस्तार को करनेवाला हो। २. हे यज्ञशील पुरुषो! तुम **आसदे**=प्रभु को बिठाने के लिए **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **स्तृणीत**=आच्छादित करो—बिछाओ। इस वासनाशून्य हृदयासन पर ही प्रभु विराजमान होते हैं।

भावार्थ—यज्ञों से दिव्यगुणों का विस्तार होता है। दिव्यगुणोंवाले—निर्वासनं=हृदयों में प्रभु आसीन होते हैं।

ऋषिः—**वसूयव आत्रेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री:** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिव्य जीवन

एदं म॒रुतो॑ अ॒श्विना॑ मि॒त्रः सी॑दन्तु॒ वरु॑णः। दे॒वासः॒ सर्व॑या वि॒शा॥ ९॥

१. **इदम्**=हमारे इस जीवन में **मरुतः**=प्राण **आ सीदन्तु**=आसीन हों। हम प्राणायाम के द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन करते हुए यहाँ प्राणों को स्थापित करें। **अश्विना**=द्यावापृथिवी-ज्ञानदीप्त मस्तिष्क (द्युलोक) तथा दृढ़ शरीर (पृथिवी) हमें प्राप्त हों। **मित्रः**=स्नेह की भावना तथा वसाः=द्वेष का निवारण हमारे जीवन में हो। २. **देवासः**=सब दिव्यगुण **सर्वया विशा**=सब शरीर में प्रवेश के योग्य उत्तम भावनाओं के साथ हमारे जीवन में आसीन हों।

भावार्थ—हमारा जीवन 'प्राणशक्ति-ज्ञान व बल—स्नेह व निर्द्वेषता-तथा दिव्यगुणों व सब उत्तम भावनाओं' से युक्त हो।

यह जीवन में दिव्यता को लानेवाला व्यक्ति (त्रीन् ऋच्छति इति त्र्यरुणः) 'त्र्यरुण' बनता है—'शरीर मन व मस्तिष्क' तीनों को उत्तम बनाता हैं—'त्रैवृष्णः'=तीनों को शक्तिशाली बनाता है। इस व्यक्ति से दास्यव भावनाएँ भयभीत होकर दूर ही रहती हैं—यह 'त्रसदस्यु' होता है, खूब ही वासनाओं का संहार करने के कारण 'पौरुकुत्स्य' कहलाता है। प्रशस्त इन्द्रियों के साथ मेलवाला

यह 'अश्व-मेध' है (मेधृ to meet)—उत्तमता से भरण करने के कारण 'भारत' है—क्राम, क्रोध, लोभ से दूर होने के कारण 'अत्रि' है। इन ऋषियों की आराधना का स्वरूप यह है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा॥ देवता—अग्निः॥
छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शरीर शकट

अनस्वन्ता सत्पतिर्मामहे मे गावा चेतिष्ठो असुरो मघोनः।
त्रैवृष्णो अग्ने दशभिः सहस्रैर्वैश्वानर त्र्यरुणश्चिकेत॥ १॥

१. **चेतिष्ठः**=निरतिशय ज्ञानवाला व अधिक-से-अधिक चेतना को प्राप्त करानेवाला, **असुरः**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाला, **मघोनः**=ऐश्वर्यशाली, **सत्पतिः**=सज्जनों का पालक प्रभु **मे**=मेरे लिए **अनस्वन्ता**=प्रशस्त शरीर रूप शकटवाले **गावा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप दो बैलों को **मामहे**=देते हैं। प्रभु ने जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए यह शरीर शकट दिया है—और इसमें ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप दो बैलों को जोता है। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वैश्वानर**=सबको आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभो! इस शरीर रथ में बैठा हुआ **त्रैवृष्णः**=शरीर मन व बुद्धि सभी को शक्तिशाली बनानेवाला यह **त्र्यरुणः**=ज्ञान कर्म व उपासना तीनों की ओर चलनेवाला—तीनों का अपने जीवन में समन्वय करनेवाला—**दशभिः सहस्रैः**=इन ऋग्वेदोपदिष्ट दश सहस्र ऋचाओं से **चिकेत**=ज्ञानवाला बनता है। ऋचाओं की संख्या १०५५२ है। 'दस हज़ार' का भाव यहाँ लगभग दस हज़ार ही है। यहाँ मुख्य प्रयोजन ऋचाओं की संख्या का प्रतिपादन तो है ही नहीं। इन ऋचाओं के द्वारा पदार्थों के तथा अपने शरीर शकट के गुण धर्मों को खूब समझता हुआ पदार्थों के यथायोग से दृढ़ शकटवाला बनकर जीवनयात्रा में आगे बढ़ता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें शरीर शकट दिया है। इसमें कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रिय रूप दो बैल जुते हैं। ऋचाओं से पदार्थों के गुण धर्मों को जानकर इनके ठीक प्रयोग से हम इस शकट को दृढ़ बनाकर जीवनयात्रा को पूरा करें।

ऋषिः—त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा॥ देवता—अग्निः॥
छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

एक सौ बीस वर्ष तक

यो मे शता च विंशतिं च गोनां हरी च युक्ता सुधुरा ददाति।
वैश्वानर सुष्टुतो वावृधानोऽग्ने यच्छ त्र्यरुणाय शर्म॥ २॥

१. **यः**=जो **मे**=मेरे लिए **शता च विंशतिं च**=सौ और बीस अर्थात् एक सौ बीस वर्ष तक **गोनाम्**=ज्ञान की वाणियों को **ददाति**=देता है, **च**=तथा **सुधुरा**=उत्तमतया शकट की धुरा को वहन करनेवाले **युक्तः**=शकट में जुते हुए **हरीः**=इन्द्रियाश्वों को **ददाति**=देता है। प्रभु हमें १२० वर्ष तक जहाँ ज्ञान देते हैं, वहाँ इस दृढ़ शरीर शकट को प्राप्त कराते हैं, जिसमें उत्तम इन्द्रियाश्व जुते हैं। २. हे **वैश्वानर**=सब नरों का हित करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सुष्टुतः**=अच्छी प्रकार स्तुति किये गये **वावृधानः**=निरन्तर हमारा वर्धन करते हुए आप **त्र्यरुणाय**='शरीर, मन, बुद्धि' तीनों का ध्यान करनेवाले अथवा 'ज्ञान, कर्म, उपासना' तीनों का अपने में समन्वय करनेवाले त्र्यरुण के लिए **शर्म**=कल्याण को **यच्छ**=दीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें १२० वर्ष के जीवन—ज्ञान की वाणियों व उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं। हम प्रभुस्तवन द्वारा अपना वर्धन करते हुए कल्याण को प्राप्त करें।

ऋषिः—**त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रसदस्युः-त्र्यरुणः

एवा ते अग्ने सुमतिं चकानो नविष्ठाय नवमं त्रसदस्युः।
यो मे गिरस्तुविजातस्य पूर्वीर्युक्तेनाभि त्र्यरुणो गृणाति॥३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नविष्ठाय**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) **ते**=आपके लिए, आपकी प्राप्ति के लिए **एवा**=इस प्रकार **नवमम्**=(नव गतौ) क्रियामय **सुमतिम्**=कल्याणी बुद्धि को **चकानः**=चाहता हुआ **त्रसदस्युः**=सब वासनाओं को भयभीत करनेवाला बनता है। जो व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करके ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगा रहता है, वही प्रभु प्राप्ति का अधिकारी बनता है। २. प्रभु कहते हैं कि **यः**=जो **तुविजातस्य**=महान् प्रादुर्भाववाले—सर्वत्र ब्रह्माण्ड में प्रकट महिमावाले—**मे**=मेरी **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली तथा पालन व पूरण करनेवाली **गिरः**=इन ज्ञानवाणियों का **युक्तेन**=एकाग्रमन से **अभिगृणाति**=प्रातः सायं दिन के दोनों ओर उच्चारण करता है। वही **त्र्यरुणः**=उत्तम शरीर, मन व बुद्धि को प्राप्त करता है—वही अपने में ज्ञान, कर्म व उपासना का समन्वय करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु की कल्याणी मति को प्राप्त करने की कामना करते हुए वासनाओं को भयभीत करनेवाले 'त्रसदस्यु' बनें। प्रभु की ज्ञानवाणियों का प्रातःसायं अध्ययन करते हुए 'त्र्यरुण' बनें।

ऋषिः—**त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सनि-मेधाम् (ददत्)

यो म इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये। दददृचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते॥४॥

१. **यः**=जो **मे**=मेरे लिए **इति**=इस प्रकार ज्ञान की वाणियों का सृष्टि के प्रारम्भ में **प्रवोचति**= प्रकर्षेण उपदेश करते हैं, वे प्रभु **अश्वमेधाय**=इन्द्रियाश्वों का अपने साथ मेल करनेवाले—इन्द्रियाश्वों को इधर-उधर न भटकने देनेवाले—**सूरये**=उन ज्ञानवाणियों के अनुसार अपने को प्रेरित करनेवाले (षू प्रेरणे), **ऋचा**=(ऋच् स्तुतौ) स्तुतिपूर्वक गति करनेवाले—प्रभुस्मरण के साथ सब कार्यों को करनेवाले—व्यक्ति के लिए **सनिं ददत्**=सम्भजनीय (सेवनीय) धन को देते हैं। २. ये प्रभु ही **ऋतायते**=ऋतपूर्वक सब क्रियाओं को करनेवाले के लिए—ठीक समय व ठीक स्थान पर सब कार्यों को करनेवाले के लिए—**मेधां ददत्**=मेधा बुद्धि को देते हैं। वस्तुतः प्रभु की वाणियों का अध्ययन हमारी बुद्धि को परिष्कृत करनेवाला है।

भावार्थ—स्तुतिपूर्वक गति करते हुए हम सम्भजनीय धन को प्राप्त करते हैं और ऋतपूर्वक आचरण करते हुए हम मेधा (बुद्धि) को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

अश्वमेध की इन्द्रियाँ

यस्य मा परुषाः शतमुद्धर्षयन्त्युक्षणः। अश्वमेधस्य दानाः सोमा इव त्र्याशिरः॥५॥

१. प्रभु ने इस शरीर शकट में दस इन्द्रिय रूप बैलों को जोता है। जो अश्वमेध बनता है—इन्द्रियाश्वों को अपने साथ जोड़ने का प्रयत्न करता है—इन्हें भटकने नहीं देता—उसका ये कल्याण करनेवाले होते हैं। यदि अश्वमेध नहीं बनता, तो ये इन्द्रिय रूप उक्षा उसके लिए सुखसेचन न कर उसे नरक में गिरानेवाले हो जाते हैं। सो मन्त्र में कहते हैं—**यस्य**=जिस **अश्वमेधस्य**=इन्द्रियाश्वों को अपने साथ जोड़नेवाले—न भटकने देनेवाले **मा**=मेरे लिए **दानाः**=दिये हुए **उक्षण**=ये शरीर शकट के बैल **परुषाः**=पालन व पूरण करनेवाले हैं। (पृ पालनपूरणयोः) या मार्ग विघ्नकारी शत्रुओं के लिए भयंकर हैं और **शतम्**=शतवर्ष पर्यन्त **उद्धर्षयन्ति**=मेरे उत्कृष्ट उल्लास का कारण बनते हैं। २. ये उक्षा (इन्द्रिय रूप बैल) **सोमाःइव**=सोमकणों की तरह **त्र्याशिरः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों में दोषों का संहार करनेवाले हैं (त्रि+आशृ)। शरीर में सुरक्षित सोमकण जैसे—शरीर को नीरोग, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र बनाते हैं, इसी प्रकार अश्वमेध को प्राप्त ये इन्द्रिय रूप उक्षा 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी में दोषों का संहार करनेवाले होते हैं। इसी से यहाँ इन्हें 'त्र्याशिरः' कहा है।

भावार्थ—यदि हम इन्द्रियों को भटकने न दें तो ये शतवर्षपर्यन्त हमारे उल्लास का कारण बनती हैं तथा शरीर, मन व बुद्धि में दोषों को उत्पन्न नहीं होने देतीं।

ऋषिः—**त्र्युरुणस्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य अश्वमेधश्च भारतोऽत्रिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥
छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'अश्वमेध' में 'क्षत्र व सूर्य' का स्थापन

इन्द्राग्नी शतदाव्न्यश्वमेधे सुवीर्यम्। क्षत्रं धारयतं बृहद्दिवि सूर्यमिवाजरम्॥ ६ ॥

१. **शतदाव्नि** (दाप् लवने)=शतवर्षपर्यन्त दोषों का लवन (छेदन) करनेवाले **अश्वमेधे**=इन्द्रियाश्वों से अपना मेल रखनेवाले—इन्हें न भटकने देनेवाले—उपासक में **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देव (सर्वाणि बल कर्माणि इन्द्रस्य, अग्नि=प्रकाश की देवता) **सुवीर्यम्**=उत्कृष्ट वीर्य को **धारयते**=धारण करें। वस्तुतः वीर्यरक्षण का उपाय ही यही है कि हम बल व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले कार्यों में लगे रहें। २. ये इन्द्राग्नी **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **क्षत्रम्**=बल को **धारयतम्**=धारण करें तथा **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **सूर्यम् इव**=सूर्य के समान **अजरम्**=न जीर्ण होनेवाले ज्ञान को धारण करें। यह वेदज्ञान प्रभु का अजरामर काव्य है, इसे हमारे लिए धारण करें।

भावार्थ—हम बुराइयों का संहार करनेवाले विश्वविजयी—अश्वमेध बनें। सर्वशक्तिसम्पन्न 'इन्द्र' हमारे लिए बृहत् क्षत्र (बल) को धारण कराएँ और अग्निवत् प्रकाशमान प्रभु ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कराएँ।

सब बुराइयों को दूर करके सब अच्छाइयों का ही वरण करनेवाली वृत्ति हमें 'विश्ववारा' बनाती है 'विश्वं भद्रम् एव वृणोति' अथवा 'विश्वं वारयति' अन्दर घुस जानेवाली काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियों को निवारित करती हैं, इसीलिए यह 'आत्रेयी' है—'काम-क्रोध-लोभ' तीनों से दूर। यह आराधना करती है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्ववारात्रेयी** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विश्ववारा का सुन्दर जीवन

समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत्प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची॥ १ ॥

१. जीवन को हमें यज्ञात्मक बनाना ही चाहिए। इस **अध्वरे प्रयति**=जीवन यज्ञ के प्रकर्षेण चलने पर—'प्रातः सवन-माध्यन्दिन सवन व तृतीय सवन में' निरन्तर **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु के प्रति **आजुहोत**=अपनी आहुति देनेवाले बनो! प्रभु के प्रति अर्पण करके ही जीवन में चलना चाहिए। **दुवस्यत**=उस प्रभु की ही उपासना करो—यह प्रभु का उपासन ही हमें शक्तिशाली बनाता है। २. **हव्यवाहनम्**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले उस प्रभु का **वृणीध्वम्**=वरण करो। प्रकृति के वरण की अपेक्षा प्रभु का वरण ही कल्याणकर है। प्रकृति वरण में हम प्रभु से दूर हो जाते हैं और प्रकृति के पाँव तले कुचले जाते हैं। प्रभु वरण में जीवन पवित्र बना रहता है और प्रकृति हमारी सेविका बनी रहती है।

भावार्थ—हम जीवनयज्ञ में प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु के ही उपासक हों। यह प्रभु का वरण हमें सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाला बनाएगा।

प्रभु का वरण करनेवाला 'गौरिवीति' बनता है (गौरी=वाक्, वीति=भोजन) वाङ्मय शास्त्ररूपी भोजनवाला होता है, विषयों में न फँसने से 'शाक्त्य' शक्ति का पुत्र (शक्ति का पुतला) बनता है (The body of an athlete and the soul of a sage) यह प्रभु की आराधना करता हुआ कहता है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मरुतः पूतदक्षाः

त्र्य॑र्य॒मा मनु॑षो दे॒वता॑ता॒ त्री रो॑च॒ना दि॒व्या धा॑रयन्त।
अर्च॑न्ति त्वा म॒रुतः॑ पू॒तद॑क्षा॒स्त्वमे॑षा॒मृषि॑रिन्द्रासि॒ धीरः॑ ॥ १ ॥

१. **मनुषः**=विचारशील पुरुष **देवताता**=यज्ञों में—जीवन को यज्ञों में चलाते हुए—**त्री अर्यमा**=तीन (अरीन् यच्छति नि० ११.२३) शत्रुओं के नियमनों को तथा **त्री दिव्या रोचना**=तीन दिव्य दीप्तियों को **धारयन्त**=धारण करते हैं। 'काम' के नियमन के द्वारा शरीर की तेजस्विता को, 'क्रोध' के नियमन के द्वारा मानस आह्लाद को, तथा 'लोभ' के नियमन के द्वारा ज्ञान की प्रचण्ड दीप्ति को ये धारण करनेवाले होते हैं। २. हे प्रभो! **त्वा**=आपको **मरुतः**=मितरावी (कम बोलनेवाले) व प्राणसाधना करनेवाले (मरुतः प्राणाः) **पूतदक्षाः**=पवित्र बलवाले व्यक्ति ही **अर्चन्ति**=पूजते हैं। प्रभु का उपासक (क) कम बोलता है (ख) प्राणायाम का अभ्यासी होता है (३) अपने बल को वासनाओं से मलिन नहीं होने देता। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **एषाम्**=इनके **ऋषिः**=मन्त्रद्रष्टृत्व को देनेवाले हैं तथा **धीरः**=(धियम् ईरयति) बुद्धियों को प्रेरित करनेवाले हैं। ये उपासक प्रभु कृपा से ही 'ऋषि व धीर' बनते हैं।

भावार्थ—'काम, क्रोध, लोभ' को जीतकर हम 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की दीप्ति को धारण करें। प्राणसाधना द्वारा पवित्र बलवाले होकर प्रभु के उपासक बनें। प्रभु हमें धीर व ऋषि बनाएँगे।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रियाशीलता व प्रभुप्राप्ति

अनु॒ यदीं॑ म॒रुतो॑ मन्दसा॒नमार्च॒न्निन्द्रं॑ पपि॒वांसं॑ सु॒तस्य॑।
आद॑त्त॒ वज्र॑म॒भि यदहिं॒ हन्न॒पो य॒ह्वीर॑सृज॒त्सर्त॒वा उ॑ ॥ २ ॥

१. **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **मरुतः**=ये मितरावी व प्राणसाधक पुरुष **मन्दसानम्**=उस

आनन्दमय **सुतस्य**=उत्पन्न सोम के **पपिवांसम्**=हमारे शरीरों में रक्षण करनेवाले **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अनु आर्चन्**=अनुक्रमेण प्रतिदिन पूजते हैं तब यह उपासक **वज्रम् आदत्त**=हाथों में क्रियाशीलता रूप वज्र को ग्रहण करता है। २. **यद्**=जब यह क्रियाशील पुरुष **अहिम्**=इस (आहन्ति) विनाशक वासना को **अभि हन्**=विनष्ट करता है तो **उ**=निश्चय से अपने जीवन में **यह्वीः**=महान् **अपः**=कर्मों को **सर्तवा**=प्रभु की ओर जाने के लिए **असृजत्**=उत्पन्न करता है। वस्तुतः यह क्रियाशील पुरुष ही आगे बढ़ता जाता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता द्वारा प्रभु का उपासन होता है। क्रियाशीलता ही वासना को विनष्ट करती है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्माणः मरुतः इन्द्रः

उत ब्रह्माणो मरुतो मे अस्येन्द्रः सोमस्य सुषुतस्य पेयाः।
तद्धि हव्यं मनुषे गा अविन्ददहन्नहिं पपिवाँ इन्द्रो अस्य॥ ३॥

१. प्रभु कहते हैं कि **ब्रह्माणः**=ज्ञानप्राप्ति में लगे हुए ज्ञानप्रधान व्यक्ति **उत**=और **मरुतः**=मितरावी प्राणसाधक पुरुष तथा **इन्द्रः**=इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति **मे**=मेरे **अस्य**=इस **सुषुतस्य**=सम्यक् उत्पन्न किये गये **सोमस्य**=सोम का **पेयाः**=पान करें। 'ज्ञानप्राप्ति में लगे रहना, प्राणसाधना तथा जितेन्द्रियता' सोम के पान का साधन हैं। २. **तद्**=वह सोमपान **हि**=ही **हव्यम्**=(आह्वयितुं योग्यः) प्रार्थनीय है। प्रभु से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हम सोम का रक्षण करने में समर्थ हों'। यह सोम **मनुषे**=विचारशील पुरुष के लिए **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **अविन्दत्**=प्राप्त कराता है। सोम ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इसलिए **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अहिम्**=वासना को **अहन्**=नष्ट करना है और **अस्य पपिवान्**=इस सोम का पान करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के साधन हैं (क) ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना (ख) प्राणसाधना में प्रवृत्त होना तथा (ग) जितेन्द्रिय बनना। सुरक्षित सोम हमारी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मृगों का पलायन

आद्रोदसी वितरं वि ष्कभायत्संविव्यानश्चिद्भियसे मृगं कः।
जिगर्तिमिन्द्रो अपजर्गुराणः प्रति श्वसन्तमव दानवं हन्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षण करनेवाला व्यक्ति **आत्**=सोमरक्षण के साथ शीघ्र ही **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को—**वितरम्**=खूब ही **विष्कभायत्**=थामता है। मस्तिष्क व शरीर का अच्छी प्रकार धारण करता है। **संविव्यानः**=सम्यक् गति करता हुआ (वेतेर्गतिकर्मणः)—सदा उत्तम कर्मों में लगा हुआ **चित्**=निश्चय से **मृगम्**=काम-क्रोध आदि पशुओं को (कामः पशुः, क्रोधः पशुः) **भियसे कः**=भयभीत करता है—उन्हें अपने से दूर भगाता है। सदा सत्कर्मों में लगा हुआ काम आदि से आक्रान्त नहीं होता। २. **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **जिगर्तिम्**=निगल जानेवाले इन लोभ आदि शत्रुओं को **अपजर्गुराणः**=(ejecting) परे फेंकता हुआ अथवा इनके आच्छादन से अपने को मुक्त करता हुआ **प्रतिश्वसन्तम्**=आक्रमण के लिए फुंकार मारते हुए इन **दानवम्**=असुरभावों को **अवहन्**=सुदूर विनष्ट करता है।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष काम-क्रोध रूप पशुओं को दूर भगाता है। लोभ द्वारा निगले जाने

से अपने को बचाता है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से प्रभुप्राप्ति

अध॒ क्रत्वा॑ मघव॒न्तुभ्यं॑ दे॒वा अनु॒ विश्वे॑ अददुः सोम॒पेय॑म्।
यत्सूर्य॑स्य ह॒रितः॒ पत॑न्तीः पु॒रः स॒तीरुप॑रा॒ एत॑शे॒ कः॥५॥

१. **अध**=अब **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **क्रत्वा**=ज्ञान व शक्ति की प्राप्ति के हेतु से **विश्वेदेवाः**=सब देव **सोमपेयं**=सोम के पान को **अनु अददुः**=अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं। देववृत्तियों के होने पर सोमरक्षण का सम्भव होता है। यही देवों का 'सोमपेय का दान' है। आसुरभाव ही सोम विनाश का कारण बनते हैं। सोमरक्षण के होने पर शक्ति व प्रज्ञान की प्राप्ति होती है। ये शक्ति व प्रज्ञान हमें प्रभु प्राप्ति का पात्र बनाते हैं २. जब हम प्रभु को प्राप्त करते हैं तो यह वह समय होता है **यत्**=जब कि वे प्रभु **सूर्यस्य**=ज्ञानसूर्य की **पतन्तीः**=चारों ओर फैलती हुई **हरितः**=रश्मियों को **पुरःसतीः**=सामने होती हुई तथा **उपराः** (Nearer) अधिक समीप **एतशे**=इस ज्ञानदीप्त (shining) पुरुष के निमित्त **कः**=करते हैं। हम प्रभु को प्राप्त करते हैं, प्रभु हमें ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—दिव्यगुणों को धारण करने के प्रयत्न से हम सोम का रक्षण करते हैं। सोमरक्षण से प्रज्ञान व शक्ति प्राप्त होती है। इससे हम प्रभु प्राप्ति के योग्य बनते हैं। प्रभु हमारे लिए ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासनाग्नि का निर्माण

नव॒ यद॑स्य नव॒तिं च॑ भो॒गान्त्सा॒कं वज्रे॑ण म॒घवा॑ वि॒वृश्च॑त्।
अर्च॒न्तीन्द्रं॑ म॒रुतः॑ स॒धस्थे॒ त्रैष्टु॑भेन॒ वच॑सा बाधत॒ द्याम्॥६॥

१. **मघवा**=ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त यह उपासक **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **अस्य**=इस शंवर (ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध) नामक असुर के **नव नवतिं च**=निन्यानवे **भोगान्**=भोगसाधन नगरियों को **साकम्**=एकदम **विवृश्चत्**=काट डालता है। क्रियाशीलता के द्वारा भोगवृत्तियों से ऊपर उठता है। २. इसी शंवर की पुरियों के विनाश के लिए ही **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **सधस्थे**=आत्मा व परमात्मा के सह-स्थान हृदय में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अर्चन्ति**=पूजते हैं। प्रभु पूजन हमें वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। **त्रैष्टुभेन वचसा**='काम, क्रोध, लोभ' को रोकनेवाले प्रभु के स्तुतिवचनों से **द्याम्**=(दिव्=fire) वासनाओं की अग्नि को—कामाग्नि को—**बाधत**=बाधित करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हृदय में प्रभु का उपासन करने से शतशः वासनाओं का विनाश होकर वासनाग्नि शान्त हो जाती है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महिष् त्रय पचन

सखा॒ सख्ये॑ अपच॒त्तूय॑म॒ग्निर॒स्य क्रत्वा॑ महि॒षा त्री श॒तानि॑।
त्री सा॒कमिन्द्रो॒ मनु॑षः सरां॑सि सु॒तं पि॑बद्वृत्र॒हत्या॑य॒ सोम॑म्॥७॥

१. **सखा**=सर्वमित्र **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अस्य क्रत्वा**=इस जीव के प्रज्ञान व शक्ति के हेतु से **सख्ये**=अपने मित्रभूत इस जीव के लिए **तूयम्**=शीघ्र ही **शतानि**=शतवर्ष पर्यन्त **त्री**=तीन **महिषा**=महनीय 'ऋग् यजु साम' रूप ज्ञानों को **अपचत्**=परिपक्व करता है। यह परिपक्व ज्ञान ही इस नींव का 'ओदन' (भोजन) बनता है। इस ओदन से परिपुष्ट हुआ-हुआ जीव प्रभु को प्राप्त करता है। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **साकम्**=साथ-साथ **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **त्री सरांसि**=इन तीन ज्ञान जलाशयों को **पिबत्**=पीने का प्रयत्न करता है। 'ऋग् यजु साम' इन तीनों का ग्रहण करके वह 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' तीनों शरीरों को पवित्र कर लेता है। ऋचाओं के तालाब में (विज्ञान में) स्थूल शरीर का शोधन हो जाता है। यजु में (यज्ञों में) सूक्ष्म शरीर धुल जाता है तथा साम (उपासना) में कारणशरीर दीप्त हो उठता है। ३. यह **इन्द्र सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **वृत्रहत्याय**=वासनाओं के विनाश के लिए **पिबत्**=पीता है। सोमपान के द्वारा ज्ञान की आवरणभूत वासना को यह विनष्ट करता है। इस वृत्र रूप मेघ के हट जाने से इसका ज्ञानसूर्य चमक उठता है।

भावार्थ—प्रभु अपने मित्र जीव के लिए 'ऋग् यजु साम' रूप तीन महनीय ज्ञानों का पचन करते हैं। ये ही तीन सरस्वती के सरस् हैं। विचारशील पुरुष इनमें स्नान करता है। उत्पन्न सोम का रक्षण करता हुआ वासना का विनाश करता है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महिषत्रय मांस भक्षण

त्री यच्छ॒ता म॑हि॒षाणा॒मघो॒ मास्त्री सरां॑सि म॒घवा॑ सो॒म्यापाः॑।
का॒रं न विश्वे॑ अह्वन्त दे॒वा भर॒मिन्द्रा॑य॒ यदहिं॑ ज॒घान॑॥ ८॥

१. **यत्**=जब **शता**=शतवर्ष पर्यन्त, अर्थात् आजीवन **त्री महिषाणाम्**=तीनों महनीय 'ऋग् यजु साम' ज्ञानों के **मास्**=तत्त्व को **अघः**=तू खाता है, अर्थात् इनके तत्त्व का तू ग्रहण करता है। उस तत्त्व का जिसमें कि अद्भुत मानस आह्लाद प्राप्त होता है 'मानसम् अस्मिन् सीदति इति' तो **मघवा**=ज्ञानैश्वर्य वाला होता हुआ तू, हे **सौम्य**=सोमपान में उत्तम **सरांसि**=तीनों ज्ञान जलाशयों का **अपाः**=पान करता है। २. **विश्वे देवाः**=सब देववृत्ति के व्यक्ति **कारं न**=सब संसार के निर्माण करनेवाले की तरह **भरम्**=संसार का भरण करनेवाले उस प्रभु को **अह्वन्त**=पुकारते हैं। वे प्रभु ही संसार को बनाते हैं, वे ही इसका भरण करते हैं। देववृत्ति के व्यक्ति इस प्रभु को पुकारते हैं **यत्**=क्योंकि ये प्रभु ही **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **अहिम्**=(आहन्ति) विनाशक वासना को **जघान**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम सदा तीन महनीय 'ऋग् यजु साम' रूप ज्ञानों के तत्त्व को समझने का प्रयत्न करें—यही तीन महिषों के तत्त्व का भक्षण है। इन तीन ज्ञानसरोवरों का पान करें। प्रभु को पुकारें। प्रभु ही तो हमारी वासना को विनष्ट करेंगे।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः उशना वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुष्ण संहार

उ॒शना॒ यत्स॑ह॒स्यै॒३॑रया॑तं गृ॒हमि॑न्द्र जूजुवा॒नेभि॒रश्वैः॑।
व॒न्वा॒नो अत्र॑ स॒रथं॑ ययाथ॒ कुत्से॑न दे॒वैरव॑नोर्ह॒ शुष्ण॑म्॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् व सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप और **उशनाः**=(कामयमानः) आपकी

प्राप्ति की कामनावाला यह जीवन **यत्**=जब **सहस्यैः**=उत्तमशत्रुमर्षक बलवाले **जूजुवानेभिः**=वेगवान् **अश्वैः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **गृहम् अयातम्**=इस शरीर गृह में प्राप्त होते हो तो **वन्वानः**=यह जीव सदा शत्रुओं को जीतनेवाला होता है। प्रभु के सम्पर्क में जीव शत्रुओं से कुचला नहीं जाता। २. हे प्रभो! आप **कुत्सेन** (कुथ हिंसायाम्) इन वासनाओं का विनाश करनेवाले जीव के साथ **अत्र**=यहाँ **सरथम्**=समान रथ में **ययाथ**=गति करते हैं तो आप ही **देवैः**=दिव्य गुणों के द्वारा **शुष्णम्**=सुखा देनेवाले इस काम रूप शत्रु को **ह**=निश्चय से **अवनोः**=(अहिंसीः) हिंसित करते हैं।

भावार्थ—जब जीव प्रभु प्राप्ति की कामनावाला होता हुआ अपने शरीरथ में प्रभु के साथ अधिष्ठित होता है तो प्रभु इस के लिए वासना को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान+धन

प्रान्यच्चक्रमवृहः सूर्यस्य कुत्सायान्यद्वरिवो यातवेऽकः।
अनासो दस्यूँरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ्मृध्रवाचः ॥ १० ॥

१. हे प्रभो! आप **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले के लिए **सूर्यस्य**=ज्ञान सूर्य के **अन्यत् चक्रम्**=विलक्षण चक्र को **प्र अवृहः**=प्रकर्षेण बढ़ाइए। जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए वह शरीर रथ प्रभु ने दिया है। प्रभु इस रथ में एक चक्र तो ज्ञान का चक्र स्थापित करें। तथा **अन्यत्**=दूसरा **यातवे**=जीवनयात्रा को चलाने के लिए **वरिवः**=धन रूप **चक्र अकः**=करें (बनाएँ)। जीवन यात्रा के लिए धन आवश्यक है। इस धन के ठीक उपयोग के लिए ज्ञान आवश्यक है। शरीर शकट का एक चक्र 'ज्ञान' है तो दूसरा 'धन'। २. हे प्रभो! आप **अनासः**=स्तुति शब्दों से शून्य **दस्यून्**=दास्यव वृत्तिवाले लोगों को **वधेन**=शास्त्रों द्वारा **अमृणः**=कुचल देते हैं। **दुर्योणे**= संग्राम में **मृध्रवाचः**=हिंसक वाणीवाले लोगों को **नि आवृणक्**=छिन्न करनेवाले होते हैं। हमें जीवनसंग्राम में विजय प्राप्ति के लिए स्तुतिवाला-देववृत्तिवाला-तथा अहिंसकवाणी वाला बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर शकट को ज्ञान व धन रूप पहियों से सुशोभित करें। हम जीवनसंग्राम में 'स्तुति-दिव्यवृत्ति व मधुरवाणी' को अपनाएँ। न हम 'अनास्' हो न 'दस्यु' और न ही 'मृध्रवाक्'।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गौरिवीति का सुन्दर जीवन

स्तोमासस्त्वा गौरिवीतेरवर्धन्नरन्धयो वैदथिनाय पिप्रुम्।
आ त्वामृजिश्वा सख्याय चक्रे पचन्पक्तीरपिबः सोममस्य ॥ ११ ॥

१. 'गौरी' का अर्थ है वाक्, 'वीति' का भोजन। ज्ञान की वाणियाँ ही जिसका भोजन हैं वह 'गौरिवीति' है। हे प्रभो! इस **गौरिवीतेः**=ज्ञान रूप भोजनवाले ज्ञानी पुरुष से किये गये **स्तोमासः**=स्तवन **त्वा**=तुझे **अवर्धन्**=बढ़ानेवाले हों। ज्ञानी भक्त ही तो आप को सर्वाधिक प्रिय है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। २. आप इस **वैदथिनाय**=सदा ज्ञानयज्ञ के द्वारा आपका उपासन करनेवाले पुरुष के लिए **पिप्रुम्**=(प्र पूरणे) अपने पेट को ही भरते रहने की वृत्ति को—अत्यन्त स्वार्थ की वृत्ति को—**अरन्धयः**=विनष्ट करते हैं। ज्ञानी स्व स्वार्थ से ऊपर उठता है। ज्ञान की कमी ही मनुष्य

को स्वार्थी बनाती है। ३. यह स्वार्थी पुरुष छलछिद्र से चलता है—इसका जीवन कुटिल होता है। इसके विपरीत **ऋजिश्वा**=ऋजुमार्ग से आगे बढ़नेवाला (ऋजुनाश्वयति) ज्ञानी पुरुष **त्वाम्**=हे प्रभो! आप को ही **सख्याय आचक्रे**=मित्रता के लिए करता है। ज्ञानी पुरुष प्रभु का मित्र बनता है। यह **पक्तीः पचन्**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध पाँच ज्ञानों के परिपाक को करता है और **अस्य**=इस परमात्मा से उत्पन्न किये हुए **सोमम् अपिबः**=सोम को पीता है। सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखता है। यह सोमरक्षण ही उसे 'दीप्त ज्ञानाग्निवाला—स्वार्थ से ऊपर—प्रभु का मित्र' बनाता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ही प्रभु का सच्चा स्तोता है। ये ज्ञानी भक्त स्वार्थ से दूर रहते हैं। सरल मार्ग से चलते हुए ये प्रभु के मित्र होते हैं। ये प्रभु के मित्र ज्ञानौदन का परिपाक करते हैं, सोम का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्तवन' व 'पवित्र दीर्घजीवन'

नवंग्वासः सुतसोमास इन्द्रं दशंग्वासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
गव्यं चिदूर्वमपिधानवन्तं तं चिन्नरः शशमाना अप व्रन्॥ १२॥

१. नवम दशक तक—नब्बे साल तक—चलनेवाले 'नवग्व' हैं तथा दशम दशक तक जानेवाले 'दशग्व' हैं। ये **नवग्वासः**=नब्बे वर्ष तक चलनेवाले, **दशग्वासः**=१०० वर्ष तक चलनेवाले **सुतसोमासः**=सोम का (वीर्य का) सम्पादन करनेवाले लोग ही **अर्कैः**=मन्त्रों द्वारा **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु की **अभ्यर्चन्ति**=प्रातः सायं पूजा करते हैं। यह पूजा ही उन्हें वासनाओं के आक्रमण से बचाती है। तभी वे सोम का रक्षण कर पाते हैं और दीर्घजीवी बनते हैं। २. ये **शशमाना**=प्रभु का शंसन करते हुए अथवा प्लुत गति से कार्यों को करते हुए **नरः**= उन्नति पथ पर चलनेवाले लोग **तं**=उस **अपिधानवन्तम्**=वासनाओं के आवरण से आच्छादित **चित्**=भी **गव्यम् ऊर्वम्**=इन्द्रियों के समूह को **चित्**=निश्चय से **अपव्रन्**=आच्छादन रहित करते हैं। शशमान ही इन्द्रियों को विषय वासनाओं से लिप्त होने से बचा पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का अर्चन करते हुए दीर्घजीवी बनें, और इन्द्रिय समूह को विषय वासनाओं से आवृत हो जाने से बचाएँ।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अवर्णनीय महिमा वाले' प्रभु

कथो नु ते परि चराणि विद्वान्वीर्या मघवन्या चकर्थ।
या चो नु नव्या कृणवः शविष्ठ प्रेदु ता ते विदथेषु ब्रवाम॥ १३॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **या वीर्या चकर्थ**=जिन शक्तिशाली कर्मों को आप करते हैं, उन सबको **विद्वान्**=जानता हुआ मैं **नु**=अब **कथो**=कैसे ही **ते परिचराणि**=आपकी उपासना करूँ? आपके कर्म अनन्त हैं, मेरी वाणी की शक्ति सीमित है। सो उसके लिए आपकी महिमा का प्रतिपादन कैसे सम्भव है? आपकी महिमा मेरी वाणी से अतीत है। २. **च**=और **उ**=निश्चय से **या नव्या कृणवः**=जिन स्तुत्य कर्मों को आप करते हैं, हे **शविष्ठ**=शक्तिशालिन् प्रभो! **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में हम **ते**=आपके **ता**=उन कर्मों का **इत् उ**=अवश्य ही **प्रब्रवाम**=खूब ही प्रतिपादन करें।

भावार्थ—ज्ञानयज्ञों में एक चित्त होकर हम प्रभु के शक्तिशाली कर्मों का प्रतिपादन करें। इस प्रकार इन ज्ञानयज्ञों से ही प्रभु का पूजन करें। वस्तुतः प्रभु की महिमा हमारी वाणी से अतीत है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अनन्त शक्ति' प्रभु

एता विश्वा चकृवाँ इन्द्र भूर्यपरीतो जनुषा वीर्येण।
या चिन्नु वज्रिन्कृणवो दधृष्वान्न ते वर्ता तविष्या अस्ति तस्याः ॥ १४ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **एता विश्वा**=इन सब लोकों को **चकृवान्**=पालन व पोषण के दृष्टिकोण से आपने बनाया है। इन लोकों की प्रत्येक वस्तु ठीक उपयुक्त होने पर **भूरि**=हमारा भरण करनेवाली है। अज्ञानवश अयुक्त व अतियुक्त हुई-हुई वह वस्तु हमारे अकल्याण का कारण बनती है। हे प्रभो! आप **जनुषा वीर्येण**=अपने सहज (जन्मसिद्ध) पराक्रम से अथवा शक्तियों के विकास व पराक्रम से **अपरीतः**=शत्रुओं से कभी घेरे नहीं जाते। २. हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! आप **दधृष्वान्**=सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं। आप **नु**=जब **या चित्**=जिन भी कर्मों को **कृणवः**=करते हैं, उस समय **ते**=आपकी **तस्याः**=उस **तविष्याः**=शक्ति का **वर्ता**=रोकनेवाला **न अस्ति**=नहीं है। आपकी शक्ति का कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। आपके कर्मों को कोई विहत नहीं कर सकता।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति अनन्त है। प्रभु का कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता।

ऋषिः—**गौरिवीतिः शाक्त्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वस्त्रा इव+रथं न

इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व या ते शविष्ठ नव्या अकर्म।
वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीरः स्वपा अतक्षम् ॥ १५ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **या**=जिन **ते**=आपके **नव्या**=प्रशस्त (नित्य नये) **ब्रह्म**=स्तोत्रों को **अकर्म**=करते हैं, वे **क्रियमाणा**=किये जाते हुए स्तोत्र, हे **शविष्ठ**=शक्तिशालिन् प्रभो! आपके लिए **जुषस्व**=प्रीतिजनक हों। आप उन स्तोत्रों को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करिए। २. मैं **धीरः**=ज्ञान में रमण करनेवाला होकर **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाला होता हुआ **वसूयुः**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों की कामना वाला **भद्राः**=कल्याणकर **सुकृताः**=अच्छी प्रकार बुने हुए **वस्त्रा इव**=वस्त्रों की तरह उन स्तोत्रों को **अतक्षम्**=करता हूँ। वस्त्र हमें सर्दी गर्मी से बचाते हैं, इसी प्रकार ये स्तोत्र हमारा रक्षण करनेवाले होते हैं। **रथं न**=रथ के समान मैं इन स्तोत्रों को करता हूँ। रथ जैसे यात्रापूर्ति का साधन है, इसी प्रकार ये स्तोत्र हमारी जीवन यात्रा की पूर्ति का साधन बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तोत्र हमारे लिए वस्त्रों के समान रक्षण करनेवाले तथा रथ के समान जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए होते हैं।

इन स्तोत्रों के द्वारा उत्तमता से भरण करनेवाला यह 'बभ्रु' कहलाता है—स्तोत्रों से रक्षित हुआ-हुआ यह 'आत्रेय' तो बनता ही है—काम, क्रोध, लोभ से दूर यह प्रार्थना करता है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु दर्शन करनेवाला 'वीर'

क्व१स्य वीरः को अपश्यदिन्द्रं सुखरथमीयमानं हरिभ्याम्।
यो राया वज्री सुतसोममिच्छन्तदोको गन्ता पुरुहूत ऊती॥ १॥

१. **क्व**=कहाँ है **स्यः**=वह **वीरः**=वीर? **कः**=कौन **अपश्यत्**=देखता है **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को? 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्'। प्रकृति से आकृष्ट न होनेवाला कोई विरल वीर पुरुष ही प्रभु का दर्शन करता है। प्राकृतिक चमकीले विषयों से आकृष्ट न होना ही सबसे बड़ी वीरता है। २. उस प्रभु को जो कि **सुखरथम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले शरीर रथ को हमारे लिए देते हैं (सुखः रथः यस्मात्), जो रथ **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों से **ईयमानम्**=गतिवाला हो रहा है। उस प्रभु को हम देखें **यः**=जो कि **वज्री**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले होते हुए **राया**=धन के द्वारा **सुतसोमम्**=सोम का (वीर्य का) सम्पादन करनेवाले पुरुष को **इच्छन्**=चाहते हैं। और **ऊती**=रक्षण के हेतु से जो **पुरुहूतः**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभु **तद् ओकः**=उस सुत सोम पुरुष के घर को **गन्ता**=जानेवाले होते हैं। सुतसोम को प्रभु प्राप्त होते हैं, इसी का वे रक्षण करते हैं। यह सुतसोम पुरुष ही अन्ततः प्रभु का दर्शन करता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें इन्द्रियाश्वों से युक्त यह शरीररथ दिया है। प्रभु ही हमें रक्षण के लिए आवश्यक धन देते हैं। हमारे रक्षण के लिए स्वयं उपस्थित होते हैं। हम सुतसोम बनकर प्रभु के दर्शन करनेवाले वीर बनें।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नर-बुबुधान

अवाचचक्षं पदमस्य सस्वरुग्रं निधातुरन्वायमिच्छन्।
अपृच्छमन्याँ उत ते म आहुरिन्द्रं नरो बुबुधाना अशेम॥ २॥

१. **अस्य**=इस प्रभु के **सस्वः**=(गुप्त द०, अन्तर्हित सा०) अन्तर्हित अथवा **स-स्वः**=प्रकाशमय **उग्रम्**=तेजस्वी **पदम्**=रूप को **अवाचचक्षम्**=विषयों से हटकर हृदय के अन्दर देखता हूँ। **निधातुः**=इस संसार के धारण करनेवाले के **अयम्**=आगमन व प्राप्ति को **अनु इच्छन्**=चाहता हुआ मैं **अन्यान् अपृच्छम्**=अन्य विद्वानों से भी जानने का प्रयत्न करता हूँ। **उत**=और **ते**=वे विद्वान् **मे**=मेरे लिए **आहुः**=कहते हैं कि **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले तथा **बुबुधानाः**=ज्ञानवाले होते हुए **अशेम**=प्राप्त करें। अर्थात् प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि 'नर' बनें—बुबुधान बनें।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों में ही विद्यमान है। उन्हें देखने के लिए आवश्यक है कि (क) हम उन्नति पथ पर चलनेवाले 'नर' बनें। तथा (ख) निरन्तर ज्ञानज्योति को प्राप्त करनेवाले 'बुबुधान' हों।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीव हित के लिए सृष्टि के निर्माता 'सर्वसेन मघवा'

प्र नु वयं सुते या ते कृतानीन्द्र ब्रवाम यानि नो जुजोषः।
वेददविद्वाञ्छृणवच्च विद्वान्वहतेऽयं मघवा सर्वसेनः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में या **ते कृतानि**=जो आपके कर्म हैं, **यानि**=जिनको **नः**=हमारे लिए **जुजोषः**=आप प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, **वयम्**=हम **नु**=अब **प्रब्रवाम**=उनका प्रकर्षेण प्रतिपादन करते हैं। आपके उन कर्मों का स्मरण करते हुए आपका साधन करते हैं। २. **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष उन कर्मों को **शृणवत्**=(श्रावयेत्) सुनाए **च**=और **अविद्वान्**=न जानता हुआ उन्हें **वेदत्**=उस ज्ञानी पुरुष से जाने। **अयम्**=यह **मघवा**=सृष्टि रूप महान् यज्ञ (मघ=मख) को करनेवाला प्रभु **सर्वसेनः**=सूर्यचन्द्र अग्नि आदि तैंतीस देवरूप पूर्ण सेनावाला **वहते**=इस सृष्टि का वहन करता है प्रभु ही इस सारे संसार को चला रहे हैं। द्युलोकस्थ ग्यारह देव, अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देव, तथा पृथिवीस्थ ग्यारह देव इस प्रकार ये तैंतीस देव उस महादेव के सैनिक हैं। इस देव सैन्य के साथ प्रभु संसार को चला रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ने इस संसार को हमारे हित के लिए बनाया है। वे प्रभु इस देव सैन्य के साथ संसार का संचालन कर रहे हैं। प्रभु सेनापति हैं, सूर्य आदि देव उनके सैनिक।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एकाग्रता का लाभ

स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित्।
अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतो वि विदो गवामूर्वमुस्रियाणाम्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **जातः**=गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना से विकसित शक्तियोंवाला होकर **मनः**=अपने मन को **स्थिरम्**=स्थिर (Still) शान्त-विषयों में न भटकनेवाला—**चकृषे**=करता है। मन को स्थिर करके तू **एकः इत्**=अकेला ही **भूयसः चित्**=संख्या में कितने ही अधिक हजारों शत्रुओं के साथ **युधये**=युद्ध के लिए **वेषीत्**=गतिवाला होता है—उनपर आक्रमण के लिए उनकी ओर जाता है। २. **अश्मानं चित्**=इस अविद्या पर्वत को भी **शवसा**=शक्ति के द्वारा **विदिद्युतः**=विच्छिन्न करता है। इस अविद्यापर्वत को विनष्ट करके **उस्रियाणाम्**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली **गवाम्**=इस वेदवाणी रूप गौवों के **ऊर्वम्**=समूह को **विदः**=प्राप्त करता है। मन के एकाग्र होने पर इन वेदवाणी रूप धेनुओं का ज्ञानदुग्ध प्राप्त होता ही है।

भावार्थ—उपासना से मन एकाग्र होता है। एकाग्र मन वासनाओं को पराजित करता है। इस मन के द्वारा अविद्या का विनाश होकर खूब ज्ञान की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परः-परमः

परो यत्त्वं परम आजनिष्ठाः परावति श्रुत्यं नाम बिभ्रत्।
अतश्चिदिन्द्रादभयन्त देवा विश्वा अपो अजयद्दासपत्नीः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **यत्**=जब **त्वम्**=तू **परः**=विषयों से दूर होता हुआ **परमः**=उत्कृष्ट **आजनिष्ठाः**=विकसित शक्तियोंवाला होता है। उस समय जब कि तू **परावति**=उस (दूरात सुदूरे) दूर से दूर प्रदेश में भी वर्तमान प्रभु में **श्रुत्यं नाम**=श्रवणीय नाम को **बिभ्रत्**=धारण करता है। उस प्रभु का तू स्मरण करता है, जिसको कि लाँघने का कभी सम्भव ही नहीं—ऐसे स्थान में पहुँचा ही नहीं जा सकता जहाँ कि प्रभु नहीं। २. **अतः चित् इन्द्रात्**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु से ही **देवाः**=सब सूर्य आदि देव **अभयन्त**=भयभीत होते हैं 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'। सूर्य प्रभु का कहना है ये सब देव तेरे भी अनुकूल

होते हैं। उस समय प्रभु तेरे लिए **विश्वा:**=सब **दासपत्नी:**=(दास: पति: यासां) दास-वृत्र-वासना जिनकी स्वामिनी बन रही थी उन **अप:**=रेत:कणों को **अजयत्**=जीतते हैं। तू रेत:कणों के अपने में सुरक्षित कर पाता है। वस्तुत: प्रभु ही वासना को विनष्ट करते हैं और इन रेत:कणों को हमें प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण करते हुए हम विषयों से परे और उत्कृष्ट विकासवाले बनते हैं। सब देव हमारे अनुकूल होते हैं और हम रेत:कणों को वासनाओं का शिकार नहीं होने देते।

ऋषि:—**बभ्रुरात्रेय:** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्द:—**पङ्क्ति:** ॥ स्वर:—**पञ्चम:** ॥

प्रभु का अर्चन व वासना का विनाश

तुभ्येदेते मरुत: सुशेवा अर्चन्त्यर्कं सुन्वन्त्यन्ध:।
अहिमोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्र:॥ ६॥

१. हे प्रभो! **तुभ्य इत्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **एते**=ये **मरुत:**=प्राणसाधक पुरुष **सुशेवा:**=उत्तम कल्याणवाले होते हुए—सबके लिए सुखों को पैदा करते हुए **अर्कम् अर्चन्ति**=स्तुतिमन्त्रों को करते हैं—स्तोत्रों के द्वारा अर्चन करते हैं और आपकी प्राप्ति के लिए ही **अन्ध: सुन्वन्ति**=अपने अन्दर सोम को उत्पन्न करते हैं। स्तुतिमन्त्रों के द्वारा अर्चन व सोम के रक्षण से हम प्रभु प्राप्ति के पात्र बनते हैं। २. **इन्द्र:**=यह प्रभु का अर्चन करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **मायाभि:**=प्रज्ञानों के द्वारा **अहिम्**=इस विनाशक (आहन्ति) वासना को **प्रसक्षत्**=अभिभूत करता है जो वासना **ओहानम्**=(देवान् अपबाधमानम्) दिव्य गुणों का बाधन करती है। **अप: आशयानम्**=रेत:कणों को आवृत करके शयन करती है, अर्थात् हमारे रेत:कणों की स्वामिनी बन जाती है और **मायिनम्**=अत्यन्त माया—छल, छिद्र व कुटिलता—वाली है। यह वासना हमें दिव्यगुणों से दूर—रेत:कणों का भोग में अपव्यय करनेवाला—तथा छलछिद्रमय जीवनवाला बना देती है। प्रभु की अर्चना हमें इस वासना से बचाती है।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति के लिए (क) प्राणसाधना करें (मरुत:) सबके जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करें (सुशेवा:), स्तोत्रों को अपनाएँ (अर्चनमर्कम्) तथा सोम का रक्षण करें (अन्ध: सुन्वन्ति)। प्रभु हमारे लिए वासना का विनाश करेंगे।

ऋषि:—**बभ्रुरात्रेय:** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

नमुचि के शिर का उद्वर्तन (उलटना)

वि षू मृधो जनुषा दानमिन्वन्नहन्गवा मघवन्त्संचकान:।
अत्रा दासस्य नमुचे: शिरो यदवर्तयो मनवे गातुमिच्छन्॥ ७॥

१. हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभो! आप **संचकान:**=स्तूयमान होते हुए **दानम् इन्वन्**=हमारे जीवनों में दानवृत्ति को प्रेरित करते हुए—हमें दानशील (=त्याग की वृत्तिवाला) बनाकर भोगमार्ग से दूर करते हुए—**जनुषा**=अपने जन्म से **मृध:**=हमारा कत्ल करनेवाले इन आसुरभावों को **गवा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **सु**=अच्छी प्रकार **वि अहन्**=नष्ट करते हैं। २. **अत्रा**=इस जीवन में **यद्**=जब आप **दासस्य**=हमारा उपक्षय (विनाश) करनेवाले इस **नमुचे:**=हमारा पीछा न छोड़नेवाले अहंकार के **शिर:**=सिर को **अवर्तय:**=आप उलटा देते हैं, अर्थात् हमारे अहंकार को विनष्ट कर देते हैं तो इस **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए आप **गातुम् इच्छन्**=मार्ग को चाहते हैं, अर्थात् इस विचारशील पुरुष को आप मार्ग से ले चलते हैं। अहंकार ही मनुष्य को मार्ग

भ्रष्ट करता है। विचारशील पुरुष सदा मार्ग पर चलनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देकर—त्याग की वृत्तिवाला बनाते हुए वासनाओं से दूर करते हैं। अहंकार को नष्ट करके हमें मार्ग पर ले-चलते हैं।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मस्तिष्क व शरीर रूप दो चक्रोंवाला जीवनशकट

युजं हि मामकृथा आदिदिन्द्र शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन्।
अश्मानं चित्स्वर्यं१ वर्तमानं प्र चक्रियेव रोदसी मरुद्भ्यः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **माम्**=मुझे **हि**=निश्चय से **युजम् अकृथा**=अपना साथी बनाते हो—मेरे लिए अपनी मित्रता का प्रदान करते हो। **आत् इत्**=और अब शीघ्र ही **दासस्य**=मेरे विनाशकारी (दसु उपक्षये) **नमुचेः**=अहंकार के **शिरः**=सिर को **मथायन्**=कुचल देते हो। २. **स्वर्यम्** (स्वृ उपतापे)=अत्यन्त उपतप्त करनेवाले **वर्तमानम्**=मेरे जीवन में विद्यमान **अश्मानं चित्**=अविद्यापर्वत को भी आप विनष्ट करते हैं। और इन **मरुद्भ्यः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुषों के लिए **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को—**चक्रिया इव**=जीवन शकट के दो चक्रों की तरह **प्र (अकृथाः)**=प्रकर्षेण कर देते हैं। मस्तिष्क की दीप्ति व शरीर की दृढ़ता से इनका जीवन शकट इन्हें लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे अहंकार व अज्ञान को नष्ट करते हैं। हमारे जीवन शकट को ज्ञान व शक्ति के चक्रों से युक्त करके हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचने के योग्य करते हैं।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्त्री रूप आयुध

स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः।
अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद्युधये दस्युमिन्द्रः॥ ९॥

१. **दासः**=हमारा उपक्षय करनेवाला वृत्र (कामदेव) **हि**=निश्चय से **स्त्रियः**=स्त्रियों को **आयुधानि चक्रे**=अपना आयुध (अस्त्र) बनाता है। तपोविद्या के नाश लिए वासनाओं के रूप में ये हमारे पास आती है, परन्तु **अस्य**=इस दास की ये **अबलाः सेनाः**=स्त्री रूप सेनाएँ **मा**=मेरा **किं करन्**=क्या कर सकती हैं। ये मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं। २. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अस्य**=इस प्रभु की **उभे**=दोनों **धेने** (धेना=वाक्) अपराविद्या व पराविद्या रूप वाणियों को **अन्तः अख्यत्**=अपने अन्दर देखने का प्रयत्न करता है (चक्ष्=to see)। इन धेनाओं को अपने अन्दर देखता हुआ यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अथ**=अब **युधये**=युद्ध के लिए **दस्युम्**=उन स्त्रीरूप आयुधों का प्रयोग करनेवाले दस्यु को **उपप्रैत्**=आक्रान्त करता है। ज्ञान द्वारा वासनाओं पर आक्रमण करता है।

भावार्थ—संसार की वासनाओं में 'स्त्री के प्रति आसक्ति' प्रबलतम वासना है। हम ज्ञान द्वारा इस पर विजय पाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बछड़े का गौ से मेल

समत्र गावोऽभितोऽनवन्तेहेह वत्सैर्वियुता यदासन्।
सं ता इन्द्रो असृजदस्य शाकैर्यदीं सोमासः सुषुता अमन्दन्॥ १०॥

१. **अत्र**=गतमन्त्र के अनुसार जब हम वासना पर विजय पा लेते हैं तो **गावः**=ये ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणीरूप गौएँ **इह**=इस जीवन में **अभितः**=चारों ओर से **सम् अनवन्त**=सम्यक् गतिवाली होती हैं, वे गौएँ **यद्**=जो **इह**=यहाँ **वत्सैः**=(वदति इति वत्सः) वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले पुरुष रूप वत्सों से **वियुताः**=वियुक्त (पृथक्) **आसन्**=थीं। पुरुष का वेदवाणी से मेल तो इस प्रकार है जैसा कि बछड़े का अपनी मातृभूत गौ से मेल हो। २. **ताः**=उन वेदवाणी रूप गौवों को **इन्द्रः**=प्रभु **समसृजत्**=इन वत्सों के साथ संसृष्ट कर देता है। **अस्य**=इस बछड़े की **शाकैः**=शक्तियों के हेतुओं से वे प्रभु ऐसा करते हैं जिस बछड़े को मातृदुग्ध पीने को नहीं प्राप्त होता, वह जैसे निर्बल हो जाता है, इसी प्रकार वेदमाता से पृथक् हुआ-हुआ पुरुष निर्बल हो जाता है। यह सब होता तब है **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सुषुताः**=सम्यक् उत्पन्न हुए-हुए **सोमासः**=सोमकण इस सोम रक्षक पुरुष को **अमन्दन्**=आनन्दित करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा प्रभु वत्सतुल्य हम लोगों का गौ के तुल्य वेदवाणी से मेल कर देते हैं। इससे उस वेदवाणी के ज्ञानदुग्ध का पान करके हमारी शक्तियों का पोषण ठीक से होता है।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना विनाश व ज्ञानदुग्धपान

यदीं सोमा बभ्रुधूता अमन्दन्नरोरवीद् वृषभः सादनेषु।
पुरन्दरः पपिवाँ इन्द्रो अस्य पुनर्गवामददादुस्त्रियाणाम्॥ ११॥

१. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सोमाः**=सोमकण **बभ्रुधूताः**=अपना धारण करनेवाले से शोधित किये हुए **अमन्दन्**=उस बभ्रु के जीवन को आनन्दयुक्त करते हैं, तो यह **वृषभः**=सोमरक्षण से शक्तिशाली बना हुआ मनुष्य **सादनेषु**=अपने गृहों में **अरोरवीत्**=खूब ही प्रभु का स्तवन करता है—प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है। सोमरक्षण मनुष्य को प्रभु-श्रवण बनाता है। सोमी पुरुष सदा प्रभु भक्त होता है। २. इस समय **पुरन्दरः**=काम, क्रोध, लोभ आदि असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला, **पपिवान्**=सोम का पान (रक्षण) करनेवाला **इन्द्रः**=शक्तिशाली प्रभु **अस्य**=इस स्तोता को **पुनः**=फिर **उस्त्रियाणाम्**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली **गवाम्**=वेदवाणी रूप गौओं को **अददात्**=देता है। इस स्तोता के लिए वासनाओं को विनष्ट करके, ज्ञानदुग्धदात्री वेदवाणी रूप गौओं को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारी वृत्ति प्रभुस्तवन की होती है। इस स्तोता को प्रभु वासनाविनाश के साथ ज्ञानदुग्धदात्री वेदवाणीरूप धेनुओं को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋणञ्चय व रुशम (आचार्य+उपाध्याय)

भद्रमिदं रुशमा अग्ने अक्रन्गवां चत्वारि ददतः सहस्रा।
ऋणंचयस्य प्रयता मघानि प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्॥ १२॥

१. 'ऋण' शब्द जल के लिए (rain) प्रयुक्त होता है—ये जल ही शरीर में रेतःकण हैं। इनको संचय करनेवाला—ऊर्ध्वरेता—ही ऋणञ्चय है। एक आचार्य को इसी प्रकार ऊर्ध्वरेता 'ऋणञ्चय' होना ही चाहिए। एक आचार्य कुल में सब उपाध्याय भी 'रुशम' (रुश हिंसायाम्)-काम, क्रोध आदि शत्रुओं के हिंसक होने उचित हैं। ऐसे आचार्यों व उपाध्यायों से शिक्षा ग्रहण करते

हुए ही विद्यार्थी उत्तम ज्ञानयुक्त जीवनवाले बन सकते हैं। सो विद्यार्थी कहते हैं कि **गवाम्**=ज्ञान की वाणियों के **चत्वारि सहस्रा**=चार हजार को यजुर्वेद सामवेद को—**ददतः**=देते हुए **रुशमाः**=वासनाओं का संहार करते हुए उपाध्यायों ने, हे **अग्ने**=प्रभो! **इदं भद्रम् अक्रन्**=यह कल्याण ही किया है। यजुर्वेद के यज्ञों व साम की उपासना द्वारा ही तो वासनाओं का संहार होता है। २. इन उपाध्यायों से इन ज्ञानों को तो हमने ग्रहण किया ही है। साथ ही **नृणां नृतमस्य**=आगे ले-चलनेवालों में सर्वश्रेष्ठ (मनुष्यों के मनुष्य) **ऋणञ्चयस्य**=उर्ध्वरेता आचार्य के **प्रयता**=पवित्र **मघानि**=ज्ञानैश्वर्यों को हमने **प्रत्यग्रभीष्म**=ग्रहण किया है। इन उपाध्यायों व आचार्य ने ही हमें इस ज्ञानदुग्धवाणी वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध को पिलाया है।

भावार्थ—हम आचार्य व उपाध्यायों से ज्ञान को ग्रहण करें। इसी प्रकार हम वासनाओं का संहार करनेवाले व ऊर्ध्वरेता बन पाएँगे—'रुशम व ऋणञ्चय बन पाएँगे'।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समावर्तन

सुपेशसं माव सृजन्त्यस्तं गवां सहस्रै रुशमासो अग्ने।
तीव्रा इन्द्रममन्दुः सुतासोऽक्तोर्व्युष्टौ परितक्म्यायाः॥ १३॥

१. आचार्य व उपाध्याय विद्यार्थी को ज्ञान देकर सुन्दर जीवनवाला (=सुपेशस्) बनाकर घर में वापिस भेजते हैं। यही समावर्तन है। समावृत्त होता हुआ विद्यार्थी कहता है कि हे **अग्ने**=प्रभो! **रुशमासः**=ये वासनाओं का संहार करनेवाले उपाध्याय **गवां सहस्रैः**=हजारों ज्ञान वाणियों के द्वारा **सुपेशसम्**=उत्तम रूपवाला (उत्तम जीवनवाला) बनाकर **मा**=मुझे **अस्तम् अवसृजन्ति**=घर को प्राप्त करते हैं। आज मुझे सुपेशस् (पेश=Shape) बनाकर घर पर लौटने की अनुमति देते हैं। २. वस्तुतः **परितक्म्यायाः** (परितः तमसा तकति) चारों ओर से अन्धकार से व्याप्त करनेवाली **अक्तोः व्युष्टौ**=अज्ञान रात्रि के समाप्त होने पर—ज्ञान प्रभात के रूप में परिवर्तित हो जाने पर—**इन्द्रम्**=मुझ जितेन्द्रिय पुरुष को **सुतासः**=उत्पन्न हुए **तीव्राः**=प्रबल शक्तिवाले ये सोमकण **अममन्दुः**=आनन्द को देनेवाले हुए हैं। इनके द्वारा ही ज्ञानाग्नि की प्रचण्डता से मेरे लिए ज्ञानग्रहण का भी सम्भव हुआ है और उन्होंने ही मेरे गृहस्थ को सुसन्तति-वाला बनाया है।

भावार्थ—आचार्यों व उपाध्यायों ने ज्ञान देकर मेरे अज्ञानान्धकारवाली रात्रि को समाप्त किया है। मुझे सोमरक्षक बनाकर आनन्दित किया है।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन रात्रियों का बीतना

औच्छत्सा रात्री परितक्म्या याँ ऋणंचये राजनि रुशमानाम्।
अत्यो न वाजी रघुरज्यमानो बभ्रुश्चत्वार्यसनत्सहस्रा॥ १४॥

१. 'प्रकृति जीव परमात्मा' के ज्ञान का अभाव ही रात्रि है। इन तीन रात्रियों के बीतने तक विद्यार्थी आचार्य कुल में ही रहता है। ये आचार्य 'ऋणञ्चय' है—शक्तिकणों का शरीर में संचार करनेवाले ऊर्ध्वरेता पुरुष हैं। अन्य उपाध्याय भी वासनाओं का संहार करनेवाले 'रुशम' हैं। ये ऋणञ्चय रुशमों के राजा ही है, सब उपाध्यायों में आचार्य की अद्भुत ही शोभा है—वे अपनी ज्ञानदीप्ति से चमकते प्रतीत होते हैं। **सा परितक्म्या रात्री**=वह चारों ओर से अन्धकार से कांपनेवाली रात **औच्छत्**=आज समाप्त हो गई है (=विवासित हो गई है), **यान्**=जिस रात्रि में

मैंने **रुशमानाम्**=रुशमों के अतीत वासनाओंवाले उपाध्यायवाले उपाध्यायों **राजनि**=राजा **ऋणञ्चये**=ऊर्ध्वरेता आचार्य के समीप रहकर बिताया है। इन्होंने ही अपने ज्ञान के प्रकाश से मेरी अज्ञानान्धकारवाली रात्रि को समाप्त किया है। २. आज यह विद्यार्थी **अत्यः** **न**=सततगामी अश्व के समान **वाजी**=शक्तिशाली बना है। **रघुः**=खूब तीव्र गतिवाला—आलस्य.....स्फूर्तिमय जीवनवाला हुआ है। **अज्यमानः**=विद्या आदि गुणों से इसका जीवन अलंकृत हुआ है। **बभ्रुः**=यह भरणपोषण में समर्थ बना है। क्योंकि इसने **चत्वारि सहस्रा**=इन चार हज़ार यजु व साम वाणियों का **असनत्**=सम्भजन किया है। यह यज्ञों व उपासना के द्वारा सचमुच 'घर का सुन्दर भरण कर पाएगा'।

भावार्थ—अज्ञानान्धकार दूर होने तक आचार्यकुल में रहकर यह विद्यार्थी स्फूर्तिमय गुणालंकृत जीवनवाला बना है। यह घर का उत्तमता से भरण करनेवाला 'बभ्रु' क्यों न बनेगा? इसने यज्ञों व उपासना का पाठ पढ़ा है। ये यज्ञ व उपासना इसके घर को उत्तम बनाएँगे ही।

ऋषिः—**बभ्रुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्र ऋणञ्चयश्च** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अयस्मय (लोहा दृढ़) शरीर

चतुःसहस्रं गव्यस्य पश्वः प्रत्यग्रभीष्म रुशमेष्वग्ने।
घर्मश्चित्तप्तः प्रवृजे य आसीदयस्मयस्तम्वादाम विप्राः॥ १५॥

१. उस **पश्वः**=(पश्यति) सर्वद्रष्टा प्रभु के **गव्यस्य**=इन ज्ञानदुग्धदात्री वेदधेनुओं के **चतुःसहस्रम्**=इन यजु साम रूप चार हजार मन्त्रों को हमने **रुशमेषु**=वासनाओं के संहारक उपाध्यायों के चरणों में बैठकर **प्रत्यग्रभीष्म**=ग्रहण किया है। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **घर्मः**=यह शक्ति की उष्णतावाला शरीर **चित् तप्तः**=निश्चय से खूब ही तप वाला हुआ है, अर्थात् आचार्यकुल में मैंने तपस्यापूर्वक निवास किया है। अतएव **यः**=जो यह शरीर **प्रवृजे आसीत्**=सब रोगों व बुराइयों के छोड़नेवाला हुआ वह **अयस्मयः**=लोहे का बना हुआ—लोह दृढ़ बना है। हम **विप्राः**=ज्ञानी बनकर **तम् उ**=उस लोहों जैसे दृढ़ शरीर को ही **आदाय**=सदा ग्रहण करनेवाले हों।

भावार्थ—आचार्य कुल में विद्यार्थी ज्ञान को ग्रहण करे और शरीर के तप की अग्नि में तपा कर सब बुराइयों व रोगों से रहित करके अपने शरीर को अयोमय (लोह दृढ़) बनाए।

इस प्रकार ज्ञान व तपस्या द्वारा अपने रक्षण की कामनावाला 'अवस्यु' आत्रेय बनाता है—सब त्रिविध कष्टों से दूर होता है। यह कहता है कि—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जितेन्द्रियता-ज्ञानैश्वर्य-उपासना

इन्द्रो रथाय प्रवतं कृणोति यमध्यस्थान्मघवा वाजयन्तम्।
यूथेव पश्वो व्युनोति गोपा अरिष्टो याति प्रथमः सिषासन्॥ १॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **रथाय**=अपने शरीररथ के लिए **प्रवतम्**=(easy passage) निर्विघ्न मार्ग को **कृणोति**=बनाता है। विषय वासनाओं के टीले ही तो जीवनयात्रा के मार्ग को विषम बनाते हैं। उनसे ऊपर उठता हुआ यह व्यक्ति अपने मार्ग को सुगम बनाता है। उस रथ के मार्ग को सुगम बनाता है। **यम्**=जिस **वाजयन्तम्**=शक्तिशाली की तरह आचरण करते हुए रथ पर **मघवा**=ज्ञानैश्वर्यवाला यह इन्द्र **अध्यस्थात्**=अधिष्ठित होता है। २. **इव**=जैसे **गोपाः**=एक

ग्वाला **पश्वः यूथा**=पशुओं के झुण्ड को **व्युनोति**=प्रेरित करता है, उसी प्रकार यह रथाधिष्ठित मघवा **अरिष्टः**=रोगों व वासनाओं से हिंसित न होता हुआ **प्रथमः याति**=सर्वमुख्य होता हुआ आगे बढ़ता है। अपनी इस यात्रा में यह **सिषासन्**=(संभक्तुमिच्छन्) सदा प्रभु की उपासना की कामनावाला होता है। यह प्रभु की उपासना ही इसे प्रथम स्थान प्राप्त करने के योग्य बनाती है। उस प्रभु को अपना गोप बनाकर यह 'काम-क्रोध आदि' पशुओं को ठीक से प्रेरित करने में समर्थ होता है। वशीभूत पशु कल्याणकर हैं। अवारा पशु ही परेशानी का कारण बना करते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रियता (इन्द्रः) व ज्ञानैश्वर्य (मघवा) जीवनयात्रा को सफलता से पूर्ण करने के प्रमुख साधन हैं। जितेन्द्रियता व ज्ञानैश्वर्य के लिए उपासना (सिषासन्) मूल साधन है।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानग्रहण व ज्ञानप्रदान

आ प्र द्रव हरिवो मा वि वेनः पिशङ्गराते अभि नः सचस्व।
नहि त्वदिन्द्र वस्यो अन्यदस्त्यमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ॥ २॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! **आ प्र द्रव**=सब प्रकार से हमारी ओर आनेवाला तू हो अथवा निरन्तर अपने कर्तव्य कर्मों में गति वाला तू हो। **मा विवेनः**=उपासक कामनावाला न होना। सदा वेदाभिराम (ज्ञान-प्राप्ति) की कामनावाला बन तथा वैदिक कर्मयोग (वेदानुकूल कर्मों को करने) की कामनावाला हो। **पिशङ्गराते**=अलंकृत करनेवाले धनवाले। **नः**=हमें **अभि सचस्व**=प्रातः सायं दोनों समय संगत होनेवाला हो, अर्थात् प्रातः सायं ध्यान करने वाला तू बन। २. इस प्रकार करने पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **त्वद् अन्यः**=तेरे से भिन्न कोई **अन्यत्**=और **वस्यः**=उत्तम वसुओंवाला है—तूने ही अपने निवास को उत्तम बनाया है। **अमेनान् चित्**=वेदवाणी रूप पत्नी से रहित पुरुषों को **चित्**=भी तू **जनिवतः**=वेदवाणी रूप जायावाला **चकर्थ**=करता है, अर्थात् उनके लिए वेदज्ञान को देनेवाला होता है।

भावार्थ—हमारे में सदा प्रभु प्राप्ति की कामना हो। हम ज्ञानधन से अपने को अलंकृत करें। औरों के लिए भी वेदज्ञान के देनेवाले बनें।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति व ज्ञान के दाता प्रभु

उद्यत्सहः सहस आजनिष्ट देदिष्ट इन्द्र इन्द्रियाणि विश्वा।
प्राचोदयत्सुदुघा वव्रे अन्तर्वि ज्योतिषा संववृत्वत्तमोऽवः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन बिताने पर **सहसः**=उस शक्तिपुत्र प्रभु से **उद्यत् सहः**=उदय होता हुआ शत्रुनाश बल **आजनिष्ट**=हमारे में प्रादुर्भूत होता है। **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **विश्वा इन्द्रियाणि**=सब इन्द्रियों को व बलों को **देदिष्ट**=हमारे लिए देते हैं। २. **वव्रे अन्तः**=हमें आवृत कर लेनेवाले अज्ञानान्धकार के बीच में **सुदुघाः**=उत्तम ज्ञानदुग्ध को पूरित करनेवाली वेदवाणी रूप गौओं को **प्राचोदयत्**=प्रकर्षेण प्रेरित करते हैं और इस प्रकार **ज्योतिषा**=ज्ञान के प्रकाश से **संववृत्वत्**=आवृत कर लेने वाले अन्धकार को **वि अव**=निवारित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही बल देते हैं। प्रभु ही अज्ञानान्धकार को नष्ट करके ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ते अनवः

अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम्।
ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ॥ ४॥

१. हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **ते अनवः**=तेरे ये प्राणशक्तिसम्पन्न पुरुष **रथम्**=अपने शरीररथ को **अश्वाय**=इन्द्रियाश्वों से सम्पर्क के लिए **तक्षन्**=बनाते हैं, अर्थात् इस रथ में ये घोड़े सदा जुते रहते हैं और इनका जीवन क्रियाशील होता है। यह आपका व्यक्ति **त्वष्टा**=(त्विषेर्दीप्तौ) बड़े दीप्त जीवनवाला होता हुआ **वज्रम्**=अपने क्रियाशीलतारूप वज्र को **द्युमन्तम्**= प्रशस्त ज्योतिर्मय बनाता है। संक्षेप में, प्रभु का व्यक्ति क्रियाशील होता है और इसकी क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होती हैं। २. **ब्रह्माणः**=स्तोतालोक **अर्कैः**=स्तुति मन्त्रों द्वारा **महयन्तः**=पूजन करते हुए **अवर्धयन्**=प्रभु की महिमा को बढ़ाते हैं। **अहये हन्तवा उ**=और (उ) इस प्रभु की महिमा के वर्धन के द्वारा ये वासना को विनष्ट करने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः जब हृदय में प्रभु का निवास होता है तो वहाँ वासना का प्रवेश होता ही नहीं। ऐसे हृदय में प्रविष्ट होते ही वासना भस्म के रूप में हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु के व्यक्ति क्रियामय होते हैं। इनकी क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होती हैं। ज्ञानयज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए ये वासना को विनष्ट कर पाते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्तःशत्रुओं के विजय से बाह्य शत्रुओं का विजय

वृष्णे यत्ते वृषणो अर्कमर्चानिन्द्र ग्रावाणो अदितिः सजोषाः।
अनश्वासो ये पवयोऽरथा इन्द्रेषिता अभ्यवर्तन्त दस्यून्॥ ५॥

१. हे प्रभो! **यत्**=जब **वृषणः**=शक्तिशाली पुरुष **वृष्णे ते**=शक्तिशाली आपके लिए **अर्कम् अर्चान्**=स्तुति मन्त्रों के द्वारा पूजन करते हैं। हे **इन्द्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! तब **ये ग्रावाणः**=स्तोता लोग **अदितिः** (अदितयः)=स्वास्थ्यवाले होते हैं तथा **सजोषाः**=मिलकर परस्पर प्रीतिपूर्वक कार्यों को करनेवाले होते हैं। २. **अनश्वासः**=बिना ही घोड़ोंवाले **अरथाः**=रथों से भी रहित **ये**=जो **पवयः**=अपने को पवित्र बनानेवाले लोग हैं, वे **इन्द्रेषिताः**=प्रभु से प्रेरित हुए-हुए **दस्यून् अभ्यवर्तन्त**=दस्युओं पर आक्रमण करनेवाले होते हैं। ये बिना ही रथों व घोड़ों के अपने शत्रुओं को जीतनेवाले होते हैं। अन्तःशत्रुओं के विजय से अपने को शक्तिशाली बनाकर ये बाह्य शत्रुओं पर भी विजय पानेवाले होते हैं। 'इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया'।

भावार्थ—प्रभु के उपासक अपने जीवन को पवित्र बनाकर बाह्य शत्रुओं पर भी विजय पानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के पूर्व व नूतन कर्म

प्र ते पूर्वाणि करणानि वोचं प्र नूतना मघवन्या चकर्थ।
शक्तीवो यद्विभरा रोदसी उभे जयन्नपो मनवे दानुचित्राः॥ ६॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपके **पूर्वाणि**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले

करणानि=कामों को **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण प्रतिपादित करता हूँ—उनके महत्त्व को ज्ञानयज्ञों में कहता हूँ। हे मघवन्! **या**=जिन **नूतना**=स्तुत्य कर्मों को आप **चकर्थ**=करते हैं, उन्हें मैं प्रतिपादित करता हूँ। प्रभु के पालनात्मक पूरणात्मक व स्तुत्य कर्मों का प्रतिपादन करता हुआ मैं प्रभु की उपासना करता हूँ। २. हे **शक्तीवः**=निरतिशय शक्तिसम्पन्न प्रभो! **यद्**=जो आप **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **विभराः**=विशेष रूप से धारित करते हैं वे आप **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **दानुचित्राः**=(चित्रदानाः सा०) अद्भुत दानवाले, अद्भुत शक्ति को प्राप्त करानेवाले व (दाप् लवने) अद्भुत प्रकार से वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाले **अपः**=कर्मों को **जयन्**=जीतते हैं। अपने उपासक के द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर का धारण करते हुए आप उसे कर्मशील बनाते हैं। जिससे कि वह सब वासनाओं का विनाश कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु के कर्म अद्भुत है। प्रभु द्यावापृथिवी का धारण करते हुए हमें भी उन कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं जो कि हमारी शक्ति का वर्धन करते हैं और हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दस्यु नाशक' प्रभु

तदिन्नु ते करणं दस्म विप्राहिं यद् घ्नन्नोजो अत्रामिमीथाः।
शुष्णस्य चित्परि माया अगृभ्णाः प्रपित्वं यन्नप दस्यूँरसेधः॥ ७॥

१. हे **दस्म**=दर्शनीय व दुःखध्वंसक **विप्र**=हमारा विशेष रूप से पूरण करनेवाले प्रभो! **इत्** **नु**=निश्चय से **तत्**=वह **ते**=आपका **करणम्**=महत्त्वपूर्ण कर्म है **यत्**=कि **अहिं घ्नन्**=वासना को विनष्ट करते हुए आप **अत्र**=यहाँ हमारे जीवन में **ओजः**=शक्ति को **मिमीथाः**=निर्मित करते हैं। २. **शुष्णस्य**=इस शोषक 'काम' (=वासना) की **मायाः**=छलयुक्त प्रपञ्चों को **चित्**=निश्चय से **परि अगृभ्णाः**=काबू करते हैं। इसके छलों से हमें बचाते हैं और **प्रपित्वं यन्**=समीपता को प्राप्त होते हुए **दस्यून्**=हमारी दास्यववृत्तियों को **अप असेधः**=सुदूर निषिद्ध करते हैं। दूर से ही इन्हें रोककर हमारे समीप नहीं आने देते।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमारे समीप होते हुए हमारे शत्रुओं को दूर भगाते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः; इन्द्रः कुत्सो वा; इन्द्रः उशना वा** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुदुघाः अपः अरमयः

त्वमपो यदवे तुर्वशायारमयः सुदुघाः पार इन्द्र।
उग्रमयातमवहो ह कुत्सं सं ह यद्वामुशनारन्त देवाः॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वम्**=आप **यदवे**=यत्नशील पुरुष के लिए—सतत उद्योग में लगे हुए व्यक्ति के लिए तथा **तुर्वशाय**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाले व्यक्ति के लिए **सुदुघाः**=उत्तमता से प्रपूरण करनेवाले **अपः**=इन रेतःकणों को **अरमयः**=शरीर में ही रमणवाला बनाते हैं और इस प्रकार **पारः**=उसे सब रोगों व वासनाओं से पार करनेवाले होते हैं। इन रेतःकणों के रक्षण से शरीर में रोग नहीं आते तथा मन में वासनाओं का विनाश हो जाता है। इसीलिए इन्हें 'सुदुघाः' कहा है। ये हमारा उत्तम पूरण करते हैं। २. हे **इन्द्रः**=शत्रु विनाशक प्रभो! आप और **कुत्स**=(शत्रु विनाशक के लिए यत्नशील पुरुष) **उग्रम्**=उस अतिप्रबल—शत्रु 'काम' को

अयातम्=आक्रान्त करते हो। उस समय हे प्रभो! आप ही **ह**=निश्चय से **कुत्सम्**=इस शत्रुविनाशक पुरुष को **अवहः**=शत्रु विनाश के द्वारा घर में (ब्रह्मलोक में) प्राप्त कराते हैं। **यद्**=जब **वाम्**=आप दोनों को (इन्द्र और कुत्स को) **उशना देवाः**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाले देववृत्ति के व्यक्ति **ह**=निश्चय से **समरन्त**=प्राप्त होते हैं। देववृत्ति के व्यक्ति इन्द्र (प्रभु) की उपासना करते हैं और ज्ञानवर्धन के लिए कुत्स (वासनाओं का विनाश करनेवाले आचार्य) के समीप उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें रेतःकणों को प्राप्त कराके भवसागर के पार ले-जाते हैं। इन रेतःकणों के रक्षण के लिए प्रभु ही हमें 'काम' के विनाश में समर्थ करते हैं। देववृत्ति के व्यक्ति प्रभु की उपासना करते हैं, ज्ञानप्राप्ति के लिए इन कुत्स लोगों के समीप उपस्थित होते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः कुत्सश्च वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदय से अन्धकार का निवारण

इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेना वामत्या अपि कर्णे वहन्तु।
निः षीमद्भ्यो धमथो निः षधस्थान्मघोनो हृदो वरथस्तमांसि॥ ९॥

१. 'इन्द्र' प्रभु है—इस प्रभु का उपासक जीव भी जितेन्द्रिय बनकर 'इन्द्र' हो जाता है। उस समय जीव कुत्स होता है—वासनाओं का संहार करनेवाला। हे **इन्द्राकुत्सा**=इन्द्र व कुत्स **रथेन**=इस शरीररथ से **वहमाना**=उह्यमान (ले जाये जाते हुए) **वाम्**=आप को **अत्याः**=ये सततगामी—निरन्तर क्रिया में लगे हुए इन्द्रियाश्व **कर्णे**=उस प्रभु की वाणी को सुनने के स्थान में **अपिवहन्तु**=निश्चय से प्राप्त कराएँ। २. आप दोनों **सीम**=सब ओर से **अद्भ्यः**=प्रजाओं के हित के लिए **मघोनः**=हे परमात्मन्! **निः धमथः**=दुष्टजनों को, बुरे विचारों को निकालो **सधस्थात्**=साथियों के भी **हृदः**=हृदय से **तमांसि**=अन्धकारों को **निः वरथः**=निवारण करो।

भावार्थ—वह परमात्मा हमारे हृदय के अन्धकार को दूर करे, जिससे हमें ज्ञान का प्रकाश मिले।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कवि-अवस्युः

वातस्य युक्तान्त्सुयुजश्चिदश्वान्कविश्चिदेषो अजगन्नवस्युः।
विश्वे ते अत्र मरुतः सखाय इन्द्र ब्रह्माणि तविषीमवर्धन्॥ १०॥

हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली परमात्मन्! जैसे **कविः चित्**=क्रान्तदर्शी **अवस्युः**=गमन का इच्छुक **वातस्य**=वायु के बल से **सुयुजः**=अच्छी प्रकार जुड़नेवाले **युक्तान्**=जुड़े हुए **अश्वान्**=घोड़ों या वाहनों को **अजगन्**=नियन्त्रित कर चलाता है। उसी प्रकार **विश्वे**=सब **अत्र**=यहाँ **मरुतः**=प्राणापान **सखायः**=मित्रभाव से **ब्रह्माणि**=परब्रह्म **ते तविषीम्**=वे प्राणों के साथियों को, यम-नियमों को **अवर्धन्**=बढ़ायें।

भावार्थ—जिस प्रकार एक कुशल चालक अपने घोड़ों को वाहन को नियन्त्रित रखता है, उसी प्रकार योग द्वारा प्राणों को नियन्त्रित करता है।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रतुं भत्

सूरश्चिद्रथं परितक्म्यायां पूर्वं करदुपरं जूजुवांसम्।
भरच्चक्रमेतशः सं रिणाति पुरो दधत्सनिष्यति क्रतुं नः॥ ११॥

जिस प्रकार **सूरः चित्**=कोई विद्वान् **रथम्**=शरीररूपी रथ को **परितक्म्यायाम्**=कठिनाइयों में भी **उपरम्**=आगे उन्नति पथ पर **जूजुवांसम्**=वेग से **पूर्वं करत्**=पूरण करता है। गन्तव्य स्थल पहुँचता है। अर्थात् स्थित हुआ-हुआ वह स्फूर्ति से सब कार्यों को करनेवाला होता है। २. यह **एतशः**=शुद्ध जीवन में निवास करनेवाला (एने शेते) **चक्रं भरत्**=दिन भर के कार्यचक्र का भरण करता है। **संरिणाति** (drive out, expel)=इस प्रकार सब वासनाओं को अपने जीवन से पृथक् करता है। इस प्रकार **पुरः दधत्**=इन शरीर नगरियों का धारण करता हुआ—इन्हें रोगों व वासनाओं का शिकार न होने देता हुआ—यह **नः**=हमारे (प्रभु के) **क्रतुम्**=शक्ति व प्रज्ञान को **सनिष्यति**=अवश्य प्राप्त करेगा। जो भी व्यक्ति आलस्यशून्य होकर कर्त्तव्यपालन में प्रवृत्त होगा वह अवश्य ही शक्तिशाली व ज्ञानी बनेगा।

भावार्थ—चारों ओर अन्धकार के होने पर भी ज्ञानी शरीररथ को निरन्तर आगे बढ़ाता है। दिन के कार्यक्रम को सुन्दरता से करता हुआ यह अपने में ज्ञान व शक्ति को भरता है।

सुतसोम अध्वर्यु

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आयं जना अभिचक्षे जगामेन्द्रः सखायं सुतसोममिच्छन्।
वदन्ग्रावाव वेदिं भ्रियाते यस्य जीरमध्वर्यवश्चरन्ति ॥ १२ ॥

१. **जनाः**=हे लोगो! **अयम् इन्द्रः**=यह सर्वशक्तिमान्-सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभु **अभिचक्षे**=तुम्हें देखने के लिए तुम्हारे रक्षण के लिए (Look after) **आजगाम**=आता है। यह इन्द्र **सखायम्**=अपने मित्र **सुतसोमम्**=सोम का सवन करनेवाले को—अपने अन्दर वीर्यशक्ति (सोम) को उत्पन्न करनेवाले को—**इच्छन्**=चाहता है। २. यह **वदन्**=हमारे हृदयों में ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करता हुआ **ग्रावा**=महान् गुरु (स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्) **वेदिम् अवभ्रियाते**=यज्ञवेदी की ओर लाया जाता है, अर्थात् यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होने पर ही हम उस प्रभु को अपने समीप प्राप्त कराते हैं। उस प्रभु के सान्निध्य को हम प्राप्त करते हैं, **यस्य**=जिसकी **जीरम्**=प्रेरणा को **अध्वर्यवः**=यज्ञप्रणेता लोग **चरन्ति**=कार्यान्वित करते हैं। वस्तुतः प्रभु ने 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' यज्ञों के साथ ही हमें जन्म दिया है और कहा है कि इसके द्वारा तुम फूलो-फलो। इन यज्ञों के द्वारा ही तो प्रभु की उपासना होती है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। प्रभु यज्ञरूप ही तो हैं।

भावार्थ—प्रभु का मित्र वह है जोकि सोम का (वीर्य का) रक्षण करता है और यज्ञशील होता है ये ही व्यक्ति प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चाकानन्त-चाकनन्त

ये चाकनन्त चाकनन्त नू ते मर्ता अमृत मो ते अंह आरन्।
वावन्धि यज्यूँरुत तेषु धेह्योजो जनेषु येषु ते स्याम ॥ १३ ॥

हे **अमृत**=अमर धर्मन् परमात्मन्! **ये मर्ता**=जो मरणधर्मा मनुष्य **ते चाकनन्त**=तुझे चाहते हैं, **नू**=निश्चय से **ते**=वे तुझे **चाकनन्त**=सदा चाहते रहें। **ते**=वे मनुष्य **अंहः**=पाप को **मो आरन्**=मत प्राप्त हों। **उत**=और तू **तेषु**=उनमें **ओज**=तेज **धेहि**=धारण कर, **यज्यून्**=यज्ञ करनेवालों का **वावन्धि**=संग कर जिससे हम **ते स्याम**=तेरे भक्त होवें।

भावार्थ—जो परमात्मा को चाहते हैं वे यज्ञशील होते हुए पाप कर्मों से दूर रहकर परमेश्वर

के भक्त होते हैं।

सुतसोम अध्वर्यु ही मार्ग पर चलनेवाला है। यह 'गातुः' (ठीक मार्ग पर चलनेवाला) कहाता है। मार्ग पर चलने से यह त्रिविध दुःखों से दूर 'आत्रेय' होता है। यह प्रार्थना करता है कि—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना बन्धन-विनाश

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्बधानाँ अरम्णाः।
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन्॥ १॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आपने **उत्सम्**=ज्ञान प्रवाह को **अदर्दः**=वासना रूप बाँध के विदारण से खोल डाला है और इस प्रकार **खानि**=इन्द्रियों को **वि असृजः**=विषयों से विसृष्ट (पृथक्) किया है। **बद्बधानान्**=(बाध्यमानान्) वासना से बाधित होते हुए **अर्णवान्**=ज्ञान समुद्रों को, वासना विनाश के द्वारा **अरम्णाः**=फिर रमणवाला (=क्रीड़ावाला) किया है। २. हे **इन्द्र**=वज्र से शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो अपने **महान्त पर्वतम्**=इस महान् अविद्यापर्वत (पाँच पर्वोंवाली होने से अविद्या पर्वत है) **विवः**=खोल डाला है और **धाराः**=ज्ञान की धाराओं को **विसृजः**=विसृष्ट किया है—बन्धन से मुक्त किया है। इस प्रकार **दानवम्**=दानव वृत्ति को—आसुरवृत्ति को **अवहन्**=विनष्ट किया है। ज्ञान खड्ग से ही विषयदानव का संहार होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवनों में वासनाबन्धन को विनष्ट करके ज्ञान की धाराओं को प्रवाहित करते हैं।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अविद्या-रात्रि' का अन्त

त्वमुत्साँ ऋतुभिर्बद्बधानाँ अरंह ऊधः पर्वतस्य वज्रिन्।
अहिं चिदुग्र प्रयुतं शयानं जघन्वाँ इन्द्र तविषीमधत्थाः॥ २॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आपने **बद्बधानान्**=विषयों से बाँधे जाते हुए **उत्सान्**=ज्ञान प्रवाहों को **ऋतुभिः**=(ऋ गतौ) नियमित गतियों के द्वारा **अरंहः**=फिर से गतिमय किया है। हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! **पर्वतस्य**=आपने इस अविद्यापर्वत को **ऊधः**=रात्रि को (नि० १.७) **जघन्वान्**=विनष्ट किया है। २. हे **इन्द्र**=शत्रु विदारक प्रभो! **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **अहिं चित्**=इस विनाशक वासना को भी आप ही नष्ट करते है, जो कि **प्रयुतम्**=हमारे साथ प्रकर्षेण युक्त हो जाती है और **शयानम्**=हमारे में निवास करती है। हे इन्द्र! आप इस वासना को विनष्ट करके **तविषीम्**=बल को **अधत्थाः**=हमारे में धारण करते हैं। वासना विनाश ही बल का जनक है।

भावार्थ—अविद्या की रात्रि को समाप्त करके प्रभु ज्ञानप्रवाह को गतिमय करते हैं। इस ज्ञानप्रवाह से वासना को विनष्ट करके वे हमें सबल बनाते हैं।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तव्यान् अजनिष्ट

त्यस्य चिन्महतो निर्मृगस्य वधर्जघान तविषीभिरिन्द्रः।
य एक इदप्रतिर्मन्यमान आदस्मादन्यो अजनिष्ट तव्यान्॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **तविषीभिः**=बलों के द्वारा—ज्ञान द्वारा प्राप्त शक्तियों से—**त्यस्य चित्**=उस प्रसिद्ध **महतः**=प्रबल (महान्) **मृगस्य**=पशु के तुल्य बलवान् काम के **वधः**=अस्त्र को **निर्जघान**=नष्ट करता है। काम के अस्त्र को विनष्ट करके यह उसे निरस्त्र (निहत्था) बना देता है। २. **यः**=जो **एकः इत्**=अकेला ही **अप्रतिः**=प्रतिद्वन्द्वियों से रहित **मन्यमानः**=आदरणीय प्रभु हैं। **आत्**=अब **अस्मात्**=इस प्रभु से **अन्यः**=दूसरा जीव भी **तव्यान्**=बड़ा शक्तिशाली **अजनिष्ट**=हो जाता है। प्रभु सम्पर्क से जीव की भी शक्ति बड़ी बढ़ी हुई हो जाती है।

भावार्थ—वासना के विनाश होने पर जीव, उस प्रभु से मेल के कारण, बड़ा शक्तिशाली बन जाता है।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दानव तेजो हरण

त्वं चिदेषां स्वधया मदन्तं मिहो नपातं सुवृधं तमोगाम्।
वृषप्रभर्मा दानवस्य भामं वज्रेण वज्री नि जघान शुष्णम्॥ ४॥

१. **वज्री**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाला जीव **वज्रेण**=इस क्रियाशीलता रूप वज्र के द्वारा **शुष्णम्**=शोषक शत्रुभूत काम को **निजघान**=नष्ट करता है। क्रियामय जीवनवाले को वासना नहीं सताती। **वृषप्रभर्मा**=धर्म (वृष-धर्म) का प्रकर्षेण धारण करनेवाला यह वज्री **दानवस्य**=इस दानव के **भामम्**=तेज को विनष्ट करता है। 'काम' धर्म को नष्ट करता है, 'धर्म' काम को। वृषप्रभर्मा के जीवन में धर्म प्रबल होता है, सो वह काम का ध्वंसक बनता है। २. **त्वं चित्**=उस काम को भी यह विनष्ट करता है जो कि **एषां स्वधया मदन्तम्**=इनके अन्त से ही हर्षित होता है, अर्थात् इन प्राणियों को ही अपना आधार बनाकर विनष्ट कर डालता है—इन्हें ही खा जाता है। **मिहः**=आनन्द की वर्षा को यह **नपातम्**=नहीं गिरने देता। वासना के कारण धर्ममेघ समाधि में पहुँचकर आनन्द की वर्षा के अनुभव करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। **सुवृधम्**=यह काम सेवित हुआ-हुआ बढ़ता ही जाता है 'हविषा कृणुत वर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते'। **तमोगाम्**=हमें तमोगुण की ओर ले जाता है—हमारे जीवनों में अन्ततः अन्धकार का कारण बनता है।

भावार्थ—धर्म का धारण करनेवाला व्यक्ति क्रियाशीलता रूप वज्र से कामासुर का संहार करता है।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अन्धकार-निवासी' वृत्र

त्वं चिदस्य क्रतुभिर्निषत्तममर्मणो विददिदस्य मर्म।
यदीं सुक्षत्र प्रभृता मदस्य युयुत्सन्तं तमसि हर्म्ये धाः॥ ५॥

१. 'मर्म' शब्द के दो अर्थ हैं (क) (Truth) सत्य, तथा (Weak point) निर्बलता। वासना में सत्य नहीं, सो यह अमर्म है। चिन्तन करते ही यह नष्ट होती है, सो वही इसकी निर्बलता है, मर्म है। हे **सुक्षत्र**=उत्तम बलवाले इन्द्र **अमर्मणः**=सत्य से रहित **अस्य**=इस वृत्र (वासना) के **त्यम्**=उस **चित्**=निश्चय से **निःषत्तम्**=अन्दर गुप्त रूप से छिपे हुए **मर्म**=मर्मस्थल को **अस्य क्रतुभिः**=इस प्रभु के प्रज्ञानों से—हृदयस्थ प्रभु से दिये हुए प्रज्ञान के द्वारा—**विदद्**=जान लेता है। प्रभु का चिन्तन करते ही यह वासना विनष्ट हो जाती है। २. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से ऐसा

होता है अर्थात् प्रभु का चिन्तन चलता है तो **यदस्य**=आनन्द को प्राप्त करानेवाले सोम के **प्रभृता**=प्रकर्षेण धारण करने पर **युयुत्सन्तम्**=युद्ध की इच्छावाले इस वृत्र को **तमसि**=अन्धकारमय **हर्म्ये**=घर में **धाः**=तू स्थापित करता है। वृत्र तेरी शक्ति से भयभीत होकर अन्धकारमय स्थान में जा छिपता है। इस वाक्य प्रयोग से यह भी स्पष्ट है कि वासना का निवास वहीं होता है, जहाँ अन्धकार हो। प्रकाश में वासना विनष्ट हो जाती है।

भावार्थ—सत्य से रहित वासना का मर्म (भेद) यही है कि प्रभु का चिन्तन हुआ और यह नष्ट हुई। प्रभु चिन्तन से सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष को छोड़कर यह उन पुरुषों में निवास करती है जिनके हृदयों में प्रभु का प्रकाश नहीं—जहाँ अन्धकार है।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वासना का वर्धन हमारा विनाशक है

त्यं चिदि॒त्था क॑त्प॒यं शया॑नमसू॒र्ये तम॑सि वावृधा॒नम्।
तं चि॒न्मन्दा॒नो वृ॑ष॒भः सु॒तस्यो॒च्चैरिन्द्रो॑ अपगू॒र्या ज॑घान॥ ६ ॥

१. **त्यम्**=उस **चित्**=निश्चय से **इत्था**=सचमुच **कत्पयम्**=कुत्सित आप्यायन (वर्धन) वाले—जिसके बढ़ने से हमारा विनाश है, **शयानम्**=हमारे अन्दर ही निवास करनेवाले **असूर्ये**=आसुर भावनाओं के लिए हितकर **तमसि**=अन्धकार में **वावृधानम्**=खूब बढ़ते हुए **तम्**=उस वृत्र को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **उच्चैः अपगूर्या**=खूब उठाकर पटकता हुआ **जघान**=विनष्ट कर डालता है—ऊँचे उठाकर पटक डालता है। २. वह इन्द्र इस वृत्र को पटक कर नष्ट करता है, जो कि **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम से (सोमेन सा०) **मन्दानः**=आनन्द का अनुभव करता हुआ **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—अन्धकार में पनपनेवाली वासना का वर्धन हमारे लिए अत्यन्त हानिकर है। हमें चाहिए कि हम सोम (वीर्य) का रक्षण करते हुए इस वासना को पटककर विनष्ट कर डालें।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वासना विनाशक' वज्र

उद्यदिन्द्रो॑ म॒हते॑ दान॒वाय॒ वध॒र्यमि॑ष्ट॒ सहो॒ अप्र॑तीतम्।
यदीं॒ वज्र॑स्य॒ प्रभृ॑तौ द॒दाभ॒ विश्व॑स्य ज॒न्तोर॑ध॒मं च॑कार॥ ७ ॥

१. **यत्**=जब **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **महते दानवाय**=इस महान् दानव (राक्षस) 'वृत्र' के विनाश के लिए **अप्रतीतम्**=शत्रुओं से आक्रान्त न होनेवाले **सहः**=शत्रुओं को कुचल देनेवाले **वधः**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **उद्यमिष्ट**=उठाता है, और **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **वज्रस्य**=इस क्रियाशीलतारूप वज्र के **प्रभृतौ**=प्रकर्षेण धारण करने पर **ददाभ**=यह शत्रुओं को हिंसित करता है तो इस वृत्र को **विश्वस्य जन्तोः**=सब प्राणियों के **अधमं चकार**=अधम कर देता है—उनके पाँव तले इस वृत्र को रौंद देता है। २. वृत्र के विनाश के लिए बल प्राप्ति का एक ही मार्ग है कि हम क्रियाशील बने रहें। यह क्रियाशीलता ही वज्र है, जिससे कि वासना का विनाश होता है। वासना को कुचलने का—पाँव तले रौंदने का—यही उपाय है कि हम क्रियामय जीवनवाले हों।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र से ही वासना का विनाश सम्भव है।

ऋषिः—गातुरात्रेयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अपादम् अत्रम्

त्यं चिदर्णं मधुपं शयानमसिन्वं वव्रं मह्यादंदुग्रः।
अपादमत्रं महता वधेन नि दुर्योण आवृणङ्मृध्रवाचम्॥ ८॥

१. **त्यम्**=उस **चित्**=निश्चय से **मधुपम्**=शरीर में सोम का पान (रक्षण) करनेवाले **अर्णम्**=ज्ञान जल को आवृत करके—उस पर परदा डालकर—**शयानम्**=निवास करते हुए, **असिन्वम्**=हमें निरन्तर इधर-उधर फेंकते हुए **वव्रं**=इस **महि**=महान् अति प्रबल वृत्र को—वासना को—**उग्रः**=यह तेजस्वी इन्द्र **आदत्**=पकड़ लेता है—उसे वश में करता है। वासना को काबू करके ही इसका विनाश किया जा सकता है। वस्तुतः वशीभूत काम 'काम' नहीं रहता। यह 'प्रेम' हो जाता है। २. **अपादम्**=कैद हो जाने के कारण गति से रहित हुए-हुए इस **अत्रम्**=खा जानेवाले **मृध्रवाचम्**=ज्ञान वाणियों का हिंसन करनेवाले काम को वह तेजस्वी इन्द्र **महता वधेन**=महान् क्रियाशीलतारूप आयुध के द्वारा **दुर्योण**=इस शरीररूप गृह में अथवा इस शरीर में चलनेवाले वासनाओं के साथ संग्राम में **नि आवृणक्**=निश्चय से छिन्न कर डालता है।

भावार्थ—हम वासना को काबू करें। इसे वशीभूत करके क्रियाशीलतारूप वज्र से विनष्ट कर डालें। अन्यथा यह वासना हमें विनष्ट कर डालेगी। यह 'अत्र' है—खा जानेवाली है (अद् भक्षणे)।

ऋषिः—गातुरात्रेयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

अप्रतिम बलवाले प्रभु

को अस्य शुष्मं तविषीं वराते एको धना भरते अप्रतीतः।
इमे चिदस्य ज्रयसो नु देवी इन्द्रस्यौजसो भियसा जिहाते॥ ९॥

१. **कः**=कौन **अस्य**=इस इन्द्र के **शुष्मम्**=शत्रुओं का शोषण करनेवाले **तविषीम्**=बल को **वराते**=रोक सकता है, अर्थात् इसके बल का प्रतिरोध कोई नहीं कर सकता। **एकः**=यह अद्वितीय प्रभु ही **अप्रतीतः**=किसी भी शत्रु से आक्रान्त न हुआ-हुआ **धना भरते**=हमारे लिए धनों का पोषण करता है। २. **इमे देवी**=ये दिव्य शक्तियोंवाले द्यावापृथिवी प्रभु **चित्**=भी **अस्य ज्रयसः**=इस वेगवान् **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **ओजसः**=ओज के—बल के—**भियसा**=भय से ही **नु**=निश्चय से **जिहाते**=गति करते हैं। द्यावापृथिवी प्रभु की शक्ति से ही—उस प्रभु के प्रशासन में ही—गति कर रहे हैं। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'=प्रभु के भय से सब गतिमय हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु का बल अप्रतिम है। प्रभु ही सब प्राणियों में उस-उस धन का धारण करते हैं। द्यावापृथिवी उसी की शक्ति से गतिवाले होते हैं।

ऋषिः—गातुरात्रेयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

सब प्रभु के प्रति प्रणत होते हैं

न्यस्मै देवी स्वधितिर्जिहीत इन्द्राय गातुरुशतीव येमे।
सं यदोजो युवते विश्वमाभिरनु स्वधाव्ने क्षितयो नमन्त॥ १०॥

१. आकाश में सारे पदार्थ व लोक-लोकान्तर धारित हो रहे हैं— आकाश 'स्वधिति' है—स्वयं अपना धारण करनेवाला है। यह **देवी**=दिव्य प्रकाशमय **स्वधितिः**=स्वयं अपने को धारण

करनेवाला आकाश **अस्मै इन्द्राय**=इस सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए **निजिहीते**=प्रणत होकर गतिवाला हो रहा है। यह आकाश प्रभु के प्रति प्रणत होता है। **गातुः**=यह गमनशील पृथिवी भी **उशती इव**=कामना करती हुई पत्नी के समान **येमे**=अपने को दे डालती हैं—उसी के प्रशासन में चलती है। २. **यद्**=जब वे प्रभु **अभिः**=इन द्यावापृथिवी में निवास करनेवाली प्रजाओं के साथ **विश्वम् ओजः**=सब बलों को **संयुवते**=मिलाते हैं तो उस समय **क्षितयः**=सब मनुष्य **स्वधाव्ने**=उस शक्तिवाले प्रभु के लिए **अनुनमन्त**=अनुकूलता से नतमस्तक होते हैं। प्रभु ही बल प्राप्त कराते हैं—सभी अन्ततः इस बल के स्वामी प्रभु के प्रति प्रणत होते हैं।

भावार्थ—सब द्यावापृथिवी—व उनमें रहनेवाले मनुष्य प्रभु से ही बल को प्राप्त करते हैं। सो वे प्रभु के प्रति प्रणत होते हैं।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिन-रात प्रभु का स्मरण

एकं नु त्वा सत्पतिं पाञ्चजन्यं जातं शृणोमि यशसं जनेषु।
तं मे जगृभ्र आशसो नविष्ठं दोषा वस्तोर्हवमानास इन्द्रम्॥ ११ ॥

१. हे प्रभो! **त्वा**=आपको मैं **जनेषु**=शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों में **जातम्**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ **शृणोमि**=सुनता हूँ। वस्तुतः उन लोगों में अमुक-अमुक शक्ति आपके प्रादुर्भाव के कारण ही होती है। मैं आपको **नु**=निश्चय से **एकम्**=अद्वितीय—अनुपम सुनता हूँ। आपकी किसी से उपमा नहीं दी जा सकती। **सत्पतिम्**=आप सज्जनों के रक्षक हैं। **पाञ्चजन्यम्**=पञ्चजनों का हित करनेवाले हैं—'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र व निषाद' सभी का आप भला करते हैं। **यशसम्**=सम्पूर्ण यश आपका ही है। २. **मे**=मेरी **आशसः**=कामनाएँ **नविष्ठम्**=अत्यन्त स्तुत्य **तम्**=उस प्रभु को ही **जगृभ्रे**=ग्रहण करें। **दोषावस्तोः**=दिन-रात **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **हवमानासः**=हम पुकारनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वश्रेष्ठ हैं। हम प्रभु को ही चाहें—प्रभु को ही दिन-रात पुकारें, अर्थात् प्रभुस्मरण करके ही सब कार्यों को करें।

ऋषिः—**गातुरात्रेयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सर्वकाम प्रपूरक' प्रभु

एवा हि त्वामृतुथा यातयन्तं मघा विप्रेभ्यो ददतं शृणोमि।
किं ते ब्रह्माणो गृहते सखायो ये त्वाया निदधुः काममिन्द्र॥ १२ ॥

१. मैं **एवा**=सचमुच **हि**=ही **त्वाम्**=आपको **ऋतुथा**=उस-उस समय के अनुसार **यातयन्तम्**=प्रेरित करते हुए को **शृणोमि**=सुनता हूँ। आप ही सदा सत्प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। आपको ही मैं **विप्रेभ्यः**=अपना विशेष रूप से पूरण करनेवालों के लिए—न्यूनताओं को दूर करनेवाले के लिए—**मघा ददतम्**=ऐश्वर्यों को देते हुए को सुनता हूँ। आप ही विप्रों के लिए सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। ३. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ये**=जो **कामम्**=अपनी इच्छा को **त्वाया**=आपकी प्राप्ति की कामना से ही **निदधुः**=स्थापित करते हैं, अर्थात् जिन्हें आपकी प्राप्ति के अतिरिक्त कोई कामना नहीं होती, **ते**=वे **ब्रह्माणः**=ज्ञानी स्तोता **सखायः**=आपके मित्र होते हुए **किं गृहते**=अनिर्वचनीय आनन्द को ग्रहण करनेवाले होते हैं। 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'।

भावार्थ—प्रभु ही समयानुसार प्रेरणा देते हैं—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु के उपासक एक अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार जो प्रभु का वरण करता है वह 'संवरण'=उत्तमवरणवाला होता है यह 'प्राजापत्य' (प्रजापतेः अयम्=) प्रभु का ही हो जाता है। सदा प्रभु के कार्यों में प्रवृत्त रहता है—प्रजा के रक्षण में प्रवृत्त होता है। यह प्रार्थना करता है कि—

अथ चतुर्थाष्टके द्वितीयोऽध्यायः

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासना द्वारा शक्ति व सुमति का लाभ

महिं महे तवसे दीध्ये नॄनिन्द्रायेत्था तवसे अतव्यान्।
यो अस्मै सुमतिं वाजसातौ स्तुतो जने समर्यश्चिकेत॥ १॥

१. **अतव्यान्**=अपनी दुर्बलता को जानता हुआ मैं **नॄन्**=अपने शत्रुभूत, मुझे इधर-उधर ले-जानेवाले (नृ नये) काम, क्रोध आदि शत्रुओं को **तवसे**=(तु=Strike) नष्ट करने के लिए **महे तवसे**=उस महान् शक्ति के पुञ्ज **इन्द्राय**=सब शत्रुओं के विदारक प्रभु के दर्शन के लिए **इत्था**=सचमुच **महि दीध्ये**=महान् ज्ञानदीप्ति को अपने अन्दर करने का प्रयत्न करता हूँ। ये प्रभु ही तो मुझे वह बल देंगे जो कि मुझे इन शत्रुओं को जीतने में समर्थ करेगा। २. उस प्रभु को मैं देखने का प्रयत्न करता हूँ **यः**=जो **अर्यः**=सबका स्वामी प्रभु **अस्मै**=इस **जने**=शक्तियों का विकास करनेवाले पुरुष के लिए **वाजसातौ**=संग्राम में **स्तुतः**=स्तुति किया हुआ **सुमतिं संचिकेत**=कल्याणी मति को सम्यक् ज्ञापित करता है। प्रभु से दी गयी इस शुभ मति से ही वस्तुतः हम अपने काम, क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करते हैं। जीवन एक संग्राम है। इसमें हम प्रभु से दी गई कल्याणी मति से ही विजय प्राप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ध्यान करते हैं। इससे हमें शक्ति व सुमति प्राप्त होती है और हम शत्रुओं को जीतते हैं।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु रूप सारथि

स त्वं न इन्द्र धियसानो अर्कैर्हरीणां वृषन्योक्त्रमश्रेः।
या इत्था मघवन्ननु जोषं वक्षो अभि प्रार्यः सक्षि जनान्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **स त्वम्**=वे आप **अर्कैः धियसानः**=मन्त्रों द्वारा ध्यान किये जाते हुए, हे **वृषन्**=शक्तिशाली प्रभो! **नः**=हमारे **हरीणाम्**=इन इन्द्रियाश्वों के **योक्त्रम्**=(नियोजनरज्जु) लगाम को **अश्रेः**=ग्रहण करते हैं—(सेवन करते हैं), अर्थात् आप हमारे सारथि बनते हैं। २. **याः**=जिन प्रजाओं को **इत्थ**=इस प्रकार **अनु जोषम्**=प्रीतिपूर्वक उपासना के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना उपासक आपके समीप होता है उतना-उतना, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **वक्षः**=उन्हें (अवहः) लक्ष्य की ओर ले-चलते हैं और **अर्यः**=स्वामी होते हुए आप **जनान्**=इन शक्ति का विकास करनेवाले लोगों के साथ **प्रसक्षि**=समवेत होते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक के इन्द्रियाश्वों की बागडोर (लगाम) उपासक को प्राप्त होते हैं।

उपासक उपास्य में प्रविष्ट हो जाता है।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वे प्रभु के नहीं हैं, जोकि—

न ते त इन्द्राभ्य१स्मदृष्वायुक्तासो अब्रह्मता यदसन्।
तिष्ठा रथमधि तं वज्रहस्ता रश्मिं देव यमसे स्वश्वः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् **ऋष्व**=महान् प्रभो! **अस्मद् अभि**=हमारे से भिन्न वे लोग जो **अयुक्तासः**=उपासना द्वारा आपके साथ अपना मेल करनेवाले नहीं और **यद्**=कि वे **अब्रह्मता**=ज्ञानशून्यता में **असन्**=निवास करते हैं **ते न**=आपके नहीं हैं। प्रभु का प्रिय वही है जो कि उपासना व ज्ञान को अपनाता है। मस्तिष्क में ज्ञान और हृदय में उपासना ही हमें प्रभु का प्रिय बनाती है। २. हे **वज्रहस्त**=निरन्तर क्रियाशील हाथोंवाले 'विश्वतो बाहु' प्रभो! आप हम उपासना व ज्ञान को अपनानेवाले पुरुषों के **तं रथम्**=उस शरीररथ पर **अधितिष्ठ**=होइए और आरूढ़ **देव**=ऐ प्रकाशमय प्रभो! हमारे सब व्यवहारों के साधक प्रभो! **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले आप ही **रश्मिम्**=उस रथ की लगाम को **आयमसे**=काबू करते हैं।

भावार्थ—उपासना के द्वारा प्रभु से अपना मेल करनेवालों तथा ज्ञान को अपनानेवालों के शरीररथ में उत्तम इन्द्रियाश्वों को जोतते हुए प्रभु ही अधिष्ठित होते हैं और वे ही लगाम को काबू करते हैं।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'उर्वरा बुद्धि' रूप क्षेत्र में ज्ञान धेनु का चरना

पुरु यत्त इन्द्र सन्त्युक्था गवे चकर्थोर्वरासु युध्यन्।
ततक्षे सूर्याय चिदोकसि स्वे वृषा समत्सु दासस्य नाम चित्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुसंहारक प्रभो! **यत्**=जब **ते**=आपके **पुरु उक्था सन्ति**=खूब ही स्तोत्र होते हैं, अर्थात् जब एक व्यक्ति आपकी उपासना में तन्मय होता है तो आप **युध्यन्**=वासनारूप 'वृत्र' से युद्ध करते हुए, अर्थात् ज्ञान के गति बन्धक 'काम' को नष्ट करते हुए **उर्वरासु**=ज्ञानशस्य की उत्पत्ति के लिए उपजाऊ बुद्धियों में—बुद्धि रूप क्षेत्रों में—**गवे**=इन ज्ञानवाणियों रूप धेनुओं के लिए **चकर्थ**=स्थान बनाते हैं। उपासक की बुद्धि खूब ही ज्ञान को प्राप्त करनेवाली होती है। २. **वृषा**=शक्तिशाली आप **स्वे ओकसि**=इस उपासक के शरीर रूप अपने घर में **सूर्याय**=ज्ञान सूर्य के उदय के लिए **दासस्य**=ज्ञान को विनष्ट करनेवाले 'वृत्र' (काम) के **नाम चित्**=नाम को भी **समत्सु**=संग्रामों में **ततक्षे (विनाशयति)**=नष्ट कर देते हैं। वासना का विनाश करके ही तो ज्ञानसूर्य के प्रकाश की प्राप्ति का सम्भव है। प्रभु उपासक की वासना को विनष्ट करके उसके जीवन में ज्ञान के सूर्योदय को करते हैं।

भावार्थ—जब हम प्रभु की उपासना करते हैं, प्रभु हमारी बुद्धि को ज्ञानशस्य के लिए उर्वरा (fertile) बनाते हैं। वहाँ ज्ञानवाणी रूप धेनुएँ चरती है। वासना का विनाश होकर उपासक के जीवन में ज्ञानसूर्य का उदय होता है।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु के हैं, जो कि—

व॒यं ते त इ॑न्द्र॒ ये च॒ नर॒: शर्धो॑ जज्ञा॒ना या॒ताश्च॒ रथा॑: ।
आस्मा॒ञ्जग॑म्यादहिशुष्म॒ सत्वा॒ भगो॒ न हव्य॑: प्रभृ॒थेषु॒ चारु॑: ॥ ५ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वयं ते**=हम आपके हैं और **ते**=आपके ही हैं, **ये**=जो कि **नरः**=अपने को उन्नतिपथ पर ले-चलने के लिए यत्नशील हैं। **च**=और **शर्धः जज्ञानाः**=अपने अन्दर बल का सम्पादन करनेवाले हैं। **च**=और **याताः**=सदा आपके समीप प्राप्त होनेवाले—आपके उपासक हैं और **रथः**=खूब वेगयुक्त गतिवाले हैं (रंहणशील हैं)। २. 'हम ऐसे ही बन सकें' इसके लिए हमारी आपसे आराधना है कि हे **अहि शुष्म** (अह व्याप्तौ)=सर्वतोव्याप्त बलवाले प्रभो! **अस्मान्**=हमें वह पुरुष **आजगम्यात्**=प्राप्त हो—हमारा सम्पर्क सदा ऐसे ही आचार्य से हो जो कि (क) **सत्वा**=सात्त्विक बलवाला है। (ख) **भगः न**=ऐश्वर्यशाली आपके समान ही **हव्यः**=अर्पण के योग्य है—जिसके प्रति अपना अर्पण करके ही हम अपना कल्याण सिद्ध कर सकते हैं। २. **प्रभृथेषु चारुः**=प्रकृष्ट भरण के कार्यों में खूब गतिशील है, अर्थात् शरीर मन व बुद्धि के भरण में सदा क्रियाशील है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम उत्तम पुरुषों के संग में उत्तम जीवनवाले बनकर आपके सच्चे उपासक बन पाएँ।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

बल+धन

प॒पृ॒क्षेण्य॑मिन्द्र॒ त्वे ह्योजो॑ नृ॒म्णानि॑ च नृ॒तमा॑नो॒ अम॑र्तः ।
स न॒ एनीं॑ वसवा॒नो र॒यिं दा॒: प्रार्य॑: स्तु॒षे तु॑विम॒घस्य॒ दान॑म् ॥ ६ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्, सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वे हि**=आपमें ही **ओजः**=वह ओज है—बल है जो कि **पपृक्षेण्यम्**=सम्पर्क के योग्य है। **च**=और **नृम्णानि**=वे धन भी आपके ही समीप है, जो कि सचमुच पाने के योग्य है। आपका उपासक इस ओज (बल) को व इन धनों को प्राप्त किया करता है। आप ही **नृतमानः**=इस संपूर्ण संसारनृत्य को कर रहे हैं—आप ही सम्पूर्ण संसार को चला रहे हैं। **अमर्तः**=आप ही अमर हैं। आप का उपासक भी अमरता को प्राप्त करता है। २. **सः**=वे **आप नः**=हमारे लिए, **वसवानः**=हमें अपनी गोद में आच्छादित करते हुए, **एनीं रयिम्**=शुद्ध सम्पत्ति को (श्वेत=छल छिद्र से न कमायी गई सम्पत्ति को) **दा**=दीजिए। **प्र अर्यः**=आप ही प्रकृष्ट स्वामी हैं—सब धनों के स्वामी आप ही तो हैं। **तुविमघस्य**=अनन्त ऐश्वर्यवाले आपके **दानम्**=दान को मैं **स्तुषे**=स्तुत करता हूँ। आपके दान का स्तवन करता हुआ मैं आपने को इस दान का पात्र बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु ही सब बलों व धनों के स्वामी हैं। हमारा रक्षण करते हुए प्रभु हमें शुद्ध सम्पत्ति प्राप्त कराएँ। हम अपने को प्रभु के दानों का पात्र बनाएँ।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गृणता कारुन् (क्रियाशील स्तोता)

ए॒वा न॑ इन्द्रो॒तिभि॑रव पा॒हि गृ॑ण॒तः शू॑र का॒रून् ।
उ॒त त्वचं॒ दद॑तो॒ वाज॑सातौ पिप्री॒हि मध्व॒: सुषु॑तस्य॒ चारो॑: ॥ ७ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **एवा**=गति के द्वारा **नः**=हमें **ऊतिभिः**=सब प्रकार के रक्षणों के द्वारा **अव**=रक्षित करिए। हमारे शरीरों को रोगों से बचाइए, मनों को मलिनता से दूर करिए, बुद्धियों को मन्दता का शिकार न होने दीजिए। २. हे **शूर**=वासनाओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **गृणतः**=स्तुति करते हुए **कारून्**=कुशलता से कार्यों को करनेवालों को **पाहि**=रक्षित करिए। यह स्तवन व क्रियाशीलता उन्हें वासनाओं से आक्रान्त न होने दे। २. **उत**=और **वाजसातौ**=शक्ति के संभजन (प्रापण) के निमित्त आप **मध्वः पिप्रीहि**=इस मधुर सोम (वीर्य का) हमारे में पूरण करिए जो कि **त्वचम् ददतः**=हमें रक्षक आवरण प्राप्त कराता है—त्वचा की तरह हमारा रक्षक बनाता है—हमें रोगों व वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता **सुयुतस्य**=उत्तम भोजनों द्वारा उत्पन्न किया जा सकता तथा **चारोः**=जीवन को सुन्दर-ही-सुन्दर बना देता है।

भावार्थ—हम प्रभु के क्रियाशील स्तोता बनें। हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त होगा और हम सोम का अपने अन्दर पान (रक्षण) करते हुए जीवन को सुरक्षित मधुर व सुन्दर बना पाएँगे।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गैरिक्षित के क्रतुओं से युक्त होना

उत त्ये मा पौरुकुत्स्यस्य सूरेस्त्रसदस्योर्हिरणिनो रराणाः।
वहन्तु मा दश श्येतासो अस्य गैरिक्षितस्य क्रतुभिर्नु सश्चे॥ ८॥

१. **उत**=और **त्ये**=वे **मा**=मुझे **दश**=दस **श्येतासः**=उज्ज्वल, विषय-पंक से अलिप्त इन्द्रियाश्व **वहन्तु**=जीवन यात्रा में आगे और आगे ले-चलें। वे इन्द्रियाश्व मुझे ले चलें, जो कि **पौरुकुत्स्यस्य**=खूब ही वासनाओं का संहार करनेवाले को **रराणाः**=दिये गये हैं। **सूरेः**=ज्ञानी पुरुष के लिए दिये गये हैं। **त्रसदस्योः**=जिससे दास्यववृत्तियाँ भयभीत होती हैं—उस त्रसदस्यु को जो दिये गये हैं तथा **हिरणिनः**=(हिरण्यवतः हिरण्यं वै वीर्यम्) वीर्यवान् पुरुष को दिये गये हैं। २. इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करके **अस्य**=इस **गैरिक्षितस्य**=वेदवाणियों (ज्ञानवाणियों में) निवास करनेवाले के **क्रतुभिः**=प्रज्ञानों-शक्तियों व यज्ञात्मक कर्मों से **नु**=निश्चयपूर्वक **सश्चे**=युक्त व समवेत होता हूँ। वस्तुतः जो 'पुरुकुत्स-सूरि-त्रसदस्यु व हिरणी' बनेगा, उसके इन्द्रियाश्व अवश्य प्रशस्त होंगे। यह उन इन्द्रियों के द्वारा उत्तम कर्मों को करता हुआ प्रज्ञानों को प्राप्त करेगा ही। सदा ज्ञान में निवास करनेवाला बनकर यह वासनाओं से बचा रहेगा और शक्तिशाली होगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व शुद्ध हों। हम वासनाओं का संहार करनेवाले (पुरुकुत्स) ज्ञानी (सूरि) दास्यववृत्तियों से दूर (त्रसदस्यु) वीर्यवान् (हिरणी) व सदा ज्ञान में निवास करनेवाले (गैरिक्षित) बनें।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मारुताश्व के शोण अश्व

उत त्ये मा मारुताश्वस्य शोणाः क्रत्वामघासो विदथस्य रातौ।
सहस्रा मे च्यवतानो ददान आनूकमर्यो वपुषे नार्चत्॥ ९॥

१. **उत**=और **त्ये**=वे **मा**=मुझे **मारुताश्वस्य**=प्राणसाधना के द्वारा वायुवेगवाले इन्द्रियाश्वोंवाले 'मारुताश्व' के **शोणाः**=तेजस्वी **क्रत्वामघासः**=क्रियाशीलता-शक्ति व प्रज्ञान के द्वारा ऐश्वर्यों को सिद्ध करनेवाले इन्द्रियाश्व (वहन्तु) जीवन यात्रा में ले-चलनेवाले हों। 'वहन्तु' पिछले मन्त्र से अनुवृत्त है। २. **विदथस्य रातौ**=ज्ञानदान के निमित्त **च्यवतानः**=सब बुराइयों को मेरे से च्युत

करनेवाला **अर्यः**=स्वामी प्रभु **मे**=मेरे लिए **सहस्रा**=प्रसन्नता से परिपूर्ण (निर्मल) इन्द्रियाश्वों को **ददानः**=देता हुआ **वपुषे आनूकं न**=शरीर के लिए आभरणों के समान **आर्चत्**=दीप्त करता है। (अर्च् to shine, अन्तर्भावितार्थ)। ज्ञानप्राप्ति में प्रवृत्त निर्मल ज्ञानेन्द्रियाँ शरीर की प्रबल शोभा का कारण बनती हैं। पूर्वार्ध में कर्मेन्द्रियों का उल्लेख था। वे तेजस्वी होती हुई क्रियाशीलता के द्वारा ऐश्वर्य की वृद्धि का कारण बनती हैं। इस प्रकार इन कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों से शरीर सुशोभित हो उठता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हमारी कर्मेन्द्रियाँ तेजस्वी व ऐश्वर्य की साधक बनें। ज्ञानेन्द्रियाँ निर्मल होती हुई ज्ञानवृद्धि द्वारा शरीर को सुशोभित करें।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'ध्वन्य व लक्ष्मणय' के ऐश्वर्य

उत त्ये मा ध्वन्यस्य जुष्टा लक्ष्मण्यस्य सुरुचो यतानाः।
मह्ना रायः संवरणस्य ऋषेर्व्रजं न गावः प्रयता अपि ग्मन्॥ १०॥

१. प्रभु के नामों की ध्वनि में उत्तम यह 'ध्वन्य' है। प्रभु को ही अपना लक्ष्य बनानेवाला यह 'लक्ष्मण्य' है—यह उस लक्ष्यवेध में उत्तम है 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'। **उत**=और **त्ये**=वे **मा**=मुझे **ध्वन्यस्य**=प्रभु नामस्मरण करनेवाले के **जुष्टाः**=प्रीतिपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले कर्मेन्द्रियरूप अश्व तथा **लक्ष्मण्यस्य**=प्रभुरूप लक्ष्यवेध में उत्तम लक्ष्मण्य के **सुरुचः**=उत्तम दीप्तिवाले **यतानाः**=सतत यत्नशील ज्ञानेन्द्रियाश्व **अपिग्मन्**=प्राप्त हों। २. **मह्ना**=इन उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों की महिमा से **संवरणस्य ऋषेः**=इस उत्तम वरणवाले प्रभु का (न कि प्रकृति का) वरण करनेवाले—ज्ञानी पुरुष के समीप **प्रयताः रायः**=पवित्र ऐश्वर्य **अपिग्मन्**=प्राप्त हों। इस प्रकार प्राप्त हों **न**=जैसे कि **गावः**=गौएँ **व्रजम्**=बाड़े में प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—हमें प्रभु स्मरण करनेवाले की कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हो, अर्थात् हम प्रभु स्मरणपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त रहें। प्रभुरूप लक्ष्य का वेध करनेवाले की ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त हों, अर्थात् हम ज्ञानवृद्धि करते हुए प्रभुदर्शन करनेवाले बनें। इन इन्द्रियों की महिमा से हमें पवित्र ऐश्वर्य प्राप्त हों। हम प्रभु का वरण करें और तत्त्वद्रष्टा बनें।

'संवरण प्राजापत्य' का ही अगला भी सूक्त है—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अजातशत्रु को स्वधा की प्राप्ति

अजातशत्रुमजरा स्वर्वत्यनु स्वधामिता दस्ममीयते।
सुनोतन पचत ब्रह्मवाहसे पुरुष्टुताय प्रतरं दधातन॥ १॥

१. **अजातशत्रुम्**=(अजाताः शत्रवः यस्य) जिसमें 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रु उत्पन्न ही नहीं होते उस **दस्मम्**=शत्रुओं के विनाशक और अतएव दर्शनीय जीवनवाले पुरुष को **स्वधा**=आत्मधारण-शक्ति **अनु ईयते**=अनुकूलता से प्राप्त होती है। जो आत्मधारणशक्ति **अजरा**=जीर्ण होनेवाली नहीं—अथवा हमें जीर्ण नहीं होने देती, **स्वर्वती**=प्रकाशवाली है—ज्ञान के प्रकाश का कारण बनती है और **अमिता**=असीम है, अर्थात् हमें असीम शक्ति को प्राप्त कराती है। २. इस आत्मधारणशक्ति की प्राप्ति के लिए ही **सुनोतन**=सोम का सम्पादन करो और **पचत**=ज्ञान के भोजन

का परिपाक करो—भृगु बनो (भ्रस्ज पाके)। भृगु को ही तो आत्मविद्या प्राप्त होती है। सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। **ब्रह्मवाहसे**=सब ज्ञानों को प्राप्त करानेवाले **पुरुष्टुताय**=खूब ही स्तुति किये जानेवाले उस प्रभु के लिए—उस प्रभु के आराधन के लिए **प्रतरम् दधातन**=अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों का खूब ही धारण करो।

भावार्थ—अजातशत्रु बनकर हम आत्मधारणशक्ति को प्राप्त करें। उसके लिए हम सोम का सम्पादन व ज्ञान का परिपाक करें। प्रभु के आराधन के लिए कर्तव्य-परायण हों।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

महावधः वधं यमत्

आ यः सोमेन जठरमपिप्रतामन्दत मघवा मध्वो अन्धसः।
यदीं मृगाय हन्तवे महावधः सहस्रभृष्टिमुशना वधं यमत्॥ २॥

१. **यः**=जो **सोमेन**=सोम के द्वारा (वीर्यशक्ति के द्वारा) **जठरम्**=अपने जठर को—शरीर मध्य को—**अपिप्रत्**=पूरित करता है, वह **मघवा**=ज्ञानैश्वर्यवाला होता हुआ **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **अन्धसः**=सोम से **अमन्दत**=आनन्दित होता है। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि का दीपन होकर ज्ञान बढ़ता है और शरीर की नीरोगता होकर आनन्द व उल्लास की प्राप्ति होती है। २. यह तब होता है, **यत्**=जब कि **ईम्**=निश्चय से **महावधः**=महान् क्रियाशीलता रूप वज्रायुधवाला **उशना**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाला पुरुष **मृगाय हन्तवे**=(कामः पशुः, क्रोधः पशुः) काम, क्रोध रूप पशुओं को मारने के लिए **सहस्रभृष्टिम्**=हजारों शत्रुओं को भून डालनेवाले **वधम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **यमत्**=हाथ में ग्रहण करता है। क्रियाशील बनकर ही तो हम शत्रुओं का नाश कर पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करके हम आनन्द को प्राप्त करेंगे। सोमरक्षण के लिए हम क्रियाशीलता द्वारा वासना को दूर भगानेवाले हों। यह क्रियाशीलता ही सर्वमहान् वध (आयुध) है।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ततनुष्टि-तनूशुभ्र व कवासख' न बनना

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः॥ ३॥

१. **यः**=जो **अस्मै**=इस प्रभु प्राप्ति के लिए **घ्रंसे**=दिन में **उत वा**=और **यः**=जो **ऊधनि**=रात्रि में **सोमं सुनोति**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करता है वह **अह**=निश्चय से **द्युमान् भवति**=ज्योतिर्मय जीवनवाला होता है सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और ज्ञानाग्नि की दीप्ति से प्रभु की प्राप्ति होती है। २. **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **ततनुष्टिम्**=ततनुष्टि को—(ततं धर्मसन्ततिं नुदति, वष्टि कामयते कामान् सा०) धर्ममार्ग को छोड़कर कामात्मा बन जानेवाले को **अप अप ऊहति**=अपने से दूर और दूर ही करता है। उस व्यक्ति को अपने से दूर करता है, जो कि **तनूशुभ्रम्**=अपने शरीर को शोभित करने में लगा रहता है—जिसे मन व बुद्धि को परिष्कृत करने का ध्यान नहीं होता। प्रभु उसे दूर रखते हैं जोकि **मघवा**=ऐश्वर्यवाला होता हुआ **कवासखः**=कुत्सित पुरुषों का मित्र बनता है। ये मित्र उसे अवनत ही करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम ज्योतिर्मय जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त करेंगे। उस समय हम

'ततनुष्टि-तनूशुभ्र व कवासख' न बनेंगे—धर्ममार्ग को छोड़कर कामात्मा न बन जाएँगे, शरीर को ही सजाने में न लगे रहेंगे—कुत्सित पुरुषों के संग में रहनेवाले न होंगे।

सूचना—'गृह्यपन्तेऽस्मिन् रसाः इति घ्रंसः=दिन,' 'उद्धततरं भवति इति ऊधः रात्रिः'।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उभयतो वाहिनी चित् नदी

यस्यावधीत्पितरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरं नात ईषते।
वेतीद्वस्य प्रयता यतंकरो न किल्बिषादीषते वस्व आकरः॥ ४॥

१. 'पापवृत्ति' का **पिता** (जन्मदाता) लोभ है, इसका निर्माण करनेवाली **माता** कामवासना है, तथा इसका भरण करनेवाला भाई (भ्राता) क्रोध है। **यस्य**=जिस पापवृत्ति के **पितरम्**=जन्मदाता लोभ को तथा **यस्य**=जिस पापवृत्ति की **मातरम्**=मातृस्थानापन्न कामवासना को, और **यस्य**=जिस पापवृत्ति के **भ्रातरम्**=भ्रातृतुल्य—भरण करनेवाले—क्रोध को **शक्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **अवधीत्**=नष्ट करते हैं, वे प्रभु **अतः**=इस पाप से **न ईषते**=भयभीत नहीं होते, अपितु पाप को पराजित करनेवाले होते हैं। २. वे प्रभु **अस्य**=इस पापवृत्ति के **यतंकरः**=नियमनकर्त्ता होते हैं। वे अब इसे पुण्यवृत्ति के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। वे अब इसके द्वारा होनेवाली **प्रयता**=पवित्र हवियों का **इत् उ**=ही **वेति**=चाहते हैं (कामयते)। वे **वस्वः आकरः**=सब वसुओं (धनों) के निधान प्रभु **किल्बिषात्**=पाप से **न ईषते**=डर कर भाग नहीं जाते। उसे वश में करके पुण्य के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। इसीलिए वे वसुओं के कोश बनते हैं। वस्तुतः मनोवृत्ति ही 'काम-क्रोध-लोभ' से आक्रान्त होकर 'पापवृत्ति' बन जाती है। इन काम आदि के नष्ट होने पर यही 'पुण्यवृत्ति' में परिवर्तित हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु 'काम-क्रोध-लोभ' को नष्ट करके हमारी मनोवृत्ति को पुण्य के प्रवाहवाली बनाएँ।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

नासुन्वता सचेत पुष्यता चन

न पञ्चभिर्दशभिर्वष्ट्यारभं नासुन्वता सचते पुष्यता चन।
जिनाति वेदमुया हन्ति वा धुनिरा देवयुं भजति गोमति व्रजे॥ ५॥

१. जो **पञ्चभिः**=अपने पाँचों प्राणों से तथा **दशभिः**=दसों इन्द्रियों से **आरभं न वष्टि**=कर्म करने की कामना नहीं करता, अर्थात् जो आलस्य में पड़ा रहता है, उस **असुन्वता**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को न करनेवाले **पुष्यता चन**=धनसम्पत्ति के दृष्टिकोण से खूब पुष्ट मनुष्य के साथ प्रभु **न सचते**=समवाय-(मेल)-वाले नहीं होते। प्रभु 'आलसी, धनी, परन्तु अयज्ञशील पुरुष के मित्र नहीं बनते'। २. मित्र बनना तो दूर रहा, प्रभु इन्हें **जिनाति वा**=निश्चय से क्षीण करते हैं। **इत्**=निश्चय से **अमुया हन्ति वा**=उसको तो नष्ट ही कर डालते हैं। **वा**=अथवा **धुनिः**=इन सबको कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। इनके विपरीत **देवयुम्**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाले **जनम्**=मनुष्य को **गोमति व्रजे**=उत्तम ज्ञानधेनुओंवाले बाड़े में **भजति**=भागी बनाता है।

भावार्थ—प्रभु आलसी व अयज्ञशील व्यक्तियों को विनष्ट करते हैं। देवयु पुरुष को ही ज्ञानधेनुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः

वित्वक्षणः समृतौ चक्रमासजोऽसुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः।
इन्द्रो विश्वस्य दमिता विभीषणो यथावशं नयति दासमार्यः ॥ ६ ॥

१. वे प्रभु **समृतौ**=संग्राम में **वित्वक्षणः**=विशेषेण शत्रुओं को छील डालनेवाले हैं। **चक्रम् आसजः**=उस शत्रु के रथचक्र को (आसञ्जयिता, सञ्ज् Sink) पृथिवी में धंसा देनेवाले हैं। **असुन्वतः**=अयज्ञशील पुरुष से प्रभु **विषुणः**=पराङ्मुख हैं। **सुन्वतः वृधः**=यज्ञशील का वर्धन करनेवाले हैं। २. **इन्द्रः**=वे सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभु **विश्वस्य दमिता**=सबका दमन करनेवाले हैं। **विभीषणः**=शत्रुओं के लिए भयंकर है। वे **आर्यः**=श्रेष्ठ, सबके स्वामी प्रभु **दासम्**=उपक्षय करनेवाले 'काम' को भी **यथावशं नयति**=वश में करके कार्यों में प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ—अकामता तो व्यर्थ ही है। 'काम' आवश्यक है। इसका वशीभूत होना अत्यन्त आवश्यक है। अवश काम 'विलास' में फँसाकर हमारा नाश करता है वशीभूत हुआ-हुआ यह हमें यज्ञादि कर्मों में ले-चलता है।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'दाश्वान्', नवि 'पणि'

समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु।
दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरु जनो यो अस्य तविषीमचुक्रुधत्॥ ७॥

१. वे प्रभु **पणेः**=वणिक्वृत्तिवाले—यज्ञादि न करके केवल धनसंग्रही पुरुष के **भोजनम्**=भोग-साधन धन को **ईम्**=निश्चय से **मुषे**=चुर जाने के लिए **सम्भजति**=गतिमय करता है। इस पणि का धन चोरी इत्यादि तामस मार्गों से विनष्ट होता है। **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुषों के लिए—दानशील के लिए—**सूनरम्**=उत्तम पुत्र-पौत्रोंवाले **वसु**=धन को **विभजति**=विभक्त करता है, अर्थात् इन्हें धन देता है और साथ ही उत्तम सन्तान प्राप्त कराता है, जो सन्तान इसके धन को जुआ व शराब आदि में अपव्ययित नहीं करतीं। पणि का धन उसके विकृताचरण सन्तान मिथ्याचरणों में उड़ा देते हैं। २. **यः**=जो विहिताचरण न करते हुए **पुरु जनः**=बहुसंख्यक लोग **अस्य**=इस प्रभु की **तविषीम् अचुक्रुधत्**=शक्ति को उत्तेजित करता है, अर्थात् प्रभु को अप्रसन्न करते हैं, वे **विश्वः**=सब **चन**=निश्चय से **दुर्गे**=दुर्गति में **आध्रियते**=धारण किये जाते हैं। धन को यज्ञादि में विनियुक्त करनेवाले ही प्रभु के प्रिय होते हैं।

भावार्थ—हमें पणि (कृपण) न बनकर दाश्वान् (दाता) बनना चाहिए। दाश्वान् ही प्रभु का प्रिय होता है।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुधनौ विश्वशर्धसौ

सं यज्जनौ सुधनौ विश्वशर्धसाववेदिन्द्रो मघवा गोषु शुभ्रिषु।
युजं ह्य१न्यमकृत प्रवेपन्युदीं गव्यं सृजते सत्वभिर्धुनिः॥ ८॥

१. **यत्**=जब **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **जनौ**=घर के मुख्य पति-पत्नीरूप व्यक्तियों को

सुधनौ=उत्तम मार्ग से कमाये धनवाला तथा **विश्वशर्धसौ**=अन्तः प्रविष्ट बलवाला **सम् अवेत्**=जानता है तो **मघवा**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **हि**=निश्चय से **अन्यम्**=अपने इस मित्र रूप जीव को **शुभ्रिषु गोषु**=ज्ञानदीप्त व तेजस्विता से चमकती हुई इन्द्रियों के होने पर **हि युजं अकृत**=निश्चय से अपने साथ मेलवाला बनाता है, अर्थात् प्रभु प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम 'सुधन व विश्वशर्धस्' बनें। उत्तम धन को विषयों में व्यथित न करते हुए हम सबल बने रहें। तृतीय मन्त्र के शब्दों में 'कवासख मघवा' न बन जाएँ। २. **प्रवेपनी**=प्रकृष्ट वेपनवाला—शत्रु कम्पक अस्त्रोंवाला (वेपन-Weapon) **धुनिः**=शत्रुकम्पक प्रभु इस अपने साथी के लिए **ईम्**=निश्चयपूर्वक **सत्वभिः**=शक्तियों के साथ **गव्यम्**=इन्द्रियों के समूह को **उत्सृजते**=देता है। यदि हम सुधन होकर प्रभु से दूर नहीं होंगे तो क्यों न उत्कृष्ट शक्तिशाली इन्द्रियों को प्राप्त करेंगे?

भावार्थ—हम उत्तम मार्ग से धनों को कमाएँ, अपने अन्दर शक्तियों को व्याप्त करें। शुद्ध इन्द्रियोंवाले बनकर प्रभु के मित्र बनें। प्रभु कृपा से इन्द्रियों को अधिकाधिक उत्कृष्ट बना पाएँ।

ऋषिः—**संवरणः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आपः पीपयन्त

सहस्रसामाग्निवेशिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः।
तस्मा आपः संयतः पीपयन्त तस्मिन्क्षत्रममवत्त्वेषमस्तु॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! मैं **सहस्रसाम्**=सहस्रशः धनों के दाता, **आग्निवेशिम् (अग्निं विशति)**=प्रगतिशील पुरुष में प्रवेश करनेवाले, **शत्रिम्**=शत्रुओं के संहारक, **उपमाम्**=हमारे समीप होकर हमारा निर्माण करनेवाले (उप-माम्), **केतुम्**=ज्ञानस्वरूप आप को **गृणीषे**=स्तुत करता हूँ। २. **तस्मा**=उक्त प्रकार से आपका स्तवन करनेवाले मेरे लिए **संयतः**=शरीर के अन्दर ही सम्यक् गतिवाले **आपः**=रेतःकण **पीपयन्त**=वृद्धि को प्राप्त हों। इस प्रकार इन रेतःकणों के रक्षक मुझ में **अभवत्**= स्थायी (constant) **त्वेषम्**=दीप्त **क्षत्रम्**=क्षत्रों से त्राण का सामर्थ्य **अस्तु**=हो।

भावार्थ—मैं शत्रुसंहारक प्रभु का स्मरण करूँ। इस स्मरण से वासनाशून्य मुझ में रेतःकणों का व्यापन हो। इन रेतःकणों की प्राप्ति से मेरा बल स्थायी व दीप्त हो।

इस स्थायी दीप्त बल को प्राप्त करनेवाला यह 'प्रभूवसु' बनता है। 'प्रभूः च असौ वसु च' शक्तिशाली और उत्तम निवासवाला। यह **आंगिरस**=अंग-अंग में रसवाला होता है। इसकी आराधना है कि—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

साधिष्ठः क्रतुः

यस्ते साधिष्ठोऽवस इन्द्र क्रतुष्टमा भर। अस्मभ्यं चर्षणीसहं सस्निं वाजेषु दुष्टरम्॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपका **साधिष्ठः**=हमारे सब कर्तव्यकर्मों को उत्तमता से सिद्ध करनेवाला **क्रतुः**=प्रज्ञान व बल है, **तम्**=उसे **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए **आभर**=हमारे में सर्वथा भर दीजिए। इस प्रज्ञान व बल के द्वारा हम अपने कर्त्तव्यों को सम्यक् पूर्ण करते हुए अपना रक्षण कर सकें। २. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए आप उस क्रतु को भरनेवाले होइए, जो कि **चर्षणीसहम्**=(चर्षणी=a disloyal woman=बन्धकी) बन्धकी स्त्रियों का पराभव

करनेवाला हो, अर्थात् जिस प्रज्ञान व बल के द्वारा हम इन बन्धकी स्त्रियों के कटाक्षों का शिकार न हो जाएँ। **सस्निम्**=जो हमारे जीवन को बड़ा शुद्ध बनाए और जो **वाजेषु दुष्टरम्**=संग्रामों में शत्रुओं से अभिभव के योग्य न हो।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें वह प्रज्ञान व बल प्राप्त कराइए। जिससे हम स्त्री व्यसन में न फंसकर जीवन को शुद्ध बनाएँ और काम-क्रोध-लोभ से पराजित न हों।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

चार-तीन-पाँच

यदिन्द्र ते चतस्रो यच्छूर सन्ति तिस्रः। यद्वा पञ्च क्षितीनामवस्तत्सु न आ भर॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **चतस्रः**='ज्ञान शक्ति धन व श्रम' इन चारों का रक्षक **अवः**=रक्षण है, **तत्**=उस रक्षण को **नः**=हमारे लिए **सु आभर**=उत्तमता से दीजिए। आप से रक्षित होकर हम मस्तिष्क में ज्ञान को, भुजाओं में शक्ति को, उदर में सप्तधातुमय धन को व टाँगों में श्रम को धारण करनेवाले बनें। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो आपके **तिस्रः**='ज्ञान कर्म व उपासना' इन तीनों को हमारे में सुरक्षित करनेवाले रक्षण है, उन्हें हमारे लिए प्राप्त कराइए। हमारा हृदय उपासनावाला, हाथ कर्मोंवाले व मस्तिष्क ज्ञानवाला बने। २. **यद् वा**=और जो **पञ्च क्षितीनाम्**='ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र व निषाद' इन पाँचों का रक्षक **अवः**=रक्षण है, उसे हमें प्राप्त कराइए। हम भी इन 'पाँचों के रक्षण' को अपना कर्त्तव्य समझें।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में चलते हुए हम अपने में 'ज्ञान शक्ति धन व श्रम' चारों को भरनेवाले हों। हम 'ज्ञान-कर्म-उपासना' तीनों का अपने में समन्वय करें। हम 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' पाँचों का ही कल्याण करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आभूभिः इन्द्र तुर्वणिः

आ तेऽवो वरेण्यं वृषन्तमस्य हूमहे। वृषजूतिर्हि जज्ञिष आभूभिरिन्द्र तुर्वणिः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **वृषन्तमस्य ते**=अत्यन्त शक्तिशाली आपके **वरेण्यम्**=वरने के योग्य—श्रेष्ठ **अवः**=रक्षण को **आहूमहे**=हम पुकारते हैं। प्रभु का रक्षण ही वरेण्य है। सारा संसार हमारे प्रतिकूल हो, परन्तु प्रभु की अनुकूलता के होने पर कुछ बिगड़ता नहीं। प्रभु प्रतिकूल हों, सारा संसार अनुकूल हो तो भी कुछ सुधरता नहीं। २. हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वृषजूतिः**=शक्तिशाली गमनवाले **जज्ञिषे**=होते हैं। आपकी क्रियाएँ सब बलसम्पन्न हैं। आप **आभूभिः**=शरीर में चारों ओर व्याप्त होनेवाले इन प्राणों के द्वारा **तुर्वणिः**=रोग व वासना रूप शत्रुओं के हिंसक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण ही वरणीय है। प्राणों द्वारा प्रभु रोगों व वासनाओं का हिंसन करते हैं।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

स्वक्षत्रं मनः, सत्राहं पौंस्यम्

वृषा ह्यसि राधसे जज्ञिषे वृष्णि ते शवः। स्वक्षत्रं ते धृषन्मनः सत्राहमिन्द्र पौंस्यम्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वृषा असि**=शक्तिशाली हैं। **राधसे**=हमारे

सब कार्यों की सफलता के लिए **जज्ञिषे**=होते हैं। **ते शवः**=आपका बल **वृष्णि**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाला है। २. हे प्रभो! **ते मनः**=आपमें एकाग्र किया हुआ—आपके लिए अर्पित किया हुआ—यह मन **स्व-क्षत्रम्**=आत्मिक बल से सम्पन्न होता है और **धृषत्**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है। उस समय **पौंस्यम्**=हमारा बल **सत्राहम्**=(संघहन्तृ) शत्रुओं के संघ को भी नष्ट करनेवाला होता है। प्रभु में मन को लगाने पर वह बल प्राप्त होता है, जोकि हमें शत्रुसैन्य को भी समाप्त करने में समर्थ करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति देकर सफलता प्राप्त कराते हैं। प्रभु में लगाया हुआ मन आत्मिक बल सम्पन्न होता है और सम्पूर्ण शत्रुसैन्य को समाप्त करने में हमें समर्थ करता है।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

शत्रुओं का पराजय

त्वं तमिन्द्र मर्त्यममित्रयन्तमद्रिवः। सर्वरथा शतक्रतो नि याहि शवसस्पते॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **अद्रिवः**=हे वज्रवान् प्रभो! **त्वम्**=आप **तम्**=उस **अमित्रयन्तम्**=हमारे प्रति शत्रुता का आचरण करते हुए **मर्त्यम्**=मनुष्य को **नियाहि**=निश्चय से आक्रान्त करिए—उस पर वज्र प्रहार के लिए हमें प्रेरित कीजिये। आपको ही तो हमारे शत्रुओं का संहार करना है—आपकी सहायता के बिना हम इन शत्रुओं को जीत नहीं सकते। २. हे **शतक्रतो**=सैकड़ों प्रज्ञानों व शक्तियोंवाले **शवसस्पते**=सब बलों के स्वामिन् प्रभो! आप **सर्वरथा**= सम्पूर्ण शरीर रूप रथ से—अर्थात् पूर्ण स्वस्थ शरीर से (Whole) **नियाहि**=हमें प्राप्त होइए। इस स्वस्थ शरीर से हम सदा शत्रुओं के विजेता बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति दें ताकि हम अपने शत्रुओं का पराजय कर सकें।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

पूर्वीषु पूर्व्यम्

त्वामिद् वृत्रहन्तम जनासो वृक्तबर्हिषः। उग्रं पूर्वीषु पूर्व्यं हवन्ते वाजसातये॥ ६॥

१. हे **वृत्रहन्तम**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को अधिक-से-अधिक नष्ट करनेवाले प्रभो! **वृक्तबर्हिषः**=जिन्होंने हृदयक्षेत्र से वासनारूप घासफूस को उखाड़ दिया है, ऐसे **जनासः**=अपनी शक्तियों को प्रादुर्भाव करनेवाले पवित्रहृदय लोग **त्वाम् इत्**=आपको ही **हवन्ते**=पुकारते हैं। २. हे **उग्रम्**=तेजस्विन् प्रभो! **पूर्वीषु**=सर्वप्रथम स्थान पर पहुँचनेवाली प्रजाओं में **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम आपको ही **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए (हवन्ते) पुकारते हैं। आपके सम्पर्क से ही वह शक्ति प्राप्त होती है, जो कि हमें सब शत्रुओं का पराजय करने में समर्थ करती है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही हमारी वासना को विनष्ट करते हैं। आप ही हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कैसा रथ?

अस्माकमिन्द्र दुष्टरं पुरोयावानमाजिषु। सयावानं धनेधने वाजयन्तमवा रथम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो? **अस्माकम्**=हमारे **दुष्टरम्**=शत्रुओं से आक्रान्त न होने योग्य **रथम्**=शरीर रथ को **अवा**=आप रक्षित कीजिए। उस रथ को, जो कि **आजिषु**=संग्रामों

में **पुरोयावानम्**=आगे चलनेवाला है। २. हमारे उस शरीररथ का आप रक्षण करिए जो कि **सयावानम्**=सबके साथ मिलकर चलनेवाला है, अर्थात् परस्पर विरुद्ध गतिवाला नहीं, अर्थात् परिवार में व समाज में सबके साथ मिलकर चलता है। **धने धने**=प्रत्येक ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त **वाजयन्तम्**=हमें शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम रोगी न हों, जीवनसंग्राम में अग्रगतिवाले हों, सबके साथ मिलकर चलें और सब धनों का विजय करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

वार्यं श्रवः, दिवि स्तोमम्

अस्माकमिन्द्रेहि नो रथमवा पुरंध्या।
वयं शविष्ठ वार्यं दिवि श्रवो दधीमहि दिवि स्तोमं मनामहे॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशत्रुसंहारक प्रभो! **अस्माकम्**=हमारे **रथम् इहि**=रथ को प्राप्त होइए। **नः**=(रथं)—हमारे इस शरीररथ को **पुरन्ध्या**=पालक बुद्धि के द्वारा **अवा**=सुरक्षित कीजिए। २. हे **शविष्ठ**=अत्यन्त शक्तिशाली प्रभो! **वयम्**=हम **दिवि**=अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक में **वार्यं श्रवः**=वरणीय (श्रेष्ठ) ज्ञान को **दधीमहि**=धारण करें तथा **दिवि**=इस ज्ञान के प्रकाश में **स्तोमं मनामहे**=आपके स्तोत्रों का मनन करनेवाले हैं—ज्ञानवर्धक स्तवन करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु बुद्धि देकर हमारा रक्षण करें। इस श्रेष्ठ ज्ञान को धारण करें—ज्ञानपूर्वक प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

'प्रभूवयु अंगिरस' ही कहते हैं—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दामनः रयीणाम्

स आ गमदिन्द्रो यो वसूनां चिकेतद्दातुं दामनो रयीणाम्।
धन्वचरो न वंसगस्तृषाणश्चकमानः पिबतु दुग्धमंशुम्॥ १॥

(१) **सः**=वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आगमत्**=हमें प्राप्त हो। **यः**=जो प्रभु **वसूनां दातुम्**=धनों को देने के लिये **चिकेतत्**=जानता है और वस्तुतः **रयीणां दामनः**=सब ऐश्वर्यों को देनेवाला है। वस्तुतः प्रभु ही लक्ष्मी पति हैं, हम प्रभु के अतिथि बनते हैं, तो लक्ष्मी हमारा आतिथ्य करती ही है। (२) **न**=जैसे एक **धन्वचरः**=मरुस्थल में विचरनेवाला **वंसगः**=वननीय (प्रशंसनीय) गतिवाला, अकर्मण्य न होकर खूब तीव्रगति से चलता हुआ **तृषाणः**=प्यासा अतएव **चकमानः**=पानी की प्रबल कामनावाला होता है, उसी प्रकार यहां इस शरीर में **दुग्धं अंशुम्**=प्रभु से प्रपूरित इस सोम को **पिबतु**=पीनेवाला बने। सोमपान की उसमें प्रबल कामना हो। वैसी ही कामना जैसे कि उस रेगिस्तान में तीव्र गति से चलते हुए प्यासे यात्री को पानी की कामना होती है।

भावार्थ—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों के दाता हैं। इन ऐश्वर्यों का पात्र वह बनता है, जो कि प्रभु से प्रपूरित सोम को पीने की प्रबल कामनावाला होता है।

ऋषिः—प्रभूवसुराङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम का शरीर में आरोहण

आ ते हनू हरिवः शूर शिप्रे रुहत्सोमो न पर्वतस्य पृष्ठे।
अनु त्वा राजन्नर्वतो न हिन्वन्गीर्भिर्मदेम पुरुहूत विश्वे॥ २॥

(१) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **ते हनू**=आपके दिये हुए इन हनुओं में **सोमः आ रुहत्**=सोम का आरोहण हो। ये हनु (जबड़े) सदा सौम्य भोजनों का ही सेवन करें। इस सोम्य भोजन के परिणामस्वरूप सोम शरीर में सुरक्षित होकर सब इन्द्रियाश्वों को सशक्त बनाये। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! यह सोम **शिप्रे**=नासिका-छिद्रों में (आरुहत्) आरूढ़ हो। अर्थात् प्राणायाम द्वारा हम इस सोम की ऊर्ध्वगति करनेवाले हों। ऊर्ध्वरेता बनकर हम सब रोग व वासनारूप शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले बनें। **न**=और (न इति चार्थे) यह सोम **पर्वतस्य पृष्ठे**=मेरुदण्ड (मेरुपर्वत) के शिखर पर, अर्थात् मस्तिष्क में आरूढ़ हो। यहाँ यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त बनानेवाला हो। (२) हे **राजन्**=हमारे जीवनों को इस सोम के द्वारा दीप्त बनानेवाले, **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **विश्वे**=हम सब **त्वा**=आपके **अनु**=साथ, अर्थात् आपकी उपासना में स्थित हुए-हुए **गीर्भिः**=इन ज्ञान वाणियों से **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें। उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करें **न**=जैसे कि **अर्वतः हिन्वन्**=घोड़ों को प्रेरित करता हुआ व्यक्ति लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने पर आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण ही सम्पूर्ण आनन्दों के मूल में है। यह सोमी पुरुष ही प्रभु का उपासक बनता है और ज्ञान की वाणियों से आनन्द को प्राप्त करता है।

ऋषिः—प्रभूवसुराङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अज्ञान का महाभय

चक्रं न वृत्तं पुरुहूत वेपते मनो भिया मे अमतेरिदद्रिवः।
रथादधि त्वा जरिता सदावृध कुविन्नु स्तोषन्मघवन्पुरूवसुः॥ ३॥

(१) हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक है पुकार (आराधन) जिसका ऐसे प्रभो! हे **अद्रिवः**=वज्रवन् अथवा उपासनीय प्रभो (adore), **मे मनः**=मेरा मन **अमतेः**=ज्ञानाभाव के कारण **भिया वेपते इत्**=भय से काँप ही उठता है, इस प्रकार काँप उठता है **न**=जैसे कि **वृत्तं चक्रम्**=परिवर्तित होता हुआ पहिया, चलते हुए पहिये के समान मेरा मन चलायमान हो जाता है। आपका आश्रय ही तो मेरे भय को दूर करेगा, आपका स्मरण ही तो मेरे मन को स्थिर करेगा। (२) सो हे **सदावृध**=सदा से बढ़े हुए **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **जरिता**=स्तोता मैं **रथाद् अधि**=इस रथ पर बैठा-बैठा ही **कुवित् नु**=खूब ही **स्तोषत्**=स्तुति करता हूँ। आप से ही मैं **पुरुवसुः**=पालक व पूरक ज्ञान धन को प्राप्त करके भयरहित होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से दूर हो जाने पर संसार में भय से मनुष्य काँप उठता है। प्रभु का उपासन ही अभय देता है।

ऋषिः—प्रभूवसुराङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दायें-बायें हाथों से ऐश्वर्यों के दाता प्रभु

एष ग्रावेव जरिता त इन्द्रेयर्ति वाचं बृहदाशुषाणः।
प्र सव्येन मघवन्यंसि रायः प्र दक्षिणिद्धरिवो मा वि वेनः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एषः**=यह **ग्रावा इव**=(गृणाति) ज्ञानोपदेष्टा की तरह जरित आपका स्तोता **बृहत् आशुषाणः**=उत्कृष्ट ज्ञान का शीघ्रता से संभजन करता हुआ, खूब ज्ञान को प्राप्त करता हुआ **ते वाचं इयर्ति**=आपकी स्तुति वाणियों को अपने में प्रेरित करता है। वस्तुतः हमें प्रभु का 'ज्ञानी भक्त' बनने का प्रयत्न करना चाहिए। (२) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **सव्येन**=बायें हाथ से **रायः प्रयंसि**=ऐश्वर्यों को देते हैं और **दक्षिणित् प्र (यंसि)**=दाहिने से भी धनों को देते हैं। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को देनेवाले प्रभो! **मा विवेनः**=हमारे लिये ऐश्वर्यों को न देने की कामनावाले मत होइये। सदा हमारे लिये ऐश्वर्यों को आप प्राप्त कराइये ही।

भावार्थ—हम प्रभु के ज्ञानी भक्त बनें। प्रभु हमारे लिये सब ऐश्वर्यों की प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वृषा' प्रभु

वृषा त्वा वृषणं वर्धतु द्यौर्वृषा वृषभ्यां वहसे हरिभ्याम्।
स नो वृषा वृषरथः सुशिप्र वृषक्रतो वृषा वज्रिन्भरे धाः ॥ ५ ॥

(१) हे **सुशिप्र**=हमारे लिये शोभन हनू व नासिकाओं को प्राप्त करानेवाले (शोभने शिप्रये स्मात्) **वृषक्रतो**=सुखों के वर्षक ज्ञानवाले **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले प्रभो! **सः**=वे आप ही **नः**=हमारे लिये **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **वृषरथः**=हमें इस शक्ति-सम्पन्न शरीर-रथ को देनेवाले हैं। **वृषा**=शक्तिशाली होते हुए आप **भरे धाः**=इस जीवन-संग्राम में हमारा धारण करिये। (२) यह **वृषा द्यौः**=हमारे लिये सब सुखों का वर्षण करनेवाला द्युलोक **वृषणं त्वा**=शक्तिशाली आपका **वर्धतु**=स्तुति द्वारा वर्धन करे। यह द्युलोक हमारे लिये आपकी महिमा को दर्शानेवाला हो। इस द्युलोक का सूर्य व तारे हमें आपका ही स्तवन करते प्रतीत हों। **वृषा**=शक्तिशाली आप **वृषभ्यां हरिभ्याम्**=इन शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के द्वारा **वहसे**=हमारी जीवन-यात्रा का वहन करते हैं। आपके दिये हुए इन साधनों से हम जीवन-यात्रा में आगे बढ़ पाते हैं।

भावार्थ—यह द्युलोक उस प्रभु की ही महिमा को प्रकट कर रहा है। प्रभु ही हमारे लिये उत्कृष्ट इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमारे लिये उत्तम जबड़ों या नासिका-छिद्रों को प्राप्त कराके हमें जीवन-संग्राम में विजयी बनाते हैं। उत्तम जबड़ों से सात्त्विक भोजन का सम्यक् चर्वण करते हुए हम नीरोग बनते हैं। नासिका-छिद्रों द्वारा प्राणायाम से निर्दोष।

ऋषिः—**प्रभूवसुराङ्गिरसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'श्रुतरथ' प्रभु

यो रोहितौ वाजिनौ वाजिनीवान्त्रिभिः शतैः सचमानावदिष्ट।
यूने समस्मै क्षितयो नमन्तां श्रुतरथाय मरुतो दुवोया ॥ ६ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **वाजिनीवान्**=उत्तम अन्नोंवाले होते हुए **त्रिभिः शतैः सचमानौ**=तीन सौ वर्षों के आयुष्य से युक्त होते हुए **रोहितौ**=बुद्धिशील **वाजिनौ**=इन्द्रियाश्वों को **अदिष्ट**=हमारे लिये देते हैं। **अस्मै**=इस **यूने**=हमारे साथ इन प्रशस्त इन्द्रियाश्वों का मेल करनेवाले प्रभु के लिये **क्षितयः**=सब मनुष्य **संनमन्ताम्**=प्रणत हों। (२) **श्रुतरथाय**=(श्रुतं अस्य अस्ति इति श्रुतः, श्रुतः रथो यस्मात्) ज्ञानयुक्त शरीर रथ को प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिये **मरुतः**=सब प्राणसाधक पुरुष

दुवोया=परिचर्या के द्वारा नमन्ताम्=नत हों। प्रभु हमें कितना सुन्दर शरीर-रथ प्राप्त कराते हैं, उस प्रभु ने हमें ये प्राणापान प्राप्त कराये हैं। इनकी साधना के द्वारा जीवन को निर्दोष बनाकर हम सदा प्रभु के प्रति प्रणत हों।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें प्राणसाधना द्वारा जीवन को निर्दोष बनाकर प्रभु की परिचर्या करें। प्रभु हमें दीर्घ-जीवन व उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराते हैं।

उस प्रभु के प्रति परिचर्या से प्रणत होता हुआ यह व्यक्ति 'अत्रि' बनता है, सब त्रिविध कष्टों व वासनाओं से दूर। यह प्रभु की उपासना करता हुआ कहता है कि—

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अत्रि का सुन्दर जीवन

सं भानुना यतते सूर्यस्याजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः।
तस्मा अमृध्रा उषसो व्युच्छान्य इन्द्राय सुनवामेत्याह॥ १॥

(१) मन्त्र का ऋषि 'अत्रि' (काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति) **सूर्यस्य भानुना**=सूर्य की किरण के साथ **संयतते**=सम्यक् यत्नशील होता है, सूर्योदय के साथ ही दैनिक कार्यक्रम में प्रवृत्त हो जाता है। **आजुह्वानः**=अग्निहोत्र के करने के स्वभाववाला होता है। **घृत पृष्ठः**=(घृतं पृष्ठं यस्य) ज्ञान को अपना आधार बनाता है। **स्वञ्चाः**=उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु का पूजन करनेवाला होता है (अञ्चू गतिपूजनयोः)। (२) **तस्मा**=उस अत्रि के लिये **अमृध्राः**=अहिंसित होते हुए **उषसः**=उषाकाल **व्युच्छान्**=उदित होते हैं, अन्धकार को दूर करनेवाले होते हैं। ये उषाकाल उसी के लिये अमृध्र होते हैं **यः**=जो कि **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **सुनवाम**=हम सोम का सवन (उत्पादन) करनेवाले बनें **इति आह**=यह बात बार-बार कहता है। जो अपने को इस सोम-सवन का ही निरन्तर सन्देश देता है। सोम के शरीर में उत्पादन का निश्चय होने पर ही वृत्ति उत्तम बनती है, मनुष्य उस समय वासनाओं से हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—हमारा जीवन क्रियाशील हो। हम अग्निहोत्र स्वाध्याय व कर्मों द्वारा प्रभु-पूजन करनेवाले बनें। प्रभु प्राप्ति के लिये सोम के स्तवन का निश्चय करते हुए हम अपने को वासनाओं से हिंसित न होने दें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समिद्धाग्निः वनवत्

समिद्धाग्निर्वनवत्स्तीर्णबर्हिर्युक्तग्रावा सुतसोमो जराते।
ग्रावाणो यस्येषिरं वदन्त्ययदध्वर्युर्हविषाव सिन्धुम्॥ २॥

(१) **समिद्धाग्नि**=अपने अन्दर उस अग्रणी प्रभु को समिद्ध करनेवाला **वनवत्**=विजयी होता है। **स्तीर्णबर्हिः**=वासनाशून्य हृदयासन को बिछानेवाला, **युक्तग्रावा**=(युक्तः च असौ ग्रावा च) चित्तवृत्ति का निरोध करनेवाला और प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला (गृणाति) **सुतसोमः**=सोम का अपने अन्दर सम्पादन करनेवाला व्यक्ति ही **जराते**=(स्तौति) प्रभु का सच्चा स्तवन करता है। (२) **ग्रावाणः**=स्तोता लोग **यस्य**=जिस प्रभु के **इषिरे**=प्रेरणा देनेवाले इस ज्ञान को **वदन्ति**=अपने जीवन से कहने का प्रयत्न करते हैं, इसी **सिन्धुम्**=ज्ञान के समुद्र प्रभु को **अध्वर्युः**=यज्ञात्मक जीवनवाला पुरुष **हविषा**=हवि के द्वारा, त्यागपूर्वक अदन के द्वारा, **अवअयत्**=भोग-वृत्ति से दूर

होकर (away अब) प्राप्त होता है। वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तोता वही है जो कि हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को क्रिया में अन्वित करे और त्यागपूर्वक अदन करता हुआ भोगवृत्ति से ऊपर उठे।

भावार्थ—अपने अन्दर प्रभुरूप अग्नि को समिद्ध करनेवाला व्यक्ति विजयी बनता है। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि हम प्रभु के ज्ञान के अनुसार जीवन को बनायें और त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वधू का आगमन

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति य ईं वहाते महिषीमिषिराम्।
आस्य श्रवस्याद्रथ आ च घोषत्पुरू सहस्रा परि वर्तयाते॥ ३॥

(१) वेदवाणी के साथ परिणय का उल्लेख 'परीमे गामनेषत' इस मन्त्रभाग में स्पष्ट है। **इयं वधूः**=यह वहन करने योग्य वेदवाणी रूप युवति **पतिं इच्छन्ती**=अपने रक्षक को चाहती हुई **एति**=आती है। वह पुरुष पति होता है, यह वेदवाणी उसकी पत्नी। पुरुष 'वर' है, वेदवाणी 'वधू'। (२) **यः**=जो **महिषीम्**=अत्यन्त महनीय, आदरणीय **इषिराम्**=निरन्तर कर्मों की प्रेरणा देनेवाली इस वेदवाणी रूप वधू का **ईम्**=निश्चय से **वहाते**=वहन करता है **अस्य**=इसका **रथः**=यह शरीररूप रथ **श्रवस्यात्**=ज्ञान प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है, **च**=और **आघोषात्**=प्रभु के नामों का खूब ही उच्चारण करता है। अर्थात् इसका मन प्रभु में लगा होता है, इसका मस्तिष्क स्वाध्याय द्वारा ज्ञानोज्ज्वल बनता है। इसका यह रथ इसे **पुरू**=पालक व पूरक **सहस्रा**=हजारों धनों को **परिवर्तयाते**=(प्रापयति) प्राप्त कराता है।

भावार्थ—वेदवाणीरूप वधू का हम वरण करें। जिससे कि हमारा यह शरीररूप रथ ज्ञान के प्रकाशवाला हो, प्रभु के नामों के उच्चारणवाला हो। पालक व पूरक धनों को यह हमें प्राप्त कराये।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हन्ति वृत्रे, क्षेति क्षितीः

न स राजा व्यथते यस्मिन्निन्द्रस्तीव्रं सोमं पिबति गोसखायम्।
आ सत्वनैरजति हन्ति वृत्रं क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यन्॥ ४॥

(१) **सः**=वह **राजा**=दीप्त जीवनवाला पुरुष **न व्यथते**=कभी पीड़ित नहीं होता, **यस्मिन्**=जिस पुरुष के जीवन में **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **तीव्रम्**=इन शत्रुओं के संहार के लिये अत्यन्त तीव्र **गोसखायम्**=ज्ञान की वाणियों के मित्र **सोमम्**=सोम को **पिबति**=शरीर में पीता है, अर्थात् व्याप्त करता है। प्रभु की कृपा से ही सोम शरीर में सुरक्षित होता है, मानो प्रभु ही इसका पान करते हैं। (२) वह पुरुष **सत्वनैः**=सब शक्तियों के साथ **आ अजति**=समन्तात् गतिवाला होता है। अपने सब कर्त्तव्य कर्मों को शक्ति के साथ करता है। **वृत्रं हन्ति**=वासना को यह विनष्ट करता है। **क्षितीः क्षेति**=इन शरीरों में उत्तम निवासवाला होता है। **सुभगः**=सौभाग्यवाला होता हुआ **नाम पुष्यन्**=अपने जीवन में प्रभु के नाम का पोषण करता है। सदा प्रभु स्मरणपूर्वक चलता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से सोम का रक्षण होने पर हमारा जीवन दीप्त बनता है, यह सोम हमारे साथ ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क को करता है। हमारे बल को यह सोम बढ़ाता है, वासना को विनष्ट करता है और हमें सौभाग्यशाली व प्रभु प्रवण बनाता है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

योगक्षेम का ठीक साधन

पुष्यात्क्षेमे अभि योगे भवात्युभे वृतौ संयती सं जयाति।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति य इन्द्राय सुतसोमो ददाशत्॥ ५॥

(१) **यः**=जो **सुतसोमः**=सोम का (वीर्यशक्ति का) सम्पादन करता हुआ पुरुष **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **ददाशत्**=अपने को दे डालता है, वह **सूर्ये प्रियः**=ज्ञान सूर्योदय के होने पर प्रभु का प्रिय **भवाति**=होता है। यह व्यक्ति **अग्नौ**=शरीर में अग्नितत्त्व के ठीक विकास के कारण **प्रियः**=प्रभु का प्रिय होता है। प्रभु का प्रिय स्वस्थ पुरुष है। स्वस्थ वही है, जो कि मस्तिष्क में ज्ञान सूर्यवाला तथा शरीर में अग्नितत्त्ववाला है। (२) यह **क्षेमे पुष्यात्**=कल्याण में पोषित होता है, अर्थात् इस जन्म की समाप्ति पर मोक्ष को प्राप्त करनेवाला होता है और **योगे**=चित्तवृत्ति के निरोध के होने पर **अभिभवाति**=सब वासनाओं का अभिभव करनेवाला होता है। **उभे**=दोनों **वृतौ**='अभ्युदय व निःश्रेयस' जिनका कि वरण किया गया है उन्हें **संयती**=मिलकर चलते हुओं को **सं जयाति**=सम्यक् जीतनेवाला होता है। इसके जीवन में अभ्युदय व निःश्रेयस का मेल होता है। यह केवल अभ्युदय व केवल निःश्रेयस को लेकर नहीं चलता।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सोमरक्षण द्वारा 'योगक्षेम' को सिद्ध करें, अभ्युदय व निःश्रेयस का वरण करें सूर्य व अग्नि तत्त्व को सिद्ध करके प्रभु के प्रिय बनें।

कवि ही अगले सूक्त में आराधना करता है कि—

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'बल व ज्ञान' का वर्धक धन

उरोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो।
अधा नो विश्वचर्षणे द्युम्ना सुक्षत्र मंहय॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्, **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **उरोः**=विशाल **ते**=आपके **राधसः**=कार्यसाधक धन की **रातिः विभ्वी**=राति भी, दान भी व्यापक है। अनन्त आपका ऐश्वर्य है, अनन्त ही आपके दान हैं। (२) हे **विश्वचर्षणे**=सब के द्रष्टा, सब का ध्यान करनेवाले, **सुक्षत्र**=उत्तम धनोंवाले प्रभो (क्षत्रं-धनम्) **अधा**=अब **नः**=हमारे लिये **द्युम्ना**=ज्योतिर्मय धनों को **मंहय**=देने का अनुग्रह कीजिये। 'सुक्षत्र' सम्बोधन में 'क्षत्र' शब्द उस धन का संकेत कर रहा है जो कि बल से युक्त है। 'द्युम्ना' शब्द उस धन का संकेत करता है जो कि ज्योतिवाला है। हमें धन तो प्राप्त हो, पर वह धन जो कि बल व ज्योति से युक्त है, जिस धन के द्वारा हम सबल व ज्योतिर्मय जीवनवाले बनें। विलास का कारण बनकर धन हमारे ज्ञान व बल दोनों का ही विनाश करता है।

भावार्थ—अनन्त ऐश्वर्यवाले प्रभु के अनन्त ही दान हैं। प्रभु हमें वह धन दें, जो कि हमारे बल व ज्ञान का वर्धक हो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'श्रवाय्य-दीर्घश्रुत्तम-दुष्टर' अन्न

यदीमिन्द्र श्रवाय्यमिषं शविष्ठ दधिषे। पप्रथे दीर्घश्रुत्तमं हिरण्यवर्ण दुष्टरम् ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **शविष्ठ**=सर्वाधिक बलशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **ईम्**=निश्चय से **श्रवाय्यम्**=श्रवणीय अथवा ज्ञानवर्धन के लिये उत्तम **इषम्**=अन्न है, उसे आप हमारे लिये **दधिषे**=धारण करते हैं। (२) हे **हिरण्यवर्ण**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान-ज्योतिर्मय रूपवाले प्रभो! वह **दीर्घश्रुत्तम्**=हमें अत्यधिक दीर्घश्रुत बनानेवाला, **दुष्टरम्**=शत्रुओं से अभिभूत न करने योग्य अन्न **पप्रथे**=हमारी शक्तियों के विस्तार का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें वह अन्न प्राप्त हो जो कि 'श्रवाय्य दीर्घश्रुत्तम व दुष्टर' है इस सात्त्विक अन्न के सेवन से हमारे ज्ञान में वृद्धि हो और हमारी शक्तियों का विस्तार हो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मेहना केतसापः

शुष्मासो ये ते अद्रिवो मेहना केतसापः। उभा देवावभिष्टये दिवश्च ग्मश्च राजथः ॥ ३ ॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रवन् इन्द्र! **ये**=जो **ते**=आपके **शुष्मासः**=बल हैं, आपकी उपासना से प्राप्त होनेवाली शक्तियाँ हैं, वे **मेहना**=(मिह सेचने) सब सुखों का सेचन करनेवाली हैं तथा **केतसापः**=ज्ञान के साथ स्पर्श करनेवाली, अर्थात् ज्ञान को बढ़ानेवाली हैं। (२) **उभौ**=शरीर में बल तथा मस्तिष्क में ज्ञान **देवौ**=ये दोनों देव हमारे सब व्यवहारों के साधक हैं (दिव् व्यवहारे)। ये दोनों मिलकर **अभिष्टये**=हमारे सब इष्टों की प्राप्ति के लिये होते हैं तथा हमारे रोगों व वासनारूप शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले होते हैं। **दिवः**=मस्तिष्क के दृष्टिकोण से **च**=तथा **ग्मश्च**=शरीररूप पृथिवी के दृष्टिकोण से **राजथः**=ये दीप्त होते हैं। ज्ञान व बल हमारे मस्तिष्क व शरीर को उज्ज्वल बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से प्राप्त होनेवाले बल शरीर को सुखी व मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं। ये बल व ज्ञान दोनों मिलकर हमारे सब अभीष्टों को सिद्ध करनेवाले हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

दक्ष-नृम्ण

उतो नो अस्य कस्य चिद्दक्षस्य तव वृत्रहन्।
अस्मभ्यं नृम्णमा भरास्मभ्यं नृमणस्यसे ॥ ४ ॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **उतो**=और **नः**=हमारे लिये **अस्य**=इस **कस्यचित्**=अनिर्देश्य, शब्दों से पूरा-पूरा वर्णन न करने योग्य **तव**=आपके **दक्षस्य**=बल का **आभर**=भरण कीजिये। आपकी उपासना के द्वारा वासनाओं से ऊपर उठकर हम उन्नति के साधनभूत बल को प्राप्त करें। (२) **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये आप **नृम्णम्**=बल व धन को **आभर**=भरिये। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये सदा ही **नृमणस्यसे**=धन व बल को देने की कामना करते हैं। आपके इस नृम्ण को पाने के लिये हम पात्र बनें।

भावार्थ—प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हमें बल व धन को प्राप्त करायें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सुगोपाः

नू तं आभिरभिष्टिभिस्तव शर्मञ्छतक्रतो। इन्द्र स्याम सुगोपाः शूर स्याम सुगोपाः॥ ५॥

(१) हे **शतक्रतो**=सैंकड़ों ज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **नु**=अब **ते**=आपके **आभिः**=इन **अभिष्टिभिः**=शत्रुओं पर किये गये आक्रमणों से हम **तव शर्मणि**=आपकी शरण में प्राप्त हों। वस्तुतः वासनाओं पर आक्रमण ही हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है। जितना-जितना हम वासनाओं को जीतने में सफल होते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आपकी शरण में आकर हम **सुगोपाः**=अपनी इन्द्रियों के उत्तम रक्षक बनें। हे **शूर**=सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! हम आपकी शरण में अवश्य ही **सुगोपाः स्याम**=उत्तम गोप बनें, इन्द्रियाश्वों को अच्छी तरह सुरक्षित करनेवाले हों।

भावार्थ—वासनाओं पर आक्रमण हमें प्रभु के समीप करे। यह प्रभु का सान्निध्य हमें इन्द्रियों का उत्तम रक्षक बनाये।

अगले सूक्त में भी 'अत्रि' ही आराधना करते हैं—

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उभयाहस्त्या

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः। राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **चित्र**=चायनीय-पूजनीय अथवा अद्भुत **अद्रिवः**=आदरणीय व वज्रवन् प्रभो! **यत्**=जो **त्वादातम्**=आप से देने योग्य धन है वह **मेहना अस्ति**=सब सुखों का सेचन करनेवाला है। (२) हे **विदद्वसो**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **नः**=हमारे लिये **तद् राधः**=उस धन को **उभयाहस्तिः**=दोनों हाथों से आभार प्राप्त कराइये। सब धनों के स्वामी आप ही हैं, आपकी कृपा से हमें जीवन के लिये आवश्यक वसुओं की प्राप्ति हो।

भावार्थ—प्रभु से प्राप्त होनेवाला धन महनीय है। प्रभु हमारे लिये इस धन को खूब ही दें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

द्युक्ष (दीप्त सोम)

यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर। विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **यत्**=जिस **द्युक्षम्**=दीप्त सोम को **वरेण्यम्**=वरणीय व श्रेष्ठ **मन्यसे**=मानते हैं, **तद् आभर**=उसे हमारे लिये प्राप्त कराइये। (२) **वयम्**=हम **तस्य**=उस **अकूपारस्य**=अकुत्सित पारवाले, अत्यन्त प्रशस्त परिणामवाले, इस सोम के **ते दावने**=आपसे दिये जानेवाले दान में **विद्याम**=हों आपकी कृपा से हमें यह सोम प्राप्त हो, जो कि हमारे जीवन में सब शुभ परिणामों को पैदा करता है और जिस सोम के कारण हमारा निवास (क्षि) सदा ज्ञानदीप्ति (द्यु) में होता है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन में सब शुभ परिणामों को पैदा करता है, यह अकूपार है, अकुत्सित पार वाला, शुभ परिणामवाला।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'दित्सु-प्राध्य-बृहत् श्रुत' मन

यत्ते॑ दि॒त्सु प्र॒राध्यं॒ मनो॒ अस्ति॑ श्रु॒तं बृ॒हत्। तेन॑ दृ॒ळ्हा चि॑दद्रिव॒ आ वाजं॑ दर्षि सा॒तये॑ ॥ ३ ॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रवन् व आदरणीय प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **दित्सु**=सदा दान देने की कामनावाला, **प्राध्यम्**=प्रकृष्ट आराधना में उत्तम **मनः**=मन **अस्ति**=है, जो मन **बृहत् श्रुते**=खूब ही ज्ञानवाला है **तेन**=उस मन के द्वारा **दृढा चित्**=काम-क्रोध-लोभ के दृढ़ दुर्गों को भी **आदर्षि**=विदीर्ण कर देते हैं। दान देने की कामनावाला मन (दित्सु) 'लोभ' के दुर्ग को विनष्ट करता है। प्रभु की आराधनावाला मन 'काम' के दुर्ग को समाप्त करता है तथा श्रुत मन (खूब ज्ञानवाला मन) क्रोध के दुर्ग को विनष्ट करता है। (२) इन दुर्गों को विदीर्ण करके आप **वाजं सातये**=शक्ति को प्राप्त कराने के लिये होते हैं। काम-क्रोध-लोभ ही तो हमारी शक्तियों को विनष्ट करते हैं। इनको विनष्ट करके हम शक्ति-सम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ—हमारा मन 'दित्सु-प्राध्य व बृहत् श्रुत' हो। इस मन से लोभ, काम व क्रोध को नष्ट करके हम शक्ति-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'दातृतम' व 'जीवन को दीप्त बनानेवाले' प्रभु

मंहि॑ष्ठं वो म॒घोनां॒ राजा॑नं चर्षणी॒नाम्। इन्द्र॒मुप॒ प्रश॑स्तये पू॒र्वीभि॑र्जुजुषे॒ गिरः॑ ॥ ४ ॥

(१) **गिरः**=स्तोता लोग **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **प्रशस्तये**=जीवन को प्रशस्त बनाने के लिये **पूर्वीभिः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी गयी अथवा हमारा पालन व पूरण करनेवाली वाणियों से **उपजुजुषे**=सेवन करते हैं। इन वेदवाणियों का अध्ययन करते हुए वे अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं, इस ज्ञानयज्ञ के द्वारा प्रभु का उपासन करते हैं। इस उपासना से सब वासनाओं का विनाश होकर जीवन प्रशस्त बनता है। (२) उस प्रभु का सेवन करते हैं, जो कि **मघोनाम्**=ऐश्वर्यशालियों में **वः**=तुम्हारे **मंहिष्ठम्**=दातृतम हैं, सर्वाधिक दान देनेवाले हैं। तथा **चर्षणीनां राजानम्**=सब मनुष्यों के जीवन को दीप्त करनेवाले हैं। जो भी श्रमशील बनता है, प्रभु उसको दीप्त जीवनवाला बनाते हैं। वस्तुतः जीवन को दीप्त बनाने के लिये सब आवश्यक चीजों को वे प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम वेदवाणियों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को दीप्त बनाते हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

गिरः शुम्भन्ति अत्रयः

अ॒स्मा इत्काव्यं॒ वच॑ उ॒क्थमिन्द्रा॑य॒ शंस्य॑म्।
तस्मा॑ उ॒ ब्रह्म॑वाहसे॒ गिरो॑ वर्धन्त्यत्र॑यो॒ गिरः॑ शुम्भन्त्यत्र॑यः ॥ ५ ॥

(१) **अस्मै इन्द्राय इत्**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये ही **उक्थम्**=ऊँचे से उच्चारण के योग्य **काव्यं वचः**=वेदरूप अजरामर काव्य के स्तुतिवचन **शंस्यम्**=शंसित करने चाहिये। इन वेदवचनों के द्वारा प्रभु का स्तवन करना चाहिए। (२) **अत्रयः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले अत्रि **तस्मै**=उस **ब्रह्मवाहसे**=ज्ञान को प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिये **उ**=ही **गिरः वर्धन्ति**=ज्ञान की वाणियों का वर्धन करते हैं। ये **अत्रयः**=अत्रि लोग **गिरः**=इन ज्ञानवाणियों से ही जीवन को **शुम्भन्ति**=शोभित करते हैं। वस्तुतः प्रभु का सबसे उत्कृष्ट स्तवन यही है कि हम

अपने जीवन को ज्ञान की वाणियों से अलंकृत करें।

भावार्थ—उस प्रभु के लिये इन वेदवाणियों द्वारा शंसन करना चाहिए। उस प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम इन ज्ञानवाणियों से जीवन को अलंकृत करें, यही ज्ञानयज्ञ द्वारा प्रभु का उपासन है।

अगले सूक्त में भी अत्रि ही कहते हैं—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'सोमपति' प्रभु

आ या॒ह्यद्रि॑भिः सु॒तं सोमं॑ सोमपते पिब। वृष॑न्निन्द्र॒ वृष॑भिर्वृत्रहन्तम॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले प्रभो! **आयाहि**=आप हमें प्राप्त होइये। हे **सोमपते**=सोम का (वीर्यशक्ति का) रक्षण करनेवाले प्रभो! **अद्रिभिः**=उपासकों द्वारा **सुतं सोमम्**=शरीर में उत्पन्न किये गये सोम को **पिब**=आप हमारे शरीर में ही व्याप्त करिये। आप हमारे हृदयों में स्थित होंगे, तो वहाँ वासनाओं का प्रवेश न होना और वासनाओं के अभाव में ही सोमरक्षण का सम्भव होता है। (२) हे **वृषन्**=हमारे अन्दर सोम का सेचन करनेवाले, **वृत्रहन्तम**=सोमरक्षण के लिये ही वासनाओं को सर्वाधिक विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **वृषभिः**=इन सोमों के हेतु से ही हमें प्राप्त होइये (वृषा=सोम)। आपने ही हमारे जीवन में सोम का रक्षण करना है।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें प्राप्त होंगे और वासना विनाश के द्वारा हमारे सोम का रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

स्तोता-प्रसन्न व सोमरक्षक

वृषा॒ ग्रावा॒ वृषा॒ मदो॒ वृषा॒ सोमो॑ अ॒यं सु॒तः। वृष॑न्निन्द्र॒ वृष॑भिर्वृत्रहन्तम॥ २॥

(१) **ग्रावा**=प्रभु के लिये स्तुति वाणियों का उच्चारण करनेवाला **वृषा**=शक्तिशाली बनता है। **मदः**=सदा आनन्दित रहनेवाला **वृष**=शक्तिशाली होता है। **अयम्**=यह **सुतः सोमः**=उत्पन्न किया गया सोम **वृषा**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला है सो हम 'सोता, प्रसन्न व सोमरक्षक' बनकर शक्तिशाली बनें। (२) हे **इन्द्र**=सब दस्युओं का संहार करनेवाले प्रभो! **वृषन्**=हमारे में सोम का सेचन करनेवाले प्रभो! और सोमरक्षण के लिये ही **वृत्रहन्तम**=सर्वाधिक वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **वृषभिः**=इन हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोमों के हेतु से ही हमें प्राप्त हों। आपने ही वासना को विनष्ट करके हमारे जीवन में सोम का रक्षण करना है।

भावार्थ—स्तोता-सदा प्रसन्न रहनेवाला व सोमरक्षक पुरुष ही शक्तिशाली बनता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'सोम का सेचन करनेवाले' प्रभु

वृषा॑ त्वा॒ वृष॑णं हुवे॒ वज्रि॑ञ्चि॒त्राभि॑रू॒तिभिः॑। वृष॑न्निन्द्र॒ वृष॑भिर्वृत्रहन्तम॥ ३॥

(१) **वृषा**=अपने अन्दर सोम का सेचन करनेवाला मैं **वृषणं त्वा**=शक्तिशाली आपको **हुवे**=पुकारता हूँ। **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! क्रियाशीलतारूप वज्र से वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **चित्राभिः**=चायनीय (आदरणीय) व अद्भुत **ऊतिभिः**=रक्षणों के हेतु से मैं आपको

पुकारता हूँ। (२) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के संहार करनेवाले प्रभो! आप ही **वृषन्**=हमारे जीवनों में सोम का सेचन करनेवाले हैं। सोम सेचन के उद्देश्य से ही **वृत्रहन्तम**=अधिक से अधिक वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारे शरीरों में सोम के सेचन के द्वारा प्रभु अद्भुत प्रकार से हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ्माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः ॥ ४ ॥

(१) **ऋजीषी**=(ऋजु-इष) सदा सरल मार्ग से चलनेवाला, **वज्री**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाला, अर्थात् कभी अकर्मण्य न होनेवाला, अतएव **वृषभः**=शक्तिशाली, **तुराषाट्**=त्वरा से शत्रुओं का पराभव करनेवाला, **शुष्मी**=शत्रुशोषक बलवाला, **राजा**=जीवन को दीप्त बनानेवाला, **वृत्रहा**=वासना का विनाशक, **सोमपावा**=सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाला यह पुरुष **हरिभ्याम्**=इन्द्रियाश्वों से **युक्त्वा**=शरीर रथ को जोतकर **अर्वाङ् उपयासत्**=अन्तर्मुख यात्रावाला प्रभु के समीप प्राप्त हो। (२) **माध्यन्दिने सवने**=जीवन-यात्रा के इस माध्यन्दिन सवन में, गृहस्थाश्रम के काल में, इस प्रकार सोमपावा बनकर **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **मत्सत्**=आनन्द का अनुभव करे। ब्रह्मचर्याश्रम 'जीवन का प्रातःसवन' है। गृहस्थ 'माध्यन्दिन' तथा वानप्रस्थ-संन्यास 'तृतीय सवन' हैं। माध्यन्दिन सवन में भी सोमरक्षण करता हुआ पुरुष जीवन के वास्तविक आनन्द का अनुभव करे।

भावार्थ—हम ऋजुमार्ग से चलते हुए, सोमरक्षण के द्वारा जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य पर स्वर्भानु का आक्रमण

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः। अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥ ५ ॥

(१) हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है। इस सूर्य की 'स्वर्भानु' (भानु=दीप्ति, वृ=to kill) दीप्ति को नष्ट करनेवाला 'वैषयिक रोग'। यह 'आसुर' है (असु क्षेपणे) हमारी चित्तवृत्ति को इधर-उधर फेंकनेवाला है। हे **सूर्य**=ज्ञानरूप सूर्य! **यत्**=जो **स्वर्भानुः**=दीप्ति को नष्ट करनेवाला **आसुरः**=हमारे चित्तों को विक्षिप्त करनेवाला यह वैषयिक राग **त्वा**=तुझे **तमसा**=अन्धकार से **अविध्यत्**=बींधता है, उस समय यह मनुष्य इस प्रकार मूढ़-सा बन जाता है **यथा**=जैसे एक **अक्षेत्रवित्**=अपने को, अपने ही शरीर रूप क्षेत्र को न समझनेवाला **मुग्धः**=मूढ़-सा होता है। विषय-वासना का पर्दा पड़ते ही मनुष्य अपने को भूल जाता है और कुछ पागलों-सा व्यवहार करने लगता है। (२) उस समय **भुवनानि**=सब लोग **अदीधयुः**=(दीधिति=a religious prayer of devotion) इस प्राणी की स्थिति को देखकर धर्मप्रवण होकर प्रार्थना में प्रवृत्त होते हैं। उस समय प्रार्थना का स्वरूप यही होता है कि इस 'स्वर्भानु' का आक्रमण हमारे जीवनों पर न हो। हमारा जीवन ज्ञान सूर्य से सदा दीप्त रहे हम भी इस अज्ञान के आक्रमण से पागल से न हो जाएँ।

भावार्थ—ज्ञानसूर्य को वैषयिक दागरूप अज्ञान ने ग्रसा तो चित्तवृत्ति अस्थिर हो जाती है, और हम पागल से हो जाते हैं। सो प्रभु से यही आराधना करना कि यह अज्ञान हमारे ज्ञानसूर्य को ग्रसनेवाला न हो।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अत्रिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वर्भानु की माया का विनाश

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अध**=अब **यद्**=जिस समय तू **स्वर्भानोः**=इस दीप्ति को नष्ट करनेवाले वैषयिक राग अज्ञान की **दिवः**=ज्ञान के **अवः**=नीचे **वर्तमानाः**=होती हुई, अर्थात् ज्ञान पर परदे के रूप आ जाती हुई **मायाः**=मायाओं को **अवाहन्**=नष्ट कर डालता है तभी यह **अत्रिः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **अविन्दत्**=प्राप्त करता है। (२) उस सूर्य को प्राप्त करता है जो कि **अपव्रतेन तमसा**=जिसमें सब उत्तम कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे अज्ञानान्धकार से **गूढम्**=छिप गया था। विषय-राग के प्रबल होने पर सब धर्म-कर्म लुप्त हो जाते हैं। यह विषय-रागान्धकार अपव्रत तो है ही। इस सूर्य को अत्रि-काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला, व्यक्ति **तुरीयेण ब्रह्मणा**=पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक के परे चतुर्थ लोक में स्थित ब्रह्म से **अविन्दत्**=प्राप्त करता है। प्रभु कृपा से ही माया का परदा हटता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से जब हम माया के परदे को दूर कर पाते हैं, तभी हमारा ज्ञानसूर्य चमकने लगता है। इसकी दीप्ति में ही सब उत्तम यज्ञादि कर्मों का सम्भव होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अत्रिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

इरस्या-द्रुग्ध व भय से दूर

मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गारीत्।
त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा॥ ७॥

(१) गतमन्त्र का अत्रि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **इमम्**=इस **तव सन्तम्**=तेरे होते हुए, अर्थात् तेरे उपासक **माम्**=मुझ को **इरस्या**=(ill-will) किसी के भी अशुभ की कामना **द्रुग्धः**=द्रोहवृत्ति (malevolent act) **भियसा**=भय के साथ **निगारीत्**=निगल न जाये। न मेरे में ईर्ष्या व अशुभ इच्छा हो, न द्रोहवृत्ति हो तथा मैं भय से ऊपर उठा रहूँ। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **मित्रः असि**=मुझे प्रमीति से, पाप व मृत्यु से रक्षित करनेवाले हैं, आप मुझे पापों व मृत्यु से बचाते हैं। **सत्यराधाः**=सत्य को आप मेरे में सिद्ध करते हैं अथवा सत्यमार्ग से मुझे धन कमाने के लिये प्रेरित करते हैं। पापों से बचानेवाले आप 'मित्र' **च**=और **राजा**=मेरे जीवन को दीप्त (राज् दीप्तौ) व व्यवस्थित (regulated) करनेवाला **वरुणः**=(पाशी) व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला 'वरुण' **तौ**=वे दोनों **मा**=मुझे **इह अवतम्**=यहाँ रक्षित करें। 'मित्र व वरुण' रूप में आपका स्मरण करता हुआ मैं अपने को प्रमीति से बचाऊँ तथा व्यवस्थित व दीप्त जीवनवाला बनूँ। गतमन्त्र के स्वर्भानु की माया का ही परिणाम 'इरस्या, द्रुग्ध व भय' होते हैं। 'मित्र वरुण' की कृपा से इस माया का विनाश होकर मैं इन 'इरस्या' आदि का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—मैं प्रभु का उपासक बनूँ। यह उपासना मुझे 'ईर्ष्या, द्रोह व भय' से दूर करेगी। मैं सब के साथ स्नेह करनेवाला व व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधकर चलनेवाला बनूँगा।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—अत्रिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

माया का अपगोहन (निवारण)

ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन्कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अघुक्षत्॥ ८ ॥

(१) **ब्रह्मा**='अत्यन्त सात्त्विक वृत्तिवाला' ज्ञानी पुरुष **ग्राव्णः**=ज्ञानोपदेष्टाओं के साथ (गृणाति इति) **युयुजानः**=सम्पर्क में आता हुआ, **कीरिणा**=(कीर्यते अनेन) वासनाओं को दूर फेंकनेवाले स्तोत्रों से **सपर्यन्**=प्रभु पूजन करता हुआ, **नमसा**=नम्रता के साथ **देवान् उपशिक्षन्**=देवों के समीप शिक्षा को प्राप्त करता हुआ **अत्रिः**=काम-क्रोध-लोभ से दूर रहनेवाला यह पुरुष **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यस्य चक्षुः**=ज्ञान सूर्य के प्रकाश को **आधात्**=स्थापित करता है। ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि (क) हम उपदेष्टाओं के सम्पर्क में रहें, (ख) प्रभु का स्तवन करें, (ग) नम्रता से ज्ञानियों के समीप शिक्षा को प्राप्त करें। (२) ऐसा करने पर ही यह 'अत्रि' **स्वर्भानोः**=ज्ञान विनाशक वैषयिक रागरूप अज्ञान की **मायाः**=मायाओं को **अप अधुक्षत्**=अपने से दूर करता है, अपने से माया को दूर संवृत करता है, इससे आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—उपदेष्टाओं के सम्पर्क में आना, प्रभु का स्तवन, नम्रता से ज्ञानियों से शिक्षा को प्राप्त करना। ये उपाय हैं जिनसे कि हम ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करते हैं और वैषयिक-रागरूप अज्ञान की माया से बच पाते हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—अत्रिः ॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अत्रि का ज्ञानसूर्य को प्राप्त करना

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः। अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्य१न्ये अशक्नुवन्॥ ९ ॥

(१) **वै**=निश्चय से **यं सूर्यम्**=जिस ज्ञानसूर्य को **आसुरः**=चित्तवृत्ति को इधर-उधर फेंकनेवाला **स्वर्भानुः**=प्रकाश को नष्ट करनेवाला वैषयिक राग रूप अज्ञान **तमसा**=अन्धकार से **अविध्यत्**=विद्ध कर डालता है, **तम्**=उस ज्ञानसूर्य को **अत्रयः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले पुरुष ही **अन्वविन्दन्**=विषय-राग से ऊपर उठने के बाद (अनु) प्राप्त करते हैं। (२) ज्ञान को प्राप्त करने का अन्य मार्ग नहीं है। **अन्ये**=अत्रियों से भिन्न व्यक्ति **न हि अशक्नुवन्**=इस ज्ञानसूर्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए।

भावार्थ—काम-क्रोध-लोभ में फँसा हुआ पुरुष ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता।

'ज्ञान के द्वारा ही सब दिव्यगुणों का जीवन में स्थापन होता है' यह बात अगले सूक्त के देवता 'विश्वेदेवाः' से स्पष्ट हो रही है। अत्रि ही प्रार्थना करता है—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिव्य व पार्थिव तेज की प्राप्ति

को नु वां मित्रावरुणावृतायन्दिवो वा महः पार्थिवस्य वा दे।
ऋतस्य वा सदसि त्रासीथां नो यज्ञायते वा पशुषो न वाजान्॥ १ ॥

(१) हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्देषता के देवताओ! **नु**=अब **कः**=कौन **ऋतायन्**=यज्ञ

को चाहता हुआ पुरुष **वाम्**=आपका होता है। कोई विरल पुरुष ही प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होता है। प्रभु की उपासना के लिये यज्ञों की कामनावाले पुरुषों की संख्या अत्यन्त विरल है। उस यज्ञशील पुरुष के लिये **दिवः**=द्युलोक के **महः**=तेज को **वा**=तथा **पार्थिवस्य**=पृथिवीलोक के तेज को **वा**=निश्चय से **दे**=देनेवाले होते हैं। मस्तिष्करूप द्युलोक का तेज ज्ञान है और शरीररूप पृथिवी का तेज शक्ति है। यज्ञों द्वारा उपासक के लिये मित्र और वरुण ज्ञान व शक्ति को प्राप्त कराते हैं। (२) हे मित्र और वरुण! आप **ऋतस्य सदसि**=उस शरीर गृह में जिसे कि हम यज्ञों का स्थान बनाते हैं, आप **नः**=हमें **त्रासीथाम्**=रक्षित करें। आप **वा**=निश्चय से **यज्ञायते**=इस यज्ञ की कामनावाले पुरुष के लिये **पशुषः**=(पशून् सा०) पशुओं को, गौ आदि पशुओं को **न**=और (न इति चार्थे) **वाजान्**=अन्नों को प्राप्त करायें। गौ इत्यादि पशुओं के कारण इसे घृत की कमी न रहे और अन्नों से सामग्री की कमी न रहे। इनको प्राप्त करके यह अपने घर को 'यज्ञों का घर' बनाने में समर्थ हो।

भावार्थ—हम यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमारे लिये ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करायें। साथ ही यज्ञों की पूर्ति के लिये घृत व अन्न की हमें कमी न हो।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

किनका संग?

ते नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतो जुषन्त।
नमोभिर्वा ये दधते सुवृक्तिं स्तोमं रुद्राय मीळ्हुषे सजोषाः ॥ २ ॥

(१) **नः**=हमारे साथ **ते**=वे **जुषन्त**=प्रीतिवाले हों, अर्थात् हमारा उन लोगों के साथ प्रेमपूर्वक मित्रता का सम्बन्ध हो जो कि **मित्रः**=सबके मित्र हैं, सबके प्रति स्नेहवाले हैं, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाले हैं, किसी के प्रति द्वेष भावना नहीं रखते, **अर्यमा**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का नियमन करते हैं, **आयुः**=(एति) गतिशील हैं, क्रियाशील, अकर्मण्य नहीं, **इन्द्रः**=जो जितेन्द्रिय हैं, **ऋभुक्षाः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले हैं, **मरुतः**=प्राणसाधना में प्रवृत्त हैं। (२) **वा**=अथवा हमारा उनके साथ रहन-सहन व उठना-बैठना हो **ये**=जो कि **नमोभिः**=नमन के साथ **मीढुषे**=सर्व सुखों का सेचन करनेवाले **रुद्राय**=सब रोगों का द्रावण करनेवाले प्रभु के लिये **सजोषाः**=परस्पर प्रेमवाले होते हुए मिलकर **सुवृक्तिम्**=अच्छी प्रकार पापों के वर्जन के हेतुभूत **स्तोमम्**=स्तवन को **दधते**=धारण करते हैं। इन उपासकों के साथ हमारा मेल हो। इनके सम्पर्क में आकर हम भी इनके समान जीवनवाले बनें।

भावार्थ—हमारा सम्पर्क 'स्नेही, निर्द्वेष, शत्रुविजयी, गतिशील, जितेन्द्रिय, ज्ञानरुचि, प्राणसाधक व प्रभु के उपासक' पुरुषों के साथ हो। इस सम्पर्क से हम भी इन जैसे बन पायेंगे।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यन्तृतम अश्विनी देवों का आराधन

आ वां येष्ठाश्विना हुवध्यै वातस्य पत्मन्रथ्यस्य पुष्टौ।
उत वा दिवो असुराय मन्म प्रान्धांसीव यज्यवे भरध्वम् ॥ ३ ॥

(१) हे **येष्ठा**=यन्तृतम **अश्विना**=प्राणापानो! अधिक से अधिक चित्तवृत्ति का निरोध करनेवाले प्राणापानो! मैं **वाम्**=आप दोनों को **आहुवध्यै**=पुकारता हूँ, आप दोनों की आराधना करता हूँ, प्राणायाम द्वारा आपकी साधना में प्रवृत्त होता हूँ। ताकि **वातस्य**=वायुवत् क्रियाशील पुरुष

के **पत्मन्**=मार्ग में **रथ्यस्य पुष्टौ**=शरीर रथ में जुतनेवाले इन्द्रियाश्वों को हम पुष्ट कर सकें। इन इन्द्रियाश्वों की पुष्टि के निमित्त हम प्राणसाधना करते हैं। इस प्राणसाधना से (प्राणायामैर्दहेद् दोषान्) दोषों का दहन होकर इन इन्द्रियाश्वों का पोषण होता है। (२) **उत वा**=और निश्चय से **दिवः**=ज्ञान के द्वारा **असुराय**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु के लिये **मन्म**=मननपूर्वक किये जानेवाले स्तोत्रों का **प्रभरध्वम्**=भरण करो। इन स्तोत्रों से हमारे सामने जीवन का लक्ष्य सदा उपस्थित रहेगा। इस 'दिवः असुर' प्रभु के स्तवन में हम अपने जीवनों में ज्ञान व शक्ति के भरण को कभी भूलेंगे नहीं। इस प्रकार प्रभु के लिये स्तवनों को करो **इव**=जैसे कि **यज्यवे**=यज्ञशील प्रभु के लिये **अन्धांसि**=हविर्लक्षण अन्नों का भरण करते हैं। अर्थात् 'यज्यु' प्रभु की प्राप्ति के लिये यज्ञशील बनना आवश्यक है। हविर्लक्षण अन्नों के द्वारा ही हम उस प्रभु का स्तवन करते हैं 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा क्रियाशील जीवन बिताते हुए हम इन्द्रियाश्वों को निर्दोष व पुष्ट बनायें। प्रभु हमें, प्रभु स्तवन के होने पर ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं। इस यज्यु प्रभु की प्राप्ति के लिये हम हविवाले बनें, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवन संग्राम में चलनेवाले

प्र सक्षणो दिव्यः कण्वहोता त्रितो दिवः सजोषा वातो अग्निः।
पूषा भगः प्रभृथे विश्वभोजा आजिं न जग्मुराश्वश्वतमाः॥ ४॥

(१) **प्र सक्षणः**=(प्रकर्षेण शत्रूणां सोढा) खूब ही काम-क्रोध आदि शत्रुओं का यह पराभव करनेवाला होता है। इस शत्रुओं के पराभव के लिये ही **दिव्यः**=सदा ज्ञान प्रकाश में निवास करनेवाला होता है **कण्वहोता**=(कण्वश्चासौ होता च) मेधावी बनकर दान देनेवाला बनता है। अदान व लोभ ही सब बुराइयों का मूल है। पर अपात्र में दिया हुा दान समाज के लिये हानिकर भी तो होता है। सो यह बड़ी समझदारी से दान देनेवाला बनता है। (२) इस प्रकार यह **त्रितः**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को तैरनेवाला और **दिवः**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनता है अथवा (दिव् स्तुतौ) प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला बनता है। **सजोषाः**=यह परिवार में व समाज में सब के साथ मिलकर काम करनेवाला तथा **वातः**=वायुवत् क्रियाशील **अग्निः**=प्रगतिशील होता है, सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है। (३) इस जीवन-यात्रा में यह **पूषा**=उचित प्रकार से पोषण करनेवाला होता है, अपने 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी का ठीक प्रकार से विकास करता है। इस विकास के लिये ही **भगः**=ऐश्वर्यशाली बनता है, विकास के लिये आवश्यक धन को कमाता ही है। इस बात का ध्यान करता है कि इसका ऐश्वर्य इसके विलास का कारण न बन जाये और अतिरिक्त धन से **प्रभृथे**=प्रकृष्ट भरण के कार्यों में लगा हुआ यह **विश्वभोजाः**=सभी का पालन करता है, उस पालन के कार्य में संकुचित हृदयता के कारण यह 'भेदभाव' के दृष्टिकोण से न देखकर केवल मानवता के दृष्टिकोण से देखता है। (४) ये व्यक्ति इस जीवन-यात्रा में **न**=इस प्रकार चलते हैं जैसे कि **आजिम्**=संग्राम में चल रहे हों। जीवन इनके लिये संग्राम होता है। ये **आशु अश्वतमाः**=शीघ्र गतिवाले उत्कृष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले बनते हैं। इन इन्द्रियाश्वों के द्वारा ही तो इन्होंने जीवन संग्राम में विजय पानी है।

भावार्थ—जीवन को संग्राम समझकर चलनेवाला व्यक्ति निज जीवन को सब तरह से उत्तम बनाकर समाज भरण के कार्यों में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

क्रियाशीलता का महत्त्व

प्र वो र॒यिं यु॒क्ताश्वं॑ भरध्वं रा॒य एषेऽव॑से दधीत॒ धीः।
सु॒शेव॒ एवै॑रौशि॒जस्य॒ होता॒ ये व॒ एवा॑ मरुतस्तु॒राणा॑म्॥ ५॥

(१) हे जीवो! तुम उस **रयिम्**=धन को **वः**=अपने लिये **प्रभरध्वम्**=प्रकर्षेण धारण करो जो कि **युक्ताश्वम्**=इन्द्रियाश्वों को शरीर रथ में उत्तमता से जोतनेवाला है। जिस धन के कारण तुम आलसी न बनकर क्रियाशील बने रहते हो। इस **रायः**=धन की **एषे**=प्राप्ति के लिये तथा **अवसे**=इन प्राप्त धनों के रक्षण के लिये **धीः**=बुद्धियों को व कर्मों को **दधीत**=धारण करो, बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा ही तुम्हें इन धनों का अर्जन व रक्षण करना है। (२) **औशिजस्य**=(desirous) सबका भला चाहनेवाले प्रभु का **होता**=आह्वाता व उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला **एवैः**=क्रियाओं से सदा क्रियाशील बने रहने के कारण **सुशेवः**=उत्तम कल्याणवाला होता है। प्रभु स्मरणपूर्वक क्रियाशील व्यक्ति कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता। **वा**=और **ये**=जो व्यक्ति **एवाः**=गतिशील होते हैं वे **तुराणाम्**=हिंसक शत्रुओं के **मरुतः** (मरुद् द्रवन्ति इति वा)=प्रबल आक्रान्ता होते हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता हमें धन के अर्जन व रक्षण के योग्य बनाती है। प्रभु स्मरणपूर्वक क्रिया करनेवाला सदा सुखी रहता है। क्रियाशील पुरुष वासनाओं को आक्रान्त करता है। सो हम उन्हीं धनों को चाहें जो हमें अकर्मण्य न बना दें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

अनुकूल पत्नी का होना

प्र वो॑ वा॒युं र॑थ॒युजं॑ कृणुध्वं॒ प्र दे॒वं विप्रं॑ पनि॒तार॑म॒र्कैः।
इ॒षु॒ध्यव॑ ऋत॒साप॒ः पुर॑न्धी॒र्वस्वी॑र्नो॒ अत्र॒ पत्नी॒रा धि॒ये धुः॥ ६॥

(१) **वायुम्**=वायु देवता को **वः रथयुजम्**=तुम्हारे शरीर रथ से सम्पर्कवाला **प्रकृणुध्वम्**=प्रकर्षेण करो। वायु देवता का शरीर रथ से सम्पर्क का भाव यही है कि तुम निरन्तर क्रियाशील बनो। उस क्रियाशीलता के साथ **देवम्**=प्रकाशमय **विप्रम्**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले (वि-प्रा) **पनितारम्**=स्तुति के योग्य प्रभु को **अर्कैः**=स्तुति साधनभूत मन्त्रों के द्वारा अपने शरीर रथ से युक्त करो। अर्थात् प्रभु का भी सदा स्मरण करो जिससे तुम्हारी क्रियाएँ पवित्र बनी रहें। (२) **इषुध्यवः**=प्रभु की प्रार्थना करनेवाली (implore), **ऋतसापः**=यज्ञों का सेवन करनेवाली, **पुरन्धीः**=पालक व पूरक बुद्धिवाली, **वस्वीः**=घर के निवास को उत्तम बनानेवाली **पत्नीः**=पत्नियाँ **अत्र**=यहां इस गृहस्थ जीवन में **नः**=हमें **धिये**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के लिये **आधुः**=स्थापित करें। पत्नियों की अनुकूलता पतियों के मस्तिष्क को स्वस्थ रखने में बड़ी सहायक होती है। पत्नी का जीवन प्रार्थनामय यज्ञशील होगा तथा यदि वे बुद्धिपूर्वक कर्मों को करती हुई घर को उत्तम बनायेंगी तो पुरुष स्वस्थ मस्तिष्क होते हुए उत्तम कर्मों को सम्पन्न कर पायेंगे।

भावार्थ—हम क्रियाशील हों, प्रभु की उपासनावाले हों। अनुकूल पत्नियों को पाकर स्वस्थ मस्तिष्क से उत्तम कर्मों को सम्पन्न करनेवाले हों।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

बल-ज्ञान-यज्ञ

उप॑ व ए॒षे वन्द्ये॑भिः शू॒षैः प्र य॒ह्वी दि॒वश्चि॒तय॑द्भिर॒र्कैः।
उ॒षासा॒नक्ता॑ वि॒दुषी॑व॒ विश्व॒मा हा॑ वहतो॒ मर्त्या॑य य॒ज्ञम्॥ ७॥

(१) हे **यह्वी**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **उषासानक्ता**=दिन व रात! मैं **वः**=आपके **उप एषे**=समीप प्राप्त होता हूँ। दिन व रात दो हैं, पर प्रतिदिन आने से यहाँ 'वः' इस बहुवचन का प्रयोग है। मैं इन दिन-रात के समीप **वन्द्येभिः**=वन्दनीय **शूषैः**=बलों के हेतु से प्राप्त होता हूँ। तथा **दिवः**=प्रकाश की **चितयद्भिः**=चेतना देते हुए **अर्कैः**=स्तुति साधन मन्त्रों के हेतु से इन दिन-रात को प्राप्त होता हूँ। अर्थात् मेरा प्रयत्न दिन-रात यही होता है कि मैं प्रशंसनीय बल का सम्पादन कर सकूँ तथा उन स्तुति साधन मन्त्रों का उपासन करूँ जो मेरे जीवन को प्रकाशमय करनेवाले हों। संक्षेप में भाव यही है कि मैं दिन-रात बल व ज्ञान के सम्पादन में प्रसित रहूँ। (२) ये दिन व रात **विदुषी इव**=खूब समझदार युवतियों के समान **ह**=निश्चय से **विश्वं यज्ञम्**=सब यज्ञों को **मर्त्याय**=मनुष्य के लिये **आवहोतः**=प्राप्त कराती हैं। अर्थात् हम इन दिन-रातों में सदा यज्ञशील बनने का प्रयत्न करते हैं। यज्ञशीलता की वृत्ति के लिये ही निरन्तर स्वाध्याय को अपनाते हुए बुद्धि को परिष्कृत करते हैं। समझदार पुरुष अवश्य यज्ञशील होता है।

भावार्थ—हम दिन-रात बल व ज्ञान का सम्पादन करते हुए यज्ञशील बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

यज्ञशीलता का स्वरूप

अ॒भि वो॑ अर्चे पो॒ष्याव॑तो॒ नॄन्वा॒स्तो॒ष्पतिं॒ त्वष्टा॑रं॒ ररा॑णः।
धन्या॑ स॒जोषा॑ धि॒षणा॒ नमो॑भि॒र्वन॒स्पतीँ॒रोष॑धी रा॒य ए॒षे॥ ८॥

(१) गतमन्त्र में संकेतित यज्ञशीलता को ही स्पष्ट करते हुए प्रभु कहते हैं कि मैं **वः**=तुम्हारे में से **पोष्यावतः नॄन्**=पोष्य व्यक्तियों को उत्तम पोषण करनेवाले व्यक्तियों को (मतुप् प्रशंसायाम्) **अभि अर्चे**=आदृत करता हूँ। जो केवल अपना भरण न करके औरों का भी भरण करते हैं वे ही मेरे प्रिय होते हैं। यह केवल अपने लिये न जीना ही वस्तुतः यज्ञशीलता है। इनके लिये **रराणः**=सब आवश्यक पदार्थों को देता हुआ मैं **वास्तोष्पतिम्**=घर के उत्तम रक्षक व **त्वष्टारम्**=निर्माण के कार्यों में लगे हुए पुरुष को मैं आदर देता हूँ। 'वास्तोष्पति व त्वष्टा' बनना ही यज्ञशीलता है। (२) **धन्या**=आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाली, **सजोषाः**=सब के साथ मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्यों को करनेवाली **धिषणा**=बुद्धि **नमोभिः**=नम्रताओं के साथ अथवा प्रभु के प्रति नमस्कार के साथ **वनस्पतीः**=वनस्पतियों को **ओषधीः**=ओषधियों को तथा **रायः**=धनों को **एषे**=प्राप्त करने के लिये होती है। यज्ञशील पुरुष इस बुद्धि को सिद्ध करके वनस्पतियों व ओषधियों का सेवन करता हुआ आवश्यक धनों को भी प्राप्त करता है और उनके द्वारा अपने यज्ञों में प्रगति करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम केवलादी बनकर पोष्य व्यक्तियोंवाले बनें, घर को प्रशस्त बनायें, सदा निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों। बुद्धि का सम्पादन करके वनस्पति व ओषधियों का सेवन करते हुए यज्ञसाधक धनों का भी अर्जन करें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

किनका सम्पर्क?

तुजे नस्तने पर्वताः सन्तु स्वैतवो ये वसवो न वीराः।
पनित आप्त्यो यजतः सदा नो वर्धान्नः शंसं नर्यो अभिष्टौ॥ ९॥

(१) यज्ञशीलता उत्पन्न तभी हो सकती है, यदि बाल्यकाल से ही हमें उत्तम पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त हो। सो प्रार्थना करते हैं कि **नः**=हमारे **तुजे**=पुत्रों के लिये तथा **तने**=पौत्रों के लिये **पर्वताः**=(पर्व पूरणे) जीवन को उत्तमताओं से भरनेवाले आचार्य **स्वैतवः**=स्वयं प्राप्त होनेवाले हों। अर्थात् प्रभु कृपा से हमारे पुत्र-पौत्रों को उत्तम आचार्य प्राप्त हों। वे आचार्य जो कि **न**=जैसे वे **वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले हैं, वैसे ही **वीराः**=वीर हैं। कायर के सम्पर्क में तो वे बालक कायर ही बनेंगे। (२) **पनितः**=(पनितं अस्य अस्तीति) सदा स्तुतिमय जीवनवाला, **आप्त्यः**=सब औचित्यों से युक्त (आप्ति=propriety) **यजतः**=यज्ञशील पुरुष **सदा**=हमेशा **नः**=हमें **वर्धात्**=बढ़ानेवाला हो। इसके सम्पर्क में आकर हम भी ऐसे ही बनें। **नर्यः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला यह व्यक्ति **अभिष्टौ**=वासनारूप शत्रुओं पर आक्रमण के निमित्त **नः शंसम्**=हमारी स्तवन की वृत्ति को बढ़ानेवाला हो। इसके सम्पर्क में हम भी प्रभु के स्तवन करनेवाले बनें और इस प्रकार काम-क्रोध आदि को पराजित कर सकें।

भावार्थ—हमें उन मनुष्यों का सम्पर्क प्राप्त हो जो अपना पूरण करनेवाले हैं, निवास को उत्तम बनानेवाले हैं, वीर हैं, स्तुतिमय जीवनवाले, सब औचित्यों से युक्त व यज्ञशील हैं। इनके सम्पर्क में हम भी यज्ञशील व स्तोता बनें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासना से शक्ति की प्राप्ति व वासना विनाश

वृष्णो अस्तोषि भूम्यस्य गर्भं त्रितो नपातमपां सुवृक्ति।
गृणीते अग्निरेतरी न शूषैः शोचिष्केशो नि रिणाति वना॥ १०॥

(१) मैं **वृष्णः**=उस शक्तिशाली **भूम्यस्य**=होनेवाले प्राणिमात्र के हितकारी (भवति इति भूमिः) प्रभु का **अस्तोषि**=स्तवन करता हूँ। **त्रितः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करनेवाला (त्रीन् तनोति) **गर्भम्**=सब पदार्थों के गर्भ में विचरनेवाले व सब पदार्थों को अपने गर्भ में लेनेवाले प्रभु का **सुवृक्ति**=अच्छी प्रकार सब बुराइयों का वर्जन करनेवाले **गृणीते**=स्तवन को करता है। प्रभु स्तवन से हमारी सब बुराइयों का विनाश होता है। उस प्रभु का यह स्तवन करता है, जो **अपां नपातम्**=(आपः रेतो भूत्वा) इसकी शक्ति का नाश नहीं होने देते। प्रभु-स्तवन से हम वासनाओं को जीतते हैं और वासना-विनाश से शक्ति का संरक्षण होता है। (२) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **न**=जैसे **एतरी**=गतिशील पुरुष में **शूषैः**=शत्रुशोषक बलों के साथ प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार **शोचिष्केशः**=दीप्त ज्ञानरश्मियोंवाले ये प्रभु **वना**=वासनाओं के वनों को, झाड़ी झंकाड़ों को **निरिणाति**=निश्चय से नष्ट कर देते हैं। प्रभु क्रियामय जीवनवाले उपासकों को, स्वकर्मानुष्ठान द्वारा अर्चन करनेवालों को शक्ति प्राप्त कराते हैं और उनकी वासनाओं को विनष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें शक्तिशाली बनाती है और हमारी वासनाओं का विनाश करती है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु-स्तवन व ज्ञानयुक्त ऐश्वर्य

कथा महे रुद्रियाय ब्रवाम कद्राये चिकितुषे भगाय।
आप ओषधीरुत नोऽवन्तु द्यौर्वना गिरयो वृक्षकेशाः॥ ११॥

(१) 'रोरूयमाणो द्रवति' इस व्युत्पत्ति से 'रुद्र' स्तोता है, प्रभु का स्मरण करता हुआ वासनाओं पर आक्रमण करता है। प्रभु इन रुद्रों का हित करनेवाले रुद्रिय हैं। **कथा**=कैसे उस **महे**=महान् **रुद्रियाय**=स्तोताओं का हित करनेवाले प्रभु के लिये **ब्रवाम**=हम स्तुति-वचनों का उच्चारण करें! और **कद्**=कब **चिकितुषे**=ज्ञानवाले **भगाय**=सेवनीय (भज सेवायाम्) **राये**=धन के लिये हों। एक भक्त यही कामना करता है कि मैं शीघ्रातिशीघ्र उस महान् प्रभु का स्तोता बनूँ और उस भजनीय ऐश्वर्य को प्राप्त करूँ जो मेरे ज्ञान के ह्रास का कारण न बनकर, ज्ञानवृद्धि का ही हेतु हो। (२) इस ज्ञानवृद्धिवाली सम्पत्ति के परिणामस्वरूप **आपः**=जल **उत**=और **ओषधीः**=ओषधियाँ **नः**=हमें **अवन्तु**=रक्षित करें। धन के द्वारा हम इन्हें प्राप्त कर सकें और ज्ञान के द्वारा हम इनका उचित ही प्रयोग करें। **द्यौः**=यह आकाश, **वना**=सब वन, तथा **वृक्षकेशाः**=वृक्षों को ही केशों के स्थान में धारण करनेवाले **गिरयः**=ये पर्वत-वृक्षों से आच्छादित अद्रि भी हमारा कल्याण करें। वस्तुतः ज्ञान के होने पर सारा संसार हितकर ही होता है। अज्ञान ही कष्ट का कारण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन से उस ऐश्वर्य को प्राप्त करें जो हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण हो। इस ज्ञान से यह सारा संसार हमारे लिये हितकर हो।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'नीरोग निर्मल शुभ्र' जीवन

शृणोतु न ऊर्जां पतिर्गिरः स नभस्तरीयाँ इषिरः परिज्मा।
शृण्वन्त्वापः पुरो न शुभ्राः परि स्रुचो बबृहाणस्याद्रेः॥ १२॥

(१) **ऊर्जां पतिः**=सब बलों व प्राणशक्तियों का स्वामी वह प्रभु **नः**=हमारी **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **शृणोतु**=सुने। हम उस प्रभु का स्तवन करें। **सः**=वे प्रभु ही **नभः**=(नह् बन्धने) हमारे साथ प्रकृति के बने इस शरीर को बाँधनेवाले हैं। **तरीयान्**=वे (अतिशयेन तारयिता) ही हमें इस भवसागर से तरानेवाले हैं। **इषिरः**=निरन्तर उत्तम मार्ग की प्रेरणा देनेवाले हैं और **परिज्मा**=सर्वत्र गतिवाले हैं। वे ही सब जगह हमारा रक्षण करते हैं। (२) **आपः** (आपो वै नरसूनवः)=सब प्रजाएँ उस **बबृहाणस्य**=सदा से बढ़े हुए, उपासकों का वर्धन करनेवाले, **अद्रेः**=आदरणीय प्रभु की **स्रुचः**=वाणियों को **परिशृण्वन्तु**=समन्तात् सुनें। (वाग्वै स्रुचः शत० ६।३।१।८) सदा प्रभु की प्रेरणाओं को सुननेवाले बनेंगे, तभी वे **पुरः न**=जैसे अपना पालन व पूरण करनेवाले होंगे, उसी प्रकार **शुभ्राः**=अत्यन्त शुद्ध जीवनवाले बन पायेंगे। (पृ पालनपूरणयोः, पिपर्ति इति पुर्) प्रभु की प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए ये शरीर का पालन व मन का पूरण करते हुए शुभ्र जीवनवाले होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें, प्रभु प्रेरणा को सुनें और अपने जीवन को नीरोग, निर्मल व शुभ्र बनायें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दम-शम

वि॒दा चि॒न्नु म॒हान्तो॒ ये व॒ एवा॒ ब्रवा॑म दस्मा॒ वार्यं॒ दधा॑नाः।
वय॑श्च॒न सु॒भ्व१ आव॑ यन्ति क्षु॒भा मर्त॒मनु॑यतं वध॒स्नैः ॥ १३ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे मनुष्यो! ये **वः एवाः**=जो तुम्हारे में से गतिशील हैं, **महान्तः**=पूजा की वृत्तिवाले हैं (मह पूजायाम्), **दस्माः**=वासनाओं का उपक्षय करनेवाले हैं व दर्शनीय जीवनवाले हैं, **वार्यं दधानाः**=वरणीय गुणों को धारण करनेवाले हैं वे **ब्रवाम**=जो कुछ हम कहते हैं उसे **चित् नु**=निश्चय से **विद्**=जानें। (२) प्रभु कहते हैं कि **क्षुभा**=(क्षुभ संचलने) क्षोभयुक्त मन से तथा **वधस्नैः**=वासनाओं द्वारा वध करनेवाली इन्द्रियों से **अनुयतम्**=काबू किये हुए, अर्थात् मन व इन्द्रियों के दास बने हुए **मर्तम्**=मनुष्य को **सुभ्वः**=(सुष्ठुभवन्तः) उत्तम स्थिति के कारणभूत **वयः चन**=मार्ग भी **आ अवयन्ति**=सर्वथा छोड़ जाते हैं। (way=वय् गतौ) मन व इन्द्रियों की दासता सदा पतन का कारण बनती है। (२) प्रभु का सर्वमहान् उपदेश यही है कि इन्द्रियों व मन का दास न बनना। यही तुम्हें महान् बनायेगा। तभी दर्शनीय तुम्हारा जीवन होगा और तुम वरणीय वस्तुओं को धारण करनेवाले बनोगे।

भावार्थ—जो व्यक्ति प्रभु के इस उपदेश को सुनते हैं कि 'इन्द्रियों व मन का दास बननेवाला व्यक्ति मार्गभ्रष्ट हो जाता है' वे गतिशील, महान्, दर्शनीय व वरणीय गुणों को धारण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु का आदेश

आ दैव्या॑नि॒ पार्थि॑वानि॒ जन्मा॒पश्चाच्छा॒ सुम॑खाय वोचम्।
वर्ध॑न्तां॒ द्यावो॒ गिर॑श्च॒न्द्राग्रा॑ उ॒दा व॑र्धन्ताम॒भिषा॑ता॒ अर्णाः॑ ॥ १४ ॥

(१) गतमन्त्र में प्रभु ने कहा था कि 'इन्द्रियों व मन का दास न बनना'। अब प्रभु कहते हैं कि मैं **सुमखाय**=इस उत्तम यज्ञशील पुरुष के लिये **आवोचम्**=सर्वथा कहता हूँ कि **दैव्यानि**=देव सम्बन्धी तथा **पार्थिवानि**=इस पृथिवी सम्बन्धी **जन्म**=शक्तियों के विकासों को तथा **अपः**=उत्तम कर्मों को **अच्छ**=(अभिप्राप्तुम्) प्राप्त करने के लिये यत्नशील हो। पार्थिव शक्तियों के विकास वे हैं जो इहलोक के साथ सम्बद्ध हैं, ये 'अभ्युदय' का कारण बनते हैं। दैव्य विकास वे हैं जो परलोक में निःश्रेयस का कारण होते हैं। दैव्य व पार्थिव विकास क्रमशः ज्ञानजनित पवित्रता व बल अथवा ब्रह्म व क्षत्र का विकास ही है। इस ब्रह्म व क्षत्र का विकास करके सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। (२) प्रभु कहते हैं कि तुम्हारे जीवनों में ये **द्यावः**=प्रकाशमय **गिरः**=ज्ञान की वाणियाँ **वर्धन्ताम्**=वृद्धि को प्राप्त करें, वे ज्ञान की वाणियाँ जो **चन्द्राग्राः**=(चदि आह्लादे) आह्लाद को अपने अग्रभाग में लिये हुए हैं। अर्थात् जिनका आगे चलकर आनन्द प्राप्ति ही परिणाम होता है। सो तुम्हारे जीवनों में **उदा अभिषाताः**=ज्ञानजल से परिपूर्ण (अभि सन्=संभक्त-सेवित-युक्त) **अर्णाः**=ज्ञान-नदियाँ (सरस्वती) **वर्धन्ताम्**=वृद्धि को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु का उपदेश है कि—(क) देव बनो, (ख) शक्ति का वर्धन करो, (ग) उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होवो तथा (घ) अपने जीवन में ज्ञाननदी का प्रवाह करनेवाले बनो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तुति-वेदवाणी=(सरलता)

पदेपदे मे जरिमा नि धायि वरूत्री वा शक्रा या पायुभिश्च।
सिषक्तु माता मही रसा नः स्मत्सूरिभिर्ऋजुहस्त ऋजुवनिः ॥ १५ ॥

(१) प्रभु का उपदेश सुनकर जीव निश्चय करता है कि **पदे पदे**=पग-पग पर **मे**=मेरे से **जरिमा**=स्तुति **निधायि**=अपने में स्थापित की जाती है, मैं सतत स्तुति प्रवृत्त होता हूँ। सब कार्यों को प्रभु-स्तवन के साथ करता हूँ। उस स्तुति को करता हूँ जो **वा**=निश्चय से **वरुत्री**=मेरी सब बुराइओं का निवारण करनेवाली है, **च**=और **या**=जो **पायुभिः**=रक्षणों के द्वारा **शक्रा**=सब मुझे सब उत्तम कर्मों के करने की शक्ति प्राप्त कराती है। स्तुति से जीवन पवित्र होता है और शक्ति-सम्पन्न बनता है। (२) **नः**=हमें यह **माता**=जीवन का निर्माण करनेवाली वेदमाता **सिषक्तु**=प्राप्त हो जो **मही**=पूज्य है, हमारे जीवनों को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली है तथा **रसा**=हमारे जीवनों में रस का सञ्चार करनेवाली है। जो **स्मत्सूरिभिः**=प्रशस्त विद्वानों से हमें प्राप्त होती है (स्मत्=प्रप्रास्तार्थे) तथा **ऋजुहस्ता**=हमारे हाथों को ऋजु बनाती है, अर्थात् जिसको प्राप्त करके हम सरलतायुक्त कर्मों को ही करते हैं, **ऋजुवनिः**=जो हमें आर्जव का सेवन करनेवाला बनाती है, इस वेदवाणी से हमारे हृदय निष्कपट होते हैं। यह आर्जव ही तो ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है। 'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'।

भावार्थ—हम सदा प्रभु-स्मरण के साथ कार्यों को करें, यही पवित्रता व शक्ति प्राप्ति का मार्ग है। हम प्रशस्त विद्वानों से वेदमाता का ज्ञान प्राप्त करें, यह ज्ञान हमें सरल वृत्ति व निष्कपट कर्मोंवाला बनायेगा।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ज्ञान प्राप्ति व प्रभु-स्मरण

कथा दाशेम नमसा सुदानूनेवया मरुतो अच्छोक्तौ प्रश्रवसो मरुतो अच्छोक्तौ।
मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धादस्माकं भूदुपमातिवनिः ॥ १६ ॥

(१) **कथा**=किसी प्रकार हम **नमसा**=नम्रतापूर्वक तथा **एवया**=क्रियाशीलता के साथ (श्रम की वृत्ति के साथ) **सुदानून्**=उत्तम ज्ञानों के देनेवाले **मरुतः अच्छ**=प्राणसाधक पुरुषों के प्रति **उक्तौ**=ज्ञान प्रवचन के निमित्त **दाशेम**=अपने को दे डालें। **प्रश्रवसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **मरुतः अच्छ**=प्राणसाधक पुरुषों के प्रति **उक्तौ**=ज्ञान-प्रवचन के निमित्त अपने को दे डालें। इन पुरुषों के समीप नम्रता व पुरुषार्थ वृत्ति से हम पहुँचेंगे, तो ये हमारे लिये उत्कृष्ट ज्ञान को देनेवाले होंगे। (२) **अहिर्बुध्न्यः**=(बुध्नं=अन्तरिक्षं तत्र भवः, आहन्ति) हृदयान्तरिक्ष में स्थित वासनाओं का विनाशक प्रभु **नः**=ज्ञान प्राप्ति में पूर्ण पुरुषार्थवाले हमको **रिषे**=हिंसा के लिये **मा धात्**=मत धारण करें। ज्ञान को प्राप्त करके हम प्रभु का उपासन करेंगे, तो हम वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचा सकेंगे। ये प्रभु **अस्माकम्**=हमारे **उपमातिवनिः**=शत्रुओं के हिंसक **भूत्**=हों। प्रभु-स्मरण से हम अभिमान आदि शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—हम नम्रतापूर्वक ज्ञानियों के चरणों में उपस्थित होकर श्रम से ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त हों। प्रभु-स्मरण द्वारा वासनाओं व शत्रुओं का संहार कर सकें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वानप्रस्थ बनना

इति चिन्नु प्रजायै पशुमत्यै देवासो वनते मर्त्यो व आ देवासो वनते मर्त्यो वः ।
अत्रा शिवां तन्वो धासिमस्या जरां चिन्मे निर्ऋतिर्जग्रसीत ॥ १७ ॥

(१) हे **देवासः**=देवो! **मर्त्यः**=मनुष्य **नु**=शीघ्र ही **इति चित्**=इस प्रकार **पशुमत्यै**=प्रशस्त गवादि पशुओंवाली **प्रजायै**=उत्तम प्रजा के लिये **वः वनते**=आपका आराधन करता है। **मर्त्यः**=मनुष्य **आ**=समन्तात्, **देवासः**=हे देवो! **वः वनते**=आपका उपासन करता है। सामान्यतः मनुष्य धार्मिक प्रवृत्तिवाला होने पर भी प्रजा व पशुओं में ही उलझा रह जाता है। और प्रभु की उपासना का स्थान उसके जीवन में भिन्न-भिन्न देवों का उपासन ही ले-लेता है। चाहिये तो यह कि हम जीवन-यात्रा में गृहस्थ में उत्तम प्रजाओं का निर्माण करके अब उससे ऊपर उठने का प्रयत्न करें। हमारी वृद्धावस्था भी इस गृहस्थ में ही न समाप्त हो जाये। (२) **अत्रा**=इन पशुओं व प्रजाओं में **अस्याः**=इस **तन्वः**=शरीर के **शिवां धासिम्**=कल्याणकर धारण को तथा **मे जरां चित्**=मेरी प्रभु स्तुति को भी (जरा-स्तुति नि० १०।८) **निर्ऋतिः**=दुर्गति ने ग्रस लिया है। हम जीवन के अन्त तक पुत्र-पौत्रों में ही उलझे रहेंगे तो यह कल्याण का मार्ग नहीं है। गृहस्थ से ऊपर उठकर हमें वनस्थ होना ही चाहिए और सतत प्रभु स्मरण के आनन्द को लेने का प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रभु-स्मरण हमें सशक्त व स्वस्थ शरीरवाला बनाकर लोकहित के कार्यों को करने के योग्य बनायेगा।

भावार्थ—हम देवों से प्रजा व पशु ही जन्म भर न माँगते रह जायें। गृहस्थ को भली-भान्ति निभाकर वनस्थ हों। प्रभु-स्मरण से अपने को सशक्त बनाकर लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमति व वेदवाणी की ओर

तां वो देवाः सुमतिमूर्जयन्तीमिषमश्याम वसवः शसा गोः ।
सा नः सुदानुर्मृळयन्ती देवी प्रति द्रवन्ती सुविताय गम्याः ॥ १८ ॥

(१) हे **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! हम **वः**=आपकी **ताम्**=उस **सुमतिम्**=कल्याणीमति को **अश्याम**=प्राप्त करें तथा **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले देवो! **गोः शसा**=इस वेदवाणी के शंसन के साथ प्रतिदिन इसके अध्ययन के साथ **ऊर्जयन्तीम्**=हमारे में बल व प्राणशक्ति का संचार करनेवाली **इषम्**=प्रेरणा को प्राप्त करें (अश्याम)। (२) **सा**=वह वेदवाणीरूप गौ **नः**=हमारे लिये **सुदानुः**=अच्छी प्रकार बुराइयों का नाश करनेवाली हो (दाप् लवने), **मृडयन्ती**=यह हमारे जीवनों को सुखी करनेवाली हो **देवी**=यह सब प्रकाशों को प्राप्त करानेवाली वेदवाणी **प्रतिद्रवन्ती**=प्रतिदिन हमारी ओर आती हुई अथवा वासनाओं पर आक्रमण करती हुई **सुविताय**=सुवित के लिये, सदाचरण के लिये, सदा शुभ मार्ग पर चलाने के लिये **गम्याः**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—हम देवों की कल्याणी मति को प्राप्त करें। ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त होकर प्रभु प्रेरणा से बल प्राप्त करें। यह ज्ञानवाणी हमें अशुभ से हटाकर शुभ में प्रवृत्त करे और इस प्रकार हमारे लिये कल्याणकर हो।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

बृहद्दिवा उर्वशी

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः॥ १९॥

(१) **इडा**=यह वेदवाणी **नः**=हमारे लिये **अभिगृणातु**=प्रातः-सायं ज्ञानोपदेश करनेवाली हो। हम दोनों समय स्वाध्याय को अवश्य करें। यह **यूथस्य माता**=हमारे इन्द्रिय समूह का निर्माण करनेवाली है। हमारी सब इन्द्रियों को **स्मत् नदीभिः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियों से **वा उर्वशी**=निश्चय से खूब ही वश में करनेवाली है। (२) यह **उर्वशी**=हमारी इन्द्रियों को वश में करनेवाली वेदवाणी **वा**=निश्चय से **बृहद्दिवा**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान के प्रकाशवाली है। **गृणाना**=हमारे लिये ज्ञानोपदेश करती हुई यह **प्रभृथस्य**=गृहस्थ से ऊपर उठकर, वनस्थ की साधना करके, सन्यस्त होकर, प्रकृष्ट भरण के कार्य में लगे हुए **आयोः**=निरन्तर गतिशील इस परिव्राजक की **अभ्यूर्ण्वाना**=आच्छादन करनेवाली यह वेदवाणी है। यह वेदवाणी ही संन्यस्त पुरुष का रक्षण करती है।

भावार्थ—वेदवाणी हमारी इन्द्रियों का उत्तम निर्माण करती है। यह हमारा आच्छादन करती हुई बुराइयों से हमें आक्रान्त नहीं होने देती। इसके द्वारा हम इन्द्रियों को वशीभूत कर पाते हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—याजुषीपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ऊर्जव्य पुष्टि

सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः॥ २०॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित वेदवाणी **नः**=हमारे साथ **ऊर्जव्यस्य**=बल व प्राणशक्ति सम्पन्न **पुष्टेः**=पोषण का **सिषक्तु**=मेल करनेवाली हो। निरन्तर वेदवाणी को अपनाने से विषय वासनाओं से बचे रहकर हम 'स्वस्थ, सबल व सुन्दर' जीवनवाले बने रहें। (२) गतमन्त्र के अनुसार यह हमारे सब यूथों का निर्माण करनेवाली हो। अन्नमयकोश के पंचतत्त्वों को ठीक रखे, प्राणमयकोश के पंच प्राणों को प्रबल बनाये, पाँचों कर्मेन्द्रियों, व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को कार्यक्षम करे। तथा 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' सब को निर्मल करनेवाली हो। इस प्रकार यह हमारा ठीक पोषण करनेवाली, वास्तविक माता हो।

भावार्थ—हम वेदमाता का उपासन करें। यह हमारा उत्तम पोषण क्यों न करेगी?

अगले सूक्त में भी अत्रि ही प्रार्थना करते हैं कि—

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणी का जीवन पर क्या प्रभाव है?

प्र शन्तमा वरुणं दीधिती गीर्मित्रं भगमदितिं नूनमश्याः।
पृषद्योनिः पञ्चहोता शृणोत्वतूर्तपन्था असुरो मयोभुः॥ १॥

(१) यह **शन्तमा**=अत्यन्त शान्ति को देनेवाली **दीधिती**=(bodily lustre, strength) तेजस्विता के साथ **गीः**=ज्ञान की वाणी **नूनम्**=निश्चय से **वरुणम्**=द्वेष के निवारण करनेवाले पुरुष को **प्र अश्याः**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। **मित्रम्**=सब के प्रति स्नेहवाले को यह प्राप्त हो। **भगम्**=भजनीय

(सेवनीय) धनवाले को यह प्राप्त हो। **अदितिम्**=(अ-दिति) व्रतों के न तोड़नेवाले, व्रतों का पालन करनेवाले को यह प्राप्त हो। यदि हम ज्ञान की वाणी को प्राप्त करना चाहते हैं तो जीवन में 'निर्द्वेष्यता, मित्रता, पवित्र धन तथा व्रतपालन' की साधना करें। ये बातें हमें अधिकाधिक ज्ञान का पात्र बनायेंगी। (२) **पृषद्योनिः**=(पृषु सेचने) सोम के उत्पत्ति स्थान (योनि) इस शरीर को जो इस सोम से सिक्त करता है, इस सोम को विनष्ट नहीं होने देता, **पञ्चहोता**=जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानयज्ञ को करता है, **अतूर्तपन्थाः**=जो मार्ग को हिंसित नहीं करता, अर्थात् सदा मार्ग पर चलता है **असुरः**=(असु क्षेपणे) वासनाओं को अपने से परे फेंकता है, **मयोभुः**=सब के कल्याण को करनेवाला बनता है, वह इस वेदवाणी को **शृणोतु**=सुने। ज्ञान की वाणियों को सुननेवाला इस प्रकार का बनता है, यह सोम का रक्षण करता है, इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानयज्ञ में प्रवृत्त रहती हैं, मार्ग से यह विचलित नहीं होता, प्राणशक्ति-सम्पन्न व वासनाओं को परे फेंकनेवाला बनता है और सभी के कल्याण में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—वेदवाणी हमारे जीवन को शान्त व शक्तिमय बनाती है। यह हमें 'निर्द्वेषता, मित्रता, पवित्र धन व व्रतपालन' वाला करती है। इससे हम सोमरक्षण करते हुए, ज्ञान में प्रवृत्त होकर, मार्ग पर चलते हुए, शक्ति-सम्पन्न व सबका कल्याण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्तोम व ब्रह्म' का अदिति द्वारा ग्रहण

प्रति मे स्तोममदितिर्जगृभ्यात्सूनुं न माता हृद्यं सुशेवम्।
ब्रह्म प्रियं देवहितं यदस्त्यहं मित्रे वरुणे यन्मयोभु॥ २॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **मे स्तोमम्**=मेरे स्तवन को **अदितिः**=(अ-दिति) व्रतों को न तोड़नेवाला, व्रतपालन करनेवाला व्यक्ति **प्रति जगृभ्यात्**=प्रतिदिन ग्रहण करे। इस प्रकार ग्रहण करे, **न**=जैसे कि **माता सूनुम्**=माता पुत्र को प्रेम से ग्रहण करती है। यह स्तोम उसके लिये **हृद्यम्**=हृदय के लिये प्रीतिकर हो तथा **सुशेवम्**=उत्तम कल्याण करनेवाला हो। वस्तुतः व्रतमय जीवनवाला पुरुष प्रतिदिन प्रभु-स्तवन करता है और अपने अन्दर आनन्द का अनुभव करता है। (२) **यत्**=जो **प्रियम्**=प्रीति को करनेवाला, प्रसन्नता को जन्म देनेवाला, **देवहितम्**=देवों के लिये हितकर, **अहम्**=व्यापक, (सब लोकों में इसी वेदज्ञान का प्रकाश प्रभु ने किया है, सो यह व्यापक तो है ही) यह वेदज्ञान **अस्ति**=है, और **यत्**=जो **मित्रे वरुणे**=सब के प्रति स्नेहवाले निर्द्वेष पुरुष में **मयोभु**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाला है, उस वेदज्ञान को यह व्रतमय जीवनवाला पुरुष ग्रहण करे।

भावार्थ—हम व्रतमय जीवनवाले बनकर प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन करें और ज्ञान को ग्रहण करनेवाले बनें। स्तवन व ज्ञान ही हमारे लिये सुख व कल्याण को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण-माधुर्य व ज्ञानदीप्ति

उदीरय कवितमं कवीनामुनत्तैनमभि मध्वा घृतेन।
स नो वसूनि प्रयता हितानि चन्द्राणि देवः सविता सुवाति॥ ३॥

(१) **कवीनां कवितमम्** (गुरूणां गुरुं)=ज्ञानियों में सर्वातिशायी ज्ञानवाले प्रभु को **उदीरय**=उच्चारित करो। प्रभु के नामों का उच्चारण करो, उन्हीं का भावन करो। **एनम्**=इस

शरीर को **मध्वा**=माधुर्य से तथा **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति से **अभि उनत्त**=अच्छी प्रकार सिक्त करो। संक्षेप में, प्रभु का स्मरण करो और जीवन को मधुर व ज्ञानदीप्त बनाओ। (२) ऐसा करने पर **सः**=वह **सविता देवः**=सब का प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **नः**=हमारे लिये **वसूनि**=उन धनों को **सुवाति**=उत्पन्न करते हैं, जो **प्रयता**=पवित्र हैं, पवित्र साधनों से कमाये गये हैं, **हितानि**=हितकर हैं, **चन्द्राणि**=आह्लाद को देनेवाले हैं। ये धन हमारे जीवन में उन्नति के लिये साधनभूत होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरणपूर्वक जीवन को मधुर व ज्ञानदीप्त बनाने के लिये यत्नशील हों प्रभु हमारे लिये आवश्यक धनों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रशस्त मन व इन्द्रियाँ तथा ज्ञानियों का संग

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सं सूरिभिर्हरिवः सं स्वस्ति।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमत्या यज्ञियानाम्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **मनसा**=उत्तम मननशील अन्तःकरण से **संनेषि**=संगत करते हैं, **गोभिः**=ज्ञानेन्द्रियों से युक्त करते हैं। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **सूरिभिः**=ज्ञानी पुरुषों से **सम्**=हमें संगत करते हैं और इस प्रकार उनके द्वारा ज्ञान को प्राप्त कराके **स्वस्ति**=कल्याणों से **सम्**=हमें संगत करते हैं। मन व इन्द्रियाँ उत्तम हों तथा ज्ञानियों का सम्पर्क प्राप्त हो जाए, तो ज्ञान प्राप्त होकर हमारा कल्याण क्यों न होगा? (२) हे प्रभो! हमें उस **ब्रह्मणा**=वेदज्ञान से **सम्**=संगत करिये **यत्**=जो **देवहितं अस्ति**=देवों के लिये हितकर है अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि, वायु, रवि व अंगिरा' नाम ऋषियों के हृदय में आपके द्वारा स्थापित किया गया है। हमें **यज्ञियानाम्**=यज्ञशील **देवानाम्**=विद्वानों की **सुमत्या**=कल्याणीमति से **सम्**=संगत करिये। इस शुभ बुद्धि को प्राप्त करके ही हम वेदज्ञान को प्राप्त करेंगे और तदनुकूल जीवन बिताते हुए कल्याण को प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारा मन उत्तम हो, इन्द्रियाँ प्रशस्त हों। विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो। यज्ञशील विद्वानों की सुमति को प्राप्त करके हम ज्ञानयुक्त बनें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों का धारण

देवो भगः सविता रायो अंश इन्द्रो वृत्रस्य संजितो धनानाम् ।
ऋभुक्षा वाज उत वा पुरन्धिरवन्तु नो अमृतासस्तुरासः॥ ५॥

(१) **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला **भगः**=सेवनीय धन का स्वामी, **सविता**=उत्पादक, **रायः अंशः**=धन का विभक्ता, **वृत्रस्य इन्द्रः**=वासना का संहार करनेवाला (इनः सन् द्रावयति) ये सब **नः**=हमारे लिये **धनानां सञ्जितः**=धनों के विजेता हों, अर्थात् हम 'देव' आदि को अपने में धारण करके धनों का विजय करें। इन धनों को हम विभक्त करनेवाले हों, ताकि ये धन हमें वासनाओं में फँसाकर हमारा विनाश का कारण न बन जायें। सदा उत्तम मार्ग से ही, पुरुषार्थ से ही, धनों को कमायें। (२) **ऋभुक्षाः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाला **वाजः**=शक्तिशाली, **उत वा**=तथा **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धिवाला ये सब **नः अवन्तु**=हमारा रक्षण करें। **अमृतासः**=ये हमारे अमृतत्त्व (नीरोगता) का कारण बनें और **तुरासः**=हमारे वासनारूप शत्रुओं का संहार करनेवाले हों। हम 'ऋभुक्षा, वाज व पुरन्धि' बनकर अपने को नीरोग व वासना शून्य हृदयोंवाला

बना पायें।

भावार्थ—हम 'प्रकाशमयता, ऐश्वर्य, निर्माण, धन संविभाग व वासना-विनाश' आदि गुणों का धारण करें। सदा ज्ञानदीप्ति में निवास करें, शक्तिशाली बनें, पालक व पूरक बुद्धिवाले हों। नीरोग व वासना रहित बनें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अद्वितीय प्रभु' का स्मरण

मरुत्वतो अप्रतीतस्य जिष्णोरजूर्यतः प्र ब्रवामा कृतानि।
न ते पूर्वे मघवन्नापरासो न वीर्यं नूतनः कश्चनाप॥ ६॥

(१) **मरुत्वतः**=(मरुतः प्राणाः) सब प्राणों की शक्ति के स्वामी, **अप्रतीतस्य**=कभी भी शत्रुओं से अनाक्रान्त, **जिष्णोः**=सदा जयशील, **अजूर्यतः**=कभी जीर्ण न होनेवाले, हे प्रभो! आपके **कृतानि**=लोक निर्माण आदि कार्यों का **प्रब्रवाम**=हम सदा प्रतिपादन करें। आपके इन महान् कार्यों का स्मरण करते हुए हम आपकी महिमा को सर्वत्र देखने का प्रयत्न करें और आपके प्रति श्रद्धान्वित हो आपका उपासन करें। (२) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् **न**=न तो **पूर्वे**=पूर्वकालीन सृष्टि में होनेवाले कोई व्यक्ति **न अपरासः**=नां ही इस अपर सृष्टि में होनेवाले कोई व्यक्ति **न**=नां ही **नूतनः कश्चन**=आगे आनेवाली सृष्टियों में होनेवाला नया कोई व्यक्ति **ते वीर्यं आप**=आपके पराक्रम को पा सकता है। अर्थात् आपके समान पराक्रमवाला न कोई हुआ, न है और न होगा।

भावार्थ—प्रभु के कर्म महान् हैं। वे अनुपम पराक्रमवाले हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तुवते शंभविष्ठः

उप स्तुहि प्रथमं रत्नधेयं बृहस्पतिं सनितारं धनानाम्।
यः शंसते स्तुवते शंभविष्ठः पुरूवसुरागमज्जोहुवानम्॥ ७॥

(१) हे उपासक! तू **उपस्तुहि**=उस प्रभु का स्तवन कर। जो **प्रथमम्**=(प्रथविस्तारे) निरतिशय विस्तारवाले सर्वव्यापक हैं, **रत्नधेयम्**=सब रमणीय पदार्थों के धारण करनेवाले हैं, **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी हैं तथा **धनानां सनितारम्**=सब धनों के देनेवाले हैं। (२) उस प्रभु का तू स्तवन कर जो **शंसते**=(शंस् to hurt) वासनाओं का विनाश करनेवाले और अतएव **स्तुवते**=प्रभु-स्तवन करनेवाले के लिये **शम्भविष्ठः**=अधिक से अधिक शान्ति को देनेवाले हैं। ये **पुरुवसुः**=पालक व पूरक धनोंवाले प्रभु **जोहुवानम्**=निरन्तर पुकारनेवाले को **आगमत्**=प्राप्त होते ही हैं। प्रभु अपने उपासक को सब पालक व पूरक धनों की प्राप्ति कराते हैं। प्रभु का उपासक योगक्षेम की कमीवाला नहीं होता।

भावार्थ—हम अपने कर्मों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें सब आवश्यक धन व शान्ति प्राप्त करायेंगे। प्रभु से दूर होने पर इन धनों में शान्ति नहीं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दानशीलता व धन्यता

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः॥ ८॥

(१) हे **बृहस्पते**=सब आकाशादि बड़े-बड़े लोकों के स्वामिन् (बृहतां पतिः) प्रभो! **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों से **सचमानाः**=संगत हुए-हुए पुरुष **अरिष्टाः**=रोगों व वासनाओं से हिंसित नहीं होते, **मघवानः**=(मघ, मख) ये यज्ञशील होते हैं, **सुवीराः**=उत्तम वीर होते हैं। (२) आपकी उपासना के परिणामस्वरूप **ये**=जो पुरुष यज्ञशील बनकर **अश्वदाः**=अश्वों के देनेवाले होते हैं, **उत वा**=अथवा **गोदाः**=प्रशस्त गौवों को देनेवाले होते हैं, **ये**=जो **वस्त्रदाः**=वस्त्रों का दान करते हैं, **तेषु**=उन पुरुषों में **रायः**=ऐश्वर्य **सुभगाः**=उत्तम भाग्य का कारण बनते हैं। इन दानशील पुरुषों के जीवन धनों से धन्य बनते हैं। धन इनके सौभाग्य को बढ़ानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर अश्व, गो, वस्त्र दान कर सौभाग्यशाली बनें

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्मद्विष की दुर्गति

विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः।
अपव्रतान्प्रसवे वावृधानान् ब्रह्मद्विषः सूर्याद्यावयस्व ॥ ९ ॥

ये=जो मनुष्य **नः**=हमारे **उक्थैः**=स्तुति वचनों से प्रेरित होकर भी **अपृणन्तः**=सन्तुष्ट न होते हुये स्वयं ही **भुञ्जते**=भोगते हैं। **एषाम्**=ऐसे मनुष्यों के **वित्तम्**=धन को **विसर्माणम्**=विनाश **कृणुहि**=कर। **प्रसवे**=तेरे शासन में भी **अपव्रतान्**=व्रत से रहितों को **वावृधानान्**=बढ़ते हुओं को **ब्रह्मद्विषः**=वेद विरोधियों को **सूर्यात्**=सूर्य प्रकाश ज्ञान से **यवयस्व**=दूर कर।

भावार्थ—हम व्रती बनकर बाँटकर खायें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देववीत बनें

य ओहते रक्षसो देववीतावचक्रेभिस्तं मरुतो नि यात।
यो वः शमीं शशमानस्य निन्दात्तुच्छ्यान्कामान्करते सिष्विदानः ॥ १० ॥

हे **मरुतः**=मनुष्यो! **यः**=जो **देववीतौ**=विद्वानों से व्याप्त किया **रक्षसः**=दुष्ट प्रवृति के मनुष्यों को **ओहते**=प्राप्त करता है **यः**=जो **वः**=तुम्हारी **शशमानस्य**=प्रशंसित **शमीम्**=कामों की **निन्दात्**=निन्दा करे **सिष्विदानः**=व्यर्थ संलग्न हुआ **तुच्छ्यान्**=तुच्छ विचारवालों के **कामान्**=कामनाओं को **करते**=करे **तम्**=उसके **अचक्रेभिः**=चक्र (पदक) से रहित **नि यात**=निश्चित प्राप्त करे।

भावार्थ—जो विद्वानों के कामों की निन्दा करे उसको पद से हटा देना चाहिए।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्विषुः सुधन्वा' प्रभु

तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य ॥ ११ ॥

(१) **तं उ**=उस प्रभु को ही **ष्टुहि**=तू स्तुत कर, उस प्रभु का ही स्तवन करनेवाला बन, **यः**=जो **स्विषुः**=उत्तम वाणोंवाला व **सुधन्वा**=उत्तम धनुष्वाला है। जो उत्कृष्ट अस्त्रों को प्राप्त कराके हमें शत्रुओं के विजय के योग्य बनाता है। वस्तुतः हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणाएँ ही उत्तम बाण हैं, प्रभु का 'ओ३म्' नाम ही धनुष है 'प्रणवो धनुः'। इनके द्वारा हम सब वासनारूप शत्रुओं

का पराजय कर पाते हैं। (२) उस प्रभु का स्तवन कर **यः**=जो **विश्वस्य**=सब **भेषजस्य**=रोगों के औषध के **क्षयति**=ऐश्वर्यवाले हैं। वस्तुतः प्रभु नाम-स्मरण ही सब रोगों का औषध बन जाता है। जिस समय एकाग्रता से प्रभु नाम-स्मरण चलता है उस समय रोग तो भाग ही जाते हैं। (३) **महे सौमनसाय**=महान् सौमनस्य के लिये मनः प्रसाद की प्राप्ति के लिये **रुद्रं यक्ष्वा**=उस सब रोगों का द्रावण करनेवाले प्रभु की उपासना कर। प्रभु का सम्पर्क चित्तशुद्धि के द्वारा सौमनस्य का साधन बनता है। **नमोभिः**=नमन के द्वारा **असुरम्**=(असु क्षेपणे) सब वासनाओं का विक्षेपण करनेवाले **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **दुवस्य**=तू पूजनेवाला बन। प्रभु का पूजन तेरे समीप वासनाओं को न आने देगा।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन ही हमें सब रोगों व वासनाओं से बचाकर मनःप्रसाद प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के यथार्थ पूजक

दमूनसो अपसो ये सुहस्ता वृष्णः पत्नीर्नद्यो विभ्वतष्टाः।
सरस्वती बृहद्दिवोत राका दशस्यन्तीर्वरिवस्यन्तु शुभ्राः॥ १२॥

(१) **वरिवस्यन्तु**=प्रभु का पूजन तो ये करते हैं जो (क) **दमूनसः**=दान्त मनवाले हैं या दमनयुक्त मनवाले हैं, (ख) **अपसः**=कर्मशील हैं, **सुहस्ताः**=कर्मों को कुशलता से करनेवाले हैं, अनाड़ीपन से करनेवाले नहीं। (ग) **वृष्णः पत्नीः**=जो शक्तिशाली पुरुष की पत्नी हैं, अर्थात् जो अपने अवासनात्मक व्यवहार से पति को सशक्त बनाये रखती हैं। **नद्यः**=स्तवन की वृत्तिवाली हैं (नद् शब्दे) **विभ्वतष्टाः**=कुछ उदार हृदय से कार्यों को करनेवाली हैं (तक्ष् धातु से तष्टं) संकुचित हृदयवाली नहीं हैं। (२) वे पत्नियाँ प्रभु की पूजिका हैं जो (घ) **बृहद् दिवः**=बहुत प्रकाशवाली **सरस्वती**=वाग्देवी ही हैं, अर्थात् जिनके सब शब्द समझदारी का परिचय देते हैं। **उत**=और (ङ) **राका**=पूर्ण चन्द्रवाली रात्रि के समान सदा **दशस्यन्तीः**=प्रकाश को देनेवाली हैं और **शुभ्राः**=अत्यन्त शुभ्र जीवनवाली हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमारे जीवन को दान्तमनवाला व कुशलता से कार्यों को करनेवाला बनाती है। उपासना करनेवाली पत्नी का जीवन वासनाशून्य, उदार, प्रकाशमय व शुभ्र होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मेधा-ज्ञान की वाणी

प्र सू महे सुशरणाय मेधां गिरं भरे नव्यसीं जायमानाम्।
य आहना दुहितुर्वक्षणासु रूपा मिनानो अकृणोदिदं नः॥ १३॥

(१) उस **महे**=महान् **सुशरणाय**=उत्तम रक्षक प्रभु की प्राप्ति के लिये मैं **मेधाम्**=बुद्धि को जो **नव्यसी जायमानाम्**=दिन ब दिन अधिक स्तुत्य होती जाती हैं अथवा 'नव नव उन्मेषशालिनी' है तथा **गिरे**=इस वेदवाणीरूप ज्ञानवाणी को **प्र सु भरे**=खूब अच्छी प्रकार अपने अन्दर भरता हूँ। इस मेधा व इन ज्ञानवाणियों से ही तो मैं प्रभु का दर्शन कर पाऊँगा। (२) उस प्रभु की प्राप्ति के लिये मैं अपने में मेधा का धारण करता हूँ **यः**=जो **आहनाः**=वासनाओं के आहन्ता (विनाशक) होते हुए **दुहितुः**=इस प्रपूरिका वेदवाणी की **वक्षणासु**=वृद्धियों में पर **रूपा मिनानः**=हमारे

उत्तम रूपों का निर्माण करने के हेतु से **इदं**=इस जगत् को **नः**=हमारे लिये **अकृणोत्**=करते हैं। प्रभु ने यह सृष्टि इसी उद्देश्य से बनायी है कि जीव इसमें आकर, सब साधनों से सम्पन्न होकर, वासनाओं में न फँसे और वेदज्ञान का अपने में वर्धन करता हुआ उत्कृष्टरूपवाले जीवन का निर्माण करे।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम बुद्धि का सम्पादन करके ज्ञान को प्राप्त करें। प्रभु यह संसार इसीलिए बनाते हैं कि हम वेदज्ञान को अपने अन्दर भरते हुए दिन व दिन उत्कृष्टरूप युक्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अन्तर्जगत् व बाह्यजगत्' में प्रभु की गर्जना

प्र सुष्टुतिः स्तनयन्तं रुवन्तमिळस्पतिं जरितर्नूनमश्याः।
यो अब्दिमाँ उदनिमाँ इयर्ति प्र विद्युता रोदसी उक्षमाणः॥ १४॥

(१) हे **जरितः**=स्तोतः! **नूनम्**=निश्चय से तेरी **सुष्टुतिः**=उत्तम स्तुति उस प्रभु को **प्र अश्याः**=प्रकर्षेण व्याप्त करे, अर्थात् तू उस प्रभु का स्तवन करनेवाला बन जो **स्तनयन्तम्**=तेरे हृदयान्तरिक्ष में 'ऋग्, यजु, सामरूप' तीन वाणियों का गर्जन कर रहे हैं 'तिस्रो वाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत्'। **रुवन्तम्**=जो तुझे निरन्तर ज्ञानोपदेश दे रहे हैं (रु शब्दे) **इडस्पतिम्**=जो ज्ञान की वाणियों के स्वामी हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **अब्दिमान्**=इस बाह्य अन्तरिक्ष में मेघोंवाले हैं, **उदनिमान्**=जलोंवाले हैं तथा **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **विद्युता**=विशिष्ट दीप्ति से **उक्षमाणः**=सिक्त से करते हुए **प्र इयर्ति**=प्रकर्षेण गति कर रहे हैं। प्रभु हृदयान्तरिक्ष को ज्ञान की वाणियों से दीप्त करते हैं और बाह्य अन्तरिक्ष को सूर्य आदि की दीप्ति से दीप्त कर रहे हैं। क्या अन्दर क्या बाहिर है सर्वत्र प्रभु की दीप्ति। इस दीप्ति को इस रूप में देखनेवाला ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयान्तरिक्ष में ज्ञान की वाणियों का गर्जन कर रहे हैं। बाह्य अन्तरिक्ष में बादलों व विद्युत् की गर्जना को कर रहे हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना का महत्त्व

एष स्तोमो मारुतं शर्धो अच्छा रुद्रस्य सूनूँर्युवन्यूँरुदश्याः।
कामो राये हवते मा स्वस्त्युप स्तुहि पृषदश्वाँ अयासः॥ १५॥

(१) **एषः**=यह **स्तोमः**=मेरे से किये जानेवाला स्तुति समूह **मारुतं शर्धः अच्छा**=प्राणों के बल की ओर **उद् अश्याः**=उत्कर्षेण प्राप्त हो। 'मरुत्' प्राण हैं, 'प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान' आदि नामों से प्रसिद्ध इन प्राणों का सैन्य है। मैं इनका स्तवन करूँ, अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला बनूँ। उन प्राणों की साधना करूँ जो **रुद्रस्य सूनून्**=उस रुद्र के पुत्र हैं, वस्तुतः सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले प्रभु (रुद्र) इन प्राणरूप पुत्रों के द्वारा ही हमारे रोगों का द्रावण करते हैं। **युवन्यून्**=ये प्राण सब बुराइयों को हमारे से पृथक् करनेवाले हैं और अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं। (२) **कामः**=यह इच्छा, **मा**=मुझे राये **हवते**=धन के लिये पुकारती है, अर्थात् मेरा मन बारम्बार इस धन की ओर ही भागता है। **स्वस्ति**=मेरा कल्याण हो। सो हे मेरे मन! तू **पृषदश्वान्**=(पृषु सेचने) शक्ति के द्वारा इन्द्रियाश्वों को सिक्त करनेवाले **अयासः**=निरन्तर गतिशील इन मरुतों की ही **उपस्तुहि**=स्तुत कर। इनकी साधना ही अन्ततः कल्याण करनेवाली

है। सांसारिक धन्धों में उलझकर हम प्राणसाधना रूप अध्यात्म उन्नति के मार्ग से विचलित न हो जाएँ।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए (क) इन्द्रियों को सशक्त बनाएँ, (ख) खूब स्फूर्तिमय जीवनवाले हों, (ग) बुराइयों को दूर कर अच्छाइयों से अपने को युक्त करें कहीं धन के धन्धे में उलझकर प्राणसाधना को न छोड़ दें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुर्मति से दूर

प्रैष स्तोमः पृथिवीमन्तरिक्षं वनस्पतीँरोषधी राये अश्याः।
देवोदेवः सुहवो भूतु मह्यं मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात्॥ १६॥

(१) **एषः स्तोमः**=यह मेरा स्तवन **पृथिवीं अन्तरिक्षम्**=पृथिवी व अन्तरिक्ष को **प्र अश्याः**=प्रकर्षेण व्याप्त करे। मैं सब अन्नों की दात्री इस पृथिवी के महत्त्व को समझूँ। जलवर्षण के द्वारा अन्नों के उत्पादक अन्तरिक्ष के महत्त्व को भी समझूँ। मेरा यह स्तोम **वनस्पतीन्**=वनस्पतियों को और **ओषधीः**=ओषधियों को व्याप्त करे। मैं इन वनस्पतियों व ओषधियों के महत्त्व को समझकर, इनका ठीक प्रयोग करता हुआ **रथे**=ऐश्वर्य के लिये होऊँ। इन सब चीजों के ठीक प्रयोग पर ही स्वास्थ्यरूप आन्तर सम्पत्ति व बाह्य सम्पत्ति निर्भर है। (२) **देवः देवः**=सृष्टि का प्रत्येक देव **मह्यम्**=मेरे लिये **सुहवः भूतु**=सुगमता से पुकारने योग्य हो। इन देवों की उचित आराधना से मेरा जीवन 'सत्य, शिव व सुन्दर' बने। यह **माता पृथिवी**=सब अन्नों के देनेवाली मातृस्थानापन्न पृथिवी **नः**=हमें **दुर्मतौ**=दुर्मति में **मा धात्**=मत धारण करे। इससे प्राप्त अन्नों का ठीक प्रयोग करते हुए हम सुमतिवाले ही हों।

भावार्थ—हम पृथिवी अन्तरिक्ष, वनस्पति, ओषधि व अन्य सब सृष्टि के देवों की महिमा को समझते हुए इनके ठीक प्रयोग से ऐश्वर्यशाली बनें व सुमति-सम्पन्न हों।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**याजुषीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विशाल अनिबाध जीवन

उरौ देवा अनिबाधे स्याम॥ १७॥

(१) हे **देवाः**=सृष्टि के सब देवो! गतमन्त्र के अनुसार हम सब देवों का स्तवन करते हुए **उरौ**=विशाल **अनिबाधे**=बाधारहित जीवनमार्ग में **स्याम**=हों। इस 'उरु अनिर्बाध' मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते हुए हम लक्ष्य-स्थान पर पहुँचे। (२) 'वासनाओं की बाधा का न होना' ही उन्नति का मार्ग है।

भावार्थ—हमारा जीवन विशालता को लिये हुए हो, वासनाओं की बाधा से रहित हो।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना के लाभ

समश्विनोरवसा नूतनेन मयोभुवा सुप्रणीती गमेम।
आ नो रयिं वहतमोत वीराना विश्वान्यमृता सौभगानि॥ १८॥

(१) प्राणसाधना को करते हुए हम **अश्विनोः**=प्राणापान के **अवसा**=रक्षण से **संगमेम**=संगत हों, हमें प्राणापान द्वारा किया जानेवाला रक्षण प्राप्त हो। जो रक्षण **नूतनेन**=अत्यन्त नवीन व स्तुत्य

है (नु स्तुतौ), **मयोभुवा**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाला है तथा **सुप्रणीती**=उत्तम मार्ग से हमें ले चलनेवाला है। प्राणसाधक पुरुष कुमार्ग से न गति करके सदा सुमार्ग से चलता है। (२) हे प्राणापानो! आप हमारा सुप्रणयन करते हुए **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=धन को **आवहतम्**=प्राप्त कराइये। **उत**=और **वीरान्**=वीर सन्तानों को **आ** (वहतम्)=प्राप्त कराइये। **विश्वानि**=सब **अमृता**=नीरोगताओं को **आ**=प्राप्त कराइये तथा **सौभगानि**=सब सौभाग्यों से हमारे जीवनों को युक्त करिये।

भावार्थ—प्राणसाधना के फलस्वरूप हम सुमार्ग से चलते हुए 'धन, उत्तम सन्तान, नीरोगता व सौभाग्य' को प्राप्त करेंगे।

'अत्रि' ही प्रार्थना करते हैं—

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान धेनुएँ

आ धेनवः पयसा तूर्ण्यर्था अमर्धन्तीरुप नो यन्तु मध्वा।
महो राये बृहतीः सप्त विप्रो मयोभुवो जरिता जोहवीति॥ १॥

(१) ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणियाँ ही यहाँ धेनुएँ हैं। सात छन्दों में इनके मन्त्र हैं, सो इन्हें **'सप्त'**=सात संख्यावाला कहा है। ये **मध्वा पयसा**=मधुर ज्ञानदुग्ध से **तूर्ण्यर्थाः**=शीघ्रता से हमारे प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाली **अमर्धन्तीः**=न हिंसित करती हुईं **धेनवः**=वेदवाणी रूप गौवें **आ**=सर्वथा **नः**=हमें **उपयन्तु**=समीपता से प्राप्त हों। ज्ञान के द्वारा ही हमारे 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं और यह ज्ञान ही हमें वासनाओं से हिंसित होने से बचाता है। (२) **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला **जरिता**=स्तोता **महः राये**=महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये इन **बृहतीः**=वृद्धि की कारणभूत, **सप्त**=सात छन्दों में प्रतिपादित **मयोभुवः**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाली वाणियों को, वेदधेनुओं को **जोहवीति**=पुकारता है। इन वेद धेनुएँ के ज्ञानदुग्ध से ही उसकी सब शक्तियों का आप्यायन होना है।

भावार्थ—वेदवाणियों से दिया गया ज्ञान हमारे सब पुरुषार्थों को सिद्ध करता है, वासनाओं से हिंसित होने से हमें बचाता है, महान् ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है और इस प्रकार कल्याणकर होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता-माता व द्यावापृथिवी

आ सुष्टुती नमसा वर्तयध्यै द्यावा वाजाय पृथिवी अमृध्रे।
पिता माता मधुवचाः सुहस्ता भरेभरे नो यशसावविष्टाम्॥ २॥

(१) मैं **सुष्टुती**=प्रभु की उत्तम स्तुति के द्वारा तथा **नमसा**=प्रभु के प्रति नमन के द्वारा **अमृध्रे**=अहिंसित **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर को **वाजाय**=इस जीवन-संग्राम में सशक्त बनने के लिये **आवर्तयध्यै**=अपनी ओर आवृत्त करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरा मस्तिष्क व शरीर दोनों ही अहिंसित हों, बड़े ठीक होने के लिये **पिता माता**=पिता और माता **मधुवचाः**=अत्यन्त मधुर वचनोंवाले (भद्र वद पुत्रैः), **सुहस्ता**=सदा शोभन कर्मोंवाले, **यशसौ**=यशोयुक्त जीवनवाले होते हुए **भरे भरे**=प्रत्येक संग्राम में, इस प्रारम्भिक जीवन में

चलनेवाले वासना-संग्राम में **नः**=हमारा **अविष्टाम्**=रक्षण करें। मधुर शब्दों से समझते हुए, स्वयं अपने कर्मों से उदाहरण को पेश करते हुए, यशोयुक्त जीवन से हमें भी यशस्वी बनने की प्रेरणा देते हुए वे माता-पिता हमारा रक्षण करते हैं, हमें वासनाओं में फँसने नहीं देते।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन व प्रभु नमन से हमारा मस्तिष्क व शरीर उत्तम हो। उत्तम माता-पिता मधुर शब्दों से प्रेरणा देते हुए हमारे जीवन को उत्तम बनायें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से आत्मदर्शन व आनन्द प्राप्ति

अध्वर्यवश्चकृवांसो मधूनि प्र वायवे भरत चारु शुक्रम्।
होतेव नः प्रथमः पाह्यस्य देव मध्वो ररिमा ते मदाय ॥ ३ ॥

(१) **अध्वर्यवः**=यज्ञशील पुरुषो! **मधूनि चकृवांसः**=सब मधुर कार्यों को करनेवाले तुम ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध को छोड़कर कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले तुम **वायवे**=आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये (वा गतौ से 'वायु', अत गतौ से 'आत्मा') **चारु शुक्रम्**=इस सुन्दर वीर्यशक्ति को **प्रभरत**=प्रकर्षेण अपने में धारण करनेवाले बनो। इसके शरीर में भरण से ही 'शरीर नीरोग, मन निर्मल तथा बुद्धि तीव्र' बनेगी और तुम आत्मतत्त्व दर्शन के लिये अपने को पात्र बना पाओगे। (२) प्रभु कहते हैं कि **होता इव**=होता की तरह बनकर, जीवन को सतत यज्ञशील बनाकर **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करता हुआ तू **नः**=हमारे से पैदा किये **अस्य**=इस सोम का, शुक्र का **पाहि**=रक्षण कर, इसे शरीर में सुरक्षित करनेवाला हो। हे **देवः**=दिव्य वृत्तिवाले आत्मन् इस **मध्वः**=सोम को **मदाय**=आनन्द की प्राप्ति के लिये **ते ररिम**=तेरे लिये देते हैं। इसे रक्षित करके तू अपने जीवन को उल्लासमय बना पायेगा।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर, अर्थात् भोगवृत्ति से ऊपर उठकर, सोम का रक्षण करें। यह सुरक्षित सोम हमें आत्मदर्शन में सहायक होगा और जीवन में हमें उल्लासमय बनायेगा।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण के साधन व फल

दश क्षिपो युञ्जते बाहू अद्रिं सोमस्य या शमितारा सुहस्ता।
मध्वो रसं सुगभस्तिर्गिरिष्ठां चनिश्चदद्दुहे शुक्रमंशुः ॥ ४ ॥

(१) **दश क्षिपः**=दसों इन्द्रियों के विषयों को अपने से परे फेंकनेवाले, इन्द्रियों को विषयों में न फँसने देनेवाले, पुरुष **बाहू**=अपनी दोनों भुजाओं को **युञ्जते**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगाते हैं। उन भुजाओं को जो **सोमस्य शमितारा**=सोम शक्ति को शान्त रखनेवाली हैं, कार्यों में लगे रहने से सोम शक्ति में वासनाओं का उबाल नहीं आता और जो भुजाएँ **सुहस्ता**=कुशलता से कार्यों को करनेवाली हैं, अनाड़ीपन से नहीं। ये विषयों को अपने से परे फेंकनेवाले पुरुष **अद्रिम्** (युञ्जते)=उस आदरणीय प्रभु का अपने साथ मेल करते हैं, प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होते हैं। यह 'प्रभु का उपासन' व 'कर्मों में लगे रहना' ही इन्हें सोमरक्षण के योग्य बनाता है। (२) **सुगभस्तिः**=यह उत्तम बाहुओंवाला, उत्तमता से कार्यों में प्रवृत्त पुरुष **अंशुः**=ज्ञानरश्मियों का पुञ्ज बनता हुआ, निरन्तर स्वाध्याय में प्रवृत्त होता हुआ **गिरिष्ठाम्**=ज्ञान की वाणियों में स्थित होनेवाले, ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर, ज्ञानाग्नि की दीप्ति से इन ज्ञान वाणियों को प्राप्त करानेवाले, **मध्वः रसम्**=मधुरता के रस **भूत**=मधुरता को जन्म देनेवाले **शुक्रम्**=सोम को (वीर्य को) **चनिश्चदत्**=

आह्लादित होता हुआ **दुदुहे**=अपने में प्रपूरित करता है। शरीर में पूरित यह शुक्र जीवन को 'ज्ञानदीप्त, मधुर व आनन्दयुक्त' करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण का साधन है 'प्रभु स्मरणपूर्वक कार्यों में लगे रहना'। सोमरक्षण का फल है 'ज्ञानदीप्ति, मधुरता, उल्लास व आनन्द'।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति उन्नति व उल्लास

असावि ते जुजुषाणाय सोमः क्रत्वे दक्षाय बृहते मदाय।
हरी रथे सुधुरा योगे अर्वागिन्द्र प्रिया कृणुहि हूयमानः॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **जुजुषाणाय**=प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों का सेवन करनेवाले **ते**=तेरे लिये **सोमः असावि**=यह सोम उत्पन्न किया गया है। यह तेरी **क्रत्वे**=शक्ति के लिये, **दक्षाय**=(growth) उन्नति के लिये तथा **बृहते मदाय**=महान् उल्लास के लिये होता है। (२) इस सोमरक्षण के लिये **हूयमानः**=पुकार-पुकार कर कहा जाता हुआ तू, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **रथे**=शरीर रथ में **योगे**=मेल के होने पर **सुधुरा**=उत्तमता से धुराओं का वहन करनेवाले **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **अर्वाक्**=अन्तर्मुखी वृत्तिवाला **कृणुहि**=कर। ये इन्द्रियाश्व सदा बाहिर ही न भटकते रहें। बाहिर भटकते हुए ये तुम्हें विषयों में फँसाकर सोमरक्षण के अयोग्य कर देंगे।

भावार्थ—प्रीतिपूर्वक कर्मों में लगे रहकर व इन्द्रियाश्वों को इधर-उधर न भटकने देकर हम सोम का रक्षण करें। यह हमारी 'शक्ति, उन्नति व उल्लास' का कारण बनेगा।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निरन्तर स्वाध्याय द्वारा सोमरक्षण

आ नो महीमरमतिं सजोषा ग्नां देवीं नमसा रातहव्याम्।
मधोर्मदाय बृहतीमृतज्ञामाग्ने वह पथिभिर्देवयानैः॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **सजोषाः**=प्रीतिपूर्वक उपासित हुए-हुए **नः**=हमारे लिये **देवीं ग्राम्**=(ग्रा=वाक् नि० १।११) इस प्रकाशमयी वेदवाणी को **देवयानैः पथिभिः**=देवताओं से चलने योग्य मार्गों के हेतु से **आवह**=प्राप्त कराइये। इस वेदवाणी को प्राप्त करके हम शुभ मार्गों पर ही चलनेवाले बनेंगे। इसके 'छन्द' हमारा छादन करते हैं और हमें अशुभ वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं। आप उस वेदवाणी को हमें प्राप्त कराइये जो **महीम्**=अत्यन्त महनीय है, जीवन को महत्त्वपूर्ण बनाती है। **अ-रमतिम्**=विषयों में रण से हमें दूर करती है। **नमसा रातहव्याम्**=प्रभु के प्रति नमन के साथ सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाली है, हमें यह प्रभु के प्रति झुकाववाला बनाती है और सब यज्ञिय पदार्थों को, पवित्र पदार्थों को प्राप्त कराती है। (२) हे प्रभो! **मधोः मदाय**=सोम के उल्लास के लिये, सोमरक्षण से प्राप्त होनेवाले आनन्द के लिये, आप हमें इस वेदवाणी को प्राप्त कराइये। जो **बृहतीम्**=सदा हमारी वृद्धि की कारणभूत है (बृहि वृद्धौ) तथा **ऋतज्ञाम्**=ऋत को जाननेवाली है, अर्थात् जिसके होने पर अनृत रहता ही नहीं, जो अनृत को तो जानती ही नहीं। इस वेदवाणी से ऋतमय जीवनवाले बनकर ही हम, हे अग्ने! आपको प्राप्त कर पायेंगे।

भावार्थ—हम निरन्तर स्वाध्याय की वृत्ति को अपनाएँ। यह ज्ञान प्राप्ति हमें देवयान मार्ग से चलने के लिये प्रेरित करेगी और सोमरक्षण करते हुए हम जीवन को उल्लासमय बना पायेंगे।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु प्राप्ति के साधन

अ॒ञ्जन्ति॒ यं प्र॒थय॑न्तो॒ न विप्रा॑ व॒पाव॑न्तं॒ नाग्निना॒ तप॑न्तः।
पि॒तुर्न पु॒त्र उ॒पसि॒ प्रेष्ठ॒ आ घ॒र्मो अ॒ग्निमृ॒तय॑न्नसादि॥ ७॥

(१) **वपावन्तं न**=शक्ति व ज्ञान के बीज को हमारे में बोनेवाले के समान **यम्**=जिस प्रभु को **न**=अब (अस्युपमार्थस्य संप्रत्यर्थे प्रयोगः सा०) **प्रथयन्तः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करते हुए, **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले, न्यूनताओं को दूर करनेवाले, **अग्निना तपन्तः**=ज्ञानाग्नि से अपने को दीप्त करते हुए लोग **अञ्जन्ति**=प्राप्त होते हैं। प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम (क) अपनी शक्तियों का विस्तार करें, (ख) अपने पूरण में प्रवृत्त हों, (ग) ज्ञानाग्नि से अपने को दीप्त करें। (२) **न**=जैसे **पितुः**=पिता का **प्रेष्ठः**=प्रियतम **पुत्रः**=पुत्र **उपसि**=उसकी गोद में स्थित होता है, उसी प्रकार उस परम पिता की उपासना में स्थित हुआ-हुआ **घर्मः**=सोम के रक्षण के द्वारा शक्ति का पुञ्ज बना हुआ, **ऋतयन्**=यज्ञों की ही कामना करता हुआ पुरुष **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **आ असादि**=सब प्रकार से अपने हृदयासन पर आसीन करता है। प्रभु की प्राप्ति के लिये हम (क) उपासनामय जीवनवाले हों, (ख) सोमरक्षण द्वारा शक्ति के पुञ्ज बनें, (ग) यज्ञों की सदा कामनावाले हों।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग है, (क) शक्तियों का विस्तार करना, (ख) अपनी न्यूनताओं को दूर करना, (ग) ज्ञानाग्नि से अपने को दीप्त करना, (घ) उपासना, (ङ) सोमरक्षण, (च) यज्ञों में प्रवृत्त रहना।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'शरीर रथ की नाभि के कील-भूत' प्राणापान

अच्छा॑ म॒ही बृ॑ह॒ती शन्त॑मा॒ गीर्दू॒तो न ग॑न्त्व॒श्विना॑ हु॒वध्यै॑।
म॒यो॒भुवा॑ स॒रथा या॑तम॒र्वाग्ग॒न्तं नि॑धिं॒ धुर॑मा॒णिर्न नाभि॑म्॥ ८॥

(१) **मही**=महनीय, हमारे जीवनों को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली, **बृहती**=वृद्धि की कारणभूत, **शन्तमा**=अत्यन्त शान्ति को देनेवाली **गीः**=ज्ञान की वाणी **दूतः न**=दूत के समान **अश्विनौ अच्छा**=प्राणापान के प्रति **हुवध्यै**=पुकारने के लिये **गन्तु**=जाये। 'ज्ञान की वाणी' का 'प्राणापान को पुकारने के लिये जाने' का भाव यह है कि यह वाणी मानो यह कह रही है कि हे प्राणापानो! तुम्हारी साधना पर ही हमारा जीवन आश्रित है। प्राणसाधना शक्ति की ऊर्ध्वगति को करती है। यह शक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है। ज्ञानाग्नि की दीप्ति के होने पर ही इस वेदवाणी का प्रकाश होता है। (२) यह वेदवाणी कहती है कि **सरथा**=मेरे साथ एक ही शरीर रथ पर आरूढ़ होनेवाले आप दोनों **मयोभुवा**=सब कल्याण का भावन करनेवाले हो। **अर्वाग् यातम्**=आप दोनों यहाँ शरीर रथ के अन्दर प्राप्त होवो। वहाँ शरीर रथ में प्राप्त होकर **निधिम्**=ज्ञान के कोश को **गन्तम्**=प्राप्त होवो। **न**=जैसे कि **धुरं नाभिम्**=सब शकटभार का वहन करनेवाली चक्रनाभि को **आणिः**=कील प्राप्त होता है। कील के बिना नाभि रथ वहन नहीं कर पाती। इसी प्रकार आपकी साधना के बिना ज्ञाननिधि की प्राप्ति होना सम्भव नहीं। आपके द्वारा ही सोम का रक्षण व ज्ञानाग्नि का दीपन होकर यह ज्ञाननिधि प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ही यह शरीररथ सुन्दर गतिवाला होता है। यह प्राणसाधना शरीर

रथ की धुरा का वहन करनेवाली चक्रनाभि में कील के समान है। इस प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पूषा व वायु का आराधन

प्र त॒व्य॑सो॒ नम॑उक्तिं तु॒रस्या॒हं पू॒ष्ण उ॒त वा॒योर॑दिक्षि।
या राध॑सा चोदि॒तारा॑ मती॒नां या वाज॑स्य द्रविणो॒दा उ॒त त्मन्॥ ९॥

(१) **अहम्**=मैं **तव्यसः**=अत्यन्त बलशाली **तुरस्य**=शत्रुओं के विनाशक **पूष्णः**=पूषा के, सूर्य के तथा **वायोः**=वायु के **नम उक्तिम्**=नमन के साथ स्तोत्र को **अदिक्षि**=(आदिशामि) करता हूँ। मैं पूषा व वायु का आराधन करता हूँ। पूषा का आराधन यही है कि यथासम्भव सूर्य सम्पर्क में जीवन को बिताते हुए सूर्य की तरह ही क्रियाशील होते हुए, अपनी प्राणशक्ति को बढ़ाना। वायु के आराधन का भाव है कि वायु की तरह निरन्तर गतिवाला होना, अकर्मण्यता व आलस्य से सदा परे रहना। एवं पूषा व वायु का आराधन करता हुआ व्यक्ति 'तव्यान् व तुर्' बनता है, शक्तिशाली व शत्रुओं का संहार करनेवाला। (२) मैं उन 'पूषा व वायु' का आराधन करता हूँ **या**=जो **राधसा**=मुझे जीवन में सफल बनानेवाले हैं (राध सिद्धौ), **मतीनां चोदितारौ**=मेरे अन्दर सद्बुद्धियों को प्रेरित करनेवाले हैं। **उत**=और **त्मन्**=स्वयं **वाजस्य द्रविणोदौ**=शक्ति के धन को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम यथासम्भव सूर्य सम्पर्क में जीवन को बिताते हुए शक्तियों के पोषण का पूर्ण ध्यान करें। यही 'पूषा' का उपासन है। हम निरन्तर गतिशील होते हुए 'वायु' की आराधना करें। यह आराधना हमें सफलता, सद्बुद्धि व शक्ति को देगी। सूर्य सम्पर्क से दूर व अकर्मण्य पुरुष 'असफल, मूर्ख व निर्बल' हो जाता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्ञानी स्तोता' का 'सर्वदेवमय' जीवन

आ नाम॑भिर्म॒रुतो॑ वक्षि॒ विश्वा॒ना रू॒पेभि॑र्जातवेदो हुवा॒नः।
य॒ज्ञं गिरो॑ जरि॒तुः सु॑ष्टु॒तिं च॒ विश्वे॑ गन्त मरुतो॒ विश्व॑ ऊ॒ती॥ १०॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **नामभिः आहुवानः**='सत् चित् आनन्द' आदि नामों से सदा पुकारे जाते हुए आप **विश्वान्**=सब **मरुतः**=देवों को **रूपेभिः**=प्रत्यक्ष रूपों से **आवक्षि**=आप हमारे लिये प्राप्त कराते हैं। देवों का प्रत्यक्षरूप से प्राप्त होने का भाव है, 'उस-उस देव के गुण का जीवन में स्थापन'। आप उन-उन देवों के गुणों को हमारे जीवन में स्थापित करते हुए हमारे जीवन को सर्वदेवमय कर डालते हैं। (२) **गिरः**=इस ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले पुरुष के **यज्ञम्**=जीवनयज्ञ को **विश्वे मरुतः**=सब देव **गन्त**=प्राप्त हों। यह ज्ञानी ज्ञानयज्ञ को करता हुआ दिव्य जीवनवाला बने। **च**=और **जरितुः**=इस स्तोता की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **विश्वे**=सब देव **ऊती**=रक्षण के साथ **गन्त**=प्राप्त हों। स्तवन के होने पर सब देव इस स्तोता का रक्षण करनेवाले हों और यह उनसे रक्षित हुआ-हुआ वासनाओं से पराभूत न हो।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा जीवन सर्वदेवमय बने। हम ज्ञान व स्तुति में प्रवृत्त होकर देवों से आभिगमनीय व रक्षणीय हों।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पर्वत से सरस्वती का प्रवाह

आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम्।
हवं देवी जुजुषाणा घृताची शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु॥ ११॥

(१) **नः**=हमारे **यज्ञम्**=इस जीवनयज्ञ में **दिवः**=प्रकाशमय, **बृहतः**=गुण प्रवृद्ध, **पर्वतात्**=अपना पूरण करनेवाले आचार्य से **सरस्वती**=यह वाग्देवी, ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता **आगन्तु**=सर्वथा प्राप्त हो। हम ज्ञानी गुरुओं से ज्ञान को प्राप्त करें। यह सरस्वती सचमुच **यजता**=उपासनीय है। सरस्वती की आराधना ही हमें प्रभु का प्रिय बनाती है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः'। यह **देवी**=प्रकाशमय सरस्वती **हवम्**=हमारी पुकार को **जुजुषाणा**=प्रीतिपूर्वक सेवन करती हुई **नः**=हमारे लिये **घृताची**=ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाली है यह **उशती**=हमारे हित को चाहती हुई **शग्माम्**=सुखकारी **वाचम्**=इस प्रभु की वाणीरूप वेदवाणी को **शृणोतु**=सुने। अर्थात् सरस्वती की कृपा से सदा हम ज्ञान की वाणियों को सुनने में प्रवृत्त हों। ये ज्ञानवाणियाँ ही अन्ततः हमारा कल्याण करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानी आचार्यों से ज्ञान का प्राप्त करें। सदा ज्ञान की वाणियों का श्रवण करें। यह श्रवण ही हमारे लिये सुखकर होगा। आचार्य 'पर्वत' है, ज्ञान का पूरण करनेवाला है। उससे विद्यार्थी की ओर ज्ञान का प्रवाह ही 'सरस्वती का प्रवाह' है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

बृहस्पति की पूजा

आ वेधसं नीलपृष्ठं बृहन्तं बृहस्पतिं सदने सादयध्वम्।
सादद्योनिं दम आ दीदिवांसं हिरण्यवर्णमरुषं सपेम॥ १२॥

(१) उस प्रभु को **सदने**=इस शरीर गृह में, हृदयरूप आसन पर **आसादयध्वम्**=बिठाओ। जो प्रभु **वेधसम्**=सारे ब्रह्माण्ड के निर्माता हैं। **नीलपृष्ठम्**=(नीडपृष्ठं) जिनकी पीठ सारे प्राणियों को आधार देनेवाली है, सारे प्राणी इस प्रभु रूप 'नीड' में ही आश्रय पाते हैं। **बृहन्तम्**=जो अत्यन्त बढ़े हुए है। **बृहस्पतिम्**=सब ज्ञानों के स्वामी हैं। (२) हम **अरुषम्**=उस आरोचमान प्रभु का **सपेम**=पूजन करें, जो **सादद् योनिम्**=इस शरीर गृह में निवास करते हैं 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः'। **दमे**=इस शरीर गृह में **आदीदिवांसम्**=सर्वतः दीप्ति को करनेवाले हैं और **हिरण्यवर्णम्**=ज्योतिर्मय वर्णवाले हैं (आदित्यवर्णम्) सूर्य की तरह दीप्त रूपवाले हैं, वस्तुतः प्रकाश ही प्रकाश हैं।

भावार्थ—प्रभु को हमें सदा इस रूप में उपासन करना चाहिये कि वे ही निर्माता हैं, धारण करनेवाले हैं, महान् हैं, ज्ञान के स्वामी हैं। शरीरों में स्थित हुए-हुए हमें दीप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'धर्णसि' प्रभु (ग्राः ओषधीः वसानः)

आ धर्णसिर्बृहद्दिवो रराणो विश्वेभिर्गन्त्वोमभिर्हुवानः।
ग्रा वसान ओषधीरमृध्रस्त्रिधातुशृङ्गो वृषभो वयोधाः॥ १३॥

(१) वे प्रभु **धर्णसिः**=सब के धारक हैं। **बृहद्दिवः**=अत्यन्त प्रवृद्ध दीप्तिवाले हैं। **रराणः**=सर्वत्र

रममाण हैं व हमारे लिये सब कुछ देनेवाले हैं। **हुवानः**=पुकारे जाते हुए वे प्रभु **विश्वेभिः**=सब **ओमभिः**=रक्षणों से **आगन्तु**=हमें प्राप्त हों। (२) वे प्रभु हमें **ग्राः**=वेदवाणियों से **वसानः**=आच्छादित करते हैं तथा **ओषधीः**=ओषधियों को हमारे लिये प्राप्त कराते हैं। **अमृध्रः**=अहिंसित हैं। वस्तुतः जो भी मनुष्य इन वेदवाणियों के ज्ञान को प्राप्त करता है तथा ओषधियों का सेवन करता है, वह अहिंसित ही होता है। **त्रिधातु शृंगः**='धन, शक्ति व ज्ञान' तीनों धारणीय वस्तुओं के वे प्रभु शृंग हैं। तीनों की दृष्टिकोण से सर्वोन्नत है। 'सर्वैश्वर्यवाले सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। **वृषभः**=शक्तिशाली हैं व सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **वयोधा**=उत्कृष्ट जीवन का हमारे लिये धारण करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन करने से ही हमारा जीवन उत्कृष्ट बनता है। प्रभु ही धारक हैं, प्रकाशक हैं, सर्वप्रद हैं, सब प्रकार से रक्षा करनेवाले हैं। हमारे लिये वेदवाणियों को (मस्तिष्क के लिये) व ओषधियों को (शरीर के लिये) प्राप्त कराते हैं। शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से हमें उन्नत करके सुखी व सुन्दर जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विपन्यवः-रास्पिरासः

मातुष्पदे परमे शुक्र आयोर्विपन्यवो रास्पिरासो अग्मन्।
सुशेव्यं नमसा रातहव्याः शिशुं मृजन्त्यायवो न वासे॥ १४॥

(१) **आयोः**=गतिशील पुरुष के **मातुः**=निर्माण करनेवाले प्रभु के **परमे**=सर्वोत्कृष्ट **शुक्रे**=निर्मल-शुद्ध **पदे**=स्थान में **विषन्यवः**=स्तुति करनेवाले व **रास्पिरासः**=(रा=धन, स्पृ=give) धनों का दान करनेवाले लोग **अग्मन्**=जाते हैं। निर्माता प्रभु हैं, प्रभु उसी के जीवन का निर्माण करते हैं जो स्वयं भी गतिशील हो। इस प्रभु के सर्वोत्कृष्ट पद को दान देनेवाले स्तोता लोग ही प्राप्त करते हैं। (२) **नमसा**=नमन के साथ **रात हव्याः**=हव्य पदार्थों का दान करनेवाले लोग **सुशेव्यम्**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **शिशुम्**=हमारी बुद्धियों को सूक्ष्म बनानेवाले प्रभु का **मृजन्ति**=शोधन करते हैं, हृदयस्थ प्रभु को हृदय में आ जानेवाले राग-द्वेष के मल को हटाकर देखने का प्रयत्न करते हैं। यही प्रभु का शोधन है। इसी प्रकार प्रभु का परिमार्जन करते हैं **न**=जैसे कि **आयवः**=गतिशील मनुष्य **वासे**=गृह में **शिशुम्**=बच्चे को। मणि के ऊपर आवरण आ जाने से हम मणि को नहीं देख पाते, हृदय पर राग-द्वेष का परदा पड़ जाने से हम हृदयस्थ प्रभु को नहीं देख पाते। जिस प्रकार माता-पिता प्रेम से बच्चे के शरीर को परिमार्जित करते हैं, उसी प्रकार हम प्रभु के शरीरभूत इस हृदय को पवित्र करें। इसके पवित्र होने पर ही प्रभु का दर्शन होगा।

भावार्थ—दानशील स्तोता लोग ही प्रभु के परम पद पर पहुँचते हैं, प्रभु दर्शन के लिये बड़ी प्रीति से हृदय का शोधन करना आवश्यक है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'धियाजुरः मिथुनासः सचन्त'

बृहद्वयो बृहते तुभ्यमग्ने धियाजुरो मिथुनासः सचन्त।
देवोदेवः सुहवो भूतु मह्यं मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात्॥ १५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **धियाजुरः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा आपका उपासन करनेवाले **मिथुनासः**=पति-पत्नी **बृहते तुभ्यम्**=सदा से बढ़े हुए आपकी प्राप्ति के लिये **बृहद वयः**=दीर्घ

जीवन को अपने साथ **सचन्त**=समवेत करते हैं, अर्थात् सदा इस दीर्घ जीवन में बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा आपकी उपासना के लिये यत्नशील होते हैं। (२) इस प्रकार का जीवन बीतने पर **देवः देवः**=प्रत्येक देव **मह्यम्**=मेरे लिये **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य **भूतु**=हो। वस्तुतः माता-पिता का सुन्दर प्रभु परायण जीवन सन्तानों में सब सद्गुणों को जन्म देता ही है। यह **पृथिवी माता**=हमारे लिये माता के समान सब भोजनों को प्राप्त करानेवाली यह भूमि माता **नः**=हमें **दुर्मतौ मा धात**=दुर्बुद्धि में मत स्थापित करे। भूमि माता से प्राप्त होनेवाले वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करता हुआ मैं सदा सद्बुद्धि से युक्त रहूँ, मेरे अन्दर औरों के विनाश की भावना पैदा ही न हो।

भावार्थ—बुद्धिपूर्वक कर्म करते हुए माता-पिता प्रभु के उपासक हों। ऐसा होने पर सन्तान दिव्यगुणोंवाले व सद्बुद्धि-सम्पन्न होंगे।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**याजुषीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विशाल अनिबाध जीवन

उ॒रौ दे॑वा अनिबा॒धे स्या॑म ॥ १६ ॥

४२.१७ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना के लाभ

सम॒श्विनो॒रव॑सा॒ नूत॑नेन मयो॒भुवा॑ सु॒प्रणी॑ती गमेम।
आ नो॑ र॒यिं व॑हत॒मोत वी॒राना विश्वा॑न्यामृ॒ता सौभ॑गानि ॥ १७ ॥

४२.१८ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

अगला सूक्त 'अवत्सार' ऋषि का है जो कि अपने सार (बल, वीर्यशक्ति) का रक्षण करते हैं। अतएव काश्यप ज्ञानी हैं। बीच-बीच में अन्य ऋषियों का भी स्थान है। मुख्यतया 'अवत्सार काश्यप' प्रार्थना करते हैं—

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु स्तवन व विजय

तं प्र॒त्नथा॑ पू॒र्वथा॑ वि॒श्वथे॒मथा॑ ज्ये॒ष्ठता॑तिं ब॒र्हि॒षदं॑ स्व॒र्विद॑म्।
प्र॒ती॒ची॒नं वृ॒जनं॑ दोहसे गि॒राशुं जय॑न्त॒मनु॒ यासु॒ वर्ध॑से ॥ १ ॥

(१) **तम्**=उस प्रभु को **प्रत्नथा**=पुराण सनातन पुरुष के रूप में (=पुराण पुरुष की तरह), **पूर्वथा**=पालन व पूरण करनेवाले के रूप में, **विश्वथा**=सर्वत्र प्रविष्ट-सर्वव्यापक के रूप में, **इमथा**=सदा वर्तमान के रूप में (प्रभु के लिये सब वर्तमानकाल ही है, वस्तुतः प्रभु ही 'काल' हैं) **गिरा**=स्तुति के द्वारा **दोहसे**=अपने अन्दर प्रपूरित करता है। उन स्तुतियों के द्वारा **यासु**=जिनमें **अनुवर्धसे**=तू दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। अधिकाधिक स्तुति करता हुआ तू प्रभु को अपने अन्दर प्रपूरित कर रहा है। यह प्रभु को अपने अन्दर भरना ही स्तुति का सच्चा लाभ है, प्रभु जैसा बनना। (२) उस प्रभु को जो **ज्येष्ठतातिम्**=सर्वश्रेष्ठ हैं। **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य हृदय में आसीन होते हैं। वहाँ स्थित होकर **स्वर्विदम्**=सम्पूर्ण प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं।

प्रतीचीनं=हमारी ओर आनेवाले हैं, जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता है, उतना-उतना हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। **वृजनम्**=बल के पुञ्ज हैं। जो प्रभु को प्राप्त करता है, वह प्रभु के बल से बलवान् होता है। **आशुम्**=सर्वत्र व्याप्त होनेवाले व शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं, सदा **जयन्तम्**=विजयशील हैं। उपासक को वह-वह विजय इस उपास्य प्रभु से ही प्राप्त होती है। उपासक के शत्रुओं को ये प्रभु ही पराजित करते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु-स्तवन करें। यही ज्ञान शक्ति व विजय प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

सोमरक्षण व ज्योतिर्मय जीवन

श्रिये सुदृशीरुपरस्य याः स्वर्विरोचमानः ककुभामचोदते।
सुगोपा असि न दभाय सुक्रतो परो मायाभिर्ऋत आस नाम ते॥ २॥

(१) **अचोदते**=(अप्रेरयते) शरीर में सोम को सुरक्षित रखनेवाले के लिये, सोम को विलासमय जीवन के द्वारा बाहिर न प्रेरित करनेवाले के लिये, हे प्रभो! आप **ककुभाम्**=शिखरों के **स्वः**=प्रकाश को **विरोचमानः**=दीप्त करनेवाले होते हैं। इन सोमी पुरुषों का जीवन इस प्रकार प्रकाशमय होता है जैसे कि बादलों से घिरे मध्यभाग से ऊपर पर्वत शिखर सूर्य की चमक से चमक रहा होता है। इन व्यक्तियों के जीवन में आप उन ज्योतियों को दीप्त करते हैं, **याः**=जो **उपरस्य**=(nearer) आपके उपासक की **सुदृशीः**=सुन्दर दर्शनवाली ज्योतियाँ **श्रिये**=शोभा के लिये होती हैं। जो ज्योतियाँ उपासक के जीवन को अलंकृत करती हैं, उन्हीं से इस सोमरक्षक पुरुष का जीवन शोभावाला होता है। (२) हे **सुक्रतो**=उत्तम 'प्रज्ञान, कर्म व शक्ति' वाले प्रभो! आप **सुगोपाः असि**=हमारे उत्तम रक्षक हैं। **न दभाय**=आप इन सोमरक्षक पुरुषों को हिंसित नहीं होने देते। **मायाभिः**=सब मायाओं से आप **परः**=परे हैं। **ऋते**=ऋत में, सत्य में **ते**=आपका **नाम आस**=शत्रुओं को झुकानेवाला (नामकं बलम्) बल है। आप सत्यस्वरूप हैं, आप कभी शत्रुओं से पराजित नहीं होते। शत्रुओं की माया प्रभु को आक्रान्त नहीं कर पाती। प्रभु का उपासक भी इस माया का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण के होने पर उपासक के जीवन को प्रभु ज्योतिर्मय करते हैं। प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ यह संसार की मायाओं से आक्रान्त नहीं होता।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

सोमरक्षक का सुन्दर जीवन

अत्यं हविः सचते सच्च धातु चारिष्टगातुः स होता सहोभरिः।
प्रसर्स्राणो अनु बर्हिर्वृषा शिशुर्मध्ये युवाजरो विस्रुहा हितः॥ ३॥

(१) गतमन्त्र का सोमरक्षक पुरुष **अत्यं हविः**=निरन्तर गतिशील हवि का **सचते**=सेवन करता है, अर्थात् सदा अग्निहोत्र आदि यज्ञों का करनेवाला होता है। यह हवि **सत् च**=सत्य तो है ही, यह जीवन को सत्यमय बनाती है, **धातु च**=और धारण करनेवाली होती हैं। वृष्टि के द्वारा अन्न को पैदा करके यह हमारा धारण करती है। यह **अरिष्टगातुः**=अहिंसित मार्गवाला है, सदा मार्ग पर चलता है। **सः होता**=यह यज्ञशील पुरुष **सहोभरिः**=अपने में शत्रुओं को कुचलनेवाले

बल को धारण करता है। (२) **बर्हिः अनु**=वासनाशून्य हृदय के अनुसार **प्रसर्स्राणः**=यह खूब ही क्रियाशील होता है। इसकी सब क्रियाएँ वासनाओं से प्रेरित होकर नहीं होती। सदा क्रियाशीलता के कारण यह **वृषा**=शक्तिशाली है। **शिशुः**=अपनी बुद्धि को तीव्र करनेवाला है। **मध्ये**=जीवन के माध्यन्दिन सवन में **युवा**=यह बुराइयों का अपने से अमिश्रण व अच्छाइयों का अपने से मेल करनेवाला है। **अजरः**=जीर्ण नहीं होता। **विस्रुहाहितः**=(ओषधीनां मध्ये निहितः सा०) यह ओषधियों में स्थापित होता है, अर्थात् सदा ओषधियों का ही सेवन करता है।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष 'यज्ञशील, अपने में शक्ति को भरनेवाला, वासनाशून्य क्रियाओंवाला, युवा, अजर व वानस्पतिक भोजन का सेवन करनेवाला' बनता है।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

'क्रिविः नामानि प्रवणे मुषायति'

प्र वं एते सुयुजो यामंन्निष्टये नीचीरमुष्मैं यम्यं ऋतावृधः।
सुयन्तुभिः सर्वशासैरभीशुभिः क्रिविर्नामानि प्रवणे मुषायति॥ ४॥

(१) **वः एते**=गतमन्त्र में वर्णित तुम्हारे में से ये सोमरक्षक पुरुष **सुयुजः**=अच्छी प्रकार इन्द्रियाश्वों को शरीर रथ में जोतनेवाले होते हैं। **यामन्**=ये जीवनमार्ग में **इष्टये**=यज्ञों के लिये होते हैं। **अमुष्मै**=उस सोमरक्षक के लिये **नीचीः**=नम्रता से युक्त **यम्यः**=संयमवाली चित्तवृत्तियाँ **ऋतावृधः**=ऋत व सत्य का वर्धन करनेवाली होती हैं। (२) **सुयन्तुभिः**=उत्तम नियमनवाली, **सर्वशासैः**=सबका शासन करनेवाली **अभीशुभिः**=लगाम रूप चित्तवृत्तियों से **क्रिविः**=सदा उत्तम कर्मों में तत्पर यह सोमी पुरुष **प्रवणे**=(modestly, humble) नम्र हृदय में **नामानि**=प्रभु के नामों को **मुषायति**=चुपके-चुपके ग्रहण करता है, बिलकुल मौनरूप से वह इन नामों का जप करता है।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष इन्द्रियों व चित्तवृत्तियों को वशीभूत करके कार्यों में लगता है। वह कार्यों में प्रवृत्त हुआ-हुआ चुपके-चुपके ही प्रभु के नामों का स्मरण करता है।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

सुस्वरुः

संजर्भुराणस्तरुंभिः सुतेगृभं वयाकिनं चित्तगर्भासु सुस्वरुः।
धारवाकेष्वृजुगाथ शोभसे वर्धस्व पत्नीरभि जीवो अध्वरे॥ ५॥

(१) **तरुभिः**=वनस्पतियों के द्वारा **सुतेगृभम्**=शक्तियों की उत्पत्ति के निमित्त (सुते) ग्रहणीय (गृभं) **वयाकिनम्**=(वयाकः=a creeper) बेलोंवाले, अर्थात् लताओं से उत्पन्न पदार्थों के सेवन से पैदा हुए-हुए सोम को **संजर्भुराणः**=धारण करता हुआ व्यक्ति **चित्तगर्भासु**=(चित्तग्राहिणीषु) मन को आकृष्ट करनेवाली अतएव मन को एकाग्र करनेवाली स्तुतियों के होने पर **सुस्वरुः**=(स्वृ=to kill) अच्छी प्रकार रोग व वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला होता है। हम वृक्षों व लताओं से उत्पन्न पदार्थों का सेवन करते हुए, उत्पन्न सोम को प्रभु-स्तवन द्वारा अपने में सुरक्षित करते हुए, रोगों व वासनाओं का संहार करनेवाले बनें। (२) ऐसा करने पर **धारवाकेषु**=ज्ञानवाणियों का धारण करनेवालों में **ऋजुगाथ**=ऋजुमार्ग से गमन करनेवाले जीव!

शोभसे=तू शोभा को पाता है। **जीवः**=जीवन शक्ति से परिपूर्ण हुआ-हुआ तू **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **पत्नी अभिवर्धस्व**=इन वेदवाणीरूप पत्नियों की ओर बढ़नेवाला हो। इनके साथ ही तेरा परिणय हो और तू इनके द्वारा अपने ज्ञान के प्रकाश को निरन्तर बढ़ानेवाला बन।

भावार्थ—हम तरु व लताओं से उत्पन्न पदार्थों का सेवन करते हुए, उनसे उत्पन्न सोम का रक्षण करते हुए, प्रभु स्तवन में प्रवृत्त हुए-हुए रोगों व वासनाओं का विनाश करें। ज्ञान की वाणियों की ओर निरन्तर गतिवाले हों।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

सिध्रया छायया

यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा।
महीमस्मभ्यमुरुषामुरु ज्रयो बृहत्सुवीरमनपच्युतं सहः ॥ ६ ॥

(१) **यादृग्**=जैसा **एव**=ही **ददृशे**=देखा जाता है, **तादृग्**=वैसा **उच्यते**=कहा जाता है। प्रभु को हम जिस रूप में अनुभव करते हैं, वैसा ही उसका स्तवन करते हैं। **अप्सु**=कर्मों में **सिध्रया**=सफलता (सिद्धि) को प्रदान करनेवाली **छायया** (छो छेदने)=शत्रुओं का छेदन-भेदन करनेवाली शक्ति से **संदधिरे**=उस प्रभु का ये उपासक धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु की उपासना यही है कि हम सदा कर्मों में प्रवृत्त रहते हुए काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश करें। (२) उपासित प्रभु **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **महीम्**=महनीय **उरुषाम्**=सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विशाल सामग्री को देनेवाली (बहुदात्री) संपत्ति को देते हैं। **उरुज्रयः**=खूब ही वेग, क्रियाशीलता को देते हैं। **बृहत्**=सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाले **सुवीरम्**=उत्तम वीर सन्तान को प्राप्त कराते हैं तथा **अनपच्युतं सहः**=शत्रुओं से आक्रान्त न किये जा सकनेवाले बल को देते हैं।

भावार्थ—हम कर्त्तव्य कर्मों में तत्पर होकर, काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करते हुए, प्रभु की सच्ची उपासना करें। प्रभु हमें महनीय ऐश्वर्य, स्फूर्ति, उत्तम सन्तान तथा शत्रु-विनाशक बल प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य-कवि

वेत्यग्रुर्जनिवान्वा अति स्पृधः समर्यता मनसा सूर्यः कविः।
घ्रंसं रक्षन्तं परि विश्वतो गयमस्माकं शर्म वनवत्स्वावसुः ॥ ७ ॥

(१) **अग्रुः**=आगे और आगे बढ़ने की वृत्तिवाला **जनिवान्**=शक्तियों के विकासवाला यह **वा**=निश्चय से **स्पृधः**=शत्रुओं को **अतिवेति**=लाँघ जाता है। काम-क्रोध आदि शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता। यह **समर्यता**=इन शत्रुओं के साथ संग्राम की कामनावाले **मनसा**=मन से **सूर्यः**=निरन्तर गतिवाला व **कविः**=क्रान्तदर्शी बनता है। काम-क्रोध आदि के विनाश से ही शरीर में शक्ति के कारण गति बनी रहती है और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति हो पाती है। (२) **अस्माकम्**=हमारे में से जो भी व्यक्ति **स्वावसुः**=आत्मधनवाला बनता है वह **घ्रंसं परि रक्षन्तम्**=दिनों का परि रक्षण करते हुए, अर्थात् दीर्घायुष्य का कारण बनते हुए, **विश्वतः गयम्**=सब ओर से प्राणशक्ति के साधक **शर्म**=गृह को **वनवत्**=प्राप्त करता है (गयाः प्राणाः श० १४।८।१५।७) आत्मा को ही

हम मुख्य धन समझेंगे तो भौतिकवृत्ति से बचेंगे। इस वैषयिक वृत्ति से बचने का यह परिणाम होगा कि हम (क) दीर्घायुष्य को प्राप्त करेंगे, (ख) हमारी प्राणशक्ति क्षीण न होगी।

भावार्थ—हम वासनाओं के साथ संग्राम करते हुए गतिशील व ज्ञानी (सूर्य-कवि) बनें। 'आत्मा' को मुख्य धन समझें। परिणामतः 'दीर्घ व प्राणशक्ति-सम्पन्न' जीवनवाले होंगे।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

क्रियाशील ज्ञानी पुरुष द्वारा प्रभु स्तवन

ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं चरति यासु नाम ते।
यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदद्य उ स्वयं वहते सो अरं करत्॥ ८॥

(१) **अस्य**=इस **यतुनस्य**=यत्नशील पुरुष के **केतुना**=ज्ञान से, अर्थात् यत्नशील व ज्ञानी बनकर यह **ज्यायांसम्**=अतिप्रशस्त (प्रशस्य को ज्य आदेश है) **ऋषिस्वरम्**=ऋषियों-सी की जानेवाली स्तुति को **चरति**=करता है। उन ऋषि स्तुतियों को यह करता है **यासु**=जिन में **ते नाम**=तेरे प्रति नमन होता है। नम्रता की भावना से युक्त स्तुतियों में यह प्रवृत्त होता है। (२) इस स्तोता का मन **यादृश्मिन् धायि**=जैसी कामना में स्थापित होता है, **तम्**=जो **अपस्यया**=कर्मों में लगने की वृत्ति से **विदत्**=प्राप्त करता है। यह स्तोता उस-उस कामना को क्रियाशील बनकर पूर्ण कर पाता है। इस प्रकार **यः**=जो **उ**=निश्चय से **स्वयं वहते**=अपने कर्त्तव्य कर्मों का अपने आप धारण करता है, **सः**=वही **अरं करत्**=अपने को अलंकृत करनेवाला होता है। अर्थात् क्रियाशीलता ही जीवन को सद्गुणों से सुभूषित करती है।

भावार्थ—यत्नशील व ज्ञानी बनकर हम नम्रता से प्रभु का स्तवन करें। पुरुषार्थ से सब कामनाओं को सिद्ध करनेवाले हों। क्रियाशील बनकर जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करें।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पूतबन्धनी मति

समुद्रमासामव तस्थे अग्रिमा न रिष्यति सवनं यस्मिन्नायता।
अत्रा न हार्दि क्रवणस्य रेजते यत्रा मतिर्विद्यते पूतबन्धनी॥ ९॥

(१) **आसाम्**=गतमन्त्र में संकेतित स्तुतियों में **अग्रिमा**=(अल्पेतं श्रेष्ठा) अतिशयेन श्रेष्ठ स्तुति **समुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु के समीप **अवतस्थे**=स्थित होती है। **यस्मिन्**=जिस भी पुरुष में **आयता**=इस स्तुति का विस्तार होता है, उसमें **सवनम्**=यज्ञ **न रिष्यति**=हिंसित नहीं होता। अर्थात् प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति सदा यज्ञशील होता है। वस्तुतः इन यज्ञादि कर्मों का करना ही सच्चा स्तवन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। (२) **अत्रा**=इस स्तुति के होने पर **श्रवणस्य**=इस स्तुतिकर्ता का **हार्दि**=हृदयगत प्रभु प्राप्ति का भाव **न रेजते**=विचलित नहीं होता। इसे प्रभु प्राप्ति की कामना सदा बनी ही रहती है। **यत्रा**=जिस प्रभु प्राप्ति की कामना में **मतिः**=बुद्धि **पूतबन्धनी**=सदा पवित्र विचारों को अपने में बाँधनेवाली **विद्यते**=होती है। प्रभु प्राप्ति की कामना बनी रहने पर बुद्धि सदा पवित्र विचारों को ही करनेवाली होती है इसका झुकाव वैषयिक बातों की ओर नहीं रहता।

भावार्थ—हम सदा प्रभु स्तवन की वृत्तिवाले बनें। ऐसा बनने पर हम यज्ञों के प्रति रुचिवाले व बुद्धि से पवित्र विचारों को करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'क्षत्र-मनस-एवावद-यजत-सध्रि-अवत्सार'

स हि क्षत्रस्य मनसस्य चित्तिभिरेवावदस्य यजतस्य सध्रेः ।
अवत्सारस्य स्पृणवाम रण्वभिः शविष्ठं वाजं विदुषा चिदर्ध्यम् ॥ १० ॥

(१) **सः**=वह प्रभु **हि**=ही **विदुषा चित्**=ज्ञानी पुरुषों से भी **अर्ध्यम्**=अपने अन्दर समृद्ध करने योग्य **शविष्ठं वाजम्**=खूब क्रियाशील (शवतिर्गतिकर्मा) शक्ति को उपासक में (स्पृणोति=grant, bestow) भरता है। प्रभु उपासक को ज्ञानी व शक्ति सम्पन्न बनाता है। (२) हम सब इस प्रकार प्रभु उपासना के द्वारा **क्षत्रस्य**=क्षतों से त्राण करनेवाले रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले, **मनसस्य**=विचारशील, **एवावदस्य**=सदा सत्य बोलनेवाले, जैसी चीज है वैसा ही कहनेवाले, **यजतस्य**=यज्ञशील, **सध्रेः**=सब के साथ मिलकर चलनेवाले, **अवत्सारस्य**=सारभूत सोम शक्ति का रक्षण करनेवाले पुरुष के **रण्वभिः**=रमणीय **चित्तिभिः**=विचारों के साथ उस बल को (शविष्ठं वाजम्) **स्पृणवाम**=अपने में पूरित करें (पूरयाम सा०)। हम रमणीय विचारोंवाले व बलशाली बनकर 'क्षत्र, मनस, एवावद, यजत, सध्रि व अवत्सार' बनें। ऐसा बनना ही हमारे जीवन का लक्ष्य हो। यदि हम प्रभु स्तवन करते हुए ऐसा नहीं बनते, तो अवश्य हमारे स्तवन में कहीं न कहीं त्रुटि है।

भावार्थ—हम प्रभु स्तवन से शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके (क) सबका रक्षण करनेवाले हों, (ख) विचारशील हों, (ग) सत्य बोलें, (घ) यज्ञशील हों, (ङ) सब के साथ मिलकर चलें, (च) शक्ति का रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'विषाण-परिवान' प्रभु

श्येन आसामदितिः कक्ष्यो३ मदो विश्ववारस्य यजतस्य मायिनः ।
समन्यमन्यमर्थयन्त्येतवे विदुर्विषाणं परिपानमन्ति ते ॥ ११ ॥

(१) **आसाम्**=इन प्रजाओं में **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला पुरुष **अदितिः**=(अ-दिति) अखण्डित स्वास्थ्यवाला होता है। **कक्ष्यः**=उत्तम कटिबन्धनवाला, अर्थात् दृढ़ निश्चयी होता है। (one who has girded up to one's loins) **मदः**=आनन्दमय जीवनवाला होता है। (२) ये व्यक्ति **विश्ववारस्य**=सब से वरने के योग्य **यजतस्य**=पूज्य **मायिनः**=प्रज्ञावाले प्रभु के **एतवे**=प्राप्त करने के लिये **अन्यं अन्यम्**=एक दूसरे को **समर्थयन्ति**=समर्थित करते हैं। प्रेरणा आदि के द्वारा परस्पर प्रभु प्राप्ति के लिये सहायक होते हैं। **ते**=वे परस्पर प्रभु प्रेरणा को देनेवाले व्यक्ति **विषाणम्**=(वि-सन्) उस सब सुखों के दाता **परिपानम्**=सर्वतः रक्षक प्रभु को **अन्तिविदुः**=समीप ही, हृदयों में, जान पाते हैं।

भावार्थ—हम शंसनीय गतिवाले, स्वस्थ, दृढ़ निश्चयी व प्रसन्न वृत्तिवाले बनकर परस्पर प्रभु प्राप्ति के लिये एक दूसरे को प्रेरित करनेवाले हों। प्रभु हमें सब सुखों के देनेवाले हैं तथा हमारे रक्षक होते हुए हमारे ही हृदयों में ही स्थित हैं।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

उभा स वरा प्रत्येति

सदापृणो यजतो वि द्विषो वधीद्बाहुवृक्तः श्रुतवित्तर्यो वः सचा।
उभा स वरा प्रत्येति भाति च यदीं गणं भजते सुप्रयावभिः ॥ १२ ॥

(१) **सदापृणः**=हमेशा दान की वृत्तिवाला, **यजतः**=यज्ञशील पुरुष **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **विवधीत्**=सुदूर विनष्ट करता है। **बाहुवृक्तः**=(बाह प्रयत्ने) भुजाओं से कर्मों में व्यापृत हुआ-हुआ वासनाओं को छिन्न करनेवाला होता है। **श्रुतवित्**=ज्ञान का वेत्ता, अतएव **तर्यः**=वासनाओं को तैर जानेवाला, **वः सचा**=तुम सबके साथ मिलकर चलनेवाला होता है। (२) **सः**=वह **उभा वरा**=दोनों 'अभ्युदय व निःश्रेयस' रूप श्रेष्ठ वस्तुओं की ओर **प्रत्येति**=आता है **च**=और **भाति**=दीप्त होता है। 'इहलोक व परलोक' दोनों का समन्वय उसके जीवन को दीप्त बना देता है। **यद्**=जब कि यह **ईम्**=निश्चय से **सुप्रयावभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा **गणम्**=इन्द्रियादि के गणों का **भजते**=सेवन करता है। उत्तम कर्मों से अपनी सब इन्द्रियों को ठीक बनाते हुए ये लोग इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस को सिद्ध करते हैं।

भावार्थ—हम दानशील, यज्ञशील, पुरुषार्थी व ज्ञानी बनकर इन्द्रियों को प्रशस्त बनाते हुए 'अभ्युदय व निःश्रेयस' को सिद्ध करें।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्जगती ॥
स्वरः—निषादः ॥

सुतम्भरः-सत्पतिः

सुतंभरो यजमानस्य सत्पतिर्विश्वासामूधः स धियामुदञ्चनः।
भरद्धेनू रसवच्छिश्रिये पयोऽनुब्रुवाणो अध्येति न स्वपन्॥ १३ ॥

(१) जो व्यक्ति **यजमानस्य**=सृष्टि यज्ञ के प्रवर्तक उस महान् प्रभु के **सुतम्भरः**=यज्ञों का भरण करता है और **सत्पतिः**=उत्तम कर्मों का रक्षक है, **सः**=वह **विश्वासाम्**=सब **धियाम्**=बुद्धियों का **ऊधः**=उसी प्रकार आधार बनता है, जैसे कि गौ का **ऊधस्**=दुग्ध का आधार है। यह इन बुद्धियों का **उदञ्चनः**=(ऊर्ध्वं उद् गमयिता सा०) उद्गमन करनेवाला होता है। (२) **धेनुः**=ज्ञानदुग्धदात्री इस वेदवाणीरूप गौ का यह **भरत्**=भरण करता है। यह उस धेनु के **रसवत् पयः**=रसयुक्त दूध का **शिश्रिये**=सेवन करता है ज्ञानदुग्ध का पान करता है। **अनुब्रुवाणः**=सदा इसका उच्चारण करता हुआ **अध्येति**=इसका स्मरण करता है। **न स्वपन्**=इस अध्ययन कार्य में यह कभी सोता नहीं, अप्रमत्त होकर नियमपूर्वक इसका अध्ययन करता है।

भावार्थ—प्रभु भक्त यज्ञों को करता हुआ अपनी बुद्धियों को उत्कृष्ट करने का प्रयत्न करता है। वेदवाणी के अध्ययन में कभी प्रमाद नहीं करता।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

यो जागार

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥ १४ ॥

(१) **यः जागार**=जो गतमन्त्र के अनुसार इन ज्ञान की वाणियों के अध्ययन में 'न स्वपन्' न प्रमाद करता हुआ सदा जागरित होता है, सदा सावधान (जागरूक) होता है, **तम्**=उसको **ऋचः**=सब विज्ञान की वाणियाँ **कामयन्ते**=चाहती हैं, वही सब विज्ञानों को प्राप्त करता है। **यः जागार**=जो जागता है, **तं उ**=उसको ही **सामानि यन्ति**=सब उपासनाएँ प्राप्त होती हैं (सामवेद=उपासना वेद), अर्थात् जागरूक होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों को करनेवाला व्यक्ति ही सच्चा उपासक होता है। (२) **यः जागार**=जो जागता है **तम्**=उसे **अयं सोमः**=ये शान्त प्रभु **आह**=कहते हैं कि **अहम्**=मैं **तव सख्ये**=तेरी मित्रता में **न्योकाः**=निश्चित निवासवाला हूँ। आलसी के प्रभु मित्र नहीं होते।

भावार्थ—जागरूकता में ही विज्ञान की प्राप्ति है, इसी में सच्ची उपासना है। जागरूक के ही प्रभु मित्र होते हैं।

ऋषिः—**अवत्सारः काश्यप अन्ये च दृष्टलिङ्गाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्निः जागार

अ॒ग्निर्जा॑गार॒ तमृचः॑ कामयन्ते॒ऽग्निर्जा॑गार॒ तमु॒ सामा॑नि यन्ति।
अ॒ग्निर्जा॑गार॒ तम॒यं सोम॑ आह॒ तवा॒हम॑स्मि स॒ख्ये न्यो॑काः ॥ १५ ॥

(१) **अग्निः जागार**=प्रगतिशील जीव ही जागरित है। संसार का नियम है या उन्नति अथवा अवनति (either progress or regress) जागरूक पुरुष अवनति के मार्ग पर न जाकर सदा उन्नति के मार्ग पर चलेगा। एवं यह अग्नि होगा। यह अग्नि सदा जागता है। **तम्**=उस अग्नि को **ऋचः**=सब विज्ञान **कामयन्ते**=चाहते हैं, इस अग्नि को ही सब विज्ञान प्राप्त होते हैं। (२) **अग्निः जागार**=यह अग्नि ही जागता है, प्रमत्त ही अवनति के मार्ग पर जाया करता है। **तम्**=उस अग्नि को **उ**=ही **सामानि**=सब उपासनाएं **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। अग्नि ही प्रभु का सच्चा उपासक होता है। (३) **अग्निः जागार**=प्रगतिशील जीव ही जागरित है। **तम्**=उसे **अयं सोमः**=ये शान्त प्रभु **आह**=कहते हैं कि **अहम्**=मैं तब **सख्ये**=तेरी मित्रता में **न्योकाः**=निश्चित निवासवाला **अस्मि**=हूँ तेरा ही मैं स्थिर मित्र हूँ।

भावार्थ—जो जागरूक होता है वह अवश्य उन्नतिपथ पर बढ़ता हुआ विज्ञान, उपासना व प्रभु की मित्रता को प्राप्त करता है।

यह प्रभु का मित्र सदापृण=सदा देनेवाला बनता है। इस निरन्तर त्याग से पवित्र जीवनवाला बना हुआ यह 'आत्रेय' होता है, त्रिविध कष्टों से दूर। यह प्रार्थना करता है कि—

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सनया व स्वाध्या

वि॒दा दि॒वो वि॒ष्यन्नद्रि॑मु॒क्थैरा॑य॒त्या उ॒षसो॑ अ॒र्चिनो॑ गुः।
अपा॑वृत व्र॒जिनी॒रुत्स्व॒र्गाद्वि दुरो॒ मानु॑षीर्दे॒व आ॑वः ॥ १ ॥

(१) **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **अद्रिम्** अविद्या पर्वत को **विष्यन्**=दूर फेंकता हुआ (अस्यति)

अथवा अविद्या पर्वत का अन्त करता हुआ (षोऽन्तकर्मणि) **दिवः विदा**=ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है। **आयत्याः उषसः**=प्रत्येक आनेवाली उषा की **अर्चिनः**=रश्मियाँ **गुः**=उस स्वाध्यायशील व्यक्ति को प्राप्त होती हैं। प्रति दिन प्रातः उठकर स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए, उससे ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होना आवश्यक है। (२) यह व्यक्ति **व्रजिनीः**=तमः पुञ्जवाली, अर्थात् अज्ञाननिद्रावृत इन्द्रियों को **अपावृत**=अज्ञान के आवरण से पृथक् करता है। इसके जीवन में **स्वः**=प्रकाश **उद्गात**=उदित होता है। यह **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला बनकर **मानुषीः दुरः**=मनुष्य सम्बन्धी इन इन्द्रिय द्वारों को **वि आवः**=अन्धकार के घेरे से बाहिर करता है, अज्ञान के परदों से बाहिर ले आता है।

भावार्थ—हमें प्रातः उठकर उपासना से अविद्या पर्वत को विनष्ट करने के लिये यत्न करना चाहिये। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करना चाहिए।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अमति-श्री (रूप-ऐश्वर्य)

वि सूर्यो अमतिं न श्रियं सादोर्वाद् गवां माता जानती गात्।
धन्वर्णसो नद्य१ः खादोअर्णाः स्थूणेव सुमिता दृंहत द्यौः॥ २॥

(१) **सूर्यः**=निरन्तर गतिशील पुरुष **अमतिं न**=रूप की तरह **श्रियम्**=ज्ञानैश्वर्य को **वि सात्**=विशेषरूप से सेवित करता है। तेजस्विता से सम्पन्न शरीर रूप वाला प्रतीत होता है और इसका मस्तिष्क ज्ञान सम्पन्न होता है। **ऊर्वात्**=इन्द्रिय समूह से **गवां माता**=ये ज्ञान की वाणियों का निर्माण करनेवाली वेदवाणी **जानती**=इसे ज्ञान सम्पन्न करती हुई **आगात्**=प्राप्त होती है। अर्थात् इसकी इन्द्रियाँ निरन्तर स्वाध्याय प्रवृत्त होकर इसके ज्ञान को बढ़ानेवाली होती हैं। (२) **धन्वर्णसः**=(धन्वन्ति गच्छन्ति) ज्ञान-जलों के प्रवाहवाली **नद्यः**=ज्ञान-नदियाँ **खादो अर्णाः**=शत्रुभक्षक ज्ञानजलवाली होती हैं। ज्ञान से वासनारूप शत्रुओं का विनाश तो होता ही है। इस प्रकार ज्ञान नदियों के प्रवाहों के होने पर **स्थूणा इव**=गृह के आधारभूत स्तम्भ की तरह **सुमिता**=अच्छी प्रकार निर्मित हुआ-हुआ **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक **दृंहत**=दृढ़ होता है। यह मस्तिष्क जीवन का आधार बनता है।

भावार्थ—हम निरन्तर गतिशील बनकर तेजस्विता व ज्ञानैश्वर्य का सम्पादन करें। यह ज्ञान वासनाओं का विनाश करेगा और हमारे मस्तिष्क रूप द्युलोक को दृढ़ बनायेगा।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अविद्या पर्वत का विचलन

अस्मा उक्थाय पर्वतस्य गर्भो महीनां जनुषे पूर्व्याय।
वि पर्वतो जिहीत साधत द्यौराविवासन्तो दसयन्त भूम॥ ३॥

(१) **अस्मै**=इस **महीनां जनुषे**=महनीय स्तुतियों के उत्पन्न करनेवाले **उक्थाय**=स्तोता के लिये **पर्वतस्य**=अविद्या पर्वत का **गर्भः**=मध्य भाग, मध्य भाग ही क्या? **पर्वतः**=अविद्या पर्वत ही **विजिहीत**=विचलित हो जाता है। **पूर्व्याय**=पूर्व विद्वानों के उपदेश से इस स्तोता का अज्ञान नष्ट हो जाता है। जब हम प्रभु की स्तुति की वृत्तिवाले बनते हैं तो हमारा अज्ञान नष्ट होने लगता है और प्रकाश की वृद्धि होती चलती है। यह अज्ञान के नष्ट होने का प्रारम्भ ही यहाँ 'अविद्या पर्वत के गर्भ का हिलना' कहलाया है तथा धीमे-धीमे यह पर्वत ही विचलित हो जाता है। (२)

इस स्तोता के लिये **द्यौः साधत**=प्रकाश सिद्ध होता है। **आविवासन्तः**=सदा प्रभु की परिचर्या करते हुए ये लोग **भूम**=खूब ही **दसयन्त**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का विनाश करते हैं।

भावार्थ—स्तोता के लिये अविद्या पर्वत का विनाश होकर प्रकाश प्राप्त होता है। इस प्रकाश में काम-क्रोध आदि का विलोप हो जाता है।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्र-अग्नि' का स्तवन

सूक्तेभिर्वो वचोभिर्देवजुष्टैरिन्द्रा न्व१ग्नी अवसे हुवध्यै।
उक्थेभिर्हि ष्मा कवयः सुयज्ञा आविवासन्तो मरुतो यजन्ति॥ ४॥

(१) 'इन्द्र' बल का प्रतीक है, 'अग्नि' प्रकाश था। मैं **नु**=अब **इन्द्रा अग्नी**=इन्द्र व अग्नि को **देवजुष्टैः**=देवों से सेवित **वः**=आपके, इन्द्राग्नी के **सूक्तेभिः वचोभिः**=उत्तम स्तुति-वचनों से **हुवध्यै**=पुकारता हूँ। **अवसे**=अपने रक्षण के लिये मैं इन्द्र और अग्नि का आराधन करता हूँ। शक्ति व प्रकाश ही जीवन की रक्षा के लिये आवश्यक तत्त्व हैं। (२) **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **आविवासन्तः**=परिचर्या करते हुए **कवयः**=ज्ञानी, **सुयज्ञाः**=उत्तम यज्ञोंवाले लोग **मरुतः**=प्राणसाधक अथवा मितरावी पुरुष **हि ष्मा**=निश्चय से **जयन्ति**=इन्द्र और अग्नि का अपने साथ सम्पर्क करते हैं। मस्तिष्क को ज्ञान प्राप्ति में लगाना, हाथों का यज्ञों में प्रवृत्त रखना, मन को प्राणसाधना से स्थिर करना ही मार्ग है जिससे कि हम अपने जीवनों में शक्ति व प्रकाश को भरते हैं।

भावार्थ—'हम 'कवि, सुयज्ञ व मरुत' बनकर अपने जीवनों को शक्ति व प्रकाश से परिपूर्ण करते चलें' यही अपने रक्षण का मार्ग है।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

क्या करें, किधर चलें?

एतो न्व१द्य सुध्यो३ भवाम प्र दुच्छुना मिनवामा वरीयः।
आरे द्वेषांसि सनुतर्दधामायाम प्राञ्चो यजमानमच्छ॥ ५॥

(१) **नु**=अब, **अद्य**=आज **एत उ**=आओ ही, **सुध्यः**=उत्तम ध्यानवाले व उत्तम बुद्धियोंवाले **भवाम**=हों **दुच्छुना**=दुरितों को (दुः=शुन=गतौ) दुष्ट आचरणों को **वरीयः**=अत्यन्त **प्र मिनवाम**=नष्ट कर डालें। दुरितों को अपने से दूर भगा दें। (२) **द्वेषांसि**=द्वेष की भावनाओं को **आरे**=सुदूर **सनुतः**=अन्तर्हित रूप में **दधाम**=स्थापित करें, ये हमारे तक लौट ही न सकें। इस प्रकार निर्द्वेष होकर **यजमानं अच्छ**=उस सृष्टि यज्ञ के महान् होता प्रभु की ओर **प्राञ्चः**=आगे और आगे बढ़ते हुए **अयाम**=गतिवाले हों।

भावार्थ—सुधी बनकर बुराइयों को दूर करें। द्वेषों को परे फेंक कर प्रभु की ओर चलें।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या माताँ ऋणुत व्रजं गोः।
यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्॥ ६॥

(१) हे **सखायः**=मित्रो! **एता**=आओ, **धियं कृणवाम**=हम बुद्धि का सम्पादन करें।

या=जो बुद्धि **मातान्**=ज्ञान का निर्माण करनेवाले **गोः व्रजम्**=ज्ञानेन्द्रिय समूह को **अप ऋणुत**=वासना के आवरण से दूर करती है। वासना के आवरण के हटने पर ही इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति का साधन बनती हैं। (२) हम उस बुद्धि का सम्पादन करें **यया**=जिससे कि **मनुः**=ज्ञानी पुरुष **विशिशिप्रम्**=वृत्र को, सदा हनुओं में, जबड़ों में ही प्रविष्ट, हर समय खान-पान की वृत्तिवाली इस वासना को **जिगाय**=पराजित करता है। **यया**=जिस बुद्धि से **वङ्कुः**=गतिशील **वणिक्**=व्यवहारी पुरुष **पुरीषम्**=पालक व पूरक धन को **आप**=प्राप्त करता है।

भावार्थ—उस बुद्धि का हम सम्पादन करें जिससे कि ब्राह्मण बनकर ज्ञानेन्द्रिय समूह को वासना के आवरण से रहित करके हम ज्ञानवृद्धि को करें, क्षत्रिय होते हुए वासनारूप शत्रुओं को पराजित करें, तथा वैश्य होते हुए पुरुषार्थ से धन का सम्पादन करें।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हस्त-यतः अद्रिः अनूनोत्

अनू॑नो॒दत्र॒ हस्त॑यतो॒ अद्रि॑रार्च॒न्येन॒ दश॑ मा॒सो नव॑ग्वाः।
ऋ॒तं य॒ती स॒रमा॒ गा अ॑विन्द॒द्विश्वा॑नि स॒त्याङ्गि॑राश्चकार॥ ७॥

(१) **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **हस्तयतः**=संयत हाथोंवाला, अर्थात् संयमपूर्वक कर्मों को करनेवाला **अद्रिः**=उपासक (one who adores) **अनूनोत्**=प्रभु का स्तवन करता है। स्तोता के सब कार्य बड़े संयमपूर्वक किये जाते हैं। यह संयमपूर्वक कार्यों को करना वह मार्ग है **येन**=जिससे **नवग्वाः**=स्तुत्य गतियोंवाले **दश मासः**=दसों इन्द्रियों से उस-उस कर्त्तव्य को मापनेवाले, नपे-तुले कार्यों को करनेवाले, **आर्चन्**=प्रभु की अर्चना करते हैं। (२) इन उपासकों की **सरमा**=सब ज्ञानों में विचरण करनेवाली बुद्धि **ऋतं यती**=सत्यमार्ग पर चलती हुई, सत्य की ओर जाती हुई, **गाः अविन्दत्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करती है। **अंगिराः**=यह अंग-प्रत्यंग में रसवाला उपासक **विश्वानि सत्या चकार**=अपने सब कर्मों को इस बुद्धि के द्वारा सत्ययुक्त करता है, इसका कोई कर्म असत्य नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु की उपासना संयमयुक्त कर्मों द्वारा होती है। इन उपासकों की बुद्धि सत्यज्ञान को प्राप्त करती हुई, इनके सब कर्मों को भी सत्य कर देती है।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उषा का उदय व स्वाध्याय

विश्वे॑ अ॒स्या व्यु॒षि माहि॑नायाः॒ सं यद् गोभि॒रङ्गि॑रसो॒ नव॑न्त।
उत्स॑ आसां पर॒मे स॒धस्थ॑ ऋ॒तस्य॑ प॒था स॒रमा॑ विद॒द् गाः॥ ८॥

(१) **विश्वे**=सब **अंगिरसः**=गतिशील पुरुष (अगि गतौ) **अस्याः**=इस **माहिनायाः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उषा के **व्युषि**=उदित होने पर अन्धकार को दूर करने पर **यद्**=जब **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **सं नवन्त**=संगत होते हैं, तो **आसाम्**=इन ज्ञानवाणियों का **उत्सः**=ज्ञानदुग्ध का उत्स्राव (बहाव) इन अंगिरसों को **परमे सधस्थे**=सर्वोत्कृष्ट सहस्थान में, परमात्मा व जीवात्मा के मिलकर रहने के स्थान में ले जानेवाला होता है। अंगिरा लोग प्रातः उठकर स्वाध्याय में प्रवृत्त होते हैं। यह स्वाध्याय उन्हें प्रभु के समीप प्राप्ति में सहायक होता है। (२) इन अंगिरसों की **सरमा**=बुद्धि **ऋतस्य पथा**=ऋत के मार्ग से **गाः**=इन ज्ञानवाणियों को **विदत्**=प्राप्त करती है। 'ऋत का पथ' यही है कि सब कार्यों को सूर्य व चन्द्रमा की गति के अनुसार नियम से करना।

यह नियमितता हमारी बुद्धि को तीव्र बनाती है और हमें ज्ञान के उपादान में क्षम करती है।

भावार्थ—हम उषा के होते ही स्वाध्याय प्रवृत्त होकर, सब कार्यों को नियमित गति से करते हुए, ज्ञान प्राप्ति में लगें।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'स्वाध्याय व सोमरक्षण' द्वारा दीप्त जीवन

आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः क्षेत्रं यदस्योर्विया दीर्घयाथे ।
रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा युवा कविर्दीदयद् गोषु गच्छन् ॥ ९ ॥

(१) **सप्ताश्वः**=सर्पणशील (क्रियाशील) इन्द्रियाश्वोंवाला **सूर्यः**=यह गतिशील पुरुष **आयातु**=प्रभु के समीप प्राप्तिवाला हो। **यद्**=जब **अस्य**=इसका **क्षेत्रम्**=ज्ञान का क्षेत्र **उर्विया**=विस्तृत और विस्तृत होता जाता है। **दीर्घयाथे**=इस लम्बी जीवन-यात्रा में, दीर्घजीवन में यह **रघुः**=शीघ्रगतिवाला होता है और **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला होता है। यह स्फूर्तिमयी उत्तम गति उसे प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। (२) **अन्धः अच्छा**=शरीरस्थ सोमशक्ति की ओर **पतयत्**=गतिवाला होता हुआ यह **युवा**=दोषों को अपने से दूर करनेवाला व अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाला होता है। **कविः**=क्रान्तदर्शी होता हुआ, **गोषु गच्छन्**=ज्ञान की वाणियों में गति करता हुआ, स्वाध्याय में प्रवृत्त होता हुआ यह **दीदयत्**=दीप्त होता है। दीप्त जीवनवाला बनकर ही तो यह उस दीप्त प्रभु को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—हम स्वाध्याय द्वारा उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ायें। सोमरक्षण द्वारा उत्तम बुद्धि व गतिवाले होकर दीप्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः:** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'क्रियाशीलता व अन्तर्मुखी वृत्ति' द्वारा ज्ञान प्राप्ति

आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णोऽयुक्त यद्धरितो वीतपृष्ठाः ।
उद्ना न नावमनयन्त धीरा आशृण्वतीरापो अर्वागतिष्ठन् ॥ १० ॥

(१) **सूर्यः**=यह गतिशील पुरुष **शुक्रम्**=शुद्ध **अर्णः**=ज्ञानजल पर **आ अरुहत्**=आरूढ़ होता है, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान का अधिष्ठाता बनता है। इसलिये ज्ञान को प्राप्त कर पाता है, **यत्**=क्योंकि **वीतपृष्ठाः**=कान्त पृष्ठवाले, तेजस्वी, **हरितः**=इन्द्रियाश्वों को **अयुक्त**=यह शरीर-रथ में जोतता है। इन्द्रियों को निर्मल बनाकर क्रियाशील बने रहें, तो ज्ञानेन्द्रियाँ हमें उत्कृष्ट ज्ञान को क्यों न प्राप्त करायेंगी? (२) **उद्ना न नावम्**=जैसे उदक के हेतु से, पानी को पार करने के हेतु से **नावम्**=नाव को **अनयन्त**=प्राप्त कराते हैं, इसी प्रकार **धीराः**=ज्ञान में रमण करनेवाले लोग (धिवि रमते) तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में प्राप्त कराते हैं। इनके द्वारा ही वे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले होते हैं। इस प्रकार ज्ञान प्रवृत्तिवाले **आपः**=लोग (आपो वै नरसूनवः) **आशृण्वतीः**=हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणाओं को सुनते हुए, **अर्वाग् अतिष्ठन्**=अन्तर्मुख वृत्तिवाले होकर ठहरते हैं। ये सदा ध्यान की वृत्तिवाले बनकर ही तो वस्तुतः ज्ञान को प्राप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—हम गतिशील बनकर निर्मल इन्द्रियों को शरीर-रथ में जोतनेवाले बनें। इस प्रकार क्रियाशील बनकर ही हम ज्ञान को प्राप्त कर पायेंगे। अन्तर्मुखी वृत्ति भी इस ज्ञान प्राप्ति में सहायक होती है।

ऋषिः—**सदापृण आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उत्कृष्ट बुद्धि

धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन्दश मासो नवग्वाः।
अया धिया स्याम देवगोपा अया धिया तुतुर्यामात्यंहः॥ ११॥

(१) मैं **वः**=तुम्हारे लिये **अप्सु**=कर्मों में **स्वर्षाम्**=प्रकाश को देनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **दधिषे**=धारण करता हूँ उस बुद्धि को देता हूँ जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक करने में समर्थ होती है। उस बुद्धि को मैं तुम्हारे लिये देता हूँ **यया**=जिससे कि **नवग्वाः**=स्तुत्य गतिवाले (नु स्तुतौ) **दशमासः**=दस इन्द्रियों को (मीयन्ते विषयाः यैः) **अतरन्**=तैर जाते हैं। इस बुद्धि के द्वारा, मनीषा के द्वारा मन का शासन करते हुए वे इन्द्रियों का दमन कर पाते हैं। (२) **अया धिया**=इस बुद्धि के द्वारा हम **देवगोपाः**=दिव्यगुणों के रक्षक हों और **अया धिया**=इस बुद्धि के द्वारा **अंहः**=पाप को **अतितुतुर्याम**=तैर जाएँ। बुद्धि हमें दिव्य गुणों के रक्षण के योग्य बनायेगी और पापों से हमें पार करेगी।

भावार्थ—प्रभु हमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेकक्षम बुद्धि देते हैं। इससे हम (क) इन्द्रियों को वश में कर पाते हैं, (ख) दिव्य गुणों का रक्षण करते हैं और (ग) पाप से पार हो जाते हैं।

इस बुद्धि के द्वारा सब पापों से मोर्चा लेनेवाले व उनसे मुकाबिला करनेवाले हम 'प्रतिक्षत्र' बनते हैं। 'प्रतिक्षत्र' बनकर 'आत्रेय' तो होते ही हैं, 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों से दूर। इस प्रतिक्षत्र का जीवन इस प्रकार का होता है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

निरन्तर क्रियाशीलता

हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि तां वहामि प्रतरणीमवस्युवम्।
नास्या वश्मि विमुचं नावृतं पुनर्विद्वान्पथः पुरएत ऋजु नेषति॥ १॥

(१) **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **हयः न**=गतिशील अश्व के समान स्वयं **धुरि अयुजि**=अपने आप प्रसन्नता से कार्य में युक्त होता है। कार्यधुरा में अपने को प्रसन्नतापूर्वक जोतता है। मैं भी **ताम्**=उस कार्यधुरा को **वहामि**=धारण करता हूँ। यह **प्रतरणीम्**=मुझे तरानेवाली है और **अवस्युवम्**=मेरे रक्षण की कामनावाली है। (२) मैं **अस्याः**=इस कर्त्तव्य धुरा के **न विमुचम्**=न तो खोलने को व न पुनः **आपृतम्**=न ही फिर-फिर धारण करने को **वश्मि**=चाहता हूँ। बारम्बार कार्य को छोड़ देना व फिर शुरु करना मैं नहीं चाहता। मैं तो कर्त्तव्यकर्म को करता ही हूँ। **विद्वान्**=वह ज्ञानी प्रभु **पुरः एता**=हमारा पुरतो गन्ता होता है, मार्गदर्शक होता है और वह **पथः**=मार्गों को **ऋजु**=(अकुटिलं यथा स्यात्तथा) अकुटिलता के साथ **नेषति**=प्राप्त कराता है। अर्थात् हमें सरल मार्गों से ले चलता है।

भावार्थ—निरन्तर कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहना ही विषय-वासनाओं के समुद्र से तैरने व अपना रक्षण करने का मार्ग है। प्रभु ही हमारे मार्ग-दर्शक हों, हमें छलछिद्र शून्य सरल जीवन को प्राप्त करायें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सबल व ज्ञान प्रधान' जीवन

अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो।
उभा नासत्या रुद्रो अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप, **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्, **वरुण**=पापनिवारक, **मित्र**=प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले प्रभो! **देवाः**=हे दिव्य वृत्तिवाले पुरुषो! **शर्धः**=बल को **प्रयन्त**=(प्रापयत) प्राप्त कराओ। **मारुत**=हे प्राणसमूह, **उत**=और **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! आप हमारे लिये बल को दीजिये। वास्तविक शक्ति लाभ के लिये 'अग्नि' आदि नामों से सूचित भावनाओं को अपने में धारण करना आवश्यक है। हम आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों दिन व दिन अपने प्रकाश को बढ़ायें (अग्नि), जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र), पापों से दूर हों (वरुण), नीरोग बनें (मित्र) दिव्य भावनाओंवाले हों (देवाः), प्राणसाधना करें (मारुत) और हृदय को कुछ विशाल बनायें (विष्णु)। यही शक्ति प्राप्ति का मार्ग है। (२) **उभा नासत्या**=दोनों अश्विनी देव, प्राण और अपान **जुषन्त**=हमारे साथ प्रीतिवाले हों, अर्थात् हम प्राणसाधना करें। **रुद्रः**=सब रोगों को दूर भगानेवाला प्रभु हमारे साथ प्रीतिवाला हो, हम पूर्ण नीरोग बनें। **अध**=अब **ग्नाः**=ये छन्दोमयी वेदवाणियाँ हमारे लिये प्रीतिवाली हों, हम इनके स्वाध्याय में रुचिवाले हों। **पूषा भगः**=पोषक ऐश्वर्य हमारे प्रति प्रीतिवाला हो, अर्थात् हम उतना धन अवश्य प्राप्त करें जो हमारे पोषण के लिये आवश्यक हो। **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता हमारे प्रति प्रीतिवाली हो। हमारा जीवन ज्ञान प्रधान हो।

भावार्थ—हम अग्नि आदि देवों की भावना को जीवन में धारण करते हुए सबल बनें। प्राणायाम के द्वारा नीरोग व ज्ञान-सम्पन्न बनें। पोषण के लिये पर्याप्त धन का अर्जन करते हुए ज्ञानप्रधान जीवनवाले हों।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सत्रह देवों का आह्वान

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिं स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ अपः।
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शंसं सवितारमूतये॥ ३॥

(१) मैं **ऊतये**=अपने रक्षण के लिये **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवों को **हुवे**=पुकारता हूँ। इन्द्र की उपासन करता हुआ अपने को सबल बनाता हूँ, अग्नि की उपासना से अपने जीवन को प्रकाशमय। इन्द्राग्नी की उपासना के बाद मैं **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण को पुकारता हूँ। सामाजिक जीवन में 'मित्र' की उपासना करता हुआ सब के प्रति प्रेमवाला होता हूँ और 'वरुण' की आराधना करता हुआ द्वेष का निवारण करता हूँ। 'स्नेह व निर्द्वेषता' मेरे सामाजिक जीवन का सूत्र बन जाता है। **अदितिं**=मैं अदिति, स्वास्थ्य को अखण्डन का उपासक बनता हूँ और **स्वः**=प्रकाश का आराधक होता हूँ। 'शरीर स्वस्थ व मस्तिष्क प्रकाशमय' यही तो आदर्श पुरुष का लक्षण है। **पृथिवीं द्याम्**=शरीर रूप पृथिवी को मैं पुकारता हूँ, तो मस्तिष्क रूप द्युलोक का भी पूरा ध्यान करता हूँ। (२) **मरुतः**=प्राणों को **पर्वतान्**=अंग-प्रत्यंग में शक्ति के पूरण को (पर्व to fill) तथा **अपः**=रेतःकणों को पुकारता हूँ। प्राणसाधना से ही रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है और सब अंग शक्ति से परिपूर्ण बनते हैं। अपने को शक्ति से परिपूर्ण बनाकर **विष्णुम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को पुकारता हूँ। व्यापक प्रभु की उपासना करते हुए व्यापक बनने का प्रयत्न करता

हूँ। **पूषणम्**=सर्वपोषक प्रभु का उपासन करता हुआ पोषण करनेवाला होता हूँ। **ब्रह्मणस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी को पुकारता हुआ ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। **भगम्**=ऐश्वर्यवाले प्रभु का उपासन करता हुआ सत्पथ से धनार्जन करता हूँ। **नु**=और निश्चय से **शंसम्**=उस स्तुत्य प्रभु का शंसन करता हूँ। यह शंसन ही मुझे अवद्य उपायों से धनार्जन से रोकेगा। अन्ततः इन सोलह देवों के आराधन के बाद मैं **सवितारम्**=उस प्रेरक प्रभु को पुकारता हूँ। यह प्रभु की प्रेरणा ही वस्तुतः मेरा रक्षण करेगी।

भावार्थ—हम सत्रह देवों का आह्वान करते हुए यजमान के रूप में अठारहवीं संख्या को पूरा करते हुए, जीवन यज्ञ का प्रणयन करें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कल्याण प्राप्ति व धनार्जन

उत नो विष्णुरुत वातो अस्रिधो द्रविणोदा उत सोमो मयस्करत्।
उत ऋभव उत राये नो अश्विनोत त्वष्टोत विभ्वानु मंसते ॥ ४ ॥

(१) **उत**=और **विष्णु**=यह सर्वव्यापक प्रभु **नः**=हमारे लिये **मयः करत्**=कल्याण को करें। **उत**=और **वातः**=निरन्तर क्रियाशील वायु **अस्रिधः**=अहिंसक होती हुई हमारा कल्याण करे। **द्रविणोदाः**=धन का दाता वह प्रभु कल्याण करें। **उत**=और **सोमः**=शान्त प्रभु हमारा कल्याण करे। वस्तुतः कल्याण के लिये 'हृदय की उदारता (विष्णु) क्रियाशीलता (वात) दानवृत्ति (द्रविणोदा) तथा शान्त स्वभाव (सोमः)' की आवश्यकता है। (२) **उत**=और **ऋभवः**=ऋत के द्वारा दीप्त होनेवाले देव **राये**=ऐश्वर्य के लिये **नः**=हमें **अनुमंसते**=(अनुमन्यन्ताम्) अनुकूल मति दें। ऋभु बनकर हम धनार्जन करें। **उत**=और **अश्विना**=प्राणापान हमें धन के लिये अनुकूल बुद्धि प्राप्त करायें। प्राणसाधना हमें धनार्जन के योग्य करे। **उत**=और **त्वष्टा**=निर्माण की देवता हमें धन के लिये अनुमति दे। निर्माण करते हुए हम धन कमायें। **उत**=और **विभ्वा**=विशिष्ट सामर्थ्यवाला देव हमें धनार्जन के लिये क्षम करे।

भावार्थ—हम 'व्यापक, क्रियाशील, त्यागवृत्ति व शान्त' बनकर कल्याम को प्राप्त करें। 'ऋत से दीप्त=व्यवस्थित जीवनवाले, प्राणसाधक, निर्माता या विशिष्ट सामर्थ्यवाले बनकर धनार्जन करें।'

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

बृहस्पति-पूषा

उत त्यन्नो मारुतं शर्ध आ गमद्दिविक्षयं यजतं बर्हिरासदे।
बृहस्पतिः शर्म पूषोत नो यमद्वरूथ्यं१ वरुणो मित्रो अर्यमा ॥ ५ ॥

(१) **उत**=और **नः**=हमारे लिये **त्यत्**=वह प्रसिद्ध **मारुतं शर्धः**=प्राणसम्बन्धी बल **आगमत्**=प्राप्त हो। प्राणसाधना द्वारा प्राप्त होनेवाला बल हमें मिले। वह बल जो **दिविक्षयम्**=ज्ञान के प्रकाश में निवास करनेवाला है, अर्थात् जो बल ज्ञान के प्रकाश से युक्त है और अतएव **यजतम्**=आदरणीय व संगतिकरण योग्य है। जो बल **बर्हिः आसदे**=वासना शून्य हृदय में निवास के लिये होता है। (२) **बृहस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु **नः**=हमारे लिये **वरूथ्यम्**=सब कष्टों के निवारण में उत्तम **शर्म**=कल्याण को **यमत्**=दें **उत**=और **पूषा**=पोषण की देवता हमारे लिये कल्याण को प्राप्त कराये। अर्थात् उस कल्याणयुक्त स्थिति में हम सदा रहें जहाँ मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण है और शरीर के सब अंग-प्रत्यंग ठीक पुष्ट हैं। अब **वरुणः मित्रः अर्यमा**=द्वेष निवारण की

देवता, स्नेह की देवता तथा शत्रुओं के नियमन (अरीन् यच्छति) की देवता हमारा कल्याण करे। हम 'निर्द्वेष, स्नेहपूर्ण व संयमी' बनकर सुखी हों।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम ज्ञान व पवित्रता से युक्त बल को प्राप्त करें। हमारा मस्तिष्क ज्ञान से तथा शरीर उचित पोषण से मुक्त हो। हमारा जीवन 'स्नेह, निर्द्वेषता व संयम' वाला हो।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पर्वतासः-नद्यः

उत त्ये नः पर्वतासः सुशस्तयः सुदीतयो नद्य१स्त्रामणे भुवन्।
भगो विभक्ता शवसावसा गमदुरुव्यचा अदितिः श्रोतु मे हवम्॥ ६ ॥

(१) **उतः**=और **त्ये**=वे **पर्वतासः**=अपने में ज्ञान का पूरण करनेवाले आचार्य **नः**=हमारे लिये **सुशस्तयः**=ज्ञानों का उत्तम शंसन करनेवाले हों। **सुदीतयः**=उत्तम ज्ञान को देनेवाली **नद्यः**=ज्ञान-नदियाँ **त्रामणे**=हमारे रक्षण के लिये **भुवन्**=हों। उत्कृष्ट आचार्यों से उत्कृष्ट ज्ञान को हम प्राप्त करें। (२) **विभक्ता**=संविभाग को करनेवाला **भगः**=ऐश्वर्य का अधिष्ठातृदेव **शवसा**=बल के साथ व **अवसा**=रक्षण के साथ **आगमत्**=हमें प्राप्त हो। अर्थात् हमें ऐश्वर्य मिले। उस ऐश्वर्य का हम संविभागपूर्वक सेचन करनेवाले हों और इस प्रकार हमारा बल बढ़े और हम विषयों से बचे रहें। (३) **उरुव्यचाः**=सब अंगों की शक्ति के खूब (उस) विस्तारवाली (व्यचस्) **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता **मे हवम्**=मेरी पुकार को **श्रोतु**=सुने, अर्थात् मैं खूब स्वस्थ बनूँ।

भावार्थ—हम ज्ञानी आचार्यों से ज्ञान को प्राप्त करें। संविभागपूर्वक धनों का सेवन करें। स्वस्थ रहें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**देवपत्न्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तुजये वाजसातये

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत॥ ७ ॥

(१) **उशतीः**=हमारे हित की कामना करती हुईं **देवानां पत्नीः**=देवों की पत्नियाँ **नः अवन्तु**=हमारा रक्षण करें। देवों की पत्नियाँ 'देवशक्तियाँ' ही हैं, ये हमारा कल्याण करें। ये **नः**=हमारा **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण रक्षण करें और **तुजये**=वासनाओं के संहार के लिये हों तथा **वाजसातये**=शक्ति के लाभ के लिये हों। (२) **याः**=जो भी **देवीः**=देवपत्नियाँ **पार्थिवासः**=पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं, इस स्थूल शरीररूप पृथिवी के भिन्न-भिन्न भुवनों (अंगों) में कार्य करनेवाली हैं, **याः**=वे **नः**=हमारे लिये **सुहवाः**=सुगमता से पुकारने के योग्य हों। **याः**=जो **देवीः**=दिव्यशक्तियाँ **अपाम्**=रेतःकणों के **व्रते अपि**=रक्षणात्मक व्रत में निवास करनेवाली हैं, वे हमारे लिये **शर्म यच्छत**=सुख को दें। रेतःकणों का रक्षण करती हुई वे हमें सुखी बनायें।

भावार्थ—दिव्य गुणों का धारण हमारे जीवन में वासनाओं का संहार करे और हमें शक्ति-सम्पन्न बनाये। हम शरीर के अंग-प्रत्यंगों को ठीक रखते हुए रेतःकणों का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्र आत्रेयः** ॥ देवता—**देवपत्न्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

देवपत्नियों का आगमन

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ ८ ॥

(१) **उत**=और **ग्राः**=छन्दोमयी वेदवाणियाँ जो **देवपत्नीः**=देव पुरुषों की पत्नियों के समान हैं, वे **व्यन्तु**=हमारे जीवन में दीप्त हों (वी to shine)। **इन्द्राणी**=इन्द्र पत्नी, **अग्नायी**=अग्निपत्नी, **अश्विनी**=अश्विदेवों की पत्नी **राट्**=राजमाना हो। इन्द्र, अग्नि, अश्विदेवों की शक्ति हमारे जीवन में दीप्त हो। इन्द्र बनकर हम बल के कर्मों को करनेवाले हों, सब आसुरभावों का संहार कर सकें। अग्नि बनकर अपने जीवन को प्रकाशमय बनायें। अश्विदेवों की आराधना से हम प्राणशक्ति-सम्पन्न हों। (२) **रोदसी**=रुद्र पत्नी, **वरुणानी**=वरुण की पत्नी **आश्रृणोतु**=हमारी पुकार को सुनो। 'रुद्र' रोगों का द्रावण करनेवाला है तथा 'वरुण' पापों का निवारण करनेवाला है। हमारे जीवन में न रोग हों, न पाप हों। इस प्रकार **देवीः**=ये सब देवपत्नियाँ **व्यन्तु**=हमारे जीवनों में दीप्त हों। हमारे जीवन में **जनीनाम्**=इन देवपत्नियाँ का **यः ऋतुः**=जो काल है, वह दीप्त हो। अर्थात् हमारे जीवन में वह समय आये जब ये सब देवपत्नियाँ हमारे जीवन को शोभायमान करें।

भावार्थ—हमारा जीवन छन्दोमयी वेदवाणियों से तथा दिव्यशक्तियों से सुशोभित हो।

देवपत्नियों से जीवन को अलंकृत करके यह 'प्रतिरथ' बनता है, सब शत्रुओं से मुकाबिला करने में समर्थ होता है। शत्रुओं को जीतकर यह 'आत्रेय' होता है। यह वेदमाता को पुकारता हुआ कहता है कि—

अथ चतुर्थाष्टके तृतीयोऽध्यायः

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषा का आगमन

प्रयुञ्जती दिव एति ब्रुवाणा मही माता दुहितुर्बोधयन्ती।
आविवासन्ती युवतिर्मनीषा पितृभ्य आ सदने जोहुवाना॥ १॥

(१) हमारे जीवनों में यह उषा **एति**=आती है। **प्रयुञ्जती**=हमें यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगाती हुई, **दिवः ब्रुवाणा**=ज्ञान का उपदेश करती हुई, **मही**=उपासनामयी (मह पूजायाम्), **माता**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाली, **दुहितुः**=प्रभु की दुहिता इस वेदवाणी का **बोधयन्ती**=बोध प्राप्त कराती हुई यह उषा आती है। अर्थात् हम उषा में जागरित होकर यज्ञ आदि उत्तम कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, स्वाध्याय करते हैं, प्रभु की उपासना में लगते हैं। (२) **आविवासन्ती**=हमारे जीवनों से अन्धकार को दूर करती हुई, यह उषा **युवतिः**=बुराइयों को पृथक् करती है और अच्छाइयों को हमारे साथ मिलाती है। यह उषा **मनीषा**=मननपूर्वक प्रभु स्तवन करती हुई (स्तुतिमती सा०) **पितृभ्यः**=कर्मों के पालक पुरुषों के लिये **सदने**=गृह में **आजोहुवाना**=पुकारी जाती है। इस उषा के आने पर ही ये रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले लोग कर्मप्रवृत्त हुआ करते हैं।

भावार्थ—उषा होते ही हम उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों, प्रभु की उपासना में लगें, स्वाध्याय का आरम्भ करें। इस प्रकार प्रवृत्त होने पर ही हम पितृकोटि में प्रविष्ट होनेवाले होंगे।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पितृकोटि के पुरुषों का लक्षण

अजिरासस्तदप ईयमाना आतस्थिवांसो अमृतस्य नाभिम्।
अनन्तास उरवो विश्वतः सीं परि द्यावापृथिवी यन्ति पन्थाः॥ २॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार पितृकोटि में पहुँचनेवाले लोग **अजिरासः**=(agile) क्रियाशील होते हैं। **तद् अपः ईयमानाः**=उस-उस कर्म के प्रति गतिवाले होते हैं, समयानुसार प्राप्त कर्म को करनेवाले होते हैं। **अमृतस्य नाभिम्**=अमृत के केन्द्र प्रभु में **आतस्थिवांसः**=स्थित होनेवाले होते हैं। प्रभु स्मरणपूर्वक कर्मों को करते हैं। (२) **अनन्तासः**=कर्मों को बीच में ही समाप्त नहीं कर देते, सदा कर्म प्रवृत्त रहते हैं। **उरवः**=विशाल हृदय होते हैं। कर्मों को उदार हृदय से करते हैं। 'उदार धर्ममित्याहुः' इस बात को भूलते नहीं कि संकोच में अपवित्रता है, उदारता ही धर्म है। ये **पन्थाः**=पतनशील-क्रियाशील होते हुए **सीम्**=निश्चय से **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीर रूप पृथिवी के **परियन्ति**=चारों ओर गति करनेवाले होते हैं। इस बात का सदा ध्यान करते हैं कि उनके किसी कर्म का उनके मस्तिष्क व शरीर पर अवाञ्छनीय प्रभाव न हो। उनके सब कार्य शरीर को तेजस्वी व मस्तिष्क को दीप्त बनानेवाले होते हैं। संक्षेप में, इन पितरों का जीवन क्रियाशील कर्त्तव्यपरायण होता है, प्रभु का इन्हें विस्मरण नहीं होता। कार्यों को बीच में छोड़ देनेवाले नहीं होते। विशाल हृदयता से कर्म करते हुए ये शरीर व मस्तिष्क दोनों को तेज व ज्ञान से दीप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु स्मरणपूर्वक अपने कर्त्तव्य कर्मों को सदा करनेवाले बनें। हमारे कर्म इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए हों कि उनसे हमारा शरीर तेजस्वी व मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बने।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आदर्श पुरुष

उक्षा स॑मु॒द्रो अ॑रु॒षः सु॑प॒र्णः पूर्व॑स्य॒ योनिं॑ पि॒तुरा वि॑वेश।
मध्ये॑ दि॒वो निहि॑तः॒ पृश्नि॒रश्मा॒ वि च॑क्रमे॒ रज॑सस्पा॒त्यन्तौ॑ ॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार पितृकोटि में प्रवेश करनेवाला और ऊँचा उठ करके 'देव' बनता है। यह **उक्षा**=शक्ति का शरीर में सेचन करनेवाला होता है। यह शरीर में शक्ति का रक्षण ही इसकी सम्पूर्ण उन्नति का मूल है। इस शक्ति रक्षण के कारण यह **समुद्रः**=ज्ञान का समुद्र बनता है अथवा 'स-मुद्' सदा आनन्दमयी वृत्तिवाला होता है। **अरुषः**=क्रोध रहित होता है। **सुपर्णः**=उत्तमता से अपना पालन व पूरण करता है। **पूर्वस्य पितुः**=परमपिता-सर्वमुख्य पिता, प्रभु के **योनिं आविवेश**=गृह में प्रवेश करनेवाला होता है, अर्थात् सब ब्रह्म में निवास करता है। (२) **दिवः मध्ये निहितः**=यह सदा ज्ञान के प्रकाश के मध्य में स्थित होता है, प्रतिक्षण ज्ञान प्राप्ति में लगा होता है। **पृश्निः**=(संस्पृष्टो मासा नि० २।१४) ज्ञान ज्योति से संस्पृष्ट होता है और **अश्मा**=शरीर में पत्थर के समान दृढ़ होता है। **विचक्रमे**=विशिष्ट गतिवाला होता है, सदा विक्रम के कार्यों को करनेवाला होता है। **रजसः**=रजोगुण के **अन्तौ**=सिरों को **पाति**=बचाता है, अर्थात् रजोगुण की एक सीमा तो वह है जहाँ से इसका प्रारम्भ होता है, नहीं अभी क्रिया न्यूनतम रूप में है। इसका दूसरा सिरा वह है जहाँ क्रिया अति उग्ररूप में है। यह क्रिया के न्यूनतम व उग्रतम दोनों रूपों को छोड़कर, दोनों से अपने को बचाकर, नपी-तुली क्रियावाला होता है। प्रत्येक कार्य को यह युक्तरूप में करता है।

भावार्थ—हम शक्ति का रक्षण करते हुए सदा ज्ञान की वृद्धि करें और शरीर को दृढ़ बनायें। आदर्श पुरुष का यही लक्षण है 'ज्ञानी-सुदृढ'। हमारी सब क्रियाएँ नपी-तुली हों।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिधातवः गावः

चत्वारं ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयन्ते।
त्रिधातवः परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परि सद्यो अन्तान्॥ ४॥

(१) **ईम्**=निश्चय से **चत्वारः**=चारों वेदों के मन्त्र (विचार) **क्षेमयन्तः**=कल्याण करते हुए इसका **बिभ्रति**=धारण करते हैं। **गर्भम्**='दिवः मध्येनिहितः' ज्ञान के बीच में गर्भरूप से रहनेवाले इस पुरुष को **चरसे**=संसार में ठीक विचरण के लिये **दश धापयन्ते**=दसों दिशाओं में स्थित पदार्थों के ज्ञानदुग्ध का पान कराते हैं। इन पदार्थों के ठीक ज्ञान से इसकी क्रियाएँ उत्तम होती हैं। (२) **परमाः गावः**=ये उत्कृष्ट वेदवाणियाँ या प्रभु का ज्ञान देनेवाली (परः मीयते याभिः) वेदवाणियाँ **अस्य**=इस गतमन्त्र के आदर्श पुरुष के **त्रिधातवः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का धारण करनेवाली होती हैं। इसके जीवन में **सद्यः**=शीघ्र ही ये **दिवः अन्तान्**=ज्ञान के अन्तिम तत्त्वों को **परिचरन्ति**=प्राप्त करानेवाली होती हैं। इसे ये वेदवाणियाँ तत्त्वज्ञानी बना देती हैं।

भावार्थ—चारों वेद पुरुष का धारण करते हैं। ये दसों दिशाओं का ज्ञान देकर उसको ठीक रूप में क्रियाशील बनाते हैं। ये वेदवाणियाँ 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का धारण करनेवाली होती हैं और ज्ञान के अन्तिम तत्त्वों को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नद्यः-आपः

इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।
द्वे यदीं बिभृतो मातुरन्ये इहेह जाते यम्या३ सबन्धू॥ ५॥

(१) **जनासः**=लोग **इदम्**=इस **निवचनम्**=स्तुत्य **वपुः**=शरीर की ओर **चरन्ति**=गतिवाले होते हैं। **यत्**=जिस शरीर को **नद्यः**=ज्ञान की नदियाँ तथा **आपः**=रेतःकण **तस्थुः**=अधिष्ठित करते हैं। वह शरीर ही वस्तुतः स्तुत्य है जिसमें कि ज्ञान व रेतःकणों की स्थिति होती है। (२) **द्वे**=ज्ञान व रेतःकण ये दोनों **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **बिभृतः**=धारण करते हैं तो **मातुः**=उस निर्माता के ये दोनों ही **अन्ये**=विलक्षण पदार्थ हैं **इह इह जाते**=ये दोनों शरीर व मस्तिष्क में (इस-इस स्थान में) विकसित होते हैं। **यम्या**=हैं ये युगल इकट्ठे ही रहनेवाले और **सबन्धू**=समानरूप से शरीर को बाँधनेवाले। इन दोनों के होने पर ही जीवन उत्तम होता है। जिस समय शरीर में ज्ञान व शक्ति मिलकर बन्धुभाव से रहते हैं, तो यह शरीर बड़ा स्तुत्य हो जाता है।

भावार्थ—हमारे शरीर में ज्ञान-नदियों के प्रवाह बहें और रेतःकण सुरक्षित हों तभी हमारा यह शरीर प्रशंसनीय रूपवाला होगा।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृषणो मोदमानाः

वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।
उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ॥ ६॥

(१) **अस्मा**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिये **धियः**=बुद्धियों को **अपांसि**=और कर्मों को **वितन्वते**=विस्तृत करते हैं, बुद्धिपूर्वक किये गये कर्म प्रभु-पूजन का साधन बनते हैं। जिस प्रकार

मातरः=माताएँ **पुत्राय**=पुत्र के लिये **वस्त्रा**=वस्त्रों को **वयन्ति**=बुनती हैं, उसी प्रकार उपासक प्रभु प्राप्ति के लिये बुद्धियों व कर्मों का विस्तार करता है। (२) **उपप्रक्षे**=उस प्रभु के सम्पर्क में ये **वृषणः**=शक्तिशाली बनते हैं और **मोदमानाः**=आनन्द का अनुभव करते हैं। **वह्वः**=कर्मों का वहन करनेवाले **दिवस्पथा**=ज्ञान के मार्ग से गति करते हुए **अच्छ यन्ति**=उस प्रभु की ओर जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये उपासक का मार्ग यही है कि बुद्धियों व कर्मों का विस्तार करे। बुद्धिपूर्वक कर्मों से ही प्रभु-पूजन होता है। प्रभु सम्पर्क से शक्ति व आनन्द की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**प्रतिरथ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शं योः गाधं प्रतिष्ठाम्

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय॥ ७॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! **तत्**=वह **शम्**=शान्ति **अस्तु**=हो। हमें स्नेह व निर्द्वेषता के धारण से शान्ति का लाभ हो। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तद्**=वह **योः**=भयों का यावन (अमिश्रण) **अस्तु**=हो। **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **इदम्**=यह शान्ति व निर्भयता का जीवन **शस्तं अस्तु**=प्रशंसनीय हो। (२) हम 'मित्र, वरुण व अग्नि' की आराधना करते हुए **गाधम्**=(प्रतिष्ठा) स्थिति को प्राप्त करें अथवा (लिप्सा) प्राप्त करने के लिये इष्ट वस्तु को **अशीमहि**=प्राप्त करनेवाले हों। **उत**=और **प्रतिष्ठाम्**=यश व कीर्ति को प्राप्त करें। इस प्रकार का जीवन बनाकर उस **दिवे**=प्रकाशमय **बृहते**=महान् **सादनाय**=आश्रय के लिये **नमः**=नमस्कार करें। यह प्रभु का स्मरण ही हमें निरभिमान बनायेगा।

भावार्थ—हम 'स्नेह, निर्द्वेषता व प्रगति की भावना' को धारण करें। इससे हमें शान्ति, निर्भयता, इष्टवस्तुलाभ व प्रतिष्ठा की प्राप्ति होगी। ऐसा होने पर निरभिमान बने रहने के लिये हम प्रभु के प्रति नतमस्तक हों।

यह प्रभु की उपासना से दीप्ति को प्राप्त करके 'प्रतिभानु' बनता है, दीप्त प्रत्येक इन्द्रियवाला। यह आत्रेय तो होता ही है, 'काम-क्रोध-लोभ' से दूर। यह प्रार्थना करता है—

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रतिभानुरात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तेजस्विता व प्रज्ञा

कदु प्रियाय धाम्ने मनामहे स्वक्षत्राय स्वयशसे महे वयम्।
आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आँ अपो वृणाना वितनोति मायिनी॥ १॥

(१) **कत् उ**=वह शुभ दिन कब होगा जब कि **वयम्**=हम **धाम्ने**=तेजस्विता के लिये **मनामहे**=स्तवन करेंगे? जो तेजस्विता **प्रियाय**=प्रीतिजनक है, **स्वक्षत्राय**=स्वयं क्षतों से त्राण करने में समर्थ है तथा **स्वयशसे**=अपने यश का कारण बनती है और **महे**=महनीय व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। (२) वह समय कब होगा **यत्**=जब **अभ्रे**=बादल के होने पर भी वासनारूप मेघों के प्रज्ञान सूर्य को आच्छादित करने पर भी **मायिनी**=यह प्रज्ञावती बुद्धि (मायाः प्रज्ञा) **आमेन्यस्य**=समन्तात् मातव्य, जिसका अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना चाहिए उस **रजसः**=लोक समूह के **अपः**=ज्ञान जलों को **आवृणाना**=सर्वथा वरण करती हुई हमारे जीवनों में **वितनोति**=प्रकाश को फैलाती है। इस

लोक समूह का बुद्धि से ज्ञान प्राप्त करके, इसके यथायोग से ही कल्याण सम्भव है।

भावार्थ—हमारे जीवन का लक्ष्य यही हो कि हम 'तेजस्विता व प्रज्ञा' का सम्पादन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**प्रतिभानुरात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वयुनं वीर वक्षणम्

ता अ॑त्नत व॒युनं॑ वी॒रव॑क्षणं समा॒न्या वृ॒तया॒ विश्व॒मा रजः॑।
अपो॒ अपा॑ची॒रप॑रा॒ अपे॑जते॒ प्र पूर्वा॑भिस्तिरते देव॒युर्जनः॑ ॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र में 'मायिनी'=प्रज्ञावती मेधा का उल्लेख था। **ताः**=वे मेधा बुद्धियाँ **वयुनम्**=प्रज्ञान को **अत्नत**=विस्तृत करती हैं, जो प्रज्ञान **वीरवक्षणम्**=वीरों की उन्नति का साधन बनता है (वक्ष्=to grow)। ये बुद्धियाँ **विश्वं रजः**=सम्पूर्ण लोक को **समान्या**=समानरूप से **वृतया**=आच्छादित करनेवाली दीप्ति से **आ** (अत्नत)=विस्तृत करती हैं। बुद्धि के द्वारा प्रज्ञान प्राप्त होता है और हम सब लोकपदार्थों को ठीक रूप में देखने लगते हैं। (२) यह **देवयुः जनः**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाला मनुष्य **अपराः**=(अ-पराः) जो वस्तुतः पराये नहीं है अथवा (अ-प्रभु) प्रभु प्राप्ति के साधनभूत हैं उन **अपाचीः**=सामान्यतः हमारे से दूर जानेवाले **अपः**=रेतःकणों को **अपेजते**=फिर वापिस प्रेरित करता है। नीचे जाने के स्वभाववाले इन रेतःकणों को ऊर्ध्वमुख करके ऊर्ध्वरेता बनाता है। तथा **पूर्वाभिः**=इन पालन व पूरण करनेवाले रेतःकणों से **प्रतिरते**=जीवन को दीर्घ बनाता है।

भावार्थ—हम बुद्धि के द्वारा वीरतायुक्त प्रज्ञान को प्राप्त करें। रेतःकणों का रक्षण करते हुए दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**प्रतिभानुरात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृत्र पर वज्र प्रहार

आ ग्राव॑भिरह॒न्ये॑भिर॒क्तुभि॒र्वरि॑ष्ठं॒ वज्र॒मा जि॑घर्ति मा॒यिनि॑।
श॒तं वा॒ यस्य॑ प्र॒चर॒न्त्स्वे दमे॑ संव॒र्तय॑न्तो॒ वि च॑ वर्तय॒न्नहा॑ ॥ ३ ॥

(१) 'माया' का अर्थ है छल-कपट। 'मायी' वृत्र का नाम है, जो अद्भुत छली है। इस **मायिनि**=मायावाले वृत्र पर **ग्रावभिः**=स्तुतियों के द्वारा, **अहन्येभिः**=(अ-हन्) एक-एक क्षण को न नष्ट करने के द्वारा, एतत उत्तम क्रियाओं के द्वारा तथा **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों के द्वारा **वरिष्ठम्**=श्रेष्ठ **वज्रम्**=वज्र को **आजिघर्ति**=दीप्त करता है (brandishes, waives his sword brilliantly)। वृत्र, अर्थात् वासना को नष्ट करने का उपाय यही है कि (क) प्रभु के स्तवन में प्रवृत्त होना, (ख) सतत यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे रहना, (ग) तथा स्वाध्याय द्वारा प्रकाश को प्राप्त करना। (२) उस **मायी**=वृत्र पर वज्र का प्रहार करना है, **यस्य**=जिस वृत्र के, वासना के **शतम्**=सैकड़ों रूप **स्वे दमे**=इस अपने शरीररूप गृह में **संवर्तयन्तः**=प्रलय मचाते हुए (संवर्तः=प्रलयः) **च**=तथा **अहा**=दिनों को **विवर्तयन्**=विरुद्ध मार्गों पर ले जाते हुए **प्रचरन्**=गतिवाले होते हैं। वासना नानारूपों में प्रकट होती है और जीवन में प्रलय-सा मचा देती है तथा दिनों को उलट-पुलट बातों में ही बरबाद कर देती है। इस वासना को नष्ट करना आवश्यक ही है।

भावार्थ—जीवन को विनष्ट करनेवाली वासना पर हम उस वज्र का प्रहार करें जो 'प्रभु स्तवन, उत्तम कर्म व स्वाध्याय' द्वारा बना हुआ है।

ऋषिः—प्रतिभानुरात्रेयः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

रमणीय वस्तुओं का धारण

तामस्य रीतिं परशोरिव प्रत्यनीकमख्यं भुजे अस्य वर्पसः।
सचा यदि पितुमन्तमिव क्षयं रत्नं दधाति भरहूतये विशे॥ ४॥

(१) **अस्य**=गतमन्त्र में वर्णित इस वज्र की **तां रीतिम्**=उस गति को **परशोः इव**=कुल्हाड़े की गति की तरह **प्रत्यनीकम्**=वासनारूप शत्रुसैन्य के प्रति **अख्यम्**=देखता हूँ। जैसे कुल्हाड़ा झाड़ी झंकाड़ों का सफाया कर देता है, उसी प्रकार यह वज्र वासनाओं का विनाश करता है। इस प्रकार यह वज्र **अस्य वर्पसः**=इसके तेजस्वीरूप के **भुजे**=पालन के लिये होता है। (२) वासनाओं के विनष्ट होने पर यह तेजस्वी पुरुष प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। और **यदि**=अगर **सचा**=यह उपासक प्रभु के साथ अपने को समवेत कर पाता है, जो प्रभु इस **भरहूतये**=संग्राम में वासनारूप शत्रुओं को ललकारनेवाले **विशे**=मनुष्य के लिये **पितुमन्तं क्षयं इव**=रक्षक अन्न से परिपूर्ण घर की तरह **रत्नं दधाति**=रमणीय वस्तुओं का धारण करता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासनाओं का विनाश करें। प्रभु हमारे मित्र होंगे और हमारे लिये रमणीय वस्तुओं का धारण करेंगे।

ऋषिः—प्रतिभानुरात्रेयः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

चारु वसानः

स जिह्वया चतुरनीक ऋञ्जते चारु वसानो वरुणो यतन्नरिम्।
न तस्य विद्म पुरुषत्वता वयं यतो भगः सविता दाति वार्यम्॥ ५॥

(१) **सः**=गतमन्त्र के अनुसार वज्र के द्वारा वासनाओं का विनाश करनेवाला वह उपासक **जिह्वया**=वाणी के द्वारा **चतुरनीकः**=चतुर्मुख, चारों वेदों के ज्ञानरूप बलवाला होकर **ऋञ्जते**=अपने जीवन को प्रसाधित करता है **चारु वसानः**=यह सब सुन्दर गुणों व ज्ञानों को धारण करता है। **वरुणः**=सब पापों का निवारण करता हुआ **अरिं यतन्**=वासनारूप शत्रुओं को (उद्धरन्) उखाड़ फेंकता है। (२) **वयम्**=हम **तस्य**=उस प्रभु के **पुरुषत्वता**=पौरुष को **न विद्म**=पूरा-पूरा ज्ञान नहीं पाते **अतः**=क्योंकि वह **भगः**=ऐश्वर्य का पुञ्ज **सविता**=सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभु **वार्यं दाति**=सब वरणीय पदार्थों को देता है। अनन्त प्राणियों के लिये अनन्त वरणीय वस्तुओं की प्राप्त को कराते हुए उस प्रभु के पौरुष की कल्पना करनी कठिन है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान प्राप्त करें, वरणीय बातों का ग्रहण व त्याज्य का परित्याग करें। वे अनन्त दानोंवाले प्रभु हमें सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करायेंगे।

शत्रुओं को उखाड़कर फेंकता हुआ यह व्यक्ति प्रत्येक इन्द्रिय को प्रभा सम्पन्न बना पाता है सो 'प्रतिप्रभ' कहलाता है। यह आत्रेय है, काम-क्रोध-लोभ से परे। यह प्रार्थना करता है—

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रतिप्रभ आत्रेयः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सवितादेव, भग व अश्विनीदेवों' का आराधन

देवं वो अद्य सवितारमेषे भगं च रत्नं विभजन्तमायोः।
आ वां नरा पुरुभुजा ववृत्यां दिवेदिवे चिदश्विना सखीयन्॥ १॥

(१) **अद्य**=आज **वः सवितारम्**=तुम सब के प्रेरक **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **आ ईषे**=(उपगच्छामि) समीपता से प्राप्त होता हूँ, प्रेरक प्रभु की उपासना करता हूँ। **च**=और प्रभु की उपासना के साथ **भगम्**=ऐश्वर्य की देवता का भी आराधन करता हूँ, जो **आयोः**=गतिशील पुरुषों को **रत्नं विभजन्तम्**=रमणीय वस्तुओं को विभागपूर्वक प्राप्त कराते हैं। 'सवितादेव' की उपासना मुझे अध्यात्म दृष्टिकोण से उन्नत करता है और 'भग' की उपासना मेरी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करती है। 'सवितादेव' की उपासना ही परमात्मा की अर्चना है। (२) हे **नरा**=मुझे उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले, **पुरुभुजा**=खूब ही मेरा पालन करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! मैं **सखीयन्**=प्रभु की मित्रता की कामना करता हुआ **वाम्**=आप दोनों को **दिवे दिवे चित्**=प्रतिदिन ही **आ ववृत्याम्**=अपने अभिमुख करने का प्रयत्न करूँ। यह प्राणापान की साधना ही वस्तुतः हमें प्रभु की मित्रता को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—हम सवितादेव, भग व अश्विनीदेवों की आराधना करनेवाले बनें।

ऋषिः—**प्रतिप्रभ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सब धनों के विजेता' प्रभु

प्रति॑ प्र॒याण॑मसु॑रस्य वि॒द्वान्त्सू॒क्तैर्दे॒वं स॑वि॒तारं॑ दुवस्य।
उप॑ ब्रुवीत॒ नम॑सा विजा॒नञ्ज्ये॒ष्ठं च॒ रत्नं॒ वि॒भज॑न्तमा॒योः ॥ २ ॥

(१) **प्रति प्रयाणम्**=जीवन-यात्रा की प्रत्येक मंजिल में अथवा प्रत्येक कार्य में (गति में) **असुरस्य विद्वान्**=उस प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु को जानता हुआ तू **सूक्तैः**=उत्तम कथनों से, गुणकीर्तन से **देवम्**=प्रकाशमय **सवितारम्**=प्रेरक प्रभु की **दुवस्य**=परिचर्या कर। प्रभु स्मरण के साथ ही प्रत्येक कार्य को करनेवाला हो। (२) **विजानन्**=ज्ञानी पुरुष **नमसा**=नमन के साथ **ज्येष्ठम्**=उस सर्वश्रेष्ठ प्रभु के **उपब्रुवीत**=नामों का व स्तोत्रों का उच्चारण करे। उस प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करे जो **आयोः**=गतिशील पुरुष के लिये **रत्नं विभजन्तम्**=रमणीय धन को प्राप्त कराते हैं। 'हमारे लिये सब धनों का विजय प्रभु ही तो करते हैं, ऐसा स्मरण रहने पर मनुष्य धनाभिमान से बचा रहता है।

भावार्थ—हम सब कार्यों को प्रभु स्मरण के साथ करें। इस बात को न भूलें कि हमारे लिये धनों का विजय भी प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—**प्रतिप्रभ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सब दिनों की भद्रता

अ॒द॒त्र॒या द॑यते॒ वार्या॑णि पू॒षा भगो॒ अदि॑ति॒र्वस्त॑ उ॒स्रः।
इन्द्रो॒ विष्णु॒र्वरु॑णो मि॒त्रो अ॒ग्निरहा॑नि भ॒द्रा ज॑नयन्त द॒स्माः ॥ ३ ॥

(१) **पूषा**=वह सबका पोषण करनेवाला, **भगः**=ऐश्वर्यशाली **अदितिः**=स्वास्थ्य को नष्ट न होने देनेवाला प्रभु **अदत्रया**=(अदनीदाति) खाने के योग्य **वार्याणि**=वरणीय वस्तुओं को **दयते**=देता है। इन वरणीय वस्तुओं को देकर ही वे प्रभु हमारा पोषण करते हैं और हमें स्वस्थ बनाते हैं। **उस्रः**=प्रकाश की किरणों के पुञ्ज वे प्रभु **वस्ते**=हमें इन प्रकाश की किरणों से आच्छादित करते हैं। यह प्रकाश की किरणें ही हमारे कवच के रूप में होती हैं और हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती हैं। (२) **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता, **विष्णुः**=व्यापकता, **मित्रः**=स्नेह, **वरुणः**=निर्द्वेषता (द्वेष का निवारण) **अग्निः**=प्रगतिशीलता ये प्रकार के ये सब दिव्य भाव **दस्माः**=दर्शनीय

हैं व हमारे कष्टों का उपक्षय करनेवाले हैं। ये **अहानि**=हमारे जीवन के दिनों को **भद्रा**=कल्याणकर व उत्तम **जनयन्त**=बनाते हैं। 'जितेन्द्रियता' से शरीर की शक्ति स्थिर रहती है, 'उदारता, स्नेह व निर्द्वेषता' मन को पवित्र रखती हैं। 'प्रकाश' मस्तिष्क को दीप्त बनाता है। एवं 'शरीर, मन व बुद्धि' का स्वास्थ्य हमारे सब दिनों को शुभ बना देता है।

भावार्थ—प्रभु हमें पोषण के लिये आवश्यक वरणीय धनों को देते हैं। हमें प्रकाश का वस्त्र धारण कराते हैं। जितेन्द्रियता आदि के द्वारा हमारे सब दिनों को शुभ बना देते हैं।

ऋषिः—**प्रतिप्रभ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रायः पतयः-वाजरत्नाः

तन्नो॑ अन॒र्वा स॑वि॒ता वरू॑थं॒ तत्सिन्ध॑व इ॒षय॑न्तो॒ अनु॑ ग्मन्।
उप॒ यद्वोचे॑ अध्व॒रस्य॒ होता॑ रा॒यः स्या॑म॒ पत॑यो॒ वाज॑रत्नाः ॥ ४ ॥

(१) **अनर्वा**=किसी से भी हिंसित न होनेवाला **सविता**=सबका प्रेरक प्रभु **नः**=हमारे लिये **तत्**=उस **वरूथम्**=कष्टों के निवारक धन (wealth) को दे। **इषयन्तः**=हमारे लिये उत्तम प्रेरणा को देती हुई **सिन्धवः**=ज्ञान की नदियाँ **तत्**=उस धन को **अनुग्मन्**=अनुकूलता से प्राप्त करायें। (२) **यत्**=जब मैं **अध्वरस्य होता**=इस जीवन यज्ञ का होता बनता हूँ, तो **उप वोचे**=यही प्रार्थना करता हूँ कि हम सब **रायः पतय स्याम**=धनों की स्वामी हों। धनों के दास न बन जाएँ। धन के दास बनते ही सब यज्ञ समाप्त हो जायेंगे और हमारा जीवन पापमय हो जाएगा। **वाजरत्नाः**=हम शक्तिरूप रमणीय धनवाले हों। धन के स्वामी बनकर विषयों में न फँसेंगे तो यह शक्तिरूप धन भी हमारे जीवन को रमणीय बनायेगा ही।

भावार्थ—हमें प्रभु आवश्यक धन प्राप्त करायें। कर्मों में प्रेरक ज्ञान भी हमें धन दे, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते हुए हम धनार्जन करें। इस जीवन यज्ञ में हम धनों के दास न बन जाएँ और शक्तिरूप रमणीय धनवाले हों।

ऋषिः—**प्रतिप्रभ आत्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

क्या करें, क्या पायें?

प्र ये वसु॑भ्य॒ ईव॒दा नमो॒ दुर्ये मि॒त्रे वरु॑णे सू॒क्तवा॑चः।
अवै॒त्वभ्वं॑ कृणु॒ता वरी॑यो दि॒वस्पृ॑थि॒व्योरव॑सा मदेम ॥ ५ ॥

(१) हम वे बनें, **ये**=जो **वसुभ्यः**=निवास के लिये आवश्यक धनों की प्राप्ति के लिये **ईवत्**=(गमनवत्) क्रियायुक्त **प्रनमः**=प्रकृष्ट नमस्कार को करनेवाले हैं। हम प्रभु की उपासना करें, पर वह उपासना स्वकर्म-पालन के द्वारा हो रही हो। प्रभु की सर्वोत्कृष्ट उपासना प्रभु के आदेश के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होना ही तो है। (२) हम **मित्रे**=स्नेह की देवता में अथवा प्रमीति (मृत्यु) से त्राण करनेवाली देवता में तथा **वरुणे**=निर्द्वेषता की देवता में, पाप-निवारण की देवता में **सूक्तवाचः**=मधुरवाणियोंवाले हों। सब के प्रति स्नेह व निर्द्वेषतावाले होकर सदा मधुर ही शब्द बोलें। (३) इस प्रकार हमें **अभ्वम्**=महान् तेज **अवैतु**=प्राप्त हो। हे देवो! आप हमारे लिये **वरीयः**=उत्कृष्ट धन को **कृणुता**=करिये। हम **दिवस्पृथिव्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के **अवसा**=रक्षण से **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें। मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक का रक्षण हमारे लिये आनन्द का कारण बने। सर्वोत्तम जीवन यही है कि 'मस्तिष्क व शरीर दोनों स्वस्थ हों'।

भावार्थ—धन प्राप्ति के लिये हम ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु के उपासक बनें। स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाकर मधुर ही शब्द बोलें। इस प्रकार हम तेजस्वी हों, उत्कृष्ट धनवाले हों, स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाले हों।

गतमन्त्र के अनुसार जीवन को बनाकर हम 'स्वस्ति'=जीवन में उत्तम स्थितिवाले हों, 'आत्रेय'=त्रिविध कष्टों से दूर हों। इस 'स्वस्ति' का कथन है कि—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु की मित्रता का वरण

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्। विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॑॥ १॥

(१) **विश्वः मर्तः**=इस संसार में प्रविष्ट हुआ-हुआ प्रत्येक मनुष्य **नेतुः देवस्य**=संसार के प्रणेता, सब व्यवहारों के साधकर (दिव् व्यवहारे) प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **वुरीत**=वरे। इसी में कल्याण है। जब प्रभु को भूलकर प्रकृति की ओर झुकते हैं, तो उस प्रकृति के पाँव तले रौंदे जाते हैं। (२) पर यह बात है बड़ी विचित्र कि **विश्वः**=सब कोई **राये**=धन के लिये **इषुध्यति**=याचना करता है। धन आवश्यक है, पर इस धन में ही तो आनन्द नहीं रखा। यह धनासक्ति ही हमारे सब कष्टों का कारण बनती है। इसलिए **द्युम्नम्**=ज्ञानधन का ही **वृणीत**=वरण करो, **पुष्यसे**=यदि अपना ठीक पोषण करना है तो अपने उत्तम पोषण के लिये हमें ज्ञान का ही वरण करना चाहिए, जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक धन तो प्राप्त हो ही जायेगा।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता का वरण करें। अपने ठीक पोषण के लिये ज्ञान-धन का वरण करें। आवश्यक बाह्य धन तो प्राप्त हो ही जाता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

धन-प्रभु सम्पर्क व उत्तम मित्र

ते ते॑ देव नेत॒र्ये चे॒माँ अ॑नु॒शसे॑। ते रा॒या ते ह्या॒३॒॑पृचे॒ सचे॑महि स॒चथ्यैः॑॥ २॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **नेतः**=सारे संसार के संचालक प्रभो! **ते**=हम तेरे हैं और **ते**=तेरे ही हैं। **च**=और **ये**=जो हम **इमान् अनुशसे**=इन आधि-व्याधियों को नष्ट करने के लिये होते (शसति to kill, to destroy) वस्तुतः प्रभु के बनने पर हम प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होते हैं और वासनाओं को विनष्ट कर पाते हैं। (२) **ते**=वे हम **राया**=जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक धन से **सचेमहि**=संयुक्त हों। **ते**=वे हम **हि**=निश्चय से **आपृचे**=आपके सम्पर्क के लिये हों और **सचथ्यैः**=मेल में उत्तम मित्रों के साथ (सचेमहिः) मेलवाले हैं। हमारा साथ सदा उत्तम मित्रों के साथ हो। इस साथ का ही तो हमारे जीवन पर महान् प्रभाव होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनकर रोग व वासनाओं को विनष्ट करें। हम धन को प्राप्त करें, प्रभु के साथ सम्पर्कवाले हों, उत्तम मित्रों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

नॄन् अथिथीन् पत्नीः

अतो॑ न॒ आ नॄनति॑थी॒नतः॒ पत्नी॒र्दशस्यत। आ॒रे विश्वं॑ पथे॒ष्ठां द्वि॒षो यु॑योतु॒ यूयु॑विः॥ ३॥

(१) **अतः**=इस जीवन के निर्माण के हेतु से **नः**=हमारे लिये **नॄन्**=आगे ले चलनेवाले 'माता,

पिता व आचार्यों' को **दशस्यत**=दो। **अतिथीन्**=उत्तम अतिथियों को प्राप्त कराओ। **अतः**=इस जीवन के निर्माण के हेतु से **पत्नीः**=उत्तम पत्नियों को प्राप्त कराओ। माता, पिता, आचार्य व अतिथि तो हमारे जीवन निर्माण में हिस्सा लेते ही हैं, सब से महत्त्वपूर्ण भाग पत्नियों का होता है। (३) **यूयुविः**=वह सब बुराइयों से हमें पृथक् करनेवाला प्रभु **विश्वम्**=सब **पथेष्ठाम्**=मार्ग में प्रतिबन्धक रूप से स्थित **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **आरे**=दूर **युयोतु**=पृथक् करे। द्वेष से ऊपर उठकर ही अध्यात्म उन्नति होना सम्भव होता है।

भावार्थ—हमें उत्तम माता, पिता, आचार्य व अतिथियों का सम्पर्क मिले। पत्नी उत्तम हो। प्रभु हमारे से द्वेष को दूर करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कैसा घर?

यत्र वह्निर॒भिहि॑तो दु॒द्रव॒द् द्रोण्य॑ः प॒शुः। नृ॒मणा॑ वी॒रप॒स्त्योऽर्णा॑ धीरे॑व॒ सनि॑ता ॥ ४ ॥

(१) **यत्र**=जहाँ **वह्निः**=यज्ञ की अग्नि **अभिहितः**=दिन में दोनों बार, प्रारम्भ व अन्त में प्रातः व सायं स्थापित हुई है। जिस घर में यज्ञ नियमपूर्वक होते हैं। (२) जहाँ **द्रोण्यः**=द्रोण भर दूध देनेवाले। (३२ सेर) **पशुः**=गवादिक पशु **दुद्रवत्**=खूब दौड़ता फिरता है। जहां उत्तम गौ स्वतन्त्रता से विचरती है। (३) **नृमणा**=जिसका मनुष्यों में मन है, अर्थात् जहाँ सब सन्तानों के निर्माण का पूरा ध्यान होता है। व्यर्थ की चीजों की जहाँ झुकाव नहीं। अतएव **वीरपस्त्यः**=जहाँ वीरों का ही निवास है। (४) **अर्णा**=अरण कुशल गति में कुशल, कर्मों को कुशलता से करनेवाली **धीरा इव**=एक धैर्यवाली स्त्री की तरह सब कोई **सनिता**=संभक्ता होता है, प्रभु का भजन करनेवाला व संविभागपूर्वक खानेवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम घर वह है जहाँ कि (क) यज्ञ नियम से होता है, (ख) खूब दूध देनेवाला पशु (गौ) विद्यमान है, (ग) जहाँ मनुष्यों के निर्माण का ध्यान है, (घ) जहाँ सब वीर हैं, (ङ) और संविभागपूर्वक सब खाते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शं राये, शं स्वस्तये

ए॒ष ते॑ देव ने॒ता र॑थ॒स्पतिः॒ शं र॒यिः ।
शं रा॒ये शं स्व॒स्तय॑ इ॒षः स्तु॒तो॑ मनामहे दे॒वस्तु॒तो॑ मनामहे ॥ ५ ॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **एषः**=यह मैं **ते**=तेरा ही हूँ। आप ही **नेता**=मेरा नेतृत्व करनेवाले हैं **रथस्पतिः**=मेरे रथ के रक्षक हैं। **रयिः**=आपसे दिया हुआ धन **शम्**=हमारे लिये शान्तिकर हो। (२) हम **इषः स्तुतः**=उस एषणीय (चाहने योग्य) प्रभु के स्तोता बनकर **राये**=धन के लिये व **शम्**=शान्ति के लिये **मनामहे**=याचना करते हैं। **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये व **शम्**=शान्ति के लिये **देवस्तुतः**=उस प्रकाशमय प्रभु के स्तोता हम **मनामहे**=याचना करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तोता बनने पर ही हम सुखकर धन को व शान्तिमय उत्तम स्थिति को प्राप्त कर पाते हैं।

अगला सूक्त भी 'स्वस्ति आत्रेय' का ही है—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु द्वारा रक्षित होकर 'सोमपान' करना

अग्ने सुतस्य पीतये विश्वैरूमेभिरा गहि। देवेभिर्हव्यदातये॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सुतस्य पीतये**=शरीर में उत्पन्न सोम के पान (=रक्षण) के लिये आप **विश्वैः**=सब **ऊमेभिः**=रक्षणों के साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइये। आप ही हमें वासनाओं से बचायेंगे और तब ही सोम का शरीर में रक्षण होगा। (२) **देवेभिः**=दिव्यगुणों के हेतु से आप हमारे लिये **हव्यदातये**=सब हव्य पदार्थ को देने के लिये होइये। ये हव्य पदार्थ ही हमारे जीवन में दिव्यता का वर्धन करेंगे।

भावार्थ—परमात्म स्मरण के द्वारा वासनाओं से बचते हुए हम सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले हों। हव्य पदार्थों के सेवन से दिव्य गुणों का वर्धन करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋतधीतयः-सत्यधर्माणः

ऋतधीतय आ गत सत्यधर्माणो अध्वरम्। अग्नेः पिबत जिह्वया॥ २॥

(१) **ऋतधीतयः**=ऋत की regularity (व्यवस्था) का धारण करनेवाले व **सत्यधर्माणः**=सत्य का पोषण करनेवाले तुम **अध्वरं आगत**=इस हिंसारहित यज्ञात्मक कर्म को प्राप्त होवो। हम अपने जीवनों में 'ऋत और सत्य' का पोषण करते हुए जीवन को यज्ञमय बनायें। (२) और जीवनयज्ञ में **अग्नेः जिह्वया**=अग्नि की जिह्वा से, अर्थात् उस अग्रणी प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाली जिह्वा से **पिबत**=सोम का पान करो। प्रभु का स्मरण करेंगे तो वासनाओं से आक्रान्त न होंगे। यह वासनाओं का अनाक्रमण हमें सोम को पान करने के योग्य बनायेगा।

भावार्थ—ऋत व सत्य का धारण करते हुए हम जीवन को यज्ञमय बनायें। प्रभु का स्मरण करते हुए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विप्र-सन्त्य

विप्रेभिर्विप्र सन्त्य प्रातर्यावभिरा गहि। देवेभिः सोमपीतये॥ ३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि—हे **विप्र**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **सन्त्य**=सम्भजन में उत्तम पुरुष! तू **प्रातः यावभिः**=प्रातः काल से ही कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाले **विप्रेभिः**=ज्ञानी अपना पूरण करनेवाले **देवेभिः**=देव वृत्तिवाले पुरुषों के साथ **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिये **आगहि**=हमारे समीप आनेवाला हो। (२) सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि (क) हमारे में न्यूनताओं को दूर करने की भावना हो, (ख) प्रभु भक्ति की ओर हमारा झुकाव हो, (ग) क्रियाशील, ज्ञानी पुरुषों के साथ हमारा संग हो।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के लिये कटिबद्ध हों। विप्र बनें, सन्त्य बनें तथा देवों के संगवाले हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्राय वायवे प्रियः

अयं सोमश्चमू सुतोऽमत्रे परि षिच्यते। प्रिय इन्द्राय वायवे॥ ४॥

(१) **अयं सोमः**=यह सोम (वीर्य) **चमू सुतः**=द्यावापृथिवी के **निमित्त**=मस्तिष्क व शरीर के रक्षण के निमित्त उत्पन्न किया गया है। यह **अमत्रे**=इस शरीररूप पात्र में ही **परिषिच्यते**=चारों ओर सिक्त किया जाता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ ही यह सोम शरीर को शक्तिशाली व मस्तिष्क को दीप्त बनाता है। (२) यह सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये तथा **वायवे**=गतिशील पुरुष के लिये **प्रियः**=प्रीति का जनक होता है। जितेन्द्रियता व गतिशीलता ही सोम रक्षण का साधन बनती हैं। सुरक्षित सोम प्रीति को पैदा करता है।

भावार्थ—सोम का उत्पादन शरीर को तेजस्वी व मस्तिष्क को दीप्त बनाने के लिये हुआ है। जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता द्वारा सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

आनन्द की ओर

वायवा याहि वीतये जुषाणो हव्यदातये। पिबा सुतस्यान्धसो अभि प्रयः ॥ ५ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि—**वायो**=हे क्रियाशील जीव! तू **वीतये**=(वी-असने) अन्धकार को परे फेंकने के लिये **आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त हो। यह उपासना तेरे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करेगी। (२) **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यकर्मों का सेवन करता हुआ तू **हव्यदातये**=उत्तम पदार्थों के दान के लिये हो। (३) **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसा**=इस सोम का तू **पिबा**=पान करनेवाला बन, सोम को अपने अन्दर सुरक्षित कर और **प्रयः अभि**=(delight) आनन्द की ओर गतिवाला हो।

भावार्थ—प्रभु उपासना से ही अन्धकार नष्ट होता है। प्रीतिपूर्वक कर्मों को करते हुए हम सदा दानशील हों। भोगवृत्ति से ऊपर उठकर सोम का पान करें, यही आनन्द प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

इन्द्र और वायु

इन्द्रश्च वायवेषां सुतानां पीतिमर्हथः। ताञ्जुषेथामरेपसावभि प्रयः ॥ ६ ॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! तू **च**=और **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **एषाम्**=इन **सुतानाम्**=उत्पन्न हुए सोमकणों के **पीतिं अर्हथः**=पान के योग्य हो। वस्तुतः सोमपान के दो ही मुख्य साधन हैं, (क) क्रियाशीलता व (ख) जितेन्द्रियता। (२) **अरेपसौ**=क्रियाशीलता व जितेन्द्रियता से निर्दोष बने हुए तुम **तान्**=उन सोमकणों को **जुषेथाम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। और **प्रयः अभि**=आनन्द की ओर चलनेवाले होवो।

भावार्थ—क्रियाशीलता व जितेन्द्रियता से जीवन निर्दोष बनता है, तभी हम सोम का रक्षण कर पाते हैं और जीवन को आनन्दमय बना पाते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

निम्नं न यन्ति सिन्धवः

सुता इन्द्राय वायवे सोमासो दध्याशिरः। निम्नं न यन्ति सिन्धवोऽभि प्रयः ॥ ७ ॥

(१) **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमासः**=सोमकण **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये तथा **वायवे**=क्रियाशील पुरुष के लिये **दध्याशिरः**=धारण करनेवाले (दधि) व चारों ओर बुराई को शीर्ण करनेवाले हैं। सुरक्षित सोम रोगकृमियों को नष्ट करके हमारा धारण करते हैं और वासनाओं को शीर्ण करके हमें पवित्र बनाते हैं। (२) ये सोमकण **निम्नम्**=नम्रतायुक्त पुरुष को **यन्ति**=प्राप्त

होते हैं, **न**=जैसे कि **सिन्धवः**=बहनेवाले जल निम्न प्रदेश की ओर गतिवाले होते हैं। ये सोमरक्षक पुरुष **अभि प्रयः**=आनन्द की ओर गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुष में सुरक्षित हुए-हुए सोमकण बल का धारण करनेवाले व वासनाओं को शीर्ण करनेवाले होते हैं। ये नम्रतायुक्त पुरुष को प्राप्त होते हैं और उसके जीवन को आनन्दित करते हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'देवेभिः, अश्विभ्यां, उषसा' सजूः

सजूर्विश्वेभिर्देवेभिरश्विभ्यामुषसा सजूः। आ याह्यग्ने अत्रिवत्सुते रण॥ ८॥

(१) **विश्वेभिः देवेभिः सजूः**=सब दिव्यगुणों से संगत हुआ-हुआ तथा **अश्विभ्याम्**=प्राणापान से संगत हुआ-हुआ तथा **उषसा**=उषाकाल से संगत हुआ-हुआ तू **आयाहि**=अपने कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला हो। दिव्यगुणों को धारण करने का प्रयत्न कर, प्राणसाधना में प्रवृत्त हो और उषाकाल में जाग। (२) इस प्रकार हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू कर्त्तव्यकर्मों को कर और **अत्रिवत्**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ (प्रातः जागरण 'काम' को पराजित करता है, प्राणसाधना 'क्रोध' को तथा दिव्यवृत्ति 'लोभ' को विनष्ट करती है) तू **सुते**=इस सोम के सम्पादित होने पर **रण**=आनन्द का अनुभव कर।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये 'देववृत्ति, प्राणसाधना तथा प्रातः जागरण' सहायक हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'मित्र वरुण सोम विष्णु' से मैत्री

सजूर्मित्रावरुणाभ्यां सजूः सोमेन विष्णुना। आ याह्यग्ने अत्रिवत्सुते रण॥ ९॥

(१) **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह की देवता व निर्द्वेषता की देवता से **सजूः**=संगत हुआ-हुआ तथा **सोमेन**=सौम्यत-शान्तवृत्ति से तथा **विष्णुना**=व्यापकता व उदारता से **सजूः**=संगत हुआ-हुआ **आयाहि**=तू समन्तात कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला हो। (२) इस प्रकार 'प्रेय, निर्द्वेषता, शान्ति व उदारता' से युक्त होकर, हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अत्रिवत्**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठे हुए पुरुष की तरह **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **रण**=आनन्द का अनुभव कर।

भावार्थ—'मित्रता, निर्द्वेषता, सौम्यता व उदारता' सोमरक्षण में सहायक हैं।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'आदित्य वसु इन्द्र व वायु' बनना

सजूरादित्यैर्वसुभिः सजूरिन्द्रेण वायुना। आ याह्यग्ने अत्रिवत्सुते रण॥ १०॥

(१) **आदित्यैः**=सब स्थानों से अच्छाई का आदान करनेवाले **वसुभिः**=उत्तम निवासवाले पुरुषों से **सजूः**=संगत हुआ-हुआ तथा **इन्द्रेण**=जितेन्द्रियता तथा **वायुना**=क्रियाशीलता से संगत हुआ-हुआ **आयाहि**=तू समन्तात् गतिवाला हो। (२) इस प्रकार 'आदित्य, वसु, इन्द्र और वायु' के गुणों से युक्त होकर, हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अत्रिवत्**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठे हुए पुरुष के समान **सुते**=उत्पन्न-उत्पन्न हुए-हुए सोम में **रण**=आनन्द का अनुभव कर।

भावार्थ—'आदित्य, वसु, इन्द्र व वायु' का आराधन हमें सोमरक्षण में समर्थ करता है। अच्छाइयों का आदान-निवास को उत्तम बनाना, जितेन्द्रिय बनना व क्रियाशील होना ही सोमरक्षण के लिये आवश्यक है।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना

स्वस्ति नो मिमीताम॒श्विना॒ भगः॑ स्व॒स्ति दे॒व्यदि॑तिरन॒र्वणः॑ ।
स्व॒स्ति पू॒षा असु॑रो दधातु नः स्व॒स्ति द्यावा॑पृथि॒वी सु॑चे॒तुना॑ ॥ ११ ॥

(१) **नः**=हमारे लिये **अश्विना**=प्राणापान **स्वस्ति**=कल्याण व क्षेम को **मिमीताम्**=निर्मित करें। प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना करते हुए हम दोषों को दग्ध करके जीवन को कल्याणमय बनायें। **भगः**=ऐश्वर्य **स्वस्ति**=हमारा कल्याण करे। जीवन-यात्रा की आवश्यक सामग्री को जुटाने में सहायक होता हुआ यह ऐश्वर्य हमारा क्षेम-कारक हो। **देवी अदितिः**=यह प्रकाशमयी स्वास्थ्य की देवता **स्वस्ति**=क्षेम करनेवाली हो। स्वास्थ्य व प्रकाश हमें आनन्द प्राप्त करायें। **अनर्वणः**=(अ प्रति ऋतः) शत्रुओं से आक्रान्त न होनेवाला, वासनारूप शत्रुओं से पराजित न होनेवाला, **असुरः**=शत्रुओं का निरसिता (परे फेंकनेवाला) अथवा प्राणशक्ति का संचार करनेवाला **पूषा**=पोषण का देव **नः**=हमारे लिये **स्वस्ति दधातु**=कल्याण को धारण करे। (२) **द्यावापृथिवीम्**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पदार्थ **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के द्वारा **स्वस्ति**=हमारा कल्याण करनेवाले हों। प्रभु ने वस्तुतः सब पदार्थ हमारे हित के लिये ही बनाये हैं। उनका हमें जब ठीक ज्ञान नहीं होता, तभी उनके अयोग व अतियोग से हम अकल्याण के भागी होते हैं। उन सब पदार्थों का ठीक ज्ञान हमें उनके यथायोग के द्वारा कल्याण प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—हमारे लिये 'प्राणापान, ऐश्वर्य, स्वास्थ्य व पोषण' सुख को देनेवाले हों। सब पदार्थ ज्ञानपूर्वक यथोपयुक्त हुए-हुए कल्याण को करनेवाले हों।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कैसे आचार्य?

स्व॒स्तये॑ वा॒युमुप॑ ब्रवामहै॒ सोमं॑ स्व॒स्ति भुव॑नस्य॒ यस्पतिः॑ ।
बृह॒स्पतिं॒ सर्व॑गणं स्व॒स्तये॑ स्व॒स्तय॑ आदि॒त्यासो॑ भवन्तु नः ॥ १२ ॥

(१) हम **स्वस्तये**=कल्याण के लिये **वायुम्**=वायुवत् क्रियाशील आचार्य को **उपब्रवामहै**=पुकारते हैं। **सोमम्**=सोम स्वभाववाले को अथवा 'स उमा' ब्रह्मविद्या से युक्त आचार्य को। यह आचार्य **स्वस्ति**=हमारे कल्याण के लिये हो, **यः**=जो **भुवनस्य पतिः**=ब्रह्माण्ड की सब विद्याओं का पति (master) है। (२) **बृहस्पतिम्**=इस वेदज्ञान के पति 'ब्रह्मणस्पति', **सर्वगणम्**= पूर्ण स्वस्थ गणोंवाले (whole स्वस्थ=सर्व) जिसके पञ्चभूत, पञ्चप्राण, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ व 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और हृदय' का पञ्चक सब स्वस्थ हैं, उस आचार्य को **स्वस्तये**=कल्याण के लिये पुकारते हैं। **आदित्यासः**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान का आदान करनेवाले आदित्य विद्वान् **नः**=हमारे **स्वस्तये**=कल्याण के लिये **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—आचार्य 'वायु, सोम, भुवनपति, बृहस्पति, सर्वगण व आदित्य' हों। ऐसे ही आचार्य राष्ट्र का कल्याण करते हैं।

सूचना—'भुवनपति' अपराविद्या के पति हैं, 'बृहस्पति' पराविद्या के पति हैं। आचार्य 'ज्ञान-विज्ञान' दोनों में निपुण होने ही चाहिएँ।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कैसा जीवन?

विश्वे॑ दे॒वा नो॑ अ॒द्या स्व॒स्तये॑ वैश्वान॒रो वसु॑र॒ग्निः स्व॒स्तये॑।
दे॒वा अ॑वन्त्वृ॒भवः॑ स्व॒स्तये॑ स्व॒स्ति नो॑ रु॒द्रः पा॒त्वंह॑सः॥ १३॥

(१) **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **अद्या**=आज **नः**=हमारे **स्वस्तये**=कल्याण के लिये हों। **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला **वसुः**=निवास को उत्तम बनानेवाला **अग्निः**=अग्नितत्त्व (जाठराग्नि) **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिये हो। वैश्वानर अग्नि पाचन क्रिया को ठीक से करती हुई हमें नीरोग बनाती है और सब दिव्यगुण हमें मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं। (२) **ऋभवः**=(ऋतेन भान्ति) सत्य ज्ञान से दीप्त होनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अवन्तु**=हमारा रक्षण करें और **स्वस्तये**=हमारे क्षेम के लिये हों। और अन्त में, **रुद्रः**=सब रोगों का द्रावण करनेवाला (रुत् द्र) अथवा पाप कर्मों का दण्ड देकर रुलानेवाला (रोदयति) प्रभु **नः**=हमारे लिये **स्वस्ति**=कल्याण करे। इस कल्याण के लिये वह हमें **अंहसः पातु**=सब कष्टों से बचाये।

भावार्थ—हमारे मनों में दिव्यगुण हों, शरीर में वैश्वानर अग्नि स्वास्थ्य का कारण बने। हमें ज्ञानी देव पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त हो। रुद्ररूप में प्रभु का स्मरण पापों से बचाये।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'स्नेह निर्द्वेषता सुधन बल प्रकाश व स्वास्थ्य'

स्व॒स्ति मि॑त्रावरुणा स्व॒स्ति प॑थ्ये रेवति।
स्व॒स्ति न॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ स्व॒स्ति नो॑ अदिते कृधि॥ १४॥

(१) **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता (द्वेष निवारण) की देवताएँ **स्वस्तिः**=हमारा कल्याण करें। हम सबके प्रति स्नेहवाले हों और किसी से द्वेष न करें। हे **रेवति**=उत्तम ऐश्वर्यवाली **पथ्ये**=मार्ग की देवते! तू **स्वस्ति**=हमारा कल्याण कर। उत्तम मार्ग से धन को कमाते हुए हम अपना कल्याण सिद्ध करें। (२) **नः**=हमारे लिये **इन्द्रः च**=बल की देवता **अग्निः च**=और प्रकाश की देवता **स्वस्ति**=कल्याण करे। हमारा जीवन बल व प्रकाश के समन्वयवाला हो। हे **अदिते**=स्वास्थ्य की देवते! तू **नः**=हमारे लिये **स्वस्ति कृधि**=कल्याण को कर। स्वस्थ पुरुष ही आनन्द का अनुभव कर पाता है।

भावार्थ—हम 'स्नेह, निर्द्वेषता, उत्तम मार्ग से धन प्राप्ति, बल प्रकाश व स्वास्थ्य' को प्राप्त करके आनन्दलाभ करें।

ऋषिः—**स्वस्त्यात्रेयः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

नियमितता व सत्संग

स्व॒स्ति पन्था॒मनु॑ चरेम सूर्याचन्द्र॒मसा॑विव। पुन॒र्दद॒ताघ्न॑ता जान॒ता सं ग॑मेमहि॥ १५॥

(१) जीवन दो भागों में बटा हुआ है। शरीर संबद्ध जीवन 'भौतिक' जीवन है, आत्मसम्बद्ध जीवन ही अध्यात्म जीवन है। 'द्वौ इमौ (द्वा विमौ) पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च, क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' क्षरांश से सम्बद्ध जीवन ही भौतिक जीवन है। इस जीवन में हम स्वस्ति पन्थां अनुचरेम=कल्याण के मार्ग का अनुसरण करें, **सूर्याचन्द्रमसौ इव**=सूर्य और चन्द्रमा की तरह सब भौतिक क्रियाओं को नियमित गति से करें। जैसे सूर्य और चन्द्रमा की गति पूर्ण ऋत को लिये हुए होती है, इसी प्रकार हमारी सब भौतिक क्रियाएं नियमित गति को लिये हुए हों।

यह नियमितता ही स्वास्थ्य का कारण बनती है। (२) अध्यात्म जीवन में उन्नति के लिये हम **पुनः**=फिर **संगमेमहि**=उन्हीं पुरुषों के संग में आएँ, जो **ददता**=देने की वृत्तिवाले हों, जिनमें कृपणता न हो, **अघ्नता**=जो शक्ति के मद में औरों का हनन न करते हों तथा **जानता**=ज्ञानी हों। दानी वैश्य, वीरता से रक्षण करनेवाले क्षत्रिय, तथा उत्कृष्ट ज्ञानी ब्राह्मण ही हमारे संगी-साथी हों। इनके संग में हम अपने जीवन को भी 'दान, उत्कृष्ट वीरता व ज्ञान' वाला बनाएँ।

भावार्थ—नियमितता हमारे भौतिक जीवन को स्वस्थ बनाये। उत्तम संग हमारे अध्यात्म जीवन को परिष्कृत करे।

इस स्वस्थ व सद्गुणोंवाले जीवन के लिये ही हम 'श्यावाश्व' बनें, गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले बनें। आत्रेय हों, 'काम-क्रोध-लोभ' से दूर। ऐसा बनने के लिये हम 'मरुतों' की, प्राणों की, साधना में प्रवृत्त हों—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणसाधना व शत्रुधर्षण

प्र श्यावाश्व धृष्णुयार्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः। ये अद्रोघमनुष्वधं श्रवो मदन्ति यज्ञियाः॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **श्यावाश्व**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण के दृष्टिकोण से **ऋक्वभिः**=इन स्तुति के योग्य **मरुद्भिः**=प्राणों से **प्र अर्चा**=खूब ही प्रभु की अर्चना करनेवाला बन। प्राणसाधना ही सब अध्यात्म उन्नति का मूल है, सो प्राण अतिशयेन स्तुत्य हैं। प्राणायाम के होने पर चित्तवृत्ति का निरोध होकर हम प्रभु के उपासक बन पाते हैं। यह उपासना हमारे सब अध्यात्म शत्रुओं का संहार करती हैं। (२) उन प्राणों से तू अर्चना करनेवाला बन, **ये**=जो प्राण **अद्रोघम्**=द्रोहशून्य **अनुष्वधम्**=आत्मधारण के अनुकूल **श्रवः**=ज्ञान को प्राप्त करके **मदन्ति**=आनन्द का लाभ करते हैं। अतएव जो प्राण **यज्ञियाः**=यज्ञिय हैं, आदरणीय हैं। प्राणसाधना से अशुद्धियों का क्षय होकर वह ज्ञान प्राप्त होता है, जो ज्ञान हमें द्रोहशून्य बनाता है तथा आत्मतत्त्व का धारण कराता है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना के होने पर हमारे दोष दूर होते हैं, हिंसावृत्ति नष्ट होती है, हम आत्मतत्त्व की ओर झुकते हैं। इस प्रकार जीवन वास्तविक आनन्द को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्थिरस्य शवसः सखायः

ते हि स्थिरस्य शवसः सखायः सन्ति धृष्णुया।
ते यामन्ना धृषद्विनस्त्मना पान्ति शश्वतः॥ २॥

(१) **ते**=वे प्राण **हि**=निश्चय से **स्थिरस्य**=स्थिर **शवसः**=बल के **सखायः**=मित्र **सन्ति**=हैं। प्राणसाधना से सोमशक्ति का रक्षण होकर हमें स्थिर बल की प्राप्ति होती है। **धृष्णुया**=ये प्राण शत्रुधर्षण के दृष्टिकोण से हमारे लिये इस स्थिर बल को प्राप्त कराते हैं। (२) **ते**=वे प्राण **यामन्**=इस जीवनमार्ग में **आ**=समन्तात् **धृषद्विनः**=शत्रुओं को कुचलनेवाले होते हैं। ये **त्मना**=स्वयं ही **शश्वतः**=(शश प्लुतगतौ) क्रियाशील पुरुषों का **पान्ति**=रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से स्थिर बल की प्राप्ति होती है। जीवनयात्रा में हमारे शत्रुओं का

धर्षण करते हुए ये प्राण हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'स्पन्द्रासः न उक्षणः' मरुतः

ते स्पन्द्रासो नोक्षणोऽति ष्कन्दन्ति शर्वरीः।
मरुतामधा महो दिवि क्षमा च मन्महे॥ ३॥

(१) **ते**=वे प्राण **न**=जैसे **स्पन्द्रासः**=शरीर में गतिवाले होते हैं, (स्पदि किञ्चिच्चलने) जितनी-जितनी इनकी गति सूक्ष्म होती है उतना-उतना ही ये **उक्षणः**=हमारे जीवनों में शक्ति का सेचन करनेवाले होते हैं। ये प्राण **शर्वरीः**=अन्धकार रूप रात्रियों को **अतिस्कन्दन्ति**=लाँघ जाते हैं, अर्थात् जीवन में से अन्धकार को दूर भगा देते हैं। (२) **अधा**=अब हम **मरुताम्**=इन प्राणों के **महः**=तेज को **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **च**=और **क्षमा**=इस शरीररूप पृथिवी में **मन्महे**=स्तुत करते हैं। इन प्राणों के कारण ही मस्तिष्क ज्ञान सूर्य से दीप्त हो उठता है और इन्हीं के कारण शरीर तेजस्विता से दृढ़ बन जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा प्राणों की गति सूक्ष्म होने पर सब अन्धकार दूर हो जाएगा। तब मस्तिष्क दीप्त बनेगा, शरीर शक्ति सिक्त होकर दृढ़ होगा।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्तोमं यज्ञं च धृष्णुया

मरुत्सु वो दधीमहि स्तोमं यज्ञं च धृष्णुया।
विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यं रिषुः॥ ४॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हें हम **मरुत्सु**=इन प्राणों में **दधीमहि**=धारण करते हैं। ये प्राण ही तुम्हारी जीवन-यात्रा के मुख्य आधार हैं। इन प्राणों के शक्तिशाली होने पर **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण के द्वारा **स्तोमम्**=प्रभु स्तवन को **यज्ञं च**=और श्रेष्ठतम कर्मों को हम तुम्हारे अन्दर स्थापित करते हैं। (२) उन प्राणों में हम तुम्हें स्थापित करते हैं **ये**=जो **विश्वे मानुषा युगा**=सब मानुष युगों में, अर्थात् जीवन के 'प्रातः, मध्याह्न व तृतीय' सवन में, **मर्त्यम्**=मनुष्य को **रिषुः पान्ति**=हिंसा से बचाते हैं। ये प्राण न तो रोगों से और नां ही वासनाओं से मनुष्य को हिंसित होने देते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर हम प्रभु स्तवन में व श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। ये प्राण मनुष्य को सदा रोगों व वासनाओं से हिंसित होने से बचाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणशक्ति के लिये प्रभु का अर्चन

अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः।
प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः॥ ५॥

(१) **ये**=जो प्राण **अर्हन्तः**=पूजा के योग्य हैं, **सुदानवः**=सब उत्तमताओं को देनेवाले हैं अथवा अच्छी तरह (सु) बुराइयों को काटनेवाले हैं (दाप् लवने), **नरः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हैं, **असामिशवसः**=पूर्ण बलवाले हैं, **दिवः**=प्रकाशमय हैं, ज्ञान वृद्धि के कारणभूत हैं, उन **यज्ञियेभ्यः**=संगतिकरण योग्य **मरुद्भ्यः**=प्राणों के लिये **यज्ञम्**=उस उपासनीय प्रभु को

प्र अर्चा=प्रकर्षेण पूज। (२) यह प्रभु-पूजन तेरी प्राणशक्ति की वृद्धि का कारण होगा। बढ़ी हुई प्राणशक्ति तेरी सब प्रकार की उन्नति को सिद्ध करेगी।

भावार्थ—प्रभु अर्चना से हम प्राणशक्ति का वर्धन करें। ये हमें पूर्ण बल व ज्ञान प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उत्तम आयुधों की प्राप्ति

आ रुक्मैरा युधा नर॑ ऋष्वा ऋष्टीरसृक्षत ।
अन्वेनाँ अह॑ विद्युतो॑ मरुतो॒ जज्झ॑तीरिव भानुरर्त॒ त्मना॑ दि॒वः ॥ ६ ॥

(१) **ऋष्वाः**=महान् ये मरुत (प्राण) **नरः**=हमें जीवन-यात्रा में आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। ये मरुत् **रुक्मैः**=देदीप्यमान ज्ञान-ज्योतियों के द्वारा तथा **युधा**=रोगों के साथ युद्ध के द्वारा **ऋष्टीः**=आयुध विशेषों को, जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि रूप अस्त्रों को **आ असृक्षत**=सर्वत्र उत्पन्न करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा ये अस्त्र शक्तिशाली व दीप्त बनते हैं। (२) **अह**=निश्चय से **एनान् मरुतः अनु**=इन प्राणों के अनुसार ही **जज्झतीः इव**=जलों की तरह, रेतःकणों की तरह **विद्युतः**=विशिष्ट दीप्तियाँ तथा **दिवः भानुः**=ज्ञान का प्रकाश **त्मना अर्त**=स्वयं प्राप्त होता है। प्राणसाधना के परिणामस्वरूप रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है तथा ज्ञानदीप्ति बढ़ती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' निर्दोष बनते हैं। रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

त्रिलोकी व नाड़ी संस्थान का स्वास्थ्य

ये वा॑वृधन्त॒ पार्थि॑वा॒ य उ॒रावन्तरिक्ष॒ आ । वृ॒जने॑ वा न॒दीनां॑ स॒धस्थे॑ वा म॒हो दि॒वः ॥ ७ ॥

(१) शरीर में प्राण ४९ भागों में विभक्त होकर विविध कार्यों को करते हैं। उनमें कई शरीररूप पृथिवीलोक में, कई अन्तरिक्ष स्थानीय हृदय में तथा कई मस्तिष्करूप द्युलोक में कार्य करते हैं। इनके अतिरिक्त कई नाड़ी संस्थान में गतिवाले होते हैं। इनमें **ये**=जो प्राण **पार्थिवाः**=शरीररूप पृथिवी में स्थित हैं वे **वावृधन्त**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त करते हैं। **ये**=जो **उरौ**=विशाल **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में हैं वे भी **आ** (आवृधन्त)=समन्तात् वृद्धि का कारण होते हैं। (२) **वा**=अथवा जो प्राण **नदीनाम्**=इस नाड़ी संस्थान के **वृजने**=बल के निमित्त होते हैं अथवा **महः दिवः**=महान् मस्तिष्क रूप द्युलोक के **सधस्थे**=उस प्रभु के साथ मिलकर बैठने के स्थान में होते हैं, वे प्राण (वावृधन्तः) खूब ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्राण ही इस शरीर की त्रिलोकी को शरीर, हृदय व मस्तिष्क को तथा नाड़ी संस्थान को ठीक रखते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सत्यशवस्' मरुद्गण

शर्धो॒ मारु॑तमुच्छंस स॒त्यश॑वस॒मृभ्व॑सम् । उ॒त स्म॒ ते शु॒भे नरः॒ प्र स्प॒न्द्रा यु॑जत॒ त्मना॑ ॥ ८ ॥

(१) हे मनुष्य! तू **मारुतम्**=प्राणसम्बन्धी **शर्धः**=बल का **उत् शंस**=उत्कर्षेण शंसन कर। यह प्राणों का बल **सत्यशवसम्**=सत्य के बलवाला है, मनों में सत्य का संचार करता है। प्राणसाधक असत्य नहीं बोलता। **ऋभ्वसम्**=यह बल महान् है, ऋत से दीप्त होता है। यह

प्राणसाधक ऋतमय जीवनवाला होता है। (२) **उत**=और **ते**=वे **स्पन्द्राः**=शरीर में सूक्ष्म गतिवाले प्राण **शुभे**=शुभ कार्यों में **स्म**=निश्य से **प्र युजत**=प्रकर्षेण युक्त करते हैं और अन्ततः **त्मना**=आत्मा से हमारा योग करानेवाले होते हैं। 'शुभ्' शब्द का अर्थ 'दीप्ति, आनन्द व रेतःकणरूप जल' भी है। ये प्राण 'ज्ञानदीप्ति, नीरोगता के आनन्द व उर्ध्वरेतस्कता' को भी प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राणों का बल हमें सत्यवादी व महान् बनाता है। ये प्रवण 'ज्ञानदीप्ति, आनन्द व ऊर्ध्वरेतस्कता' को प्राप्त कराके हमें प्रभु सम्पर्क को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

परुष्णी में स्नान

उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः। उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा ॥ ९ ॥

(१) **उत स्म**=और निश्चय से **ते**=वे प्राणसाधना करनेवाले मनुष्य **परुष्ण्याम्**=पालन व पूरण करनेवाली इस ज्ञान नदी में **शुन्ध्यवः**=अपने जीवन का शोधन करनेवाले, निष्णात बननेवाले **ऊर्णाः**=आच्छादक कवचों को **वसत**=धारण करते हैं 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'। यह ज्ञानकवच उन्हें संसार की विषय-वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता। (२) ऐसी स्थिति में ये **मरुत्**=प्राणसाधक पुरुष **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **रथानां पव्या**=इन शरीर रथों की पवि, नेमि व चक्र से **अद्रिं भिन्दन्ति**=पर्वत तुल्य दृढ़ शत्रुओं को भी विदीर्ण कर देते हैं। अर्थात् प्रबल रोगों के भी विनाशक होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके वह साधक परुष्णी (पालन व पूरण करनेवाली ज्ञान नदी) में स्नान करता है। इस स्नान से वह शुद्ध जीवनवाला बनता है। शरीर में ओजस्विता को धारण कराके प्रबल रोगों को भी विदीर्ण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'जीवन-यज्ञ के वाहक' प्राण

आपथयो विपथयोऽन्तस्पथा अनुपथाः। एतेभिर्मह्यं नामभिर्यज्ञं विष्टार ओहते ॥ १० ॥

(१) शरीर में प्राण विविध रूपों में गति कर रहे हैं। उनमें 'व्यान' 'सर्वशरीरग' कहलाता है। इन व्यान के प्रकार के मरुतों को यहाँ '**आपथयः**' समन्तात् पथवाले, शरीर में चारों ओर गतिवाले। 'उदान' विविध मार्गों से जीव को ले जाता है। इस उदान के प्रकार के मरुतों को '**विपथयः**' कहा है, विविध मार्गोंवाले। 'समान' वायु शरीर के अन्दर स्थित हुआ-हुआ समगति का कारण होता है, ये '**अन्तस्पथाः**' हैं, शरीर के मध्य में गतिवाले। 'प्राण और अपान' '**अनुपथाः**' कहे गये हैं, अनुकूल मार्गोंवाले। इनमें अपान शोधन करता है और प्राण शक्ति का संचार करता है। (२) **एतेभिः नामभिः**=इन नामों से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए-हुए **विष्टारः**=विविध कार्यों को विस्तार करनेवाले मरुत् **मह्यम्**=मेरे लिये **यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **ओहते**=वहन करते हैं।

भावार्थ—विविध रूपों में कार्यों को करते हुए ये मरुत्-प्राणभेद हमारे जीवन यज्ञ का वहन करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

चित्रारूपाणि दर्श्या

अधा नरो न्योहतेऽधा नियुत ओहते। अधा पारावता इति चित्रा रूपाणि दर्श्या ॥ ११ ॥

(१) **अध**=अब **नरः**=शरीर-यज्ञ का प्रणयन करनेवाले ये प्राण **नि ओहते**=निश्चय से जीवन भर का वहन करते हैं। **अधा**=और **नियुतः**=सब इन्द्रियाश्वों का **ओहते**=ये ही वहन करते हैं, सब इन्द्रियों में ये ही शक्ति का स्थापन करते हैं। (२) **अधा**=अब ये **पारावताः**=दूर-दूर देश में ले जानेवाले होते हैं, इस शरीर को छोड़ने पर ये ही जीव को सुदूर देश में किसी अन्य शरीर में प्राप्त कराते हैं। 'उदान' वायु का तो कार्य यह ही माना गया है। **इति**=इस प्रकार इन प्राणों के **रूपाणि**=रूप **चित्रा**=अद्भुत हैं और **दृश्या**=दर्शनीय हैं।

भावार्थ—प्राण हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हैं, ये ही इन्द्रियों को शक्ति देते हैं, ये ही सुदूर देशों में ले जाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

न तायवः

छन्दःस्तुभः कुभन्यव उत्समा कीरिणो नृतुः।
ते मे के चिन्न तायव ऊमा आसन्दृशि त्विषे॥ १२॥

(१) **छन्दः स्तुभः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा सब वासनारूप शत्रुओं को रोक देनेवाले (स्तुभ्=stop) **कुभन्यवः**=शरीर को शक्ति से सिक्त करनेवाले (कुभिरुन्दवकर्मा), **उत्सं कीरिणः**=स्तवन करनेवाले ये मरुत् उत्सम्=उस ज्ञान व आनन्द के स्रोत प्रभु को **आनृतुः**=हमारे जीवन में (आनीतवन्तः सा०) लाते हैं। हम इन मरुतों की कृपा से प्रभु का दर्शन करनेवाले होते हैं। (२) **ते**=वे प्राण **मे**=मेरे लिये **केचित्**=अवर्णनीय-अद्भुत **ऊमाः**=रक्षक हैं। **न तायवः**=ये चोर नहीं हैं, हमारे जीवन के प्रहरी हैं। ये प्राण **दृशि**=ज्ञान के निमित्त होते हैं, प्रभु दर्शन करानेवाले होते हैं तथा **त्विषे आसन्**=दीप्ति के लिये, तेजस्विता के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्राण ज्ञान वृद्धि द्वारा वासनाओं को रोकते हैं। शरीर को ये शक्ति से सिक्त करते हैं। हमें स्तवन की वृत्तिवाला बनाते हैं। इस प्रकार ये हमें ज्ञानी व तेजस्वी बनानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणोपासना

य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः। तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा॥ १३॥

(१) **ये**=जो मरुत (प्राण) **ऋष्वाः**=दर्शनीय है, **ऋष्टि विद्युतः**='इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों से द्योतमान हैं, **कवयः**=क्रान्तदर्शी हैं तथा **वेधसः**=शरीर के अंग-प्रत्यंगों का सुन्दर निर्माण करनेवाले हैं, हे **ऋषे**=तत्त्वद्रष्टः पुरुष! **तं मारुतं गणम्**=उस प्राणों के गण को **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **रमया**=शरीर में क्रीडा करा और **नमस्य**=पूजित कर। (२) प्राणों की शक्ति अद्भुत है, वे अपनी शक्ति के कारण दर्शनीय हैं। ये 'इन्द्रिय, मन, बुद्धि' रूप आयुधों को विद्योतित करते हैं। बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। सब अंगों की शक्ति के विधाता हैं। ज्ञान प्रधान जीवन बिताने से प्राणशक्ति का पोषण होता है। यही प्राणों का पूजन है। भोग-विलास का जीवन बिताना ही प्राणों का निरादर है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन दर्शनीय-सूक्ष्म बुद्धिवाला व पुष्ट अंगोंवाला बनता है। हम ज्ञान प्रधान जीवन बिताते हुए प्राणों का पोषण व पूजन करें।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दाना-योषणा

अच्छं ऋषे मारुतं गणं दाना मित्रं न योषणा।
दिवो वा धृष्णव ओजसा स्तुता धीभिरिषण्यत॥ १४॥

(१) हे **ऋषे**=तत्त्वद्रष्टः पुरुष! **दाना**=दान के द्वारा, त्यागवृत्ति को अपनाने के द्वारा तथा **योषणा**=स्तुति के द्वारा **मित्रं न**=मित्र के समान **मारुतं गणम्**=इन प्राणों के समूह की **अच्छ**=ओर आनेवाला हो। हम प्राणों की आराधना करें। इस आराधना के लिये आवश्यक है कि (क) त्यागवृत्ति को अपनाएँ और (ख) प्रभु की स्तुतिवाले हों। (२) हे **दिवः**=प्रकाशमय **वा**=तथा **ओजसा धृष्णवः**=ओज से (बल से) शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्राणो! **स्तुताः**=स्तुति किये गये आप **धीभिः**=बुद्धियों के साथ **इषण्यत**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में प्राप्त होवो।

भावार्थ—प्राणसाधना में त्यागवृत्ति व प्रभु-स्तवन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्तुति किये गये प्राण हमारे जीवन को प्रकाशमय-शत्रुधर्षणवाला तथा बुद्धि-सम्पन्न बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दाना-नवक्षणा

नू मन्वान एषां देवाँ अच्छा न वक्षणा। दाना सचेत सूरिभिर्यामश्रुतेभिरञ्जिभिः॥ १५॥

(१) **नु**=अब **एषां**=इन प्राणों का **मन्वानः**=स्तवन करता हुआ **देवान् अच्छा**=दिव्य गुणों की ओर चलता है, प्राणस्तवन हमारे अन्दर दिव्य गुणों का वर्धन करता है। (२) **न वक्षणा**=(by not waxing in riches) धनों में न बढ़ते हुए, अपितु **दाना**=दानवृत्ति से, अर्थात् दानवृत्ति के द्वारा धनों का ढेर न लगाते हुए इन प्राणों के साथ **सचेत**=संगत हो। उन प्राणों के साथ जो **सूरिभिः**=विद्वान् हैं, हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले हैं। **यामश्रुतेभिः**=अपने वेग के कारण प्रसिद्ध हैं, स्फूर्ति को पैदा करनेवाले हैं और **अञ्जिभिः**=हमारे जीवनों को दिव्यगुणों से अलंकृत करनेवाले हैं।

भावार्थ—दानवृत्ति व धनसंग्रह की वृत्ति का न होना प्राणसाधना में सहायक है। ये प्राण हमारे 'ज्ञान-वेग तथा सद्गुणालंकृति' का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

गां, मातरं, पितरम्

प्र ये मे बन्ध्वेषे गां वोचन्त सूरयः पृश्निं वोचन्त मातरम्।
अधा पितरमिष्मिणं रुद्रं वोचन्त शिक्वसः॥ १६॥

(१) **ये**=जो प्राण **मे**=मेरे लिये **बन्धु एषे**=बन्धु उस मित्रभूत प्रभु के अन्वेषण के लिये **गाम्**=इस ज्ञान की वाणी का **प्रवोचन्त**=उपदेश करते हैं। जो प्राण हैं, वे **सूरयः**=ज्ञान को प्रेरित करनेवाले होते हुए इस **पृश्निम्**=ज्योतियों के स्पर्शवाली **मातरम्**=मातृभूत वेदवाणी का **प्रवोचन्त**=उपदेश करते हैं। (२) **अधा**=अब **शिक्वसः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले ये प्राण **इष्मिणम्**=हृदयस्थरूपेण प्रेरणा को देनेवाले **रुद्रम्**=सब रोगों के द्रावक उस प्रभु का जो **पितरम्**=हमारे रक्षक हैं, उनका **वोचन्त**=प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर हमारा ज्ञान बढ़ता है (गाम्), हमारा वेद माता से परिचय

होता है (मातरं), हम हृदयस्थ प्रेरक पिता प्रभु को जान पाते हैं (पितरं)। इस प्रकार ये प्राण हमारी शक्ति को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'गव्यं अश्वयं' राधः

सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः।
यमुनायामधि श्रुतमुद्राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे॥ १७॥

(१) शरीर में प्राण ४९ भागों में विभक्त होकर कार्य कर रहे हैं। ये **सप्त सप्त**=सात गुणा सात, अर्थात् ४९ प्राण **मे**=मेरे लिये **शाकिनः**=शक्ति का संचार करनेवाले हैं। **एकं एका**=इनमें से एक-एक **शता ददुः**=मेरे लिये सौ वर्ष के आयुष्य को देनेवाले होते हैं। सब प्राण ठीक हों, तभी सौ वर्ष का जीवन प्राप्त होता है। (२) **यमुनायां अधि**=संयम नदी के प्रवाह के होने पर, अर्थात् ठीक संयम के होने पर मैं **श्रुतम्**=ज्ञान को, जो **गव्यम्**=ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी **उद्राधः**=उत्कृष्ट धन है, **मृजे**=शुद्ध करता हूँ। प्राण संयम के होने पर ज्ञानाग्नि दीप्त होती ही है। मैं इस प्राण संयम के होने पर **अश्व्यं राधः**=कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी ऐश्वर्य को भी **मृजे**=शुद्ध करता हूँ। अर्थात् प्राणसाधना से परिमार्जित हुई-हुई कर्मेन्द्रियाँ भी उत्कृष्ट कर्मोंवाली होती हैं।

भावार्थ—प्राण हमें शक्तिशाली बनाते हैं। शतवर्ष के जीवन को प्राप्त कराते हैं। ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को परिमार्जित कर ज्ञान व यज्ञों को प्राप्त कराते हैं।

अगला सूक्त भी इन्हीं मरुतों का उल्लेख करता है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्राणायामैर्दहेद् दोषान्

को वेद जानमेषां को वा पुरा सुम्नेष्वास मरुताम्। यद्युयुज्रे किलास्यः॥ १॥

(१) **कः**=कोई विरला पुरुष ही **एषां जानं वेद**=इन प्राणों के प्रादुर्भाव व विकास को जानता है। अर्थात् विरला व्यक्ति ही प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं और प्राणशक्ति का विकास करते हैं। **वा**=अथवा **कः**=कोई ही **पुरा**=सब से प्रथम **मरुताम्**=इन प्राणों के **सुम्नेषु**=स्तवनों में **आस**=स्थित होता है। अर्थात् विरला व्यक्ति ही प्राणसाधना को सर्वप्राथमिकता देते हैं। सामान्यतः इस प्राणसाधना में प्रवृत्त ही नहीं होते और यदि कोई प्रवृत्त होते भी हैं, तो वे इस प्राणसाधना को सर्वमहत्त्वपूर्ण कार्य नहीं समझते। (२) **यद्**=जब कोई विरला पुरुष इस प्राणसाधना को महत्त्व देता है, तो **किलास्यः**=ये इन्द्रियरूप वडवायें (घोड़ियाँ) **युयुज्रे**=इस शरीर-रथ में जोती जाती हैं, कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ सदा ज्ञानप्राप्ति में लगी रहती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना में विरले ही मनुष्य प्रवृत्त होते हैं। जब प्रवृत्त होते हैं, तो उनके इन्द्रियाश्व यज्ञों व ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त रहते हैं। एवं प्राणायाम से इन्द्रियदोषों का दहन हो जाता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्राणों के गति-विज्ञान की चर्चा को सुनना

ऐतान्रथेषु तस्थुषः कः शुश्राव कथा ययुः।

कस्मै सस्रुः सुदासे अन्वापय इळाभिर्वृष्टयः सह॥ २॥

(१) **रथेषु**=शरीर-रथों में **आतस्थुषः**=स्थित हुए-हुए **एतान्**=इन प्राणों को **कः शुश्राव**=कौन सुनता है? कोई विरले पुरुष ही इन प्राणों की कथा को सुनने का प्रयत्न करता है कि **कथा ययुः**=ये किस प्रकार शरीर में गति करते हैं? प्राणों के गति विज्ञान को समझकर ही इन प्राणों की साधना से कोई पुरुष उन्नति को प्राप्त होता है। (२) **सुदासे**=उत्तम दान की वृत्तिवाले अथवा (दसु उपक्षये) वासनाओं का क्षय करनेवाले पुरुष में **आपयः**=बन्धुभूत ये प्राण **इडाभिः सह**=ज्ञान की वाणियों के साथ **वृष्टयः**=सुखों की वर्षा करनेवाले होते हुए **कस्मै**=उस आनन्दस्वरूप प्रभु की प्राप्ति के लिये **अनुसस्त्रुः**=अनुकूलता से गतिवाले होते हैं। प्राणसाधना ज्ञान को बढ़ाती है, नीरोगता के द्वारा आनन्द का कारण बनती है और हमें प्रभु की ओर ले चलती है।

भावार्थ—विरल पुरुष ही प्राणों के गति विज्ञान की बात को सुनता है। ये प्राण वासनाओं को विनष्ट करनेवाले पुरुष के लिये बन्धुभूत होते हैं, उसे ज्ञान व स्वास्थ्य का आनन्द प्राप्त कराते हैं और प्रभु की ओर ले चलते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राण क्या कहते हैं?

ते म आहुर्य आययुरुप द्युभिर्विभिर्मदे। नरो मर्या अरेपस इमान्पश्यन्निति ष्टुहि॥ ३॥

(१) **ये**=जो प्राण **द्युभिः**=ज्ञान-ज्योतियों के द्वारा तथा **विभिः**=गतिमय इन्द्रियाश्वों के द्वारा **मदे**=हमारे उल्लास के निमित्त **उपाययुः**=हमें समीपता से प्राप्त होते हैं, **ते**=वे प्राण **मे आहुः**=मुझे कहते हैं कि (क) **नरः**=ये प्राण आगे और आगे ले चलनेवाले हैं, (ख) **मर्याः**=मनुष्यों का हित करनेवाले हैं तथा (ग) **अरेपसः**=निर्दोष हैं, सब दोषों को हमारे जीवन से दूर करनेवाले हैं। **इमान्**=हम इन प्राणों को **इति पश्यन्**=इस प्रकार देखते हुए **स्तुहि**=स्तुत करें। प्राणों के इन गुणों का स्मरण करते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—प्राण हमें ज्ञान व उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराके आनन्दित करते हैं। ये हमें आगे ले चलनेवाले हैं, मनुष्यों का हित करनेवाले हैं तथा निर्दोष हैं।

उन प्राणों का स्तवन कर, जो—

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

हम ज्ञानवान का स्तवन करें

ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानवः स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु। श्राया रथेषु धन्वसु॥ ४॥

(१) **ये**=जो प्राण **अञ्जिषु**=(अञ्जू गतौ) यज्ञादि कर्मों की प्रवृत्तियों में **स्वभानवः**=आत्म दीप्तिवाले **श्रायाः**=आश्रयणीय होते हैं, उन प्राणों का तू स्तवन कर। **ये**=जो **वाशीषु**=ज्ञान की वाणियों में आश्रयणीय होते हैं उनका स्तवन कर। (२) **स्रक्षु**=(सृज्) निर्माणात्मक कार्यों में, **रुक्मेषु**=ज्ञान दीप्तियों में (रुच् दीप्तौ) तथा **खादिषु**=शस्त्रों में व वासनाओं को विनष्ट करने में **श्रायाः**=आश्रयणीय होते हैं। इनकी साधना से ही मनुष्य निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह ज्ञान को दीप्त कर पाता है और शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ होता है। ये प्राण **रथेषु**=इन शरीर रथों को उत्तम रखने के निमित्त आश्रयणीय होते हैं तथा **धन्वसु**='प्रणव' रूप धनुष को प्राप्त करने के निमित्त आश्रयणीय होते हैं। अर्थात् हमारे शरीरों को ठीक रखते हुए ये प्राण हमें प्रभु-प्रवण करते हैं।

भावार्थ—प्राण हमें गतिशील व ज्ञानदीप्त बनाते हैं। वे हमें निर्माणात्मक कार्यों में, ज्ञान प्राप्ति

में व वासनाविनाश में प्रवृत्त करते हैं। इनके कारण शरीर रथ दृढ़ बनता है और मनुष्य प्रभु के नाम का जप करनेवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

मरुतः जीरदानवः

युष्माकं स्मा रथाँ अनु मुदे दधे मरुतो जीरदानवः। वृष्टी द्यावो यतीरिव॥ ५॥

(१) हे **जीरदानवः**=उत्तम जीवन का प्रदान करनेवाले प्राणो! **मुदे**=आनन्द प्राप्ति के लिये **युष्माकम्**=तुम्हारे **रथान्**=शरीर-रथों को **अनुदधे स्म**=अनुकूलता से धारण करता हूँ। (२) उन प्राणों को मैं धारण करता हूँ जो **वृष्टी** (वृष्ट्यां)=वृष्टि के होने के समय **यतीः द्यावः इव**= गतिशील ज्योतियों के समान हैं। वस्तुतः प्राणसाधन के होने पर आनन्द की वृष्टि होती है और साथ ही ज्ञानदीप्ति का प्रसार होता है।

भावार्थ—प्राण हमें जीवन देते हैं। प्राणसाधनावाला शरीर रथ हमारे आनन्द के लिये होता है। आनन्द की वृष्टि में वे प्राण ज्ञानदीप्ति का संचार करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वृष्टिवाहक वायुएँ

आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः।
वि पर्जन्यं सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः॥ ६॥

(१) आधिदैविक क्षेत्र में 'मरुतः' का अर्थ है 'वृष्टिप्रद वायुयें'। ये वृष्टिवाहक वायुयें **नरः**=मेघों को आगे और आगे ले चलनेवाली हैं। **सुदानवः**=ये वृष्टि द्वारा उत्तम अन्नादि पदार्थों को देनेवाली हैं। ये **ददाशुषे**=हवि को देनेवाले, यज्ञशील-प्रजावर्ग के लिये **यम्**=जिस **कोशम्**=जल के कोशभूत मेघ को **दिवः**=अन्तरिक्षलोक से **आचुच्यवुः**=क्षरित करते हैं, उस **पर्जन्यम्**=मेघ को **रोदसी**=द्यावापृथिवी की **अनु**=अनुकूलता से **विसृजन्ति**=उत्पन्न करते हैं। पृथिवीस्थ जल जब द्युलोकस्थ सूर्य की किरणों से वाष्पीभूत होकर ऊपर जाता है, तभी पर्जन्य का निर्माण होता है। उसी समय **धन्वना**=उदक के साथ **वृष्टयः**=वृष्टि को करनेवाले ये मरुत् **यन्ति**=गति करते हैं (गच्छता उदकेन सह वृष्टि प्रद मरुतो यन्ति सा०)। इन मरुतों से उस-उस स्थान में प्राप्त कराये गये ये मेघ वृष्टि को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—मरुत्, अर्थात् वृष्टिवाहक वायुयें मेघों से वृष्टि को कराके यज्ञशील प्रजावर्ग के लिये उत्तम अन्नों को देनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

धेनवः यथा-अश्वाः इव

ततृदानाः सिन्धवः क्षोदसा रजः प्र सस्रुर्धेनवो यथा।
स्यन्ना अश्वाइवाध्वनो विमोचने वि यद्वर्तन्त एन्यः॥ ७॥

(१) **ततृदानाः**=मेघों का विदारण करते हुए **सिन्धवः**=वहनेवाले ये वृष्टिवाहक वायु **क्षोदसा**=उदक से, पानी से **रजः**=अन्तरिक्ष में **प्रसस्रुः**=गतिवाले होते हैं, अन्तरिक्ष में आगे और आगे बढ़ते हैं। यथा जैसे **धेनवः**=गौवें दूध के साथ बछड़े की ओर बढ़ती हैं। उस दूध से जैसे बछड़े का आप्यायन होता है, इसी प्रकार इन वृष्टिजलों से प्राणियों का आप्यायन होता है। (२)

स्यन्ना अश्वाः=शीघ्र गतिवाले अश्व **इव**=जैसे **अध्वनः विमोचने**=प्राणियों के मार्गविमोक के लिये, रास्ते को तय करने के लिये, होते हैं, इसी प्रकार **यद्**=जब **एन्यः**=नदियाँ **विवर्तन्ते**=विविध मार्गों में चलती हैं तो प्राणियों की जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिये होती हैं। मरुत् ही वृष्टि द्वारा इन नदियों को प्रवाहित करते हैं और इस प्रकार हमारी जीवन-यात्रा की पूर्ति करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—मरुतों से बरसाये गये वृष्टिजल हमारा आप्यायन करते हैं और नदियों के प्रवाहों से अन्नादि को देकर ये हमारी जीवन-यात्रा को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'द्युलोक-अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक'

आ यात मरुतो दिव आन्तरिक्षादुमादुत। मार्व स्थात परावतः॥ ८॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **दिवः**=द्युलोक के हेतु से, मस्तिष्करूप द्युलोक को ठीक रखने के लिये **आयात**=प्राप्त होवो। प्राणसाधना से मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति होती ही है 'योगाङ्गानुष्ठानाद् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः'। **अन्तरिक्षाद् आ** (यात)=इस हृदयान्तरिक्ष के हेतु से तुम प्राप्त होवो। प्राणसाधना ही दोषों का उपक्षय करता है। **उत**=और **अमात्**=इस हमारे गृहभूत पार्थिव शरीर के हेतु से तुम हमें प्राप्त होवो। इस शरीर में होनेवाले सब रोग-कृमियों को प्राणों ने ही तो नष्ट करना है। (२) हे प्राणो! **परावतः**=दूरदेश में **मा अवस्थात**=हमारे से परे मत ठहरो। अर्थात् हम सदा प्राणसाधना करनेवाले बनें। प्राणसाधना से हम दूर न हों।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे मस्तिष्क हृदय व शरीर तीनों को स्वस्थ बनायेगी।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

रसा-सिन्धु-सरयुः

मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मा वः सिन्धुर्नि रीरमत्।
मा वः परि ष्ठात्सरयुः पुरीषिण्यस्मे इत्सुम्नमस्तु वः॥ ९॥

(१) हे मरुतो प्राणो! **वः**=तुम्हें यह **रसा**=अंग-प्रत्यंग में रसवाला, लोचलचकवाला, खूब स्वस्थ शरीर, जो **अनितभा**=(न+इत+भा) अप्राप्त ज्ञानदीप्तिवाला है अथवा **कुभा**=कुत्सित ज्ञानदीप्तिवाला अथवा अत्यल्प ज्ञानदीप्तिवाला है, वह शरीर **मा निरीरमत्**=मत आनन्दित करे। अर्थात् ये प्राण केवल शरीर को ही स्वस्थ बनानेवाले न हों। (२) **वः**=तुम्हें यह **क्रुमुः**=अत्यन्त श्रमशील इधर-उधर गतिवाला **सिन्धुः**=हृदयान्तरिक्ष भी **मा**=मत रोक ले। तुम केवल हृदय को ही निरुद्ध करने में न लगे रहो। (२) और हे प्राणो! यह **पुरीषिणी**=ज्ञान-जल से परिपूर्ण **सरयुः**=सब विषयों में गतिवाली, सब विषयों का ज्ञान देनेवाली, ज्ञान-नदी भी, बुद्धि भी **मा**=मत **वः**=तुम्हें **परिष्ठात्**=चारों ओर से घेर ले। अर्थात् तुम केवल बुद्धि के चारों ओर ही न लगे रहो। तुम्हारे द्वारा होनेवाला परिमार्जन का काम 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को ही अपना विषय बनाएँ। तुम्हारी साधना से जहाँ शरीर स्वस्थ व नीरोग बने, वहाँ मन संयत व निर्दोष हो तथा बुद्धि ज्ञानजल से परिपूर्ण व सब विषयों में गतिवाली हो। इस प्रकार हे प्राणो! **अस्मे**=हमारे लिये **वः**=तुम्हारे से दिया जानेवाला **सुम्नम्**=आनन्द **अस्तु**=हो। हमारा जीवन त्रिविध उन्नति से पूर्ण आनन्द को प्राप्त करे।

भावार्थ—हमारी प्राणसाधना 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का व्यापन करती हुई हमें सुख व आनन्द प्राप्त कराये।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'स्वास्थ्य और इन्द्रिय दीप्ति' से प्राप्य आनन्द

तं वः शर्धं रथानां त्वेषं गणं मारुतं नव्यसीनाम्। अनु प्र यन्ति वृष्टयः॥ १०॥

(१) हे प्राणो! **वः**=आपके **नव्यसीनाम्**=स्तुति के योग्य (नु स्तुतौ) **रथानाम्**=शरीर-रथों के **तं मारुतं शर्धम्**=उस प्राण सम्बन्धी बल को तथा **त्वेषं गणम्**=दीप्त इन्द्रिय समूह को **अनु**=लक्ष्य करके, अर्थात् उसके अनुसार **वृष्टयः**=आनन्द की वर्षाएँ **प्रयन्ति**=प्रकर्षेण प्राप्त होती हैं। (२) प्राणसाधना से शरीर-रथ सबल व दृढ़ बनता है तथा इन्द्रिय समूह खूब दीप्त होता है। ऐसी स्थिति में ही आनन्द की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर शक्ति-सम्पन्न हो, इन्द्रियाँ दीप्त हों। तभी आनन्द होगा।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

शर्ध-व्रात-गण

शर्धंशर्धं व एषां व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिः। अनु क्रामेम धीतिभिः॥ ११॥

(१) हम **एषाम्**=इन प्राणों के **शर्धं शर्धम्**=अंग-प्रत्यंग में होनेवाले उस-उस बल को **अनुक्रामेम**=अनुक्रमेण प्राप्त हों। इन प्राणों के द्वारा हमारे सब अंग सबल हो। (२) हम इन प्राणों के **व्रातं व्रातम्**=प्रत्येक व्रतसमूह को **सुशस्तिभिः**=उत्तम शंसनों-स्तुतियों के साथ प्राप्त हों। प्रभु स्तवन करते हुए हम प्राणसाधना के द्वारा व्रतमय जीवनवाले हों। (३) **गणं गणम्**=प्रत्येक गण को (group) 'कर्मेन्द्रिय पञ्चक, ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, प्राण पञ्चक व अन्तःकरण पञ्चक' (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय) आदि गणों को **धीतिभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा (अनुक्रामेम) अनुकूलता से प्राप्त करें।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हमारा जीवन 'सबल, व्रती व उत्तम इन्द्रियादिगणोंवाला' हो।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आनन्दमय-उत्तम प्रादुर्भाववाला-त्यागमय जीवन

कस्मा अद्य सुजाताय रातहव्याय प्र ययुः। एना यामेन मरुतः॥ १२॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि हम प्राणसाधना के द्वारा जहाँ बल को प्राप्त करते हैं, वहाँ हमारा जीवन व्रतमय होता है और हमारे इन्द्रियादि के गण उत्तम बनते हैं। **एना**=इस 'बल, व्रत व उत्तम इन्द्रिय आदि के गणोंवाले' **यामेन**=मार्ग से **मरुतः**=प्राण-प्राणसाधना करनेवाले पुरुष, **अद्य**=आज **कस्मै**=उस आनन्दस्वरूप, **सुजाताय**=उत्तम प्रादुर्भाववाले, **रातहव्याय**=सब हव्य पदार्थों को देनेवाले प्रभु के लिये **प्रययुः**=प्रकर्षेण गतिवाले होते हैं। (२) प्राणसाधना से अन्ततः 'विवेकख्याति' प्राप्त होती है, यह विवेकख्याति प्रभु-दर्शन का साधन बनती है।

भावार्थ—प्राण हमें आनन्दस्वरूप, उत्तम प्रादुर्भाववाले, हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभु की ओर ले चलते हैं। हमारे जीवनों को भी ये आनन्दमय, उत्तम प्रादुर्भाववाला व त्यागमय व यज्ञशील बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'विश्वायु सौभग' धन

येन तोकाय तनयाय धान्यं१ बीजं वहध्वे अक्षितम्।
अस्मभ्यं तद्धत्तन यद्व ईमहे राधो विश्वायु सौभगम्॥ १३॥

(१) हे मरुतो-प्राणो! आप **येन**=जिस धन के द्वारा **तोकाय तनयाय**=हमारे पुत्र-पौत्रों के लिये **अक्षितम्**=न क्षीण होनेवाले **धान्यम्**=धान्य व **बीजम्**=बीजों को **वहध्वे**=प्राप्त कराते हो, **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **तत्**=उस **राधः**=धन को **धत्तन**=धारण करो। (२) **वः**=आपके **यद्**=जिस धन को **ईमहे**=हम माँगते हैं वह हमारे लिये **विश्वायु**=पूर्ण जीवन को प्राप्त करानेवाला हो, हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को ठीक करनेवाला हो तथा **सौभगम्**=यह हमारे सौभाग्य का कारण हो। यह हमें उन धान्यों व बीजों को प्राप्त करने के सक्षम करे, जिनसे कि हमारे पुत्र-पौत्रों का धारण हो पाये।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें उस धन को प्राप्त करने के योग्य बनाये, जो हमारे लिये 'विश्वायु व सौभग' हो तथा परिवार पालन के लिये धान्य व बीज की कमी न होने दे।

सूचना—यहाँ 'धान्य बीज' शब्द का प्रयोग 'अमांसाहार' का स्पष्ट निर्देश कर रहा है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

अनिष्ट परिहार-इष्ट प्राप्ति

अतीयाम निदस्तिरः स्वस्तिभिर्हित्वावद्यमरातीः।
वृष्ट्वी शं योराप उस्त्रि भेषजं स्याम मरुतः सह ॥ १४ ॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! हम **अवद्यम्**=पापों को **अरातीः**=काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को **हित्वा**=छोड़कर **स्वस्तिभिः**=कल्याणकर मार्गों से चलते हुए **तिरः**=अन्तर्हित रूप में प्राप्त, अन्दर ही अन्दर उत्पन्न हो जानेवाले, **निदः**=निन्दनीय भावों को **अतीयाम**=लाँघ जाएँ। प्राणसाधना द्वारा हम अशुभों का परिहार कर सकें। (२) **वृष्ट्वी**=प्राणसाधना से प्रेरित आनन्द की वर्षा के होने पर अथवा सर्वत्र शरीर में शक्ति का सेचन होने पर **शम्**=शान्ति को, **योः**=भयों के यावन को, **आपः**=रेतःकणों को **उस्त्रि**=प्रकाश की किरणों को व **भेषजम्**=रोगनिवारक परम औषध को (वीर्य को) **सह स्याम**=साथ-साथ प्राप्त हों। ये शान्ति आदि इष्ट बातें हमें मिलें।

भावार्थ—प्राणसाधना से अनिष्ट परिहार व इष्ट प्राप्ति होती है, सब निन्दनीय दूर होकर प्रशंसनीय प्राप्त होता है। अशुभ से दूर शुभ के हम समीप होते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

सुदेवः सुवीरः

सुदेवः समहासति सुवीरो नरो मरुतः स मर्त्यः। यं त्रायध्वे स्याम ते ॥ १५ ॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यं त्रायध्वे**=आप जिसका रक्षण करते हैं, **ते स्याम**=हम वे बनें। अर्थात् हम सदा प्राणसाधना करते हुए इन प्राणों के द्वारा रक्षणीय हों। (२) हे **नरः**=हमें उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले मनुष्यो! **स मर्त्यः**=आप से रक्षणीय मनुष्य **सुदेवः**=उत्तम देववृत्तिवाला, **समह**=तेजस्विता से सम्पन्न ('समह' में विभक्ति का लुक् है) व **सुवीरः**=उत्तम वीर **असति**=होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना करनेवाला प्राणों से रक्षित पुरुष 'उत्तम देव' व तेजस्विता सम्पन्न 'सुवीर' बनता है। प्राण शरीर को नीरोग बनाकर साधक को 'वीर' बनाते हैं। मन को नीरोग बनाकर उसे 'सुदेव' बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पूर्व सखा

स्तुहि भोजान्त्स्तुवतो अस्य यामनि रणन्गावो न यवसे।
यतः पूर्वाँइव सखीँरनु ह्वय गिरा गृणीहि कामिनः॥ १६॥

(१) इन **भोजान्**=पालन करनेवाले, शरीर, मन व बुद्धि का रक्षण करनेवाले तथा **स्तुवतः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले प्रभु की ओर हमारा झुकाव करनेवाले, प्राणों का **स्तुहि**=प्रशंसन करो। इन प्राणों की महिमा का स्मरण करो। **अस्य**=इस प्राणगण के **यामनि**=मार्ग में **गावः रणन्**=ज्ञान की वाणियाँ रमण करती हैं **न**=जैसे गौवें **यवसे**=घास में रमण करती हैं। प्राणसाधक के जीवन में ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। (२) **यतः**=इन गतिशील मरुतों को **पूर्वान्**=पालन व पूरण करनेवाले **सखीन् इव**=मित्रों के समान **अनु ह्वयः**=पुकार से प्राण ही सर्वप्रथम मित्र हैं। इन **कामिनः**=सदा भला चाहनेवाले प्राणों को **गिरा**=इन ज्ञानवाणियों से **गृणीहि**=स्तुत कर। प्राणसाधना करते हुए हम ज्ञान को बढ़ायें, इस ज्ञान को देकर ही ये प्राण हमारा उत्कृष्ट हित करते हैं।

भावार्थ—प्राण (क) हमारा पालन करते हैं, (ख) हमें प्रभु स्तवन की ओर झुकाते हैं, (ग) हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं। एवं ये प्राण ही हमारे सर्वप्रथम मित्र हैं।

अगले सूक्त में भी श्यावाश्व मरुतों का आराधन करता है—

५४. [चतुःपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'मरुत शर्ध' का स्तवन

प्र शर्धाय मारुताय स्वभानव इमां वाचमनजा पर्वतच्युते।
घर्मस्तुभे दिव आ पृष्ठयज्वने द्युम्नश्रवसे महि नृम्णमर्चत॥ १॥

(१) **मारुताय**=प्राण-सम्बन्धी **शर्धाय**=बल के लिये **इमां वाचम्**=इस स्तुतिवाणी को **प्र अनज**=प्रकर्षेण प्राप्त कराओ जो मारुत बल **स्वभानवे**=आत्म दीप्तिवाला है और **पर्वतच्युते**=अविद्या पर्वत को विनष्ट करनेवाला है। (२) उस प्राणों के बल के लिये तुम स्तवन करो जो **घर्मस्तुभे**=शरीर में गर्मी को, उचित शक्ति की उष्णता को, थामनेवाला है और **दिवः**=ज्ञान के द्वारा **पृष्ठयज्वने**=यज्ञशील पुरुषों के लिये पृष्ठ (back bone) के समान बनते हैं। ये प्राणसाधना करनेवाले पुरुष यज्ञशील होते हैं, भोगवृत्ति से दूर होकर ये यज्ञियवृत्तिवाले होते हैं। (३) **द्युम्नश्रवसे**=देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति के लिये **महि नृम्णम्**=प्राणों के इस महान् बल की **अर्चत**=अर्चना करो। प्राण-सम्बन्धी बल बुद्धि को सूक्ष्म बनायेगा और देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करायेगा।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) आत्मज्ञान की दीप्ति प्राप्त होती है, (ख) अविद्या नष्ट होती है, (ग) शरीर में शक्ति का उचित संरक्षण होता है, (घ) जीवन यज्ञमय बनता है और (ङ) देदीप्यमान ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वयोवृधः-अश्वयुजः' मरुतः

प्र वो मरुतस्तविषा उदन्यवो वयोवृधो अश्वयुजः परिज्रयः।
सं विद्युता दधति वाशति त्रितः स्वरन्त्यापोऽवना परिज्रयः॥ २॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=तुम्हारे **तविषाः**=बल **उदन्यवः**=इन रेतःकण रूप जलों की कामनावाले होते हैं प्राणसाधना से इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। ये रेतःकणों के रक्षण के द्वारा **वयोवृधः**=आयुष्य को बढ़ानेवाले हैं। **अश्वयुजः**=इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतनेवाले हैं, अर्थात् हमें सदा क्रियाशील बनानेवाले हैं और **परिज्रयः**=उन-उन कार्यों में चारों ओर गतिवाले होते हैं। (२) ये प्राणों को बल **प्र विद्युता**=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति के साथ **संदधति**=हमारा मेल करते हैं। इन प्राणों के बल से ही **आपः**=रेतःकण (आपः रेतो भूत्वा०) **अवना**=इस शरीररूप पृथिवी में **परिज्रयः**=परितः गतिवाले होते हैं और **स्वरन्ति**=रोगकृमिरूप शत्रुओं का संहार करते हैं (स्वृ to kill)। इन प्राणों के बल से ही **चितः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करनेवाला यह प्राणसाधक पुरुष **वाशति**=प्रभु को पुकारता है (to call), प्रभु का स्तवन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में शक्तिकणों का रक्षण होता है, आयुष्य की वृद्धि होती है, गतिशीलता आती है, ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'रभसा उदोजसः' मरुतः

विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातत्विषो मरुतः पर्वतच्युतः।
अब्दया चिन्मुहुरा ह्रादुनीवृतः स्तनयदमा रभसा उदोजसः ॥ ३ ॥

(१) हे **मरुतः**=प्राण **विद्युन्महसः**=अत्यन्त दीप्त तेजवाले हैं, **नरः**=हमें तेजस्विता के द्वारा उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हैं। **अश्मदिद्यवः**=पाषाणवत् दृढ़ आयुधोंवाले हैं, 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप जीवन-संग्राम के आयुधों को दृढ़ बनानेवाले हैं। **वातत्विषः**=प्राप्त दीप्तिवाले हैं और **पर्वतच्युतः**=अविद्या पर्वत को विनष्ट करनेवाले हैं। (२) **अब्दया चित्**=(अप् दा) ये प्राण निश्चय से रेतःकणरूप जलों को देनेवाले हैं। इन रेतःकणों के द्वारा ही **ह्रादुनीवृतः**=ज्ञान की वाणीरूप अशनियों के प्रवर्तक हैं। रेतःकण ही तो ज्ञानाग्नि के ईंधन बनते हैं। **स्तनयदमाः**=(अम=बल) गर्जना करते हुए बलवाले हैं। इन प्राणों के द्वारा मनुष्य शक्ति-सम्पन्न बनता है और प्रभु-स्तवन करता है। **रभसाः**=ये प्राण राभस्यवाले, वेगायुक्त बलवाले व **उदोजसः**=उत्कृष्ट ओजस्वी हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें ज्ञान, बल व वेग को बढ़ाकर उन्नतिपथ पर ले चलती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'रुद्राः शिक्वसः' मरुतः

व्य१क्तून्रुद्रा व्यहानि शिक्वसो व्य१न्तरिक्षं वि रजांसि धूतयः।
वि यदज्राँ अजथ नाव ईं यथा वि दुर्गाणि मरुतो नाह रिष्यथ ॥ ४ ॥

(१) **रुद्राः**=(रुत् द्र) रोगों का द्रावण करनेवाले (मरुत्) प्राणो! **अक्तून्**=रात्रियों में **वि अजथ**=विशिष्ट गतिवाले होते हो। **अहानि**=दिनों में भी **वि** (अजथ)=विशिष्ट गतिवाले होते हो। ये प्राण दिन-रात चलते हैं। हे **शिक्वसः**=शक्तिशाली प्राणो! **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष में **वि**=विशिष्ट गतिवाले होते हो। **रजांसि**=(gloom darkness) अन्धकारों को **विधूतयः**=कम्पित करके दूर करनेवाले हो। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **यत्**=जब **अज्रान्**=शरीर रूप क्षेत्रों में **वि** (अजथ)=गतिवाले होते हो **यथा**=जैसे **नावः**=नौकाएँ **ईम्**=निश्चय से समुद्र में गतिवाली होती हैं, तो **दुर्गाणि**=सब दुर्गों व कष्टों को **वि** (अजथ)=दूर करते हो और **अह**=निश्चय से **न रिष्यथ**=हिंसित नहीं होते हो।

भावार्थ—प्राण दिन-रात गतिवाले होते हुए अन्धकार को दूर करते हैं। शरीर क्षेत्रों में गति करते हुए ये प्राण सब कष्टों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एताः न यामे (गति में मृगों के समान)

तद्वीर्यं वो मरुतो महित्वनं दीर्घं ततान सूर्यो न योजनम्।
एता न यामे अगृभीतशोचिषोऽनश्वदां यन्न्ययातना गिरिम्॥ ५॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपका **तद्**=वह **वीर्यम्**=वीर्य **महित्वनम्**=अतिशयित महिमावाला है। **सूर्यः न**=सूर्य की तरह वह वीर्य **दीर्घं ततान**=बहुत अधिक विस्तारवाला होता है। **योजनम्**=यह वीर्य ही सब इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतनेवाला है। (२) तुम्हारे इस वीर्य से ही ये इन्द्रियाश्व **यामे**=गमन में **एताः न**=मृगों के समान होते हैं, मृगों की तरह स्फूर्तिवाले होते हैं। **अगृभीतशोचिषः**=इन इन्द्रियरूप अश्वों की दीप्ति विषय-वासनाओं से निगृहीत नहीं होती। यह सब होता तब है **यद्**=जब कि **अनश्वदाम्**=इन्द्रियरूप अश्वों को न प्राप्त करानेवाले **गिरिम्**=अविद्यापर्वत को **नि अयातन**=आप निहत (विनष्ट) करते हो। प्राणसाधना से अविद्या विनष्ट होती है। इस अविद्यानाश से इन्द्रियाँ विषय-व्यासक्त न होकर अपने-अपने कार्यों में लगती हैं और अपनी तेजस्विता को खोती नहीं।

भावार्थ—प्राणों की शक्ति की महिमा से ही अविद्या का नाश होकर इन्द्रियाश्वों की स्फूर्ति व दीप्ति बनी रहती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वासना-विनाश व प्रभु-प्राप्ति

अभ्राजि शर्धो मरुतो यदर्णसं मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः।
अध स्मा नो अरमतिं सजोषसश्चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगम्॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आपका **शर्धः**=बल **अभ्राजि**=दीप्त हो उठता है, **यत्**=जब **अर्णसम्**=समुद्र को, 'कामो हि समुद्रः०' इस काम (वासना) रूप समुद्र को **मोषथा**=नष्ट कर डालते हो, चुरा लेते हो। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **कपना**=घुण आदि कृमि **वृक्षम्**=वृक्ष को खोखला कर देते हैं। प्राणसाधना से वासना उसी प्रकार जीर्ण हो जाती है, जैसे कि घुणों से वृक्ष। (२) हे **वेधसः**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले प्राणो! **अध**=अब **स्म**=निश्चय से **नः**=हमारे लिये **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए तुम **चक्षुः इव**=आँख की तरह **अरमतिं यन्तम्**=उस (अ-रमति) अनासक्त (असक्तं सर्वभृच्चैव) सबका धारण करते हुए भी, इस सब में न फँसे हुए, प्रभु की ओर जाते हुए **सुगम्**=शोभन मार्ग को **अनुनेषथ**=अनुकूलता से प्राप्त कराओ। प्राणसाधना से हम निर्दोष जीवनवाले बनकर प्रभु की ओर चलें और प्रभु का दर्शन करनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से वासना का विनाश होता है और प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋषि व राजा

न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ॥ ७॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आप **यम्**=जिस भी **ऋषिं वा**=तत्त्वद्रष्टा-ज्ञानी ब्राह्मण को अथवा **राजानं वा**=अपने जीवन का संयम करनेवाले तेजस्वी क्षत्रिय को **सुषूदथ**=उत्तम मार्ग पर प्रेरित करते हो **सः**=वह **न जीयते**=वासनाओं से पराजित नहीं होता और अतएव **न हन्यते**=नष्ट नहीं होता। (२) यह प्राणसाधना में तत्पर 'ऋषि व राजा' मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ऋषि, तथा शरीर के दृष्टिकोण से राजा, ज्ञानी तेजस्वी पुरुष **न सेधति**=नष्ट जीवनवाला नहीं होता **न कथते**=अतएव रोग आदि से पीड़ित नहीं होता और **न रिष्यति**=विनाश की ओर नहीं जाता।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'ऋषि व राजा', तत्त्वद्रष्टा व तेजस्वी बनते हैं। उस समय हम न वासनाओं से पराजित होते हैं, नां ही रोगों से आक्रान्त।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नियुत्वन्तः-ग्रामजितः

नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नरोऽर्यमणो न मरुतः कबन्धिनः।
पिन्वन्त्युत्सं यदिनासो अस्वरन्व्युन्दन्ति पृथिवीं मध्वो अन्धसा ॥ ८ ॥

(१) **मरुतः**=प्राण **नियुत्वन्तः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले हैं, इन्द्रियों के दोषों को दग्ध करके ये उन्हें उत्तम बनाते हैं। **ग्रामजितः**=ये इन्द्रिय समूह को जीतनेवाले हैं। प्राणसाधक पुरुष जितेन्द्रिय बनता है। ये प्राण **अर्यमणः न नरः**=(अरीन् यच्छति) शत्रु विजेता मनुष्यों के समान **यथा**=जिस प्रकार **कवन्धिनः**=(क-बन्ध्) रेतःकणरूप जलों को शरीर में बाँधनेवाले हैं। उसी प्रकार उस **पिन्वन्ति**=ये हमारे ज्ञानस्रोत को परिपूर्ण करनेवाले होते हैं। रेतःकणों के रक्षण के अनुपात में ही ज्ञान स्रोत का वर्धन होता है। (२) **यत्**=जब **इनासः**=इन्द्रियादि के स्वामी होते हुए ये प्राण **अस्वरन्**=प्रभु-स्तवन करनेवाले बनते हैं, अर्थात् जब प्राणसाधना से हमारी वृत्ति प्रभु स्तवन की बनती है, तब **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **मध्वः**=इस सारभूत सोम के **अन्धसा**=भोजन से **व्युन्दन्ति**=विरोधरूप से सिक्त कर देते हैं। प्राणसाधना से प्रभु की ओर झुकाव होता है और उससे शरीर में सोम का सर्वत्र सेचन होता है। वासना-विनाश के द्वारा सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निर्दोष बनती हैं, पुरुष जितेन्द्रिय बनकर प्रभु स्तवन की ओर झुकता है और सोम का रक्षण कर पाता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रवत्वती

प्रवत्वतीयं पृथिवी मरुद्भ्यः प्रवत्वती द्यौर्भवति प्रयद्भ्यः।
प्रवत्वतीः पथ्या अन्तरिक्ष्याः प्रवत्वन्तः पर्वता जीरदानवः ॥ ९ ॥

(१) **इयं पृथिवी**=यह पृथिवीरूप शरीर **मरुद्भ्यः**=इन प्राणों के लिये **प्रवत्वती**=(elevation) उत्कर्षवाला होता है। प्राणसाधना के होने पर शरीर बड़ा स्वस्थ व सबल हो जाता है। इन **प्रयद्भ्यः**=प्रकृष्ट गतिवाले प्राणों के लिये **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक भी **प्रवत्वती**=उत्कर्षवाला होता है। प्राणसाधना से मस्तिष्क भी खूब शक्तिशाली बनता है और उत्कृष्ट ज्ञान से परिपूर्ण होता है। (२) **अन्तरिक्ष्यः पथ्याः**=हृदयान्तरिक्ष के मार्ग भी इन प्राणों के लिये **प्रवत्वतीः**=उत्कर्षवाले हों। प्राणसाधना से हृदय के अन्दर कोई अशुभ भाव उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार ये **मरुत्**=प्राण हमारे लिये **प्रवत्वन्तः**=उत्कर्षवाले हों, हमें उन्नत स्थिति में प्राप्त कराएँ, **पर्वताः**=ये हमारा पूरण

करनेवाले हों तथा **जीरदानवः**=(क्षिप्रदानाः) शीघ्रता से सब वसुओं के देनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर, मस्तिष्क व हृदय सब उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। ये प्राण उत्कर्ष को प्राप्त कराते हुए हमारा पूरण करते हैं और शीघ्रता से सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अध्वनः पारं अश्नुथ

यन्मरुतः सभरसः स्वर्णरः सूर्य उदिते मदथा दिवो नरः।
न वोऽश्वाः श्रथयन्ताह सिस्रतः सद्यो अस्याध्वनः पारमश्नुथ ॥ १० ॥

(१) **यत्**=जब हे **मरुतः**=प्राणो! **सभरसः**=बल से युक्त **स्वर्णरः**=प्रकाश की ओर ले चलनेवाले तुम **सूर्ये उदिते**=ज्ञान सूर्य के उदय होने पर **मदथा**=सोमपान के आनन्द का अनुभव करते हो। अर्थात् प्राणसाधना के होने पर शरीर सबल बनता है, मस्तिष्क प्रकाशमय। उस समय शरीर में शक्ति की ऊर्ध्व गति होकर जीवन उल्लासमय बनता है। हे प्राणो! आप **दिवः**=प्रकाशमय हो, **नरः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हो। (२) हे प्राणो! **वः**=तुम्हारे **अश्वाः**=ये इन्द्रियरूप अश्व **न श्रथयन्त**=ढीले नहीं पड़ते हैं, **अह**=निश्चय से **सिस्रतः**=(सरन्तः) ये सदा गतिवाले होते हैं। इस प्रकार हे प्राणो! तुम **सद्यः**=शीघ्र **अस्य अध्वनः**=इस मार्ग के **पारं अश्नुथ**=पार को प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना के द्वारा जीवन-यात्रा ठीक से पूरी होती है।

भावार्थ—प्राण शरीर में बल को व मस्तिष्क में ज्ञान को प्राप्त कराते हुए हमें निरन्तर क्रियाशील बनाते हैं और जीवन-यात्रा को सफलता से पूर्ण कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वीर सैनिक

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः ॥ ११ ॥

(१) 'मरुत्' का आधिभौतिक अर्थ सैनिक है। उसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे **अंसेषु**=कन्धों पर **ऋष्टयः**=आयुधविशेष हैं, **पत्सु**=पाँवों में **खादयः**=कटक हैं, **वक्षः सु**=छातियों पर **रुक्माः**=स्वर्ण के देदीप्यमान हार हैं। हे प्राणो! इस प्रकार तुम **रथे शुभः**=इन शरीर-रथों में शोभावाले हो। (२) **अग्निभ्राजसः**=अग्नि के समान दीप्तिवाले, **गभस्त्योः**=बाहुओं में **विद्युतः**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाले हो। **शीर्षसु**=तुम्हारे सिरों पर **हिरण्ययीः**=स्वर्ण की बने हुए **शिप्राः**=सिरस्त्राण **वितताः**=विस्तृत हैं। इस प्रकार वीरवेश में सुसज्जित यह सैनिक देशरक्षा के लिये मर जाता है पर पीठ नहीं दिखाता सो सदा मरुत् है।

भावार्थ—अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सैनिक देशरक्षा के लिये प्राणों को छोड़ता हुआ सचमुच 'मरुत्' है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अगृभीतशोचिषं नाकं, रुशत् पिप्पलम्

तं नाकमर्यो अगृभीतशोचिषं रुशत्पिप्पलं मरुतो वि धूनुथ।
समच्यन्त वृजनातित्विषन्त यत्स्वरन्ति घोषं विततमृतायवः ॥ १२ ॥

(१) हे **अर्यः**=(अभिगन्तारः) शत्रुओं (रोगों व वासनाओं) पर आक्रमण करनेवाले

मरुतः=प्राणो! आप **तम्**=उस **अगृभीतशोचिषम्**=(अगृहीततेजस्कं) जिसकी दीप्ति का निग्रह नहीं होता उस **नाकम्**=(आदित्यं) ज्ञान के सूर्य को तथा **रुषत् पिप्पलम्**=देदीप्यमान रेत:कणरूप जल को **विधूनुथ**=(विविधं चालयथ) शरीर के अंग-प्रत्यंग में गतिवाला करते हो। प्राणसाधना से मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान सूर्य का उदय होता है और शरीर के अंग-प्रत्यंगों में सुरक्षित रेत:कणों की शक्ति कार्य करती है। (२) उस समय **वृजना**=सब बल **सं अच्यन्त**=संगत होते हैं, **अतित्विषन्त**=ज्ञान दीप्तियाँ चमक उठती हैं, **यत्**=जब कि **ऋतायवः**=यज्ञों की कामनावाले पुरुष **विततं घोषम्**=विस्तृत स्तुति का **स्वरन्ति**=उच्चारण करते हैं। जीवन में यज्ञशील बनकर सदा प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला बनना ही वह मार्ग है जिससे कि सोम का रक्षण हो पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा यज्ञ व स्तुति का अपनाने से सोम का रक्षण होता है। उससे जहाँ ज्ञान दीप्त होता है, वहाँ अंग-प्रत्यंग शक्तिशाली बनता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्ञान व आयुष्य' का वर्धक धन

युष्मादत्तस्य मरुतो विचेतसो रायः स्याम रथ्यो३ वयस्वतः।
न यो युच्छति तिष्यो३ यथा दिवो३ऽस्मे रारन्त मरुतः सहस्त्रिणम्॥ १३॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! हम **रथ्यः**=शरीर रथ के स्वामी होते हुए **युष्मादत्तस्य**=आपसे **मरुतः सहस्त्रिणम्**=दिये हुए **विचेतसः**=विशिष्ट ज्ञानवाले तथा **वयस्वतः**=उत्कृष्ट आयुष्यवाले **रायः**=धन के **स्याम**=स्वामी हों। प्राणसाधना द्वारा वह धन हमें प्राप्त हो जो हमें उत्कृष्ट ज्ञान व उत्कृष्ट आयुष्य प्राप्त कराने में सहायक होता है। (२) हम उस धन के स्वामी हो **यः**=जो उसी प्रकार हमारे से **न युच्छति**=च्युत नहीं होता है, **यथा**=जैसे कि **दिवः**=आकाश से **तिष्यः**=आदित्य। हे **मरुतः**=प्राणो! **अस्मे**=हमारे में **सहस्त्रिणम्**=सहस्र संख्याक धन को **रारन्त**=(रमयत) रमणवाला करो। हम खूब ही धन का पोषण करते हुए ज्ञान व आयुष्य का वर्धन करें।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष ज्ञान व आयुष्य के वर्धक ज्ञान को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सामविप्र-ऋषि

यूयं रयिं मरुतः स्पार्हवीरं यूयमृषिमवथ सामविप्रम्।
यूयमर्वन्तं भरताय वाजं यूयं धत्थ राजानं श्रुष्टिमन्तम्॥ १४॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यूयम्**=तुम **स्पार्हवीरम्**=स्पृहणीय वीर पुत्रोंवाले **रयिम्**=धन को **अवथ**=हमारे में सुरक्षित करते हो। प्राणसाधना द्वारा वह धन प्राप्त होता है जो वीर पुत्रों से युक्त होता है। **यूयम्**=तुम **सामविप्रम्**=उपासना द्वारा व शान्तिपूर्वक विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले **ऋषि**=तत्त्वद्रष्टा को **अवथ**=रक्षित करते हो। अर्थात् प्राणसाधक पुरुष 'सामविप्र ऋषि' बनता है। (२) हे प्राणो! **यूयम्**=तुम **भरताय**=इस अपना ठीक से भरण करनेवाले के लिये **अर्वन्तम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाली **वाजम्**=शक्ति को **धत्थ**=धारण करते हो, उस शक्ति को **यूयम्**=तुम देते हो जो **राजानम्**=उस साधक के जीवन को दीप्त बनाती है तथा **श्रुष्टिमन्तम्**=सुखवाली है। यह शक्ति उसके जीवन को नीरोगता आदि प्राप्त कराके सुखी बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम वीर सन्तानोंवाले धन को व शक्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तत् द्रविणम्

तद्वो यामि द्रविणं सद्यऊतयो येना स्वर्ण ततनाम नॄँरभि।
इदं सु मे मरुतो हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः ॥ १५ ॥

(१) हे **सद्य ऊतयः**=शीघ्रता से रक्षण करनेवाले **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपसे **तत् द्रविणम्**=उस धन को **यामि**=माँगता हूँ, **येन**=जिसके द्वारा **नॄन् अभि**=मनुष्यों की ओर **स्वः न**=सूर्य के समान **ततनाम**=प्रकाश को हम फैलानेवाले बनें। प्राणसाधना के द्वारा वासनाओं से बचकर हम उस ज्ञानधन को प्राप्त करें जिसके द्वारा हम लोगों के लिये भी प्रकाश को देनेवाले बनें। (२) हे प्राणो! **मे**=मेरे **इदम्**=इस **वचः**=स्तुतिवचन को आप **सु हर्यता**=(हर्य गतौ) उत्तमता से प्रेरित करो, अर्थात् आपकी साधना से मैं स्तुति की वृत्तिवाला बनूँ। **यस्य तरसा**=जिन स्तुतिवचनों के बल से, स्तुति से प्राप्त शक्ति के द्वारा **शतं हिमाः**=सौ वर्षों को, शतवर्ष के दीर्घ जीवन को **तरेम**=हम तैरनेवाले हों। शतवर्ष के दीर्घजीवन में यह स्तुति ही हमें वासनाओं से तरायेगी।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानधन को प्राप्त करके हम लोगों के लिये प्रकाश को देनेवाले हों। इस प्राणसाधना से स्तुति में प्रवृत्त होकर हम १०० वर्ष तक, वासनाओं से आक्रान्त न होते हुए, जीनेवाले बनें।

श्यावाश्व ही प्राणस्तवन करते हुए कहते हैं—

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'प्रयज्यवः-भ्राजदृष्टयः' मरुतः

प्रयज्यवो मरुतो भ्राजदृष्टयो बृहद्वयो दधिरे रुक्मवक्षसः।
ईयन्ते अश्वैः सुयमेभिराशुभिः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥ १ ॥

(१) 'मरुत्' आधिभौतिक जगत् में राष्ट्र रक्षक क्षत्रिय हैं। ये **प्रयज्यवः**=राष्ट्र रक्षणरूप प्रकृष्ट यज्ञ को करनेवाले **मरुतः**=राष्ट्र के लिये (म्रियन्ते) प्राणों को त्यागने के लिये उद्यत सैनिक **भ्राजत् ऋष्टयः**=देदीप्यमान आयुधोंवाले होते हैं। ये **रुक्मवक्षसः**=देदीप्यमान वक्षःस्थलोंवाले क्षत्रिय अथवा दीप्त हारों व पदकों (medals) को धारण किये हुए वक्षःस्थलोंवाले वीर सैनिक **बृहद्वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधिरे**=धारण करते हैं। (२) ये **सुयमेभिः**=अच्छी प्रकार नियन्त्रित **आशुभिः**=शीघ्र गतिवाले **अश्वैः**=अश्वों से **ईयन्ते**=राष्ट्र में रक्षण कार्यों के लिये गतिवाले होते हैं। **शुभं यातम्**=सदा धर्म्ययुद्ध की ओर जाते हुए, शुभ की ओर जाते हुए इन मरुतों के **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—क्षत्रियों की राष्ट्र-रक्षणरूप कार्य को ही अपना यज्ञ समझना, उसके लिये आयुधों को दीप्त रखना और वाहनों को सुनिश्चित व तीव्र गतिवाला रखना। इनके रथ सदा अनुकूल गतिवाले हों।

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ज्ञान-बल-विशाल हृदयता

स्वयं दधिध्वे तविषीं यथा विद बृहन्महान्त उर्विया वि राजथ।
उतान्तरिक्षं ममिरे व्योजसा शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥ २ ॥

(१) हे मरुतो! **यथा विद**=जैसे तुम ज्ञानवाले होते हो, उसी प्रकार **स्वयम्**=अपने आप **तविषीम्**=बल को **दधिध्वे**=धारण करते हो। ये राष्ट्र रक्षक पुरुष ज्ञान व शक्ति का धारण करते हैं। **महान्तः**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले होते हुए, **उर्विया**=(उरवः) विशाल हृदयवाले होकर **बृहत् विराजथ**=खूब ही शोभायमान होते हो। (२) **उत**=और **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को भी **विममिरे**=विशिष्टरूपवाला बनाते हो। ओजस्विता के कारण तुम्हारे हृदय में निम्न भावनाएँ (meanness) नहीं आ पातीं। तुम स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थ की भावना से धर्म्ययुद्धों में प्राण त्याग के लिये उद्यत होते हो। **शुभं याताम्**=शुभ मार्ग पर चलनेवाले आप लोगों के **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**=सदा अनुकूल वर्तनवाले होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षक क्षत्रिय ज्ञान व बल का धारण करते हुए अपने हृदय को भी स्वार्थ की भावना से रहित व विशाल बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

साकं जाताः, साकमुक्षिताः

साकं जाताः सुभ्वः साकमुक्षिताः श्रिये चिदा प्रतरं वावृधुर्नरः।
विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ३॥

(१) **साकं जाताः**=ये वीर क्षत्रिय साथ-साथ प्रादुर्भाववाले हैं, लगभग साथ-साथ ही इनका जन्म हुआ है, ये समान वयः वाले हैं। **सुभ्वः**=उत्तमता से अपने कार्यों में ये होनेवाले हैं (सुष्ठु भवन्ति) **साकमुक्षिताः**=साथ-साथ ही आचार्यों द्वारा ये विद्या से सिक्त होकर स्नातक हुए हैं। **श्रिये**=शोभा के लिये **चित्**=निश्चय से **प्रतरम्**=खूब ही **आवावृधुः**=बढ़े हैं। **नरः**=अपने को आगे और आगे प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **सूर्यस्य रश्मयः इव**=सूर्य की किरणों की तरह ये **विरोकिणः**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाले हैं। **शुभं याताम्**=शुभ की ओर जानेवाले इन क्षत्रियों के **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**=सदा अनुकूल गतिवाले हैं।

भावार्थ—ये क्षत्रिय साथ-साथ ही उत्पन्न हुए-हुए, साथ-साथ ही शिक्षित हुए-हुए सूर्य-रश्मियों की तरह द्युतिवाले हैं। सेना के विभागों में बहुत अन्तर युक्त आयुवाले व्यक्ति नहीं होते।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आभूषेण्यं-दिदृक्षेण्यम्

आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनं दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम्।
उतो अस्माँ अमृतत्वे दधातन शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के वीर क्षत्रियों की तरह प्राण भी इस शरीर में (साकं जाताः, साकं उक्षिताः) साथ-साथ ही उत्पन्न हुए हैं और साथ-साथ ही इनके द्वारा शरीर में वीर्य का सेचन हुआ है। हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपकी **महित्वनम्**=महिमा **आभूषेण्यम्**=समन्तात् शरीर को शोभित करनेवाली (स्तुत्य) व शरीर में सामर्थ्य को पैदा करनेवाली है। आपके द्वारा प्राप्त कराया गया **चक्षणम्**=ज्ञानचक्षु **सूर्यस्य इव**=सूर्य की तरह **दिदृक्षेण्यम्**=दर्शन के योग्य है। प्राण शरीर में शक्ति का संचार करते हैं, तो मस्तिष्क में ज्ञान के सूर्य का उदय करते हैं। (२) **उत**=और **उ**=निश्चय से **अस्मान्**=हमें **अमृतत्वे**=अमृतत्व में, नीरोगता में **दधातन**=धारण करो। प्राणशक्ति ही रोगों को उत्पन्न नहीं होने देती। हे प्राणो! **शुभं याताम्**=शुभ मार्ग की ओर चलते हुए आपके **रथाः**=ये शरीर-रथ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल वर्तनवाले हों। अर्थात् यह शरीर-रथ ठीक रहता हुआ निरन्तर

शुभ की ओर बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—प्राण शरीर को शक्ति-सम्पन्न तथा मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बनाते हैं। ये हमें नीरोगता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'पुरीषिणः' मरुतः

उदी॑रयथा मरुतः समुद्र॒तो यू॒यं वृ॒ष्टिं व॑र्षयथा पुरीषिणः।
न वो॑ दस्रा॒ उप॑ दस्यन्ति धे॒नवः॑ शुभं॑ या॒ताम॑नु॒ रथा॑ अवृत्सत॥ ५॥

(१) यहाँ आधिदैविक जगत् के मरुत् 'वृष्टि वाहक' वायु हैं। हे **मरुतः**=वृष्टिवाहक वायुयो! **यूयम्**=तुम **समुद्रतः**=समुद्र से **वृष्टिम्**=वृष्टि को **उद् ईरयथ**=उत्कर्षेण प्रेरित करते हो। इन वायुओं के द्वारा ही समुद्र से वाष्पीभूत हुआ-हुआ जल वाष्प इधर-उधर ऊपर आकाश में ले लाया जाता है। हे **पुरीषिणः**=जलोंवाले मरुतो! **यूयम्**=तुम ही **वृष्टिं वर्षयथा**=इस वृष्टि को करते हो। (२) **वः**=तुम्हारे ये **दस्राः**=दर्शनीय व शत्रुनाशक **धेनवः**=पृथिवी को जलों से प्रीणित करनेवाले मेघ **न उपदस्यन्ति**=नहीं नष्ट होते हैं, ये सदा वृष्टि को करनेवाले होते हैं। हे वायुयो! **शुभं याताम्**=बड़ी उत्तमता से गति करते हुए आपके **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**=सदा अनुकूल गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—वृष्टि को लानेवाले वायु मेघों द्वारा वृष्टि को करके सम्पूर्ण पृथिवी को प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हिरण्यय कवचधारी सैनिक

यदश्वा॑न्धू॒र्षु पृष॑ती॒रयु॑ग्ध्वं हि॒र॒ण्यया॒न्प्रत्यत्काँ॒ अमु॑ग्ध्वम्।
विश्वा॒ इत्स्पृधो॑ मरुतो॒ व्य॑स्यथ॒ शुभं॑ या॒ताम॑नु॒ रथा॑ अवृत्सत॥ ६॥

(१) **यद्**=जब **पृषतीः** (to hurt, injure)=शत्रुओं का संहार करनेवाले **अश्वान्**=अश्वों को **धूर्षु**=रथ धुराओं में **अयुग्ध्वम्**=जोतते हो। और **हिरण्ययान्**=हितरमणीय अथवा स्वर्णवत् देदीप्यमान **अत्कान्**=कवचों को **प्रत्यमुग्ध्वम्**=धारण करते हो, तो उस समय **मरुतः**=वीर सैनिको! तुम **विश्वाः इत्**=सब ही **स्पृधः**=संग्रामों को (नि० २।१७) **व्यस्यथ**=परे फेंकते हो, सब संग्रामकारी शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले होते हो। (२) **शुभम्**=शुभ धर्म्ययुद्ध की ओर **याताम्**=जाते हुए आपके **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल वर्तनवाले हों। ये रथ संग्राम विजय में आपके सहायक हों।

भावार्थ—हमारे सैनिक घोड़ों को रथों में जोते हुए तथा कवचों को धारण किये हुए सदा धर्म्ययुद्ध के लिये तैयार हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'अप्रतिहत गतिवाले' सैनिक

न पर्व॑ता॒ न न॒द्यो॑ वरन्त वो॒ यत्राचि॑ध्वं मरुतो॒ गच्छ॒थेदु॒ तत्।
उ॒त द्यावा॑पृथि॒वी या॑थना॒ परि॒ शुभं॑ या॒ताम॑नु॒ रथा॑ अवृत्सत॥ ७॥

(१) हे **मरुतः**=सैनिको! **न पर्वताः**=न तो पर्वत **न नद्यः**=न ही नदियाँ **वः**=तुम्हें

वरन्त=रोक पाती हैं **यत्र**=जहाँ **अचिध्वम्** (जानीथ संकल्पयथ सा०)=जानते हो, चाहते हो **तत्**=उस स्थान को **गच्छथ इत् उ**=जाते ही हो। इन वीर सैनिकों को उनकी वीरयात्रा में कोई भी रुकावट रोक नहीं पाती। (२) हे मरुतो! तुम तो **उत**=निश्चय से **द्यावापृथिवी परियाथन**=द्युलोक व पृथिवीलोक में चारों ओर गतिवाले होते हो। सर्वत्र तुम्हारी पहुँच होती है और **शुभं यातम्**=शुभ धर्म्य मार्ग पर गति करते हुए आपके **रथाः**=रथ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल वर्तनवाले होते हैं। आपके रथ आपको यथेष्ट स्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—धर्म्ययुद्ध में आगे बढ़ते हुए वीर सैनिकों को नदियाँ व पहाड़ भी रोक नहीं पाते। सब विघ्नों को जीतकर इनके रथ आगे ही बढ़ते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शरीरस्थ प्राण तथा ज्ञान प्राप्ति

यत्पूर्व्यं मरुतो यच्च नूतनं यदुद्यते वसवो यच्च शस्यते।
विश्वस्य तस्य भवथा नवेदसः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ८॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यत् पूर्व्यम्**=जो ज्ञान सृष्टि के पूर्व में, प्रारम्भ में दिया जानेवाला है अथवा जो पालन व पूरण करने में उत्तम है। **यत् च नूतनम्**=और जो ज्ञान सदा नवीन है, कभी जीर्ण नहीं होता 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। **यत् उद्यते**=जो हृदयस्थ प्रभु से उच्चरित होता है 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत्'। **यत् च शस्यते**=जिस ज्ञान का देवों के लिये शंसन किया जाता है। **विश्वस्य तस्य**=उस सब सत्य विद्याओं के अवगाहन करनेवाले ज्ञान के आप **नवेदसः**=ज्ञाता **प्रवथा**=होते हो। उस ज्ञान को ये प्राण ही हमें प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना से शरीर में सोमशक्ति की ऊर्ध्वगति होती है, यह सोमशक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है। इस प्रकार तीव्र बुद्धि से हमें वेदार्थ का स्पष्टीकरण होता है। (२) हे प्राणो! **शुभं यातम्**=शुभ ज्ञान की ओर गति करते हुए आपके **रथाः**=ये शरीर रथ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल वर्तनवाले हों। शरीर भी स्वस्थ हो, क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास हुआ करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम तीव्र बुद्धि बनकर प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान को प्राप्त करें और इस ज्ञान प्राप्ति में स्वस्थ शरीर हमारे लिये सहायक हो।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राण हमें प्रभु का स्तोता व मित्र बनाएँ

मृळत नो मरुतो मा वधिष्टनास्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्तन।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गातन शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥ ९॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **नः मृडत**=हमें सुखी करो। **मा वधिष्टन**=हमें रोगों से हिंसित मत होने दो। प्राणसाधना द्वारा हम नीरोग शरीरवाले बनें। हे प्राणो! इस प्रकार नीरोगता प्राप्त कराके **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **बहुलं शर्म**=खूब ही सुख को **वियन्तन**=प्राप्त कराओ। (२) हे प्राणो! आप **स्तोत्रस्य**=प्रभु स्तवन का तथा **सख्यस्य**=प्रभु के साथ मैत्री का **अधिगातन**=आधिक्येन प्राप्त करनेवाले होओ। आपकी साधना से हमारा झुकाव प्रभु स्तवन की ओर हो और हम प्रभु की मैत्री को प्राप्त करनेवाले हों। **शुभं यातम्**=इस प्रकार शुभ मार्ग की ओर चलते हुए आपके **रथाः**=ये शरीरस्थ **अनु अवृत्सत**=अनुकूल वर्तनवाले हों। वस्तुतः प्रभु स्तवन व प्रभु की मैत्री हमें भोग मार्ग से ऊपर उठाती है और हम क्षीण-शक्तिवाले न होकर सदा स्वस्थ शरीरवाले बने रहते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम रोगाक्रान्त न होकर सुखी बने रहते हैं। यह प्राणसाधना हमें स्तवन की वृत्तिवाला तथा प्रभु का मित्र बनाती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वस्यो अच्छा, निरंहतिभ्यः

यूयमस्मान्नयत वस्यो अच्छा निरंहतिभ्यो मरुतो गृणानाः।
जुषध्वं नो हव्यदातिं यजत्रा वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ १०॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यूयम्**=तुम **अस्मान्**=हमें **वस्यः अच्छ**=उत्कृष्ट वसुओं (धनों) की ओर **नयत**=ले चलो। तुम्हारी साधना के द्वारा हम उत्कृष्ट धनों को प्राप्त करें। हे प्राणो! **गृणानाः**=हमारे लिये बुद्धि को तीव्र बनाकर ज्ञानोपदेश करते हुए आप हमें **अंहतिभ्यः निः** (नयत)=पापों से बाहर व परे ले चलो। प्राणसाधना से सब दोष दूर होते हैं। (२) हे **यजत्रा**=संगतिकरण योग्य प्राणो! **नः**=हमारे लिये **हव्यदातिम्**=हव्यों के देने को, यज्ञशीलता को **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवनीय करो। प्राणों के द्वारा हम यज्ञशील बनें। ये प्राण इसी से तो 'यजत्र' हैं। इन यज्ञों को कर सकने के लिये **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=स्वामी हों। इन धनों के दास बनने पर ये धन यज्ञों में विनियुक्त नहीं हो पाते। प्राणसाधना ही हमें धनों के लोभ से ऊपर उठायेगी और हम सुपथ से धनार्जन करते हुए यज्ञशील होंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना से उत्कृष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होगी, पापों से हम दूर होंगे तथा यज्ञशील बनेंगे। अगले सूक्त में भी श्यावाश्य मरुतों का आराधन करते हैं—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शत्रुविनाश व ज्ञानदीप्ति

अग्ने शर्धन्तमा गणं पिष्टं रुक्मेभिरञ्जिभिः।
विशो अद्य मरुतामव ह्वये दिवश्चिद्रोचनादधि॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! मैं मरुतों-प्राणों के **गणम्**=समूह को **आ** (ह्वये)=पुकारता हूँ, प्राणों के गण को प्राप्त करने के लिये आपकी आराधना करता हूँ, जो प्राणों का गण **शर्धन्तम्**=शत्रुओं का प्रसहन (अभिभव) कर रहा है, सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलनेवाला है और जो प्राणों का गण **अंजिभिः**=जीवन को कान्त (सुन्दर) बनानेवाली, जीवन को सुभूषित करनेवाली (अञ्जू to decorate) **रुक्मेभिः**=देदीप्यमान ज्ञान-ज्योतियों से **पिष्टम्**=(युक्तम् सा०) शोभित है। वस्तुतः प्राणसाधना से रोग व वासनारूप शत्रु कुचले जाते हैं और ज्ञानदीप्ति चमक आती है। (२) मैं **अद्य**=आज **मरुतां विशः**=प्राणों की प्रजा को, प्राणों के इस गण को **दिवः रोचनात्**=प्रकाश की दीप्ति के हेतु से **अधि अव ह्वये**=खूब ही अपने सम्मुख पुकारता हूँ। प्राणसाधना करता हुआ मैं ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से रोग व वासनाएँ कुचली जाती हैं और ज्ञान दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'भीमसंदृशः' मरुतः

यथा चिन्मन्यसे हृदा तदिन्मे जग्मुराशसः। ये ते नेदिष्ठं हवनान्यागमन्तान्वर्ध भीमसंदृशः॥ २॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे प्रगतिशील जीव! **यथा**=जिस प्रकार **चित्**=निश्चय से **हृदा**=हृदय से **मन्यसे**=तू इन प्राणों का मनन करता है, **तद्**=सो **इत्**=निश्चय से ये **मे**=मेरे **आशसः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाला प्राण **जग्मुः**=तेरे शरीर में गतिवाले होते हैं। जितना-जितना इन प्राणों के महत्त्व को हम समझते हैं उतना-उतना ही इनकी साधना में प्रवृत्त होते हैं। (२) हे जीव! **ये**=जो प्राण **ते हवनानि**=तेरी पुकारों के **नेदिष्ठम्**=अत्यन्त समीप **आगमन्**=प्राप्त होते हैं, **तान्**=उन **भीमसन्दृशः**=शत्रुओं के लिये अतिभयंकर दर्शनवाले प्राणों को **वर्ध**=तू बढ़ा। जब हम इन प्राणों की साधना करेंगे, तो ये हमें समीपता से प्राप्त होंगे। हमारे समीप होते हुए ये हमारे शत्रुओं के लिये अतिभयंकर होंगे। ये प्राण रोगों को भी दूर भगाते हैं, वासनाओं को भी।

भावार्थ—हम हृदयों में प्राणों के महत्त्व का मनन करें। प्राणसाधना से इन्हें अपना मित्र बनाएँ जिससे ये हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराटपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्राणों का दुध्र बल

मी॒ळ्हुष्म॑तीव पृ॒थि॒वी परा॑हता॒ मद॑न्त्ये॒त्य॒स्मदा।
ऋक्षो॒ न वो॑ मरुतः॒ शिमी॑वाँ॒ अमो॑ दु॒ध्रो गौरि॑व भी॒म॒युः॥ ३॥

(१) **मीढुष्मती पृथिवी इव**=सब सुखों का सेचन करनेवाली पृथिवी के समान **पर-अहता**=रोगों व वासनारूप शत्रुओं से न आक्रान्त हुई-हुई **मदन्ती**=आनन्द को प्राप्त करानेवाली यह मरुत् पंक्ति **अस्मत् आ एति**=हमें सर्वथा प्राप्त होती है (अस्मत्=अस्मान् सा०)। प्राणसमूह जीवन को आनन्दित करनेवाला है, यह शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता और हमें सुखी करता है। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=तुम्हारा **अमः**=बल **ऋक्षः न**=एक सितारे (सूर्य) के समान है। **शिमीवान्**=यह बल शान्तभाव से अपना कर्म करनेवाला है और **दुध्रः**=शत्रुओं से दुर्धर है। **गौः इव**=एक महावृषभ (सांड) की तरह **भीमयुः**=शत्रुओं के प्रति भयंकरता से गतिवाला होता है।

भावार्थ—प्राणों का गण शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता। इनकी साधना से यह पृथिवीरूप शरीर अंग-प्रत्यंग में शक्ति से सिक्त होता है। प्राणों का बल हमें क्रियाशील बनाता है और हमारे रोगरूप शत्रुओं के लिये भयंकर होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'रोगों व अविद्या' का विनाश

नि ये रि॒णन्त्योज॑सा॒ वृथा॒ गावो॒ न दु॒र्धुरः॑।
अश्मा॑नं चित्स्व॒र्यं१ पर्व॑तं गि॒रिं प्र च्या॑वयन्ति॒ याम॑भिः॥ ४॥

(१) **ये**=जो प्राण **ओजसा**=अपनी शक्ति के द्वारा **वृथा**=अनायास ही **निरिणन्ति**=शत्रुओं को हिंसित कर डालते हैं, वे **गावः न**=महावृषभों की तरह **दुर्धुरः**=बड़ी कठिनता से हिंसित करने योग्य हैं (धुर्व् हिंसायाम्)। प्राणों के साथ रोगकृमिरूप शत्रु टक्कर लेने पर नष्ट ही हो जाते हैं। (२) ये प्राण केवल रोगकृमिरूप शत्रुओं को ही नष्ट करें ऐसी बात नहीं, ये **अश्मानं चित्**=पत्थर के समान दृढ़ अथवा (अश् व्याप्तौ) सर्वत्र व्याप्तिवाले, **स्वर्यम्**=(स्वृ उपतापे) संतापों के कारणभूत **पर्वतम्**=पाँच पर्वोंवाले (अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश) **गिरिम्**=अविद्या पर्वत को **चित्**=भी **यामभिः**=अपने गमनों से **प्रच्यावयन्ति**=प्रच्युत करते हैं। प्राणसाधना से अशुद्धि क्षय होकर इस अविद्या पर्वत का विनाश होता है और ज्ञानदीप्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीरस्थ रोग तथा अविद्या का विनाश होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सर्वश्रेष्ठ पद पर प्राणों का अभिषेक

उत्तिष्ठ नूनमेषां स्तोमैः समुक्षितानाम्। मरुतां पुरुतममपूर्व्यं गवां सर्गमिव ह्वये॥ ५॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **उत्तिष्ठ**=तू उठ खड़ा हो, आलस्य को छोड़कर उत्साहमय जीवनवाला हो। **नूनम्**=निश्चय से **एषाम्**=इन **स्तोमैः**=स्तुतियों के द्वारा **समुक्षितानाम्**=शरीर में सम्यक् अभिषिक्त **मरुताम्**=प्राणी के शरीर में प्राण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, इनका मानो सर्वश्रेष्ठ पद पर अभिषेक होता हो, **सर्गम्**=उत्पादन (creation) को **ह्वये**=पुकारता हूँ। (२) इन प्राणों के उत्पादन को इस प्रकार करता हूँ **इव**=जैसे कि **पुरुतमम्**=अतिशयेन पालक व पूरक **अपूर्व्यम्**=अद्भुत **गवां सर्गम्**=इन्द्रियों के उत्पादन को। एक-एक इन्द्रिय अद्भुत रचनावाली हो। परन्तु प्राण इन इन्द्रियों के द्वारा भी स्तुति के योग्य होते हैं। इन्द्रियों में जो भी श्रेष्ठता है, वह सब इन प्राणों के कारण है। इन्द्रियाँ अपने सर्वश्रेष्ठ पद पर इन प्राणों का अभिषेक करती हैं।

भावार्थ—प्रभु शरीर में इन्द्रियों को निर्मित कर उनके सर्वश्रेष्ठ पद पर प्राणों को स्थापित करते हैं। जीव को चाहिये कि उठे और इनकी साधना में प्रवृत्त हो।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अरुषी-अजिरा-वहिष्ठा

युङ्ग्ध्वं ह्यरुषी रथे युङ्ग्ध्वं रथेषु रोहितः।
युङ्ग्ध्वं हरी अजिरा धुरि वोळ्हवे वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे॥ ६॥

(१) हे प्राणो! तुम **रथे**=इस शरीर-रथ में **हि**=निश्चय से **अरुषी**=आरोचमान, खूब दीप्त, ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **युङ्ध्वम्**=जोतो। **रथेषु**=इन शरीर रथों में **रोहितः**=वृद्धिशील अश्वों को **युङ्ध्वम्**=जोतो। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ दिन व दिन उन्नतिशील हों। (२) **हरी**=उन इन्द्रियाश्वों को **धुरि**=रथधुरा में **युङ्ध्वम्**=जोतो, जो **अजिरा**=खूब गतिशील हैं तथा **वोढवे**=रथ को लक्ष्य स्थान पर पहुँचाने के लिये होते हैं। उन इन्द्रियाश्वों को **धुरि**=रथधुरा में जोतो जो **वहिष्ठा**=रथ वहन में सर्वोत्तम हैं तथा **वोढवे**=रथ को लक्ष्य-स्थान पर ले जाने के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोषों का दहन होकर, वे चमक उठती हैं। ये इन्द्रियाश्व तेजस्वी व गतिशील बनते हैं। लक्ष्य-स्थान पर ये पहुँचानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्राणसाधना

उत स्य वाज्यरुषस्तुविष्वणिरिह स्म धायि दर्शतः।
मा वो यामेषु मरुतश्चिरं करत्प्र तं रथेषु चोदत॥ ७॥

(१) हे प्राणो! **उत**=और **स्यः**=वह **वाजी**=शक्तिशाली, **अरुषः**=आरोचमान, **तुविष्वणिः**=महान् स्तुति शब्दोंवाला, **दर्शतः**=दर्शनीय यह अन्तःकरण **इह**=यहाँ इस शरीर में **स्म**=निश्चय से **धायि**=धारण किया जाता है। प्राणसाधना से ही वस्तुतः मन 'शक्तिशाली, ज्ञानदीप्त व प्रभु स्तवनवाला' बनता है। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! यह मन **वः**=तुम्हारी **यामेषु**=तुम्हारी गतियों के होने पर

मा चिरं करत्=बाहर विषयों में देर तक भटकता न रहे। यह शीघ्र ही विषय-व्यावृत्त होकर शरीर में निरुद्ध हो। **तम्**=उस मन को आप **रथेषु**=इन शरीर-रथों में ही **प्रचोदत**=प्रकर्षेण प्रेरित करो। ये भटके नहीं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मन शरीर में ही निरुद्ध होकर 'शक्तिशाली, आरोचमान व खूब स्तुतिवाला' बनता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

मरुतों का श्रवस्यु रथ

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे।
आ यस्मिन्तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी ॥ ८ ॥

(१) **नु**=अब **वयम्**=हम **मारुतम्**=प्राणों के **श्रवस्युम्**=हमारे साथ ज्ञान को जोड़नेवाले **रथम्**=रथ को **आहुवामहे**=पुकारते हैं। यह शरीररूप रथ, प्राणसाधना के द्वारा केवल सुदृढ़ ही नहीं बनता, यह प्रकाशमय भी होता है। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर, ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति होती है। (२) हम प्राणों के उस रथ को पुकारते हैं **यस्मिन्**=जिसमें **सुरणानि**=उत्तम रमणीय ज्ञानों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई, **मरुत्सु सचा**=प्राणों के साथ निवास करनेवाली, **रोदसी**=द्यावापृथिवी हृदय तथा शरीर में प्रभु की यह वेदवाणी **आतस्थौ**=स्थित होती है। प्राणसाधना के द्वारा बुद्धि तीव्र होकर वेदज्ञान को ग्रहण करनेवाली बनती है। यह वेदवाणी प्रभु ज्ञान है। प्रभु इसे माता के रूप में हमारे लिये प्रस्तुत करते हैं 'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्'। यह तभी होता है जब कि हम प्राणसाधना द्वारा बुद्धि को तीव्र करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—यह शरीर सम्बन्धी रथ प्राणसाधना द्वारा दृढ़ व प्रकाशमय बनता है। इसमें रमणीय ज्ञानों को धारण करती हुई बुद्धि स्थित होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'सुजाता-सुभगा-मीढुषी' बुद्धि

तं वः शर्धं रथेशुभं त्वेषं पनस्युमा हुवे।
यस्मिन्त्सुजाता सुभगा महीयते सचा मरुत्सु मीळ्हुषी ॥ ९ ॥

(१) हे प्राणो! **वः**=आपके **तम्**=उस **रथेशुभम्**=रथ में शोभा के कारणभूत, **त्वेषम्**=दीप्त **पनस्यु**=स्तुति के योग्य-प्रशंसनीय **शर्धम्**=बल (गण) को **आहुवे**=पुकारता हूँ। **यस्मिन्**=जिस बल में **मीढुषी**=सब सुखों का सेचन करनेवाली, **मरुत्सु सचा**=प्राणों के साथ समवेत होनेवाली, प्राणसाधना से उत्पन्न होनेवाली **सुभगा**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली **सुजाता**=उत्तम प्रादुर्भाव व विकासवाली बुद्धि **महीयते**=पूजित होती है। (२) प्राणों का बल (गण) शरीर-रथ को शोभावाला दीप्त व स्तुत्य बनाता है। इस प्राणों के गण की साधना के होने पर हमें वह बुद्धि प्राप्त होती है जो कि उत्तम विकास का कारण होती हुई उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली होती है और हमारे जीवन में सब सुखों का वर्षण करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणों का समूह इस शरीर-रथ को दीप्त बनाता है और तीव्र बुद्धि को प्राप्त कराता है।

अगले सूक्त में भी इन्हीं मरुतों का ही आराधन है—

अथ पञ्चमोऽनुवाकः

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुविताय गन्तन

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे॥ १॥

(१) हे **रुद्रासः** (रुत् द्र)=सब रोगों का द्रावण करनेवाले! शरीरों को नीरोग बनानेवाले, **इन्द्रवन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभुवाले, प्रभु की प्राप्ति के साधनभूत, **सजोषसः**=शरीर में मिलकर कार्यों को करनेवाले (सब प्राणों का कार्य पृथक्-पृथक् होता हुआ भी, एक दूसरे के लिये सहायक है) **हिरण्यरथाः**=शरीररूप रथ को ज्योतिर्मय बनानेवाले प्राणो! आप **सुविताय**=उत्तम गमन के लिये, सद् आचारण के लिये, **गन्तम**=हमें प्राप्त होवो। (२) **इयम्**=यह **अस्मत्**=हमारी **मतिः**=बुद्धि **वः प्रतिहर्यते**=तुम्हारी ही कामनावाली होती है। उस प्रकार तुम्हारी कामनावाली होती है, **न**=जिस प्रकार **तृष्णजे**=प्यासे **उदन्यवे**=उदक के इच्छु पुरुष के लिये **दिवः उत्साः**=आकाश से टपकनेवाले जलस्रोत (वृष्टिजल) इष्ट होते हैं। प्यासा जैसे जलों की कामना करता है, उसी प्रकार हम इन प्राणों की कामना करते हैं। इनकी साधना ने ही तो हमें सन्मार्ग पर ले चलना है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर-रथ सुन्दर बनता है और सदा सन्मार्ग पर आगे बढ़नेवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वीर योद्धा

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्॥ २॥

(१) आधिभौतिक जगत् में 'मरुत्' वीर योद्धा हैं। ये **वाशीमन्तः**=शत्रुओं के तक्षण के साधनभूत अस्त्रोंवाले हैं (वाशी=axe, spear), कुल्हाड़े व भालेवाले हैं। **ऋष्टिमन्तः**=उत्तम तलवारवाले हैं। **मनीषिणः**=समझदार हो। **सुधन्वानः**=उत्तम धनुषवाले हैं। **इषुमन्तः**=प्रशस्त बाणोंवाले हो तथा **निषङ्गिणः**=तरकसवाले हैं। (२) **स्वश्वाः**=उत्तम अश्वोंवाले व **सुरथाः**=उत्तम रथवाले **स्थ**=हैं। **पृश्निमातरः**=('इयं पृथिवी वै पृश्नि' तै० १।४।१।५) इस पृथिवी को माता के समान समझनेवाले हैं। **स्वायुधाः**=उत्तम आयुधोंवाले होते हुए **मरुतः**=हे वीर योद्धाओ! तुम **शुभं याथना**=बड़ी शोभा के साथ संग्राम में गतिवाले होते हो।

भावार्थ—राष्ट्र के वीर सैनिक सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हुए-हुए, पृथ्वी को माता समझनेवाले होकर उसकी रक्षा के लिये संग्राम में शुभ गतिवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वीरों द्वारा 'पर्वत-वन-पृथिवी' कम्पन

धूनुथ द्यां पर्वतान्दाशुषे वसु नि वो वना जिहते यामनो भिया।
कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः शुभे यदुग्राः पृषतीरयुग्ध्वम्॥ ३॥

(१) हे **पृश्निमातरः**=इस पृथिवी को अपनी माता समझनेवाले वीरो! आप **द्यां पर्वतान्**=द्युलोक

व पर्वतों को **धूनुथ**=कम्पित कर देते हो। वीर क्षत्रिय योद्धा जब गति करते हैं तो सारा आकाश ही मानो हलचलवाला हो जाता है और पर्वत भी काँप उठते हैं। ये वीर योद्धा ही **दाशुषे**=मातृभूमि के लिये दान करनेवालों के लिये **वसु** (धूनुथ)=धनों को प्राप्त कराते हैं। जो लोग देशरक्षा के लिये धनों को देते हैं, उनके लिये ये वीर योद्धा शत्रुओं को परास्त करके धनों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। **वः**=हे मरुतो! तुम्हारे **यामनः भिया**=गमन के भय से **वना**=सब वन **निजिहते**=निम्न गतिवाले हो जाते हैं। ये वीर सैनिक मार्ग में आये वानों को काटकर मार्गों को बना लेते हैं। (२) हे मरुतो! **यद्**=जब **उग्राः**=तेजस्वी व शत्रु भयंकर आप **पृषतीः**=अपने घोड़ों को **अयुग्ध्वम्**=जोतते हो और **शुभे**=देशरक्षणरूप शुभ कार्य में गतिवाले होते हो तो **पृथिवीं कोपयथ**=सम्पूर्ण पृथिवी को कम्पित कर देते हो, सम्पूर्ण पृथिवी को क्षुब्ध कर डालते हो।

भावार्थ—वीर जब देश-रक्षण के लिये गति करते हैं तो द्युलोक, पृथिवीलोक, पर्वतों व वनों सभी को कम्पित करते हुए आगे बढ़ते हैं और देश के लिये त्याग करनेवालों के लिये वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वर्षनिर्णिजो' मरुतः

वार्तत्विषो मुरुतो वर्षनिर्णिजो यमाइव सुसंदृशः सुपेशसः।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः॥ ४॥

(१) **मरुतः**=ये वीर सैनिक **वातत्विषः**=(वातेन त्विट् येषां) गति के द्वारा दीप्तवाले हैं। **वर्षनिर्णिजः**=देश का शोधन करनेवाले हैं। शत्रुओं को नष्ट करके देश को मानो शत्रु मलशून्य कर देते हैं। ये सैनिक **यमाः इव**=एक साथ उत्पन्न होनेवालों के समान **सुसदृशः**=परस्पर समान प्रतीत होते हैं अपने वेश में एक जैसे लगते हैं। **सुपेशसः**=बड़ी उत्तम आकृतिवाले हैं। (२) **पिशंगाश्वाः**=(reddish) रक्तवर्ण के घोड़ोंवाले **अरुणाश्वाः**=अरुण वर्ण के तेजस्वी घोड़ोंवाले **अरेपसः**=लोभ व कायरता आदि दोषों से शून्य **प्रत्वक्षसः**=शत्रुओं को छील डालनेवाले ये मरुत् **महिना**=अपनी महिमा से **द्यौः इव उरवः**=द्युलोक के समान विशाल हैं। इनकी महिमा सर्वत्र फैल जाती है।

भावार्थ—समान वेशवाले वायुवत् तीव्र गतिवाले वीर सैनिक शुत्रओं को नष्ट करके देश को शुद्ध कर डालते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'पुरुद्रप्साः' मरुतः (अमृतं नाम भेजिरे)

पुरुद्रप्सा अञ्जिमन्तः सुदानवस्त्वेषसंदृशो अनवभ्रराधसः।
सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे॥ ५॥

(१) **पुरुद्रप्साः**=(द्रप्स=सोमकण drops) खूब सोमकणों से युक्त जीवनवाले, वीर्यवान्, **अञ्जिमन्तः**=अपने अंग-प्रत्यंग को शक्ति से सुभूषित करनेवाले, **सुदानवः**=शत्रुओं को सम्यक् काटनेवाले (दाप् लवने), **त्वेष सन्दृशः**=दीप्तरूपवाले, **अनवभ्रराधसः**=अनष्ट धनोंवाले, **जनुषा**=जन्म से ही **सुजातासः**=उत्तम शक्तियों के विकासवाले, **रुक्मवक्षसः**=दीप्त छातियोंवाले, स्वर्ण-हारयुक्त छातियोंवाले, **दिवः अर्काः**=उस प्रकाशस्वरूप प्रभु के पूजक ये मरुत् **अमृतं नाम**=निश्चय से अमरता को **भेजिरे**=प्राप्त होते हैं। (२) देशरक्षा के लिये प्रभु स्मरणपूर्वक युद्ध

करनेवाले ये वीर सैनिक युद्ध में प्राण त्याग करके अमर हो जाते हैं।

भावार्थ—देशरक्षा के लिये प्रभु स्मरणपूर्वक युद्ध करते हुए ये वीर योद्धा अमर हो जाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ओजस्वी वीर योद्धा

ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम्।
नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**=वीर सैनिको! **वः अंसयोः**=तुम्हारे दोनों कन्धों पर **ऋष्टयः**=तलवारें व अस्त्र विशेष हैं **वः**=तुम्हारी **बाह्वोः**=बाहुवों में **सहः**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाला **ओजः**=ओज व **बलम्**=बल **अधिहितम्**=आधिक्येन निहित है, तुम्हारी भुजाएँ खूब ही बल-सम्पन्न हैं। (२) **शीर्षसु**=तुम्हारे सिरों में भी **नृम्णा**=(courage, strength) उत्साह व शक्ति है, तुम्हारा दिमाग भी शक्ति के भावों से भरा है। **वः रथेषु**=तुम्हारे रथों पर **आयुधा**=अस्त्र रखे हैं। **वः तनूषु**=तुम्हारे शरीरों पर **विश्वा**=सम्पूर्ण **श्रीः**=शोभा **अधिपिपिशे**=आधिक्येन शोभायमान होती है। इन सैनिकों का मस्तिष्क व शरीर तेजस्विता व उत्साह से भरा हुआ है।

भावार्थ—वीरों के कन्धों पर अस्त्र हैं, बाहुवों में बल, मस्तिष्क में उत्साह व शरीर में शोभा ही शोभा है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणों का दिव्य रक्षण

गोमदश्वावद्रथवत्सुवीरं चन्द्रवद्राधो मरुतो ददा नः।
प्रशस्तिं नः कृणुत रुद्रियासो भक्षीय वोऽवसो दैव्यस्य॥ ७॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र शरीरस्थ मरुतों (प्राणों) का उल्लेख करता है। हे **मरुतः**=प्राणो! **नः**=हमारे लिये उस **राधः**=ऐश्वर्य को **ददा**=दीजिये, जो **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है, **अश्वावत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है तथा **रथवत्**=उत्तम शरीररूप रथवाला है। **सुवीरम्**=उत्तम वीर सन्तानोंवाला है तथा **चन्द्रवत्**=आह्लाद से युक्त है। प्राणसाधना से धन प्राप्त करने की क्षमता तो प्राप्त होती ही है। साथ ही धन के कारण होनेवाले दुर्गुण हमारे जीवन में नहीं आते। (२) हे **रुद्रियासः**=दुःखों के द्रावक (रुद्र) प्रभु के पुत्रो! **नः**=हमारी **प्रशस्तिम्**=प्रशस्ति को, प्रशंसनीय जीवन को **कृणुत**=करो। 'स प्राणमसृजत्' इन शब्दों में प्रभु ने सबसे प्रथम प्राणरूप कला को ही उत्पन्न किया। सो ये प्राण 'रुद्रिय' हैं। ये हमारे जीवन को दोषदहन के द्वारा प्रशस्त बनाते हैं। हे प्राणो! मैं **वः**=आपके **दैव्यस्य अवसाः**=दिव्य रक्षण का **भक्षीय**=उपभोग करूँ। प्राण हमें सब रोगों व मालिन्यों से बचाते हैं। सब दोषों का दहन करके ये हमारे जीवन को दिव्य बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम जीवन को उत्कृष्ट बनानेवाले ऐश्वर्य का अर्जन करते हैं। प्राण जीवन को प्रशस्त बनाते हैं और दिव्य रक्षण को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्र के प्रधान शासक लोग

हुये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः।
सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः॥ ८॥

(१) **हये**=हे **नरः**=राष्ट्र को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **मरुतः**=(मितराविणः) कम बोलनेवाले शासक पुरुषो! **नः मृडता**=राष्ट्र के उत्तम शासन के द्वारा हमारे जीवनों को सुखी करिये। **तुवीमघासः**=आप महान् ऐश्वर्यवाले हो। **अमृताः**=रोगों से आक्रान्त न होनेवाले हो। **ऋतज्ञाः**=ऋत के ज्ञानवाले हो, ऋत के अनुसार ही राष्ट्र का शासन करते हो। (२) **सत्यश्रुतः**=आप सत्य ज्ञानवाले हो, **कवयः**=क्रान्तदर्शी हो, तत्त्वज्ञानवाले हो। **युवानः**=राष्ट्र से बुराइयों को दूर करनेवाले हो और अच्छाइयों को मिलानेवाले हो। **बृहद् गिरयः**=खूब ही प्रभु का स्तवन करनेवाले हो और **बृहद् उक्षमाणाः**=खूब ही राष्ट्र को सुखों से सिक्त करनेवाले हो।

भावार्थ—राष्ट्र को वे ही शासक सुखी कर सकते हैं, जो ऋत व सत्य को अपनानेवाले हैं, और जो खूब ज्ञान होते हुए प्रभु स्मरण से शक्ति का लाभ करनेवाले हैं।

अगले सूक्त में भी मरुतों का ही उल्लेख है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'तविषीमान्' मारुतगण

तमु नूनं तविषीमन्तमेषां स्तुषे गणं मारुतं नव्यसीनाम्।
य आश्वश्वा अमवद्वहन्त उतेशिरे अमृतस्य स्वराजः ॥ १ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **एषाम्**=इन शासकों के, जो **नव्यसीनाम्**=(नु स्तुतौ) स्तुति के योग्य हैं इनके **तविषीमन्तम्**=दीप्तिवाले **तम्**=उस **मारुतं गणम्**=मरुद् गण को **नूनं उ**=निश्चय से **स्तुषे**=स्तुत करता हूँ। शासक वर्ग के ये लोग सचमुच प्रशंसनीय जीवनवाले हैं। शौर्य व तेजस्विता से ये दीप्त हैं। (२) **ये**=जो शासक लोग **आशु अश्वः**=शीघ्रगामी अश्वोंवाले हैं, कार्य संचालन के लिये इधर-उधर जाने के लिये जिन के पास तीव्रगामी यान विद्यमान हैं। ये शासक **अमवद्**=बलवान् होते हुए **वहन्ते**=राष्ट्रधुरा का वहन करते हैं। **उत**=और ये शासक लोग **स्वराजः**=अपने जीवन को व्यवस्थित (regulated) करते हुए **अमृतस्य**=नीरोगता के **ईशिरे**=ईश्वर होते हैं। स्वस्थ जीवनवाले होते हुए ये प्रजा का उत्तम शासन कर पाते हैं।

भावार्थ—शासक गण दीप्तिवाला, शीघ्रगामी अश्वोंवाला व नियमित जीवन से नीरोगतावाला होकर राष्ट्रधुरा को सबलता से धारण करता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धुनिव्रत-खादिहस्त

त्वेषं गणं तवसं खादिहस्तं धुनिव्रतं मायिनं दातिवारम्।
मयोभुवो ये अमिता महित्वा वन्दस्व विप्र तुविराधसो नॄन् ॥ २ ॥

(१) हे **विप्रः**=ज्ञानी पुरुष! तू इस **गणम्**=शासकवर्ग का **वन्दस्व**=स्तवन कर, इनकी प्रशंसा के द्वारा इन्हें प्रेरणा देनेवाला हो। जो शासकगण **त्वेषम्**=तेजस्विता से दीप्त है, **तवसम्**=शक्तिशाली है, **खादिहस्तम्**=हाथों में शत्रुओं के विनाशक वज्र को लिये हुए है, **धुनिव्रतम्**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले कर्मोंवाला है, **मायिनम्**=प्रज्ञावान् है, तथा **दातिवारम्**=प्रजाओं के लिये वरणीय वस्तुओं के देनेवाला है। 'त्वेषं' आदि विशेषणों से शासकवर्ग के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन हुआ है। उन्हें अपने जीवनों में 'त्वेषं' आदि विशेषणों को चरितार्थ करने का प्रयत्न करना चाहिये। (२) **ये**=जो शासक **मयोभुवः**=प्रजाओं के कल्याण का भावन करनेवाले हैं, **महित्वा**=अपनी महिमा

से **अमिताः**=सीमित व संकुचित नहीं हैं, विशाल महिमावाले हैं। उन **तुविराधसः**=खूब ही कार्यों को सिद्ध करनेवाले **नॄन्**=नेताओं को (वन्दस्व)=उचित आदर प्राप्त कराओ। वस्तुतः शासकों का मूल कर्त्तव्य प्रजाओं का कल्याण ही है। ये शासक महान् कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। इनका आदर करना ही चाहिए।

भावार्थ—शासक लोग तेजस्वी, शत्रुविनाशक व प्रजाओं का कल्याण करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्निहोत्र व वृष्टि

आ वो यन्तूदवाहासो अद्य वृष्टिं ये विश्वे मरुतो जुनन्ति।
अयं यो अग्निर्मरुतः समिद्ध एतं जुषध्वं कवयो युवानः ॥ ३ ॥

(१) **ये**=जो **विश्वे**=सब **मरुतः**=वृष्टि को लानेवाले वायु **वृष्टिं जुनन्ति**=वृष्टि को प्रेरित करते हैं, वे **उदवाहासः**=जलों को प्राप्त करानेवाले वायु **अद्य**=आज **वः**=तुम्हें **आयन्तु**=प्राप्त हों। (२) **अयम्**=यह **यः**=जो **मरुतः**=वृष्टिवाहक वायु का **अग्निः**=अग्नि **समिद्धः**=अग्निहोत्र के लिये अग्निकुण्ड में प्रदीप्त किया गया है, **एतम्**=इसको हे **कवयः**=ज्ञानी **युवानः**=बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को अपने साथ संगत करनेवाले पुरुषो! तुम **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित करनेवाले होवो। अग्निहोत्र को करने से ही इन वृष्टियों का सम्भव होता है 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' इसी उद्देश्य से यहाँ अग्नि को मरुतों का कहा है। यह अग्नि मरुतों का है, मरुतों को प्रेरित करनेवाला है 'अग्निहोत्रं सव्यं वर्षम्'।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषों को चाहिये कि घरों में नियमपूर्वक अग्निहोत्र करें। इसी से वृष्टि का नियमित ऋतु में होने का सम्भव होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मुष्टिहा बाहुजूतः' राजा

यूयं राजानमिर्यं जनाय विभ्वतष्टं जनयथा यजत्राः।
युष्मदेति मुष्टिहा बाहुजूतो युष्मत्सदश्वो मरुतः सुवीरः ॥ ४ ॥

(१) हे **यजत्राः**=यज्ञशील, परस्पर संगतिकरणवाले पुरुषो! **यूयम्**=तुम **जनाय**=प्रजाजन के लिये, लोकहित के लिये **राजानम्**=राजा को, राष्ट्रशासक पुरुष को **जनयथा**=प्रादुर्भूत करो, चुनकर उसे सिंहासनारूढ़ करो, जो **इर्यम्**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला है तथा **विभ्वतष्टम्**=(विभ्वन्=supreme ruler) मुख्य शासक बनने के योग्य है। (२) हे **मरुतः**=परिमित बोलनेवाले वीर पुरुषो! **युष्मत्**=तुम्हारे में से ही यह **मुष्टिहा**=मुक्के से ही शत्रुओं का संहार करनेवाला, **बाहुजूतः**=भुजाओं से सदा वेगयुक्त, सतत क्रियाशील राजा **एति**=प्राप्त होता है। **युष्मत्**=तुम्हारे में से ही यह **सदश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला **सुवीरः**=उत्तम वीर प्राप्त होता है।

भावार्थ—राजसिंहासन पर उस व्यक्ति को बिठाया जाए जो 'शत्रुकम्पक, क्रियाशील, उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला व उत्तम वीर' हो।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'महोभिः अकवाः' मरुतः

अराइवेदचरमा अहेव प्रप्र जायन्ते अकवा महोभिः।
पृश्नेः पुत्रा उपमासो रभिष्ठाः स्वया मत्या मरुतः सं मिमिक्षुः ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित राजा के साथ रहनेवाले **मरुतः**=मितरावी/वीर पुरुष **इत्**=निश्चय से **अराः इव**=रथचक्र के अरों के समान **अचरमाः**=अगले व पिछले नहीं हैं। जैसे सभी अरों का समान महत्त्व है, इसी प्रकार इन सब मरुतों का समान महत्त्व है। ये सब मरुत् समानरूप से महिमावाले हैं। ये **महोभिः**=तेजस्विताओं से **अकवाः**=अनल्प **प्र प्र जायन्ते**=होते हैं। अर्थात् खूब ही तेजस्वी होते हैं। (२) **पृश्नेः पुत्राः**=ये इस मातृभूमि के पुत्र हैं। **उपमासः**=परस्पर उपमा देने योग्य हैं, अर्थात् सभी वीर हैं। **रभिष्ठाः**=रभस्वाले, वेगयुक्त बलवाले हैं। ये **मरुतः**=मरुत् राष्ट्ररक्षा करनेवाले वीर सैनिक, **स्वया मत्या**=अपनी बुद्धि से, अर्थात् विचारपूर्वक **संमिमिक्षुः**=शत्रुओं पर शरवर्षण करते हैं। इस प्रकार शत्रुओं को शीर्ण करते हुए ये मातृभूमि की रक्षा करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के वीर क्षत्रिय छोटे-बड़े की भावना से रहित होकर खूब तेजस्विता के साथ बुद्धिपूर्वक शत्रुओं पर शरवर्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वीरों की रण-यात्रा

यत्प्रायासिष्ट पृषतीभिरश्वैर्वीळुपविभिर्मरुतो रथेभिः।
क्षोदन्त आपो रिणते वनान्यवोस्रियो वृषभः क्रन्दतु द्यौः॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**=वीर सैनिको! **यत्**=जब आप **पृषतीभिः**=अपने अन्दर शक्ति का सेवन करनेवाले शक्तिशाली **अश्वैः**=घोड़ों से तथा **वीडुपविभिः**=दृढ़ रथनेमियोंवाले **रथेभिः**=रथों से **प्रायासिष्ट**=शत्रु पर आक्रमण के लिये गतिवाले होते हो तो **आपः**=नदियों के जल **क्षोदन्ते**=क्षुब्ध हो उठते हैं, **वनानि रिणते**=वन हिंसित हो जाते हैं और यह **उस्त्रियः**=सूर्य-किरणों से रोशन **वृषभः**=वर्षा को करनेवाला **द्यौः**=द्युलोक **अवक्रन्दतु**=मानो रो उठता है, अर्थात् सारा जगत् ही भयभीत-सा हो जाता है। सब में भय से हलचल हो उठती है। (२) वीर क्षत्रिय अपने शक्तिशाली घोड़ों व दृढ़ रथों से जब रण-यात्रा प्रारम्भ करते हैं तो सारे संसार को हिला-सा देते हैं। उनको नदियाँ व वन रोक नहीं पाते, चमकती हुई धूप व बरसता हुआ आकाश उनको रोकनेवाला नहीं होता। सब विघ्न-बाधाओं को दूर करते हुए वे आगे बढ़ते हैं और विजयी होते हैं।

भावार्थ—वीर क्षत्रियों के मार्ग में नदियाँ, वन, धूप व वर्षा कोई भी रुकावट नहीं बन पाता।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः

प्रथिष्ट यामन्पृथिवी चिदेषां भर्तेव गर्भं स्वमिच्छवो धुः।
वातान्ह्यश्वान्धुर्यायुयुज्रे वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः॥ ७॥

(१) **एषाम्**=इन मरुतों की **यामन्**=गति के होने पर **पृथिवी चित्**=यह पृथिवी भी **प्रथिष्ट**=फैल जाती है, अर्थात् इनको यह पृथिवी खुला मार्ग देनेवाली होती है। **इव**=जैसे **भर्ता**=पति **गर्भम्**=गर्भ को धारण करता है, अपनी पत्नी में गर्भ की स्थापना करता है, उसी प्रकार ये वीर सैनिक **इत्**=निश्चय से **स्वं शवः**=अपने बल का **धुः**=इस पृथिवी में स्थापन करते हैं। इनकी गति से सम्पूर्ण देश ओजस्वी हो उठता है। (२) ये सैनिक **वातान्**=वायुसमवेगवाले **अश्वान्**=घोड़ों को **हि**=निश्चय से **धुरि**=रथधुरा में **आयुयुज्रे**=जोतते हैं और ये **रुद्रियासः**=शत्रुओं को रुलानेवाले (रोदयन्ति) वीर सैनिक **वर्षम्**=सम्पूर्ण देश को **स्वेदं चक्रिरे**=श्रमजनित पसीने से तरबतर कर देते हैं। इन वीर सैनिकों के कार्यों से उत्साहित होकर सारा देश श्रमशील हो उठता है, वह मातृभूमि

के लिये पसीना बहाने को तैयार हो जाता है। इसके विपरीत सैनिक ही कायर होकर भागने लगें तो प्रजा में भी अकारण भय का संचार हो जाता है।

भावार्थ—वीर क्षत्रियों की वीरतापूर्ण गति देश को ओजस्वी बनाती है और इसके विपरीत इनकी कायरता लोगों में अकारण-भय का संचार करनेवाली होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शासकवर्ग कैसा?

हुये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः।
सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः॥ ८॥

मन्त्र संख्या ५७.८ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

अगला सूक्त भी मरुतों का ही वर्णन करता है—

५९. [एकोनषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ज्ञान-विज्ञान' की प्राप्ति

प्र वः स्पळक्रन्त्सुविताय दावनेऽर्चा दिवे प्र पृथिव्या ऋतं भरे।
अक्षन्ते अश्वान्तरुषन्त आ रजोऽनु स्वं भानुं श्रथयन्ते अर्णवैः॥ १॥

(१) हे मरुतो (प्राणो)! **स्पट्**=यह द्रष्टा ज्ञानी पुरुष **वः**=आपको **प्र अक्रन्** (क्रन्दति)=प्रकर्षेण पुकारता है। जिससे **सुविताय**=सुवित के लिये, दुरितों से दूर होने के लिये तथा **दावने**=दान व त्याग की भावना के निमित्त वह आपका स्तवन करता है। प्राणसाधना से मनुष्य दुरितों से बचता है और त्यागशील बनता है। **प्र अर्चा**=वह आपकी अर्चना करता है **दिवे**=ज्ञान के प्रकाश के लिये तथा **पृथिव्याः**=इस शरीररूप पृथिवी के **ऋतं भरे**=ऋत को भरने के निमित्त (भरणं भरः)। शरीर के सब अंगों को ठीक करने के निमित्त वह आपका आह्वान करता है, प्राणसाधना से ही ज्ञान व शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। (२) प्राणसाधक **अश्वान्**=इन्द्रियाश्वों को **उक्षन्ते**=शक्ति से सिक्त करते हैं। **रजः**=रजोगुण को **आ तरुषन्ते**=तैर जाते हैं और **स्वं भानुम्**=आत्म प्रकाश को **अर्णवैः**=विज्ञान समुद्रों से **अनु श्रथयन्ते**=अनुश्लिष्ट करते हैं, ज्ञान को विज्ञान के साथ जोड़नेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'सुवित, त्यागवृत्ति, प्रकाश व स्वास्थ्य' प्राप्त होता है। इससे शक्ति का सेचन-सत्त्वगुण में स्थिति तथा ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शत्रु-कम्पन व ज्ञानयज्ञ प्रणयन

अमादेषां भियसा भूमिरेजति नौर्न पूर्णा क्षरति व्यथिर्यती।
दूरेदृशो ये चितयन्त एमभिरन्तर्महे विदथे येतिरे नरः॥ २॥

(१) **एषाम्**=इन मरुतों-प्राणों के **अमात्**=बल से **भियसा**=भय के कारण **भूमिः एजति**=यह पृथिवीरूप शरीर काँप उठता है। इस शरीर में प्राणों के कारण वह हलचल उत्पन्न होती है, जो शरीरस्थ सब रोग व वासनारूप शत्रुओं को कम्पित करके दूर कर देती है। यह **व्यथिः**=शत्रुओं को पीड़ित करनेवाली **यती**=गति करती हुई शरीर-भूमि इस प्रकार से कम्पन में होती है, **न**=जैसे

कि **पूर्णा नौः**=जल से पूर्ण नाव **क्षरति**=नदी में गतिवाली होती है। (२) ये प्राण **दूरेदृशः**=आँखों से ओझल हैं, परन्तु **ये**=जो प्राण **एमभिः चितयन्त**=अपनी गतियों से जाने जाते हैं, वे **नरः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राण **महे विदथे अन्तः**=महान् ज्ञानयज्ञ में **येतिरे**=यत्नशील होते हैं। इन प्राणों के कारण ही जीवन में ज्ञानयज्ञ चलता है। प्राणसाधना से सोम की ऊर्ध्वगति होकर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और ज्ञान यज्ञ चलता है।

भावार्थ—प्राणों द्वारा इस शरीर भूमि में हलचल द्वारा शत्रु कम्पित हो उठते हैं। इस प्राणसाधना के परिणामस्वरूप ही ज्ञानयज्ञ चलता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'शक्ति व चेतना' द्वारा शोभा वृद्धि

गवा॑मिव श्रि॒यसे॒ शृङ्ग॑मुत्त॒मं सूर्यो॒ न चक्षू॒ रज॑सो वि॒सर्ज॑ने।
अत्या॑इव सु॒भ्व१॒श्चार॑वः स्थन॒ मर्या॑इव श्रि॒यसे॑ चेतथा नरः ॥ ३ ॥

(१) हे **नरः**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणो! आप **गवां उत्तमं शृंगं इव**=गौवों के उत्तम सींगों की तरह **स्थन**=हो और इसीलिये **श्रियसे**=शोभा के लिये होते हो। गौओं के सींग जैसे शत्रुओं के विदारण के लिये होते हैं, इसी प्रकार प्राण रोगकृमि आदि शत्रुओं को दूर करके शरीर की शोभा को बढ़ानेवाले हैं। (२) हे प्राणो! आप **सूर्यः न**=सूर्य के समान, **रजसः विसर्जने**=रजोगुण के दूर करने के लिये **चक्षुः**=मार्गदर्शक आँख के समान हो। सूर्य जैसे अन्धकार को दूर करता है, इसी प्रकार ये प्राण राजस वृत्ति को दूर करके हमें सत्त्वगुण का प्रकाश प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्राणो! आप **अत्याः इव**=सततगामी अश्वों के समान **सुभ्वः**=उत्तम स्थितिवाले **चारवः**=खूब वेगवाले (चर गतौ) **स्थन**=हो। प्राण शरीर की उत्तम स्थिति का कारण होते हैं और निरन्तर गतिवाले होते हैं। **मर्याः इव**=मनुष्यों की तरह **चेतथा**=ज्ञानवाले होते हो और इस चेतना से **श्रियसे**=शोभा के लिये होते हो। ज्ञान से ही तो मनुष्य की शोभा बढ़ती है।

भावार्थ—प्राण 'शत्रु-विनाशक शक्ति, प्रकाश, गति व चेतना' के द्वारा हमारी शोभा का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'यश, ज्ञान, शक्ति, सदाचार व त्याग'

को वो॑ म॒हान्ति॑ मह॒ताम॒द॑श्नव॒त्कस्का॒व्या॑ मरुतः॒ को ह॒ पौंस्या॑।
यू॒यं ह॒ भूमिं॑ कि॒रणं॒ न रे॑जथ॒ प्र यद्भर॑ध्वे सुवि॒ताय॑ दा॒वने॑॥ ४॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **कः**=कोई विरला पुरुष ही **महतां वः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आपके **महान्ति**=महनीय यशों को **उदश्नवत्**=अपने में व्याप्त करता है। अर्थात् प्राणसाधना करता हुआ कोई विरला पुरुष ही यशस्वी जीवनवाला बनता है। **कः**=कोई ही **काव्या**=वेद ज्ञानों को व्याप्त करता है **कः ह**=और कोई ही निश्चय से **पौंस्या**=शक्तियों को व्यापता है। प्राणसाधना से 'यश, ज्ञान व शक्ति' सभी का वर्धन होता है। (२) हे प्राणो! **यूयम्**=आप ही **ह**=निश्चय से **भूमिम्**=इस शरीररूप पृथिवी को, **किरणं न**=ज्ञान की किरणों के समान **रेजथ**=दीप्त करते हो। प्राणसाधना से शरीर तेजस्विता से दीप्त होता है और मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बनता है। हे प्राणो! **यद्**=जब आप **प्रभरध्वे**=प्रकर्षेण भरण करते हो तो **सुविताय**=सुवित के लिये होते हो और **दावने**=त्याग के लिये होते हो। प्राणसाधना से हमारे दुरित दूर होते हैं और हमारी वृत्ति त्याग की बनती है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवन में 'यश, ज्ञान, शक्ति, सदाचार व त्याग' को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विज्ञानमय कोश से भी ऊपर

अश्वाइवेदरुषासः सबन्धवः शूराइव प्रयुधः प्रोत युयुधुः।
मर्याइव सुवृधो वावृधुर्नरः सूर्यस्य चक्षुः प्र मिनन्ति वृष्टिभिः॥ ५॥

(१) ये प्राण **अश्वाः इव**=सततगामी अश्वों के समान **अरुषासः**=आरोचमान हैं। प्राणों के कारण शरीर में गति व दीप्ति है। **उत**=और **प्रयुधः शूराः इव**=प्रकृष्ट युद्ध करनेवाले शूरों के समान ये प्राण **प्र युयुधुः**=शरीर में रोगों व वासनाओं से खूब ही युद्ध करते हैं। (२) **सुवृधः**=उत्तमताओं का वर्धन करनेवाले **मर्याः इव**=मनुष्यों के समान ये **नरः**=उन्नति पथ पर ले चलनेवाले प्राण **वावृधुः**=खूब ही वृद्धिवाले होते हैं। शरीर में सब वृद्धि इन प्राणों के कारण है। ये प्राण **वृष्टिभिः**=आनन्द के वर्षणों के द्वारा **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य के प्रकाश को भी **प्रमिनन्ति**=छोटा कर देते हैं (मिनन्ति=diminish), अर्थात् विज्ञानमयकोश से भी हमें ऊपर उठाकर आनन्दमयकोश में प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राण सब गतियों का कारण हैं। ये ही शत्रुओं का विनाश करते हैं। वृद्धि का कारण बनते हुए ये प्राण हमें विज्ञानमयकोश से ऊपर उठाकर आनन्दमयकोश में प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तेजस्विता-ज्ञानप्रकाश-प्रभु प्राप्ति

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥ ६॥

(१) शरीरस्थ प्राण ४९ भागों में बटे हुए हैं। **ते**=वे प्राण **अज्येष्ठाः अकनिष्ठासः**=न छोटे हैं न बड़े हैं, अर्थात् इन प्राणों में कोई छोटा बड़ा नहीं है। सभी प्राणों का समानरूप से महत्त्व है। **अमध्यमासः**=इन में कोई भी मध्यम श्रेणी का नहीं है। **उद्भिदः**=सब के सब शत्रुओं का उद्भेदन करनेवाले हैं। **महसा विवावृधुः**=तेजस्विता से खूब ही वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। (२) **सुजातासः**=उत्तम प्रादुर्भाववाले ये प्राण **जनुषा**=अपने प्रादुर्भाव से **पृश्निमातरः**=ज्ञानरश्मियों का (पृश्नि=a ray of light) निर्माण करनेवाले हैं। प्रभु कहते हैं कि हे **दिवः मर्याः**=प्राणसाधना द्वारा प्रकाशमय जीवनवाले मनुष्यो! **नः अच्छा**=हमारी ओर **आजिगातन**=आओ। प्राणसाधना करके हम जीवन को प्रकाशमय बनायें और निरन्तर प्रभु की ओर गतिवाले हों।

भावार्थ—शरीर में सब प्राणों का महत्त्व है। ये हमें तेजस्वी व ज्ञान के प्रकाशवाला बनाते हैं। ज्ञान को प्राप्त करके हम प्रभु की ओर बढ़ते हैं। तेजस्विता व ज्ञान ही हमें प्रभु प्राप्ति का पात्र बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पर्वतस्य नभनूनु अचुच्यवुः

वयो न ये श्रेणीः पप्तुरोजसान्तान्दिवो बृहतः सानुनस्परि।
अश्वास एषामुभये यथा विदुः प्र पर्वतस्य नभनूँरचुच्यवुः॥ ७॥

(१) **वयः श्रेणीः न**=पक्षियों की पंक्तियों की तरह **ये**=जो मरुत् (प्राण) **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **बृहतः**=विशाल **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **सानुनः**=शिखर के **अन्तान् परि** (परितः)=अन्तों के चारों ओर **पप्तुः**=गतिवाले होते हैं। प्राणसाधना में प्राणों का शरीर के विविध स्थानों में निरोध होता है। इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निरोध मस्तिष्करूप द्युलोक के शिखर में है, यही स्थान ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। जैसे पक्षी उड़कर ऊपर आकाश में जाता है, मानो उसी प्रकार ये प्राण इस मस्तिष्करूप द्युलोक के शिखर पर जाते हैं। (२) **एषाम्**=इन मरुतों के **उभये**=दोनों प्रकार के **अश्वासः**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **यथा**=जिस प्रकार **विदुः**=ज्ञान प्राप्ति वाले होते हैं (कर्मेन्द्रियाँ भी जब ज्ञान प्राप्ति के साधक कर्मों में प्रवृत्त होती हैं) तो **पर्वतस्य**=अविद्या पर्वत के **नभनून्**=(hurling) हिंसनों व क्लेशों को **प्र अचुच्यवुः**=क्षरित व नष्ट करते हैं। अविद्या ही सब क्लेशों की जननी है। प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दग्ध होकर ज्ञानवृद्धि होती है और अविद्या जनित क्लेशों का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना में प्राणों का ब्रह्मरन्ध्र में नियमन करने पर इन्द्रियाँ पूर्ण निर्दोषवाली होती हैं। उस समय अविद्या पर्वत का विनाश हो जाता है। अविद्या जनित क्लेशों का प्रश्न ही नहीं रहता।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना व ज्ञानवृद्धि

मिमातु द्यौरदितिर्वीतये नः सं दानुचित्रा उषसो यतन्ताम्।
आचुच्यवुर्दिव्यं कोशमेत ऋषे रुद्रस्य मरुतो गृणानाः ॥ ८ ॥

(१) प्राणसाधना के होने पर **द्यौः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक **मिमातु**=(roar) ज्ञान के शब्दों की गर्जनावाला हो। अर्थात् मस्तिष्क में ज्ञान के शब्द ही गूँजें। **अदितिः**=अखण्डित स्वास्थ्यवाली यह शरीर भूमि **नः**=हमारी **वीतये**=(वी गति प्रजनन) गति व शक्ति विकास के लिये हो। प्राणसाधना मस्तिष्क को ज्ञानमय बनाती है, तो शरीर को यह गति व शक्ति के विकास से युक्त करती है। प्राणसाधना से हमारे जीवन में **उषसः**=उषाकाल **दानुचित्राः**=अद्भुत दानोंवाले होकर **संयतन्ताम्**=सम्यक् यत्नवाले हों। हम उषाकालों में आलस्यशून्य होकर आसन प्राणायामादि में प्रवृत्त होंगे तो ये उषाकाल हमारे लिये अद्भुत शक्तियों के दानवाले होंगे। (२) हे **ऋषे** **तत्त्वद्रष्टः**=पुरुष! **एते**=ये **रुद्रस्य**=ज्ञानोपदेश के देनेवाले प्रभु के **मरुतः**=प्राण **गृणानाः**=स्तवन करते हुए, हमें स्तवन की वृत्तिवाला बनाते हुए, **दिव्यं कोशम्**=विज्ञानमय कोश को **आचुच्यवुः**= हमारे में क्षरित करते हैं। प्राणसाधना से यह विज्ञानमयकोश निरन्तर विज्ञान की वृद्धिवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा मस्तिष्क व शरीर सुन्दर बनते हैं। हमारी उषाएँ अच्छी व्यतीत होती हैं। दिव्यकोश का वर्धन होता है।

अगले सूक्त का देवता मरुत् व अग्नि हैं। ऋषि तो 'श्यावाश्व आत्रेय' ही हैं—

६०. [षष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण-प्राणायाम

ईळे अग्निं स्ववसं नमोभिरिह प्रसत्तो वि चयत्कृतं नः।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणिन्मरुतां स्तोमम‍ृध्याम् ॥ १ ॥

(१) मैं **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कारों द्वारा **ईडे**=उपासित करता हूँ। उस प्रभु को जो **स्ववसम्**=उत्तम रक्षणवाले हैं। प्रभु के रक्षण में रक्षित हुआ-हुआ ही मैं सब कर्मों को कर पाता हूँ। वे प्रभु **इह**=यहाँ हमारे हृदयों में **प्रसत्तः**=प्रकर्षेण स्थित हुए-हुए **ना कृतम्**=हमारे कर्मों को **विचयत्**=पूरा-पूरा जान रहे हैं 'यो वेदिता कर्मणः पापकस्य तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि वर्द्धो संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः'। (२) मैं उस प्रभु के निरीक्षण में **वाजयद्भिः**=(वाजं कुर्वद्भिः) संग्राम को करते हुए **रथैः इव**=रथों से ही **प्रभरे**=उत्कृष्ट कार्यों का भरण करता हूँ। शरीर-रथ के द्वारा जीवन-संग्राम में उत्कृष्ट कार्यों का करनेवाला होता हूँ। **प्रदक्षिणित्**=सरल व उदार दक्षिण मार्ग से नकि उलटे (वाम) मार्ग से, गतिकरता हुआ **मरुतां स्तोमम्**=प्राणों के स्तवन को **ऋध्याम्**=समृद्ध करूँ, खूब ही प्राणसाधना करता हुआ जीवन को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करूँ।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करूँ तथा सरल मार्ग से चलता हुआ प्राणसाधना में प्रवृत्त होऊँ।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्रियों व शरीर' की निर्दोषता

आ ये तस्थुः पृषतीषु श्रुतासु सुखेषु रुद्रा मरुतो रथेषु।
वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया पृथिवी चिद्रेजते पर्वतश्चित्॥ २॥

(१) **ये**=जो **मरुतः**=प्राण **श्रुतासु**=खूब ज्ञान-सम्पन्न **पृषतीषु**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले इन्द्रियाश्वों में **आतस्थुः**=स्थित होते हैं और जो मरुत् **सुखेषु**=उत्तम इन्द्रिय-छिद्रोंवाले **रथेषु**=शरीर-रथों में स्थित होते हैं, अर्थात् प्राण इन्द्रियों को ज्ञान-सम्पन्न व शक्ति सिक्त करते हैं तथा शरीर-रथों को निर्दोष अंगोंवाला बनाते हैं। ये प्राण **उग्रा चित्**=अत्यन्त प्रबल तेजोमय **वना**=ज्ञानरश्मियों को **निजिहते**=निश्चय से प्राप्त होते हैं। (२) हे मरुतो! उस समय **वः भिया**=तुम्हारे भय से **पृथिवी चित्**=यह शरीररूप पृथ्वी निश्चय से **रेजते**=कम्पित हो उठती है इसके सब रोग व वासना रूप शत्रु हड़बड़ा जाते हैं और **पर्वतः चित्**=अविद्या-पर्वत भी कम्पित होकर नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ व शरीर स्वस्थ शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। इस साधना से वे ज्ञानरश्मियाँ प्राप्त होती हैं, जो शरीर को निर्दोष बनाती हैं और अविद्या पर्वत को विलीन कर देती हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महान् वृद्ध पर्वत का भयभीत होना

पर्वतश्चिन्महि वृद्धो बिभाय दिवश्चित्सानु रेजत स्वने वः।
यत्क्रीळथ मरुत ऋष्टिमन्त आपइव सध्र्यञ्चो धवध्वे॥ ३॥

(१) हे प्राणो! **वः स्वने**=आपका स्वन (शब्द) होने पर, प्राणसाधना में होनेवाली 'ह' व 'स' इस ध्वनि के होने पर, **महि वृद्धः**=अत्यन्त बढ़ा हुआ **चित्**=भी यह **पर्वतः**=अविद्या का पर्वत **बिभाय**=भयभीत हो जाता है, अविद्या का विनाश हो जाता है तथा **दिवः**=ज्ञान का **सानु**=शिखर **चित्**=निश्चय से **रेजत**=चमक उठता है (रेज् to shine) (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **यत्**=जब **ऋष्टिमन्तः**=शत्रु-विनाशक आयुधोंवाले तुम **क्रीळथ**=क्रीड़ा करते हो तो **सध्र्यञ्चः आपः इव**=मिलकर गति करनेवाले जलों की तरह **धवध्वे**=सब शत्रुओं को कम्पित कर डालते

हो (धू) अथवा शोधन कर डालते हो (धाव, धवध्वे=धावध्वे) प्राणसाधना से सब दोष कम्पित होकर दूर हो जाते हैं और जीवन की शुद्धि हो जाती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर अविद्या का विनाश होकर विद्या का प्रकाश होता है। शत्रुओं का विनाश होकर जीवन का शोधन हो जाता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शरीरस्थालंकृति

वराइवेद्रैवतासो हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्वः पिपिश्रे।
श्रिये श्रेयांसस्तवसो रथेषु सत्रा महांसि चक्रिरे तनूषु॥ ४॥

(१) **इव**=जिस प्रकार **रैवतासः**=धनवान् **वराः**=विवाह योग्य युवक **हिरण्यैः**=स्वर्णाभरणों से तथा **स्वधाभिः**=(स्वधा=उदक० १।१२ नि०) उत्तम अन्नों व जलों से **इत्**=निश्चयपूर्वक **तन्वः**=शरीरों को **अभिपिपिश्रे**=अलंकृत कर लेते हैं। इसी प्रकार **श्रेयांसः**=ये श्रेष्ठ मरुत् भी, प्राण भी **श्रिये**=शोभा के लिये होती हैं। प्राणसाधना से भी शरीर उसी प्रकार चमक उठता है। (२) ये **तवसः**=बलवान् प्राण **तनूषु रथेषु**=इन शरीररूप रथों में **सत्रा**=सदा सचमुच **महांसि**=तेजस्विताओं का **चक्रिरे**=सम्पादन करते हैं। प्राणसाधना सोम की ऊर्ध्वगति होकर अंग-प्रत्यंग तेजस्वी बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर-रथों को तेजस्विता व दृढ़ता से सुशोभित कर देती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सब प्राणों की समानता

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥ ५॥

(१) शरीर में ये प्राण ४९ भागों में बटकर कार्य करते हैं। **एते**=ये **अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः**=कोई बड़ा व कोई छोटा नहीं है, कोई प्राण पहले व कोई पीछे पैदा होनेवाला नहीं है। ये सब **भ्रातरः**=शरीर का भरण करनेवाले भाइयों के समान **सौभगाय सं वावृधुः**=शरीर के सौभाग्य (सौन्दर्य) के लिये मिलकर बढ़नेवाले होते हैं। (२) सामान्यतः १० प्राणों (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय) व आत्मा को ग्यारह रुद्रों के रूप में स्मरण किया जाता है। ये ११ शरीर को छोड़ते हुए रुलाते हैं, सो 'रुद्र' हैं। शरीरस्थ होते हुए ये रोगों का द्रावण करनेवाले होने से 'रुद्र' हैं। **एषाम्**=इन प्राणों का **पिता**=रक्षक यह आत्मा **युवा**=बुराई को पृथक् करनेवाला व अच्छाई को जोड़नेवाला है। **स्वधाः**=सदा उत्तम कर्मोंवाला है। वस्तुतः प्राणों का रक्षण ही हमें 'युवा व स्वधा' बनाता है। उस समय **मरुद्भ्यः**=इन प्राणों के द्वारा **पृश्निः**=प्रकाश की किरण **सुदुघा**=हमारे लिये सुख दोह्य होती है, अर्थात् प्राणसाधना से हम प्रकाश को आसानी से पाते हैं और **सुदिना**=यह प्रकाश हमारे लिये दिनों को उत्तम बनानेवाला होता है।

भावार्थ—सब प्राण समानरूप से महत्त्ववाले हैं, ये शरीर के सौभाग्य को बढ़ाते हैं। आत्मा इनका रक्षक होता हुआ उत्तम कर्मोंवाला होता है, इनके द्वारा प्रकाश की किरण हमें प्राप्त होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उत्तम मध्यम अवम' द्युलोक

यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद्वावमे सुभगासो दिवि ष्ठ।
अतो नो रुद्रा उत वा न्व१स्याग्ने वित्ताद्धविषो यद्यजाम॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आप **यत्**=जो **उत्तमे दिवि**=सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान के प्रकाश में, **मध्यमे वा**=जीव के कर्त्तव्यों के ज्ञान के प्रकाश में **यद् वा**=अथवा जो **अवमे दिवि**=इस अपर प्रकृति के ज्ञान के प्रकाश में **ष्ठ**=कारणरूप से स्थित होते हो, इससे **सुभगासः**=जीवन को आप उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाला बनाते हो। (२) **अतः**=इसलिए हे **रुद्राः**=प्राणो! **उत वा**=अथवा **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **नु**=निश्चय से **अस्य वित्तात्**=इसको जानिये, अर्थात् इस बात का ध्यान करिये **यत्**=कि हम **हविषः यजाम**=सदा हवि का अपने साथ मेल करें। प्राणसाधना व प्रभु-स्मरण के द्वारा हमारा जीवन यज्ञमय बने। हम हवि से कभी दूर न हों। वस्तुतः इस हवि से ही तो सच्चा प्रभु-पूजन होना है।

भावार्थ—प्राणसाधना ही 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान में साधन बनती है। प्राणसाधना व प्रभु-स्मरण ही हमारे जीवन को यज्ञमय बनाते हैं। 'ब्रह्मज्ञान' उत्तम द्युलोक है, 'जीवविज्ञान' मध्यम द्युलोक है और 'प्रकृति विज्ञान' ही अवम द्युलोक है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना

अग्निश्च यन्मरुतो विश्ववेदसो दिवो वहध्व उत्तरादधि ष्णुभिः।
ते मन्दसाना धुनयो रिशादसो वामं धत्त यजमानाय सुन्वते॥ ७॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी परमात्मा **च**=और **मरुतः**=प्राण **यत्**=क्योंकि **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। प्रभु स्मरण व प्राणसाधना हमारे जीवन में सब ऐश्वर्यों का कारण बनते हैं। ये अग्नि और मरुत् **उत्तराद् दिवः**=उत्कृष्ट द्युलोक के **ष्णुभिः**=शिखरों से **अधिवहध्वे**=हमारा वहन करते हैं, अर्थात् ये हमें उत्कृष्ट द्युलोक के शिखर पर पहुँचानेवाले होते हैं। ज्ञान की चरमसीमा ही 'उत्कृष्ट द्युलोक' है। प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना से हम इस उत्कृष्ट द्युलोक में पहुँचते हैं। (२) **ते**=वे **मन्दसानाः**=हमारे जीवनों को आनन्दमय बनाते हुए, **धुनयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले, **रिशादसः**=शत्रुओं को खा जानेवाले प्राणो! आप **सुन्वते**=सोम का सम्पादन करनेवाले **यजमानाय**= यज्ञशील पुरुष के लिये **वामं धत्त**=सुन्दर धनों को धारण करो। प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना से हमारा जीवन निर्दोष व यज्ञमय बने और सुन्दर धनों का धारण करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना ही हमें पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में व द्युलोक के शिखर पर पहुँचाते हैं। ये हमें निर्दोष व यज्ञशील बनाकर उत्तम धनों से धन्य बनाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतो वाग्निश्च** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना' द्वारा सोम का पान

अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः।
पावकेभिर्विश्वमिन्वेभिरायुभिर्वैश्वानर प्रदिवा केतुना सजूः॥ ८॥

(१) हे **वैश्वानर**=विश्वनर हित **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **प्रदिवा, केतुना** व उस सनातन ज्ञान से **सजूः**=संगत हुए-हुए **मरुद्भिः**=इन प्राणों के द्वारा **मन्दसानः**=हमें आनन्दित करते हुए **सोम पिब**=हमारे शरीर में सोम का पान करिये। प्रभु हमें ज्ञान प्रवण बनायें और प्राणसाधना में प्रवृत्त करके हमें सोमरक्षण के योग्य करें। यहाँ पर स्पष्ट है कि सोमरक्षण प्रभु-कृपा से होगा। उसके लिये आवश्यक है कि हम उत्कृष्ट ज्ञान के अध्ययन में प्रवृत्त हों और प्राणसाधना करनेवाले बनें। (२) उन प्राणों के द्वारा सोम का पान होना है जो **शुभयद्भिः**=हमारे जीवन को शोभायुक्त करते हैं। **ऋक्वभिः**=हमें स्तुति-प्रवण बनाते हैं। **गणश्रिभिः**=शरीरस्थ सब इन्द्रियगणों की शोभा को बढ़ानेवाले हैं। **पावकेभिः**=हमारे जीवनों को पवित्र बनानेवाले हैं। **विश्वं इन्वेभिः**=सब अंगों को प्रीणित करनेवाले हैं उन्हें प्रवृद्ध शक्तिवाला बनाते हैं और **आयुभिः**=जीवन हैं, दीर्घायुष्य का कारण होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण व प्राणसाधना द्वारा शरीर में सोम का रक्षण होकर सब शोभा की वृद्धि होती है।

'श्यावाश्व आत्रेय' ऋषि का ही अगला सूक्त भी है—

६१. [एकषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'श्रेष्ठतम' प्राण

के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमा य एकएक आयय। परमस्याः परावतः ॥ १ ॥

(१) 'प्राण शरीर में किस प्रकार अद्भुत ढंग से कार्य करते हैं? किस प्रकार हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हुए सर्वोच्च स्थिति में पहुँचाते हैं, द्युलोक के भी चरम-स्थान (शिखर) पर ये हमें ले जानेवाले हैं।' इस बात का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे प्राणो! **नरः**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले आप **के ष्ठा**=कौन हो? आपका स्वरूप पूरा-पूरा समझना बड़ा कठिन है। हाँ, आप **श्रेष्ठतमाः**=श्रेष्ठतम हो। सब इन्द्रियाँ थक जाती हैं। पर आप दिन-रात जागकर इस जीवनयज्ञ के प्रहरी बनते हो। सब इन्द्रियों में वस्तुतः आप की ही शक्ति काम करती है। वाणी को आप ही वसिष्ठ बनाते हैं, चक्षु में प्रतिष्ठात्व आपके कारण है, श्रोत्र की सम्पत्ति का आप ही मूल हो और प्राण को आप ही आयतन बनाते हो। (२) **ये**=जो आप **एकः एकः**=एक-एक **परमस्याः परावतः**=दूर-से-दूर लोक में हमें प्राप्त कराने के हेतु से **आयय**=आते हो। इन प्राणों की साधना से ही पृथिवी से हम अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, द्युलोक की भी चरमसीमा पर पहुँचा करते हैं। प्राणसाधना से ही हम तमस् से रजस् में, रजस् से सत्व में पहुँचते हैं। यह साधना ही हमें नित्य सत्वस्थ बनाकर अन्ततः निस्त्रैगुण्य बनाती है।

भावार्थ—'प्राण' अद्भुत शक्ति-सम्पन्न हैं। ये हमें उत्कृष्ट, उत्कृष्टतर व उत्कृष्टतम स्थिति में पहुँचाते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सर्वाधार' प्राण

क्व१वोऽश्वाः क्वा३भीशवः कथं शेक कथा यय। पृष्ठे सदो नसोर्यमः ॥ २ ॥

(१) हे प्राणो! **क्व**=कहाँ **वः**=आपके **अश्वाः**=अश्व हैं, **क्व: अभीशवः**=कहाँ लगाये हैं? **कथं शेक**=किस प्रकार आप शक्तिशाली बनते हो, उस-उस कार्य को करने में समर्थ होते

हो! **कथा यय**=किस प्रकार गति करते हो। यह सब ही रहस्यमय है। प्राणों के कार्यक्रम को पूरा-पूरा समझ सकना सम्भव नहीं। (२) हमें सामान्यतः इनके विषय में इतना ही पता है कि **पृष्ठे सदः**=प्रत्येक इन्द्रिय के कार्य के मूल में इनका अधिष्ठान है। प्राणों के आधार से ही सब कार्य चलते हैं। और **नसोः यमः**=नासिका छिद्रों में आपका नियमन होता है। जिस समय नासिका के दक्षिण छिद्र में आपकी गति होती है तो अग्नितत्त्व का वर्धन होता है, वाम छिद्र में गति होने पर जलतत्त्व का विकास दिखता है। एवं अग्नि व जल दोनों तत्त्वों का ठीक-ठीक नियमन करते हुए ये प्राण हमारे जीवन को सुन्दर बनाते हैं। ये दायें-बायें छिद्र ही योग में सूर्यस्वर व चन्द्रस्वर कहलाते हैं।

भावार्थ—प्राणों का कार्यक्रम रहस्यमय है। हम इतना ही जानते हैं कि सब कार्यों के मूल में यह प्राणशक्ति है और नासिका छिद्रों में इनका नियमन कार्य चलता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गति-संयम-सत्सन्तान

जघने चोद एषां वि सक्थानि नरो यमुः। पुत्रकृथे न जनयः ॥ ३ ॥

(१) **जघने**=गमन के साधनभूत जघन प्रदेश में **एषाम्**=इन प्राणों की ही **चोदः**=प्रेरणा कार्य करती है प्राणशक्ति से ही जघन प्रदेश सबल होकर हमें दूर-दूर जाने में समर्थ करते हैं। **नरः**=ये हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राण ही **सक्थानि**=हमारे ऊरु प्रदेशों के **वियमुः**=विशेषरूप से संयमवाला बनाते हैं। (२) इस प्रकार हमारे जीवनों को गतिशील व संयमी बनाकर ये प्राण **पुत्रकृथे**=उत्तम सन्तानों के निर्माण में **जनयः न**=उत्तम पत्नियों के समान होते हैं। वस्तुतः प्राणसाधना से ही पति-पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें गतिशील, संयमी व सत्सन्तानवाला बनाती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वीर, मर्य, भद्रजानि व अग्नितप' प्राण

परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः। अग्नितपो यथासथ ॥ ४ ॥

(१) हे **वीरासः**=शत्रुओं को विशेषरूप से ईरित (कम्पित) करनेवाले, **मर्यासः**=मनुष्यों के लिये हित करनेवाले, **भद्रजानयः**=कल्याण व सुख को जन्म देनेवाले प्राणो! **परा एतन**=दूर-दूर तक, इस शरीर भुवन के सुदूर प्रान्त भागों तक, गतिवाले होवो। (२) प्राणायाम के द्वारा उस-उस अंग में पहुँचकर ये प्राण वहाँ के मलों को दग्ध करते हैं और उन्हें दीप्त करते हैं। सो कहते हैं कि तुम शरीर में सर्वत्र पहुँचो, **यथा**=जिससे **अग्नितपः असथ**=अग्नि से तप्त ताम्र आदि की तरह तुम अंग-प्रत्यंग को दीप्त करनेवाले होवो। प्राणसाधक पुरुष को ये प्राण अग्निदीप्त बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राण 'शत्रुओं को कम्पित करके हमारा हित करनेवाले हैं। कल्याण को जन्म देनेवाले व अग्नि के समान हमें दीप्त बनानेवाले हैं।'

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**शशीयसी तरन्तमहिषी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणशक्ति (तरन्तमहिषी)

सनत्साश्व्यं पशुमुत गव्यं शतावयम्। श्यावाश्वस्तुताय या दोर्वीरायोपबर्बृहत् ॥ ५ ॥

(१) शत्रुओं को नष्ट करनेवाले व तरानेवाले प्राण 'तरन्त' हैं, इनकी शक्ति 'तरन्त-महिषी'

है। **सा**=यह प्राणशक्ति **अश्वयं पशुम्**=अश्व सम्बन्धी पशुओं को **सनत्**=प्राप्त कराती है। कर्मेन्द्रियाँ ही अश्व पशु हैं, ये कर्मों में व्यापनवाली हैं। **उत**=और **गव्यम्**=गो सम्बन्धी पशुओं को भी यह प्राप्त कराती है। ये पशु ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, 'गमयन्ति, अर्थात् इति गावः'=ये अर्थों का ज्ञान देती हैं। यह 'तरन्त महिषी' **शतावयम्**=शतवर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त कराती है (शत-वयस्) (२) यह प्राणशक्ति **श्यावाश्वस्तुताय**=क्रियाशील इन्द्रियोंवाले व स्तुतिमय जीवनवाले **वीराय**=वीर पुरुष के लिये **दोः**=अपनी भुजा को **उपबर्बृहत्**=उपबर्ह के रूप में, तकिये के रूप में प्राप्त कराती है। अर्थात् श्यावाश्वस्तुत की यह प्राणशक्ति आश्रय देनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणशक्ति से उत्तम कर्मेन्द्रियाँ, उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व शतवर्ष का दीर्घजीवन मिलता है। क्रियाशील स्तुतिमय वीर पुरुष की यह प्राणशक्ति बलवान् बनती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**शशीयसी तरन्तमहिषी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्त्री यः पुरुष?

उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः ॥ ६ ॥

(१) **उत**=और **त्वा**=वह एक **शशीयसी**=प्लुतगतिवाली, निरन्तर कार्यों में प्रवृत्त, आलस्यशून्य स्त्री **पुंसः**=उस पुरुष से **वस्यसी**=वही उत्तम निवासवाली है, जो पुरुष कि **अदेवत्रात्**=(येन देवाः न त्रायन्ते) जो अपने अन्दर दिव्यगुणों का रक्षण नहीं करता और **अराधसः**=जो दान योग्य धन से रहित, अर्थात् लोभी है। (२) यदि एक पुरुष है जो न किसी दिव्यगुण से युक्त है और लोभी है, और एक स्त्री है, जो निरन्तर कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त है तो इन दोनों में स्त्री ही निवास को उत्तम बनाती है।

भावार्थ—प्रभु हमें दिव्यगुणों से दूर लोभीवृत्तिवाला पुरुष न बनाकर कर्त्तव्यकर्मपरायणा स्त्री का ही शरीर दें जिससे हम अपने निवास को उत्तम बनानेवाले हों।

अगले मन्त्र में इस शशीयसी का चित्रण देखिये—

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**शशीयसी तरन्तमहिषी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कौन-सी स्त्री 'वस्यसी' होती है?

वि या जानाति जसुरिं वि तृष्यन्तं वि कामिनम्। देवत्रा कृणुते मनः ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र की 'कर्त्तव्यकर्मपरायणा' (शशीयसी) स्त्री का चित्रण करते हुए कहते हैं कि यह वह है **या**=जो **जसुरिम्**=(जसु उपक्षेपणे) मन को उपक्षिप्त करनेवाले, मन की वृत्ति को अशान्त करनेवाले क्रोध को, **विजानाति**=कभी नहीं अपनाती (ज्ञा=to recognise as one's own, वि=विपरीत)। **तृष्यन्तम्**=सदा तृष्णावाले, कभी न तृप्त होनेवाले लोभ को भी **वि**=नहीं अपनाती, अपना नहीं बनाती। **कामिनम्**=कामवासना में फँसी स्थिति को **वि**=न अपनाकर अपने से दूर रखती है। (२) यह शशीयसी स्त्री **देवत्रा**=देवों के विषय में **मनः कृणुते**=अपने मन को करती है। 'क्रोध, लोभ व काम' से ऊपर उठकर ही हम किन्हीं भी दिव्य गुणों को धारण कर पाते हैं।

भावार्थ—कर्त्तव्यपरायणा स्त्री का जीवन 'क्रोध-लोभ-काम' से ऊपर उठकर दिव्यगुणों में प्रीतिवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**शशीयसी तरन्तमहिषी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पुरुष का लक्षण (कौन पुरुष है)

उत घा नेमो अस्तुतः पुमाँ इति ब्रुवे पणिः। स वैरदेय इत्समः ॥ ८ ॥

(१) **उत घा**=और फिर जो **नेमः**=अपनी पत्नी का अर्धांग बनता है, पत्नी को ही अर्धांगिनी न समझता हुआ स्वयं भी अर्धांग बनने का प्रयत्न करता है, अर्थात् पतिव्रता के यशोगान को ही सदा न करता हुआ स्वयं भी एक पत्नीव्रत बनने का प्रयत्न करता है। **अस्तुतः**=सदा अपनी ही स्तुति (प्रशंसा) नहीं करता रहता **पणिः**=सदा प्रभु-स्तवन करनेवाला होता है। यह ही **'पुमान्' इति**='पुरुष' इस नाम से **ब्रुवे**=कहा जाता है, 'पुमान्', अर्थात् अपने जीवन को पवित्र करनेवाला। (२) **सः**=वह **वैरदेये**=वीरों से किये जानेवाले धन दान के कर्म में **इत्**=निश्चय से **समः**=समवृत्ति का होता है। पक्षपात से कभी इस दानक्रिया को नहीं करता। सबका भला चाहता हुआ यज्ञशील होता है।

भावार्थ—पुरुष वही है जो (१) पत्नी का अर्धांग बनता है, (२) घमण्ड नहीं करता रहता, (३) प्रभु स्तवन की वृत्ति रखता है तथा (४) दान कर्म में समवृत्ति को अपनाता है, पक्षपात नहीं करता।

सूचना—ऐसा जीवन प्राणसाधना से ही तो बनेगा इसीलिए मरुतों के प्रकरण में यह सब उल्लेख हुआ है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**पुरुमीळ्हो वैददश्विः** ॥ छन्दः—**सतोबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दीर्घयशा विप्र (पुरुमीढ वैददश्विः)

उत मेऽरपद्युवतिर्ममन्दुषी प्रति श्यावाय वर्तनिम्।
वि रोहिता पुरुमीळ्हाय येमतुर्विप्राय दीर्घयशसे॥ ९॥

(१) **उत**=निश्चय से **श्यावाय**=(श्यैङ् गतौ), गतिशील **मे**=मेरे लिये **युवतिः**=बुराइयों को दूर करनेवाली, अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाली, **प्रति ममन्दुषी**=इसे अपनानेवाले प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को आनन्दित करनेवाली यह वेदवाणी **वर्तनिं अरयत्**=मार्ग का प्रतिपादन करती है। हम इस वेदवाणी का अध्ययन करते हैं, यह हमारी आँख बनती है और हमारे लिये मार्ग को दिखलाती है। (२) **पुरुमीढाय**=प्राणसाधना द्वारा खूब ही अपने अन्दर शक्ति का सेचन करनेवाले **दीर्घयशसे**=खूब ही प्रभु का यशोगान (स्तवन) करनेवाले **विप्राय**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले यशस्वी जीवनवाले पुरुष के लिये **रोहिता**=तेजस्वी ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **वियेमतुः**=शरीर-रथ में धारण किये जाते हैं। इस पुरुष को तेजस्वी इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। इनके द्वारा यह जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ता है।

भावार्थ—गतिशील पुरुष को वेदवाणी मार्गदर्शन कराती है। इस मार्ग पर चलता हुआ यह उत्कृष्ट इन्द्रियों को प्राप्त करता है। अपने में शक्ति का सेचन करता हुआ यह यशस्वी व ज्ञानी बनता है। कर्मेन्द्रियों के दृष्टिकोण से यशस्वी, ज्ञानेन्द्रियों के दृष्टिकोण से ज्ञानी। अपने में शक्ति का सेचन करने से यह 'पुरुमीढ' है, उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करने से 'वैददश्वि' है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**तरन्तो वैददश्विः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वैददश्विः तरन्तः

यो मे धेनूनां शतं वैददश्विर्यथा ददत्। तरन्तइव मंहना॥ १०॥

(१) **यः**=जो प्रभु **मे**=मेरे लिये **धेनूनाम्**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणीरूप गौओं को **शतम्**=शतवर्ष पर्यन्त **यथा**=ठीक-ठीक 'याथातथ्यतः' **ददत्**=देते हैं, वे प्रभु मेरे लिये **'वैददश्विः'**= उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले हैं। इन इन्द्रियों से ही तो मैं उस ज्ञानदुग्ध को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करता हूँ। (२) वे प्रभु **मंहना**=महनीय धनों को शतवर्ष पर्यन्त मेरे लिये देते हुए

तरन्तः इव=मुझे भवसागर से तरानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें शतवर्षपर्यन्त ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेद धेनुओं को तथा मंहनीय धनों को प्राप्त कराते हैं। वेद धेनुओं से हम उस सर्वव्यापक प्रभु (अश् व्याप्तौ) को जानते हुए 'वैददश्वि' बनते हैं और धनों से सांसारिक आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए 'तरन्त' बनते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्राणसाधना के तीन लाभ

य ई॑ वह॑न्त आ॒शुभिः॒ पिब॑न्तो मदि॒रं मधु॑। अत्र॒ श्रवां॑सि दधिरे॥ ११॥

(१) ये प्राण (मरुत्) वे हैं **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **आशुभिः**=शीघ्रगामी इन्द्रियाश्वों से **वहन्ते**=हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं। प्राण इन्द्रियों के दोषों को दग्ध करके उन्हें निर्मल बना देते हैं। ये इन्द्रियाश्व हमारे शरीर-रथ को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं। (२) ये प्राण **मदिरम्**=उल्लास के जनक **मधु**=सब ओषधियों के सारभूत सोम (वीर्यशक्ति) को **पिबन्तः**=शरीर के अन्दर ही पीते हुए, **अत्र**=इस जीवन में **श्रवांसि**=ज्ञानों को **दधिरे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के तीन लाभ हैं—(१) निर्मल इन्द्रियाश्वों से यह शरीर-रथ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाला होता है, (२) उत्पन्न हुए-हुए सोम का शरीर में व्यापन होता है, (३) रक्षित सोम से ज्ञानाग्नि का दीपन होकर ज्ञानवृद्धि होती है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य के समान दीप्त 'रथ'

येषां॑ श्रि॒याधि॒ रोद॑सी वि॒भ्राज॑न्ते॒ रथे॒ष्वा। दि॒वि रु॒क्मइ॑वो॒परि॑॥ १२॥

(१) **येषाम्**=जिन प्राणों की **श्रिया**=श्री से, शोभा से **रोदसी**=द्यावापृथिवी **अधि**=अधिष्ठित होते हैं। वे प्राण **रथेषु**=इन शरीर-रथों में **आ**=समन्तात् **विभ्राजन्ते**=दीप्त होते हैं। प्राण ही मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराते हैं, प्राण ही शरीररूप पृथिवी को तेजस्विता से दृढ़ करते हैं। प्राणसाधना से सोमरक्षण होकर यह सब कार्य होता है। (२) ये प्राण शरीर-रथ में इस प्रकार दीप्त होते हैं, **इव**=जैसे **उपरि दिवि**=ऊपर द्युलोक में **रुक्मः**=यह देदीप्यमान आदित्य चमकता है। प्राणसाधना से सारा शरीर सूर्य के समान चमक उठता है। प्राणसाधना से सुरक्षित सोम अन्नमयकोश को 'तेजस्वी', प्राणमय के समान चमक उठता है। प्राणसाधना से सुरक्षित सोम अन्नमयकोश को 'तेजस्वी', प्राणमय को 'वीर्यवान्' मनोमय को 'ओजस्वी व बलवान्', विज्ञानमय को 'ज्ञानदीप्त' (मन्युमय) तथा आनन्दमय को 'सहस्वान्' बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सारा शरीर दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

त्वेषरथः अनेद्यः

यु॒वा स मारु॑तो ग॒णस्त्वे॒षर॑थो॒ अने॑द्यः। शु॒भं॒यावाप्र॑तिष्कुतः॥ १३॥

(१) **सः**=वह **मारुतः गणः**=प्राणों का गण **युवा**=बुराइयों को पृथक् करनेवाला व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाला है। **त्वेषरथः**=इस मारुत-गण से ही यह शरीर-रथ दीप्त बनता है। शरीर के एक-एक कोश को यह मारुतगण तेजोदीप्त बना देता है। **अनेद्यः**=यह अनिन्दनीय है। इन प्राणों की साधना से कोई भी निन्द्यभाव हमारे मनों में नहीं रहता। (२) यह मारुतगण **शुभंयावा**=शुभ गतिवाला है, अर्थात् प्राणसाधना से अशुभवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं,

हमारे सब कार्य शुभ ही शुभ होते हैं। **अप्रतिष्कुतः**=यह मारुतगण शत्रुओं से अनभिगत होता है, शत्रुओं का इस पर आक्रमण नहीं होता। उपनिषदों में हम पढ़ते हैं कि असुरों ने जब प्राणों पर आक्रमण किया तो ऐसे नष्ट हो गये जैसे कि पत्थर से टकराकर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है। सो यह प्राणगण 'अप्रतिष्कुत' है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सब बुराइयाँ दूर होती हैं, शरीर-रथ दीप्त बनता है, जीवन अनिन्द्य होता है, सदा हम शुभ आचरणवाले बनते हैं और शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋतजाताः-अरेपसः

को वेद नूनमेषां यत्रा मदन्ति धूतयः। ऋतजाता अरेपसः ॥ १४ ॥

(१) **एषाम्**=इन प्राणों के स्वरूप व स्थान को **नूनम्**=निश्चय से **कः वेद**=कोई विरला ही जानता है? **यत्रा**=जिन स्थानों में स्थित हुए-हुए **धूतयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले ये प्राण **मदन्ति** (मादयन्ति)=जीवन को उल्लासमय बनाते हैं। शरीरस्थ प्राण अपनी क्रियाओं से शरीर की व्याधियों व मन की आधियों को विनष्ट करते हैं। पर कोई विरला पुरुष ही इन प्राणों की साधना में प्रवृत्त होता है। (२) ये प्राण **ऋतजाताः**=ऋत का अनुभव होने के लिये ही प्रादुर्भूत हुए हैं (ऋते जाताः), इनके कारण अनृत का विनाश होकर ऋत का विकास होता है। **अरेपसः**=ये प्राण दोषरहित हैं। प्राणसाधना से सब दोषों का दहन होकर जीवन निर्दोष व दीप्त बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) जीवन निर्दोष बनता है, (२) ऋत व सत्य का जीवन में विकास होता है। (३) सब मलों का परिहार होने से आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सत्यमार्ग पर ले-चलनेवाले' प्राण

यूयं मर्तं विपन्यवः प्रणेतार इत्था धिया। श्रोतारो यामहूतिषु ॥ १५ ॥

(१) हे **विपन्यवः**=(पन स्तुतौ) विशिष्ट स्तुतिवाले प्राणो! **यूयम्**=आप **मर्तम्**=मनुष्य को **इत्था धिया**=सत्य बुद्धि से **प्रणेतारः**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हो। प्राणायाम से चित्तवृत्ति का निरोध होकर प्रभु-स्तवन की वृत्ति जागती है, इस स्तवन से सत्य बुद्धि प्राप्त होती है, सत्य बुद्धि से हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ पाते हैं। (२) ये प्राण **यामहूतिषु**=(यामः मार्गः, तदर्थं हूतिषु) मार्गों के लिये आह्वानों के होने पर मैं **श्रोतारः**=हमारी पुकारों को सुननेवाले हैं। अर्थात् जब हम मार्गों को जानने के लिये पुकार करते हैं तो ये प्राण हमारे लिये ठीक मार्ग का ज्ञान देनेवाले होते हैं। प्राणसाधना से होनेवाली ज्ञानदीप्ति मार्गदर्शन कराती ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें (१) प्रभु-स्तवन की ओर झुकाती है, (२) इससे सत्यबुद्धि उत्पन्न होती है और हम ठीक मार्ग पर आगे बढ़नेवाले होते हैं। (३) ये प्राण हमारी पुकार को सुनते हैं और मार्गदर्शन कराते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पुरुश्चन्द्राः रिशादसः

ते नो वसूनि काम्या पुरुश्चन्द्रा रिशादसः। आ यज्ञियासो ववृत्तन ॥ १६ ॥

(१) हे प्राणो! आप **पुरुश्चन्द्राः**=पालक व पूरक हैं अतएव आह्लादजनक धनोंवाले हो। **रिशादसः**=शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हो और **यज्ञियासः**=उत्तम कर्मों में हमें सदा

प्रवृत्त करनेवाले हो। (२) **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिये **काम्या**=कमनीय, चाहने योग्य **वसूनि**=निवास के लिये साधनभूत धनों को **आववृत्तन**=आवृत्त करो, निरन्तर प्राप्त होनेवाला करो।

भावार्थ—प्राण हमारे लिये सब आह्लादजनक तेजस्विता आदि धनों को प्राप्त कराते हैं, काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को नष्ट करते हैं, उत्तम कर्मों में हमें प्रवृत्त करते हैं। ये सब वसुओं को हमारे लिये दें।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दार्भ्य को स्तोम की प्राप्ति

एतं मे स्तोममूर्म्ये दार्भ्याय परा वह। गिरो देवि रथीरिव ॥ १७ ॥

(१) 'ऊर्मि' शब्द प्रकाश (light) का वाचक है। उस प्रकाश के लिये हितकर होने से वेदवाणी 'ऊर्म्या' है, प्रकाश को देनेवाली होने से यह 'देवी' है। 'दृभ्' धातु का अर्थ है 'to fear, to be afraid of' भयभीत होना। पापों से भयभीत होनेवाला यह व्यक्ति 'दार्भ्य' है। यह प्रार्थना करता है कि हे **अर्म्ये**=ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त कराने में उत्तम वेदवाणि! तू **दार्भ्याय**=पापों से सदा भयभीत होकर दूर रहनेवाले **मे**=मेरे लिये **एतं स्तोमम्**=इस मन्त्रसमूह को **परावह**=(परा=towards) प्राप्त करा। पापों से अपने को बचानेवाला व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त कर पाता है। (२) हे **देवि**=प्रकाश को देनेवाली वेदवाणि! **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को तू प्राप्त करा, **इव**=जैसे कि **रथीः**=एक रथवान् रथ पर स्थापित करके विविध वसुओं को हमारे लिये प्राप्त कराता है। यह देवी हमें ज्ञान प्राप्त कराये।

भावार्थ—पापों से भयभीत होनेवाला पुरुष ही ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुतसोम-रथवीति

उत मे वोचतादिति सुतसोमे रथवीतौ। न कामो अप वेति मे ॥ १८ ॥

(१) गतमन्त्र की **ऊर्म्या**=प्रकाश की किरणों में उत्तम वेदवाणी **उत**=निश्चय से **मे**=मुझे **वोचतात्**=उपदेश करे **इति**=कि **सुतसोमे**=(सुतः सोमो येन) सोम (वीर्यशक्ति) का सम्पादन करनेवाला तथा **रथवीतौ**=शरीर-रथ को कान्त (सुन्दर) बनानेवाला होने में **मे कामः**=मेरी कामना **न अपवेति**=दूर नहीं होती है। (२) मुझे इस वेदवाणी से प्रेरणा प्राप्त हो और मैं सदा सोम (वीर्यशक्ति) का सम्पादन करूँ तथा अपने शरीर-रथ को सुन्दर ही सुन्दर बना डालूँ। सुरक्षित सोम ने ही तो इसे सौन्दर्य प्रदान करना है।

भावार्थ—वेद से प्रेरणा प्राप्त करके हम 'सुतसोम रथवीति' बनें, वीर्य का सम्पादन करनेवाले, कान्त शरीरवाले।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मघवा (ज्ञानैश्वर्यवाला) रथवीति

एष क्षेति रथवीतिर्मघवा गोमतीरनु। पर्वतेष्वपश्रितः ॥ १९ ॥

(१) **एषः**=यह **रथवीतिः**=अपने शरीर-रथ को कान्त बनानेवाला **गोमतीः अनु**=ज्ञान की वाणियोंवाली इन वेदमाताओं के अनुसार जीवन को बनाता हुआ और अतएव **मघवा**=ज्ञानैश्वर्यवाला होकर **क्षेति**=निवास को उत्तम बनाता हुआ गति करता है। (२) इस प्रकार जीवन को व्यतीत करता हुआ यह **पर्वतेषु**=अविद्या पर्वतों में **अपश्रितः**=अपाश्रित होता है। यह अविद्या से सदा

दूर रहता है। 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश' इन पाँच पर्वोंवाली यह अविद्या 'पर्वत' है। 'रथवीति' इससे सदा दूर रहता है और ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाला 'मघवा' होता है।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियोंवाली वेदमाता के अनुसार चलकर हम ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करें, अविद्या पर्वत से सदा दूर रहें। तभी हमारा यह शरीर-रथ कान्त बनेगा और हमारा जीवन उत्तम होगा।

यह वेदानुकूल जीवन बितानेवाला व्यक्ति 'श्रुतिवद्' कहलाता है, श्रुति का ज्ञाता। यह आत्रेय होता है, काम-क्रोध-लोभ से परे। यह मित्र व वरुण की आराधना करता हुआ कहता है—

६२. [द्विषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव शरीर

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्॥ १॥

(१) 'मित्र' की आराधना का भाव है 'सब के प्रति स्नेहवाला होना'। 'वरुण' की आराधना का भाव है 'द्वेष-निवारणवाला होना, किसी के प्रति द्वेष का न होना'। एवं 'सब के साथ स्नेह, किसी के प्रति द्वेष नहीं' यही 'मित्रावरुण' का आराधन है। इस आराधन के होने पर **ध्रुवम्**=निश्चय से **वाम्**=आपके लिये, मित्र व वरुण के लिये, **ऋतेन**=ऋत से **ऋतम्**=ऋत ही **अपिहितम्**=आच्छादित है, अर्थात् जीवन ऋतमय बन जाता है। अनृत मात्र 'द्वेष' का परिणाम है, द्वेष गया तो अनृत भी गया। यह वह जीवन बनता है **यत्र**=जहाँ **सूर्यस्य अश्वान्**=सूर्य के अश्वों के **विमुचन्ति**=राक्षसी आक्रमणों से मुक्त करते हैं। अनृत के चले जाने पर सब इन्द्रियाश्व इस प्रकार दीप्त हो उठते हैं, जैसे कि वे सूर्य के अश्व हों। (२) **दश शता**=हजारों सूर्यरश्मियाँ **सह**=साथ-साथ **तस्थुः**=स्थित होती हैं, शतश=ज्ञान-किरणों से जीवन-गगन दीप्त हो उठता है। मैं भी मित्र व वरुण की आराधना करके **वपुषां देवानाम्**=(वपुष्मता) श्रेष्ठ शरीरवाले देवों के **तत् एकं श्रेष्ठम्**=उस एक श्रेष्ठ शरीर को **अपश्यम्**=देखूँ, अपने शरीर को देवों का शरीर बना पाऊँ।

भावार्थ—'मित्र-वरुण' की आराधना से (१) जीवन ऋतमय हो जाता है, (२) इन्द्रियाश्व सूर्य की तरह चमक उठते हैं, (३) जीवन ज्ञानसूर्य से चमक उठता है, (४) हमारा शरीर देव शरीर बन जाता है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मित्र-वरुण' का रथ

तत्सु वां मित्रावरुणा महित्वमीर्मा तस्थुषीरहभिर्दुदुह्रे।
विश्वाः पिन्वथः स्वसरस्य धेना अनु वामेकः पविरा ववर्त॥ २॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की भावनाओ! **वाम्**=आपका **तत्**=वह **सु**=उत्तम **महित्वम्**=महत्त्व है कि **ईर्मा**=यह सततगन्ता सूर्य **अहभिः**=दिनों से, अर्थात् दिन प्रतिदिन **तस्थुषीः**=स्थिर शक्तियों को **दुदुह्रे**=हमारे जीवन में प्रपूरित करता है। अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाने पर सूर्य-सम्पर्क में जीवन स्थिर शक्तियों से परिपूर्ण होता चलता है। (२) हे मित्र व वरुण आप **विश्वाः**=सब **स्वसरस्य**=स्वयं अपने सब कार्यों में गतिवाले उस सर्वशक्तिमान् प्रभु की **विश्वा धेनाः**=सब ज्ञानवाणियों को **पिन्वथः**=हमारे में आप्यायित करते हो। प्रभु से दिये

गये वेदज्ञान को हम प्राप्त करनेवाले बनते हैं। हे मित्र व वरुण इस प्रकार स्थिर शक्तियों व ज्ञानों से परिपूर्ण होकर **वाम्**=आप दोनों का **एकः पविः**=अद्वितीय रथ (पवि=चक्र=रथ) **अनु आववर्त**=अनुक्रमेण गतिवाला होता है। इसकी सब क्रियाएँ नित्यपूर्वक होती हैं।

भावार्थ—'मित्र-वरुण' की आराधना से जीवन शक्ति व ज्ञान से युक्त होकर नियमित गतिवाला होता है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पृथिवी व द्युलोक का धारण

अधारयतं पृथिवीमुत द्यां मित्रराजाना वरुणा महोभिः।
वर्धयतमोषधीः पिन्वतं गा अव वृष्टिं सृजतं जीरदानू॥ ३॥

(१) हे **मित्र वरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **राजाना**=जीवन को दीप्त करनेवाले हो। आप **महोभिः**=तेजस्विताओं के द्वारा **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अधारयतम्**=धारण करते हो। निर्द्वेषता व स्नेह से शरीर व मस्तिष्क दोनों का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। (२) हे मित्र-वरुण आप **ओषधीः**=भोजनजनित आनन्दों को **वर्धयतम्**=बढ़ाते हो 'ओषधयो वै मुदः, ओषधिभिर्हि इदं सर्वं मोदते' श० ९।४।१।७ स्नेह की भावना के होने पर खाया गया भोजन भी उत्कृष्ट रस आदि धातुओं को पैदा करके हमें आनन्दित करता है। द्वेष की भावना में खाया गया भोजन भी विषों को ही पैदा करता है। उत्तम धातुओं को जन्म देकर आप **गाः**=इन्द्रियों को **पिन्वतम्**=आप्यायित करते हो। **जीरदानू**=क्षिप्र दानोंवाले आप **वृष्टिं अवसृजतम्**=धर्ममेध समाधि में होनेवाले आनन्द के वर्षण को करते हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता 'शरीर व मस्तिष्क' दोनों का धारण करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से खाये हुए भोजन से उत्तम रस आदि का उत्पादन होकर आनन्द की प्राप्ति होती है, इन्द्रियशक्ति का वर्धन होता है और समाधि में आनन्द की वर्षा का अनुभव होता है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रियों की अन्तर्मुखता

आ वामश्वासः सुयुजो वहन्तु यतरश्मय उप यन्त्वर्वाक्।
घृतस्य निर्णिगनु वर्तते वामुप सिन्धवः प्रदिवि क्षरन्ति॥ ४॥

(१) हे मित्र और वरुण! **वाम्**=आपके **सुयुजः**=शरीर-रथ में उत्तमता से जुते हुए **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=हमें सर्वथा लक्ष्य-स्थान पर ले जानेवाले हों। **यतरश्मयः**=जिनकी लगाम काबू में की गई है, वे इन्द्रियाश्व **अर्वाक्**=अन्दर की ओर **उपयन्तु**=प्राप्त हों। इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो जाये। (२) **घृतस्य**=ज्ञानदीप्ति का **निर्णिक्**=शुद्ध रूप **वां अनुवर्तते**=आपका ही अनुवर्तन करता है। जितना-जितना हम स्नेह द्वेषाभाव को धारण कर पाते हैं, उतना-उतना ही दीप्त ज्ञानवाले बनते हैं। आपकी आराधना के होने पर **प्रदिवि**=इस प्रकृष्ट मस्तिष्करूप द्युलोक में **सिन्धवः**=ज्ञान-नदियाँ **उप क्षरन्ति**=प्रवाहित होती है, वस्तुतः ईर्ष्या-द्वेष बुद्धि की विकृति का महान् कारण बनते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता की आराधना से इन्द्रियाँ हमें लक्ष्य-स्थान की ओर ले जायेंगी ये विषयों में न भटकेंगी, हमारी ज्ञान दीप्ति बढ़ेगी, मस्तिष्क में ज्ञानप्रवाह बहेंगे।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नमस्वन्ता-धृतदक्षा

अनु श्रुताममतिं वर्धदुर्वीं बर्हिरिव यजुषा रक्षमाणा।
नमस्वन्ता धृतदक्षाधि गर्ते मित्रासाथे वरुणेळास्वन्तः॥ ५॥

(१) हे **मित्र वरुण**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव को आप **श्रुताम्**=ज्ञान-सम्पन्न **उर्वीम्**=हृदय की विशालतावाले **अमतिम्**=उत्कृष्टरूप को **अनुवर्धत्**=बढ़ाते हुए हो। इन मित्र-वरुण की आराधना से मस्तिष्क में ज्ञान की वृद्धि होती है, हृदय विशाल बनता है और तेजस्विता के कारण शरीर का रूप भी दीप्त होता है। ये मित्र-वरुण रूप को इस प्रकार बढ़ाते हैं, **इव**=जैसे कि **यजुषा**='देवपूजा, संगतिकरण व दान' से **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय का **रक्षमाणाः**=रक्षण करते हैं। (२) **नमस्वन्ता**=प्रभु का नमन करते हुए, **धृतदक्षा**=बल को धारण करनेवाले ये मित्र-वरुण **इडासु अन्तः**=वेदवाणी के अन्दर स्थित हुए-हुए **अधिगर्ते**=इस शरीर-रथ में **आसाथे**=आसीन होते हैं, अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता की भावना के होने पर जीवन वेदानुकूल बनता है।

भावार्थ—मित्र-वरुण की आराधना (क) ज्ञान को बढ़ाती है, (ख) हृदय को विशाल बनाती है, (ग) रूप को तेजोदीप्ति करती है। (घ) यह आराधना नम्रता व बल को बढ़ाती हुई जीवन को वेदानुकूल बनाती है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अक्रविहस्ता परस्पा

अक्रविहस्ता सुकृते परस्पा यं त्रासाथे वरुणेळास्वन्तः।
राजाना क्षत्रमहृणीयमाना सहस्रस्थूणं बिभृथः सह द्वौ॥ ६॥

(१) हे **वरुण**=मित्र और वरुण, **यम्**=जिसको आप **इडासु अन्तः**=वेदवाणियों के अन्दर **त्रासाथे**=रक्षित करते हो उसके लिए **अक्रविहस्ता**=अकृपण हाथोंवाले, दानशूर होते हो, उस **सुकृते**=पुण्यशाली के लिये **परस्पा**=शत्रुओं से रक्षा करनेवाले होते हो। मित्र व वरुण की आराधना हमें सब उत्तम गुणों को प्राप्त कराती है और शत्रुओं से हमारा रक्षण करती है। (२) **राजाना**=हमारे जीवन को दीप्त करनेवाले, **अहृणीयमाना**=क्रोध न करते हुए ये मित्र और वरुण **सह द्वौ**=साथ-साथ मिले हुए दोनों **क्षत्रम्**=बल को तथा **सहस्रस्थूणम्**=शतशः स्तम्भोंवाले इस शरीरगृह को **बिभृथः**=धारण करते हो। स्नेह व निर्द्वेषता के भाव से शरीर का बल ठीक बना रहता है और शरीर का धारण करनेवाले सब अंग अविकृत बने रहते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का भाव (१) हमें शत्रुओं से रक्षित करता है, (२) हमारे बल को स्थिर रखता है, (३) शरीर के अंग-प्रत्यंग को सुदृढ़ बनाता है।

ऋषिः—**श्रुतविदात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दीप्त व अशुष्क शरीर

हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा वि भ्राजते दिव्य१श्वाजनीव।
भद्रे क्षेत्रे निमिता तिल्विले वा सनेम मध्वो अधिगर्त्यस्य॥ ७॥

(१) मित्र व वरुण का रथ **हिरण्यनिर्णिक्**=स्वर्ण के रूपवाला होता है, अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता से शरीर-रथ सोने के समान चमकता है। **अस्य**=इस रथ के **स्थूणा**=स्तम्भ **अयः**=(अयो

विकारा:) लोहे के बने होते हैं। अर्थात् इस शरीर-रथ के स्तम्भ अत्यन्त सुदृढ़ होते हैं। यह रथ इस प्रकार **विभ्राजते**=चमकता है, **इव**=जैसे कि **दिवि**=द्युलोक में **अश्वाजनी**=विद्युत् (अश्वा: व्यापनशीला: मेधा:, तान् अजति गच्छति) (२) इस शरीर-रथ की स्थूणा **भद्रे क्षेत्रे**=कल्याणकर शरीर क्षेत्र में, **वा**=अथवा **तिल्विले**=(तिलु इला यस्य) स्निग्ध-अशुष्क-शरीर में **निमिता**=बनी है। अर्थात् यह शरीर न तो किसी रोग आदि अभद्र स्थिति से आक्रान्त है और नां ही शक्तिशून्यता के कारण शुष्क हो गया है। हम **अधिगर्त्यस्य**=शरीर-रथ के लिये हितकर **मध्व:**=सोम का (वीर्यशक्ति का) **सनेम**=संभजन करें, सम्यक् सेवन करें। इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें।

भावार्थ—मित्र व वरुण की आराधना से शरीर 'दीप्त, दृढ़, भद्र व स्निग्ध' बना रहता है।

ऋषि:—**श्रुतविदात्रेय:** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

हिरण्यरूपम् अय: स्थूणं (गर्तम्)

हिर॑ण्यरूपमु॒षसो॒ व्यु॑ष्टा॒वय॑:स्थूण॒मुदि॑ता॒ सूर्य॑स्य।
आ रो॑हथो वरुण मित्र॒ गर्त॒मत॑श्चक्षाथे॒ अदि॑तिं॒ दिति॑ं च॥ ८॥

(१) **उषस: व्युष्टौ**=उषा के निकलने पर, **सूर्यस्य उदिता**=सूर्य के उदय होने पर **वरुण मित्र**=हे मित्र और वरुण (स्नेह व निर्द्वेष के भावो)! आप **गर्तम्**=शरीर-रथ पर **आरोहथ:**=आरोहण करते हो उस शरीर-रथ पर जो **हिरण्यरूपम्**=ज्योतिर्मय दीप्त रूपवाला है और **अय: स्थूणम्**=लौह स्तम्भोंवाला, अर्थात् अत्यन्त दृढ़ है। (२) हे मित्र व वरुण! आप **अत:**=इस शरीर-रथ पर स्थित होकर **अदितिं दितिं च**=अदिति और दिति को **चक्षाथे**=देखते हो। 'क्या तो खण्डित होने का कारण है क्या खण्डित नहीं होने का' इस को आप देखते हो। अदिति को अपनाते हो, और दिति को अपने से दूर करते हो। अदिति को अपनाने से आप आदित्यों (देवों) वाले बनते हो और दिति के परिहार से आप दैत्यवृत्तियों से बचे रहते हो।

भावार्थ—मित्र और वरुण शरीर को 'हिरण्यरूप अय: स्थूण' बनाते हैं। अदिति को अपनाते हैं, दिति का परिहार करते हैं। आदित्यों (देवों) से युक्त व दैत्यों से दूर होते हैं।

ऋषि:—**श्रुतविदात्रेय:** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

सिषासन्त:-जिगीवांस:

यद्बंहि॑ष्ठं॒ नाति॒विधे॑ सुदानू॒ अच्छि॑द्रं॒ शर्म॑ भुवनस्य गोपा।
तेन॑ नो मित्रावरुणावविष्टं॒ सिषा॑सन्तो जिगी॒वांस॑: स्याम॥ ९॥

(१) **मित्रा वरुणा**=हे मित्र और वरुण देवो, स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **सुदानू**=उत्तमताओं के देनेवाले हो अथवा बुराइयों को अच्छी प्रकार काटनेवाले हो (दाप् लवने)। बुराइयों को काट करके **भुवनस्य गोपा**=सब भुवन के रक्षक हो। वस्तुत: आज मित्र और वरुण की आराधना प्रचलित हो जाए तो युद्धों की इतिश्री ही हो जाये। वैयक्तिक जीवन में भी रोगों की कमी होकर दीर्घजीवन की प्राप्ति सम्भव हो जाये। इन मित्र-वरुण से आराधना करते हुए कहते हैं कि आपका जो **शर्म**=सुख है **तेन**=उसके द्वारा **न: अविष्टम्**=हमारा रक्षण करो। उस सुख के द्वारा **यद्**=जो **बंहिष्ठम्**=(बहु नाम) बहुत अधिक है, बहुत बढ़ा हुआ है, अधिक से अधिक प्राणियों का अधिक से अधिक कल्याण करनेवाला है। **न अतिविधे**=औरों के बहुत पीड़न का कारण नहीं बनता हमारे सुख में दूसरे को कुछ श्रम तो होता ही है। बिना किसी दूसरे के श्रम किये मुझे सुख कैसे मिलेगा! परन्तु मैं अपने सुख के लिये औरों को अतिशयेन विद्ध करनेवाला न हो जाऊँ। और जो सुख

'अच्छिद्र'=निर्दोष है। कई तात्कालिक सुख भविष्य के कष्टों का कारण बन जाते हैं। ये सब 'सच्छिद्र' हैं, 'अच्छिद्र' नहीं। मित्र वरुण से दिया जानेवाला सुख 'अछिद्र' है। (२) हे मित्र वरुण! हम आपकी आराधना से सदा **सिषासन्तः**=(संभक्तुमिच्छन्तः) धनों को बाँटकर खाने की कामनावाले व **जिगीवांसः**=सदा विजय की कामनावाले हों। संविभाग ही विजय का हेतु है। 'धनों को बाँटकर खाने की वृत्ति' में तो सदा विनाश है। लोभ के विनाश में सब शत्रुओं का जय है। सो विजय ही विजय है।

भावार्थ—मित्र और वरुण 'सुदानु' व 'गोप' हैं। इन से दिया गया सुख 'बंहिष्ठ व अछिद्र' है, यह सुख औरों के वेधन का हेतु नहीं बनता। इनकी आराधना से हम 'संविभाग व विजय' वाले बनते हैं।

प्रभु की उपासना करनेवाला 'अर्चनाना' अगले सूक्त का ऋषि है—

अथ चतुर्थाष्टके चतुर्थोऽध्यायः

६३. [त्रिषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋत-सत्य=आनन्द वृष्टि

ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि।
यमत्र मित्रावरुणावथो युवं तस्मै वृष्टिर्मधुमत्पिन्वते दिवः॥ १॥

(१) **मित्रावरुणा**=हे मित्र और वरुण! (स्नेह व निर्द्वेषता) आप **ऋतस्य गोपौ**=जीवन में ऋत के रक्षक हो, स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर जीवन में अनृत का प्रवेश नहीं होता। ऋत का वर्धन करते हुए अन्त में आप **परमे व्योमनि**=परम व्योम, अर्थात् हृदयाकाश में **सत्यधर्माणा**=सत्यस्वरूप प्रभु का धारण करनेवाले हैं। मित्र और वरुण के कारण भौतिक जीवन में 'ऋत' तथा अध्यात्म जीवन में 'सत्य' की स्थिति होती है। (२) इस प्रकार हे मित्रावरुणा! **युवम्**=आप **अत्र**=इस जीवन में **यम् अवथः**=जिसको रक्षित करते हैं, **तस्मै**=उसके लिये **दिवः**=द्युलोक से **वृष्टिः**=होनेवाली वर्षा—धर्ममेध समाधि में होनेवाली आनन्द की वृष्टि **मधुमत्**=माधुर्यवाली होती है **पिन्वते**=सेचन करती है। उसका निरन्तर वर्धन करती है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव के होने पर भौतिक जीवन में 'ऋत' होता है, अध्यात्म जीवन में सत्य तथा तब आनन्द की वृष्टि का अनुभव होता है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राधः-अमृतत्वम्

सम्राजावस्य भुवनस्य राजथो मित्रावरुणा विदथे स्वर्दृशा।
वृष्टिं वो राधो अमृतत्वमीमहे द्यावापृथिवी वि चरन्ति तन्यवः॥ २॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! आप **अस्य भुवनस्य**=इस लोक के **सम्राजौ**=सम्राट् हो। आपके कारण ही यह भुवन दीप्त बनता है। हे मित्र और वरुण! **विदथे**=इस जीवनयज्ञ में आप **स्वर्दृशा**=स्वर्ग को देखनेवाले हो। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर जीवन स्वर्ग बन जाता है। (२) **वाम्**=आपसे हम **वृष्टिम्**=आनन्द के वर्षण को **ईमहे**=माँगते हैं। **राधः**=कार्यसाधक धनों व सफलता की याचना करते हैं। **अमृतत्वम्**=शरीर में नीरोगता की आपसे याचना

करते हैं। आपकी **तन्यवः**=विस्तृत रश्मियाँ व शक्तियाँ द्यावापृथिवी **विचरन्ति**=द्युलोक व पृथिवीलोक में, मस्तिष्क व शरीर में विचरन्ति=प्रसृत होती हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से ही मस्तिष्क व शरीर दीप्त बनते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता जीवन में 'दीप्ति, सुख (स्वः) आनन्दवृष्टि, सफलता व नीरोगता' को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दिवस्पती-पृथिव्याः विचर्षणी

सम्राजा उग्रा वृषभा दिवस्पती पृथिव्या मित्रावरुणा विचर्षणी।
चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया॥ ३॥

(१) **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण (=स्नेह व निर्द्वेषता) के भाव **सम्राजा**=हमारे जीवनों को दीप्त बनानेवाले हैं। **उग्रा**=तेजस्वी हैं। **वृषभा**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **दिवस्पती**=द्युलोक के व ज्ञान के रक्षक हैं। ये मित्र और वरुण **पृथिव्याः**=शरीररूप पृथिवी के **विचर्षणी**=विशेषरूप से ध्यान करनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से ज्ञान का भी वर्धन होता है और शरीर भी स्वस्थ बनता है। (२) हे मित्र और वरुण! आप **चित्रेभिः**=अद्भुत व ज्ञानयुक्त **अभ्रैः**=(अभ्र=अप्-भृ) कर्मों के भरण से **रवम्**=प्रभु-स्तवन में **उपतिष्ठथः**=उपस्थित होते हो। स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करनेवाला पुरुष ज्ञानयुक्त कर्मों को करता हुआ प्रभु का स्तवन करता है। हे मित्रवरुण! आप **असुरस्य**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु की **मायया**=प्रज्ञा से, प्रभु से प्राप्त ज्ञान के द्वारा **द्यां वर्षयथः**=प्रकाश का वर्षण करते हो अथवा धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्द की वर्षा का कारण बनते हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भावों से शरीर व मस्तिष्क दोनों सुन्दर बने रहते हैं।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्योति व आनन्द वृष्टि

माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते॥ ४॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **वाम्**=आपकी, अर्थात् आपकी उपासना से उत्पन्न, **माया**=प्रज्ञा **दिवि श्रिता**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आश्रित होती है। उस द्युलोक में **सूर्यः ज्योतिः**=ज्ञानसूर्य प्रकाशमय होता है। उस समय यह ज्ञानसूर्य **चित्रं आयुधम्**=अद्भुत आयुध होता है। यह सारे अज्ञानान्धकार को नष्ट करके हमारे जीवन को काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं से रहित करता है। (२) हे मित्र और वरुण! आप **तम्**=उस सूर्य-ज्योति को **अभ्रेण**=धर्ममेध समाधि में विकसित होनेवाले मेघ से और **वृष्ट्या**=आनन्द के वर्षण से **दिवि**=इस द्युलोक में **गूहथः**=संवृत करते हो, सुरक्षित करते हो। स्नेह व निर्द्वेष के भाव से ही हम इस धर्ममेघ समाधि की स्थिति तक पहुँचते हैं और आनन्द के वर्षण का अनुभव करते हुए ज्ञान को सुरक्षित कर पाते हैं। हे **पर्जन्य**=धर्ममेघ समाधि के मेघ! इस तुरीयावस्था **मधुमन्तः**=अत्यन्त माधुर्यवाले **द्रप्साः**=आनन्दवृष्टि के कण **ईरते**=हमारे जीवन में गतिमय होते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव जीवन को ज्योतिर्मय व आनन्दवर्षण से युक्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुखं रथम्

रथं युञ्जते मरुतः शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु।
रजांसि चित्रा वि चरन्ति तन्यवो दिवः सम्राजा पयसा न उक्षतम्॥ ५॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आपके अनुग्रह से **शूरः न**=एक शूरवीर के समान **मरुतः**=प्राण **शुभे**=जीवन को शुभ बनाने के निमित्त **सुखं रथम्**=शोभन इन्द्रियोंवाले (सु-खं) **रथम्**=शरीर-रथ को **युञ्जते**=जोतते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर प्राणसाधना के द्वारा शरीर-रथ में उत्तम इन्द्रियाश्व जुतते हैं, इन्द्रियाँ बड़ी निर्दोष बनकर शरीर-रथ को आगे और आगे ले चलती हैं। (२) उस समय **गविष्टिषु**=ज्ञानयज्ञों में (गो-इष्टि) **तन्यवः**=विस्तृत ज्ञान रश्मियाँ **चित्रा रजांसि**=अद्भुत लोकों में, शरीररूप पृथिवीलोक में, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक में तथा मस्तिष्करूप द्युलोक में **विचरन्ति**=प्रसृत होती हैं। सारा जीवन ही उस समय प्रकाशमय हो उठता है। **दिवः सम्राजा**=हे ज्ञान के सम्राट् मित्र और वरुम देवो! आप **नः**=हमें **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **उक्षतम्**=सींच डालो। हमारा जीवन ज्ञानमय हो जाए, ज्ञान हमारे जीवन को आप्यायित करनेवाला हो।

भावार्थ—मित्र व वरुण की कृपा से हमारा जीवन स्वास्थ्य से युक्त होकर (सुखं रथं) ज्ञान से प्रकाशमय हो उठता है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'इरावती-चित्रा-त्विषीमती' वाक्

वाचं सु मित्रावरुणाविरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्।
अभ्रा वसत मरुतः सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम्॥ ६॥

(१) 'पर्जन्यो व उद्गाता' श० १२।१।१।३ के अनुसार महान् प्रदाता प्रभु ही यहाँ पर्जन्य हैं। हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आपके होने पर **पर्जन्यः**=वे (परां तृप्तिं जनयति) परतृप्ति के जनक महान् उद्गाता प्रभु **वाचम्**=वेदवाणी का **सुवदति**=उत्तम उच्चारण करते हैं जो वाणी **इरावतीम्**=प्रशस्त अन्नों को प्राप्त करानेवाली है, हमें जीविका प्राप्ति में क्षम करती है। **चित्राम्**=अद्भुत है (चित्) ज्ञान को देनेवाली है और **त्विषीमतीम्**=हृदय को दीप्त करनेवाली हैं। (२) इस वाणी के उच्चरित होने पर **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुष **सुमायया**=उत्तम ज्ञान से **अभ्रा वसत**=धर्ममेध समाधि में प्रादुर्भूत होनेवाले मेघों को धारण करते हैं। हे मित्र और वरुण! आप कृपा करके **अरुणाम्**=तेजस्विता से युक्त **अरेपसम्**=निर्दोष **द्यां वर्षयतम्**=ज्ञान प्रकाश से सुख का वर्षण कराओ। हमारे जीवन में ज्ञान-ज्योति जगमगाये और आनन्द की वर्षा हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर हृदय में प्रभु की वह 'इरावती-चित्रा-त्विषीमती' वाणी सुन पड़ती है। उस समय ज्ञान के प्रकाश व आनन्द को वर्षण का अनुभव होता है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'व्रत-ऋत-प्रकाश' से युक्त जीवन

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।
ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम्॥ ७॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **विपश्चिता**=हमें ज्ञानी बनानेवाले हो। **धर्मणा**=अपने धारणात्मक कर्म से तथा **असुरस्य**=उस सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु की **मायया**=प्रज्ञा से **व्रता रक्षेथे**=हमारे व्रतों का आप रक्षण करते हो। (२) वस्तुतः ये मित्र और वरुण सब अव्रतों को दूर करते हैं और **ऋतेन**=ऋत के द्वारा **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण भुवन को **विराजथः**=दीप्त करते हो। **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **आधत्थः**=धारण करते हो और इस ज्ञानसूर्य से उदय से **चित्र्यम्**=ज्ञान के प्रकाशवाले, चेतनावाले **रथम्**=शरीर-रथ को आप धारण करते हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता हमें व्रतमय, ऋतमय तथा प्रकाशमय बनाते हैं।

अगला सूक्त भी 'अर्चनाना' ऋषि का ही है—

६४. [चतुःषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'रिशादस्' वरुण और 'स्वर्णर' मित्र

वरुणं वो रिशादसमृचा मित्रं हवामहे। परि व्रजेव बाह्वोर्जगन्वांसा स्वर्णरम्॥ १ ॥

(१) **वः**=तुम्हारे लिये **रिशादसम्**=शत्रुओं के खा जानेवाले, शत्रुओं को समाप्त कर देनेवाले, **वरुणम्**=वरुण को, निर्द्वेषता के भाव को तथा **स्वर्णरम्**=स्वर्ग में, स्वर्गतुल्य स्थिति में प्राप्त करानेवाले, **मित्रम्**=मित्र को, स्नेह के भाव को हम **ऋचा**=(ऋच् स्तुतौ) स्तुति के द्वारा निन्दात्मक शब्दों को छोड़कर मधुर भाषण के द्वारा **हवामहे**=पुकारते हैं। निर्द्वेषता शत्रुओं को समाप्त कर देती है, प्रेम घरों व समाज को स्वर्ग बना देता है। (२) ये मित्र और वरुण **बाह्वोः परिजगन्वांसा**=(बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्नों में प्राप्त होनेवाले हैं। 'अभ्युदय व निःश्रेयस' के लिये किये जानेवाला प्रयत्न भी दो भागों में बटा हुआ है, सो यहाँ (बाह्वोः) द्विवचन है। जब यह द्विविध प्रयत्न चलता है, तभी मित्र व वरुण की प्राप्ति होती है, तभी हम स्नेह व निर्द्वेषता को अपना पाते हैं। ये मित्र वरुण इन प्रयत्नों के होने पर इस प्रकार प्राप्त होते हैं, **इव**=जैसे कि **व्रजा**=गोयूथ बाड़ों में प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता की आराधना करें, इसी से हम घर को स्वर्ग बना पायेंगे और शत्रुओं को समाप्त कर सकेंगे। इन 'मित्र और वरुण' के लिये हम 'अभ्युदय व निःश्रेयस' के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्ञानपूर्वक क्रिया व स्तुत्य सुख

ता बाहवा सुचेतुना प्र यन्तमस्मा अर्चते। शेवं हि जार्यं वां विश्वासु क्षासु जोगुवे॥ २ ॥

(१) **ता**=वे आप दोनों मित्र और वरुण! **अस्मा अर्चते**=इस आपका आराधन करनेवाले के लिये **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञानवाले **बाहवा**=प्रयत्न से **शेवम्**=सुख को **प्रयन्तम्**=दीजिये (यमिरत्र दानकर्मा सा०) स्नेह के अभाव में, द्वेष से भरे होने पर क्रियाएँ समझदारी से नहीं होती। स्नेह व निर्द्वेषता हमें कभी भी बदले लेने की भावना से गलत कर्मों में नहीं जाने देती। इससे जीवन सुखी बना रहता है। (२) **वाम्**=आपका मित्र और वरुण का **शेवम्**=सुख **हि**=निश्चय से **जार्यम्**=स्तुति के योग्य होता है। यह सुख **विश्वासु क्षासु**=सब भूमियों में **जोगुवे**=गायन के योग्य होता है, प्रशंसनीय होता है। संसार में सर्वत्र यह सुख प्रशंसित होता है। स्नेह व निर्द्वेषता

से उत्पन्न प्रेम सर्वत्र शंसनीय है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर हमारी सब क्रियाएँ समझदारी से की जाती हैं। इनसे उत्पन्न सुख सर्वत्र शंसनीय होता है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

गति मात्र 'मित्र' के मार्ग से हो

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा। अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ ३ ॥

(१) **यत्**=जब **नूनम्**=निश्चय से **गतिं अश्याम्**=गति को प्राप्त करूँ, तो **मित्रस्य पथा**=स्नेह करनेवाले के मार्ग से **यायाम्**=जाऊँ। अर्थात् मेरी सारी गति एक मित्र की ही गति हो। मेरा कोई भी कार्य द्वेषभाव से प्रेरित होकर न किया जाये। (२) **अस्य**=इस **प्रियस्य**=सब की प्रीति के कारणभूत **अहिंसानस्य**=किसी की हिंसा न करनेवाले मित्र की **शर्मणि**=शरण में **सश्चिरे**=सब संगत हो जाते हैं (cling to)। 'मित्र' देवता का आराधन सबको एक बना देता है। 'सश्च' का अर्थ to worship=पूजा करना भी है। प्रभु का सच्चा पूजन भी यही है कि हम सब परस्पर स्नेह व निर्द्वेषता से चलें।

भावार्थ—मेरे सब कार्य मित्र के मार्ग से चलते हुए हों। यह स्नेह व निर्द्वेषता से चलना ही प्रभु का सच्चा पूजन है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अनुपम धन लाभ

युवाभ्यां मित्रावरुणोपमं धेयामृचा। यद्ध क्षये मघोनां स्तोतॄणां च स्पूर्धसे ॥ ४ ॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **युवाभ्याम्**=आपके द्वारा **ऋचा**=स्तुति शब्दों का, मधुर सुखमयी वाणी का ही प्रयोग करने के द्वारा **उपमम्**=उपमा देने योग्य, अद्भुत-धन को **धेयाम्**=धारण करूँ। उस धन को धारण करूँ जो उपमा देने योग्य हो, जिसके लिये लोग यह कहें कि 'धन हो तो, ऐसा हो'। (२) उस धन को मैं धारण करूँ **यत्**=जो **ह**=निश्चय से **मघोनाम्**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों के **च**=और **स्तोतॄणाम्**=स्तोताओं के **क्षये**=गृह में **स्पूर्धसे**=स्पर्धा के लिये होता है। इसी प्रकार स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को धारण करने पर हमारे घरों में निवास के लिये धनों में मानो स्पर्धा होगी। सब धन हमारे घरों में निवास करना चाहेंगे।

भावार्थ—मित्र व वरुण की आराधना हमारे घरों को उत्तम धनों से भरपूर कर देती है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

यज्ञशील व सखा पुरुष

आ नो मित्र सुदीतिभिर्वरुणश्च सधस्थ आ। स्वे क्षये मघोनां सखीनां च वृधसे ॥ ५ ॥

(१) हे **मित्र**=स्नेह! तू **वरुणः च**=और यह निर्द्वेषता का भाव **सुदीतिभिः**=उत्तम दीप्तियों के साथ **सधस्थे**=जीवात्मा व परमात्मा के मिलकर रहने के स्थान हृदय में **आ** (गच्छतम्)=प्राप्त हो और **आ**=अवश्य ही प्राप्त हो। (२) आप दोनों **मघोनाम्**=यज्ञशील पुरुषों के **सखीनां च**=मित्रभूत पुरुषों के **स्वेक्षये**=अपने घर में **वृधसे**=वृद्धि के लिये होते हो। यज्ञशील पुरुषों का व सखाओं का घर मित्र और वरुण का अपना घर होता है। ये मित्र और वरुण इनकी वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों व सखिभूत पुरुषों का घर मित्र और वरुण देवता का घर होता

है, अर्थात् इन घरों में स्नेह व निर्द्वेषता का राज्य होता है। परिणामतः ये घर सदा बढ़ते हैं।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शक्ति-सम्पत्ति-सुस्थिति

युवं नो येषु वरुण क्षत्रं बृहच्च बिभृथः। उरु णो वाजसातये कृतं राये स्वस्तये॥ ६॥

(१) हे **वरुण**=मित्र और वरुण (वरुण से मित्र का भी अध्याहार करता है, तभी 'युवं' यह द्विवचन ठीक होगा) **युवम्**=आप दोनों **नः**=हमारे **येषु**=जिन पुरुषों में **क्षत्रम्**=बल, **बृहत् च**=और ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान को **बिभृथः**=धारण करते हो। (२) इस बल व ज्ञान को **नः**=हमारे लिये **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये **राये**=ऐश्वर्य लाभ के लिये और **स्वस्तये**=उत्तम कल्याण के लिये **कृतम्**=करिये। मित्र व वरुण की आराधना से प्राप्त होनेवाला बल व ज्ञान (क्षत्र व ब्रह्म) हमें 'शक्ति ऐश्वर्य व कल्याण' प्राप्त कराता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर क्षत्र व ब्रह्म की वृद्धि से 'शक्ति-सम्पत्ति व सुस्थिति' प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अर्चनाना आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दिव्य बल व दीप्त ज्ञानरश्मियाँ

उच्छन्त्यां मे यजता देवक्षत्रे रुशद्गवि।
सुतं सोमं न हस्तिभिरा पड्भिर्धावतं नरा बिभ्रतावर्चनानसम्॥ ७॥

(१) **उच्छन्त्याम्**=उषा के द्वारा अन्धकार को दूर करने पर, अर्थात् होते ही **मे**=मेरे द्वारा **यजता**=पूज्य व संगतिकरण योग्य मित्र और वरुण देवो! स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **देवक्षत्रे**=देवों के बल के निमित्त तथा **रुशद्गवि**=देदीप्यमान ज्ञानरश्मियों के निमित्त **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमम्**=सोम को **न**=अब (न=संप्रति सा०) **हस्तिभिः**=प्रशस्त हाथोंवाले कर्मों से तथा गति के साधनभूत पावों से, अर्थात् निरन्तर क्रियाशीलता व गति के द्वारा **आधावतम्**=शुद्ध कर दीजिये। सोमरक्षण के दो साधन हैं—क्रियाओं को कर्मों में प्रवृत्त रखना तथा सदा गतिमय बने रहना। रक्षित सोम हमें दो वस्तुएं प्राप्त करायेगा—दिव्य बल तथा दीप्त ज्ञानरश्मियाँ। ऐसी स्थिति के लिये हमें दो देवों का आराधन करना है—मित्र और वरुण का। (२) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **अर्चनानसम्**=इस अपने उपासक को **बिभ्रतौ**=धारण करते हो। वस्तुतः इस संसार को सुन्दर बनाने के लिये आपका अर्चन ही साधन है।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करते हुए, क्रियाशील व गतिमय जीवन में सोमरक्षण के द्वारा दिव्य बल व दीप्त ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करें।

यह मित्र और वरुण का आराधक 'रातहव्य' बनता है, हव्यों को देनेवाला, यज्ञशील। इस यज्ञशीलता से यह आत्रेय होता है, काम-क्रोध-लोभ से दूर। यह मित्र व वरुण का आराधन करता हुआ कहता है—

६५. [पञ्चषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'स्नेह व निर्द्वेषता का उपासक' उपदेष्टा

यश्चिकेत स सुक्रतुर्देवत्रा स ब्रवीतु नः। वरुणो यस्य दर्शतो मित्रो वा वनते गिरः॥ १॥

(१) **यः चिकेत**=जो ज्ञानी है **सः**=वह **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा होता है। ज्ञान उसके कर्मों को पवित्र करनेवाला होता है। **सः**=वह पवित्र कर्मा ज्ञानी पुरुष **नः**=हमारे लिये **देवत्रा**=देवों के विषय में **ब्रवीतु**=उपदेश दे। (२) वह ज्ञानी हमें उपदेश दे **यस्य**=जिसकी **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **दर्शतः**=दर्शनीय, सुन्दर, **वरुणः**=वरुण-निर्द्वेषता का भाव, **वा**=तथा **मित्रः**=मित्र-स्नेह की देवता **वनते**=प्राप्त करती है। अर्थात् वह ज्ञानी हमारा उपदेष्टा हो जो 'मित्र और वरुण' का उपासक है, स्नेह व निर्द्वेषता के भाववाला है। मनु ने इसीलिए लिखा है कि—'अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्माभिधूता'। अर्थात् धर्मोपदेष्टा ने सदा मधुर-अकर्कश वाणी के द्वारा ही धर्मोपदेश करना है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष सुकर्मा होता है। यह मित्र व वरुण का उपासक होता हुआ देवों (दिव्य भावों) के विषय में उपदेश करता है।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

श्रेष्ठ वर्चस्वाले 'मित्र और वरुण'

ता हि श्रेष्ठवर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा। ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जनेजने॥ २॥

(१) **ता**=वे, गतमन्त्र में वर्णित मित्र और वरुण=स्नेह व निर्द्वेषता **हि**=निश्चय से **श्रेष्ठवर्चसा**=उत्तम वर्चस् (शक्ति) वाले हैं, **राजाना**=जीवन को दीप्त बनानेवाले हैं, **दीर्घश्रुत्तमा**=(दॄ विदारणे) अज्ञानान्धकार के विदारक अतिशयित ज्ञानवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से हमें 'शक्ति, दीप्ति व ज्ञान' प्राप्त होता है। (२) **ता**=वे मित्र और वरुण **जनेजने**=जितना-जितना इनका प्रादुर्भाव होता है उतना-उतना **सत्पती**=उत्तम कर्मों का हमारे में रक्षण करनेवाले हैं, **ऋतावृधः**=ऋत का, यज्ञ का वर्धन करनेवाले हैं और **ऋतावाना**=ऋत का, जो भी ठीक बात है, उसका रक्षण करनेवाले हैं। अनृत से ये हमें दूर करते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का भाव हमें 'शक्ति-सम्पन्न, दीप्त, ज्ञानी, सत्कर्मकुशल व ऋतमय' बनायेगा।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'उत्तम इन्द्रियाँ, ज्ञान, शक्ति'

ता वामियानोऽवसे पूर्वा उप ब्रुवे सचा। स्वश्वासः सु चेतुना वाजाँ अभि प्रदावने॥ ३॥

(१) **ता**=उन **वाम्**=आप दोनों को, मित्र और वरुण को **अवसे**=रक्षण के लिये **इयानः**=मैं प्राप्त होता हूँ। आपने ही मेरा रक्षण करना है। **पूर्वा**=पालन व पूरण करनेवाले आपको **सचा**=साथ-साथ **उपब्रुवे**=स्तुत करता हूँ। 'स्नेह व निर्द्वेषता' की साथ-साथ उपासना करता हुआ ही मैं शरीर का पालन व मन का पूरण कर पाता हूँ। (२) **स्वश्वासः**=आपकी उपासना से उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले हम **सु चेतुना**=उत्तम ज्ञान के साथ **वाजान् अभि**=शक्तियों का लक्ष्य करके **प्रदावने**=प्रकृष्ट दान में स्थित हों। यह दान क्रिया 'मित्र और वरुण' की उपासना का क्रियात्मकरूप है। यह दान क्रिया ही हमें उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनाती है, उत्तम ज्ञान व शक्ति देती है। ज्ञानेन्द्रियाँ इसी से ज्ञानवर्धनवाली व कर्मेन्द्रियाँ शक्ति-सम्पन्न बनती हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता हमारा रक्षण करते हैं, हमारा पालन व पूरण करते हैं। 'उत्तम इन्द्रियाँ-ज्ञान व शक्ति' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—रातहव्य आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्

मित्रो अंहोश्चिदादुरु क्षयाय गातुं वनते। मित्रस्य हि प्रतूर्वतः सुमतिरस्ति विधतः ॥ ४ ॥

(१) **मित्रः**=यह सब के साथ स्नेह करनेवाला, मित्र व वरुण का उपासक **आत्**=मित्र वरुण की उपासना से 'उत्तम इन्द्रियों-ज्ञान व शक्ति' को प्राप्त करने के बाद (आत्=अनन्तरम्) **अंहोः चित्**=कुटिल पापी पुरुष के भी **क्षयाय**=उत्तम निवास व गति के लिये **उरु गातुम्**=विशाल मार्ग को **वनते**=सेवन करता है। विशाल हृदय को धारण करता हुआ यह 'मित्र' का आराधक कुटिल को भी भला बनाने के लिये उदारता के मार्ग का अवलम्बन करता है। (२) इस **मित्रस्य**=सर्व-स्नेही पुरुष की **हि**=निश्चय से **सुमतिः अस्तिः**=सदा कल्याणीमति होती है। इस मित्र की, जो **प्रतूर्वतः**=बुरे भावों को प्रकर्षेण हिंसित कर रहा है तथा **विधतः**=प्रभु का सच्चा पूजन कर रहा है।

भावार्थ—'मित्र' का आराधक कुटिल के सुधार के लिये भी उदार मार्ग का अवलम्वन करता है। यह सबके लिये कल्याणीमति का धारण करता है। यही इसका सच्चा प्रभु-पूजन है।

ऋषिः—रातहव्य आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—भुरिगुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

वरुण के सन्तानों का परस्पर प्रेम भाव

वयं मित्रस्यावसि स्याम सप्रथस्तमे। अनेहसस्त्वोतयः सत्रा वरुणशेषसः ॥ ५ ॥

(१) **वयम्**=हम **मित्रस्य**=स्नेह की देवता के **सप्रथस्तमे**=अत्यन्त विस्तारवाले **अवसि**=रक्षण में **स्याम**=हों। स्नेह को जीवन का सूत्र बनाकर अपने जीवन का रक्षण करनेवाले बनें। द्वेष से शरीर में विष ही तो उत्पन्न होते हैं। (२) **त्वा उतयः**=हे मित्र! तेरे से रक्षित हुए-हुए हम **अनेहसः**=निष्पाप हों। स्नेह हमें पाप की ओर नहीं ले जाता। ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध के कारण ही सामान्यतः पापों को जन्म मिलता है और हम परस्पर विरोध में लड़नेवाले हो जाते हैं। हम तो **वरुणशेषसः**=वरुण के सन्तान (शेष=सन्तान) बनकर, निर्द्वेषता को जीवन में धारण करके **सत्रा**=साथ ही हों, मिलकर ही चलनेवाले बनें।

भावार्थ—स्नेह की भावना हमारे जीवन का रक्षण करती हैं, इसी में शक्तियों का विस्तार होता है। निर्द्वेषता हमें परस्पर समीप लाती है। निर्द्वेषता में ही झगड़ों का अभाव होकर सब प्रकार की उन्नति है।

ऋषिः—रातहव्य आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ऋषीणां गोपीथेन उरुष्यतम्

युवं मित्रेमं जनं यतथः सं च नयथः।
मा मघोनः परिख्यतं मो अस्माकमृषीणां गोपीथे न उरुष्यतम् ॥ ६ ॥

(१) हे **मित्र**=मित्र और वरुण **युवम्**=आप दोनों **इमं जनम्**=इस मुझ स्तोता को **यतथः**=यत्नशील बनाते हो। स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करके मैं कर्त्तव्यकर्मों में यत्नशील होता हूँ। **च**=और आप मुझे **संनयथः**=सम्यक् ठीक मार्ग पर ले चलते हो। स्नेह व निर्द्वेषता से होनेवाली क्रियाएँ पापशून्य ही होती हैं। (२) **मघोनः**=हम यज्ञशील पुरुषों को **मा परिख्यतम्**=आप छोड़ मत जाओ। हम आप से सुरक्षित हुए-हुए सदा यज्ञों को करते रहें। (२) **मा उ**=और नां ही **अस्माकम्**=हमारे लोगों को आप छोड़ जाओ। हम भी स्नेह व निर्द्वेषता के भाववाले हों, हमारे

परिवार व समाज के लोग भी इन भावनाओं को अपनाएँ। हे मित्र और वरुण! आप **ऋषीणाम्**=वेदों के (ऋषिर्वेदः) प्रभु से दिये गये ज्ञान के **गोपीथेन**=इन्द्रियों द्वारा पान के द्वारा **उरुष्यतम्**=हमारा रक्षण करो। हमारी इन्द्रियाँ इस ज्ञान का ग्रहण करें और इस प्रकार आप हमारा रक्षण करो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर हम यत्नशील होते हैं, हमारे यत्न उत्तम मार्ग से होते हैं। हम यज्ञशील व ज्ञानयज्ञ को करनेवाले बनते हैं।

अगला सूक्त भी 'रातहव्य' ऋषि का ही है—

६६. [षट्षष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

चिकितान मर्त (समझदार मनुष्य)

आ चिकितान सुक्रतू देवौ मर्त रिशादसा। वरुणाय ऋतपेशसे दधीत प्रयसे महे॥ १॥

(१) हे **चिकितान मर्त**=समझदार मनुष्य! तू **सुक्रतू**=शोभन कर्मोंवाले, **देवौ**=प्रकाशमय, **रिशादसा**=शत्रुओं के हिंसक मित्र और वरुण को, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव को **आदधीत**=धारण करनेवाला हो। ये मित्र और वरुण ही तेरे जीवन को प्रकाशमय बनायेंगे, तेरे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करेंगे और तुझे उत्तम कर्मोंवाला बनायेंगे। (२) **ऋतपेशसे**=जीवन में ऋत का, सत्य का निर्माण करनेवाले **वरुणाय**=निर्द्वेषता के भाव के लिये तू **दधीत**=अपने को धारण कर, निर्द्वेष बन। जिससे तू **प्रयसे**=प्रकृष्ट यत्न करनेवाला हो और **महे**=महत्त्वपूर्ण जीवनवाला बन सके।

भावार्थ—मित्र और वरुण हमारे जीवन को उत्तम कर्मोंवाला प्रकाशमय व काम-क्रोध आदि से रहित बनाते हैं। निर्द्वेषता से जीवन ऋतमय, यत्नशील व महत्त्वपूर्ण बनता है।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'अकुटिल-असुरविघाति' बल

ता हि क्षत्रमविहुतं सम्यगसुर्य१माशाते। अध व्रतेव मानुषं स्व१र्ण धायि दर्शतम्॥ २॥

(१) **ता**=वे दोनों मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **क्षत्रम्**=बल को सम्यक् **आशाते**=सम्यक् व्याप्त करते हैं। उस बल को व्याप्त करते हैं, जो **अविहुतम्**=कुटिलता से रहित है तथा अहिंस्य है, जिस बल से युक्त होकर हम औरों के साथ कुटिलता से नहीं वरतते और स्वयं रोगों से हिंसित नहीं होते। तथा जो बल **असुर्यम्**=आसुर भावनाओं को विरत करनेवाला है, इस बल के होने पर आसुरभावों का जन्म नहीं होता। वीरता के साथ virtues (गुणों) का ही तो सम्बन्ध है, अवीरता ही तो evil है। (२) **अध**=अब इस क्षत्र के धारण के उपरान्त **मानुषम्**=मनुष्य के लिये हितकर **व्रता इव**=कर्मों की तरह, **स्वः न**=सूर्य के समान **दर्शतम्**=दर्शनीय सुन्दर ज्ञान (प्रकाश) **धायि**=हमारे में धारण किया जाता है। मित्र और वरुण के बल से सम्पन्न होकर हम मानवहित कर कर्मों को ही करते हैं और देदीप्यमान ज्ञानवाले होते हैं। मानवहितकारी कर्मों को करनेवाले हम 'वैश्वानर' हैं। सूर्य समान ज्ञानवाले हम 'प्राज्ञ' होते हैं। क्षत्र को धारण करनेवाले हम 'तैजस' बनते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का भाव हमारे अन्दर 'अकुटिल बल, आसुरभावनाशून्य बल' प्राप्त कराते हैं। इस बल से सम्पन्न होकर हम मानवहितकारी कर्मों को व दीप्त ज्ञान को धारण करते हैं।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उर्वी गव्यूति (विशाल मार्ग)

ता वामेषे रथानामुर्वीं गव्यूतिमेषाम्। रातहव्यस्य सुष्टुतिं दधृक्स्तोमैर्मनामहे ॥ ३ ॥

(१) **एषां रथानाम्**=इन शरीर-रथों के **उर्वीं गव्यूतिम्**=विशाल मार्गों को **एषे**=(गन्तुम्) जाने के लिये **ता वाम्**=उन आप दोनों को, मित्र व वरुण को स्नेह व निर्द्वेषता के भाव को **मनामहे**=हम स्तुत करते हैं। मित्रता व निर्द्वेषता ही हमें विशाल मार्ग पर ले चलती हैं। इनके अभाव में स्वार्थपरता हमें अत्यन्त संकुचित वृत्ति का बना देती है। (२) हम **रातहव्यस्य**=(दत्तहविष्क्रस्य) यज्ञशील पुरुष सम्बन्धी **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **दधृक् स्तोमैः**=धर्षक स्तोमों के द्वारा, वासना विनाशक स्तुतियों के द्वारा (मनामहे) करनेवाले होते हैं। जैसे एक यज्ञशील पुरुष यज्ञरूप उत्तम स्तुति को करता है, इसी प्रकार हम भी उत्तम स्तुति को करनेवाले बनते हैं। ये यज्ञात्मक कर्म, स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर ही सम्भव होते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव को धारण करके हम विशालता के मार्ग पर ही चलते हैं, यज्ञशील होते हैं।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

काव्या-पूतदक्षसा

अधा हि काव्या युवं दक्षस्य पूर्भिरद्भुता। नि केतुना जनानां चिकेथे पूतदक्षसा ॥ ४ ॥

(१) **अधा**=अब **हि**=निश्चय से **युवम्**=आप दोनों मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **काव्या**=कविकर्मकुशल, अर्थात् खूब ज्ञानी हो। स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमारे ज्ञान का वर्धन करते हैं। आप **दक्षस्य**=बल के **पूर्भिः**=पूरणों के द्वारा **अद्भुता**=अद्भुत हो। हे मित्र वरुणो! आप हमारे जीवन में अद्भुत बल का सञ्चार करते हो। (२) आप **जनानाम्**=लोगों के **केतुना**=प्रज्ञान से **निचिकेथे**=जाने जाते हो। अर्थात् जितना-जितना कोई ज्ञानी होता है, उतना-उतना ही वह आपकी आराधना से ही वैसा बना होता है। आप **पूतदक्षसः**=उसके बल को भी पवित्र करनेवाले हो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव ही हमें ज्ञान व शक्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**रातहव्य आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'ऋतं बृहत्' श्रवः

तदृतं पृथिवि बृहच्छ्रव एष ऋषीणाम्। ज्रयसानावरं पृथ्वति क्षरन्ति यामभिः ॥ ५ ॥

(१) हे **पृथिवि**=हमारी शक्तियों का व ज्ञानों का विस्तार करनेवाली भूमि मातः! मैं **ऋषीणाम्**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के **तत्**=उस **ऋतम्**=सत्य **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **श्रवः**=ज्ञान को **एषे**=चाहता हूँ। (२) **ज्रयसानौ**=(to conquer, to go) हमारे काम-क्रोधरूप शत्रुओं के जीतते हुए तथा गतिशील होते हुए आप मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **यामभिः**=अपनी गतियों से **अरम्**=जीवन को अलंकृत करनेवाले **पृथु**=विस्तृत ज्ञान को **अतिक्षरन्ति**=(क्षरतः) अतिशयेन प्राप्त कराते हो। हम मित्र और वरुण का आराधन करें। यह आराधन हमें ज्ञान के प्रकाश को देनेवाला होगा।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव काम-क्रोध को जीतकर हमें उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—रातहव्य आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'बहुपाप्य व्यचिष्ठ' स्वराज्य

आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः। व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥ ६॥

(१) **मित्र**=हे मित्र और वरुण! आप **ईयचक्षसा**=गतिशील ज्ञानवाले हो। आपके कारण हमारा जीवन गतिशील बनता है और वह सब गति ज्ञानपूर्वक होती है। (२) **वयं च**=और हम आपके द्वारा **सूरयः**=ज्ञानी बनकर **स्वराज्ये**=स्वराज्य के विषय में **यतेमहि**=यत्नशील हों। हम अपना शासन स्वयं करनेवाले हों, विषय वासनाओं के हम गुलाम न हों। यह गुलामी हमें राजनैतिक दृष्टिकोण से भी परतन्त्र बना देगी। हम उस आत्मशासन के लिये यत्नशील हों जो **व्यचिष्ठे**=शक्तियों का अधिक से अधिक विस्तार करनेवाला है तथा **बहुपाय्ये**=बहुत ही रक्षण करनेवाला है या अधिक से अधिक लोगों का रक्षण करनेवाला है। जब मैं अपना अधिष्ठाता होता हूँ, तो मेरे कार्य अधिक-से-अधिक लोगों का कल्याण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—मित्र और वरुण की आराधना से हम ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले हों। इस प्रकार आत्मशासन करते हुए हम अपनी शक्तियों को बढ़ाएँ और अधिक से अधिक लोगों का हित करनेवाले हों।

इस 'बहुपाय्य स्वराज्य' के लिये यत्नशील व्यक्ति 'यजत' बनता है, सब के साथ संगतिकरण (मेल) वाला। यह कहता है—

६७. [सप्तषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—यजत आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'निष्कृत-यजत-बृहत्' क्षत्र

बळित्था देव निष्कृतमादित्या यजतं बृहत्। वरुण मित्रार्यमन्वर्षिष्ठं क्षत्रमाशाथे॥ १॥

(१) हे **देवा**=द्योतमान-प्रकाशमान **आदित्या**=अदिति के पुत्रों (अ-दिति=खण्डन) पूर्ण स्वास्थ्य से उत्पन्न होनेवाले **वरुण**=निर्द्वेषता के भाव तथा **अर्यमन्**=शत्रुओं के नियन्तः **मित्र**=स्नेह के देव! आप दोनों **बट्**=सचमुच **इत्था**=(इदानीं) अब **क्षत्रम्**=बल का **आशाथे**=व्यापन करते हो। हम अस्वस्थ होते हैं, तभी ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध में चलने लगते हैं। ये मित्र और वरुण हमारे जीवन को प्रकाशमय बना देते हैं। (२) ये मित्र और वरुण उस बल को हमें प्राप्त कराते हैं, जो **निष्कृतम्**=हमारे जीवन को बड़ा परिष्कृत बनाता है। **यजतम्**=परस्पर मेल की भावना को बढ़ाता है (संगतिकरण)। **बृहत्**=वृद्धि का कारण बनता है और **वर्षिष्ठम्**=अतिशयेन बढ़ा हुआ है। अहंकार युक्त शक्ति हमारे जीवन को परिष्कृत नहीं बनाती, वह हमें आपस में मिलानेवाली नहीं होती और अन्ततः हमारे ह्रास का कारण बनती है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव से हमें वह शक्ति प्राप्त होती है, जो हमें पवित्र, मेल की भावनावाला व गुणों की दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ बनाती है।

ऋषिः—यजत आत्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

हिरण्यय योनि

आ यद्योनिं हिरण्ययं वरुण मित्र सदथः। धर्तारा चर्षणीनां यन्तं सुम्नं रिशादसा॥ २॥

(१) हे **वरुण**=निर्द्वेषता के भाव! **मित्र**=स्नेह के देव! आप **यद्**=जो **हिरण्ययं योनिम्**=ज्योतिर्मय शरीर-गृह में **आसदथः**=आसीन होते हो। वस्तुतः मित्र और वरुण का आसीन होना

ही इस शरीर-गृह को ज्योतिर्मय बनाता है। (२) आप दोनों **चर्षणीना**=इन श्रमशील व्यक्तियों के **धर्तारा**=धारण करनेवाले होते हो। और **रिशादसा**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले आप **सुम्नं यन्तम्**=सुख व आनन्द को प्राप्त कराओ (कुरुतम् सा०)। स्नेह व निर्द्वेषता से हमारा जीवन गतिशील व स्वस्थ बना रहता है। ये मित्र और वरुण हमें 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' से ऊपर उठाकर सुखी बनाते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से (१) शरीर-गृह ज्योतिर्मय बनता है, (२) इनसे हमारा धारण होता है, (३) ये हमारे जीवन को सानन्द करते हैं।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'वरुण-मित्र व अर्यमा' का विश्ववेदस्त्व

विश्वे हि विश्ववेदसो वरुणो मित्रो अर्यमा। व्रता पदेव सश्चिरे पान्ति मर्त्यं रिषः ॥ ३ ॥

(१) **वरुणः**=द्वेष निवारण का देव, **मित्रः**=स्नेह का देव तथा **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध के नियन्त्रण की देवता, ये **विश्वे**=सब **हि**=ही **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। अर्थात् हमें 'वरुण-मित्र-अर्यमा' हमारे अन्नमय आदि सब कोशों को उस-उस धन को प्राप्त कराते हैं। 'तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु व सहस्' ये सब धन 'वरुण-मित्र-अर्यमा' से ही प्राप्त होते हैं। (२) **इव**=जैसे **पदा**=गतिशीलताओं को **व्रता**=सब पुण्यकर्म **सश्चिरे**=(to cling to, pervade) व्याप्त करते हैं, उसी प्रकार ये वरुण-मित्र-अर्यमा **मर्त्यम्**=मनुष्य को **रिषः**=शत्रु से **पान्ति**=रक्षित करते हैं, हम गतिशील बनते हैं तो अवश्य हमें पुण्यकर्म प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार स्नेह व निर्द्वेषता हमें काम-क्रोध आदि से ऊपर उठाते हैं।

भावार्थ—'स्नेह व निर्द्वेषता व शत्रु संयम' हमें तेजस्विता आदि सब धनों को प्राप्त कराते हैं। ये हमें शत्रुओं से बचाते हैं।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सत्या ऋतस्पृशः' (वरुण-मित्र-अर्यमा)

ते हि सत्या ऋतस्पृश ऋतावानो जनेजने। सुनीथासः सुदानवोंऽहोश्चिदुरुचक्रयः ॥ ४ ॥

(१) **ते**=वे, गतमन्त्र में वर्णित 'वरुण, मित्र और अर्यमा' **हि**=ही **सत्याः**=सत्यस्वरूप हैं **ऋतस्पृशः**=ऋत का स्पर्श करनेवाले हैं। जीवन के अन्दर ऋत का धारण करते हैं। ये **जने जने**=प्रत्येक व्यक्ति में **ऋतावानः**=ऋत का रक्षण करनेवाले हैं। इन के कारण मन में असत्य का प्रवेश नहीं होता और शरीर की सब क्रियाएँ ऋतवाली होती हैं। (२) ये 'वरुण-मित्र-अर्यमा' **सुनीथासः**=उत्तम मार्ग से ले चलनेवाले हैं, **सुदानवः**=बुराइयों को अच्छी प्रकार काटनेवाले हैं। और **अंहोः चित्**=कुटिल व्यक्ति से भी **उरु चक्रयः**=विशाल कर्मों को करानेवाले होते हैं। वस्तुतः ये उसकी कुटिलता को दूर करके उसके जीवन को पवित्र बना देते हैं।

भावार्थ—'स्नेह, निर्द्वेषता व शत्रु संयम' से मन में सत्य व शारीरिक क्रियाओं में ऋत की स्थिति होती है।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सर्वस्तुत्य 'मित्र और वरुण'

को नु वां मित्रास्तुतो वरुणो वा तनूनाम्। तत्सु वामेषते मतिरत्रिभ्य एषते मतिः ॥ ५ ॥

(१) हे **मित्र**=स्नेह की देवता! **वाम्**=आप दोनों स्नेह व निर्द्वेषता में से **कः**=कौन, हे मित्र!

तुम वरुण **वा**=या निर्द्वेषता की देवता **तनूनाम्**=शरीर धारियों का **अस्तुतः नु**=निश्चय से अस्तुत होता है। सब शरीरधारी आप दोनों का ही स्तवन करते हैं। आपके कारण ही शरीर का पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है। (२) **तत्**=सो **वाम्**=आप दोनों के प्रति ही **मतिः**=मननपूर्वक की गई स्तुति **सु एषते**=सम्यक् गतिवाली होती है अर्थात् सब आपका ही स्तवन करते हैं। **अत्रिभ्यः**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठनेवालों से **मतिः**=मननपूर्वक की जानेवाली स्तुति **एषते**=आपकी ओर ही आती है। आपके द्वारा ही वस्तुतः वे अत्रि बन पाते हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' का स्थान जब 'स्नेह व निर्द्वेषता' ले लेते हैं तो मनुष्य सब कष्टों से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—'स्नेह व निर्द्वेषता' सभी से शंसनीय हैं।

'यजत' ऋषि का ही अगला भी सूक्त है—

६८. [अष्टषष्टीतमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

क्षत्र-ऋत

प्र वो॑ मि॒त्राय॑ गायत॒ वरु॑णाय वि॒पा गि॒रा। महि॑क्षत्रावृ॒तं बृ॒हत्॥ १॥

(१) ये मनुष्यो! **वः**=तुम (यूयम् सा०) **मित्राय**=स्नेह की देवता के लिये **विपा**=स्तुतियों के द्वारा (विप् praise) तथा **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **गायत**=गायन करो। इसी प्रकार **वरुणाय**=निर्द्वेषता के लिये गायन करो। इन दोनों को ही तुम धारण करनेवाले बनो। (२) ये मित्र और वरुण **महिक्षत्रौ**=तुम्हारे लिये महान् बल को धारण करनेवाले होंगे। ये तुम्हारे जीवनों में 'बृहत् ऋतम्'=वृद्धि की कारणभूत नियमितता को अथवा यज्ञिय भावना को उत्पन्न करेंगे।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से हमारा जीवन (१) बल-सम्पन्न होता है तथा (२) नियमित व यज्ञभावना युक्त बनता है।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सम्राजा घृतयोनी

स॒म्राजा॒ या घृ॒तयो॑नी मि॒त्रश्चो॒भा वरु॑णश्च। दे॒वा दे॒वेषु॑ प्रश॒स्ता॥ २॥

(१) **या मित्रः च वरुणः च**=ये जो मित्र और वरुण हैं, ये **उभा**=दोनों स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **सम्राजा**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाले हैं। **घृतयोनी**=ये ज्ञानदीप्ति व मल विनाश-निर्मलता को उत्पन्न करनेवाले हैं। (२) **देवा देवेषु**=जो जीवनों को दिव्यगुण-सम्पन्न बनानेवाले हैं और **प्रशस्ता**=अत्यन्त प्रशंसनीय है। इनका हम स्तवन करें और इन्हें धारण करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के धारण से हमारा जीवन दीप्त, ज्ञानयुक्त व दिव्यगुण सम्पन्न बनेगा।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'दिव्य व पार्थिव' ऐश्वर्य

ता नः॑ शक्तं॒ पार्थि॑वस्य म॒हो रा॒यो दि॒व्यस्य॑। महि॑ वां क्ष॒त्रं दे॒वेषु॑॥ ३॥

(१) **ता**=वे दोनों मित्र और वरुण **नः**=हमारे लिये **पार्थिवस्य**=शरीररूप पृथिवी-सम्बन्धी **महः रायः**=महत्त्वपूर्ण ऐश्वर्य के, अर्थात् शक्ति के तथा **दिव्यस्य**=मस्तिष्करूपी द्युलोक सम्बन्धी महान् ऐश्वर्य, अर्थात् ज्ञान के **शक्तम्**=देने में समर्थ हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से शरीर में शक्ति व

मस्तिष्क में ज्ञान का संचार होता है। (२) **वाम्**=आप दोनों का, स्नेह व निर्द्वेषता का **देवेषु**=सब देववृत्ति के पुरुषों में **महिक्षत्रम्**=महनीय बल होता है। सब देव इन्हीं से बल-सम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से ही शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति भी होती है।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'इषिर' दक्ष

ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते। अद्रुहा देवौ वर्धेते॥ ४॥

(१) ये मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता की देवताएँ **ऋतम्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को **ऋतेन सपन्ता**=ठीक प्रकार से सपन्ता=(सम् to do, perform) करनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर ही सदा श्रेष्ठ कर्मों का सम्भव होता है। ये हमारे अन्दर **इषिरं दक्षम्**=क्रियाशील बल को **आशाते**=व्याप्त करते हैं। मित्र व वरुण देव हमारे अन्दर शक्ति का वर्धन करते हैं, उस शक्ति से हमारी क्रियाशीलता बनी रहती है। यह क्रियाशीलता ही यज्ञादि उत्तम कर्मों में अभिव्यक्त होती है। (२) **अद्रुहा**=द्रोह न करनेवाले, हिंसा की वृत्ति से दूर रहनेवाले, **देवौ**=ये स्नेह व निर्द्वेषता के दिव्यगुण **वर्धेते**=हमारे जीवन में सब प्रकार की वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—मित्र और वरुण की आराधना से 'ऋत-इषिर दक्ष तथा अद्रोह की भावना' का वर्धन होता है।

ऋषिः—**यजत आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृष्टिद्यावा रीत्यापा

वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः। बृहन्तं गर्तमाशाते॥ ५॥

(१) ये मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव, **वृष्टिद्यावा**=वर्षणशील द्युलोकवाले होते हैं। इनके होने पर मस्तिष्करूप द्युलोक में आनन्द की वृष्टि का हम अनुभव करते हैं। **रीत्यापा**=(रीतिः=गतिः रेषणं वा roaring) रीति ही इनकी आपा-अभिमन प्राप्ति होती है। अर्थात् ये गतिशील होते हैं तथा हृदय में प्रभु से उच्चरित होनेवाली वाणियों को सुनते हैं दुःखहर्ता प्रभु गर्जना करते हुए हमें प्राप्त होते हैं और हमारे हृदयों में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' की तीन वाणियाँ उच्चरित होती हैं। इन वाणियों को द्वेष आदि की दुर्भावनाओं में हम सुन नहीं पाते। इनके सुनने पर हम सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। (२) ये मित्र और वरुण ही वस्तुतः **इषः**=उस प्रभु प्रेरणा के **पती**=हमारे अन्दर रक्षण करनेवाले हैं, जो प्रेरणा **दानुमत्याः**=(दाप् लवने) आसुरभावनाओं के लवन (छेदन) वाली है। इस प्रकार इस प्रभु प्रेरणा से पवित्र बने हुए **बृहन्तम्**=गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए **गर्तम्**=शरीर-रथ को **आशाते**=ये मित्र और व्याप्त करते हैं, अर्थात् मित्र वरुण की आराधना से हमारा शरीर-रथ सब प्रकार से उन्नत व ठीक स्थिति में रहता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के द्वारा (१) आनन्द के वर्षण का अनुभव होता है, (२) हमारा जीवन प्रभु प्रेरणा से गतिमय बनता है। (३) यह प्रभु प्रेरणा हमारे जीवन में सब बुराइयों के विनष्ट करती है।

प्रभु प्रेरणा के अनुसार गतिमय जीवनवाला यह 'उरुचक्रि' बनता है, खूब क्रियाशील। यह क्रियाशीलता उसे त्रिविध दुःखों से दूर 'आत्रेय' बनाती है। यह 'उरुचक्रि' 'मित्र वरुण' का स्तवन करता हुआ कहता है—

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उरुचक्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अक्षीणता

त्री रो॑च॒ना व॑रुण॒ त्रीँरु॒त द्यून्त्रीणि॑ मित्र धारयथो॒ रजां॑सि।
वा॒वृ॒धा॒नाव॒मतिं॑ क्ष॒त्रिय॒स्यानु॑ व्र॒तं रक्ष॑माणावजु॒र्यम्॥ १॥

(१) हे **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता व स्नेह की देवताओ! आप ही **त्री रोचना**=तीन ज्ञानदीप्तियों को **धारयथः**=हमारे में धारित करते हो। 'प्रकृति, जीव व आत्मा' के ज्ञान का सम्भव मित्र व वरुण के द्वारा ही होता है। ईर्ष्या-द्वेष में अज्ञान का ही वर्धन होता है। (२) **उत**=और **त्रीन्**=तीनों **द्यून्**=दिवसों तक आप ही हमारा धारण करते हो। बाल्यकाल, यौवनकाल तथा वार्धक्य ही जीवन के तीन दिन हैं। इनमें ये मित्र और वरुण ही हमारा धारण करते हैं। (३) हे मित्र और वरुण! **त्रीणि रजांसि**=स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीररूप तीनों लोकों को आप ही **धारयथः**=धारण करते हो। मित्र और वरुण से ही सब शरीरों का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। (४) आप ही हमारे जीवनों में **क्षत्रियस्य**=एक शक्तिशाली क्षत्रिय के **अमतिम्**=रूप का **वावृधानौ**=वर्धन करनेवाले होते हो। आपके द्वारा ही हम क्षात्रबल से सम्पन्न होते हैं। **अनुव्रतम्**=आपके व्रत के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना हम स्नेह व निर्द्वेषता का व्रत धारण करते हैं उतना-उतना आप **अजुर्यम्**=अजीर्णता-अक्षीणता का **रक्षमाणौ**=हमारे में रक्षण करते हो। मित्र व वरुण की आराधना हमें अजीर्ण शक्तिवाला बनाती है। इस आराधना से हम सदा युवा बने रहते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से हमें (१) 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का त्रिविध ज्ञान प्राप्त होता है। (२) हम बाल्य, यौवन, वार्धक्य में चलते हुए पूर्ण जीवन को प्राप्त करते हैं। (३) हमारे 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' तीनों शरीर ठीक रहते हैं। (४) हमें क्षात्रबल प्राप्त होता है और हम अजीर्ण शक्ति बने रहते हैं।

ऋषिः—**उरुचक्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन स्थानों में तीन देव

इरा॑वतीर्वरुण धे॒नवो॑ वां॒ मधु॑मद्वां॒ सिन्ध॑वो मित्र दुह्रे।
त्रय॑स्तस्थुर्वृष॒भास॑स्तिसृ॒णां धि॒षणा॑नां रेतो॒धा वि द्यु॒मन्तः॑॥ २॥

(१) हे **वरुण**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **इरावतीः**=ज्ञानदुग्ध रूप इरावाली **धेनवः**=ये वेदवाणीरूप गौवें **वाम्**=आपकी ही हैं। मित्र व वरुम की आराधना ही हमें इन वेदवाणियों को समझने की योग्यता देती है। (२) हे **मित्र**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **सिन्धवः**=ये ज्ञान-प्रवाह **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्य से पूर्ण ज्ञान को **वां दुह्रे**=आपके लिये प्रपूरित करते हैं। निर्द्वेषता में ही ज्ञान हमारे जीवन को मधुरता से भरनेवाला होता है। (३) स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर **त्रयः**=तीनों 'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' **तस्थुः**=हमारे अन्दर स्थित होते हैं। ये **वृषभासः**=हमें शक्तिशाली बनाते हैं। ये **तिसृणां धिषणानाम्**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूप तीन स्थानों के **रेतोधाः**=शक्ति का आधान करनेवाले हैं। **विद्युमन्तः**=उन लोकों को ज्योतिर्मय बनानेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर शरीर में अग्नितत्त्व ठीकरूप से होकर उसे तेजोमय बनाता है। हृदयरूप अन्तरिक्ष में **विद्युत्**=सब बुराइयों को भस्म करनेवाली होती है तथा मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य दीप्ति को करनेवाला होता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर ही हम ज्ञानवाणियों को ठीकरूप में समझते हैं। ये ही हमें शरीर में अग्नि तत्त्ववाला, हृदय में विद्युत्वाला व मस्तिष्क में सूर्यवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**उरुचक्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मित्र वरुण' की महिमा

प्रातर्देवीमदितिं जोहवीमि मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य।
राये मित्रावरुणा सर्वतातेळे तोकाय तनयाय शं योः ॥ ३ ॥

(१) मैं **प्रातः**=उषाकाल में **उदिता सूर्यस्य**=सूर्य के उदय के अवसर पर तथा **मध्यन्दिने**=मध्याह्नकाल में भी **देवीम्**=दिव्यगुणमयी **अदितिम्**=अदीना देवमाता को **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। 'देवी अदिति' की उपासना से सब दिव्यगुणों का मेरे में जन्म होता है। वस्तुतः **अदिति**=अ-दिति (खण्डन) स्वास्थ्य की देवता है। यह हमारे में सब अच्छाइयों को उत्पन्न करती है। स्वस्थ पुरुष में ही स्नेह व निर्द्वेषता के भाव पनपते हैं और सब दिव्यगुणों को उत्पन्न करते हैं। (२) यहाँ 'सायं' का उल्लेख ही नहीं किया। जीवन के सायंकाल में मनुष्य अनुभव से ही द्वेष की व्यर्थता को जान जाता है और यदि मैं जीवन की सन्ध्यावेला ही में निर्द्वेष बनने के संकल्पवाला हुआ तो उसका मुझे उतना लाभ न होगा। तो कहते हैं कि जीवन सूर्य का उदय होते ही हम निर्द्वेष बनें। (३) मैं **राये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये, **सर्वताता**=सब गुणों के विस्तार के लिये, **तोकाय तनयाय**=उत्तम पुत्र-पौत्रों के लिये तथा **शं योः**=शान्ति व निर्भयता (भयों का यापन) के लिये **मित्रावरुणा ईडे**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवता का आराधन करता हूँ।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता में ही 'ऐश्वर्य, सद्गुण विस्तार, उत्तम सन्तति, शान्ति व निर्भयता' है।

ऋषिः—**उरुचक्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों के अमृतत्व का रहस्य

या धर्तारा रजसो रोचनस्योतादित्या दिव्या पार्थिवस्य।
न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि ॥ ४ ॥

(१) **या**=ये जो **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताएँ हैं, ये **रोचनस्य रजसः**=देदीप्यमान मस्तिष्करूप द्युलोक के **धर्तारा**=धारण करनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता ही मस्तिष्क को दीप्त करते हैं। **उत**=और ये ही **आदित्या**=(आदान्वत्) सब दिव्यगुणों का आदान करनेवाले हैं, **दिव्य**=जीवन को दिव्य बनानेवाले हैं। **पार्थिवस्य**=इस शरीररूप पृथिवीलोक का भी ये धारण करते हैं। इन्हीं से शरीर स्वस्थ बना रहता है। (२) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! **देवाः**=देव, दिव्य भावनाओंवाले पुरुष **न वाम्**=आपके **ध्रुवाणि व्रतानि**=स्थिर व्रतों को **आमिनन्ति**=हिंसित नहीं करते। वस्तुतः इसी से **अमृताः**=वे अमर बने रहते हैं। ईर्ष्या-द्वेष मनुष्य को क्षीण शक्ति व रोगी बना देते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता मस्तिष्क को ज्ञान की रोचनावाला करते हैं, हृदय को दिव्य गुण सम्पन्न बनाते हैं और शरीर का धारण करते हैं। इन्हीं की उपासना से देव अमर बनते हैं।

अगले सूक्त में भी 'उरुचक्रि' ही आराधना करता है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

रक्षण व सुमति

पुरूरुणा चिद्ध्यस्त्यवो नूनं वां वरुण। मित्र वंसि वां सुमतिम्॥ १॥

(१) हे **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता तथा स्नेह की देवते! **नूनं चित् हि**=निश्चय से ही **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **पुरूरुणा** (पुरू उरु)=पालक व पूरक तथा विशाल है। आपका रक्षण शरीरों का पालन करता है, यह रक्षण हमारे में ज्ञानों का पूरण करता है तथा हमारे हृदयों को यह विशाल बनाता है। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर सारा नाड़ी संस्थान उत्तम बना रहता है। परिणामतः शरीर, मन व बुद्धि भी ठीक रहते हैं। (२) हे मित्र वरुण! **वाम्**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणी बुद्धि को **वंसि**=मैं प्राप्त करूँ (संभजेय)। स्नेह व निर्द्वेषता से मेरी बुद्धि सदा शुभ बनी रहे।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से हमारा पूर्ण रक्षण होता है और हमें शुभ बुद्धि प्राप्त होती है।

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अद्रुह्वाणा-रुद्रा

ता वां सम्यगद्रुह्वाणेषमश्याम धायसे। वयं ते रुद्रा स्याम॥ २॥

(१) हे **मित्र वरुण**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! **ता वाम्**=वे आप दोनों **सम्यक्**=पूर्णतया **अद्रुह्वाणा**=अद्रोग्धा हैं, द्रोह न करनेवाले हैं। आपकी उपासना मुझे सब हिंसनों से बचाती है। (२) आपके द्वारा प्रसन्न हृदय में हम **धायसे**=धारण के लिये **इषं अश्याम**=प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त करें। यह प्रभु प्रेरणा हमें मार्ग दिखाये। हे **रुद्रा**=प्रभु प्रेरणा को प्राप्त कराने के द्वारा सब (रुत्) रोगों के (द्रावयितारौ) भगानेवाले प्राणापानो! **वयम्**=हम **ते**=(तब) आपके **स्याम**=हों। हम सदा रोगों को दूर रखनेवाले हों। वस्तुतः मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति स्वस्थ बनता ही है।

भावार्थ—मित्र और वरुण द्रोहशून्य हैं। ये सब रोगों के दूर करनेवाले हैं।

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दस्यु विनाश

पातं नो रुद्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा। तुर्याम दस्यून्तनूभिः॥ ३॥

(१) हे **रुद्रा**=(रुद् द्रावयितारौ) दुःखों को दूर भगानेवाले मित्र और वरुण! **नः**=हमें **पायुभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा **पातम्**=रक्षित करो। **उत**=और **सुत्रात्रा**=उत्तम रक्षण करनेवाले आप **त्रायेथाम्**=हमें सब बुराइयों से बचाओ। आन्तर शत्रुओं से भी आप हमारा त्राण करें तथा बाह्यशत्रुओं के शातन की भी शक्ति दें। (२) आपके द्वारा **तनूभिः**=अपनी शक्तियों के विस्तार को करते हुए हम **दस्यून्**=सब दास्यव वृत्तियों को **तुर्याम**=हिंसित करें। वस्तुतः स्नेह व निर्द्वेषता की पवित्र भूमि में ही सब दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—ये मित्र और वरुण हमारा रक्षण करते हैं। ये हमें शक्ति विस्तार के द्वारा दास्यव वृत्तियों के विनाश के लिये तैयार करते हैं।

ऋषिः—उरुचक्रिरात्रेयः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आत्मना भुजमश्नुताम्

मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः। मा शेषसा मा तनसा॥ ४॥

(१) हे मित्रावरुणा! आप **अद्भुतक्रतू**=आश्चर्यजनक शक्ति व प्रज्ञानवाले हो? हम आपके द्वारा शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त करके **कस्य**=किसी के भी **यक्षम्**=पूजित धन को **तनूभिः**=अपने शरीरों से **मा भुजेम**=भोगनेवाले न हों। **शेषसा मा**=अपने सन्तानों के द्वारा भी हम किसी दूसरे के धन का उपभोग न करें। **मा तनसा**=पौत्रों के द्वारा भी परपिण्डोपजीवी न बनें। (२) हमारे कुल में कोई भी दूसरे के धन से अपना पालन करनेवाला न हो। सब कोई 'आत्मना भुजं अश्नुताम्'=अपने पुरुषार्थ से अपना भोग प्राप्त करनेवाला बने। वस्तुतः स्नेह व निर्द्वेषता का सम्भव ऐसी वृत्ति के होने पर ही होता है।

भावार्थ—हम अपने पुरुषार्थ से अपना भोग प्राप्त करें और सदा स्नेह व निर्द्वेषता का अपने में पोषण करें।

अपने पुरुषार्थ से अपने भोगों को प्राप्त करनेवाला यह 'बाहुवृक्त' बनता है, बाहु से, प्रयत्न से वर्जन किया है पाप का जिसने। यह आत्रेय है, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ है। यह मित्र और वरुण की आराधना करता हुआ कहता है—

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रिशादसा-बर्हणा

आ नो॑ गन्तं रिशादसा॒ वरु॑ण॒ मित्र॑ ब॒र्हणा॑। उपे॒मं चारु॑मध्व॒रम्॥ १॥

(१) हे **रिशादसा**=शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता व स्नेह के भावो! आप **नः**=हमारे इस **चारुम्**=सुन्दर **अध्वरम्**=हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **आगन्त**=आओ। वस्तुतः आपने ही इस जीवन-यज्ञ को चारुता प्रदान करनी है। (२) **बर्हणा**=(निबर्हणौ) शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले आप **इमं उप**=इस यज्ञ को समीपता से प्राप्त होवो। जिस जीवन में स्नेह व निर्द्वेषता का स्थान बन जाता है, वहां काम-क्रोध-लोभ आदि आसुरभावों का समापन ही हो जाता है।

भावार्थ—जिस जीवन में स्नेह व निर्द्वेषता का स्थान होता है वहाँ आसुरभावों का विनाश हो जाता है। जीवन यज्ञमय बन जाता है।

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रचेतसा-ईशाना

विश्व॑स्य॒ हि प्र॑चेतसा॒ वरु॑ण॒ मित्र॒ राज॑थः। ई॒शा॒ना पि॑प्यतं॒ धियः॑॥ २॥

(२) हे **वरुणामित्र**=निर्द्वेषता व स्नेह के देवो! आप **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हो। **हि**=निश्चय से **विश्वस्य**=सम्पूर्ण अच्छाइयों के **राजथः**=स्वामी हो। वरुण व मित्र की आराधना हमें सब उत्तम गुणों को प्राप्त करानेवाली होती है। (२) **ईशाना**=सबके ईश आप! **नः** **धियः**=हमारी बुद्धियों को **पिप्यतम्**=आप्यायित करनेवाले होवो। वैर तथा द्वेषभाव बुद्धि को मलिन करनेवाले हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से सब उत्तमताएँ प्राप्त होती हैं, बुद्धि आप्यायित होती है।

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मित्र वरुण का सोमपान

उप॑ नः सु॒तमा ग॑तं॒ वरु॑ण॒ मित्र॑ दा॒शुषः॑। अ॒स्य सोम॑स्य पी॒तये॑॥ ३॥

(१) हे **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता व स्नेह के भावो! आप **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम को **उप आगतम्**=समीपता से प्राप्त होवो। जिसमें सोम (वीर्य) का उत्पादन हुआ है, वह जीवनयज्ञ 'सुत' है। (२) आप **दाशुषः**=दानशील पुरुष के **अस्य**=इस **सोमस्य**=सोम के **पीतये**=पान के लिये होवो। वस्तुतः वैर-द्वेष आदि के भाव सोमरक्षण की अनुकूलतावाले नहीं। निर्द्वेष पुरुष ही सोम का रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का धारण करता हुआ मैं सोम का रक्षण कर सकूँ।

बाहुवृक्त ही कहते हैं—

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

यज्ञशीलता व सोमरक्षण

आ मित्रे वरुणे वयं गीर्भिर्जुहुमो अत्रिवत्। नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये॥ १॥

(१) **वयम्**=हम **मित्रे**=स्नेह के होने पर तथा **वरुणे**=निर्द्वेषता के होने पर **अत्रिवत्**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठे हुए पुरुष की तरह **आजुहुमः**=सर्वत्र दानपूर्वक अदनवाले बनते हैं। यज्ञों को करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हम अत्रि बनते हैं और मित्र व वरुण के उपासक होते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करनेवाला व्यक्ति कभी अकेला खानेवाला नहीं बनता। यह इस तत्त्व को समझता है कि 'केवलाघो भवति केवलादी'=अकेला खानेवाला पापी है। (२) हे मित्र और वरुण! आप **सोमपीतये**=मेरे सोम (वीर्य) के रक्षण के लिये **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **निसदतम्**=निश्चय से आसीन होते हो। ये मित्र वरुण ही हमें सोम के पान (रक्षण) के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का उपासक 'यज्ञशील' होता है तथा सोम (वीर्य) का रक्षण कर पाता है।

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ध्रुवक्षेमा-यातयज्जना

व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना। नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये॥ २॥

(१) हे मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **व्रतेन**=पुण्य कर्मों से **ध्रुवक्षेमा**=निश्चित कल्याण करनेवाले हो। स्नेह के होने पर हम अशुभ हिंसादि कर्मों में प्रवृत्त नहीं होते। (२) आप **धर्मणा**=धारणात्मक कर्मों के हेतु से ही **यातयज्जना**=लोगों को कर्मों में प्रवृत्त करते हो। सो आप **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिये **बर्हिषि**=हमारे वासनाशून्य हृदयों में **निसदतम्**=आसीन होवो।

भावार्थ—मित्र व वरुण का उपासक पुण्य कर्मों द्वारा कल्याण करनेवाला व धारणात्मक कर्मों में ही प्रवृत्त होनेवाला होता है।

ऋषिः—**बाहुवृक्त आत्रेयः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

इष्ट प्राप्ति

मित्रश्च नो वरुणश्च जुषेतां यज्ञमिष्टये। नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये॥ ३॥

(१) **मित्रः च वरुणः** स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **नः**=हमारे यज्ञ का **जुषेताम्**=

प्रीतिपूर्वक सेवन करें, जिससे **इष्टये**=हम सदा इष्ट सुखों को प्राप्त करनेवाले हों। यज्ञ की भावना हमारे चित्तों को निर्मल करती है। यज्ञात्मक कर्म हमारे घरों व समाज को स्वर्गोपम बना देते हैं। (२) हे मित्र वरुण! आप **सोमपीतये**=सोम रक्षण के लिये **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **निसदतम्**=निश्चय से आसीन होइये।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता हमें यज्ञों में प्रवृत्त कराके इष्टसाधक होते हैं।

यह प्राणसाधना के द्वारा अपने शरीररूप पुर को सुन्दर बनानेवाला 'पौर' है। यह प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। प्राणसाधना ही इसे समाज में स्नेह व निर्द्वेषता से चलने के योग्य बनायेगी। यह कहता है कि—

अथ षष्ठोऽनुवाकः

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परावति-अर्वावति

यदद्य स्थः परावति यदर्वावत्यश्विना। यद्वा पुरू पुरुभुजा यदन्तरिक्ष आ गतम्॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यद्**=यदि **अद्य**=आज **परावति स्थः**=आप सुदूर स्थान में हो, मस्तिष्करूप द्युलोक में आपका निवास है। अथवा **यद्**=यदि **अर्वावति**=यहाँ समीप में, शरीररूप पृथिवीलोक में आपका निवास है, तो आप **आगतम्**=हमें प्राप्त होवो। वस्तुतः मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक को प्राणापान ने ही निर्दोष बनाना है। (२) **यद् न**=अथवा यदि **पुरू**=शरीर के अन्य बहुत से प्रदेशों में **पुरुभुजा**=खूब ही पालन करनेवाले हो और **यद्**=यदि **अन्तरिक्षे**=हृदयरूप अन्तरिक्ष में आपका निवास है तो वहाँ से हमें प्राप्त होवो। वस्तुतः प्रभु ने शरीर में सर्वप्रथम मस्तिष्क, अर्थात् विज्ञानमयकोश की दीप्ति के लिये इन प्राणापान की स्थापना की है (परावति)। इधर अन्नमयकोश का स्वास्थ्य भी इन्हीं पर निर्भर करता है (अर्वावति)। शरीर के अन्य अंगों को ये प्राण ही शक्ति देते हैं (पुरुभुजा) तथा हृदयान्तरिक्ष को, मनोमयकोश को इन्होंने ही पवित्र करना है (अन्तरिक्षे)।

भावार्थ—प्राणापान मेरे शरीर की त्रिलोकी को व अन्य सब अंगों को पवित्र करनेवाले हों।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'तुविष्टमा' अश्विनौ

इह त्या पुरुभूतमा पुरू दंसांसि बिभ्रता। वरस्या याम्यध्रिगू हुवे तुविष्टमा भुजे॥ २॥

(१) **इह**=इस जीवन में **त्या**=उन **पुरु-भू-तमा**=खूब ही विभव को प्राप्त करानेवाले (भावयितृतम) अश्विनी देवों को, प्राणापान को **यामि**=समीपता से प्राप्त होता हूँ। ये प्राणापान शरीर में सोम रक्षण के द्वारा सब अन्नमय आदि कोशों को तेज आदि वैभवों से युक्त करते हैं। **पुरू दंसांसि बिभ्रता**=ये पालक व पूरक कर्मों को धारण करनेवाले हैं। अतएव **वरस्या**=वरणीय हैं, चाहने योग्य हैं। ये प्राणापान **अध्रिगू**=अधृतगमन हैं, इनकी शक्ति किसी से प्रतिहत नहीं होती (२) इन **तुविष्टमा**=(तुविः=strength, intellect) प्रचण्ड शक्ति व तीव्र ज्ञानवाले इन प्राणापान को **भुजे**=मस्तिष्क व शरीर के पालन के लिये **हुवे**=पुकारता हूँ। ये प्राणापान ही शरीर में शक्ति का संचार करते हैं और मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करते हैं। और इस प्रकार ये हमारा पालन करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान ही शरीर के सब कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं, हमारे जीवन में पालक व पूरक कर्मों का धारण करते हैं। हमें शक्ति व ज्ञान-सम्पन्न करके हमारा पालन व पूरण करते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अश्विनी देवों के रथ के दो चक्र

ई॒र्मान्यद्व॒पुषे॒ वपु॑श्च॒क्रं रथ॑स्य येमथुः। पर्य॒न्या नाहु॑षा यु॒गा म॒ह्ना रजां॑सि दीयथः ॥ ३ ॥

(१) हे **अश्विनी देवो**=प्राणापानो! आप अपने **रथस्य**=रथ के **अन्यत्**=एक **ईर्म**=सब ग्रन्थियों को (glands को) गतिमय करनेवाले **वपुषे**=शरीर के लिये **वपुः**=सब शक्तियों के बीजों का वपन करनेवाले **चक्रम्**=चक्र को, प्राणरूप चक्र को **येमथुः**=नियमित करते हो। अश्विनी देवों के रथ का एक चक्र प्राण है, तो दूसरा अपान। प्राण सब ग्रन्थियों को क्रियाशील करता हुआ शरीर में शक्ति का संचार करता है। सो प्राण चक्र को 'वपुषे वपुः' कहा है। (२) इस अश्विनी देवों के रथ का दूसरा चक्र 'अपान' है। **अन्या मह्ना**=इस दूसरे के महत्त्व से (अत्यस्यं महिम्ना) **नाहुषा युगा**=इन मानव दम्पतियों के, पति-पत्नी के **रजांसि**=मलों को **परिदीयथः**=शरीर में सर्वत्र विनष्ट करते हो। मलों को दूर करके उनके शरीरों को नीरोग बना देते हो।

भावार्थ—अश्विनी देवों के रथ का एक 'प्राण' रूप चक्र सब ग्रन्थियों को क्रियाशील बनाकर शक्ति का संचार करता है और दूसरा 'अपान' रूप चक्र मलों को दूर करके शरीर को नीरोग बनाता है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

निर्दोषता व प्रभु प्राप्ति

तदू॒ षु वा॑मे॒ना कृ॒तं विश्वा॒ यद्वा॒मनु॒ ष्टवे॑। नाना॑ जा॒तावरे॒पसा॒ सम॒स्मे बन्धु॒मेय॑थुः ॥ ४ ॥

(१) हे **विश्वा**=शरीर में प्रविष्ट होनेवाले प्राणापानो! **तद्**=वह **वाम्**=आपका गतमन्त्र में वर्णित् 'प्राणशक्ति संचार व रजा संहार' रूप कार्य **ऊ**=निश्चय से **एना**=इस प्रकार **सुकृतम्**=अच्छी प्रकार किया जाये **यत्**=कि **वाम्**=आपका मैं **अनुष्टवे**=प्रतिदिन स्तवन करनेवाला बनूँ। (२) **नाना**=पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए आप **अरेपसा जातौ**=हमारे जीवनों को निर्दोष बनानेवाले हो गये हो। हमारे जीवनों को निर्दोष बनाकर **अस्मे**=हमारे लिये **बन्धुम्**=उस महान् मित्र प्रभु को **समेयथुः**=संगत करते हो।

भावार्थ—प्राणापान हमारे जीवनों को निर्दोष बनाकर हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तथेन्द्रियाणां दरुयन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्

आ यद्वां॑ सू॒र्या रथं॒ तिष्ठ॑द्रघु॒ष्यदं॒ सदा॑। परि॑ वामरु॒षा वयो॑ घृ॒णा व॑रन्त आ॒तपः॑ ॥ ५ ॥

(१) हे अश्विनी देवो! **यद्**=जब **वां रघुष्यदम्**=तीव्र गतिवाले **रथम्**=रथ पर **सूर्या**=सूर्य-पुत्री-सूर्यवत् देदीप्यमान ज्ञानदीप्ति सदा **आतिष्ठत्**=सदा स्थित होती है। प्राणसाधना के द्वारा यह शरीर-रथ शक्ति-सम्पन्न व गतिशील बनता है और मलिनताओं का विनाश होकर हमारा ज्ञान दीप्त हो उठता है। यही अश्विनी देवों के रथ पर सूर्या का अधिष्ठान है। (२) उस समय हे प्राणापानो! **वाम्**=आपको **वयः**=(वि=horse) वे इन्द्रियाश्व **परिवरन्ते**=वरण करते हैं, जो **अरुषाः**=आरोचमान हैं **घृणाः**=दीप्त हैं और **आतपः**=सब शत्रुओं के संतापक हैं। वस्तुतः प्राणसाधना इन्द्रियों को

निर्दोष बनाकर उन्हें आरोचमान व दीप्त बना देती है। इस स्थिति में ये इन्द्रियाश्व आक्रामक 'विषय-वासना' रूप शत्रुओं का विनाश करनेवाले होते हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ विषयों में फँसती नहीं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर-रथ गतिमय व प्रकाशवाला बनता है। इस रथ में इन्द्रियाश्व आरोचमान दीप्त व शत्रु-संतापक होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अरेपस् घर्म

युवोरत्रिश्चिकेतति नरा सुम्नेन चेतसा। घर्मं यद्वामरेपसं नासत्यास्ना भुरण्यति ॥ ६ ॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **अत्रिः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठा हुआ पुरुष **सुम्नेन**=(joy, happiness) आनन्दयुक्त **चेतसा**=चित्त से **युवोः चिकेतति**=आप दोनों को जानता है। आपकी साधना से चित्त आनन्दयुक्त होता है, वह आनन्दयुक्त चित्त आपकी महिमा का स्मरण कराता है। (२) हे **नासत्या**=सब असत्यों को हमारे से दूर करनेवाले प्राणापानो! **यद्**=जो **वाम्**=आपकी **अरेपसम्**=निर्दोष **घर्मम्**=शक्ति की उष्णता है, उसे **आस्ना**=आस्य निष्पन्न स्तोत्र के द्वारा, अर्थात् ऊँचे-ऊँचे आपका स्तवन करता हुआ यह साधक **भुरण्यति**=प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से चित्त निर्मल होकर आनन्दयुक्त होता है। ऊँचे-ऊँचे स्तवन करते हुए हम उस स्तवन में होनेवाली प्राणसाधना के परिणामस्वरूप दोषशून्य शक्ति की उष्णता को प्राप्त करते हैं।

सूचना—शराब इत्यादि के पीने से उत्पन्न उष्णता सदोष है। प्राणसाधना जनित उष्णता निर्दोष है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तेजस्विता-उन्नति व गतिशीलता

उग्रो वां ककुहो ययिः शृण्वे यामेषु सन्तनिः। यद्वां दंसोभिरश्विनात्रिर्नराववर्तति ॥ ७ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों का **सन्तनिः**=शक्तियों के विस्तारवाला यह रथ **यामेषु**=जीवन-यात्रा के मार्गों में **उग्रः**=तेजस्वी **ककुहः**=उन्नत (शिखर स्थित) **ययिः**=निरन्तर गतिवाला **शृण्वे**=सुन पड़ता है। अर्थात् प्राणापान हमें तेजस्वी उन्नत व गतिशील बनाते हैं। (२) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **यद्**=जब **अत्रिः**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **दंसोभिः**=उत्तम कर्मों के हेतु से **वाम्**=आपको **आववर्तति**=पुनः-पुनः आवृत्त करता है, अर्थात् दीर्घ श्वासोच्छ्वास द्वारा आपके आवर्तन को करता है, दीर्घश्वास प्रश्वास होने से शोधन होता है। यह शोधन हमारे कर्मों की पवित्रता का कारण बनता है और हमें उन्नत करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें तेजस्वी उन्नत व गतिशील बनाती है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

समुद्र सन्तरण

मध्व ऊ षु मधूयुवा रुद्रा सिषक्ति पिप्युषी। यत्समुद्राति पर्षथः पक्वाः पृक्षो भरन्त वाम् ॥ ८ ॥

(१) हे **मधुयुवः**=माधुर्य का हमारे साथ मिश्रण करनेवाले, **रुद्रा**=(रुत् द्र) सब रोगों का द्रावण करनेवाले प्राणापानो! **उ**=निश्चय से **मध्वः**=माधुर्य से **पिप्युषी**=आप्यायन (वर्धन) को प्राप्त

करती हुई स्तुति **सुसिषक्ति**=आपका उत्तम सेवन करती है। जितना-जितना हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं, उतना-उतना ही हमारे जीवन में माधुर्य बढ़ता है। इस माधुर्य के बढ़ने से हम और अधिक प्राणों का स्तवन करनेवाले बनते हैं। (२) हे प्राणापानो! **यत्**=जब आप **समुद्रा अतिपर्षथः**=(कामो हि समुद्रः) काम-क्रोध के समुद्र को पार करते हो, तो **पक्वाः पृक्षः**=वृक्षों व अग्नि पर पके हुए अन्न फल ही **वां भरन्त**=आपका भरण करते हैं। अर्थात् इन प्राणापान का उपासक वानस्पतिक भोजन को ही ग्रहण करनेवाला होता है। इस प्रकार सात्त्विक आहार के साथ जब प्राणसाधना चलती है तो हम काम-क्रोध के समुद्रों को पार करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए प्राणायाम करें यह प्राणसाधना हमें (१) काम-क्रोध से पार करेगी, (२) और हमारे जीवन में माधुर्य का संचार करेगी।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मयोभुवा-मृडयत्तमा

सत्यमिद्वा उ अश्विना युवामाहुर्मयोभुवा। ता यामन्यामहूतमा यामन्ना मृळयत्तमा ॥ ९ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवाम्**=आपको साधक लोग **सत्यम्**=सचमुच **इत् वा उ**=ही निश्चय से **मयोभुवाः**='कल्याण के उत्पन्न करनेवाले' इस रूप में **आहुः**=कहते हैं। आपके द्वारा सब रोगों का निरास होकर वस्तुतः हमारा कल्याण होता है। (२) इसीलिए **ता**=वे प्राणापान **यामन्**=इस जीवन यज्ञ में **यामहूतमा**=आने के लिये अधिक से अधिक आह्वातव्य होते हैं। वे प्राणापान **यामन्**=इस जीवन यज्ञ में **आ**=सर्वथा **मृडयत्तमा**=अत्यन्त सुख को देनेवाले होते हैं। ये दीर्घ व नीरोग जीवन को प्राप्त कराके हमें सुखी करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान (१) हमें नीरोग करते हैं, (२) अतिशयेन सुखी करते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु स्तोत्रोच्चारण

इमा ब्रह्माणि वर्धनाश्विभ्यां सन्तु शन्तमा। या तक्षाम रथाँइवावोचाम बृहन्नमः ॥ १० ॥

(१) **इमा**=ये **ब्रह्माणि**=स्तोत्र **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के द्वारा **वर्धना सन्तु**=हमारा वर्धन करनेवाले हों और **शन्तमा** (सन्तु)=हमें अधिक से अधिक शान्ति के देनेवाले हों। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति निर्मल होती है, हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है। उस समय हमारे जीवन में स्तोत्र अनायास उच्चरित होते हैं। ये हमारी वृद्धि व शान्ति का कारण बनते हैं। (२) ये स्तोत्र वे हैं, **या**=जिन्हें हमने इस प्रकार **तक्षाम**=बनाया है, **इव**=जैसे कि एक रथकार **रथान्**=रथों को बनाता है। इस प्राणसाधना से पवित्र-हृदय होकर हम उस प्रभु के लिये **बृहन्नमः**=खूब ही नमन के वचनों को **अवोचाम**=उच्चरित करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा झुकाव प्रभु-स्तवन की ओर होता है और हमारे मुख से अनायास ही प्रभु स्तोत्र उच्चरित होने लगते हैं।

अगले सूक्त का भी ऋषि 'पौर आत्रेय' ही है—

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मनावसू-वृषण्वसू

कूष्ठो देवावश्विनाद्या दिवो मनावसू। तच्छ्रवथो वृषण्वसू अत्रिर्वामा विवासति ॥ १ ॥

(१) हे **देवौ**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप **कूष्ठः**=इस शरीरूप पृथिवी में स्थित होते हो और **आद्या**=आज यहाँ स्थित होकर **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **मनावसू**=ज्ञानरूप धनवाले होते हो। प्राणसाधना से ही बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। (२) हे **वृषण्वसू**=धनों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **तत् श्रवथः**=आप उस ज्ञान का श्रवण करनेवाले होते हो अतएव **अत्रिः**=यह काम-क्रोध व लोभ से ऊपर उठनेवाला व्यक्ति **वां आविवासति**=आपकी परिचर्या करता है। प्राणापान ही आराधनीय हैं। इन्हीं पर टकराकर आसुरभावनाएँ चूर्णीभूत हुआ करती हैं।

भावार्थ—प्राणापान इस शरीर में स्थित होकर जीवन को प्रकाशमय बनाते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दिवि देवा नासत्या

कुह त्या कुह नु श्रुता दिवि देवा नासत्या। कस्मिन्ना यतथो जने को वां नदीनां सचा ॥ २ ॥

(१) **कुह**=कहाँ **त्या**=वे प्रसिद्ध प्राणापान निवास करते हैं। शरीर में कहाँ प्राण का स्थान है और कहाँ अपान का? **नु**=अब **कुह**=किस कार्यक्षेत्र में **श्रुता**=ये प्रसिद्ध हैं? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **दिवि**=ये मस्तिष्करूप द्युलोक में रहते हैं। वस्तुतः शरीर में स्थित सब देवों का कार्यालय यह मस्तिष्करूप द्युलोक ही है। ये **देवा**=प्रकाशमय हैं, **नासत्या**=शरीर को असत्य से रहित करते हैं। प्राण प्रकाश को देता है, तो अपान असत्य को दूर करता है। (२) प्राणापान के महत्त्व को न समझने के कारण कोई विरला व्यक्ति ही इनकी साधना करता है। **कस्मिन् जने**=किसी एक आध व्यक्ति के जीवन में ही हे प्राणापानो! आप **आयतथः**=यत्न करते हो। जब वह व्यक्ति प्राणसाधना करता है, तो वह **कः**=कोई विरला व्यक्ति ही **वाम्**=आपकी **नदीनाम्**=ज्ञानवाणियों को **सचा**=अपने में समवेत करनेवाला होता है प्राणसाधना से अशुद्धि क्षय होकर ज्ञानदीप्ति होती ही है।

भावार्थ—जिस मनुष्य के जीवन में प्राणों की साधना चलती है, वहाँ ज्ञान की वाणियाँ भी विकसित होती हैं। प्राणापान का मुख्य कार्य जीवन को प्रकाशमय बनाना ही है। ये जीवन से असत्य को दूर कर देते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु की ओर

कं याथः कं ह गच्छथः कमच्छा युञ्जाथे रथम्।
कस्य ब्रह्माणि रण्यथो वयं वामुश्मसीष्टये ॥ ३ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **कं याथः**=उस आनन्दमय प्रभु की ओर जाते हो और **ह**=निश्चय से **कं गच्छथः**=उस आनन्दमय प्रभु के साथ संगत होते हो। **कं अच्छा**=उस आनन्दमय प्रभु को लक्ष्य करके ही **रथं युञ्जाथे**=आप इस शरीर-रथ को इन्द्रियाश्वों से जोतते हो। प्राणसाधना द्वारा ये इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रभु दर्शन के लिये अनुकूलता को प्राप्त करती हैं। इनके प्राण ही अन्तर्मुख करनेवाले होते हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **कस्य**=उस आनन्दमय प्रभु के **ब्रह्माणि**=इन ज्ञान वचनों में **रण्यथः**=रमण करते हो। आपकी साधना से ही हमारी बुद्धि तीव्र होकर ज्ञानवाणियों का ग्रहण करनेवाली बनती है। सो **वयम्**=हम **वाम्**=आपको **इष्टये**=सब इष्टों की प्राप्ति के लिये **उश्मसि**=कामना करते हैं। सब शुभों की प्राप्ति इन प्राणापानों से ही होती है।

भावार्थ—यह प्राणसाधना हमें प्रभु की ओर ले जाती है। प्राणसाधना से ही हमारी बुद्धि ज्ञानवाणियों में रमण करनेवाली बनती है। हम प्राणसाधना की कामनावाले हों।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पौर

पौरं चिद्ध्युदप्रुतं पौर पौराय जिन्वथः। यदीं गृभीततातये सिंहमिव द्रुहस्पदे ॥ ४ ॥

(१) **पौर**=(पौरौ) हे शरीररूप पुर के हित करनेवाले अश्विनी देवो! **युदप्रुतम्**=रेतःकणरूप जलों की ओर गतिवाले, इसके रक्षण के द्वारा **पौरम्**=इस शरीररूप पुरी का ध्यान करनेवाले इस साधक को **पौराय**=सम्पूर्ण पुर के हित के लिये **चित् हि**=निश्चय से **जिन्वथः**=प्रेरित करते हो। प्राणसाधना से रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है और इनके रक्षण से यह शरीररूप पुरी बड़ी ठीक बनी रहती है। इसको इस प्रकार ठीक रखनेवाला व्यक्ति सारे पुर का (नगर का) हित करनेवाला होता है। (२) हे अश्विनी देवो! आप **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **गृभीततातये**='ग्रहण किया है यज्ञ विस्तार को जिसने' उस पुरुष के लिये प्राप्त होते हो तो इस प्रकार उसके रोग व वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाले होते हो, **इव**=जैसे कि **द्रुहस्पदे**=द्रोह (हिंसा) के स्थानभूत अरण्य में **सिंहम्**=शेर को विनष्ट करते हैं। इस शरीररूप वन में काम-क्रोध आदि ही हिंस्रपशु हैं। इनका विनाश ये प्राणापान ही करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान हमारे शरीरस्थ शत्रुओं का विनाश करके हमें उत्कृष्ट शरीररूप पुरवाला बनाते हैं। ऐसे बनकर हम सर्वहित में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

जीर्ण का पुनः युवा होना

प्र च्यवानाज्जुजुरुषो वव्रिमत्कं न मुञ्चथः। युवा यदी कृथः पुनरा काममृण्वे वध्वः ॥ ५ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **च्यवानात्**=जिसकी शक्तियाँ च्युत होती जा रही हैं, अतएव **जुजुरुषः**=जो जीर्ण-शीर्ण-सा हो गया है, उस पुरुष से **वव्रिम्**=(रूप नाम नि० ३।७) उसके जीर्णरूप को **प्रमुञ्चथः**=मुक्त कर देते हो उसको जीर्णरूप से इस प्रकार पृथक् कर देते हो, **न**=जैसे कि **अत्कम्**=कवच को उतार देते हैं। प्राणसाधना के द्वारा एक वृद्ध पुरुष भी अपने जीर्णरूप को छोड़कर पुनः सुरूपता को प्राप्त करता है। (२) **यद्**=जब, **ई**=निश्चय से **पुनः**=फिर, इसे **युवा कृथः**=आप युवा कर देते हो, तो यह **वध्वः**=कार्यभार के वहन (वहतेः वधूः) की **कामम्**=इच्छा को **ऋण्वे**=प्राप्त करता है। प्राणसाधना से शक्तिशाली बनकर एक व्यक्ति कार्यभार को सहर्ष उठाने को उद्यत होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से वार्धक्य के चिह्न दूर होकर शक्ति की सुरूपता प्राप्त होती है और मनुष्य उत्साह के साथ कार्यभार को उठाने के लिये उद्यत होता है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'शक्ति व श्री' की प्राप्ति

अस्ति हि वामिह स्तोता स्मसि वां सन्दृशि श्रिये। नू श्रुतं म आ गतमवोभिर्वाजिनीवसू ॥ ६ ॥

(१) हे अश्विनौ! **हि**=निश्चय से **इह**=इस जीवन में **वाम्**=आपका ही सब कोई स्तोता **अस्ति**=स्तवन करनेवाला है। आपके स्तवन से ही सब उत्तमताएँ प्राप्त होती हैं। हम **वाम्**=आपके **सन्दृशि**=सन्दर्शन में **स्मसि**=हों। आपके सन्दर्शन में **श्रिये**=हम श्री की प्राप्ति के लिये हों। (२)

नु=अब **मे श्रुतम्**=मेरे आह्वान को आप **श्रुतम्**=सुनिये और **अवोभिः**=रक्षणों के साथ **आगतम्**=मुझे प्राप्त होइये। **वाजिनीवसू**=आप ही हमारे लिये शक्तिरूप धनवाले हैं (वाजिनम्=strength)। आप ने ही हमें शक्ति प्राप्त करानी है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शक्ति प्राप्त होती है, हमारा जीवन भी सम्पन्न बनता है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

विप्रता व यज्ञशीलता

को वा॒म॒द्य पु॑रू॒णामा व॑व्ने॒ मर्त्या॑नाम्। को विप्रो॑ विप्रवाहसा॒ को य॒ज्ञैर्वा॑जिनीवसू ॥ ७ ॥

(१) **पुरूणाम्**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों में **कः**=कोई विरला ही **अद्य**=आज **वाम्**=आपका **आवव्ने**=सर्वतः भजन करता है। प्राणसाधना की ओर विरले पुरुष प्रवृत्त होते हैं। (२) हे **विप्रवाहसा**=ज्ञानियों का धारण करनेवाले प्राणापानो! **कः विप्रः**=कोई विरला ही ज्ञानी पुरुष आपका उपासन करता है। हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनवाले प्राणापानो! **कः**=कोई विरला व्यक्ति ही **यज्ञैः**=यज्ञों के हेतु से आपका उपासन करता है। आपकी उपासना जीवन को यज्ञमय बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना (१) हमारा पालन व पूरण करती है (पुरूणाम्), (२) यह हमें विप्र (ज्ञानी) बनाती है। (३) इससे हम यज्ञशील बनते हैं, 'प्रभु पूजन, परस्पर संगतिकरण व दान' की वृत्तिवाले होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

(रथानां रथः) अश्विनी देवों का 'येष्ठ' रथ

आ वां॒ रथो॒ रथा॑नां॒ येष्ठो॑ यात्वश्विना। पु॒रू चि॑दस्म॒युस्ति॒र आ॑ङ्गू॒षो मर्त्ये॒ष्वा ॥ ८ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपका **येष्ठः**=उत्तम गमनवाला **रथानां रथः**=रथों में श्रेष्ठ रथ **आयातु**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। प्राणसाधना द्वारा यह शरीर-रथ खूब गतिवाला बनकर हमें प्राप्त हो। (२) यह **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाला 'येष्ठ' रथ **पुरू चित्**=बहुत भी शत्रुओं को **तिरः**=तिरस्कृत करनेवाला होता है और इसीलिए **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **आ**=सर्वतः **आंगूषः**=स्तुत्य होता है प्राणसाधना से यह शरीर-रथ ऐसा सुदृढ़ व गतिशील बनता है कि सब रोग व वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर-रथ 'येष्ठ'=गतिशील बनता है और (तिरः) शत्रुओं का तिरस्कर्ता होता है। अतएव यह अश्विनी देवों का रथ स्तुत्य होता है।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मधूयुवा-विचेतसा

शमू॒ षु वां॑ मधूयुवा॒स्माक॑मस्तु च॒र्कृतिः। अ॒र्वा॒ची॒ना वि॑चेतसा॒ विभि॑: श्ये॒नेव॑ दीयतम् ॥ ९ ॥

(१) हे **मधूयुवा**=हमारे साथ माधुर्य का सम्पर्क करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **चर्कृतिः**=पुनः-पुनः की जाती हुई स्तुति **अस्माकम्**=हमारे लिये **ऊषु**=निश्चय से **शं अस्तु**=शान्ति को देनेवाली हो। हम जितना-जितना आपका स्तवन करें, उतना ही शान्ति को प्राप्त होनेवाले हों। (२) **विचेतसा**=विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करानेवाले आप **अर्वाचीना**=हमें समीपता से प्राप्त होनेवाले होवो। **विभिः**=(वि=to rein) लगामों से (अभीशुभिः) **श्येना इव**=अत्यन्त शंसनीय गतिवाले होते हुए आप **दीयतम्**=हमें प्राप्त होवो प्राणसाधना द्वारा इन्द्रियाश्व लगामों से युक्त हो जाते हैं,

ये इन्द्रियाँ आत्मवश्य हो जाती हैं। इन आत्मवश्य इन्द्रियों से सब कार्य उत्तम ही होते हैं। इस प्रकार ये प्राणापान अत्यन्त शंसनीय गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) माधुर्य प्राप्त होता है, (२) शान्ति प्राप्त होती है, (३) हम विशिष्ट ज्ञानवाले बनते हैं, (४) शंसनीय गतिवाले होते हैं।

ऋषिः—**पौर आत्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणसाधना व वसुओं की प्राप्ति

अश्विना यद्ध कर्हिं चिच्छुश्रूयातमिमं हवम्।
वस्वीरू षु वां भुजः पृञ्चन्ति सु वां पृचः॥ १०॥

(१) **अश्विना**=हे प्राणापानो! **यद् ह**=यदि **कर्हिचित्**=किसी प्रकार आप **इमं हवम्**=इस मेरी पुकार को **शुश्रुयातम्**=सुन लो, तो **वाम्**=आपके **वस्वीः**=अत्यन्त प्रशस्य=निवास को उत्तम बनानेवाले, **भुजः**=पालन करनेवाले धन **उ**=निश्चय से **सु पृञ्चन्ति**=हमारे साथ उत्तम सम्पर्कवाले होते हैं। अर्थात् यदि हम प्राणसाधना कर पाते हैं तो हम उन वसुओं को, अध्यात्म धनों को प्राप्त करनेवाले होते हैं, जो हमारे जीवन को अतिप्रशस्त कर देते हैं। (२) ये धन हमें **वाम्**=आपके प्रति **सु पृचः**=उत्तम सम्पर्कवाला करते हैं। हम इन धनों की प्राप्ति के लिये आपकी ओर झुकते हैं। प्राणायाम में प्रवृत्त होना ही अश्विनी देवों की ओर झुकना है।

भावार्थ—जब हम प्राणसाधना की ओर झुकते हैं तो वे उत्कृष्ट धन हमें प्राप्त होते हैं जिनसे कि हमारा जीवन उत्तम बनता है और हम और अधिक इस प्राणापान की साधना में प्रवृत्त होते हैं।

प्राणसाधना द्वारा अपना रक्षण करनेवाला 'अवस्यु आत्रेय' अगले सूक्त का ऋषि हैं। वह कहता है कि—

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'प्रियतम-वसुवाहन' रथ

प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषिः स्तोमेन प्रति भूषति माध्वी मम श्रुतं हवम्॥ १॥

(१) हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **स्तोता**=स्तवन करनेवाला **ऋषिः**=गतिमय जीवनवाला, स्तुति के अनुसार क्रिया को करनेवाला यह आपका साधक **वां रथम्**=आपके इस शरीररूप रथ को **स्तोमेन**=स्तुति-समूह से **प्रति भूषति**=अलंकृत करता है। उस रथ को जो **प्रति प्रियतमम्**=प्रतिदिन हमें प्रीणित करनेवाला है, स्वस्थ व सुदृढ़ होता हुआ प्रसन्नता का कारण बनता है। **वृषणम्**=शक्तिशाली है। **वसुवाहनम्**=उत्तम वसुओं का वहन (धारण) करनेवाला है। प्राणसाधना से यह शरीर-रथ 'प्रिय-सशक्त व वसुसंपन्न' बनता है। (२) हे **माध्वी**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले प्राणापानो! **मम**=मेरी **हवम्**=पुकार को **श्रुतम्**=सुनिये। मैं प्राणसाधना करता हुआ शरीर को स्वस्थ सुदृढ़ व सुन्दर बनाकर प्रीति का अनुभव करूँ। ये प्राणापान मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर शक्तिशाली व वसु-सम्पन्न, उत्तम निवास के तत्त्वोंवाला बनता है। इस प्रकार ये प्राणापान हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं।

ऋषिः—अवस्युरात्रेयः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दस्रा हिरण्यवर्तनी

अ॒त्याया॑तमश्विना ति॒रो विश्वा॑ अ॒हं सना॑।
द॒स्रा॒ हिर॑ण्यवर्तनी॒ सुषु॑म्ना॒ सिन्धु॑वाहसा॒ माध्वी॒ मम॑ श्रु॒तं हव॑म्॥ २॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अति आयातम्**=हमें आप अतिशयेन प्राप्त होइये। **अहम्**=मैं शत्रुओं को **सना**=सदा **तिरः**=तिरस्कृत करनेवाला होऊँ। (२) आप ही तो **दस्रा**=इन शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले हैं। इनको नष्ट करके आप ही **हिरण्यवर्तनी**=हमारे जीवन के मार्ग को ज्योतिर्मय बनाते हैं। मार्ग को उत्तम बनाकर आप **सुषुम्ना**=उत्तम धनों व आनन्दों को प्राप्त कराते हैं और **सिन्धुवाहसा**=हमारे जीवन में ज्ञान समुद्र का वहन करनेवाले होते हैं। इस प्रकार **माध्वी**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले प्राणापानो! आप **मम**=मेरी **हवम्**=पुकार को **श्रुतम्**=सुनो। मेरी आराधना सफल हो और प्राणसाधना करता हुआ मैं जीवन को मधुर बनाऊँ।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम 'काम-क्रोध-लोभ' आदि सब शत्रुओं का तिरस्कार करें और जीवन को प्रशस्त व मधुर बनायें।

ऋषिः—अवस्युरात्रेयः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'रुद्रा वाजिनीवसू'

आ नो॒ रत्ना॑नि॒ बिभ्र॑ताव॒श्विना॒ गच्छ॑तं यु॒वम्।
रुद्रा॒ हिर॑ण्यवर्तनी जुषा॒णा वा॑जिनीवसू॒ माध्वी॒ मम॑ श्रु॒तं हव॑म्॥ ३॥

(१) **नः**=हमारे लिये हे **अश्विना**=प्राणापानो! **रत्नानि**=रमणीय स्वास्थ्य आदि धनों को **बिभ्रतौ**=धारण करते हुए **युवम्**=आप दोनों **आगच्छतम्**=आओ। आपकी साधना से ही हमें 'स्वास्थ्य, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता' आदि रत्नों की प्राप्ति होती है। (२) आप **रुद्रा**=सब रोगों का द्रावण करनेवाले हो। **हिरण्यवर्तनी**=जीवन मार्ग को ज्योतिर्मय बनानेवाले हो। **जुषाणा**=प्रीतिपूर्वक सेवित होते हुए आप **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनवाले हो। आपकी आराधना से ही यह शक्तिरूप धन प्राप्त होता है। **माध्वी**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो, मैं आपकी सदा आराधना करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से सब रमणीय धन प्राप्त होते हैं। इससे रोग दूर होते हैं और शक्ति मिलती है।

ऋषिः—अवस्युरात्रेयः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ककुहः-मृगः-वापुषः

सु॒ष्टुभो॑ वां वृषण्वसू॒ रथे॒ वाणी॒च्याहि॑ता।
उ॒त वां॑ ककु॒हो मृ॒गः पृक्षः॑ कृणोति वापु॒षो माध्वी॒ मम॑ श्रु॒तं हव॑म्॥ ४॥

(१) हे **वृषण्वसू**=वसुओं को जीवनधनों का वर्षण करनेवाले, प्राणापानो! **सुष्टुभः**=उत्तमता से स्तवन करनेवाले मेरी **वाणीची**=स्तुति वाणी **वां रथेः**=आपके इस शरीर-रथ में **आहिता**=स्थापित होती है। अर्थात् मैं आपका आराधन करता हूँ। आपने ही मुझे सब वसुओं को प्राप्त कराना है। आपके द्वारा ही यह शरीर-रथ सुन्दर बनता है। मेरी वाणी आपके गुणों का ही स्तवन करती है। (२) **उत**=और **वाम्**=आपका यह स्तोता **ककुहः**=उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होनेवाला बनता

है। **मृगः**=यह अपने गुण-दोषों का अन्वेषक होता है। **पृक्षः कृणोति**=हविरूप अन्नों को करनेवाला होता है, अर्थात् यज्ञशील बनता है। **वापुषः**=उत्तम शरीरवाला होता है। सो **माध्वी**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले आप **मम**=मेरी **हवं श्रुतम्**=पुकार को सुनो। मैं आपका आराधक बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा सब वसुओं की प्राप्ति से यह शरीर-रथ उत्तम बनता है। हम श्रेष्ठ, आत्मान्वेषी, यज्ञशील व उत्तम शरीरवाले होते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रथ्या-इषिरा

बो॒धिन्म॑नसा र॒थ्ये॑षि॒रा ह॑वन॒श्रुता॑ ।
वि॒भि॒श्च्यवा॑नमश्विना॒ नि या॑थो॒ अद्व॑याविनं॒ माध्वी॒ मम॑ श्रुतं॒ हव॑म् ॥ ५ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **बोधिन्मनसा**=मन को ज्ञानयुक्त करते हो। **रथ्या**=शरीर-रथ के लिये हितकर हो। **इषिरा**=शीघ्रगतिवाले होते हुए, शरीर में स्फूर्ति को पैदा करते हुए **हवनश्रुता**=प्रभु की पुकार को सुननेवाले हो, आपकी आराधना से ही मन की निर्मलता होकर प्रभु प्रेरणा सुनाई पड़ती है। (२) **विभिः**=(to rein) आप इन्द्रियाश्वों के लिये लगामों से इस **च्यवानम्**=आपकी आराधना से पूर्व मार्ग विचलित होते हुए पुरुष को **नि याथः**=निश्चय से प्राप्त होते हो। आपकी आराधना उसे सब इन्द्रियाश्वों को लगामों द्वारा संयत करनेवाला बनाती है **अद्वयाविनम्**=माया व छल-कपट से रहित करती है। आपकी कृपा से ही वह अद्वयावी बनता है। **माध्वी**=इस प्रकार जीवन को मधुर बनानेवाले आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'ज्ञान, स्वस्थ शरीर व निर्मल प्रभु प्रेरणा को सुननेवाला मन' प्राप्त होता है। यह साधना हमें इन्द्रियाश्वों को रोकने में समर्थ करके निष्कपट जीवनवाला बनाती है।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'संयत-दीप्त व शीघ्रगतिवाले' इन्द्रियाश्व

आ वां॑ नरा मनो॒युजोऽश्वा॑सः प्रुषि॒तप्स॑वः ।
वयो॑ वहन्तु पी॒तये॑ स॒ह सु॒म्नेभि॑रश्विना॒ माध्वी॒ मम॑ श्रुतं॒ हव॑म् ॥ ६ ॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपको **अश्वासः**=ये इन्द्रियाश्व **पीतये**=सोम के पान के लिये **आवहन्तु**=प्राप्त करायें। जो इन्द्रियाश्व **मनोयुजः**=मन रूप लगाम से युक्त हैं, **प्रुषितप्सवः**=(प्रुषित=burning) दीप्तरूपवाले हैं तथा **वयः**=शीघ्र गतिवाले हैं। वस्तुतः प्राणसाधना ही इन इन्द्रियाश्वों को ऐसा बनाती है। प्राणसाधना से ये इन्द्रियाश्व 'संयत दीप्त व शीघ्र गतिवाले' बनते हैं। ऐसा होने पर ही शरीर में सोम का रक्षण होता है। (२) इस प्रकार हे प्राणापानो! आप **सुम्नेभिः सह**=प्रभु-स्तवनों के साथ **माध्वी**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले हो। आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो। मैं प्राणसाधना करता हुआ प्रभु का स्तोता व मधुर जीवनवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ 'संयत, दीप्त व शीघ्र गतिवाली' बनती हैं। प्राणसाधक प्रभु का स्तोता व मधुर जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नासत्या-अदाभ्या

अश्वि॑ना॒वेह ग॑च्छतं॒ नास॑त्या॒ मा वि वे॑नतम्।
ति॒रश्चि॑दर्य॒या परि॑ व॒र्तिर्या॑तमदाभ्या॒ माध्वी॒ मम॑ श्रु॒तं हव॑म्॥ ७॥

(१) **अश्विनौ**=हे प्राणापानो! **इह**=इस हमारे जीवनयज्ञ में **आगच्छतम्**=आप आवो। हम सदा आपकी आराधना करें। हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **मा विवेनतम्**=हमारे प्रति अपगत कामनावाले मत होवो। हम कभी भी प्राणसाधना से विमुख न हों। (२) **अर्यया** (अर्यौ सा०)=हमारे जीवन यज्ञ के स्वामी होते हुए आप **तिरः चित्**=दूर देश से भी **वर्तिः परियातम्**=हमारे शरीर-गृह को प्राप्त होवो। हम अन्य सब कार्यों को छोड़कर प्राणसाधना को अवश्य करें ही। **अदाभ्या**=आप हिंसित होनेवाले नहीं। आपकी साधना के होने पर शरीर रोगों से व मन वासनाओं से आक्रान्त व हिंसित नहीं हो पाता इस प्रकार हमारे जीवन को **माध्वी**=मधुर बनानेवाले आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो। अर्थात् मैं सदा आपकी आराधना करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना को हम अवश्य करें ही। पर हमारे जीवन को 'असत्य से शून्य, रोगों व वासनाओं से अहिंसित तथा मधुर' बनायेगी।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शुभस्पती

अ॒स्मिन्य॒ज्ञे अ॑दाभ्या जरि॒तारं॑ शुभस्पती।
अ॒व॒स्युम॑श्विना यु॒वं गृ॒णन्त॒मुप॑ भूषथो॒ माध्वी॒ मम॑ श्रु॒तं हव॑म्॥ ८॥

(१) **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **अदाभ्या**=न हिंसित होनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **जरितारम्**=स्तोता को **अवस्युम्**=रक्षण की कामनावाले को तथा **गृणन्तम्**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले को **उप भूषथः**=समीपता से प्राप्त होते हो। आप **शुभस्पती**=(शुभस् beauty, radiance, happiness, victory, water, a brilliant chariot) शरीर के सौन्दर्य का कारण बनते हो, ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त कराते हो, जीवन को आनन्दमय बनाते हो, रोगों व वासनाओं पर हमें विजय प्राप्त कराते हो। रेतःकण रूप जलों के रक्षक होते हो, शरीर-रथ को तेजस्विता से दीप्त करते हो। आपके द्वारा ही प्रभु स्तवन की वृत्ति, रोगों से रक्षण तथा ज्ञानरुचि प्राप्त होती है (जरितारं, अवस्युं, गृणन्तम्) (२) इस प्रकार **माध्वी**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले आप **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो। मैं सदा आपकी आराधना में प्रवृत्त होऊँ।

भावार्थ—प्राणापान हमारे जीवन में 'शुभस्पती' हैं। ये सब शुभों को हमें प्राप्त कराते हैं। इनको प्राप्त कराके वे हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं।

ऋषिः—**अवस्युरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ध्यान-यज्ञ-प्राणायाम

अभू॑दु॒षा रुश॑त्पशु॒राग्निर॑धाय्यृ॒त्वियः॑।
अयो॑जि वां वृषण्वसू॒ रथो॑ दस्रा॒वम॑र्त्यो॒ माध्वी॒ मम॑ श्रु॒तं हव॑म्॥ ९॥

(१) **उषाः अभूत्**=उषःकाल हुआ है जिसमें **रुशत् पशुः**=(bright रुशत्, supreme

spirit पशु) आत्मतत्त्व की दीप्ति देखी गयी है। ध्यान के द्वारा इस उषा में प्रभु के दर्शन का प्रयत्न होता है। (२) वह **अग्निः**=यज्ञ की अग्नि **आ अधायि**=चारों ओर घरों में अग्निकुण्ड में स्थापित हुआ है, जो **ऋत्वियः**=ऋतुओं की अनुकूलता को जन्म देनेवाला है। सर्वत्र अग्निहोत्र होने से ऋतुओं का प्रादुर्भाव बड़ी अनुकूलता के साथ होता है। (३) हे **दस्रौ**=शत्रुओं का विनाश करनेवाले व **वृषण्वसू**=जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं (धनों) का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपका **रथः**=यह शरीर-रथ **अयोजि**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से युक्त होता है और **अमर्त्यः**=यह रोगों का शिकार होकर असमय में नष्ट होनेवाला नहीं होता। इस प्रकार हम नियम से प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं और हे प्राणापानो! आप **माध्वी**=हमारे जीवन को मधुर बनाते हो। **मम हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को आप सुनो।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रातः 'ध्यान, यज्ञ व प्राणायाम' में प्रवृत्त हों। यही प्रभु दर्शन ऋतुओं की अनुकूलता व दुःखक्षय का मार्ग है।

सब दुःखों से ऊपर उठा हुआ 'अत्रि' (तीनों दुःखों से परे) अगले सूक्त में प्राणापान का आराधन करता है—

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पीपिवांसं घर्ममच्छ

आ भात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणां देवया वाचो अस्थुः।
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्ममच्छ॥ १॥

(१) **उषसाम्**=उषाकालों का **अनीकम्**=मुखरूप, अर्थात् उषाओं में सर्वप्रथम प्रबुद्ध किया जानेवाला **अग्निः**=अग्नि **आभाति**=दीप्त होता है। उस समय **विप्राणाम्**=ज्ञानी पुरुषों की **देवयाः वाचः**=उस देव की ओर हमें ले जानेवाली वाणियाँ **उद् अस्थुः**=उत्थित होती हैं। अर्थात् ज्ञानी पुरुष अग्निहोत्र के लिये अग्नि को समिद्ध करते हैं और प्रभु के स्तवन के लिये ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हैं। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नूनम्**=निश्चय से **इह**=यहाँ **अर्वाञ्चा**=हमारे अभिमुख **यातम्**=प्राप्त होवो। **रथ्या**=आप इस शरीर-रथ को उत्तम बनानेवाले हो। आप हमें **पीपिवांसम्**=आप्यायित होती हुई **घर्मं अच्छ**=शक्ति की उष्णता की ओर ले चलते हो।

भावार्थ—हम प्रातः अग्निहोत्र करें, प्रभु का स्तवन करें और प्राणायाम में प्रवृत्त हों। यह प्राणायाम हमारी शक्ति का वर्धन करे और हमारे शरीर-रथ को उत्तम बनानेवाला हो।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शम्भविष्ठा

न संस्कृतं प्र मिमीतो गमिष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह।
दिवाभिपित्वेऽवसागमिष्ठा प्रत्यवर्तिं दाशुषे शंभविष्ठा॥ २॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **संस्कृतम्**=शरीर, मन व बुद्धि के परिष्कार को **न प्रमिमीतः**=हिंसित नहीं करते हो **उपस्तुता**=स्तुत हुए-हुए आप **नूनम्**=निश्चय से **इह**=इस जीवन में **अन्ति गमिष्ठा**=समीपता से प्राप्त होते हो। **दिवा अभिपित्वे**=(अभिपतने) दिन के निकलते ही **अवसा**=रक्षण के हेतु से **आगमिष्ठा**=आप हमें प्राप्त होते हो। (२) हमें प्राप्त होकर आप **अवर्तिं प्रति**=सब दौर्भाग्यों पर (गमिष्ठा) आक्रमण करनेवाले होते हो। शरीरस्थ सब दौर्भाग्यों

को आप दूर करते हो। सब दौर्भाग्यों को दूर करके **दाशुषे**=दाश्वान् के लिये, आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये आप **शंभविष्ठा**=अधिक से अधिक शान्ति को देनेवाले होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'शरीर, मन व बुद्धि' का संस्कार ठीक बना रहता है। सब प्रकार के दौर्भाग्यों का दूरीकरण होकर शान्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्य गुणों का रक्षण

उता यातं संगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य।
दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **उत**=निश्चय से **संगवे**=(संगच्छन्ते गावः दोहनभूमिम् यदा) सायं दोहन काल में, **अह्नः प्रातः**=दिन के प्रातःकाल में **मध्यन्दिने**=मध्याह्न में **सूर्यस्य उदिता**=सूर्योदय के समय आप **आयातम्**=हमें प्राप्त होवो। उल्लिखित चारों समयों में हम आपका आराधन करनेवाले बनें। (२) इनके अतिरिक्त **दिवानक्तम्**=दिन-रात **शन्तमेन अवसा**=अत्यन्त शान्ति को देनेवाले रक्षण के साथ आप हमें प्राप्त होवो। जब भी हमें सुविधा हो हम प्राणसाधना करनेवाले बनें और अपने जीवन में सुरक्षा व शान्ति को प्राप्त करें। हे प्राणापानो! **इदानीम्**=अब **पीतिः**=अन्य देवों का रक्षण आपके बिना **न ततान**=विस्तृत नहीं होता। प्राणसाधना के द्वारा ही सब देवों का रक्षण होता है।

भावार्थ—जब सुविधा हो हम प्राणायाम का अभ्यास करें। प्राणसाधना ही सुरक्षा व शान्ति का साधन है। इसी से सब दिव्य गुणों का रक्षण होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ओकः-गृहाः-दुरोणम्

इदं हि वां प्रदिवि स्थानमोक इमे गृहा अश्विनेदं दुरोणम्।
आ नो दिवो बृहतः पर्वतादाद्भ्यो यातमिषमूर्जं वहन्ता॥ ४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **इदम्**=यह **हि**=निश्चय से **वाम्**=आपका **प्रदिवि स्थानम्**=प्रकृष्ट द्युलोक में, मस्तिष्करूप द्युलोक में जो स्थान है, वही **ओकः**=आपका समवाय स्थान है। **इमे गृहाः**=यह हमारा शरीर ही आपका घर है। **इदं दुरोणम्**=यही आपका दुरोण (गृह) है। इस शरीर में ही प्रभु से मेल इन प्राणापाणों के द्वारा होता है, सो यह 'ओक' है। यहीं दिव्य गुणों का संग्रह होता है, सो यह 'गृहाः' हैं। इन प्राणापान के द्वारा यहां से सब बुराइयों का अपनयन होता है सो यह दुरोण है (दुर् ओम=अपनयन) (२) हे प्राणापानो! आप **नः**=हमें **आयातम्**=प्राप्त होवो। **बृहतः दिवः**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान के हेतु से प्राप्त होवो तथा **पर्वतात्**=सब उत्तमताओं के पूरण के हेतु से प्राप्त होवो (पर्व पूरणे)। **अद्भ्यः**=रेतःकणरूप जलों के हेतु से तुम हमें प्राप्त होवो। प्राणसाधना से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, सब कमियाँ दूर होती हैं तथा रेतःकणों का रक्षण होता है। हे प्राणापानो! आप हमारे लिये **इषम्**=प्रेरणा को तथा **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **वहन्ता**=प्राप्त करानेवाले होवो। प्राणसाधना से निर्मल हृदय में हम प्रभु प्रेरणा को सुनते हैं और उस प्रेरणा को क्रिया में परिणत करने के लिये शक्ति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) इस शरीर में हम प्रभु से मेल को प्राप्त करते हैं। सो यह 'ओक' बनता है (उच समवाये)। (२) यहां हम गुणों का ग्रहण करते हैं। सो यह 'गृहाः'

कहलाता है। (३) तथा सब बुराइयों को दूर करके ये इसे 'दुरोण' बनाते हैं। (४) प्राणसाधना से ही 'ज्ञान, पूर्ति व सोमरक्षण' होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नूतन अवस्

सम॒श्विनो॒रव॑सा॒ नूत॑नेन मयो॒भुवा॑ सु॒प्रणी॑ती गमेम।
आ नो॑ र॒यिं व॑हत॒मोत वी॒राना विश्वा॑न्यमृता॒ सौभ॑गानि ॥ ५ ॥

(१) हम **अश्विनोः**=प्राणापान के **अवसा**=रक्षण से **सुप्रणीती**=उत्तम मार्ग पर चलने के द्वारा **संगमेम**=संगत हों। उस रक्षण से संगत हों, जो **नूतनेन**=अत्यन्त स्तुति के योग्य है (नु स्तुतौ) तथा **मयोभुवा**=कल्याण को पैदा करनेवाला है। (२) हे प्राणापानो! आप **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=धन को **आवहतम्**=प्राप्त कराओ। **उत**=और **वीरान् आ**=वीर सन्तानों को प्राप्त कराओ। **विश्वानि**=सब **अमृता**=नीरोगताओं को प्राप्त कराओ। इन नीरोगताओं के द्वारा **सौभगानि**=हमें सब सौभाग्यों के आप प्राप्त करानेवाले होवो।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारा अद्भुत रक्षण करती है। यह हमें 'ऐश्वर्य, वीर सन्तानें व सब सौभाग्यों' के देनेवाली है।

'अत्रि' ऋषि ही कहता है—

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रातर्यावाणा प्रथमा

प्रा॒त॒र्यावा॑णा प्रथ॒मा य॑जध्वं पु॒रा गृध्रा॒दर॑रुषः पिबातः।
प्रा॒तर्हि य॒ज्ञम॒श्विना॑ द॒धाते॒ प्र शं॑सन्ति क॒वयः॑ पूर्व॒भाजः॑ ॥ १ ॥

(१) **प्रातर्यावाणा**=प्रातःकाल से ही गतिवाले **प्रथमा**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले इन अश्विनी देवों का **यजध्वम्**=उपासन करो। प्राणापान हमें निरन्तर गतिशील बनाते हैं और हमारी शक्तियों का विस्तार करते हैं। **पुरा**=पूर्व इसके कि **गृध्रात्**=लोभ की वृत्ति और **अररुषः**=अपार (कृपणता) की वृत्ति **पिबातः**=हमारी शक्तियों को पी जायें, हम इन प्राणापान की आराधना करें। इनकी आराधना से ये लोभ व कृपणता की वृत्तियाँ हमारे में पनपेंगी ही नहीं। लोभ आदि वृत्तियों के अभाव में सोम का रक्षण सुगम होता है। (२) **अश्विना**=ये प्राणापान **प्रातः**=सवेरे-सवेरे ही **हि**=निश्चय से **यज्ञं दधाते**=यज्ञ का धारण करते हैं। प्राणसाधना से हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है। इन प्राणों के साथ टकराकर सब आसुरभाव चकनाचूर हो जाते हैं। इसीलिए **पूर्वभाजः**=पूर्वता के, पूरणता के उपासक **कवयः**=ज्ञानी लोग **प्रशंसन्ति**=इन प्राणापान का शंसन करते हैं। वस्तुतः इस प्राणसाधना के द्वारा ही वे अपना पूरण करते हैं और इसी से ज्ञानवृद्धि को भी प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना सब आसुरभावों को विनष्ट करके हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है। इससे हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रातः-सायं प्राणायाम व यज्ञ करना

प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम्।
उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वःपूर्वो यजमानो वनीयान्॥ २॥

(१) **प्रातः**=प्रातःकाल **अश्विना**=प्राणापान का **यजध्वम्**=उपासन करो तथा **हिनोत**=हवियों को भेजनेवाले होवो। अर्थात् प्रातः हम प्राणायाम व अग्निहोत्र अवश्य करें। **सायम्**=सायंकाल भी **देवयाः**=देवताओं के प्रति जानेवाली यह हवि **अजुष्टं न अस्ति**=असेवित नहीं होती। सायं भी हमें इसी प्रकार प्राणायाम व अग्निहोत्र करना है। पर प्रातः व सायं की साधना में प्रातः की साधना का महत्त्व अधिक है। (२) **उत**=और **अस्मत् अन्यः**=हमारे से भिन्न जो कोई भी **यजते**=इन प्राणापान का उपासन करता है, **च**=और **वि अवः**=विशेषरूप से देवों का प्रीणित करता है, हवि से तृप्त करता है, अर्थात् अग्निहोत्र आदि यज्ञों को करता है, तो **पूर्वः पूर्वः यजमानः**=पहला-पहला यज्ञशील व्यक्ति **वनीयान्**=सम्भजनीय व आदरणीय है। जो कोई भी हमारे से आयुष्य में बड़ा है और यज्ञशील है वह हमारे आदर का पात्र है ही। उसका आदर करते हुए हम यज्ञशीलता का आदर करते हैं और इस प्रकार यज्ञशील बनने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्राणसाधना व यज्ञ करें। प्रातः प्राणसाधना को अधिक महत्त्व दें। यज्ञशील पुरुषों का आदर करें।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मनोजवा वातरंहा

हिरण्यत्वङ्मधुवर्णो घृतस्नुः पृक्षो वहन्ना रथो वर्तते वाम्।
मनोजवा अश्विना वातरंहा येनातियाथो दुरितानि विश्वा॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वां रथः**=आपका यह शरीर रूप रथ **पृक्षः वहन्**=हविरूप अन्नों को धारण करता हुआ **आवर्तते**=चारों ओर गतिवाला होता है, अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त होता है। यह **हिरण्यत्वक्**=सोने की तरह चमकती हुई त्वचावाला है, अर्थात् तेजस्विता से दीप्त है। **मधुवर्णः**=अत्यन्त मधुर वर्णवाला है, अर्थात् बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है। **घृतस्नुः**=दीप्ति को प्रस्नुत करनेवाला है, चमक ही चमक इससे टपकती है। (२) यह रथ **मनोजवाः**=मन के समान वेगवाला है, **वातरंहाः**=वायु के समान गतिवाला है। अर्थात् दृढ़ होता हुआ यह विचारशील व गतियुक्त है। 'मनोजवाः' विशेषण विचार का द्योतक है और 'वातरंहाः' गति का। यह रथ वह है **ये न**=जिससे **विश्वा दुरितानि**=सब दुरितों को आप **अतियाथः**=पार कर जाते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर-रथ तेजस्विता से चमकता हुआ अतिदृढ़, विचारशील व प्रभु के समान तीव्र गतियुक्त बनकर हमें सब दुरितों से पार ले जाता है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणायाम-सात्त्विक अन्न का सेवन

यो भूयिष्ठं नासत्याभ्यां विवेष चनिष्ठं पित्वो ररते विभागे।
स तोकमस्य पीपरच्छमीभिरनूर्ध्वभासः सदमित्तुतुर्यात्॥ ४॥

(१) **यः**=जो **नासत्याभ्याम्**=इन प्राणापानों के लिये **भूयिष्ठम्**=अत्यधिक **विवेष**=व्याप्तिवाला

होता है, अर्थात् जो प्राणापान को साधना के लिये अधिकाधिक समय को देता है तथा **विभागे**=हविर्विभागवाले यज्ञादि कर्मों के होने पर **पित्वः चनिष्ठम्**=अन्नों में उत्तम अन्नों को इनके लिये **ररते**=देता है। अर्थात् यज्ञशेष के रूप में सात्त्विक अन्नों का सेवन करता है। **सः**=वह व्यक्ति **अस्य तोकम्**=इस अपने शरीरस्थ की वृद्धि को **पीपरत्**=पालित करता है। अर्थात् प्राणायाम व यज्ञशिष्ट सात्त्विक अन्न के सेवन से उसका यह शरीर सब दृष्टियों से उन्नत ही उन्नत होता है। (२) यह प्राणसाधक पुरुष **शमीभिः**=शान्त भाव से किये जानेवाले कर्मों से **अनूर्ध्वभासः**=अतेजस्विताओं को (न ऊर्ध्व भास्) अथवा अयज्ञिय भावनाओं को जिनमें यज्ञाग्नि का प्रज्वलन नहीं होता, उन वृत्तियों को **सदं इत्**=सदा ही **तुतुर्यात्**=विनष्ट करता है, अर्थात् यह तेजस्वी व यज्ञशील बनता है।

भावार्थ—प्राणायाम करने व सात्त्विक यज्ञशिष्ट अन्न के सेवन से यह शरीर वृद्धि को प्राप्त करता है। हम तेजस्वी व यज्ञशील बनते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अमृत-सौभग

सम॒श्विनो॒रव॑सा॒ नूत॑नेन मयो॒भुवा॑ सु॒प्रणी॑ती गमेम।
आ नो॑ र॒यिं व॑हत॒मोत वी॒राना विश्वा॑न्यमृता॒ सौभ॑गानि॥ ५ ॥

(१) मन्त्र व्याख्या ७६.५ पर द्रष्टव्य है।

'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सातों को वश में करनेवाला 'सप्तवध्रि' प्राणापान की आराधना करता हुआ कहता है—

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

हंसौ इव

अश्वि॑ना॒वेह ग॑च्छतं॒ नास॑त्या॒ मा वि वे॑नतम्। हं॒सावि॑व पतत॒मा सु॒ताँ उप॑॥ १ ॥

(१) **अश्विनौ**=हे प्राणापानो! **इह**=यहाँ हमारे जीवन में **आगच्छतम्**=तुम आओ। हम सदा आपकी आराधना करनेवाले हों। हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **मा विवेनतम्**=अपगत कामनावाले मत होवो। हमारे प्रति आपका प्रेम बना रहे। हमें सदा प्राणायाम की रुचि प्राप्त हो। (२) हे प्राणापानो! **हंसौ इव**=हंसों की तरह **सुतान् उप**=उत्पन्न हुए-हुए सोमों के प्रति **आपततम्**=तुम सर्वथा प्राप्त होवो। 'हन्ति पापमानं इति हंसः' पाप को नष्ट करनेवाला 'हंस' है। ये प्राणापान हंस हैं। पापों को नष्ट करनेवाले हैं। वासनाओं को विनष्ट करके, सब असत्यों को दूर करके आप शरीर में उत्पन्न सोमों का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्राणायाम की रुचिवाले हों। ये प्राणापान सब असत्यों व पापों को दूर करके शरीर में सोमों का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

हरिणौ इव, गौरौ इव

अश्वि॑ना हरि॒णावि॑व गौ॒रावि॒वानु॒ यव॑सम्। हं॒सावि॑व पतत॒मा सु॒ताँ उप॑॥ २ ॥

(१) **अश्विना**=हे प्राणापानो! **हरिणौ इव**=आप हरिणों की तरह हो, सब दुःखों का हरण

करने के कारण (हरति) 'हरिण' हो। **गौरौ इव**=आप गौर मृगों की तरह हो (गुहते उद्युङ्क्ते) शरीर में सब उद्योगों को करनेवाले हो जैसे वे हरिण और गौर **यवसं अनु**=घास के प्रति जाते हैं उसी प्रकार आप शरीर में **सुतान् उप**=उत्पन्न इन सोमों के प्रति प्राप्त होवो। (२) आप **हंसौ इव**=(हन्तिपाप्मानम्) पापों को नष्ट करनेवाले के समान 'हंस' बनकर **सुतान् उप आपततम्**=इन उत्पन्न सोमों के प्रति प्राप्त होवो। इन प्राणापान के द्वारा ही शरीर में सोमकणों की ऊर्ध्वगति होती है।

भावार्थ—प्राणापान 'हरिण' हैं, दुःखों का हरण करनेवाले हैं। ये 'गौर' हैं, शरीर में सब उद्योगों का कारण बनते हैं। 'हंस' हैं, सब पापों को नष्ट करते हैं। प्राणापान और व हरिण हैं। ये जैसे घास के प्रति जाते हैं, उसी प्रकार प्राणापान सोमकणों के प्रति।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वाजिनीवसू

अश्विना वाजिनीवसू जुषेथां यज्ञमिष्टये। हंसाविव पततमा सुताँ उप॥ ३॥

(१) **अश्विना**=हे प्राणापानो! आप **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनवाले हो, आप ही सब अंग-प्रत्यंगों को शक्ति देते हो। आप **यज्ञं जुषेथाम्**=हमारे जीवनयज्ञ का सेवन करते हो और **इष्टये**=सब इष्टों की प्राप्ति के लिये होते हो। प्राणसाधना से जीवन में सब अभीष्ट तत्त्वों की प्राप्ति होती है। (२) हे प्राणापानो! आप **हंसौ इव**=पापों को नष्ट करनेवालों की तरह **सुतान् उप**=उत्पन्न सोमकणों के प्रति **आपततम्**=सर्वथा प्राप्त होते हो वस्तुतः प्राणापान ही वासनाओं के विनष्ट करके सोमकणों का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान ही हमें शक्तिरूप धन को प्राप्त कराते हैं। इन्हीं से जीवनयज्ञ सब इष्ट प्राप्ति करानेवाला बनता है। ये प्राणापान ही सोमकणों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्धकार गर्त से ऊपर

अत्रिर्यद्वामवरोहन्नृबीसमजोहवीन्नाधमानेव योषा।
श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनागच्छतमश्विना शन्तमेन॥ ४॥

(१) **ऋबीसम्**=(अपगतभासम्) अन्धकारमय गर्त में **अवरोहन्**=उतरता हुआ **अत्रिः**=(अद्यते त्रिभिः) काम-क्रोध-लोभ से खाया जाता हुआ **यद्**=जब कभी ठोकर लगने पर चेतना में आता है और **वाम्**=हे प्राणापानो! आप दोनों को, **नाधमाना योषा इव**=याचना करती हुई स्त्री की तरह, अर्थात् अत्यन्त नम्र भाव से **अजोहवीत्**=पुकारता है। मनुष्य संसार में विषयों में फँसने पर अधिक और अधिक अन्धकारमय गर्त में पहुँचता जाता है। कभी जरा चेतता है, तो अपनी दुर्गति से दुःखी होकर उस दीन अवस्था में प्राणापान को रक्षण के लिये पुकारता है। (२) पुकारे जाने पर हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **श्येनस्य**=शंसनीय गतिवाले बाज के **चित्**=निश्चय से **जवसा**=वेग से **अगच्छतम्**=उसे प्राप्त होते हो। यह आपका वेग उस अत्रि के लिये **नूतनेन**=नवीन जीवन का कारण बनता है तथा **शन्तमेन**=उसे अधिक से अधिक शान्ति प्राप्त कराता है। इस प्राणसाधना से काम-क्रोध आदि इस प्रकार नष्ट किये जाते हैं, जैसे कि चिड़ियाँ बाज से। अब यह प्राणसाधना करता हुआ अत्रि 'अद्यते त्रिभिः' न रहकर 'अविद्यमानाः त्रयो यस्य' हो जाता है। यह काम-क्रोध-लोभ से पीड़ित नहीं होता, इसके जीवन से काम-क्रोध-लोभ विलुप्त हो जाता है। परिणामतः

यह अद्भुत शान्ति का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अन्धकार गर्त में पड़ा हुआ व्यक्ति भी ऊपर उठता है और नवीन शान्त जीवन को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सप्तवध्रि' बनना

वि जिहीष्व वनस्पते योनिः सूष्यन्त्याइव। श्रुतं मे अश्विना हवं सप्तवध्रिं च मुञ्चतम्॥ ५॥

(१) **इव**=जैसे **सूष्यन्त्याः**=बच्चे को जन्म देनेवाली युवति की **योनिः**=जननाङ्ग प्रदेश विवृत होता है, उसी प्रकार हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन्! आप **विजिहीष्व**=हमारे लिये विवृत होइये। जैसे वह जननाङ्ग एक बालक को जन्म देती है, इसी प्रकार आप हमारे लिये ज्ञानरश्मियों को प्रकट करिये। इन ज्ञानरश्मियों के अनुसार हम कार्यों को करनेवाले बनें। यह सब प्राणसाधना के द्वारा ही तो होता है। सो प्राणापान से प्रार्थना करता हुआ सप्तवध्रि कहता है कि—(२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मे हवं श्रुतम्**=मेरी पुकार को सुनो। मैं सदा आपकी साधना में प्रवृत्त होऊँ। **च**=और मुझ **सप्तवध्रिम्**=दो कानों, दो नासिका-छिद्रों, दो आँखों व मुख को वशीभूत करनेवाले को आप **मुञ्चतम्**=विषयों के बन्धन से मुक्त करो। प्राणसाधना के द्वारा ही वस्तुतः हम सप्तवध्रि बनकर इन्द्रियों की दासता से मुक्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम इन्द्रियों को वश में करेंगे तो हमारे लिये आचार्य की ज्ञानरश्मियों का द्वार खुल जायेगा।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के भयवाला जीवन

भीताय नाधमानाय ऋषये सप्तवध्रये। मायाभिरश्विना युवं वृक्षं सं च वि चाचथः॥ ६॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **मायाभिः**=प्रज्ञानों के साथ **वृक्षम्**=इस मेरे 'ऊर्ध्वमूल अधशाख अश्वत्थ' (पीपल) वृक्ष को, अर्थात् शरीर को **सं अचथः**=सम्यक् प्राप्त होते हैं, **च**=और **वि अचथः**=विविध अंग-प्रत्यंगों में प्राप्त होते हो। प्राणायाम के अभ्यास से शरीर में सर्वत्र प्राणापान की ठीक गति होती है। और ये प्राणापान हमें प्रज्ञानों को प्राप्त कराते हैं। (२) उस मेरे लिये प्रज्ञानों को प्राप्त कराते हैं, जो मैं **भीताय**=प्रभु की उपस्थिति को अनुभव करता हुआ पापों से भयभीत रहता हूँ। **नाधमानाय**=जो मैं सदा प्रभु से याचना करनेवाला बनता हूँ। **ऋषये**=(ऋष गतौ) गतिशील होता हूँ और **सप्तवध्रये**=सातों इन्द्रियों को (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख, मुख) वशीभूत करता हूँ।

भावार्थ—जब प्राणापान हमारे शरीर वृक्षों में सर्वत्र सम्यक् गतिवाले होते हैं, तो हमें प्रज्ञान प्राप्त होता है। हमारा जीवन 'प्रभु से भयवाला, प्रार्थनामय, गतिशील व जितेन्द्रियतावाला' बनता है।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना से सहज सन्तानोत्पत्ति

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः॥ ७॥

(१) **यथा**=जैसे **वातः**=वायु **पुष्करिणीम्**=कमलोंवाले तालाब को **सर्वतः**=सब ओर से **समिङ्गयति**=गतिवाला कर देता है। **एवा**=इसी प्रकार **ते गर्भः**=तेरा गर्भ **एजतु**=कम्पित हो और

दशमास्यः=दस मास के आयुष्यवाला यह बालक **निरैतु**=गर्भ से बाहर आ जाये। (२) एक युवति यदि प्राणसाधना में चलती है तो उसे सन्तान को जन्म देने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। प्राणसाधना उसके जननाङ्गों के समुचित विकास को करनेवाली बनती है। गर्भस्थ बालक का पोषण भी इस प्राणसाधना से ठीक रूप में होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से गर्भिणी के गर्भ का कम्प इस रूप में होता है जैसे कि वायु से पुष्करिणी के जलस्थ कमलों का। इस बालक के जन्म देने में माता को कष्ट नहीं होता।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वातः वनं समुद्रः

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति। एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥ ८ ॥

(१) **यथा वातः**=जैसे वायु स्वाभाविक गतिवाली होती है, **यथा वनम्**=जैसे वायु के चलने पर वन गतिवाला होता है और **यथा समुद्रः एजति**=जैसे समुद्र कम्पित हो उठता है। **एवा**=इस प्रकार, हे **दशमास्य**=गर्भ में दस मास तक शान्तभाव से रह चुके कुमार! **त्वम्**=तू **जरायुणा सह**=गर्भ वेष्टन जेर के साथ **आ इहि**=बाहिर आजा (२) वायु, वन व समुद्र जैसे स्वाभाविक गति में होते हैं, इसी प्रकार गर्भस्थ बालक स्वाभाविक गति से बाहिर आनेवाला हो।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर गर्भस्थ बालक में समय पर स्वाभाविक गति होकर बाहिर आने की प्रवृत्ति होती है।

ऋषिः—**सप्तवध्रिरात्रेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवः-जीवन्त्याः

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥ ९ ॥

(१) **कुमारः**=कुमार **दश मासान्**=दस महीनों तक **मातरि अधि**=मातृ गर्भ में **शशयानः**=अच्छी प्रकार प्रसुप्त-सी अवस्था में रहता हुआ **जीवः**=जीवन को धारण करनेवाला **निरैतु**=ना हि आनेवाला हो। मातृ गर्भ में सम्यक् पोषित होकर यह जीवन को बिताने के लिये बाहिर आये। (२) यह **अक्षतः**=अविक्षत अंग-प्रत्यंगोंवाला हो। **जीवः**=जीवनी शक्ति से परिपूर्ण हो। **जीवन्त्याः अधि**=जीवित माता से ही यह बाहिर आये बालक भी जीवित हो, उसकी माता भी।

भावार्थ—प्राणसाधना से गर्भस्थ बालक के सब अंग-प्रत्यंग अविक्षत होते हैं तथा माता भी कष्टों से मृत नहीं होती।

इस प्राणसाधना से उत्तम कर्मोंवाला यह 'सत्यश्रवाः' बनता है—'सत्यानि श्रवांसि यस्य' (praiseworthy actions) यह तीनों प्रकार के कष्टों से दूर 'आत्रेय' बनता है। यह उषाकाल से ही उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होने की कामना रखता हुआ कहता है—

७९. [एकोनाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**स्वराड्ब्राह्मीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति

महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ १ ॥

(१) हे **उषः**=उषाकाल की देवते! **नः**=हमें **अद्य**=आज **महे राये**=महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **बोधय**=उद्बुद्ध कर। वस्तुतः प्रातः जागरण सात्त्विक वृत्ति को उत्पन्न करके हमारे शरीर में नीरोगिता व मन को प्रकाशमय करता है। एवं उषा हमें 'स्वास्थ्य व ज्ञान' रूप ऐश्वर्यों को देनेवाली है। (२) हे उषः! तू **दिवित्मती**=प्रकाशवाली है। तू **सत्यश्रवसि**=सत्य कीर्तिवाले, सच्चे कीर्तिकर कर्मों में प्रेरित होनेवाले **वाय्ये**=कर्मतन्तु का सन्तान (विस्तार) करनेवालें **सुजाते**=उत्तम निवासवाले **अश्वसूनृते**=(अशूव्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त सत्य वाणीवाले मेरे में उषः! तू ऐसा कर **यथा**=जिससे **चित्**=निश्चयपूर्वक **नः**=हमें **अबोधयः**=जागरित कर। उषःकाल का जागरण ही हमें उत्कृष्ट ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में जागें। यह जागरण हमें सात्त्विक वृत्तिवाला बनाकर नीरोगिता व ज्ञान के ऐश्वर्य को प्राप्त करायेगा।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

उषा जागरण का जीवन पर सुन्दर प्रभाव

या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिवः ।
सा व्युच्छ सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ २ ॥

(१) हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का पूरण करनेवाली उषे! **या**=जो तू **सुनीथे**=उत्तम वाणीवाले (नीथा=वाणी) उत्तम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाले में तथा **शौचद्रथे**=शरीर रथ को शुचि (पवित्र) बनानेवाले में **व्यौच्छः**=अन्धकार को दूर करती है। **सा**=वह तू **सहीयसि**=शत्रुओं का सहन (मर्षण=अभिभव) करनेवाले मुझ में **व्युच्छ**=उदित हो, अन्धकार को दूर करनेवाली हो। (२) हे उषः! तू **सत्यश्रवसि**=सत्य कीर्तिकर कर्मों को करनेवाले, **वाय्ये**=कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाले, **सुजाते**=उत्तम विकासवाले, **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त प्रिय सत्य वाणीवाले मुझ में उदित हो। अर्थात् तू मेरे जीवन को ऐसा बनानेवाली हो।

भावार्थ—उषाकाल में जागने से हम 'सुनीथ, शौचद्रथ, सहीयान्, सत्यश्रवा, वाय्य, सुजात व अश्वसूनृत' बनते हैं।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

आभरद्वसुः

सा नो अद्याभरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः ।
यो व्यौच्छः सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥ ३ ॥

(१) हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का (प्रकाश का) प्रपूरण करनेवाली उषे! तू **आभरद्वसुः**=सब वसुओं का भरण करनेवाली है, जीवन के लिये आवश्यक तत्त्वों से परिपूर्ण है। **सा**=वह तू **नः**=हमारे लिये **अद्य**=आज **व्युच्छा**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो। (२) तू वह है **या उ**=जो निश्चय से **सहीयसि**=शत्रुओं को कुचलनेवाले, **सत्यश्रवसि**=सत्य कीर्तियुक्त कर्मोंवाले, **वाय्ये**=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले, **सुजाते**=उत्तम विकासवाले, **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त सूनृत वाणीवाले पुरुष में **व्यौच्छः**=सदा उदित हुई है, अन्धकार को दूर करनेवाली हुई है। वस्तुतः तूने ही उसे 'सहीयान्' इत्यादि सार्थक नामोंवाला बनाया है।

भावार्थ—उषा सब वसुओं का भरण करनेवाली है। यह हमें शत्रुमर्षण आदि कार्यों में समर्थ करती है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

धन-आत्मनियन्त्रण व दान

अभि ये त्वा विभावरि स्तोमैर्गृणन्ति वह्नयः ।
मघैर्मघोनि सुश्रियो दामन्वन्तः सुरातयः सुजाते अश्वसूनृते ॥ ४ ॥

(१) हे **विभावरि**=प्रकाशवाली उषे! **ये**=जो भी व्यक्ति **त्वा अभि**=तेरा लक्ष्य करके **स्तोमैः**=स्तुतियों से **गृणन्ति**=तेरे गुणों का उच्चारण करते हैं, तेरे महत्त्व का शंसन व स्मरण करते हैं वे **वह्नयः**=अपने कर्त्तव्यभार का सुन्दरता से वहन करनेवाले होते हैं। प्रातःकाल में उठनेवाला व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को सुचारुरूपेण कर पाता है। (२) हे **मघैर्मघोनि**=उत्तम ऐश्वर्यों से ऐश्वर्यवाली उषे! **सुजाते**=उत्तम विकास को देनेवाली व **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त प्रिय सत्य वाणीवाली उषे, अर्थात् हमें ऐसा बनानेवाली उषे! वे तेरा शंसन करनेवाले उषर्बुध लोग **सुश्रियः**=उत्तम श्रीवाले होते हैं **दामन्वन्तः**=दान की वृत्तिवाले होते हैं अथवा (दाम=रज्जु) आत्म-नियन्त्रण की वृत्तिवाले होते हैं और **सुरातयः**=उत्तम दानवाले होते हैं। धन के साथ आत्मनियन्त्रण होने पर दानवृत्ति पनपाती ही है।

भावार्थ—प्रातः जागरण हमें कर्त्तव्यभार का वहन करनेवाला 'धन, आत्मनियन्त्रण व दान की वृत्तिवाला' बनाता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अलज्जाकर धन' और 'दान'

यच्चिद्धि ते गणा इमे छदयन्ति मघत्तये ।
परि चिद्वष्टयो दधुर्ददतो राधो अह्रयं सुजाते अश्वसूनृते ॥ ५ ॥

(१) हे **सुजाते**=हमारा उत्तम विकास करनेवाली **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त प्रिय सत्यवाणी-वाली, हमें ऐसा बनानेवाली उषे! **ते इमे गणाः**=तेरा ये संख्यान करनेवाले, अर्थात् तेरे सेवक, तेरे उदय से पूर्व ही जागरित होनेवाले **यत् चित् हि**=जो कुछ भी **छदयन्ति**=(to cover) अपने अन्दर धारण करते हैं वह सब **मघत्तये**=धन के दान के लिये ही करते हैं। ये **वष्टयः**=सर्वहित की कामनावाले **चित्**=निश्चय से **परिदधुः**=धनों को सब ओर धारण करते हैं, लोकहित के लिये उन धनों का विनियोग करते हैं। (२) ये व्यक्ति सदा **अह्रयम्**=अलज्जावह, अर्थात् न लज्जा के कारणभूत उत्तम साधनों से कमाये हुए **राधः**=धन को **ददतः**=देते हुए होते हैं, इनकी यह दान प्रक्रिया निरन्तर चलती ही है।

भावार्थ—प्रातः जागरणवाले उत्तम मार्गों से धनों को कमाते हैं और दानशील होते हैं।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दान व वीर सन्तान

एषु धा वीरवद्यश उषो मघोनि सूरिषु ।
ये नो राधांस्यह्रया मघवानो अरासत सुजाते अश्वसूनृते ॥ ६ ॥

(१) हे **मघोनि**=ऐश्वर्योंवाली **उषः**=उषे! **एषु**=इन प्रातः जागरणशील ज्ञानी व्यक्तियों में **वीरवत्**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले **यशः**=यशस्वी धन को **आ धाः**=स्थापित कर। (२) हे **सुजाते**=उत्तम विकास की कारणभूत **अश्वसूनृते**=कर्मों में प्रिय सत्यवाणीवाला हमें बनानेवाली

उषे! **नः**=हमारे में से **ये**=जो भी व्यक्ति **अह्रया**=अक्षीयमाण **राधांसि**=धनों को **अरासत**=देते हैं, अर्थात् सदा दानशील होते हैं वे ही **मघवानः**=ऐश्वर्यशाली बनते हैं। इनके ऐश्वर्य दानादि उत्तम कर्मों में विनियुक्त होते हुए इनके जीवनों में विलास को नहीं उत्पन्न होने देते।

भावार्थ—हम प्रातः जागें। उत्तम ऐश्वर्यों को कमाते हुए दानशील हों वीर सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

द्युम्न-बृहद् यशः

तेभ्यो॑ द्यु॒म्नं बृ॒हद्यश॒ उषो॑ मघो॒न्या व॑ह ।
ये नो॒ राधां॒स्यश्व्या॑ ग॒व्या भज॑न्त सू॒रयः॑ सुजा॑ते॒ अश्व॑सूनृते ॥ ७ ॥

(१) हे **मघोनी**=ऐश्वर्यशालिनी **उषः**=उषे! तू **तेभ्यः**=उनके लिये **द्युम्नम्**=(power, strength) शक्ति को और **बृहद्**=अत्यन्त प्रवृद्ध **यशः**=कीर्ति को **आवह**=प्राप्त करा। **ये**=जो **नः**=हमारे में से **सूरयः**=ज्ञानी लोग **अश्व्या**=कर्मेन्द्रिय-सम्बन्धी तथा **गव्या**=ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी **राधांसि**=सफलता को देनेवाले धनों को **भजन्त**=सेवित करते हैं। जो ज्ञानेन्द्रियों के ऐश्वर्य 'ज्ञान' को तथा कर्मेन्द्रियों के ऐश्वर्य 'कर्मशक्ति' को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं, उनके लिये यह उषा शक्ति व कीर्ति को देनेवाली होती है। (२) हे उषः! तू **सुजाते**=उत्तम प्रादुर्भाववाली है, उत्तम विकास का कारण बनती है। **अश्वसूनृते**=तू कर्मों में व्याप्त होनेवाली सत्यवाणीवाली है। उषाकाल में जागनेवाला व्यक्ति कर्मों में व्याप्त रहता है और सूनृत वाणी को बोलनेवाला होता है।

भावार्थ—उषा जागरण शक्ति व कीर्ति का कारण बनता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्योदयकाल में व अग्नीन्धनकाल में

उ॒त नो॒ गोम॑ती॒रिष॒ आ व॑हा दुहितर्दिवः ।
सा॒कं सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑ शु॒क्रैः शोच॑द्भिर॒र्चिभिः॑ सुजा॑ते॒ अश्व॑सूनृते ॥ ८ ॥

(१) हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का पूरण करनेवाली उषे! **उत**=और **नः**=हमारे लिये **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **आवहा**=प्राप्त करा। उषा जागरण ज्ञानवृद्धि व प्रभु प्रेरणा प्राप्ति में सहायक होता है। (२) हे **सुजाते**=उत्तम विकास की कारणभूत, **अश्वसूनृते**=कर्मों में व्याप्त सूनृत वाणीवाली उषे! तू **सूर्यस्य रश्मिभिः साकम्**=सूर्य की किरणों के साथ तथा **शुक्रैः**=दीप्त **शोचद्भिः**=पवित्रता को करनेवाली **अर्चिभि**=अग्नि की ज्वालाओं के साथ हमें इन प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली प्रभु प्रेरणाओं को प्राप्त करानेवाली हो। यहाँ 'सूर्य रश्मियों के साथ' का संकेत 'सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठने से' है, तथा 'अग्नि की ज्वालाओं के साथ' का संकेत 'अग्निहोत्र करने से' है। एवं 'उषा जागरण, सूर्याभिमुख होकर सन्ध्या व अग्निहोत्र' ये तीन बातें ज्ञानयुक्त प्रेरणाओं की प्राप्ति का साधन बनती हैं।

भावार्थ—हम उषा में प्रबुद्ध होकर, नित्य कार्यों से निवृत्त होकर, सूर्योदय होते ही सन्ध्या में स्थित हों तथा अग्निहोत्र करनेवाले बनें। यह जीवन हमें ज्ञान प्रवण करेगा और प्रभु प्रेरणा को सुनने योग्य बनायेगा।

ऋषिः—सत्यश्रवा आत्रेयः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उषा व नित्यकर्म निवृत्ति (Completion)

व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः ।
नेत्त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते ॥ ९ ॥

(१) हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का हमारे जीवनों में पूरण करनेवाली उषे! **व्युच्छा**=तू अन्धकार को दूर करनेवाली हो। **अपः**=हमारे कर्मों का लक्ष्य करके **चिरं मा तनुथाः**=देर को मत कर, अर्थात् तेरे उदित होते ही हम अपने नित्य कर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ। **नेत् त्वा**=नहीं ही तुझे **सूरः**=सूर्य **अर्चिषा**=अपनी दीप्त किरण ज्वालाओं से उसी प्रकार **तपाति**=संतप्त करता है **यथा**=जैसे कि **स्तेनं रिपुम्**=चोररूप शत्रु को। सूर्य की किरणों के दीप्त होने पर चोर भी अपने कार्य करने में असमर्थता के कारण व पकड़े जाने के भय से सन्तप्त होता है, इसी प्रकार ये सूर्य किरणें उषा को भी समाप्त कर देती हैं। हम उषा की समाप्ति से पूर्व ही अपने कार्यों को समुचितरूप से कर चुकें। (२) हे उषे! **सुजाते**=तू सुजाता है, उत्तम विकास का कारण बनती है। तेरे में उद्बुद्ध होनेवाले व्यक्ति विकसित शक्तियोंवाले बनते हैं। **अश्वसूनृते**=तू अश्वसूनृता है, कर्मों में व्याप्त सत्य वाणीवाली है। तेरे में उद्बुद्ध होनेवाले व्यक्ति सदा कर्मों में व्याप्त रहते हैं और प्रिय सत्य वाणी का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—उषा उदित होते ही हम सूर्योदय से पूर्व ही नित्यकर्मों से निवृत्त हो जाएँ।

ऋषिः—सत्यश्रवा आत्रेयः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—स्वराड्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

विभावरी

एतावद्वेदुषस्त्वं भूयो वा दातुमर्हसि ।
या स्तोतृभ्यो विभावर्युच्छन्ती न प्रमीयसे सुजाते अश्वसूनृते ॥ १० ॥

(१) हे **उषः**=उषे! **त्वम्**=तू **एतावत् वा इत्**=गतमन्त्रों में प्रार्थित इतनी वस्तुओं के तो अवश्य ही **दातुम्**=देने के लिये **अर्हसि**=योग्य है। **भूयः वा**=प्रार्थित वस्तुओं से अधिक अप्रार्थित भी आवश्यक वस्तुओं को तू हमें देनेवाली हो। (२) जो तू **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **विभावरी**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाली **उच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **न प्रमीयसे**=हिंसित नहीं करती। प्रकाश को देकर तू हमें हिंसित होने से बचाती है। हे उषः! **सुजाते**=तू सुजाता है, उत्तम विकास का कारण बनती है। **अश्वसूनृते**=तू अश्वसूनृता है, हमें कर्मों में व्याप्त सत्य वाणीवाला बनाती है।

भावार्थ—उषा प्रकाश को देकर हमें हिंसित होने से बचाती है। यह सब इष्ट मनोरथों को पूर्ण करती है।

सत्यश्रवा आत्रेय ही अगले सूक्त में भी उषा का आराधन करता है—

८०. [अशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—सत्यश्रवा आत्रेयः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्य-तेजस्विता-प्रकाश

द्युतद्यामानं बृहतीमृतेन ऋतावरीमरुणप्सुं विभातीम् ।
देवीमुषसं स्वरावहन्तीं प्रति विप्रासो मतिभिर्जरन्ते ॥ १ ॥

(१) **विप्रासः**=अपने जीवन का विशेषरूप से पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष **मतिभिः**=मननपूर्वक की गई स्तुतियों से **स्वः आवहन्तीम्**=प्रकाश को प्राप्त कराती हुई, **देवीम्**=दिव्यगुणों को जन्म देनेवाली **उषसम्**=उषा को **प्रतिजरन्ते**=प्रतिदिन स्तुत करते हैं। प्रातः प्रबुद्ध होकर किया जानेवाला प्रभुलवन हमें प्रकाश व दिव्यगुणों को प्राप्त कराता है। (२) ये विप्र उस उषा का स्तवन करते हैं जो **द्युतद् यामानम्**=देदीप्यमान रथवाली है, **बृहतीम्**=वृद्धि का कारण बनती है, **ऋतेन ऋतावरीम्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से जीवन को ऋतमय बनानेवाली है, **अरुणप्सुम्**=तेजस्वीरूपवाली है और **विभातीम्**=प्रकाशमयी है। यह उषा हमारे शरीर-रथों को दीप्त बनाती है, शक्तियों का वर्धन करती है, हमें ऋतमय तेजस्वी व प्रकाशमय करती है। उषा में जागरण से मन में ऋत, शरीर में तेजस्विता व मस्तिष्क में प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रतिदिन उषा में जागरित होकर प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। यह उषा उन्हें सत्यमनवाला, तेजस्वी शरीरवाला व दीप्त मस्तिष्कवाला बनाती है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्पथ प्रवृत्ति-शक्ति-ज्योति

एषा जनं दर्शता बोधयन्ती सुगान्पथः कृण्वती यात्यग्रे।
बृहद्रथा बृहती विश्वमिन्वोषा ज्योतिर्यच्छत्यग्रे अह्नाम्॥ २॥

(१) **एषा**=यह **दर्शता**=दर्शनीय उषा **जनं बोधयन्ती**=सोये हुए जनों को प्रबुद्ध करती हुई और **पथः**=मार्गों को **सुगान्**=सुगमता से जाने योग्य **कृण्वती**=करती हुई **अग्रे याति**=आगे बढ़ती है। उषा जागने की प्रेरणा देती है, सत्पथ पर आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करती हुई चलती है। (२) यह **बृहद्रथा**=बढ़ी हुई शक्तियोंवाले शरीर-रथवाली, **बृहती**=वृद्धि की कारणभूत **उषा**=उषा **विश्वमिन्वा**=(इन्व invigorate, gladden) सबको शक्तिशाली बनाती हुई **अह्नां अग्रे**=दिन के अग्रभाग में ही **ज्योतिः यच्छति**=प्रकाश को देती है।

भावार्थ—उषा हमें सत्पथ प्रवृत्त करती है, शक्तिशाली बनाती है और ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कराती है। मन सत्पथ की रुचिवाला, शरीर शक्तिवाला व मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाशवाला इस उषा से ही बनता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अप्रायुरयि

एषा गोभिररुणेभिर्युजानास्रेधन्ती रयिमप्रायु चक्रे।
पथो रदन्ती सुविताय देवी पुरुष्टुता विश्ववारा वि भाति॥ ३॥

(१) **एषा**=यह उषा **अरुणेभिः गोभिः**=तेजस्वी इन्द्रियों से **युजाना**=शरीर-रथ को युक्त करती हुई, **अस्रेधन्ती**=किसी प्रकार से हिंसित न करती हुई, **अप्रायु**=अविचलित स्थिर **रयिम्**=रयि को, ऐश्वर्य को **चक्रे**=करती है। उषाकाल का जागरण (क) इन्द्रियों को तेजस्वी बनाता है, (ख) शरीर को हिंसित नहीं होने देता, (ग) सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से युक्त करता है। (२) **सुविताय**=सुवित के लिये, दुरित से दूर होने के लिये, **पथः रदन्ती**=मार्गों का निर्माण करती हुई यह उषा **देवी**=प्रकाशमयी है, हमारे जीवन को प्रकाशमय करती है। **पुरुष्टुता**=खूब ही स्तुतिवाली है, इसमें प्रबुद्ध होनेवाले व्यक्ति खूब ही प्रभु का स्तवन करते हैं। **विश्ववारा**=सब वरणीय वस्तुओंवाली है। सब वरणीय वस्तुओं को हमारे लिये देती हुई यह उषा **विभाति**=खूब

ही चमकती है।

भावार्थ—उषा जागरण से (१) इन्द्रियाँ तेजस्वी होती हैं, (२) सब अन्नमय आदि कोशों का ऐश्वर्य प्राप्त होता है, (३) सत्पथ प्रवृत्ति होती है, (४) प्रभु-स्तवन करते हुए हम सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्विबर्हाः

एषा व्येनी भवति द्विबर्हा आविष्कृण्वाना तन्वं पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥ ४॥

(१) **एषा**=यह उषा **व्येनी**=प्रकाश के कारण विशिष्ट श्वैत्यवाली होती है। **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **तन्वम्**=अपने रूप को **आविष्कृण्वाना**=प्रकट करती हुई **द्विबर्हाः**=शक्ति व ज्ञान दोनों का वर्धन करनेवाली होती है। उषा जागरण से शक्ति व ज्ञान दोनों बढ़ते हैं। (२) यह उषा **ऋतस्य पन्थाम्**=ऋत के, सत्य के मार्ग का **साधु अन्वेति**=सम्यक् अनुसरण करती है। प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति सत्य मार्ग का अनुसरण करनेवाला होता है। यह उषा **प्रजानती इव**=जानती ही हुई **दिशः**=दिशाओं को **न मिनाति**=हिंसित नहीं करती। दिशाओं को प्रकाशित करती हुई यह हमें मार्ग पर चलने का संकेत करती है।

भावार्थ—उषा जागरण से (१) शक्ति व ज्ञान बढ़ते हैं, (२) ऋत के मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति बढ़ती है, (३) मनुष्य ठीक दिशा में चलता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'द्वेष व अज्ञान' का निराकरण

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥ ५॥

(१) **एषा**=यह उषा **नः दृशये**=हमारे दर्शन के लिये **अस्थात्**=ऊपर स्थित होती है, **न**=जैसे कि कोई **शुभ्रा**=शुभ्र वर्णवाली युवति **तन्वः विदाना**=अपने शरीर को प्रज्ञापित करती हुई **स्नाती**=स्नान करती हुई **इव**=जैसे **ऊर्ध्वः**=जलाशय से ऊपर आती है। उषा उस शुभ्रवर्णा युवति के ही समान है। यह अपने शुद्ध स्वरूप को जागनेवालों के लिये प्रकट करती है। (२) **द्वेषः**=द्वेषों को **अपबाधमाना**=हमारे से दूर रोकती हुई, **तमांसि**=अन्धकारों को भी दूर करती हुई **उषा दिवः**=ज्ञान का प्रपूरण करनेवाली होती है। यह **ज्योतिषा**=ज्ञान की ज्योति के साथ **आगात्**=हमें प्राप्त होती है।

भावार्थ—इस उषा-जागरण से द्वेष व अज्ञानान्धकार दूर होता है और जीवन ज्योतिर्मय बनता है।

ऋषिः—**सत्यश्रवा आत्रेयः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वार्य वस्तुओं की प्राप्ति

एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन्योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः॥ ६॥

(१) **एषा**=यह **दिवः दुहिता**=ज्ञान का प्रपूरण करनेवाली उषा **नॄन् प्रतीची**=मनुष्यों के

अभिमुख आती हुई, **भद्रा योषा इव**=एक मंगलमयी कल्याणवेषा स्त्री के समान **अप्सः निरिणीते**=अपने रूप को प्रकट करती है। यह उषा **दाशुषे**=अपने प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये **वार्याणि**=सब वरणीय धनों को **व्यूर्णवती**=प्रकट करती है, देती है। (२) यह **युवतिः**=सब बुराइयों को दूर करनेवाली, अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाली उषा **पुनः**=फिर **पूर्वथा**=पहले की तरह **ज्योतिः अकः**=प्रकाश को करती है। यह उषा सदा से प्रकाश को देती आयी है, यह हमारे लिये प्रकाश को करनेवाली होती है।

भावार्थ—उषा हमारे लिये वरणीय वस्तुओं को देती है और प्रकाश को करती है।

उषा से प्रकाश को प्राप्त करके यह व्यक्ति 'श्यावाश्व' बनता है, गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। यह तीनों दुःखों से ऊपर 'आत्रेय' होता है। यह सविता की आराधना करता हुआ कहता है—

८१. [एकाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु में मन व बुद्धि को अर्पित करना

युञ्जते मनं उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ १॥

(१) प्रकृति के दृष्टिकोण से प्रभु सविता इसलिए हैं कि सारे संसार को जन्म देते हैं और जीव के दृष्टिकोण से सविता इसलिए हैं कि हृदयस्थरूपेण उसे प्रेरणा दे रहे हैं। 'षू' धातु के दोनों ही अर्थ हैं (क) उत्पन्न करना, (ख) प्रेरणा देना। **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष उस **बृहतः**=महान् **विप्रस्य**=सबका पूरण करनेवाले **विपश्चितः**=ज्ञानी (सर्वज्ञ) प्रभु के प्रति **मनः**=अपने मन को **युञ्जते**=लगाते हैं, **उत**=और **धियः**=अपनी बुद्धियों को भी **युञ्जते**=उसमें ही लगाते हैं। उस प्रभु में ही अर्पित मन व बुद्धिवाले होते हैं। प्रभु प्राप्ति की ही प्रबल कामना करते हैं और प्रभु की ही महिमा का विचार करते हैं। (२) वह **वयुनावित्**=सब प्रज्ञानों को जाननेवाला **एकः**=अद्वितीय प्रभु ही **होत्राः**=सब वाणियों को, इन वेदरूप ज्ञानवाणियों को **विदधे**='अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि ऋषियों के हृदय में स्थापित करते हैं। **इत्**=वस्तुतः **देवस्य**=उस प्रकाशमय **सवितुः**=निर्माता व प्रेरक प्रभु की **परिष्टुतिः**=सर्वत्र होनेवाली स्तुति **मही**=महान् है। एक-एक पदार्थ में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष अपने मन व बुद्धि को उस सर्वज्ञ प्रभु में अर्पित करते हैं। प्रभु ही ज्ञान की वाणियों को ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। उस प्रभु की महिमा महान् है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सर्वाधार' व 'भद्र प्रसविता'

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥ २॥

(१) **कविः**=वह सर्वज्ञ प्रभु **विश्वारूपाणि**=सब रूपों को, रूपवाले पदार्थों को **प्रतिमुञ्चते**=(आत्मनिबध्नाति-धारयति) अपने में धारण करता है, वह प्रभु ही सर्वाधार हैं। वे ही **द्विपदे**=दो पाँवाले मनुष्यों के लिये और **चतुष्पदे**=चौपाये पशुओं के लिये **भद्रम्**=कल्याणकर पदार्थों को **प्रासावीत्**=उत्पन्न करते हैं। सब पदार्थ कल्याणकर हैं। उनका अयोग व अतियोग ही

अकल्याणकर हेतु होता है। (२) वह **सविता**=उत्पादक व प्रेरक प्रभु ही **वरेण्यः**=वरणीय है। प्रकृति के वरण से प्रभु का वरण ही श्रेष्ठ है। वे प्रभु अपना वरण करनेवालों के लिये **नाक**=मोक्षलोक को **वि अख्यत्**=प्रकाशित करते हैं। **उषसः प्रयाणं अनु**=उषा के प्रकृष्ट यान के अनुसार वे प्रभु **विराजति**=हमारे जीवन में दीप्त होते हैं। जितना-जितना उषा के समय करने योग्य कार्यों को हम ठीक प्रकार करते हैं, उतना-उतना ही प्रभु की दीप्ति को अपने हृदयों में देखनेवाले बनते हैं। सूर्य उषा के प्रयाण के बाद उदित होता है। ठीक इसी प्रकार हमारे जीवन में भी उषा के आने के बाद प्रभु आते हैं। उषा के आने का भाव यही है कि अज्ञानान्धकार आदि दोषों का दग्ध होना (उष दाहे)।

भावार्थ—प्रभु सर्वाधार हैं। सब के लिये भद्र पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। मोक्ष लोक को प्रकाशित करते हैं। हमारे जीवन उषा के चुकने पर दीप्त होते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह 'एतश' देव

यस्य॑ प्र॒याण॒मन्व॒न्य इद्य॒युर्दे॒वा दे॒वस्य॑ महि॒मान॒मोज॑सा।
यः पार्थि॑वानि वि॒म॒मे स एत॑शो॒ रजां॑सि दे॒वः स॑वि॒ता म॑हित्व॒ना ॥ ३ ॥

(१) **यस्य देवस्य प्रयाणं अनु**=जिस प्रकाशमय प्रभु की प्रकृष्ट प्राप्ति के अनुसार **अन्ये देवाः**=अन्य सूर्य आदि देव **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **महिमानम्**=महत्त्व को **इद् ययुः**=निश्चय से प्राप्त होते हैं। जहाँ प्रभु का जितना-जितना तेज का अंश होता है वह पदार्थ उतना-उतना ही विभूतिवाला प्रतीत होता है। (२) **यः सविता देवः**=जो उत्पादक व प्रेरक प्रकाशमय प्रभु हैं वे **पार्थिवानि रजांसि**=सब पार्थिव लोकों को **महित्वना**=अपनी महिमा से **विममे**=बनाते हैं। **सः**=वे प्रभु **एतशः**=शुभ्र हैं, सूर्य की तरह देदीप्यमान हैं। इस प्रभु की दीप्ति से ही सर्वत्र दीप्ति होती है।

भावार्थ—सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविताः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जन्माद्यस्य यतः

उ॒त या॑सि सवित॒स्त्रीणि॑ रोच॒नोत सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॑: समु॑च्यसि।
उ॒त रात्री॑मु॒भय॑तः॒ परी॑यस उ॒त मि॒त्रो भ॑वसि देव॒ धर्म॑भिः ॥ ४ ॥

(१) हे **सवितः**=सकल जगत् के उत्पादक प्रभो! आप **उत**=निश्चय से **त्रीणि रोचना**='सूर्य, विद्युत् व अग्नि' रूप तीनों दीप्तियों को **यासि**=प्राप्त करते हो। वस्तुतः इन तीनों दीप्त पिण्डों में आपकी ही दीप्ति काम करती है। **उत**=और आप **सूर्यस्य**=सूर्य की **रश्मिभिः**=किरणों से **समुच्यसि**=समवेत होते हैं, इन सूर्य-किरणों में सब प्राणशक्ति को आप ही स्थापित करते हैं। (२) **उत**=और **रात्रीम्**=रात्री को, प्रलयकालीन रात्री को **उभयतः**=दोनों ओर से **परीयसे**=व्याप्त करते हैं। इस रात्रि के प्रारम्भ में भी आप ही होते हैं, अर्थात् इस रात्री को लानेवाले आप ही हैं। सृष्टि का प्रलय आप ही करते हैं। और इस रात्रि की समाप्ति पर भी आप ही होते हैं। अर्थात् प्रलयकाल की समाप्ति पर आप ही फिर से सृष्टि का निर्माण करते हैं। **उत**=और सृष्टि के निर्माण के बाद, हे **देव**=सब व्यवहारों के साधक प्रभो! आप ही **धर्मभिः**=धारणात्मक कर्मों के द्वारा **मित्रः भवसि**=सब के मित्र होते हैं।

भावार्थ—'सूर्य, विद्युत् व अग्नि' को प्रभु ही दीप्त करते हैं। सूर्य-किरणों में प्रभु ही प्राणशक्ति को स्थापित करते हैं। प्रभु ही इस सृष्टि का प्रलय, निर्माण व धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता:** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

श्यावाश्व ही स्तोता है

उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभिः।
उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे॥ ५॥

(१) **देव**=हे सब व्यवहारों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **एकः इत्**=अकेले ही **उत**=निश्चय से **प्रसवस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के **ईशिषे**=ईश हैं, सारे ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। **उत**=और हे देव! आप **यामभिः**=अपनी गतियों से **पूषा भवसि**=सब का पोषण करनेवाले हैं। (२) **उत**=और **इदं विश्वं भुवनम्**=इस सम्पूर्ण भुवन को आप ही **विराजसि**=दीप्त करते हैं, आप के ही शासन में यह व्यवस्थित (regulated) होता है 'इन्द्रो विश्वस्य राजति'। हे **सवितः**=उत्पादक व प्रेरक प्रभो! **श्यावाश्वः**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष ही **ते स्तोमम्**=आपकी स्तुति का **आनशे**=व्यापन करता है। आपका सच्चा स्तोता वही है जो इन्द्रियाश्वों द्वारा सदा गतिशील बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु ही उत्पादक व धारक हैं। प्रभु ही सब संसार के राजा हैं। हम गतिशील बने रहकर प्रभु के उपासक होते हैं। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यही तो प्रभु का आदेश है।

अगले सूक्त में भी 'श्यावाश्व आत्रेय' ही सविता की आराधना करते हैं—

८२. [द्व्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

देवस्य भोजनम्

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥ १॥

(१) **वयम्**=हम **सवितुः**=उस उत्पादक **देवस्य**=प्रकाशमय सर्वव्यवहार साधक प्रभु के **तत्**=प्रसिद्ध **भोजनम्**=पालक धन को **वृणीमहे**=वरते हैं। उस प्रभु से दिये जानेवाले धन का ही चुनाव करते हैं। प्रभु से दिये जानेवाला यह धन सदा सुपथ से अर्जित होता है। हम अपने कर्त्तव्य कर्मों में अभियुक्त होते हैं और प्रभु हमें योगक्षेम (भोजन) प्राप्त कराते हैं। इसी योगक्षेम का ही हम वरण करते हैं। (O, God! Give me my daily bread; Bible) (२) इस **भगस्य**=सब के उपास्य ऐश्वर्यों के स्वामी के इस धन को हम प्राप्त करके **धीमहि**=धारण करते हैं। यह धन **'श्रेष्ठं'**=श्रेष्ठ है, प्रशस्यतम है, सुपथ से कमाया जाने के कारण प्रशंसनीय है। **सर्वधातमम्**=यह यज्ञों में विनियुक्त होने के कारण सबका धारण करनेवाला है। **तुरम्**=यह धन शत्रुओं का विहिंसक है, इस धन से हम विषयवासनारूप शत्रुओं का शिकार नहीं होते।

भावार्थ—कर्त्तव्य कर्मों में नित्याभियुक्त होकर हम प्रभु से दिये जानेवाले धन की याचना करते हैं। यह धन हमारे जीवन को श्रेष्ठ बनाता है, सबका धारण करता है, इससे हम विषयवासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्वयशस्तरं प्रियं' (धन)

अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम्॥ २॥

(१) **अस्य**=इस **सवितुः**=सकलोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु के **स्वयशस्तरम्**=अतिशयेन अपने यश के विस्तार करनेवाले **कच्चन**=किसी अद्भुत **प्रियम्**=प्रीति के जनक **स्वराज्यम्**=स्वयं दीप्त ऐश्वर्य को **हि**=निश्चय से **न मिनन्ति**='काम-क्रोध-लोभ' हिंसित नहीं कर पाते। (२) सविता का आराधक 'श्यावाश्व' सदा गतिशील बना रहकर प्रभु के उस ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, जो उसके यश का विस्तार करता है और सब की प्रीति का कारण बनता है। यह धन काम-क्रोध आदि से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु से दिया गया सुपथार्जित धन हमें यशस्वी व प्रिय बनाता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'चित्र' धन

स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः। तं भागं चित्रमीमहे॥ ३॥

(१) **सः**=वह **सविता**=उत्पादक व प्रेरक **भगः**=उपासनीय प्रभु **हि**=निश्चय से **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिये **रत्नानि सुवाति**=रमणीय धनों को देता है। हम दानशील बनें, प्रभु देंगे ही 'spend and God will send', (२) **तम्**=उस **भागम्**=भजनीय-उपास्य प्रभु से **चित्रम्**=चायनीय अथवा 'चित्' ज्ञान के वर्धक धन को हम **ईमहे**=याचना करते हैं। चित्र धन वह है जब कि हम धन के दास नहीं बन जाते, धन के वाहक बनकर हम 'लक्ष्मी वाहन' उल्लू ही तो बनते हैं। प्रभु से प्राप्त धन हमें उल्लू नहीं बनाता। हम धन पर आरूढ़ रहकर सदा ज्ञानयुक्त बने रहते हैं।

भावार्थ—हम दानशील बनें, प्रभु हमें धन देंगे ही। प्रभु से दिया जानेवाला यह धन हमारे ज्ञान का वर्धक होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रजावत् सौभग की प्राप्ति

अद्या नो देव सवितः प्रजावत्सावीः सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव॥ ४॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **सवितः**=सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभो! **अद्या**=आज **नः**=हमारे लिये **प्रजावत्**=प्रकृष्ट सन्तानोंवाले **सौभगम्**=सौभाग्य कर धन को **सावीः**=उत्पन्न करिये। हमें ऐसा धन दीजिये जो हमारे घरों में किसी प्रकार के विलास का कारण न बने और हमारे सन्तानों के चरित्र को उत्तम ही बनाये। (२) **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत अथवा नींद को भी नष्ट करनेवाले दारिद्र्य को **परासुव**=हमारे से दूर करिये। ऐसी गरीबी भी पाप ही है जो नींद को भी न लेने दे। ऐसी गरीबी अन्ततः एक गृहस्थ की 'महानिद्रा' का ही कारण बनती है।

भावार्थ—हमें प्रकृष्ट सन्तानोंवाला ऐश्वर्य प्राप्त हो और हमारे से दारिद्र्य सदा दूर ही रहे।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

भद्र प्राप्ति

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ ५॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **सवितः**=सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभो! आप **विश्वानि दुरितानि**=सब

दुरितों को, दारिद्र्य के कारण उत्पन्न हो जानेवाले चोरी आदि अशुभ आचरणों को **परासुव**=हमारे से दूर करिये। न हमारे में ऐसा दारिद्र्य हो और नां ही ऐसे आचरण उत्पन्न हों। 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्' 'भूखा मरता' पुरुष ही तो पाप की ओर झुकता है। समान में 'अतिसम्पन्न' व 'अतिविपन्न' इन दो वर्गों के उत्पन्न होने पर ही पाप उत्पन्न होते हैं। (२) **यद् भद्रम्**=जो भद्र है, 'प्रजा वै भद्रं, पशवो भद्रं, गृहं भद्रं' अर्थात् प्रजा, पशु व घर आदि जो कल्याणकर वस्तुएँ हैं, **तत्**=वे **नः**=हमारे लिये **आसुव**=प्राप्त कराइये। समाज में सब घर में गौ आदि पशुओं के साथ सन्तानों का सुन्दर पालन करते हुए सद्गृहस्थ बनें।

भावार्थ—दारिद्र्य जनित दुरितों से दूर रहते हुए हमारे समाज के सभी व्यक्ति घरों में गौवें से फलते-फूलते हुए उत्तम सन्तानोंवाले बनें।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निष्पापता व राष्ट्ररक्षा

अनागसो अदितये देवस्य सवितुः सवे। विश्वा वामानि धीमहि॥ ६॥

(१) **देवस्य**=प्रकाशमय **सवितुः**=सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभु की **सवे**='अनुज्ञा' व 'प्रेरणा' में चलते हुए और इस प्रकार **अनागसः**=निष्पाप जीवन बिताते हुए हम **अदितये**=इस अखण्डनीय भूमि देवी के लिये स्याम=हों। अपनी भूमि माता को पापों से भरकर इसे खण्डित करनेवाले न हों। वस्तुतः जिस राष्ट्र में पाप बढ़ जाते हैं वे विनाश (दिति) की ओर ही जाते हैं। (२) इस प्रकार निष्पाप जीवन से राष्ट्र को अखण्डित रखते हुए हम **विश्वा वामानि**=सब सुन्दर चीजों को **धीमहि**=धारण करें। अशुभ आचरण दूर हो और अशुभ परिणाम भी दूर हों।

भावार्थ—पाप बढ़ने पर राष्ट्र विनष्ट होता है सो प्रभु ही अनुज्ञा में चलते हुए हम निष्पाप जीवनवाले बनकर राष्ट्र के रक्षक हों। और सब सुन्दर बातों का ही धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सत्यसव सविता

आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैरद्या वृणीमहे। सत्यसवं सवितारम्॥ ७॥

(१) **अद्या**=आज हम **सूक्तैः**=(सु-उक्तैः) सदा उत्तम वचनों के द्वारा उस प्रभु का **आवृणीयहे**=सर्वथा वरण करते हैं। जो प्रभु **विश्वदेवम्**=सब दिव्य गुणोंवाले हैं व **सत्पतिम्**=श्रेष्ठता के रक्षक हैं। वस्तुतः जैसे वचन हमारे मुख से उच्चरित होते रहते हैं, वैसी ही बातें हमारे जीवन में आचरण के रूप में परिवर्तित होती हैं। सदा उत्तम शब्द ही मुख से निकलेंगे तो उत्तम ही हमारे आचरण होंगे। और यही प्रभु के चरण का मार्ग है। प्रकृति में आसक्ति व प्रभु की विस्मृति ही हमें पापों की ओर ले जाती है। (२) प्रभु **सत्यसवम्**=सदा सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं, 'सत्यस्य सूनु' हैं। **सवितारम्**=इस सत्य के द्वारा वे हमारे जीवनों में ऐश्वर्यों को जन्म देनेवाले हैं। प्रभु की ओर झुकेंगे तो निष्पाप जीवन बिताते हुए सदा उत्तम योगक्षेम को प्राप्त करेंगे। प्रकृति की ओर गये, तो विलास में फँसकर विनष्ट हो जाएँगे।

भावार्थ—सूक्तों द्वारा हम सदा प्रभु का वरण करें। वे हमें दिव्यगुण सम्पन्न जीवनवाला बनावेंगे।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मार्गदर्शक प्रभु

य इमे उभे अहनी पुर एत्यप्रयुच्छन्। स्वाधीर्देवः सविता॥ ८॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वरणीय **यः**=जो प्रभु हैं, वे **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **इने उभे अहनी**=इन दोनों दिन-रातों में **पुरः एति**=हमारे आगे चलते हैं। ये प्रभु हमारे लिये मार्गदर्शक होते हैं। प्रभु का स्मरण हमें सदा सत्पथ का दर्शन करानेवाला होता है। (२) वस्तुतः ये प्रभु **स्वाधीः**=('शोभना ध्यानः, सुकर्मा वा' सा०) शोभन आध्यानवाले व सुकर्मा हैं। प्रभु का स्मरण हमें सदा शुभ बुद्धिवाला व शुभ कर्मोंवाला बनाता है। **देवः**=वे प्रभु प्रकाशमय हैं। **सविता**=उपासक को सदा सत्प्रेरणा प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—वे प्रभु दिन-रात हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। उनकी उपासना में हमें शोभन ध्यान व कर्मवाले बनते हैं।

ऋषिः—**श्यावाश्व आत्रेयः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आश्रावयति श्लोकेन

य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन। प्र च सुवाति सविता ॥ ९ ॥

(१) प्रभु वे हैं **यः**=जो **इमा**=इन **विश्वा**=सब **जातानि**=उत्कृष्ट जन्मवाले मनुष्यों को **श्लोकेन**=वेदमन्त्रों के द्वारा **आश्रावयति**=पूर्णतया ज्ञानयुक्त करते हैं, वेद-मन्त्रों के द्वारा उनके सब कर्त्तव्यों को उनके लिये सुस्पष्ट कर देते हैं। (२) **च**=और इस प्रकार ज्ञान देते हुए **सविता**=वे प्रेरक प्रभु **प्रसुवाति**=सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—वेदमन्त्रों द्वारा प्रभु सदा हमारे कर्त्तव्यों की हमारे लिये प्रेरणा देते हैं।

इस प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति 'अत्रि' बनता है, 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठा रहता है। यह उस महान् 'पर्जन्य'=परा तृप्ति के देनेवाले प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है—

८३. [त्र्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पर्जन्य-स्तवन'

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् ॥ १ ॥

(१) **आभिः गीर्भिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **तवसं अच्छा वद**=उस शक्तिशाली प्रभु के प्रति स्तुतिवचनों का उच्चारण कर। ज्ञानपूर्वक प्रभु के स्तोत्रों को तू बोलनेवाला हो। उस **पर्जन्यम्**=(परो जेता नि०) महान् विजेता प्रभु का **स्तुहि**=तू स्तवन कर। **नमसा**=नमन के द्वारा **आ विवास**=उस प्रभु की परिचर्यावाला हो। (२) **कनिक्रदद्**=ऋग्, यजु, सामरूप वाणियों का उच्चारण करनेवाले, **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले वे प्रभु हैं। **जीरदानुः**=शीघ्रता से सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले वे प्रभु **रेतः दधाति**=हमारे लिये रेतःकणों का, वीर्यकणों का धारण करते हैं। उन वीर्यकणों को धारण करते हैं, जो **ओषधीषु**=ओषधियों में **गर्भम्**=गर्भरूप से रहते हैं। ओषधियों का हम सेवन करते हैं और उनसे रस-रुधिर आदि क्रम से इन रेतःकणों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—हम प्रभु का ज्ञान की वाणियों व नम्रता से स्तवन करें। वे महान् विजेता प्रभु हमारे लिये इन ज्ञानवाणियों का उच्चारण करते हैं, हमें जीवन देते हैं और ओषधियों द्वारा हमें जीवनीशक्ति (रेतःकणों) को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—पृथिवी ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वृक्ष व राक्षस' विनाश

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु का स्तवन करते हैं, तो **वृक्षान् विहन्ति**=(व्रश्चते: वृक्षः) काट देने योग्य रोग आदि को वे नष्ट करते हैं। **उत**=और **रक्षसः**=हृदयस्थ राक्षसी भावों को भी वे विनष्ट करते हैं। उस समय **महावधात्**=उस महान् वध को करनेवाले प्रभु से **विश्वं बिभाय**=सब हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले रोग व आसुरभाव भयभीत हो उठते हैं। (२) **उत**=और **अनागाः**=निष्पाप व्यक्ति उस समय **वृष्ण्यावतः**=शक्तिशाली शत्रुओं को **ईषते**=नष्ट करनेवाला होता है **यत्**=जब कि **पर्जन्यः**=यह 'परो जेता'=महान् विजेता प्रभु **स्तनयन्**=गर्जना करते हुए, वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए **दुष्कृतः हन्ति**=सब पापियों का विनाश कर देते हैं। प्रभु ज्ञान को देकर अज्ञानजन्य अपराधों को समाप्त कर देते हैं और इस प्रकार यह प्रभु का उपासक निष्पाप जीवनवाला बनकर शक्तिशाली शत्रुओं का भी शातन करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु स्मरण से रोग व राक्षसीभाव विनष्ट हो जाते हैं। यह उपासक शक्तिशाली शत्रुओं को भी शीर्ण करता है। प्रभु की ज्ञानवाणियाँ उसे ऐसा करने में समर्थ करती हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—पृथिवी ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'मेघों के प्रेरक' प्रभु

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान्कृणुते वर्ष्याँ३ अह।
दूरात्सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं१ नभः ॥ ३ ॥

(१) **इव**=जिस प्रकार **रथी**=रथ का स्वामी **कशया**=चाबुक से **अश्वान्**=घोड़ों को **अभिक्षिपन्**=चारों ओर प्रेरित करता है, इसी प्रकार वे **पर्जन्यः**=महान् विजेता प्रभु **अह**=निश्चय से **वर्ष्यान् दूतान्**=वृष्टि को करनेवाले मेघों के प्रेरक मरुतों को, वायुओं को **आविः कृणुते**=प्रकट करते हैं। (२) **यत्**=जब **पर्जन्यः**=वे परातृप्ति के जनक प्रभु **नभः**=आकाश को **वर्ष्यम्**=वृष्टि के लिये उद्यत **कृणुते**=करते हैं तो **दूरात्**=उस दूर देश से **सिंहस्य**=वर्षण के द्वारा दुर्भिक्ष के विनाशक मेघरूप सिंह के **स्तनथाः**=गर्जन **उदीरते**=उद्गत होते हैं। आकाश में बादल शेर के समान गर्जता है और वर्षण के द्वारा दुर्भिक्ष आदि का विनाश करनेवाला बनता है।

भावार्थ—जैसे रथी चाबुक से घोड़ों को प्रेरित करता है, उसी प्रकार प्रभु आकाश में वृष्टिवाहक वायुओं को प्रेरित करते हैं। जब कभी प्रभु आकाश को वृष्टि के अभिमुख करते हैं तो मेघरूप सिंहों की गर्जना सुन पड़ती है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—पृथिवी ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'वृष्टि द्वारा उत्पन्न अन्न का सेवन' व सुख प्राप्ति

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ॥ ४ ॥

(१) **पर्जन्यः**=परातृप्ति के जनक प्रभु **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **रेतसा अवति**=उदक

के द्वारा प्रीणित करते हैं, तो उस समय **वाताः प्रवान्ति**=खूब वायुवें चलती हैं। **विद्युतः**=विद्युतें **पतयन्ति**=आकाश में उद्गत होती हैं। **ओषधीः**=ओषधियाँ **उज्जिहते**=उद्गत होती हैं। और **स्वः पिन्वते**=सर्वत्र सुख क्षरित होता है। (२) इस प्रकार मेघों की वर्षा होने पर **विश्वस्मै भुवनाय**=सब प्राणियों के लिये **इरा**=अन्न (food) **जायते**=उत्पन्न होता है। वस्तुतः यही वृष्टिजन्य अन्न सबका कल्याण करनेवाला होता है।

भावार्थ—वायुवें चलती हैं, बिजलियाँ चमकती है। उस समय ओषधियाँ उत्पन्न होकर सर्वत्र सुख क्षरित होता है। इस बादल के बरसने पर सबके लिये अन्न उत्पन्न होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के अटल नियम

यस्य॑ व्र॒ते पृ॑थि॒वी नन्न॑मीति॒ यस्य॑ व्र॒ते श॒फव॒ज्जर्भु॑रीति।
यस्य॑ व्र॒त ओष॑धीर्वि॒श्वरू॑पाः॒ स नः॑ पर्जन्य॒ महि॒ शर्म॑ यच्छ ॥ ५ ॥

(१) हे **पर्जन्य**=परातृप्ति के जनक (परां तृप्तिं जनयाते) अथवा महान् विजेता (परो जेता) प्रभो! आप हमारे लिये **महि शर्म**=महान् सुख को **यच्छ**=दीजिये। आप वे हैं, **यस्य व्रते**=जिनके नियमों में (नियमः पूर्वकं व्रतम्) **पृथिवी**=यह पृथिवी **नन्नमीति**=झुक जाती है, कुछ तिरछी-सी होकर गतिवाली होती है। आप वे हैं, **यस्य**=जिनके **व्रते**=नियमों में ही **शफवत्**=सब खुरोंवाले प्राणियों का **जर्भुरीति**=भरण होता है। (२) हे प्रभो! आप ये हैं, **यस्य**=जिनके **व्रते**=नियमों में **विश्वरूपाः**=सब भिन्न-भिन्न रूपोंवाली ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और प्राणियों का धारण करती हैं।

भावार्थ—प्रभु के नियमों ही पृथिवी कुछ झुकी-सी गतिवाली होती है। प्रभु के नियमों में ही सब प्राणियों का भरण होता है। प्रभु के नियमों में ही विविध ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुरः पिता

दि॒वो नो॑ वृ॒ष्टिं म॑रुतो ररीध्वं॒ प्र पि॑न्वत॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ धाराः॑।
अ॒र्वाङे॒तेन॑ स्तनयि॒त्नुनेह्य॒पो नि॑षि॒ञ्चन्नसु॑रः पि॒ता नः॑ ॥ ६ ॥

(१) हे **मरुतः**=वृष्टिवाहक वायुवो! आप **नः**=हमारे लिये **दिवः**=द्युलोक से **वृष्टिम्**=वृष्टि को **ररीध्वम्**=दो। **वृष्णः**=वृष्टि को करनेवाले **अश्वस्य**=अन्तरिक्ष में व्याप्त होनेवाले मेघ की **धाराः**=जलधाराओं को **प्रपिन्वत**=सींचो। (२) हे प्रभो! आप **एतेन**=इस **स्तनयित्नुना**=गर्जना करनेवाले मेघ से **अर्वाङ् इहि**=यहाँ नीचे पृथिवीलोक पर आइये। **अपः निषिञ्चन्**=जलों को सींचता हुआ **असुरः**=सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करनेवाला यह मेघ **नः पिता**=हमारा रक्षक है। हे प्रभो! आप ही इस मेघ के द्वारा वर्षण करके अन्नोत्पादन द्वारा हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वायुवों व मेघों द्वारा वृष्टि की व्यवस्था करके अन्नोत्पादन द्वारा सब प्राणियों की रक्षा करते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृष्टि से ओषधियों की उत्पत्ति

अ॒भि क्र॑न्द स्त॒नय॒ गर्भ॒मा धा॑ उद॒न्वता॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न।
दृतिं॒ सु क॑र्ष॒ विषि॑तं॒ न्य॑ञ्चं स॒मा भ॑वन्तू॒द्वतो॑ निपा॒दाः ॥ ७ ॥

(१) हे प्रभो! इस बादल के रूप में **अभिक्रन्द**=भूमि की ओर गर्जना करनेवाला हो। **स्तनय**=विद्युत् को तू शब्द करानेवाला हो। **गर्भं आधाः**=ओषधियों में तू गर्भ को स्थापित कर, सब ओषधियाँ खूब फलित हों। **उदन्वता रथेन**=इस जलवाले रथरूप मेघ से **परिदीया**=चारों ओर गतिवाले होइये। (२) इस **विषितम्**=विशेषरूप से बद्ध व स्यूत **दृतिम्**=चर्मपात्ररूप मेघ को **न्यञ्चम्**=निम्न गतिवाले को **सुकर्ष**=आकृष्ट करिये। मेघ मानो एक चर्मपात्र है, जो जल से परिपूर्ण है। इसे नीचे आकृष्ट करना ही इसका बरसाना है। प्रभु इसे बरसाते हैं और **उद्वतः**=उन्नत प्रदेश व **निपादाः**=निम्न प्रदेश सब **समाः भवन्तु**=समपृष्ठवाले हो जाते हैं। सर्वत्र पानी फैल जाने से निम्नोन्नत विभाग नहीं रह जाता। सब एक पृष्ठ प्रतीत होता है।

भावार्थ—बादल बरसता है और ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार सब प्रदेश जल परिपूर्ण होकर समान पृष्ठवाले प्रतीत होते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महान् कोश का उदञ्चन

म॒हान्तं॒ कोश॒मुद॑चा॒ नि षि॑ञ्च॒ स्यन्द॑न्तां कु॒ल्या॒ विषि॑ताः पु॒रस्ता॑त्।
घृ॒तेन॒ द्यावा॑पृथि॒वी व्यु॑न्धि सुप्रपा॒णं भ॑वत्व॒घ्न्याभ्यः॑ ॥ ८ ॥

(१) हे महान् विजेता (पर्जन्य) प्रभो! आप **महान्तं कोशम्**=इस मेघरूप महान् कोश को **उदचा**=उद्गत करिये आकाश में इस महान् जलकोश को स्थापित करिये। **निषिञ्च**=इसे यहाँ नीचे भूमि पर क्षरित करिये। आपकी इस व्यवस्था से **विषिताः**=सब बन्धनों से मुक्त हुई-हुई **कुल्याः**=ये नदियाँ **पुरस्तात्**=आगे-आगे **स्यन्दन्ताम्**=प्रवाहित होनेवाली हों। (२) इस व्यवस्था के द्वारा हे प्रभो! आप **घृतेन**=इस दीप्ति के कारणभूत जल से **द्यावापृथिवी व्युन्धि**=द्युलोक व पृथिवीलोक को आप क्लिन्न करिये। पृथिवी को यह महान् मेघकोश का जल सींचता ही है और सारे वायुमण्डल को भी गीला करनेवाला होता है। इस स्थिति में **अघ्न्याभ्यः**=इन न मारने योग्य गौवों के लिये **सुप्रपाणं भवतु**=उत्तम पीने योग्य जल-स्थानों का निर्माण **भवतु**=हो। गवादि पशुओं के लिये सर्वत्र मेघजल सुप्राप्त हो।

भावार्थ—वृष्टि हो जाती है, नदियाँ प्रवाहित होने लगती हैं और सर्वत्र पशुओं के लिये पानी सुलभ हो जाता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

निष्पापता व प्रसन्नता

यत्प॑र्जन्य॒ कनि॑क्रदत्स्त॒नय॒न् हंसि॑ दु॒ष्कृतः॑।
प्रती॒दं विश्वं॑ मोदते॒ यत्किं च॑ पृथि॒व्यामधि॑ ॥ ९ ॥

(१) हे **पर्जन्य**=महान् विजेतः प्रभो! **यत्**=जब आप **कनिक्रदत्**=हृदयस्थरूपे 'ऋग् यजु साम' रूप वाणियों का उच्चारण करते हैं। तो **स्तनयन्**=इन वेदवाणियों की गर्जना करते हुए **दुष्कृतः**=सब पापकारियों को **हंसि**=नष्ट करते हैं। वेदवाणियों की प्रेरणा उनके पापों को सुदूर प्रेरित करनेवाली हो जाती है। (२) उस समय पाप के नष्ट हो जाने पर **यत् किञ्च पृथिव्यां अधि**=जो इस पृथिवी पर चराचरात्मक जगत् है, **इदम्**=यह **विश्वम्**=सबका सब **प्रतिमोदते**=प्रतिदिन आनन्द का अनुभव करता है। निष्पापता में ही आनन्द है। पाप 'पातक' है, हृदय को गिरानेवाला है।

भावार्थ—प्रभु वेद-ज्ञान के क्रन्दन से हमारे पापों को नष्ट करते हैं। उस समय यह सब चराचरात्मक जगत् प्रतिमोदित हो उठता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ओषधि भोजन से सुख तथा बुद्धि की प्राप्ति

अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा उ ।
अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम् ॥ १० ॥

(१) हे प्रभो! आपने **वर्षं अवर्षीः**=इस वृष्टि-जल का वर्षण किया है **उ**=और **सु**=अच्छी प्रकार **उद् गृभाय**=सब प्राणियों का उद्ग्रहण किया है। **धन्वानि**=निरुदक मरुस्थलों को भी **अति एतवा**=अतिशयेन गति के लिये **अकः उ**=निश्चय से किया है। (२) आपने **भोजनाय**=भोजन के लिये **ओषधीः**=ओषधियों को **अजीजनः**=उत्पन्न किया है। **उत**=और **प्रजाभ्यः**=सब प्रजाओं के लिये **कम्**=सुख को तथा **मनीषाम्**=बुद्धि को **अविदः**=प्राप्त कराया है।

भावार्थ—प्रभु मेघों द्वारा वृष्टि करके ओषधियों को उत्पन्न करते हैं और उन औषध भोजनों से मानस-सुख तथा बुद्धि का विकास करते हैं।

उत्तम बुद्धि को प्राप्त करनेवाला यह 'अत्रि' बनता है, काम-क्रोध-लोभ से दूर। यह ओषधि भोजन प्राप्त करानेवाली पृथिवी का काव्यमय स्तवन करता है कि—

८४. [चतुरशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पर्वत-खेदन

बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि । प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि ॥ १ ॥

(१) 'पृथिवी' शब्द इस विस्तारवाले अन्तरिक्ष का भी वाचक है। हे **पृथिवि**=अन्तरिक्ष देवते! तू **बट्**=सचमुच **इत्था**=इस प्रकार **पर्वतानाम्**=वाष्प पर्वों (तहों) से बने हुए इन मेघों के **खिद्रम्**=खेदन व भेदन को **बिभर्षि**=धारण करती है। अन्तरिक्ष में ही इन बादलों का निर्माण होता है। वहाँ से इनका भेदन होकर वृष्टि का सम्भव हुआ करता है। (२) हे **प्रवत्वति**=उत्कर्षवाली अन्तरिक्ष देवते! तू वह है **या**=जो, हे **महिनि**=महिमाशालिनि! **मह्ना**=अपनी महिमा से, इस वृष्टि की व्यवस्था से **भूमिम्**=इस प्राणियों के निवास स्थानभूत भूप्रदेश को **प्रजिनोषि**=प्रकर्षेण प्रीणित करती है। वृष्टि के होने से ही यहाँ सब प्राणियों के जीवन का सम्भव होता है।

भावार्थ—अन्तरिक्ष में बादलों का भेदन होकर वृष्टि से अन्नोत्पत्ति द्वारा इस भूमि पर प्राणियों का प्रीणन होता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पेरु-प्रासन

स्तोमासस्त्वा विचारिणि प्रति ष्टोभन्त्यक्तुभिः । प्र या वाजं न हेषन्तं पेरुमस्यस्यर्जुनि ॥ २ ॥

(१) विविध पिण्डों व पक्षियों का संचरण स्थान होने से अन्तरिक्ष 'विचारिणी' कहलाता है। हे **विचारिणि**=विविध पिण्डों की संचरण स्थानभूत अन्तरिक्ष देवते! **स्तोमासः**=(स्तोतारः सा०) तेरे गुण-धर्मों का स्तवन करनेवाले लोग **अक्तुभिः**=(light, darkness) कभी प्रकाशों व कभी अन्धकारों के होने से **त्वा**=तुझे **प्रतिष्टोभन्ति**=प्रतिदिन स्तुत करते हैं। अन्तरिक्ष कभी तो

मेघों के अन्धकारवाला होता है और कभी मेघशून्य व प्रकाशमय प्रतीत होता है। (२) हे **अर्जुनि**=अपने अन्दर मेघों का अर्जन करनेवाली अन्तरिक्ष देवि! तू वह है **या**=जो **हेषन्तं वाजम् न**=शब्द करते हुए उच्छंखृल अश्व के समान **पेरुम्**=इस पालक मेघ को **प्रास्यसि**=वृष्टिरूप में नीचे फेंकनेवाली होती है। 'अर्जुनि' शब्द का अर्थ सायण 'गमनशीले' यह करते हैं। इस अन्तरिक्ष में मेघ इधर-उधर घूम रहे हैं। इन मेघों को वह अन्तरिक्ष भिन्न-भिन्न स्थानों पर फेंकनेवाला, बरसानेवाला होता है।

भावार्थ—यह अन्तरिक्ष सब पिण्डों व मेघों का गति-स्थान बना हुआ है। यह अन्तरिक्ष ही मानो इन गर्जते हुए मेघों को उस-उस स्थान पर वृष्टि करता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पृथिवी** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वनस्पति सेवन व ओजस्विता

दृळ्हा चिद्या वनस्पतीन्क्ष्मया दर्धर्ष्योजसा। यत्ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः॥ ३॥

(१) हे पृथिवि-अन्तरिक्ष देवते! तू वह है **या**=जो **दृढाचित् वनस्पतीन्**=इन अतिशयेन दृढ़ वनस्पतियों को **ओजसा**=ओजस्विता के हेतु से **क्ष्मया**=इस पृथिवी के द्वारा **दर्धर्षि**=अतिशयेन धारण करती है। वनस्पति पृथिवी में प्रतिष्ठित है। इनका पालन अन्तरिक्ष देवता वृष्टि के द्वारा करती है। इनका पालन इसलिए है कि इनके प्रयोग से प्रयोक्ता ओजस्विता को प्राप्त कर सकें। प्रभु ने यह सब व्यवस्था मनुष्यों को ओजस्वी बनाने के लिये की है। (२) **यत्**=जो **ते अभ्रस्य**=तेरे सम्बन्धी इस बादल की **वृष्टयः**=वृष्टियाँ **विद्युतः दिवः**=बिजलियों से दीप्त इस आकाश से **वर्षन्ति**=वृष्टि होती हैं तब इन वनस्पतियों का धारण होता है और मनुष्य ओजस्वी बनते हैं।

भावार्थ—अन्तरिक्ष वृष्टि के द्वारा इस पृथिवी में वनस्पतियों को उत्पन्न करता है। इनके प्रयोग से मनुष्य ओजस्विता का लाभ करते हैं।

अगले सूक्त में 'अत्रि' ऋषि 'वरुण' की उपासना करते हैं। उस 'वरुण' नामक प्रभु का जो पापों का निवारण करनेवाले हैं—

८५. [पञ्चाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सम्राट् वरुण श्रुत' प्रभु

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय॥ १॥

(१) हे उपासक! तू **सम्राजे**=सम्यग् दीप्यमान, **वरुणाय**=सब पापों के निवारक **श्रुताय**=प्रसिद्ध-सर्वज्ञ प्रभु के लिये **बृहत्**=खूब ही **प्र अर्चा**=पूजा कर। उस प्रभु की पूजा के लिये **गभीरं**=इस बह्वर्थोपेत, अर्थात् अत्यन्त गम्भीर **प्रियम्**=प्रीति के जनक **ब्रह्म**=वेद-मन्त्रों से किये जानेवाले स्तोत्रों का (प्रार्च=प्रोच्चारय सा०) उच्चारण कर। (२) **यः**=जो वरुण **सूर्याय उपस्तिरे**=सूर्य किरणों के विस्तार के लिये **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **विजघान**=फैलाते हैं। इस प्रकार फैलाते हैं, **इव**=जैसे कि **शमिता चर्म**=शान्तभाव से उपासना करनेवाला अपने आसन के लिये मृगचर्म को बिछाता है।

भावार्थ—प्रभु 'सम्राट् है, वरुण है, श्रुत हैं। हम मन्त्रों द्वारा खूब ही प्रभु का अर्चन करें। प्रभु सूर्य किरणों के विस्तार के लिये इस पृथिवीरूप आसन को बिछाते हैं। पृथ्वी सूर्य किरणों से

आच्छादित हो जाती है।'

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्या-क्या कहाँ-कहाँ?

वनेषु व्यशन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्त्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वशग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ ॥ २ ॥

(१) **वरुणः**=उस सब से वरण के योग्य, सब वरणीय वस्तुओंवाले प्रभु ने **वनेषु**=वनों में, खुले स्थानों में, घरों व घनी वस्तियों से दूर **अन्तरिक्षं विततान**=अन्तरिक्ष को विस्तृत किया है। घनी बस्तियों में आकाश फैला हुआ नहीं दिखता। खुले स्थानों में आकाश का विस्तार स्पष्ट हो जाता है। उस प्रभु ने **अर्वत्सु**=घोड़ों में **वाजम्**=शक्ति को तथा **उस्त्रियासु**=गौवों में **पयः**=दूध को स्थापित किया है। (२) ठीक इसी प्रकार उस वरुण के **हृत्सु**=मानव हृदयों में **क्रतुम्**=कर्म-संकल्प को रखा है। शक्ति के बिना जैसे घोड़ा घोड़ा नहीं, न दूध देनेवाली गौ गौ क्या? इसी प्रकार कर्म-संकल्प के बिना हृदय हृदय नहीं। उस प्रभु ने **अप्सु**=प्रजाओं के अन्दर **अग्निम्**=शक्ति की उष्णता को धारण किया है। **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यं अदधात्**=ज्ञान सूर्य को स्थापित किया है और **अद्रौ**=उपासनामय हृदय में (adore worship) **सोमम्**=सोमशक्ति को व सौम्यता को स्थापित किया है। उपासनामय हृदय में ही सौम्यता का निवास होता है तथा शरीर में सोम के रक्षण का संभव होता है।

भावार्थ—जैसे प्रभु ने घोड़ों में शक्ति को व गौवों में दूध को स्थापित किया है, उसी प्रकार मानव हृदयों में कर्म संकल्प को स्थापित किया है। इस कर्म के लिये ही शक्ति की उष्णता, ज्ञानसूर्य का प्रकाश व सोमशक्ति की स्थापना हुई है। 'उत्साह, शक्ति व ज्ञान' पूर्वक हम सदा कर्म करनेवाले हों।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भूमि-क्लेदन

नीचीनबारं वरुणः कवन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥ ३ ॥

(१) **वरुणः**=जलों का स्वामी वरुण **कवन्धम्**=जल को **नीचीनबारम्**=नीचे निर्गमन बिलवाला **प्रससर्ज**=करता है। मेघ को विदीर्ण करके जल को अधोमुख करता हुआ **रोदसी**=द्यावापृथिवी को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को हितयुक्त करता है। लोकत्रय के हित के लिये प्रभु इस वृष्टि की व्यवस्था करते हैं। (२) **तेन**=इस वर्षण के द्वारा प्रभु **विश्वस्य भुवनस्य राजा**=सम्पूर्ण भुवन को दीप्त करनेवाले हैं। **न**=जैसे **वृष्टिः**=एक सेचन कार्य को करनेवाला व्यक्ति **यवम्**=गौ को सींचता है, इसी प्रकार वे प्रभु **भूम**=इस भूमि को **व्युनत्ति**=क्लिन्न करते हैं। इस क्लेदन से ही भूमि विविध अन्नों को जन्म देनेवाली बनती है।

भावार्थ—सब कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभु वृष्टि के द्वारा भूमि को क्लिन्न करते हुए अन्नोत्पत्ति द्वारा सबका कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वरुणः

उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्।
समभ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः॥ ४॥

(१) वह **वरुणः**=वरणीय प्रभु उस समय **भूमिम्**=इस पृथिवी को, **पृथिवीम्**=विस्तृत अन्तरिक्ष को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **उनत्ति**=गीला करते हैं, जल की गीलावाला करते हैं, **यदा**=जब कि वे वरुण **दुग्धम्**=(दुह प्रपूरणे) जल के प्रपूरण को **वष्टि**=चाहते हैं। (२) **आत् इत्**=शीघ्र ही उस समय **पर्वतासः**=पर्वत **अभ्रेण**=इन मेघों से **संवसत**=अपने को आच्छादित करते हैं, पर्वत मेघरूप वस्त्रों से ढक जाते हैं और **तविषीयन्तः**=बल को चाहते हुए, खूब बलवान् की तरह आचरण करते हुए **वीराः**=वृष्टि के विशेषरूप से (वि) प्रेरित करनेवाले (ईर) वायु **श्रथयन्त**=इन मेघों को ढीला करते हैं, वृष्ट्युन्मुख करते हैं। ये वायुवें ही 'वृष्टि को लानेवाली वायुवें' कहाती हैं।

भावार्थ—प्रभु जब मेघों द्वारा यहाँ जल के प्रपूरण की कामना करते हैं तो वे इस वर्षण द्वारा लोकत्रयी को क्लिन्न करते हैं। बादल पर्वतों को ढक लेते हैं और वायुवों से इधर-उधर प्रेरित होते हुए उस-उस स्थान पर बरसते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण

इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम्।
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण॥ ५॥

(१) **आसुरस्य**=(असुरो मेघः) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले मेघ के विदीर्ण करनेवाले **श्रुतस्य**=प्रसिद्ध **वरुणस्य**=सर्वज्ञ (प्रचेताः) प्रभु की **इमाम् ऊ महीं मायाम्**=इस ही महान् प्रज्ञा का **सु प्रवोचम्**=मैं स्तुतिरूप में प्रतिपादन करता हूँ। (२) **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस विशाल अन्तरिक्षलोक में **तस्थिवान्**=आसीन होकर स्थित हुए-हुए **मानेन इव**=मानो मापदण्ड से माप कर ही **सूर्येण**=सूर्य से **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **विममे**=बनाते हैं। इस सूर्य से ही अन्य लोकों का प्रभु ने मानपूर्वक निर्माण किया।

भावार्थ—सृष्टि में प्रत्येक पिण्ड बड़े नपे-तुले रूप में बना हुआ है। यह पिण्डों का मान प्रभु की महिमा का द्योतन कर रहा है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्या ही आश्चर्य है?

इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्॥ ६॥

(१) **इमां उ**=इस ही **नु**=अब **कवितमस्य**=उस कान्तप्रज्ञ **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु की **महीं मायाम्**=महती माया को **नकिः आदधर्ष**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाता। उस महान् प्रभु की, यह मन्त्र के उत्तरार्ध में वर्णित, माया ही अत्यन्त महान् है **यत्**=कि, (२) **एकं समुद्रम्**=इस एक समुद्र को **एनीः**=ये शुभ्रवर्णवाली गतिशील **आसिञ्चन्तीः**=चारों ओर से सींचती हुई

अवनयः=नदियाँ **उद्ना**=उदक से **न पृणन्ति**=नहीं भर देती हैं। निरन्तर समुद्र में नदियाँ पड़ रही हैं, पर समुद्र उसी रूप में है। 'कभी यह भरकर ऊर्ध्वप्रवाहवाला हो जाये' ऐसी बात नहीं है। क्या ही विचित्र व्यवस्था है?

भावार्थ—चारों ओर से निरन्तर गतिवाली नदियों से भरा जाता हुआ भी यह समुद्र भर नहीं जाता। क्या ही विचित्र व्यवस्था है?

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

निष्पाप जीवन

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥ ७॥

(१) हे **वरुण**=पाप-निवारक परमात्मन्! जैसे आप गतमन्त्र में वर्णित शब्दों में समुद्र को मर्यादा में रखते हैं, इसी प्रकार आप मुझे भी मर्यादित जीवनवाला बनाइये। **अर्यम्यम्**=(अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) दान देनेवाले के विषय में, **मित्र्यं वा**=अथवा स्नेह करनेवाले के विषय में **सखायं वा**=एक साथ ज्ञान प्राप्त करनेवाले सहाध्यायी के विषय में, **वेशं वा नित्यम्**=और सदा के पड़ोसी के विषय में, **अरणं वा**=या दूर के व्यक्ति के विषय में **यत्**=जो भी **आगः चकृम**=अपराध कर बैठें, हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! उस पाप को **सीम्**=निश्चय से **शिश्रथ**=ढीला करिये। (२) हम अपने स्वार्थ के लिये उल्लिखित व्यक्तियों के विषय में अपराध कर बैठते हैं। मन को काबू न रख सकने पर पाप हो जाता है। हम वरुण का स्मरण करें। ये वरुण हमें पापों से बचायेंगे।

भावार्थ—वरुण का स्मरण करते हुए हम विविध व्यक्तियों के विषय में हो जानेवाले पापों से अपने को बचा पायें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निष्पापता व वरुण-प्रियता

कितवासो यद्रिरिपुर्न दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।
सर्वा ता वि ष्य शिथिरेव देवाधा ते स्याम वरुण प्रियासः॥ ८॥

(१) **कितवासः**=जुआरी व्यक्ति **न**=जैसे **दीवि**=देवन (जुए) कर्म में **यत् रिरिपुः**=जिस पाप का हमारे पर यों ही लेप कर देते हैं। अर्थात् जिस पाप को हमने किया तो नहीं, पर दूसरे द्वेषवश यों ही हमारे पर उसे थोप देते हैं। **वा**=अथवा **यत् घा सत्यम्**=जो निश्चय से सचमुच पाप हमारे से हो गया है। **यत् न विद्म**=जिस पाप को हम जानते नहीं, अर्थात् जो अनजाने में हो जाता है। हे **देव**=सब बुराइयों को कुचलने की कामनावाले प्रभो! आप **सर्वा ता**=उन सब पापों को **शिथिरा इव**=अत्यन्त शिथिल हुओं-हुओं की तरह **विष्य**=हमारे से पृथक् कर दीजिये। (२) हे **वरुण**=हमारे जीवनों को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाले प्रभो! (पाशी) **अधा**=अब पापविमोचन के होने पर **ते**=आपके **प्रियासः स्याम**=हम प्रिय हों। निष्पाप जीवनवाले बनकर हम आपके प्रिय बनें।

भावार्थ—निष्पापता हमें प्रभु का प्रिय बनाये।

निष्पाप बनकर हम इन्द्राग्नी के, बल व प्रकाश के आराधक बनते हैं। सो **अत्रि**=त्रिविध पापों से काम-क्रोध-लोभ जन्य पापों से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति इन्द्राग्नी की आराधना करता हुआ

कहता है—

८६. [षडशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

दृढदुर्ग भेदन

इन्द्राग्नी यमवथ उभा वाजेषु मर्त्यम्। दृळ्हा चित्स प्र भेदति द्युम्ना वाणीरिव त्रितः॥ १॥

(१) 'इन्द्र' बल का प्रतीक है तथा 'अग्नि' प्रकाश का। हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवताओ! आप **उभा**=दोनों **वाजेषु**=इन जीवन-संग्रामों में **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य को **अवथः**=रक्षित करते हो। **सः**=वह **दृढा चित्**=काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं के दृढ़ दुर्गों को भी **प्रभेदति**=विदीर्ण कर डालता है। शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान के होने पर इस प्रकार बल व ज्ञान के समन्वय के होने पर काम-क्रोध-लोभ नष्ट हो जाते हैं। (२) इन शत्रुदुर्गों का प्रभेदन यह इस प्रकार करता है **इव**=जैसे कि **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ से तैर जानेवाला व्यक्ति अथवा 'शरीर, मन, बुद्धि' तीनों का विस्तार करनेवाला यह व्यक्ति **द्युम्नाः वाणी**=ज्योतिर्मयी ज्ञानवाणियों को प्रभेदति=खुले हुए मर्मवाला करता है। इन ज्ञान-वाणियों के रहस्य को यह समझनेवाला बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान व बल का समन्वय हमें काम-क्रोध-लोभ को जीतनेवाला तथा ज्ञानवाणियों के मर्म को समझनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दुष्टरा-श्रवाय्या

या पृतनासु दुष्टरा या वाजेषु श्रवाय्या। या पञ्च चर्षणीरभीन्द्राग्नी ता हवामहे॥ २॥

(१) **या**=जो इन्द्र और **अग्नि**=बल व प्रकाश के देवता **पृतनासु**=संग्रामों में **दुष्टरा**=शत्रुओं से अभिभूत होने योग्य नहीं और **या**=जो **वाजेषु**=बलों में **श्रवाय्या**=प्रशंसनीय हैं, **ता**=उन **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवों को **हवामहे**=हम पुकारते हैं। इनकी आराधना हमें संग्रामों में विजयी व प्रशंसनीय बलवाला बनाती है। (२) ये इन्द्र और अग्नि वे हैं **या**=जो **पञ्च**=पाँचों **चर्षणीः**=अभि (चर्षणि=seeing, moving) ज्ञानों व कर्मों के प्रति हमें प्रेरित करते हैं। इन इन्द्र और अग्नि की उपासना से पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी ठीक बनी रहती हैं और पाँचों कर्मेन्द्रियाँ भी सशक्त होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि का आराधन हमें (१) संग्रामों में विजयी बनाता है, (२) प्रशस्त शक्तिवाला करता है तथा (३) ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को अपने व्यापारों में ठीक से प्रेरित रखता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अमवत् शवः

तयोरिदमवच्छवस्तिग्मा दिद्युन्मघोनोः। प्रति द्रुणा गभस्त्योर्गवां वृत्रघ्न एषते॥ ३॥

(१) **तयोः इत्**=उन दोनों का ही, गतमन्त्र में वर्णित 'इन्द्र व अग्नि' का ही **शवः**=बल **अमवत्**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाला है। इन **मघोनोः**=शक्ति व ज्ञानरूप ऐश्वर्यवाले इन्द्र और अग्नि का ही **दिद्युत्**=वज्र **तिग्मा**=बड़ा तीक्ष्ण है। इनका वज्र शत्रुओं का विनाश करनेवाला है। शक्ति यदि रोगरूप शत्रुओं का विनाश करती है, तो ज्ञान मानस विकारों का अन्त करनेवाला होता है। (२) ये इन्द्र और अग्नि **गभस्त्योः**=बाहुओं में **द्रुणा**=(द्रुगतौ) गतिमत्ता, अर्थात् क्रियाशीलता

से **गवाम्**=इन इन्द्रियों को **वृत्रघ्ने**=आवरणभूत कामविकारों के विनाश के लिये **प्रति आ एषते**=प्रतिदिन सर्वथा प्राप्त होते हैं। वस्तुतः शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहना ही वह उपाय है, जो हमें इन्द्रियों को विषयों से आक्रान्त होने से बचाता है। यही इन गौवों का वृत्र के आक्रमण से रक्षण है।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि का बल शत्रुओं का विनाश करता है। ये इन्द्र और अग्नि इन्द्रियों को विषयाक्रान्त नहीं होने देते।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

पती तुरस्य राधसः

ता वामेषे रथानामिन्द्राग्नी हवामहे। पती तुरस्य राधसो विद्वांसा गिर्वणस्तमा॥ ४॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! **ता वाम्**=उन आप दोनों को **रथानां एषे**=शरीर-रथों के मार्ग पर प्रेरित करने के लिये **हवामहे**=पुकारते हैं। हमारे इस शरीर-रथ में इन्द्र और अग्नि की स्थिति के होने पर, शक्ति व ज्ञान के प्रकाश के होने पर, जीवन-यात्रा सुन्दरता से पूर्ण होती है। हमारा यह शरीर-रथ न टूटता है, न भटकता है। इन्द्र इसे दृढ़ बनाता है और अग्नि इसे प्रकाश दिखाता है। (२) ये इन्द्र और अग्नि **तुरस्य**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **राधसः**=ऐश्वर्य के **पती**=स्वामी हैं। अर्थात् ये हमें उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं, जो हमें विषयों में फँसानेवाला नहीं होता। ये इन्द्र और अग्नि **विद्वांसा**=ज्ञानी हैं, अपने कर्त्तव्यों को समझते हैं और **गिर्वणस्तमा**=अधिक-से-अधिक ज्ञान की वाणियों का सम्भजन करनेवाले हैं। इन्द्र व अग्नि से हमारा जीवन ज्ञान-प्रधान बनता है, हमारा सारा रिक्त समय स्वाध्याय के लिये अर्पित होता है।

भावार्थ—बल व प्रकाश के तत्त्व हमें उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं, जो हमें विषयों में नहीं फँसाता। इनके होने पर हमारा जीवन ज्ञान-प्रधान बना रहता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अदभा-अर्हन्ता-अंशा इव

ता वृधन्तावनु द्यून्मर्ताय देवावदभा। अर्हन्ता चित्पुरो दधेऽशेव देवावर्वते॥ ५॥

(१) **ता**=वे दोनों **देवौ**=जीवन को दिव्यता प्राप्त करानेवाले इन्द्र और अग्नि—बल व प्रकाश के देव, **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **वृधन्तौ**=वृद्धि को प्राप्त करते हुए **मर्ताय**=मनुष्य के लिये **अदभा**=न हिंसित होने देनेवाले हैं। इन्द्र यदि उसे रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता तो अग्नि उसकी सब वासनाओं को भस्म कर देता है। (२) **अर्हन्ता चित्**=जो सचमुच पूजा के योग्य हैं उन इन्द्र और अग्नि को मैं **पुरः दधे**=सदा अपने सामने रखता हूँ। मेरे जीवन का लक्ष्य इन्द्र व अग्नि का आराधन होता है। ये **देवौ**=इन्द्र और अग्नि, बल व प्रकाश के देव **अर्वते**=(अर्व् to kill) शत्रुसंहार करनेवाले पुरुष के लिये **अंशौ इव**=दो कन्धों (shoulder) के समान हैं। जैसे कन्धे भार का वहन करते हैं, उसी प्रकार इसके जीवन के भार को इन्द्र और अग्नि वहन करनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों में 'अग्नि' देव काम करता है, तो कर्मेन्द्रियों में 'इन्द्र' देव। इस प्रकार इसकी जीवन-यात्रा बड़ी उत्तमता से पूर्ण होती है।

भावार्थ—बल व प्रकाश हमें हिंसित नहीं होने देते। ये पूजा के योग्य हैं। जीवन के भार का वहन करनेवाले हैं।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—विराट्पूर्वानुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

श्रवः, रयिं, इषम्

एवेन्द्राग्निभ्यामहावि हव्यं शूष्यं घृतं न पूतमद्रिभिः।
ता सूरिषु श्रवो बृहद्रयिं गृणत्सु दिधृतमिषं गृणत्सु दिधृतम्॥ ६॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इन्द्राग्निभ्याम्**=इन्द्र व अग्नि तत्त्वों के हेतु से **हव्यं अहावि**=हव्य पदार्थ ही जठर की वैश्वानर अग्नि में आहुत किये जाते हैं। अर्थात् सात्त्विक पदार्थों के सेवन से हम बल व प्रकाश का वर्धन करनेवाले होते हैं। **अद्रिभिः**=(to adore) उपासकों से **घृतं न**=घृत के समान **शूष्यम्**=शत्रुशोषक बल में उत्तम **पूतम्**=पवित्र अन्न ही अपने में आहुत किया जाता है। घृत तथा 'शूष्य हव्य पदार्थों का सेवन' हमारे अन्दर बल व प्रकाश को बढ़ाता है। (२) **ता**=वे इन्द्र और अग्निः! आप **सूरिषु**=ज्ञानी पुरुषों में **श्रवः**=ज्ञान को धारण करें। **गृणत्सु**=स्तोताओं में **बृहद्रयिम्**=वृद्धि के कारणभूत ऐश्वर्य को **दिधृतम्**=धारण करें तथा इन **गृणत्सु**=स्तोताओं में **इषम्**=प्रेरणा को **दिधृतम्**=धारण करें। इन्द्र व अग्नि के विकास से हृदय की पवित्रता होकर, अन्तःस्थित प्रभु प्रेरणा के सुनने का सम्भव होता है।

भावार्थ—घृत तथा हव्य पदार्थों का सेवन हमारे में बल व प्रकाश का वर्धन करता है। ये बल व प्रकाश के देव हमारे जीवनों में ज्ञान, ऐश्वर्य व प्रेरणा को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान, ऐश्वर्य व प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति सदा मार्ग से चलनेवाला होने से 'एवया' कहलाता है और इस मार्ग पर चलने के लिये यह प्राणों की साधना करनेवाला व्यक्ति मरुत् (प्राण) ही कहलाता है। यह एवयामरुत् प्राणों के विषय में कहता है—

८७. [सप्ताशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—एवयामरुदात्रेयः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—अतिजगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु-स्मरण व प्राणायाम

प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत्।
प्र शर्धाय प्रयज्यवे सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे॥ १॥

(१) हे **एवयामरुत्**=मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक पुरुष! **वः मतयः**=तुम्हारी मननपूर्वक की गई स्तुतियाँ **गिरिजाः**=इस वेदवाणी में निष्पन्न हों और उस **महे**=महान् **मरुत्वते**=प्रशस्त प्राणोंवाले, साधकों को प्रशस्त प्राणशक्ति प्राप्त करानेवाले, **विष्णवे**=व्यापक प्रभु के लिये **प्रयन्तु**=प्रकर्षेण प्राप्त हों। वस्तुतः यह स्तवन ही हमें मार्गभ्रंश से बचाकर प्रशस्त प्राणशक्तिवाला बनाता है। (२) तुम्हारी ये स्तुतियाँ **शर्धाय**=मरुतों के बल के लिये **प्र**=प्राप्त हों। जो मरुतों का बल **प्रयज्यवे**=हमारे साथ उत्कृष्ट गुणों का मेल करनेवाला है। **सुखादये**=खूब ही शत्रुओं को खा जानेवाला है। **तवसे**=वृद्धि के लिये है, **भन्ददिष्टये**=स्तुतिरूप यज्ञोंवाला है, **धुनिव्रताय**=शत्रु-कम्पनरूप कर्मवाला है और **शवसे**=गतिशीलता का कारण है (शवतिर्गतिकर्मा) अथवा बल को देनेवाला है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें और प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—एवयामरुदात्रेयः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—स्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'शक्ति विकास' व 'ज्ञानदीप्ति'

प्र ये जाता महिना ये च नु स्वयं प्र विद्मना ब्रुवत एवयामरुत्।
क्रत्वा तद्वो मरुतो नाधृषे शवो दाना मह्ना तदेषामधृष्टासो नाद्रयः ॥ २ ॥

(१) **एवयामरुत्**=मार्ग पर चलनेवाला प्राणसाधक पुरुष **ब्रुवते**=उन मरुतों (प्राणों) की स्तुति करता है, **ये**=जो मरुत् **महिना**=अपनी महिमा से **प्रजाताः**=प्रकृष्ट विकासवाले हैं, जिनके द्वारा शरीर में सब शक्तियों का विकास होता है ये **च**=और जो **स्वयम्**=अपने आप **विद्मना**=ज्ञान से **प्र** (जाताः)=प्रकृष्ट प्रादुर्भाव होते हैं। प्राणसाधना के द्वारा अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञानदीप्ति चरमसीमा पर पहुँचकर विवेकख्याति को सिद्ध करती है। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **वः तद् शवः**=आपका वह प्रसिद्ध बल **क्रत्वा**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से युक्त हुआ-हुआ **न आधृषे**=किन्हीं भी शत्रुओं से धर्षणीय नहीं होता। **तत्**=सो **एषाम्**=इन मरुतों को **दाना**=शत्रुलवन (काटना) रूप कार्य से (दाप् लवने) तथा **मह्ना**=महिमा से **अद्रयः**=प्रभु के उपासक लोग **अधृष्टासः न**=अधर्षणीय वीरों के समान होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) सब शक्तियों का विकास होता है, (२) ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है, (३) अधर्षणीय बल की प्राप्ति होकर हम शत्रुओं से अधर्षणीय वीर बन पाते हैं।

ऋषिः—एवयामरुदात्रेयः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—भुरिग्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सुशुक्वानः, सुभ्वः (ज्ञानदीप्त-स्वस्थ)

प्र ये दिवो बृहतः शृण्विरे गिरा सुशुक्वानः सुभ्व एवयामरुत्।
न येषामिरी सधस्थ ईष्ट आँ अग्नयो न स्वविद्युतः प्र स्पन्द्रासो धुनीनाम् ॥ ३ ॥

(१) **ये**=जो मरुत **बृहतः दिवः**=वृद्धि के कारणभूत महान् ज्ञान को **गिरा धुनीनाम्**=उत्तम वाणियों के द्वारा **प्रशृण्विरे**=खूब विश्रुत (प्रसिद्ध) हैं। प्राणसाधना ही मनुष्य को सूक्ष्म बुद्धि बनाकर इन ज्ञान की वाणियों को समझने के योग्य बनाती है। ये व्यक्ति ही **सुशुक्वानः**=ज्ञान की उत्तम दीप्तिवाले होते हैं और **सुभ्वः**=(सुष्ठु भवन्तः) स्वस्थ होते हैं। **एवयामरुत्**=ये ही मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक पुरुष हैं। (२) **येषाम्**=जिन प्राणों का **सधस्थे**=जीव व प्रभु के सह-स्थान हृदय में **इरी**=प्रेरिता **न ईष्टे**=हिंसित नहीं होता। वे प्राण **अग्नयः न**=अग्नियों के समान **स्वविद्युतः**=अपनी विशिष्ट दीप्तिवाले हैं और **धुनीनाम्**=(sounds) वाणियों के **प्रस्पन्द्रासः**=प्रकर्षेण प्रेरित करनेवाले हैं। प्राणसाधना के होने पर ज्ञान की वाणियों का खूब ही प्रकाश होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'ज्ञानदीप्त व स्वस्थ' बनाती है। इससे दीप्ति प्राप्त होती है और ज्ञान की वाणियों का रहस्य प्रकट हो जाता है।

ऋषिः—एवयामरुदात्रेयः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

रेचक प्राणायाम व इन्द्रियों की निर्दोषता

स चक्रमे महतो निरुरुक्रमः समानस्मात्सदस एवयामरुत्।
यदायुक्त त्मना स्वादधि ष्णुभिर्विष्पर्धसो विमहसो जिगाति शेवृधो नृभिः ॥ ४ ॥

(१) **सः**=वह **उरुक्रमः**=महान् पराक्रमवाला प्राणों का गण **महतः**=महान् **समानस्मात्**

सदसः=समान स्थान से, अर्थात् जीव और प्रभु के समानरूप से रहने योग्य हृदयप्रदेश से **निः चक्रमे**=बाहिर गतिवाला होता है। रेचक प्राणायाम के समय यह हृदय को छोड़कर बाहर फेंका जाता है। उस समय इस प्राणसाधना को करता हुआ यह **एवयामरुत्**=मार्ग पर चलनेवाला प्राणसाधक पुरुष **यदा**=जब **विष्पर्धसः**=जिनके साथ स्पर्धा (मुकाबिला) करनी बड़ी कठिन है, ऐसे **विमहसः**=विशिष्ट तेजवाले **शेवृधः**=सुख का वर्धन करनेवाले इन्द्रियाश्वों को **त्मना अयुक्त**=अपने साथ, अपने इस शरीर-रथ के साथ जोतता है। प्राणसाधना के द्वारा विशेषतः इस रेचक प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं। श्वास वायु बाहिर जाता हुआ दोषों को भी अपने साथ बाहिर ही ले जाता है। निर्मल इन्द्रियाँ शक्तिशाली व तेजस्वी बनती हैं। (२) इस समय यह एवयामरुत् **स्वात्**=अपने से, अपने इस शरीर से **ष्णुभिः नृभिः**=गतिशील आगे ले चलनेवाले इन प्राणों के द्वारा **अधिजिगाति**=ऊपर उठकर प्रभु की ओर चलता है। इन्द्रियाँ जब तक सदोष बनी रहती हैं, तब तक प्रभु की ओर जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्राणसाधना इन्हें निर्दोष करती है और हमें भौतिक सुखों के संग से दूर करके प्रभु-प्रवण करती है।

भावार्थ—रेचक प्राणायाम इन्द्रियों के दोषों को बाहिर फेंक देता है। इन इन्द्रियों के निर्दोष होने पर हमें ये प्राण प्रभु की ओर ले चलनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्वरोचियः-स्थारश्मानः

स्वनो न वोऽमवान्रेजयद् वृषा त्वेषो ययिस्तविष एवयामरुत्।
येना सहन्त ऋञ्जत स्वरोचिषः स्थारश्मानो हिरण्ययाः स्वायुधास इष्मिणः ॥ ५ ॥

(१) हे मरुतो-प्राणो! **वः**=आपका रेचन व पूरण के समय होनेवाला **स्वनः**=शब्द **न रेजयत्**=मुझे कम्पित करनेवाला न हो। अर्थात् मैं इस प्राणसाधना में बहुत हिलता-जुलता ही न रहूँ। 'स्थिरसुखमासनम्' इस योगसूत्र के अनुसार स्थिरता से आसन पर आसीन रहूँ। यह आपका स्वनः **अमवान्**=प्रबल है, **वृषा**=शक्ति का सेचन करनेवाला है, **त्वेषः**=दीप्त है, **ययिः**=तुझे गतिशील बनानेवाला है, मेरे में स्फूर्ति व क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला है। **तविषः**=बल का वर्धक है। (२) प्राणों के इस प्राणसाधना में होनेवाले 'इं-स' इस अव्यक्त ध्वनिरूप **येन**=स्वन से जिस ही **एवयामरुत्**=मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक पुरुष **सहन्तः**=शत्रुओं का अभिभव करते हुए **ऋञ्जत**=अपने जीवन को प्रसाधित व अलंकृत करते हैं। **स्वरोचिषः**=आत्मदीप्तिवाले बनते हैं, **स्थारश्मानः**=स्थिर ज्ञानरश्मियोंवाले होते हैं, **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय जीवनवाले बनते हैं, **स्वायुधासः**=उत्तम 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधोंवाले होते हैं और **इष्मिणः**=प्रभु प्रेरणा को प्राप्त करके (इष् प्रेरणे) खूब गतिशील जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना में स्थिरता से प्रवृत्त हुए-हुए हम शत्रुओं का अभिभव करके ज्ञान-विज्ञान का वर्धन करते हुए जीवन को प्रशस्त 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' वाला बनायें।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वृद्धशवसः-शुशुक्वांसः

अपारो वो महिमा वृद्धशवसस्त्वेषं शवोऽवत्वेवयामरुत्।
स्थातारो हि प्रसितौ संदृशि स्थन ते न उरुष्यता निदः शुशुक्वांसो नाग्नयः ॥ ६ ॥

(१) हे मरुतो-प्राणो! **वः**=आपकी **महिमा**=महिमा **अपारः**=अधिक है, अनन्त है।

वृद्धशवसः=हे बढ़े हुए बलवाले प्राणो! आपका **त्वेषं शवः**=दीप्त बल **एवयामरुत्** (तं)=तुझ एवयामरुत् को, मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक को **अवतु**=रक्षित करे। (२) हे प्राणो! आप **हि**=निश्चय से **प्रसितौ**=व्रतों के बन्धन में व परिणामतः **सन्दृशि**=प्रभु के सन्दर्शन में **स्थातारः स्थन**=स्थित होनेवाले हो। प्रभु का यह प्राणसाधक उपासक व्रतमय जीवनवाला व प्रभु का दर्शन करनेवाला बनता है। हे प्राणो! **ते**=वे आप **नः निदः उरुष्यत**=हमारा निन्दनीय कर्मों से रक्षण करो। आपकी साधना के द्वारा हम निन्दनीय कर्मों को करनेवाले न हों। और **अग्नयः न**=अग्नियों के समान **शुशुक्वांसः**=दीप्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) बल बढ़ता है, (२) जीवन व्रती बनता है, (३) हम व्रतमय जीवनवाले होते हैं, (४) प्रभु दर्शन को प्राप्त करते हैं, (५) अग्नि के समान दीप्त व तेजस्वी होते हैं।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

निष्पाप दीर्घजीवन

ते रुद्रासः सुमखा अग्नयो यथा तुविद्युम्ना अवन्त्वेवयामरुत्।
दीर्घं पृथु पप्रथे सद्म पार्थिवं येषामज्मेष्वा महः शर्धांस्यद्भुतैनसाम्॥ ७॥

(१) **ते**=वे प्राण **रुद्रासः**=(रुत् द्र) सब रोगों का द्रावण करनेवाले हैं। **सुमखाः**=उत्तम यज्ञोंवाले हैं। प्राणसाधना से शरीर नीरोग बनता है और हमारी वृत्ति यज्ञों के करने की होती है। इस प्रकार नीरोग यज्ञशील बनकर हम **यथा अग्नयः**=अग्नियों के समान होते हैं। **तुविद्युम्नाः**=ये प्राण प्रभूत=ज्योतिवाले हैं। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान वृद्धि होती है। ऐसे ये प्राण **एवयामरुत्** (तं)=मार्ग पर चलनेवाले इस प्राणसाधक को **अवन्तु**=रक्षित करें। (२) वे प्राण इस एवयामरुत् की रक्षा करें, **येषाम्**=जिनके **अज्मेषु**=गमनों में, रेचक व पूरक प्राणायामों में गति के होने पर यह **पार्थिवं सद्म**=पार्थिव शरीर **दीर्घम्**=दीर्घकाल तक **पृथु**=विस्तृत शक्तियोंवाला होता हुआ **पप्रथे**=विस्तृत होता है। इन **अद्भुतैनसाम्**=(अभूत पापानां) पापशून्य प्राणों के मार्गों में **महः शर्धांसि**=महान् बल **आ**=(गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं। प्राणसाधना से जीवन निष्पाप व शक्ति-सम्पन्न बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर हमारा जीवन 'नीरोग, यज्ञमय, प्रभूत-ज्योतिवाला, तेजस्वी' बनता है। हम निष्पाप दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञमय निर्द्वेष जीवन

अद्वेषो नो मरुतो गातुमेतन श्रोता हवं जरितुरेवयामरुत्।
विष्णोर्महः समन्यवो युयोतन स्मद्रथ्यो३ न दंसनाप द्वेषांसि सनुतः॥ ८॥

(१) हे **नः मरुतः**=हमारे प्राणो! आप **अद्वेषः**=(अद्वेषसः) द्वेष शून्य होते हुए **गातुं एतन**=मार्ग पर चलो। प्राणसाधना हमें कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होने देती। हे प्राणो! **एवयामरुत्** (तः)=इस मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक **जरितुः**=स्तोता की **हवं श्रोता**=पुकार को सुनो। आपकी साधना के द्वारा मैं सदा मार्ग पर चलता रहूँ। कभी भटकूँ नहीं। (२) हे **विष्णोः समन्यवः**=उस व्यापक प्रभु के यज्ञों से युक्त होते हुए आप **महः**=तेजस्विता को **युयोतन**=(यु मिश्रणे) हमारे साथ जोड़ो। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजाओं के साथ ही यज्ञों को भी उत्पन्न

किया। इन प्रभु के यज्ञों को ये प्राण ही हमारे साथ जोड़ते हैं। **स्मद्रथ्यः न**=जैसे (स्मत्=प्रशस्त) प्रशस्त रथी शत्रुओं को दूर करते हैं, उसी प्रकार **दंसना**=उत्तम कर्मों के द्वारा **द्वेषांसि**=द्वेषों को **सनुतः अप**=अन्तर्हित रूप में आप **अप** (युयोतन)=हमारे से दूर करो। द्वेष हमारे से सदा सुदूर छिपे रहें। हमारा झुकाव कभी भी द्वेष वृत्तियों की ओर न हो।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हमारा जीवन यज्ञमय व निर्द्वेष बने।

ऋषिः—**एवयामरुदात्रेयः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'यज्ञियवृत्ति' व 'पाप से दूर'

गन्ता नो यज्ञं यज्ञियाः सुशमि श्रोता हवमरक्ष एवयामरुत्।
ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि यूयं तस्य प्रचेतसः स्यात दुर्धर्तवो निदः ॥ ९ ॥

(१) हे **नः**=हमारे प्राणो! आप **यज्ञियाः**=यज्ञरूप उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले होते हुए **यज्ञं गन्ता**=यज्ञ के प्रति प्राप्त होनेवाले होवो। **अरक्षः**=(अरक्षसः) राक्षसीभावों से रहित होते हुए आप **सुशमि**=(शोभन कर्म यथा भवति तथा, सुकर्मत्वाय सा०) शोभनकर्मता के लिये **एवयामरुत्** (**तः**) **हवं श्रोता**=मुझ मार्ग पर चलनेवाले प्राणसाधक की पुकार को सुनो। मैं आपकी साधना के द्वारा सदा सुकर्मा बनूँ। (२) **व्योमनि**=आकाश में, हृदयान्तरिक्ष में **ज्येष्ठासः न पर्वतासः**=बढ़े हुए पर्वतों के समान आप होवो। आप से टकराकर वासना की वात्याएँ छिन्न-भिन्न हो जायें। **यूयम्**=तुम **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **स्यात**=होवो। आपके द्वारा हमारा ज्ञान बढ़े। **निदः दुर्धर्तवः**=निन्दनीय पापों के दुर्धर होवो। आपकी उपस्थिति में पाप हमारे जीवन में न आ सके।

भावार्थ—प्राणसाधना से यज्ञियवृत्ति बनती है और सब राक्षसीभाव विनष्ट हो जाते हैं। ये प्राण ज्ञानवर्धन के द्वारा हमें निन्द्य कर्मों से दूर रखते हैं।

॥ इति पञ्चमं मण्डलम् ॥

अथ षष्ठं मण्डलम्

गत सूक्त का प्राणसाधक पुरुष अपने में शक्ति को भरके 'भरद्वाज' बनता है और ज्ञानवर्धन करके यह 'बार्हस्पत्य' होता है। 'अग्नि' नाम से प्रभु का स्मरण करता हुआ यह कहता है कि—

प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथम सूक्तम्]

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'बुद्धि व बल के दाता' प्रभु

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतास्या धियो अभवो दस्म होता।
त्वं सीं वृषन्नकृणोर्दुष्टरीतु सहो विश्वस्मै सहसे सहध्यै॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **प्रथमः**=सर्वप्रथम **मनोता**=(मनः उतं सम्बद्धं यज) मन को बाँधनेवाले हैं। प्रभु को छोड़कर मन कहीं भी टिक नहीं पाता। प्रत्येक वस्तु के ओर द्वारे को (सिरों को) देखकर मन आगे बढ़ने की करता है। जब कभी प्रभु में जाता है, तो उसके अनादि अनन्त होने से न यह उसके सिरों तक पहुँचता है और नांही अन्यत्र जानेवाला होता है। यह मन प्रभु में ही उलझ जाता है। (२) हे **दस्म**=हमारे सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! आप **अस्याः धियः होता**=इस बुद्धि के देनेवाले **अभवः**=होते हैं। आप से दी गई इस बुद्धि के द्वारा ही हम अपने दुःखों को दूर करनेवाले होते हैं। हे **वृषन्**=हमारे में शक्ति का सेचन करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही **सीम्**=निश्चय से **दुष्टरीतु सहः**=शत्रुओं से न आक्रान्त होने योग्य बल को **अकृणोः**=करते हैं। उस दुष्टरीतु=अहिंस्य बल को आप करते हैं, जो **विश्वस्मै**=सब **सहसे**=बलवान् शत्रुओं के **सहध्यै**=पराभव करने के लिये होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि देते हैं और बल प्राप्त कराते हैं, जिससे कि हम सब शत्रुओं का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति

अधा होता न्यसीदो यजीयानिळस्पद इषयन्नीड्यः सन्।
तं त्वा नरः प्रथमं देवयन्तो महो राये चितयन्तो अनु ग्मन्॥ २॥

(१) **अधा**=अब **होता**=सब कुछ देनेवाले होते हुये आप **न्यसीदः**=हमारे हृदयों में आसीन होते हैं। **यजीयान्**=अतिशयेन उत्तम पदार्थों के प्राप्त करानेवाले आप (यज्=दाने) **इडस्पदे**=इस वेदवाणी के पद में **इषयन्**=प्रेरणा को प्राप्त कराते हुए आप **ईड्यः**=पूज्य व **सन्**=श्रेष्ठ हैं। (२) **तम्**=उन **प्रथमम्**='प्रथ विस्तारे' सर्वव्यापक **त्वा**=आपको **देवयन्तः**=दिव्यगुणों की कामनावाले **चितयन्तः**=चिन्तनशील ज्ञानी पुरुष **महे राये**=महान् ऐश्वर्य के लिये **अनुग्मन्**=अनुगमन करते

हैं। प्रभु का अनुगमन यही है कि प्रभु के अनुसार अपने अन्दर गुणों को धारण करना। इस मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करता ही है।

भावार्थ—हमारे हृदयों में स्थित प्रभु हमें प्रेरणा देते हैं। इस प्रेरणा के अनुसार चलते हुए हम महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रुशन्-दीदिवान्

वृतेव यन्तं बहुभिर्वसव्यै३स्त्वे रयिं जागृवांसो अनु ग्मन्।
रुशन्तमग्निं दर्शतं बृहन्तं वपावन्तं विश्वहा दीदिवांसम्॥ ३॥

(१) **बहुभिः वसव्यैः**=अनन्त वसुओं (=धनों) के साथ **वृता इव यन्तम्**=मार्ग से ही जाते हुए आपका **अनुग्मन्**=ज्ञानी पुरुष अनुसरण करते हैं। ये **जागृवांसः**=सदा जागते हुए, सावधान पुरुष **त्वे**=आप में **रयिम्**=धन को प्राप्त करते हैं। (२) उन आपका अनुगमन करते हुए ये ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं जो आप **रुशन्तम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, **अग्निम्**=अग्रेणी हैं, **दर्शतम्**=दर्शनीय हैं, **बृहन्तम्**=महान् है, **वपावन्तम्**=उत्तम सद्गुणों के बीजों का वपन करनेवाले हैं और **विश्वहा**=सदा **दीदिवांसम्**=दीप्यमान हैं। आपका अनुगमन करते हुए ये भी काम-क्रोधादि का संहार करते हैं, आगे बढ़ते हैं, दर्शनीय जीवनवाले होते हैं, बड़े बनते हैं, विशाल हृदयवाले होते हैं, अपने जीवन में सद्गुणों के बीजों को बोने का प्रयत्न करते हैं और सदा स्वाध्याय से अपने जीवन को दीप्त बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का अनुसरण हमें ऐश्वर्यशाली, काम, क्रोध आदि का विनाशक व सदा ज्ञानदीप्त बनाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नाम-स्मरण व पवित्रता

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम्।
नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त सन्दृष्टौ॥ ४॥

(१) **देवस्य**=उस प्रकाशमय प्रभु के **पदम्**=स्थान को **नमसा**=नमन के साथ **व्यन्तः**=जाते हुए, **श्रवस्यवः**=ज्ञान की कामनावाले ये भक्त **अमृक्तम्**=वासनाओं से अबाध्यमान **श्रवः**=ज्ञान को **आपन्**=प्राप्त होते हैं। प्रभु के चरणों में नम्रता से उपस्थित होना उस उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्ति का साधन बनता है, जो कि सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला होता है। (२) ये उपासक **यज्ञियानि**=यज्ञिय-पवित्र-आदरणीय **नामानि**=नामों को **चित्**=निश्चय से **दधिरे**=धारण करते हैं। (आप) के पवित्र नामों का जप करते हुए उन नामों के अनुसार अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करते हैं और **ते**=आपकी **भद्रायां संदृष्टौ**=कल्याणी संदृष्टि में **रणयन्त**=रमण करते हैं। आपके सन्दर्शन में सब कार्यों को करते हैं, आनन्द का अनुभव करते हैं। प्रभु-स्मरणपूर्वक सब कार्यों को करना ही एकमात्र वह उपाय है जिससे कि हम मार्गभ्रष्ट नहीं होते और सदा उत्तम कर्मों में ही आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति नमन से हम उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करते हैं। प्रभु के पवित्र नामों का स्मरण करते हुए पवित्र कर्मोंवाले होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पिता-माता-त्राता

त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्॥ ५॥

(१) हे प्रभो! **क्षितयः**=सब मनुष्य **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी में **त्वां वर्धन्ति**=आपको ही बढ़ाते हैं। सब मनुष्य आपका ही स्तवन करते हैं। **जनानाम्**=मनुष्यों के **उभयासः रायः**=दोनों प्रकार के ऐश्वर्य शरीर में शक्तिरूप व मस्तिष्क में ज्ञानरूप ऐश्वर्य **त्वाम्**=आपको ही बढ़ानेवाले होते हैं। यह ज्ञानैश्वर्य व बल का ऐश्वर्य आपके ही कारण तो होता है। (२) **त्वम्**=आप ही **त्राता**=रक्षक हैं। **तरणे**=इस महासागर के तैरने में **चेत्यः भूः**=ज्ञान देनेवालों में उत्तम आप ही हैं। आपसे ही ज्ञान को प्राप्त करके हम सब संसार समुद्र को तैर पाते हैं। आप ही **सदं इत्**=सदैव **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के **पिता माता**=पिता व माता हैं, आप ही उनके रक्षक हैं और निर्माण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही पिता हैं, माता हैं और त्राता हैं। भवसागर को तैरने के लिये ये ही ज्ञान को देनेवाले हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नम्रतापूर्वक प्रभु का उपासन

सपर्येण्यः स प्रियो विक्ष्व१ग्निर्होता मन्द्रो नि षसादा यजीयान्।
तं त्वा वयं दम आ दीदिवांसमुप ज्ञुबाधो नमसा सदेम॥ ६॥

(१) **सः**=ये प्रभु **सपर्येण्यः**=पूज्य हैं, **प्रियः**=प्रीति को उत्पन्न करनेवाले हैं। **विक्षु**=सब प्रजाओं में **अग्निः**=अग्रेणी होते हुए वे प्रभु **होता**=जीवन-यज्ञ को चलानेवाले हैं अथवा उन्नति के लिये सब साधनों को प्राप्त करानेवाले हैं। वे **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप **यजीयान्**=सर्वाधिक पूज्य प्रभु **निषसादा**=हमारे हृदयासन पर आसीन होते हैं। (२) हे प्रभो! **दमे**=इस शरीर गृह में **आदीदिवांसम्**=सर्वतो दीप्यमान **तम्**=उन **त्वा**=आपको **वयम्**=हम **ज्ञुबाधः**=(जानुनं बाधयन्तः) घुटने टेककर, अवनतजानु व प्रणत होकर **नमसा**=नमन के साथ **उपसदेम**=उपासीन हों। नम्रतापूर्वक आपकी उपासना करनेवाले बनें। आपकी उपासना हमारे जीवन को दीप्त बनायेगी।

भावार्थ—वे प्रभु ही पूज्य हैं। वे सर्वदाता प्रभु ही नम्रतापूर्वक उपास्य हों। उनकी उपासना हमें दीप्त जीवनवाला बनायेगी।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभुस्तवन के लाभ

तं त्वा वयं सुध्यो३ नव्यमग्ने सुम्नायव ईमहे देवयन्तः।
त्वं विशो अनयो दीद्यानो दिवो अग्ने बृहता रोचनेन॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तं नव्यं त्वा**=उन स्तुत्य आपको **वयम्**=हम **सुध्यः**=उत्तम बुद्धिवाले, **सुम्नायवः**=प्रभु-स्तवन व आनन्द की कामनावाले, **देवयन्तः**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामनावाले होते हुए **ईमहे**=याचना करते हैं, आपकी ही स्तुति करते हैं। वस्तुतः आपकी स्तुति ही हमें सुबुद्धि-प्रशस्त आनन्दवाला व दिव्यगुण सम्पन्न बनाती है। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो!

त्वम्=आप ही **दीद्यानः**=देदीप्यमान होते हुए **बृहता रोचनेन**=महान् दीप्ति व तेजस्विता से **विशः**=सब प्रजाओं को **दिवः अनयः**=प्रकाशमय स्वर्गलोक को प्राप्त कराते हैं। आप से प्राप्त करायी गयी यह ज्ञानदीप्ति हमारे कर्मों को शुद्ध करती है और हमें स्वर्गलोक को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमें (१) उत्तम बुद्धिवाला बनाता है, (२) हमारे जीवन को आनन्दमय करता है, (३) हमें दिव्यगुणों की ओर ले चलता है, (४) हमारे ज्ञान को बढ़ाता हुआ हमें स्वर्ग को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रक्षण-शत्रु संहार व ऐश्वर्य प्राप्ति

विशां कविं विश्पतिं शश्वतीनां नितोशनं वृषभं चर्षणीनाम्।
प्रेतीषणिमिषयन्तं पावकं राजन्तमग्निं यजतं रयीणाम्॥ ८॥

(१) हम उस प्रभु का स्तवन करते हैं जो **शश्वतीनाम्**=सनातन **विशाम्**=प्रजाओं के **विश्पतिम्**=रक्षक स्वामी हैं। 'शश्वतीनां' शब्द का अर्थ 'प्लुत गतिवाली' भी है। आलस्य शून्य प्रजाओं के प्रभु रक्षक हैं। '**कविं**'=सर्वज्ञ हैं, **नितोशनम्**=ज्ञान के द्वारा शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। **वृषभम्**=शत्रुओं के संहार के द्वारा सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **चर्षणीनां प्रेतीषणिम्**=श्रमशील मनुष्यों को (प्राप्तगमनं) प्राप्त होनेवाले हैं। (२) **इषयन्तम्**=इस प्रेरणा को प्राप्त करानेवाले, '**पावक**'=प्रेरणा के द्वारा जीवन को पवित्र बनानेवाले, **राजन्तम्**=पवित्रता द्वारा दीप्ति को देनेवाले और दीप्ति के द्वारा **अग्निम्**=आगे ले चलनेवाले उस प्रभु का हम स्तवन करें जो **रयीणां यजतम्**=सब ऐश्वर्यों का हमारे साथ संगतिकरण करनेवाले है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण ही हमारा रक्षक है, हमारे शत्रुओं का संहारक है, हमें पवित्र बनाकर ऐश्वर्य-सम्पन्न करनेवाला है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'यज्ञ-स्तुति-ज्ञानदीप्ति-हव्य पदार्थों का दान'

सो अंग्न ईजे शशमे च मर्तो यस्त आनट् समिधा हव्यदातिम्।
य आहुतिं परि वेदा नमोभिर्विश्वेत्स वामा दधते त्वोतः॥ ९॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **सः मर्तः ते**=वह मनुष्य आपका है **यः**=जो **ईजे**=यज्ञ करता है, **शशमे च**=और स्तुति करता है तथा **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के साथ **हव्यदातिं आनट्**=हव्य पदार्थों के दान का व्यापन करता है। 'यज्ञ, स्तुति, ज्ञानदीप्ति व हव्य पदार्थों का दान' ये बातें प्रभु-भक्त की पहिचान कराती हैं। (२) **यः**=जो **नमोभिः**=नमस्कारों के साथ **आहुतिं परिवेदा**=आहुति को जानता है, अर्थात् यज्ञशील बनता है, **सः**=वह **त्वा ऊतः**=आप से रक्षित हुआ-हुआ **विश्वा इत्**=सब ही **वामा**=सुन्दर वस्तुओं को **दधते**=धारण करता है। 'नमन व यज्ञशीलता' सब सुन्दर वस्तुओं की प्राप्ति का कारण बनती हैं।

भावार्थ—'यज्ञ, स्तुति, ज्ञानदीप्ति, हव्य पदार्थों का दान' ये प्रभु-भक्त के लक्षण हैं। यह प्रभु-भक्त सब सुन्दर पदार्थों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नम्रता-ज्ञान व दान

अस्मा उ ते महि महे विधेम नमोभिरग्ने समिधोत हव्यैः।
वेदी सूनो सहसो गीर्भिरुक्थैरा ते भद्रायां सुमतौ यतेम॥ १०॥

(१) **अस्मै**=इस **महे**=महान् **ते**=तेरे लिये **महि विधेम**=खूब ही पूजा करें। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **नमोभिः**=नमस्कारों द्वारा, **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा, **उत**=और **हव्यैः**=(हु दाने) दानों के द्वारा हम आपका पूजन करें। प्रभु का उपासक 'नम्रता-ज्ञानदीप्ति व दान की वृत्तिवाला' होता है। (२) हे **सहसः सूनो**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! हम **वेदी**=इस शरीर रूप यज्ञभूमि में **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा तथा **उक्थैः**=स्तुति-वाणियों के द्वारा **ते**=आपकी **भद्रायां सुमतौ**=कल्याणी सुमति में **आयतेम**=समन्तात् यत्नशील हों। अर्थात् हमारे सब कार्य आपकी कल्याणी मति के अनुसार हों। इस कल्याणी मति को प्राप्त करने के लिये स्वाध्याय व स्तवन (गीर्भिः, उक्थैः) सहायक होते हैं।

भावार्थ—हम 'नम्रता, ज्ञानदीप्ति व दानवृत्ति' को धारण करते हुए प्रभु के उपासक हों। स्वाध्याय व स्तवन करते हुए हम सदा प्रभु की कल्याणी मति के अनुसार यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को करनेवाले हों।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'बृहत्, स्थविर, रेवत्' वाज

आ यस्ततन्थ रोदसी वि भासा श्रवोभिश्च श्रवस्य१स्तरुत्रः।
बृहद्भिर्वाजैः स्थविरेभिरस्मे रेवद्भिरग्ने वितरं वि भाहि॥ ११॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **यः**=जो आप हैं वे **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **विभासा**=विशिष्ट दीप्ति से **आततन्थ**=विस्तृत करते हैं। आप हमारे मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से तथा शरीर को तेजस्विता की दीप्ति से दीप्त करते हैं। **च**=और आप **श्रवोभिः**=ज्ञानों से **श्रवस्यः**=उत्तम ज्ञानवाले हैं। आपका निर्भ्रान्त ज्ञान हजारों सूर्यों की दीप्ति से भी अधिक दीप्तिवाला है। इन ज्ञानों के द्वारा आप **तरुत्रः**=भवसागर से तरानेवाले हैं। (२) हे अग्ने! आप **अस्मे**=हमारे लिये **वाजैः**=शक्तियों से **वितरम्**=(विशिष्टतरं) खूब ही **विभाहि**=दीप्त होइये। उन शक्तियों से हमें दीप्त जीवनवाला करिये जो **बृहद्भिः**=(महद्भिः) हमारे जीवन को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली हों। **स्थविरेभिः**=खूब बढ़ी हुई हों (स्थूलैः) तथा **रेवद्भिः**=प्रशस्त धनोंवाली हों।

भावार्थ—प्रभु हमारे मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाते हैं तो शरीर को तेजोदीप्त। प्रभु हमें उन शक्तियों को प्राप्त कराते हैं जो हमें महत्त्वपूर्ण बढ़ा हुआ व धन-सम्पन्न बनाती हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धन-प्रेरणा-ज्ञान

नृवद्वसो सदमिद्धेह्यस्मे भूरि तोकाय तनयाय पश्वः।
पूर्वीरिषो बृहतीरारेअघा अस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु॥ १२॥

(१) हे **वसो**=सम्पूर्ण वसुओं (धनों) के स्वामिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिये **सदं इत्**=सदा ही **भूरि**=पालन-पोषण के लिये पर्याप्त धन **धेहि**=धारण करिये। हमारे **तोकाय**=पुत्रों के लिये तथा

तनयाय=पौत्रों के लिये **पश्वः**=गौ आदि मानवहित साधक पशुओं को प्राप्त कराइये। यह आपसे दिया हुआ धन **नृवत्**=प्रशस्त मनुष्योंवाला हो। इस धन के द्वारा हमारे घर में सभी का जीवन प्रशस्त बने। (२) हे प्रभो! आपकी कृपा से **अस्मे**=हमारे लिये **पूर्वीः इषः**=पालन व पूरण करनेवाली प्रेरणाएँ **सन्तु**=हों। जो प्रेरणाएँ **बृहतीः**=हमारी वृद्धि का कारण बनती हैं तथा **आरे अघाः**=पापों को हमारे से दूर रखती हैं। इन प्रेरणाओं के द्वारा **भद्रा**=कल्याणकर **सौश्रवसानि**=उत्तम ज्ञान हमारे लिये हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें उत्तम धन प्राप्त हों। हम प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाले बनें और कल्याणकर उत्कृष्ट ज्ञानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वसुता (अश्याम्)

पुरूण्यग्ने पुरुधा त्वाया वसूनि राजन्वसुता ते अश्याम्।
पुरूणि हि त्वे पुरुवार सन्त्यग्ने वसु विधते राजनि त्वे॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वाया**=आपको प्राप्त होनेवाले **वसूनि**=धन **पुरूणि**=बहुत हैं और **पुरुधा**=गौ-अश्व आदि रूप से अनेक प्रकार के हैं। प्रभु सब धनों के भण्डार हैं। हे **राजन्**=सब धनों के स्वामिन् प्रभो! **ते**=आपके इस **वसुता**=धनसमूह को (समूहे तत् प्रत्ययः) **अश्याम्**=प्राप्त करूँ। प्रभु के इन नाना प्रकार के पालक व पूरक धनों को हम प्राप्त करें। (२) हे **पुरुवार**=बहुत वरणीय धनोंवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वे**=आपके धन **हि**=निश्चय से **पुरूणि सन्ति**=बहुत हैं अथवा पालन व पूरण करनेवाले हैं। **राजनि**=देदीप्यमान **त्वे**=तुझ में **विधते**=आपकी परिचर्या करनेवाले के लिये **वसु**=सब कार्यों को प्रशस्त करनेवाले धन **सन्ति**=हैं। अर्थात् आप अपने उपासक को सब आवश्यक धन देते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक बनें। प्रभु के वसुओं को प्राप्त करें।

अगले सूक्त में भी यही ऋषि, यही देवता हैं—

अथ चतुर्थाष्टके पञ्चमोऽध्यायः

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'ज्ञान व शक्ति' का पोषण

त्वं हि क्षैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे। त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **क्षैतवत्**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व गतिवाले **यशः**=यश को **पत्यसे**=(अभिगमयसि) प्राप्त कराते हैं। **मित्रः न**=आप सूर्य के समान हैं। सूर्य के समान देदीप्यमान होते हुये आप हमें जीवन को उत्तमता से बितानेवाला व उत्तम कर्मोंवाला बनाकर बड़ा यशस्वी बनाते हैं। यह 'क्षैतवत् यश' आपकी कृपा से ही प्राप्त होता है। (२) हे **विचर्षणे**=विशिष्ट द्रष्टा सर्वज्ञ प्रभो! हे **वसो**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले प्रभो! आप हमारे **श्रवः**=ज्ञानों को **पुष्टिं न**=पुष्टि के समान ही **पुष्यसि**=पुष्ट करते हैं। 'विचर्षणि' होते हुए आप हमारे मस्तिष्क को ज्ञान से पुष्ट करते हैं, और 'वसु' होते हुए आप हमें शरीर में उचित पोषण को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम निवास व गतिवाले यशस्वी जीवन को प्राप्त कराते हैं। वे हमें 'ज्ञान व शक्ति' के पोषण से युक्त करते हैं। इसी से वे प्रभु 'विचर्षणि' हैं, वे 'वसु' हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु को कौन प्राप्त करता है?

त्वां हि ष्मा चर्षणयो यज्ञेभिर्गीर्भिरीळते। त्वां वाजी यात्यवृको रजस्तूर्विश्वचर्षणिः॥ २॥

(१) हे प्रभो! **त्वां हि**=आपको ही **चर्षणयः**=श्रमशील ज्ञानी पुरुष **यज्ञेभिः**=श्रेष्ठ कर्मों से तथा **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **ईडते स्म**=उपासित करते हैं। प्रभु की उपासना यज्ञों व ज्ञान की वाणियों से होती है। इन्हें अपनानेवाले व्यक्ति ही 'चर्षणि' कहलाते हैं। 'चर्षणि' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं—(क) श्रमशील, (ख) द्रष्टा व ज्ञानी। (२) हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **वाजी**=शक्तिशाली पुरुष ही **याति**=प्राप्त होता है। वह शक्तिशाली पुरुष जो **अवृकः**=हिंसा से रहित है, जो अपनी शक्ति का प्रयोग रक्षणात्मक कर्मों में ही करता है। **रजस्तूः**=राजसीभावों का (तुर्वी हिंसायाम्) विनाश करता है और **विश्वचर्षणिः**=सबको देखनेवाला होता है, अर्थात् सबके हित की बात को सोचता है, केवल अपना भला नहीं देखता।

भावार्थ—प्रभु की उपासना यज्ञों व ज्ञान की वाणियों से होती है। प्रभु को वह प्राप्त करता है जो शक्तिशाली, अहिंसक, राजसभावों को दूर करनेवाला व सब का हित चाहनेवाला होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

छह बातें

सजोषस्त्वा दिवो नरो यज्ञस्य केतुमिन्धते। यद्ध स्य मानुषो जनः सुम्नायुर्जुह्वे अध्वरे॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **यज्ञस्य केतुम्**=यज्ञों के प्रकाशक, वेद के शब्दों में सब कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश देनेवाले **त्वा**=आपको **सजोषः**=(सजोषसः) मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्य करनेवाले, **दिवः**=ज्ञान के प्रकाशवाले **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **इन्धते**=अपने हृदय देशों में समिद्ध करते हैं, वहाँ आपके प्रकाश को देखते हैं। (२) आपके प्रकाश को यह व्यक्ति तब देखता है **यत्**=जब निश्चय से **स्यः**=वह **मानुषः जनः**=मनुष्य मात्र यज्ञहितेच्छु पुरुष **सुम्नायुः**=आपके स्तोत्रों की कामनावाला होता हुआ **अध्वरे**=यज्ञों में **जुह्वे**=आहुति को देनेवाला होता है। प्रभु प्राप्ति के लिये पात्र वही बनता है—(क) जो सबका भला चाहे, (ख) स्तुति-प्रवण हो, (ग) यज्ञशील हो।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) हम मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्य करें, (ख) प्रकाशवाले हों, ज्ञान प्राप्ति के लिये स्वाध्यायशील हों, (ग) उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें, (घ) सबका भला चाहें, (ङ) प्रभु-स्तवन की ओर हमारा झुकाव हो, (च) यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

धिया शशमते (कर्म द्वारा स्तवन)

ऋधद्यस्ते सुदानवे धिया मर्तः शशमते। ऊती ष बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति॥ ४॥

(१) हे प्रभो! वह **मर्तः**=मनुष्य ही **ऋधत्**=समृद्धि को प्राप्त करता है, **यः**=जो **सुदानवे ते**=उत्तम दानवाले (दा दाने) आपके लिये **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **शशमते**=स्तुति करनेवाला होता है। प्रभु ने किस प्रकाश 'शरीर, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' को प्राप्त कराया है। इनका ठीक प्रयोग करते हुए, बुद्धिपूर्वक कार्यों को करते हुए, हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं। प्रभु का स्तवन यही है कि हम प्रभु से दिये साधनों का ठीक प्रयोग करें। (२) **सः**=वह

कर्मों द्वारा स्तुति करनेवाला मनुष्य **बृहतः दिवः**=महान् ज्ञान के द्वारा **ऊती**=आपसे प्राप्त कराये गये रक्षण से **द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं को **तरति**=तैर जाता है। इस प्रकार तैर जाता है, **न**=जैसे कि **अंहः**=आरभनशील पापों को तैर जाता है।

भावार्थ—बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा ही प्रभु का स्तवन होता है। यह स्तोता महान् ज्ञान के द्वारा रक्षण को प्राप्त करके द्वेषों व पापों को तैर जाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वयावन्तं शतायुषं क्षयम्

समिधा यस्त आहुतिं निशितिं मर्त्यो नशत्। वयावन्तं स पुष्यति क्षयमग्ने शतायुषम्॥ ५॥

(१) **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **समिधा**=ज्ञानदीप्ति से **निशितिम्**=तीव्र की हुई **आहुतिम्**=आहुति को, त्याग को **नशत्**=व्याप्त करता है, प्राप्त करता है, वही **ते**=आपका है। प्रभु का मनुष्य वही है जो ज्ञान को बढ़ाता हुआ त्यागवृत्ति का अपने में पोषण करता है। ज्ञान मनुष्य को त्यागवृत्तिवाला बनाता है। त्यागी बनकर यह प्रकृति से ऊपर उठता हुआ प्रभु का हो जाता है। (२) हे **अग्ने**=प्रभो! **सः**=वह **क्षयं पुष्यति**=उस घर का पोषण करता है जो **वयावन्तम्**=पुत्र-पौत्र आदि के रूप में प्रशस्त शाखाओंवाला होता है, तथा **शतायुषम्**=शतवर्ष के दीर्घ-जीवनोंवाला होता है। इस ज्ञानी त्यागी पुरुष के घर में चिरजीवी, दीर्घ सन्तान जन्म लेते हैं।

भावार्थ—प्रभु का व्यक्ति वह है जो ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करता हुआ त्यागवृत्ति को अपनाता है। इसका घर पुत्र-पौत्रादि से सम्पन्न व दीर्घ जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

द्युता-कृपा

त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि षञ्छुक्र आततः। सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे॥ ६॥

(१) हे प्रभो! **ते**=तेरा **धूमः**=(धूञ् कम्पने) शत्रु-कम्पन सामर्थ्य **त्वेषः**=दीप्तिवाला है। यह **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञान-सूर्य के रूप से **ऋण्वति**=हमें प्राप्त होता है। **सत्**=यह श्रेष्ठ है, **शुक्रः**=शुचिता-पवित्रता का कारण बनता है और **आततः**=सर्वत्र व्याप्त है। (२) हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **सूरः न**=सूर्य के समान **हि**=निश्चय से **द्युता**=ज्ञानदीप्ति से तथा **कृपा**=शत्रु-विनाशक शक्ति से (कृप् सामर्थ्ये) **रोचसे**=दीप्त होते हैं। सूर्य प्रकाश देता है, रोग-कृमियों को नष्ट करता है। इसी प्रकार प्रभु हमारे जीवन में ज्ञान के प्रकाश व शक्ति को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें ज्ञानदीप्ति व शक्ति को देनेवाली है। ये दोनों हमारे जीवनों को पवित्र बना देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

रण्वः पुरि इव जूर्यः

अधा हि विक्ष्वीड्योऽसि प्रियो नो अतिथिः। रण्वः पुरीव जूर्यः सूनुर्न त्रययाय्यः॥ ७॥

(१) **अधा**=अब **हि**=निश्चय से, हे प्रभो! आप **विक्षु**=प्रजाओं में **ईड्यः**=स्तुति के योग्य **असि**=हैं। सब प्रजाओं के लिये आप स्तुत्य हैं। **नः**=हमारे **प्रियः**=प्रीति को उत्पन्न करनेवाले **अतिथिः**=अतिथि हैं। 'अत सातत्यगमने' आप हमें निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। (२) **पुरि**=नगरी में **जूयः इव**=एक हितोपदेष्टा वृद्ध पुरुष की तरह आप **रण्वः**=रमणीय हैं। आप भी इस शरीररूप

पुरी में, हृदयदेश में निवास करनेवाले सनातन पुराण पुरुष हैं। वहाँ स्थित हुए-हुए आप हमें निरन्तर ज्ञानोपदेश कर रहे हैं। आप **सूनुः न**=(षू प्रेरणे) उस प्रेरक के समान हैं जो **त्रययाय्यः**=(त्रयं याति) 'विद्या, तप व कर्म' तीनों को प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलनेवाले उपासकों का जीवन 'विद्या, तप व कर्म' से युक्त होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे पूज्य अतिथि हैं। वे हमें 'विद्या, तप व कर्म' की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

क्रतुमयता व प्रभु प्राप्ति

क्रत्वा ही द्रोणे अज्यसेऽग्ने वाजी न कृत्व्यः। परिज्मेव स्वधा गयोऽत्यो न ह्वार्यः शिशुः ॥ ८ ॥

(१) **क्रत्वा**=यज्ञादि कर्मों से, संकल्प से व प्रज्ञान से **हि**=ही **द्रोणे**=इस शरीर रूप पात्र में **अज्यसे**=आप व्यक्त होते हैं। प्रभु का दर्शन इसी शरीर में होता है। होता तब है जब कि—(क) हमारे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे हों, (ख) मन प्रभु प्राप्ति के प्रबल संकल्पवाला हो, (ग) और मस्तिष्क ज्ञान परिपूर्ण हो। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **वाजी न**=एक शक्तिशाली के समान **कृत्व्यः**=अपने कर्मों में कुशल व समर्थ हैं। आप अपनी सर्वशक्तिमत्ता से ही सृष्टि के निर्माण व धारण आदि कर्मों को करने में समर्थ हैं। (२) **परिज्मा इव**=इस परितः गन्ता वायु के समान **स्वधा**=सब जीवों के धारण करनेवाले हैं तथा **गयः**=उनके लिये घर के समान हैं। आप ही सबका वायुवत् धारण करते हैं। **अत्यः न**=निरन्तर गामी अश्व के समान आप **ह्वार्यः**=सब कुटिलताओं से हमें पार करनेवाले हैं और **शिशुः**=हमारी बुद्धियों को तीव्र करनेवाले हैं। वस्तुतः बुद्धि की तीव्रता के द्वारा ही आप हमें कुटिलताओं से पार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम क्रतुमय बनें। वे प्रभु सर्वशक्तिमान् जीवन के दाता व बुद्धि को तीव्र करनेवाले हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'वासना वन वृश्चन'

त्वं त्या चिदच्युताग्ने पशुर्न यवसे। धामा ह यत्ते अजर वना वृश्चन्ति शिक्वसः ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **त्या**=उन **अच्युता चित्**=बड़े दृढ़ भी वना=वासना वनों को खा जाते हैं, भस्म कर देते हैं। **न**=जैसे कि **यवसे**=घास में विसृष्ट **पशुः**=गवादि पशु घास को समाप्त कर देता है, आपके हृदयस्थ होने पर हृदयक्षेत्र में वासनारूप घास समाप्त हो जाती है। (२) हे **अजर**=अजीर्ण प्रभो! **यत्**=जो **शिक्वसः**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त व शक्तिशाली **ते धामा**=आपके तेज हैं वे **वना वृश्चन्ति**=इन वासना वनों को छिन्न कर देते हैं। हम प्रभु के स्मरण से ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करके वासनाओं को विनष्ट करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त करायेंगे, जिससे कि हम वासनाओं को विनष्ट कर पायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यज्ञशीलता व समृद्धि

वेषि ह्यध्वरीयतामग्ने होता दमे विशाम्। समृधो विशपते कृणु जुषस्व हव्यमङ्गिरः ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अध्वरीयताम्**=सदा यज्ञ की कामनावाली **विशाम्**=प्रजाओं के

दमे=गृह में **होता**=सब कुछ देनेवाले होते हुए आप **हि**=निश्चय से **वेषि**=प्राप्त होते हैं। (२) हे **विश्पते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **समृधः कृणु**=हमारे लिये आप समृद्धियों को करिये। और **अंगिरः**=हमारे अंगों में रस का संचार करनेवाले आप **हव्यं जुषस्व**=हव्य पदार्थों का सेवन करिये। आपकी प्रेरणा से हम सदा यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें। यह यज्ञशीलता ही समृद्धि का मार्ग है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। प्रभु हमें सब आवश्यक समृद्धियों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगतिजगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तरेम

अच्छा नो मित्रमहो देव देवानग्ने वोचः सुमतिं रोदस्योः।
वीहि स्वस्तिं सुक्षितिं दिवो नॄन्द्विषो अंहांसि दुरिता तरेम ता तरेम तवावसा तरेम ॥ ११ ॥

(१) हे **मित्रमहः**=प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले तेज से युक्त **देव**=प्रकाशमय **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **नः अच्छा**=हमारी ओर **देवान्**=देवों को **वीहि**=प्राप्त कराइये। **सुमतिं वोचः**=उन देवों के द्वारा कल्याणीमति को प्रतिपादित करिये इस सुमति के द्वारा **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी के, मस्तिष्क व शरीर के **स्वस्तिम्**=कल्याण को प्राप्त कराइये। **सुक्षितिम्**=उत्तम निवास व गति को प्राप्त कराइये। **दिवः नॄन्**=ज्ञान के नेताओं को, ज्ञान के प्राप्त करानेवालों को हमें प्राप्त कराइये। (२) हे प्रभो! इस ज्ञान के द्वारा **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को और **दुरिता**=बुराइयों को **तरेम**=हम तैर जाएँ। **ता**=उन सब **अंहांसि**=पापों को **तरेम**=तैर जाएँ। तव **अवसा**=आपके रक्षण के द्वारा **तरेम**=इन बुराइयों को तैर जाएँ। तीन बार 'तरेम' का प्रयोग 'कामज, क्रोधज व लोभज' सब व्यसनों को तैरने का संकेत कर रहा है।

भावार्थ—हम ज्ञानियों को, ज्ञानियों के द्वारा सुमति को, सुमति द्वारा कल्याण को प्राप्त करें। सब द्वेषों, पापों व व्यसनों को तैर जाएँ।

प्रभु का स्तवन करते हुए भरद्वाज ही कहते हैं कि—

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उरु ज्योति' की प्राप्ति

अग्ने स क्षेषदृतपा ऋतेजा उरु ज्योतिर्नशते देवयुष्टे।
यं त्वं मित्रेण वरुणः सजोषा देव पासि त्यजसा मर्तमंहः ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! जो **ते**=तेरा बनता है, तेरा उपासक होता है, **सः**=वह **क्षेषत्**=उत्तम निवासवाला होता है। **ऋतपाः**=वह अपने जीवन में ऋत का, यज्ञों का व नियमितता (regularity) का रक्षण करता है। **ऋतेजाः**=ऐसा प्रतीत होता है कि ऋत के निमित्त ही उसने जन्म लिया है। यह व्यक्ति **उरु ज्योतिः**=विशाल ज्योति को **नशते**=प्राप्त होता है। और सदा **देवयुः**=दिव्यगुणों को अपने साथ जोड़ने की कामनावाला होता। (२) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **यं मर्तम्**=जिस भी उपासक को **त्वम्**=आप **मित्रेण**=स्नेह के अधिष्ठातृदेव से **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए **वरुणः**=पाप का निवारण करनेवाले **त्वम्**=आप **त्यजसा**=त्याग की वृत्ति के द्वारा **अंहः**=पाप से **पासि**=बचाते हैं, वही व्यक्ति उत्तम निवासवाला होता है। पाप से बचने के लिये 'स्नेह की भावना, द्वेष का अभाव व त्याग' सहायक होते हैं।

भावार्थ—उत्तम निवास का लक्षण यह है कि—(क) हम ऋत (यज्ञ व नियमितता) का पालन करें, (ख) ज्योति को प्राप्त करें, (ग) दिव्यगुणों की कामनावाले हों, (घ) स्नेह, निर्द्वेषता व त्याग को अपनाकर पाप से परे रहें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यशस्विता-निष्पापता-निरभिमानता

ईजे य॒ज्ञेभि॑: शश॒मे शमी॑भिर्ऋ॒धद्वा॑राया॒ग्नये॑ ददाश।
ए॒वा च॒न तं य॑श॒साम॑जु॒ष्टिर्नांहो॒ मर्तं॑ नशते॒ न प्र॒दृ॑प्तिः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र का 'ऋतपाः' व्यक्ति **यज्ञेभिः ईजे**=यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन करता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' **शमीभिः**=शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मों के द्वारा **शशमे**=प्रभु का स्तवन करता है (शशनाम अर्चति कर्मा नि० ३।१४)। यह **ऋधद्वाराय**=अतिशयेन बढ़े हुए वरणीय धनोंवाले **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिये **ददाश**=अपना अर्पण करता है। (२) **एवा च**=इस प्रकार प्रभु का उपासन, स्तवन व प्रभु के प्रति आत्मार्पण करने से **तम्**=उस उपासक को **यशसां अजुष्टिः**=यशों की अप्राप्ति **न नशते**=नहीं प्राप्त होती, यह अपने जीवन में बड़ा यशस्वी बनता है। इस **मर्तम्**=मनुष्य को **अंहः**=पाप **न नशते**=नहीं प्राप्त होता और **प्रदृप्तिः**=सब अविनयों का हेतुभूत दर्प भी **न**=नहीं प्राप्त होता। यज्ञ इसे यशस्वी बनाते हैं। शान्तभाव से किये जानेवाले कर्म इसे पाप-प्रवण नहीं होने देते और प्रभु के प्रति आत्मार्पण इसे दर्प से दूर रखता है।

भावार्थ—यज्ञों से प्रभु का उपासन करते हुये हम यशस्वी बनते हैं। शान्त कर्मों से प्रभु का स्तवन करते हुए हम पाप-प्रवण नहीं होते। प्रभु के प्रति आत्मार्पण करते हुये हम अभिमान से बचे रहते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भीमा धीः

सूरो॒ न यस्य॑ दृश॒तिर॑रे॒पा भी॒मा यदेति॑ शुच॒तस्त॒ आ धीः।
हेष॑स्वतः शु॒रुधो॑ ना॒यम॒क्तोः कुत्रा॑ चिद्र॒ण्वो व॑स॒तिर्व॑ने॒जाः ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! आप वे हैं **यस्य दृशतिः**=जिनका दर्शन **सूरः न**=सूर्य के समान है। आप 'आदित्यवर्ण' हैं, सूर्य के समान देदीप्यमान हैं, हजारों सूर्यों के समान आपकी प्रभा है। **अरेपाः**=आप पाप-शून्य हैं, अपापविद्ध हैं। **शुचतः**=अत्यन्त देदीप्यमान **ते**=आपकी **धीः**=बुद्धि **यत्**=जब **आ एति**=हमें सब प्रकार से प्राप्त होती है, तो यह शत्रुओं के लिये **भीमा**=भयंकर होती है। (२) **हेषस्वतः**=शब्दोंवाली **शुरुधः**=शोक को रोकनेवाली **अक्तोः**=प्रकाश की किरणों से **अयम्**=ये प्रभु **कुत्रचित्**=कहीं **न रण्वः**=रमणीय नहीं है। प्रभु की प्रकाश की किरणें 'शब्दोंवाली' इसलिए कही गई हैं कि हृदयस्थ प्रभु इनका उच्चारण करते हैं। ये प्रकाश की किरणें हमें शोक से बचाती हैं। प्रभु इनके द्वारा दीप्त हो रहे हैं। इस दीप्ति के द्वारा ही वे उपासकों को मार्गदर्शन कराते हैं। **वसतिः**=सब के वे प्रभु निवास-स्थान हैं। **वनेजाः**=(वन संभक्तौ) सम्भजन करनेवाले उपासकों में प्रभु का प्रादुर्भाव होता है।

भावार्थ—सूर्य के समान देदीप्यमान वे प्रभु अपापविद्ध हैं। उपासकों को वह बुद्धि प्राप्त कराते हैं जो कि 'काम-क्रोध-लोभ' आदि सब शत्रुओं का संहार करती है। वे प्रभु दीप्ति से रमणीय हैं। इस दीप्ति को प्राप्त करके उपासक भी अशोच्य जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना विनाशक प्रभु

तिग्मं चिदेम महि वर्पो अस्य भसदश्वो न यमसान आसा।
विजेहमानः परशुर्न जिह्वां द्रविर्न द्रावयति दारु धक्षत्॥ ४॥

(१) हे अग्ने! प्रभो आपका **एम**=गमनभूत मार्ग **तिग्मं चित्**=निश्चय से तीक्ष्ण है। जैसे अग्नि जिधर से जाती है, सब तृणादि की भस्म करती जाती है, इसी प्रकार जब प्रभु हमें प्राप्त होते हैं तो सब वासना-तृणों को दग्ध कर देते हैं। **अस्य**=इन प्रभु का **महि वर्पः**=महनीय रूप **भसत्**=देदीप्यमान होता है। प्रभु ज्योतिर्मय हैं उपासक के हृदय को दीप्त कर देते हैं। **आसा यमसानः**=मुख से तृणादि का नियमन करते हुए **अश्वः न**=अश्व की तरह ये प्रभु हमारे हृदय में उत्पन्न हो जानेवाली वासनाओं का नियमन करनेवाले हैं। (२) अपनी **जिह्वाम्**=धारा को **विजेहमानः**=शत्रुओं पर प्राप्त कराते हुए **परशुः न**=कुल्हाड़े के समान ये प्रभु अपनी ज्ञान जिह्वा से वासनाओं को काटनेवाले हैं। **द्रविः न**=एक धातुओं को पिघलानेवाले स्वर्णकार की तरह ये प्रभु **दारु-धक्षत्**=हमें विदीर्ण करनेवाले (दॄ विदारणे) वासनारूप काष्ठों को भस्म करते हुए **द्रावयति**=कठोर से कठोर वासनाधातु को द्रवीभूत कर देते हैं और हमारे से पृथक् करके उसे दूर भगा देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट कर देते हैं। घोड़ा जैसे घास को खा जाता है, कुल्हाड़ा वैसे वृक्ष को काट डालता है, स्वर्णकार जैसे कठोर धातु को पिघला देता है, इसी प्रकार वे प्रभु वासनारूप घास को खा जाते हैं, वासना वृक्ष को काट डालते हैं व वासना धातु को द्रवीभूत कर देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काम आदि का दहन

स इदस्तेव प्रति धादसिष्यञ्छिशीत तेजोऽयसो न धाराम्।
चित्रध्रजतिररतिर्यो अक्तोर्वेर्न द्रुषद्वा रघुपत्मजंहाः॥ ५॥

(१) **सः इत्**=वे प्रभु निश्चय से **अस्त इव**=शत्रुओं पर बाण फेंकनेवाले के समान **प्रतिधात्**=अपनी तेजो-ज्वाला को उपासक में धारण करता है। धनुर्धर जैसे धनुष पर बाण को, वैसे प्रभु उपासक में तेज को धारण करते हैं। इस तेजो-ज्वाला को असिष्यन् काम-क्रोध-लोभ आदि अन्तः शत्रुओं पर फेंकनेवाले प्रभु **तेजः**=इस **तेजो**=ज्वाला को **शिशीत**=तीक्ष्ण करते हैं, ताकि सब शत्रु उसमें भस्म हो जाएँ। इस प्रकार तेज करते हैं, **न**=जैसे कि **अयसः धाराम्**=लोहधारा को। (२) **चित्रध्रजतिः**=अद्भुत गतिवाले, शत्रुओं पर विस्मयकारक आक्रमणोंवाले, **यः**=जो प्रभु **अक्तोः**=अपनी ज्ञान-रश्मियों के द्वारा **अरतिः**=कहीं भी फँसनेवाले नहीं (अ-रतिः), वे **वेः न**=एक पक्षी के समान **द्रुषद्वा**=इस संसार-वृक्ष पर आसीन होते हैं 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते'। पर वे प्रभु **रघुपत्मजंहाः**=(लघुपतनसमर्थ पादः) शीघ्र उड़ जाने में समर्थ पाँववाले हैं। वे इस वृक्ष पर आसक्त नहीं। जीव आसक्त होने से उड़ नहीं पाता। 'अनश्नन्नन्यः'=प्रभु तो न खाते हुए केवल जीव की क्रियाओं को देखते ही हैं। प्रभु-भक्त भी प्रभु से प्रकाश-रश्मियों को प्राप्त करके आसक्ति से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने भक्त में उस तेजो-ज्वाला की स्थापना करते हैं जो उसके काम-क्रोध

आदि शत्रुओं को भस्म कर देती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मार्ग-दर्शक प्रभु

स ईं रेभो न प्रति वस्त उस्राः शोचिषा रारपीति मित्रमहाः।
नक्तं य ईमरुषो यो दिवा नॄनमर्त्यो अरुषो यो दिवा नॄन्॥ ६॥

(१) **सः**=वे प्रभु **ईम्**=निश्चय से **रेभः न**=स्तुति के योग्य इस सूर्य की तरह **उस्राः**=ज्ञान की रश्मियों को **प्रति वस्ते**=आच्छादित करते हैं। जैसे सूर्य प्रकाश से सारे संसार को आच्छादित कर देता है, इसी प्रकार प्रभु हमारे हृदयों को ज्ञान से प्रकाशित करते हैं। वे **मित्रमहः**=मृत्यु से बचानेवाली तेजस्वितावाले प्रभु (प्रमीतेः त्रायते, महः=तेज) **शोचिषा**=ज्ञानदीप्ति के हेतु से **रारपीति**=हमारे हृदयों में 'ऋग् यजु साम' रूप वाणियों का उच्चारण करते हैं। इन वाणियों से प्रभु हमारी ज्ञानदीप्ति का वर्धन करते हैं। (२) **यः अरुषः**=आरोचमान प्रभु **नक्तम्**=रात्रि में और **ईम्**=निश्चय से **यः**=जो प्रभु **दिवा**=दिन में भी **नॄन्**=इस मार्ग पर ले चलनेवाली रश्मियों को (नेतॄन्) प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु **अमर्त्यः**=अमरण-धर्मा हैं, **अरुषः**=आरोचमान हैं, **यः**=जो प्रभु **दिवा**=ज्ञान के प्रकाश से **नॄन्**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले व्यक्तियों को मार्ग दिखाते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु दिन-रात उत्तम प्रेरणा के द्वारा मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। जो भक्त उस प्रेरणा को सुनकर मार्ग पर चलता है, वह भी 'अमर्त्य व अरुष' बनता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सृष्टि निर्माण' व 'वेदज्ञान प्रदान'

दिवो न यस्य विधतो नवीनोद् वृषा रुक्ष ओषधीषु नूनोत्।
घृणा न यो ध्रजसा पत्मना यन्ना रोदसी वसुना दं सुपत्नी॥ ७॥

(१) **दिवः न**=सूर्य के समान दीप्त **यस्य विधतः**=जिस सृष्टि के निर्माता का **नवीनोत्**=सृष्टि के प्रारम्भ में हृदयस्थरूपेण स्तुत्य शब्द होता है 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्'। प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं और सृष्टि के प्रारम्भ में इस वेदज्ञान को देते हैं। **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **रुक्षः**=(रुच दीप्तौ) ज्ञानदीप्त वे प्रभु **ओषधीषु**=(उषदाहे) दोषों का दहन करनेवाली प्रजाओं में **नूनोत्**=हृदयस्थरूपेण प्रेरणात्मक शब्द को करते हैं। पवित्र हृदय में प्रभु प्रेरणा सुन पड़ती है। (२) **यः**=जो **धृणा**=दीप्ति से ज्ञान के प्रकाश के साथ तथा **ध्रजसा**=गतिशील तेजस्विता के साथ **पत्मना यन्**=मार्ग से चलते हुये **दम्**=हमारे शत्रुओं का, काम-क्रोध-लोभ का दमन करते हुए (दमयन्) **सुपत्नी**=जिनका उत्तमता से पालन किया गया है ऐसे **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **वसुना आ (पूरयति)**=उत्तम वसुओं व धनों से आपूरित करते हैं। प्रभु ही मस्तिष्क में दीप्ति व शरीर में सबल गति को प्राप्त कराते हैं और इस प्रकार हमारे द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं और जीवों को वेदज्ञान देते हैं। यह वेदज्ञान मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति व शरीर में तेजस्वितापूर्ण गति को भरता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'ज्ञान व शक्ति' के पुञ्ज प्रभु

धायोभिर्वा यो युज्येभिरर्कैर्विद्युन्न दविद्योत्स्वेभिः शुष्मैः।
शर्धो वा यो मरुतां ततक्ष ऋभुर्न त्वेषो रभसानो अद्यौत्॥ ८॥

(१) **यः**=जो प्रभु **धायोभिः**=हमारा धारण करनेवाले **वा**=और **युज्येभिः**=हमें कर्मों में प्रेरित करनेवाले **अर्कैः**=अर्चनीय वेद-मन्त्रों के ज्ञान से तथा **स्वेभिः**=अपने **शुष्मैः**=बलों से **विद्युत् न**=विद्युत् के समान **दविद्योत्**=चमकते हैं। प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुञ्ज हैं, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् हैं। विद्युत्वत् दीप्त हैं और विद्युत् की तरह बुराई को भस्म करनेवाले हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **मरुताम्**=प्राणों के **शर्धः**=बल को **ततक्ष**=तीव्र करते हैं। तथा **ऋभुः न**=(उरु भासमानः) खूब दीप्त सूर्य के समान **त्वेषः**=दीप्त व **रभसानः**=शक्तियुक्त वेग को करते हुए सबल कार्यों को करते हुए **अद्यौत्**=चमकते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुञ्ज हैं। ये प्रभु हमारे जीवनों में भी प्राणों के बल का स्थापन करते हुए हमें दीप्त व तेजस्वी बनाते हैं।

भरद्वाज बार्हस्पत्य का ही अगला भी सूक्त है—

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देव सम्पर्क से देव बनना

यथा होतर्मनुषो देवताता यज्ञेभिः सूनो सहसो यजासि।
एवा नो अद्य समना समानानुशन्नग्न उशतो यक्षि देवान्॥ १॥

(१) **यथा**=जैसे **होतः**=सब पदार्थों के देनेवाले, **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज प्रभो! आप **देवताता**=दिव्य गुणों के विस्तार के निमित्त **मनुषः**=इन विचारशील पुरुषों को **यज्ञेभिः**=यज्ञों से **यजासि**=संगत करते हैं। यज्ञों में प्रवृत्त होकर ही तो इनके सद्गुणों का वर्धन होगा। इन यज्ञों के लिये सब आवश्यक साधनों को आप प्राप्त कराते ही हैं। इन साधनों के साथ यज्ञों को करने के लिये उन्हें सशक्त भी करते हैं। (२) **एवा**=इसी प्रकार **नः**=हमें **अद्य**=आज **समना**=(क्षिप्रं) शीघ्र ही, हे **उशन् अग्ने**=हमारे हित की कामनावाले अग्रेणी प्रभो! आप **समानान्**=आप जैसे (ब्रह्म वेद ब्रह्मवै भवति) आप के साथ सदा सम्पर्कवाले **उशतः**=हमारे भले की कामनावाले **देवान्**=देव पुरुषों को **यक्षि**=प्राप्त कराइये, हमारे साथ ऐसे देवों का संग करिये। इनके द्वारा दी गई उत्तम प्रेरणाओं से हम भी देव बनकर आपके सच्चे उपासक बनें।

भावार्थ—प्रभु उपासकों को यज्ञशील बनाकर देव बनाते हैं। इन देवों के साथ सम्पर्क से हम भी दिव्यता के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ब्राह्ममुहूर्त में प्रभु-दर्शन

स नो विभावा चक्षणिर्न वस्तोरग्निर्वन्दारु वेद्यश्चनो धात्।
विश्वायुर्यो अमृतो मर्त्येषूषर्भुद्भूदतिथिर्जातवेदाः॥ २॥

(१) **सः**=वह प्रभु **वस्तोः चक्षणिः न**=दिन के प्रकाशक सूर्य की तरह **विभावा**=विशिष्ट

दीप्तिवाले हैं। **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु ही **वेद्यः**=जानने योग्य हैं, हम सबको उस प्रभु के जानने का प्रयत्न करना है। वे **वन्दारु**=स्तुत्य **चनः**=अन्न को **धात्**=हमारे लिये धारण करते हैं। इस सात्त्विक अन्न के द्वारा वे हमें सात्त्विक बुद्धि प्राप्त कराते हुए हमारे जीवन को प्रशस्त करते हैं। (२) **विश्वायुः**=वे प्रभु हमें पूर्ण जीवन देनेवाले हैं। पूर्ण जीवन वही है जिस में 'शरीर स्वस्थ है, मन निर्मल है, बुद्धि तीव्र है'। **यः**=जो **अमृतः**=(न मृतं यस्मात्) हमें सब रोगों से दूर करनेवाले हैं, वे प्रभु **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **उषर्भुत् भूत्**=प्रातःकाल प्रबुद्ध होनेवाले होते हैं। अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त के शान्त समय में अन्तर्मुखी वृत्तिवाले होकर उपासक हृदय में प्रभु का दर्शन करते हैं। ये प्रभु **अतिथिः**=सदा उपासकों के हित के लिये गतिशील हैं (अत सातत्यगमने), **जातवेदाः**=सर्वज्ञ हैं।

भावार्थ—प्रभु दीप्ति के पुञ्ज हैं। सात्त्विक अन्न के द्वारा वे प्रभु हमें पूर्ण जीवन प्राप्त कराते हैं, रोगों से ऊपर उठाते हैं। उपासक ब्राह्ममुहूर्त में इस 'सर्वज्ञ अतिथि' का दर्शन करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अश्न के दुर्गों का संहार

द्यावो न यस्य पनयन्त्यभ्वं भासांसि वस्ते सूर्यो न शुक्रः।
वि य इनोत्यजरः पावकोऽश्नस्य चिच्छिश्नथत्पूर्व्याणि॥ ३॥

(१) (न=संप्रति) **द्यावः**=स्तोता लोग **यस्य**=जिसकी **अभ्वम्**=महत्ता का, महान् सामर्थ्य व कर्म का **पनयन्ति**=स्तवन करते हैं, वे प्रभु **सूर्यः न**=सूर्य के समान **शुक्रः**=देदीप्यमान हैं और **भासांसि वस्ते**=दीप्तियों को धारण करते हैं। (२) **यः**=जो **अजरः**=जीर्णता से रहित **पावकः**=सब को पवित्र करनेवाले वे प्रभु **वि इनोति**=दीप्ति से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करते हैं और **अश्नस्य**=उस महाशन काम के, कभी न तृप्त होनेवाली इस वासना के **पूर्व्याणि चित्**=सनातन भी दुर्गों को **शिश्नथत्**=हिंसित करते हैं। प्रभु की पावक ज्योति में वासनान्धकार का विनाश हो जाता है। यह ज्ञानाग्नि काम को दग्ध कर देती है।

भावार्थ—प्रभु का सामर्थ्य महान् है, सूर्यसम प्रभु दीप्त हैं। इस दीप्ति में वासनाओं का विलय हो जाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वद्मा+अद्मसद्मा

वद्मा हि सूनो अस्यद्मसद्वा चक्रे अग्निर्जनुषाज्मान्नम्।
स त्वं न ऊर्जसन ऊर्जं धा राजेव जेरवृके क्षेष्यन्तः॥ ४॥

(१) हे **सूनो**=हृदयस्थरूपेण सदा सन्मार्ग की प्रेरणा देनेवाले (षू प्रेरणे) प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वद्मा**='ऋग् यजु साम' रूप वाणियों का उच्चारण करनेवाले **असि**=हैं। **अद्मसद्वा**=आप हविरूप अन्नों में आसीन होनेवाले हैं, अर्थात् यज्ञशील पुरुषों के गृह में आपका वास होता है। **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **जनुषा**=शक्तियों के विकास के हेतु से **अज्म**=(गृहम्) गृह को तथा उस घर में **अन्नम्**=अन्न को **चक्रे**=करते हैं। अर्थात् उपासकों को घर तथा अन्न प्राप्त कराते हैं कि वे जीवन की सुविधाओं को प्राप्त करके अध्यात्म उन्नति कर सकें। (२) हे **ऊर्जसन**=बल व प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमारे लिये **ऊर्जं धाः**=बल और प्राणशक्ति को धारण करिये। **राजा इव**=राजा की तरह, शासक की तरह **जेः**=शत्रुओं की विजय करनेवाले होइये।

आप से शक्ति सम्पन्न होकर हम शत्रुओं को परास्त करें। हे प्रभो! आप **अवृके अन्तः**=लोभरहित व्यक्ति के अन्दर **क्षेषि**=निवास करते हैं (वृक आदाने)। जहाँ प्राकृतिक वस्तुओं का लोभ है, वहाँ प्रभु का निवास नहीं होता। प्रकृति की वस्तुओं के लोभ से ऊपर उठकर ही हम प्रभु को पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही वेद द्वारा हमें मार्ग की प्रेरणा देते हैं। यज्ञशील पुरुषों के घर में प्रभु का वास होता है। प्रभु ही उपासकों को उत्तम गृह व अन्न प्राप्त कराते हैं। शक्ति देते हैं, शत्रुओं को परास्त करते हैं और हमारे लोभरहित हृदय में निवास करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अन्धकार निवारक' प्रकाश

नितिक्ति यो वारणमन्नमत्ति वायुर्न राष्ट्र्यत्येत्यक्तून्।
तुर्याम यस्त आदिशामरातीरत्यो न ह्रुतः पततः परिह्रुत्॥ ५॥

(१) हे प्रभो! **यः**=जो आप हैं वे **वारणम्**=अन्धकारों के निवारक ज्ञान के प्रकाश को **नितिक्ति**=तीक्ष्ण करते हैं। अर्थात् आप ज्ञान के प्रकाश के द्वारा हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। **अन्नं अत्ति**=आप ही 'वैश्वानर' रूप से अन्न को खाते हैं। **वायुः न**=वायु के समान **राष्ट्री**=सब राष्ट्र के राष्ट्र में स्थित प्रजा के स्वामी होते हुए आप **अक्तून्**=ज्ञानरश्मियों को **अति एति**=अतिशयेन प्राप्त कराते हैं। वायु के बिना जीवन का सम्भव नहीं, इसी प्रकार अन्ततः प्रभु के बिना कहीं भी जीवन का सम्भव नहीं। 'जीवनं सर्वभूतेषु'। (२) **यः**=जो **ते**=आपके लिये **आदिशाम्**=(आदिश्यमानानां-दीयमानानाम्) दी जानेवाली हवियों के **अरातीः**=न देनेवाला है, उसको **तुर्याम**=हम हिंसित करें। **अत्यः न**=एक सततगामी अश्व के समान आप **पततः**=हमारे पर आक्रमण करनेवाले **ह्रुतः**=कुटिल भावों को **परिह्रुत्**=उनके प्रति जाकर नष्ट करनेवाले हैं 'युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः'। घोड़ा युद्ध में शत्रुओं पर आक्रमण करता है, प्रभु हमारी वासनाओं पर।

भावार्थ—प्रभु अन्धकार-निवारक प्रकाश को तीव्र करते हैं। हमारे अन्नों का पाचन करते हैं, हमें जीवन देते हैं। कुटिलताओं से प्रभु हमें बचाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मार्ग पर गति करते हुए सूर्य के समान

आ सूर्यो न भानुमद्भिरर्कैरग्ने ततन्थ रोदसी वि भासा।
चित्रो नयत्परि तमांस्यक्तः शोचिषा पत्मन्नौशिजो न दीयन्॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **सूर्यः न**=सूर्य के समान **भानुमद्भिः**=दीप्तिवाले **अर्कैः**=इन स्तुति साधनभूत मन्त्रों से **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, इन में निवास करनेवाले सब मनुष्यों को **विभासा**=विशिष्ट दीप्ति से **आ ततन्थ**=विस्तृत करते हैं। प्रभु से दिये गये इन वेदज्ञानों से मनुष्यों के मस्तिष्क व शरीर दोनों ही बड़े सुन्दर बनते हैं। (२) **चित्रः**=(चित्) वे ज्ञान के देनेवाले प्रभु **शोचिषा**=ज्ञानदीप्ति से **अक्तः**=संगत हुए-हुए **तमांसि**=अन्धकारों को **परिनयत्**=हमारे से परे करते हैं। वस्तुतः वे प्रभु **पत्मन् दीयन्**=मार्ग पर गति करते हुए **औशिजः न**=सूर्य के समान हैं। सूर्य अन्धकारों को छिन्न-भिन्न कर देता है, इसी प्रकार वे ज्ञान के सूर्य प्रभु हमारे अविद्यान्धकार को विनष्ट कर डालते हैं।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान हैं वे हमारे अविद्यान्धकार को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शवसा-देवता-राधसा

त्वां हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥ ७ ॥

(१) **अर्कशोकैः**=पूजा की साधनभूत ज्ञानदीप्तियों से हम **त्वाम्**=आपका **हि**=निश्चय से **ववृमहे**=वरण करते हैं। जो आप **मन्द्रतमम्**=अत्यन्त आनन्दमय व स्तुति के योग्य हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः**=हमें **महि श्रोषि**=खूब ही ज्ञान का श्रवण कराइये। आप से ज्ञान को प्राप्त करके ही हम आपकी ओर झुकाववाले होते हैं। (२) **नृतमाः**=अपने को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले लोग **इन्द्रं न**=ऐश्वर्यशाली के समान ही **वायुम्**=गतिशील आपको **शवसा**=शक्ति से **देवता**=दिव्यगुणों से तथा **राधसा**=संसिद्धि से, योगसाधना में प्राप्त होनेवाली सिद्धियों के द्वारा **पृणन्ति**=प्रीणित करते हैं। प्रभु सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी हैं तथा स्वाभाविक रूप से ही जीव हित के लिये क्रियाओं को करनेवाले हैं। इस प्रभु का आराधन जीव इस प्रकार कर सकता है कि वह—(क) अपने अन्दर बल का सम्पादन करे (शवसा), (ख) दिव्यगुणों को धारण करे (देवता) तथा (ग) योगमार्ग पर आगे बढ़ता हुआ सिद्धि को प्राप्त करे (राधसा)।

भावार्थ—प्रभु की उपासना पूजा की साधनभूत ज्ञानदीप्तियों से होती है, प्रभु का आराधक अपने को सबल बनाता है, दिव्यगुणों को धारण करता है और योगमार्ग पर आगे बढ़ता हुआ सिद्धियों को प्राप्त करता है (उनमें फँसता नहीं)।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अवृकेभिः पथिभिः

नू नो अग्नेऽवृकेभिः स्वस्ति वेषि रायः पथिभिः पर्ष्यंहः।
ता सूरिभ्यो गृणते रासि सुम्नं मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **नः**=हमें **नू**=अब **अवृकेभिः**=लोभशून्य (वृक आदाने) **पथिभिः**=मार्गों से **स्वस्ति रायः**=कल्याणकर धनों को **वेषि**=प्राप्त कराते हैं तथा आप **अंहः पर्षि**=पाप से हमें पार ले जाते हैं। (२) आप **ता**=उन कल्याणकर धनों को **सूरिभ्यः**=ज्ञानियों के लिये प्राप्त कराते हैं। **गृणते**=स्तवन करनेवाले मेरे लिये भी आप **सुम्नं रासि**=सुख को देते हैं। आपकी कृपा से हम **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **शतहिमाः मदेम**=सौ वर्षों तक आनन्द से जीवन को बितानेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु कृपा से लोभशून्य मार्गों से धनों को कमानेवाले हों। इस प्रकार उत्तम सन्तानों व दीर्घ-जीवनवाले बनें। लोभ ही सन्तानों की विकृति व अल्पायुष्य का कारण हो जाता है।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' प्रभु का उपासन अग्नि नाम से करते हैं—

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'पुरुवार अध्रुक्' प्रभु

हुवे वः सूनुं सहसो युवानमद्रोघवाचं मतिभिर्यविष्ठम्।
य इन्वति द्रविणानि प्रचेता विश्ववाराणि पुरुवारो अध्रुक् ॥ १ ॥

(१) मैं **सहसः सूनुम्**=बल के पुञ्ज प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ। उन प्रभु को पुकारता हूँ जो कि **युवानम्**=मेरे साथ अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले व सब बुराइयों का अमिश्रण करनेवाले हैं। **अद्रोघवाचम्**=जिनकी वाणी द्रोहशून्य है। **मतिभिः यविष्ठम्**=बुद्धियों के द्वारा बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **प्रचेता**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं और **विश्ववाराणि**=सब से वरने के योग्य **द्रविणानि**=धनों को **वः**=तुम्हारे लिये **इन्वति**=प्रेरित करते हैं, अर्थात् यज्ञशील पुरुषों को इन वरणीय धनों को प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। **पुरुवारः**=(पुरुश्च, वारश्च) वे प्रभु पालन व पूरण करनेवाले हैं और हमारे सब पापों व कष्टों का वारण करनेवाले हैं। **अध्रुक्**=वे प्रभु द्रोहशून्य हैं। सब का भला चाहनेवाले प्रभु ही सम्भजनीय हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान द्वारा हमारी सब मलिनताओं को धो देनेवाले व वरणीय धनों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भुवनों व सौभगों के धारक प्रभु

त्वे वसू॑नि पुर्वणीक होतर्दो॒षा वस्तो॒रेरि॑रे य॒ज्ञिया॑सः।
क्षामे॑व॒ विश्वा॒ भुव॑नानि॒ यस्मि॒न्त्सं सौभ॑गानि दधि॒रे पा॑व॒के॥ २॥

(१) हे **पुर्वणीक**=(पुरु अनीकं) पालक व पूरक बलवाले, **होतः**=सब धनों के देनेवाले प्रभो! **दोषा वस्तोः**=दिन-रात **यज्ञियासः**=यज्ञशील लोग **त्वे**=आप में स्थित होते हुए **वसूनि**=निवास के लिये आवश्यक धनों को **एरिरे**=अपने में प्रेरित करते हैं। प्रभु की उपासना करते हुए वसुओं को प्राप्त करते हैं। (२) हे प्रभो! **यस्मिन्**=जिन **पावके**=पवित्र करनेवाले आप में **विश्वाभुवनानि**=सब प्राणी इस प्रकार दधिरे=धारण किये जाते हैं **इव**=जैसे कि **क्षामा**=पृथिवी में। उन आप में ही **सौभगानि सं दधिरे**=सब उत्तम ऐश्वर्य धारित होते हैं। हे प्रभो! आप ही सब प्राणियों व सौभगों (ऐश्वर्यों) के धारण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब प्राणियों व ऐश्वर्यों के धारक हैं। यज्ञिय पुरुष प्रभु की उपासना से ही ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वसुओं के प्रापक प्रभु

त्वं वि॒क्षु प्र॒दिवः॑ सीद आ॒सु क्रत्वा॑ र॒थीर॑भवो॒ वार्या॑णाम्।
अत॑ इनोषि वि॒धते॑ चिकित्वो॒ व्या॑नु॒षग्जा॑तवेदो॒ वसू॑नि॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं। **आसु विक्षु**=इन प्रजाओं में **सीद**=आप आसीन होते हैं और **क्रत्वा**=यज्ञ के हेतु से **वार्याणाम्**=वरणीय धनों के **रथीः अभवः**=(रंहयिता) प्रापयिता होने हैं। आप सब प्रजाओं को यज्ञों के हेतु धनों को प्राप्त कराते हैं। (२) **अतः**=इस यज्ञ के हेतु ही, हे **चिकित्वः**=सर्वज्ञ **जातवेदः**=सब धनों (वेदः=धन) के देनेवाले प्रभो! आप **विधते**=पूजा करनेवाले के लिये यज्ञों के द्वारा आप के उपासक के लिये **व्यानुषक्**=निरन्तर **वसूनि**=धनों को **वि इनोषि**=विशेषरूप से प्रेरित करते हैं। यज्ञों के द्वारा उपासकों को यज्ञों के लिये धनों के देनेवाले आप ही हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों में प्रभु का वास होता है। प्रभु ही इन यज्ञों के लिये धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तपस्वान् प्रभु से शत्रु का सन्तप्त (दहन)

यो नः सनुत्यो अभिदासदग्ने यो अन्तरो मित्रमहो वनुष्यात्।
तमजरेभिर्वृषभिस्तव स्वैस्तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान्॥ ४॥

(१) 'काम-वासना' को 'मनसिज' कहते हैं, यह अन्दर ही अन्दर उत्पन्न हो जाती है, छिपकर हमारे अन्दर रह रही है। **यः**=जो **सनुत्यः**=अन्तर्हितरूपेण हमारे अन्दर निवास करती हुई यह वासना **नः**=हमें **अभिदासत्**=उपक्षीण करती है, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **अन्तरः**=हमारे अन्दर होती हुई **मित्रमहः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु से बचनेवाले तेज को **वनुष्यात्**=नष्ट करती है। **तम्**=उस वासना को, **तपिष्ठ**=हे शत्रुओं को अतिशयेन सन्तप्त करनेवाले प्रभो! **तपा**=सन्तप्त करिये। आप **तपसा**=तप से **तपस्वान्**=प्रशस्त दीप्तिवाले हैं। **तव**=आपके **स्वैः**=अपने **अजरेभिः**=न जीर्ण होनेवाले **वृषभिः**=बलों से उस 'सनुत्य-अन्तर' शत्रु को दग्ध करिये।

भावार्थ—'काम' हमारा अन्तःशत्रु है, यह हमारी प्राणशक्ति को विनष्ट करता है। प्रभु अपने तप से इसका दहन करें। हम प्रभु का स्मरण करते हैं, प्रभु हमारे इन शत्रुओं का दहन करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राया द्युम्ने श्रवसा

यस्ते यज्ञेन समिधा य उक्थैरर्केभिः सूनो सहसो ददाशत्।
स मर्त्येष्वमृत प्रचेता राया द्युम्नेन श्रवसा वि भाति॥ ५॥

(१) हे **सहसः सूने**=बल के पुञ्ज प्रभो! **यः**=जो **यज्ञेन**=श्रेष्ठतम कर्मों द्वारा तथा **समिधा**=ज्ञानदीप्ति द्वारा **ददाशत्**=आपके प्रति अपना अर्पण करता है, वह **ते**=तेरा है। **यः**=जो **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा व **अर्केभिः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों द्वारा आपके प्रति अपने को दे डालता है वह ते=आपका है। (२) **सः**=वह, हे **अमृत**=मरणधर्मरहित प्रभो! **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता है। यह आपका भक्त **राया**=दान में विनियुक्त होनेवाले धन से, **द्युम्नेन**=ज्ञान ज्योति से व **श्रवसा**=यश से **विभाति**=शोभावाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'यज्ञों, ज्ञानदीप्तियों, स्तोत्रों व मन्त्रों' से होती है। उपासना से हम 'धन, ज्ञान व यश' से सम्पन्न होते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु-बाधन

स तत्कृधीषितस्तूयमग्ने स्पृधो बाधस्व सहसा सहस्वान्।
यच्छस्यसे द्युभिरक्तो वचोभिस्तज्जुषस्व जरितुर्घोषि मन्म॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **इषितः सः**=गत मन्त्र के अनुसार 'यज्ञों, ज्ञानदीप्तियों, स्तोत्रों व मन्त्रों' से हृदय में प्रेरित किये गये आप **तूयम्**=शीघ्र ही **तत् कृधि**=वह करिये कि **स्पृधः बाधस्व**=हमारे शत्रुओं को बाधित करिये। आपकी कृपा से हमारे पर शत्रुओं का आक्रमण न हो। आप **सहसा सहस्वान्**=शत्रुमर्षक बल के द्वारा बलवान् हैं। (२) **द्युभिः अक्तः**=ज्ञानदीप्तियों से संगत आप **यत्**=जब **वचोभिः**=स्तुति-वचनों से **शस्यसे**=प्रशंसित किये जाते हैं, तो उस समय **जरितुः**=स्तोता के **तत्**=उस **घोषि**=घोषणीय, उच्चारण किये जाने योग्य, **मन्म**=मननीय स्तोत्र को

जुषस्व=प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। स्तोता का यह स्तोत्र आपके लिये प्रिय हो। स्तोता के ज्ञान का यह वर्धक बने।

भावार्थ—हे प्रभो! स्तुति किये आप हमारे अन्तःशत्रुओं का बाधन करिये। हमारे से उच्चरित स्तोत्र हमें आपका प्रिय बनाएँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रयि-वाज-द्युम्न (धन शक्ति ज्ञान)

अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम्।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तव ऊती**=आपके रक्षण के द्वारा हम **तं कामम्**=उस कामना को **अश्याम**=व्याप्त करें कि—(क) हे **रयिवः**=उत्तम ऐश्वर्योंवाले प्रभो! **सुवीरम्**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले अथवा हमें वीर बनानेवाले **रयिं अश्याम**=धन को प्राप्त करें। हम धनी हों, पर उस धन के परिणामस्वरूप हमारे सन्तान न बिगड़ जाएँ और नांही हम अवीर हो जाएँ। (२) हे प्रभो! हम **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुये **वाजम्**=शक्ति को **अभि**=आभिमुख्येन **अश्याम**=प्राप्त हों और हे **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **अजरम्**=इस कभी जीर्ण न होनेवाले **द्युम्नम्**=ज्ञान को **अश्याम**=प्राप्त करें 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में हम 'धन, शक्ति व ज्ञान' को प्राप्त करें।

छठे सूक्त में भी भरद्वाज बार्हस्पत्य अग्नि का स्तवन करते हैं—

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु उपासन से दिव्य जीवन की प्राप्ति

प्र नव्यसा सहसः सूनुमच्छा यज्ञेन गातुमव इच्छमानः।
वृश्चद्वनं कृष्णयामं रुशन्तं वीती होतारं दिव्यं जिगाति॥ १॥

गातुम्=मार्ग को तथा **अवः**=रक्षण को **इच्छमाना**=चाहता हुआ उपासक **नव्यसा यज्ञेन**=अतिशयेन प्रशस्य (नु स्तुतौ) यज्ञ से, श्रेष्ठतम कर्म से **सहसः सूनुं अच्छा**=उस बल के पुञ्ज प्रभु की ओर **प्रजिगाति**=प्रकर्षेण जाता है। प्रभु से ही तो वह उपासक रक्षण को प्राप्त करके मार्ग पर आगे बढ़ जायेगा। (२) उस प्रभु की ओर यह **वीती**=(वी असने) सब वासनाओं को परे फेंकने के हेतु से (प्रजिगाति=) प्रकर्षेण जाता है, जो **वृश्चद्वनम्**=वासना वन को काटनेवाले हैं। **कृष्णयामम्**=अत्यन्त आकर्षक नियमनवाले हैं, अर्थात् अपने उपासक को यम नियमों में चलानेवाले हैं। **रुशन्तम्**=देदीप्यमान हैं। **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले हैं तथा **दिव्यम्**=हम अतिशयेन स्तुत्य हैं (दिव् स्तुतौ) अथवा हमारे सब रोग व पापरूप शत्रुओं को नष्ट करके हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले हैं।

भावार्थ—यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए हम प्रभु के रक्षण में मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। वे प्रभु ही हमारे सब शत्रुओं को नष्ट करके हमारे जीवन को दिव्य बनाते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'ज्ञान द्वारा पवित्रता' व 'ऐश्वर्य प्राप्ति'

स शि॒वता॑नस्त॒न्य॒तू रो॑च॒नस्था॑ अ॒जरे॑भि॒र्नान॑दद्भि॒र्यवि॑ष्ठः।
यः पा॑व॒कः पु॑रु॒तमः॑ पु॒रूणि॑ पृ॒थून्य॒ग्निर॑नु॒याति॒ भर्व॑न्॥ २॥

(१) **सः अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **शिवतानः**=अत्यन्त श्वेतवर्णवाले, एकदम शुद्ध व अपापविद्ध हैं। **तन्यतुः**=हमारे हृदयों में स्थित हुए-हुए ज्ञान-वाणियों का गर्जन करनेवाले हैं। **रोचनस्थाः**=इस नक्षत्रों से देदीप्यमान अन्तरिक्षलोक में स्थित हैं। **अजरेभिः**=कभी जीर्ण न होनेवाले **नानदद्भिः**=खूब ऊँचे उच्चरित होते हुए इन वेद शब्दों से **यविष्ठः**=युवतम हैं, हमें बुराइयों से अधिक से अधिक दूर करनेवाले हैं। इन ज्ञानवाणियों से वे प्रभु हमें सब अच्छाइयों से युक्त करते हैं। (२) **यः**=जो अग्रेणी प्रभु **पावकः**=पवित्र करनेवाले हैं। पवित्रता के द्वारा **पुरुतमः**=हमारा अधिक से अधिक पालन व पूरण करनेवाले हैं। ये प्रभु **भर्वन्**=हमारे शत्रुओं का संहार करते हुए **पुरूणि**=पालन व पूरण करनेवाले **पृथूनि**=विशाल धनों को **अनुयाति**=(या प्रापणे) अनुकूलता से प्राप्त कराते हैं। प्रभु से प्राप्त कराये गये धन हमारे जीवनों में व्यसनों को उत्पन्न नहीं होने देते।

भावार्थ—ज्ञान देकर प्रभु हमारे जीवनों को पवित्र बनाते हैं। जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये उत्कृष्ट धनों को देते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की पवित्र ज्ञानदीप्तियाँ

वि ते॒ विष्व॒ग्वात॑जूतासो अग्ने॒ भामा॑सः शुचे॒ शुच॑यश्चरन्ति।
तु॒वि॒म्र॒क्षासो॑ दि॒व्या नव॑ग्वा॒ वना॑ वनन्ति धृष॒ता रु॒जन्तः॑॥ ३॥

(१) हे **शुचे**=पवित्र **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **ते**=आपकी **वातजूतासः**=(वा गतौ) गति की प्रेरणा देनेवाली, कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश देनेवाली, **शुचयः**=पवित्र **भामासः**=दीप्तियाँ **विष्वग्**=सब ओर **विचरन्ति**=गतिवाली होती हैं। सबके हृदयों में आप इन दीप्त ज्ञान-वाणियों की प्रेरणा देते हैं। (२) ये ज्ञानदीप्तियाँ **तुविम्रक्षासः**=खूब ही जीवनों का शोधन करनेवाली हैं, (मृजू शुद्धौ) **दिव्याः**=प्रकाशमय हैं, **नवग्वाः**=स्तुत्य गतिवाली हैं। ये दीप्तियाँ **धृषता**=अपने धर्षण सामर्थ्य से **वना**=वासनाओं के वनों को **रुजन्तः**=छिन्न-भिन्न करती हुई **वनन्ति**=हमारे लिये मोक्ष-सुख का विजय करती है (वन्=win)।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञानदीप्तियाँ हमें कर्मों में प्रेरित करती हुई पवित्र जीवनवाला बनाती हैं। ये हमारे लिये मोक्ष-सुख का विजय करती हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सद्गुण बीज-वपन

ये ते॑ शु॒क्रासः॒ शुच॑यः शुचिष्मः॒ क्षां वप॑न्ति॒ विषि॑तासो॒ अश्वाः॑।
अध॑ भ्र॒मस्त॑ उर्वि॒या वि भा॑ति या॒तय॑मानो॒ अधि॒ सानु॒ पृश्नेः॑॥ ४॥

(१) हे **शुचिष्मः**=शुचिता दीप्ति व पवित्रतावाले प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपकी **शुक्रासः**=दीप्त **शुचयः**=पवित्रता की साधक ज्ञान-ज्वालाएँ हैं, वे **क्षां**=इस शरीर रूप भूमि को **वपन्ति**=उत्तम गुणों के बीजों के वपनवाला करती है। इन ज्ञान-ज्वालाओं से **अश्वाः**=इस शरीर-रथ में जुते हुए

इन्द्रियाश्व **विषितासः**=(वि+सित) विषय बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। ज्ञान के कारण पवित्रता का संचार होकर विषयाशक्ति विनष्ट हो जाती है। (२) **अध**=अब इन्द्रियाश्वों के निर्मल होने पर **ते भ्रमः**=हे प्रभो! आपकी गति **उर्विया**=खूब ही **विभाति**=दीप्त होती है। यह आपकी गति **पृश्नेः**=(संस्प्रष्टा भासां नि० २।१४) सब ज्ञानों का स्पर्श करनेवाली वेदवाणी रूप सूर्य को **अधि सानु**=शिखर पर **यातयमानः**=हमें व्यापारित करती है, हमें ऊँचे से ऊँचे ज्ञान में ले जाती है। जैसे-जैसे इन्द्रियाँ निर्मल होती जाती हैं, उसी प्रकार प्रभु की उपस्थिति व गति का अनुभव होने लगता है। यह प्रभु की गति हमें ज्ञान के शिखर पर ले जाती है। इसी बात को यहाँ 'पृश्नि के शिखर पर व्यापारित होना' इन शब्दों में कहा है।

भावार्थ—प्रभु की दीप्त ज्ञान ज्वालाएँ शरीर रूप पृथिवी में सद्गुणों के बीजों का वपन करती हैं। ये इन्द्रियाश्वों को विषयों से व्यापृत्त करती हैं। अब प्रभु की गति का हृदयों में अनुभव होता है और यह गति हमें ज्ञानशिखर पर ले जानेवाली होती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना वन-विनाश

अर्ध जिह्वा पापतीति प्र वृष्णो गोषुयुधो नाशनिः सृजाना।
शूरस्येव प्रसितिः क्षातिरग्नेर्दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि ॥ ५ ॥

(१) **अध**=अब गत मन्त्र के अनुसार हृदय में प्रभु की गति का अनुभव होने पर, **वृष्णः**=उस सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु की **जिह्वा**=ज्ञान-प्रदायिनी वाणी **प्रपापतीति**=खूब ही हमारे जीवनों में गतिवाली होती है। यह प्रभु की जिह्वा **गोषुयुधः**=इन्द्रियों के विषयों में वासनाओं से युद्ध करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के **सृजाना अशनिः इव**=उत्पन्न किये जाते हुए वज्र के समान है। जैसे कि जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशीलता रूप वज्र के द्वारा वासनारूप शत्रुओं का विनाश करता है, उसी प्रकार प्रभु की ज्ञानवाणी भी इन वासनारूप शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाली होती है। (२) **शूरस्य**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु की **प्रसितिः**=शत्रु-बन्धन शक्ति तथा **क्षातिः**=शत्रुक्षय सामर्थ्य **दुर्वतुः**=शत्रुओं से वारण के योग्य नहीं होती। यह **भीमः**=शत्रुओं के भयंकर अग्नि का सामर्थ्य **वनानि दयते**=वासना वनों का हिंसन करता है। प्रभु की उपासना से सब वासना वन भस्मीभूत हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञानाग्नि में सब वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। प्रभु की उपासना से प्राप्त सामर्थ्य सब वासना वनों का हिंसन करनेवाला होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्ञान व बल' से शत्रुओं का संहार

आ भानुना पार्थिवानि ज्रयांसि महस्तोदस्य धृषता ततन्थ।
स बाधस्वाप भया सहोभिः स्पृधो वनुष्यन्वनुषो नि जूर्व ॥ ६ ॥

(१) उस **महः तोदस्य**=महान् प्रेरक प्रभु के **भानुना**=ज्ञान-प्रकाश के साथ तथा **धृषता**=शत्रु धर्षण सामर्थ्य के साथ **पार्थिवानि ज्रयांसि**=इस पार्थिव शरीर सम्बन्धी गतियों को **आ ततन्थ**=तू समन्तात् विस्तृत करता है। उपासक अपनी सब क्रियाओं को प्रभु की उपासना से प्राप्त ज्ञानदीप्ति व शक्ति के साथ करता है। (२) **सः**=वह तू **भया**=सब भय के कारणभूत पापों को **अपबाधस्व**=अपने से दूर हो रोकनेवाला हो। **सहोभिः**=शत्रुमर्षक बलों से **स्पृधः**=शत्रुओं को

वनुष्यन्=हिंसित करता हुआ **वनुषः**=हिंसक शत्रुओं को **निजूर्व**=हिंसित कर।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से प्राप्त ज्ञान व बल से हम काम आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अद्भुत धन की प्राप्ति

स चित्र चित्रं चितयन्तमस्मे चित्रक्षत्र चित्रतमं वयोधाम्।
चन्द्रं रयिं पुरुवीरं बृहन्तं चन्द्र चन्द्राभिर्गृणते युवस्व॥ ७॥

(१) हे **चित्र**=(चित्+र) ज्ञान को देनेवाले, **चित्रक्षत्र**=अद्भुत बलवाले **चन्द्र**=आह्लादमय (आनन्दस्वरूप) **चन्द्राभिः**=आह्लादकारिणी स्तुतियों से **गृणते**=स्तवन करनेवाले **अस्मे**=हमारे लिये **रयिं युवस्व**=धन को प्राप्त कराइये (यु मिश्रणे)। (२) उस धन को प्राप्त कराइये जो **चित्रम्**=ज्ञान को देनेवाला है, **चितयन्तम्**=हमारी चेतना को बढ़ानेवाला है। **चित्रतमम्**=अतिशयेन अद्भुत है। **वयोधाम्**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाला है **चन्द्रम्**=आह्लाद का जनक है। **पुरुवीरम्**=पालक व पूरक होता हुआ (पृ पालनपूरणयोः) विशेषरूप से शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाला है (वि+ईर) और इस प्रकार **बृहन्तम्**=वृद्धि का कारण है।

भावार्थ—प्रभु अपने स्तोताओं को उस सात्त्विक धन की प्राप्ति कराते हैं जो उन्नति का ही साधन बनता है।

अगले सूक्त में 'भारद्वाज बार्हस्पत्य' वैश्वानर का स्मरण करते हैं—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मूर्धानं दिवः-अरतिं पृथिव्याः

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥ १॥

(१) मुख्यरूप से वैश्वानर=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु हैं। मानव समाज में 'ब्रह्माश्रम' में पहुँचनेवाला संन्यासी भी 'वैश्वानर' है। इस वैश्वानर को देवाः='माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' रूप देव जनयन्त=जन्म देते हैं। ५ वर्ष तक माता इसके चरित्र निर्माण का प्रयत्न करती है, अब पिता ८ वर्ष तक इसे शिष्टाचार सम्पन्न बनाने के लिये यत्नशील होते हैं। फिर २५ वर्ष तक आचार्य इसे ज्ञान से परिपूर्ण करते हैं। फिर ५० वर्ष तक गृहस्थ में विद्वान् अतिथि इसे मोह में फँस जाने व मार्गभ्रष्ट होने से बचाते हैं। अब ७५ वर्ष तक यह प्रभु की उपासना के लिये यत्नशील होता है और ब्रह्माश्रम में पहुँचकर लोकहित में प्रवृत्त होता है। इसे देव कैसा बनाते हैं? **दिवः मूर्धानम्**=ज्ञान के शिखरभूत और अतएव **पृथिव्याः अरतिम्**=पार्थिव भोगों के प्रति न रुचिवाला और **वैश्वानरम्**=सब लोकों के हित में प्रवृत्त। (२) यह वैश्वानर **ऋते आजातम्**=ऋत के अनुभव के लिये ही मानो उत्पन्न हुआ है, अर्थात् इसके सब कार्य बड़े व्यवस्थित होते हैं, ठीक समय पर व ठीक स्थान पर। **अग्निम्**=यह अग्रेणी है, अपने को आगे ले चलता हुआ औरों को भी उन्नति का कारण बनता है। **कविम्**=क्रान्तदर्शी है, चीजों के तत्त्व को देखता है। **सम्राजम्**=यह ज्ञान से देदीप्यमान होता है। **जनानां अतिथिम्**=लोगों का अतिथि बनता है, अर्थात् उनके हित के लिये उनके समीप सदा प्राप्त होनेवाला होता है। **आसन्**=मुख के द्वारा, ज्ञानोपदेश के द्वारा **आ**

पात्रम्=सब ओर रक्षा करनेवाला होता है। इस प्रकार के इस ब्रह्माश्रमी के निर्माण में माता आदि सब देवों का हाथ होता है।

भावार्थ—आदर्श संन्यासी उत्कृष्ट ज्ञानवाला व भोगों के प्रति अरुचिवाला होकर ज्ञानोपदेश से सबका मार्गदर्शन करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह महान् वैश्वानर

नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः॥ २॥

(१) सर्वमहान् वैश्वानर प्रभु हैं। उस प्रभु को उपासक लोग **अभि**=लक्ष्य करके **संनवन्त**=सम्यक् स्तुत करते हैं। जो प्रभु **यज्ञानां नाभिम्**=सब यज्ञों के, उत्तम कर्मों के प्रबन्धक हैं अथवा सब यज्ञों केन्द्र हैं। प्रभु कृपा से ही सब उत्तम कर्म हो पाते हैं। **रयीणां सदनम्**=सब ऐश्वर्यों के वे घर हैं, सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के आधार वे प्रभु ही हैं। यज्ञों से ही ऐश्वर्य का वर्धन होता है। अतएव वे प्रभु **महाम्**=महान् हैं और **आहावम्**=समन्तात् पुकारे जाने योग्य हैं। (२) इस **वैश्वानरम्**=सब नरों के हितकर प्रभु को **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **जनयन्त**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं, देव अपने हृदयों में उस प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। जो प्रभु **अध्वराणां रथ्यम्**=यज्ञों के, हिंसारहित कर्मों के संचालक हैं तथा **यज्ञस्य केतुम्**=इन सब यज्ञों के प्रकाशक हैं, वेदवाणी द्वारा इन यज्ञों का प्रज्ञापन करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब यज्ञों को प्रबन्धक व सब ऐश्वर्यों के आधार हैं। उन यज्ञों के प्रज्ञापक प्रभु का ही प्रातः-सायं स्तवन करना चाहिए।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य' के निर्माता प्रभु

त्वद्विप्रो जायते वाज्यग्ने त्वद्वीरासो अभिमातिषाहः।
वैश्ववानर त्वमस्मासु धेहि वसूनि राजन्त्स्पृहयाय्याणि॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वद्**=आप से ही, आपकी उपासना से शक्ति को पाकर ही **विप्रः**=ज्ञानी पुरुष **वाजी**=हविर्लक्षण अन्नोंवाला, अर्थात् यज्ञशील **जायते**=बनता है। प्रभु का उपासक ज्ञानी व यज्ञशील ब्राह्मण बनता है। **त्वद्**=आप से ही **वीरासः**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले (वि+ईर) क्षत्रिय लोग **अभिमातिषाहः**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले होते हैं। (२) हे **राजन्**=देदीप्यमान **वैश्वानर**=सब मनुष्यों के हितकर व आगे ले चलनेवाले (नृनये) प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्मासु**=हमारे में **स्पृहयाय्याणि**=स्पृहणीय-चाहने योग्य **वसूनि**=धनों को **धेहि**=धारण करिये। आपकी कृपा से हम सुपथ से धनों के कमानेवाले वैश्यवर्ग में जन्म लें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें (क) यज्ञशील ज्ञानी ब्राह्मण बनाती है। (ख) यह उपासना हमें शत्रुओं को कुचल देनेवाला वीर क्षत्रिय बनाती है। (ग) तथा इस उपासना से हम सुपथ से धनार्जन करनेवाले वैश्य बनते हैं। उपासना के अभाव में हम शूद्र के शूद्र रह जाते हैं 'जन्मना जायते शूद्रः' शूद्र तो हम उत्पन्न हुए ही थे। उपासना के अभाव में हम कोई उन्नति नहीं करते।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'मस्तिष्क व शरीर' में प्रभु की दीप्ति

त्वां विश्वे॑ अमृत॒ जाय॑मानं॒ शिशुं॒ न दे॒वा अ॒भि सं न॑वन्ते।
तव॒ क्रतु॑भिरमृत॒त्वमा॑य॒न्वैश्वा॑नर॒ यत्पि॒त्रोरदी॑देः ॥ ४ ॥

(१) हे **अमृत**=मरणधर्मरहित प्रभो! **विश्वे देवाः**=सब देववृत्ति के व्यक्ति **जायमानं त्वाम्**=प्रादुर्भूत होते हुए आपको **अभिसंनवन्ते**=प्राप्त होते हैं। देववृत्ति के लोग प्रभु की ओर ही झुकते हैं। **शिशुं न**=जो आप शिशु के समान हैं, 'शो तनूकरणे' बुद्धि को तीव्र करनेवाले के समान हैं। 'आप ही इन देवों की बुद्धि को सूक्ष्म बनाते हैं'। (२) **तव क्रतुभिः**=आपके प्रज्ञानों व सामर्थ्यों से ही देव **अमृतत्वम्**=अमरता को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। हे **वैश्वानर**=सब नरों के हित करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब आप **पित्रोः**=इन द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में **अदीदेः**=दीप्त होते हैं। आप ही मस्तिष्क को ज्ञान की ज्योति से तथा शरीर को तेजस्विता से दीप्त करते हैं। इस प्रज्ञान व तेजस्विता से ही अमरता की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्रभु मस्तिष्क को प्रज्ञान से तथा शरीर को तेज से दीप्त करते हैं। इन प्रज्ञानों व तेजों को प्राप्त करके हम देव व अमर बनते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अनुल्लंघनीय व्यवस्था

वैश्वा॑नर॒ तव॒ तानि॑ व्र॒तानि॑ म॒हान्य॑ग्ने॒ नकि॒रा द॑धर्ष।
यज्जाय॑मानः पि॒त्रोरु॒पस्थेऽवि॑न्दः के॒तुं व॒युने॒ष्वह्ना॑म् ॥ ५ ॥

(१) हे **वैश्वानर**=सब नरों के हित करनेवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तव**=आपके **तानि**=उन **महानि व्रतानि**=महान् व्रतों को **नकिः आदधर्ष**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाता। उस विधाता के बनाये सृष्टि-नियमों को कोई भी तोड़ नहीं पाता। उसकी व्यवस्था में सब सूर्य आदि पिण्ड अपने-अपने मार्गों का आक्रमण करते हैं। (२) हे प्रभो! **पित्रोः उपस्थे**=मातृरूप व पितृरूप पृथिवीलोक व द्युलोक के उपस्थान में, इनकी गोद में (मध्य में) **वयुनेषु**=कर्मों व प्रज्ञानों के निमित्त आप **यत् जायमानः**=जब इस सृष्टि को जन्म देते हैं तो **अह्नां केतुम्**=दिनों के प्रकाशक इस सोम को **अविन्दः**=प्राप्त कराते हैं। इस सूर्य के प्रकाश में ही मनुष्यों के यज्ञ व स्वाध्यायादि सब कर्म होते हैं। प्रभु से स्थापित हुए-हुए ये सूर्य आदि पिण्ड अपने मार्ग पर आक्रमण करते हैं। कभी भी ये प्रभु की व्यवस्था का भंग नहीं करते।

भावार्थ—सूर्य, चन्द्र, तारे आदि सब पिण्ड प्रभु के नियमों के अनुसार मार्गों पर आक्रमण कर रहे हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सर्वप्रकाशक सर्वाधार' प्रभु

वै॒श्वा॒नरस्य॒ विमि॑तानि॒ चक्ष॑सा॒ सानू॑नि॒ दि॒वो अ॒मृत॑स्य के॒तुना॑।
तस्येदु॒ विश्वा॒ भुव॒नाधि॑ मू॒र्धनि॑ व॒याइ॑व रुरुहुः स॒प्त वि॒स्रुहः॑ ॥ ६ ॥

(१) **वैश्वानरस्य**=उस सब मनुष्यों का हित करनेवाले **अमृतस्य**=अविनाशी प्रभु के **चक्षसा केतुना**=सब पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले ज्ञान से **दिवः सानूनि**=ज्ञान के शिखर

विमितानि=निर्मित होते हैं। ऊँचे से ऊँचा ज्ञान हृदयस्थ प्रभु के प्रकाश से ही प्राप्त होता है। (२) **विश्वा भुवना**=सब लोक लोकान्तर **इत् उ**=निश्चय से **तस्य अधिमूर्धनि**=उस प्रभु के महत्ता पर ही आश्रित हैं। ये प्रभु ही सर्वाधार हैं। उस प्रभु से ही **वयाः इव**=शाखाओं की तरह **सप्त विस्रुहः**=सात ज्ञानस्रोत **रुरुहुः**=उत्पत्ति व वृद्धि को प्राप्त होते हैं। सारा वेदज्ञान सात छन्दों में होने के कारण 'सात स्तोत्रोंवाला' कहा गया है। इस वेदज्ञान द्वारा ही प्रभु हमारे हृदयों को प्रकाशित करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु ही सर्वप्रकाशक हैं, सर्वाधार हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निर्माता व रक्षिता

वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः।
परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथेऽदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता ॥ ७ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **रजांसि**=सब लोकों को **वि अमिमीत**=विशेष मानपूर्वक बनाते हैं, वे **सुक्रतुः**=शोभन कर्मों व प्रज्ञानोंवाले **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु ही **दिवः**=द्युलोक के **रोचना**=इन दीप्त पिण्डों (नक्षत्रों) की भी **वि**=विशेष ज्ञानपूर्वक रचना करते हैं। **कविः**=वे प्रभु क्रान्तप्रज्ञ हैं। (२) **यः**=जो **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को **परिपप्रथे**=चारों ओर विस्तृत आकाश में फैलाते हैं, वे प्रभु **अदब्धः**=अहिंसित हैं, **गोपाः**=सब के रक्षक हैं, सब लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके उनका रक्षण कर रहे हैं। इन लोक-लोकान्तरों के रक्षण के साथ वे **अमृतस्य रक्षिता**=अमृत लोक के भी रक्षक हैं। मुक्त जीव भी प्रभु के ही रक्षण में हैं।

भावार्थ—सब रञ्जनात्मक (रजांसि) व प्रकाशमय (रोचना) लोकों का वे प्रभु ही निर्माण करते हैं, वे ही इनका रक्षण करते हैं। अमृत लोक के भी वे ही रक्षक हैं।

आठवें सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' वैश्वानर का स्तवन करते हैं—

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-स्तवन व सुन्दर जीवन

पृक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू सहः प्र नु वोचं विदथा जातवेदसः।
वैश्वानराय मतिर्नव्यसी शुचिः सोमइव पवते चारुरग्नये ॥ १ ॥

(१) **पृक्षस्य**=सर्वत्र सम्पृक्त, अर्थात् सर्वव्यापक, **वृष्णः**=सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले अथवा शक्तिशाली **अरुषस्य**=आरोचमान **जातवेदसः**=उस सर्वज्ञ प्रभु के **सहः**=शत्रु-मर्षक सामर्थ्य को **नु**=अब **विदथा**=इस ज्ञानयज्ञ में **नु**=निश्चय से **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण प्रतिपादित करता हूँ। इस प्रभु का बल ही तो मेरे भी काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला है। (२) उस **वैश्वानराय**=सब नरों का हित करनेवाले **अग्नये**=अग्रेणी प्रभु के लिये, **सोमः इव**=सोम की तरह **चारुः**=सुन्दर **शुचिः**=पवित्र **नव्यसी**=अतिशयेन **प्रशस्य मतिः**=मननपूर्वक की गई स्तुति **पवते**=प्राप्त होती है। मैं उस प्रभु का स्तवन करता हूँ। यह स्तवन मेरे जीवन को सुन्दर पवित्र व प्रशस्त बनाता है। इस स्तवन से मेरे में सोम का भी रक्षण होता है।

भावार्थ—मैं सर्वव्यापक शक्तिशाली आरोचमान सर्वज्ञ प्रभु का स्तवन करता हूँ। इस स्तवन

से मेरे जीवन में सोम (वीर्य) का रक्षण होता है और मेरा जीवन सुन्दर, पवित्र व प्रशस्त बनता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

व्रतों (नियमों) के रक्षक प्रभु

स जायमानः परमे व्योमनि व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत।
व्य१न्तरिक्षममिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो महिना नाकमस्पृशत् ॥ २ ॥

(१) **सः**=वह **व्रतपाः**=सब व्रतों (नियमों) का रक्षक **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **परमे व्योमनि**=इस परम आकाश में, अनन्त विस्तृत आकाश में **जायमानः**=सब लोक-लोकान्तरों को जन्म देता हुआ ('माता प्रजाता') की तरह यह प्रयोग है। **व्रतानि अरक्षत**=इन सूर्य विद्युत् अग्नि आदि देवों के व्रतों का रक्षण करते हैं। प्रभु के भय से ही सब देव अपने-अपने व्रत का पालन कर रहे हैं। (२) वे **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा शोभन-प्रज्ञ **वैश्वानरः**=सर्वहितकर प्रभु ही **अन्तरिक्षम्**=इस अन्तरिक्षलोक को **वि अमिमीत**=विशेष निर्माणपूर्वक बनाते हैं। इस अन्तरिक्ष में सब 'रञ्जनात्मक व प्रकाशात्मक' लोकों का निर्माण करते हैं। वे प्रभु ही **महिना**=अपनी महिमा से **नाकं अस्पृशत्**=मोक्ष-सुख का स्पर्श करते हैं। अर्थात् वे ही मोक्षलोक का भी धारण करते हैं।

भावार्थ—सब सूर्यादि पिण्ड प्रभु की व्यवस्था में ही गति कर रहे हैं। प्रभु ही सब लोकों का निर्माण करते हैं, मोक्षलोक का भी वे ही धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रकाशक प्रभु

व्यस्तभ्नाद्रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः।
वि चर्मणीव धिषणे अवर्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ३ ॥

(१) **मित्रः**=वे सब के साथ स्नेह करनेवाले **अद्भुतः**=अद्भुत (अनुपम) प्रभु **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **व्यस्तभ्नात्**=विशेषरूप से थामते हैं। प्रभु ही इनका धारण करनेवाले हैं। वे प्रभु **ज्योतिषा**=अपनी ज्योति से **तमः**=अन्धकार को **अन्तर्वावत्**=अन्तर्हित तिरोहित **अकृणोत्**=कर देते हैं। (वावत्=वातेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम्)। सारे द्यावापृथिवी को धारण करते हुए, इनको वे प्रकाशमय करते हैं। (२) **वैश्वानरः**=सबका हित करनेवाले वे प्रभु **चर्मणी इव**=दो चर्मों (चमड़ों) के समान **धिषणे**=इन द्यावापृथिवी को **वि अवर्तयत्**=विशेष रूप से बिछा-सा देते हैं। इन द्यावापृथिवी को वे प्रभु ही विस्तृत करनेवाले हैं। वे ही **विश्वम्**=सब **वृष्ण्यम्**=(वीर्यं बलम्) बल को **अधत्त**=धारण करते हैं। द्यावापृथिवी में सब पिण्डों को स्थापित करके उन्हें वे प्रभु ही उस-उस शक्ति से सम्पन्न कर रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करते हैं, वे ही अन्धकार को दूर करते हैं। प्रभु ही सर्वत्र शक्ति की स्थापना करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

क्रियाशीलता व प्रभु प्राप्ति

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम्।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥ ४ ॥

(१) **महिषाः**=(मह पूजायाम्) उपासक लोग **अपां उपस्थे**=कर्मों की गोद में अथवा कर्मों की उपासना में ही **अगृभ्णत**=उस प्रभु का ग्रहण करते हैं। **विशः**=सब प्रजाएँ **राजानम्**=उस देदीप्यमान **ऋग्मियम्**=स्तुत्य प्रभु के समीप **उपतस्थु**=उस-उस कामना की पूर्ति के लिये उपस्थित होती हैं (२) **विवस्वतः**=सूर्य का **दूतः**=संदेशवाहक, सूर्य से दी जानेवाली गतिरूप प्रेरणा का धारण करनेवाला पुरुष **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **आ अभरद्**=सब क्रियाओं को करता हुआ धारण करता है। प्रभु स्मरणपूर्वक ही यह सब क्रियाओं को करता है। **मातरिश्वा**=वायु, अर्थात् वायु की तरह निरन्तर गतिशील जीव ही **परावतः**=सुदूर देश से **वैश्वानरम्**=उस सर्वनरहितकारी प्रभु को प्राप्त करता है। प्रभु आलसियों से सदा दूर हैं। क्रियाशीलता ही हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम आलस्य को छोड़कर अपने कर्त्तव्य कर्मों की उपासना करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन प्राप्ति व शत्रु नाश

युगेयुगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्।
पव्येव राजन्नघशंसमजर नीचा नि वृश्च वनिनं न तेजसा॥ ५॥

(१) **अग्ने**=परमात्मन्! आप **युगे युगे गृणद्भ्यः**=समय-समय पर, अर्थात् सदा स्तुति करनेवालों के लिये **रयिम्**=धन को **धेहि**=धारण करिये। जो धन **विदथ्यम्**=ज्ञान प्राप्ति के लिये सहायक होता है, **यशसम्**=हमारे जीवन को यशस्वी बनाता है तथा जो धन **नव्यसीम्**=स्तुत्य है, प्रशस्त साधनों से कमाया गया है। (३) हे **राजन्**=देदीप्यमान, **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! आप **इव**=जैसे **पव्या**=वज्र से **वनिनं न**=वृक्ष को काटते हैं, इसी प्रकार **अंघशंसम्**=अघ-पाप और कष्ट के शंसन करनेवाले, हमारे लिये अशुभ की कामनावाले शत्रु को **तेजसा**=तेजस्विता से **नीचा निवृश्च**=काटकर नीचे फेंकनेवाले होइये।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्कृष्ट धन प्राप्त कराएँ तथा हमारे लिये अघ का शंसन करनेवाले को नष्ट करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अनमनीय बल व आनन्दमय दीर्घ जीवन

अस्माकमग्ने मघवत्सु धारयानामि क्षत्रमजरं सुवीर्यम्।
वयं जयेम शतिनं सहस्त्रिणं वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अस्माकं मघवत्सु**=हमारे यज्ञशील पुरुषों में **सुवीर्यम्**=उत्तम बल को **धारय**=धारण करिये जो कि **अनामि**=शत्रुओं से नमनीय नहीं है, **क्षत्रम्**=हमें क्षतों से, घावों से बचानेवाला है तथा **अजर**=कभी जीर्ण होनेवाला नहीं है। (२) हे **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो **वयम्**=हम **तव ऊतिभिः**=आप के रक्षणों के द्वारा **वाजम्**=उस बल का **जयेम**=विजय करें जो **शतिनम्**=हमारे सौ वर्ष तक चलनेवाला है और **स-हस्त्रिणम्**=हमें सदा प्रसन्न रखनेवाला है। शक्ति से ही हम आनन्दपूर्वक सौ वर्ष तक जीनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रुओं से अनमनीय जीर्ण न होनेवाला बल प्राप्त कराते हैं। प्रभु कृपा से हम शक्ति प्राप्त करके आनन्दपूर्वक पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करते हैं।

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'रक्षक व बलदाता' प्रभु

अद॑ब्धेभि॒स्तव॑ गो॒पाभि॑रिष्टे॒ऽस्माकं॑ पाहि त्रिषधस्थ सू॒रीन्।
रक्षा॑ च नो द॒दुषां॒ शर्धो॑ अग्ने॒ वैश्वा॑नर॒ प्र च॑ तारी॒: स्तवा॑नः ॥ ७ ॥

(१) हे **त्रिषधस्थ**=तीनों लोकों में एक साथ स्थित होनेवाले प्रभो! आप **अस्माके सूरीन्**=हमारे ज्ञानी पुरुषों को **तव**=अपने **अदब्धेभिः गोपाभिः**=अहिंसनीय रक्षणों के द्वारा रक्षक तेजों के द्वारा **इष्टे**=यज्ञों में **पाहि**=रक्षित करिये। आपसे रक्षित होकर ये ज्ञानी पुरुष सदा यज्ञों में प्रवृत्त रहें। (२) **नः**=हमारे **ददुषाम्**=इन दानशील पुरुषों के **शर्धः**=बल को **रक्षा**=रक्षित करिये। **च**=और हे **वैश्वानर अग्ने**=सबका हित करनेवाले अग्रेणी प्रभो! **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **प्रतारीः**=इनको सब प्रकार से बढ़ाइये। इनका शरीर स्वस्थ हो, इनका मन निर्मल हो और इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र बने।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम यज्ञशील बनें। त्यागवृत्तिवाले बनकर सबल बनें। स्तुति करते हुए सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त करें।

अगले सूक्त में भी 'वैश्वानर' का ही स्तवन है—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिन-रात के चक्र में प्रभु की महिमा

अह॑श्च कृ॒ष्णमह॒रर्जु॑नं च॒ वि व॑र्तेते॒ रज॑सी वे॒द्याभि॑:।
वै॒श्वा॒न॒रो जाय॑मानो॒ न राजावा॑तिर॒ज्ज्योति॑षा॒ग्निस्तमां॑सि ॥ १ ॥

(१) 'अहः' शब्द दिन का वाचक है। कृष्णा विशेषण लगाने पर यह रात्रि को भी प्रतिपादित करता है। **कृष्णं अह**=अन्धकार के कारण कृष्ण वर्णवाली यह रात्रि **च**=तथा **अर्जुनं अहः**=सूर्य-किरणों से उज्वल श्वेत दिन **वेद्याभिः**=अनुकूलतया ज्ञातव्य अपनी प्रवृत्तियों से **रजसी**=सब लोकों का रञ्जन करते हुए **विवर्तेते**=पर्यावृत्त हो रहे हैं। चक्राकार गति में निरन्तर चलते हुए ये लोक-रञ्जन का कारण बन रहे हैं। दिन का प्रकाश हमें प्रबुद्ध करके कार्य प्रवृत्त करता है, तो थके हुए अंगों को विश्राम देने के लिये रात्रि का आगमन होता है। इस प्रकार दिन व रात दोनों मिलकर लोक-रञ्जन का साधन बनते हैं। (२) **वैश्वानरः**=वह सब नरों का हित करनेवाला प्रभु **राजा न**=एक शासक के समान **जायमानः**=इस दिन-रात के चक्र में अपनी महिमा के द्वारा प्रकट हो रहा है। अपने चक्र में घूमते हुए दिन-रात प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। प्रभु के शासन में ही ये चल रहे हैं। **अग्निः**=ये अग्रेणी प्रभु **ज्योतिषा**=अपनी ज्योति से **तमांसि**=अन्धकारों को **अवातिरत्**=विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—दिन-रात के चक्र में प्रभु की महिमा व्यक्त हो रही है। प्रभु ही अपनी ज्योति से सब अन्धकारों को दूर करते हैं। सूर्य आदि में प्रभु की दीप्ति ही दीप्त हो रही है, जीवों के हृदयों को भी प्रभु ही रोशन करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञ-वस्त्र के तन्तु व ओतु

नाहं तन्तुं न वि जानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।
कस्य स्वित्पुत्र इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्रा॥ २॥

(१) **अहम्**=मैं यज्ञरूप वस्त्र के **तन्तुम्**=प्रागायत गायत्र्यादिच्छन्दरूप सूत्रों को, ताने को **न विजानामि**=नहीं जानता हूँ। **ओतुम्**=यजुः तथा आध्वर्यव कर्म रूप तिरश्चीन सूत्रों को भी, बाने को भी **न**=नहीं जानता हूँ। मैं उस यज्ञरूप वस्त्र को भी **न**=नहीं जानता हूँ, **यम्**=जिसको **समरे**=(संगमने) सबके मिलकर बैठने के स्थान देवयजन में **अतमानाः**=गति करते हुए ऋत्विज लोग **वयन्ति**=बुनते हैं। यज्ञ को मैं पूरा-पूरा समझ नहीं पाता। (२) मैं **कस्य स्वित् पुत्रः**=भला किस का पुत्र हूँ? इस बात को भी मैं ठीक से नहीं जानता। **इह**=इस जीवन में **परः**=वे पर प्रभु **वक्त्वानि**=वक्तव्य बातों को **वदाति**=उच्चारित करते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में वे प्रभु सब उपदेष्टव्य बातों का प्रतिपादन करते हैं। बाद में **अवरेण पित्रा**=इहलोक में होनेवाले प्रभु माता-पिता के द्वारा वे प्रभु ही आनेवाली सन्तानों को उपदेश देते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में 'पर पिता' प्रभु 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि ऋषियों को ज्ञान देते हैं। फिर अवरकाल में होनेवाले लौकिक माता-पिता अपने सन्तानों को ज्ञान देने लगते हैं।

भावार्थ—न तो हम यज्ञरूप अपने कर्त्तव्यों को पूरा-पूरा समझते हैं और नांही परम पिता प्रभु को जानते हैं। ये प्रभु ही सृष्टि के प्रारम्भ में कर्त्तव्य कर्मों का ज्ञान देते हैं। फिर अर्वाचीनकाल में माता-पिताओं से सन्तानों को ज्ञान दिया जाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु ही ज्ञानी हैं

स इत्तन्तुं स वि जानात्योतुं स वक्त्वान्यृतुथा वदाति।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन्परो अन्येन पश्यन्॥ ३॥

(१) **सः इत्**=वे प्रभु ही **तन्तुम्**=यज्ञ-वस्त्र के तन्तु-स्थानीय गायत्र्यादि छन्दों को **विजानाति**=जानते हैं और **सः**=वे ही **ओतुम्**=तिरश्चीन सूत्र-भूत यजुओं को जानते हैं। **सः**=वे प्रभु ही **ऋतुथा**=समय के अनुसार **वक्त्वनि**=वक्तव्य कर्त्तव्य कर्मों का **वदाति**=उपदेश करते हैं। (२) **यः**=जो **ईम्**=निश्चय से **चिकेतत्**=जानता है, वह सर्वज्ञ 'वैश्वानर' प्रभु ही **अमृतस्य गोपाः**=अमृतत्व के, मोक्षलोक के रक्षक हैं। **परः**=पर होते हुए वे प्रभु **अवः चरन्**=यहाँ अवस्तात् निचले भूलोक में विचरते हैं। सर्वज्ञ उस प्रभु की सत्ता है। **अन्येन**=अपने से अन्य इस जीव के हेतु से **पश्यन्**=वे इन सब लोक-लोकान्तरों को देखते हैं, इनका ध्यान करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही पूर्ण ज्ञानी हैं, वे ही हमें कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश देते हैं। वे हमारे लिये इन लोक-लोकान्तरों का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रथम होता

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः॥ ४॥

(१) **अयम्**=ये प्रभु ही **प्रथमः होता**=सर्वप्रथम होता हैं, प्रभु इस सृष्टि-यज्ञ को करते हैं। **इमं पश्यत**=इन्हें ही देखने का यत्न करो। **इदम्**=यह प्रभु रूप **ज्योतिः**=ज्योति ही **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **अमृतम्**=अमृत है। मरणधर्मा शरीरों से सम्बद्ध जीवों में प्रभु ही अमृत ज्योति हैं। (२) **अयं सः**=ये वे प्रभु ही **ध्रुवः**=ध्रुव **जने**=हुए हैं और सब अस्थिर है। **आनिषत्तः**=ये प्रभु सर्वत्र निषण्ण हैं, विद्यमान हैं। **अमर्त्यः**=ये प्रभु मरणधर्मा नहीं हैं। **तन्वा वर्धमानः**=इन हमारे शरीरों से वृद्धि को प्राप्त होते से हैं। इन शरीरों का विकास प्रभु की व्यवस्था से ही होता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वप्रथम होता (याज्ञिक) है, ये अमर-ज्योति हैं। सर्वव्यापक होते हुये हमारे शरीरों के वर्धन का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ध्रुव ज्योति' का दर्शन

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु ॥ ५ ॥

(१) **पतयत्सु अन्तः**=विविध कर्मों में लगे हुए प्राणियों के अन्दर प्रभु **निहितम्**=निहित हैं, विद्यमान हैं। वे प्रभु **ध्रुवं ज्योतिः**=एक अविचल प्रकाश हैं। **मनो जविष्ठम्**=(मनसः) मन से भी अधिक वेगवान् हैं। **दृशये कम्**=वे प्रभु दर्शन के लिये होते हैं, तो आनन्द को देते हैं। प्रभु-दर्शन अद्भुत आनन्द का हेतु होता है। (२) सो **विश्वे देवाः**=सब देववृत्ति के व्यक्ति **समनसः**=मनन से युक्त होते हुए **सकेताः**=ज्ञानसहित होते हुए उस **एकं क्रतुम्**=अद्वितीय सृष्टिकर्ता को **साधु**=सम्यक् **अभिवियन्ति**=प्राप्त होते हैं। ये सब कर्मों को करते हुए प्रभु का स्मरण करते हैं और प्रभु को पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के व्यक्ति मनन व ज्ञान को अपनाते हुए अन्तःस्थित ध्रुवज्योति रूप प्रभु को देखने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रियों, बुद्धि व मन की अस्थिरता का परिणाम

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वी३दं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूरआधीः किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥ ६ ॥

(१) **मे**=मेरे **कर्णा**=कान **विपतयतः**=विविध शब्दों को सुनने के लिये इधर-उधर गतिवाले होते हैं। **चक्षुः वि**=मेरी आँख विविधरूपों को देखने के लिये इधर-उधर जाती है। **यत्**=जो **हृदये**=हृदय में **आहितम्**=स्थापित **इदम्**=यह **ज्योतिः**=प्रकाश है, बुद्धि रूप विवेक का साधन है, वह भी **वि**=संसार के इन आकर्षक व पेचीदे विषयों के चिन्तन में गयी रहती है। **दूरे आधीः**=दूर-दूर के विषयों में चारों ओर ध्यानवाला **मे मनः**=मेरा मन **विचरति**=खूब ही भटकता है। (२) ऐसी स्थिति में **किं स्विद् वक्ष्यामि**=उस प्रभु के स्तुति-वचनों का क्या उच्चारण करूँगा? **उ**=और **नु**=अब **किं मनिष्ये**=क्या उस प्रभु का मनन व चिन्तन करूँगा? इन्द्रियों, बुद्धि व मन की अस्थिरता में प्रभु के स्तवन व मनन का सम्भव नहीं।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम इन्द्रियों, बुद्धि व मन को स्थिर करके प्रतिदिन प्रभु का स्तवन व मनन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-स्मरण व अघनाश

विश्वे॑ दे॒वा अ॑नमस्यन्भिया॒नास्त्वाम॑ग्ने॒ तम॑सि त॒स्थिवांस॑म्।
वै॒श्वा॒नरो॑ऽवतू॒तये॒ नोऽम॑र्त्यो॒ऽवतू॒तये॑ नः ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'इन्द्रयों, बुद्धि व मन' के भटकने से **तमसि तस्थिवांसम्**=हमारे लिये अन्धकार में स्थित, हमारे से एकदम अज्ञात, हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको **विश्वे देवाः**=सब देववृत्ति के पुरुष **भियानाः**=पापों के दण्ड से भयभीत होते हुए **अनमस्यन्**=नमस्कार करते हैं। अदृश्य भी आपके प्रति झुकते हैं। (२) उन देववृत्ति के पुरुषों की यही आराधना होती है कि **वैश्वानरः**=वह सबका हितकारी प्रभु **ऊतये**=रक्षा के लिए, पाप प्रवृत्तियों से हमें बचाने के लिये, **अवतु**=रक्षित करे। प्रभु का स्मरण ही हमें अशुभ से बचाता है।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष प्रभु-स्मरण करते हुए पाप करने से भयभीत होते हैं। प्रभु-स्मरण उन्हें शुभ मार्ग पर चलानेवाला होता है।

अगले सूक्त में 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' अग्नि नाम से प्रभु का स्मरण करते हैं—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण व यज्ञमय जीवन

पु॒रो वो॑ म॒न्द्रं दि॒व्यं सु॑वृ॒क्तिं प्र॑य॒ति य॒ज्ञे अ॒ग्निम॑ध्व॒रे द॑धिध्वम्।
पु॒र उ॒क्थेभि॒ः स हि नो॑ वि॒भावा॑ स्वध्व॒रा क॑रति जा॒तवे॑दाः ॥ १ ॥

(१) **मन्द्रम्**=उस आनन्दस्वरूप **दिव्यम्**=प्रकाशमय **सुवृक्तिम्**=सम्यक् पापों के वर्जनवाले **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **प्र-यति**=प्रकर्षेण चलते हुए **अध्वरे**=राक्षसीभावों से **अहिंस्य यज्ञ**=जीवनयज्ञ में **वः पुरः**=तुम्हारे सामने **दधिध्वम्**=धारण करो। **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **पुरः**=अपने सामने धारण करो। सदा प्रभु को सामने रखने पर पाप प्रवृत्ति नहीं जगती। (२) **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **नः विभावा**=हमारे लिये विशिष्ट दीप्ति को देनेवाले हैं। वे **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु, स्मरण किये जाने पर, हमें **स्वध्वरा करति**=उत्तम हिंसारहित कर्मोंवाला बनाते हैं। हम प्रभु को याद करते हैं और यह याद हमें पापों से बचाती है।

भावार्थ—प्रभु का सतत स्मरण हमें पापों से बचाकर यज्ञमय जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युमः! पुर्वणीक!

तमु॑ द्युमः पुर्वणीक होत॒रग्ने॑ अ॒ग्निभि॒र्मनु॑ष इधा॒नः।
स्तोमं॒ यम॑स्मै म॒मते॑व शू॒षं घृ॒तं न शुचि॑ म॒तय॑ः पवन्ते ॥ २ ॥

(१) हे **द्युमः**=दीप्तिमान्, ज्ञान की ज्योतिवाले! **पुर्वणीक**=पालक व पूरक प्राणशक्तिवाले (अन प्राणने)! **होतः**=सब कुछ देनेवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **अग्निभिः**=माता, पिता व आचार्य रूप अग्नियों के द्वारा **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **तं उ स्तोमम्**=उस ही स्तवन को **इधानः**=दीप्त करनेवाले होइये **यम्**=जिसको **अस्मै**=इस प्रभु के लिये **मतयः**=विचारशील व्यक्ति **पवन्ते**=प्राप्त कराते हैं। प्रभु कृपा से हमें ऐसे उत्तम माता, पिता व आचार्य प्राप्त हों, जो हमारे जीवन

में प्रभु-स्तवन की प्रवृत्ति को उत्पन्न करनेवाले हो। (२) उस स्तुति समूह को ये माता, पिता व आचार्य हमारे अन्दर पैदा करें जो **ममता इव शूषम्**=ममता की तरह, अपनेपन की तरह सुख को करनेवाला है। जैसे एक माता एक पुत्र में ममता को करती हुई उस पुत्र के लिये कष्टों को उठाती हुई भी आनन्द का अनुभव करती है, इसी प्रकार ये स्तोत्र हमें आनन्दित करनेवाले हैं। (३) उस स्तोम को ये हमें प्राप्त कराएँ जो **घृतं न शुचि**=घृत के समान पवित्रता को करनेवाला है। घृत शरीर के मलों को दूर करता है, यह स्तोम हमारे मानस को विनष्ट करे। इस पवित्रता को होने पर हमारे जीवनों में 'ज्ञान व बल' का स्थापन होता है।

भावार्थ—हम माता, पिता व आचार्यों के द्वारा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें। इससे हम ज्ञान व बल-सम्पन्न बन पायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्तवन व प्रशस्त जीवन

पीपाय स श्रवसा मर्त्येषु यो अग्नये ददाश विप्र उक्थैः।
चित्राभिस्तमूतिभिश्चित्रशोचिर्व्रजस्य साता गोमतो दधाति॥ ३॥

(१) **यः विप्रः**=जो ज्ञानी पुरुष **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **अग्नये ददाश**=उस अग्रेणी प्रभु के लिये अपना अर्पण करता है, **सः**=वह **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **श्रवसा**=यश के द्वारा **पीपाय**=बढ़ता है। स्तोता का जीवन प्रभु अर्पण के द्वारा बड़ा यशस्वी बन जाता है। (२) वह **चित्रशोचिः**=अद्भुत ज्ञानदीप्तिवाले प्रभु **चित्राभिः ऊतिभिः**=अद्भुत रक्षणों के द्वारा **तम्**=उसको **गोमतः व्रजस्य**=प्रशस्त इन्द्रियों के समूह की **साता**=प्राप्ति में **दधाति**=धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु इस स्तोता को ज्ञान देकर इसकी इन्द्रियों को पवित्र कर देते हैं। निर्मलेन्द्रिय बनकर यह और अधिक प्रभु के समीप होने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से जीवन प्रशस्त इन्द्रियोंवाला व यशस्वी बनता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'कृष्णाध्वा' प्रभु

आ यः पप्रौ जायमान उर्वी दूरेदृशा भासा कृष्णाध्वा।
अध बहु चित्तम ऊर्म्यायास्तिरः शोचिषा ददृशे पावकः॥ ४॥

(१) **यः**=जो प्रभु **जायमानः**=इस सृष्टि को उत्पन्न करते हुए (तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय) इन **उर्वी**=विशाल द्यावापृथिवी को **दूरेदृशा**=सुदूर प्रदेश तक दृश्यमान **भासा**=ज्योति से **आपप्रौ**=आपूरित करते हैं। वे प्रभु **कृष्णाध्वा**=कृष्ण मार्गवाले हैं। अर्थात् प्रभु प्राप्ति का मार्ग सामान्यतः लोगों के ज्ञान का विषय नहीं बनता। यही बात ९.७ में 'तमसि तस्थिवांसम्' शब्दों से कही गई है। वे प्रभु जो दिखते नहीं, वे सारे संसार को प्रकाश से भर देते हैं। (२) **अध**=अब वे **पावकः**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा पवित्र करनेवाले प्रभु **ऊर्म्यायाः**=अज्ञान रात्रि के **बहुचित्तमः**=बहुत घने भी अन्धकार को **शोचिषा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **तिरः**=तिरस्कृत करते हुए **ददृशे**=दिखते हैं। हम प्रभु की उपासना करते हैं, प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु द्यावापृथिवी को प्रकाश से भर देते हैं, स्वयं सामान्य लोगों के लिये अन्धकार में हैं। इन सूर्य आदि से प्रभु भासित नहीं होते। स्वयं न दिखते हुए हमें सब पदार्थों को दिखाते हैं। ये ज्ञानदीप्ति से अज्ञान के अन्धकार को दूर करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राधस्-श्रवस् व सुवीर्य

नू न॑श्चि॒त्रं पु॑रु॒वाजा॑भिरू॒ती अग्ने॑ र॒यिं म॒घव॑द्भ्य॒श्च धेहि।
ये राध॑सा॒ श्रव॑सा॒ चात्य॒न्यात्सु॒वीर्ये॑भिश्चा॒भि सन्ति॒ जना॑न्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **नु**=अब **नः**=हम **मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों के लिये **पुरुवाजाभिः**=पालक व पूरक अन्नोंवाले **ऊती**=(ऊतिभिः) रक्षणों से **चित्रं रयिम्**=अद्भुत धन को अथवा (चित्र) ज्ञान को देनेवाले धन को **धेहि**=धारण करिये। हमें आप पालक व पूरक अन्न प्राप्त कराइये तथा उस धन को प्राप्त कराइये जो हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला हो। (२) **च**=और हमारे लिये आप उन सन्तानों को प्राप्त कराइये **ये**=जो **राधसा**=कार्यसाधक धनों से **च**=तथा **श्रवसा**=यश व ज्ञान से **च**=और **सुवीर्येभिः**=उत्तम शक्तियों से **अन्यान् जनान्**=अन्य जनों को **अभिसन्ति**=अभिभूत करनेवाले हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों को प्रभु कृपा करके (क) पालक व पूरक अन्नों के द्वारा रक्षित करते हैं, (ख) ज्ञानवर्धक धन को प्राप्त कराते हैं, (ग) ऐश्वर्य व यशवाला बनाते हैं, (घ) तथा उत्तम शक्ति-सम्पन्न सन्तानों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व निष्पापता

इ॒मं य॒ज्ञं चनो॑ धा अग्न उ॒शन्यं॑ त आ॑सा॒नो जु॑हु॒ते ह॒विष्मा॑न्।
भ॒रद्वा॑जेषु दधिषे सुवृ॒क्तिमवी॒र्वाज॑स्य॒ गध्य॑स्य॒ सा॒तौ॥ ६॥

(१) हे **उशन्**=हमारे हित की कामना करते हुए **अग्ने**=प्रभो! आप **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को तथा **चनः**=अन्न को **धाः**=धारण करिये, **यम्**=जिस यज्ञ को **ते आसानः**=आपकी उपासना में आसीन हुआ-हुआ **हविष्मान्**=हविवाला, यज्ञों में आहुति देनेवाला अथवा सदा दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाला (हु दानादनयोः) **जुहुते**=करता है। आप हमें यज्ञशील व यज्ञशिष्ट अन्न का सेवन करनेवाला बनाइये। (२) हे प्रभो! आप **भरद्वाजेषु**=अपने में यज्ञशिष्ट अन्नों के सेवन के द्वारा शक्ति का भरण करनेवाले पुरुषों में **सुवृक्ति**=अच्छी प्रकार पापवर्जन को **दधिषे**=धारण करते हैं और **गध्यस्य**=ग्रहणीय, अपने साथ मिलाने योग्य (गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा) **वाजस्य**=शक्ति व अन्न की **सातौ**=प्राप्ति में **अवीः**=आप हमारा रक्षण करिये। आपके रक्षण से रक्षित हुए-हुए हम उत्तम अन्नों व शक्तियों को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना में आसीन होकर हम जिन यज्ञों को करते हैं प्रभु ही उनका धारण करते हैं। शक्ति-सम्पन्न बनाकर प्रभु हमें निष्पाप बनाते हैं। उत्तम अन्नों व शक्तियों की प्राप्ति में प्रभु हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—प्राजापत्याबृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

'द्वेष शून्य-ज्ञान-प्रधान' जीवन

वि द्वेषां॑सीनुहि व॒र्धये॒ळां मदे॑म श॒तहि॑माः सु॒वीराः॑॥ ७॥

(१) हे प्रभो! आप **द्वेषांसि वि इनुहि**=द्वेष की भावनाओं को हमारे से विदूर प्रेरित करिये। हमारे जीवनों को आप द्वेषशून्य बनाइये। इस द्वेषशून्यता की प्राप्ति के लिये **इडाम्**=इस वेदवाणी

को **वर्धय**=बढ़ाइये। जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ेगा, उतना-उतना हम द्वेष से ऊपर उठ सकेंगे। (२) इस प्रकार द्वेष से दूर होते हुए, ज्ञान प्रधान जीवन बिताते हुए हम **शतहिमाः**=शतवर्ष के दीर्घ-जीवनवाले होते हुए **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें तथा **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले हों।

भावार्थ—हम द्वेषशून्य ज्ञान-प्रधान होते हुए दीर्घ-जीवन को प्राप्त करें और वीर सन्तानोंवाले हों।

अगले सूक्त में 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' ही अग्नि नाम से प्रभु का स्मरण करते हैं—

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'यज्ञ-साधक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले' प्रभु

यजस्व होतरिषितो यजीयानग्ने बाधो मरुतां न प्रयुक्ति।
आ नो मित्रावरुणा नासत्या द्यावा होत्राय पृथिवी ववृत्याः ॥ १ ॥

(१) हे **होतः**=(हु दाने) सब जीवन-यज्ञ के साधक पदार्थों को देनेवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **यजीयान्**=अतिशयेन पूज्य हैं। **इषितः**=हमारे से प्रार्थना किये गये आप (प्रेरितः-प्रार्थितः सा०) **न**=(संप्रति) अब **प्रयुक्ति**=इस प्रयुज्यमान जीवन-यज्ञ में **मरुतां बाधः**=प्राणों के शत्रुबाधक गण को **यजस्व**=हमारे साथ संगत करिये। इस प्राणों के गण से ही हम सब अन्तःशत्रुओं पर विजय पा सकेंगे। 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'। (२) **नः होत्राय**=हमारे इस जीवनयज्ञ के लिये **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को, **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानों को तथा **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवी को **आववृत्याः**=(आवर्तय= आवह) प्राप्त कराइये। ये सब देव हमारे जीवन-यज्ञ को उत्तमता से सिद्ध करें।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमें 'स्नेह-निर्द्वेषता-प्राणापान की शक्ति, स्वस्थ मस्तिष्क व शरीर' प्राप्त कराके हमारे जीवन-यज्ञ को सम्यक् सिद्ध करेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञ-ज्ञान-शक्ति विस्तार

त्वं होता मन्द्रतमो नो अध्रुगन्तर्देवो विदथा मर्त्येषु।
पावकया जुह्वा३ वह्निरासाग्ने यजस्व तन्वं१ तव स्वाम् ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **होता**=सब पदार्थों को देनेवाले हैं, **मन्द्रतमः**=अतिशयेन आनन्दमय हैं, **नः अध्रुक्**=कभी भी हमारा द्रोह न करनेवाले मित्र हैं। आप **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **विदथा**=ज्ञानयज्ञों के निमित्त **अन्तर्देवः**=अन्दर रहनेवाले देव हैं। हृदयों में स्थित हुए-हुए आप हमें ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्रभो! आप **पावकया**=पवित्र करनेवाली **जुह्वा**=यज्ञाग्नि की ज्वाला से (जुहूः=flame, tongue of the fire) तथा **आसा**=मुख द्वारा दिये जानेवाले ज्ञानोपदेश से **वह्निः**=लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं (वह प्रापणे)। आप **तव**=आपके **स्वां तन्वम्**=अपने शक्ति विस्तार को (तनु विस्तारे) **यजस्व**=हमारे साथ संगत करिये। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही तो हम जीवन-यात्रा को पूर्ण करके लक्ष्य-स्थान पर पहुँच सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु ही सब पदार्थों व ज्ञानों के दाता हैं। प्रभु यज्ञों, ज्ञानों व शक्ति विस्तार के द्वारा हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन्या धिषणा!

धन्या चिद्धि त्वे धिषणा वष्टि प्र देवाञ्जन्म गृणते यजध्यै।
वेपिष्ठो अङ्गिरसां यद्ध विप्रो मधु च्छन्दो भनति रेभ इष्टौ॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **त्वे धिषणा**=आप में निविष्ट होनेवाली बुद्धि **चित् हि**=निश्चय से **धन्या**=धन्य है (मयि बुद्धिं निवेशय)। यह बुद्धि **देवान् प्रवष्टि**=दिव्यगुणों की प्रकर्षेण कामना करती है। **गृणते**=स्तोता के लिये **जन्म यजध्यै**=शक्ति के प्रादुर्भाव (जनी प्रादुर्भावे) के संगतिकरण के लिये चाहती है। प्रभु की ओर झुकाववाली बुद्धि दिव्यगुणों व शक्ति विकास के सम्पर्क की कामना करती है। प्रभु में निविष्ट बुद्धिवाले बनकर हम दिव्यगुणों की कामना करते हैं तथा शक्ति विकास को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले होते हैं। (२) इन **अंगिरसाम्**=(अगि गतौ) क्रियाशील पुरुषों में **यद् ह**=जब निश्चय से **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला ज्ञानी पुरुष **वेपिष्ठः**=शत्रुओं को अधिक से अधिक कम्पित करनेवाला होता है, तो यह **रेभः**=स्तोता **इष्टौ**=(यज्+क्तिन्) प्रभु के साथ मेल के निमित्त **मधु छन्दः**=अत्यन्त मधुर छन्दों का **भनति**=उच्चारण करता है। यह स्तवन की वस्तुतः उसे दिव्यगुणयुक्त बनाता है, उसकी शक्तियों का विकास करता है और उसे शत्रुओं को कम्पित कर दूर करने में समर्थ करता है।

भावार्थ—प्रभु की ओर झुकाववाली बुद्धि ही धन्य है। यह दिव्यगुणों व शक्तियों के विकास की कामनावाली होती है, यह प्रभु-स्तवन द्वारा ही हमें शत्रुओं को कम्पित कर दूर करने में समर्थ करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सु अपाकः-विभावा

अदिद्युतत्स्वपाको विभावाग्ने यजस्व रोदसी उरूची।
आयुं न यं नमसा रातहव्या अञ्जन्ति सुप्रयसं पञ्च जनाः॥ ४॥

(१) वह **सु अपाकः**=(अपक्वव्यप्रज्ञः-अमूर्खः) मूर्खताओं से शून्य, किसी अन्य से न ज्ञान दिया जानेवाला, स्वाभाविक ज्ञानवाला प्रभु **विभावा**=विशिष्ट ही दीप्तिवाला है। यह **अदिद्युतत्**=हम सब के हृदयों को द्योतित करते हैं। हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप **उरूची रोदसी**=इन विशाल द्यावापृथिवी को **यजस्व**=हमारे साथ संगत करिये। आपकी कृपा से हमारे मस्तिष्क व शरीर रूप द्यावापृथिवी विशालता को लिये हुए हों, मस्तिष्क विस्तृत ज्ञान का व्यापन करे (उरु अञ्च्) तथा शरीर शक्तियों की व्याप्तियोंवाला हो। (२) आप वे हैं **यम्**=जिन **सुप्रयसम्**=उत्तम हविरूप अन्नों को देनेवाले आपको **आयुं न**=(एति इति) अतिथि के समान **रातहव्याः**=हव्यों को देनेवाले यज्ञशील **पञ्चजनाः**=पञ्च-यज्ञों से युक्त **जन नमसा अञ्जन्तिः**=नमन के साथ प्राप्त होते हैं। यज्ञशील पुरुष ही आपको प्राप्त कर पाते हैं। वे आपको अपना महान् अतिथि समझते हैं। आपका पूजन ही उनका अतिथि यज्ञ होता है।

भावार्थ—वे प्रभु दीप्तिमय हैं। उपासक को भी दीप्त करते हैं। हम यज्ञशील बनकर नमन के साथ उन प्रभु का आतिथ्य करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पवित्रता-ज्ञान-ध्यान व यज्ञशीलता

वृ॒ञ्जे ह॒ यन्नम॑सा ब॒र्हिर॒ग्नावया॑मि॒ स्रुग्घृ॒तव॑ती सुवृ॒क्तिः।
अम्य॑क्षि॒ सद्म॒ सद॑ने पृथि॒व्या अश्रा॑यि य॒ज्ञः सूर्ये॒ न चक्षुः॑॥ ५॥

(१) **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **अग्नौ**=उस प्रकाशमय प्रभु की उपासना में **नमसा**=नमन के द्वारा **बर्हिः वृञ्जे**=हृदय-स्थली में उग आनेवाली वासनारूप घास-फूस का छेदन करता हूँ तभी मेरे से **घृतवती**=ज्ञान की दीप्तिवाली **सुवृक्तिः**=शोभनतया पापवर्जनवाली **स्रुग्**=यह वेदवाणी **अयामि**=(नियम्यते आसाद्यते) प्राप्त की जाती है। (२) इस वेदज्ञान को प्राप्त करके **पृथिव्याः सदने**=इस पार्थिव शरीररूप गृह में स्थित होने पर **सद्म**=यज्ञगृह **अम्यक्षि**=(गम्यते म्यक्षतिर्गतिकर्मा) जाया जाता है। और इस प्रकार **यज्ञः अश्रायि**=यज्ञ का सेवन किया जाता है। उसी प्रकार **न**=जैसे कि **सूर्ये**=सूर्य की उपासना में **चक्षुः**=दृष्टि शक्ति का, अर्थात् मैं सूर्याभिमुख सन्ध्या करता हुआ दृष्ठि शक्ति को प्राप्त करता हूँ तथा यज्ञगृह में यज्ञों द्वारा प्रभु का पूजन करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना में (क) हृदय पवित्र होता है, (ख) पवित्र हृदय में वेदवाणी का प्रकाश होता है, (ग) उस समय हम सूर्याभिमुख सन्ध्या की वृत्तिवाले व यज्ञशील बनते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पुर्वणीक होता

द॒श॒स्या नः॑ पु॒र्वणीक होतर्दे॒वेभि॑रग्ने अ॒ग्निभि॑रिधा॒नः।
रा॒यः सू॑नो सहसो वावसा॒ना अति॑ स्रसेम वृ॒जनं॒ नांहः॑॥ ६॥

(१) हे **पुर्वणीक**=(पुरु अनीक=brilliance) अनन्त दीप्तिवाले! **होतः**=सब कुछ देनेवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **देवेभिः**=देववृत्ति के **अग्निभिः**=उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले पुरुषों से **इधानः**=हृदय देश में दीप्त किये जाते हुए आप **नः**=हमारे लिये **रायः**=धनों को **दशस्य**=दीजिए। जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धनों को प्राप्त करते हुए हम उन्नतिपथ पर निरन्तर आगे बढ़ें। (२) हे **सहसः सूनो**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! आपको **वावसानाः**=कवच के रूप में धारण करते हुये हम **वृजनं न**=वर्जनीय शत्रु की तरह **अंहः**=पाप को **अतिस्रसेम**=उल्लंघन कर पाएँ। पापों से पार होते हुए पवित्र जीवनवाले बनकर हम आपको प्राप्त हों।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें। जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धनों को प्राप्त करें तथा प्रभु रूप कवच को धारण करते हुए पापों से आक्रान्त न हों।

अगले सूक्त में भी पूर्व सूक्त के ही ऋषि देवता हैं। 'भरद्वाज' अग्नि का उपासन करते हुए कहते हैं—

[१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राट्-ऋतावा

मध्ये॒ होता॑ दुरो॒णे ब॒र्हिषो॒ राळ॒ग्निस्तो॒दस्य॒ रोद॑सी॒ यज॑ध्यै।
अ॒यं स सू॒नुः सह॑स ऋ॒तावा॑ दू॒रात्सूर्यो॒ न शो॒चिषा॑ ततान॥ १॥

(१) वह **होता**=सर्वप्रदाता **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तोदस्य**=शत्रुओं का संहार करनेवाले यज्ञशील

पुरुष के **दुरोणे**=गृह में **बर्हिषः मध्ये**=वासना शून्य हृदय के मध्य में **राट्**=(राजते) प्रकाशित होते हैं और **रोदसी यजध्यै**=द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का उसके साथ संगतिकरण करते हैं। हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से दीप्त और शरीर शक्ति सम्पन्न बनता है। (२) **अयम्**=ये **सः**=वे प्रभु **सहसः सूनुः**=बल पुञ्ज हैं। **ऋतावा**=हमारे जीवनों में ऋत का रक्षण करनेवाले हैं अथवा ऋतवाले हैं, प्रत्येक पिण्ड को ऋत के अनुसार गतिमय कर रहे हैं। वे प्रभु **सूर्यः न**=सूर्य के समान **दूरात्**=सुदूर प्रदेश तक **शोचिषा ततान**=दीप्ति से सारे ब्रह्माण्ड को विस्तृत करते हैं। अनन्त प्रकाशवाले वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को दीप्त करते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर पवित्र हृदय बनें। उस हृदय में प्रभु चमकेंगे। हमारे मस्तिष्क को दीप्त व शरीर को सशक्त बनायेंगे। ये प्रभु अपनी दीप्ति से सारे ब्रह्माण्ड को दीप्त कर रहे हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिषधस्थ प्रभु

आ यस्मिन्त्वे स्वपाके यजत्र यक्षद्राजन्त्सर्वतातेव नु द्यौः।
त्रिषधस्थस्ततरुषो न जंहो हव्या मघानि मानुषा यजध्यै॥ २॥

(१) हे **यजत्र**=पूजनीय **राजन्**=देदीप्यमान प्रभो! **यस्मिन्**=जिन **सु अपाके**=(अपक्तव्यप्रज्ञ) पूर्ण प्रज्ञ **त्वे**=आप में **नु**=अब **सर्वताता इव**=सर्वत्र विस्तृत-सा **द्यौः**=यह आकाश **यक्षत्**=संगत होता है, अर्थात् आप आकाश की तरह व्यापक हैं, 'खं ब्रह्म' हैं। वस्तुतः आप ही आकाश हैं, आप ही तो सर्वाधार हैं। (२) वे आप **त्रिषधस्थः**='पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' इन तीनों स्थानों में सहस्थित हैं। **ततरुषः न**=इस आकाश को तीर्ण करनेवाले सूर्य के समान, आप **मानुषा**=मानव हितकारी **हव्या**=पुकारने योग्य, प्रार्थनीय अथवा **हव्य**=यज्ञिय पवित्र **मघानि**=ऐश्वर्यों को **यजध्यै**=हमारे साथ संगत करने के लिये, **जंहः**=वेगवान् होइये। आप शीघ्रता से इन हव्य पदार्थों को हमें प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हे प्रभो! आकाशवत् सर्वव्यापक हैं, तीनों लोकों में सहस्थित हैं। आप हमें शीघ्रता से हव्य पदार्थों को प्राप्त कराने के लिये होइये। इन पदार्थों को साधन बनाकर हम 'मस्तिष्क, मन व शरीर' तीनों लोकों की समानरूप से उन्नति करते हुए 'त्रिषधस्थ' बने।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासक में प्रभु की दीप्ति

तेजिष्ठा यस्यारतिर्वनेराट् तोदो अध्वन्न वृधसानो अद्यौत्।
अद्रोघो न द्रविता चेतति त्मन्नमर्त्योऽवर्त्र ओषधीषु॥ ३॥

(१) **यस्य**=जिसकी **तेजिष्ठा**=अत्यन्त तेजस्विनी **अरतिः**=(ऋ गतौ) गति **वने**=सम्भजनशील पुरुष में **राट्**=दीप्त होती है, उपासक में उपास्य प्रभु का तेज प्रकाशित होता है। वे **वृधसानः**=सदा वर्धमान प्रभु (वर्धमानं स्वे दमे) **अध्वन्**=मार्ग में **तोदः**=सब को कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्य की **न**=तरह **अद्यौत्**=दीप्त होते हैं। जब हम उपासक बनते हैं तो अन्तःस्थित प्रभु हमें जीवन का मार्ग इस प्रकार दिखाते हैं जैसे कि सूर्य प्रकाश को देता है। (२) **अद्रोघः न**=किसी से द्रोह न करनेवाले के समान **द्रविता**=वे प्रभु गति करते हैं। **त्मन्**=हृदयाकाश में अपने अन्दर ही **चेतति**=वे चेतना को देनेवाले होते हैं। वे प्रभु **ओषधीषु**=दोषों का दहन करनेवाले आचार्यों में **अमर्त्यः**=सब मृत्युओं को दूर करनेवाले तथा **अवर्त्रः**=शत्रुओं से अवारणीय होते हैं, अर्थात्

('आत्तर्थो मृत्युः वरुणः सोम ओषधयः पयः' अथर्व०) निर्दोष जीवनवाले इन आचार्यों को प्रभु रोगों से अनाक्रान्त तथा काम-क्रोध आदि द्वारा धर्मपथ से न वरण करने योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—हम उपासक बनें, प्रभु का तेज हमारे में प्रकट होगा। वे अन्तःस्थित प्रभु हमें धर्म की चेतना देंगे। हमें मृत्यु व पाप से बचायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

जारयायि यज्ञैः

सास्माकेभिरेतरी न शूषैरग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः।
द्रवन्नो वन्वन् क्रत्वा नार्वोस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः॥ ४॥

(१) **सः**=वह **एतरी न**=निरन्तर गतिशील के समान **जातवेदाः**=सर्वज्ञ **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **दमे**=इस शरीर रूप गृह में **अस्माकेभिः**=हमारे **शूषैः**=सुखकर स्तोत्रों से **आस्तवे**=स्तुति किया जाता है। इस शरीर गृह में निवास करते हुए हम उस प्रभु का स्तवन करते हैं जो निरन्तर हमारे हित के लिये क्रियाशील हैं, सर्वज्ञ हैं, अग्रेणी हैं। प्रभु के ये स्तवन रूपों के जीवन को पवित्र बनाकर उसके लिये सुख के जनक होते हैं। (२) वे प्रभु **द्रवन्नः**=इन वृक्ष वनस्पतियों को अन्न के रूप में हमें देते हैं। **वन्वन्**=हमारे लिये शत्रुओं का हिंसन करते हैं। (न=च) न=और **क्रत्वा**=अपनी क्रियाओं के द्वारा **अर्वः**=वे सतत गन्ता हैं। **पिता इव**=पिता के समान **उस्रः**=(a ray of light) हम पुत्रों के लिये वे प्रकाश की किरण होते हैं। पिता की तरह हम पुत्रों के लिये मार्गदर्शक होते हैं। ये प्रभु **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा **जारयायि**=स्तुत होते हैं। प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम यज्ञों में लगे रहें।

भावार्थ—उस प्रभु का ही हमें उत्तम कर्मों द्वारा स्तवन करना चाहिए। वे प्रभु ही हमारे लिये मार्गदर्शन होते हैं व हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तायुः न ऋणः

अध स्मास्य पनयन्ति भासो वृथा यत्तक्षदनुयाति पृथ्वीम्।
सद्यो यः स्पन्द्रो विषितो धवीयानृणो न तायुरति धन्वा राट्॥ ५॥

(१) **अध**=अब **यत्**=जो **वृथा**=अनायास ही **पृथ्वीम्**=पृथ्वी को **अनुतक्षत्**=अनुक्रम से बनाता हुआ **याति**=यह प्रभु गति करता है, तो **अस्य**=इस प्रभु की **भासः**=दीप्तियों को **पनयन्ति**=स्तोता लोग स्तुत करते हैं। पृथ्वी की रचना में पूर्णता व सुन्दरता को देखते हुए उस प्रभु की ज्ञानदीप्तियों का ये स्तोता स्तवन करने लगते हैं। वे एक-एक पदार्थ की रचना में उस रचयिता के ज्ञान का महत्त्व देखते हैं। (२) **सद्यः**=शीघ्र ही **यः**=जो **स्पन्द्रः**=गतिवाले हैं, **विषितः**=सब बन्धनों से मुक्त हैं, **धवीयान्**=अत्यन्त शुद्ध हैं। वे प्रभु **तायुः न**=गुप्तरूप से **ऋणः**=हमारे हृदयों में ही गतिवाले हैं। हमें पता भी नहीं लगता और वे प्रभु हमारे हृदयों में स्थित होकर हमारे प्रत्येक भाव व विचार को जान रहे होते हैं। वे प्रभु ही **धन्वा**=इस हृदयान्तरिक्ष में **अतिराट्**=अतिशयेन देदीप्यमान हो रहे हैं। (धन्व=अन्तरिक्ष=हृदयान्तरिक्ष, धन्वत्त्यस्मदापः)।

भावार्थ—प्रभु अनायास इस पृथ्वी का निर्माण करते हैं। यहाँ स्तोता उस प्रभु की ज्ञानदीप्तियों का स्तवन करते हैं। वे प्रभु निरन्तर गतिशील हैं, गुप्तरूप से हमारे हृदय देश में छिपे बैठे हैं और हमारे सब भावों व विचारों को जान रहे हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वेषि रायः, विभासि दुच्छुनाः

स त्वं नो अर्वन्निदाया विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिधानः।
वेषि रायो वि यासि दुच्छुना मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ ६॥

(१) हे **अर्वन्**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमें **निदायाः**=सब निन्दाओं व निन्दनीय कर्मों से **वेषि**=(अवगमयसि) दूर करते हैं। इसीलिए हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **विश्वेतिः अग्निभिः**=सब उन्नतिपथ पर चलनेवाले पुरुषों से **इधानः**= हृदयदेश में दीप्त किये जाते हैं। (२) आप **रायः वेषि**=सब धनों को प्राप्त कराते हैं। **दुच्छुताः**= दुःखदायिनी वासनारूप शत्रु सेनाओं पर **वियासि**=विशिष्ट रूप से आक्रमण करते हैं। हे प्रभो! इस प्रकार ऐश्वर्यों को प्राप्त करके, वासनारूप शत्रुओं का नाश करके हम **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **शतहिमाः**=शत वर्षपर्यन्त **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु हमें निन्दनीय कर्मों से बचाते हैं। हम वासनाओं से ऊपर उठकर तथा ऐश्वर्यों को प्राप्त करके, सुवीर व सानन्द जीवनवाले हों।

अगले सूक्त में भी अग्नि का ही आराधन करते हैं कि—

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सौभाग्य स्रोत' प्रभु

त्वद्विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वयाः।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम्॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! हे **सुभग**=उत्तम भगों (ऐश्वर्यों) के पुञ्ज प्रभो! **विश्वा सौभगानि**=सब उत्तम ऐश्वर्य **त्वत्**=आप से ही **वियन्ति**=विविध रूपों में प्राप्त होते हैं। सब सौभाग्य आप से इस प्रकार प्रादुर्भूत होते हैं **न**=जैसे कि **वनिनः**=वृक्ष से **वयाः**=शाखाएँ। (२) **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **रयिः**=सब धन आप से प्राप्त होता है। **वृत्रतूर्ये**=वासना रूप शत्रु के संहार के निमित्त **वाजः**=शक्ति आप से प्राप्त होती है। **ईड्यः**=स्तुति के योग्य यह **दिवः वृष्टिः**=द्युलोक से होनेवाली वृष्टि आप से ही प्राप्त होती है। धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वृष्टि को भी आप ही प्राप्त कराते हैं। **अपाम्**=इन रेतःकणों का (आपः रेतो भूत्वा) **रीतिः**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में गमन यह आप से प्राप्त कराया जाता है। यह सोमकणों का शरीर में प्रवाह ही सब सौभाग्यों का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु ही 'सब सौभाग्यों, धनों, बलों, आनन्दों व शक्तियों के' स्रोत हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दस्मवर्चाः' प्रभु

त्वं भगो न आ हि रत्नमिषे परिज्मेव क्षयसि दस्मवर्चाः।
अग्ने मित्रो न बृहत ऋतस्यासि क्षत्ता वामस्य देव भूरेः॥ २॥

(१) हे प्रभो! **त्वं भगः**=आप ऐश्वर्य के पुञ्ज हैं। **नः**=हमारे लिये **हि**=निश्चय से **रत्नम्**=रमणीय धन को **आ इषे**=(आगमय) प्राप्त कराइये। वे **दस्मवर्चाः**=दर्शनीय दीप्तिवाले

प्रभो! **परिज्मा इव**=परितः गन्ता वायु की तरह तू **क्षयसि**=ऐश्वर्यवाला है, वास्तविक जीवन को देनेवाला है। (२) **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **मित्रः न**=प्रमीति से, मृत्यु से बचानेवाले की तरह तू **बृहतः ऋतस्य**=महान् ऋत का **क्षत्ता असि**=हमारे लिये देनेवाला है, हमारे जीवन को तू ऋतमय बनानेवाला है। हे **देव**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! **वामस्य**=सुन्दर **भूरेः**=भरण-पोषण के साधनभूत धन के आप देनेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें रमणीय धनों को प्राप्त कराइये, हमारा जीवन आपकी कृपा से महान् ऋत का धारण करनेवाला हो, हमारे जीवन की सब क्रियाएँ ठीक समय व ठीक स्थान पर हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शवसा हन्ति वृत्रम्

स सत्पतिः शवसा हन्ति वृत्रमग्ने विप्रो वि पणेर्भर्ति वाजम्।
यं त्वं प्रचेत ऋतजात राया सजोषा नप्त्रापां हिनोषि॥ ३॥

(१) **सः**=वे प्रभु **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक हैं। **शवसा**=शक्ति के द्वारा **वृत्रं हन्ति**=ज्ञान की आवरणभूत वासनारूप शत्रु को नष्ट करते हैं। हे **अग्ने**=प्रभो! **विप्रः**=विशेष रूप से अपना पूरण करनेवाला व्यक्ति **पणेः**=स्तुतिपूर्वक व्यवहार करनेवाले व्यक्ति के **वाजम्**=शक्ति को **विभर्ति**=विशेषरूप से धारण करता है। प्रभु स्मरणपूर्वक सब कार्यों को करता हुआ शक्तिशाली बनता है। (२) हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले! **ऋतजात**=ऋत के द्वारा प्रादुर्भूत होनेवाले प्रभो! **यं त्वं हिनोषि**=जिस भी व्यक्ति को आप प्रेरित करते हैं, अर्थात् जो आपकी प्रेरणा के अनुसार जीवन को बनाता है वह **अपां नप्त्रा**=रेतःकणों को न नष्ट होने देनेवाले **राया**=धन के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होता है, अर्थात् यह धन को प्राप्त करता है, परन्तु उस धन से विलास में फँसकर शक्ति को नष्ट नहीं कर बैठता।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से शक्ति को प्राप्त करके हम वासना को नष्ट कर पाते हैं। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलते हुए उस धन को प्राप्त करते हैं जो हमारे विलास व विनाश का कारण नहीं बनता।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गीर्भिः उक्थैः यज्ञैः

यस्ते सूनो सहसो गीर्भिरुक्थैर्यज्ञैर्मर्तो निशितिं वेद्यानट्।
विश्वं स देव प्रति वारमग्ने धत्ते धान्यं१ पत्यते वसव्यैः॥ ४॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, बल के पुञ्ज (पुतले) प्रभो! **यः**=जो **मर्तः**=मनुष्य **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **उक्थैः**=स्तोत्रों से **वेद्या यज्ञैः**=यज्ञभूमि में यज्ञों के द्वारा **ते**=आपकी प्राप्ति की **निशितिम्**=(excitement agitation) प्रबल कामना को, आतुरता को **आनट्**=प्राप्त करता है। हे **देव**=प्रकाशमय, सर्वप्रद प्रभो! वह **वसव्यैः**=सब वसुओं के साथ **धान्यम्**=जीवन के लिये आवश्यक धान्यों को **पत्यते**=प्राप्त होता है। प्रभु के उपासक को जीवन के लिये आवश्यक धन-धान्य की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति की प्रबल कामना 'ज्ञानवाणियों में स्तोत्रों में व यज्ञों में व्यक्त होती है। यह उपासक सब वरणीय वस्तुओं, वसुओं व धान्यों को प्राप्त करता है।

सूचना—पदपाठ में 'वारं' का सन्धिच्छेद वा अरं है। तब अर्थ होगा पर्याप्त धान्य का धारण करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सौश्रवसा सुवीरा

ता नृभ्य आ सौश्रवसा सुवीराग्ने सूनो सहसः पुष्यसे धाः।
कृणोषि यच्छवसा भूरि पश्वो वयो वृकायारये जसुरये॥ ५॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज, **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **नृभ्यः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों के लिये **ता**=उन **सौश्रवसा**=उत्तम ज्ञानों को तथा **सुवीरा**=उत्तम वीरता की भावनाओं को **पुष्यसे**=ठीक पोषण के लिये **आधाः**=धारण करते हैं। ज्ञानों व वीरताओं के प्राप्त करके ही जीवन का उत्कर्ष सिद्ध होता है। (२) हे प्रभो! **यत्**=जब आप **वृकाय**=टेढ़े-मेढ़े साधनों से आदान की वृत्तिवाले, **अरये**=औरों के शत्रुभूत **जसुरये**=औरों को विनाश करनेवाले के लिये **शवसा**=शक्ति के द्वारा **भूरि**=बहुत **पश्वः वयः**=पशु-सम्बन्धी जीवन को **कृणोषि**=(to kill) नष्ट करते हैं। ये 'वृक अरि व जसुरि' प्रायः पाशविक जीवन ही बिता रहे होते हैं। इनके इस पाशविक जीवन को आप नष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु मानव जीवन बितानेवालों के लिये ज्ञान व वीरता को देकर उनके उत्कृष्ट जीवन का धारण करते हैं। लोभी शत्रु व हिंसक पुरुष के पाशविक जीवन को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अभि पूर्तिम् अश्याम्

वद्मा सूनो सहसो नो विहाया अग्ने तोकं तनयं वाजि नो दाः।
विश्वाभिर्गीर्भिरभि पूर्तिमश्यां मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ ६॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **विहायाः**=आप महान् हैं, आकाश की तरह व्यापक हैं। **नः**=हमारे लिये **वद्मा**=हृदयस्थरूपेण हित के उपदेष्टा होइये। इस ज्ञानोपदेश के द्वारा **नः**=हमारे लिये **वाजि**=शक्तियुक्त धन को **तोकम्**=पुत्र को व **तनयम्**=पौत्र को **दाः**=दीजिये। हमें उत्कृष्ट ज्ञान धन व सन्तान प्राप्त कराइये। (२) हे प्रभो! मैं **विश्वाभिः गीर्भिः**=इन सब ज्ञान की वाणियों के द्वारा **पूर्तिं अभि अश्याम्**=पूर्ति को, न्यूनताओं के दूरीकरण को प्राप्त करूँ। इस प्रकार हम सब अपनी-अपनी कमियों को दूर करते हुए **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले होकर **शतहिमाः मदेम**=शतवर्षपर्यन्त आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु से ज्ञानोपदेश प्राप्त करके हम उत्तम सन्तानों व धनों के प्राप्त करें। ज्ञान की वाणियों के द्वारा हम न्यूनताओं को दूर करें। इस प्रकार आनन्दमय दीर्घजीवनवाले हों।

अग्नि का ही आराधन अगले सूक्त में चलता है—

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

इषं कुरीत अवसे

अग्ना यो मर्त्यो दुवो धियं जुजोष धीतिभिः। भसन्नु ष प्र पूर्व्य इषं वुरीतावसे॥ १॥

(१) **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **अग्नौ**=उस महान् अग्नि 'प्रभु' की प्राप्ति के निमित्त **धीतिभिः**=सोम

(वीर्य) शक्ति के अन्दर ही पान (व्याप्त करने) के साथ **दुवः**=प्रभु की परिचर्या (उपासना) को व **धियम्**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले यज्ञादि उत्तम कर्मों को **जुजोष**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। **सः**=वह **नु**=निश्चय से **प्रभसत्**=खूब ही भासमान होता है। प्रभु का उपासक प्रभु की दीप्ति से दीप्त क्यों न होगा। (२) **पूर्व्यः**=यह पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम होता है। यह **इषम्**=(food, affluance) अन्न व धन का **वुरीत**=वरण करता है, केवल **अवसे**=रक्षण के लिये। यह उतना ही अन्न व धन चाहता है जितना कि रक्षण के लिये पर्याप्त हो। अन्न के स्वाद व धन की आसक्ति से ऊपर उठकर ही तो वह प्रभु को पा सकेगा।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये—(क) सोम का शरीर में रक्षण करते हुए, (ख) उपासना व (ग) बुद्धिपूर्वक कर्मों में लगे रहना आवश्यक है। (घ) यह भी आवश्यक है कि हम अन्न के स्वाद व धन की आसक्ति में न पड़ जाएँ। ऐसा होने पर हम ज्ञान-ज्योति से चमकेंगे और अपने मनों का पूरण करते हुए शरीर का पालन कर पायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'प्रचेता वेधस्तम ऋषि होता'

अ॒ग्निरिद्धि प्रचे॑ता अ॒ग्निर्वे॒धस्त॑म॒ ऋषिः॑। अ॒ग्निं होता॑रमीळते य॒ज्ञेषु॒ मनु॑षो॒ विशः॑ ॥ २ ॥

(१) **अग्निः इत् हि**=वे प्रभु ही निश्चय से **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं, सर्वज्ञ हैं। **अग्निः**=ये अग्रेणी प्रभु ही **वेधस्तमः**=विधातृतम है, सृष्टि के सर्वोत्तम निर्माता हैं। **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा हैं। (२) **मनुषः विशः**=विचारशील प्रजाएँ **होतारं अग्निम्**=उस सृष्टि यज्ञ के महान् होता व सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले प्रभु को **यज्ञेषु**=यज्ञों में **ईडते**=स्तुत करते हैं। यह प्रभु-स्तवन ही उन्हें जीवन के लक्ष्य का ध्यान कराता है कि उन्होंने भी—(क) प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाता है (प्रचेता), (ख) निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है (वेधस्तम), (ग) ऋषि तुल्य पवित्र जीवनवाला बनना है (ऋषिः), (घ) खूब दानशील (होता) होना है।

भावार्थ—वे प्रभु 'प्रचेता, वेधस्तम, ऋषि व होता' हैं। यज्ञों में प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी ऐसा ही बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

दस्यु पराभव

नाना॒ ह्य१॑ग्नेऽव॑से॒ स्पर्ध॑न्ते॒ रायो॑ अ॒र्यः। तूर्व॑न्तो॒ दस्यु॑मा॒यवो॑ व्र॒तैः सीक्ष॑न्तो अव्र॒तम् ॥ ३ ॥

(१) (अरि=Lord, master) गत मन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु-स्तवन करते हैं तो **अग्ने**=हे परमात्मन्! **अर्यः**=स्वामी जो आप हैं, उनके **रायः**=ये धन **अवसे**=उपासक के रक्षण के लिये **नाना स्पर्धन्ते**=नाना प्रकार से स्पर्धावाले होते हैं। एक-दूसरे से आगे बढ़कर ये ऐश्वर्य उस उपासक का रक्षण करते हैं। (२) **आयवः**=ये उपासना में चलनेवाले मनुष्य **दस्युम्**=दास्यव वृत्तियों को, विनाशक वृत्तियों को **तूर्वन्तः**=हिंसित करते हैं और **व्रतैः**=नियमित पुण्य कर्मों के द्वारा **अव्रतम्**=व्रतशून्यता के भाव को **सीक्षन्तः**=पराभूत करने की कामनावाले होते हैं।

भावार्थ—हम व्रती बनें, दास्यव भावों को दूर करें। प्रभु के ऐश्वर्य हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वीर सन्तान

अ॒ग्निर॒प्सामृ॑ती॒षहं॑ वी॒रं द॑दाति॒ सत्प॑तिम्। यस्य॒ त्रस॑न्ति॒ शव॑सः सं॒चक्षि॒ शत्र॑वो भि॒या ॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र के व्रतमय जीवनवाले पुरुष को **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **वीरं**=वीर सन्तान को **ददाति**=देते हैं। जो सन्तान **अप्सां (कर्मणां सनितारम्)**=कर्मों का सेवन करनेवाला, क्रियाशील होता है न कि अकर्मण्य। **ऋतीषहम्**=(ऋतीनां अरातीनां सोढारं) जो काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है और **सत्पतिम्**=उत्तम कर्मों का स्वामी बनता है। (२) प्रभु ऐसे सन्तान को देते हैं कि **यस्य**=जिसके **सञ्चक्षि**=सम्यग् दर्शन में **शवसः**=बल से **भिया**=भय के कारण **शत्रवः**=शत्रु **त्रसन्ति**=उद्विग्न व कम्पित हो उठते हैं। उसके सामने काम-क्रोध आदि शत्रु ठहर नहीं पाते।

भावार्थ—उपासक को प्रभु 'कर्मठ, शत्रुओं को पराजित करनेवाले, उत्तम भावों के रक्षक, शत्रु त्रासक' वीर सन्तान को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्ञान के द्वारा पापों से बचाव

अ॒ग्निर्हि वि॒द्मना॑ नि॒दो दे॒वो मर्त॑मुरु॒ष्यति॑। स॒हावा॒ यस्यावृ॑तो र॒यिर्वाजे॒ष्ववृ॑तः ॥ ५ ॥

(१) **अग्निः देवः**=वे अग्रेणी प्रकाशमय प्रभु **हि**=निश्चय से **विद्मना**=ज्ञान के द्वारा **मर्तम्**=मनुष्य को **निदः**=निन्दनीय कर्मों से **उरुष्यति**=बचाते हैं। प्रभु ज्ञान देकर उस हेय कर्मों में प्रवृत्त नहीं होने देते। (२) प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ यह व्यक्ति **सहावा**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। यह ऐसा बनता है कि **यस्य**=जिसका **रयिः**=धन **अवृतः**=वासनाओं स आच्छादित नहीं होता, अर्थात् यह धनों के कारण वासनाओं में नहीं फँस जाता और यह **वाजेषु**=शक्तियों में **अवृतः**=क्रोध व उग्रता आदि से आच्छादित नहीं हो जाता, अर्थात् धन व शक्ति को प्राप्त करके भी यह मद में नहीं हो जाता।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देकर हमें पापों से बचाते हैं। प्रभु से रक्षित यह व्यक्ति वासनाओं का पराभव करता है और धनवान् व शक्तिमान् होता हुआ भी मदयुक्त नहीं हो जाता।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगतिजगती** स्वरः—**निषादः** ॥

वीहि स्वस्तिं सुक्षितिम्

अच्छा॑ नो मित्रमहो देव दे॒वानग्ने॒ वोचः॑ सुम॒तिं रोद॑स्योः।
वी॒हि स्व॒स्तिं सु॑क्षि॒तिं दि॒वो नॄन्द्वि॒षो अंहां॑सि।
दु॒रि॒ता त॑रेम॒ ता त॑रेम॒ तवाव॑सा तरेम ॥ ६ ॥

२.११ पर व्याख्या द्रष्टव्य है।

भरद्वाज ही अगले सूक्त में भी 'अग्नि' का स्तवन करते हैं—

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासना से वासना विनाश

इ॒ममू॒ षु वो॒ अति॑थिमुष॒र्बुधं॒ विश्वा॑सां वि॒शां पति॑मृञ्जसे गि॒रा।
वेतीद्दि॒वो ज॒नुषा॒ कच्चि॒दा शुचि॒र्ज्योक्चि॑दत्ति॒ गर्भो॒ यदच्यु॑तम् ॥ १ ॥

(१) **इममू**=इस **वः अतिथिम्**=तुम्हारे लिये अतिथिवत् पूज्य, **उषर्बुधम्**=उषाकाल में बोध

करने योग्य (स्मरणीय) **विश्वासां विशां पतिम्**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु को **उ**=ही **सु**=अच्छी प्रकार **गिरा ऋञ्जसे**=स्तुति वाणियों से प्रसाधित करता हूँ। वस्तुतः यह प्रभु-स्मरण ही उपासक को वासनाओं से बचाकर 'भरद्वाज' बनाता है। (२) ये प्रभु **इत्**=निश्चय से **दिवः**=ज्ञान से **आवेति**=समन्तात् दीप्त होते हैं (कान्ति)। ज्ञानदीप्त ये प्रभु **जनुषा**=स्वभाव से ही **कच्चिद् शुचिः**=कुछ अद्भुत ही पवित्रतावाले हैं। ये प्रभु **गर्भः**=सब के अन्दर वर्तमान होते हुए **ज्योक् चित्**=दीर्घकाल से ही **यद्**=जो **अच्युतम्**=बड़ी दृढ़ वासनाएँ हैं, उन्हें **अत्ति**=खा जाते हैं, विनष्ट कर देते हैं। इनके हृदयस्थ होने पर वहाँ वासनाएँ भस्मीभूत हो जाती हैं। वासनाओं के विनाश से यह उपासक भी उपास्य प्रभु के समान पवित्र व दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—हम प्रभु को स्तुति-वाणियों द्वारा जीवन में प्रसाधित करने का प्रयत्न करें। ये ज्ञानदीप्त पवित्र प्रभु हृदयस्थ होते हुए हमारी वासनाओं को दग्ध कर दें। हम भी उपास्य प्रभु के समान हो उठेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

भृगु+वीतहव्य

मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम्।
स त्वं सुप्रीतो वीतहव्ये अद्भुत प्रशस्तिभिर्महयसे दिवेदिवे॥ २॥

(१) वनस्पतौ (वन=a ray of light) ज्ञानरश्मियों के रक्षक पुरुष में **मित्रं न**=मित्र के समान **सुधितम्**=उत्तमता से स्थापित **यम्**=जिसको **भृगवः**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले व्यक्ति **दधुः**=धारण करते हैं। उन आपको धारण करते हैं, जो आप **ईड्यम्**=स्तुति के योग्य व **ऊर्ध्वशोचिषम्**=उत्कृष्ट ज्ञानदीप्तिवाले हैं। (२) हे **अद्भुत**=अनुपम अद्वितीय प्रभो! **स त्वम्**=वे आप **वीतहव्ये**=हव्य-पवित्र सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करनेवाले पुरुष में **सुप्रीतः**=उत्तम प्रीतिवाले होते हुए **प्रशस्तिभिः**=स्तुतियों के द्वारा **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **महयसे**=पूजित होते हैं। ये वीतहव्य पुरुष आपका स्तवन करते हैं। आपका स्तवन ही वस्तुतः उन्हें वीतहव्य बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले व्यक्ति प्रभु को धारण करते हैं। उत्तम सात्त्विक पदार्थों का सेवन करनेवाले के प्रति प्रभु प्रीतिवाले होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदतिजगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

परस्य आन्तरस्य अर्यः तरुषः

स त्वं दक्षस्यावृको वृधो भूरर्यः परस्यान्तरस्य तरुषः।
रायः सूनो सहसो मर्त्येष्वा छर्दिर्यच्छ वीतहव्याय सप्रथो भरद्वाजाय सप्रथः॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **अवृकः**=(वर्कते आदत्ते) कुछ भी न लेनेवाले, एकदम लोभ से शून्य, **स त्वम्**=वे आप **दक्षस्य**=उन्नतिशील कार्यों को कुशलता से करनेवाले पुरुष के **वृधः भूः**=बढ़ानेवाले होते हैं। **परस्य**=बाह्य व **आन्तरस्य**=अन्दर के **अर्यः**=शत्रुओं के **तरुषः**=तरानेवाले होते हैं। द्वेष व विरोध करनेवाले लोग यदि हमारे बाह्य शत्रु हैं, तो रोग व वासनाएँ आन्तर शत्रु हैं, इन से आप उस दक्ष पुरुष को बचाते हैं। (२) हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज! **सप्रथः**=अत्यन्त विस्तारवाले सर्वव्यापक प्रभो! आप **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **वीतहव्याय**=हव्य पवित्र सात्त्विक पदार्थों का ही भक्षण करनेवाले के लिये **रायः**=धनों को तथा **छर्दिः**=उत्तम गृह को **आयच्छ**=दीजिए। हे **सप्रथः**=सर्वतः

पृथु प्रभो! सर्वव्यापक प्रभो! **भरद्वाजाय**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले के लिए धनों व उत्तम गृहों को दीजिए।

भावार्थ—हम कुशलता से कार्यों को करनेवाले बनें। प्रभु हमारा वर्धन करेंगे और हमें सब शत्रुओं से तरायेंगे। प्रभु ही 'वीतहव्य भरद्वाज' के लिये, सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाले अपने में शक्ति को भरनेवाले पुरुष के लिये, धनों को व उत्तम गृह को देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युतानं-द्युक्षवचसम्

द्यु॒ता॒नं वो॒ अति॑थिं॒ स्व॑र्णरम॒ग्निं होता॑रं॒ मनु॑षः स्वध्व॒रम्।
विप्रं॒ न द्यु॒क्षव॑चसं सुवृ॒क्तिभि॑र्हव्य॒वाह॑मर॒तिं दे॒वमृ॑ञ्जसे॥ ४॥

(१) हे मन्त्र के ऋषि 'वीतहव्य भरद्वाज' सात्त्विक अन्न के सेवक, शक्ति को अपने में भरनेवाले उपासक! तू **देवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **सुवृक्तिभिः**=शोभनतया पापवर्जन हेतु भूत स्तुतियों के द्वारा **ऋञ्जसे**=(प्रसाधय) अपने में साधित करने का प्रयत्न कर। उस प्रभु को जो **द्युतानम्**=ज्योति का विस्तार करनेवाले हैं। **वः अतिथिम्**=तुम्हारे लिये अतिथिवत् पूज्य हैं अथवा तुम्हारे लिये निरन्तर गतिशील हैं। तुम्हारे भले के लिये सदा कार्यों को कर रहे हैं। **स्वर्णरम्**=सुख की ओर ले चलनेवाले हैं, **अग्निम्**=अग्रेणी हैं। **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **होतारम्**=जीवन-यज्ञ को चलानेवाले हैं और इस प्रकार **स्वध्वरम्**=हिंसित न होने देनेवाले हैं। (२) उस प्रभु को स्तुतिवचनों से तू अपने में प्रसाधित कर, जो **विप्रं न**=मेधावी के समान **द्युक्षवचसम्**=दीप्ति के निवास-स्थानभूत वचनोंवाले हैं। **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं और **अरतिम्**=इन संसार के पदार्थों में व्यापक हैं। अथवा **अरतिम्**=(अर्य) सारे पदार्थों के स्वामी हैं।

भावार्थ—हम पापवर्जन हेतुभूत स्तुतियों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। ये प्रभु हमारे ज्ञान का विस्तार करते हुए हमें सुखी करते हैं। ये प्रभु ही हमारे लिये आवश्यक सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। और इस प्रकार हमारे जीवनयज्ञ को चलाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पावकया चितयन्त्या कृपा (रुरुचे)

पा॒व॒कया॒ यश्चि॒तय॑न्त्या कृ॒पा क्षाम॑न्रुरु॒च उ॒षसो॒ न भा॒नुना॑।
तूर्व॒न्न याम॒न्नेत॑शस्य॒ नू रण॒ आ यो घृ॒णे न त॑तृषा॒णो अ॒जरः॑॥ ५॥

(१) **यः**=जो प्रभु **पावकया**=पवित्रता को करनेवाली **चितयन्त्या**=चेतना को देनेवाली **कृपा**=दीप्ति से **क्षामन्**=इस पृथिवीरूप शरीर में इस प्रकार **रुरुचे**=दीप्त होती हैं, **न**=जैसे कि **उषसः**=उषाएँ **भानुना**=किरणों के द्वारा दीप्त होती हैं। उषाएँ किरणों से जैसे दीप्त हो उठती हैं, इसी प्रकार उपासक का हृदय प्रभु की पवित्र करनेवाली व चेतना को देनेवाली दीप्ति से दीप्त हो जाता है। (२) प्रभु **यामन्**=इस जीवनमार्ग में **तूर्वन् न**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले के समान **नु**=निश्चय से होते हैं। **एतशस्य**=(shining) ज्ञान से दीप्त होनेवाले पुरुष के **रणे**=जीवन-संग्राम में **आघृणे**=ये प्रभु दीप्त होते हैं। वस्तुतः प्रभु ही उसे जीवन-संग्राम में विजयी बनाते हैं। **यः**=जो प्रभु **ततृषाणः न अजरः**=जितने ही तृषित-शत्रुओं का आचमन कर जानेवाले हैं, उतने ही अजीर्ण हैं। प्रभु की शक्तियाँ कभी जीर्ण नहीं होती।

भावार्थ—उपासक का जीवन प्रभु की ज्ञानदीप्ति से दीप्त हो उठता है। वे शत्रुओं का हिंसन

करनेवाले हैं। शत्रुओं को समाप्त करके हमें अजीर्ण बनाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रिय अग्नि अमृत' प्रभु

अग्निमग्निं वः समिधा दुवस्यत प्रियंप्रियं वो अतिथिं गृणीषणि।
उप वो गीर्भिरमृतं विवासत देवो देवेषु वनते हि वार्यं देवो देवेषु वनते हि नो दुवः ॥ ६ ॥

(१) **वः प्रियं प्रियम्**=तुम्हारे अत्यन्त प्रिय **अग्निं अग्निम्**=सदा अग्रेणी प्रभु, उन्नतिपथ पर प्राप्त करानेवाले, **वः अतिथिम्**=तुम्हारे अतिथिवत् पूज्य **गृणीषणि**=(स्तुत्यं) स्तुति के योग्य प्रभु को **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **दुवस्यत**=उपासित करो। ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ही प्रभु का ज्ञानी-भक्त बन पाता है। (२) **अमृतम्**=उस अमृतत्व को प्राप्त करानेवाले प्रभु को (न मृतं यस्मात्) **वः गीर्भिः**=अपनी स्तुतिवाणियों के द्वारा **उपविवासत**=पूजो। **देवेषु देवः**=वह देवाधिदेव प्रभु, **हि**=निश्चय से **वार्यम्**=वरणीय धनों को **वनते**=प्राप्त कराते हैं। वे **देवेषु देवः**=देवाधिदेव **हि**=निश्चय से **नः**=हमारी **दुवः वनते**=उपासना को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करते हैं (संभजते)।

भावार्थ—हम प्रभु के ज्ञानी भक्त बनें, प्रभु का पूजन करें। प्रभु हमें सब वरणीय धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'शुचि पावक पुरुवार' प्रभु

समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम्।
विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम् ॥ ७ ॥

(१) **समिद्धम्**=उस ज्ञानदीप्त **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **समिधा**=ज्ञानदीप्ति से तथा **गिरा**=स्तुति-वाणियों से **गृणे**=मैं स्तुत करता हूँ। उस प्रभु को स्तुत करता हूँ जो **शुचिम्**=पूर्ण पवित्र हैं, **पावकम्**=उपासक को पवित्र करनेवाले हैं। **अध्वरे**=हमारे जीवन-यज्ञ में **ध्रुवम्**=जो निश्चल रूप से विद्यमान हैं। उन प्रभु को **पुरः**=सब से पूर्व (गृणे) स्तुत करता हूँ। हमारे जीवन-यज्ञों को प्रभु ही तो चलाते हैं। (२) **विप्रम्**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले, **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले **पुरुवारम्**=पालक व पूरक वरणीय धनोंवाले, **अद्रुहम्**=द्रोह से शून्य **कविम्**=क्रान्तदर्शी **जात-वेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वधन (वेदस्=wealth) प्रभु को **सुम्नै**=स्तोत्रों के द्वारा **ईमहे**=प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—उस प्रभु की प्रार्थना, स्तुति व उपासना करते हैं जो पवित्र हैं, हमें पवित्र करनेवाले हैं व सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'जागृवि-विभु-विश्पति' प्रभु

त्वां दूतमग्ने अमृतं युगेयुगे हव्यवाहं दधिरे पायुमीड्यम्।
देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा नि षेदिरे ॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले अथवा (दु उपतापे) शत्रुओं को उपतप्त करनेवाले, **अमृतम्**=मृत्यु से ऊपर उठानेवाले, **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त

करानेवाले, **पायुम्**=रक्षक, **ईड्यम्**=स्तुत्य **त्वाम्**=आपको **देवासः च मर्तासः च**=देववृत्ति के मनुष्य व अन्य मनुष्य भी **युगेयुगे**=समय-समय पर **दधिरे**=धारण करते हैं। ज्ञानी पुरुष तो प्रभु का सदा स्मरण करते ही हैं, अन्य साधारण लोग भी कष्ट आने पर प्रभु को याद करते ही हैं। (२) **जागृविम्**=सदा जीव हित के लिये जागरित, **विभुम्**=सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान् (वि-भवति) **विश्पतिम्**=प्रजाओं के रक्षक आपको **नमसा**=नमन के साथ **निषेदिरे**=उपासित करते हैं, आपके चरणों में उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—सब व्यक्ति, देव तथा साधारण मनुष्य समय-समय पर प्रभु का ही ध्यान करते हैं, प्रभु ही जीवहित के लिये सदा जागरित सर्वशक्तिमान् रक्षक हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सोमपान व सुमति' का वरण

वि॒भू॒षन्न॑ग्न उ॒भयाँ॒ अनु॑ व्र॒ता दू॒तो दे॒वानां॒ रज॑सी॒ समी॑यसे।
यत्ते॑ धी॒तिं सु॑म॒तिमा॑वृणी॒महेऽध॑ स्मा नस्त्रि॒वरू॑थः शि॒वो भ॑व॥ ९॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **उभयान्**=गत मन्त्र में उल्लिखित दोनों देवों व साधारण मनुष्यों को **अनुव्रता**=व्रतों के अनुसार, **विभूषन्**=उस-उस शक्ति से अलंकृत करते हुए, **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों को **दूतः**=ज्ञान-सन्देश प्राप्त कराते हुए **रजसी**=इन द्यावापृथिवी **समीयसे**=संगत होते हैं। सर्वत्र आप विचरते हैं, कर्मानुसार व्यवस्था करते हुए, ज्ञान का सन्देश देते हुए आप सर्वत्र विद्यमान हो रहे हैं। (२) **यत्**=जब **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये हम **धीतिम्**=सोम शक्ति के पान को, वीर्य-संयम को व **सुमतिम्**=वीर्य संयम से उत्पन्न कल्याणी मति को **आवृणीमहे**=हम वरते हैं, **अध स्मा**=तो निश्चय से **नः**=हमारे लिये **त्रिवरूथः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को सुरक्षित करनेवाले और इस प्रकार **शिवः**=कल्याणकर **भव**=होइये, तीनों के ऐश्वर्य को हमें प्राप्त कराइये (वरूथ=wealth)।

भावार्थ—सबका कल्याण करते हुए प्रभु सर्वत्र विचरते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिये हम 'सोमरक्षण व सुमति' का वरण करते हैं। प्रभु हमें 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों के ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सुप्रतीक सुदृश स्वञ्च' प्रभु

तं सु॒प्रती॑कं सु॒दृशं॒ स्वञ्च॒मवि॑द्वांसो वि॒दुष्ट॑रं सपेम।
स य॑क्ष॒द्विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान्प्र ह॒व्यम॒ग्निर॒मृते॑षु वोचत्॥ १०॥

(१) **अविद्वांसः**=हम अल्पज्ञ जीव **तं विदुष्टरम्**=उस सर्वज्ञ प्रभु को **सपेम**=उपासित करें, पूजें, जो कि **सुप्रतीकम्**=उत्तम तेजस्वितावाले हैं, सब शोभन अंगोंवाले हैं (सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्) **सुदृशम्**=उत्तम दर्शनवाले व **स्वञ्चम्**=उत्तम गतिवाले हैं। (२) **सः विद्वान्**=वे ज्ञानी प्रभु **विश्वा वयुनानि**=सब प्रज्ञानों को **यक्षत्**=हमारे साथ संगत करते हैं और **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **अमृतेषु**=अमृतत्व (नीरोगता) की प्राप्ति के निमित्त **हव्यं प्रवोचत्**=हव्यों का उपदेश देते हैं, विविध यज्ञों के करने की प्रेरणा देते हैं। इन यज्ञों से ही तो हम नीरोग बनकर प्रभु की भी वास्तविक उपासना कर रहे होंगे। (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः)।

भावार्थ—हम अल्पज्ञ उस 'तेजस्वी ज्ञानी' प्रभु का पूजन करें। प्रभु हमें ज्ञानों को प्राप्त करायेंगे और यज्ञों के उपदेश से हमें अमृतत्व प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धीति, यज्ञ की निशिति व उदिति

तमग्ने पास्युत तं पिपर्षि यस्त आनट् कवये शूर धीतिम्।
यज्ञस्य वा निशितिं वोदितिं वा तमित्पृणक्षि शवसोत राया॥ ११॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले **अग्ने**=परमात्मन्! **तं पासि**=आप उसको रक्षित करते हैं, **उत**=और **तं पिपर्षि**=उसका पालन व पूरण करते हैं, **यः**=जो **कवये ते**=क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ आपकी प्राप्ति के लिये **धीतिं आनट्**=सोम के पान का व्यापन करता है, शरीर में सोमरक्षण के द्वारा सोम परमात्मा को पाने का यत्न करता है। (२) **वा**=अथवा जो **यज्ञस्य**=यज्ञात्मक कर्मों की **निशितिम्**=तीक्ष्णता को, प्रबल कामना को **वा**=अथवा **उदितिम्**=यज्ञों के उत्कर्ष को आनट्=व्याप्त करता है, **तं इत्**=उसको ही **शवसा**=शक्ति से **उत**=और **राया**=ऐश्वर्य से **पृणक्षि**=पूरित करते हैं। आप से शक्ति व धन को प्राप्त करके यह और अधिक यज्ञशील होता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण, यज्ञों की प्रबल कामना व यज्ञों के उत्कर्ष से हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त होता है। प्रभु हमें शक्ति व धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अवद्यात् वनुष्यतः निपाहि

त्वमग्ने वनुष्यतो नि पाहि त्वमु नः सहसावन्नवद्यात्।
सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः सं रयिः स्पृहयाय्यः सहस्री॥ १२॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **वनुष्यतः**=हिंसक शत्रुओं से **निपाहि**=हमारा नितरां रक्षण करिये। हे **सहसावन्**=शत्रुमर्षक बलवाले प्रभो! **त्वं उ**=आप ही **नः**=हमें **अवद्यात्**=पापों से बचाइये। पापों से बचकर ही हम शत्रुओं से अपना रक्षण कर पाते हैं। (२) **ध्वस्मन्वत्**=दोषों के विध्वंसवाला, ध्वस्तदोष, **पाथः**=अन्न **त्वा अभि समेतु**=अपनी ओर आनेवाला हो, अर्थात् हविष्य अन्न का सेवन करता हुआ मैं आपके समीप प्राप्त होनेवाला बनूँ। आपसे हमें **रयिः**=वह धन **सं (एतु)**=प्राप्त हो, जो **स्पृहयाय्यः**=अत्यन्त स्पृहणीय है और **सहस्री**=(स हस्) आनन्द से युक्त है अथवा सहसंख्या से युक्त पर्याप्त है।

भावार्थ—प्रभु हमें पापों व शत्रुओं से बचाएँ। सात्त्विक अन्न का सेवन हमें प्रभु की ओर ले चले। प्रभु हमें स्पृहणीय व आनन्द के कारणभूत धन को प्राप्त करायें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यजिष्ठः यजताम्

अग्निर्होता गृहपतिः स राजा विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः।
देवानामुत यो मर्त्यानां यजिष्ठः स प्र यजतामृतावा॥ १३॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **होता**=इस सृष्टियज्ञ के होता हैं, सब कुछ देनेवाले हैं। **गृहपतिः**=वे सब घरों के रक्षक हैं। **सः राजा**=वे ही शासक हैं। वे **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु **विश्वा जनिमा**=सब जन्मों, विकासों को **वेद**=जानते हैं। प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले सूर्य आदि को वे जानते हैं और साथ ही जीवों के भिन्न-भिन्न शरीरों के धारण करने को वे जानते हैं। (२) वे **यः**=जो अग्नि प्रभु **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों के **उत**=और **मर्त्यानाम्**=साधारण मनुष्यों के

यजिष्ठः=अतिशयेन पूज्य हैं, **सः**=वे **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाले प्रभु **प्रयजताम्**=हमारे लिये उत्कृष्ट पदार्थों के देनेवाले हों।

भावार्थ—वे प्रभु गृहपति हैं, राजा हैं। वे पूज्यतम प्रभु हमारे लिये सब आवश्यक पदार्थों को दें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ-हव्य पदार्थ व ऋत

अग्ने यदद्य विशो अध्वरस्य होतः पावकशोचे वेष्ट्वं हि यज्वा।
ऋता यजासि महिना वि यद्भूर्हव्या वह यविष्ठ या ते अद्य॥ १४॥

(१) हे **होतः**=सब कुछ देनेवाले, **पावकशोचे**=पवित्र दीप्तिवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **यत्**=क्योंकि **त्वं हि यज्वा**=आप ही यज्ञों को करनेवाले हैं, सो **अद्य**=आज **विशः**=संसार में प्रविष्ट इन प्रजाओं के **अध्वरस्य वेः**=यज्ञों की कामना करिये, आप से प्रेरणा को प्राप्त करके ये व्यक्ति यज्ञशील हों। (२) हे प्रभो! **यद्**=जब **महिना**=अपनी महिमा से आप **वि भूः**=सर्वत्र व्याप्त होते हैं, तो **ऋता यजासि**=ऋतों को ही इन प्रजाओं के साथ संगत करते हैं। अनृत से पृथक् करके ऋत से आप अपने उपासकों को जोड़ते हैं। हे **यविष्ठ**=सब अनृतों को अधिक से अधिक हमारे से पृथक् करनेवाले प्रभो! **या ते हव्या**=जो आपके हव्य, प्रार्थनीय पवित्र पदार्थ हैं, उन पदार्थों को **आवह**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु अपने उपासकों को यज्ञ की प्रवृत्ति तथा हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। अनृत से दूर करके ऋत से हमारे जीवन को युक्त करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ब्राह्मीबृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

विश्वानि दुरिता तरेम

अभि प्रयांसि सुधितानि हि ख्यो नि त्वा दधीत रोदसी यजध्यै।
अवा नो मघवन्वाजसातावग्ने विश्वानि दुरिता तरेम ता तरेम तवावसा तरेम॥ १५॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **सुधितानि**=उत्तमता से स्थापित **प्रयांसि**=हविरूप अन्नों को **अभिख्यः**=देखते हैं, इस शरीर को यज्ञवेदि समझें, तो आप इस यज्ञवेदि में स्थापित करने के लिये सात्त्विक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। यह होता **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **यजध्यै**=अपने साथ संगत करने के लिये **त्वा**=आपको **निदधीत**=अपने हृदय में स्थापित करे। प्रभु के स्मरण से शरीर भी उत्तम बनता है, मस्तिष्क भी ज्ञानदीप्त होता है। (२) हे **अग्ने**=प्रभो! **वाजसातौ**=इस जीवन-संग्राम में **नः अवा**=हमें रक्षित करिये। हम आपकी कृपा से **विश्वानि दुरिता तरेम**=सब दुरितों को तैर जाएँ। **ता**=उन दुरितों को **तरेम**=तैर जाएँ। **तव**=आपके **अवसा**=रक्षण से **तरेम**=तैर जाएँ।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे इस शरीर रूप यज्ञ-स्थान में सब हविरूप पदार्थ ठीक रूप से स्थापित हों। शरीर शक्ति-सम्पन्न बने, तो मस्तिष्क ज्ञान-सम्पन्न हो। प्रभु कृपा से हम संग्राम में विजयी बनें। सब दुरितों को तैर जाएँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'ऊर्णावान् कुलायी घृतवान्' योनि

अग्ने विश्वेभिः स्वनीक देवैरूर्णावन्तं प्रथमः सीद योनिम्।
कुलायिनं घृतवन्तं सवित्रे यज्ञं नय यजमानाय साधु॥ १६॥

(१) हे **स्वनीक**=उत्तमरूप व बलवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अतिशयित विस्तारवाले सर्वव्यापक आप **विश्वेभिः देवैः**=सब देवों के साथ **योनिं सीद**=हमारे इस शरीर गृह में आसीन होइये। हमारा यह शरीर दिव्यगुणों का अधिष्ठान बने तथा आपका निवास-स्थान हो। यह शरीर जो कि **ऊर्णावन्तम्**=आच्छादनवाला है, अर्थात् सब दोषों से अपने को सुरक्षित करनेवाला है। **कुलायिनम्**=जो प्रशस्त कुलायोंवाला है। एक-एक इन्द्रिय गोलक एक-एक देव का कुलाय (घोंसला) है। जिस शरीर में सब कुलाय बड़े ठीक हैं, सब इन्द्रियों के स्थान अविकृत हैं और **घृतवन्तम्**=प्रशस्त दीप्तिवाला है तथा मलों के क्षरणवाला है। यह शरीर देवों व परमात्मा का निवास-स्थान बने। (२) हे प्रभो! आप इस शरीर में स्थित होते हुए **सवित्रे**=निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त **यजमानाय**=यज्ञशील इस उपासक के लिये **यज्ञं साधु नय**=यज्ञों को सम्यक् प्राप्त कराइये। इसका जीवन यज्ञशील बने। यज्ञों के द्वारा ही यह आपका यजन (उपासन) करनेवाला हो।

भावार्थ—हम इस शरीर को सुरक्षावाला (उर्णावान्) उत्तम इन्द्रिय गोलकोंवाला (कुलायी) दीप्तिवाला (घृतवान्) बनाएँ यह देवों के साथ परमात्मा का निवास-स्थान बने। प्रभु कृपा से हम यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्निमन्थन

इममु त्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसः। यमङ्कूयन्तमानयन्नमूरं श्याव्याभ्यः॥ १७॥

(१) **इमम्**=इस **उ**=निश्चय से **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **अग्निम्**=अग्नि को, अग्रेणी प्रभु को **वेधसः**=यज्ञादि कर्मों को करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष **अथर्ववत्**=(अ+थर्व) न डाँवाडोल होनेवाले स्थित-प्रज्ञ पुरुष की तरह **मन्थन्ति**=विचार द्वारा जानने का प्रयत्न करते हैं। 'अथ अर्वाङ्'=जैसे अन्दर निरीक्षण करनेवाला पुरुष प्रभु का चिन्तन करता है, इसी प्रकार हम उस प्रभु का विचार करनेवाले बनें। (२) उस प्रभु का चिन्तन करें, **यम्**=जिस **अमूरम्**=मूढ़ता से शून्य सर्वज्ञ **अंकूयन्तम्**=स्वाभाविक गतिवाले प्रभु को **श्याव्याभ्यः**=अन्धकारमयी रात्रियों के लिए, इन अज्ञानान्धकार की रात्रियों को दूर करने के लिये, ('मशकार्थो धूमः'=मशक निवृत्ति के लिये) **आनयत्**=अपने हृदयों में प्राप्त कराते हैं। प्रभु का आभास होते ही सब अज्ञानान्धकार लुप्त होता जाता है।

भावार्थ—हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त वेधा बनकर तथा स्थित-प्रज्ञ बनकर प्रभु का चिन्तन करें, यह प्रभु-चिन्तन सब अज्ञानान्धकारों को विनष्ट करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**स्वराड् अनष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

देववीतये-स्वस्तये

जनिष्वा देववीतये सर्वताता स्वस्तये। आ देवान्वक्ष्यमृताँ ऋतावृधो यज्ञं देवेषु पिस्पृशः॥ १८॥

(१) हे प्रभो! **जनिष्व**=हमारे में प्रादुर्भूत होइये। **देववीतये**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये

तथा **सर्वताता**=इस सब गुणों के विस्तारवाले जीवन यज्ञ में **स्वस्तये**=कल्याण के लिये। प्रभु का प्रादुर्भाव दिव्यगुणों को प्राप्त कराता है और कल्याण का साधक होता है। (२) हे प्रभो! आप **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवक्षि**=हमें प्राप्त कराइये। **अमृतान्**=जो दिव्यगुण हमें नीरोगता को देनेवाले हैं तथा **ऋतावृधः**=हमारे में ऋत का (ठीक का) वर्धन करनेवाले हैं। इन **देवेषु**=दिव्यगुणों की वृत्तिवाले पुरुषों में आप **यज्ञं पिस्पृशः**=यज्ञ को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम प्रभु कृपा से दिव्यगुणों व स्वस्ति (कल्याण) को प्राप्त करें। नीरोग व ऋतमय जीवन बनकर यज्ञशील हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्यो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अस्थूरि नो गार्हयत्यानि सन्तु

वयमु त्वा गृहपते जनानामग्ने अकर्म समिधा बृहन्तम्।
अस्थूरि नो गार्हपत्यानि सन्तु तिग्मेन नस्तेजसा सं शिशाधि॥ १९॥

(१) हे **जनानाम्**=लोगों के **गृहपते**=घरों के रक्षक **अग्रे**=अग्रेणी प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **समिधा**=ज्ञान दीप्ति के द्वारा **त्वा**=आपको **बृहन्तम्**=बढ़ा हुआ **अकर्म**=करें। अर्थात् ज्ञान को बढ़ाते हुए आपके प्रकाश को अधिकाधिक देखनेवाले बनें। स्वाध्याय के द्वारा आपका उपासन करें। (२) **नः**=हमारे **गार्हपत्यानि**=गृहस्थ के कर्त्तव्य **अस्थूरि सन्तु**=एक अश्व युक्त गाड़ी के समान न हो जाएँ। अर्थात् पति-पत्नी दोनों दीर्घ-जीवन को प्राप्त करके गृहस्थ के कर्त्तव्यों को सम्यक् निभा पायें। आप हमें **तिग्मेन तेजसा**=तीक्ष्ण तेज से **सं शिशाधि**=सम्यक् तीक्ष्ण करिये। हमें आप तेजस्वी बनाइये। हमारी तेजस्विता शत्रुओं को समाप्त करनेवाली हो।

भावार्थ—स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हुए हम प्रभु के प्रकाश को अधिकाधिक देखनेवाले बनें। हम पति-पत्नी दोनों गृहस्थ की गाड़ी को सम्यक् खैंचें। तीक्ष्ण तेजस्विता को प्राप्त करें।

अगले सूक्त में भी भरद्वाज स्तुति करते हुए कहते हैं—

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

हितः देवेभिर्मानुषे-जने

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप ही **विश्वेषां यज्ञानां होता**=सब यज्ञों के होता है, आपकी कृपा से ही सब यज्ञों की पूर्ति होती है। (२) आप **मानुषे जने**=विचारपूर्वक कर्म करनेवाले व दयालु वृत्तिवाले मनुष्य में **देवेभिः हितः**=दिव्यगुणों के द्वारा स्थापित होते हैं। जितना-जितना एक मनुष्य दिव्य गुणों को अपनाता है, उतना-उतना प्रभु का धारण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—सब यज्ञों के होता प्रभु हैं। दिव्य गुणों के धारण से हृदय में प्रभु की स्थापना होती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'ज्ञान शक्ति दिव्यगुण'

स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः। आ देवान्वक्षि यक्षि च॥ २॥

(१) हे अग्ने! **सः**=वे आप **नः**=हमें **अध्वरे**=इस हिंसारहित जीवन-यज्ञ में **मन्द्राभिः जिह्वाभिः**=आनन्द को देनेवाली वाणियों से **महः यजा**=तेजस्विता को संगत कीजिये, तेजस्विता प्रदान कीजिये। हम आपकी ज्ञानप्रद वेद-वाणियों को प्राप्त करें तथा तेजस्वी बनें। (२) ज्ञान व तेजस्विता को प्राप्त कराके आप **देवान्**=आबाधित दिव्यगुणों को प्राप्त कराइये, **च**=और **यक्षि**=हमारे साथ संगत करिये।

भावार्थ—प्रभु हमें 'ज्ञान, शक्ति व दिव्यगुणों' को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मार्गों व उपमार्गों का ज्ञान

वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा। अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो॥ ३॥

(१) हे **वेधः**=विधातः, सब विधानों के करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **अध्वनः वेत्था**=मार्ग का ज्ञान रखते हैं **च**=और हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **पथाः**=इन उपमार्गों को **अञ्जसा**=ठीक-ठीक जानते हैं। सब नियमोंपनियमों का आप ही ज्ञान देनेवाले हैं। 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह' ये पाँच 'यम' जीवन के 'अध्वा' हैं, तो 'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्राणिधान' ये पाँच 'नियम' जीवन के पथ हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी **सुक्रतो**=शोभन-प्रज्ञ व शोभन-कर्मन् प्रभो! आप ही **यज्ञेषु**=श्रेष्ठतम कर्मों में हमें ले चलनेवाले हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु ही हमारे लिये अपनी प्रेरणा के द्वारा मार्गों व उपमार्गों का ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान, शक्ति व यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन

त्वामीळे अध द्विता भरतो वाजिभिः शुनम्। ईजे यज्ञेषु यज्ञियम्॥ ४॥

(१) अब **द्विता**=ज्ञान व शक्ति का विस्तार करने के द्वारा (द्वौ तनोति) **भरतः**=अपना ठीक से पोषण करनेवाला मैं **वाजिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **शुनम्**=आनन्दमय **त्वां ईडे**=आपका ही स्तवन करता हूँ। उपासक वही है जो ज्ञान व शक्ति के भरण के लिये यत्नशील होता है। (२) मैं **यज्ञियम्**=पूजनीय आपको **यज्ञेषु**=यज्ञों में, श्रेष्ठतम कर्मों में **ईजे**=उपासित करता हूँ। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'।

भावार्थ—प्रभु का उपासन 'ज्ञान व शक्ति की प्राप्ति तथा यज्ञों' से होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वरणीय प्रभु

त्वमिमा वार्या पुरु दिवोदासाय सुन्वते। भरद्वाजाय दाशुषे॥ ५॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **इमा**=इन **वार्या**=वरणीय धनों को **पुरु**=खूब ही प्राप्त कराते हैं। आप इन वरणीय धनों को **दिवोदासाय**=ज्ञान के उपासक के लिये, **सुन्वते**=यज्ञशील पुरुष के लिये प्राप्त कराते हैं। (२) **भरद्वाजाय**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले के लिये आप इन धनों को प्राप्त कराते हैं। **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिये, दानशील के लिये।

भावार्थ—हम 'दिवोदास, सुन्वन्, भरद्वाज व दाश्वान्' बनें जिससे वरणीय धनों को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

सत्संग व स्तुति शब्द श्रवण

त्वं दूतो अमर्त्य आ वहा दैव्यं जनम्। शृण्वन्विप्रस्य सुष्टुतिम्॥ ६॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा **दूतः**=अजरामर होते हुए सदा से ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करानेवाले हैं। आप **दैव्यं जनं आवहा**=दिव्यगुणों की वृत्तिवाले लोगों को हमारे लिये प्राप्त कराइये। आपकी कृपा से सदा दैवीवृत्तिवाले लोगों से हमारा सम्पर्क हो। (२) हे प्रभो! मैं आपकी कृपा से सदा **विप्रस्य**=(वि प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **शृण्वन्**=सुननेवाला बनूँ। सत्संग करते हुए मेरे कान इन दिव्य पुरुषों से की जाती हुई आपकी स्तुति को ही सुननेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें उत्तम संग प्राप्त हो। इस सत्संग में ज्ञानियों से की जाती हुई स्तुति के शब्दों को ही हमारे कान सुनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु ध्यान से दिव्य गुणों की प्राप्ति

त्वामग्ने स्वाध्यो३ मर्तासो देववीतये। यज्ञेषु देवमीळते॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वाम्**=आपका **स्वाध्यः**=उत्तमता से ध्यान करनेवाले **मर्तासः**=मनुष्य **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये होते हैं। वस्तुतः जिसका निरन्तर ध्यान करेंगे, वैसे ही तो बनेंगे। उस परब्रह्म का ध्यान करते हुए हम क्यों न देव बनेंगे? (२) इसलिए उत्तम स्तोता लोग **यज्ञेषु**=यज्ञात्मक कर्मों के अन्दर **देवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु का **ईडते**=उपासन करते हैं। उन यज्ञों को वस्तुतः वे प्रभु कृपा से ही पूर्ण होता हुआ जानते हैं। परिणामतः उन्हें इन उत्तम कर्मों का गर्व नहीं होता।

भावार्थ—उत्तम ध्याता लोग प्रभु का ध्यान करते हुए दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। सब यज्ञों में उस देव का पूजन करते हुए उन यज्ञों को उस देव की शक्ति से होता हुआ जानते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सन्दृशं क्रतुम्

तव प्र यक्षि सन्दृशमुत क्रतुं सुदानवः। विश्वे जुषन्त कामिनः॥ ८॥

(१) हे अग्ने, परमात्मन्! मैं **तव**=आपके **सन्दृशम्**=सम्यग् दर्शनीय व सब के भासक (प्रकाशक) तेज को **प्रयक्षि**=पूजित करता हूँ। **उत**=और **सुदानवः**=सम्यक् शत्रुओं का (दाप् लवने) छेदन करनेवाले आपके **क्रतुम्**=शक्ति व प्रज्ञान का मैं पूजन करता हूँ। (२) **विश्वे**=सब **कामिनः**=विविध कामनाओं से प्रेरित होनेवाले पुरुष आपको ही **जुषन्त**=प्रीतिपूर्वक उपासित करते हैं। आप से ही उनकी कामनाएँ पूर्ण की जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु के सम्यग् दर्शनीय तेज का व शक्ति और प्रज्ञान का पूजन करते हुए हम भी उस तेज, शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विदुष्टरः

त्वं होता मनुर्हितो वह्निरासा विदुष्टरः। अग्ने यक्षि दिवो विशः॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **होता**=हमारे जीवन-यज्ञ के होता हैं। **मनुर्हितः**=ज्ञानशील पुरुष से हृदयदेश में स्थापित होते हैं। **आसा**=मुख से ज्ञानोपदेश द्वारा **वह्निः**=हमें भवसागर से पार ले जानेवाले हैं। **विदुष्टरः**=सर्वाधिक ज्ञानी हैं, पूर्ण ज्ञानवाले हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! हमारे साथ **दिवः विशः**=ज्ञानी पुरुषों को **यक्षि**=संगत कीजिए। उनके संग से हम भी ज्ञान को प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—प्रभु ही होता है, वे ही हमें ज्ञान को देनेवाले हैं। ज्ञानियों के संग से हमें ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हृदयासन पर प्रभु को आसीन करना

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥ १०॥

(१) **अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! **आयाहि**=आप आइये। हमें प्राप्त होइये, जिससे **वीतये**=अज्ञानान्धकार के ध्वंस के लिये (वी असने) हम समर्थ हों। आपके प्राप्त होते ही प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है, अन्धकार समाप्त हो जाता है। **गृणानः**=हमारे लिये ज्ञानोपदेश को करते हुए आप **हव्यदातये**=हव्य पदार्थों के, यज्ञिय उत्तम पदार्थों के देने के लिये होइये। आपकी कृपा से हम हव्य पदार्थों को प्राप्त करके यज्ञों की वृत्तिवाले बनें। (२) **होता**=सब हव्य पदार्थों के दाता (हु दाने) होते हुए आप **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **निसत्सि**=निश्चय से विराजिये। हमारा पवित्र हृदय आपका आसन बने। इस हृदयासन पर आपको बिठाकर हम आपका पूजन कर पायें।

भावार्थ—हम अपने हृदयों में प्रभु को आसीन करें। सब अज्ञानान्धकार का ध्वंस होकर प्रकाश ही प्रकाश हो जाएगा।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

समिद्भिः घृतेन

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥ ११॥

(१) हे **अंगिरः**=गतिशील प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **समिद्भिः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की दीप्तियों से, इन तीन ज्ञानरूप समिधाओं से तथा **घृतेन**=मलों के क्षरण से, मलों के दूरीकरण से **वर्धयामसि**=अपने अन्दर बढ़ाते हैं, अपने अन्दर आपके प्रकाश को देखने का प्रयत्न करते हैं। (२) हे **यविष्ठ्य**=युवतम=हमारी बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को अधिक से अधिक हमारे साथ मिलानेवाले प्रभो! **बृहत् शोचा**=आप हमारे अन्दर खूब ही दीप्त होइये। हमें ज्ञान को बढ़ाते हुए व मलों को दूर करते हुए प्रभु के प्रकाश को अधिकाधिक देख पायें।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम ज्ञान को बढ़ाने के लिये यत्नशील हों तथा मलों को मन से दूर करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रवाय्यं, सुवीर्यम्

स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि। बृहदग्ने सुवीर्यम्॥ १२॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिये **पृथु**=विशाल **श्रवाय्यम्**=श्रवणीय ज्ञान को **अच्छा विवाससि**=आभिमुख्येन प्राप्त कराते हैं (अभिगमय)। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी

प्रभो! आप हमें **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को देते हैं। वस्तुतः ज्ञान और शक्ति के बिना किसी भी उन्नति का होना सम्भव नहीं। प्रभु से ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करके ही हम भी 'देव व अग्नि' बनते हैं।

भावार्थ—वे प्रकाशमय प्रभु हमें विशाल ज्ञान प्राप्त कराते हैं, उन्नति की साधनभूत शक्ति को देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पुष्कर+मूर्धा (हृदय+मस्तिष्क)

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वाम्**=आपको **अथर्वा**=(अथ अर्वाङ्) अन्तः निरीक्षण करनेवाला योगी **पुष्करात्**=इस हृदयान्तरिक्ष से (पुष्कर=atmosphere) **निरमन्थत**=मन्थन (विचार) के द्वारा देख पाता है। केवल पुष्कर से नहीं, अपितु **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क के द्वारा, उस मस्तिष्क के द्वारा जो **विश्वस्य वाघतः**=सम्पूर्ण ज्ञानों का वहन करनेवाला है। (२) जैसे दो अरणियों की रगड़ से अग्नि प्रकट होती है, इसी प्रकार हृदय व मस्तिष्क रूप दो अरणियों की रगड़ से प्रभुरूप अग्नि प्रकट होती है। हृदय को हम पुष्कर (कमल) की तरह अलिप्त बनाएं तथा मस्तिष्क को सब ज्ञानों का वहन करनेवाला। इन दोनों का मेल होने पर हम प्रभु के प्रकाश को देख पायेंगे।

भावार्थ—हृदय व मस्तिष्क दोनों का विकास हमें प्रभु दर्शन कराने में सहायक होगा।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृत्रहणं पुरन्दरम्

तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः। वृत्रहणं पुरन्दरम्॥ १४॥

(१) हे प्रभो! **तं त्वा उ**=उन आपको निश्चय से **अथर्वणः पुत्रः**=अथर्वा का पुत्र, अर्थात् उत्कृष्ट अथर्वा, पूर्ण रूप से चित्तवृत्ति को अन्तर्मुखी करनेवाला (अथ अर्वाङ्) **दध्यङ्**=ध्यान में प्रवृत्त होनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा मनुष्य **ईधे**=अपने हृदयदेश में दीप्त करता है। जितना-जितना हम चित्तवृत्ति का निरोध करके अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनेंगे, उतना ही अधिक प्रभु का प्रकाश देख पायेंगे। (२) उन आपको यह हृदयदेश में दीप्त करता है, जो **वृत्रहणम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। और **पुरन्दरम्**=काम-क्रोध-लोभ रूप असुरों की पुरियों का विध्वंस करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन चित्तवृत्ति के निरोध से ही सम्भव है। वे प्रभु वासना को विनष्ट करते हैं और आसुरभावों के दुर्गों का विध्वंस करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दस्युहन्तम धनञ्जय

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्। धनञ्जयं रणेरणे॥ १५॥

(१) हे परमात्मन्! **तं त्वा उ**=उन आपको निश्चय से **पाथ्यः**=धर्मपथ पर आरूढ़ **वृषा**=शक्तिशाली पुरुष ही **समीधे**=समिद्ध व दीप्त कर पाता है, आपका दर्शन इस 'पाथ्य वृषा' को ही होता है। (२) उन आपको यह हृदयदेश में दीप्त करता है, जो **दस्युहन्तमम्**=दास्यव वृत्तियों को अधिक से अधिक विनष्ट करनेवाले हैं और **रणे रणे**=प्रत्येक संग्राम में **धनञ्जयम्**=धनों का हमारे लिये विजय करनेवाले हैं।

भावार्थ—मार्ग पर चलते हुए शक्तिशाली बनकर हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। ये प्रभु दस्युओं का विनाश करके हमारे लिये धनों का विजय करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्य+संयम

एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ १६ ॥

(१) **अग्ने**=हे परमात्मन्! **एहि**=आप मुझे प्राप्त होइये। **उ**=और मैं **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **इतराः गिरः**=सामान्य व्यवहार की वाणियों को भी **सु**=अच्छी प्रकार **इत्था ब्रवाणि**=सत्य ही बोलूँ सत्य को अपनाने से ही तो सत्य स्वरूप आपको प्राप्त कर सकूँगा। (११) हे प्रभो! आप **एभि**=इन **इन्दुभिः**=सोमकणों से **वर्धासे**=मेरे में वृद्धि को प्राप्त होइये। इन सोमकणों का रक्षण करता हुआ मैं आपको ज्ञानाग्नि की दीप्ति के द्वारा प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—सत्य व संयम के द्वारा हम प्रभु प्राप्ति के पात्र बन पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तरं दक्षं+सदः

यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम्। तत्रा सदः कृणवसे ॥ १७ ॥

(१) हे प्रभो! **यत्र क्व च**=जहाँ कहीं भी **ते मनः**=आपका अनुग्रहात्मक मन होता है, अर्थात् जिस पर भी आपकी कृपा होती है, वहाँ आप **उत्तरम्**=उत्कृष्ट **दक्षम्**=बल को **दधसे**=धारण करते हैं। हम प्रभु कृपा के पात्र बनें, प्रभु हमें उत्कृष्ट बल प्राप्त करायेंगे। (२) **तत्र**=उसी व्यक्ति में आप **सदा कृणवसे**=अपनी स्थिति करते हैं, उसी को आप अपना निवास-स्थान बनाते हैं। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' निर्बल से वे लभ्य नहीं होते। बल प्रभु कृपा से ही प्राप्त होता है। प्रभु कृपा की प्राप्ति के लिये हम अपने मन को प्रभु के प्रति दे डालें। हम प्रभु के प्रति अपने मनों को देकर ही प्रभु को अपने लिये अनुग्रहात्मक बना पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपने मनों को देकर हम प्रभु के अनुग्रह को प्राप्त करते हैं। प्रभु हमें उत्कृष्ट बल प्राप्त कराते हैं और हमारे में प्रभु का निवास होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु का पूरक तेज

नहि ते पूर्तमक्षिपद्भुवन्नेमानां वसो। अथा दुवो वनवसे ॥ १८ ॥

(१) हे **नेमानां वसो**=हम अधूरे, अल्पज्ञ व अल्पशक्तिमान् जीवों के **वसो**=वसानेवाले, हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **ते**=आपका **पूर्तम्**=हमारा पूरण करनेवाला तेज **अक्षिपत् नहि भुवत्**=हमारी आँखों को चुँधियानेवाला न हो। अपितु आपका यह तेज हमारे दर्शन-सामर्थ्य को बढ़ानेवाला हो। (२) **अथा**=अब आपके तेज से कुछ पूर्णता को प्राप्त करने पर **दुवः**=हम से की गई परिचर्याओं व उपासनाओं को **वनवसे**=आप सेवन करनेवाले हों। अर्थात् हम आपके उपासक बन पायें।

भावार्थ—हम अल्पज्ञ जीव प्रभु के तेज से अपने दर्शन-सामर्थ्य को बढ़ाकर, ठीक मार्ग पर चलते हुए, प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भारतः पुरुचेतनः

आग्निरंगामि भारतो वृत्रहा पुरुचेतनः। दिवोदासस्य सत्पतिः ॥ १९ ॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **आ अगामि**=स्तुतियों के द्वारा हमारे से जाना जाता है। जो अग्नि **भारतः**=सबका भरण करनेवाला है, **दिवोदासस्य वृत्रहा**=ज्ञान के उपासक पुरुष के वृत्र का विनाश करनेवाला है। जब हम स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करने में प्रवृत्त होते हैं, तो प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करते हैं। **पुरुचेतनः**=अनन्त ज्ञानवाले वे प्रभु हैं। (२) ये प्रभु **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक हैं। प्रभु का स्तवन ही हमारे जीवनों में सज्जनता का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन के होने पर प्रभु हमारे शरीरों का भरण करते हैं, मानस वासनाओं का विनाश करते हैं और हमारे ज्ञान का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

धन प्राप्ति व वासना विनाश

स हि विश्वाति पार्थिवा रयिं दाशन्महित्वना। वन्वन्नवातो अस्तृतः ॥ २० ॥

(१) **सः**=वे प्रभु **हि**=निश्चय से **विश्वा**=सब **पार्थिवा**=इस पृथिवी सम्बन्धी **रयिम्**=धनों को **अतिदाशत्**=अतिशयेन दें, पार्थिव धनों को वे प्रभु हमें जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये प्राप्त कराएँ। (२) ये प्रभु **महित्वना**=अपनी महिमा से **वन्वन्**=हमारे शत्रुओं का हिंसन करें। प्रभु कृपा से मैं **अवातः**=शत्रुओं से अनाक्रान्त होऊँ और **अस्तृतः**=अहिंसित होऊँ। शत्रुओं से अनाक्रान्त हुआ-हुआ ही तो मैं जीवनयात्रा में आगे बढ़ सकूँगा।

भावार्थ—प्रभु हमें जीवनयात्रा के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराएँ और हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हिंसन करें जिससे जीवनयात्रा ठीक से पूर्ण हो सके।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पुराणा, परन्तु नया (वेदज्ञान)

स प्रत्नवन्नवीयसाग्ने द्युम्नेन संयता। बृहत्ततन्थ भानुना ॥ २१ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सः**=वे आप **प्रत्नवत्**=अत्यन्त प्राचीन की तरह होते हुए भी **नवीयसा**=नवीन व अतिशयेन स्तुत्य **द्युम्नेन**=द्योतमान **संयता**=(संगच्छता) हमारे जीवन में संगत होते हुए **भानुना**=ज्ञान के प्रकाश से **बृहत् ततन्थ**=खूब ही हमारी शक्तियों का विस्तार करते हैं। (२) प्रभु से दिया जानेवाला यह वेदज्ञान अत्यन्त प्रचीन है। अत्यन्त प्राचीन होता हुआ भी यह नवीन-सा है 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। यह ज्ञान खूब ही दीप्त है। हमारे जीवन में जब यह अनूदित होता है, तो खूब ही हमारी शक्तियों को बढ़ाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये अपने अजरामर काव्य वेद द्वारा ज्ञान देते हैं। यह ज्ञान हमारी सब शक्तियों के विकास का कारण होता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तोम+यज्ञ (अर्च गाय च)

प्र वः सखायो अग्नये स्तोमं यज्ञं च धृष्णुया। अर्च गाय च वेधसे ॥ २२ ॥

(१) हे **सखायः**=मित्रो! **वः**=अपने **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **च**=और **यज्ञम्**=यज्ञों को **धृष्णुया**=शत्रुओं के घर्षण के दृष्टिकोण से **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिये **प्र**=(प्राप्त कराओ)। (२) **च**=और **वेधसे**=उस सृष्टि के विधाता प्रभु के लिये, **अर्च**=पूजा करो **गाय च**=और गुणों का गायन करो। यह प्रभु पूजन ही तुम्हें शत्रु धर्षण में समर्थ करेगा।

भावार्थ—हम स्तोमों व यज्ञों को अपनाएँ। प्रभु गुणगान करें और यज्ञों द्वारा प्रभु पूजन करें। इसी प्रकार हम शत्रुओं का धर्षण कर पायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दूतः-हव्यवाहनः

स हि यो मनुषा युगा सीदुद्धोता कविक्रतुः। दूतश्च हव्यवाहनः ॥ २३ ॥

(१) **सः**=वह प्रभु **हि**=ही **मानुषा युगा**=मानव युग्यों में, पति-पत्नी में **सीदत्**=आसीन हो (सीदतु) **यः**=जो **होता**=सब जीवन-यज्ञ के साधनभूत पदार्थों का दाता है और **कविक्रतुः**=क्रान्तप्रज्ञ है। (२) वह निरतिशय ज्ञानवाला प्रभु **दूतः**=ज्ञान का संदेश देनेवाला है, **च**=और **हव्यवाहनः**=सब हव्य पदार्थों का देनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु के तेज के अंश से युक्त हुए-हुए ही पति-पत्नी यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और अपने ज्ञान का वर्धन करनेवाले होते हैं। प्रभु ही हमें ज्ञान का सन्देश देते हैं और सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'मित्र, वरुण, आदित्य, मरुत् व रोदसी' से संपृक्त जीवन

ता राजाना शुचिव्रतादित्यान्मारुतं गणम्। वसो यक्षीह रोदसी॥ २४॥

(१) हे **वसो**=जीवन में उत्तम निवास को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **इह**=इस जीवन में **रोदसी यक्षि**=द्यावापृथिवी को, उत्तम मस्तिष्क व शरीर को हमारे साथ जोड़िये। (२) **ता**=उन **राजाना**=जीवन को दीप्त बनानेवाले **शुचिव्रता**=पवित्र व्रतोंवाले मित्रावरुणों को, स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओं को हमारे साथ संगत करिये। **आदित्यान्**=सब उत्तमताओं का आदान करनेवाले अदिति के पुत्रों को, अदीना देव माता के पुत्रों को, दिव्य गुणों को हमारे साथ जोड़िये तथा **मारुतं गणम्**=इस प्राणों के समूह को हमारे साथ जोड़नेवाले होइये। हम प्राणायाम द्वारा इन प्राणों की शक्ति को बढ़ा पायें।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवन में स्नेह व निर्द्वेषता के द्वारा पवित्र व्रतों को प्राप्त कराएँ। हमें दिव्य गुणों व प्राणशक्ति को देनेवाले हों, हमारे मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाएँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वस्वी संदृष्टिः

वस्वी ते अग्ने सन्दृष्टिरिषयते मर्त्याय। ऊर्जो नपादमृतस्य॥ २५॥

(१) हे **ऊर्जो नपात्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **अमृतस्य**=मृत्यु से बचानेवाले (न मृतं यस्मात्) **ते**=आपकी **संदृष्टिः**=संदीप्ति **वस्वी**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाली है। आपकी इसी दीप्ति को प्राप्त करके हमारा जीवन उत्तम बनता है। (२) यह आपकी संदृष्टि **मर्त्याय**=मनुष्य के लिये **इषयते**=प्रेरणा को देने की कामनावाली होती है। इस आपकी दीप्ति से उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करके मार्ग पर आगे बढ़ते हुए हम अपने जीवनों को उत्तम बना

पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की संदृष्टि (संदीप्ति) हमारे निवास को उत्तम बनाती है, यह हमें जीवन में उन्नति के लिये उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

श्रेष्ठः सुरेक्णाः

क्रत्वा दा अस्तु श्रेष्ठोऽद्य त्वा वन्वन्त्सुरेक्णाः। मर्त आनाश सुवृक्तिम्॥ २६॥

(१) हे प्रभो! **क्रत्वा**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों के द्वारा **त्वा**=आपको **वन्वन्**=सम्भजन (उपासन) करता हुआ, **दाः**=दानशील पुरुष **अद्य**=आज **श्रेष्ठः अस्तु**=प्रशस्त (उत्तम) जीवनवाला हो। यह **सुरेक्णाः**=उत्तम धनवाला है। धन के कारण यह विलास में न फँसकर यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को करनेवाला बने। (२) **मर्तः**=यह कर्मों द्वारा आपकी उपासना करनेवाला मनुष्य **सुवृक्तिं आनाश**=शोभनतया पापवर्जन को व्याप्त करता है। वस्तुतः यह कर्मों में लगे रहना उनके जीवन को शुद्ध बनाये रखता है, अकर्मण्यता ही पाप का कारण बनती है। यह कर्मशील पुरुष सदा सुमार्ग से ही धन का अर्जन करता है।

भावार्थ—यज्ञ आदि उत्तम कर्मों के द्वारा प्रभु का सम्भजन करनेवाला मनुष्य दानशील होता है, यह श्रेष्ठ जीवनवाला व उत्तम मार्ग से धन को कमानेवाला होता है। यह पापों से बचा रहता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तरन्तः-वन्वन्तः

ते ते अग्ने त्वोता इषयन्तो विश्वमायुः। तरन्तो अर्यो अरातीर्वन्वन्तो अर्यो अरातीः॥ २७॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते**=वे **ते**=आपके ही हैं, जो कि **त्वा ऊताः**=आपसे रक्षित हुए-हुए, **इषयन्तः**=आपकी प्रेरणा को प्राप्त करने की कामनावाले होते हुए **विश्वं आयुः**=सम्पूर्ण जीवन में **अर्यः**=आक्रमण करनेवाली (अभिगंत्रीः) **अरातीः**=शत्रुसेनाओं को **तरन्तः**=तैर जाते हैं। (२) प्रभु प्रेरणा को सुनते हुए ये शक्ति **अर्यः**=आक्रमणकारी **अरातीः**=शत्रु-सेनाओं को **वन्वन्तः**=हिंसित करते हैं। सदा शत्रुओं का शातन करते हुए ये व्यक्ति आगे बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु भक्त वे हैं—(क) जो प्रभु के बन जाएँ, (ख) प्रभु से रक्षित हुए हुए प्रभु की प्रेरणा को सुनें, (ग) प्रभु प्रेरणा के द्वारा वासनारूप शत्रुओं का हिंसन कर दें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शत्रु विनाश व धन प्राप्ति

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद्विश्वं न्यत्रिणम्। अग्निर्नो वनते रयिम्॥ २८॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **तिग्मेन शोचिषा**=अपनी तीव्र ज्ञानदीप्ति से सब **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाले काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को **नियासत्**=(निहतु) नष्ट करें। प्रभु ने ही तो काम को भस्म करना है। (२) इन काम आदि शत्रुओं को नष्ट करके अब वे **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **नः**=हमारे लिये **रयिं वनते**=धनों को देते हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' यदि हमारे 'स्वास्थ्य, शान्ति व ज्ञानदीप्ति' रूप धन को नष्ट करते हैं, तो इनका विनाश हमें पुनः 'स्वास्थ्य, शान्ति व दीप्ति' रूप धनों को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं का नाश करते हैं और 'स्वास्थ्य, शान्ति

व दीप्ति' रूप धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जहि रक्षांसि सुक्रतो

सुवीरं रयिमा भर जातवेदो विचर्षणे। जहि रक्षांसि सुक्रतो॥ २९॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ व सर्वधन, **विचर्षणे**=सब के द्रष्टा, सबका ध्यान करनेवाले प्रभो! **सुवीरम्**=शोभन वीर सन्तानोंवाले **रयिम्**=धन को **आभर**=हमें सर्वथा प्राप्त कराइये। सामान्यतः धनाधिकृत ऐश्वर्य में पलने के कारण आरामपसन्दगी को प्राप्त कराके सन्तानों के जीवनों को विगाड़ देता है। हमारा धन 'सुवीर' हो, वीर सन्तानोंवाला हो। (२) हे **सुक्रतो**=शोभन कर्म, शोभन प्रज्ञान व शोभन शक्तिवाले प्रभो! आप **रक्षांसि जहि**=राक्षसीभावों को विनष्ट करिये। 'क्रतु' ही हमें इन आसुरभावों को जीवन में समर्थ करता है।

भावार्थ—हमारा धन वीर सन्तानोंवाला हो तथा हम राक्षसीभावों को विनष्ट करनेवाले हों।

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान व पाप-निराकरण

त्वं नः पाह्यंहसो जातवेदो अघायतः। रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे॥ ३०॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **पाहि**=बचाइये। आप हमें ज्ञान देकर शुद्ध जीवनवाला बनाइये। (२) हे **ब्रह्मणस्कवे**=इन ज्ञान की वाणियों के शब्दयितः प्रभो! आप **नः**=हमें **अघायतः**=हमारे अघ की कामनावाले, पाप व कष्ट की कामनावाले, सब शत्रुओं से **रक्षा**=रक्षित करिये। आपकी इन ज्ञान वाणियों को सुनते हुए हम सब पापों से ऊपर उठ जाएँ।

भावार्थ—ज्ञान देकर वे सर्वत्र प्रभु हमें पापों से बचाएँ।

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'दुरेव मर्त व पाप' से रक्षण

यो नो अग्ने दुरेव आ मर्तो वधाय दाशति। तस्मान्नः पाह्यंहसः॥ ३१॥

(१) हे **अग्ने**=शत्रुओं को भस्म करनेवाले प्रभो! **यः**=जो **दुरेवः**=दुष्ट अभिप्रायवाला **मर्तः**=मनुष्य **नः**=हमें **वधाय**=मारण के साधनभूत आयुधों के लिये **आदाशति**=सब प्रकार से देता है, अर्थात् जो हमें अस्त्रों द्वारा मारने की कामना करता है, **तस्मात्**=उससे **नः पाहि**=हमें बचाइये। (२) **अंहसः**=(नः पाहि) सब पापों से भी हमें बचाइये।

भावार्थ—प्रभु हमें दुष्टाभिप्रायवाले मनुष्यों से तथा पापों से बचाएँ।

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दुष्कृतं जिह्वया परिबाधस्व

त्वं तं देव जिह्वया परि बाधस्व दुष्कृतम्। मर्तो यो नो जिघांसति॥ ३२॥

(१) हे **देव**=सब शत्रुओं को जीतने की कामनावाले प्रभो! **त्वम्**=आप **तम्**=उस **दुष्कृतम्**=पापाचरण करनेवाले मनुष्य को **जिह्वया**=जिह्वा से दिये जानेवाले ज्ञानोपदेश के द्वारा **परिबाधस्व**=बाधित करिये, उसे पाप करने से रोकिये। (२) उस मनुष्य को अशुभ कर्मों से रोकिये **यः मर्तः**=जो मनुष्य **नः जिघांसति**=हमें मारने की कामना करता है। ज्ञानोपदेश द्वारा

इसकी इस जिघांसा वृत्ति को दूर करिये।

भावार्थ—प्रभु दुष्कृत पुरुष को भी ज्ञानोपदेश प्राप्त कराके अशुभ कर्मों से रोकें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शर्म+वसु (सप्रथः शर्म, वरेण्यं वसु)

भरद्वाजाय सप्रथः शर्म यच्छ सहन्त्य। अग्ने वरेण्यं वसु॥ ३३॥

(१) हे **सहन्त्य**=शत्रुओं का अभिभव करनेवालों में उत्तम प्रभो! आप **भरद्वाजाय**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले के लिये **सप्रथः शर्म**=दिन प्रतिदिन विस्तारवाले सुख को **यच्छ**=दीजिये। शत्रुओं के अभिभव द्वारा ही शक्ति का रक्षण होता है। शक्तिरक्षण से ही सुख-वृद्धि होती है। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **वरेण्यं वसु**=वरने योग्य धनों को प्राप्त कराइये, जो धन विलास का कारण बनता है, वह कभी वरेण्य नहीं होता।

भावार्थ—हे प्रभो! आप शक्ति को अपने में भरनेवाले के लिये विस्मृत होते हुए सुख को तथा वरणीय वसु (धन) को दीजिये।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्रविणस्युः-आहुतः

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्र आहुतः॥ ३४॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु! **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जङ्घनत्**=विनष्ट करते हैं। वस्तुतः प्रभु की उपस्थिति में कामदेव का तो विध्वंस हो जाता है। वे प्रभु वृत्रों का विनाश करके हमारे लिये **द्रविणस्युः**=द्रविणों, धनों को, ज्ञानधन को चाहते हैं। (२) हमारे लिये ज्ञान को प्राप्त करानेवाले वे प्रभु **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा **समिद्धः**=हृदयदेश समिद्ध किये जाते हैं। **शुक्रः**=वे प्रभु दीप्त हैं। हमारे हृदयों में समिद्ध होने पर उन हृदयों को दीप्त करनेवाले हैं। **आहुतः**=(आ हुतं यस्या) समन्तात् प्रभु का होतृत्व व्यक्त हो रहा है। सर्वत्र जीवहित के लिये प्रभु के दान विद्यमान हैं। इन सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करते हुए हम जीवनयात्रा को पूर्ण करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करते हैं और हमारे लिये ज्ञानधनों को प्राप्त कराते हैं। विशिष्ट स्तुति के द्वारा हृदय में समिद्ध हुए-हुए वे प्रभु हमें दीप्त करते हैं। इन प्रभु की ही दान-क्रियाएँ सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'गर्भे मातुः, पितुः पिता'

गर्भे मातुः पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे। सीदन्नृतस्य योनिमा॥ ३५॥

(१) ('द्यौः पिता, पृथिवी माता') वे प्रभु **मातुः गर्भे**=इस मातृतुल्य पृथिवी के मध्य में है। इस प्रभु की सत्ता के कारण ही इस पृथ्वी में सर्वत्र पुण्य गन्धन्दी उपस्थिति है 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च'। वे **पितुः पिता**=द्युलोक रूप पिता के भी पिता (पालक) हैं। आकाश में 'शब्द रूप से इन्हीं का निवास है' 'शब्दः खे'। **अक्षरे**=विनाशी वेद ज्ञान में **विदिद्युतानः**=विशिष्टरूप से दीप्त हो रहे हैं 'सर्वे वेदाः यत् पदं आमनन्ति'। सब वेद के शब्दों में इस प्रभु का ही प्रतिपादन हो रहा है। (२) ये प्रभु **ऋतस्य योनिं आसीदन्**=ऋत के मूल उत्पत्ति-स्थान में स्थित होते हैं। वस्तुतः ऋत को जन्म देनेवाले ये प्रभु ही हैं। 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोध्यजायत'। इस ऋत

को अपनाते हुए हम भी अपने हृदयों को प्रभु का अधिष्ठान बना पाते हैं।

भावार्थ—यह पृथिवी माता तथा द्यौः पिता तुल्य हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रजावद् ब्रह्म

ब्रह्म प्रजावदा भर जातवेदो विचर्षणे। अग्ने यद्दीदयद्दिवि ॥ ३६ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ, **विचर्षणे**=विशेषरूप से सब प्रजाओं के द्रष्टा, सबका ध्यान करनेवाले प्रभो! **प्रजावत्**=प्रकृष्ट विकासवाले **ब्रह्म**=ज्ञान को **आभर**=हमें सर्वथा प्राप्त कराइये। उस ज्ञान को दीजिये जो हमारे सब प्रकार से विकास का कारण बने। (२) हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! हम आपके अनुग्रह से उस ज्ञान को प्राप्त करें, **यत्**=जो **दिवि दीदयत्**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में दीप्ति का कारण होता है। जैसे आकाशस्थ सूर्य सर्वत्र प्रकाश व प्राणशक्ति का सञ्चार करता है, इसी प्रकार ये प्रभु हमारे मस्तिष्क में ज्ञान सूर्य को उदित करके हमारे जीवनों को प्रकाशमय व विकसित शक्तियोंवाला बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें उस ज्ञान को प्राप्त कराएँ जो कि हमारे लिये सब शक्तियों के विकास का कारण बने।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'रण्वसन्दृक्' प्रभु

उप त्वा रण्वसंन्दृशं प्रयस्वन्तः सहस्कृत। अग्ने ससृज्महे गिरः ॥ ३७ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **रण्वसन्दृशम्**=रमणीय दर्शनवाले आपके **उप**=समीप स्थित होते हुए हम **गिरः ससृज्महे**=ज्ञान की वाणियों को उत्पन्न करते हैं। आपकी उपासना हमारे ज्ञानवर्धन का कारण बनती है। (२) हे **सहस्कृत**=हमारे में इस ज्ञान के द्वारा शत्रु-मर्षक बल को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! हम आप से दिये गये इस ज्ञान के द्वारा ही **प्रयस्वन्तः**=प्रकृष्ट उद्योगोंवाले होते हैं। ज्ञान हमारे जीवनों व प्रयत्नों को पवित्र करता है।

भावार्थ—उस अग्नि की उपासना करते हुए हम उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान से प्रकृष्ट प्रयत्नोंवाले होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उपासना से शान्ति की प्राप्ति

उप च्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम्। अग्ने हिरण्यसंदृश ॥ ३८ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप, सब बुराइयों को दग्ध करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **हिरण्यसंदृशः**=हितरमणीय तेजवाले अथवा हिरण्य (स्वर्ण) की तरह रोचमान तेजवाले **घृणेः**=दीप्त **ते**=आपके **शर्म**=शरण को **उप अगन्म**=समीपता से इस प्रकार प्राप्त हों, **इव**=जैसे कि गर्मी से पीड़ित मनुष्य **छायाम्**=छाया को प्राप्त होते हैं। (२) प्रभु की उपासना हमारे लिये इसी प्रकार शान्ति को देनेवाली हो, जैसे कि गर्मी से पीड़ित पुरुष को वृक्ष की छाया शान्ति को देनेवाली होती है। उपासना का सर्वमहान् लाभ यह व्याकुलता का न होना ही है।

भावार्थ—प्रभु की शरण क्लेश सन्तप्त पुरुषों के लिये शान्ति को देनेवाली होती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आसुर पुरियों का विदारण

य उग्रइंव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंसगः। अग्ने पुरो रुरोजिथ॥ ३९॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो आप **शर्यहा**=(शर्य-हा) वाणों से हनन करनेवाले शिकारी की **इव**=तरह **उग्रः**=उद्गूर्ण बलवाले हैं। **वंसगः**=वननीय (सुन्दर) गतिवाले वृषभ की तरह **तिग्मशृङ्गः**=अति तीक्ष्ण शृंगोंवाले हैं। अर्थात् जैसे एक वृषभ सींगों द्वारा मार्ग में विघ्नभूत चीजों को दूर करता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार आप उपासक के मार्ग में विघ्नभूत बातों को दूर करनेवाले हैं। (२) हे अग्ने! आप **पुरः**=शत्रु पुरियों को **रुरोजिथ**=भग्न करते हो। 'काम' नामक असुर इन्द्रियों में अपनी नगरी बनता है, इससे इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती है। क्रोध मन में अपना दुर्ग बनाकर मानस शान्ति को विनष्ट करता है। लोभ बुद्धि में स्थित होकर बुद्धि को समाप्त कर देता है। प्रभु इन असुरों की इन तीनों पुरियों को समाप्त करते हैं। उपासना का यही लाभ है।

भावार्थ—प्रभु तेजस्वी शिकारी के समान शरों द्वारा काम, क्रोध व लोभ रूप पशुओं का संहार करते हैं। सुन्दर गतिवाले वृषभ के समान प्रभु इन सब मार्ग विघ्नों को दूर करते हैं। आसुर पुरियों का विदारण करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

खादिनं-अग्निं-स्वध्वरम्

आ यं हस्ते न खादिनं शिशुं जातं न बिभ्रति। विशामग्निं स्वध्वरम्॥ ४०॥

(१) (न=संप्रति) **यम्**=जिस प्रभु को **न**=अब **जातं शिशुं न**=उत्पन्न हुए-हुए बालक की तरह **हस्ते**=हाथ में **बिभ्रति**=धारण करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार बालक को प्रेम से धारण करते हैं, इसी प्रकार प्रभु को भी आदरयुक्त प्रीति से धारण करने का प्रयत्न करते हैं। (२) उस प्रभु को धारण करते हैं जो कि **खादिनम्**=(भक्षक) सब शत्रुओं को खा जानेवाले हैं। **विशां अग्निम्**=सब प्रजाओं को, शत्रु-विनाश द्वारा, आगे ले चलनेवाले हैं। **स्वध्वरम्**=और हमारे जीवनों में उत्तम हिंसारहित कर्मों को सिद्ध करनेवाले हैं। प्रभु कृपा से ही जीवन में सब यज्ञ चलते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयों में आदरपूर्वक इस प्रकार धारण करें, जैसे कि उत्पन्न बालक को प्रीतिपूर्वक हाथ में उठाते हैं। वे प्रभु शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं। शत्रुओं के हिंसन के द्वारा हमें आगे ले चलनेवाले हैं और उत्तम हिंसा रहित यज्ञों को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वसुवित्तम' देव

प्र देवं देववीतये भरता वसुवित्तमम्। आ स्वे योनौ नि षीदतु॥ ४१॥

(१) **देवम्**=उस प्रकाशमय, दिव्यगुणों के पुञ्ज, **वसुवित्तमम्**=अधिक अधिक वसुओं के प्राप्त करानेवाले प्रभु को **प्रभरत**=प्रकर्षेण हृदयों में धारण करो। **देववीतये**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये उस देव का धारण ठीक ही है। (२) हमारा हृदय प्रभु का निवास-स्थान बने। वे प्रभु **स्वे योनौ**=अपने इस उपासक हृदय रूप गृह में **आ निषीदतु**=सर्वथा आसीन हों। हमारा हृदय प्रभु का अधिष्ठान बने। प्रभु के वहाँ स्थित होने पर ही वासनाओं का दहन होकर दिव्यगुणों का जन्म होगा।

भावार्थ—प्रभु देव हैं, वसुवित्तम हैं। हम अपने हृदयों को प्रभु का आधार बनाएँ और इस

प्रकार वासनादहन करके दिव्य गुणों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु को हृदय में स्थापित करना

आ जातं जातवेदसि प्रियं शिशीतातिथिम्। स्योन आ गृहपतिम्॥ ४२॥

(१) **आजातम्**=समन्तात् प्रादुर्भूत, जिसकी महिमा सब ओर प्रकट हो रही है, उस **प्रियम्**=प्रीति को उत्पन्न करनेवाले **अतिथिम्**=हमारे हित के लिये निरन्तर गतिशील, **गृहपतिम्**=इस शरीर रूप गृह के रक्षक प्रभु को **जातवेदसि**=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें उस **स्योने**=आनन्दमय हृदय में **आ शिशीत**=(शी) स्थापित करो। (२) हृदय को स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानोज्ज्वल बनाएँ, ध्यान के द्वारा प्रसादयुक्त करें। तभी यह हृदय प्रभु का अधिष्ठान बनने के योग्य होता है। हृदयस्थ प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करके हमारे इस शरीर गृह को सुरक्षित करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'साधवः अश्वासः'

अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः। अरं वहन्ति मन्यवे॥ ४३॥

(१) **अग्ने**=हे परमात्मन्! **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **ये**=जो **तव**=आपके **हि**=निश्चय से **साधवः**=जीवनयात्रा में सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व हैं, उन्हें **युक्ष्व**=हमारे इस शरीररथ में जोतिये। (२) आपके अनुग्रह से हमारा शरीर-रथ उन इन्द्रियाश्वों से युक्त हो जो हमें **मन्यवे**=ज्ञान प्राप्ति के लिये **अरम्**=खूब ही **वहन्ति**=ले चलते हैं। हमारी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ग्रहण करती हुई ज्ञानवृद्धि का साधन बनें।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराइये जो हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**साम्नी त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वीतये, सोमपीतये

अच्छा नो याह्या वहाभि प्रयांसि वीतये। आ देवान्त्सोमपीतये॥ ४४॥

(१) हे प्रभो! **नः अच्छा**=हमारी ओर **आयाहि**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइये। हमें **प्रयांसि अभिः**=सात्त्विक अन्नों की ओर **आवह**=ले चलिए। हम सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें। **वीतये**=अज्ञानान्धकार के ध्वंस के लिये यह सात्त्विक अन्नों का सेवन आवश्यक ही है 'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'। (२) हमें **देवान् आ**=दिव्यगुणों को प्राप्त कराइये जिससे हम **सोमपीतये**=सोम का शरीर में पान कर सकें। शरीर में सोम का रक्षण आवश्यक ही है। और यह रक्षण तभी होता है जब हम आसुरभावों से दूर हों और दैवीवृत्तियों के समीप हों।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, सात्त्विक अन्नों का सेवन करें जिससे अज्ञानान्धकार का ध्वंस हो। अपने अन्दर दिव्य गुणों का धारण करते हुये आसुरभावों से ऊपर उठें जिससे सोम का (वीर्य का) रक्षण कर सकें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दीप्त प्रभु हमें भी दीप्त करें

उदग्ने भारत द्युमदजस्त्रेण दविद्युतत्। शोचा वि भाह्यजर॥ ४५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी **भारत**=हम सबका भरण करनेवाले प्रभो! आप **अजस्त्रेण**=निरन्तर

द्युमत्=खूब ज्योति के साथ **दविद्युतत्**=ज्ञान दीप्ति से द्योतमान होते हुए **उत् शोच**=खूब ही दीप्त होइये। (२) हे **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! आप **विभाहि**=विशिष्ट रूप से हमारे हृदयों को दीप्त करिये (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र भातिः)।

भावार्थ—प्रभु अनुपम ज्योति से दीप्त हैं। वे हमारे अन्तःकरणों को दीप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अग्निमीडीत अध्वरे

वी॒ती यो दे॒वं मर्तो॑ दुव॒स्येद॒ग्निमी॑ळीताध्व॒रे ह॒विष्मा॑न्।
होता॑रं स॒त्य॒यजं॒ रोद॑स्योरुत्ता॒नह॑स्तो॒ नम॒सा वि॑वासेत्॥ ४६ ॥

(१) **यः मर्तः**=जो मनुष्य **वीती**=अज्ञानान्धकार के ध्वंस के हेतु **देवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **दुवस्येत्**=पूजित करे, उस प्रभु की पूजने की कामना करे, वह **अध्वरे**=हिंसारहित कर्मोंवाले जीवन यज्ञ में **हविष्मान्**=प्रशस्त हविवाला होकर **अग्निं ईडीत**=उस अग्रेणी प्रभु का स्तवन करे। प्रभु का स्तवन यज्ञों द्वारा ही होता है। यज्ञ ही प्रभु को दृश्य स्तवन है। (२) उस **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले, **सत्ययजम्**=सत्य का हमारे साथ संगमन करनेवाले प्रभु को **रोदस्योः उत्तानहस्तः**=द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में, ऊपर हाथवाला, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के दृष्टिकोण से उन्नत हुआ-हुआ व्यक्ति **नमसा**=नमन के द्वारा **विवासेत्**=पूजा करे। प्रभु का पूजन यही है कि हम शरीर को शक्तिशाली बनाएँ, मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करें और नमन की वृत्तिवाले हों।

भावार्थ—हम त्याग की वृत्तिवाले बनकर प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु का पुजारी वह है जो शरीर को शक्तिशाली और मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बनाकर नम्रता का धारण करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उक्षणः ऋषभासः वशाः

आ ते॑ अग्न ऋ॒चा ह॒विर्हृ॒दा त॒ष्टं भ॑रामसि। ते ते॑ भवन्तू॒क्षण॑ ऋष॒भासो॑ व॒शा उ॒त॥ ४७ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **ऋचा**=ऋचाओं के साथ, विज्ञानपूर्वक अथवा 'ऋच् स्तुतौ' स्तुतिपूर्वक **हृदातष्टम्**=हृदय से निर्मित, अर्थात् श्रद्धापूर्वक की गई **हविः**=हवि को त्यागपूर्वक अदन को **भरामसि**=धारण करते हैं। विज्ञान और श्रद्धा से किये गये यज्ञरूप कर्म ही प्रभु प्राप्ति का साधन बनते हैं। (२) **ते**=वे विज्ञान और श्रद्धापूर्वक हवि को अपनानेवाले लोग **ते**=वस्तुतः आपके हैं। ये लोग **उक्षणः**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले बनें, **ऋषभासः**=श्रेष्ठ व गतिशील हों ('ऋष गतौ') **उत**=और **वशाः**=अपनी इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाले **भवन्तु**=हों। शक्ति का अपने में सेचन करके ही हम गतिशील बनते हैं। यह गतिशीलता हमें इन्द्रियों के वशीकरण में समर्थ करती है।

भावार्थ—'ज्ञान व श्रद्धापूर्वक हम यज्ञों को करें' यही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है। ये प्रभु के व्यक्ति (क) अपने में शक्ति का सेचन करते हैं, (ख) ये गतिशील होते हैं और (ग) इन्द्रियों को वश में करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वसुधारण व रक्षो विनाश

अ॒ग्निं दे॒वासो॑ अग्नि॒यमि॒न्धते॑ वृत्र॒हन्त॑मम्। येना॒ वसू॒न्याभृ॑ता तृ॒ळ्हा रक्षां॑सि वा॒जिना॑॥ ४८ ॥

(१) **देवासः**=देववृत्ति के व्यक्ति **अग्रियम्**=मुख्य **वृत्रहन्तमम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को अधिक से अधिक विनष्ट करनेवाले **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **इन्धते**=अपने हृदय देश में समिद्ध करते हैं। उस देव के दर्शन के लिये देव बनना आवश्यक ही है। (२) उस प्रभु को ये समिद्ध करते हैं, **येन**=जिससे **वसूनि**=सब वसु (धन) **आभृता**=समन्तात् धारण किये जाते हैं। प्रभु के दर्शन से जीवन सब वसुओं से सम्पन्न बनता है। जिस **वाजिना**=शक्तिशाली प्रभु से **रक्षांसि तृढा**=सब राक्षसी भाव हिंसित होते हैं। प्रभु वसुओं को धारण कराते हैं, राक्षसी भावों को विनष्ट करते हैं। राक्षसीभाव वसुओं के विरोधी तत्त्व हैं। इन राक्षसी भावों से वसुओं का विनाश होता है।

भावार्थ—देववृत्ति के बनते हुए हम प्रभु को हृदयदेश में देखने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें वसुओं को प्राप्त कराके उत्तम निवासवाला बनायेंगे और हमारे राक्षसीभावों का विनाश करेंगे।

अगले सूक्त में भरद्वाज बार्हस्पत्य 'इन्द्र' नाम से प्रभु का स्मरण करते हैं—

अथ चतुर्थाष्टके षष्ठोऽध्यायः

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रियसमूह की वासना से मुक्ति

पिबा सोमम॒भि यमु॑ग्र तर्द॑ ऊ॒र्वं गव्यं॒ महि॑ गृणा॒न इ॑न्द्र।
वि यो धृ॑ष्णो॒ वधि॑षो वज्रहस्त॒ विश्वा॑ वृ॒त्रम॑मि॒त्रिया॒ शवो॑भिः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **उग्रः**=तेजस्वी आप **महि गृणानः**=खूब स्तवन किये जाते हुए **यम्**=जिस सोम का **अभि**=लक्ष्य करके **गव्यं ऊर्वम्**=इन्द्रियों सम्बन्धी समूह को **तर्दः**=(to set free) वासनाओं से मुक्त करते हो उस **सोमम्**=सोम का **पिब**=पान करिये, शरीर में रक्षण करिये। प्रभु स्तवन से सोम वासनाओं का विनाश होता है और इन्द्रिय समूह वासनाओं के आवरण से बचा रहता है और इस प्रकार शरीर में सोम के रक्षण सम्भव होता है। (२) **यः**=जो आप हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले, **वज्रहस्त**=वज्र हाथ में लिए हुए प्रभो, **विश्वा अमित्रिया**=सब हमारे शत्रुभूत **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत काम-क्रोध आदि को **शवोभिः**=बलों के द्वारा **विवधिषः**=विशिष्टरूप से नष्ट कर देते हैं, वे आप सोम का पान (रक्षण) कीजिए।

भावार्थ—प्रभु इन्द्रियसमूह को वासनामुक्त करके हमें सोम के रक्षण के योग्य बनाते हैं, प्रभु अपनी शक्ति से इन अमित्रभूत वासनाओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋजीषी तरुत्रः

स ईं॑ पाहि॒ य ऋ॑जी॒षी तरु॑त्रो॒ यः शिप्र॑वान्वृष॒भो यो म॑ती॒नाम्।
यो गो॑त्र॒भिद्व॑ज्र॒भृद्यो ह॑रि॒ष्ठाः स इ॑न्द्र चि॒त्राँ अ॒भि तृ॑न्धि॒ वाजा॑न् ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **यः**=जो आप **ऋजीषी**=(ऋतु+इष) **ऋजुता**=सरलता की प्रेरणा देनेवाले हैं और इस प्रकार **तरुत्रः**=वासनाओं से तरानेवाले हैं, **यः**=जो आप **शिप्रवान्**=शोभन हनु व नासिकावाले हैं, अर्थात् हमें उत्तम सात्त्विक भोजन को चबाकर करनेवाला बनाते हैं (हनु) तथा

प्राणायाम की साधना में प्रवृत्त (नासिका) करते हैं **यः**=जो आप **मतीनां वृषभः**=विचारशील पुरुषों पर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **सः**=वे आप **ईम्**=निश्चय से **पाहि**=इस सोम का रक्षण कीजिए। वस्तुतः सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि—(क) हम ऋजुता से चलें, छलछिद्र को छोड़कर चलें (ऋजीषी), (ख) वासनाओं को तरें (नरुत्रः), (ग) सात्त्विक भोजन चबाकर खाएँ तथा (घ) प्राणायाम करें (शिप्रवान्) (ङ) बुद्धि के सम्पादन में प्रवृत्त हों। (२) **सः**=जो आप **गोत्रभिद्**=अविद्या-पर्वत का विदारण करनेवाले हैं, **वज्रभृत्**=शत्रु-विनाश के लिए वज्र को धारण किये हुए हैं। **यः**=जो आप **हरिष्ठाः**=सब इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठाता हैं। **सः**=वे आप, हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **चित्रान्**=अद्भुत **वाजान्**=शक्तियों को **अभितृन्धि**=हमारे लिये प्रकाशित करिए। हम आपके अनुग्रह से खूब शक्ति-सम्पन्न बनें।

भावार्थ—प्रभु ऋजु मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए हमारे सोम का रक्षण करते हैं। ये प्रभु अविद्या का नाश करते हुए हमारे लिये अद्भुत शक्तियों का प्रकाश करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आविः सूर्यं कृणुहि

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि॥ ३॥

(१) प्रभु जीव को प्रेरणा देते हैं—**एवा**=गतिशीलता के द्वारा (इ गतौ) **पाहि**=तू सोम का रक्षण कर। क्रियाओं में लगे रहने से तू वासनाओं से बचेगा और सोम का रक्षण कर पाएगा। यह सुरक्षित सोम **त्वा प्रत्नथा मन्दतु**=तुझे सदा की तरह आनन्दित करे। सोमरक्षण से आनन्द का अनुभव तो होता ही है। **ब्रह्म श्रुधि**=तू सदा ज्ञान का श्रवण कर। **उत**=और **गीर्भिः**=इन ज्ञान की वाणियों से **वावृधस्व**=वृद्धि को प्राप्त हो। (२) इन ज्ञान की वाणियों के श्रवण से ज्ञान वृद्धि के द्वारा तू **सूर्यं आविः कृणुहि**=अपने जीवन ज्ञान के सूर्य प्रभु को प्रकट कर और **इषः**=प्रेरणाओं की तू **पीपिहि**=बढ़ानेवाला हो, अर्थात् प्रभु प्रेरणा को अधिकाधिक सुननेवाला हो। इस प्रेरणा से प्रेरित हुआ-हुआ तू **शत्रून् जहि**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट कर और **गाः**=इन इन्द्रियों को **अभितृन्धि**=सब वासनाओं से मुक्त करके प्रकाशित कर।

भावार्थ—सोमरक्षण ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति का साधन है। इसी से प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है और प्रभु प्रेरणा में चलते हुए हम विजयी बनते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुरक्षित सोम हमें कैसा बनाएगा?

ते त्वा मदा बृहदिन्द्र स्वधाव इमे पीता उक्षयन्त द्युमन्तम्।
महामनूनं तवसं विभूतिं मत्सरासो जर्हृषन्त प्रसाहम्॥ ४॥

(१) हे **स्वधावः**=आत्मधारण शक्तिवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इमे**=ये **मदाः**=उल्लास के जनक **पीताः**=शरीर में पान किये गये हुए **ते**=वे सोम **त्वा**=तुझे **बृहत्**=खूब ही **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय रूपवाले को **उक्षयन्त**=सिक्त करें। सोमकणों से तेरा अंग-प्रत्यंग प्राप्त हो जाए। (२) **मत्सरासः**=आनन्द का संचार करनेवाले ये सोम **जर्हृषन्त**=तुझे आनन्दित करें। जो तू **महाम्**=महान् बना है। **अनूनम्**=न्यूताओं से रहित हुआ है। **तवसम्**=बलवान् बना है। **विभूतिम्**=विशिष्ट ऐश्वर्यवाला हुआ है (वि-भूति) और **प्रसाहम्**=शत्रुओं का विशेषरूप से कुचलनेवाला हुआ है।

भावार्थ—सोम, शरीर में पिया जाकर, हमें ज्योतिर्मय जीवनवाला आनन्दयुक्त, बढ़ा हुआ व विजयी बनाएँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्यं उषसं अवासयः

येभिः सूर्यमुषसं मन्दसानोऽवासयोऽप दृळ्हानि दर्द्रत्।
महामद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं नुत्था अच्युतं सदसस्परि स्वात्॥ ५॥

(१) **येभिः**=जिन सोमकणों के द्वारा **मन्दसानः**=आनन्द का अनुभव करता हुआ तू **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को तथा **उषसम्**=दोषदहन को **अवासयः**=अपने में बसाता है। **दृढानि**=दृढ़ शत्रु के दुर्गों का **अपदर्द्रत्**=विदारण करता है। (२) **गाः परिसन्तम्**=इन्द्रियों के चारों ओर होते हुए, अर्थात् इन्द्रियों को घेर लेनेवाले **महाम्**=महान् **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **नुत्थाः**=तू परे ढकेलता है। उस अविद्या पर्वत को तू परे ढकेलता है, जो कि **स्वात् सदसः परि अच्युतम्**=अपने स्थान से बड़ी कठिनता से हिलाया जाता है, अर्थात् बड़ा दृढ़ है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) आनन्द की प्राप्ति होती है, (ख) ज्ञानसूर्य का उदय होता है, (ग) दोषों का दहन होता है, (घ) अविद्या पर्वत हिल जाते हैं, (ङ) शत्रुओं के दृढ़ दुर्गों का विदारण हो जाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासनाओं से इन्द्रियों का मोचन

तव क्रत्वा तव तद्दंसनाभिरामासु पक्वं शच्या नि दीधः।
औणोर्दुर उस्त्रियाभ्यो वि दृळ्होदूर्वाद्गा असृजो अङ्गिरस्वान्॥ ६॥

(१) हे प्रभो! आप **तव क्रत्वा**=अपने प्रज्ञान के द्वारा, **तव**=अपने **दंसनाभिः**=कर्मों के द्वारा तथा **शच्या**=सामर्थ्य से **आमासु**=हमारी अपरिपक्व बुद्धियों में **तत्**=उस **पक्वम्**=परिपक्व ज्ञान को **निदीधः**=स्थापित करते हो। इस ज्ञान के द्वारा ही आप हमारी बुद्धियों को परिपक्व करते हैं। (२) **उस्त्रियाभ्यः**=इन इन्द्रियरूप गौओं के लिये **दृढा**=बड़े दृढ़ भी **दुरः**=द्वारों को **और्णोः**=खोल देते हैं और **ऊर्वात्**=इस वासना समूह के बाड़े से **गाः**=इन्द्रियरूप गौओं को **वि असृजः**=बाहर करते हैं और इस प्रकार **अंगिरस्वान्**=हमें उत्कृष्ट ज्ञानवाला बनाते हैं (अगि गतौ)-अंगारों की तरह हमारा ज्ञान दीप्त होता है और उसमें सब अशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं। वासनाओं का एक दुर्ग है, प्रभु उसके दृढ़ द्वारों को खोलकर हमारी इन्द्रियरूप गौवों को उस दुर्ग से मुक्त करते हैं और इस प्रकार हम उन गौवों के द्वारा ज्ञानदुग्ध को पीकर 'अंगिरस्' बन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने प्रज्ञान कर्म व सामर्थ्य से हमारी अपरिपक्व बुद्धियों में परिपक्व ज्ञान की स्थापना करते हैं। इन्द्रियों को वासनाओं से मुक्त करके ज्ञान-ग्रहणक्षम करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उर्वीक्षा, बृहत् द्यौः

पप्राथ क्षां महि दंसो व्यु१र्वीमुप द्यामृष्वो बृहदिन्द्र स्तभायः।
अधारयो रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **उर्वी क्षाम्**=विशाल पृथिवी को, इस पृथिवीरूप

शरीर को **पप्राथ**=विस्तृत करते हो। इस शरीर के द्वारा **महि दंसः (पप्राथ)**=महत्त्वपूर्ण कार्यों को भी आप ही करते हो। **ऋष्वः**=महान् आप ही **बृहत् द्याम्**=इस विशाल द्युलोक को, मस्तिष्करूपी द्युलोक को **उपस्तभायः**=थामते हैं। मस्तिष्क का धारण भी आप ही करते हैं। (२) हे प्रभो! इस प्रकार **रोदसी**=इन द्यावापृथिवी को आप ही **अधारयः**=धारण करते हैं, हमारे शरीरों व मस्तिष्कों का धारण करनेवाले आप ही हैं। उन द्यावापृथिवी को, जो **देवपुत्रे**=दिव्य गुणों के जन्म देनेवाले हैं, देव जिनके पुत्र हैं। **प्रत्ने**=जो पुराण हैं, चिरकाल तक रहनेवाले हैं। **यह्वी**=महान् हैं, महत्त्वपूर्ण कार्यों को करनेवाले हैं और **ऋतस्य मातरः**=हमारे जीवन में यज्ञों का निर्माण करनेवाले हैं, अर्थात् उत्तम कर्मों को सिद्ध करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे मस्तिष्क रूप द्युलोक शरीररूप पृथिवी को इस प्रकार धारण करते हैं कि ये दिव्य गुणों व यज्ञों को सिद्ध करते हुए दीर्घकाल तक सुरक्षित रहते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु द्वारा संग्राम विजय

अध त्वा विश्वे पुर इन्द्र देवा एकं तवसं दधिरे भराय।
अदेवो यदभ्यौहिष्ट देवान्त्स्वर्षाता वृणत इन्द्रमत्र॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अध**=अब **विश्वे देवाः**=सब देववृत्ति के व्यक्ति **एकम्**=अद्वितीय **तवसम्**=बढ़े हुए, अर्थात् शक्तिशाली **त्वा**=आपको **भराय**=संग्राम के लिए **पुरः दधिरे**=सामने स्थापित करते हैं। आपने ही तो वस्तुतः शत्रुओं को जीतना है। (२) **यद्**=जब **अदेवः**=आसुरभाव **देवान्**=देववृत्ति के व्यक्तियों को **अभ्यौहिष्ट**=आक्रान्त करता है तो वे देव **अत्र**=यहाँ **स्वर्षाता**=संग्राम में **इन्द्रम्**=उस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु का **वृणते**=वरण करते हैं। इस प्रभु के द्वारा वे अपने शत्रुओं को पराजित करते हैं।

भावार्थ—असुरों का आक्रमण होते ही देव प्रभु को संग्राम में आगे करते हैं और इस प्रकार असुरों के आक्रमण को विफल कर देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अहि-हनन

अध द्यौश्चित्ते अप सा नु वज्राद् द्वितानमद्भियसा स्वस्य मन्योः।
अहिं यदिन्द्रो अभ्योहसानं नि चिद्विश्वायुः शयथे जघान॥ ९॥

(१) **अध**=अब **सा द्यौः चित्**=द्युलोक भी, **नु**=निश्चय से **ते वज्रात्**=तेरे वज्र से **द्विता अनमत्**=(द्वौ तनोति) इहलोक व परलोक के कल्याण के हेतु से **अप अनमत्**=झुकता है। 'द्युलोक भी' यहाँ 'भी' शब्द इस बात का द्योतक है कि पृथिवीलोक तो झुकता ही है, द्युलोक भी झुकता है। सारा द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु के वज्र के सामने झुकता है। एक तो **भियसा**=भय के कारण झुकता है और दूसरे **स्वस्य मन्योः**=अपने ज्ञान के कारण झुकते हैं। अज्ञानी तो आपत्ति से भयभीत होकर झुकते हैं, पर ज्ञानी प्रभु की महत्ता को समझते हुए नतमस्तक हो उठते हैं। (२) **यद्**=जब झुकते हैं तो **इन्द्रः**=वह शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु, **विश्वायुः**=हमारे लिये पूर्ण जीवन को देता हुआ **अभि ओहसानम्**=हमारी ओर आते हुए **अहिम्**=इस वासनारूप शत्रु को (अहन्ति) **चित्**=निश्चय से **शयथे निजधान**=भूमि पर सुला देने के लिये आहत करते हैं। वासना को विनष्ट करके हमें विनाश से बचाते हैं।

भावार्थ—अज्ञानी भय से तथा ज्ञानी समझदारी से उस प्रभु के सामने झुकते हैं। प्रभु इनके वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सहस्रभृष्टि-शताश्रि' वज्र

अध॒ त्वष्टा॑ ते म॒ह उ॑ग्र॒ वज्रं॑ स॒हस्र॑भृष्टिं ववृतच्छ॒ताश्रि॑म्।
निका॑मम॒रम॑णसं॒ येन॒ नव॑न्त॒महिं॒ सं पि॑णगृजीषिन्॥ १०॥

(१) हे **उग्र**=तेजस्विन् उपासक! **अध**=अब **त्वष्टा**=वह निर्माता प्रभु **ते**=तेरे लिये **वज्रम्**=वज्र को **ववृतत्**=बनाता है। उस वज्र को जो **महः**=महान् है, **सहस्रभृष्टिम्**=(भृष्टि=roasting) हजारों शत्रुओं को भून डालनेवाला है और **शताश्रिम्**=सैंकड़ों तेज धारोंवाला है (अश्रिः=the sharp side) (२) **ऋजीषिन्**=ऋजुमार्ग से गति करनेवाले जीव! उस वज्र को प्रभु तेरे लिये बनाते हैं, **येन**=जिससे कि तू **अहिं संपिणक्**=आहन्ता वृत्र को, कामवासना रूप शत्रु को पीस डालता है, नष्ट कर देता है। उस अहि को नष्ट कर देता है जो कि **निकामम्**=निकृष्ट कामनाओंवाला है, सदा हमारा अशुभ चाहनेवाला है। **अरमणसम्**=(अरं अभिगन्तृ मनो यस्य) आक्रमण करने की कामनावाला है तथा **नवन्तम्**=(नु शब्दे) गर्जना करनेवाला है अथवा रुलानेवाला है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को वह वज्र प्राप्त कराते हैं, जो सब शत्रुओं को भून डालता है। वस्तुतः क्रियाशीलता ही यह वज्र है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शतं महिषान् पचत्

वर्धा॒न्यं विश्वे॑ म॒रुतः॑ स॒जोषाः॒ पच॑च्छ॒तं म॑हि॒षाँ इ॑न्द्र॒ तुभ्य॑म्।
पू॒षा विष्णु॒स्त्रीणि॒ सरां॑सि धाव॑न्वृत्र॒हणं॑ मदि॒रमं॒शुम॑स्मै॥ ११॥

(१) **यम्**=जिस परमात्मा को **सजोषाः**=परस्पर प्रीतिवाले होते हुए **मरुतः**=मनुष्य **वर्धान्**=स्तोत्रों के द्वारा बढ़ाते हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तुभ्यम्**=तेरी प्राप्ति के लिये ही उपासक **शतम्**=शतवर्ष पर्यन्त, अर्थात् आजीवन **महिषान्**=(प्राणा वै महिषाः श० ७।४।५) प्राणों को **अपचत्**=परिपक्व करता है, प्राणायाम के द्वारा प्राणों का परिपाक करता है। (२) **पूषा**=अपना उचित रूप में पोषण करनेवाला व्यक्ति, **विष्णुः**=व्यापक मनोवृत्तिवाला होता हुआ **त्रीणि सरांसि**=तीनों ज्ञान-सरोवरों को, प्रकृति का ज्ञान, जीव का ज्ञान तथा परमात्मा का ज्ञान इन तीनों को **धावन्**=(धावु गतिशुद्धयोः) शुद्ध करता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अंशुम्**=सोम को धावन्=प्राप्त करता है, जो सोम **वृत्रहणम्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाला है तथा **मदिरम्**=उल्लास का जनक है। प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—पूषा व विष्णु बनें, (ख) प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करें, (ग) सोम का रक्षण करें। पूर्वार्ध में कहा था कि उस प्रभु की प्राप्ति के लिए हम, (घ) प्रभु-स्तवन करें, (ङ) प्राणसाधना को सदा करें।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए 'स्तवन, प्राणसाधना, ज्ञान व सोमरक्षण' साधन बनते हैं। हम पुष्ट व उदार बनकर प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊर्मि-समुद्र (प्रकाश व उल्लास)

आ क्षोदो महि वृतं नदीनां परिष्ठितमसृज ऊर्मिमपाम्।
तासामनु प्रवत इन्द्र पन्थां प्रार्दयो नीचीरपसः समुद्रम्॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नदीनाम्**=स्तोताओं के **महि क्षोदः**=इस महनीय रेत:कणरूप जल को **वृतम्**=शरीर में ही घिरा हुआ तथा **परिष्ठितम्**=शरीर में चारों ओर स्थित **आ असृजः**=सर्वथा करते हैं। इसे आप **अपाम्**=प्रजाओं का (आपो प्रा इति प्रोक्ताः) **ऊर्मिम्**=(light) प्रकाश (असृजः) बनाते हैं। ये रेत:कण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उनके जीवन को उज्ज्वल करते हैं। (२) **तासाम्**=उन रेत:कणरूप जलों का **प्रवतः अनु**=(height, elevation) उन्नति के अनुसार **पन्थाम्**=मार्ग को करते हैं, अर्थात् हे प्रभो! आप ही इन रेत:कणों को शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला करते हैं। इन **नीचीः अपसः**=(अपः=अपसः) निम्न मार्ग की ओर जानेवाले रेत:कणों को **समुद्रं प्रार्दयः**=(स-मुद्) आनन्दयुक्त हृदय के प्रति प्रेरित करते हैं, अर्थात् शरीर में इनकी ऊर्ध्वगति करके, इनके द्वारा ही वस्तुतः हृदयों को उल्लासयुक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से उपासक के शरीर में रेत:कणरूप जलों की शरीर में ही स्थिति व ऊर्ध्वगति होती है। इस प्रकार ये रेत:कण प्रकाश (ऊर्मि) व आनन्द (समुद्रम्) का कारण बनते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तवन के द्वारा रक्षण

एवा ता विश्वा चकृवांसमिन्द्रं महामुग्रमजुर्यं सहोदाम्।
सुवीरं त्वा स्वायुधं सुवज्रमा ब्रह्म नव्यमवसे ववृत्यात्॥ १३॥

(१) हे प्रभो! **एवा**=इस प्रकार **ता विश्वा**=ऊपर के मन्त्रों में वर्णित उन प्रसिद्ध सब कर्मों को **चकृवांसम्**=करनेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली आपको, हमारे से अपनाया गया यह **नव्यं ब्रह्म**=स्तुत्य ज्ञानपूर्वक किया गया स्तोत्र (स्तवन) **आववृत्यात्**=हमारे अभिमुख करे। हम इन स्तोत्रों के द्वारा आपको प्राप्त करनेवाले हों, और इस प्रकार **अवसे**=रक्षण के लिए हों, आपके द्वारा हम इन वासनारूप शत्रुओं के आक्रमण से बचे रहें। (२) उन आपको हम अपने अभिमुख कर पाएँ, जो आप **महाम्**=महान् हैं, **उग्रम्**=तेजस्वी हैं, **अजुर्यम्**=कभी न जीर्ण होनेवाले हैं और **सहोदाम्**=बल को देनेवाले हैं। जो आप **सुवीरम्**=उत्तम वीर हैं उन **त्वा**=आपको हम अपने अभिमुख करें जो **स्वायुधम्**=उत्तम 'इन्द्रिय प्रनव बुद्धि' रूप आयुधों को देनेवाले हैं तथा **सुवज्रम्**=उत्तम क्रियाशीलतारूप वज्र को प्राप्त कराते हैं (शोभनम् वज्रं यस्मात्)।

भावार्थ—स्तवन द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करें। ये प्रभु हमें बल, उत्तम इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि को प्राप्त कराएँगे। इनके द्वारा वे हमें रक्षण के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पार्ये दिवि

स नो वाजाय श्रवस इषे च राये धेहि द्युमत इन्द्र विप्रान्।
भरद्वाजे नृवत इन्द्र सूरीन्दिवि च स्मैधि पार्ये न इन्द्र॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **वाजाय**=बल के लिए, **श्रवसे**=ज्ञान के लिए, **इषे**=प्रेरणा के लिए **च**=और **राये**=धन के लिए **धेहि**=धारण कीजिए। हे प्रभो! आप हमें **द्युमतः**=ज्योतिर्मय **विप्रान्**=अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी ब्राह्मणों को प्राप्त कराइए। इनके सम्पर्क में हमारा जीवन भी ज्योतिर्मय बने। (२) **भरद्वाजे**=अपने में शक्ति को भरनेवाले मेरे में, हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नृवतः**=प्रशस्त मनुष्योंवाले **सूरीन्**=ज्ञानी स्तोताओं को (धेहि=) प्राप्त कराइये। इनके सम्पर्क में मैं भी ज्ञानी व स्तोता बनूँ। **च**=और हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **नः**=हमारे **पार्ये दिवि**=पारणीय-वैषयिक समुद्र से पार करने में समर्थ-ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त **स्म एधि**=होइये।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मणों के द्वारा प्रभु हमारे लिए 'पारणीय ज्ञान' को प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

देवहित वाजं

अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ १५ ॥

(१) **अया**=इस स्तवन के द्वारा अथवा गत मन्त्र में वर्णित 'पारणीय ज्ञान' के द्वारा हम **देवहितम्**=देववृत्ति के पुरुषों में स्थापित **वाजम्**=बल को **सनेम**=प्राप्त करें। दानवी बल को नहीं, अपितु देवहित बल को हम प्राप्त करनेवाले हों। (२) इस बल को प्राप्त करके हम **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले **शतहिमाः**=सौ वर्ष के दीर्घ-जीवनवाले होते हुए **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—देवों के बल को प्राप्त करते हुए हम सुवीर व शतहिम (सौ वर्ष के जीवनवाले) बनें और इस प्रकार आनन्दित हों।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वन्वन् अवातः' इन्द्रः

तमु ष्टुहि यो अभिभूत्योजा वन्वन्नवातः पुरुहूत इन्द्रः।
अषाळ्हमुग्रं सहमानमाभिर्गीर्भिर्वर्ध वृषभं चर्षणीनाम्॥ १॥

(१) **तं उ स्तुहि**=उस प्रभु का ही स्तवन करो **यः**=जो **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले बलवाला है, **वन्वन्**=शत्रुओं का हिंसन करता हुआ **अवातः**=स्वयं शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता। **पुरुहूतः**=पालक व पूरक है आह्वान जिसका (पुरु हूतं यस्य) ऐसे वे प्रभु **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाले हैं। (२) **अषाढम्**=शत्रुओं से अनभिभूत, **उग्रम्**=तेजस्वी, **सहमानम्**=शत्रुओं को कुचलते हुए उस प्रभु को **आभिः गीर्भिः**=इन ज्ञानमयी स्तुति-वाणियों से **वर्ध**=बढ़ाइये। वे प्रभु **चर्षणीनां वृषभम्**=श्रमशील मनुष्यों के लिए सुखों का वर्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमें शत्रुओं को कुचलने में समर्थ करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

खजकृत् समद्वा

स युध्मः सत्वा खजकृत्समद्वा तुविम्रक्षो नदनुमाँ ऋजीषी।
बृहद्रेणुश्च्यवनो मानुषीणामेकः कृष्टीनामभवत्सहावा॥ २॥

(१) **सः**=वे प्रभु **युध्मः**=युद्ध कुशल हैं। **सत्वा**=वासनाओं के साथ संग्राम के लिए 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' रूप अस्त्रों के दाता हैं (सत्वा=दाता)। **खजकृत्**=हमारे लिए इन वासनाओं के साथ संग्राम करनेवाले हैं। **समद्वा**=अपने यजमान जीवरूप मित्रों के साथ आनन्दित होनेवाले हैं। **तुविम्रक्षः**=शत्रुओं पर महान् आघात करनेवाले हैं। **नदनुमान्**=हृदयस्थरूपेण शब्द करनेवाले हैं, कर्त्तव्यों की प्रेरणा देनेवाले हैं और **ऋजीषी**=हमें ऋजु मार्ग से ले चलनेवाले हैं। (२) **बृहद्रेणुः**=वे प्रभु महान् गतिवाले हैं (रीङ्गतौ) **च्यवनः**=शत्रुओं को च्युत करनेवाले हैं। **एकः**=वे अद्वितीय प्रभु **मानुषीणां कृष्टीनाम्**=मानव प्रजाओं के **सहावा**=(सह अवति) साथ रहकर रक्षा करनेवाले **अभवत्**=होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये हमारे वासनारूप शत्रुओं के साथ युद्ध करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

न स्वित् अस्ति

त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः कृष्टीरवनोरार्याय।
अस्ति स्विन्नु वीर्यं१ तत्त इन्द्र न स्विदस्ति तदृतुथा वि वोचः ॥ ३ ॥

(१) **त्यत् त्वं ह**=हे प्रभो! वे आप ही **एकः**=अकेले **दस्यून्**=इन काम-क्रोध-लोभ आदि दास्यवभावों का **अदमायः**=दमन करते हैं। आप ही **आर्याय**=श्रेष्ठ पुरुष के लिए **कृष्टीः अवनोः**=कृषियों को प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः आपके द्वारा ही ये आर्य पुरुष श्रमसाध्य कर्मों को करने में समर्थ होते हैं। (२) हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **नु स्वित्**=निश्चय से **तत् ते वीर्यं अस्ति**=वह सब आपका ही पराक्रम है। आपकी शक्ति से ही सब कार्य होते हैं। इसमें उस-उस कर्म के करनेवाले व्यक्ति का तो **स्वित्**=निश्चय से **न अस्ति**=कुछ भी नहीं है। आपकी शक्ति से ही सब कार्य होते हैं। हे प्रभो! आप **तद्**=उस बात को **ऋतुथा**=समयानुसार **विवोचः**=हमें विशेषरूप से बतलाते रहिये, जिससे हम उन कर्मों का गर्व न करने लगें। इसी प्रकार हमें भी आपके द्वारा इस बात का ज्ञान होता रहे कि 'न स्वित् अस्ति' निश्चय से हमारा कुछ नहीं है, सब उस प्रभु का है।

भावार्थ—प्रभु दास्यव वृत्तियों का दमन करते हैं। हमें श्रमसाध्य कृषि आदि कर्मों को प्राप्त कराके आर्य बनाते हैं। सब कर्म प्रभु द्वारा ही होते हैं, मनुष्य का इसमें कुछ नहीं है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु ही बल के स्रोत हैं

सदिद्धि ते तुविजातस्य मन्ये सहः सहिष्ठ तुरतस्तुरस्य।
उग्रमुग्रस्य तवसस्तवीयोऽरध्रस्य रध्रतुरो बभूव ॥ ४ ॥

(१) हे **सहिष्ठ**=शत्रुओं का अधिक से अधिक मर्षण करनेवाले प्रभो! **तुविजातस्य**=महान् प्रादुर्भाववाले **ते**=आपका **सहः**=बल **सत् इत् हि**=श्रेष्ठ ही है, ऐसा **मन्ये**=मैं मानता हूँ। (२) **उग्रस्य**=तेजस्वी आपका यह बल **उग्रम्**=उग्र है, शत्रुओं के लिए भयंकर है। **तवसः**=अत्यन्त प्रवृद्ध आपका बल **तवीयः**=अतिशयेन बढ़ा हुआ है। **अरध्रस्य**=शत्रुओं से वश में न करने योग्य आपका यह बल **रध्रतुरः**=वशीकरणीय शत्रुओं का संहार करनेवाला **बभूव**=है।

भावार्थ—सम्पूर्ण बल प्रभु का ही है। यह बल उग्र, बढ़ा हुआ व शत्रु-विनाशक है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रत्नं सख्यम्

तन्नः प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभिः।
हन्नच्युतच्युद्दस्मेषयन्तमृणोः पुरो वि दुरो अस्य विश्वाः॥ ५॥

(१) 'जीव और प्रभु' की मित्रता अनादिकाल से चली आ रही है। जीव अपने मित्र से कहता है कि '**नः**=हमारी **युष्मे**=आपके साथ **तत्**=वह **प्रत्नम्**=सनातन **सख्यम्**=मित्रता **अस्तु**=हो, बनी रहे। हम आपकी मित्रता से दूर न हों।' **इत्था**=इस प्रकार **वदद्भिः**=कहते हुए **अंगिरोभिः**=इन गतिशील पुरुषों के साथ आप **वलम्**=(veil) ज्ञान पर आवरणभूत इस वासना को **हन्**=विनष्ट करते हैं। (२) हे **अच्युतच्युत्**=अविचलित-दृढ़ भी शत्रुओं को नष्ट करनेवाले, **दस्म**=दर्शनीय व दुःख विनाशक प्रभो! **इषयन्तम्**=हमारे पर आक्रमण करनेवाले, अस्त्रों का प्रहार करनेवाले, इस बल को **ऋणोः**=आप दूर करते हैं। **अस्य**=इस बल के **विश्वाः**=सब **पुरः**=पुरियों को तथा **दुरः**=द्वारों को **वि (ऋणोः)**=हमारे से वियुक्त करते हैं। प्रभु ही इस बल का विनाश करते हैं।

भावार्थ—जीव अपने सनातन सखा का स्मरण करता है तो वे प्रभु अपने इन उपासकों के साथ ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'वितन्तसाय्य' प्रभु

स हि धीभिर्हव्यो अस्त्युग्र ईशानकृन्महति वृत्रतूर्ये।
स तोकसाता तनये स वज्री वितन्तसाय्यो अभवत्समत्सु॥ ६॥

(१) **सः**=वे प्रभु ही **धीभिः**=ज्ञानपूर्वक की गई स्तुतियों से **हव्यः**=पुकारने योग्य **अस्ति**=हैं। **उग्रः**=तेजस्वी हैं और इस **महति वृत्रतूर्ये**=महान् संग्राम में **ईशानकृत्**=स्तोताओं को समर्थ करनेवाले हैं। प्रभु कृपा से ही उपासक संग्राम में विजयी होता है। 'वृत्रतूर्य' यह संग्राम का नाम ही हो गया है, इस महान् अध्यात्म संग्राम में वृत्र का, वासना का विनाश करना होता है। (२) **सः**=वे प्रभु ही **तोकसाता**=उत्तम पुत्रों की प्राप्ति के निमित्त (हव्यः) आह्वातव्य होते हैं। **तनये**=उत्तम पौत्रों की प्राप्ति के निमित्त भी वे प्रभु ही प्रार्थनीय हैं। **सः वज्री**=वे वज्रहस्त प्रभु **समत्सु**=संग्रामों में **वितन्तसाय्यः**=शत्रुओं के विहिंसक **अभवत्**=होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण ही हमें संग्राम-विजयी बनाता है। यह स्मरण ही उत्तम पुत्र-पौत्रों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्युम्न-शवस्-धन व वीर्य

स मज्मना जनिम मानुषाणाममर्त्येन नाम्नाति प्र सर्स्रे।
स द्युम्नेन स शवसोत राया स वीर्येण नृतमः समोकाः॥ ७॥

(१) **सः**=वे प्रभु **अमर्त्येन**=अविनाशी **नाम्ना**=शत्रुओं के नामक **मज्मना**=बल से **मानुषाणां जनिम**=मानव संघ को **अति सर्स्रे**=अतिशयेन प्राप्त होते हैं। जब मनुष्य प्रभु की उपासना करता है, तो प्रभु उसे शत्रुनाशक बल प्राप्त कराते हैं। (२) **सः**=वे प्रभु **द्युम्नेन**=ज्ञान-ज्योति के साथ **सं ओकाः**=निवासवाले हैं। **सः**=वे **शवसा**=बल के साथ समान निवासवाले हैं। **उत**=और

राया=ऐश्वर्य के साथ निवास करते हैं। **सः**=वे **नृतमः**=सर्वोत्तम नेतृत्व करनेवाले प्रभु **वीर्येण**=पराक्रम के साथ (समोकाः) निवासवाले हैं। प्रभु का उपासक भी 'ज्ञान, बल, धन व सामर्थ्य' के साथ समान निवासवाला होता है।

भावार्थ—उपासक को शत्रुओं को झुकानेवाला बल प्राप्त होता है। ज्ञान, बल, धन व वीर्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्र' का लक्षण

स यो न मुहे न मिथू जनो भूत्सुमन्तुनामा चुमुरिं धुनिं च।
वृणक्पिप्रुं शम्बरं शुष्णमिन्द्रः पुरां च्यौत्नाय शयथाय नू चित्॥ ८॥

(१) **सः इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष वह है—(क) **यः जनः मुहे न**=जो मनुष्य मूढ़ नहीं बनता, संसार के इन विषयों के प्रति आकृष्ट होकर अपनी चेतना नहीं खो बैठता। (ख) और जो अपने व्यवहार में **मिथू न भूत्**=मिथ्यावादी व मिथ्याचारी नहीं होता। सदा सत्य व्यवहार से ही धनार्जन करता है। (ग) **सुमन्तुनामा**=प्रभु के नाम का उत्तमता से मनन करता है। यह नाम-स्मरण ही तो वस्तुतः उसे 'मोह व मिथ्यात्व' से बचाता है, (घ) यह **चुमुरिम्**=आचमन कर जानेवाले, शक्ति को चूस लेनेवाले कामासुर को **च**=और **धुनिम्**=कम्पित करनेवाले क्रोध को, **पिप्रुम्**=अपने ही को भरते चलनेवाले (प्रा पूरणे) लोभ को, **शम्बरम्**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाले मद को तथा **शुष्णम्**=सब रस का शोषण कर लेनेवाले द्वेष को **वृणक्**=हिंसित करता है। नाम-स्मरण ही इस कार्य में इसे समर्थ करता है। (ङ) यह **इन्द्र पुराम्**=असुरों की पुरियों के **च्यौत्नाय**=च्युत (नष्ट) करने के लिये तथा **शयथाय**=असुरभावों को भूमिशायी कर देने के लिए **नू चित्**=शीघ्र ही समर्थ होता है।

भावार्थ—इन्द्र के जीवन का केन्द्रीभूत बिन्दु नाम-स्मरण होता है। यही इसे विषयमूढ होने से व मिथ्याचार से बचाता है। इसी के द्वारा यह 'चुमुरि, धुनि, पिप्रु, शम्बर व शुष्ण' को मारता है और असुरों की पुरियों का विध्वंस करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र कौन?

उदावता त्वक्षसा पन्यसा च वृत्रहत्याय रथमिन्द्र तिष्ठ।
धिष्व वज्रं हस्त आ दक्षिणत्राभि प्र मन्द पुरुदत्र मायाः॥ ९॥

(१) **उदावता**=उत्कृष्ट रक्षण करनेवाले, **त्वक्षसा**=शत्रुओं को छील देनेवाले, नष्ट कर देनेवाले, **पन्यसा**=स्तुत्य बल से युक्त हुआ-हुआ हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वृत्रहत्याय**=वासना के विनाश के लिए **रथम्**=इस शरीर-रथ पर **तिष्ठ**=स्थित हो। (२) इस शरीर-रथ पर अधिष्ठित होकर **दक्षिणत्रा हस्ते**=दाहिने हाथ में **वज्रं आधिष्व**=क्रियाशीलतारूप वज्र को धारण कर। कुशलतापूर्वक कर्मों से तेरा जीवन व्याप्त हो। और हे **पुरुदत्र**=खूब दान देने योग्य धन से युक्त हुआ-हुआ तू **मायाः अभि**=प्रज्ञानों का लक्ष्य करके **प्रमन्द**=प्रकृष्ट दीप्तिवाला हो (मन्दतिः ज्वलतिकर्मसु)।

भावार्थ—इन्द्र वह है, (क) जो उत्कृष्ट बल से युक्त हुआ-हुआ वासना का विनाश करता है, (ख) कुशलता से कर्मों में प्रवृत्त रहता है और (ग) धनयुक्त होता हुआ प्रज्ञान दीप्त बनने का

यत्न करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'गम्भीर ऋष' हेति

अ॒ग्निर्न शुष्कं॒ वन॑मिन्द्र हे॒ती रक्षो॒ नि ध॑क्ष्य॒शनि॒र्न भी॒मा।
ग॒म्भी॒रयं॑ ऋ॒ष्वया॒ यो रु॒रोजाध्वा॑नयद्दुरि॒ता द॒म्भय॑च्च ॥ १० ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **न**=जैसे **शुष्कं वनम्**=सूखे वन को **अग्निः**=आग जला देती है, उसी प्रकार तू **हेती**=अपने वज्र के द्वारा, क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा (हि गतौ) **रक्षः निधक्षि**=राक्षसी भावों को भस्म कर देता है। तू इनके लिये **भीमा अशनिः न**=भयङ्कर विद्युत् के समान होता है। विद्युत्पतन से वृक्षों का नामोनिशान नहीं रहता, इसी प्रकार तू क्रियाशीलता से इन राक्षसीभावों का अन्त करता है। (२) **यः**=जो तू **गम्भीरया ऋष्वया**=गम्भीर व महान् हेति से, क्रियाशीलतारूप वज्र से **रुरोज**=इन आसुरभावों का भंग करता है, इन **दुरिता**=पापों को **अध्वानयत्**=रुला देता है, आधार विनाश से ये रो उठते हैं, **च**=और **दम्भयत्**=तू इनका विनाश करता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता रूप वज्र को धारण करके आसुरीभावों का विनाश करता है। हमारी क्रियाएँ गम्भीर व महान् हों हम इन क्रियाओं में तत्पर होकर शत्रुओं का अन्त कर दें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऐश्वर्य-शक्ति

आ स॒हस्रं॑ प॒थिभि॑रिन्द्र रा॒या तुवि॑द्युम्न तु॒विवाजे॑भिर॒र्वाक्।
या॒हि सू॑नो सहसो॒ यस्य॒ नू चि॒दद॑व॒ ईशे॑ पुरुहूत॒ योतोः॑ ॥ ११ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सहस्रं पथिभिः**=हजारों मार्गों से **राया**=ऐश्वर्य के साथ **आयाहि**=हमें प्राप्त होइये। हम आपकी कृपा से विविध मार्गों से धनों के कमानेवाले हों। हे **तुविद्युम्न**=महान् ज्योतिवाले प्रभो! आप **तुविवाजेभिः**=महान् शक्तियों के साथ **अर्वाक् आयाहि**=हमारे अभिमुख प्राप्त होइये। ज्ञान के द्वारा ही शक्ति पवित्र व सुरक्षित बनी रहती है। (२) हे **सहसः सूनो**=शक्ति के पुञ्ज **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! हमें उस ऐश्वर्य और शक्ति को दीजिए, **यस्य**=जिसके **योतोः**=पृथक् करने के लिये **अदेवः**=कोई भी आसुरभाव व आसुरीवृत्तिवाला पुरुष **नू चित्**=नहीं ही **ईशे**=समर्थ होता है। ('नू चित्' इति निषेधार्थे)।

भावार्थ—प्रभु हमें ऐश्वर्य व शक्ति को प्राप्त कराएँ। कोई भी आसुरभाव हमारे इस ऐश्वर्य व शक्ति के विनाश का कारण न बन जाए।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निराधार व सर्वाधार

प्र तु॑विद्यु॒म्नस्य॒ स्थवि॑रस्य॒ घृष्वे॑र्दि॒वो र॑रप्शे महि॒मा पृ॑थि॒व्याः।
नास्य॒ शत्रु॒र्न प्र॑ति॒मान॑मस्ति॒ न प्र॑ति॒ष्ठिः पु॑रुमा॒यस्य॒ सह्योः॑ ॥ १२ ॥

(१) **तुविद्युम्नस्य**=उस महान् ज्ञान की ज्योतिवाले, **स्थविरस्य**=प्रवृद्ध, **घृष्वेः**=शत्रुओं का घर्षण करनेवाले प्रभु की **महिमा**=महत्त्व **दिवः**=द्युलोक के द्वारा तथा **पृथिव्याः**=पृथिवी से **ररप्शे**=प्रकर्षेण गायी जा रही है। 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'। पृथिवी

से उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियों में तथा पृथिवीस्थ पर्वतों, नदियों व वनों में तथा आकाश के तारों व उमड़ते हुए बादलों में प्रभु की महिमा किसे नहीं दिखती? (२) **यस्य**=इस महान् प्रभु का **शत्रुः न अस्ति**=शातयिता (=नष्ट करनेवाला) कोई नहीं है, **न प्रतिमानं अस्ति**=इसका कोई प्रतिनिधि भी नहीं हो सकता। इस **पुरुमायस्य**=अनन्त प्रज्ञानवाले, **सह्योः**=शत्रुओं के अभिभावक का **न प्रतिष्ठिः**=कोई और आधार देनेवाला नहीं है, ये प्रभु ही सर्वाधार हैं।

भावार्थ—वे प्रभु महान् ज्ञान की ज्योतिवाले प्रवृद्ध, शत्रुओं के कुचलनेवाले, अनन्त महिमावाले व अनुपम व स्वयं निराधार होते हुए सर्वाधार हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'कुत्स आयु अतिथिग्व तूर्वयाण'

प्र तत्ते अद्या करणं कृतं भूत्कुत्सं यदायुमतिथिग्वमस्मै।
पुरू सहस्रा नि शिशा अभि क्षामुत्तूर्वयाणं धृषता निनेथ॥ १३॥

(१) हे प्रभो! **अद्या**=आज भी **ते**=आपका **तत्**=वह **कृतं करणम्**=किया गया काम **प्रभूत्**=प्रकाशित हो रहा है **यत्**=कि आप **कुत्सम्**=(कुथ् हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाले को, **आयुम्**=(इ गतौ) गतिशील पुरुष को तथा **अतिथिग्वम्**=उस महान् अतिथि प्रभु की ओर चलनेवाले को अथवा अतिथियों का स्वागत करनेवाले को रक्षित करते हो ('ररक्षिथ' क्रियापद अध्याहृत है) और **अस्मै**=इसके लिए **पुरू सहस्रा**=बहुत हजारों धन **निशिशाः (अदराः)**=देते हैं। आप इन धनों को **क्षां अभि**=पृथिवी को, इस पार्थिव शरीर का लक्ष्य करके देते हैं। पार्थिव शरीर का रक्षण इन पार्थिव धनों से ही तो हो पायेगा। (२) आप **तूर्वयाणम्**=अपने कर्त्तव्य कर्मों में त्वरित गतिवाले इस ज्ञान-भक्त (=दिवोदास) पुरुष को **धृषता**=शत्रु धर्षक बल के द्वारा **उनिनेथ**=इन धनों में आसक्ति से ऊपर उठाते हो। प्रभु आवश्यक धन देते हैं और साथ ही इन धनों में न फँसने की शक्ति भी प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम 'वासनाओं का संहार करनेवाले (कुत्स), गतिशील (आयु), अतिथि-सेवक (अतिथिग्व)' बनकर प्रभु से रक्षणीय बनें। प्रभु से धनों को प्राप्त करें और शीघ्रता से कर्त्तव्य कर्मों में तत्पर रहते हुए उन धनों में आसक्त न हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अहि-हन्ता' प्रभु

अनु त्वाहिघ्ने अध देव देवा मदन्विश्वे कवितमं कवीनाम्।
करो यत्र वरिवो बाधिताय दिवे जनाय तन्वे गृणानः॥ १४॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **विश्वे देवाः**=सब देववृत्ति के पुरुष **अहिघ्ने**=ज्ञान को विनष्ट करनेवाली वासना के विनाश के निमित्त **त्वा अनुमदन्**=आपका स्तवन करते हैं। आपका स्तवन वासना-विनाश के द्वारा उनके ज्ञान का कारण बनता है। आप ही तो **कवीनां कवितमम्**=ज्ञानियों के भी ज्ञानी हैं, देवों के देव हैं, गुरुओं के गुरु हैं 'स पूर्वेषामपि गुरुः०'। (२) **यत्र**=जिस स्तुति के होने पर **गृणानः**=ज्ञानोपदेश करते हुए आप **बाधिताय जनाय**=भौतिक आवश्यकताओं से बाधित इस पुरुष के लिए **दिवे**=ज्ञान-प्रकाश के वर्धन के लिए व **तन्वे**=शरीर-रक्षण के लिए **वरिवः**=धन को **करः**=करते हैं। धन के दो ही मुख्य उद्देश्य हैं—(क) शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा (ख) ज्ञानवृद्धि के साधनों को जुटाना।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु ही इनकी वासना का विनाश करते हैं। प्रभु ही शरीर रक्षा व ज्ञानवृद्धि के साधनों को जुटाने के लिए आवश्यक धन देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

खाली समय का उपयोग

अनु द्यावापृथिवी तत्त ओजोऽमर्त्या जिहत इन्द्र देवाः।
कृष्वा कृत्नो अकृतं यत्ते अस्त्युक्थं नवीयो जनयस्व यज्ञैः ॥ १५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! **अमर्त्याः देवाः**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले देववृत्ति के पुरुष **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक में तथा शरीररूप पृथिवी में **ते**=आपके **तत् ओजः**=उस प्रसिद्ध बल को **अनुजिहते**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। आपकी उपासना से ही उनका मस्तिष्क ज्ञानदीप्त व शरीर सशक्त बनता है। (२) आप इन अपने प्रिय पुत्रों को यही उपदेश देते हैं कि हे **कृत्नो**=कर्त्तव्य-कर्म-परायण जीव! **यत् ते अकृतं अस्ति**=जो तेरा कर्त्तव्य-कर्म अवशिष्ट है उसे **कृष्व**=कर। और इन कर्त्तव्य कर्मों को करके अवशिष्ट सारे समय में **यज्ञैः**=लोकहित के लिए किये जानेवाले श्रेष्ठ कर्मों के साथ **नवीयः**=अत्यन्त स्तुत्य **उक्थम्**=प्रशंसनीय वेदज्ञान व स्तोत्रों को **जनयस्व**=उत्पन्न कर। तेरा अपने कर्त्तव्यों से अवशिष्ट समय इन यज्ञों स्तोत्रों व ज्ञान प्राप्ति में ही बीते।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना से दीप्त मस्तिष्क व सशक्त शरीर को प्राप्त करें। कर्त्तव्य कर्मों को करके यज्ञों व स्तोत्रों में अवशिष्ट समय को बिताएँ।

अगले सूक्त में भी भरद्वाज बार्हस्पत्य इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्विबर्हाः

महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ॥ १ ॥

(१) **महान्**=पूजनीय (मह पूजायाम्) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **नृवत्**=नेता की तरह, जैसे एक नेता अपने अनुयायियों में उत्साह का संचार करता है, उसी प्रकार **आ चर्षणि प्राः**=समन्तात् श्रमशील मनुष्यों का पूरण करनेवाले हैं। **उत**=और वे प्रभु **द्विबर्हाः**=शरीर व मस्तिष्क दोनों का वर्धन करनेवाले हैं। **सहोभिः अमिनः**=अपने बलों के कारण हिंसित होनेवाले नहीं। (२) **अस्मद्र्यग्**=हमारी ओर आनेवाले होते हुए **वीर्याय**=हमारे पराक्रम के लिए **वावृधे**=बढ़ते हैं। **उरुः**=वे विशाल व **पृथुः**=गुणों से प्रथित प्रभु **कर्तृभिः**=स्तोताओं के द्वारा **सुकृतः भूत्**=उत्तमता से स्तुति किये जाते हैं व परिवरित (उपासित) होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करें, प्रभु हमारा पूरण करेंगे। हमारी मस्तिष्क व शरीर की उन्नति का कारण होते हुए हमसे वीर्यवत् कर्मों को करायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋष्वं अजरं युवानम्

इन्द्रमेव धिषणा सातये धाद् बृहन्तमृष्वमजरं युवानम्।
अषाळ्हेन शवसा शूशुवांसं सद्यश्चिद्यो वावृधे असामि ॥ २ ॥

(१) **धिषणा**=हमारी बुद्धि **सातये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **इन्द्रं एव**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **धात्**=धारण करे। हम अपनी बुद्धि को प्रभु के विचार के लिए ही उपयुक्त करें। यह प्रभु चिन्तन हमें वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला होगा। उस प्रभु का हम चिन्तन करें जो **बृहन्तम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध हैं, **ऋष्वम्**=दर्शनीय हैं, **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले व **युवानम्**=हमारे से बुराइयों को पृथक् करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं। (२) उस प्रभु को हमारी बुद्धि धारण करे जो **अषाढेन**=शत्रुओं से न सहने योग्य **शवसा**=बल से **शूशुवांसम्**=बढ़े हुये हैं और **यः**=जो **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **असामि**=पूर्णताय **वावृधे**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं, अर्थात् जिनमें कहीं भी अधूरापन नहीं। अपने उपासकों को भी वे पूर्ण बनाते हैं।

भावार्थ—हम अपनी बुद्धियों को प्रभु चिन्तन में व्यापृत करें। ये प्रभु हमें शत्रुओं से असह्य बल को प्राप्त करायेंगे और हमें पूर्णता की ओर बढ़ायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'पृथू-करस्ना-बहुला' गभस्ती

पृथू क॒रस्ना॑ बहु॒ला गभ॑स्ती अस्म॒द्र्य१॒क्सं मि॑मीहि॒ श्रवां॑सि।
यू॒थेव॑ प॒श्वः प॑शु॒पा दमू॑ना अ॒स्माँ इ॑न्द्रा॒भ्या व॑वृत्स्वा॒जौ॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **पृथू करस्ना**=विशाल कर्मों को करनेवाली **बहुला**=खूब दान देनेवाली **गभस्ती**=बाहुओं को **अस्मद्र्यक्**=हमारे अभिमुख **संमिमीहि**=बनाइये। तथा **श्रवांसि**=ज्ञानों को करिये। आपकी कृपा से हम खूब क्रियाशील दान देनेवाली भुजाओं को तथा ज्ञानों को प्राप्त करें। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का दमन करनेवाले आप **दमूनाः**=दान्तमनवाले होते हुए **आजौ**=संग्राम में **अस्मान् अभ्याववृत्स्व**=हमें प्राप्त होइये, **इव**=जैसे **पशुपाः**=पशुओं का रक्षक **पश्वः यूथा**=पशुओं के झुण्डों को रक्षा के लिए प्राप्त होता है। प्रभु को प्राप्त करके हम संग्राम में विजयी हों।

भावार्थ—प्रभु हमें विशाल कर्म करनेवाली दानशील भुजाएँ प्राप्त कराएँ तथा संग्राम में हमें प्राप्त हों जिनसे हम विजयी बनें और शत्रुओं से अपना रक्षण कर पाएँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनेद्याः अनवद्याः अरिष्टाः

तं व॒ इन्द्रं॑ च॒तिन॑मस्य शा॒कैरि॒ह नू॒नं वा॑ज॒यन्तो॑ हुवेम।
यथा॑ चि॒त्पूर्वे॑ जरि॒तार॑ आ॒सुरने॑द्या अनव॒द्या अरि॑ष्टाः॥ ४॥

(१) **अस्य शाकैः**=इसके सामर्थ्यों से **चतिनम्**=शत्रुओं का नाश करनेवाले **तं वः (त्वां)**=उस तुझ **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **इह**=इस जीवन में **नूनम्**=निश्चय से **वाजयन्तः**=शक्ति प्राप्ति की कामना करते हुए **हुवेम**=पुकारते हैं। प्रभु की उपासना से ही वह शक्ति मिलती है, जो हमें शत्रुओं का वध करने में समर्थ करती है। (२) इस शक्ति को प्राप्त करके शत्रुओं का वध करते हुए हम ऐसे बनें **यथा चित्**=जैसे निश्चय से **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **जरितारः**=स्तोता लोग **आसुः**=होते हैं। हम भी उनकी तरह ही **अनेद्या**=अनिन्दनीय, **अनवद्याः**=पापरहित व **अरिष्टाः**=अहिंसित हों।

भावार्थ—प्रभु के आराधन से हम शत्रु-नाशक शक्ति को प्राप्त करके अनिन्दनीय, पापरहित, अहिंसित जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धृतव्रतः-धनदाः

धृतव्रतो धनदाः सोमवृद्धः स हि वामस्य वसुनः पुरुक्षुः।
सं जग्मिरे पथ्या३ रायो अस्मिन्त्समुद्रे न सिन्धवो यादमानाः ॥ ५ ॥

(१) वे प्रभु **धृतव्रतः**=सूर्य आदि सब देवों के व्रतों का धारण करनेवाले हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे व अन्य लोक-लोकान्तर प्रभु के नियमों में ही चलते हैं। वे प्रभु हम सब जीवों के लिये **धनदाः**=धनों को देनेवाले हैं। **सोमवृद्धः**=वे प्रभु सोमरक्षण के द्वारा हमारे अन्दर अधिक प्रादुर्भूत् होते हैं, सोमरक्षण के द्वारा ही हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। **सः हि**=वे ही **वामस्य**=वननीय, चाहने योग्य **वसुनः**=निवास के लिए आवश्यक धन के स्वामी हैं और **पुरुक्षुः**=पालक व पूरक अन्नोंवाले हैं। वननीय वसुओं के द्वारा हमें इन अन्नों को प्राप्त कराते हैं। (२) **अस्मिन्**=इस प्रभु में **पथ्याः**=हमारे लिये हितकर **रायः**=ऐश्वर्य **सं जग्मिरे**=इस प्रकार संगत होते हैं, **न**=जैसे कि **यादमानाः**=(अतिगच्छन्त्यः) बहती हुई **सिन्धवः**=नदियाँ **समुद्रे**=समुद्र में संगत हो जाती हैं। प्रभु सब पथ्य ऐश्वर्यों के निधान हैं। प्रभु की प्राप्ति से ये सब ऐश्वर्य हमें प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा हम सूर्यादि के व्रतों का धारण करनेवाले प्रभु के अधिकाधिक समीप होते हैं। सब ऐश्वर्यों के अधिष्ठान ये प्रभु ही हैं। प्रभु की प्राप्ति में सब ऐश्वर्यों की प्राप्ति है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शविष्ठं शवः, ओजिष्ठं ओजः

शविष्ठं न आ भर शूर शव ओजिष्ठमोजो अभिभूत उग्रम्।
विश्वा द्युम्ना वृष्ण्या मानुषाणामस्मभ्यं दा हरिवो मादयध्यै ॥ ६ ॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे लिये **शविष्ठं शवः**=अधिक से अधिक शक्ति को देनेवाले बल को **आभर**=भरिये। इस बल से युक्त होकर हम शत्रुओं को शीर्ण कर सकें। हे **अभिभूते**=शत्रुओं को पराभूत करनेवाले प्रभो! **उग्रम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर **ओजिष्ठम्**=ओजस्वितम **ओजः**=ओज को हमें प्राप्त कराइये। (२) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के **विश्वा**=सब **वृष्ण्या**=शक्ति का सेचन करनेवाली **द्युम्ना**=ज्ञान-ज्योतियों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **दाः**=दीजिए, जिससे **मादयध्यै**=हम जीवन में वास्तविक आनन्द का अनुभव कर सकें। 'शविष्ठ शव' हमें रोगों को जीतने में समर्थ करता है, ओजिष्ठ ओज के द्वारा हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को अभिभूत कर पाते हैं। 'वृष्ण्य द्युम्नों' के द्वारा सब आवरणों व अन्धकारों को दूर करके हम प्रभु का दर्शन करते हैं और वास्तविक आनन्द को पाते हैं।

भावार्थ—हम बल सम्पन्न होकर रोगों से न दबें। ओजस्विता हमें काम-क्रोध को अभिभूत करने में समर्थ करे। शक्तियुक्त ज्ञान-ज्योति हमें वास्तविक आनन्द को प्राप्त करानेवाली हो।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पृतनाषाट्-अमृध्रः' मदः

यस्ते मदः पृतनाषाळमृध्र इन्द्र तं न आ भर शूशुवांसम्।
येन तोकस्य तनयस्य सातौ मंसीमहि जिगीवांसस्त्वोताः ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपका **मदः**=मद-शक्ति-जनित उल्लास **पृतनाषाट्**=शत्रु-सैन्य का मर्षण करनेवाला व **अमृध्रः**=अहिंसित है, **तम्**=उसे **नः**=हमारे लिए **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइये। उस मद को, जो **शूशुवांसम्**=बढ़ने ही वाला है, न्यून होनेवाला नहीं। (२) **येन**=जिस मद के द्वारा **तोकस्य तनयस्य सातौ**=पुत्र-पौत्रों की प्राप्ति में **मंसीमहि**=हम सदा आपका स्तवन करें। और **त्वा ऊताः**=आपसे रक्षित हुए-हुए **जिगीवांसः**=सदा विजयी हों।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम उस शक्ति-जनित उल्लास को प्राप्त करें जो—(क) शत्रुसंहार द्वारा हमारी वृद्धि का कारण बने, (ख) उत्तम पुत्र-पौत्रों को प्राप्त करानेवाला हो, (ग) सदा हमें विजयी बनाये।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृषणं 'शुष्मम्'

आ नो भर वृषणं शुष्ममिन्द्र धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम्।
येन वंसाम पृतनासु शत्रून्तवोतिभिरुत जामीँरजामीन्॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए **वृषणम्**=सुखों का सेचन करनरेवाले **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को **आभर**=प्राप्त कराइये। जो बल **धनस्पृताम्**=हमारे धनों का पालक हो, **शूशुवांसम्**=वृद्धि का कारण बने। **सुदक्षम्**=उत्तम उन्नति का साधन हो। (२) **येन**=जिस बल के द्वारा **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों से **जामीन् उत अजामीन्**=बन्धुरूप व अबन्धुरूप (अथवा जन्म के साथ उत्पन्न 'सहज' व इससे भिन्न 'कृत्रिम') सभी **शत्रून्**=शत्रुओं को **पृतनासु**=संग्रामों में **वंसाम**=(हनाम) नष्ट कर सकें।

भावार्थ—प्रभु हमें वह बल दें जिससे कि हम उत्तम धनों को प्राप्त करके उन्नत हों तथा सब शत्रुओं का पराभव कर सकें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शुष्मः द्युम्नम्

आ ते शुष्मो वृषभ एतु पश्चादोत्तरादधरादा पुरस्तात्।
आ विश्वतो अभि समेत्वर्वाङिन्द्र द्युम्नं स्वर्वद्धेह्यस्मे॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ते**=आपका **वृषभः**=सुखों का सेचन करनेवाला **शुष्मः**=शत्रु-शोषक बल **पश्चात्**=पीछे की ओर से **आ एतु**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। इसी प्रकार **उत्तरात् आ (एतु)**=उत्तर की ओर से प्राप्त हो **अधरात्**=नीचे की ओर से और **पुरस्तात्**=सामने की ओर से भी **आ (एतु)**=हमारी ओर आये। (२) यह बल **विश्वतः**=सब ओर से **अर्वाङ्**=हमारे अभिमुख होता हुआ हमें **अभि आ समेतु**=आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्त हो। हे प्रभो! इस बल के साथ **स्वः वत्**=प्रकाशवाले व सुख के कारणभूत **द्युम्नम्**=ज्ञान प्रकाश को **अस्मे धेहि**=हमारे लिये धारण करिये।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमारे में सब दिशाओं से बल का धारण करिये। बल के साथ हमारे लिये ज्ञान के प्रकाश को भी प्राप्त कराइये। यह ज्ञान का प्रकाश हमारे सुखों का कारण बने।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उभय वसु-प्राप्ति

नृवत्त॑ इन्द्र॒ नृत॑माभिरू॒ती वं॑सी॒महि॑ वा॒मं श्रोम॑तेभिः।
ईक्षे॒ हि वस्व॑ उ॒भय॑स्य राजन्धा॒ रत्नं॒ महि॑ स्थू॒रं बृ॒हन्त॑म्॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **ते**=आपकी **नृतमाभिः ऊती**=नेतृतम-अधिक से अधिक उन्नतिपथ पर ले चलनेवाली रक्षाओं के द्वारा **श्रोमतेभिः**=श्रोतव्य ज्ञानों व यशों के साथ **नृवत्**=उत्तम नरोंवाले **वामम्**=वननीय (सुन्दर) धन को **वंसीमहि**=प्राप्त करें। प्रभु से रक्षित हुए-हुए हम पुरुषार्थ से धनों को प्राप्त करें। ये धन ज्ञान, यश व उत्तम वीर सन्तानों से युक्त हों। इन धनों के कारण हमारे जीवनों में विलास, अपयश व रोग न आ जाएँ। (२) हे **राजन्**=दीप्त प्रभो! आप **उभयस्य**=पार्थिव व दिव्य दोनों **वस्वः ईक्षे**=धनों के ईश हैं। भौतिक धनों को भी तथा अध्यात्म धनों को भी आप ही धारण करते हैं। सो आप **महि**=महान्, **स्थूरम्**=विपुल तथा **बृहन्तम्**=गुणों से परिवृद्ध **रत्नम्**=रमणीय धन को **धाः**=हमारे में धारण करिये।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम श्रोतव्य ज्ञानों के साथ वननीय धनों को प्राप्त हों। प्रभु भौतिक व अध्यात्म दोनों धनों को हमारे में धारण करें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विश्वासाहं उग्रं सहोदाम्

म॒रुत्व॑न्तं वृष॒भं वा॑वृधा॒नमक॑वारिं दि॒व्यं शा॒समिन्द्र॑म्।
वि॒श्वा॒साह॒मव॑से॒ नूत॑नायो॒ग्रं स॑हो॒दामि॒ह तं हु॑वेम॥ ११॥

(१) हम **नूतनाय**=सदा नवीन व प्रशंसनीय **अवसे**=रक्षण के लिए **इह**=इस जीवन में **तम्**=उस प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं, जो **मरुत्वन्तम्**=प्रशस्त प्राणोंवाले हैं। वस्तुतः प्रभु इन प्राणों के द्वारा ही हमारा रक्षण करते हैं। इन प्राणों की साधना से हम सदा नीरोग व सशक्त बन पाते हैं। **वृषभम्**=वे प्रभु हमारे में शक्ति का सेचन करनेवाले हैं। प्राणायाम के द्वारा शक्ति का अंग-प्रत्यंग में सेचन होता है। **वावृधानम्**=वे प्रभु खूब ही वृद्धि का कारण हैं। **अकवारिम्**=सब कुत्सित शत्रुओं के अभाववाले हैं। (२) हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **दिव्यम्**=प्रकाशमय **शासम्**=सबके शासक **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यवान् हैं। **विश्वासाहम्**=सब शत्रुओं का मर्षण करनेवाले हैं, **उग्रम्**=तेजस्वी हैं, **सहोदाम्**=बल को देनेवाले हैं। इस बल के द्वारा वे हमें आत्मरक्षण के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु प्रशस्त प्राणशक्ति व बल को देकर हमारा रक्षण करते हैं। हम सदा उस दिव्य परमैश्वर्यशाली तेजः-पुञ्ज शासक का आराधन करें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम 'सन्तान, इन्द्रियाँ व कर्म'

जनं॑ वज्रि॒न्महि॑ चि॒न्मन्य॑मानमे॒भ्यो नृभ्यो॑ रन्धया॒ येष्वस्मि॑।
अधा॒ हि त्वा॑ पृथि॒व्यां शूर॑साता॒ हवा॑महे॒ तन॑ये॒ गोष्व॒प्सु॥ १२॥

(१) एक व्यक्ति अपने सारे परिवार व समाज के कल्याण की कामना करता हुआ प्रार्थना करता है कि हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **येषु अस्मि**=जिन लोगों में मैं भी एक सदस्य हूँ, **एभ्यः**

नृभ्यः=इन लोगों के लिए, इनके रक्षण के लिए उस **जनम्**=मनुष्य को **रन्धया**=वशीभूत करिए जो कि **चित्**=निश्चय से **महि मन्यमानम्**=बहुत ही अभिमान करता है। अभिमान के कारण जो औरों की परेशानी का कारण बनता है, उसको वशीभूत करके आप सबका कल्याण करिये। (२) **अधा**=अब **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर, इस शरीर में निवास करते हुए **शूरसातौ**=शूरों से सम्भजनीय संग्राम में **हवामहे**=पुकारते हैं जिससे **तनये**=उत्तम सन्तानों को हम प्राप्त कर सकें (=उत्तम तनयों के निमित्त) **गोषु**=उत्तम इन्द्रियों के निमित तथा **अप्सु**=उत्तम कर्मों के निमित्त हम आपको पुकारते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! इस जीवन में हम किसी अभिमानी पुरुष से दब न जायें। जीवन-संग्राम में आपका स्मरण करते हुए उत्तम सन्तानों, इन्द्रियों व कर्मों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सर्वशत्रु विजय

वयं त एभिः पुरुहूत सख्यैः शत्रोःशत्रोरुत्तर इत्स्याम।
घ्नन्तो वृत्राण्युभयानि शूर राया मदेम बृहता त्वोताः॥ १३॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपकी **एभिः**=इन **सख्यैः**=मित्रताओं के द्वारा **शत्रोःशत्रो**=प्रत्येक शत्रु से, रोग व वासनारूप सभी शत्रुओं से अथवा 'जामि व अजामि' रूप सब शत्रुओं से (८म मन्त्र) **उत्तरे इत् स्याम**=अधिक ही हों, विजयी ही हों। (२) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **त्वा ऊताः**=आपके द्वारा रक्षित हुए-हुए हम **उभयानि वृत्राणि**=रोग व वासनारूप दोनों वृत्रों को **घ्नन्तः**=नष्ट करते हुए **बृहता राया मदेम**=वृद्धि के कारणभूत ऐश्वर्य से आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में शत्रुओं को पराजित करके उत्कृष्ट ऐश्वर्य से हम आनन्दित हों।

अगले सूक्त में 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कैसा धन?

द्यौर्न य इन्द्राभि भूमार्यस्तस्थौ रयिः शवसा पृत्सु जनान्।
तं नः सहस्रभरमुर्वरासां दद्धि सूनो सहसो वृत्रतुरम्॥ १॥

(१) **यः रयिः**=जो धन **पृत्सु**=संग्रामों में **अर्यः जनान्**=शत्रुभूत पुरुषों को **शवसा**=बल के द्वारा **अभितस्थौ**=इस प्रकार आक्रान्त करता है, **न**=जैसे कि **द्यौः**=देदीप्यमान सूर्य **भूम**=इस पृथिवी पर अधिष्ठित होता है। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए **तं दद्धि**=उस धन को दीजिए। हम धन को प्राप्त करके शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हों, न कि शत्रुओं से शीर्ण हो जानेवाले। (२) हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज प्रभो! हमें उस धन को दीजिये जो **सहस्रभरम्**=हजारों का भरण करनेवाला हो। केवल अपना ही पेट भरने के लिए न हो। **उर्वरासां**=(उर्वरा+सन् संभक्तौ) सर्वसस्याढ्य (=उपजाऊ) भूमियों का सम्भजन करनेवाला हो। धन का विनियोग हम भूमि को उपजाऊ बनाने में करें। **वृत्रतुरम्**=जो धन ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाला हो। ज्ञान प्राप्ति का साधन बनते हुए यह धन वासनाओं को हमारे से दूर करे।

भावार्थ—हमें वह धन दीजिये जो कि—(क) शत्रुओं को पराजित करे, (ख) हजारों का भरण करे, (ग) भूमि को उपजाऊ बनाने में विनियुक्त हो तथा (घ) वासना संहार करनेवाला हो।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान-दिव्यागुण-बल

दिवो न तुभ्यमन्विन्द्र सत्रासुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम्।
अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन्विष्णुना सचानः ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **दिवः न**=ज्ञान की तरह **सत्रा**=सचमुच **देवेभिः**=दिव्य गुणों के साथ **विश्वं असुर्यम्**=सब बल **अनुधायि**=ज्ञान धारण किया जाता है। प्रभु के उपासन के होने पर 'ज्ञान, बल व दिव्यगुणों' की प्राप्ति होती है। उत्तरोत्तर इनकी वृद्धि होती चलती है। (२) **यत्**=जब कि हे **ऋजीषिन्**=ऋजु (सरल) मार्ग से गति करनेवाले जीव! **विष्णुना सचानः**=उस व्यापक परमात्मा से मेलवाला होता हुआ तू **अपः वव्रिवांसम्**=सब कर्मों पर परदा डाल देनेवाले, कर्त्तव्य मार्ग से भ्रष्ट कर देनेवाले, **अहिम्**=(आहन्तारं) सब दृष्टिकोणों से विनाशक **वृत्रम्**=वासनारूप शत्रु को **हन्**=तू विनष्ट करता है। इस वासनारूप शत्रु के विनाश से वह बल प्राप्त होता है, वह ज्ञान व दिव्यगुण प्राप्त होते हैं जिनसे कि हम उत्तरोत्तर आगे बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से 'ज्ञान, दिव्यगुणों व बल' की प्राप्ति होती है, प्रभु से मिलकर हम वासनारूप विनाशक शत्रु का विनाश कर पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तवसः तवीयान्

तूर्वन्नोजीयान्तवसस्तवीयान्कृतब्रह्मेन्द्रो वृद्धमहाः ।
राजाभवन्मधुनः सोम्यस्य विश्वासां यत्पुरां दर्त्नुमावत् ॥ ३ ॥

(१) **तूर्वन्**=शत्रुओं का हिंसन करता हुआ, **ओजीयान्**=ओजस्वी, **तवसः तवीयान्**=बलवान् से भी बलवत्तर, **कृतब्रह्मा**=(कृतं ब्रह्म येन) सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान को देनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **वृद्धमहाः**=अत्यन्त प्रवृद्ध तेजवाले हैं। (२) ये प्रभु **यत्**=जब **विश्वासां पुराम्**=सब आसुर-पुरियों के **दर्त्नुम्**=विदारक वज्र को **आवत्**=उपासक के जीवन में प्राप्त कराते हैं, तो यह उपासक **सोम्यस्य**=सोम सम्बन्धी **मधुनः**=मधु का (वीर्यशक्ति का) राजा **अभवत्**=राजा होता है। शक्ति को अपने अन्दर सुरक्षित कर पाता है। यह आसुर-पुरियों का विदारक वज्र 'क्रियाशीलता' ही है। क्रियाशील पुरुष वासनाओं से सताया नहीं जाता, और सोम शक्ति का रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं का हिंसन करते हैं। तेजस्वी हैं, हमें ज्ञान देते हैं। ये प्रभु ही हमें क्रियाशील बनाकर हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दशोणि कवि

शतैरपद्रन्पणय इन्द्रात्र दशोणये कवयेऽर्कसातौ।
वधैः शुष्णस्याशुषस्य मायाः पित्वो नारिरेचीत्किं चन प्र ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अत्र अर्कसातौ**=यहाँ जीवनयुद्ध में **दशोणये**=(दश

ओणृ अपनयने) दसों इन्द्रियों को विषयों से अपनीत करनेवाले **कवये**=ज्ञानी पुरुष के लिये **पणयः**=(miser, impious man) कृपणता व अपवित्रता की भावनाएँ **शतैः**=सैंकड़ों की संख्या में **अपद्रन्**=दूर भागती हैं। इसके जीवन में कृपणता व अपवित्रता नहीं रहती। (२) **अशुषस्य**=जिसका शोषण बड़ा कठिन है उस **शुष्णस्य**=सुखा देनेवाले इस वासनारूप असुर के **वधैः**=वधों से यह अपने जीवन में **पित्वः मायाः**=पालक पुरुष के प्रज्ञानों को **किंचन**=कुछ भी, जरा भी न **नारिरेचीत्**=पृथक् नहीं होने देता। वासना ही तो ज्ञान पर परदा डालती है, वासना के विनाश से प्रज्ञान का प्रेरचन नहीं होता।

भावार्थ—इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करते हुए ज्ञानी पुरुष के लिए कृपणता व अपवित्रता के भाव प्रबल नहीं हो पाते। यह वासना-विनाश के द्वारा पालक प्रज्ञा का विनाश नहीं होने देता।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्रोह से दूर

म॒हो द्रु॒हो अप॑ वि॒श्वायु॑ धायि॒ वज्र॑स्य॒ यत्पत॑ने॒ पादि॒ शुष्णः॑।
उ॒रु ष स॒रथं॒ सार॑थये क॒रिन्द्रः॒ कुत्सा॑य॒ सूर्य॑स्य सा॒तौ॥ ५॥

(१) **यत्**=जब **वज्रस्य**=क्रियाशीलतारूप वज्र के **पतने**=गतिमय होने पर **शुष्णः**=यह सुखा देनेवाला कामासुर **पादि**=(अम्रियत) मृत्यु को प्राप्त होता है, अर्थात् क्रियाशीलता के द्वारा जब वासना का विनाश होता है तो यह जितेन्द्रिय पुरुष **विश्वायु**=सम्पूर्ण जीवन में **महः द्रुहः**=महान् द्रोह की भावना से **अपधायि**=दूर स्थापित होता है। वासना ही विद्रोह की जननी है। वासना-विनाश में वास्तविक प्रेम उपजता है। (२) **सः**=वह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सूर्यस्य सातौ**=उस ज्ञान-सूर्य प्रभु की प्राप्ति के निमित्त **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले **सारथये**=प्रभु रूप सारथि के लिए **उरु**=विशाल **सरथम्**=समान-रथ को **कः**=करता है। जीव प्रभु के साथ जब समान-रथ में स्थित होता है तो वह वासनाओं से अनाक्रान्त हुआ-हुआ ज्ञान-सूर्य को अपने में उत्पन्न कर पाता है।

भावार्थ—हम वासनाओं से ऊपर उठकर द्रोह की भावनाओं से दूर रहें। प्रभु को अपने रथ का सारथि बनाएँ, इसी से वासनाओं से अतिक्रान्त होकर हम ज्ञान-सूर्य के उदय को कर पाएँगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'नमी साप्य व ससत्' बनना

प्र श्ये॒नो न म॑दि॒रमं॒शुम॑स्मै॒ शिरो॑ दा॒सस्य॒ नमु॑चेर्मथा॒यन्।
प्राव॒न्नमीं॑ सा॒प्यं स॒सन्तं॑ पृ॒णग्रा॒या समि॒षा सं स्व॒स्ति॥ ६॥

(१) **श्येनः**=शंसनीय गतिवाले वे प्रभु **अस्मै**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **मदिरम्**=उल्लास के जनक **अंशुम्**=सोम को **प्र (अहरत्)**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हैं। **न**=(च) और **दासस्य**=विनाश के कारणभूत **नमुचे**=पीछा न छोड़नेवाले इस वृत्र के **शिरः मथायन्**=सिर को प्रभु कुचल देते हैं। नमुचि के विनाश से ही सोम का रक्षण होता है। (२) वे प्रभु **नमीम्**=इस नम्रतावाले **साप्यम्**=उपासनामय जीवनवाले **ससन्तम्**=सांसारिक विषयों के प्रति सोये हुए पुरुष का **प्रावत्**=रक्षण करते हैं। इस नमी को वे **राया**=उत्तम ऐश्वर्य से **संपृणक्**=संयुक्त करते हैं। इस साप्य को वे **इषा**=प्रेरणा से **सम्**=संपृक्त करते हैं, उपासक हृदयस्थ प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करता है। इस 'ससत्' को, सांसारिक विषयों के प्रति सोये हुए पुरुष को **स्वस्ति सं (पृणक्)**=कल्याण से युक्त करते

हैं। सांसारिक भोग-विलासों के प्रति जागृति ही सब दुःखों का कारण बनती है।

भावार्थ—प्रभु हमें उल्लासजनक सोम को प्राप्त करते हैं। हमारे लिये नमुचि (वृत्र) के सिर को कुचलते हैं। नम्र उपासक व सांसारिक विषयों के प्रति सोये हुए का प्रभु रक्षण करते हैं और इन्हें ऐश्वर्य, प्रेरणा व कल्याण से युक्त करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पिप्रु-पुरी का प्रलय

वि पिप्रोरहिमायस्य दृळ्हाः पुरो वज्रिञ्छवसा न दर्दः।
सुदामन्तद्रेक्णो अप्रमृष्यमृजिश्वने दात्रं दाशुषे दाः॥ ७॥

(१) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **न**=(संप्रति) अब आप **अहिमायस्य**=आहन्त्री मायावाले, विनाश ही विनाश की कारणभूत मायावाले **पिप्रोः**=अपना ही पूरण करनेवाले लोभरूप आसुरभाव की **दृढाः**=बड़ी मजबूत **पुरः**=नगरियों को **शवसा**=बल के द्वारा **विदर्दः**=विदारित करते हैं। (२) इस लोभ को नष्ट करके हे **सुदामन्**=शोभन दानवाले प्रभो! **दात्रं दाशुषे**=दान को देनेवाले, हविरूप में धन का त्याग करनेवाले, **ऋजिश्वने**=सरल मार्ग से गति करनेवाले, छल-कपट से रहित पुरुष के लिए **तत्**=उस **अप्रमृष्यम्**=शत्रुओं से बाधित न होनेवाले **रेक्णः**=धन को **दाः**=देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लोभ को नष्ट करते हैं। दानशील पुरुष के लिए उस धन को प्राप्त कराते हैं जो वासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता, अर्थात् हमें विषय-वासनाओं में नहीं फँसाता।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दशमाय दशोणि

स वेतसुं दशमायं दशोणिं तूतुजिमिन्द्रः स्वभिष्टिसुम्नः।
आ तुग्रं शश्वदिभं द्योतनाय मातुर्न सीमुप सृजा इयध्यै॥ ८॥

(१) **सः**=वे प्रभु **स्वभिष्टिसुम्नः**=उत्तम अभ्येषणीय (=चाहने योग्य) स्तोत्रोंवाले हैं। ये स्तोत्र ही उपासक के लिए भवसागर को तरानेवाली नौका बनते हैं। **इन्द्रः**=ये परमैश्वर्यशाली प्रभु **वेतसु**=वेतस की तरह नम्र **दशमायम्**=दसों की दसों इन्द्रियों की शक्तिवाले (माया extraordinary power) **दशोणिम्**=दसों इन्द्रियों को विषयों से अवनीत करनेवाले **तूतुजिम्**=शत्रुओं को नष्ट करनेवाले **तुग्रम्**=बलवान् **शश्वत्**=सदा **इभम्**=(अयगत भयं) निर्भयता को धारण करनेवाले पुरुष को **आद्योतनाय**=समन्तात् द्योतित करने के लिए **सीम्**=निश्चय से **मातुः न**=माता के समान इस वेद माता के **उप**=समीप **इयध्यै**=आने के लिए **सृजा**=विसृष्ट करते हैं, निर्मित करते हैं। (२) इस वेद माता के समीप रहता हुआ यह व्यक्ति अपने ज्ञान को दीप्त करके वस्तुतः अपने को श्रेष्ठ बना पाता है। इसके अन्दर यह वेद माता ही 'वेतसुत्व' आदि गुणों का सञ्चार करती है।

भावार्थ—हम वेद माता की गोद में 'नम्र-दसों इन्द्रियों को सशक्त व विषयव्यावृत्त बनानेवाले, शत्रु संहारक, सबल व निर्भय' बन पायें। वेद माता से दी गयी ज्ञान ज्योति हमें ऐसा बनाये।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रु विजय व प्रभु प्राप्ति

स ईं स्पृधो वनते अप्रतीतो बिभ्रद्वज्रं वृत्रहणं गभस्तौ।
तिष्ठद्धरी अध्यस्तेव गर्ते वचोयुजा वहत इन्द्रमृष्वम्॥ ९॥

(१) **सः**=वह प्रभु-भक्त **ईम्**=निश्चय से **गभस्तौ**=हाथ में **वृत्रहणम्**=वृत्र (वासना) के विनाशक **वज्रम्**=वज्र को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ, **अप्रतीतः**=शत्रुओं से आक्रान्त न होता हुआ **स्पृधः**=इन स्पर्धा करते हुए शत्रुओं को **वनते**=जीतता है, इन शत्रुओं का हिंसन करके विजय को प्राप्त करता है। (२) काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को जीतकर **हरी तिष्ठत्**=अपने ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों का अधिष्ठाता बनता है। यह **गर्ते अधि**=इस शरीर-रथ पर **अस्ता इव**=शत्रुओं पर बाण फेंकनेवाले के समान स्थित होता है। शत्रुओं को ज्ञान के बाणों से आहत करता हुआ यह अपने से दूर रखता है। कामदेव यदि 'मन्मथ' का रूप धारण करके अपने पञ्चबाणों से इसके ज्ञान को नष्ट करने का यत्न करता है, तो यह ज्ञान के बाणों से काम को विनष्ट करने के लिए यत्नशील होता है। अब ये **वचोयुजा**=इन्द्र के आदेश के अनुसार शरीर-रथ में जुतनेवाले ये इन्द्रियाश्व **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **ऋष्वं वहतः**=उस महान् प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। वशीभूत इन्द्रियाँ प्रभु प्राप्ति का साधन बनती हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता रूप वज्र को धारण करते हुए वासना को विनष्ट करें। इन्द्रियों को वशीभूत करके प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्तोत्रों व यज्ञों से प्रभु का उपासन

सनेम तेऽवसा नव्यं इन्द्र प्र पूरवः स्तवन्त एना यज्ञैः।
सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्द्धन्दासीः पुरुकुत्साय शिक्षन्॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अवसा**=रक्षण के हेतु से **ते**=आपके **नव्यः**=(नु स्तुतौ) उत्कृष्ट स्तोत्र का **सनेम**=सेवन करें। आपका यह स्तवन हमें वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाला होगा **पूरवः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग **एना**=इस स्तोत्र के साथ **यज्ञैः**=यज्ञों से **प्रस्तवन्त**=शीर्ण करनेवाले 'शरद्' नामक आसुरभाव, कामवासनारूप वृत्र की पुरियों को **शर्म**=(शृ हिंसायाम्) (शर्मणा) वज्र के द्वारा **दर्द्**=विदीर्ण करते हैं तो इन **दासीः**=कर्मों का उपक्षय करनेवाली सभी वासनाओं को **हन्**=विनष्ट करते हैं और **पुरुकुत्साय**=इस पुरुकुत्स के लिए **शिक्षन्**=धनों को (ऐश्वर्यों को) प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम स्तोत्र व यज्ञों से प्रभु का उपासन करें। प्रभु ही हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हम वास्तविक ऐश्वर्य प्राप्त करायेंगे।

सूचना—'कर्णाविमौ नासिके अक्षणी मुखम्' ये सात शरीरस्थ ऋषि हैं। इनके आश्रमों को आक्रान्त करके वासनाएँ अपने 'पुर्' बना लेती हैं, ये ही तब 'सात पुर' (सप्त शारदीः पुरः) कहलाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-दत्त धन को प्रभु का ही जानें

त्वं वृध इन्द्र पूर्व्यो भूर्वरिवस्यन्नुशने काव्याय।
परा नववास्त्वमनुदेयं महे पित्रे ददाथ स्वं नपातम्॥ ११॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **उशने काव्याय**=आपकी प्राप्ति की कामनावाले ज्ञानी पुरुष के लिए **वृधः**=(वर्धकः) वृद्धि को करनेवाले व **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करनेवाले **भूः**=होते हैं। **वरिवस्यन्**=इसके लिए धनों को चाहते हैं (वरिवः इच्छति)।

(२)हे उपासक! तू इस **नववास्त्वम्**=(नु स्तुतौ) स्तुत्य निवास के साधनभूत **अनुदेयम्**=अनुदातव्य धन को **महे पित्रे**=उस महान् पिता के लिए **पराददाथ**=वापिस लौटा देता है। इस प्रकार इस धन को **'स्वं नपातम्'**=अपने को न गिरने देनेवाला बनाता है। वस्तुतः प्रभु से दत्त ऐश्वर्य को प्रभु का ही समझें और इस प्रकार उसका विलास में व्यय न कर, लोकहित में ही विनियोग करें तो यह धन हमारे पतन का कारण नहीं बनता। हम अपने को धन का केवल ट्रस्टी (रक्षक) समझें, धन को प्रभु का ही जानें।

भावार्थ—प्रभु हमें धनों को देकर बढ़ाते व पालते हैं। हम इस प्रभु से अनुदातव्य धन को प्रभु का ही जानें। अपने को केवल उसका रक्षक समझें, इस प्रकार यह धन हमारे पतन का कारण न होगा।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सीराः न स्रवन्तीः

त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीर्ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः।
प्र यत्समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं धुनिः**=आप शत्रुओं को कम्पित करनेवाले हैं। **धुनिमतीः**=शत्रु-कम्पन शक्तिवाली, **सीराः न स्रवन्तीः**=नदियों की तरह बहती हुई, अर्थात् शान्त व नम्रभाव से अपने क्रियाकलाप को करती हुई **अपः**=प्रजाओं को आप **ऋणोः**=प्राप्त होते हैं। वस्तुतः प्रभु हमारे कर्मों से ही पूजित होते हैं, कर्मों द्वारा पूजन करनेवाले व्यक्ति को प्रभु प्राप्त होते हैं। (२) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **समुद्रं अतिपर्षि (कामो हि समुद्रः)**=आप इस कामरूप समुद्र के पार ले जाते हो तो **तुर्वशम्**=इस त्वरा से वश में करनेवाले **यदुम्**=यत्नशील मनुष्य को **स्वस्ति पारया**=कल्याण के लिए भवसागर के पार प्राप्त कराते हो। काम-समुद्र को पार करना ही भवसागर को पार करना है।

भावार्थ—प्रभु उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो नम्र व शान्तभाव से अपने कर्त्तव्य कर्मों में लगे रहें। इन्हीं में शत्रु-कम्पन शक्ति उत्पन्न होती है। ये ही काम-समुद्र को पार करके भवसागर को तैरते हैं और कल्याण को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कौन चमकता है?

तव ह त्यदिन्द्र विश्वमाजौ सस्तो धुनीचुमुरी या ह सिष्वप्।
दीदयदित्तुभ्यं सोमेभिः सुन्वन्दभीतिरिध्मभृतिः पक्थ्यर्कैः॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विनाशक प्रभो! **ह**=निश्चय से **त्यत् विश्वम्**=वह सब **तव**=आपका ही कार्य है कि **आजौ**=संग्राम में **धुनी**=कम्पित कर देनेवाला क्रोधासुर तथा **चुमुरी**=आचमन कर जानेवाला, शक्ति को चूस लेनेवाला कामासुर **सस्तः**=सोये पड़े हैं, **या**=जिनको **ह**=निश्चय से **सिष्वप्**=आपने ही सुलाया, मारकर इन्हें आपने ही धराशायी किया। (२) **तुभ्यम्**=हे प्रभो! आपकी प्राप्ति के लिए **सोमेभिः**=सोमरक्षणों के द्वारा **सुन्वन्**=आपका अभिषव करता हुआ, हृदय में आपका दर्शन करता हुआ, **दभीतिः**=वासनाओं का हिंसन करनेवाला **इध्मभृतिः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक के पदार्थों के ज्ञानरूप तीन समिधाओं का भरण करता हुआ **अर्कैः पक्थी**=स्तुति-साधन मन्त्रों के द्वारा ज्ञान का परिपाक करनेवाला व्यक्ति **दीदयत् इत्**=निश्चय से ही होता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे क्रोध व काम का संहार करते हैं। 'सोमरक्षक-वासनारूप शत्रुओं का नाशक-ज्ञान-समिधाओं का धारक, मन्त्रों द्वारा ज्ञान का परिपाक करनेवाला' व्यक्ति ही संसार में चमकता है।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पुरुतम कारु'

इमा उ त्वा पुरुतमस्य कारोर्हव्यं वीर हव्या हवन्ते।
धियो रथेष्ठामजरं नवीयो रयिर्विभूतिरीयते वचस्या॥ १॥

(१) हे **वीर**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले प्रभो! **पुरुतमस्य**=(तमु अभिकांक्षायाम्) आपकी प्राप्ति की प्रबल कामनावाले **कारोः**=कुशलता से कर्मों को करनेवाले स्तोता की **इमाः**=ये **हव्याः**=आपको पुकारनेवाली **धियः**=स्तुतियाँ, ज्ञानपूर्वक किये गये स्तोत्र **उ**=निश्चय से **हव्यम्**=स्तुत्य **त्वा**=आपको **हवन्ते**=पुकारती हैं। यह 'पुरुतम कारु' आपको ही स्तुतियों के द्वारा पुकारता है। (२) हे प्रभो! आप ही **रथेष्ठाम्**=इस शरीर रथ के सारथि हैं, **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले **नवीयः**=अतिशयेन स्तुत्य हैं। हे प्रभो! आपको ही **रयिः**=सम्पूर्ण धन **विभूतिः**=विभव के हेतुभूत सब ऐश्वर्य तथा **वचस्या**=स्तुति **ईयते**=प्राप्त होती है। सब धनों व ऐश्वर्यों के स्वामी आप हैं तथा सब स्तुति अन्ततः आपकी ही है।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति की प्रवल कामनावाला स्तोता प्रभु को ही पुकारता है। सब धन, ऐश्वर्य व स्तुति अन्ततः प्रभु की ही है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञवृद्धं गिर्वाहसम्

तमु स्तुष इन्द्रं यो विदानो गिर्वाहसं गीर्भिर्यज्ञवृद्धम्।
यस्य दिवमति मह्ना पृथिव्याः पुरुमायस्य रिरिचे महित्वम्॥ २॥

(१) **तं इन्द्रं उ**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **स्तुषे**=मैं स्तुत करता हूँ **यः**=जो **विदानः**=सर्वज्ञ हैं। **गिर्वाहसम्**=ज्ञान की वाणियों का वहन (धारण) करनेवाले हैं। **गीर्भिः**=स्तुति वाणियों से **यज्ञवृद्धम्**=यज्ञों में वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अर्थात् स्तुतियों व यज्ञों द्वारा प्रभु के प्रकाश का अन्तःकरण में वर्धन होता है। (२) **यस्य पुरुमायस्य**=जिस अनन्त प्रज्ञानवाले प्रभु की **महित्वम्**=महिमा **दिवं अति रिरिचे**=सूर्य को व द्युलोक को लांघ जाती है। जो प्रभु सूर्य से अधिक दीप्त हैं और द्युलोक से अधिक विशाल हैं। वे प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से **पृथिव्याः अतिरिरिचे**=पृथिवी से बहुत अधिक बढ़े हुये हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु की महिमा को सीमित नहीं कर पाते।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्तवन करता हूँ जो सर्वज्ञ हैं, स्तुतियों व यज्ञों द्वारा प्राप्त होते हैं और जो अपनी महिमा से द्युलोक व पृथिवीलोक से भी महान् हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अहिंसा व स्वर्ग प्राप्ति

स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार ।
कदा ते मर्ता अमृतस्य धामेयक्षन्तो न मिनन्ति स्वधावः ॥ ३ ॥

(१) **सः**=वें प्रभु **इत्**=ही **ततन्वत्**=वृत्र से, वासना से विस्तीर्यमाण **अवयुनम्**=प्रज्ञान-नाशक **तमः**=अन्धकार को **सूर्येण**=मस्तिष्करूप द्युलोक में उदित किये गये ज्ञानसूर्य से **वयुनवत् चकार**=प्रकाशवाला कर देते हैं। ज्ञान सूर्योदय से अज्ञान्धकार को नष्ट करके प्रभु हमारी वासनाओं को विलीन कर देते हैं। (२) हे **स्वधावः**=(स्व+धाव्=शुद्धि) अज्ञानान्धकार के विनाश के द्वारा आत्मा को शुद्ध कर देनेवाले प्रभो! **मर्ताः**=मनुष्य **अमृतस्य ते**=अमरणधर्मा तेरे **धाम**=मोक्षरूप स्थान को, अमृत लोक को **इयक्षन्तः**=अपने साथ संगत करने की कामनावाले होते हुए **कदा (कदाचित्)**=कभी भी **न मिनन्ति**=हिंसा को नहीं करते हैं। हिंसा से ऊपर उठकर ही वे मोक्ष को प्राप्त करने के पात्र बनते हैं।

भावार्थ—वासना जनित अन्धकार को प्रभु ज्ञानसूर्योदय से विनष्ट करते हैं। ज्ञान प्राप्त मनुष्य मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से सर्व प्राणि विहिंसा का वर्जन करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'यज्ञ-अर्क-होतृत्व'

यस्ता चकार स कुह स्विदिन्द्रः कमा जनं चरति कासु विक्षु ।
कस्ते यज्ञो मनसे शं वराय को अर्क इन्द्र कतमः स होता ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **ता**=उन वृत्रवध (वासना-विनाश) व अज्ञान नाश आदि कार्यों को **चकार**=करते हैं, **सः कुहस्वित्**=वे कहाँ हैं? **कं जनं आचरति**=किस मनुष्य को ये प्रभु प्राप्त होते हैं? **कासु विक्षु**=किन प्रजाओं में प्रभु का वास है? (२) हे प्रभो! **कः**=कौन-सा **ते यज्ञः**=आपका यज्ञ मनसे **शम्**=मन के लिए शान्ति को देनेवाला है? **कः अर्कः**=कौन-सा स्तुति साधन मन्त्र **वराय**=आपके वरण के लिए होता है? **कतमः**=कौन-सा **सः**=वह **होता**=यज्ञशेष का सेवन करनेवाला, दानपूर्वक अदन करनेवाला, व्यक्ति है जो आपका वरण कर पाता है? (३) यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध में तीन प्रश्न हैं—(क) वे प्रभु कहाँ हैं, (ख) किस मनुष्य को प्राप्त होते हैं? (ग) किन प्रजाओं में वसते हैं? उत्तरार्ध में प्रश्नों की ही शैली पर उत्तर दिये गये हैं—(क) जहाँ यज्ञ मानस शान्ति का कारण बनते हैं वहाँ प्रभु हैं, (ख) जो स्तुति साधन मन्त्रों का स्वीकार करता है उसे प्रभु प्राप्त होते हैं, (ग) होताओं में, यज्ञशील प्रजाओं में प्रभु का वास है।

भावार्थ—हम 'यज्ञों को, स्तुति-साधन मन्त्रों को तथा होतृत्व दानपूर्वक अदन को' अपनाकर प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रियाशीलता व प्रभु मित्रता

इदा हि ते वेविषतः पुराजाः प्रत्नास आसुः पुरुकृत्सखायः ।
ये मध्यमास उत नूतनास उतावमस्य पुरुहूत बोधि ॥ ५ ॥

(१) **इदा हि (इदानीम् इव)**=अब की तरह **ते**=वे **वेविषतः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **पुराजाः**=पूर्वकाल में उत्पन्न हुए-हुए **प्रत्नासः**=पुराणे 'अग्नि, वायु, आदित्य व आंगिरा' आदि ऋषि हे **पुरुकृत्**=पालक व पूरक कर्मों को करनेवाले प्रभो! **सखायः आसुः**=आपके मित्र थे। कर्मशील पुरुष ही प्रभु का मित्र होता है, अकर्मण्य नहीं। (२) **ये मध्यमासः**=जो मध्यम काल में होनेवाले कर्मशील पुरुष थे **उत**=और **नूतनासः**=इस नवयुग में होनेवाले क्रियाशील पुरुष हुए वे सब आपके मित्र हैं, आपकी मित्रता उन्हें सदा प्राप्त रही है। हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **उत**=और **अवमस्य**=इस सब से अवम काल में स्थित व सब से अवम (lowest) स्थिति में स्थित मुझ उपासक का भी **बोधि**=आप ध्यान करें, मैं आपकी कृपादृष्टि से वञ्चित न होऊँ।

भावार्थ—प्रभु सब कालों में क्रियाशील उपासकों के मित्र हैं। मैं भी प्रभु की मित्रता का पात्र बनूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महान् और अति महान्

तं पृच्छन्तोऽवरासः पराणि प्रत्ना त इन्द्र श्रुत्यानु येमुः।
अर्चामसि वीर ब्रह्मवाहो यादेव विद्म तात्त्वां महान्तम्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **अवरासः**=अवर काल में होनेवाले स्तोता लोग सृष्टि के निर्माण के बाद शरीरों को प्राप्त करनेवाले स्तोता **तम्**=उन आपको **पृच्छन्तः**=जानने की कामना करते हुए **ते**=आपके **पराणि**=उत्कृष्ट **प्रत्ना**=सनातन **श्रुत्या**=श्रोतव्य कर्मों को **अनुयेमुः**=स्तुतिरूप वाणियों में निबद्ध करते हैं, आपके कर्मों का स्तोत्रों द्वारा कीर्तन करते हैं। (२) हे **ब्रह्मवाहः**=ज्ञान की वाणियों को, वेद को वहन करनेवाले **वीर**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले प्रभो! **यात् एव विद्म**=जितना-जितना आपको जानते हैं **तात्**=उतना ही **महान्तम्**=महान् **त्वा**=आपकी **अर्चामसि**=अर्चना करते हैं। जितना-जितना आपका ज्ञान प्राप्त होता है, आप उतने-उतने ही महान् प्रतीत होते हो। आपकी महत्ता का कीर्तन करते हुए हम भी महान् बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के सनातन श्रोतव्य कर्मों का स्तोत्रों द्वारा हम कीर्तन करते हैं। जितना-जितना प्रभु के जान पाते हैं, उतना-उतना ही वे बड़े दिखते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रत्न सखा 'वज्र'

अभि त्वा पाजो रक्षसो वि तस्थे महि जज्ञानमभि तत्सु तिष्ठ।
तव प्रत्नेन युज्येन सख्या वज्रेण धृष्णो अप ता नुदस्व॥ ७॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **त्वा अभि**=तेरी ओर तेरे सामने **रक्षसः पाजः**=यह राक्षसीभावों का सेनारूप बल **वितस्थे**=विशेषरूप से स्थित हुआ है, तेरे पर आक्रमण के लिए यह तैयार है **महि जज्ञानम्**=महान् प्रादुर्भूत होते हुए **तत्**=उस सैन्य को **अभि सुतिष्ठः**=लक्ष्य करके सम्यक् स्थित हो, उस पर आक्रमण के लिए सावधान होकर स्थित हो। (२) हे **धृष्णो**=धर्षणशील शत्रुओं का पराभव करनेवाले जीव! **तव**=तेरे **प्रत्नेन**=सनातन, सदा के **युज्येन सख्या**=साथ रहनेवाले मित्र **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **ता**=उनको **अपनुदस्व**=परे धकेल दे। क्रियाशीलतारूप वज्र द्वारा इनका तू निराकरण करनेवाला हो।

भावार्थ—क्रियाशीलता रूप वज्र से हम निरन्तर आक्रमण करनेवाले राक्षसी भावों को अपने से दूर करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

अनुग्रह-याचना

प्रभु प्रेरणा को सुनकर जीव प्रार्थना करता है—

स तु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारुधायः।
त्वं ह्याऽपिः प्रदिवि पितॄणां शश्वद् बभूथ सुहव एष्टौ॥ ८॥

(१) हे **कारुधायः वीर**=स्तोताओं का धारण करनेवाले, शत्रु कम्पक **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सः**=वे आप **तु**=निश्चय से **नूतनस्य**=मुझे नये **ब्रह्मण्यतः**=स्तोत्रों को अपनाने की कामनावाले की प्रार्थना को **श्रुधि**=सुनिये। मैं भी आपकी कृपा से वीर बनूँ, शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाला होऊँ। (२) **त्वं हि**=आप ही **प्रदिवि**=पुराण काल में **पितॄणाम्**=पितरों के, रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पुरुषों के **अपिः**=बन्धु हुए हैं। आप ही **शश्वत्**=सदा **इष्टौ**=यज्ञों में उस-उस कामना को समय पर **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य **आबभूथ**=होते हैं। सब कोई आपको ही पुकारता है। वस्तुतः इस राक्षस सैन्य के आक्रमण के समय आपने ही तो मेरी सहायता करनी है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप सदा पालनात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों के रक्षक होते हैं। मुझ नये स्तोता के आह्वान को सुनिये। आपके अनुग्रह से मैं भी 'वीर' बनूँ। शत्रुओं को कम्पित करके दूर कर सकूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम जीवन

प्रोतये वरुणं मित्रमिन्द्रं मरुतः कृष्वावसे नो अद्य।
प्र पूषणं विष्णुमग्निं पुरन्धिं सवितारमोषधीः पर्वतांश्च॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **अद्य**=आज **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए **वरुणम्**=द्वेष निवारण की देवता को **मित्रम्**=स्नेह की देवता को **इन्द्रम्**=जितेन्द्रियता के दिव्यभाव को **मरुतः**=प्राणों को **प्रकृष्व**=करिये। ये सब **अवसे**=हमारे जीवन की दीप्ति के लिए हों। हम 'निर्द्वेष, स्नेही, जितेन्द्रिय व प्राणसाधक' बनकर अपने जीवन को दीप्त बना सकें। (२) हे प्रभो! आप **पूषणम्**=पोषण की देवता को, **विष्णुम्**=व्यापकता व उदारता के दिव्यभाव को, **अग्निम्**=आगे बढ़ना व उन्नति के भाव को, **पुरन्धिम्**=पालक बुद्धि को, **सवितारम्**=निर्माण की देवता को **प्र (कृष्व)**=हमारे लिये करिये। **ओषधीः**=ओषधियों को **च**=और **पर्वतान्**=पर्वतों को भी हमारे रक्षण का साधन बनाइये। 'ओषधि' शब्द आचार्य के लिए भी प्रयुक्त होता है (आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः) 'पर्वत' वे व्यक्ति हैं जो समाज की न्यूनताओं को दूर कर उनके पूरण में प्रवृत्त हैं। ये ओषधि पर्वत भी हमारे रक्षण व दीपन के लिए हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से स्नेह व निर्द्वेषता के भाव, जितेन्द्रियता व प्राणसाधना की शक्ति हमें प्राप्त हों। हम शरीर का उचित पोषण करनेवाले, उदार वृत्तिवाले प्रगतिशील व पालक बुद्धि से युक्त हों। सदा निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों। उत्तम आचार्यों व समाज-सुधारकों के सम्पर्क में आएँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति व अमृतत्व

इम उ त्वा पुरुशाक प्रयज्यो जरितारो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
श्रुधी हवमा हुवतो हुवानो न त्वावाँ अन्यो अमृत त्वदस्ति ॥ १० ॥

(१) हे **पुरुशाक**=अनन्त शक्तिवाले, **प्रयज्यो**=प्रकर्षेण पूजनीय प्रभो! **इमे**=ये **जरितारः**=स्तोता लोग **उ**=निश्चय से **त्वा**=आपको **अर्कैः**=स्तुतिसाधन मन्त्रों से **अभ्यर्चन्ति**=पूजते हैं। आपकी उपासना से ही तो वस्तुतः शक्ति प्राप्त होती है। (२) हे प्रभो! **हुवानः**=पुकारे जाते हुए आप **आहुवतः**=पुकारते हुए मेरी **हवम्**=पुकार को **श्रुधि**=सुनिये। हे **अमृत**=अविनाशी प्रभो! **त्वावान्**=आप जैसा **त्वद् अन्यः**=आप से भिन्न **न अस्ति**=नहीं है। आप ही हमारी सब कमियों को दूर कर सकते हैं। आपने ही हमें अमरता प्रदान करनी है।

भावार्थ—प्रभु का ही स्तवन करना योग्य है। प्रभु ने ही हमें शक्ति व अमृतत्व प्राप्त कराना है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अग्निजिह्वा ऋतसापः' देव

नू म आ वाचमुप याहि विद्वान्विश्वेभिः सूनो सहसो यजत्रैः।
ये अग्निजिह्वा ऋतसाप आसुर्ये मनुं चक्रुरुपरं दसाय ॥ ११ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज प्रभो! **विद्वान्**=सर्वज्ञ होते हुए आप **विश्वेभिः यजत्रैः**=सब यजनीय देवों के साथ **मे वाचम्**=मेरे से की जाती हुई इस स्तुतिवाणी को **नू**=निश्चय से **उप आयाहि**=समीपता से प्राप्त होइये। मैं आपका स्तवन करूँ और सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ। (२) मैं उन देवों (=विद्वानों) के सम्पर्क में आऊँ, **ये**=जो **अग्निजिह्वाः**=अग्नि के समान जिह्वावाले हैं, अर्थात् ज्ञानोपदेश द्वारा सब बुराइयों को दग्ध करनेवाले हैं और **ऋतसापः आसुः**=यज्ञों का सेवन करनेवाले हैं, सदा उत्तम कर्मों में लगे रहते हैं। **ये**=जो हमें **मनुम्**=ज्ञानवाला **उपरम्**=वासनाओं से ऊपर उठनेवाला तथा **दसाय चक्रुः**=वासनाओं के उपक्षय के लिए करते हैं। जो हमें अपने ज्ञानोपदेश तथा जीवन से प्रभावित करके वासनाओं के संहार में समर्थ करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनें, हमें दिव्यभावों को प्राप्त कराएँ। प्रभु कृपा से हमें उन ज्ञानियों का सम्पर्क प्राप्त हो जो हमें ज्ञान देकर वासनाओं के पराभव के लिए समर्थ करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अश्रमासः उरवः वहिष्ठाः' इन्द्रियाश्व

स नो बोधि पुरएता सुगेषूत दुर्गेषु पथिकृद्विदानः।
ये अश्रमास उरवो वहिष्ठास्तेभिर्न इन्द्राभि वक्षि वाजम् ॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **पुरः एता**=आगे चलनेवाले, अर्थात् मार्गदर्शक **बोधि**=होइये (भव)। **सुगेषु**=सुगमता से जाने योग्य मार्गों में **उत**=और **दुर्गेषु**=दुःखेन गन्तव्य स्थानों में **पथिकृत्**=आप हमारे लिए मार्ग को करनेवाले हों। **विदानः**=आप ही सर्वज्ञ हैं। आप ही हमारे लिए ठीक मार्ग का ज्ञान देने में समर्थ हैं। (२)

ये=जो आपके **अश्रमासः**=न जल्दी थक जानेवाले, **उरवः**=विशाल, **वहिष्ठाः**=सर्वोत्तम शरीर-रथ का वहन करनेवाले इन्द्रियाश्व हैं, **तेभिः**=उन इन्द्रियाश्वों के द्वारा **नः**=हमें **वाजं अभिवक्षि**=शक्ति की ओर ले चलिए।

भावार्थ—प्रभु (क) हमारे लिये मार्ग-दर्शन करें, (ख) उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराएँ, (ग) शक्ति को दें।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

एक मात्र पूज्य प्रभु

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्॥ १॥

(१) **यः**=जो **एकः इत्**=एक ही **चर्षणीनाम्**=सब मनुष्यों का **हव्यः**=आह्वातव्य होता है, **तं इन्द्रम्**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु को **आभिः गीर्भिः**=इन ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति-वाणियों से **अभ्यर्च**=पूजनेवाला हो। स्तुत हुए-हुए प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर तू शत्रुओं का पराभव कर सकेगा। (२) **यः**=जो प्रभु **पत्यते**=सब ऐश्वर्यों के मालिक हैं, **वृषभः**=(कामानां वर्षिता) सब इष्ट पदार्थों का वर्षण करनेवाले, **वृष्ण्यावान्**=बलवान् हैं **सः**=वे **सत्वा**=शत्रुओं के विनाशक (सद्) व सब धनों के प्रापक (सज्), **पुरुमायः**=अनन्त प्रज्ञानवाले व **सहस्वान्**=शत्रुमर्षक शक्तिवाले हैं।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि एक मात्र प्रभु का ही पूजन करे। ये प्रभु शक्ति देंगे, प्रज्ञान को प्राप्त करायेंगे और इस प्रकार सब कामनाओं को पूर्ण करेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पूर्व-पिता-नवग्व-सप्त विप्र'

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्तः।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥ २॥

(१) **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत **नवग्वाः**=स्तुत्य गतिवाले **सप्त विप्रासः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सातों का पूरण करनेवाले लोग **उ**=निश्चय से **तं अभि वाजयन्तः**=उस प्रभु की ओर अपने को ले जा रहे होते हैं (गमयन्तः)। प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम 'पूर्व बनें, पिता बनें, नवग्व व सप्त-विप्र' बनें। (२) उस प्रभु की ओर अपने को ले जाते हैं जो कि **नक्षद्दाभम्**=अभिगन्ता शत्रुओं का हिंसन करते हैं, **ततुरिं**=भवसागर से तराते हैं, **पर्वतेष्ठाम्**=(पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवाले व्यक्तियों में स्थित होते हैं, **अद्रोघवाचम्**=द्रोह शून्य वाणीवाले हैं और **मतिभिः शविष्ठम्**=प्रज्ञानों के साथ बलवत्तम हैं। अपनी ओर आनेवालों को भी प्रभु ऐसा ही बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग यह है कि हम (क) अपनी न्यूनताओं को दूर करें (पूर्व), (ख) रक्षणात्मक कामों में व्यापृत हों (पिता), (ग) स्तुत्य गतिवाले बनें, प्रशस्त कर्मोंवाले (नवग्व), (घ) दोनों कानों, नासिकाछिद्रों, आँखों व मुख को सब कमियों से रहित करने का प्रयत्न करें (सप्त विप्र)। प्रभु की उपासना शत्रु संहार द्वारा हमें भवसागर से तरायेगी।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कैसा धन!

तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः।
यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान्तमा भर हरिवो मादयध्यै॥ ३॥

(१) **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **अस्य**=इस **पुरुवीरस्य**=बहुत वीर सन्तानोंवाले, **नृवतः**=प्रशस्त पुरुषोंवाले, **पुरुक्षोः**=पालक व पूरक अन्नवाले **रायः**=धन की **ईमहे**=याचना करते हैं। उस धन को चाहते हैं, जो कि हमारे सन्तानों की वीरता का साधन बने, हमारे गृह के सब पुरुषों को प्रशस्त जीवनवाला बनाए, हमें उस अन्न को प्राप्त कराये जो हमारा पालन व पूरण करे। (२) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! **तम्**=उस धन को **मादयध्यै**=आनन्द प्राप्ति के लिए **आभर**=प्राप्त कराइये **यः**=जो **अस्कृधोयुः**=(कृधु=अल्प) अनल्प है, अविच्छिन्न रूप से प्राप्त होनेवाला है। **अजरः**=शक्तियों की जीर्णता का कारण नहीं होता। और **स्वर्वान्**=प्रकाश व सुखवाला है, ज्ञान प्राप्ति का साधन बनता हुआ वास्तविक आनन्द को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन दें जो (क) हमारे सन्तानों को वीर बनाये, (ख) हम गृहवासियों के जीवन को प्रशस्त करे, (ग) पालक व पूरक अन्न को प्राप्त कराये, (घ) अविच्छिन्न रूप से प्राप्त होता रहे, (ङ) शक्तियों को जीर्ण न करे, (च) प्रकाश व सुख प्राप्ति का साधन बने।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कस्ते भागः किं वयः?

तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनशुः सुम्नमिन्द्र।
कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यदि**=यदि **पुरा**=पहले **चित्**=निश्चय से **जरितारः**=स्तोता लोग **ते**=आपसे **सुम्नं आनशुः**=सुख व रक्षण को (joy, protection) प्राप्त हुए, तो **नः**=हमारे लिए भी आप **तत् विवोचः**=उन स्तोताओं का ज्ञान दीजिए। हम भी उन स्तोत्रों को करते हुए सुख व रक्षण के पात्र बन पाएँ। (२) हे **दुध्र**=शत्रुओं से **दुर्धर**=बलवाले, **खिद्वः**=शत्रुओं को खदेड़नेवाले, **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे गये, **पुरूवसो**=पालक व पूरक वसुओंवाले प्रभो! **असुरघ्नः**=आसुरभावों को विनष्ट करनेवाले **ते**=आपका **कः भागः**=(भज सेवायाम्) उपासना का साधनभूत स्तोत्र कौन-सा है **किं वयः**=और आपके पूजन के लिए कौन-सा हविर्लक्षण अन्न है। अर्थात् किस प्रकार स्तवन व यज्ञों को करते हुए हम आपको प्रीणित करनेवाले हों।

भावार्थ—हम स्तवन व यज्ञों द्वारा प्रभु का आराधन करते हुए प्रभु से सुख व रक्षण को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वेपी वक्वरी' गीः

तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ॥ ५॥

(१) **तम्**=उस **वज्रहस्तम्**=हाथ में वज्र लिए हुए **रथेष्ठाम्**=शरीर-रथ में स्थित **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **पृच्छन्ती**=जानने की कामना करती हुई **यस्य**=जिस उपासक की **गीः**=वाणी

नु=निश्चय से **वेपी**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला व **वक्करी**=प्रभु के स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवाली होती है, वह **गातुं इषे**=मार्ग पर चलता है और **तुम्रम्**=उस शत्रुओं के संहारक प्रभु की **अच्छ**=और **नक्षते**=गति करता है। (२) यह 'वेपी वक्करी' गिरावाला स्तोता इस प्रभु की ओर गति करता है जो **तुविग्राभम्**=महान् ग्रहीता हैं, सारे ही ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर लिए हुए हैं, **तुविकूर्मिम्**=महान् कर्मों के करनेवाले हैं, अनन्त विस्तृत से लोकों के बनाने व धारण करनेवाले हैं, **रभोदाम्**=बल को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करनेवाला मार्ग पर चलता हुआ प्रभु की ओर बढ़ता है। प्रभु इसके लिए बल को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुर-पुर विदारण

अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन।
अच्युता चिद्वीळिता स्वोजो रुजो वि दृळ्हा धृषता विरप्शिन्॥ ६॥

(१) हे **स्वतवः**=स्वभूत बल स्वयं बलशालिन् प्रभो! आप **त्यम्**=उस **अया मायया**=निश्चय से इस माया के द्वारा, संसार जाल के द्वारा, **वावृधानम्**=खूब वृद्धि को प्राप्त होते हुए वासनारूप वृत्र को **मनोजुवा**=मनोवद् वेगवाले **पर्वतेन**=बहुत पर्वोंवाले वज्र से **विरुजः**=भग्न करिये, नष्ट करिये। (२) हे **स्वोजः**=उत्तम ओजवाले **विरप्शिन्**=महान् प्रभो! आप **अच्युता चित्**=जिन्हें स्थान विचलित करना बड़ा कठिन है ऐसे **वीडिता**=अशिथिल **दृढा**=दृढ़ आसुर-पुरियों को **धृषता**=धर्षक वज्र के द्वारा (विरुजः=) नष्ट करते हो।

भावार्थ—इस मायामय संसार में निरन्तर बढ़ती हुई प्रबल वासना को उपासक प्रभु कृपा से ही क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा विनष्ट कर पाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अनिमानः सुवह्मा

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत्परितंसयध्यै।
स नो वक्षदनिमानः सुवह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि॥ ७॥

(१) **तम्**=उस **शविष्ठम्**=बलवत्तम **वः प्रत्नम्**=तुझ सनातन पुरुष को **प्रत्नवत्**=अपने से पहले ज्ञानियों की तरह **नव्यस्या धिया**=स्तुत्य ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **परितंसयध्यै**=(तंस to decorate) अपने जीवन में अलंकृत करने का प्रयत्न करता हूँ। प्रभु-स्मरण के द्वारा प्रभु को हृदय में स्थापित करता हुआ मैं अपने जीवन को सुशोभित करता हूँ। (२) **सः**=वह **अनिमानः**=परिमाणरहित, देशकाल से असीमित, **सुवह्मा**=उत्तमता से सारे संसार का वहन करनेवाला **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः**=हमें **विश्वानि**=सब **दुर्गहाणि**=दुःखों के **अतिवक्षत्**=पार ले जानेवाले हों। वे प्रभु हमारे जीवनों में पैदा हो जानेवाली पेचीदी समस्याओं को सुलझा दें।

भावार्थ—स्तुत्य कर्मों द्वारा हम प्रभु को अपने जीवन में सुशोभित करें। प्रभु हमें दुर्गों व संकटों के पार ले जानेवाले हों।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रोह व संताप

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा।
तपा वृषन्विश्वतः शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥ ८ ॥

(१) हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् प्रभो! आप **द्रुह्वणे जनाय**=द्रोह-जिघांसा की भावना से युक्त पुरुष के लिए **पार्थिवानि**=पृथिवी सम्बन्धी, **दिव्यानि**=द्युलोक सम्बन्धी व **अन्तरिक्षा**=अन्तरिक्ष सम्बन्धी सब पदार्थों को **आदीपयः**=संतापवाला करिये। ये सब त्रिलोकी के पदार्थ द्रोग्धा पुरुष को संताप देनेवाले हों। (२) हे **वृषन्**=शक्तिशालिन्! तू **तान्**=उन द्रोही जनों को **शोचिषा**=अपनी दीप्ति से, **विश्वतः**=सब ओर से **तपा**=संतप्त कर। **ब्रह्मद्विषे**=इस ज्ञान के साथ अप्रीतिवाले पुरुष के लिए **क्षाम्**=इस पृथिवी को **च अपः**=और जलों को भी **शोचय**=दीप्त (संतप्त) कर। इनकी अग्नि में वे द्रोही दग्ध हो जाएँ।

भावार्थ—द्रोह की भावनावाले के लिए सारा संसार संतापक हो जाता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

माया-विनाश

भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक्।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **दिव्यस्य जनस्य**=दिव्य वृत्तिवाले लोगों के **राजा भुवः**=राजा होते हैं, इनके जीवनों को ज्ञानदीप्त व व्यवस्थित करते हैं। **त्वेषसंदृक्**=दीप्त ज्ञानवाले प्रभो! **पार्थिवस्य जगतः**=इस पार्थिव जगत् के भी, अर्थात् सूर्य, चन्द्र, तारे आदि के भी **राजा**=शासक व नियामक हैं। आपके भय से ही ये सब अपनी-अपनी मर्यादा में घूम रहे हैं (२) **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **दक्षिणे हस्ते**=दाहिने हाथ में **वज्रं धिष्व**=वज्र को धारण कीजिए, और उससे हे **अजुर्य**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! आप **विश्वाः मायाः**=सब असुर मायाओं को **विदयसे**=बाधित करते हैं। प्रभु कृपा से ही उपासक आसुरभावों पर विजय पा सकता है।

भावार्थ—प्रभु ही दिव्य जनों के जीवन को दीप्त करते हैं। वे ही सूर्यादि को भी मर्यादाओं में चला रहे हैं। प्रभु ही अपने वज्र से सब आसुर मायाओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

संयतं स्वस्तिम् (संयम का शुभ मार्ग)

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ॥ १० ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शक्तिशाली कार्यों को करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **वृत्र तूर्याय**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं के विनाश के लिए **बृहतीम्**=वृद्धि की कारणभूत **अमृध्राम्**=हिंसारहित **संयतं स्वस्तिम्**=संयमरूप कल्याण के मार्ग को **आ करः**=सर्वथा करिये। हम संयत शुभ जीवनवाले होकर वासनाओं से दूर रहें। (२) आप उस संयमवृत्ति को हमारे लिये करिये कि **यथा**=जिससे **दासानि**=कर्मरहित लोगों को **आर्याणि**=कर्मयुक्त (ऋ गतौ) **करः**=कर

दीजिये और हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **नाहुषाणि**=मनुष्य-सम्बन्धी **वृत्रा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **सुतुका**=अच्छी प्रकार (पूर्णतया) हिंसायुक्त करिये, अर्थात् वासनाओं का सम्यक् विनाश करके ज्ञान को दीप्त करिये।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम संयम के शुभ मार्ग पर चलते हुए वासनाओं से दूर रहें। कर्महीनता को परे फेंक कर्मशील बनें। वृत्र का पूर्ण विनाश करने में समर्थ हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वरणीय इन्द्रियाश्व

स नो॑ नि॒युद्भिः॑ पुरुहूत वेधो वि॒श्ववा॑राभि॒रा ग॑हि प्रयज्यो।
न या अदे॑वो॒ वर॑ते॒ न दे॒व आभि॑र्याहि॒ तू॒यमा म॑द्र्यद्रि॒क्॥ ११॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले **वेधः**=विधातः प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **विश्वावाराभिः**=सब से वरणीय **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **आगहि**=प्राप्त होइये। आपकी कृपा से हमें वे इन्द्रियाश्व प्राप्त हों जो सब से वरणीय, चाहने योग्य हों। (२) हे **प्रयज्यो**=प्रकर्षेण पूजनीय प्रभो! **याः**=जिन इन्द्रियाश्वों को **अदेवः**=कोई भी अ-देव, अर्थात् आसुरभाव **न वरते**=रोक नहीं पाता और **न**=नांही कोई **देव**=(वरते) क्रीडा, मद व स्वप्न (दिव्=क्रीड मद स्वप्नेषु) आदि का भाव घेर पाता है। **आभिः**=इन इन्द्रियाश्वों के साथ **तूयम्**=शीघ्र **मद्र्यद्रिक्**=मदभिमुख **आयाहि**=आइये, शीघ्र मुझे आभिमुखेन प्राप्त होइये। अर्थात् मैं आपकी कृपा से शोभन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कर सकूँ, जो इन्द्रियाश्व, राजस व तामस संसार में विचरनेवाले न होकर सात्त्विक गतिवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमें सब से वरणीय इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराएँ, उन इन्द्रियाश्वों को जो राजस्वी व तामसी मार्गों से न गति करते हुए सात्त्विक गतिवाले ही हों।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का आराधन करते हैं—

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु कब मिलते हैं?

सु॒त इत्त्वं निमि॑श्ल इन्द्र॒ सोमे॒ स्तोमे॒ ब्रह्म॑णि श॒स्यमा॑न उ॒क्थे।
यद्वा॑ यु॒क्ताभ्यां॑ मघवन्हरि॑भ्यां॒ बिभ्र॒द्वज्रं॑ बा॒ह्वोरि॑न्द्र॒ यासि॑॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **सोमे सुते**=शरीर में सोम के उत्पादन के होने पर **इत्**=ही **निमिश्लः**=(निमिश्लः) निश्चय से हमारे साथ मेलवाले होते हैं, अर्थात् आपको वही उपासक प्राप्त कर पाता है, जो सोम को शरीर में सुरक्षित करनेवाला हो। **स्तोमे**=स्तुति समूहों के होने पर आप प्राप्त होते हैं तथा **उक्थे**=उच्चैः गेयं **ब्रह्मणि शस्यमाने**=इन ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करने पर आप प्राप्त होते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि—(क) सोम का रक्षण करें, (ख) स्तुति को अपनाएँ, (ग) ज्ञान की वाणियों का ही उच्चारण करें। (२) **यद्वा**=अथवा हे **मधवन्**=परमैश्वर्यशालिन् **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! आप **बाह्वोः**=बाहुवों में **वज्रं बिभ्रत्**=वज्र को धारण करते हुए **युक्ताभ्यां हरिभ्याम्**=शरीर-रथ में जुते इन्द्रियाश्वों के साथ **यासि**=आप गति करते हैं। अर्थात् आपकी प्राप्ति तब होती है जब कि हाथों में क्रियाशीलता रूप वज्र हो और इन्द्रियाश्व चर ही न रहे हों, अपितु शरीर-रथ में जुते हुए यात्रा के मार्ग पर आगे

बढ़ रहे हों।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि—(क) सोम का शरीर में रक्षण हो, (ख) प्रभु-स्तवन निरन्तर चले, (ग) ज्ञान की वाणियाँ का उच्चारण हो, (घ) सतत क्रियाशील जीवन हो, यह क्रियाशीलता ही हमारा वह वज्र बन जाए जो राक्षसीभावों का विनाशक बने।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सुष्वि' बनना

यद्वा दिवि पार्ये सुष्विमिन्द्र वृत्रहत्येऽवसि शूरसातौ।
यद्वा दक्षस्य बिभ्युषो अबिभ्यदरन्धयः शर्धत इन्द्र दस्यून्॥ २॥

(१) **पार्ये दिवि**=भवसागर से पार करने में उत्तम ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त, हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **यद्वा**=अथवा **वृत्रहत्ये**=इस ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करने के निमित्त अथवा **शूरसातौ**=शूरों से संभजनीय संग्राम में आप **सुष्विम्**=सोम का सम्पादन करनेवाले, शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष को **अवसि**=रक्षित करते हैं। आप से रक्षित होकर ही वह उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करता है, वासना को विनष्ट कर पाता है और अध्यात्म संग्राम में विजयी होता है। (३) **यद्वा**=अथवा हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप ही **दक्षस्य**=इस यज्ञादि उत्तम कर्मों में कुशल **बिभ्युषः**=सदा आपके भय में चलनेवाले उपासक के **शर्धतः**=आक्रमण करके हिंसन करनेवाले **दस्यून्**=दास्यभावों को **अबिभ्यत्**=भीति रहित हुए-हुए **अरन्धयः**=वशीभूत करते हैं। आपकी शक्ति से शक्ति सम्पन्न उपासक ही इन आसुरभावों पर विजय पा सकता है।

भावार्थ—प्रभु ही उपासक को (क) तारक ज्ञान प्राप्त करते हैं, (ख) वासना का विजेता बनाते हैं, (ग) संग्राम में जिताते हैं, (घ) और इन दास्यव भावों को वशीभूत करने में समर्थ करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमं पाता, लोकं कर्ता, वसु दाता, प्रणेनीः

पाता सुतमिन्द्रो अस्तु सोमं प्रणेनीरुग्रो जरितारमूती।
कर्ता वीराय सुष्वय उ लोकं दाता वसु स्तुवते कीरये चित्॥ ३॥

(१) **इन्द्रः**=सब वासनारूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **पाता अस्तु**=हमारे शरीरों के अन्दर ही पीनेवाला हो। प्रभु कृपा से हम सोम को शरीरों में सुरक्षित कर पायें। **उग्रः**=तेजस्वी प्रभु **जरितारम्**=स्तोता को **ऊती**=रक्षण के द्वारा **प्रणेनीः**=निरन्तर उत्कृष्ट मार्ग पर ले चलनेवाला हो। (२) इस **वीराय**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले **सुष्वये**=सोम का सम्पादन करनेवाले अथवा यज्ञशील पुरुष के लिए **उ**=निश्चय से **लोकं कर्ता**=उत्तम लोक को करनेवाले होते हैं, इसे उत्तम लोक व प्रकाश की प्राप्ति कराते हैं और **स्तुवते**=इस स्तवन करनेवाले **कीरये**=स्तोता के लिए **चित्**=निश्चय से **वसुदाता**=उत्कृष्ट वसुओं (धनों) को देते हैं। यह स्तोता कभी भी जीवन के निवास को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक धनों की कमी को अनुभव नहीं करता।

भावार्थ—उपासित प्रभु (क) हमारे सोम का रक्षण करते हैं, (ख) हमें उत्कृष्ट मार्ग से ले चलते हैं, (ग) उत्तम लोक व प्रकाश को प्राप्त कराते हैं, (घ) जीवनयात्रा के लिए आवश्यक धनों को देते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

बभ्रिर्वज्रं, पपिः सोमं, ददिर्गाः

गन्तेयान्ति सवना हरिभ्यां बभ्रिर्वज्रं पपिः सोमं ददिर्गाः।
कर्ता वीरं नर्यं सर्ववीरं श्रोता हवं गृणतः स्तोमवाहाः॥ ४॥

(१) वे प्रभु **इयान्ति सवना**=जीवन के इतने वर्षों तक चलनेवाले यज्ञों को **हरिभ्याम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से **गन्ता**=प्राप्त होते हैं। अर्थात् प्रभु हमें उत्कृष्ट इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं, ताकि हम जीवन के तीनों सवनों को 'प्रातः, मध्याह्न व तृतीय' इन तीनों सवनों को ठीक प्रकार से पूर्ण कर सकें। हे प्रभो! इन सवनों के रक्षण के लिए **वज्रं बभ्रिः**=आप वज्र को धारण करते हैं, **सोमं पपिः**=सोम का पान व रक्षण करते हैं, **गाः ददिः**=उत्कृष्ट इन्द्रियों व ज्ञान-वाणियों को देते हैं। (२) आप इस स्तोता को **वीरम्**=शत्रुओं का कम्पक, **नर्यम्**=नरहितकारी कर्मों को करनेवाला व **सर्ववीरम्**=सब वीर पुत्रोंवाला **कर्ता**=करते हैं। **गृणतः हवं श्रोता**=स्तोता की आराधना को सुनते हैं। स्तोता की पुकार को आप सुनते हैं। **स्तोमवाहाः**=स्तोत्रों से आप वहनीय होते हैं। अर्थात् स्तोत्रों के द्वारा आप प्राप्त करने योग्य होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्कृष्ट इन्द्रियाँ प्राप्त कराके जीवन के सब सवनों को पूर्ण कर सकने के योग्य बनाते हैं। हमारे सोम का (वीर्य) रक्षण करते हैं, ज्ञान-वाणियों को हमें प्राप्त कराते हैं। ये प्रभु हमें वीर 'नर्य व सर्ववीर' बनाते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तवन के द्वारा ज्ञान व उत्कृष्ट कर्मों की प्राप्ति

अस्मै वयं यद्वावान तद्विविष्म इन्द्राय यो नः प्रदिवो अपस्कः।
सुते सोमे स्तुमसि शंसदुक्थेन्द्राय ब्रह्म वर्धनं यथासत्॥ ५॥

(१) **यः**=जो परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे लिए **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञान प्रकाशों को तथा **अपः**=कर्मों को **कः**=करते हैं **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **वयम्**=हम **तद्विविष्मः**=उस स्तोत्र का व्यापन करते हैं **यद्वावान**=जिस स्तोत्र को प्रभु चाहते हैं। अर्थात् हम स्तोत्रों के द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले बनते हैं और प्रभु हमें ज्ञान व उत्कृष्ट कर्मों को करते हैं। (२) **सुते सोमे**=सोम के उत्पन्न होने पर **स्तुमसि**=हम प्रभु का स्तवन करते हैं। हम **उक्था शंसत्**=स्तोत्रों का शंसन करते हुए (शंसंतः) ऐसा प्रयत्न करते हैं **यथा**=जिससे **ब्रह्म**=ज्ञानपूर्वक किया गया स्तवन **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **वर्धनं असत्**=वृद्धि का करनेवाला हो, अर्थात् स्तवन के द्वारा हम प्रभु के प्रकाश को अधिकाधिक देखनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमें प्रकृष्ट ज्ञान व कर्मों को प्राप्त कराते हैं। सोम का अपने अन्दर रक्षण करते हुए हम प्रभु-स्तवन करें जिससे अधिकाधिक प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले हों।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वर्धनानि ब्रह्माणि

ब्रह्माणि हि चकृषे वर्धनानि तावत्त इन्द्र मतिभिर्विविष्मः।
सुते सोमे सुतपाः शन्तमानि रान्द्र्या क्रियास्म वक्षणानि यज्ञैः॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप हि निश्चय से **ब्रह्माणि**=इन ज्ञान को देनेवाली वेदवाणियों को **वर्धनानि**=हमारी वृद्धि का कारण **चकृषे**=करते हैं। **तावत्**=तो हम सर्वप्रथम **मतिभिः**=बुद्धियों के द्वारा **ते**=आपके इन वचनों को **विविष्मः**=व्याप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इनको सम्यक् समझकर, इनसे प्रेरणा को लेकर ही तो हम उन्नत हो पायेंगे। (२) हे प्रभो! आप ही **सुतपाः**=उत्पन्न सोम का रक्षण करनेवाले हैं। सो हम **सोमे सुते**=शरीर में सोम के उत्पन्न होने पर **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों के साथ **शन्तमानि**=शान्ति को देनेवाले **रान्द्र्या**=रमणीय **वक्षणानि**=(वाहकानि स्तोत्राणि) आपके समीप प्राप्त करानेवाले स्तोत्रों को **क्रियास्म**=करें। ये यज्ञ और स्तोम ही सोम का रक्षण करनेवाले होंगे सोम रक्षण का सर्वोत्तम उपाय यही है कि हम प्रभु-स्मरणपूर्वक सतत कार्यों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये ज्ञानवर्धक वेद-वचनों को हम बुद्धियों से ग्रहण करनेवाले बनें। यज्ञों व स्तोत्रों में प्रवृत्त रहकर उत्पन्न सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञशेष का सेवन व दृष्टिकोण की विशालता

स नो॑ बोधि पुरो॒ळाशं॒ ररा॑णः पिबा॒ तु सोमं॒ गोऋ॑जीकमिन्द्र।
एदं ब॒र्हिर्यज॑मानस्य सीदो॒रुं कृ॑धि त्वा॒य॒त उ॑ लो॒कम्॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **रराणः**=(रममाणः) हमारे से किये जाते हुए सब यज्ञों में रमण करते हुए आप **नः**=हमारे इस **पुरोडाशम्**=(पुरः दाश्यते) भोजन से पूर्व दिये जानेवाले हविर्लक्षण अन्न को आप **बोधि**=जानिये। अर्थात् हम आपकी कृपा से सदा यज्ञों में हवि को देकर यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें। इस प्रकार यज्ञशेषरूप अमृत का सेवन होने पर आप **गो ऋजीकम्**=ज्ञान की वाणियों द्वारा शरीर में दृढ़ किये गये (ऋज=be firm) **सोमम्**=सोम को (वीर्य को) तु **पिब**=अवश्य शरीर में ही पीने की व्यवस्था करिये। ज्ञान प्राप्ति में लगने से वासनाओं का आक्रमम नहीं होता और उससे सोम शरीर में सुरक्षित होता है। (२) इस सोमरक्षण के हेतु से ही **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **इदं बर्हिः**=इस वासना शून्य हृदय में **आसीद**=आप आसीन होइये। हे प्रभो! **त्वायतः**=आपकी प्राप्ति की कामनावाले इस पुरुष के **लोकं उरुं कृधि**=लोक को विशाल बनाइये, इसके आलोक (प्रकाश) को अत्यन्त विस्तारवाला करिये अथवा इसे विशाल दृष्टिकोणवाला बनाइये।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से (क) हम सदा हवि को देकर यज्ञशेष का ही सेवन करें, (ख) ज्ञान की वाणियों में प्रवृत्त रहकर सोम को शरीर में सुरक्षित करें, (ग) अपने हृदय को प्रभु का आसन बना पायें, (घ) और अपने दृष्टिकोण को विशाल बना सकें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्तवन व यज्ञों' द्वारा प्रभु का आराधन

स म॑न्दस्वा॒ ह्यनु॒ जोष॑मुग्र॒ प्र त्वा॑ य॒ज्ञास॑ इ॒मे अ॑श्नुवन्तु।
प्रेमे ह॒वासः॑ पुरुहू॒तम॒स्मे आ त्वे॒यं धीरव॑स इन्द्र यम्याः॥ ८॥

(१) हे **उग्र**=उद्गूर्ण बल, तेजस्विन् प्रभो! **सः**=वे आप **जोषं अनु**=प्रीतिपूर्वक उपासन के अनुसार **हि**=ही **मन्दस्व**=प्रसन्न होइये। अर्थात् हम प्रीतिपूर्वक उपासना करते हुए आपको प्रीणित करनेवाले हों। **इमे**=ये **यज्ञासः**=सब यज्ञ **त्वा**=आपको ही **प्र अश्नुवन्तु**=प्रकर्षेण व्याप्त करनेवाले

हों। इन यज्ञों के द्वारा हम आपका पूजन करें और आपको प्राप्त करनेवाले हों। (२) **अस्मे**=हमारी **इमे हवासः**=ये पुकारें **पुरुहूतम्**=पालक व पूरक है आह्वान जिसका उस प्रभु को प्राप्त करें। अर्थात् हम सदा प्रभु से ही याचना करनेवाले बनें। हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **इयं धीः**=यह ज्ञानपूर्वक की गई स्तुति **अवसे**=रक्षण के लिए **त्वा प्र आयम्याः**=आपको हमारे साथ बद्ध करनेवाली हो (नियच्छतु)। हम इस स्तुति द्वारा आपको अपने अभिमुख करने में समर्थ हों, और इस प्रकार अपना रक्षण कर पायें।

भावार्थ—हम स्तुति द्वारा प्रभु को आराधित करें। यज्ञों द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। सदा प्रभु को पुकारें और ज्ञानपूर्वक स्तुति से प्रभु को अपने साथ बाँधनेवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण द्वारा प्रभु प्राप्ति

तं वः सखायः सं यथा सुतेषु सोमेभिरीं पृणता भोजमिन्द्रम्।
कुवित्तस्मा असति नो भराय न सुष्विमिन्द्रोऽवसे मृधाति॥ ९॥

(१) हे **सखायः**=मित्रो! **तम्**=उस **वः भोजम्**=तुम्हारा पालन करनेवाले **इन्द्रम्**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभु को **यथा सुतेषु**=ठीक-ठीक सोमों के उत्पन्न होने पर **सोमेभिः**=इन सोमों के द्वारा **ईम्**=निश्चय से **संपृणता**=सम्यक् अपने अन्दर पूरित करो। सोमरक्षण से ही मानस नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता होकर हम अपने हृदयों में प्रभु-दर्शन कर पाते हैं। (२) **नः भराय**=हमारे पालन-पोषण के लिए **तस्मा कुवित् असति**=उस प्रभु के पास बहुत है। हमारे पालन के लिए आवश्यक किसी धन की वहाँ कमी नहीं है। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **सुष्विम्**=उत्तम यज्ञशील पुरुष को **न मृधाति**=हिंसित नहीं करते। **अवसे**=उसके रक्षण के लिए होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा ही हम अपने जीवनों में प्रभु को पूरित करते हैं। ये प्रभु ही यज्ञशील पुरुष को हिंसित नहीं होने देते।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रेरणा व धन' की प्राप्ति

एवेदिन्द्रः सुते अस्तावि सोमे भरद्वाजेषु क्षयदिन्मघोनः।
असद्यथा जरित्र उत सूरिरिन्द्रो रायो विश्ववारस्य दाता॥ १०॥

(१) **सोमे सुते**=सोम के शरीर में उत्पन्न होने पर **एव**=ही **इत्**=निश्चय से **इन्द्रः**=वह शत्रुओं का विद्रावक प्रभु **अस्तावि**=स्तुत होता है। सोम का सम्पादन करनेवाला ही प्रभु का सच्चा स्तोता बनता है। **भरद्वाजेषु**=अपने में शक्ति का भरण करनेवालों में **इत्**=ही **मघोनः**=उस ऐश्वर्यवान् प्रभु का **क्षयत्**=निवास होता है। प्रभु का प्रीणन इसी प्रकार होता है कि हम सोमरक्षण द्वारा अपने में शक्ति का भरण करनेवाले बनें। (२) **उत**=और **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **यथा**=जैसे **जरित्रे**=स्तोता के लिए **सूरिः असत्**=उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाला होता है, उसी प्रकार वह **विश्ववारस्य**=सबसे वरणीय अथवा सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले **रायः**=धन का **दाता**=देनेवाला होता है। प्रभु स्तोता को उत्कृष्ट प्रेरणा व धन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का उपाय यही है कि सोमरक्षण द्वारा हम अपने में शक्ति को भरें। प्रभु स्तोता को प्रेरणा व धन प्राप्त कराते हैं। प्रेरणा से हम मार्ग को जान पाते हैं, धन से मार्ग पर चलने की शक्ति प्राप्त होती है।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

तृतीयोऽनुवाकः

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुतपाः ऋजीषी

वृषा मद इन्द्रे श्लोक उक्था सचा सोमेषु सुतपा ऋजीषी।
अर्चत्र्यो मघवा नृभ्य उक्थैर्द्युक्षो राजा गिरामक्षितोतिः॥ १॥

(१) **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **श्लोकः**=यशोगान, प्रभु कीर्ति का कीर्तन **वृषा**=सब कामनाओं का वर्षण करनेवाला व **मदः**=उल्लास का जनक है। **उक्था**=स्तोत्रों के द्वारा **सचा**=समवेत, हमारे साथ स्थापित सम्बन्धवाला प्रभु **सोमेषु**=सोमों के उत्पन्न होने पर **सुतपाः**=उन उत्पन्न सोमों का रक्षक होता है और **ऋजीषी**=(ऋजु इष) सरल मार्ग से प्रेरणा देनेवाला होता है। (२) इसलिए वह **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **नृभ्यः**=मनुष्यों से **उक्थैः अर्चत्र्यः**=स्तोत्रों के द्वारा पूजनीय होता है। **द्युक्षाः**=वह ज्ञान-ज्योति में निवास करनेवाला है। **राजा**=सारे संसार का व्यवस्थापक है। **गिरां अक्षितोतिः**=ये प्रभु सब ज्ञान की वाणियों के अक्षीण रक्षक हैं। इन ज्ञान-वाणियों के अक्षीण (भण्डार) हैं। सब वेद वाणियों के सदा से धारण करनेवाले ये प्रभु इन ज्ञान की वाणियों को सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे लिए देते हैं और सृष्टि समाप्ति पर ये वाणियाँ उस प्रभु में ही निवास करती हैं। इस प्रकार यह वेद प्रभु का अजरामर काव्य सदा अक्षीण रहता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन सब कामनाओं को पूर्ण करता है, उल्लास को देता है, सोम का रक्षण करता है। सो प्रभु ही स्तोत्रों द्वारा पूज्य हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नर्यो विचेताः

ततुरिर्वीरो नर्यो विचेताः श्रोता हवं गृणत उर्व्यूतिः।
वसुः शंसो नरां कारुधाया वाजी स्तुतो विदथे दाति वाजम्॥ २॥

(१) वे प्रभु **ततुरिः**=शत्रुओं के हिंसक हैं, **वीरः**=वीर हैं, शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं। **नर्यः**=नरहितकारी **विचेताः**=विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। **गृणतः**=स्तोता की **हवं श्रोता**=पुकार को सुननेवाले हैं। **उर्व्यूतिः**=विशाल रक्षणवाले हैं। (२) अपनी रक्षण व्यवस्था के द्वारा **वसुः**=हमें बसानेवाले, **शंसः**=हमारे लिए ज्ञान का उपदेश करनेवाले हैं। **कारुधायाः**=कुशलता से कार्यों को करनेवालों का धारण करनेवाले हैं। **वाजी**=शक्तिशाली हैं। **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **स्तुतः**=स्तुति किये गए ये प्रभु **नराम्**=मनुष्यों के लिए **वाजं दाति**=शक्ति को देते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु शत्रुओं के हिंसक हैं। स्तोताओं को ज्ञान व शक्ति को देनेवाले हैं। इस प्रकार नरों के हित के साधक हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अपरिच्छिन्न महिम' प्रभु

अक्षो न चक्र्योः शूर बृहन्प्र ते मह्ना रिरिचे रोदस्योः।
वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया व्यूतयो रुरुहुरिन्द्र पूर्वीः॥ ३॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **ते बृहन् मह्ना**=तेरी महान् महिमा **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी से इस प्रकार बढ़ी हुई है, **न**=जैसे कि **चक्र्योः**=(चक्र्योः) चक्रों में **अक्षः**=अक्ष (axle) बढ़ा हुआ होता है। अक्ष चक्रों से बाहिर निकला हुआ होता है, इसी प्रकार तेरी महिमा द्यावापृथिवी को लांघकर विद्यमान होती है, द्यावापृथिवी तेरी महिमा को सीमित नहीं कर पाते। (२) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते ऊतयः**=आपके रक्षण **विरुरुहुः**=(रुह प्रादुर्भावे) विशिष्टरूप से प्रादुर्भूत होते हैं। ये रक्षण **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। ये रक्षण इस प्रकार प्रादुर्भूत होते हैं **नु**=जैसे कि **वृक्षस्य वयाः**=वृक्ष की शाखाएँ। वृक्ष से शाखाओं के प्रादुर्भाव की तरह आप से विविध रक्षणों का प्रादुर्भाव होता है, सब रक्षणों का मूल आप ही हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा द्यावापृथिवी से सीमित नहीं होती। सब रक्षणों के मूल प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पुरुशाक-सुदामा

शचीवतस्ते पुरुशाक शाका गवामिव स्रुतयः संचरणीः।
वत्सानां न तन्तयस्त इन्द्र दामन्वन्तो अदामानः सुदामन्॥ ४॥

(१) हे **पुरुशाक**=अनन्त शक्तिशाली कर्मोंवाले प्रभो! **शचीवतः ते**=प्रज्ञावान् आपके **शाकाः**=शक्तिशाली कर्म, **गवाम्**=गौवों के **स्रुतयः इव**=मार्गों की तरह **सञ्चरणीः**=सर्वत्र सञ्चारी हैं। गौवों के मार्ग जिधर देखो उधर ही दिख पड़ते हैं, इसी प्रकार प्रभु के शक्तिशाली कर्म भी चारों ओर दिखते हैं। (२) हे **इन्द्र**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले **सुदामन्**=उत्तमता से बाँधनेवाले, सब लोकों को नियम में बद्ध करनेवाले प्रभो! आपकी **तन्तयः**=दीर्घ प्रसारित व्यवस्था रूप रज्जुएँ **दामन्वन्तः**=सब को नियमों में बाँधनेवाली हैं। उसी प्रकार **न**=जैसे कि **वत्सानाम्**=रज्जुएँ बछड़ों को बाँधनेवाली होती हैं। ये आपकी व्यवस्था रूप रज्जुएँ **अदामानः**=स्वयं किसी से बद्ध नहीं होती। प्रभु की व्यवस्थाओं का प्रतिबन्ध किसी और से नहीं किया जा सकता।

भावार्थ—प्रभु के शक्तिशाली कर्म चारों ओर दृष्टिगोचर होते हैं। प्रभु की व्यवस्थाएँ, किसी से प्रतिबद्ध न होती हुई, सभी को नियमों में बाँधनेवाली हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सत् व असत् के कर्ता प्रभु (सृष्टि प्रलय कर्ता)

अन्यदद्य कर्वरमन्यदु श्वोऽसच्च सन्मुहुराचक्रिरिन्द्रः।
मित्रो नो अत्र वरुणश्च पूषार्यो वशस्य पर्येतास्ति॥ ५॥

(१) हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान् प्रभु! **अद्य**=आज **अन्यत् कर्वरम्**=और कर्म करते हैं, तो **श्वः**=कल **उ**=निश्चय से **अन्यत्**=दूसरा ही काम करते हैं। वे इन्द्र **मुहुः**=फिर-फिर **सत् च**=इस संसार को सत् रूप में **आचक्रिः**=करते हैं, **च**=और फिर **असत्**=इसे कारणरूप में प्राप्त कराते हुए अदृश्य कर देते हैं। यह सृष्टि प्रलय रूप परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाला कार्यक्रम चक्राकार गति में ही होता ही रहता है। 'सृष्टि' विलक्षण है, तो 'प्रलय' कम विलक्षण नहीं है। (२) **अत्र**=इस जीवन में **मित्रः**=वह स्नेह करनेवाले **वरुणः च**=और हमें पापों से निवारित करनेवाले **पूषा**=पोषक, **अर्यः**=प्रेरक प्रभु **वशस्य**=हमारी इष्ट वस्तुओं के, काम्य पदार्थों के **पर्येता**=परिगमयिता

प्राप्त करानेवाले **अस्ति**=हैं।

भावार्थ—प्रभु के सृष्टि प्रलय रूप सब कार्य विलक्षण हैं। वे 'मित्र, वरुण, पूषा व अर्य' प्रभु हमारी कामनाओं को पूर्ण करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**ब्राह्मीबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

उक्थेभिः+यज्ञैः

वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञैः।
तं त्वाभिः सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आजिं न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वात्**=आपसे **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा तथा **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा ये उपासक लोग **वि अनयन्त**=सब काम्य पदार्थों को इस प्रकार अपने लिये प्राप्त कराते हैं, **न**=जैसे कि **पर्वतस्य पृष्ठात्**=पर्वत के पृष्ठ से **आपः**=जलों को। पर्वत पृष्ठ से जल स्वभावतः निम्न मार्ग की ओर आते हैं, इसी प्रकार स्तोस्त्रों व यज्ञों के होने पर सब वाञ्छनीय पदार्थों का प्रवाह प्रभु की ओर से उपासकों के प्रति होता है। (२) हे **गिर्वाहः**=(गीर्भिर्वहनीय) स्तुतियों से प्राप्त होने योग्य प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **आभिः सुष्टुतिभिः**=इन उत्तम स्तुतियों के द्वारा **वाजयन्तः**=(वज गतौ, गमयन्ता) अपने को प्राप्त कराते हुए ये उपासक लोग, **अश्वाः न**=अश्वों की तरह **आजिं जग्मुः**=जीवन संग्राम में गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तवन से सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। स्तुतियों के द्वारा प्रभु को प्राप्त करते हुए हम जीवन संग्राम में चलें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काल से अनवच्छिन्न प्रभु

न यं जरन्ति शरदो न मासा न द्याव इन्द्रमवकर्शयन्ति।
वृद्धस्य चिद्वर्धतामस्य तनूः स्तोमेभिरुक्थैश्च शस्यमाना॥ ७॥

(१) **यम्**=जिस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **न द्यावः**=न दिन, **न मासाः**=न महीने और **न शरदः**=न ही संवत्सर (वर्ष) **जरन्ति**=जीर्ण करते हैं। ये दिन, महीने व वर्ष उसे **न अवकर्शयन्ति**=उसे क्षीण नहीं कर पाते। प्रभु काल से अनवच्छिन्न है। (२) **वृद्धस्य अस्य तनूः**=बढ़े हुए इस प्रभु की व्यापक शक्ति (तन् विस्तारे) **चित्**=निश्चय से **वर्धताम्**=बढ़ी रहे। यह इस प्रभु का तनू **स्तोमेभिः**=स्तोमों से **च**=और **उक्थैः**=ऊँचे-ऊँचे गाये गये गुण-कीर्तनों से **शस्यमाना**=सदा प्रशंसित हो। इसका शंसन ही हमारे अन्दर प्रभु के स्वरूप का वर्धन करता है। प्रभु के गुणों का शंसन करते हुए हम भी उन गुणों को अपनाने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—उस काल से असीमित अजरामर प्रभु का शंसन करते हुए हम प्रभु जैसा बनने का यत्न करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तुति से महान् बल की प्राप्ति

न वीळवे नमते न स्थिराय न शर्धते दस्युजूताय स्तवान्।
अज्रा इन्द्रस्य गिरयश्चिदृष्वा गम्भीरे चिद्भवति गाधमस्मै॥ ८॥

(१) **स्तवान्**=स्तुति किये जाते हुए-हुए वे प्रभु **दस्युजूताय**=दास्यवभावों से प्रेरित **वीडवे**=बड़े

दृढ़ भी शत्रु के लिए **न नमते**=झुकते नहीं। **स्थिराय**=युद्ध में अविचलित के लिये भी **न**=नहीं झुकते तथा **शर्धते**=युद्ध के लिए अत्यन्त उत्साहित के लिये भी **न**=नहीं झुकते। वस्तुतः स्तुति करनेवाला व्यक्ति हृदय में प्रभु को स्थापित करता हुआ इन दृढ़ अविचलित प्रबलता से युद्ध करनेवाले शत्रुओं से पराजित नहीं होता। (२) इस **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **ऋष्वाः**=महान् **गिरयः चित्**=पर्वत भी **अज्राः**=क्षेपणीय होते हैं—मार्ग में विघ्नरूप में आये हुए पहाड़ों को भी यह परे फेंकनेवाला होता है और **गम्भीरे**=अत्यन्त गहिरे **चित्**=भी समुद्रों में **अस्मै**=इसके लिये **गाधम्**=न गहिरापन ही **भवति**=होता है। गहिरे से गहिरे समुद्रों को यह आसानी से पार कर जाता है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन से वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि यह स्तोता—(क) प्रबलतम शत्रुओं के सामने भी झुकता नहीं, (ख) पर्वतों को भी परे फेंकनेवाला होता है और (ग) समुद्रों को भी कुछ नहीं गिनता।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गम्भीरता व विशाल हृदयता

गम्भीरेण न उरुणामत्रिन्प्रेषो यन्धि सुतपावन्वाजान्।
स्था ऊ षु ऊर्ध्व ऊती अरिषण्यन्नक्तोर्व्युष्टौ परितक्म्यायाम्॥ ९॥

(१) हे **सुतपावन्**=उत्पन्न सोम के रक्षक व **अमत्रिन्**=(अमत्रं बलम्) अतिशयेन बलवन् प्रभो! **नः**=हमारे लिये **गम्भीरेण उरुणा**=गम्भीर व विशाल मन के हेतु से **इषः**=प्रकृष्ट प्रेरणाओं को व **वाजान्**=बलों को **प्रयन्धि**=प्रकर्षेण प्राप्त कराइये। हम उत्कृष्ट प्रेरणाओं को व बलों को प्राप्त करके गम्भीर व विशाल हृदयवाले बन पायें। (२) हे प्रभो! आप **परितक्म्यायाम्**=रात्रि में तथा **अक्तो व्युष्टौ**=इस रात्रि के विवास (समाप्ति) अर्थात् दिन में भी **नः**=हमारी **ऊती**=रक्षा के लिये सदा **उ**=निश्चय से **षु**=अच्छी प्रकार **ऊर्ध्वः स्थाः**=ऊपर खड़े हुए होइये—सदा जागरित होइये। हमें दिन-रात आपका रक्षण प्राप्त हो। **अरिषण्यन्**=आप हमें किन्हीं भी शत्रुओं से हिंसित न होने दीजिये।

भावार्थ—हम दिन-रात प्रभु के रक्षण में, प्रभु से प्रेरणाओं व शक्तियों को प्राप्त करके गम्भीर व विशाल हृदयवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वत्र प्रभु रक्षण की प्राप्ति

सचस्व नायमवसे अभीके इतो वा तमिन्द्र पाहि रिषः।
अमा चैनमरण्ये पाहि रिषो मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! आप **नायम्**=आपके समीप अपने को प्राप्त करानेवाले को **अवसे**=रक्षण के लिये **अभीके**=संग्राम में **सचस्व**=प्राप्त हों। आपके द्वारा ही तो यह संग्राम में विजय को प्राप्त होगा, उपासक को प्रभु ही जिताते हैं। हे प्रभो! **तम्**=उस उपासक को **इतः**=इधर के, समीपस्थ **वा**=अथवा (अमुतः=) उधर के, अर्थात् दूरस्थ अथवा अन्दर के व बाहिर के **रिषः**=शत्रुओं से **पाहि**=बचाइये। **एन**=इसको **अमा**=घर में **अरण्ये च**=और वन में सर्वत्र शत्रुओं से **पाहि**=बचाइये। (२) आप के द्वारा सब शत्रुओं से सुरक्षित हुए-हुए हम **शतहिमाः**=शतवर्ष पर्यन्त **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—हम इस संसार संग्राम में प्रभु से रक्षित हुए-हुए विजयी हों और दीर्घजीवन व उत्तम सन्तानोंवाले होते हुए आनन्दित हों।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का आराधन करते हैं—

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

अथ एकोनविंशो वर्गः ॥ १९ ॥

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अवम परम मध्यम' रक्षण

या त ऊतिरवमा या परमा या मध्यमेन्द्र शुष्मिन्नस्ति।
ताभिरू षु वृत्रहत्येऽवीर्न एभिश्च वाजैर्महान्न उग्र॥ १॥

(१) हे **शुष्मिन्**=शत्रुशोषक बलवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! **या**=जो **ते**=आपकी **ऊतिः**=रक्षण व्यवस्था **अवमा**=सब से प्रथम स्थान में है, जिसके द्वारा आप हमारे शरीरों को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते। **या परमा**=जो आपकी रक्षण व्यवस्था सर्वोत्तम है, जिससे आप हमारे मस्तिष्कों को ज्ञानोज्वल बनाते हैं। और **या**=जो **मध्यमा अस्ति**=रक्षण व्यवस्था मध्यम स्थान में है, जिसके द्वारा आप हमारे हृदयों को वासनाओं से मलिन नहीं होने देते। **ताभिः**=उन रक्षण व्यवस्थाओं के द्वारा **उ**=निश्चय से, **सु**=अच्छी प्रकार **नः अवीः**=हमारा रक्षण करिये। (२) हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **महान्**=पूज्य हैं। आप **वृत्रहत्ये**=वृत्र (वासना) के साथ होनेवाले संग्राम में **नः**=हमें **एभिः वाजैः**=इन बलों के द्वारा (अवीः=) रक्षित करिये। हम वासनाओं से पराभूत न हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभु से 'शरीर, मस्तिष्क व हृदय' सम्बन्धी रक्षणों को प्राप्त करके तथा संग्राम विजय के लिये शक्तियों को प्राप्त करके हम वासनाओं से पराभूत न हों। अपितु वासनाओं को पराभूत करनेवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तुति व शक्ति प्राप्ति

आभिः स्पृधो मिथतीररिषण्यन्नमित्रस्य व्यथया मन्युमिन्द्र।
आभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरार्याय विशोऽवतारीर्दासीः॥ २॥

(१) **आभिः**=इन स्तुतियों के द्वारा **मिथतीः**=शत्रु-सेनाओं का संहार करती हुई **स्पृधः**=हमारी सेनाओं को **अरिषण्यन्**=अहिंसित करते हुए, हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **अमित्रस्य**=शत्रु के **मन्युम्**=क्रोध को **व्यथया**=नष्ट करिये। हम प्रभु-स्तवन द्वारा शक्ति-लाभ करते हुए शत्रुसैन्य को जीतनेवाले बनें। (२) **आभिः**=इन स्तुतियों के द्वारा **विश्वाः**=सब **अभियुजः**=चारों ओर से आक्रमण करनेवाली **विषूचीः**=सब दिशाओं में गति करनेवाली **दासीः विशः**=यज्ञादि कर्मों का उपक्षय करनेवाली प्रजाओं को **आर्याय**=(ऋ गतौ) नियमपूर्वक यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त पुरुष के लिये **अवतारीः**=विनष्ट कर। स्तुतियों के द्वारा हम यज्ञों में विघ्न करनेवाले लोगों से किये जानेवाले विघ्नों को दूर कर सकें। स्तुति से इन विघ्न करनेवालों के हृदयों को ही परिवर्तित कर पायें।

भावार्थ—स्तुति हमें बल दे कि हम शत्रुओं को पराजित कर सकें यज्ञों में विघ्नकर्ताओं के हृदयों को परिवर्तित कर सकें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'जामि व अजामि' रूप शत्रु

इन्द्र॑ जा॒मय॑ उ॒त येऽजा॑मयोऽर्वाची॒नासो॑ व॒नुषो॑ युयु॒ज्रे।
त्वमे॑षां विथु॒रा शवां॑सि ज॒हि वृष्ण्या॑नि कृणु॒ही परा॑चः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **ये**=जो **जामयः**=बन्धुत्ववाले होते हुए हमारे शत्रु हुए हैं, **उत**=और जो **अजामयः**=पराये हमारे शत्रु बने हैं, **अर्वाचीनासः**=हमारी ओर आते हुए **वनुषः**=हिंसक बने हुए **युयुज्रे**=युद्ध के लिये प्रयुक्त होते हैं, **त्वम्**=आप **एषाम्**=इन जामि व अजामि रूप शत्रुओं के **शवांसि**=(शवतिर्गतिकर्मा) आक्रमण रूप गमनों को **विथुरा**=शिथिल **कृणुहि**=कर दीजिये। इनमें हमारे पर आक्रमण के लिये उत्साह न बना रहे। (२) हे प्रभो! आप इनके **वृष्ण्यानि**=वीर्यों को **जहि**=विनष्ट करिये और इन्हें **पराचः**=पराङ्मुख करिये रणाङ्गण से ये भाग खड़े हों।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करके 'जामि व अजामि' रूप दोनों प्रकार के शत्रुओं को नष्ट करनेवाले हों।

सूचना—यहाँ अध्यात्म में जामिरूप शत्रु वे हैं जो अशुभ वृत्तियाँ जन्म से ही गत संस्कारों के रूप में हमें प्राप्त होती हैं। 'अजामि' रूप वे अशुभ वृत्तियाँ हैं जिन्हें हम इस जीवन में किसी समय सीख लेते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संसार गति

शूरो॑ वा॒ शूरं॑ वनते॒ शरी॑रैस्तनू॒रुचा॑ तरु॑षि॒ यत्कृ॒ण्वैते॑।
तो॒के वा॒ गोषु॒ तन॑ये॒ यद॒प्सु वि क्रन्द॑सी उ॒र्वरा॑सु॒ ब्रवै॑ते॥ ४॥

(१) **तनूरुचा**=शरीर से शोभायमान होते हुए परस्पर विरोधी दो पुरुष **यत्**=जब **तरुषि**=युद्ध में **कृण्वैते**=संग्राम को करते हैं तब **शूरः**=शूर **वा**=निश्चय से **अशूरं वनते**=अशूर को पराजित (नष्ट) करता है। (२) **तोके वा**=पुत्रों के निमित्त, **गोषु**=गौवों के निमित्त **तनये**=पौत्रों के निमित्त, **यद्**=जब **अप्सु**=जलों के विषय में अथवा **उर्वरासु**=सर्वसस्याढ्य भूमियों के निमित्त **क्रन्दसी**=एक दूसरे का आह्वान करते हुए **वि ब्रवैते**=विवाद करते हैं। तो ऐसे प्रसंगों में शूर अशूर को पराजित करता है। सो प्रभु की उपासना से हम शूरता को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु की उपासना ही हमें शूर बनाती है।

भावार्थ—पुत्र-पौत्रों, खेत के जलों व भूमियों के विषय में युद्ध तभी हो उठते हैं जब कि हम प्रभु की उपासना से दूर हो जाते हैं। युद्ध आ भी जाए, तो प्रभु की उपासना से शूर बने हुए हम शत्रुओं का पराजय कर पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु अजय्य हैं

न॒हि त्वा॒ शूरो॒ न तु॒रो न धृ॒ष्णुर्न त्वा॑ यो॒धो मन्य॑मानो यु॒योध॑।
इन्द्र॒ नकि॑ष्ट्वा॒ प्रत्य॑स्त्येषां॒ विश्वा॑ जा॒तान्य॒भ्य॑सि॒ तानि॑॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **शूरः**=शूर **नहि युयोध**=कोई भी

शूरवीर आपके साथ युद्ध नहीं कर सकता। **तुरः**=कोई भी शत्रुओं का हिंसन करनेवाला **न**=आपका हिंसन नहीं कर पाता। **धृष्णुर्न**=शत्रुओं का धर्मण करनेवाला व्यक्ति **न**=आपका धर्षण करने में समर्थ नहीं। और **त्वा**=आपको कोई भी **मन्यमानः योधः**=अपने को वीर माननेवाला योद्धा **न युयोध**=युद्ध में सामने नहीं आ पाता। (२) हे इन्द्र! **एषाम्**=इनमें **नकिः त्वा प्रत्यस्ति**=कोई भी आपका मुकाबिला नहीं कर सकता। **तानि**=उन **विश्वा**=सब **जातानि**=शत्रुभूत हुए-हुए शत्रुओं को **अभ्यासि**=आप अभिभूत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु को कोई भी जीत नहीं सकता। प्रभु अजय्य हैं। सब को ये अभिभूत करनेवाले हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शक्ति के स्वामी' प्रभु

स पत्यत उभयोर्नृम्णमयोर्यदी वेधसः समिथे हवन्ते।
वृत्रे वा महो नृवति क्षये वा व्यचस्वन्ता यदि वितन्तसैते ॥ ६ ॥

(१) **यत्**=जब **ई**=निश्चय से **वेधसः**=कर्मों को करनेवाले समझदार लोग **समिथे**=युद्ध में **हवन्ते**=प्रभु को पुकारते हैं, तो वस्तुतः **सः**=वह प्रभु ही **अयोः उभयोः**=इन दोनों के, युद्ध में सम्मिलित होनेवाले दोनों पक्षों के **नृम्णम्**=बल का **पत्यते**=ईश होता है। बाह्य संग्रामों में परस्पर युद्ध करती हुई दोनों सेनाओं के सामर्थ्य के स्वामी प्रभु ही होते हैं—प्रभु ही न्याय्य पक्ष को विजयी करते हैं। (२) **वृत्रे वा**=जीवन यात्रा में मार्ग के निरोधक वासनारूप वृत्र के विनाश के निमित्त **वा**=अथवा **महः नृवति क्षये**=महान् उत्कृष्ट मनुष्योंवाले घर को बनाने के निमित्त जब **व्यचस्वन्ता**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले पति-पत्नी **वितन्तसैते**=इन वासनाओं के साथ संग्राम करते हैं तो इन दोनों पति-पत्नी की शक्तियों के स्वामी वे प्रभु ही होते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही ये वासनाओं को विनष्ट कर पाते हैं और घर को उत्कृष्ट मनुष्योंवाला बनाने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—क्या बाह्य व क्या आन्तर, दोनों संग्रामों में विजय के लिये शक्ति प्रभु ही देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'त्राता उत वरूता' इन्द्र

अध स्मा ते चर्षणयो यदेजानिन्द्र त्रातोत भवा वरूता।
अस्माकासो ये नृतमासो अर्य इन्द्र सूरयो दधिरे पुरो नः ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **अध**=अब **ते चर्षणयः**=तेरे ये श्रमशील उपासक मनुष्य **यत्**=जब भी कभी **एजान्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से कम्पित हो उठें, तो आप **त्राता**=रक्षक **उत**=और **वरूता**=उन शत्रुओं के निवारक **भवा स्म**=होते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ये**=जो **अस्माकासः**=हमारे **नृतमासः**=उत्तम नेतृत्व करनेवाले, **अर्यः (त्वाम् अरयः)**=आपको प्राप्त करानेवाले **सूरयः**=ज्ञानी पुरुष **नः**=हमें **पुरः**=आगे **दधिरे**=स्थापित करते हैं उनके भी आप रक्षक होइये।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे रक्षक व शत्रु-निवारक होते हैं। हमारी उन्नति के कारणभूत नेताओं का भी रक्षण प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रिय-क्षत्र-सहस्

अनु ते दायि मह इन्द्रियाय सत्रा ते विश्वमनु वृत्रहत्ये।
अनु क्षत्रमनु सहो यजत्रेन्द्र देवेभिरनु ते नृषह्ये॥ ८॥

(१) हे **यजत्र**=पूजनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=तेरे द्वारा **महे इन्द्रियाय**=महान् वीर्य के लिये **अनुदायि**=(अनुदीयते) यह उपासक दिया जाता है, अर्थात् इस उपासक को आप महान् वीर्य की प्राप्ति कराते हैं। **सत्रा**=सचमुच **ते**=तेरे द्वारा **वृत्रहत्ये**=वासना-विनाश रूप संग्राम के निमित्त **विश्वम्**=सब कुछ, सब आवश्यक साधन **अनु (दायि)**=दिये जाते हैं। (२) **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाला बल **अनु (दायि)**=दिया जाता है। **सहः**=शत्रुमर्षक बल **अनु (दायि)**=दिया जाता है। **ते**=तेरे से **देवेभिः**=देवों के द्वारा **नृषह्ये**=संग्राम के निमित्त **अनु (दायि)**=यह सब दिया जाता है।

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य आदि के द्वारा प्रभु हमारे में इन 'इन्द्रिय, क्षत्रस, सहस्' आदि के स्थापन की व्यवस्था करते हैं जिससे हम वासनाओं का विनाश करते हुए जीवन-संग्राम में विजयी हो सकें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रक्षण व उत्तम निवास

एवा नः स्पृधः समजा समत्स्विन्द्र रारन्धि मिथतीरदेवीः।
विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो भरद्वाजा उत त इन्द्र नूनम्॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एवा**=इस प्रकार **समत्सु**=संग्रामों में **नः स्पृधः**=हमारी शत्रु-सेनाओं को **समज**=सम्यक् क्षिप्त करिये—हमारे से दूर करिये। इन **मिथतीः**=हिंसन करती हुई **अदेवीः**=राक्षसी सेनाओं को, आसुरी भावों के समूह को **रारन्धि**=वशीभूत करिये। (२) **उत**=और हे **इन्द्र**=सर्वशत्रुविद्रावक प्रभो! **नूनम्**=निश्चय से **ते गृणन्तः**=आपका स्तवन करते हुए हम **भरद्वाजाः**=अपने में शक्ति को भरनेवाले होते हुए **अवसा**=रक्षण के साथ **वस्तोः विद्याम**=उत्तम निवास की प्राप्ति करें। 'अवस्' का अर्थ अन्न भी है। उत्तम अन्न के साथ उत्तम निवास-स्थान को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु उपासित होने पर हमारे अदिव्य भाव रूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं और हमारे लिये रक्षण व उत्तम निवास को प्राप्त कराते हैं। प्रभु से रक्षित उपासकों का जीवन उत्तम व्यतीत होता है।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उग्रं अवः

श्रुधी न इन्द्र ह्वयामसि त्वा महो वाजस्य सातौ वावृषाणाः।
सं यद्विशोऽयन्त शूरसाता उग्रं नोऽवः पार्ये अहन्दाः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वावृषाणाः**=अपने में सोम का सेचन करते हुए

हम **महः**=महान् **वाजस्य सातौ**=शक्ति की प्राप्ति के निमित्त **त्वा ह्वयामसि**=आपको पुकारते हैं। **नः श्रुधि**=हमारी पुकार को आप सुनिये। (२) **यद्**=जब **विशः**=प्रजाएँ **शूरसाता**=संग्राम में **सं अयन्त**=संगत हों, तो **पार्ये अहन्**=अन्तिम दिन, विजय व पराजय के निर्णय वाले दिन (final) **नः**=हमारे लिये **उग्रम्**=बहुत तीव्र, तेजस्विता सम्पन्न, **अवः**=रक्षण को **दाः**=दीजिये। आप से रक्षित हुए-हुए हम अवश्य विजयी हों।

भावार्थ—स्वयं सोम का शरीर में सेचन करते हुए हम प्रभु से शक्ति की याचना करें। प्रभु हमें युद्ध के इस विजय पराजय के निर्णय के दिन तीव्र रक्षण प्राप्त करायें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गध्य वाज की प्राप्ति

त्वां वाजी हवते वाजिनेयो महो वाजस्य गध्यस्य सातौ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं तरुत्रं त्वां चष्टे मुष्टिहा गोषु युध्यन्॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **वाजिनेयः**=वाजिनी का पुत्र, शक्तिशालिनी माता का पुत्र **वाजी**=शक्तिशाली **गध्यस्य**=ग्रहण के योग्य **वाजस्य**=बल की **सातौ**=प्राप्ति के निमित्त **त्वां हवते**=आपको पुकारता है। आप से बल के लिये याचना करता है। (२) हे इन्द्र! **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **त्वाम्**=तुझको ही **वृत्रेषु**=मार्ग निरोधक वासनाओं को दूर करने के निमित्त **चष्टे**=देखता है। यह **मुष्टिहा**=मुष्टि (मुक्कों) के द्वारा हनन करनेवाला उपासक **गोषु युध्यन्**=इन्द्रियों को वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित करने के निमित्त युद्ध करता हुआ उपासक **तरुत्रम्**=शत्रुओं से तरानेवाले **त्वां चष्टे**=आपको ही देखता है। आप ने ही तो इस उपासक को तराया है।

भावार्थ—शक्ति की प्राप्ति के निमित्त यह उपासक प्रभु को पुकारता है। अध्यात्म संग्राम में विजय प्राप्ति के लिये प्रभु की ओर ही देखता है। प्रभु ही इसे विजयी बनायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'शुष्ण व शंवर' का विनाश

त्वं कविं चोदयोऽर्कसातौ त्वं कुत्साय शुष्णं दाशुषे वर्क्।
त्वं शिरो अमर्मणः पराहन्नतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन्॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अर्कसातौ**=सूर्यमण्डल की प्राप्ति के निमित्त **कविम्**=इस क्रान्तदर्शी ज्ञानी पुरुष को **चोदयः**=प्रेरित करते हैं। यह कवि संसार के विषयों से ऊपर उठता हुआ सूर्यमण्डल का भेदन करता हुआ आपको प्राप्त होता है। (२) **त्वम्**=आप **दाशुषे**=अपने को आपके प्रति अर्पण करनेवाले **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष के लिये **शुष्णम्**=शक्ति का शोषण करनेवाले काम को **वर्क्**=छिन्न करते हैं। आपकी कृपा से ही यह कुत्स शुष्ण का विनाश करके शक्ति-सम्पन्न होता हुआ आपको प्राप्त होता है। (३) **त्वम्**=आप ही **अतिथिग्वाय**=अतिथियों का सत्कार करनेवाले इस साधक के लिये **शंस्य करिष्यन्**=प्रशंसनीय सुख को करने के हेतु से **अमर्मणः**=अपने को मर्महीन मानते हुए ईर्ष्यारूपी असुर के **शिरः**=सिर को **पराहन्**=नष्ट करते हैं। ईर्ष्या मनुष्य की शान्ति का विनाश करती है, सो यह 'शंवर' कहलाती है। अतिथियज्ञ करनेवाला पुरुष इस ईर्ष्यासे ऊपर उठता है।

भावार्थ—प्रभु (क) हमें ज्ञानी बनाकर सूर्यमण्डल का भेदन करनेवाला बनाते हैं, (ख) कामवासना रूप 'शुष्णासुर' को समाप्त करते हैं, (ग) ईर्ष्यारूप असुर को दूर करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'योध-ऋष्व' रथ की प्राप्ति

त्वं रथं प्र भरो योधमृष्वमावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम्।
त्वं तुग्रं वेतसवे सचाहन्त्वं तुजिं गृणन्तमिन्द्र तूतोः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **योधम्**=युद्ध के लिये साधनभूत **ऋष्वम्**=दर्शनीय व महान् **रथम्**=रथ को, शरीर-रथ को **प्रभरः**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हैं। और **युध्यन्तम्**=युद्ध करते हुए **दशद्युम्**=दसों इन्द्रियों के दृष्टिकोण से दीप्त **वृषभम्**=शत्रुओं पर शरवर्षण करनेवाले इस उपासक को आप **आवः**=रक्षित करते हैं। (२) **त्वम्**=आप **वेतसवे**='वेतस्' की तरह नम्र इस उपासक के लिये **सचा**=सहायभूत होते हुए **तुग्रम्**=क्रोधरूप हिंसक शत्रु को **अहन्**=नष्ट करते हैं। और **त्वम्**=आप **गृणन्तम्**=स्तुति करनेवाले **तुजिम्**=वासनाओं के संहारक पुरुष को **तूतोः**=सब दृष्टिकोण से बढ़ाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप उत्कृष्ट शरीर-रथ को प्राप्त कराते हैं। इस युद्ध करनेवाले की रक्षा करते हैं। क्रोध को दूर करते हैं और उपासक का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शम्बर हनन

त्वं तदुक्थमिन्द्र बर्हणा कः प्र यच्छता सहस्रा शूर दर्षि।
अव गिरेर्दासं शम्बरं हन्प्रावो दिवोदासं चित्राभिरूती॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **बर्हणा**=शत्रुओं के उद्बर्हण के हेतु से **तद् उक्थं कः**=वह अति प्रशंसनीय कार्य करते हो **यत्**=कि हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **शता सहस्रा**=इन आसुरभावों के सैंकड़ों व हजारों दुर्गों को **प्रदर्षि**=विदीर्ण कर देते हो। (२) **गिरेः**=इस अविद्यापर्वत से निर्गत, अर्थात् अविद्या के कारण उत्पन्न **दासम्**=हमारा उपक्षय करनेवाले **शम्बरम्**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाले ईर्ष्यारूप आसुरभाव को आप **अवहन्**=सुदूर विनष्ट करते हैं। और **दिवोदासम्**=ज्ञान के भक्त इस उपासक को **चित्राभिः ऊती**=अद्भुत रक्षणों के द्वारा **प्रावः**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान के उपासक भक्त का रक्षण करते हैं। वे सब आसुरभावों को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रद्धा-सोमरक्षण व प्राणसाधना

त्वं श्रद्धाभिर्मन्दसानः सोमैर्दभीतये चुमुरिमिन्द्र सिष्वप्।
त्वं रजिं पिठीनसे दशस्यन्षष्टिं सहस्रा शच्या सचाहन्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **श्रद्धाभिः**=उपासक की श्रद्धा की भावनाओं से तथा **सोमैः**=सोमों के (वीर्य के) रक्षण से **मन्दसानः**=(मोदमानः) प्रसन्न होते हुए **दभीतये**=दभीति-वासनाओं का संहार करनेवाले के लिये **चुमुरिम्**=इस शक्ति का आचमन कर जानेवाले, शक्ति को खा जानेवाले 'काम' रूप शत्रु को **सिष्वप्**=सुला देते हैं। इस उपासक के अन्दर 'काम' वासना को जागरित नहीं होने देते। (२) **पिठीनसे**=...थी है नासिका जिसकी, जो

प्राणसाधना द्वारा सब शत्रुओं का संहार करता है, उस पिठीनस् के लिये **रजिम्**=उचित रजोगुण की मात्रा को, क्रियाशीलता को **दशस्यन्**=देते हुए **त्वम्**=आप **शच्या**=प्रज्ञान के द्वारा **षष्टिं सहस्रा**=वासनाओं के साठ हजार को भी **सचा**=साथ **आहन्**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम श्रद्धायुक्त व सोम का रक्षण करनेवाले बनें। प्रभु हमें शक्ति दें कि हम वासनाओं का विनाश कर पायें। प्राणसाधना करते हुए हम उचित रजोगुण की मात्रा से क्रियाशील बने रहें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुम्नम्-ओजः

अहं चन तत्सूरिभिरानश्यां तव ज्याय इन्द्र सुम्नमोजः।
त्वया यत्स्तवन्ते सधवीर वीरास्त्रिवरूथेन नहुषा शविष्ठ॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **अहं चन**=मैं भी **सूरिभिः**=ज्ञानी स्तोताओं के साथ **तव**=आपके **तत्**=उस **ज्यायः**=उत्कृष्ट **सुम्नम्**=स्तोत्र व **ओजः**=बल को **आनश्याम्**=प्राप्त करूँ। ज्ञानी स्तोताओं के सम्पर्क में रहता हुआ मैं भी आपका स्तवन करनेवाला बनूँ और यह स्तवन मुझे ओजस्विता प्रदान करे। (२) हे **सधवीर**=सदा वीरों के साथ निवास करनेवाले (नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः) **शविष्ठ**=बलवत्तम प्रभो! **यत्**=क्योंकि **वीराः**=वीर पुरुष **त्रिवरूथेन**=शरीर, मन व मस्तिष्क इन तीनों की सम्पत्ति को देनेवाले **नहुषा**=(णह बन्धने) उपासकों को परस्पर स्नेह बन्धन में बाँधनेवाले **त्वया**=आपके द्वारा ही दिये हुए ओज का **स्तवन्ते**=स्तवन-प्रशंसन करते हैं। आप से दिये गये ओज से ही वस्तुतः ओजस्विता व वीरता प्राप्त होती है।

भावार्थ—स्तोता पुरुषों के सम्पर्क में हम भी स्तवन की वृत्तिवाले बनते हुए प्रभु से 'सुम्न व ओज' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रातर्दनि क्षत्रश्री

व॒यं ते॑ अ॒स्यामि॑न्द्र द्यु॒म्नहू॑तौ॒ सखा॑यः स्याम महिन॒ प्रेष्ठाः॑।
प्रात॑र्दनिः क्षत्र॒श्रीर॑स्तु॒ श्रेष्ठो॑ घ॒ने वृ॒त्राणां॑ स॒नये॒ धना॑नाम्॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपकी **अस्याम्**=इस **द्युम्नहूतौ**=ज्ञानयुक्त पुकार में, ज्ञानपूर्वक की गई स्तुतियों के होने पर **सखायः**=सखा **स्याम**=हों। हे **महिन**=पूज्य प्रभो! आपके ज्ञानी भक्त बनते हुए हम **प्रेष्ठाः**=आपके प्रियतम हों। (२) यह आपका उपासक **प्रातर्दनिः**=शत्रुओं को हिंसन करनेवाला **क्षत्रश्रीः**=बल की शोभावाला **अस्तु**=हो। **वृत्राणां घने**=वासनाओं के विनाश के लिये और **धनानां सनये**=धनों की प्राप्ति के लिये होता हुआ यह उपासक **श्रेष्ठो**=प्रशस्यतम जीवनवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु के ज्ञानी-भक्त बन पायें। इस प्रकार प्रभु के मित्र व प्रियतम हों। शत्रुओं का हिंसन करनेवाले, बल की शोभावाले होते हुए वासनाओं को विनष्ट करने व धनों को प्राप्त करने में समर्थ हों, हमारा जीवन सम्पन्न व श्रेष्ठ हो।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमपान का क्या लाभ है?

किम॑स्य॒ मदे॒ किम्व॑स्य पी॒ताविन्द्रः॒ किम॑स्य स॒ख्ये च॑कार।
रणा॑ वा॒ ये नि॒षदि॒ किं ते अ॑स्य पु॒रा वि॑विद्रे॒ किमु॒ नूत॑नासः॥ १॥

(१) **अस्य**=इस सोमपान (वीर्यरक्षण) से **जनित मदे**=उल्लास में **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **किं चकार**=क्या करता है? **उ**=और **अस्य पीतौ**=इसके शरीर के अन्दर पीने पर **किम्**=क्या करता है? **अस्य सख्ये**=इसकी मित्रता में **किम्**=क्या करनेवाला होता है? (२) **वा**=या **ये**=जो **अस्य निषदि**=इसकी उपासना में, इसके रक्षण से युक्त इस शरीर गृह में **रणाः**=रमण करते हैं, आनन्द का अनुभव करते हैं **ते**=वे **पुरा**=पहले **किम्**=क्या **विविद्रे**=प्राप्त करते हैं, **उ**=और उन्हें **नूतनासः किम्**=क्या नवीन लाभ होते हैं?

भावार्थ—यह मन्त्र सोमपान से होनेवाले लाभ का संकेत करने के लिये प्रश्न के रूप में करता है कि सोमपान से क्या होता है? अगले मन्त्र में उत्तर देते हैं—

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमपान से 'सत्' की प्राप्ति

सद॑स्य॒ मदे॒ सद्व॑स्य पी॒ताविन्द्रः॒ सद॑स्य स॒ख्ये च॑कार।
रणा॑ वा॒ ये नि॒षदि॒ सत्ते अ॑स्य पु॒रा वि॑विद्रे॒ सदु॒ नूत॑नासः॥ २॥

(१) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **अस्य मदे**=इस सोमपान से जनित उल्लास में **सत्**=शुभ कर्म को ही **चकार**=करता है। **उ**=और **अस्य पीतौ**=इसके शरीर में पीने पर **सत्**=शुभ को ही करता है। **अस्य सख्ये**=इस सोम की पवित्रता में वह **सत् चकार**=शुभ को ही करनेवाला होता है। (२) **ये**=जो **अस्य निषदि**=इस सोम की उपासना में, सोमपान के रक्षण से युक्त इस शरीर-गृह में **रणाः**=आनन्द अनुभव करते हैं, **ते**=वे **पुरा**=पहले भी **सत्**=शुभ को **विविद्रे**=प्राप्त करते हैं, **उ**=और **नूतनासः**=इस सोमपान के नवीन लाभ भी यही होते हैं कि **सत्**=शुभ की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से जीवन 'सत्' वाला बनता है। सोमरक्षण जीवन को असत् (अशुभ) से दूर करके सत् से युक्त करता है 'असतो मा सद्गमय'।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनन्त 'महिमा-ऐश्वर्य-साफल्य व बल' वाले प्रभु

न॒हि नु ते॑ महि॒मनः॑ सम॒स्य न म॑घवन्मघव॒त्त्वस्य॑ वि॒द्म।
न राध॑सोराधसो॒ नूत॑न॒स्येन्द्र॒ नकि॑र्ददृश इ॒न्द्रि॒यं ते॑॥ ३॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **ते**=आपकी **समस्य महिमनः**=सम्पूर्ण महिमा को **नु**=निश्चय से **नहि विद्म**=नहीं जानते हैं। आपके **मघवत्त्वस्य**=ऐश्वर्यशालिनता का भी **नः**=हमें पूर्ण ज्ञान नहीं। आपकी महमिा व ऐश्वर्य असीम है। हमारा ज्ञान उसे सीमित नहीं कर पाता। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आपके अत्यन्त **नूतनस्य**=स्तुत्य व अद्भुत **राधसः राधसः**=प्रत्येक (ऐश्वर्य) को **नः**=हम नहीं जान पाते। **ते**=आपका **इन्द्रियम्**=बल **नकिः ददृशे**=हमारे से देखा

नहीं जा पाता। आपके बल के अन्त को हम नहीं पा पाते।

भावार्थ—प्रभु की 'महिमा, ऐश्वर्य, साफल्य व बल' सब अपरिमेय हैं। मनुष्य की बुद्धि से ये अपरिमेय ही हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वरशिख के सन्तान का उच्छेद

एतत्त्यत्त इन्द्रियमचेति येनावधीर्वरशिखस्य शेषः।
वज्रस्य यत्ते निहतस्य शुष्मात्स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार॥ ४॥

(१) हे प्रभो! **एतत्**=यह **त्यत्**=वह प्रसिद्ध **ते**=आपका **इन्द्रियम्**=वीर्य (बल) **अचेति**=जाना जाता है **येन**=जिससे आप **वरशिखस्य**=(वर्=to enclose, शिखा=a ray of light) प्रकाश की किरणों के ढक लेनेवाले, उनपर परदा डाल देनेवाले कामासुर के **शेषः**=सन्तान को (इस कामासुर के बच्चे को) **अवधीः**=नष्ट कर देते हैं। (२) **यत्**=जब **निहतस्य**=शत्रु के प्रति प्रेरित (हन् गतौ) **ते**=आपके **वज्रस्य**=वज्र के **शुष्मात् स्वनात्**=शत्रु शोषक शब्द से ही, हे **इन्द्र**=शत्रुविदारक प्रभो! **परमः**=यह (सर्वोत्कृष्ट) शत्रु भी **ददार**=विदीर्ण हो जाता है। 'वज्र का शुष्म स्वन' यही है कि हम कर्म में लगे रहें (वज् गतौ) और प्रभु का स्मरण करें। प्रभु स्मरणपूर्वक कर्म व्यापृति ही कामवासना के उच्छेद व अनाक्रमण के लिये आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु ही प्रकाश को आवृत करनेवाले वृत्र (काम) को विनष्ट करते हैं। प्रभु स्मरणपूर्वक कर्म में लगे रहने से वासना का आक्रमण ही नहीं होता, यह वासना रूप दैत्य विदीर्ण हो जाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अभ्यावर्ती चायमान'

वधीदिन्द्रो वरशिखस्य शेषोऽभ्यावर्तिने चायमानाय शिक्षन्।
वृचीवतो यद्धरियूपीयायां हन्पूर्वे अर्धे भियसापरो दर्त्॥ ५॥

(१) **इन्द्रः**=वह शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **वरशिखस्य**=प्रकाश की किरणों को आवृत कर लेनेवाले कामासुर (वृत्र) के **शेषः**=सन्तान को (कामासुर के बच्चे को) **वधीत्**=नष्ट कर देते हैं। इसके विनाश से ये **अभ्यावर्तिने**=निरन्तर कर्त्तव्य कर्मों को आवृत्त करनेवाले, दिनभर कर्त्तव्य-चक्र के पालन में लगे रहनेवाले, **चायमानाय**=पूजा करनेवाले उपासक के लिये **शिक्षन्**=ईप्सित बलों को देते हुए होते हैं। (२) **यत्**=जब वे प्रभु **हरियूपीयायाम्**=दुःखों का हरण करनेवाले यज्ञ-स्तम्भोंवाली इस यज्ञभूमि शरीर में (पुरुषो वाव यज्ञः) **पूर्वे अर्धे**=जीवन के पूर्व भाग में, अर्थात् यौवन दशा में ही **वृचीवतः**=इन उच्छेदक वासनारूप शत्रुओं को **हन्**=नष्ट करते हैं तो **भियसा**=भय से ही **अपरः**=हमारा शत्रु **दर्त्**=विदीर्ण हो जाता है। 'वरशिख का शेष' ही अपर है। इस अपर का हमारे जीवन में स्थान नहीं रहता।

भावार्थ—हम कर्त्तव्य-चक्र में लगे रहकर प्रभु का पूजन करनेवाले बनें। प्रभु हमारे लिये उच्छेदक वासनारूप शत्रु को जीवन के पूर्वार्ध में ही विनष्ट करेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वृचीवान् का विनाश

त्रिंशच्छतं वर्मिण इन्द्र साकं यव्यावत्यां पुरुहूत श्रवस्या।
वृचीवन्तः शरवे पत्यमानाः पात्रा भिन्दाना न्यर्थान्यायन्॥ ६॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यव्यावत्याम्**=इस बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रणवाली यव्यावती (हरियूपीया, ५) में **साकम्**=साथ-साथ इकट्ठे ही, **त्रिशंत् शतम्**=संख्या में तीसों हजार, अर्थात् बहुत **वर्मिणः**=कवचधारी **वृचीवन्तः**=हमारा उच्छेद करनेवाले वासनारूप शत्रु **श्रवस्या**=ज्ञान प्राप्ति की प्रबल कामना से **नि अर्थानि आयन्**=अर्थशून्यता को प्राप्त होते हैं। अर्थात् अपना प्रयोजन नहीं सिद्ध कर पाते। ज्ञान प्राप्ति की कामना इन सब अन्य शत्रुभूत कामनाओं को नष्ट कर देती है। (२) ये वृचीवान् **शरवे पत्यमानाः**=हिंसा के लिये हमारे पर आक्रमण करते हैं। **पात्रा भिन्दानाः**=इस हरियूपीया नामक शरीर रूप यज्ञवेदि में अंग रूप यज्ञ पात्रों को ये विदीर्ण करते हैं। अंगों की शक्ति को क्षीण करनेवाले होते हैं। वे पराभूत होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्ति की प्रबल कामना के द्वारा अन्य शत्रुभूत कामनाओं को विनष्ट करें। जो कामनाएँ हमारा विनाश करती हैं और अंगों की शक्ति को क्षीण करती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अरुषो गावौ

यस्य गावावरुषा सूयवस्यू अन्तरू षु चरतो रेरिहाणा।
स सृञ्जयाय तुर्वशं परादाद् वृचीवतो दैववाताय शिक्षन्॥ ७॥

(१) **यस्य**=जिस प्रभु दी हुई **अरुषा**=आरोचमान, तेज व ज्ञान से चमकती हुई, **सूयवस्यू**=अच्छी प्रकार बुराइयों को दूर करनेवाली व अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाली, **रेरिहाणा**=यज्ञों व ज्ञानों का आस्वाद लेती हुई **गावो**=कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ रूप गौयें **उ**=निश्चय से **अन्तः**= द्यावापृथिवी के अन्दर **सुचरतः**=सम्यक् विचरण करती हैं। कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों को करती हुई शरीर रूप पृथिवी को दृढ व तेजस्वी बनाती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान को प्राप्त करती हुई मस्तिष्क रूप द्युलोक को ज्ञानोज्ज्वल करती हैं। **सः**=वे प्रभु **सृञ्जयाय**=(सृ गतौ) गतिशीलता के द्वारा विजय को प्राप्त करनेवाले के लिये **तुर्वशम्**=त्वरा से वश में कर लेनेवाले इस क्रोध को **परादात्**=दूर करते हैं। (२) ये प्रभु ही **दैववाताय**='माता, पिता, आचार्य व अतिथि' आदि देवों से प्रेरित होनेवाले इस 'अभ्यावर्ती चायमान' (२७।५) के लिये **शिक्षन्**= शक्ति को देते हुए **वृचीवतः**=उच्छेद करनेवाले वासनारूप शत्रुओं को (परादात्)=सुदूर विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराके शरीररूप पृथिवी को तेज से दीप्त तथा मस्तिष्क रूप द्युलोक को ज्ञानदीप्त बनाते हैं। क्रियाशीलता द्वारा विजयी पुरुष के लिये क्रोध को नष्ट करते हैं तथा दैववात पुरुष के लिये वासनाओं का उच्छेद करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अभ्यावर्तिनश्चायमानस्य ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

दूणाशा दक्षिणा

द्व॒याँ अ॑ग्ने र॒थिनो॑ विंश॒तिं गा व॒धूम॑तो म॒घवा॒ मह्यं॑ स॒म्राट्।
अ॒भ्या॒व॒र्ती चा॑यमा॒नो द॑दाति दू॒णाशे॒यं दक्षि॑णा पार्थ॒वाना॑म्॥ ८॥

(१) इन्द्रियाँ 'गौ' कहलाती हैं। ये 'ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय' रूप से दो भागों में बँटी हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **मघवा**=ऐश्वर्यशाली हैं व यज्ञशील हैं (मघ=मख), **सम्राट्**=सम्यक् शासन करनेवाले हैं व दीप्त हैं। आप **मह्यम्**=मेरे लिये **द्वयान्**=इन दो भागों में बटी हुई, **रथिनः**=उत्तम शरीर रूप रथवाली **वधूमतः**=वेदवाणी रूप वधूवाली **विंशतिम्**=दस इन्द्रियाँ व दस प्राणशक्तियाँ इस प्रकार मिलकर बीस **गाः**=इन्द्रिय रूप गौवों को प्राप्त कराते हैं। (२) **अभ्यावर्ती**=कर्त्तव्य कर्म रूप चक्र में चलनेवाला **चायमानः**=प्रभु का पूजन करनेवाला इन इन्द्रियों को प्रभु के लिये **ददाति**=देता है, अर्थात् इन्हें विषयों में न फँसने देकर प्रभु की ओर प्रेरित करता है। इन **पार्थवानाम्**=(प्रथ विस्तारे) विषयों में न फँसने देकर इन्द्रिय शक्तियों का विस्तार करनेवाले इन पुरुषों की **इयं दक्षिणा**=यह प्रभु के प्रति इन्द्रियों को देने का कार्य **दूणाशा**=नष्ट होनेवाला नहीं। यह दक्षिणा जब तक चलती है यह इन पार्थवों को नष्ट नहीं होने देती।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप गौवों को प्राप्त कराती हैं। कार्यक्रम में चलनेवाला प्रभु का पूजक इन इन्द्रियों को प्रभु के प्रति देता है। इनकी यह दक्षिणा नष्ट नहीं होती, यह दक्षिणा इन्हें भी नाश से बचाती है।

भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि अगले सूक्त में गौवों का शंसन करते हैं—

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गौवें और भद्र

आ गावो॑ अग्मन्नु॒त भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे।
प्र॒जाव॑तीः पु॒रु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः॥ १॥

(१) **गावः**=गौवें **सर्वतः**=सब ओर से **आ अग्मन्**=हमें प्राप्त हों, **उत**=और **भद्रं अक्रन्द**=हमारा कल्याण करें। ये गौवें **गोष्ठे सीदन्तु**=गोष्ठ में स्थित हों और **अस्मे**=हमारे लिये **रणयन्तु**=रमणीयता व आनन्द को करनेवाली हैं। वस्तुतः इन गौवों के दूध से ही इन्द्रिय रूप गौवों को शक्ति व ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। यह दूध ही कर्मेन्द्रियों को सात्त्विक यज्ञादि कर्मों में व्यापृत करके सशक्त बनाता है तथा ज्ञानेन्द्रियों को यही ज्ञानदीप्त करता है। (२) ये गौवें **इह**=हमारे घरों में **प्रजावतीः**=प्रकृष्ट प्रजाओंवाली, उत्तम बछड़े-बछियोंवाली व **पुरुरूपाः**=भिन्न-भिन्न रूपोंवाली 'गौर, कपिला व कृष्ण' **स्युः**=हों। यह गौवें **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पूर्वीः**=बहुत **उषसः**=उषाकालों में **दुहानाः**=दोहमान हों, दूध को देनेवाली हों।

भावार्थ—गौवें घरों में प्राप्त हों और हमारे घरों को मगंलमय बनायें। उत्तम बछड़ोंवाली, अनेक रूपोंवाली ये गौवें सदा उषाकालों में दूध को प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**गाव इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'यज्वा पृणन्' की अभिन्न खिल्य में स्थिति

इन्द्रो॒ यज्व॑ने पृण॒ते च॑ शिक्ष॒त्युपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति।
भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम्॥ २॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **यज्वने**=यज्ञशील पुरुष के लिये, **च**=और **पृणते**=स्तुतियों के द्वारा प्रीणित करनेवाले पुरुष के लिये **शिक्षति**=आवश्यक धन को देता है। **उप इत् ददाति**=समीप प्राप्त होकर देता ही है। इस यज्ञशील पुरुष के **स्वं न मुषायति**=धन को अपहृत नहीं करता। (२) **अस्य**=इस यज्ञशील वस्तुतियों के द्वारा प्रीणित करनेवाले मनुष्य के **रयिम्**=ऐश्वर्य को **इत्**=निश्चय से **भूयः भूयः**=अधिक और अधिक **वर्धयन्**=बढ़ाता हुआ, इस **देवयुम्**=दिव्य गुणों को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले पुरुष को **अभिन्ने**=शत्रुओं से न विदीर्ण किये जानेवाले **खिल्ये**=अप्रतिहत स्थान में **निदधाति**=स्थापित करते हैं। तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठाकर सत्त्वगुण में स्थापित करते हैं। इस सत्त्वगुण में स्थित हुआ-हुआ यह पुरुष वासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील स्तोता के धन को बढ़ाते हैं और इसे सत्त्वगुण में स्थापित करके वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गौवें व यज्ञसिद्धि

न ता न॑शन्ति॒ न द॑भाति॒ तस्क॑रो॒ नासा॑माम॒मित्रो॒ व्य॒थिरा द॑धर्षति।
दे॒वाँश्च॒ याभि॒र्यज॑ते॒ ददा॑ति च॒ ज्योगित्ताभिः॑ सचते॒ गोप॑तिः स॒ह॥ ३॥

(१) **ताः**=वे गौवें **न नशन्ति**=अदृष्ट नहीं होतीं। **तस्करः**=चोर **न दभाति**=इन्हें हिंसित नहीं करता। कोई **व्यथिः**=पीड़ित करनेवाला **अमित्रः**=शत्रु **आसां न आदधर्षति**=इनका धर्षण नहीं करता है। (२) **च**=और यह **गोपतिः**=गौओं का रक्षक पुरुष **याभिः**=जिनके द्वारा, जिनसे प्राप्त दुग्ध-घृत आदि से **देवान् यजते**=देवयज्ञ करता है, अग्निहोत्र आदि यज्ञों को करता है **च**=और **ददाति**=दान को कर पाता है, **ताभिः सह**=उन गौवों के साथ **ज्योग् इत्**=चिरकाल तक ही **सचते**=समवेत होता है। इन गौवों के द्वारा उसके सब यज्ञ ठीक प्रकार चलते हैं।

भावार्थ—हमारी गौवें सुरक्षित रहती हैं। इनके द्वारा हम देवयज्ञ आदि यज्ञों को कर पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

न अपहरण, न विशसन (गौवों का)

न ता अर्वा॑ रे॒णुक॑काटो अश्नुते॒ न सं॑स्कृत॒त्रमुप॑ यन्ति॒ ता अ॒भि।
उ॒रु॒गा॒यमभ॑यं॒ तस्य॒ ता अनु॒ गावो॒ मर्त॑स्य॒ वि च॑रन्ति॒ यज्व॑नः॥ ४॥

(१) **ताः**=इन गौवों को **रेणुककाटः**=युद्ध में पार्थिव धूलि का उद्भेदक **अर्वा**=युद्ध के लिये आया हुआ घोड़ा **न अश्नुते**=नहीं प्राप्त करता। अर्थात् युद्ध के द्वारा कोई हमारी इन गौवों का अपहरण नहीं कर पाता। तथा **ताः**=वे गौएँ **संस्कृतत्रम्**=विशसन आदि संस्कार को **न अभि उपयन्ति**=नहीं प्राप्त होती हैं। अर्थात् वे गौवें वध्यस्थल में हिंसित होकर भोजन का अंग नहीं

बन जाती। (२) और **ताः गावः**=वे गौवें **यज्वनः**=यज्ञशील **तस्य-मर्तस्य**=उस मनुष्य के **उरुगायम्**=विस्तीर्णगमनवाले **अभयम्**=भयवर्जित प्रदेश का **अनु**=लक्ष्य करके **विचरन्ति**=विचरण करती है। यज्ञों में ही इनके दूध-घृत आदि का प्रयोग होता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से न हमारी गौवों का युद्ध द्वारा अपहरण होता है, ना ये वधशाला में पहुँचती हैं। यज्ञशील पुरुषों की यज्ञभूमियों में ही ये विचरती हैं और यज्ञार्थ घृत-दुग्ध आदि को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'गावः' भगः (गौ)

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥ ५॥

(१) **गावः भगः**=गौएँ ही ऐश्वर्य हैं। **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **मे**=मेरे लिये **गावः अच्छान्**=गौवों को प्राप्त कराये (यक्षतु सा०)। ये **गावः**=गो-दुग्ध **प्रथमस्य सोमस्य**=सर्वश्रेष्ठ सोम के **भक्षः**=भोजन हैं, अर्थात् गो-दुग्ध के सेवन सर्वोत्तम वीर्य प्राप्त होता है। (२) **इमाः**=ये **याः**=जो **गावः**=गौवें हैं, हे **जनासः**=लोगो! **या स इन्द्रः**=वे ही इन्द्र हैं। इन्द्र की प्राप्ति का ये गौएँ ही साधन बनती हैं। मैं वस्तुतः **हृदा**=श्रद्धायुक्त हृदय से तथा **मनसा**=प्रबल प्राप्ति की कामनावाले मनसे **इन्द्रं चित्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **इच्छामि**=चाहता हूँ। उस प्रभु प्राप्ति की कामना से ही इन गौवों की भी सेवा करता हूँ। इनके दुग्ध से ही सात्त्विक बुद्धिवाला होकर मैं प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—गौवें ही सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य हैं। ये ही सर्वोत्कृष्ट सोम को अपने दुग्ध द्वारा प्राप्त कराती हैं। ये ही अपने दूध से हमारी बुद्धि को सात्त्विक बनाकर हमें प्रभु की प्राप्ति के योग्य करती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्'

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥ ६॥

(१) हे **गावः**=गौओ! **यूयम्**=आप अपने दूध से **कृशंचित्**=क्षीण हुए-हुए को **मेदयथा**=उचित मेदस्वाला व आप्यायित करती हो। **अश्रीरं चित्**=शोभारहित को, शोभाशून्य अंगोंवाले को **चित्**=भी **सुप्रतीकम्**=उत्तम अंग-प्रत्यंगवाला **कृणुथा**=करती हो। उसका भी हीन शरीर फिर से श्रीसम्पन्न हो उठता है। (२) **भद्रवाचः**=शुभ वाणीवाली आप **गृहं भद्रं कृणुथ**=सारे घर को मंगलमय कर देती हो। इसी से **सभासु**=सभाओं में **बृहत्**=खूब ही **वः**=आपका **वयः उच्यते**=(energy, strength, soundness of constitution) शक्ति व स्वास्थ्य का प्रतिपादन होता है। अर्थात् आपके दूध से प्राप्त होनेवाली शक्ति व स्वास्थ्य का खूब प्रशंसन होता है।

भावार्थ—गौवें अपने दूध से कृश को आप्यायित करती हैं। श्रीविहीन को श्रीसम्पन्न बनाती हैं। घर को मंगलमय बनाती हैं। उत्कृष्ट शक्ति व स्वास्थ्य को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शुद्ध चारा-शुद्ध जल

प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः ॥ ७ ॥

(१) हे गौवे ! जो आप **प्रजावतीः**=उत्कृष्ट बछड़ों व बछियोंवाली हों, **सूयवसं रिशन्तीः**=उत्तम घास को चरती हो, तथा **सुप्रपाणे**=उत्तम जलपान-स्थान में **शुद्धाः अपः**=शुद्ध जलों को **पिबन्तीः**=पीती हो। उन **वः**=आपको **स्तेनः मा ईशत**=चोर स्वामित्व करनेवाला न हो। **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला तुम्हारा ईश न बने। (२) **वः**=आपको **रुद्रस्य**=उस मृत्यु द्वारा रुलानेवाले कालात्मक प्रभु का **हेतिः**=वज्र **परिवृज्याः**=छोड़ दे। आप पर प्रभु का वज्र न गिरे। अर्थात् इन गौवों पर कोई आधिदैविक आपत्ति न आ जाये।

भावार्थ—शुद्ध घास व शुद्ध जल का सेवन करती हुई गौवें उत्कृष्ट दूध देती हैं। इन गौवों पर स्तेन व अघशंस (पापी) पुरुष का शासन न हो जाए। ये प्रभु के वज्र से भी आहत न हों। कोई पातक बीमारी न आक्रान्त कर ले।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—गावः; गाव इन्द्रो वा ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अपपर्चन (Impregnation)

उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम् । उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये ॥ ८ ॥

(१) **इदम्**=यह **उपपर्चनम्** (Impregnation)=गर्भ का आधान **आसु गोषु**=इन गौवों में **उपपृच्यताम्**=सम्यक् समीपता से प्राप्त हो। **ऋषभस्य**=खूब शक्तिशाली सांड के **रेतसि**=रेतःकणों में यह गर्भाधान की क्रिया **उप**=संपृक्त हो। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **तववीर्ये**=तेरी शक्ति के निमित्त यह **उप**=उपपर्चन समीपता से प्राप्त हो। जितना ही यह ऋषभ उत्तम नस्ल का होगा, उतना ही यह गौ के उत्तम दूध का कारण बनेगा। और वह उत्तम दूध हमारे शरीर में शक्ति की उत्पत्ति का साधन बनेगा।

भावार्थ—गौवों का उपपर्चन उत्तम ऋषभों द्वारा हो। इन गौवों से प्राप्त दुग्ध हमारी उत्तम शक्ति का साधन बने।

अगले सूक्त में पुन 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का आराधन करते हैं—

अथ चतुर्थाष्टके सप्तमोऽध्यायः

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की मित्रता व महान् रमणीय जीवन

इन्द्रं वो नरः सख्याय सेपुर्महो यन्तः सुमतये चकानाः ।
महो हि दाता वज्रहस्तो अस्ति महामु रण्वमवसे यजध्वम् ॥ १ ॥

(१) **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **वः**=तुम्हारे **इन्द्रम्**=परमैश्वर्य के कारणभूत प्रभु को **सख्याय**=मित्रता के लिये **सेपुः**=पूजते हैं। ये नर **महः यन्तः**=महनीय (उत्कृष्ट) कर्मों को करते हुए तथा **सुमतये चकानाः**=शोभन स्तुति के लिये कामना करते हुए, अर्थात् उत्कृष्ट कर्मों द्वारा प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु की मित्रता के लिये पूजते हैं। प्रभु का सच्चा स्तवन तो सदा

उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहता ही है। (२) **वज्रहस्तः**=सब आसुरभावों के विनाश के लिये वज्र को हाथ में लिये हुए वे प्रभु **हि**=निश्चय से **महः दाता अस्ति**=महान् धन के देनेवाले हैं। **उ**=निश्चय से उस **महाम्**=महान् **रण्यम्**=रमणीय प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिये **यजध्वम्**=पूजो। प्रभु की मित्रता में ही कल्याण है। वे प्रभु महान् हैं, रमणीय हैं। उनकी मित्रता में हमारा जीवन भी महान् व रमणीय बनता है।

भावार्थ—उत्तम कर्मों के द्वारा प्रभु का स्तवन करते हुए हम प्रभु की मित्रता को प्राप्त करें। यह मित्रता ही हमें महान् रमणीय जीवनवाला बनायेगी।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'हिरण्यय रथ का सारथि' प्रभु

आ यस्मिन्हस्ते नर्या मिमिक्षुरा रथे हिरण्यये रथेष्ठाः।
आ रश्मयो गर्भस्त्योः स्थूरयोराध्वन्नश्वासो वृषणो युजानाः ॥ २ ॥

(१) **हस्ते**=(हस्तः हन्तेः) शत्रुओं का हनन करनेवाले **यस्मिन्**=जिस इन्द्र में **नर्याः**=नरहितकारी धन **आमिमिक्षुः**=आपूरित होते हैं, अर्थात् जो प्रभु वासनाओं के संहार के द्वारा उपासक को उत्कृष्ट धन प्राप्त कराते हैं, वे प्रभु **हिरण्यये रथेः**=इस प्रभु कृपा से ही ज्योतिर्मय बने शरीर-रथ में **रथेष्ठाः**=सारथि होते हैं। अपने उपासक के शरीर-रथ का सञ्चालन प्रभु करते हैं। (२) उस समय **रश्मयः**=इस शरीरथ के घोड़ों (इन्द्रियाश्वों) की लगामें **स्थूरयोः गृभस्त्योः**=उस सारथि के स्थूल, मज़बूत व दृढ़ हाथों में **आ (यम्यन्ते)**=होती हैं। **अध्वन्**=इस जीवनयात्रा के मार्ग में **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व **वृषणः**=शक्तिशाली होते हैं और **युजानाः**=शरीर-रथ में जुते होते हैं। अर्थात् उपासक का जीवन सतत क्रियाशीलता का होता है, वहाँ अकर्मण्यता नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु के हाथों में सब नरहितकारी धन विद्यमान हैं। ये प्रभु ही इस शरीर-रथ के सारथि बनते हैं। उस समय इन्द्रियाश्व भटकते नहीं और शरीर-रथ को मार्ग पर ले चलनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह महान् नृत्यकार

श्रिये ते पादा दुव आ मिमिक्षुर्धृष्णुर्वज्री शवसा दक्षिणावान्।
वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्व१र्ण नृतविषिरो बभूथ॥ ३ ॥

(१) हे इन्द्र! **श्रिये**=शोभा की प्राप्ति के लिये, जीवन को शुभ बनाने के लिये **ते पादा**=तेरे चरणों में **दुवः**=पूजा को **आमिमिक्षुः**=अर्पित करते हैं। तेरे चरणों की पूजा ही हमारे जीवन की श्रीसम्पन्नता का साधन बनती है। आप **शवसा**=बल के द्वारा **धृष्णुः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले, **वज्री**=वज्रहस्त व **दक्षिणावान्**=सब दानों को देनेवाले हैं। (२) हे **नृतो**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के नृत्य को करानेवाले प्रभो! आप **सुरभिम्**=उत्तमता से कार्यों को करने में समर्थ-सुदृढ **अत्कम्**=ज्ञान कवच को **वसानः**=आच्छादित करते हुए (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्) **दृशे कम्**=दर्शनीय व आनन्द रूप होते हैं। हे प्रभो! **स्वः न**=इस ज्योतिर्मय सूर्य के समान **इषिरः बभूथ**=हमें मार्ग पर प्रेरित करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का परिचरण ही जीवन को प्रशस्त बनाता है। प्रभु हमारे दृढ़ कवच हैं। सूर्य के समान मार्ग के दर्शक हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम का महत्त्व

स सोम आमिश्लतमः सुतो भूद्यस्मिन्पक्तिः पच्यते सन्ति धानाः ।
इन्द्रं नरः स्तुवन्तो ब्रह्मकारा उक्था शंसन्तो देववाततमाः ॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब प्रभु हमारे कवच होते हैं, तो **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **सः सोमः**=वह सोम (वीर्यशक्ति) **आमिश्लतमः**=सर्वत्र शरीर के अंग-प्रत्यंग में युक्त **भूत्**=होती है। **यस्मिन्**=जिस सोम के ऐसा होने पर **पक्तिः पच्यते**=ज्ञान का ठीक परिपाक होता है। और **धानाः सन्ति**=ईश्वर का प्रणिधान की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। (२) इस सोम के शरीर में मिश्लतम होने पर **नरः**=ये उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **इन्द्रं स्तुवन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का स्तवन करते हुए **ब्रह्मकाराः**=इस वेद को अपने अन्दर करनेवाले होते हैं (ब्रह्म कुर्वन्ति इति)। **उक्था**=सदा स्तुति-वचनों का **शंसन्तः**=शंसन करते हुए ये लोग **देववाततमाः**=अधिक से अधिक दिव्यगुणों को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सोम-रक्षण से (क) ज्ञान का परिपाक होता है, (ख) ईश्वर प्रणिधान की पूर्ति होती है, (ग) प्रभु-स्तवन चलता है, (घ) वेदज्ञान उत्पन्न होता है, (ङ) स्तुत्यवचनों का उच्चारण व दिव्यगुणों की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के अनन्त बल का अपने में धारण

न ते अन्तः शवसो धाय्यस्य वि तु बाबधे रोदसी महित्वा ।
आ ता सूरिः पृणति तूतुजानो यूथेवाप्सु समीजमान ऊती ॥ ५ ॥

(१) हे प्रभो! **ते अस्य शवसः**=आपके इस बल का **अन्तः**=अन्त **न धायि**=नहीं जाना जाता (अव धायि)। अनन्त आपका बल है। इस बल के **महित्वा**=महत्त्व से **तु**=तो आप **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **विबाबधे**=विशेषरूप से बद्ध करते हैं। आप अपने बल के द्वारा सारे ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए हैं। (२) **सूरिः**=स्तोता पुरुष **ऊती**=सोम के रक्षण के द्वारा तू **तूतुजानः**=सब अशुभों का संहार करता हुआ, **समीजमानः**=सम्यक् यजन व पूजन करता हुआ **ता आपृणति**=उन बलों को अपने अन्दर आपूरित करता है। उसी प्रकार उन बलों को आपूरित करता है **इव**=जैसे कि **यूथा**=इन्द्रिय समूहों को **अप्सु**=कर्मों में आपूरित करता है। वस्तुतः इन्द्रियों को कर्मों में लगाये रखने पर ही जीवन वासना शून्य बनता है और इन कर्मों द्वारा, प्रभु-पूजन होकर, प्रभु के बलों को अपने में धारण करने का सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु का अनन्त बल है जिसके द्वारा वे सारे ब्रह्माण्ड को बद्ध किये हुए हैं। एक स्तोता कर्मों द्वारा प्रभु-पूजन करता हुआ इन बलों से अपने को आपूरित करता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

असमात्मोजाः

एवेदिन्द्रः सुहव ऋष्वो अस्तूती अनूती हिरिशिप्रः सत्वा ।
एवा हि जातो असमात्योजाः पुरू च वृत्रा हनति नि दस्यून् ॥ ६ ॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इत्**=निश्चय से **ऋष्वः**=वह महान् **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सुहवः**

अस्तु=हमारे से शोभनतया पुकारने योग्य हो। वे **हिरिशिप्रः**=मनोहर हनुओं व नासिकाओं को देनेवाले प्रभु (हिरिशिप्रे यस्मात्) **ऊती**=रक्षण साधनों के द्वारा अथवा **अनूती**=बिना रक्षण साधनों के भी **सत्वा**=शत्रुओं का विनाश करनेवाले हैं (सादयिता) तथा धनों के देनेवाले हैं (सन्) प्रभु हमें रक्षण साधन प्राप्त कराके जब हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं तो 'ऊती' और स्वयं प्रभु हाथ पैर आदि साधनों से रहित होते हुए ही हमारा रक्षण करते हैं, सो 'अनूती'। (२) **एवा**=इस प्रकार **हि**=निश्चय से वे प्रभु **असमाति ओजः**=असमान अनुपम तेजवाले **जातः**=हुए हैं। **च**=और वे प्रभु **उत**=इन बहुत **वृत्रा**=वासनाओं को **हनति**=नष्ट करते हैं और **दस्यून्**=दास्यवभावों को **नि**=(हनति) हमारे से दूर करते हैं। यह सब प्रभु हमें उत्तम हनुओं व नासिका को प्राप्त कराके ही करते हैं। उत्तम हनु (जबड़ों) का भाव 'भोजन को खूब चबाकर खाने से' है तथा उत्तम नासिका का भाव प्राणसाधना से है।

भावार्थ—प्रभु का हम स्तवन करें। प्रभु से दिये गये इन जबड़ों से खूब चबाकर खायें। नासिका छिद्रों से प्राणसाधना करें। वे अनुपम शक्तिवाले प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करेंगे और हमें दास्यव भावों से दूर करेंगे।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का आराधन करते हैं—

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के एकदेश में ब्रह्माण्ड की स्थिति

भूय इद्वावृधे वीर्या॑य एको॑ अजुर्यो दयते वसू॑नि।
प्र रि॑रिचे दिव इन्द्रः पृथिव्या अर्धमि॑दस्य प्रति रोद॑सी उभे॥ १॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **वीर्याय**=शक्तिशाली कर्मों के लिये **भूयः इत्**=खूब ही **वावृधे**=वृद्धि को प्राप्त हुए हैं। **एकः**=वे प्रभु अद्वितीय हैं। **अजुर्यः**=कभी जीर्ण होनेवाले नहीं। **वसूनिदयते**=ये प्रभु हमारे लिये सब वसुओं को देते हैं। (२) ये **इन्द्रः**=प्रभु **दिवः पृथिव्याः**=द्युलोक व पृथिवीलोक से **प्ररिरिचे**=बहुत अधिक बढ़े हुए हैं। **उभे रोदसी**=ये दोनों द्यावापृथिवी **इत्**=निश्चय से **अस्य**=इस प्रभु के **अर्धं प्रति**=आधे भाग के ही प्रतिनिधि होते हैं। अर्थात् ये द्यावापृथिवी प्रभु के एकदेश में ही हैं। 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोस्येहाभवत् पुनः'।

भावार्थ—प्रभु के कर्म अतिशयेन शक्तिशाली हैं। प्रभु ही सब धनों को देते हैं। ये सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'महान् लोकों के निर्माता' प्रभु

अधा॑ मन्ये बृहद॑सुर्य॑मस्य यानि॑ दाधार नकि॑रा मि॑नाति।
दिवेदि॑वे सूर्यो॑ दर्श॒तो भू॑द्वि सद्मा॑न्युर्वि॑या सुक्रतु॑र्धात्॥ २॥

(१) **अधा**=अब **अस्य**=इस प्रभु के **बृहत् असुर्यम्**=महान् असुर वध के कर्म का **मन्ये**=स्तवन करता हूँ। **यानि दाधार**=प्रभु जिनका धारण करते हैं **नकिः आमिनाति**=इन्हें कोई हिंसित नहीं करता। (२) प्रभु का यह सर्वप्रथम महान् कर्म है कि **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **सूर्यः**=सूर्य **दर्शतः भूत्**=दर्शनीय होता है। साथ ही प्रभु **सुक्रतु**=उत्तम प्रज्ञान व कर्मोंवाले हैं और **उर्विया**=(उरूणि) विशाल **सद्मानि**=लोकों का **विधात्**=बनाता है। एक-एक लोक कितना

विशाल है, प्रभु इन सब विशाल लोकों का वे प्रभु निर्माण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का असुरहनन रूप कर्म प्रशंसनीय है। प्रभु ही सूर्योदय को करते हैं, प्रभु ही इन विशाल लोकों का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नदियों व पर्वतों का निर्माण

अद्या चिन्नू चित्तदपो नदीनां यदाभ्यो अरदो गातुमिन्द्र।
नि पर्वता अद्मसदो न सेदुस्त्वया दृळ्हानि सुक्रतो रजांसि॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभो! **अद्या चित्**=आज भी **नू चित्**=निश्चय से आपका **तत्**=वह **नदीनां अपः**=नदियों सम्बन्धी कर्म अनुपक्षीण रूप से चल रहा है **यत्**=कि **आभ्यः**=इनके लिए आपने **गातुं अरदः**=जाने के मार्ग को बनाया है। 'नदियाँ सदा से चल रही हैं' यह आपका अद्भुत ही कर्म है। (२) **पर्वताः**=पर्वत **निसेदुः**=अपने स्थान पर ऐसे निषण्ण हैं कि **न**=जैसे **अद्मसदः**=भोजन खाने के लिये बैठनेवाले निश्चलभाव से स्थित होते हैं। हे **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञान व कर्मोंवाले प्रभो! **त्वया**=आपके द्वारा **रजांसि**=सब लोक **दृढानि**=दृढ़ व स्थिर किये गये हैं।

भावार्थ—प्रभु ही नदियों के मार्ग को बनाते हैं। वे ही पर्वतों व लोकों को दृढ़ करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

मेघविदारण व जलवर्षण

सत्यमित्तन्न त्वावाँ अन्यो अस्तीन्द्र देवो न मर्त्यो ज्यायान्।
अहन्नहिं परिशयानमर्णोऽवासृजो अपो अच्छा समुद्रम्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तत् सत्यं इत्**=वह बात सत्य ही है कि **त्वावान् अन्यः न अस्ति**=आप जैसा और कोई नहीं है। हे प्रभो! **न देवः**=न कोई देव, **न मर्त्यः**=नां ही कोई मनुष्य **ज्यायान्**=आपसे बड़ा नहीं है। (२) आप ही **परिशयानम्**=अन्तरिक्ष में चारों ओर शयन करते हुए **अहिम्**=मेघ को **अहन्**=नष्ट करते हैं, विदीर्ण करते हैं। **अर्णः**=जल को **अव असृजः**=नीचे पृथ्वी पर भेजते हैं। और **अपः**=इन जलों को **समुद्रं अच्छा**=समुद्र की ओर प्रवाहित करते हैं। समुद्र से सूर्य-किरणों द्वारा ये वाष्पीभूत होकर फिर अन्तरिक्ष में मेघ का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार फिर वही चक्र चल पड़ता है।

भावार्थ—प्रभु के समान व अधिक कोई और नहीं है। प्रभु ही बादलों को विदीर्ण करके जलों को बरसाते हैं और समुद्र की ओर प्रवाहित करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

सूर्य, द्युलोक व उषा का प्रादुर्भाव

त्वमपो वि दुरो विषूचीरिन्द्र दृळ्हमरुजः पर्वतस्य।
राजाभवो जगतश्चर्षणीनां साकं सूर्यं जनयन्द्यामुषासम्॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **त्वम्**=आपने **पर्वतस्य**=इस पर्वोंवाले मेघ के **दुरः**=द्वारों को **दृढम्**=दृढ़ता से **अरुजः**=नष्ट किया और **अपः**=जलों को **विषूचीः वि (असृजः)**=चारों ओर गतिवाला किया है। इस जल की व्यवस्था से आपने सारे संसार का पोषण किया

है। (२) **जगतः**=इस सारे जगत् के, ब्रह्माण्ड के पिण्डों के तथा **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **राजा अभवः**=आप शासक हैं। आप **साकम्**=साथ-साथ ही **सूर्यम्**=सूर्य को **द्याम्**=प्रकाशमय अन्तरिक्षलोक को तथा **उषासम्**=उषाकाल को **जनयन्**=प्रादुर्भूत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु मेघों के द्वारों को खोलकर सर्वत्र वर्षण करते हुए सारे जगत् मनुष्यों के जीवनों को दीप्त करते हैं। सूर्य को द्युलोक को व उषाकाल को प्रादुर्भूत करते हुए मनुष्यों के जीवन में दीप्ति प्राप्त कराते हैं। सूर्य आदि के अभाव में जीवन की कल्पना ही नहीं होती।

इस लोक में सुहोत्र=उत्तम वाणीवाले व उत्तम यज्ञशील पुरुष (इन्द्र) का आराधन करते हैं—

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रयिपते रयीणाम्

अभूरेको रयिपते रयीणामा हस्तयोरधिथा इन्द्र कृष्टीः।
वि तोके अप्सु तनये च सूरेऽवोचन्त चर्षणयो विवाचः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! हे **रयीणां रयिपते**=धनों के स्वामिन् प्रभो! आप ही **एकः**=अद्वितीय शासक **अभूः**=हैं। आप **कृष्टीः**=सब प्रजाओं को **हस्तयोः आ अधिथाः**=अपने हाथों में सर्वतः धारण करते हैं। आप ही सबके आधार हैं। (२) **चर्षणयः**=मनुष्य **तोके**=पुत्रों के निमित्त **अप्सु**=उत्कृष्ट कर्मों के निमित्त **च**=और **तनये**=पौत्रों के निमित्त **च**=और **सूरे**=उत्कृष्ट (शत्रूणां प्रेरणा) शत्रुओं के कम्पित करने के कार्य के निमित्त **विवाचः**=विविध स्तुतिवाणियों को **वि अवोचन्त**=विशेष रूप से आचरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही शासक हैं, धनों के स्वामी हैं। सब मनुष्य 'उत्तम पुत्रों, कर्मों, पौत्रों व शत्रुकम्पन आदि कार्यों' के निमित्त प्रभु का ही विविध वाणियों से स्तवन करते हैं। प्रभु ही उचित धनों को प्राप्त कराके हमें उत्तम सन्तानादि को प्राप्त करने में क्षम करते हैं।

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु के शासन में

तवद्भियेन्द्र पार्थिवानि विश्वाच्युता चिच्च्यावयन्ते रजांसि।
द्यावाक्षामा पर्वतासो वनानि विश्वं दृळ्हं भयते अज्मन्ना ते॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वद्भिया**=आपके भय से **पार्थिवानि**=(पृथिवी=अन्तरिक्षम्) इस अन्तरिक्ष में होनेवाले **विश्वा**=सब **अच्युता चित्**=बड़े दृढ़ जिनका स्वस्थान से हिलाना बड़ा कठिन है ऐसे अच्युत भी, **रजांसि**=लोक **च्यावयन्ते**=स्थानच्युत कराये जाते हैं। (२) **द्यावाक्षामा**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक, **पर्वतासः**=पर्वत, **वनानि**=वन, अन्य भी **विश्वम्**=सब **दृळहम्**=यह दृढ़ लोक **ते अज्मन्**=आपके आगमन में **आभयते**=समन्तात् भयभीत हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु के भय से यह संसार भयभीत हो उठता है। सब संसार प्रभु के शासन में चलता है।

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

काम, लोभ व क्रोध का विनाश

त्वं कुत्सेनाभि शुष्णमिन्द्राशुषं युध्य कुयवं गविष्टौ।
दश प्रपित्वे अध सूर्यस्य मुषायश्चक्रमविवे रपांसि॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **कुत्सेन**=इन वासनाओं का हिंसन करनेवाले उपासक के साथ **अशुषम्** शोषपितुमशक्य=जिसका शोषण करना बड़ा कठिन है उस **शुष्णम्**=शक्तियों का शोषण करनेवाले कामासुर (को) **अभियुध्य**=आभिमुख्येन युद्ध करते हैं। **गविष्टौ**=संग्राम में **कुयवम्**=सब बुराइयों से मिश्रण करानेवाले लोभ को **दश**=(अदशः) आप हिंसित करते हैं। (२) **अध**=अब **प्रपित्वे**=(प्रपतने) प्रकृष्ट आक्रमणवाले युद्ध में **सूर्यस्य** (सूर् to hurt, kill)=नष्ट करनेवालों में प्रमुख क्रोध के **चक्रम्**=चक्र को, दौर को **मुषायः**=आप अपहृत करते हैं। अर्थात् आप क्रोध को विनष्ट करते हो। इस प्रकार **रथांसि**=सब दोषों को आप **अविवेः**=(अपणमयः) हमारे जीवन से दूर करते हैं।

भावार्थ—काम-क्रोध-लोभ को दूर करके प्रभु हमारे जीवनों को निर्दोष बनाते हैं।

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदतिशक्वरी** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शंवर' (ईर्ष्या) का विनाश

त्वं शतान्यव शम्बरस्य पुरो जघन्थाप्रतीनि दस्योः।
अशिक्षो यत्र शच्या शचीवो दिवोदासाय सुन्वते सुतक्रे भरद्वाजाय गृणते वसूनि॥ ४॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **दस्योः**=उपक्षय के कारणभूत **शम्बरस्य**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाले ईर्ष्या रूप असुर के **शतानि**=सैंकड़ों **अप्रतीनि**=जिनपर आक्रमण करना कठिन है, उन **पुरः**=नगरों को **अव जघन्थ**=नष्ट करते हैं। (२) **यत्र**=जिस ईर्ष्या के नष्ट होने पर हे **शचीवः**=प्रज्ञावन् प्रभो! आप **शच्या अशिक्षः**=प्रज्ञा के साथ सब धनों को देते हैं। हे **सुतक्रे**=उत्पन्न सोम के द्वारा क्रीत प्रभो! आप **दिवोदासाय**=ज्ञान के सेवक, ज्ञानोपार्जन में प्रवृत्त, **सुन्वते**=यज्ञशील **भरद्वाजाय**= अपने में शक्ति का भरण करनेवाले **गृणते**=स्तोता उपासक के लिये **वसूनि**=निवास के लिये आवश्यक सब धनों को देते हैं।

भावार्थ—प्रभु ईर्ष्या को विनष्ट करते हैं। शक्ति के साथ सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सत्यसत्वा तुविनृम्ण' प्रभु

स सत्यसत्वन्महते रणाय रथमा तिष्ठ तुविनृम्ण भीमम्।
याहि प्रपथिन्नवसोप मद्रिक्प्र च श्रुत श्रावय चर्षणिभ्यः॥ ५॥

(१) हे **सत्यसत्वन्**=सत्य बलवाले **तुविनृम्ण**=महान् धनवाले प्रभो! **सः**=वे आप **महते रणाय**=इस महान् अध्यात्म संग्राम के लिये, काम-क्रोध-लोभ आदि से युद्ध के लिये, **भीमम्**=इस शत्रुभयंकर **रथं अतिष्ठ**=शरीर-रथ पर स्थित होइये। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर मैं इन शत्रुओं को जीतनेवाला बनूँ। (२) **प्रपथिन्**=हे प्रकृष्ट मार्गवाले प्रभो! आप **अवसा**=रक्षण के हेतु से **मद्रिक् उप**=मुझे आभिमुख्येन प्राप्त होइये। आपको प्राप्त करके मैं इन शत्रुओं के

आक्रमण से अपने को बचा सकूँ। **च**=और **हे श्रुत**=ज्ञान-सम्पन्न प्रभो! आप **चर्षणिभ्यः**=हम श्रमशील मनुष्यों के लिये **प्रश्रावय**=प्रकृष्ट ज्ञान को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर-रथ में स्थित हों। इसी से हमें शक्ति व धन की प्राप्ति होगी और हम जीवन-संग्राम में सफल होंगे। प्रभु हमें रक्षा प्राप्त करायें, ज्ञान दें जिससे हम रक्षित हो सकें।

'सुहोत्र' ऋषि ही इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पुरुतमानि शन्तमानि (वचांसि)

अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय।
विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्यासा स्थविराय तक्षम्॥ १॥

(१) **अस्मै**=इस प्रभु के स्तवन के लिये **आसा**=मुख से **वचांसि**=स्तुति-वचनों को **तक्षम्**=करता हूँ। जो स्तुति-वचन **अपूर्व्या**=अद्भुत हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में प्राप्त कराये गये हैं। **पुरुतमानि**=जीवन का आदर्श दिखलाने के द्वारा जो हमारा अधिक से अधिक पालन व पूरण करनेवाले हैं। **शन्तमानि**=मन में शान्ति को उत्पन्न करनेवाले हैं। (२) उस प्रभु के लिये हम इन स्तुति-वचनों का उच्चारण करते हैं जो **महे**=महान् हैं, **वीराय**=हमारे शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले हैं। **तवसे**=बलवान् हैं। **तुराय**=हमारे अन्दर आ जानेवाली सब बुराइयों का संहार करनेवाले हैं। **विरप्शिने**=महान् हैं अथवा विशिष्ट ज्ञान को हृदयस्थरूपेण उच्चारित करनेवाले हैं। **वज्रिणे**=वज्रहस्त हैं तथा **स्थविराय**=अत्यन्त पुराण सनातन पुरुष हैं इनके लिये स्तुतिवचनों का उच्चारण करता हुआ मैं उन बातों को अपने जीवन में लाने के लिये यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु के नामों का उच्चारण करता हूँ और अपना पालन व पूरण करता हुआ शान्ति का अनुभव करता हूँ।

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गो-निदान का उत्सर्जन (स्तुति के दो लाभ)

स मातरा सूर्येणा कवीनामवासयद्रुजदद्रिं गृणानः।
स्वाधीभिर्ऋक्वभिर्वावशान उदुस्रियाणामसृजन्निदानम्॥ २॥

(१) **सः**=वे प्रभु **कवीनाम्**=इन क्रान्तदर्शी तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के **मातरा**=मस्तिष्क व शरीर रूप द्यावापृथिवी को **सूर्येण**=ज्ञानसूर्य के उदय से **ओवासयत्**=प्रकाशित करते हैं। **गृणानः**= हृदयस्थरूपेण ज्ञानोपदेश करते हुए वे प्रभु **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **रुजत्**=नष्ट करते हैं। (२) **स्वाधीभिः**=उत्तम ध्यानवाले **ऋक्वभिः**=स्तोताओं से **वावशानः**=प्राप्ति के लिये काम्यमान होते हुए वे प्रभु **उस्त्रियाणाम्**=ज्ञानेन्द्रियरूप गौवों के **निदानम्**=विषयरूप बन्धनों को **उदसृजत्**=मुक्त करते हैं। प्रभु-स्तवन से इन्द्रिय विषयों के बन्धन से बद्ध नहीं होतीं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से अविद्या पर्वत का विनाश होता है। मस्तिष्क व शरीर ज्ञानसूर्य से प्रकाशित हो जाते हैं। इन्द्रियाँ विषय-बन्धन से मुक्त हो जाती हैं।

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वह्नि, ऋक्व, मितज्ञु'

स वह्निभिर्ऋक्वभिर्गोषु शश्वन्मितज्ञुभिः पुरुकृत्वा जिगाय।
पुरः पुरोहा सखिभिः सखीयन्दृळ्हा रुरोज कविभिः कविः सन्॥ ३ ॥

(१) **सः**=वे **पुरुकृत्वा**=सब पालक व पूरक कर्मों को करनेवाले प्रभु **वह्निभिः**=यज्ञ आदि कर्मों का वहन करनेवाले **ऋक्वभिः**=(ऋच स्तुतौ) स्तुति को करनेवाले **गोषु**=ज्ञान की वाणियों के निमित्त **मितज्ञुभिः**=संकुचित जानु होकर आचार्यों के समीप बैठनेवाले इन पुरुषों से **शश्वत्**=सदा **जिगाय**=काम-क्रोध-लोभ आदि आसुर भावनाओं को जीतते हैं। विजय सब प्रभु ही करते हैं, इन 'वह्नि, ऋक्व व मितज्ञु' पुरुषों को वे अपना निमित्त बनाते हैं। (२) वे **पुरोहा**=आसुर पुरियों का विध्वंस करनेवाले प्रभु **दृढाः पुरः**=दृढ़ भी असुर नगरियों को **रुरोज**=भग्न कर देते हैं। इस प्रकार वे प्रभु **सखिभिः**=सखा भूत जीवों के साथ **सखीयन्**=सखित्व का आचरण करते हैं और **कविभिः कविः सन्**=इन तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के साथ तत्त्वदर्शी होते हैं। वस्तुतः प्रभु ही इन सखाओं को तत्त्वद्रष्टा बनाते हैं।

भावार्थ—अध्यात्म संग्राम में विजयी बनने के लिये हम 'यज्ञादि कर्मों का वहन करनेवाले, स्तोता व ज्ञान की वाणियों के निमित्त आचार्यों के समीप संकुचित जानु होकर बैठनेवाले' बनें। प्रभु हमारे सब आसुरभावों को विनष्ट करेंगे।

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नीव्याभिः-पुरुवीराभिः

स नीव्याभिर्जरितारमच्छा महो वाजेभिर्महद्भिश्च शुष्मैः।
पुरुवीराभिर्वृषभ क्षितीनामा गिर्वणः सुविताय प्र याहि॥ ४ ॥

(१) हे प्रभो! **स**=वे आप **नीव्याभिः**=नीवि में उत्तम, मूलधन को प्राप्त कराने में उत्तम, वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त कराने में उत्तम, स्तुतियों से **जरितारम्**=स्तवन करनेवाले की **अच्छा**=ओर **प्रयाहि**=प्राप्त होइये। इस स्तोता की ओर **महो वाजेभिः**=महत्त्वपूर्ण शक्तियों के साथ **च**=तथा **महद्भिः शुष्मैः**=महान् शत्रुशोषक बलों के साथ प्राप्त होइये। (२) हे **वृषभ**=सब कल्याणों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **गिर्वणः**=स्तुति-वाणियाँ से सम्भजनीय प्रभो! **पुरुवीराभिः**=खूब ही शत्रुओं को कम्पित करनेवाली (वि+ईर) इन स्तुतियों के द्वारा **क्षितीनाम्**=इन मनुष्यों के **सुविताय**=शुभ मार्ग पर चलने के लिये (प्रयाहि=) प्राप्त होइये।

भावार्थ—स्तुति से 'महान् बल, शत्रुशोषक शक्ति व शुभ मार्ग पर चलने की वृत्ति' प्राप्त होती है। स्तुति नीव्या है, वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त कराने में उत्तम है तथा पुरुवीरा है, खूब ही शत्रुओं को कम्पित करनेवाली है।

ऋषिः—**सुहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्याग व बल से मोक्ष प्राप्ति

स सर्गेण शवसा तक्तो अत्यैरप इन्द्रो दक्षिणतस्तुराषाट्।
इत्था सृजाना अनपावृदर्थं दिवेदिवे विविषुरप्रमृष्यम्॥ ५ ॥

(१) **सः**=वह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सर्गेण**=(relinquishment) त्याग से व **शवसा**=बल

से **तक्ता**=संगत हुआ-हुआ **अत्यैः**=सततगमन कुशल इन्द्रियाश्वों से **अपः**=कर्मों को **दक्षिणतः**=सरलता व उदारता से करता हुआ **तुराषाट्**=हिंसक शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। (२) **इत्था**=इस प्रकार **सृजानाः**=(सृज to give up) त्याग करते हुए ये जितेन्द्रिय पुरुष **अनपावृत् अर्थम्**=जिससे इस मानव आवर्त में लौटना नहीं होता उस मोक्षरूप अर्थ को **दिवे-दिवे**=दिन प्रतिदिन **विविषुः**=प्रविष्ट होते जाते हैं। उस अर्थ को प्राप्त होते हैं जो **अप्रमृष्यम्**=किन्हीं भी लौकिक कामनाओं से क्षोम्य नहीं। अर्थात् जो पद 'शान्त प्रिय व सुन्दर ही सुन्दर' है।

भावार्थ—त्याग व बल से युक्त होकर, सतत क्रियाशील इन्द्रियाश्वों से उदारता व सरलता से कार्यों को करते हुए हम शत्रुओं का संहार करें। इस प्रकार त्यागवृत्ति से हम उस मोक्षलोक को प्राप्त करेंगे, जिससे इस मानव आवर्त में फिर लौटना नहीं होता।

इस प्रकार त्याग की भावनावाला यह व्यक्ति 'शुनहोत्र' है, 'शुनं सुखं जुहोति'=लोकहित के लिये अपने सुख को त्याग देता है। यह इन्द्र का आराधन करता हुआ कहता है कि—

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'ओजिष्ठ-मद-स्वभिष्टि-दास्वान्' सन्तान

य ओजिष्ठ इन्द्र तं सु नो दा मदो वृषन्त्स्वभिष्टिर्दास्वान्।
सौवश्व्यं यो वनवत्स्वश्वो वृत्रा समत्सु सासहदमित्रान्॥ १॥

(१) हे **वृषन्**=सब कामनाओं का वर्षण करनेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो सन्तान **ओजिष्ठः**=खूब ओजस्विता व बलवत्तम है, **मदः**=मादयिता—आनन्दित करनेवाला है, **स्वभिष्टिः**=शोभनाभ्येषण है—अच्छी प्रकार शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला है तथा **दास्वान्**=हवियों को देनेवाला है, **तम्**=उस पुत्र को **नः**=हमारे लिये **सु**=(सुष्ठु) अच्छी प्रकार **दाः**=दीजिये। (२) उस पुत्र को दीजिये जो **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होता हुआ **सौवश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियाश्व समूह को **वनवत्**=जीतता है (वन्=win) तथा **समत्सु**=संग्रामों में **अमित्रान्**=शत्रुभूत **वृत्रा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **सासहत्**=अतिशयेन अभिभूत करता है।

भावार्थ—हमारे सन्तान बलवान्, अपनी क्रियाओं से आनन्दित करनेवाले, शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले व दानशील हों। ये वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'विजय व शक्ति के प्रापक' प्रभु

त्वां हीन्द्रावसे विवाचो हवन्ते चर्षणयः शूरसातौ।
त्वं विप्रेभिर्वि पणीँरशायस्त्वोत इत्सनिता वाजमर्वा॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वां हि**=आपको ही **विवाचः चर्षणयः**=विविध स्तुति-वाणियोंवाले श्रमशील मनुष्य **अवसे**=रक्षण के लिये **शूरसातौ**=शूरों से सभजनीय संग्रामों में **हवन्ते**=पुकारते हैं। वस्तुतः संग्राम में आपने ही तो शत्रुओं का विद्रावण करना है। (२) **त्वम्**=आप **विप्रेभिः**=इन ज्ञानी पुरुषों के द्वारा **पणीन्**=वणिक् वृत्तिवाले कार्पण्य के भावों को **वि आशायः**=विशेषेण भूमि पर सुलानेवाले होते हैं, अर्थात् इन्हें नष्ट करते हैं। **त्वा ऊतः**=आप से रक्षित हुआ-हुआ **इत्**=ही यह **अर्वा**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला स्तोता **वाजं सनिता**=शक्ति को प्राप्त करता है। इस शक्ति के द्वारा ही वह शत्रुओं का शातन कर पाता है।

भावार्थ—संग्राम में विजय के लिये स्तोता लोग प्रभु को ही पुकारते हैं। प्रभु ही ज्ञानी पुरुषों से शत्रुओं का शातन कराता है और उन्हें शक्ति देता है।

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उभयविध शत्रु संहार

त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान्दासा वृत्राण्यार्या च शूर।
वधीर्वनेव सुधितेभिरत्कैरा पृत्सु दर्षि नृणां नृतम॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **तान्**=उन **उभयान्**=दोनों **अमित्रान्**=शत्रुओं को **वधीः**=नष्ट करते हैं। एक तो **दासा**=कर्मों का उपक्षय करनेवाले, यज्ञादि कर्मों में विघ्न डालनेवाले असुरों को **च**=तथा दूसरे **आर्या**=(ऋ गतौ) हमारे पर समन्तात् आक्रमण करनेवाले **वृत्राणि**=ज्ञान के आवरणभूत वासनारूप शत्रुओं को। (२) **इव**=जैसे **सुधितेभिः**=(शुधिति=an axe) कुल्हाड़ों से **वना**=वनों को काट डालते हैं इसी प्रकार, हे **नृणां नृतम्**=नेताओं में सर्वोत्तम नेतः प्रभो! आप **पृत्सु**=संग्रामों में **अत्कैः**=(अत्क=water आपः रेतो भूत्वा) रेतःकणों के द्वारा वृत्रों को **आदर्षि**=समन्तात् विदीर्ण करते हैं। शरीर में शक्तिकणों का रक्षण रोगों व वासनाओं को विनष्ट करके शारीरिक व मानस स्वास्थ्य का हेतु बनता है।

भावार्थ—प्रभु यज्ञों में विघ्नकारी बाह्य शत्रुओं को विनष्ट करते हैं और ज्ञान के आवरणभूत वासनारूप आन्तर शत्रुओं को भी शीर्ण करते हैं। कुल्हाड़े से जैसे वृक्षों को काटा जाता है, उसी प्रकार रेतःकणों के द्वारा प्रभु रोगों व वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विश्वायुः अविता

स त्वं न इन्द्राकवाभिरूती सखा विश्वायुरविता वृधे भूः।
स्वर्षाता यद्ध्वयामसि त्वा युध्यन्तो नेमधिता पृत्सु शूर॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **अकवाभिः ऊती**=(ऊतिभिः) अकुत्सित रक्षणों के द्वारा **अविता**=रक्षण करनेवाले **सखा**=मित्र हैं। आप **विश्वायुः**=सर्वतः गमनशील होते हुए हमारे **वृधे**=वर्धन के लिये **भूः**=होइये। (२) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **पृत्सु**=संग्रामों में **युध्यन्तः**=युद्ध करते हुए हम, **यत्**=क्योंकि **नेमधिता**=(जस्=आहं नेम इति अर्धे) अधूरेपन में ही स्थापित हैं, अधूरी शक्ति व ज्ञानवाले हैं, सो **स्वर्षाता**=प्रकाश की प्राप्ति के निमित्त **त्वा ह्वयामसि**=आपको पुकारते हैं। आप से ज्ञान को प्राप्त करके हम इन युद्धों में विजयी बन पायें।

भावार्थ—प्रभु ही उत्तम रक्षणों के द्वारा हमारे मित्र होते हैं। युद्ध करते हुए हम अपने अधूरेपन के कारण प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु ही हमें विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दिवि पार्ये शर्मन्' (स्याम)

नूनं न इन्द्रापराय च स्या भवा मृळीक उत नो अभिष्टौ।
इत्था गृणन्तो महिनस्य शर्मन्दिवि ष्याम पार्ये गोषतमाः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नूनम्**=निश्चय से आज आप **नः**=हमारे **स्याः**=होइये, **च**=और **अपराय**=अगले समय के लिये भी आप हमारे होइये। **उत**=और **नः**=हमारे **अभिष्टौ**=शत्रुओं पर आक्रमण के निमित्त **मृळीकः भव**=सुख को देनेवाले होइये। हम सदा आपके हों, और शत्रुओं को शीर्ण करके सुखी हो सकें। (२) **इत्था**=इस प्रकार **गृणन्तः**=स्तुति करते हुए हम **गोषतमाः**=अधिक से अधिक ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले होते हुए **महिनस्य**=महान् पूजनीय आपके **दिवि**=देदीप्यमान पाये दुःखों से पार ले जानेवाले **शर्मन्**=सुख में व शरण में **स्याम**=हों। (शर्मन्=protection house)।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के हों। प्रभु से सुख को प्राप्त करें। प्रभु की शरण देदीप्यमान व दुःखों से पार करनेवाली है।

अगले सूक्त में भी शुनहोत्र इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सं च त्वे जग्मुर्गिर इन्द्र पूर्वीर्वि च त्वद्यन्ति विभ्वो मनीषाः।
पुरा नूनं च स्तुतय ऋषीणां पस्पृध्र इन्द्रे अध्युक्थार्का॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **पूर्वीः गिरः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली ये ज्ञान की वाणियाँ सदा **त्वे च**=आप में ही **संजग्मुः**=संगत होती हैं। **च**=और **विभ्वः**=ये विस्तृत-व्यापक सब विषयों का व्यापन करनेवाली **मनीषाः**=मतियाँ-ज्ञान **त्वद् वियन्ति**=आप से ही बाहिर आते हैं। आप ही इनके स्रोत हैं। (२) **पुरा**=पहले **नूनं च**=और अब भी अर्थात् सदा **ऋषीणां स्तुतयः**=तत्त्वद्रष्टाओं से की जानेवाली स्तुतियाँ तथा **उक्थार्का**=(उक्थ अर्का) स्तुति के साधनभूत मन्त्र **इन्द्रे अधि**=उस प्रभु में ही **पस्पृध्रे**=स्पर्धावाले होते हैं। अर्थात् एक से एक आगे बढ़कर ये ऋषि उस प्रभु का स्तवन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ प्रभु में ही निहित हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से ही ये व्यापक ज्ञान की वाणियाँ उद्गत होते हैं। सब तत्त्वद्रष्टा लोग एक दूसरे से बढ़कर प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महे शवसे

पुरुहूतो यः पुरुगूर्त ऋभ्वाँ एकः पुरुप्रशस्तो अस्ति यज्ञैः।
रथो न महे शवसे युजानो३ऽस्माभिरिन्द्रो अनुमाद्यो भूत्॥ २॥

(१) **पुरुहूतः**=(पुरु हूतं यस्य) पालक व पूरक है पुकार जिसकी, **यः**=जो **पुरुगूर्तः**=पालक व पूरक उद्यमोंवाला है, जिसका बनाया एक-एक पदार्थ पालन व पूरण का साधन बनता है, **ऋभ्वा**=जो खूब ही दीप्त व महान् है, **एकः**=वह अद्वितीय प्रभु **यज्ञैः**=यज्ञों से **पुरु प्रशस्तः**=खूब स्तुत होता है, वस्तुतः यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का पूजन होता है। (२) **रथः न**=वे प्रभु इस जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये रथ के समान हैं। **युजानः**=योग द्वारा मेल किये जाते हुए वे प्रभु **महे शवसे**=महान् बल के लिये होते हैं। जो जितना प्रभु से अपना मेल कर पाता है, उतना ही शक्ति-सम्पन्न बनता है। सो वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अस्माभिः**=हमारे से **अनुमाद्यः भूत्**=स्तुति के योग्य हों।

भावार्थ—प्रभु का उपासन यज्ञों द्वारा होता है। उपासित प्रभु हमारे महान् बल के लिये होते हैं।

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अनन्त धनवाला-महान् दाता' प्रभु

न यं हिंसन्ति धीतयो न वाणीरिन्द्रं नक्षन्तीदभि वर्धयन्तीः।
यदि स्तोतारः शतं यत्सहस्रं गृणन्ति गिर्वणसं शं तदस्मै ॥ ३ ॥

(१) **यम्**=जिस प्रभु को **धीतयः न हिंसन्ति**=परिचरणात्मक कर्म पीड़ित नहीं करते, **वाणीः न**=स्तुति-वाणियाँ जिसे हिंसित (परेशान) नहीं करती। अपितु **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यवान् प्रभु को **वर्धयन्तीः इत्**=बढ़ाती हुई ही **अभिनक्षन्ति**=सर्वतः प्राप्त होती हैं, अर्थात् प्रभु उपासकों से उनकी याचनाओं के कारण परेशान नहीं हो जाते। वे प्रभु तो अनन्त धनवाले व महान् दाता हैं। 'उनके धन में कभी कमी आ जायेगी' ऐसी बात नहीं है। (२) **यदि**=यदि **स्तोतारः**=स्तोता लोग **शतम्**=सैंकड़ों **यत् सहस्रम्**=यदि वा हजारों भी **गिर्वणसम्**=स्तुति-वाणियों द्वारा संभजनीय उस प्रभु को **गृणन्ति**=स्तुत करते हैं, तो **तद् अस्मै शम्**=वह इस इन्द्र के लिये शान्ति का ही कारण होता है। प्रभु को सैंकड़ों व हजारों इन याचकों से अच्छा ही लगता है, वे कभी इनकी अधिकता से खीज नहीं उठते।

भावार्थ—प्रभु अनन्त धनवाले व महान् दाता हैं। जितने ही अधिक लोग प्रभु का परिचरण करते हैं प्रभु को उतना ही अच्छा लगता है और वे सबकी सत्य कामनाओं को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चन्द्रमा सूर्य में, मैं प्रभु में

अस्मा एतद्दिव्य१र्चेव मासा मिमिक्ष इन्द्रे न्ययामि सोमः।
जनं न धन्वन्नभि सं यदापः सत्रा वावृधुर्हवनानि यज्ञैः ॥ ४ ॥

(१) **इव**=जैसे **सोमः**=चन्द्रमा **मासा**=एक मास में **दिवि इन्द्रे**=इस चमकते हुए सूर्य में मिल जाता है, इसी प्रकार **अस्मै**=इस प्रभु के लिये **मिमिक्षः**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाला मैं **एतत्**=इस स्तोत्र को उच्चारित करता हूँ और **अर्चा**=उपासना के द्वारा **नि अयामि**=नम्रता से प्रभु के समीप प्राप्त होता हूँ। चन्द्रमा सूर्य में, मैं प्रभु में। (२) **न**=जैसे **धन्वन्**=मरुस्थल में **अभि संयत्**=अभिमुख प्राप्त होते हुए **आपः**=जल **जनम्**=मनुष्य को बढ़ाते हैं, इसी प्रकार **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों के साथ **हवनानि**=ये प्रभु की पुकारें, आराधनाएँ इस उपासक को **सत्रा वावृधुः**=सदा बढ़ानेवाली होती हैं।

भावार्थ—मैं पूजा के द्वारा प्रभु को इस प्रकार प्राप्त होऊँ जैसे कि चन्द्रमा सूर्य को प्राप्त होता है। मुझे यज्ञ व प्रभु की प्रार्थनाएँ इस प्रकार प्रीणित करें जैसे कि मरुस्थल में प्यासे को पानी।

ऋषिः—**शुनहोत्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'संग्राम में रक्षक व वर्धक' प्रभु

अस्मा एतन्मह्याङ्गूषमस्मा इन्द्राय स्तोत्रं मतिभिरवाचि।
असद्यथा महति वृत्रतूर्य इन्द्रो विश्वायुरविता वृधश्च ॥ ५ ॥

(१) **अस्मै**=इस प्रभु के लिये **एतत्**=यह **महि**=महनीय **आंगूषम्**=(आघोषा नि० ५।११)

उच्चैः=आह्वान किया जाता है। **अस्मै इन्द्राय**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **स्तोत्रम्**=स्तोत्र **मतिभिः**=मननपूर्वक स्तुति करनेवालों से **अवाचि**=उच्चारित होता है। (२) **यथा**=जिससे **महति वृत्रतूर्ये**=इस महान् संग्राम में **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु! **विश्वायुः**=सर्वत्रगन्ता होता हुआ **अविता**=हमारा रक्षण करनेवाला **च**=और **वृधः**=वृद्धि को करनेवाला **असत्**=हो।

भावार्थ—प्रभु के लिये हम ऊँचे से आह्वान व स्तोत्र को करनेवाले हों जिससे वे प्रभु संग्राम में हमारे रक्षक व वृद्धि करनेवाले हों।

प्रभु से रक्षित होनेवाला यह मनुष्य 'नर' बनता है, उन्नति-पथ पर अपने को प्राप्त करानेवाला। यह 'इन्द्र' का स्तवन करता है—

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**नरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वाजरत्नाः धियः

कदा भुवन्रथक्षयाणि ब्रह्म कदा स्तोत्रे सहस्रपोष्यं दाः।
कदा स्तोमं वासयोऽस्य राया कदा धियः करसि वाजरत्नाः ॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **कदा**=कब ब्रह्म (ब्रह्माणि)=मेरे से किये जानेवाले स्तोत्र **रथक्षयाणि**=शरीर-रथ में आपके निवास को करानेवाले **भुवन्**=होते हैं? (भू=निवासे)। **कदा**=कब **स्तोत्रे**=मुझ स्तोता के लिये **सहस्रपोष्यम्**=हजारों का पोषण करने के योग्य धन को **दाः**=आप देते हैं। (२) **कदा**=कब **अस्य**=इस उपासक के **स्तोमम्**=स्तवन को **राया**=धन से **वासयः**=आप बसाते हैं? कब मेरे स्तोत्र धनों से व्याप्त किये जाते हैं? **कदा**=कब आप **वाज रत्नाः**=शक्तियों के द्वारा रमणीय **धियः**=बुद्धियों को, ज्ञानों को आप **करसि**=करते हैं। कब आपकी कृपा से हम शक्तियों व बुद्धियों को प्राप्त कर पायेंगे।

भावार्थ—हम स्तोत्रों के द्वारा प्रभु को अपने शरीर-रथ पर आसीन करें। सहस्रापोष्य धन को प्राप्त हों। हमारा स्तवन आवश्यक धन से युक्त हो। हमें शक्ति के द्वारा रमणीय बनी हुई बुद्धि प्राप्त हो।

ऋषिः—**नरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वीरता व ज्ञान

कर्हि स्वित्तदिन्द्र यन्नृभिर्नॄन्वीरैर्वीरान्नीळयासे जयाजीन्।
त्रिधातु गा अधि जयासि गोष्विन्द्र द्युम्नं स्वर्वद्धेह्यस्मे॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तत् कर्हि स्वित्**=वह कब होगा कि **यत्**=जब **नृभिः नॄन्**=उन्नति-पथ पर चलनेवालों के साथ उन्नति-पथ पर चलनेवालों को तथा **वीरैः वीरान्**=शत्रु कम्पकों के साथ शत्रु कम्पकों को **नीडयासे**=आप हमारे घरों में स्थापित करते हो, आश्रय देते हो। अर्थात् वह समय कब होगा जब कि हमारे घरों में निरन्तर 'नर व वीर' ही पुरुषों का निवास होगा। और इन 'नर व वीर' पुरुषों के द्वारा आप हमारे लिये **आजीन् जय**=युद्धों को जीतिये। हम आपकी कृपा से संग्रामों में सदा विजयी बनें। (२) **त्रिधातु गाः अधिजयासि**=हमारे लिये आप 'ज्ञान, कर्म, उपासना' इन तीनों का धारण करनेवाली ज्ञान की वाणियों का विजय करें। हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **अस्मे**=हमारे लिये **गोषु**=इन ज्ञान की वाणियों में **स्वर्वत्**=सुखों के देनेवाले **द्युम्नम्**=ज्ञान धन को **धेहि**=धारण कीजिये।

भावार्थ—हे प्रभो! हमारे घरों में वीर पुरुष हों, वे सब ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले हों। काम, क्रोध, लोभ के साथ होनेवाले संग्राम में विजयी हों।

ऋषिः—**नरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बुद्धि व कर्मशील इन्द्रियाँ (धियः-नियुतः)

कर्हि स्वित्तदिन्द्र यज्जरित्रे विश्वप्सु ब्रह्म कृणवः शविष्ठ।
कदा धियो न नियुतो युवासे कदा गोमघा हवनानि गच्छाः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तत् कर्हिस्वित्**=वह कब होगा **यत्**=जब कि **जरित्रे**=स्तोता के लिये आप **विश्वप्सु**=अनेक रूपोंवाले (वहुविधरूपं) **ब्रह्म**=ज्ञान को **कृणवः**=करेंगे, अर्थात् आप कब मुझ स्तोता को यह वेद के द्वारा व्यापक ज्ञान प्राप्त करायेंगे? (२) हे **शविष्ठ**= अतिशयित शक्तिवाले प्रभो! **कदा**=कब आप हमारे साथ **धियः न**=बुद्धियों की तरह **नियुतः**= निश्चितरूप से कर्मों में प्रेरित होनेवाले इन्द्रियाश्वों को **युवासे**=जोड़ते हैं। कब आपकी कृपा से मुझे बुद्धियाँ व कर्मशील इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं? **कदा**=कब **गोमघा**=ज्ञानैश्वर्यों को प्राप्त करानेवाली **हवनानि**=हमारी इन पुकारों को **गच्छाः**=आप प्राप्त होंगे। अर्थात् कब मैं आपकी आराधना करनेवाला बनकर उत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्यों को प्राप्त करूँगा?

भावार्थ—हम स्तोता बनकर इस व्यापक ज्ञान को देनेवाले वेद को प्राप्त करें। हमारी बुद्धियाँ व इन्द्रियाँ उत्तम हों। हमारी आराधनाएँ हमें ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**नरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुरुचः

स गोमघा जरित्रे अश्वश्चन्द्रा वाजश्रवसो अधि धेहि पृक्षः।
पीपिहीषः सुदुघामिन्द्र धेनुं भरद्वाजेषु सुरुचो रुरुच्याः॥ ४॥

(१) हे प्रभो! **सः**=वे आप **जरित्रे**=स्तोता के लिये **पृक्षः**=उन अन्नों को **अधि धेहि**=आधिक्येन धारण करिये जो **गोमघाः**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों को देनेवाले हों (गावः ज्ञानेन्द्रिया, महतेर्दानकर्मणः) **अश्वश्चन्द्राः**=आह्लादमय कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले हों (अश्नुवते कर्मसु) उन इन्द्रियों को जो कर्मों में आह्लाद का अनुभव करती हैं। तथा उन अन्नों को प्राप्त कराइये जो कि **वाजश्रवसः**=शक्ति व ज्ञान का साधन बनते हैं। (२) हे प्रभो! **इषः पीपिहि**=हमारे हृदयों को अपनी प्रेरणाओं से आप्यायित करिये। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुदुघां धेनुम्**=सुख सन्दोह्य इस वेद धेनु को प्राप्त करिये। और **भरद्वाजेषु**=इन शक्ति का भरण करनेवाले पुरुषों में **सुरुचः रुरुच्याः**=उत्तम रुचियों को दीप्त करिये। शक्ति-सम्पन्न बनकर ये उत्तम रुचिवाले हों।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से उत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य व शक्ति को प्राप्त करें। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनें। वेद धेनु हमारे लिए सुख सन्दोह्य हो। हमारी रुचियाँ उत्तम हों।

ऋषिः—**नरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति-सम्पन्न व ज्ञानी

तमा नूनं वृजनमन्यथा चिच्छूरो यच्छक्र वि दुरो गृणीषे।
मा निररं शुक्रदुघस्य धेनोराङ्गिरसान्ब्रह्मणा विप्र जिन्व॥ ५॥

(१) हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **दुरः**=शत्रुओं को विदारण करनेवाले,

शूरः=शूर आप **यद् गृणीषे**=जब हमारे से स्तुत किये जाते हैं तो **तं वृजनम्**=उस बाधक शत्रु को **नूनम्**=निश्चय से अन्यथा **चित्**=और ही प्रकार से युक्त करिये, अर्थात् जीवित अवस्था के विपरीत मरणावस्था को प्राप्त कराइये। (२) मैं **शुक्रदुघस्य**=दीप्त ज्ञान का दोहन करनेवाली **धेनोः**=इस वेद धेनु से **मा निररम्**=बाहर न निकल जाऊँ। सदा वेद धेनु का दोहन करनेवाला बनूँ। हे **विप्र**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले प्रभो! **आंगिरसान्**=अंग-प्रत्यंग में रसमय शक्तिवाले हम लोगों को **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **जिन्व**=प्रीणित करिये। हमें शक्ति-सम्पन्न व ज्ञानी बनाइये।

अगले सूक्त में भी 'नर' ऋषि इन्द्र का आराधन करता है—

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**नरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'आनन्द-धन-बल-तेज'

स॒त्रा मदा॑स॒स्तव॑ वि॒श्वज॑न्याः स॒त्रा रायोऽध॒ ये पार्थि॑वासः।
स॒त्रा वाजा॑नामभवो विभ॒क्ता यद्दे॒वेषु॑ धा॒रय॑था असु॒र्य॑म्॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **तव**=आपके **मदासः**=सोम-रक्षण द्वारा प्राप्त कराये गये आनन्द **सत्रा**=सचमुच **विश्वजन्याः**=सब मनुष्यों के लिये हितकर होते हैं। **अध**=अब **ये**=जो आप से दिये गये **पार्थिवासः रायः**=पार्थिव धन है वे भी सब मनुष्यों के लिये हितकर होते हैं। (२) आप **सत्रा**=सचमुच **वाजानाम्**=शक्तियों के **विभक्ता**=हमारे लिये देनेवाले होते हैं। **यद्**=जो **देवेषु**=सब देवों में **असुर्यम्**=बल है, उसे **धारयथाः**=आप ही धारण करते हैं। सूर्यादि में आपका ही तेज हैं, तेजस्वी पुरुषों में भी आपका ही तेज है।

भावार्थ—प्रभु ही 'आनन्दों-धनों-शक्तियों व तेजों' को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**नरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्यूमगृभे-दुधि-अर्वः'

अनु॒ प्र ये॑जे॒ जन॒ ओजो॑ अस्य स॒त्रा द॑धिरे॒ अनु॑ वी॒र्या॑य।
स्यू॒म॒गृभे॒ दुध॒येऽर्व॑ते च॒ क्रतुं॑ वृञ्ज॒न्त्यपि॑ वृत्र॒हत्ये॑॥ २ ॥

(१) **जनः**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला मनुष्य **अस्य**=इस प्रभु के ही **ओजः**=शक्ति के **अनु**=अनुसार **प्रयेजे**=प्रकृष्ट यज्ञों को करनेवाला होता है। ये मनुष्य **वीर्याय**=वीरतापूर्ण कार्यों को करने के लिये **सत्रा**=सदा **अनुदधिरे**=आपका ही धारण करते हैं। (२) **अपि च**=और ये उपासक **स्यूमगृभे**=(स्यूमान् अविच्छेदेन वर्तमानान् गृह्णाति) अविच्छेदेन वर्तमान-निरन्तर आक्रमण करनेवाले, इन शत्रुओं का निग्रह करनेवाले, **दुधये**=इन शत्रुओं का हिंसन करनेवाले **च**=और **अर्वते**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले उस प्रभु के लिये **क्रतुम्**=परिचरणात्मक यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को **वृञ्जन्ति**=निष्पादित करते हैं। जिससे **वृत्रहत्ये**=ज्ञान की आवरणभूत इस वासना का विनाश कर सकें।

भावार्थ—प्रभु से ओज प्राप्त होता है, प्रभु हमें वीरता के कर्मों के लिये समर्थ करते हैं। वे प्रभु ही इन निरन्तर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का निग्रह करते हैं, इन्हें कम्पित करते हैं और इनको आक्रान्त करके समाप्त करते हैं।

ऋषिः—नरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'रक्षण, बल व इन्द्रियाश्वों' की प्राप्ति

तं स॒ध्रीची॑रू॒तयो॒ वृष्ण्या॑नि॒ पौंस्या॑नि नि॒युतः॑ सश्चु॒रिन्द्र॑म्।
स॒मु॒द्रं न सिन्ध॑व उ॒क्थशु॑ष्मा उरु॒व्यच॑सं॒ गिर॒ आ वि॑शन्ति॥ ३॥

(१) **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सध्रीचीः ऊतयः**=साथ-साथ गति करती हुई रक्षाएँ **सश्चुः**=सेवित करती हैं। अर्थात् प्रभु अपने उपासक को निरन्तर रक्षण प्राप्त कराते हैं। **वृष्ण्यानि पौंस्यानि**=शक्तिशाली बल उसका सेवन करते हैं और **नियुतः**=निश्चय से शरीर-रथ में युज्यमान इन्द्रियाश्व उसका सेवन करते हैं। अर्थात् प्रभु अपने उपासक को इन शक्तिशाली बलों व इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं। (२) उस **उरुव्यचसम्**=महान् विस्तारवाले, सर्वव्यापक प्रभु को **उक्थशुष्माः**=स्तोत्रों के बलवाले **गिरः**=ज्ञान वाणियों के द्वारा स्तवन करनेवाले लोग इस प्रकार **आविशन्ति**=प्रविष्ट होते हैं **न**=जैसे कि **सिन्धवः**=नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र में प्रविष्ट होती हैं।

भावार्थ—स्तोत्रों के बलवाले ज्ञानी उपासक को प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु उन्हें 'रक्षण, बल व उत्तम इन्द्रियाश्व' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—नरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'यज्ञों में विनियुक्त होनेवाले वसु के दाता' प्रभु

स रा॒यस्खामुप॑ सृजा गृणा॒नः पु॑रुश्च॒न्द्रस्य॒ त्वमि॑न्द्र॒ वस्वः॑।
पति॑र्बभू॒थास॑मो॒ जना॑ना॒मेको॒ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ राजा॑॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए **रायः खाम्**=धन की नदी को नदीधारा के समान प्रवाहित होनेवाले धन को **उपसृजा**=हमारे साथ संयुक्त करिये। उस धन की धारा को जो **पुरुश्चन्द्रस्य**=बहुतों का आह्लादक है, अर्थात् केवल अपने लिये विनियुक्त न होकर बहुतों के लिये प्रयुक्त होता है तथा **वस्वः**=उत्तम निवास का कारण बनता है। (२) हे प्रभो! आप **जनानाम्**=सब लोगों के **असमः पतिः**=अनुपम रक्षक **बभूथ**=हैं। **एकः**=आप अद्वितीय हैं। **विश्वस्य भुवनस्य राजा**=सम्पूर्ण संसार के शासक हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सम्पूर्ण संसार के शासक हैं। वे प्रभु हमें बहुतों के आह्लादक तथा निवास को उत्तम बनानेवाले धन को देते हैं।

ऋषिः—नरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शवस्-वयस्

स तु श्रु॑धि॒ श्रुत्या॒ यो दु॑वो॒युर्द्यौर्न भूमा॒भि रायो॑ अ॒र्यः।
असो॒ यथा॑ नः॒ शव॑सा चका॒नो यु॒गेयु॑गे॒ वय॑सा॒ चेकि॑तानः॥ ५॥

(१) **यः दुवोयुः**=जो हमें उपासनामय जीवनवाला बनाना चाहते हैं, **सः**=वे आप **तु**=निश्चय से **श्रुत्या**=श्रोतव्य स्तोत्रों को **श्रुधि**=सुनिये। **द्यौः न**=सूर्य के समान तेजस्वी आप **भूम**=बहुत **रायः अभि**=ऐश्वर्यों की ओर हमें ले चलनेवाले होइये। **अर्यः**=आप ही स्वामी हैं। **चकानः**=सूर्य के समान दीप्तिवाले व **चेकितानः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले आप **युगे युगे**=समय-समय पर अर्थात् सदा **यथा**=जैसे **शवसा**=बल के साथ उसी प्रकार (तथा) **वयसा**=उत्कृष्ट जीवन के साथ **नः असः**=हमारे पर कृपादृष्टिवाले होइये। हम आपकी कृपा से बल को व उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त

करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। प्रभु हमें ऐश्वर्य को, बल को व उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कराएँ।

अगले सूक्त में 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वर्वान् कीरि

अर्वाग्रथं विश्ववारं त उग्रेन्द्र युक्तासो हरयो वहन्तु।
कीरिश्चिद्धि त्वा हवते स्वर्वानृधीमहि सधमादस्ते अद्य॥ १॥

(१) हे **उग्र**=तेजस्विन् **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **युक्तासः**=शरीर-रथ में जुते हुए, अर्थात् अपना-अपना कार्य करनेवाले **हरयः**=इन्द्रियाश्व **ते**=आपके इस **विश्ववारम्**=सब वरणीय व श्रेष्ठ अंग-प्रत्यंगोंवाले **रथम्**=शरीर-रथ को **अर्वाक्** **वहन्तु**=अन्तर्मुख यात्रावाला करें। हमारा यह रथ बाहिर विषयों में ही न भटकता रहे। (२) **कीरिः**=यह विषयों को अपने से दूर विकीर्ण करनेवाला स्तोता **चित् हि**=निश्चय से **त्वा**=हे प्रभो! आपको **हवते**=पुकारता है। अतएव वह **स्वर्वान्**=प्रशस्त ज्ञान के प्रकाशवाला होता है। हे प्रभो! हम **अद्य**=आज **ते सधमादः**=आपके साथ आनन्दित होनेवाले, आपकी उपासना में आनन्द का अनुभव करनेवाले **ऋधीमहि**=समृद्धि को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम विषयों में न भटककर अन्तर्मुख यात्रावाले हों। प्रभु का आह्वान करें। प्रभु की उपासना में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमरक्षण से कर्मशक्ति व उल्लास की प्राप्ति

प्रो द्रोणे हरयः कर्माग्मन्पुनानास ऋज्यन्तो अभूवन्।
इन्द्रो नो अस्य पूर्व्यः पपीयाद् द्युक्षो मदस्य सोम्यस्य राजा॥ २॥

(१) **द्रोणे**=शरीररूप इस पात्र में **हरयः**=सोमकण **कर्म प्र अग्मन्**=कर्मों को प्रकर्षेण करनेवाले होते हैं। जितना-जितना सोम का रक्षण होता है, उतना-उतना यह सोम हमें क्रियाशील बनाता है। **पुनानासः**=पवित्र किये जाते हुए ये सोम **ऋज्यन्तः**=ऋजु, गमनवाले **अभूवन्**=होते हैं। शरीर में सरल गति से ऊर्ध्वगमनवाले होते हैं। (२) **इन्द्रः**=वह शत्रुओं का संहार करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **अस्य**=इस सोम का **पपीयात्**=पान करे। **पूर्व्यः**=सोम-रक्षण के द्वारा ये प्रभु हमारा पालन व पूरण उत्तमता से करते हैं। **द्युक्षः**=ज्ञान के प्रकाश में निवास करनेवाले वे प्रभु **सोम्यस्य मदस्य**=सोम सम्बन्धी इस उल्लास के **राजा**=स्वामी हैं। हमारे जीवन में सोमरक्षण के द्वारा वे उल्लास को दीप्त करते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम कर्म व उल्लास को पैदा करता है। ज्ञानदीप्त प्रभु के स्मरण से सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्राणसाधना द्वारा सोम का रक्षण

आसस्त्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः ।
अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत् ॥ ३ ॥

(१) **सुचक्रे**=शोभन चक्रोंवाले इस शरीर-रथ में **आसस्त्राणासः**=समन्तात् गति करते हुए **रथ्यासः अश्वाः**=रथवहन में उत्तम ये इन्द्रियाश्व **शवसानम्**=बल की तरह आचरण करते हुए, अर्थात् शक्ति के पुञ्ज **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु की **अच्छ**=ओर **वहेयुः**=हमें ले जाते हैं। (२) **ऋज्यन्तः**=ऋजुगमनवाले इन्द्रियाश्व **श्रवः अभि (वहेयुः)**=ज्ञान की ओर हमें ले चलें। ऐसा होने पर **नु**=अब **वायोः**=वायु के द्वारा, अर्थात् प्राणसाधना के द्वारा **अमृतम्**=मृत्यु से बचानेवाला यह सोम **नू चित्**=नहीं **विदस्येत्**=नष्ट हो।

भावार्थ—हम कर्मों में लगे रहकर कर्मों द्वारा प्रभु की उपासना करें। हमारी इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में लगी रहें। ऐसा होने पर प्राणसाधना में प्रवृत्त हुए-हुए हम सोम का रक्षण कर पायेंगे। यह सोम अमृत है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दानवृत्ति से 'पापनाश व ऐश्वर्य प्राप्ति'

वरिष्ठो अस्य दक्षिणामियर्तीन्द्रो मघोनां तुविकूर्मितमः ।
यया वज्रिवः परियास्यंहो मघा च धृष्णो दयसे वि सूरीन् ॥ ४ ॥

(१) **वरिष्ठः**=यह उरुतम-अत्यन्त विशाल **तुविकूर्मितमः**=महान् कर्मों को करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु! **अस्य**=इस उपासक के जीवन में **मघोनाम्**=यज्ञशील पुरुषों की **दक्षिणाम्**=दानवृत्ति को **इयर्ति**=प्रेरित करता है। प्रभु कृपा से हम यज्ञशील व दान की वृत्तिवाले बनते हैं। (२) हे **वज्रिवः**=वज्रवाले प्रभो! **यया**=जिस दानवृत्ति के द्वारा आप **अंहः परियासि**=पापों से हमें पार पहुँचाते हो। **च**=और **धृष्णो**=शत्रुओं के धर्षक प्रभो! इस दानवृत्ति के द्वारा ही **सूरीन्**=ज्ञानी पुरुषों को **मघा विदयसे**=सब ऐश्वर्यों को देते हैं। दानवृत्ति से पाप नष्ट होते हैं और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे में दानवृत्ति को प्रेरित करते हैं। दानवृत्ति हमें पापों से बचाती है और ऐश्वर्यों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वाजस्य स्थविरस्य दाता

इन्द्रो वाजस्य स्थविरस्य दातेन्द्रो गीर्भिर्वर्धतां वृद्धमहाः ।
इन्द्रो वृत्रं हनिष्ठो अस्तु सत्वा ता सूरिः पृणति तूतुजानः ॥ ५ ॥

(१) **इन्द्रः**=वह शत्रु-विद्रावक प्रभु **स्थविरस्य**=अत्यन्त वृद्ध (=बढ़े हुए) **वाजस्य दाता**=शक्ति के देनेवाले हैं **वृद्धमहाः**=वे प्रवृद्ध तेजवाले **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **गीर्भिः**=ज्ञानपूर्वक उच्चारित इन स्तुतिवाणियों से **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त हों। हमारे में प्रभु की भावना उत्तरोत्तर बढ़े। (२) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली, शत्रुविद्रावक प्रभु **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना को **हनिष्ठः अस्तु**=अधिक-से-अधिक समाप्त करनेवाले हों। **सत्वा**=शत्रुओं का विनाश करनेवाले

तूतुजानः=आसुरभावों को निरन्तर नष्ट करते हुए **सूरिः**=प्रेरक प्रभु **ता पृणति**=उन यज्ञों व ज्ञानों को हमारे लिये प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु शक्ति को देते हैं। वासना को विनष्ट करते हैं और हमारे अन्दर उत्तम कर्मों व ज्ञानों का पूरण करते हैं।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ध्यानशील व दानशील

अपा॑दि॒त उदु॑ नश्चि॒त्रत॑मो म॒हीं भ॑र्षद् द्यु॒मती॒मिन्द्र॑हूतिम्।
पन्य॑सीं धी॒तिं दैव्य॑स्य॒ याम॒ञ्जन॑स्य रा॒तिं व॑नते सु॒दानुः॑ ॥ १ ॥

(१) **चित्रतमः**=वह चायमीयतम-सर्वाधिक पूज्य अथवा आश्चर्यभूत प्रभु **नः**=हमें **इत्**=इधर से, अर्थात् इन काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं से **उत् उ**=निश्चयपूर्वक ही **अपात्**=रक्षित करें। वे प्रभु हमारे अन्दर **महीम्**=पूजा की भावना से युक्त **द्युमती**=ज्योतिर्मयी **इन्द्रहूतिम्**=प्रभु की पुकार को, प्रभु की आराधना को **भर्षद्**=धारण करें। वस्तुतः यह प्रभु की आराधना ही हमें काम-क्रोध आदि शत्रुओं से रक्षित करेगी। (२) **सुदानुः**=वे शोभन दानवाले व अच्छी प्रकार शत्रुओं को नष्ट करनेवाले प्रभु (दाप् लवने) **दैव्यस्य**=देववृत्तिवाले **जनस्य**=पुरुष के **यामन्**=जीवनमार्ग में **पन्यसीं धीतिम्**=स्तुत्य (प्रशंसनीय) ध्यान की वृत्ति को व **रातिम्**=दानशीलता को **वनते**=सम्भक्त करते हैं। अर्थात् इस दैव्यजन को प्रभु ध्यानशील व दानशील बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। वे हमारे में आराधना की वृत्ति को जगाते हैं। हमें ध्यानशील व दानशील बनाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तुति व प्रभु प्रियता

दू॒राच्चि॒दा व॑सतो अ॒स्य कर्णा॒ घोषा॒दिन्द्र॑स्य तन्यति ब्रुवा॒णः।
एयमे॑नं दे॒वहू॑तिर्ववृत्यान्म॒द्र्य१॒॑गिन्द्र॑मि॒यमृ॒च्यमा॑ना ॥ २ ॥

(१) **अस्य**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **कर्णा**=कान **दूरात् चित्**=दूर से दूर देश में भी **आवसतः**=सर्वत्र निवास करते हैं। प्रभु की श्रवणशक्ति सर्वत्र विद्यमान है। **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **घोषात्**=घोषणीय स्तोत्र के हेतु से **ब्रुवाणः**=स्तोत्रों का उच्चारण करता हुआ यह स्तोता **तन्यति**=स्तुति शब्दों का विस्तार करता है। 'प्रभु इसके इन स्तुति शब्दों को न सुनें' ऐसी बात नहीं है। (२) **इयम्**=यह **देवहूतिः**=उस देव की पुकार **एनम्**=इस प्रभु को **आववृत्यात्**=आवृत्त करे। हमारी ओर अभिमुख करनेवाली हो। **इयम्**=यह स्तुति **ऋच्यमाना**=स्वयं प्रेरित होती हुई **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **मद्र्यक्**=मदभिमुख करनेवाली हो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। स्तवन से पवित्र जीवनवाले होते हुए प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सब ज्ञानों व स्तोत्रों के आधार' प्रभु

तं वो॑ धि॒या प॑र॒मया॑ पुरा॒जाम॒जर॒मिन्द्र॑म॒भ्य॑नूष्य॒र्कैः।
ब्रह्मा॑ च॒ गिरो॑ दधि॒रे सम॑स्मिन्म॒हाँश्च॒ स्तोमो॒ अधि॑ वर्ध॒दिन्द्रे॑ ॥ ३ ॥

(१) **तम्**=उस **पुराजाम्**=सदा सृष्टि से पहले होनेवाले 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले **इन्द्रं वः (त्यः)**=तुझ परमैश्वर्यशाली प्रभु को **परमया धिया**=उत्कृष्ट बुद्धि के साथ, परतत्त्व का चिन्तन करनेवाली बुद्धि के साथ (परऽमीयते यथा) **अर्कैः**=स्तुति-साधन मन्त्रों के द्वारा **अभ्यनूषि**=मैं स्तुति करता हूँ। (२) **ब्रह्म च**=यह सम्पूर्ण वेदज्ञान **गिरः**=सब ज्ञान की वाणियाँ **अस्मिन्**=इस प्रभु में ही **संदधिरे**=धारण की जाती है। **च**=और **महान् स्तोमः**=यह महान् स्तुति समूह **इन्द्रे**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु में ही **अधिवर्धत्**=आधिक्येन वृद्धि को प्राप्त होता है। सम्पूर्ण ज्ञान व स्तुतियों का आधार प्रभु ही हैं।

भावार्थ—हम बुद्धिपूर्वक किये गये स्तोत्रों द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं। सब ज्ञानों व स्तोत्रों का आधार प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की प्राप्ति के साधन

वर्धाद्यं यज्ञ उत सोम इन्द्रं वर्धाद् ब्रह्म गिर उक्था च मन्म।
वर्धाहैनमुषसो यामन्नक्तोर्वर्धान्मासाः शरदो द्याव इन्द्रम्॥ ४॥

(१) **यम्**=जिस प्रभु को **यज्ञः वर्धात्**=यज्ञ बढ़ाता है, अर्थात् जब एक मनुष्य यज्ञशील बनता है तो उसके अन्दर प्रभु के प्रकाश की वृद्धि होती है। **उत**=और **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सोमः**=सोम **वर्धात्**=बढ़ाता है। सोमरक्षण से हम बुद्धि की तीव्रता के द्वारा प्रभु के समीप पहुँचते हैं। उस प्रभु को **ब्रह्म**=(ब्रह्म वेदस्तपः तत्त्वम्) तप बढ़ाता है, **गिरः**=ज्ञान की वाणियाँ बढ़ाती हैं, **च**=और **मन्म उक्था**=मननीय स्तोत्र बढ़ाते हैं। तप, ज्ञान व स्तवन के द्वारा हम प्रभु के उपासक बनते हैं। (२) **अक्तोः यामन्**=रात्रि के जाने पर **उषसः**=उषाएँ **अह**=निश्चय से **एनं वर्ध**=इस प्रभु को बढ़ाती हैं। **मासाः**=महीने **शरदः**=संवत्सर व **द्यावः**=दिन उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **वर्धान्**=बढ़ाते हैं। इन सब कालचक्रों में प्रभु की महिमा दिखती है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के लिये 'यज्ञ, सोमरक्षण, तप, ज्ञान की वाणियाँ व मननीय स्तोत्र' साधन बनते हैं। उषाएँ मास संवत्सर व दिन सभी प्रभु की महिमा का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सहसे-राधसे-श्रुताय-अवसे

एवा जज्ञानं सहसे असामि वावृधानं राधसे च श्रुताय।
महामुग्रमवसे विप्र नूनमा विवासेम वृत्रतूर्येषु॥ ५॥

(१) **एवा**=गतमन्त्र में वर्णित 'यज्ञ, सोमरक्षण, तप, ज्ञान व स्तवन' से **जज्ञानम्**=प्रादुर्भूत होते हुए आपको **वृत्रतूर्येषु**=वासनाओं के संहार रूप कार्यों के निमित्त **नूनम्**=निश्चय से **आविवासेम**=परिचरित करें। (२) हे **विप्र**=मेधाविन् प्रभो! **असामि वावृधानम्**=पूर्णरूप से वृद्धि को प्राप्त होते हुए, **महान्**=महान्, **उग्रम्**=तेजस्वी आपको **सहसे**=शत्रुओं के पराभव के लिये, **राधसे**=सब कार्यसाधक ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये **च**=और **श्रुताय**=ज्ञान के लिये तथा **अवसे**=रक्षण के लिये हम आपका पूजन करें।

भावार्थ—प्रभु का पूजन 'शत्रु मर्षण के लिये, ऐश्वर्य के लिये, ज्ञान के लिये व रक्षण के लिये' होता है।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण-ज्ञान व अन्तःप्रेरणा श्रवण

मन्द्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः।
अपा नस्तस्य सचनस्य देवेषो युवस्व गृणते गोअग्राः ॥ १ ॥

(१) हे **देव**=हमारे सब शत्रुओं को जीतने की कामना (विजिगीषा) वाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **तस्य**=उस **मध्वः**=सब भोजनों के सारभूत मधु, अर्थात् सोम (वीर्य शक्ति) का **अपः**=रक्षण करिये। जो **मन्द्रस्य**=मद व उल्लास का जनक है, **कवेः**=क्रान्तदर्शित्व को प्राप्त करानेवाला है, **दिव्यस्य**=दिव्यता को उत्पन्न करनेवाले है तथा **वह्नेः**=हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाला है। (२) हमारे उस सोम को आप रक्षित करिये, जो **विप्रमन्मनः**=(विप्राः मन्मनः स्तोतारो यस्य) ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित होता **वचनस्य**=स्तुति के योग्य है और **सचनस्य**=सेव्य है। इस सोमरक्षण के साथ **गृणते**=स्तुति करनेवाले मेरे लिये **गो अग्राः**=(गावो अग्रे यासां) ज्ञान की वाणियाँ जिनके अग्रभाग में हैं उन **इषः**=प्रेरणा को **युवस्व**=प्राप्त कराइये (संयोजय)। आपके अनुग्रह से मैं ज्ञान को प्राप्त करूँ और हृदयस्थ की प्रेरणाओं को सुनूँ।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से (क) मैं सोम का रक्षण कर पाऊँ, (ख) ज्ञान-वाणियों को अपनानेवाला बनूँ तथा (ग) अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनूँ।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'बल व पणियों' के साथ युद्ध

अयमुशानः पर्यद्रिमुस्रा ऋतधीतिभिर्ऋतयुग्युजानः।
रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुं पणींर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः ॥ २ ॥

(१) **अयं इन्द्रः**=ये परमैश्वर्यशाली प्रभु **अद्रिं परि**=अविद्या पर्वत का भाग बनी हुई (भागे) **उस्राः**=ज्ञानेन्द्रिय रूप गौवों को **उशानः**=हमारे लिये प्राप्त कराने की कामना करते हुए **धीतिभिः**=सत्यकर्मा उपासकों से **युजानः**=युक्त हुए-हुए **ऋतयुक्**=हमारे साथ ऋत को जोड़नेवाले **वलस्य**=ज्ञान पर परदा डाल देनेवाले वलासुर (काम-वासना) के **सानुम्**=समुच्छ्रित **अरुगणम्**=जिसका भंग बड़ा कठिन है उस अविद्या पर्वत को **विरुजत्**=भग्न करते हैं। अर्थात् प्रभु उपासकों के अज्ञान को नष्ट करके इन्द्रियों को अविद्याजनित वैषयिक बन्धनों से मुक्त करते हैं। (२) ये शत्रुविद्रावक प्रभु **पणीन्**=अविद्या की अनुचरभूत पूर्णरूप से व्यावहारिक (सांसारिक) वृत्तियों को, लोभ व कृपणता से धनार्जन की वृत्तियों को **वचोभिः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा **अभियोधत्**=पराभूत करते हैं। प्रभु कृपा से ज्ञान की वाणियाँ इस अध्यात्म युद्ध में कृपणता को परास्त करती हैं। हम उदारवृत्ति के बनकर धर्ममय जीवनवाले बन पाते हैं 'उदारं धर्ममित्याहुः'।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त कराके हमारी इन्द्रियों को विषय-बन्धनों से मुक्त करते हैं। हमारी वासना व कृपणता को दूर करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चन्द्रमा की गति से तिथि पक्ष आदि काल-विभाग

अयं द्योतयदद्युतो व्य१क्तून्दोषा वस्तोः शरद इन्दुरिन्द्र।
इमं केतुमदधुर्नू चिदह्नां शुचिजन्मन उषसश्चकार॥ ३॥

(१) **अयं इन्दुः**=यह चन्द्रमा, हे **इन्द्र**=प्रभो! आपसे नियम्यमान होता हुआ **अद्युतः**=न चमकनेवाली **अक्तून्**=रात्रियों को **वि द्योतयत्**=विशिष्टरूप से दीप्त करता है। इस अपने आगमन से **दोषा वस्तोः**=रात्रियों व दिनों को तथा **शरदः**=संवत्सरों को प्रकाशित करता है। (२) **नू चित्**=निश्चय से **इमम्**=इस चन्द्रमा को **अह्नाम्**=दिनों के **केतुम्**=प्रकाशक के रूप में **अदधुः**=स्थापित करते हैं। चन्द्र से ही प्रतिपदा द्वितीया आदि तिथियों का ज्ञान होता है। यह चन्द्र ही **उषसः**=उषाओं को **शुचि जन्मनः**=पवित्र प्रादुर्भाववाला **चकार**=करता है। इन उषाकालों में चन्द्र किरणों द्वारा वायुमण्डल में सोमशक्ति का (ओजोन गैस) का स्थापन होता है। सो इस समय की वायु जीवनी शक्ति का संचार करती प्रतीत होती है।

भावार्थ—चन्द्रमा रात्रियों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार दिन-रात व संवत्सर का मान होता है। चन्द्रमा दिनों का ज्ञापक बनता है। इसी से 'प्रतिपदा' आदि तिथियों का व्यवहार होता है। उषाओं को यही सोम शक्ति सम्पन्न व उज्ज्वल बनाता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'सूर्य द्वारा लोक प्रकाशक' प्रभु

अयं रोचयदरुचो रुचानो३यं वासयद् व्यृ१तेन पूर्वीः।
अयमीयत ऋतयुग्भिरश्वैः स्वर्विदा नाभिना चर्षणिप्राः॥ ४॥

(१) **अयम्**=ये प्रभु ही **रुचानः**=सूर्यात्मना दीप्त होते हुए **अरुचः**=अप्रकाशमान लोकों को **रोचयत्**=प्रकाशित करते हैं। **अयम्**=ये प्रभु ही **ऋतेन**=अपने गमनशील तेज से **पूर्वीः**=इन बहुत उषाकालों को **विवासयत्**=अपगत अन्धकारवाला करते हैं। (२) **अयम्**=ये प्रभु ही **ऋतयुग्भिः**=ऋत के साथ मेलवाले **अश्वैः**=इन्द्रियाश्वों से तथा **स्वर्विदा**=सुख को प्राप्त करानेवाले अथवा (सु+अर्) सुष्ठु अरणीय धन को प्राप्त करानेवाले **नाभिना**=(नह बन्धने) सुन्दर सब अंगोंवाले शरीर-रथ से **चर्षणिप्राः**=सब मनुष्यों का पूरण करनेवाले होते हुए **ईयते**=गति करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्योदय द्वारा सब लोकों को प्रकाशित करते हैं, प्रभु ही उषाकालों को अन्धकारशून्य करते हैं। ये प्रभु ही ऋत से मेलवाले, यज्ञ प्रवृत्त, इन्द्रियाश्वों को व सुदृढ़ शरीरों को प्राप्त कराके मनुष्यों का पूरण करते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'अपः, ओषधीः अविषा वनानि

नू गृणानो गृणते प्रत्न राजन्निषः पिन्व वसुदेयाय पूर्वीः।
अप ओषधीरविषा वनानि गा अर्वतो नॄनृचसे रिरीहि॥ ५॥

(१) हे **प्रत्न राजन्**=सनातन शासक प्रभो! **नु**=अब **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **वसुदेयाय**=वसु हैं दातव्य जिसके लिये उस **गृणते**=स्तोता के लिये **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **पिन्व**=प्राप्त कराइये (पिन्व=प्रापय द०)। आपकी प्रेरणाओं से

ही ठीक मार्ग पर चलता हुआ यह स्तोता सब वसुओं को प्राप्त करता है। (२) **ऋचसे**=इस स्तुति करनेवाले के लिये आप **अपः ओषधीः**=जलों व ओषधियों को, **अविषा वनानि**=सब विषों को दूर करनेवाले (अ+विषा) अथवा रक्षा करनेवाले (अव् रक्षणे) आम्र पनस आदि वृक्षसमूहों को, **गाः अर्वतः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को तथा **नॄन्**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले वीर सन्तानों को **रिरीहि**=दीजिये।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त कराये, जल, ओषधि, रक्षक फलों, उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों तथा उन्नतिशील सन्तानों को प्राप्त कराइये।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का आराधन करते हैं—

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीव का मौलिक कर्त्तव्य

इन्द्र पिब तुभ्यं सुतो मदायाव स्य हरी वि मुचा सखाया।
उत प्र गाय गण आ निषद्याथा यज्ञाय गृणते वयो धाः ॥ १ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **पिब**=तू इस सोम का पान कर। **तुभ्यम्**=तेरे लिये **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **मदाय**=हर्ष के लिये होता है। **हरी**=तू इन्द्रियाश्वों को **अव स्य**=विषय बन्धन से छुड़ा। **सखाया**=सखिभूत इन इन्द्रियाश्वों को **वि मुचा**=विशिष्ट प्रयत्न द्वारा वासना बन्धन से मुक्त कर। (२) **उत**=और **गणे**=समूह में **आ निषद्य**=स्थित होकर **प्रगाय**=प्रभु के गुणों का गान कर। सारे परिवारवाले इकट्ठे बैठकर प्रभु का गुणगान करें **अथा**=अब **यज्ञाय**=उपासनीय **गृणते**=वेदोपदेश देनेवाले उस प्रभु के लिये **वयः धाः**=जीवन को धारण कर। अर्थात् तेरा जीवन प्रभु के लिये अर्पित हो।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। इन्द्रियाश्वों को विषय-बन्धन से मुक्त करें। मिलकर प्रभु का गुणगान करें। जीवन को प्रभु के लिये अर्पित करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मदाय-क्रत्वे

अस्य पिब यस्य जज्ञान इन्द्र मदाय क्रत्वे अपिबो विरप्शिन्।
तमु ते गावो नर आपो अद्रिरिन्दुं समह्यन्पीतये समस्मै ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्य पिब**=इस सोम का पान (रक्षण) करिये। हे **विरप्शिन्**=महान् प्रभो! **यस्य**=जिस सोम का आप **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होते हुए ही **अपिबः**=पान करते हैं और **मदाय**=उल्लास के लिये तथा **क्रत्वे**=शक्ति व प्रज्ञान के लिये होते हैं। प्रभु का हृदयों में प्रकाश होते ही सोमरक्षण का सम्भव होता है यह सुरक्षित सोम 'उल्लास, शक्ति व प्रज्ञान' का साधन बनता है। (२) **तं इन्दुं उ**=उस सोम को निश्चय से **ते**=हे प्रभो! आपकी **गावः**=ये गौएँ-गोदुग्ध **नरः**=उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले मनुष्य, **आपः**=जल तथा **अद्रिः**=(adore) उपासना **अस्मै पीतये**=इस उपासक के रक्षण के लिये **संसं अह्यन्**=सम्यक् प्राप्त कराते हैं। गोदुग्ध से उत्पन्न सोम शरीर में संरक्षणीय होता है। उत्तम माता, पिता व आचार्यरूप नर इस सोमरक्षण वृत्ति का विकास करते हैं। जल तो शरीर में रेतःकणों के रूप में रहते ही हैं, इनके द्वारा अंगविशेषों का स्नान सोमरक्षण में बड़ा सहायक होता है। उपासना तो वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण करती ही

है।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान करते हुए हम वासनाओं से बचकर सोम का रक्षण करें। रक्षित सोम उल्लास शक्ति और प्रज्ञान को देनेवाला है। इस सोमरक्षण के लिये गोदुग्ध का प्रयोग, शीतल जलों से स्नान भी सहायक होता है। जीवन के आरम्भ में उत्तम माता, पिता व आचार्यों का मिलना भी अत्यन्त सहायक बनता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समिद्धे अग्नौ, सुते सोमे

समिद्धे अग्नौ सुत इन्द्र सोम आ त्वा वहन्तु हरयो वहिष्ठाः।
त्वायता मनसा जोहवीमीन्द्रा याहि सुविताय महे नः ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अग्नौ समिद्धे**=ज्ञानाग्नि के दीप्त होने पर तथा **सोमे सुते**=सोम का सम्पादन होने पर, हे प्रभो! **त्वा**=आपको **वहिष्ठाः**=वोढृतम-वहन करने में उत्तम **हरयः**=इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=हमारे लिये प्राप्त करानेवाले हों। अर्थात् इन्द्रियाँ हमें प्रभु को प्राप्त कराने में सहायक बनें। (२) हे **इन्द्र**=प्रभो! **त्वायता**=आपकी कामनावाले **मनसा**=मन से **जोहवीमि**=मैं आपको पुकारता हूँ। **आयाहि**=आप हमें प्राप्त होइये और **नः**=हमारे **महे सुविताय**=महान् कल्याण के लिये होइये।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) ज्ञानाग्नि को समिद्ध करें, (ख) सोम शक्ति का सम्पादन करें, (ग) मन में प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों। यह प्रभु प्राप्ति हमारे महान् कल्याण के लिये होगी।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु प्राप्ति के चार साधन

आ याहि शश्वदुशता ययाथेन्द्र महा मनसा सोमपेयम्।
उप ब्रह्माणि शृणव इमा नोऽथा ते यज्ञस्तन्वे३ वयो धात् ॥ ४ ॥

(१) जीव से प्रभु कहते हैं कि—हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **आयाहि**=हमारे समीप आ। **शश्वत्**=सदा **उशता**=चाहते हुए **महा मनसा**=बड़े दिल से **सोमपेयम्**=सोम के पान को **ययाथ**=प्राप्त हो। यह सोमपान (वीर्य-रक्षण) तुझे हमारे समीप लानेवाला हो। (२) **नः**=हमारी **इमा**=इन **ब्रह्माणि**=ज्ञान की वाणियों को **उपशृणवः**=आचार्यों के समीप बैठकर सुननेवाला हो। **अध**=अब **यज्ञः**=यह यज्ञ **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिये **वयोः**=उत्कृष्ट जीवन को **धात्**=धारण करे।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के साधन निम्न हैं—(क) प्रभु की ओर जाना, प्रभु की उपासना, (ख) सोम का पान करना, (ग) ज्ञान की वाणियों को सुनना, (घ) यज्ञशील बनना।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु द्वारा हमारे यज्ञों का रक्षण

यदिन्द्र दिवि पार्ये यदृधग्यद्वा स्वे सदने यत्र वासि।
अतो नो यज्ञमवसे नियुत्वान्त्सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=यदि आप **पार्ये दिवि**=बहुत सुदूर द्युलोक में हों, **यद्**=यदि इस द्युलोक से भिन्न किसी अन्य देश में हों, **यद्वा**=अथवा यदि **स्वे सदने**=अपने

गृह में आप हैं, **यत्र वा असि**=अथवा जहाँ कहीं भी हैं, **अतः**=उस स्थान से **नः यज्ञम्**=हमारे इस यज्ञ में **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाँ श्रेष्ठवाले होते हुए **अवसे**=रक्षण के लिये आइये। आप हमें प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराइये, जिससे हम यज्ञ आदि कर्मों को सम्यक् कर सकें। (२) हे **गिर्वणः**=ज्ञान-वाणियों द्वारा सेवनीय प्रभो! आप **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **सजोषाः**=प्रीयमाण होते हुए **पाहि**=हमारा रक्षण कीजिये। वस्तुतः प्राणों के द्वारा ही आप हमारा रक्षण करते हैं। यह प्राणशक्ति हमारा रक्षण करनेवाली हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रशस्त इन्द्रियों व प्राणशक्ति को प्राप्त कराते हैं। इनके द्वारा हम यज्ञों को कर पाते हैं।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का आराधन करते हैं—

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रथमः यज्ञियानाम्

अहेळमान उप याहि यज्ञं तुभ्यं पवन्त इन्दवः सुतासः।
गावो न वज्रिन्त्स्वमोको अच्छेन्द्रा गहि प्रथमो यज्ञियानाम्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अहेडमानः**=हमारे पर क्रोध न करते हुए आप **यज्ञं उपयाहि**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में प्राप्त होइये। हम आपके क्रोध के पात्र न बनें, आप से रक्षित हुए-हुए जीवनयज्ञ को सफल बना पायें। हे प्रभो! **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये **इन्दवः**=सोमकण **तुभ्यं पवन्ते**=आपकी प्राप्ति के लिये शुद्ध किये जाते हैं। सोमकणों को शुद्ध रखकर हम बुद्धि की दीप्ति के द्वारा प्रभु का दर्शन करते हैं। (२) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **गावः न**=जैसे गौवें गोष्ठ में अपने-अपने स्थान पर आती हैं, इसी प्रकार आप **स्वं ओकः**=इस हृदयरूप अपने घर की **अच्छ**=ओर **आगहि**=आइये। आप **यज्ञियानां प्रथमः**=उपास्यों में मुख्य हैं। आपको अपने हृदयासन पर बिठाकर मैं आपकी उपासना करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु हमें जीवन-यज्ञ में प्राप्त हों। प्रभु कृपा से ही ये यज्ञ पूर्ण होते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिये हम सोम-शक्ति को वासनाओं से मलिन नहीं होने देते। हमारा हृदय प्रभु का घर बने। वहाँ प्रभु को आराधन करके हम उसकी उपासना करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सुकृता-वरिष्ठा' काकुत्

या ते काकुत्सुकृता या वरिष्ठा यया शश्वत्पिबसि मध्व ऊर्मिम्।
तया पाहि प्र ते अध्वर्युरस्थात्सं ते वज्रो वर्ततामिन्द्र गव्युः॥ २॥

(१) हे प्रभो! **या**=जो **ते**=आपकी, आप से दी गयी, यह **काकुत्**=जिह्वा **सुकृता**= सम्यक् परिष्कृत है, **या**=जो **वरिष्ठा**=उरुतम है, विशाल है, **यया**=जिसके द्वारा **शश्वत्**=सदा **मध्वः ऊर्मिम्**=मधुर ज्ञान की **ऊर्मिम्**=ऊर्मि को, लहर को **पिबसि**=हमारे शरीर के अन्दर पान करते हैं **तया पाहि**=उसके द्वारा हमें रक्षित करिये। जब मनुष्य इस जिह्वा से ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करता है और अपने ज्ञान को विशाल बनाता है तो उस समय यह ज्ञान प्राप्ति में लगी हुई जिह्वा सोमरक्षण का साधन बनती है। यह सोमरक्षण हमारे 'शरीर मानस व बौद्ध' स्वास्थ्य का साधन बनता है। (२) **ते**=यह आपसे रक्षित **अध्वर्युः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रणेता पुरुष

प्र अस्थात्=जीवनयात्रा में आगे और आगे बढ़ता है। हे **इन्द्र**=प्रभो! **ते**=आपका **वज्रः**=वज्र, यह क्रियाशीलता रूप आज हमारे लिये **गव्युः**=प्रशस्त इन्द्रियों को हमारे साथ जोड़नेवाला **संवर्ततान्**=हो। अर्थात् आपकी प्रेरणा से यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित हुए-हुए हम सदा अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त रख पायें, हमारी ये इन्द्रियाँ वासनाओं से मलिन न हों।

भावार्थ—प्रभु से दी गई ये वाणी (जिह्वा) ज्ञान प्राप्ति में लगी रहकर सोमरक्षण का साधन बने। सुरक्षित सोमवाला यह पुरुष यज्ञशील बने। यज्ञशीलता इसकी इन्द्रियों को विषयाक्रान्त होने से बचाये।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'द्रप्सः वृषभः विश्वरूपः' सोम

एष द्रप्सो वृषभो विश्वरूप इन्द्राय वृष्णे समकारि सोमः।
एतं पिब हरिवः स्थातरुग्र यस्येशिषे प्रदिवि यस्ते अन्नम्॥ ३॥

(१) **एषः**=यह **सोमः**=सोम **द्रप्सः**=(दर्पति दीप्ति कर्मा) ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला है। **वृषभः**=सुखों का वर्षण करनेवाला है। **विश्वरूपः**=सब अंग-प्रत्यंगों को उत्तम रूप देनेवाला है। यह **वृष्णे**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **समकारि**=किया गया है। इसके रक्षण के द्वारा ही हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। (२) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले, **स्थातः**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले **उग्र**=तेजस्विन् उपासक! **एतं पिब**=इसका तू पान कर। प्रकृष्ट ज्ञान के होने पर **यस्य ईशिषे**=जिसका तू ईश बनता है और **यः**=जो **ते अन्नम्**=अन्न बनता है। सोम का भक्षण ही इसे पूर्ण स्वस्थ बनाता हुआ अध्यात्म उन्नति के शिखर पर पहुँचनेवाला होता है। ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना, वासनाओं के अनाक्रमण के द्वारा, सोम-रक्षण का पात्र बन जाता है।

भावार्थ—यह सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला, सुखों का वर्षक, अंग-प्रत्यंग को उत्तम रूप प्राप्त करानेवाला है। इसके रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम जितेन्द्रिय बनें व अतिरिक्त समय को ज्ञान प्राप्ति में ही व्यतीत करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चिकितुषे रणाय

सुतः सोमो असुतादिन्द्र वस्यानयं श्रेयाञ्चिकितुषे रणाय।
एतं तितिर्व उप याहि यज्ञं तेन विश्वास्तविषीरा पृणस्व॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **असुतात्**=न उत्पन्न हुए-हुए सोम से **सुतः सोमः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **वस्यान्**=वसुमत्तर, प्रशस्यतर होता है। उत्पन्न होकर रक्षित हुआ-हुआ **अयम्**=यह सोम **चिकितुषे**=ज्ञानी के लिये तथा **रणाय**=(रण शब्दे) प्रभु के स्तोता के लिये **श्रेयान्**=कल्याणकर होता है। यह ज्ञानी स्तोता सोम का रक्षण कर पाता है और इस प्रकार रक्षित सोम के द्वारा अपना रक्षण करनेवाला होता है। (२) हे **तितिः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को तैरनेवाले **एतं यज्ञम्**=इस संगतिकरण योग्य सोम को **उपयाहि**=तू समीपता से प्राप्त हो। और **तेन**=उस सोम के द्वारा **विश्वाः तविषीः**=सब बलों को **आपृणस्व**=अपने अन्दर आपूरित कर। सोम ही सब शक्तियों का मूल है।

भावार्थ—अनुत्पन्न सोम से उत्पन्न सोम श्रेष्ठ है। ज्ञानी स्तोता इसका रक्षण करता है और इसके

द्वारा सब बलों को अपने में धारण करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोम द्वारा शक्तियों का विस्तार

ह्वयामसि त्वेन्द्र याह्यर्वाङरं ते सोमस्तन्वे भवाति।
शतक्रतो मादयस्वा सुतेषु प्रास्माँ अव पृतनासु प्र विक्षु॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वा ह्वयामसि**=हम आपको पुकारते हैं। **अर्वाङ् याहि**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइये। **ते सोमः**=आपका यह सोम (वीर्यशक्ति) **तन्वे**=शक्तियों के विस्तार के लिये **भवाति**=होता है। (२) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! आप **सुतेषु**=इन सोमों के उत्पन्न होने पर **मादयस्व**=हमारे जीवनों को उल्लासमय करिये। आप **पृतनासु**=संग्रामों में **अस्मान्**=हमें **प्र अवि**=प्रकर्षेण रक्षित करिये। **विक्षु**=सब प्रजाओं में हमारा अवश्य **प्र (अव)**=रक्षण करिये।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें। रक्षित सोम हमारी शक्तियों का विस्तार करे। उत्पन्न सोम हमारे उल्लास का कारण बने। हमें वासनाओं व रोगों से रक्षित करें।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का आराधन करते हैं—

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

गतिशीलता व सोमरक्षण

प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर। अरंगमाय जग्मयेऽपश्चादघ्वने नरे॥ १॥

(१) हे प्रभो! **अस्मै**=इस उपासक के लिये **प्रतिभर**=अंग-प्रत्यंग में सोम का भरण करिये। जो उपासक **पिपीषते**=सोम का पान करना चाहता है तथा **विश्वानि विदुषे**=सब वेद्य वस्तुओं को जानने के लिये यत्नशील होता है। इसके लिये सोम का भरण करिये। (२) उस उपासक के लिये सोम का रक्षण करिये जो **अरङ्गमाय**=खूब क्रियाशील है, **जग्मये**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में जाने के स्वभाववाला है, **अपश्चादघ्वने**=कभी पीछे गतिवाले न होकर सदा अग्रगतिवाला है तथा **नरे**=अपने को सदा उन्नतिपथ पर ले चलनेवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये सर्वोत्तम साधन सदा उत्तम कर्मों में लगे रहना ही है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सोमरक्षण व प्रभु प्राप्ति

एमेनं प्रत्येतन सोमेभिः सोमपातमम्। अमत्रेभिर्ऋजीषिणमिन्द्रं सुतेभिरिन्दुभिः॥ २॥

(१) **सोमपातमम्**=हमारे सोमों का अतिशयेन रक्षण करनेवाले **एनम्**=इस प्रभु को **ईन्**=निश्चय से **सोमेभिः**=इन सोमों के द्वारा **आ प्रत्येतन**=आभिमुख्येन जानेवाले बनो। सोमरक्षण से ही, बुद्धि की तीव्रता होकर, प्रभु का दर्शन होता है। प्रभु की उपासना ही सोमरक्षण का साधन बनती है। (२) उस प्रभु की ओर चलो जो **अमत्रेभिः**=बलों के साथ (अमत्र=strength) **ऋजीषिणम्**=ऋजुता की प्रेरणा देनेवाले हैं। इस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सुतेभिः**=उत्पन्न **इन्दुभिः**=सोमों के द्वारा प्राप्त होनेवाले होवो। सुरक्षित सोम ही प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना सोमरक्षण का साधन बनती है। सुरक्षित सोम प्रभु प्राप्ति कराने

में सहायक होता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सोमेभिः प्रतिभूषथ

यदीं सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिः प्रतिभूषथ। वेदा विश्वस्य मेधिरो धृषत्तंतमिदेषते ॥ ३ ॥

(१) **यदि**=यदि **सुतेभिः**=उत्पन्न हुए-हुए **इन्दुभिः**=अपने को शक्तिशाली बनानेवाले **सोमेभिः**=सोमकणों के द्वारा, सोमकणों के रक्षण के द्वारा **प्रतिभूषथ**=उस प्रभु को प्राप्त करते हो (भू प्राप्तौ), तो वह उपासक उत्तम बुद्धि को प्राप्त करनेवाला होता हुआ **विश्वस्य वेद**=सब ज्ञानों को प्राप्त करता है। सोमरक्षण ज्ञानाग्नि की दीप्ति होती है और मनुष्य का झुकाव प्रकृति की ओर न होकर प्रभु की ओर होता है। मनुष्य सब **धृषत्**=शत्रुओं का धर्षण करता हुआ **तं तं इत्**=उस-उस कामना को **आ ईषते**=सब प्रकार प्राप्त करता है (to collect)। वासनाओं को विनाश से सब कामनाओं की पूर्ति हो जाती है।

भावार्थ—अपने जीवनों को सोमरक्षण के द्वारा प्रभु की ओर गतिवाला करें। इसी मार्ग में बुद्धि है, वासनाओं का क्षय है और सब कामनाओं की पूर्ति है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शत्रु हिंसन से रक्षण

अस्माअस्मा इदन्धसोऽध्वर्यो प्र भरा सुतम्।
कुवित्समस्य जेन्यस्य शर्धतोऽभिशस्तेरवस्परत् ॥ ४ ॥

(१) हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील पुरुष, अध्वरों में अपने को जोड़नेवाले पुरुष **अस्मै अस्मै इत्**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिये और इस प्रभु की प्राप्ति के लिये ही **अन्धसः**=सोमरूप अन्न के **सुतम्**=उत्पादन को **प्रभर**=अपने अन्दर धारण कर। यह सुरक्षित सोम ही तुझे प्रभु को प्राप्त करायेगा। (२) ये प्रभु ही तुझे **समस्य**=सब **जेन्यस्य**=जीतने योग्य **शर्धतः**=उत्सहमान आक्रामण करते हुए शत्रु के **अभिशस्तेः**=हिंसनों से **कुवित्**=खूब ही **अवस्परत्**=पालित करेंगे, बचाएँगे। प्रभु ही वस्तुतः उपासक को काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के आक्रमण से बचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये हम शरीर में सोमरूप अन्न का सम्पादन करें। ये प्रभु हमें शत्रुओं के हिंसनों से बचायेंगे।

अगले सूक्त में भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

शम्बर-रन्धन

यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयः। अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यस्य मदे**=जिस सोम के रक्षण से उत्पन्न उल्लास में तू **दिवोदासाय**=ज्ञान के देनेवाले उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **त्यत्**=उस **शम्बरम्**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाले ईर्ष्या नामक आसुर भाव को **रन्धयः**=विनष्ट करता है। **अयं सः सोमः**=यह वह सोम **ते सुतः**=तेरे लिये उत्पन्न किया गया है। (२) **पिब**=इस सोम का तू पान कर। इसके रक्षण से ही तू ईर्ष्या आदि आसुरभावों से ऊपर उठकर शान्त जीवनवाला बन सकेगा। यह शान्त जीवन

ही तेरे लिये प्रभु को प्राप्त करानेवाला होगा।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम ईर्ष्या का विनाश करें। ईर्ष्या विनाश शान्ति का साधन बनेगा। सोम रक्षण प्रभु को प्राप्त करानेवाला होगा।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

तीनों सवनों में सोमरक्षण

यस्य॑ ती॒व्रसु॑तं॒ मदं॒ मध्य॒मन्तं॑ च॒ रक्ष॑से। अ॒यं स सोम॑ इन्द्र ते सु॒तः पिब॑ ॥ २ ॥

(१) जीवन का प्रातः सवन प्रथम २४ वर्ष का है। इस सवन में सोम का सवन, वीर्यशक्ति का उत्पादन उत्कृष्ट रूप में होता है। उतना प्रबल उत्पादन जीवन के माध्यन्दिन सवन में नहीं रहता। और जीवन के तृतीय सवन में, ६९ से ११६ तक यह उत्पादन अत्यन्त शान्त-सा हो जाता है। तीनों ही सवनों में सोम अभिप्रेत है। सो कहते हैं कि **यस्य**=जिस सोम के **तीव्रसुतम्**=प्रातः सवन में होनेवाले तीव्र उत्पादनवाले **मदम्**=उल्लास को **रक्षसे**=तू रक्षित करता है, **च**=और **मध्यम्**=माध्यन्दिन सवन में होनेवाले **अन्तम्**=सायन्तन सवन में होनेवाले मद को रक्षित करता है। **अयं सः सोमः**=यह वह सोम, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते सुतः**=तेरे लिये उत्पन्न किया गया है। (२) **पिब**=इस सोम को तू अपने अन्दर ही पीनेवाला बन। यही सुरक्षित हुआ-हुआ तुझे दीर्घजीवन प्राप्त करायेगा।

भावार्थ—जीवन के प्रातः, मध्याह्न व तृतीय में इस सोम का रक्षण सदा अभिप्रेत है। यह सुरक्षित सोम ही दीर्घजीवन का साधन बनता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अविद्या पर्वत विदारण

यस्य॒ गा अ॒न्तरश्म॑नो॒ मदे॑ दृ॒ळ्हा अ॒वासृ॑जः। अ॒यं स सोम॑ इन्द्र ते सु॒तः पिब॑ ॥ ३ ॥

(१) वासनारूप शत्रु इन्द्रिय रूप गौवों को दृढ़ता से अविद्या पर्वत में ढक कर स्थापित करता है। सोमरक्षण से ज्ञानदीप्ति होकर इन इन्द्रियों की इस अविद्या पर्वत से मुक्ति होती है। सो कहते हैं कि **यस्य मदे**=जिस सोम के रक्षण से जनित उल्लास में **अश्मनः अन्तः**=अविद्या पर्वत के अन्दर **दृढाः**=दृढ़ता से स्थापित **गाः**=इन्द्रियरूप गौवों को **अवासृजः**=तू मुक्त करता है। **अयं सः सोमः**=यह सोम, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते सुतः**=तेरे लिये उत्पन्न किया गया है। (२) **पिब**=तू इसका पान कर। इसके पान से अपने ज्ञान को तू उज्ज्वल बना। इस ज्ञान की अग्नि से ही अविद्यापर्वत में निरुद्ध गौवों की इस अविद्या से मुक्ति होगी।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम ज्ञानाग्नि को दीप्त करके अविद्यान्धकार को नष्ट करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

माघोनं शवः

यस्य॑ म॒न्दा॒नो अन्ध॑सो॒ माघो॑नं द॒धिषे शव॑ः। अ॒यं स सोम॑ इन्द्र ते सु॒तः पिब॑ ॥ ४ ॥

(१) **यस्य अन्धसः**=जिस सोमरक्षण अन्न के रक्षण से **मन्दानः**=हर्ष का अनुभव करता हुआ तू **माघोनः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु सम्बन्धी **शवः**=बल को **दधिषे**=धारण करता है। **अयं सः सोमः**=यह वह सोम **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते सुतः**=तेरे लिये उत्पन्न किया या है। (२) **पिब**=इस सोम का तू पान कर जिससे तुझे प्रभु की तेजस्विता प्राप्त होगी।

भावार्थ—सोमरक्षण से यह उपासक प्रभु के बल धारण करनेवाला बनता है।

यह सोमरक्षक पुरुष 'शंयु' बनता है शरीर में नीरोग मन में निर्भीक यह इन्द्र का स्तवन करता हुआ कहता है—

चतुर्थोऽनुवाकः

[४४] चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

रयिन्तमः-द्युम्नवत्तमः

यो रयिवो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः । सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥ १ ॥

(१) हे **रयिवः**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः ते सुतः सोमः**=जो आपके द्वारा उत्पन्न किया गया यह सोम है **सः**=वह **रयिन्तमः**=सर्वोत्कृष्ट रयि है, प्रमुख धन है। **यः**=जो सोम है वह **द्युम्नैः द्युम्नवत्तमः**=ज्ञानों से अतिशयेन ज्ञानज्योतिवाला है। यह सोम वास्तविक धन है और ज्ञान को प्राप्त करानेवाला है। (२) हे **इन्द्र**=शक्तिशालि प्रभो! हे **स्वधापते**=आत्मधारण-शक्ति के स्वामिन्! यह आपका सोम **मदः अस्ति**=उल्लास का जनक है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ही उत्कृष्ट धन है, यही ज्ञान-ज्योति को जगानेवाला है, उल्लास का जनक है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

शग्मः, रायः मतीनां दामा

यः शग्मस्तुविशग्म ते रायो दामा मतीनाम् ।
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥ २ ॥

(१) हे **तुविशग्म**=महान् सुखवाले प्रभो! **ते**=आपका **सुतः स सोमः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **शग्मः**=सुखों को देनेवाला है। **सः**=वह **ते**=आपका सोम **रायः**=ऐश्वर्य का व **मतीनाम्**=बुद्धियों का **दामा**=दाता है। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **स्वधापते**=हे आत्मधारणशक्ति के स्वामिन्! यह आपका **सोमः**=सोम **मदः**=उल्लास का जनक **अस्ति**=है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सुख का जनक है, बुद्धियों का वर्धक है, उल्लास का जनक है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शवसा वृद्धः, तुरः

येन वृद्धो न शवसा तुरो न स्वाभिरूतिभिः ।
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥ ३ ॥

(१) **येन**=जिस अपने अन्दर पीये हुए सोम से **शवसा वृद्धः न**=बल के दृष्टिकोण से बढ़े हुए के समान तथा **स्वाभिः ऊतिभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा **तुरः न**=शत्रुहिंसक के समान होता है। अर्थात् इस सोमरक्षण से शक्ति का वर्धन होता है तथा अपना रक्षण करते हुए हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हिंसन कर पाते हैं। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **स्वधापते**=आत्मधारण शक्ति के स्वामिन् प्रभो! **सोम सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **ते सोमः**=आपका यह सोम **मदः अस्ति**=उल्लास का जनक है।

भावार्थ—इस सोमरक्षण से बल की वृद्धि होती है और हम अपना रक्षण करते हुए काम-क्रोध आदि का नाश कर पाते हैं। इस प्रकार यह सोम उल्लास का जनक होता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शवसस्पति-विश्वचर्षणि

त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम्। इन्द्रं विश्वासाहं नरं मंहिष्ठं विश्वचर्षणिम्॥ ४॥

(१) **वः**=तुम सबके **अप्रहणम्**=अप्रहन्ता, न नष्ट करनेवाले **त्यम्**=उस प्रभु का **उ**=निश्चय से **गृणीषे**=स्तुति करता हूँ। मैं प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता हूँ। वे प्रभु **शवसस्पतिम्**=बल के स्वामी हैं। मुझे बल देकर इस योग्य बनाते हैं कि मैं अपना रक्षण कर सकूँ। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ जो **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। **विश्वासाहम्**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। **नरम्**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हैं। **मंहिष्ठम्**=दातृतम हैं, सब आवश्यक वस्तुओं (वसुओं) के देनेवाले हैं और **विश्चर्षणिम्**=सब के द्रष्टा हैं, सबका पालन करनेवाले हैं (one who looks after)।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमें शक्ति देकर शत्रु-शातन के आरक्षण के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

राधस्+शुष्म

यं वर्धयन्तीद्गिरः पतिं तुरस्य राधसः। तमिन्न्वस्य रोदसी देवी शुष्मं सपर्यतः॥ ५॥

(१) **गिरः**=स्तुति-वाणियाँ **तुरस्य**=शत्रुओं के हिंसक **राधसः**=ऐश्वर्य के **पतिम्**=स्वामी **यम्**=उस प्रभु को **इत्**=ही **वर्धयन्ति**=बढ़ाती हैं। प्रभु से दिया गया ऐश्वर्य हमें काम-क्रोध-लोभ का शिकार नहीं होने देता। (२) **नु**=अब **इत्**=निश्चय से **देवी रोदसी**=ये प्रकाशमय व दिव्यगुणोंवाले द्यावापृथिवी **अस्य**=इस प्रभु के **तं शुष्मम्**=उस शत्रु-शोषक बल का **सपर्यतः**=पूजन करते हैं। द्यावापृथिवी अर्थात् इन में रहनेवाले व्यक्ति आपकी उपासना से शत्रु-शोषक बल को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से वह धन प्राप्त होता है जो हमें वासनाओं में नहीं फँसाता और यह उपासना हमें शत्रु-शोषक बल प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आसुरीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु का ही स्तवन

तद्व उक्थस्य बर्हणेन्द्रायोपस्तृणीषणि। विपो न यस्योतयो वि यद्रोहन्ति सक्षितः॥ ६॥

(१) **वः**=तुम्हारे **उक्थस्य**=स्तोत्र का **तद् बर्हणा**=वह माहात्म्य है कि **इन्द्राय**=उस शत्रु शातक प्रभु के लिये **उपस्तृणीषणि**=उपस्तरणीय होता है, उपासना में विस्तरणीय होता है। वस्तुतः वेद ही स्तोत्र है जो प्रभु के लिये उच्चरित होता है। अर्थात् प्रभु की ही स्तुति करनी चाहिये। **यस्य ऊतयः**=जिसके रक्षण **विपः न**=मेधावी पुरुष के समान हैं, अर्थात् जिस प्रभु के रक्षण अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक होते हैं। और **यत् रक्षिता**=जो रक्षक समान निवासवाले लोग **विरोहन्ति**=विशिष्ट उन्नतिवाले होते हैं। प्रभु को आधार बनानेवाले व्यक्ति उन्नत होते ही हैं। ये सब पापकर्मों से दूर रहते हुए उज्ज्वल चरित्रवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्तवन करें जिनके रक्षण बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक होते हैं और जिनकी शरण में रहनेवाले व्यक्ति सदा उन्नत होते हैं।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'वलद्यता-धनविचेता' प्रभु

अविदद्दक्षं मित्रो नवीयान्पपानो देवेभ्यो वस्यो अचैत्।
ससवान्त्स्तौलाभिर्धौतरीभिरुरुष्या पायुरभवत्सखिभ्यः ॥ ७ ॥

(१) वह **नवीयान्**=अतिशयेन स्तुत्य-स्तुत्यतर **मित्रः**=पापों से बचानेवाले प्रभु **दक्षम्**=बल को **अविदत्**=प्राप्त कराते हैं। बल को देकर ही हमें वह पापों से बचाते हैं। निर्बलता में ही पापों का निवास है। **पपानः**=(पन स्तुतौ) स्तुति किये जाते हुए वे प्रभु **देवेभ्यः**=इन स्तोताओं के लिये (दिव् स्तुतौ) **वस्यः**=सशक्त धन का **अचैत्**=संचय करते हैं। वे प्रभु स्तोताओं के लिये सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। (२) **स्तौलाभिः**=(स्थूलाभिः) अत्यन्त प्रवृद्ध **धौतरीभिः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाली शक्तियों से **ससवान्**=संभजमान वे प्रभु **उरुष्या**=हमारे रक्षण की कामना से **सखिभ्यः**=अपने इन साथियों के लिये **पायुः अभवत्**=रक्षक होते हैं। शत्रु-कम्पक शक्तियों को प्राप्त कराके वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—वे स्तुत्य प्रभु हमें शक्ति व धन प्राप्त कराते हैं। प्रवृद्ध शत्रु-कम्पक शक्तियों के द्वारा वे हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सोमपान-ज्ञान-बल प्रभु दर्शन

ऋतस्य पथि वेधा अपायि श्रिये मनांसि देवासो अक्रन्।
दधानो नाम महो वचोभिर्वपुर्दृशये वेन्यो व्यावः ॥ ८ ॥

(१) **ऋतस्य पथि**=यज्ञ के मार्ग में **वेधाः**=बुद्धि का जनक यह सोम (वेधाः=सोम) संचय किया जाता है। अर्थात् यज्ञादि कर्मों में लगे रहने से वासनाओं का आक्रमण न होने के कारण, सोम **अपायि**=होता है। इस प्रकार **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **श्रिये**=शोभा के लिये **मनांसि अक्रन्**=ज्ञान का सम्पादन करते हैं। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और ज्ञान से पवित्रता होकर उसकी शोभा बढ़ती है। (२) **वचोभिः**=स्तुति वचनों के द्वारा **नाम**=शत्रुओं को नमानेवाले सोम को धारण करते हुए **वेन्यः**=वे कमनीय प्रभु **वपुः**=अपने तेजोमय रूप को **दृशये**=समयक देखे जाने के लिये **व्यावः**=प्रकट करते हैं। अर्थात् यह प्रभु-स्तवन हमें शत्रुओं को नष्ट करने बल को प्राप्त कराता है तथा प्रभु दर्शन का पात्र बनाता है।

भावार्थ—हम यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे रहकर, वासनाओं से बचे रहने के द्वारा, सोम का पान करें। ज्ञान को प्राप्त करें। स्तवन के द्वारा शत्रुओं के झुकानेवाले बल को प्राप्त हों तथा प्रभु दर्शन के योग्य बनें। सोमरक्षण से ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान से शत्रुओं को झुकानेवाला व बल मिलता है। इस बल से सम्पन्न व्यक्ति प्रभु दर्शन पाता है।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

द्युमत्तमं दक्षम्

द्युमत्तमं दक्षं धेह्यस्मे सेधा जनानां पूर्वीररातीः।
वर्षीयो वयः कृणुहि शचीभिर्धनस्य सातावस्माँ अविड्ढि ॥ ९ ॥

(१) हे प्रभो! **द्युमत्तमम्**=अधिक से अधिक ज्ञान की ज्योतिवाले **दक्षम्**=बल को **अस्मे**=हमारे

लिये **धेहि**=धारण कीजिये, हमें ज्ञान-बल प्राप्त हो। इस प्रकार ज्ञान व बल को प्राप्त कराके आप **जनानाम्**=लोगों के **पूर्वीः अरातीः**=इन बहुत संख्यावाले शत्रुओं को **सेधा**=दूर करिये। ज्ञानाग्नि में काम-क्रोध दग्ध हो जाएँ और बल से रोग भाग जायें। (२) इस प्रकार **शचीभिः**=कर्मशक्ति (बल) व प्रज्ञानों से हमारे **वर्षीयः**=अत्यन्त उत्कृष्ट व दीर्घ **वयः**=जीवन को **कृणुहि**=करिये। इस जीवन में **धनस्य सातौ**=धन की प्राप्ति के निमित्त **अस्मान् अविड्ढि**=हमारा रक्षण कीजिये। आवश्यक धनों को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को धन्य बनायें।

भावार्थ—हमें ज्ञानयुक्त बल प्राप्त हो ताकि हम निर्मल मनवाले व नीरोग शरीरवाले बनें। शक्ति व प्रज्ञान के साथ उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करते हुए हम धनों को प्राप्त कर धन्य बनें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नकिः आपिः ददृशेमर्त्यत्रा

इन्द्र तुभ्यमिन्मघवन्नभूम वयं दात्रे हरिवो मा वि वेनः।
नकिरापिर्ददृशे मर्त्यत्रा किमङ्ग रध्रचोदनं त्वाहुः ॥ १० ॥

(१) हे **मघवन्**=ज्ञान रूप ऐश्वर्यशालिन् **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक बल सम्पन्न प्रभो! **वयम्**=हम **दात्रे**=इन ऐश्वर्यों को देनेवाले **तुभ्यम्**=आपके लिये ही **अभूम**=शेषभूत-सन्तानतुल्य हों। आपको ही अपना हितैषी जानकर हम संसार के सब व्यवहारों में वर्तें। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **मा विवेनः**=हमारे प्रति अपगत कामनावाले आप **इत्**=हम आपके सदा प्रीति पात्र बने रहें। (२) यहाँ **मर्त्यत्रा**=मनुष्यों में **आपिः**=मित्र **नकिः**=नहीं **ददृशे**=दिखता। मानव मैत्री स्वार्थमयी होने से स्थायी नहीं होती। पर **किम्**=इस विषय में आपका क्या कहना। हे **अंग**=प्रिय प्रभो, सतत गतिशील प्रभो! **त्वा**=आपको **रध्रचोदनम्**=कार्य प्रेरक धन (धनों का प्रेरक) **आहुः**=कहते हैं। आप अपने उपासकों के लिये सब आवश्यक धनों को देते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'मघवान्' हैं, 'इन्द्र' हैं। हमारे लिये ज्ञान व बल को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही एकमात्र निःस्वार्थ मित्र हैं। वे प्रभु ही कार्य-साधक धनों को सदा प्राप्त करानेवाले हैं। संसार के मित्रताएँ अन्ततः स्वार्थमयी हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'असुष्वि व अपृणन्' का विनाश

मा जस्वने वृषभ नो ररीथा मा ते रेवतः सख्ये रिषाम।
पूर्वीष्ट इन्द्र निष्षिधो जनेषु जह्यसुष्वीन्प्र वृहापृणतः ॥ ११ ॥

(१) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **जस्वने**=उपक्षय करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं के लिये **मा ररीथाः**=मत दे डालिये। आप से शक्ति को प्राप्त करते हुए हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीत पाएँ। **रेवतः**=सब ऐश्वर्योंवाले **ते**=आपकी **सख्ये**=मित्रता में **मा रिषाम**=हम हिंसित न हों। आपको मित्र पाकर हम काम-क्रोध आदि से कभी आक्रान्त न हों। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक, सर्वशक्ति-सम्पन्न प्रभो! **ते**=आपकी **जनेषु**=मनुष्यों में **पूर्वीः**=बहुत **निष्षिधः**=बुराइयों के रोकने की शक्तियाँ हैं आप उपासकों के समीप रोगों व काम-क्रोध आदि शत्रुओं को नहीं आने देते। आप **असुष्वीन्**=अयज्ञशील पुरुषों को **जहि**=नष्ट करिये। **अपृणतः**=अदानशील पुरुषों को **प्रवृह**=उन्मूलित करिये।

भावार्थ—हम काम आदि से आक्रान्त न हों। प्रभु की मित्रता में रहते हुए हम शत्रुओं से

विनष्ट न किये जा सकें। प्रभु शत्रुओं को हमारे से दूर रखें। अयज्ञशील व अदानशील का ही तो उन्मूलन होता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अकृपण धनी

उद॒भ्राणी॑व स्त॒नय॑न्निय॒र्तीन्द्रो॒ राधां॒स्यश्व्या॑नि॒ गव्या॑।
त्वम॑सि प्र॒दिवः॑ का॒रुधा॑या॒ मा त्वा॑दा॒मान॒ आ द॑भन्म॒घोनः॑ ॥ १२ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **अभ्राणि**=मेघों को **स्तनयन् इव**=गर्जना कराते हुए की तरह **अश्व्यानि**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों से सम्बद्ध तथा **गव्या**=अर्थों की गमक ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध **राधांसि**=सिद्धियों को **उदियर्ति**=उत्कर्षेण प्रेरित करते हैं। वे प्रभु अन्तरिक्ष में जैसे बादलों की गर्जना होती है, उसी प्रकार हमारे हृदयान्तरिक्ष में प्रेरणा को देते हुए हमें उत्तम कर्मेन्द्रियाँ व उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं। हे प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले व **कारुधायाः**=क्रियाशील स्तोताओं के धारण करनेवाले प्रेरक **असि**=हो **त्वा**=आपको **मघोनः**=धनवान्, पर **अदामानः**=अदानशील-कृपण वृत्तिवाले **दभन्**=मत हिंसित करें। अर्थात् हमारे में से कोई धनी होता हुआ कृपण न हो और इस प्रकार आपको भूल न जाऊँ धन हमें आपको भुलानेवाला न हो।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा देते हैं, उत्तम कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों प्राप्त कराते हैं। स्तोताओं का वे धारण करनेवाले हैं। हम धनी होकर कृपण न हो जाएँ। प्रभु हमें विस्मरण न हो जाये, हम धन में ही न उलझ जाएँ।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पूर्वाभिः उत नूतनाभिः

अध्व॑र्यो वीर॒ प्र म॒हे सु॒ताना॒मिन्द्रा॑य भर॒ स ह्य॑स्य॒ राजा॑।
यः पू॒र्व्याभि॑रु॒त नूत॑नाभिर्गी॒र्भिर्वा॑वृ॒धे गृ॑ण॒ताम्ऋषी॑णाम् ॥ १३ ॥

(१) हे **वीर**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **अध्वर्यो**=यज्ञशील पुरुष! **महे**=उस महान् **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **सुतानां प्रभर**=इन उत्पन्न सोमों का धारण कर। ये सुरक्षित सोम ही तुझे प्रभु प्राप्ति के योग्य बनायेंगे। **सः हि**=वे प्रभु ही **अस्य राजा**=इस सोम को जीवन में दीप्त करनेवाले हैं। अर्थात् हमारे जीवनों में सोम का स्थापन करके प्रभु हमें दीप्त जीवनवाला बनाते हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **गृणतां ऋषीणाम्**=स्तुति करनेवाले तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों की **पूर्व्याभिः**=पूर्वकाल में होनेवाली **उत**=और **नूतनाभिः**=इस समय होनेवाली नवीन **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों से **वावृधे**=बढ़ाये जाते हैं। वे प्रभु ही इस सोम के द्वारा हमारे जीवन को दीप्त करते हैं। प्रभु स्तवन ही सोमरक्षण का साधन होता है। प्रभु स्तवन से सोमरक्षण होता है, रक्षित सोम से ज्ञानाग्नि के दीपन के द्वारा प्रभु दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये हम सोमरक्षण द्वारा दीप्त जीवनवाले बनें। सोमरक्षण के लिये सदा स्तुतिशील हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मधुमान् सोम का रक्षण

अस्य मदे पुरु वर्पांसि विद्वानिन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघान।
तमु प्र होषि मधुमन्तमस्मै सोमं वीराय शिप्रिणे पिबध्यै॥ १४॥

(१) **अस्य**=इस सोम के **मदे**=उल्लास में, सोमरक्षण जनित हर्ष में **पुरु**=अनेकों **वर्पांसि**=आसुर वृत्ति के रूपों को **विद्वान्**=जानता हुआ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **अप्रती वृत्राणि**=जिनका मुकाविला करना बड़ा कठिन है उन वासनारूप शत्रुओं को **जघान**=नष्ट करता है। वासनाएँ नानारूपों में आया करती हैं और साथ ही ये अत्यन्त प्रबल हैं। इन्हें एक जितेन्द्रिय पुरुष ही, प्रभु की कृपा से जीत पाता है। (२) हे प्रभो! **तं उ**=उस निश्चय से **मधुमन्तम्**=जीवन को मधुर बनानेवाले प्रभो! **अस्मै**=इस **वीराय**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **शिप्रिणे**=शोभन हनु व नासिकावाले, खूब खानेवाले (हनु) प्राणसाधक (नासिका) पुरुष के लिये **पिबध्यै**=शरीर में ही पीने व व्याप्त करने के लिये **प्रहोषि**=देते हैं (हु दाने)। सोमरक्षण के लिये 'वासनाओं का अनाक्रमण, चबाकर खाना व प्राणसाधना' ये सब चीजें सहायक होती हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर वासनाओं का विनाश करें। चबाकर खायें, प्राणसाधना करनेवाले बनें। इस प्रकार सोम की रक्षा करें। रक्षित सोम हमारे जीवन को मधुर बनायेगा।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण-वृत्रहनन-यज्ञशीलता

पाता सुतमिन्द्रो अस्तु सोमं हन्ता वृत्रं वज्रेण मन्दसानः।
गन्ता यज्ञं परावतश्चिदच्छा वसुर्धीनामविता कारुधायाः॥ १५॥

(१) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **सुतं सोमं**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को (वीर्यशक्ति को) **पाता अस्तु**=उत्तमता से पीनेवाला हो (साधुकारिणि तृन्)। और **मन्दसानः**=सोमरक्षण से उल्लास का अनुभव करता हुआ (माद्यन्) यह इन्द्र **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र से **वृत्रं हन्ता**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करनेवाला हो। (२) **परावतः चित्**=कार्यवश दूर-दूर देशों में गया हुआ भी **यज्ञं अच्छा गन्ता**=यज्ञों की ओर जानेवाला हो। इस प्रकार यह जितेन्द्रिय पुरुष **वसुः**=जीवन के निवास को उत्तम बनानेवाला हो। **धीनां अविता**=बुद्धियों व कर्मों का रक्षक हो। **कारुधायाः**=कर्म करनेवालों का धारण करनेवाला हो। कर्मशीलों को उत्साहित करे।

भावार्थ—सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि का दीपन करके हम वासनारूप वृत्रों का दहन करें। वासना-विनाश से यज्ञशील जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमरक्षण से 'अमृतत्त्व-सौमनस्य-निर्द्वेषता व निष्पापता' की प्राप्ति

इदं त्यत्पात्रमिन्द्रपानमिन्द्रस्य प्रियममृतमपायि।
मत्सद्यथा सौमनसाय देवं व्यस्मद् द्वेषो युयवद् व्यंहः॥ १६॥

(१) **इदम्**=यह **त्यत्**=वह प्रसिद्ध **पात्रम्**=रक्षण का साधनभूत **इन्द्रपानम्**=जितेन्द्रिय पुरुष से रक्षित **इन्द्रस्य प्रियम्**=जितेन्द्रिय पुरुष की प्रीति को उत्पन्न करनेवाला **अमृतम्**=रोगों से ऊपर उठानेवाले (न मृतं यस्मात्) यह सोम **अपायि**=पीया जाता है, शरीर में ही सुरक्षित किया जाता

है। (२) इसलिए यह सोम **देवम्**=इस देववृत्तिवाले पुरुष को **सौमनसाय**=सुमनरूप के लिये **मत्सत्**=आनन्दित करता है यह सोम सुरक्षित हुआ-हुआ **अस्यत्**=हमारे से **द्वेषः**=द्वेष के भाव को **वियुयवत्**=विशेष रूप को **अंहः**=पाप को **वि** (युयवत्)=पृथक् करे।

भावार्थ—सोमरक्षण से 'अमृतत्व-सौमनस्य-निर्द्वेषता व निष्पापता' प्राप्त होती है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'जामि व अजामि' रूप सब शत्रुओं का विनाश

एना मन्दानो जहि शूर शत्रूञ्जामिमजामिं मघवन्नमित्रान्।
अभिषेणाँ अभ्या३देदिशानान्पराच इन्द्र प्र मृणा जही च ॥ १७ ॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले पुरुष! **एना**=इस सोम के रक्षण से **मन्दानः**=आनन्दित होता हुआ **शत्रून् जहि**=शत्रुओं को विनष्ट कर। हे **मघवन्**=यज्ञशील पुरुष! **जामिम्**=जन्म से ही उत्पन्न अथवा **अजामिम्**=पीछे उत्पन्न हो जानेवाले **अमित्रान्**=वासनारूप शत्रुओं को तू विनष्ट कर व कृत्रिम दोषों को तू इस सोम के द्वारा दूर कर। (२) **अभिषेणान्**=सेना के द्वारा हमारे पर आक्रमण करनेवाले व **अभि आदेदिशानान्**=हमारी ओर शस्त्रों को छोड़ते हुए इन शत्रुओं को, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **परा प्रमृणा च**=पराङ्मुख करके बाधित कर, **च**=और **जहि**=नष्ट कर। कामदेव पञ्चबाण हैं। ये अपने शस्त्रों का हमारे पर प्रहार करते हैं। नाना प्रकार की वासनाएँ इसकी सेना हैं। इन सब शत्रुओं को हम पराङ्मुख करें और विनष्ट करें।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम जन्मजात (सहज) व पीछे उत्पन्न (कृत्रिम) सब वासनारूप शत्रुओं को विदीर्ण करनेवाले हों, इन शत्रुओं के बाणों व सैन्यों को हम अपने से दूर करें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संग्राम विजय

आसु ष्मा णो मघवन्निन्द्र पृत्स्व१स्मभ्यं महि वरिवः सुगं कः।
अपां तोकस्य तनयस्य जेष इन्द्र सूरीन्कृणुहि स्मा नो अर्धम् ॥ १८ ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **आसु नः पृत्सु**=इन हमारे संग्रामों में **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **महि**=महान् **सुगम्**=सुखेन गन्तव्य (प्राप्य) **वरिवः**=धन को **कः स्मा**=अवश्य करिये। हम आपकी कृपा से संग्रामों में जीतें और उत्कृष्ट धनों को प्राप्त करें। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभु! **अपाम्**=(आपः रेतो भूत्वा) रेतःकणों के, **तोकस्य**=उत्तम पुत्रों के **तनयस्य**=पौत्रों के **जेषः**=जीत कर **नः सूरीन्**=हम स्तोताओं को **स्म**=निश्चय से **अर्धं कृणुहि**=समृद्ध करिये अथवा नष्ट कर अर्थात् शत्रुओं का खण्डयिता करो। हम शत्रुओं को नष्ट करके रेतःकणों का रक्षण करें और पुत्र-पौत्रों को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभु कृपा से संग्रामों में विजयी होकर उत्कृष्ट जीवन यापन करें। शत्रुओं का खण्डन करके रेतःकणों का रक्षण करते हुए उत्तम पुत्र-पौत्रों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कैसे इन्द्रियाश्व सोमपान करें?

आ त्वा हरयो वृषणो युजाना वृषरथासो वृषरश्मयोऽत्याः।
अस्मत्राञ्चो वृषणो वज्रवाहो वृष्णो मदाय सुयुजो वहन्तु ॥ १९ ॥

(१) **त्वा**=तुझे **हरयः**=ये इन्द्रियाश्व **वृष्णे**=शक्ति का सेचन करनेवाले, **मदाय**=उल्लास के जनक सोम के पान के लिये **आ वहन्तु**=समन्तात् कार्यों में प्राप्त करायें। निरन्तर क्रियाओं में व्यापृत इन्द्रियाँ इस सोम के रक्षण के योग्य बनायें। यह सुरक्षित सोम हमारे में शक्ति का सेचन करे (वृषा)=और हमें हर्ष देनेवाला हो (मद)। हमारे इन्द्रियाश्व **वृषणः**=शक्ति का अपने में सेचन करनेवाले हों। **युजानाः**=शरीर रथ में जुते हुए, अर्थात् सदा स्वकार्य व्यापृत हों। **वृषरथासः**=शक्तिशाली शरीर रूप रथवाले, **वृषरश्मयोः**=शक्तिशाली मनरूप लगामवाले व **अत्याः**=निरन्तर गतिशील हों। (२) ये इन्द्रियाश्व **अस्मत्राञ्चः**=हमारे प्रति (प्रभु के प्रति) आते हुए, अर्थात् प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए, **वृषणः**=शक्तिशाली व नित्य तरुण हों। **वज्रवाहः**=क्रियाशीलता रूप वज्र का धारण करनेवाले **सुयुजः**=सदा शोभन कर्मों में लगे हुए हों।

भावार्थ—सतत-स्व-कार्य-व्यापृत व प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले इन्द्रियाश्व सोम का, वीर्यशक्ति का पान करनेवाले हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घृतप्रुषो नोर्मयो मदन्तः

आ ते॑ वृष॒न्वृष॑णो॒ द्रोण॑मस्थुर्घृत॒प्रुषो॒ नोर्मयो॒ मद॑न्तः।
इन्द्र॒ प्र तुभ्यं॒ वृष॑भिः सु॒ताना॒ं वृष्णे॑ भरन्ति वृष॒भाय॒ सोम॑म्॥ २०॥

(१) हे **वृषन्**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले उपासक! **ते वृषणः**=तेरे ये शक्तिशाली इन्द्रियाश्व **घृतप्रुषः ऊर्मयः न**=जल का सेचन करनेवाली समुद्र-तरंगों के समान **मदन्तः**=उल्लासमय होते हुए, कार्यों में नाचते हुए **द्रोणम्**=इस गतिशील शरीर रथ में **आ अस्थुः**=समन्तात् स्थित हों। शरीर रथ में जुते हुए ये इन्द्रियाश्व जीवनयात्रा में तुझे आगे और आगे ले जानेवाले हों। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **वृषभिः**=शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों द्वारा **सुतानाम्**=उत्पन्न किये गये सोम कणों के **वृष्णे**=अपने में सेचन करनेवाले **वृषभाय**=शक्तिशाली श्रेष्ठ जीवनवाले **तुभ्यम्**=तेरे लिए सोम को सब देव **प्रभरन्ति**=प्राप्त कराते हैं। इस सोम के रक्षण से ही तेरा जीवन सुन्दर हो पायेगा।

भावार्थ—उल्लासमय इन्द्रियाश्व शरीर रथ में जुते रहें, अर्थात् इन्द्रियाँ निज कार्य में लगी रहें, तो ये इन्द्रियाँ सोम का शरीर में सेचन करती हैं और हमें शक्तिशाली व श्रेष्ठजन बनाती हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्वादुः रसः मधुपेयः' सोमः

वृषा॑सि दि॒वो वृ॑ष॒भः पृ॑थि॒व्या वृषा॒ सिन्धू॑नां वृष॒भः स्तिया॑नाम्।
वृष्णे॑ त॒ इन्दु॑र्वृषभ पीपाय स्वा॒दू रसो॑ मधु॒पेयो॒ वरा॑य॥ २१॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **दिवः वृषा असि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक का शक्ति से सेचन करनेवाला है। **पृथिव्याः वृषभः**=इस शरीर रूप पृथिवी का भी शक्ति से सेचन करनेवाला है। **सिन्धूनाम्**=ज्ञानदी के प्रवाहों का तू अपने में सेचन करनेवाला है और इसी दृष्टिकोण से **स्तियानाम्**=(स्तिया आपो भवन्ति सत्यानात् नि० ६।१७) तू रेतःकणरूप जलों का (आपः रेतो भूत्वा) **वृषभः**=अपने में सेचन करनेवाला है। ये रेतःकण ही शरीर में सिक्त होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। ज्ञानाग्नि के दीप्त होने पर ही ज्ञाननदियों का प्रवाह चला करता है। (अग्नेरापः)। (२) हे **वृषभः**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले **वराय**=श्रेष्ठ व **वृष्णे**=शक्तिशाली **ते**=तेरे लिये ही यह **इन्दुः**=सोम **पीपाय**=आप्यायित होता है, बढ़ता है। यह सोम **स्वादुः**=तेरे जीवन

को मधुर बनाता है। **रसः**=जीवन को रसमय करता है। अतएव **मधुपेयः**=मधुवत् पातव्य होता है। यह सोम सब भोजनों का सारभूत है, अतएव ग्राह्यतम है।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा मनुष्य मस्तिष्क को व शरीर को शक्ति सिक्त करता है। इस सोमरक्षण से वह अपने में ज्ञाननदियों को प्रवाहित करता है। यह सोम जीवन को मधुर व रसमय बनाता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण व लोभ विनाश

अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्।
अयं स्वस्य पितुरायुधानीन्दुरमुष्णादशिवस्य मायाः ॥ २२ ॥

(१) **अयम्**=यह **देवः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाला सोम **सहसा**=शत्रुमर्षक बल के साथ **जायमानः**=प्रादुर्भूत होता हुआ **इन्द्रेण युजा**=अपने साथी इस जितेन्द्रिय पुरुष के साथ **पणिम्**=व्यापारिक-व्यावहारिक-धनादि के प्रति आसक्ति रूप लोभवृत्ति को **अस्तभायत्**=रोकता है। इसके रक्षण से लोभवृत्ति का निरोध होता है। (२) **अयं इन्दुः**=यह सोम **स्वस्य**=धन के **पितुः**=पिता धन के पहरेदार बने हुए, इस लोभ के **आयुधानि**=अस्त्रों को **अमुष्णात्**=अपहृत चुराने के लोभ के अस्त्र इस सोमरक्षक को आहत नहीं कर पाते। **अशिवस्य**=अकल्याणकर आसुरी **मायाः**=मायाओं को, फँसानेवाले आकर्षक रूपों को यह सोम नष्ट करता है। आसुररूपी माया इस सोमरक्षक को प्रभावित नहीं कर पाती।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष सोम का रक्षण करता हुआ लोभ की माया में नहीं फँसता।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्योति का स्रोत' प्रभु

अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः।
अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळ्हम् ॥ २३ ॥

(१) **अयं**=यह प्रभु ही **उषसः**=उषाकालों को **सुपत्नीः**=सूर्यरूप शोभन पतिवाला रक्षक है। अर्थात् उषाकालों में सूर्य-किरणों द्वारा यह प्रभु ही प्रकाश को स्थापित करता है। **अयम्**=ये प्रभु ही **सूर्ये अन्तः**=सूर्य के अन्दर **ज्योतिः अदधात्**=प्रकाश को स्थापित करता है। सूर्य भी प्रभु की दीप्ति से ही दीप्त होता है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। (२) **अयम्**=ये प्रभु ही **दिवि**=द्युलोक में **रोचनेषु**=चमकते हुए नक्षत्रों में निवास करनेवाले **त्रितेषु**=शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों का विस्तार करनेवाले पुरुषों में (त्रीन् तनोति) **निगूढम्**=सुरक्षित रूप से विद्यमान **त्रिधातु अमृताम्**=ज्ञान, कर्म व श्रद्धा इन तीनों का धारण करनेवाले अमरण हेतु भूत सोम को **विन्दत्**=प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु ही उषाओं को, सूर्य को व नक्षत्र निवासी देव पुरुषों को दीप्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दशयन्त्रं उत्सम्

अयं द्यावापृथिवी वि ष्कभायदयं रथमयुनक्सप्तरश्मिम्।
अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः सोमो दाधार दशयन्त्रमुत्सम् ॥ २४ ॥

(१) **अयं सोमः**=प्रभु से उत्पन्न किया हुआ यह सोम **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर को **विष्कभायत्**=थामता है। सोम से मस्तिष्क ज्ञानाग्निदीप्त व शरीर दृढ़ बनता है। **अयम्**=यह सोम ही **सप्तरश्मिम्**=सप्त छन्दोमयी वेदवाणीरूप सात रश्मियोंवाले, प्रकाश-किरणोंवाले, **रथम्**=शरीर-रथ को **अयुनक्**=इन्द्रियाश्वों से जोतता है। प्रभु ही शरीर-रथ में इन्द्रियाश्वों को स्थापित करते हैं। (२) **अयम्**=यह ही **गोषु अन्तः**=ज्ञानेन्द्रियों के अन्दर **पक्वम्**=परिपक्व ज्ञान को **शच्या**=शक्ति के साथ स्थापित करता है और यह सोम ही **दशयन्त्रं उत्सम्**=दश प्राणरूप यन्त्रों से युक्त इस उत्सरणशील शरीर को **दाधार**=धारण करता है। शरीर शक्ति व ज्ञान का स्रोत बनता है, सो दशयन्त्र कहा गया है। इस में दश प्राण ही दश यन्त्र हैं जो इस शरीर के सारे कर्मों का पालन करते हैं। सोम के द्वारा यह ठीक रहता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मस्तिष्क व शरीर ठीक रहते हैं। इन्द्रियाँ व प्राण भी इस सोम के द्वारा ही ठीक प्रकार कार्य करते रहें तभी हमारे जीवन में शक्ति व प्रज्ञान का स्थापन होता है।

अगले सूक्त में भी शंयु ही इन्द्र का स्तवन करता है—

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'युवा सखा' प्रभु

य आनयत्परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्। इन्द्रः स नो युवा सखा॥ १॥

(१) **यः**=जो **तुर्वशम्**=त्वरा से इन्द्रियों को वश में करनेवाले **यदुम्**=यत्नशील पुरुष को (प्रतमानं नरम् द० १।५४।६) **परावतः**=सुदूरदेश से भी, धर्म मार्ग से बहुत दूर गये हुए को भी **सुनीती**=उत्तम नीति से, प्रणयन से **आनयत्**=पुनः धर्म मार्ग पर ले आता है। **सः**=वही **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभु है। संसार के विषय अपनी चमक के कारण मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। पर यदि मनुष्य इन से आहत होकर प्रभु की शरण में आता है, तो प्रभु कितने भी भटके हुए उस मनुष्य को फिर धर्म-मार्ग पर ले आते हैं। हृदयस्थ प्रभु प्रेम से, पिता जैसे पुत्र के लिये प्रेरणा देते हैं। और इस पुकारनेवाले को धर्ममार्ग पर ले आते हैं। यह इन्द्रियों को वश में करनेवाला बनता है, सदा धर्ममार्ग पर चलने के लिये यत्नशील होता है। (२) ये प्रभु **नः**=हमारे **युवा**=बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले **सखा**=मित्र हैं। सच्चे मित्र का यही तो लक्षण होता है कि 'पापात् निवारयति, योजयते हिताय'।

भावार्थ—प्रभु हमारे सच्चे मित्र हैं। वे हमें बुराइयों से दूर करते हैं और अच्छाइयों से हमें मिलाते हैं। उत्तम नीति से हमें वे धर्ममार्ग पर लानेवाले हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्रो जेता हितं धनम्

अविप्रे चिद्वयो दधदनाशुना चिदर्वता। इन्द्रो जेता हितं धनम्॥ २॥

(१) **अ-विप्रे चित्**='जो बहुत उत्कृष्ट ज्ञानी नहीं है' उसमें भी **वयः दधत्**=दीर्घजीवन को धारण करते हैं। जो व्यक्ति बहुत ज्ञान को नहीं भी प्राप्त करता, परन्तु प्रभु का कुछ भक्त बनता है, उस अल्पज्ञ भक्त को भी लम्बा जीवन देते हैं। प्रभु भक्ति के कारण यह बहुत अनियमित जीवनवाला नहीं बनता दीर्घ जीवन को प्राप्त करता है। (२) **अनाशुना चित्**=बहुत शीघ्रता से कर्मों में न व्याप्त हुआ **अर्वता**=इन्द्रियाश्वों से **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु इस अविप्र (अल्पज्ञ)

भक्त के लिये भी हितकर धन को **जेता**=जीतनेवाले होते हैं। वस्तुतः धनों का विजय प्रभु ही करते हैं। सो हमारे लिये बहुत चुस्त न भी हुए तो भी कोई बहुत हानि नहीं। प्रभु-भक्ति चाहिए, फिर कल्याण ही होते हैं।

भावार्थ—अल्पज्ञ होते हुए भी एक प्रभु-भक्त दीर्घजीवन को प्राप्त करता है और प्रभु उसके लिये हितकर धनों का विजय करते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रणीति-प्रशस्ति-ऊति

मही॒र॑स्य॒ प्रणी॑तयः पू॒र्वीरु॒त प्रश॑स्तयः। नास्य॑ क्षीयन्त ऊ॒तयः॑ ॥ ३ ॥

(१) **अस्य**=इस प्रभु के **प्रणीतयः**=प्रणयन हमें उन्नतिपथ पर ले चलने के कार्य **महीः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **उत**=और **प्रशस्तयः**=इस प्रभु की प्रशस्तियाँ **पूर्वी**=बहुत हैं अथवा हमारा पालन व पूरण करनेवाली हैं। (२) **अस्य**=इस प्रभु की **ऊतयः**=रक्षायें **न क्षीयन्ते**=कभी क्षीण नहीं होती। प्रभु के रक्षण कार्य सदा चलते ही हैं। मनुष्य अशक्ति व अज्ञान के कारण कई बार रक्षण नहीं कर पाता। चाहते हुए भी माता-पिता भी सन्तान के रक्षण में कई बार अपने को अशक्त अनुभव करते हैं। प्रभु के यहाँ अशक्ति व अज्ञान का प्रश्न ही नहीं है।

भावार्थ—प्रभु के प्रणयन महान् हैं। प्रभु की प्रशस्तियाँ हमारा पालन व पूरण करनेवाली हैं। प्रभु के रक्षण कभी क्षीण नहीं होते।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अर्चत-प्र च गायत (उपासना व स्तुति)

सखा॑यो॒ ब्रह्म॑वाहसेऽर्च॑त॒ प्र च॑ गायत। स हि नः॒ प्रम॑तिर्म॒ही ॥ ४ ॥

(१) एक उपासक अपने मित्रों से कहता है कि **सखायः**=हे मित्रो! **ब्रह्मवाहसे**=ज्ञान को प्राप्त करानेवाले उस प्रभु के लिये **अर्चत**=पूजा करो, **च**=और **प्रगायत**=उसके गुणों का गान करो। यह पूजा तुम्हें दुर्गुणों से बचायेगी और गुणगान तुम्हारे सामने एक लक्ष्य दृष्टि को स्थित करेगा, तुम्हारे अन्दर भी उन गुणों को धारण करने की वृत्ति उत्पन्न होगी। अर्थात् यह स्तोता यही सोचता है कि प्रभु दयालु हैं, मैं भी दयालु बनूँ। प्रभु न्यायकारी हैं, मैं भी न्यायकारी बनूँ। (२) **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **नः**=हमारे लिये **मही प्रमतिः**=महान् बुद्धि हैं। हमारे अन्दर प्रभु प्रकृष्ट बुद्धि के रूप में निवास करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करें, गायन करें। प्रभु हमें बुद्धि प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्ति व ज्ञान का रक्षण

त्वमेक॑स्य वृत्रहन्नवि॒ता द्वयो॑रसि। उ॒तेदृ॒शे यथा॑ व॒यम् ॥ ५ ॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **एकस्य**=एक शरीर के बल के महान् **असि**=रक्षक हैं। **द्वयोः**=बल व ज्ञान दोनों के भी **अविता (असि)**='रक्षक' हैं। (२) **उत**=और दोनों में भी **यथा वयम्**=जैसे कि हम हैं, उनमें भी आप शक्ति व ज्ञान के रक्षक होते हैं। हम बलहीन हैं। हमने क्या तो वृत्र को मारना और क्या शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करना? यह तो आपका अनुग्रह है कि आप हम जैसे लोगों को भी वासनाविनाश के द्वारा ज्ञान व शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासना को विनष्ट करके हमारे शरीरों में शक्ति व मस्तिष्कों में ज्ञान भरते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निर्द्वेषता व स्तुति

नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः। नृभिः सुवीर उच्यसे॥ ६॥

(१) हे प्रभो! आप हमें **इत् उ**=निश्चय से **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अतिनयसि**=पार ले जाते हैं, हमें द्वेष की भावना से दूर करते हैं। द्वेष की भावना से दूर करके हमें **उक्थशंसिनः कृणोषि**=स्तोत्रों का शंसन करनेवाला बनाते हैं। सच्चा स्तोता कभी द्वेष करनेवाला नहीं होता। प्रभु हमें द्वेष से दूर करके सच्चा स्तोता बनने की योग्यता प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्रभो! **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से आप ही **सुवीरः**=अच्छी प्रकार शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले **उच्यसे**=कहे जाते हैं। स्तोताओं के शत्रुओं का शातन आप ही तो करते हैं। प्रकृष्ट बलवाले इस काम का विध्वंस आप ही तो करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें द्वेष से दूर करके सच्चा स्तोता बनाते हैं, प्रभु हमारे शत्रुओं को कम्पित करके दूर करते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ब्रह्म-दोहन

ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भिः सखायमृग्मियम्। गां न दोहसे हुवे॥ ७॥

(१) मैं **दोहसे**=दोहन के लिये **न**=जैसे **गाम्**=गौ को पुकारते हैं, इसी प्रकार ज्ञानदुग्ध का दोहन करने के लिये **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों के द्वारा **ऋग्मियम्**=स्तुति के योग्य प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ। गौ से दूध को प्राप्त करते हैं, प्रभु से ज्ञानदुग्ध को। (२) उस प्रभु को हम पुकारते हैं जो कि **ब्रह्माणम्**=(परिबृढं) खूब बढ़े हुए हैं। **ब्रह्मवाहसम्**=सम्पूर्ण ज्ञानों का धारण करने व करानेवाले हैं। **सखायम्**=हम सबके सखा हैं। वस्तुतः 'इस प्रभु से ज्ञान का दोहन' ही जीवन का सर्वमहान् ध्येय होना चाहिए।

भावार्थ—हम प्रभु से प्रार्थना के द्वारा इस प्रकार ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करें जैसे कि गौ से दूध को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वसु प्राप्ति

यस्य विश्वानि हस्तयोरूचुर्वसूनि नि द्विता। वीरस्य पृतनाषहः॥ ८॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार हम उस प्रभु को (हुवे) पुकारते हैं **यस्य**=जिसके **हस्तयोः**=हाथों में **द्विता**=दो प्रकार से वर्तमान, द्युलोक व पृथिवी में वर्तमान शरीर रूप पृथिवी में व मस्तिष्क रूप द्युलोक में क्षत्र व ब्रह्म के रूप में वर्तमान **विश्वानि वसूनि**=सब वसुओं को **न्यूचुः**=निश्चय से कहते हैं। प्रभु के ही हाथों में सब वसु हैं। (२) वे प्रभु **वीरस्य**=शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं तथा **पृतनासहः**=शत्रु-सैन्यों का मर्षण करनेवाले हैं। वस्तुतः इन शत्रुओं का संहार करके ही हम वसुओं को प्राप्त करते हैं। द्युलोक का वसु ज्ञान है तो पृथिवी लोक का वसु बल है। वेद में बल व ज्ञान का साधन प्राप्त करने का उल्लेख है। 'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे श्रेयमश्नुताम्'। इसी में शोभा है।

भावार्थ—प्रभु के हाथों में सब वसुओं का स्थान है। प्रभु हमें इन वसुओं को प्राप्त करायें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शत्रु माया का विनाश

वि दृळ्हानि चिदद्रिवो जनानां शचीपते। वृह माया अनानत॥ ९॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रवन् प्रभो! आप **जनानाम्**=लोगों के **दृढानि चित्**=दृढ़मूल भी काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **विवृह**=उखाड़ दीजिये। प्रभु की उपासना के होने पर इन काम-क्रोध आदि शत्रुओं के साथ प्रभु का संघर्ष होता है। उस संघर्ष में इन शत्रुओं का विनाश होता है। इनका जोर तो मेरे पर ही चल रहा था। (२) हे **शचीपते**=शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामिन्! **अनानत**=शत्रुओं से न दबाये गये प्रभो! आप इन शत्रुओं की **मायाः**=मायाओं को **विवृह**=उन्मूलित कर दीजिये। इन आसुरभावों की मायाओं को विनष्ट करनेवाले होइये।

भावार्थ—प्रभु स्तोताओं के दृढमूल भी शत्रुओं का उन्मूलन करते हैं, इनकी मायाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सत्य सोमपा' प्रभु

तमु त्वा सत्य सोमपा इन्द्र वाजानां पते। अहूमहि श्रवस्यवः॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **तं त्वा उ**=उन आपको ही **श्रवस्यवः**=ज्ञान की कामनावाले हम **अहूमहि**=पुकारते हैं। आप से ही तो हमें सब सत्य ज्ञानों की प्राप्ति होती है। (२) हे प्रभो! आप ही **सत्य**=सत्यस्वरूप हैं। **सोमपाः**=हमारे सोम का रक्षण करनेवाले हैं। **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। **वाजानां पते**=सब शक्तियों के स्वामी हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें, प्रभु ही हमें सत्यज्ञान की प्रेरणा देंगे। वे सत्यस्वरूप हैं, सोम का रक्षण करनेवाले हैं, शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले व शक्तियों के पति हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हव्य प्रभु

तमु त्वा यः पुरासिथ यो वा नूनं हिते धने। हव्यः स श्रुधी हवम्॥ ११॥

(१) हे इन्द्र! **तं त्वा उ**=उन आपको ही हम स्तुत करते हैं **यः**=जो आप **पुरा**=पहले भी **हव्यः**=पुकारने योग्य **आसिथ**=थे **यः वा**=और जो **नूनम्**=आज भी **हिते धने**=हितकर धन के निमित्त **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। आप से ही हमें हितकर धन प्राप्त कराया जाता है। (२) **सः**=वे आप **हवं श्रुधि**=हमारी पुकार को सुनिये। प्रभु से हम सुनी जानेवाली पुकार के योग्य बनेंगे तो हमारी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जायेगी।

भावार्थ—प्रभु ही पुकारने योग्य हैं, प्रभु ही हितकर धन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हितं धनम्

धीभिरर्वद्भिरर्वतो वाजाँ इन्द्र श्रवाय्यान्। त्वया जेष्म हितं धनम्॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **धीभिः**=बुद्धियों के द्वारा तथा **अर्वद्भिः**=इन इन्द्रियाश्वों के द्वारा **श्रवाय्यान्**=अतिशयेन प्रशस्य **अर्वतः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश करनेवाले **वाजाम्**=बलों को **जेष्म**=जीतें... इस प्रकार कार्यों में लगे रहें

कि हम उन बलों को प्राप्त करें जो हमें काम-क्रोध आदि का शिकार न होने दें और हमारे जीवन को प्रशस्त बनाएँ। (२) हे प्रभो! इस प्रकार प्रशस्त जीवनवाले बनकर हम **त्वया**=आपके द्वारा **हितं धनं जेष्म**=हितकर धन का विजय करें। हमारा जीवन इन धनों के द्वारा सब उत्तम कर्मों को सिद्ध करता हुआ धन्य बने।

भावार्थ—हम बुद्धि व इन्द्रियों का इस प्रकार से प्रयोग करें कि हमें शत्रु-संहारक प्रशस्त बल प्राप्त हो। और हम हितकर धनों का विजय करके जीवन को धन्य बना पायें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

भरे वितन्तसाय्यः

अभूरु वीर गिर्वणो महाँ इन्द्र धने हिते। भरे वितन्तसाय्यः ॥ १३ ॥

(१) हे **वीर**=शत्रुओं के कम्पित करनेवाले! **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से संभजनीय! **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **हिते धने**=हितकर धन के निमित्त **उ**=निश्चय से **महान् अभूः**=पूज्य होते हैं। आपका उपासक वीर बनता है, ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाला होता है और शत्रुविद्रावक बनकर हितकर धनों का विजेता बनता है। (२) हे प्रभो! आप ही **भरे**=संग्राम में **वितन्तसाय्यः**=विजेता (अभूः) होते हैं। उपासक आपके द्वारा ही विजय को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—उपासक प्रभु के द्वारा हितकर धनों का विजय करता है और संग्राम में विजयी होता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मक्षूजवस्तमा ऊतिः

या त ऊतिरमित्रहन्मक्षूजवस्तमासति। तया नो हिनुही रथम्॥ १४ ॥

(१) हे **अमित्रहन्**=शत्रुओं के हन्ता प्रभो! **या**=जो **ते**=आपकी **ऊतिः**=रक्षा है, वह **मक्षुजवस्तमा**=अतिशयेन वेगवती **असति**=है। प्रभु का रक्षण प्राप्त होने में देर नहीं लगती। प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं, उन्हें रक्षण के लिये आने में समय की अपेक्षा नहीं है। उसके रक्षण सदा सर्वत्र संप्राप्य हैं। (२) हे प्रभो! **तया**=उस रक्षण के द्वारा **नः रथम्**=हमारे शरीररथ को आप **हिनु हि**=प्रेरित करिये। आपके रक्षण में यह शरीररथ जीवनयात्रा में आगे और आगे बढ़ता चले। हम दिन प्रतिदिन उन्नत होते चलें।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण अतिशयेन वेगवान् है। उस रक्षण से हम जीवनयात्रा में इस शरीररथ के द्वारा आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'रथीतम' प्रभु

स रथेन रथीतमोऽस्माकेनाभियुग्वना। जेषि जिष्णो हितं धनम्॥ १५ ॥

(१) हे **जिष्णो**=विजयशील प्रभो! **सः**=वे आप **रथीतमः**=अतिशयेन प्रशस्त रथी हैं, महारथी हैं। वस्तुतः इन शरीर-रथों का संचालन आप ही करते हैं। (२) आप **अस्माकेन**=हमारे **अभियुग्वना**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले अथवा इन्द्रियाश्वों से जुते **रथेन**=इस शरीर-रथ के द्वारा **हितं धनम्**=हितकर धन का आप ही **जेषि**=विजय करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे शरीर-रथों के सञ्चालक हैं। इन शरीर-रथों के द्वारा वे ही हितकर

धनों का विजय करते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विचर्षणि-वृषक्रतु

य एक इत्तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः। पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः ॥ १६ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु हैं, वे **एकः इत्**=अद्वितीय ही, बिना किसी अन्य की सहायता के ही **कृष्टीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **विचर्षणिः**=विशेषेण द्रष्टा हैं। सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले प्रभु ही हैं। **तं उ**=उनको ही **स्तुहि**=तू स्तुत कर, अर्थात् प्रभु का ही स्तवन करनेवाला बन। (२) वे **वृषक्रतुः**=शक्तिशाली कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभु **पतिः जज्ञे**=सब के स्वामी व रक्षक हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वद्रष्टा सर्वरक्षक हैं। उन्हीं की उपासना करनी योग्य है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शिवः सखा

यो गृणतामिदासिथापिरूती शिवः सखा। स त्वं न इन्द्र मृळय ॥ १७ ॥

(१) हे प्रभो! **यः**=जो **त्वम्**=आप **गृणताम्**=स्तुतिशील पुरुषों के **इत्**=निश्चय से **आपिः आसिथ**=मित्र हैं, वे आप ही **ऊती**=रक्षणों के द्वारा **शिवः**=कल्याणकर **सखा**=मित्र होते हैं। आप ही इन स्तोताओं को अन्तः व बाह्य शत्रुओं से बचाकर कल्याण प्राप्त कराते हैं। (२) **सः**=वे आप **नः**=हमें **मृडय**=सुखी करिये। हम भी आपके स्तवन में प्रवृत्त होकर अशुभों से बचकर शुभ मार्ग पर चलते हुए कल्याण के भागी हों।

भावार्थ—प्रभु ही स्तोताओं के शिव सखा हैं। हम भी प्रभु स्तवन करते हुए कल्याण को प्राप्त करें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रक्षोहत्याय

धिष्व वज्रं गभस्त्यो रक्षोहत्याय वज्रिवः। सासहीष्ठा अभि स्पृधः ॥ १८ ॥

(१) हे **वज्रिवः**=वज्रवन् प्रभो! आप **गभस्त्योः**=हाथों में **वज्रं धिष्व**=वज्र को धारण करिये। और **रक्षोहत्याय**=हमारे राक्षसीभावों के विनाश के लिये होइये। आपके अनुग्रह से क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेकर हम राक्षसीभावों के आक्रमण से बचे रहें। (२) हे प्रभो! आप **स्पृधः**=स्पर्धमान **अभि (गभीः)**=आक्रमण करनेवाले इन शत्रुओं को **सासहीष्ठाः**=पराभूत करिये।

भावार्थ—हम हाथों में वज्र को धारण करके, क्रियाशील बनकर अन्तः व बाह्य शत्रुओं के आक्रमण से अपना रक्षण कर पायें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सखायं

प्रत्नं रयीणां युजं सखायं कीरिचोदनम्। ब्रह्मवाहस्तमं हुवे ॥ १९ ॥

(१) मैं **ब्रह्मवाहस्तमम्**=अतिशयेन ज्ञानों का धारण करनेवाले उस प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ। प्रभु का ज्ञान निरतिशय है। प्रभु का उपासक बनकर मैं भी ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। (२) उस प्रभु को मैं पुकारता हूँ, जो **प्रत्नं सखायम्**=सनातन सखा हैं, जो हमारे मित्र हैं। **रयीणां**

युजम्=धनों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले हैं और **कीरिचोदनम्**=स्तोताओं को सदा सत्प्रेरणा देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना मुझे उस सनातन सखा से 'ज्ञान, धन व उत्तम प्रेरणा' को प्राप्त करायेगी।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अध्रिगुः

स हि विश्वा॑नि पार्थि॑वाँ एको॒ वसू॑नि पत्य॑ते। गिर्व॑णस्तमो॒ अध्रि॑गुः॥ २०॥

(१) **सः**=वह **एकः**=अद्वितीय प्रभु **हि**=ही **विश्वानि**=सब **पार्थिवा**=पृथिवी में होनेवाले **वसूनि**=धनों को **पत्यते**=अपने में सुरक्षित करते हैं। सम्पूर्ण धनों के स्वामी वे प्रभु ही हैं। (२) ये प्रभु **गिर्वणस्तमः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा अधिक-से-अधिक सम्भजनीय हैं व **अध्रिगुः**=अधृतगमन हैं, प्रभु को अपने कार्यों में कोई विहत नहीं कर पाता।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की वाणियों द्वारा सम्भजनीय हैं, सर्वशक्तिमान् हैं। प्रभु ही सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'गोमद्भिः अश्विभिः' वाजेभिः

स नो॑ नियुद्भि॒रा पृ॑ण॒ कामं॒ वाजे॑भिर॒श्विभि॑:। गोम॑द्भि॒र्गोप॑ते धृष॒त्॥ २१॥

(१) हे प्रभो! **सः**=वे आप **धृषत्**=शत्रुओं के धर्षण होते हुए **नः कामम्**=हमारी कामना को **नियुद्भिः**=निश्चय से कार्यों में व्यापृत होनेवाले इन्द्रियाश्वों से **आपृण**=पूरित करिये। कार्यव्यापृति ही कामनापूर्ति का साधन है। (२) हे **गोपते**=इन ज्ञान की वाणियों के स्वामिन् प्रभो! आप **गोमद्भिः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले व **अश्विभिः**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाले **वाजेभिः**=बलों से हमारी कामनाओं को पूर्ण करिये, हमें वह शक्ति प्राप्त कराइये जिससे कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ ठीक बनी रहें। यही सुख प्राप्ति का साधन है, वस्तुतः यही 'सु-ख' है, उत्तम इन्द्रियों का होना।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं का धर्षण करते हुए हमें प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बल को प्राप्त करायें। यह बल हमारे सब इष्टों का साधक हो।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मिलकर प्रभु का गुणगान

तद्वो॑ गाय सु॒ते सचा॑ पुरुहू॒ताय॒ सत्व॑ने। शं यद्गवे॒ न शा॒किने॑॥ २२॥

(१) **वः**=तुम **सुते**=शरीर में सोम का सम्पादन करने पर **सचा**=मिलकर **पुरुहूताय**=पालक व पूरक पुकारवाले, जिसकी प्रार्थना हमारा पालन व पूरण करती है, उस **सत्वने**=शत्रुओं के सादयिता (नाशक) व धनों के दाता प्रभु के लिये **तद् गाय**=उन स्तोत्रों का गायन करो। (२) **यत् गवे न**=(गमयति) अर्थात् सब अर्थों के ज्ञापक के **न**=समान **शाकिने**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिये उस स्तोत्र का गायन करो **यत्**=जो **शम्**=शान्ति का देनेवाला हो। वस्तुतः प्रभु को सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् के रूप में सोचते हुए हम भी ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करने की प्रेरणा लेते हैं और इस प्रकार जीवन में शान्ति को पाते हैं।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करते हुए मिलकर घरों में प्रभु का गायन करें। यह गायन

हमें ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करने की प्रेरणा देगा और हमारे जीवन को शान्त बनायेगा।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु स्तवन से ज्ञानयुक्त शक्ति की प्राप्ति

न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः। यत्सीमुप श्रवद्गिरः॥ २३॥

(१) **यत्**=जब **वसुः**=सबके बसानेवाले वे प्रभु **गिरः**=हमारी स्तुति वाणियों को **सीम्**=निश्चय से **उपश्रवद्**=सुनते हैं, तो **घा**=निश्चय से **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले **वाजस्य**=शक्ति के **दानम्**=दान को **न नियमते**=उपरत नहीं करते, अर्थात् हमें ज्ञान व बल प्राप्त कराते ही हैं। (२) प्रभु सबको बसानेवाले हैं। इस निवास के लिये ही वे हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं। जब हम प्रभु का स्तवन करते हैं तो हमें प्रभु ज्ञानयुक्त शक्ति देकर उत्तम निवासवाला करते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु वसु हैं, हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं। इसलिए ही वे हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं। सो हम सदा प्रभु स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कुवित्स का गोमान् व्रज

कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत्। शचीभिरप नो वरत्॥ २४॥

(१) **दस्युहा**=दास्यव (=राक्षसी) भावों का विनाश करनेवाले प्रभु **कुवित्सस्य**=(कुवित् स्यति) खूब ही शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले उपासक के **हि**=निश्चय से **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **व्रजम्**=इस शरीररूप गोष्ठ को **गमत्**=प्राप्त होते हैं। (२) यहाँ हम कुवित्सों को प्राप्त होकर वे प्रभु **नः**=हमारी इन इन्द्रियरूप गौओं को **शचीभिः**=अपने प्रज्ञानों व बलों से **अपवरत्**=वासना के आवरण से रहित करते हैं। हम भी वासनाओं को दूर करने के लिये यत्नशील हों। प्रभु हमारी इन्द्रियों को इन विषयों के आवरण से रहित करेंगे।

भावार्थ—प्रभु हमारे दास्यवभावों को विनष्ट करके हमारी इन्द्रियों को अज्ञान के आवरण से रहित करते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु स्तवन

इमा उ त्वा शतक्रतोऽभि प्र णोनुवुर्गिरः। इन्द्र वत्सं न मातरः॥ २५॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! **इमाः**=ये **नः**=हमारी **गिरः**=स्तुति-वाणियाँ **उ**=निश्चय से **त्वा अभि**=आपका लक्ष्य करके **प्रणोनुवुः**=उच्चरित होती हैं। अर्थात् हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हमारी स्तुतिवाणियाँ इस प्रकार आपके प्रति उच्चरित होती हैं **न**=जैसे कि **मातरः**=मातृभूत गौवें **वत्सम्**=बछड़े का लक्ष्य करके हंभा रव को करती हैं। धेनुओं को जैसे बछड़े से प्रेम होता है, उसी प्रकार हमारी स्तुति-वाणियाँ आपके प्रति प्रेमवाली हों। अर्थात् हम आपकी स्तुति में आपका अनुभव करें।

भावार्थ—हम सदा प्रीतिपूर्वक उस 'शतक्रतु इन्द्र' नामक प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दूणाशं सख्यं तव (प्रभु की अटूट मैत्री)

दूणाशं सख्यं तव गौरसि वीर गव्यते। अश्वो अश्वायते भव॥ २६॥

(१) हे **वीर**=शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभो! **तव सख्यम्**=आपकी मित्रता **दूणाशम्**=नष्ट नहीं की जा सकती, अर्थात् अटूट है। सांसारिक मित्रताएँ स्वार्थवश विनष्ट हो जाती हैं, पर प्रभु की मित्रता कभी टूटनेवाला नहीं। (२) हे प्रभो! आप **गव्यते**=ज्ञानेन्द्रियों की कामनावाले पुरुष के लिये **गौः असि**=(गौः=गोदाता) ज्ञानेन्द्रिय बन जाते हैं, उसे ज्ञानेन्द्रियों के देनेवाले होते हैं तथा **अश्वायते**=कर्मेन्द्रियों की कामनावाले इस उपासक के लिये **अश्वः भव**=कर्मेन्द्रिय हो जाते हैं, इसे कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे अजरामर सखा हैं। हमें प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों व प्रशस्त कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

न स्तोतारं निदे करः

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे। न स्तोतारं निदे करः ॥ २७ ॥

(१) हे प्रभो! **सः**=वे आप **हि**=निश्चय से **अन्धसः**=सोमरूप अन्न से सोम के द्वारा **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार से **मन्दस्व**=हमें आनन्दित करिये। जिससे हम **महे राधसे**=महान् ऐश्वर्य के लिये हों। सोमरक्षण द्वारा शक्तियों का विस्तार ही महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति का साधन बनता है। (२) हे प्रभो! आप **स्तोतारम्**=अपने इस स्तोता को **निदे**=निन्दनीय कर्मों के लिये **नकरः**=न करिये। अर्थात् यह स्तोता कभी निन्दा का पात्र न बने। आपकी प्रेरणा इसे सदा सत्कर्मों में व्यापृत रखे।

भावार्थ—हम सोमरक्षण द्वारा शक्तियों का विस्तार करते हुए महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करें। प्रभु का स्तवन हमें निन्दनीय कर्मों से दूर रखे।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण व प्रभु स्तवन

इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः। वत्सं गावो न धेनवः ॥ २८ ॥

(१) हे **गिर्वणः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित इन स्तुति-वाणियों से सेवनीय प्रभो! **इमाः गिरः**=ये वाणियाँ **उ**=निश्चय से **त्वा**=आपको **सुते सुते**=सोम का जब-जब सम्पादन होता है तब-तब, अर्थात् शरीर में सोम का रक्षण होने पर **नक्षन्ते**=व्याप्त करती हैं। सोमरक्षण के अभाव में हमारी वृत्ति असंयम व भोग की होकर प्रभु से दूर प्रकृति की ओर भागी हुई होती है। (२) हे प्रभो! हमारी यही कामना है कि **न**=जैसे **धेनवः गावः**=दोग्ध्री गौवें, नवसूतिका गौवें **वत्सम्**=बछड़े की ओर प्रेम से जाती हैं, इसी प्रकार हमारी स्तुति-वाणियाँ आपकी ओर आनेवाली हों। सदा प्रभु का स्तवन करते हुए ही वस्तुतः हम सोम का रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—हम सदा ज्ञानपूर्वक प्रभु की स्तुति-वाणियों का उच्चारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'पुरू-तम' प्रभु

पुरूतमं पुरूणां स्तोतॄणां विवाचि। वाजेभिर्वाजयताम् ॥ २९ ॥

(१) **पुरूणाम्**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **स्तोतॄणाम्**=इन स्तोताओं की स्तुति-वाणियाँ, हे प्रभो! आपको व्याप्त करती हैं, जो आप **पुरूतमम्**=(पुरूणां तमयितारं) बहुत भी शत्रुओं के ग्लापयिता-क्षीण करनेवाले हैं। आपका स्तवन स्तोता के काम-क्रोध आदि शत्रुओं का

विनाश करता है। (२) इसीलिए इन **वाजेभिः**=शक्तियों से **वाजयताम्**=अपने को शक्तिशाली बनाने की कामनावाले स्तोताओं की वाणियाँ **विवाचि**=विशिष्ट ज्ञान की वाणियों के उच्चारण के होने पर आपको ही स्तुत करती हैं। वस्तुतः आपका स्तवन ही इन विशिष्ट ज्ञान की वाणियों की प्राप्ति का साधन बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं को अधिक से अधिक क्षीण करनेवाले हैं। हम प्रभु का ही स्तवन करें और विशिष्ट ज्ञान की वाणियों को व बलों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वाहिष्ठः अन्तमः' स्तोमः

अस्माकमिन्द्र भूतु ते स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः। अस्मान्राये महे हिनु॥ ३०॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **ते स्तोमः**=आपका स्तोम, स्तुतिसमूह **अस्माकम्**=हमारा **वाहिष्ठः**=अधिक से अधिक आपके समीप प्राप्त करानेवाला **भूतु**=हो। यह स्तोम ही **अन्तमः**=हमारा अन्तिक-तम हो, हमारे लिये अधिक से अधिक समीप व प्रिय हो। हम सदा अतिशयेन प्रीतिपूर्वक आपका स्तवन करनेवाले बनें। (२) हे प्रभो! **अस्मान्**=हम स्तोताओं को आप **महे राये**=महान् ऐश्वर्य के लिये, भौतिक ऐश्वर्य से ऊपर उठकर अध्यात्म ऐश्वर्य के लिये **हिनु**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, प्रभु स्तवन ही हमें अतिशयेन प्रिय हो। यह हमें अध्यात्म ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला बने।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**बृबुस्तक्षा** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

पणीनां बृबुः

अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्। उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः॥ ३१॥

(१) **पणीनाम्**=पणियों का, एकदम सांसारिक लोभ आदि वृत्तियों का **बृबुः**=(हन्तो द०) उच्छेदन करनेवाला **पुरुः वर्षिष्ठे मूर्धन् अधि**=सर्वोच्च शिखर पर **अस्थात्**=स्थित होता है। अधिक से अधिक उन्नत स्थिति में पहुँचता है। लोभ आदि कृपणतापूर्ण वृत्तियों को समाप्त करके ही हम उन्नति के शिखर पर पहुँचते हैं। (२) **न**=जैसे **गाङ्ग्यः**=एक तीव्रगति (गच्छति इति गंगा) वाली नदी के तट पर होनेवाला **कक्षः**=तृण भी समुद्र तक पहुँचता है, इसी प्रकार यह लोभद्वेष्टा पुरुष प्रभु तक पहुँचता है और **उरुः**=विशाल बनता है। प्रभु को प्राप्त करके प्रभु जैसा ही हो जाता है।

भावार्थ—हम लोभ आदि कृपणतापूर्ण वृत्तियों का उच्छेदन करके उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर स्थित हों। तीव्र गतिवाले नदी के तट का तृण जैसे समुद्र को प्राप्त करता है, उसी प्रकार हम उस विशाल प्रभु को प्राप्त करके विशाल ही हो जाएँ।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**बृबुस्तक्षा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

भद्रा रातिः सहस्त्रिणी

यस्य वायोरिव द्रवद्भद्रा रातिः सहस्त्रिणी। सद्यो दानाय मंहते॥ ३२॥

(१) **यस्य**=जिसकी **सहस्त्रिणी रातिः**=सहस्र संख्यावाली व प्रसन्नतापूर्वक की गई (सहस्) दान क्रिया **वायोः इव**=वायु के समान **द्रवत्**=सर्वत्र गतिवाली होती है, वह दान क्रिया इसके लिये **भद्रा**=सदा कल्याणकारिणी व सुख देनेवाली होती है। (२) इस प्रकार दान के शुभ परिणामों को देखता हुआ यह व्यक्ति **सद्यः**=शीघ्र **दानाय**=दान के लिये **मंहते**=धनों को देता है। अथवा

दानाय (दाप् लवने)=शत्रुओं के उच्छेदन के लिये **मंहते**=दानवृत्तिवाला होता है।

भावार्थ—प्रसन्नतापूर्वक की गयी दान क्रियाएँ मनुष्य का कल्याण ही करती हैं, ये आसुरभावों का उच्छेदन भी करती हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**बृबुस्तक्षा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सहस्रदातमं-सहस्रासातमम्

तत्सु नो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः। बृबुं सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमम्॥ ३३॥

(१) **नः**=हमारे **विश्वे**=सब **अर्यः**=स्तुतियों के प्रेरक (ईरयितारः) **कारवः**=कुशलता से कार्यों को करनेवाले लोग **सु**=अच्छी प्रकार **सदा**=सदा **तद्-आगृणन्ति**=उस प्रभु का ही स्तवन करते हैं। प्रभु स्तवन ही उन्हें कार्यदक्षता प्राप्त कराता है। (२) उस प्रभु को ये स्तुत करते हैं जो **बृबुम्**=सब अशुभ-वृत्तियों के उच्छेदक हैं। **सहस्रदातमम्**=अतिशयेन धनों के देनेवाले हैं। **सूरिम्**=ज्ञानी हैं और **सहस्रासातमम्**=हजारों ऐश्वर्यों के प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए हम प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु हमारे शत्रुओं के उच्छेदक हैं व शतशः धनों के देनेवाले हैं।

अगले सूक्त में भी शंयु ही इन्द्र का स्तवन करते हैं—

[४६] षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु के आराधन के लाभ

त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः। त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः॥ १॥

(१) **कारवः**=कुशलता से कार्यों को करनेवाले स्तोता लोग **वाजस्य सातौ**=शक्ति की प्राप्ति के निमित्त **त्वां इत् हि**=आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आप ही सब शक्तियों के देनेवाले हैं। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **वृत्रेषु**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं के विनाश के निमित्त **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **त्वाम्**=आपको पुकारते हैं तथा **अर्वतः**=अश्व सम्बन्धिनी **काष्ठासु**=(race ground) पलायन भूमियों में, **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **त्वाम्**=आपको पुकारते हैं। इन्द्रियाँ जब अपने मार्गों पर गति करती हैं तो नर प्रभु का ही स्मरण करते हैं, जिससे वे इन्द्रियाँ मार्गभ्रष्ट न हों।

भावार्थ—प्रभु का आराधन (१) हमें शक्ति देता है, (२) वासनाओं का विनाश करता है तथा (३) इन्द्रियों को मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

महः, गौ, अश्व, वाज

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः स्तवानो अद्रिवः।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे॥ २॥

(१) हे **चित्र**=चायनीय-पूजनीय **वज्रहस्त**=दुष्टों को दण्ड देने के लिये हाथ में वज्र लिये हुए **अद्रिवः**=शत्रुओं से न विदीर्ण किये जानेवाले प्रभो! **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमारे लिये **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण के हेतु से **महः**=तेजस्विता को **सं किर**=दीजिये। आप से तेजस्विता को प्राप्त करके हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले

बनें। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **रथ्यम्**=शरीररूपी रथ में उत्तमता से कार्य करनेवाली **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों व **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को **संकिर**=दीजिये और हे प्रभो! **सत्रा**=सदा **जिग्युषे न**=जैसे एक विजयशील पुरुष के लिये उसी प्रकार हमें **वाजम्**=शक्ति को दीजिये। एक इन्द्रियों को जीतनेवाला पुरुष जैसे शक्ति-सम्पन्न बनता है, उसी प्रकार हम भी शक्ति को प्राप्त करें।

भावार्थ—स्तुति किये जाते हुए प्रभु हमारे लिये शक्ति को दें, जिससे कि हम शत्रुओं के विजेता बनें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शक्ति प्राप्ति व संग्राम विजय

यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम्।
सहस्रमुष्क तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे॥ ३॥

(१) **यः**=जो **सत्राहा**=महान् शत्रुओं के नाशक **विचर्षणिः**=हमारा विशेषरूप से ध्यान करनेवाले प्रभु हैं, **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **वयम्**=हम **हूमहे**=पुकारते हैं। प्रभु का आराधन हमें शत्रुओं के विनाश के योग्य बनाता है। (२) हे **सहस्रमुष्क**=अनन्त वीर्यवाले **तुविनृम्ण**=महान् धनवाले **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! आप **समत्सु**=संग्रामों में **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिये **भवा**=होइये। आप से शक्ति की वृद्धि को प्राप्त करके ही तो हम संग्रामों में विजयी बनेंगे।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं और आप ही हमें संग्रामों में विजयी करते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तनूषु अप्सु सूर्ये

बाधसे जनान्वृषभेव मन्युना घृषौ मीळ्ह ऋचीषम।
अस्माकं बोध्यविता महाधने तनूष्वप्सु सूर्ये॥ ४॥

(१) हे **ऋचीषम**=हे ऋचासम=स्तुति के समान, अर्थात् जितनी भी स्तुति की जाए प्रभु उससे अधिक ही हैं, ऐसे प्रभो! इस **घृषौ**=शत्रुओं का घर्षण करनेवाले **मीढे**=संग्राम में **वृषभा इव**=शक्ति के सेचन की तरह (वृषभेण इव) **मन्युना**=ज्ञान से **जनान्**=शत्रुजनों को **बाधसे**=तू बाधित करता है। प्रभु हमें शक्ति देते हैं और ज्ञान देते हैं। इस शक्ति व ज्ञान के द्वारा प्रभु हमें संग्राम में विजयी बनाते हैं। (२) हे प्रभो! आप **महाधने**=इस संग्राम में **अस्माकम्**=हमारे **अविता बोधि**=रक्षक होइये। **तनूषु**=शक्तियों के विस्तार के निमित्त, **अप्सु**=रेतःकणों के रक्षण के निमित्त तथा **सूर्ये**=ज्ञान के सूर्य के उदय के निमित्त हमारे रक्षक होइये। आप से रक्षित हुए-हुए हम शक्तियों का विस्तार करें, रेतःकणों का रक्षण करें तथा ज्ञानसूर्य को मस्तिष्क रूप गगन में उदित करें।

भावार्थ—यहाँ जीवन संग्राम में प्रभु ही हमारे शत्रुओं को पीड़ित करते हैं। प्रभु से रक्षित हुए-हुए हम 'शक्ति विस्तार, रेतःकणों के रक्षण व ज्ञानसूर्योदय' को करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'ज्येष्ठ–ओजिष्ठ–पपुरि–शवस्'

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः।
येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे लिये **ज्येष्ठम्**=प्रशस्यतम **ओजिष्ठम्**=अत्यन्त ओजस्वी **पपुरि**=पालक व पूरक **श्रवः**=ज्ञान को **आभर**=प्राप्त कराइये। (२) हे **चित्र**=चायनीय-पूजनीय, **वज्रहस्त**=वज्र हाथ में लिये हुए प्रभो! दुष्टों को दण्ड देनेवाले **सुशिप्र**=उत्तम हनु व नासिकावाले प्रभो! उस ज्ञान को हमें प्राप्त कराइये **येन**=जिससे कि **इमे उभे**=इन दोनों **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **आ प्राः**=आप पूरित करते हैं। यहाँ 'सुशिप्र' सम्बोधन इस भाव को व्यक्त कर रहा है कि हम खूब चबाकर खायें (हनु) और प्राणायाम करें (नासिका) जिससे शरीर के रोगों व मन के दोषों से दूर रहते हुए हम उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त कर सकें। प्रभु सुशिप्र हैं, हम भी सुशिप्र बनें और 'ज्येष्ठ ओजिष्ठ पपुरि श्रव' को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु हमें वह प्रशस्त ज्ञान दें जिससे कि वे सब का पूरण करते हैं, सब की न्यूनताओं को दूर करते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**ब्राह्मीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अमित्रान् सुषहान् कृधि

त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन्देवेषु हूमहे।
विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसोऽमित्रान्त्सुषहान्कृधि॥ ६॥

(१) हे **देवेषु राजन्**=सब सूर्य आदि देवों में दीप्त होनेवाले, अर्थात् सूर्य आदि को दीप्त करनेवाले प्रभो! **उग्रम्**=तेजस्वी **चर्षणीसहम्**=शत्रुगणों का अभिभव करनेवाले **त्वाम्**=आपको **अवसे**=रक्षण के लिये **हूमहे**=पुकारते हैं। आपकी शक्ति व दीप्ति से हमारा रक्षण होना है। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **विश्वा**=सब **पिब्दना**=(पेष्टुमर्हाणि शत्रुसैन्यानि द०) पीस देने योग्य शत्रु-सैन्यों को **सुविथुरा कृधि**=अच्छी प्रकार व्यथित व बाधित करिये। **अमित्रान्**=हमारे शत्रुभूत जनों को **सुषहान्**=सुखेन अभिभवितुं शक्य, सुगमता से जीते जाने योग्य करिये। हम शत्रुओं को सुगमता से जीत सकें।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं। प्रभु हमारे लिये शत्रुओं को पराजित करनेवाले हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ओज–नृम्ण–द्युम्न–पौंस्य

यदिन्द्र नाहुषीष्वाँ ओजो नृम्णं च कृष्टिषु।
यद्वा पञ्च क्षितीनां द्युम्नमा भर सत्रा विश्वानि पौंस्या॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **ओजः**=बल **च**=और **नृम्णम्**=धन **नाहुषीषु**=मानव **कृष्टिषु**=प्रजाओं में होना चाहिए उसे **आभर**=हमारे लिये प्राप्त कराइये। (२) **यद्वा**=और जो **पञ्च क्षितीनाम्**='अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' इन पाँचों भूमियों का **द्युम्नम्**=आन्तर ऐश्वर्य है, उसे हमारे लिये प्राप्त कराइये और **सत्रा**=सत्य **विश्वानि**=सब

पौंस्यानि=बलों को हमें प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें 'ओज, नृम्ण, द्युम्न व पौंस्य' प्राप्त हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'तृक्षु-द्रुह्यु-पूरु' का बल

यद्वा॑ तृ॒क्षौ म॑घवन्द्रु॒ह्यावा॒ जने॒ यत्पू॒रौ कच्च॒ वृष्ण्य॑म्।
अ॒स्मभ्यं॒ तद्रि॑रीहि॒ सं नृ॒षाह्ये॒ऽमित्रा॒न्पृत्सु॑ तु॒र्वणे॑ ॥ ८ ॥

(१) हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यद्वा**=जो कुछ **वृष्ण्यम्**=बल **तृक्षौ**=(तृक्ष् to go) गतिशील पुरुष में हैं, **तत्**=उस बल को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **नृषाह्ये**=(नृभिः सोढव्ये युद्धे प्रवृते सा०) नर पुरुषों से सोढव्य संग्राम के होने पर **संहिरीहि**=सम्यक् दीजिये। इस गतिशील पुरुष के बल को प्राप्त करके हम सदा संग्राम में आगे बढ़ें, भाग न खड़े हों। (२) **द्रुह्यौ**=वासनाओं के प्रति विद्रोह (revolt) करनेवाले मनुष्य में जो बल है, उसे हमारे लिये **अमित्रान् तुर्वणे**=इन शत्रुभूत वासनाओं के संहार के निमित्त दीजिये। इस द्रुह्यु के बल से युक्त होकर हम वासनाओं का संहार कर सकें। (३) **यत् कत् च**=जो कुछ बल **पूरौ**=अपना पालन व पूरण करनेवाले में है, उसे हमारे लिये **पृत्सु**=इन संग्रामों के निमित्त दीजिये। इस पूरु के बल को प्राप्त करके हम जीवन-संग्राम में सदा विजयी हों।

भावार्थ—हमें गतिशील, वासनाओं के प्रति विद्रोह की भावनावाले व अपना पालन व पूरण करनेवाले पुरुष का बल प्राप्त हो, जिससे कि हम सदा संग्राम में विजयी हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

उत्तम गृह

इन्द्र॑ त्रि॒धातु॑ शर॒णं त्रि॒वरू॑थं स्व॒स्ति॒मत्।
छ॒र्दिर्य॑च्छ म॒घव॑द्भ्यश्च॒ मह्यं॑ च या॒वया॑ दि॒द्युमे॑भ्यः ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों के लिये **शरणम्**=गृह को **यच्छ**=दीजिये। जो घर **त्रिधातु**=तीनों बालक, युवक व वृद्धों का सम्यक् धारण करनेवाला हो। **त्रिवरूथम्**=शीत, आतप व वर्षा तीनों का निवारण करनेवाला हो। **स्वस्तिमत्**=कल्याणकर हो। **छर्दिः**=उत्तम छत से युक्त हो (छर्दिष्मत्)। (२) **च**=और इस प्रकार के गृहों को प्राप्त कराके आप **मह्यम्**=मेरे लिये **एभ्यः**=इन गृहों से **दिद्युम्**=खण्डनकारिणी (दो अवखण्डने) विद्युत् को **यावया**=पृथक् करिये। इन घरों पर विद्युत् पतन का भय न हो।

भावार्थ—हम उत्तम गृहों को बनाकर स्वस्थ मन से उनमें निर्भयतापूर्वक रहते हुए उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तनूपाः, अन्तमः

ये ग॑व्य॒ता मन॑सा॒ शत्रु॑माद॒भुर॑भिप्र॒घ्नन्ति॑ धृ॒ष्णुया॑।
अध॑ स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनू॒पा अन्त॑मो भव ॥ १० ॥

(१) उपरले मन्त्र के अनुसार उत्तम घरों में रहते हुए हम वे बनें **ये**=जो **गव्यता मनसा**=(गाः=आगमन इच्छता) ज्ञान की वाणियों को अपनाने की कामनावाले मन से **शत्रुं**

आदभुः=कामरूप शत्रु को हिंसित करते हैं। और **धृष्णुया**=शत्रु-घर्षण शक्ति के द्वारा **अभिप्रघ्नन्ति**=इन वासनारूप शत्रुओं का समन्तात् विनाश करते हैं। (२) **अध**=अब, हे मघवन् **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यशालिन् शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **स्मा**=निश्चय से **नः**=हमारे होइये, हम आपकी ओर झुकाववाले हों। हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से सम्भजनीय प्रभो! आप हमारे **तनूपाः**=शरीरों के रक्षक **अन्तमः**=अन्तिकतम मित्र **भव**=होइये।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों की कामनावाले होते हुए शत्रुओं का धर्षण करें। प्रभु के मित्र बनें, प्रभु हमारे रक्षक अन्तिकतम मित्र हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु स्मरण व विजय

अधं स्मा नो वृधे भवेन्द्र नायमंवा युधि।
यदुन्तरिंक्षे पतयंन्ति पुर्णिनों दिद्यवंस्तिग्ममूर्धानः ॥ ११ ॥

(१) **अध**=अब **स्मा**=निश्चय से **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिये **भव**=होइये। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **युधि**=युद्ध में **नायम्**=हमारे अग्रणी नेता का **अवा**=रक्षण करिये। (२) उस युद्ध में रक्षण करिये, **यत्**=जब कि **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में, चारों ओर के वातावरण में **पर्णिनः**=अग्रभाग में जिनके पंख लगे हुए हैं ऐसे, **तिग्ममूर्धानः**=बड़े तेज शिखरोंवाले **दिद्यवः**=घातक बाण **पतयन्ति**=निरन्तर गिर रहे हैं। इन युद्धों में प्रभु स्मरण ही शक्ति देता है।

भावार्थ—युद्धों में, प्रभु स्मरण हमारे लिये रक्षक हो। प्रभु स्मरणपूर्वक युद्ध करते हुए हम विजयी बनें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पितृलोक की प्राप्ति

यत्र शूरांसस्तन्वों वितन्वते प्रिया शर्मं पितॄणाम्।
अधं स्मा यच्छ तुन्वे॒३ तनें च छुर्दिरचित्तं यावय द्वेषः ॥ १२ ॥

(१) **यत्र**=जहाँ **शूरासः**=शूर-वीर लोग **तन्वः**=अपने शरीरों को **वितन्वते**=(वितन=to give) देश हित के लिये दे डालते हैं तो ये **पितॄणाम्**=पितरों के **प्रियाशर्म**=प्रिय गृहों को (=लोकों को) प्राप्त होते हैं। अर्थात् युद्ध में प्राणत्याग उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति का कारण बनता है। (२) **अध**=अब **स्मा**=निश्चय से **तन्वे**=हमारे शरीरों के लिये **तने च**=और सन्तानों के लिये **छर्दिः**=रक्षक गृह को **यच्छ**=कीजिये। हम शत्रु विजय करके सुरक्षित गृहों में निवास करनेवाले हों। हे प्रभो! आप **अचित्तं द्वेषः**=मूर्खतापूर्ण द्वेष को **यावय**=हमारे से पृथक् करिये। हम व्यर्थ में द्वेष के कारण युद्धों में प्रवृत्त न हो जाएँ।

भावार्थ—हम मूर्खता से द्वेषवश युद्धों में प्रवृत्त न हो जाएँ। युद्ध आ ही जाये, तो जीवन के त्याग के लिये तैयार हों। यही उत्तम लोकों की प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

श्येन-श्रवस्यन्

यदिन्द्र सर्गे अर्वतश्चोदयासे महाधने।
असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येनाँइव श्रवस्यतः ॥ १३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब **असमने**=(Unequal) विषम **अध्वनि**=मार्ग में, **वृजिने**=कुटिल **पथि**=पथ में भटकते हुए इन **अर्वतः**=इन्द्रियाश्वों को **सर्गे**=(onset, advance of troop) सैन्यों के आक्रमणवाले **महाधने**=संग्राम में **चोदयासे**=प्रेरित करते हैं। बजाय इसके कि ये इन्द्रियाश्व कुटिल मार्गों में भटकते रहें, प्रभु कृपा से ये अध्यात्म संग्राम में प्रवृत्त हों। (२) हे प्रभो! इस प्रकार हमारी इन इन्द्रियों को आप **श्येनान् इव**=शीघ्र शंसनीय गतिवाली बनाइये और इसी प्रकार **श्रवस्यतः**=ज्ञान की कामनावाली करिये। कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में शीघ्रता से व्याप्त हों, तो ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—इन्द्रियाँ कुटिल पथ में न भटककर अध्यात्म संग्राम में प्रवृत्त होकर काम आदि शत्रुओं के आक्रमण से अपने को बचाएँ। शुभ कर्मों व ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः प्रगाथो वा** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आवृत्त चक्षुष्कता

सिन्धूँरिव प्रवण आशुया यतो यदि क्लोशमनु ष्वणि।
आ ये वयो न वर्वृतत्यामिषि गृभीता बाह्वोर्गवि॥ १४॥

(१) **प्रवणे**=निम्न प्रदेश की ओर **यतः**=जाते हुए **सिन्धून् इव**=नदियों की तरह निम्न प्रकृति के भोगों के मार्ग की ओर **आशुया**=शीघ्रता से जाते हुए इन्द्रियाश्वों को **यदि**=यदि **क्लोशं अनु**=भय का लक्ष्य करके **स्वनि**=आवाज के होने पर, हे प्रभो! आप उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं तो **ये**=जो इन्द्रियाश्व **आवर्वृतति**=सर्वथा विषयों से लौट आते हैं। (२) ये इन्द्रियाश्व, **न**=जैसे **आमिषि**=मांस में **वयः**=पक्षी फिर-फिर लौट आते हैं, उसी प्रकार **गृभीताः**=ग्रहण किये हुए, वशीभूत हुए-हुए **बाह्वोः**=बाहुओं में (बाह्वप्रयत्ने) अभ्युदय व निःश्रेयस के लिये किये जानेवाले प्रयत्नों में तथा **गवि**=ज्ञान की वाणियों में आवृत्त होते हैं, अर्थात् इन्हीं में निरन्तर लगे रहते हैं। इन्हीं में लगे रहना ही निर्भयता का मार्ग है।

भावार्थ—सामान्यतः इन्द्रियाँ निम्न मार्ग की ओर जाती हैं। उधर भय होने पर ये लौटती हैं और अब उत्तम ऐहिक व पारलौकिक प्रयत्नों में तथा ज्ञान की वाणियों में प्रवृत्त होते हैं।

आवृत्त चक्षु बनकर यह विषयों से ऊपर उठ जाता है और सोमपान करनेवाला बनता है ('गिरति' इति गर्गः) सो गर्ग कहलाता है। सोमरक्षण से अपने में शक्ति को भरनेवाला यह भरद्वाज है। यह कहता है—

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'स्वादु, मधुमान्, तीव्र, रसवान्' सोम

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥ १॥

(१) **किल**=निश्चय से **अयम्**=यह सोम **स्वादुः**=जीवन को स्वादवाला बनाता है। **उत**=और **अयम्**=यह **मधुमान्**=वाणी में माधुर्य का संचार करनेवाला है। **किल**=निश्चय से **अयम्**=यह **तीव्रः**=रोगकृमियों के संहार के लिये बड़ा उग्र है। **उत**=और नीरोगता के द्वारा **अयं रसवान्**=यह जीवन को रसवाला बनाता है। (२) **उत उ**=और निश्चय से **नु**=अब **अस्य पपिवांसम्**=इसका

खूब पान करनेवाले इस **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **कश्चन**=कोई भी **आहवेषु**=युद्धों में **न सहते**=नहीं पराभूत कर पाता है। न इसे रोग और नां ही वासनाएँ दबा पाती हैं।

भावार्थ—सोम शरीर में पिया जाने पर रोगों को नष्ट करके जीवन को मधुर बनाता है, वासनाओं को नष्ट करके जीवन को रसवान् बनाता है। सोमरक्षक अपराजित होता है।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

निन्यानवें आसुरपुरियों का विध्वंस

अयं स्वादुरिह मदिष्ठ आस यस्येन्द्रो वृत्रहत्ये ममाद।
पुरूणि यश्च्यौत्ना शम्बरस्य वि नवतिं नव च देह्यो३हन्॥ २॥

(१) **अयम्**=यह सोम **स्वादुः**=आस्वादित करने योग्य है। **इह**=यहाँ **मदिष्ठः आस**=अतिशयेन मादयिता होता है। **यस्य**=जिस सोम के पान से **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्रहत्ये**=वासनारूप वृत्र के विनाश में **ममाद**=उल्लासमय हुआ। (२) **यः**=जो सोम **शम्बरस्य**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाली ईर्ष्या के **पुरूणि**=बहुत अधिक **च्यौत्ना**=बलों को **हन्**=नष्ट करता है **च**=और **नवतिं नव**=निन्यानवे **देह्यः**=उपचित (=बढ़ी हुई) वृद्धि को प्राप्त हुई-हुई आसुरपुरियों को (हत्=) विनष्ट करता है। सोम के रक्षण के होने पर ईर्ष्या व अन्य आसुरभाव विनष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर (क) जीवन को मधुर बनाता है, (ख) वासना विनाश द्वारा जीवन को उल्लासमय करता है, (ग) ईर्ष्या के बल को समाप्त कर देता है, (घ) आसुरभावों को विनष्ट करता है।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मनीषाम् ओषधि

अयं मे पीत उदियर्ति वाचमयं मनीषामुशतीमजीगः।
अयं षळुर्वीरमिमीत धीरो न याभ्यो भुवनं कच्चनारे॥ ३॥

(१) **पीतः**=पिया हुआ, शरीर में ही सुरक्षित किया हुआ **अयम्**=यह सोम **मे वाचम्**=मेरे लिये ज्ञान की वाणियों को **उदियर्ति**=उद्गत करता है। **अयम्**=यह **उशती**=कान्त **मनीषाम्**=बुद्धि को (उद्य् अजीगः:=(उद्गार यति) प्रकाशित करता है। (२) **अयम्**=यह **धीरः**=बुद्धि को प्रेरित करनेवाला सोम (धियं ईरयति) **षट्**=छः **उर्वीः**='द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन-रात व जल ओषधि' रूप उर्वियों को **अमिमीत**=सम्यक् जाननेवाला होता है। उन उर्वियों को **याभ्यः**=जिनसे कि **कच्चन भुवनं आरे न**=कोई भी लोक व प्राणी दूर नहीं होता। सब प्राणियों के जीवन का आधार ये छः उर्वियाँ ही हैं। सोमरक्षक इन्हें सम्यक् जाननेवाला होता व अपने जीवन में इनका ठीक निर्माण करता है। मस्तिष्क ही द्युलोक है, पृथिवी शरीर है। इन्हें तो वह बनाते ही हैं। एक-एक दिन को वह ठीक बिताता है व दीर्घजीवनवाला होता है और जल-ओषधियों का समुचित प्रयोग करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (१) ज्ञान की वाणियों को उदित करता है, (२) बुद्धि को प्रकाशित करता है, (३) हमारे जीवन में 'द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन-रात व जल ओषधियों' का ठीक स्थान में रखता है।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वह महान् सोम' प्रभु

अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः।
अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधारोर्वन्तरिक्षम्॥ ४॥

(१) **अयम्**=यह प्रभु ही सोम है **सः यः**=वह जो **पृथिव्याः**=पृथिवी के **वरिमाणम्**=विस्तार को **अकृणोत्**=करता है। **अयं सः**=यह वह प्रभु ही **दिवः**=द्युलोक के **वर्ष्माणम्**=दृढत्व को, सर्वलोक बन्धन सामर्थ्य को **अकृणोत्**=करता है। (२) **अयम्**=यह **सोमः**=शान्त प्रभु ही **तिसृषु प्रवत्सु**=तीनों उत्कृष्ट 'ओषधि, जल व गौवों' में **पीयूषम्**=अमृतत्व को **दाधार**=धारण करता है। प्रभु ही **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष को धारण करता है।

भावार्थ—प्रभु ही पृथिवी को विशाल बनाते हैं, द्युलोक को सर्वलोक बन्धन के सामर्थ्यवाला करते हैं। प्रभु ही 'ओषधि, जल व गौवों' में अमृतत्व को धारण करते हैं। विशाल अन्तरिक्ष को धारण करते हैं।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृषभः मरुत्वान्

अयं विदच्चित्रदृशीकमर्णः शुक्रसद्मनामुषसामनीके।
अयं महान्महता स्कम्भनेनोद् द्यामस्तभ्नाद् वृषभो मरुत्वान्॥ ५॥

(१) **अयम्**=यह सोम **शुक्रसद्मनाम्**=शुक्र, अर्थात् निर्मल (शुच्) अन्तरिक्ष है सदन (गृह) जिनका, उन उषाकालों के **अनीके**=प्रमुख भाग में **चित्रदृशीकम्**=अद्भुत दर्शनवाली **अर्णः**=कर्मों में प्रेरक ज्ञान-ज्योति को **विदत्**=प्राप्त कराता है। सोमरक्षणवाला पुरुष उषाकालों में स्वाध्याय के द्वारा अपनी ज्ञान-ज्योति को बढ़ानेवाला होता है। (२) **अयम्**=यह सोम **महान्**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **महता स्कम्भनेन**=महान् आधार के द्वारा यह सोम **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **उद् अस्तभ्नात्**=उत्कृष्ट स्थिति में थामता है। सोम ही मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, यही सुरक्षित हुआ-हुआ बुद्धि को तीव्र बनाता है। साथ ही यह सोम **वृषभः**=हमारे में शक्ति का सेचन करता है और **मरुत्वान्**=यह सोम प्रशस्त प्राणोंवाला है। प्राणशक्ति को यह सोम ही बढ़ाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम (१) बुद्धि को तीव्र बनाकर ज्ञान-ज्योति को बढ़ाता है, (२) शरीर का सेचन करता है, (३) प्राणशक्ति का विकास करता है।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'रयिस्थानः' सोमः

धृषत्पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिस्थानो रयिमस्मासु धेहि॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाले, **शूर**=वीर उपासक **वसूनाम्**=इन वसुओं के **समरे**=युद्ध में, अर्थात् जिस युद्ध में विजयी बनकर हम सब वसुओं को प्राप्त करते हैं, **धृषत्**=शत्रुओं का धर्षण करके **कलशे**=इस शरीर कलश में **सोमं पिब**=सोम को पीनेवाला बन। (२) माध्यन्दिन **सवने**=जीवन के माध्यन्दिन सवन में, अर्थात् ५५ से ६८ वर्ष तक भी **आवृषस्व**=सोम का शरीर में समन्तात् सेचन करनेवाला बन। हे सोम!

रयिस्थानः=ऐश्वर्यों का आधारभूत स्थान है। **अस्मासु रयिं धेहि**=हमारे में रयि का धारण करनेवाला बन।

भावार्थ—वासनाओं का धर्षण करके हम सोम का रक्षण करें। सुरक्षित सोम हमें सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करायेगा।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

(भवा सुपारः, अतिपारयः नः) सुनीतिः-वामनीतिः

इन्द्र प्र णः पुरएतेव पश्य प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ।
भवा सुपारो अतिपारयो नो भवा सुनीतिरुत वामनीतिः॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **पुरः एता इव**=आगे चलनेवाले मार्गदर्शक की तरह **प्रपश्य**=देखिये। जैसे नेता अनुयायियों का ध्यान करता है, उसी प्रकार आप हमारा ध्यान करिये। **नः**=हमें **वस्यः**=श्रेष्ठ धन की **अच्छ**=ओर **प्रतरम्**=खूब ही **प्रनय**=ले चलिये। आपके अनुग्रह से हम उत्तम धनों को प्राप्त होनेवाले हों। (२) आप **सुपारः भव**=अच्छी प्रकार भवसागर से हमें पार करनेवाले होइये। **नः**=हमें **अतिपारयः**=शत्रुओं को लाँघकर पार होनेवाला करिये, हम शत्रुओं के जाल में न फँसें। आप **सुनीतिः भव**=हमें उत्तमता से ले चलनेवाले होइये **उत**=और **वामनीतिः**=(श्रेष्ठ प्रापणः) श्रेष्ठ व्यक्तियों को प्राप्त करानेवाले होइये। आपके अनुग्रह से उत्तम व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर हम उत्तम बनें।

भावार्थ—प्रभु हमारे प्रणेता हों, उत्कृष्ट धनों को प्राप्त करायें। कष्टों व वासनाओं से पार करें। उत्तम मार्ग से ले चलें और श्रेष्ठ पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त करायें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वर्वत् ज्योतिः-अभयम्

उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप स्थेयाम शरणा बृहन्ता॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **विद्वान्**=सर्वज्ञ होते हुए आप **नः**=हमें **उरुं लोकम्**=विशाल लोक को **अनुनेषि**=अनुकूलता से ले चलते हैं। कृपण वृत्ति से हमें ऊपर उठाकर आप हमें उदारता के मार्ग पर ले चलते हैं। इस मार्ग से ले चलते हुए आप **स्वर्वत् ज्योतिः**=सुखप्रद ज्ञान के प्रकाश को तथा **अभयम्**=निर्भयता को व **स्वस्ति**=कल्याण को प्राप्त कराते हैं (अनुनेषि)। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **स्थविरस्य**=अत्यन्त स्थूल (प्रबल) **ते**=आपकी **बाहू**=भुजाएँ **ऋष्वा**=दर्शनीय हैं। इन **बृहन्ता**=वृद्धि की कारणभूत बाहुओं को **शरणा**=रक्षकरूप से **उपस्थेयाम**=सेवन करें, इन भुजाओं को हम अपनी शरण बनाएँ। इन भुजाओं से रक्षित हुए-हुए हम कभी भी शत्रुओं से आक्रान्त न हों।

भावार्थ—प्रभु हमें विशाल लोक को प्राप्त करायें। हमें सुखप्रद ज्ञान, निर्भयता व कल्याण प्राप्त हो। हम प्रभु की भुजाओं को रक्षक रूप से प्राप्त करें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

बन्धुर रथ, वहिष्ठ अश्व

वरिष्ठे न इन्द्र वन्धुरे धा वहिष्ठयोः शतावन्नश्वयोरा।
इषमा वक्षीषां वर्षिष्ठां मा नस्तारीन्मघवन्रायो अर्यः॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **वरिष्ठे**=उरुतम, विशाल व **वन्धुरे**=सुन्दर (beautiful) शरीर-रथ में **धा**=धारण करिये। हमारा शरीर-रथ विशाल व सुन्दर हो। हे **शतावन्**=सैंकड़ों धनों के धारण करनेवाले प्रभो! **वहिष्ठयोः**=उत्तमता से वहन करनेवाले **अश्वयोः**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों में **आ (धाः)**=स्थापित करिये। हमारे ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्व उत्तम हों। (२) **इषां वर्षिणां इषम्**=अन्नों में सर्वोत्तम अन्न को **आविक्षि**=प्राप्त कराइये। हम उत्कृष्ट सात्त्विक भोजन को करें। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे **रायः**=ऐश्वर्यों को **अर्यः**=स्वामी होते हुए आप **मा तारीत्**=नष्ट न करें। हमें आपकी कृपा से आवश्यक धन प्राप्त हों। आप ही हमारे स्वामी हैं, आपने ही तो हमें धनों को प्राप्त कराना है।

भावार्थ—हमारा शरीर-रथ व इन्द्रियाश्व उत्तम हों। हमें उत्तम अन्न व धन प्राप्त हो।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीक्ष्ण बुद्धि

इन्द्र॑ मृळ मह्यं॑ जी॒वातु॑मिच्छ चो॒दय॑ धि॒यमय॑सो॒ न धारा॑म्।
यत्किं चा॒हं त्वा॒युरि॒दं वदा॑मि॒ तज्जु॑षस्व कृ॒धि मा॑ दे॒ववन्तम्॥ १० ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **मह्यं मृड**=मेरे लिये सुख को करनेवाले होइये। मेरे लिये **जीवातुम्**=जीवनौषध की **इच्छ**=इच्छा करिये। आपके अनुग्रह से मेरा जीवन दीर्घ व नीरोग बने। मेरी **धियम्**=बुद्धि को, **अयसः धारां न**=लोह के बने अस्त्रों की धारा के समान **चोदय**=प्रेरित करिये, तीक्ष्ण बनाइये। (२) **अहम्**=मैं **त्वायुः**=आपकी प्राप्ति की कामनावाला **यत् किञ्च**=जो कुछ **वदामि**=कहता हूँ, **तद् इदम्**=उस मेरी इस प्रार्थनाओं को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। **मा**=मुझे **देववन्तं कृधि**=उत्तम दिव्य गुणोंवाला बनाइये। मैं उत्तम बुद्धि को प्राप्त करके उत्तम मार्ग पर चलता हुआ दिव्य गुणोंवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मेरे लिये सुख को दें। मुझे जीवनौषध प्राप्त कराके नीरोग जीवनवाला बनाये। मेरी बुद्धि को तीव्र करें। मुझे दिव्य गुणोंवाला बनाएँ।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्राता-अविता

त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मवि॒तार॒मिन्द्रं॒ हवे॑हवे सु॒हवं॒ शूर॒मिन्द्र॑म्।
ह्वया॑मि श॒क्रं पु॑रुहू॒तमिन्द्रं॑ स्व॒स्ति नो॑ म॒घवा॑ धा॒त्विन्द्रः॑॥ ११ ॥

(१) **त्रातारम्**=बाह्य शत्रुओं व रोगों से हमारा रक्षण करनेवाले **इन्द्रम्**=शत्रुविद्रावक प्रभु को **ह्वयामि**=पुकारता हूँ। **अवितारम्**=काम-क्रोध-लोभ आदि अध्यात्म शत्रुओं से बचानेवाले **इन्द्रम्**=उन सब असुरों के संहारक प्रभु को पुकारता हूँ उन प्रभु को पुकारता हूँ जो **हवेहवे सुहवम्**=प्रत्येक पुकार के अवसर पर सुख से पुकारने योग्य हैं। **शूरम्**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **इन्द्रम्**=प्रभु को पुकारता हूँ। (२) **शक्रम्**=सम्पूर्ण संसार को धारण करने में शक्त **पुरुहूतम्**=बहुतों से पुकारे जाने योग्य **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को पुकारता हूँ। यह **मघवा**=परमैश्वर्यशाली **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक प्रभु **नः**=हमारे लिये **स्वस्ति**=कल्याण का **धातु**=धारण करें।

भावार्थ—प्रभु हमें अन्तः व बाह्य शत्रुओं से बचाते हैं। वे प्रभु हमें कल्याण में धारण करें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

निर्द्वेषता-निर्भयता

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ १२॥

(१) **इन्द्रः**=वे शत्रुविद्रावक प्रभु **सुत्रामा**=उत्तमता से हमारा रक्षण करनेवाले हैं। **स्ववान्**=वे सब प्रशस्त धनोंवाले हैं। वे **विश्ववेदाः**=सर्वज्ञ व सर्वधन (वेदस्=विद् लाभे) प्रभु **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **सुमृडीकः भवतुः**=उत्तम सुखों के देनेवाले हों। (२) वे प्रभु **द्वेषः बाधता**=द्वेष का हमारे से बाधन करें। **अभयं कृणोतु**=हमें निर्भय बनाएँ। **सुवीर्यस्य पतयः स्याम**=हम उत्तम शक्ति के स्वामी व रक्षक बनें।

भावार्थ—प्रभु हमारा रक्षण करें। हमें कल्याण प्राप्त करायें। निर्द्वेष व निर्भय बनायें। उत्तम शक्ति सम्पन्न करें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुमति-सौमनस

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु॥ १३॥

(१) **वयम्**=हम **यज्ञियस्य तस्य**=पूज्य उस प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणीमति में तथा **भद्रे सौमनसे**=कल्याणकर शुभ मानस स्थिति में **स्याम**=हों (प्रभु के अनुग्रह से हमें शुभ बुद्धि व निर्मल मन प्राप्त हो। (२) **सः**=वह **सुत्रामा**=हमारा उत्तम त्राण करनेवाला, **स्ववान्**=प्रशस्त धनोंवाला **इन्द्रः**=शत्रु विद्रावक प्रभु **अस्मे**=हमारे से **द्वेषः**=द्वेष को **आरात् चित्**=सुदूर ही **सनुतः**=अन्तर्हित प्रदेश में **युयोतु**=पृथक् करे। प्रभु द्वेष को हमारे से इतना दूर करें कि यह द्वेष हमें दिखे ही नहीं।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से 'सुमति व सौमनस' को प्राप्त करके हम द्वेष से सदा दूर रहें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उरू राधः-सवना पुरूणि

अव त्वे इन्द्र प्रवतो नोर्मिर्गिरो ब्रह्माणि नियुतो धवन्ते।
उरू न राधः सवना पुरूण्यपो गा वज्रिन्युवसे समिन्दून्॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नियुतः**=(a praiser) स्तोता की **गिरः**=उच्चारण की गई **ब्रह्माणि**=स्तुति वाणियाँ **त्वे अवधवन्ते**=आपकी ओर इस प्रकार शीघ्रता से प्राप्त होती हैं **न**=जैसे कि **ऊर्मिः**=जल संघात **प्रवतः**=निम्न देशों की ओर। (२) इन स्तुति वाणियों के होने पर, हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! आप **उरू राधः न**=विशाल ऐश्वर्य की तरह **पुरूणि सवना**=पालक व पूरक यज्ञों को, **अपः**=कर्मों को **गाः**=ज्ञान की वाणियों को तथा **इन्दून्**=सोमकणों को **संयुवसे**=हमारे साथ सम्यक् जोड़ते हैं।

भावार्थ—उपासकों के लिये प्रभु ऐश्वर्यों को व यज्ञों को (यज्ञ सिद्धि के लिये ऐश्वर्यों को), कर्मों व ज्ञान की वाणियों को (ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों को) तथा शक्ति के प्रापण के लिये सोमकणों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गर्गः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तवन-प्रीणत-यजन

क ईं स्तवत्कः पृणात्को यंजाते यदुग्रमिन्मघवा विश्वहावेत्।
पादाविव प्रहरन्नन्यमन्यं कृणोति पूर्वमपरं शचीभिः॥ १५॥

(१) **कः**=कोई एक विरल ही **ईम्**=निश्चय से **स्तवत्**=प्रभु स्तवन करता है। **कः**=कोई एक विरल पुरुष ही उस प्रभु को **पृणात्**=प्रीणित करने में तत्पर होता है। **कः**=कौन **यजाते**=प्रभु का उपासन करता है कि **उग्रं इत्**=तेजस्वी को भी **मघवा**=वे ऐश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वहा**=सदा **अवेत्**=इन शक्तियों को प्राप्त कराते हैं (विद् लाभे)। शक्ति के मद में प्रायः मनुष्य शक्ति को अपना ही समझता है और प्रभु को भूल जाता है। (२) **पादौ प्रहरन्**=चलता हुआ पुरुष, पृथ्वी पर पाँवों को पटकता हुआ पुरुष **इव**=जैसे **अन्यं अन्यं पूर्वं अपरम्**=एक को आगे और एक को पीछे, अगले को पीछे और पिछले को आगे **कृणोति**=करता है, इसी प्रकार वे प्रभु **शचीभिः**=अपनी शक्तियों व प्रज्ञानों से कर्मानुसार स्वामी को भृत्य व मृत्य को स्वामी बनाते रहते हैं।

भावार्थ—हमें प्रभु का ही स्तवन, प्रीणत व यजन करना चाहिए। प्रभु ही कर्मानुसार हमें ऊपर-नीचे विविध स्थितियों में प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गर्गः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

एधमानद्विट्

शृण्वे वीर उग्रमुग्रं दमायन्नन्यमन्यमतिनेनीयमानः।
एधमानद्विळुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्॥ १६॥

(१) वे प्रभु **वीरः शृण्वे**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले सुने जाते हैं। **उग्रं उग्रम्**=प्रत्येक उग्र (प्रबल) शत्रु के **दमायन्**=बाधन को चाहते हुए, **अन्यं अन्यम्**=आज एक को और कल दूसरे को **अतिनेनीयमानः**=अतिशयेन आगे और आगे ले चल रहे हैं। प्रभु ही हमारे शत्रुओं का बाधन करते हैं और हमें ऐश्वर्य की स्थिति में प्राप्त कराते हैं। (२) **एधमानद्विट्**=धन के दृष्टिकोण से बढ़े हुए अयज्ञशील पुरुष को ये प्रभु प्रीति का पात्र नहीं बनाते, यह अयज्ञशील धनी प्रभु का प्रिय नहीं होता। **उभयस्य राजा**=प्रभु ऐहिक व आमुष्मिक दोनों धनों के राजा हैं। **इन्द्रः**=ये परमैश्वर्यशाली प्रभु **विशः मनुष्यान्**=निवेशक मनुष्यों को, परिचरण शक्ति-सेवा करनेवाले मनुष्यों को **चोष्कूयते**=सब ऐश्वर्यों को देते हैं (चोष्कूयमाणः ददत् नि० ६।२२)। वस्तुतः प्रभु से प्राप्त कराये गये ये ऐश्वर्य उन्हें और अधिक लोक सेवा के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं। कर्मानुसार हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं। अयज्ञशील व्यक्ति प्रभु के प्रिय नहीं होते। लोक सेवकों को प्रभु आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गर्गः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रमाद दोष परिहार

परा पूर्वेषां सख्या वृणक्ति वितर्तुराणो अपरेभिरेति।
अनानुभूतीरवधून्वानः पूर्वीरिन्द्रः शरदस्तर्तरीति॥ १७॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **सख्या**=मित्रभाव के कारण **पूर्वेषाम्**=अपना पालन व

पूरण करने में प्रवृत्त लोगों के **परावृणक्ति**=रोगों व दोषों को (efface) मिटा देते हैं। **वितर्तुराणः**=इन शत्रुभूत रोगों व वासनाओं को हिंसित करते हुए वे **अपरेभिः एति**=इन अपने अपर (lower) मित्रों के साथ गतिवाले होते हैं। साहित्य में प्रभु 'पर' कहते हैं, तो जीव 'अपर'। वे पर प्रभु अपर जीव के साथ गतिवाले होते हैं। इस मित्रता से ही जीव शत्रुओं पर विजय पा सकता है। (२) **अनानुभूतीः**=(neglect) प्रमादों को **अवधून्वानः**=हमारे से कम्पित करके दूर करते हुए प्रभु **पूर्वीः शरदः**=बहुत वर्षों तक **तर्तरीति**=हमें शत्रुओं से तरानेवाले होते हैं। प्रभु हमारे जीवनों को प्रमादशून्य बनाकर हमें इस दीर्घजीवन में शत्रुओं का शिकार नहीं होने देते।

भावार्थ—प्रभु हमारे रोगों व दोषों को दूर करते हैं। हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हुए हमारे साथ गतिवाले होते हैं। हमारे जीवन को प्रमादशून्य बनाकर दीर्घ व सुन्दर बनाते हैं।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अनेक रूप' प्रभु

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ १८॥

(१) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **रूपं रूपम्**=प्रत्येक रूपवान् पदार्थ के **प्रतिरूपः**=प्रतिरूप **बभूव**=होता है। सर्वव्यापक होता हुआ उस-उस पदार्थ के अनुरूप रूपवाला होता है। उन पदार्थों में यह प्रभु की उपस्थिति ही विभूति की स्थापना का कारण बनती है। प्रभु सूर्य-चन्द्र में प्रभारूप से हैं, तो जलों में इस रूप से, और पृथिवी में पुण्यगन्ध के रूप से। बलवानों में बल के रूप में हैं, तो बुद्धिमानों में बुद्धि के रूप से हैं। **अस्य**=इस प्रभु का **तद् रूपम्**=वह रूप **प्रतिचक्षणाय**=प्रत्येक व्यक्ति से देखने योग्य होता है। स्वयं निराकार वे प्रभु दर्शन का विषय नहीं बनते। इन पदार्थों में प्रभु की महिमा ही दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः यही प्रभु का सगुण रूप है, जिसकी आराधना एक भक्त करता है। ज्ञान की कमी के होने पर यह भक्ति सूर्यादि की उपासना में रूपान्तरित हो जाती है। (२) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **मायाभिः**=अपने अज्ञानों से **पुरुरूपः**=अनेक रूपोंवाले होते हुए **ईयते**=गति करते हैं। **अस्य**=इस प्रभु के **हि**=ही **दश हरयः**=ये दस संख्यावाले इन्द्रियाश्व **शता**=शतवर्षपर्यन्त **युक्ताः**=हमारे शरीर-रथों में जुते होते हैं। इन इन्द्रियों की रचना में भी प्रभु की महिमा दर्शनीय होती है।

भावार्थ—वे निराकार प्रभु इन स्तवन पदार्थों में उस-उस पदार्थ के अनुरूप दिखते हैं। इन पदार्थों में ही प्रभु की महिमा द्रष्टव्य होती है। सर्वत्र प्रभु की ज्ञानपूर्विका कृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। हमारे शरीरों में इन्द्रियाश्व भी अद्भुत महिमावाले हैं।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

द्विषतः पक्षः (शत्रुओं को भूननेवाले प्रभु)

युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति।
को विश्वाहा द्विषतः पक्ष आसत उतासीनेषु सूरिषु॥ १९॥

(१) **त्वष्टा**=वे दीप्त (त्वृष्) व निर्माता (त्वक्ष्) प्रभु **इह**=इस हमारे जीवन में **रथे**=शरीर-रथ में **हरिता**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **युजानः**=युक्त करते हुए **भूरि राजति**=खूब ही दीप्त होते हैं। प्रभु ने इन इन्द्रियों में अद्भुत ही शक्ति की स्थापना की है। इन इन्द्रियों में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। (२) उत और **आसीनेषु**=उपासना में बैठे हुए **सूरिषु**=इन स्तोताओं

में **कः**=वे अनिर्वचनीय प्रभु ही **विश्वाहा**=सदा **द्विषतः पक्षः**=शत्रुओं को पका डालनेवाले के रूप में **आसते**=स्थित होते हैं। प्रभु ही उपासक के शत्रुओं को भून डालनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर-रथ में इन्द्रियाश्वों को जोता है, इन इन्द्रियों में प्रभु की महिमा प्रकट होती है। प्रभु ही उपासकों के शत्रुओं को भूननेवाले हैं।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः, सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अगव्यूति क्षेत्र व अंहूरणा भूमि' का परिवर्तन

अगव्यूति क्षेत्रमागन्म देवा उर्वी सती भूमिरंहूरणाभूत्।
बृहस्पते प्र चिकित्सा गविष्टावित्था सते जरित्र इन्द्र पन्थाम्॥ २०॥

(१) **देवाः**=हे देवो! हम **क्षेत्रं आ अगन्म**=ऐसे शरीर रूप क्षेत्र में आ पहुँचे हैं जो **अगव्यूति**=ज्ञान की वाणी रूप गौओं के प्रचार से रहित है, जो केवल भोग-प्रधान प्रतीत होता है। **उर्वी सती**=विशाल होती हुई भी यह **भूमिः**=शरीर-भूमि **अंहूरणा अभूत्**=(अंहवः आहन्तारः दस्यवः, तेषां रमणा) दास्यव भावों के रमणवाली हो गई है। शरीर विशाल है, परन्तु वह देवों का निवास-स्थान न रहकर दस्युओं का निवास-स्थान बन गया है। (२) हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप हमें **गविष्टौ**=ज्ञान की वाणी रूप गौओं के अन्वेषण में **प्र चिकित्सा**=(प्रवेदय) उपाय का ज्ञान दीजिये। ऐसा उपाय सुझाइये कि हम ज्ञान की वाणियों के अन्वेषण में लगे रहें। **इत्था सते**=इस प्रकार (सते=भवते) होते हुए मेरे लिये, दास्यव भावों के रमण का स्थान बने हुए मेरे लिये, हे **इन्द्र**=शत्रु संहारक प्रभो! **पन्थाम्**=मार्ग को (प्रचिकित्स)=प्रज्ञापित करिये।

भावार्थ—हमारा यह शरीर क्षेत्र ज्ञान की वाणी रूप गौओं के प्रचारवाला हो। यह शरीर भूमि देवों का रमण प्रदेश बने। देव कृपा से हमें ज्ञान रुचि बनें। प्रभु हमें सन्मार्ग की प्रेरणा दें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वर्चिन् व शम्बर' का विनाश

दिवेदिवे सदृशीरन्यमर्धं कृष्णा असेधदप सद्मनो जाः।
अहन्दासा वृषभो वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च॥ २१॥

(१) हमारे जीवन में **सद्मनः**=इस शरीर के अन्तर्गत हृदय रूप गृह से, स्थान से **जाः**=उदय होता हुआ **इन्द्र**=ज्ञानसूर्य **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **सदृशीः**=समानरूपवाली **कृष्णाः**=अज्ञानान्धकारवाली रात्रियों को **अन्यं अर्धम्**=हमारे से भिन्न दूसरे आधे पशु-पक्षिरूप जगत् में **अपअसेधत्**=दूर भेजता है। हृदयस्थ प्रभु की कृपा से हमारे हृदयों में ज्ञानसूर्य का उदय होता है, वहाँ अज्ञानान्धकार का नाश होता है। मानो, यह अज्ञान रात्रि पशु-पक्षियों के यहाँ चली जाती है। (२) **वृषभः**=सब सुखों व शक्तियों का वर्षण करनेवाले प्रभु **उदव्रजे**=ज्ञान-जल की गतिवाले हमारे शरीर देशों में (उद=जल, व्रज गतौ) **वर्चिनम्**=अति प्रबल काम (असुर) को **च**=तथा **शम्बरम्**=शान्ति को ढप लेनेवाले ईर्ष्यारूप असुर को **अहन्**=नष्ट करते हैं। ज्ञान जल के प्रवाह में सब वासनाएँ धुल जाती हैं। काम नष्ट होकर प्रेम का रूप धारण कर लेता है, और ईर्ष्या नष्ट होकर स्पर्धा, एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने की भावना के रूप में प्रकट होती है। हम 'हेतौ ईर्ष्युः-फले नेर्ष्युः' बन जाते हैं। हमारे जीवनों में साधनों को प्राप्त करने की कामना बढ़ती है, दूसरे की वृद्धि हमें नहीं जलाती। हम समझ जाते हैं कि ये काम और ईर्ष्या **दासा**=हमारे उपक्षय करनेवाले हैं और

वस्नयन्ता=शक्ति व शान्ति के विनाशरूप प्रबल मूल्य को चाहते हैं, हमारे शक्ति व शान्ति रूप धन को हर लेते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञानसूर्य का उदय हो। अज्ञानरात्रि विनष्ट हो। कामासुर व शम्बरासुर का विनाश करके हम शक्ति व शान्ति का अनुभव करें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, प्रस्तोकस्य साञ्जयस्दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रस्तोक का प्रभु के प्रति स्वा अर्पण

प्रस्तोक इन्नु राधसस्त इन्द्र दश कोशयीर्दश वाजिनोऽदात्।
दिवोदासादतिथिग्वस्य राधः शाम्बरं वसु प्रत्यग्रभीष्म॥ २२॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ज्ञान सूर्योदय के होने पर यह आराधक 'प्रस्तोक' बनता है, 'प्रस्तोधेत' (shines)। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **प्रस्तोकः**=ज्ञान सूर्य से चमकनेवाला यह स्तोता **इत् नु**=ही निश्चय से **राधसः**=ऐश्वर्य के **दश कोशयीः**=दस कोशों को, एक-एक इन्द्रिय की शक्ति एक-एक कोश है, इन दस कोशों को तथा **दश वाजिनः**=इन दस शक्तिशाली इन्द्रियों को ही **ते अदात्**=आपके लिये दे डालता है। ज्ञानी स्तोता अपना सब कुछ आपके प्रति अर्पण करता है, ऐसा करता हुआ ही वह निरहंकार बना रहता है। (२) ये आराधक ऐसा अनुभव करते हैं कि हमने **दिवोदासात्**=(दास्=दाश्=दाने) उस सब ज्ञानों के देनेवाले प्रभु से ही **अतिथिग्वस्य राधः**=(अतिथिं गच्छति) उस महान् अतिथि प्रभु के प्रति जानेवाले आराधक के कार्यसाधक धन को तथा **शाम्बरं वसु**=ईर्ष्या के विनाश से प्राप्त होनेवाले उत्तम निवासजनक धन को **प्रत्यग्रभीष्म**=प्रतिदिन प्राप्त किया है। यह सब ऐश्वर्य उस प्रभु का ही है। प्रभु ने ही हमें उस-उस इन्द्रिय की शक्ति को व इन इन्द्रियों को दिया है, ये सब उसी के हैं। इस प्रकार समर्पण करनेवाला आराधक अद्भुत शान्ति को पाता है।

भावार्थ—हम ज्ञान को बढ़ाकर प्रभु की आराधना करते हुए इन सब इन्द्रियों के ऐश्वर्य को व इन्द्रियों को प्रभु के प्रति अर्पित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, प्रस्तोकस्य साञ्जयस्य दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**आसुरीपङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रस्तोक की आराधना

दशाश्वान्दश कोशान्दश वस्त्राधिभोजना। दशो हिरण्यपिण्डान्दिवोदासादसानिषम्॥ २३॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित प्रस्तोक, ज्ञान से चमकनेवाला आराधक, आराधना करता हुआ कहता है कि मैंने **दिवोदासात्**=उस ज्ञान के देनेवाले महान् प्रभु से ही **दश अश्वान्**=दस इन्द्रियाश्वों को **असानिषम्**=प्राप्त किया है। **दश कोशान्**=इन इन्द्रियों के दस कोशों को भी उसी प्रभु से ही तो लिया है। (२) **दश वस्त्रा**=इन इन्द्रिय रूप गौओं के रक्षण के लिये दस प्राणरूप वस्त्रों को भी प्रभु ने ही मुझे प्राप्त कराया है। ये दश प्राणरूप वस्त्र **आधिभोजता**=आधिक्येन हमारा पालन करनेवाले हैं (भुज्पालने)। **उ**=और **दश**=दस **हिरण्यपिण्डान्**=हितरमणीय दस इन्द्रियों के आधारभूत शरीरों को (पिण्ड=देह) भी प्रभु ने ही तो हमारे लिये दिया है। शरीर एक है, पर दस इन्द्रियाश्वों से जुता यह शरीर-रथ यहाँ 'दश' शब्द से विशेषित हुआ है।

भावार्थ—प्रस्तोक अनुभव करता है कि ये दस इन्द्रियाँ, दस इन्द्रियशक्तियाँ, दश प्राण, दशेन्द्रिययुक्त ये शरीर सब उस प्रभु के हैं। ये सब प्रभु ने ही तो मुझे प्राप्त कराये हैं।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, प्रस्तोकस्य साञ्जयस्य दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'पायु-अथर्वः' बनना

दश रथान्प्रष्टिमतः शतं गा अथर्वभ्यः। अश्वथः पायवेऽदात्॥ २४॥

(१) **अश्वथः**=(protection) इन्द्रियाश्वों का रक्षण करनेवाले प्रभु **पायवे**=विषय वासनाओं व रोगों से अपना बचाव करनेवाले उपासक के लिये **दश**=दस **प्रष्टिमतः**=(प्रष्टि=side horse) प्रशस्त इन्द्रियरूप अश्वोंवाले **रथान्**=शरीर-रथों को **अदात्**=देते हैं। प्रभु ने यह शरीर-रथ हमें दिया है। इसमें दस इन्द्रियरूप घोड़े जुते हैं। ये सब घोड़े इस शरीर-रथ को सम्यक् प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर ले चलनेवाले हैं। हमें इनका रक्षण करना है, ये विषयों की दल-दल में न फँस जाएँ। (२) ये प्रभु **अथर्वभ्यः**=(अथ अर्वाङ्) अन्तर्दृष्टिवाले पुरुषों के लिये **शतम्**=शतवर्ष पर्यन्त **गाः**=ज्ञान की वाणियों को देते हैं। अन्तर्दृष्टिवाले ये पुरुष सदा उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु दस इन्द्रियाश्वों से युक्त शरीर-रथों को व ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, प्रस्तोकस्य साञ्जयस्य दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

साञ्जयः (सृ+जि)

महि राधो विश्वजन्यं दधानान्भरद्वाजान्त्साञ्जयो अभ्ययष्ट॥ २५॥

(१) प्रभु गतिशील पुरुषों को विजय प्राप्त कराते हैं ('सृ+जि') सो 'साञ्जय' कहलाते हैं। ये प्रभु **भरद्वाजान्**=संयम द्वारा अपने में शक्ति का भरण करनेवाले पुरुषों को **अभ्ययष्ट**=अपने साथ संगत करते हैं। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' निर्बल से ये प्रभु प्राप्य नहीं। (२) ये प्रभु उनको प्राप्त होते हैं, जो **राधः**=कार्यसाधक धनों को **दधानान्**=धारण करते हैं। उस धन को जो **महि**=पूजनीय है, अर्थात् प्रशस्त साधनों से कमाया गया है तथा **विश्वजन्यम्**=सब लोकों के लिये हितकर है, जिस धन का विनियोग प्राजापत्य यज्ञ में होता है नकि भोग-विलास में।

भावार्थ—प्रभु उनको प्राप्त होते हैं जो (क) उत्तम मार्ग से धनों का अर्जन करके उसका लोकहित के कार्यों में विनियोग करते हैं तथा (ख) संयम द्वारा अपने में शक्ति को भरते हैं।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, रथः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दृढ़ प्रकाशमय' शरीर-रथ

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः।
गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ २६॥

(१) इस शरीर-रथ को यहाँ 'वनस्पते' शब्द से सम्बोधित किया है, स्पष्ट है कि इसका पोषण वनस्पतियों द्वारा ही होना चाहिए। हे **वनस्पते**=वनस्पति से बने हुए शरीर-रथ! तू **हि**=निश्चय से **वीड्वङ्गः**=दृढ़ अंगोंवाला **भूयाः**=हो। तू **अस्मत् सखा**=हमारा मित्र हो। **प्रतरणः**=जीवनयात्रा में सब विघ्नों को तैरते हुए यात्रा की पूर्ति का साधन बन। **सुवीरः**=तू उत्तम वीरतावाला हो। (२) तू **गोभिः**=इन्द्रियों से **सन्नद्धः**=सम्यक् बद्ध **असि**=है। तेरे में उस-उस स्थान पर इन्द्रियाश्व जुते हुए हैं। अथवा तू ज्ञान की वाणियों से युक्त है, प्रकाशमय है। **वीडयस्व**=तू शक्तिशाली कर्मों को करनेवाला बन। **ते आस्थाता**=तेरे पर अधिष्ठित होनेवाला यह जीव **जेत्वानि**=जेतव्य शत्रुओं

को **जयतु**=जीतनेवाला हो। काम-क्रोध आदि को परास्त करके यह अधिष्ठाता यात्रा को पूर्ण करनेवाला बने।

भावार्थ—हमारा शरीर-रथ दृढ़ अंगोंवाला हो, ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो। इस पर अधिष्ठित होकर शत्रुओं को परास्त करते हुए हम जीवनयात्रा को पूर्ण करें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, रथः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ओजस्वी व सहस्वी' शरीर-रथ

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज॥ २७॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे जीव! **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **रथं यज**=तू शरीर-रथ को अपने साथ संगत कर। यह शरीर-रथ वह है जिसमें **दिवः परि**=द्युलोक से **ओजः उद्भृतम्**=ओजस्विता का भरण किया गया है, जिसमें सूर्य-किरणों ने प्राणशक्ति का संचार किया है। **पृथिव्याः परि**=इस विशाल अन्तरिक्ष से (ओजः उद्भृतं)=ओजस्विता का भरण हुआ है, जिसमें चन्द्र-किरणों ने सुधारस को संचरित किया है। इस शरीर-रथ में **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों से **सहः**=बल का **पर्याभृतम्**=भरण हुआ है। पृथिवी से उत्पन्न ओषधि वनस्पतियों के सेवन से यह शरीर नीरोग व सबल बना है। (२) इस शरीर-रथ को तू अपने साथ संगत कर जो **अपां ओज्मानम्**=(आपः रेतो भूत्वा०) रेतःकणों के ओजवाला है, जिसे रेतःकण ओजस्वी बना रहे हैं। जो **गोभिः**=ज्ञानरश्मियों से **परिआवृतम्**=आच्छादित है। **इन्द्रस्य वज्रम्**=यह शरीर-रथ इन्द्र का वज्र है, जितेन्द्रिय पुरुष का गतिशीलता का साधन है।

भावार्थ—इस शरीर-रथ को 'सूर्य-चन्द्र' ओजस्वी बनाते हैं, वनस्पतियाँ इसमें सहस् का संचार करती हैं। यह रेतःकणों के ओजवाला व ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञानरश्मियों से आच्छादित है। इसे दानपूर्वक अदन से हम अपने साथ संगत करें और गतिशील बनें।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, रथः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मित्रस्य गर्भः, वरुणस्य नाभिः

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय॥ २८॥

(१) यह शरीर-रथ **इन्द्रस्य वज्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष का वज्र है, गतिशीलता का साधन है। **मरुतां अनीकम्**=प्राणों का इसमें बल है। **मित्रस्य गर्भः**=स्नेहभाव को यह अपने अन्दर धारण करनेवाला है। **वरुणस्य नाभिः**=निर्द्वेषता को यह अपने में बाँधनेवाला है (णह बन्धने)। (२) हे **देवरथ**=ज्ञान किरणों से द्योतमान (परि गोभिरावृतम् ४७।२७) शरीर-रथ अथवा सब व्यवहारों के साधक शरीर-रथ! **सः**=वह तू **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **हव्यदातिम्**=हव्य के देने की क्रिया को, यज्ञादि क्रियाओं को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **हव्या**=हव्य पदार्थों को **प्रतिगृभाय**=ग्रहण करनेवाला बन। अर्थात् दानपूर्वक अदन करनेवाला बन तथा सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन कर।

भावार्थ—यह शरीर-रथ जितेन्द्रिय पुरुष का गतिशीलता का साधन बने। प्राणों के बल को, स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करे। यज्ञशील हो। यज्ञशेष के रूप में सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करे।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दुन्दु' शब्द से भयभीत करनेवाली 'दुन्दुभि'

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ मनुतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त्।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद्दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न्॥ २९ ॥

(१) युद्ध में यदि हमारा पक्ष धार्मिक है तो हमारी दुन्दुभि शत्रुओं को भयभीत कर डालती है। सो कहते हैं कि हे **दुन्दुभे**=दुन्दुभि! **सः**=वह तू **पृथिवीं उत द्याम्**=पृथिवीलोक व द्युलोक को **उपश्वासय**=अनुप्राणित करनेवाली हो, अपने शब्द से हमारे सैन्यों में सर्वत्र उत्साह का संचार करनेवाली हो। यह **विष्ठितम्**=विशेषरूप से अपने-अपने स्थान में स्थित **जगत्**=लोक **पुरुत्रा**=सर्वत्र **ते मनुताम्**=तेरे शब्द को जाननेवाला हो। (२) हे दुन्दुभे! वह तू **इन्द्रेण**=शत्रुविद्रावक सेनापति व **देवैः**=विजिगीषु सैनिकों के साथ **शत्रून्**=शत्रुओं को **दूरात् दवीयः**=दूर से दूर **अपसेध**=मार भगानेवाली हो। दुन्दुभि के शब्द से ही शत्रुओं के दिल दहल जाएँ और शत्रु भयभीत हो भाग उठें।

भावार्थ—दुन्दुभि (रणभेरी) का शब्द द्युलोक व पृथिवीलोक को गुंजा दे। शत्रु इससे भयभीत होकर भाग जाएँ।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दुरिता-दुच्छुना' बाधमानः

आ क्र॑न्दय॒ बल॒मोजो॑ न॒ आ धा॒ निः ष्ट॑निहि दुरि॒ता बाध॑मानः।
अप॑ प्रोथ दुन्दुभे दु॒च्छुना॑ इ॒त इन्द्र॑स्य मु॒ष्टिर॑सि वी॒ळय॑स्व ॥ ३० ॥

(१) हे दुन्दुभे! तू **आक्रन्दय**=शत्रुओं को रुलानेवाली बन। **नः**=हमारे मनों में **बलं ओजः**=बल और ओज को **आधाः**=स्थापित कर। हमारा युद्ध का वाद्य शत्रुओं को भयभीत करनेवाला हो और हमारे अन्दर उत्साह का संचार करनेवाला हो। सब **दुरिता बाधमानः**=बुराइयों को रोकती हुई **निष्टनिहि**=तू ध्वनि कर, तेरी गर्जना हमारे जीवनों में से सब बुराइयों को दूर करनेवाली हो। जीवन को युद्ध यात्रा समझेंगे तो विलास से ऊपर उठेंगे ही, (२) हे **दुन्दुभे**=भेरी स्वर! **दुच्छुना**=सब दुष्ट सुखों को, भोग-विलासों को या शत्रुओं को **इतः**=यहाँ से **अपप्रोथ**=सुदूर हिंसित कर। तू **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष की **मुष्टिः असि**=शत्रुओं को विनष्ट करनेवाली मुष्टि है। **वीळयस्व**=हमारे जीवनों को सुदृढ़ बना।

भावार्थ—दुन्दुभि का शब्द शत्रुओं को भयभीत करें, हमें सोत्साहित करे। यह हमारे जीवनों से दुरितों व दुष्ट सुखों को दूर करे और हमें शत्रुहनन के लिये दृढ़ शक्ति प्रदान करे।

ऋषिः—**गर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः, दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विजय

आमूर॑ज प्र॒त्याव॑र्तये॒माः के॑तु॒मद्दु॑न्दु॒भिर्वा॑वदीति।
सम॑श्वप॑र्णा॒श्चर॑न्ति नो॒ नरो॒ऽस्माक॑मिन्द्र र॒थिनो॑ जयन्तु ॥ ३१ ॥

(१) हे प्रभो! **अमूः**=उन विषयों में चरती हुई इन्द्रियरूप गौओं को **आ अज**=हमारे प्रति आनेवाला करिये। **इमाः**=इन इन्द्रियों को **प्रत्यावर्तय**=विषयों से व्यावृत्त करिये। **केतुमत्**=प्रशस्त ज्ञानवाली **दुन्दुभिः**=यह भेरी ... करनेवाली दुन्दुभि **वावदीति**=खूब शब्द कर

रही है (इसके शब्द से जीवन को संग्राम की स्थिति में समझते हुए हम विषयों से पराङ्मुख रहें। (२) **नः नरः**=हमारे सब मनुष्य **अश्वपर्णाः**=इन्द्रियाश्वों का पालन व पूरण करनेवाले होते हुए **संचरन्ति**=सम्यक् गतिवाले होते हैं। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **अस्माकम्**=हमारे **रथिनः**=रथी पुरुष, शरीर-रथ के स्वामी पुरुष **जयन्तु**=सदा विजयी हों। ये कभी भी काम-क्रोध आदि शत्रुओं के शिकार न होते हुए बाह्य शत्रुओं को भी पराजित करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ विषयव्यावृत्त हों। हमारे में ज्ञान-ज्योति जगे। इन्द्रियाश्वों का पूरण करनेवाले लोग सम्यक् गतिवाले हों। हम रथी बनकर विजय बनें।

अगला सूक्त भी 'शंयु बार्हस्पत्य' ऋषि का है—

अथ चतुर्थाष्टकेऽष्टमोऽध्यायः

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

यज्ञा-गिरा

यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे। प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्॥ १ ॥

(१) **वः**=तुम **यज्ञा यज्ञा**=प्रत्येक यज्ञरूप उत्तम कर्म के द्वारा **च**=और **गिरा गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिये शंसन करो, जिससे **दक्षसे**=यह शंसन तुम्हारी उन्नति व विकास (वृद्धि) के लिये हो। प्रभु की उपासना 'ज्ञान-कर्म' से होती है। यह उपासना उपासक की वृद्धि का कारण बनती है। (२) **वयम्**=हम **अमृतम्**=उस अमर **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ प्रभु को **प्रियं मित्रं न**=प्रिय मित्र के समान **प्रप्र शंसिषम्**=खूब ही प्रशंसित करें। वे प्रभु हमें उत्तम प्रेरणा के द्वारा सब बुराइयों से दूर करते हुए वास्तव में ही हमारे सच्चे मित्र हैं। ये सदा हमारी उन्नति व विकास का कारण बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि हम हाथों से यज्ञों को करें तथा वाणी से ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें। वे प्रभु हमारे सच्चे मित्र हैं, वे हमें उत्तम प्रेरणा द्वारा ज्ञानवृद्धि को प्राप्त कराते हुए अमर बनाते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्चीजगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

अविता-वृधः-त्राता

ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद् वृध उत त्राता तनूनाम्॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र से 'प्रशंसिषम्' क्रिया का अध्याहर करके यहाँ अर्थ इस प्रकार लेना है कि मैं **ऊर्जो नपातम्**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवाले उस प्रभु को प्रशंसित करता हूँ, क्योंकि **सः**=वह **हि न**=निश्चय से (निपातद्वयम् हि० ९) **अयम्**=ये प्रभु **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले हैं। उस **हव्यदातये**=हव्य पदार्थों के देनेवाले प्रभु के लिये **दाशेम**=हम अपना अर्पण करें। (२) ये प्रभु **वाजेषु**=संग्रामों में **अविता भुवत्**=रक्षक होते हैं। **वृधः भुवत्**=हमारे वर्धक होते हैं। **उत**=और **तनूनां त्राता**=हमारे शरीरों के रक्षक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु शक्ति को देकर हमारा रक्षण करते हैं। वे ही संग्रामों में हमें विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

शक्ति व दीप्ति की प्राप्ति

वृषा ह्यग्ने अजरो महान्विभास्यर्चिषा।
अजस्रेण शोचिषा शोशुचच्छुचे सुदीतिभिः सु दीदिहि॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वृषा**=हमारे में शक्ति का सेचन करनेवाले हैं। **अजरः**=कभी जीर्ण होनेवाले नहीं, अपने उपासकों को भी आप अजर बनाते हैं। **महान्**=आप पूज्य हैं, **अर्चिषा**=ज्ञान ज्वाला से **विभासि**=आप विशेषरूप से दीप्त होते हैं। (२) **अजस्रेण**=अविच्छिन्न **शोचिषा**=दीप्ति से **शोशुचत्**=दीप्त होते हुए हे **शुचे**=दीप्त प्रभो! **सुदीतिभिः**=उत्तम दीप्तियों से **सुदीदिहि**=आप हमें दीप्त करिये। एक उपासक अपने जीवन को आपकी दीप्ति से दीप्त करनेवाला बनता ही है।

भावार्थ—प्रभु हमारे में शक्ति का सेचन करते हुए हमें अजर बनाते हैं। वे दीप्त प्रभु हमें ज्ञानदीप्ति से दीप्त करते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

क्रत्वा-दंसना

महो देवान्यजसि यक्ष्यानुषक्तव क्रत्वोत दंसना।
अर्वाचः सीं कृणुह्यग्नेऽवसे रास्व वाजोत वंस्व॥ ४॥

(१) हे प्रभो! आप **महः देवान्**=महनीय दिव्य गुणों को **यजसि**=हमारे साथ संगत करते हैं। आप **तव क्रत्वा**=अपनी शक्ति व प्रज्ञान से **उत**=और **दंसना**=उत्तम कर्मों से **आनुषक् यक्षि**=निरन्तर हमें संगत करते हैं। उपासक दिव्यगुणों को, शक्ति व प्रज्ञान को तथा उत्तम कर्मों को प्राप्त करता है। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **सीम्**=निश्चय से आप हमारे **अवसे**=रक्षण के लिये **अर्वाचः**=(अर्वाङ्ग अक्रति) अन्तर्मुखी वृत्तिवाला **कृणुहि**=करिये। **वाजा**=शक्तियों को **रास्व**=दीजिये **उत**=और **वंस्व**=हमें विजयी बनाइये (वन्=win) अथवा हमारे शत्रुओं का संहार करिये (to kill)।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे साथ दिव्यगुणों का शक्ति प्रज्ञान व उत्तम कर्मों का मेल हो। हम शक्ति को प्राप्त करें तथा विजयी बनें अथवा शत्रुओं का संहार कर सकें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

आपः अद्रयः बना (ऋतस्य गर्भं पिप्रति)

यमापो अद्रयो वना गर्भमृतस्य पिप्रति।
सहसा यो मथितो जायते नृभिः पृथिव्या अधि सानवि॥ ५॥

(१) प्रभु वे हैं **यं ऋतस्य गर्भम्**=ऋत के धारण करनेवाले जिनको **आपः**=(आप्लृव्याप्तौ)

कर्मों में व्याप्त होनेवाले, **अद्रयः (आद्रियन्ते)**=उपासना करनेवाले **वना**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले लोग **पिप्रति**=अपने अन्दर पूरित करते हैं। प्रभु का प्रकाश अधिकाधिक ये ही लोग देखते हैं, जो कर्मशील, उपासनामय व शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं। (२) प्रभु वे हैं **यः**=जो **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **सहसा**=शत्रुमर्षण के द्वारा अथवा शत्रुमर्षण बल के साथ **मथितः**=चिन्तन किये गये हुए **जायते**=प्रभुर्भूत होते हैं। प्रभु का प्रकाश **पृथिव्याः सानवि अधि**=इस शरीर रूप पृथिवी के शिखर प्रदेश मस्तक में होता है। ज्ञान के द्वारा ही प्रभु का प्रकाश होता है। ज्ञानदायिनी सूक्ष्म बुद्धि ही प्रभु का दर्शन कराती है 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'।

भावार्थ—प्रभु दर्शन 'कर्मशील-उपासनामय-शत्रुसंहारक-बल-बुद्धियुक्त' पुरुष को होता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**महाबृहती**॥
स्वरः—**मध्यमः**॥

अरुषः वृषा

आ यः प॒प्रौ भा॒नुना॒ रोद॑सी उ॒भे धू॒मेन॑ धावते दि॒वि।
ति॒रस्तमो॑ ददृश ऊ॒र्म्या॑स्वा श्या॒वास्व॑रु॒षो वृषा श्या॒वा अ॑रु॒षो वृषा॑॥ ६॥

(१) **यः**=जो अग्नि नामक प्रभु **भानुना**=दीप्ति से **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **आपप्रौ**=आपूरित कर देते हैं। वे प्रभु ही **धूमेन**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करने के द्वारा **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **धावते**=उपासकों के जीवन को शुद्ध कर डालते हैं। (धाव् शुद्धौ)। बाह्य जगत् को जहाँ प्रभु प्रकाशित करते हैं, वहाँ हमारे आन्तर जगत् को भी वे ज्ञानदीप्त करते हैं। (२) इस प्रकार प्रकाश के होने पर **श्यावासु**=कृष्णवर्ण **ऊर्म्यासु**=रात्रियों में भी **तमः**=अन्धकार **तिरः ददृशे**=तिरोहित हो जाता है। मानव जीवन में तीन रात्रियाँ 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' के अज्ञान के रूप में ही है। प्रभु का अनुग्रह जब वासनाओं के निराकरण के द्वारा ज्ञान के प्रकाश को करता है, तो इन रात्रियों का अन्धकार समाप्त हो जाता है। वे प्रभु **अरुषः**=आरोचमान व **वृषा**=हमारे में शक्तियों का सेचन करनेवाले हैं। **श्यावाः आ (तिष्ठति)**=प्रभु इन कृष्णवर्ण रात्रियों को अधिष्ठित कर लेते हैं। इनको अभिभूत करके हमें भी वे **अरुषः**=आरोचमान व **वृषा**=शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु बाह्य जगत् व आन्तर जगत् को प्रकाशमय करते हैं। रात्रियों का अन्धकार दूर होता है और उपासक भी प्रभु की तरह आरोचमान व शक्तिशाली बनता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**महाबृहती**॥
स्वरः—**मध्यमः**॥

रेवत्-द्युमत्

बृ॒हद्भि॑रग्ने अ॒र्चिभिः॑ शु॒क्रेण॑ देव शो॒चिषा॑।
भ॒रद्वा॑जे समिधा॒नो य॑विष्ठ्य रे॒वन्नः॑ शुक्र दीदिहि द्यु॒मत्पा॑वक दीदिहि॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी **देव**=दीप्यमान प्रभो! आप **भरद्वाजे**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले पुरुष में **बृहद्भिः अर्चिभिः**=वृद्धि की कारणभूत ज्ञान ज्वालाओं से तथा **शुक्रेण शोचिषा**=निर्मल दीप्ति से **समिधानः**=दीप्त होइये। अर्थात् आप उपासक को ज्ञान व नैर्मल्य प्राप्त कराके उसके हृदय में प्रकाशित होइये। (२) हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को

हमारे साथ मिलानेवाले **शुक्र**=दीप्त प्रभो! **रेवत्**=ऐश्वर्ययुक्त होते हुए **नः**=हमारे लिये **दीदिहि**=दीप्त होइये। हे **पाक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **द्युमत्**=ज्ञान दीप्ति को प्राप्त कराते हुए आप हमारे लिये **दीदिहि**=दीप्त होइये।

भावार्थ—हम भरद्वाज बनें, अपने में संयम द्वारा शक्ति को भरने का यत्न करें। प्रभु हमारे मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त व मन को निर्मल बनाएँगे तथा हमारे जीवनों को आवश्यक धनों से परिपूर्ण करेंगे।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**महासतोबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

समेद्धा-दाता

विश्वासां गृहपतिर्विशामसि त्वमग्ने मानुषीणाम्।
शतं पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यंहसः समेद्धारं शतं हिमाः स्तोतृभ्यो ये च ददति ॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वासाम्**=सब **मानुषीणाम्**=मानव-धर्म का पालन करनेवाली **विशाम्**=प्रजाओं के **गृहपतिः असि**=गृहपति हैं, रक्षक हैं, गृह-स्वामी हैं। उन घरों में आपका ही पूजन होता है। (२) हे **यविष्ठ**=बुराई को दूर करनेवाले व अच्छाई को हमारे साथ मिलानेवाले प्रभो! **समेद्धारम्**=इस अग्नि की दीपन करनेवाले, यज्ञाग्नि द्वारा आपकी उपासना करनेवाले पुरुष को **शतम्**=शत वर्ष पर्यन्त **पूर्भिः**=पालन व पूरण की क्रियाओं द्वारा **अंहसः पाहि**=पाप से बचाइये। **च**=और उन्हें भी **शतं हिमाः**=शत वर्ष पर्यन्त पापों से बचाइये **ये**=जो **स्तोतृभ्यः ददति**=स्तोताओं के लिये आवश्यक धनों को देते हैं। इन दानशील व्यक्तियों को भी पाप से बचाइये।

भावार्थ—मानव-धर्म का पालन करनेवाले मनुष्य प्रभु के रक्षणीय होते हैं। यज्ञशील व दानशील व्यक्तियों को प्रभु पापों से बचाते हैं।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

धन व प्रतिष्ठा

त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥ ९ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **चित्रः**=(चित्+र) ज्ञान को देनेवाले हैं। हे **वसो**=हमें उत्तम निवास को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **ऊत्या**=रक्षण के हेतु से **राधांसि**=कार्य-साधक धनों को **चोदय**=हमारे लिए प्रेरित करिये। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप ही **अस्य रायः**=इस सम्पूर्ण धन के **रथीः**=नेता प्राप्त करानेवाले (नी प्रापणे) **असि**=हैं। आप इन आवश्यक धनों को प्राप्त कराइये और **नः**=हमारे **तुचे**=सन्तानों के लिये **गाधं तु विदा**=प्रतिष्ठा को अवश्य प्राप्त कराइये। इन धनों का विनियोग हमारे घरों में इस प्रकार हो कि कोई भी (अवाञ्छनीय) प्रभाव हमारे सन्तानों पर न हो। ये धन उनकी प्रतिष्ठा का कारण बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान दें, धन दें, हमारे सन्तानों के जीवनों को भी प्रतिष्ठावाला बनायें।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्) ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग्बृहती ॥
स्वरः—मध्यमः ॥

अदिव्य भावनाएँ व आधिदैविक कष्ट

पर्षि तोकं तनयं पर्तृभिष्ट्वमदब्धैरप्रयुत्वभिः।
अग्ने हेळांसि दैव्या युयोधि नोऽदेवानि ह्वरांसि च॥ १०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अदब्धैः**=अहिंसित व **अप्रयुत्वभिः**=अविच्छिन्न, अपृथग् भूत (without gap) **पर्तृभिः**=पालन क्रियाओं के द्वारा **तोकम्**=हमारे पुत्रों को व **तनयम्**=पौत्रों को **पर्षि**=पालित करके पूरित करिये। (२) हे अग्ने! **दैव्या हेडांसि**=देवों के क्रोधों को **नः युयोधि**=हमारे से पृथक् करिये। हमें सब देवों की अनुकूलता प्राप्त हो। आधिदैविक कष्टों से हम आक्रान्त न हों। **च**=और **अदेवानि**=अदिव्य, हमारे जीवनों को अदिव्य बनानेवाले **ह्वरांसि**=कुटिल भावों को हमारे से दूर करिये। अदिव्य भावों का दूरीकरण ही आधिदैविक आपत्तियों से बचने का साधन होता है।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हमारे पुत्र-पौत्र भी पवित्र जीवनवाले हों। हमारे जीवनों में अदिव्य भाव न आ जायें और हम आधिदैविक कष्टों से बचे रहें।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्) ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥
स्वरः—ऋषभः ॥

'सबर्दुघा-अनपस्फुरा' वेद धेनु

आ सखायः सबर्दुघां धेनुमजध्वमुप नव्यसा वचः। सृजध्वमनपस्फुराम्॥ ११॥

(१) हे **सखायः**=समान ख्यान (ज्ञान प्राप्ति के क्रम) वाले मित्रो! **सबर्दुघाम्**=इस ज्ञानदुग्ध को देनेवाली **धेनुम्**=वेदवाणी रूप धेनु को **आ अजध्वम्**=अपनी ओर सर्वथा गतिवाला करो। (२) इस **अनपस्फुराम्**=(not refusing to be milked) सुखसंदोह्य अथवा अवध्य वेद धेनु को **नव्यसा वचः**=(वचसा) अत्यन्त स्तुत्य वचनों के हेतु से **उपसृजध्वम्**=अपने साथ सृष्ट करो, इसे अपने समीप करो, इसे अपनाओ। इसके अध्ययन से ज्ञानदुग्ध का तुम पान करनेवाले बनो।

भावार्थ—यह वेद धेनु 'अनपस्फुरा' सुख संदोह्य व अवध्य है। इसका हम नियमपूर्वक दोहन करें।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्) ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—भुरिग्बृहती ॥
स्वरः—मध्यमः ॥

शर्धाय मारुताय स्वभानवे

या शर्धाय मारुताय स्वभानवे श्रवोऽमृत्यु धुक्षत।
या मृळीके मरुतां तुराणां या सुम्नैरेवयावरी॥ १२॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित **या**=जो वेद धेनु **अमृत्यु**=मृत्यु से ऊपर उठानेवाले **श्रवः**=ज्ञानदुग्ध को **शर्धाय**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले। **मरुताय**=प्राणसाधना करनेवाले (मरुतः=प्राणाः), **स्वभानवे**=आत्मदीप्तिवाले पुरुष के लिये **धुक्षत**=दोहती है। वेद धेनु का ज्ञानदुग्ध हमें मृत्यु से ऊपर उठानेवाला है। यह प्राप्त उन पुरुषों को होता है, जो वासनाओं का हिंसन करें, प्राणसाधना की प्रवृत्तिवाले है, आत्मज्ञान की ओर झुकाव रखते हैं। (२) यह वेद धेनु वह है **या**=जो

मरुताम्=प्राणसाधना करनेवाले **तुराणाम्**=काम-क्रोध आदि शत्रु हिंसक पुरुषों के **मृडीके**=सुख के निमित्त होती है। और **या**=जो **सुम्नैः**=स्तोत्रों के साथ **एवयावरी**=गतिशील इन्द्रियाश्वों के द्वारा प्राप्त होनेवाली है। जो प्रभु का स्तोता बनता है और गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाला होता है, वही इस वेद धेनु का दोहन कर पाता है।

भावार्थ—हम शत्रुहिंसक प्राणसाधक व आत्मज्ञान की प्रवृत्तिवाले बनकर वेद धेनु का दोहन करें और सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)** ॥ देवता—**मरुतो लिङ्गोक्ता वा** ॥
छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

विश्वोदहस् धेनु, विश्वभोजस् इष्

भरद्वाजायाव धुक्षत द्विता। धेनुं च विश्वदोहसमिषं च विश्वभोजसम्॥ १३॥

(१) हे मरुतो, प्राणो! **भरद्वाजाय**=अपने में शक्ति को भरनेवाले के लिये **द्विता**=दो प्रकार से **अवधुक्षत**=प्रपूरण करने हैं। एक तो **विश्वदोहसं धेनुम्**=सम्पूर्ण ज्ञानों का प्रपूरण करनेवाली वेद धेनु को **च**=और **विश्वभोजसम्**=सब पालन करनेवाली **इषम्**=प्रेरणा को। (२) प्राणसाधना के द्वारा बुद्धि की दीप्ति को प्राप्त करके हम वेद धेनु के दोहन से सब आवश्यक ज्ञान को प्राप्त करें। इस प्राणसाधना से हम मन की निर्मलता के होने पर अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनें। यह प्रेरणा सब प्रकार से हमारा पालन करनेवाली होगी, हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचायेगी।

भावार्थ—प्राणायाम से बुद्धि की दीप्ति होने पर हम वेद धेनु का दोहन करते हैं, जो सब आवश्यक ज्ञानदुग्धों को प्राप्त कराती है। इस प्राणसाधना से उत्पन्न मन की निर्मलता हमें उस प्रेरणा को सुनने के योग्य बनाती है, जो हमें मार्गभ्रष्ट नहीं होने देती।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)** ॥ देवता—**मरुतो लिङ्गोक्ता वा** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्राणों की महिमा

तं व इन्द्रं न सुक्रतुं वरुणमिव मायिनम्।
अर्यमणं न मन्द्रं सृप्रभोजसं विष्णुं न स्तुष आदिशे॥ १४॥

(१) **तम्**=उस **वः**=(त्वाम्) तुझ मरुद्गण को **आदिशे**=(अतिसर्जनाय-प्रदानाय) धनों के, ऐश्वर्यों के, प्रदान के लिये **स्तुषे**=स्तुत करता हूँ। जो मरुद्गण **न**=जैसे **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् है, उसी प्रकार **सुक्रतुम्**=शोभन कर्मोंवाला है। **इव**=जिस प्रकार **वरुणम्**=निर्द्वेषतावाला है, पापों का निवारण करनेवाला है, उसी प्रकार **मायिनम्**=प्रज्ञावाला है। (२) यह मरुद्गण **अर्यमणं न**=जिस प्रकार काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करनेवाला है (ऋरीन् यच्छति), उसी प्रकार **मन्द्रम्**=आनन्द को देनेवाला है। यह मरुद्गण **विष्णुं न**=विष्णु के समान है (विष् व्याप्तौ) सारे शरीर में व्याप्त होकर धारण करनेवाला है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सशक्त बनकर हम उत्तम कर्मोंवाले होते हैं। पापों का निवारण करते हुए प्रज्ञावाले बनते हैं। काम-क्रोध आदि का नियमन करके आनन्द का अनुभव करते हैं। ये प्राण विष्णु के समान धारक हैं। इन्हें धनों के प्रदान के लिये आराधित करें।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)॥ देवता—मरुतो लिङ्गोक्ता वा॥
छन्दः—निचृदतिजगती॥ स्वरः—मध्यमः॥

प्रसुप्त शक्तियों का जागरण

त्वेषं शर्धो न मारुतं तुविष्वण्यनर्वाणं पूषणं सं यथा शता।
सं सहस्रा कारिषच्चर्षणिभ्य आँ आविर्गूळ्हा वसू करत् सुवेदा नो वसू करत्॥ १५॥

(१) **न**=(इदानीं) अब **मारुतं शर्धः**=मरुद्गण का यह शत्रु हिंसक बल **त्वेषम्**=दीप्त है, **तुविष्वणि**=महान् स्वनवाला है, अर्थात् प्रभु की आराधना करनेवाला है। **अनर्वाणम्**=यह शत्रुओं से अनाक्रान्त है और **पूषणम्**=पोषक है। **यथा**=जैसे यह मरुद्गण (=प्राणसमूह) **शता**=सैंकड़ों धनों को **सं चर्षणिभ्यः**=श्रमशील मनुष्यों के लिये **कारिषत्**=करता है। यह मरुद्गण **सहस्रा सम्**=हजारों धनों को सम्यक् करता है। (२) यह प्राणसमूह **गूढा**=हमारे अन्दर छिपे रूप में, प्रसुप्त रूप में पड़े **वसु**=वसुओं को **आ**=समन्तात् **आविः करत्**=प्रकट व जागरित करता है। **नः**=हमारे लिये इन **वसु**=वसुओं को **सुवेदा**=सुलभ **करत्**=करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शत्रुओं का विनाश होता है। प्रसुप्त शक्तियाँ जागरित होती हैं। सहस्रशः ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है और प्रभु स्तवन की वृत्ति बनती है।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)॥ देवता—पूषा॥ छन्दः—उष्णिक्॥
स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु शंसन व शत्रु संहार

आ मा पूषन्नुप द्रव शंसिषं नु ते अपिकर्ण आघृणे। अघा अर्यो अरातयः॥ १६॥

(१) हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **मा आद्रव**=मुझे प्राप्त होइये। **अघाः**=(आहन्तीः) हमारा हनन करनेवाली **अर्यः**=(अभिगन्तीः) आक्रमणकारिणी **अरातयः**=काम-क्रोध आदि शत्रु-सेनाओं को **उपद्रव**=उपद्रुत करिये, बाधित करिये। (२) शत्रुओं के बाधन के उद्देश्य से ही मैं **नु**=अब **ते**=आपके **अपिकर्णे**=(कर्णावपिगते) कानों के समीप **शंसिषम्**=शंसन करनेवाला बनूँ। 'अपिकर्णे' यह शब्द इसी भाव का द्योतक है कि मैं आपकी उपासना में स्थित होऊँ। आपकी उपासना में स्थित हुआ-हुआ आपका शंसन करूँ और आपके गुणों का गायन करूँ। शत्रुओं को बाधित करने का यही तो उपाय है।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करें। प्रभु हमारे शत्रुओं का बाधन करेंगे।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)॥ देवता—पूषा॥ छन्दः—भुरिग्बृहती॥
स्वरः—मध्यमः॥

'काकम्बीर वनस्पति' का अविनाश

मा काकम्बीरमुद् वृहो वनस्पतिमशस्तीर्वि हि नीनशः।
मोत सूरो अह एवा चन ग्रीवा आदधते वेः॥ १७॥

(१) **काकम्बीरं (काकानां भर्तारं)**=कौओं के भरण करनेवाले **वनस्पतिम्**=वृक्ष रूप मुझे, अर्थात् परिवार में छोटे-बड़े कितने ही व्यक्तियों को पालनेवाले मुझे **मा उद्वृहः**=मत उखाड़िये, मुझे दीर्घ-जीवन प्रदान करिये। **हि**=निश्चय से **अशस्तीः**=(अशंसनीयाः) अशंसनीय-अशुभ बातों को **विनीनशः**=विशेषरूप से नष्ट करिये। अशुभों के विनाश से हमारा जीवन शुभ

बने। (२) **उत**=और हे प्रभो! **सूरः**=उत्तम प्रेरणा देनेवाले आप (षू प्रेरणे) **मा अहः**=हमारा (मा हर्षित्) मत हरण करिये। हमें सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराइये, इससे आप हमें वञ्चित मत करिये। **एवा चन**=ऐसा होने पर ही उपासक लोग **वेः ग्रीवाः आदधते**=(वि=a horse) इन्द्रियाश्वों की गरदनों को धारण करते हैं, अर्थात् इन इन्द्रियाश्वों को वश में कर पाते हैं। प्रभु प्रेरणा से सशक्त बनने पर इन इन्द्रियों को वश में करने का सम्भव होता है।

भावार्थ—हम परिवार का उत्तम भरण करते हुए दीर्घजीवी बनें। अशुभों का विनाश करते हुए शुभ जीवनवाले बनें। प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करते हुए हम सदा इन्द्रियाओं को वश में रखें।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्**॥
स्वरः—**ऋषभः**॥

सख्यम्

दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यम्। अच्छिद्रस्य दधन्वतः सुपूर्णस्य दधन्वतः॥ १८॥

(१) हे (पूषन्) पोषक प्रभो! **दृतेः इव**=(दृति=a cloud) मेघ के समान जो आप हैं, उन **ते**=आपका **सख्याम्**=सख्य-मित्रभाव **अवृकं अस्तु**=सब बाधकों से रहित हो, अविच्छिन्न हो, सदा समानरूप से हमें प्राप्त हो। (२) उन आपका सख्य हमें प्राप्त हो जो **अच्छिद्रस्य**=सब छिद्रों से, दोषों से शून्य हैं, **दधन्वतः**=धारण कर रहे हैं। **सुपूर्णस्य**=सम्यक् पूर्ण हैं और **दधन्वतः**=धारण कर रहे हैं। मेघ के समान हमारे पर सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु के साथ हमारी मित्रता अविच्छिन्न हो। प्रभु हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाले हों। वे हमें भी अपने समान निर्दोष व पूर्ण बनाएँ।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥
स्वरः—**मध्यमः**॥

मर्त्यैः परः, देवैः समः

परो हि मर्त्यैरसि समो देवैरुत श्रिया। अभि ख्यः पूषन्पृतनासु नस्त्वमवा नूनं यथा पुरा॥ १९॥

(१) हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **मर्त्यैः परः असि**=सब मनुष्यों से परस्तात् स्थित हैं, मुक्त पुरुष भी आपकी समता नहीं कर सकते **उत**=और **श्रिया**=श्री के दृष्टिकोण से **देवैः समः**=सब देवों के समान हैं, सूर्य, चन्द्र, तारे व अन्य सब देवों की दीप्ति आप से ही तो होती है। (२) हे पोषक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **पृतनासु**=संग्रामों में **अभिख्यः**=अनुग्रह दृष्टि से देखिये, आप से ध्यान किये गये हम संग्रामों में विजयी हों। आप **नूनम्**=अब भी **यथा पुरा**=पहले की तरह **अवा**=हमारा रक्षण करिये। आप ही सदा उपासकों का रक्षण करते आये हैं। हम भी उपासक बनें और आपके रक्षणीय हों।

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण उन्नत होकर भी प्रभु से न्यून ही रहता है। सूर्यादि सब देव प्रभु की दीप्ति से दीप्त हैं। प्रभु ही संग्रामों में हमारा रक्षण करते हैं। हम सदा प्रभु द्वारा रक्षित हों।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

वामी सूनृता (वाक्)

वामी वामस्य धूतयः प्रणीतिरस्तु सूनृता। देवस्य वा मरुतो मर्त्यस्य वेजानस्य प्रयज्यवः॥ २०॥

(१) हे **धूतयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले, **प्रयज्यवः**=प्रकृष्ट यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले **मरुतः**=प्राणो! **देवस्य**=दिव्य गुणों से युक्त **वा**=व **ईजानस्य मर्त्यस्य**=यज्ञशील मनुष्य की **वामी**=सुन्दर **सूनृता**=प्रिय सत्यात्मिका वाणी **वामस्य**=सुन्दर धनों की **प्रणीतिः अस्तु**=प्रणेत्री हो। (२) प्राणसाधना करने से काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश होता है और यज्ञादि कर्मों की वृत्ति उत्पन्न होती है। यह प्राणसाधक देव बनता है तथा यज्ञशील मनुष्य बनता है। यह प्राणसाधक सदा सुन्दर सूनृत वाणीवाला बनता है। सुन्दर धनों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना वासनाओं को विनष्ट करके हमें यज्ञशील बनाती है। इस से हमारी वाणी सूनृत बनती है। प्राणसाधना हमें सुन्दर धनों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)**॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**महाबृहती**॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

ज्ञान-बल

स॒द्यश्चि॒द्यस्य॑ चर्कृ॒तिः परि॒ द्यां दे॒वो नैति॒ सूर्यः॑।
त्वे॒षं शवो॑ दधिरे॒ नाम॑ य॒ज्ञियं॑ म॒रुतो॑ वृत्र॒हं शवो॒ ज्येष्ठं॑ वृत्र॒हं शवः॑॥ २१ ॥

(१) **यस्य**=जिस मरुद्गण की, प्राणसमूह की **चर्कृतिः**=क्रिया **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **द्याम्**=द्युलोक में **परि एति**=चारों ओर प्राप्त होती है, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **देवः सूर्यः**=यह प्रकाशमय सूर्य द्युलोक में प्राप्त होता है। प्राणसाधना से अशुद्धियों का नाश होकर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है, मस्तिष्क रूप द्युलोक ज्ञानरूप सूर्य से जगमगा उठता है। (२) **मरुतः**=ये प्राण **त्वेषम्**=दीप्त **नाम**=शत्रुओं के नमानेवाले **यज्ञियम्**=संगतिकरण योग्य **शवः**=बल को **दधिरे**=धारण करते हैं। उस **शवः**=बल को धारण करते हैं जो **वृत्रहम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाला है। यह **वृत्रहं शवः**=वासना को विनष्ट करनेवाला बल **ज्येष्ठम्**=प्रशस्यतम है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मस्तिष्क रूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से चमकता है और शरीर वासनाओं के विनाशक प्रशस्यतम बल से युक्त होता है।

ऋषिः—**शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिकं पृश्निसूक्तम्)**॥ देवता—**पृश्निर्वा भूमी वा:** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

पूर्ण मिदम्

स॒कृद्ध द्यौर॑जायत स॒कृद्भूमि॑रजायत। पृश्न्या॑ दु॒ग्धं स॒कृत्पय॒स्तद॒न्यो नानु॑ जायते॥ २२ ॥

(१) **ह**=निश्चय से **द्यौः**=यह द्युलोक **सकृत्**=एक बार **अजायत**=बनाया गया। प्रभु के ज्ञान व बल से प्रकृति के द्वारा इस द्युलोक का निर्माण हुआ और वैसा ही निर्माण सदा से होता चला आ रहा है। इसके निर्माण में अगली-अगली सृष्टि में कोई उत्कर्ष व सुधार कर दिया जाता हो सो बात नहीं है। प्रथम रचना में कमी के अनुभव होने पर उसके दूर करने के लिये यत्न होते हैं। मानव रचनाओं में ऐसा होता ही है। प्रतिवर्ष मोटर इंजन का नया रूप (New Model) हमारे सामने आता है। मानव ज्ञान की अपूर्णता से ऐसा होता ही है, परन्तु प्रभु तो पूर्ण हैं, सो उनकी रचना भी पूर्ण है 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'। इसमें परिवर्तन की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार **सकृत्**=एक बार ही **भूमिः**=यह पृथिवी **अजायत**=प्रादुर्भूत हो गयी। नित्य नये-नये रूपों में यह आती जाये ऐसा नहीं होता 'यथा पूर्णमकल्पत्'। (२) **पृश्न्याः**=(मरुतां मातुः) प्राणसाधकों के जीवनों का निर्माण करनेवाली यह प्रकाश की स्पर्शक वेदवाणी रूप धेनु का **पयः**=ज्ञानदुग्ध **सकृत्**=एक बार

ही **दुग्धम्**=दोहा गया। वेदज्ञान अजरामर है, इसमें परिवर्तन नहीं होता रहता। **तद् अनु**=उस ज्ञान के बाद **अन्यः न जायते**=अन्य ज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं होता। वेदज्ञान की अपूर्ण करने के लिये नया-नया ज्ञान नहीं दिया जाता रहता। यह ज्ञान स्वयं अपने में पूर्ण है, उसमें किसी परिवर्तन की अपेक्षा नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु की बनायी हुई सृष्टि पूर्ण है, परिवर्तन की अपेक्षा नहीं रखती। प्रभु से दिया गया ज्ञान भी पूर्ण है, वह भी परिवर्तनापेक्षी नहीं।

इस ज्ञान को प्राणसाधना के द्वारा (योग द्वारा) प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'ऋजिश्वा' बनता है, सदा ऋजुमार्ग से गति करता है (ऋजु श्वि गतौ) यह 'ऋजिश्वा' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुक्षत्रासः-'वरुणः मित्रः अग्निः'

स्तुषे जनं सुव्रतं नव्यसीभिर्गीर्भिर्मित्रावरुणा सुम्नयन्ता।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्तु सुक्षत्रासो वरुणो मित्रो अग्निः ॥ १ ॥

(१) **नव्यसीभिः गीर्भिः**=अत्यन्त स्तुत्य वाणियों से **सुव्रतं जनम्**=उत्तम कर्मोंवाले लोगों का **स्तुषे**=स्तवन करता हूँ। वस्तुतः इन सुव्रत जनों का आदर हमें भी सुव्रत बनने की प्रेरणा देता है। मैं **सुम्नयन्ता**=हमारे सुखों की कामना करते हुए **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण का स्तवन करता हूँ। वस्तुतः 'स्नेह व निर्द्वेषता' के भाव हमारे जीवनों को सुखी बनानेवाले हैं। (२) **ते**=वे सुव्रत जन तथा मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के देव, **आगमन्तु**=हमें प्राप्त हों। **ते**=वे **इह**=इस जीवन में **श्रुवन्तु**=हमारी आराधना को सुनें। अर्थात् हम भी 'सुव्रत, मित्र व वरुण' बन पायें। **वरुणः**=निर्द्वेषता की देवता, **मित्रः**=स्नेह की देवता तथा **अग्निः**=अग्रगति की देवता ये सब **सुक्षत्रासः**=हमें उत्तम बल को देनेवाली हैं। मित्र, वरुण व अग्नि बनकर हम वास्तविक बल का धारण करते हैं।

भावार्थ—हम सुव्रत लोगों का आदर करते हुए स्वयं सुव्रत बनें। स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को धारण करके सुखी हों। ये 'स्नेह, निर्द्वेषता व अग्रगति' के भाव हमें सबल बनायें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दिवः शिशुं, सहसः सूनुम्

विशोविश ईड्यमध्वरेष्वदृप्तक्रतुमरतिं युवत्योः।
दिवः शिशुं सहसः सूनुमग्निं यज्ञस्य केतुमरुषं यजध्यै ॥ २ ॥

(१) **विशः विशः**=सब प्रजाओं के **अध्वरेषु**=हिंसारहित कर्मों में **ईड्यम्**=प्रभु उपासनीय हैं। **अदृप्त क्रतुम्**=(दृप् माहने) अमूढ प्रज्ञावाले हैं, जिनकी चेतना कभी विलुप्त नहीं होती। **युवत्योः**=इन द्यावापृथिवी में **अरतिम्**=(अभिगन्तारं) गतिवाले हैं। सर्वत्र प्रभु की रचना व रचना का महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। (२) **दिवः शिशुम्**=(दिव् स्तुतौ) स्तोता की बुद्धि को तीव्र करनेवाले हैं 'शो तनूकरणे'। **सहसः सूनुम्**=बल के पुत्र (पुतले=पुञ्ज) हैं। **यज्ञस्य केतुम्**=सब यज्ञों के प्रकाशक हैं। **अरुषम्**=आरोचमान हैं। इन **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **यजध्यै**=उपासित करने के लिये मैं यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—सब यज्ञों के प्रकाशन व प्रवर्तक हमारे चेतन सर्वशक्तिमान् प्रभु का हम उपासन करें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अहोरात्रौ (दिन व रात)

अरुषस्य दुहितरा विरूपे स्तृभिरन्या पिपिशे सूरो अन्या।
मिथस्तुरा विचरन्ती पावके मन्म श्रुतं नक्षत ऋच्यमाने॥ ३॥

(१) इन दिन और रात में भी प्रभु की अद्भुत महिमा का दर्शन होता है। ये **अरुषस्य दुहितरौ**=आरोचमान सूर्य की दुहिताओं के समान हैं। क्योंकि सूर्योदय ही दिन-रात्रि के विभाग का कारण बनता है। ये दिन-रात **विरूपे**=भिन्न-भिन्न रूपवाले हैं, दिन श्वेत है तो रात्रि कृष्णा। इनमें **अन्या**=एक रात्रि **स्तृभिः**=सितारों से **पिपिशे**=अवयवोंवाली होती है तारों से यह रात्रि संश्लिष्ट होती है। **अन्या**=दूसरी अहरात्मिका (दिनरूप) दुहिता **सूरः**=(सूर्येण) सूर्य से संश्लिष्ट होती है। (२) ये दिन-रात **मिथस्थुरा**=परस्पर एक-दूसरे का हिंसन करनेवाले हैं। सूर्योदय होते ही रात्रि भाग जाती है और सूर्यास्त पर रात्रि के आते ही दिन की वही दशा होती है। **विचरन्ती**=ये निरन्तर गतिवाले हैं। **पावके**=पवित्र करनेवाले हैं। **ऋच्यमाने**=स्तुति किये जाते हुए ये दिन-रात **मन्म**=मननीय **श्रुतम्**=ज्ञान का **नक्षतः**=व्यापन करते हैं। अर्थात् हम दिन-रात में प्रभु का स्तवन करते हैं और स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—सूर्य की दुहिता रूप ये दिन व रात्रि भी हमारे जीवन को पवित्र बनानेवाली हैं। इनमें हम प्रभु का स्तवन करें व स्वाध्याय द्वारा ज्ञान का वर्धन करें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नियुतः पत्यमानः

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारं रथप्राम्।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो॥ ४॥

(१) **बृहती**=हमारे वर्धन की कारणभूत **मनीषा**=स्तुति **वायुम्**=उस गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले प्रभु की **अच्छा**=ओर (प्र गच्छेत्) जाये। उस प्रभु की ओर जो **बृहद्रयिम्**=महान् ऐश्वर्यवाले हैं, **विश्ववारम्**=सब से वरने के योग्य हैं, **रथप्राम्**=हमारे शरीर-रथों का पूरण करनेवाले हैं। (२) हे **प्रयज्यो**=प्रकर्षेण द्रष्टव्य प्रभो! आप **द्युतद्यामा**=दीप्त रथवाले हैं। **नियुतः पत्यमानः**=हमारे इन इन्द्रियाश्वों के ऐश्वर्यवाले हैं, इनके स्वामी आप ही हैं। आप ही हमें इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं। **कविः**=क्रान्तदर्शी हैं। और **कविम्**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी पुरुषों को ही **इयक्षसि**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें उत्कृष्ट धनों को प्राप्त करायेंगे। उत्कृष्ट इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'विरुक्मान्' रथ

स मे वपुश्छदयदश्विनोर्यो रथो विरुक्मान्मनसा युजानः।
येन नरा नासत्येषयध्यै वर्तिर्याथस्तनयाय त्मने च॥ ५॥

(१) **अश्विनोः**=प्राणापान का **यः**=जो **रथः**=रथ है, **सः**=वह **मे वपुः**=मेरे शरीर को **छदयत्**=तेज से आवृत करनेवाला हो। अर्थात् मैं इस शरीर रथ में प्राणसाधना द्वारा तेजस्विता का स्थापन करूँ। यह शरीर-रथ ऐसा बने कि **विरुक्मान्**=विशिष्ट दीप्तिवाला हो। **मनसा युजानः**=मन से युक्त हो। मन रूप उत्तम लगामवाला हो। (२) **येन**=जिस रथ से **नरः**=हमें आगे-आगे ले चलनेवाले **ना सत्या**=असत्यों से दूर रहनेवाले प्राणापानो! आप **इषयध्यै**=सब इष्ट कामनाओं को प्राप्त कराने के लिये **वर्तिः याथः**=इस शरीर गृह को प्राप्त होते हो और **तनयाय**=शक्तियों के विस्तार के लिये होते हो **च**=तथा **त्मने**=आत्म प्राप्ति के लिये होते हो।

भावार्थ—हम इस शरीर को प्राणसाधना के द्वारा तेजस्वी व दीप्त बनायें। उत्तम मन से युक्त हुआ-हुआ यह शरीर शक्तियों के विस्तारवाला व अन्ततः प्रभु प्राप्तिवाला हो।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मेघ व वायु

पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्याः पुरीषाणि जिन्वतमप्यानि।
सत्यश्रुतः कवयो यस्य गीर्भिर्जगतः स्थातर्जगदा कृणुध्वम्॥ ६॥

(१) **वृषभा**=वृष्टि के करनेवाले **पर्जन्यवाता**=मेघ व वायु **पृथिव्याः**=अन्तरिक्षलोक से **अप्यानि**=आप्तव्य प्राप्त करने योग्य उत्तम **पुरीषाणि**=जलों को **जिन्वतम्**=प्रेरित करते हैं। प्रभु ने यह वृष्टि द्वारा प्राप्त होनेवाले जल की भी क्या ही सुन्दर व्यवस्था की है, यह जल सचमुच देवों के पेय अमृत के समान होता है। (२) **सत्यश्रुतः**=सत्यज्ञान का श्रवण करनेवाले **कवयः**=क्रान्तदर्शी पुरुषो! आप **यस्य गीर्भिः**=जिस प्रभु की वाणियों से **जगतः**=जंगम व **स्थातः**=स्थावर **जगत्**=(जगतः) जगत् का **आकृणुध्वम्**=आभिमुख्येन ज्ञान प्राप्त करते हो, साक्षात् ज्ञान प्राप्त करते हो। इस जगत् का ठीक ज्ञान होने से उसका समुचित उपयोग करते हुए तुम अपने कल्याण को सिद्ध करते हो।

भावार्थ—प्रभु ने मेघ व वायु द्वारा अन्तरिक्ष से जल के वर्षण की व्यवस्था की है। इसी प्रकार प्रभु का यह सारा स्थावर-जंगम संसार बड़ा उत्तम है। प्रभु की वाणियों से ही इसका ठीक ज्ञान प्राप्त होता है और हम इस जगत् से कल्याण को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**बाह्म्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वीर पत्नी सरस्वती

पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात्।
ग्राभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत्॥ ७॥

(१) **वीरपत्नी**=वीरों का पालन करनेवाली **सरस्वती**=ज्ञान देवता **पावीरवी**=हमारे जीवनों का शोधन करनेवाली है। **कन्या**=हमारे जीवनों को दीप्त करती है (कन दीप्तौ)। **चित्रायुः**=(चित्) ज्ञानयुक्त जीवन को प्राप्त कराती है। यह **धियं धात्**=हमारे में बुद्धि का स्थापन करे। (२) यह सरस्वती **ग्राभिः**=वेदवाणी के छन्दों से **सजोषाः**=प्रीतिवाली होती हुई **गृणते**=स्तोता के लिये **अच्छिद्रं शरणम्**=निर्दोष शरीररूप गृह को तथा **दुराधर्षं शर्म**=शत्रुओं से अधर्षणीय सुख को **यंसत्**=देती है।

भावार्थ—सरस्वती की आराधना हमारे जीवन को पवित्र दीप्त व ज्ञानयुक्त करती है। यह हमारे जीवनों में बुद्धि का स्थापन करती है। शरीररूप गृह को निर्दोष बनाती है तथा शत्रुओं से

अधर्षणीय सुख को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शुरुधः चन्द्राग्राः (गाः)

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानळर्कम्।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा ॥ ८ ॥

(१) जीव सामान्यतः प्रभु को भूले रहता है, परन्तु जब कोई कष्ट आता है या समस्या उठ खड़ी होती है, तो प्रभु को याद करता है। बच्चा खेल में मस्त है। भूख लगती है तो माता को याद करता है। इसी प्रकार **कामेन कृतः**=उस-उस कामना से वशीकृत हुआ-हुआ स्तोता **पथः पथः परिपतिम्**=सब मार्गों के स्वामी व रक्षक **अर्कम्**=उपासनीय प्रभु को **वचस्या**=स्तुति के द्वारा **अभ्यानट्**=व्याप्त करता है, स्तुति के द्वारा प्रभु को प्राप्त होता है। (२) **सः**=वह **पूषा**=सबका पोषण करनेवाले प्रभु **नः**=हमारे लिये **शुरुधः**=(शुग्रुधः) शोकों को दूर करनेवाली **चन्द्राग्राः**=आह्लाद है अग्रभाग में जिनके ऐसी ज्ञान की वाणियों को (गाः) **रासत्**=देते हैं और **धियं धियम्**=प्रत्येक ज्ञान को **प्रसीषधाति**=हमारे लिये सिद्ध करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करायेंगे और हमारी बुद्धियों को प्रशस्त करेंगे।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

होता-अग्नि-विभावा

प्रथमभाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगभस्तिमृभ्वम्।
होता यक्षद्यजतं पस्त्यानामग्निस्त्वष्टारं सुहवं विभावा ॥ ९ ॥

(१) **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **ऋभ्वम्**=(उरु भासमानम्) खूब दीप्त **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **यक्षत्**=पूजित करता है, जो प्रभु **प्रथमभाजम्**=प्रथम स्थान का सेवन करनेवाले हैं, सब ज्ञान शक्ति आदि गुणों के दृष्टिकोण से प्रथम स्थान में स्थित हैं। **यशसम्**=यशस्वी हैं। **वयोधाम्**=उपासकों के लिये उत्कृष्ट जीवन का धारण करनेवाले हैं। **सुपाणिम्**=उत्तम हाथों व कर्मोंवाले हैं और **सुगभस्तिम्**=उत्तम ज्ञानरश्मियोंवाले हैं। (२) **अग्निः**=प्रगतिशील, **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाला पुरुष **पस्त्यानां यजतम्**=सब गृहवासियों के पूज्य, **सुहवम्**=सुगमता से पुकारने योग्य **त्वष्टारम्**=उस निर्माता प्रभु को (यक्षत्) पूजता है।

भावार्थ—हम 'दानपूर्वक अदन करनेवाले, प्रगतिशील व विशिष्ट दीप्तिवाले' बनकर ही प्रभु का उपासन करते हैं। यह उपासना हमें 'अग्रणी-यशस्वी-उत्कृष्ट जीवनवाला-कार्यकुशल-ज्ञानरश्मि सम्पन्न' बनाता है।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिन-रात 'भुवन पिता' का स्तवन

भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितासः ॥ १० ॥

(१) **आभिः गीर्भिः**=इन ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों से **भुवनस्य पितरम्**=सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक रुद्र रोगों के द्रावक प्रभु को **दिवा वर्धया**=दिन में बढ़ानेवाला हो, उस प्रभु

का स्तवन करनेवाला हो। **रुद्रम्**=इस दुःख द्रावक प्रभु को ही **अक्तौ**=रात्रि में इन ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति वाणियों से बढ़ा। (२) **कविना**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी पुरुषों से **इषितासः**=प्रेरित हुए-हुए हम इस **बृहन्तम्**=महान् **ऋष्वम्**=दर्शनीय **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले **सुषुम्नम्**=उत्तम आनन्दमय प्रभु को **ऋधग्**=सत्यस्वरूप में (truely) **हुवेम**=पुकारें व पूजें।

भावार्थ—हम दिन-रात सब कार्यों को करते हुए प्रभु का पूजन करें। प्रभु ही ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। सब रोगों के द्रावक हैं। ज्ञानी लोग हमें इस महान् दर्शनीय अजर आनन्दमय प्रभु के उपासन के लिये ही प्रेरित करें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'युवा कवि यज्ञिय' मरुत्

आ युवानः कवयो यज्ञियासो मरुतो गन्त गृणतो वरस्याम्।
अचित्रं चिद्धि जिन्वथा वृधन्त इत्था नक्षन्तो नरो अङ्गिरस्वत्॥ ११॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आप **युवानः**=बुराई को दूर करनेवाले व अच्छाई को मिलानेवाले हो। **कवयः**=क्रान्तप्रज्ञ व बुद्धिमान् हो। **यज्ञियासः**=यज्ञशील हो। **गृणतः**=स्तोता की **वरस्याम्**=वरणीय स्तुति को **आगन्त**=प्राप्त होते हो। प्राणसाधना के द्वारा (क) दुरितों का दूरीकरण होकर भद्रों की प्राप्ति होती है। (ख) बुद्धि की सूक्ष्मता प्राप्त होती है, (ग) यज्ञशीलता की वृद्धि होती है, (घ) प्रभु स्तवन की ओर झुकाव बढ़ता है। (२) **इत्था**=इस प्रकार **अंगिरस्वत्**=गमनशील की तरह **नक्षन्तः**=हमारे अन्दर गति करते हुए **नरः**=उन्नतिपथ पर ले-जानेवाले प्राणो! आप **अचित्रम्**=(अ चित्) अप्रकाशित भी, अचेतनावाले भी हमारे हृदयों को **जिन्वथ**=प्रीणित करते हो। प्राणसाधना से एक-एक अंग में स्फूर्ति का वर्धन होता है। हृदयों में प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना ही सब बुराइयों को दूर करनेवाली व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाली है। यह हमें 'ज्ञानी, यज्ञशील व स्तुतिप्रवण' बनाती है। यही हमारे हृदयों में प्रभु के प्रकाश को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तृभिर्न नाकम्

प्र वीराय प्र तवसे तुरायाजा यूथेव पशुरक्षिरस्तम्।
स पिस्पृशति तन्वि श्रुतस्य स्तृभिर्न नाकं वचनस्य विपः॥ १२॥

(१) **वीराय**=शत्रुओं के कम्पक=(वि+ईर), **तवसे**=बलवान्, **तुराय**=त्वरित गमनवाले, स्फूर्तिवाले इस प्राणापान के लिये **प्र अजा**=तू प्रकर्षेण गतिवाला हो, शीघ्रता से प्राणसाधना में प्रवृत्त होनेवाला हो, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि सायंकाल **पशुरक्षिः**=पशुओं का रक्षक **यूथा**=पशुसमूह को **अस्तम्**=गृह की ओर प्रेरित करता है। (२) **सः**=वह प्राणगण **वचनस्य**=इस स्तुतिवचनों के वक्ता **विपः**=मेधावी पुरुष के मस्तिष्क शरीर में **श्रुतस्य पिस्पृशति**=ज्ञानों का इस प्रकार सम्पर्क करता है, **न**=जैसे कि प्रभु **स्तृभिः**=नक्षत्रों से, सितारों से **नाकम्**=अन्तरिक्ष को (द्युलोक को) सजा (चमका) देते हैं। अर्थात् प्राणसाधना से मस्तिष्क ज्ञान-विज्ञान के नक्षत्रों से चमक उठता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'वीर, बलवान, स्फूर्तिवाला व ज्ञान-विज्ञान से दीप्त' बनाती है।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राया तन्वा तना च

यो रजांसि विमुमे पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुर्मनवे बाधिताय।
तस्य ते शर्मन्नुपदद्यमाने राया मदेम तन्वा३ तना च॥ १३॥

(१) **यः**=जो प्रभु **बाधिताय**=आसुरभावों से पीड़ित किये जानेवाले **मनवे**=मनुष्य के रक्षण के लिये **पार्थिवानि रजांसि**=इन पार्थिव लोकों को **चित्**=निश्चय से **त्रिः** 'विमये'='इन्द्रियों, मन व बुद्धि' के क्रम से तीन बार **विममे**=विशिष्टरूप से बनाता है। अर्थात् इन्द्रियों, मन व बुद्धि रूप उपकरणों को प्राप्त कराके मनुष्यों का कल्याण करता है। (२) **तस्य**=उस **ते**=तेरे द्वारा **उपदद्यमाने**=दिये जा रहे **शर्मन्**=इस गृह में **राया**=साधनभूत धनों से **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार से युक्त नीरोग शरीर से **च**=तथा **तना**=उत्तम सन्तानों के साथ **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को प्राप्त कराते हैं। प्रभु से दिये गये इस गृह में हम 'धन, शक्ति विस्तार व उत्तम सन्तानों' के साथ आनन्दयुक्त होकर रहें।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अन्न, जल, ओषधि व धन

तन्नोऽहिर्बुध्न्यो अद्भिरर्कैस्तत्पर्वतस्तत्सविता चनो धात्।
तदोषधीभिरभि रातिषाचो भगः पुरन्धिर्जिन्वतु प्र राये॥ १४॥

(१) **अहिर्बुध्न्यः**=(बुध्नं अन्तरिक्षं, तत्र एति सा०) सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में गतिवाला वह प्रभु **अर्कैः**=अर्चन साधन मन्त्रों के साथ **नः**=हमारे लिये **तत्**=उस **चनः**=अन्न को **अद्भिः**=जलों के साथ **धात्**=धारण करे। हमारे लिये मन्त्रों के ज्ञान के साथ अन्न व जल को प्रभु प्राप्त करायें। **पर्वतः**=वह पूरयिता सब कमियों को दूर करनेवाले प्रभु **तत्**=उस अन्न-जल को धारण करें। **सविता**=प्रेरक प्रभु **तत्**=उस अन्न-जल को धारण करें। (२) **रातिषाचः**=दान का सेवन करनेवाले, दानशील, सब देव **ओषधीभिः**=ओषधियों के साथ उस अन्न-जल को प्राप्त करायें तथा **भगः**=ऐश्वर्य के पुञ्ज **पुरन्धिः**=अनन्त प्रज्ञा व कर्मोंवाले प्रभु हमें **राये**=ऐश्वर्य के लिये **अभिप्रजिन्वतु**=प्रेरित करें। इस ऐश्वर्य का विनियोग हम पालक व पूरक कर्मों में ही करें।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये ज्ञान के साथ उत्तम अन्न व जल को प्राप्त करायें। ओषधियों के साथ पालक व पूरक कर्मों के साधनभूत ऐश्वर्यों को भी प्राप्त करायें।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अतिजगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

कैसे धन? कैसा गृह?

नू नो रयिं रथ्यं चर्षणिप्रां पुरुवीरं मह ऋतस्य गोपाम्।
क्षयं दाताजरं येन जनान्त्स्पृधो अदेवीरभि च क्रमाम विश आदेवीरभ्य१श्नवाम॥ १५॥

(१) हे सब देवो! **नु**=अब **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=उस धन को **दात**=दीजिये। जो **रथ्यम्**=शरीररूप रथ को उत्तम बनानेवाला हो। **चर्षणिप्राम्**=श्रमशील मनुष्यों को पूरण करनेवाला हो, जिस धन के द्वारा हम श्रमशील बनें और अपनी कमियों को दूर करनेवाले हों। **पुरुवीरम्**=बहुत वीर सन्तानोंवाला हो, जिस धन का प्रभाव हमारे सन्तानों में वीरता को जन्म देनेवाला हो और जो धन **महः ऋतस्य**=महान् यज्ञों का **गोपाम्**=रक्षक हो, जिस धन के द्वारा यज्ञों का प्रवर्तन

होता रहे। (२) सब देव हमारे लिये **क्षय दात**=उस शरीररूप गृह को दें जो **अजरम्**=जीर्ण शक्तियोंवाला न हो। **च**=और **येन**=जिसके द्वारा **अदेवीः स्पृधः**=अदिव्य-आसुरी-वासनाओंरूप शत्रुओं को **अभि क्रमाम**=अभिक्रान्त करनेवाले हों। और जिस शरीर के द्वारा **आदेवीः**=प्राप्त हुई हैं दिव्य भावनाएँ जिनको उन **विशः**=प्रजाओं को **अभ्यश्नवाम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हमें वह धन प्राप्त हो जो हमें 'उत्तम शरीरवाला, श्रमशील, वीर सन्तानोंवाला व यज्ञरक्षक' बनाये। हमें वह शरीर गृह प्राप्त हो जो कि अजीर्ण शक्तिवाला, आसुरी भावों से अनाक्रान्त व दिव्य भावनाओंवाला हो।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'ऋजिश्वा' है—

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवमाता व देवों का आह्वान

हुवे वो देवीमदितिं नमोभिर्मृळीकाय वरुणं मित्रमग्निम्।
अभिक्षदामर्यमणं सुशेवं त्रातृन्देवान्त्सवितारं भगं च ॥ १ ॥

(१) **वः**=तुम्हारे जीवन को **देवीम्**=प्रकाशमय बनानेवाली **अदितिम्**=अदीना देवमाता को **हुवे**=पुकारता हूँ। वस्तुतः **'अ-दितिम्'**=अखण्डन स्वास्थ्य का अभंग ही सब दिव्य गुणों केविकास का आधार बनता है। इसी अदिति को मैं पुकारता हूँ, प्राप्त करने के लिये यत्नशील होता हूँ। **मृडीकाय**=सुख की प्राप्ति के लिये **वरुणम्**=द्वेष निवारण की देवता को **मित्रम्**=स्नेह की देवता को तथा **अग्निम्**=प्रगति की देवता को पुकारता हूँ। निर्द्वेष व प्रेमय बनकर मैं निरन्तर आगे बढ़ता हूँ। यही तो सुख प्राप्ति का मार्ग है। (२) मैं सुख प्राप्ति के लिये **अभिक्षदाम्**=शत्रुओं के हिंसक **सुशेवम्**=उत्तम कल्याण को करनेवाले **अर्यमणम्**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि के नियन्ता देव को पुकारता हूँ। अन्य सब **त्रातॄन्**=रक्षा करनेवाले **देवान्**=देवों को, दिव्यभावों को **च**=तथा **सवितारं भगम्**=प्रेरक उपासनीय (भज सेवायाम्) प्रभु को पुकारता हूँ।

भावार्थ—मैं स्वस्थ बनूँ। निर्द्वेषता, स्नेह व प्रगतिशीलतावाला मेरा जीवन हो। शत्रुहिंसक सुखकारी नियमन के भाव को प्रेरणा देनेवाले को, सब दिव्यगुणों को प्राप्त करने के लिये यत्नशील बनूँ। प्रेरक प्रभु की उपासना करूँ।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अनागास्त्व

सुज्योतिषः सूर्य दक्षपितॄननागास्त्वे सुमहो वीहि देवान्।
द्विजन्मानो य ऋतसापः सत्याः स्वर्वन्तो यजता अग्निजिह्वाः ॥ २ ॥

(१) हे **सुमहः**=शोभन दीप्तिवाले **सूर्य**=(सुवति) सबके प्रेरक प्रभो! आप **अनागास्त्वे**=निरपराधता के निमित्त, हमारे जीवनों को अपराध शून्य बनाने के निमित्त **देवान्**=दिव्य वृत्तिवाले पुरुषों को **वीहि**=(कामयस्व)=हमारे लिये प्राप्त कराइये। उन देवों को जो **सुज्योतिषः**=उत्तम ज्योतिवाले हैं तथा **दक्षपितॄन्**=निपुण पितर हैं, कुशलता से रक्षण करनेवाले हैं। (२) हमें उन पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त कराइये **ये**=जो **द्विजन्मानः**=द्विजन्मा हैं, जिन्होंने पितृकुल के बाद आचार्यकुल से जन्म लिया है। **ऋतसापः**=ऋत का सेवन करनेवाले हैं। **सत्याः**=सत्य जीवनवाले, **स्वर्वन्तः**=प्रशस्त प्रकाशवाले हैं। **यजताः**=यज्ञशील हैं। **अग्निजिह्वाः**=अग्नि के समान तेजस्वी

वाणीवाले हैं। जिनका एक-एक वचन अग्नि की तरह प्रकाश को देनेवाला व बुराइ को भस्म करनेवाला है।

भावार्थ—ज्योतिर्मय यज्ञशील पुरुषों के सम्पर्क में हमारा जीवन भी अपराध शून्य बने।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'क्षत्रं, शरणं, वरिवः, अनेहः'

उत द्यावापृथिवी क्षत्रमुरु बृहद्रोदसी शरणं सुषुम्ने।
महस्करथो वरिवो यथा नोऽस्मे क्षयाय धिषणे अनेहः॥ ३॥

(१) **उत**=और **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **उत**=विशाल **क्षत्रम्**=बल को **करथः**=करते हैं। ये **सुषुम्ने**=उत्तम सुखों को प्राप्त करानेवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **शरणम्**=गृह को करते हैं। (२) हे द्यावापृथिवी! ऐसा करो कि **यथा**=जिससे **नः**=हमारे लिये **महः वरिवः**=महनीय धन को करनेवाले होवो। हे **धिषणे**=धारण करनेवाले द्यावापृथिवी! आप **अस्मे क्षयाय**=हमारे उत्तम निवास के लिये **अनेहः**=निष्पापता को करिये।

भावार्थ—द्यावापृथिवी की अनुकूलता से हम 'विशाल बल, वृद्धि के कारणभूत गृह, महनीय धन तथा निष्पापता' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वसवः अधृष्टाः

आ नो रुद्रस्य सूनवो नमन्तामद्या हूतासो वसवोऽधृष्टाः।
यदीमर्भे महति वा हितासो बाधे मरुतो अह्वाम देवान्॥ ४॥

(१) **'रुद्र'**=सब रोगों का द्रावण करनेवाला है। प्राण (मरुत्) इस रुद्र के पुत्र हैं, ये ही वस्तुतः रोगों को दूर भगाते हैं। इनसे प्रार्थना करते हैं कि हे **रुद्रस्य सूनवः**=रुद्र पुत्र प्राणो! **आहूतासः**=पुकारे गये आप **नः**=हमारे लिये **अद्या**=आज **नमन्ताम्**=प्राप्त हों (आगच्छन्तु सा०)। आप **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हो **अधृष्टाः**=शत्रुओं से आपका धर्षण नहीं किया जाता। (२) **यत्**=चाहे हम **अर्भे**=छोटे **महति वा**=या बड़े **बाधे**=संग्राम में **ईम्**=निश्चय से **हितासः**=हम स्थित होते हैं, तो **देवान्**=इन दिव्य गुणोंवाले, रोगों को जीतने की कामनावाले, **मरुतः**=प्राणों को **अह्वाम**=पुकारते हैं। रोगों के साथ होनेवाले संग्राम 'अर्भ' है, वासनाओं के साथ चलनेवाले संग्राम 'महान्'। इन सब संग्रामों में विजय, इन प्राणों के द्वारा ही होती है।

भावार्थ—हम प्राणों को पुकारते हैं। ये हमें नीरोग बनाकर उत्तम निवासवाला बनाते हैं तथा वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'समृद्ध दीप्त शुभ' जीवन

मिम्यक्ष येषु रोदसी नु देवी सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा।
श्रुत्वा हवं मरुतो यद्ध याथ भूमा रेजन्ते अध्वनि प्रविक्ते॥ ५॥

(१) **येषु**=जिन मरुतों (प्राणों) की साधना के होने पर **नु**=अब **देवी**=दिव्यगुणोंवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी, मस्तिष्क व शरीर **मिम्यक्ष**=संगत होते हैं तथा जिन प्राणों के होने पर **अभ्यर्धयज्वा**=(अभ्यर्धयन् यजति) समृद्ध बनाता हुआ और समृद्धि के द्वारा यज्ञ प्रवृत्त करता

हुआ **पूषा**=पोषण का देव **सिषक्ति**=हमारा सेवन करता है। अर्थात् प्राणसाधना से (क) मस्तिष्क व शरीर दोनों सुन्दर बनते हैं, (ख) हम समृद्धि को प्राप्त करके यज्ञशील होते हैं। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **हवं श्रुत्वा**=पुकार को सुनकर **यद् ह**=जब निश्चय से **याथ**=तुम हमारे अन्दर गति करते हो, तो **प्रविक्ते**=(विविक्ते) अच्छी प्रकार से निर्णय किये गये, विवेचन किये गये, **अध्वनि**=मार्ग पर चलते हुए **भूमा**=ये प्राणी **रेजन्ते**=चमकते हैं। प्राणसाधना से विवेक ख्याति प्राप्त होती है, यह विवेक हमें उत्तम मार्ग पर ले चलता हुआ दीप्त जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाती है। इससे समृद्ध होकर हम यज्ञशील बनते हैं। विवेक को प्राप्त होकर उत्तम मार्ग पर चलते हुए दीप्त जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासना से 'ज्ञान व शक्ति' की प्राप्ति

अभि त्यं वीरं गिर्वणसमर्चेन्द्रं ब्रह्मणा जरितर्नवेन।
श्रवदिद्धवमुप च स्तवानो रासद्वाजाँ उप महो गृणानः ॥ ६ ॥

(१) हे **जरितः**=स्तोतः! **त्यम्**=उस **वीरम्**=शत्रुकम्पक **गिर्वणसम्**=ज्ञान-वाणियों द्वारा संभजनीय **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **नवेन ब्रह्मणा**=स्तुत्य वेदज्ञान द्वारा **अभि अर्च**=प्रातः-सायं पूजनेवाला बन। इन ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कर और इनके द्वारा प्रभु का पूजन कर। (२) वे प्रभु **हवं श्रवत् इत्**=हमारी पुकार को सुनते ही हैं। **च**=और **उपस्तवानः**=उपस्तुत होते हुए **वाजान्**=शक्तियों को **रासत्**=देते हैं। **गृणानः**=हृदयस्थरूपेण ज्ञानोपदेश करते हुए वे प्रभु **महः**=तेजस्विता को **उप (रासत्)**=देते हैं। उपासक ज्ञान व शक्ति के मेल से बड़े सुन्दर जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—उपासना से उपासक का जीवन ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न होता है।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मातृतमाः आपः

ओमानमापो मानुषीरमृक्तं धात तोकाय तनयाय शं योः।
यूयं हि ष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः ॥ ७ ॥

(१) हे **मानुषीः**=मानवहितकारी **आपः**=जलो! **अमृक्तम्**=अहिंसित **ओमानम्**=रक्षण को **धात**=हमारे लिये धारण करो तथा **तोकाय तनयाय**=हमारे पुत्र-पौत्रों के लिये **शं योः**=रोगों के शमन तथा भयों के यावन (=पृथक् करण) का कारण बनो। (२) हे जलो! **यूयम्**=आप **हि**=ही **भिषजः स्थ**=औषध हो। **मातृतमाः**=हमारे जीवनों में उत्कृष्ट शक्तियों का निर्माण करनेवाले हो। **विश्वस्य**=सब **स्थातुः जगतः**=स्थावर जंगम के **जनित्रीः**=विकास व प्रादुर्भाव को करनेवाले हो।

भावार्थ—जलों के ठीक प्रयोग से हमारा जीवन सुरक्षित शान्त व अभय बने। ये जल औषध हैं, माता के समान पुत्र-पौत्रों का हित करनेवाले हैं।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सविता

आ नो देवः सविता त्रायमाणो हिरण्यपाणिर्यजतो जगम्यात्।
यो दत्रवाँ उषसो न प्रतीकं व्यूर्णुते दाशुषे वार्याणि ॥ ८ ॥

(१) **नः**=हमारे लिये **देवः सविता**=यह प्रकाशमय, कर्मों में प्रेरित करनेवाला सूर्य **आजगम्यात्**=प्राप्त हो। जो सूर्य **त्रायमाणः**=हमारा रक्षण करता है। **हिरण्यपाणिः**=हितरमणीय हाथोंवाला है, अपने किरणरूप हाथों में स्वर्ण को लिये हुए है। **यजतः**=संगतिकरण योग्य है। (२) **यः**=जो सूर्य **दत्रवान्**=सब धनोंवाला है। **उषसः न प्रतीकम्**=उषा के मुख के समान है, उषा का प्रारम्भ करनेवाला है। उषा सूर्य का पूर्वाभास ही तो है। यह सूर्य **दाशुषे**=दाश्वान् के लिये, सूर्य के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये, सूर्य के सम्पर्क में चलनेवाले के लिये **वार्याणि**=सब वरणीय स्वास्थ्य आदि धनों को **व्युर्णुते**=प्रकट करता है।

भावार्थ—सूर्य हमें रोगकृमियों के आक्रमण से बचाता है, इसकी किरणों में स्वर्ण है, यह हमारे लिये स्वास्थ्य आदि धनों को प्रकट करता है।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दिव्यगुणों व वीरता की प्राप्ति

उत त्वं सूनो सहसो नो अद्या देवाँ अस्मिन्नध्वरे ववृत्याः।
स्यामहं ते सदमिद्रातौ तव स्यामग्नेऽवसा सुवीरः॥ ९॥

(१) **उत**=और हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज **अग्ने**=परमात्मन् **त्वम्**=आप **अद्या**=आज **नः**=हमारे **अस्मिन् अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **देवान् आववृत्याः**=सब देवों को आवृत्त करिये, प्राप्त कराइये। हमारा जीवन आपके अनुग्रह से दिव्यगुण-सम्पन्न बने। (२) **अहम्**=मैं **सदं इत्**=सदा ही **ते**=आपके **रातौ**=दान में **स्याम्**=होऊँ, आपके दान का मैं सदा पात्र बनूँ। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तव अवसा**=आपके रक्षण से मैं **सुवरिः**=उत्तम वीरतावाला व वीर सन्तानोंवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवनयज्ञ को दिव्यगुणमय बनायें। प्रभु के दानों के हम पात्र बनें। प्रभु से रक्षित होते हुए हम सुवीर बनें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महान् अन्धकार का विनाश

उत त्या मे हवमा जंग्म्यातं नासत्या धीभिर्युवमङ्ग विप्रा।
अत्रिं न महस्तमसोऽमुमुक्तं तूर्वतं नरा दुरितादभीके॥ १०॥

(१) **उत्**=और हे **त्या**=वे प्रसिद्ध **नासत्या**=(न+असत्य) असत्यों को हमारे जीवनों से दूर करनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप **विप्रा**=हमारा पूरण करनेवाले हो। आप **धीभिः**=बुद्धिपूर्वक किये गये कर्मों के साथ **मे हवम्**=मेरी पुकार को **जग्म्यातम्**=प्राप्त होवो। जब मैं बुद्धिपूर्वक कर्मों को करता हुआ आपको आराधन करूँ, तो आप मेरी प्रार्थना को सुनो। (२) हे प्राणापानो! **अत्रिम् न**=जैसे आप 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों से ऊपर उठे हुए व्यक्ति को **महः तमसः**=महान् अन्धकार से **अमुमुक्तम्**=मुक्त करते हो, उसी प्रकार हे **नरा**=हमें आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! आप **अभीके**=प्राप्त संग्राम में **दुरितात्**=पाप से **तूर्वतम्**=(तुर्व् to save) हमें बचाते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा (क) जीवन से अस्तय दूर होता है, (ख) जीवन का विशेषरूप से पूरण होता है, (ग) अन्धकार दूर होता है, (घ) दुरित से हम बच पाते हैं।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्युमतः वाजवतः (रायः)

ते नो॑ रा॒यो द्यु॒मतो॒ वाज॑वतो दा॒तारो॑ भूत नृ॒वतः॑ पुरु॒क्षोः ।
द॒श॒स्यन्तो॑ दि॒व्याः पार्थि॑वासो॒ गोजा॑ता॒ अप्प्या॑ मृ॒ळता॑ च देवाः ॥ ११ ॥

(१) हे देवो! **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिये **रायः**=धन के **दातारः**=देनेवाले **भूत**=होवो। जो धन **द्युमतः**=ज्ञान की ज्योतिवाला है, अर्थात् ज्ञानवृद्धि का साधन बनता है। **वाजवतः**=शक्तिवाला है, हमारी शक्तियों को बढ़ाता है। **नृवतः**=जो धन प्रशस्त मनुष्योंवाला है, जिस धन के कारण हमारे परिवार के सब व्यक्ति उत्तम जीवनवाले बनते हैं। **पुरुक्षोः**=जो धन बहुतों से कीर्तनीय है, अर्थात् जो धन लोकहित में विनियुक्त होकर हमारे जीवन को यशस्वी बनाता है। (२) हे **दिव्याः**=द्युलोक में होनेवाले, **पार्थिवासः**=(पृथिवी=अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक में होनेवाले, **गोजाताः**=इस पृथिवी पर प्रादुर्भूत हुए-हुए, **च**=और **अप्याः**=जलों में होनेवाले **देवाः**=देवो! आप **दशस्यन्तः**=हमारे लिये वरणीय धनों को देते हुए **मृडत**=हमें सुखी करिये। सब प्राकृतिक शक्तियाँ हमारे अनुकूल होती हुई हमारे लिये वरणीय धनों को प्राप्त करायें।

भावार्थ—हमें सब देव उस प्रशस्त धन को प्राप्त करायें जो 'ज्ञान, बल व यश' का साधन बने। सब देव अरणीय धन को देकर हमें सुखी करें।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अन्न का वर्धन

ते नो॑ रु॒द्रः सर॑स्वती स॒जोषा॑ मी॒ळ्हुष्म॑न्तो॒ विष्णु॑र्मृळन्तु वा॒युः ।
ऋ॒भु॒क्षा वाजो॒ दैव्यो॑ विधा॒ता प॒र्जन्या॒वाता॑ पिप्यता॒मिषं॑ नः ॥ १२ ॥

(१) **ते**=वे सब देव **नः**=हमें **मृडन्तु**=सुखी करें। **रुद्रः**=सब दुःखों का द्रावण करनेवाला प्रभु, **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता, **विष्णुः**=व्यापकता व उदारता की देवता तथा **वायुः**=क्रियाशीलता की देवता (वा गतौ) ये सब **सजोषाः**=समान रूप से प्रीतिवाले होती हुईं **मीढुष्मन्तः**=हमारे लिये सुखों का वर्षण करनेवाले हों। 'प्रभु का उपासन, ज्ञान, उदार हृदयता तथा क्रियाशीलता' हमारे जीवन को सुखी बनायें। (२) **ऋभुक्षाः**=ज्ञान दीप्ति में निवास करनेवाला, **वाजः**=शक्तिशाली, **दैव्यः विधाता**=दिव्यगुण-सम्पन्न निर्माण कर्ता पुरुष **नः**=हमारे लिये **इषम्**=प्रेरणा को **पिप्यताम्**=बढ़ायें। अर्थात् इन से प्रेरणा को प्राप्त करके हम भी ज्ञान दीप्त शक्तिशाली व दिव्य गुण सम्पन्न बनें तथा निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों। (३) तथा **पर्जन्यावाता**=मेघ व वायु हमारे लिये **इषम्**=उत्तम अन्न को **पिप्यताम्**=बढ़ानेवाले हों। मेघ व वायु (Monsoon winds) द्वारा उत्पन्न उत्तम अन्नों से हम अपने जीवनों को आप्यायित करनेवाले हों।

भावार्थ—'प्रभु का उपासन, ज्ञान, उदारता व क्रियाशीलता' हमारे जीवन को सुखी करें। हम 'ज्ञानी, शक्तिशाली, दिव्यगुण-सम्पन्न, निर्माण कार्य प्रवृत्त' पुरुषों के सम्पर्क में आएँ। मेघ व वायु से उत्पन्न किये गये अन्नों का सेवन करें।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सम्पूर्ण वातावरण कल्याणमय हो

उ॒त स्य दे॒वः स॑वि॒ता भगो॑ नो॒ऽपां नपा॑दवतु॒ दानु॒ पप्रिः॑ ।
त्वष्टा॑ दे॒वेभि॒र्जनि॑भिः स॒जोषा॒ द्यौर्दे॒वेभिः॑ पृथि॒वी स॑मु॒द्रैः ॥ १३ ॥

(१) **उत**=और **स्यः**=वह **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक प्रभु **नः**=हमें **अवतु**=रक्षित करे। **भगः**=ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु हमारा रक्षण करे। **दानु पप्रिः**=सब धनों का हमारे में पूरण करनेवाला **अपांनपात्**=शक्तियों को (आपः रेतो भूत्वा०) न नष्ट होने देनेवाला प्रभु हमारा रक्षण करे। (२) **जनिभिः**=सब अच्छाइयों को जन्म देनेवाले **देवेभिः**=दिव्यगुणों के साथ **त्वष्टा**=वह निर्माता प्रभु हमारा रक्षण करे। **देवेभिः सजोषाः**=सूर्यादि प्रकाशमय पिण्डों के साथ प्रीतिवाला होता हुआ **द्यौः**=यह द्युलोक हमारा रक्षण करे तथा **समुद्रैः**=सब समुद्रों के साथ **पृथिवी**=यह पृथिवी हमारा रक्षण करे।

भावार्थ—'प्रकाशमय-प्रेरक-शक्ति को न नष्ट होने देनेवाले' प्रभु हमारा रक्षण करें। दिव्यगुणों के विकास को करनेवाले निर्माता प्रभु हमारा कल्याण करें। दीप्त पिण्डों से युक्त द्युलोक हमारा कल्याण करे तथा समुद्र युक्त यह पृथिवी भी हमारा कल्याण करे।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अहिर्बुध्न्यः अज एकपात्

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु॥ १४॥

(१) **उत**=और **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन युक्त (=आधार) वाला वह प्रभु **नः शृणोतु**=हमारी पुकार को सुने। **अजः**=गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाला प्रभु हमारी पुकार को सुने। **एकपात्**=अकेला ही गतिवाला, अपने कार्यों में औरों के साहाय्य की अपेक्षा न करनेवाला प्रभु हमारी प्रार्थना को सुने। (२) **पृथिवी**=यह पृथिवी **समुद्रः**=समुद्र **विश्वेदेवाः**=सब देव हमारा **अवन्तु**=रक्षण करें। **ऋतावृधः**=ऋत का वर्धन करनेवाले सब देव **हुवानाः**=पुकारे जाते हुए हमारा रक्षण करें तथा **कविशस्ताः**=उस महान् कवि प्रभु से उच्चारण किये गये **स्तुताः**=स्तुति में हमारे से उच्चारण किये जाते हुए **मंत्राः**=मन्त्र हमारा रक्षण करें।

भावार्थ—प्रभु से प्रेरणा के प्राप्त करके हम अपनी उन्नति के लिये व्यापक आधार वाले व गतिशील बनें। हम अपने में ऋत का वर्धन करें। प्रभु से उच्चरित वेद मन्त्रों को अपनाएँ।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सच्चे उपासक

एवा नपातो मम तस्य धीभिर्भरद्वाजा अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
ग्ना हुतासो वसवोऽधृष्टा विश्वे स्तुतासो भूता यजत्राः॥ १५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **एवा**=इस प्रकार **तस्य मम**=उस मेरे **नपातः**=सन्तानरूप **भरद्वाजाः**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले ये उपासक **धीभिः**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से तथा **अर्कैः**=स्तुति साधन मन्त्रों से **अभ्यर्चन्ति**=पूजन करते हैं। प्रभु का पूजन यज्ञादि कर्मों व स्तुतियों से होता है। (२) **विश्वे**=सब **यजत्राः**=यष्टव्य व पूजनीय देवो! आप **स्तुतासः**=स्तुति किये जाकर **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले व **अधृष्टाः**=शत्रुओं से अधर्षणीय **भूत**=होवो। आपके कारण हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं से अभिभूत न हों। **ग्नाः**=ये वेदवाणियाँ **हुतासः**=हमारे द्वारा ज्ञानाग्नि में आहुत की जाएँ। ये वेद वाणियाँ हमारी ज्ञानाग्नि को सुसमिद्ध करनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभु के सच्चे पुत्र वे ही हैं जो बुद्धिपूर्वक कर्मों व स्तोत्रों से प्रभु स्तवन करते हैं। ये अपनी ज्ञानाग्नि में ज्ञान वाणियों की आहुति देते हैं। इन गुणों के द्वारा ये अपने निवास

को उत्तम व शत्रुओं से अधर्षणीय बना पाते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'ऋजिश्वा' है—

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'द्युलोक का भूषण' सूर्य

उदु त्यच्चक्षुर्महि मित्रयोराँ एति प्रियं वरुणयोरदब्धम्।
ऋतस्य शुचि दर्शतमनीकं रुक्मो न दिव उदिता व्यद्यौत्॥ १॥

(१) सूर्य के प्रसंग में 'मित्र व वरुण' का भाव दिन व रात्रि से होता है। **त्यत्**=वह प्रसिद्ध **चक्षुः**=प्रकाशक **महि**=महान्, विस्तृत **मित्रयोः वरुणयोः**=दिन-रात्रि के लिये **प्रियम्**=प्रीतिकर **अदब्धम्**=अहिंसित **शुचि**=शुद्ध **दर्शतम्**=दर्शनीय **ऋतस्य अनीकम्**=(ऋ गतौ) आदित्य का तेज **आ उदेति**=सब के अभिमुख उदित होता है, सूर्य के इस तेज के कारण ही दिन व रात्रि का होना होता है। यह सूर्य का तेज रोगकृमियों का संहार करता हुआ हमें हिंसित नहीं होने देता, सो 'अदब्ध' है। नीरोगता को उत्पन्न करनेवाला यह तेज 'शुचि' है। (२) **उदिता**=उदय होने पर **दिवः रुक्मः न**=द्युलोक के स्वर्ण भूषण के समान यह **व्यद्यौत्**=चमकता है। सूर्य द्युलोक का भूषण ही प्रतीत होता है।

भावार्थ—सूर्य का तेज अत्यन्त प्रीतिकर व हमें न हिंसित होने देनेवाला है। यह उदय हुआ-हुआ सूर्य द्युलोक का भूषण ही प्रतीत होता है।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विप्रः

वेद यस्त्रीणि विदथान्येषां देवानां जन्म सनुतरा च विप्रः।
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान्॥ २॥

(१) सूर्य द्युलोक को प्रकाशित करता है। ज्ञानी पुरुष मनुष्यों को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराता है। **यः**=जो **त्रीणि विदथानि**='ज्ञान, कर्म व उपासना' रूप तीनों ज्ञेय वस्तुओं को **वेद**=जानता है। **च**=और **एषां देवानाम्**=इन सूर्य-चन्द्र आदि देवों के **सनुतः**=अन्तर्हित-अप्रज्ञायमान **जन्म**=उत्पत्ति को (वेद) जानता है। यह पुरुष **विप्रः**=ज्ञानी है। ज्ञानी पुरुष प्रकृति से बने इन सूर्य-चन्द्र आदि देवों के जन्म को तो जानता ही है, यह जीव के कर्त्तव्यभूत 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को भी जाननेवाला होता है। (२) यह **सूरः**=ज्ञान के प्रकाश से सूर्य के समान चमकनेवाला **अर्यः**=जितेन्द्रिय पुरुष **मर्तेषु**=मनुष्यों में **ऋजु**=सरल कर्मों को **च**=व **वृजिना**=कुटिल कर्मों को **पश्यन्**=देखता हुआ **एवान्**=गन्तव्य मार्गों को **अभिचष्टे**=प्रकाशित करता है। पुण्य-पाप का विवेचन करता हुआ यह ज्ञानी पुरुष गन्तव्य मार्गों का उपदेश करता है।

भावार्थ—विप्र वह है जो (क) जीव के लिये 'ज्ञान, कर्म, उपासना' का ज्ञान प्राप्त करता है, (ख) सूर्य आदि देवों के जन्म को समझता है, (ग) पुण्य-पाप का विवेक कर पाता है, (घ) गन्तव्य मार्गों का उपदेश देता है।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋतस्य गोपान्-सुजातान्-सधन्यः पावकान्

स्तुष उ वो मह ऋतस्य गोपानदितिं मित्रं वरुणं सुजातान्।
अर्यमणं भगमदब्धधीतीनच्छा वोचे सधन्यः पावकान्॥ ३॥

(१) हे देवो! **महः ऋतस्य गोपान्**=महान् ऋत के रक्षक **वः**=तुम्हें **स्तुषे उ**=स्तुत करता ही हूँ। वे दिव्य भावनाएँ जो मेरे जीवन में ऋत की जो भी ठीक है उसकी रक्षा करती हैं, उनका मैं स्तवन (=शंसन) करता हूँ। **अदितिम्**=अदीना देवमाता का दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले स्वास्थ्य को, **मित्रम्**=स्नेह की देवता को, **वरुणम्**=द्वेष के निवारण-निर्द्वेषता की देवता को स्तुत करता हूँ। इन सब देवों को जो **सुजातान्**=उत्तम विकासवाले हैं, मैं प्रशंसित करता है। इन्हें धारण करने के लिये यत्नशील होता हूँ। (२) **अदब्धधीतीन्**=अहिंसित कर्मोंवाले, **अर्यमणम्**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि का नियमन करनेवाले देवों को तथा **भगम्**=ऐश्वर्य की देवता को **अच्छा**=लक्ष्य करके **वोचे**=स्तुति-वचनों का उच्चारण करता हूँ। **सधन्यः**=धनसहित **पावकान्**=पवित्र करनेवाले सब देवों का मैं स्तवन करता हूँ, इन सब दिव्य भावनाओं को धारण करने के लिये यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—मैं ऋत के रक्षक, उत्तम विकास के कारणभूत, धनसहित, पवित्र करनेवाले सब दिव्यभावों को धारण करने के लिये यत्नशील होता हूँ।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दुवोयु यामि

रिशादसः सत्पतीँरदब्धान्महो राज्ञः सुवसनस्य दातॄन्।
यूनः सुक्षत्रान्क्षयतो दिवो नॄनादित्यान्याम्यदितिं दुवोयु॥ ४॥

(१) **रिशादसः**=हमारा हिंसन करनेवाले (रिश) शत्रुओं को (काम-क्रोध आदि को) खा जानेवाले, **सत्पतीन्**=सद्गुणों के रक्षक, **अदब्धान्**=अहिंसित, **महः राज्ञः**=महान् दीप्तिवाले, **सुवसनस्य दातॄन्**=उत्तम निवास को देनेवाले देवों की मैं **यामि**=याचना करता हूँ। इन दिव्यभावों को प्राप्त करने के लिये चाहता हूँ। (२) **यूनः**=बुराइयों को दूर करनेवाले व अच्छाइयों को मिलानेवाले, **सुक्षत्रान्**=उत्तम बलवाले, **क्षयतः**=ऐश्वर्यशाली (क्षयतिरैश्वर्यकर्मा), **दिवः नॄन्**=प्रकाश की ओर ले जानेवाले, **आदित्यान्**=सब सद्गुणों का आदान करनेवाले, **अदितिं (अ-अदितिं)**=दिव्यगुणों की आधारभूत स्वास्थ्य की देवता को **दुवोयु**=परिचरण की कामनावाला होता हुआ (यामि) माँगता हूँ, इन सब दिव्यगुणों के धारण के लिये यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—बुराइयों के नाशक व अच्छाइयों के रक्षक सब सद्गुणों को प्राप्त करने के लिये मैं यत्नशील होता हूँ।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता-माता-भ्राता

द्यौ३ष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥ ५॥

(१) हे **पितः द्यौः**=पितृ स्थानापन्न द्युलोक, **अध्रुक्**=किसी प्रकार से द्रोह न करनेवाली

मातः पृथिवि=मातृ स्थानापन्न पृथिवि, **भ्रातः अग्ने**=भ्रातृ स्थानीय अग्नि देव! तथा **वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले वसुओ! आप सब **नः मृडत**=हमारे जीवन को सुखी करें। (२) **विश्वे आदित्याः**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले दिव्य भावो! तथा **अदिते**=अदीन **देवमातः**=दिव्यगुणों की जननी स्वास्थ्य देवते! आप सब **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **बहुलं शर्म**=अधिक सुख **वियन्त**=प्राप्त कराओ।

भावार्थ—द्युलोक हमारा पिता हो, पृथिवी माता बने तथा अग्नि भ्राता हो। निवास को उत्तम बनानेवाले सब देव हमें सुखी करें। सब दिव्यभावनाएँ व स्वास्थ्य हमें उत्तम सुखयुक्त करें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

बल व ज्ञान के प्रापक देव

मा नो वृकाय वृक्यै समस्मा अघायते रीरधता यजत्राः।
यूयं हि ष्ठा रथ्यो नस्तनूनां यूयं दक्षस्य वचसो बभूव॥ ६॥

(१) हे **यजत्रा**=यष्टव्य-पूज्य देवो! आप **नः**=हमें **समस्मै**=सब **वृकाय**=हिंसा की वृत्तिवाले पुरुषों के लिये तथा **वृक्ये**=हिंसा वृत्तिवाली स्त्रियों के लिये **मा रीरधत**=वशीभूत मत करिये। **अघायते**=हमारे लिये **अघ**=अशुभ की कामनावाले के लिये हमें वशीभूत मत करिये। (२) **यूयम्**=आप सब **हि**=ही **नः**=हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के **रथ्यः**=नेता, उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **ष्ठा (स्थ)**=हैं। तथा **यूयम्**=आप हमारे लिये **दक्षस्य**=बल के तथा **वचसः**=ज्ञान की वाणियों के (रथ्यः) प्रणेता **बभूव**=होते हो।

भावार्थ—सब देव हमें हिंसक वृत्तिवाले व अशुभ की कामनावाले स्त्री-पुरुषों के वशीभूत होने से बचायें। ये सब देव हमारे शरीरों के सारथि बनें। हमारे लिये बल व ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

(पापी अपने आप से नष्ट हो)

मा व एनो अन्यकृतं भुजेम मा तत्कर्म वसवो यच्चयध्वे।
विश्वस्य हि क्षयथ विश्वदेवाः स्वयं रिपुस्तन्वं रीरिषीष्ट॥ ७॥

(१) हे **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले देवो! **वः**=आपके उपासक हम **अन्यकृतम्**=दूसरे से किये हुए **एनः**=पाप को **मा भुजेम**=मत भोगें। अर्थात् दूसरों से किये जानेवाले पापकर्मों के शिकार न हो जाएँ। **यत्**=जिस पाप कर्म से (येन सा०) **चयध्वे**=आप हिंसित करते हो, **तत्**=उस पाप कर्म को **मा कर्म**=हम मत करें। जिन कर्मों के द्वारा हम हिंसित होते हैं, उनसे हम बचें। (२) हे **विश्वदेवाः**=सब देवो! आप **हि**=ही **विश्वस्य क्षयथ**=सब के स्वामी हो। **रिपुः**=औरों का विदारण करनेवाला शत्रु **स्वयम्**=अपने आप **तन्वम्**=अपने शरीर को **रिरिषीष्ट**=हिंसित करनेवाला हो।

भावार्थ—दूसरों के पाप कर्मों के हम शिकार न हों। जिन कर्मों का परिणाम विनाश है, उनसे हम बचें। पापी स्वयं अपना विनाश करनेवाला है।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नमन की महिमा

नम॒ इदु॒ग्रं नम॒ आ वि॑वासे॒ नमो॑ दाधार पृथि॒वीमु॒त द्याम्।
नमो॑ दे॒वेभ्यो॒ नम॑ ईश एषां कृ॒तं चि॒देनो॒ नम॒सा वि॑वासे॥ ८॥

(१) **नम इत्**=नमन ही **उग्रम्**=अत्यन्त तेजस्वी है। प्रभु के प्रति नमन उपासक को तेजस्विता प्रदान करता है **नमः आविवासे**=मैं इस नमन का ही पूजन करता हूँ, इस नमन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। **नमः**=नमन ही **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **दाधार**=धारण करता है। प्रभु पूजन ही संसार का धारक है, इससे ही हमारे शरीर व मस्तिष्क (पृथिवीलोक व द्युलोक) ठीक बने रहते हैं। (२) **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये **नमः**=मैं नमस्कार करता हूँ। **नमः**=नमन ही **एषाम्**=इन देवों का **ईशे**=ईश है। नमन ही इन सब देवों को हमारे जीवन में लानेवाला है। **नमसा**=नमन के द्वारा **कृतं चित् एनः**=किये हुए पापों को भी **आविवासे**=(परिवर्जयामि) अपने से दूर करता हूँ, विनष्ट करता हूँ। जो पाप आदत के रूप में परिवर्तित हो गये थे उन्हें भी नमन के द्वारा अपने से दूर कर पाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु नमन हमें तेजस्वी बनाता है। दिव्यगुणों को यह नमन प्राप्त कराता है और पाप प्रवृत्ति को विनष्ट करता है।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ऋतस्थ रथ्यः-ऋतस्य पस्त्यसदः (यज्ञशील)

ऋ॒तस्य॑ वो र॒थ्यः॑ पू॒तद॑क्षानृ॒तस्य॑ पस्त्य॒सदो॒ अद॑ब्धान्।
ताँ आ नमो॑भिरुरु॒चक्ष॑सो नॄन्विश्वा॑न्व आ न॑मे म॒हो यज॑त्राः॥ ९॥

(१) हे देवो! **ऋतस्य**=यज्ञों के **रथ्यः**=प्रणेता **वः**=आपको **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **आनमे**=प्रणाम करता हूँ, नमस्कारों के द्वारा आपका पूजन करता हूँ। उन आपका पूजन करता हूँ जो आप **पूतदक्षान्**=पवित्र बलवाले हैं। **ऋतस्य पस्त्यसदः**=यज्ञ के गृहों में निवास करनेवाले हैं, सतत यज्ञशील हैं और **अदब्धान्**=वासनाओं से हिंसित होनेवाले नहीं हैं। (२) **तान्**=उन आपको मैं **आ**=(नमे) नमस्कृत करता हूँ जो **उरुचक्षसः**=विशाल दृष्टिकोणवाले हैं, **नॄन्**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हैं। हे **महः**=महान् **यजत्राः**=पूजनीय देवो! **वः**=आप **विश्वान्**=सबको मैं पूजित करता हूँ। इन देवों का आदर करते हुए हम भी अपने जीवनों को इसी प्रकार का बनाते हैं।

भावार्थ—हम उन देवों का आदर करते हैं जो यज्ञों के प्रणेता हैं, पवित्र बलवाले हैं, वासनाओं से हिंसित नहीं होते। जो देव विशाल दृष्टिकोणवाले, हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले व महनीय-पूजनीय हैं।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वरुण-मित्र-अग्नि

ते हि श्रेष्ठ॑वर्चस॒स्त उ॑ न॒स्तिरो॒ विश्वा॑नि दु॒रि॒ता नय॑न्ति।
सु॒क्ष॒त्रासो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॒ग्निर्ऋ॒तधी॑तयो वक्म॒राज॑सत्याः॥ १०॥

(१) **ते**=वे **हि**=ही देव **श्रेष्ठवर्चसः**=उत्तम वर्चस्वाले हैं। गत मन्त्र के अनुसार 'पूतदक्ष'

हैं। **ते**=वे **उ**=ही **नः**=हमें **विश्वानि दुरिता**=सब दुरितों के **तिरः नयन्ति**=पार ले जाते हैं। (२) जो देव **सुक्षत्रासः**=उत्तम बलवाले हैं। **वरुणः**=पापों व द्वेषों का निवारण करनेवाले, **मित्रः**=सब के साथ स्नेह से चलनेवाले, प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले, **अग्निः**=आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। **ऋतधीतयः**=सत्यकर्मा हैं तथा **वक्मराजसत्याः**=(वक्त=वचनं) ज्ञान की वाणियों के राजा-ज्ञान की वाणियों से दीप्त तथा सत्यमय हैं।

भावार्थ—श्रेष्ठ वर्चस् देवों का आदर करते हुए हम भी श्रेष्ठ वर्चस् बनें। हम निर्द्वेष, सबके साथ स्नेह करनेवाले, प्रगतिशील हों, सत्य कर्मोंवाले, ज्ञानदीप्त व सत्य का पालन करनेवाले हों।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुत्रात्रासः-सुगोपः

ते नु इन्द्रः पृथिवी क्षाम वर्धन्पूषा भगो अदितिः पञ्च जनाः।
सुशर्माणः स्ववसः सुनीथा भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः ॥ ११ ॥

(१) **ते**=वे सब देव **नः**=हमारे **क्षाम**=निवास भूमिभूत इस शरीर को **वर्धन्**=बढ़ानेवाले हों। **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु, **पृथिवी**=यह मातृतुल्य भूमि, **पूषा**=पोषण को करनेवाला सूर्य, **भगः**=ऐश्वर्य की देवता, **अदितिः**=सब दिव्यगुणों को जन्म देनेवाला स्वास्थ्य (अ-'दिति'=खण्डन) तथा **पञ्चजनाः**=समाज के अवयभूत पाँचों प्राणों का विकास करनेवाले मनुष्य हमारे इस निवास-स्थानभूत शरीर का वर्धन करें। (२) **सुशर्माणः**=उत्तम सुख को देनेवाले, **स्ववसः**=उत्तम अन्नोंवाले, **सुनीथाः**=उत्तम मार्गों पर ले चलनेवाले देव **नः**=हमारे लिये **सुत्रात्रासः**=सम्यक् तथा शत्रुओं के आक्रमण से हमें बचानेवाले तथा **सुगोपाः**=रोग-कृमि शत्रुओं की उत्पत्ति के निरोध से हमारा गोपन करनेवाले **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—सब देवों व प्रभु की कृपा से हमारा यह निवास-स्थानभूत शरीर रोगों व वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त न हो।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दिव्य सद्म' तथा 'सुमति'

नू सद्मानं दिव्यं नंशि देवा भारद्वाजः सुमतिं याति होता।
आसानेभिर्यजमानो मियेधैर्देवानां जन्म वसूयुर्ववन्द ॥ १२ ॥

(१) हे **देवाः**='माता, पिता, आचार्य, अतिथि' रूप देवो! **भारद्वाजः**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाला यह उपासक **नु**=निश्चय से शीघ्र ही **दिव्यं सद्मानम्**=दिव्य सद्म को **नंशि**=प्राप्त हो। 'दिव्य सद्म', अर्थात् प्रकाशमय घर को यह प्राप्त करनेवाला हो। हे देवो! **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला यह भारद्वाज **सुमतिं याति**=कल्याणी मति को प्राप्त करता है। (२) **आसानेभिः**=समीप बैठे हुए **मियेधैः**=पवित्र लोगों के साथ **यजमानः**=यज्ञ करता हुआ यह **वसूयुः**=वस्तुओं की प्राप्ति की कामनावाला उपासक **देवानां जन्म**=दिव्यगुणों के जन्म व विकास को **ववन्द**=स्तुत करता है। दिव्यगुणों के विकास की ही प्रशंसा करता है। इस प्रकार इस दिव्यगुणों के विकास को प्रशंसित करता हुआ इन दिव्य गुणों के धारण के लिये ही यत्नशील होता है।

भावार्थ—हम 'उत्तम माता, पिता, आचार्य व अतिथियों' की कृपा से अपने गृह को प्रकाशमय बना पायें। हम सुमति को प्राप्त होनेवाले हों। दिव्यगुणों का अपने में विकास कर पायें।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'वृजिन रिपु-दुराध्य स्तेन' से दूर

अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्। दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **त्यम्**=उस **वृजिनम्**=कुटिल, **रिपुम्**=पापकारी **स्तेनम्**=चोरी की वृत्तिवाले **दुराध्यम्**=दुष्टाभिप्राय पुरुष को **दविष्ठम्**=बहुत ही दूर **अप अस्य**=हमारे से परे फैंकिये। ऐसे व्यक्ति से हमारा किसी प्रकार का सम्पर्क न हो। (२) हे **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! आप हमारे लिये **सुगं कृधि**=उत्तमता से जाने योग्य मार्ग को करिये। (शोभनतया गन्तव्यं सुगम्)।

भावार्थ—हम प्रभु के अनुग्रह से कुटिल दुष्टाभिप्राय पुरुषों से बचे रहकर शोभन मार्ग पर चलनेवाले हों।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

ज्ञानियों के समीप

ग्रावाणः सोम नो ही कं सखित्वनाय वावशुः। जही न्य१त्रिणं पणिं वृको हि षः॥ १४॥

(१) हे **सोम**=शान्त प्रभो! **ग्रावाणः**=ज्ञान की वाणियों का उपदेश करनेवाले ये स्तोता लोग **हि**=ही **नः कम्**=हमारे सुख के लिये हों। ये हमारे लिये **सखित्वनाय**=मित्रभाव के लिये **वावशुः**=कामना करें। इन ज्ञानी प्रभु-भक्तों के साथ ही सदा हमारी मित्रता हो। (२) हे प्रभो! आप **अत्रिणम्**=इस हमें खा जानेवाले वासनारूप शत्रु को **निजहि**=नष्ट कर दीजिये। **पणिम्**=इस केवल सांसारिक व्यवहार की बातों को करनेवाले कृपण व्यक्ति को समाप्त करिये। **सः**=वह **हि**=निश्चय से **वृकः**=अत्यन्त लोभी है, आदान ही आदान की वृत्तिवाला है। इसने देना तो सीखा ही नहीं।

भावार्थ—हमारी मित्रता ज्ञानी स्तोताओं के साथ हो। वासनामय कृपण लुब्ध पुरुषों से हम दूर रहें।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

इन्द्रज्येष्ठा अभिद्यवः

यूयं हि ष्ठा सुदानव इन्द्रज्येष्ठा अभिद्यवः। कर्ता नो अध्वन्ना सुगं गोपा अमा॥ १५॥

(१) हे देववृत्ति के पुरुषो! **यूयम्**=आप **हि**=निश्चय से **सुदानवः**=अच्छी प्रकार वासनाओं का लवन (दाप् लवने) करनेवाले **स्थ**=हो। **इन्द्रज्येष्ठाः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही आपका ज्येष्ठ है, उसी की आप उपासना करते हैं। **अभिद्यवः**=आप अभिगत दीप्तिवाले हो, ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करनेवाले हो। (२) आप **अमा**=हमारे साथ होते हुए **अध्वन्**=इस जीवनमार्ग में **नः गोपाः**=हमारे रक्षक होते हो और हमारे लिये **सुगं कर्ता**=शोभनतया गन्तव्य मार्ग को करते हैं।

भावार्थ—देव पुरुष प्रभु को ज्येष्ठ माननेवाले व दीप्त जीवनवाले होते हैं। हमारे लिये ये जीवनमार्ग में रक्षक हों, हमें उत्तम मार्ग से ले चलें।

ऋषिः—ऋजिश्वाः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

निर्द्वेषता के मार्ग पर

अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥ १६॥

(१) हम **पन्थां अपि अगन्महि**=उस मार्ग को अपिगत (प्राप्त) होते हैं जो **स्वस्तिगाम्**=कल्याण की ओर ले जानेवाला है तथा **अनेहसम्**=पापशून्य है। (२) उस मार्ग से चलते हैं **येन**=जिससे **विश्वाः द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं को **परिवृणक्ति**=परिवर्जित करता है और **वसु विन्दते**=निवास के लिये आवश्यक धन को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हमारा मार्ग कल्याण की ओर ले जानेवाला, निष्पाप, निर्द्वेष व वसुप्रापक हो।

अगला सूक्त भी 'ऋजिश्वा' ऋषि का है—

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अतियाजस्य यष्टा

न तद्दिवा न पृथिव्यानु मन्ये न यज्ञेन नोत शमीभिराभिः।
उब्जन्तु तं सुभ्वः पर्वतासो नि हीयतामतियाजस्य यष्टा ॥ १ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि मैं **न अनुमन्ये**=इस बात की स्वीकृति नहीं दे सकता कि **अतियाजस्य यष्टा**=अतिशयेन दानरूप यज्ञ का करनेवाला यह दाता **तद्दिवा निहीयताम्**=उस मस्तिष्करूप द्युलोक से हीन हो। इसका मस्तिष्क तो उत्तम ही होता है। इसी प्रकार मैं यह अनुमति **न**=नहीं दे सकता कि वह **पृथिव्या**=शरीररूप पृथिवी से (निहीयताम्=) हीन हो जाये। इसका शरीर भी बड़ा स्वस्थ रहता है। यह **यज्ञेन न**=(निहीयताम्) यज्ञों से भी हीन न हो। **उत**=और **न**=नांही **आभिः शमीभिः**=इन उत्तम कर्मों से हीन हो। (२) **तम्**=उस अतियाज के यष्टा के प्रति **सुभ्वः**=ये उत्तम भूमियाँ तथा **पर्वतासः**=पर्वत भी **उब्जन्तु**=(be subdued), वशीभूत हुए-हुए हों। उसके प्रति ये सब अनुकूलतावाले हों।

भावार्थ—हम खूब दानशील हों। प्रभु इस दानशील को उत्तम मस्तिष्क व शरीरवाला तथा यज्ञशील व उत्तम कर्म-परायण बनाते हैं। इसके प्रति पर्वत व भूमियाँ सब अनुकूलतावाली होती हैं।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अतिमान' व 'स्तवन-निन्दा'

अति वा यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यः क्रियमाणं निनित्सात्।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषमभि तं शोचतु द्यौः ॥ २ ॥

(१) **यः**=जो पुरुष हे **मरुतः**=मनुष्यो! **नः**=हमारे में से **अतिमन्यते**=अतिमान करता है, गर्व करता है, **वा**=या **क्रियमाणम्**=किये जाते हुए **ब्रह्म**=ज्ञानपूर्वक स्तवन को **निनित्सात्**=निन्दित करे। **तस्मै**=उसके लिये **वृजिनानि**=उसके ये पाप ही **तपूंषि सन्तु**=सन्ताप कर हों। 'अतिमान करना व प्रभु स्तवन का उपहास करना' ये ऐसे पाप हैं जो उसके कर्ता के लिये सन्तापजनक होते हैं। (२) **तम्**=उस **ब्रह्मद्विषम्**=ज्ञान के प्रति अप्रीतिवाले पुरुष के लिये **द्यौः**=यह देदीप्यमान आदित्य **अभिशोचतु**=सन्ताप का कारण हो। अथवा यह सारा आकाश इसके शोक को पैदा करनेवाले हो।

भावार्थ—न तो हम अतिमान करें, नांही ज्ञानपूर्वक स्तवन की निन्दा करें ये पाप हमारे सन्ताप का कारण बनेंगे।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्मद्विट् का संहार

किमङ्ग त्वा ब्रह्मणः सोम गोपां किमङ्ग त्वाहुरभिशस्तिपां नः ।
किमङ्ग नः पश्यसि निद्यमानान्ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य ॥ ३ ॥

(१) हे **अंगः**=गतिशील **सोम**=शान्त प्रभो! **किम्**=और क्या, **त्वा**=आपको ही तो **ब्रह्मणः**=ज्ञान के **गोपाम्**=रक्षक **आहुः**=कहते हैं। हे **अंग**=गतिशील प्रभो! **किम्**=और क्या, **त्वा**=आपको ही **नः**=हमारा **अभिशस्तिपाम्**=वासनाओं के आक्रमण से, निन्दनीय कर्मों से बचानेवाला कहते हैं (अभिशस्ति attack)। (२) हे **अंग**=गतिशील प्रभो! **किम्**=क्यों आप **निद्यमानान्**=निन्दनीय होते हुए **नः**=हमें **पश्यसि**=देखते हैं। **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान के विरोधी व्यक्ति के लिये **तपुषिं हेतिम्**=संतापक अस्त्र को **अस्य**=फेंकिये, ज्ञान से अप्रीति करनेवाले को विनष्ट करिये।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान के रक्षक हैं। प्रभु ही हमें निन्दनीय कर्मों को आक्रमण से बचाते हैं।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञिय जीवन

अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा सिन्धवः पिन्वमानाः ।
अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ ॥ ४ ॥

(१) **जायमानाः**=प्रादुर्भूत होती हुई **उषसः**=उषाएँ **मा अवन्तु**=मेरा रक्षण करें। **पिन्वमानाः**=जलों से वृद्धि को प्राप्त करती हुई **सिन्धवः**=ये नदियाँ **आ अवन्तु**=मेरा रक्षण करें। ये **ध्रुवासः**=अपने स्थान पर निश्चल **पर्वतासः**=पर्वत **मा अवन्तु**=मुझे रक्षित करें। सदा सब पदार्थ मेरी अनुकूलतावाले हों। (२) इस अनुकूल परिस्थिति में **देवहूतौ**=दिव्यगुणों के आह्वान के स्थानभूत यज्ञों में **पितरः**=पितर **मा अवन्तु**=मेरा रक्षण करें। माता, पिता, आचार्यों द्वारा ऐसी परिस्थिति पैदा की जाये कि मैं प्रारम्भ से ही यज्ञिय वृत्तिवाला बनूँ। इस वृत्ति के द्वारा मेरे में सद्गुणों का विकास हो।

भावार्थ—उषाएँ, नदियाँ, पर्वत सब हमारा कल्याण करनेवाले हों। माता, पिता, आचार्य हमें यज्ञिय जीवनवाला बनायें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुमनसः स्याम

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ।
तथा करद्वसुपतिर्वसूनां देवाँ ओहानोऽवसागमिष्ठः ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार पितरों से पवित्र जीवनवाले बनाये जाते हुए हम **विश्वदानीम्**=सदा **सुमनसः**=उत्तम मनवाले **स्याम**=हों। हम सदा **उच्चरन्तम्**=उदय होते हुए **सूर्यम्**=सूर्य को **नु**=निश्चय से **पश्येम**=देखें। इस उदय होते हुए सूर्य की किरणों के सेवन से जहाँ रोगकृमियों के आक्रमण से अपने को बचाएँ, वहाँ इस सूर्य से निरन्तर गतिशीलता की प्रेरणा लेकर दीप्त जीवनवाले बनें। (२) **वसूनां वसुपतिः**=सब वसुओं के (धनों के) पति प्रभु **तथा करद्**=वैसी

कृपा करें कि **देवान्**=दिव्यगुणों को प्राप्त कराते हुए **ओहानः**=विद्या की कामनावाले शिष्यों का पालन करते हुये वे प्रभु **अवसा**=रक्षण के हेतु से **आगमिष्ठः**=हमें अधिक से अधिक समीपता से प्राप्त होनेवाले हों।

भावार्थ—हम सदा प्रसन्न मनवाले हों। उदय होते हुए सूर्य से गतिशीलता व दीप्ति की प्रेरणा लें। प्रभु के अनुग्रह से दिव्यगुणों को प्राप्त करें तथा प्रभु से रक्षणीय हों।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्र, सरस्वती, पर्जन्य व अग्नि'

इन्द्रो नेदिष्ठमवसागमिष्ठः सरस्वती सिन्धुभिः पिन्वमाना।
पर्जन्यो न ओषधीभिर्मयोभुरग्निः सुशंसः पितेव॥ ६॥

(१) **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला वह प्रभु **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नेदिष्ठम्**=अधिक से अधिक सभी **आगमिष्ठः**=प्राप्त हों। **सिन्धुभिः**=ज्ञान जलधाराओं से **पिन्वमाना**=वृद्धि को प्राप्त होती हुई **सरस्वती**=यह ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता हमें रक्षण के हेतु से समीपता से प्राप्त हो। (२) **पर्जन्यः**=यह मेघ **ओषधीभिः**=ओषधि वनस्पतियों के द्वारा **नः**=हमारे लिये **मयोभुः**=कल्याण का भावन करनेवाला हो। **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **पिता इव**=पिता की तरह हमारे लिये **सुशंसः**=उत्तम बातों का शंसन करनेवाला हो और **सुहवः**=सुगमता से आह्वातव्य हो। पिता जिस प्रकार पुत्र से सुगमता से पुकारने योग्य होता है उसी प्रकार हमारे लिये प्रभु सुगमता से आह्वातव्य हों। पिता पुत्र को उत्तम मार्ग का उपदेश देता है, प्रभु हमारे लिये इस उत्तम मार्ग की प्रेरणा देनेवाले हों।

भावार्थ—शत्रुविद्रावक प्रभु तथा ज्ञानजलपूर्ण सरस्वती हमारा रक्षण करें। मेघ हमें ओषधियों को प्राप्त कराये तथा अग्नि हमें उत्तम प्रेरणा दे।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विश्वे देवासः

विश्वे देवास आ गत शृणुता म इमं हवम्। एदं बर्हिर्नि षीदत॥ ७॥

(१) **विश्वे देवासः**=हे सब देवो! आप **आगत**=आवो। सब दिव्यगुण मेरी ओर आनेवाले हों। **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को **शृणुत**=सुनो। मेरी यह प्रार्थना अवश्य सुनी जाये कि मुझे दिव्य गुणों की प्राप्ति हो। (२) **इदम्**=इस **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषीदत**=समन्तात् आसीन होइये। मेरा यह वासनाशून्य हृदय दिव्यगुणों का अधिष्ठान बने।

भावार्थ—सब दिव्यगुण मेरे से प्रार्थनीय होकर मेरे वासनाशून्य हृदय में स्थित हों।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सात्त्विक भोजन, ज्ञान व दिव्यगुणों की प्राप्ति

यो वो देवा घृतस्नुना हव्येन प्रतिभूषति। तं विश्व उप गच्छथ॥ ८॥

(१) हे **देवाः**=दिव्य गुणो! **यः**=जो **वः**=आपको **घृतस्नुना**=ज्ञानदीप्ति को जीवन में क्षरित करनेवाले **हव्येन**=हव्य पदार्थों के सेवन से **प्रतिभूषति**=अपने अन्दर अलंकृत करना चाहता है, **तम्**=उसको **विश्वे**=आप सब उपगच्छथ=प्राप्त होते हो। (२) आहार की शुद्धि के होने पर सत्व (अन्तःकरण) की शुद्धि होती है। इस शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। ज्ञान

के प्रकाश में सब दिव्यगुणों की प्राप्ति होती है। इसीलिए यहाँ हव्य को, सात्त्विक यज्ञशेषरूप में सेवित अन्न को घृतस्नु कहा है, ज्ञान को प्राप्त करानेवाला।

भावार्थ—हम हव्य पदार्थों का सेवन करें, उससे ज्ञान दीप्ति प्राप्त होगी और हम सब दिव्य गुणों के अधिष्ठान बन पायेंगे।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञानरुचि सन्तानें

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये। सुमृळीका भवन्तु नः ॥ ९ ॥

(१) **ये नः सूनवः**=जो हमारे सन्तान हैं वे **उप**=आचार्यों के समीप स्थित हुए-हुए **अमृतस्य**=उस अमर प्रभु की **गिरः**=वाणियों को **शृण्वन्तु**=सुनें। इस प्रकार हमारे सन्तान सदा ज्ञान की रुचिवाले हों। (२) ये ज्ञान रुचि सन्तान **नः**=हमारे लिये **सुमृडीकाः**=उत्तम सुख को देनेवाले **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे सन्तान ज्ञान की रुचिवाले हों और हमारे जीवनों को सुखी करें। मूर्ख सन्तान ही तो दुःख का कारण बनती है।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

युज्यं पयः

विश्वे देवा ऋतावृध ऋतुभिर्हवनश्रुतः। जुषन्तां युज्यं पयः ॥ १० ॥

(१) **विश्वे देवाः**=सब देव वृत्ति के पुरुष **ऋतावृधः**=ऋत का वर्धन करनेवाले होते हैं, ये यज्ञिय जीवनवाले बनते हैं। **ऋतुभिः**=समयानुसार **हवनश्रुतः**=गुरुओं के आह्वान को सुननेवाले होते हैं (उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् अ०)। (२) ये देववृत्ति के पुरुष **युज्यं पयः**=प्रभु के साथ सम्पर्क करानेवाले ज्ञानदुग्ध का **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। आचार्यों के समीप बैठकर उस ज्ञान को प्राप्त करें जो प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्तवन' तथा 'हव्य पदार्थों का ही सेवन'

स्तोत्रमिन्द्रो मरुद्गणस्त्वष्टृमान्मित्रो अर्यमा। इमा हव्या जुषन्त नः ॥ ११ ॥

(१) **मरुद्गणः**=प्राणों के गणवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **स्तोत्रम्**=स्तोत्र का सेवन करे। प्राणायाम को करता हुआ जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला हो। (२) प्रभु आदेश देते हैं कि **त्वष्टृमान्**=उस निर्माता प्रभुवाला, अर्थात् प्रभु की उपासना करनेवाला, **मित्रः**=सब के प्रति स्नेहवाला, **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध-लोभरूप शत्रुओं का नियमन करनेवाला **नः**=हमारे **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों का **जुषन्त**=सेवन करें। सदा सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें, उनको भी यज्ञशेष के रूप में ग्रहण करें। यज्ञशेष ही तो अमृत है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रिय बनकर हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु की उपासना करते हुए, स्नेह से वर्तते हुए, काम आदि को वशीभूत करते हुए हम हव्य पदार्थों का ही सेवन करें।

ऋषिः—**ऋजिश्वा:** ॥ देवता—**विश्वे देवा:** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञशीलता व देवत्व

इमं नो अग्ने अध्वरं होतर्वयुनशो यज। चिकित्वान्दैव्यं जनम्॥ १२॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **होतः**=(हुदाने) सब आवश्यक उपकरणों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **इमं अध्वरम्**=इस यज्ञ को **वयुनशः**=ज्ञान के क्रम से **यज**=हमारे साथ संगत करिये। जितना-जितना ज्ञान अधिक हो, उतना-उतना हमारा जीवन यज्ञमय बनता चले। (२) हे प्रभो! आप इस **दैव्यं जनम्**=(देव एव दैव्यः) देव वृत्तिवाले पुरुष को **चिकित्वान्**=(जानन्) जाननेवाले होइये, अर्थात् इसका पूरा ध्यान करिये। यह आप से रक्षित हुआ-हुआ अपने देवत्व को अधिक विकसित करनेवाला बने।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देते हुए हमें यज्ञशील बनायें। हमारा रक्षण करते हुए हमें देवत्व के विकास में समर्थ करें।

ऋषिः—**ऋजिश्वा:** ॥ देवता—**विश्वे देवा:** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राकृतिक देव व सामाजिक देव

विश्वे देवाः शृणुतेमं हवं मे ये अन्तरिक्षे य उप द्यवि ष्ठ।
ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वम्॥ १३॥

(१) वे **विश्वेदेवाः**=सब देव, **ये**=जो **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **ष्ठ**=(स्थ) स्थित हैं, ये **उप**=जो यहाँ समीप भूलोक में हैं और जो **द्यवि**=द्युलोक में हैं, वे सब के सब तेंतीस देव **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को **शृणुत**=सुनें। सब देव मेरी अनुकूलतावाले हों। (२) **ये**=जो देव **अग्निजिह्वः**=अग्नि के समान तेजोयुक्त जिह्वावाले हैं, **उत वा**=और जो **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा त्राण करनेवाले हैं वे सब **अस्मिन् बर्हिषि**=हमारे वासनाशून्य हृदयों में **आसद्य**=आसीन होकर **मादयध्वम्**=हमारे जीवनों को आनन्दयुक्त करें। इन देवों के लिये हमारे हृदयों में आदर का भाव हो और उनकी पदपद्धति पर चलते हुए हम आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—सब सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदि देव हमारे अनुकूल हो। तेजस्वी ज्ञान-वाणियोंवाले यज्ञशील देव पुरुषों को हम हृदय से आदर दें, उनका अनुगमन करते हुए आनन्दित हों।

ऋषिः—**ऋजिश्वा:** ॥ देवता—**विश्वे देवा:** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तोत्रों में आनन्द की अनुभूति

विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञिया उभे रोदसी अपां नपाच्च मन्म।
मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम॥ १४॥

(१) **यज्ञियाः**=यज्ञमय जीवनवाले **विश्वे देवाः**=सब देव **मम मन्म शृण्वन्तु**=मेरे स्तोत्र को ही सुनें, मैं इनके लिये सदा शुभ वाणियों का उच्चारण करूँ। **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी **अपांनपात् च**=यह जलों को न गिरने देनेवाला, जलों का धारक, अन्तरिक्षलोक भी मेरे स्तोत्र को सुनें। मेरी स्तुति-वाणियाँ ही त्रिलोकी में फैलें। (२) मैं **वः**=आपके प्रति **परिचक्षाणि**=वर्जनीय **वचांसि**=वचनों को **मा वोचम्**=मत बोलूँ। अपि तु समीचीन वचनों का ही सदा उच्चारण करूँ। **वः**=आपके **अन्तमाः**=अन्तिकतम (समीपतम) होते हुए हम **सुम्नेषु इत्**=(hymns) प्रभु स्तवनों में ही **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—सब देव मेरे स्तोत्रों को सुनें। त्रिलोकी में स्तोत्र ध्वनि ही फैले। वर्जनीय वचनों को न बोलते हुए हम स्तोत्रों में ही आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दीप्त-दृढ़-स्निग्ध

ये के च ज्मा महिनो अहिमाया दिवो जज्ञिरे अपां सधस्थे।
ते अस्मभ्यमिषये विश्वमायुः क्षप उस्रा वरिवस्यन्तु देवाः ॥ १५ ॥

(१) **ये के च**=और जो कोई **महिनः**=पूजन की वृत्तिवाले **अहिमायाः**=अहीन प्रज्ञावाले देव **ज्मा**=इस पृथिवी में **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत होते हैं, **दिवः (जज्ञिरे)**=द्युलोक से प्रादुर्भूत होते हैं अथवा **अपां सधस्थे**=जलों के सहस्थान अन्तरिक्ष में प्रादुर्भूत होते हैं, **ते**=वे सब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **विश्वं आयुः**=सम्पूर्ण जीवन में **इषये**=प्रेरणा देने के लिये हों। इनसे प्रेरणा को प्राप्त करके हम भी मस्तिष्करूप द्युलोक को दीप्त बनायें, शरीररूप पृथिवीलोक को दृढ़ बनायें तथा हृदयान्तरिक्ष को स्नेह जल से स्निग्ध रखें, हमारे हृदयों में सब के प्रति स्नेह हो। (२) **क्षपः उस्राः**=रात्रि व दिनों में, दिन-रात **देवाः**=ये सब देव हमारे लिये **वरिवस्यन्तु**=धनों की कामना करें। ये देव हमें 'प्रकाश-दृढ़ता व स्नेह' रूप धनों को प्राप्त करायें।

भावार्थ—सब देव हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त करायें। हम द्युलोक के समान दीप्त, पृथिवीलोक के समान दृढ़, अन्तरिक्ष के समान स्निग्ध बनें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्नीपर्जन्यौ

अग्नीपर्जन्याववतं धियं मेऽस्मिन्हवे सुहवा सुष्टुतिं नः।
इळामन्यो जनयद्गर्भमन्यः प्रजावतीरिष आ धत्तमस्मे ॥ १६ ॥

(१) **अग्नीपर्जन्यौ**=हे अग्नि व मेघ देवो! आप **मे धियं अवतम्**=मेरे यज्ञादि उत्तम कर्मों का आप रक्षण करो। हे **सुहवा**=सुखेन आह्वान के योग्य अग्नि व पर्जन्य देवो! **अस्मिन् हवे**=इस (हुदाने) दानरूप यज्ञात्मक कर्म में **नः**=हमारे से की जानेवाली **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति का आप रक्षण कीजिये। अग्नि व पर्जन्यदेव की कृपा से हम यज्ञों व स्तुतिरूप कर्मों में सदा प्रवृत्त रहें। (२) इन अग्नि व पर्जन्य में **अन्यः**=एक पर्जन्य (मेघ) **इडाम्**=अन्न को **जनयत्**=उत्पन्न करता है। यह वृष्टिजल से उत्पन्न अन्न अत्यन्त सात्त्विक होता है। **अन्यः**=दूसरा अग्नि **गर्भम्**=हमारे अन्तर्भाग को, शरीर के अन्दर के सारे यन्त्र को विकसित करनेवाला होता है। अग्नि से ही सारा यन्त्र ठीक रहता है। इस प्रकार ये अग्नि और पर्जन्य **अस्मे**=हमारे लिये **प्रजावतीः इषः**=प्रकृष्ट सन्तानोंवाले व प्रकृष्ट विकासवाले अन्नों का **आधत्तम्**=धारण करें। इन अन्नों के सेवन से हमारे विचार उत्तम हों। हम यज्ञ व स्तवन को करनेवाले हों। शक्तियों का उत्कृष्ट विकास कर पायें।

ऋषिः—**ऋजिश्वाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यजत्रा विश्वे देवा हविषि

स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्नौ सूक्तेन महा नमसा विवासे।
अस्मिन्नो अद्य विदथे यजत्रा विश्वे देवा हविषि मादयध्वम् ॥ १७ ॥

(१) **बर्हिषि स्तीर्णे**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन के बिछाने पर, **अग्नौ समिधाने**=ज्ञानाग्नि

के दीप्त होने पर, **सूक्तेन**=स्तुतियों के द्वारा तथा **महा नमसा**=महान् नमन के द्वारा **आविवासे**=मैं प्रभु का पूजन करता हूँ। (२) हे **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा सबका त्राण करनेवाले **विश्वे देवाः**=सब देवो! **नः**=हमारे **अद्य**=आज **अस्मिन् विदथे**=इस ज्ञानयज्ञ में **हविषि**=त्यागपूर्वक अदन के होने पर **मादयध्वम्**=हमें आनन्दित करनेवाले होइये।

भावार्थ—हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ, ज्ञानाग्नि को दीप्त करें, स्तवन व नमन के द्वारा प्रभु का पूजन करें, ज्ञानयज्ञों में चलते हुए सदा यज्ञशेष का सेवन करें। इस प्रकार जीवन को आनन्दमय बनायें।

यह ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला व्यक्ति 'बार्हस्पत्य' होता है, अपने में शक्ति को भरने से 'भरद्वाज' बनता है। यह 'पूषा' नाम से प्रभु का स्तवन करता है—

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पोषक प्रभु

वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये। धिये पूषन्नयुज्महि ॥ १ ॥

(१) हे **पथस्पते**=मार्गों के स्वामिन्! **पूषन्**=हमारा पोषण करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **त्वा**=आपको **अयुज्महि**=अपने साथ जोड़ते हैं। योग के द्वारा आपके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। प्रभु के साथ मेल होने पर हम मार्गों से भटकते नहीं तथा अपना ठीक पोषण कर पाते हैं। (२) आप **रथं न**=रथ के समान हैं। रथ यात्रापूर्ति में साधन बनता है, प्रभु का आश्रय भी जीवनयात्रा को सफलता से पूर्ण कराता है। हम आपको **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये तथा **धिये**=बुद्धि के लिये अपने साथ युक्त करते हैं। आपका मेल हमें शक्ति व बुद्धि को देनेवाला होगा।

भावार्थ—प्रभु सब मार्गों के स्वामी हैं, हमारा पोषण करनेवाले हैं। प्रभु के साथ सम्पर्क से हम शक्ति व बुद्धि को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'नर्यं' वसु (कौन धन?)

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम्। वामं गृहपतिं नय ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **नः**=हमारे लिये **वसु अभिनय**=निवास के लिये आवश्यक उस धन को प्राप्त कराइये जो **नर्यम्**=नरहितकारी हो, **वीरम् (वि ईर)**=शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगानेवाला हो, **प्रयतदक्षिणम्**=पवित्र दानवाला हो। (२) उस धन को प्राप्त कराइये जो **वामम्**=सुन्दर हो, सुन्दर गुणों को जन्म देनेवाला हो अथवा सुन्दर साधनों से कमाया गया हो। तथा **गृहपतिम्**=सब आवश्यकताओं को पूर्ण करके घर का रक्षण करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन प्राप्त करायें जो नरहितकारी शत्रु-कम्पक पवित्र दानवाला सुन्दर व गृहरक्षक हो।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दानप्रवृत्ति का जागरण

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय। पणेश्चिद्वि म्रदा मनः ॥ ३ ॥

(१) हे **आघृणे**=सर्वतो दीप्तिमन्! **पूषन्**=पोषक प्रभो! **अदित्सन्तं चित्**=न देने की कामनावाले को **दानाय**=दान के लिये **चोदय**=प्रेरित करिये। (२) **पणेः चिद्**=धनलुब्ध वणिक् के समान कृपण वृत्तिवाले पुरुष के **मनः**=मन को भी **विम्रदा**=मृदु करिये, वह भी आधार देने योग्य व्यक्तियों की स्थिति को देखकर दान की वृत्तिवाला बने।

भावार्थ—प्रभु ऐसा ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करायें कि अधिक से अधिक कृपण वृत्तिवाला पुरुष भी दयार्द्र मनवाला बने और दानवृत्ति को अपनाये।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम मार्गों से धन प्राप्ति

वि प॒थो वाज॑सातये चिनु॒हि वि मृधो॑ जहि। साध॑न्तामुग्र नो॒ धियः॑ ॥ ४ ॥

(१) हे **उग्र**=उद्गूर्ण बल (पूषन्=) पोषक प्रभो! **पथः**=मार्गों को **वाजसातये**=शक्ति व धनों की प्राप्ति के लिये **विचिनुहि**=शोधित करिये। जिन मार्गों से चलकर धनों को प्राप्त करें उन मार्गों को हमारे लिये पृथक् करिये, अलग विस्पष्टरूप में दिखाइये। **मृधः**=बाधक शत्रुओं को **विजहि**=विनष्ट करिये। (२) हे प्रभो! **नः**=हमारे **धियः**=बुद्धिपूर्वक किये गये कर्म **साधन्ताम्**=सिद्धि को प्राप्त हों। इन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों से हम उचित धनों का अर्जन करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति के देनेवाले मार्गों को दिखायें। बाधक शत्रुओं को दूर करें। प्रभु कृपा से हमारे बुद्धिपूर्वक किये गये कर्म सफल हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञानवाणीरूप आरा से कठोर मन को चोट पहुँचाना

परि॑ तृन्धि पणी॒नामार॑या॒ हृद॑या कवे। अथे॑म॒स्मभ्यं॑ रन्धय ॥ ५ ॥

(१) हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ विद्वन्! **पणीनाम्**=धनलुब्ध वणिजों के **हृदया**=हृदयों को **आरया परितृन्धि**=(आरा प्रतोदः) आरे से चीर-सा डाल। इन्हें इस प्रकार ज्ञानोपदेश कर कि इन्हें हृदयों में वह ज्ञान की वाणी चुभ-सी जाये। उससे इनके हृदय इस प्रकार जागरित से हो उठें जैसे कि अंकुश से हाथी चेतन हो उठता है। (२) **अथ**=अब **ईम्**=निश्चय से इन्हें **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रन्धय**=वशीभूत करिये, ये अपने मनों को कठोर कर ही न पायें और दें ही।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ज्ञान की वाणीरूप आरा से पणियों के हृदय को इस प्रकार हिंसित करें कि वह भी दान की ओर झुक ही जायें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आरया तुद

वि पू॑षन्नार॑या तुद प॒णेरि॑च्छ हृ॒दि प्रि॒यम्। अथे॑म॒स्मभ्यं॑ रन्धय ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र की भावना को ही इस रूप में कहते हैं कि हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **पणेः**=धनलुब्ध वणिक् के हृदय को **आरया**=ज्ञान वाणी रूप प्रतोद से **वितुद**=खूब ही व्यथितकर। इस पणि को हृदय में **प्रियं इच्छ**=प्रियता को उत्पन्न करिये, 'देना ही चाहिये' ऐसी इच्छा को पैदा करिये। (२) **अथ**=अब **ईम्**=निश्चय से इसके मन को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रन्धय**=वशीभूत करिये। यह पणि भी हमारे लिये देने की वृत्तिवाला बने।

भावार्थ—सर्वपोषक प्रभु अदाता कृपण के हृदय में भी प्रिय वृत्ति को उत्पन्न करें, यह भी 'देना ही चाहिए' ऐसी वृत्तिवाला बने। समाज की स्थिति दान की उत्तम प्रणाली पर ही आश्रित है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

किकिरा कृणु

आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे। अथेमस्मभ्यं रन्धय॥ ७॥

(१) हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ विद्वन्! तू इस प्रकार ज्ञानोपदेश कर कि **पणीनाम्**=इन धनलुब्ध वणिजों के **हृदया**=हृदयों को **आरिख**=अवदारित कर दे। **किकिरा कृणु**=(कीर्णानि प्रशिथिलानि) इनके हृदयों को अवकीर्ण, प्रशिथिल व मृदु कर दे। (२) **अथ**=अब **ईम्**=निश्चय से इनके हृदयों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रन्धय**=वशीभूत करिये।

भावार्थ—कवि के ज्ञानोपदेश से इन कृपणों के हृदय भी एक बार दहल जाएँ और वे भी दानवृत्ति की ओर झुक जायें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ब्रह्मचोदनी आरा

यां पूषन्ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे। तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु॥ ८॥

(१) हे **आघृणे**=समन्तात् दीप्तिवाले **पूषन्**=पोषक प्रभो! **याम्**=जिस **ब्रह्मचोदनीम्**=ज्ञान को प्रेरित करनेवाली **आरा**=चाबुक को **बिभर्षि**=आप धारण करते हैं। **तया**=उस ज्ञान प्रेरिका आरा से **समस्य**=सब कृपणों के **हृदयम्**=हृदयों को **आरिख**=अवदीर्ण करिये, उनकी कठोरता को नष्ट करिये। (२) **किकिरा कृणु**=इस ज्ञान की वाणी से इनके हृदयों को अवकीर्ण व शिथिल कर डालिये। ये न देने के कठोर वृत्ति को नष्ट कर कोमल हृदयोंवाले बनकर दान में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—अदाता कृपण जनों के हृदय भी ज्ञान की वाणियों से प्रेरित होकर दानवृत्तिवाले बन जायें।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

गोओपशा अष्ट्रा

या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी। तस्यास्ते सुम्नमीमहे॥ ९॥

(१) हे **आघृणे**=समन्तात् दीप्तिमन् प्रभो! **या**=जो **ते**=तेरी **गो ओपशा**=(गावः उपशेरते यस्याः) ज्ञान की वाणियाँ जिसके समीप निवास करती हैं ऐसी **अष्ट्रा**=आरा (प्रतीद) है, जिसे गतमन्त्र में 'ब्रह्मचोदनी आरा' कहा है, जो आरा **पशुसाधनी**=सब पाशवभावों को वशीभूत करनेवाली है, **तस्याः**=उसके द्वारा **ते**=आपसे हम **सुम्नम्**=सुख को **ईमहे**=माँगते हैं। (२) इस अष्ट्रा से प्रेरित हुआ-हुआ कोई भी व्यक्ति हमारे समाज में कृपण न रहे। कृपणता के दूरीकरण से सारा समाज सुखी हो।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे राष्ट्र में इस प्रकार ज्ञान का प्रचार हो कि कोई भी कृपण यहाँ न रहे। इस प्रकार समान उत्कृष्ट स्थिति में हो।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ-बुद्धि व शक्ति

उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत। नृवत्कृणुहि वीतये॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **नः**: **धियम्**=हमारी बुद्धि को **गोषणिम्**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों का सेवन करनेवाली **उत**=तथा **अश्वसाम्**=उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियों का सेवन करनेवाली **कृणुहि**=करिये। साथ ही हमारी

बुद्धि को **वाजसाम्**=शक्ति का सेवन करनेवाली करिये। हमारी बुद्धि शक्ति से युक्त हो। (२) हे प्रभो! **नृवत्**=एक पथ-प्रदर्शक की तरह (नृ=नेता) हमारे लिये **वीतये**=सब अन्धकारों के विनाश के लिये (असन) **कृणुहि**=व्यवस्था को करिये। आपसे प्रदर्शित मार्ग पर चलते हुए हम लक्ष्य पर पहुँचनेवाले हों।

भावार्थ—हमें प्रभु उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ, उत्तम कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि व शक्ति को प्राप्त करायें।

अगले सूक्त के ऋषि भी 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' ही हैं। वे 'पूषा' नाम से ही प्रभु की आराधना करते हैं—

[५४] चतुःपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विद्वज्जन सम्पर्क

सं पूषन्विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति। य एवेदमिति ब्रवत्॥ १ ॥

(१) हे **पूषन्**=हमारा पोषण करनेवाले प्रभो! हमें आप उस **विदुषा**=ज्ञानी पुरुष के साथ **संनय**=संगत करिये, **यः**=जो कि **अञ्जसा**=(straight on, Truely, Directly, Quickly) सरलता से सत्यता, साक्षात् शीघ्रता से **अनुशासति**=उपदेश करता है। (२) उस विद्वान् से हमें संगत करिये **यः**=जो कि **इदं एव**='यह ही न्याय है' **इति ब्रवत्**=इस प्रकार निश्चय करके कहता है। जिसके उपदेश में संदिग्धता व संशय का स्थान नहीं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषों के सम्पर्क से हम ठीक मार्ग का ज्ञान प्राप्त करके उस पर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गृहस्थ के कर्त्तव्यों का उपदेश

समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति। इम एवेति च ब्रवत्॥ २ ॥

(१) **पूष्णा**=उस पोषक प्रभु के द्वारा प्रभु के अनुग्रह से **उ**=निश्चयपूर्वक **संगमेमहि**=हम उस विद्वान् के साथ संगत हों, **यः**=जो कि **गृहान् अभिशासति**=इन शरीर रूप गृहों का लक्ष्य करके उपदेश देता है अथवा जो **गृहान्**=गृहस्थ के कर्त्तव्यों के विषय में उपदेश देता है। (२) **च**=और उस विद्वान् के साथ हमारा सम्पर्क हो जो **इमे एव**='ये ही तुम्हारे जीवन के नियम हैं' **इति ब्रवत्**=यह उपदेश देता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे साथ उन विद्वानों का सम्पर्क हो जो कि हमें गृहों को सुन्दर बनाने के नियमों का उपदेश करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु से दिये गये 'आयुध'

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते। नो अस्य व्यथते पविः॥ ३ ॥

(१) प्रभु ने जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिये हमें इन्द्रिय, मन व बुद्धि रूप आयुध प्राप्त कराये हैं। उस **पूष्णः**=पोषक प्रभु का दिया हुआ यह **चक्रम्**=इन्द्रिय, मन व बुद्धि रूप आयुध **न रिष्यति**=हिंसित नहीं होता। यदि हम गत मन्त्र के अनुसार विद्वानों से उपदिष्ट नियमों का पालन करते हुए चलें तो इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि की शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। **कोशः**=इन आयुधों

का कोश रूप यह शरीर, अन्नमयकोश, **न अवपद्यते**=अवपन्न, नष्ट नहीं होता। (२) **अस्य**=इस बुद्धि रूप आयुध की **पविः**=धारा **नो व्यथते**=पीड़ित-कुण्ठित नहीं होती। बुद्धि तीव्र ही बनी रहती है प्रभु ने 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' रूप सुन्दर आयुधों को हमारे लिये प्राप्त कराया है। इनके द्वारा ही हम अपने नष्ट धन को, अमृतत्व को पुनः प्राप्त कर सकते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये इन्द्रिय आदि आयुध न नष्ट होने वाले हैं, इनका कोशभूत यह शरीर भी अवपन्न (हीन) नहीं होता। बुद्धि की धारा भी तीव्र बनी रहती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु पूजन व अविनाश

यो अस्मै हविषाविधन्न तं पूषापि मृष्यते। प्रथमो विन्दते वसु॥ ४॥

(१) **यः**=जो भी उपासक **अस्मै**=इस पोषक प्रभु के लिये **हविषा अविधत्**=दानपूर्वक अदन के द्वारा पूजन करता है, **तम्**=उसे **पूषा**=ये पोषक प्रभु **अपि**=(ईषद् अर्थे) थोड़ा भी **न मृष्यते**=हिंसित नहीं करते। दानपूर्वक अदन ही यज्ञ शेष का सेवन है। यह यज्ञशेष का सेवन ही मनुष्य को अमृतत्व प्राप्त कराता है। (२) यह यज्ञशेष का सेवन करनेवाला **प्रथमः**=प्रथम स्थान को प्राप्त करता है (प्रथ विस्तारे) खूब ही अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है। यह **वसु विन्दते**=निवास के लिये आवश्यक सब धनों को यह प्राप्त करता है।

भावार्थ—जब हम दानपूर्वक अदन करते हुए, सदा यज्ञशेष का सेवन करते हुए, प्रभु का पूजन करते हैं, तो हिंसित नहीं होते और सब वसुओं को प्राप्त करते हैं। वसुमान बनते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गौ-अश्व-वाज

पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजं सनोतु नः॥ ५॥

(१) **पूषा**=वह पोषक प्रभु **नः**=हमारी **गाः**=ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं के **अनु एतु**=पीछे चलनेवाला, उनका रक्षण करनेवाला हो। **पूषा**=यह पोषक प्रभु हमारे **अर्वतः**=कर्मेन्द्रियरूप अश्वों का **रक्षतु**=रक्षण करे। (२) इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को विषयवासनाओं से आक्रान्त न होने देकर **पूषा**=पोषक प्रभु **नः**=हमारे लिये **वाजं सनोतु**=शक्ति को दें। वस्तुतः इन्द्रिय रक्षण ही शक्ति रक्षण का साधन है।

भावार्थ—प्रभु हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हुए हमें शक्ति-सम्पन्न बनायें। प्रभु की उपासना ही इन्द्रियों को वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देती और इस प्रकार उपासक को सशक्त बनाती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुन्वन्-स्तुवन्-यजमान

पूषन्नु प्र गा इहि यजमानस्य सुन्वतः। अस्माकं स्तुवतामुत॥ ६॥

(१) हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **गाः अनु प्र इहि**=इन्द्रियों के पीछे प्रकर्षेण चलनेवाले होइये, अर्थात् इस यज्ञशील पुरुष की इन्द्रियों का अच्छी प्रकार रक्षण करिये। इसी प्रकार **सुन्वतः**=सोम का अभिषव करते हुए पुरुष की इन्द्रियों का भी रक्षण करिये। जो भी व्यक्ति अपने अन्दर सोम (वीर्य) शक्ति का रक्षण करता है, उसकी इन्द्रियों को आप पूर्णतया रक्षित करिये। (२) **उत**=और **स्तुवताम्**=स्तवन करते हैं **अस्माकम्**=हमारी इन्द्रियों का रक्षण

करिये एवं इन्द्रियों को सुरक्षित करने के लिये तीन उपाय हैं—(क) यज्ञों में लगे रहना, (ख) सोम शक्ति को सुरक्षित करना, (ग) प्रभु स्तवन में प्रवृत्त होना।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील-सोमरक्षक-स्तोता की इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। यज्ञशीलता से इन्द्रियाँ कुपथ प्रवृत्त नहीं होती। सुरक्षित सोम इन्हें सशक्त बनाता है। प्रभु स्तवन इन्हें विषयों में नहीं फँसने देता।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अरिष्टा गौवें

माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं सं शारि केवटे। अथारिष्टाभिरा गहि॥ ७॥

(१) हे पूषन्! आपके अनुग्रह से हमारा यह इन्द्रियरूप गोधन **माकिः नेशत्**=मत नष्ट हो। इन इन्द्रियों की शक्ति बनी रहे। यह गोधन **माकीं रिषत्**=विषयरूप व्याघ्रों से भी हिंसित न किया जाये। हमारी इन्द्रियाँ विषयों का शिकार न हो जायें। यह गोधन **केवटे**=विषय कूप में गिरकर **माकीं**=मत **संशारि**=शीर्ण हो जाए। (२) **अथ**=अब **अरिष्टाभिः**=इन अहिंसित इन्द्रियरूप गौवों के साथ **आगहि**=आप हमें प्राप्त होइये।

भावार्थ—इन्द्रियाँ न नष्ट हों, वासनाओं से हिंसित न हों, विषयकूप में इनका पतन न हो जाए। अहिंसित इन्द्रियों के साथ प्रभु हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'इर्य-अनष्टवेदस्-ईशान' प्रभु

शृण्वन्तं पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसम्। ईशानं राय ईमहे॥ ८॥

(१) **वयम्**=हम **शृण्वन्तम्**=हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाले **पूषणम्**=पोषक प्रभु से **रायः ईमहे**=धनों की याचना करते हैं। (२) उस प्रभु से धनों की याचना करते हैं जो **इर्यम्**=दारिद्र्य को दूर प्रेरित करनेवाले (भगानेवाले) हैं। **अनष्टवेदसम्**=अनष्ट धनोंवाले हैं और **ईशानम्**=सब धनों के स्वामी हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से धनों की याचना करते हैं। प्रभु दारिद्र्य को दूर करनेवाले, अनष्ट धन व सब धनों के स्वामी हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पूषा के व्रत में

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन। स्तोतारस्त इह स्मसि॥ ९॥

(१) हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **तव व्रते**=आपकी प्राप्ति के साधन भूत 'जप-तप-ध्यान' आदि कर्मों में लगे हुए **वयम्**=हम **कदाचन**=कभी भी **न रिष्येम**=वासना व्याघ्रों से हिंसित न किये जायें। इन कर्मों में लगे हुए हम कभी विषयों के शिकार न हों। (२) हे प्रभो! **इह**=इस जीवन में हम **ते**=आपके **स्तोतारः स्मसि**=स्तवन करनेवाले हों। प्रभु स्तवन करते हुए वैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए किये जानेवाले 'जप-तप-ध्यान' आदि कर्मों में हम प्रवृत्त रहें। सदा प्रभु स्तवन करते हुए प्रभु जैसा बनने के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्रियों की अन्तर्मुखता

परि॑ पू॒षा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु॒ दक्षि॑णम्। पुन॑र्नो न॒ष्टमाज॑तु॥ १०॥

(१) **पूषा**=पोषक प्रभु **परस्तात्**=सुदूर देश में जाती हुई, विषयों में भटकती हुई इन इन्द्रियरूप गौवों के रक्षण के लिये **दक्षिणं हस्तं परिदधातु**=दाहिने हाथ को निवारक बनाये (परिधानं निवारकम्)। प्रभु हमारी इन इन्द्रियरूप गौवों को विषयों में न जाने दें। (२) प्रभु के अनुग्रह से **नष्टम्**=(णश अदर्शने) सुदूर विषयों में गया हुआ **नः**=हमारा यह गोधन **पुनः**=फिर **आजतु**=हमारे समीप प्राप्त हो (आगच्छतु) विषय विनिवृत्त होकर ये अन्दर ही स्थित हों। ये इन्द्रियाँ बहिर्मुखी न बनी रहें।

भावार्थ—प्रभु दूर भागती हुई इन्द्रियों को दाहिने हाथ से रोकें। ये हमारी इन्द्रियाँ हमें प्राप्त हों, अन्तर्मुखी बनी रहें।

अगले सूक्त के ऋषि देवता वही 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' तथा 'पूषा' ही हैं—

[५५] पञ्चापञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु स्मरण व यज्ञशीलता

एहि॒ वां वि॑मुचो नपा॒दाघृ॑णे॒ सं स॑चावहै। र॒थीर्ऋ॒तस्य॑ नो भव॥ १॥

(१) हे **आघृणे**=सर्वतो दीप्त, **विमुचः नपात्**=अपने को विषयों से छुड़ानेवाले को न गिरने देनेवाले, विषय-व्यावृत्ति-प्रवण पुरुष को बचानेवाले प्रभो! मुझ **वाम्**=गतिशील को **एहि**=प्राप्त होइये। **सं सचावहै**=आप और मैं संसक्त हो जायें, मिल जायें, कभी अलग न हों। मैं आपको कभी भूल न जाऊँ। (२) हे प्रभो! **नः**=हमारे **ऋतस्य**=यज्ञात्मक कर्मों के **रथीः**=नेता **भव**=होइये। आपके अनुग्रह से हमारे यज्ञात्मक कर्म सदा प्रवृत्त रहें। हम इन यज्ञों से आपका पूजन करते रहें।

भावार्थ—मैं कभी प्रभु को भूल न जाऊँ। प्रभु के अनुग्रह से सदा यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त रहूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'रथीतम-कपर्दी-ईशान' प्रभु का आराधन

र॒थीत॑मं कप॒र्दिन॒मीशा॑नं॒ राध॑सो म॒हः। रा॒यः सखा॑यमीमहे॥ २॥

(१) उस **रथीतमम्**=हमारे यज्ञों के उत्तम प्रणेता **सखायम्**=मित्रभूत प्रभु से **रायः**=यज्ञ-साधक धनों की **ईमहे**=याचना करते हैं। प्रभु प्रदत्त धनों से यज्ञों को करने में हम समर्थ होते हैं। (२) उन प्रभु से हम धनों की याचना करते हैं, जो **कपर्दिनम्**=(क पर् द) आनन्द की पूर्ति को देनेवाले हैं, तथा **महः**=महान् **राधसः**=कार्यसाधक धनों के **ईशानम्**=स्वामी हैं।

भावार्थ—हम मित्र प्रभु से कार्यसाधक कथनों की याचना करते हैं। प्रभु ही हमारे कार्यों के प्रणेता, सुख को देनेवाले व धनों के स्वामी हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'यज्ञशील स्तोता के मित्र' प्रभु

रा॒यो धारा॒स्याघृणे॒ वसो॑ रा॒शिर॑जाश्व। धीव॑तोधीवत॒: सखा॑॥ ३॥

(१) हे **अघृणे**=सर्वतो ज्ञानदीप्त प्रभो! आप **रायः धारा असि**=ऐश्वर्य की धारा हैं। अविच्छिन्नरूप से यज्ञशील पुरुषों के लिये धन को प्राप्त करानेवाले हैं। हे **अजाश्व**=गतिशील इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! (अज गतौ) आप **वसोः राशिः**=धन की राशि ही हैं, सम्पूर्ण धन का निवास आप में ही है। (२) **धीवतः धीवतः**=प्रत्येक बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले के आप **सखा**=मित्र हैं। वस्तुतः प्रभु ही इनके इन सब कार्यों को पूर्ण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सम्पूर्ण धनों के निवास-स्थान हैं। निरन्तर धनों के देनेवाले हैं। वे ही बुद्धिपूर्वक किये जाते हुए कर्मों के साधक हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'अजाश्व वाजी पूषा' का स्तवन

पूषणं न्व१जाश्वमुप स्तोषाम वाजिनम्। स्वसुर्यो जार उच्यते ॥ ४ ॥

(१) **नु**=अब **अजाश्वम्**=गतिशील इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले, **वाजिनम्**=शक्तिशाली, **पूषणम्**=पोषक प्रभु को **उपस्तोषाम**=हम उपस्तुत करते हैं। प्रभु ही स्तोताओं को इन गतिशील इन्द्रियों को व शक्ति को प्राप्त कराके पुष्ट करते हैं। (२)(हम उस पूषा का स्तवन करते हैं **यः**=जो **स्वसुः**=(सु असुः) उत्तम प्राणशक्ति को देनेवाले हैं तथा **जारः**=अज्ञानरूप अन्धकार को विनष्ट करनेवाले **उच्यते**=कहे जाते हैं। पूषा सूर्य को भी कहते हैं। सूर्य भी उत्तम प्राणशक्ति को देता है 'प्राणः प्रजानामुदयन्त्येष सूर्यः'। तथा अन्धकार विनाशक है।

भावार्थ—प्रभु पोषक हैं, गतिशील इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले हैं, शक्ति को देते हैं। उत्तम प्राणशक्ति को प्रभु प्राप्त कराते हैं तथा अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'माता के दिधिषु' प्रभु

मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। भ्रातेन्द्रस्य सखा मम ॥ ५ ॥

(१) **मातुः**=निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त प्रमाता (ज्ञानी) पुरुष के **दिधिषुम्**=धारण करनेवाले प्रभु को **अब्रवम्**=मैं प्रार्थना करता हूँ। वह **स्वसुः**=उत्तम प्राणशक्ति को देनेवाला **जारः**=अज्ञानान्धकार को जीर्ण करनेवाला प्रभु **नः शृणोतु**=हमारी प्रार्थना को सुने। (२) ये प्रभु ही **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **भ्राता**=भरण करनेवाले हैं और **मम सखा**=मेरे मित्र है।

भावार्थ—निर्माण कार्य प्रवृत्त पुरुषों के प्रभु ही धारक है, उत्तम प्राणशक्ति के दाता व अज्ञानान्धकार विनाशक हैं, जितेन्द्रिय पुरुष के धारण करनेवाले हैं, हमारे मित्र हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जनश्री पूषा देव

आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम्। देवं वहन्तु बिभ्रतः ॥ ६ ॥

(१) **अजासः**=ये मेरे गतिशील इन्द्रियाश्व, **रथे**=शरीर-रथ में **निशृम्भाः**=सम्बद्ध होकर हरण करनेवाले, ले चलनेवाले हों। इन्द्रियाँ अविरोध से कार्य करनेवाली हों। ज्ञानेन्द्रियों से दिये गये ज्ञान के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ कर्म करनेवाली हों। (२) **ते**=वे इन्द्रियरूप अश्व **बिभ्रतः**=हमारा उचित भरण करते हुए **जनश्रियम्**=मनुष्यों की श्री के कारणभूत **देवम्**=प्रकाशमय **पूषणम्**=पोषक प्रभु को **आवहन्तु**=हमारे लिये प्राप्त करायें। सब श्री प्रभु के कारण ही होती है। जितना-जितना हम प्रभु का धारण करेंगे, उतनी-उतनी श्री को प्राप्त करनेवाले होंगे।

भावार्थ—इन्द्रियाँ सम्बद्ध होकर कार्य करनेवाली हों। ये हमें प्रभु की ओर ले चलें और श्री सम्पन्न करें।

अगले सूक्त में भी भरद्वाज बार्हस्पत्य पूषा का आराधन करते हैं—

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'करम्भात्' प्रभु

य एनमादिदेशति करम्भादिति पूषणम्। न तेन देव आदिशे॥ १॥

(१) 'क' शब्द जल वाचक है, शरीर में ये 'रेतः कण' हैं 'आपः रेतो भूत्वा'। इनके साथ जो 'रभते' अपने कार्यों को प्रारम्भ करता है अथवा इनके द्वारा अपने को सबल (रम्भस्यवाला) बनाता है वह 'करम्भ' है। प्रभु इस 'करम्भ' को प्राप्त होते हैं सो 'करम्भात्' हैं। **यः**=जो **एनं पूषणम्**=इस पोषक प्रभु को 'करम्भात्' 'रेतः=कणों के द्वारा अपने को सबल बनानेवाले शक्ति वाला' **इति**=इस प्रकार **आदिदेशति**=निरन्तर कहता है, **तेन**=उससे **देवः**=वे प्रभु **न आदिशे**=अन्य रूप में आदेष्टव्य व स्तोतव्य नहीं होता। (२) 'करम्भात्' यह नाम ही उस महनीय प्रेरणा को प्राप्त करानेवाला होता है कि अन्य बातों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। रेतःकणों के रक्षण का महत्त्व इस 'करम्भात्' शब्द में सुव्यक्त है। इस प्रेरणा को लेनेवाला व्यक्ति सभी अन्य उन्नतियों को करने में समर्थ हो ही जाता है।

भावार्थ—प्रभु उस पुरुष की ओर निरन्तर गतिवाले होते हैं, जो रेतःकणों के रक्षण द्वारा अपने को सबल बनाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रथीतमः-सत्पतिः-वृत्तहन्ता

उत घा स रथीतमः सख्या सत्पतिर्युजा। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते॥ २॥

(१) **उत**=और **घा (घ)**=निश्चय से **सः**=वह गतमन्त्र का 'करम्भ' **रथीतमः**=प्रशस्त रथी-महारथी बनता है। **सख्या**=मित्रभूत पूषा से **युजा**=सहायभूत बने हुए से यह **सत्पतिः**=उत्तम कर्मों का ही स्वामी बनता है। जिस समय हम सोमशक्ति का रक्षण करते हैं तो उत्तम शरीररूप रथवाले होते हैं और प्रभु को साथी पाकर सदा उत्तम (श्रेष्ठ) कर्मों को करनेवाले बनते हैं। (२) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जिघ्नते**=नष्ट करता है। अपने साथी प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होकर यह वासनाओं को विनष्ट करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षक प्रशस्त रथी बनता है, उत्तम कर्मों का रक्षक होता है। प्रभु को मित्र पाकर वासनाओं को विनष्ट करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हिरण्यय चक्र

उतादः परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम्। न्यैरयद्रथीतमः॥ ३॥

(१) **उत**=और यह **रथीतमः सूरः**=प्रशस्त रथी, रथ को प्रेरित करनेवाला होता हुआ (षू प्रेरणे) **परुषे**=इस (पर्ववति भास्वति वा) पूरण करनेवाली अथवा ज्ञानदीप्तिवाली **गवि**=ज्ञान दुग्ध दात्री वेद धेनु के होने पर **अदः**=उस **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय **चक्रम्**='इन्द्रिय, मन, बुद्धि' रूप

आयुध को **न्यैरयत्**=अपने में प्रेरित करता है। (२) ज्ञान की वाणियों के द्वारा यह शरीरथ ज्योतिर्मय बनता है। इसमें 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप आयुध चमकते हुए होते हैं। ऐसा होने पर ही यह व्यक्ति 'रथीतम' कहलाता है, प्रशस्त रथवाला।

भावार्थ—हम ज्ञान दीप्ति को प्राप्त करानेवाली इन ज्ञान वाणी रूप गौवें के ज्ञानदुग्ध से 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को दीप्त कर लेते हैं। हम रथीतम होते हैं, हिरण्यय चक्र को अपने में प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मन्म-साधन

यद॒द्य त्वा॑ पुरुष्टुत ब्रवा॑म दस्र मन्तुमः। तत्सु नो॒ मन्म॑ साधय ॥ ४ ॥

(१) हे **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुति किये जानेवाले, **दस्र**=दर्शनीय, **मन्तुमः**=ज्ञानवन् प्रभो! **अद्य**=आज **यत्**=जिसका लक्ष्य करके **त्वा ब्रवाम**=आपका स्तवन करते हैं, **तत्**=उस **मन्म**=मननीय ज्ञान को **नः**=हमारे लिये **सुसाधय**=सम्यक् सिद्ध कीजिये। (२) यह ज्ञान ही हमारे जीवन को स्तुत्य (प्रशंसनीय), दर्शनीय व प्रकाशमय बनायेगा। सब कल्याणों का स्रोत यह ज्ञान ही है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं, प्रभु हमें ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गवेषण गण

इ॒मं च॑ नो ग॒वेष॑णं सा॒तये॑ सीषधो ग॒णम्। आ॒रात्पू॑षन्नसि श्रु॒तः ॥ ५ ॥

(१) हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **इमं च**=और इस **नः**=हमारे **गवेषणम्**=(गवां एषयितारं) इन्द्रियों के प्रेरक **गणम्**=प्राणसमूह (मरुत् संघ) को **सातये**=शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति के लिये **सीषधः**=(साधय) सिद्ध करिये। प्राणसाधना करते हुए हम सोमरक्षण के द्वारा इन्द्रियों को सशक्त व दीप्त बनायें, कर्मेन्द्रियाँ सशक्त हों और ज्ञानेन्द्रियाँ दीप्त। (२) हे पूषन्! आप **आरात्**=दूर से दूर तथा समीप से समीप **श्रुतः**=सुने जाते हैं। 'तद्दूरे तद्वन्तिके' (दूरात् सुदूरे तदिहन्तिके च)। वे सर्वव्यापक प्रभु इस प्राणसाधना के द्वारा हमें इन्द्रियों को वश में करने की शक्ति प्राप्त करायें।

भावार्थ—प्रभु हमें उस प्राणों के गण को प्राप्त करायें जो इन्द्रियों को अन्दर प्रेरित करता है और इस प्रकार हमें शक्ति व ज्ञान को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'आरे अघा-उपावसु' स्वस्ति

आ ते॑ स्व॒स्तिमी॑महे आ॒रेअ॑घा॒मुपा॑वसुम्। अ॒द्या च॑ स॒र्वता॑तये॒ श्वश्च॑ स॒र्वता॑तये ॥ ६ ॥

(१) हे पूषन्! हम **ते**=आप से **स्वस्तिम्**=कल्याणकारिणी रक्षा को **आ ईमहे**=सर्वथा चाहते हैं, जिसके कारण **आरे-अघाम्**=पाप हमारे से दूर रहते हैं और **उपावसुम्**=धन प्राप्त होता है (उपगतधनम्)। (२) हे प्रभो! हम आप से की जानेवाली कल्याणकारिणी रक्षा को **अद्या च**=आज भी **सर्वतातये**=सब सद्गुणों के विस्तार के लिये चाहते हैं, **श्वः च**=और कल भी **सर्वतातये**=सब शुभों के विस्तार के लिये चाहते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दी जानेवाली कल्याणकारिणी रक्षा, (ख) पापों को दूर करती है, (ख) धनों को प्राप्त कराती है, (ग) आज व कल सदा सद्गुणों का विस्तार करनेवाली होती है।

अगले सूक्त में 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र व पूषा का स्तवन करता है—

[५७] सप्तञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रापूषणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सख्याय-स्वस्तये-वाजसातये

इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये॥ १॥

(१) सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु 'इन्द्र' है। सब आवश्यक धनों को देकर हमारा पोषण करनेवाला प्रभु 'पूषा' है **वयम्**=हम **नु**=अब **इन्द्रापूषणा**=इन्द्र व पूषा को **सख्याय**=मित्रता के लिये **स्वस्तये**=कल्याण के लिये तथा **वाजसातये**=शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति के लिये **हुवेम**=पुकारते हैं। (२) इन्द्र की मित्रता हमें सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विद्रावण करके सब के प्रति स्नेहवाला बनाती है। पूषा की मित्रता हमारा उचित पोषण करके कल्याण को देनेवाली होती है। यह इन्द्र व पूषा का आराधन हमें शक्ति सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—हम इन्द्र व पूषा का स्तवन करते हुए 'स्वस्ति व वाज' को प्राप्त करें, कल्याण को प्राप्त करें। शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रापूषणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमं करम्भम्

सोममन्य उपासदत्पातवे चम्वोः सुतम्। करम्भमन्य इच्छति॥ २॥

(१) **चम्वोः**=द्यावापृथिवी के निमित्त **सुतम्**=उत्पन्न किये गये इस **सोमम्**=सोम को **पातवे**=पीने के लिये **अन्यः**=इन्द्र व पूषा में से एक इन्द्र **उपासदत्**=समीप प्राप्त होता है। इन्द्र वह है जो इन्द्रियों को वश में करने के लिये यत्नशील होता है। यह जितेन्द्रिय बनकर सोम का पान करता है। इस सुरक्षित सोम से मस्तिष्क रूप द्युलोक को यह ज्ञानदीप्त बनाता है तथा शरीर रूप पृथिवी लोक को इस सोम के द्वारा ही सशक्त करता है। (२) **अन्यः**=दूसरा **पूषा**=अपने में शक्तियों का पोषण करनेवाला **करम्भम्**=क-जल व रेतःकणों के द्वारा अपने में शक्ति के भरण को **इच्छति**=चाहता है। पूषा सदा इस कामनावाला होता है कि मेरे कार्य शक्ति से परिपूर्ण हों।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर हम सोम का पान करें। रेतःकणों के रक्षण से हमारे कार्य शक्तिशाली हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रापूषणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अजाः, हरी

अजा अन्यस्य वह्नयो हरी अन्यस्य संभृता। ताभ्यां वृत्राणि जिघ्नते॥ ३॥

(१) **अन्यस्य**=इन्द्र और पूषा में से एक पूषा के **वह्नयः**=वहन करनेवाले **अजाः**=गति के द्वारा सब बुराइयों का क्षेपण करनेवाले 'प्राण' हैं। प्राणों का पोषण ही इसे पूषा बनाता है। इन प्राणों से गति के द्वारा शरीर का सब मल परे फेंका जाता है। (२) **अन्यस्य**=दूसरे इन्द्र के **हरी**=कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रिय रूप अश्व **सम्भृता**=सम्यक् पुष्ट किये जाते हैं अथवा सम्यक् धारित किये जाते हैं। **ताभ्याम्**=इन सम्भृत इन्द्रियों से यह इन्द्र **वृत्राणि जिघ्नते**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करता है।

भावार्थ—प्राणों की साधना हमें पूषा बनाती है। इन्द्रियाश्वों का स्मरण हमें इन्द्र बनाता है और हम वासनाओं को विनष्ट कर पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रापूषणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्राण-साधना

यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः। तत्र पूषाभवत्सचा॥ ४॥

(१) इन्द्रियों को वश में करनेवाला साधक 'इन्द्र' है। प्राणों की साधना करनेवाला 'पूषा' है। **यत्**=जब **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **रितः**=गतिमय, गति के स्वभाववाले **महीः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **अपः**=इन रेतःकणों को **अनयत्**=शरीर के अन्दर प्राप्त कराता है, तो वह **वृषन्तमः**=अतिशयेन शक्तिशाली बनता है। (२) **तत्र**=वहाँ इन रेतःकणों के शरीर में ही प्राप्त कराने के कार्य में **पूषा**=प्राणसाधना करनेवाला यह देव **सचा**=इन्द्र का साथी **अभवत्**=होता है। प्राणसाधना इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति में अतिशयेन सहायक होती है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रियता व प्राणसाधना द्वारा रेतःकणों का रक्षण करें। यह रक्षण हमें अतिशयेन शक्तिशाली बनाये।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रापूषणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुमति का आश्रय

तां पूष्णः सुमतिं वयं वृक्षस्य प्र वयामिव। इन्द्रस्य चा रभामहे॥ ५॥

(१) **वयम्**=हम **पूष्णः**=प्राणसाधना को करनेवाले इस उपासक की **तां सुमतिम्**=उस कल्याणीमति को **आरभामहे**=इस प्रकार आश्रय करते हैं, **इव**=जैसे कि कोई **वृक्षस्य**=वृक्ष की **प्रवयाम्**=दृढ़ शाखा को पकड़ता है। वस्तुतः पूषा की यह सुमति यही है कि हम भी पूषा की तरह प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। (२) इसी प्रकार हम **इन्द्रस्य च**=इन्द्र की भी कल्याणीमति का आश्रय करते हैं। जितेन्द्रिय बनकर हम भी सोम का रक्षण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र व पूषा का अनुगमन करें, जितेन्द्रिय बनें और प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। इस से सोमरक्षण करते हुए हम बुद्धि को बड़ा शुद्ध व तीव्र बना पायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रापूषणौ** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मह्यै स्वस्तये

उत्पूषणं युवामहेऽभीशूँरिव सारथिः। मह्या इन्द्रं स्वस्तये॥ ६॥

(१) **मह्यै स्वस्तये**=महान् कल्याण के लिये हम **पूषणम्**=पूषा को **इन्द्रम्**=और इन्द्र को **उद्युवामहे**=(उद्याजेयानः-उद्योजनमाकर्षणम्) अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। प्राणसाधना करते हुए हम 'पूषा' बनते हैं, और इन्द्रियों को वश में करते हुए 'इन्द्र' बनते हैं। (२) इन्द्र और पूषा को इस प्रकार हम अपनी ओर आकृष्ट करते हैं **इव**=जैसे कि **सारथिः**=रथ का वाहक **अभीशून्**=लगामों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। लगाम के द्वारा यह घोड़ों को काबू कर पाता है। इसी प्रकार हम इन्द्र बनकर इन्द्रियों को वश में करते हैं और पूषा बनकर प्राणों को। इनका वशीकरण ही महान् कल्याण का साधन है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों व प्राणों को वश में करके इन्द्र व पूषा बनते हुए महान् कल्याण को सिद्ध करें।

अगले सूक्त में 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' पूषा का आराधन करते हैं—

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुक्रं-यजतम्

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥ १॥

(१) गत मन्त्र में प्राणसाधना करनेवाला पुरुष पूषा है। यह पूषा अपने जीवन को निर्मल व ज्ञानदीप्त बनाता है। हे **पूषन्**=प्राणसाधक पुरुष! **ते**=तेरा यह **शुक्रम्**=ज्ञानदीप्त रूप **अन्यत्**=विलक्षण ही है। तथा मन की निर्मलता के होने पर **यजतम्**=सब के साथ संगतिकरणवाला **ते**=तेरा रूप भी **अन्यत्**=विलक्षण है। इन शुक्र और यजत रूपों से तू **विषुरूपे अहनी इव असि**=भिन्न-भिन्न उत्तम रूपवाली दिन-रात्रि के समान है। दिन के समान शुक्र (दीप्त) है। रात्रि के समान यजत है, रात में सब वैरविरोध को भूलकर गाढ़-निद्रा में उस आनन्दमयकोश में पहुँच जाते हैं, जो कि सबका एक है। **द्यौः** इव असि=तू इस द्युलोक के समान है, जो दीप्त है और समानरूप से सबका निवास-स्थान है। (२) हे पूषन्! तू **विश्वाः**=सब **हि**=ही **मायाः**=प्रज्ञानों को **अवसि**=अपने अन्दर सुरक्षित करता है। प्राणसाधना से बुद्धि का दीपन होकर सब प्रज्ञानों की प्राप्ति होती है। हे **स्वधावः**=आत्मधारण-शक्तिवाले पूषन् (स्व-धा-वः) अथवा (स्व-धाव) प्राणसाधना द्वारा आत्मशोधन करनेवाले पूषन्! **इह**=इस जीवन में **रातिः**=दान (दान की वृत्ति) **ते भद्रास्तु**=तेरे लिये कल्याणकारिणी हो। यह दानवृत्ति ही मनुष्य के पापों का खण्डन करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से मस्तिष्क दीप्त होता है, मन निर्मल होकर सब के प्रति मेल व प्रेमवाला होता है। यह दोनों ही रूप कितने सुन्दर हैं? सब प्रज्ञानोंवाला होता हुआ यह पूषा दान की वृत्तिवाला बनता है। यही उसे पवित्र बनाती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वाजप्पत्यः धियञ्जिन्वः

अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यो धियंजिन्वो भुवने विश्वे अर्पितः।
अष्ट्रां पूषा शिथिरामुद्वरीवृजत्संचक्षाणो भुवना देव ईयते॥ २॥

(१) **अजाश्वः**=गतिशील इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाला, **पशुपाः**=(कामः पशुः क्रोधः पशुः) काम-क्रोध आदि से हमें बचानेवाला, **वाजपस्त्यः**=शक्ति का घर, शक्ति का निवास-स्थान, **धियञ्जिन्वः**=बुद्धियों को प्रेरित करनेवाला यह प्रभु **विश्वे भुवने**=सम्पूर्ण भुवन में **अर्पितः**=अर्पित है, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है। (२) **पूषा**=वह पोषक प्रभु **शिथिरां अष्ट्राम्**=शिथिल हुई-हुई अष्ट्रा को **उद् वरीवृजत**=फिर से उद्यत करता है (उच्छ्रथत्)। अष्ट्रा का अर्थ चाबुक और अंकुश है। जैसे अंकुश व चाबुक हाथी व घोड़े की प्रसुप्त शक्ति को जागरित-सा कर देता है, इसी प्रकार शरीर में अष्ट्रा वह शरीर व्यापिनी प्रेरिका शक्ति है जो सब अंगों को ठीक रूप में कार्य कराती है। प्रभु ही इस शक्ति को हमारे में जागरित करते हैं। इस प्रकार **भुवना**=सब प्राणियों का **संचक्षाणः**=ध्यान करते हुए **देवः**=वे सब व्यवहारों के साधक प्रभु **ईयते**=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें गतिशील इन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं, काम-क्रोध आदि से बचाते हैं, शक्ति व बुद्धि को देते हैं। वे सर्वव्यापक प्रभु हमारे अन्दर प्रसुप्त शक्तियों को जागरित करते हैं। इस प्रकार सबका ध्यान करते हुए प्रभु सर्वत्र प्राप्त हैं।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पूषा की नौकाएँ

यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः॥ ३॥

(१) हे **कामेन कृत**=कामना के द्वारा सारे संसार को उत्पन्न करनेवाले (सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय) **पूषन्**=पोषक प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपकी **हिरण्ययीः नावः**=ज्योतिर्मयी नाव तुल्य वेदवाणियाँ हैं, जो **समुद्रे**=(समुद्) आनन्दमय **अन्तरिक्षे अन्तः**=हृदयान्तरिक्ष में **चरन्ति**=गति करती हैं, प्रसन्न मन में जिनका प्रकाश होता है, **ताभिः**=उनके द्वारा **दूत्यम्**=ज्ञान सन्देश प्रापण के कार्य को **यासि**=आप प्राप्त होते हैं। इन वेदवाणियों के द्वारा आप हमें ज्ञान का सन्देश सुनाते हैं। हमारे लिये **सूर्यस्य श्रवः**=सूर्य के यश को, प्रकाश को **इच्छमानः**=चाहते हैं। जैसे सूर्य प्रकाश से देदीप्यमान है, इसी प्रकार आप हमारे हृदयों को भी ज्ञान के प्रकाश से दीप्त करते हैं। (२) प्रभु ने यह सारा संसार कामना से ही उत्पन्न किया है, हमारे लिये जब प्रभु चाहते हैं तो इस ज्ञान के प्रकाश को प्रकट कर देते हैं। हम प्रभु के इस अनुग्रह के पात्र तभी बनते हैं जब कि अपने इस हृदय को निर्मल व प्रसन्न बना पाते हैं। प्रभु से दिया गया यह ज्ञान हमारे लिये नाव का कार्य करता है, इसके द्वारा हम भवसागर को तैरनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दिया गया ज्ञान हमारे लिये भवसागर को तरानेवाली नाव के समान होता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों का सूर्या के लिये पूषा को देना

पूषा सुबन्धुर्दिव आ पृथिव्या इळस्पतिर्मघवा दस्मवर्चाः।
यं देवासो अददुः सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वञ्चम्॥ ४॥

(१) **पूषा**=यह पोषक प्रभु **दिवः पृथिव्याः**=द्युलोक व पृथिवीलोक का **आ**=समन्तात् **सुबन्धुः**=उत्तम बाँधनेवाला है यह हमारे जीवनों में मस्तिष्क रूप द्युलोक तथा शरीर रूप पृथिवीलोक को सम्यक् बद्ध करता है। ज्ञान व शक्ति को जोड़ देता है। **इडस्पतिः**=वेदवाणी का स्वामी है, **मघवा**=परमैश्वर्यवाला है। प्रभु ज्ञान व धन दोनों के आधार हैं। **दस्मवर्चः**=शत्रुविनाशक शक्तिवाले हैं (दसु उपक्षये) (२) **यम्**=जिस पूषा को **देवासः**=सब देव **सूर्यायै अददुः**=सूर्या के लिये देते हैं। 'देव' यहाँ दिव्यगुण हैं, 'सूर्या' बुद्धि है। दिव्यगुणों के द्वारा प्रभु का बुद्धि में स्थापन होता है। उस प्रभु को ये दिव्य गुण बुद्धि में स्थापित करते हैं, जो कि **कामेन कृतम्**=कामना से ही सम्पूर्ण संसार को बना डालते हैं, **तवसम्**=बलवाले हैं और **स्वञ्चम्**=उत्तम गतिवाले हैं।

भावार्थ—दिव्य गुणों को धारण करते हुए हम प्रभु को बुद्धि के द्वारा ग्रहण कर पायेंगे। ये प्रभु हमारे जीवनों में ज्ञान व शक्ति का समन्वय करेंगे।

अगले सूक्त में 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' ऋषि हैं और 'इन्द्राग्नी' देवता है, 'इन्द्र' बल का प्रतीक है तो 'अग्नि' प्रकाश का—

[५९] एकोनषष्टीतमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

बल व प्रकाश का मेल

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या३ यानि चक्रथुः।
हतासो वां पितरो देवशत्रव इन्द्राग्नी जीवथो युवम्॥ १॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! **युवम्**=आप दोनों **सुतेषु**=हमारे जीवन-यज्ञों में **जीवथः**=सदा जीवित रहो। मैं **वाम्**=आपके **वीर्या**=उन शक्तिशाली कर्मों को **नु**=अब **प्रवोचा**=प्रकर्षेण कहता हूँ **यानि चक्रथुः**=जिन्हें आप करते हो। (२) **वाम्**=आपके **पितरः** (पीयति हिंसा कर्मा)=हिंसा करनेवाले **देवशत्रवः**=दिव्य गुणों के विनाशक आसुरभाव **हतासः**=नष्ट किये गये हैं। इन आसुरभावों के विनाश से जीवन दिव्य गुणों के प्रकाश से प्रकाशित हो उठा है।

भावार्थ—बल व प्रकाश के देव मिलकर हमारे जीवनयज्ञ में आसुरभावों का विनाश करते हैं। आसुरभावों को विनष्ट करके ही वस्तुतः 'इन्द्र व अग्नि' जीवित रहते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

मिलित इन्द्राग्नी की अद्भुत महिमा

बळित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ।
समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा॥ २॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! **इत्था**=इस प्रकार **वां महिमा**=आप दोनों की महिमा **बट्**=सत्य है और **आ**=समन्तात् **पनिष्ठः**=स्तुत्यतम है। (२) **वाम्**=आप दोनों का **जनिता**=उत्पन्न करनेवाला **समानः**=समान ही है, एक प्रभु ही आप दोनों को जन्म देते हैं। **युवम्**=आप दोनों **भ्रातरा**=भाइयों के समान हैं, हमारे जीवनों में सब कार्यों का भरण करनेवाले हैं। आप **यमौ**=युगल भाइयों के समान होते हुए **इह इह मातरा**=इस इस स्थान में निर्माण के कार्यों के करनेवाले होते हैं। जीवन का कोई भी कार्य केवल ज्ञान से व केवल बल से नहीं हो पाता। इनका समन्वय ही जीवन के सब कार्यों को सुचारुरूपेण करता है। 'इन्द्र और अग्नि' एक घर में पुरुष और स्त्री के समान हैं, अकेले पुरुष व अकेली स्त्री से घर नहीं बनता। इसी प्रकार अकेले ज्ञान व अकेले बल से जीवन नहीं बनता।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान व बल का ऐसा मेल हो जैसा कि दो भाइयों का। ये मिलकर हमारे जीवन को अतिसुन्दर बनायें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सचा ओकिवांसा 'वज्रिणा देवा'

ओकिवांसा सुते सचाँ अश्वा सप्ती इवादने।
इन्द्रा न्व१ग्नी अवसेह वज्रिणा वयं देवा हवामहे॥ ३॥

(१) हे इन्द्राग्नी! आप **सुते**=शरीर में सोम के उत्पन्न होने पर **सचा**=साथ-साथ (सह) **ओकिवांसा**=समवेत्य (मेल) वाले होवो। इस प्रकार मेलवाले होवो **इव**=जैसे **आदने**=खाने के स्थान पर **सप्ती**=सर्पणशील **अश्वा**=दो अश्व मेलवाले होते हैं। प्रकाश व बल दोनों का यहाँ शरीर

में यह 'सोम' ही तो भोजन है। सोम ही ज्ञान व बल की उत्पत्ति का साधन बनता है। (२) **नु**=अब **इह**=यहाँ जीवन में **वयम्**=हम **अवसा**=रक्षण के हेतु से **इन्द्रः अग्नी**=इन्द्र और अग्नि को, बल व प्रकाश के देवों को **हवामहे**=पुकारते हैं। ये इन्द्र और अग्नि क्रमशः **वज्रिणा**=वज्रवाले व **देवा**=प्रकाशमय हैं। इन्द्र वज्रहस्त हैं, अग्नि प्रकाश का देव हैं। वस्तुतः दोनों ऐसे मिले हुए हैं कि दोनों दोनों ही हैं। इन्द्र का वज्रहस्त होने का भाव यह है कि वह क्रियाशील है (वन् गतौ)। यह क्रियाशीलता ही उसे सब असुरों का संहार करने में समर्थ करती है।

भावार्थ—सोम के उत्पन्न होने पर हमारे में ज्ञान व बल का साथ-साथ निवास हो। ये हमें क्रियाशील व प्रकाशमय जीवनवाला बनायें। इस प्रकार ये हमारे रक्षक हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ऋतावृधा पज्रहोषिणा

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृतावृधा।
जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन॥ ४॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! **यः**=जो **सुतेषु**=सोमकणों के अभिषव (उत्पत्ति) होने पर **वां स्तवत्**=आप दोनों का स्तवन करता है आप **तेषु**=उन लोगों में **ऋतावृधा**=ऋत का, सत्य का जो ठीक है उसका वर्धन करनेवाले होते हो। (२) ये इन्द्र और अग्नि **जोषवाकं वदतः**=प्रीतिपूर्वक उच्चरित वाणी को बोलते हैं। जीवन में बल व प्रकाश से युक्त पुरुष कड़वी वाणी नहीं बोलता। **पज्रहोषिणा**=(प्रार्जितहोषिणा) ये अर्जित धन की लोकहित के कार्यों में, प्राजापत्य यज्ञ में आहुति देनेवाले होते हैं। **देवा**=ये दिव्य वृत्तियों को जन्म देनेवाले 'बल व प्रकाश' **न भसथः चन**=कभी अपशब्द नहीं बोलते (भस्=to abuse) अथवा (भस् to eat) खाते भी तो नहीं। अर्थात् अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करते हुए धन की प्राजापत्य यज्ञ में आहुति ही देते हैं।

भावार्थ—इन्द्राग्नी के आराधन से बल व प्रकाश के जीवन में समन्वय से (क) ऋत का वर्धन होता है, (ख) हम मधुर ही वाणी बोलते हैं, (ग) कम से कम खाते हुए सब धनों को प्राजापत्य यज्ञ में आहुत करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

इन्द्रियाश्वों को एक रथ में जोतना

इन्द्राग्नी को अस्य वां देवौ मर्तश्चिकेतति।
विषूचो अश्वान्युयुजान ईयत एकः समान आ रथे॥ ५॥

(१) हे **देवौ**=प्रकाशमय व सब व्यवहारों के साधक **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि, बल व प्रकाश के देवो! **वाम्**=आपके **अस्य**=इस बात को **कः मर्तः**=कौन मनुष्य **चिकेतति**=जानता है? अर्थात् कोई विरल ही जानता है। सामान्यतः कोई नहीं जानता। (२) आप दोनों में से **एकः**=एक यह इन्द्र **विषूचः**=विविध दिशाओं में उत्तम गतिवाले इन **अश्वान्**=इन्द्रियाश्वों को **समाने रथे**=एक ही शरीर-रथ में **युयुजानः**=जोड़ता हुआ **आ ईयते**=समन्तात् गति करता है। इन्द्र ही इन इन्द्रियों को उस-उस कार्य में व्यापृत करता है। ये सब इन्द्रियाँ मिलकर शरीर-रथ को लक्ष्य-स्थान की ओर ले जाते हैं। इन्द्र वही है जो जितेन्द्रिय है। ये इन इन्द्रियों को इधर-उधर भटकने नहीं देता। अग्नि मार्ग दिखाता है, इन्द्र इन इन्द्रियाश्वों को ले चलता है।

भावार्थ—अग्नि के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर, इन्द्र बनकर, हम इन्द्रियाश्वों को ले चलें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दैनिक कार्यक्रम

इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात्पद्वतीभ्यः।
हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत्त्रिंशत्पदा न्यक्रमीत्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल और प्रकाश के तत्त्वो! हमारे जीवनों में **इयम्**=यह **अपात्**=पादरहित भी उषा **पद्वतीभ्यः**=पाँवोंवाली प्रजाओं से **पूर्वा अगात्**=पहले आती है। अर्थात् हम लोगों के सम्पर्क में आने से पहले प्रतिदिन इस उषा के सम्पर्क में आते हैं। (२) यह उषा **शिरः हित्वी**=(प्रेरयित्री) हमारे मस्तिष्कों को प्रेरित करती हुई हमें स्वाध्याय द्वारा उत्तम मस्तिष्कवाला बनाती हुई, **जिह्वया**=हमारी जिह्वा से **वावदत्**=निरन्तर प्रभु नामों का उच्चारण करती हुई **चरत्**=कार्यों में प्रवृत्त होती है। यह **त्रिंशत् पदा**=तीसों कदम, दिन के अवयवभूत तीसों मुहूर्तों में **न्यक्रमीत्**=हमें गतिवाला बनाती है।

भावार्थ—हम उठकर सबसे प्रथम उषा में प्रभु का ध्यान करते हैं। स्वाध्याय को करते हुए, प्रभु स्मरणपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। हमारा सारा दिन बड़ा क्रियाशील बीतता है। यही आदर्श जीवन का प्रोग्राम है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

महाधने, गविष्टिषु

इन्द्राग्नी आ हि तन्वते नरो धन्वानि बाह्वोः।
मा नो अस्मिन्महाधने परा वर्क्तं गविष्टिषु॥ ७॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के तत्त्वो! **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **बाह्वोः**=अपनी भुजाओं में **धन्वानि**=धनुषों को **हि**=निश्चय से **आतन्वते**=विस्तृत करते हैं। अर्थात् इस जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिये तथा वासना आदि शत्रुओं को विनष्ट करने के लिये, प्रणव (ओ३म्) रूप धनुष को धारण करते हैं। प्रभु-स्मरण ही प्रणवरूप धनुष का धारण है। (२) हे इन्द्राग्नी! आप **नः**=हमें **अस्मिन्**=इस **महाधने**=महनीय धन को प्राप्त करानेवाले संग्राम में तथा **गविष्टिषु**=इन ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने के निमित्त इन वाणियों के अन्वेषण में **मा परावर्क्तम्**=मत छोड़ दो। जब हमारे जीवन का ध्येय बल व प्रकाश को प्राप्त करना बना रहता है तो हम वासनाओं का शिकार नहीं होते तथा ज्ञान की वाणियों को अधिकाधिक प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—बल व प्रकाश को प्राप्त करना ही हमारे जीवन का ध्येय हो। ऐसा होने पर हम सदा प्रभु स्मरण में प्रवृत्त होंगे। वासनाओं के आक्रमण से बचे रहेंगे तथा स्वाध्याय प्रवृत्त होंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

द्वेष से दूर

इन्द्राग्नी तपन्ति माघा अर्यो अरातयः। अप द्वेषांस्या कृतं युयुतं सूर्यादधि॥ ८॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के तत्त्वो! **अघाः**=(आहनतव्यः) चोट करनेवाली **अर्यः**=हमारे पर आक्रमण करनेवाली **अरातयः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं की सेनाएँ **मा तपन्ति**=मुझे

पीड़ित करती हैं। आप इन्हें **अपाकृतम्**=मेरे से दूर करिये। ज्ञान व बल की आराधना मुझे इन शत्रुओं के आक्रमण से बचाये। (२) हे **इन्द्राग्नी**=आप **द्वेषांसि**=द्वेष की भावनाओं को हमारे से दूर करो। वस्तुतः इन ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावनाओं को तो **सूर्याद् अधि**=सूर्य दर्शन से भी **अप युयुतम्**=पृथक् कर दीजिये। सूर्य का जहाँ भी प्रकाश पहुँचता है, वहाँ द्वेष आदि का निवास न होता है।

भावार्थ—बल व प्रकाश का आराधन मुझे शत्रुओं के आक्रमण से बचाये। इनका आराधन मुझे द्वेष से दूर करे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'विश्वायुपोषस' रयि

इन्द्राग्नी युवोरपि वसु दिव्यानि पार्थिवा। आ न इह प्र यच्छतं रयिं विश्वायुपोषसम्॥ ९ ॥

(१) **इन्द्राग्नी**=हे बल व प्रकाश के देवो! **दिव्यानि**=मस्तिष्करूप द्युलोक सम्बन्धी तथा **पार्थिवा**=शरीररूप पृथिवी सम्बन्धी सब **वसु**=धन **युवोः अपि** (हितानि)=आप में ही स्थित हैं। (२) आप **इह**=इस जीवन में **नः**=हमारे लिये **रयिं प्रयच्छतम्**=उस ऐश्वर्य को दीजिये जो **विश्वायुपोषसम्**=सब मनुष्यों का पोषण करनेवाला हो। अर्थात् जिस धन को हम सब के साथ बाँधकर उपयुक्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि हम मस्तिष्क के ज्ञान-धन को तथा शरीर के शक्तिरूप धन को दें तथा हमें उस सम्पत्ति को प्राप्त करायें जो सभी के हित में विनियुक्त हो।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उक्थ-स्तोम-गिर्

इन्द्राग्नी उक्थवाहसा स्तोमेभिर्हवनश्रुता। विश्वाभिर्गीर्भिरा गतमस्य सोमस्य पीतये॥ १० ॥

(१) **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देव हमारे जीवनों में **उक्थवाहसा**=स्तुति-वचनों के धारण करनेवाले हों। हमें प्रभु स्तवन की ओर झुकाववाला बनायें। **स्तोमेभिः**=स्तुतिसमूहों से ये इन्द्र और अग्नि **हवनश्रुता**=उसी प्रभु की पुकार (प्रेरणा) को सुननेवाले हों। इन्द्र और अग्नि के धारण से हम प्रभु स्तवन में प्रवृत्त होकर हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें। (२) हे इन्द्राग्नी! आप **अस्य सोमस्य पीतये**=इस सोम के शरीर में ही पान के लिये **विश्वाभिः गीर्भिः आगतम्**=सब ज्ञान की वाणियों के साथ हमें प्राप्त होवो। हम सदा ज्ञान की वाणियों के अध्ययन में लगे रहें और इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर सकें।

भावार्थ—इन्द्र व अग्नि की आराधना, बल व प्रकाश को प्राप्त करने की प्रवृत्ति हमें प्रभु स्तवन में प्रवृत्त करे। यह हमें प्रभु प्रेरणा के सुनने योग्य बनाये, तथा सदा ज्ञान की वाणियों के अध्ययनवाला करें।

अगले सूक्त में भी इन्द्र और अग्नि का ही आराधन है—

[६०] षष्टीतमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृत्रसंहार तथा बल की प्राप्ति

श्नथद् वृत्रमुत सनोति वाजमिन्द्रा यो अग्नी सहुरी सपर्यात्।
इरज्यन्ता वसव्यस्य भूरेः सहस्तमा सहसा वाजयन्ता॥ १ ॥

(१) **यः**=जो **सहुरी**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले **इन्द्रा अग्नी**=बल व प्रकाश के देवों का **सपर्यात्**=पूजन करता है, वह **वृत्रं श्नथत्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करता है, **उत**=और **वाजं सनोति**=बल को प्राप्त करता है। (२) ये इन्द्र और अग्नि **भूरेः**=बहुत अधिक **वसव्यस्य**=वसु समूह के **इरज्यन्ता**=ईशान हैं, स्वामी हैं। ये **सहसा**=बल से **सहस्तमा**=हमारे शत्रुओं को कुचलनेवाले हैं तथा **वाजयन्ता**=हमारे लिये शक्ति की कामनावाले होते हैं, हमें ये शक्ति सम्पन्न बनाते हैं जिससे हम शत्रुओं का शातन कर सकें।

भावार्थ—इन्द्र व अग्नि का आराधन हमें वृत्र विनाश व शक्ति प्राप्ति के योग्य करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दिशः-स्वः-उषसः-अपः-गाः'

ता योधिष्टमभि गा इन्द्र नूनमपः स्वरुषसो अग्न ऊळ्हाः।
दिशः स्वरुषस इन्द्र चित्रा अपो गा अग्ने युवसे नियुत्वान्॥ २॥

(१) हे **इन्द्र, अग्ने**=बल व प्रकाश के देवो! **ता**=वे आप **ऊळ्हाः गाः**=वासनाओं से जिनका अपहरण (अपवहन) किया गया है ऐसी इन्द्रियों का **अभि**=लक्ष्य करके **योधिष्टम्**=इन वासनाओं के साथ युद्ध करते हो। इसी प्रकार, हे देवो! आप **नूनम्**=निश्चय से **अपः**=रेतःकणों का, **स्वः**=प्रकाश का, **उषसः**=(उष दाहे) दोषदहन शक्तियों का लक्ष्य करके इन वासनाओं से युद्ध करते हो। (२) हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले, **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को हमारे लिये प्राप्त करानेवाले आप **दिशः**=प्रभु के निर्देशों को, **स्वः**=प्रकाश को, **उषसः**=दोषदहन शक्तियों को, **चित्राः अपः**=अद्भुत वीर्यकणों को तथा **गाः**=इन्द्रियों को **युवसे**=हमारे साथ जोड़ते हैं। वासनाओं को विनष्ट करके इन सब चीजों को हमें प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि का आराधन वासनाओं का विनाश करके हमें 'प्रभु निर्देशों, प्रकाश, दोषदहन शक्तियों, वीर्यकणों व प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुष्म-राधस्

आ वृत्रहणा वृत्रहभिः शुष्मैरिन्द्र यातं नमोभिरग्ने अर्वाक्।
युवं राधोभिरकवेभिरिन्द्राग्ने अस्मे भवतमुत्तमेभिः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले, **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप **वृत्रहणा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। आप **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा, जब हम आपके प्रति नमनवाले हों, **वृत्रहभिः**=वासना को विनष्ट करनेवाले **शुष्मैः**=बलों से अर्वाक् **आयातम्**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइये। (२) हे **इन्द्राग्ने**=इन्द्र व अग्ने! **युवम्**=आप दोनों **अकवेभिः**=अकुत्सित, **उत्तमेभिः**=अत्यन्त उत्कृष्ट **राधोभिः**=धनों से **अस्मे**=हमारे लिये **भवतम्**=होइये। हमें इन्द्र और अग्नि उन धनों को प्राप्त करायें जो अकुत्सित व उत्तम हैं, जो धन हमारी उन्नति का ही कारण बनते हैं।

भावार्थ—हमें इन्द्र और अग्नि वासना विनाशक बल को तथा उत्तम धन को प्राप्त करायें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तुति के योग्य 'इन्द्र और अग्नि'

ता हुवे ययोरिदं पप्ने विश्वं पुरा कृतम्। इन्द्राग्नी न मर्धतः॥ ४॥

(१) जीवन के अन्दर सब कुछ बल व प्रकाश के द्वारा ही सम्पन्न होता है। मैं **ता**=उन इन्द्र और अग्नि को, बल व प्रकाश के देवों को **हुवे**=पुकारता हूँ, **ययोः**=जिनका **पुरा कृतम्**=पहले किया हुआ, जिनके द्वारा बनाया गया, **इदं विश्वम्**=यह सब **पप्ने**=स्तुत होता है। बल व प्रकाश की सहस्थिति प्रत्येक चीज को सुन्दर बनाती है, उसी प्रकार जैसे कि 'ब्रह्म-क्षत्र' की सहस्थिति राष्ट्र को उन्नत करती है। (२) **इन्द्राग्नी**=ये बल व प्रकाश के देव **न मर्धतः**=हमारा हिंसन नहीं करते। जब हमारे जीवन में बल व प्रकाश दोनों विद्यमान होते हैं, तो जीवन सुन्दर ही सुन्दर बनता है।

भावार्थ—बल और प्रकाश, ब्रह्म-क्षत्र से हमें परमात्मा प्रदान करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'उग्रा-मृधः विघनिना' इन्द्राग्नी

उ॒ग्रा वि॑घ॒निना॒ मृध॑ इन्द्रा॒ग्नी ह॑वामहे। ता नो॑ मृळात ई॒दृशे॑ ॥ ५ ॥

(१) हम **उग्रा**=तेजस्वी, **मृधः विघनिना**=शत्रुओं को कुचल डाल देनेवाले **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवों को **हवामहे**=पुकारते हैं। वस्तुतः **इन्द्र**=हमारे सब रोग रूप शत्रुओं को विनष्ट करता है तथा अग्नि वासनामलों का दहन करनेवाला है। (२) **ता**=वे दोनों इन्द्र और अग्नि **नः**=हमें **ईदृशे**=ऐसे इस जीवन-संग्राम में **मृडातः**=सुखी करते हैं। वस्तुतः जीवन-संग्राम में सफलता को प्राप्त कराके विजय का आनन्द देनेवाले ये इन्द्र और अग्नि ही हैं।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि का आराधन हमें तेजस्विता प्रदान करता है। शत्रुपराजय द्वारा यह आराधन ही हमें सुखी करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वृत्र दास तथा द्वेष' का विनाश

ह॒तो वृ॒त्राण्यार्या॑ ह॒तो दासा॑नि॒ सत्प॑ती। ह॒तो विश्वा॒ अप॒ द्विषः॑ ॥ ६ ॥

(१) ये इन्द्र और अग्नि, बल व प्रकाश के देव **आर्या**=श्रेष्ठ हैं, शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं (ऋ गतौ)। ये **वृत्राणि हतः**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करते हैं। **सत्पती**=ये इन्द्र और अग्नि सत् के (उत्तमता के) रक्षक हैं। ये **दासानि**=(दसु उपक्षये) हमें क्षीण करनेवाली सब वृत्तियों को **हतः**=समाप्त करते हैं। (२) **विश्वाः**=सब हमारे न चाहते हुए भी हमारे में घुस आनेवाली **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अपहतः**=सुदूर विनष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—इन्द्र व अग्नि का आराधन वृत्र (=काम), दास (लोभ) तथा द्वेष (क्रोध) का निवारण करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'शम्भुवा' इन्द्राग्नी

इन्द्रा॑ग्नी यु॒वामि॒मे॒३॑ऽभि स्तोमा॑ अनूषत। पिब॑तं शंभुवा सु॒तम् ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! **इमे स्तोमाः**=ये स्तुतिसमूह **युवाम्**=आप दोनों को **अभि अनूषत**=लक्ष्य करके उच्चरित होते हैं, आपका ही स्तवन करते हैं। इन स्तोमों में इन्द्र और अग्नि की महिमा का प्रतिपादन हुआ है। (२) आप **सुतं पिबतम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का हमारे शरीरों में पान करते हो और **शम्भुवा**=शान्ति को उत्पन्न करते हैं। इन्द्र और अग्नि ही रोगों व वासनाओं को समाप्त करके शान्ति को देते हैं।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि का आराधन हमें शरीर में सोम के रक्षण के योग्य बनाता है, और इस प्रकार शान्ति को उत्पन्न करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा। इन्द्राग्नी ताभिरा गतम् ॥ ८ ॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! **याः**=जो **वाम्**=आपके **पुरुस्पृहः**=बहुतों से स्पृहणीय **नियुतः**=इन्द्रियरूप अश्व **सन्ति**=हैं, वे **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये होते हैं। दाश्वान् पुरुष के लिये आप इन्हें प्राप्त कराते हैं। बल व प्रकाश की आराधना करनेवाला पुरुष ही इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करता है। (२) हे **नरा**=इन इन्द्रियाश्वों से हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले इन्द्राग्नी! **ताभिः**=उन इन्द्रियाश्वों से **आगतम्**=आप हमें प्राप्त होवो। उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराके ही आप हमें जीवन में आगे ले चलते हो।

भावार्थ—बल व प्रकाश का आराधन हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराके उन्नत करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'नरा' इन्द्राग्नी

ताभिरा गच्छतं नरोपेदं सवनं सुतम्। इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥ ९ ॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **ताभिः (नियुद्भिः)**=उन इन्द्रियाश्वों के साथ **इदम्**=इस **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **सवनम्**=(सूयते) सोम को **उप आगच्छतम्**=समीपता से आप प्राप्त होवो। इन्द्र अग्नि हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करायें तथा हमारे जीवन-यज्ञ को सोम सम्पन्न करें। (२) **इन्द्राग्नी**=हे इन्द्र व अग्नि! आप **सोमपीतये**=इस सोम के पान के लिये हों। आपका आराधन मुझे सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के योग्य बनाये।

भावार्थ—बल व प्रकाश की आराधना हमें सोम के रक्षण के योग्य बनाती है। इस सोमरक्षण के द्वारा ये हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कृष्णा कृणोति जिह्वया

तमीळिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत्। कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥ १० ॥

(१) **तम्**=उस प्रभु को **ईडिष्व**=स्तुत कर, **यः**=जो **अर्चिषः**=अपनी ज्ञान दीप्ति से **विश्वा वना**=सब उपासकों को **परिष्वजत्**=आलिंगित करता है। प्रभु अपने उपासकों को ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराते हैं। (२) ये प्रभु अग्नि हैं, अग्रेणी हैं। प्रकाश के द्वारा हमारा मार्ग दर्शन करते हुए हमें आगे ले चलते हैं। **जिह्वया**=ज्ञानोपदेश के द्वारा ये प्रभु **कृष्णा कृणोति**=सब कालिमाओं को, मलिनताओं को नष्ट करते हैं (कृणोति=to kill)।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराती है, हमारी मलिनताओं को ज्ञानोपदेश द्वारा समाप्त करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्युम्नाय

य इन्द्र आविवासति सुम्नमिन्द्रस्य मर्त्यः। द्युम्नाय सुतरा अपः ॥ ११ ॥

(१) **यः**=जो **मर्त्यः**=मनुष्य **इत् ह**=निश्चय से **इन्द्रस्य**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु के **सुम्नं आविवासति**=(सुम्न=protection) रक्षण का पूजन करता है, वह **द्युम्नाय**=ज्ञान-ज्योति के लिये होता है। प्रभु की आराधना करता हुआ जो भी प्रभु के रक्षण को प्राप्त करता है, वह ज्योतिर्मय जीवनवाला होता है। (२) इस ज्योति से वह **अपः**=रेतःकणों को **सुतराः**=सब वासनाओं को तैर जानेवाला करता है। शरीर में सुरक्षित सोम उसके लिये सुतर होते हैं, सब रोगादि से उसे पार उतारनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु का आराधन हमें ज्ञान-ज्योति को प्राप्त कराता है और उन सोमकणों को प्राप्त कराता है जो हमें सब रोगों व वासनाओं को तैरने के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाजवती इषः, आशून् अर्वतः

ता नो वाजवतीरिष आशून्पिपृतमर्वतः। इन्द्रमग्निं च वोळ्हवे॥ १२॥

(१) **ता**=वे इन्द्र और अग्नि **नः**=हमारे लिये **वाजवतीः इषः**=प्रशस्त शक्तिवाली प्रेरणाओं को **पिपृतम्**=पूरित करें। अर्थात् हमें प्रकाशमय हृदय में प्रभु प्रेरणाओं को प्राप्त करायें और उन प्रेरणाओं को क्रियान्वित करने के लिये शक्ति दें। ये इन्द्र और अग्नि **आशून् अर्वतः**=शीघ्र गतिवाले इन्द्रियाश्वों को भी प्राप्त करायें। हमारी कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ही उत्तम हों। (२) ये ज्ञानेन्द्रियाँ **अग्निम्**=प्रकाश की देवता को **वोढवे**=वहन करने के लिये हों, **च**=तथा कर्मेन्द्रियाँ **इन्द्रम्**=बल की देवता का वहन करें। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान को देनेवाली हों, तो कर्मेन्द्रियाँ शक्ति का वर्धन करनेवाली बनें।

भावार्थ—हम इन्द्र व अग्नि का आराधन करते हुए प्रशस्त प्रेरणाओं से युक्त बल को तथा शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'इषु-रयि-वाज'

उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्यां उभा राधसः सह मादयध्यै।
उभा दातारविषां रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम्॥ १३॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! मैं **वां उभा**=आप दोनों को **आहुवध्यै**=पुकारने के लिये होता हूँ। मैं बल व प्रकाश दोनों को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होता हूँ। आप **उभा सह**=दोनों साथ-साथ **राधसः**=(राध सिद्धौ) सिद्धि के द्वारा **मादयध्यै**=आनन्दित करने के लिये होते हो। (२) **उभा**=आप दोनों मिलकर **इषाम्**=उत्तम प्रेरणाओं के तथा **रयीणाम्**=धनों के **दातारौ**=देनेवाले हो। मैं **उभा वाम्**=आप दोनों को **वाजस्य सातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये **हुवे**=पुकारता हूँ।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि का आराधन हमें 'उत्तम प्रेरणा, धन व बल' प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गव्य-अश्व्य-वसव्य

आ नो गव्येभिरश्व्यैर्वसव्यै३रुप गच्छतम्।
सखायौ देवौ सख्याय शंभुवेन्द्राग्नी ता हवामहे॥ १४॥

(१) हे इन्द्र और अग्नि! आप **नः**=हमें **गव्येभिः**=ज्ञानेन्द्रिय समूह के साथ **अश्व्येभिः**=कर्मेन्द्रिय समूह के साथ **वसव्यैः**=निवास के लिये आवश्यक वसु समूहों के साथ **आ**=सर्वथा **उपगच्छतम्**=समीपता से प्राप्त होवो। (२) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! आप **सखायौ**=एक दूसरे के सखा हैं, साथ रहनेवाले हैं। आप दोनों **देवौ**=दिव्य हो। हमारी **सख्याय**=मित्रता के लिये होने पर **शम्भुवा**=शान्ति को उत्पन्न करनेवाले हो। **ता**=उन आप दोनों को **हवामहे**=हम पुकारते हैं।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि की आराधना बल व प्रकाश की आराधना हमें उत्तम कर्मेन्द्रियों, उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व उत्तम वसुओं को प्राप्त कराती है। ये बल व प्रकाश हमारे जीवनों में शान्ति स्थापन का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सुन्वन् यजमान'

इन्द्राग्नी शृणुतं हवं यजमानस्य सुन्वतः। वीतं हव्यान्या गतं पिबतं सोम्यं मधु॥ १५ ॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! **सुन्वतः**=सोम का संपादन करनेवाले, अपने जीवन में सोमशक्ति को उत्पन्न करनेवाले, **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष की **हवम्**=पुकार को **शृणुतम्**=सुनो। (२) इस सुन्वन् यजमान के **हव्यानि**=हव्य पदार्थों की **वीतम्**=कामना करो। यह हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाला बने। **आगतम्**=आप आवो, और **सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का **पिबतम्**=पान करो। इन्द्र और अग्नि के आराधन से सोम का शरीर में संरक्षण हो।

भावार्थ—हम यज्ञशील व सोम शक्ति का सम्पादन करनेवाले बनें। हव्य पदार्थों का सेवन करें। सोम का शरीर में संरक्षण करें।

अगले सूक्त में 'भरद्वाज बार्हस्पत्य' सरस्वती का आराधन करता है—

[६१] एकषष्टीतमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उत्तम सन्तान की प्राप्ति व स्वार्थ-त्याग

इयमददाद्रभसमृणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे।
या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति॥ १ ॥

(१) 'सरस्वती' ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता है। इसकी आराधना के होने पर हमारे सन्तान उत्तम होते हैं और स्वार्थ भावना हमारे से दूर होती है। इसी बात को इस प्रकार कहते हैं कि **इयम्**=यह सरस्वती **वध्र्यश्वाय**=इन्द्रियरूप अश्वों को संयम रज्जु (वध्री) से बाँधनेवाले **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिये **रभसम्**=वेगवाले कार्यों को स्फूर्ति से करनेवाले शक्तिशाली (robust), **ऋणच्युतम्**='पितृऋण, देवऋण व ऋषिऋण' आदि ऋणों को अदा करनेवाले, **दिवोदासम्**=ज्ञान के उपासक सन्तान को **अददात्**=देती है। (२) हे सरस्वति! **यः**=जो तू **शश्वन्तम्**=धन प्राप्ति के कार्यों में निरन्तर भागदौड़वाले, **अवसम्**=अपने ही तर्पण में प्रवृत्त, **पणिम्**=वणिग् वृत्तिवाले पुरुष को **आचखाद**=खा जाती है, समाप्त कर देती है, अर्थात् तेरी आराधना से धन की इतनी ममता नहीं रह जाती और मनुष्य 'दाश्वान्' बनता है। हे सरस्वति! **ते**=तेरे **ता**=वे **दात्राणि**=दान **तविषा**=महान् हैं।

भावार्थ—सरस्वती की आराधना शक्तिशाली, ऋणों के अदा करनेवाले, ज्ञानरुचि' सन्तान

को देती है तथा हमारी स्वार्थवृत्ति को विनष्ट करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अविद्या विनाश व सुदूर लक्ष्य की प्राप्ति

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥ २॥

(१) **इयम्**=यह सरस्वती **शुष्मेभिः**=शत्रुशोषक बलों के द्वारा **बिसखाः इव**=बिसों (भिस) को खोदनेवाले के समान **गिरीणां सानु**=अविद्या पर्वतों के शिखर को **अरुजत्**=भग्न कर देती है। सरस्वती की आराधना से शत्रुशोषक बल प्राप्त होता है और अविद्या का विनाश होता है। (२) **तविषेभिः**=महान् **ऊर्मिभिः**=ज्ञान की तरंगों से **पारावतघ्नी**=(हन् गतौ) सुदूर लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाली इस **सरस्वतीम्**=विद्या की अधिष्ठात्री देवता को **अवसे**=अपने रक्षण के लिये **धीतिभिः**=सोमपान रूप उत्तम कर्मों से तथा **सुवृक्तिभिः**=दोषवर्जन की हेतुभूत स्तुतियों से **आविवासेम**=हम पूजित करते हैं। आराधित हुई-हुई यह सरस्वती हमें ब्रह्मलोक रूप लक्ष्य पर पहुँचानेवाली होती है।

भावार्थ—सरस्वती की आराधना हमारी अविद्या का विनाश करती है। वह आराधना हमें सुदूर लक्ष्य पर पहुँचानेवाली होती है। सरस्वती की आराधना के लिये आवश्यक है कि हम सोम का पान करें तथा प्रभु स्तवन में प्रवृत्त हों जिससे वासनाओं का हमारे पर आक्रमण न हो।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विष-निराकरण

सरस्वति देवनिदो नि बर्हय प्रजां विश्वस्य बृसयस्य मायिनः।
उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्यो अस्रवो वाजिनीवति॥ ३॥

(१) हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्रि देवि! तू **देवनिदः**=देवों से निन्दनीय भावों को **निबर्हय**=विनष्ट कर। **विश्वस्य**=सब हमारे अन्दर घुस आनेवाले **मायिनः**=मायावी **बृसयस्य**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के (वस् द०) **प्रजाम्**=प्रादुर्भाव को विनष्ट कर। हमारे सब निन्दनीय वासनामय भाव विनष्ट हो जायें। (२) **उत**=और हे सरस्वति! तू **क्षितिभ्यः**=इन मनुष्यों के लिये **अवनीः अविन्दः**=आसुरभावों से आक्रान्त भूमियों को फिर से प्राप्त कराता है। अन्नमय आदि कोश एक-एक भूमि हैं। सरस्वती इन सब भूमियों को पवित्र बनाकर हमें प्राप्त कराती हैं। हे **वाजिनीवति**=सब बलों को प्राप्त करानेवाली सरस्वति! तू **एभ्यः**=इन मनुष्यों के जीवन से **विषम्**=विष को **अस्रवः**=क्षरित करके दूर करती है। इनके जीवन को सब प्रकार के विषों से दूर करके अमृतमय बनाती हो।

भावार्थ—ज्ञान की आराधना हमारे से निन्दनीय वासनामय विषैले भावों को दूर करके अब अन्नमय आदि कोशों को स्वस्थ करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्ति-बुद्धि

प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्र्यवतु॥ ४॥

(१) **देवी**=हमारे जीवनों को दिव्यगुणमय बनानेवाली सरस्वती=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता

नः=हमारा **प्र अवतु**=प्रकर्षेण रक्षण करे। (२) यह सरस्वती **वाजेभिः वाजिनीवती**=बलों के द्वारा प्रशस्त बलोंवाली है। हमें प्रशस्त बलयुक्त करती है। यह **धीनां अवित्री**=हमारी बुद्धियों का रक्षण करनेवाली है।

भावार्थ—सरस्वती की आराधना हमें प्रशस्त बलवाला व सुरक्षित बुद्धिवाला करती है। वासना विनाश के द्वारा सरस्वती बल को भी प्रशस्त करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्वाध्याय-ध्यान

यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते। इन्द्रं न वृत्रतूर्ये॥ ५॥

(१) हे **देवि**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाली **सरस्वति**=विद्या की दैवते! **यः**=जो **हिते धने**=हितकर ज्ञान-धन के निमित्त **त्वा उपब्रूते**=तुझे पुकारता है, अर्थात् तेरी आराधना करता हुआ ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वही तेरा आराधक **वृत्रतूर्ये**=वासना-विनाश के संग्राम के निमित्त **न**=अब (न=संप्रति) **इन्द्रम्**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु को पुकारता है। (२) सरस्वती के आराधक के जीवन में प्रभु की आराधना भी चलती है। प्रभु की आराधना से वासनाओं का विनाश करके यह व्यक्ति सरस्वती की आराधना से हितकर ज्ञान धन को प्राप्त करता है।

भावार्थ—उस शत्रुविद्रावक प्रभु की उपासना मेरे वासनारूप शत्रुओं को दूर करे। स्वाध्याय सरस्वती द्वारा प्रभी की आराधना करता हुआ मैं हितकर ज्ञान-धन को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाज-सनि (शक्ति-धन)

त्वं देवि सरस्वत्यवा वाजेषु वाजिनि। रदा पूषेव नः सनिम्॥ ६॥

(१) हे **देवि**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनाने वाली **सरस्वती**=विद्या की अधिष्ठातृ देवि! **त्वं अव**=तू हमारा रक्षण कर। हे **वाजिनि**=प्रकृष्ट बलों से युक्त सरस्वति! तूने ही **वाजेषु**=बल प्राप्ति के निमित्त हमारा रक्षण करना है। (२) **नः**=हमें **पूषा इव**=पोषण करनेवाली देवता के समान **सनिम्**=सम्भजनीय धन को **रदा**=(प्रयच्छ) दे।

भावार्थ—सरस्वती की आराधना से हम शक्ति व धन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

घोरा हिरण्यवर्तनिः

उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्॥ ७॥

(१) **उत**=और **स्या**=वह **सरस्वती**=विद्या की अधिष्ठातृदेवता **नः**=हमारा लिये **घोरा**=शत्रुओं को विनष्ट करनेवाली व **हिरण्यवर्तनिः**=ज्योतिमय मार्गवाली हो। विद्या का आराधन करता हुआ मैं काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश कर सकूँ तथा अपने जीवन के मार्ग को ज्योतिर्मय बना पाऊँ। (२) यह **वृत्रघ्नी**=काम-वासना को विनष्ट करनेवाली सरस्वती **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **वष्टि**=(कामयते) चाहती है, अर्थात् सरस्वती का आराधक प्रभु स्तवन में प्रवृत्त होता है और प्रभु का स्तवन उसे वासनाओं का शिकार नहीं होने देता।

भावार्थ—स्वाध्याय के द्वारा हम शत्रु भयंकर बनते हैं, जीवन मार्ग को ज्योतिर्मय बना पाते हैं। कामरूप वासना को विनष्ट करने के लिये प्रभु स्तवन में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषि:—भरद्वाजो बार्हस्पत्य: ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्द:—गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

अनन्त बल

यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः। अमश्चरति रोरुवत्॥ ८॥

(१) हम उस सरस्वती की आराधना करें **यस्याः**=जिसका **अमः**=बल **अनन्तः**=अपरिमित है। **अह्रुतः**=कुटिलता से रहित है, **त्वेषः**=दीप्त है तथा **चरिष्णुः**=गतिशील है। सरस्वती की आराधना से अनन्त बल को प्राप्त करते हुए हम अकुटिल दीप्त व गतिशील जीवनवाले बनते हैं। (२) इस सरस्वती का **अर्णवः**=प्रशस्त ज्ञान जलवाला बल **रोरुवत्**=खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **चरति**=गतिवाला होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय हमें 'शक्तिशाली, अकुटिल, दीप्त, गतिशील व प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला' बनाता है।

ऋषि:—भरद्वाजो बार्हस्पत्य: ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्द:—निचृद्गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

ऋतावरी

सा नो विश्वा अति द्विषः स्वसॄरन्या ऋतावरी। अतन्नहेव सूर्यः॥ ९॥

(१) **सा**=वह गतमन्त्र में वर्णित अनन्त बलवाली सरस्वती **नः**=हमें **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अति**=पार ले जाये। तथा **अन्याः**=और भी **स्वसृः**=(स्व+सृ) आत्मतत्त्व की ओर सरण करनेवाली वृत्तियाँ हमें **ऋतावरी**=प्रशस्त ज्ञान-जल (ऋतम्=उदकम्) को प्राप्त करानेवाली हों या हमें यज्ञों में प्रवृत्त करनेवाली हों (ऋतम्=यज्ञ)। (२) **अतन्**=गति करता हुआ **सूर्यः**=सूर्य **इव**=जैसे **अहा**=दिनों का निर्माण करता है, इसी प्रकार यह सरस्वती तथा आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली वृत्तियाँ हमारे जीवनों में ऋत का निर्माण करनेवाली हों।

भावार्थ—सरस्वती का आराधन हमें जीवन में द्वेष से ऊपर उठाये। आत्मतत्त्व की ओर चलाने की वृत्ति हमारे में ऋत को उत्पन्न करे।

ऋषि:—भरद्वाजो बार्हस्पत्य: ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्द:—विराड्गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

'सप्तस्वसा' सरस्वती

उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्या भूत्॥ १०॥

(१) **उत**=और **सप्तस्वसा**=सात गायत्री आदि छन्दो रूप स्वसाओंवाली यह **सरस्वती**=वेदरूप ज्ञान की वाणी **नः**=हमारे लिये **प्रियासु प्रिया**=प्रिय वस्तुओं में प्रियतम हो। (२) यह **सुजुष्टा**=हमारे से प्रीतिपूर्वक सेवन की जाती हुई **स्तोम्या भूत्**=स्तुति के योग्य हो। हम सरस्वती का आराधन करते हुए प्रभु स्तवन की वृत्तिवाले बनें। सरस्वती हमारे लिये स्तोम्य हो, हमें स्तोम में प्रवृत्त करे।

भावार्थ—सरस्वती वेदवाणी है। यह गायत्री आदि सात छन्दोरूप सात स्वसाओंवाली है। यह सुसेवित होने पर स्तोम्य होती है, हमें प्रभु स्तवन की प्रवृत्तिवाला बनाती है।

ऋषि:—भरद्वाजो बार्हस्पत्य: ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्द:—निचृद्गायत्री ॥ स्वर:—षड्ज: ॥

तेजस्विता की प्राप्ति-निन्दनीय से बचाव

आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु॥ ११॥

(१) **सरस्वती**=यह विद्या की अधिष्ठातृदेवता **पार्थिवानि**=पृथिवी सम्बद्ध सब लोकों को, **उरु रजः**=विशाल द्युलोक को तथा **अन्तरिक्षम्**=इनके बीच में स्थित (अन्तराक्षान्तम्) अन्तरिक्षलोक

को **आपप्रुषी**=अपने तेज से आपूरित करनेवाली होती है। सरस्वती की आराधना पृथिवीरूप शरीर के सब अंगों को ठीक कर देती है, मस्तिष्क रूप द्युलोक को तो यह ज्ञानदीप्त बनाती ही है। यह हृदयान्तरिक्ष को भी निर्मल करती है। (२) यह सरस्वती **निदः**=सब निन्दनीय बातों से **पातु**=हमारा रक्षण करे। सरस्वती में स्नान हमारे जीवन को शुद्ध ही शुद्ध कर डाले। यह स्नान शरीर से रोगों को, मन से वासनाओं को तथा मस्तिष्क से कुण्ठता को दूर करनेवाला हो।

भावार्थ—विद्या की आराधना हमें शरीर, मन व मस्तिष्क में तेज से पूर्ण बनाती है। यह हमें सब निन्दनीय वस्तुओं से बचाती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'त्रिषधस्था' (सरस्वती)

त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती। वाजेवाजे हव्या भूत्॥ १२॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार यह सरस्वती **त्रिषधस्था**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूप तीनों लोकों में साथ-साथ स्थित है, तीनों 'शरीर, हृदय, व मस्तिष्क' रूप पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक को यह समानरूप से तेजःपूर्ण करती है। **सप्तधातुः**=सात गायत्री आदि छन्दों से इसका धारण किया गया है। **पञ्च जाता**=यह पाँच उत्पन्न हुए-हुए 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश' रूप भूतों को, पाँच प्राणों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच अन्तःकरणों (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय) को **वर्धयन्ती**=बढ़ानेवाली होती है। (२) यह सरस्वती **वाजे वाजे**=प्रत्येक संग्राम में **हव्या भूत्**=पुकारने योग्य होती है। सब संग्रामों में इसी के द्वारा विजय की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सरस्वती 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को उत्तम बनाती है। पञ्चभूत व पञ्च प्राण आदि सब पञ्चकों का वर्धन करती है। प्रत्येक संग्राम में पुकारने योग्य है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अपसां अपस्तमा

प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा।
रथइव बृहती विभ्वने कृतोपस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती॥ १३॥

(१) **य**=जो **सरस्वती**=विद्या की अधिष्ठात्री देवता **महिम्ना**=अपनी महिमा से **महिना**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **प्रचेकिते**=जानी जाती है। जो **आसु**=इन प्रजाओं में **द्युम्नेभिः**=ज्ञान-ज्योतियों से **अन्या**=विलक्षण ही है। **अपसां अपस्तमा**=कर्मशीलों में अत्यधिक कर्मशील है, सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करनेवाली है। (२) यह सरस्वती **रथः इव**=इस जीवनयात्रा में रथ के समान है, **बृहती**=यह वृद्धि की कारणभूत है, **विभ्वने कृता**=उस सर्वव्यापक परमात्मा की प्राप्ति के लिये निर्मित हुई है। इस सरस्वती की आराधना हमें परमात्मा को प्राप्त करानेवाली है। यह सरस्वती **चिकितुषा**=समझदार स्तोता से **उपस्तुत्या**=स्तोतव्य होती है। वस्तुतः सरस्वती की स्तुति यही है कि हम स्वाध्याय को नियमितरूप से अपनाएँ।

भावार्थ—स्वाध्याय की महिमा अद्भुत है, यह हमें ज्योतिर्मय व कर्मनिष्ठ बनाता है। हमारे में गुणों का वर्धन करता हुआ हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्वाध्याय

सर॑स्वत्य॒भि नो॑ नेषि॒ वस्यो॒ माप॑ स्फरी॒: पय॑सा॒ मा न॒ आ ध॑क्।
जु॒षस्व॑ नः स॒ख्या वे॒श्या॑ च॒ मा त्वत्क्षेत्रा॒ण्यर॑णानि गन्म॥ १४॥

(१) हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्रि देवते! **नः**=हमें **वस्यः अभिनेषि**=प्रशस्त वसुओं की ओर ले चल। **मा अप स्फरीः**=(स्फाहो वृद्धिः) हमें अप्रवृद्ध मत कर। हम तेरे द्वारा सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए ही हों। **पयसा**=अपने ज्ञान-जल के द्वारा **नः**=हमें **मा आधक्**=मत संतप्त होने दे। ज्ञान-जल हमारी वासनाग्नि को बुझानेवाला हो। (२) हे सरस्वति! तू **नः**=हमारे **सख्या**=सखि कर्मों को **च**=तथा **वेश्या**=प्रवेशनों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। हम तेरे सखा व तेरे में प्रवेश करनेवाले बनें। हम **त्वत्**=तेरे से भिन्न **अरणानि**=अरमणीय **क्षेत्राणि**=क्षेत्रों में **मा गन्म**=मत जायें। हमारा जीवन अरमणीय स्थान आदि में न व्यतीत हो। हम सब खाली समय को तेरी आराधना में व्यतीत करें।

भावार्थ—सरस्वती हमें वसुओं को प्राप्त कराये, हमारी अवृद्धि का कारण न हो। हम सदा सरस्वती की मैत्री में विचरने का यत्न करें।

अगले सूक्त में भरद्वाज बार्हस्पत्य 'अश्विनौ' का स्तवन करता है—

अथ पञ्चमोऽष्टके प्रथमोऽध्यायः

प्रथमोऽनुवाकः

[६२] द्विषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अज्ञान-विनाश व शरीर रक्षण

स्तु॒षे नरा॑ दि॒वो अ॒स्य प्र॒सन्ता॒श्विना॑ हुवे॒ जर॑माणो अ॒र्कैः।
या स॒द्य उ॒स्रा व्यु॒षि ज्मो अन्ता॒न्युयू॑षत॒: पर्यु॒रू वरां॑सि॥ १ ॥

(१) मैं **अश्विना**=प्राणापान का **स्तुषे**=स्तवन करता हूँ। जो प्राणापान **दिवः नरा**=ज्ञान को हमारे लिये प्राप्त करानेवाले हैं। ये **अस्य**=इस पृथिवीलोक रूप शरीर के **प्रसन्ता**=(श्यवन्तौ) ईश्वर हैं, इसे प्रभावयुक्त बनानेवाले हैं। इन प्राणापान को **अर्कैः**=स्तुति-साधन मन्त्रों से **जरमाणः**=स्तुति करता हुआ **हुवे**=पुकारता हूँ। (२) उन प्राणापान को पुकारता हूँ **या**=जो **उस्रा**=सब दोषों के निवारक होते हुए **सद्यः**=शीघ्र ही **व्युषि**=रात्रि के समाप्त होने पर, अज्ञान रात्रि के दूर होने पर **ज्मः**=इस पृथिवीरूप शरीर के **अन्तान्**=अन्तकों को, इस शरीर को समाप्त कर देनेवाले **उरु वरांसि**=विशाल आच्छादक अन्धकारों को **परियुयूषतः**=पृथक् करते हैं। अज्ञान ही विनाशक है। प्राणसाधना इस अज्ञान के अन्धकार को विनष्ट करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर के विनाशक अज्ञान को दूर करके शरीर को प्रभाव (सामर्थ्य) युक्त करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तेजस्विता व अव्याकुलता से आगे बढ़ना

ता यज्ञमा शुचिभिश्चक्रमाणा रथस्य भानुं रुरुचू रजोभिः।
पुरू वरांस्यमिता मिमानापो धन्वान्यति याथो अज्रान्॥ २॥

(१) **ता**=वे दोनों अश्विनौ (प्राणापान) **यज्ञं आचक्रमाणा**=जीवन-यज्ञ के अन्दर गति करते हुए **शुचिभिः**=पवित्र **रजोभिः**=ज्योतियों से (रजः ज्योतिः नि० ४।१९) **रथस्य**=इस शरीर रथ की **भानुम्**=दीप्ति को **रुरुचुः**=दीप्त करते हैं। प्राणसाधना से शरीर तेजस्वी बनता है, यहाँ ज्ञान-ज्योति चमक उठती है। (२) ये प्राणापान **पुरू**=पालक व पूरक **वरांसि**=तमोनिवारक तेजों का **अमिता**=अपरिमित रूप में **मिमाना**=निर्माण करते हुए **अपः**=जलों को, **धन्वानि**=मरुस्थलों को **अज्रान्**=मैदानों को (खेतों को) **अतियाथः**=लाँघ जाते हैं, जीवन में आनेवाली सब परिस्थितियों को पार कर जाते हैं। 'अपः, धन्वानि, अज्रान्' ये शब्द जीवन के अन्दर समय-समय पर आनेवाले 'ऊँच-नीच' (सुख-दुःख) के प्रतिपादक हैं। प्राणसाधना करनेवाला पुरुष इनमें अव्याकुल रहता हुआ आगे बढ़ता है।

भावार्थ—प्राणापान जीवन में पवित्र ज्योति को जगाते हैं। तेजस्विताओं को उत्पन्न करते हुए सब सुख-दुःखों में अव्याकुल भाव से आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शरीरगृह की समृद्धि

ता ह त्यद्वर्तिर्यदरध्रमुग्रेत्था धियं ऊहथुः शश्वदश्वैः।
मनोजवेभिरिषिरैः शयध्यै परि व्यथिर्दाशुषो मर्त्यस्य॥ ३॥

(१) **ता**=वे **उग्रा**=तेजस्वी प्राणापानो! आप **धियः**=स्तोता के अथवा ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाले के **त्यत्**=उस **यत्**=जो **अरध्रम्**=असमृद्ध **वर्तिः**=शरीरगृह है, उसको **ह**=निश्चय से **शश्वत्**=सदा **इत्था**=सचमुच **मनोजवेभिः**=मन के समान वेगवान् **इषिरैः**=गतिशील **अश्वैः**= इन्द्रियाश्वों से **ऊहथुः**=उन्नत करते हो, उसे स्वर्ग को प्राप्त कराते हो। जो शरीरगृह असमृद्ध-सा था उसे बड़ा समृद्ध बना देते हो। इस शरीर-रथ में एक-एक इन्द्रियाश्व उत्तम हो, यही इसकी समृद्धि है। ये प्राणसाधना से सब इन्द्रियाँ बड़ी उत्तम बनती हैं। (२) आपकी इस साधना से **दाशुषः**=दाश्वान्-त्यागवृत्तिवाले **मर्त्यस्य**=मनुष्य का **व्यथिः**=संतापक शत्रु **परिशयध्यै**=दीर्घ निद्रा के लिये होता है। काम-क्रोध-लोभ ही सन्तापक शत्रु हैं। प्राणसाधना से इनका विनाश होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीरस्थ सब इन्द्रियों को उत्तम बनाकर शरीरगृह को समृद्ध करती है। दाश्वान् पुरुष के शत्रुओं को समाप्त करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान व शक्ति की वृद्धि के साथ प्रभु प्राप्ति

ता नव्यसो जरमाणस्य मन्मोप भूषतो युयुजानसप्ती।
शुभं पृक्षमिषमूर्जं वहन्ता होता यक्षत्प्रत्नो अध्रुग्युवाना॥ ४॥

(१) **ता**=वे प्राणापान **नव्यसः**=नवतर, अत्यन्त स्तुतिशील, **जरमाणस्य**=स्तोता के **मन्म**=ज्ञान

को **उपभूषतः**=अलंकृत करते हैं। ये प्राणापान **युयुजानसप्ती**=युज्यमान अश्वोंवाले हैं, इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतते हैं। (२) ये प्राणापान **शुभं पृक्षम्**=शुभ सम्पर्क को, **इषम्**=प्रभु प्रेरणा को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **वहन्ता**=धारण करते हैं। इन प्राणापानों के अनुग्रह से ही वह **अध्रुक्**=किसी का भी द्रोह न करनेवाला **प्रत्नः होता**=सनातन दाता प्रभु **यक्षत्**=उपासक के लिये सब कुछ देनेवाला होता है, उपासक को प्राप्त होता है। ये प्राणापान **युवाना**=सब बुराइयों को दूर करनेवाले व सब अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमारे ज्ञान को बढ़ाती है, इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतती है। प्रभु की प्रेरणा व शक्ति को प्राप्त कराती है। इस साधना से ही प्रभु के साथ मेल होता है और सब बुराइयाँ दूर होकर अच्छाइयाँ प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति-शान्ति-ज्ञान व प्रभु स्तुति

ता वल्गू दस्रा पुरुशाकतमा प्रत्ना नव्यसा वचसा विवासे।
या शंसते स्तुवते शंभविष्ठा बभूवतुर्गृणते चित्रराती॥ ५ ॥

(१) **ता**=उन **वल्गू**=शरीर में निरन्तर गति करनेवाले (वल्गु walk), **दस्रा**=सब रोगों का उपक्षय करनेवाले, **पुरुशाकतमा**=बहुत ही शक्तिशाली, **प्रत्ना**=इन चिरन्तन प्राणापानों को **नव्यसा वचसा**=स्तुत्य-वचनों से **आविवासे**=पूजित करता हूँ। प्रभु ने सब से प्रथम इस प्राण कला को ही जन्म दिया 'स प्राणमसृजत्। प्राणात् श्रद्धां०' सब से प्रथम उत्पन्न होने से ही इसे 'प्रत्न' कहा गया है। (२) **या**=जो प्राणापान **शंसते**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले, **स्तुवते**=प्रभु स्तवन में प्रवृत्त मनुष्य के लिये **शम्भविष्ठा**=अधिक से अधिक शान्ति को देनेवाले हैं तथा **गृणते**=ज्ञान का उपदेश करनेवाले के लिये **चित्रराती**=अद्भुत दानोंवाले **बभूवतुः**=होते हैं। वस्तुतः प्राणसाधना ही ज्ञान प्राप्ति व प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला हमें बनाती है। इसे अपनाते हुए हम ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनते हैं। इस कार्य में यह प्राणसाधना ही हमें अद्भुत क्षमता प्रदान करती है।

भावार्थ—प्राणसाधाना हमारे अन्दर 'शक्ति, शान्ति, ज्ञान व प्रभु स्तुति' को उत्पन्न करती है। यह हमारे लिये अद्भुत दानोंवाली होती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तुग्र का समुद्र से पार होना

ता भुज्युं विभिरद्भ्यः समुद्रात्तुग्रस्य सूनुमूहथू रजोभिः।
अरेणुभिर्योजनेभिर्भुजन्ता पतत्रिभिरर्णसो निरुपस्थात्॥ ६ ॥

(१) **ता**=वे प्राणापान **तुग्रस्य सूनुम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले के पुत्र, खूब ही वासनाओं का संहार करनेवाले, **भुज्युम्**=अपना पालन करनेवाले को **रजोभिः विभिः**=(ज्योतिः रज उच्यते नि० ४।१९) ज्योतिवाले इन्द्रियाश्वों के द्वारा **समुद्रात् अद्भ्यः**=(कामो हि समुद्रः) वासनाजलों से **निर् ऊहथुः**=बाहर प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना द्वारा इन्द्रियों के मल क्षीण होते हैं और ये इन्द्रियाँ हमें वासना समुद्र के जलों में डूबने नहीं देती। (२) **अरेणुभिः**=रेणु या धूलि से रहित, अमलिन **योजनेभिः**=शरीर-रथ में जुते हुए **पतत्रिभिः**=इन्द्रियाश्वों के द्वारा **भुजन्ता**=पालन करते हुये प्राणापान **अर्णसः उपस्थात्**=जल की उपासना के **निः**=साधक को विषय

समुद्र से बाहिर करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा इन्द्रियाश्व निर्मल बनते हैं और ज्ञान की उपासना करते हुए हम विषय-वासनाओं के समुद्र से बाहिर हो जाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अविद्या विनाश व संयम

वि जयुषा रथ्या यातमद्रिं श्रुतं हवं वृषणा वध्रिमत्याः।
दशस्यन्ता शयवे पिप्यथुर्गामिति च्यवाना सुमतिं भुरण्यू॥ ७॥

(१) **रथ्या**=शरीर-रथ को उत्तम बनानेवाले प्राणापानो! आप **जयुषा**=विजयशील रथ के द्वारा **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **वियातम्**=(यातिर्वधकर्मा) विनष्ट करते हो। प्राणसाधना के द्वारा बुद्धि तीव्र बनती है। परिणामतः अविद्या का विनाश होता है। (२) हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **वध्रिमत्याः**=इन्द्रियों को संयमरज्जु से बाँधनेवाली की **हवं श्रुतम्**=पुकार को सुनते हो। वस्तुतः प्राणापान ही हमें इन्द्रियों के संयम में समर्थ करके शक्तिशाली बनाते हैं। (३) **दशस्यन्ता**=उत्तम शरीर, मन व बुद्धि को देते हुए आप **शयवे**=(शी=tranquility) इस शान्त स्वभाव पुरुष के लिये **गाम्**=वेदवाणी रूप गौ को **पिप्यथुः**=ज्ञानदुग्ध से आप्यायित करते हो। अर्थात् प्राणसाधना करनेवाला यह पुरुष तीव्र बुद्धि के द्वारा वेदवाणीरूप गौ से उत्कृष्ट ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करता है। (४) **इति**=इस प्रकार इस ज्ञानदुग्ध के द्वारा **सुमतिं च्यवाना**=उत्तम कल्याणी मति को प्राप्त कराते हुए आप (गमयन्तौ) **भुरण्यू**=उत्तम भरण करनेवाले होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से अविद्या विनष्ट होती है। इन्द्रियों का संयम होकर शक्ति की वृद्धि होती है। बुद्धि तीव्र होकर वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध का दोहन करती है। सुमति की प्राप्ति होकर हम अच्छी प्रकार अपना भरण कर पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राक्षसीभाव व संताप

यद्रोदसी प्रदिवो अस्ति भूमा हेळो देवानामुत मर्त्यत्रा।
तदादित्या वसवो रुद्रियासो रक्षोयुजे तपुरघं दधात॥ ८॥

(१) हे **रोदसी**=द्यावापृथिवी, **आदित्याः वसवः रुद्रियासः**=द्युलोकस्थ, पृथिवीस्थ व अन्तरिक्षस्थ देवो! **यद्**=जो **देवानाम्**=देवों का **उत**=और **मर्त्यत्रा**=मनुष्यों में होनेवाला **प्रदिवः**=सनातन **भूमा**=महान् **हेडः**=क्रोध **अस्ति**=है, **तद्**=उस **रक्षोयुजे**=राक्षसीभावों से युक्त पुरुष के लिये **तपुः**=संतापक **अघम्**=आहन्तृ शस्त्र के रूप में **दधात**=धारण करो। (२) द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक तक सम्पूर्ण संसार, त्रिलोकी के सब पदार्थ राक्षसीभावों से युक्त पुरुष को संतप्त करनेवाले हों। यह संताप उसके राक्षसीभावों के विनाश का कारण बने।

भावार्थ—राक्षसीभावों से युक्त पुरुष को यह संसार संतप्त करनेवाला हो। यह इस संताप से अनुभव लेकर राक्षसीभावों को छोड़नेवाला बने।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अश्विनी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'मित्र व वरुण' की साधना

य ईं राजानावृतुथा विदधद्रजसो मित्रो वरुणश्चिकेतत्।
गम्भीराय रक्षसे हेतिमस्य द्रोघाय चिद्वचस आनवाय ॥ ९ ॥

(१) **यः**=जो मनुष्य **ईम्**=निश्चय से **रजसः**=सब लोकों के **राजानौ**=शासक प्राणापानों को **ऋतुथा**=समयानुसार **विदधत्**=पूजित करता है, अर्थात् जो प्रातः-सायं इन प्राणापानों की साधना को करता है, उसको **मित्रः वरुणः**=मित्र और वरुण **चिकेतत्**=जानते हैं। अर्थात् यह प्राणसाधना करनेवाला पुरुष मित्र और वरुण को आराधित करता है 'मित्र' इसे सबके प्रति स्नेहवाला और 'वरुण' इसे सबके प्रति निर्द्वेषतावाला करता है। (२) हे मनुष्य! तू इस प्राणसाधना के द्वारा **गम्भीराय रक्षसे**=बहुत गम्भीर (deeprooted) राक्षसीभाव के लिये **हेतिं अस्य**=घातक अस्त्र को फेंकनेवाला हो। इन राक्षसीभावों को अपने से दूर कर और **चित्**=निश्चय से **द्रोघाय**=द्रोहात्मक **आनवाय वचसे**=मानव सम्बन्धी वचन के लिये भी घातक अस्त्र को फेंकनेवाला हो। अर्थात् द्रोहात्मक वचनों से सदा दूर रह।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा (क) 'स्नेह भाव' का उदय होता है, (ख) पाप का निवारण होता है, (ग) राक्षसी भाव विनष्ट होते हैं, (घ) हम द्रोहात्मक वचनों को नहीं बोलते।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अश्विनी ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्युमान् रथ-क्रोध विनाश

अन्तैरश्चक्रैस्तनयाय वर्तिर्द्युमता यातं नृवता रथेन।
सनुत्येन त्यजसा मर्त्यस्य वनुष्यतामपि शीर्षा ववृक्तम् ॥ १० ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **अन्तैः चक्रैः**=अन्तर्हित (छिपे हुए) चक्रों से युक्त **द्युमता**=प्रकाशमय, **नृवता**=प्रशस्त नेतृत्व करनेवाले सारथि (बुद्धि) से युक्त **रथेन**=इस शरीर-रथ से **वर्तिः यातम्**=हमारे घरों में प्राप्त होवो। ताकि **तनयाय**=हमारे घरों में उत्तम ही सन्तान हों। हम प्राणसाधना के द्वारा अपने शरीर-रथों को उत्तम बनायें। इस शरीर में 'मूलाधार चक्र से सहस्त्रार चक्र' तक आठों चक्र बड़े ठीक हों। इसमें सब ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करानेवाले हों। इसका बुद्धि रूप सारथि उत्तम हो। (२) **सनुत्येन**=अन्तर्हितरूप से वर्तमान **त्यजसा**=क्रोध से **मर्त्यस्य वनुष्यताम्**=मानव का संहार करनेवाले राक्षसों के **शीर्षा अपि**=सिरों को भी **ववृक्तम्**=छिन्न करनेवाले होवो। राक्षसीभाव क्रोध के द्वारा हमारा संहार करते हैं, प्राणसाधना इन राक्षसीभावों को विनष्ट करती है। सब राक्षसीभावों में क्रोध छिपे रूप से वर्तमान होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर-रथ को सुन्दर बनाती है, इससे सन्तान भी उत्तम होते हैं। यह प्राणसाधना क्रोध को विनष्ट करती है। क्रोध ही तो मनुष्य का संहार करता है। प्राणसाधना क्रोध का संहार करके हमारा रक्षण करती है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—अश्विनी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'परमा मध्यमा व अवमा' नियुत्

आ परमाभिरुत मध्यमाभिर्नियुद्भिर्यातमवमाभिरर्वाक्।
दृळ्हस्य चिद्गोमतो वि व्रजस्य दुरो वर्तं गृणते चित्रराती ॥ ११ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **परमाभिः नियुद्भिः**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियरूप अश्वों के साथ **अर्वाक् आयातम्**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होवो। **उत**=और **मध्यमाभिः**=हस्त पाद आदि मध्यम कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों के साथ हमें प्राप्त होवो। इसी प्रकार **अवमाभिः**=शरीर के निचले प्रदेश में स्थित मल शोधक इन्द्रियाश्वों के साथ आप हमें प्राप्त होवो। प्राणसाधना के द्वारा हमारी सब इन्द्रियाँ उत्तम बनें। (२) **दृढस्य चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **व्रजस्य**=बाड़े के, गोष्ठ के **दुरः**=द्वारों को **विवर्तम्**=आप खोल डालो। ये इन्द्रियाँ विषयों के बाड़े में निरुद्ध न हो जाएँ। हे प्राणापानो! आप ही **गृणते**=स्तुति करनेवाले के लिये **चित्रराती**=अद्भुत दानों के देनेवाले हैं। वस्तुतः प्राणसाधना ही सब अशुभों को दूर करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना सब इन्द्रियों को निर्मल बनाती है। ये निर्मल इन्द्रियाश्व शरीर-रथ में जुतकर इसे लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं।

अगले सूक्त में भी 'अश्विनौ' का ही आराधन है—

[६३] त्रिषष्टीतमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

नमस्वान् स्तोम

क्व१ त्या वल्गू पुरुहूताद्य दूतो न स्तोमोऽविदन्नमस्वान्।
आ यो अर्वाङ्नासत्या ववर्त प्रेष्ठा ह्यसथो अस्य मन्मन्॥ १॥

(१) **त्या**=वे **वल्गू**=अत्यन्त सुन्दर गतिवाले **पुरुहूता**=बहुतों से पुकारे जानेवाले ये प्राणापान **क्व**=कहाँ हैं? **अद्य**=आज यह **नमस्वान्**=नमस् (नम्रता) वाला **स्तोमः**=स्तोत्र **दूतः न अविदत्**=ज्ञान सन्देशवाहक के रूप में प्राप्त होता है। हम नम्रतापूर्वक इन प्राणों का स्तवन करते हैं। साधित प्राण बुद्धि की तीव्रता के द्वारा हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले होते हैं। (२) हम उस स्तोम को करते हैं, **यः**=जो **नासत्या**=प्राणापानों को **अर्वाङ् आववर्त**=हमारे अभिमुख प्राप्त कराता है। हे प्राणापानो! आप **अस्य**=इस स्तोता के **मन्मन्**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तोत्र के होने पर **हि**=निश्चय से **प्रेष्ठा**=इसके प्रियतम **असथः**=होते हो। प्राणों का स्तवन यही है कि हम प्राणसाधना के लाभों को समझते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—हम नम्रता से युक्त होकर प्राणापान का स्तवन करें। यह स्तवन हमें प्राणसाधना में प्रवृत्त करेगा और हम प्राणों के प्रियतम होंगे। प्राणापान हमारे जीवन में सब सुन्दरताओं को जन्म देंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'न परः न आन्तरः' रिषः (तुतुर्यात्)

अरं मे गन्तं हवनायास्मै गृणाना यथा पिबाथो अन्धः।
परि ह त्यद्वर्तिर्याथो रिषो न यत्परो नान्तरस्तुतुर्यात्॥ २॥

(१) हे अश्विनी देवो, प्राणापानो! **मे**=मेरे **अस्मै**=इस **हवनाय**=पुकार के लिये **अरंगन्तम्**=पर्याप्तरूप से प्राप्त होवो। इस प्रकार प्राप्त होवो, **यथा**=जैसे **गृणाना**=स्तुति किये जाते हुये आप **अन्धः पिबाथः**=सोम का पान करनेवाले हो। हम प्राणसाधना करते हैं, तो शरीर

में सोम की ऊर्ध्वगति होती है। यही इनका सोमपान है। (२) इस प्रकार सोम-रक्षण करते हुए आप **ह**=निश्चय से **त्यद् वर्तिः**=उस शरीरगृह को **परियाथः**=चारों ओर से प्राप्त होते हो। चारों ओर से आप इसका रक्षण करते हो। इस लिये प्राप्त होते हो **यत्**=कि **न परः रिषः**=न तो बाह्य शत्रु (रिष्+क, रेषति इति) **न आन्तरः**= और नां ही अन्दर का शत्रु **तुतुर्यात्**=इसे हिंसित करे। यह रोगों व वासनाओं का शिकार न हो जाये।

भावार्थ—प्राणसाधना सोमरक्षण के द्वारा रोगों व वासनाओं के आक्रमण से इस शरीर को बचाती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्राणसाधना द्वारा शरीर का अलंकरण

अकारि वामन्धसो वरीमन्नस्तारि बर्हिः सुप्रायणतमम्।
उत्तानहस्तो युवयुर्ववन्दा वां नक्षन्तो अद्रय आञ्जन्॥ ३॥

(१) **वाम्**=हे प्राणापानो! आपके द्वारा ही **अन्धसः**=सोम के **वरीमन्**=शरीर में विस्तार के निमित्त **अकारि**=सब कार्य किया जाता है। प्राणसाधना के द्वारा ही शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होती है। प्राणसाधना के द्वारा ही **सुप्रायणतमं (सु प्र अयनतमं)**=सब दिव्य गुणों का शरणभूत **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन **अस्मारि**=बिछाया जाता है। प्राणसाधना से ही हृदय पवित्र होता है। (२) **उत्तान हस्तः**=ऊर्ध्वीकृत अञ्जलिवाला मैं **युवयुः**=आपकी प्राप्ति की कामनावाला **ववन्द**=प्रभु का वन्दन करता हूँ। प्रभु वन्दना के द्वारा प्राण शक्ति को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होता हूँ। **वाम्**=आपको (प्राणापान को) **नक्षन्तः**=प्राप्त करते हुए **अद्रयः**=उपासक **आञ्जन्**=अपने जीवनों को अच्छाइयों से अलंकृत करते हैं (अञ्ज्=to decorate)।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है, हृदय सब दिव्य गुणों का आधार बनता है, जीवन उत्तमताओं से अलंकृत हो उठता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

होता, गूर्तमनाः, उराणः

ऊर्ध्वो वामग्निरध्वरेष्वस्थात्प्र रातिरेति जूर्णिनी घृताची।
प्र होता गूर्तमना उराणोऽयुक्त यो नासत्या हवीमन्॥ ४॥

(१) **अग्निः**=प्रगतिशील मनुष्य **वाम्**=आपके द्वारा **अध्वरेषु**=यज्ञों में **ऊर्ध्वः अस्थात्**=ऊपर स्थित होता है, अर्थात् प्राणसाधना करता हुआ यह अधिकाधिक यज्ञशील बनता है। इस अग्नि को **रातिः**=दानशीलता **प्र एति**=प्रकर्षेण प्राप्त होती है। यह दानशीलता **जूर्णिनी**=(प्रगामिनी) प्रकृष्ट गमनवाली तथा **घृताची**=ज्ञानदीप्ति से युक्त होती है। दानशील पुरुष सदा उत्तम कर्मों की ओर झुकाववाला तथा ज्ञान की दीप्तिवाला बनता है। (२) **यः**=जो **हवीमन्**=उस प्रभु को पुकारने में, प्रभु की आराधना में **नासत्या**=अश्विनी देवों को **प्र अयुक्त**=प्रकर्षेण युक्त करता है, अर्थात् प्रभु के आराधन के साथ प्राणायाम को करता है, वह **होता**=सदा यज्ञशील होता है। **गूर्तमनाः**=सदा उद्यत मनवाला, उत्साहयुक्त मनवाला होता है तथा **उराणः**=(उरु कुर्वाणः) हृदय को बड़ा विशाल बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना करनेवाला यज्ञशील होता है। यह दानशील बनता हुआ प्रकृष्ट गतिवाला

व ज्ञानदीप्त बनता है। सदा उत्साहयुक्त मनवाला व विशाल हृदयवाला होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पुरुभुजा-नरा-नृतू

अधि श्रिये दुहिता सूर्यस्य रथं तस्थौ पुरुभुजा शतोतिम्।
प्र मायाभिर्मायिना भूतमत्र नरा नृतू जनिमन्यज्ञियानाम्॥ ५॥

(१) हे **पुरुभुजा**=खूब ही पालन करनेवाले प्राणापानो! आपके इस **शतोतिम्**=शतवर्ष तक सुरक्षित रहनेवाले **रथम्**=शरीर-रथ को **सूर्यस्य दुहिता**=सूर्य की पुत्री, ज्ञानसूर्य को हमारे में पूरण करनेवाली यह वेदवाणी **श्रिये**=शोभा के लिये **अधितस्थौ**=अधिष्ठित करती है। प्राणसाधना से शरीर सौ वर्ष तक ठीक चलता हैं और यह ज्ञान के प्रकाश से युक्त होता है। (२) हे प्राणापानो! आप **अत्र**=इस शरीर-रथ में **मायाभिः**=प्रज्ञाओं से **मायिना**=प्रकृष्ट प्रज्ञानवाले **भूतम्**=होइये। हे **नृतू**=इस जीवन नृत्य को करानेवाले प्राणापानो! आप **यज्ञियानाम्**=सब संगतिकरण योग्य दिव्य भावनाओं के **जनिमन्**=प्रादुर्भाव के निमित्त **नरा**=हमें आगे ले चलनेवाले होवो।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर (क) शरीर सौ वर्ष तक सुरक्षित रहता है, (ख) यह वेदवाणी का अधिष्ठान बनता है, (ग) बुद्धि तीव्र होती है, (घ) दिव्य भावों का विकास होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्या-श्री-सुष्टुता वाणी

युवं श्रीभिर्दर्शताभिराभिः शुभे पुष्टिमूहथुः सूर्यायाः।
प्र वां वयो वपुषेऽनु पप्तन्नक्षद्वाणी सुष्टुता धिष्ण्या वाम्॥ ६॥

(१) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **आभिः**=इन **दर्शताभिः**=दर्शनीय **श्रीभिः**=श्रियों से, शोभाओं से **शुभे**=शोभा को प्राप्त कराने के लिये **सूर्यायाः**=सूर्या की **पुष्टिम्**=पुष्टि को **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हो। 'सूर्या' वेदवाणी है, ज्ञान की वाणी। प्राणसाधना इस सूर्या को तो हमारे में पुष्ट करती ही है, इसी प्रकार यह साधना शरीर को भी तेजस्वी बनाती है। इस साधना के द्वारा शरीर दर्शनीय श्री से सम्पन्न होता है। (२) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके **वयः**=ये इन्द्रियाश्व **वपुषे**=शोभा के लिये **प्र**=प्रकर्षेण **अनुपप्तन्**=अनुकूल गतिवाले होते हैं। प्राणसाधना के होने पर इन्द्रियाश्व अनुकूल गतिवाले है, होते हैं और इस प्रकार शोभा की वृद्धि के लिये होते हैं। हे **धिष्ण्या**=धारण करने में उत्तम प्राणापानो! **वाम्**=आपको **सुष्टुता**=उत्तम स्तुतिवाली **वाणी**=वाणी **नक्षत्**=प्राप्त होती है प्राणसाधना के होने पर मनुष्य प्रभु स्तवन की ओर झुकता है। यह साधक कभी निन्दात्मक वाणी को नहीं बोलता।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) ज्ञान की वाणी का पोषण प्राप्त होता है, (ख) शरीर दर्शनीय श्री से सम्पन्न होता है, (ग) इन्द्रियाश्व सदा अनुकूल गतिवाले होते हैं, (घ) मुख से स्तुति वाणी ही उच्चरित होती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'वहिष्ठ' इन्द्रियाश्व व 'मनोजवा' शरीर-रथ

आ वां वयोऽश्वासो वहिष्ठा अभि प्रयो नासत्या वहन्तु।
प्र वां रथो मनोजवा असर्जीषः पृक्ष इषिधो अनु पूर्वीः॥ ७॥

(१) हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपके ये **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व **वयः**=गतिशील होते हैं, **वहिष्ठाः**=लक्ष्य की ओर उत्तमता से ले जानेवाले होते हैं। ये इन्द्रियाश्व **प्रयः अभि**=सोम लक्षण अन्न की ओर **आवहन्तु**=प्राप्त कराते हैं। अर्थात् प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व क्रियाशील लक्ष्य की ओर ले जानेवाले व शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले होते हैं। (२) **वाम्**=आपका **रथः**=यह शरीर-रथ **मनोजवाः**=मन के समान वेगवाला **प्र असर्जि**=निर्मित होता है। यह शरीर-रथ **इषिधः**=एषणीय (चाहने योग्य) **पृक्षः**=संपर्चनीय **पूर्वीः**=पूरण करनेवाले **इषः अनु**=अन्नों के अनुसार (असर्जि=) सृष्ट होता है। प्राणसाधना करनेवाला उत्तम ही अन्नों का सेवन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) इन्द्रियाश्व उत्तम क्रियावाले व लक्ष्य की ओर गतिवाले होते हैं। (ख) यह साधना शरीर-रथ को मन के समान वेगवाला बनाती है। (ग) यह साधना उत्तम अन्नों की रुचि को जन्म देती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'स्तुत, स्तुति, रस'

पुरु हि वां पुरुभुजा देष्णं धेनुं न इषं पिन्वतमसंक्राम्।
स्तुतश्च वां माध्वी सुष्टुतिश्च रसाश्च ये वामनु रातिमग्मन्॥ ८॥

(१) हे **पुरुभुजा**=खूब ही पालन करनेवाले, प्राणापानो! **वाम्**=आपका **देष्णम्**=देय धन **हि**=निश्चय से **पुरु**=पालन व पूरण करनेवाला है। आप **नः**=हमारे लिये **इषम्**=एषणीय **धेनुम्**=इस वेदवाणी रूप धेनु को **असक्राम्**=असंक्रमणी को **पिन्वतम्**=(प्रयच्छतम्) प्राप्त कराते हो। 'असंक्रमणी' अर्थात् दूर न जानेवाली। प्राणसाधना के होने पर यह ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदधेनु हमारे से दूर नहीं होती। (२) **वाम्**=आपके द्वारा **स्तुतः च**=स्तुति किया गया वह प्रभु **माध्वी सुष्टुतिः च**=और माधुर्य से पूर्ण उत्तम स्तुति, **च**=और **ये रसाः**=जो आनन्द हैं, वे सब **वाम्**=आपके **रातिं अनु अग्मन्**=दान के अनुसार प्राप्त होते हैं। अर्थात् जितनी-जितनी प्राणसाधना की पूर्णता होती है उतना-उतना हम 'प्रभु, उत्तम स्तुति व आनन्द' को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से पालक धन व ज्ञानदुग्धदात्री वेदधेनु प्राप्त होती है। यह साधना हमें 'प्रभु के, स्तुति के व आनन्द' के समीप ले जाती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सुमीढ व पेरुक' की उत्तम इन्द्रियाँ व बुद्धि

उत म ऋज्रे पुरयस्य रघ्वी सुमीळ्हे शतं पेरुके च पक्वा।
शाण्डो दाद्धिरणिनः स्मद्दिष्टीन्दश वशासो अभिषाच ऋष्वान्॥ ९॥

(१) **उत**=और **पुरयस्य**=(पुर यम्) शरीर पुरी का संयम करनेवाले **मे**=मेरे लिये **ऋज्रे**=ऋजुगमनवाली **रघ्वी**=लघुगमनवाली इन्द्रियाँ (प्राप्त होती) हैं। संयमी पुरुष की

इन्द्रियाँ सरल मार्ग से शीघ्र गतिवाली होती हैं। **सुमीढे**=अच्छी प्रकार शक्ति का सेचन करनेवाले में, सोम को शरीर में ही सिक्त करनेवाले में **शतम्**=सौ वर्ष पर्यन्त ये वडवायें निवास करती हैं। सोमरक्षण के होने पर इन्द्रियों की शक्ति अन्त तक ठीक बनी रहती है। **च**=और **पेरुके**=अपना पालन व पूरण करनेवाले में **पक्का**=बुद्धि पूर्ण परिपाकवाली होती है। (२) **शाण्डः**=(शं ददाति) शान्ति को देनेवाला का प्रभु **दश**=दस इन्द्रियाश्वों को **दात्**=देता है। जो इन्द्रियाश्व **हिरणिनः**=(हिरण्यवतः) ज्योतिवाले हैं, **स्मद् दिष्टीन्**=प्रशस्त दर्शनवाले हैं, **वशासः**=वश में हैं, अनुगुण हैं, **अभिषाचः**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं, **ऋष्वान्**=दर्शनीय व महान् हैं। प्राणसाधना के होने पर इन्द्रियाश्व उत्तम बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा संयम के होने पर इन्द्रियाश्व सरल गतिवाले व सौ वर्ष तक चलनेवाले होते हैं। बुद्धि परिपक्व होती है। दसों की दसों इन्द्रियाँ उत्तम बनती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आसुर वृत्ति विलय

सं वां शता नासत्या सहस्राश्वानां पुरुपन्था गिरे दात्।
भरद्वाजाय वीर नू गिरे दाद्धता रक्षांसि पुरुदंससा स्युः ॥ १० ॥

(१) हे **नासत्या**=हमारे जीवनों से असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **पुरुपन्थाः**=पालक व पूरक मार्गवाले प्रभु, जिसके मार्ग पर चलने से सबका पालन व पूरण होता है वेद प्रभु, **वां गिरे**=आपके स्तोता के लिये **अश्वानाम्**=इन्द्रियाश्वों के **शता**=शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाले **सहस्रा**=आनन्दमय बलों को **दात्**=देते हैं। (२) **वीरा**=(वीरौ) हे शत्रुओं को कम्पित करनेवाले प्राणापानो! **नु**=अब **भरद्वाजाय**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले **गिरे**=स्तोता के लिये वे प्रभु शक्तिशाली इन्द्रियों को **दात्**=देते हैं। हे **पुरुदंससा**=पालक व पूरक कर्मोंवाले प्राणापानो! आपकी कृपा से **रक्षांसि**=हमारे सब राक्षसीभाव **हता स्युः**=(हतानि) विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—प्राणसाधना इन्द्रियों को शक्तिशाली बनाती है। इससे हमारी सब आसुर वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**अश्विनी** ॥ छन्दः—**आसुरीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वरिमन् सुम्ने

आ वां सुम्ने वरिमन्त्सूरिभिः ष्याम् ॥ ११ ॥

(१) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके **वरिमन् सुम्ने**=विस्तृत सुख को देनेवाले धन में **आ सूरिभिः**=समन्तात् विद्वानों के साथ **स्याम्**=मैं होऊँ। (२) प्राणसाधना करता हुआ मैं विस्तृत ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बनूँ और उस ऐश्वर्य को विद्वानों के साथ विभक्त करता हुआ मैं भोगूँ और सुखी जीवनवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें विशाल सुख वह ऐश्वर्य को प्राप्त कराती है। इस ऐश्वर्य को प्राणसाधक विद्वानों के साथ विभक्त करता हुआ भोगता है और सुखी जीवनवाला होता है।

यह प्राणसाधना सामान्यतः उषाकाल में होती है। सो अगला सूक्त 'उषा' देवता का है—

[६४] चतुःषष्टीतमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'रोचमाना-वस्वी-दक्षिणा' उषा

उदु श्रिय उषसो रोचमाना अस्थुरपां नोर्मयो रुशन्तः।
कृणोति विश्वा सुपथा सुगान्यभूदु वस्वी दक्षिणा मघोनी ॥ १ ॥

(१) **रोचमानाः**=दीप्त होती हुई, **रुशन्तः**=शुक्लवर्णा **उषसः**=उषाएँ **श्रिये**=संसार की शोभा के लिये **उ**=निश्चय से इस प्रकार **उद् अस्थुः**=उत्थित होती हैं, **न**=जैसे कि **अपां ऊर्मयः**=जलों की तरंगें उठा करती हैं। उषा आती है, सारा संसार दीप्त हो उठता है। (२) यह उषा **विश्वा**=सब स्थानों को, **सुपथा**=उत्तम मार्गों को **सुगानि**=सुखेन (आराम से) गमनीय **कृणोति**=करती है। उषा के प्रकाश में सर्वत्र आना-जाना आसान हो जाता है। **उ**=और यह **मघोनी**=प्रकाश के ऐश्वर्यवाली उषा **वस्वी**=प्रशस्त निवास को देनेवाली व **दक्षिणा**=वृद्धि की कारण **अभूत्**=होती है। इस काल में वायुमण्डल में ओजोन गैस की अधिकता स्वास्थ्य के लिए अतिशयेन हितकर होती है।

भावार्थ—उषा आती है और सारा संसार शोभायमान हो उठता है। सब मार्ग सुगम्य हो जाते हैं। यह उषा उत्तम निवास को देनेवाली व स्वास्थ्य को बढ़ानेवाली होती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रोचमाना-महोभिः शुम्भमाना

भद्रा ददृक्ष उर्विया वि भास्युत्ते शोचिर्भानवो द्यामपप्तन्।
आविर्वक्षः कृणुषे शुम्भमानोषो देवि रोचमाना महोभिः ॥ २ ॥

(१) हे उषे! तू **भद्रा**=कल्याण करनेवाली **ददृक्षे**=दिखती है। **उर्विया विभासि**=खूब विस्तीर्ण हुई-हुई चमकती है। **ते**=तेरी **शोचिः**=दीप्ति व **भानवः**=दीप्यमान रश्मियाँ **द्यां उद् अपप्तन्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में गतिवाली होती हैं। (२) हे **उषः देवि**=प्रकाशमति उषे! तू **महोभिः रोचमाना**=तेजों से दीप्त होती हुई व **शुम्भमाना**=शोभा को प्राप्त होती हुई **वक्षः**=अपने दीप्त रूप को **आविः कृणुषे**=प्रकट करती है।

भावार्थ—उषा कल्याणमयी विस्तृत दीप्त व शोभमान होती हुई अपने दिव्य रूप को प्रकट करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तमः बाधन

वहन्ति सीमरुणासो रुशन्तो गावः सुभगामुर्विया प्रथानाम्।
अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून्बाधते तमो अजिरो न वोळ्हा ॥ ३ ॥

(१) **अरुणासः**=अव्यक्त लालिमावाली **रुशन्तः**=चमकती हुई **गावः**=किरणें उषा को **सीम्**=निश्चय से **वहन्ति**=प्राप्त कराती हैं। उस उषा को, जो **सुभागम्**=सौभाग्य सम्पन्न है तथा **उर्विया**=खूब ही **प्रथानाम्**=विस्तृत हो रही है। (२) **शूरः अस्ता**=वीर अस्त्रों को फेंकने में कुशल पुरुष **इव**=जिस प्रकार **शत्रून्**=शत्रुओं को **अप ईजते**=दूर भगाता है और **न**=जिस प्रकार **अजिरः**=गतिशील **वोढा**=अश्व शत्रुओं को दूर भगाता है, इसी प्रकार यह उषा **तमः बाधते**=

अन्धकार को बाधित करती है।

भावार्थ—उषा अपनी अरुण देदीप्यमान किरणों के साथ आती है और अन्धकार को दूर भगा देती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रकाश व ज्ञानैश्वर्य

सुगोत ते सुपथा पर्वतेष्ववाते अपस्तरसि स्वभानो।
सा न आ वह पृथुयामन्नृष्वे रयिं दिवो दुहितरिषयध्यै॥ ४॥

(१) हे **स्वभानो**=आत्म-दीप्तिवाली उषे! **पर्वतेषु**=पर्वत आदि दुर्गम स्थानों में **उत**=और **अवाते**=(वा गतौ) गमन साधन रहित, मार्ग रहित प्रदेशों में भी **ते**=तेरे **सुपथा**=उत्तम मार्ग **सुगा**=सुखेन गन्तव्य होते हैं। उषा के होने पर दुर्गम स्थानों में जाना भी आसान हो जाता है। हे उषे! तू मार्गों को सुखेन गन्तव्य करती हुई **अपः तरसि**=सब कर्मों को तैर जाती है, सब कर्मों में सफलता का कारण बनती है। (२) हे **ऋष्वे**=दर्शनीय, **दिवः दुहितः**=प्रकाश का पूरण करनेवाली उषे! **सा**=वह तू **नः**=हमारे लिये **पृथुयामन्**=इस विशाल जीवन मार्ग में **इषयध्यै**=(इष्=प्रेरणा) प्रभु प्रेरणा को सुन सकने के लिये **रयिं आवह**=ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाली हो। हम ज्ञान के मार्ग पर चलते हुए प्रभु प्रेरणा को सुननेवाले बनें। इस प्रभु प्रेरणा के अनुसार इस विशाल जीवनयात्रा को पूर्ण करनेवाले हों।

भावार्थ—उषा के प्रकाश में दुर्गम मार्ग रहित प्रदेश भी सुखेन गन्तव्य हो जाते हैं। मार्गों से चलते हुए हम अपने कर्मों को सिद्ध कर पाते हैं। यह उषा हमें ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त कराये और प्रभु प्रेरणा को सुनने के योग्य बनाये।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मंहना दर्शता' उषा

सा वह योक्षभिरवातोषो वरं वहसि जोषमनु।
त्वं दिवो दुहितर्या ह देवी पूर्वहूतौ मंहना दर्शता भूः॥ ५॥

(१) हे **उषः**=उषा देवि! **सा**=वह तू **आवह**=हमें प्राप्त हो, **या**=जो तू **उक्षभिः अवाता**=इन्द्रियाश्वों से गतिवाली न होती हुई, अर्थात् स्थिर इन्द्रियोंवाली होती हुई **जोषं अनु**=प्रीतिपूर्वक प्रभु की उपासना के अनुसार **वरं वहसि**=उत्कृष्ट धन को प्राप्त कराती है। हम प्रातः उठें। उठते ही हमारे ये इन्द्रिय रूप बैल (व अश्व) इधर-उधर भटकने न लगें। स्थिर इन्द्रियोंवाले होकर हम प्रभु उपासना में प्रवृत्त हों। यही उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करने का मार्ग है। (२) हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का पूरण करनेवाली उषे! **या त्वम्**=जो तू **ह**=निश्चय से **पूर्वहूतौ**=प्रातःकालीन प्रार्थना में **देवी**=प्रकाशमयी होती है, वह तू **मंहना**=उत्कृष्ट ऐश्वर्यों को देनेवाली व **दर्शता**=दर्शनीय **भूः**=होती है। हम प्रातः उठकर प्रभु का पूजन करें। यही जीवन को ऐश्वर्यमय व सुन्दर बनाने का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्रातःकाल उठते ही इन्द्रियों को विषय प्रवृत्त होने से रोकें। प्रभु-पूजन करते हुए उत्कृष्ट ऐश्वर्यों को प्राप्त करें व सुन्दर जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीविकोपार्जन, उपासना व यज्ञ

उत्ते वयश्चिद्वसतेरपप्तन्नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ ।
अमा सते वहसि भूरि वाममुषो देवि दाशुषे मर्त्याय ॥ ६ ॥

(१) हे **उषः**=उषे! **ते व्युष्टौ**=तेरे उदित होने पर, तेरे द्वारा अन्धकार के दूर किये जाने पर **वयः चित्**=पक्षी भी **वसतेः**=अपने निवास-स्थानभूत घोंसलों से **उद् अपप्तन्**=उठ खड़े होते हैं। **च**=और **ये नरः**=जो मनुष्य **पितु भाजः**=अन्न का सेवन करनेवाले होते हैं, वे भी जीविकोपार्जन के लिये घरों से निकल पड़ते हैं। (२) हे **देवि**=प्रकाशमयी उषे! तू **अमा सते**=प्रभु के समीप होनेवाले उपासक के लिये तथा **दाशुषे मर्त्याय**=हवि के देनेवाले मनुष्य के लिये **भूरि वामम्**=पालक व पोषक सुन्दर धन को **वहसि**=प्राप्त कराती है। ('भूरि'='भृ' धारण पोषणयोः)। वस्तुतः प्रातःकाल का सर्वप्रथम कार्य 'प्रभु की उपासना व यज्ञ' ही है।

भावार्थ—उषा होते ही पशु, पक्षी व सामान्य मनुष्य जीविकोपार्जन के लिये निकल पड़ते हैं। चाहिए यह कि हम सर्वप्रथम यज्ञ व उपासना में प्रवृत्त हों।

अगले सूक्त में भी उषा का ही वर्णन—

[६५] पञ्चषष्टीतमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रकाश

एषा स्या नो दुहिता दिवोजाः क्षितीरुच्छन्ती मानुषीरजीगः ।
या भानुना रुशता राम्यास्वज्ञायि तिरस्तमसश्चिदक्तून् ॥ १ ॥

(१) **एषा**=यह **स्या**=वह **दिवोजाः**=आकाश में प्रादुर्भूत होनेवाली तथा (दिवः) **दुहिता**=प्रकाश का सर्वत्र पूरण करनेवाली उषा **उच्छन्ती**=अन्धकारों को दूर करती हुई **मानुषीः क्षितीः**=मानव प्रजाओं के प्रति **अजीगः**=(उद् गिरति प्रकाशयति इति यावत्) प्रकाश को करती है। सब मानव प्रजाओं को प्रबुद्ध करके कार्यव्यापृत करती है। (२) **या**=जो उषा **रुशता भानुना**=चमकते हुए प्रकाश से **राम्यासु**=रात्रियों में होनेवाले **अक्तून्**=नक्षत्र प्रकाशों को तथा **तमसः चित्**=सब अन्धकारों को भी **तिरः**=तिरस्कृत करती हुई **अज्ञायि**=जानी जाती है।

भावार्थ—उषा अपने प्रकाश से मानव प्रजाओं को प्रबुद्ध करती है। यह रात्रि के नक्षत्र-प्रकाशों व अन्धकारों को तिरस्कृत करती हुई उदित होती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञशीलता

वि तद्ययुररुणयुग्भिरश्वैश्चित्रं भान्त्युषसश्चन्द्ररथाः ।
अग्रं यज्ञस्य बृहतो नयन्तीर्वि ता बाधन्ते तम ऊर्म्यायाः ॥ २ ॥

(१) **चन्द्ररथाः**=कान्तियुक्त रथवाली **उषसः**=उषाएँ **अरुणयुग्भिः**=तेजस्विता से युक्त **अश्वैः**=किरणाश्वों के साथ **चित्रं भान्ति**=अद्भुत ही शोभावाली होती हैं। **तत्**=(तदा) उस प्रातःकाल में ये **वियुः**=विशिष्ट रूप से विस्तृत होती हैं। (२) **बृहतः यज्ञस्य**=वृद्धि के

कारणभूत यज्ञों के **अग्रं नयन्तीः**=अग्रभाग में हमें प्राप्त कराती हुई, अर्थात् यज्ञशीलता में सर्वोपरि करती हुई **ताः**=वे उषायें **ऊर्म्यायाः**=रात्रि के **तमः**=अन्धकार को **विबाधन्ते**=विशेषरूप से बाधित करती है।

भावार्थ—उषाएँ अपने अद्भुत प्रकाश से शोभती हैं, हमें यज्ञों के लिये प्रेरित करती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रवः-वाजं-इषं-ऊर्जम्

श्रवो वाजमिषमूर्जं वहन्तीर्नि दाशुष उषसो मर्त्याय।
मघोनीर्वीरवत्पत्यमाना अवो धात विधते रत्नमद्य ॥ ३ ॥

(१) **मघोनीः**=ऐश्वर्यवाली **उषसः**=उषाएँ **दाशुषे मर्त्याय**=दाश्वान्, अग्नि के लिये हवि को देनेवाले मनुष्य के लिये **श्रवः**=ज्ञान को, **वाजम्**=शक्ति को, **इषं ऊर्जम्**=प्रेरणा व प्राणशक्ति को **वहन्तीः**=प्राप्त कराती हुई, **पत्यमानाः**=निरन्तर गति करती हुई, **अद्य**=आज **विधते**=परिचरण करते हुए उपासक के लिये **वीरवत् अवः**=वीरता से युक्त अन्न को तथा **रत्नम्**=रमणीय धन को **निधात**=निश्चय से धारण करो। (२) उषा के आने पर जो यज्ञशील पुरुष होते हैं, उनके लिये ये उषा काल सब रमणीय वस्तुओं को धारित करती हैं। उषा की उपासना यही है कि हम उषा में प्रबुद्ध होकर प्रभु का परिचरण करें।

भावार्थ—उषाएँ जागकर हम प्रभु का उपासन करें तथा यज्ञों में प्रवृत्त हों। ऐसा करने पर हमारा जीवन ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न होगा। हमें अन्न-धन की कमी न रहेगी।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विधते, वीराय दाशुषे, विप्राय जरते, मावते

इदा हि वो विधते रत्नमस्तीदा वीराय दाशुष उषासः।
इदा विप्राय जरते यदुक्था नि ष्म मावते वहथा पुरा चित् ॥ ४ ॥

(१) हे **उषासः**=उषाओ! **इदा**=(इदानीम्) इस समय **विधते**=पूजा करनेवाले के लिये **हि**=निश्चय से **वः**=आपका **रत्नम्**=रमणीय धन **अस्ति**=है। पूजा करनेवाले के लिये आप रमणीय धनों को प्राप्त कराती हो। **इदा**=इस समय **वीराय**=कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगानेवाले **दाशुषे**=दाश्वान्-त्याग वृत्तिवाले पुरुष के लिये, यज्ञशील पुरुष के लिये आपका रमणीय धन है। (२) **इदा**=इस समय यह आपका धन उस **जरते**=स्तुति करनेवाले **विप्राय**=ज्ञानी पुरुष के लिये है, **यद् उक्था**=जिसकी वाणी में स्तोत्रों का निवास है। **मावते**=(मा=लक्ष्मीः) प्रशस्त लक्ष्मी सम्पन्न इस पुरुष के लिये **पुरा चित्**=पहले ही **निवहथ स्म**=रमणीय धनों को प्राप्त कराती ही हो।

भावार्थ—उषा काल प्रभु के उपासक के लिये, वीर यज्ञशील पुरुष के लिये, ज्ञानी स्तोता के लिये तथा प्रशस्त लक्ष्मीवाले के लिये रमणीय धनों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उषा जागरण व ज्ञान वाणियों का अध्ययन

इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा गवामङ्गिरसो गृणन्ति।
व्यर्केण बिभिदुर्ब्रह्मणा च सत्या नृणामभवद्देवहूतिः ॥ ५ ॥

(१) हे **अद्रिसानो**=आदृत वस्तुओं में शिखर भूत **उषः**=उषाकाल! **ते**=तेरे अनुग्रह से **हि**=ही **इदा**=अब **अंगिरसः**=ये अंग-प्रत्यंग में रसवाले, लोच लचक से युक्त शरीरवाले, उपासक **गवां गोत्रा**=वेदवाणियों के समूह को **गृणन्ति**=उच्चरित करते हैं जीवन में उत्कर्ष के लिये सब से महत्त्वपूर्ण चीज यही है कि मनुष्य उषाकाल में जाग जायें। (२) **च**=और **अर्केण**=उपासना के साधनभूत **ब्रह्मणा**=इन मन्त्रों से **विबिभिदुः**=सब अन्धकारों का विदारण करते हैं। इन **नृणाम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों की **देवहूतिः**=देव की पुकार व आराधना **सत्या अभवत्**=सत्य होती है। प्रभु की सच्ची आराधना यही पुरुष करता है, जो उषा में जागकर ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करता है और इन वाणियों के द्वारा अज्ञान के अन्धकार को दूर करता है।

भावार्थ—'उषा जागरण' उन्नति का प्रथम व सर्वश्रेष्ठ समय है। उषा में जागकर हम ज्ञान की वाणियों का, वेदवाणियों का उच्चारण करें। इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुवीरं रयिं, उरु गायं श्रवः

उच्छा दिवो दुहितः प्रत्नवन्नो भरद्वाजवद्विधते मघोनि।
सुवीरं रयिं गृणते रिरीह्युरुगायमधि धेहि श्रवो नः ॥ ६ ॥

(१) हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का पूरण करनेवाली उषे! **नः**=हमारे लिये **प्रत्नवत्**=सदा की तरह **उच्छा**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो। हे **मघोनि**=ऐश्वर्यशालिनि उषे! **भरद्वाजवत्**=शक्ति को भरण करनेवाली की तरह **विधते**=उपासक के लिये उदित हो। अर्थात् हमारे में शक्ति का भरण करनेवाली हो। (२) **गृणते**=स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले के लिये **सुवीरम्**=उत्तम वीरतावाली **रयिम्**=सम्पत्ति को **रिरीहि**=प्राप्त करा। अथवा उत्तम वीर सन्तानोंवाले धन को प्राप्त करा। **नः**=हमारे लिये **उरुगायम्**=बहुत ही गाने योग्य, अर्थात् यशस्वी **श्रवः**=ज्ञान को **अधिधेहि**=आधिक्येन धारण कर।

भावार्थ—उषा हमारे लिये उदित होकर 'शक्ति, वीरता, ऐश्वर्य व ज्ञान' को देनेवाली हो। हमारी सन्तानें सदा 'सुवीर' हों।

उषा में जागकर हमें प्रभु-पूजन के साथ प्राणसाधना में प्रवृत्त होना चाहिए। सो अगले सूक्त में 'मरुतः' (प्राणों) का ही वर्णन है—

[६६] षट्षष्टीतमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मरुतों के तीन रूप (प्राण, सैनिक, वृष्टि की वायुवें)

वपुर्नु तच्चिकितुषे चिदस्तु समानं नाम धेनु पत्यमानम्।
मर्तेष्वन्यद्दोहसे पीपाय सकृच्छुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः ॥ १ ॥

(१) शरीर में 'मरुत्' 'प्राण' हैं। आधिदैविक जगत् में ये 'वर्षा को लानेवाली वायुवें' हैं। आधिभौतिक जगत् में ये 'राष्ट्र के रक्षक सैनिक' हैं। हे प्राणो! **नु**=अब **चिकितुषे**=ज्ञानी पुरुष के लिये आपका **तत्**=वह **वपुः**=रूप **चित्**=निश्चय से हो जो **समानम्**=(सं आनयति)

जीवन में प्राणशक्ति का संचार करनेवाला है, **नाम**=शत्रुओं को नमानेवाला है, **धेनु**=शत्रु-विनाश के द्वारा प्रीणित करनेवाला है **पत्यमानम्**=निरन्तर गतिवाला है। इन प्राणों के द्वारा हम क्रियाशील बने रह पाते हैं। (२) आधिभौतिक क्षेत्र में **मर्तेषु**=रणांगण में शरीरों का त्याग करनेवाले पुरुषों में **दोहसे**=इष्ट शक्तियों के पूरण के लिये **अन्यत्**=मरुतों का विलक्षण बल **पीपाय**=वृद्धि को प्राप्त होता है। (३) आधिदैविक क्षेत्र में मरुतों (वर्षा की वायुवों) की कृपा से ही **पृश्निः**=अन्तरिक्ष **सकृत्**=वर्ष में एक बार, अर्थात् वर्षा ऋतु में **शुक्रं ऊधः**=शुक्लवर्ण जल को **दुदुहे**=पृथ्वी पर क्षरित करता है।

भावार्थ—प्राण हमें सबल बनाते हैं। राष्ट्र में मरुत् (=सैनिक) विलक्षण बल को प्रकट करते हैं। आधिदैविक जगत् में वृष्टि की वायुवें शुक्लवर्ण जल का दोहन करती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नृम्ण-पौंस्य

ये अ॒ग्नयो॒ न शोशु॑च॒न्निधा॒ना द्विर्यत्त्रिर्म॒रुतो॑ वावृ॒धन्त॑।
अ॒रे॒णवो॑ हिर॒ण्यया॑स एषां सा॒कं नृ॒म्णैः पौंस्ये॑भिश्च भूवन्॥ २ ॥

ये=जो भी साधक **यत्**=जब **द्विः**=दो बार (प्रातः सायं), अथवा **त्रिः**=तीन बार (न्यूनातिन्यून तीन वार) **मरुतः**=प्राणों का **वावृधन्त**=वर्धन करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं तो **इधानाः**=दीप्त की जाती हुई **अग्नयः न**=अग्नियों के समान **शोशुचन्**=दीप्त हो उठते हैं, चमक उठते हैं। (२) **एषाम्**=इन साधकों के ये शरीर-रथ **अरेणवः**=रेणु व धूलि से रहित होते हैं, अर्थात् इनमें रोगों व वासनाओं की मलिनता नहीं होती। **हिरण्ययासः**=ये रथ ज्ञान-ज्योति से स्वर्ण के समान चमकते हैं (हिरण्यं वै ज्योतिः)। ये साधक सदा **नृम्णैः**=धनों **च**=और **पौंस्येभिः**=बलों के **साकम्**=साथ **भूवन्**=होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना करनेवाला अग्नि के समान तेजस्वी प्रतीत होता है। इनकी मलिनताएँ दूर होती हैं और ये ज्ञान-ज्योति से चमक उठते हैं। ये धन व बल से सम्पन्न होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रुद्रस्य पुत्राः

रु॒द्रस्य॒ ये मी॒ळ्हुषः॒ सन्ति॑ पु॒त्रा यांश्चो॒ नु दाधृ॑वि॒र्भर॑ध्यै।
वि॒दे हि मा॒ता म॒हो म॒ही षा सेत्पृश्निः सु॒भ्वे॒३ गर्भ॒माधा॑त्॥ ३ ॥

(१) **ये**=जो मरुत्-प्राणसाधना करनेवाले पुरुष, **मीढुषः**=सब सुखों के सेचक **रुद्रस्य**=दुःखों के द्रावक प्रभु के **पुत्राः सन्ति**=पुत्र हैं। **च**=और **यान्**=जिनको **उ**=निश्चय से **नु**=अब **दाधृविः**=यह धारण करनेवाली पृथ्वी **भरध्यै**=धारित व पोषित करती है। अर्थात् जो इस पृथ्वी से उत्पन्न ओषधि वनस्पति आदि का ही सेवन करते हैं। (२) **महः मही**=बड़ों से भी बड़ी **सा**=वह **माता**=वेदमाता **हि**=निश्चय से **विदे**=इन्हें ज्ञान के देनेवाली होती है। अर्थात् ये साधक उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करते हैं। **सा**=वह **इत्**=ही **पृश्निः**=सब प्रकाशों का स्पर्श करानेवाली वेदमाता **सुभ्वे**=इन मनुष्यों की उत्तम स्थिति के लिये (सुष्ठु भवनाय) **गर्भं आधात्**=सर्वत्र गर्भरूप से वर्तमान प्रभु को इनमें धारण करती है। अर्थात् ये साधक उस प्रभु को अपने अन्दर देखनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष प्रभु का सच्चा पुत्र है। प्रभु के आदेश के अनुसार चलता हुआ यह दुःखों को दूर भगाता है, अपने में सुखों का सेचन करता है। ओषधि वनस्पति का सेवन करता

हुआ यह वेदज्ञान प्राप्त करता है और हृदयस्थ प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शोधन व श्री सम्पन्नता

न य ईषन्ते जनुषोऽया न्व१न्तः सन्तोऽवद्यानि पुनानाः।
निर्यद्दुह्रे शुचयोऽनु जोषमनु श्रिया तन्वमुक्षमाणाः ॥ ४ ॥

(१) **ये**=जो मरुत् (=प्राण) **अया**=अपने गमन के द्वारा **जनुषः**=प्राणसाधक लोगों को **न ईषन्ते**=(ईष् to kill) हिंसित नहीं होने देते। **नु**=निश्चय से **अन्तः सन्तः**=अन्दर होते हुए **अवद्यानि पुनानाः**=पापों को, अशुभों को दूर करते हैं, पापवृत्तियों को दूर करके इनके जीवनों को पवित्र करते हैं। (२) **शुचयः**=ये पवित्र प्राण **यत्**=जब **जोषं अनु**=प्रीतिपूर्वक सेवन के अनुपात में, अर्थात् जितनी-जितनी इनकी साधना करते हैं, उतना-उतना **निर्दुह्रे**=बुराइयों का निर्दोहन करते हैं और **तन्वम्**=इस शरीर को **श्रिया**=श्री से, शोभा से **अनु उक्षमाणाः**=अनुकूलता से सिक्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर को पवित्र कर डालती है। सब बुराइयों का निर्दोहन करते हुए ये प्राण शरीर को श्री सम्पन्न बनाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मारुतं धृष्णु नाम

मक्षू न येषु दोहसे चिदया आ नाम धृष्णु मारुतं दधानाः।
न ये स्तौना अयासो मह्ना नू चित्सुदानुरव यासदुग्रान् ॥ ५ ॥

(१) **न**=(संप्रत्यर्थे) अब **येषु**=जिन मरुतों के होने पर, जिन मरुतों की साधना के प्रवृत्त होने पर, **अया**=इन प्राणों की गति के द्वारा **चित्**=निश्चय से **मक्षु**=शीघ्र ही ये साधक **दोहसे**=अच्छाइयों के पूरण के लिये होते हैं। और **आ**=सब प्रकार से **नाम**=शत्रुओं को झुका देनेवाले **धृष्णु**=सब मलिनताओं के धर्षक इस **मारुतम्**=प्राणसम्बन्धी बल को **दधानाः**=धारण करते हैं। (२) ये प्राण वे हैं **ये**=जो **न स्तौनाः**=शक्तियों को चुरानेवाले नहीं, अपितु शक्तियों के बढ़ानेवाले ही हैं। **अयासः**=निरन्तर गतिशील हैं। **नू चित्**=निश्चय से इन प्राणों की **मह्ना**=महिमा से **सुदानुः**=अच्छी प्रकार बुराइयों को काटनेवाला व्यक्ति **उग्रान्**=इन उग्र (=प्रबल) काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को **अवयासत्**=अपने से पृथक् करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शत्रुधर्षक बल प्राप्त होता है। इनकी महिमा से हम काम-क्रोध-लोभ रूप प्रबल शत्रुओं को अपने से दूर कर पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मरुत्-सैनिक

त इदुग्राः शवसा धृष्णुषेणा उभे युजन्त रोदसी सुमेके।
अध स्मैषु रोदसी स्वशोचिरामवत्सु तस्थौ न रोकः ॥ ६ ॥

(१) **ते**=वे सैनिक **इत्**=निश्चय से **शवसा उग्राः**=बल के द्वारा शत्रुओं के लिये भयंकर होते हैं। **धृष्णुषेणाः**=ये शत्रुधर्षक सेनावाले होते हैं। ये **उभे**=दोनों **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **युजन्त**=अपने साथ जोड़ते हैं। (२) **अध**=अब

एषु=इन मरुतों, सैनिकों में **रोदसी**=द्यावापृथिवी, मस्तिष्क व शरीर **स्वशोचिः**=अपनी दीप्तिवाले होते हैं। इन **अमवत्सु**=बलशालियों में **रोकः**=(A hole) छेद-दोष **न आतस्थौ**=स्थित नहीं होता है। इनका जीवन बड़ा निर्दोष बनता है।

भावार्थ—राष्ट्र के सैनिक सबल, स्वस्थ मस्तिष्क व शरीरवाले तथा निर्दोष जीवनवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रजस्तूः रथ

अनेनो वो मरुतो यामो अस्त्वनश्वश्चिद्यमजत्यरथीः।
अनवसो अनभीशू रजस्तूर्वि रोदसी पथ्या याति साधन्॥ ७ ॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणसाधक पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **यामः**=यह शरीर-रथ **अनेनः अस्तु**=निष्पाप हो। **अनश्वः चित्**=इसमें सामान्य रथ की तरह कोई घोड़े जुते नहीं हैं। यहाँ शरीर की अंगभूत इन्द्रियाँ ही घोड़े हैं। **यम्**=जिस शरीर-रथ को **अरथीः**=असारथि ही **अजति**=प्रेरित करता है। इसमें कोई पृथक् सारथि नहीं है, बुद्धि ही सारथि है। (२) **अनवसः**=पथ्यदन (पाथेय) रहित यह रथ है। इसमें मार्ग के भोजन की आवश्यकता नहीं है। **अनभीशूः**=इसी प्रकार यह लगाम रहित है, मन ही इसमें लगाम का काम करता है। यह रथ **रजस्तूः**=रजोगुण रूप धूलि को हिंसित करनेवाला है। दूसरा रथ धूल को उड़ाता है, यह शान्त करता है। यह रथ **साधन्**=इष्ट कामनाओं को सिद्ध करता हुआ **रोदसी**=द्यावापृथिवी में **पथ्याः**=मार्गों को **याति**=आक्रान्त करता है।

भावार्थ—प्रभु ने यह उत्तम शरीर-रथ बनाया है। यह धूल को, राजस-भावों को शान्त करता हुआ मार्ग पर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

न वर्ता, न तरुता

नास्य वर्ता न तरुता न्वस्ति मरुतो यमवथ वाजसातौ।
तोके वा गोषु तनये यमप्सु स व्रजं दर्ता पार्ये अध द्योः॥ ८ ॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **वाजसातौ**=संग्राम में **यं अवथ**=जिसको तुम रक्षित करते हो, **अस्य**=इस पुरुष का **वर्ता**=रोकनेवाला **न अस्ति**=कोई नहीं है। **नु**=अब **तरुता न अस्ति**=इसका कोई हिंसक नहीं है। (२) **यम्**=जिसको **तोके**=पुत्रों में **वा**=और **गोषु**=इन्द्रियों में **तनये**=पौत्रों में तथा **अप्सु**=कर्मों में रक्षित करते हो, **सः**=वह **अध**=अब **पार्ये**=संग्राम में **द्योः**=दीप्त भी शत्रु के **व्रजं दर्ता**=सैन्यसमूह को विदीर्ण करनेवाला होता है। अर्थात् यदि प्राणसाधना करते हुए हम पुत्र-पौत्रों के रक्षण व इन्द्रियों के सत्कर्मों में व्यापृत रखने का ध्यान करें तो 'काम-क्रोध-लोभ' आदि प्रबल शत्रुओं को भी जीत पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें विजयी बनाती है। हम शत्रुओं को जीतकर अपने पुत्र-पौत्रों व इन्द्रियों को बड़ा उत्तम बना पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञशीलता

प्र चित्रमर्कं गृणते तुराय मारुताय स्वतवसे भरध्वम्।
ये सहांसि सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः॥ ९ ॥

(१) हे मनुष्यो! आप **गृणते**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले ब्राह्मण के लिये, **तुराय**=शत्रु-संहार करनेवाले क्षत्रिय के लिये तथा **स्व-तवसे**=आत्म पुरुषार्थ से उपार्जित धन (स्व) के बल बली वैश्य के लिये, अर्थात् इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बन सकने के लिये **मारुताय**=प्राणों के समूह के लिये **चित्रं अर्कम्**=अद्भुत स्तुति को **प्रभरध्वम्**=प्रकर्षेण धारण करो। प्रभु स्तवन पूर्वक प्राणसाधना से ही हम उत्तम ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बन पाते हैं। (२) उन प्राणों का स्तवन करो **ये**=जो **सहसा**=बल से **सहांसि सहन्ते**=शत्रु बलों का पराभव करते हैं। हे **अग्ने**=प्रगतिशील पुरुष! यह ध्यान रखना कि **पृथिवी**=यह पृथिवी, इस प्राणसाधना के होने पर **मखेभ्यः**=यज्ञों से **रेजते**=चमक उठती है। वासनाओं के विनाश से जीवन यज्ञमय बन जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य बनाती है। यह साधना हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हमें यज्ञशील बनाती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दीप्त जीवनवाले सैनिक

त्विषीमन्तो अध्वरस्येव दिद्युत्तृषुच्यवसो जुह्वो३ नाग्नेः।
अर्चत्रयो धुनयो न वीरा भ्राजज्जन्मानो मरुतो अधृष्टाः ॥ १० ॥

(१) **अध्वरस्य**=यज्ञ की **दिद्युत् इव**=दीप्ति के समान **त्विषीमन्तः**=दीप्तिवाले ये सैनिक हैं। **तृषुच्यवसः**=क्षिप्रगमनवाले, शीघ्र गतिवाले हैं। ये तो **अग्नेः जुह्वः न**=अग्नि की ज्वालाओं के समान हैं। अग्नि ज्वालाओं में जैसे सब कुछ भस्म हो जाता है, उसी प्रकार इन मरुतों के तेज की अग्नि में शत्रु भस्मसात् होते हैं। (२) **अर्चत्रयः**=(अर्च्+त्रि) 'इडा सरस्वती व मही' तीनों देवताओं का आदर करनेवाले, **धुनयः न**=शत्रुओं को कम्पित-सा करनेवाले, **वीराः**=ये वीर सैनिक **भ्राजत् जन्मानः**=दीप्त शरीर (जीवन) वाले, **मरुतः**=रणांगण में प्राणों का त्याग करनेवाले व **अधृष्टाः**=कभी शत्रुओं से धर्षित न होनेवाले होते हैं।

भावार्थ—वीर सैनिक तेजस्विता से दीप्त जीवनवाले होते हैं, ये कभी शत्रुओं से धर्षित नहीं होते। 'इडा सरस्वती मही' के ये उपासक होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिवः शुचयः मनीषाः

तं वृधन्तं मारुतं भ्राजदृष्टिं रुद्रस्य सूनुं हवसा विवासे।
दिवः शर्धाय शुचयो मनीषा गिरयो नाप उग्रा अस्पृध्रन् ॥ ११ ॥

(१) **तम्**=उस **वृधन्तम्**=वृद्धि को प्राप्त होते हुए, **भ्राजत् ऋष्टिम्**=देदीप्यमान आयुधोंवाले, **रुद्रस्य सूनुम्**=दुःखों का द्रावण करनेवाले के पुत्र, अर्थात् खूब प्रजा कष्टों का निवारण करनेवाले **मारुतम्**=सैनिक समूह को **हवसा विवासे**=स्तोत्रों के द्वारा परिचरित करता हूँ। अर्थात् इन सैनिकों का मैं स्तवन करता हूँ। (२) **दिवः**=प्रकाशमय जीवनवाले **शुचयः**=अधिकाधिक पवित्र, **मनीषाः**=(मनसः ईष्टे) मन के शासक ये सैनिक **शर्धाय**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले होते हैं। ये सैनिक **गिरयः न**=पर्वतों के समान होते हैं, पर्वत जैसे शत्रु को आने से रोकनेवाले होते हैं, इसी प्रकार ये सैनिक राष्ट्र में शत्रुओं को प्रविष्ट नहीं होने देते। ये सैनिक **उग्राः आपः (न)**=बड़े उग्र जलों के समान हैं। तेज जलधाराएँ भी शत्रु को रोकती हैं। इसी प्रकार ये सैनिक

शत्रु को रोकनेवाले होते हैं। ये सैनिक **अस्पृध्रन्**=परस्पर स्पर्धावाले होते हैं। देश रक्षा में एक दूसरे से बढ़कर भाग लेनेवाले होते हैं।

भावार्थ—उत्तम सैनिक देश रक्षा के लिये परस्पर स्पर्धावाले होते हैं। ये पर्वतों व तीव्र जलधाराओं के समान शत्रु को रोकनेवाले होते हैं। ये सैनिक ज्ञानी, पवित्र व नियन्त्रित मनवाले होते हैं।

अगले सूक्त का विषय 'मित्रावरुण' हैं। 'मित्र' स्नेह की देवता है, 'वरुण' निर्द्वेषता की। भरद्वाज बार्हस्पत्य कहता है—

[६७] सप्तषष्टीतमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'ज्येष्ठतमा यमिष्ठा' मित्रावरुणा

विश्वेषां वः सतां ज्येष्ठतमा गीर्भिर्मित्रावरुणा वावृधध्यै।
सं या रश्मेव यमतुर्यमिष्ठा द्वा जनाँ असमा बाहुभिः स्वैः ॥ १ ॥

(१) **विश्वेषाम्**=सब **वः**=तुम **सताम्**=श्रेष्ठ दिव्य भावों में **ज्येष्ठतमा**=प्रशस्यतम **मित्रा-वरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वावृधध्यै**=मैं अपने अन्दर बढ़ानेवाला होता हूँ। स्वाध्याय में प्रवृत्त रहकर मैं अपने हृदय में सबके प्रति स्नेह के भाव को तथा निर्द्वेषता के भाव को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता हूँ। (२) **या**=जो मित्र और वरुण **यमिष्ठा**=यन्तृतम हैं, हमें मार्गभ्रष्ट होने से अधिक से अधिक बचानेवाले हैं। ये **द्वा**=दोनों **रश्मा इव**=लगाम से जैसे घोड़ों को, उसी प्रकार **संयमतुः**=हमें संयत करनेवाले हैं। ये मित्र और वरुण **असमा**=अनुपम हैं, इनके समान उत्कृष्ट अन्य भाव नहीं हैं। ये **जनान्**=लोगों को **स्वैः बाहुभिः**=अपनी बाहुवों से संयत करते हैं। मित्र और वरुण का आराधक दुष्टभावों का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—हम स्वाध्याय के द्वारा 'स्नेह व निर्द्वेषता' की वृत्ति का अपने में वर्धन करें। ये मित्र और वरुण हमें संसार यात्रा में मार्गभ्रष्ट होने से बचायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अधृष्ट छादः

इयं मद्वां प्र स्तृणीते मनीषोप प्रिया नमसा बर्हिरच्छ।
यन्तं नो मित्रावरुणावधृष्टं छर्दिर्यद्वां वरूथ्यं सुदानू॥ २ ॥

(१) हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **इयम्**=यह **मत्**=मेरी, मेरे से की जानेवाली **मनीषा**=स्तुति **वाम्**=आप दोनों को **प्रस्तृणीते**=आच्छादित करती है। हे **प्रिया**=प्रीति के जनक मित्र और वरुण यह स्तुति **नमसा**=नमन के साथ आपको **बर्हिः अच्छ**=हृदय के अभिमुख **उप**=समीपता से प्राप्त कराती है। अर्थात् मैं प्रभु के प्रति नमनवाला होता हुआ हृदय में मित्र व वरुण का प्रतिष्ठापन करने का प्रयत्न करता हूँ। (२) हे मित्रावरुणौ! आप **नः**=हमारे लिये **अधृष्टम्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से धर्षित न किये जानेवाले **छर्दिः**=शरीरगृह को **यन्तम्**=प्राप्त कराइये। हे **सुदानू**=शोभन दानोंवाले व बुराइयों को काटनेवाले प्राणापानो! **यद्वाम्**=जो आपका **वरुथ्यम्**=वासनाओं का निवारक धन है उसे हमारे लिये प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम मित्रावरुण का स्तवन करें। प्रभु स्मरण करते हुए स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को अपने अन्दर धारण करें। हमारा शरीरगृह नीरोग व उत्तम बने तथा हमें वासना विनाशक धन प्राप्त हो।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम कर्मों में व्यापृति

आ यातं मित्रावरुणा सुशस्त्युप प्रिया नमसा हूयमाना।
सं यावप्नःस्थो अपसेव जनाञ्छ्रुधीयतश्चिद्यतथो महित्वा ॥ ३ ॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! **सुशस्ति**=शोभन शंसन के हेतु से **उप आयातम्**=हमें समीपता से प्राप्त होवो। मित्र व वरुण की प्राप्ति के होने पर हमारे सब कार्य उत्तम ही होते हैं। वस्तुतः मित्र व वरुण की आराधना ही सच्चा प्रभु स्तवन है। हे **प्रिया**=प्रीति के जनक मित्र व वरुण! आप हमारे से **नमसा हूयमाना**=नमन के द्वारा पुकारे जाते हो। प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हुए हम यही आराधना करते हैं कि हम सबके प्रति स्नेह वाले हों और निर्द्वेषता के भाव को धारण करें। (२) हे मित्र व वरुण! **यौ**=जो आप हैं, **महित्वा**=अपनी महिमा से **श्रुधीयतः चित् जनान्**=(श्रुधि=यश) यश की कामनावाले जनों को **अपसा**=कर्म के द्वारा **संयतथः**=सम्यक् उद्योगवाला करते हो, उसी अकार, **इव**=जैसे कि **अप्नस्थः**=कर्म में अधिकृत पुरुष लोगों को कर्मों में प्रेरित किया करता है।

भावार्थ—मित्र और वरुण का उपासक सदा लोकहित के उत्तम कर्मों में व्यापृत रहता है। इन उत्तम कर्मों के द्वारा इसका जीवन यशस्वी बनता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शक्ति पवित्रता ऋत'

अश्वा न या वाजिना पूतबन्धू ऋता यद्गर्भमदितिर्भरध्यै।
प्र या महि महान्ता जायमाना घोरा मर्ताय रिपवे नि दीधः ॥ ४ ॥

(१) **या**=जो मित्र और वरुण **अश्वा न**=अश्वों के समान **वाजिना**=शक्तिशाली हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के भाव ही हमारे जीवनों में शक्ति का वर्धन करते हैं। **पूतबन्धू**=ये मित्र और वरुण पवित्रता को हमारे साथ बाँधनेवाले हैं। **ऋता**=ये ऋत हैं, जो ठीक है, उसे प्राप्त करानेवाले हैं। **यत्**=जिनको **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता **गर्भं भरध्यै**=गर्भरूप से धारण करती है। अर्थात् जितना-जितना पुरुष स्वस्थ होता है, उतना-उतना स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को धारण कर पाता है। (२) **या**=जो **प्रजायमाना**=प्रादुर्भूत होते हुए **महि महान्ता**=महान् से भी महान् होते हैं, उत्तरोत्तर जीवन की महत्ता को बढ़ानेवाले होते हैं। **रिपवे मर्ताय**=शत्रुभूत मनुष्य के लिये **घोरा**=जो भयङ्कर होते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता शत्रु की शत्रुता को समाप्त करके वस्तुतः शत्रु को नष्ट कर देते हैं। इन मित्र और वरुण को अदिति गर्भरूप से **निदीधः**=धारण करती है, स्वस्थ पुरुष अपने हृदय में धारण करता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें 'शक्ति, पवित्रता व ऋत' को प्राप्त कराते हैं। ये हमें महान् बनाते हैं। शत्रु को विनष्ट करते हैं। स्वस्थ पुरुष ही इन्हें धारण करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्षत्रं-स्पशः

विश्वे यद्वां मंहना मन्दमानाः क्षत्रं देवासो अदधुः सजोषाः।
परि यद्भूथो रोदसी चिदुर्वी सन्ति स्पशो अदब्धासो अमूराः ॥ ५ ॥

(१) हे मित्र और वरुण! **विश्वे देवासः**=सब देव **वां मंहना**=आपकी महिमा से **मन्दमानाः**=प्रभु का स्तवन करते हुए, **सजोषाः**=परस्पर प्रीतिवाले होते हुए **यत्**=जब **क्षत्रम्**=बल को **अदधुः**=धारण करते हैं और **यद्**=जब इस प्रकार आप **उर्वी चित् रोदसी**=इन विशाल भी द्यावापृथिवी को **परिभूथः**=परिभूत करते हो तो उस समय आपकी **स्पशः**=ये प्रकाश की किरणें (स्पश् see clearly) **अदब्धासः**=अहिंसित व **अमूराः**=मूढता को दूर करनेवाली होती हैं। स्नेह व निर्द्वेषता का अभाव ही मनुष्य को नाना रोगों से हिंसित व मूढ़ मनवाला बनाता है। (२) देववृत्ति के व्यक्ति अपने में स्नेह व निर्द्वेषता के भावों का धारण करते हुए शक्ति को धारित करते हैं। विजयी बनते हैं और प्रकाश की किरणों को धारण करते हैं।

भावार्थ—हम देव बनें, सब के प्रति स्नेह व निर्द्वेषतावाले हों। यही बल व ज्ञान की वृद्धि का मार्ग है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दृढः विश्वदेवः 'नक्षत्रः'

ता हि क्षत्रं धारयेथे अनु द्यून्दृंहेथे सानुमुपमादिव द्योः।
दृळ्हो नक्षत्र उत विश्वदेवो भूमिमातान्द्यां धासिनायोः ॥ ६ ॥

(१) **ता**=वे मित्र और वरुण! **अनुद्यून्**=दिन प्रतिदिन **हि**=निश्चय से **क्षत्रम्**=बल को **धारयेथे**=धारण करते हैं और **द्योः सानुम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक के शिखर को **उपमात् इव**=(उपमीयते) मानो स्तम्भ के द्वारा **दृंहेथे**=दृढ़ करते हैं। (२) इन मित्र और वरुण के उपासक के जीवन में **नक्षत्रः**=ज्ञानसूर्य **दृढः**=दृढ़ व स्थिर होते हैं, **उत**=और **विश्वदेवः**=सब दिव्यभावों को जन्म देनेवाला होता है। यह ज्ञानसूर्य **आयोः धासिना**=मनुष्य के धारण के हेतु से **भूमिम्**=शरीर रूप पृथिवी को तथा **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **आतान्**=विस्तृत करता है। ज्ञान के द्वारा शरीर व मस्तिष्क दोनों ही ठीक बनते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमारे बल का वर्धन करते हैं, मस्तिष्क का धारण करते हैं। इनके द्वारा उदित हुआ-हुआ ज्ञानसूर्य हृदय में दिव्य भावों को जन्म देता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

न मृष्यन्ते युवतयो अवाताः

ता विग्रं धैथे जठरं पृणध्या आ यत्सद्म सभृतयः पृणन्ति।
न मृष्यन्ते युवतयोऽवाता वि यत्पयो विश्वजिन्वा भरन्ते ॥ ७ ॥

(१) **ता**=वे मित्र और वरुण **विग्रम्**=प्राज्ञ को **धैथे**=धारण करते हैं। **जठरं पृणध्यै**=ये उदर को सोम से पूरित करने के लिये होते हैं। अर्थात् सोम का उदर में ही रक्षण करते हैं, उसे नष्ट नहीं होने देते। **सभृतयः**=समानरूप से मित्रावरुणा का धारण करनेवाले परिवार के व्यक्ति **यत् सद्म**=जो उनका घर है, उसे **आपृणन्ति**=सब प्रकार से पूरित करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के भाव

के होने पर घर में कमी नहीं आती। (२) इस स्नेह व निर्द्वेषता के धारण करने पर **युवतयः**=ये सदा अजरामर रहनेवाली वेदवाणियाँ (देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति) **न मृष्यन्ते**=रजोगुण से अभिभूत नहीं होती, अर्थात् सात्त्विक भाव के कारण इनका उत्तरोत्तर प्रकाश बढ़ता जाता है। **अवाताः**=ये वेदवाणियाँ शुष्क भी नहीं हो जाती (न शोषयति मारुतः), **यत्**=क्योंकि **विश्वजिन्वा**=सब उत्तम ज्ञानों को प्रेरित करनेवाले ये मित्र और वरुण **पयः विभरन्ते**=आप्यायित करनेवाले ज्ञान को विशेषरूप से हमारे में धारण करते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव से सोम का रक्षण होता है, ज्ञान बढ़ता है। इस मित्र और वरुण के आराधक को अधिकाधिक ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान यज्ञ व सत्य

ता जिह्वया सदमेदं सुमेधा आ यद्वां सत्यो अरतिर्ऋते भूत्।
तद्वां महित्वं घृतान्नावस्तु युवं दाशुषे वि चयिष्टमंहः ॥ ८ ॥

(१) **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला पुरुष **सदम्**=सदा **जिह्वया**=अपनी जिह्वा से **ता**=उन मित्र और वरुण से **इदम्**=इस गत मन्त्र में वर्णित 'पयः' आप्यायित करनेवाले ज्ञानदुग्ध को **आ**=(आयाचते) माँगता है। स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमारे ज्ञान का वर्धन करते ही हैं। **यत्**=क्योंकि **वां अरतिः**=आपका अभिगन्ता, आपको प्राप्त होनेवाला यह उपासक **सत्यः**=सत्य व्यवहारवाला तथा **ऋते**=सदा यज्ञों में चलनेवाला **भूत्**=होता है। (२) हे **घृतान्नौ**=शरीर से मलों का क्षरण करनेवाले तथा ज्ञानदीप्ति को बढ़ानेवाले अन्न का सेवन करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **तत्**=वह **महित्वम्**=महिमा **अस्तु**=सदा हो, सदा आपकी यह महिमा बनी रहे कि **युवम्**=आप **दाशुषे**=इस दाश्वान् पुरुष के लिये **अंहः**=पाप को **विचयिष्टम्**=नष्ट करते हो। जो भी व्यक्ति मित्र और वरुण के लिये अपने को दे डालता है, मित्र और वरुण उसके पाप को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से ज्ञानवृद्धि होती है, सत्य व यज्ञों की रुचि बढ़ती है, पाप विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्नेह व निर्द्वेषता का महत्व

प्र यद्वां मित्रावरुणा स्पूर्धन्प्रिया धाम युवधिता मिनन्ति।
न ये देवास ओहसा न मर्ता अयज्ञसाचो अप्यो न पुत्राः ॥ ९ ॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण! **यद्**=जब **वाम्**=आपके **प्रिया धाम**=प्रिय तेजों को व **युवधिता**=आप से किये जानेवाले कर्मों को **स्पूर्धन्**=(defy) निरादृत करते हैं व **प्रमिनन्ति**=हिंसित करते हैं। अर्थात् जब स्नेह व निर्द्वेषता से उत्पन्न होनेवाले तेज को ये महत्त्व नहीं देते और जब स्नेह व निर्द्वेषता से युक्त होकर कर्म नहीं करते तो इनका जीवन ऐसा हो जाता है कि **ये**=जो **न देवासः**=देववृत्ति के नहीं बन पाते। और ये वे **मर्ताः**=मनुष्य होते हैं जो **अयज्ञसाचः**=यज्ञों का सेवन न करते हुए **ओहसा न**=(वहनसाधनेन स्तोत्रेण) लक्ष्य स्थान पर ले जानेवाले स्तोत्र से युक्त नहीं होते। **अप्यः**=कर्मशील होते हुए भी ये **पुत्राः न**=(पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र नहीं कर पाते और अपने को रोगों व वासनाओं के आक्रमण से नहीं बचा पाते। (२) स्नेह व निर्द्वेषता के अभाव में हमें वास्तविक तेज की प्राप्ति नहीं होती। हम स्नेह व निर्द्वेषता

से दूर होकर देवत्व से ही दूर हो जाते हैं। हमारा जीवन यज्ञमय व स्तुतिमय नहीं रहता। पवित्रता का विनाश होकर रोगों व वासनाओं की प्रबलता हो जाती है।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता के महत्त्व को समझें। इन्हीं से हमें 'तेजस्विता, दिव्यता, स्तुति की वृत्ति, यज्ञशीलता व पवित्रता' प्राप्त होगी।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्तवन-ज्ञान-दिव्य गुण

वि यद्वाचं कीस्तासो भरन्ते शंसन्ति के चिन्निविदो मनानाः।
आद्वां ब्रवाम सत्यान्युक्था नकिर्देवेभिर्यतथो महित्वा॥ १०॥

(१) **यद्**=जब **कीस्तासः**=मेधावी उद्गाता **वाचम्**=स्तुति वाणी को **विभरन्ते**=विशेषरूप से धारण करते हैं। और **केचित्**=कई **मनानाः**=मननशील पुरुष **निविदः**=निश्चयात्मक ज्ञान को देनेवाली वेदवाणियों का **शंसन्ति**=शंसन करते हैं। **आत्**=तब हम **वाम्**=हे मित्र और वरुण आपके ही **सत्यानि उक्था**=सत्य स्तोत्रों को **ब्रवाम**=उच्चरित करते हैं। वस्तुतः स्नेह व निर्द्वेषता का धारण ही उन मेधावी उद्गाताओं (कीस्त) को स्तुति में प्रवृत्त करता है और मननशील पुरुषों को इन ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करने के योग्य बनाता है। (२) हे मित्र और वरुण! आप **महित्वा**=अपनी महिमा से **देवेभिः**=अन्य दिव्य गुणों के साथ **नकिः यतथः**=नहीं जाते हो। अर्थात् सब दिव्य गुणों से आपकी महिमा अधिक है। वस्तुतः स्नेह व निर्द्वेषता के भाव ही अन्य दिव्य गुणों को जन्म देते हैं। इनके अभाव में किसी भी दिव्य गुण का सम्भव नहीं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता की ही यह महिमा है कि हम (क) मेधावी उद्गाता बनकर प्रभु का स्तवन करते हैं। (ख) मननशील बनकर ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हैं, (ग) अन्य दिव्य गुणों को अपने में उत्पन्न कर पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अस्कृधोयु छर्दिः (महान् गृह)

अवोरित्था वां छर्दिषो अभिष्टौ युवोर्मित्रावरुणावस्कृधोयु।
अनु यद्गावः स्फुरानृजिप्यं धृष्णुं यद्रणे वृषणं युनजन्॥ ११॥

(१) हे **मित्रावरुणौ**=मित्र और वरुण! **अवोः**=(अवतोः) रक्षण करते हुए **वाम्**=आपके **अभिष्टौ**=अभिगमन के होने पर **इत्था**=सचमुच **युवोः**=आपके **छर्दिषः**=इस शरीररूप गृह की **अस्कृधोयु**=(कृधु-ह्रस्व-अल्प) अनल्पता होती है। स्नेह व निर्द्वेषता के भाव इस शरीरगृह को बड़ा सुन्दर व महान् बनाते हैं। इनके होने पर इस गृह का असमय में ही विच्छेद नहीं हो जाता। (२) **यत्**=क्योंकि मित्र और वरुण के होने पर उस गृह में **गावः**=ज्ञानपूर्वक की स्तुति वाणियाँ **अनु स्फुरान्**=स्फुरित होती हैं, निरन्तर उच्चरित होती हैं और **यत्**=क्योंकि ये मित्र और वरुण के उपासक **ऋजिप्यम्**=ऋजुगामी, सरल मार्ग से गति की प्रेरणा देनेवाले **धृष्णुम्**=रोगरूप शत्रुओं के धर्षक **वृषणम्**=शक्ति का सेचन करनेवाले सोम को, वीर्यशक्ति को **रणे**=जीवन संग्राम में **युनजन्**=युक्त करते हैं। अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता के कारण हम ज्ञानपूर्वक स्तुति करनेवाले बनते हैं और सोम का रक्षण करते हुए जीवन संग्राम में विजयी बनते हैं। बस, ये दो बातें हमारे इस शरीर गृह को असमय में विच्छिन्न नहीं होने देती। जिस भी घर में स्नेह व निर्द्वेषता का वास होता है, वह घर अवश्य महान् बनता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता हमें ज्ञान व सोमरक्षण की ओर ले जाकर दीर्घजीवी व उत्तम महान् गृहवाला बनाते हैं।

अगले सूक्त में 'भारद्वाज बार्हस्पत्य' इन्द्र और वरुण का स्तवन करते हैं 'इन्द्र' जितेन्द्रियता व बल का प्रतीक है और 'वरुण' निर्द्वेषता का—

[६८] अष्टषष्टीतमं सूक्तम्

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु प्रेरणा व महान् सुख

श्रुष्टी वां यज्ञ उद्यतः सजोषा मनुष्वद् वृक्तबर्हिषो यजध्यै।
आ य इन्द्रावरुणाविषे अद्य महे सुम्नाय मह आववर्तत्॥ १॥

(१) हे **महे**=मंहनीय-पूजनीय **इन्द्रावरुणौ**=इन्द्र और वरुण! बल व निर्द्वेषता के भावो! **श्रीष्टी**=शीघ्र ही अब **वाम्**=आपका **यज्ञः**=पूजन **उद्यतः**=उद्यत हुआ है, प्रवृत्त हुआ है। **सजोषाः**=यह पूजन समान रूप से प्रीतिवाला है। जितना जितेन्द्रियता के द्वारा बल के रक्षण का विचार है, उतना ही निर्द्वेष बनने का निश्चय है। यह **मनुष्वत्**=एक विचारशील पुरुष की तरह **वृक्तबर्हिषः**=जिसने हृदय क्षेत्र में से वासनारूप घास-फूस को उखाड़कर फेंक दिया है उस यजमान के **यजध्यै**=यजन के लिये होता है। अर्थात् 'इन्द्र-वरुण' का पूजन 'वृक्तबर्हिष्' ही कर पाता है। हृदय में वासनाओं के रहते यह पूजन नहीं हो सकता। (२) **यः**=जो यज्ञ **अद्य**=आज **इषे**=हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त कराने के लिये **आववर्तत्**=निरन्तर अवृत्त होता है, वह **महे सुम्नाय**=महान् सुख के लिये होता है। वस्तुतः जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता की उपासना हमें सुखी बनाती है, यह हमें हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनने के योग्य बनाती है।

भावार्थ—हम हृदयक्षेत्र से वासनाओं के घास-फूस को उखाड़ फेंकने का यत्न करें। इससे हम जितेन्द्रिय व निर्द्वेष बनकर महान् सुख को प्राप्त करेंगे और हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुन पायेंगे।

ऋषि:—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'इन्द्र और वरुण' की श्रेष्ठता

ता हि श्रेष्ठा देवताता तुजा शूराणां शविष्ठा ता हि भूतम्।
मघोनां मंहिष्ठा तुविशुष्म ऋतेन वृत्रतुरा सर्वसेना॥ २॥

(१) **ता**=वे इन्द्र और वरुण, जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भाव **हि**=ही **श्रेष्ठा**=प्रशस्ततम हैं। **देवताता**=यज्ञ में ये **तुजा**=विघ्नकारी शत्रुओं के संहारक हैं। इनके द्वारा जीवनयज्ञ सुचारुरूपेण चलता है। **ता**=वे **हि**=ही **शूराणां शविष्ठा**=शूरों में सर्वाधिक बलवाले **भूतम्**=होते हैं। (२) ये इन्द्र और वरुण **मघोनाम्**=दाताओं में **मंहिष्ठा**=दातृतम हैं। **तुविशुष्मा**=महान् बलवाले हैं। **ऋतेन**=ऋत के द्वारा **वृत्रतुरा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाले हैं। **सर्वसेना**=ये इन्द्र और वरुण पूर्ण सेनावाले होते हैं। इन्द्रियाँ, प्राण, मन व बुद्धि आदि ही वे सैनिक हैं जिनसे कि इस जीवन संग्राम को हमने लड़ना है। इन्द्र और वरुण के द्वारा ये सैनिक बड़े ठीक बने रहते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता ही हमें श्रेष्ठ जीवनवाला, सबल व शत्रुसंहार समर्थ बनाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शूष+सुम्न-बल+शुख

ता गृ॑णीहि न॒म॒स्ये॑भिः शू॒षैः सु॒म्नेभि॒रिन्द्रा॒वरु॑णा चका॒ना।
वज्रे॑णा॒न्यः शव॑सा॒ हन्ति॑ वृ॒त्रं सिष॑क्त्य॒न्यो वृ॒जने॑षु॒ विप्रः॑ ॥ ३ ॥

(१) **नमस्येभिः**=नमस्करणीय-स्तुत्य **शूषैः**=बलों से तथा **सुम्नेभिः**=सुखों से **चकाना**=स्तुत **ता**=उन **इन्द्रारुणा**=इन्द्र और वरुण की **गृणीहि**=स्तुति कर। 'इन्द्र' स्तुत्य बल से युक्त है, तो 'वरुण' प्रशस्त सुखों का कारण बनता है। (२) **अन्यः**=इनमें से एक इन्द्र, **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **हन्ति**=विनष्ट करता है। **अन्यः**=दूसरा **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला 'वरुण' (निर्द्वेषता का भाव) **वृजनेषु**=(battle, fight) संग्रामों में **शवसा**=बल से **सिषक्ति**=(संगच्छते) संगत होता है। निर्द्वेषता वह बल प्राप्त कराती है जिससे कि हम संग्रामों में सदा विजयी बनते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' स्तुत्य बलों को प्राप्त कराता है तो वरुण सुखों को। जितेन्द्रियता हमें बलयुक्त करती है, निर्द्वेषता जीवन को सुखी बनाती है। ये जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता हमें वासना विनाश के द्वारा संग्राम में विजयी बनाती हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वगूर्ताः वावृधन्त

ग्नाश्च॒ यन्नर॑श्च वावृ॒धन्त॒ विश्वे॑ दे॒वासो॑ न॒रां स्वगू॑र्ताः।
प्रैभ्य॑ इन्द्रावरुणा महि॒त्वा द्यौश्च॑ पृथिवि भू॒तमु॒र्वी ॥ ४ ॥

(१) **नराम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों में **ग्नाः च**=स्त्रियाँ और **यत्**=जो **नरः च**=मनुष्य **स्वगूर्ताः**=स्वयं उद्योगवाले होते हुए **वावृधन्त**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं अथवा स्तुति शब्दों से प्रभु का वर्धन करते हैं तो ये **विश्वे**=सब **देवासः**=देव बन जाते हैं। देव का लक्षण यही है कि स्वयं पुरुषार्थी बने और प्रभु का स्मरण करे। (२) हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भावो! **एभ्यः**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों के लिये **महित्वा**=अपनी महिमा से **प्रभूतम्**=प्रकृष्ट प्रभाव (सामर्थ्य) को पैदा करनेवाले होवो। **द्यौः च**=और द्युलोक तथा **पृथिवि**=हे पृथिवि! आप भी इन देव वृत्तिवाले पुरुषों के लिये **उर्वी**=विशाल (भूतम्=) होवो। इनका मस्तिष्क रूप द्युलोक दीप्त हो, इनका शरीररूप पृथिवीलोक दृढ़ हो।

भावार्थ—स्वयं पुरुषार्थ में प्रवृत्त हुए-हुए प्रभु स्तवन करनेवाले व्यक्ति देव बनते हैं। इनके लिये जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता सामर्थ्य को देनेवाली होती हैं। ये दीप्त मस्तिष्कवाले व दृढ़ शरीरवाले बनते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुदानुः-स्ववान्-दास्वान्

स इत्सु॒दानुः॒ स्ववाँ॑ ऋ॒तावेन्द्रा॒ यो वां॑ वरुण॒ दाश॑ति॒ त्मन्।
इ॒षा स द्वि॒षस्त॑रे॒द्दास्वा॒न्वंस॑द्र॒यिं र॑यि॒वत॑श्च॒ जना॑न् ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्रावरुण**=इन्द्र और वरुण देवो! **यः**=जो **त्मन्**=स्वयं अपने को **वां दाशति**=आपके प्रति दे डालता है, अर्थात् जो जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता का उपासक बनता है, **सः**=वह **इत्**=निश्चय

से **सुदानुः**=शोभन दानवाला व अच्छी प्रकार शत्रुओं को काटनेवाला (दाप् लवने) होता है। यह **स्ववान्**=आत्मशक्तिवाला तथा **ऋतावा**=ऋत व यज्ञों का रक्षण करनेवाला होता है। (२) **सः**=यह **इषा**=प्रभु प्रेरणा के द्वारा **द्विषः तरेत्**=द्वेष की भावनाओं को तैर जाता है। **दास्वान्**=दानशील होता है। **रयिं वंसत**=धन को प्राप्त करता है **च**=तथा **रयिवतः**=ऐश्वर्यशाली **जनान्**=पुत्रों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता का उपासक शोभनदानशील, उत्तम धनवाला व ऐश्वर्यशाली पुत्रोंवाला होता है। यह प्रभु प्रेरणा को सुनता हुआ वासनारूप शत्रुओं को तैर जाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वसुमान्-पुरुक्षु' रयि

यं युवं दाश्वध्वराय देवा रयिं धत्थो वसुमन्तं पुरुक्षुम्।
अस्मे स इन्द्रावरुणावपि ष्यात्प्र यो भनक्ति वनुषामशस्तीः ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्रावरुणौ**=इन्द्र और वरुण! **युवम्**=आप **दाश्वध्वराय**=दत्तहविष्क पुरुष के लिये, यज्ञशील पुरुष के लिये **यम्**=जिस **वसुमन्तम्**=प्रशस्त वसुओंवाले, उत्तम निवास के तत्त्वों को प्राप्त करानेवाले, **पुरुक्षुम्**=पूर्ण यश को देनेवाले **रयिम्**=धन को **धत्थः**=प्राप्त कराते हो। **स**=वह धन **अस्मे**=हमारे लिये **अपि स्यात्**=भी हो। हम भी जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के द्वारा 'वसुमान् पुरुक्षु' रयि को प्राप्त करें। (२) हम उस धन को प्राप्त करें **यः**=जो कि **वनुषाम्**=हिंसकों की **अशस्तीः**=अशुभ क्रियाओं को **प्रभनक्ति**=नष्ट करता है। जिस धन के द्वारा हम हिंसात्मक अशुभ कर्मों में न प्रवृत्त हों, वही धन हमें मिले।

भावार्थ—हम जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता का साधन करते हुए उस धन को प्राप्त करें जो (क) हमारे निवास को उत्तम बनाये, (ख) पूर्ण यश का कारण बने, (ग) हिंसात्मक अशुभ कर्मों से हमें दूर रखे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सुत्रात्र देवगोपा' रयि

उत नः सुत्रात्रो देवगोपाः सूरिभ्य इन्द्रावरुणा रयिः ष्यात्।
येषां शुष्मः पृतनासु साह्वान्प्र सद्यो द्युम्ना तिरते ततुरिः ॥ ७ ॥

(१) **उत**=और **नः**=हम **सूरिभ्यः**=ज्ञानी स्तोताओं के लिये, हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण! **रयिः स्यात्**=वह धन प्राप्त हो, जो **सुत्रात्रः**=अच्छी प्रकार हमारा रक्षण करनेवाला हो तथा **देवगोपाः**=हमारे जीवनों में देवों का, दिव्य भावों का रक्षक हो। (२) इस धन को पाकर हम ऐसे बनें **येषाम्**=जिनका कि **शुष्मः**=शत्रुशोषक बल **पृतनासु**=संग्रामों में **साह्वान्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला हो तथा **ततुरिः**=शत्रुओं का संहार करनेवाला होता हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **द्युम्ना**=शत्रुओं के यशों को **प्रतिरते**=तैर जाता है, विनष्ट कर डालता है। जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता का आराधन ही इस प्रकार के धन को हमारे लिये प्राप्त कराता है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता की उपासना हमें वह धन प्राप्त कराती है, (१) जो हमारा रक्षण करता है, (२) हमारे में दिव्य भावों का वर्धन करता है। (३) हमें शत्रुओं को पराभूत करने में समर्थ करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आपो न नावादुरिता तरेम

नू न इन्द्रावरुणा गृणाना पृङ्क्तं रयिं सौश्रवसाय देवा।
इत्था गृणन्तो महिनस्य शर्धोऽपो न नावा दुरिता तरेम॥ ८॥

(१) **नू**=अब **गृणाना**=स्तुति किये जाते हुए **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण, जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भाव **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=धन को **पृङ्क्तम्**=देनेवाले हो। **देवौ**=प्रकाशमय इन्द्र और वरुण हमारे **सौश्रवसाय**=उत्कृष्ट ज्ञान के लिये हो। (२) **इत्था**=इस प्रकार **महिनस्य**=उस महान् महिमावाले प्रभु के **शर्धः**=बल का **गृणन्तः**=स्तवन करते हैं हम **दुरिता तरेम**=दुरितों को इस प्रकार तैर जायें, **न**=जैसे कि **नावा आपः**=नौका से जलों को तैर जाते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता का आराधन हमारे ऐश्वर्य व ज्ञान का साधक हो। उस महान् प्रभु के सामर्थ्य का स्तवन करते हुए हम पापों से पार हो जायें। निष्पाप जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सम्राट् वरुण का स्तवन

प्र सम्राजे बृहते मन्म नु प्रियमर्च देवाय वरुणाय सप्रथः।
अयं य उर्वी महिना महिव्रतः क्रत्वा विभात्यजरो न शोचिषा॥ ९॥

(१) **सम्राजे**=सम्यग् देदीप्यमान **बृहते**=वृद्धि को प्राप्त हुए **देवाय**=दिव्यस्वरूप **वरुणाय**=वरुण के लिये **सप्रथः**=(सर्वतः पृथु) सब दृष्टिकोणों से विशाल **प्रियम्**=प्रीतिजनक **मन्म**=स्तोत्र का **नु**=अब **प्र अर्च**=प्रकर्षेण उच्चारण कर। सब संसार को नियम के बन्धन में बाँधनेवाले प्रभु का स्तवन कर। ये प्रभु सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हैं, सम्राट् हैं, बृहत् हैं, देव हैं। (२) **अयं यः**=जो वरुण हैं, **महिव्रतः**=महान् व्रतोंवाले हैं, **न (च)**=और **महिना**=अपनी महिमा से **अजरः**=कभी न जीर्ण होनेवाले हैं। ये वरुण **उर्वी**=इन विशाल द्यावापृथिवी को **क्रत्वा**=शक्ति से तथा **शोचिषा**=दीप्ति से **विभाति**=विभासित करते हैं। हमारे मस्तिष्करूप द्युलोकों को दीप्तिमय बनाते हैं और शरीर रूप पृथिवीलोक को शक्ति-सम्पन्न करते हैं।

भावार्थ—हम सम्राट् वरुण का स्तवन करें। हमारे लिये ये दीप्ति मस्तिष्क व शक्ति सम्पन्न शरीर को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्व-सरं अध्वरं प्रति

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रता।
युवो रथो अध्वरं देववीतये प्रति स्वसरमुप याति पीतये॥ १०॥

(१) हे **सुतपौ**=उत्पन्न सोम का रक्षण करनेवाले **धृतव्रता**=व्रतों का धारण करनेवाले **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण, जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भावो! आप **इमम्**=इस **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **मद्यम्**=मद व उल्लास के जनक **सोमम्**=सोम को **पिबतम्**=पीनेवाले होवो, शरीर में ही इसे व्याप्त करनेवाले होवो। वस्तुतः जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भाव हमें व्रतमय जीवनवाला बनाते हैं। ऐसे जीवन में ही सोम के रक्षण का सम्भव होता है। (२) हे इन्द्र और वरुण! **युवोः रथः**=आपका यह शरीररूप रथ **स्वसरम्**=(स्व-सृ) आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाले **अध्वरं**

प्रति=जीवनयज्ञ की ओर **उपयाति**=प्राप्त होता है और इस प्रकार यह **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये होता है और **पीतये**=शरीर में सोम के रक्षण के लिये होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के धारण करने पर हम आत्मतत्त्व की प्राप्ति के मार्ग पर चलते हैं। दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं और शरीर में सोम को सुरक्षित कर पाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण व आनन्द प्राप्ति

इन्द्रा॑वरुणा॒ मधु॑मत्तमस्य॒ वृष्णः॒ सोम॑स्य वृष॒णा वृ॑षेथाम्।
इ॒दं वा॒मन्धः॒ परि॑षिक्तम॒स्मे आ॒सद्या॒स्मिन्ब॒र्हिषि॑ मादयेथाम्॥ ११ ॥

(१) हे **वरुणा**=शक्तिशाली **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण, जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भावो! आप **मधुमत्तमस्य**=हमारे जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले **वृष्णः**=शक्तिशाली **सोमस्य**=सोम का, वीर्यशक्ति का **वृषणा**=सोम शक्ति के द्वारा **आवृषेथाम्**=शरीर में ही चारों ओर सेचन करो। यही आपका सोमभक्षण है। (२) **इदम्**=यह **वाम्**=आपके द्वारा **अस्मे**=हमारे लिये **अन्धः**=आध्यातव्य सोम **परिषिक्तम्**=शरीर में चारों ओर सिक्त हुआ है। **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आसद्य**=आसीन होकर हे इन्द्र और वरुण! **मादयेथाम्**=आप हमारे जीवनों को आनन्दयुक्त करो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भाव हमारे जीवनों में सोमरक्षण के द्वारा आनन्द के जनक होते हैं।

अगले सूक्त के देवता 'इन्द्राविष्णू' हैं। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है और 'विष्णु' व्यापकता व धारण का। हम बल को प्राप्त करते उदार वृत्तिवाले बनें और बल के द्वारा सभी का धारण करनेवाले बनें—

[६९] एकोनसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति व उदारता

सं वां॒ कर्म॑णा॒ समि॒षा हि॑नो॒मीन्द्रा॑विष्णू॒ अप॑सस्पा॒रे अ॒स्य।
जु॒षेथां॑ य॒ज्ञं द्रवि॑णं च धत्त॒मरि॑ष्टैर्नः प॒थिभिः॑ पा॒रय॑न्ता॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्राविष्णू**=इन्द्र और विष्णु, जितेन्द्रियता द्वारा शक्ति की प्राप्ति की भावना तथा उदारता द्वारा सब के धारण की भावना! **वाम्**=आप दोनों को मैं **कर्मणा**=कर्म के हेतु से **संहिनोमि**=अपने अन्दर सम्यक् रूप से प्रेरित करता हूँ। **इषा**=प्रभु प्रेरणा की प्राप्ति के हेतु से **सं** (हिनोमि)=अपने अन्दर प्रेरित करता हूँ। इन्द्रत्व व विष्णुत्व को धारण करनेवाला अवश्य हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। आप दोनों हमें **अस्य अपसः**=इस हमारे कर्त्तव्यभूत कर्म के **पारे**=पार प्राप्त कराओ। आपके द्वारा हम कर्त्तव्य कर्म को निर्विघ्नता से पूर्ण कर पायें। (२) हे इन्द्र और विष्णु! आप **यज्ञं जुषेथाम्**=यज्ञात्मक कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेचन करिये। **च**=और **द्रविणं धत्तम्**=ऐश्वर्य का हमारे लिये धारण करिये तथा **नः**=हमें **अरिष्टैः**=अहिंसित **पथिभिः**=मार्गों से ले चलते हुए **पारयन्ता**=जीवनयात्रा के पार ले चलनेवाले होइये। आपके अनुग्रह से हमारी जीवनयात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो।

भावार्थ—हम शक्ति व उदारता को धारण करते हुए उत्तम कर्मों में लगे रहें, प्रभु प्रेरणा को सुन पायें तथा शुभ मार्गों से चलते हुए जीवनयात्रा को सफलता से पूर्ण करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मतीनां जनितारा

या विश्वासां जनितारा मतीनामिन्द्राविष्णू कलशा सोमधाना।
प्र वां गिरः शस्यमाना अवन्तु प्र स्तोमासो गीयमानासो अर्कैः ॥ २ ॥

(१) **या**=जो **इन्द्राविष्णू**=इन्द्र और विष्णु, शक्ति व उदारता के देव, **विश्वासां मतीनाम्**=सब उत्तम बुद्धियों के **जनितारा**=जन्म देनेवाले हैं, वे सोमधाना **कलशा**=सोम के रक्षण के आधारभूत कलश (=घड़े) ही हैं। इन इन्द्र और विष्णु के द्वारा सोम का शरीर में ही रक्षण होता है। (२) **वाम्**=आपको **शस्यमानाः**=उच्चारण की जाती हुई **गिरः**=ज्ञान की वाणियाँ **प्र अवन्तु**=प्रकर्षेण प्राप्त हों। **अर्कैः**=स्तोताओं से **गीयमानासः**=गाये जाते हुए **स्तोमासः**=स्तुति समूह **प्र** (अवन्तु)=प्राप्त हों। अर्थात् इन्द्र और विष्णु का उपासक ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला हो और स्तुति की वृत्तिवाला बने।

भावार्थ—'शक्ति और उदारता' की उपासना (क) हमारी बुद्धियों को विकसित करती है, (ख) यह शरीर में सोमरक्षण का साधन बनती है, (ग) ज्ञान को बढ़ाती है, (घ) स्तुति की वृत्ति को उत्पन्न करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मदपती मदानाम् (इन्द्राविष्णू)

इन्द्राविष्णू मदपती मदानामा सोमं यातं द्रविणो दधाना।
सं वामञ्जन्त्वक्तुभिर्मतीनां सं स्तोमासः शस्यमानास उक्थैः ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्राविष्णू**=इन्द्र और **विष्णु**=शक्ति व उदारता के भाव, **मदानां मदपती**=उल्लास के जनक सोमकणों के सर्वोत्तम रक्षक हैं। ये इन्द्र और विष्णु **सोमं आयातम्**=सोम को आभिमुख्येन प्राप्त हों, अर्थात् सोम का हमारे अन्दर रक्षण करें। **उ**=और **द्रविणा दधाना**=सब ऐश्वर्यों का हमारे अन्दर धारण करें। सुरक्षित सोम ही सब ऐश्वर्यों का साधन बनता है। (२) उपासक लोग **मतीनां अक्तुभिः**=बुद्धियों के प्रकाश के हेतु से **वाम्**=आप दोनों को **सं अञ्जन्तु**=सम्यक् प्राप्त हों (अञ्ज् गतौ)। इन्द्र और विष्णु की उपासना बुद्धियों को विकसित करती ही है। **उक्थैः**=स्तोत्रों के साथ **शस्यमानासः**=उच्चारण की जाती हुईं **स्तोमासः**=स्तुतियाँ **सं** (अञ्जन्तु)=आपको प्राप्त हों। अर्थात् आपका उपासक स्तुति की वृत्तिवाला बने।

भावार्थ—शक्ति व उदारता की उपासना (क) उल्लास को पैदा करती है, (ख) सोम का रक्षण करती है, (ग) ऐश्वर्यों को प्राप्त कराती है, (घ) हमें ज्ञान की रुचिवाला बनाती है, (ङ) स्तुति की ओर झुकाती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अभिमातिषाहः, सधमदः' अश्वासः

आ वामश्वासो अभिमातिषाह इन्द्राविष्णू सधमादो वहन्तु।
जुषेथां विश्वा हवना मतीनामुप ब्रह्माणि शृणुतं गिरो मे ॥ ४ ॥

(१) हे इन्द्राविष्णू=इन्द्र और विष्णु, शक्ति व उदारता के दिव्य भावो! **वाम्**=आप **अश्वासः**=हमारे ये इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=हमारे लिये प्राप्त करायें। जो इन्द्रियाश्व **अभिमातिषाहः**=अभिमान आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले हैं तथा **सदमादः**=परस्पर मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्यों को करनेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियों से दिये गये ज्ञान के अनुसार कर्मेन्द्रियों के कर्म चलते हैं तो ये इन्द्रियाश्व हमारे लिये शक्ति व उदारता आदि दिव्य भावों को प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) हे इन्द्र और विष्णु! आप **मतीनाम्**=मननपूर्वक स्तुति करनेवालों के **विश्वा हवना**=सब पुकारों को **जुषेथाम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। अर्थात् ये शक्ति व उदारता के उपासक लोग सदा मननपूर्वक प्रभु की प्रार्थना करनेवाले हों और **मे**=मेरी **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को तथा **ब्रह्माणि**=मेरे से उच्चरित इन सत्यवाणियों को (ब्रह्मन्=truth) **उपशृणुतम्**=सुनो। इन्द्र और विष्णु का उपासक सदा ज्ञानप्रवण व सत्य वक्ता होता है।

भावार्थ—शक्ति व उदारता की आराधना, इनका धारण, हमारी इन्द्रियों को शत्रुओं से अनाक्रान्त बनाता है। यह आराधना हमें प्रार्थनामय, ज्ञानप्रणव व सत्य वक्ता बनाती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**ब्राह्म्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'शक्ति व उदारता' की उपासना का लाभ

इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे।
अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्राविष्णू**=इन्द्र और विष्णु, शक्ति व उदारता के भावो! **वाम्**=आपका **तत्**=वह कर्म **पनयाय्यम्**=स्तुति के योग्य है कि **सोमस्य मदे**=सोम के मद में, सोमरक्षण से जनित उल्लास में आप **उरु चक्रमाथे**=विशाल पराक्रम को करते हो। आप इन्द्रियों, मन व बुद्धि तीनों को ही बड़ा सुन्दर बनाते हो। (२) आप **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **वरीयः**=विशालतर-खूब विशाल **अकृणुतम्**=करते हो और **नः**=हमारे **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन के लिये **रजांसि**=सब लोकों को **अप्रथतम्**=खूब विस्तृत कर देते हो। अर्थात् सब अंग-प्रत्यंगों को विकसित शक्तिवाला बनाते हो।

भावार्थ—शक्ति व उदारता की आराधना सोमरक्षण द्वारा विशाल पराक्रम की जनक होती है। इससे हृदय विशाल बनता है, तथा सब अंग-प्रत्यंग विकसित शक्तिवाले होते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्राद्वाना

इन्द्राविष्णू हविषा वावृधानाग्राद्वाना नमसा रातहव्या।
घृतासुती द्रविणं धत्तमस्मे समुद्रः स्थः कलशः सोमधानः॥ ६ ॥

(१) **इन्द्राविष्णू**=शक्ति व उदारता के दिव्य भावो! **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **वावृधाना**=हमारे अन्दर आप निरन्तर बढ़ते हो। त्यागपूर्वक अदन से 'शक्ति व उदारता' की वृद्धि होती है **अग्राद्वाना**=ये इन्द्र और विष्णु भोजनों से उत्पन्न सर्वाग्रणी (=सर्वश्रेष्ठ) सोम के भक्षण करनेवाले होते हैं, सोम का ये शरीर में ही रक्षण करते हैं। **नमसा रातहव्या**=नमन के साथ ये हवि के देनेवाले हैं। अर्थात् हमें ये नम्रता व यज्ञशीलता को प्राप्त कराते हैं। (२) **घृतासुती**=तेज व दीप्ति को हमारे में ये उत्पन्न करनेवाले हैं। **अस्मे**=हमारे लिये हे इन्द्राविष्णू! **द्रविणं धत्तम्**=धन

को धारण कीजिये। आप **समुद्रः स्थः**=समुद्र की तरह होते हो। आप **सोमधानः कलशः**=सोम के आधारभूत कलश ही हो, अर्थात् आपके द्वारा इस शरीर कलश में सोम का रक्षण होता है।

भावार्थ—शक्ति व उदारता के भावों की उपासना हमें 'त्याग, नम्रता, यज्ञशीलता' को प्राप्त कराती है और हमारे लिये उत्तम धनों का धारण करती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्राविष्णू' का सोमपान

इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्य सोमस्य दस्रा जठरं पृणेथाम्।
आ वामन्धांसि मदिराण्यग्मन्नुप ब्रह्माणि शृणुतं हवं मे॥७॥

(१) **इन्द्राविष्णू**=हे शक्ति व उदारता के भावो! **अस्य**=इस **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **सोमस्य**=सोम का **पिबतम्**=पान करो, शरीर में सोम को सुरक्षित करो। हे **दस्रा**=सोमरक्षण द्वारा सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले इन्द्र और विष्णु! आप सोम के द्वारा **जठरम्**=जठर को, उदर को **पृणेथाम्**=पूरित करो। शरीर को सुरक्षित सोम से भरनेवाले होवो। (२) **वाम्**=आपको **मदिराणि**=आनन्द व उल्लास को देनेवाले **अन्धांसि**=आध्यातव्य, सोम **आ अग्मन्**=प्राप्त हों। हे इन्द्राविष्णू! आप **मे**=मेरे **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को तथा **हवम्**=पुकार को **उपशृणुतम्**=समीपता से सुननेवाले होइये। अर्थात् मैं स्तवन व प्रार्थना की वृत्तिवाला बनूँ।

भावार्थ—शक्ति व उदारता की उपासना हमें सोमरक्षण के योग्य बनाये। यह हमारे अन्दर स्तुति व प्रार्थना की वृत्ति को पैदा करे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

(त्रेधा सहस्रं) इन्द्र और विष्णु का विजय

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥८॥

(१) **उभा**=इन्द्र और विष्णु दोनों, शक्ति व उदारता के भाव दोनों ही **जिग्यथुः**=विजय को प्राप्त होते हैं **न पराजयेथे**=ये पराजित नहीं होते। **एनोः**=इन दोनों में से **कतरः चन**=कोई भी एक **पराजिग्ये**=पराजित नहीं होता। (२) **इन्द्रः च विष्णो**=इन्द्र और हे विष्णो! आप दोनों **यत्**=जब **अपस्पृधेथाम्**=संघर्ष में असुरों का मुकाविला करते हो तो **तत्**=उस **त्रेधा**=तीन प्रकार से स्थित-लोक वेद वाग् आत्मा के रूप से विद्यमान **सहस्रम्**=(अमितं) अनन्त ऐश्वर्य को अपने में **वि ऐरयेथाम्**=प्रेरित करते हो। ये इन्द्र और विष्णु-शक्ति व उदारता के भाव हमारे अंगों (लोक) को ठीक रखते हैं, हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं (वेद) हमारी वाणी को परिष्कृत करते हैं (वाग्)।

भावार्थ—जब हम शक्ति व उदारता के भाव का आराधन करते हैं तो विजय ही विजय को प्राप्त करते हैं, कभी पराजित नहीं होते। हमारे 'अंग ज्ञान व वाणी' सब बड़े ठीक विकासवाले होते हैं।

अगले सूक्त में 'द्यावापृथिव्यौ' देवता हैं—

[७०] सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'घृतवती मधुदुघे' द्यावापृथिवी

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥ १॥

(१) **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **घृतवती**=दीप्तिवाले हैं। **भुवनानाम्**=सब प्राणियों के **अभिश्रिया**=आश्रयणीय होते हैं। **उर्वी**=ये विशाल हैं, **पृथ्वी**=अपने कार्यों से प्रथित=विस्तृत व फैले हुए हैं। **मधुदुघे**=ये माधुर्य का दोहन (पूरण) करनेवाले हैं। **सुपेशसा**=उत्तम आकृतिवाले हैं। (२) ये द्यावापृथिवी **वरुणस्य**=उस प्रचेता-प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु की **धर्मणा**=धारक शक्ति से **विष्कभिते**=थामे गये हैं। **अजरे**=कभी जीर्ण होनेवाले नहीं तथा **भूरिरेतसा**=बहुत शक्तिवाले हैं। द्यावापृथिवी की अनुकूलता से हमारा शरीर व मस्तिष्क सभी शक्ति-सम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी की अनुकूलता हमें दीप्ति व शक्ति प्राप्त कराती है। ये हमारे जीवन में माधुर्य का दोहन करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

हितकर शक्ति का संचार

असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते।
राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम्॥ २॥

(१) **असश्चन्ती**=परस्पर सक्त न होते हुए (असज्यमाने), एक-दूसरे से दूर विद्यमान, **भूरिधारे**=खूब ही धारण शक्ति से युक्त **पयस्वती**=आप्यायन व वर्धन के तत्त्वोंवाले, **शुचिव्रते**=पवित्र व्रतोंवाले ये द्यावापृथिवी **सुकृते**=शुभ कर्म करनेवाले के लिये **घृतं दुहाते**=मलों के क्षरण व दीप्ति को प्रपूरित करते हैं। (२) **अस्य**=इस **भुवनस्य**=भुवन का **राजन्ती**=शासन करते हुए **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **अस्मे**=हमारे लिये **रेतः**=उस शक्ति का **सिञ्चतम्**=सेचन करें, **यत्**=जो शक्ति **मनुर्हितम्**=विचारशील पुरुष के लिये हितकर है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी हमारे जीवन में उस शक्ति का संचार करते हैं, जो हमारे लिये हितकर होती है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋजुक्रमण व सत् सन्तान

यो वामृजवे क्रमणाय रोदसी मर्तो ददाश धिषणे स साधति।
प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि युवोः सिक्ता विषुरूपाणि सव्रता॥ ३॥

(१) हे **धिषणे**=धारण करनेवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी **यः**=जो **मर्तः**=मनुष्य **ऋजवे क्रमणाय**=ऋजु (सरल) मार्ग से गति के लिये **वां ददाश**=आपके प्रति अपना अर्पण करता है, **स साधति**=वह अपनी कामनाओं को सिद्ध कर पाता है। द्यावापृथिवी के प्रति अपने को दे डालने का भाव यही है कि मस्तिष्क (द्यावा) व शरीर (पृथिवी) का पूरा ध्यान करना। सरल मार्ग से चलता हुआ पुरुष मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ रख पाता है। इनका स्वास्थ्य उसकी सब

कामनाओं को पूर्ण करता है। (२) यह व्यक्ति **धर्मणः परि**=धर्मपूर्वक **प्रजाभिः प्रजायते**=पुत्र-पौत्र आदि से फलता-फूलता है। हे द्यावापृथिवी! **युवोः**=तुम्हारे द्वारा **विषुरूपाणि**=विशिष्ट उत्तम रूपवाले **सव्रता**=आपके समान व्रतोंवाले सन्तान **सिक्ता**=सिक्त होते हैं। 'द्यौरहं पृथिवी त्वं' इस वर से उच्चारण किये जानेवाले वाक्य में 'द्यौः' पिता है, 'पृथिवी' माता है। ये विशिष्ट उत्तम रूपवाले, उत्तम व्रती सन्तान को जन्म देते हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी के प्रति अपने को दे डालने का भाव यह है कि हम मस्तिष्क व शरीर का पूरा ध्यान करें। ऐसा होने पर हम सदा ऋजुमार्ग से चलते हैं और पुत्र-पौत्रों से फलते हुए सदा सव्रत सन्तानों को ही प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'घृतश्रिया घृतपृचा' द्यावापृथिवी

घृतेन द्यावापृथिवी अभीवृते घृतश्रिया घृतपृचा घृतावृधा।
उर्वी पृथ्वी होतृवूर्ये पुरोहिते ते इद्विप्रा ईळते सुम्नमिष्टये॥ ४॥

(१) **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **घृतेन**=उदक से व दीप्ति से **अभीवृते**=आवृत हैं। **घृतश्रिया**=उदक व दीप्ति से आश्रयणीय हैं। **घृतपृचा**=उदक व दीप्ति के सम्पर्कवाले हैं। **घृतावृधा**=हमारे जीवनों में भी रेतःकणरूप जलों को व दीप्ति को बढ़ानेवाले हैं। (२) **उर्वी**=विस्तृत हैं, **पृथ्वी**=प्रथित हैं, अपने कर्मों से सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। **होतृवूर्ये**=होताओं का जिनमें वरण होता है, उन यज्ञों में **पुरोहिते**=ये द्यावापृथिवी पुरस्कृत होते हैं, 'द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा' इन शब्दों से ये यज्ञों को प्रारम्भ करते हैं। **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **ते इत्**=इन द्यावापृथिवी से ही **इष्टये**=यज्ञों के लिये **सुम्नम्**=सुख को **ईडते**=याचित करते हैं। वस्तुतः मस्तिष्क (द्यावा) व शरीर (पृथिवी) का सुख होने पर ही यज्ञ प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—ये द्यावापृथिवी उदक व दीप्ति से आवृत हैं। ये ही हमारे जीवनों में रेतःकण रूप उदक के द्वारा शरीर को स्वस्थ बनाते हैं और ज्ञानदीप्ति से मस्तिष्क को उज्ज्वल करते हैं। ये हमें सुखी करके यज्ञों में समर्थ करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'माधुर्य के सेचक' द्यावापृथिवी

मधु नो द्यावापृथिवी मिमिक्षतां मधुश्चुता मधुदुघे मधुव्रते।
दधाने यज्ञं द्रविणं च देवता महि श्रवो वाजमस्मे सुवीर्यम्॥ ५॥

(१) **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हमारे लिये **मधु**=माधुर्य को **मिमिक्षताम्**=सिक्त करें। **मधुश्चुता**=ये माधुर्य को क्षरित करनेवाले हैं, **मधुदुघे**=माधुर्य का हमारे में दोहन (पूरण) करनेवाले हैं। **मधुव्रते**=माधुर्ययुक्त कर्मोंवाले हैं। द्युलोक वृष्टि जल के द्वारा माधुर्य का वर्षण करता है तथा पृथिवीलोक उत्तम अन्न के द्वारा माधुर्य को प्राप्त कराता है। (२) ये द्यावापृथिवी हमारे जीवनों में **यज्ञम्**=यज्ञ को, **च**=और **द्रविणम्**=धन को **दधाने**=धारण करते हैं। **देवता**=देवतारूप ये द्यावापृथिवी **अस्मे**=हमारे लिये **महि श्रवः**=महनीय ज्ञान को **वाजम्**=बल को तथा **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को धारण करें।

भावार्थ—द्यावापृथिवी माधुर्य को क्षरित करनेवाले हैं। ये हमारे लिये 'यज्ञ, द्रविण, ज्ञान,

बल व वीर्य' का धारण करें।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ऊर्ज्, सनि, वाज, रयि' के दाता द्यावापृथिवी

ऊर्जं नो द्यौश्च पृथिवी च पिन्वतां पिता माता विश्ववि॒दा सु॒दंस॑सा।
संरराणे रोदसी विश्वशम्भुवा सनिं वाजं रयिमस्मे समिन्वताम्॥ ६॥

(१) वृष्टि जल के सेचन के कारण द्युलोक पिता के समान है। उस जल का धारण करने के कारण पृथिवी माता है। **नः**=हमारे लिये **पिता**=पितृ तुल्य **द्यौः च**=यह द्युलोक तथा **माता पृथिवी च**=मातृ तुल्य यह पृथिवीलोक **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को देनेवाले अन्न को **पिन्वताम्**=प्राप्त करायें। ये माता-पिता ही **विश्वविदा**=सब आवश्यक चीज़ों को प्राप्त करानेवाले हैं (विद् लाभे) तथा **सुदंससा**=उत्तम कर्मोंवाले हैं। (२) **संरराणे**=उपकार्योपकारक भाव से साथ-साथ रममाण होते हुए **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **विश्वशम्भुवा**=सब शान्तियों को देनेवाले हैं, सब त्रिविध दुःखों को दूर करनेवाले हैं। ये **अस्मे**=हमारे लिये **सनिम्**=सम्भजनीय पुत्रादि को, **वाजम्**=बल को और **रयिम्**=ऐश्वर्य को **समिन्वताम्**=प्रेरित करें।

भावार्थ—द्यावापृथिवी हमारे माता-पिता हैं। ये हमें 'ऊर्ज्, वाज, रयि व सनि' को प्राप्त करायें। पौष्टिक अन्न, बल, धन व सम्भजनीय पुत्र को दें।

अगले सूक्त में 'सविता' (सूर्य) देवता है—

[७१] एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सूर्य की हितरमणीय भुजाएँ

उदु ष्य दे॒वः स॑वि॒ता हि॑र॒ण्यया॑ बा॒हू अ॑यंस्त॒ सव॑नाय सु॒क्रतुः॑।
घृ॒तेन॑ पा॒णी अ॒भि प्रु॑ष्णुते म॒खो युवा॑ सु॒दक्षो॒ राज॑सो॒ विध॑र्मणि॥ १॥

(१) **स्यः**=वह **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=सर्वत्र प्राणशक्ति को जन्म देनेवाला सूर्य **उ**=निश्चय से **हिरण्यया बाहू**=अपनी हित रमणीय भुजाओं को **उद् अयंस्त**=ऊपर थामता है, उदित करता है। यह **सुक्रतुः**=उत्तम शक्तिवाला सूर्य **सवनाय**=यज्ञों के लिये हमें प्रेरित करता है। (२) यह सूर्य **पाणी**=अपने किरणरूप हाथों को **घृतेन**=उदक से **अभि प्रुष्णुते**=सिक्त करता है। जल को किरणों के द्वारा वाष्परूप में ऊपर सूर्य ही तो ले जाता है और फिर यह सूर्य ही इन जलों को बरसाता है। **मखः**=यह यज्ञशील है, सूर्योदय के होने पर ही सब यज्ञों का उपक्रम होता है। **युवा**=नित्यतरुण है, यह सूर्य अपनी किरणों से मलों का दहन करता हुआ हमारे अन्दर शक्ति का संचार करता है 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' **सुदक्षः**=उत्तम बुद्धि का यह कारण है। **राजसः विधर्मणि**=यह सूर्य उदक के धारण में स्थित है। हमारे शरीरों के अन्दर रेतःकण रूप जलों की ऊर्ध्वगति का ये प्रातः सूर्य की किरणें कारण बनती हैं।

भावार्थ—सूर्य उदय होता है, यज्ञों की प्रेरणा देता है, हमारी वृद्धि का कारण बनता है, शरीर में रेतःकणरूप जलों की ऊर्ध्वगति व धारण का हेतु बनता है।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सविता देव की प्रेरणा में 'दानशीलता'

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने।
यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः ॥ २ ॥

(१) **वयम्**=हम **सवितुः**=उस सर्वोत्पादक व सर्वप्रेरक **देवस्य**=प्रकाशमय सर्वदाता प्रभु की **सवीमनि**=प्रेरणा में **वसुनः**=धन के **श्रेष्ठे दावने**=उत्तम दान में **स्याम**=हों। प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त करके हम सदा धनों का दान करनेवाले हों। (२) उस प्रभु की प्रेरणा में हम दान दें **यः**=जो **विश्वस्य**=सब **द्विपदः**=दो पाँववाले मनुष्यों और **भूमनः**=बहुत प्रकार के **चतुष्पदः**=इन पशुओं के **निवेशने**=स्थापन व धारण में **च**=तथा **प्रसवे**=उत्पादन में **असि**=स्थित हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब दो पाँववालों व चार पाँववालों को उत्पन्न करते हैं व धारण करते हैं। इस प्रभु की उत्तम प्रेरणा में हम सदा दान देनेवाले हों।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु का 'अदब्ध शिव' रक्षण

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वं शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत ॥ ३ ॥

(१) हे **सवितः**=सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभो! (प्रकृति के दृष्टिकोण से सर्वोत्पादक, जीव के दृष्टिकोण से सर्वप्रेरक) **त्वम्**=आप **अदब्धेभिः**=अहिंसित **शिवेभिः**=कल्याण करनेवाले **पायुभिः**=रक्षणों से **अद्य**=आज **नः**=हमारे **गयम्**=शरीररूप गृह को **परिपाहि**=सर्वतः सुरक्षित करिये। (२) **हिरण्यजिह्वः**=हितरमणीय जिह्वावाले आप **नव्यसे**=नवतर, अत्यन्त स्तुत्य **सुविताय**=सुवित के लिये, दुरित को दूर करने के लिये **रक्षा**=हमारा रक्षण करिये। **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला **नः**=हमारा **माकिः**=मत **ईशत**=ईश बने। हम अघशंस के वशीभूत न हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभु के अहिंसित शिव रक्षण हमें प्राप्त हों। प्रभु की हितरमणीय प्रेरणा हमें प्राप्त हो। हम बुराइयों का शंसन करनेवालों के दबाव में न आ जाएँ।

ऋषिः—भरद्वाजो बार्हस्पत्यः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'हिरण्यपाणि अयोहनु' सूर्य

उदु ष्य देवः सविता दमूना हिरण्यपाणिः प्रतिदोषमस्थात्।
अयोहनुर्यजतो मन्द्रजिह्व आ दाशुषे सुवति भूरि वामम् ॥ ४ ॥

(१) **स्यः**=वह **देवः सविता**=प्रकाशमय सूर्य **प्रतिदोषम्**=प्रत्येक रात्रि की समाप्ति पर **उत् उ अस्थात्**=उदय होता ही है। यह सूर्य **दमूनाः**=दान के मनवाला होता है, हमारे लिये प्रकाश व प्राणशक्ति को देना चाहता है। **हिरण्यपाणिः**=इसके किरण रूप हाथों में स्वर्ण होता है, यह प्रातः का सूर्य अपने किरणरूप हाथों से स्वर्ण का हमारे शरीर में प्रवेश कराता है। (२) यह **अयोहनुः**=लोहे के बने अस्त्रवाला है (हनु=weapon) अपने लोहास्त्र से सब रोगकृमियों का संहार करता है। **यजतः**=इसीलिए संगतिकरण योग्य है, हम सूर्य के सम्पर्क में आयेंगे, तो सूर्य का रोगकृमियों का संहार करेगा। **मन्द्रजिह्वः**=यह मोदमान वाणीवाला है, हमारी जिह्वा को उत्तम बनानेवाला है। **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिये यह **भूरि वामम्**=सुन्दर धन को

आसुवति=प्रेरित करता है, प्राप्त कराता है। सूर्योदय होने पर सूर्याभिमुख होकर यज्ञ करनेवाले पुरुष को यह सूर्य स्वास्थ्य आदि सुन्दर धनों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सूर्य अपनी किरणों से हमारे शरीर में स्वर्ण का प्रवेश करता है। यह अपने किरणरूप लोहास्त्रों से रोग कृमियों का नाश करता है, हमारी जिह्वा को उत्तम मधुर शब्द बोलनेवाली बनाता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपवक्ता इव (एक व्याख्याता की तरह)

उदू अयाँ उपवक्तेव बाहू हिरण्यया सविता सुप्रतीका।
दिवो रोहांस्यरुहत्पृथिव्या अरीरमत्पतयत्कच्चिदभ्वम्॥ ५ ॥

(१) **उपवक्ता इव**=एक अधिवक्ता (व्याख्याता) की तरह **सविता**=यह सूर्य **हिरण्यया**=हितरमणीय **सुप्रतीका**=शोभन अवयवोंवाली **बाहू**=अपनी किरणरूप भुजाओं को **उ**=निश्चय से **उद् अयान्**=उद्यत करता है। (२) यह सूर्य **पृथिव्याः**=इस पृथिवी से **दिवः रोहांसि**=द्युलोक के उच्छ्रित प्रदेशों को **अरुहत्**=आरूढ़ होता है। उदयकाल में पृथिवी पर प्रतीत होता है। अब यह आकाश में ऊपर उठता प्रतीत होता है, आकाश में आरूढ़ हो जाता है। **पतयत्**=गति करता हुआ यह सूर्य **कच्चित्**=जो कुछ **अभ्वम्**=महान् यह जगत् है उसे **अरीरमत्**=यह रमणयुक्त करता है। सूर्य के अस्त हो जाने पर सर्वत्र अन्धकार था। अब सूर्योदय के होने पर यह जगत् विशाल हो उठता है, सर्वत्र आनन्द प्रतीत होता है।

भावार्थ—एक व्याख्याता की तरह सूर्य किरण रूप भुजाओं को ऊपर उठाता है। इन किरणों के द्वारा ही वह उठने व यज्ञादि करने की प्रेरणा देता है। सारे संसार को विशाल व रमणवाला कर देता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वामभाजः स्याम

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यं सावीः।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम॥ ६ ॥

(१) हे **सवितः**=सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक प्रभो! **अद्य**=आज **वामम्**=सुन्दर धन को **अस्मभ्यं सावीः**=हमारे लिये दीजिये। **उ**=और **श्वः**=कल भी, आनेवाले दिन में भी **वामम्**=सुन्दर ही धन को दीजिये। **दिवे दिवे**=प्रतिदिन हमारे लिये **वामम्**=सुन्दर धन को ही हमें दीजिये। (२) हे **देव**=सर्वप्रदातः प्रभो! आप **हि**=ही **क्षयस्य**=निवास के कारणभूत **भूरेः**=बहुत व पर्याप्त **वामस्य**=सुन्दर धन के आप दाता हैं। सो **अया धिया**=इस बुद्धिपूर्वक की गई स्तुति के द्वारा हम **वामभाजः स्याम**=सुन्दर धनों का सेवन करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें सदा उत्तम धनों को प्राप्त करायें।

अगले सूक्त के देवता 'इन्द्रासोमौ' है—

[७२] द्विसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्योदय तथा प्रकाश व सुख की प्राप्ति

इन्द्रासोमा महि तद्वां महित्वं युवं महानि प्रथमानि चक्रथुः।
युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्व१र्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च॥ १॥

(१) 'इन्द्र' बल का प्रतीक है और 'सोम' सौम्यता का। हम बलवान् बनकर सौम्य बने रहें। हे **इन्द्रासोमा**=बल व सौम्यता के दिव्य भावो! **वाम्**=आपका **तत्**=वह **महि महित्वम्**=महान् महत्त्व है कि **युवम्**=आप मनुष्यों को **महानि**=महान् व **प्रथमानि**=मुख्य स्थान में स्थित **चक्रथुः**=करते हो। (२) **युवम्**=आप दोनों **सूर्यं विविदथुः**=ज्ञान सूर्य को प्राप्त कराते हो। **युवम्**=आप **स्वः**=सुख को प्राप्त कराते हो। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा जीवन को सुखी बनाते हुए आप **विश्वा**=सब **तमांसि**=अन्धकारों को **निदः च**=और निन्दित पापों को **अहतम्**=विनष्ट करते हो। हमें ये बल व सौम्यता, पाप व अन्धकार से दूर करके ही तो सुखी करते हैं।

भावार्थ—हम सबल बनें, साथ ही सौम्य (विनीत) बनें। इस प्रकार हमारे जीवन में ज्ञान सूर्य का उदय होकर सुख व प्रकाश होगा। हम पापों व अन्धकारों से दूर होकर सुखमय जीवन बितायेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्योदय

इन्द्रासोमा वासयथ उषासमुत्सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह।
उप द्यां स्कम्भथुः स्कम्भनेनाप्रथतं पृथिवीं मातरं वि॥ २॥

(१) हे **इन्द्रासोमा**=बल व सौम्यता के दिव्य भावो! आप **उषासं वासयथः**=हमारे जीवनों के उषाकाल को उत्तमता से बिताते हो और **ज्योतिषा सह**=ज्योति के साथ **सूर्यम्**=ज्ञान सूर्य को **उत् नयथः**=उन्नत करते हो। (२) आप **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **स्कम्भनेन**=आधारभूत स्काम से **स्कम्भथुः**=थामने हो। शरीर में बल तथा हृदय में सौम्यता ये मिलकर मस्तिष्करूप द्युलोक के स्तम्भ बनते हैं। आप ही **मातरम्**=मातृ तुल्य **पृथिवीम्**=इस पृथिवी का **वि अप्रथतम्**=विशेषरूप से विस्तार करते हो। शरीर ही पृथिवी है। इन्द्र और सोम इस पृथिवी को विस्तृत शक्तिवाला बनाते हैं।

भावार्थ—बल व सौम्यता से जीवन का उषाकाल सुन्दरता से बीतता है। जीवन में ज्ञानसूर्य का उदय होता है। मस्तिष्क व शरीर दोनों का धारण होता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समुद्र-प्रथन

इन्द्रासोमावहिमपः परिष्ठां हथो वृत्रमनु वां द्यौरमन्यत।
प्रार्णांस्यैरयतं नदीनामा समुद्राणि पप्रथुः पुरूणि॥ ३॥

(१) **अपः परिष्ठाम्**=रेतःकण रूप जलों को घेरकर स्थित होनेवाली **अहिम्**=(आहन्तारं) विनाशक **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को, हे **इन्द्रासोमा**=बल व सौम्यता के भावो! आप

हथः=विनष्ट करते हो। **वाम्**=आपके **अनु**=अनुसार **द्यौः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक **अमन्यत**=मनन करनेवाला होता है, ज्ञानदीप्ति से दीप्त होता है। (२) आप ही **नदीनाम्**=ज्ञान की नदियों के **अर्णांसि**=ज्ञान जलों को **प्रऐरयतम्**=प्रकर्षेण प्रेरित करते हो। और हमारे जीवनों में **पुरूणि**=महान् **समुद्राणि**=ज्ञान समुद्रों को आप **प्रथुः**=विस्तृत करते हो 'सरस्वती' के ज्ञानजल के प्रवाह इन्द्र सोम के द्वारा ही प्रवाहित होते हैं और ज्ञान-समुद्र का उद्भव होता है।

भावार्थ—बल व सौम्यता के भावों का आराधन (क) वासना को विनष्ट करता है, (ख) ज्ञान की वृद्धि करता है, (ग) ज्ञान जलों को प्रवाहित कर हमारे जीवनों में ज्ञान समुद्र का उद्भव क़रता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य व चन्द्र के द्वारा गौवों परिपक्व दुग्ध की स्थापना

इन्द्रासोमा पक्वमामास्वन्तर्नि गवामिद्दधथुर्वक्षणासु।
जगृभथुरनपिनद्धमासु रुशच्चित्रासु जगतीष्वन्तः ॥ ४ ॥

(१) 'इन्द्र' सूर्य है तो 'सोम' चन्द्रमा। ये **इन्द्रासोमा**=सूर्य और चन्द्र **गवाम्**=गौवों के **आमासु**=अपरिपक्व **वक्षणासु अन्तः**=ऊधस् प्रदेशों में **पक्वम्**=पक्व (गर्म) दुग्ध को **इत्**=निश्चय से **निदधथुः**=धारण करते हैं। सूर्य अपनी किरणों के द्वारा दुग्ध में प्राणशक्ति की स्थापना करता है और चन्द्रमा इस दुग्ध को रसमय बनाता है। सूर्य और चन्द्र मिलकर दूध का ठीक से परिपाक करते हैं। (२) **आसु**=इन **चित्रासु**=भिन्न-भिन्न वर्णोंवाली **जगतीषु**=गौवों के **अन्तः**=अन्दर **अन पिनद्धम्**=किसी से न बाँधे गये **रुशत्**=देदीप्यमान दूध को **जगृभथुः**=धारण करते हैं। इस प्रकार धारण करते हैं कि वह दूध स्वयं पृथिवी पर टपक नहीं पड़ता। यह सब साधारण-सी बात है। परन्तु इसमें भी प्रभु की रचना का महत्त्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ—प्रभु ने सूर्य व चन्द्र के द्वारा गौवों के अपरिपक्व ऊधस् प्रदेशों में परिपक्व दूध की स्थापना की है। **अनपिनद्ध**=न बँधे हुए इस **ऊधस्**=में वह देदीप्यमान दुग्ध को इस प्रकार स्थापित करता है यह दूध पृथिवी पर नहीं पड़ता।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन+बल

इन्द्रासोमा युवमङ्ग तरुत्रमपत्यसाचं श्रुत्यं रराथे।
युवं शुष्मं नर्यं चर्षणिभ्यः सं विव्यथुः पृतनाषाहमुग्रा ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्रासोमा**=बल व सौम्यता के दिव्य भावो! **युवम्**=आप दोनों **अंग**=शीघ्र ही उस धन को **रराथे**=हमारे लिये देते हो, जो **तरुत्रम्**=आपत्तियों से तरानेवाला है, विषय वासनाओं में न फँसानेवाला है। **अपत्यसाचम्**=उत्तम सन्तान से युक्त है तथा **श्रुत्यम्**=श्रवणीय है, हमें यशस्वी बनानेवाला है। (२) हे **उग्रा**=तेजस्वी इन्द्र और सोम! **युवम्**=आप **चर्षणिभ्यः**=श्रमशील मनुष्यों के लिये **नर्यम्**=नरहितकारी **पृतनाषाहम्**=शत्रु-सैन्यों के अभिभावुक **शुष्मम्**=बल को **संविव्यथुः**=परिवेष्टित करते हो, ऐसे बल से उन्हें आच्छादित करते हो। इस बल से युक्त होकर वे सब शत्रुओं को जीतते हैं।

भावार्थ—बल व सौम्यता के दिव्य भाव हमारे लिये उस धन को देते हैं जो आपत्तियों से तरानेवाला, उत्तम सन्तान से युक्त व हमें यशस्वी बनानेवाला है। ये हमें उस बल को देते हैं जो नरहितकारी व शत्रुशैन्य का पराजय करनेवाला है।

अगले सूक्त का देवता 'बृहस्पति' है—

[७३] त्रिसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अद्रिभित्' बृहस्पति

यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत्पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति॥ १॥

(१) **यः**=जो प्रभु **अद्रिभित्**=हमारे अविद्या पर्वत का विदारण करनेवाले हैं। **प्रथमजाः**=सृष्टि से पूर्व ही विद्यमान हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'। **ऋतावा**=ऋतवाले हैं, प्रभु के तीव्र तप से ही ऋत की उत्पत्ति होती है 'ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'। **बृहस्पतिः**=(ब्रह्मणस्पतिः) वेदज्ञान के रक्षक हैं। **आंगिरसः**=उपासकों के अंग-प्रत्यंग में रस का संञ्चार करनेवाले हैं। **हविष्मान्**=प्रशस्त हविवाले हैं, सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं। (२) **द्विबर्हज्मा**=दोनों लोकों में प्रवृद्ध गतिवाले हैं (द्वि-बर्ह-ज्मा) द्युलोक व पृथिवीलोक में सर्वत्र प्रभु की क्रिया विद्यमान है। **प्राघर्मसत्**=प्रकृष्ट तेज में आसीन होनेवाले हैं, तेजःपुञ्ज हैं, तेज ही तेज हैं। **नः पिता**=हम सबके पिता हैं। **वृषभः**=ये सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु हैं **रोदसी**=इन द्यावापृथिवी में **आरोरवीति**=खूब ही गर्जना करते हैं। इन लोकों में स्थित सब मनुष्यों के हृदयों में स्थित होकर उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करते हैं। अच्छे कर्मों में उत्साह व बुरे कर्मों में भय, शंका व लज्जा प्रभु ही तो प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के स्वामी प्रभु ही हमारे अविद्या पर्वत का विदारण करते हैं। हमें तेजस्वी बनाते हैं। हृदयस्थ रूपेण कर्तव्य की प्रेरणा देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पुरः विदर्दरीति

जनाय चिद्य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन्वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूँरमित्रान्पृत्सु साहन्॥ २॥

(१) **यः बृहस्पतिः**=जो ज्ञान के स्वामी प्रभु हैं, वे **ईवते जनाय**=गतिशील-आलस्यशून्य-मनुष्य के लिये **चित् उ**=पूर्ण निश्चय से **देवहूतौ**=यज्ञों में **लोकम्**=स्थान को **चकार**=करते हैं। अर्थात् वे ज्ञानस्वरूप (चित् रूप) प्रभु पुरुषार्थी मनुष्य को यज्ञ की रुचिवाला बनाते हैं। (२) इस प्रकार यज्ञरुचि बनाकर प्रभु **वृत्राणि घ्नन्**=इसकी वासनाओं को नष्ट करते हुए **पुरः विदर्दरीति**=काम-क्रोध-लोभ की नगरियों का विदारण कर देते हैं। इसके **शत्रून्**=इन काम आदि शत्रुओं को **जयन्**=जीतते हुए, **पृत्सु**=संग्रामों में **अमित्रान्**=द्वेष आदि रूप अमित्र भूत भावनाओं को **साहन्**=पराभूत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु कर्मशील पुरुष को यज्ञशील बनाते हैं। इसके आसुर भावों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अपः स्वः' सिषासन्

बृहस्पतिः समजयद्वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।
अपः सिषासन्त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः॥ ३॥

(१) **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **वसूनि**=निवास के लिये आवश्यक सब धनों को हमारे लिये **समजयत्**=जीतते हैं। **एषः देवः**=ये हमारे लिये शत्रुओं को पराजित करने की कामनावाले प्रभु (दिव् विजिगीषा) **महः**=महत्त्वपूर्ण **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **व्रजान्**=बाड़ों को (cow-shed) हमारे लिये जीतते हैं। अर्थात् प्रभु सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं और प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं। (२) ये **अप्रतीतः**=किसी से भी प्रतिगत न होनेवाले, न रोके जानेवाले, प्रभु **अपः**=रेतःकणरूप जलों को तथा **स्वः**=प्रकाश को **सिषासन्**=हमारे साथ सम्भक्त करने की कामनावाले हैं। **बृहस्पतिः**=ये ज्ञान के स्वामी प्रभु **अर्कैः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों के द्वारा **अमित्रं हन्ति**=हमारा विनाश करनेवाली द्वेष आदि की भावनाओं को **हन्ति**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के स्वामी प्रभु हमें वसुओं को प्राप्त कराते हैं, प्रशस्त इन्द्रियों को देते हैं। रेतःकणों को व प्रकाश को प्राप्त कराते हुए ये ज्ञान के स्वामी प्रभु मन्त्रों द्वारा द्वेष आदि अमित्रभूत भावनाओं को विनष्ट करते हैं।

अगले सूक्त के देवता 'सोमारुद्रौ' हैं सौम्य, परन्तु शत्रुओं के लिये भयङ्कर अथवा सोमरक्षण के द्वारा रोगों का द्रावण करनेवाले। सोमरक्षण रोगविनाश का हेतु तो है ही—

[७४] चतुःसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सोम और रुद्र' का आराधन

सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यं१ प्र वामिष्टयोऽरमश्नुवन्तु।
दमेदमे सप्त रत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे॥ १॥

(१) हे **सोमारुद्रा**=सोमरक्षण व रोगद्रावण के भावो! **असुर्यम्**=बल को हमारे लिये **धारयेथाम्**=धारण करो। **वाम्**=आपके **इष्टयः**=यज्ञ **अरम्**=पर्याप्त **प्र अश्नुवन्तु**=हमें व्याप्त करें। हम सदा सोम और रुद्र के उपासनात्मक यज्ञों को करनेवाले बनें। (२) **दमे दमे**=प्रत्येक शरीरगृह में **सप्त रत्ना**=सात रत्नों को, 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' रूप सात उत्तम चीजों को **दधाना**=धारण करते हुए ये सोम और रुद्र **नः**=हमारे लिये **शं भूतम्**=शान्ति को देनेवाले हों। हमारे **द्विपदे**=दो पाँववाले पुत्र आदि के लिये तथा **चतुष्पदे**=गवादि चतुष्पाद् पशुओं के लिये भी **शम्**=शान्ति को देनेवाले हों।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा रोगद्रावण के पवित्र भाव हमें सबल बनायें। हम सोम व रुद्र का ही आराधन करें। यह आराधना हमारे जीवनों में 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' रूप सात रत्नों का धारण करे तथा हमारे लिये शान्ति को देनेवाली हो।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'विषूची अमीवा' का उच्छेद

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश।
आरे बाधेथां निर्ऋतिं पराचैरस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु॥ २॥

(१) हे **सोमारुद्रा**=सोमरक्षण व रोगद्रावण के पवित्र भावो! **या**=जो रोग **नः**=हमारे **गयम्**=शरीररूप गृह में **आविवेश**=घुस आया है, उस **विषूचीम्**=भिन्न-भिन्न रूपों में गति करनेवाले **अमीवा (म्)**=रोग को **विवृहतम्**=जड़ से उखाड़ दो, हमारे से इसे पृथक् कर दो। (२) **निर्ऋतिम्**=इस रोग रूप अलक्ष्मी को **पराचैः**=दूरगमन साधनों से **आरे बाधेथाम्**=हमारे से दूर ही रोक दो। **अस्मे**=हमारे लिये **भद्रा**=कल्याणकर **सौश्रवसानि**=उत्तम यश व ज्ञान **सन्तु**=हों।

भावार्थ—सोम और रुद्र की आराधना से नीरोग बनकर, अलक्ष्मी को दूर करके हम कल्याणकर यशस्वी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सब रोगों का औषध

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्॥ ३॥

(१) हे **सोमारुद्रा**=सोमरक्षण व रोगद्रावण के भावो! **युवम्**=आप **अस्मे**=हमारे लिये **तनूषु**=शरीरों में **एतानि**=इन **विश्वा भेषजानि**=सब भेषजों को, औषधों को **धत्तम्**=धारण करो। वस्तुतः सुरक्षित सोम सब रोगों का औषध बनता ही है। (२) **नः**=हमारे **तनूषु**=शरीरों में **बद्धम्**=बंधा हुआ जो भी **एनः अस्मि**=पाप है, उसे **अवस्यतम्**=सुदूर समाप्त करो। **अस्मत्**=हमारे से **कृतं एनः**=किये हुए पाप को भी **मुञ्चतम्**=छुड़ाओ। सोमरक्षण से रोगों का द्रावण होने पर केवल शरीर ही नीरोग नहीं बनता, मन भी पवित्र बन जाता है।

भावार्थ—सोम और रुद्र की आराधना सब औषधों को प्राप्त कराता है। शरीर व मनोगत सब विकारों को दूर करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजो बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वरुण के पाश से छुटकारा

तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृळतं नः।
प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशाद्गोपायतं नः सुमनस्यमाना॥ ४॥

(१) हे **सोमारुद्रौ**=सोमरक्षण व रोगद्रावण के पवित्र भावो! आप **तिग्मायुधौ**=बड़े तीक्ष्ण धनुषवाले हो और **तिग्महेती**=तीक्ष्ण शरों (बाणों) वाले हो। **सुशेवौ**=उत्तम सुख को देनेवाले आप **इह**=इस जीवन में रोगविनाश के द्वारा, **नः**=हमारे लिये **सुमृडतम्**=उत्तम सुख को देनेवाले होइये। (२) ये सोम और **रुद्र नः**=हमें **वरुणस्य पाशात्**=वरुण के पास से **प्रमुञ्चतम्**=मुक्त करें। अनृतवादी को ही वरुण के पाश बाँधते हैं। ये सोम और रुद्र हमें अनृत से छुड़ाकर वरुण के पाशों से भी मुक्त करें। इस प्रकार **सुमनस्यमाना**=हमें शोभन मनवाला बनाते हुए ये सोम और रुद्र **नः**=हमें **गोपायतम्**=सुरक्षित करें।

भावार्थ—सोम और रुद्र का आराधन रोगविनाश द्वारा हमें सुखी बनाये। तथा यह आराधन हमें अनृत से छुड़ाकर सुरक्षित करे।

इस प्रकार सोम और रुद्र के आराधन से अपना रक्षण करनेवाला यह 'पायु' बनता है (पाति इति)। अपने में शक्ति को भरनेवाला 'भारद्वाज' तो यह है ही। यह युद्ध में सदा विजयी बनता है। युद्ध के एक-एक उपकरण का यह चित्रण करता है और कहता है—

[७५] पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**वर्म** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वर्म=कवच की महिमा

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु ॥ १ ॥

(१) **यत्**=अब **समदाम्**=संग्रामों के **उपस्थे**=उपस्थित होने पर एक योद्धा **वर्मी**=कवचवाला होकर, कवच को धारण करके **याति**=रणांगण में गति करता है तो इसका **प्रतीकम्**=रूप **जीमूतस्य इव**=जलों से परिपूर्ण मेघ के समान **भवति**=होता है। लोहे का बना हुआ कवच उस योद्धा को बिलकुल बादल के रंग का बना देता है। (२) हे सैनिक! **त्वम्**=तू **अनाविद्धया**=शत्रु के बाणों से न विंधे हुए **तन्वा**=शरीर से युक्त हुआ-हुआ **जय**=विजय को प्राप्त कर। **त्वा**=तुझे **सः**=वह **वर्मणः महिमा**=कवच की महिमा **पिपर्तु**=पालित करे। तू कवच के कारण शत्रुशरों से शीर्ण शरीरवाला न हो।

भावार्थ—कवच को धारण करके, मेघ के समानरूपवाला यह योद्धा शत्रुशरों से विद्ध शरीरवाला न हो और सदा विजयी बने।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**धनुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धनुष द्वारा विजय

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ॥ २ ॥

(१) **धन्वना**=धनुष के द्वारा, युद्ध के अस्त्रों के द्वारा **गाः**=हम शत्रुओं से चुरायी गयी गौवों को फिर से जीतनेवाले बनें। **धन्वना**=इस धनुष से **आजिम्**=संग्राम को **जयेम**=जीतें। **धन्वना**=इस धनुष से ही **तीव्राः**=बड़े उद्धत स्वभाववाले **समदः**=मदयुक्त शत्रुसैन्यों को **जयेम**=जीतनेवाले हों। (२) **धनुः**=यह हमारा धनुष **शत्रोः**=शत्रु की **अपकामं कृणोति**=विजय की कामना को समाप्त कर देता है। हमारे धनुष को देखकर शत्रु लौट जाता है, आक्रमण की इच्छा नहीं करता। **धन्वना**=इस धनुष के द्वारा **सर्वाः प्रदिशः**=सब विस्तृत दिशाओं को, इनमें स्थित व्यक्तियों को **जयेम**=हम जीतें।

भावार्थ—धनुष (आयुध) ही हमें युद्ध में विजयी बनाता है।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**ज्या** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्या (डोरी)

वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती ॥ ३ ॥

(१) **प्रियं सखायम्**=अपने मित्र सखा (पति) को **परिषस्वजाना**=आलिंगन करती हुई **योषा इव**=नारी की तरह, इषु का आलिंगन करती हुई **इयं ज्या**=यह डोरी **वक्ष्यन्ती इव**=कुछ कहना-सा चाहती हुई **कर्णं आगनीगन्ति**=कान के समीप आती है। (२) **अधि धन्वन्**=धनुष पर **वितता**=फैली हुई **समने पारयन्ती**=युद्ध में पार को प्राप्त करती हुई यह **ज्या शिङ्क्ते**=अव्यक्त ध्वनि करती है।

भावार्थ—धनुष से तीर चलाते समय धनुष की डोरी इस प्रकार धानुष्क के कान के समीप आती है, जैसे कि प्रिय पति को आलिंगन करती हुई नारी प्रिय कथन के लिये पति के कान के समीप आती है।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**आर्त्नी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आर्त्नी (धनुष्कोटी)

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे।
अप शत्रून्विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान्॥ ४॥

(१) **ते**=वे **आर्त्नी**=धनुष्कोटियाँ **समना योषा इव**=समान मनवाली (समनस्का) स्त्री की तरह **आचरन्ती**=आचरण करती हुई, जैसे वह स्त्री पति सान्निध्य को नहीं छोड़ती, उसी प्रकार धनुष के सान्निध्य को न छोड़ती हुई ये धनुष्कोटियाँ, **माता पुत्रं इव उपस्थे**=माता जैसे गोद में बच्चे का धारण करती है। इसी प्रकार ये धनुष्कोटियाँ **बिभृताम्**=सैनिक (योद्धा) का धारण करती हैं। (२) **इमे**=ये **संविदाने**=परस्पर संज्ञानवाली होती हुईं, विसंवाद रहित होती हुई, धनुष्कोटियाँ **अमित्रान्**=अमित्रों को **विष्फुरन्ती**=हिंसित करती हुई **शत्रून्**=शत्रुओं को **अपविध्यताम्**=विद्ध करके दूर भगा दें।

भावार्थ—धनुष्कोटियाँ योद्धा का धारण करनेवाली हों। परस्पर संज्ञानवाली होकर शत्रुओं को अपविद्ध करनेवाली हों।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**इषुधिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इषुधि (तरकस)

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः॥ ५॥

(१) इषुधि में बाण रखे जाते हैं, सो इषुधि इन बाणों का रक्षक होने से पिता है। बाण उसके पुत्र के समान हैं। यह **इषुधिः**=तरकस **बह्वीनां पिता**=बहुत से बाणों का पिता है। ये **बहुः**=बहुत से बाण **अस्य**=इस इषुधि के **पुत्रः**=पुत्र हैं यह **समना अवगत्य**=युद्ध में आकर **चिश्चा कृणोति**=बाण को निकालते समय होनेवाली इस अव्यक्त-सी 'चिश्चा' ध्वनि को करता है। (२) **च**=और **पृष्ठे निनद्धः**=सैनिक की पीठ पर बँधा हुआ यह तरकस **प्रसूतः**=अपने में से बाणों को शत्रु की ओर प्रेरित करता हुआ **सर्वाः**=सब **संकाः**=(समं कायन्ति शब्दायन्ते) मिलकर शब्द करनेवाली **पृतनाः**=सेनाओं को **जयति**=विजय करता है। इषुधि में स्थित बाण ही विजय का साधन बनते हैं।

भावार्थ—तरकस बाणों को अपने अन्दर सुरक्षित करता है। बाण मानो इसके पुत्र हैं, यह उनका पिता है। इससे निकले हुए बाण शत्रु-सैन्य को पराजित करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**सारथिः, रश्मयः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सारथि

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ॥ ६ ॥

(१) **रथे तिष्ठन्**=रथ पर स्थित हुआ-हुआ **सुषारथिः**=उत्तम सारथि **यत्र यत्र कामयते**=जहाँ-जहाँ चाहता है, वहाँ-वहाँ **वाजिनः**=घोड़ों को **पुरः नयति**=आगे ले जाता है। सारथि घोड़ों को हाँकता हुआ लक्ष्य स्थान पर रथ को प्राप्त कराता है। (२) वस्तुतः सारथि कितना भी कुशल हो, पर बिना लगाम के तो उसके लिये कुछ भी करने का सम्भव नहीं होता। सो कहते हैं कि **अभीशूनाम्**=रश्मियों की, लगाम की **महिमानम्**=महिमा को **पनायत**=स्तुत करो। ये **रश्मयः**=रश्मियाँ ही, लगामें ही **मनः पश्चात्**=मन के अनुकूल होती हुई, सारथि के मन के अनुसार **अनुयच्छन्ति**=घोड़ों का नियमन करती हैं।

भावार्थ—उत्तम सारथि लगाम के द्वारा घोड़ों को वश में रखता हुआ इन घोड़ों को यथेष्ट स्थान की ओर प्रेरित करता है।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**अश्वाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अश्वाः

तीव्रान्घोषान्कृण्वते वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूँरनपव्ययन्तः ॥ ७ ॥

(१) **वृषपाणयः**=(पां सूनां वर्षकखुराः) धूलियों को बरसानेवाले खुरोंवाले **अश्वाः**=घोड़े **रथेभिः सह**=रथों के साथ **वाजयन्तः**=वेग को करते हुए, वेग से आगे बढ़ते हुए, **तीव्रान् घोषान्**=तीव्र शब्दों को **कृण्वते**=करते हैं। (२) ये घोड़े **अनपव्ययन्तः**=रणांगण से न भागते हुए **प्रपदैः**=पाद के अग्र भागों से **अमित्रान्**=अमित्रों को **अवक्रामन्तः**=आक्रान्त करते हुए **शत्रून्**=शत्रुओं को **क्षिणन्ति**=हिंसित करते हैं।

भावार्थ—उत्तम घोड़े युद्ध में आगे और आगे बढ़ते हैं। तीव्र घोषों को करते हुए ये पादाग्रों से शत्रुओं को आक्रान्त करते हैं।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**रथः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रथः

रथवाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म।
तत्रा रथमुप शग्मं सदेम विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः ॥ ८ ॥

(१) **यत्र**=जहाँ रथ में **अस्य**=इस शूरवीर के **रथवाहनम्**=रथ को संचालित करनेवाले उपकरण, **हविः**=अन्न और **नाम आयुधम्**=शत्रुओं को नमानेवाले अस्त्र **निहितम्**=रखे हैं और **अस्य**=इस योद्धा का **वर्म निहितम्**=कवच रखा है। वस्तुतः रथ का सभी युद्धोपकरणों से युक्त होना आवश्यक ही है। (२) **तत्र**=वहाँ **वयम्**=हम **विश्वाहा**=सदा **सुमनस्यमानाः**=उत्तम मनवाले होते हुए **शग्मं रथम्**=सुखकर रथ में **उपसदेम**=आसीन हों। यह रथ हमारी विजय का साधन बनता हुआ हमारे लिये सदा सुखकर हो।

भावार्थ—रथ सब उपकरणों से युक्त हो, आवश्यक भोजनादि सामग्री, आयुध कवच आदि

सभी उसमें रखे हों। यह रथ युद्ध में सहायक होकर हमारे लिये सुखकर हो। यह हमें विजयी बनाये।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**रथगोपाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रथगोपाः

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः॥ ९॥

(१) **पितरः**=राष्ट्र-रक्षक लोग, राष्ट्ररूप रथ के गोपा, **स्वादुषंसदः**=स्वादु, सुख प्रीति विवर्धन, अन्नों में आसीन होते हैं। सदा सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हैं। **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं, **कृच्छ्रेश्रितः**=आपत्ति में प्रजाओं से आश्रयणीय होते हैं। **शक्तीवन्तः**=शक्तिशाली व **गभीराः**=गम्भीर स्वभाववाले होते हैं। (२) ये राष्ट्र-रक्षा के लिये **चित्रसेनाः**=अद्भुत सेनावाले, **इषुबलाः**=बाणों (शस्त्रों) के बलवाले होते हैं। पर्याप्त सेना को रखते हैं और उस सेना को अस्त्रों से सन्नद्ध रखते हैं। इसीलिए **अमृध्राः**=शत्रुओं से हिंसित होने योग्य नहीं होते। **सतः वीराः**=प्राप्त वीर्य, अर्थात् वीरता सम्पन्न होते हैं। **उरवः**=विशाल हृदयवाले होते हैं। **व्रातसाहाः**=शत्रुसमूहों को पराभूत करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र-रक्षक लोग सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाले, कष्टों में प्रजा से आश्रयणीय, शक्तिशाली व गम्भीर होते हैं। ये अस्त्र-सन्नद्ध सैन्यों द्वारा शत्रुसमूह को अभिभूत करके राष्ट्र-रथ के गोपा (रक्षक) होते हैं।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत॥ १०॥

(१) हमारे राष्ट्र के **ब्राह्मणासः**=ज्ञान को प्रधानता देनेवाले ब्राह्मण लोग तथा **पितरः**=राष्ट्र-रक्षक क्षत्रियवर्ण **सोम्यासः**=सोम का सम्पादन करनेवाले हों। यह सोमरक्षण ही इन्हें 'ब्राह्मण व पिता' बनायेगा। सुरक्षित सोम ब्राह्मणों की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनेगा तो क्षत्रियों को शक्ति-सम्पन्न बनायेगा। ऐसा होने पर **अनेहसा**=निष्पाप ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः शिवे**=हमारे लिये कल्याणकर हों। ब्राह्मणों व क्षत्रियों के ठीक होने पर राष्ट्र में पाप नहीं फैलते। ऐसा राष्ट्र मंगलमय होता है। (२) इस राष्ट्र में **पूषा**=पोषण करनेवाला वैश्य वर्ग **ऋतावृधः नः**=ऋत का, यज्ञ का वर्धन करनेवाले हम लोगों को **दुरितात् पातु**=दुर्गति से बचाये। अन्नाभाव के कारण राष्ट्र में भुखमरी ही न फैल जाये। वैश्यवर्ग 'कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य' द्वारा सदा सुकाल बनाये रखे और यज्ञों का वर्धन करे। इस प्रकार प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आप हमारा **रक्षा**=रक्षण करिये। **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला **नः**=हमारा **माकिः**=मत **ईशत**=ईश बन जाये। हम इसकी बातों में आकर पाप की ओर न बहक जायें।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण सोमरक्षण द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करें। क्षत्रिय सोमरक्षण द्वारा शक्ति-सम्पन्न हों। ये दोनों राष्ट्र को निष्पाप बनायें। वैश्य अन्नाभाव को न होने देकर हमें दुर्गति से बचायें। यज्ञों के वर्धन का कारण बनें। हम अघशंस लोगों से बहकाये जाकर पाप में न फँस जाएँ।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**इषवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इषवः

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्॥ ११॥

(१) बाण अग्रभाग में कङ्क-पक्षी के पंख को लगाते हैं, इस से बाण की गति में तीव्रता आ जाती है। यह इषु **सुपर्णम्**=पंख को **वस्ते**=धारण करता है। **अस्याः**=इस इषु का **दन्तः**=दाँत के समान आकारवाला अग्रभाग **मृगः**=शत्रुओं को ढूँढता-सा है (मृगयमाणः) इन्हें विद्ध करने की कामनावाला होता है। **गोभिः सन्नद्धा**=गोविकार स्नायुओं से सम्यग् बद्ध हुआ-हुआ यह इषु, **प्रसूता**=प्रेरित हुआ-हुआ, **पतति**=शत्रुओं पर पड़ता है। (२) **यत्र**=जहाँ युद्ध में **नरः**=मनुष्य **संद्रवन्ति**=मिलकर इधर-उधर गतिवाले होते हैं, **च**=और **विद्रवन्ति च**=विविध दिशाओं में अलग-अलग भाग खड़े होते हैं, **तत्र**=वहाँ रणांगण में **इषवः**=ये बाण **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **शर्म यंसन्**=सुख को देनेवाले हों।

भावार्थ—अग्रभाग में पंख को धारण करनेवाला यह बाण प्रेरित होकर शत्रुओं पर पड़ता है। शत्रुओं में यह भगदड़ मचा देता है। यह बाण रणांगण में हमारे लिये सुखकर हो।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**इषवः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सोम-अदिति

ऋजीते परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥ १२॥

(१) छोड़ा हुआ बाण सीधे मार्ग से सरल रेखा में गतिवाला होता है। हे **ऋजीते**=(ऋजु गच्छति इति) बाण! **नः परिवृङ्धि**=हमें छोड़नेवाला हो, हमारे पर तू न पड़। **नः तनूः**=हमारा शरीर तो **अश्मा भवतु**=पत्थर के समान हो। पत्थर पर जैसे बाण का प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार हमारे शरीर पर भी इनका प्रभाव न हो। (२) **सोमः**=(सोमो वै ब्राह्मणः तां० २३।१६।५) सोम का सम्पादन करनेवाला, सोमरक्षण द्वारा अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला ब्राह्मण **नः**=हमारे लिये **अधि ब्रवीतु**=आधिक्येन उपदेश देनेवाला हो। **अदितिः**=(पृथिवी नाम नि० १।१) यह पृथिवी हमारे लिये **शर्म यच्छतु**=सुख को देनेवाली हो। ब्राह्मणों से दिये गये ज्ञानोपदेश के अनुसार हम अपने कार्य करेंगे, तो अवश्य यह राष्ट्र हमारे लिये सुखकर होगा, यह भूमि हमारे लिये कल्याण ही कल्याण को करेगी।

भावार्थ—हमारे शरीर बाणों के लिये अभेद्य हों। कवच आदि से सुरक्षित होकर हम अपना रक्षण कर पायें। ज्ञानियों के द्वारा दिये गये ज्ञान के अनुसार चलने से यह भूमि हमारे लिये सुखकर हो।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**प्रतोदः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रतोदः

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय॥ १३॥

(१) हे **अश्वाजनि**=(अश्व+अज) अश्वों को गति देनेवाली व अश्वों पर फेंके जानेवाली

कशे (चावुक) **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले समझदार सारथि तेरे द्वारा **एषाम्**=इन घोड़ों के **सानु**=सविथ प्रदेशों को (thigh) **आजङ्घन्ति**=आहत करते हैं। **जघनान्**=जघन प्रदेशों को (the hip and the coins) **उपजिघ्नते**=आहत करते हैं। (२) इस प्रकार हे कशे! तू **अश्वान्**=इन घोड़ों को **समत्सु**=संग्रामों में **चोदय**=प्रेरित कर। तेरे से आहत हुए-हुए ये घोड़े तीव्रता से आगे बढ़नेवाले हों।

भावार्थ—समझदार सारथि कशा के समुचित प्रयोग से घोड़ों को रणांगण में आगे तीव्रगतिवाला करता है।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**हस्तघ्नः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हस्तघ्नः

अहि॑रिव भो॒गैः पर्ये॑ति बा॒हुं ज्याया॑ हे॒तिं प॑रि॒बाध॑मानः।
ह॒स्त॒घ्नो विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान्पुमा॒न्पुमां॑सं॒ परि॑ पातु वि॒श्वतः॑ ॥ १४ ॥

(१) **हस्त**=समीपवर्ती प्रकोष्ठ में स्थित हुआ-हुआ यह डोरी के आघात से आहत होता है, सो इसे 'हस्तघ्न' कहते हैं। यह **हस्तघ्नः**=हस्तघ्न **बाहुं पर्येति**=बाहु को इस प्रकार परिवेष्टित कर लेता है **इव**=जैसे कि **अहिः**=साँप **भोगैः**=अपने शरीरावयवों से किसी की बाहु को घेर लेता है। इस प्रकार यह **ज्यायाः**=धनुष की डोरी के **हेतिम्**=आघात को **परिबाधमानः**=रोकनेवाला होता है। हस्तघ्न हमें डोरी के आघात से बचाता है। (२) इस 'हस्तघ्न' द्वारा ज्या की हेति से अपना बचाव करता हुआ, **विश्वा वयुनानि**=सब प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानता हुआ, युद्ध की सब नीतियों को समझता हुआ, **पुमान्**=वीर पुरुष **पुमांसम्**=वीर सैनिकों का **विश्वतः परिपातु**=सर्वतः रक्षण करे, वीर सेनानी वीर सैनिकों का रक्षण करनेवाला हो, अनीति से उन्हें यों ही रणाग्नि में न झोंक दे।

भावार्थ—हस्तघ्न हमें धनुष की डोरी के आघात से बचाये। हस्तघ्न को धारण करनेवाला वीर सेनानी युद्ध नीति को समझता हुआ वीर सैनिकों की व्यर्थ में हत्या न होने दे।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**इषवः** ॥ छन्दः—**निचृद् अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आलाक्ता इषु

आला॑क्ता॒ या रुरु॑शी॒र्ष्ण्यथो॒ यस्या॒ अयो॒ मुख॑म्।
इ॒दं प॒र्जन्य॑रेतस॒ इष्वै॑ दे॒व्यै॑ बृ॒हन्नमः॑ ॥ १५ ॥

(१) बाण के अग्रभाग को विष में बुझा लेते हैं सो **या**=जो बाण **आल अक्ता**=विष से सिक्त है। **रुरुशीर्ष्णी**=मृगशृंग से जिसका अग्रभाग बना हुआ है। **अथ उ**=और निश्चय से **यस्याः**=जिसका **मुखम्**=मुख **अयः**=अयोमय, लोहे का बना हुआ है। (२) **पर्जन्यरेतसे**=पर्जन्य की कार्यभूत इस **देव्यै इष्वै**=युद्ध में विजय की कामनावाली (दिव्=विजिगीषा) इषु के लिये **इदम्**=यह **बृहत्**=बहुत **नमः**=आदर करते हैं। जिस शरकाण्ड (सरकण्डे) से इषु बना होता है, वह बादल की वृष्टि से उत्पन्न होता है सो उसे 'पर्जन्यरेतस्' कहा है। इस इषु का हम आदर करते हैं। इसी ने तो हमें युद्ध में विजयी बनाना है।

भावार्थ—बाण विषसिक्त होता है। मृगशृंग का इसका शिरस् है। अयोमय इसका मुख है। बादल से उत्पन्न शरकाण्ड का यह बना है। युद्ध में विजय प्राप्त करानेवाले इस इषु का हम आदर करते हैं। इसके द्वारा शत्रुओं को नतमस्तक करते हैं।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**इषवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'शरव्या' इषु

अव॑सृष्टा॒ परा॑ पत॒ शर॑व्ये॒ ब्रह्म॑संशिते।
गच्छा॒मित्रा॒न्प्र प॑द्यस्व॒ मामीषां॒ कं च॒नोच्छि॑षः॥ १६॥

(१) हे **ब्रह्मसंशिते**=(मंत्रेण तीक्ष्णीकृते) विचारपूर्वक प्रयोग से शत्रु के लिये बड़ी तीक्ष्ण बनी हुई **शरव्ये**=शत्रुहिंसन में कुशल इषो! **अवसृष्टा**=छोड़ी हुई तू **परापत**=सुदूर शत्रुओं पर पड़। (२) **गच्छ**=शत्रुओं की ओर जा। **अमित्रान् प्रपद्यस्व**=उन अमित्रों को प्राप्त हो और **अमीषाम्**=उनमें से **कञ्चन**=किसी को भी **मा उच्छिषः**=अवशिष्ट मत कर। सभी को तू समाप्त करनेवाली हो।

भावार्थ—विचारपूर्वक चलाया गया बाण शत्रुओं के लिये बड़ा तीक्ष्ण हो, यह सब शत्रुओं को समाप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ता सङ्ग्रामाशिषः (युद्धभूमिर्ब्रह्मणस्पतिरदितिश्च)** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

युद्धभूमि में रक्षण

यत्र॑ बा॒णाः सं॒पत॑न्ति कु॒मा॒रा वि॑शि॒खाइ॑व।
तत्रा॑ नो॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॒रदि॑तिः॒ शर्म॑ यच्छतु वि॒श्वाहा॒ शर्म॑ यच्छतु॥ १७॥

(१) **यत्र**=जहाँ युद्धभूमि में **बाणाः**=बाण **सम्पतन्ति**=लगातार पड़ते हैं (सम्=मिलकर) और **कुमाराः**=बड़ी बुरी तरह से मारनेवाले होते हैं। **विशिखाः इव**=विशिष्ट ही शिखावाले होते हैं, जिन बाणों के अग्रभाग १५वें मन्त्र के अनुसार 'आलाक्त' होते हैं। इन बाणों का जहाँ निरन्तर पतन हो रहा है, **तत्र**=वहाँ **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी **अदितिः**=(न दितिर्यस्मात्) न खण्डन होने देनेवाला प्रभु **नः**=हमारे लिये **शर्म यच्छतु**=रक्षण को व सुख को **यच्छतु**=दे। युद्ध विद्या से पूर्ण अभिज्ञ होकर हम अपना रक्षण कर सकें। (२) प्रभु **विश्वाहा**=सदा ही **शर्मयच्छतु**=हमारे लिये सुख को दें। वस्तुतः ज्ञान प्राप्ति के होने पर युद्धों का कम ही सम्भव होता है और युद्ध हो भी जाएँ तो हम व्यर्थ में मृत्यु को नहीं प्राप्त होते। ज्ञान हमारा रक्षण करता है।

भावार्थ—विशिष्ट अग्रभागवाले, बुरी तरह से मारनेवाले बाण जहाँ निरन्तर पड़ रहे हैं, उन युद्धभूमियों में भी ज्ञान के स्वामी प्रभु हमें विनष्ट होने से बचायें।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ता सङ्ग्रामाशिषः (कवचसोमवरुणाः)** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वर्म-सोम-वरुण

मर्मा॑णि ते॒ वर्म॑णा छादयामि॒ सोम॑स्त्वा॒ राजा॒मृते॒नानु॑ वस्ताम्।
उ॒रोर्वरी॑यो॒ वरु॑णस्ते कृणोतु॒ जय॑न्तं॒ त्वानु॑ दे॒वा म॑दन्तु॥ १८॥

(१) जिन स्थानों पर विद्ध होकर शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है उन्हें 'मर्म' कहते हैं। **ते मर्माणि**=तेरे मर्मस्थलों को **वर्मणा**=कवच के द्वारा **छादयामि**=आच्छादित करता हूँ। कवच से छादित मर्मस्थल शत्रुशरों से विद्ध नहीं होते। **राजा**=जीवन को दीप्त करनेवाला **सोमः**=सोम

(वीर्य) **त्वा**=तुझे **अमृतेन**=नीरोगता से **अनुवस्ताम्**=आच्छादित करे। अर्थात् सोम का रक्षण तुझे नीरोग बनाये। (२) **वरुणः**=द्वेष निवारण की देवता **ते**=तेरे लिये **उरोः वरीयः**=विशाल से भी विशालतर सुख को **कृणोतु**=करनेवाली हो। **जयन्तम्**=राग-द्वेष आदि सब शत्रुओं को पराजित करते हुए **त्वा**=तुझे **देवः**=सब देव, सब दिव्य भाव **अनुमदन्तु**=अनुकूलता से हर्षित करनेवाले हों।

भावार्थ—कवच हमारे मर्मों का रक्षण करे। सुरक्षित सोम हमें नीरोगता प्रदान करे। निर्द्वेषता की देवता हमें आनन्दित करनेवाली हो।

ऋषिः—**पायुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ता सङ्ग्रामाशिषः (देवा ब्रह्म च)** ॥
छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ब्रह्म वर्म मम अन्तरम्

यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥ १९ ॥

(१) **यः**=जो **स्वः**=अपना, कोई रिश्तेदार, बन्धु-बान्धव अथवा **अरणः**=(अरममाण) हमारे साथ न प्रीतिवाला कोई पराया व्यक्ति **यः च**=और जो **निष्ट्यः**=तिरोभूत-दूरे स्थित पुरुष **नः**=हमें **जिघांसति**=मारना चाहता है। **तम्**=उसको **सर्वे देवाः**=सब देव **धूर्वन्तु**=हिंसित करें। जल, वायु आदि देवों की प्रतिकूलता से वह विनष्ट हो जाये। अथवा हमारे दिव्य भाव उसकी पापवृत्ति को समाप्त करनेवाले हों। (२) **ब्रह्म**=ज्ञान अथवा प्रभु **मम**=मेरे **अन्तरं वर्म**=अन्दर के कवच हों। इस अन्तःकवच से सुरक्षित हुआ मैं हिंसित होऊँ।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु व ज्ञान को ही हम अपना अन्दर का कवच बनायें और हिंसित न हों।

॥ इति षष्ठं मण्डलम् ॥

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है "हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।"

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२७२

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो॰ राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियों द्वारा लगायें जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(अथ सप्तमं मण्डलम्)

(१-१०४ सूक्तम्)

एवं

(अष्टमं मण्डलम्)

(१-१०३ सूक्तम्)

[पञ्चमो भागः]

भाष्यकार :

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

अनुष्ठानकर्त्ता :

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०) ३२२ २३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
"अभ्युदय" भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०-९८८७४-५२९५९

संस्करण : २०६९ विक्रमी संवत्, २०१२ ई०

मूल्य : ५००.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि-निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

शब्द-संयोजक : **आर्य लेज़र प्रिंट्स,** हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११० ०३१

ऋषि, देवता, छन्दः और स्वर के अन्त में पूर्णविराम के स्थान पर (ङ्) छप गया है। कृपया इसे पूर्णविराम पढ़ें ।

अथ सप्तमं मण्डलम्

षष्ठ मण्डल की समाप्ति पर ब्रह्म को अन्तर कवच बनाने का उपदेश है। इस कवच को धारण करनेवाला किन्हीं भी अदिव्य भावों से आक्रान्त नहीं होता। यह इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में करनेवाला व अपने निवास को उत्तम बनानेवाला 'वसिष्ठ' सप्तम मण्डल का ऋषि है। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु का उपासन करता है। यज्ञाग्नि को दीप्त कर यज्ञ द्वारा उस महान् अग्नि की उपासना करता हुआ कहता है–

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

यज्ञाग्नि का प्रादुर्भाव

अ॒ग्निं नरो॒ दीधि॑तिभिर॒रण्यो॒र्हस्त॑च्युती जनयन्त प्रश॒स्तम्। दू॒रे॒दृशं॑ गृ॒हप॑तिमथ॒र्युम्॥ १ ॥

(१) **नरः**=उन्नति पथ पर अपने को ले चलनेवाले मनुष्य **हस्तच्युती**=(हस्तप्रच्युत्या-हस्तगत्या) हाथों की गति से **दीधितिभिः**=(धीयन्ते कर्मसु) अंगुलियों के द्वारा **अरण्योः**=दो अरणियों में–काष्ठविशेषों में **अग्निम्**=यज्ञाग्नि को **जनयन्त**=प्रादुर्भूत करते हैं। (२) उस अग्नि को प्रादुर्भूत करते हैं जो **प्रशस्तम्**=प्रशस्त है। सब रोगकृमियों के संहार का साधन होने से तथा वर्षा आदि का हेतु बनने से प्रशंसनीय है। **दूरेदृशम्**=दूर से दिखता है, ऊँची-ऊँची ज्वालाओंवाला होने के कारण दूर से दिखाई देता है। **गृहपतिम्**=घर का रक्षक है, नीरोगता का कारण बनकर घर को सुरक्षित करता है। **अथर्युम्**=(अतनयन्तम्) निरन्तर गतिवाला है।

भावार्थ–हम प्रतिदिन दो अरणियों की रगड़ से यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करें। यह यज्ञाग्नि प्रशस्त है, यह घर का रक्षण करती है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

'दक्षाय्य-नित्य' अग्नि

तम॒ग्निमस्ते॒ वस॑वो॒ न्यृ॑ण्वन्त्सुप्रति॒चक्ष॒मव॑से॒ कुत॑श्चित्। द॒क्षाय्यो॒ यो दम॒ आस॒ नित्यः॑॥ २ ॥

(१) **तं अग्निम्**=उस यज्ञाग्नि को **अस्ते**=गृह में **वसवः**=वसु=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोग **न्यृण्वन्**=(न्यदधुः) स्थापित करते हैं। **सुप्रतिचक्षम्**=जो अग्नि हम सबका पूरा ध्यान करती है (Looks after) यह अग्नि **कुतश्चित्**=जहाँ कहीं से प्राप्त होनेवाले भय से **अवसे**=रक्षण के लिये होती है। (२) **दक्षाय्यः**=जो अग्नि हवियों द्वारा संवर्धनीय होता है। **यः**=जो **दमे**=गृह में **नित्यः आस**=सदा रहनेवाला होता है। वस्तुतः यज्ञाग्नि को कभी बुझने नहीं देना होता है। यह सदा प्रज्वलित रहती है।

भावार्थ–वसु इस अग्नि को स्थापित करते हैं। यह उनका ध्यान करती है, यह हवियों द्वारा वर्धनीय है और इसे कभी घर में बुझने नहीं देना चाहिए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अक्षीण यज्ञाग्नि

प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ। त्वां शश्वन्त उप यन्ति वाजाः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=यज्ञाग्नि! **प्रेद्धः**=खूब दीप्त हुआ-हुआ तू **नः पुरः**=हमारे सामने **दीदिहि**=दीप्त हो, हे **यविष्ठ**=गृहों से सब अशुभ रोगकृमि आदि को दूर करनेवाले तथा शुद्ध वायु को प्राप्त करानेवाले (यु मिश्रणामिश्रणयोः) अग्ने! तू **अजस्रया**=न क्षीण होनेवाली **सूर्म्या**=ज्वाला से दीप्त हो। (२) **त्वाम्**=तुझे **शश्वन्तः**=बहुत प्रकार के **वाजाः**=हवि के अन्न **उपयन्ति**=प्राप्त होते हैं। तेरे में विविध अन्नों की आहुतियाँ डाली जाती हैं। इन्हें ही सूक्ष्मकणों में विभक्त करके तूने सर्वत्र वायुमण्डल में फैलाना है।

भावार्थ—हे यज्ञाग्ने! तू हमारे घरों में सदा दीप्त हो, तेरे में हम बहुत आहुतियों को देनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मिलकर यज्ञ करना

प्र ते अग्नयोऽग्निभ्यो वरं निः सुवीरासः शोशुचन्त द्युमन्तः। यत्रा नरः समासते सुजाताः ॥ ४ ॥

(१) गार्हपत्य अग्नि से आह्वनीय अग्नि का प्रणयन होता है। सो कहते हैं कि **ते**=तेरी **अग्निभ्यः**=गार्हपत्य अग्नियों से **अग्नयः**=यज्ञाग्नियाँ **प्र निः शोशुचन्त**=प्रकर्षेण नितरां दीप्त हों। ये यज्ञाग्नियाँ **वरम्**=अच्छी प्रकार **द्युमन्तः**=ज्योतिर्मय होती हुई **सुवीरासः**=(सुवि ईरासः) अच्छी प्रकार रोगकृमियों को कम्पित करनेवाली हैं। 'अग्निहोत्रेण प्रणुदा सपत्नान्', इस अग्निहोत्र के द्वारा अपने सपत्न (शत्रु) भूत इन रोगकृमियों को परे धकेल दे। (२) ये यज्ञाग्नियाँ वे हैं **यत्रा**=जहाँ—जिनके समीप **सुजाताः**=उत्तम जन्मवाले कुलीन **नरः**=लोग **सं आसते**=मिलकर प्रेम से आसीन होते हैं। 'सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः'=नाभि के चारों ओर अरों के समान मिलकर गति करते हुए तुम इस यज्ञाग्नि का पूजन करो—यज्ञाग्नि में उत्तम घृत व हवि को डालो।

भावार्थ—कुलीन लोग घरों में मिलकर बैठते हैं। गार्हपत्य अग्नि से यज्ञाग्नि को दीप्त करके उसमें सम्यक् आहुतियों को डालते हैं। इन यज्ञों के द्वारा वे उस महान् अग्नि (=प्रभु) का पूजन करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रशस्त धन की प्राप्ति

दा नो अग्ने धिया रयिं सुवीरं स्वपत्यं सहस्य प्रशस्तम्। न यं यावा तरति यातुमावान् ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार यज्ञाग्नि के समीप बैठे हुए परिवार के लोग यज्ञ की समाप्ति पर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **अग्ने**=हमें आगे ले चलनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **धिया**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के द्वारा **रयिं दाः**=धन को दीजिये। हे **सहस्य**=हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का अभिभव करनेवाले प्रभो! उस धन को दीजिये जो **सुवीरम्**=उत्तम वीर जनों को जन्म देता है, अर्थात् हम सबको वीर बनाता है, **स्वपत्यम्**=उत्तम सन्तानोंवाला है तथा **प्रशस्तम्**=प्रशंसनीय है, अर्थात् प्रशस्त साधनों से ही जिसका अर्जन हुआ है। (२) हमारे लिये उस धन को दीजिये

यम्=जिसको **यातुमावान्**=हिंसा की भावना से युक्त **यावा**=आक्रान्ता शत्रु **न तरति**=बाधित नहीं कर पाता।

भावार्थ—प्रभु हम यज्ञशील पुरुषों को वह धन दें जो हमें वीर बनाये, उत्तम सन्तानवाला करे, प्रशस्त जीवनवाला बनाये और चोर आदि से चुराया न जाये।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रातः-सायं अग्निहोत्र

उप यमेति युवतिः सुदक्षं दोषा वस्तोर्हविष्मती घृताची। उप स्वैनमरमतिर्वसूयुः ॥ ६ ॥

(१) **यम्**=जिस **सुदक्षम्**=उत्तम बल की कारणभूत अग्नि को **दोषा वस्तोः**=प्रातः-सायं **हविष्मती**=प्रशस्त हविवाली **घृताची**=(घृतम् अञ्चति) घृत से युक्त **युवतिः**=अग्नि के साथ घृत को सम्पृक्त करनेवाली जुहू (चम्मच) **उप एति**=समीपता से प्राप्त होती है। **एनम्**=इस अग्नि को **स्वा**=अपनी **अरमतिः**=दीप्ति उप (एति) प्राप्त होती है। जुहू से घृत को प्राप्त करके अग्नि चमक उठती है। (२) **वसूयुः**=ये अग्नि की दीप्ति यज्ञशील पुरुषों के लिये वसुओं की कामनावाली होती है, अर्थात् यज्ञशील पुरुष सब वसुओं को प्राप्त करता है।

भावार्थ—यज्ञाग्नि में प्रशस्त हवि व घृत का सम्पर्क होने पर यह यज्ञाग्नि होता के लिये वसुओं को प्राप्त करानेवाली होती है।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रोग विध्वंस

विश्वा अग्नेऽप दहारातीर्येभिस्तपोभिरदहो जरूथम्। प्र निस्वरं चातयस्वामीवाम् ॥ ७ ॥

(१) हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! तू **विश्वाः**=सब **अरातीः**=शत्रुओं को **तपोभिः**=अपनी तापक शक्तियों से **अपदह**=सुदूर भस्म कर दे, **येभिः**=जिन तापक शक्तियों से **जरूथं अदहः**=मांस को दग्ध कर देता है। रोगकृमियों को यह अग्नि भून-सा डाले, उन्हें जला ही दे। (२) **अमीवाम्**=रोगों को **निस्वरम्**=(न्यक्कृतोपतापं) तापक शक्ति से रहित करके **प्रचातयस्व**=प्रकर्षेण नष्ट कर डाल। अग्निहोत्र से रोग की प्रबलता दूर होती है। धीरे-धीरे वह रोग ही जाता रहता है।

भावार्थ—अज्ञाग्नि द्वारा रोगकृमि भस्म कर दिये जाते हैं। रोगों की उपतापक शक्ति कम होकर रोग का ही विध्वंस हो जाता है।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वसिष्ठ-शुक्र-दीदिवः-पावक'

आ यस्ते अग्न इधते अनीकं वसिष्ठ शुक्र दीदिवः पावक। उतो न एभिः स्तवथैरिह स्याः ॥ ८ ॥

(१) हे **वसिष्ठ**=अतिशयेन वसुमत्तम—सब वसुओं से सम्पन्न! **शुक्र**=अत्यन्त पवित्र! **दीदिवः**=दीप्त! **पावक**=पवित्र करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यः ते**=जो आपका बनता है वह **अनीकम्**=बल व तेज को **आ इधते**=सर्वथा दीप्त करता है। वस्तुतः वह आपके तेज से तेजस्वी बनता है। (२) **उत**=और **नः**=हमारे से किये जानेवाले **एभिः**=इन **स्तवथैः**=स्तोत्रों के द्वारा **इह स्याः**=यहाँ हमारे जीवन में आप होइये। जितना-जितना हम अपने जीवन में आपका

धारण कर सकेंगे उतना-उतना ही आपके तेज से तेजस्वी बनेंगे। तभी हम वसुमान् पवित्र व दीप्त बनेंगे, औरों को पवित्र करनेवाले होंगे। सो हमारी तो यही कामना है कि आपका स्तवन करते हुए आपको अपने में धारण करें।

भावार्थ-प्रभु का उपासक प्रभु के तेज से तेजस्वी होता है। वसुमान् पवित्र दीप्त बनकर पवित्र करनेवाला होता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः-**षड्जः** ॥

सुमनाः

वि ये ते अग्ने भेजिरे अनीकं मर्ता नरः पित्र्यासः पुरुत्रा। उतो न एभिः सुमना इह स्याः ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ये मर्ताः ते**=जो मनुष्य आपके बनते हैं, वे **पित्र्यासः**=बड़ों के, पितरों के अनुकूल चलते हुए, उनके कहने में चलते हुए **नरः**=मनुष्य **अनीकम्**=बल व तेज को **पुरुत्रा**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में, बहुत प्रदेशों में **विभेजिरे**=विशेषरूप से धारण करते हैं। (२) **उत उ**=और निश्चय से **नः**=हमारे **एभिः**=इन स्तोत्रों के द्वारा **इह**=यहाँ इस जीवन में **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **स्याः**=होइये। आपकी उपासना से हम उत्तम मनवाले बन पायें।

भावार्थ-प्रभु का उपासक बड़ों का कहना मानता है। बड़ों की शुश्रूषा करता हुआ यह तेजस्वी बनता है। प्रभु का स्तवन करता हुआ उत्तम मनवाला होता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः-**षड्जः** ॥

आसुरी माया का अभिभव

इमे नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीरभि सन्तु मायाः। ये मे धियं पनयन्त प्रशस्ताम् ॥ १० ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **ये**=जो भी जीव **मे**=मेरी **प्रशस्ताम्**=प्रशस्त **धियम्**=ज्ञानपूर्वक की गई स्तुति को **पनयन्त**=(स्तुवन्ति=कुर्वन्ति) उच्चरित करते हैं, **इमे नरः**=ये नर **वृत्रहत्येषु**=संग्रामों में **शूराः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले होते हैं और **विश्वाः**=सब **अदेवीः**=आसुरी **मायाः**=मायाओं को, छलछिद्र आदि को **अभिसन्तु**=अभिभूत कर लेते हैं। (२) वस्तुतः प्रभुस्तवन से ये प्रभु के तेज से तेजस्वी बनते हैं और सब आसुरभावों का विनाश करके पवित्र जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ-प्रभु का स्तवन करते हुए हम अध्यात्म संग्राम में विजयी बनें और आसुरभावों को दूर करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः-**षड्जः** ॥

प्रजावतीषु दुर्यासु

मा शूने अग्ने नि षदाम नृणां माशेषसोऽवीरता परि त्वा। प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य ॥ ११ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वा**=आपको **परि** (चरन्तः)=उपासित करते हुए हम **नृणाम्**=अन्य मनुष्यों के घरों में ही **मा निषदाम**=मत बैठे रहें। दूसरों पर ही बोझ न बने रहें। **मा शूने**=शून्य घरों में, दरिद्रता से व्याप्त घरों में हमारा निवास न हो, और इन अपने भी सम्पन्न घरों में **अशेषसः** (शेष=पुत्र)=पुत्ररहित **मा**=न हों। **अवीरता**=तथा अवीरता से युक्त न हों। (२) हे **दुर्य**=हमारे घरों के रक्षक प्रभो! आपकी उपासना करते हुए हम **प्रजावतीषु दुर्यासु**=उत्तम सन्तानोंवाले घरों में निवास करें।

भावार्थ-हम प्रभु के उपासक बनें। औरों पर बोझ न बने रहें। अपने घरों में दरिद्रता से

रहित होकर, उत्तम सन्तानोंवाले व वीरता से युक्त होकर निवास करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

औरस सन्तान से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ घर

यमश्वी नित्यमुपयाति यज्ञं प्रजावन्तं स्वपत्यं क्षयं नः। स्वजन्मना शेषसा वावृधानम्॥ १२॥

(१) **यम्**=जिस **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **अश्वी**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष **नित्यम्**=सदा **उपयाति**=प्रातः-सायं उपासना के समय उपस्थित होता है। वे प्रभु **नः**=हमारे लिये **क्षयम्**=उस गृह को दें जो **प्रजावन्तम्**=उत्तम मनुष्यों से युक्त है तथा **स्वपत्यम्**=उत्तम सन्तानोंवाला है। अर्थात् जिस घर में माता-पिता आदि बड़े व्यक्ति भी उत्तम जीवनवाले हैं तथा जिसमें सब सन्तान भी उत्तम हैं। (२) प्रभु उपासना से हम वह घर प्राप्त हो जो **स्वजन्मना**=अपने से उत्पन्न हुए-हुए, अर्थात् औरस **शेषसा**=सन्तानों से **वावृधानम्**=वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—हम प्रशस्तेन्द्रिय बनकर सदा घरों में प्रभु का उपासन करें। हमारे घर प्रशस्त प्रजाओंवाले व उत्तम सन्तानोंवाले हों। औरस सन्तानों से वृद्धि को प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम संग

पाहि नो अग्ने रक्षसो अजुष्टात्पाहि धूर्तेररुषो अघायोः। त्वा युजा पृतनायूँरभि ष्याम्॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अजुष्टात्**=जो कभी भी प्रीतिपूर्वक प्रभु के उपासन में नहीं प्रवृत्त होता उस **रक्षसः**=राक्षसीभाव से **नः पाहि**=हमारा रक्षण करिये। **धूर्तेः**=हिंसक, **अररुषः**=अ-दाता, **अघायोः**=पाप की कामनावाले पुरुष से भी **पाहि**=हमें बचाइये। हम ऐसे पुरुषों के संग में न पड़े रह जायें। (२) हे प्रभो! मैं **त्वा युजा**=आप साथी से, आपको मित्र रूप में पाकर **पृतनायून्**=हमारे पर आक्रमण करनेवाले शत्रु सैन्यों को, आसुरभावों को **अभिष्याम्**=अभिभूत करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—राक्षसीभावों से हम दूर हों। हमारा संग हिंसक अदाता पापेच्छु पुरुषों के साथ न हो। प्रभु को साथी बनाकर आक्रमण करनेवाले शत्रु-सैन्यों को हम पराभूत करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'अग्नि' का लक्षण (प्रगतिशील पुरुष का)

सेदग्निरग्नींरत्यस्त्वन्यान्यत्र वाजी तनयो वीळुपाणिः। सहस्रपाथा अक्षरा समेति॥ १४॥

(१) **सः इत् अग्निः**=अपने को आगे प्राप्त करानेवाला प्रगतिशील पुरुष तो वही है, जो (क) **अन्यान्**=दूसरे **अग्नीन्**=प्रगतिशील पुरुषों को **अत्यस्तु**=लाँघ जाता है, जो वेद के 'अति समं क्राम' इस उपदेश को क्रियान्वित करता है। (ख) **यत्र**=जिसके घर में **तनयः**=सन्तान **वाजी**= शक्तिशाली होती है तथा **वीळुपाणिः**=दृढ़हस्त होता है, अर्थात् जो सन्तानों को शक्तिशाली व दृढ़ता से कार्यों को करनेवाला बनाता है। (२) (ग) **सहस्रपाथाः**=बहुतों का-सहस्रों का रक्षक होता हुआ, अर्थात् केवल अपने लिये न जीता हुआ **अक्षरा**=न नष्ट होने देनेवाले स्तोत्रों के **समेति**=साथ गति करता है, अर्थात् प्रभु-स्तवन करता हुआ कार्यों में तत्पर होता है। यह प्रभु-स्तवन उसे क्षीणशक्ति नहीं होने देता।

भावार्थ—अग्नि वह है जो (क) अपने बराबरवालों से आगे लाँघ जाता है। (ख) जो

शक्तिशाली दृढ़हस्त सन्तानोंवाला होता है। (ग) जो केवल अपने लिये न जीकर औरों के लिये जीता है और प्रभु स्तवन से शक्ति को प्राप्त करता है।

सूचना—यहाँ प्रथम लक्षण निजू जीवन की प्रगति का सूचक है। दूसरा लक्षण पारिवारिक सौन्दर्य का संकेत कर रहा है तथा तीसरा लक्षण सामाजिक कर्तव्यपरायणता का प्रतिपादक है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुजात+वीर

सेद॒ग्निर्यो व॑नुष्य॒तो नि॒पाति॑ समे॒द्धार॒मंह॑स उरु॒ष्यात्। सु॒जा॒तासः॒ परि॑ चरन्ति वी॒राः ॥ १५ ॥

(१) **अग्निः स इत्**=अग्रणी प्रभु निश्चय से वे हैं, **यः**=जो **समेद्धारम्**=अपने हृदयों में प्रभु के प्रकाश को दीप्त करनेवालों को, प्रबोधकों को **वनुष्यतः**=हिंसकों से **निपाति**=बचाता है। काम-क्रोध-लोभरूप हिंसकभावों से यह अपने प्रबोधक को रक्षित करता है। **उरुष्यात्**=महान् **अंहसः**=पापों से भी बचाता है। (२) इसी कारण **सुजातासः**=उत्तम जन्मवाले, कुलीन, **वीराः**=वीर पुरुष **परिचरन्ति**=इस प्रभु की परिचर्या करते हैं। वस्तुतः यह उपासना ही उन्हें 'सुजात व वीर' बनाती है।

भावार्थ—प्रभु अपने उपासक को हिंसकों से बचाते हैं वे महान् पापों से रक्षित करते हैं। प्रभु की उपासना उपासक को सुजात व वीर बनाती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ईशानः हविष्मान्

अ॒यं सो अ॒ग्निराहु॑तः पुरु॒त्रा यमीशा॑नः॒ समिदि॒न्धे ह॒विष्मा॑न्। परि॒ यमेत्य॑ध्व॒रेषु॒ होता॑ ॥ १६ ॥

(१) **अयम्**=यह **सः**=वह **अग्निः**=अग्नि **पुरुत्रा**=बहुत से यज्ञदेशों में **आहुतः**=आहुत होता है। **यम्**=जिस अग्नि को **ईशानः**=ऐश्वर्यशाली **हविष्मान्**=प्रशस्त हविवाला **इत्**=निश्चय से **समिन्धे**=सम्यक् दीप्त करता है। दरिद्रता यज्ञों को प्रोत्साहित नहीं करती। त्यागवृत्ति से रहित ऐश्वर्य भी यज्ञों का प्रवर्तक नहीं बनता। ऐश्वर्य व त्यागवृत्ति के मेल के होने पर यज्ञों का खूब प्रवर्तन होता है। (२) **यम्**=जिस अग्नि को **अध्वरेषु**=हिंसारहित कर्मों में **होता**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला पुरुष **परि एति**=समन्तात् प्राप्त होता है, अर्थात् होतृवृत्तिवाला पुरुष सदा यज्ञों में अग्नि की परिचर्या करता है।

भावार्थ—हम ऐश्वर्यशाली व त्यागवृत्तिवाले बनकर सदा यज्ञों में अग्नि की परिचर्या करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नित्य यज्ञ व इन्द्रियों का पवित्रीकरण

त्वे अ॑ग्न आ॒हव॑नानि॒ भूरी॑शा॒नास॒ आ जु॑हुयाम॒ नित्या॑। उ॒भा कृ॒ण्वन्तो॑ वह॒तू मि॒येधे॑ ॥ १७ ॥

(१) हे **अग्ने**=यज्ञ की अग्नि! **ईशानासः**=ऐश्वर्यशाली होते हुए हम **नित्या**=सदा **त्वे**=तेरे में **आहवनानि**=आहुतियों को **भूरि**=बहुत **आजुहुयाम**=आहुत किया करें। (२) इस प्रकार **मियेधे**=इस नित्य के यज्ञ में **उभा वहतू**=इन दोनों इन्द्रियाश्वों को **कृण्वन्तः**=(कृणोति to kill) मार लेनेवाले हों। 'इन्द्रियों को मार लेने' का भाव यह है कि इन्हें सब विषय-वासनाओं से पृथक् कर लें, इन्हें कोई चस्का न लगा रह जाये। इस प्रकार ये इन्द्रियाश्व पवित्र बन जायें।

भावार्थ—हम सदा यज्ञों को करनेवाले हों और इस प्रकार इन्द्रियाश्वों को विषयव्यावृत्त कर,

पवित्र बना लें।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्द:–**एकादशाक्षरपादैस्त्रिपदा विराड् गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

नित्य यज्ञ द्वारा सुरभि पदार्थों का सब देवों में पहुँचना

इमो अग्ने वीततमानि हव्याजस्रो वक्षि देवतातिमच्छ। प्रति न ईं सुरभीणि व्यन्तु॥ १८॥

(१) हे **अग्ने**=यज्ञ की अग्नि! तू **अजस्रः**=अनवरत हुआ-हुआ, कभी न बुझता हुआ, **उ**=निश्चय से **इमा**=इन **वीततमानि**=अतिशयेन कान्त (सुन्दर) **हव्यानि**=हव्य पदार्थों को **देवतातिम् अच्छ**=देवसमूह के प्रति **वक्षि**=ले जा। इन हव्य पदार्थों को तू वायु आदि देवों में पहुँचानेवाला हो। 'अग्नौ प्रास्ता दुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते' अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य तक पहुँचती है। अग्नि से सूक्ष्मकणों में विभक्त हुए-हुए ये हव्य पदार्थ सर्वत्र आकाश में फैल जाते हैं और सारे वायुमण्डल का शोधन करते हैं। (२) **नः**=हमारे इन **सुरभीणि**=सुगन्धित हव्य पदार्थों को **ईम्**=निश्चय से **प्रति व्यन्तु**=प्रति दिन ये सब देव चाहें, अर्थात् प्रतिदिन यज्ञ के द्वारा ये उन सब देवों में पहुँचें।

भावार्थ–नियमित अग्निहोत्र के द्वारा सुगन्धित हव्य पदार्थ सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर सारे वायुमण्डल में पहुँचते रहें।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

दुर्गति से दूर

मा नो अग्नेऽवीरते परा दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै।
मा नः क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहूर्थाः॥ १९॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमें **अवीरते**=अपुत्रत्व के लिये **मा परादाः**=मत दे डालिये, हम निःसन्तान न हों। **दुर्वाससे**=मैले कुचैले कपड़ों के लिये मत दे डालिये। **नः**=हमें **अस्यै**=इस **अमतये** (want)=निर्धनता व दुर्बुद्धि के लिये (evil mindedness) मत दे डालिये। (२) **नः**=हमें **क्षुधे**=भूख के लिये **मा**=मत दे डालिये और **रक्षसे**=राक्षसीभावों के लिये **मा**=मत दे डालिये। हे **ऋतावः**=ऋतवाले अग्ने, सत्य का रक्षण करनेवाले अग्ने! **नः**=हमें **मा दमे**=न तो घर में और **मा वने**=न ही वन में **आजुहूर्थाः**=हिंसित करिये। आप का उपासन करते हुए हम सर्वत्र सुरक्षित रहें।

भावार्थ–हम उत्तम सन्तान, शुभ वस्त्र, शुभ बुद्धि, तृप्ति व दिव्यभावों को प्राप्त करें। प्रभु हमारे में ऋत का रक्षण करें। क्या तो घर में और क्या वन में हम सर्वत्र सुरक्षित रहें।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

उभयासः

नू मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि त्वं देव मघवद्भ्यः सुषूदः।
रातौ स्यामोभयास आ ते यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ २०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नू**=अब **मे**=मेरे लिये **ब्रह्माणि**=ज्ञान की वाणियों को **उच्छशाधि**=उत्कर्षेण उपदिष्ट करिये। हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **त्वम्**=आप **मघवद्भ्यः**=यज्ञशील पुरुषों के लिये **सुषूदः**=उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करानेवाले होइये (persuade) अथवा दुःखों को दूर करनेवाले होइये। (२) **ते आ रातौ**=आपके सब ओर दानों में हम **उभयासः स्याम**=अभ्युदय व निःश्रेयस

दोनों को सिद्ध करनेवाले हों। **यूयम्**=आप अपने इन सब देवों के साथ **स्वस्तिभिः**=अविनाशी मंगलों के द्वारा **नः पात**=हमारा रक्षण करिये। आपकी कृपा से सदा शुभ मार्ग पर चलते हुए हम कल्याण को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु से हम ज्ञानोपदेश को प्राप्त करें। हम यज्ञशीलों के कष्टों को प्रभु दूर करें। अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करते हुए हम सदा शुभ मार्ग पर चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उत्तम सुशील योग्य व दीर्घायु' सन्तान

त्वम॑ग्ने सुहवो॑ र॒ण्वसं॑दृक्सुदी॒ती सू॑नो सहसो दिदीहि।
मा त्वे सचा॒ तन॑ये नित्य॒ आ धङ्मा वी॒रो अ॒स्मन्नर्यो॒ वि दा॑सीत्॥ २१ ॥

हे **सहसः सूनोः**=बल के पुत्र, अत्यन्त बलवन् **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **सुहवः**=हमारे लिये सुगमता से पुकारने योग्य होइये। **रण्वसन्दृक्**=रमणीय सन्दर्शनवाले आप **सुदीती**=उत्तम दीप्ति से **दिदीहि**=दीप्त होइये। हम अपने हृदयों में सदा आपके प्रकाश को देखें। (२) **सचा**=सहायभूत हुए-हुए **त्वे**=आप (त्वम् सा०) **नित्ये तनये**=औरस पुत्र के विषय में **मा आधक्**=हमें दग्ध न करिये। न तो हम औरस सन्तान के अभाव के कारण दग्ध हों और न ही उसके विकृत आचरण के कारण परेशान हों। हमारे औरस सन्तान 'सुशील, सदाचारी व योग्य' हों। तथा **अस्मत्**=हमारे से **नर्यः**=नरहितकारी **वीरः**=यह वीर सन्तान **मा विदासीत्**=मत उपक्षीण हो जाये। यह अल्पायु होकर हमारे से छिन न जाये।

भावार्थ—हम अपने हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखें। हमारे औरस पुत्र अपने आचरण से हमें सुखी करें तथा ये दीर्घायु हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुर्भृति व दुर्मति से दूर होते हुए सदा यज्ञशील बनें

मा नो॑ अग्ने दु॒र्भृत॑ये॒ सचै॒षु दे॒वेद्धे॑ष्व॒ग्निषु॒ प्र वो॑चः।
मा ते॑ अ॒स्मान्दु॑र्म॒तयो॑ भृ॒माच्चि॑द्दे॒वस्य॑ सूनो सहसो नशन्त॥ २२ ॥

(१) **अग्ने**=हे परमात्मन्! **नः**=हमें **दुर्भृतये मा**=दुर्भृति के लिये मत दे डालिये, हम अपने भरण के लिये कभी कष्ट में न पड़ जायें। **सचा**=सहायभूत आप **एषु**=इन **देवेद्धेषु**=देवों से दीप्त की जानेवाली **अग्निषु**=अग्नियों के विषय में **प्रवोचः**=प्रकर्षेण उपदेश करिये। हम भी देवों की तरह यज्ञाग्नियों को दीप्त करनेवाले बनें। (२) हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज प्रभो! **देवस्य ते**=प्रकाशमय आपके जो हम हैं, उन **अस्मान्**=हम को **भृमात् चित्**=भ्रम से भी **दुर्मतयः**=दुर्मतियाँ कभी भी **मा नशन्त**=मत व्याप्त करें। हम सदा सुमतिवाले होते हुए यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—हम कभी भरण-पोषण के लिये कष्ट में न पड़ें। देवों की तरह यज्ञाग्नियों को दीप्त करनेवाले हों। कभी भी दुर्मति से न घिर जायें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञशीलता व ऐश्वर्यशालिता

स मर्तो॑ अग्ने स्वनीक रे॒वानम॑र्त्ये॒ य आ॒जुहो॑ति ह॒व्यम्।
स दे॒वता॑ वसु॒वनिं॑ दधाति॒ यं सू॒रिर॒र्थी पृ॒च्छमा॑न॒ एति॑॥ २३॥

(१) हे **स्वनीक**=उत्तम तेजवाले **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **स मर्तः**=वह मनुष्य **रेवान्**=ऐश्वर्यशाली होता है, **यः**=जो **अमर्त्ये**=कभी नष्ट न होनेवाले, प्रतिदिन प्रज्वलित होनेवाले तुझमें **हव्यं आजुहोति**=हव्य पदार्थों की आहुति देता है। यज्ञशीलता ऐश्वर्यशालिता का कारण बनती है। (२) **सः**=वह **देवता**=सब कुछ देनेवाला अग्नि **वसुवनिं दधाति**=धन का संविभाग करनेवाले यज्ञशील पुरुष को धारण करता है। वह अग्नि उसका धारण करता है, **यम्**=जिसको कि **सूरिः**=ज्ञानी **अर्थी**=चाहनेवाला पुरुष **पृच्छमानः**=जानने की कामनावाला होता हुआ, पूछता हुआ **एति**=प्राप्त होता है। ज्ञानी जिज्ञासु यज्ञाग्नि के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की कामनावाला होता है। यह यज्ञाग्नि ही तो सब ऐश्वर्य वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—जो नित्य प्रति यज्ञ करता है, वह ऐश्वर्यशाली बनता है। यह यज्ञाग्नि दानशील पुरुष का धारण करती है। समझदार जिज्ञासु यज्ञाग्नि के विषय में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अक्षीण आयु व उत्तम सन्तान

म॒हो नो॑ अग्ने सुवि॒तस्य॑ वि॒द्वान्र॒यिं सू॒रिभ्य॒ आ व॑हा बृ॒हन्त॑म्।
येन॑ व॒यं स॑हसाव॒न्मदे॒मावि॑क्षितास॒ आयु॑षा सु॒वीराः॑॥ २४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **नः**=हमारे **महः सुवितस्य**=महान् सुवित को—कल्याण कर्म को **विद्वान्**=जानते हुए आप **सूरिभ्यः**=हम समझदार पुरुषों के लिये **बृहन्तम्**=वृद्धि के कारणभूत **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आवहा**=प्राप्त कराइये। इस ऐश्वर्य के द्वारा हम सदा शुभ कर्मों को करने में समर्थ बने रहें। (२) हे **सहसावन्**=बलवाले प्रभो! सर्वशक्ति-सम्पन्न प्रभो! हमारे लिये उस धन को दीजिये **येन**=जिससे **वयम्**=हम **आयुषा अविक्षितासः**=आयु से अक्षीण हुए-हुए, **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—शुभ कर्म करते हुए हम प्रभु के अनुग्रह से उस धन को प्राप्त करें, जो ठीक उपयुक्त हुआ-हुआ हमारे दीर्घ जीवन का कारण बने और हमें वीर सन्तानोंवाला बनाये।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान की वाणियों का उपदेश

नू मे॒ ब्रह्मा॑ण्यग्न॒ उच्छ॑शाधि॒ त्वं दे॑व म॒घव॑द्भ्यः सुषूदः।
रा॒तौ स्या॑मो॒भया॑स॒ आ ते॑ यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः॥ २५॥

१.२० पर अर्थ द्रष्टव्य है।

सूचना—पहिले मन्त्र में उस धन के लिये प्रार्थना थी जो हमें अक्षीण आयुवाला व उत्तम वीर सन्तानोंवाला बनाये। सो वह धन यही है कि (क) प्रभु मेरे लिये उत्तम ज्ञान की वाणियों का उपदेश करें, (ख) वे देव प्रभु हम यज्ञशील पुरुषों को उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराये। (ग) हम

प्रभु के दानों को प्राप्त करके अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करें। (घ) सब देवों के साथ प्रभु द्वारा शुभ मार्ग में प्रेरित होकर रक्षित हों। इस प्रकार देखने पर मन्त्र के दुबारा आने का उद्देश्य स्पष्ट है।

अगला सूक्त 'आप्री' सूक्त है। इन सूक्तों में यज्ञसम्बद्ध सब पदार्थों का उल्लेख होता है। इन सब पदार्थों के ठीक संग्रह से यह होता 'देवान् आप्रीणाति' देवों को प्रीणित करता है-

अथ पञ्चमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**आप्रियः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

इध्मः, समिद्धः अग्निः वा

जुषस्व नः सुमिधमग्ने अद्य शोचा बृहद्यजतं धूममृण्वन्।
उप स्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः सं रश्मिभिस्ततनः सूर्यस्य ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **अद्य**=आज **नः**=हमारी **समिधम्**=समिधा को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो **यजतम्**=संगतिकरण योग्य-प्रशस्त **धूमम्**=धूयें को **ऋण्वन्**=प्रेरित करता हुआ तू **बृहत् शोच**=खूब दीप्त हो। अग्निहोत्र का धूंआ सचमुच 'यजत' है, यह सब रोगकृमियों का संहार करनेवाला है। (२) हे अग्ने! तू **स्तूपैः**=अपनी सन्तप्त रश्मियों से **दिव्यं सानु**=आकाश के समुच्छ्रित (उन्नत) प्रदेश को **उपस्पृश**=छूनेवाला हो। और **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की किरणों के साथ **संततनः**=सम्यक् विस्तारवाला हो। अर्थात् सूर्योदय होने पर अग्निकुण्डों में तेरा आधान किया जाये। सूर्य-किरणें जब वृक्ष के हरे पत्तों पर पड़ती हैं तो ये पत्ते अग्नि के जलने से उत्पन्न कार्बानिक ऐसिड गैस (Co^2) को फाड़ के कार्बन को अपने पास रख लेते हैं और ऑक्सिजन को फिर वायुमण्डल में भेज देते हैं। सो अग्निहोत्र सूर्योदय के होने पर ही होता है।

भावार्थ-हम यज्ञाग्नि में समिधा को डालें। अग्नि प्रशस्त धूम को प्रेरित करता हुआ चमके। इस की सन्तप्त रश्मियाँ आकाश के शिखर को छूएँ। हम सूर्योदय होने पर यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**आप्रियः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

नराशंसः

नराशंसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः।
ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ २ ॥

(१) **ये**=जो **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष हैं, वे **सुक्रतवः**=उत्तम प्रज्ञान व शक्तिवाले होते हैं, **शुचयः**=पवित्र जीवनवाले होते हैं तथा **धियन्धाः**=बुद्धिपूर्वक उत्तम कर्मों का धारण करनेवाले होते हैं। ये देव **उभयानि हव्या**=अग्निहोत्र के समान दोनों समयों में हव्य पदार्थों को ही **स्वदन्ति**=खाते हैं। (२) **एषाम्**=इन देववृत्ति के पुरुषों की **यज्ञैः यजतस्य**=यज्ञों से **यजनीय**=उपासनीय **नराशंसस्य**=यज्ञाग्नि की **महिमानम्**=महिमा को **उपस्तोषाम**=उपस्तुत करते हैं। देववृत्ति के पुरुष ही यज्ञशील होते हैं। सो यह यज्ञाग्नि इन देवों की ही है। यह यज्ञाग्नि यज्ञों के द्वारा ही उपासनीय होती है। यह नराशंस है, नरों से शंसनीय है। सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाली होने से यह शंसनीय तो होती ही है।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष सदा यज्ञशील होते हैं। ये यज्ञाग्नि इन्हें उत्तम प्रज्ञानवाला, पवित्र, पवित्र बुद्धि व कर्मोंवाला तथा हव्य पदार्थों का दोनों काल सेवन करनेवाला बनाती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इडः

ईळेन्यं वो असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी सत्यवाचम्।
मनुष्वदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महेम॥ ३॥

(१) **मनुना समिद्धम्**=विचारशील पुरुष के द्वारा दीप्त किये गये **अग्निम्**=अग्नि को **मनुष्वत्**=एक विचारशील पुरुष की तरह, अर्थात् विचारशील बनते हुए हम **अध्वराय**=यज्ञ के लिये **सदं इत्**=सदा ही **संमहेम**=पूजित करते हैं। (२) उस अग्नि को हम पूजित करते हैं जो **वः ईडेन्यम्**=तुम्हारे से स्तुति किये जाने योग्य है **असुरम्**=बल का संचार करनेवाला है, **सुदक्षम्**=उत्तम उन्नति व विकास (दक्ष्) का कारण है, **रोदसी अन्तः**=द्यावापृथिवी के बीच में दूत के समान है, सब हव्य पदार्थों को द्यावापृथिवी के अन्तर्गत सब देवों में पहुँचानेवाला है। **सत्यवाचम्**=हमें सत्य वाणीवाला बनाता है। 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि'=यहाँ अग्नि साक्षिक ही सत्य का व्रत लिया जाता है। अग्नि सत्य पर दृढ़ है, हम भी सत्य पर दृढ़ हों।

भावार्थ—अग्नि उपासनीय है। यह हमें सबल बनाती है, हमारी शक्तियों का विकास करती है। हव्य पदार्थों को सब देवों में पहुँचाती है। हमें सत्यवाक् बनाती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बर्हिः

सपर्यवो भरमाणा अभिज्ञु प्र वृञ्जते नमसा बर्हिरग्नौ।
आजुह्वाना घृतपृष्ठं पृषद्वदध्वर्यवो हविषा मर्जयध्वम्॥ ४॥

(१) **सपर्यवः**=पूजा की कामनावाले लोग, **अभिज्ञु**=अभिगतजानुक होकर, घुटने जिसमें जुड़े हैं, उस आसन विशेष पर बैठकर, **बर्हिः**=हृदयान्तरिक्ष को **नमसा भरमाणाः**=नमन की भावना से भरते हुए **अग्नौ**=यज्ञाग्नि में **प्रवृञ्जते**=हव्य पदार्थों को छोड़ते हैं। हव्य पदार्थों की अग्नि में आहुति देते हैं। (२) **अध्वर्यवः**=हे यज्ञ को करनेवाले लोगो! **घृतपृष्ठम्**=घृत संसिक्त पृष्ठवाले इस अग्नि को **पृषद्वत्**=घृत के स्थूल बिन्दुओं से युक्त रूप में **हविषा**=हवि से **आजुह्वानाः**=आहुत करते हुए **मर्जयध्वम्**=अपने जीवन को शुद्ध बनाओ। वस्तुतः जितना-जितना यज्ञ अधिक करते हैं, उतना-उतना ही जीवन अधिक पवित्र होता जाता है।

भावार्थ—हृदय में नम्रता को धारण करके हम अग्नि में हव्य पदार्थों की आहुतियाँ दें। जितना अधिक यज्ञ होगा, उतना ही अधिक जीवन पवित्र बनेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

देवीर्द्वारः

स्वाध्यो३ वि दुरो देवयन्तोऽशिश्रयू रथयुर्देवताता।
पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन्॥ ५॥

(१) **स्वाध्यः**=उत्तम कर्मोंवाले, **देवयन्तः**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामनावाले, **रथयुः**=

शरीररूप रथ को उत्तम बनानेवाले लोग **देवताता**=यज्ञों के निमित्त **दुरः**=यज्ञगृह द्वारों को **वि अशिश्रयुः**=विशेषरूप से आश्रित करते हैं। यज्ञ ही जीवन में हमें 'सुकर्मा, दिव्यगुणयुक्त व प्रशस्त शरीर-रथ-सम्पन्न' बनाते हैं। (२) **न**=जिस प्रकार **पूर्वी**=पालन व पूरण करनेवाले **मातरा**=माता-पिता **रिहाणे**=आस्वाद लेते हुए **शिशुम्**=बच्चे को **समञ्जन्**=अलंकृत करते हैं, गौवें बछड़े को चाटकर साफ़ कर डालती हैं—उसी प्रकार ये द्वार **समनेषु**=यज्ञों में यज्ञकर्त्ता को अलंकृत करनेवाले होते हैं। अथवा **न**=जैसे **अग्रुवः**=नदियाँ जलों से क्षेत्रों को सिक्त करती हैं, उसी प्रकार ये यज्ञभूमि के दिव्य द्वार अग्नि को घृत से सिंचवाने का कारण बनते हैं, इन द्वारों से यज्ञभूमि में आकर अध्वर्यु अग्नि को घृत सिक्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञगृह के द्वारों से यज्ञभूमि में आकर यज्ञ करते हुए लोग 'सुकर्मा, दिव्यगुण-सम्पन्न व उत्तम शरीर-रथवाले' बनते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषासानक्ता

उत योषणे दिव्ये मही न उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः।
बर्हिषदा पुरुहूते मघोनी आ यज्ञिये सुविताय श्रयेताम्॥ ६ ॥

(१) **उत**=और **उषासानक्ता**=ये उषाकाल व रात्रि-प्रातः व सायं-दोनों अग्निहोत्र के समय हैं। इन्हीं दोनों समयों पर अग्निहोत्र का विधान है। ये प्रातः-सायं **नः**=हमारे लिये **योषणे**=बुराई को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हों। **दिव्ये**=ये हमारे लिये दिव्य हों, प्रकाशमय हों अथवा हमारे जीवनों में दिव्यगुणों को जन्म देनेवाले हों। ये **सुदुघा धेनुः इव**=सुख-सन्दोह्य गौ के समान हों। जैसे वह गौ प्रातः-सायं दूध को देती है, इसी प्रकार ये हमारे लिये ज्ञानदुग्ध को देनेवाले हों। (२) **बर्हिषदा**=ये यज्ञ के कुशासन पर बैठनेवाले हों, हम प्रातः-सायं दर्भासन पर स्थित होकर अग्निहोत्र को करनेवाले हों। **पुरुहूते**=ये बहुतों से पुकारे गये उषासानक्ता (प्रातः-सायं) **मघोनी**=हमारे लिये प्रशस्त धनों को प्राप्त करायें। **यज्ञिये**=यज्ञ के लिये उत्तम ये उषासानक्ता **सुविताय**=सुवित के लिये, सदाचरण के लिये **आश्रयेताम्**=आश्रय करें। हम प्रातः-सायं यज्ञ करते हुए दिनभर शुभ कर्मों को ही करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारे प्रातः व सायंकाल यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में बीतें। प्रातः-सायं यज्ञ करते हुए हम अवशिष्ट दिन को भी सदाचरण से ही (सुवित से ही) बितायें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दैव्या होतारा प्रचेतसा

विप्रा यज्ञेषु मानुषेषु कारू मन्ये वां जातवेदसा यजध्यै।
ऊर्ध्वं नो अध्वरं कृतं हवेषु ता देवेषु वनथो वार्याणि॥ ७ ॥

(१) गृहस्थ में पति-पत्नी ही मुख्य पात्र हैं। ये दोनों **विप्रा**=(वि+प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। **मानुषेषु**=मानवहितकारी **यज्ञेषु**=यज्ञों में ये **कारू**=बड़ी कुशलता से कार्यों को करनेवाले हैं। अर्थात् कलापूर्ण ढंग से कार्यों को करते हैं। **जातवेदसा**=(जात धनौ) उत्पन्न किये हुए धनवाले **वाम्**=आप दोनों को **यजध्यै**=यज्ञ करने के लिये **मन्ये**=स्तुत करता हूँ। 'धन कमा करके आप यज्ञ करते हो' इसलिए मैं आपका शंसन करता हूँ। (२) प्रभु कहते हैं कि **हवेषु**=प्रार्थनाओं के होने पर **नः**=हमारे से उपदिष्ट **अध्वरम्**=इस यज्ञ को **ऊर्ध्वं कृतम्**=सब

से ऊपर–मुख्य करो। अर्थात् प्रभु प्रार्थना के साथ तुम सदा यज्ञ करनेवाले बनो। **ता**=वे आप दोनों **देवेषु**=सब देवों में **वार्याणि**=जो वरणीय बातें हैं उन्हें **वनथः**=सेवन करते हो। सूर्य की तरह आप ज्योतिर्मय जीवनवाले बनते हो तो वायु के समान क्रियाशील होते हो। चन्द्रमा के समान आप आह्लादमय होते हो तो अग्नि के समान दोषों का दहन करनेवाले बनते हो। इस प्रकार सब देवों में जो वरणीयवाले हैं, उन्हें आप अपनाने का प्रयत्न करते हो।

भावार्थ–घर में पति–पत्नी विप्र बने, यज्ञशील हों। धनोत्पादन करके सदा धनों का उपयोग यज्ञों में करें। सब देवों के गुणों को अपने में धारण करो।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आप्रियः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

भारती इडा सरस्वती

आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक्तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ॥ ८ ॥

३.४.८ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आप्रियः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

त्वष्टा

तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नु देव त्वष्टर्वि रराणः स्यस्व।
यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः ॥ ९ ॥

३.४.९ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आप्रियः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

वनस्पतिः

वनस्पतेऽव सृजोप देवानग्निर्हविः शमिता सूदयाति।
सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद ॥ १० ॥

३.४.१० पर अर्थ द्रष्टव्य है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आप्रियः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

स्वाहाकृतयः

आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङिन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः।
बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ११ ॥

३.४.११ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

अगले सूक्त में 'अग्नि' नाम से प्रभु का उपासन है–

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

घृतान्नः पावकः

अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम्।
यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः ॥ १ ॥

(१) **अग्निम्**=उस अग्रेणी **वः देवम्**=तुम्हारे जीवनों को प्रकाशित करनेवाले प्रभु को **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **अग्निभिः**=अग्नियों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवाले होते हुए **यजिष्ठं दूतम्**=अत्यन्त संगतिकरण योग्य व पूज्य **दूतम्**=ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करानेवाला **कृणुध्वम्**=करो। प्रभु के ज्ञान-सन्देश को तुम सुननेवाले बनो। इसके लिये तुम सदा अग्नियों के साथ समानरूप से प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवाले बनो। माता-पिता, आचार्य ही अग्नि हैं। इनके समीप रहते हुए सदा उपासनामय जीवनवाले बनो। (२) यही उस प्रभु की प्राप्ति का मार्ग है **यः**=जो **मर्त्येषु**=मरणधर्मा प्राणियों में **निध्रुविः**=नितरां ध्रुव हैं। **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाले हैं। **तपुर्मूर्धा**=तपस्वियों के शिरोमणि हैं। **घृतान्नः**=ज्ञानरूप अन्न को प्राप्त करानेवाले हैं (घृतं=दीप्ति) और इस ज्ञानरूप अन्न के द्वारा **पावकः**=हमारे जीवनों को पवित्र बनानेवाले हैं।

भावार्थ—हम 'माता-पिता व आचार्य' रूप अग्नियों के साथ प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें ज्ञानरूप अन्न देकर पवित्र जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महान् संवरण का हटना

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद् व्यस्थात्।
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥ २ ॥

(१) उस सत्यस्वरूप प्रभु का स्वरूप इस प्रकृति के हिरण्यपात्र से छिपा हुआ है 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'। यह हिरण्मय पात्र ही यहाँ 'महान् संवरण' कहा गया है। जब कभी यह संवरण हटता है तो उस प्रभु का दर्शन होता है, उसकी ज्ञान वाणी सुन पड़ती है। **यदा**=जब **महः संवरणात्**=इस महान् संवरण से **व्यस्थात्**=प्रभु हमारे लिये अलग हो जाते हैं तो **अविष्यन्**=हमारे रक्षण की कामना करते हुए **यवसे**=बुराइयों को हमारे से पृथक् करने के लिये **अश्वः न**=अश्व के समान **प्रोथत्**=गर्जना करते हुए होते हैं वे प्रभु घोड़े की तरह गर्जना करते हुए आते हैं और 'ऋग् यजु साम' रूप त्रिविध वाणी का उच्चारण करते हैं। यह वाणी ही हमारे से बुराइयों को दूर करने का साधन बनती है। (२) **आत्**=अब **अस्य शोचिः अनु**=इस प्रभु की ज्ञानदीप्ति की अनुसार **वातः वाति**=हमें प्रेरणा प्राप्त होती है (वा गतौ)। **अध**=अब इस प्रभु की प्रेरणा के प्राप्त होने पर **ते व्रजनम्**=हे उपासक तेरा गमन **कृष्णम्**=बड़ा आकर्षक **अस्ति**=होता है। प्रभु प्रेरणा के अनुसार चलते हुए उपासक के सब कार्य उत्तम होते हैं।

भावार्थ—प्रकृति के आवरण के हटने पर प्रभु का दर्शन होता है। इस समय प्रभु की ओर से ज्ञान व प्रेरणा प्राप्त होती है। इस प्रेरणा के अनुसार चलते हुए उपासक का जीवन बड़ा सुन्दर होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'नवजात' वृषा प्रभु

उद्यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः।
अच्छा द्यामरुषो धूम एति सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान् ॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार महान् संवरण के हटने पर हे **अग्नि**=परमात्मन्! **नवजातस्य**=(नु स्तुतौ) स्तुत्य प्रादुर्भाववाले **यस्य**=जिस **वृष्णः**=शक्तिशाली **ते**=तेरे **अजराः**=जीर्ण न होनेवाले **इधानाः**=प्रकाश **उच्चरन्ति**=उद्गत होते हैं। (२) तब हे प्रभो! **द्या अच्छा**=मस्तिष्करूप द्युलोक

की ओर **अरुषः धूमः एति**=आरोचमान वासनाओं का कम्पक (धू कम्पने) यह ज्ञान प्राप्त होता है। हे **अग्ने**=प्रभो! आप **दूतः**=ज्ञान-सन्देश को देनेवाले होते हुए **हि**=निश्चय से **देवान्**=इन देववृत्ति के पुरुषों को समीप से=सम्यक् प्राप्त होते हैं।

भावार्थ-प्रभु का प्रादुर्भाव होते ही वह ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है जो सब वासनाओं को कम्पित करके दूर कर देता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

प्रभु का तेज व ज्ञान ज्वाला

वि यस्य॑ ते पृथि॒व्यां पाजो॒ अश्रे॑त्तृ॒षु यदन्ना॑ स॒मवृ॑क्त॒ जम्भैः॑।
सेनेव सृ॒ष्टा प्रसि॑तिष्ट ए॒ति यवं॒ न द॑स्म जु॒ह्वा॑ विवे॑क्षि॥ ४॥

(१) हे प्रभो! **यस्य ते**=जिन आपका **पाजः**=बल **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में **तृषु**=शीघ्र ही **अश्रेत्**=आश्रय करता है, **यद्**=जब कि यह उपासक **जम्भैः**=अपने दाँतों से **अन्ना**=अन्नों को ही **सं अवृक्त**=(खादति) खाता है। शरीर-पोषण के लिये अन्नों का ही प्रयोग करनेवाला यह उपासक अपने में प्रभु की शक्ति का अनुभव करने लगता है। (२) हे प्रभो! उस समय **ते**=आपकी **प्रसितिः**=ज्ञान की ज्वाला, **सृष्टा सेना इव**=शत्रु के प्रति आक्रमण के लिये आज्ञा दी गयी सेना के समान **एति**=काम-क्रोध-लोभ आदि पर आक्रमण करती है। हे **दस्म**=दर्शनीय प्रभो! **यवं न**=यव के समान-बुराई को दूर करनेवाले व अच्छाई को हमारे साथ मिलानेवाले के समान **जुह्वा**=अपनी ज्ञान-ज्वाला से **विवेक्षि**=हमारे हृदयों को व्याप्त करते हैं। आपका प्रादुर्भाव होते ही सब वासना समूह विलीन हो जाती हैं।

भावार्थ-हम सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करते हैं तो प्रभु का तेज हमारे शरीर में आश्रय करता है। उस समय प्रभु की ज्ञान-ज्वाला में सब वासनाएँ भस्म हो जाती हैं।

ऋषिः-**वसिष्ठः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

दिन-रात प्रभु का स्मरण

तमि॒द्दोषा॒ तमु॒षसि॒ यवि॑ष्ठम॒ग्निमत्यं॒ न म॑र्जयन्त॒ नरः॑।
नि॒शिशा॑ना॒ अति॑थिमस्य॒ योनौ॑ दी॒दाय॑ शो॒चिराहु॑तस्य॒ वृष्णः॑॥ ५॥

(१) **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **तं अग्निम् इत्**=उस अग्रेणी प्रभु को ही **दोषा**=रात्रि में तथा **तम्**=उसको ही **उषसि**=दिन के प्रारम्भ में **मर्जयन्त**=अपने अन्दर दीप्त करते हैं। जो प्रभु **यविष्ठम्**=अधिक से अधिक हमारे से बुराइयों को दूर करनेवाले हैं (यु अमिक्षणे)। **अत्यं न**=जो हमारे लिये सततगामी अश्व के समान हैं-हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। (२) ये नर पुरुष इस **अतिथिम्**=निरन्तर गतिवाले प्रभु को **अस्य योनौ**=इसके मूल प्रादुर्भाव स्थान हृदय में **निशिशानाः**=दीप्त करनेवाले होते हैं। इस **आहुतस्य**=समन्तात् जिसके दान विद्यमान हैं, उस **वृष्णः**=शक्तिशाली प्रभु की **शोचिः**=दीप्ति **दीदाय**=चमकती है। जितना-जितना हम प्रभु का ध्यान करते हैं, उतना-उतना ही प्रभु की दीप्ति को अनुभव करते हैं। प्रभु की महिमा सर्वत्र दिखती है, पर प्रभु का प्रकाश हृदयों में ही होता है। सो यह हृदय ही प्रभु की योनि है-प्रादुर्भाव का स्थल है।

भावार्थ-दिन के व रात्रि के प्रारम्भ में सदा प्रभु का स्मरण करें। हृदय में प्रभु के दर्शन का यत्न करें। प्रभु की दीप्ति सर्वत्र दीप्त हो रही है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह अद्भुत प्रकाशमय रूप!

सुसंदृक्ते स्वनीक प्रतीकं वि यद्रुक्मो न रोचस उपाके।
दिवो न ते तन्यतुरेति शुष्मश्चित्रो न सूरः प्रति चक्षि भानुम्॥ ६ ॥

(१) हे **स्वनीक**=उत्तम तेजवाले प्रभो! **यद्**=जब आप **रुक्मः न**=इस देदीप्यमान सूर्य के समान **उपाके**=हमारे समीप ही **विरोचसे**=चमकते हैं तो **ते प्रतीकम्**=आपका रूप **सुसन्दृक्**=अत्यन्त ही दर्शनीय होता है। प्रभु आदित्यवर्ण हैं, हजारों सूर्यों की दीप्ति के समान प्रभु की दीप्ति है। अद्भुत ही वह प्रकाशमयरूप है। (२) हे प्रभो! **ते शुष्मः**=आपका शत्रुशोषक बल इस प्रकार उपासक को **एति**=प्राप्त होता है, **न**=जैसे कि **दिवः तन्यतुः**=आकाश से विद्युत् (अशनि)। आकाश से गिरती हुई विद्युत् वृक्षों को छिन्न-भिन्न कर देती है, इसी प्रकार प्रभु की शक्ति वासनाओं को छिन्न-भिन्न कर देती है। हे प्रभो! **सूरः न**=सूर्य के समान **चित्रः**=अद्भुत दीप्तिवाले आप **भानुम्**=अपनी दीप्ति को **प्रति चक्षि**=उपासक के लिए प्रदर्शित करते हैं।

भावार्थ—सूर्य के समान दीप्तिवाले प्रकाशमय वे प्रभु हैं। उपासक प्रभु के प्रकाश को देखता है और अन्दर विद्युत् के समान शक्ति को अनुभव करता है। यह शक्ति उसे वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करने में समर्थ करती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्निहोत्र तथा 'स्वस्थ दीर्घ जीवन'

यथा वः स्वाहाग्नये दाशेम परीळाभिर्घृतवद्भिश्च हव्यैः।
तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि॥ ७ ॥

(१) हे प्रभो! **यथा**=जिस प्रकार हम **वः**=आपकी **अग्नये**=इस आह्वनीय अग्नि के लिए **इडाभिः**=इन वेद-वाणियों के उच्चारण के साथ **च**=तथा **घृतवद्भिः**=उत्तम घृतोंवाले **हव्यैः**=हव्य पदार्थों के द्वारा **परिदाशेम**=आहुतियों को सर्वथा देनेवाले हों, उसी प्रकार आप हे **अग्ने**=प्राणो! **नः**=हमें **तेभिः**=उन **अमितैः**=बहुत अधिक (अ+मित) **महोभिः**=तेजों से तथा **शतम्**=शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाले **आयसीभिः पूर्भिः**=लोहनिर्मित शरीरों से **निपाहि**=नितरां रक्षित करिये। (२) अग्निहोत्र के द्वारा सब रोगकृमियों का तथा जात व अज्ञात सब व्याधियों का विनाश होकर हमारा तेज बढ़े तथा हमारे शरीर स्वस्थ लोहनिर्मित से बनें। हम सौ वर्ष तक तो अवस्य ही जीनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अधर्षणीय तेजस्विता व ज्ञान-वाणियाँ

या वा ते सन्ति दाशुषे अधृष्टा गिरो वा याभिर्नृवतीरुरुष्याः।
ताभिर्नः सूनो सहसो नि पाहि स्मत्सूरीञ्जरितॄञ्जातवेदः॥ ८ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र-शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **याः**=जो **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के **ते**=आपकी **अधृष्टाः**=शत्रुओं से अधर्षणीय तेज की ज्वालायें हैं, **वा**=या आपकी जो **गिरः**=ज्ञान की वाणियाँ हैं। **याभिः**=जिनके द्वारा आप **नृवतीः**=प्रशस्त पुत्रोंवाली प्रजाओं को **उरुष्याः**=रक्षित करते हैं। प्रजाओं का रक्षण 'तेज व ज्ञान' के द्वारा ही तो

होता है। हे शक्ति के स्वामिन्! **ताभिः**=उन तेजो-ज्वालाओं व ज्ञानवाणियों से **नः**=हमारा **निपाहि**=रक्षण करिये। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **स्मत्**=प्रशस्त **सूरीन्**=ज्ञानी **जरितॄन्**=स्तोताओं को भी नितरां रक्षित करिये। तेजस्विता के कारण ये रोगों से आक्रान्त न हों तथा ज्ञान इन्हें वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिये आपकी अधर्षणीय तेजस्विता व ज्ञान की वाणियाँ हैं। इनके द्वारा आप हमारा भी रक्षण करिये। ज्ञानी स्तोताओं को आपकी यह तेजस्विता व ज्ञानवाणी रक्षित करनेवाली हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पूता स्वधितिः इव

निर्यत्पूतेव स्वधितिः शुचिर्गात्स्वया कृपा तन्वा३ रोचमानः।
आ यो मात्रोरुशेन्यो जनिष्ट देवयज्याय सुक्रतुः पावकः॥ ९॥

(१) **यत्**=जब **पूता स्वधितिः इव**=पवित्र परशु के समान, खूब तीक्ष्ण परशु के समान, **शुचिः**=वे पवित्र प्रभु **निर्गात्**=प्रकृति के महान् संवरण से बाहिर आ जाते हैं, अर्थात् जब एक उपासक इस हिरण्मय पात्र के आवरण को हटाकर प्रभु का दर्शन करता है तो प्रभु उसके जीवन में **स्वया**=अपनी कृपा-शक्ति से, सामर्थ्य से तथा **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार से **रोचमानः**=दीप्त होते हैं। यह उपासक प्रभु की शक्ति से दीप्त होता हुआ विस्तृत सामर्थ्यवाला होता है और यह सब वासनाओं को कुल्हाड़े से काट डालता है। (२) **यः**=जो **उशेन्यः**=कमनीय प्रभु हैं, वे **सुक्रतुः**=उत्तम शक्ति व प्रज्ञानवाले हैं, **पावकः**=हमें पवित्र करनेवाले हैं। **मात्रोः**=ये प्रभु 'विद्या व श्रद्धा' रूप दो माताओं से **आजनिष्ट**=सर्वत्र प्रादुर्भूत होते हैं। **देवयज्याय**=ये प्रभु देववृत्ति के व्यक्तियों के साथ संगतिकरणवाले होते हैं, अर्थात् देववृत्ति के व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं। वस्तुतःप्रभु सम्पर्क में ही दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—प्रभु 'पवित्र परशु' के समान हैं। उपासक के अन्दर शक्ति व गुणों के विस्तार से दीप्त होते हैं। विद्या व श्रद्धा के मेल से प्रभु का प्रकाश होता है। ये उत्तम शक्ति व प्रज्ञानवाले पावक प्रभु हमारे साथ दिव्यगुणों का सम्पर्क करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दीप्त सौभाग्य

एता नो अग्ने सौभगा दिदीह्यपि क्रतुं सुचेतसं वतेम।
विश्वा स्तोतृभ्यो गृणते च सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ १०॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **एता**=इन **सौभगा**=उत्तम ऐश्वर्यों को **दिदीहि**=दीप्त करिये। हम **क्रतुम्**=यज्ञों का तथा **सुचेतसम्**=उत्तम प्रज्ञानवाले पुरुषों का **अपि वतेम**=सम्भजन करनेवाले हों उत्तम संग में रहते हुए हम सदा यज्ञशील हों। (२) हे प्रभो! **गृणते**=ज्ञानोपदेष्टा के लिये **च**=तथा **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये ही **विश्वा**=हमारे सब धन **सन्तु**=हों। हम सदा धनों को इन गुरुओं व प्रभु भक्तों को अर्पित करनेवाले हों जिससे लोकहित के कार्यों में इनका विनियोग हो। हे देवो! **यूयम्**=आप **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **नः पात**=हमारा रक्षण करिये।

भावार्थ—हमारे सौभाग्य दीप्त हों। हम यज्ञों व ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें। धनों को ज्ञानियों

व स्तोताओं के लिये देनेवाले हों। सब देव सदा हमारा कल्याण करें।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी 'वसिष्ठ' व 'अग्नि' ही हैं–

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

हव्य+मति

प्र वः शुक्राय भानवे भरध्वं हव्यं मतिं चाग्नये सुपूतम्।
यो दैव्यानि मानुषा जनूंष्यन्तर्विश्वानि विद्मना जिगाति ॥ १ ॥

(१) **वः**=तुम्हारे **शुक्राय**=(शुच्) दीप्त करनेवाले **भानवे**=प्रकाशस्वरूप प्रभु की प्राप्ति के लिये **सुपूतं हव्यं प्रभरध्वम्**=पवित्र हव्य का भरण करो, दानपूर्वक अदन करनेवाले बनो (हु दानादनयोः)। **च**=और उस **अग्नये**=अग्रणी प्रभु की प्राप्ति के लिये **मतिम्**=मननपूर्वक की गयी स्तुति का भरण करो। (२) **यः**=जो प्रभु **दैव्यानि**=दिव्यगुणों की सम्पत्ति को अपनानेवाले **मानुषा**=विचारपूर्वक कर्मों के करनेवाले **जनूंषि अन्तः**=मनुष्यों के अन्दर **विद्मना**=प्रज्ञान के साथ **जिगाति**=प्राप्त होता है। हृदयस्थ प्रभु इन व्यक्तियों के लिये ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ–हम प्रभु की प्राप्ति के लिये दानपूर्वक अदनवाले, यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें तथा मननपूर्वक प्रभु का स्तवन किया करें। देववृत्ति के विचारशील पुरुषों के अन्दर प्रभु ज्ञान के साथ प्राप्त होते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

तरुणः यविष्ठः

स गृत्सो अग्निस्तरुणश्चिदस्तु यतो यविष्ठो अजनिष्ट मातुः।
सं यो वना युवते शुचिदन्भूरि चिदन्ना समिदत्ति सद्यः ॥ २ ॥

(१) **सः**=वह **गृत्सः** (गृणाति)=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का उपदेश देनेवाला **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **चित्**=निश्चय से **तरुणः**=हमें काम आदि शत्रुओं से तरानेवाला **अस्तु**=हो। **यतः**=(यदा) जब **यविष्ठः**=सब बुराइयों को हमारे से पृथक् करनेवाला यह प्रभु **मातुः**=इस वेद माता के द्वारा, इसके नियमित स्वाध्याय से **अजनिष्ट**=हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होता है। तब यह प्रभु हमारे लिये 'यविष्ठ' हो, 'तरुण' हो। (२) ये प्रभु वे हैं **यः**=जो **वना**=सम्भजनीय धनों को **संयुवते**=हमारे साथ जोड़ते हैं और **शुचिदन्**=पवित्र दाँतोंवाले होते हुए **चित्**=निश्चय से **भूरि अन्ना**=पालन व पोषण करनेवाले अन्नों को **इत्**=ही **सद्यः**=शीघ्र **सं अत्ति**=सम्यक् खाते हैं। प्रभु-भक्त खाने की क्रिया को भी प्रभु के ही अर्पित करता है। एवं प्रभु-भक्त को चाहिए कि पवित्र दाँतोंवाला होता हुआ पौष्टिक अन्नों का ही सेवन करे। इस क्रिया को भी प्रभु से होता हुआ जाने।

भावार्थ–जब वेद के निरन्तर स्वाध्याय से प्रभु का प्रकाश होता है तो ये प्रभु हमें तरानेवाले व वासनाओं से पृथक् करनेवाले होते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिये हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करें। प्रभु हमें सम्भजनीय धनों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु की उपासना व पवित्रता

अस्य देवस्य संसद्यनीके यं मर्तासः श्येतं जगृभ्रे।
नि यो गृभं पौरुषेयीमुवोच दुरोकमग्निरायवे शुशोच॥ ३॥

(१) **अस्य देवस्य**=इस प्रकाशमय प्रभु के **संसदि**=साथ (सं) स्थित होने पर (सद्), **अनीके**=इस प्रभु के बल में, अर्थात् प्रभु की शक्ति को प्राप्त करने पर **मर्तासः**=मनुष्य **यम्**=जिस **श्येतम्**=श्वेत शुभ्र जीवन को **जगृभ्रे**=ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रभु की उपासना से जीवन शुद्ध बनता है। (२) **यः**=जो **पौरुषेयीम्**=पुरुषों के लिये हितकर **गृभम्**=ग्रहणीय बातों का **नि उवोच**=नितरां प्रतिपादन करता है, वह **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **आयवे**=गतिशील मनुष्य के लिये **दुरोकम्**=इस अपवित्र हुए-हुए शरीरगृह को **शुशोच**=पुनः शुचि (पवित्र) कर देते हैं। प्रभु की ज्योति से यह दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु के सान्निध्य में जीवन शुभ्र बनता है। प्रभु पुरुषों से ग्रहणीय बातों का उपदेश करते हुए अपवित्र जीवन को पवित्र कर डालते हैं।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासना से 'ज्ञान अमृतत्व व सौमनस्य'

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।
स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम॥ ४॥

(१) **अयम्**=यह **कविः**=क्रान्तदर्शी **प्रचेताः**=प्रकृष्ट-चेतनावाला **मृतः**=अविनाशी प्रभु इन **अकविषु**=अल्पज्ञ **मर्तेषु**=मनुष्यों में **निधायि**=स्थापित होता है, प्रभु प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थित होकर ज्ञान दे रहे हैं, वे प्रभु ही इस ज्ञान के द्वारा अमृतत्व प्राप्त कराते हैं। (२) **सहस्वः**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **सः**=वे आप **अत्र**=इस जीवन में **नः**=हमें **मा**=मत **जुहुरः**=हिंसित करिये। हम आपसे कभी पृथक् होकर अपने को नष्ट न कर लें। **सदा**=सर्वदा **त्वे**=आपकी उपासना में स्थित होते हुए **सुमनसः**=उत्तम मनवाले **स्याम**=हों।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए 'ज्ञान अमृतत्व व सौमनस्य' को प्राप्त करें।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'तरानेवाले' प्रभु

आ यो योनिं देवकृतं ससाद क्रत्वा ह्य१ग्निरमृताँ अतारीत्।
तमोषधीश्च वनिनश्च गर्भं भूमिश्च विश्वधायसं बिभर्ति॥ ५॥

(१) प्रभु वे हैं **यः**=जो **देवकृतम्**=देववृत्ति के पुरुषों से परिष्कृत किये गये **योनिम्**=हृदयरूप स्थान में **आससाद**=आसीन होते हैं और **हि**=निश्चय से **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **क्रत्वा**=प्रज्ञान व शक्ति के द्वारा **अमृतान्**=विषय वासनाओं के पीछे न मरनेवाले इन देवों को **अतारीत्**=तैरा देते हैं। प्रभु के हृदयस्थ होने पर ये देव उस प्रभु के द्वारा ही जीवन यज्ञ को चलवाते हैं—सो भटकते नहीं। (२) **तम्**=उस **विश्वधायसम्**=सब के धारण करनेवाले प्रभु को ही **ओषधीः च**=ओषधियाँ **वनिनः च**=वृक्ष **च**=तथा **भूमिः**=यह भूमि **गर्भम्**=गर्भरूप से अपने अन्दर **विभर्ति**=धारण करती है। उस प्रभु की स्थिति के कारण ही ओषधियों में ओषधित्व, वृक्षों में वृक्षत्व भूमि में भूमित्व

है वस्तुतः पिण्डमात्र में जो विभूति, श्री व ऊर्ज् है वह सब उस अन्तःस्थित प्रभु के कारण है। देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले भी वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—हम अपना हृदय परिष्कृत करें, उसे प्रभु का स्थिति स्थान बनायें। प्रभु ही हमें भवसागर से पार करेंगे। सब ओषधि वनस्पति व भूमि में प्रभु ही उस-उस विभूति को रखते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'वीर-तेजस्वी-परिचरणशील' उपासक

ईशे ह्य१ग्निरमृतस्य भूरेरीशे रायः सुवीर्यस्य दातोः।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परि षदाम मादुवः ॥ ६ ॥

(१) **हि**=निश्चय से **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **भूरेः**=उस महान् **अमृतस्य**=अमृतत्व के **दातोः ईशे**=देने के लिये ईश हैं—समर्थ हैं। प्रभु ही अमृतत्व को प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु ही **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्यवाले **रायः**=धन के देने के ईश हैं। प्रभु इहलोक के कल्याण के लिये 'सुवीर्य रयि' को देते हैं, तथा पारलौकिक कल्याण के लिये अमृतत्व को प्राप्त कराते हैं। (२) हे **सहसावन्**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **वयम्**=हम **अवीराः**=अवीर होते हुए **त्वा मा परिषदाम**=आपकी उपासना में न बैठें। **मा अप्सवः**=(अ+प्सु) न उत्तम रूपवाले, निस्तेज से होते हुए आपके उपासक न हों। **मा अदुवः**=परिचरण रहित होते हुए, माता-पिता, आचार्य व बड़ों की सेवा न करते हुए हम आपके उपासक न हों। अर्थात् वीर, तेजस्वी व परिचरणशील बनकर हम आपकी उपासना में स्थित हों।

भावार्थ—प्रभु उपासक को अमृतत्व, ऐश्वर्य व सुवीर्य प्राप्त कराते हैं। हम वीर, तेजस्वी व परिचरणशील बनकर प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋणग्रस्ता का दोष

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः ॥ ७ ॥

(१) **अरणस्य** (अपार्णस्य नि०)=ऋणरहित का **रेक्णः**=धन **हि**=निश्चय से **परिषद्यम्**=पर्याप्त होता है। (परिषद्यः पर्याप्तं सा०) अर्थात् संसारीधन इतना ही ठीक है कि हम ऋण-ग्रस्त न हों। 'आवश्यकताएँ पूर्ण होती जाएँ' यही धन हमें प्राप्त हो। हम उसी **रायः**=धन के **पतयः स्याम**=स्वामी हों, जो **नित्यस्य**=नित्य है, ऋण लेकर नहीं प्राप्त किया गया। ऋण प्राप्त धन को तो फिर लौटाना पड़ेगा। (२) हे **अग्ने**=प्रभो! हम यह समझकर चलें कि **अन्यजातं शेष- न अस्ति**=(शेषः) दूसरे से उत्पन्न हुई-हुई मृत्यु नहीं होती, अर्थात् मनुष्य ऋण लेकर इस ऋणभार से अपने जीवन को असमय में मृत्युग्रस्त कर लेता है। हे मनुष्य! तू **अचेतानस्य**=अपने अगले अबोध बच्चों के **पथः**=मार्गों को **मा विदुक्षः**=मत दूषित कर। वे प्रारम्भ से ही ऋण के बोझ से दबे हुए जीवन को न प्रारम्भ करें। पिता का ऋण बालकों की परेशानी का कारण न बने।

भावार्थ—धनाभाव संसार-यात्रा का सर्वमहान् विघ्न है, अत्यधिक धन विलास का कारण बनता है। प्रभु इतना धन दें कि हम ऋणी न हो जाएँ। ऋण को मृत्यु समझें। अपने बच्चों के लिए ऋणभार को न छोड़ जाएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अन्योदर्य सन्तान ऋण प्राप्त धन

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ॥ ८ ॥

(१) जैसे **अरणः**=अपगत ऋणवाला पुरुष ही **सुशेवः**=सुखी होता है, इसी प्रकार अपना सन्तानवाला पुरुष ही सुखी होता है। **अन्योदर्यः**=दूसरे के उदर से उत्पन्न हुआ-हुआ तो **मनसा उ**=मन से भी **ग्रभाय**=ग्रहण के लिये **नहि मन्तव वा उ**=सोचने योग्य नहीं होता। अन्योदर्य को ग्रहण करने का कभी सोचना ही नहीं चाहिए। क्योंकि **सः**=वह **अधा पुनः इत्**=अब फिर निश्चय से **ओकः एति**=अपने घर को चला जाता है। (२) इसलिए हमारी तो यही आराधना है कि **नः**=हमें तो **वाजी**=शक्तिशाली **अभीषाट्**=सब ओर शत्रुओं का पराभव करनेवाला **नव्यः**=प्रभु-स्तवन में प्रशस्त सन्तान **इत्**=ही **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो।

भावार्थ—अन्योदर्य को सन्तानरूपेण ग्रहण करना तो ऐसा ही कि ऋण लेकर धन प्राप्त करना। हमें अपना औरस 'शक्तिशाली, शत्रुओं का अभिभव करनेवाला, स्तवन की वृत्तिवाला सन्तान प्राप्त हो।'

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'वनुष्यतः-अवद्यात्' निपाहि

त्वमग्ने वनुष्यतो नि पाहि त्वमु नः सहसावन्नवद्यात्।
सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः सं रयिः स्पृहयाय्यः सहस्री ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **वनुष्यतः**=हमारा हिंसन करनेवाले काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं से **निपाहि**=हमें बचाइये। हे **सहसावन्**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बलवाले प्रभो! **त्वं उ**=आप ही **नः**=हमें **अवद्यात्**=पाप से, निन्दनीय कर्मों से बचाइये। (२) हे प्रभो! **त्वा**=आपके द्वारा, आपके अनुग्रह से **ध्वस्मन्वत्**=ध्वस्तदोष **पाथः**=अन्न **सं अभिएतु**=हमें सम्यक् प्राप्त हो, अर्थात् सात्त्विक अन्नों का ही प्रयोग करते हुए हम सात्त्विक मनवाले बनकर निर्दोष जीवनवाले हों। हमें वह **रयिः**=धन **सम्**=प्राप्त हो जो **स्पृहयाय्यः**=स्पृहणीय है तथा **सहस्री**=सहस्र संख्यावाला है, अर्थात् वह धन जो प्रशस्त मार्ग से कमाया गया है और पर्याप्त है।

भावार्थ—हे परमात्मन्! आप हिंसक काम-क्रोध आदि शत्रुओं से हमें बचाएँ। पाप से हमारा रक्षण करें। आपके अनुग्रह से हमें ध्वस्तदोष सात्त्विक अन्न प्राप्त हो तथा स्पृहणीय पर्याप्त धन के हम स्वामी हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'क्रतुं-सुचेतसम्' (वतेम)

एता नो अग्ने सौभगा दिदीह्यपि क्रतुं सुचेतसं वतेम।
विश्वा स्तोतृभ्यो गृणते च सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० ॥

३.१० पर अर्थ द्रष्टव्य है।

अगले सूक्त में वसिष्ठ 'वैश्वानर' नाम से प्रभु का स्तवन करते हैं—

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वैश्वानरो वावृधे जागृवद्भिः

प्राग्नये॑ त॒वसे॑ भरध्वं॒ गिरं॑ दि॒वो अ॑र॒तये॑ पृथि॒व्याः।
यो विश्वे॑षाम॒मृता॑नामु॒पस्थे॑ वैश्वान॒रो वा॑वृ॒धे जा॑गृ॒वद्भिः॑ ॥ १ ॥

(१) **तवसे**=उस प्रवृद्ध **अग्नये**=अग्रेणी प्रभु के लिये **गिरं प्रभरध्वम्**=स्तुतिवाणी को धारण करो। उस प्रभु का स्तवन करो जो **दिवः पृथिव्याः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के प्रति **अरतये**=गमनवाले हैं। जिस प्रभु की द्युलोक व पृथिवीलोक में सर्वत्र अव्याहत गति है, उस प्रभु का हम स्तवन करें। प्रभु सर्वदा सर्वत्र प्राप्त हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **विश्वेषाम्**=सब **अमृतानाम्**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले व्यक्तियों के **उपस्थे**=उपस्थान में, समीपता में होते हैं, अर्थात् प्रभु इन अमृत पुरुषों को ही प्राप्त होते हैं। **वैश्वानरः**=ये सब नरों का हित करनेवाले प्रभु **जागृवद्भिः**=इस संसार-यात्रा में जागनेवाले मनुष्यों से **वावृधे**=अपने हृदयों में बढ़ाये जाते हैं। सावधान पुरुष ही, अपने को वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त न होने देते हुए, अपने हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं।

भावार्थ—उस प्रभु का हम स्तवन करें जो सदा प्रवृद्ध हैं, द्युलोक व पृथिवीलोक में गतिवाले हैं, विषयों से अनाक्रान्त पुरुषों को प्राप्त होते हैं और सदा जागरित पुरुषों से अपने हृदयों में जिनका प्रकाश देखा जाता है।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नेता सिन्धूनां, वृषभः स्तियानाम्

पृ॒ष्टो दि॒वि धाय्य॒ग्निः पृ॑थि॒व्यां ने॒ता सिन्धू॑नां वृष॒भः स्तिया॑नाम्।
स मानु॑षीर॒भि वि॒शो॒ वि भा॑ति वैश्वान॒रो वा॑वृधा॒नो वरे॑ण ॥ २ ॥

(१) **पृष्टः** (प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) **ज्ञातुम् इष्ट**=जिसके विषय में हमारे अन्दर जानने की उत्सुकता है, वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **दिवि पृथिव्याम्**=द्युलोक में व पृथिवीलोक में सर्वत्र **धायि**=स्थापित हैं। पृथिवी व द्युलोक का यह सारा प्रदेश प्रभु से व्याप्त है, वास्तव में प्रभु इन सबको अपनी गोद में लिये हुए हैं। ये प्रभु ही **सिन्धूनां नेता**=सब नदियों का प्रणयन करनेवाले हैं, उन्हीं के प्रशासन में ये सब नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। प्रभु ही **स्तियानाम्**=जलों के **वृषभः**=वर्षानेवाले हैं। (स्तियाः आपः नि० ६।१७)। (२) **सः**=वे प्रभु ही **मानुषीः**=मनुष्य मात्र का हित करनेवाली, अथवा मननपूर्वक सब कार्यों को करनेवाली **विशः**=प्रजाओं के **अभिविभाति**=प्रति दीप्त होते हैं। मानव प्रजाओं में इस प्रभु का प्रकाश दिखता है। ये **वैश्वानरः**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभु **वरेण**=श्रेष्ठ बातों से **वावृधानः**=हमारे हृदयों में प्रवृद्ध होते हैं। जितना-जितना हम उत्तम बातों का धारण करते हैं, उतना-उतना प्रभु के प्रकाश को हृदयों में देखते हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी में ये प्रभु ही सर्वत्र व्याप्त हैं। ये जलों के वर्षक व नदियों के सञ्चालक हैं। विचारशील प्रजाओं में प्रभु का प्रकाश होता है। ये प्रभु उत्तम बातों के धारण के अनुपात में हमें प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का भय

त्वद्भिया विश॑ आयन्नसि॒क्नीर॑सम॒ना जह॑ती॒र्भोज॑नानि।
वैश्वा॑नर पू॒रवे॒ शोशु॑चानः॒ पुरो॑ यद॑ग्ने द॒रय॒न्नदी॑देः ॥ ३ ॥

(१) हे **वैश्वानर**=विश्वनर हित—सब मनुष्यों का कल्याण करनेवाले प्रभो! **असिक्नीः**=(असिक्नी=night रात्रि) रात्रि के समान अन्धकारमय जीवनवाली **असमनाः**=भ्रान्त चित्तवाली, विषयों में भटकती हुई **विशः**=प्रजाएँ **त्वद् भिया**=आपके भय से **भोजनानि जहतीः**=भोगों का परित्याग करती हुई **आयन्**=आपके समीप प्राप्त होती हैं। प्रभु का स्मरण उनके लिये अंकुश के समान हो जाता है, वे असिक्नी न रहकर सित (शुभ्र) जीवनवाली बनती हैं, विषयों में भटकना छोड़कर प्रभु उपासन में प्रवृत्त होती हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **पूरवे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले पुरुष के लिये **शोशुचानः**=दीप्त होते हुए, पवित्रता को करते हुए **यत्**=जब **पुरः**=काम-क्रोध-लोभ की वृत्तियों को **दरयन्**=विदीर्ण करते हैं तो **अदीदेः**=चमक उठते हैं। 'पूरु' का हृदय आपके प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमारे लिये अंकुश का काम करता है और हम भोगों को परे फेंककर विषयों में भटकने को छोड़कर शुभ्र जीवनवाले बन जाते हैं। काम-क्रोध-लोभ का विध्वंस होकर हमारा हृदय प्रकाशित हो उठता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का 'त्रिधातु व्रतम्'

तव॑ त्रि॒धातु॑ पृथि॒वी उ॒त द्यौर्वैश्वा॑नर व्र॒तम॑ग्ने सचन्त।
त्वं भा॒सा रोद॑सी॒ आ त॑तन्था॒जस्रे॑ण शो॒चिषा॒ शोशु॑चानः ॥ ४ ॥

(१) हे वैश्वानर **अग्ने**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले अग्रणी प्रभो! **तव**=आपके **त्रिधातु**='देव मनुष्य पशु' तीनों का धारण करनेवाले **व्रतम्**=कर्म का **पृथिवी उत द्यौः**=यह पृथिवी और द्युलोक **सचन्त**=सेवन करते हैं। अर्थात् आपकी व्यवस्था में ये द्यावापृथिवी 'देव, मनुष्य व पशु' सभी का धारण करते हैं। (२) **त्वम्**=आप **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **भासा**=दीप्ति से **आततन्थ**=विस्तृत करते हैं। सर्वत्र द्युलोक व पृथिवीलोक में प्रकाश को आप फैलाते हैं और **अजस्रेण**=न क्षीण होनेवाली **शोचिषा**=ज्ञानदीप्ति से जीवों के हृदयों को **शोशुचानः**=दीप्त व पवित्र करते हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु की व्यवस्था के अनुसार 'देव, मनुष्य व पशु' तीनों का धारण करते हैं। प्रभु द्यावापृथिवी को सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित करते हैं और उपासकों के हृदयों को अक्षीण ज्ञान-ज्योति से पवित्र करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

इरितः-गिरः

त्वाम॑ग्ने ह॒रितो॑ वावशा॒ना गिरः॑ सचन्ते॒ धुन॑यो घृ॒ताचीः॑।
पतिं॑ कृष्टी॒नां र॒थ्यं॑ रयी॒णां वैश्वा॑न॒रमु॒षसां॑ के॒तुमह्ना॑म् ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हमारे **हरितः**=ये इन्द्रियरूप अश्व **वावशानाः**=प्रबल कामनावाले होते हुए **त्वां सचन्ते**=आपका सेवन करते हैं। तथा **धुनयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाली

घृताचीः=ज्ञानदीप्ति के साथ सम्पर्कवाली **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ भी आपका ही सेवन करती हैं। (२) उन आपका सेवन करती हैं, जो आप **कृष्टीनाम्**=श्रमशील मानव प्रजाओं के **पतिम्**=रक्षक हैं। **रयीणाम्**=धनों के **रथ्यम्**=प्रापक हैं। **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं तथा **उषसाम्**=उषाओं के तथा **अह्नाम्**=दिनों के **केतुम्**=प्रज्ञापक हैं।

भावार्थ–हमारी इन्द्रियाँ व हमारी वाणियाँ प्रभु का ही उपासन करती हैं। प्रभु ही हमारे स्वामी, धनों के प्रापक व हित करनेवाले हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वैश्वानरः** ॥ छन्दः–**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

असुर्यं-क्रतुम् (दस्यु व आर्य)

त्वे अ॒सु॒र्यं॑१ वस॑वो॒ न्यृ॑ण्व॒न्क्रतुं॒ हि ते॑ मित्रमहो जु॒षन्त॑।
त्वं दस्यूँ॒रोक॑सो अग्न आज उ॒रु ज्योति॑र्ज॒नय॒न्नार्या॑य ॥ ६ ॥

(१) हे **मित्रमहः**=सब के प्रति स्नेह करनेवालों से महनीय–पूजनीय प्रभो! **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले देव, नीरोग दीर्घ जीवनवाले ज्ञानी **त्वे**=आप में ही, अर्थात् आपकी उपासना के द्वारा **असुर्यम्**=बल को **न्यृण्वन्**=प्राप्त करते हैं। और **हि**=निश्चय से **त्वे**=आपके **क्रतुम्**=प्रज्ञान बल (शक्ति) का **स जुषन्त**=सेवन करते हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **दस्यून्**=अकर्मा लोगों को (अकर्मा दस्युः०) **ओकसः**=घर से, स्थान से **आजः**=निर्गत कर देते हैं। और **आर्याय**=कर्मशील पुरुष के लिये **उरु ज्योतिः**=विशाल प्रकाश को **जनयन्**=प्रकट करते हैं।

भावार्थ–प्रभु की उपासना ही हमें शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त कराती है। प्रभु अकर्मा लोगों को गृहहीन करते हैं और पुरुषार्थियों के लिये प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वैश्वानरः** ॥ छन्दः–**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

सोमरक्षण व ज्ञान-प्राप्ति

स जाय॑मानः प॒र॒मे व्यो॑म॒न्वा॒युर्न पाथः॒ परि॑ पासि स॒द्यः।
त्वं भुव॑ना ज॒नय॑न्न॒भि क्र॒न्नप॑त्याय जातवेदो दश॒स्यन् ॥ ७ ॥

(१) **वायुः न**=(वा गतौ) सर्वत्र गतिशील वायु के समान हे प्रभो! **सः**=वे आप **परमे व्योमन्**=इस उत्कृष्ट हृदयाकाश में **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए **सद्यः**=शीघ्र ही **पाथः**=हमारे सोमरूप जल का **परिपासि**=पान करते हैं। जिस समय हृदयों में आपका प्रादुर्भाव होता है, उस समय ही वासनाओं का अभाव होकर सोमरक्षण सम्भव होता है। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **त्वम्**=आप **भुवना**=सब लोकों को **जनयन्**=उत्पन्न करते हुए तथा **अपत्याय**=अपने इन सन्तानरूप उपासकों के लिए **दशस्यन्**=सब काम्य पदार्थों को देते हुए **अभिक्रन्**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ–हृदयों में प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभु वासनाविनाश के द्वारा हमारे सोम का रक्षण करते हैं। और ज्ञान की वाणियों का हमारे लिये उपदेश करते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वैश्वानरः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

द्युमती इष्

ताम॑ग्ने अ॒स्मे इष॒मेर॑यस्व॒ वैश्वा॑नर द्यु॒मतीं॑ जातवेदः।
यया॒ राधः॒ पिन्व॑सि विश्ववार पृ॒थु श्रवो॑ दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य ॥ ८ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले, **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिये **ताम्**=उस **द्युमतीम्**=प्रकाशवाली **इषम्**=प्रेरणा को **एरयस्व** (आ ईरयस्व)=सर्वथा प्राप्त कराइये। **यया**=जिसके द्वारा आप **राधः**=सब कार्यसाधक धनों को **पिन्वसि**=प्राप्त कराते हैं। (२) हे **विश्ववार**=सब से वरणीय प्रभो! आप **दाशुषे मर्त्याय**=दाश्वान् मनुष्य के लिये, आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए **पृथुश्रवः**=विशाल ज्ञान व यश को प्राप्त कराते हैं। जो भी प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, प्रभु उसे ज्ञानी व यशस्वी बनाते हैं।

भावार्थ—हमें प्रभु की प्रकाशमयी प्रेरणा प्राप्त हो। इस प्रेरणा के अनुसार चलते हुए हम कार्यसाधक धनों को प्राप्त करें और त्यागवृत्तिवाले बनकर ज्ञान व यश को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पुरुक्षु रयिं' न 'श्रुत्य वाज'

तं नो अग्ने मघवद्भ्यः पुरुक्षुं रयिं नि वाजं श्रुत्यं युवस्व।
वैश्वानर महि नः शर्म यच्छ रुद्रेभिरग्ने वसुभिः सजोषाः ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **नः मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) हमारे यज्ञशील पुरुषों **तम्**=उस **पुरुक्षम्**=पालन व पूरक अन्नों को प्राप्त करानेवाले अथवा बहुत यशवाले, दान आदि में विनियुक्त होकर यश को प्राप्त करानेवाले, **रयिम्**=धन को तथा **श्रुत्यम्**=यशस्वी अथवा ज्ञानयुक्त **वाजम्**=बल को **नियुवस्व**=निश्चय से प्राप्त कराइये। (२) हे **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे लिये **महि**=महान् **शर्म**=रक्षण को **यच्छ**=प्राप्त कराइये। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **रुद्रेभिः**=(रुत्) ज्ञानोपदेष्टा **वसुभिः**=उत्तम निवासवाले पुरुषों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हैं। आपके रक्षण में हम भी 'रुद्र वसु' बनें और आपके प्रिय बन पायें।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। प्रभु हमारे लिये यशस्वी धन व ज्ञानयुक्त बल को प्राप्त करायें। प्रभु के रक्षण में हम स्वयं उत्तम जीवनवाले होते हुए (वसु) ज्ञान का उपदेश करनेवाले हों (रुद्र) और प्रभु के प्रिय हों।

अगले सूक्त में भी ऋषि व देवता 'वसिष्ठ' और 'वैश्वानर' ही हैं—

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दारुं' वन्दे

प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य।
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दे दारुं वन्दमानो विवक्मि ॥ १ ॥

(१) मैं **दारुम्**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाले प्रभु को **वन्दे**=वन्दित करता हूँ और **वन्दमानः**=वन्दना करता हुआ **कृतानि प्रविवक्मि**=उस वैश्वानर के कर्मों का प्रतिपादन करता हूँ। (२) उस प्रभु की **प्रशस्तिम्**=प्रशस्ति का, स्तुति का प्रतिपादन करता हूँ जो **सम्राजः**=सारे संसार के सम्राट् हैं। **असुरस्य**=(असून् राति) सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं। **पुंसः**=वीर हैं (पौंस्यं वीर्यम्)। **कृष्टीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **अनुमाद्यस्य**=स्तुत्य हैं अथवा हर्ष के जनक हैं। **इन्द्रस्य इव**=इन्द्र के समान **प्रतवसः**=प्रकृष्ट बलवाले हैं। 'इन्द्र' व 'वैश्वानर' दोनों उस प्रभु के ही नाम हैं। सो जो 'इन्द्र' का बल है, वही 'वैश्वानर' का बल है। इस प्रभु की प्रशस्ति का मैं प्रतिपादन करता हूँ।

भावार्थ—वे प्रभु 'सम्राट्, असुर, पुमान, स्तुत्य व बलवान्' हैं। प्रभु के कर्मों का व प्रशस्ति का मैं उच्चारण करता हूँ। प्रभु ही तो मेरे आसुरभावों को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'कविं केतुम्' आविवासे

कविं केतुं धासिं भानुमद्रेर्हिन्वन्ति शं राज्यं रोदस्योः।
पुरन्दरस्य गीर्भिरा विवासेऽग्नेर्व्रतानि पूर्व्या महानि॥ २॥

(१) **कविम्**=उस क्रान्तप्रज्ञ **केतुम्**=सब ज्ञानों के प्रज्ञापक **धासिम्**=धारक, **अद्रेः**= (आदर्तुः) स्तोता के **भानुम्**=हृदय को दीप्त करनेवाले, **रोदस्योः राज्यम्**=द्यावापृथिवी के सम्राट्, **शम्**=शान्त व सुखकर प्रभु को **हिन्वन्ति**=ये सब वेदवाणियाँ ही प्राप्त होती हैं, उसी का प्रतिपादन करती हैं 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'। (२) मैं **गीर्भिः**=इन वेदवाणियों के द्वारा **पुरन्दरस्य**=आसुर पुरियों का विदारण करनेवाले **अग्नेः**=अग्रेणी प्रभु के **पूर्व्या**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम अथवा पुरातन (सदा से चले आ रहे) **महानि व्रतानि**=महान व्रतों को **आविवासे**=परिचरित करता हूँ, पूजता हूँ।

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ उस प्रज्ञाधारक-दीपक प्रभु के महान् कर्मों का प्रतिपादन करती हैं। मैं इनके द्वारा प्रभु की उपासना करता हूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अयज्ञशीलता व जघन्यता

न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥ ३॥

(१) **अक्रतून्**=कर्मरहित, **ग्रथिनः**=इधर की उधर गूँथनेवाले-गप्पी, **मृध्रवाचः**=हिंसित वाणीवाले **पणीन्**=वार्धुषिक-सूदखूर, **अश्रद्धान्**=श्रद्धा से रहित, **अवृधान्**=किसी का वर्धन न करनेवाले, **अयज्ञान्**=यज्ञरहित **तान्**=उन **दस्यून्**=दस्युवृत्ति के मनुष्यों को **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **प्र प्र**=(अत्यन्तं) बहुत **नि**=नीचे **विवाय**=(गमयेत्) पहुँचाते हैं। इन पुरुषों की बहुत ही अधोगति होती है। (२) **पूर्वः**=वे पूर्व (मुख्य) अग्नि नामक प्रभु इन **अयज्यून्**=अयज्ञशील पुरुषों को **अपरान्**=अपर-जघन्य **चकार**=करते हैं। यह सारा संसार यज्ञ पर ही आधारित है। अयज्ञशील पुरुष न इस लोक में कल्याण को प्राप्त करता है, न अगले लोक में। वस्तुतः इन यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है।

भावार्थ—यज्ञ उन्नतियों का मूल है, अयज्ञशीलता अवनति का।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घोर अन्धकार में 'प्रकाश'

यो अपाचीने तमसि मदन्तीः प्राचीश्चकार नृतमः शचीभिः।
तमीशानं वस्वो अग्निं गृणीषेऽनानतं दमयन्तं पृतन्यून्॥ ४॥

(१) **यः**=जो **नृतमः**=सर्वोत्तम नेता प्रभु **अपाचीने**=अत्यन्त अप्रकाशमान-घने, **तमसि**= अन्धकार में पड़ जाने के कारण **मदन्तीः**=प्रभु का स्तवन करती हुई-अन्धकार की परेशानी में प्रभु को याद करती हुई प्रजाओं को **शचीभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा **प्राचीः चकार**= अग्रगतिवाला

करता है। **तम्**=उस **वसः ईशानम्**=सब धनों के ईशान **अग्निम्**=अग्नि की **गृणीषे**=मैं स्तुत करता हूँ। प्रभु ज्ञान को देकर मार्ग दिखाते हैं, और हमें अग्रगति के योग्य करते हैं। (२) वे प्रभु **अनानतम्**=कभी किसी से आनत नहीं किये जा सकते। **पृतन्यून् दमयन्तम्**=हमारे पर सेनाओं के द्वारा आक्रमण करनेवाले इन आसुरभावों का वे प्रभु दमन करते हैं। वस्तुतः जब हम अपने हृदयों में प्रभु को स्थापित करते हैं तो इन आसुरभावों के आक्रमण का सम्भव ही नहीं रहता।

भावार्थ—घोर अन्धकार में भी हम प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु हमें प्रज्ञान (प्रकाश) देते हैं और मार्ग पर आगे बढ़ाते हैं। वे प्रभु ही हमारे आसुरभावों का विनाश करते हैं। हमारे लिये सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राकार-भेदन

यो देह्यो३ अनमयद्वधस्नैर्यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार।
स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः ॥ ५ ॥

(१) **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **वधस्नैः**=वधसाधन आयुधों के द्वारा **देह्यः**=(देही Rampart) असुरपुरियों की चारदीवारियों को **अनमयत्**=झुका देते हैं, अर्थात् असुरपुरियों का विध्वंस कर देते हैं और **यः**=जो **अर्यपत्नीः**=जितेन्द्रिय पुरुष की पत्नी तुल्य बुद्धियों को **उषसः** (उष दाहे)=दोषों का दहन करनेवाला बनाता है। **सः**=वे **यह्वः**=महान् प्रभु **विशः**=प्रजाओं को **निरुध्य**=संयतेन्द्रिय बनाकर **नहुषः**=(णह बन्धने) औरों के साथ अपने को बाँधनेवाला **चक्रे**=बनाते हैं। इन्हें प्रभु केवल अपने लिये जीनेवाला नहीं रखते। स्वार्थ ही सब आसुरवृत्तियों का मूल था। (२) ये प्रभु इन प्रजाओं को **सहोभिः**=शत्रुमर्षक बलों के द्वारा **बलिहृतः**=बलि को देनेवाला (चक्रे) कहते हैं। ये प्रभु के उपासक सहस् (बल) को प्राप्त करके लोभ आदि को जीतकर यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु शत्रुओं के प्राकार का भेदन करके हमारी बुद्धियों को दोषों का दहन करनेवाली बनाते हैं। हमें संयतेन्द्रिय बना के औरों के लिये जीना सिखाते हैं। ये प्रभु हमें यज्ञशील बनाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमति की भिक्षा

यस्य शर्मन्नुप विश्वे जनास एवैस्तस्थुः सुमतिं भिक्षमाणाः।
वैश्वानरो वरमा रोदस्योराग्निः ससाद पित्रोरुपस्थम् ॥ ६ ॥

(१) **एवैः**=कर्मों के द्वारा **सुमतिम्**=कल्याणीमति की **भिक्षमाणाः**=याचना करते हुए **विश्वे जनासः**=सब लोग **यस्य शर्मन्**=जिसकी शरण में **उपतस्थुः**=उपस्थित होते हैं। वे **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पित्रोः**=पिता माता के समान **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी के—मस्तिष्क व शरीर के **वरम्**=उत्कृष्ट **उपस्थम्**=गोदरूप—मध्यभागभूत अन्तरिक्ष में—हृदयान्तरिक्ष में **आससाद**=आसीन होते हैं। (२) उस सर्वव्यापक प्रभु के दर्शन का स्थान हृदयदेश ही है। सर्वत्र द्यावापृथिवी में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। इस हृदयदेश में समाधि अवस्था में प्रभु का साक्षात्कार होता है इसी से यह हृदय यहाँ 'वर उपस्थ'=उत्कृष्ट मध्यभाग कहा गया है। बाहिर जो द्यावापृथिवी है, शरीर में वे मस्तिष्क व स्थूल शरीर हैं। इनका मध्यभाग ही हृदयदेश है। आधिदैविक जगत् में 'द्यावा' पिता है 'पृथिवी' माता। 'द्यौष्पिता, पृथिवी माता'।

इस हृदयासीन प्रभु से ही क्रियाशील पुरुष सुमति की भिक्षा माँगते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की शरण में जाएँ। क्रियाशील बनकर प्रभु से सुमति का भिक्षण करें। हृदयदेश में प्रभु की स्थिति का अनुभव करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वसु-दान

आ दे॒वो द॑दे बु॒ध्न्या॑३ वसू॑नि वैश्वान॒र उदि॑ता॒ सूर्य॑स्य।
आ स॑मु॒द्रादव॑रा॒दा पर॑स्मा॒दाग्निर्द॑दे दि॒व आ पृ॑थि॒व्याः ॥ ७ ॥

(१) **देवः**=वे प्रकाशमय **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु **सूर्यस्य उदिता**=ज्ञान सूर्य का उदय होने पर **बुध्न्या**=हृदयान्तरिक्ष के **वसूनि**=वसुओं को **आददे**=हमारे लिये सब प्रकार से देते हैं। हृदयान्तरिक्ष का वसु 'मनः प्रसाद व निर्मलता' ही है। प्रभु के अनुग्रह से ही इसकी प्राप्ति होती है। (२) **अवरात् समुद्रात् आ**=अवर समुद्र से लेकर **परस्मात् आ**=पर समुद्र तक **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु, **दिवः आ**=द्युलोक से लेकर **पृथिव्याः आ**=पृथिवीलोक तक सम्पूर्ण वसुओं को वे प्रभु उपासक के लिये **ददे**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही उपासक के लिये हृदयान्तरिक्ष के महान् वसु 'मनःप्रसाद' को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही ब्रह्माण्ड के सब वसुओं के देनेवाले हैं।

अगले सूक्त में वसिष्ठ 'अग्नि' नाम से प्रभु का स्मरण करते हैं—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मितद्रुः

प्र वो॑ दे॒वं चि॑त्सहसा॒नम॒ग्निमश्वं॒ न वा॒जिनं॑ हिषे॒ नमो॑भिः।
भवा॑ नो दू॒तो अ॑ध्व॒रस्य॑ वि॒द्वान्त्मना॑ दे॒वेषु॑ विविदे मि॒तद्रुः॑ ॥ १ ॥

(१) मैं **नमोभिः**=नमनों के द्वारा **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **प्रहिषे**=अपने हृदय में (प्रहिणोमि) प्राप्त करता हूँ। उस अग्नि को जो **वः देवम्**=तुम सबके प्रकाशक हैं। **सहसानम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। **चित्**=निश्चय से **अश्वं न वाजिनम्**=शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाले घोड़े के समान शक्तिशाली हैं। अर्थात् जो मुझे शीघ्र ही लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हैं। (२) हे प्रभो! **अध्वरस्य**=सब यज्ञों के **विद्वान्**=ज्ञाता होते हुए आप **नः**=हमारे लिये **दूतः भव**=दूत होइये, ज्ञान-सन्देश को प्राप्त कराइये। वे **मितद्रुः**=नपी-तुली गतिवाले प्रभु—सर्वत्र जितनी उचित है उतनी ही क्रिया करनेवाले प्रभु **त्मना**=स्वयं किसी और की सहायता को न लेते हुए **देवेषु**=सूर्य आदि देवों में **विविदे**=उस-उस शक्ति को प्राप्त कराते हैं। पृथिवी में पुण्यगन्ध को, जलों में रस को, अग्नि में तेज को, वायु में गति को, आकाश में शब्द को तथा सूर्य-चन्द्र आदि में प्रभा को स्थापित करनेवाले प्रभु ही हैं।

भावार्थ—मैं हृदय में नमन द्वारा प्रभु दर्शन के लिये यत्नशील होता हूँ। प्रभु ही मेरे शत्रुओं का पराभव करते हैं। वे मुझे ज्ञान का सन्देश देनेवाले प्रभु ही सब सूर्य आदि देवों में नपी-तुली गतिवाले हो रहे हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु प्राप्ति का मार्ग

आ याह्यग्ने पथ्या३ अनु स्वा मन्द्रो देवानां सख्यं जुषाणः।
आ सानु शुष्मैर्नदयन्पृथिव्या जम्भेभिर्विश्वमुशधग्वनानि॥ २॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **स्वाः पथ्याः अनु**=अपने कर्तव्य मार्गों के अनुसार, अर्थात् अपने कर्तव्य मार्गों पर चलता हुआ तू **आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त होनेवाला हो। **मन्द्रः**=सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला बन। **देवानां सख्यं जुषाणः**=देववृत्ति के पुरुषों की मित्रता का सेवन करनेवाला बन। (२) **शुष्मैः**=शत्रुशोषक बलों के साथ **पृथिव्याः**=इस शरीररूप पृथिवी के **सानु**=मस्तिष्करूप शिखर को **आनदयन्**=समन्तात् ज्ञान की वाणियों से अनुनादित करनेवाला बन तथा **जम्भेभिः**=दाँतों से **विश्वं वनानि**=सब वानस्पतिक पदार्थों की ही **उशधक्**=कामनावाला हो।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग यह है—(क) स्वकर्तव्य पालन, (ख) मनः प्रसाद, (ग) सत्संग, (घ) बल व ज्ञान का संचय, (ङ) वानस्पतिक पदार्थों से शरीर का पोषण।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुख प्राप्ति का मार्ग

प्राचीनो यज्ञः सुधितं हि बर्हिः प्रीणीते अग्निरीळितो न होता।
आ मातरा विश्ववारे हुवानो यतो यविष्ठ जज्ञिषे सुशेवः॥ ३॥

(१) हमारे जीवनों में **यज्ञः**=यज्ञ (श्रेष्ठतम कर्म) **प्राचीनः**=(प्र अञ्च्) आगे और आगे गतिवाला हुआ है। अर्थात् जीवन में यज्ञों की वृद्धि हुई है। **हि**=निश्चय से **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय **सुधितम्**=सम्यक् स्थापित हुआ है। **अग्निः प्रीणीते**=वे अग्रेणी प्रभु हमारे प्रति प्रीतिवाले होते हैं—हम प्रभु की प्रीति के पात्र बनते हैं। **मैं न**=जैसे **ईडितः**=स्तुतिवाला होता हूँ उसी प्रकार **होता**=यज्ञों को करनेवाला बनता हूँ। (२) **विश्ववारे**=सब से वरणे के योग्य **मातरा**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **आहुवानः**=मैं पुकारनेवाला होता हूँ। अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाने का प्रयत्न करता हूँ। हे **यविष्ठ**=युवतम—हमारी सब बुराइयों को दूर करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले प्रभो! ये उपर्युक्त बातें वे हैं **यतः**=जिनके द्वारा आप **सुशेवः**=हमें उत्तम सुख प्राप्त करानेवाले **जज्ञिषे**=होते हैं।

भावार्थ—सुख-प्राप्ति का मार्ग यही है कि—(क) हम यज्ञशील बनें, (ख) हृदय को पवित्र बनायें, (ग) प्रभु की प्रीति के पात्र बनें, (घ) स्तोता व होता हों, (ङ) मस्तिष्क व शरीर दोनों को उत्तम बनायें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु को सारथि बनाना

सद्यो अध्वरे रथिरं जनन्त मानुषासो विचेतसो य एषाम्।
विशामधायि विश्पतिर्दुरोणे३ऽग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा॥ ४॥

(१) **विचेतसः**=विशिष्ट चेतनावाले **मानुषासः**=विचारशील लोग **सद्यः**=शीघ्र ही **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में उस प्रभु को **रथिरं जनन्त**=शरीररूप रथ का संचालक बनाते हैं। **यः**=जो प्रभु

एषाम्=इन **विशाम्**=प्रजाओं के **दुरोणे**=इस शरीररूप गृह में **अधायि**=स्थापित हैं। हम सब के हृदयों में स्थित हुए-हुए प्रभु ही वस्तुतः हमारे जीवन यज्ञ को चलाते हैं। इस शरीर-रथ के सारथि प्रभु ही हैं। प्रभु को अपने रथ की बागडोर सौंपनेवाला व्यक्ति भटकता नहीं। (२) ये प्रभु ही **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं। **अग्निः**=अग्रणी हैं। **मन्द्रः**=स्तुत्य व सदा प्रसन्न हैं। **मधुवचाः**=अत्यन्त मधुर वचनोंवाले हैं और **ऋतावा**=यज्ञोंवाले व ऋत (सत्य) वाले हैं। प्रभु के उपासक का जीवन भी अनृत शून्य हो जाता है।

भावार्थ—समझदार व्यक्ति प्रभु को ही अपने रथ का सारथि बनाते हैं। प्रभु इनका रक्षण करते हैं। इनको 'प्रगतिशील, प्रसन्न, मधुर व ऋतवाला' बनाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्मा

असादि वृतो वह्निराजगन्वानग्निर्ब्रह्मा नृषदने विधर्ता।
द्यौश्च यं पृथिवी वावृधाते आ यं होता यजति विश्ववारम् ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु को अपने रथ का सारथि बनाते हैं, तो **वृतः**=वरण किये हुए प्रभु **असादि**=इस रथ पर स्थित होते हैं और **वह्निः**=इस रथ को लक्ष्य की ओर ले चलनेवाले होते हैं। **आजगन्वान्**=आये हुए वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **ब्रह्मा**=इस जीवन यज्ञ के ब्रह्मा होते हैं—वर्धन करनेवाले होते हैं। **नृषदने**=इस मनुष्यों के शरीररूप सदन में **विधर्ता**=वे विशेषरूप से धारण करनेवाले होते हैं। (२) **यम्**=जिस प्रभु की **द्यौः च**=यह द्युलोक और **पृथिवी**=पृथिवीलोक **वावृधाते**=खूब ही बढ़ाते हैं, अर्थात् जिसकी महिमा का प्रतिपादन करते हैं और **यम्**=जिस **विश्ववारम्**=सब से वरणीय व सब वरणीय वस्तुओंवाले प्रभु को **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति—यज्ञशील व्यक्ति **आयजति**=उपासित करता है। इस प्रभु का ही हम वरण करें। ये हमें आगे ले चलेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु का वरण करें, जीवन यज्ञ का ब्रह्मा प्रभु को ही बनायें। वे ही हमारा धारण करनेवाले हैं। ये द्युलोक व पृथिवीलोक प्रभु की ही महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। यज्ञशील पुरुष ही प्रभु का उपासक होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

लोकहित व यशस्वी जीवन

एते द्युम्नेभिर्विश्वमातिरन्त मन्त्रं ये वारं नर्या अतक्षन्।
प्र ये विशस्तिरन्त श्रोषमाणा आ ये मे अस्य दीधयन्नृतस्य ॥ ६ ॥

(१) **एते**=ये लोग **द्युम्नेभिः**=यशों से **विश्वम्**=सम्पूर्ण जगत् को **आतिरन्त**=(अभ्यगच्छन्) प्राप्त होते हैं, अर्थात् इनका यश सम्पूर्ण जगत् में फैल जाता है। **ये**=जो लोग **नर्या**=नरहितकारी कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए, **वा**=निश्चय से **मन्त्रम्**=मननपूर्वक किये गये स्तवन को **अरं अतक्षन्**=पर्याप्त संस्कृत (परिष्कृत) कर लेते हैं। यह स्तवन ही तो वस्तुतः उन्हें शक्ति देता है जिससे कि वे अधिक से अधिक इन नरहितकारी कार्यों को कर पाते हैं। (२) **ये**=जो **श्रोषमाणाः**=ज्ञान के सदा श्रवण करने की कामनावाले होते हुए **विशः प्रतिरन्त**=सब प्रजाओं का वर्धन करते हैं। और **ये**=जो **मे**=मेरे **अस्य ऋतस्य**=इस सत्य वेदज्ञान का **आदीधयन्**=आदीप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्तवन व ज्ञान, श्रवण करते हुए हम लोकहित के कार्यों को करनेवाले बनें और संसार में यशस्वी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु प्रेरणा के अनुसार

नू त्वाम॑ग्न ईमहे वसि॑ष्ठा ईशा॒नं सू॑नो सहसो वसू॑नाम्।
इषं स्तोतृभ्यो मघव॑द्भ्य आनड्यूयं पात स्व॒स्तिभिः सदा॑ नः॥ ७ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, बल के पुञ्ज **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **वसिष्ठाः**=अपनी इन्द्रियों को वश में करनेवाले अथवा उत्तम निवासवाले हम **नू**=अब **त्वाम्**=आपसे **ईमहे**=याचना करते हैं। आप ही **वसूनां ईशानम्**=सब वसुओं के ईशान हैं। (२) आप **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **च**=और **मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों के लिये **इषम्**=प्रेरणा को **आनट्**=(प्रापयेः) प्राप्त कराते हैं। **यूयम्**=आप **सदा**=हमेशा **नः**=हमें **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा, शुभमार्गों के द्वारा **पात**=रक्षित करें। आप से सदा शुभमार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करते हुए हम कल्याण को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम वसिष्ठ बनकर प्रभु का उपासन करें। प्रभु यज्ञशील स्तोताओं को सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। हे प्रभो! आपके अनुग्रह से शुभमार्ग पर चलते हुए हम कल्याणभाक् हों।

अगले सूक्त में भी वसिष्ठ 'अग्नि' नाम से ही प्रभु का स्मरण करते हैं—

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु नमन व हवन

इन्धे राजा सम॒र्यो नमो॑भिर्यस्य प्रती॑कमाहु॑तं घृतेन॑।
नरो॑ ह॒व्येभि॑रीळते स॒बाध॒ आग्निरग्र॑ उ॒षसा॑मशोचि॥ १ ॥

(१) वह **राजा**=दीप्त, **अर्यः**=स्वामी प्रभु **नमोभिः**=नमन के द्वारा **समिन्धे**=हृदय देश में दीप्त किया जाता है। हम नम्रता को धारण करके प्रभु का ध्यान करते हैं। **यस्य**=जिस प्रभु का **प्रतीकम्**=स्वरूप **घृतेन आहुतम्**=दीप्ति से आहुत है—जो प्रभु प्रकाश ही प्रकाश के रूप में हैं। (२) **सबाधः**=बाधाओं (पीड़ाओं) से युक्त **नरः**=मनुष्य **हव्येभिः**=हव्य पदार्थों के द्वारा **ईडते**=इस अग्नि का पूजन करते हैं। अग्नि का पूजन यही है कि हम उस-उस रोग को शान्त करनेवाले ओषध द्रव्यों का अग्नि में हवन करें। ये द्रव्य सूक्ष्म कणों में विभक्त होकर श्वास के साथ अन्दर जाते हुए, उन बाधाओं को दूर करेंगे। यह **अग्निः**=यज्ञाग्नि **उषसां अग्रे**=उषाकालों के अग्रभाग में **आ आशोचि**=दीप्त होता है। हम प्रातः प्रबुद्ध होकर अग्निहोत्र आदि पवित्र कार्यों को करने का उपक्रम करें।

भावार्थ—हम प्रातः प्रबुद्ध हों। नमन द्वारा हृदयदेश में प्रभु के प्रकाश को, तेजोमयरूप को देखने का प्रयत्न करें और अग्निहोत्र द्वारा सब रागात्मक बाधाओं को अपने से दूर रखने के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ओषधीभिः ववक्षे

अयमु ष्य सुमहाँ अवेदि होता मन्द्रो मनुषो यह्वो अग्निः ।
वि भा अकः ससृजानः पृथिव्यां कृष्णपविरोषधीभिर्ववक्षे ॥ २ ॥

(१) **अयम्**=ये **उ**=निश्चय से **स्यः**=वे प्रभु **सुमहान्**=अत्यन्त महान् **अवेदि**=माने जाते हैं। प्रभु के समान ही कोई और सत्ता नहीं, उससे बढ़कर के किसी के होने का तो प्रश्न ही नहीं। **होता**=ये प्रभु ही सब पदार्थों के देनेवाले हैं। **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप हैं। **मनुषः**=विचारशील पुरुष के ये **यह्वः** (यातः हूतश्च)=जाने योग्य व पुकारने योग्य हैं। **अग्निः**=अग्रणी हैं। (२) **ससृजानः**=(सृज्यमानः) ध्यान द्वारा हृदयदेश में उत्पन्न (अविर्भूत) किये जाते हुए ये प्रभु **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीरूप शरीर में **भाः**=दीप्तियों को **वि अकः**=विशेषरूप से करते हैं। प्रभु का ध्यान होते ही सारा शरीर प्रकाशमय हो उठता है। ये **कृष्णपविः** (पवि speech)=अत्यन्त आकर्षक अथवा पापों को क्षीण करनेवाली वाणीवाले प्रभु **ओषधीभिः**=ओषधियों से **ववक्षे**=हमारे अन्दर बढ़ते हैं। अर्थात् वानस्पतिक भोजन प्रभु की भावना को हमारे अन्दर बढ़ाने का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु महान् हैं। हृदय में प्रभु का ध्यान होते ही प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है। प्रभु प्रवणता की वृद्धि में ओषधि भोजन सहायक होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वधा

कया नो अग्ने वि वसः सुवृक्तिं कामु स्वधामृणवः शस्यमानः ।
कदा भवेम पतयः सुदत्र रायो वन्तारो दुष्टरस्य साधोः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **नः**=हमारी इस **सुवृक्तिम्**=दोषवर्जन की साधनभूत स्तुति को **कया**=किस अद्भुत (स्वधया=) आत्मधारणशक्ति से **विवसः**=आच्छादित करते हैं। **उ**=निश्चय से **शस्यमानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **कां स्वधाम्**=आनन्दप्रद आत्मधारणशक्ति को **ऋणश**=प्राप्त कराते हैं। अर्थात् जितना-जितना हम प्रभु का स्तवन व शंसन करते हैं, उतना-उतना आत्मधारणशक्ति को प्राप्त करते हैं। (२) हे **सुदत्र**=शोभनदानवाले प्रभो! **कदा**=कब हम **रायः**=उस धन के **पतयः**=स्वामी तथा **वन्तारः**=सम्भजन करनेवाले **भवेम**=होंगे, जो **दुष्टरस्य**=शत्रुओं से हिंसित नहीं होता तथा **साधोः**=सब इष्ट कार्यों का साधक है। हम उस 'दुष्टर साधु' सम्पत्ति को प्राप्त करें तथा उसका संविभाग करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए आत्मधारणशक्ति को प्राप्त करें। और उस धन को प्राप्त करें जो हमें काम-क्रोध-लोभ आदि का शिकार न होने दे तथा जो हमारे इष्ट कार्यों का साधक हो। हम इस धन का संविभाग करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'भरत व पूरुम्'

प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः ।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ द्युतानो दैव्यो अतिथिः शुशोच ॥ ४ ॥

(१) **अयं अग्निः**=यह अग्रणी प्रभु **भरतस्य**=लोगों का भरण करनेवाले की प्रार्थना को **प्र**

प्रशृण्वे=खूब ही सुनते हैं **यत्**=जब इस भक्त के हृदय में वे **बृहद्भाः**=बहुत प्रवृद्ध-दीप्तिवाले प्रभु **सूर्यः न**=सूर्य के समान **विरोचते**=विशेषरूप से दीप्त होते हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **पृतनासु**=संग्रामों में **पूरुम् अभि**=अपना पालन व पूरण करनेवाले की ओर **तस्थौ**=स्थित होते हैं। वस्तुतः 'पूरु' प्रभु के साहाय्य से ही संग्राम में विजयी हो पाता है। ये **द्युतानः**=ज्योति का विस्तार करनेवाले, **दैव्यः**=देवों के हितकर **अतिथिः**=निरन्तर गतिवाले प्रभु **शुशोच**=पर्याप्त ही दीप्त होते हैं।

भावार्थ-प्रभु औरों का भरण करनेवाले की प्रार्थना को सुनते हैं, उसके हृदय में दीप्त होते हैं। इस पालन व पूरण करनेवाले व्यक्ति को संग्राम में विजयी बनाते हैं।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

बल-सौमनस्य

असन्नित्त्वे आहवनानि भूरि भुवो विश्वेभिः सुमना अनीकैः।
स्तुतश्चिदग्ने शृण्विषे गृणानः स्वयं वर्धस्व तन्वं सुजात ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वे इत्**=आप में ही **आहवनानि**=पुकारें-प्रार्थनाएँ **भूरि सन्ति**=खूब होती हैं। सब आपकी ही प्रार्थनाएँ करते हैं। आप इन प्रार्थनाओं को सुनकर **विश्वेभिः**=सब **अनीकैः**=बलों के द्वारा **सुमनाः भुवः**=उत्तम मनवाले होते हैं। आप बल सौमनस्य को प्राप्त कराते हैं। (२) हे अग्ने! आप **स्तुतः**=(स्तौति इति स्तुत्) स्तवन करनेवाले की **चित्**=निश्चय से **शृण्विषे**=प्रार्थना को सुनते हैं। और हे **सुजात**=उत्तम विकास के कारणभूत प्रभो! **गृणानः**=ज्ञानोपदेश देते हुए आप **स्वयम्**=अपने आप **तन्वम्**=हमारे शरीरों को **वर्धस्व**=बढ़ाइये। आपके ज्ञानोपदेश से तदनुसार आचरण करते हुए हम अपने शरीर की सब शक्तियों को बढ़ानेवाले बनें।

भावार्थ-हम सदा प्रभु को ही पुकारें। प्रभु हमें बल सौमनस्य को प्राप्त करायें। प्रभु स्तोता की पुकार को सुनते हैं, उसे ज्ञानोपदेश देते हुए उसकी शक्तियों का वर्धन करते हैं।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

'द्युमत् अमीवचातन रक्षोहा' स्तुतिवचन

इदं वचः शतसाः संसहस्रमुदग्नये जनिषीष्ट द्विबर्हाः।
शं यत्स्तोतृभ्य आपये भवाति द्युमदमीवचातनं रक्षोहा ॥ ६ ॥

(१) **शतसाः**=शतवर्षपर्यन्त इन्द्रियशक्तियों का संभजन करनेवाला **सहस्रम्**=सहस्रों ज्ञान की वाणियों से **सम्**=संयुत हुआ-हुआ यह स्तोता **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिये **इदं वचः**=इस स्तुतिवचन को **उत् जनिषीष्ट**=उत्कर्षेण प्रादुर्भूत करता है। परिणामतः **द्विबर्हाः**=शरीर व मस्तिष्क प्रवृद्ध शक्ति व ज्ञानवाला होता है। (२) उस स्तुतिवचन का यह उच्चारण करता है **यत्**=जो **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए और **आपये**=बन्धुओं के लिए **शं भवाति**=शान्ति को देनेवाला होता है। **द्युमत्**=मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाला होता है। **अमीवचातनम्**=शरीर में रोगों का विध्वंस करनेवाला व **रक्षोहा**=मनों में राक्षसी वृत्तियों को नष्ट करनेवाला होता है।

भावार्थ-प्रभु का स्तवन हमारी शक्ति व ज्ञान को बढ़ाता है। यह मानस शान्ति को प्राप्त कराता है 'द्युमत्-अमीवचातन व रक्षोहा' है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वसिष्ठ का 'प्रभु-उपासन'

नू त्वामग्न ईमहे वसिष्ठा ईशानं सूनो सहसो वसूनाम्।
इषं स्तोतृभ्यो मघवद्भ्य आनड्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

७.७ पर व्याख्या द्रष्टव्य है।

अगले सूक्त में भी वसिष्ठ ही अग्नि की आराधना करते हैं—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जार उषसाम् अबोधि

अबोधि जार उषसामुपस्थाद्धोता मन्द्रः कवितमः पावकः।
दधाति केतुमुभयस्य जन्तोर्हव्या देवेषु द्रविणं सुकृत्सु ॥ १ ॥

(१) वह **जारः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाला प्रभु **उषसाम्**=(उष दाहे) वासनाओं को भस्म करनेवाले पुरुषों की **उपस्थात्**=उपासना से **अबोधि**=जाना जाता है। प्रभु दर्शन उन्हीं को होता है जो अपनी वासनाओं को जीर्ण करने के लिये यत्नशील होते हैं। इनके समीप उठने-बैठने से सामान्य मनुष्य भी परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करता है। वे प्रभु **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं, **मन्द्रः**=आनन्दमय हैं, **कवितयः**=अत्यन्त क्रान्तप्रज्ञ हैं **पावकः**=पवित्र करनेवाले हैं। (२) ये प्रभु **उभयस्य जन्तोः**=दोनों प्रकार के प्राणियों, पशु-पक्षियों व मनुष्यों के **केतुम्**=ज्ञान को **दधाति**=स्थापित करते हैं। पशुओं में भी कुछ वासना के रूप में ज्ञान की स्थापना होती है। मनुष्यों को प्रभु बुद्धि (Intelligence) देते हैं। ये प्रभु ही **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **हव्या**=हव्य पदार्थों को तथा **सुकृत्सु**=पुण्यशालियों में **द्रविणम्**=धन को धारण करते हैं। देववृत्ति के व्यक्ति सदा हव्य पदार्थों को ही ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासनाशून्य हृदयों में प्रकाशित होते हैं। ये प्राज्ञ प्रभु ही हमें पवित्र बनाते हैं। सभी को ये ही ज्ञान देते हैं। हव्यों व द्रविणों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान का प्रकाश

स सुक्रतुर्यो वि दुरः पणीनां पुनानो अर्कं पुरुभोजसं नः।
होता मन्द्रो विशां दमूनास्तिरस्तमो ददृशे राम्याणाम् ॥ २ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा व शोभनप्रज्ञ हैं, **यः**=जो **पणीनाम्**=(पण व्यवहारे स्तुतौ च) प्रभु-स्मरणपूर्वक व्यवहार करनेवालों के **दूरः**=इन्द्रिय द्वारों को **वि**=खोल देते हैं, विषय-वासनाओं से मुक्त करके इन्हें स्वकर्तव्य में प्रेरित करते हैं। ये प्रभु **नः**=हमारे **पुरुभोजसम्**=खूब ही पालन करनेवाले **अर्कम्**=ज्ञानसूर्य को **पुनानः**=पवित्र करते हैं, वासनारूप बादलों के आवरण से इसे रहित करते हैं। वासनामेघ के विलीन होने से ज्ञानसूर्य दीप्त हो उठता है। (२) **होता**=वे प्रभु सब कुछ देनेवाले हैं। **मन्द्रः**=आनन्दमय हैं। **दमूनाः**=दान के मनवाले हैं। **राम्याणां विशाम्**=रात्रि के अन्धकार में फँसी अथवा रमण प्रवृत्त प्रजाओं के **तमः**=अन्धकार को **तिरः ददृशे**=तिरोहित कर देते हैं, प्रभु की उपासना से स अज्ञानान्धकार नष्ट हो

जाता है।

भावार्थ—प्रभु उपासकों के इन्द्रिय द्वारों को विजयवज्र से मुक्त कर देते हैं और इनके ज्ञान को वे दीप्त करते हैं। उपासना से विषयों में रमण करनेवाली प्रजाओं का भी अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रस्वः आविवेश

अमूरः कविरदितिर्विवस्वान्त्सुसंसन्मित्रो अतिथिः शिवो नः।
चित्रभानुरुषसां भात्यग्रेऽपां गर्भः प्रस्वआ विवेश ॥ ३ ॥

(१) वे प्रभु **अमूरः**=सब प्रकार की मूढ़ताओं से दूर, **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ, **अदितिः**=खण्डनरहित, **विवस्वान्**=ज्ञान की किरणोंवाले हैं। **सुसंसत्**=पवित्र हृदय में आसीन होनेवाले, **मित्रः**=मृत्यु से बचानेवाले, **अतिथिः**=निरन्तर गतिशील, **नः शिवः**=हमारे लिये कल्याण को करनेवाले हैं। (२) **चित्रभानुः**=अद्भुत दीप्तिवाले वे प्रभु **उषसां अग्रे**=उषाकालों के अग्रभाग में **भाति**=हमारे हृदयों में दीप्त होते हैं। **अपां गर्भः**=जलों के मध्य में होते हुए ये **प्रस्वः आविवेश**=सब ओषधियों में प्रवेश करते हैं। ओषधियों के अन्दर उस-उस प्राणशक्ति को प्रभु ही तो स्थापित करते हैं। जलों में ये प्रभु ही रस के रूप में होते हैं। हम प्रातः प्रभु स्मरण करते हुए हृदयदेश में प्रभु को देखने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की किरणोंवाले हैं, पवित्र हृदय में प्रकाशित होते हैं। ये प्रभु जलों के गर्भ में रहते हुए सभी ओषधियों में प्रवेश कर रहे हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दम्पतियों से मिलकर उपास्य' प्रभु

ईळेन्यो वो मनुषो युगेषु समनगा अशुचज्जातवेदाः।
सुसंदृशा भानुना यो विभाति प्रति गावः समिधानं बुधन्त ॥ ४ ॥

(१) **वः**=हमारे **मनुषः युगेषु**=मानव जोड़ों में, दम्पतियों में, पति-पत्नी में **ईडेन्यः**=वह प्रभु स्तुत्य हैं। पति-पत्नी को मिलकर प्रातः प्रभु स्मरण अवश्य करना ही चाहिये। ये पति-पत्नी ही आदर्शगृह का निर्माण कर पाते हैं। यह **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु **समनगाः**=संग्राम में संगत होता है। अर्थात् हम काम-क्रोध आदि से संग्राम करते हैं। तो ये प्रभु हमारे सहायक होते हैं। **अशुधत्**=हृदयदेश में दीप्त होते हैं। (२) **सुसन्दृशा**=उत्तम दर्शनीय **भानुना**=दीप्ति से **यः विभाति**=जो प्रभु विशिष्ट दीप्तिवाले हैं, उस **समिधानम्**=सम्यक् देदीप्यमान प्रभु को **गावः**=सब वेदवाणियाँ **प्रतिबुधन्त**=ज्ञापित करती हैं, ये सब वाणियाँ प्रभु का ही ज्ञान देती हैं।

भावार्थ—दम्पती मिलकर प्रातः प्रभुस्तवन करें। काम-क्रोध आदि से संग्राम में ये प्रभु ही हमारे सहायक होते हैं। सब वेद-वाणियाँ इस प्रकाशमय प्रभु का प्रतिपादन करती हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रमणीयता का आधान

अग्ने याहि दूत्यं१ मा रिषण्यो देवाँ अच्छा ब्रह्मकृता गणेन।
सरस्वतीं मरुतो अश्विनापो यक्षि देवान्रत्नधेयाय विश्वान् ॥ ५ ॥

(१) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **दूत्यं याहि**=आप हमारे लिये दूतकर्म को प्राप्त होइये, हमारे लिये ज्ञानसन्देश को देनेवाले होइये। **मा रिषण्यः**=हमें हिंसित न करिये। **ब्रह्मकृता**=ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले (ब्रह्म करोति) **गणेन**=प्राणों के गण से आप हमें **देवान् अच्छ**=दिव्य गुणों की ओर ले चलिये। (२) हमारे साथ **यक्षि**=संगत करिये। **सरस्वतीम्**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती से हमारा मेल हो। **मरुतः**=प्राणों का हमारे से मेल हो। **अश्विना**=द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का हमारे साथ मेल हो। तथा **अपः**=शरीरस्थ रेतःकणों का हमारे साथ मेल हो।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानसन्देश प्राप्त कराके हिंसित होने से बचायें। ज्ञानोत्पादक प्राणगण के द्वारा हमें दिव्यगुणों की ओर ले चलें। इन देवों के द्वारा हमारे जीवन रमणीय हों। हमारे साथ 'सरस्वती, मरुत्, अश्विना व आपः' का सम्पर्क हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'जरूथ-जरण'

त्वाम॑ग्ने समिधा॒नो वसि॑ष्ठो॒ जरू॑थं ह॒न्यक्षि॑ रा॒ये पुर॑न्धिम्।
पु॒रु॒णी॒था जा॑तवेदो जरस्व यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ नः ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वसिष्ठः**=उत्तम वसुओंवाला व वशियों में श्रेष्ठ यह स्तोता **त्वां समिधानः**=आपको दीप्त करता हुआ **जरूथम्**=इस परुषभाषी व जरणीय (नष्ट करने योग्य) कटुभाषणरूप राक्षसी वृत्ति को **हन्**=नष्ट करता है। आप **पुरन्धिम्**=पालक बुद्धिवाले इस स्तोता को **राये**=ऐश्वर्य के लिये **यक्षि**=संगत करिये। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **पुरुणीथा**=इन अनेक मार्गोंवाले, मायामय विविध छलछिद्रान्वित मार्गों से गति करनेवाले राक्षसी भावों को **जरस्व**=जीर्ण करिये। और इस प्रकार **अयम्**=आप **स्वस्तिभिः**=कल्याणमार्गों के द्वारा **नः**=हमारा **सदा पात**=सर्वदा रक्षण करिये। हमें शुभमार्गों पर ले चलते हुए आप हमारा कल्याण करिये।

भावार्थ—वशी स्तोता प्रभु का स्मरण करता है। प्रभु ही वस्तुतः उसे राक्षसीभावों के आक्रमण से बचाते हैं।

अगले सूक्त में भी वसिष्ठ द्वारा अग्नि का उपासन है—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दविद्युतत्-दीद्यत्-शोशुचानः

उ॒षो न जा॒रः पृ॒थु पाजो॑ अश्रे॒द्दवि॑द्युत॒द्दीद्य॒च्छोशु॑चानः।
वृषा॒ हरि॒: शुचि॒रा भा॑ति भा॒सा धियो॒ हिन्वा॒न उ॑श॒तीर॑जीगः ॥ १ ॥

(१) **उषः जारः न**=उषा के जीर्ण करनेवाले सूर्य के समान ये प्रभु **पृथु पाजः**=विशाल तेज का **अश्रेत्**=आश्रय करते हैं। वे प्रभु **दविद्युतत्**=ज्योतिर्मय हैं, **दीद्यत्**=सब अन्धकारों का खण्डन करनेवाले हैं। **शोशुचानः**=खूब ही शुचिता व पवित्रता को करनेवाले हैं। (२) **वृषा**=सब सुखों का सेचन करनेवाले **हरिः**=दुःखहर्ता **शुचिः**=पवित्र वे प्रभु **भासा**=दीप्ति से **आभाति**=समन्तात् दीप्त हो रहे हैं। **धियः**=बुद्धियों को **हिन्वानः**=प्रेरित करते हुए वे प्रभु **उशतीः**=(कामयमानाः) उन्नति की कामनावाली प्रजाओं के **अजीगः**=(जागरयति) जागरित करते हैं। जैसे एक अध्यापक

कामयमान विद्यार्थी को ऊँची शिक्षा देनेवाले होते हैं, उसी प्रकार इन कामयमान प्रजाओं को प्रभु प्रबुद्ध करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान दीप्त हैं। ज्योतिर्मय-अन्धकार को दूर करनेवाले व पवित्रता को करनेवाले हैं। वे बुद्धियों को प्रेरित करते हुए हमें उद्बुद्ध करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञं+मन्म

स्व१र्ण वस्तोरुषसामरोचि यज्ञं तन्वाना उशिजो न मन्म।
अग्निर्जन्मानि देव आ वि विद्वान्द्रवद् दूतो देवयावा वनिष्ठः ॥ २ ॥

(१) **वस्तोः**=दिन में **स्वः न**=सूर्य के समान **उषसाम्**=(उष दाहे) वासनाओं को भस्म करनेवालों के हृदयों में **अरोचि**=वे प्रभु दीप्त होते हैं। इसीलिए **उशिजः**=मेधावी पुरुष **मन्म न**=मननीय स्तोत्रों की तरह **यज्ञं तन्वानाः**=यज्ञ को विस्तृत करते हैं। सदा पवित्र हृदयोंवाले बनते हुए प्रभु दर्शन के लिये यत्नशील होते हैं। (२) **देवः**=वह प्रकाशमय **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **जन्मानि**=सब उत्पन्न प्राणियों को **विद्वान्**=जानता हुआ **वि आद्रवत्**=विविध दिशाओं में सर्वत्र गतिवाला होता है। **दूतः**=ये प्रभु ज्ञान का सन्देश देनेवाले, **देवयावा**=देवों को प्राप्त होनेवाले व **वनिष्ठः**=सम्भजनीयतम हैं।

भावार्थ—प्रभु सूर्यवत् दीप्त हैं। स्तोत्रों व यज्ञों के द्वारा पवित्र हृदय बनकर हम प्रभु को हृदय में देख पाते हैं। ये प्रभु ही हमारे लिये ज्ञान के सन्देश को देते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'गिरः मतयः' अग्निम् अच्छ

अच्छा गिरो मतयो देवयन्तीरग्निं यन्ति द्रविणं भिक्षमाणाः।
सुसन्दृशं सुप्रतीकं स्वञ्चं हव्यवाहमरतिं मानुषाणाम् ॥ ३ ॥

(१) **देवयन्तीः**=दिव्यगुणों की कामना करती हुई **गिरः**=ज्ञान की वाणियाँ तथा **मतयः**=मननपूर्वक की गई स्तुतियाँ **अग्निं अच्छा**=उस अग्रेणी प्रभु की ओर **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। उस प्रभु से ही **द्रविणं भिक्षमाणाः**=धन का भिक्षण करती हैं। (२) उस प्रभु की ओर हमारी स्तुति-वाणियाँ जाती हैं जो **सुसन्दृशम्**=कल्याण संदर्शनवाले हैं। **सुप्रतीकम्**=उत्तम तेजस्वी रूपवाले हैं। **स्वञ्चम्**=उत्तम गतिवाले **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के **अरतिम्**=स्वामी हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ज्ञान प्राप्त करें, प्रभु का स्तवन करें। प्रभु ही सब धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्र (वसु) रुद्र व आदित्यों' के सम्पर्क में

इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा रुद्रं रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम्।
आदित्येभिरदितिं विश्वजन्यां बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम् ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वसुभिः**=वसुओं के साथ **सजोषाः**=संगत हुए-हुए आप **नः**=हमारे लिये **इन्द्रम्**=इन्द्र को **आवहा**=प्राप्त कराइये। इस जितेन्द्रिय पुरुष के सम्पर्क में हम भी इन्द्र व

जितेन्द्रिय बनें। **रुद्रेभिः**=(रुत्+र अथवा रुत्+द्र) ज्ञानोपदेश देनेवाले अथवा रोगों को दूर भगानेवाले इन रुद्रों के साथ संगत हुए-हुए आप **बृहन्तम्**=वृद्धि के कारणभूत अथवा खूब वृद्ध (बढ़े हुए) **रुद्रम्**=इस ज्ञानोपदेष्टा व रोगहर्ता को हमारे साथ मिलाइये। (२) **आदित्येभिः**=सब ज्ञानों का आदान करनेवाले इन विद्वानों के द्वारा आप **विश्वजन्याम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाली **अदितिम्**=वेदवाणी (नि० १।११) को हमें प्राप्त कराइये। **ऋक्वभिः**=स्तुत्य जीवनवाले अथर्वाङ्गि-रसों के द्वारा **विश्ववारम्**=सब से वरने के योग्य अथवा सब वरणीय ज्ञानोंवाले **बृहस्पतिम्**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी को हमें प्राप्त कराइये।

भावार्थ-हम 'इन्द्र (वसु), रुद्र व आदित्य' विद्वानों के सम्पर्क में आयें। ये हमें इस वेदवाणी का ज्ञान दें तथा बृहस्पति (सर्वज्ञ प्रभु) को प्राप्त करायें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन

मन्द्रं होतारमुशिजो यविष्ठमग्निं विश ईळते अध्वरेषु।
स हि क्षपावाँ अभवद्रयीणामतन्द्रो दूतो यजथाय देवान्॥ ५ ॥

(१) **उशिजः विशः**=मेधावी प्रजायें **अध्वरेषु**=यज्ञों में **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु का **ईडते**=उपासना करती हैं। जो प्रभु **मन्द्रम्**=आनन्दमय व स्तुत्य हैं। **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले हैं। **यविष्ठम्**=हमारे से बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले हैं। यज्ञों के द्वारा ही इस प्रभु का उपासन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयन्त देवाः'। (२) **स हि**=वे प्रभु ही **क्षपावान्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। ये प्रभु **रयीणाम्**=ज्ञानैश्वर्यों के **अतन्द्रः**=आलस्य शून्य-अप्रमत्त **दूतः**=प्राप्त करानेवाले **अभवत्**=हैं। तथा **देवान् यजथाय**=दिव्यगुणों के साथ हमारे सम्पर्क के लिये होते हैं।

भावार्थ-हम यज्ञों द्वारा उस स्तुत्य प्रभु का उपासन करें। ये प्रभु शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं तथा देवों (दिव्यगुणों) के साथ हमारा सम्पर्क करनेवाले हैं।

अगले सूक्त में भी वसिष्ठ 'अग्नि' का उपासन करते हैं-

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

'महान् यज्ञों के प्रज्ञापक' प्रभु

महाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतो न ऋते त्वदमृता मादयन्ते।
आ विश्वेभिः सरथं याहि देवैर्न्यग्ने होता प्रथमः सदेह॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **महान् असि**=आप महान् हैं। **अध्वरस्य**=हिंसारहित यज्ञों के **प्रकेतः**=प्रज्ञापक हैं। **त्वद् ऋते**=आपके बिना **अमृताः**=ये नीरोग जीवनोंवाले देव **न मादयन्ते**=आनन्द का अनुभव नहीं करते, आपकी उपासना में ही आनन्द लेते हैं। (२) आप **विश्वेभिः देवैः**=सब दिव्यगुणों के साथ **सरथं आयाहि**=इस समान शरीररूप रथ पर प्राप्त होइये। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **प्रथमः होता**=मुख्य होता होते हुए **इह**=यहाँ हमारे वासनाशून्य हृदयों में **निसद**=विराजमान होइये।

भावार्थ-प्रभु महान् हैं, यज्ञों के प्रज्ञापक हैं। देव प्रभु उपासन में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। प्रभु हमें सब दिव्यगुणों को प्राप्त करायें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शुभ दिन

त्वामीळते अजिरं दूत्याय हविष्मन्तः सदमिन्मानुषासः।
यस्य देवैरासदो बर्हिरग्नेऽहान्यस्मै सुदिना भवन्ति॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **हविष्मन्तः**=हविवाले—त्यागपूर्वक अदनवाले **मानुषासः**=विचारशील लोग **सदम् इत्**=सदा ही **दूत्याय**=दूत कर्म के लिये, ज्ञान का सन्देश प्राप्त कराने के लिये **अजिरम्**=गति के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकनेवाले **त्वाम्**=आपको **ईडते**=उपासित करते हैं। हम ज्ञान सन्देश प्राप्त करने के लिये उस अजिर अग्नि का उपासन करें, उससे ज्ञान-सन्देश प्राप्त करें। सदा विचारशील बनकर हविवाले हों। मस्तिष्क के लिये ज्ञान, हाथों से यज्ञ। (२) हे प्रभो! **यस्य**=जिस भी उपासक के **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में आप **देवैः**=देवों के साथ **आसदः**=आसीन होते हैं **अस्मै**=इसके लिये **अहानि**=सब दिन **सुदिना**=शुभ दिन **भवन्ति**=हो जाते हैं।

भावार्थ—हम त्यागपूर्वक अदनवाले विचारशील उपासक बनें। हमारे हृदयों में देवों के साथ प्रभु का वास हो। इस प्रकार हमारे सब दिन शुभ दिन हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अभिशस्तिपावा

त्रिश्चिदक्तोः प्र चिकितुर्वसूनि त्वे अन्तर्दाशुषे मर्त्याय।
मनुष्वदग्न इह यक्षि देवान्भवा नो दूतो अभिशस्तिपावा॥ ३॥

(१) **अक्तोः**=इस जीवन रात्रि के **त्रिः चित्**=तीनों सवनों में **दाशुषे मर्त्याय**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिये **त्वे अन्तः**=आप में **वसूनि**=वसुओं को **प्रचिकितुः**=ज्ञानी लोग जताते हैं (प्रवेदयन्ति)। ज्ञानी पुरुषों से ऐसा सुनते हैं कि जीवन के प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन व तृतीय सवन में जो भी आपके प्रति अपना अर्पण करता है, उसके लिये आप सब आवश्यक वस्तुओं को (धनों को) देते हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **इह**=इस जीवन में, **मनुष्वत्**=जिस प्रकार विचारशील पुरुष के जीवन में **देवान् यक्षि**=दिव्यगुणों को संगत करिये। **नः**=हमारे लिये **दूतः भव**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले होइये। **अभिशस्तिपावा**=हिंसा से हमारा रक्षण करिये, हम काम-क्रोध-लोभ आदि से हिंसित न हो जायें।

भावार्थ—अपने प्रति अर्पण करनेवाले के लिये प्रभु सब धनों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें ज्ञान का सन्देश दें और शत्रुओं के हिंसन से हमें बचायें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'महान् अध्वर के ईश' प्रभु

अग्निरीशे बृहतो अध्वरस्याग्निर्विश्वस्य हविषः कृतस्य।
क्रतुं ह्यस्य वसवो जुषन्ताथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ ४॥

(१) **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु **बृहतो अध्वरस्य**=इस महान् जीवनयज्ञ के **ईशे**=ईश हैं। **अग्निः**=ये प्रभु ही **विश्वस्य**=सब **कृतस्य हविषः**=संस्कृत हवियों के ईश हैं। प्रभु द्वारा ही जीवन यज्ञ चलता है। जीवन-यज्ञ को चलाने के लिये प्रभु ही परिष्कृत हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। (२) **वसवः**=अपने इस जीवन में निवास को उत्तम बनानेवाले लोग **अस्य**=इस प्रभु की

हि=ही **क्रतुम्**=शक्ति व प्रज्ञान को **जुषन्त**=सेवन करते हैं। **अथा**=अब **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **हव्यवाहम्**=उन सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले प्रभु को **दधिरे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही जीवन-यज्ञ के ईश हैं, वे ही इसके लिये आवश्यक हवियों को प्राप्त कराते हैं। इस की शक्ति व प्रज्ञान को धारण करके ही वसु उत्तम जीवनवाले बनते हैं, और अन्ततः प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्यजीवन

आग्ने वह हविरद्याय देवानिन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम्।
इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **देवान्**=देववृत्ति के व्यक्तियों को **हविरद्याय**=हव्य पदार्थों के ही सेवन के लिये तथा दानपूर्वक अदन के लिये ही (हु दानादनयोः) **आवह**=प्राप्त कराइये। देव सदा हवि का ग्रहण करनेवाले हों, दानपूर्वक अदन करें। **इह**=इस हमारे जीवन में **इन्द्रज्येष्ठासः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु जिनमें ज्येष्ठ हैं वे सब देव **मादयन्ताम्**=आनन्दित करनेवाले हों, अर्थात् हमारे जीवन में प्रभु का भी धारण हो और हम सब दिव्यगुणों को धारण करनेवाले बनें। (२) **इयं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश के होने पर **देवेषु**=इन देववृत्ति के व्यक्तियों में **धेहि**=धारण करिये। देववृत्ति के व्यक्ति ज्ञान व यज्ञ को अपनाते हैं। **यूयम्**=आप **नः**=हमें **सदा**=सदा **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **पात**=सुरक्षित करो। शुभ मार्ग पर चलते हुए हम कल्याणभाक् हों।

भावार्थ—देव प्रभु को व दिव्यगुणों को धारण करते हैं। वे ज्ञान व यज्ञ को अपनाते हैं। सदा शुभ मार्ग का आक्रमण करते हैं।

अगले सूक्त में भी वसिष्ठ अग्नि का उपासन करते हैं—

[१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महा नमसा अगन्म

अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे।
चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम् ॥ १ ॥

(१) हम **महा नमसा**=महान् नमन के द्वारा **यविष्ठम्**=उस युवतम-बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले प्रभु को **अगन्म**=प्राप्त हों। प्रातः-सायं नमन के द्वारा प्रभु की प्रभूत ही परिचर्या करें। **यः**=जो प्रभु **स्वे दुरोणे**=अपने ही इस शरीररूप गृह में **समिद्धः**=दीप्त हुए-हुए **दीदाय**=चमकते हैं। प्रभु का हृदय में ही तो प्रकाश होता है। (२) उस प्रभु को हम पूजते हैं, जो **उर्वी रोदसी अन्तः**=इन विशाल द्यावापृथिवी के बीच में **चित्रभानुम्**=अद्भुत दीप्तिवाले हैं। **स्वाहुतम्**=समन्तात् उत्तम दानोंवाले हैं और **विश्वतः**=सब ओर **प्रत्यञ्चम्**=हमारे अभिमुख हैं अथवा सर्वत्र गतिवाले हैं।

भावार्थ—नमन के द्वारा हम उस प्रकाशमय प्रभु का पूजन करें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'दुरित व अवद्य' से दूर

स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः ।
स नो रक्षिषद् दुरितादवद्यादस्मान्गृणत उत नो मघोनः ॥ २ ॥

(१) **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से **विश्वा दुरितानि**=सब बुराइयों को **साह्वान्**=पराभूत करता है। अतएव **जातवेदाः**=ये सर्वज्ञ प्रभु **दमे**=इस शरीर-गृह में **आ स्तवे**=समन्तात् स्तुति किये जाते हैं। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दुरितात्**=दुराचरण से व **अवद्यात्**=निन्दित कर्मों से **रक्षिषत्**=रक्षित करें। **अस्मान्**=हम **गृणतः**=स्तुति करते हुओं को प्रभु रक्षित करें, **उत**=और **नः**=हमारे **मघोनः**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों का रक्षण करें।

भावार्थ—प्रभु स्तुति करनेवाले यज्ञशील पुरुषों के सब पापों को दूर करते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

निर्द्वेषता-स्नेह-सम्भजनीय धन

त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः ।
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **वरुणः**=हमारे से द्वेषों का निवारण करनेवाले हैं। **उत**=और **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायकः) मृत्यु से बचानेवाले हैं। **त्वाम्**=आपको **वसिष्ठाः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोग **मतिभिः**=मननीय स्तुतियों के द्वारा **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। (२) **त्वे**=आप में **वसु**=धन **सुषणनानि**=(सुभजनानि) उत्तमता से सेवनीय **सन्तु**=हों, अर्थात् आपकी उपासना करते हुए हम सम्भजनीय धनों को प्राप्त करें। **यूयम्**=आप **स्वस्तिभिः**=कल्याण के मार्गों के द्वारा **नः**=हमारा **सदा**=सदा **पात**=रक्षण करो।

भावार्थ—प्रभु अपने उपासक को निर्द्वेष व स्नेहवाला व मृत्यु से बचानेवाला बनाते हैं। उसके लिये सम्भजनीय धनों को प्राप्त कराते हैं।

अगले सूक्त में वसिष्ठ 'वैश्वानर' नाम से प्रभु का स्तवन करते हैं—

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

विश्वशुचे धियन्धे

प्राग्नये विश्वशुचे धियन्धेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम् ।
भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम् ॥ १ ॥

(१) **विश्वशुचे**=सारे संसार को दीप्त करनेवाले दीप्ति के लिये ही **धियन्धे**=बुद्धि को धारण करनेवाले, बुद्धि धारण के द्वारा **असुरघ्ने**=आसुर वृत्तियों का विनाश करनेवाले **अग्नये**=उस अग्रणी प्रभु के लिये **मन्म**=मननीय स्तोत्र को तथा **धीति**=उत्तम यज्ञ आदि कर्म को **प्रभरध्वम्**=प्रकर्षेण धारण करो। (२) मैं **मतीनां यतये**=बुद्धियों के देनेवाले **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु के लिये **बर्हिषि**=यज्ञ में **हविः न**=हवि के समान, **प्रीणानः**=(प्रीणयन्) प्रीणित करता हुआ **भरे**=स्तुति का भरण करता हूँ। मैं यज्ञों में हवि को देता हुआ तथा स्तुति करता हुआ प्रभु की प्रीति का कारण बनता हूँ।

भावार्थ—प्रभु को हम यज्ञों व स्तुति द्वारा प्रीणित करें। प्रभु हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं, बुद्धि को देते हैं और आसुरभावों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अभिशस्ति-मोचन

त्वम॑ग्ने शो॒चिषा॒ शोशु॑चान॒ आ रोद॑सी अपृणा॒ जाय॑मानः।

त्वं दे॒वाँ अ॒भिश॑स्तेरमुञ्चो॒ वैश्वा॑नर जातवेदो महि॒त्वा ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **शोचिषा**=दीप्ति से **शोशुचानः**=अत्यन्त ही दीप्त होते हुए, **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आ अपृणाः**=पूरित करते हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आप दीप्त करते हैं। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **वैश्वानर**=विश्व-नर-हित प्रभो! **त्वम्**=आप **महित्वा**=अपनी महिमा से **देवान्**=देववृत्ति के पुरुषों को **अभिशस्तेः**=हिंसक शत्रु से **अमुञ्चः**=मुक्त करते हैं। आपकी कृपा से ही देव काम-क्रोध-लोभ आदि हिंसक शत्रुओं का शिकार नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु सारे संसार को दीप्ति दे रहे हैं। प्रभु ही देवों को काम-क्रोध आदि हिंसक शत्रुओं से बचाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उस महान् गोप का पशुपालन

जा॒तो यद॑ग्ने॒ भुव॑ना॒ व्यख्यः॑ प॒शून्न गो॒पा इर्यः॒ परि॑ज्माः।

वैश्वा॑नर॒ ब्रह्म॑णे विन्द गा॒तुं यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **यद्**=जब **जातः**=हृदयदेश में प्रादुर्भूत होते हैं, तो **भुवना**=सब प्राणियों का **व्यख्यः**=विशेषरूप से ध्यान करते हैं, **न**=जैसे कि **गोपाः**=एक ग्वाला **पशून्**=पशुओं का ध्यान करता है। **इर्यः**=आप ही प्रेरित करनेवाले हैं, **परिज्मा**=परितः **गन्ता**=सब ओर गतिवाले हैं। (२) हे **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभो! **ब्रह्मणे**=ज्ञान प्राप्ति के लिये **गातुं विन्द**=हमें मार्ग प्राप्त कराइये। आप से उपदिष्ट मार्ग पर चलते हुए हम निरन्तर अपने ज्ञान में वृद्धि के करनेवाले हों। **यूयम्**=आप **स्वस्तिभिः**=कल्याण के मार्गों के द्वारा **नः**=हमें **सदा**=सदा **पात**=रक्षित करिये।

भावार्थ—प्रभु हमारा इस प्रकार रक्षण करते हैं जैसे कि एक ग्वाला अपने पशुओं का। प्रभु हमें ज्ञान प्राप्ति के मार्ग का उपदेश करें। उस मार्ग से चलते हुए हम कल्याण को प्राप्त करें।

अगले सूक्त में वसिष्ठ 'अग्नि' नाम से ही प्रभु का स्तवन करते हैं—

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु के प्रति अर्पण

स॒मिधा॑ जा॒तवे॑दसे दे॒वाय॑ दे॒वहू॑तिभिः।

ह॒विर्भिः॑ शु॒क्रशो॑चिषे नम॒स्विनो॑ व॒यं दा॑शेमा॒ग्नये॑ ॥ १ ॥

(१) **नमस्विनः**=नमनवाले होते हुए **वयम्**=हम **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिये **दाशेम**=अपने को दे डालें। 'समिधा' से 'समिधेन'=ज्ञान के द्वारा ही तो प्रभु का पूजन

होता है। हम उस **जातवेदसे**=सर्वज्ञ प्रभु के लिये **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के हेतु से अपने को अर्पित करनेवाले हों। प्रभु ही तो सब प्रकाश प्राप्त कराते हैं। (२) **देवाय**=उस दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के लिये **देवहूतिभिः**=दिव्य गुणों की पुकारों से, दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिये आराधनाओं से हम अपने को अर्पित करें तथा **शुक्रशोचिषे**=उस दीप्त ज्ञान-ज्योतिवाले प्रभु के लिये **हविभिः**=हवियों के द्वारा त्यागपूर्वक अदन के द्वारा हम अपना अर्पण करें। हवि का सेवन करते हुए हम भी 'शुक्रशोचि' बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु 'जातवेदस्-देव-शुक्रशोचि व अग्नि' हैं। हम 'ज्ञान-दीप्ति, देवहूति, हवि व नमन्' के द्वारा उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

'समिधा-सुष्टुती-घृतेन-हविषा'

वयं ते अग्ने समिधा विधेम वयं दाशेम सुष्टुती यजत्र।
वयं घृतेनाध्वरस्य होतर्वयं देव हविषा भद्रशोचे ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **वयम्**=हम **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा, स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हुए, **ते**=आपका **विधेम**=पूजन करें। हे **यजत्र**=पूजनीय प्रभो! **वयम्**=हम **सुष्टुती**=उत्तम स्तुति के द्वारा **दशेम**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। (२) हे **अध्वरस्य होतः**=इस जीवनयज्ञ के होता (प्रवर्तक) प्रभो! **वयम्**=हम **घृतेन**=(घृ क्षरणे) मलों के क्षरण के द्वारा-नैर्मल्य की दीप्ति को प्राप्त करने के द्वारा आपके प्रति अपना अर्पण करें। हे **देव**=प्रकाशमय! **भद्रशोचे**=कल्याणकर दीप्तिवाले प्रभो! **वयम्**=हम **हविषा**=हवि के द्वारा, त्यागपूर्वक अदन के द्वारा आपके प्रति अपना अर्पण करें।

भावार्थ—हम 'ज्ञानदीप्ति, उत्तम स्तुति, मलक्षरण द्वारा नैर्मल्य प्राप्ति तथा दानपूर्वक अदन' के द्वारा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

देवहूति-वषट्कृति

आ नो देवेभिरुप देवहूतिमग्ने याहि वषट्कृतिं जुषाणः।
तुभ्यं देवाय दाशतः स्याम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **नः**=हमारी **देवहूतिम्**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये की गयी आराधना को सुनकर **देवेभिः**=दिव्य गुणों के साथ **उप आयाहि**=हमें समीपता से प्राप्त होइये। आप हमारी इस **वषट्कृतिम्**=स्वाहाकृति को, हवि को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले होइये। हमारी यह हवि-दानपूर्वक अदन की वृत्ति हमें आपका प्रिय बनाये। (२) हे प्रभो! हम **तुभ्यं देवाय**=सब कुछ देनेवाले आपके लिये **दाशतः स्याम**=अपना अर्पण करनेवाले हों। आपकी इच्छा में अपनी इच्छा को मिला दें, हमारी स्वतन्त्र इच्छा ही न हो। **यूयम्**=आप **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **नः**=हमारा **सदा**=सदा **पात**=रक्षण करिये। आपकी प्रेरणा से शुभ मार्ग पर चलते हुए हम सदा कल्याण को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम दिव्य गुणों के लिये आराधना करें। हवि का सेवन करनेवाले हों। प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करें।

अगले सूक्त में भी वसिष्ठ 'अग्नि' का आराधन करते हैं—

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नेदिष्ठ आप्य (निकटतम बन्धु)

उ॒प॒सद्या॑य मी॒ळ्हुष॑ आ॒स्ये॑ जुहुता ह॒विः । यो नो॒ नेदि॑ष्ठ॒माप्य॑म् ॥ १ ॥

(१) **उपसद्याय**=उपसदनीय-उपासनीय, **मीढुषे**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु के लिये, अर्थात् उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **आस्ये**=अपने मुखों में **हविः जुहुत**=हवि को ही आहुत करो। सदा त्यागपूर्वक ही अदन करनेवाले बनो। (२) उस प्रभु की प्राप्ति के लिये हवि को स्वीकार करो **यः**=जो **नः**=हमारे **नेदिष्ठम्**=अन्तिकतम **आप्यम्**=बन्धु हैं। (आपि से स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय होकर 'आप्यं' बना है)। इस अन्तिकतम बन्धु की प्राप्ति त्यागपूर्वक अदन से ही होती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे समीपतम सखा हैं। इनकी प्राप्ति का साधन यही है कि हम त्यागपूर्वक अदन करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दमे दमे निषसाद

यः पञ्च॑ चर्ष॒णीर॒भि नि॑ष॒साद॒ दमे॑दमे । क॒विर्गृ॒हप॑ति॒र्युवा॑ ॥ २ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **पञ्च चर्षणीः**=पाँच भागों में विभक्त (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र व निषाद) मनुष्यों के **अभि**=अभिमुख **दमे दमे**=प्रत्येक शरीर गृह में **निषसाद**=अधिष्ठातृरूपेण निषण्ण हैं। वे प्रभु **कवि**=क्रान्तप्रज्ञ हैं, **गृहपतिः**=इस शरीररूप गृह के रक्षक हैं, **युवा**=सब बुराइयों को दूर करनेवाले व अच्छाइयों को मिलानेवाले हैं। ज्ञान को देकर वे हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। (२) प्रभु जैसे ब्राह्मणों का ध्यान करते हैं, उसी प्रकार इन निषादों का भी। इनको भी विविध प्रकार से प्रेरणा देते हुए प्रभु सन्मार्ग पर लाने की व्यवस्था करते हैं। कष्टों का आना भी उसी व्यवस्था का एक भाग होता है।

भावार्थ—प्रभु प्रत्येक शरीर गृह में स्थित हैं। वे क्रान्तप्रज्ञ प्रभु ज्ञान को प्राप्त कराते हुए हमारे इन गृहों का रक्षण व पवित्रीकरण करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अमात्यं वेदः

स नो॒ वेदो॑ अ॒मात्य॑म॒ग्नी र॑क्षतु वि॒श्वतः॑ । उ॒तास्मान्पा॒त्वंह॑सः ॥ ३ ॥

(१) **सः अग्निः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **अमात्यम्**=(अमा+त्य) साथ होनेवाले (अन्तिके भव=सहभूत) **वेदः**=ज्ञानधन का **विश्वतः रक्षतु**=सब ओर से रक्षण करें। यह धन काम-क्रोध-लोभ के आक्रमण से विनष्ट न हो जाये। (२) **उत**=और इस प्रकार इस ज्ञानधन के द्वारा **अस्मान्**=हमें **अंहसः**=पाप से **पातु**=बचाये। ज्ञान ही पापों से हमारा रक्षण करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे साथ रहनेवाले ज्ञानधन का रक्षण करें। इसके रक्षण के द्वारा हमें पाप से बचायें।

सूचना—ज्ञानधन को 'अमात्यं' कहा है। यह धन चोर आदि द्वारा वरणीय नहीं। हमारे साथ ही रहता है। मृत्यु के समय भी इसे यहीं नहीं छोड़ जाना पड़ता।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिवः श्येनाय

नवं नु स्तोममग्नये दिवः श्येनाय जीजनम्। वस्वः कुविद्वनाति नः ॥४॥

(१) मैं **अग्नये**=उस प्रभु के लिये **नु**=अब **नवं स्तोमम्**=इस प्रशंसनीय स्तुति समूह को **जीजनम्**=उत्पन्न करता हूँ जिससे **दिवः श्येनाय**=ज्ञान के द्वारा शंसनीय गतिवाला बन सकूँ। ज्ञान को प्राप्त करके शंसनीय गतिवाला बनने के लिये मैं प्रभु का स्तवन करता हूँ। (२) ये प्रभु **नः**=हमारे लिये **वस्वः**=धनों को **कुविद्**=खूब ही **वनाति**=देते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तवन से उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके मैं उत्तम गतिवाला बनूँ। प्रभु ही तो हमारे लिये सब प्रशस्त धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु-प्रदत्त धन का सुन्दर विनियोग

स्पार्हा यस्य श्रियो दृशे रयिर्वीरवतो यथा। अग्रे यज्ञस्य शोचतः ॥५॥

(१) **यस्य**=जिस प्रभु की—प्रभु से दी हुई **श्रियः**=लक्ष्मियाँ (धन) **स्पार्हाः**=स्पृहणीय होती हैं। पुरुषार्थ प्राप्त धन सब प्रभु-प्रदत्त होते हैं। अन्य धन चुराये हुए होते हैं। प्रभु-प्रदत्त धन हमारी **दृशे**=शोभा के लिये होते हैं, ये धन दर्शनीय होते हैं। उसी प्रकार दर्शनीय होते हैं **यथा**=जैसे कि **वीरवतः**=प्रशस्त सन्तानोंवाले पुरुष का **रयिः**=धन। कुसन्ततिवाले का धन तो व्यर्थ विषय-विलास में फुँक जाता है। (२) ये प्रभु-प्रदत्त धन तो **यज्ञस्य अग्रे**=यज्ञों के अग्रभाग में **शोचतः**=दीप्यमान पुरुष के होते हैं। अर्थात् इन धनों को वह उपासक यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में ही विनियुक्त करता है।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त धन (पुरुषार्थ से प्राप्त धन) सदा यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में विनियुक्त होते हैं और स्पृहणीय व दर्शनीय होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ध्यान व अग्निहोत्र

सेमां वेतु वषट्कृतिमग्निर्जुषत नो गिरः। यजिष्ठो हव्यवाहनः ॥६॥

(१) **सः**=वे **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **नः**=हमारी—हमारे से की जानेवाली, **इमाम्**=इस **वषट्-कृतिम्**=स्वाहाकृति को, यज्ञों को **वेतु**=चाहे, अर्थात् हम प्रभु प्रेरणा से सदा यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे रहें। वह अग्नि **नः गिरः**=हमारी इन स्तुतिवाणियों को **जुषत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे, अर्थात् हम प्रभु का प्रीतिपूर्वक उपासन करें। (२) वे प्रभु **यजिष्ठः**=अधिक से अधिक उपासनीय हैं। **हव्यवाहनः**=सब अग्निकुण्ड में डाले गये इन हव्यों को अग्नि के द्वारा सब देवों में पहुँचानेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रातः प्रबुद्ध होकर उस यजिष्ठ प्रभु का स्तवन करें तथा हव्यवाहन प्रभु की प्रीति के लिये हवन करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नक्ष्य देव

नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं देव धीमहि। सुवीरमग्न आहुत ॥७॥

(१) हे **नक्ष्य**=उपगन्तव्य-सबको प्राप्त होनेवाले अतिथे! **विश्पते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! हम **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय **त्वा**=आपको **निधीमहि**=अपने हृदयों में धारण करें-हृदयों में आपका ध्यान करें। (२) हे **देव**=प्रकाशमय, **अग्ने**=अग्रेणी, **आहुत**=समन्तात् दानोंवाले (आ हुतं यस्य) प्रभो! हम **सुवीरम्**=उत्तम वीर सन्तानों को प्राप्त करानेवाले आपका ध्यान करें।

भावार्थ-हम प्रभु का ध्यान करें। प्रभु हमें अतिथिवद् प्राप्त होते हैं हम ब्राह्ममुहूर्त में उनके स्वागत के लिये तैयार हों। वे ही हमारे रक्षक हैं, प्रकाशमय हैं, अग्रेणी हैं। ये प्रभु हमारे लिये समन्तात् दानों को प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु कृपा से ही हमारे सन्तान उत्तम होते हैं।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः-**षड्जः** ॥

सदा प्रभु के प्रकाश में

क्षप॑ उ॒स्रश्च॑ दीदिहि स्व॒ग्नय॒स्त्वया॑ व॒यम्। सु॒वीर॒स्त्वम॑स्म॒युः ॥ ८ ॥

(१) हे प्रभो! **क्षपः उस्रः च**=रात्रियों में व दिनों में सदा ही आप **दीदिहि**=हमारे हृदयों में दीप्त होइये। **वयम्**=हम **त्वया**=आपके द्वारा **स्वग्नयः**=उत्तम यज्ञ की अग्नियोंवाले हों, अर्थात् आपकी प्रेरणा से सदा यज्ञ आदि उत्तम कार्यों में प्रवृत्त रहें। (२) **त्वम्**=आप **सुवीरः**=उत्तम वीर सन्तानों को प्राप्त करानेवाले हैं तथा **अस्मयुः**=सदा हमारे हित की कामनावाले हैं। सदा हृदयस्थरूपेण उत्तम प्रेरणा को देते हुए आप हमारा हित चाहते हैं।

भावार्थ-हमारे हृदयों में सदा प्रभु का प्रकाश हो और हम सदा ही यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें। प्रभु हमारे हित की कामनावाले हैं और हमें उत्तम वीर सन्तानों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**गायत्री** ॥ स्वरः-**षड्जः** ॥

ध्यान व स्वाध्याय

उप॑ त्वा सा॒तये॒ नरो॒ विप्रा॑सो यन्ति धी॒तिभिः॑। उपाक्ष॑रा सह॒स्रिणी॑ ॥ ९ ॥

(१) हे प्रभो! **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले **विप्रासः**=ज्ञानी पुरुष **सातये**=उत्तम ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये **धीतिभिः**=यज्ञ आदि कर्मों के द्वारा **त्वा उपयन्ति**=आपके समीप प्राप्त होते हैं। यज्ञ आदि कर्मों से आपकी उपासना करते हुए उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं। (२) यह **अक्षरा**=कभी नष्ट न होनेवाली **सहस्रिणी**=(स हस्) आमोद-प्रमोद को प्राप्त करानेवाली ज्ञान की वाणी **उप**=सदा हमें समीपता से प्राप्त हो। यह ज्ञान की वाणी ही वस्तुतः हमारे जीवनों को निर्दोष व सानन्द बनायेगी।

भावार्थ-ज्ञानी लोग ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये प्रभु का उपासन करते हैं। यह ज्ञान की वाणी सदा उनके समीप रहती है, अर्थात् ये स्वाध्याय प्रवृत्त रहते हैं।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अग्निः** ॥ छन्दः-**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः-**षड्जः** ॥

रक्षो-बाधन

अ॒ग्नी रक्षां॑सि सेधति शु॒क्रशो॑चि॒रम॑र्त्यः। शुचिः॑ पाव॒क ईड्यः॑ ॥ १० ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **रक्षांसि**=हमारे राक्षसीभावों को **सेधति**=बाधित करते हैं, हमारे से दूर करते हैं। **शुक्रशोचिः**=वे प्रभु दीप्त ज्ञान-ज्योतिवाले हैं, **अमर्त्यः**=अविनाशी हैं। उपासक के लिये भी इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त कराके ये उसे विषय वासनाओं के पीछे मरते रहने से दूर करते हैं। (२) **शुचिः**=वे प्रभु पवित्र हैं। **पावकः**=पवित्र करनेवाले हैं। **ईड्यः**=एतएव स्तुति के योग्य हैं। प्रभु का स्तवन करता हुआ मैं तो मैं पवित्र जीवनवाला बनूँगा।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देकर हमारे राक्षसीभावों को दूर करते हैं। प्रभु पवित्र हैं, हमें पवित्र करते हैं। अतएव उपास्य हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'वरणीय कार्यसाधक' धन

स नो राधांस्या भरेशानः सहसो यहो। भगश्च दातु वार्यम्॥ ११॥

(१) **सहसः यहो**=हे बल के पुत्र—बल के पुञ्ज प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिये **राधांसि**=कार्यसाधक धनों को **आभर**=समन्तात् प्राप्त कराइये। **ईशानः**=आप ही तो सब धनों के स्वामी हैं। (२) **च**=और **भगः**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु **वार्यम्**=वरणीय धनों को **दातु**=देनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति दें जिससे हम चाहने योग्य (वरणीय) कार्यसाधक धनों को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वीरवद् यशः+वार्यम्

त्वमग्ने वीरवद्यशो देवश्च सविता भगः। दितिश्च दाति वार्यम्॥ १२॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **वीरवत्**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले **यशः**=यश को—यशस्वी जीवन को हमारे लिये **दाति**=देते हैं। (२) **च**=और **सविता देवः**=वे प्रेरक सर्वोत्पादक (सविता) प्रकाशमय प्रभु हमारे लिये **वार्यम्**=वरणीय धनों को प्राप्त कराते हैं। **भगः**=ऐश्वर्य के पुञ्ज प्रभु हमारे लिये ऐश्वर्य को देते हैं। **च**=तथा **दितिः**=उदारता हमें ऐश्वर्य के देनेवाली हो। जितने हम उदार बनेंगे, उतना अधिक ऐश्वर्य को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—हम अग्नि की उपासना करते हुए—प्रगतिशील बनकर—उत्तम वीर सन्तानोंवाले यशस्वी जीवन को प्राप्त करें। उत्पादक कार्यों में प्रवृत्त होकर वरणीय धनों को प्राप्त करें। उदारता हमारे धनों की वृद्धि का हेतु बने।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शत्रु दहन

अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति ष्म देव रीषतः। तपिष्ठैरजरो दह॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **रक्ष**=बचाइये। सदा प्रगतिशील बनते हुए हम पापों से दूर रहें। **देव**=हे प्रकाशमय प्रभो! **रीषतः**=हिंसक शत्रु से प्रति (रक्ष) **स्म**=हमें बचाइये। काम-क्रोध-लोभ आदि हमें खा जानेवाले शत्रुओं से प्रभु हमारा रक्षण करें। (२) **अजरः**=कभी जीर्ण न होनेवाले आप **तपिष्ठैः**=अत्यन्त तापक तेजों से **दह**=इन्हें भस्म कर दीजिये। इन शत्रुओं की नगरियों का विध्वंस आपने ही तो करना है।

भावार्थ—प्रभु हमें पापों से बचाएँ। हमारे हिंसक शत्रुओं को अपने तेज से भस्म कर दें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आयसी पूः

अधा मही न आयस्यनाधृष्टो नृपीतये। पूर्भवा शतभुजिः॥ १४॥

(१) **अधा**=अब **अनाधृष्टः**=किसी भी शत्रुओं से धर्षणीय न होते हुए आप **नः**=हमारे

नृपीतये=सब मनुष्यों के रक्षण के लिये **आयसीः पूः**=लोहे की नगरी के समान **भवा**=होइये। जैसे लोह निर्मित प्राकार से वेष्टित नगरी में एक व्यक्ति सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार आप हमारे लिये लोह-निर्मित पुरी के समान हों। हम आपके अन्दर निवास करते हुए सब शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित हों। (२) वह 'आयसी पूः' **मही**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा **शतभुजिः**=शतवर्षपर्यन्त हमारा पालन करनेवाली है। इस नगरी में रहते हुए हम शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—उपासक के लिये प्रभु लोहपुरी के समान बनते हैं। उसमें निवास करता हुआ उपासक शत्रुओं से धर्षणीय नहीं होता।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अंहसः-अघायतः पाहि

त्वं नः पाह्यंहसो दोषावस्तरघायतः। दिवा नक्तमदाभ्य॥ १५ ॥

(१) हे **दोषावस्तः**=अज्ञानरात्रि के अन्धकारों को आच्छादित करनेवाले, अज्ञानान्धकार के निवारक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **पाहि**=बचाइये। अज्ञान ही तो पाप का कारण होता है। अज्ञान दूर हुआ और पाप दूर हुआ। (२) हे **अदाभ्य**=अहिंसित—किन्हीं भी शत्रुओं से हिंसित न होनेवाले प्रभो! आप **दिवानक्तम्**=दिन-रात **अघायतः**=अघ की कामनावाले—हमारे अशुभ को चाहते हुए पुरुष से हमें बचाइये।

भावार्थ—प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करके पाप से व अशुभ चाहनेवाले पुरुष से बचायें।

अगले सूक्त में भी वसिष्ठ 'अग्नि' का उपासन करते हैं—

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

नमन के द्वारा अग्नि का उपासन

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे। प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम्॥ १ ॥

(१) **एना नमसा**=इस नमन के द्वारा **वः**=तुम्हारे **अग्निम्**=अग्रेणी, **ऊर्जः न पातम्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले प्रभु को **आहुवे**=पुकारता हूँ। **प्रियम्**=जो प्रीति के जनक हैं, **चेतिष्ठम्**=अधिक से अधिक चेतानेवाले हैं। **अरतिम्**=सर्वत्र गतिवाले हैं अथवा (अ-रतिं)=अनासक्त हैं। 'असक्त सर्वमृच्चैव'। (२) उस प्रभु को मैं नमन के द्वारा आराधित करता हूँ, जो **स्वध्वरम्**=उत्तम अध्वरोंवाले हैं। **विश्वस्य दूतम्**=सब के लिए ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करानेवाले हैं और **अमृतम्**=(न मृतं यस्मात्) अमरता को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—नम्रतापूर्वक अग्रेणी प्रभु का उपासन करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। वे प्रभु हमारे लिये ज्ञान-सन्देश को प्राप्त कराते हुए हमें अमर बनाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

अरुषा-विश्वभोजसा (हरी)

स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम्॥ २ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु हमारे शरीर-रथों में **अरुषा**=आरोचमान तथा **विश्वभोजसा**=सबका

पालन करनेवाले इन्द्रियाश्वों को **योजते**=जोड़ते हैं। प्रभु के उपासक की ज्ञानेन्द्रियाँ आरोचमान होती हैं तथा कर्मेन्द्रियाँ यज्ञ आदि पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त होती हैं। **सः दुद्रवत्**=वे प्रभु सर्व प्राणिहित के लिये निरन्तर गतिशील हैं, **स्वाहुतः**=चारों ओर उत्तम दानोंवाले हैं। प्रभु ने हमारे लिये उत्तमोत्तम वस्तुओं को प्रदान किया है। (२) **सुब्रह्मा**=हमारे इस जीवनयज्ञ के उत्कृष्ट ब्रह्मा प्रभु ही हैं। हम भूल करते हैं, तो वे ठीक करने की प्रेरणा देते ही हैं। जितने अंश में हम प्रेरणा को सुनते हैं यज्ञ ठीक चलता ही है। **यज्ञः**=वे प्रभु ही उपासनीय हैं, **सुशमी**=उत्तम कर्मोंवाले हैं। इस **वसूनाम्**=सब वसुओं के **देवम्**=देनेवाले, **जनानाम्**=लोगों के **राधः**=सच्चे ऐश्वर्यभूत प्रभु को (आहुवे)=पुकारता हूँ। (गत मन्त्र से यह 'आहुवे' क्रिया अनुवृत्त हुई है)। इन प्रभु को ही हम अपना वास्तविक धन जानें।

भावार्थ–प्रभु उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं। हमारे हित के लिये सतत प्रवृत्त हैं। हमारे जीवन-यज्ञ के 'ब्रह्मा' है। सब धनों के देनेवाले व सच्चे ऐश्वर्य हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखना

उदस्य शोचिरस्थादाजुह्वानस्य मीळ्हुषः। उद्धूमासो अरुषासो दिविस्पृशः समग्निमिन्धते नरः ॥ ३ ॥

(१) **अस्य**=इस **आजुह्वानस्य**=जिसके प्रति हम अपने को दे रहे हैं या जिसकी प्राप्ति के लिये यज्ञों को कर रहे हैं, उस **मीढुषः**=सुखों का सेचन करनेवाले प्रभु की **शोचिः**=ज्ञानदीप्ति **उद् अस्थात्**=हमारे हृदयों में उठती है। हम निर्मल हृदयों में उस प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। (२) इस प्रभु के **अरुषासः**=आरोचमान, **दिविस्पृशः**=द्युलोक का स्पर्श करानेवाली–देवलोक में जन्म को प्राप्त करानेवाली **धूमासः**=ज्ञानाग्नि द्वारा वासनाओं को कम्पित करने की शक्तियाँ **उत्**=ऊपर उठती हैं हम सब वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। इसीलिए **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **समिन्धते**=समिद्ध करते हैं। अपने हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने के लिये यत्नशील होना ही वह उपाय है जिससे कि हम जीवन में उन्नत होते हैं और पथभ्रष्ट नहीं होते।

भावार्थ–हम प्रभु प्राप्ति के लिये यज्ञशील बनें। प्रभु सब सुखों का वर्षण करेंगे। प्रभु की ज्ञानदीप्तियाँ हमारी वासनाओं का विध्वंस करेंगी। हमारा कर्त्तव्य है कि प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

ज्ञान+धन

तं त्वा दूतं कृण्महे यशस्तमं देवाँ आ वीतये वह।
विश्वा सूनो सहसो मर्तभोजना रास्व तद्यत्त्वेमहे ॥ ४ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र–बल के पुञ्ज प्रभो! **यशस्तमम्**=अत्यन्त यशस्वी **तं त्वा**=उन आपको **दूतम्**=ज्ञान सन्देश को प्राप्त करानेवाला **कृण्महे**=करते हैं, आपके द्वारा ज्ञान को प्राप्त करते हैं। आप **वीतये**=अज्ञानान्धकार के ध्वंस के लिये **देवान्**=देवों को **आवह**=हमें प्राप्त कराइये। ज्ञानी देववृत्ति के पुरुषों के साथ हमारा सम्पर्क हो जिससे हमारे लिये वे उत्कृष्ट ज्ञान के देनेवाले हों। (२) हे प्रभो! आप **विश्वा**=सब **मर्तभोजना**=मानव के लिये उपभोग्य वस्तुओं को **रास्व**=दीजिए। **तद्**=उस-उस धन को (रास्व) दीजिए **यत्**=जिसे **त्वा ईमहे**=हम आप से

माँगते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त कराएँ। अज्ञानान्धकार के ध्वंस के लिए देवों का संग प्राप्त करायें। मनुष्य के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त करायें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'गृहपति-होता व पोता' प्रभु

त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे।
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि वेषि च वार्यम्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वं गृहपतिः**=आप ही इस शरीर गृह के पति (स्वामी) हैं। मुझे तो केवल उपभोक्ता का अधिकार ही प्राप्त है। इस गृह को न बिगड़ने देना मेरा मौलिक कर्त्तव्य हो जाता है। **नः**=हमारे **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **त्वं होता**=आप ही होता हैं। आप ही इस जीवनयज्ञ को चलानेवाले हैं। **त्वं पोता**=आप ही सब पवित्रता के करनेवाले हैं। (२) हे **विश्ववार**=सब वरणीय वस्तुओंवाले प्रभो! आप ही **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं। आप **वार्यम्**=सब आवश्यक वरणीय धनों को **यक्षि**=हमारे साथ संगत करते हैं **च**=और **वेषि**=हमारे लिये इन वरणीय धनों की कामना करते हैं आप उन धनों की प्राप्ति के लिये हमें मार्ग दिखाते हैं और उन मार्गों पर चलने की शक्ति देते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही इस शरीर गृह के पति हैं। आप ही इस जीवनयज्ञ के होता व पवित्र करनेवाले (पोता) हैं। आप ही हमें सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋत्विजों का तीक्ष्णीकरण

कृधि रत्नं यजमानाय सुक्रतो त्वं हि रत्नधा असि।
आ नं ऋते शिशीहि विश्वमृत्विजं सुशंसो यश्च दक्षते॥ ६॥

(१) हे **सुक्रतो**=उत्तम शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! आप **यजमानाय**=इस यज्ञशील परुष के लिये **रत्नं कृधि**=रमणीय धनों को करनेवाले होइये। **त्वम्**=आप **हि**=ही **रत्नधाः**=सब रमणीय धनों के धारण करनेवाले **असि**=हैं। (२) **नः**=हमारे **ऋते**=इस जीवनयज्ञ में **विश्वम्**=सब **ऋत्विजम्**='इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप ऋत्विजों को **आशिशीहि**=समन्तात् तीक्ष्ण करिये—ये सब ऋत्विज् अपने-अपने कार्य को सुचारुरूपेण करनेवाले हों और आप हमें उस सन्तान को प्राप्त कराइये जो **सुशंसः**=उत्तम स्तवनवाला होता हुआ **दक्षते**=(वर्धते) वृद्धि को प्राप्त होता है अथवा उन ऋत्विजों को ही प्राप्त कराइये जो उत्तम शंसनवाला होते हुए दिन व दिन वृद्धि को प्राप्त होनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील व्यक्तियों के लिये रमणीय रत्नों का धारण करते हैं। वे जीवनयज्ञ के संचालक इन्द्रियरूप ऋत्विजों को अपने-अपने कार्य में तीक्ष्ण करते हैं। मन को सुशंस व बुद्धि को वृद्धि का कारण बनाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'ज्ञानी भक्त, दानशील धनी, जितेन्द्रिय'

त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः। यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान्दयन्त गोनाम्॥ ७॥

(१) हे **स्वाहुत**=समन्तात् उत्तम दानोंवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वे**=आप में **सूरयः**=ज्ञानी पुरुष **प्रियासः सन्तु**=प्रिय हों, अर्थात् ज्ञानी भक्त आपको आत्मतुल्य प्रतीत हों—आपको वे प्रिय हों **ये**=जो **जनानाम्**=लोगों में **मघवानः**=ऐश्वर्यशाली होते हुए **यन्तारः**=दानशील होते हैं। (२) आपको वे प्रिय हों जो **गोनां ऊर्वान् दयन्त**=इन्द्रिय समूहों का रक्षण करते हैं—इन्द्रियों को विषय-वासना में भटकने से बचाते हुए 'जितेन्द्रिय' बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रिय वे व्यक्ति होते हैं जो (१) प्रभु के ज्ञानी भक्त बनते हैं, (२) धनी होते हुए दानशील होते हैं तथा (३) इन्द्रियों का रक्षण करते हैं—इन्द्रियों को विषयों में भटकने नहीं देते।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दीर्घश्रुत् शर्म

येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आँ अपि प्राता निषीदति।
ताँस्त्रायस्व सहस्य द्रुहो निदो यच्छा नः शर्म दीर्घश्रुत् ॥ ८ ॥

(१) **येषाम्**=जिनके **दुरोणे**=गृह में **घृतहस्ता**=ज्ञानदीप्ति को हाथों में लिए हुए ये **इडा**=वाग्देवी **आनिषीदति**=आसीन होती है, वह वाग्देवी **अपि**=बहुत करके **प्राता**=पूर्णता को करनेवाली होती है। यह वाग्देवी उस घर के लोगों की कमियों को दूर करके उनके जीवन को बहुत करके पूर्ण बनानेवाली होती है। (२) हे **सहस्य**=शत्रुमर्षक बल के लिये हितकर अग्ने! **तान्**=उन इडा युक्त गृहवालों को **द्रुहः**=द्रोह की वृत्ति से तथा **निदः**=निन्दनीय कर्मों से **त्रायस्व**=बचाइये। ज्ञान पवित्र करनेवाला तो होता ही है। हे प्रभो! **नः**=हमारे लिये **दीर्घश्रुत्**=जिसमें अति दीर्घकाल तक ज्ञान का श्रवण चलता है, उस **शर्म**=गृह को **यच्छ**=दीजिए। वस्तुतः पवित्र गृह वही है जो ज्ञानचर्चा का आधार बनता है।

भावार्थ—हमारे गृहों में वाग्देवी का निवास हो। यह हमारे गृहों का पूरण करनेवाली हो। हमें द्रोह व निन्दनीय कर्मों से बचाये।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'मधुरवाणी-ज्ञान-यज्ञ'

स मन्द्रया च जिह्वया वह्निरासा विदुष्टरः।
अग्ने रयिं मघवद्भ्यो न आ वह हव्यदातिं च सूदय ॥ ९ ॥

(१) **सः**=वह, गतमन्त्र के अनुसार 'दीर्घश्रुत् शर्म' में निवास करनेवाला व्यक्ति **मन्द्रया जिह्वया**=प्रसन्नता को उत्पन्न करनेवाले शब्दों को बोलनेवाली जिह्वा से **वह्निः**=सब कार्यों का वहन करनेवाला होता है। **च**=और **आसा**=मुख से **विदुष्टरः**=उत्कृष्ट विद्वान् बनता है। मुख से ज्ञान की वाणियों का ही उच्चारण करता हुआ उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ाता है। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **नः**=हमारे **मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों के लिये **रयिम्**=यज्ञसाधक ऐश्वर्यों को **आवह**=प्राप्त कराइये, **च**=और **हव्यदातिम्**=हव्यों के देने को और यज्ञों को **सूदय**=प्रेरित करिये। हमारे ये यज्ञशील लोग ऐश्वर्य को प्राप्त करें और उन ऐश्वर्यों के द्वारा और अधिक यज्ञों को करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम (क) मधुर शब्दों से सब व्यवहारों को सिद्ध करें। (ख) मुख को ज्ञानवृद्धि में ही व्याप्त करें। (ग) धन को प्राप्त करते हुए अधिकाधिक यज्ञशील हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दान के तीन लाभ

ये राधांसि ददत्यश्व्या मघा कामेन श्रवसो महः।
ताँ अंहसः पिपृहि पर्तृभिष्ट्वं शतं पूर्भिर्यविष्ठ्य ॥ १० ॥

(१) हे प्रभो! **ये**=जो **महः श्रवसः कामेन**=महान् यश की इच्छा से **राधांसि**=कार्यसाधक धनों को तथा **अश्व्या**=इन्द्रियाश्वों को उत्तम बनानेवाले **मघा**=धनों को **ददति**=दान करते हैं, अर्थात् जो धन का इस प्रकार दान करते हैं कि उस धन से इन्द्रियों की पवित्रता में वृद्धि ही हो। **तान्**=उन लोगों को **अंहसः**=पाप से **पिपृहि**=बचाइये। दान उनके जीवन को पवित्र करनेवाला हो। यह पात्रता का विचार करके दिया गया सात्त्विक दान उनके यश को बढ़ाये तथा उनके जीवन को पवित्र करनेवाला हो। (२) हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को दूर करनेवालों में सर्वोत्तम प्रभो! **त्वम्**=आप **पर्तृभिः**=पालन साधनों से तथा **शतं पूर्भिः**=शतवर्षपर्यन्त चलनेवाली इन शरीर नगरियों से इन सात्त्विक दानियों का पालन करिये।

भावार्थ—हम दानशील बनें। सुपात्र में दत्त दान से हमारा (क) यश बढ़ेगा, (ख) हमें पवित्रता प्राप्त होगी, (ग) दीर्घजीवन व नीरोग जीवन प्राप्त होगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दान व प्रभु प्राप्ति

देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्यासिचम्।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥ ११ ॥

(१) **देवः**=वह देनेवाला प्रभु 'देवो दानात्' **वः**=तुम्हारे लिये **द्रविणोदाः**=सब धनों का देनेवाला है। वह हमारे से भी **पूर्णाम् आसिचम्**=पूर्ण आसेचन को **विवष्टि**=चाहता है। वह चाहता है कि हम भी दिल खोलकर, दोनों हाथों को भरकर, देनेवाले बनें। (२) तुम **वा**=निश्चय से प्राजापत्य यज्ञ में, लोक कल्याण के कर्मों में **उत् सिञ्चध्वम्**=इस धन का उत्कर्षेण सेचन करनेवाले बनो और **वा**=निश्चय से **उपपृणध्वम्**=सुख को बढ़ाओ व लोक रक्षण करो। **आत् इत्**=ऐसा करने के बाद ही **देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **वः**=तुम्हें **ओहते**=अपने को प्राप्त कराते हैं। धन का त्याग ही हमें प्रभु के समीप ले जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे से सम्पूर्ण धन के दान की कामना करते हैं। हम धन के दान से लोक रक्षण करनेवाले बनें। तभी हम प्रभु प्राप्ति के पात्र बनेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रत्नम्-सुवीर्यम्

तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत।
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥ १२ ॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के लोग **तम्**=उस **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **वह्निम्**=सब कार्यों के साधक प्रभु को **अध्वरस्य**=इस जीवन यज्ञ का **होतारम्**=होता **अकृण्वत**=करते हैं। प्रभु को ही इस शरीर रथ का सारथि बनाते हैं। प्रभु इस यात्रा को पूर्ण करानेवाले होते हैं। (२) **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **विधते**=प्रभु का पूजन करनेवाले **दाशुषे**=दानशील **जनाय**=व्यक्ति के लिये **रत्नम्**=रमणीय

धनों को तथा **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **दधाति**=धारण करते हैं।

भावार्थ—हम इस जीवनयज्ञ का होता प्रभु को ही जानें। दान द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें 'रत्न व सुवीर्य' प्राप्त करायेंगे।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी 'वसिष्ठ' व 'अग्नि' हैं—

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ज्ञान व पवित्र हृदय

अग्ने भव सुषमिधा समिद्ध उत बर्हिरुर्विया वि स्तृणीताम्॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **सुषमिधा**=उत्तम ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **समिद्धः भव**=हमारे हृदयों में सम्यक् दीप्त होइये। पार्थिव पदार्थों का ज्ञान ही पहली समिधा है, द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान दूसरी समिधा है तथा अन्तरिक्ष लोक के पदार्थों का ज्ञान ही तीसरी समिधा है। 'इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति'। (२) **उत**=और यह उपासक **बर्हिः**=अपने वासनाशून्य हृदयरूप आसन को **उर्विया**=खूब विस्तार से **विस्तृणीताम्**=बिछाये। इस हृदयासन पर वह प्रभु को आसीन करने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये हम ज्ञानाग्नि को खूब दीप्त करें और पवित्र हृदयरूप आसन को बिछायें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्यगुणों के प्रवेशक इन्द्रियद्वार

उत द्वार उशतीर्वि श्रयन्तामुत देवाँ उशत आ वहेह॥ २ ॥

(१) **उत**=और **उशतीः**=दिव्यगुणों की कामना करते हुए **द्वारः**=ये शरीररूप यज्ञवेदि के इन्द्रियद्वार **विश्रयन्ताम्**=विशेषरूप से इस यज्ञ-मन्दिर का आश्रय करें। (२) **उत**=और **उशतः**=हमारा हित चाहनेवाले **देवान्**=देववृत्ति के पुरुषों को **इह**=हमारे इस जीवन यज्ञ में **आवह**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियद्वार दिव्यगुणों के प्रवेश का साधन बनें। हमें जीवनयज्ञ में देववृत्ति के पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

दान-देवसंग-यज्ञ

अग्ने वीहि हविषा यक्षि देवान्त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **हविषा**=हवि के द्वारा **वीहि**=हमें प्राप्त हो, अर्थात् हम दानपूर्वक अदन करते हुए आपको प्राप्त हों। **देवान्**=देववृत्ति के पुरुषों को **यक्षि**=हमारे साथ संगत करिये—हम आपकी कृपा से देव पुरुषों का साथ प्राप्त करें। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप हमें **स्वध्वरा**=(स्वध्वरान्) शोभन यज्ञोंवाला **कृणुहि**=करिये।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा से हम (क) दान देकर बचे हुए को खानेवाले बनें। (ख) देववृत्ति के पुरुषों के साथ हमारा उठना-बैठना हो। (ग) सदा उत्तम यज्ञों में हम प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

यज्ञ-देवसंग-अमृतत्व

स्वध्वरा करति जातवेदा यक्षद्देवाँ अमृतान्पिप्रयच्च ॥ ४ ॥

(१) वह **जातवेदाः**=सर्वधनों को देनेवाला प्रभु इन धनों के द्वारा हमें **स्वध्वरा**=उत्तम यज्ञोंवाला **करति**=करता है और **देवान्**=देववृत्ति के पुरुषों को **यक्षत्**=हमारे साथ संगत करते हैं। इस सत्संग के द्वारा यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में हमारी वृत्ति बढ़ती है। (२) **च**=और वे प्रभु **अमृतान्**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले और अतएव नीरोग जीवनवाले हम सबको **पिप्रयत्**=प्रभु प्रीणित करते हैं—प्रीति का अनुभव कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा हमें यज्ञों में प्रवृत्त करती है—हमें देवसंग प्राप्त कराती है। और इस प्रकार नीरोग जीवनवाले हम सबको प्रीति का अनुभव कराती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**साम्नीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वार्य वस्तु लाभ तथा सत्य इच्छायें

वंस्व विश्वा वार्याणि प्रचेतः सत्या भवन्त्वाशिषो नो अद्य ॥ ५ ॥

(१) हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट चेतना को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **विश्वा**=सब **वार्याणि**=वरणीय धनों को **वंस्व**=प्राप्त कराइये। वस्तुतः ज्ञानपूर्वक सब व्यवहारों को करते हुए हम उत्कृष्ट धनों को प्राप्त करें। (२) **अद्य**=आज **नः**=हमारी **आशिषः**=इच्छायें **सत्याः भवन्तु**=सत्य हों। हमारे मनों में कोई अशुभ इच्छा उठे ही नहीं।

भावार्थ—हम 'प्रचेता' प्रभु के उपासक होते हुए वरणीय धनों को प्राप्त करें और सदा शुभ इच्छाओंवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

दिव्यता व शक्ति रक्षण

त्वामु ते दधिरे हव्यवाहं देवासो अग्न ऊर्ज आ नपातम् ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले **त्वाम् उ**=आपको ही **ते देवासः**=वे देववृत्ति के पुरुष **दधिरे**=धारण करते हैं। वस्तुतः आपको हृदयदेश में धारण करने के द्वारा—हृदय में सदा आपके स्मरण के द्वारा ही वे देव बनते हैं। (२) आप ही **आ**=सब प्रकार से **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति के **नपातम्**=न गिरने देनेवाले हैं। जहाँ प्रभु का वास है वहाँ वासना का विनाश होने से शक्ति का रक्षण होता है एवं प्रभु 'ऊर्जो नपात्' हैं।

भावार्थ—प्रभु को हृदय में धारण करने से हमारी वृत्ति दिव्य बनती है—शक्ति का विनाश नहीं होता।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रभु के प्रति अर्पण व रत्न प्राप्ति

ते ते देवाय दाशतः स्याम महो नो रत्ना वि दध इयानः ॥ ७ ॥

(१) **ते**=वे हम सब, हे प्रभो! **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रकाशस्वरूप **ते**=आपके लिये **दाशतः**=अपना अर्पण करते हुए **स्याम**=हों। हम अपनी इच्छाओं को आपकी इच्छा में मिला दें। हमारी कोई स्वतन्त्र इच्छा न रहे। (२) **इयानः**=उपगम्यमान होते हुए आप **नः**=हमारे लिये **महः**=

महनीय **रत्ना**=रमणीय पदार्थों को **विदधः**=(विधत्स्व) धारण कराइये। प्रभु के उपासक को प्रभु सब रत्नों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु हमारे लिये सब रमणीय रत्नों को धारण करायेंगे।

अगले सूक्त में वसिष्ठ ऋषि 'इन्द्र' नाम से प्रभु का स्तवन करते हैं—

द्वितीयोऽनुवाकः

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गौ-अश्व-वसु

त्वे ह यत्पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन्।
त्वे गावः सुदुघास्त्वे ह्यश्वास्त्वं वसु देवयते वनिष्ठः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब **नः**=हमारे में से जो कोई भी **त्वे ह**=आप में ही निवास करते हैं, वे **चिन्**=निश्चय से **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में लगनेवाले होते हैं, अर्थात् आपका ध्यान करनेवाले लोग अवश्य 'पितर' बनते हैं। ये **जरितारः**=आपका सच्चा स्तवन करनेवाले लोग **विश्वा**=सब **वामा**=सुन्दर धनों को **असन्वन्**=प्राप्त करते हैं। (२) **त्वे**=आपकी उपासना में ही **सुदुघाः**=सुख सन्दोह्य **गावः**=गौवें हैं, **त्वे हि**=आपकी उपासना में ही **अश्वाः**=उत्तम अश्व हैं। **त्वम्**=आप ही **देवयते**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाले पुरुष के लिये **वसु**=धन के **वनिष्ठः**=दातृतम होते हैं। सब वसुओं को आप ही प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु में निवास करनेवाला व्यक्ति रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है। प्रभु के स्तोता सब वननीय धनों को प्राप्त करते हैं। प्रभु उत्तम गौवों, अश्वों व धनों को प्राप्त करानेवाले हैं।

सूचना—यहाँ 'गावः' से ज्ञानेन्द्रियों का तथा 'अश्वाः' से कर्मेन्द्रियों का भाव लेना भी उचित ही है। प्रभु उपासक को उत्तम ज्ञानदुग्ध देनेवाली ज्ञानेन्द्रियरूप गौवों को प्राप्त कराते हैं। तथा कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं, ये ही 'अश्व' हैं 'अश्नुवते कर्मसु'।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्युभिः-पिशा-गोभिः-अश्वैः (अव)

राजेव हि जनिभिः क्षेष्येवाव द्युभिरभि विदुष्कविः सन्।
पिशा गिरो मघवन्गोभिरश्वैस्त्वायतः शिशीहि राये अस्मान्॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **राजा जनिभिः इव**=राजा जैसे अपनी प्रजा रूप पत्नियों के साथ रहता है इसी प्रकार आप हम प्रजाओं के साथ **क्षेषि एव**=रहते ही हैं। आप सदा हमारा रक्षण इस प्रकार कर रहे हैं, जैसे कि राजा को प्रजा का रक्षण करना चाहिए। हे प्रभो! **विदुः**=ज्ञानी, **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ **सन्**=होते हुए आप **गिरः**=हम स्तोताओं को **द्युभिः**=ज्ञान-ज्योतियों से **पिशा**=हिरण्य (Gold) से, **गोभिः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा तथा **अश्वैः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों द्वारा **अभि अव**=समन्तात् रक्षित करिये। जीवन-यात्रा के लिये धन तथा इन्द्रियरूप साधनों को आप हमारे लिये प्राप्त कराइये। हम ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान का अर्जन करें और कर्मेन्द्रियों द्वारा जीवन-यात्रा के लिये धन का अर्जन कर सकें। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! **त्वायतः**=आपको प्राप्त करने की कामनावाले **अस्मान्**=हम लोगों को **राये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **शिशीहि**=तीक्ष्ण

बुद्धिवाला करिये। हम आपको प्राप्त करने की कामनावाले हों। परन्तु साथ ही जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक धन को प्राप्त करने के लिये परिष्कृत बुद्धिवाले हों।

भावार्थ–प्रभु इस प्रकार हमारे साथ हैं, जैसे राजा प्रजा के। ये प्रभु हमें ज्ञान तथा धन देते हैं। उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं। हम प्रभु की कामनावाले हों। प्रभु हमें जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक धन की प्राप्ति के लिये संस्कृत बुद्धि करते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सुमति व सुख

इमा उ त्वा पस्पृधानासो अत्र मन्द्रा गिरो देवयन्तीरुप स्थुः।
अर्वाची ते पथ्या राय एतु स्याम ते सुमताविन्द्र शर्मन्॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **इमाः**=ये **पस्पृधानासः**=एक दूसरे से बढ़कर स्तुति की कामनावाली होती हुई, **मन्द्राः**=मोद (हर्ष) की कारणभूत **देवयन्तीः**=देव प्रभु की कामना करती हुईं **गिरः**=वाणियाँ **उ**=निश्चय से **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **त्वा उप अस्थुः**=आपको उपासित करती हैं। इन सब वेदवाणियों के द्वारा आपका ही स्तवन होता है। (२) हे प्रभो! **ते**=आपकी **पथ्या**=ऐश्वर्य प्रापक नीति मार्ग **राये**=ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये **अर्वाची एतु**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त हो। हे **इन्द्र**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! **ते सुमतौ**=आपकी कल्याणी मति में चलते हुए हम **शर्मन् स्याम**=सुख में निवास करनेवाले हों। शुभ मार्ग हमें शुभ को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ–हमारी सब स्तुतिवाणियाँ उस प्रभु के लिये हों। प्रभु से उपदिष्ट नीति मार्ग से हम धनार्जन करें और प्रभु की कल्याणी मति में चलते हुए हम सदा सुख में रहें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

गोपति से सुमति का भिक्षण

धेनुं न त्वा सूयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः।
त्वामिन्मे गोपतिं विश्व आहा न इन्द्रः सुमतिं गन्त्वच्छ॥ ४॥

(१) **सूयवसे**=उत्तम तृणादिक के होने पर **न**=जैसे **धेनुम्**=गौ को दोहते हैं, उसी प्रकार **त्वा**=आपके **दुदुक्षन्**=दोहन की कामनावाला होता हुआ **वसिष्ठः**=यह उत्तम निवासवाला, शत्रुओं को वश में करनेवाला वसिष्ठ **ब्रह्माणि**=इन स्तोत्रों को **उपससृजे**=उपसृष्ट (उच्चरित) करता है। स्तोत्रों को करता हुआ आपका प्रिय बनता है और सब उन्नति साधक पदार्थों का दोहन करता है। **विश्वः**=सब **मे**=मेरे लिये **त्वां इत्**=आपको ही **गोपतिं**=सब गौओं के स्वामी के रूप में **आह**=कहता है। आपकी उपासना करता हुआ ही मैं गौवों का स्वामी बन पाऊँगा। गौएँ इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों का वशीकरण आपकी उपासना से ही होता है। इसलिए हमारी यही कामना है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु, सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **नः अच्छ**=हमारे लिये–हमारी ओर **सुमतिं गन्तु**=सुमति को प्राप्त करायें। कल्याणी मति को प्राप्त करके शुभ मार्ग पर चलते हुए हम शुभ को ही प्राप्त करें।

भावार्थ–स्तवन द्वारा प्रभु के प्रिय बनकर हम प्रभु से सब शुभों को प्राप्त करें। प्रभु का उपासन हमें इन्द्रियों का स्वामी बनाये। प्रभु हमें सुमति प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शर्धन्-शिम्यु व शाप' का विनाश

अर्णांसि चित्पप्रथाना सुदास इन्द्रो गाधान्यकृणोत्सुपारा।
शर्धन्तं शिम्युमुचथस्य नव्यः शापं सिन्धूनामकृणोदशस्तीः ॥ ५ ॥

(१) **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु—ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाला प्रभु **सिन्धूनाम्**=ज्ञान नदियों के **पप्रथाना**=अतिशयेन विस्तृत **चित्**=भी **अर्णांसि**=ज्ञानजलों को **सुदासे**=प्रभु के प्रति अपने को दे डालनेवाले व्यक्ति के लिये **गाधानि**=न गहरे व **सुपारा**=(सुखेन तर्तुं योग्य) सुख से तरणीय **अकृणोत्**=कर देते हैं। 'सुदास्' का ज्ञान गहरा न हो, सो नहीं, पर उसके लिए अगाध भी ये ज्ञान-जल गाध व तरणीय हो जाते हैं। (२) वह **नव्यः**=स्तुत्य प्रभु **उचथस्य**=स्तोता को **अशस्तीः**=सब अशस्तियों को—अशुभ बातों को **अकृणोत्**=हिंसित कर देते हैं। **शर्धन्तम्**=हिंसित करनेवाली काम-वासना को विनष्ट करते हैं। **शिम्युम्**=हर समय धन प्राप्ति के कार्यों की कामना करनेवाली लोभवृत्ति को विनष्ट करते हैं। **शापम्**=क्रोध में उच्चरित आक्रोश वचनों को नष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले के लिये ज्ञान-जलों को सुतर कर देते हैं, अर्थात् उनके लिये ज्ञान प्राप्ति को सुलभ कर देते हैं। स्तोता के 'काम-क्रोध व लोभ' को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पुरोडा का 'तुर्वश व यक्षु' होना

पुरोळा इत्तुर्वशो यक्षुरासीद्राये मत्स्यासो निशिता अपीव।
श्रुष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च सखा सखायमतरद्विषूचोः ॥ ६ ॥

(१) **पुरोडाः इत्**=प्रथम दानशील ही दान देकर बचे हुए को ही खानेवाला व्यक्ति **तुर्वशः**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाला तथा **यक्षुः**=यज्ञशील **आसीत्**=होता है। ये यज्ञशील व्यक्ति ही **राये**=ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये **निशिताः**=खूब तीक्ष्ण (तीव्र गतिवाले) होते हुए **अपि**=भी **मत्स्यासः इव**=जल में मछलियों के समान होते हैं, सदा इन धन के जलों में रहते हुए भी इन जलों में गल नहीं जाते। इन पर धन का घातक प्रभाव नहीं होता। (२) **भृगवः**=ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले **द्रुह्यवः च**=और सब निन्दनीय बातों की जिघांसा करनेवाले उपासक **श्रुष्टिम्**=आशु प्राप्ति को—ऐश्वर्य को (Prosperity) **चक्रुः**=करनेवाले होते हैं। **सखा**=वे सर्वमित्र प्रभु **सखायम्**=अपने इस सखा जीव को **विषूचोः अतरत्**=(विषूचु) से विविध खूब गतियों के करानेवाले लोभ से—गतमन्त्र के 'शिम्यु' से तरा देते हैं (अतारयत्)। ये लोग धन को तो प्राप्त करते हैं, परन्तु लोभवृत्ति से सदा दूर रहते हैं।

भावार्थ—देने की वृत्तिवाला पुरुष शत्रुओं को वश में करनेवाला व यज्ञशील बनता है। यह धन प्राप्ति में लगा हुआ भी धन में ही नहीं गल जाता ज्ञानी शत्रुहिंसक उपासक आवश्यक धन को प्राप्त करते हैं, प्रभु इन्हें लोभ से दूर रखते हैं।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवतः** ॥

उपासक के लक्षण

आ पक्थासो भलानसो भनन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः ।
आ योऽनयत्सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन्युधा नृन् ॥ ७ ॥

(१) **आभनन्त**=वे परमात्मा का स्तवन करते हैं, जो **पक्थासः**=परिपक्व ज्ञानवाले हैं, ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करते हैं। **भलानसः**=भद्रमुख हैं, जिनके मुख से कभी अशिव वाणी उच्चरित नहीं होती। **अलिनासः**=जो किसी भी विषय में लीन (आसक्त) नहीं होते। **विषाणिनः**=(विष् To encounter) शत्रुओं के साथ संघर्ष करते हैं—काम-क्रोध-लोभ के विजय में सदा तत्पर रहते हैं। और **शिवासः**=लोक कल्याण में प्रवृत्त होते हैं। उपासक के जीवन में इन बातों का होना आवश्यक है। (२) उस प्रभु का ये स्तवन करते हैं **यः**=जो **आर्यस्य**=श्रेष्ठ पुरुष के **सधमाः**=(सधमाध) साथ आनन्दित होनेवाले होते हुए, उसके **गव्या**=इन्द्रियसमूह को **तृत्सुभ्यः**=काम आदि हिंसक शत्रुओं से बचाकर **आनयत्**=उसे प्राप्त करानेवाले होते हैं। और **युधा**=युद्ध के द्वारा **नृन्**=इन काम आदि शत्रुओं के साथ युद्ध करनेवाले वीर पुरुषों को **अजगन्**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—उपासक अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करता है, भद्र ही शब्द बोलता है, कहीं सांसारिक विषयों में लीन नहीं होता, काम आदि शत्रुओं के साथ युद्ध करता है और सदा कल्याण करनेवाला होता है। प्रभु इस श्रेष्ठ पुरुष के प्रति प्रीतिवाले होकर इसके इन्द्रिय समूह को नाशक शत्रुओं से बचाते हैं। प्रभु उसे ही प्राप्त होते हैं, जो काम आदि शत्रुओं के साथ युद्ध करता है।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वर:—**पञ्चमः** ॥

अचेतस् द्वारा परुष्णी के कूल का भेदन

दुराध्यो३ अदितिं स्रेवयन्तोऽचेतसो वि जगृभ्रे परुष्णीम् ।
मह्नाविव्यक्पृथिवीं पत्यमानः पशुष्कविरशयच्चायमानः ॥ ८ ॥

(१) **दुराध्यः**=(दुष्टाभिसन्धयः) दुष्ट अभिसन्धिवाले लोग, जो व्यक्ति शुभ इच्छाओं को लेकर कार्यों में नहीं प्रवृत्त होते, **अदितिं स्रेवयन्तः**=(स्रेव् To shakedry) अदीना देवमाता को शुष्क करते हुए, अर्थात् दिव्यगुणों को समाप्त करते हुए, ये **अचेतसः**=मूर्ख लोग **परुष्णीम्**=(पृ नी) पालक व पूरक नीतिरूप नदी को **विजगृभ्रे**=भिन्न कूल करते हैं। ये पालक व पूरक नीति मार्ग का उल्लंघन करते हैं। समझदारी यही है कि हम (क) शुभ भावनाओं से सब कार्यों में प्रवृत्त हों (ख) दिव्यगुणों को पनपाने का प्रयत्न करें, (ग) नीति मार्ग का उल्लंघन न करें। (२) इसके विपरीत **पत्यमानः**=सतत नीति मार्ग पर चलता हुआ पुरुष **मह्ना**=अपनी महिमा से **पृथिवीम्**=सम्पूर्ण पृथिवी को **अविव्यक्**=(व्याप्नोत्) व्याप्त करता है, अर्थात् बड़े यशस्वी जीवनवाला होता है। यह **पशुः**=(पश्यति) द्रष्टा बनकर, **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ (Piercing sight वाला) होता हुआ **चायमानः**=सदा प्रभु का पूजन करता हुआ **अशयत्**=इस शरीररूप नगरी में निवास करता है (परिशेते)। 'चीज को उसके ठीक रूप में देखना, सूक्ष्म बुद्धि से विचार करना व प्रभु का उपासन' ये सब बातें जीवन में प्रगति के लिये व संसार में न आसक्त हो जाने के लिये आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम शुभ भावनाओंवाले बनें। दिव्यगुणों का वर्धन करें। नीति मार्ग पर चलें। हमारा जीवन यशस्वी हो। द्रष्टा चिन्तनशील व उपासक बनकर इस शरीर नगरी में निवास करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अर्थं, नकि न्यर्थम् (ईयुः)

ईयुरर्थं न न्यर्थं परुष्णीमाशुश्चनेदभिपित्वं जगाम।
सुदास इन्द्रः सुतुकाँ अमित्रानरन्धयन्मानुषे वध्रिवाचः ॥ ९ ॥

(१) **अर्थम् ईयुः**=सप्तम मन्त्र के उपासक लोग गन्तव्य मार्ग की ओर ही जाते हैं। **न्यर्थम्**=निम्न मार्ग की ओर **न** (ईयुः)=नहीं जाते। **परुष्णीम्**=पालक नीति मार्ग को **आशुः**=(अश्नुते) व्याप्त करनेवाला यह उपासक **चन इत्**=ही निश्चय से **अभिपित्वम्**=अभिप्राप्तव्य स्थान की ओर **जगाम**=जाता है। हमें सदा उत्कृष्ट मार्ग की ओर चलना है, निम्न मार्ग की ओर नहीं जाना। नीति मार्ग का आक्रमण करते हुए हम सदा लक्ष्य-स्थान की ओर आगे बढ़ें। (२) ऐसे **सुदासे**=सम्यक्तया काम-क्रोध आदि का उपक्षय करनेवाले उपासक के लिये **इन्द्रः**=वे शत्रुविनाशक प्रभु **सुतुकान्**=अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त भी **अमित्रान्**=शत्रुओं को **अरन्धयत्**=विनष्ट करते हैं। प्रभु इस **मानुषे**=मानुष लोक में **वध्रिवाचः**=व्यर्थ की वाणीवालों को—जल्पकों को विनष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—हम मार्ग पर चलें, अमार्ग पर नहीं। पालक नीति मार्ग का ही व्यापन करें। प्रभु हमारे लिये प्रबल शत्रुओं को भी विनष्ट करेंगे। प्रभु जल्पकों को कभी नहीं चाहते।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानी की प्रभु की ओर गति

ईयुर्गावो न यवसादगोपा यथाकृतमभि मित्रं चितासः।
पृश्निगावः पृश्निनिप्रेषितासः श्रुष्टिं चक्रुर्नियुतो रन्तयश्च ॥ १० ॥

(१) **नः**=जैसे **अगोपाः**=विना ग्वालेवाली **गावः**=गौवें **यवसात्**=घास के उद्देश्य से **ईयुः**=गतिवाली होती हैं, अर्थात् घास की ओर चल देती हैं, इसी प्रकार **चितासः**=(चित् संज्ञाने) संज्ञानवाले पुरुष **यथाकृतम्**=अपने पुण्य के अनुसार **मित्रम् अभि** (ईयुः)=उस महान् मित्र प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं। इन ज्ञानी पुरुषों की अपने पुण्य के सौभाग्य से प्रभु की ओर गति स्वाभाविक होती है। (२) ये ज्ञानी **पृश्निगावः**=(पृश्नि=ray of light) प्रकाश किरणों से युक्त इन्द्रियोंवाले होते हैं। **पृश्नि-निप्रेषितासः**=प्रकाश की किरणों से ही अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रेषित होते हैं। इस प्रकार ये **श्रुष्टिं चक्रुः**=ऐश्वर्य व आनन्द को सिद्ध करते हैं, **च**=और **नियुतः**=इनके इन्द्रियाश्व **रन्तयः**=सदा कर्त्तव्य कर्मों में रमण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रभु की ओर चलता है। प्रकाश से कर्त्तव्य मार्ग पर प्रेरित होता है। इसके इन्द्रियाश्व कर्त्तव्य कर्मों में रमण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वैकर्णयोः राजा

एकं च यो विंशतिं च श्रवस्या वैकर्णयोर्जनान्राजा न्यस्तः।
दस्मो न सद्मन्नि शिशाति बर्हिः शूरः सर्गमकृणोदिन्द्र एषाम् ॥ ११ ॥

(१) **यः**=जो **वैकर्णयोः**=(वि+कृ विक्षेपे) इधर-उधर विक्षिप्त होनेवाली दोनों इन्द्रियों का **राजा**=शासक बनता है, मन को तथा बाह्य इन्द्रियों को अपने वश में करता है, यह **जनान् न्यस्त**=अन्य जनों का पराभव करनेवाला होता है, अर्थात् अन्य लोगों से बहुत आगे बढ़ जाता

है। यह **एकं च विंशतिञ्च**=एक और बीस, अर्थात् २१ शक्तियों को **श्रवस्या**=ज्ञान व यश की प्राप्ति की कामना से **निशिशाति**=खूब तीक्ष्ण करता है। (ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः) शरीरस्थ सब शक्तियों का विकास करता हुआ ज्ञान-सम्पन्न व यशस्वी बनता है। (२) यह **दस्मः न**=सबके दुःखों के दूर करनेवाले के समान होता हुआ **सद्मन्**=इस शरीरगृह में **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को भी **निशिशाति**=बड़ा तीव्र बनाता है। इसके हृदय में सर्वहित की भावना प्रबल हो उठती है। अब **एषाम्**=इन लोगों के **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **सर्गम्**=दृढ़ निश्चय को **अकृणोत्**=करनेवाले होते हैं। प्रभु ही **शूरः**=इनके शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले बनते हैं। प्रभु के साहाय्य से ये अपने मार्ग पर आगे बढ़ते हैं मार्ग में विघ्नरूप से आये शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्रियों के शासक बनकर शरीरस्थ २१ शक्तियों को ज्ञान व यश की प्राप्ति के हेतु से तीव्र करनेवाले हों। हृदय में सर्वहित की भावना को तीव्र करें। प्रभु हमारे दृढ़ निश्चय में सहायक होंगे और हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'श्रुत-कवष-अप्सुवृद्ध-द्रुह्यु'

अध॑ श्रु॒तं क॒वषं॑ वृ॒द्धम॒प्स्वनु॑ द्रु॒ह्युं नि वृ॑ण॒ग्वज्र॑बाहुः।
वृ॒णा॒ना अत्र॑ स॒ख्याय॑ स॒ख्यं त्वा॒यन्तो॒ ये अम॑द॒न्ननु॑ त्वा ॥ १२ ॥

(१) **अध**=अब **श्रुतम्**=जिसने गहन शास्त्र श्रवण किया है, **कवषम्**=जो प्रभु के गुण स्तवन को करता है (कु शब्दे), **अप्सु वृद्धम्**=जो कर्मों में खूब बढ़ा हुआ है और **अनु**=कर्मों के अनुपात में ही **द्रुह्युम्**=वासनाओं की जिघांसावाला है, वासनाओं को समाप्त करनेवाला है। ऐसे व्यक्ति को **वज्रबाहुः**=वे वज्रहस्त प्रभु **निवृणक्**=सब पापों से पृथक् कर देते हैं, पवित्र जीवनवाला बना देते हैं। (२) **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **सख्यम्**=आपकी मित्रता का **वृणानाः**=वरण करते हुए **सख्याय**=मित्रता के लिये **ये**=जो **त्वायन्तः**=आपकी ओर आने की कामनावाले होते हैं, वे **त्वा अनु**=आपकी अनुकूलता में **अमदन्**=हर्ष का अनुभव करते हैं। संसार में अन्ततः प्रभु की मैत्री ही आनन्द प्राप्ति का साधन होती है। प्रकृति में लगाव अन्ततः ह्रास की ओर ले जाता है। प्रभु की मित्रता का मार्ग 'श्रुत, कवष, अप्सु, वृद्ध व द्रुह्यु' बनना ही है।

भावार्थ—हम शास्त्र श्रवण करें, प्रभु स्तवन में प्रवृत्त हों, कर्मों में सदा बढ़े हुए व वासनाओं की जिघांसावाले बनें। इस प्रकार प्रभु की मित्रता का वरण करते हुए आनन्द का अनुभव करें। (श्रुतं=ब्रह्मचर्य, कवषं=गृहस्थ, वृद्धं अप्सु=वानप्रस्थ, द्रुह्यु=संन्यास)।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सप्त पुरियों का विदारण

वि स॒द्यो विश्वा॑ दृंहि॒तान्ये॑षा॒मिन्द्रः॒ पुरः॒ सह॑सा स॒प्त द॑र्दः।
व्यान॑वस्य तृत्स॑वे॒ गयं॑ भा॒ग्जेष्म॑ पू॒रुं वि॒दथे॑ मृ॒ध्रवा॑चम् ॥ १३ ॥

(१) **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक प्रभु **एषाम्**=गतमन्त्र में वर्णित 'श्रुत, कवष, अप्सु वृद्ध व द्रुह्यु' के जीवन में असुरों के बने हुए **विश्वा**=सब **दृंहितानि**=अतिशयेन दृढ़ **सप्त पुरः**=सात मर्यादाओं के भंगरूप सात नगरों को **सद्यः**=शीघ्र ही **सहसा**=शत्रुनाशक बल के द्वारा **विदर्दः**=विदीर्ण कर देता है। ('सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः०' (२) **तृत्सवे**=शत्रुओं को कुचलनेवाले पुरुष के लिये

आनवस्य=(अन प्राणने) प्राणशक्तिसम्पन्न पुरुष के **गयम्**=शरीरगृह को **विभाक्**=विशेषरूप से प्राप्त कराता है। अर्थात् वासना को कुचलनेवाला पुरुष खूब प्राणशक्तिसम्पन्न शरीरवाला होता है। हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञ में **मृध्रवाचम्**=हिंसक वाणीवाले **पूरुम्**=मनुष्य को **जेष्म**=जीतनेवाले बनें। अर्थात् ज्ञानयज्ञ में प्रवृत्त हुए-हुए हम कभी भी हिंसक वाणी का प्रयोग न करें।

भावार्थ-प्रभु सात मर्यादाओं के भंग रूप सात दोषों को दूर करते हैं। वासनाओं को कुचलनेवाले के लिये प्राणशक्तिसम्पन्न शरीरगृह को प्राप्त कराते हैं। हम ज्ञान के प्रचार में मधुर वाणी का ही प्रयोग करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

३३(१/३)+६६(२/३)=१००

नि गव्यवोऽनवो द्रुह्यवश्च षष्टिः शता सुषुपुः षट् सहस्रा।
षष्टिर्वीरासो अधि षड् दुवोयु विश्वेदिन्द्रस्य वीर्या कृतानि॥ १४॥

(१) **गव्यवः**=ज्ञान की वाणियों की कामनावाले, **अनवः**=(अन प्राणने) प्राणसाधना में प्रवृत्त होनेवाले, **च**=और इस प्रकार **द्रुह्यवः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं की जिघांसावाले पुरुष **षष्टिः शता**=छह सौ और **षट् सहस्रा**=छह सहस्र, अर्थात् जीवन के-१०० वर्ष के आयुष्य के १२०० दिन तो, अर्थात् लगभग ३३ वर्ष तो **निसुषुपुः**=निश्चय से सोते हैं। १०० वर्ष के जीवन में ३३ के लगभग वर्ष निद्रा में व्यतीत हो जाते हैं। अवशिष्ट **षट् अधि षष्टिः**=छह अधिक साठ, अर्थात् छयासठ (६६) वर्ष ये **दुवोयु**=स्वकर्तव्य कर्मों के करने के द्वारा प्रभु की परिचर्या की कामना वाले होते हैं। (२) इस प्रकार जीवन में जागृति के सारे काल को कर्तव्य कर्मों के करने में बिताने के द्वारा प्रभु-पूजन करते हुए ये व्यक्ति ही **वीरासः**=वीर होते हैं। वस्तुतः **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के **विश्वा कृतानि**=सब कर्म **वीर्या**=शक्तिशाली होते हैं। श्रद्धा और विद्या से कर्मों को करता हुआ यह उन्हें शक्तिसम्पन्न बनाता है।

भावार्थ-जीवन में ३३ वर्ष के निद्रा काल के अतिरिक्त ६६ वर्ष हमारे कर्तव्यपालन द्वारा प्रभु-पूजन में ही बीतने चाहिएँ। यही वीर बनना है। यही इन्द्र बनकर शक्तिशाली कर्मों को करना है। इसके लिये हमारा मार्ग 'ज्ञान प्राप्ति-आराधना व काम-क्रोध आदि की जिघांसा' का होना चाहिए।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

तृत्सवः दुर्मित्रासः

इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः।
दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे॥ १५॥

(१) **एते**=ये **तृत्सवः**=काम-क्रोध आदि को कुचलनेवाले व्यक्ति **इन्द्रेण**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु से **वेविषाणाः**=अपने को व्याप्त करते हुए, अर्थात् सदा प्रभु का स्मरण करते हुए, **सृष्टाः आपः न**=उत्पन्न हुए-हुए जलों की तरह **नीचीः**=निम्न मार्ग से-विनम्रता के मार्ग से **अधवन्त**=तीव्र गतिवाले होते हैं। जैसे जल निम्न मार्ग से गति करते हुए आगे और आगे बढ़ते हैं और अन्ततः समुद्र में आ मिलते हैं, इसी प्रकार ये **तृत्सु**=नम्रता से आगे बढ़ते हुए उस आनन्द के समुद्र प्रभु में जा मिलते हैं। (२) इसके विपरीत **दुर्मित्रासः**=दुष्ट भावों से मित्रतावाले, अर्थात् राक्षसीभावों में सदा निवास करनेवाले, **प्रकलवित्**=(Lgnorant, प्रकली=Aminute portion, अजानन्तः

सा०) अल्पज्ञ-मूर्ख, **मिमानाः**=हिंसा करते हुए-अपनी मौज के लिये औरों के हिंसन में प्रवृत्त हुए-हुए पुरुष, **सुदासे**=सम्यक् काम-क्रोध आदि का उपक्षय करनेवाले पुरुष में होनेवाले **विश्वानि**=सब **भोजना**=पालनात्मक कर्मों को (भुज=पालने) **जहुः**=परित्यक्त करते हैं। ये पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त न होकर सदा हिंसात्मक कर्मों में ही प्रवृत्त रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु का सतत स्मरण करते हुए हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले बने और नम्रतापूर्वक कर्तव्य मार्ग का आक्रमण करते हुए प्रभु से मिलने के लिये यत्नशील हों। दुष्टभावों को अपनाकर, मूर्खता से हिंसात्मक कर्मों में ही प्रवृत्त न रह जायें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वीर के वर्धक व अजितेन्द्रिय के विनाशक' प्रभु

अर्धं वीरस्य शृतपामनिन्द्रं परा शर्धन्तं नुनुदे अभि क्षाम्।
इन्द्रो मन्युं मन्युम्यो मिमाय भेजे पथो वर्तनिं पत्यमानः ॥ १६ ॥

(१) **वीरस्य**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले (वि+ईर्) पुरुष के **अर्धम्**=(वर्धकम् द०) बढ़ानेवाले, **शृत-पाम्**=भोजन के ठीक परिपाक से उत्पन्न वीर्य शक्ति के रक्षक, **अमिन्द्रम्**=अजितेन्द्रिय पुरुष को **परा शर्धन्तम्**=सुदूर हिंसित करते हुए उस प्रभु का यह उपासक **क्षाम् अभि**=इस पृथिवीरूप शरीर की ओर **नुनुदे**=प्रेरित करता है। अर्थात् अपने अन्दर प्रभु का इसी रूप में स्मरण करता है कि वे प्रभु वीर के वर्धक, वीर्य के रक्षक व अजितेन्द्रिय के विनाशक हैं। (२) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **मन्युम्यः**=क्रोध से हिंसित करनेवाले पुरुष के **मन्युम्**=क्रोध को **मिमाय**=नष्ट करता है। अपने अक्रोध के द्वारा दूसरे के क्रोध को जीतता है। **पत्यमानः**=इन्द्रियों व मन के पति के समान आचरण करता हुआ **पथः**=मार्गों को व **वर्तनिम्**=(hymns) स्तोत्र को **भेजे**=सेवित करता है, अर्थात् प्रभु स्मरणपूर्वक मार्ग पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—प्रभु वीरों के वर्धक हैं, सोम के रक्षक हैं, अजितेन्द्रिय के विनाशक हैं। इसी रूप में हम प्रभु का स्मरण करें और अपने कर्तव्य का बोध लें। एक जितेन्द्रिय पुरुष अक्रोध से क्रोधी के क्रोध को जीतता है, प्रभु का स्मरण करता है और मार्ग पर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पंगुं लङ्घयते गिरिम्

आध्रेण चित्तद्वेकं चकार सिंह्यं चित्पेत्वेना जघान।
अव स्रक्तीर्वेश्यावृश्चदिन्द्रः प्रायच्छद्विश्वा भोजना सुदासे॥ १७॥

(१) **आध्रेण**=आधार देने योग्य, अर्थात् लंगड़े (लूले) पुरुष से **चित्**=भी **तद् उ**=उस विलक्षण ही **एकम्**=अद्वितीय कर्म को पर्वत लंघन आदि असंभावनीय कर्मों को **चकार**=वे प्रभु करा देते हैं। **सिंह्यं चित्**=प्रकृष्ट वय (बड़ी उमर) के शेर को भी **पेत्वेन**=(पेत्व=A Ram) मेढ़े से **आजघान**=मरवा देते हैं। (२) वह **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **वेश्या**=सूई के द्वारा ही **स्रक्तीः**=(यूपादेः अश्रीन्) बड़े-बड़े स्तम्भों के कोनों को (अश्रि=Corner) **अव अवृश्चत्**=छिन्न कवा देते हैं। ये प्रभु ही **सुदासे**=सम्यक् शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले पुरुष के लिये **विश्वा भोजना**=सब भोजनों को **प्रायच्छत्**=प्राप्त कराते हैं। प्रभु के उपासक में एक अद्भुत शक्ति आ जाती है। उस अद्भुत शक्ति से वह उन कार्यों को करता दिखता है जो असम्भव से प्रतीत होते हैं। इन्हीं को सामान्य भाषा में miracles (आश्चर्यजनक कर्म) कहते हैं।

भावार्थ—प्रभु लंगड़े को यदि पर्वत लंघा देते हैं तो शेर को मेढ़े से मरवा देते हैं और सूई से बड़े-बड़े स्तम्भों के कोनों को छिन्न करवा देते हैं। ये प्रभु ही काम-क्रोध आदि का उपक्षय करनेवाले सुदास के लिये सब भोजनों को देते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासना व शत्रुशातकशक्ति लाभ

शश्वन्तो हि शत्रवो रारधुष्टे भेदस्य चिच्छर्धतो विन्द रन्धिम्।
मर्ताँ एनः स्तुवतो यः कृणोति तिग्मं तस्मिन्नि जहि वज्रमिन्द्र ॥ १८ ॥

(१) **शश्वन्तः**=बड़ी प्लुतगतिवाले व संख्या में बहुत (बहवः) भी **शत्रवः**=शत्रु **ते**=तेरे **रारधुः हि**=निश्चय से वश में हो जाते हैं। उपासना के होने पर उपासक प्रभु के बल से बल-सम्पन्न होता है और इन काम-क्रोध आदि प्रबल शत्रुओं को भी जीत पाता है। इस प्रभु की उपासना से तू **शर्धतः**=हिंसन करते हुए **मेदस्य**=विदारक शत्रु के **रन्धिम्**=वशीकरण को **विन्द**=प्राप्त कर। प्रभु का अनुग्रह तुझे इस भेद के-विदारक शत्रु के वश करने में समर्थ करे। (२) हे **इन्द्र**=शत्रु विदारक प्रभो! **यः**=जो भी **स्तुवतः मर्तान्**=स्तुति करते हुए मनुष्यों के प्रति **एनः**=पाप को **कृणोति**=करता है, **तस्मिन्**=उस पर तू **तिग्मं वज्रम्**=तीव्र वज्र को **निजहि**=आहत कर, वज्र के द्वारा उसका विनाश करनेवाला हो। प्रभु अपने स्तोता के शत्रु को विनष्ट करते हैं। हम प्रभु के अनुग्रह से ही काम-क्रोध-लोभ आदि आन्तर शत्रुओं को शीर्ण कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना ही हमें काम-क्रोध-लोभ आदि आन्तर शत्रुओं को शीर्ण करने में समर्थ करती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अजासः-शिग्रवः-यक्षवः'

आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत्।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि ॥ १९ ॥

(१) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **यमुना**=संयम की वृत्ति, **च**=तथा **तृत्सवः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हिंसन (Treading upon) **आवत्**=रक्षित करता है। **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **सर्वताता**=सब सद्गुणों के विस्तार के निमित्त **भेदम्**=काम-क्रोध आदि विदारक शत्रुओं को यह उपासक **प्रमुषायत्**=प्रमुषित करता है, समाप्त करता है। (२) **अजासः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशीलता के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकनेवाले **च**=तथा **शिग्रवः**=उपांशुरूपेण प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाले, प्रभु का नाम-स्मरण करनेवाले **च**=और **यक्षवः**=यज्ञों को करने की कामनावाले ये उपासक **अश्व्यानि शीर्षाणि**=इन्द्रियाश्व सम्बन्धी सिरों को उस प्रभु के लिये **बलिम्**=उपहार के रूप में **जभ्रुः**=संभृत करते हैं, अर्थात् अपनी सब इन्द्रियों को प्रभु के ध्यान में लगाने का प्रयत्न करते हैं, इन सब इन्द्रियों के द्वारा प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होते हैं। इनके कान प्रभु स्तोत्रों का श्रवण करते हैं, आँखें प्राकृतिक सौन्दर्य में उस स्वयिता की महिमा को देखती है, नासिका फूलों के निर्हारी (मधुर गन्धों में) प्रभु की कुशलता को सूंघती है तो वाणी प्रभु के गुणगान करती है। वस्तुतः यह उपासन ही उन्हें सब गुणों के विस्तार में समर्थ करता है।

भावार्थ—संयम व शत्रुसंहार ही हमारा रक्षक है, इसी से हम विदारक शत्रुओं को समाप्त करके सब इन्द्रियों को प्रभु की उपासना में प्रवृत्त कर पाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

न 'देवक' नांही 'मान्यमान'

न त इन्द्र सुमतयो न रायः संचक्षे पूर्वा उषसो न नूत्नाः ।
देवकं चिन्मान्यमानं जघन्थाव त्मना बृहतः शम्बरं भेत् ॥ २० ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपकी **न**=न तो **सुमतयः**=कल्याणी मतियाँ और **न रायः**=न ही आपके ऐश्वर्य **पूर्वाः उषसः न**=पूर्व उषाकालों की तरह **नूत्नाः**=नवीन उषाकालों में भी **संचक्षे**=(To abondon, leave) छोड़ने के लिये होते हैं, अर्थात् पहले की तरह आगे भी, अर्थात् सदा ही आपकी सुमतियाँ व ऐश्वर्य हमारे लिये ग्रहण के योग्य हैं। हमें चाहिए कि सुमति का सम्पादन करते हुए ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के लिये यत्नशील हों। (२) हे प्रभो! आप **देवकम्**=जूआ खेलनेवाले, सट्टेबाज, एक ही रात्रि में धनी बन जानेवाले **मान्यमानम्**=इस अभिमानी पुरुष को **जघन्थ**=आप नष्ट करते हैं। **त्मना**=आप स्वयं **बृहतः**=उपासक के विशाल हृदय से **शम्बरम्**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाले ईर्ष्या नामक आसुरभाव को **अवभेत्**=सुदूर विनष्ट (विदीर्ण) करते हैं।

भावार्थ—हमें सदा प्रभु की सुमति व ऐश्वर्य प्राप्त हों। न हम जूआ खेलें, न धन का घमण्ड करने लगें। प्रभु के अनुग्रह से हमारे विशाल हृदय में ईर्ष्या का स्थान न हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पराशरः-शतयातुः-वसिष्ठः

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः ।
न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान् ॥ २१ ॥

(१) **ये**=जो **गृहात्**=(गृहं प्राप्य सा०) इस शरीररूप गृह को प्राप्त करके, इस शरीर के द्वारा, **त्वाया**=आपकी प्राप्ति की कामना से **प्र अममदुः**=प्रकर्षेण आपका स्तवन करते हैं। वे **पराशरः**=शत्रुओं को सुदूर शीर्ण करनेवाले बनते हैं, **शतयातुः**=शतवर्षपर्यन्त जीवन के मार्ग पर गमनवाले होते हैं, तथा **वसिष्ठः**=उत्तम निवासवाले होते हैं। प्रभु-स्तवन इन्हें शत्रुओं को शीर्ण करने में समर्थ करता है। शत्रुशीर्णता इनके दीर्घ व उत्तम जीवन का कारण बनती है। (२) **ते**=वे व्यक्ति **भोजस्य**=सबका पालन करनेवाले आपके **सख्यम्**=मित्रभाव को **न मृषन्त**=नहीं विस्मृत करते हैं। ये सदा प्रभु का स्मरण करते हुए चलते हैं। **अधा**=अब इन **सूरिभ्यः**=ज्ञानी स्तोताओं के लिये **सुदिना**=उत्तम दिन **व्युच्छान्**=उदित होते हैं, प्राप्त होते हैं (उपगच्छन्ति सा०)।

भावार्थ—इस शरीर को प्राप्त करके हम प्रभु का स्तवन करें। इससे हम शत्रुओं को शीर्ण करके दीर्घ उत्तम जीवन को प्राप्त करेंगे। प्रभु की मित्रता को कभी न भूलें। इस प्रकार हमारे लिये सदा सुदिन सुलभ होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सुदासः पैजवनस्य दानुस्तुतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'नप्तः देववान् सुदास्'

द्वे नप्तुर्देववतः शते गोर्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः ।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन् ॥ २२ ॥

(१) **नप्तुः**=धर्ममार्ग से न पतित होनेवाले **देववतः**=दिव्यगुणोंवाले **सुदासः**=उत्तम दानशील

व काम-क्रोध आदि का अच्छी प्रकार उपक्षय करनेवाले (दाश् दाने, दसु उपक्षये) इस उपासक के **गोः**=इन्द्रिय समूह के **द्वेशते**=प्रतिवर्ष उत्तरायण व दक्षिणायन के रूप में दो सौ अयनों होते हैं तथा **द्वा रथा**=सूक्ष्म तथा स्थूल शरीररूप दोनों रथ **वधूमन्ता**=प्रशस्त बुद्धि रूप वधूवाले होते हैं। इस सुदास् की इन्द्रियाँ दो सौ अयनों तक बड़ा ठीक कार्य करनेवाली होती हैं और इसके स्थूल व सूक्ष्म दोनों शरीर भी पूर्ण स्वस्थ होते हुए प्रशस्त बुद्धि सम्पन्न होते हैं। (२) **पैजवनस्य**=इस कर्तव्य कर्मों में वेगवान् पुरुष के **दानम्**=शत्रु विनाश (दाप् लवने) रूप कार्य को **अर्हन्**=पूजता हुआ, उस कार्य को आदर की दृष्टि से देखता हुआ हे **अग्ने**=प्रभो! मैं भी **होता इव**=एक यज्ञशील पुरुष की तरह **रेभन्**=स्तुति करता हुआ **सद्म**=इस गृह में **पर्येभि**=कर्तव्य कर्मों में विचरण करता हूँ। इस प्रकार ही तो मैं भी काम-क्रोध आदि का विनाश कर पाऊँगा।

भावार्थ—हम धर्म मार्ग से न पतित होनेवाले, दिव्यगुणों को अपनानेवाले बुराइयों का उपक्षय करनेवाले बनें। तभी हमारी इन्द्रियाँ दो सौ अयनों (सौ वर्ष) तक ठीक कार्य करेंगी व स्थूल व सूक्ष्म शरीर प्रशस्त बुद्धि सम्पन्न होंगे। हम यज्ञशील स्तोता व कर्तव्यरत बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—सुदासः **पैजवनस्य दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चार वेद (ज्ञान)

चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके।
ऋज्रासो मा पृथिविष्ठाः सुदासस्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति॥ २३॥

(१) स्वाभाविक ज्ञान बल व क्रियावाले वे प्रभु पैजवन हैं—अत्यन्त वेगवान् 'मनसो जवीयः' मन से भी अधिक वेगवान् हैं। इस **पैजवनस्य**=वेग के पुञ्ज प्रभु के **मा**=मेरे लिये **चत्वारः**=चार **दानाः**=वासनाओं का विनाश (दाप् लवने) करनेवाले ये वेद (ज्ञान) हैं। **स्मद् दिष्टयः**=ये मेरे जीवन के लिये अतिशयेन प्रशस्त निर्देशोंवाले हैं। **निरेके**=सब दोषों के विरेचन के लिये **कृशनिनः**=ये स्वर्णसम देदीप्यमान ज्ञान ज्योतिवाले हैं। इस ज्ञान-ज्योति में सब वासनान्धकार में विलीन हो जाता है। (२) **मा**=मेरे लिये **ऋज्रासः**=ऋजुमार्ग की प्रेरणा देनेवाले, **पृथिविष्ठाः**=इस शरीररूप पृथिवी में मुझे स्थित करनेवाले, अर्थात् मुझे पूर्ण स्वस्थ बनानेवाले, ये वेदज्ञान **सुदासः तोकम्**=सुदास् के पुत्र—अतिशयेन शत्रुओं का उपक्षय (दसु उपक्षये) करनेवाले मुझको **तोकाय**=उत्तम सन्तानों की प्राप्ति के लिये अथवा वृद्धि (तु वृद्धौ) के लिये तथा **श्रवसे**=ज्ञान-ज्योति की प्राप्ति के लिये अथवा यशस्वी जीवन के लिये **वहन्ति**=ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दिया गया चार भागों में विभक्त वेदज्ञान, मेरे लिये वासनाओं को विनष्ट करनेवाला है, यह मुझे उत्तम सन्तति व यशस्वी जीवन को देनेवाला है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—सुदासः **पैजवनस्य दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

युध्यामधि का तनूकरण (विच्छेद)

यस्य श्रवो रोदसी अन्तरुर्वी शीर्ष्णेशीर्ष्णे विबभाजा विभक्ता।
सप्तेदिन्द्रं न स्रवतो गृणन्ति नि युध्यामधिमशिशादभीके॥ २४॥

(१) **यस्य**=जिस प्रभु का **श्रवः**=यश **ऊर्वी रोदसी अन्तः**=इन विशाल द्यावापृथिवी के बीच में है, जिसकी महिमा इन द्यावापृथिवी में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। जो प्रभु **शीर्ष्णे शीर्ष्णे**=प्रत्येक व्यक्ति के लिए **विबभाज**=धनों का विभाग करते हैं, जो सभी को भोजन प्राप्त कराते हैं 'अमन्तवो मान्त उपक्षियन्ति' कट्टर नास्तिकों को भी तो वे भोजन द्वारा जीवन में निवास करानेवाले

हैं। **विभक्ता**=वे प्रभु ही सर्वमहान् विभाग करनेवाले हैं। (२) **स्रवतः**=बहते हुए **सप्त इत्**=मेरे ये सातों ही 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' कान, नाक, आँख व मुख से होनेवाले ज्ञान-प्रवाह उस प्रभु को **इन्द्रं न**=परमैश्वर्यशाली के समान **गृणन्ति**=स्तुत करते हैं। वस्तुतः मेरे से स्तुति किये गये ये प्रभु ही **युध्यामधिम्** (युधि+आम+धि)=जीवन संग्राम में रोगों का आधान करनेवाले वासनारूप शत्रु को **अभीके**=संग्राम में **नि अशिशात्**=निश्चय से छिन्न करते हैं। मैं प्रभु-स्तवन करता हूँ। प्रभु मेरे शत्रुओं को छिन्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का यश सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रभु ही सबको भोजन देनेवाले हैं। मेरे सातों (दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो आँख और मुख) ज्ञान-प्रवाह प्रभु का ही स्तवन करते हैं। प्रभु ही मेरे वासनारूप शत्रु को शीर्ण करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सुदासः पैजवनस्य दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणों द्वारा प्रभु की उपासना

इमं नरो मरुतः सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः।
अविष्टना पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रमजरं दुवोयु ॥ २५ ॥

(१) हे **नरः**=मुझे उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले **मरुतः**=मेरे प्राणो! **इमम्**=इस **दिवोदासम्**=ज्ञान के देनेवाले के समान, **सुदासः पितरम्**=सम्यक् शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले उपासक के रक्षक प्रभु को **अनुसश्चात**=प्रतिदिन सेवित करो। मेरे प्राण चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा प्रभु का ध्यान करनेवाले हों। (२) हे प्राणो! आप **पैजवनस्य**=स्वाभाविक वेगवाले-वेग के पुञ्ज-प्रभु के **केतम्**=ज्ञान का **अविष्टन**=रक्षण करो। प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान को मेरे में ये प्राण सुरक्षित करें। प्राणायाम से दग्ध दोष निर्मल हृदय में प्रभु का संकेत (प्रेरण) सुनाई पड़ता है। इस प्रकार होने पर इस उपासक का **क्षत्रम्**=बल **दूणाशम्**=सब बुराइयों को नष्ट करनेवाला, **अजरम्**=कभी न जीर्ण होनेवाला व **दुवोयु**=प्रभु की परिचर्या की कामनावाला होता है। अपनी शक्ति से मानव की सेवा करना ही प्रभु की परिचर्या है। एवं, उपासक अपने बल के द्वारा रक्षणात्मक कार्यों में ही प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—हम प्राणायाम करते हुए चित्तवृत्ति का निरोध करके प्रभु का उपासन करें। प्रभु के संकेत को समझें। हमारा बल न जीर्ण होनेवाला हो व लोकहित में विनियुक्त हो।

अगले सूक्त के भी ऋषि देवता 'वसिष्ठ व इन्द्र' ही है—

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रयन्ता' प्रभु

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ॥ १ ॥

(१) **यः**=जो **तिग्मशृङ्गः वृषभः न**=तेज सींगोंवाले बैल के समान **भीमः**=शत्रुओं के लिये भयङ्कर हैं। वे **एकः**=अकेले ही **विश्वाः**=सब **कृष्टीः**=शत्रुभूत मनुष्यों को **प्रच्यावयति**=स्थान से प्रच्युत करनेवाले हैं। हम जब अपने हृदयों में इन प्रभु का स्थापन करते हैं, तो ये हमारे सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश करनेवाले होते हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **अदाशुषः**=अदाश्वान्-

अदाता-अयज्ञशील पुरुष के **शश्वतः**=बहुत भी **गयस्य**=धन के **प्रयन्ता असि**=नियमन करनेवाले, अपहरण कर लेनेवाले हैं, वे ही प्रभु **सुष्वि-तराय**=खूब ही सवन करनेवाले यज्ञशील पुरुष के लिये **वेदः**=धन को **प्रयन्तासि असि**=देनेवाले हैं।

भावार्थ-प्रभु उपासक के शत्रुओं को नष्ट करनेवाले हैं। अयज्ञशील के धन का अपहरण करनेवाले हैं तथा यज्ञशील के लिये धन को देनेवाले हैं।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

'दास-शुष्ण व कुयव' का विनाश

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुसंहारक प्रभो! **त्वम्**=आप **ह**=निश्चय से **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष को **आवः**=रक्षित करते हैं। **त्यद्**=तब वह **समर्ये**=इस जीवन संग्राम में **तत्वा**=शक्तियों के विस्तार के साथ **शुश्रूषमाणः**=विद्या के श्रवण की कामनावाला होता है तथा गुरुजनों की सेवा की कामनावाला होता है। (२) **यत्**=जब **अस्मै**=इस कुत्स के लिये आप **दासम्**=उपक्षय करनेवाले क्रोध को, **शुष्णम्**=सुखा देनेवाली काम-वासना को **तथा** कुयम्=सब बुराइयों का हमारे साथ मिश्रण करनेवाले लोभ को **नि अरन्धयः**=निश्चय से विनष्ट करते हैं, तो **आर्जुनेयाय**=इस अर्जुनी (श्वेता=शुद्धा) के पुत्र के लिये, अर्थात् अतिशयेन शुद्ध जीवनवाले के लिये **शिक्षन्**=धनों के देने की कामनावाले होते हैं। आप से प्रदत्त इन धनों से यज्ञ आदि को सिद्ध करता हुआ यह अपने जीवन को धन्य बना पाता है।

भावार्थ-शरीर की शक्तियों के विस्तार के साथ वासनाओं का संहार करनेवाला कुत्स जीवन संग्राम में विद्या का श्रवण करता है, बड़ों की सेवा करता है। प्रभु इसके क्रोध, काम व लोभ को विनष्ट करते हैं और इस शुद्ध जीवनवाले पुरुष के लिये धनों को देते हैं।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

'वीतहव्य-सुदास पौरुकुत्सि त्रसदस्यु व पूरु' का रक्षण

त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम्।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्॥ ३॥

(१) हे **धृष्णो**=शत्रुधर्षक इन्द्र! **त्वम्**=आप **धृषता**=शत्रुधर्षक बल के द्वारा **वीतहव्यम्**=जिसने हव्यों का ही भक्षण किया है, उस यज्ञशील सात्त्विक अन्न के सेवी पुरुष को **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के साथ **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। आप इस 'वीत हव्य' का रक्षण करते हैं, जो **सुदासम्**=सब वासनाओं का उपक्षय करके 'सुदास' बनता है (दसु उपक्षये)। (२) आप **वृत्रहत्येषु**=संग्रामों में **क्षेत्रसाता**=उत्तम शरीर-क्षेत्र की प्राप्ति के निमित्त आप **पौरुकुत्सिम्**=खूब ही वासनाओं का संहार करनेवाले, **त्रसदस्युम्**=जिससे वासनाएँ भयभीत होती हैं और **पूरुम्**=जो ठीक से अपना पालन व पूरण करता है उस मनुष्य को **प्र आवः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं।

भावार्थ-प्रभु यज्ञशील-वासना विनाशक-खूब ही वासनाओं का संहार करनेवाले, दास्यवभावों को भयभीत करनेवाले, पालक व पूरक मनुष्य को रक्षित करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दस्यु चुमुरि धुनि' का विनाश

त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि।
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु॥ ४॥

(१) हे **नृमणः**=उन्नति-पथ पर चलनेवालों से मननीय (नृभिः मननीय) प्रभो! **त्वम्**=आप **देववीतौ**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त **नृभिः**=इन मनुष्यों के द्वारा **भूरीणि**=बहुत भी **वृत्रा**=वासनारूप शत्रुओं को **हंसि**=नष्ट करते हैं। वृत्र विनाश ही 'देव वीति' का (=दिव्यगुणों की प्राप्ति का) कारण बनता है। (२) हे **हर्यश्व**=कमनीय इन्द्रियरूप अश्वोंवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **दभीतये**=वासनाओं का विनाश करनेवाले इस पुरुष के लिये **सुहन्तु**=सम्यक् हनन साधन वज्र के द्वारा—क्रियाशीलता के द्वारा **दस्युम्**=विनाशक लोभ को, **चुमुरिम्**=शक्ति को पी जानेवाली (शक्ति का आचमन कर जानेवाली) काम-वासना को, **धुनिं च**=कम्पित करनेवाले क्रोध को **नि अस्वापयः**=निश्चय से सुला देते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक की वासनाओं को विनष्ट करके उसे दिव्यगुण सम्पन्न बनाते हैं। लोभ-काम व क्रोध को समाप्त करके उसे सुन्दर जीवन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना व अहंकार से शून्य दीर्घ जीवन

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत्पुरो नवतिं च सद्यः।
निवेशने शततमाविवेषीरहञ्च वृत्रं नमुचिमुताहन्॥ ५॥

(१) हे **वज्रहस्त**=हाथ में वज्र को धारण किये हुए प्रभो! **तानि**=वे सब **च्यौत्नानि**=शत्रुओं को च्युत करनेवाले बल **तव**=आपके ही हैं **यत्**=जो **सद्यः**=शीघ्र ही **नवतिं नव च**=नव्वे और नौ अथात् निन्यानवे **पुरः**=शत्रुओं की नगरियों को **अहन्**=नष्ट करते हैं। (२) आसुरभावों की निन्यानवे नगरियों का विध्वंस करके **निवेशने**=निवेश के निमित्त—उत्तमता से निवास के निमित्त **शततमा**=सौवीं नगरी में **अविवेषीः**=व्याप्त होते हैं। शरीर को वर्ष तक ले चलते हैं **च**=और **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **उत**=और **नमुचिम्**=अहंकार को **अहन्**=नष्ट करते हैं। प्रभु कृपा से दीर्घजीवन प्राप्त होता है, यह जीवन वासना व अहंकार से शून्य होता है।

भावार्थ—यह सब प्रभु की ही शक्ति है कि वे असुरों की निन्यानवे नगरियों को ध्वस्त करके हमें सौवीं नगरी में प्राप्त कराते हैं तथा वासना व अहंकार से हमें रहित करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भोजनानि-ब्रह्माणि-वाजम्

सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे।
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ता**=वे **ते**=आपके **भोजनानि**=पालन करनेवाले धन (भुज पालने) **रातहव्याय**=दत्तहविष्क, अर्थात् यज्ञशील पुरुष के लिये **सना**=सदा से हैं। आपके ये धन **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिये हैं और **सुदासे**=सम्यक् वासनाओं का उपक्षय करनेवाले के लिये हैं। (२) **वृष्णे**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले व शक्तिशाली **ते**=तेरे लिये, अर्थात् आपकी

प्राप्ति के लिये **वृषणा हरी**=शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों को **युनज्मि**=इस शरीर-रथ में जोड़ता हूँ। इन इन्द्रियों को सदा कर्त्तव्य कर्म में लगाये रखता हूँ। हे **पुरुशाक**=बहुत शक्तिवाले, अनन्त शक्ति-सम्पन्न प्रभो! कर्त्तव्य कर्मों को करने के द्वारा आपकी उपासना करनेवाले ये लोग **ब्रह्माणि**=ज्ञान की वाणियों को व **वाजम्**=बल को **व्यन्तु**=विशेषरूप से प्राप्त हों।

भावार्थ-प्रभु त्यागी के लिये धनों को देते हैं। जो भी प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से अपने कर्त्तव्य कर्मों का पालन करते हैं वे ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

मा अघाय-मा परादै

मा ते॑ अ॒स्यां स॑हसाव॒न्परि॑ष्टाव॒घाय॑ भूम हरिवः परा॒दै।
त्राय॑स्व नोऽवृ॒केभि॒र्वरू॑थै॒स्तव॑ प्रि॒यासः॑ सू॒रिषु॑ स्याम॥ ७॥

(१) हे **सहसावन्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले बल से सम्पन्न, **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हम **ते**=आपकी **अस्याम्**=इस **परिष्टौ**=अन्वेषणा में **अघाय**=पाप के लिये **मा भूम**=मत हों। **परादै**=परादान के लिये, आप से त्यागे जाने के लिये मत हों। आपकी खोज में लगे हुए हम न आप से परित्यक्त हों और न ही पाप में फँसें। (२) आप **नः**=हमें **अवृकेभिः**=बाधा से शून्य (अबाधैः सा०) **वरूथैः**=रक्षणों के द्वारा **त्रायस्व**=बचाइये। हम **सूरिषु**=ज्ञानी पुरुषों में **तव प्रियासः**=आपके प्रिय **स्याम**=हों। उत्तम कर्मों को करते हुए हम क्यों आपके प्रिय न होंगे?

भावार्थ-प्रभु की खोज में लगे हुए हम प्रभु से परित्यक्त न हों, पाप में न फँसें। प्रभु से रक्षित होकर कर्तव्य कर्मों को करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

'तुर्वश, याद्व, अतिथिग्व'

प्रि॒यास॒ इत्ते॑ मघवन्न॒भिष्टौ॒ नरो॑ मदेम शर॒णे सखा॑यः।
नि तु॒र्वशं॒ नि याद्वं॑ शिशीह्यतिथि॒ग्वाय॒ शंस्यं॑ करि॒ष्यन्॥ ८॥

(१) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते अभिष्टौ**=आपकी अभ्येषणा में, प्रार्थना व आराधना में **ते**=आपके **प्रियासः इत्**=प्रिय ही हों। **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले हम (ते) **सखायः**=आपके मित्र बनकर आपकी **शरणे**=शरण में **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें। (२) हे प्रभो! आप **तुर्वशम्**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाले इस उपासक को **निशिशीहि**=खूब तीक्ष्ण करिये, यह बड़ा तीक्ष्णबुद्धि बने। **याद्वम्**=इस यत्नशील मनुष्य को **नि** (शिशीहि)=तीक्ष्ण करिये, काम-क्रोध आदि शत्रुओं के लिये भयंकर बनाइये। **अतिथिग्वाय**=अतिथियों के सत्कार के लिये उनके प्रति जानेवाले इस उपासक के लिये आप सदा **शंस्यम्**=प्रशंसनीय बातों को ही **करिष्यन्**=करनेवाले होते हैं।

भावार्थ-प्रभु की आराधना करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु के मित्र बनकर प्रभु की शरण में आनन्द का अनुभव करें। शत्रुओं को वश करनेवाले, यत्नशील व अतिथि सेवी बनें प्रभु अवश्य हमारा कल्याण करेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पणीन् वि अदाशत्

स॒द्यश्चि॒न्नु ते॑ मघवन्न॒भिष्टौ॒ नरः॑ शंसन्त्युक्थ॒शास॑ उ॒क्था ।
ये ते॒ हवे॑भि॒र्वि प॒णीँरदा॑शन्न॒स्मान्वृ॑णीष्व॒ युज्या॑य॒ तस्मै॑ ॥ ९ ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते अभिष्टौ**=आपकी अभ्येषणा (प्रार्थना) में **उक्थशासः**=स्तोत्रों का शंसन करनेवाले ये **नरः**=स्तोता लोग **सद्य चित्**=शीघ्र ही **नु**=निश्चय से **उक्था**=स्तोत्रों को **शंसन्ति**=उच्चरित करते हैं। (२) **ये**=जो **ते हवेभिः**=आपकी पुकारों से—आराधनाओं से **पणीन्**=वणिक् वृत्तिवालों को भी **वि अदाशन्**=विशेषरूप से दानवृत्तिवाला बना देते हैं, उन **अस्मान्**=हमें **तस्मै युज्याय**=उस अपनी मित्रता के लिये **वृणीष्व**=करिये। हम आपकी मित्रता में चलें। आपकी आराधना करते हुए कृपणों को दानशील बनाने का यत्न करें।

भावार्थ—प्रभु की आराधना में हम स्तोत्रों का उच्चारण करें। प्रभु की आराधना में पवित्र जीवनवाले बनते हुए हम कृपणों को भी दानशील बना पायें। प्रभु की मित्रता को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शिवः-सखा-अविता

ए॒ते स्तोमा॑ न॒रां नृ॑तम॒ तुभ्य॑मस्म॒द्र्य॑ञ्चो॒ दद॑तो म॒घानि॑ ।
तेषा॑मिन्द्र वृत्र॒हत्ये॑ शि॒वो भूः॒ सखा॑ च॒ शूरो॑ऽवि॒ता च॑ नृ॒णाम् ॥ १० ॥

(१) हे **नरां नृतम्**=नायकों में सर्वोत्तम नायक प्रभो! **एते स्तोमाः**=ये स्तुतिसमूह **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिये हैं। **अस्मद्र्यञ्चः**=हमारे अभिमुख होते हुए ये स्तोम **मघानि**=ऐश्वर्यों को **ददतः**=देते हुए होते हैं। अर्थात् हम आपका स्तवन करते हैं और सब प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **वृत्रहत्ये**=संग्राम में **तेषां नृणाम्**=उन उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यों का **शिवः भूः**=कल्याण करनेवाले होइये। **च**=और **सखा**=उनके मित्र होते हुए **शूरः**=उनके शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले होइये **च**=और **अविता**=रक्षक होइये।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करनेवाला सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है। प्रभु इनके शत्रुओं को शीर्ण करके इनका कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वाजान्+स्तीन् (उपमिमीहि)

नू इ॑न्द्र शूर॒ स्तव॑मान ऊ॒ती ब्रह्म॑जूतस्त॒न्वा॑ वावृधस्व ।
उप॑ नो॒ वाजा॑न्मिमी॒ह्युप॒ स्तीन्यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ११ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक, **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **स्तवमानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **ऊती**=रक्षा के हेतु से **नु**=अब **वावृधस्व**=हमारा खूब ही वर्धन कीजिये। **ब्रह्मजूतः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा हृदयों में प्रेरित हुए-हुए आप **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के हेतु से (वावृधस्व०) हमारा खूब वर्धन करिये। (२) **नः**=हमारे लिये **वाजान्**=शक्तियों को **उपमिमीहि**=समीपता से निर्मित कीजिये—हमारे समीप होते हुए हमारे लिये शक्तियों का निर्माण करिये तथा **स्तीन्**=ज्ञान की वाणीरूप शब्द समूहों का **उप** (मिमीहि) =निर्माण करिये। **यूयम्**=आप **सदा**=सदा **नः**=हमें **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **पात**=रक्षित करिये।

भावार्थ—स्तुति किये जाते हुए प्रभु हमारा रक्षण करें, हमारी शक्तियों का विस्तार करें। हमें बलों को व ज्ञानवाणियों को प्राप्त कराएँ।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी वसिष्ठ व इन्द्र हैं—

अथ पञ्चमाष्टके तृतीयोऽध्यायः

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उग्र-स्वधावान्

उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावाञ्चक्रिरपो नर्यो यत्करिष्यन्।
जग्मिर्युवा नृषदनमवोभिस्त्राता न इन्द्र एनसो महश्चित्॥ १ ॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ **वीर्याय जज्ञे**=शक्तिशाली कर्मों के लिये प्रादुर्भूत होता है। **स्वधावान्**=यह आत्मधारण शक्ति से युक्त होता है। **नर्यः**=नरहितकारी होता हुआ **यत् करिष्यन्**=जो करता है सो **अपः**=व्यापक कर्मों को ही **चक्रिः**=करनेवाला होता है इसके ये महान् कर्म अधिक से अधिक लोगों का हित करनेवाले ही होते हैं। (२) यह **युवा**=बुराइयों को अपने से दूर करनेवाला व अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाला व्यक्ति **अवोभिः**=रक्षणों के हेतु से, वासनाओं से अपने को बचाने के हेतु से **नृषदनम्**=यज्ञगृहों को **जग्मिः**=जानेवाला होता है। उत्तम यज्ञों व सभाओं में सम्मिलित होता हुआ यह कभी भी वासनाओं का शिकार नहीं होता। इस की आराधना यही होती है कि **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक प्रभु **नः**=हमें **महः चित् एनसः**=महान् पाप से भी **त्राता**=बचानेवाला हो।

भावार्थ—हम तेजस्वी बनकर शक्तिशाली कर्मों को करें। आत्मधारणशक्तिवाले होकर हम नरहितकारी कर्मों को ही करनेवाले हों, यज्ञ-स्थलों व सभाओं में सम्मिलित होते हुए हम अपने को वासनाओं का शिकार न होने दें। यही आराधना करें कि प्रभु हमें महान् पाप से भी बचायें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हन्ता वृत्रं, कर्ता लोकं, दाता वसु

हन्ता वृत्रमिन्द्रः शूशुवानः प्रावीन्नु वीरो जरितारमूती।
कर्ता सुदासे अह वा उ लोकं दाता वसु मुहुरा दाशुषे भूत्॥ २ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे शत्रुविद्रावक प्रभु **शूशुवानः**=निरन्तर गतिशील होते हुए (श्वि गतौ) **वृत्रं हन्ता**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करते हैं। **नु**=अब **वीरः**=शत्रु-कम्पक होते हुए वे प्रभु **ऊती**=रक्षण के द्वारा **जरितारम्**=स्तोता को **प्रावीत्**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। (२) **सुदासे**=(कल्याण दानाय सा०) शुभ दानोंवाले व (दसु उपक्षये) वासनाओं का विनाश करनेवाले के लिये **अह वा उ**=निश्चय से ही **लोकम्**=प्रकाश को **कर्ता**=करनेवाले होते हैं। और **दाशुषे**=इस दाश्वान् पुरुष के लिये, दानशील व्यक्ति के लिये **मुहुः**=फिर **वसु दाता भूत्**=निवास के लिये आवश्यक धनों को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तोता की वासनाओं को विनष्ट करते हैं। दानशील व्यक्ति के लिये प्रकाश को करते हैं और सदा आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जितेन्द्रिय योद्धा

युध्मो अ॑न॒र्वा ख॑ज॒कृत्स॒मद्वा॒ शूरः॑ सत्रा॒षाड् ज॒नुषे॑मषा॑ळ्हः ।
व्या॑स॒ इन्द्रः॒ पृत॑नाः॒ स्वोजा॒ अधा॒ विश्वं॑ शत्रू॒यन्तं॑ जघान ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **युध्मः**=युद्ध करनेवाला होता है, काम-क्रोध आदि के साथ युद्ध करके उन्हें पराजित करता है। **अनर्वा**=युद्धों में पराङ्मुख नहीं होता, भाग नहीं खड़ा होता। **खजकृत्**=संग्राम को करनेवाला, **समद्वा**=सदा उल्लास से युक्त होता है (स मद्)। **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला, **सत्राषाट्**=बहुतों का अभिभव करनेवाला और **ईम्**=निश्चय से **जनुषा**=स्वभावतः ही **अषाढः**=शत्रुओं से अनभिभूत होता है। (२) **स्वोजाः**=उत्तम ओजस्वी यह इन्द्र **पृतनाः**=शत्रु-सैन्यों को **वि आसे**=सुदूर विक्षिप्त करता है। **अधः**=और **विश्वम्**=सब **शत्रूयन्तम्**=शत्रुओं की तरह आधरण करते हुए को **जघान**=यह नष्ट करता है।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष योद्धा होता है। यह काम-क्रोध आदि से युद्ध करता हुआ कभी भाग नहीं खड़ा होता, उल्लासपूर्वक युद्ध में प्रवृत्त हुआ-हुआ यह सदा इन शत्रुओं को अपने से दूर फेंकता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण व आनन्द

उ॒भे चि॑दिन्द्र॒ रोद॑सी महि॒त्वा प॑प्राथ॒ तवि॑षीभिस्तुविष्मः ।
नि वज्र॒मिन्द्रो॒ हरि॑वा॒न्मिमि॑क्ष॒न्त्सम॑न्धसा॒ मदे॑षु॒ वा उ॑वोच ॥ ४ ॥

(१) हे **तुविष्मः**=अनन्त बल सम्पन्न **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **महित्वा**=अपनी महिमा से **तविषीभिः**=बलों के द्वारा **उभे चित् रोदसी**=दोनों ही द्यावापृथिवी को **आपप्राथ**=विस्तृत किये हुए हैं। सर्वत्र आपकी महिमा व शक्ति का प्रकाश हो रहा है। (२) **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक प्रभु, **हरिवान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को हमारे लिये देता हुआ **वज्रं निमिमिक्षन्**=शत्रुओं पर वज्र को प्राप्त कराता है। और **वा**=निश्चय से **मदेषु**=उल्लासों की प्राप्ति के निमित्त **अन्धसा**=सोम से **सम् उवोच**=समवेत करता है। प्रभु क्रियाशीलता रूप वज्र के द्वारा हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करते हैं और हमें सोम से संगत करते हुए, वीर्य को सुरक्षित करते हुए, आनन्दित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा द्यावापृथिवी में सर्वत्र व्याप्त है। प्रभु ही हमारे सोम का रक्षण करते हुए हमें आनन्दित करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वृषा-नर्य-इन-सत्वा'

वृषा॑ जजान॒ वृष॑णं॒ रणा॑य॒ तमु॑ चि॒न्नारी॒ नर्यं॑ ससूव ।
प्र यः सेना॒नीरध॒ नृभ्यो॑ अस्ती॒नः सत्वा॒ गवेष॑णः॒ स धृष्णुः ॥ ५ ॥

(१) **वृषा**=वह शक्तिशाली परमात्मा **वृषणम्**=इस शक्तिशाली जीव को **रणाय**=संग्राम के लिये, **जजान**=जन्म देता है। प्रभु यह मानवजन्म इसलिए देते हैं कि मनुष्य जीवन में आक्रमण करनेवाले इन काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं से संग्राम करके इन्हें जीतने का प्रयत्न करे। **तं**

उचित्=और उसको ही नारी=यह जीवन में आगे ले चलनेवाली वेदवाणी रूप स्त्री नर्यम्=नरहितकारी मनुष्य को ससूव=उत्पन्न करती है। वेदाध्ययन मनुष्य को सदा हितकर कार्यों में व्यापृत किये रहता है। (२) 'वृषा' प्रभु व 'नारी' वेदवाणी उस पुरुष को जन्म देते हैं यः=जो नृभ्यः=मनुष्यों के लिये प्र सेनानीः=प्रकृष्ट सेनापति अस्ति=होता है। इनः=अपना स्वामी बनता है। सत्वा=शत्रुओं का (सादयिता) विनाशक होता है। गवेषणः=ज्ञान की वाणियों की कामनावाला सः=वह सेनानी धृष्णुः=शत्रुओं का धर्षक होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें, वेदवाणी का अध्ययन करें। ये हमें 'शक्तिशाली-नरहितकारी-स्वामी-शत्रुविनाशक व ज्ञान की वाणियों की कामनावाला' बनायेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-परिचरण व ऋत में निवास

नू चित्स भ्रेषते जनो न रेषन्मनो यो अस्य घोरमाविवासात्।
यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत्स राय ऋतपा ऋतेजाः॥ ६॥

(१) यः=जो अस्य=इस प्रभु के घोरं मनः=शत्रुओं के लिये भयंकर मन को आविवासात्=पूजित करता है सः=वह नू चित्=न तो भ्रेषते=मार्गभ्रष्ट होता है न रेषत्=न हिंसित होता है। प्रभु से हमें ऐसे ही मन की याचना करनी चाहिये जो काम-क्रोध आदि शत्रुओं के लिये भयङ्कर हो। जिस मन में प्रभु का वास होता है, वह इन शत्रुओं के लिये भयङ्कर हो ही जाता है। (२) यज्ञैः=यज्ञों के द्वारा यः=जो इन्द्रे=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में दुवांसि=परिचर्या को दधते=धारण करता है, सः=वही क्षयत्=उत्तम निवासवाला होता है। (सः) राये=वह ऐश्वर्य के लिये होता है। ऋतपाः=जीवन में ऋत का पालन करता है और ऋतेजाः=इन ऋतों में, यज्ञों में प्रादुर्भूत शक्तियोंवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु से हम शत्रु भयंकर मन की ही याचना करें। न तो हम मार्गभ्रष्ट होंगे, न हिंसित। यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करने पर हम ऐश्वर्य में निवास करते हुए जीवन में ऋत का रक्षण कर पायेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान+सरलता+त्याग

यदिन्द्र पूर्वो अपराय शिक्षन्नयज्ज्यायान्कनीयसो देष्णम्।
अमृत इत्पर्यासीत दूरमा चित्र चित्र्यं भरा रयिं नः॥ ७॥

(१) हे इन्द्र=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! यत्=जिस चित्र्यं रयिम्=अद्भुत ज्ञानधन को पूर्वः=बड़ा अपराय=छोटे के लिये शिक्षन्=देने की कामनावाला होता है। ब्रह्मचर्यकाल में बड़ी उमरवाले आचार्य छोटी उमरवाले विद्यार्थियों के लिये जिस ज्ञान-धन को प्राप्त कराते हैं। हे चित्र=चायनीय-पूजनीय प्रभो! उस ज्ञान-धन को नः आभर=हमारे लिये भी समन्तात् प्राप्त कराइये। (२) गृहस्थ में ज्यायान्=बड़ा कनीयसः=छोटे सन्तानों से देष्णम्=निर्दोषता आदि के दान को अयत्=प्राप्त होता है। बच्चों के निर्दोष छल-छिद्रशून्य स्वाभाविक जीवन को देखकर बड़ी उमरवाले माता-पिता को भी सरलता के सौन्दर्य को अपनाने की प्रेरणा होती है। इस सरलता के धन को प्रभु हमारे लिये भी दें। (३) अब वनस्थ अवस्था में अमृतः इत्=निश्चय से विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाला होता हुआ ही दूरम्=घर से दूर पर्यासीत=स्थित होता है। हे प्रभो! इस त्यागरूप धन

को भी हमारे लिये प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हमें प्रथमाश्रम में आचार्यों द्वारा ज्ञानधन प्राप्त हो। द्वितीयाश्रम में हम बालकों से सरलता व निष्कपटता का पाठ पढ़ें, तृतीय आश्रम में त्यागवृत्ति को अपनानेवाले हों। प्रभु हमारे लिये 'ज्ञान, सरलता व त्याग' के अद्भुत धनों को प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का प्रिय कौन?

यस्त इन्द्र प्रियो जनो ददाशदसन्निरेके अद्रिवः सखा ते।
वयं ते अस्यां सुमतौ चनिष्ठाः स्याम वरूथे अघ्नतो नृपीतौ ॥ ८ ॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपका **प्रियः जनः**=प्रिय मनुष्य होता है वह **ददाशत्**=खूब ही दान की वृत्तिवाला होता है। यह **निरेके**=सदा शंकाशून्य स्थिति में, निर्भय स्थिति में असत् होता है। **ते सखा**=आपका यह मित्र होता है। (२) हे प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपकी **अस्यां सुमतौ**=इस कल्याणी मति में **चनिष्ठाः स्याम**=सदा उत्तम सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाले हों तथा **अघ्नतः**=हिंसा को न करते हुए हम **नृपीतौ**=मनुष्यों का रक्षण करनेवाले **वरूथे**=गृह में **स्याम**=हों, निवास करें। हमारे घर ऐसे हों जो मनुष्यों का रक्षण करनेवाले हों। इन घरों के अन्दर अग्निहोत्र आदि यज्ञों के होने से नीरोगता का निवास हो।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वह है (क) जो दान देता है, (ख) निर्भय है, (ग) प्रभु का मित्र है। प्रभु से कल्याणी मति को प्राप्त करके हम सात्त्विक अन्न का सेवन करें, नीरोग घरों में निवासवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तवन से 'शक्ति व धन' की प्राप्ति

एष स्तोमो अचिक्रदद् वृषा त उत स्तामुर्मघवन्नक्रपिष्ट।
रायस्कामो जरितारं त आगन्त्वमङ्ग शक्र वस्व आ शको नः ॥ ९ ॥

(१) **एषः**=यह **ते**=आपका **स्तोमः**=स्तुति समूह **अचिक्रदद्**=ऊँचे से उच्चारित होता है। **वृषा**=यह स्तोम सब सुखों का वर्षण करनेवाला है, **उत**=और हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! यह **स्तामुः**=स्तोता **अक्रपिष्ट**=खूब सामर्थ्यवान् होता है, आपके बल से यह बलवान् बनता है। (२) हे प्रभो! **ते जरितारम्**=तेरे स्तोता को **रायस्कायः**=धन की अभिलाषा **आगन्**=प्राप्त हुई है। सो हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **अंग**=शीघ्र ही **नः**=हमारे लिये **वस्वः**=धन को **आशकः**=(धेहि) धारण करिये।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोम का उच्चारण करते हैं, प्रभु हमें शक्तिशाली बनाते हैं। स्तोता को धन की कामना होती है, तो प्रभु उसे शीघ्र ही धन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु प्रेरणा व यज्ञशील पुरुषों का संग

स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति।
वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **त्वयतायै**=आप से दी जानेवाली

इषे=प्रेरणा के लिये **धाः**=धारण करिये। **च**=और **ये**=जो **मघवानः**=यज्ञशील लोग (मघ=मख) **त्मना**=स्वयमेव **जुनन्ति**=आपकी ओर गतिशील होते हैं उनके लिये हमें धारण करिये। अर्थात् हम आपकी ओर गतिवाले इन यज्ञशील लोगों के सम्पर्क में हों। (२) हे प्रभो! **ते शक्तिः**=आप से दी गयी शक्ति-सामर्थ्य **जरित्रे**=स्तोता के लिये **सु**=सम्यक् **वस्वी**=उत्तम निवास को देनेवाली **अस्तु**=हो। **यूयम्**=आप **नः**=हमें **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **सदा पात**=सदा रक्षित करिये। आप से रक्षित हुए-हुए हम सदा कल्याण के मार्ग का ही आक्रमण करें।

भावार्थ-हमें प्रभु प्रेरणा प्राप्त हो, यज्ञशील प्रभु प्रिय लोगों का सम्पर्क प्राप्त हो। प्रभु की शक्ति हमारे निवास को उत्तम बनाये और प्रभु सदा शुभ मार्गों पर चलाते हुए हमें सुरक्षित करें।

अगले सूक्त के भी ऋषि देवता 'वसिष्ठ व इन्द्र' ही हैं-

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

सोम-रक्षण व स्तोम-उच्चारण

असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच।
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञैर्बोधा नः स्तोममन्धसो मदेषु॥१॥

(१) **देवम्**=दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाला, **गोऋजीकम्**=ज्ञान की वाणियों को सरलता से प्राप्त करानेवाला (गो+ऋज्) **अन्धः**=यह सोम (वीर्य शक्ति) **असावि**=उत्पन्न किया गया है। **अस्मिन्**=इस सोम में **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष ही **ईम**=निश्चय से **जनुषा**=जन्म से ही **नि उवोच**=निश्चय से समवेत होता है (उच समवाये)। जितेन्द्रिय ही सोम का रक्षण कर पाता है, रक्षित सोम जीवन को प्रकाशमय बनाता है और ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराता है। (२) हे **हर्यश्व**=कमनीय इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा **त्वा**=आपको **बोधामसि**=अपने अन्दर उद्बुद्ध करते हैं। **अन्धसः**=इस सोमरक्षण से जनित **मदेषु**=उल्लासों में **नः**=हमारे **स्तोमम्**=स्तुति समूह को **बोध**=आप जानिये, अर्थात् सोम-रक्षण से उल्लसित जीवनवाले बनकर हम आपका स्तवन करनेवाले बनें।

भावार्थ-जितेन्द्रिय बनकर हम सोम का रक्षण करें। यह सोम हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनाता है तथा ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराता है। अब यज्ञों के द्वारा हम प्रभु को अपने में उद्बुद्ध करें तथा सोमरक्षण से उल्लसित जीवन में प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

'यज्ञशील-पवित्र हृदय-उत्कृष्ट ज्ञानी'

प्र यन्ति यज्ञं विपयन्ति बर्हिः सोममादो विदथे दुध्रवाचः।
न्यु भ्रियन्ते यशसो गृभादा दूरउपब्दो वृषणो नृषाचः॥२॥

(१) **सोममादः**=सोमरक्षण से उल्लास को प्राप्त होनेवाले ये व्यक्ति **यज्ञं प्रयन्ति**=यज्ञ को प्राप्त होते हैं, यज्ञमय जीवनवाले होते हैं। **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयान्तरिक्ष को **विपयन्ति**=विस्तीर्ण करते हैं (विपिः स्तरण कर्मा सा०)। **विदथे**=ज्ञान-यज्ञों में ये व्यक्ति **दुध्रवाचः**=दुर्धारवाणीवाले होते हैं, इनकी युक्तियुक्त बातों का किसी के लिये भी खण्डन करना कठिन होता है। सोमरक्षण इन्हें 'यज्ञशील-पवित्र हृदय व उत्कृष्ट ज्ञानी' बनाता है। (२) **यशसः**=यश के **गृभात्**=ग्रहण से ये **उ**=निश्चयपूर्वक **आ**=समन्तात् **नि भ्रियन्ते**=नीचे धारण किये जाते हैं, अर्थात् अधिक और

अधिक नम्र हो जाते हैं। जितना यश–उतने नम्र। **दूरे उपब्दः**=(दूरे उपब्दिः येषां ते)=दूर–दूर जिनका–जिनका यश का शब्द फैला हुआ है, ऐसे ये सोमरक्षक पुरुष **वृषणः**=शक्तिशाली होते हैं और **नृषाचः**=मनुष्यों के साथ समवेत होकर चलनेवाले होते हैं। सबके साथ मिलते हैं, उनके दुःखों में सहानुतिवाले होते हुए उनके दुःखों को दूर करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ–सोमरक्षण से मनुष्य 'यज्ञशील–पवित्र हृदय व उत्कृष्ट ज्ञानी' बनता है। ये सोमरक्षक पुरुष यशस्वी व नम्र बनते हैं। सुदूर कीर्ति शब्दोंवाले, शक्तिशाली व मनुष्यों के दुःखों को दूर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

सोमरक्षण व सुन्दर जीवन

त्वमिन्द्र स्रवितवा अपस्कः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः।
त्वद्वावक्रे रथ्यो३ न धेना रेजन्ते विश्वा कृत्रिमाणि भीषा॥ ३॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं के शीर्ण करनेवाले **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वम्**=आप **अहिना**=आहनन करनेवाली वासना से **परिष्ठिताः**=चारों ओर से घिरे हुए **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले **अपः**=रेतःकणरूप जलों को **स्रवितवा**=शरीर में सर्वत्र गतिमय होने के लिये **कः**=करते हैं। वासना को विनष्ट करके (अहि=वृत्र=काम) आप रेतःकणों को शरीर में व्याप्त करते हैं। (२) **त्वद्**=आपसे ही **रथ्यः न**=शरीर–रथ के इन्द्रियाश्वों के समान **धेनाः**=ज्ञान की वाणियाँ **वावक्रे**=हमारे अन्दर खूब ही गतिवाली होती हैं, अर्थात् आप हमें इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं तथा वेदवाणियों का ज्ञान देते हैं। इस प्रकार हृदयस्थ आपके **भीषा**=भय से **विश्वा**=सब **कृत्रिमाणि**=कृत्रिम बातें **रेजन्ते**=कम्पित हो उठती हैं, मनुष्य इन कृत्रिम बातों से ऊपर उठकर स्वाभाविक सुन्दर जीवनवाला बनता है।

भावार्थ–प्रभु वासना को विनष्ट करके सोम को शरीर में व्याप्त करते हैं। हमारे लिये उत्तम इन्द्रियाश्वों व ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराते हैं। सब कृत्रिम दोषों को दूर करके हमारे जीवन को सुन्दर बनाते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

आसुरभावों का संहार

भीमो विवेषायुधेभिरेषामपांसि विश्वा नर्याणि विद्वान्।
इन्द्रः पुरो जर्हृषाणो वि दूधोद्वि वज्रहस्तो महिना जघान॥ ४॥

(१) वह प्रभु **एषाम्**=इन उपासकों के शत्रुओं के लिये **भीमः**=भयंकर होते हुए **आयुधेभिः**=अस्त्रों से **विवेष**=इन्हें व्याप्त करते हैं, अर्थात् इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों के द्वारा काम–क्रोध व लोभरूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। **विश्वा**=सब **नर्याणि**=नरहितकारी **अपांसि**=कर्मों को **विद्वान्**=वे प्रभु जानते हैं, उपासकों के लिये इन कर्मों का ज्ञान देते हैं। (२) **जर्हृषाणः**=इन उपासकों से प्रसन्न होते हुए **इन्द्रः**=वे शत्रुविद्रावक प्रभु **पुरः**=काम–क्रोध–लोभ की नगरियों को **विदूधोत**=कम्पित कर देते हैं। और **वज्रहस्तः**=वज्र को हाथ में लिये हुए वे प्रभु **महिना**=अपनी महिमा से **विजघान**=इन असुरों का संहार कर देते हैं। प्रभु ही आसुरभावों को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ–प्रभु उपासकों के शत्रुओं के लिये भयंकर होते हुए अस्त्रों से उन्हें व्याप्त करते हैं। नरहितकारी कर्मों का ज्ञान देते हैं। वे प्रभु उपासक से प्रसन्न होते हुए आसुरपुरियों को कम्पित

कर देते हैं और वज्रहस्त होकर इन असुरों का संहार करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋत से दूर रहनेवाले 'शिश्नदेव'

न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यातवः**=पीड़ा का आधान करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' रूप राक्षसीभाव **नः**=हमें **न जूजुवुः**=हिंसित न करें। हे **शविष्ठ**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **वन्दना**=(वन्दनानि) प्रभु के प्रति वन्दन व स्तवन **वेद्याभिः**=ज्ञान की क्रियाओं से **न** (जूजुवुः)=हमें पृथक् न करें। हम वन्धनों में ही न रह जायें, ज्ञान को भी अवश्य प्राप्त करें। (२) **सः**=वह **अर्यः**=स्वामी प्रभु **विषुणस्य** (विष् व्याप्तौ)=कर्त्तव्य कर्मों में व्याप्त **जन्तोः**=प्राणी को **शर्धत्**=उत्साहित करनेवाले हों। **शिश्नदेवाः** (शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्ति)=अब्रह्मचर्य लोग-असंयमी पुरुष **नः**=हमारे **ऋतम्**=यज्ञों को **मा अपिगुः**=मत प्राप्त हों। संयमी पुरुष ही यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हमें राक्षसीभाव हिंसित न करें। हम स्तवन में प्रवृत्त हुए-हुए ज्ञान को उपेक्षित न कर दें। प्रभु कर्तव्य कर्मों में (व्याप्त) लग्नशील मनुष्य को ही उत्साहित करते हैं। असंयमी पुरुष यज्ञों में प्रवृत्त नहीं होते।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भूरध महिमानं युधा

अभि क्रत्वेन्द्र भूरध ज्मन्न ते विव्यङ्महिमानं रजांसि।
स्वेना हि वृत्रं शवसा जघन्थ न शत्रुरन्तं विविदद्युधा ते॥ ६॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=राजन्! **अध**=और तू **क्रत्वा**=उत्तम कर्म से **ज्मन्**=पृथिवी पर **रजांसि**=राजस भावों को **अभि भूः**=पराजित कर। रजांसि=वे लोग **ते**=तेरे **महिमानं**=सामर्थ्य को **न विव्यङ्**=न प्राप्त कर सकें। तू **स्वेन शवसा हि**=अपने ही बल से **वृत्रं**=विघ्नकारी शत्रु को **जघन्थ**=विनष्ट कर। **शत्रुः**=तेरा नाशक, **ते अन्तं**=तेरा अन्त **युधा**=युद्ध द्वारा **न विविदत्**=न पा सके।

भावार्थ—इन्द्र परमात्मा हम जीवों के अभिभव करके अपनी महिमा को बढ़ाकर जीवों के काम-क्रोध आदि शत्रुओं का वध करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

देवाश्चित्ते क्षत्राय ममिरे

देवाश्चित्ते असुर्याय पूर्वेऽनु क्षत्राय ममिरे सहांसि।
इन्द्रो मघानि दयते विषह्येन्द्रं वाजस्य जोहुवन्त सातौ॥ ७॥

पदार्थ—हे राजन्! **असुर्थाय क्षत्राय**=मेघ में उत्पन्न जल प्राप्त करने के लिये जैसे अन्नाभिलाषी जन यत्न करते हैं वैसे ही **पूर्वे देवाः**=वे पूर्व के, शिक्षित, विद्वान् **ते** असुर्थाय क्षत्राय=तेरे मेघ में उत्पन्न विद्युत् के बल को प्राप्त करने के लिये **सहांसि**=साहस और बलयुक्त कर्म **अनु ममिरे**=तेरी आज्ञा में करते हैं। वह **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् तू **विषह्य**=शत्रु को पराजित करके **मघानि दयते**=ऐश्वर्यों का दान करता है। प्रजाजन **वाजस्य सातौ**=ज्ञान और संग्राम में विजय लाभ हेतु **इन्द्रं**=ऐश्वर्यवान्

पुरुष को **जोहुवन्त**=बुलाते हैं।

भावार्थ—परमैश्वर्यशालिन् इन्द्र हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं और अज्ञान को नष्ट करके अपने भक्तों को सात्त्विक अन्न और श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कीरिः ईशान वरूता

कीरिश्चिद्धि त्वामवसे जुहावेशानमिन्द्र सौभगस्य भूरेः।
अवो बभूथ शतमूते अस्मे अभिक्षत्तुस्त्वावतो वरूता॥ ८॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=स्वामिन्! **कीरिः**=क्रियाकुशल पुरुष **चित्**=भी **अवसे**=स्व रक्षा हेतु **भूरेः**=बड़े **सौभगस्य**=ऐश्वर्य के **ईशानं**=स्वामी **त्वाम्**=तुझको **जुहाव**=पुकारता है। हे **शतम्-ऊते**=सैकड़ों रक्षा साधनों से सम्पन्न! तू **अस्मे**=हमारा **अवः बभूथ**=रक्षक हो। **त्वावतः**=तेरे जैसे **अभिक्षत्तुः**=सन्मुख आये शत्रुनाशक वीर को **वरूता**=स्वीकार करने और उसको युद्ध में पराजित कर भगानेवाला भी, तू ही **बभूथ**=हो।

भावार्थ—शत्रुओं का धर्षक इन्द्र अपने भक्तों के धन की रक्षा करता है और उसके शत्रुओं का निवारण करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हम इन्द्र के सखा हो जाएँ

सखायस्त इन्द्र विश्वह स्याम नमोवृधासो महिना तरुत्र।
वन्वन्तु स्मा तेऽवसा समीकेऽभीतिमर्यो वनुषां शवांसि॥ ९॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! हे **तरुत्र**=शत्रु नाशक! **ते**=तेरे हम लोग **विश्वह**=सदा **सखायः**=मित्र और **महिना**=तेरे सामर्थ्य से **नमः-वृधासः**=अन्न और शस्त्र से बढ़नेहारे **स्याम**=हों। **समीके**=रण में **ते**=तेरे **शवसा**=रक्षण-सामर्थ्य से ही प्रजास्थ पुरुष **अभीतिम् वन्वन्तु**=अभय पायें और **वनुषां शवांसि**=हिंसक शत्रु बलों के प्रति (अभि-हितम् वन्वन्तु)=प्रयाण करें। तू उनका **अर्यः**=स्वामी होकर रक्षा कर।

भावार्थ—हम स्तुति द्वारा इन्द्र के सखा हो जावें और परमैश्वर्यशाली परमात्मा अनार्यों के बल को नष्ट कर आर्यों की रक्षा करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रजा को अभय प्राप्त हो

स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति।
वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ १०॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **नः**=हममें से **ये**=जो **त्मना**=स्वसामर्थ्य से **मघवानः**=धनी होकर **जुनन्ति**=तुझे प्राप्त होते हैं, उनको तू **त्वयताया**=तेरे से सुप्रबुद्ध **इषे**=प्रेरणा के लिये **धाः**=धारण कर। **जरित्रे**=विद्वान् के लिये **ते**=तेरी **वस्वी**=ऐश्वर्ययुक्त **शक्तिः**=दान शक्ति **सु-अस्तु**=खूब हो। **यूयम्**=तुम लोग हे विद्वानो! **नः सदा**=हमें सदा **स्वस्तिभिः पात**=कल्याणकारी उपायों से पालन करो।

भावार्थ—परमात्मा यज्ञशील मनुष्य को सात्त्विक अन्न प्रदान कर उन्हें शक्ति प्रदान कर

यज्ञप्रेमी बनाकर स्वस्ति द्वारा पालन करता है।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ और देवता इन्द्र है।

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

इन्द्र का सोमपान और राष्ट्र पालन

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः। सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **हर्यश्व**=उत्तम सैन्य के स्वामिन्! **यं**=जिस **सोमम्**=अन्नवत् ऐश्वर्य को **ते**=तेरे लिये **अद्रिः**=मेघवत् शस्त्र बल **सुषाव**=उत्पन्न करता है तू उसको **सोमम्**=ओषधि-रस के समान **पिब**=उपभोग कर। वह **त्वा मन्दन्तु**=तुझे हर्षित करे और **सोतुः बाहुभ्यां सुयतः**=सञ्चालक सारथि के बाहुओं से नियन्त्रित **अर्वा न**=अश्व के समान, तू भी **सोतुः**=मार्ग में सञ्चालन करनेवाले पुरुष के **बाहुभ्यां**=कुमार्ग से रोकनेवाले ज्ञान और कर्मरूप बाहुओं से **सुयतः**=उत्तम रूप से नियन्त्रित होकर **सोमम् पिब**=इस राष्ट्ररूप ऐश्वर्य की रक्षा कर।

भावार्थ—ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके जो ब्रह्मचारी रहता है वही राष्ट्र की रक्षा कर सकता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वृत्र हनन और शत्रुनाश

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि। स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **हर्यश्व**=वेगयुक्त अश्वों के स्वामिन्! **यः**=जो **ते**=तेरा **युज्यः**=सहयोग देने योग्य, **चारुः**=उत्तम **मदः**=हर्ष **अस्ति**=है और **येन**=जिससे तू **वृत्राणि**=मेघों को सूर्यवत्, शत्रुओं का **हंसि**=विनाश करता है, हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! हे **प्रभूवसो**=प्रचुर ऐश्वर्य के स्वामिन्! **सः**=वह **त्वा**=तुझको **ममत्तु**=अति हर्षयुक्त बनावे।

भावार्थ—अज्ञान को नष्ट करके ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके हर्षयुक्त रहना चाहिये।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अन्न उत्पत्ति, ब्रह्मज्ञान और धन प्राप्ति

बोधा सु मे मघवन्वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम्। इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन्! **याम्**=जिस **प्रशस्तिम्**=प्रशंसित **ते**=तेरी **वाचम्**=वाणी का **वसिष्ठः**=उत्तम विद्वान् **सु अर्चति**=आदर कर रहा है तू **इमाम्**=उसको **सु बोध**=अच्छी प्रकार जान। **इमा ब्रह्म**=तू इन ज्ञानों को **सध मादे**=हर्ष के साथ मिलकर **जुषस्व**=सेवन कर।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके अन्न की उत्पत्ति करके राष्ट्र को समृद्ध करना चाहिये।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मेघ के जलपानवत् ज्ञानार्जन

श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेर्बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम्। कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे परमात्मन्! हम **वि-पिपानस्य**=विविध प्रकार के रसों के पालन करनेवाले **अद्रेः**=मेघ तुल्य नाना विद्याओं के रसों का पान करनेवाले आदर योग्य **विप्रस्य**=मेधावी **अर्चतः**=पूज्य विद्वान् के **हवम्**=उपदेश और **मनीषाम्**=बुद्धि का **बोध**=ज्ञान प्राप्त करें और **इमा**=

इन **सचेमा दुवांसि**=नाना सेवाओं को **अन्तमा कृष्व**=आत्मसात् करें।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण करके मैं परमात्मा की स्तुति करता हूँ। हे प्रभु! आप मेरी बुद्धि वृद्धि में सहायक बनो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परमात्मा की वाणी की अवहेलना न करना

न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्। सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे राजन्! **विद्वान्**=मैं विद्वान् होकर **ते गिरः**=तेरी वाणियों को **न अपि मृष्ये**=न त्यागूँ। **तुरस्य**=अति शीघ्र कार्यकर्त्ता और शत्रु-हिंसक **असुर्यस्य**=बलवानों में श्रेष्ठ तेरी **सुस्तुतिम्**=उत्तम स्तुति को भी (न अपि मृष्ये)=न छोड़ूँ। मैं **ते नाम**=तेरे नाम, या सामर्थ्य को ही **स्व-यशः**=अपनी कीर्त्ति या बल **विवक्मि**=कहूँ।

भावार्थ—परमात्मा की आज्ञा वेदवाणी का सदैव पालन करना चाहिए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परमात्मा मनीषी विद्वान् की पुकार सुनता है

भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित्। मारे अस्मन्मघवञ्ज्योक्कः ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे **मघवन्**=ऐश्वर्ययुक्त! **ते**=तेरे **भूरि हि सवना**=अनेक ऐश्वर्य **मानुषेषु**=मनुष्यों में हैं। **मनीषी**=बुद्धिमान् व्यक्ति **त्वाम् इत् हवते**=तेरी ही स्तुति करता है। तू **अस्मत्**=हमसे **ज्योक् मा कः**=अपने को दूर मत कर।

भावार्थ—मनीषी स्तोता ही तुम्हारा आह्वान करता है। हे परमात्मा आप हमसे दूर न हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परमात्मा मनुष्यों के द्वारा स्तुति करने योग्य है

तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि। त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे **शूर**=वीर! **इमा सवना तुभ्यं इत्**=ये समस्त ऐश्वर्य तेरे ही अधिकार में हों। **तुभ्यं वर्धना**=तुझे बढ़ानेवाले **विश्वा ब्रह्माणि**=समस्त अन्न और वेद-वचन **कृणोमि**=मैं करता हूँ। हे प्रभो! **त्वं**=तू **नृभिः**=मनुष्यों से **हव्यः**=स्तुति करने योग्य, और **विश्वधा असि**=विश्व का धारक है।

भावार्थ—हे परमात्मा मैं तेरी ही स्तुति करता हूँ। तेरे अतिरिक्त कोई स्तुति के योग्य नहीं है। क्योंकि तू ही विश्व का धारक है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परमात्मा का सामर्थ्य सबसे अधिक बढ़कर

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र। न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे **दस्म**=दर्शनीय! हे **उग्र**=प्रचण्ड राजन्! **मन्यमानस्य**=मानने योग्य **ते**=तेरे **महिमानम्**=सामर्थ्य को **नू चित् नु**=अवश्य सज्जन लोग **उद् अश्नुवन्ति**=प्राप्त करें। परन्तु शत्रु **ते महिमानम् न**=तेरे सामर्थ्य को **उद् अश्नुवन्तु**=न पा सकें, **न ते वीर्यम्**=न तेरे बल और **न ते राधः**=न तेरे ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

भावार्थ—हे प्रभो! तेरे सामर्थ्य को, तेरे बल व ऐश्वर्य को कोई प्राप्त नहीं कर सकता है।

क्योंकि तुझसे अधिक बलवान् और ऐश्वर्यवान् कोई नहीं है।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवतः** ॥

पुराने और नए ऋषि वेदार्थ का प्रकाश करें

ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः।
अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ९॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन् आचार्य! **ये च ऋषयः**=जो सत्य-ज्ञानों के द्रष्टा, **पूर्वे**=पूर्व काल के गुरुजन और **ये च नूत्नाः**=जो नये शिष्य, नवशिक्षित **विप्राः**=विद्वान् पुरुष हैं वे **ब्रह्माणि जनयन्त**=वेद-मन्त्रों के अर्थों का प्रकाश करें। हे विद्वन्! तेरी **सख्यानि**=मित्रता के कार्य **अस्मे**=हमारे लिये **शिवानि**=कल्याणकारक हों। **यूयम्**=आप लोग, हे विद्वन् ऋषिजनो! **नः**=हमारी **सदा**=सदा **स्वस्तिभि**=उत्तम साधनों से **पात**=रक्षा करो।

भावार्थ—प्राचीन विद्वान् तेरी वाणी वेद के अर्थ का प्रकाश करते रहे हैं। नए विद्वान् भी वेदार्थ का प्रकाश करें कि जिससे जगत् का कल्याण होवे।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ इन्द्र नाम से परमात्मा की स्तुति करता है।

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्द:—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वर:—**पञ्चमः** ॥

विद्वान् वेदवाणी का उत्तम उपदेश करे

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि॥ १॥

पदार्थ—हे **वसिष्ठ**=प्रजा को बसाने हारे वशी! विद्वन्! तू **श्रवस्या**=यश की कामना से **ब्रह्माणि**=ऐश्वर्यों को लक्ष्य कर **उद् ऐरत उ**=उत्तम रीति से उपदेश कर। तू **समर्ये**=संग्राम में वा सभा आदि में **इन्द्रम्**=ऐश्वर्यवान्, वीर पुरुष का **महय**=आदर कर। **यः**=जो तू **उप-श्रोता**=प्रजाओं के कष्टों को सुननेवाला **शवसा**=बलपूर्वक **ईवतः**=समीप आनेवाले **मे**=मेरे उपकारार्थ **विश्वानि वचांसि**=समस्त उत्तम आज्ञाएँ **आ ततान**=देता है।

भावार्थ—विद्वान् अपने शिष्यों को ज्ञानपूर्वक वेदवाणी उपदेश करे जिससे शिष्य भी ईश्वरीय ज्ञान को जाने।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवतः** ॥

वेदवाणी के प्रवक्ता पुरुष शत्रुओं को रोकने में समर्थ होते हैं

अयामि घोष इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान्॥ २॥

पदार्थ—जैसे **देवजामिः घोषः**=जलदाता मेघ की गर्जना होती है और **विवाचि**=विविध मध्यमा वाक् विद्युत् के गर्जते हुए **शुरुधः**=शीघ्र आनेवाली ओषधियाँ बढ़ती हैं, वैसे हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **यत्**=जब **देव-जामिः**=विजयेच्छु पुरुषों में रहनेवाला **घोषः**=घोष उठता है उस समय **विवाचि**=विशेष वाणी के प्रवक्ता पुरुष के अधीन **शुरुधः**=शत्रुओं को रोकने में समर्थ वीर **इरज्यन्त**=आगे बढ़ते हैं। **जनेषु**=मनुष्यों में कोई भी **स्वम् आयुः**=अपना जीवन सुरक्षित **नहि चिकिते**=नहीं जानता है, तब, हे राजन्! तू ही **तानि इत् अंहांसि**=उन पापाचारों से **अस्मान्**

अतिपर्षि=हमें पार करता है।

भावार्थ–वेदज्ञ पुरुष राष्ट्र में वेदवाणी का उपदेश करके राष्ट्र के नायक एवं नागरिकों को शत्रुओं से युद्ध करने में समर्थ बनावें जिससे शत्रु का पराभव होवे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

वैदिक विद्वान् पुरुषों से राष्ट्र ऐश्वर्यवान् बनता है

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान्॥ ३ ॥

पदार्थ–**हरिभ्यां रथं**=जैसे दो अश्वों से रथ को जोड़ा जाता है वैसे मैं **हरिभ्याम्**=दो विद्वान् पुरुषों से **रथम्**=राष्ट्र को **युजे**=युक्त करूँ। समस्त प्रजा वर्ग **ब्रह्माणि जुजुषाणम्**=धनों को प्राप्त करनेवाले पुरुष का **उप अस्थुः**=आश्रय लेते हैं। वह **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् पुरुष ही **महित्वा**=सामर्थ्य से **रोदसी**=शत्रु को रुलानेवाली उभय पक्ष की सेनाओं को **वि बाधिष्ट**=विविध प्रकार से वश में करे और वह शत्रु **अप्रति**=हताश होकर **वृत्राणि जघन्वान्**=राष्ट्र विघातक तत्त्वों का नाश करे।

भावार्थ–वेदज्ञ विद्वान् वेदोपदेश द्वारा कृषि एवं शिल्प विद्या का ज्ञान देकर राष्ट्र को ऐश्वर्य सम्पन्न बनावें।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

वायु के समान शत्रु को उखाड़ फैंको

आपश्चित्पिप्युः स्तर्यो३ न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान्॥ ४ ॥

पदार्थ–**स्तर्यः गावः न**=जैसे गौएँ गृहस्थ को **पिप्युः**=बढ़ाती हैं **आपः चित्**=और जैसे रक्तधाराएँ शरीर की वृद्धि करती हैं, वैसे ही **आपः**=विद्वान् और प्रजाएँ **स्तर्यः**=शत्रुहिंसक और देश की रक्षक सेनाएँ तथा **गावः**=गौएँ भी देश को **पिप्युः**=समृद्ध करती हैं। हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **जरितारः**=विद्वान् उपदेष्टा और शत्रुओं की जीवन-हानि करनेवाले वीर **ते ऋतं रक्षन्**=तेरे सत्य, न्याय को प्राप्त करें। **त्वं**=तू **नः**=हमारे **नियुतः**=लक्षों प्रजाजनों तथा अश्व-सैन्यों को भी **वायुः**=प्राणवत् प्रिय, वा वायु तुल्य बल से शत्रु को उखाड़ने में समर्थ होकर **अच्छ याहि**=प्राप्त हो और **धीभिः**=अपने कर्मों और सम्मतियों से **वाजान्**=ऐश्वर्यों को **वि दयसे**=विविध प्रकार से दे और **वाजान् वि दयसे**=वेगवान् अश्वों को पालन कर और ज्ञानवान् पुरुषों पर **वि दयसे**=विशेष कृपा कर।

भावार्थ–जैसे तेज हवा बड़े-बड़े वृक्षों को धराशायी कर देती है उसी प्रकार वेदज्ञ विद्वान् द्वारा प्रशिक्षित सेना शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ होती है।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

शूरवीर प्रजा की रक्षा करता है

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व॥ ५ ॥

पदार्थ–**हि**=जिससे, हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले वीर! तू **देवत्रा**=विद्वानों के बीच,

उनका त्राता होकर **एकः**=अद्वितीय **मर्तान् दयसे**=मनुष्यों को जीवन देता है, अतः **जरित्रे**=विद्वान् के लिये **तुवि-राधसं**=बहुत धन देनेवाले **शुष्मिणं**=बलशाली, **त्वा**=तुझको, हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **ते**=तेरे लिये **मदाः**=तृप्तिकारक पदार्थ **मादयन्तु**=हर्षित करें। और **अस्मिन्**=इस **सवने**=संग्राम में **मर्तान्**=प्रजा को **मादयस्व**=प्रसन्न कर।

भावार्थ–सुभट योद्धा विद्वानों का त्राता होकर अद्वितीय राष्ट्र की प्रजा की रक्षा करता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

राष्ट्र के वासी शत्रुओं पर आक्रमण करें

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदार्थ–**वसिष्ठासः**=राष्ट्रवासी जन **एव**=निश्चय से **वृषणं**=शत्रु पर शरों की वर्षा करनेवाले **वज्र-बाहुम्**=शस्त्रास्त्र बल को बाहुओं में रखनेवाले, **इन्द्रं**=शत्रुनाशक पुरुष को **अर्कैः**=अर्चना-योग्य उपायों से **अभि-अर्चन्ति**=सत्कार करते हैं। **सः स्तुतः**=वह प्रशंसित शासक **नः**=हमारे **वीरवत्**=वीरों से युक्त सैन्य और **गोमत्**=भूमि-युक्त राष्ट्र की **पातु**=रक्षा करे। हे वीरो **नः**=हमारा **सदा**=सदा **स्वस्तिभिः**=उत्तम उपायों से **पात**=पालन करो।

भावार्थ–राष्ट्र में बसे उत्तम प्रजा जब बलवान् मेघ या सूर्य के समान शत्रु पर बाण वर्षा करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता इन्द्र परमात्मा है।

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

रक्षक परमात्मा ऐश्वर्य प्रदाता

योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि।
असो यथा नोऽविता वृधे च ददो वसूनि ममदश्च सोमैः ॥ १ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **सदने**=सभा में **ते**=तेरा **योनिः**=गृहवत् स्थान **अकारि**=बने। हे **पुरुहूत**=बहुतों से प्रशंसित! तू **तम्**=उस मुख्य स्थान को **नृभिः**=नायकों सहित **आ याहि**=प्राप्त कर और **प्र याहि**=प्रयाण कर। **यथा**=जैसे तू **नः**=हमारा **अविता**=रक्षक **असः**=हो। **नः वृधे च**=और हमारी वृद्धि के लिये तू **वसूनि आ ददः**=ऐश्वर्य दे और ग्रहण कर। तू **सोमैः च**=सौम्य पुरुषों, ऐश्वर्यों से **ममदः**=तृप्त हो।

भावार्थ–सर्वरक्षक परमेश्वर हमारी वृद्धि के लिए नाना ऐश्वर्य प्रदान कर सौम्य पुरुषों और विभिन्न औषधि रसों से हर्ष प्राप्त कराता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

मनुष्य यज्ञशील बनें

गृभीतं ते मन इन्द्र द्विबर्हाः सुतः सोमः परिषिक्ता मधूनि।
विसृष्टधेना भरते सुवृक्तिरियमिन्द्रं जोहुवती मनीषा ॥ २ ॥

पदार्थ–**इयम्**=यह **सु-वृक्तिः**=सद्व्यवहारवाली **मनीषा**=मनोहारिणी **विसृष्ट-धेना**=उत्तम भूमि **इन्द्रं**=ऐश्वर्य-युक्त वर्षा जल को **जोहुवती**=प्राप्त करती हुई **परि-सिक्ता**=गर्भाशय में निषिक्त

मधूनि=मधुर जल को **भरते**=धारण करे। हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यदातः! **ते मनः गृभीतं**=तेरा मन उस भूमि द्वारा ग्रहण किया जाय। उससे **सुतः**=उत्पन्न **सोमः**=सोम ओषधियाँ **द्वि-बर्हाः**=राष्ट्र को राष्ट्रीय प्रजा दोनों का वृद्धि को प्राप्त और दोनों को सम्पन्न करें।

भावार्थ–राष्ट्र के निवासी भूमि को मेहनत से उपजाऊ बनाकर नाना औषधियाँ एवं वनस्पतियों को उगाकर राष्ट्र को समृद्ध करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा विजयकामी हो

आ नो॑ दि॒व आ पृ॑थि॒व्या ऋ॑जीषिन्नि॒दं ब॒र्हिः सो॑म॒पेया॑य याहि।
वह॑न्तु त्वा॒ हर॑यो म॒द्र्य॑ञ्चमाङ्गू॒षमच्छा॑ त॒वसं॒ मदा॑य ॥ ३ ॥

पदार्थ–हे **ऋजीषिन्**=सरल मार्ग में प्रजा को चलाने हारे! तू **सम-पेयाय**=प्रजा–पालन और ऐश्वर्यों के भोग के लिये **दिवः पृथिव्याः**=उत्तम व्यवहार और भूमि के लिये **नः**=हमारी **इदं बर्हिः**=इस बढ़ती प्रजा को **आ याहि**=प्राप्त हो। **हरयः**=प्रजास्थ पुरुष **तवसं**=बलवान् **मद्र्यञ्चम्**=मेरे प्रति आनेवाले **त्वा**=तुझको **मदाय**=प्रसन्नता के लिये **आङ्गूषं अच्छ वहन्तु**=उत्तम स्तुति वचन प्रदान करें।

भावार्थ–राजा पुत्रवत् प्रजापालन करे और अपने उत्तम व्यवहार से विजयकामना करता हुआ राष्ट्र को उन्नत करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा शत्रुशोषक हो

आ नो॒ विश्वा॑भिरू॒तिभिः॑ स॒जोषा॒ ब्रह्म॑ जुषा॒णो ह॑र्यश्व याहि।
वरी॑वृज॒त्स्थवि॑रेभिः सुशिप्रा॒स्मे दध॑द् वृष॑णं॒ शुष्म॑मिन्द्र ॥ ४ ॥

पदार्थ–हे **हर्यश्व**=मनुष्यों में श्रेष्ठ! राज्य–रथ के सञ्चालक! तू **नः**=हमारे **ब्रह्म जुषाणः**=अन्न और ज्ञान को सेवन करता हुआ **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षा–साधनों से **नः**=हमें **आयाहि**=प्राप्त हो। हे **सु-शिप्र**=उत्तम मुकुटधारिन्! तू **स्थाविरेभिः**=विद्या और आयु में वृद्ध पुरुषों सहित विपत्तियों को **वरीवृजत्**=दूर कर। हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **अस्मे**=हमारे लिये **वृषणं**=बलवान् **शुष्मम्**=शत्रु–पोषक सैन्य को **दधत्**=धारण कर।

भावार्थ–राजा को वृद्ध पुरुषों के अनुभवों को प्राप्त कर दैवी व मानुषी विपत्तियों को दूर करके शत्रु का शोषण कर राष्ट्र को समृद्ध करना चाहिए।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सबको उत्तम व्यवहार करना चाहिए

ए॒ष स्तोमो॑ म॒ह उ॒ग्राय॒ वाहे॑ धु॒री॒३॒॑वात्यो॒ न वा॒जय॑न्नधायि।
इन्द्र॑ त्वा॒यम॒र्क ई॑ट्टे॒ वसू॑नां दि॒वी॑व॒ द्यामधि॑ नः॒ श्रोम॑तं धाः ॥ ५ ॥

पदार्थ–**वाहे धुरि अत्यः न**=रथ को उठानेवाले धुरा में जैसे अश्व लगाया जाता है वैसे ही **वाहे धुरि**=राष्ट्र को धारण के पद पर **महे उग्राय**=महान्, बलवान् पुरुष के लिये **एषः स्तोमः**=यह स्तुत्य व्यवहार **वाजयन् इव**=उसे ऐश्वर्य देता हुआ **अधायि**=नियत किया जाता है। **वसूनां मध्ये दिवि अर्कः**=पृथिव्यादि वसुओं के बीच, आकाश में सूर्य के समान, हे

इन्द्र=ऐश्वर्यवन्! **वसूनाम्**=प्रयोजनों, शासकों के बीच **अयम् अर्कः**=यह अर्चना-योग्य पद **त्वाम् ईट्टे**=तुझे ही ऐश्वर्य देता है। तू **नः**=हमें प्रकाशवत् **द्याम्**=उत्तम व्यवहार और **श्रोमतं**=श्रवण-योग्य यश **धाः**=धारण करा।

भावार्थ–राष्ट्र के निवासी परस्पर शिष्टाचार एवं उत्तम व्यवहार करें, जिससे राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढ़े।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

सम्पन्न पुरुष राष्ट्र का पालन करें

एवा न इन्द्र वार्यस्य पूर्धि प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम।
इषं पिन्व मघवद्भ्यः सुवीरां यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **नः**=हमें तू **वार्यस्य**=धनैश्वर्य से **पूर्धि**=पूर्ण कर। हम **ते**=तेरे **महीं**=पूज्य **सुमतिं**=ज्ञान को **वेविदाम**=प्राप्त करें। तू **मघवद्भ्यः**=धन-युक्तों को **सुवीराम्**=शुभ पुत्रों से युक्त **इषं**=अन्न **पिन्व**=दे। हे सम्पन्न पुरुषो! **यूयं**=आप **नः**=हमारी **स्वस्तिभिः**=उत्तम उपायों से **सदा पात**=सदा रक्षा करो।

भावार्थ–राष्ट्र के समृद्ध जनों को चाहिए वे राज्य को कर प्रदान कर राष्ट्र समृद्धि की परियोजनाओं में सहयोगी बनें, जिससे राष्ट्र के नागरिकों का भरण-पोषण सम्यक् होवे।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता इन्द्र ही है।

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

राष्ट्र रक्षार्थ अस्त्र-शस्त्र उद्योग लगावें

आ ते मह इन्द्रोत्युग्र समन्यवो यत्समरन्त सेनाः।
पताति दिद्युन्नर्यस्य बाह्वोर्मा ते मनो विष्वद्र्य१ग्वि चारीत् ॥ १ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! हे **अति उग्र**=प्रचण्ड! **यत्**=जब **महते**=तुझ महान् की **समन्यवः**=क्रोध-युक्त गर्व-पूर्ण **सेनाः**=सेनाएँ **ऊती**=देश-रक्षा के लिये **सम्-अरन्त**=आगे बढ़ें तब **नर्यस्य**=सब मनुष्यों में श्रेष्ठ **ते**=तेरे **बाह्वोः**=बाहुओं में **दिद्युत्**=चमकता शस्त्रास्त्र **पताति**=शत्रु पर पड़े और **ते मनः**=तेरा चित्त **विष्वद्र्यग् मा विचारीत्**=सब तरफ न जाय।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए बड़ी-बड़ी आयुध निर्माणी उद्योगशालायें लगावे, जिससे शत्रुजन भयभीत होते रहें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

शत्रुनाश का उपदेश

नि दुर्ग इन्द्र श्नथिह्यमित्राँ अभि ये नो मर्तासो अमन्ति।
आरे तं शंसं कृणुहि निनित्सोरा नो भर संभरणं वसूनाम् ॥ २ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **ये**=जो **मर्तासः**=मनुष्य **नः**=हमें **अमन्ति**=रोगों के तुल्य पीड़ा देते हैं उन **अमित्रान्**=शत्रुओं को **दुर्गे**=दुर्ग में बैठकर **अभि श्नथिहि**=युद्ध में मार। **निनित्सोः**=निन्दक से **आरे**=दूर रख और **नः**=हमारी **तं शंसं कृणुहि**=वह प्रशंसनीय विनय कर और **नः**=हमें **वसूनाम्**=ऐश्वर्यों से **सम्भरणं आ भर**=समृद्ध करो।

भावार्थ–जैसे वैद्य लोग पीड़ादायक रोगों को उत्तम औषध द्वारा नष्ट करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के नायक को चाहिए कि वह राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाले शत्रु का उचित साधनों द्वारा नाश करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विजेता की प्रशंसा करो

शतं ते शिप्रिन्नूतयः सुदासे सहस्रं शंसा उत रातिरस्तु।
जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्यास्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि ॥ ३ ॥

पदार्थ–हे **शिप्रिन्**=सुन्दर मुखवाले राजन्! **सु-दासे**=उत्तम दानी पुरुष के लिये **ते**=तेरी **शतं**=सैकड़ों **ऊतयः**=रक्षायें और **सहस्रं शंसाः**=सहस्रों प्रशंसाएँ हों और **सहस्रं रातिः अस्तु**=सहस्रों दान हों। हे राजन्! तू **वनुषः मर्त्यस्य**=दुष्ट पुरुष के **वधः**=हिंसाकारी साधनों को **जहि**=नष्ट कर और **अस्मे**=हमें **द्युम्नम्**=यश और **रत्नं च**=धन **अधि धेहि**=अधिक दे।

भावार्थ–जो राजा वा सेनापति शत्रुओं को जीतकर प्रजा जनों की रक्षा करता है, उस राजा वा सेनापति की प्रजा द्वारा खूब प्रशंसा की जानी चाहिए।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

राजा प्रजा की रक्षा करे

त्वावतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्रँ ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः ॥ ४ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=राजन्! प्रभो! **विश्वा इत् अहानि**=मैं सब दिनों **त्वावतः**=तेरे जैसे स्वामी के **क्रत्वे**=कर्म करने के लिये **अस्मि**=रहूँ। हे **शूर**=वीर! मैं **त्वावतः अवितुः**=तेरे जैसे रक्षक के ही **रातौ**=दिये दान पर **अस्मि**=वृत्ति करूँ। हे **तविषीव**=बलवती सेना के स्वामिन्! तू सब दिनों **उग्रः**=शत्रु के लिये भयजनक, **ओकः कृणुष्व**=स्थान और सेना का समन्वय बना। हे **हरिवः**=अश्वसैन्य और मनुष्यों के स्वामिन्! तू **न मर्धीः**=हमें मत मार।

भावार्थ–राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा की शत्रुओं से प्राणपण द्वारा रक्षा करे। प्रजा राजा से यही अपेक्षा रखती है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा न्यायकारी हो

कुत्सा एते हर्यश्वाय शूषमिन्द्रे सहो देवजूतमियानाः।
सत्रा कृधि सुहना शूर वृत्रा वयं तरुत्राः सनुयाम वाजम् ॥ ५ ॥

पदार्थ–**इन्द्रे**=ऐश्वर्यवान् राजा के अधीन ही **हर्यश्वाय**=उस वेगवान् अश्व के स्वामी के विजयार्थ **एते**=ये **कुत्साः**=शस्त्रास्त्र-समूह वा उत्तम शिल्पों के करनेवाले जन **देव-जूतम्**=वीरों से प्रेरित वा उनके अभिलषित **शूषम्**=सुखकारी **सहः**=शत्रुविजयी बल को **इयानाः**=प्राप्त करते रहें और ऐसे ही **वयम्**=हम भी **तरुत्राः**=सबको दुःखों से तारते हुए **वाजम् सनुयाम**=बल और धन प्राप्त करें। हे **शूर**=वीर! तू **सत्रा**=सदा, **वृत्रा**=दुष्ट पुरुषों को **सुहना कुरु**=सुख से नाश-योग्य बना।

भावार्थ–राजा को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि दुष्ट लोग प्रजा के धनादि ऐश्वर्य का

हरण न कर सकें। उचित न्याय व्यवस्था द्वारा दुष्टों व शत्रुओं के दण्ड का विधान होवे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

राष्ट्र समृद्ध बने

एवा न इन्द्र वार्यस्य पूर्धि प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम।
इषं पिन्व मघवद्भ्यः सुवीरां यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ६॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **नः**=हमें तू **वार्यस्य**=धनैश्वर्य से **पूर्धि**=पूर्ण कर। हम **ते**=तेरे **महीं**=पूज्य **सुमतिं**=ज्ञान को **वेविदाम**=प्राप्त करें। तू **मघवद्भ्यः**=धन-युक्तों को **सुवीराम्**=शुभ पुत्रों से युक्त **इषं**=अन्न **पिन्व**=दे। हे सम्पन्न पुरुषो! **यूयं**=आप **नः स्वस्तिभिः सदा पात**=उत्तम उपायों से हमारी सदा रक्षा करो।

भावार्थ—यज्ञ करने से राष्ट्र समृद्ध बनता है। यज्ञ द्वारा प्रजा नीरोग व स्वस्थ रहकर सुखी बनती है। पर्यावरण प्रदूषण रहित होने से अन्नादि की उत्पत्ति दोष रहित होकर राष्ट्र समृद्ध होता है।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ देवता इन्द्र है।

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम की रक्षा करें

न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवानं सुतासः।
तस्मा उक्थं जनये यज्जुजोषन्नृवन्नवीयः शृणवद्यथा नः॥ १॥

पदार्थ—**असुतः सोमः**=जैसे बिना तैयार किया ओषधि-रस **इन्द्रम्**=जीव को **न ममाद**=हर्षित नहीं करता और **असुतः सोमः**=न उत्पन्न हुआ पुत्र **इन्द्रं न ममाद**=गृह-स्वामी को हर्षित नहीं करता, वैसे ही **असुतः**=ऐश्वर्यरहित **सोमः**=राष्ट्र **इन्द्रम् न ममाद**=राजा को सुखी नहीं करता। **अब्रह्माणः सुतासः**=वेदज्ञान-रहित पुत्र **मघवानम्**=धन वा ज्ञान के स्वामी पिता को हर्ष नहीं देते, वैसे ही **अब्रह्माणः**=धन न देनेवाले **सुतासः**=उत्पन्न जन भी **मघवानं न ममाद**=धनाढ्य को प्रसन्न नहीं करते। **यत् जुजोषत्**=जो प्रेम से सेवन करे मैं **तस्मै**=उसी के लिये **उक्थं जनये**=उत्तम वचन प्रकट करूँ **यथा**=जिससे वह **नः नवीयः**=हमारा उत्तम वचन **नृवत्**=उत्तम पुरुष के समान **शृणवत्**=सुने।

भावार्थ—जैसे तैयार किया हुआ सोम असंयमी को सुख नहीं देता, उसी प्रकार से धनाढ्य राज्य अनुशासन ही न प्रजा को सुखी नहीं कर सकता।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा-प्रजा परस्पर प्रेम से रहें

उक्थउक्थे सोम इन्द्रं ममाद नीथेनीथे मघवानं सुतासः।
यदीं सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते॥ २॥

पदार्थ—**उक्थे-उक्थे**=प्रत्येक उत्तम, उपदेश योग्य व्यवहार-ज्ञान में **सोमः**=शिष्य **इन्द्रं ममाद**=आचार्य को हर्ष देनेवाला हो। **नीथेनीथे**=उत्तम उद्देश्य की ओर जानेवाले प्रत्येक मार्ग में **सुतासः**=शिष्य वा पुत्र भी **मघवानं**=दान-योग्य ज्ञान और धन के स्वामी गुरु वा पिता को

प्रसन्न करें। ऐसे ही **सोमः**=ऐश्वर्ययुक्त राष्ट्र राजा को प्रसन्न करे। **समानदक्षाः पुत्राः सबाधः पितरं न**=समान बल से युक्त पुत्र जैसे पीड़ायुक्त पिता को **अवसे हवन्ते**=उसकी रक्षार्थ प्राप्त होते हैं, वैसे ही **यत् ईम्**=जब भी प्रजाजन **सबाधः**=पीड़ित हों तब वे भी पुत्रवत् ही **पितरं**=राजा को **समान-दक्षाः**=समान बलशाली होकर **अवसे हवन्ते**=रक्षा के लिये पुकारें।

भावार्थ–जैसे पुत्र पर कष्ट आने पर पिता उसकी रक्षा करता और पिता के कष्टमय होने पर पुत्र पिता की सेवा कर उसके कष्ट का निवारण करता है। उसी प्रकार प्रजा पर कष्ट आवे तो राजा प्रजा की रक्षा करे तथा राजा पर कष्ट आने पर प्रजा भी राजा का सहयोग करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा प्रजा को पापाचरण से बचाए

चकार ता कृणवन्नूनमन्या यानि ब्रुवन्ति वेधसः सुतेषु।
जनीरिव पतिरेकः समानो नि मामृजे पुर इन्द्रः सु सर्वाः ॥ ३ ॥

पदार्थ–**वेधसः**=विद्वान् लोग **सुतेषु**=अपने पुत्रों में और विद्वान् जन **सुतेषु**=अभिषिक्त पुरुषों में **यानि**=जिन-जिन **अन्या**=भिन्न-भिन्न उपदेश्य वचनों को **ब्रुवन्ति**=उपदेश करते हैं **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् राजा **ता**=उन-उन उत्तम कर्मों को **नूनम्**=अवश्य **चकार**=करे और **कृणवत्**=अन्य-अन्य भी उत्तम कर्म करें। **एकः**=एक **पतिः**=पति जैसे **जनीः इव**=पुत्रोत्पादक दाराओं को **नि मामृजे**=प्रथम ही दोषरहित कर लेता है ऐसे ही **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् राजा **एकः**=अद्वितीय, **सर्वाः समानः**=उत्तम आदरयुक्त एवं सबके प्रति समान होकर समस्त **पुरः**=समक्ष आये प्रजाओं को **सु**=अच्छी प्रकार **नि मामृजे**=पवित्र करे।

भावार्थ–जिस प्रकार से विद्वान् जन अपने शिष्यों को उत्तम शिक्षा द्वारा बुराइयों से बचाकर सन्मार्ग में प्रवृत्त करते हैं, उसी प्रकार राजा भी निष्पक्ष होकर उत्तम राजनियमों के द्वारा प्रजा को पापाचरण से बचावे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा न्यायकारी हो

एवा तमाहुरुत शृण्व इन्द्र एको विभक्ता तरणिर्मघानाम्।
मिथस्तुर ऊतयो यस्य पूर्वीरस्मे भद्राणि सश्चत प्रियाणि ॥ ४ ॥

पदार्थ–**यस्य**=जिसके **पूर्वीः**=सदा से विद्यमान **मिथस्तुरः**=परस्पर मिलकर शीघ्र कार्य करनेवाली, **ऊतयः**=रक्षाएँ वा रक्षाकारिणी सेनाएँ **अस्मे**=हमें **भद्राणि**=सुखजनक, **प्रियाणि**=ऐश्वर्य **सश्चत**=प्राप्त कराती हैं वह **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् राजा **एकः**=अद्वितीय **तरणिः**=संकटों से पार उतारनेवाला, **मघानां विभक्ता**=ऐश्वर्यों का विभाग करनेवाला है **तम् एव आहुः**=उसका ही लोग उपदेश करते हैं **उत तम् एव शृण्वे**=और उसकी ही मैं गुरुजनों से उपदेश द्वारा श्रवण करूँ।

भावार्थ–जैसे सेना राष्ट्र की रक्षा में तत्पर रहती है उसी प्रकार राजा अपनी न्याय व्यवस्था द्वारा प्रजा की रक्षा में तत्पर रहे।

ऋषि:-वसिष्ठ: ॥ देवता-इन्द्रः ॥ छन्दः-निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:-धैवत: ॥

कृषि वृद्धि हेतु प्रयत्न करें

एवा वसिष्ठ इन्द्रमूतये नृन्कृष्टीनां वृषभं सुते गृणाति।
सहस्रिण उप नो माहि वाजान्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

पदार्थ-सुते=अन्न को उत्पन्न करने के लिये जैसे **कृष्टीनां**=खेतियों के वृद्ध्यर्थ **वृषभं**=वर्षक मेघ की विद्वान् स्तुति करते हैं और अन्न के उत्पन्न करने के लिये जैसे **कृष्टीनां**=खेती करने हारों के बीच **वृषभं**=बलवान् बैल की स्तुति की जाती है, वैसे **वसिष्ठ:**=देशवासी उत्तम जन **सुते**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये और **ऊतये**=रक्षार्थ भी **कृष्टीनां**=मनुष्यों में **वृषभं**=श्रेष्ठ **इन्द्रं**=ऐश्वर्य-युक्त पुरुष की **गृणाति**=स्तुति करता है। हे राजन्! तू **न:**=हमें **सहस्रिण: वाजान्**=सहस्रों सुखों से युक्त ऐश्वर्य **उप माहि**=दे। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं**=आप लोग **न: सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारी सदा उत्तम उपायों से रक्षा करें।

भावार्थ-राजा व प्रजा दोनों मिलकर ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राष्ट्र की भूमि उन्नत कृषि के योग्य बने। इस प्रकार उन्नत कृषि द्वारा अन्न के भण्डार भरे रहें जिससे प्रजा सुखी रहे।

अगले सूक्त का वसिष्ठ ऋषि व इन्द्र देवता है।

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषि:-वसिष्ठ: ॥ देवता-इन्द्रः ॥ छन्दः-विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:-धैवत: ॥

परमात्मा का स्मरण करें

इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः।
शूरो नृषाता शवसश्चकान आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥ १ ॥

पदार्थ-यत्=जो **इन्द्रं**=ऐश्वर्यवान् को **नेमधिता**=संग्राम में **नर:**=मनुष्य **हवन्ते**=पुकारते हैं, **यत्**=जो **पार्या:**=पालन-योग्य **धिय:**=और धारण-योग्य प्रजाएं ऐश्वर्यवान् राजा का **युनजते**=सहयोग करती हैं, हे राजन्! तू वह **शूर:**=वीर, **नृ-साता**=मनुष्यों को विभक्त करनेवाला, **शवस: चकान:**=बल की इच्छा करता हुआ **ता:**=उन प्रजाओं को और **न:**=हमें भी **गोमति व्रजे**=उत्तम वाणियों से प्रासव्य ज्ञानमार्ग वा ब्रह्मपद से युक्त उत्तम राज्य में **आ भज**=रख।

भावार्थ-मनुष्य को योग्य है कि सर्वव्यापक परमेश्वर का हर समय स्मरण करते हुए उसकी सर्वशक्तिमत्ता को अनुभव करे, तथा कुमार्गों से सदा बचकर सुपथ पर चलता रहे।

ऋषि:-वसिष्ठ: ॥ देवता-इन्द्रः ॥ छन्दः-निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वर:-धैवत: ॥

परमात्मा धन और ज्ञान दे

य इन्द्र शुष्मो मघवन्ते अस्ति शिक्षा सखिभ्यः पुरुहूत नृभ्यः।
त्वं हि दृळ्हा मघवन्विचेता अपा वृधि परिवृतं न राधः ॥ २ ॥

पदार्थ-हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यप्रद! हे **मघवन्**=धन के स्वामिन्! राजन्! **य:**=जो **ते**=तेरा **शुष्म: अस्ति**=बल है, वह तू **सखिभ्य:**=मित्र **नृभ्य:**=मनुष्यों को **शिक्ष**=दे। हे **पुरुहूत**=बहुतों से प्रशंसित! हे **मघवन्**=उत्तम धन के स्वामिन्! **त्वं हि**=तू निश्चय से **विचेता:**=ज्ञानवान् होकर **परि-वृतं राधः न**=छुपे धन के समान ही **दृळ्हा**=दृढ़ गुप्त ज्ञानों को **अपा वृधि**=खोलकर हमें दे।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिए कि समस्त ज्ञान एवं धन का स्वामी ईश्वर को मानकर उसी से सम्पूर्ण पुरुषार्थ के साथ ज्ञान एवं धनैश्वर्य की प्रार्थना करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रजा दानशील हो

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥ ३ ॥

पदार्थ—**इन्द्रः**=शत्रु-नाशक पुरुष **राजा**=सूर्यवत् तेजस्वी, और **जगतः**=जंगम संसार और **चर्षणीनाम्**=मनुष्यों का स्वामी हो। **अधि क्षमि**=पृथिवी पर **यत्**=जो **विषु-रूपं**=विविध प्रकार का धन है वह उसी का है। **ततः**=उसमें से वह **दाशुषे**=दानशील पुरुष को **वसूनि ददाति**=धन देता है। वह **उप-स्तुतः**=प्रशंसित **अर्वाक्**=हमें प्राप्त होकर **राधः चोदत्**=धन प्राप्ति की प्रेरणा करे।

भावार्थ—दान से धन की वृद्धि होती है ऐसा जानकर सभी मनुष्यों को दानशील होना चाहिए। परमेश्वर दानशील के धन की पर्याप्त वृद्धि करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन और बल पर राजा का नियन्त्रण हो

नू चिन्न इन्द्रो मघवा सहूती दानो वाजं नि यमते न ऊती।
अनूना यस्य दक्षिणा पीपाय वामं नृभ्यो अभिवीता सखिभ्यः ॥ ४ ॥

पदार्थ—**यस्य**=जिसका **अभि-वीता**=तेजो-युक्त, **दक्षिणा**=दान और क्रिया-सामर्थ्य, **अनूना**=किसी से न्यून न होकर **सखिभ्यः नृभ्यः**=मित्रों के लिये **वामं**=उत्तम ऐश्वर्य को **पीपाय**=बढ़ाता है **नु चित्**=वह पूज्य **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् **मघवा**=धन का स्वामी **दानः**=दान देता हुआ **नः**=हमारी **ऊती**=रक्षार्थ **स-हूती**=सबको समान देने की नीति से **वाजं**=ऐश्वर्य को **नि यमते**=नियन्त्रित करता है।

भावार्थ—राजा को न्यायकारी होकर निष्पक्ष भाव से समस्त राज्य सम्पदा पर अधिकार करके सम्पूर्ण प्रजा जनों में समान रूप से वितरण व्यवस्था को सुनिश्चित एवं सुव्यवस्थित करना चाहिए। सेना पर भी राजा का सुनियन्त्रण होवे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा प्रजापालक हो

नू इन्द्र राये वरिवस्कृधी न आ ते मनो ववृत्याम मघाय।
गोमदश्वावद्रथवद् व्यन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! तू **नु**=शीघ्र ही **राये**=ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये **नः वरिवः कृधि**=हम प्रजाजनों का कल्याण कर। हम भी **ते मनः**=तेरे मन को **मघाय**=धन के लिये **आ ववृत्याम**=आकर्षण करें। हे विद्वान् पुरुषो! **गोमत्**=गौओं, भूमियों से युक्त **अश्ववत्**=अश्वों से युक्त, **रथवत्**=रथों से सम्पन्न ऐश्वर्य का **व्यन्तः**=उपभोग करते हुए **यूयम्**=आप लोग **स्वस्तिभिः**=उत्तम साधनों से **नः पात**=हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—प्रजा को सुखी करना राजा का प्रथम कर्त्तव्य है। अतः राजा को योग्य है कि

वह अन्न, धन, वस्त्र, निवास, व्यापार, स्वास्थ्य तथा शिक्षा की सुव्यवस्था करके प्रजा का विश्वास जीतकर उत्तमता के साथ पालन करे।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ और देवता इन्द्र ही है।

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम विद्वान के कर्त्तव्य

ब्रह्मा ण इन्द्रोप याहि विद्वानर्वाञ्चस्ते हरयः सन्तु युक्ताः।
विश्वे चिद्धि त्वा विहवन्त मर्ता अस्माकमिच्छृणुहि विश्वमिन्व ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्य और विद्योपदेशदाता राजन्! आचार्य! तू **विद्वान्**=विद्वान् होकर **नः ब्रह्म उप याहि**=हमारा बड़ा राष्ट्र और धन प्राप्त कर, करा। **ते**=तेरे अधीन **हरयः**=अश्वारोही और नियुक्त मनुष्य **अर्वाञ्चः**=विनयशील और **युक्ताः**=मनोयोग देनेवाले हों। **विश्वे चित् मर्त्ताः हि**=समस्त मनुष्य निश्चय से **त्वा वि हवन्त**=तुझे विविध प्रकार से पुकारते हैं। हे **विश्वमिन्व**=सबके प्रेरक! तू **अस्माकम् इत्**=हमारा वचन अवश्य **शृणुहि**=सुन।

भावार्थ—राष्ट्र के अन्दर उत्तम विद्वानों को सुशिक्षा एवं सदुपदेश के द्वारा राजा तथा प्रजा दोनों को सन्मार्ग में प्रेरित करना चाहिए। राजा वेद के विद्वानों के परामर्श से राज्यव्यवस्था चलावे। प्रजा की समस्याओं को विद्वान् जन राजा के सामने रखकर उनका समाधान करावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा शत्रुओं के लिए भयानक हो

हवं त इन्द्र महिमा व्यानड् ब्रह्म यत्पासि शवसिन्नृषीणाम्।
आ यद्वज्रं दधिषे हस्त उग्र घोरः सन्क्रत्वा जनिष्ठा अषाळ्हः ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **ते महिमा**=तेरा सामर्थ्य **हवं**=यज्ञ और संग्राम को भी **वि आनड्**=व्याप्त है। **यत्**=जिससे, हे **शवसिन्**=बलवन्! तू **ऋषीणाम्**=ऋषियों के **हवं, ब्रह्म**=स्तुत्य ज्ञान की भी **पासि**=रक्षा करता है। हे **उग्र**=तेजस्विन्! **यत्**=जो **वज्रं हस्ते दधिषे**=शस्त्रास्त्र बल को हाथ में धारण करता है वह, तू **घोरः सन्**=शत्रुनाश में समर्थ होकर **क्रत्वा**=अपने कर्म से **अषाढः**=अन्यों के लिये असह्य हो **जनिष्ठाः**=अजेय सेनाओं को प्रकट कर।

भावार्थ—कुशल राजा अपने ज्ञान एवं कर्म द्वारा शक्ति का बहुत संग्रह करे, जिससे शत्रु काँप उठे तथा राष्ट्र पर आक्रमण करने का साहस न कर सके। आक्रमणकारी शत्रु पर इन्द्र के समान भयंकर वज्रपात करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

राजा विद्रोहियों को कठिन दण्ड दे

तव प्रणीतीन्द्र जोहुवानान्त्सं यन्नॄन्न रोदसी निनेथ।
महे क्षत्राय शवसे हि जज्ञेऽतूतुजिं चित्तूतुजिरशिश्नत् ॥ ३ ॥

पदार्थ—**रोदसी न**=सूर्य जैसे आकाश और पृथ्वी को मार्ग पर चलाता है वैसे ही **यत्**=जो पुरुष **जोहुवानान्**=निरन्तर पुकारनेवाले और बुलाये गये, **नॄन्**=नायक पुरुषों को **सं निनेथ**=सन्मार्ग पर चलाता है और जो **तूतुजिः**=शत्रु नाशक है और **अतूतुजिं**=प्रजा और कर न देनेवाले

शत्रु का **अशिश्नत्**=शासन करता है वह, तू **हि**=निश्चय से **महे क्षत्राय**=बड़े क्षात्र बल और **महे शवसे**=बड़े सैन्य बल के सञ्चालन के लिये **जज्ञे**=समर्थ है।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि वह दण्ड विधान को कठोरता के साथ राज्य में लागू करे। दण्ड के बिना शासन कभी भी नहीं चल सकता। जो कर न देनेवाले, देशद्रोही तथा भ्रष्टाचार करनेवाले हैं राजा उन्हें कठोर दण्ड देवे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

राजा उत्तम न्यायकारी हो

एभिर्न इन्द्राहभिर्दशस्य दुर्मित्रासो हि क्षितयः पवन्ते।
प्रति यच्चष्टे अनृतमनेना अव द्विता वरुणो मायी नः सात्॥ ४॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=न्याय के द्रष्टा राजन्! **नः**=हमारे **दुः-मित्रासः**=दुष्ट मित्र और **क्षितयः**=साथी **हि**=भी **पवन्ते**=तुझे प्राप्त होते हैं। तू **एभिः अहभिः**=इन कुछ दिनों में, शीघ्र **दशस्य**=न्याय प्रदान कर। **यः**=जो तू **अनृतम्**=असत्य को **प्रतिचष्टे**=खण्डित करता है वह, तू **अनेनाः**=पाप-रहित, **वरुणः**=श्रेष्ठ **मायी**=बुद्धिमान् होकर **द्विता**=सत्य और असत्य दोनों के बीच **नः अव सात्**=हमारा निर्णय कर।

भावार्थ–राजा को अपनी गुप्तचर व्यवस्था को सुदृढ़ करना चाहिए। जिससे राज्य में होनेवाली प्रत्येक गतिविधि को जानकर राजा अपनी न्याय व्यवस्था को सुदृढ़ कर सके। न्यायकारी राजा उत्तम न्याय व्यवस्था द्वारा प्रजा को सुखी एवं शत्रु को मित्र बना सकता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा ऐश्वर्यशाली हो

वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद्ददन्नः।
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ५॥

पदार्थ–**यत्**=जो **महः रायः**=बड़े-बड़े ऐश्वर्य **नः ददत्**=हमें देता है। **एनं मघवानम्**=उस ऐश्वर्य स्वामी को हम **इन्द्रम् इत् वोचेम**='इन्द्र' ही पुकारें और **यः**=जो **अर्चतः**=अपने सत्कारकों को **ब्रह्म-कृतिम्**=धनैश्वर्य के उत्पन्न करने के साधन देता, वही **अविष्ठः**=उत्तम रक्षक है। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं**=आप लोग **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारा सदा उत्तम साधनों से पालन करो।

भावार्थ–राजा को विद्वान् होना चाहिए। विद्वान् राजा उत्तम विद्या का प्रचार-प्रसार करके राष्ट्र में सुख के साधनों को बढ़ावा देकर प्रजा को ऐश्वर्यशाली बना सकता है। विद्वान् जन भी निर्भयता के साथ राज्य में ज्ञान-विज्ञान का प्रचार कर उत्तम शिक्षा द्वारा ऐश्वर्य की वृद्धि करें।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ और देवता इन्द्र है।

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

राजा उत्तम ऐश्वर्य दाता हो

अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्व आ तु प्र याहि हरिवस्तदोकाः।
पिबा त्वस्य सुषुतस्य चारोर्ददो मघानि मघवन्नियानः॥ १॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन्! **अयं सोमः**=यह ऐश्वर्य **तुभ्यम्**=तेरे लिये **सुन्वे**=उत्पन्न किया है। हे **हरिवः**=मनुष्यों के स्वामिन्! **तदोकाः**=तू उस गृह में रहता हुआ **तु**=भी **आ याहि**=हमें प्राप्त हो और **प्र याहि**=प्रयाण कर। **अस्य**=इस **सु-सुतस्य**=उत्तम रीति से उत्पन्न प्रजाजन का **तु**=भी **पिब**=पालन कर। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन्! **इयानः**=प्राप्त होता हुआ तू हमें **मघानि**=ऐश्वर्य **ददः**=दे।

भावार्थ–उत्तम राजा अपनी प्रजा को उत्तम बनाकर राष्ट्र को उन्नत करता है। उत्तम राजा अपने राज्य में उत्तम शिक्षा को फैलाकर राज्य की प्रजा को उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कर सुखी बनाता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा चतुर्वेदज्ञ हो

ब्रह्मन्वीर ब्रह्मकृतिं जुषाणोऽर्वाचीनो हरिभिर्याहि तूयम्।
अस्मिन्नू षु सवने मादयस्वोप ब्रह्माणि शृणव इमा नः ॥ २ ॥

पदार्थ–हे **ब्रह्मन्**=विद्वन्! हे **वीर**=शूर! तू **ब्रह्मकृतिं**=परमेश्वर-निर्मित जगत् को, बड़े राष्ट्र-कार्य को **जुषाणः**=सेवन करता हुआ **हरिभिः**=उत्तम पुरुषों सहित **अर्वाचीनः**=अब भी **तूयम् याहि**=शीघ्र प्राप्त हो। **अस्मिन् सवने**=इस यज्ञ, वा राष्ट्र-शासन में **नु सु मादयस्व**=शीघ्र, तू प्रसन्न होकर अन्यों को भी सुखी कर और **नः**=हमारे **इमा**=इन **ब्रह्माणि इमा**=वेद-वचनों को **उप-शृणवः**=सुन।

भावार्थ–राजा को चारों वेदों का विद्वान् होना चाहिए जिससे वह अपने राज्य में वेद विद्या का प्रसार कर वेद के विद्वानों द्वारा समस्त प्रजा को वेदवित् बना सके तथा वैदिक राष्ट्र की स्थापना कर सके।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

राजा विद्वान् और विनयशील हो

का ते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन्दाशेम।
विश्वा मतीरा ततने त्वायाधा म इन्द्र शृणवो हवेमा ॥ ३ ॥

पदार्थ–हे **मघवन्**=ऐश्वर्य-स्वामिन्! **ते**=तेरे **सूक्तैः**=उत्तम वचनों, विद्या-प्रवचनों से **का अरंकृतिः अस्ति**=कैसी शोभा है? हे ऐश्वर्यवन्! हम **ते**=तेरे लिये **नूनं**=सत्य कहो, आज्ञा करो **कदा दाशेम**=कब-कब उपहार दें? **त्वाया**=तुझसे ही हमारी **विश्वाः मतीः**=सब बुद्धियाँ **आ ततने**=विस्तृत ज्ञानवाली होती हैं। **अध**=और, हे **इन्द्र**=ज्ञानप्रद! **मे इमा हवा**=मेरे ग्राह्य पदार्थ और प्रार्थना-वचन **शृणवः**=सुनो और **हवा**=ग्राह्य ज्ञानोपदेश **मे शृणवः**=मुझे सुनाओ।

भावार्थ–विद्वान् राजा वेद के विद्वानों की मण्डली में नित्य बैठा करे तथा उनसे राष्ट्र की समृद्धि के सूत्रों को प्राप्त कर शोध कार्यों द्वारा राष्ट्र में उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि करे। राजा अभिमान को छोड़ विनयशीलता के साथ प्रजा पालन करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा बहुश्रुत हो

उतो घा ते पुरुष्याइदासन्येषां पूर्वेषामशृणोर्ऋषीणाम्।
अधाहं त्वा मघवञ्जोहवीमि त्वं न इन्द्रासि प्रमतिः पितेव ॥ ४ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=ऐश्वर्य-दातः! **उतो घ**=और **येषाम्**=जिन **पूर्वेषां ऋषीणाम्**=पूर्व के, सत्य ज्ञान-द्रष्टा जनों के ज्ञान को तू **अशृणोः**=सुनता है **ते इत्**=वे निश्चय से **पुरुष्याः आसन्**=मनुष्यों के हितकारी हैं। हे **मघवन्**=धनवन्! **अध**=और **अहं**=मैं **त्वा**=तुझे **जोहवीमि**=गुरु स्वीकार करता हूँ, **त्वं**=तू **प्रमतिः**=उत्तम ज्ञानी होकर **नः पिता इव असि**=हमारे पिता के समान है।

भावार्थ–राष्ट्र में विविध विद्याओं के विद्वानों की एक मण्डली होवे। राजा उन विद्वानों से ज्ञान का श्रवण उसी प्रकार श्रद्धा से करे, जैसे पुत्र पिता से ज्ञान को सुनता है। इससे राजा बहुत विद्याओं को जानकर राष्ट्र में अध्यात्म तथा ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वान् भी ऐश्वर्यशाली हों

वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद्ददन्नः।
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ५॥

पदार्थ–**यत्**=जो **महः रायः**=बड़े-बड़े ऐश्वर्य **नः ददत्**=हमें देता है। **एनं मघवानम्**=उस ऐश्वर्य के स्वामी को हम **इन्द्रम् इत् वोचेम**='इन्द्र' ही पुकारें और **यः**=जो **अर्चतः**=अपने सत्कारकों को **ब्रह्म-कृतिम्**=धनैश्वर्य के उत्पन्न करने के साधन देता है, वही **अविष्ठः**=उत्तम रक्षक है। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं**=आप लोग **नः सदा स्वतिभिः पात**=हमारा सदा उत्तम साधनों से पालन करो।

भावार्थ–विद्वानों को योग्य है कि वे राष्ट्र में विभिन्न प्रकार के शोध कार्यों द्वारा ज्ञान-विज्ञान को बढ़ावें तथा ऐश्वर्यशाली होवें। इससे राष्ट्र भी ऐश्वर्यसम्पन्न होकर उन्नति को प्राप्त करेगा। राज्य की प्रजा भी ऐसे विद्वानों से प्रेरणा पाकर उन्नति की ओर अग्रसर होगी।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ और देवता इन्द्र ही है।

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा बलशाली हो

आ नो देव शवसा याहि शुष्मिन्भवा वृध इन्द्र रायो अस्य।
महे नृम्णाय नृपते सुवज्र महि क्षत्राय पौंस्याय शूर॥ १॥

पदार्थ–हे **देव**=तेजस्विन्! प्रभो! तू **शवसा**=बल और ज्ञान-सहित **नः आयाहि**=हमें प्राप्त हो। हे **शुष्मिन्**=बलशालिन्! हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! तू **अस्य**=इस **रायः**=धनैश्वर्य का **वृधः भव**=वर्धक हो। हे **सुवज्र**=उत्तम वीर्यवन्! हे **शूर**=वीर! हे **नृपते**=मनुष्य-पालक! तू **महे नृम्णाय**=बड़े धनैश्वर्य, **महि क्षत्राय**=बड़े शत्रुनाशक राष्ट्र और **पौंस्याय भव**=पौरुष के लिये उद्यत हो!

भावार्थ–पुरुषार्थी राजा ही शरीर, मन, आत्मा तथा सम्प्रभुता के बलों को प्राप्त कर सकता है। इन बलों से युक्त बलवान् राजा ही राज्य की शत्रुओं से रक्षा कर सकता है। प्रजा का पालन भी इन बलों के बिना नहीं हो सकता। अतः राजा को चाहिए कि वह आत्मिक एवं भौतिक बलों से बलशाली बने।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सेनापति होने योग्य पुरुष

हवन्त उ त्वा हव्यं विवाचि तनूषु शूराः सूर्यस्य सातौ।
त्वं विश्वेषु सेन्यो जनेषु त्वं वृत्राणि रन्धया सुहन्तु॥ २॥

पदार्थ—हे राजन्! **शूरः**=वीर पुरुष **वि वाचि**=विविध वाणियों के प्रयोग के समय, संग्राम और स्तुतिकाल में **हव्यं**=पुकारने और स्तुति-योग्य **त्वा उ**=तुझको ही **हवन्ते**=पुकारते हैं। **तनूषु**=शरीरों में **सूर्यस्य सातौ**=सूर्य नाम दक्षिण नासागत प्राण के प्राप्त होने पर, आवेश में **त्वा उ हवन्ते**=तेरी ही स्तुति करते हैं। **त्वं विश्वेषु जनेषु**=तू सब मनुष्यों में **सेन्यः**=सेना-नायक होने योग्य है और **त्वं**=तू **वृत्राणि**=बढ़ते शत्रु-सैन्यों को **सु हन्तु**=अच्छी प्रकार मार, **रन्धय**=वश कर।

भावार्थ—जैसे तेजस्वी सूर्य अपने तेज से सबका मार्गदर्शन करता है। जैसे सूर्य ऊर्जा का भण्डार है, उसी प्रकार से सेनापति को भी तेजस्वी तथा ऊर्जावान् होना चाहिए। तभी वह सेना का नेतृत्व तथा राष्ट्र की रक्षा कर सकेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सेनापति तेजस्वी हो

अहा यदिन्द्र सुदिना व्युच्छान्दधो यत्केतुमुपमं समत्सु।
न्य१ग्निः सीददसुरो न होता हुवानो अत्र सुभगाय देवान्॥ ३॥

पदार्थ—जैसे सूर्य **सुदिना**=शुभ दिनों को **वि उच्छान्**=खूब प्रकाशित कर **दधे**=धारण करता है, **केतुम् दधे**=ज्ञान-प्रकाशक को धारण करता है, वह **सुभगाय देवान् हुवानः होता न**=कल्याण के लिये किरणों को देता हुआ अग्नि के समान प्रदीप्त होता है वैसे ही, हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन् सेनापते! तू भी **सुदिना अहा**=शुभ दिनों को प्राप्त कर **व्युच्छान् देवान् दधः**=तेजस्वी वीर पुरुषों और शुभ गुणों को धारण कर और **समत्सु**=संग्रामों में **उपमं**=आदर्श रूप **केतुम्**=ज्ञापक चिह्न को **दधः**=धारण कर। तू **अग्निः**=अग्नि-समान तेजस्वी और **असुरः न**=प्राणवत् सबको जीवन दाता **होता**=सबको वृत्ति देनेवाला होकर **देवान्**=विजयेच्छुक वीरों को **सु-भगाय**=उत्तम ऐश्वर्य के लिये **हुवानः**=बुलाता, स्वीकार करता हुआ **नि सीदत्**=विराजे।

भावार्थ—सेनापति सर्व उपमा योग्य ज्ञान धारण करे। अग्नि के समान तेजस्वी, अग्रणी और प्राणवत् सबको जीवन देनेवाला वायु के समान शत्रुओं को उखाड़ने में समर्थ, समराग्नि में होता के तुल्य मन्त्रों को उच्चारण करता हुआ शत्रुओं को जलावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सेनापति ज्ञानवान् हो

वयं ते त इन्द्र ये च देव स्तवन्त शूर ददतो मघानि।
यच्छा सूरिभ्य उपमं वरूथं स्वाभुवो जरणामश्नवन्त॥ ४॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! हे **देव**=दानशील! **मघानि**=नाना ऐश्वर्य **ददतः**=देते हुए **ते**=तेरी **ये च स्तवन्त**=जो लोग स्तुति करते हैं **ते**=वे और **वयम्**=हम **स्वाभुवः**=उत्तम रीति से समृद्ध होकर **जरणाम्**=स्तुति और दीर्घायु को **अश्नवन्त**=प्राप्त हों। तू **सूरिभ्यः**=विद्वान् पुरुष

को **उपमं वरूथं**=उत्तम गृह **यच्छ**=दे।

भावार्थ–सेनापति युद्धनीति ज्ञाता और सामर्थ्यवान् होकर शत्रुओं की प्रबल सेना को भी ध्वस्त करने में समर्थ हो।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

परमात्मा से ज्ञान और बल की प्रार्थना

वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद्ददन्नः।
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

पदार्थ–**यत्**=जो **महः रायः**=बड़े-बड़े ऐश्वर्य **नः ददत्**=हमें देता है। **एनं मघवानम्**=उस ऐश्वर्य के स्वामी को हम **इन्द्रम् इत् वोचेम**='इन्द्र' ही पुकारें और **यः**=जो **अर्चतः**=अपने सत्कारकों को **ब्रह्म-कृतिम्**=धनैश्वर्य के उत्पन्न करने के साधन देता, वही **अविष्ठः**=उत्तम रक्षक है। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं**=आप लोग **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारा सदा उत्तम साधनों से पालन करो।

भावार्थ–परमेश्वर ऐश्वर्य का स्वामी है। उसी से ऐश्वर्य के साधन ज्ञान और बल प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। ज्ञान और बल से ही परमात्मा जीवों की रक्षा करता है।

अगले सूक्त का वसिष्ठ ऋषि देवता इन्द्र है।

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

सोमपान का अधिकारी

प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत। सखायः सोमपाव्ने ॥ १ ॥

पदार्थ–हे **सखायः**=मित्रो! आप लोग **सोमपाव्ने**=सोम-पान करनेवाले यजमान, 'सोम' अर्थात् वीर्य का रक्षण करनेवाले ब्रह्मचारी, पुत्र और शिष्य के पालक गृहपति और आचार्य, ऐश्वर्य और अन्न के पालक राजन्य और वैश्य, योग द्वारा ब्रह्मज्ञान के पान करनेवाले मुमुक्षु और जगत् के पालक परमेश्वर, **हर्यश्वाय**=वेगवान् अश्वों, बलों के स्वामी **इन्द्राय**=ऐश्वर्यवान्, भूमिपालक, आत्मा, परमात्मा आदि के लिये **मादनं**=अतिहर्षजनक **प्र गायत**=वचन का उपदेश करो।

भावार्थ–सोम अर्थात् शरीर का सर्वश्रेष्ठ धातु रेतः को धारण करनेवाला ब्रह्मचारी योग द्वारा ब्रह्मज्ञान का पान करनेवाला मुमुक्षु ही ईश-प्राप्ति का अधिकारी होता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

मुमुक्षु के गुण

शंसेदुक्थं सुदानव उत द्युक्षं यथा नरः। चकृमा सत्यराधसे ॥ २ ॥

पदार्थ–**सु-दानवे**=उत्तम दाता **सत्य राधसे**=सत्य और न्याय के धनी पुरुष के लिये मैं **उक्थं**=उत्तम वचन **शंसे**=कहूँ। **यथा**=जैसे **नरः**=मनुष्य उसके लिये **द्युक्षं**=अन्न आदि से सत्कार करते हैं वैसे ही हम लोग उसका **द्युक्षं चकृम**=सत्कार करें।

भावार्थ–मोक्ष की कामनावाले योगी को शान्त, सहनशील, मन और इन्द्रियों पर संयम रखनेवाला तथा सत्यवादी होना चाहिए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

राजा वाजयु हो

त्वं न॑ इन्द्र वाज॒युस्त्वं ग॒व्युः श॑तक्रतो। त्वं हि॑रण्य॒युर्व॑सो ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=राजन्! **त्वं**=तू **नः**=हमारे लिये **वाज-युः**=अन्न, बल आदि की कामनावाला, **गव्युः**=वाणी आदि चाहनेवाला हो। हे **शतक्रतो**=असंख्यों बुद्धियों के स्वामिन्! हे **वसो**=सब में बसने हारे! **त्वं**=तू **हिरण्ययुः**=हित-कार्य को चाहनेवाला हो।

भावार्थ—सर्वव्यापक परमात्मा जैसे हित एवं रमणीय कार्यों को ही चाहता है, उसी प्रकार राजा को भी भूमि, इन्द्रिय सामर्थ्य और वाणी का चाहनेवाला होकर अन्न, बल आदि का संग्राहक होना चाहिए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

राजा से विनय

व॒यमि॑न्द्र त्वा॒यवो॒ऽभि प्र णो॑नुमो वृषन्। वि॒द्धी त्व१॒॑स्य नो॑ वसो ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! हे **वृषन्**=बलवन्! सुखदातः! हे **वसो**=बसने-बसानेवाले! **वयम्**=हम **त्वायवः**=तुझे चाहते हुए, **अभि प्र नोनुमः**=खूब स्तुति करते हैं **अस्य तु नः विद्धि**=तू हमारी इस अभिलाषा को जान।

भावार्थ—राजा को चाहनेवाली सुप्रजा अपनी रक्षा, उन्नति और राष्ट्र की समृद्धि के लिए राजा से विनय करे। राजा को भी पितृवत् प्रजा की प्रार्थना को सुनना, स्वीकारना चाहिए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

राजा प्रजा को पीड़ित न करे

मा नो॑ नि॒दे च॒ वक्त॑वे॒ऽर्यो र॑न्धी॒ररा॑व्णे। त्वे अपि॒ क्रतु॒र्मम॑ ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे राजन्! तू **अर्यः**=स्वामी होकर **नः**=हमें **निदे**=निन्दक **वक्तवे**=गर्हित, **अराव्णे**=अदानशील शत्रु के हितार्थ **मा रन्धीः**=मत दण्डित कर और **मम त्वे अपि क्रतुः**=मेरी जो तेरे में सद्बुद्धि है उसे तू नष्ट मत होने दे।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि अन्य राजा को या राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाले ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति को लाभ पहुँचाने के लिए अपनी प्रजा को पीड़ित न करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

राजा प्रजा की कवचवत् रक्षा करे

त्वं वर्मा॑सि स॒प्रथः॑ पुरोयो॒धश्च॑ वृत्रहन्। त्वया॒ प्रति॑ ब्रुवे यु॒जा ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे **वृत्रहन्**=दुष्टनाशक! **त्वं**=तू **सप्रथः**=ख्याति से युक्त **वर्म असि**=कवच तुल्य रक्षक और **पुरः योधः च**=आगे बढ़कर युद्धकर्ता है। **त्वया युजा**=तुझ सहायक से मैं **प्रति ब्रुवे**=शत्रु का उत्तर दूँ।

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा का कुशल नेतृत्व करते हुए कवच के समान उसकी रक्षा करे तथा प्रेरणा करे कि वह शत्रु से टक्कर लेने में समर्थ हो।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

स्वधावरी 'रोदसी' की व्याख्या

महाँ उतासि यस्य तेऽनु स्वधावरी सहः। मम्नाते इन्द्र रोदसी ॥ ७ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! जैसे सूर्य के अधीन **स्वधावरी रोदसी अनु मम्नाते**=जल, अन्न से युक्त आकाश, पृथिवी दोनों परस्पर स्थिर हैं वैसे ही **यस्य ते सहः**=जिस तेरे बल के **अनु**=अनुकूल रहकर **स्वधावरी रोदसी**=अन्नादि ऐश्वर्यों से युक्त स्त्री–पुरुष दोनों **मम्नाते**=मिलकर रहते हैं वह तू **महान् असि**=बलों में महान् हो।

भावार्थ–जैसे पृथिवी और द्युलोक के अन्नः जल आदि सूर्य अधीन रहते हैं। उसी प्रकार समस्त प्रजा तथा उसके ऐश्वर्य राजा के अधीन हों। अर्थात् राजा के नियमों में रहें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

विद्वान् वेदविद्या को सुशोभित करे

तं त्वा मरुत्वती परि भुवद्वाणी सयावरी। नक्षमाणा सह द्युभिः ॥ ८ ॥

पदार्थ–हे राजन्, **मरुत्वती**=बलवान् मनुष्योंवाली, **सयावरी**=साथ जानेवाली **द्युभिः सह**=तेजों, धनों से बढ़ती हुई **वाणी**=शत्रुहिंशक बाण आदि शस्त्र–सम्पन्न सेना **तं त्वा परि भुवत्**=उस तुझको घेरे रहे, तुझको **मरुत्वती वाणी**=मनुष्यों की स्तुति, गुणों सहित वाणी प्राप्त हो और विद्वान् को **द्युभिः सह नक्षमाणा**=तेजों, गुणों से युक्त **सयावरी**=सदा साथ विद्यमान **मरुत्वती**=उत्तम विद्वानों से प्राप्त **वाणी**=वेदविद्या, **परि भुवत्**=सुशोभित करे।

भावार्थ–जैसे राजा समस्त ऐश्वर्य को प्रजा में वितरण कर स्वयं सुशोभित होता है। उसी प्रकार विद्वान् को चाहिए कि वह वेदविद्या का राष्ट्र की जनता में प्रचार कर सन्मार्ग में प्रेरित करता हुआ सम्मानित होकर सुशोभित होवे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

प्रजा राजा के अनुकूल हो

ऊर्ध्वासस्त्वान्विन्दवो भुवन्दस्ममुप द्यवि। सं ते नमन्त कृष्टयः ॥ ९ ॥

पदार्थ–हे राजन्! **ऊर्ध्वासः**=जो उत्तम कोटि के **इन्दवः**=ऐश्वर्य एवं आनन्दित जन हैं वे **द्यवि**=इस पृथिवी पर **त्वा दस्मम्**=शत्रु–नाशक तुझको ही **उपभुवन्**=प्राप्त हों और **त्वा अनु भुवन्**=तेरे अनुकूल हों। **कृष्टयः**=सब प्रजाजन **ते सं नमन्त**=तेरे लिये झुकें।

भावार्थ–राजा को विनयशील होकर प्रजा का सेवक होना चाहिए जिससे समस्त प्रजा राजा की कृतज्ञ होकर उसके अनुकूल चलनेवाली होवे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धारः** ॥

ज्ञान-प्राप्ति के उत्तमोत्तम साधन हों

प्र वो महे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्। विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः ॥ १० ॥

पदार्थ–हे विद्वान् लोगो! आप लोग **वः**=अपने में से **महि वृधे**=बड़ों के बढ़ानेवाले, **महे**=गुणों में महान् के आदरार्थ **प्र भरध्वम्**=उत्तम पदार्थ प्रस्तुत करो और **प्र-चेतसे**=उत्तम चित्तवाले शिष्य और विद्वान् के लिये **सुमतिं**=उत्तम ज्ञान **प्र कृणुध्वम्**=अच्छी प्रकार सम्पादन करो। हे विद्वन्! **त्वं**=तू **चर्षणि-प्राः**=मनुष्यों को विद्या, बल से पूर्ण करनेवाला होकर **पूर्वीः विशः**=पिता,

पितामहादि से प्राप्त प्रजाओं को **प्र चर**=प्राप्त कर।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि वह अपने राष्ट्र में विभिन्न विद्याओं में निष्णात उत्तम विद्वानों को नियुक्त करे, जिससे राज्य के विचारशील उत्तम नागरिक विभिन्न प्रकार के ज्ञान–विज्ञान से युक्त होकर समृद्ध राष्ट्र का आधार बनें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धारः** ॥

राष्ट्रोन्नति के उत्तम नियम

उरुव्यचसे महिने सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः। तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः ॥ ११ ॥

पदार्थ–**उरु व्यचसे**=बड़े विश्व में व्यापक **महिने**=महान् **इन्द्राय**=ऐश्वर्यवान् प्रभु के लिये **विप्राः**=बुद्धिमान् पुरुष **सुवृक्तिम्**=उत्तम स्तुति और **ब्रह्म जनयन्त**=वेदमन्त्र प्रकट करते हैं। **धीराः**=वे उसी के ध्यान में मग्न होकर **तस्य व्रतानि**=उसके निमित्त करने योग्य धर्म कार्यों का **न मिनन्ति**=लोप नहीं करते।

भावार्थ–ईश्वर के उपासक भक्त जैसे ईश्वर के लिए उत्तम–उत्तम स्तुति के मन्त्रों को बोलकर ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं। उसी प्रकार विद्वान् लोग प्रजा को प्रेरित करें कि वे राष्ट्र की उन्नति के उत्तम नियमों का पालन करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धारः** ॥

क्रोध रहित राजा को धारण करे

इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै। हर्यश्वाय बर्हया समापीन् ॥ १२ ॥

पदार्थ–**वाणीः**=वाणीवत् शत्रुनाशक सेनाएँ **अनुत्त-मन्युम्**=शत्रु-उच्छेदन–संकल्प से युक्त **इन्द्रं**=ऐश्वर्यवान् **राजानं**=राजा को **सत्रा**=अपने साथ **सहध्यै**=शत्रु–पराजय के लिये **दधिरे**=धारण करें। हे प्रजाजन! **हर्यश्ववाय**=मनुष्यों में अश्ववत् बलवान्, पुरुष की वृद्धि हेतु **आपीन्**=आप्त बन्धु जनों को भी **सं बर्हय**=अच्छी प्रकार बढ़ा।

भावार्थ–सुप्रजा का पालक राजा अपनी रक्षा एवं न्याय आदि कार्यों से इतना लोकप्रिय होवे कि प्रजा अपने प्रियजनों को भी राजा का अनुयायी बनावे। क्रोध रहित राजा ही इतना लोकप्रिय हो सकता है।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ व देवता इन्द्र है।

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराड्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

राजा विलासी न हो

मो षु त्वा वाघतश्चनारे अस्मन्नि रीरमन्। आरात्ताच्चित्सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप श्रुधि ॥ १ ॥

पदार्थ–हे राजन्! **वाघतः**=विद्वान् **अस्मत् आरे**=हम से दूर **त्वा मो सु निरीरमन्**=तुझे विनोद में न रमने दें। **आरात्तात् चित्**=दूर रहता हुआ भी, तू **नः सधमादं आ गहि**=हमारे साथ आनन्द के लिये प्राप्त हो। **इह वा**=और इस राष्ट्र में **सन्**=रहकर **नः उप श्रुधि**=हमारे वचन सुन।

भावार्थ–राजा विद्वत् सभा के अधीन होवे। विद्वान् जन राजा को विलासी न होने दें। इससे प्रजा भी प्रेरणा पाकर विलासी नहीं होगी और राष्ट्र समर्थ रहेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मधुव्रती ब्राह्मण

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥ २ ॥

पदार्थ—हे राजन्! विद्वन्! **इमे ब्रह्म-कृतः**=ये वेद द्वारा स्तुतिकर्ता लोग **मधौ मक्षः न**=मधुर पदार्थ पर मधुमक्खी के समान **ते सुते**=तेरे शासन में **आसते**=विराजते हैं और **जरितारः**=स्तुतिशील **वसूयवः**=धन और नाना लोकों की कामनावाले लोग **रथे न पादम्**=रथ में पैर के समान **इन्द्रे कामम् आदधुः**=परमैश्वर्ययुक्त तुझ प्रभु में ही अपनी कामना को स्थिर करते हैं।

भावार्थ—विद्वान् लोग राष्ट्र में मधुमक्खी के समान स्वभाव-युक्त वाले होवें। जैसे मधुमक्खी अनेकों प्रकार के पुष्पों पर बैठकर उनसे पराग का एक-एक कण लाती है, तथा संग्रह कर मधुर मधु का निर्माण करती है। इससे पुष्प को कोई हानि नहीं होती, उसी प्रकार विद्वान् भी विभिन्न स्थानों पर जाकर राष्ट्रोन्नति हेतु विभिन्न विद्याओं का संग्रह करें। राजा भी कर अधिक न ले।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**साम्नीपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

राजा हमारा पालक हो

रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे ॥ ३ ॥

पदार्थ—मैं **रायस्कामः**=ऐश्वर्य का इच्छुक, **पितरं पुत्रः न**=पिता को पुत्र के समान **सु-दक्षिणं**=उत्तम दानशील, उत्तम क्रिया-सामर्थ्यवान्, **वज्रहस्तं**=बल-सम्पन्न राजा को अपना **पितरं**=पालक **हुवे**=स्वीकारता हूँ।

भावार्थ—जैसे पुत्र अपने पिता को अपना पालक मानता है, उसी प्रकार से प्रजा भी शत्रुओं से रक्षा करनेवाले राजा को अपना पालक स्वीकार करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

राष्ट्रधारक शासक की नियुक्ति

इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः।
ताँ आ मदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां याह्योक आ ॥ ४ ॥

पदार्थ—**इमे**=ये **दध्याशिरः**=राष्ट्र के धारक **सोमासः**=ऐश्वर्ययुक्त शासक **सुन्विरे**=प्रजा का शासन करें। हे **वज्रहस्त**=बल को हाथों में धारणकर्ता राजन्! **पीतये**=राष्ट्र-पालन के लिये **तान् आ याहि**=उनको प्राप्त कर और **हरिभ्याम्**=उत्तम अश्वों से, तू **ओकः आयाहि**=अपने गृह को आ।

भावार्थ—जो राजा वा सेनापति अपने राष्ट्र की रक्षा करने में सक्षम न हो, उसकी नियुक्ति राष्ट्र में नहीं होनी चाहिए। राजा वा सेनापति वही नियुक्त होवे जो राष्ट्र की रक्षा में समर्थ, तथा प्रजा व राष्ट्र की सम्पदा को सुरक्षित कर सके।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शासक प्रजा के कष्टों को सुने

श्रवच्छ्रुत्कर्ण ईयते वसूनां नू चिन्नो मर्धिषद्गिरः।
सद्यश्चिद्यः सहस्राणि शता ददन्नकिर्दित्सन्तमा मिनत् ॥ ५ ॥

पदार्थ–वसूनां=बसे प्रजाजनों की **गिरः**=वाणियों को जो राजा **श्रुतकर्णः**=सुननेवाले सावधान कानों से **श्रवत्**=सुने, वही **ईयते**=प्रार्थना किया जाता है। वह **नः गिरः चित् नु**=हमारी वाणियों को **मर्धिषत्**=चाहे, **सद्यः चित्**=अति शीघ्र **यः**=जो **शता सहस्राणि**=सैकड़ों और सहस्रों को **ददत्**=दे। **दित्सन्तम्**=दान देना चाहनेवाले को **न किः आ मिनत्**=कोई भी पीड़ित न करे।

भावार्थ–राष्ट्र में शासक वर्ग को संवेदनशील तथा प्रजा का हितकारी होना चाहिए। जब भी प्रजा जन शासक के पास अपने कष्टों के निवारणार्थ आवें, उनके कष्टों को सुनकर तुरन्त उसका समाधान करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

राजाज्ञा का पालन हो

स वीरो अप्रतिष्कुत इन्द्रेण शूशुवे नृभिः। यस्ते गभीरा सवनानि वृत्रहन्त्सुनोत्या च धावति ॥ ६ ॥

पदार्थ–यः=जो पुरुष, हे **वृत्रहन्**=दुष्टों के नाशक राजन्! **यः**=जो **ते**=तेरे **गभीरा**=गम्भीर **सवना**=आदेशों को **सुनोति**=करता और **आ-धावति च**=आगे बढ़ता है **सः**=वह **वीरः**=विविध विद्या और बल से युक्त पुरुष **इन्द्रेण**=ऐश्वर्य और **नृभिः**=उत्तम नायकों सहित **अप्रतिष्कृतः**= सर्वाधिक **शुशुवे**=हो जाता है।

भावार्थ–राजा को जनप्रिय तथा जनहितकारी नियमों का निर्माण वेद के विद्वानों की सम्मति से करना चाहिए। प्रजा को भी राजा की आज्ञा व शासनादेश का स्वेच्छा से पालन करना चाहिए। इससे राष्ट्र सुदृढ़ बनता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

समृद्ध प्रजा

भवा वरूथं मघवन्मघोनां यत्समजासि शर्धतः।
वि त्वाहतस्य वेदनं भजेमह्या दूणाशो भरा गयम् ॥ ७ ॥

पदार्थ–यत्=जो तू **शर्धतः**=शत्रुओं को **सम् अजासि**=एक साथ उखाड़ने में समर्थ हो और **शर्धतः सम् अजासि**=उत्साहवान् पुरुषों को एक साथ सेनावत् सञ्चालित करता है, वह तू **मघोनां**=धनवाले पुरुषों के **वरूथं**=गृह के समान रक्षक **भव**=हो। हम **त्वाहतस्य**=तेरे से मारे गये **शर्धतः**=बलवान् शत्रु के **वेदनं**=धन को **वि भजेमहि**=बाँट लें। **दुः-नाशः**=तू कठिनता से नाश होने योग्य होकर हमारे **गयम् आ भर**=गृह को प्राप्त करा और उसे पूर्ण कर।

भावार्थ–कुशल राजा वा सेनापति को योग्य है कि वह शत्रुओं को परास्त कर जो सम्पत्ति प्राप्त करे, उसे अपनी प्रजा में वितरित कर देवे जिससे उसकी प्रजा समृद्ध तथा ऐश्वर्यशाली बनी रहे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

राष्ट्रपति पराक्रमी हो

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे।
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित्पृणन्नित्पृणते मयः ॥ ८ ॥

पदार्थ–हे विद्वान् पुरुषो! आप लोग **सोमपाव्ने**=सोम ओषधिरस को पीनेवाले के लिये

सोमम् सुनोत=उत्तम ओषधिरस उत्पन्न करो। ऐसे ही **सोमपाव्ने**=ऐश्वर्य-पालन में समर्थ **इन्द्राय**=ऐश्वर्यवान् **वज्रिणे**=बलवान् पुरुष के लिये **सोमं**=ऐश्वर्य **सुनोत**=उत्पन्न करो। **अवसे**=तृप्ति के लिये **पक्तीः**=नाना पकने योग्य अन्नों को **पचत इत्**=पकाओ। **पृणन् इत्**=सबको पालन करनेवाला ही **मयः पृणते**=सबको सुख देता है।

भावार्थ–जैसे सोमरस की आहुति के लिए प्रचण्ड यज्ञाग्नि ही समर्थ होती है। उसी प्रकार राष्ट्र का अध्यक्ष भी प्रचण्ड पराक्रमवाला होना चाहिए। पराक्रमी राष्ट्राध्यक्ष ही राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

पुरुषार्थी की विजय

मा स्रेधत सोमिनो दक्षता महे कृणुध्वं राय आतुजे।
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे॥ ९॥

पदार्थ–हे **सोमिनः**=अन्नादि के पालक जनो! आप लोग **मा स्रेधत**=परस्पर नाश मत करो। **महे राये**=बड़ी धनैश्वर्य प्राप्ति और **आ-तुजे**=सब प्रकार के बल प्राप्त करने और ऐश्वर्य के लिये **दक्षत**=सदा यत्न करो। **तरणिः इत्**=संकटों को पार करनेवाला पुरुष ही **जयति क्षेति**=विजय करता और **पुष्यति**=समृद्ध होता है। **देवासः**=विद्वान् पुरुष **कवत्नये**=कुत्सित पुरुष के लिये **न**=नहीं होते।

भावार्थ–संसार समरांगण है। इसमें पुरुषार्थी पुरुष ही विजय पाता है। इसी प्रकार पुरुषार्थी, पराक्रमी पुरुष ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर राष्ट्र को समृद्ध एवं उन्नत ऐश्वर्ययुक्त बना सकता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धारः** ॥

राष्ट्ररक्षक तत्त्वदर्शी, शत्रुहन्ता हो

नकिः सुदासो रथं पर्यास न रीरमत्।
इन्द्रो यस्याविता यस्य मरुतो गमत्स गोमति व्रजे॥ १०॥

पदार्थ–**यस्य**=जिसका **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान्, वीर, प्रभु **अविता**=रक्षक है, **यस्य मरुतः**=जिसके रक्षक, शिक्षक, बलवान् विद्वान् हैं **सः**=वह पुरुष **गोमति व्रजे**=वाणी-युक्त प्राप्तव्य ज्ञान मार्ग में नाना भूमियों और गवादि से सम्पन्न पद को **गमत्**=पाता है। **सु-दासः**=उत्तम दाता के **रथं**=रथ को **नकिः परि आस**=कोई पलट नहीं सकता और **न रीरमत्**=न अन्य उसे दुःख दे सकता है।

भावार्थ–ईश्वर भक्त, तत्त्वद्रष्टा पुरुष जैसे जीवन में काम, क्रोधादि शत्रुओं=विकारों को जीतकर नष्ट कर देता है। उसी प्रकार उत्तम विद्वान् अध्यापकों से प्रेरित नीतिज्ञ राष्ट्र नायक को भी शत्रु का विनाश कर राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

भूमि रक्षक राजा

गमद्वाजं वाजयन्निन्द्र मर्त्यो यस्य त्वमविता भुवः।
अस्माकं बोध्यविता रथानामस्माकं शूर नृणाम्॥ ११॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! **यस्य भुवः**=जिसकी भूमि वा प्राणों की **त्वम् अविता**=तू रक्षा करता, **वाजयन्**=ऐश्वर्य, अन्न आदि की कामना करता है वह **मर्त्यः**=मनुष्य **वाजं**=ऐश्वर्य, अन्नादि **गमत्**=प्राप्त करता है। हे **शूर**=शत्रुनाशक! तू **अस्माकम्**=हमारा और हमारे **नृणाम्**=मनुष्यों और **रथानाम्**=रथों, रमण-योग्य देहों का भी **अविता**=रक्षक होकर **अस्माकं बोधि**=हमें ज्ञान दे।

भावार्थ–राष्ट्र नायक को ऐसी नीति का निर्धारण करना चाहिए, जिससे उसकी पराक्रमी सेना राष्ट्र की सीमा की रक्षा प्राणपण से करे। जो राजा अपनी मातृभूमि की सीमाओं की रक्षा करने में समर्थ न हो विद्वानों के सहयोग से प्रजा उसे राजसिंहासन से अलग कर देवे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

ज्ञान-कर्म उन्नत हो

उदिन्न्वस्य रिच्यतेंऽशो धनं न जिग्युषः।
य इन्द्रो हरिवान्न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि॥ १२॥

पदार्थ–**यः**=जो पुरुष **इन्द्रः**=सूर्य-तुल्य तेजस्वी, **हरिवान्**=अश्व-सैन्यों का स्वामी होकर **सोमिनि**=ऐश्वर्यवान् पुरुष में **दक्षं दधाति**=बल धारण करता है **तम्**=उसको **रिपोः**=शत्रु का भय नहीं रहता है, और वह **जिग्युषः न**=विजेता के तुल्य **अस्य इत् नु**=उसका **अंशः धनं न**=भाग वा धन **उद्रिच्यते**=सर्वाधिक होता है।

भावार्थ–शत्रु के नाश में जैसे पराक्रमी वीर योद्धा को उसके शौर्य हेतु पदक से सम्मानित किया जाता है। उसी प्रकार से राष्ट्र में ज्ञानपूर्वक राष्ट्र की उन्नति हेतु उन्नत कर्म करनेवाले नागरिकों को शासन पुरुस्कृत कर प्रोत्साहित करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

सत्कर्मी राजा का ऐश्वर्य

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत्॥ १३॥

पदार्थ–हे विद्वान् पुरुषो! **यज्ञियेषु**=सत्कार-योग्य जनों और दान आदि व्यवहारों में **अखर्वं**=बहुत अधिक **सु-धितम्**=उत्तम रीति से रक्षित, **सुपेशसं**=उत्तम रूप से युक्त, **मन्त्रं**=मन्त्र को **आ दधात**=धारण करो। **पूर्वीः चन**=पूर्व के भी **प्र-सितयः**=उत्तम प्रेम-बन्धन **तं तरन्ति**=उसको प्राप्त होते हैं **यः**=जो पुरुष **कर्मणा**=सत्कर्म से **इन्द्रे भुवत्**=परमेश्वर में दत्तचित्त रहता है।

भावार्थ–राजा को अपने राज्य में ईश्वर द्वारा प्रेरित सत्कर्मों को करना चाहिए। जिससे प्रजा में उसका अपार-सत्कार बढ़े तथा प्रजा ऐसे सत्कर्मी राजा की प्रशंसक, अनुयायी होकर राष्ट्र की एकता व अखण्डता में सहायक बने। इससे राजा ऐश्वर्यशाली तथा राष्ट्र समृद्ध बनेगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धारः** ॥

ज्ञानवान् और बलवान् ऐश्वर्यवान् होते हैं

कस्तमिन्द्र त्वावसुमा मर्त्यो दधर्षति।
श्रद्धा इत्ते मघवन्पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति॥ १४॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=प्रभो! **त्वा वसुम्**=तुझमें ही बसनेवाले **तं**=उस पुरुष को **कः**=कौन

मर्त्यः=मनुष्य **आ दधर्षति**=तिरस्कार कर सकता है? हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन् **ते**=तेरे **पार्ये दिवि**=पालन योग्य व्यवहारवाले ज्ञान में **श्रद्धा इत्**=सत्य धारण ही है, जिससे प्रेरित **वाजी**=ज्ञानवान् पुरुष **वाजं सिषासति**=ऐश्वर्य-भोग करता है।

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के अधीन रहकर जो शासक वा राजा वेदाज्ञा का पालन करता हुआ अपने ज्ञान व बल की वृद्धि करता है तथा राष्ट्र में विद्वानों=वैज्ञानिकों व बलवानों=सैनिकों को पुष्ट एवं प्रोत्साहित करता है निश्चय से वह राष्ट्र को ऐश्वर्यवान् बनाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

न्याययुक्त शासन से प्रजा सुखी

मघोनः स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु।
तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥ १५ ॥

पदार्थ—**ये**=जो लोग **प्रिया वसु**=प्रिय धन **ददति**=दान करते हैं उन **मघोनः**=ऐश्वर्यवान् पुरुषों को **वृत्र-हत्येषु**=शत्रुनाशक संग्राम आदि कार्यों में **चोदय स्म**=प्रेरित कर। हे **हरि-अश्व**=मनुष्यों के स्वामिन्! **तव**=तेरी **प्रणीती**=उत्तम नीति में **सूरिभिः**=विद्वानों की सहायता से **विश्वा दुरिता**=सब दुःखजनक कारणों को **तरेम**=पार करें।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि विद्वानों की सम्मति एवं परामर्श से राष्ट्र को उन्नत करने की नीति तैयार कर लागू करे तथा उन विद्वानों के सहयोग से न्याययुक्त शासन व्यवस्था प्रदान कर प्रजा को सुखी एवं समृद्ध बनावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

राजा श्रेष्ठ प्रजा पुष्ट

तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम्।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिष्ट्वा गोषु वृण्वते ॥ १६ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=प्रभो! **अवमं वसु**=निकृष्ट, प्रजा-पालक धन, भूमि, वस्त्रादि और **मध्ययम् वसु**=मध्यम कोटि का धन, चाँदी, सोना आदि विनिमय का माध्यम बन सके, जिससे **तां पुष्यसि**=उस प्रजा को पुष्ट करता है वह सब **तव इत्**=तेरा ही है और **परमस्य**=सर्वोत्कृष्ट **विश्वस्य**=समस्त ऐश्वर्य के द्वारा **सत्रा**=तू अपने सत्य के बल से **राजसि**=राजा के समान है। **गोषु**=भूमियों पर शासन के लिये **त्वा**=तुझे **नकिः वृण्वते**=भला कौन स्वीकार न करे।

भावार्थ—जनहित एवं जनकल्याण के कार्यों में राजकोश के धन का व्यय करनेवाला राजा जनप्रिय एवं श्रेष्ठ होता है। ऐसे राजा की प्रजा भी पुष्ट एवं समृद्ध होती है। ऐसे राजा के राज्य की श्रीवृद्धि को कोई नहीं रोक सकता।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दुष्टों का अभिभव

त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवोऽवस्युर्नाम भिक्षते ॥ १७ ॥

पदार्थ—**ये**=जो **ईम्**=सब ओर **आजयः भवन्ति**=संग्राम होते हैं उनमें **त्वं**=तू **विश्वस्य धनदाः श्रुतः असि**=सबका धनदाता प्रसिद्ध है। हे **पुरु-हूत**=प्रशंसित! **अयं**=यह **विश्वः**=समस्त

पार्थिवः=पृथिवीवासी राज-प्रजावर्ग **अवस्युः**=रक्षा चाहता हुआ **तव नाम**=दुष्टों को नमानेवाले तेरे अधीन रहना **भिक्षते**=चाहता है।

भावार्थ-राज्य की प्रजा उस पराक्रमी, तेजस्वी राजा को चाहती है, जो राष्ट्र में दुष्टों को दण्डित कर उनके ऐश्वर्य को छिन्न-भिन्न करके राजनियमों में चलने के लिए बाध्य करता है तथा दुष्टता के अहम् को झुका देता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः-**मध्यमः** ॥

धन धर्म में व्यय हो

यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय। स्तोतारमिद्दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय ॥ १८ ॥

पदार्थ-हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **यत्**=जैसे और **यावतः**=जितने भी धन का **त्वम्**=तू स्वामी है **एतावत्**=उतना ही **अहम्**=मैं भी **ईशीय**=स्वामी हो जाऊँ। हे **रदावसो**=शत्रु-कर्षक बसी प्रजा के स्वामिन्! मैं उस से **स्तोतारम् इत्**=स्तुतिकर्ता को ही **दिधिषेय**=पालूँ। मैं अपना धन **पापत्वाय**=पाप-वृद्धि हेतु **न रासीय**=न दूँ।

भावार्थ-राष्ट्र के कोष का धन सदैव धर्म, सेवा एवं राष्ट्रहित के कार्यों में ही व्यय होवे। किसी भी पाप कर्म में राष्ट्र का धन न लगे। राजा राज्य में शराब, तम्बाकू, मांसाहार आदि कार्यों को प्रोत्साहित करने में राजकोष का व्यय न करे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

पूज्य पुरुषों का आदर

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे।
नहि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥ १९ ॥

पदार्थ-मैं ऐश्वर्यवान् होकर **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **कुह चिद्विदे**=कहीं भी विद्यमान, **महयते**=पूज्य पुरुष के आदरार्थ **रायः**=नाना धन **शिक्षेयम् इत्**=दिया ही करूँ। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन्! **त्वत् अन्यत्**=तुझसे दूसरा **नः**=हमारा **वस्यः**=श्रेष्ठ **आप्यं**=बन्धु और **पिता चन**=पालक भी **नहि अस्ति**=नहीं है।

भावार्थ-जिस राज्य में पूज्य पुरुषों का अनादर तथा अपूज्यों का सम्मान होता है वहाँ अकाल, मृत्यु तथा भय व्याप्त हो जाता है। अतः राजा एवं प्रजा दोनों को चाहिए कि वे पूज्य पुरुषों का सत्कार करें तथा उनसे मार्गदर्शन प्राप्त कर राष्ट्रोन्नति में सहयोग प्राप्त करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः-**गान्धारः** ॥

शिल्पकारों का सम्मान

तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्र्वम् ॥ २० ॥

पदार्थ-**तरणिः इत्**=संकट से तारने में कुशल पुरुष ही **युजा पुरन्ध्या**=नगर-धारक नीति **युजा**=सहायक वर्ग से **वाजं सिशासति**=ऐश्वर्य को विभक्त करता है। हे प्रजाजनो! मैं **वः**=आप में से **इन्द्रं**=ऐश्वर्य-युक्त **पुरुहूतं**=बहु प्रशंसित **सुद्र्वं**=स्थिर पुरुष को **गिरा**=वाणी से **तष्टा इव सुद्र्वं नेमिम्**=शिल्पी से बनाई काष्ठमय चक्र-धार के तुल्य **नमे**=नमाऊँ।

भावार्थ-राजा एवं प्रजा मिलकर राष्ट्रोन्नति में सहायक उत्तम शिल्पकारों=विभिन्न कारीगरों

का सम्मान करें। विभिन्न प्रकार की शिल्पों में निष्णात शिल्पकारों को प्रोत्साहित करने से शिल्पकलाओं से सम्पन्न राष्ट्र समृद्ध होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

निन्दा से उत्तम धन प्राप्त नहीं होता

न दुंष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।
सुशक्तिरिन्मघवन्तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि॥ २१॥

पदार्थ—**मर्त्यः**=मनुष्य **दुःस्तुती**=दुष्ट की स्तुति से **वसु न विन्दते**=धन नहीं पाता। **स्रेधन्तं**=हिंसक जन को **रयिः**=ऐश्वर्य **न नशत्**=नहीं मिलता और उसको **सुशक्तिः इत् न नशत्**=उत्तम शक्ति भी नहीं मिलती। हे **मघवन्**=धन-स्वामिन्! **यत्**=जो **पार्थे दिवि**=पालने योग्य व्यवहार में **मावते**=मेरे जैसे याचक को **देष्णं**=देने योग्य धन देने की **सुशक्ति इत् तुभ्यम्**=उत्तम शक्ति भी तेरी ही है।

भावार्थ—राज्य में निन्दक तथा हिंसक लोग न रहें। ऐसे निन्दितों को प्रोत्साहन न मिले; ऐसा राजनियम होवे। निन्दा व हिंसा से कभी भी उत्तम धन प्राप्त नहीं हो सकता।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ईश्वर के प्रति समर्पण

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाइव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥ २२॥

पदार्थ—हे **शूर**=दुष्ट-नाशक! **अदुग्धाः धेनवः इव**=न दुही गौओं के तुल्य हम **अस्य जगतः**=इस जंगम और **तस्थुषः**=स्थावर संसार के **ईशानम्**=सञ्चालक **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यवान्! **स्वर्दृशं त्वाम्**=सर्वद्रष्टा तुझको, **अभि नोनुमः**=झुकते हैं।

भावार्थ—जैसे पावसी हुई गाय ग्वाले के प्रति समर्पित हो जाती है। उसी प्रकार राष्ट्र के राजा और प्रजा ईश्वर के प्रति समर्पित होकर समस्त कार्यों को करें। ईश्वर की आज्ञा वेद के आदेश का पालन करें तथा उस प्रभु का धन्यवाद करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

भगवान जैसा कोई नहीं

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥ २३॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! राजन्! **मघवन्**=ऐश्वर्य-स्वामिन्! **त्वावान्**=तेरे जैसा, **अन्यः**=दूसरा, **न दिव्यः**=न ज्ञानवान्, **न पार्थिवः**=न दूसरा कोई इस पृथ्वी पर है। ऐसा **न जातः**=न पैदा हुआ **न जनिष्यते**=न पैदा होगा। हम **वाजिनः**=बल से युक्त, **अश्वायन्तः**=विद्वानों व राष्ट्र के इच्छुक और **गव्यन्तः**=वाणियों, भूमियों के इच्छुक होकर **त्वा हवामहे**=तेरी स्तुति करते हैं।

भावार्थ—ईश्वर के समान विद्वान्, बलवान तथा ऐश्वर्यवान कोई नहीं है और न होगा। अतः उस प्रभु की प्रभुता में रहकर ही मनुष्य विद्वान्, बलवान और ऐश्वर्यवान बने। राजा को चाहिए कि वह भी ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभावों को धारण करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ऐश्वर्यवान परमात्मा

अभी षतस्तदा भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः।
पुरूवसुर्हि मघवन्त्सनादसि भरेभरे च हव्यः॥ २४॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्ययुक्त! हे **मघवन्**=धन-स्वामिन्! तू **पुरू-वसुः**=बहुतों को बसानेवाला और **सनात्**=सनातन से **भरे भरे च हव्यः**=प्रत्येक पालन-योग्य कार्य में स्तुति-योग्य **असि**=है। तू **सतः**=सत्स्वरूप और **कनीयसः**=अति दीप्तियुक्त, परम तत्त्व का **ज्यायः**=महान् ज्ञान **आ भर**=प्राप्त करा।

भावार्थ—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी परमेश्वर से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता पाने हेतु प्रार्थना करे। उसकी आज्ञा में रहे तथा पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा ईश्वर की आज्ञा का पालन करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शत्रु का पराभव

परा णुदस्व मघवन्नमित्रान्त्सुवेदा नो वसू कृधि।
अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम्॥ २५ ॥

पदार्थ—हे **मघवन्**=धन के स्वामिन्! तू **नः अमित्रान्**=हमारे शत्रुओं को **परा नुदस्व**=दूर कर और **नः**=हमें **वसू**=नाना ऐश्वर्य **सुवेदा कृधि**=सुख से प्राप्त करने योग्य कर। **महाधने**=संग्राम के समय वा भारी ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये, तू **अस्माकं**=हमारा **अविता**=रक्षक हो **बोधि**=हमें चेताता रह और **अस्माकं सखीनाम्**=हमारे मित्रों का **वृधः भव**=बढ़ाने हारा हो।

भावार्थ—परमात्मा से प्रार्थना करें कि जीवन संग्राम में काम, क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं का पराभव करने हेतु हे प्रभो! सामर्थ्य दे तथा सांसारिक शत्रु देश-द्रोही व विदेशी शासक, सैनिक आदि को विजय करने हेतु आत्मिक बल एवं प्रेरणा प्रदान करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः शक्तिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ज्ञानदाता परमेश्वर

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ २६ ॥

पदार्थ—**पिता**=पालक, गुरु, **पुत्रेभ्यः**=पुत्रों, शिष्यों को **यथा**=जैसे **क्रतुं**=ज्ञान का उपदेश देता है वैसे ही, हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! तू **नः**=हमें भी **क्रतुम् आ भर**=उत्तम बुद्धि दे। **अस्मिन् यामनि**=इस समय, यज्ञ और संसारमार्ग में, हे **पुरुहूत**=बहु-प्रशंसित! तू **नः शिक्ष**=हमें ज्ञान दे जिससे **जीवाः**=हम सब जीव **ज्योतिः अशीमहि**=परम प्रकाशरूप तुझे प्राप्त करें।

भावार्थ—आचार्यों, विद्वानों तथा गुरु जनों से प्रेरणा एवं ज्ञान प्राप्त करके जैसे हम सांसारिक बाधाओं एवं शत्रुओं पर विजय पाते हैं। उसी प्रकार परमेश्वर से प्रार्थना करें कि हे प्रभो! हमें जीवन संग्राम में विजय पाने हेतु सद्बुद्धि व सुप्रेरणा तथा ज्ञान प्रदान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सुखी बसे संसार सब

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासो अव क्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥ २७ ॥

पदार्थ—**नः**=हमें **अज्ञाताः**=अज्ञात **वृजनाः**=वर्जने योग्य, **दुराध्यः**=दुःख से ध्याने योग्य, **अशिवासः**=दुष्ट लोग **मा अव क्रमुः**=मत रौंदें। हे **शूर**=दुष्ट-नाशक **वयम्**=हम **त्वया**=तेरी सहायता से **प्रवतः**=विनीत होकर **शश्वती अपः**=अनादि काल से प्राप्त कर्म बन्धनों को नदी-तुल्य **अति तरामसि**=पार करें।

भावार्थ—जीवन में ईश्वर आराधना से मनुष्य समस्त कष्टों, बाधाओं तथा दुःखों को पार कर सकता है। उपासक सदैव यही प्रार्थना करता है कि—सुखी बसे संसार सब दुखिया रहे न कोय। संसार में मैं भी तो आता हूँ। इसलिए हे प्रभो! सब के साथ मेरा भी बेड़ा पार हो जाएगा।

अगले सूक्त के ऋषि वसिष्ठ पुत्र तथा वसिष्ठ और देवता भी वशिष्ठ ही है।

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठपुत्राः** ॥ देवता—**त एव** ॥
छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विद्वानों का सम्मान

श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियंजिन्वासो अभि हि प्रमन्दुः ।
उत्तिष्ठन्वोचे परि बर्हिषो नॄन्न मे दूरादवितवे वसिष्ठाः ॥ १ ॥

पदार्थ—**श्वित्यञ्चः**=वृद्धि को प्राप्त, **दक्षिणतः-कपर्दाः**=दायें भाग में जटा-जूट रखनेवाले **धियं-जिन्वासः**=उत्तम मति को प्राप्त, **वसिष्ठाः**=ब्रह्मचारी, वसुगण **मा अभि प्रमन्दुः हि**=मुझे आनन्दित करें और वे **अवितवे**=ज्ञान देने के लिये **दूरात्**=दूर देश से भी आयें। उन **नॄन्**=उत्तम पुरुषों का मैं **बर्हिषः**=वृद्धियुक्त आसन से **उत् तिष्ठन्**=उठकर **परि वोचे**=आदर-युक्त वचन से सत्कार करूँ।

भावार्थ—उत्तम कोटि के विद्वानों को देव कहा गया है। जब कभी कोई ऐसा विद्वान् घर पर आवे तो श्रद्धा के साथ खड़े होकर उत्तम वाणी एवं उत्तम आसन आदि के द्वारा उनका सम्मान करें। गृहस्थी कामना किया करें कि दूर स्थानों से चलकर भी ऐसे विद्वान् हमारे पास आवें, जिनसे हमें मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे।

ऋषिः—**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठपुत्राः** ॥ देवता—**त एव** ॥
छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऐश्वर्यवान् पुरुष का वरण

दूरादिन्द्रमनयन्ना सुतेन तिरो वैशन्तमति पान्तमुग्रम् ।
पाशद्युम्नस्य वायतस्य सोमात्सुतादिन्द्रोऽवृणीता वसिष्ठान् ॥ २ ॥

पदार्थ—विद्वान् लोग **वैशन्तम्**=राष्ट्र में प्रविष्ट, प्रजा-हितकारी **उग्रम्**=बलवान् **पान्तम्**=पालक **इन्द्रम्**=ऐश्वर्य को **सुतेन**=धर्म से उत्पन्न बल से **दूरात्**=दूर देश से भी **तिरः अनयन्**=पास ले

आते हैं, उन **वसिष्ठान्**=राष्ट्रवासी उत्तम पुरुषों को **पाश-द्युम्नस्य**=धन से पास में फँसे वैश्यवर्ग और **वायतस्य**=विज्ञानवान् पुरुषों और रक्षा-युक्त क्षात्रवर्ग के **सुतात् सोमात्**=उत्तम अन्न और ज्ञान से **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् पुरुष **अवृणीत**=उनका सत्कार करे।

भावार्थ–विविध विद्याओं में निष्णात उत्तम कोटि के विद्वान् विदेशों तथा अन्य राज्यों में जाकर अपनी विद्या के प्रभाव से ऐश्वर्य का संग्रह करके स्वदेश में लाकर राष्ट्र को सम्पन्न एवं ऐश्वर्यशाली बनाते हैं। ऐसे विद्वानों का सम्मान राष्ट्र के व्यापारी, सेना व सेनापति, विज्ञानवेत्ता तथा किसान-मजदूर सभी मिलकर किया करें।

ऋषिः–**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठपुत्राः** ॥ देवता–**त एव** ॥
छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राष्ट्र में फूट न पड़े

एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः ॥ ३ ॥

पदार्थ–हे **वसिष्ठाः**=राष्ट्र में बसे प्रजाजनो! **वः एभिः**=आप में से ही इन जनों की सहायता से **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् पुरुष **सिन्धुं नु कं ततार इत्**=बड़े समुद्र को भी पार करे **एभिः**=इन विशेष जनों सहित **भेदं नु कं ततार एव इत्**=फूट डालनेवाले शत्रु को भी पार करे। **वः ब्रह्मणा**=आप लोगों के बल, ज्ञान से ही वह **दाशराज्ञे**=सुखदाता राजा के लिये **एव नु कं**=भी **सुदासं**=उत्तम दानशील प्रजा की **प्रावत्**=रक्षा करे।

भावार्थ–समस्त प्रजा, गुरुकुलों के ब्रह्मचारी, समस्त सेना व सेनापति मिलकर विदेशों से ऐश्वर्य लाकर राष्ट्र व राजा को ऐश्वर्य सम्पन्न बनानेवाले उत्तम विद्वानों का सहयोग करें। राष्ट्र के अन्दर देश-द्रोही दुष्प्रचार के द्वारा राष्ट्र में फूट पैदा न कर सकें इसके प्रति भी राजा, सेना व प्रजा सावधान रहें।

ऋषिः–**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठपुत्राः** ॥ देवता–**त एव** ॥
छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्रजा बलवती हो

जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितॄणामक्षमव्ययं न किला रिषाथ।
यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे शुष्ममदधाता वसिष्ठाः ॥ ४ ॥

पदार्थ–हे **नरः**=उत्तम जनो! आप **वः**=अपने **पितॄणाम्**=पालक जनों के **अव्ययं**=अविनाशी **अक्षम्**=सत्यदर्शक ज्ञान-ऐश्वर्य को **ब्रह्मणा**=बल से **न किल रिषाथ**=नाश न करो, प्रत्युत् **जुष्टी**=प्रेमपूर्वक **अदधात**=धारण करो **यत्**=जिस **शुष्मं**=बल को, हे **वसिष्ठाः**=गुरु के अधीन रहनेवालो और राष्ट्रवासी जनो! आप लोग **बृहतः रवेण**=भारी आघोष के साथ **शक्वरीषु**=शक्ति-युक्त सेनाओं और **इन्द्रे**=ऐश्वर्य-युक्त राजा में, उसके अधीन रहकर **अदधात**=धारते रहो।

भावार्थ–जिस प्रकार गुरुकुलों में ब्रह्मचारी गण अपने आचार्य के निर्देश में रहकर ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्या-प्राप्ति एवं ज्ञान की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र की प्रजा, राजा व सेना के नियन्त्रण में रहकर राजनियमों का पालन करते हुए राष्ट्र एवं राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा करे।

ऋषिः—**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठपुत्राः** ॥ देवता—**त एव** ॥
छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दानशील तेजस्वी राजा

उद्द्यामि॒वेत्तृ॒ष्णजो॑ नाथि॒तासोऽदी॑धयुर्दाशरा॒ज्ञे वृ॒तास॑: ।
वसि॑ष्ठस्य स्तुव॒त इन्द्रो॑ अश्रोदु॒रुं तृत्सु॑भ्यो अकृणोदु लो॒कम् ॥ ५ ॥

पदार्थ—वृतासः=वरण किये गये **तृष्णजः**=तृष्णा, वा धन की कामना से युक्त **नाथितासः**=धनादि-याचना करनेवाले लोग **दाशराज्ञे**=दानशीलों में तेजस्वी राजा के लिये **द्याम् इव**=सूर्य के तुल्य तेज, या भूमि को **उद् अदीधयुः**=उत्तम रीति से धारण करें। **स्तुवतः**=स्तुतिकर्ता **वसिष्ठस्य**=बसे उत्तम प्रजाजन की बात **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् तेजस्वी राजा **अश्रोत्**=सुने और वह **तृत्सुभ्यः**=शत्रु नाशक सैनिकों के लिये **उरुम् लोकम्**=बड़ा स्थान **अकृणोत्**=दे।

भावार्थ—सूर्य जैसे ऊर्जा को सबके लिए देता रहता है उसी प्रकार राजा भी अपने राष्ट्र में तेजस्वी होकर याचकों, पात्रों को दान देता रहे। प्रजा के कल्याणार्थ राजा जल, स्वास्थ्य, शिक्षा, सुरक्षा, संरक्षा आदि की परियोजनाओं में धन लगाकर प्रजा का प्रिय बने।

ऋषिः—**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठपुत्राः** ॥ देवता—**त एव** ॥
छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा अग्रगामी नायक हो

द॒ण्डाइ॒वेद्गो॒अज॑नास आस॒न्परि॑च्छिन्ना भर॒ता अ॑र्भ॒कास॑: ।
अभ॑वच्च पुरए॒ता वसि॑ष्ठ॒ आदित्तृत्सू॑नां॒ विशो॑ अप्रथन्त ॥ ६ ॥

पदार्थ—दण्डा इव परिच्छिन्ना गो-अजनासः=दण्ड जैसे शाखा से कटकर भी पशु आदि को हाँकने के लिये उत्तम होते हैं वैसे **परिछिन्नाः**=सब प्रकार से कटे-छटे, कुशल, **भरताः**=प्रजापालक **अर्भकासः**=बालकों के समान निर्द्वेष, स्वच्छ-हृदय दण्डों के समान ही **दण्डाः**=दुष्टों के दमनकर्ता **गो-अजनासः**=भूमियों को शासन करनेवाले **आसन्**=हों। **वसिष्ठः**=प्रजा को बसानेवाला राजा, इनका **पुरः-एता**=अग्रयायी नायक **अभवत्**=हो और **आत् इत्**=अनन्तर **तृत्सूनां**=शत्रुहिंसक वीर पुरुषों को ही यह **विशः**=प्रजाएँ **अप्रथन्त**=प्रसिद्ध होती हैं।

भावार्थ—जैसे शाखा से कटकर अलग हुआ दण्ड ही पशु आदि को नियन्त्रण करने में समर्थ होता है उसी प्रकार दल, वर्ग, जाति, सम्प्रदाय आदि के भावों से ऊपर उठा हुआ राजा ही राष्ट्र की प्रजा को नियमों में चलाने में समर्थ होता है। वही अपने दण्ड विधान को प्रबल कर शत्रु को भी जीत सकता है।

ऋषिः—**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठपुत्राः** ॥ देवता—**त एव** ॥
छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तेजस्वी प्रजा

त्रय॑: कृण्वन्ति॒ भुव॑नेषु॒ रेत॑स्ति॒स्रः प्र॒जा आर्या॒ ज्योति॑रग्राः ।
त्रयो॑ घ॒र्मास॑ उ॒षसं॑ सचन्ते॒ सर्वाँ॑ इ॒त्ताँ अनु॑ वि॒दुर्वसि॑ष्ठाः ॥ ७ ॥

पदार्थ—त्रयः=तीन **भुवनेषु**=उत्पन्न लोकों में **रेतः**=जल, तेज, वीर्य को **कृण्वन्ति**=उत्पन्न

करते हैं और **तिस्रः**=तीन प्रकार की **आर्याः प्रजाः**=श्रेष्ठ प्रजाएँ **ज्योतिः अग्राः**=प्रकाश को मुख्य रूप से प्राप्त होती हैं, **त्रयः**=तीनों **घर्मासः**=वीर्यवान् ही **उषसं**=उषा को सूर्यवत्, कामना-योग्य भूमि वा शक्ति को **सचन्ते**=प्राप्त करते हैं **तान् सर्वान् इत्**=उन सबको ही **वसिष्ठाः अनु विदुः**=विद्वान् ब्रह्मचारी अच्छी प्रकार जानते और प्राप्त करते हैं। (२) लोक में सूर्य, विद्युत् और अग्नि तीनों **रेतः**=प्रजोत्पादक तेज को उत्पन्न करते और सूर्य, वायु और भूमि तीनों प्रजोत्पादक प्रकाश, प्राणाधार जल और अन्न को उत्पन्न करते हैं, तीनों प्रकार की श्रेष्ठ प्रजाएँ, जेरज, अण्डज, उद्भिज **ज्योतिरग्राः**=प्रकाश की ओर बढ़नेवाली हैं **त्रयः धर्मासः**=तीनों तेजोयुक्त सूर्य, अग्नि, विद्युत् वा सूर्य, मेघ और बलवान् पुरुष **उषसं**=दाहक तापशक्ति, कान्ति तथा कामना योग्य स्त्री को प्राप्त करते हैं। उन पदों को **वसिष्ठाः**=ब्रह्मचारी ही **अनु विदुः**=प्राप्त करें।

भावार्थ–राष्ट्र को तेजस्वी राष्ट्राध्यक्ष ही धारण कर सकता है। लोकतन्त्र में प्रजा में से ही राजा का चयन होता है। अतः राष्ट्र की समस्त प्रजा को तेजस्वी होना चाहिए। प्रजा को तेजस्वी बनाने हेतु राजा राजनियम लागू करे कि राज्य का प्रत्येक पाँच वर्ष का बालक/बालिका गुरुकुल में पढ़ने जावे तथा वहाँ आचार्य/आचार्या के निर्देशन में ब्रह्मचर्य के तप से तेजस्वी बने।

ऋषिः–**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठपुत्राः** ॥ देवता–**त एव** ॥
छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वान् समुद्र के समान गम्भीर हों

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः ॥ ८ ॥

पदार्थ–हे **वसिष्ठाः**=ब्रह्मचारी लोगो! हे राष्ट्रवासी जनों में श्रेष्ठ जनो! **एषां**=इन **वः**=आप लोगों का **वक्षथः**=तेज और वचन **सूर्यस्य ज्योतिः इव**=सूर्य-तेज के समान असह्य और यथार्थ का प्रकाशक हो। **महिमा**=महान् सामर्थ्य **समुद्रस्य इव गभीरः**=समुद्र-समान गम्भीर हो। **प्रजवः**=उत्तम वेग **वातस्य इव**=वायु के समान अदम्य हो और **वः**=आप लोगों का **स्तोमः**=बलवीर्य, चरित ऐसा हो जो **अन्येन**=दूसरे असमर्थ पुरुष से **अन्वेतवे न**=अनुकरण न किया जा सके।

भावार्थ–राष्ट्र में विविध विद्याओं में निष्णात विद्वानों को सूर्य के समान तेजस्वी होना चाहिए। जैसे सूर्य की ओर कोई आँख नहीं उठा सकता, उसी प्रकार विद्वान् की ओर कोई अंगुली न उठा सके। उन विद्वानों को समुद्र के समान गम्भीर होना चाहिए। वे राष्ट्र की समस्याओं तथा उन्नति की योजनाओं पर गहनता के साथ चिन्तन करनेवाले होवें।

ऋषिः–**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठपुत्राः** ॥ देवता–**त एव** ॥
छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

तेजस्वी राष्ट्र

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति ।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः ॥ ९ ॥

पदार्थ–**ते इत् वसिष्ठाः**=वे ही पूर्ण ब्रह्मचारी, गुरु के अधीन विद्या-प्राप्ति के लिये बसने हारे जन **यमेन**=नियन्त्रक आचार्य वा परमेश्वर द्वारा **ततं**=विस्तारित **परिधि**=सब प्रकार से धारण-योग्य ज्ञान, व्रत और दीक्षादि को **वयन्तः**=प्राप्त होते और उसका पालन करते हुए **अप्सरसः उपसेदुः**=गृहाश्रम में स्त्रियों को प्राप्त करें। **त इत्**=वे ही **हृदयस्य**=हृदय के **प्रकेतैः**=उत्तम ज्ञानों

से सहस्रों अंकुरों, शास्त्र-ज्ञानों से युक्त **निण्यं**=निश्चित ज्ञान को **अभि सञ्चरन्ति**=प्राप्त कर विचरें।

भावार्थ–गुरुओं के पास ब्रह्मचर्य के तप से तपकर विद्याओं में निष्णात दीप्तिमान विद्वान् ब्रह्मचारी विभिन्न विषयों में शोध करके राष्ट्र को ज्ञान-विज्ञान से भरपूर करें। सैनिक व सेनापति ब्रह्मचर्य के तप से वीर्यवान् व शौर्यवान् होकर राष्ट्र की सीमाओं की रक्षा करें। संन्यासी-महात्मा गण ब्रह्मचर्य के तप द्वारा ईश्वर की प्राप्ति योगाभ्यास द्वारा करके राष्ट्र की प्रजा को अध्यात्म का उपदेश करके तेजस्वी बनावें।

ऋषिः–**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठः** ॥ देवता–**त एव** ॥
छन्दः–**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

जीव के दो जन्म

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार॥ १०॥

पदार्थ–जीवों के पुनर्जन्म का रहस्य। हे **वसिष्ठ**=देहवासी प्राणों में सबसे श्रेष्ठ जीव! **विद्युतः ज्योतिः**=विद्युत् की ज्योति के तुल्य दीप्ति को **परि संजिहानं**=सब प्रकार से धारक **त्वा**=तुझको **यत्**=जब **मित्रावरुणौ**=सूर्य-चन्द्रवत्, प्राण-अपान वा माता-पिता दोनों, **अपश्यताम्**=देखते हैं **तत्**=तब **ते**=तेरा **जन्म**=जन्म होता है **उत**=और **एकं**=एक जन्म होता है **यत्**=जब **अगत्स्यः**=सूर्य **त्वा**=तुझको **विशः**=प्रवेश योग्य देहों में, वा आचार्य प्रजाओं में राजा के समान **आजभार**=प्राप्त कराता है।

भावार्थ–जिस प्रकार से जीवात्मा पहले पिता की देह में पुष्ट होकर माता के गर्भ में जाता है यह उसका प्रथम जन्म है और फिर माता के गर्भ में पुष्ट हो संसार में जन्मता है, यह उसका द्वितीय जन्म है। इस दूसरे जन्म से संसार में उसका अस्तित्व बनता है। इसी प्रकार संसार में भी उसके दो जन्म होते हैं प्रथम माता के गर्भ से द्वितीय आचार्य के गुरुकुलरूपी गर्भ से। आचार्य के गर्भ गुरुकुल से विद्या-बल से पुष्ट होकर समाज में आने पर ही उसका यश एवं अस्तित्व झलकता है।

ऋषिः–**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठः** ॥ देवता–**त एव** ॥
छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वान् सर्व आश्रम पोषक हों

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त॥ ११॥

पदार्थ–हे **वसिष्ठ**=देह में बसे श्रेष्ठ जीव! **उत**=और तू **मैत्रावरुणः**=मित्र और वरुण, प्राण और अपान दोनों का स्वामी **असि**=है। हे **ब्रह्मन्**=वृद्धिशील जीव! तू **उर्वश्याः**=कान्तिमती, तैजस, सात्त्विक विचार से युक्त वा 'उरु' विस्तृत, व्यापक प्रकृति के ऊपर **मनसः**=मननशक्ति द्वारा **अधि-जातः**=भोक्ता रूप से अध्यक्ष होता है। **दैव्येन**=समस्त किरणों के, समस्त शक्तियों के स्वामी सूर्यवत् तेजस्वी **ब्रह्मणा**=महान् परमेश्वर से **स्कन्नं**=प्रदत्त **द्रप्सं**=वीर्य के समान **त्वा**=तुझको **देवाः**=समस्त दिव्य शक्तियाँ **पुष्करे**=पुष्टिकारक तत्त्व में **अददन्त**=धारण करती हैं।

भावार्थ–विद्वान् आचार्य अपने शिष्यों को ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा विद्या एवं बल से पुष्ट

कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के योग्य बनाते हैं। तब ये उत्तम गृहस्थी, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रमों का आश्रय स्थल बनकर इन सभी आश्रमों को पुष्ट करते हैं।

ऋषि:–**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठः** ॥ देवता–**त एव** ॥
छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सर्वत्यागी ब्राह्मण

स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान्त्सहस्रदान उत वा सदानः।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः॥ १२॥

पदार्थ–जैसे **यमेन**=नियन्ता परमेश्वर से **ततं**=फैलाये **परिधिं**=धारक देह सांसारिक जीवन को **वयिष्यन्**=पट के समान स्वयं अपने कर्मों द्वारा बुनता, या बनाता और उसको प्राप्त होना चाहता हुआ **वसिष्ठः**=वसु, जीव **अप्सरसः परिजज्ञे**=स्त्री–शरीर से परिपुष्ट होकर प्रकट होता है, वैसे ही **वसिष्ठः**=गुरु के अधीन बसनेवाला वसु ब्रह्मचारी **यमेन**=नियन्ता आचार्य से **ततं**=विस्तारित **परिधिं**=सब प्रकार से धारण–योग्य ज्ञानमय शास्त्रपट को **वयिष्यन्**=प्राप्त, रक्षण और विस्तृत करना चाहता हुआ **अप्सरसः**=अन्तरिक्षचारी वायु के समान ज्ञानवान् पुरुष की व्याप्त विद्या से **परि जज्ञे**=उत्पन्न होता है। **सः**=वह **प्र-केतः**=उत्तम ज्ञानी और **उभयस्य**=पाप और पुण्य दोनों को **प्र-विद्वान्**=भली प्रकार जानता हुआ, **सहस्र-दानः**=सहस्रों का दाता, परमैश्वर्य का स्वामी हो। **उत वा**=अथवा **स-दानः**=दानशीलों के दान से अलंकृत भिक्षु, ब्राह्मण हो।

भावार्थ–शिष्य आचार्यों के सान्निध्य में रहकर समस्त ज्ञान–विज्ञान को प्राप्त करे तथा योग साधन द्वारा परमेश्वर को जाने। ऐसा ब्रह्मवित् विद्वान् समाज में आकर ज्ञान–विज्ञान तथा अपने समस्त ऐश्वर्य आदि को जनकल्याण हेतु लगाकर सर्वत्यागी बनकर सच्चा ब्राह्मण कहलावे।

ऋषि:–**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठः** ॥ देवता–**त एव** ॥
छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ज्ञानदाता गुरु

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥ १३॥

पदार्थ–सत्रे=गुरु के गृह में **जातौ**=उत्पन्न हुए कुमार और कुमारी दोनों **इषिता**=एक दूसरे की इच्छावाले होकर **नमोभिः**=आदर सहित **कुम्भे रेतः**=कलश में रक्खे जल से **समानं**=एक समान **सिषिचतुः**=अभिषेक करें, **ततः मध्यात्**=उन दोनों के बीच से **मानः**=उत्तम परिमाणयुक्त बालक **उत् इयाय**=उत्पन्न होता है **ततः**=अनन्तर उस **ऋषिम्**=प्राप्त जीव को **वसिष्ठम् आहुः**='वसिष्ठ' कहते हैं।

भावार्थ–जैसे स्त्री और पुरुष आचार्यों के पास पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर पुष्ट बीज से उत्तम सन्तान को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार उत्तम आचार्य अपने शिष्य में समस्त ज्ञान को धारण कराकर ब्रह्मतेज से तेजस्वी बनाता है। ऐसे शिष्यों से राष्ट्र तेजस्वी बनता है।

ऋषिः–संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः; वसिष्ठः॥ देवता–त एव॥
छन्दः–निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः–धैवतः॥

शुभ संकल्पवाले होकर वेदोपासना करो

उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत्प्र वदात्यग्रे।
उपैनमाध्वं सुमनस्यमाना आ वो गच्छाति प्रतृदो वसिष्ठः॥ १४॥

पदार्थ–जो विद्वान् **अग्रे**=सबसे पूर्व, **बिभ्रत्**=ज्ञान को धारण करता हुआ **प्र वदाति**=उत्तम प्रवचन करता है वह **ग्रावाणं**=मेघ के समान ज्ञान–जल को धारक **उक्थ-भृतं**=ऋग्वेद के धारक और **साम-भृतं**=सामवेद के धारक विद्वान् शिष्य को भी **बिभर्ति**=धारण करता है। वही **वसिष्ठः**=वसु ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ है। हे **प्र-तृ-दः**=तीनों आश्रमों को अन्नादि देनेवाले गृहस्थो! वा हे **प्रतृदः**=खण्ड–खण्ड कर वेद–अध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारियो! जब वह **वः आगच्छति**=तुम्हें प्राप्त हो तब आप **एवं**=उसकी **सुमनस्यमानाः**=शुभ संकल्पयुक्त होकर **उप आध्वम्**=उपासना करो।

भावार्थ–समस्त विद्याओं का धारक परमेश्वर है उसकी उपासना श्रद्धा के साथ करनेवाला ब्रह्मवित् आचार्य अपने शिष्य को ऋग्वेद के ज्ञान और सामवेद की उपासना से पूरित कर तेजस्वी बनाता है। ऐसा ज्ञानोपासना से पूर्ण विद्वान् जब गृहस्थ के घर पर आवे तो शुभसंकल्प एवं श्रद्धा से पूर्ण होकर गृहस्थी जन उससे वेदोपासना सीखें।

अगले सूक्त के ऋषि वसिष्ठ, विश्वेदेवाः तथा अहिः और देवता अहिर्बुध्न्य है।

तृतीयोऽनुवाकः

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः–वसिष्ठः॥ देवता–विश्वे देवाः॥ छन्दः–भुरिगार्चीगायत्री॥ स्वरः–षड्जः॥

विदुषी स्त्री

प्र शुक्रैतु देवी मनीषा अस्मत्सुतष्टो रथो न वाजी॥ १॥

पदार्थ–वाजी=वेगवान् **रथः सु-तष्टः**=रथ उत्तम रीति से निर्मित होकर जैसे **मनीषाः एति**=मनोनुकूल गतियें करता है वैसे ही **सु-तष्टः**=उत्तम रीति से अध्यापित, **वाजी**=ज्ञानी पुरुष और **शुक्रा**=शुद्ध अन्तःकरणवाली, **देवी**=विदुषी स्त्री भी **अस्मत्**=हमसे **मनीषाः**=उत्तम बुद्धियों को **एतु**=प्राप्त करे।

भावार्थ–जैसे पुरुष आचार्यों के पास शिक्षा प्राप्त कर ज्ञानवान होता है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी आचार्याओं से वेदविद्या को ग्रहण कर उत्तम विदुषी होवें। इससे राष्ट्र उन्नत बनता है।

ऋषिः–वसिष्ठः॥ देवता–विश्वे देवाः॥ छन्दः–भुरिगार्चीगायत्री॥ स्वरः–षड्जः॥

आप्त स्त्रियों के कर्त्तव्य

विदुः पृथिव्या दिवो जनित्रं शृण्वन्त्यापो अध क्षरन्तीः॥ २॥

पदार्थ–अधः क्षरन्तीः आपः=मेघ से नीचे गिरती जलधाराएँ जैसे **दिवः**=आकाश से **जनित्रं**=अपनी उत्पत्ति और **पृथिव्याः जनित्रं**=पृथिवी, अन्न की उत्पत्ति का कारण होती हैं वैसे ही **अधः क्षरन्तीः**=नीचे के अंगों से स्रवित वा ऋतु से होनेवाली नवयुवती **अपः**=आप्त स्त्रियें **दिवः**=सूर्यवत् तेजस्वी पुरुष और **पृथिव्याः**=पृथिवी तुल्य बीजों को अंकुरित करनेवाली माता

से ही **जनित्रं**=सन्तान के जन्म को जानें और **शृण्वन्ति**=वैसा ही उपदेश गुरुजनों से सुनें।

भावार्थ–स्त्रियों को उत्तम विद्याओं से युक्त होकर वेद-विदुषी बनना चाहिए। ऐसी आप्त विदुषी स्त्रियाँ गृहस्थ के विज्ञान को जानकर श्रेष्ठ गुण-कर्म युक्त उत्तम संस्कारवाली सन्तान को उत्पन्न कर समाज को उन्नत बनावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**आर्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

आप्तजनों का कृषि आदि कार्य

आपश्चिदस्मै पिन्वन्त पृथ्वीर्वृत्रेषु शूरा मंसन्त उग्राः ॥ ३ ॥

पदार्थ–**वृत्रेषु**=मेघों में **आपः चित्**=जलधाराएँ जैसे **अस्मै**=इस सूर्य के बल से **पृथ्वीः**=भूमियों को **पिन्वन्त**=सींचती हैं और **वृत्रेषु**=मेघों के ऊपर **उग्राः**=प्रचण्ड वायुएँ **मंसन्ते**=प्रहार करते हैं **चित्**=वैसे **अस्मै**=इस राजा के लिये **आपः**=नहरें **पृथ्वीः पिन्वन्त**=भूमियों को सीचें और **शूराः**=वीर पुरुष **वृत्रेषु**=विघ्नकारी पुरुषों पर और धनों के लिए **मंसन्ते**=उद्योग करें।

भावार्थ–राष्ट्र की प्रजा वेदविद्या से युक्त होकर राष्ट्र को उन्नत बनाने में पुरुषार्थ करे। वैदिक कृषि विद्या के जानकार लोग राष्ट्र में नदियों के व्यर्थ बहनेवाले जल को नहरों द्वारा खेतों तक ले जाकर सिंचाई करें तथा उत्तम बीज द्वारा उन्नत कृषि कार्य से राष्ट्र को समृद्ध बनावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**आर्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

नायक के प्रति कर्त्तव्य

आ धूर्ष्वस्मै दधाताश्वानिन्द्रो न वज्री हिरण्यबाहुः ॥ ४ ॥

पदार्थ–हे विद्वान् पुरुषो! **अस्मै**=इस नायक के लिये **धूर्षु**=धुराओं में **अश्वान्**=अश्वों को **दधात**=लगाओ। **इन्द्रः**=वह ऐश्वर्यवान् **वज्री**=बली, शस्त्रधारक और **हिरण्य-बाहुः**=सुवर्णादि को बाहुबल से रखनेवाला है।

भावार्थ–विद्वानों को चाहिए कि वे राष्ट्र के नायक राजा के लिए ऐश्वर्य का संग्रह करें जैसे भृत्य अपने मालिक के लिए अश्वों को जुए में जोतकर रथ को तैयार करता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**भुरिगार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

सन्मार्ग पर बढ़ना

अभि प्र स्थाताहेव यज्ञं यातेव पत्मन्त्मना हिनोत ॥ ५ ॥

पदार्थ–हे विद्वान् स्त्री पुरुषो! **अह इव**=और आप लोग **यज्ञं अभि**=पूजनीय प्रभु, सत्संग, यज्ञ आदि को लक्ष्य कर **प्र स्थात**=आगे बढ़ो। **याता इव**=यात्री या जानेवाले पुरुष के समान **त्मना**=आत्म सामर्थ्य से **पत्मन्**=सन्मार्ग पर **हिनोत**=आगे बढ़ो।

भावार्थ–जिस प्रकार यात्री अपने पुरुषार्थ से अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता जाता है उसी प्रकार स्त्री-पुरुषों को भी पुरुषार्थ एवं उत्साह के साथ सन्मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ते हुए जीवन के लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

ध्वजावत् वीर का स्थापन

त्मना समत्सु हिनोत यज्ञं दधात केतुं जनाय वीरम् ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे वीर पुरुषो! आप लोग **समत्सु**=संग्राम के समय **त्मना**=अपने सामर्थ्य से

यज्ञं=पूज्य नायक को **हिनोत**=बढ़ाओ। **जनाय**=साधारण प्रजाजन के हितार्थ **केतुं**=ध्वजा तुल्य सबके आज्ञापरक **वीरम्**=वीर और विद्योपदेष्टा पुरुष को **दधात**=स्थापित करो।

भावार्थ–जिस प्रकार सेना अपने विजय अभियान में आगे बढ़ती हुई राष्ट्र की ध्वजा को फहराती चलती है। इस ध्वजा से उस सेना के नायक की शक्ति प्रदर्शित होती है। उसी प्रकार गृहस्थी स्त्री–पुरुष उत्तम संस्कार युक्त वीर पुत्र को उत्पन्न करें। इससे उस गृहस्थी की प्रतिष्ठा स्थापित होती है।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

पृथ्वी के समान स्त्री के कर्त्तव्य

उदस्य शुष्माद्भानुर्नार्त बिभर्ति भारं पृथिवी न भूम ॥ ७ ॥

पदार्थ–**भानुः न**=जैसे सूर्य–बल से कान्ति ऊपर उठती है वैसे **अस्य शुष्मात्**=इस नायक के बल से **भानुः**=तेजवत् उसके आश्रित प्रजा **उत् आर्त्त**=उन्नत होती है। **पृथिवी न**=पृथिवी–तुल्य विदुषी स्त्री भी **भूम भारं**=बहुत भारी प्रजाओं का भार **बिभर्ति**=उठाती है।

भावार्थ–जैसे राष्ट्र का नायक सूर्य के समान तेज को धारण कर राष्ट्र को तेजस्वी बनाता है उसी प्रकार स्त्री भी पृथ्वी के समान धैर्यवती होकर राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करती हुई राज्य व्यवस्था में सहयोग करे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

शिष्यों से प्रेम

ह्वयामि देवाँ अयातुरग्ने साधन्नृतेन धियं दधामि ॥ ८ ॥

पदार्थ–हे **अग्ने**=तेजस्विन्! मैं **अयातुः**=अहिंसाव्रती होकर **देवान्**=विद्या–कामनावाले शिष्यों को **ह्वयामि**=बुलाता हूँ। मैं **ऋतेन**=सत्य–व्यवहार द्वारा **साधन्**=साधना करता हुआ **धियं दधामि**=ज्ञान प्रदान करूँ और कर्म करूँ।

भावार्थ–उत्तम आचार्य अपने शिष्यों को प्रीति के साथ समस्त विद्याओं को पढ़ावे। वह अन्य किसी भी कार्य में प्रवृत्त न होकर सदैव शिष्यों की ज्ञानोन्नति में ही लगा रहे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

दिव्य बुद्धि का धारण

अभि वो देवीं धियं दधिध्वं प्र वो देवत्रा वाचं कृणुध्वम् ॥ ९ ॥

पदार्थ–हे जनो! आप लोग **वः**=अपनी **देवीं धियं**=दिव्य मति को **अभि दधिध्वं**=धारण करो और **वः**=अपनी वाणी को भी **देवत्रा वाचम्**=विद्वानों में विद्यमान उत्तम वाणी के समान बनाओ।

भावार्थ–मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग विध्वंस में न करके निर्माण में लगावे। इसके लिए वह अपनी बुद्धि में ईश्वर के दिव्य तेज को धारण करे जिससे उसकी बुद्धि एवं कर्म सदैव सुपथ में ही लगे रहें।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

परमात्मा सहस्र चक्षु है

आ चष्ट आसां पाथो नदीनां वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः ॥ १० ॥

पदार्थ–**उग्रः**=प्रचण्ड **वरुणः**=सूर्य जैसे **नदीनां पाथः आ चष्टे**=नदियों के जल को खींचता है, वैसे ही **सहस्रचक्षाः**=सहस्रों आज्ञावचन कहनेवाला **वरुणः**=श्रेष्ठ पुरुष **उग्रः**=बलवान् होकर **नदीनां**=समृद्ध **आसां**=इन प्रजाओं के **पाथः**=पालनकारक राज्य व्यवहार को **आ चष्टे**=स्वयं देखता है।

भावार्थ–परमात्मा सहस्र चक्षु है अर्थात् वह अपने अनन्त नेत्रों से समस्त जीवों के कर्मों को देखता है। उसी प्रकार राजा भी अपने प्रचण्ड प्रभाव से प्रजा के कार्य व्यवहार को स्वयं देखे। इससे राष्ट्र में घातक एवं द्रोही तत्त्व सक्रिय न हो सकेंगे तथा राष्ट्र उन्नति करेगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

समृद्ध राष्ट्र का निर्माण

राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु ॥ ११ ॥

पदार्थ–वरुण अर्थात् जल जैसे **नदीनां पेशः**=नदियों के रूप को बनाता है, वैसे यह **राजा**=राजा **राष्ट्रानां**=राष्ट्रों और प्रजाओं का **पेशः**=समृद्ध रूप बनाता और **अस्मै**=उसका **विश्वायु**=सर्वगामी, **अनुत्तम्**=अबाधित **क्षत्रं**=बल होता है।

भावार्थ–जैसे जल की धारा नदियों के स्वरूप का निर्माण कर देती है उसी प्रकार बल और बुद्धि के द्वारा राजा समृद्ध राष्ट्र का निर्माण कर देता है। इससे उस राजा का बल एवं पराक्रम चमकता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**भुरिगार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

विद्वान् प्रजा का मार्गदर्शन करें

अविष्टो अस्मान्विश्वासु विक्ष्वद्युं कृणोत शंसं निनित्सोः ॥ १२ ॥

पदार्थ–हे विद्वान् जनो! आप **अस्मान्**=हमें **विश्वासुविक्षु**=समस्त प्रजाओं में **अविष्ट**=रक्षा करो और **शंसं कृणोत**=उपदेश करो। **निनित्सोः अद्युं कृणोत**=निन्दावाले को अन्धकार युक्त करो।

भावार्थ–विद्वान् लोग राष्ट्र की प्रजा को उत्तम उपदेश द्वारा सन्मार्गदर्शन करें। इससे प्रजा श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न होकर राष्ट्रोन्नति में सहयोगी बनेगी।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**भुरिगार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

शत्रु का नाश

व्येतु दिद्युद् द्विषामशेवा युयोत विष्वग्रपस्तनूनाम् ॥ १३ ॥

पदार्थ–हे वीर पुरुषो! **दिद्युत्**=खूब चमकता प्रकाश **वि एतु**=विविध दिशाओं में फैले। **द्विषाम् अशेवा**=शत्रुओं को नाना दुःख प्राप्त हों। **तनूनाम्**=देह धारियों के **रपः**=दुःखों को आप **विश्वक्**=सब प्रकार **युयोत**=पृथक् करो।

भावार्थ–राष्ट्र के वीर योद्धा अपने प्रचण्ड पराक्रम एवं उन्नत सैन्यशक्ति से शत्रुओं का नाश कर राष्ट्र की प्रजा का रक्षण एवं पालन करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**भुरिगार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

सर्वप्रिय राष्ट्र नायक

अवीन्नो अग्निर्हव्यान्नमोभिः प्रेष्ठो अस्मा अधायि स्तोमः ॥ १४ ॥

पदार्थ–अग्निः=अग्नि–तुल्य तेजस्वी पुरुष **नमोभिः**=अन्नादि पदार्थों तथा शस्त्रों से **नः**=हमारी **अवीत्**=रक्षा करे। वह **हव्यात्**=भक्ष्य पदार्थों को खानेवाला, **प्रेष्ठः**=सर्व प्रिय हो। **अस्मै**=उसके लिये **स्तोमः**=स्तुति–योग्य व्यवहार **अधायि**=किया जावे।

भावार्थ–राष्ट्र का नायक प्रजा का पालन एवं रक्षण अन्नादि भोज्य पदार्थ तथा शस्त्रों द्वारा करे। ऐसे राष्ट्र नायक सर्वजन प्रिय होते हैं। वह भी अपनी प्रजा को प्रेम करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

सूर्य समान तेजस्वी बनो

सजूर्देवेभिरपां नपातं सखायं कृध्वं शिवो नो अस्तु ॥ १५ ॥

पदार्थ–हे विद्वान् पुरुषो! **देवेभिः सजूः**=पृथिव्यादि तत्त्वों सहित अग्नि या सूर्य के समान **अपां नपातं**=जलों को न गिरने देनेवाले, प्रजाओं का नाश न होने देनेवाले पुरुष को अपना **सखायं कृध्वम्**=मित्र बनाओ। वह **नः**=हमारा **शिवः**=कल्याणकारक **अस्तु**=हो।

भावार्थ–जैसे सूर्य अपने तेज से भूमि पर जल बरसा कर भूमि को तृप्त एवं जीवों को सुखी करता है उसी प्रकार विद्वान् भी अपने ब्रह्मतेज से वेदोपदेश करके प्रजा जनों को तृप्त एवं सुखी करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अहिः** ॥ छन्दः–**भुरिगार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

सूर्योपासना

अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन् ॥ १६ ॥

पदार्थ–जैसे **बुध्ने**=अन्तरिक्ष में **अब्जाम्**=जलों के उत्पादक **अहिम्**=सूर्य को कहा जाता है वही **नदीनां रजःसु सीदन्**=नदियों के जलों या कण–कण में स्थित है। जैसे **उक्थैः**=उत्तम वचनों से **अब्जाम्**=आप्त जनों में प्रसिद्ध, **अहिम्**=शत्रु–नाशक पुरुष के **बुध्ने**=प्रजा के ऊपर आकाशवत् प्रबन्धक पद पर **गृणीषे**=प्रस्तुत करूँ। वह **नदीनां**=प्रजाओं के बीच **रजःसु**=वैभवों में **सीदन्**=विराजे।

भावार्थ–उत्तम विद्वान् सूर्य के समान तेजस्वी मनुष्य को राष्ट्र का अध्यक्ष नियुक्त करें। वह प्रजा में अपने राजप्रबन्ध द्वारा उसी प्रकार आच्छादित होवे जैसे सूर्य नदी में प्रवाहित जलों में।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अहिर्बुध्न्यः** ॥ छन्दः–**आर्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

मेघवत् राष्ट्र नायक पुरुष

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्त्रिधदृतायोः ॥ १७ ॥

पदार्थ–बुध्न्यः अहिः=आकाशस्थ मेघ–तुल्य **बुध्न्यः**=उदार, विद्वान् पुरुषों द्वारा सञ्चालित तेजस्वी पुरुष **नः**=हमें **रिषे**=हिंसक के लाभ के लिये **मा धात्**=न रखे। **अस्य ऋतायोः**=अन्न और धनाभिलाषी राजा का **यज्ञः**=दान आदि **मा स्त्रिधत्**=नष्ट न हो।

भावार्थ–जिस प्रकार आकाश में स्थित बादल सब जीवों के हित के लिए वर्षते हैं। उसी प्रकार उत्तम विद्वानों के द्वारा अभिषिक्त राजा प्रजा जनों के लिए उत्तम अन्न, उत्तम संगति तथा हित साधक साधन देकर उन्हें हर्षित करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

शत्रुतापी

उत न एषु श्रवो धुः प्र राये यन्तु शर्धन्तो अर्यः ॥ १८ ॥

पदार्थ–विद्वान् लोग, **नः**=हमारे **एषु नृषु**=इन नेता पुरुषों में **श्रवः**=बल, अन्न आदि **धुः**=धारण करें और वे **शर्धन्तः**=उत्साह करते हुए **राये**=धन प्राप्ति हेतु **अर्यः-अरीन्**=शत्रुओं को लक्ष्य कर, उन पर **प्र यन्तु**=चढ़ाई करें।

भावार्थ–उत्तम विद्वान् जन राष्ट्र नायकों एवं सेनानायकों को उत्तम उपदेश के द्वारा प्रजापालन एवं राष्ट्र वृद्धि हेतु प्रेरित करें। प्रेरणा पाए हुए नायक जन शत्रुओं पर आक्रमण कर उन्हें तपाएँ तथा उन शत्रुओं का ऐश्वर्य छीनकर अपनी प्रजा में वितरित करें। इससे शत्रु श्रीः हीन होगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**भुरिगार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

यशस्वी नेता

तपन्ति शत्रुं स्व१र्ण भूमा महासेनासो अमेभिरेषाम् ॥ १९ ॥

पदार्थ–एषाम्=इन नायकों के **अमैः**=सहायक सैन्य बलों से युक्त होकर **महा-सेनासः**=बड़ी सेनाओं के स्वामी लोग **भूमा स्वः न**=भुवनों को सूर्य के समान प्रचण्ड होकर **शत्रुं तपन्ति**=शत्रु को तपावें।

भावार्थ–राष्ट्र का नायक महान् सैन्य बलों के द्वारा शत्रुओं पर आक्रमण कर विजय प्राप्त करे तथा अपनी प्रजा में यशस्वी बने।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**भुरिगार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

वीर सन्तान

आ यन्नः पत्नीर्गमन्त्यच्छा त्वष्टा सुपाणिर्दधातु वीरान् ॥ २० ॥

पदार्थ–यत्=जब **पत्नीः**=स्त्रियें **नः**=हमें **अच्छ आ गमन्ति**=भली प्रकार प्राप्त हों तब **त्वष्टा**=तेजस्वी राजा **सु-पाणिः**=उत्तम व्यवहारज्ञ होकर **वीरान्**=वीर पुरुषों तथा हमारे पुत्रों की भी **दधातु**=रक्षा करे। उनको राष्ट्र-रक्षा पर नियुक्त करे।

भावार्थ–राष्ट्र की स्त्रीयाँ वीर प्रसूता होवें और राजा उन वीर सन्तानों को राष्ट्र की रक्षा हेतु नियुक्त करे। माताएँ ऐसी राष्ट्र-भक्त वीर सन्तानों से धन्य होती हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

प्रजा प्रिया शासक

प्रति नः स्तोमं त्वष्टा जुषेत स्यादस्मे अरमतिर्वसूयुः ॥ २१ ॥

पदार्थ–अरमतिः=बुद्धिमान् **वसूयुः**=प्रजा और ऐश्वर्यों का स्वामी, **त्वष्टा**=राजा **नः**=हमारे **स्तोमं**=स्तुति-वचन के **प्रति**=प्रति **जुषेत**=प्रेम करे और वह **अस्मे स्यात्**=हमारे हितार्थ प्रीतिमान् हो।

भावार्थ–राजा विद्वान् तथा बुद्धिमान् होवे। प्रजाजनों के उत्तम कर्मों तथा उत्तम विचारों को जानकर उन्हें प्रोत्साहित करे। इससे राजा प्रजा का प्रिय बन जाता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृदार्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ऐश्वर्यशाली राजा

ता नो रासन्रातिषाचो वसून्या रोदसी वरुणानी शृणोतु।
वरूत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायः ॥ २२ ॥

पदार्थ–**राति-षाचः**=दानयोग्य वृत्ति को लक्ष्य कर धनाढ्य लोग **नः**=हमें **ता**=वे नाना प्रकार के **वसूनि**=ऐश्वर्य **रासन्**=दें। **रोदसी**=दुष्टों को रुलानेवाली न्यायसभा तथा पुलिस और **वरुणानी**=स्वयं वृत राजा की शासनसभा भी **नः आ शृणोतु**=हमारी बातें सुने। **त्वष्टा**=तेजस्वी पुरुष **वरूत्रीभिः**=दुःखवारक नीतियों से **नः**=हमारा **सु-शरणः**=उत्तम शरण **अस्तु**=हो। वह **सु-दत्रः**=उत्तम दानशील पुरुष **रायः वि दधातु**=नाना ऐश्वर्य दे।

भावार्थ–राजा दानशील वृत्तिवाला प्रजाहितैषी होवे। उसकी न्याय सभा, विधानसभा तथा कार्यकालिका जनहितकारी कार्य करे। राजपुरुष=आरक्षी पुरुष प्रजा को पीड़ित न करें। ऐसा कुशल नेता प्रजा का प्रिय होकर विराजता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

शस्य श्यामला भूमि

तन्नो रायः पर्वतास्तन्न आपस्तद्रातिषाच ओषधीरुत द्यौः।
वनस्पतिभिः पृथिवी सजोषा उभे रोदसी परि पासतो नः ॥ २३ ॥

पदार्थ–**तत् रायः**=वे ऐश्वर्य और **पर्वताः**=पर्वत, मेघ और पालक साधनों से सम्पन्न जन **नः**=हमारी रक्षा करें। **तत् आपः**=वे जल, प्राण, **तत् रातिषाचः**=वे दान लेनेवाले, **ओषधीः उत द्यौः**=ओषधियाँ, सूर्य, **वनस्पतिभिः सजोषाः पृथिवी**=वनस्पतियों से युक्त पृथिवी, **उभे रोदसी**=आकाश और भूमि, ये **नः परि पासतः** उ=हमारी रक्षा करें।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि वह अपने राज्य में बहुत वृक्षारोपण तथा यज्ञप्रसार अभियान चलावें। इससे राज्य में पर्यावरण प्रदूषण रहित होगा तथा समय पर वर्षा होकर भूमि शस्यश्यामला होगी जिससे समस्त प्रजा की रक्षा एवं पालन होगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृदार्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजा और सेनापति प्रजा के अनुकूल हों

अनु तदुर्वी रोदसी जिहातामनु द्युक्षो वरुण इन्द्रसखा।
अनु विश्वे मरुतो ये सहासो रायः स्याम धरुणं धियध्यै ॥ २४ ॥

पदार्थ–**तत् उर्वी रोदसी**=वे दोनों महान् सेनापति, सेनानायक, सूर्य-भूमि के समान स्त्री-पुरुष भी **अनु जिहाताम्**=परस्पर अनुकूल होकर प्राप्त हों। **द्यु-क्षाः**=प्रकाशों का धारक सूर्यवत् तेजस्वी और **इन्द्र-सखा**=ऐश्वर्यवान् का मित्र **वरुणः**=श्रेष्ठ राजा **अनु**=अनुकूल रहे। **ये सहासः मरुतः**=जो शत्रुविजयी, तपस्वी विद्वान् पुरुष हैं वे **विश्वे**=सब **अनु**=अनुकूल हों। हम लोग **रायः धियध्यै**=ऐश्वर्यधारण के लिये **धरुणं**=सुरक्षित पात्रवत् **स्याम**=हों।

भावार्थ–राष्ट्र में सेनापति, विद्वान् तथा समस्त स्त्री-पुरुष प्रजाएँ राजा के अनुकूल होवें। राजा भी इन सबके अनुकूल होवे। इससे राजा, विद्वान्, सेना व सेनापति तथा समस्त प्रजाजन मिलकर राष्ट्र को समृद्ध बनाकर राष्ट्र को उन्नत कर सकेंगे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**विराडार्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

औषधियाँ अलौकिक सुखदायी हों

तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप ओषधीर्वनिनो जुषन्त।
शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ २५ ॥

पदार्थ–वनिनः=ऐश्वर्यों के स्वामी **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान्, **वरुणः**=प्रजा का वृत राजा, **मित्रः**=स्नेही, **अग्निः**=विद्वान् **आपः**=आप्तजन **ओषधीः**=ओषधियें ये **नः**=हमें **तत्**=वह सुख **जुषन्त**=प्राप्त करावें, जिससे हम **मरुताम् उपस्थे**=विद्वानों के पास **शर्मन् स्याम**=सुख में रहें। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं**=आप लोग **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारी सदा कल्याणकारी उपायों से रक्षा करो।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि वह विद्वान् जनों को प्रजा के कल्याण हेतु नियुक्त करे। वे विद्वान् जन स्त्री–पुरुषों को उपदेश करें कि किन–किन दिव्य एवं अलौकिक औषधियों के द्वारा उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करके सुखी एवं आनन्दित हुआ जा सकता है।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता विश्वे देवा है।

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

जल-विद्युत् शान्तिदायक हों

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ १ ॥

पदार्थ–वाजसातौ=ऐश्वर्य प्राप्त होने पर **इन्द्राग्नी**=विद्युत् और अग्नि, राजा और नायक **अवोभिः**=रक्षा–साधनों और ज्ञानों से **नः शं भवताम्**=हमें शान्तिदायक हों। **रात-हव्या**=लेने और देने योग्य अन्नादि को प्राप्त करनेवाले **इन्द्रा वरुणा**=विद्युत् और जल, सेनापति और राजा **नः शं**=हमें शान्तिदायक हों। **इन्द्रासोमा शम्**=इन्द्र आचार्य, सोम शिष्य गण, **शम्**=हमें शान्तिदायक हों। वे दोनों ही **सुविताय**=सुखमय जीवन के लिये शान्तिदयाक हों। **इन्द्रा-पूषणा**=विद्युत् और वायु दोनों भी **नः शं**=हमें शान्तिदायक हों।

भावार्थ–ऐश्वर्यवान तेजस्वी राष्ट्रनायक अन्न, ज्ञान तथा रक्षा साधनों के द्वारा प्रजा का कल्याण करे। जल तथा विद्युत् जैसी जीवनदायी संसाधनों की राष्ट्र में सुव्यवस्था करे। शिक्षा हेतु आचार्यों की नियुक्ति तथा स्वास्थ्य के साधन प्रदान करे। प्रजा जनों के सुखमय जीवन हेतु ऐश्वर्य प्रदान करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

न्यायकारी पुरुष शान्तिदायक हों

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २ ॥

पदार्थ–भगः नः शम्=ऐश्वर्य हमें सुखकारी हो। **शंसः नः शम् उ**=अनुशासन और उपदेष्टा हमें शान्ति दें। **पुरन्धिः**=पुरधारक राजा **नः शम्**=हमें शान्तिदायक हो। **रायः शम् उ सन्तु**=नाना ऐश्वर्य हमें शान्ति दें। **सु-यमस्य**=उत्तम नियन्ता और **सत्यस्य शंसः**=सत्य का उपदेष्टा **नः शम्**=हमें सुखकर हो। **पुरु-जातः**=बहुतों में प्रसिद्ध **अर्यमा**=न्यायकारी पुरुष **नः शं अस्तु**=हमें शान्ति दे।

भावार्थ–राजा न्यायव्यवस्था द्वारा जनप्रिय होकर अनुशासन को बनावे। विद्वानों की नियुक्ति द्वारा सत्य उपदेश, बुद्धि वृद्धि स्वास्थ्य शिक्षा, सुख के साधन एवं पर्यावरण संरक्षण की व्यवस्था का ज्ञान कराकर प्रजा का कल्याण करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

भूमि, अन्न, जल शान्तिदायक हों

शं नो॑ धा॒ता शमु॑ ध॒र्ता नो॑ अस्तु॒ शं न॑ उरू॒ची भ॑वतु स्व॒धाभिः॑ ।
शं रोद॑सी बृह॒ती शं नो॒ अद्रिः॒ शं नो॑ दे॒वानां॑ सुह॒वानि॑ सन्तु ॥ ३ ॥

पदार्थ–धाता न शम्=पोषक वर्ग हमें शान्ति दे। **धर्त्ता नः शम् उ**=धारक हमें शान्ति दे। **उरूची**=बहुत पदार्थ प्राप्त करानेवाली भूमि, **नः**=हमें **स्वधाभिः**=अन्नों से **शं भवतु**=शान्तिदायक हो। **बृहती रोदसी शं**=वृद्धिशील, सूर्य और अन्तरिक्ष **शं**=शान्तिदायक हों। **अद्रिः नः शम्**=मेघ और पर्वत शान्ति दें। **देवानां**=देव, विद्वानों के **सु हवानि**=उत्तम उपदेश **नः शं सन्तु**=हमें शान्तिदायक हों।

भावार्थ–राष्ट्र में किसान उत्तम अन्न पैदा करे, भूमि से प्रचुर अन्न–जलों तथा अन्य पदार्थों की उत्पत्ति हो तथा समय पर वर्षा हो। इन सबकी जानकारी हेतु राष्ट्र में विद्वान् जन उत्तम उपदेश करके राष्ट्र का कल्याण करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

तेजस्वी पुरुष सुखकारी हों

शं नो॑ अ॒ग्निर्ज्योति॑रनीको अस्तु॒ शं नो॑ मि॒त्रावरु॑णाव॒श्विना॒ शम् ।
शं नः॑ सु॒कृतां॑ सुकृ॒तानि॑ सन्तु॒ शं न॑ इषि॒रो अ॒भि वा॑तु॒ वातः॑ ॥ ४ ॥

पदार्थ–ज्योतिः अनीकः अग्निः=तेज का सैन्य तुल्य धारक, आग के समान तेजस्वी सैन्य, वा राजा **नः शम्**=हमें सुखकारी हो। **मित्रावरुणौ नः शं**=एक दूसरे के स्नेही और वरण करनेवाले **अश्विना**=रथी–सारथी वा इन्द्रियों के स्वामी, स्त्री–पुरुष **नः शं**=हमें शान्तिदायक हों। **सुकृतां**=पुण्यात्माओं के **सुकृतानि**=पुण्य कर्म **नः शं**=हमें शान्ति दे। **इषिरः वातः**=सदा गमनशील वायु **नः शं अभि वातु**=हमें शान्तिदायक होकर सब ओर जावे।

भावार्थ–राष्ट्र में तेजस्वी विद्वान् पुरुष प्राणसाधना, इन्द्रिय जय तथा पुण्यात्माओं के संसर्ग से लाभ आदि का उत्तम उपदेश करके प्रजा का मंगल साधें अर्थात् प्रजा को सुखी करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्युत् और भूमि शान्तिदायक हों

शं नो॒ द्यावा॑पृथि॒वी पू॒र्वहू॑तौ॒ शम॒न्तरि॑क्षं दृ॒शये॑ नो अस्तु ।
शं न॒ ओष॑धीर्व॒निनो॑ भवन्तु॒ शं नो॒ रज॑स॒स्पति॑रस्तु जि॒ष्णुः ॥ ५ ॥

पदार्थ–पूर्वहूतौ=पूर्व के विद्वानों के उत्तम कार्य में लगे **द्यावापृथिवी**=विद्युत् और भूमिवत् स्त्री–पुरुष दोनों **नः शं**=हमें शान्तिदायक हों। **अन्तरिक्षं**=अन्तरिक्ष **नः**=हमें **दृशये**=देखने के लिये **शम् अस्तु**=शान्तिदायक हो, **वनिनः ओषधीः**=वन की ओषधियें **नः शं भवन्तु**=हमें शान्तिदायक हों। **रजसः पतिः**=लोकों का पालक **जिष्णुः**=विजयशील पुरुष **नः शम्**=हमें शान्तिदायक हो।

भावार्थ–प्रजापालक विजयशील राजा विद्वान् स्त्री–पुरुषों को प्रजा के कल्याण हेतु नियुक्त करे। ये विद्वान् स्त्री–पुरुष अन्तरिक्ष को प्रदूषण रहित बनाने, वन की उत्तम ओषधियों द्वारा स्वास्थ्य सुरक्षित रखने आदि का उपदेश एवं मार्गदर्शन करें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जलदायक सूर्य सुख दे

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥

पदार्थ—वसुभिः=प्राणियों को बसने के स्थान पृथिवी आदि ग्रहों सहित **देवः**=प्रकाशक **इन्द्रः**=सूर्य और राजा, ब्रह्मचारियों सहित आचार्य **नः शं**=हमें सुख दे। **आदित्येभिः**=वर्ष के मासों सहित **वरुणः**=समुद्रादि और आदित्यसम पुरुषों सहित राजा **सु-शंसः**=स्तुत्य होकर **शम्**=सुखकारी हो। **रुद्रेभिः**=प्राणों सहित **रुद्रः**=जीव, दुष्टों के रोदक सैन्यों सहित सेनापति **जलाषः**=सन्ताप-नाशक, जलवत् सुख-दाता होकर **नः शम्**=हमें शान्ति दे। **ग्नाभिः त्वष्टा**=वाणियों सहित विद्वान् और उत्तम गृहपतियों सहित गृहस्थी भी **नः**=हमारे **शं**=शान्तिदायक **शृणोतु**=वचन सुनें।

भावार्थ—प्राणियों के बसने के स्थानरूप पृथिवी, ग्रह, बादल, तथा जलदायक सूर्य आदि का ज्ञान कराने हेतु राजा उत्तम आचार्यों की सुव्यवस्था करे। शौर्यवान् तथा उत्तम जनप्रिय शासक वर्ग की नियुक्ति करे। गृहस्थियों को सद्व्यवहार सिखाने हेतु उत्तम विद्वानों की नियुक्ति करके प्रजा का हित करे।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम जीवनदायी हो

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥

पदार्थ—सोमः=चन्द्र और ओषधि वर्ग **नः शं भवतु**=हमें शान्तिदायक हों। **ब्रह्म**=वेद, बल, अन्न, **नः शं**=हमें शान्तिदायक हों। **ग्रावाणः**=मेघगण, विद्वान् जन **नः शं**=हमें शान्तिदायक हों। **यज्ञाः शम् उ सन्तु**=यज्ञ, देवपूजन, सत्संग हमें शान्तिदायक हों। **स्वरूणां मितयः**=अर्थप्रकाशक शब्दों के ज्ञान **नः शं भवन्तु**=हमें शान्तिदायक हों। **प्र-स्वः**=उत्पन्न ओषधियाँ, **नः शं**=हमें शान्तिदायक हों **वेदिः शम् उ अस्तु**=वेदि, भूमि, स्त्री आदि हमें शान्तिदायक हों।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में व्यवस्था करे कि यज्ञकुण्ड तथा सुन्दर वेदी द्वारा कल्याणकारी यज्ञों का आयोजन होवे वर्षेष्टि, पुत्रेष्टि आदि द्वारा भूमि एवं गृहस्थी जन तृप्त हों। वेद विद्या के पठन-पाठन द्वारा ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि हो।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चारों दिशाएँ शान्तिदायक हों

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥

पदार्थ—उरुचक्षाः=बहुत सम्यग्-ज्ञान दर्शनों का कर्त्ता तेजस्वी **सूर्यः**=सूर्यवत् प्रकाशक विद्वान् **नः**=हमारे लिये **शं उदेतु**=शान्तिदायक होकर उदय हो। **चतस्रः प्रदिशः**=चारों दिशाएँ **नः शं भवन्तु**=हमें शान्तिदायक हों। **ध्रुवयः पर्वताः**=स्थिर पर्वत **नः शं भवन्तु**=हमें शान्तिदायक हों। **सिन्धवः नः शम्**=नदियों के प्रभाव हमें सुखकारी हों और **आपः शम् उ सन्तु**=जल

हमें सुखकारी हों।

भावार्थ–राष्ट्र में उत्तम विद्वानों द्वारा उपदेश कराया जावे कि चारों दिशाओं के पदार्थों से कैसे लाभ लेकर जनसमुदाय सुखी हो सकता है। जैसे–उदय होते सूर्य की किरणों द्वारा स्नान, समुद्र के खारे जल द्वारा स्नान, पर्वतों की चोटियों पर वायु स्नान तथा जल द्वारा कटिस्नान, घर्षण स्नान, मेहन स्नान व पाँव स्नान आदि से कैसे स्वास्थ्य लाभ उठाया जा सकता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

आदित्य ब्रह्मचारी शान्तिदायक हो

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥

पदार्थ–**अदितिः**=अखण्ड व्रती ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी और माता–पिता, **व्रतेभिः**=सत्कर्मों से **नः शम्**=हमें शान्तिदायक हों। **स्वर्काः मरुतः**=उत्तम विद्वान् प्राणवत् प्रिय होकर **नः**=हमें **शं भवन्तु**=शान्तिदायक हों। **विष्णुः नः शम्**=परमेश्वर हमें शान्ति दे। **पूषाः नः शम् उ अस्तु**=पुष्टिकारक ब्रह्मचर्यादि व्यवहार, पोषक प्रभु भी हमें सुखकारी हो। **भवित्रं नः शम्**=भवितव्य भी हमें सुख दे। **वायुः सम् उ अस्तु**=वायु हमें शान्तिदायक हो।

भावार्थ–राष्ट्र में आदित्य ब्रह्मचारी उत्तम विद्वान् होकर अपने सत्कर्मों=सदाचरण द्वारा उपदेश करके प्रजा के प्रिय बनें। वे ब्रह्मचारी पुष्टिकारक ब्रह्मचर्य की शिक्षा तथा व्यापक परमेश्वर की प्राप्ति के उपाय सिखाकर जनगण का मङ्गल साधें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सर्वप्रेरक प्रभु सुखदायी हो

शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः ॥ १० ॥

पदार्थ–**त्रायमाणः**=रक्षा करता हुआ **सविता**=सर्वउत्पादक, **देवः**=सुखों का दाता प्रभु **नः शं**=हमें शान्ति दे। **विभातीः**=विशेष चमकती हुई **उषसः**=प्रभात वेलाएँ **नः शं भवन्तु**=हमें शान्तिदायक हों। **पर्जन्यः**=शत्रु पराजय में समर्थ राजा और प्रजाओं को तृप्त करनेवाला पुरुष व मेघ **नः**=हमारी **प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिये **शं भवतु**=शान्तिदाता हो। **क्षेत्रस्य पतिः**=निवास–योग्य क्षेत्र, देश और देह–पालक राजा वा प्रभु, **शंभुः**=सदा सुख का दाता, **नः शम्**=हमें शान्ति दे।

भावार्थ–इस देह के स्वामी सर्वप्रेरक प्रभु की आराधना से मनुष्य की किस प्रकार से रक्षा होती है? वह दिव्य देव भक्त को कैसे सुखी करता है? प्रातःकाल की वेला=उषाकाल में जागकर कौन–कौन से लाभ होते हैं? ये सब बताने के लिए राजा उत्तम–उत्तम विद्वानों की नियुक्ति करे। शत्रुओं को पराजित करनेवाला राजा प्रजाओं को तृप्त करने के लिए सुख के साधन जुटावे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सभी विद्वान् सुखदायक हों

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥ ११ ॥

पदार्थ-विश्वदेवाः=समस्त विद्वान् **देवाः**=ज्ञान के दाता होकर **नः शं भवन्तु**=हमें शान्तिदायक हों। **सरस्वती**=सुशिक्षायुक्त वाणी **धीभिः**=प्रज्ञाओं **सह**=सहित **शं अस्तु**=शान्तिदायक हो। **अभिषाचः शम्**=आभ्यन्तर से सम्बन्ध रखनेवाले हमें शान्ति दें। **रातिषाचः सम् उ**=बाह्य पदार्थों के लेने से सम्बन्ध रखनेवाले हमें शान्ति दें। **दिव्याः**=दिव्य **पार्थिवाः**=और पृथिवीस्थ पदार्थ **नः शम्**=हमें सुख दें। **अप्याः**=जल में उत्पन्न, मोती आदि **नः शं**=हमें सुख दें।

भावार्थ-राष्ट्र के समस्त विद्वान् जन राष्ट्र की प्रजा को ज्ञान-प्राप्ति, सुशिक्षा तथा बुद्धि-वृद्धि के उपाय बताकर कृतार्थ करें। अन्तःकरण के शोधन तथा बाहरी पदार्थों की शुद्धि का भी उपदेश करें। पृथिवी तथा जल में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का उपयोग बताकर प्रजा का कल्याण करे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

शान्ति-प्राप्ति हेतु सद्व्यवहार करें

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १२ ॥

पदार्थ-सत्यस्य पतयः नः शम् भवन्तु=सत्य-व्यवहार के पालक हमें शान्ति दें। **अर्वन्तः**=अश्व **नः शं**=हमें सुख दें। **गावः शम् उ सन्तु**=गौएँ हमें शान्तिदायक हों। **सुकृतः**=धर्मात्मा **सु-हस्ताः**=शिल्पादि में सिद्धहस्त **ऋभवः**=शिल्पी और ज्ञानी पुरुष **नः शं**=हमें सुख दें। **हवेषु**=यज्ञों और संग्रामों के समय **पितरः**=माता-पिता, राजादि **नः शं भवन्तु**=हमें शान्तिदायक हों।

भावार्थ-उत्तम धर्मात्मा जन सत्य धर्म का उपदेश करें तथा अश्वपालन एवं गौपालन की विद्या सिखावें। यज्ञों में माता-पिता सहित पूरे परिवार को बैठने की प्रेरणा करें। सिद्धहस्त शिल्पकार शिल्प विद्या के द्वारा प्रजा का कल्याण करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः-**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

सर्वसुखदाता परमेश्वर सुखी करे

शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥ १३ ॥

पदार्थ-एक-पाद्=सब जगत् को एक पाद में धारण करनेवाला, **अजः**=उत्पन्न न होनेवाला, **देवः**=सुखदाता प्रभु **नः शम् अस्तु**=हमें शान्ति दे। **अहिः बुध्न्यः नः शम्**=अन्तरिक्ष में उत्पन्न मेघ हमें शान्ति दे। **समुद्रः शम्**=सागर शान्ति दे। **अपां**=जलों में **नपात्**=चरण-रहित नौका **पेरुः**=पार उतारनेवाला होकर **नः शं**=हमें शान्ति दे। **देव-गोपाः**=शुभ गुणों का रक्षक **पृश्निः**=सुखवर्षक ज्ञानी **नः**=हमें शान्ति दे।

भावार्थ-सुखों का वर्षक ज्ञानी विद्वान् राष्ट्र की प्रजा के लिए उपदेश करे कि सब जगत् को उत्पन्न करनेवाला सर्वसुखदाता परमेश्वर जो कभी उत्पन्न नहीं होता, जो अन्तरिक्ष में मेघों को उत्पन्न करता है, समुद्र का निर्माता है वह शुभ गुणोंवाले मनुष्यों की किस प्रकार से रक्षा करके सुख पहुँचाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ब्रह्मचारी ज्ञान का श्रवण करें

आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तेदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥ १४ ॥

पदार्थ—आदित्याः=४८ वर्ष के ब्रह्मचारी **रुद्राः**=३६ वर्ष के ब्रह्मचर्यवान् और **वसवः**=२४ वर्ष के ब्रह्मचारी **इदं**=इस **नवीयः**=उत्तम **क्रियमाणं ब्रह्म**=उपदेश किये जाते ज्ञान को **जुषन्त**=स्वीकार करें। **दिव्याः**=गुणों में प्रसिद्ध, **पार्थिवासः**=पृथिवी में प्रसिद्ध **गोजाताः**=वाणी से सुशिक्षित, विद्वान् **उत**=और ये जो **यज्ञियासः**=सत्संगादि-योग्य पुरुष हैं वे **नः शृण्वन्तु**=हमारे वचन सुनें।

भावार्थ—वाक् कुशल विद्वान् जनों के उत्तम-उत्तम ज्ञान के उपदेश को आदित्य ब्रह्मचारी, रुद्र ब्रह्मचारी, वसु ब्रह्मचारी तथा यज्ञकर्त्ता जन प्रेम से सुनकर धारण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्संगी दीर्घायु प्राप्त करें

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १५ ॥

पदार्थ—ये=जो **यज्ञियानां देवानां**=यज्ञकर्ता, उत्तम विद्वानों में भी **यज्ञियाः**=दान, सत्कार-योग्य और **मनोः**=मननशील विद्वान् का **यजत्राः**=सत्संग करनेवाले **अमृताः**=दीर्घायु, **ऋतज्ञाः**=सत्य के जाननेवाले हैं **ते**=वे **नः अद्य**=आज **उरु-गायम्**=बहुत से उपदिष्ट ज्ञान का **रासन्ताम्**=उपदेश करें। हे विद्वान् जनो! **यूयं नः स्वस्तिभिः सदा पात**=तुम लोग हमारी सदा कल्याणकारी उपायों से रक्षा करो।

भावार्थ—मननशील विद्वान् यज्ञ करनेवाले, दानी, सत्संगी, दीर्घायुवाले तथा सत्य ज्ञानी जनों में उत्तम ज्ञान का उपदेश करें तथा उनकी रक्षा करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता विश्वे देवा है।

अथ पञ्चमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गुरुकुल में ज्ञान-प्राप्ति

प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः ।
वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीकमध्येधे अग्निः ॥ १ ॥

पदार्थ—ऋतस्य सदनात्=ज्ञान के स्थान, गुरुगृह से हमें **ब्रह्म प्र एतु**=ज्ञान प्राप्त हो। **सूर्यः**=सूर्य अपनी **रश्मिभिः**=रश्मियों से **गाः**=भूमियों को **वि ससृजे**=विशेष गुणयुक्त करे। **पृथिवी**=पृथ्वी **ऊर्वी**=विशाल होकर भी **सानुना**=उन्नत प्रदेश से **वि सस्रे**=विशेष जानी जाती है। जैसे **अग्निः**=अग्नि **पृथु**=विस्तृत **प्रतीकं**=प्रतीति करानेवाला प्रकाश **अधि एधे**=चमकाता है, वैसे ही विद्वान् वाणियाँ प्रकट करें।

भावार्थ–गुरुकुल में आचार्य ब्रह्मचारी को उत्तम वेदज्ञान प्रदान करे और बतावे कि सूर्य रश्मियों से भूमि विशेष गुणयुक्त कैसे बनती है तथा अग्नि कैसे प्रकाशित होता है।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

मित्रा वरुण का वर्णन

इमां वां मित्रावरुणा सुवृक्तिमिषं न कृण्वे असुरा नवीयः।
इनो वामन्यः पदवीरदब्धो जनं च मित्रो यतति ब्रुवाणः ॥ २ ॥

पदार्थ–हे **मित्रा-वरुणा**=स्नेह–युक्त और दुःखवारक, शरीर में प्राण, उदान और सभा, सेनाध्यक्ष जनो! हे **असुरा**=बलवान् जनो! मैं **वां**=आप दोनों की **नवीयः**=नवीन, **सुवृक्तिम्**=दुःख–निवारक **इषम्**=इच्छा वा अन्न को प्राप्त करूँ। **वाम्**=आप दोनों में से **अन्यः**=एक **इनः**=स्वामी **पदवीः**=पद को प्राप्त **अदब्धः**=अविनाशी है, **मित्रः**=सर्वस्नेही **ब्रुवाणः**=उपदेश करता हुआ **जनं च यतति**=प्रत्येक जन को उद्यम कराता है।

भावार्थ–राष्ट्र में राजसभा का अध्यक्ष राजा तथा सेना का अध्यक्ष सेनापति ये दोनों बलवान् होवें। इन दोनों में राजा तो स्वामी है अतः वह राष्ट्र में दुःख तथा अज्ञान के निवारण व उत्तम अन्न की व्यवस्था करे। सेनाध्यक्ष अपनी प्रिय सेना के सैनिकों को निरन्तर उद्यम कराता रहे। इस प्रकार से ये दोनों मिलकर राष्ट्र को सुदृढ़ करें।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राजसभाओं में उपदेश

आ वातस्य ध्रजतो रन्त इत्या अपीपयन्त धेनवो न सूदाः।
महो दिवः सदने जायमानोऽचिक्रदद् वृषभः सस्मिन्नूधन् ॥ ३ ॥

पदार्थ–**वृषभः**=बलवान् पुरुष **सस्मिन् ऊधन्**=अन्तरिक्ष में मेघ–तुल्य, उषाकाल में सूर्य–तुल्य तेजस्वी होकर **जायमानः**=प्रसिद्ध होकर **महः दिवः**=बड़े भारी प्रकाश, ज्ञान या लोक–व्यवहार के **सदने**=स्थान, राजसभा और गुरु–गृह में **अचिक्रदत्**=प्राप्त हो। **वातस्य ध्रजतः इत्याः सूदाः न रन्ते**=वेग से जाते हुए वायु की गतियों में जैसे वर्षाशील मेघ विहरते हैं वैसे **वातस्य**=वायु–तुल्य बलवान् **ध्रजतः**=वेग से जाते हुए सेनापति के **इत्याः**=गमनों को प्राप्त **सूदाः**=उत्तम करप्रद प्रजाएँ **धेनवः**=गौओं के समान **रन्ते**=सुखी होती हैं, वे **अपीपयन्त**=आप बढ़तीं और राजा को भी बढ़ाती हैं।

भावार्थ–सूर्य के समान तेजस्वी बलवान् राजा प्रतिष्ठित होकर राजसभा में लोकव्यवहार का उपदेश=निर्देश करे कि सेनापति सेना को वायु के समान गतिशील व मेघ के समान बलवान् बनावे तथा प्रजा राष्ट्र की प्रगति हेतु समय पर कर प्रदान करे। इससे राजा तथा प्रजा दोनों समृद्ध होते हैं।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

हिंसकजनों को राजा दण्ड दे

गिरा य एता युनजद्धरी त इन्द्र प्रिया सुरथा शूर धायू।
प्र यो मन्युं रिरिक्षतो मिनात्या सुक्रतुमर्यमणं ववृत्याम् ॥ ४ ॥

पदार्थ–हे **शूर**=वीर! हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **यः**=जो **ते**=तेरे **एता**=इन दोनों **धायू**=धारक

सु-रथा:=उत्तम रथवाले **प्रिया**=प्रिय **हरी**=अश्वों के समान बलवान् मुख्य नायक वा स्त्री पुरुषों को **गिरा**=वेद-वाणी से **युनजत्**=सन्मार्ग में प्रवृत्त करता है और **यः**=जो **रिरिक्षतः**=हिंसक जनों को **प्र मिनाति**=दण्डित करता है उस **मन्युम्**=मननशील **सु-क्रतुम्**=उत्तम ज्ञानवान् **अर्यमणं**=न्यायकारी पुरुष को मैं **आ ववृत्याम्**=प्राप्त करूँ।

भावार्थ–मननशील, कर्मशील, न्यायकारी राजा ऐश्वर्ययुक्त होकर अश्वों के समान बलवान् नायक को नियुक्त करे। वह नायक राष्ट्र में हिंसा फैलानेवाले हिंसक जनों को दण्डित करे। उत्तम विद्वान् राष्ट्र में वेदवाणी का उपदेश करके उन लोगों को सन्मार्ग में प्रवृत्त करे। इस प्रकार से राष्ट्र आतंकवाद से रहित होगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

नमस्विनः

यजन्ते अस्य सख्यं वयश्च नमस्विनः स्व ऋतस्य धामन्।
वि पृक्षो बाबधे नृभिः स्तवान इदं नमो रुद्राय प्रेष्ठम्॥ ५॥

पदार्थ–**ऋतस्य धामन्**=न्याय-भवन में **स्वे**=उसके जन **नमस्विनः**=नमस्कार-युक्त होकर **अस्य**=इस रुद्र के **सख्यं**=मित्रभाव और **वयः च**=जीवन-वृत्ति को **यजन्ते**=प्राप्त करते हैं, वह **नृभिः स्तवानः**=मनुष्यों से स्तुत हुआ **पृक्षः**=अन्नादि की **वि बाबधे**=विशेष व्यवस्था करता है। **रुद्राय**=दुष्टों को रुलानेवाले उसको **इदं**=इस प्रकार **प्रेष्ठं**=अतिप्रिय **नमः**=नमस्कार हो।

भावार्थ–अपनी न्याय व्यवस्था से दुष्टों को रुलानेवाले राजा के न्याय भवन में विनयभाव से अपनी समस्या का समाधान कराने के लिए प्रजाजन आया करें। राजा प्रजाजनों की जीवन वृत्ति को सुचारु रूप से चलाने के लिए अन्नादि की उत्तम व्यवस्था करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सरस्वती का सदुपयोग

आ यत्साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता।
याः सुष्वयन्त सुदुघाः सुधारा अभि स्वेन पयसा पीप्यानाः॥ ६॥

पदार्थ–जैसे **स्वेन पयसा पीप्यानाः**=अपने जल से पूर्ण होकर **सु-धाराः**=उत्तम जलधाराएँ **सु-स्वयन्त**=खूब वेग से जाती हैं और उनमें **सरस्वती**=वेग से चलनेवाली **सप्तथी**=आगे बढ़ने-वाली **सिन्धु-माता**=बहते जलों को अपने भीतर लेनेवाली माता के समान होती है। वे सब **साकं वावशानाः**=एक साथ गर्जती हुई जाती हैं। वैसे ही **सरस्वती**=वाणी, **सप्तथी**=छह मन-सहित ज्ञानेन्द्रियों के बीच सातवीं **सिन्धुमाता**=प्राण-स्रोतों की माता के समान है और शेष सब भी **सु-दुघाः**=उत्तम ज्ञान से आत्मा को पूर्ण करनेवाली **सु धाराः**=उत्तम वाणी से युक्त होकर **स्वेन पयसा**=अपने ज्ञान से आत्मा को **पीप्यानाः**=पुष्ट करती हुईं **सुस्वयन्त**=सुखपूर्वक कार्य करती हैं वे **यशसः**=बलयुक्त आत्मा के अधीन **साकं**=एक साथ **वावशानाः**=विषयों को चाहती हुईं **आ**=प्राप्त होती हैं।

भावार्थ–अत्यन्त वेग से बहनेवाली जल से परिपूर्ण होकर उत्तम वेग से बहनेवाली गर्जना करती हुई जो नदी समुद्र में जाकर मिल जाती है उस नदी के जल को नहर आदि के द्वारा खेतों में ले-जाकर सिंचाई हेतु उपयोग में लाने की व्यवस्था राजा को करानी चाहिए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विद्वानों की प्रतिष्ठा

उत त्ये नो मरुतो मन्दसाना धियं तोकं च वाजिनोऽवन्तु।
मा नः परि ख्यदक्षरा चरन्त्यवीवृधन्युज्यं ते रयिं नः॥ ७॥

पदार्थ—उत=और **त्ये मरुतः**=वे विद्वान् **वाजिनः**=ज्ञान-सम्पन्न **मन्दसानाः**=प्रसन्न हुए **नः**=हमारे **धियं तोकं च**=बुद्धियों, कर्मों, सन्तानों की **अवन्तु**=रक्षा करें। **ते**=वे **नः**=हमारे **युज्यं रयिं अवीवृधन्**=नियुक्त ऐश्वर्य को बढ़ावें और **अक्षरा**=अविनाशी वाणी **चरन्ती**=प्राप्त होती हुई **मा नः**=हमें न **परि ख्यत्**=त्यागे।

भावार्थ—सदैव प्रसन्न रहनेवाले विद्वान् जन अपने ज्ञान के द्वारा राष्ट्र की प्रजा को उपदेश करें जिससे राष्ट्र के निवासियों की बुद्धियों, कर्मों एवं सन्तानों की रक्षा होवे। विद्वान् यह भी बतावें कि अपने ऐश्वर्य की रक्षा एवं वृद्धि हेतु राष्ट्र जन अपनी वाणी को शिष्ट बनावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

व्यवहार का उपदेश

प्र वो महीमरमतिं कृणुध्वं प्र पूषणं विदथ्यं१ न वीरम्।
भगं धियोऽवितारं नो अस्याः सातौ वाजं रातिषाचं पुरन्धिम्॥ ८॥

पदार्थ—हे मनुष्यो! आप लोग **वः**=अपनी **महीम्**=वाणी को **अरमतिं**=अति अधिक बुद्धि को **प्र कृणुध्वम्**=खूब बढ़ाओ और **विदथ्यं**=संग्राम में कुशल **वीरं न**=वीर पुरुष-तुल्य **पूषणं**=पोषक पुरुष को **प्र कृणुध्वम्**=सत्कार से बढ़ाओ। **भगं**=ऐश्वर्यवान् और **धियः**=ज्ञान, कर्म के **अवितारं**=रक्षक पुरुष की **प्र कृणध्वम्**=प्रतिष्ठा करो। **अस्याः सातौ**=इस वाणी को प्राप्त करने के लिये **वाजम्**=ज्ञान, **रातिषाचं**=परस्पर दान-प्रतिदान से सम्बद्ध **पुरन्धिम्**=ज्ञान-धारक विद्वान् का **प्र कृणुध्वम्**=आदर करो।

भावार्थ—विद्वान् जन राष्ट्र की प्रजा को उपदेश करें कि तुम लोग अपनी वाणी एवं ज्ञान की खूब वृद्धि करो। सैनिकों एवं सेनापति का सम्मान करो। व्यापारी वर्ग जो तुम्हारे ऐश्वर्य वृद्धि में सहायक है उसका भी सम्मान करो विद्वानों का आदर करो तथा प्रजाजन परस्पर नाना प्रकार के ज्ञानों का आदान-प्रदान किया करो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दीर्घजीवन का उपदेश

अच्छायं वो मरुतः श्लोक एत्वच्छा विष्णुं निषिक्तपामवोभिः।
उत प्रजायै गृणते वयो धुर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ९॥

पदार्थ—हे **मरुतः**=विद्वान् और वीर पुरुषो! **अयं**=यह **नः**=आप लोगों की **श्लोकः**=शिक्षा और वाणी **अवोभिः**=रक्षा-साधनों, सैन्यादि से **निषिक्त-पाम्**=अभिषिक्त माण्डलिकों तथा निषिक्त गर्भों के पालक, दयालु **विष्णुम्**=सर्वव्यापक को लक्ष्य करके **अच्छ एतु**=प्राप्त हो, यह स्तुति उनको भी **अच्छ-एतु**=प्राप्त हो जो **प्रजायै गृणते**=प्रजा को उपदेश दें और **वयः धुः**=दीर्घ जीवन धारण करते हैं। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं**=आप लोग **स्वस्तिभिः**=कल्याणकारी साधनों से **नः सदा पात**=हमारी सदा रक्षा करें।

भावार्थ—विद्वान् जन राष्ट्र में ज्ञान तथा व्यवहार का उपदेश करें। राष्ट्रजनों को बतावें कि आप लोग उत्तम शिक्षा तथा उत्तम वाणी के द्वारा अपने ऐश्वर्य को बढ़ाओ। रक्षा के साधन तथा सैन्य शिक्षा में राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक प्रशिक्षित हो। साथ ही ईश्वर की स्तुति एवं उपासना भी सदा किया करें। इससे उत्तम तथा दीर्घ जीवन की प्राप्ति होगी।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता विश्वे देवा है।

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तेजस्वी पुरुष

आ वो वाहिष्ठो वहतु स्तवध्यै रथो वाजा ऋभुक्षणो अमृक्तः ।
अभि त्रिपृष्ठैः सवनेषु सोमैर्मदे सुशिप्रा महभिः पृणध्वम् ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **वाजाः**=बलशाली जनो! हे **ऋभुक्षणः**=तेज से चमकनेवाले सूर्यवत् तेजस्वी पुरुषो! **वः**=तुम लोगों को **रथः**=रमणीय, रसस्वरूप **अमृक्तः**=अविनाशी **वाहिष्ठः**=रथ-समान सबको उद्देश्य तक उठाकर पहुँचा देने में सर्वश्रेष्ठ **आ वहतु**=सब प्रकार से रथ के समान धारण करे; वही **स्तवध्यै**=स्तुति-योग्य है। हे **सु-शिप्राः**=सौम्य-मुख जनो! **सवनेषु**=यज्ञादि कर्मों के समय आप लोग **महभिः**=महत्त्व-युक्त **त्रिपृष्ठैः सोमैः**=तीन-तीन रूपोंवाले ऐश्वर्यों, अन्नों और ज्ञानों से **मदे**=आनन्द में **अभि पृणध्वम्**=सबको पूर्ण करो।

भावार्थ—तेजस्वी विज्ञानवेत्ता पुरुष राष्ट्र में यज्ञ विज्ञान को प्रतिष्ठित करें। यज्ञ कर्म की प्रत्येक क्रिया का विश्लेषण करके राष्ट्र तथा प्रजा जनों को तेजस्वी बनने का मार्ग प्रशस्त करें। और यह भी बतावें कि यज्ञ द्वारा ऐश्वर्य, अन्न, ज्ञान तथा आनन्द की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम विद्या का दान

यूयं ह रत्नं मघवत्सु धत्थ स्वर्दृश ऋभुक्षणो अमृक्तम् ।
सं यज्ञेषु स्वधावन्तः पिबध्वं वि नो राधांसि मतिभिर्दयध्वम् ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **स्वर्दृशः**=आनन्द का साक्षात् करनेवाले **ऋभुक्षणः**=सत्य-प्रकाश से चमकनेवाले विद्वानो! **यूयं**=आप **मघवत्सु**=ऐश्वर्यवान् पुरुषों में **अमृक्तं**=अविनाशी **रत्नम्**=सुन्दर विद्यामय धन **ह**=अवश्य **धत्थ**=धारण कराया करो। आप **स्वधावन्तः**=उत्तम अन्न के स्वामी होकर **यज्ञेषु**=यज्ञों में **सं पिबध्वम्**=मिलकर उत्तम रस का पान करो और **मतिभिः**=ज्ञानों से **नः**=हमारे **राधांसि**=धनों को **वि दयध्वम्**=विशेषरूप से रक्षित करो।

भावार्थ—आनन्द का साक्षात् करनेवाले सत्य से प्रकाशित विद्वान् प्रजाओं में कभी नष्ट न होनेवाले अत्युत्तम विद्यारूपी धन को धारण करावें। जिस विद्या के द्वारा उत्तम अन्न तथा विविध धनों के स्वामी बन सकें। यज्ञ विद्या का प्रसार करके उत्तम आनन्द रस का पान करने की प्रेरणा भी करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान दान

उवोचिथ हि मघवन्देष्णं महो अर्भस्य वसुनो विभागे ।
उभा ते पूर्णा वसुना गभस्ती न सूनृता नि यमते वसव्या ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन्! **महः**=बहुत और **अर्भस्य**=थोड़े से भी **वसुनः**=धन के **विभागे**=विभाग करने में, तू **देष्णं**=देने वा उपदेश करने योग्य ज्ञान का **उवोचिथ हि**=अवश्य उपदेश कर। **वसुना पूर्णा ते गभस्ती**=धन से भरे-पूरे तेरे बाहुओं को **असव्या**=धन के उचित विभाग का उपदेश करनेवाली **सूनृता**=उत्तम वाणी **न नियमते**=दान करने से नहीं रोकती।

भावार्थ—विद्वान् जन उपदेश करें कि हे लोगो! तुम अपने ज्ञान को दूसरों तक अवश्य बाँटो। ज्ञान दान सर्वोत्तम दान है। पात्र की खोज करके ज्ञान दान अवश्य करो चाहे थोड़ा ही क्यों न हो। यही तुम्हारी विद्या एवं वाणी का सदुपयोग है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

साधक वेदमन्त्रों का ज्ञाता

त्वमिन्द्र स्वयशा ऋभुक्षा वाजो न साधुरस्तमेष्यृक्वा।
वयं नु ते दाश्वांसः स्याम ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो वसिष्ठाः ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=राजन्! प्रभो! **त्वम्**=तू **ऋभुक्षाः**=सत्य-ज्ञान से दीप्तियुक्त पुरुषों को राष्ट्र में बसाने, स्वयं न्याय से धन का भोग करनेवाला **वाजः न**=ऐश्वर्यवान् के समान **साधुः**=सत्कर्मनिष्ठ, **ऋक्वा**=वेद-मन्त्रों का ज्ञाता होकर **अस्तम् एषि**=गृह को प्राप्त होता है। हे **हरिवः**=मनुष्यों के स्वामिन्! **वयम्**=हम **नु**=शीघ्र ही **ब्रह्म दाश्वांसः**=ज्ञान, अन्न, धन के दाता जन **ते**=तेरे लिये **कृण्वन्तः**=सत्कर्मों का अनुष्ठान करते हुए **वसिष्ठाः**=ब्रह्मचारी **स्याम**=हों।

भावार्थ—विद्वान् जन उपदेश करें कि हे लोगो! तुम सत्यज्ञान की दीप्ति से युक्त, बलवान्, ऐश्वर्यवान् होना चाहो तो जितेन्द्रिय, सत्य कर्मनिष्ठ होकर उत्तम ब्रह्मचारी बनो तथा साधक वैदिक विद्वानों का सम्मान करो। और उनसे वेद मन्त्रों में वर्णित साधना को सीखो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु से प्रार्थना

सनितासि प्रवतो दाशुषे चिद्याभिर्विवेषो हर्यश्व धीभिः।
ववन्मा नु ते युज्याभिरूती कदा न इन्द्र राय आ दशस्येः ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे **हर्यश्व**=वेगवान् अश्वोंवाले! एवं, हे उत्तम मनुष्यों के स्वामिन्! **येभिः**=जिन **धीभिः**=ज्ञानयुक्त बुद्धियों, कर्मों से **विवेषः**=सर्वत्र व्याप्त रहता है तू उनसे ही **दाशुषे**=दानशील पुरुष को **प्रवतः**=उत्तम गुण-युक्त **रायः**=ऐश्वर्य **सनितासि**=देनेहारा है। **ते**=तेरी **युज्याभिः**=नियुक्त, **ऊती**=सेनाओं तथा रक्षण-नीति से प्रवाहित होकर **ते नु ववन्म**=तेरी याचना करते हैं। हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! तू **नः**=हमें **रायः**=वे ऐश्वर्य **कदा दशस्येः**=कब देगा?

भावार्थ—विद्वान् लोग प्रजाओं को प्रभु से प्रार्थना की रीति सिखावें कि हे सबके स्वामिन् प्रभो! तू अपने ज्ञान एवं कर्मों से सर्वत्र व्याप रहा है। तू अपनी रक्षाओं के द्वारा मुझ याचक की रक्षा कर और हे दानशील दानिन! तू हमें नाना ऐश्वर्यों का दान कर।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

हमारी बात सुनो

वासयसीव वेधसस्त्वं नः कदा न इन्द्र वचसो बुबोधः।
अस्तं तात्या धिया रयिं सुवीरं पृक्षो नो अर्वा न्युहीत वाजी ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **त्वं**=तू **नः**=हम **वेधसः**=विद्वानों को **वासयसि इव**=राष्ट्र में बसा-सा रहा है। तू **नः**=हमारे **वचसः**=वचनों को **कदा**=कब **बुबोधः**=समझेगा? **वाजी अर्वा**=वेगवान् अश्व-तुल्य बलवान् पुरुष **तात्या धिया**=व्यापक बुद्धि और त्याग-युक्त कर्म से प्रेरित होकर **नः अस्तं**=हमारे घर में **सुवीरं रयिं**=उत्तम पुत्रों से युक्त धन और **पृक्षः**=अन्न **नि उहीत**=प्राप्त करावे।

भावार्थ–विद्वान् जन राष्ट्र की प्रजा को प्रेरणा करें कि तुम लोग व्यापक परमेश्वर में बुद्धि को स्थिर करके अपने कर्मों को त्याग युक्त बनाओ तथा उस प्रभु से प्रार्थना किया करो कि हमारे घर में उत्तम वीर पुत्रों, धन तथा अन्न प्रदान कर शान्ति की स्थापना करें। उस प्रियतम प्रभु से कातर भाव से बार-बार प्रार्थना कर कहो कि-हमारी बात सुनो।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

राजा परिव्राजकवत रहता है

अभि यं देवी निर्ऋतिश्चिदीशे नक्षन्त इन्द्रं शरदः सुपृक्षः।
उप त्रिबन्धुर्जरदष्टिमेत्यस्ववेशं यं कृणवन्त मर्ताः ॥ ७ ॥

पदार्थ–**देवी**=उत्तम स्त्री **चित्**=जैसे **निर्ऋतिः**=नित्य रमण करनेवाली, प्रसन्न रहकर **ईशे**=स्वामिनी हो जाती है वैसे **देवी**=दिव्य गुण-युक्त **निर्ऋतिः**=भूमि **यम् अभि**=जिसको प्राप्त कर **ईशे**=ऐश्वर्यवती हो जाती है **यम्**=जिस **इन्द्रम्**=ऐश्वर्ययुक्त को **शरदः सुपृक्षः**=उत्तम अन्नादि युक्त जीवन के वर्ष **नक्षन्तः**=प्राप्त होते हैं और **मर्ताः**=मनुष्य **यं**=जिसको **अस्ववेशं**=अपने गृहादि से रहित, परिव्राजक **कृण्वन्त**=करते हैं वह **त्रिबन्धुः**=तीनों आश्रमों का बन्धु-मित्र होकर **जरद्-अष्टिम्**=वृद्धावस्था को **उपेति**=प्राप्त होता है।

भावार्थ–राजा का जीवन परिव्राजक=संन्यासी की भाँति होवे। जैसे संन्यासी अपना घर-परिवार आदि त्यागकर तीनों आश्रमों का मित्र होकर निस्पृह भाव से विचरण करता है उसी प्रकार राजा का भी न कोई अपना जन होता है न घर होता है। राष्ट्र ही राजा का घर तथा समस्त प्रजा उसका परिवार हो जाता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

ऐश्वर्य की प्राप्ति

आ नो राधांसि सवितः स्तवध्या आ रायो यन्तु पर्वतस्य रातौ।
सदा नो दिव्यः पायुः सिषक्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ८ ॥

पदार्थ–हे **सवितः**=सबके उत्पादक ईश्वर! **नः**=हमें **स्तवध्यै**=स्तुति करने के लिये **राधांसि आ यन्तु**=धन प्राप्त हों और **पर्वतस्य**=मेघवत् दानशील पुरुष के **रायः**=ऐश्वर्य **रातौ**=दान के निमित्त **नः आयन्तु**=हमें प्राप्त हों। **दिव्यः**=शुद्ध, **पायुः**=रक्षक **नः**=हमें **सिषक्तु**=सुखों से युक्त करे। हे विद्वान् जनो! **यूयम्**=आप लोग **नः**=हमारी **सदा**=सदा **स्वस्तिभिः पात**=कल्याणकारी साधनों से रक्षा करो।

भावार्थ–विद्वान् लोग ईश्वर स्तुति-प्रार्थना करने की रीति सिखावें। प्रजा को प्रेरित करें कि निराकार, सर्वव्यापक, सर्वोत्पादक ईश्वर से ही प्रार्थना किया करें कि हे धनैश्वर्य के स्वामी प्रभो! आप हमें नाना प्रकार के धनों से युक्त करो। हे रक्षक! हमें सदा सुखी करो। विद्वान् जन यह भी बतावें कि पूर्ण पुरुषार्थ करने का नाम ही प्रार्थना है।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता सविता, भग और वाजिन हैं।

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता:** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जगत् का उत्पादक परमेश्वर

उदु ष्य देवः सविता ययाम हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत्।
नूनं भगो हव्यो मानुषेभिर्वि यो रत्ना पुरूवसुर्दधाति॥ १ ॥

पदार्थ—स्वः देवः सवितः=वह सुखों का दाता, जगदुत्पादक परमेश्वर **याम्**=जिस **हिरण्ययीम्**=हितकारी और रमणीय; **अमतिम्**=रूपयुक्त लक्ष्मी को **अशिश्रेत्**=धारण करता है उसको हम **उत् ययाम**=उद्यम करके प्राप्त करें। **यः**=जो **वसुः**= २४ वर्ष का ब्रह्मचारी होकर **पुरु रत्ना दधाति**=बहुत-से उत्तम गुणों और ज्ञानों को धारण करता है **नूनं**=निश्चय से वही **हव्यः**=स्तुति-योग्य और **भगः**=ऐश्वर्यवान् है।

भावार्थ—विद्वान् जन उपदेश करें कि हे लोगो! समस्त जगत् का उत्पादक तथा सब ऐश्वर्यों का स्वामी वह परमेश्वर है। वही लक्ष्मीपति है। लक्ष्मी की प्राप्ति करना चाहो तो पुरुषार्थ करो। ब्रह्मचारी होकर उसके गुणों एवं ज्ञान को धारण किया जा सकता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता:** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

भूमि का रचयिता ईश्वर

उदु तिष्ठ सवितः श्रुध्य१स्य हिरण्यपाणे प्रभृतावृतस्य।
व्यु१र्वीं पृथ्वीममतिं सृजान आ नृभ्यो मर्तभोजनं सुवानः॥ २ ॥

पदार्थ—हे **सवितः**=ऐश्वर्य के स्वामिन्! तू **उत् तिष्ठ**=सबसे ऊपर के पद पर स्थित हो। तू **अस्य**=इस प्रजा के दुःखों को **श्रुधि**=सुन। हे **हिरण्यपाणे**=हित, रमणीय व्यवहारवाले! तू **ऋतस्य**=सत्य ज्ञान और अन्न जीवनादि को **प्र-भृतौ**=उत्तम रीति से धारण करने के लिए **उर्वीम्**=विशाल, **अमतिम्**=सुन्दर **पृथ्वीम्**=भूमि को **वि सृजानः**=रचता हुआ और **मर्त्तभोजनं**=मरणशील प्राणियों के लिये भोजन और रक्षा-साधन को **आसुवानः**=सब ओर पैदा करता हुआ स्थित है।

भावार्थ—विद्वान् जन ईश्वर की सत्ता का उपदेश करें कि ऐश्वर्यशाली परमेश्वर ही इस भूमि को रचता है तथा मरणधर्मा प्राणियों के लिए भोजन व रक्षा साधनों को प्रदान करता है। वही सबका अधिष्ठाता है। जीवरूपी अपनी प्रजा के दुःखों को भी वही सविता सुनता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता:** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परमेश्वर ही स्तुति के योग्य है

अपि ष्टुतः सविता देवो अस्तु यमा चिद्विश्वे वसवो गृणन्ति।
स नः स्तोमान्नमस्य१श्चनो धाद्विश्वेभिः पातु पायुभिर्नि सूरीन्॥ ३ ॥

पदार्थ—यम्=जिसको **विश्वे वसवः**=सब बसने योग्य पृथ्वी आदि लोक और प्राणी **आ गृणन्ति**=आदर से स्तुति करते हैं वह **देवः**=सुख-दाता और **सविता**=उत्पादक **अपि-स्तुवः अस्तु**=स्तुति योग्य है। **सः**=वह **नमस्यः**=नमस्कार करने योग्य **नः**=हमें **स्तोमान्**=स्तुति-योग्य वेद-मन्त्रों और **चनः**=अन्न का भी **आधात्**=उपदेश करता है, देता है। वह **विश्वेभिः पायुभिः**=

समस्त पालन साधनों से **सूरीन्**=पुरुषों की **नि पातु**=रक्षा करे।

भावार्थ—परमेश्वर की स्तुति का उपदेश विद्वान् जन करते हैं कि जो सर्वोत्पादक ईश्वर जो स्तुति योग्य मन्त्रों तथा अन्नादि का भी प्रदान करता है उस सर्वरक्षक प्रभु की पृथ्वी पर बसनेवाले सब प्राणी आदर से स्तुति करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सबका रक्षक परमेश्वर

अ॒भि यं दे॒व्यदि॑तिर्गृ॒णाति॑ स॒वं दे॒वस्य॑ सवि॒तुर्जु॑षा॒णा।
अ॒भि स॒म्राजो॒ वरु॑णो गृणन्त्य॒भि मि॒त्रासो॑ अर्य॒मा स॒जोषाः॑ ॥ ४ ॥

पदार्थ—**देवस्य**=सर्व प्रकाशक, **सवितुः**=जगदुत्पादक प्रभु के **सवम्**=ऐश्वर्य को **जुषाणा**=सेवन करती हुई **देवी**=अन्नादि देनेवाली **अदितिः**=पृथिवी और प्रकृति, पत्नी के समान **यम् अभि गृणाति**=जिसका गुणानुवाद करती है और **यम् अभि सम्राजः वरुणः**=जिसकी स्तुति सम्राट् राजे और **मित्रासः**=मित्रगण तथा **सजोषाः अर्यमा**=न्यायकारी न्यायाधीश ये प्रीतियुक्त होकर करते हैं, हे पुरुषो! **सः नः चनः धात्**=वह हमें अन्न दे और **पायुभिः नि पातु**=रक्षा-साधनों से रक्षा करे।

भावार्थ—विद्वान् बताते हैं कि यह प्रकृति जिसकी महिमा का बखान करती है, चक्रवर्ती सम्राट् व राजे-महाराजे भी जिसके न्याय में रहकर स्तुति करते हैं। उस अन्न आदि से सबकी रक्षा करनेवाले परमेश्वर का तुम भी गुणगान किया करो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु अत्यन्त उदार है

अ॒भि ये मि॒थो व॒नुषः॒ सप॑न्ते रा॒तिं दि॒वो रा॑ति॒षाचः॑ पृथि॒व्याः।
अहि॑र्बु॒ध्न्य॑ उ॒त नः॑ शृणोतु॒ वरू॒त्र्येक॑धेनुभि॒र्नि पा॑तु ॥ ५ ॥

पदार्थ—**ये**=जो हम लोग **मिथः**=मिलकर **वनुषः**=ज्ञानैश्वर्यदाता **दिवः**=प्रकाशस्वरूप **पृथिव्याः**=भूमि-तुल्य विशाल **रातिषाचः**=सुखदाता प्रभु के **रातिम्**=दान को **सपन्ते**=प्राप्त करते हैं वे **उत**=और **बुध्न्यः अहिः**=आकाश में उत्पन्न मेघ-तुल्य उदार प्रभु **नः शृणोति**=हमारी विनय सुने और वह **वरूत्री**=श्रेष्ठ माता के समान **एक-धेनुभिः**=एक वाणी से बद्ध सहायकों द्वारा **नः नि पातु**=हमारी रक्षा करे।

भावार्थ—विद्वान् जन बताते हैं कि वह परमात्मा अपने भक्तों की पुकार को सुनता है। क्योंकि आकाश में घिरे बादलों की भाँति वह प्रभु बड़ा उदार है। माता जैसे बच्चे की वाणी को समझकर सुनती है वह प्रभु भी माता की भाँति रक्षा व पालना करता है। वह पिता तो भूमि के समान विशाल दानदाता है जरा माँग कर तो देखो वह अवश्य देगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता भगो वा** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सर्व ऐश्वर्यदाता प्रभु

अनु॒ तन्नो॒ जास्पति॑र्मंसीष्ट॒ रत्नं॑ दे॒वस्य॑ सवि॒तुरि॑या॒नः।
भग॑मु॒ग्रोऽव॑से॒ जोह॑वीति॒ भग॒मनु॑ग्रो॒ अध॑ याति॒ रत्न॑म् ॥ ६ ॥

पदार्थ—**देवस्य**=सर्वैश्वर्य-दाता **सवितुः**=शासक, जगदुत्पादक परमेश्वर के **रत्नम्**=रमणीय, **भगम्**=ऐश्वर्य को **इयानः**=प्राप्त करता हुआ **उग्रः**=बलवान् **जास्पतिः**=प्रजा-पालक **तत्**=वह **नः**

अनु मंसीष्ट=हमें शक्ति दे। **अध**=इस प्रकार **अनुग्रः**=निर्बल पुरुष भी **अवसे**=अपनी रक्षार्थ जिस **रत्नं**=उत्तम **भगं**=ऐश्वर्य की **जोहवीति**=याचना करता है वह भी उसे **याति**=पा लेता है।

भावार्थ—विद्वान् जन बतावें कि समस्त ऐश्वर्य का दाता सर्वजगत् का उत्पादक परमेश्वर ही है। प्रजा का पालन करनेवाला राजा भी उसी से याचना करता है। निर्बल पुरुष भी उस प्रभु से ही रक्षा एवं ऐश्वर्य की याचना करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वाजिनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञानवान् परमेश्वर

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः।
जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः॥ ७॥

पदार्थ—**देवताता**=विद्वानों और विजयेच्छुक वीरों से करने योग्य **हवेषु**=यज्ञों और युद्धों में **वाजिनः**=ज्ञानवान् और ऐश्वर्यवान् **मितद्रवः**=परिमित गति से आगे बढ़नेवाले **स्वर्काः**=उत्तम अन्न और तेज से युक्त पुरुष **नः शं भवन्तु**=हमें सुखदाता हों। वे **अहिं**=सर्प के समान कुटिल **वृकं**=चोर और **रक्षांसि**=दुष्ट पुरुषों को भी **जम्भयन्तः**=मारते और दबाते हुए **सनेमि**=सदा **अस्मत्**=हम से **अमीवाः**=रोगों और शत्रुओं को **युयवन्**=दूर करें।

भावार्थ—विद्वानों की सम्मति से विजय के इच्छुक वीर पुरुष युद्धों में विजय पाते हुए आगे बढ़ते हैं। वे बलवान् पुरुष प्रजा को सुख देवें। कुटिल जन, लुटेरे तथा दुष्ट पुरुषों को भी मारते व दबाते हुए शत्रुओं का नाश करके राष्ट्र को सुदृढ़ बनावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वाजिनः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम पुरुष सन्मार्गगामी बनावें

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥ ८॥

पदार्थ—हे **वाजिनः विप्राः**=बलवान्, ज्ञानवान् विद्या-पूर्ण जनो! **अमृताः**=दीर्घायु, ब्रह्मज्ञो! हे **ऋतज्ञाः**=वेद के ज्ञाता जनो! आप **वाजे-वाजे**=प्रत्येक संग्राम में **नः अवत**=हमारी रक्षा करो। **नः धनेषु**=हमारे धनों के आश्रय पर **अस्य मध्वः पिबत**=इस मधुर सुख और अन्न का उपभोग करो। **मादयध्वं**=प्रसन्न रहो और **तृप्ताः**=तृप्त होकर **देव-यानैः**=विद्वानों से जाने योग्य **पथिभिः**=मार्गों से **यात**=जाया करो।

भावार्थ—वेद के ज्ञान से युक्त विद्वान् दीर्घायु को प्राप्त कर सत्य वेदज्ञान से जीवन की प्रत्येक समस्या का समाधान करें। सदा प्रसन्न रहने व अन्न का उपभोग करने हेतु सदैव सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करते रहें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता विश्वे देवा है।

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उदात्त मार्ग से चलो

ऊर्ध्वो अग्निः सुमतिं वस्वो अश्रेत्प्रतीची जूर्णिर्देवतातिमेति।
भेजाते अद्री रथ्येव पन्थामृतं होता न इषितो यजाति॥ १॥

पदार्थ–ऊर्ध्वः=उदात्त मार्ग से जानेवाला **अग्निः**=अग्नि–तुल्य तेजस्वी **वस्वः**=अधीन बसानेवाले आचार्य वा प्रभु की **सुमतिम्**=शुभ मति का **अश्रेत्**=सेवन करे। **प्रतीची**=प्रत्यक्ष–प्राप्त **जूर्णिः**=वृद्धावस्था **देवतातिम्**=मनुष्यों के हितकारी कार्य में **एति**=लगे। **अद्री**=अनिन्दित स्त्री–पुरुष **रथ्या इव**=रथ में जुड़े अश्वों के समान **ऋतम्**=सन्मार्ग का **भेजाते**=सेवन करें। **इषितः**=इच्छावान् पुरुष **होता न**=दाता के तुल्य **यजाति**=दान, सत्संग करे।

भावार्थ–ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी अग्नि के समान तेजस्वी बनने के लिए आचार्य के अधीन रहकर श्रेष्ठ बुद्धि एवं ज्ञान का सेवन करे। इनसे प्रेरणा पाकर वृद्धजन समाज सेवा के कार्य में लगें। उत्तम स्त्री–पुरुष लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करें तथा जिज्ञासु जन दान देवें व सत्संग करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्रजाओं का कल्याण

प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान्॥ २॥

पदार्थ–एषाम्=इन प्रजाओं के बीच **सु-प्रथाः**=उत्तम अन्नादि–सम्पन्न, तृप्त करनेवाला **बर्हिः**=उसको बढ़ानेवाला पुरुष ही उनको **प्र वावृजे**=उत्तम मार्ग से चलावे। **एषाम्**=इनमें स्त्री–पुरुष दोनों **वीरिटे**=अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्र के समान **विश्पती इव**=प्रजा–पालक राजा–रानी के तुल्य **हयाते**=व्यवहार करें। **अक्तोः उषसः पूर्वहूतौ**=रात्रि और दिन के पूर्वागमन–काल में **वायुः**=वायु–तुल्य प्राण–प्रिय और **पूषा**=पृथ्वी–तुल्य पोषक स्त्री–पुरुष **नियुत्वान्**=नियुक्त भृत्यादि के स्वामी होकर **विशाम् स्वस्तये**=प्रजाओं के कल्याणार्थ कार्य करें।

भावार्थ–राजा और रानी प्रजा जनों को उत्तम अन्नादि तथा आने–जाने के साधन प्रदान करें। नौकर तथा नौकरानियों सहित समस्त प्रजाओं के कल्याण के कार्य करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

वायु तथा सड़क मार्गों की व्यवस्था

ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः।
अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य॥ ३॥

पदार्थ–हे **वसवः**=राष्ट्रवासी जनो! **अत्र**=इस राष्ट्र में आप लोग **ज्मयाः**=भूमि के मध्य **रमन्त**=प्रसन्न रहो। हे **शुभ्राः**=सुशोभित **देवाः**=स्त्री–पुरुषो! आप **उरौ**=विशाल **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में वायु–तुल्य **मर्जयन्त**=व्यवहारों को शुद्ध करो। हे **उरु-ज्रयः**=बड़े–बड़े मार्गों पर चलनेहारे! आप **अर्वाक्**=हमारी ओर **पथः**=गन्तव्य **मार्ग कृणुध्वं**=मार्ग बनावें। **जग्मुषः**=जानेवाले आप लोगों के प्रति **नः**=हमारे **अस्य दूतस्य**=इस दूत के वचनों को **श्रोत**=सुनो।

भावार्थ–राजा को चाहिए कि वह राष्ट्र की प्रजा के लिए आकाश मार्ग=वायुयान आदि से आने–जाने की व्यवस्था करे। बड़े–बड़े भूमि पर चलने हेतु राजमार्गों की भी व्यवस्था करे। अर्थात् परिवहन व्यवस्था सुचारु बनावे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

बड़ों का आदर करो

ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः सधस्थं विश्वे अभि सन्ति देवाः।
ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम्॥ ४॥

पदार्थ–**ते**=वे **ऊमाः**=रक्षक **देवाः**=विद्वान् **विश्वे**=समस्त **यज्ञियासः**=यज्ञकर्ता **यज्ञेषु**=यज्ञों में **हि**=अवश्य **सधस्थं अभि सन्ति**=साथ बैठने योग्य सभा–स्थान में प्राप्त हों। हे **अग्ने**=तेजस्विन्! **तान् उशतः**=उन चाहनेवाले पुरुषों और **भगं**=ऐश्वर्यवान्, **नासत्या**=कभी असत्य न करनेवाले पुरुषों और **पुरन्धिम्**=सुखों के धारक, वा पुर–रक्षक को **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **यक्षि**=सत्कार कर।

भावार्थ–राष्ट्र में यज्ञों का प्रचलन बढ़े इसके लिए विद्वान् पुरुष समस्त यज्ञ करनेवालों को यज्ञ का प्रशिक्षण देवें। यज्ञों में विद्वान् जनों तथा सत्यवादी पुरोहितों का खूब आदर सम्मान होवे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सदा आनन्दित रहो

आग्ने गिरो दिव आ पृथिव्या मित्रं वह वरुणमिन्द्रमग्निम्।
आर्यमणमदितिं विष्णुमेषां सरस्वती मरुतो मादयन्ताम् ॥ ५ ॥

पदार्थ–हे **अग्ने**=विद्वन्! **दिवः**=विद्युत्, सूर्य आदि और **पृथिव्याः**=पृथिवी के सम्बन्ध की **गिरः**=ज्ञान–वाणियों को **आ वह**=धारण कर। तू **मित्रं**=मित्र, प्राण वायु **वरुणं**=उदान वायु **इन्द्रं**=आत्मा, **अग्निम्**=जाठर अग्नि, **अर्यमणम्**=स्वामिवत् नियन्ता मन और **अदितिं**=अविनाशी **विष्णुम्**=परमेश्वर को **आ वह**=धारण कर। **एषां सरस्वती**=इन सबके सम्बन्ध की वेदवाणी से हे **मरुतः**=विद्वान् पुरुषो! आप **मादयन्ताम्**=प्रसन्न होवो, अन्यों को प्रसन्न करो।

भावार्थ–विद्वान् जन राष्ट्र में सूर्य और पृथिवी के सम्बन्धों का विज्ञान, प्राण विज्ञान, आत्मज्ञान, शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान को प्रतिष्ठित करें। इन विज्ञानों से सम्बन्धित वेदवाणी का प्रचार करते हुए सदैव आनन्दित रहें तथा अन्य लोगों को भी आनन्दित करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वानों का संग करो

र॒रे ह॒व्यं म॒तिभि॑र्य॒ज्ञिया॑नां नक्ष॒त्कामं॒ मर्त्या॑ना॒मसि॑न्वन्।
धाता॑ र॒यिम॑विद॒स्यं स॑दा॒सां स॑क्षी॒महि॒ युज्ये॑भि॒र्नु दे॒वैः ॥ ६ ॥

पदार्थ–मैं **यज्ञियानाम्**=सत्कारोचित जनों के योग्य **हव्यं**=अन्नादि पदार्थों को **मतिभिः**=बुद्धियों और ज्ञानी पुरुषों से प्रेरित होकर **ररे**=दिया करूँ। **यज्ञियानां मर्त्यानाम्**=आदर–योग्य मनुष्यों की भी **कामं**=अभिलाषा को **नक्षत्**=प्राप्त होओ। जो विद्वान् **असिन्वन्**=हमें प्रेमादि से बाँधते हैं उन **युज्येभिः**=सहयोगी **देवैः**=विद्वानों के साथ **सक्षीमहि**=मिलकर रहें, हे विद्वान् जनो! आप लोग **सदासां**=सदा सेवन–योग्य **अविदस्यं**=अविनाशी **रयिम्**=ऐश्वर्य को **धात**=धारण करो।

भावार्थ–प्रजाजन पूजा के योग्य विद्वान् पुरुषों को अन्नादि से तृप्त कर उनसे ज्ञान तथा सद्प्रेरणाएँ प्राप्त करें। विद्वानों के संग से भौतिक तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्य की वृद्धि होती है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्रसन्नचित्त रहो

नू रोद॑सी अ॒भिष्टु॑ते वसि॑ष्ठैर्ऋ॒तावा॑नो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॒ग्निः।
यच्छ॑न्तु च॒न्द्रा उ॑प॒मं नो॑ अ॒र्कं यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ७ ॥

पदार्थ–**वसिष्ठैः**=विद्वान् पुरुषों द्वारा **रोदसी**=सूर्य, भूमि के तुल्य व्यवहारयुक्त स्त्री–पुरुषों

की **अभि-स्तुते**=अच्छी प्रकार प्रशंसा होती है और **ऋतावानः**=ऐश्वर्य के स्वामी **वरुणः**=श्रेष्ठ, **मित्रः**=स्नेहवान् और **अग्निः**=तेजस्वी पुरुष, सभी **चन्द्राः**=आह्लादकारी होकर **नः**=हमें **उपमं**=ज्ञान और **अर्कं**=उत्तम सत्कार **यच्छन्तु**=प्रदान करें। हे विद्वान् जनो! **यूयं**=आप सब लोग **नः**=हमारी **स्वस्तिभिः सदा पात**=कल्याणकारी उपायों से सदा रक्षा करें।

भावार्थ—उत्तम विद्वानों का संग करनेवाले स्त्री-पुरुष सत्य, न्याय तथा श्रेष्ठ प्रिय आचरण करते हुए सदैव प्रसन्नचित्त रहते हैं। और विद्वानों से उत्तम ज्ञान-प्राप्त कर प्रशंसित होते हैं।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ और देवता विश्वे देवा है।

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

धन सम्पन्न बनो

ओ श्रुष्टिर्विदथ्या३ समेतु प्रति स्तोमं दधीमहि तुराणाम्।
यदद्य देवः सविता सुवाति स्यामास्य रत्निनो विभागे॥ १॥

पदार्थ—**ओ**=हे विद्वानो! **विदथ्या**=यज्ञों और संग्रामों में होने योग्य **श्रुष्टिः**=शीघ्रकारिता **तुराणां**=वीर पुरुषों के **स्तोमं**=समूह को **प्रति समेतु**=प्रति-पुरुष प्राप्त हो, ऐसे **स्तोमं**=जन-समूह या सैन्य को हम **दधीमहि**=धारण करें। **यद् देवाः**=जो दानशील **सविता**=सूर्यवत् तेजस्वी पुरुष **अद्य सुवाति**=आज ऐश्वर्य देता है **अस्य**=उसके **विभागे**=व्यवहार में हम **रत्निनः स्याम**=धन-सम्पन्न हों।

भावार्थ—उत्तम शासन तथा ऐश्वर्यशाली, दानशील तेजस्वी राजा अपने प्रिय मधुर व्यवहार तथा उत्तम धन द्वारा प्रजा को समृद्ध करे यज्ञों की रक्षा के लिए विद्वानों तथा शत्रुओं की हिंसा करनेवाले वीर पुरुषों को भी व्यक्तिगत प्रोत्साहित करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा विद्वानों का सहयोग ले

मित्रस्तन्नो वरुणो रोदसी च द्युभक्तमिन्द्रो अर्यमा ददातु।
दिदेष्टु देव्यदिती रेक्णो वायुश्च यन्नियुवैते भगश्च॥ २॥

पदार्थ—**मित्रः**=स्नेही, **वरुणः**=श्रेष्ठ पुरुष, **रोदसी च**=आकाश, पृथिवी के तुल्य स्त्री, पुरुष और **इन्द्रः अर्यमा**=सूर्य, मेघ के तुल्य राजा और न्यायाधीश **नः**=हमें **तत्**=वह नाना प्रकार का **द्युभक्तम्**=बहुत दिनों तक सेवन-योग्य ऐश्वर्य **ददातु**=देवे। **अदितिः देवी**=अन्नदात्री भूमि-तुल्य विदुषी स्त्री, **भगः च वायुः च**=ऐश्वर्यवान् और बलवान् सूर्य और वायु के तुल्य तेजस्वी बली पुरुष **यत् रेक्णः**=जो धन और बल **नि-युवैते**=अच्छी प्रकार मिलकर उत्पन्न करते हैं उसका हमें भी **दिदेष्ट**=विद्वान् पुरुष उपदेश करे।

भावार्थ—न्याय प्रिय राजा अपनी प्रजा स्त्री-पुरुषों, मित्रों, श्रेष्ठ पुरुषों को भरपूर ऐश्वर्य प्रदान करे। राष्ट्र की स्त्री विदुषी तथा पुरुष तेजस्वी बलवान् हों ऐसी व्यवस्था विद्वानों के सहयोग से राजा करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सन्मार्गगामी बनो

सेदुग्रो अस्तु मरुतः स शुष्मी यं मर्त्यं पृषदश्वा अवाथ।
उतेमग्निः सरस्वती जुनन्ति न तस्य रायः पर्येतास्ति॥ ३॥

पदार्थ—हे **मरुतः**=वायु-तुल्य बलवान् वीरो! हे **पृषदश्वाः**=हृष्ट-पुष्ट अश्वोंवाले सैन्य जनो! आप **यं मर्त्यं अवाथ**=जिस मनुष्य की रक्षा करते हो **सः इत् उग्रः अस्तु**=वह ही शत्रुओं को डराने में समर्थ हो। **उत**=और **ईम्**=सब ओर **तस्य सरस्वती**=उसकी वेगवती सेना **अग्निः**=अग्नि-तुल्य शत्रु को जलानेवाली हो। जिसको **जुनन्ति**=विद्वान् लोग सन्मार्ग पर चलाते हैं **तस्य रायः**=उसके ऐश्वर्यों को कोई **पर्येता न अस्ति**=छीन लेनेवाला नहीं होता।

भावार्थ—राष्ट्र की प्रजा विद्वानों के मार्गदर्शन में सन्मार्ग पर चलते हुए ऐश्वर्यशाली बने। प्रजा जन उत्तम वाणी के धनी तथा वीर बनकर शत्रुओं को भयभीत करने और आत्मरक्षा में समर्थ हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुःखसागर से तरो

अयं हि नेता वरुण ऋतस्य मित्रो राजानो अर्यमापो धुः।
सुहवा देव्यदितिरनर्वा न नो अंहो अति पर्षन्नरिष्टान्॥ ४॥

पदार्थ—**अयं**=यह **हि**=ही **वरुणः**=सर्वश्रेष्ठ पुरुष **नेता**=सबका नायक होता है। **मित्रः**=सर्वस्नेही **अर्यमा**=शत्रुनियन्ता और **राजानः**=अन्य राजागण उसके अधीन **अपः धुः**=नाना काम अपने पर लेते हैं। **सुहवा**=उत्तम ज्ञान-युक्त **देवी**=अन्नादि देनेवाली, विदुषी **अदितिः**=अखण्ड चरित्रवाली माता और **अनर्वा**=अश्वादि से रहित, यन्त्रमय रथ पर जानेवाला पुरुष **ते**=वे सब **अंहः**=कष्ट से **अरिष्टान्**=बिना पीड़ित हुए **नः**=हमें **अति पर्षन्**=पार करें।

भावार्थ—राष्ट्र का नेता सर्वश्रेष्ठ होवे। वह सर्वस्नेही, शत्रु का नियन्ता होवे। राष्ट्र की स्त्रियाँ विदुषी, उत्तम चरित्रवाली होवें। यान पर आरूढ़ होकर राष्ट्रनायक प्रजाजन को पाप और दुःखों से पार करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्नादि से समृद्ध बनो

अस्य देवस्य मीळ्हुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः।
विदे हि रुद्रो रुद्रियं महित्वं यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत्॥ ५॥

पदार्थ—**अस्य**=इस **देवस्य**=सुखप्रदाता **मीढुषः**=वीर्यसेक्ता पिता के तुल्य, **विष्णोः**=बलशाली, **एषस्य**=सबके चाहने योग्य, **हविर्भिः प्रभृथे**=अन्नों या आज्ञा-वचनों द्वारा उत्तम रीति से पोषित इस राष्ट्र में सब **वयाः**=शाखा के समान हैं। **रुद्रः**=दुष्टों का रुलानेवाला वह ही **रुद्रियं महित्वं विदे**=रुद्र होने योग्य सामर्थ्य को प्राप्त करता है। हे **अश्विनौ**=स्त्री-पुरुषो! तुम लोग **इरावत् वर्तिः**=अन्नादि-समृद्ध गृह को **यासिष्टं**=प्राप्त करो।

भावार्थ—दुष्टों को दण्डित करनेवाला राजा तेजस्वी, बलवान्, पराक्रमी होवे। राजा पिता के समान, सर्वप्रिय होकर राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों को अन्नादि से खूब समृद्ध कर उनका पोषण करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुख की वर्षा करो

मात्र पूषन्नघृण इरस्यो वरूत्री यद्रातिषाचश्च रासन्।
मयोभुवो नो अर्वन्तो नि पान्तु वृष्टिं परिज्मा वातो ददातु ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे **आघृणे**=सब ओर दीप्त! **पूषन्**=सर्वपोषक! तू **अत्र**=इस राष्ट्र में **मा इरस्य**=विनाश मत कर। **यत्**=जो **वरूत्री**=वरण-योग्य विदुषी स्त्री और जो **रातिषाचः च**=दानशील पुरुष **रासन्**=प्रदान करते हैं वे **मयः-भुवः**=सुख-दाता **नः अर्वन्तः**=हमें प्राप्त होकर **नि पान्तु**=रक्षा करें और **परि-ज्मा**=पृथ्वी पर शासक **वातः**=वायु-तुल्य बलवान् होकर **वृष्टिं ददातु**=प्रजा पर सुख-वृष्टि करें।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के अन्दर किसी हिंसक को न पनपने दे। उनके तेज और ऐश्वर्य को नष्ट करके राष्ट्र को विनाश तथा अशान्ति से बचावे। और अपनी उत्तम प्रजा पर मेघ के समान खूब सुख की वर्षा करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋत को धारण करो

नू रोदसी अभिष्टुते वसिष्ठैर्ऋतावानो वरुणो मित्रो अग्निः।
यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ—**वसिष्ठैः**=विद्वान् पुरुषों द्वारा **रोदसी**=सूर्य, भूमि के तुल्य व्यवहारयुक्त स्त्री-पुरुषों की **अभि-स्तुते**=अच्छी प्रकार प्रशंसा होती है और **ऋतावानः**=ऐश्वर्य के स्वामी **वरुणः**=श्रेष्ठ, **मित्रः**=स्नेहवान् और **अग्निः**=तेजस्वी पुरुष, सभी **चन्द्राः**=आह्लादकारी होकर **नः**=हमें **उपमं**=ज्ञान और **अर्कं**=उत्तम सत्कार **यच्छन्तु**=प्रदान करें। हे विद्वान् जनो! **यूयं**=आप सब लोग **नः**=हमारी **स्वस्तिभिः सदा पात**=कल्याणकारी उपायों से सदा रक्षा करें।

भावार्थ—विद्वान् जन राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों को ज्ञान प्रदान कर अग्नि के समान तेजस्वी तथा चन्द्रमा के समान आह्लादकारी बनाकर सत्याचरण में प्रवृत्त करें। इस प्रकार के अनेक कल्याणकारी उपायों द्वारा प्रजा को ऋत नियमों का धारक बनावें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता लिंगोक्ता, भग और उषा हैं।

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु का ध्यान

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥ १ ॥

पदार्थ—हम लोग **प्रातः**=प्रभात में **अग्निम्**=अग्नि-तुल्य प्रभु की **हवामहे**=स्तुति करें। हम **प्रातः इन्द्रम् हवामहे**=प्रातःकाल विद्युत् वा सूर्य-तुल्य प्रकाशक परमेश्वर की उपासना करें। **मित्रा वरुणा**=प्राण और उदान दोनों को **प्रातः**=प्रातःकाल प्राणायाम द्वारा वश करें। **अश्विना प्रातः**=देह में सूर्य और चन्द्र स्वरों को प्रातः सेवन करें। **भगं**=ऐश्वर्यमय, **पूषणं**=पोषक वायु का **प्रातः**=सेवन करें। **ब्रह्मणः पतिम्**=ब्रह्माण्ड, ऐश्वर्य के स्वामी परमेश्वर और वेदों के द्रष्टा विद्वान् की शिष्य,

सोमम्=ओषधि की रोगी और **रुद्रं**=पापियों को रुलानेवाले प्रभु की भक्तजन **प्रातः हुवेम**=प्रातः ही सेवा करें।

भावार्थ–प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त्त में जगकर मनुष्य प्राणायाम पूर्वक परमेश्वर की उपासना करे तथा उसके तेजः स्वरूप का ध्यान करे। उसके बाद वायुसेवन अर्थात् भ्रमण के लिए जावे। परमेश्वर का स्मरण करते हुए रोगी औषध का सेवन करे तथा शिष्य आचार्य के सान्निध्य में जावे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**भगः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ईशोपासना निर्धन-धनी सब करें

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ २॥

पदार्थ–प्रातः-जितम्=प्रभात में सर्वाधिक उत्कर्ष पाने और **भगं**=सेवन योग्य **उग्रं**=दुष्ट-भयकारी, **पुत्रं**=बहुतों के रक्षक प्रभु की **वयं**=हम **हुवेम**=स्तुति करें, **यः**=जो **अदितेः**=अखण्ड प्रकृति, सूर्य और **विधर्त्ता**=लोकों को धारण करता है और **यं मन्यमानः**=जिसका मनन करता हुआ **यं**=जिस **भगं**=ऐश्वर्यवान् प्रभु की **आध्रः चित्**=अन्यों से धारण-योग्य और **तुरः चित्**=शीघ्रकारी **राजा चित्**=राजा भी **भक्षि**='मैं भजन करता हूँ' **इति आह**=ऐसा कहता है।

भावार्थ–सूर्य आदि विविध लोकों को धारण करनेवाला सर्वरक्षक परमेश्वर मनन करने के योग्य है। उस ऐश्वर्यशाली प्रभु की उपासना राजा-प्रजा, निर्धन-धनी सब जन करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**भगः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्रभु से विनय

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥ ३॥

पदार्थ–हे **भग**=ऐश्वर्यवन्! हे **प्रणेतः**=उत्तम मार्ग में ले जाने हारे! हे **भग**=सेवन-योग्य, हे **सत्य-राधः**=सत्यज्ञान वेद के धनी! हे **भग**=सुखदातः! आप **नः**=हमारी **इमां**=इस **धियम्**=बुद्धि को **उत् अव**=ऊपर ले चलो। **नः ददत्**=हमें दान करते हुए, हे **भग**=ऐश्वर्यवन्! **गोभिः अश्वैः**=गौओं, वाणियों और अश्वों से **प्र जनय**=उत्तम बनाइये। जिससे हे **भग**=ऐश्वर्य-स्वामिन्! हम **नृभिः**=उत्तम पुरुषों से मिलकर **नृवन्तः**=उत्तम मनुष्यों के सहयोगी होकर **प्र स्याम**=उत्तम बनें।

भावार्थ–सब मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए ऐश्वर्यवान् प्रभु से प्रातःकाल में विनय किया करें कि हे सब पदार्थों, विद्यमान सत्यज्ञान वेद के प्रकाशक प्रभो! आप हमारी बुद्धियों को उन्नत बनावें। फिर अपनी श्रेष्ठ बुद्धि का उपयोग ऐसे उत्तम कार्यों में करें जिससे अश्व-गौ आदि पशुओं से श्रेष्ठ बनें तथा उत्तम मनुष्यों के सहयोगी बनें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**भगः** ॥ छन्दः–**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

परमात्मचिन्तन

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ ४॥

पदार्थ–उत इदानीं=और इस समय, **उत प्र-पित्वे**=और ऐश्वर्य प्राप्त होने पर और

अह्वाम् मध्ये=दिनों के मध्य **उत**=और **सूर्यस्य उदिता**=सूर्योदय-काल में या **उद्-इता**=अस्तकाल में भी, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन्! हम **भगवन्तः**=ऐश्वर्यों के स्वामी **स्याम**=हों और **देवानां**=विज्ञ पुरुषों की **सु-मतौ**=शुभ मति के अधीन **स्याम**=रहें।

भावार्थ—व्यवहार कुशल विद्वानों के संग से शुभ मति प्राप्त करते हुए सूर्योदय काल, मध्याह्न काल तथा सूर्यास्त काल में भी समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी परमात्मा का चिन्तन किया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भगवान से पुकार

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह॥५॥

पदार्थ—**भगः एव**=भजन योग्य प्रभु ही **भगवान् अस्तु**=ऐश्वर्यों का स्वामी हो। हे **देवाः**=विद्वानो! **तेन**=उससे ही **वयं**=हम सब **भगवन्तः स्याम**=ऐश्वर्यवान् हों। हे **भग**=सेवा-योग्य! **सर्व इत्**=सब ही **त्वां तं**=उस तुझको **जोहवीती**=पुकारते हैं, **सः भगः**=वह ऐश्वर्यवान् तू ही **इह**=इस लोक में **नः पुरः-एता भव**=हमारा अग्रगामी हो।

भावार्थ—प्रातःकाल जागकर भगवान् को पुकारें और कहें कि हे प्रभो! इस लोक में तू ही हमारा मार्गदर्शक है। तू ही हमारे अन्तःकरण में सुप्रेरणा किया कर। विद्वान् लोगों की संगति से उस कल्याणकारी, ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु का भजन नित्य किया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रातःकाल ईश्वर प्राप्ति का व्रत लें

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु॥६॥

पदार्थ—**उषसः**=प्रातःकाल के समय आप लोग **अध्वराय**=हिंसारहित उपासनादि के लिये और **शुचये**=पवित्र, **पदाय**=प्रभु को प्राप्त करने के लिये **दधिक्रावा इव**=बोझ लेकर चलनेवाले अश्व के समान व्रत को धारण करके आगे पैर बढ़ाते हुए **सं नमन्त**=अच्छी प्रकार झुको। **अश्वाः रथं न**=अश्व जैसे रथ को ले जाते हैं वैसे ही **वाजिनः**=ज्ञानवान् लोग **अर्वाचीनं**=साक्षात् करणीय **वसुविदं**=ऐश्वर्यों, जीवों को प्राप्त और उनसे पालने योग्य **भगं**=ऐश्वर्यमय प्रभु तक **नः आवहन्तु**=हमें पहुँचावें।

भावार्थ—प्रातःकाल की वेला में ज्ञानवान् साधकों के सान्निध्य में बैठकर यज्ञ तथा उपासना द्वारा परम पवित्र प्राप्त करने योग्य परमेश्वर की प्राप्ति के लिए दृढ़व्रती होकर साधना पथ पर बढ़ते जावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विदुषी महिला

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥७॥

पदार्थ—**उषासः अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्राः**=जैसे प्रभात वेलाएँ सूर्य-किरणों और वायु से युक्त-होकर सुख देती हैं वैसे ही **उषासः**=कामना-युक्त स्त्रियाँ भी **अश्वावतीः**=

भोक्ता पुरुष से सनाथ, **गोमतीः**=उत्तम वाणियों को धारण करनेवाली, **वीर-वतीः**=वीर पुत्र-युक्त होकर **नः सदम्**=हमारे घर को **उच्छन्तु**=प्रकाशित करें। वे **घृतं दुहानाः**=गृह में दीप्तिवत्, ज्ञानप्रकाश से पूर्ण करती हुई **विश्वतः प्रपीताः**=सब प्रकार हृष्ट-पुष्ट, तृप्त रहें। हे विदुषी स्त्रियो! **यूयं**=आप सब **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमें सदा कल्याण उपायों से रक्षा करो।

भावार्थ–विदुषी महिलाएँ प्रातःकाल ब्रह्मवेला में उठकर उत्तम वायु तथा प्रातःकालीन सूर्य किरणों का सेवन करके सुखी होती हैं। उत्तम वाणी तथा उत्तम सन्तान द्वारा घर को प्रकाशित करती हैं तथा ज्ञान के प्रकाश की दीप्तियों से घर को भर देती हैं।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और विश्वे देवा देवता है।

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्राण साधना

प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षन्त प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु।
प्र धेनव उदप्रुतो नवन्त युज्यातामद्री अध्वरस्य पेशः ॥ १ ॥

पदार्थ–**अङ्गिरसः**=देह में प्राणवत्, तेजस्वी **ब्रह्माणः**=वेदज्ञ पुरुष **प्र नक्षन्त**=आया करें। **क्रन्दनुः नभन्यस्य**=जैसे मेघ वायु के वेग को प्राप्त करता है वैसे ही **क्रन्दनुः**=उपदेष्टा पुरुष **नमन्यस्य वेतु**=स्तुति-योग्य प्रभु-ज्ञान का प्रकाश करे। **क्रन्दनुः**=रोदनशील, कोमल-प्रकृति स्त्री **नभन्यस्य वेतु**=सम्बन्ध योग्य पुरुष का आश्रय करे। **उदप्रुतः**=जल पूर्ण नदियों के तुल्य **धेनवः**=वाणियाँ और गौएँ **प्र नवन्त**=प्रभु की स्तुति करें और **अद्री**=पर्वतवत् स्थिर स्त्री-पुरुष **अध्वरस्य वेशः**=अहिंसामय यज्ञ के स्वरूप को **प्र युज्याताम्**=सम्पन्न करें।

भावार्थ–वेद के विद्वान् उपदेष्टा पुरुष हमारे पास आया करें तथा प्राण साधना सिखाकर स्तुति के योग्य प्रभु के ज्ञान का प्रकाश करें। सभी स्त्री-पुरुष अहिंसामय यज्ञ के स्वरूप को सम्पन्न करते हुए वेदवाणियों से ईश्वर की स्तुति किया करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्रशंसनीय वीर

सुगस्ते अग्ने सनवित्तो अध्वा युक्ष्व सुते हरितो रोहितश्च।
ये वा सद्मन्नरुषा वीरवाहो हुवे देवानां जनिमानि सत्तः ॥ २ ॥

पदार्थ–हे **अग्ने**=तेजस्विन्! विद्वन्! **ते**=तेरा **सनवित्तः**=सनातन से वेद द्वारा ज्ञात **अध्वा**=मार्ग **सुगः**=सुख से गमन-योग्य है। तू भी **सुते**=ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये रथ में **हरितः रोहितः च**=लाल अश्वों को **युक्ष्व**=युक्त कर। **ये वा अरुषाः वीरवाहः**=जो क्रोध-रहित वीरों को ले चलनेवाले हों **देवानां जनिमानि**=उन विद्वानों और वीरों के जन्मों की मैं **सत्तः**=स्थिर होकर प्रशंसा करूँ।

भावार्थ–अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् सत्य सनातन वेदमार्ग को समस्त प्रजा के लिए प्रशस्त करें। इस वेद मार्ग पर चलकर गृहस्थीजन प्रशंसनीय वीर सन्तानों को जन्म देकर राष्ट्र के गौरव को बढ़ावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञरूप परमेश्वर की पूजा

समु वो यज्ञं महयन्नमोभिः प्र होता मन्द्रो रिरिच उपाके।
यजस्व सु पुर्वणीक देवाना यज्ञियामरमतिं ववृत्याः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे विद्वान् जनो! **वः**=आप लोगों में **मन्द्रः**=स्तुत्य **होता**=उपदेष्टा **नमोभिः**=नमस्कार योग्य मन्त्रों से **यज्ञं**=यज्ञमय परमेश्वर की **महयन्**=पूजा करता हुआ **उपाके**=हमारे पास रहकर **प्र रिरिचे**=पापों से पृथक् रहता है। हे **पुर्वणीक**=बहुत सैन्यों के स्वामिन्! तू **देवान् सु यजस्व**=विद्वान् पुरुषों का सत्संग कर, उनको दान दे और **यज्ञियानाम्**=यज्ञ, प्रभु की ध्यानोपासना और सत्संगोचित्त **अरमतिं**=उत्तम बुद्धि को **आ ववृत्याः**=सब प्रकार प्रयुक्त कर।

भावार्थ—उत्तम विद्वानों के संग से सभी मनुष्य प्रभु की ध्यानोपासना तथा यज्ञ क्रिया में संलग्न होकर उत्तम बुद्धि को प्राप्त करें। इस प्रकार यज्ञमय परमेश्वर की पूजा द्वारा समस्त पापों से पृथक् रह सकेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अतिथि यज्ञ

यदा वीरस्य रेवतो दुरोणे स्योनशीरतिथिराचिकेतत्।
सुप्रीतो अग्निः सुधितो दम आ स विशे दाति वार्यमियत्यै ॥ ४ ॥

पदार्थ—**यदा**=जब **वीरस्य**=वीर क्षत्रिय और **रेवतः**=धनाढ्य वैश्य के **दुरोणे**=गृह में **अतिथिः**=अतिथि, विद्वान्, परिव्राजक, **स्योनशीः**=सुख से रहे और प्राप्त हो, वह **दमे**=गृह में **सु धितः**=सुखपूर्वक धारित **अग्निः**=अग्नि-तुल्य तेजस्वी पुरुष **सुप्रीतः**=प्रसन्न होकर **इयत्यै**=सुखेच्छुक **विशे**=प्रजा के लिये **वार्यं आदाति**=उत्तम ज्ञान देता और उसके हितार्थ ही स्वयं भी **वार्यम् आ दाति**=वरणीय धनादि लेता है।

भावार्थ—भ्रमणशील विद्वान्, संन्यासी, साधक, योगी, जब कभी वीर क्षत्रिय तथा धनाढ्य वैश्य गृहस्थ के द्वार पर आवें तो इन अतिथियों का प्रसन्नता पूर्वक अपने गृह पर सत्कार करें। इससे घर की सन्तति सुसंस्कारित हो ज्ञान, वीरता तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति कर सकेगी। क्योंकि ये अतिथि अपना-अपना ज्ञान गृहस्थ के घर में बाँटकर जाएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विद्वानों की संगति करें

इमं नो अग्ने अध्वरं जुषस्व मरुत्स्विन्द्रे यशसं कृधी नः।
आ नक्ता बर्हिः सदतामुषासोशन्ता मित्रावरुणा यजेह ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे **अग्ने**=अग्नि-तुल्य तेजस्विन्! विद्वन्! **नः इमं अध्वरं**=तू हमारे इस यज्ञ को **जुषस्व**=सेवन कर। **मरुत्सु**=मनुष्यों और **इन्द्रे**=राजा में भी **नः**=हमारे **अध्वरं यशसं कृधि**=यज्ञ को कीर्ति-युक्त कर। **नक्ता उषासः**=रात और दिन, **उशन्ता**=चाहनेवाले **मित्रावरुणा**=स्नेही, परस्पर को वरण करनेवाले स्त्री-पुरुषों को **इह यज**=इस स्थान पर धर्मोपदेश दे। तू **बर्हिः सदताम्**=उत्तमासन पर विराजो।

भावार्थ—गृहस्थी जन अपने घर पर यज्ञ में उत्तम विद्वानों को श्रेष्ठ आसन पर बैठाकर उनसे

धर्मोपदेश सुनें। इस प्रकार वे विद्वान् तुम्हारी तथा तुम्हारे यज्ञ की कीर्ति शासक राजा आदि में तथा समस्त मनुष्यों में फैलावेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तेजोमय परम की आराधना

एवाग्निं सहस्यं१ वसिष्ठो रायस्कामो विश्वप्स्न्यस्य स्तौत्।
इषं रयिं पप्रथद्वाजमस्मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदार्थ—वसिष्ठः=उत्तम विद्वान् **रायः कामः**=ऐश्वर्यों का इच्छुक होकर **विश्वप्स्न्यस्य**=सर्वत्र विद्यमान अग्नि आदि तत्त्व के **सहस्यं**=बलोत्पादक **अग्निं**=अग्नि या विद्युत् तत्त्व का **स्तौत्**=उपदेश करे। **अस्मे**=हमारे **इषं रयिम् वाजम् पप्रथद्**=अन्न, धन का विस्तार करे। हे विद्वान् पुरुषो! आप लोग **नः स्वस्तिभिः सदा पात**=हमें कल्याणकारी उपायों से सदा सुरक्षित रखिये।

भावार्थ—उत्तम विद्वान् सर्वत्र व्याप्त तेजोमय परम पुरुष की आराधना की विधि गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को सिखावें तथा अग्नितत्त्व में बल की उत्पत्ति, विद्युत् तत्त्व में शक्ति, अन्न में बल उस परमेश्वर ने कैसे भर दिया है इस तत्त्वज्ञान को विस्तार से समझावें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और विश्वे देवा देवता है।

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान का प्रसार

प्र वो यज्ञेषु देवयन्तो अर्चन्द्यावा नमोभिः पृथिवी इषध्यै।
येषां ब्रह्माण्यसमानि विप्रा विष्वग्वियन्ति वनिनो न शाखाः ॥ १ ॥

पदार्थ—यज्ञेषु=सत्संगों, दान आदि कार्यों में **वः**=आप लोगों में **द्यावा पृथिवी**=आकाश और भूमि को **इषध्यै**=जानने के लिये **देवयन्तः**=विद्वानों की **नमोभिः**=विनयों और अन्नादि से **प्र अर्चन्**=अच्छी प्रकार अर्चना करते हैं **येषां**=जिनके **ब्रह्माणि**=ज्ञान और धनैश्वर्य **असमानि**=सबसे अधिक हैं वे **विप्राः**=विद्वान् **वनिनः शाखाः न**=वृक्ष की शाखाओं के समान **विष्वग् वियन्ति**=सब ओर जाते हैं।

भावार्थ—आकाश में फैली सूर्य की किरणों के समान विद्वान् पुरुष सम्पूर्ण राष्ट्र में जा-जाकर सत्संगों, यज्ञों व शिविरों के द्वारा ईश्वर आराधना, स्वास्थ्य साधना तथा वेद ज्ञान का प्रसार करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञ द्वारा वर्षा

प्र यज्ञ एतु हेत्वो न सप्तिरुद्यच्छध्वं समनसो घृताचीः।
स्तृणीत बर्हिरध्वराय साधूर्ध्वा शोचींषि देवयून्यस्थुः ॥ २ ॥

पदार्थ—हमें **हेत्वः सप्तिः न**=वेगवान् अश्व तुल्य **यज्ञः प्र एतु**=यज्ञ प्राप्त हो। हे विद्वानो! आप **समनसः**=एकचित्त होकर **घृताचीः उद्यच्छध्वम्**=घृत-युक्त स्रुवे उठाओ, वा एकचित्त होकर उद्यम करो, आप **घृताचीः**=जल-युक्त मेघमालाओं को **बर्हिः**=आकाश में **स्तृणीत**=आच्छादित करो। **साधु**=अच्छी प्रकार **अध्वराय**=यज्ञ की **देवयूनि**=दीप्तियुक्त **शोचींषि**=ज्वालाएँ **ऊर्ध्वा**

अस्थुः=ऊँचे उठें।

भावार्थ–विद्वान् लोग राष्ट्र में यज्ञ विज्ञान को तेजी से बढ़ावें। ये विद्वान् यज्ञों के बड़े-बड़े आयोजनों में जाकर एकाग्रचित्त होकर घृत से भरे स्रुवों द्वारा आहुतियाँ देकर यज्ञ की ज्वालाओं को ऊँचे उठावे जिससे जलों से युक्त मेघमालाएँ आकाश में आच्छादित होकर भूमि को तृप्त करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

शासक माता के गुणों से युक्त हो

आ पुत्रासो न मातरं विभृत्राः सानौ देवासो बर्हिषः सदन्तु।
आ विश्वाची विदथ्यामनक्त्वग्ने मा नो देवताता मृधस्कः ॥ ३ ॥

पदार्थ–**विभृत्राः पुत्रासः मातरं न**=भरण योग्य पुत्र जैसे माता को प्राप्त होते हैं वैसे ही **विभृत्राः**=विशेष भृति द्वारा रक्षित राज-पुरुष **पुत्रासः न**=राज-पुत्रों के समान प्रिय होकर, **मातरं**=मातृभूमि को प्राप्त होकर **देवासः**=विजयेच्छु जन **बर्हिषः**=राष्ट्र तथा प्रजाजन के **सानौ**=समुन्नत पदों पर **सदन्तु**=विराजें। **विश्वाची**=समस्त जनों की बनी सभा **विदथ्याम्**=संग्राम-सम्बन्धिनी नीति को **आ अनक्तु**=प्रकट करे। हे **अग्ने**=तेजस्विन्! **देवताता**=यज्ञ और युद्ध में **नः मृधः**=हमारे हिंसकों को **मा कः**=मत उत्पन्न कर।

भावार्थ–राजा पंचायत सभा की सम्मति से राष्ट्रोन्नति की नीति तैयार करे तथा मातृभूमि को समर्पित राजपुरुषों=सरकारी सेवा में नियुक्त पुरुषों की योग्यता के अनुसार समुन्नत पदों पर नियुक्त करे। कुशल नायक हिंसक राष्ट्रद्रोहियों को उत्पन्न न होने दे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सत्य प्रतिज्ञाएँ

ते सीषपन्त जोषमा यजत्रा ऋतस्य धाराः सुदुघा दुहानाः।
ज्येष्ठं वो अद्य मह आ वसूनामा गन्तन समनसो यति ष्ठ ॥ ४ ॥

पदार्थ–**ते**=वे **यजत्राः**=एकत्र संगत जन **ऋतस्य**=सत्य वचन और धन की **सुदुघाः धाराः दुहानाः**=सुख से पूर्ण करनेवाली वाणियों का प्रयोग करते हुए **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक **आ सीषपन्त**=मिलकर रहें और **वः वसूनां**=बसनेवाले आप लोगों में से **महे**=पूज्य **ज्येष्ठं**=सबसे बड़े को **अद्य**=आज आप **समनसः**=समान चित्त होकर **आ गन्तन**=प्राप्त होओ और **यति स्थ**=यत्न में लगे रहो।

भावार्थ–राजकोष से वेतन पानेवाले सभी राजकर्मचारी अपनी नियुक्ति के समय ली गयी शपथ के अनुसार अपने सत्य वचन पर दृढ़ रहते हुए प्रीतिपूर्वक राष्ट्र के प्रति निष्ठा रखें तथा अपने ज्येष्ठ अधिकारी के पूर्णविश्वासपात्र बने रहें ऐसा यत्न करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः–**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

लोक सेवक राजा

एवा नो अग्ने विक्ष्वा दशस्य त्वया वयं सहसावन्नास्क्राः।
राया युजा सधमादो अरिष्टा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

पदार्थ–हे **सहसावन्**=बलवन्! हे **अग्ने**=ज्ञानवन्! तू **एव**=अवश्य **विक्षु**=प्रजाओं में **आ दशस्य**=सब ओर दान कर। **त्वया युजा वयं**=तुझ से मिलकर हम **आस्क्राः**=सब प्रकार से

मानो क्रय किये हुए भृत्यवत् हों, **अरिष्टाः सधमादः**=अहिंसित और **राया**=एक साथ **सध-मादः**=प्रसन्न रहें। हे वीर पुरुषो! **यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात**=आप हमें सदा उत्तम साधनों से रक्षित करो।

भावार्थ—राजा अपनी प्रजाओं को उन्नति के लिए विकास की योजनाएँ चलाकर खूब दान दे तथा उत्तम साधनों से प्रजा की रक्षा करता हुआ उदार तथा लोकसेवक बनकर रहे। इससे प्रजा राष्ट्र भक्त बनी रहेगी।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ तथा देवता लिंगोक्ता है।

[४४] चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विद्वानों के कर्त्तव्य

दधिक्रां वः प्रथमम॒श्विनो॒षस॑म॒ग्निं समि॑द्धं भग॑मू॒तये॑ हुवे।
इन्द्रं॒ विष्णुं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॑मादि॒त्यान्द्यावा॑पृथि॒वी अ॒पः स्वः॑ ॥ १ ॥

पदार्थ—हे विद्वानो! मैं **वः**=आप में से **दधिक्राम्**=शिष्यों को धारण कर उपदेश देनेवाले **प्रथमम्**=सर्व-प्रथम, **अश्विना**=सूर्य-चन्द्रवत् प्रकाशक **उषसम्**=प्रभात के समान दीप्त **समिद्धं अग्निम्**=प्रज्वलित अग्नि-तुल्य तेजस्वी, **भगम्**=ऐश्वर्यवान् पुरुष को **ऊतये**=रक्षा के लिये **हवे**=स्वीकार करूँ। मैं **इन्द्रम्**=विद्युत्, **विष्णुं**=व्यापक, **पूषणं**=पोषक, **ब्रह्मणः पतिम्**=धनादि के पालक और **आदित्यान्**=१२ मासों **द्यावा-पृथिवी**=सूर्य, पृथिवी, **अपः**=जलों, **स्वः**=सूर्य-प्रकाश और सुख को भी **हुवे**=प्राप्त करूँ।

भावार्थ—उत्तम आचार्यों के उपदेशों से ज्ञान प्राप्त करनेवाले कान्तियुक्त तेजस्वी तथा ऐश्वर्यवान् शिष्यों में से प्रजाजनों के साथ मिलकर विद्वान् लोग रक्षा, ज्ञान एवं सुख-प्राप्ति के लिए राजा का चयन करें। वह चुना हुआ राजा अन्न, धन, औषधि व जल आदि की व्यवस्था द्वारा बारहों मास प्रजा को सुख पहुँचावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विद्वानों के गुण

द॒धि॒क्राम॑ु॒ नम॑सा बो॒धय॑न्त उ॒दीरा॑णा य॒ज्ञमु॑प॒प्रय॑न्तः।
इळां॑ दे॒वीं ब॒र्हिषि॑ सा॒दय॑न्तो॒ऽश्विना॒ विप्रा॑ सु॒हवा॑ हुवेम ॥ २ ॥

पदार्थ—हम लोग **दधिक्राम्**=राज्य भार को उठानेवालों को सन्मार्ग पर चलानेवाले राजा को **नमसा बोधयन्तः**=विनय से निवेदन करते हुए **उद्-ईराणाः**=उत्तम ज्ञान देते हुए, **यज्ञम् उप प्रयन्तः**=यज्ञ वा पूज्य पुरुष के पास जाते हुए, **बर्हिषी**=वृद्धिकारी व्यवहार वा राष्ट्र में बसे प्रजाजन में **देवीं**=गुण युक्त **इळां**=वाणी की **सादयन्तः**=व्यवस्था करते हुए **सु-हवा**=उत्तम वचन बोलनेवाले **विप्रा**=बुद्धिमान् **अश्विना**=रथी-सारथिवत् सहयोगी स्त्री-पुरुषों को **हुवेम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—राष्ट्र के उत्तम विद्वान् राज्य के समस्त कार्यभार को चलानेवाले राजा को ज्ञान पूर्वक विनयभाव से उत्तम परामर्श देते हुए सत्संग, यज्ञ तथा पूज्य पुरुषों के समीप जाने की प्रेरणा करते रहें। दिव्य वाणी से युक्त उत्तम व्यवस्थापक राजा के साथ इन रथि-सारथिवत् सहयोगी बुद्धिमान् स्त्री-पुरुषों की सभी प्रजाजन प्रशंसा करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

राजा के गुण

दधिक्रावाणं बुबुधानो अग्निमुप ब्रुव उषसं सूर्यं गाम्।
ब्रध्नं मँश्चतोर्वरुणस्य बभ्रुं ते विश्वास्मद्दुरिता यावयन्तु॥ ३॥

पदार्थ-बुबुधानः=निरन्तर ज्ञानवान् मैं **दधि-क्रावाणं**=धारक रथादि को ले चलने में समर्थ, अश्व के समान अग्रगन्ता, **अग्निम्**=अग्नि-तुल्य तेजस्वी, **उषसं**=प्रभात तुल्य दीप्त, **गाम्**=पृथिवी-समान गतिमान् **मंश्चतः वरुणस्य**=अभिमानी के नाशक राजा के **बभ्रुं**=भरण-पोषण करनेवाले **ब्रध्नं**=आकाश वा सूर्य-समान अन्यों को अपने में बाँधनेवाले पुरुषों से **उप ब्रुवे**=प्रार्थना करता हूँ कि **ते**=वे **अस्मत्**=हमसे **विश्वा दुरिता यावयन्तु**=सब बुराइयाँ दूर करें।

भावार्थ-उत्तम राजा निरन्तर ज्ञानवान, समर्थ, सदा आगे बढ़नेवाला, तेजस्वी, कान्तियुक्त, अभिमानी लोगों का नाश करनेवाला तथा विद्वानों से सदैव ज्ञान की याचना करनेवाला होता है। वह प्रजा का भरण-पोषण, सबको अपने विश्वास से बाँधनेवाला तथा राष्ट्र से बुराइयों का नाश करनेवाला होवे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः-**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

मन्त्रिमण्डल निर्माण

दधिक्रावा प्रथमो वाज्यर्वाग्रे रथानां भवति प्रजानन्।
संविदान उषसा सूर्येणादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः॥ ४॥

पदार्थ-दधिक्रावा का स्वरूप। **रथानाम् अग्रे वाजी**=रथों के आगे जैसे वेगवान् अश्व मुख्य होता है वह **दधिक्रावा**=रथी, सारथी तथा अन्यों के धारक रथ को लेकर चलने से 'दधिक्रावा' है, वैसे **प्रजानन्**=उत्तम ज्ञानवान् पुरुष भी **रथानां**=रमणीय, व्यवहारों के **अग्रे**=मुख्य पद पर **प्रथमः**=सर्वप्रथम, **भवति**=होता है, वह भी **दधिक्रावा**=कार्य-भार को उठानेवाले पुरुषों को उपदेश देकर ठीक राह पर ले चलने से 'दधिक्रावा' है। वह **उषसा**=प्रभात-तुल्य कान्तियुक्त, **सूर्येण**=सूर्यवत् तेजस्वी राजा **आदित्येभिः**=१२ मासों के समान नाना प्रकृति के विद्वान् अमात्यों, **वसुभिः**=वा प्रजा में बसे, ब्रह्मचारी आठ विद्वानों और **अंगरिभिः**=अंगारों के समान तेजस्वी या बलस्वरूप प्राणोवत् देश के प्रिय पुरुषों से **संविदानः**=ज्ञान की वृद्धि करे।

भावार्थ-राजा ऐसे ज्ञानवान्, व्यवहार कुशल पुरुष को अपना प्रधानमन्त्री नियुक्त करे जो राज्य के समस्त कार्यभार को अपने ऊपर उठाने में समर्थ हो तथा अपने अन्य सहयोगी मन्त्रियों को उपदेश देकर ठीक राह पर चला सके। राजा अन्य मन्त्री पदों पर भी विभिन्न विषयों वा विद्याओं के विद्वानों को नियुक्त करे जो राष्ट्र की प्रजा में ज्ञान की वृद्धि करने में समर्थ तथा प्रजाप्रिय हों।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः-**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

सन्मार्ग दर्शन

आ नो दधिक्राः पथ्यामनक्त्वृतस्य पन्थामन्वेतवा उ।
शृणोतु नो दैव्यं शर्धो अग्निः शृण्वन्तु विश्वे महिषा अमूराः॥ ५॥

पदार्थ-जैसे **दधिक्राः**=रथ वा मनुष्यों को ले चलने में समर्थ अश्व मार्ग में चलते हुए अच्छी चाल प्रकट करता है वैसे ही **नः**=हममें से **दधि-क्राः**=सहयोगी जनों को साथ लेकर

बढ़नेवाला पुरुष **ऋतस्य पन्थाम् अन्वेतव**=न्याय-मार्ग को स्वयं चलने और औरों को चलाने के लिये **नः**=हमारे लिये **पथ्याम्**=हितकारिणी नीति को **अनक्तु**=प्रकट करे। वह सन्मार्ग प्रकट करने से **अग्निः**=अग्नि-तुल्य प्रकाशक **नः**=हमारे **दैव्यं**=मनुष्य-हितकारी **शर्धः**=बल को **शृणोतु**=सुने, जाने और **विश्वे**=समस्त **अमूराः**=मोह-रहित, **महिषाः**=बड़े लोग भी **शृण्वन्तु**=हमारे कार्यों को सुनें।

भावार्थ—राष्ट्र का नियुक्त प्रधानमन्त्री सभी सहयोगी जनों को साथ लेकर चलनेवाला, सत्य व न्याय के मार्ग पर स्वयं चलने व अन्यों को चलानेवाला, राष्ट्रहित की नीति लागू कर सबका हितकारी तथा प्रजा की समस्याओं को ध्यान से सुननेवाला पुरुष ज्ञानी तथा निष्पक्ष होना चाहिए।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता सविता है।

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बनें सूर्य सम तेजस्वी

आ देवो यातु सविता सुरत्नोऽन्तरिक्षप्रा वहमानो अश्वैः।
हस्ते दधानो नर्या पुरूणि निवेशयञ्च प्रसुवञ्च भूम॥ १ ॥

पदार्थ—**सविता देवः**=प्रकाशक सूर्य के तुल्य **सविता**=प्रेरक पुरुष **अन्तरिक्ष प्राः**=आकाश को व्यापनेवाला, **सु-रत्नः**=उत्तम रत्नों के तुल्य रमणीय गुणों का धारक, **अश्वैः वहमानः**=अश्वों के तुल्य विद्वानों की सहायता से कार्य-भार उठाता हुआ **आ यातु**=आवे। वह **हस्ते**=हाथ में **पुरूणि**=बहुत से **नर्या**=मनुष्यों के हितार्थ पदार्थों को **दधानाः**=धारण करता, **नि वेशयन् च**=सबको बसाता, **प्र-सुवन् च**=और ऐश्वर्यों को उत्पन्न करता हुआ प्राप्त हो।

भावार्थ—राजा सूर्य समान तेजस्वी, सबका प्रेरक तथा विद्वानों की सहायता से समस्त राजकार्य करनेवाला होवे। सबके हित की नीति बनाकर सबको बसने का उत्तम रीति तथा शासन-व्यवस्था लागू करे। सबके लिए ऐश्वर्य प्राप्ति के साधन उपलब्ध करावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कर्म का महत्त्व

उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता हिरण्यया दिवो अन्ताँ अनष्टाम्।
नूनं सो अस्य महिमा पनिष्ट सूरश्चिदस्मा अनु दादपस्याम्॥ २ ॥

पदार्थ—**अस्य**=इसकी **शिथिरा**=शिथिल **बृहन्ता**=बड़ी-बड़ी **हिरण्यया**=सुवर्ण-मण्डित **बाहू**=बाहुएँ **दिवः अन्तान्**=विजय-योग्य व्यवहारों के पार तक **उत् अनष्टाम्**=उत्तम रीति से पहुँचती हैं। **नूनं**=निश्चय से **अस्य**=इसका **सः महिमा**=वह सामर्थ्य **पनिष्ट**=स्तुति-योग्य है कि **सूरः चित्**=विद्वान् पुरुष **अस्मै**=इसकी **अपस्याम्**=कर्माभिलाषा में **अनु दात्**=सहयोग देता है।

भावार्थ—राष्ट्र को समृद्ध बनाने की ऐश्वर्यशाली योजनाएँ तथा विजय प्राप्ति की नीतियों को विद्वानों के सहयोग से तैयार कर पूर्ण करनेवाले राजा को कर्म कुशलता निश्चय से प्रशंसनीय हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रजा पालन

स घा नो देवः सविता सहावा साविषद्वसुपतिर्वसूनि।
विश्रयमाणो अमतिमुरूचीं मर्तभोजनमध रासते नः॥ ३॥

पदार्थ—सः देवः सविता=वह सर्वसुखदाता ऐश्वर्यवान् राजा **सहावा**=बलवान् **वसुपतिः**=धनों का स्वामी होकर **वसूनि**=धनों को **साविषत्**=पैदा करे। **उरूचीं**=बहुत पदार्थों को प्राप्त करनेवाली **अमतिम्**=नीति को **वि-श्रयमाणः**=विशेषतः आश्रय लेता हुआ **नः**=हमें **मर्त्त-भोजनं**=मनुष्यों से भोगने योग्य भोग **रासते**=दे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को समृद्ध करने की महत्त्वाकांक्षी योजनाओं का आश्रय लेकर मनुष्यों के भोगने योग्य ऐश्वर्य, मनुष्यों का पालन, शासन और न्याय प्रदान कर प्रजा का प्रिय बने।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रशंसित वाणी

इमा गिरः सवितारं सुजिह्वं पूर्णगभस्तिमीळते सुपाणिम्।
चित्रं वयो बृहदस्मे दधातु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ४॥

पदार्थ—इमाः=ये **गिरः**=वाणियाँ **सु-जिह्वं**=उत्तम वाणी बोलनेवाले **पूर्ण-गभस्तिम्**=पूर्ण रश्मि-युक्त सूर्य के समान पूरे परिमाण की बाहुओंवाले, **सुपाणिम्**=उत्तम हाथोंवाले, **सवितारं**=शासक, आज्ञापक पुरुष की **ईडते**=प्रशंसा करती हैं। वह विद्वान् पुरुष **अस्मे**=हमें **चित्रं**=अद्भुत **वयः**=ज्ञान और बल **दधातु**=दे। हे विद्वान् पुरुषो! आप लोग **नः**=हमारा **सदा**=सदा **स्वस्तिभिः पात**=कल्याणकारी साधनों से पालन करें।

भावार्थ—विद्वान् पुरुषों की उत्तम वाणियाँ तथा व्यवहार कुशलता ही उनकी प्रशंसा का कारण होती हैं। उनका अद्भुत ज्ञान और बल सबके लिए सदैव कल्याणकारी होता है।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता रुद्र है।

[४६] षट्चतवारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सेनापति के कर्त्तव्य

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥ १॥

पदार्थ—हे विद्वान् पुरुषो! **इमाः**=ये **गिरः**=उत्तम वाणियें, **स्थिर धन्वने**=स्थिर धनुषवाले, **क्षिप्रेषवे**=वेग से बाण चलाने में चतुर, **देवाय**=विजयेच्छुक, **स्वधाव्ने**=राष्ट्र, जन और तन आदि की रक्षा में कुशल, **अषाढाय**=शत्रुओं से अपराजित **सहमानाय**=शत्रुओं को पराजित करनेवाले, **वेधसे**=कार्यों के विधान करनेवाले, **तिग्मायुधाय**=तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों के स्वामी, **रुद्राय**=दुष्टों को रुलानेवाले राजा के प्रति **भरत**=कहो और वह **नः**=हमारे निवेदन **शृणोतु**=सुने।

भावार्थ—विद्वान् लोग राजा व सेनापति को उनके कर्त्तव्य का उपदेश करे कि तुम दृढ़ लक्ष्यभेदी, तीव्र अस्त्र चलाने में चतुर, राष्ट्र तथा प्रजाजन की रक्षा में कुशल व तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों के स्वामी बनो। तभी राष्ट्र सुरक्षित व समृद्ध बनेगा।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवतः** ॥

ऐश्वर्यशाली साम्राज्य

स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मनः साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति।
अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चरानमीवो रुद्र जासु नो भव॥२॥

पदार्थ—**सः**=वह राजा **क्षम्यस्य**=क्षमा-योग्य **जन्मनः**=प्राणी या जनों के **क्षयेण**=निवास और **दिव्यस्य**=आकाश से होनेवाले **क्षयेण**=वृष्टि आदि ऐश्वर्य तथा **साम्राज्येन**=साम्राज्य से **हि**=निश्चय से **चेतति**=जाना जाय। हे राजन्! तू **अवन्तीः अवन्**=रक्षक सेनाओं और प्रजाओं की रक्षा करता हुआ **नः**=हमारे **दुरः**=बनाये द्वारों के **उपचर**=पास आ। हे **रुद्र**=दुष्टों को रुलानेवाले विद्वन्! **नः**=हमारे **जासु**=सन्तानों के बीच तू **अनमीवः**=रोगरहित और अन्यों को रोगों से मुक्त करनेवाला **भव**=हो।

भावार्थ—राजा वा सेनापति राष्ट्र के निवासियों को ऐश्वर्यशाली बनावे तथा अपने साम्राज्य का विस्तार करे। उसकी पहचान विशाल ऐश्वर्यशाली साम्राज्य के नाते ही होवे। राजा अपनी सेनाओं को प्रजा के घरों तक भेजे ताकि कोई दुष्ट प्रजा जनों को दु:ख न पहुँचा सकें।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्द:—**निचृज्जगती** ॥ स्वर:—**निषादः** ॥

सेनापति का पराक्रम

या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः॥३॥

पदार्थ—हे **सु-अपिवात**=उत्तम रीति से शत्रुओं को प्रचण्ड वायु के सदृश प्रबल आक्रमण से दूर करने हारे! **या**=जो **ते**=तेरी **दिद्युत्**=चमचमाती सेना **दिवः परि**=विजय-कामना से सब ओर **अवसृष्टा**=छोड़ी हुई **क्ष्मया**=भूमि के साथ **परि चरति**=जाती है **सा नः**=वह हमें **परि वृणक्तु**=कष्ट न दे। हे विद्वन्! **ते**=तेरी **सहस्रं भेषजा**=सहस्रों ओषधियाँ हैं। तू **नः तोकेषु**=हमारे बच्चों और **तनयेषु**=पुत्रों पर **मा रीरिषः**=हिंसा का प्रयोग मत कर।

भावार्थ—सेनापति अपनी सेना के प्रचण्ड प्रहार से शत्रु को नष्ट कर देवे तथा उसकी तेजस्वी सेना शत्रु राष्ट्र में सर्वत्र फैलकर उसकी भूमि को अपने अधिकार में लेवे। इस विजय अभियान में बच्चों व निर्बलों पर बल प्रयोग न करे।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्द:—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वर:—**पञ्चमः** ॥

कृपालु सेनापति

मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीळितस्य।
आ नो भज बर्हिषि जीवशंसे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥४॥

पदार्थ—हे **रुद्र**=दुष्टों को रुलानेवाले! तू **नः मा वधीः**=हमें मत मार। **मा परा दाः**=हमें मत त्याग। हम **हीडितस्य**=क्रुद्ध हुए **ते**=तेरे **प्रसितौ**=बन्धनागार में **मा भूम**=न हों। तू **जीवशंसे**=जीवित जनों से प्रशंसनीय **बर्हिषि**=वृद्धिशील राष्ट्र में **नः**=हमें **आ भज**=प्राप्त हो। हे विद्वानो! **यूयं**=आप **नः**=हमारा **स्वस्तिभिः सदा पात**=उत्तम साधनों से सदा पालन करो।

भावार्थ—वही राष्ट्र वृद्धि को प्राप्त होता है जहाँ निर्दोषों को दण्डित तथा निर्बलों को पीड़ित नहीं किया जाता। सेनापति निरपराधी को कारागार में न डाले। दुष्टों को दण्ड अवश्य दिया जावे।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ तथा देवता आपः है।

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आपः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

आप्तजनों के कर्त्तव्य

आपो यं वः प्रथमं देवयन्त इन्द्रपानमूर्मिमकृण्वतेळः।
तं वो वयं शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुषं मधुमन्तं वनेम॥ १॥

पदार्थ–जैसे **देवयन्तः**=सूर्यवत् रश्मियें **इडः**=अन्न या भूमि के **उर्मिम्**=ऊपर उठनेवाले जलों के अंश को **इन्द्रपानम् अकृण्वत**=सूर्य द्वारा पान करने योग्य करते हैं वैसे ही हे **आपः**=विद्वान् प्रजाओ! **देवयन्तः**=राजा के तुल्य आचरण करते हुए सज्जपुरुष **वः**=आप में से **यं**=जिस **प्रथमं**=अग्रगण्य **ऊर्मिम्**=तरंग-तुल्य उन्नत पुरुष को **इडः**=भूमि और वाणी के ऊपर **इन्द्र-पानं**=राजावत् पालक-रूप से **अकृण्वत**=नियत करते हैं **वयं**=हम लोग **तं**=उस **शुचिम्**=शुद्ध, **अरि-प्रम्**=निष्पाप **घृत-प्रुषं**=जल से अभिषिक्त **मधुमन्तं**=मधुरवाणीवाले पुरुष को **अद्य**=आज **वनेम**=प्राप्त हों।

भावार्थ–राष्ट्र की प्रजा विद्वान् होवे। विद्वान् आप्तजन, दिव्य आचरणवाले, प्रजा पालक वृत्तिवाले, धार्मिक, निष्पाप, मधुर स्वभाववाले, उन्नत पुरुष को राजा के पद पर अभिषिक्त करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आपः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

आप्तजनों के गुण

तमूर्मिमापो मधुमत्तमं वोऽपां नपादवत्वाशुहेमा।
यस्मिन्निन्द्रो वसुभिर्मादयाते तमश्याम देवयन्तो वो अद्य॥ २॥

पदार्थ–**यस्मिन्**=जिसके सहारे **इन्द्रः**=राजा **वसुभिः**=बसे प्रजाजनों के साथ **मादयाते**=सबको प्रसन्न करता है, हे **आपः**=आप्त जनो! **तं वः ऊर्मिम्**=आप लोगों के उस उत्तम **मधुमत्तमं**=अति मधुर गुणों से युक्त पुरुष वर्ग को **आशु-हेमा**=सेना वा अश्वों को शीघ्र प्रेरक **अपां नपात्**=जलों में नाव के तुल्य तारक, प्रजाओं को नीचे न गिरने देने हारा पुरुष **अवतु**=बचावे। हे विद्वानो! **वः**=आप लोगों के ऐश्वर्यमय अंश को हम **देवयन्तः**=चाहते हुए **अश्याम**=प्राप्त करें।

भावार्थ–आप्तजन=वेदानुसार आचरणवाले विद्वान् पुरुष अपने उपदेशों द्वारा प्रेरणा करके राजनियम के पालन द्वारा प्रजाजनों को व्यवस्था में बाँधकर नीचे न गिरने दें। राजा तथा सेनापति को भी राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा करके उनमें मधुर गुणों का समावेश करें। इस प्रकार राजा-प्रजा को परस्पर जोड़कर रखें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आपः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

देवमार्ग

शतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति पाथः।
ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत॥ ३॥

पदार्थ–**शत-पवित्राः**=सैकड़ों रश्मियों से पवित्र **देवीः**=दिव्य गुण-युक्त जलांश **स्वधया**=अक्षांश से **मदन्तीः**=प्रजाओं को तृप्त करते हुए **देवानां**=सूर्य-रश्मियों के **पाथः अपियन्ति**=मार्ग को प्राप्त करते हैं। ऐसे ही **शत-पवित्राः**=सैकड़ों उत्तम संस्कारों से पवित्राचरणवाली **देवीः**=उत्तम

स्त्रियाँ **स्वधया**=अन्नादि से **मदन्तीः**=आनन्द लाभ करती हुई **देवानां**=विद्वान् पुरुषों के **पाथः**=पालन योग्य ऐश्वर्य को **अपियन्ति**=प्राप्त करती हैं। **ताः**=वे **इन्द्रस्य**=ऐश्वर्य-युक्त पति के **व्रतानि**=कर्मों को **न मिनन्ति**=नाश नहीं करतीं। **सिन्धुभ्यः**=पुरुषों को सम्बन्धों से बाँधनेवाली उन स्त्रियों के भी **घृतवत्**=घृत-युक्त **हव्यं**=जलों या खाद्य अन्नों का उत्पादक अंश 'इन्द्रपान' अर्थात् जीवों के उपभोग-योग्य इस अंश को रश्मियें उत्पन्न करती हैं।

भावार्थ—उत्तम जन सूर्य की किरणों द्वारा शोधित जल व अन्न पान द्वारा तृप्त होकर देवमार्ग के गामी होते हैं। विदुषी स्त्रियाँ भी ऐसे अन्न-जल का पान करके उत्तम संस्कारोंवाली होकर अपने व्रतों=सुकर्मों द्वारा यज्ञशील बनती है। वे भी देवमार्ग की गामिनी होती हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उन्नत कृषि

याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद्गातुमूर्मिम्।
ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ४ ॥

पदार्थ—**सूर्यः**=सूर्य **रश्मिभिः**=किरणों से जैसे जलों को **आततान**=आकाश में फैलाता है और **याभ्यः**=जिन जलों के लिये **इन्द्रः**=विद्युत् **ऊर्मिम्**=गमन-योग्य **गातुम्**=मार्ग को **अरदद्**=बनाता है, वैसे ही **सूर्यः**=तेजस्वी पुरुष **रश्मिभिः**=रश्मियों के समान अधीन शासकों से **याः आततान**=जिन आप्त प्रजाओं को विस्तृत करता है और **याभ्यः**=जिन प्रजाओं के हितार्थ **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् पुरुष **ऊर्मिम्**=उन्नत भूमि को **अरदत्**=कृषि द्वारा सम्पन्न करता है। **ते**=ये **सिन्धवः**=जलधाराएँ **वः**=हमें **वरिवः धातन**=उत्तम धन दें। हे उत्तम प्रजाजनो! **ते**=वे **यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात**=आप लोग हमारा सदा उत्तम उपायों से पालन करो।

भावार्थ—राजा अपने राष्ट्र में उन्नत कृषि की योजनाएं बनाकर राष्ट्र को समृद्ध बनावे। इसके लिए नदियों के जल को नहरों द्वारा खेतों तक ले-जाकर सिंचाई की व्यवस्था करे। विद्वानों के सहयोग से यज्ञ-विज्ञान द्वारा वृष्टि यज्ञ के आयोजन करावे। ऊसर भूमि को कृषि योग्य बनाने की तकनीक विकसित करावे। इस प्रकार से उन्नत कृषि द्वारा प्रजा का पालन करे।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और ऋभव तथा विश्वे देवा देवता है।

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आवागमन के साधन

ऋभुक्षणो वाजा मादयध्वमस्मे नरो मघवानः सुतस्य।
आ वोऽर्वाचः क्रतवो न यातां विभ्वो रथं नर्यं वर्तयन्तु ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **ऋभुक्षणः**=ऐश्वर्य सेवनकर्ता पुरुषो! हे **वाजाः**=ज्ञानी पुरुषो! हे **मघवानः**=धनों के स्वामी जनो! हे **नरः**=नायको! आप **सुतस्य**=उत्पन्न ऐश्वर्य से **अस्मे**=हमें **मादयध्वम्**=सुखी करो। **वः**=आप में से **अर्वाचः**=नये-नये **क्रतवः न विभ्वः**=बुद्धिमान् एवं सामर्थ्यवान् पुरुष **याताम्**=यात्री जनों के लिये **नर्यं रथं**=मनुष्यों को सुखदायी रथ **वर्त्तयन्तु**=चलाया करें।

भावार्थ—राष्ट्र के प्रतिभाशाली ज्ञानी पुरुष धनवान् लोगों के सहयोग से अपनी बुद्धि द्वारा राष्ट्र में आवागमन के साधनों का विकास करें जिससे यात्री तथा व्यापारियों को सुविधा होवे और राष्ट्र समृद्ध बने।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**ऋभवः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

अस्त्र-शस्त्र निर्माण

ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि।
वाजो अस्माँ अवतु वाजसाताविन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्॥ २ ॥

पदार्थ–वः=आप में से **ऋभुः**=सत्य, यज्ञ, धन से चमकनेवाला पुरुष **ऋभुभिः**=वैसे ही सत्य धनादि–समृद्ध पुरुषों के साथ मिलकर और **वाजः**=बलवान् पुरुष भी **वाज-सातौ**=युद्ध–काल में **अस्मान् अवतु**=हमारी रक्षा करे। हम **विभ्वः**=विशेष बलशाली होकर **विभुभिः**=विशेष सामर्थ्यवान् पुरुषों से मिलकर **शवसा**=बल से **शवांसि**=शत्रु सैन्यों को **अभि स्याम**=हरायें और **युजा**=सहयोगी **इन्द्रेण**=ऐश्वर्यवान् राजा से मिलकर **वृत्रं तरुषेम**=बढ़ते शत्रु का नाश करें।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि राष्ट्र की रक्षा हेतु युद्ध सामग्री अर्थात् अस्त्र–शस्त्रों का निर्माण करावे जिससे युद्धकाल में शत्रु को पराजित करके राष्ट्र की प्रजा, ऐश्वर्य तथा सीमाओं की रक्षा कर सके। बिना उन्नत अस्त्र–शस्त्रों के शत्रु का नाश सम्भव नहीं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**ऋभवः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

युद्धकौशल

ते चिद्धि पूर्वीरभि सन्ति शासा विश्वाँ अर्य उपरताति वन्वन्।
इन्द्रो विभ्वाँ ऋभुक्षा वाजो अर्यः शत्रोर्मिथत्या कृणवन्वि नृम्णम्॥ ३ ॥

पदार्थ–इन्द्रः=ऐश्वर्यवान्, **ऋभुः-क्षाः**=तेजस्वी पुरुषों को बसाने हारा **वाजः**=संग्राम–कुशल **अर्यः**=स्वामी, **शत्रोः मिथत्या**=शत्रु को मारने के लिये **विभ्वान्**=बड़े समर्थ पुरुषों को प्राप्त करे। वे **नृम्णम्**=धनैश्वर्य को **वि कृण्वन्**=विविध प्रकारों से उत्पन्न करें। **उपरताति**=मेघादि के तुल्य शरवर्षी अस्त्रों से करने योग्य युद्ध में **ते चित् हि**=वे ही **विश्वान् अर्यः**=सब बढ़ते शत्रुओं को मारें और **शासा**=शस्त्र–बल से **पूर्वीः**=पहले की सेनाओं को भी **अभि सन्ति**=मात करें।

भावार्थ–राजा वा सेनापति तेजस्वी व संग्राम कुशल होवे। जो वीर सैनिकों तथा बलवान् योद्धाओं के सहयोग से रणकौशल योजनाएं बनाकर, मेघ के समान गोलियों की बौछार करते हुए शत्रु सेना संहार कर आगे बढ़ें तथा शासन और शस्त्रबल से युक्त सेना की टुकड़ियों को इधर–उधर भेजकर सामञ्जस्य बनाए रखे। जिससे शत्रु श्रीहीन होकर अधीनता स्वीकार कर लेवे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**ऋभवो विश्वे देवा वा** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ऐश्वर्यशाली प्रजा

नू देवासो वरिवः कर्तना नो भूत नो विश्वेऽवसे सजोषाः।
समस्मे इषं वसवो ददीरन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ४ ॥

पदार्थ–देवासः=विद्वान् **नः**=हमारी **वरिवः**=ऐश्वर्य–वृद्धि **कर्तन**=करें। **विश्वे देवासः**=सब वीर **स-जोषाः**=प्रीतियुक्त होकर **नः अवसे भूत**=हमारी रक्षार्थ तैयार रहें। **वसवः**=बसे प्रजाजन, बसानेवाले शासक **अस्मे**=हमें **इषं ददीरन्**=इच्छानुकूल ऐश्वर्य दें। हे विद्वानो! **यूयं**=आप लोग **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारी सदा कल्याणकारी उपायों से रक्षा करें।

भावार्थ–राजा अपनी प्रजा को रक्षा प्रदान करने के लिए वीर पुरुषों को नियुक्त करे जो

हर समय तैयार रहें। और प्रजा के लिए सरकारी सेवा, व्यापार तथा कृषि आदि की समुचित व्यवस्था करे जिससे प्रजा ऐश्वर्यशाली बने।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता आपः है।

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आपः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राष्ट्र रक्षा

समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात्पुनाना यन्त्यनिविशमानाः।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ १॥

पदार्थ–समुद्र-ज्येष्ठाः=एक साथ ऊपर उठनेवाले, मेघों में स्थित, **देवीः आपः**=उत्तम जल **अनिविशमानाः**=कहीं भी स्थिर न रहते हुए, **सलिलस्य मध्यात् पुनानाः**=अन्तरिक्ष के बीच में से पवित्र करते हुए **यन्ति**=आते हैं। **याः**=जिनको **वज्री इन्द्रः**=तीव्र बल से युक्त विद्युत् वा सूर्य, **वृषभः**=वर्षणशील मेघ या वायु **रराद**=छिन्न-भिन्न करता है। **ताः आपः**=वे जल **इह**=इस पृथिवी पर **माम्**=मुझ बसे प्रजाजनों को **अवन्तु**=रक्षा करते हैं।

भावार्थ–उत्तम प्रजाएँ अपार बलशाली पुरुष को पवित्र जलों के द्वारा राजाध्यक्ष के पद पर अभिषिक्त करे। यह बलशाली राजा राष्ट्र की बिखरी हुई शक्ति को संगठित करके अपने अधीन कर राष्ट्र की रक्षा करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आपः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

जल संरक्षण

या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ २॥

पदार्थ–याः=जो **आपः**=जल-धाराएँ **दिव्याः**=आकाश में उत्पन्न या सूर्य, विद्युतादि से उत्पन्न **उत वा**=और जो **स्रवन्ति**=बहती हैं जो **खनित्रिमाः**=खोदकर प्राप्त की जायें **उत वा**=और **याः स्वयं-जाः**=जो स्वयं आप से आप भूमि से उत्पन्न हुई हों, **याः**=जो **समुद्रार्थाः**=समुद्र, आकाश से आनेवाली या समुद्र को जानेवाली **शुचयः**=शुद्ध **पावकाः**=पवित्र करनेवाली **आपः**=जलधाराएँ हैं वे **देवीः**=उत्तम गुणों से युक्त होकर **इह माम् अवन्तु**=इस राष्ट्र में मेरी रक्षा करें।

भावार्थ–राजा को चाहिए कि वह आकाश से बादलों द्वारा बरसनेवाले जल का संरक्षण करे। भूमि खोदकर कुएँ से प्राप्त जल, पर्वतों या भूमि से अपने आप स्रोतों से बहनेवाले जल तथा नदियों द्वारा समुद्र की ओर जानेवाली धाराओं के जलों को संरक्षित करे। और उन जलों को शोधित कर पवित्र बनाकर पीने सिचाई के योग्य बनाकर राष्ट्र की रक्षा करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आपः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

राज्य व्यवस्था

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ ३॥

पदार्थ–यासां मध्ये=जिन प्रजाजनों के बीच अभिषिक्त होकर **वरुणः**=प्रजा द्वारा स्वयंवृत राजा **जनानाम्**=सब मनुष्यों के **सत्यानृते**=सत्य और झूठ को **अवपश्यन्**=विवेक करता हुआ

याति=प्राप्त होता है। वे **मधुश्चुतः**=मधुर गुणों से युक्त, **शुचयः**=शुद्ध और **याः**=जो **पावकाः**=पवित्र करनेवाली हैं **ताः देवीः आपः**=वे जलधाराएं और विद्वान् प्रजाएं **माम् अवन्तु**=मुझ राजा का पालन करें।

भावार्थ—राजा को प्रजा स्वयं वरण करके अभिषिक्त करती है। वह चुना हुआ राजा लोगों के सत्य और झूठ दोनों का विवेक रखनेवाला होकर राज्य की प्रबन्ध व्यवस्था करे जिससे प्रजापालन उत्तम रीति से होवे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रजा हितकारी राजा

यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति।
वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ ४॥

पदार्थ—**यासु**=जिन जलों वा प्रजाओं में **वरुणः**=वरण किया गया पुरुष **राजा**=राजा बनता है, **यासु सोमः**=जिनके बीच ओषधि तथा सौम्य विद्वान् हैं, **यासु**=जिनके बल पर **विश्वे देवाः**=सब मनुष्य **ऊर्जम् मदन्ति**=अन्न से तृप्ति और बल प्राप्त करते हैं **यासु**=जिनके बीच **वैश्वानरः**=समस्त मनुष्यों का हितकारी **अग्निः**=तेजस्वी नेता **प्रविष्टः**=प्रविष्ट है **ताः आपः देवीः**=वे दिव्य गुण-युक्त जल और प्रजाजन **माम् इह अवन्तु**=मेरी इस लोक में रक्षा करें।

भावार्थ—प्रजा द्वारा वरण किया हुआ राजा प्रजा के हित के लिए योग्य चिकित्सकों, उत्तम विद्वानों, तेजस्वी नायकों तथा कुशल प्रशासकों की नियुक्ति करे। जिससे प्रजा राजा की प्रिय तथा राजा प्रजा का प्रिय होवे।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और मित्रावरुण, अग्नि, विश्वे देवा व नद्य देवता हैं।

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नीरोग प्रजा

आ मां मित्रावरुणेह रक्षतं कुलाययद्विश्वयन्मा न आ गन्।
अजकावं दुर्दृशीकं तिरो दधे मा मां पद्येन रपसा विदत्त्सरुः॥ १॥

पदार्थ—हे **मित्रावरुणा**=स्नेहवान् और कष्टों के निवारक जनो! **इह**=इस लोक में आप दोनों माता-पिता के समान **माम् रक्षतम्**=मेरी रक्षा करें। **कुलाययत्**=घर या स्थान घेर कर संघ बनाकर रहने वा कुत्सित रूप प्राप्त करानेवाला और **वि-श्वयत्**=विविध रूपों में फैलने और शोथ प्रकट करनेवाला रोग **नः मा आगन्**=हमें प्राप्त न हो। **अजकावं**=' अजक' अर्थात् भेड़-बकरियों के समान छोटे जन्तुओं को खा जानेवाले, अजगरादिवत् **दुर्दृशीकं**=कठिनता से दीखनेवाले जन्तुओं को मैं **तिरः दधे**=दूर करूँ। **त्सरुः**=कुटिलचारी सर्प आदि **पद्येन रपसा**=पैर से होनेवाले दोष द्वारा **मां मा विदत्**=मुझे प्राप्त न हो।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह अपने राज्य में ऐसे चिकित्सकों की नियुक्ति करें जो मित्रवत् कष्ट निवारण में कुशल हों। वे लोगों को कुत्सित रोगों, छूत के रोगों, शोथ एवं विष आदि से फैलनेवाले रोगों से मुक्त करें। राजा को चाहिए कि वह अजगर, विषैले साँप, बिच्छु आदि से रहित भूमि बनावे। सूक्ष्मदर्शी से दीखनेवाले कृमियों से भी रोग न फैले ऐसी व्यवस्था कर प्रजा को नीरोग बनावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अग्नि चिकित्सा

यद्विजामन्परुषि वन्दनं भुवदष्ठीवन्तौ परि कुल्फौ च देहत्।
अग्निष्टच्छोचन्नप बाधतामितो मा मां पद्येन रपसा विदत्त्सरुः ॥ २ ॥

पदार्थ—यत्=जो **वन्दनं**=देह को जकड़नेवाला विष **विजामन्**=विविध पीड़ा के उत्पत्ति स्थान रूप पेट या **परुषि**=सन्धि स्थान पर **भुवत्**=उत्पन्न होता है और जो **अष्ठीवन्तौ**=स्थूल अस्थि से युक्त गोडों और **कुल्फौ**=पैर के टखनों को **परि देहत्**=सुजा दे, **तत्**=उस विषमय रोग को **अग्निः**=अग्नि तत्त्व **शोचत्**=सन्तप्त करता हुआ **इतः बाधताम्**=इस देह से दूर करे। **त्सरुः**=छद्म गति से छुए देह में फैलनेवाला रोग **पद्येन रपसा**=पैर में विद्यमान दुःखदायी रोग रूप से **मा मां विदत्**=मुझे प्राप्त न हो।

भावार्थ—कुशल वैद्य अग्नि प्रधान द्रव्यों से गठिया, सन्धिवात=जोड़ों के दर्द आदि रोगों को दूर करके प्रजा को नीरोग करे। इसके साथ सूर्य किरण चिकित्सा, अग्निताप चिकित्सा आदि प्राकृतिक पद्धति का भी आश्रय लेवें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रस चिकित्सा

यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परि जायते विषम्।
विश्वे देवा निरितस्तत्सुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत्त्सरुः ॥ ३ ॥

पदार्थ—यत् विषम्=जो विष या रस **शल्मलौ भवति**=शाल्मलि वर्ग के वृक्षों में होता है **यत् विषम् नदीषु**=जो विष या रस नदियों में होता है, **यत् विषम्**=जो विष या रस **ओषधिभ्यः परि जायते**=ओषधियों से उत्पन्न होता है, **विश्वे देवाः**=समस्त विद्वान् **तत्**=उन नाना विषों या रसों को **इतः**=इन-इन स्थानों से **निः सुवन्तु**=ले लिया करें चिकित्सा करें। जिससे **त्सरुः**=छुपी चाल का रोग **मां**=मुझे **पद्येन रपसा**=चरणादि के अपराध से **मा विदत्**=न प्राप्त हो।

भावार्थ—कुशल वैद्य ओषधियों के रस, दुग्ध आदि से, नदियों, झरनों तथा गर्म-ठण्डे स्रोतों के जल से, पारद अर्थात् पारा, गन्धक आदि के उचित प्रयोगों द्वारा विभिन्न प्रकार के रोगों सुजाक, सिफलिस, ज्वर, कुष्ठ, खुजली आदि चर्म रोगों को दूर कर प्रजा को नीरोग बनावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**भुरिगतिजगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जल चिकित्सा

याः प्रवतो निवत उद्वत उदन्वतीरनुदकाश्च याः
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः शिवा देवीरशिपदा भवन्तु सर्वा नद्यो अशिमिदा भवन्तु ॥ ४ ॥

पदार्थ—याः=जो नदियाँ **प्रवतः**=दूर देशों तक जानेवाली, **याः निवतः**=जो नीचे की ओर बहनेवाली, **याः उद्वतः**=जो ऊँचे की ओर जानेवाली, **उदन्वतीः**=जो प्रचुर जलवाली, **याः च अनुदकाः**=और जो जलरहित या अल्प जल की हैं **ताः**=वे **अस्मभ्यं**=हमारे लिये **पयसा**=जल से देश को सींचती हुईं **शिवाः भवन्तु**=कल्याणकारी हों **देवीः**=सुखप्रद, अन्नादि देनेवाली हों और **अशिपदाः**=भोजनार्थ सब प्रकार के अन्नोत्पादक हों और **सर्वाः नद्यः**=सब नदियें **अशिमिदाः**

भवन्तु=अहिंसाकारिणी हों।

भावार्थ–कुशल वैद्य प्राकृतिक तत्त्वों से भी चिकित्सा करे। इनमें जल चिकित्सा द्वारा अनेक रोगों को दूर किया जा सकता है। जैसे कटिस्नान, पाँव स्नान, मेहन स्नान, रीढ स्नान आदि द्वारा प्रजा को नीरोग बनावें। नदियों के जल, नदियों के किनारे की मिट्टी व रेत आदि का भी चिकित्सा में उपयोग लेवें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और आदित्य देवता है।

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आदित्याः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

आदित्योपासना

आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शन्तमेन।
अनागास्त्वे अदितित्वे तुरास इमं यज्ञं दधतु श्रोषमाणाः ॥ १ ॥

पदार्थ–**आदित्यानाम्**=‘अदिति’ अखण्ड और अदीन परमेश्वर के उपासक प्रजाओं को शरण में लेनेवाले पुरुषों के **नूतनेन अवसा**=उत्तम ज्ञान से और **शन्तमेन शर्मणा**=अति शान्ति-दायक गृहवत् देह से हम **सक्षीमहि**=अपने आपको सम्बद्ध करें। वे **तुरासः**=शीघ्रकारी, **श्रोषमाणाः**=हमारे दुःख-सुख को सुनते हुए **इमं यज्ञं**=इस उत्तम सत्संग, ज्ञान, दान आदि सम्बन्ध को **अनागास्त्वे**=हमें पाप रहित करने और **अदितित्वे**=अखण्ड बनाये रखने के लिये **दधतु**=स्थिर रक्खें।

भावार्थ–परमेश्वर के भक्त उत्तम साधकों को योग्य है कि वे प्रजा को उत्तम ज्ञान प्रदान कर एक अखण्ड, अद्वितीय परमेश्वर की उपासना में प्रवृत्त करें। शरीर साधना तथा ईशोपासना से लोग शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से रहित होकर सदा सुखी रहेंगे। ये ज्ञानी लोग प्रजा को यज्ञ, सत्संग व उत्तम कार्यों में दान की ओर प्रवृत्त करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आदित्याः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

आदित्य ब्रह्मचारी

आदित्यासो अदितिर्मादयन्तां मित्रो अर्यमा वरुणो रजिष्ठाः।
अस्माकं सन्तु भुवनस्य गोपाः पिबन्तु सोममवसे नो अद्य ॥ २ ॥

पदार्थ–**आदित्यासः**=पूर्ण ब्रह्मचारी विद्वान्, ‘अदिति’ प्रभु परमेश्वर के उपासक स्वयं **अदितिः**=यह भूमि या माता, पितादि, **मित्रः**=स्नेही जन, **अर्यमा**=दुष्टों का नियन्ता **वरुणः**=श्रेष्ठ जन, **रजिष्ठाः**=अति धर्मात्मा, वे सब **अस्माकं**=हमारे **भुवनस्य**=लोक के **गोपाः**=रक्षक **सन्तु**=हों। वे **नः अवसे**=हमारी रक्षा के लिये **अद्य**=आज **सोमम् पिबन्तु**=ओषधि रस के समान ऐश्वर्य का भोग करें।

भावार्थ–पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी परमेश्वर के उपासक विद्वान् जन माता-पिता के समान लोगों को उपदेश देकर सन्मार्ग में प्रवृत्त करें। इनके उपदेशों से लोग धर्मात्मा, न्यायकारी, ईश्वर उपासक बनकर श्रेष्ठ ऐश्वर्य का उपभोग करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**आदित्याः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

उपासक के कर्त्तव्य

आदित्या विश्वे मरुतश्च विश्वे देवाश्च विश्वे ऋभवश्च विश्वे।
इन्द्रो अग्निरश्विना तुष्टुवाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

पदार्थ-विश्वे आदित्याः=समस्त बारह मासों के समान सुखप्रद विद्वान् **विश्वे मरुतः**=समस्त वायुगण, **विश्वे देवाः च**=समस्त पृथिवी आदि लोक, **विश्वे ऋभवः च**=समस्त तेज से प्रकाशित जन **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् **अग्निः**=तेजस्वी, **अश्विना**=जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुष, ये सब **तुष्टुवानाः**=स्तुति किये जाएँ। हे स्वजनो! **यूयं नः स्वस्तिभिः सदा पात**=आप हमें उत्तम साधनों से सदा पालें।

भावार्थ-सभी मनुष्य विद्वानों के संग से ईश्वर उपासना करते हुए सत्याचारी, तेजस्वी तथा ऐश्वर्यवान् बनें। सभी स्त्री-पुरुष जितेन्द्रिय होकर ईश्वर स्तुति करते हुए परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और आदित्य देवता है।

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**आदित्याः** ॥ छन्दः-**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

प्राणसाधना

आदित्यासो अदितयः स्याम पूर्देवत्रा वसवो मर्त्यत्रा।
सनेम मित्रावरुणा सनन्तो भवेम द्यावापृथिवी भवन्तः ॥ १ ॥

पदार्थ-हे **आदित्यासः**=आदित्य तुल्य तेजस्वी पुरुषो! हम लोग **अदितयः**=अखण्ड बलशाली **स्याम**=हों। हे **वसवः**=गुरु के अधीन बसने हारे विद्वान् पुरुषो! आप, **देवत्रा**=विद्वानों और **मर्त्यत्रा**=मनुष्यों में **पूः**=नगरी तुल्य सबके रक्षक होओ। हे **मित्रावरुणा**=प्राण उदान तुल्य प्रिय और श्रेष्ठ जनो! हम लोग **सनन्तः**=ऐश्वर्य प्राप्त करते हुए **सनेम**=दान किया करें। हे **द्यावा-पृथिवी**=सूर्य-पृथिवीवत् माता-पिता जनो! हम **भवन्तः**=सामर्थ्यवान् होकर **भवेम**=रहें।

भावार्थ-आदित्य ब्रह्मचारी ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् लोगों को प्राण साधना की श्रेष्ठ रीति सिखावें जिससे सब लोग इस शरीर में दिव्य शक्तियो का जागरण कर आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा भौतिक सफलताओं को प्राप्त करने में समर्थ होवें। और सूर्य समान तेजस्वी व पृथिवी समान धैर्यशाली बन सकें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**आदित्याः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

मित्रा वरुण

मित्रस्तन्नो वरुणो मामहन्त शर्म तोकाय तनयाय गोपाः।
मा वो भुजेमान्यजातमेनो मा तत्कर्म वसवो यच्चयध्वे ॥ २ ॥

पदार्थ-मित्रः=स्नेही और **वरुणः**=पापों के वारक श्रेष्ठजन और **गोपाः**=रक्षक जन **नः**=हमें **तत् शर्म मामहन्त**=वह सुख दें **तोकाय तनयाय**=पुत्र पौत्रों को सुख दें। **वः**=आप लोगों में रहते हुए हम **अन्यजातम् एनः**=औरों से उत्पन्न पाप का **मा भुजेम**=भोग न करें। हे **वसवः**=विद्वान् जनो! **यत् चयध्वे**=जिसको आप नाश करो **मा तत् कर्म**=वह काम हम न

करें।

भावार्थ–सब लोग मधुरता आदि श्रेष्ठ गुणों को धारण कर एक दूसरे को सुख प्रदान करें। पुत्र और पौत्रों के मध्य में रहते हुए उन्हें पाप कर्मों से बचावें तथा विद्वानों द्वारा निषिद्ध किए गए कार्य न करने दें। सदैव सत्य पथ पर चलने की प्रेरणा दें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आदित्याः** ॥ छन्दः–**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

आलस्य रहित पुरुष

तुरण्यवोऽङ्गिरसो नक्षन्त रत्नं देवस्य सवितुरियानाः।
पिता च तन्नो महान्यजत्रो विश्वे देवाः समनसो जुषन्त ॥ ३ ॥

पदार्थ–**तुरण्यवः**=शीघ्र कर्म करने में कुशल **अंगिरसः**=देह में प्राणवत् राष्ट्र में तेजस्वी पुरुष **सवितुः देवस्य**=सुखदाता प्रभु को **इयानाः**=याद करते हुए उसके **रत्नं नक्षन्त**=परमैश्वर्यमय राज्यरूप रत्न को प्राप्त करें। **तत्**=वह ही **नः**=हमारा **यजत्रः**=अति पूज्य **महान्**=बड़ा **पिता च**=पालक है। **विश्वे देवाः**=समस्त विद्वान् **समनसः**=समान-चित्त होकर **जुषन्त**=प्रेम-वर्त्ताव करें।

भावार्थ–मनुष्यों को योग्य है कि वे आलस्य-प्रमाद से रहित होकर कर्म करने में कुशल बनें तथा परमेश्वर के द्वारा प्रदत्त समस्त ऐश्वर्य को राज्य रूप रत्न की प्राप्ति कर तेजस्वी बनें तथा विद्वानों के साथ समान चित्त होकर ईश्वर आराधना करते हुए परस्पर प्रेम पूर्वक व्यवहार करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और द्यावापृथिवी देवता हैं।

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

द्यावापृथिवी

प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी नमोभिः सबाध ईळे बृहती यजत्रे।
ते चिद्धि पूर्वे कवयो गृणन्तः पुरो मही दधिरे देवपुत्रे ॥ १ ॥

पदार्थ–**द्यावा-पृथिवी**=भूमि और सूर्य के तुल्य **बृहती**=बड़ी, **यजत्रे**=सत्संग योग्य **देव-पुत्रे**=विद्वान् पुत्रों के माता-पिताओं को मैं **यज्ञैः**=दान, मान से **नमोभिः**=नमस्कारों से **सबाधः**=जब-जब पीड़ा-युक्त होऊँ **ईडे**=उनकी पूजा करूँ। **त्ये चित् मही**=उन दोनों पूज्यों को **पूर्वे**=पूर्व के **गृणन्तः**=उपदेष्टा **कवयः**=विद्वान् पुरुष **पुरः दधिरे**=सदा अपने सन्मुख, पूज्य पद पर स्थापित करते रहे हैं।

भावार्थ–मनुष्य लोग आकाश के समान विशाल हृदयवाले पिता तथा पृथिवी के समान धैर्यशाली माता का सदा सम्मान करें। उनके द्वारा प्रदत्त उत्तम शिक्षाओं को ग्रहण कर दान, मान, सत्कार आदि के द्वारा विद्वानों की भी पूजा करें। माता, पिता व विद्वानों के सत्संग से प्रेरित जन इन सबको पूज्य पद पर स्थापित करते हैं तथा इन्हें कभी भी पीड़ा नहीं पहुँचाते।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

मातृ-पितृ भक्ति

प्र पूर्वजे पितरा नव्यसीभिर्गीर्भिः कृणुध्वं सदने ऋतस्य।
आ नो द्यावापृथिवी दैव्येन जनेन यातं महि वां वरूथम् ॥ २ ॥

पदार्थ—हे विद्वान् पुरुषो! आप **पूर्वजे पितरौ**=पूर्व के विद्वानों से शिक्षित होकर विद्वान् हुए **ऋतस्य सदने**=सत्य व्यवहार के आश्रय रूप **पितरा**=माता-पिताओं को **नव्यसीभिः गीर्भिः**=अतिस्तुत्य वाणियों से **प्र कृणुध्वम्**=आदरयुक्त करो। हे **द्यावा-पृथिवी**=सूर्य और भूमि के समान अन्न, जल, तेज और आश्रय से प्रजा-पालक माता-पिताओ! आप लोग **नः**=हमें **दैव्येन जनेन**=विद्वान् पुरुषों से शिक्षित जनों के साथ **वाः महि वरूथं**=अपने बड़े भारी घर को **आ यातं**=प्राप्त होओ।

भावार्थ—मनुष्य लोग अपनी सन्तानों को विद्वानों के सान्निध्य में रखकर शिक्षित करावें। वे शिक्षा प्राप्त सन्तानें विद्वान् होकर माता-पिता का अपनी उत्तम वाणी व व्यवहार से सदैव आदर करें तथा उनके लिए अन्न, जल, औषधि तथा निवास की उत्तम व्यवस्था करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कल्याणकारी माता-पिता

उतो हि वां रत्नधेयानि सन्ति पुरूणि द्यावापृथिवी सुदासे।
अस्मे धत्तं यदसदस्कृधोयु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे **द्यावा-पृथिवी**=भूमि, विद्युत् के तुल्य माता-पिताओ! **सु-दासे**=आप दोनों उत्तम भृत्यों से युक्त होओ। अथवा दानशील के लिये **वां**=आप दोनों के **पुरूणि रत्न-धेयानि**=बहुत सुन्दर ऐश्वर्य **सन्ति**=हैं। **यत्**=जो भी **अस्कृधोयुः**=बहुत जीवनप्रद **असत्**=हो वह **अस्मे धत्तं**=हमें दो। **यूयं**=आप लोग **स्वस्तिभिः**=कल्याणकारी साधनों से **नः पात**=हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—उत्तम माता-पिता अपनी सन्तानों तथा सेवकों के लिए उत्तम-उत्तम ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। श्रेष्ठ शिक्षाओं के द्वारा उन्हें अनन्त जीवन जीने की प्रेरणा देकर उनका कल्याण करते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और वास्तोष्पति देवता हैं।

[५४] चतुःपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम गृहपति

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **वास्तोः पते**=वास करने योग्य राष्ट्र के पालक! राजन्! तू **अस्मान् प्रति जानीहि**=हमें प्रत्येक को जान वा हमसे प्रतिज्ञापूर्वक व्यवहार कर। **नः**=हमारे प्रति **सु आवेशः स्व-आवेशः**=उत्तम भावों और बर्त्ताओंवाला और **अनमीवः**=रोगादि से पीड़ा न होने देनेवाला **भव**=हो। **यत् त्वा ईमहे**=जो हम तेरे समीप याचना करते हैं **नः तत् प्रति जुषस्व**=वह तू हमें मान दे। **नः द्विपदे शम्, चतुष्पदे शम्**=हमारे दोपाये पुत्रादि और चौपाये गाय आदि का भी कल्याण हो।

भावार्थ—उत्तम घर का स्वामी गृहपति सबके साथ उत्तम भावों तथा प्रेमपूर्वक व्यवहार करे इससे उस घर का प्रत्येक प्राणी सुख पूर्वक रहेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गयस्फानो

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व ॥ २ ॥

पदार्थ–हे **वास्तोः पते**=निवास योग्य गृह, राष्ट्र के पालक गृहपते! राजन्! तू **नः**=हमारा **प्र-तरणः**=नाव के तुल्य संकट से पार उतारनेवाला और **गय-स्फानः**=गृह, प्राण और धन का बढ़ानेवाला **एधि**=हो। हे **इन्दो**=ऐश्वर्यवन्! तू **नः**=हमें **गोभिः अश्वेभिः**=गौओं, अश्वों सहित प्राप्त हो। **ते सख्ये**=तेरे मित्र-भाव में हम **अजरासः**=वृद्धावस्था-रहित, बल-युक्त रहें। **नः**=हम से तू **पिता इव पुत्रान्**=पुत्रों को पिता के तुल्य **जुषस्व**=प्रेम कर।

भावार्थ–गृहपति वा राजा को अपने आश्रित जनों वा प्रजा का कष्ट स्नेह पूर्वक दूर करना चाहिये।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

वास्तोष्पते

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

पदार्थ–हे **वास्तोः पते**=गृह, देह और राष्ट्र-पालक! **ते**=तेरी **रण्वा**=रमणीय **शग्मया**=सुखदायक **गातु-मत्या**=उत्तम वाणी और भूमि से युक्त **सं सदा**=सहवास और सभा से हम लोग **सक्षीमहि**=सम्बन्ध बनाये रक्खें। **क्षेमे**=रक्षा-कार्य और **योगे**=अप्राप्त धन को प्राप्त करने में **नः**=हमारी **वरं**=अच्छी प्रकार **पाहि**=रक्षा करो। हे विद्वान् जनो! **यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात**=आप लोग सदा हमारी उत्तम साधनों से रक्षा करें।

भावार्थ–राजा तथा प्रजा का परस्पर सम्बन्ध बना रहे, जिससे राष्ट्र का योग क्षेम सुचारु रूप से चलता रहे।

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः–**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

अमीवहा

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि नः ॥ १ ॥

पदार्थ–हे **वास्तोः-पते**=गृह, देह और राष्ट्र के पालक प्रभो! गृहपते! राजन्! तेरे अधीन **विश्वा रूपाणि**=सब प्रकार के नाना रूप अर्थात् जीव बसते हैं। तू **अमीव-हाः**=सब प्रकार के रोगों, कष्टों का नाशक और **सु-शेवः**=उत्तम सुखदायक **नः**=हमारा **सखा एधि**=मित्र हो।

भावार्थ–राजा, प्रजा मित्र भाव से रहे, जिससे राष्ट्र में विद्वेष न फैल सके।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

यदर्जुन सारमेय

यदर्जुन सारमेय दतः पिशङ्ग यच्छसे। वीव भ्राजन्त ऋष्टय उप स्रक्वेषु बप्सतो नि षु स्वप ॥ २ ॥

पदार्थ–हे **अर्जुन**=धनादि को उपार्जन करनेवाले! हे **सारमेय**=सारवान्, बलवान् हे **पिशङ्ग**=तेजस्विन्! तू **दतः**=खण्डित करनेवाले शस्त्रों को **यच्छसे**=नियम में रख। **बप्सतः**=खाते हुए मनुष्यों के दाँत जैसे **स्रक्वेषु उप**=ओठों के पास चमकते हैं वैसे **स्रक्वेषु**=बने नगरों के पास **बप्सतः**=राष्ट्र का भोग करते हुए तेरे **ऋष्टयः**=शस्त्र-अस्त्रादि, **वि इव भ्राजन्त**=विशेष रूप से चमकें। **नि सु स्वप**=बलवान् राजा के, हे प्रजाजन! तू अच्छी प्रकार सुख की निद्रा ले।

भावार्थ–राष्ट्र की सीमाएँ सेना द्वारा सुरक्षित रहें, जिससे नागरिक सुख से सो सकें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सारमेय

स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुनःसर। स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान्दुच्छुनायसे नि षु स्वप॥ ३॥

पदार्थ—हे **सारमेय**=उत्तम बल-धारक सेना के जन! तू **स्तेनं**=चोर और **तस्करं**=निन्द्य कार्य करनेवाले डाकू के पास **राय**=पहुँच, उसे पकड़। **पुनः सर**=तू उस पर आक्रमण कर। तू **इन्द्रस्य स्तोतॄन्**=राजा के प्रति उत्तम उपदेश करनेवाले विद्वानों को **किं रायसि**=क्यों पकड़ता है? **अस्मान् किं दुच्छुनायसे**=हमें दुष्ट कुत्ते के समान क्यों कष्ट देता है? तू **नि सु स्वप**=नियमपूर्वक सुख से निद्रा ले।

भावार्थ—राष्ट्र आरक्षी विभाग दुष्टों का दमन तथा सज्जनों का रक्षण करता रहे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

रायसि

त्वं सूकरस्य दर्दृहि तव दर्दर्तु सूकरः। स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान्दुच्छुनायसे नि षु स्वप॥ ४॥

पदार्थ—हे राजन्! **त्वं**=तू **सू-करस्य**=उत्तम कार्य करनेवाले को **दर्दृहि**=बढ़ा। **सूकरस्य**=उत्तम रीति से वश करने योग्य शत्रु को **दर्दृहि**=विदीर्ण कर और **सूकरः**=उत्तम युद्धकर्त्ता शत्रुजन **तव दर्दृहि**=तेरे राष्ट्र में भी भेदन करने में समर्थ है। तू **स्तोतॄन्**=उत्तम विद्वानों के प्रति **इन्द्रस्य**=ऐश्वर्य का **रायसि**=दान कर। **अस्मान् किम् दुच्छुनायसे**=हमारे प्रति क्यों दुष्ट कुत्ते के समान करता है, **नि सु स्वप**=तू सावधान रहकर सुख की निद्रा ले।

भावार्थ—राजा सज्जनों का सम्मान और राष्ट्र द्रोहियों को कठोर दण्ड दे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

माता सस्तु

राष्ट्र की सुन्दर व्यवस्था

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पतिः। ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥ ५॥

पदार्थ—राष्ट्र और गृह का उत्तम प्रबन्ध होने पर **माता सस्तु**=माता सुख से सोवे, **पिता सस्तु**=पिता सुख से सोवे। **श्वा सस्तु**=कुत्ता आदि सुख से सोवें। **विश्पतिः सस्तु**=प्रजाओं का स्वामी सुख से सोवे। **सर्वे ज्ञातयः ससन्तु**=सब सम्बन्धी सुख से सोवें। **अयम्**=यह **अभितः जनः**=चारों ओर बसा प्रजाजन **सस्तु**=सुख से सोवे।

भावार्थ—उत्तम राजा को योग्य है कि वह अपने राज्य में सुरक्षा आदि की ऐसी व्यवस्था करे कि समस्त प्रजाजन, मित्रजन तथा पारिवारिक जनों के साथ स्वयं भी सुखपूर्वक सो सके।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

भवन निर्माण

य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः। तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा॥ ६॥

पदार्थ—**यः आस्ते**=जो बैठा हो **यः च चरति**=जो चलता है, **यः जनः**=जो मनुष्य **नः**=हमें **पश्यति**=देखता है **तेषां**=उनके **अक्षाणि**=आँखों को हम **संहन्मः**=अच्छी प्रकार निमीलित करें जिससे बाहर के देखनेवालों को न देखें। **यथा**=जैसा **इदं हर्म्यं**=यह उत्तम भवन है **तथा**=उसी प्रकार हम घर बनावें।

भावार्थ–राष्ट्र में ऐसे उत्तम कुशल शिल्पकार हों जो ऐसी भवन निर्माण कला जानते हों कि भवन के अन्दर रहनेवाला तो सबको देख सके किन्तु भवन में रहनेवालों को कोई ना देख पावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धारः** ॥

सुख की निद्रा

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्। तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥७॥

पदार्थ–**समुद्रात् सहस्नः-शृङ्गः**=समुद्र से सहस्रों किरणोंवाले सूर्य-तुल्य **यः**=जो तेजस्वी पुरुष **वृषभः**=बलवान्, **उत् आचरत्**=उत्तम पद पर विराज कर न्याय से वर्त्तता है, **तेन सहस्येन**=उस बलवान् के सहयोग से **वयं**=हम **जनान्**=सब प्रजा को **नि स्वापयामसि**=सुख की निद्रा सोने दें।

भावार्थ–उत्तम राजा अपने राज्य में इतना तेजस्वी होवे कि कोई दुष्ट प्रजा को कष्ट न दे सके। उसकी न्याय व्यवस्था इतनी सुदृढ तथा पक्षपात रहित हो कि दुष्ट व अपराधी को दण्ड अवश्य मिले तथा निरपराधी को कष्ट न हो। ऐसे बलवान् राजा की प्रजा सुख की नींद सोती है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धारः** ॥

राज्य व्यवस्था

प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरीः। स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥८॥

पदार्थ–**याः नारीः**=जो स्त्रियाँ **प्रोष्ठे-शयाः**=आंगन में सोती हैं, **या वह्ये-शयाः**=जो रथ आदि में सोती हैं, **याः तल्पशीवरीः**=जो उत्तम सेजों में सोती हैं और **याः पुण्यगन्धाः स्त्रियः**=जो उत्तम गन्धवाली, शुभ-लक्षणा स्त्रियाँ हैं **ताः सर्वाः**=उन सबको **स्वापयामसि**=सुख की नींद सोने दें। ऐसा उत्तम राज्य और गृह का प्रबन्ध करें।

भावार्थ–राजा ऐसा उत्तम राज्य प्रबन्ध करे कि उसके राज्य में स्त्रियाँ भी निर्भय विचरण कर सके। चाहे वे आंगन में सोवें या भवन में, रथ में सोवें या उत्तम सेजों पर। चाहे आभूषणों से सजी हों वे सब निर्भयता के साथ सुख की नींद सोवें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और मरुत् देवता है।

चतुर्थोऽनुवाकः

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**आर्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

वीर पुरुष

क ईं व्यक्ता नरः सनीळा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः ॥१॥

पदार्थ–**ईम्**=सब प्रकार से **वि-अक्ताः**=विशेष तेजस्वी, **सनीडाः**=समान-स्थान वासी, **रुद्रस्य**=दुष्टों के रोदक, प्रभु, विद्योपदेष्टा आचार्य के **के मर्याः**=कौन विशेष मनुष्य **नरः**=उत्तम नायक और **सु-अश्वाः**=उत्तम अश्वोंवाले वा जितेन्द्रिय हैं?

भावार्थ–सेनापति अपनी सेना में उत्तम वीर पुरुषों को नायक नियुक्त करे जो क्रान्तियुक्त, साथ रहनेवाले, शत्रु को मारने में कुशल तथा उत्तम घुड़सवार हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिकार्चीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वीरों का कर्त्तव्य

नकिर्ह्येषां जनूंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम् ॥ २ ॥

पदार्थ—एषां=इन जीवों के **जनूंषि**=जन्मों को **नकिः वेद हि**=निश्चय से कोई नहीं जानता। **अङ्ग**=हे विद्वन्! **ते**=वे सब **मिथः**=स्त्री-पुरुष परस्पर मिलकर **जनित्रम्**=जन्म **विद्रे**=प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—सेनापति अपनी सेना के सैनिकों को जाति-पाति, क्षेत्र, सम्प्रदाय आदि से ऊपर उठकर परस्पर मिलकर रहने की प्रेरणा दे तथा क्षात्रधर्म का पालन करने हेतु संगठित सैन्य शक्ति विकसित करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

वीरों का कर्त्तव्य

अभि स्वपूभिर्मिथो वपन्त वातस्वनसः श्येना अस्पृध्रन् ॥ ३ ॥

पदार्थ—वे जीव **स्वपूभिः**=अपने साथ सोनेवाली अथवा **स्वपूभिः**=अपनी उत्पन्न होने योग्य भूमियों से **मिथः**=परस्पर मिलकर **अभि वपन्त**=सम्मुख हो बीज बोते हैं। वे **वातस्वनसः**=वायुवत् प्राण के बल पर ध्वनि करनेवाले **श्येनाः**=बाजपक्षी के समान एक देह से दूसरे देह में जानेवाले होकर भी **अस्पृध्रन्**=स्पर्धा करते हैं।

भावार्थ—सेनापति अपने सैनिकों को संगठित रहने की प्रेरणा करे। वे वीर सैनिक संगठित होकर सम्मुख आनेवाले शत्रुओं को मारते हुए वायु के समान शत्रु पर आक्रमण करें तथा उस पर विजय करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

बुद्धिमान पुरुष

एतानि धीरो निण्या चिकेत पृश्निर्यदूधो मही जभार ॥ ४ ॥

पदार्थ—पृश्निः=सेवन करनेवाला सूर्य और **मही**=भूमि **यत्**=जैसे **ऊधः**=जलधारक मेघ को **जभार**=धारण करता है वैसे **पृश्निः**=वीर्यसेक्ता पुरुष और **मही**=पूज्य माता **यत्**=जो मिलकर बालक और उसके पान के लिये **ऊधः**=स्तनादि धरती है **एतानि निण्या**=इन सत्य सिद्धान्तों को **धीरः**=बुद्धिमान् पुरुष **चिकेत**=जाने।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य बादलों को भूमि पर बरसा का उत्तम औषधादि की उत्पत्ति करता है। उसी प्रकार बुद्धिमान् स्त्री-पुरुष गर्भाधान संस्कार करके उत्तम सन्तान को उत्पन्न करते हैं। माता उस सन्तान को उत्तम संस्कार प्रदान करती हुई स्तनपान करावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

वीर सन्तान

सा विट् सुवीरा मरुद्भिरस्तु सनात्सहन्ती पुष्यन्ती नृम्णम् ॥ ५ ॥

पदार्थ—सा=वह **विट्**=प्रजावर्ग **मरुद्भिः**=वायुवत् बलवान् पुरुषों से ही **सु-वीरा**=उत्तम वीरोंवाली **अस्तु**=हो। वह **सनात्**=सदा **सहन्ती**=शत्रु को पराजित करती हुई और **नृम्णं पुष्यन्ती**=धनैश्वर्य को समृद्ध करती रहे।

भावार्थ–राष्ट्र में उत्तम विद्वानों के निर्देशन में वीर सन्तानें पैदा होवें जो शत्रुओं को पराजित कर राष्ट्र में ऐश्वर्य को बढ़ावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**भुरिकार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

लक्ष्यगामी सेना

यामं येष्ठाः शुभा शोभिष्ठाः श्रिया संमिश्ला ओजोभिरुग्राः ॥ ६ ॥

पदार्थ–प्रजाएँ, स्त्रियें और सेनाएँ भी **येष्ठाः**=लक्ष्य की ओर जाने में उत्तम **शुभ्राः**=कान्तियुक्त, **शोभिष्ठाः**=शोभायुक्त **श्रिया**=लक्ष्मी से **सं-मिश्लाः**=संयुक्त **ओजोभिः**=पराक्रमों से **उग्राः**=बलवान् हों। वे **यामं येष्ठाः**=उत्तम नियम, प्रबन्धों को प्राप्त हों।

भावार्थ–सेनापति अपनी सेना को लक्ष्य की ओर संगठित रूप से बढ़ने के लिए तेजस्वी, बलवान् तथा पराक्रमी सैनिकों से सज्जित करे। ऐसी सेना ही विजयश्री पाने के योग्य होती है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**भुरिकार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

ओजस्वी वीर

उग्रं व ओजः स्थिरा शवांस्यधा मरुद्भिर्गणस्तुविष्मान् ॥ ७ ॥

पदार्थ–हे प्रजाजनो ! **वः**=आप लोगों का **ओजः**=तेज **उग्रं**=उन्नत कोटि का और **शवांसि स्थिरा**=बल स्थिर और **मरुद्भिः सह गणः**=बलवान् वीरों, विद्वानों सहित गण **तुविष्मान्**=बलवान् हो।

भावार्थ–राष्ट्र की सेना पराक्रमी, उग्र तथा स्थिर बलवाली होवे। प्राणशक्ति से युक्त सैनिक बलवान् हों।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः–**ऋषभः** ॥

दुष्टों का दमन

शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णोः ॥ ८ ॥

पदार्थ–हे प्रजाजनो ! **वः**=आप लोगों का **शुष्मः**=बल **शुभ्रः**=प्रशंसनीय हो। आप लोगों के **मनांसि**=मन **क्रुध्मी**=दुष्टों के प्रति क्रोधयुक्त हों और **शर्धस्य**=आप के बलवान् और **धृष्णोः**=शत्रुपराजयकारी सैन्य का **धुनिः**=नायक शत्रुओं को कम्पाने हारा **मुनिः इव**=मननशील के समान विचारशील हो।

भावार्थ–सेनापति शत्रुओं को कंपानेवाला, प्रभावी तथा गम्भीर विचारशील हो। उसके सैनिक उन्नत देह, बल तथा शत्रु के प्रति क्रोधवाले हों। ऐसी सेना दुष्टों का दमन करने में समर्थ होती है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**भुरिकार्चीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

परस्पर प्रेम

सनेम्यस्मद्युयोत दिद्युं मा वो दुर्मतिरिह प्रणङ् नः ॥ ९ ॥

पदार्थ–हे विद्वान् वीर जनो ! **अस्मत्**=हमसे अपने **सनेमि**=चक्रधारा से युक्त **दिद्युम्**=चमचमाते शस्त्र–बल को **युयोत**=सदा पृथक् रक्खो और **वः**=आप लोगों की **दुर्मतिः**=दुष्ट बुद्धि **नः**=हमें और **नः दुर्मतिः वः**=हमारी दुष्टमति आपको **मा प्रणक्**=प्राप्त न हो।

भावार्थ–वीर सैनिक राष्ट्र की प्रजा पर दुष्टबुद्धि=स्वार्थ से युक्त होकर अपने अस्त्र–शस्त्रों

का बल प्रयोग न करें। प्रजा की दुर्मति=भ्रान्ति की शिकार होकर सैनिकों से द्वेष न करे। सेना-प्रजा परस्पर प्रेमपूर्वक रहें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**आर्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः-**ऋषभः** ॥

यशोकामी पुरुष

प्रिया वो नाम हुवे तुराणामा यत्तृपन्मरुतो वावशानाः ॥ १० ॥

पदार्थ-यत् नाम=जो उत्तम नाम, अन्न **वः मरुतः**=प्राणवत् प्रिय आप लोगों को **तृपत्**=प्रसन्न करे, हे **वावशानाः**=कीर्ति-कामी सज्जनो! मैं **तुराणां**=शीघ्रकारी **वः**=आप लोगों के लिये **प्रिया नाम**=प्रिय नाम वा अन्नादि पदार्थ **आ हुवे**=आदर पूर्वक कहूँ और दूँ।

भावार्थ-यश की कामना करनेवाले पुरुष सब लोगों के साथ आत्मवत् प्रिय व्यवहार कर उन्हें तृप्त करें तथा अप्रमादी होकर अपने आन्तरिक तथा बाहरी शत्रुओं को नष्ट करें। और सबके साथ आदर पूर्ण व्यवहार करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**निचृदार्च्युष्णिक्** ॥ स्वरः-**ऋषभः** ॥

वीर योद्धा

स्वायुधास इष्मिणः सुनिष्का उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः ॥ ११ ॥

पदार्थ-हे विद्वान् पुरुषो! आप लोग **स्वायुधासः**=उत्तम शस्त्रास्त्र-सम्पन्न, **इष्मिणः**=अन्न के स्वामी, **सु-निष्काः**=उत्तम सुवर्णादि के मोहरों से व्यवहार करनेवाले **उत**=और उनसे **स्वयं**=स्वयं **तन्वः शुम्भमानाः**=अपने शरीरों को सुशोभित करनेवाले होओ।

भावार्थ-वीर योद्धा हर समय तीक्ष्ण और उत्तम अस्त्र-शस्त्रों को अपने शरीर पर धारण किये हुए सन्नद्ध रहते हैं। यही उनकी शोभा है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

सत्य ज्ञान से युक्त पुरुष

शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः।
ऋतेन सत्यमृतसाप आयञ्छुचिजन्मानः शुचयः पावकाः ॥ १२ ॥

पदार्थ-हे **मरुतः**=विद्वान् पुरुषो! **वः**=आप के **हव्या**=खाने, लेने-देने के पदार्थ **शुची**=पवित्र हों। मैं **शुचिभ्यः**=पवित्र पदार्थों की वृद्धि के लिये **शुचिं अध्वरं**=पवित्र यज्ञ की **हिनोमि**=वृद्धि करता हूँ। **ऋत-सापः**=सत्य के आधार पर प्रतिज्ञाबद्ध होनेवाले **शुचिजन्मानः**=शुद्ध जन्म धारण करनेवाले **शुचयः**=कर्म, वाणी में शुद्ध, **पावकाः**=अग्निवत् तेजस्वी पुरुष **ऋतेन**=सत्य-ज्ञान से ही **सत्यम् आयन्**=सत्य व्यवहार को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ-विद्वान् पुरुष सत्य ज्ञान से युक्त होकर अपने कर्म व वाणी में पवित्रता लाकर हृदय को शुद्ध बनावें। यज्ञ की वृद्धि कर समाज में शोधन करें। ये विद्वान् सत्य के साथ प्रतिज्ञाबद्ध होकर सत्य व्यवहार ही करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

राष्ट्र रक्षक

अंसेष्वा मरुतः खादयो वो वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः।
वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना अनु स्वधामायुधैर्यच्छमानाः ॥ १३ ॥

पदार्थ–हे **मरुतः**=वीर पुरुषो! विद्वान् पुरुषो! **वः**=आपके **अंसेषु**=कन्धों पर **खादयः**=शस्त्र और **वक्षः सु**=छातियों पर **रुक्माः**=कान्तियुक्त आभूषण **उप शिश्रियाणाः**=शोभा दें। आप लोग **वृष्टिभिः विद्युतः न**=वर्षाओं से बिजुलियों के समान **आयुधैः**=हथियारों से **रुचानाः**=चमकते हुए **स्वधाम्**=जलवत् अन्न और राष्ट्र-भूमि के **अनु यच्छमानाः**=अनुसार उसको वश करते हुए विजय करो।

भावार्थ–राष्ट्र के रक्षक वीर पुरुष अपने कन्धों पर शस्त्र तथा छाती पर कान्तियुक्त कवच धारण कर अपने शत्रुओं पर वर्षा के समान हथियार से तीव्र प्रहार कर राष्ट्र की विजय प्राप्त करावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**स्विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

कर व्यवस्था

प्र बुध्न्या व ईरते महांसि प्र नामानि प्रयज्यवस्तिरध्वम्।
सहस्रियं दम्यं भागमेतं गृहमेधीयं मरुतो जुषध्वम्॥ १४॥

पदार्थ–**बुध्न्याः**=आकाश में मेघ जैसे **महांसि नामानि प्र ईरते**=तेज और जलों को प्रदान करते हैं वैसे ही हे **बुध्न्याः**=उच्च पद के योग्य **प्रयज्यवः**=उत्तम दानशील पुरुषो! आप भी **महांसि**=देने योग्य **नामानि**=अन्नों को **प्र तिरध्वम्**=बढ़ाओ और दान करो। हे **मरुतः**=वीरो! आप **एतम्**=इन **गृहमेधीयं**=गृहस्थों से प्राप्त वा गृह के निर्वाह योग्य **सहस्रियं दम्यं भागम्**=सहस्रों ग्रामों वा गृहों से प्राप्त करादि अंश को **जुषध्वम्**=स्वीकार करो।

भावार्थ–शासक का अधिकारी वर्ग प्रजा से प्रेमपूर्वक कर का संग्रह करे। कर से प्राप्त उस धन को शासक वर्ग प्रजा को सुविधाएँ प्रदान करने में व्यय करे। प्रजा के उच्च व समृद्ध लोग अपने धन का राष्ट्रोन्नति की योजनाओं में कुछ अंश दान करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ज्ञान दान

यदि स्तुतस्य मरुतो अधीथेत्था विप्रस्य वाजिनो हवीमन्।
मक्षू रायः सुवीर्यस्य दात नू चिद्यमन्य आदभदरावा॥ १५॥

पदार्थ–हे **मरुतः**=वायु-समान बलवान् वीरो! आप **यदि**=यदि **वाजिनः**=ऐश्वर्यवान् और **विप्रस्य**=बुद्धिमान् पुरुष के **हवीमन्**=देने योग्य उत्तम ज्ञान और धन के व्यवहार में **इत्था**=सत्य-सत्य **स्तुतस्य**=उपदिष्ट शास्त्र का **अधीथ**=स्मरण रक्खो। **यम्**=जिस धनादि को **अन्यः**=दूसरा **अरावा**=शत्रु वा वचनादि से रहित मूकजन **नू चित् आदभत्**=अवश्य विनाश कर देवे ऐसे **रायः**=धन, ज्ञानादि को आप **सु-वीर्यस्य**=उत्तम वीर्यवान्, ब्रह्मचारी के हाथ **दात**=प्रदान करो।

भावार्थ–विद्वान जन गुरुजनों से प्राप्त शास्त्र को अच्छी प्रकार याद रक्खें तथा उस विद्या को उचित पात्र को प्रदान करें। यदि ज्ञान का प्रवचन नहीं किया जाएगा तो वह ज्ञान नष्ट हो जाएगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**स्विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

निष्पाप मन

अत्यासो न ये मरुतः स्वञ्चो यक्षदृशो न शुभयन्त मर्याः।
ते हर्म्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीळिनः पयोधाः॥ १६॥

पदार्थ–ये=जो **मरुतः**=मनुष्य, वायु–तुल्य बलवान्, **अत्यासः न**=निरन्तर गतिवाले अश्वों के तुल्य **सुअञ्चः**=उत्तम आचरणवाले हों वे **मर्याः**=मनुष्य **यक्षदृशः न**=पूज्य जनों को दर्शन करनेवालों के तुल्य **शुभयन्त**=सदा उत्तम वस्त्रालंकार धारण करें और **ते**=वे **हर्म्येष्ठाः**=बड़े–बड़े महलों में रहकर **शिशवः न शुभ्राः**=बालकों के समान स्वच्छ **वत्सासः न**=गाय के बछड़ों के समान, **प्र-क्रीडिनः**=विनोदी स्वभाव के और **पयः-धाः**=दूध, अन्नादि के पीने–खानेवाले हों।

भावार्थ–उत्तम आचरणवाले मनुष्य आदर के योग्य होते हैं। ऐसे निष्पाप मनवाले पुरुष बच्चों के समान विनोदी स्वभाववाले होते हैं। ऐसे पूज्य पुरुषों को घरों में बुलाकर उत्तम वस्त्र अलंकार आदि से सम्मान करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

मातृ-पितृ भक्त

दशस्यन्तो नो मरुतो मृळन्तु वरिवस्यन्तो रोदसी सुमेके।
आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु सुम्नेभिरस्मे वसवो नमध्वम्॥ १७॥

पदार्थ–मरुतः=वीर पुरुष **दशस्यन्तः**=दान देते और **सुमेके**=पूज्य **रोदसी**=माता–पिताओं की **वरिवस्यन्तः**=सेवा करते हुए **नः मृडन्तु**=हमें सुखी करें। **गोहा**=गौ आदि का मारनेवाला और **नृहा**=मनुष्यों को मारनेवाला **वः**=आप से **आरे**=दूर हो और वह **वधः अस्तु**=वध–योग्य हो। **सुम्नेभिः अस्मे वसवो नमध्वम्**=श्रेष्ठ पुरुष शुभ वचनों से प्रभु की स्तुति करें।

भावार्थ–श्रेष्ठ पुरुष ईश्वर की स्तुति करते हुए अपने पूज्य माता–पिता की सेवा–शुश्रुषा करके सुखी हों। ऐसे पुरुष प्रशंसा के योग्य हैं। गौ आदि पशुओं को मारनेवाले गौघातक दण्ड या वध के योग्य हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सुपात्र को दान

आ वो होता जोहवीति सत्तः सत्राचीं रातिं मरुतो गृणानः।
य ईवतो वृषणो अस्ति गोपाः सो अद्वयावी हवते व उक्थैः॥ १८॥

पदार्थ–हे **मरुतः**=वीरो! विद्वान् पुरुषो! **होता**=उत्तम दाता, **गृणानः**=उपदेश करने हारा **सत्तः**=उत्तमासन पर बैठकर **सत्राचीं**=सत्य से युक्त **रातिं**=दान, ज्ञान वा ऐश्वर्य को **जोहवीति**=देता है और जो **ईवतः**=जल–युक्त **वृषणः गोपाः**=मेघ के तुल्य रक्षक **ईवतः**=धनशाली, **वृषणः**=बलवान् **गोपाः**=रक्षक है **सः**=वह **अद्वयावी**=भीतर–बाहर दो–भाव न करता हुआ, निष्कपष्ट होकर **उक्थैः**=उत्तम वचनों से **वः**=आपको **हवते**=ज्ञान दे, वा आदर से बुलावे।

भावार्थ–उत्तम दानशील पुरुष सुपात्र को ही दान देवे। जो विद्वान् उपदेशक हैं, जो राष्ट्र रक्षक बलवान् हैं वे दान के पात्र हैं। विद्या का दान भी निष्कपट, मधुरभाषी, विनयी जिज्ञासु को देवें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

दुष्ट को दण्ड

इमे तुरं मरुतो रामयन्तीमे सहः सहस आ नमन्ति।
इमे शंसं वनुष्यतो नि पान्ति गुरु द्वेषो अररुषे दधन्ति॥ १९॥

पदार्थ–इमे=ये **मरुतः**=वायुवत् बलवान् और प्राणवत् प्रिय विद्वान्, **तुरं**=कार्य–कुशल, राजा को **रमयन्ति**=प्रसन्न रखते हैं और **इमे**=ये **सहः**=बल से **सहसः**=बलवान् शत्रुओं को भी **आ नमन्ति**=झुका लेते हैं। **इमे**=ये **वनुष्यतः**=हिंसक वा क्रोधी से **शंसं नि पान्ति**=प्रशंसनीय जन को बचा लेते हैं। **अररुषे**=अदानी और क्रोधी जन के दमन के लिये वे **गुरु द्वेषः**=बड़ा भारी द्वेष, अप्रीतिकर व्यवहार **दधन्ति**=करते हैं।

भावार्थ–उत्तम विद्वान् शत्रुनाशक राजा की प्रशंसा करते हैं तथा अपने बुद्धि बल एवं वाक् कुशलता से बलवान् शत्रु को भी झुका देते हैं तथा अपने बुद्धि कौशल से सज्जनों को बचाकर दुष्टों को दण्डित करा देते हैं। उत्तम जनों की रक्षा दुष्टों के नाश की योजना बनाते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

संन्यासी का सम्मान

इमे रध्रं चिन्मरुतो जुनन्ति भृमिं चिद्यथा वसवो जुषन्त।
अप बाधध्वं वृषणस्तमांसि धत्त विश्वं तनयं तोकमस्मे ॥ २० ॥

पदार्थ–इमे=ये **मरुतः**=वायुगण जैसे **रध्रं चित् जुनन्ति**=दृढ़ वृक्ष को भी हिला देते हैं। वैसे ही आप लोग भी **रध्रं**=वश करने योग्य, प्रबल पुरुषों को भी सन्मार्ग पर चलाओ और **वसवः**=पृथिवी आदि लोक जैसे **भृमिं**=धारक सूर्य के प्रकाश का सेवन करते हैं वैसे ही आप लोग **भृमिं**=भरण–पोषण करनेवाले स्वामी तथा **भृमिं**=भ्रमणशील, विद्वान् परिव्राजक का भी **जुषन्त**=प्रेम से सेवन करें। आप लोग **तमांसि**=सूर्य–किरणों के समान अन्धकारों को, **अप बाधध्वं**=और खेदजनक मोह आदि को भी दूर करो।

भावार्थ–संन्यासी लोग समृद्ध जनों को भी सन्मार्ग पर चलावें अज्ञान अन्धकार को दूर कर मोह आदि शत्रुओं का नाश करते हैं। ऐसे भ्रमणशील परोपकारी संन्यासियों को सम्मान करें तथा प्रेम से उनकी संगति करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

उदार बनो

मा वो दात्रान्मरुतो निरराम मा पश्चाद्दघ्म रथ्यो विभागे।
आ नः स्पार्हे भजतना वसव्ये३ यदीं सुजातं वृषणो वो अस्ति ॥ २१ ॥

पदार्थ–हे **मरुतः**=वीर पुरुषो! हम **वः**=आपको **दात्रात्**=दान करने से **मा निर् अराम**=न रोकें और **वः दात्रात् मा निर् अराम**=आप लोगों के प्रति देने से हम न रुकें। हे **रथ्यः**=रथारोही जनो! **विभागे**=धन के विभाग से **नः पश्चात् मा दध्म**=आप को हम पीछे न रक्खें। हे **वृषणः**=सुखवर्षक जनो! **वः यत् ईम् सुजातम् अस्ति**=आप लोगों का जो उत्तम द्रव्य है उसे **वसव्ये**=धन–सम्बन्धी **स्पार्हे**=अभिलाषा–योग्य पदार्थ के लिये **नः आ भजतन**=हमें प्राप्त करो।

भावार्थ–राष्ट्र के समद्ध पुरुष उदारता के साथ राष्ट्र कार्यों में दान करें। राष्ट्र के सामान्य जन भी अपने सामर्थ्यानुसार उदारतापूर्वक विद्वानों तथा अन्य पात्रों को दान करें। विद्वान् तथा राजपुरुष भी अपने धन में से कुछ अंश दान अवश्य करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सद् वैद्य के लक्षण

सं यद्धनन्त मन्युभिर्जनासः शूरा यह्वीष्वोषधीषु विक्षु।
अध स्मा नो मरुतो रुद्रियासस्त्रातारो भूत पृतनास्वर्यः ॥ २२ ॥

पदार्थ—यत्=जो **जनासः**=मनुष्य **विक्षु**=प्रजाओं के बीच **शूराः**=वीर होकर **यह्वीषु ओषधीषु**=बड़ी और बहुत-सी ओषधियों में से **मन्युभिः**=नाना ज्ञानों द्वारा **संहनन्त**=नाना ओषधियों को मिलाते हैं, हे **मरुतः**=विद्वान् पुरुषो! वे आप **रुद्रियासः**=रोगों को दूर करनेवाले वैद्यजन **पृतनासु अर्यः**=सेनाओं में स्वामी के तुल्य **नः त्रातारः भूत**=हमारे रक्षक होओ।

भावार्थ—जिस प्रकार सेना नायक प्रजा की रक्षा करते हैं उसी प्रकार कुशल उत्तम वैद्य भी प्रजाओं के बीच में जाकर सामान्य तथा विशिष्ट ओषधियों से रोगों को दूर कर प्रजा की रक्षा करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रु हिंसक सेना

भूरि चक्र मरुतः पित्र्याण्युक्थानि या वः शस्यन्ते पुरा चित्।
मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा मरुद्भिरित्सनिता वाजमर्वा ॥ २३ ॥

पदार्थ—हे **मरुतः**=विद्वान् पुरुषो! **या**=जिन कर्मों का **वः**=आप लोगों के हितार्थ **पुरा चित्**=पहले ही **शस्यन्ते**=उपदेश किया जाता है उन **पित्र्याणि**=माता-पिता की सेवा और पालक जनोचित **उक्थानि**=कर्मों को आप **भूरि**=खूब **चक्र**=करो। **उग्रः**=बलवान् पुरुष **मरुद्भिः**=बलवान् पुरुषों से ही **साढा**=शत्रु को पराजय करनेवाला और **अर्वा मरुद्भिः यथा वाजं सनिता**=जैसे अश्व प्राण के बल से वेग को प्राप्त करता है वैसे ही **अर्वा**=शत्रुहिंसक पुरुष **मरुद्भिः**=विद्वान् पुरुषों की सहायता से **वाजं सनिता**=संग्राम करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—विद्वान् जन उपदेश करें कि माता-पिता तथा वे जन जो अपने कर्मों से आपका पालन करते हैं उन सबका आदर करो। बलवान् पुरुष प्राणशक्ति को धारण कर विद्वानों के परामर्श से हिंसक शत्रुओं को मारकर संग्राम में विजयी हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

समुद्रपार यात्रा

अस्मे वीरो मरुतः शुष्म्यस्तु जनानां यो असुरो विधर्ता।
अपो येन सुक्षितये तरेमाध स्वमोको अभि वः स्याम ॥ २४ ॥

पदार्थ—हे **मरुतः**=वायुवत् बलवान् पुरुषो! **वीरः**=वीर और विविध विद्याओं का प्रवक्ता पुरुष और हमारा पुत्र **अस्मे**=हमारे उपकारार्थ **शुष्मी अस्तु**=बलवान् हो। **यः**=जो **असुरः**=शत्रुओं को उखाड़ने में समर्थ होकर **जनानां**=मनुष्यों का **विधर्त्ता**=विशेष रूप से धारक पालक हो, **येन**=जिसके द्वारा हम **सु-क्षितये**=उत्तम भूमि की प्राप्ति के लिये **अपः**=जलों के समान शत्रु और कर्मबन्धनों को **तरेम**=तरें। **अध**=और **स्वम् ओकः**=अपने गृह को प्राप्त कर **वः अभि स्याम**=आप लोगों के कृतज्ञ होकर रहें।

भावार्थ—समुद्र के अन्दर जो भूमि अर्थात् टापू हैं राजा की सेना समुद्री जहाजों के द्वारा

उन पर अपनी वीर सेना को भेजकर उन पर अधिकार करे। और विजय यात्रा सम्पन्न करके लौटे। व्यापारी लोग भी समुद्री यात्रा द्वारा विदेशों में व्यापार करने आते-जाते रहें।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

विद्वानों के समीप रहें

तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप ओषधीर्वनिनो जुषन्त।
शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ २५ ॥

पदार्थ-**तत्**=वह **इन्द्रः**=सूर्य, विद्युत् आदि **वरुणः**=जल का स्वामी, **मित्रः**=मित्र, **अग्निः**=अग्नि, **आपः**=जल और **ओषधीः**, **वनिनः**=औषधियें और वन के वृक्ष **नः जुषन्त**=हमें सुख दें। हम **मरुताम् उपस्थे**=विद्वान् पुरुषों के समीप **शर्मन् स्याम**=सुख से रहें। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं नः स्वतिभिः सदा पात**=तुम हमारा सदा उत्तम साधनों से पालन करो।

भावार्थ-विद्वान् पुरुषों के समीप रहकर सूर्य विज्ञान, जल विज्ञान, अग्नि विज्ञान तथा औषधि विज्ञान=आयुर्विज्ञान को जानकर सभी लोग सुखी हों। विद्वान् जन लोगों को जीवन के उत्तम साधनों का उपदेश करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता मरुत है।

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

ज्ञानवान् व बलवान् बनो

मध्वो वो नाम मारुतं यजत्राः प्र यज्ञेषु शवसा मदन्ति।
ये रेजयन्ति रोदसी चिदुर्वी पिन्वन्त्युत्सं यदयासुरुग्राः ॥ १ ॥

पदार्थ-जैसे **उग्राः**=प्रबल वायुगण **उर्वी रोदसी रेजयन्ति**=विशाल भूमि और अन्तरिक्ष को कम्पाते हैं और **यत् अयासुः**=जब चलते हैं तब **उत्सं पिन्वन्ति**=मेघ को बरसाते हैं वैसे ही **उग्राः**=बलवान् पुरुष **यत् अयासुः**=जब चलते वा प्राप्त होते हैं **उर्वी**=बड़ी **रोदसी**=सेनापतियों के अधीन स्थित उभयपक्ष की सेनाओं को **रेजयन्ति**=कंपाते हैं और **उत्सं**=ऊपर उठनेवाले विजेता को **पिन्वन्ति**=जलों से अभिषिक्त करते हैं। हे **यजत्राः**=दानशील जनो! हे **मध्वः**=मननशील जनो! **वः**=आप लोगों का **मारुतं नाम**=मनुष्यों का सा नाम, सामर्थ्य है, आप **यज्ञेषु**=यज्ञों और युद्धों में **शवसा**=बल और ज्ञान से **प्र मदन्ति**=हर्षित होते और उपदेश करते हो।

भावार्थ-उत्तम मननशील जन उत्तम ज्ञान का उपदेश करें तथा युद्धों में जल सेना, वायुसेना तथा थल सेना तीनों को प्रेरणा करें कि वे उग्र वायु (तूफान) व घनघोर बादलों के समान शत्रुओं को कंपाकर उनके बल को कमजोर करें।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

नेता कर्मकुशल हों

निचेतारो हि मरुतो गृणन्तं प्रणेतारो यजमानस्य मन्म।
अस्माकमद्य विदथेषु बर्हिरा वीतये सदत पिप्रियाणाः ॥ २ ॥

पदार्थ-हे **मरुतः**=विद्वान् जनो! आप **निचेतारः हि**=धनों, ज्ञानों के संग्रही और **यजमानस्य**=दानशील के **मन्म**=अभिमत वस्तु **गृणन्त**=उपदेष्टा को **पिप्रियाणाः**=प्रसन्न करते हुए **प्रणेतारः**=

कर्म-कुशल होकर **अस्माकं विदथेषु**=हमारे यज्ञों में **वीतये**=रक्षा और ज्ञानप्रकाश के लिये **बर्हिः**=उत्तमासन पर **आसदत**=विराजो।

भावार्थ-विद्वान् जन संग्रामों में सेनानायकों को रक्षा एवं युद्ध कर्म हेतु कर्मकुशलता का उपदेश करने जावें। वे कर्मकुशल नायक ऐसे विद्वानों को प्रसन्नता पूर्वक उत्तम आसनों पर बैठाकर उनका उपदेश सुनें तथा सैनिकों का मार्गदर्शन करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

तेजस्वी योद्धा

नैतावदन्ये मरुतो यथेमे भ्राजन्ते रुक्मैरायुधैस्तनूभिः।
आ रोदसी विश्वपिशः पिशानाः समानमञ्ज्यञ्जते शुभे कम्॥ ३॥

पदार्थ-यथा इमे=जैसे ये **मरुतः**=शत्रु घातक वीर मनुष्य **रुक्मैः**=कान्तियुक्त **आयुधैः**= हथियारों और **तनूभिः**=शरीरों से **भ्राजन्ते**=चमकते हैं **एतावत्**=उतने **अन्ये मरुतः न भ्राजन्ते**= दूसरे मनुष्य नहीं चमकते। ये **विश्व-पिशः**=सर्वाङ्ग-सुन्दर जन **रोदसी पिशानाः**=आकाश और भूमि को सुशोभित करते हुए सूर्य-किरणों के तुल्य **समानम् अञ्जि**=समान दीप्तियुक्त चिह्न को **शुभे कम्**=शोभा के लिये **अञ्जते**=प्रकट करते हैं।

भावार्थ-सर्वाङ्ग सुन्दर तेजस्वी वीर योद्धा कान्तियुक्त हथियारों तथा शरीरों से चमकते हुए थल सेना, जल सेना तथा वायु सेना में संयुक्त रूप से अपने-अपने ध्वज के साथ सामञ्जस्य बनाकर अन्य शत्रु सेना को तेजहीन करने में समर्थ हों।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

नीतिवान् राजा

ऋधक्सा वो मरुतो दिद्युदस्तु यद्व आगः पुरुषता कराम।
मा वस्तस्यामपि भूमा यजत्रा अस्मे वो अस्तु सुमतिश्चनिष्ठा॥ ४॥

पदार्थ-हे **मरुतः**=विद्वान् पुरुषो! **वः**=आप की **सा विद्युत्**=वह उज्ज्वल नीति **ऋधक् अस्तु**=सच्ची हो **यत्**=यदि चाहें हम **वः**=आप लोगों के प्रति **पुरुषता**=पुरुष होने से **आगः कराम**=अपराध भी करें। हे **यजत्राः**=पूज्य जनो! **तस्याम्**=उस नीति में रहकर **वः मा अपि भूम**=आप लोगों के प्रति हम अपराधी न हों। **वः चनिष्ठा**=आप की ऐश्वर्यादि-युक्त **सुमतिः अस्मे अस्तु**=शुभ मति हमारे लिये हो।

भावार्थ-विद्वान् वीर राजा अपने राष्ट्र की उन्नति के लिए उत्तम नीति का निर्माण कर लागू करे। वह नीति सच्ची हो, नाममात्र की न हो। वह नीति प्रजा जनों को उत्तम अन्न तथा ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली हो। प्रजाजन भी उस नीति का निष्टा से पालन करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

कर्मशील बनो

कृते चिदत्र मरुतो रणन्तानवद्यासः शुचयः पावकाः।
प्र णोऽवत सुमतिभिर्यजत्राः प्र वाजेभिस्तिरत पुष्यसे नः॥ ५॥

पदार्थ-हे **मरुतः**=वीर जनो! **कृते चित् अत्र**=इस संसार में अपने किये कर्म और करने योग्य कर्त्तव्य में ही **रणन्त**=सुख लाभ करो। आप **अनवद्यासः**=अनिन्दित कर्म करनेवाले,

शुचयः=शुद्ध आचारवान्, **पावकाः**=पवित्र करनेवाले होओ। हे **यजत्राः**=संगति-योग्य ज्ञान, मान देनेवाले सज्जनो! आप **सुमतिभिः**=उत्तम ज्ञानों से **नः अवत**=हमारी रक्षा करो। आप लोग **वाजेभिः**=अन्नों से **पुण्यसे**=हमें पुष्ट करने के लिये **प्र तिरत**=बढ़ाओ।

भावार्थ–विद्वान् जन उपदेश करें कि संसार में मनुष्य को कर्मशील बनना चाहिए। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य कर्म को शुद्ध व ईमानदारी से करता है उसकी कीर्ति संसार में बढ़ती है तथा लोग उसका सम्मान करते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

दीर्घ जीवन

उत स्तुतासो मरुतो व्यन्तु विश्वेभिर्नामभिर्नरो हवींषि।
ददात नो अमृतस्य प्रजायै जिगृत रायः सूनृता मघानि॥ ६॥

पदार्थ–हे **मरुतः नरः**=नायक जनो! आप **विश्वेभिः नामभिः**=सब प्रकार के उत्तम नामों से **स्तुतासः**=प्रशंसित होकर **हवींषि**=ज्ञान और नाना ऐश्वर्य **उप व्यन्तु**=प्राप्त करें। **नः**=हमारी प्रजाओं को **अमृतस्य ददात**=अन्न, दीर्घ जीवन दो। **उत**=और **रायः**=उत्तम ऐश्वर्य **सुनृता**=शुभ वचन, **मघानि**=धन **जिगृत**=प्रदान करो।

भावार्थ–उत्तम नायक जन आचार्यों के समीप रहकर उत्तम शिक्षा ग्रहण करें। उस शिक्षा के द्वारा वे स्वयं एवं अन्य लोगों को दीर्घजीवन जीने तथा उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान कर सकें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

कल्याणकारी साधन

आ स्तुतासो मरुतो विश्व ऊती अच्छा सूरीन्त्सर्वताता जिगात।
ये नस्त्मना शतिनो वर्धयन्ति यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ७॥

पदार्थ–हे **मरुतः**=विद्वानो! आप **विश्वे**=सब **सर्वताता**=सबके सुखकारक कार्य में **स्तुतासः**=प्रशंसित होकर **ऊती**=रक्षा सहित **सूरीन्**=विद्वानों की **आ जिगात**=प्रशंसा करो। **ये**=जो **शतिनः**=सैकड़ों बलों या ग्रामों के स्वामी होकर **त्मना**=स्वयं **नः**=हमें **वर्धयन्ति**=बढ़ाते हैं वे **यूयं**=आप लोग **स्वस्तिभिः**=कल्याणकारी साधनों से **नः पात**=हमारी रक्षा करो।

भावार्थ–विद्वान् जन राष्ट्र में उत्तम कल्याणकारी साधनों के आविष्कार की प्रेरणा तथा मार्गदर्शन करें जिनसे प्रजा सुखी व राष्ट्र की रक्षा हो सके। इससे वे विद्वान् प्रशंसा व सम्मान के पात्र होते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता मरुत है।

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

वीरों का सम्मान करो

प्र साकमुक्षे अर्चता गणाय यो दैव्यस्य धाम्नस्तुविष्मान्।
उत क्षोदन्ति रोदसी महित्वा नक्षन्ते नाकं निर्ऋतेरवंशात्॥ १॥

पदार्थ–हे विद्वान् जनो! **यः**=जो **दैव्यस्य**=विद्वान्, तेजस्वी, दानशील, पद के योग्य

धाम्नः=नाम, स्थान और जन्म के कारण **तुविष्मान्**=सर्वाधिक बलशाली हैं, **साकमुक्षे**=उन एक साथ अभिषिक्त होनेवाले **गणाय**=वीर-प्रमुख जन का **प्र अर्चत**=अच्छी प्रकार आदर करो। जैसे वायुगण **महित्वा**=अपने भारी सामर्थ्य से **रोदसी**=आकाश और पृथिवी में **क्षोदन्ति**=जल ही जल करके शान्ति, सुख बरसाते हैं वैसे ही **महित्वा**=अपने बड़े सामर्थ्य से **रोदसी**=राजा और प्रजा वर्ग में **क्षोदन्ति**=जल के समान आचरण करते, सबको सुख से तृप्त करते हैं और **निः-ऋते**=दुःखमय संसार-कष्ट और **अवंसात्**=सन्तानरहित होने आदि दुःखों से दूर होकर खूब सुखी, सुसन्तान होकर **नाकं नक्षन्ते**=सुखमय लोक को प्राप्त होते हैं, उनका भी आप लोग **अर्चत**=आदर करो।

भावार्थ-राष्ट्र के अन्दर जल, थल व वायु तीनों सेनाओं के सेनापति तथा वीरों का सम्मान राजा, प्रजा तथा विद्वान् जन मिलकर करें। इससे प्रजाजन अपनी सन्तानों को इन सेनाओं का अंग बनाने के लिए प्रेरित होंगे। राष्ट्र के किसानों तथा मजदूरों को जो खेती का कार्य कर अन्नादि प्रदान करके राष्ट्र का भरण-पोषण करते हैं उन्हें भी सम्मानित करें। प्रजाओं को रोगों से बचाकर सुखी करनेवाले, सन्तानहीन को सुसन्तान प्रदान करनेवाले उत्तम वैद्यजनों का भी सम्मान करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

दुष्टों को दण्ड दो

जनूश्चिद्वो मरुतस्त्वेष्ये॑ण भीमा॑सस्तुविम॑न्यवोऽया॑सः ।
प्र ये महो॑भिरोज॑सोत सन्ति विश्वो॑ वो याम॑न्भयते स्वर्दृक् ॥ २ ॥

पदार्थ-हे **मरुतः**=विद्वान्, वीर जनो! **ये**=जो आप लोग **त्वेष्येण**=अति तीक्ष्ण तेज, **महोभिः**=बड़े गुणों और **ओजसा**=पराक्रम से युक्त होकर **भीमासः**=भयंकर और **तुविमन्यवः**=अति क्रोधयुक्त **अयासः**=आगे बढ़नेवाले हो। **वः जनूः चित्**=आप की उत्पादक माताएँ भी **प्र सन्ति**=उत्तम कोटि की हैं। **यामन्**=अपने अपने मार्ग में चलते हुए भी **विश्वः**=सभी **स्वर्दृक्**=सुख से देखनेवाले लोग **वः भयते**=आप से अधर्म करने से भय करते हैं।

भावार्थ-राष्ट्र के रक्षक उत्तम वीरों के पराक्रम, दुष्टों के प्रति भयंकर क्रोध तथा नीतिज्ञान से दुष्ट व अत्याचारी लोग भयभीत रहते हैं। क्योंकि वे वीर, दुष्टों को कठोर दण्ड देते हैं।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मरुतः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

विद्वानों का सम्मान करो

बृहद्वयो॑ मघवद्भ्यो दधात जुजो॑षन्निन्मरुतः सुष्टुतिं नः ।
गतो नाध्वा वि ति॑राति जन्तुं प्र णः स्पार्हाभि॑रूतिभि॑स्तिरेत ॥ ३ ॥

पदार्थ-जो **मरुतः**=वीर, विद्वान् जन **मघवद्भ्यः**=ऐश्वर्यवान् लोगों के हितार्थ **बृहत् वयः**=बहुत बड़ा जीवन, अन्न और बल **दधात**=धारण करते हैं और जो **नः**=हमारी **सु-स्तुतिं**=उत्तम स्तुति को **जुजोषन् इत्**=सेवन करते हैं और जो **गतः**=प्राप्त होकर **अध्वा**=मार्ग-तुल्य **जन्तुं न वितराति**=प्राणी को नाश नहीं करते, प्रत्युत बढ़ाते हैं, वह **स्पर्हाभिः ऊतिभिः**=उत्तम उपायों से **नः प्र तिरेत**=हमें भी बढ़ावें।

भावार्थ-राष्ट्र में वीर तथा विद्वान् जनों का सम्मान होना चाहिए। ये विद्वान् लोग उत्तम शिक्षाएँ देकर सन्मार्ग दर्शन करते हैं जिससे मनुष्य लोग उत्तम जीवन धारण कर दीर्घ जीवन व उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त करते हुए जीवन को नष्ट करने से बच जाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा शत्रु का पराजयकारी हो

युष्मोतो विप्रो मरुतः शतस्वी युष्मोतो अर्वा सहुरिः सहस्री।
युष्मोतः सम्राळुत हन्ति वृत्रं प्र तद्वो अस्तु धूतयो देष्णम्॥ ४॥

पदार्थ—हे **धूतयः**=भोग-वासनाओं को कंपा कर शिथिल करनेवाले विद्वान् जनो! शत्रुओं को कंपा देनेवाले वीर पुरुषो! **युष्मा-ऊतः विप्रः**=तुम लोगों से सुरक्षित विद्वान् पुरुष जिससे **शतस्वी**=सैकड़ों धनों का स्वामी और सैकड़ों को अपना बना लेने हारा हो और जिससे **युष्मा-ऊतः अर्वा**=आप से सुरक्षित अश्वारोही वीर पुरुष **सहुरिः**=शत्रु-पराजयकारी और **सहस्री**=सहस्रों ऐश्वर्यों और पुरुषों का स्वामी, सहस्रपति होता है और जिससे **युष्मा-ऊतः सम्राड्**=आप लोगों से सुरक्षित महाराजा होकर **वृत्रम् उत हन्ति**=बढ़ते शत्रु का भी नाश करता और **वृत्रं हन्ति**=धन को प्राप्त करता है, हे विद्वानों और वीरो! **वः**=आप लोगों का **तत्**=ऐसा ही **देष्णम्**=दान हो।

भावार्थ—राजा उत्तम वीरों तथा श्रेष्ठ विद्वानों की सम्मति व सहयोग से शत्रु को पराजित करके महाराजा बने, और समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त करे। अपने राज्य में ऐसी उत्तम कठोर व्यवस्था लागू करे जिससे भोग-वासना में फँसे लोग तथा राष्ट्र द्रोही जन काँप जावें और राष्ट्र प्रतिष्ठित व सुरक्षित रहे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपराधियों को शीघ्र दण्ड दो

ताँ आ रुद्रस्य मीळ्हुषो विवासे कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः।
यत्सस्वर्ता जिहीळिरे यदाविरव सदेन ईमहे तुराणाम्॥ ५॥

पदार्थ—मैं **मीढुषः**=सुख-वर्षक, **रुद्रस्य**=दुष्टों को रुलानेवाले वीर के अधीन **तान्**=उन वीर जनों को **आ विवासे**=आदर से राष्ट्र में बसाऊँ। वे **मरुतः**=शत्रुहन्ता **नः**=हमें **पुनः**=बार-बार **नसन्ते**=प्राप्त हों। **यत्**=जिस कारण **सस्वर्ता**=उपतापजनक शब्द से, या अप्रकट रूप से **यद् आविः**=वा जिस कारण प्रकट रूप से, वे **जिहीडिरे**=क्रोधित हों, **तुराणाम्**=शीघ्रकारी वा अपराधियों के दण्डकर्त्ता जनों के **तद् एनं**=उस क्रोध को हम **अव ईमहे**=दूर करें।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ऐसे रक्षक वीरों को नियुक्त करे जो दुष्टों व अपराधियों को कठोर दण्ड देकर देश द्रोहियों को नष्ट कर सकें। ऐसे राष्ट्र रक्षक वीरों को राजा सीमाओं पर बसाए तथा उनका आदर सत्कार करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्वेष भावों को दूर करो

प्र सा वाचि सुष्टुतिर्मघोनामिदं सूक्तं मरुतो जुषन्त।
आराच्चिद् द्वेषो वृषणो युयोत यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ६॥

पदार्थ—**मघोनां**=आदर-योग्य धन, ऐश्वर्य के स्वामी जनों की **सा सु-स्तुतिः**=वह उत्तम स्तुति **प्र-वाचि**=अच्छी प्रकार कही जाती है। हे **मरुतः**=विद्वान् पुरुषो! आप **इदं**=इस प्रकार के **सूक्तम्**=उत्तम वचन **जुषन्त**=सेवन करें। हे **मरुतः**=बलवान् पुरुषो! आप लोग **द्वेषः**=द्वेषी शत्रुओं और द्वेष भावों को भी **आरात् चित् युयोत**=दूर ही करो और **स्वस्तिभिः**=सुखकारी साधनों

से **सदा नः यूयं पात**=सदा हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—विद्वान् पुरुष राष्ट्र जनों को ऐसे उत्तम उपदेश करें जिनसे लोगों का परस्पर द्वेषभाव दूर हो तथा वे परस्पर प्रेम से मिलकर राष्ट्रोन्नति में सहयोगी बनें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और मरुत, मृत्युञ्जय रुद्र देवता हैं।

[५९] एकोनषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सन्मार्ग पर चलो

यं त्रायध्व इदमिदं देवासो यं च नयथ।
तस्मा अग्ने वरुण मित्रार्यमन्मरुतः शर्म यच्छत ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **देवासः**=विद्वान् जनो! आप **यं त्रायध्वे**=जिसकी रक्षा करते हो और **यं च**=जिसको **इदम् इदम्**=यह सन्मार्ग है, यह सत् कृत्य है, ऐसा बतलाकर **नयथ च**=सन्मार्ग और सत्कर्म में ले जाते हो, हे **अग्ने**=विद्वन्! हे **वरुण**=श्रेष्ठ पुरुष! हे **मित्र**=स्नेहवन्! हे **अर्यमन्**=दुष्टों के नियन्तः! हे **मरुतः**=विद्वान् प्रजाजनो! आप उसको अवश्य **शर्म यच्छत**=शान्ति प्रदान करो।

भावार्थ—श्रेष्ठ विद्वान् प्रजाजनों को बुराइयों व दोषों से बचाकर उन्हें सत्कर्म व सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करते हैं। इससे उन लोगों को अवश्य ही शान्ति प्राप्त होगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सत्संगी बनो

युष्माकं देवा अवसाहनि प्रिय ईजानस्तरति द्विषः।
प्र स क्षयं तिरते वि महीरिषो यो वो वराय दाशति ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **देवाः**=विद्वान् जनो! **प्रिये अहनि**=किसी उत्तम दिन **ईजानः**=आप का सत्संग करता हुआ पुरुष **वः**=आप को **वराय**=स्वीकार करने के लिये **महीः इषः दाशति**=उत्तम-उत्तम इच्छाएँ प्रकट करता और अन्नादि समृद्धियों को देता है, वह **युष्माकं अवसा**=आपके ज्ञान और बल से **द्विषः**=शत्रुओं को **तरति**=पार कर जाता है। **सः**=वह **क्षयं**=ऐश्वर्य को **प्र तिरते**=खूब बढ़ा लेता है।

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वे श्रेष्ठ विद्वानों की संगति करें। अपने अन्दर उत्पन्न होनेवाली इच्छाओं की पूर्ति करने की विधि पूछें। इससे ज्ञान और बलों को बढ़ाकर अपने आन्तरिक व बाहरी शत्रुओं का नाश करें तथा अन्न और ऐश्वर्य की खूब वृद्धि करके सुखी हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शुभ संकल्पवाले बनो

नहि वश्चरमं चन वसिष्ठः परिमंसते।
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबत कामिनः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे **मरुतः**=विद्वान् पुरुषो! आप **कामिनः**=उत्तम संकल्प और इच्छा से युक्त होकर **विश्वे**=सब **सचा**=साथ मिलकर **अस्माकं सुते**=हमारे ऐश्वर्य के बल पर **पिबत**=ऐश्वर्य का उपभोग करो। **वः चरमं चन**=आप में से अन्तिम को भी **वसिष्ठः**=श्रेष्ठ वसु राजा **न परिमंसते**=त्याज्य नहीं समझता।

भावार्थ–जो विद्वान् उत्तम संकल्प व दृढ़ इच्छाशक्तिवाला होकर पुरुषार्थ पूर्वक विद्या को प्राप्त करके पूर्ण योग्यता प्राप्त करता है राजा लोग उसे उच्च पद पर नियुक्त करके कभी भी उसको त्याज्य नहीं समझते।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

सेना प्रजा की रक्षा करनेवाली हो

नहि व ऊतिः पृतनासु मर्धति यस्मा अराध्वं नरः।
अभि व आवर्त्सुमतिर्नवीयसी तूयं यात पिपीषवः ॥ ४ ॥

पदार्थ–हे **नरः**=मनुष्यो! आप **यस्मै अराध्वम्**=जिसको सुखादि देते हो **वः ऊतिः**=आपकी रक्षाकारिणी सेना **पृतनासु**=संग्रामों में **नहि मर्धति**=उसका नाश नहीं करती। उसे **वः नवीयसी सुमतिः**=आप की सुमति **अभि आवत्**=प्राप्त हो। आप **पिपीषवः**=प्रजा–पालन की इच्छा से **तूयं**=शीघ्र **यात**=प्रयाण करो और **आयात**=आओ।

भावार्थ–सेना प्रजाओं की रक्षा के लिए राष्ट्र की सीमाओं तथा बस्तियों में जागरूक रहकर चक्कर लगावे। संग्रामों में भी प्रजाजनों की हानि न होने देकर प्रजा के हितैषियों की भी रक्षा करती है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धारः** ॥

विद्वानों का सत्कार

ओ षु घृष्विराधसो यातनान्धांसि पीतये।
इमा वो हव्या मरुतो ररे हि कं मो ष्व१न्यत्र गन्तन ॥ ५ ॥

पदार्थ–**ओ**=हे **मरुतः**=विद्वान् पुरुषो! हे **घृष्विराधसः**=एक दूसरे से बढ़नेवाले आप **पीतये**=उपभोग के लिये **अन्धांसि**=अन्नों को **सु यातन**=सुख से प्राप्त करो। मैं **इमा**=ये **हव्या**=खाने और लेने–देने योग्य द्रव्यादि **ररे**=देता हूँ। **हि कं**=आप लोग **अन्यत्र**=अन्य स्थान में **मो सु गन्तन**=मत जाइये। मेरे राष्ट्र में रहिये।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि वह अपने राज्य में विद्वानों को आजीविका के समस्त साधन उपलब्ध करावे। उनको यथोचित सम्मान प्रदान करे जिससे वे विद्वान् इस राजा के राष्ट्र को छोड़कर अन्य देशों में न जावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

राष्ट्र रक्षक बनो

आ च नो बर्हिः सदताविता च नः स्पार्हाणि दातवे वसु।
अस्रेधन्तो मरुतः सोम्ये मधौ स्वाहेह मादयाध्वै ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **मरुतः**=विद्वान्, प्रजाजनो! **नः बर्हिः आसदत च**=आप हमारे वृद्धियुक्त गृह आदि को प्राप्त होओ **नः**=हमें **स्पार्हाणि**=चाहने योग्य, **वसु**=धनों को **दातवे**=देने के लिये **अविता च**=प्राप्त हों। आप **अस्रेधन्तः**=प्रजा का नाश न करते हुए, **सोम्ये मधौ**=सोम आदि ओषधिरस से युक्त मधु समान विद्वानों के योग्य आनन्ददायक इस राष्ट्र में और अन्नादि के ऊपर **इह**=इस गृहादि में **स्वाहा**=उत्तम सत्कार, सुखपूर्वक अभ्यवहार द्वारा **मादयाध्वै**=आनन्द लाभ करिये।

भावार्थ–प्रजाजन अपने घरों में विद्वान् लोगों को बुलाकर उनका सम्मान करके उनसे मार्गदर्शन लिया करें जिससे अपने स्वास्थ्य को ठीक रखते हुए पुरुषार्थ पूर्वक अन्न-धन कमाकर समृद्ध होवें तथा अपनी सन्तानों को संस्कार प्रदान कर आनन्द प्राप्त करें तथा राष्ट्र को उन्नत बनावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

नायक रणकुशल हो

सस्वश्चिद्धि तन्वः शुम्भमाना आ हंसासो नीलपृष्ठा अपप्तन्।
विश्वं शर्धो अभितो मा नि षेद नरो न रण्वाः सवने मदन्तः ॥ ७ ॥

पदार्थ–**सस्वः**=गुप्त भाव से विद्यमान, इन्द्रिय और अन्तःकरण को सुरक्षित और आकारचेष्टादि गुप्त रखनेवाले, **तन्वः शुम्भमानाः**=देहों, आत्माओं को गुणों और आभरणों से अलंकृत करनेवाले **नीलपृष्ठाः**=श्यामवर्ण की पीठवाले **हंसासः चित्**=हंसों के समान **नीलपृष्ठाः**=नील, श्याम वर्ण की या सुन्दर पोशाकोंवाले **हंसासः**=हंसवत् विवेकी, ध्येय तक पहुँचने हारे, **अपप्तन्**=आवें। वे **रण्वाः नरः न**=रणकुशल नायकों के समान **सवने**=ऐश्वर्यमय राष्ट्र में **मदन्तः**=आनन्दपूर्वक रहते हुए **अभितः**=सब ओर **विश्वशर्धः**=समस्त बल को **मा अभितः**=मेरे चारों ओर **नि षद**=बनाये रक्खो।

भावार्थ–राजा अपने राज्य की रक्षा तथा शत्रु पर विजय पाने के उद्देश्य से ऐसे कुशल गुप्तचरों को नियुक्त करे जो अपने अन्दर के भावों को छुपाकर, वेश बदलकर तथा अपनी चेष्टाओं को गुप्त रखते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हों। इनसे सूचना पाकर कुशल सेनानायक राष्ट्र में सब ओर शान्ति व्यवस्था बनाकर राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाता हुआ राष्ट्र की पूर्ण रक्षा करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

दुष्टों को कठोर दण्ड दो

यो नो मरुतो अभि दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।
द्रुहः पाशान्प्रति स मुचीष्ट तपिष्ठेन हन्मना हन्तना तम् ॥ ८ ॥

पदार्थ–हे **मरुतः**=विद्वानों और वीर जनो! **यः**=जो **नः**=हमारे बीच **दुर्हृणायुः**=दुःखदायी, दुष्ट-हृदय का पुरुष, हमारे **चित्तानि**=अन्तःकरणों को **तिरः**=तिरस्कारपूर्वक **अभि जिघांसति**=चोट पहुँचाना चाहता है **सः**=वह **द्रुहः पाशान्**=द्रोही के योग्य फाँसों या बन्धनों को **प्रति मुचीष्ट**=त्याग दे और **तम्**=उसको **तपिष्ठेन हन्मना**=अति तापदायक हथियार से **हन्तन**=दण्डित करो।

भावार्थ–जो दुष्ट लोग प्रजाजनों को कष्ट पहुँचाकर उनके हृदय को अशान्त करते हैं। राजनियमों का तिरस्कार करके राष्ट्र में अशान्ति तथा अव्यवस्था फैलाते हैं राजा ऐसे दुष्टों को कठोर दण्ड देवे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

उत्तम व्रती बनो

सान्तपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। युष्माकोती रिशादसः ॥ ९ ॥

पदार्थ–हे **मरुतः**=उत्तम मनुष्यो! हे **सान्तपनाः**=तपस्वी जनो! आप **इदं हविः**=यह उत्तम अन्न **जुजुष्टन**=सेवन करो। हे **रिशादसः**=हिंसकों के नाशक जनो! **युष्माक-ऊती**=तुम लोगों की रक्षा से ही हम लोग अन्नादि लाभ करें।

भावार्थ—राष्ट्र में उत्तम तपस्वी जनों की रक्षा तथा उनके पालन आदि की व्यवस्था उत्तम प्रकार से होवे। इससे प्रजा जनों को उत्तम आदर्श प्राप्त होता है जिससे वे भी तपस्वी होकर उत्तम व्रतों को धारण करके राष्ट्र को समृद्ध बनाने में सहायक होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गृहस्थी यज्ञशील हों

गृहमेधास आ गत मरुतो माप भूतन। युष्माकोती सुदानवः ॥ १० ॥

पदार्थ—हे **गृहमेधासः**=गृह में यज्ञ करने हारे गृहस्थ जनो! हे **मरुतः**=मनुष्यो! आप लोग **आ गत**=आइये। **मा अपभूतन**=हमसे दूर मत होइये। हे **सुदानवः**=उत्तम दानशील पुरुषो! **युष्माक-ऊती**=आप लोगों की रक्षा और सत्कार से ही हम प्रसन्न हों।

भावार्थ—गृहस्थी लोगों को चाहिये कि वे अपने घरों में नित्य यज्ञ करें तथा विद्वानों को बुलाकर उन्हें दान व दक्षिणा से तृप्त करें। उन विद्वानों से सन्मार्ग प्राप्त करके उत्तम सुख का उपभोग करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

क्रान्तदर्शी जनों की नियुक्ति

इहेह वः स्वतवसः कवयः सूर्यत्वचः। यज्ञं मरुत आ वृणे ॥ ११ ॥

पदार्थ—हे **स्वतवसः**=स्वयं शरीर, आत्मा से बलशाली पुरुषो! हे **कवयः**=क्रान्तदर्शी जनो! हे **सूर्य-त्वचः**=सूर्य-तुल्य देह-कान्तिवाले पुरुषो! हे **मरुतः**=विद्वानो! मैं **नः**=आप को **इह-इह**=इस-इस पद के निमित्त **आवृणे**=वरण करता हूँ। आप लोग **यज्ञं**=यज्ञ को **आ गत**=प्राप्त हों और **मा अप भूतन**=हमसे दूर न होवें।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह स्वस्थ व बलिष्ठ शरीरवाले तेजस्वी पुरुषों की नियुक्ति सेना में, क्रान्तदर्शी विद्वानों की नियुक्ति प्रशासनिक पदों तथा विज्ञान वेत्ताओं की नियुक्ति यज्ञ=शोध कार्यों में विभिन्न पदों पर करके राष्ट्र को सुदृढ़ एवं समृद्ध बनावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

खरबूजे के समान बन्धन से छूटो

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ १२ ॥

पदार्थ—**त्र्यम्बकं**=तीनों शब्दमय वेदों के उपदेष्टा वा तीनों लोकों, तीनों वेदों, तीनों वर्णों के उपदेष्टा, रक्षक, द्विपात, चतुष्पात् और सरीसृप तीनों के माता के समान पालक, **सु-गन्धिं**=उत्तम गन्ध से युक्त, उत्तम कुलोत्पन्न, सत्कर्मा, **पुष्टिवर्धनम्**=समृद्धि बढ़ानेवाले पूज्य पुरुष वा प्रभु की हम **यजामहे**=उपासना पूजा करते हैं। मैं **मृत्योः**=मृत्यु के **बन्धनात्**=बन्धन से **उर्वारुकम् इव**=खरबूजे के फल के समान **मुक्षीय**=मुक्त होऊँ और **अमृतात्**=अमृतमय मोक्ष से **मा मुक्षीय**=पृथक् न होऊँ।

भावार्थ—सत्कर्म करनेवाले वेदों के उपदेष्टा विद्वानों की सुसंगति से उपदेश प्राप्त कर मनुष्य लोग अज्ञान व दुष्कर्मों से छूटकर ज्ञानी बनें तथा सांसारिक सुखों का उपभोग करें और अन्त में परमात्मा के अमृतमय मोक्ष के आनन्द को प्राप्त करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता सूर्य तथा मित्रावरुण है।

अथ पञ्चमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः

[६०] षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्य के समान तेजस्वी बनो

यद॒द्य सू॑र्य॒ ब्रवोऽना॑गा उ॒द्यन्मि॒त्राय॒ वरु॑णाय स॒त्यम्।
व॒यं दे॑व॒त्रादि॑ते स्याम॒ तव॑ प्रि॒यासो॑ अर्यमन् गृ॒णन्तः॑ ॥ १ ॥

पदार्थ—हे सूर्य-समान तेजस्विन्! हे **अदिते**=अविनाशिन्! हे **अर्यमन्**=न्यायकारिन्! तू **अनागाः**=अपराधों से रहित होकर **मित्राय**=स्नेहवान् और **वरुणाय**=श्रेष्ठ जन के प्रति **अद्य**=आज के समान सदा ही **उत् यन्**=उत्तम पद को प्राप्त होता हुआ **सत्यं ब्रवः**=सत्योपदेश करता है, **देवत्रा**=विद्वान् मनुष्यों में **वयं**=हम लोग **तव**=तेरे ही दिये **सत्यं**=सत्य ज्ञान का **गृणन्तः**=उपदेश करते हुए **तव प्रियासः स्याम**=तेरे प्रिय होकर रहें।

भावार्थ—मनुष्य लोग विद्वान् जनों के द्वारा परमेश्वर के दिव्य ज्ञान वेद का उपदेश सुनें तथा स्वयं को पाप व अपराध से रहित करके श्रेष्ठ जनों के समान सबके प्रिय होकर अविनाशी न्यायकारी परमेश्वर की उपासना करें। इससे स्वयं को सूर्य के समान तेजस्वी बनाकर सत्य ज्ञान का प्रचार व उपदेश किया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परस्पर प्रेम से रहो

ए॒ष स्य मि॑त्रावरुणा नृ॒चक्षा॑ उ॒भे उदे॑ति॒ सूर्यो॑ अ॒भि ज्मन्।
विश्व॑स्य स्था॒तुर्जग॑तश्च गो॒पा ऋ॒जु मर्ते॑षु वृजि॒ना च॒ पश्य॑न् ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **मित्रा वरुणा**=स्नेही और एक दूसरे को वरण करनेवाले स्त्री-पुरुषो! **ज्मन् सूर्यः**=अन्तरिक्ष में सूर्य के समान **एषः स्यः**=वह यह, तेजस्वी **नृ-चक्षाः**=सब मनुष्यों का द्रष्टा, **विश्वस्य**=समस्त **स्थातुः जगतः च**=स्थावर और जंगम का **गोपाः**=रक्षक **मर्तेषु**=मनुष्यों में **ऋजु**=सरल धार्मिक कार्यों और **वृजिना**=पापों को **पश्यन्**=न्यायपूर्वक देखता हुआ **उभे अभि**=स्त्री और पुरुष, वादी और प्रतिवादी दोनों के प्रति **उद् एति**=उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ—स्त्री और पुरुषों को चाहिए कि वे परस्पर प्रेम से रहें तथा समस्त जड़ और चेतन सृष्टि की रक्षा करें। धार्मिक भाव अर्थात् कर्त्तव्य पालन करते हुए झगड़नेवाले स्त्री-पुरुषों को भी प्रेमपूर्वक समझाकर न्याय करें तथा सुपथगामी बनावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्र के अमात्य श्रेष्ठ पुरुष हों

अयु॑क्त स॒प्त ह॒रितः॑ स॒धस्था॒द्या ईं॒ वह॑न्ति॒ सूर्यं॑ घृ॒ताचीः॑।
धामा॑नि मित्रावरुणा यु॒वाकुः॒ सं यो यू॒थेव॒ जनि॑मानि॒ चष्टे॑ ॥ ३ ॥

पदार्थ—**सधस्थात्**=अन्तरिक्ष में जैसे सूर्य **सप्त हरितः**=सातों जलाहरण करनेवाली किरणों को **अयुक्त**=नियुक्त करता है और जैसे **घृताचीः हरितः**=जल से युक्त किरणें वा रात्रियां वा

दिशाएँ **ईं वहन्ति**=उस सूर्य को धारण करती हैं वैसे वह राजा **सप्त हरितः**=राष्ट्र के सात प्रकार के राज-काज चलानेवाले अमात्यों का **सधस्थात्**=साथ बैठने के सभास्थान से आसन करता हुआ, **अयुक्त**=उचित कार्यों में नियुक्त करे **याः**=जो **घृताचीः**=तेज और स्नेह युक्त होकर **सूर्यं वहन्ति**=सूर्यवत् तेजस्वी पुरुष को धारण करते हैं। **यः**=जो राजा **युवाकुः**=तुम दोनों की शुभ-कामना करता हुआ, हे **मित्रावरुणौ**=प्राण, उदान के समान राष्ट्र के आधार-रूप स्त्री-पुरुषो! **यूथा इव**=गौओं के यूथों को ग्वाले के तुल्य समस्त **धामानि**=स्थानों और पदों तथा **जनिमानि**=सब प्राणियों और कार्यों को भी **सं चष्टे**=अच्छी प्रकार देखता है।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह राष्ट्र के सात प्रकार के राज-कार्यों को चलाने के लिए शान्त, तेजस्वी तथा कुशल विद्वान् पुरुषों की सभा का निर्माण करे। उन्हें उचित पदों पर योग्यतानुसार नियुक्त करे। राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों, गौओं के समूह तथा गोपालकों=किसानों की भूमि, घर व अन्य लोगों के विभिन्न कार्यों की रक्षा व ऐश्वर्य की वृद्धि करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा न्यायकारी हो

उद्वां पृक्षासो मधुमन्तो अस्थुरा सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः।
यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे स्त्री-पुरुषो! **वाम्**=आप लोगों के लाभार्थ ही **मधुमन्तः पृक्षासः उत् अस्थुः**=जल-युक्त मेघ ऊपर उठते हैं, वैसे ही **मधुमन्तः पृक्षासः उत् अस्थुः**=मधुर गुणयुक्त अन्न भूमि पर उत्पन्न होते हैं। सूर्य जैसे **शुक्रम् अर्णः अरुहत्**=शुद्ध जल को ऊपर उठाता है वैसे ही सूर्यवत् तेजस्वी राजा शुद्ध धन वा प्राप्तव्य पद को प्राप्त करे। **यस्मै**=जिसके हितार्थ **आदित्याः**=१२ मासों तक के सदृश नाना रूप से सर्वोपकारक तेजस्वी १२ सचिव **अध्वनः**=राज-कार्यों के मार्ग **रदन्ति**=बनाते हैं, वही **स-जोषाः**=समान रूप से सबको प्रिय, **मित्रः**=सर्वस्नेही, **अर्यमा**=न्यायकारी, **वरुणः**=सबके वरने योग्य हो।

भावार्थ—उत्तम राजा को योग्य है कि वह अपने राष्ट्र के स्त्री व पुरुषों को उनकी योग्यता के अनुसार पद व धन प्रदान करे। सदैव प्रजाहित का चिन्तन करते हुए उपकारी भाववाले मनुष्यों को सचिव नियुक्त करे जो राजकार्य को उत्तम रीति से चलाते हुए प्रजाजनों के प्रिय होकर सबके साथ न्याय करें तथा स्वयं सम्मान पाकर राजा को भी प्रतिष्ठित करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा विवेकी हो

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ॥ ५ ॥

पदार्थ—**इमे**=ये विद्वान्, **मित्रः**=सर्वस्नेही, **अर्यमा**=न्यायकारी और **वरुणः**=सर्वश्रेष्ठ राजा ये सब **भूरेः**=बहुत बड़े **अनृतस्य**=असत्य को भी **चेतारः**=विवेक द्वारा छानबीन करनेवाले **हि सन्ति**=अवश्य हों। **दुरोणे**=गृह में पुत्र जैसे धन की वृद्धि करते हैं वैसे **दुरोणे**=दुष्प्राप्य पद पर स्थित होकर, वा **इह**=इस राष्ट्र में भी **अदितेः**=सूर्यवत् तेजस्वी राजा के अधीन उसके **पुत्राः**=पुत्रों के समान आज्ञाकारी **शग्मासः**=सुखकारक और **अदब्धाः**=शत्रुओं से पीड़ित न होनेवाले होकर **ऋतस्य वावृधुः**=न्याय और धन की वृद्धि करें।

भावार्थ–राजा अपने विद्वान् मन्त्रियों के साथ मिलकर बड़े असत्य=भ्रष्टाचार का भी विवेक पूर्वक मन्थन अवश्य करे जिससे राजा तेजस्वी होकर भ्रष्टाचार को समाप्त करके राष्ट्र में धन की वृद्धि एवं राजनियमों का पालन कराते हुए दुष्टों व शत्रुओं को दण्डित करके न्याय का शासन स्थापित कर सके।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्रतापी पुरुष ही राष्ट्र नायक हों

इमे मित्रो वरुणो दूळभासोऽचेतसं चिच्चितयन्ति दक्षैः।
अपि क्रतुं सुचेतसं वतन्तस्तिरश्चिदंहः सुपथा नयन्ति ॥ ६ ॥

पदार्थ–**इमे**=ये **मित्रः**=सर्वस्नेही, **वरुणः**=राजा और **दूडभासः**=दूर-दूर तक चमकनेवाले पुरुष **दक्षैः**=अपने कर्मों और ज्ञानों से **अचेतसं चित्**=ज्ञान-रहित को भी **चितयन्ति**=ज्ञानवान् करते हैं। **अपि**=और **स-चेतसं**=उत्तम ज्ञानवाली **क्रतुं**=बुद्धि वा कर्म का **वतन्तः**=सेवन करते हुए **सु-पथा**=उत्तम मार्ग से **अंहः तिरः चित्**=पाप को दूर करते और अन्यों को सन्मार्ग से **नयन्ति**=ले जाते हैं।

भावार्थ–राजा सर्वप्रिय तथा तेजस्वी हो जो अपने तेजस्वी कर्मों तथा ज्ञान के द्वारा आदर्श स्थापित करके राष्ट्र की प्रजा को भी उत्तम मार्ग पर चलाकर ज्ञानी तथा कर्मनिष्ठ बना सके और उसकी प्रजा पाप कर्मों से दूर रहकर सन्मार्गगामी बने।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सदा सावधान रहो

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति।
प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ॥ ७ ॥

पदार्थ–**इमे**=ये **दिवः पृथिव्याः**=आकाश और भूमि के समस्त पदार्थों के **चिकित्वांसः**=ज्ञाता, विद्वान् **अनिमिषाः**=कभी आँखें न झपकते हुए, सदा सचेत होकर **अचेतसम्**=अज्ञानी पुरुष को भी **प्र-व्राजे चित्**=उत्तम गन्तव्य मार्ग में **नयन्ति**=ले जाते हैं। **प्र-व्राजे**=मार्ग में भी जैसे **नद्यः गाधम्**=नदी का गहरा जल **अस्ति**=होता है, वे विद्वान् **अद्य**=इस **विष्पितस्य**=दूर-दूर तक विस्तृत विघ्न-रूप अथाह जल से भी **नः पारं पर्षन्**=हमें पार करें।

भावार्थ–राजसभा में नियुक्त विद्वान् पुरुष सदैव सावधान रहें। वे भूमि तथा आकाशमार्ग से आनेवाली विपत्तियों पर जागरूक रहकर दृष्टि रखें। आनेवाली विपत्तियों की यथा समय लोगों को जानकारी देकर मार्गदर्शन करें तथा उन विघ्नों से बचने की रीति भी सुझावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वानों का आदर करो

यद्गोपावददितिः शर्म भद्रं मित्रो यच्छन्ति वरुणः सुदासे।
तस्मिन्ना तोकं तनयं दधाना मा कर्म देवहेळनं तुरासः ॥ ८ ॥

पदार्थ–**यत्**=जो **अदितिः**=विद्वान्, माता-पिता के तुल्य शासक राजा, **मित्रः**=स्नेही, **वरुणः**=सर्वोपरि उत्तम पुरुष हैं वे सब **सुदासे**=उत्तम करादि के दाता के हितार्थ वा वृत्ति आदि देनेवाले राजा के लिये **भद्रं**=सुख **यच्छन्ति**=देते हैं। **तस्मिन्**=उसके अधीन हम अपने **तोकं तनयं आ**

दधानाः=पुत्र-पौत्रादि का पालन करते हुए **तुरासः**=शीघ्रकारी होकर **देवहेडनं**=विद्वानों का अनादर **मा कर्म**=न करें।

भावार्थ-राष्ट्र की प्रजा राजा को राष्ट्र की समृद्धि के लिए अपनी आय का निश्चित अंश कर के रूप में दान करे, जिससे राजा अपने अधिकारियों व कर्मचारियों को वेतन आदि समय पर दे सके। प्रजाहित के लिए कल्याणकारी कार्य कर सके। विद्वानों का उचित सम्मान भी राजा तथा प्रजा दोनों सदैव करते रहें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः-**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

दुष्टों से दूर रहो

अव वेदिं होत्राभिर्यजेत रिपः काश्चिद्वरुणध्रुतः सः।
परि द्वेषोभिरर्यमा वृणक्तूरुं सुदासे वृषणा उ लोकम्॥ ९ ॥

पदार्थ-जो व्यक्ति **होत्राभिः**=उत्तम वाणियों से **वेदिम्**=सब सुखों को प्राप्त करानेवाली यज्ञ वेदी और भूमि को **अवयजेत**=प्राप्त नहीं करता, **सः**=वह **वरुण-ध्रुतः**=श्रेष्ठ जनों से दण्डित होकर **कः चित् रिषः अव यजेत**=कई प्रकार के कष्ट प्राप्त करता है। **अर्यमा**=न्यायकारी, हे **वृषणाः**=बलवान् स्त्री-पुरुषो! **द्वेषोभिः परि वृणक्तु**=द्वेषकारी से हमें दूर रक्खे और **सुदासे**=उत्तम दानशील पुरुष को **उरुं लोकं**=विशाल स्थान प्रदान करे।

भावार्थ-जो व्यक्ति वेदवाणी तथा यज्ञवेदी से दूर रहता है, जो दुष्ट अपने दुष्कर्मों के कारण दण्डभागी होता है ऐसे लोगों से सभी स्त्री-पुरुष अपनी सन्तानों को दूर रखें जिससे उनमें बुरे संस्कार या दुर्व्यसन न आने पावें। सन्तानों को संस्कारित करने के लिए उत्तम विद्वानों को अपने घरों में बुलाया करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः-**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

शत्रुओं को पराजित करो

सस्वश्चिद्धि समृतिस्त्वेष्येषामपीच्येन सहसा सहन्ते।
युष्मद्भिया वृषणो रेजमाना दक्षस्य चिन्महिना मृळता नः॥ १० ॥

पदार्थ-**एषां**=इन उक्त बलवान् प्रधान पुरुषों की **सम् ऋतिः**=एक साथ संगति **सस्वः चित्**=गुप्त और **त्वेषी**=तेजस्विनी हो। वे लोग **अपीच्येन**=सुगुप्त, दृढ़ **सहसा**=बल से **सहन्ते**=शत्रु पराजय में समर्थ होते हैं। हे **वृषणः**=बलवान् पुरुषो! **युष्मद्भिया**=आप के भय से **रेजमानाः**=शत्रु काँपते हों और **दक्षस्य महिना चित्**=बल के सामर्थ्य से आप लोग **नः मृडत**=हमें सुखी करें।

भावार्थ-राजा अपने मन्त्रिमण्डल व सेनापति के साथ अत्यन्त गोपनीयता से गुप्त बैठक में विचार-विमर्श करके शत्रु को पराजित करने की सुदृढ़ योजना तैयार करे जिससे शत्रु कम्पित व भयभीत होकर राष्ट्र पर आक्रमण करने की सोच भी न सके।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

ज्ञान दाता बनो

यो ब्रह्मणे सुमतिमायजाते वाजस्य सातौ परमस्य रायः।
सीक्षन्त मन्युं मघवानो अर्य उरु क्षयाय चक्रिरे सुधातु॥ ११ ॥

पदार्थ-**यः**=जो मनुष्य **ब्रह्मणे**=ब्रह्मवेत्ता पुरुष के हितार्थ, वा ज्ञान, धन के प्राप्त्यर्थ

सुमतिम्=कल्याणकारी ज्ञान और बुद्धि **आ यजाते**=प्राप्त करता है और जो **वाजस्य**=बल, ज्ञान और **परमस्य रायः सातौ**=सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य लाभ के लिये **सुमतिम् आ यजाते**=ज्ञानवान् पुरुष का सत्संग करता है **मघवानः अर्यः**=पूज्य ज्ञान, धनादि-सम्पन्न पुरुष उसको **मन्यु सीक्षन्त**=ज्ञान प्रदान करते और **क्षयाय**=रहने और उसकी ऐश्वर्य के लिये **उरु**=बहुत **सु-धातु**=उत्तम भरण-पोषण, उत्तम गृह, आभूषण आदि **चक्रिरे**=देते हैं।

भावार्थ-ब्रह्मवेत्ता विद्वान् पुरुष अपने निकट आनेवाले मनुष्यों को ज्ञान प्रदान करके उन्हें धन एवं बल प्राप्ति के योग्य पात्र बना देता है। वे सत्संगी मनुष्य उस ज्ञान प्राप्ति के बदले उन विद्वानों का उत्तम भोजन, निवास तथा आभूषण एवं उत्तम वाणी से सत्कार करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

कष्टों को दूर करें

इ॒यं दे॑व पु॒रोहि॑तिर्यु॒वभ्यां॑ य॒ज्ञेषु॑ मित्रावरुणावकारि।
विश्वा॑नि दु॒र्गा पि॑पृतं ति॒रो नो॑ यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ १२ ॥

पदार्थ-हे **मित्रा वरुणौ**=स्नेहयुक्त, श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषो! हे **देव**=विद्वानो! **यज्ञेषु**=सत्संगों, यज्ञों में, **इयं**=यह **युवभ्यां**=आप दोनों के लिये **पुरः-हितः अकारि**=आदर पूर्वक उत्तम भेंट की जाती है। आप **विश्वानि**=समस्त **दुर्गा**=कष्टों को **तिरः**=दूर करके हमें **पिपृतं**=पालन करो और **यूयं**=आप लोग **नः स्वस्तिभिः सदा पात**=हमारी उत्तम साधनों से सदा रक्षा करो।

भावार्थ-मनुष्य लोग यज्ञों एवं सत्संगों में सदाचारी विद्वान् स्त्री-पुरुषों का संग करके सन्मार्गदर्शन द्वारा अपने समस्त कष्टों को दूर करें। उन विद्वानों को आदरपूर्वक भेंट देकर तृप्त करें। इससे लोग अपने उत्तम साधनों का सदुपयोग करके परम्पराओं की रक्षा किया करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता मित्रावरुण है।

[६१] एकषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः-**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः-**पञ्चमः** ॥

सूर्यवत् तेजस्वी विद्वान् का कर्त्तव्य

उद्वां॒ चक्षु॑र्वरुण सु॒प्रती॑कं दे॒वयो॑रेति॒ सूर्य॑स्तत॒न्वान्।
अ॒भि यो विश्वा॒ भुव॑नानि॒ चष्टे॒ स म॒न्युं मर्त्ये॒ष्वा चि॑केत ॥ १ ॥

पदार्थ-हे **वरुण**=सबसे वरणीय श्रेष्ठ स्त्री पुरुषो! **सूर्यः चक्षुः ततन्वान्**=सूर्य जैसे आँख की शक्ति को बढ़ाता है वैसे **सूर्यः**=ज्ञान-प्रकाशक ईश्वर और विद्वान् **देवयोः**=ज्ञान के इच्छुक **वां**=आप दोनों के **प्रतीकं**=ज्ञानदाता **चक्षुः**=प्रज्ञानेत्र को **ततन्वान्**=विस्तृत करता हुआ आपको **एति**=प्राप्त हो। **यः**=जो **विश्वा भुवनानि**=समस्त लोकों को **अभि चष्टे**=प्रकाशित करता, सब पदार्थों का उपदेश करता है **सः**=वह **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **मन्युम्**=मननीय ज्ञान भी **आ चिकेत**=प्रदान करता है। परमेश्वर-तुल्य विद्वान् भी मनुष्यों में ज्ञान-दान करे।

भावार्थ-जिस विद्वान् ने स्वयं को ज्ञान के द्वारा तेजस्वी बना लिया है उसका कर्त्तव्य है कि वह समस्त जिज्ञासु श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों को अपने उस ज्ञान का दान देकर कृतार्थ करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम जीवन

प्र वां स मित्रावरुणावृतावा विप्रो मन्मानि दीर्घश्रुदियर्ति ।
यस्य ब्रह्माणि सुक्रतू अवाथ आ यत्क्रत्वा न शरदः पृणैथे ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **मित्रा-वरुणा**=स्नेही और वरणीय स्त्री पुरुषो! **यस्य**=जिसके **ब्रह्माणि**=ज्ञानों और धनों की आप दोनों **सु-क्रतू**=उत्तम कर्मवान् होकर **अवाथ**=रक्षा करते हो और **यत्**=जिसके **क्रत्वा न**=कर्म और ज्ञान-सामर्थ्य से **शरदः पृणैथे**=जीवन के वर्षों को सुखपूर्वक बिताते हो **सः विप्रः**=वह विद्वान् **ऋतावा**=न्याय और सत्य से युक्त और **दीर्घ-श्रुत्**=दीर्घ काल तक वेदादि सत्य शास्त्रों का श्रोता **वां**=आप के प्रति **मन्मानि**=मननीय ज्ञानों का **इयर्त्ति**=उपदेश करे।

भावार्थ—वेदादि सत्यशास्त्रों के ज्ञाता व्याख्याता विद्वान् कर्मशील स्त्री-पुरुषों को धन की रक्षा एवं उत्तम न्याय युक्त जीवन जीने का उपदेश किया करें जिससे उनके जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होवें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा का कर्त्तव्य

प्रोरोर्मित्रावरुणा पृथिव्याः प्र दिव ऋष्वाद्बृहतः सुदानू ।
स्पशो दधाथे ओषधीषु विक्ष्वृधग्यतो अनिमिषं रक्षमाणा ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे **मित्रावरुणौ**='मित्र', प्रजा के मृत्यु आदि कष्टों से रक्षक और 'वरुण' दुःखों के दूर कर्ता दोनों वर्गो! हे **सुदानू**=उत्तम ज्ञान दाता आप दोनों **उरोः पृथिव्याः**=विशाल पृथिवी और **बृहतः**=बड़े भारी **ऋष्वात्**=महान् **दिवः**=प्रकाशयुक्त सूर्य से **स्पशः**=ग्रहण-योग्य पदार्थों को **प्र प्र दधाथे**=प्राप्त करो। **ओषधीषु**=ओषधियों और **विक्षु**=प्रजाओं में **अनिमिषं**=बिना प्रमाद के, **ऋधक्**=सत्य के बल से **रक्षमाणा**=प्रजा रक्षण करते हुए भी **यतः**=यत्नशील **स्पशः प्र दधाथे**=गुप्तचरों और अध्यक्षों को नियुक्त करो।

भावार्थ—उत्तम राजा को चाहिए कि वह अपने राज्य में कर्त्तव्यपरायण गुप्तचरों तथा प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति करे। इससे प्रजा की रक्षा होगी तथा राजा, प्रजा में लोकप्रिय हो जाएगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मित्रावरुण का सामर्थ्य

शंसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा ।
अयन्मासा अयज्वनामवीराः प्र यज्ञमन्मा वृजनं तिराते ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे मनुष्यो! **मित्रस्य**=शान्तिदायक और **वरुणस्य**=दुःखों के वारणकर्ता जन के **धाम**=तेज और स्थान की **शंस**=प्रशंसा करो। जिसके **महित्वा**=सामर्थ्य से **शुष्मः**=बलवान् पुरुष, या जिसका महान् सामर्थ्य **रोदसी बद्बधे**=आकाश-पृथिवीवत् दुष्टों को रुलानेवाली सेना और राष्ट्र-सभा दोनों को व्यवस्थित करता है। **अयज्वनाम्**=यज्ञ आदि से रहित लोगों के **मासाः**=महीनों पर महीने **अवीराः**=वीर पुत्रादि रहित, वा बिना ज्ञान-प्राप्ति के **अयन्**=व्यतीत होते हैं और **यज्ञमन्मा**=पूज्य प्रभु को मनन, आचार्य और राजादि के मान्य सत्संगादि से ज्ञान प्राप्त करनेवाला

जन **वृजनं**=अपने ज्ञान और बल को **प्र तिराते**=बढ़ाने में समर्थ होता है।

भावार्थ–बलवान् पुरुष अपने तेज व सामर्थ्य से अपनी सेना तथा राष्ट्र सभा दोनों को व्यवस्थित रखे। जो लोग यज्ञ आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्ति से वंचित रह जाते हैं उन्हें आचार्यों की सत्संगति की प्रेरणा देकर ज्ञान–बल बढ़ाने में समर्थ बनावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

उपकारी पुरुष

अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्।
द्रुहः सचन्ते अनृता जनानां न वां निण्यान्यचिते अभूवन् ॥ ५ ॥

पदार्थ–हे **अमूरा**=अमूढ़, मोह में न पड़नेवालो! हे **विश्वा**=विद्याओं में प्रवेश करने हारो! हे **वृषणौ**=सुख–वर्षक मेघ–सूर्यवत् उपकारी स्त्री–पुरुषो! **इमाः**=ये **वां**=आप की ऐसी उत्तम वाणियाँ हैं **यासु**=जिनमें **चित्रं**=अद्भुत और **यक्षम्**=स्तुति योग्य **न न ददृशे**=कुछ नहीं दिखाई देता ऐसा नहीं, प्रत्युत सर्वत्र अद्भुत और स्तुत्य पदार्थ विद्यमान हैं। **जनानां**=मनुष्यों के मध्य **द्रुहः**=द्रोही पुरुष ही **अनृता**=असत्य बातों को **सचन्ते**=सेवन करते हैं। वस्तुत **वां**=आप लोगों के **निण्यानि**=छुपे मर्म **अचिते न अभूवन्**=अज्ञानी पुरुष को नहीं प्रकट होते।

भावार्थ–उपकारी पुरुष के ज्ञानोपदेश, जिज्ञासु व परोपकारी स्त्री–पुरुषों को अच्छे लगते हैं। इन उपदेशों से श्रेष्ठ जन तो अज्ञान से छूटकर सर्वत्र विद्यमान प्रभु की अद्भुत सामर्थ्य को जान लेते हैं, किन्तु अज्ञानी पुरुष ज्ञान व ज्ञानियों के द्रोही होकर कुछ भी प्राप्त नहीं करते।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सर्वस्नेही पुरुष

समु वां यज्ञं महयं नमोभिर्हुवे वां मित्रावरुणा सबाधः।
प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **मित्रावरुणा**=सर्वस्नेही वरणीय स्त्री–पुरुषो! **स बाधः**=अज्ञानादि बाधा वा पीड़ा से युक्त होकर **वां यज्ञं**=आप के सत्संग की मैं **नमोभिः**=विनम्र वचनों से **महयम्**=स्तुति करता हूँ और **वां हुवे**=आप दोनों की स्तुति करता हूँ। **वाम्**=आप लोगों के **नवानि**=नये–से–नये **कृतानि**=सम्पादित किये **इमानि ब्रह्म**=ये नाना अन्नादि, धन और उपदिष्ट **मन्मानि**=मननीय ज्ञानादि को लोग **ऋचसे**=सेवन के लिये **जुजुषन्**=प्राप्त करें।

भावार्थ–जो ज्ञानी स्त्री–पुरुष मधुरता के साथ सबसे प्रेम करते हुए ज्ञान का उपदेश करते हैं अज्ञान से पीड़ित दुःखी लोग भी उनके सत्संग में आकर उनके उपदेशों को ग्रहण करके ज्ञानी हो जाते हैं तथा अन्न–धन आदि अपने पुरुषार्थ से प्राप्त कर सुखी होकर उन ज्ञानियों के प्रशंसक हो जाते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

कष्टों को दूर करें

इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि।
विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ–हे **मित्रा वरुणौ**=स्नेहयुक्त, श्रेष्ठ स्त्री–पुरुषो! हे **देव**=विद्वानो! **यज्ञेषु**=सत्संगों,

यज्ञों में, **इयं**=यह **युवभ्यां**=आप दोनों के लिये **पुरः-हितः अकारि**=आदर पूर्वक उत्तम भेंट की जाती है। आप **विश्वानि**=समस्त **दुर्गा**=कष्टों को **तिरः**=दूर करके हमें **पिपृतं**=पालन करो और **यूयं**=आप लोग **नः स्वस्तिभिः सदा पात**=हमारी उत्तम साधनों से सदा रक्षा करो।

भावार्थ–मनुष्य लोग यज्ञों एवं सत्संगों में सदाचारी विद्वान् स्त्री–पुरुषों का संग करके सन्मार्गदर्शन द्वारा अपने समस्त कष्टों को दूर करें। उन विद्वानों को आदरपूर्वक भेंट देकर तृप्त करें। इससे लोग अपने उत्तम साधनों का सदुपयोग करके परम्पराओं की रक्षा किया करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता सूर्य व मित्रावरुण है।

[६२] द्विषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**सूर्यः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

समदर्शी

उत्सूर्यो॑ बृहद॒र्चीष्य॑श्रेत्पु॒रु विश्वा॒ जनि॑म॒ मानु॑षाणाम्।
स॒मो दि॒वा द॑दृशे॒ रोच॑मानः॒ क्रत्वा॑ कृ॒तः सुकृ॑तः क॒र्तृभि॑र्भूत् ॥ १ ॥

पदार्थ–**बृहत् सूर्यः पुरु अर्चीषि उत् अश्रेत्**=महान् सूर्य जैसे बहुत तेजों को अपने में धारण करता है वैसे ही **सूर्यः**=तेजस्वी पुरुष **बृहत्**=महान् होकर **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के **विश्वा जनिम**=समस्त संघों को **उत् अश्रेत्**=अपने पर धारण करे, और **पुरु अर्चीषि**=बहुत सत्कारों को भी **उत् अश्रेत्**=प्राप्त करे। वह सूर्यवत् **रोचमानः**=तेजस्वी एवं सबको प्रिय लगता हुआ **दिवा**=व्यवहार आदि से **समः**=सबके प्रति समान **ददृशे**=देखे। वह **कृत्वा**=बुद्धि से **कृतः**=सम्पन्न होकर **कर्तृभिः**=कार्यकर्त्ताओं द्वारा **सु-कृतः**=उत्तम कार्यों में समर्थ **भूत्**=हो।

भावार्थ–तेजस्वी पुरुष अपने उत्तम व्यवहार व आचरण से महानता प्राप्त करता है। विभिन्न संगठनों को नेतृत्व प्रदान करके सम्मान पाता है तथा ज्ञानपूर्वक निष्पक्ष व्यवहार द्वारा अपने अनुयायियों व कार्यकर्त्ताओं को सन्तुष्ट एवं संगठित रखने में समर्थ होता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**सूर्यः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ज्ञानोदय

स सू॑र्य॒ प्रति॑ पु॒रो न॒ उद्गा॑ ए॒भिः स्तोमे॑भिरेत॒शेभि॒रेवैः॑।
प्र नो॑ मि॒त्राय॒ वरु॑णाय वो॒चोऽना॑गसो अर्य॒म्णे अ॒ग्नये॑ च ॥ २ ॥

पदार्थ–हे **सूर्य**=तेजस्विन्! जैसे **एतशेभिः एवैः स्तोमेभिः पुरः प्रति उद्गच्छति**=सूर्य शुक्ल किरण समूहों से पूर्व दिशा में प्रतिदिन उदय होता है वैसे ही राजन्! विद्वान्! तू भी **एतशेभिः**=अश्वों से **एभिः स्तोमैः**=इन स्तुत्य जन–संघों सहित वा **एतशेभिः एवैः स्तोमेभिः**=ज्ञानदायक, स्तुत्य मन्त्रसमूहों सहित **प्रति**=प्रतिदिन **नः पुरः**=हमारे समक्ष **उद् गाः**=उदय हो। और **नः**=हमारे में से **मित्राय**=स्नेहवान् **वरुणाय**=दु:खों के वारक, **अर्यम्णे**=न्यायकारी, और **अग्नये**=अग्रणी नेता जन के हित **नः**=हम **अनागसः**=निरपराध जनों को **प्र वोचः**=उपदेश कर।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि वह ऐसे उत्तम तेजस्वी विद्वानों को राज्य में नियुक्त करे जो प्रजा में उगते सूर्य के समान वेद ज्ञान का प्रकाश करे। इससे प्रजा ज्ञानी होकर सुखी होगी। साथ ही राजा उत्तम लोगों के विभिन्न संघों को भी संगठित करने में विद्वानों का सहयोग लेवे जिससे नेता लोग निरपराध जनों को अनुशासन में सहयोगी होवें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—सूर्यः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सम्पन्न प्रजा

वि नः सहस्त्रं शुरुधो रदन्त्वृतावानो वरुणो मित्रो अग्निः।
यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कमा नः कामं पूपुरन्तु स्तवानाः ॥ ३ ॥

पदार्थ—वरुणः=श्रेष्ठ जन, **मित्रः**=स्नेहवान् पुरुष, **अग्निः**=ज्ञानप्रकाशक विद्वान् ये सब **ऋतावानः**=सत्य, ज्ञान और ऐश्वर्यधारक **सहस्त्रं शुरुधः**=हजारों शोक दुःखादि के रोकनेवाली सुख-सम्पदाओं को **नः**=हमें **वि रदन्तु**=विशेषतया प्रदान करें। वे **चन्द्राः**=आह्लादकारी जन **नः**=हमें **वि रदन्तु**=विशेषतया प्रदान करें। हमें **उपमं**=उत्तम **अर्कं**=ज्ञान और अन्न **यच्छन्तु**=प्रदान करें। वे **स्तवानाः**=उपदेश करते हुए, **नः कामं**=हमारी अभिलाषा **पूपुरन्तु**=पूर्ण करें।

भावार्थ—श्रेष्ठ मधुरभाषी विद्वान् जन अपने उपदेशों द्वारा प्रजा को कर्मशील बनने की प्रेरणा करें जिससे प्रजा पुरुषार्थी होकर सत्य, ज्ञान तथा ऐश्वर्य सम्पन्न बने और अपनी समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण कर दुःखों से पार हो सके।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम संस्कारित सन्तान (माता-पिता का कर्त्तव्य)

द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नो ये वां जज्ञुः सुजनिमान ऋष्वे।
मा हेळे भूम वरुणस्य वायोर्मा मित्रस्य प्रियतमस्य नृणाम् ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे **द्यावाभूमी**=आकाश और पृथिवी के समान ज्ञान-प्रकाश और आश्रयदाता **अदिते**=माता-पिता जनो! आप दोनों **नः त्रासीथाम्**=हमारी रक्षा करो। हे **ऋष्वे**=गुणों में महान् आप दोनों **ये**=जो **सु-जनिमानः**=उत्तम जन्म प्राप्त होकर **वां**=तुम दोनों को **जज्ञुः**=पूज्य जानते हैं वे आप दोनों हमारी रक्षा करें। हम लोग **वरुणस्य हेडे मा भूम**=श्रेष्ठ पुरुष के क्रोध या अनादर के पात्र न हों। **नृणाम्**=साधारण मनुष्यों, **प्रियतमस्य मित्रस्य**=प्रियतम मित्र और **वायोः**=वायु के समान उपकारक पुरुष के भी **हेडे मा भूम**=क्रोध या अनादर में न रहें।

भावार्थ—उत्तम माता-पिता अपनी सन्तानों को उत्तम संस्कारों से युक्त करें। सन्तान ज्ञानी, गुणवान् तथा संस्कारित होगी तो उत्तम व्यवहार से श्रेष्ठ विद्वान जनों की संगति में जाने पर उनके स्नेह की भाजन बनेगी। विद्वान् तो दूर साधारण मनुष्य भी ऐसी सन्तान पर क्रोध न करके उनकी प्रशंसा ही करेंगे।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्त्री-पुरुषों का कर्त्तव्य

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन।
आ नो जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे **मित्रावरुणा**=सूर्य वा जल के समान उपकारक स्त्री-पुरुषो! आप लोग **बाहवा**=दो बाहुओं के समान **नः जीवसे**=हमारे जीवन-सुख के लिये **प्र सिसृतम्**=आगे बढ़ो **नः गव्यूतिम्**=हमारे मार्ग को **घृतेन**=जल से **आ उक्षतम्**=सींचो। **युवाना**=आप दोनों युवक **नः**=हमें **जने**=मनुष्यों **आ श्रवयतम्**=प्रसिद्ध करो। **मे इमा हवा**=मेरे ये वचन **श्रुतं**=सुनो।

भावार्थ—उत्तम स्त्री-पुरुषों को योग्य है कि वे मिलकर समाजसेवा के कार्यों में सहयोग

करें तथा लोगों को उत्तम मार्गदर्शन करके ज्ञान, कर्म एवं परस्पर प्रीतिपूर्वक व्यवहार सिखाकर राष्ट्र को उन्नत बनाने में सहयोगी हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शासक का कर्त्तव्य

नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वरिवो दधन्तु।
सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदार्थ—नु=अवश्य, शीघ्र ही **मित्रः**=स्नेहवान् और सर्वमित्र विद्वान् **वरुणः**=श्रेष्ठ पुरुष और **अर्यमा**=न्यायकारी पुरुष **नः**=हमारे **त्मने**=अपने लिये **नः तोकाय**=हमारे पुत्र के लिये भी **वरिवः**=उत्तम धन **दधन्तु**=दें जिससे **नः**=हमारे **विश्वा**=सब कार्य **सुगा**=सुगम और **सु-पथानि**=उत्तम मार्ग युक्त **सन्तु**=हों। हे विद्वान् जनो! **यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात**=आप हमारी सदा कल्याण-साधनों से रक्षा करें।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह अपने राज्य में उत्तम विद्वानों तथा निष्पक्ष पुरुषों को न्यायाधीश नियुक्त करें। जिससे प्रजा ज्ञानी होकर पुरुषार्थ पूर्वक धन कमावे तथा उत्तम न्याय प्राप्त कर राष्ट्र में सुरक्षित रहकर सुखी एवं समृद्ध होवे।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ और देवता सूर्य व मित्रावरुण ही हैं।

[६३] त्रिषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मार्गदर्शक विद्वान्

उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्।
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देवश्चर्मेव यः समविव्यक्तमांसि ॥ १ ॥

पदार्थ—जैसे **सूर्यः**=सूर्य **देवः**=प्रकाशयुक्त होकर **तमांसि चर्म इव**=अन्धकारों को चर्म के समान **सम् अविव्यक्**=एक साथ छिन्न-भिन्न करता है और **मानुषाणां साधारणः**=मनुष्यों के प्रति एक समान प्रकाशित होकर **विश्व-चक्षाः उद् एति उ**=सबको दिखाता हुआ उदित होता है और **मित्रस्य वरुणस्य चक्षुः**=मित्र, दिन और वरुण, रात्रि दोनों का प्रकाशक होता है वैसे ही **सु-भगः**=उत्तम ऐश्वर्यवान् **सूर्यः**=सूर्य-समान तेजस्वी, **मानुषाणां साधारणः**=मनुष्यों के प्रति एक समान और **विश्व-चक्षाः**=सबका मार्गदर्शी विद्वान् वा राजा भी **मित्रस्य**=अपने स्नेही और **वरुणस्य**=श्रेष्ठ पुरुष का भी **चक्षुः**=नेत्र के समान मार्गदर्शक हो। वह **देवः**=विद्वान् **तमांसि**=अज्ञान अन्धकारों को **चर्म इव सम् अविव्यक्**=चर्म के समान एक साथ छिन्न-भिन्न करे।

भावार्थ—उत्तम विद्वान् जन राष्ट्र में लोगों के अज्ञान को अपने वेद ज्ञान के प्रकाश से नष्ट करके उनका मार्गदर्शन करें। वे समानता, बन्धुत्व तथा मधुर व्यवहार सिखाकर राष्ट्र को उन्नत करने में सहायक होवें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वसंचालक विद्वान्

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान्केतुरर्णवः सूर्यस्य।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन्यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ॥ २ ॥

पदार्थ–जैसे **एतशः**=वेगवान् अश्व वा यन्त्र **धूर्षु युक्तः**=यन्त्रों के धुराओं में जुड़ा हुआ **समानं चक्रम्**=सब यन्त्राङ्गों में समान रूप से गतिदाता चक्र को **परि आववृत्सन्**=घुमाता है और जैसे **एतशः**=तेजोयुक्त सूर्य **धूर्षुयुक्तः सन्**=नाना ग्रहों के धारक केन्द्र में स्थित होकर **समानं चक्रं परि आ ववृत्सन्**=ग्रह–चक्र को समान नीति से अपने गिर्द घुमाता है और जैसे **जनानां महान् केतुः**=सब जन्तुओं का ज्ञापक, **सूर्यस्य=सूर्यः स्थः**=वह सूर्य **अर्णवः**=जल का दाता है **जनानां प्रसवीता**=सबका प्रेरक होकर **उद् एति उ**=नियम से उदय होता है वैसे ही **एतशः**=ज्ञानी पुरुष भी **धूर्षु युक्तः**=कार्य–भारों के धारण पदों पर नियुक्त होकर **वहति**=कार्य–भार को उठावे और **समानं चक्रं**=एक समान राजचक्र को भी **परि आ ववृत्सन्**=यथार्थ रीति से चलावे। **स्य सूर्य**=वह सूर्य के समान वा **अर्णवः**=समुद्र के समान तेजस्वी, गम्भीर और **जनानां**=मनुष्यों के बीच में **केतुः**=ध्वजातुल्य ऊँचा, **महान्**=गुणों में बड़ा और **केतुः**=स्वयं ज्ञानी वह **प्रसवीता**=उत्तम मार्ग में चलाने हारा पुरुष **उत् एति उ**=उत्तम पद को प्राप्त हो। वैसे ही प्रभु स्वप्रकाशक होने से 'एतश', सर्वप्रकाशक होने से 'सूर्य' है, वह समस्त ब्रह्माण्ड–कालचक्र को चलाता, सबका उत्पादक, ज्ञानवान्, महान् है। **सूर्यस्य**=सूर्यः। विभक्तिव्यत्यय इति सायणः। सूर्यः स्यः इति वा पदच्छेदः। विभक्तेर्लुक्।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि वह राजकार्य हेतु विभिन्न पदों पर ज्ञानी पुरुषों को नियुक्त कर कार्यभार सौंपे। वे ज्ञानी पुरुष राष्ट्र के समस्त कार्यभार को कर्त्तव्य परायणता के साथ निर्वहन करते हुए प्रजा तथा कर्मचारियों को ठीक मार्ग पर चलावें। विभिन्न सभाओं में तथा दूसरे राज्यों के अधिकारियों से वार्त्ता काल में अपने राष्ट्र का ध्वज ऊँचा करें। अर्थात् योग्यता पूर्वक अपने राष्ट्र की पहचान श्रेष्ठ बनावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**सूर्यः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सर्वप्रेरक ज्ञानी

विभ्राजमान उषसामुपस्थाद्रेभैरुदेत्यनुमद्यमानः।
एष मे देवः सविता चच्छन्द यः समानं न प्रमिनाति धाम॥ ३ ॥

पदार्थ–जैसे **देवः सविता**=प्रकाशमान् सूर्य, **उषसाम् उपस्थात्**=उषाओं में से **विभ्राजमानः**=विशेष चमकता हुआ, **रेभैः**=स्तुतिकर्त्ता जीवों से **अनुमद्यमानः**=स्तुत होकर **उदेति**=उदय होता है वह **समानं धाम न प्रमिनाति**=सबको प्राप्त तेज को नष्ट नहीं करता है, वैसे ही **यः**=जो महापुरुष, **समानं धाम**=अपने एक समान, अनुरूप तेज, नाम, स्थान पद को **न प्र-मिनाति**=नष्ट नहीं करता तो भी **उषसाम्**=प्रभात–वेलाओं के समान उत्तम अनुराग–युक्त प्रजाओं **रेभैः**=विद्वानों द्वारा **अनु-मद्यमानः**=स्तुति एवं उपदेश किया जाकर **उद् एति**=विद्या–प्रकाश तथा बल–दीप्ति से उदय को प्राप्त होता, उन्नत पद प्राप्त करता है, **एषः**=वह **मे**=मेरा **देवः**=ज्ञानदाता पुरुष वा ऐश्वर्यप्रद राजा **सविता**=उत्पादक पितावत् **चच्छन्द**=गृहवत् शरण दे।

भावार्थ–उत्तम ज्ञानी पुरुषों को योग्य है कि वे अपने ज्ञानोपदेश द्वारा लोगों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें। लोगों को बतावें कि प्रातः उषाकाल में जागकर ईश्वर की स्तुति करें। विद्वानों का संग कर ज्ञान एवं बल की प्राप्ति करें तथा योग्य शिक्षा पाकर उन्नत पदों को भी प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानी से प्रेरणा

दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरेअर्थस्तरणिर्भ्राजमानः।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥ ४ ॥

पदार्थ—सूर्य जैसे **दिवः रुक्म**=आकाश में सुवर्ण–आभरण तुल्य देदीप्यमान **उरु-चक्षाः**=विशाल आकाश और लोकों का प्रकाशक **तरणिः**=आकाश पार करनेवाला, **भ्राजमानः**=चमकता हुआ **दूरे-अर्थः**=दूर–दूर तक स्वयं प्रकाश फैलाता हुआ **उदेति**=उदय होता है और **जनाः**=मनुष्य, जन्तुगण **सूर्येण प्रसूताः**=सूर्य द्वारा प्रेरित होकर **अर्थानि अयन्**=पदार्थ प्राप्त करते और **अपांसि कृणवन्**=कर्म करते हैं। वैसे ही **तरणिः**=नौका–तुल्य जीवों को दुःखों से पार करनेवाला, **भ्राजमानः**=तेजस्वी, **दूरे-अर्थः**=दूर–दूर तक जानेवाला, दूर से भी धन प्राप्त करनेवाला, **उरु-चक्षाः**=बहुदर्शी पुरुष **दिवः रुक्म**=कामनावान् प्रजा के बीच सुशोभित, उनको प्रिय होता है और **जनाः**=सब जन, ऐसे **सूर्येण**=सूर्यवत् ज्ञान और तेज से युक्त पुरुष से **प्रसूताः**=प्रेरित और शिक्षित होकर **अर्थानि प्रयन्**=अपने प्राप्य पदार्थों को प्राप्त हों और **अपांसि कृण्वन्**=नाना कर्म करें।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष राष्ट्र में कर्मशील होकर अपने जीवन व्यवहार से प्रजा के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करे। जलमार्ग आदि से अन्य देशों के साथ व्यापार करके राष्ट्र में धन की वृद्धि करता है। अन्य देशों से सामान लाकर अपनी प्रजा में उन पदार्थों की कमी को पूरा करके लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इससे अन्य लोग भी प्रेरणा पाकर राष्ट्र को समृद्ध बनाने के लिए इस कार्य को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सूर्यः**, **मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सन्मार्ग में गति

यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः।
प्रति वां सूर उदिते विधेम नमोभिर्मित्रावरुणोत हव्यैः ॥ ५ ॥

पदार्थ—पूर्व आधी ऋचा का सूर्य देवता है। **दीयन् श्येनः न**=वेग से गति करता हुआ बाज पक्षी जैसे **पाथः अन्वेति**=आकाश मार्ग में शिकार के पीछे जाता है वैसे ही **श्येनः**=प्रशस्त मार्ग से जानेवाला विद्वान् पुरुष **दीयन्**=सन्मार्ग पर चलता हुआ उस **पाथः**=सन्मार्ग का **अनु एति**=अनुगमन करे, **यत्र**=जिससे जाते हुए **अमृताः**=अमर आत्मा, दीर्घायु जन **अस्मै**=इसको **गातुं चक्रुः**=ज्ञान का उपदेश करते हैं।

उत्तरार्ध ऋचा के देवता मित्र और वरुण हैं। हे **मित्रावरुणा**=श्रेष्ठ गुरुजनो! **सूरे उदिते**=सूर्य के उदय होने पर **हव्यैः नमोभिः**=स्वीकार–योग्य अन्नों और विनय–वचनों से **वां**=आप दोनों की **प्रति विधेम**=प्रति दिन सेवा करें।

भावार्थ—विद्वान् पुरुष स्वयं प्रशस्त मार्ग पर चलकर अन्य लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करे और बतावे कि अपने गुरुजनों व श्रेष्ठ विद्वानों का विनयी भाव से अन्नादि के द्वारा प्रति दिन सेवा सत्कार किया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विद्वानों से प्रेरणा

नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वरिवो दधन्तु।
सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदार्थ—नु=अवश्य, शीघ्र ही **मित्रः**=स्नेहवान् और सर्वमित्र विद्वान् **वरुणः**=श्रेष्ठ पुरुष और **अर्यमा**=न्यायकारी पुरुष **नः**=हमारे **त्मने**=अपने लिये **नः तोकाय**=हमारे पुत्र के लिये भी **वरिवः**=उत्तम धन **दधन्तु**=दें जिससे **नः**=हमारे **विश्वा**=सब कार्य **सुगा**=सुगम और **सु-पथानि**=उत्तम मार्ग युक्त **सन्तु**=हों। हे विद्वान् जनो! **यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात**=आप हमारी सदा कल्याण—साधनों से रक्षा करें।

भावार्थ—विद्वान् जन मित्रवत् व्यवहार करते हुए लोगों को न्यायपूर्ण आचरण तथा पुरुषार्थ पूर्वक धन कमाने के लिए प्रेरणा करें। जिससे प्रजा अपने पुत्रादि सन्तानों को भी सुमार्ग पर चलाकर ऐश्वर्य सम्पन्न बना सके तथा कल्याण साधनों का संग्रह कर सके।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता मित्रावरुण है।

[६४] चतुःषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऐश्वर्य सम्पन्न प्रजा

दिवि क्षयन्ता रजसः पृथिव्यां प्र वां घृतस्य निर्णिजो ददीरन्।
हव्यं नो मित्रो अर्यमा सुजातो राजा सुक्षत्रो वरुणो जुषन्त ॥ १ ॥

पदार्थ—अर्यमा=सूर्य जैसे **दिवि रजसः पृथिव्यां क्षयन्ता**=आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी में रहते हुए मेघों और सूर्य की किरणें **घृतस्य निर्णिजः**=जल और तेज के नाना शुद्ध रूपों को **प्र ददीरन्**=अच्छी प्रकार से देते हैं, वैसे ही **दिवि**=ज्ञान और व्यवहार में विद्यमान **रजसः**=प्रजाजनों और **पृथिव्यां क्षयन्ता**=ऐश्वर्यवान् पृथ्वीवासी **मित्रावरुणा**=स्नेही एवं श्रेष्ठ जनो! **वां**=आप लोगों को **निः-निजः रजसः**=शुद्ध पवित्र आत्मावाले उत्तम जन **घृतस्य प्र ददीरन्**=ज्ञानप्रकाश दें। **मित्रः**=स्नेहवान् **अर्यमा**=शत्रुओं का नियन्ता, **सु-जातः**=उत्तम पद पर प्रसिद्ध, **राजा**=देदीप्यमान, **सु-क्षत्रः वरुणः**=उत्तम बल का स्वामी, स्वयं वरणीय राजा ये सब **नः हव्यं**=हमारा दिया पदार्थ **जुषन्त**=सेवन करें।

भावार्थ—जब राष्ट्र की प्रजा ज्ञानी तथा ऐश्वर्य सम्पन्न होती है तो वह कर के रूप में राष्ट्र के भरण—पोषण हेतु अपने धन का कुछ निश्चित अंश दान करके राष्ट्र के विद्वानों, ज्ञानियों, सेनापति एवं सैनिकों, प्रशासन अधिकारियों तथा राजा तक इन सबका पालन करती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वीर सेनापति व श्रेष्ठ व्यापार

आ राजाना मह ऋतस्य गोपा सिन्धुपती क्षत्रिया यातमर्वाक्।
इळां नो मित्रावरुणोत वृष्टिमव दिव इन्वतं जीरदानू ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **राजाना**=राजा-रानी, वा राजा-सेनापति तुल्य प्रजाओं में प्रकाशित **महः ऋतस्य गोपा**=बड़े धनैश्वर्य और ज्ञान के रक्षक, **सिन्धु-पती**=वेगवान् अश्वों, समुद्रवत् विशाल प्रजाजनों,

सैन्यों तथा प्राणों के पालक, **क्षत्रिया**=बलशाली होकर तुम दोनों **अर्वाक् यातम्**=आगे बढ़ो। हे **जीर-दानू**=मेघ और वायु तुल्य संसार को वेग, जीवन और प्राण देनेवाले! **मित्रावरुणा**=स्नेहयुक्त और वरणीय श्रेष्ठ जनो! जैसे वायु और मेघ, वा विद्युत् और सूर्य दोनों **दिवः वृष्टिम् इन्वतः**= आकाश से वृष्टि लाते हैं और **दिवः इडाम् इन्वतम्**=भूमि से अन्न को उत्पन्न करते हैं वैसे ही आप दोनों **दिवः**=व्यापार आदि से **वृष्टिम् अव इन्वतम्**=समृद्धि की वृष्टि प्राप्त कराओ **उत**=और **नः**=हमें **इडां अव इन्वतम्**=उत्तम वाणी और अन्न-सम्पदा प्राप्त कराओ।

भावार्थ—राष्ट्र में राजा को योग्य है कि वह वीर पुरुष को सेनापति नियुक्त करे जो प्रजा की सब प्रकार से रक्षा करे तथा श्रेष्ठ व्यापारियों को प्रोत्साहित करे कि वे देश-विदेश में व्यापार करके राष्ट्र के लिए धनैश्वर्य की वृद्धि करें जिससे प्रजा अन्न व सम्पत्ति से युक्त होवे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा का कर्त्तव्य

मित्रस्तन्नो वरुणो देवो अर्यः प्र साधिष्ठेभिः पथिभिर्नयन्तु।
ब्रवद्यथा न आदुरिः सुदासं इषा मदेम सह देवगोपाः ॥ ३ ॥

पदार्थ—**मित्रः**=स्नेहवान् **वरुणः**=वरणीय **देवः**=दानशील **अर्यः**=स्वामी, **नः**=हमें **तत्**=वे सब जन **साधिष्ठेभिः पथिभिः**=अति उत्तम मार्गों से **प्र यन्तु**=अच्छी प्रकार ले जावें। **आत्**=अनन्तर **यथा**=यथोचित रीति से **नः**=हममें से **सु-दासे**=उत्तम दानशील के हितार्थ **अरिः**=स्वामी राजा **नः ब्रवत्**=हमें उपदेश करे। हम सब **देव-गोपाः**=विद्वानों से सुरक्षित होकर **इषा मदेम**=अन्न से तृप्त-प्रसन्न हों।

भावार्थ—राजा अपने राष्ट्र में शिक्षा व वितरण व्यवस्था को उत्तम बनावे जिससे लोग विद्वानों के संग से उत्तम शिक्षा व प्रशासन के माध्यम से उत्तम व्यवस्था व अन्न को प्राप्त करके तृप्त व प्रसन्न होवें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्र में कृषि व सिंचाई द्वारा उन्नति

यो वां गर्तं मनसा तक्षदेतमूर्ध्वां धीतिं कृणवद्धारयच्च।
उक्षेथां मित्रावरुणा घृतेन ता राजाना सुक्षितीस्तर्पयेथाम् ॥ ४ ॥

पदार्थ—**मित्रावरुणा राजाना घृतेन उक्षेथां**=मित्र, वरुण, वा विद्युत् और सूर्य दोनों जैसे दीप्त होकर जल और तेज का वर्षण करते और **सु-क्षितीः तर्पयेथाम्**=उत्तम भूमियों को तृप्त करते हैं वैसे हे **मित्रावरुणा**=स्नेहवान् और दुःखवारक **राजाना**=राजा जनो! आप दोनों **घृतेन**=जल और तेज से **सु-क्षितीः**=उत्तम भूमियों, प्रजाओं को **उक्षेथाम्**=सींचो, पुष्ट करो। **ता**=वे आप दोनों प्रजाजनों को **तर्पयेथाम्**=तृप्त करें और **यः**=जो प्रजाजन **वां गर्त्तं**=आप दोनों के रथ, सभाभवन और कृषि, स्तुति, उपदेश आदि भी **मनसा तक्षत्**=ज्ञानपूर्वक करे, **ऊर्ध्वाम्**=उन्नत **धीतिम्**=कर्म **कृणवत्**=करे, **धारयत् च**=वहाँ ही स्थापित करे, आप दोनों **एतम्**=उसको **तर्पयेथाम्**=प्रसन्न करो।

भावार्थ—राजा को अपने राष्ट्र में कृषि विद्या के लिए शिक्षा की उत्तम व्यवस्था द्वारा किसानों को प्रशिक्षित कराके खेती को उन्नत करना चाहिए। सिंचाई व्यवस्था को ठीक करे। राजनीति, शिल्पविद्या तथा अन्य शिक्षाओं की भी उचित व उत्तम व्यवस्था करके राष्ट्र को उन्नत

व प्रजा को प्रसन्न करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रेष्ठ जन का कर्त्तव्य

एष स्तोमो वरुण मित्र तुभ्यं सोमः शुक्रो न वायवेऽयामि।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरन्धीर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

पदार्थ—वायवे शुक्रः न=वायु को जैसे शीघ्र काम करने का सामर्थ्य प्राप्त है, वैसे हे **वरुण**=श्रेष्ठजन! हे **मित्र**=स्नेहयुक्त जन **तुभ्यम्**=तेरे लिये **एषः**=यह **स्तोमः**=स्तुति और **सोमः**=यह ऐश्वर्य **शुक्रः**=कान्तियुक्त होकर तेरी वृद्धि को **अयामि**=प्राप्त हो। आप दोनों **धियः अविष्टं**=सु-कर्मों की रक्षा करो और **पुरन्धीः जिगृतम्**=बहुत से ज्ञान धारण करनेवाली बुद्धियों, ज्ञानों का उपदेश करो। **यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः**=आप हमारा सदा उत्तम उपायों से पालन करें।

भावार्थ—श्रेष्ठ जनों का कर्त्तव्य है कि वे लोगों को सुकर्मों पर चलने की शिक्षा दें। इससे मनुष्य लोग सत्कर्मी तेजस्वी व सम्पन्न होकर उत्तम उपायों द्वारा सुखी होंगे।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता मित्रावरुण हैं।

[६५] पञ्चाषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा प्रजा के कर्त्तव्य

प्रति वां सूर उदिते सूक्तैर्मित्रं हुवे वरुणं पूतदक्षम्।
ययोरसुर्य१मक्षितं ज्येष्ठं विश्वस्य यामन्नाचिता जिगत्नु ॥ १ ॥

पदार्थ—ययोः=जिनका **अक्षितम्**=अविनाशी, **असुर्यम्**=प्राणों में रमण करनेवाले, 'असुर' अर्थात् जीवों के हितकारक, **ज्येष्ठं**=श्रेष्ठ बल **विश्वस्य**=सबको **जिगत्नु**=जीतनेवाला है वे दोनों **यामन्**=राज्यप्रबन्ध के कार्य में **आचिता**=आदर प्राप्त करने योग्य हों। **सूरे उदिते**=सूर्य तुल्य तेजस्वी पुरुष के उदय होने, वा सर्वोपरि पद प्राप्त कर लेने पर मैं प्रजाजन **वाम्**=आप दोनों नर-नारी और राजा-प्रजा-वर्गों में से **पूतदक्षं**=पवित्र बल और आचारवान् **मित्रं**=सर्व स्नेही और **वरुणं**=श्रेष्ठ जन को **सूक्तैः**=उत्तम वचनों से **प्रति हुवे**=प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करूँ।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह प्रजा के हितकारी श्रेष्ठ कर्मपरायण पुरुषों व स्त्रियों को राज्य प्रबन्ध के कार्य हेतु उन्नत व सर्वोपरि पदों पर नियुक्त करे। प्रजा जन ऐसे तेजस्वी पवित्र आचारवान् पदाधिकारियों का सम्मान करें तथा आज्ञापालन में रहकर अनुशासन बनावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विद्वानों द्वारा विभिन्न विद्याओं की शिक्षा

ता हि देवानामसुरा तावर्या ता नः क्षितीः करतमूर्जयन्तीः।
अश्याम मित्रावरुणा वयं वां द्यावा च यत्र पीपयन्नहा च ॥ २ ॥

पदार्थ—यत्र=जिस राष्ट्र या देश में, हे **मित्रा वरुणा**=प्रजा के स्नेही, प्राणवत् प्रिय और वरणीय स्त्री पुरुषो! **द्यावा**=सूर्य और भूमिवत् विद्वान् और अविद्वान् जन और **अहा च**=दिन-रात्रिवत् स्त्री-पुरुष सभी **वां पीपयन्**=आप दोनों को पुष्ट करते हैं, उसी देश में हम भी **अश्याम**=सुख-समृद्धि प्राप्त करें। वे मित्र और वरुण दोनों ही **देवानाम्**=विद्वान् मनुष्यों के बीच,

प्राणों में प्राण उदान के समान **असुरा**=बलवान् जीवनधारक, **सौ अर्या**=वे दोनों ही स्वामी स्वामिनी के समान गृहपालक और **ता**=वे दोनों ही **नः क्षितीः**=हमारी भूमियों और मानव प्रजाओं को **ऊर्जयन्तीः**=उत्तम अन्न और बल के सम्पादक **करतम्**=बनावें।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह राष्ट्र की प्रजा को पुष्ट करने तथा सुखी एवं समृद्ध करने हेतु विद्वानों व विदुषियों की नियुक्ति करे। वे विद्वान् लोगों को प्राण विद्या, स्वास्थ्यवृत्त, गृहपालन, कृषि तथा सन्तानों को उत्तम बनाने की शिक्षा प्रदान करें। प्रजा विद्वानों द्वारा प्रदत्त शिक्षाओं को धारण करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा का आचरण

ता भूरिपाशावनृतस्य सेतू दुरत्येतू रिपवे मर्त्याय।
ऋतस्य मित्रावरुणा पथा वामपो न नावा दुरिता तरेम॥ ३॥

पदार्थ—हे **मित्रावरुणा**=परस्पर स्नेही, वरणीय राजा–प्रजा, स्त्री–पुरुषो! **ता**=वे आप दोनों **भूरि पाशा**=बहुत बन्धनों से बद्ध होकर **अनृतस्य**=असत्याचरण को पार करने के लिये **सेतु**=पुल के समान होओ और **रिपवे मर्त्याय**=शत्रुभूत पापी पुरुष के नाश के लिये आप दोनों **दूर-अत्येत्**=दुःख से अतिक्रमण–योग्य, अलंघनीयशासन होओ। **वाम्**=आप दोनों के **ऋतस्य पथा**=सत्य के मार्ग से चलकर हम भी **नावा आपः न**=नाव से जलों के समान **दुरिता तरेम**=सब दुःखों को पार करें।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि वह जीवन को अनुशासित व संयमित रखते हुए प्रजा को आदर्श प्रदान करे जिससे प्रजाजन नियमों में रहकर असत्याचरण से बचकर सुपथगामी होवे। राजा शत्रुओं व पापियों के नाश के लिए कठोर नियम बनावे तथा उनको दृढ़ता के साथ लागू करे। प्रजा भी नियमों में रहकर दुःखों से छूट सुख को प्राप्त करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम जनों का सम्मान

आ नो मित्रावरुणा हव्यजुष्टिं घृतैर्गव्यूतिमुक्षतमिळाभिः।
प्रति वामत्र वरमा जनाय पृणीतमुद्नो दिव्यस्य चारोः॥ ४॥

पदार्थ—**मित्रावरुणा**=सूर्य–मेघ वा वायु–मेघ के समान सर्वप्रिय जनो! आप दोनों **नः**=हमारे **हव्य-जुष्टिं**=प्रेम से स्वीकार–योग्य अन्न आदि को स्वीकार करो। **घृतैः गव्यूतिम्**=जलों से भूमि भाग के समान **इडाभिः**=उत्तम वाणियों से वाणी के उत्तम पात्रों को **उक्षतम्**=सेचन करो। आप दोनों **वाम्**=अपने **दिव्यस्य**=ज्ञान से पूर्ण **चारोः**=उत्तम **उद्नः**=जलवत् शान्तिदायक वचन का **वरम्**=श्रेष्ठ प्रयोग **जनाय**=समस्त जन के हितार्थ **प्रति**=प्रतिदिन **आ पृणीतम्**=करो।

भावार्थ—लोगों को चाहिए कि वे उत्तम विद्वान् स्त्री–पुरुषों का अन्नादि तथा उत्तम वाणियों के द्वारा सम्मान करें। फिर वे विद्वान् स्त्री–पुरुष भी अपने प्रिय मधुर ज्ञानोपदेश के द्वारा लोगों का मार्गदर्शन करेंगे।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विद्वानों द्वारा ज्ञान का उपदेश

एष स्तोमो वरुण मित्र तुभ्यं सोमः शुक्रो न वायवेऽयामि।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरन्धीर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

पदार्थ—वायवे शुक्रः न=वायु को जैसे शीघ्र काम करने का सामर्थ्य प्राप्त है, वैसे हे **वरुण**=श्रेष्ठजन! हे **मित्र**=स्नेहयुक्त जन **तुभ्यम्**=तेरे लिये **एषः**=यह **स्तोमः**=स्तुति और **सोमः**=यह ऐश्वर्य **शुक्रः**=कान्तियुक्त होकर तेरी वृद्धि को **अयामि**=प्राप्त हो। आप दोनों **धियः अविष्टं**=सु-कर्मों की रक्षा करो और **पुरन्धीः जिगृतम्**=बहुत से ज्ञान धारण करनेवाली बुद्धियों, ज्ञानों का उपदेश करो। **यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः**=आप हमारा सदा उत्तम उपायों से पालन करें।

भावार्थ—विद्वान् स्त्री-पुरुष अपनी मेधा व ज्ञान के द्वारा लोगों को ब्रह्मचर्य सेवन व सदाचार के द्वारा जीवन को कान्तिमय व उन्नत बनाने की शिक्षा प्रदान करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता मित्रावरुण, आदित्य और सूर्य हैं।

[६६] षट्षष्टितमं सूक्तम्

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गुरु शिष्य

प्र मित्रयोर्वरुणयोः स्तोमो न एतु शूष्यः। नमस्वान्तुविजातयोः ॥१॥

पदार्थ—तुषि-जातयोः=बहुत-सी विद्याओं में प्रवीण, **मित्रयोः**=परस्पर स्नेही और **वरुणयोः**=गुरु-शिष्य रूप से वरण करनेवाले दोनों का **नमस्वान्**=विनययुक्त व्यवहारवाला, **शूष्यः**=सुखकारी, **स्तोमः**=स्तुति-योग्य उपदेश **नः एतु**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—विभिन्न विद्याओं के विद्वान् गुरु अपने शिष्यों के प्रति स्नेही भाव रखकर विद्या दान करे। शिष्य भी विनयभाव से गुरुओं द्वारा प्रदत्त विद्या के उपदेश को सुनें। इससे अन्य मनुष्य लोग प्रेरणा लेकर परस्पर छोटे-बड़े के व्यवहार को आचरण में उतारते हैं।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम पुरुष ही पदाधिकारी हों

या धारयन्त देवाः सुदक्षा दक्षपितरा। असुर्याय प्रमहसा ॥२॥

पदार्थ—देवाः=विद्वान् मनुष्य **या**=जिन दो को **धारयन्त**=व्रत धारण कराते हैं वे आप दोनों **सु-दक्षा**=उत्तम कर्मकुशल **दक्षपितरा**=बल वीर्य के पालक, **प्र-महसा**=उत्तम तेजस्वी होकर **असुर्याय**=बलवान् पुरुषों में श्रेष्ठ पद के योग्य होते हैं।

भावार्थ—विद्वान् जन उत्तम कर्मकुशल तथा सदाचारी तेजस्वी पुरुषों को श्रेष्ठ पदों के लिए नामित करें। इससे राष्ट्र में भ्रष्टाचार नहीं होगा।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विद्वान् का कर्त्तव्य

ता नः स्तिपा तनूपा वरुण जरितॄणाम्। मित्र साधयतं धियः ॥३॥

पदार्थ—ता=वे दोनों **नः**=हमारे **स्तिपा**=संघों के रक्षक और **तनूपा**=शरीरों के रक्षक हों।

हे **वरुण**=श्रेष्ठ जन! हे **मित्र**=स्नेहवन्! विद्वन् आप लोग **जरितॄणाम्**=उपदेष्टा पुरुषों की **धियः**=बुद्धियों और विचारों को **साधयतम्**=सफल करो।

भावार्थ—श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष अपने शिष्यों को ज्ञानोपदेश के द्वारा इतना योग्य विद्वान् बनावें कि वे शिष्य लोग राष्ट्र के नागरिकों को स्वस्थ व संगठित रहने का उपदेश करते हुए सन्मार्गदर्शन कर सकें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

न्यायशील राजा

यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा। सुवाति सविता भगः॥ ४॥

पदार्थ—**उदिते सूरे**=सूर्यवत् तेजस्वी पुरुष के उदय होने पर **यत्**=जो **अनागाः**=अपराधादि से रहित **मित्रः**=स्नेहवान् **अर्यमा**=न्यायकारी, **सविता**=सर्व प्रेरक, शासक और **भगः**=ऐश्वर्यवान् है वह **अद्य**=आज के समान सदा **सुवाति**=शासन करे।

भावार्थ—राजा स्वयं निष्कलंक होवे तथा प्रजा को उचित न्याय प्रदान करे। इससे राजा प्रजा का प्रिय भी बनेगा तथा उसका शासन दीर्घकाल तक चलता रहेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उपदेशक का कर्त्तव्य

सुप्रावीरस्तु स क्षयः प्र नु यामन्त्सुदानवः। ये नो अंहोऽतिपिप्रति॥ ५॥

पदार्थ—**ये**=जो **नः**=हमें **अंहः**=पाप कर्म से **अतिपिप्रति**=पार करते हैं ऐसे **सु-दानवः**=उत्तम उपदेशक, विद्वान् पुरुषो! आप लोगों से प्रार्थना है कि **यामन्**=राज्य के नियन्त्रण और शत्रु पर चढ़ाई के कार्य में **सः**=वह **क्षयः**=शत्रुओं का नाशक पुरुष **नु**=निश्चय से **क्षयः**=गृह के समान **सुप्रावीः अस्तु नु**=उत्तम रीति से रक्षक हो। **यामन्**=विवाह-बन्धन का कार्य हो चुकने पर **सः क्षयः**=वह ऐश्वर्य-युक्त, नव गृहपति **सु-प्रावीः प्र अस्तु**=उत्तम गृहरक्षक हो।

भावार्थ—उत्तम विद्वान् पुरुष लोगों को उत्तम उपदेश करे जिससे वे पाप कर्मों से दूर रहें तथा राजनियमों के पालन और शत्रुओं के नाश में सहयोगी होकर राष्ट्र की रक्षा उत्तम रीति से कर सकें। और सद्गृहस्थ बनकर राष्ट्र रक्षा में सहयोगी बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सभा का कर्त्तव्य

उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये। महो राजान ईशते॥ ६॥

पदार्थ—**स्व-राजः**=स्वयं प्रकाशित, **स्व-राजः**=धनैश्वर्य से चमकनेवाले, प्रजाजनों के राजा और **अदितिः**=अखण्ड शासनकर्त्री सभा वा तेजस्वी पुरुष, **ये**=जो **अदब्धस्य**=अखण्डित **व्रतस्य**=कर्म करने में **ईशते**=समर्थ हैं वे **महः-राजानः**=बड़े ऐश्वर्य के राजा, स्वामी हैं।

भावार्थ—राजसभा को योग्य है कि वह ऐसे तेजस्वी व ऐश्वर्य सम्पन्न पुरुष को राजा के पद पर आसीन करे जो निरन्तर राष्ट्रोन्नति के कार्य को करने तथा प्रजा जनों का पालन करने में सक्षम हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य

प्रति वां सूर उदिते मित्रं गृणीषे वरुणम्। अर्यमणं रिशादसम्॥ ७॥

पदार्थ–हे स्त्री–पुरुषो! **वाम्**=आप दोनों में से **सूरे प्रति उदिते**=सूर्य तुल्य तेजस्वी होकर उत्तम पद पर प्राप्त हो जाने पर मैं **मित्रम्**=प्रत्येक स्नेही, **वरुणं**=श्रेष्ठ जन को **अर्यमणम्**=न्यायपूर्वक स्वामिवत् नियन्ता और **रिशादसम्**=दुष्टनाशक कहकर **गृणाषे**=स्तुति करूँ।

भावार्थ–स्त्री व पुरुषों को चाहिए कि वे अपनी बुद्धि, ज्ञान व प्रतिभा के बल पर राष्ट्र में उत्तम पदों को प्राप्त कर पक्षपात रहित न्याय पूर्वक प्रशासन कार्य करें। इससे दुष्ट लोग अव्यवस्था नहीं फैला सकेंगे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आदित्याः** ॥ छन्दः–**स्वराड्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

विद्वानं का कर्त्तव्य

राया हिरण्यया मतिरियमवृकाय शवसे। इयं विप्रा मेधसातये॥ ८ ॥

पदार्थ–हे **विप्राः**=विद्वान् लोगो! **अवृकाय**=निश्छल और जिसको ज्ञान–प्रकाश प्राप्त नहीं ऐसे पुरुष के लिये उसके **शवसे**=ज्ञान, बल वृद्धि हेतु **राया**=ऐश्वर्य के साथ–साथ **हिरण्यया**=हित और रमणीय **इयं मतिः**=यह उत्तम बुद्धि, वा ज्ञान **मेध-सातये**=उत्तम अन्न, यज्ञ फलादि प्राप्त करने के लिये सदा रहो।

भावार्थ–विद्वान् पुरुषों को योग्य है कि वे राष्ट्र में लोगों को ज्ञान, विद्या और उत्तम बुद्धि प्रदान करें जिससे वे लोग निश्छल भाव से पुरुषार्थ पूर्वक ऐश्वर्य, उत्तम अन्न तथा यज्ञों के उत्तम फलों को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आदित्याः** ॥ छन्दः–**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

सुखदाता परमेश्वर

ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह। इषं स्वश्च धीमहि॥ ९ ॥

पदार्थ–हे **देव वरुण**=सुखदाता सर्व दुःखवारक! हे **मित्र**=सर्वप्रिय! हम **ते स्याम**=तेरे होकर रहें। **सूरिभिः सह**=विद्वानों के साथ **ते**=तेरी **इषं**=इच्छा और **स्वः च**=ज्ञान, आनन्द को **धीमहि**=धारण करें।

भावार्थ–मनुष्य लोगों को चाहिए कि वे उत्तम विद्वानों की संगति किया करें जिससे सकल सुखदाता परमेश्वर की अनुभूति करके अपनी इच्छानुसार ज्ञान तथा आनन्द की प्राप्ति कर सकें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**आदित्याः** ॥ छन्दः–**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

सत्यज्ञान का उपदेश

बहवः सूरचक्षसोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः।
त्रीणि ये येमुर्विदथानि धीतिभिर्विश्वानि परिभूतिभिः॥ १० ॥

पदार्थ–**ये**=जो **त्रीणि विदथानि**=तीनों प्रकार के ज्ञान, कर्म, यज्ञ और प्राप्तव्य पदार्थों और तीनों प्रकार के ज्ञातव्य वेदों और **विश्वानि**=तीनों विश्वों को **धीतिभिः**=कर्मों, बुद्धियों, वाणियों और अध्ययन आदि द्वारा और **परिभूतिभिः**=उत्तम सामर्थ्यों से **येमुः**=वश करते हैं वे **बहवः**=बहुत से **सूर-चक्षसः**=सूर्य तुल्य सब पदार्थों के ज्ञानोपदेष्टा, **अग्निजिह्वाः**=अग्नि के समान ज्ञानवाणी के वक्ता **ऋतावृधः**=सत्य–ज्ञान के वर्धक हों।

भावार्थ–उत्तम विद्वानों को योग्य है कि वे वेदों के गहन अध्ययन के द्वारा ज्ञान, कर्म व उपासना की त्रिविद्या को प्राप्त करें तथा बुद्धि, वाणी और श्रेष्ठ कार्यों के द्वारा तीनों लोकों के रहस्यों को जानकर समस्त पदार्थों के ज्ञान का उपदेश देकर सत्य ज्ञान को बढ़ावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

वेद ज्ञान का धारण

वि ये दधुः शरदं मासमादहर्यज्ञमक्तुं चादृचम्।
अनाप्यं वरुणा मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत॥ ११ ॥

पदार्थ—**ये**=जो **शरदं**=वर्ष, **मासम्**=मास और **अहः अक्तुम्**=दिन-रात्रि, **आत्**=भी **ऋचं यज्ञम्**=वेद मन्त्रों से स्तुत्य परमेश्वर, वा यज्ञ अथवा **यज्ञम् ऋचं**=यज्ञयोग्य, उपास्य, वेद वेद्य प्रभु की **वि दधुः**=विविध प्रकार से उपासना करते, वेद को धारण करते हैं वे **वरुणः**=श्रेष्ठ, **मित्रः**=सर्वस्नेही **अर्यमा**=न्यायकारी जन **राजानः**=तेजस्वी राजा होकर **अनाप्यं**=अन्यों से प्राप्त न होने वा बन्धु जनों से न बाँटने योग्य **क्षत्रं**=धन, ज्ञानमय वेद को **आशत**=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—श्रेष्ठ जन दिन-रात महीनों तथा वर्षों तक वेद के मन्त्रों का चिन्तन-मनन करते हुए यज्ञरूप परमेश्वर की उपासना करके अपने आत्मा में उसके तेज को धारण करते हैं। धारण किए हुए उस दिव्य तेज से तेजस्वी होकर वे निष्पक्ष सर्वप्रिय जन किसी के द्वारा न बाँटवा सकने योग्य विद्यारूपी धन के स्वामी हो जाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ज्ञान की याचना

तद्वो अद्य मनामहे सूक्तैः सूर उदिते।
यदोहते वरुणो मित्रो अर्यमा यूयमृतस्य रथ्यः॥ १२ ॥

पदार्थ—**वरुणः**=वरणीय, **मित्रः**=स्नेही **अर्यमा**=स्वामिवत् हे विज्ञ जनो! **यूयम्**=आप **ऋतस्य**=सत्य-ज्ञान के **रथ्यः**=महारथियों के तुल्य होकर **यत्**=जिस को **ओहते**=धारते हो हम **उदिते सूरे**=सूर्योदय होने पर **वः तत्**=आपके उस ज्ञानैश्वर्य की **अद्य**=आज **मनामहे**=याचना करते हैं।

भावार्थ—मनुष्य लोग सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानी जनों की शरण में आकर ज्ञानरूपी ऐश्वर्य की याचना किया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**आर्षीभुरिग् बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

विद्वानों की शरण में रहें

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः॥ १३ ॥

पदार्थ—**ये च**=और जो **सूरयः**=विद्वान् लोग **ऋत-वानः**=सत्य-ज्ञान का सेवन करने-करानेवाले **ऋतजाताः**=सत्य-ज्ञान में प्रसिद्ध **ऋत-वृधः**=सत्य वर्धक, **घोरासः**=तेजस्वी, **अनृत-द्विषः**=असत्य के द्वेषी हैं, हे **नरः**=नायकवत् पुरुषो! **तेषां वः**=उन आपके **सुच्छर्दिस्तमे**=उत्तम रक्षा-गृह से युक्त **सुम्ने**=सुखद शरण में सदा **स्याम**=रहें।

भावार्थ—नेतृत्त्व करनेवाले पुरुषों तथा प्रशासक वर्ग को सत्य न्याय के उपदेशक सदाचारी विद्वानों की उत्तम शरण में सदैव रहना चाहिए जिससे वे लोग सत्य न्याय के मार्ग से कभी न भटकें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**सूर्यः** ॥ छन्दः-**आर्षीविराड्बृहती** ॥ स्वरः-**मध्यमः** ॥

सदाचारी पुरुष

उदु त्यद्दर्शतं वपुर्दिव एति प्रतिह्वरे।
यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम्॥ १४॥

पदार्थ-जैसे **दिवः प्रतिह्वरे**=आकाश में प्रत्यक्ष वक्र, वृत्त मार्ग में **त्यत् दर्शतं वपुः उत् एति उ**=वह दर्शनीय रूपवाला सूर्य उदय होता है और **यत्**=जो **ईम्**=सब तरफ से **आशुः**=वेग से गतिमान् **देवः**=प्रकाशप्रद, **एतशः**=शुक्ल वर्ण होकर **विश्वस्मै चक्षसे अरं**=समस्त संसार को दिखाने के लिये है वैसे ही **त्यत्**=वह **दर्शतं वपुः**=दर्शनीय शरीरवाला पुरुष **प्रतिह्वरे**=प्रत्येक कुटिल व्यवहार के ऊपर **दिवः**=अपने तेज के कारण **उत् एति उ**=उत्तम होकर शासन करता है, **यत्**=जो **ईम्**=सब ओर **आशुः**=शीघ्रकारी, **देवः**=विद्वान् **एतशः**=शुक्लकर्मा, सदाचारी होकर **विश्वस्मै चक्षसे**=सबको ज्ञान-मार्ग दिखाने और सदुपदेश करने के लिये **अरं वहति**=अधिक ज्ञान और बल को, रथ को अश्व के समान चलाने में समर्थ होता है।

भावार्थ-जब राष्ट्र में सदाचारी पुरुष राजा होता है तो वह अपने तेज से उत्तम शासन करता हुआ कुटिल व विध्वंसक तत्त्वों को नष्ट वा संयमित करके विद्वानों के सहयोग से शुभ कर्म, सत्य उपदेश, ज्ञान तथा बलों को बढ़ाकर राष्ट्र को उत्तम तथा उन्नत बनाने में समर्थ होता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**सूर्यः** ॥ छन्दः-**आर्षीभुरिग् बृहती** ॥ स्वरः-**मध्यमः** ॥

सुपथगामी राजा

शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतस्तस्थुषस्पतिं समया विश्वमा रजः।
सप्त स्वसारः सुविताय सूर्यं वहन्ति हरितो रथे॥ १५॥

पदार्थ-**जगतः तस्थुषः**=जंगम और स्थावर **शीर्ष्णः-शीर्ष्णः**=प्रत्येक शिर के **पतिम्**=पालक **सूर्यम्**=प्रेरक को **विश्वं रजः समया**=समस्त संसार के बीच **सप्त हरितः**=सातों दिशाओं के वासी प्रजाजन **स्वसारः**=उत्तम भगिनियों के तुल्य स्वयं शरण आकर **रथे वहन्ति**=रथ पर बैठाकर ले जाते हैं, जिससे वह **सुविताय**=उत्तम मार्ग से ले चले। ऐसे ही सातों **स्वसारः सु-असारः**= उत्तम रीति से शस्त्रास्त्र चालक **हरितः**=वीर-सेनाएँ तेजस्वी को सन्मार्ग पर चलने के लिये स्थावर, जंगम, अर्थात् स्थिर चल-सम्पदा और प्रजा के स्वामी को बीच रथ में जुड़े अश्वों के समान धारण करती हैं।

भावार्थ-सन्मार्ग पर चलकर राष्ट्र की चल, अचल सम्पत्ति की रक्षा करनेवाले तेजस्वी राजा की शस्त्रास्त्रों के संचालन में कुशल वीर सेनाएँ रक्षा करने में तत्पर रहें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**सूर्यः** ॥ छन्दः-**पुरउष्णिक्** ॥ स्वरः-**ऋषभः** ॥

शतायु भव

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥ १६॥

पदार्थ-**तत्**=वह **देव-हितं**=विद्वानों, प्राणों के बीच विद्यमान, कल्याणकारी **शुक्रम्**=सूर्यवत् तेजस्वी **उत्-चरत्**=उत्तम पद को प्राप्त करे और हम उसकी कृपा से **शरदः शतं पश्येम**=सौ बरस तक देखें, **शरदः शतं जीवेम**=सौ बरस तक जीवें।

भावार्थ-विद्वानों के संसर्ग में रहकर मनुष्य लोग प्राणायाम आदि योग के अंगों का अभ्यास करके सौ वर्ष तक की स्वस्थ आयु को प्राप्त होवें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अहिंसक बनो

काव्येभिरदाभ्या यातं वरुण द्युमत्। मित्रश्च सोमपीतये॥ १७॥

पदार्थ—हे **वरुण**=श्रेष्ठ जन! और **मित्रः च**=सर्वस्नेही, आप दोनों **सोमपीतये**=ओषधि-रसवत् राष्ट्र की रक्षा और उपभोग के लिए **काव्येभिः**=कविजनों की वाणियों द्वारा **अदाभ्या**=अहिंसा-व्रतचारी होकर **आयातं**=आओ और **द्युमत्**=ऐश्वर्यपूर्ण देश को **यातम्**=प्राप्त करो।

भावार्थ—श्रेष्ठ जन राष्ट्र की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य का सेवन करते हुए वेद के अनुसार राज्य-व्यवस्था को चलावें जिससे राष्ट्र के निवासी अहिंसा व्रत को धारण करते हुए देश को ऐश्वर्य सम्पन्न बनाने में सहयोगी बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तेजस्वी बनो

दिवो धामभिर्वरुण मित्रश्चा यातमद्रुहा। पिबतं सोममातुजी॥ १८॥

पदार्थ—हे **वरुणः मित्रः च**=वरुण और मित्र, रात्रि दिन के तुल्य, स्त्री-पुरुषो! आप **अद्रुहा**=परस्पर द्रोह न करते हुए **आतुजी**=शत्रुओं का नाश और प्रजाओं का पालन करते हुए **दिवः धामभिः**=सूर्य के प्रकाशमय तेजों से प्रभावित होकर **सोमं पिबतु**=ऐश्वर्य को प्राप्त हों।

भावार्थ—उत्तम स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य पालन के द्वारा तेजस्वी होकर अपने आन्तरिक शत्रु काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि का नाश करके प्रीतिपूर्वक प्रजाओं का पालन करें। इससे प्रजाएँ भी तेजस्वी होंगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रजापालन

आ यातं मित्रावरुणा जुषाणावाहुतिं नरा। पातं सोममृतावृधा॥ १९॥

पदार्थ—हे **मित्रावरुणा**=दिन-रात्रि वा सदा परस्पर स्नेही और वरण करनेवाले **ऋत-वृधा**=सत्य से बढ़ने-बढ़ानेवाले होकर **सोमम् पातम्**=प्रजा और शिष्यवर्ग को **पातं**=पालन करो और आप दोनों **नरा**=स्त्री-पुरुष **आहुतिम् जुषाणा**=आदर से दिये दान को स्वीकार करते हुए, **आ यातम्**=प्राप्त हों।

भावार्थ—उत्तम स्त्री-पुरुष सदाचारी होकर सत्य के द्वारा अपनी प्रजा तथा शिष्यों को ज्ञान प्रदान कर उनकी रक्षा करें तथा उन शिष्यों वा प्रजाओं के द्वारा श्रद्धा से दिए गए दान को स्वीकार करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता अश्विनौ है।

[६७] सप्तषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रेष्ठ ज्ञान एवं व्यवहार का उपदेश

प्रति वां रथं नृपती जरध्यै हविष्मता मनसा यज्ञियेन।
यो वां दूतो न धिष्ण्यावजीगरच्छा सूनुर्न पितरा विवक्मि॥ १॥

पदार्थ—हे **नृपती**=राजा रानी के समान मनुष्यों के पालक, हे **धिष्ण्यौ**=स्तुति-योग्य! उत्तम

बुद्धि-सम्पन्न स्त्री-पुरुषो! **यः**=जो **दूतः न**=दूत के समान **वां**=आप दोनों को **अजीगः**=सचेत करता, ज्ञान देकर प्रबुद्ध करता है, वह मैं विद्वान् **वां प्रति**=आप दोनों के प्रति **हविष्मता**=उत्तम ग्रहण योग्य भावों से युक्त, **यज्ञियेन**=सत्संग योग्य **मनसा**=मन वा ज्ञान से **जरध्यै**=उपदेश करने के लिये **सूनुः पितरा न**=माता-पिता के प्रति पुत्र तुल्य **रथम्**=रमणीय वचन और उत्तम व्यवहार का **अच्छ विवक्मि**=उपदेश करता हूँ।

भावार्थ-विद्वान् जन उत्तम बुद्धिवाले स्त्री-पुरुषों को श्रेष्ठ ज्ञान एवं व्यवहार का उपदेश करे तथा उन्हें अपने सत्संग में रखकर जीवन में आनेवाली बाधाओं, विपत्तियों से सचेत करके पुत्रों को दिए उपदेश के समान उनको सन्मार्गदर्शन करे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

गुरु शिष्य

अशोच्यग्निः समिधानो अस्मे उपो अदृश्रन्तमसश्चिदन्ताः।
अचेति केतुरुषसः पुरस्ताच्छ्रिये दिवो दुहितुर्जायमानः ॥ २ ॥

पदार्थ-**समिधानः**=अच्छी प्रकार दीप्त **अग्निः**=यज्ञाग्नि, ज्ञानाग्नि, सूर्य एवं अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् **अस्मे अशोचि**=हमारे हितार्थ चमके। **तमसः अन्ताः चित्**=अन्धकार अज्ञान के परले सिरे तक **उपो अदृश्रन्**=स्पष्ट दिखाई दे। **दिवः दुहितुः उषसः**=दीप्त सूर्य-कन्या के समान उषा से ही **पुरस्तात् श्रिये**=पूर्व दिशा की शोभा के लिये जैसे सूर्य उत्पन्न होता है वैसे ही **दिवः दुहितुः**=ज्ञानप्रकाश का दोहन करनेवाले, **उषसः**=पापों और अज्ञान के नाशक मातृवत् गुण से **जायमानः**=उत्पन्न होता हुआ शिष्यरूप पुत्र **पुरस्तात्**=आगे शोभा के लिये ही **केतुः अचेति**=पूर्ण ज्ञानवान् होकर प्रबुद्ध होता है।

भावार्थ-तेजस्वी विद्वान् गुरु माता के समान शिष्य को अपने गुरुकुलरूपी गर्भ में धारण करके उसे ज्ञान की अग्नि से दीप्त करता है। उसके पापों और अज्ञान का नाश करके पूर्ण ज्ञानवान् बनाकर प्रबुद्ध करता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

जितेन्द्रिय पुरुष

अभि वां नूनमश्विना सुहोता स्तोमैः सिषक्ति नासत्या विवक्वान्।
पूर्वीभिर्यातं पथ्याभिरर्वाक्स्वर्विदा वसुमता रथेन ॥ ३ ॥

पदार्थ-हे **अश्विना**=अश्वरूप इन्द्रियों के स्वामी, नर-नारी वर्गो! हे **नासत्या**=कभी असत्य व्यवहार न करनेवाले वा **न-असत्-यौ**=कभी असत्, कुमार्ग पर न जानेवाले जनो! **सुहोता**=उत्तम ज्ञानदाता **वि वक्वान्**=विविध विद्याओं का उपदेष्टा पुरुष **स्तोमैः**=वेद मन्त्रों और उपदेशों से **नूनम्**=अवश्य **वां**=तुम दोनों को **अभि सिषक्ति**=अपने साथ एक सूत्र में बाँधता है, आप दोनों **वसुमता रथेन**=धन, अन्नादि सम्पन्न रथ से यात्री जैसे सुख से देशान्तर चला जाता है वैसे ही **वसु-मता**=शिष्यों से युक्त, **रथेन**=स्थिर भाव के विद्यमान, **स्वर्विदा**=ज्ञान के प्रकाश को स्वयं प्राप्त और अन्यों को प्राप्त करानेवाले आचार्य की सहायता से **पूर्वीभिः**=पूर्व विद्वानों से उपदिष्ट, **पथ्याभिः**=हितकारी मार्गों से **अर्वाक् यातम्**=आगे बढ़ो।

भावार्थ-जितेन्द्रिय विद्वान् पुरुष वेदमन्त्रों का उपदेश करके अपने शिष्य वर्ग स्त्री, पुरुष, जनों को विविध विद्याओं का ज्ञान प्रदान कर, असत्य व्यवहार तथा कुमार्ग से बचाकर संयमी बनाता

है। उन्हें इतना योग्य बना देता है कि वे भी अपने शिष्यों को उत्तमता पूर्वक ज्ञान के उपदेश करके गुरु-शिष्य परम्परा को आगे बढ़ा सकें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

मधुकरी वृत्ति

अवो॑र्वां नू॒नम॑श्विना यु॒वाकु॑र्हु॒वे यद्वां॑ सु॒ते माध्वी॑ वसू॒युः ।
आ वां॑ वहन्तु॒ स्थवि॑रासो॒ अश्वाः॒ पिबा॑थो अ॒स्मे सुषु॑ता॒ मधू॑नि ॥ ४ ॥

पदार्थ-हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय नर-नारियो! **नूनम्**=अवश्य मैं **युवाकुः**=तुम को हृदय से चाहता हुआ, **वसूयुः**=शिष्य-ब्रह्मचारियों की कामना करता हुआ आचार्य **सुते**=उत्तम ज्ञानैश्वर्य के निमित्त **अवोः**=ब्रह्मचर्यादि-पालक आप दोनों में से **वां**=तुम दोनों को **माध्वी**=ऋग्वेद, मधु-विद्या, उपनिषत्-ज्ञान और 'मधु' आनन्दप्रद अन्नादि के योग्य जानकर **हुवे**=प्राप्त करूँ। **स्थविरासः**=ज्ञानवृद्ध **अश्वाः**=विद्या-विचक्षण पुरुष **वां**=तुम दोनों को **आ वहन्तु**=सन्मार्ग पर ले चलें। आप लोग **अस्मे**=हमारे **सु-सुता**=उत्तम रीति से बनाये, **मधूनि**=ज्ञानों और अन्नों का **पिबाथः**=उपभोग और पालन करो। ज्ञानवृद्धों के सत्संग से एकत्र करने योग्य होने से ज्ञान और गृहस्थों से भिक्षारूप में संग्रह करने योग्य अन्न 'मधु' है। उसका संग्रह करना 'मधुकरी' वृत्ति है।

भावार्थ-जैसे मधुमक्खी विभिन्न पुष्पों पर जा-जाकर पराग का एक-एक कण लाकर संग्रह करके उत्तम मधु को तैयार करती है उसी प्रकार से जितेन्द्रिय नर-नारी ज्ञान पिपासु होकर विविध विद्याओं में निष्णात विद्वानों के पास जा-जाकर विविध विद्याओं का संग्रह करें तथा इस काल में आजीविका भी 'मधुकरी वृत्ति' अर्थात् भिक्षा वृत्ति से ही चलावे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

विद्या प्राप्ति

प्राची॑मु दे॒वाश्वि॑ना॒ धियं॑ मेऽमृ॒ध्रां सा॒तये॑ कृ॒तं व॑सू॒युम् ।
विश्वा॑ अविष्टं॒ वाज॒ आ पुर॑न्धी॒स्ता नः॑ शक्तं शचीपती॒ शची॑भिः ॥ ५ ॥

पदार्थ-हे **देवा अश्विना**=विद्याभिलाषी शिष्य-शिष्याजनो! आप दोनों **मे**=मेरी **प्राची**=ज्ञानयुक्त, पूज्य **अमृध्राम्**=अविनाशी और **वसूयुं**=धनैश्वर्य युक्त **धियं**=बुद्धि और कर्म को **सातये**=प्राप्त करने के लिये **कृतम्**=यत्न करो। वैसे ही हे **देवा अश्विना**=जितेन्द्रिय, ज्ञानदाता गुरु-गुरुपत्नी जनो! आप दोनों **वाज-सातये**=मुझ शिष्य को ज्ञान देने के लिये **प्राचीम्**=अति उत्कृष्ट, **वसूयुं**=शिष्य को प्राप्त होनेवाली **अमृध्रां**=अविनाशी, शिष्य को कष्ट न देनेवाली **धियं**=बुद्धि और वाणी का **कृतम्**=उपदेश करो। आप दोनों **वाजे**=संग्राम और ज्ञान प्राप्ति के समय **विश्वाः पुरन्धीः**=बहुत ज्ञानधारक बुद्धियों, वाणियों की **आ अविष्टं**=रक्षा करो। आप दोनों **शचीपती**=वाणी और शक्ति के पालक होकर **नः**=हमें **शचीभिः**=वाणियों से **ताः**=नाना बुद्धियें देकर **शक्तं**=हमें शक्तियुक्त करो।

भावार्थ-विद्याभिलाषी शिष्य पुरुषार्थ पूर्वक गुरुजनों से विभिन्न विद्याओं को प्राप्त करने का यत्न करें तथा जितेन्द्रिय गुरुजन उत्कृष्ट शिष्यों को समस्त विद्याओं का उपदेश करें। इससे ये गुरु और शिष्य दोनों मिलकर ज्ञान-विद्या की रक्षा व वृद्धि कर सकेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्संगति

अविष्टं धीष्वश्विना न आसु प्रजावद्रेतो अह्रयं नो अस्तु।
आ वां तोके तनये तूतुजानाः सुरत्नासो देववीतिं गमेम ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो! आप **आसु धीषु**=इन कर्मों और बुद्धियों के बीच, **नः अविष्टं**=हमारी रक्षा करो और **नः**=हमारा **रेतः**=वीर्य, **प्रजावत्**=प्रजा-उत्पादक और **अह्रयम्**=नष्ट न होनेवाला **अस्तु**=हो। हम **तोके तनये**=पुत्र-पौत्रादि के लिए **वां**=आप की **तूतुजानाः**=रक्षा करते हुए, **सु-रत्नासः**=उत्तम ऐश्वर्ययुक्त होकर **देव-वीतिं**=विद्वानों की संगति को **आ गमेम**=प्राप्त हों।

भावार्थ—स्त्री-पुरुषों को चाहिए वे उत्तम विद्वानों की संगति में रहकर जितेन्द्रिय बनें तथा वीर्य की रक्षा करें। इससे सन्तान भी उत्तम होगी और स्वस्थ रहकर ऐश्वर्यशाली बनेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आदर्श पुरुष

एष स्य वां पूर्वगत्वेव सख्ये निधिर्हितो माध्वी रातो अस्मे।
अहेळता मनसा यातमर्वागश्नन्ता हव्यं मानुषीषु विक्षु ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे **माध्वी**=अन्न वा ज्ञान के मधुवत् संग्राहक और सेवा करनेवाले जनो! **एषः स्यः**=यह वह **निधिः**=ज्ञानैश्वर्यों का खजाना, विद्याओं का सागर गुरुजन **पूर्वगत्वा इव**=पूर्वगामी आदर्श पुरुष तुल्य **वां सख्ये**=आप दोनों के मित्र भाव में **हितः**=स्थित है, वह **अस्मे**=हम प्रजा के हितार्थ **रातः**=दिया गया है। आप लोग **मानुषीषु विक्षु**=मनुष्य-प्रजाओं में **हव्यं अश्नन्ता**=उत्तम अन्नादि को भोगते हुए **अहेडता मनसा**=क्रोध और अपमान-रहित चित्त होकर **अर्वाक् यातम्**=हमारे पास आया करें।

भावार्थ—क्रोध और अपमान रहित चित्तवान् विद्वान् जन प्रजाओं के हित के लिए उनके पास जाते रहें। इससे विद्वानों तथा प्रजाओं में परस्पर प्रीति बढ़ने से ज्ञान-ऐश्वर्य की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सन्मार्ग दर्शन

एकस्मिन्योगे भुरणा समाने परि वां सप्त स्रवतो रथो गात्।
न वायन्ति सुभ्वो देवयुक्ता ये वां धूर्षु तरणयो वहन्ति ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे **भुरणा**=प्रजाओं के पोषक जितेन्द्रिय नर-नारियो! **एकस्मिन् समाने**=एक समान आदर युक्त **योगे**=परस्पर मिलने पर **वां रथः**=आप दोनों के रथ के समान सन्मार्ग पर ले जाने हारा उपदेष्टा पुरुष **सप्त स्रवतः**=प्रवाह से निकलनेवाली सात छन्दोमय वाणियों को **परि गात्**=प्राप्त करे, करावे। **ये**=जो **वां**=आप दोनों के **धूर्षु**=धुराओं में लगे, धुरन्धर विद्वान् **तरणयः**=वेगवान् अश्व तुल्य वेग से संकटों से पार उतारनेवाले विद्वान् **वां वहन्ति**=आप दोनों को सन्मार्ग पर ले जाते हैं **सुभ्वः**=उत्तम सामर्थ्यवान् **देवयुक्ताः**=विद्वानों से नियुक्त होकर **न वायन्ति**=सत्पथ से विचलित नहीं होते।

भावार्थ–श्रेष्ठ विद्वानों का कर्त्तव्य है कि वे प्रजाओं को सात छन्दोंवाली वेदवाणी का उपदेश किया करें। इससे स्त्री–पुरुष जितेन्द्रिय होकर सन्मार्ग पर चलते रहेंगे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अश्विनौ** ॥ छन्द:–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:–**धैवतः** ॥

दुर्गुण त्याग

असश्चता मघवद्भ्यो हि भूतं ये राया मघदेयं जुनन्ति।
प्र ये बन्धुं सूनृताभिस्तिरन्ते गव्या पृञ्चन्तो अश्व्या मघानि ॥ ९ ॥

पदार्थ–हे नर–नारियो! **ये**=जो **राया**=ऐश्वर्य बल से **मघ-देयं**=दातव्य ऐश्वर्य **जुनन्ति**=देते हैं उन **मघवद्भ्यः**=ज्ञान–धनशाली पुरुषों के उपकार हेतु आप लोग **असश्चता हि भूतम्**=दुर्व्यसनों में असक्त रहो। **ये**=जो लोग **अश्व्या**=अश्वयुक्त और **गव्या**=गौवों से समृद्ध **मघानि**=धनों को **पृञ्चन्तः**=प्राप्त करते हुए **सूनृताभिः**=उत्तम वाणियों और अन्नों से **बन्धुं**=बन्धुजन को **प्र तिरन्ते**=अच्छी प्रकार बढ़ाते हैं उनके लिये आप विषयादि में न फँसकर सेवा में तत्पर रहो।

भावार्थ–उत्तम स्त्री–पुरुष दुर्व्यव्यसनों में कभी न फँसें तथा परोपकार के कार्यों में सदैव दान देते हुए सेवा कार्यों में तत्पर रहें।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अश्विनौ** ॥ छन्द:–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:–**धैवतः** ॥

विद्या प्राप्ति

नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत्।
धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० ॥

पदार्थ–हे **अश्विना**=जिज्ञासु स्त्री–पुरुषो! आप **युवाना**=युवा–युवति होकर **मे**=मुझ विद्वान् के **हवम् आ शृणुतम्**=उपदेश को आदर से सुनो। आप लोग **इरावत् वर्तिः**=जल अन्नयुक्त मार्ग के समान, उत्तम प्रेरणा–युक्त व्यवहार को **आ यासिष्टं नु**=अवश्य प्राप्त हो। **रत्नानि धत्तम्**=रत्नतुल्य श्रेष्ठ गुणों को धारण करो। **सुरीन्**=विद्वान् पुरुषों को **जरतं च**=प्राप्त होकर विद्या–लाभ करो। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं**=आप लोग **स्वतिभिः नः सदा पात**=उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ–युवावस्था में स्त्री–पुरुष विद्वानों के उत्तम उपदेशों को सुनकर सुप्रेरणा प्राप्त करें। सद्गुणों को जीवन में धारण करके व्यवहार को श्रेष्ठ बनावें। वास्तव में यही विद्या प्राप्ति है।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और अश्विनौ है।

[६८] अष्टषष्टितमं सूक्तम्

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अश्विनौ** ॥ छन्द:–**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥ स्वर:–**धैवतः** ॥

इन्द्रियजय

आ शुभ्रा यातमश्विना स्वश्वा गिरो दस्रा जुजुषाणा युवाकोः।
हव्यानि च प्रतिभृता वीतं नः ॥ १ ॥

पदार्थ–हे **अश्विना**=इन्द्रियों पर वशी स्त्री–पुरुषो! आप दोनों **दस्रा**=दु:खनाश में तत्पर होकर **युवाकोः**=तुम दोनों को चाहनेवाले मुझ विद्वान् की **गिरः**=उपदेश वाणियों को **जुजुषाणा**=श्रवण करते हुए **शुभ्रा**=उत्तम गुणों, आभरणों से शोभित और **सु-अश्वा**=उत्तम अश्वारूढ़ वीरवत्, उत्तम विद्या में गतिशील होकर **आ यातम्**=आओ। **नः**=हमारे **प्रति-भृता**=बदले में दिये

भरण पोषणार्थ **हव्यानि**=उत्तम अन्नों का **वीतम्**=भोजन करो।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में रखनेवाले स्त्री-पुरुष विद्वानों की शरण में जाकर उत्तम उपदेश को सुनें तथा श्रेष्ठ गुणों को जीवन में धारण करके जीवन को सुन्दर बनावें और उन विद्वानों को उत्तम अन्न का भोजन कराके सत्कार करें।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**साम्नीनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

सात्त्विक भोजन

प्र वा॒मन्धां॑सि॒ मद्या॒न्यस्थु॒ररं॑ गन्तं ह॒विषो॑ वी॒तये॑ मे।
ति॒रो अ॒र्यो हव॑नानि श्रु॒तं नः॑ ॥ २ ॥

पदार्थ—हे विद्वान्, स्त्री पुरुषो! **वां**=आप दोनों के लिये **मद्यानि**=आनन्दप्रद **अन्धांसि**=जीवन-धारक उत्तम अन्न **प्र अस्थुः**=अच्छी प्रकार रक्खे हैं आप दोनों **मे**=मेरे **हविषः**=उत्तम अन्न को **वीतये**=खाने के लिये **अरं गन्तं**=अवश्य आइये। **अर्यः**=शत्रु के **हवनानि**=आह्वानों को **तिरः**=तिरस्कार करके **नः हवनानि**=हमारे उत्तम वचनों को **श्रुतं**=श्रवण करो।

भावार्थ—विद्वान् स्त्री-पुरुष सदैव सात्त्विक अन्न का ही ग्रहण करें, दुष्ट लोगों के आग्रह को कभी भी स्वीकार न करें। और विद्वानों के उत्तम वचनों को सुनें।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**साम्नीनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

शिष्यों का कर्त्तव्य

प्र वां॒ रथो॒ मनो॑जवा इयर्ति ति॒रो रजां॑स्यश्विना श॒तोतिः॑। अ॒स्मभ्यं॑ सूर्यावसू इया॒नः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय पुरुषो! **रथः**=उपदेश **मनोजवाः**=मन को प्रेरणा करनेवाला **शत-ऊतिः**=सैकड़ों ज्ञानों से युक्त और सैकड़ों संकटों से रक्षक होकर **वां**=आप दोनों के **रजांसि**=तेज को सूर्य के समान, राजस आवरणों को **तिरः इयर्त्ति**=दूर करता है। हे **सूर्यावसू**=सूर्य के समान तेजस्वी गुरुजनों, विद्या-प्रकाशक गुरु के अधीन ब्रह्मचर्य से बसनेवाले ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी जनो! वह सदा **अस्मभ्यं इयानः**=हमारे हितार्थ आता हुआ **रजांसि**=राजस आवरणों को **तिरः**=दूर करे।

भावार्थ—शिष्य लोग विद्या के प्रकाशक गुरुजनों के अधीन रहकर ब्रह्मचर्य का पालन व ज्ञान से युक्त होकर राजस वृत्ति का त्याग करें।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**साम्नीभुरिगासुरीविराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

ज्ञान दाता पुरुष

अ॒यं ह॒ यद्वां॑ देव॒या उ॒ अद्रि॑रू॒र्ध्वो विव॑क्ति सोम॒सुद्यु॒वभ्या॑म्। आ व॒ल्गू विप्रो॑ ववृतीत ह॒व्यैः ॥ ४ ॥

पदार्थ—**देवया**=विद्वानों को अन्नों और ज्ञानों का दाता, उनका सत्कारक पुरुष **अयं ह**=वह है **यत्**=जो **अद्रिः**=मेघ तुल्य उदार होकर **सोम-सुत्**=उत्तम अन्न ओषधियों के रसवत् ज्ञानदाता होकर **ऊर्ध्वः**=उत्तम पद पर स्थित होकर **युवभ्याम्**=तुम दोनों के लाभ के लिये **विवक्ति**=विविध उपदेश कहे। **विप्रः**=विद्वान् पुरुष **वल्गू**=उत्तम वाणी बोलनेवाले आप दोनों का **हव्यैः**=दान योग्य उत्तम ज्ञानों और अन्नादि से **ववृतीत**=सत्कार करे।

भावार्थ—विद्वान् पुरुषों को योग्य है कि वे उच्च व श्रेष्ठ पदों को प्राप्त करके अपने उपदेशों द्वारा उत्तम ज्ञान का दान करते रहें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**साम्नीनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

ज्ञान से रक्षा

चित्रं ह यद्वां भोजनं न्वस्ति न्यत्रये महिष्वन्तं युयोतम्। यो वामोमानं दधते प्रियः सन् ॥ ५ ॥

पदार्थ-**यः**=जो **वाम्**=आप दोनों का **प्रियः सन्**=प्रिय होकर **महिष्वन्तं**=उत्तम परिणाम-जनक **ओमानं**=ज्ञान और रक्षण-सामर्थ्य **दधते**=स्वयं धारता और आपको धारण कराता है, उस **अत्रये**=त्रिविध ताप रहित, तीन ऋणों से मुक्त विद्वान् के लिये **यद् वा चित्रं भोजनं नु अस्ति**=जो आपका नाना प्रकार का भोजन है वह **नि युयोतम्**=अवश्य पृथक् करो।

भावार्थ-जो पुरुष ज्ञान को स्वयं धारण करता है तथा अन्यों को भी धारण कराता है वह आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक तीनों प्रकार के तापों से बचा रहता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

रक्षायुक्त रथ

उत त्यद्वां जुरते अश्विना भूच्च्यवानाय प्रतीत्यं हविर्दे। अधि यद्वर्प इतऊति धत्थः ॥ ६ ॥

पदार्थ-हे **अश्विना**=वेगवान् रथों, यन्त्रों के स्वामी स्त्री-पुरुषो! आप लोग **हविर्दे**=अन्न, भूमि और उत्तम साधनों के दाता **जुरते**=वृद्ध, मान्य **च्यवानाय**=जाने को उद्यत पुरुष हितार्थ **प्रतीत्यम्**=प्रत्येक देश में पहुँचने योग्य **इतः-ऊति**=इधर-उधर से रक्षायुक्त, **वर्पः**=उत्तम रूपयुक्त रथादि **अधि धत्थः**=प्रदान करते रहो। **वां त्यत्**=आप दोनों का वही **प्रतीत्यं भूत्**=प्रसिद्धकर कर्म है।

भावार्थ-जो यन्त्रों व रथों=वाहनों के स्वामी हैं वे देश-विदेश आने-जाने के लिए यात्रियों व व्यापारियों को समय पर वाहन उपलब्ध करावें तथा उन वाहनों व यात्रियों की सुरक्षा व्यवस्था भी करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**साम्नीभुरिगासुरीविराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

कष्ट निवारण

उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवासः समुद्रे। निरीं पर्षदरावा यो युवाकुः ॥ ७ ॥

पदार्थ-हे **अश्विना**=विद्वान् रथी सारथीवत् साधनयुक्त जनो! **दुरेवासः**=दुष्ट कामनायुक्त **सखायः**=मित्र लोग जिसको **मध्ये समुद्रे**=कष्टों के बीच समुद्र में **जहुः**=छोड़ देते हैं **भुज्यम्**=भुजा का सहारा चाहनेवाले **त्यं**=उस पुरुष को आप लोग **निः पर्षद् ईं**=अवश्य पार करो **यः**=जो **आराव**=बिचारा, नीरव, मूक और **युवाकुः**=तुम दोनों को चाहता, पुकारता और सहायता की याचना करता हो।

भावार्थ-कष्ट काल में जिसे मित्र लोग छोड़ गये हैं ऐसे बेसहारा को साधन युक्त जन कष्टों से निकालने में सहायक बनें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

स्त्री रक्षा

वृकाय चिज्जसमानाय शक्तमुत श्रुतं शयवे हूयमाना।
यावघ्न्यामपिन्वतमपो न स्तर्यं चिच्छक्त्यश्विना शचीभिः ॥ ८ ॥

पदार्थ-हे **अश्विना**=अश्वों और यन्त्रों की विद्या जाननेवाले स्त्री-पुरुषो! आप दोनों

जसमानाय=प्रजानाश करनेवाले, **वृकाय**=चोर दम्भी पुरुष के दमन के लिये **चित्**=अवश्य **शक्तम्**=समर्थ बनो। और **हूयमाना**=आदर से बुलाये गये आप दोनों **शयवे**=सुखेच्छु पुरुष के हितार्थ **श्रुतम्**=उसकी प्रार्थनादि श्रवण करो। **यौ**=जो आप दोनों **शक्ती**=शक्ति और **शचीभिः**=वाणियों द्वारा **अपः न**=जल जैसे नदी को पूर्ण करते वैसे **स्तर्यं**=आच्छादन, भरण, पोषण और आश्रय देने और **अघ्न्याम्**=न मारने योग्य गौ के समान कन्या, स्त्री भूमि और प्रजा को **अपिन्वतम्**=पुष्ट करो।

भावार्थ—यन्त्रविद्या के जाननेवाले स्त्री-पुरुष दुष्टों व दम्भियों के चंगुल में फँसी स्त्री की रक्षा करें तथा उन दुष्टों का दमन करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

विद्वानों का कर्त्तव्य

एष स्य कारुर्जरते सूक्तैरग्रे बुधान उषसां सुमन्मा।
इषा तं वर्धदघ्न्या पयोभिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ९॥

पदार्थ—हे उत्तम स्त्री-पुरुषो! **उषसां अग्रे, यथा सु-मन्मा कारुः जरते**=प्रभात वेलाओं के आगमन के पूर्व जैसे उत्तम विचारवान् पुरुष स्तुति करता है वैसे **सु-मन्मा**=उत्तम ज्ञानवान्, **बुधानः**=स्वयं बोधवान् अन्यों को बोध कराता हुआ **कारुः**=मन्त्रों का व्याख्याता विद्वान् **एषः स्यः**=वही है जो **सूक्तैः**=उत्तम मन्त्र गणों से **उषसाम् अग्रे**=ज्ञान-कामनावाले शिष्यों के समक्ष **जरते**=विद्या का उपदेश करता है। **अघ्न्या पयोभिः**=गौ जैसे दुग्धों से पालक को बढ़ाती है वैसे ही '**अघ्न्या**' अविनाशी वेदवाणी, प्रभुशक्ति वा आत्मशक्ति **तं**=उसको **इषा वर्धत्**=इच्छा शक्ति से बढ़ाती है। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं**=आप **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारा सदा उत्तम साधनों से पालन करो।

भावार्थ—उत्तम विद्वान् का कर्त्तव्य है कि वह ज्ञान की कामनावाले शिष्यों को वेद वाणी द्वारा विद्या का उपदेश करके उनकी इच्छाशक्ति को सुदृढ़ करे।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता अश्विनौ ही है।

[६९] एकोनसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

राजा का कर्त्तव्य

आ वां रथो रोदसी बद्बधानो हिरण्ययो वृषभिर्यात्वश्वैः।
घृतवर्तनिः पविभी रुचान इषां वोळ्हा नृपतिर्वाजिनीवान्॥ १॥

पदार्थ—जैसे **रथः हिरण्ययः**=लोह-सुवर्णादि धातु का बना रथ **वृषभिः अश्वैः याति**=बलवान् अश्वों या बैलों से चलता है, वह **घृतवर्तनिः**=जल से सिंचे मार्ग पर चलने हारा और **पविभिः रुचानः**=चक्रधाराओं से सुशोभित और **इषां वोढा**=इष्ट अन्नादि का वहन करनेवाला और **वाजिनीवान्**=बलवती शक्ति से युक्त होकर **नृ-पतिः**=मनुष्यों का रक्षक होता है वैसे ही **वाजिनीवान्**=बलवती सेना, ज्ञानसम्पन्न वाणी और भूमि का स्वामी, **नृ-पतिः**=प्रजा पालक राजा, **रथः**=रमणीय-स्वभाव, उत्तम विद्या का उपदेष्टा, प्रजा को रमाने हारा **हिरण्ययः**=हितैषी और सुखप्रद **बद्बधानः**=दुष्टों को बाधा और बन्धनादि करता हुआ, **वृषभिः अश्वैः**=विद्याओं में पारंगत वीर पुरुषों सहित **रोदसी वां**=सूर्य-भूमिवत् सम्बद्ध आप दोनों राजा-प्रजावर्गों और गृहस्थ

स्त्री-पुरुषों को **आ यातु**=प्राप्त हो। वह **घृतवर्त्तनिः**=स्निग्ध मार्ग से जानेवाला, उत्तम व्यवहारवान् और **पविभिः रुचानः**=पवित्र आचरणयुक्त, उत्तम हथियारों से सुशोभित गृहस्थ **इषां वोढा**=अभिलषित दार से विवाह करने हारा हो और राजा **इषां वोढा**=सेनाओं को अपने जिम्मे लेकर चलने हारा हो।

भावार्थ-राजा को योग्य है कि वह सुदृढ़ धातुओं से रथों व यन्त्रों का निर्माण करावे, युद्धविद्या में पारंगत वीर पुरुषों को सेना में उत्तम पद प्रदान कर सेनापति के सहयोग से राष्ट्र की प्रजा की रक्षा करे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

राज्य-प्रबन्ध

स पप्रथानो अभि पञ्च भूमा त्रिबन्धुरो मनसा यातु युक्तः ।
विशो येन गच्छथो देवयन्तीः कुत्रा चिद्याममश्विना दधाना ॥ २ ॥

पदार्थ-जैसे रथ **त्रि-बन्धुरः**=सारथि आदि के बैठने के योग्य तीन स्थानों से युक्त होता है जिनसे **कुत्र चित् यामं दधाता**=कहीं भी जाना चाहते हुए रथी सारथी जाते हैं वैसे ही हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो ! **सः**=वह विद्वान् और वीर पुरुष **भूमा**=महान् सामर्थ्य से युक्त, **पञ्च अभि**=पाँचों जनों के समक्ष ज्ञान और बल का विस्तार करता हुआ **त्रि-बन्धुरः**=तीनों वेदों का धारक और तीन प्रकार के बल का आश्रय होकर, **मनसा**=ज्ञान और प्रबल चित्त से युक्त होकर **अभि यातु**=आगे आवे। **येन**=जिसकी सहायता से आप दोनों स्त्री-पुरुष, राजा-रानी, **देवयन्तीः विशः**=कामनायुक्त प्रजाओं को **गच्छथः**=प्राप्त होते और **कुत्र चित्**=जहाँ चाहे कहीं भी **यामं दधानां**=गमन, परस्पर वैवाहिक बन्धन और राज्य-प्रबन्ध को धारण करते हुए **गच्छथः**=प्राप्त होते हो।

भावार्थ-राजा व रानी जितेन्द्रिय और सामर्थ्यवान् होवें। वे अपनी पाँचों प्रकार की प्रजाओं (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद) को वेद ज्ञान तथा बल से युक्त करने की व्यवस्था करें और राज्य-प्रबन्ध में दोनों कुशल होवें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**आर्षीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

राजा-प्रजा का कर्त्तव्य

स्वश्वा यशसा यातमर्वाग्दस्रा निधिं मधुमन्तं पिबाथः ।
वि वां रथो वध्वाइ यादमानोऽन्तान्दिवो बाधते वर्तनिभ्याम् ॥ ३ ॥

पदार्थ-जैसे **रथः वर्त्तनिभ्यां दिवः अन्तान् बाधते**=रथ चक्रधाराओं से भूमि के प्रान्त भागों को पीड़ित करता है वैसे ही हे स्त्री-पुरुषो ! राज-प्रजाजनो ! **वां**=आप दोनों में **रथः**=रम्य व्यवहारवान्, या स्थिर, दृढ़ पुरुष **वध्वा**=सहयोगिनी वधू वा कार्य-भार की वाहक शक्ति के साथ **यादमानः**=यत्नवान् होता हुआ **वर्त्तनिभ्याम्**=ऐहिक और परमार्थिक व्यवहारों या देवयान पितृयाण मार्गों से **दिवः अन्तान् बाधते**=ज्ञान-सिद्धान्तों का अवगाहन करे। हे **स्वश्वा**=उत्तम अश्वों, इन्द्रियों से युक्त ! हे **दस्रा**=अज्ञानादि-नाशक जनो ! आप दोनों **यशसा**=यश के साथ **अर्वाग् यातम्**=आगे बढ़ो और **मधुमन्तं निधिं**=मधुर ज्ञानों से युक्त, वेद-निधि या कोश का **पिबाथः**=पालन और उपभोग करो।

भावार्थ-राजा और प्रजा दोनों मिलकर सेना की प्रबन्ध व्यवस्था को सुदृढ़ करें। प्रयत्न

पूर्वक ज्ञान-सिद्धान्तों का चिन्तन करके अज्ञान का नाश तथा मधुर ज्ञान से युक्त वेदरूपी कोष की रक्षा करते हुए अपने लोक और परलोक को सुधारें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

दीर्घायु

युवोः श्रियं परि योषावृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम्।
यद्देवयन्तमवथः शचीभिः परि घ्रंसमोमना वां वयो गात्॥ ४॥

पदार्थ-हे स्त्री-पुरुषो! **युवोः**=तुम दोनों में **सूरः दुहिता**=सूर्य की कान्तिवाली उषा के समान सुन्दरी **योषा**=पुरुष की प्रेमपूर्वक अभिलाषावाली स्त्री **परि-तक्म्यायाम्**=कामाग्नि-युक्त, यौवन दशा में, **श्रियं**=आश्रय-योग्य, सेवनीय पुरुष को **परि वृणीत**=स्वीकार करे। आप दोनों **शचीभिः**=उत्तम कर्मों और वाणियों से **देवयन्तम्**=प्रिय कामनावान् सहयोगी को **अवथः**=प्राप्त हुआ करो और **वां घ्रंसम्**=आप दोनों में तेजस्वी पुरुष को **ओमना**=रक्षण-योग्य बल सहित **वयः**=उत्तम, दीर्घायु, अन्न बलादि **परि गात्**=प्राप्त हो।

भावार्थ-स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य पालन के द्वारा कान्तिमान् व तेजस्वी होकर परस्पर मधुरता का व्यवहार करें तथा उत्तम कर्मों द्वारा दीर्घायु को प्राप्त होवें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

गृहस्थ प्रशंसा

यो ह स्य वां रथिरा वस्त उस्रा रथो युजानः परियाति वर्तिः।
तेन नः शं योरुषसो व्युष्टौ न्यश्विना वहतं यज्ञे अस्मिन्॥ ५॥

पदार्थ-हे **रथिरा**=रथ पर स्थित, रथी सारथी के समान सहयोगी स्त्री-पुरुषो! **वां**=आप दोनों में से **यः**=जो प्रत्येक **रथः**=स्थिर भाव से रहने और गृहस्थ में रमनेवाला हो वह **उस्राः वस्ते**=किरणों को सूर्य के समान, उज्ज्वल वस्त्रों को धारण करे। वह **युजानः**=उड़े रथ तुल्य स्वयं **युजानः**=संयुक्त होकर, ग्रन्थि जोड़कर **वर्त्तिः परियाति**=गृहस्थ आश्रम को प्राप्त हो। **उषसः**=प्रभात वेला के समान कान्तिमती कन्या की **व्युष्टौ**=विशेष विवाह की कामना होने पर **तेन**=उस पुरुष से ही **नः**=हमें **शं योः**=शान्ति और सुख प्राप्त हो। हे **अश्विना**=उत्तम जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो! **अस्मिन् यज्ञे**=इस यज्ञ अर्थात् परस्पर संगति और दान-प्रतिदानमय सद्-व्यवहार में आप दोनों **नि वहतम्**=एक दूसरे को धारण करो, विवाहित होकर रहो।

भावार्थ-कान्तियुक्त स्त्री-पुरुष परस्पर विवाहित होकर एक-दूसरे को धारण करें। जितेन्द्रिय होकर गृहस्थरूप यज्ञ अर्थात् सद्-व्यवहार के द्वारा सुख-शान्ति को प्राप्त होवें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

गृहस्थ का कर्त्तव्य

नरा गौरेव विद्युतं तृषाणास्माकमद्य सवनोप यातम्।
पुरुत्रा हि वां मतिभिर्हवन्ते मा वामन्ये नि यमन्देवयन्तः॥ ६॥

पदार्थ-**गौरा इव तृषाणा सवना**=जैसे प्यासे दो मृग जलों को प्राप्त करते हैं वैसे हे **नरा**=स्त्री-पुरुषो! **अस्माकं**=हम में से **गौरा**=विद्या वाणी में विख्यात होकर **विद्युतम् उप यातम्**=विशेष कान्ति को प्राप्त करो और **तृषाणा**=कामनावान् या अति उत्सुक होकर **अद्य**=आज

सवना=यज्ञों, ऐश्वर्यों और पुत्र-प्रसवादि गृहोचित कार्यों को **उप यातम्**=प्राप्त होओ। विद्वान् पुरुष **वां**=आप दोनों की **पुरुत्रा**=बहुत से कार्यों में **हवन्ते हि**=स्तुति करते हैं। **अन्ये**=दूसरे शत्रुजन **देवयन्तः**=द्यूतक्रीड़ा आदि व्यवहार करते हुए **वाम् मा नियमन्**=आप दोनों को न फँसा लें।

भावार्थ–स्त्री-पुरुष विद्या एवं व्यवहार में निष्णात होकर यज्ञ, पुरुषार्थ व सन्तानोत्पत्ति आदि गृहोचित कार्य करें। जुआ खेलना आदि बुरे कार्यों से सदैव बचे रहें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अश्विनौ** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

परस्पर सहयोग

युवं भुज्युमवविद्धं समुद्र उदूहथुरर्णसो अस्त्रिधानैः।
पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिर्दंसनाभिरश्विना पारयन्ता ॥ ७ ॥

पदार्थ–**समुद्रे अवविद्धं भुज्युम् यथा अश्विना अस्त्रिधानैः पतत्रिभिः अर्णसः पारयतः**=समुद्र में फँसे भोग्य ऐश्वर्य की कामनावाले व्यापारी को जैसे वेगयुक्त नौका यन्त्रादि के अध्यक्ष जन पतवारों द्वारा पार करते हैं वैसे हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय उत्तम शिष्यो! एवं रथी-सारथिवत् गृहस्थ-रथ में स्थित स्त्री-पुरुषो! **युवम्**=आप दोनों **समुद्रे अवविद्धं**=कामनामय समुद्र में अवपीड़ित, **भुज्युम्**=एक दूसरे का सहारा चाहनेवाले या सांसारिक भोग वा संसार में रक्षा चाहनेवाले सहचर को **अर्णसः**=पितृ ऋण से **अस्त्रिधानैः**=नष्ट न होनेवाले **अश्रमैः**=न थकनेवाले, **अव्यथिभिः**=पीड़ित न होने और अन्यों को पीड़ा न देनेवाले **पतत्रिभिः**=गमन योग्य तीन आश्रमों से और **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों से **पारयन्ता**=पार करते हुए **उद् ऊहथुः**=उत्तम मार्ग से ले जाओ।

भावार्थ–जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुष गृहस्थ में स्थित होकर पितृ ऋण से उऋण होने के लिए सुसन्तान को जन्म देवें तथा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी व संन्यासी तीनों आश्रमवासियों का पालन करें और फिर गृहस्थ से आगे बढ़कर आश्रम व्यवस्था का अनुपालन करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अश्विनौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वानों की संगति

नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत्।
धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ८ ॥

पदार्थ–हे **अश्विना**=जिज्ञासु स्त्री-पुरुषो! आप **युवाना**=युवा-युवति होकर **मे**=मुझ विद्वान् के **हवम् आ शृणुतम्**=उपदेश को आदर से सुनो। आप लोग **इरावत् वर्त्तिः**=जल अन्नयुक्त मार्ग के समान, उत्तम प्रेरणा-युक्त व्यवहार को **आ यासिष्टं नु**=अवश्य प्राप्त हो। **रत्नानि धत्तम्**=रत्नतुल्य श्रेष्ठ गुणों को धारण करो। **सुरीन्**=विद्वान् पुरुषों को **जरतं च**=प्राप्त होकर विद्या-लाभ करो। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं**=आप लोग **स्वतिभिः नः सदा पात**=उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ–जिज्ञासु स्त्री-पुरुष युवावस्था में ही उत्तम विद्वानों का सान्निध्य प्राप्त कर उनके उपदेशों से श्रेष्ठ गुणों को धारण करते हुए विद्या का संग्रह करें।

अगले सूक्त का ऋषि भी वसिष्ठ और अश्विनौ देवता ही है।

[७०] सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता

आ विश्ववाराश्विना गतं नः प्र तत्स्थानमवाचि वां पृथिव्याम्।
अश्वो न वाजी शुनपृष्ठो अस्थादा यत्सेदथुर्ध्रुवसे न योनिम्॥ १ ॥

पदार्थ-हे **विश्ववारा अश्विना**=सबसे वरणीय उत्तम स्त्री-पुरुषो! आप दोनों **नः**=हमारे **आगतम्**=पास आओ। **वां**=आप दोनों का **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर **तत् स्थानम्**=गृहस्थाश्रम **प्र अवाचि**=उत्तम कहा है, **यत्**=जिसमें **वाजी**=बलवान् पुरुष **शुन-पृष्ठः**=सुखद पीठवाले अश्व के समान सुखों का आश्रय होकर **अस्थात्**=रहता है। आप पति-पत्नी **ध्रुवसे**=स्थिरता के लिये **योनिम् सेदथुः**=एक गृह में विराजते हो।

भावार्थ-गृहस्थाश्रम पृथिवी पर तभी उत्तम है जब गृहस्थ स्त्री-पुरुष स्वस्थ, संयमी तथा बलवान् होवें तथा परस्पर प्रीतिपूर्वक रहें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्य

सिषक्ति सा वां सुमतिश्चनिष्ठातापि घर्मो मनुषो दुरोणे।
यो वां समुद्रान्त्सरितः पिपर्त्येतग्वा चिन्न सुयुजा युजानः ॥ २ ॥

पदार्थ-**दुरोणे घर्मः**=जहाँ कोई चढ़ नहीं सकता ऐसे ऊँचे आकाश में सूर्य के समान **मनुषः**=मनुष्य **दुरोणे**=घर में और राजा राष्ट्र में उच्च पद पर विराज कर **अतापि**=तप करे। ऐसे ही ब्रह्मचारी **घर्मः**=ज्ञान-बल से सिक्त-स्नातक होकर **मनुषः दुरोणे**=मननशील आचार्य के गृह में **अतापि**=तप करे, उस समय **वां**=तुम दोनों की **चनिष्ठा**=श्रेष्ठ व गुरुवचनमय **सुमतिः**=शुभमति **सिषक्ति**=प्राप्त हो। **एतग्वा चित्**=अश्व के समान गृहस्थ-रथ में नियुक्त आप दोनों **सुयुजा**=उत्तम सहयोगी जनों को **युजानः**=जोड़ता हुआ, सत्कर्म में नियुक्त करता हुआ **यः**=जो **समुद्रान् सरितः**=समुद्रों को नदियों के समान **पिपर्त्ति**=पूर्ण करे वह उत्तम ज्ञानी गुरु सूर्यवत् तेजस्वी हो।

भावार्थ-गृहस्थाश्रम ऊँचा है। मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके तप करे तथा सत्कर्म करता हुआ समाज के लोगों को एक सांस्कृतिक-राष्ट्रीय विचारधारा से जोड़े और यदि इसके घर में कोई ब्रह्मचारी आवे तो उसको ज्ञान प्रदान कर तपस्वी बनने की प्रेरणा करे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

सूर्यवत् तेजस्वी बनो

यानि स्थानान्यश्विना दधाथे दिवो यह्वीष्वोषधीषु विक्षु।
नि पर्वतस्य मूर्धनि सदन्तेषं जनाय दाशुषे वहन्ता॥ ३ ॥

पदार्थ-हे **अश्विना**=इन्द्रियों के स्वामी, स्त्री पुरुषो! **दिवः ओषधीषु**=सूर्य-ताप को धारण करनेवाली **विक्षु**=प्रजाओं में दिन-रात्रि के समान आप दोनों भी **दिवः**=इस पृथिवी की **यह्वीषु**=बड़ी-बड़ी **ओषधीषु**=शत्रु-सन्तापक तेज की धारक सेनाओं और **यह्वीषु विक्षु**='यहु' अर्थात् सन्तानवत् पालन योग्य प्रजाओं के बीच में **यानि**=जितने भी **स्थानानि**=आदर के पद हैं उन सब पर आप लोग **पर्वतस्य मूर्धनि**=पर्वत के शिरोभाग में सूर्यवत् तेजस्वी होकर **सदन्ता**=विराजते

हुए, **दाशुषे जनाय**=करादि व वस्त्राभूषणादि देनेवाले **जनाय**=प्रजाजन की वृद्धि के लिये **वहन्ता**=कार्य-भार को अपने कन्धों पर लेते हुए **दधाथे**=धारण करो।

भावार्थ—जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुष राज्य-शासन के उच्च पदों को प्राप्त करें। सेना में उच्च पद पाकर शत्रुओं का नाश करें तथा प्रशासन में उच्च पद पाकर प्रजा जनों का उत्तमता के साथ पालन-पोषण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नव दम्पति को उपदेश

चनिष्टं देवा ओषधीष्वप्सु यद्योग्या अश्नवैथे ऋषीणाम्।
पुरूणि रत्ना दधतौ न्य१स्मे अनु पूर्वाणि चख्यथुर्युगानि ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे **देवा**=तेजस्वी स्त्री-पुरुषो! **ओषधीषु**=ओषधियों में और **अप्सु**=जलों में **यत्**=जो औषधियाँ और जलवत् द्रव पदार्थ, **ऋषीणां योग्या**=मन्त्रद्रष्टा ऋषियों वा प्राणों के पोषण-योग्य हों उनकी ही आप दोनों **चनिष्टं**=कामना करो और उनको ही **अश्नवैथे**=खाया-पिया करो। आप दोनों **रुरूणि रत्ना**=बहुत से रत्न और रम्य गुणों को **दधतौ**=धारण करते हुए **अस्मे**=हमारे आगे **पूर्वाणि**=पूर्व के प्रसिद्ध **युगानि**=पति-पत्नी के अनुकरणीय जोड़े का **अनु**=अनुकरण **नि चख्यथुः**=आदर्श-रूप होकर बतलाओ।

भावार्थ—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाले नवदम्पति उत्तम औषध सेवन के द्वारा स्वस्थ व पुष्ट रहें। ऋषियों, तपस्वियों को घर में बुलाकर उनसे गृहस्थ धर्म की शिक्षा लेवें तथा पूर्व गृहस्थों के समान आदर्श गृहस्थ बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान प्राप्ति

शुश्रुवांसा चिदश्विना पुरूण्यभि ब्रह्माणि चक्षाथे ऋषीणाम्।
प्रति प्र यातं वरमा जनायास्मे वामस्तु सुमतिश्चनिष्ठा ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो! आप दोनों **चित्**=ही **ऋषीणां**=मन्द्रद्रष्टा पुरुषों के साक्षात् किये **पुरूणि**=बहुत **ब्रह्माणि**=वेद-मन्त्रों को **शुश्रुवांसा**=श्रवण करते हुए **अभि चक्षाथे**=उनके तत्त्वज्ञान को प्राप्त करो। आप लोग **जनाय**=मनुष्य के उपकारार्थ **वरम्**=उत्तम उद्देश्य को **प्रति यातम्**=लक्ष्य करके चलो। **वरम् प्र यातम्**=उत्तम ज्ञान प्राप्त करो, **वरम् आ यातम्**=वरण-योग्य श्रेष्ठ पुरुष और स्थान को ही आओ। **अस्मे**=हमारे लिये **वाम्**=आप दोनों की **चनिष्ठा**=प्रशंसनीय **सुमतिः अस्तु**=शुभमति हो।

भावार्थ—जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुष वेद मन्त्रों को सुनकर उनके तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करें तथा उस ज्ञान को अन्यों के लिए भी उपदेश करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गृहस्थी को उपदेश

यो वां यज्ञो नासत्या हविष्मान्कृतब्रह्मा समर्यो३ भवाति।
उप प्र यातं वरमा वसिष्ठमिमा ब्रह्माण्यृच्यन्ते युवभ्याम् ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे **नासत्या**=असत्याचरण न करनेवाले स्त्री-पुरुषो! **यः**=जो **यज्ञः**=पूजा-सत्संग-

योग्य **हविष्मान्**=उत्तम ज्ञान अन्न से सम्पन्न **कृत-ब्रह्मा**=वेदाध्यन में कृतश्रम और धनादि में समृद्ध **वां**=आप दोनों के प्रति **समर्यः**=नाना पुरुषों-सहित **भवति**=होता है आप दोनों ऐसे वरण-योग्य **वसिष्ठं**=सर्वोत्तम 'वसु', विद्वान् वा राजा को **उप आ यातम्**=प्राप्त होओ, हे स्त्री-पुरुषो! **युवभ्याम्**=आप दोनों के हितार्थ ही **इमा ब्रह्माणि**=ये वेदोक्त ज्ञान, अन्न, धन **ऋच्यन्ते**=ऋचाओं के रूप में प्रकट होते और प्रस्तुत किये जाते हैं।

भावार्थ—सदाचारी गृहस्थ स्त्री-पुरुष यज्ञ तथा वेदाध्ययन के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके पुरुषार्थ पूर्वक ऐश्वर्य को प्राप्त करें। इस प्रकार वे धनादि व सम्मान से समृद्ध बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गृहस्थ को हितकारी उपदेश

इयं मनीषा इयमश्विना गीरिमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम्।
इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो! **इयं**=यह **मनीषा**=मन की उत्तम इच्छा और **इयं गीः**=यह उत्तम वाणी है। आप दोनों **इमां**=इस **सु-वृक्तिं**=उत्तम वाणी को **वृषणा**=बलवान् होकर **जुषेथाम्**=सेवन करें। **इमा ब्रह्माणि**=ये वेद-वचन **युवयूनि**=आप के हितार्थ हैं। **यूयं**=हे विद्वान् लोगो! आप **स्वस्तिभिः नः सदा पात**=उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—गृहस्थी स्त्री-पुरुष जितेन्द्रिय, मधुर तथा सत्यभाषी हों। वेदवाणी का श्रवण करनेवाले हों। यह वेदवाणी सबके कल्याण के लिए है।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ और देवता अश्विनौ ही है।

[७१] एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्त्री के कर्त्तव्य

अप स्वसुरुषसो नग्जिहीते रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम्।
अश्वामघा गोमघा वां हुवेम दिवा नक्तं शरुमस्मद्युयोतम् ॥ १ ॥

पदार्थ—**नक् उषसः अप जिहीते**=जैसे उषाकाल से रात्रि दूर चली जाती है वैसे ही **उषसः**=प्रभात-वेला-तुल्य कान्तियुक्त, पति की याचना करनेवाली **स्वसु=स्व-सुः**=स्वयं वरणीय पति को प्राप्त करनेवाली वरवर्णिनी कन्या से **नक्**=सम्बन्धी जन उसके माता, पिता, भाई आदि **अप जिहीते**=दूर हो जाते हैं। वह माता-पिता से छूटकर पति की हो रहती है। **कृष्णीः**=कृष्णवर्णा रात्रि जैसे **अरुषाय पन्थाम् ऋणक्ति**=तेजस्वी सूर्य के लिये मार्ग छोड़ती है वैसे ही **कृष्णीः**=हृदय को आकर्षण करनेवाली स्त्री **अरुषाय**=तेजस्वी पुरुष के लिये **पन्थाम्**=मार्ग **रिणक्ति**=रिक्त करती है। आप आगे-आगे और पीछे पति को लेकर चलती है। **अश्वामघा गोमघा**=अश्वों और गौओं आदि धन-सम्पन्न स्त्री-पुरुषो! हम लोग **वाम् हुवेम**=आप लोगों से प्रार्थना करते हैं कि आप **अस्मत्**=हमसे **शरुम्**=हिंसक को **युयोतम्**=दूर करो।

भावार्थ—कान्तियुक्त कन्या माता, पिता, भाई आदि को छोड़कर तेजस्वी पति की हो जाती है तथा उसके हृदय को आकर्षित एवं आनन्दित करती है। दोनों प्रीतिपूर्वक रहकर पुरुषार्थ करके ऐश्वर्यशाली होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शिक्षक के कर्त्तव्य

उपायातं दाशुषे मर्त्याय रथेन वाममश्विना वहन्ता।
युयुतमस्मदनिराममीवां दिवा नक्तं माध्वी त्रासीथां नः ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **अश्विना**=विद्वान् स्त्री-पुरुषो! एवं गुरुजनो! आप लोग **दाशुषे मर्त्याय**=अपने को आप के प्रति समर्पण कर देनेवाले के हितार्थ **उप आयातम्**=समीप आइये और **रथेन वामम् वहन्ता**=गाड़ी आदि से जैसे उत्तम धन-सम्पदा लाई जाती है वैसे ही आप लोग **रथेन**=उत्तम उपदेश से **वामम्**=सुन्दर श्रवण योग्य ज्ञान को **वहन्ता**=प्राप्त कराते हुए **अस्मत्**=हमसे **अनिराम्**=अन्नादि के दारिद्र्य और 'इरा' अर्थात् विद्योपदेशमय वाणी के अभाव को तथा **अमीवाम्**=रोग-जनक दशा को **युयुताम्**=दूर करो और **दिवानक्तम्**=दिन-रात **माध्वी**=प्रसन्नचित्त वा 'मधु' अन्न, जल वा ज्ञान से युक्त होकर **नः त्रासीथाम्**=हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—गुरुजन अपने समर्पित शिष्यों के हित के लिए ज्ञान का उपदेश करें। जिससे वे शिष्य लोग ज्ञानी होकर रोग रहित स्वस्थ तथा दारिद्र्य रहित ऐश्वर्य सम्पन्न जीवन धारण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आदर्श गृहस्थ

आ वां रथमवमस्यां व्युष्टौ सुम्नायवो वृषणो वर्तयन्तु।
स्यूमगभस्तिमृतयुग्भिरश्वैराश्विना वसुमन्तं वहेथाम् ॥ ३ ॥

पदार्थ—जैसे रथ को बलवान् अश्व चलाते हैं और **ऋतयुग्भिः अश्वैः स्यूमगभस्तिं, वसुमन्तं रथं वहन्ति**=ज्ञान-पूर्वक लगे अश्वों से, सिली रासोंवाले और धनादि-सम्पन्न रथ को ले जाते हैं वैसे ही हे **अश्विना**=विद्या में व्यापक विद्वान् स्त्री-पुरुषों के स्वामी जनो! **वां**=आप के **रथं**=गृहस्थोचित कर्त्तव्य आदि को **अवमस्यां व्युष्टौ**=आगामी प्रभात वेला में **सुम्नायवः**=सुखाभिलाषी **वृषणः**=बलवान् पुरुष **वर्त्तयन्तु**=सम्पादित करें और आप दोनों **स्यूमगभस्तिम्**=सुखकारी रश्मियों या रासों से युक्त **वसुमन्तं रथं**=बसनेवाले, वा वसु ब्रह्मचारियों वा सुखैश्वर्य-युक्त गृहस्थाश्रम-रूप रथ को **ऋतयुग्भिः**=सत्य से जुड़े हुए, **अश्वैः**=विद्वानों की सहायता से **वहेथाम्**=धारण करो।

भावार्थ—गृहस्थ स्त्री-पुरुष ज्ञानपूर्वक अपने गृहस्थ के समस्त कार्यों को करें और इस सुख-ऐश्वर्ययुक्त गृहस्थाश्रम को विद्वानों के मार्गदर्शन में धारण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गृहस्थ के कर्त्तव्य

यो वां रथो नृपती अस्ति वोळ्हा त्रिवन्धुरो वसुमाँ उस्रयामा।
आ न एना नासत्योप यातमभि यद्वां विश्वप्स्न्यो जिगाति ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे **नृपती**=मनुष्य पति पत्नी! विवाहित स्त्री-पुरुषो! जैसे **रथः वोढा, त्रि-वन्धुरः**=रथ मनुष्यों को उठाकर ले जाने से 'वोढा' और तीन दण्डों से बने पीढ़े से युक्त होता है, वैसे ही **यः**=जो पुरुष **वां**=आप दोनों में से **रथः**=रम्यस्वभाव का, वा स्थिर होकर **वोढा**=गृहस्थ-भार सहनेवाला, **त्रि-वन्धुरः**=त्रि... **वसुमान्**=...वान्, **उस्रयामा**=सूर्यवत्

तेजस्वी होकर जाने हारा है और **यत् वां**=जो तुम दोनों में से **विश्व-पस्न्यः**=विशेष रूपवान् होकर **अधि जिगाति**=प्राप्त होता है, हे **नासत्या**=असत्य धारण न करने हारे स्त्री-पुरुषो! **एना**=उस व्यक्ति के बल से ही **नः आ उपयातम्**=हमें प्राप्त होओ।

भावार्थ—विवाहित स्त्री-पुरुष गृहस्थ में स्थित होकर गृहस्थ के उत्तरदायित्व को निभाते हुए असत्य आचरण से सदैव दूर रहकर ऐश्वर्यशाली बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पाप व अज्ञान से पार

युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदवं ऊहथुराशुमश्वम्।
निरंहसस्तमसः स्पर्त्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे वेग युक्त रथों, अश्वों, वाहनों और विद्यावान् पुरुषों के स्वामी स्त्री-पुरुषो! सभा-सेनापतियो! **युवं**=आप दोनों **च्यवानं**=सन्मार्गगामी पुरुष को **जरसः**=वृद्धावस्था वा आयु के नाश से **अमुमुक्तम्**=दूर करो। **पेदवे**=दूर देश-गामी के लिये **आशुम् अश्वम्**=शीघ्रगामी अश्वतुल्य साधन को **नि ऊहथुः**=निरन्तर चलाओ और **अत्रिम्**=तीनों दोषों से रहित पुरुष को **अंहसः**=पाप और **तमसः**=अज्ञान-अन्धकार से **निः स्पर्त्तम्**=पार करो, **जाहुषम्**=त्यागी, पुरुष को **शिथिरे**=शिथिल राष्ट्र में **अन्तः नि धातम्**=भीतर केन्द्र स्थान पर नियुक्त करो।

भावार्थ—विद्यावान् स्त्री-पुरुष प्रजा जनों को ज्ञान का उपदेश प्रदान कर उन्हें वृद्धावस्था पर्यन्त स्वस्थ जीवन जीने की कला सिखावें। तथा अज्ञान अन्धकार व पाप से बचावें। ऐसे त्यागी व पुरुषार्थी पुरुष को राष्ट्र की शासन व्यवस्था में उस क्षेत्र में नियुक्त करें जहाँ पर शिथिलता हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी का उपदेश

इयं मनीषा इयमश्विना गीरिमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम्।
इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो! **इयं**=यह **मनीषा**=मन की उत्तम इच्छा और **इयं गीः**=यह उत्तम वाणी है। आप दोनों **इमां**=इस **सु-वृक्तिं**=उत्तम वाणी को **वृषणा**=बलवान् होकर **जुषेथाम्**=सेवन करें। **इमा ब्रह्माणि**=ये वेद-वचन **युवयूनि**=आप के हितार्थ हैं। **यूयं**=हे विद्वान् लोगो! आप **स्वस्तिभिः नः सदा पात**=उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—संयमी स्त्री-पुरुष मन में शुभ चिन्तन करते हुए मधुर वाणी के द्वारा वेद वचनों से लोगों का हित चाहते हुए मार्गदर्शन करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और अश्विनौ देवता है।

[७२] द्विसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वस्थ शरीर

आ गोमता नासत्या रथेनाश्वावता पुरुश्चन्द्रेण यातम्।
अभि वां विश्वा नियुतः सचन्ते स्पार्हया श्रिया तन्वा शुभाना ॥ १ ॥

पदार्थ—हे विद्वान् स्त्री-पुरुषो! हे **नासत्या**=नासिकावत् प्रमुख स्थान पर विराजनेवाले प्रतिष्ठित

जनो! आप दोनों **गोमता**=उत्तम बैलोंवाले वा **अश्ववता**=घोड़ोंवाले **पुरु-चन्द्रेण**=बहुतों के आह्लादक **रथेन**=रथ से **आ यातम्**=आओ। **विश्वा नियुतः**=सब उत्तम प्रजाएँ वा सेनाएँ **वाम् अभि सचन्ते**=आप दोनों की ही सेवा करती हैं। आप दोनों **स्पार्हया**=स्पृहा-योग्य, मनोहर **श्रिया**=शोभा और **तन्वा**=स्वस्थ शरीर से **शुभाना**=शोभित होकर हमें प्राप्त होओ।

भावार्थ—विद्वान् स्त्री-पुरुष स्वस्थ व सुन्दर शरीरवाले हों। इससे अन्य प्रजा जन उन्हें आदर्श मानकर स्वस्थ व सुन्दर बनने का पुरुषार्थ करेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बन्धुत्व

आ नो॑ दे॒वेभि॒रुप॑ यातम॒र्वाक्स॒जोष॑सा नासत्या॒ रथे॑न।
यु॒वोर्हि नः॑ स॒ख्या पित्र्या॑णि समा॒नो बन्धु॑रु॒त तस्य॑ वित्तम्॥ २॥

पदार्थ—हे **नासत्या**=असत्याचरण न करने हारे स्त्री-पुरुषो! आप **देवेभिः**=विद्वान् पुरुषों के साथ **स-जोषसा**=प्रीति से सेवने योग्य, **रथेन**=रथ से, **नः आयातम्**=हमें प्राप्त होओ। **युवोः हि नः**=आप दोनों के **पित्र्याणि सख्या**=पिता पितामहादि से आये सौहार्द भाव हमारे साथ बने रहें। **युवोः नः बन्धुः समानः**=हमारे और तुम्हारे बन्धु भी समान हों **उत**=और आप दोनों **तस्य**=उस बन्धु को **वित्तम्**=भली प्रकार जानें।

भावार्थ—सदाचारी स्त्री-पुरुष विद्वानों के साथ रहते हुए मधुर व्यवहार सीखें। इससे वे प्रजाजनों के साथ प्रीतिपूर्वक उसी प्रकार वर्ताव करें जैसे एक ही दादा की सन्तान बन्धुभाव से रहती हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदोपदेश

उदु॒ स्तोमा॑सो अ॒श्विनो॑रबुध्रञ्जा॒मि ब्रह्मा॑ण्यु॒षस॑श्च दे॒वीः।
आ॒विवा॑स॒न्रोद॑सी॒ धिष्ण्ये॒मे अच्छा॒ विप्रो॒ नास॑त्या विवक्ति॥ ३॥

पदार्थ—**स्तोमासः**=वेद के सूक्त और **अश्विनोः स्तोमासः**=विद्वान् स्त्रियों, पुरुषों, उपदेशकों के उपदेश और **ब्रह्माणि**=वेद के मन्त्र **जामि**=बन्धुवत् **उषसः**=उत्तम प्रकाश-युक्त **देवीः**=दानशील, विद्याभिलाषी प्रजाओं को **उत्-अबुध्रन्**=ज्ञानयुक्त करें। **विप्रः**=विद्वान् पुरुष **नासत्या अच्छ**=सत्याश्रयी स्त्री-पुरुषों की **आविवासन्**=सेवा करता हुआ **इमे**=इन दोनों को **रोदसी**=सूर्य-चन्द्रवत्, माता-पितावत् **धिष्ण्ये**=उत्तम-बुद्धि-युक्त, और योग्य भी **विवक्ति**=कहता है।

भावार्थ—विद्वान् स्त्री-पुरुष वेद के मन्त्रों द्वारा ज्ञान का उपदेश करके प्रजा जनों को ज्ञान से युक्त करें कि जिससे वे विद्वानों, तपस्वियों तथा माता-पिता की श्रद्धापूर्वक सेवा-शुश्रूषा करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वैदिक आचरण

वि चेदु॒च्छन्त्य॑श्विना उ॒षासः॒ प्र वां॒ ब्रह्मा॑णि का॒रवो॑ भरन्ते।
ऊ॒र्ध्वं भा॒नुं स॑वि॒ता दे॒वो अ॑श्रेद् बृ॒हद॒ग्नयः॑ स॒मिधा॑ जरन्ते॥ ४॥

पदार्थ—हे **अश्विना**=विद्वान् स्त्री-पुरुषो! **चेत्**=जैसे **उषासः**=प्रभात वेलाएँ **वि उच्छन्ति**=विशेष रूप से प्रकाश करें तब **कारवः**=स्तोता विद्वान् **ब्रह्माणि**=स्तुति-मन्त्र **प्र भरन्ते**=उच्चारण

करते हैं और जब **सविता देवः**=प्रकाशमान् सूर्य **ऊर्ध्वं**=ऊपर **भानुम् अश्रेत्**=कान्ति धारण करे तो **अग्नयः**=यज्ञाग्नियें **समिधा**=उत्तम समिधा-सहित होकर **बृहत्**=अच्छी प्रकार **जरन्ते**=स्तुति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् यज्ञ किये जाते हैं, वैसे ही जब **उषसः**=कमनीय कान्ति से युक्त विदुषी स्त्रियें और प्रजाएँ **वि उच्छन्ति**=विविध अभिलाषाएँ प्रकट करती हैं तब **कारवः**=विद्वान् पुरुष **त्वा**=वर-वधू एवं राजा-रानी दोनों को लक्ष्य कर **ब्रह्माणि**=वेद-मन्त्रों और नाना ऐश्वर्यों को **प्र जरन्ते**=प्रकट करें। **देवः सविता**=ऐश्वर्यवान् पुरुष ही **ऊर्ध्वं-भानुं**=सर्वोपरि कान्ति को **अश्रेत्**=धारण करता है और **अग्नयः**=विद्वान् **समिधा**=अति तेज से **बृहत्**=वृद्धिकारी, आशीर्वाद-वचन का **जरन्ते**=उपदेश करते हैं।

भावार्थ—स्त्री-पुरुषों को योग्य है कि प्रातः उषाकाल में ईश्वर की स्तुति मन्त्रों द्वारा करें तथा सूर्योदय होने पर वेद मन्त्रों से यज्ञ करें। इससे जीवन तेजस्वी, कान्तियुक्त तथा ऐश्वर्य सम्पन्न बनता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जनहित

आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात्।
आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

पदार्थ—हे **नासत्या अश्विना**=कभी असत्य व्यवहार न करने हारे जनो! **पश्चातात् पुरस्तात् अधरात् उदक्तात्**=पश्चिम, पूर्व, उत्तर और दक्षिण से भी आप लोग **पाञ्चजन्येन राया**=पाँचों जनों के हितकारी धन-सहित **विश्वतः आ यातम्**=सभी ओर आया-जाया करो। **यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात**=आप हमारी उत्तम साधनों से रक्षा करो।

भावार्थ—सदाचारी पुरुष मनुष्य मात्र के हित के लिए सदुपदेश करते हुए समस्त दिशाओं में आते-जाते रहें। इससे प्रजा जनों का अत्यन्त हित होगा।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता अश्विनौ ही है।

[७३] त्रिसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुःखनिवारण

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति स्तोमं देवयन्तो दधानाः।
पुरुदंसा पुरुतमा पुराजामर्त्या हवते अश्विना गीः ॥१॥

पदार्थ—हम लोग **देवयन्तः**=विद्वानों और शुभ गुणों को चाहते हुए, **स्तोमं**=स्तुत्य कार्य को **प्रति दधानाः**=प्रत्येक दिन धारण करते हुए **अस्य**=इस **तमसः**=अज्ञान, दुःख के **पारम् अतारिष्म**=पार हों। हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो! **गीः**=विद्वान् पुरुष **पुरुदंसा**=बहुत कर्मों के कर्ता, **पुरु-तमा**=बहुतों में उत्तम, **पुरु-जा**=सब के आगे चलनेवाले, **अमर्त्या**=साधारण मनुष्यों से विशेष आप दोनों की **हवते**=प्रशंसा करते हैं।

भावार्थ—मनुष्य लोग विद्वानों के संग से उत्तम गुण एवं कर्मों के द्वारा अज्ञान व दुःख का निवारण करें तथा विद्वानों एवं सज्जनों की संगति किया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ और वन्दना

न्यु॑ प्रि॒यो मनु॑षः सादि॒ होता॒ नास॑त्या॒ यो यज॑ते॒ वन्द॑ते च।
अ॒श्नी॒तं मध्वो॑ अश्विना उपा॒क आ वां॑ वोचे वि॒दथे॑षु॒ प्रय॑स्वान्॥ २ ॥

पदार्थ—हे **नासत्या**=सत्यनिष्ठ, **अश्विना**=जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो! **यः**=जो **प्रियः**=प्रिय **मनुषः**=मननशील, **होता**=ज्ञानदाता पुरुष **यजते**=यज्ञ करता, **वन्दते च**=भगवान् की स्तुति करता, या उपदेशादि करता है और जो **विदथेषु**=यज्ञों में **प्रयस्वान्**=प्रयत्नशील होकर **वाम् आ वोचे**=तुम दोनों की अभ्यर्थना करता है, आप उसके **उपाके**=समीप **मध्वः अश्नीतं**=ज्ञान और अन्नादि प्राप्त करो।

भावार्थ—सत्यनिष्ठ स्त्री-पुरुष विचारपूर्वक नित्य प्रति यज्ञ एवं ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना करते हुए ज्ञान का संग्रह करें तथा उपदेश द्वारा अन्यों का मार्गदर्शन करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानी का उपदेश

अहे॑म य॒ज्ञं प॒थामु॑रा॒णा इ॒मां सु॑वृ॒क्तिं वृ॑षणा जुषेथाम्।
श्रु॒ष्टी॒वेव॒ प्रेषि॑तो वामबो॑धि॒ प्रति॒ स्तोमै॒र्जर॑माणो॒ वसि॑ष्ठः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हम लोग **यज्ञम् उराणाः**=यज्ञ करते हुए **पथाम्**=जीवन-मार्गों की **अहेम**=वृद्धि करें। हे **वृषणा**=बलवान् स्त्री-पुरुषो! आप लोग इस **सुवृक्तिम्**=सुमति का **जुषेथाम्**=सेवन करो। **जरमाणः वसिष्ठः**=उपदेश करने हारा, वसु, ब्रह्मचारी पुरुष **स्तोमैः**=उपदेश-योग्य वचनों से **प्रेषितः श्रुष्टीवा इव**=भेजे दूत के समान, **प्रेषितः**=उत्तम इच्छा से युक्त **श्रुष्टीवा**=श्रुति-वचनों का ज्ञाता होकर **वाम् प्रति अबोधि**=आप दोनों को ज्ञानवान् करे।

भावार्थ—मनुष्य लोग नित्य प्रति यज्ञ करें। इससे सद्बुद्धि तथा ऐश्वर्य की वृद्धि तथा ज्ञानी लोगों की संगति प्राप्त होगी। इससे उनके वेद उपदेशों से ज्ञान की प्राप्ति होगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कल्याणकारी व्यवस्था

उप॒ त्या वह्नी॑ गमतो॒ विशं॑ नो रक्षो॒हणा॒ संभृ॑ता वी॒ळुपा॑णी।
सम॒न्धांस्य॑ग्मत मत्स॒राणि॒ मा नो॑ मर्धिष्ट॒मा ग॑तं शि॒वेन॑॥ ४॥

पदार्थ—हे स्त्री-पुरुषो! **रक्षोहणा**=दुष्ट पुरुषों का नाशक, **संभृता**=परिपुष्ट, **वीडुपाणी**=बलवान् हाथोंवाले होकर **त्या**=वे दोनों आप **वह्नी**=गृहस्थ को उठाने में अश्वों के समान दृढ़, अग्नियों के समान तेजस्वी एवं विवाहित होकर **नः विशं उप गमतः**=हमारे प्रजा-वर्ग में प्राप्त होवो। **नः**=हमारे **मत्सराणि**=तृप्तिकारक **अन्धांसि**=अन्नों को **सम अग्मत**=प्राप्त करो। **शिवेन**=कल्याणकारक, सुखप्रद रूप से **नः आगतं**=हमें प्राप्त होवो, **नः मा मर्धिष्टं**=हमें पीड़ा मत दो।

भावार्थ—विवाहित स्त्री-पुरुष तप व संयम के द्वारा तेजस्वी होकर अपने जीवन एवं समाज से शत्रुओं का नाश करें तथा कल्याणकारी सुखप्रद व्यवस्था बनावें।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

विद्वत परिभ्रमण

आ पश्चातान्नसत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात्।
आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥५॥

पदार्थ—हे **नासत्या अश्विना**=कभी असत्य व्यवहार न करने हारे जनो! **पश्चातात् पुरस्तात् अधरात् उदक्तात्**=पश्चिम, पूर्व, उत्तर और दक्षिण से भी आप लोग **पाञ्चजन्येन राया**=पाँचों जनों के हितकारी धन-सहित **विश्वतः आ यातम्**=सभी ओर आया-जाया करो। **यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात**=आप हमारी उत्तम साधनों से रक्षा करो।

भावार्थ—विद्वान् जन सबके हित के लिए सदैव सब दिशाओं में ज्ञान का उपदेश करते हुए घूमते रहें। इससे मनुष्य मात्र का कल्याण होगा।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ और अश्विनौ देवता ही है।

[७४] चतुःसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृद्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सभापति के कर्त्तव्य

इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः॥१॥

पदार्थ—हे **अश्विना**=अश्व अर्थात् राष्ट्र और अश्वादिसैन्य के स्वामी, सेनापति-सभापति जनो! आप दोनों **उस्रा**=उत्तम पदार्थों को देने एवं गृह और राष्ट्र में स्वयं बसने और अन्यों को बसानेवाले, तेजस्वी **वां**=आप दोनों को **इमा दिविष्टयः**=ये उत्तम ज्ञान और कान्ति चाहनेवाली प्रजाएँ **हवन्ते**=बुलाती हैं और **अयं**=यह विद्वान् वर्ग भी, हे **शचीवसू**=शक्ति और वाणी के धनी युगलो! **वां**=आप दोनों को **अवसे**=रक्षा और ज्ञान के लिये **अह्वे**=पुकारता है, आप दोनों **विशं विशं हि**=प्रत्येक प्रजावर्ग में **गच्छथः**=जाया करो।

भावार्थ—सेनापति तथा सभापति दोनों का कर्त्तव्य है कि वे प्रजाजनों को उनके रहने के लिए राष्ट्र में सुविधा सम्पन्न बस्तियाँ बसावें और रक्षा तथा ज्ञान के साधन व सुविधाएँ उपलब्ध करावें।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—आर्षीभुरिग्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

राष्ट्र नायक का कर्त्तव्य

युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते।
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु॥२॥

पदार्थ—हे **नरा**=उत्तम नायक जनो, उत्तम स्त्री पुरुषो! **युवं**=आप दोनों **सूनृतावते**=उत्तम सत्यवाणी से युक्त मनुष्य के हितार्थ **चित्रं**=आश्चर्यकारक और नाना **भोजनं**=पालन-सामर्थ्य और भोग-योग्य उत्तम ऐश्वर्य **ददथुः**=प्रदान करो और **अर्वाक् रथं चोदेथां**=अपने रमणीय व्यवहार को रथ के समान आगे प्रेरित करो, उसको **समनसा नियच्छतम्**=एक चित्त होकर नियम में रक्खो और **सोम्यं मधु**=सोम अर्थात् ओषधिरस से मिले मधु के समान अति गुणकारी, रोगनाशक अन्न के समान पुष्टिकारक, सोम अर्थात् राजपद के योग्य, ऐश्वर्यानुरूप मधुर भोग, मधुर

सुख का **पिबतम्**=उपभोग करो।

भावार्थ–उत्तम राष्ट्र नायक का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र की प्रजाओं को पालन-पोषण हेतु उपभोग की सामग्री उपलब्ध करावे। मधुरतापूर्ण व्यवहार करे तथा सबको राजनियमों में चलावे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अश्विनौ** ॥ छन्दः–**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

ज्ञान प्राप्ति

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना।
दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम्॥ ३॥

पदार्थ–हे **अश्विना**=जितेन्द्रिय स्त्री-पुरुषो! हे **जेन्यावसू**=बसनेवाले प्रजा-वर्गो, आप लोग **आ यातम्**=आदर पूर्वक आइये। **उप भूषतम्**=समीप विराजिये **मध्वः पिबतं**=गुरुगृह में मधुमय ज्ञानरस का **दुग्धं पयः**=दुहे हुए दूध के समान **पिबतम्**=पान करिये। हे **वृषणा**=मेघ के समान ज्ञान-सुखों के वर्षक पुरुषो! **नः मामर्धिष्टम्**=हमारा नाश न करो।

भावार्थ–प्रजा जन गुरुओं के समीप जाकर, श्रद्धापूर्वक गुरुगृह में रहकर ज्ञान की प्राप्ति करें। गुरुजनों द्वारा दिए गए ज्ञान से अपने जीवन को नष्ट होने से बचावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अश्विनौ** ॥ छन्दः–**आर्षीभुरिग्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

उत्तम नायक का कर्त्तव्य

अश्वासो ये वामुप दाशुषो गृहं युवां दीयन्ति बिभ्रतः।
मक्षूयुभिर्नरा हयेभिरश्विना देवा यातमस्मयू॥ ४॥

पदार्थ–हे **अश्विना**=विद्वानों के स्वामी जनो! हे **नरा**=नायकवत् स्त्री-पुरुषवर्गो! **ये**=जो **वाम्**=आप लोगों के **अश्वासः**=अश्व, वेग से जानेवाले साधन वा विद्यावान् पुरुष **युवां बिभ्रतः**=आप दोनों को धारण करते हुए, **दाशुषः गृहं**=उस देनेवाले प्रभु के घर तक **दीयन्ति**=पहुँचा देते हैं उनकी **मक्षूयुभिः हवेभिः**=शीघ्रकारी अश्वों, साधनों वा विद्वानों से **देवा**=हे स्त्री-पुरुषो! हे **नरा**=नायक जनो! आप **अस्मयू**=हमें चाहते हुए **यातम्**=आओ-जाओ।

भावार्थ–राष्ट्र नायक प्रजाओं के हित के लिए उत्तम विद्वानों की नियुक्ति करे जिनके सान्निध्य तथा मार्गदर्शन में लोग विद्या की प्राप्ति कर ईश्वर के घर अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने के अधिकारी बन सकें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अश्विनौ** ॥ छन्दः–**आर्षीबृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

परिव्राजक का सत्कार

अधा ह यन्तो अश्विना पृक्षः सचन्त सूरयः।
ता यंसतो मघवद्भ्यो ध्रुवं यशश्छर्दिरस्मभ्यं नासत्या॥ ५॥

पदार्थ–हे **अश्विना**=स्त्री-पुरुष तथा विद्वान् और सामान्य जनो! **अध ह**=निश्चय से **यन्तः सूरयः**=आगे बढ़ते हुए, विद्वान्, परिव्राजक जन **पृक्षः सचन्त**=सर्वत्र अन्न और स्नेह-सम्पर्क प्राप्त करते हैं। हे **नासत्या**=कभी असत्य व्यवहार न करनेवाले जनो! **ता**=वे आप दोनों **अस्मभ्यम् मघवद्भ्यः**=हम ज्ञानवाले पुरुषों को **ध्रुवं**=स्थिर **यशः**=यश और अन्न **छर्दिः**=आवास के लिये घर **यंसतः**=प्रदान करो।

भावार्थ–विद्वान् तथा सामान्य गृहस्थी जन अपने द्वार पर आए हुए परिव्राजक जनों अर्थात्

विद्वान् तपस्वी अतिथियों का भोजन तथा निवास की व्यवस्था आदि से सत्कार करें। उनसे शंका-समाधान व ज्ञान प्राप्त कर यश के भागी बनें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**अश्विनौ** ॥ छन्दः-**आर्षीभुरिग्बृहती** ॥ स्वरः-**मध्यमः** ॥

नृपति

प्र ये ययुरवृकासो रथाइव नृपातारो जनानाम्।
उत स्वेन शवसा शूशुवुर्नर उत क्षियन्ति सुक्षितिम्॥ ६ ॥

पदार्थ-ये=जो **अवृकासः**=चोर-स्वभाव से रहित, निश्छल **रथाः**=रथों के समान **स्वेन शवसा**=अपने ज्ञान-सामर्थ्य और पराक्रम से **प्र ययुः**=आगे जाते हैं और जो **नरः**=नेता जन **शूशुवुः**=खूब उन्नति को प्राप्त होते हैं **उत**=और **सुक्षितिम्**=उत्तम भूमि को **क्षियन्ति**=प्राप्त कर उसमें रहते हैं वे ही **जनानां नृपातारः**=सब मनुष्यों को पालने में समर्थ 'नृपति' होते हैं।

भावार्थ-राष्ट्र का नेतृत्व वर्ग निश्छल, ज्ञानी तथा पराक्रमी होवे। इससे राष्ट्र की उन्नति होगी, राष्ट्र में भ्रष्टाचार नहीं बढ़ेगा तथा प्रजा समृद्ध होगी।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ देवता उषा है।

[७५] पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**उषाः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

स्त्री के कर्त्तव्य १

व्यु१षा आवो दिविजा ऋतेनाविष्कृण्वाना महिमानमागात्।
अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीगः॥ १ ॥

पदार्थ-दिविजाः उषाः=सूर्य के आश्रय प्रकट होनेवाली प्रभात वेला जैसे **आवः**=विशेषरूप से खिलती, **ऋतेन महिमानम् आविष्कृण्वाना आगात्**=तेज से स्वरूप को प्रकट करती हुई आती है, **तमः अप आवः**=अन्धकार को दूर करती और **पथ्याः अजीगः**=मार्गवर्त्ती प्रजाओं को जगाती है, वैसे ही **दिविजाः**=सूर्यवत् तेजस्वी गुरु के अधीन जन्म-लाभ करके **उषाः**=कान्तियुक्त युवति **वि आवः**=विविध गुणों को प्रकट करे, वह **ऋतेन**=सत्य ज्ञान से **महिमानम्**=मातृ-सामर्थ्य को **आविः कृण्वाना**=प्रकट करती हुई, **आगात्**=आवे। **अजुष्टम्**=न सेवने योग्य **तमः**=अज्ञान को अन्धकारवत् और **द्रुहः**=अप्रीति भावों को **अप आवः**=दूर करे। वह **अङ्गिरस्तमा**=प्राणवत् प्रियतमा वा ज्ञानवती विदुषी होकर **पथ्याः**=उत्तम हितकारी, शिष्टाचारों को **अजीगः**=जागृत करे।

भावार्थ-युवति स्त्रियों को योग्य है कि वे उत्तम तपस्वी गुरुजनों के सान्निध्य में रहकर मातृत्व सामर्थ्य, ज्ञान प्राप्ति, समाज से अज्ञान अन्धकार का नाश, लोगों के परस्पर के विषादों का निपटारा, आपसी वैर-भाव का नाश करने आदि गुणों से युक्त होकर कान्तियुक्त होवे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**उषाः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

स्त्री के कर्त्तव्य २

महे नो अद्य सुविताय बोध्युषो महे सौभगाय प्र यन्धि।
चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम्॥ २ ॥

पदार्थ-हे **मानुषि देवि**=मानवोचित शुभ गुणों से युक्त स्त्रि! तू **नः**=हमें **अद्य**=आज, **महे सुविताय**=बड़े सुख की प्राप्ति के लिये **बोधि**=हो। हे **उषः**=प्रभात वेलावत् कान्तियुक्त, स्त्रि! तू

भी **महे सौभगाय**=बड़े सौभाग्य प्राप्त करने के लिये **प्र यन्धि**=उत्तम रीति से विवाह के बन्धन में बँध। **अस्मे**=हमारे लिये **चित्रं रयिं**=आश्चर्यकर ऐश्वर्य और **मर्तेषु**=मनुष्यों के बीच **यशसं**=यशस्वी **श्रवस्युम्**=ज्ञानी पुत्र **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ–उत्तम स्त्री को योग्य है कि वह उत्तम रीति से विवाह करके यशस्वी ज्ञानी पुत्र को उत्पन्न करे तथा मानवीय गुणों व कान्ति से युक्त होकर सन्तान में इन गुणों का धारण करावे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

स्त्री के कर्त्तव्य ३

एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः।
जनयन्तो दैव्यानि व्रतान्यापृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः ॥ ३ ॥

पदार्थ–दर्शताः उषसः भानवः=दर्शनीय उषा वेला की किरणें जैसे आती हैं, वे **दैव्यानि व्रतानि जनयन्तः अन्तरिक्षा वि तिष्ठन्ति**=देव, सूर्य वा किरणों के योग्य प्रकाशादि कार्यों को करते हुए अन्तरिक्ष में विराजती हैं, वैसे ही **दर्शतायाः**=रूप-गुणादि में दर्शनीय **उषसः**=पति की कामनावाली, कान्तिमती कन्या वा विदुषी स्त्री से ही **त्ये**=ये नाना **एते**=ये **अमृतासः भानवः**=कभी नाश न होनेवाले, दीर्घायु, **चित्राः**=आश्चर्यकारी बलवान् वीर्यवान् होकर **आगुः**=हमें प्राप्त होते हैं। वे **दैव्यानि**=विद्वान् पुरुषों से करने योग्य **व्रतानि**=कर्मों को **जनयन्तः**=प्रकट करते हुए, **अन्तरिक्षा**=अन्तरिक्ष में वायु के समान **आ पृणन्तः**=सबको तृप्त करते हुए **वि अस्थुः**=विविध रूपों में विराजें।

भावार्थ–विदुषी स्त्री उत्तम रीति से विवाह करके बलवान्, पराक्रमी, दीर्घायु तथा मधुरभाषी सन्तान को उत्पन्न करके राष्ट्र को प्रकाशित करे अर्थात् गौरवान्वित करे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

पत्नि के कर्त्तव्य

एषा स्या युजाना पराकात्पञ्च क्षितीः परि सद्यो जिगाति।
अभिपश्यन्ती वयुना जनानां दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी ॥ ४ ॥

पदार्थ–एषा=यह **स्या**=वह **दिवः दुहिता**=सूर्य की पुत्रीवत् उषा के समान तेजस्वी पुरुष की कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ **पराकात् युजाना**=दूर देश से विवाह-बन्धन में संयुक्त होकर विदुषी स्त्री, शासक-शक्ति के समान **सद्यः**=अति शीघ्र गुणों से **पञ्चक्षितीः**=पाँचों प्रकार के निवासियों को **परि जिगाति**=वश करती है। वह **जनानां**=प्रजाओं के **वयुना**=ज्ञानों और कर्मों को **अभिपश्यन्ती**=देखती हुई और **भुवनस्य**=भुवन, जन समूह का **पत्नी**=पालन करनेवाली हो।

भावार्थ–विदुषी स्त्री दूर देश में रहनेवाले श्रेष्ठ शासक से उत्तम रीति से विवाह करके अपने विद्वत्ता, प्रियता आदि गुणों के द्वारा समस्त परिजनों व प्रजाजनों को वश में करके उत्तम ज्ञान और कर्मों के द्वारा प्रजा पालन के कार्य में पति को सहयोग व सम्मति प्रदान करे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

स्त्री के कर्त्तव्य ४

वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय ईशे वसूनाम्।
ऋषिष्टुता जरयन्ती मघोन्युषा उच्छति वह्निभिर्गृणाना ॥ ५ ॥

पदार्थ–सूर्यस्य=जैसे सूर्य की **योषा**=स्त्री **उषा**=प्रभात–वेला **वह्निभिः**=यज्ञाग्नियों से **गृणाना**=स्तुति की जाती हुई, **जरयन्ती**=रात्री का नाश करती हुई, **ऋषि-स्तुता**=विद्वानों की भगवत्–स्तुति से युक्त होती है, वैसे ही **सूर्यस्य**=सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष की **योषा**=स्त्री, **उषा**=कान्ति–युक्त होकर **वह्निभिः**=विवाह–योग्य उत्सुक पुरुषों द्वारा **गृणाना**=स्तुति की जाती है। वह **मघोनी**=उषावत् पूज्य धन से युक्त, **वाजिनीवती**=बलयुक्त और ज्ञानयुक्त क्रिया करनेवाली **जरयन्ती**=गुणों से अवगुणों, अज्ञान, शोक, मोहादि को नाश करती हुई, **ऋषि-स्तुता**=विद्वानों द्वारा उपदेश प्राप्त कर **उच्छति**=गुणों का प्रकाश करे।

भावार्थ–स्त्रियों को योग्य है कि वे विद्वान् गुरुजनों के उपदेशों से सद्गुणों को अपने जीवन में धारण करके तेजस्वी पुरुष से विवाह करे तथा अपने उत्तम गुणों से परिवार तथा प्रजा जनों के अज्ञान शोक, मोह आदि का नाश करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

पुत्रोत्पत्ति का उपदेश

प्रति॑ द्यु॒ताना॑मरु॒षासो॒ अश्वा॑श्चि॒त्रा अ॑दृश्रन्नु॒षसं॒ वह॑न्तः ।
याति॑ शु॒भ्रा वि॑श्व॒पिशा॒ रथे॑न॒ दधा॑ति॒ रत्नं॑ विध॒ते जना॑य ॥ ६ ॥

पदार्थ–अश्वाः=अश्वसमान बलवान् अंगवाले, **चित्राः**=आश्चर्यजनक बल और गुणों से सम्पन्न, **अरुषासः**=रोषरहित, सौम्य–स्वभाव, **उषसः**=स्वयं उत्तम पदार्थों के इच्छुक पुरुष **द्युतानां**=कान्तिमती, **उषसम्**=कामनावान् उत्तम वधू को **वहन्तः**=विवाह द्वारा ग्रहण करते हुए **प्रति अदृश्रन्**=देखे जावें। वह वधू **शुभ्रा**=शुभगुणों से सुभूषित, **विश्वपिशा**=नाना–रूप सुन्दर **रथेन**=रथ से **याति**=जावे और **विधते जनाय**=विशेष प्रेम के धारक पुरुष के लिये **रत्नं दधाति**=उत्तम रत्न, उत्तम धन, उत्तम व्यवहार, उत्तम गुण और उत्तम पुत्र–रत्न **दधाति**=धारण करे।

भावार्थ–उत्तम गुण, कर्म, स्वभाववाले बलवान् पराक्रमी पुरुष को योग्य है कि वह कान्तियुक्त उत्तम स्त्री से विवाह करके शुभ गुणयुक्त उत्तम पुत्र को उत्पन्न करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

वधू की इच्छा

स॒त्या स॒त्येभि॑र्मह॒ती म॒हद्भि॑र्दे॒वी दे॒वेभि॑र्यज॒ता यज॑त्रैः ।
रु॒जद् दृ॒ळ्हानि॒ दद॑दु॒स्रिया॑णां॒ प्रति॒ गाव॑ उ॒षसं॑ वावशन्त ॥ ७ ॥

पदार्थ–वह **सत्येभिः**=सत्य व्यवहारवान् **महद्भिः**=बड़े गुणवानों से **महती**=पूज्य, **देवेभिः**=उत्तम गुणों, विद्वानों और **यजत्रैः**=दानशील पुरुषों के साथ **सत्या**=सत्य शीलवती, सभ्य, **महती**=गुणों में महान्, **यजता**=दानशील **देवी**=विदुषी कन्या सत्संग लाभ करे। वह **दृढानि**=दृढ़ संकटों को भी **रुजत्**=नाश करती हुई **ददद्**=सुख देवे। **गावः**=वृषभ, जैसे **उस्त्रियाणां मध्ये उषसं वावशन्त**=गौवों के बीच में से कामनावती कपिला गौ को ही चाहते हैं वैसे ही **गावः**=विद्वान् एवं बलवान् जन भी **उस्त्रियाणाम्**=घर बसाने की इच्छुक कन्याओं में से **उषसं**=विशेष कामनावान् वधू के **प्रति वावशन्त**=प्रति कामना करें।

भावार्थ–विदुषी स्त्री विद्वानों की संगति में रहकर उत्तम गुणों को धारण करे तथा विकट संकटों को भी अपने धैर्य, पुरुषार्थ आदि गुणों से नष्ट करके घर बसाने में समर्थ होवे। विद्वान् पुरुष ऐसी कन्याओं को ही विवाह के लिए चुने।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्त्रियों का कर्त्तव्य

नू नो गोमद्वीरवद्धेहि रत्नमुषो अश्वावत्पुरुभोजो अस्मे।
मा नो बर्हिः पुरुषता निदे कर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ८॥

पदार्थ—हे **उषः**=कान्तिमति, कामनावाली, विदुषि वधू! तू **नः**=हमारे **गोमत्**=गौओं से युक्त, **वीरवत्**=वीर पुत्रों से युक्त **रत्नं**=उत्तम धन, व्यवहार, पतिसंगादि गृहस्थोचित कर्म **धेहि**=धारण कर। तू **अस्मे**=हमारे हितार्थ, **अश्वावत्**=अन्नों से युक्त और **पुरु-भोजः**=बहुतों से भोगने योग्य ऐश्वर्य को भी **धेहि**=धारण कर। **नः बर्हिः**=हमारा यज्ञ और वृद्धिशील राष्ट्र, पद (Position) आदि **पुरुषता**=पुरुषों में **निदे मा कः**=निन्दा-योग्य मत बना। हे विद्वान् पुरुषो! आप **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारा सदा उत्तम साधनों से पालन करो। उषा-सूक्तों के प्रायः सब मन्त्र राजशक्ति और विशोका प्रज्ञा, तथा परमेश्वरी शक्ति युक्त पदार्थों में भी लगते हैं।

भावार्थ—विदुषी स्त्री गृहस्थ धर्म को धारण करनेवाली होवे। वीर पुत्र को उत्पन्न करे, घर के व्यय आदि का सन्तुलित बजट बनावे, अपने व्यवहार से परिवार को जोड़कर रखे तथा नित्य घर में यज्ञ करे। इस प्रकार अपने घर की प्रतिष्ठा को बढ़ावे।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता उषा ही है।

[७६] षट्सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईश्वरीय शक्ति

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः॥ १॥

पदार्थ—उषा रूप से परमेश्वरी शक्ति का वर्णन। **सविता**=संसार का उत्पादक, **देवः**=सुखों का दाता, लोकों का प्रकाशक, **विश्वानरः**=विश्व और समस्त जीवों का नायक, सञ्चालक परमेश्वर **विश्व-जन्यम्**=सब जनों में विद्यमान, विश्व के उत्पादक **अमृतं**=अविनाशी, **ज्योतिः**=परम प्रकाशमय तेज को **उत् अश्रेत् उ**=सर्वोपरि धारण करता है। वह अपने **क्रत्वा**=कर्म और ज्ञान-सामर्थ्य से **देवानां**=समस्त लोकों और विद्वान् पुरुषों के बीच **चक्षुः**=सबको आँखवत् देखनेवाला **उषाः**=पापों का दाहक, उषा-समान कान्तियुक्त, **भुवनं**=समस्त भुवनों को **आविः अकः**=प्रकट करता है।

भावार्थ—परमेश्वर अपनी परमेश्वरी शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, ज्ञान प्रदान तथा सब जीवों को देखता हुआ उनके कर्मों का फल प्रदान करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नव दम्पति का कर्त्तव्य

प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः।
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात्प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः॥ २॥

पदार्थ—जैसे उषा के प्रकट होने पर **वसुभिः इष्कृतासः पन्थाः देवयानाः प्र अदृश्रन्**=मनुष्य निर्मित और मनुष्यों से चलने योग्य मार्ग दिखाई देते हैं, **उषसः केतुः अभूत्**=तेजस्वी

सूर्य का ज्ञापक होती और **अधि हर्म्येभ्यः पुरस्तात् प्रतीची आ अगात्**=बड़े-बड़े महलों के ऊपर से पूर्व से पश्चिम की ओर आती है, वैसे ही वर के लिये वधू और वधू के लिये वर दोनों ही उत्सुक, एवं कामनायुक्त होने से दोनों ही 'उषा' हैं, अतः ऐसे **उषसः**=कामना से उत्सुक पुरुष के **पुरस्तात्**=आगे **केतुः**=ध्वजा-समान गुणों की दर्शक विदुषी वधू **अभूत् उ**=होवे। वह **प्रतीची**=प्रत्यक्ष में आदृत होती हुई, **हर्म्येभ्यः अधि आगात्**=महलों में रहने के लिये अधिष्ठात्री रानी होकर आवे। इसी प्रकार **उषसः**=कान्तिमती, कामनावती प्रिय वधू का **केतुः**=ध्वजा के समान ज्ञानवान् पुरुष हो, वह भी पूर्व से पश्चिम को आनेवाले सूर्य के समान **हर्म्येभ्यः अधि आगात्**=महलों को आये। **वसुभिः**=विद्वानों द्वारा **इष्कृतासः**=सुशोभित और **देवयानाः**=विद्वानों द्वारा चलने योग्य **मे पन्थाः**=मेरे धर्ममार्ग, किरणों से प्रकाशित मार्गों के समान मेरे लिये **अमर्धन्तः**=पीड़ादायक न होते हुए **मे**=मुझे **प्रअदृश्रन्**=उत्तम रीति से दृष्टिगोचर हों।

भावार्थ—नव दम्पति वर और वधू परस्पर प्रीतियुक्त तेजस्वी कान्तिमान होकर एक दूसरे को मार्गदर्शन करें। अपने उत्तम घरों में विद्वानों के ज्ञानोपदेश द्वारा धर्ममार्ग को जानकर उस पर आचरण करें तथा जीवन को प्रकाशित करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नव वधु का कर्त्तव्य

तानीदहानि बहुलान्यासन्या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।
यतः परि जारइवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव॥ ३॥

पदार्थ—**सूर्यस्य या प्राचीनम् उदिता**=जैसे सूर्य के पूर्व में उदय होने पर जो प्रकट होते हैं **तानि इत् अहानि**=वे दिन कहाते हैं। **उषा जारः इव परि आचरन्ती**=उषा भी रात्रि को जारण करनेवाले सूर्य के समान ही आचरण करती हुई **न पुनः यती इव ददृक्षे**=फिर नहीं लौटती-सी दीखती है, वैसे हे **उषः**=पति की कामनावाली वधू! **या**=जो तू **सूर्यस्य प्राचीनम् इत्**=सूर्य-समान तेजस्वी पुरुष के पूर्व भाग में आकर आगे आती है **तानि इत् बहुलानि अहानि**=वे ही बहुत दिन उत्तम हैं। **यतः**=क्योंकि उन दिनों में तू **जारः इव**=तेरी आयु को अपने साथ पूर्णरूपेण व्यतीत करनेवाले सूर्यवत् तेजस्वी पति के समान ही तू भी **आचरन्ती**=धर्माचरण करती हुई **न पुनः यती इव**=उसे भविष्य में कभी न त्यागती-सी **परि ददृशे**=सदा संग दिखाई दे।

भावार्थ—नव वधु को योग्य है कि वह पति के प्रत्येक कार्य में बढ़-चढ़कर सहयोग करे। पति का कभी तिरस्कार न करे तथा गृहस्थ धर्म का आचरण करती हुई सदैव पति के अनुकूल व्यवहार करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानी पुरुष

त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम्॥ ४॥

पदार्थ—जो **ऋतावानः**=सत्य, वेद, तप आदि का सेवन करनेवाले **पूर्व्यासः कवयः**=पूर्व के विद्वानों से शिक्षित, क्रान्तदर्शी पुरुष हैं **ते इत्**=वे ही **देवानां**=विद्वान् पुरुषों के **सधमादः आसन्**=साथ आनन्द प्राप्त करनेवाले होते हैं। वे ही **पितरः**=माता-पितावत् पालक बनकर **गूढं**

ज्योतिः=भीतर छिपे तेज को **अनु अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं। जो **सत्य-मन्त्राः**=सत्य, मननशील होकर **उषासम् अजनयन्**=अज्ञान और पाप को दूर करनेवाली 'विशोका' प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

भावार्थ–श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि वे सत्य ज्ञानी तपस्वी वेद के विद्वानों के सान्निध्य में रहकर अपने अन्दर के तेज को प्राप्त करके सत्य का चिन्तन करते हुए अज्ञान की नाशक 'विशोका' नाम की बुद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

श्रेष्ठ जीवन

समान ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः ॥ ५ ॥

पदार्थ–जो पुरुष **समाने**=एक समान **ऊर्वे**=समूह या वर्ग में **अधि**=अध्यक्ष के अधीन **संगतासः**=मिलकर **सजानते**=सम्यक् ज्ञान और परिचय करते हैं **ते**=वे परस्पर नाश की **न यतन्ते**=चेष्टा नहीं करते। **ते**=वे **देवानां व्रतानि**=विद्वानों के कार्यों का **न मिनन्ति**=नाश नहीं करते। वे **वसुभिः**=धनों द्वारा **यादमानाः**=यत्नवान् होते हुए **अमर्धन्तः**=हिंसा न करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

भावार्थ–उत्तम पुरुषों को योग्य है कि वे अध्यक्ष के अधीन रहकर विद्वानों के द्वारा बाँधी गई मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए अहिंसक भाव से पुरुषार्थ करते हुए श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

उषा काल में

प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः।
गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः सुजाते प्रथमा जरस्व ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **सुभगे**=उत्तम भाग्यवति! **तुष्टुवांसः**=स्तुतिकर्ता, **उषर्बुधः**=प्रभात में जागनेवाले **वसिष्ठाः**=विद्वान् गृहस्थ, ब्रह्मचारी **त्वा**=तेरी **स्तोमैः**=स्तुत्य वचनों से **इडते**=स्तुति करते हैं। हे **उषः**=पापनाशिके! तू **वाजयन्ती**=ऐश्वर्य और ज्ञान की पालक **गवां नेत्री**=गो-तुल्य सौम्य वाणियों को प्रस्तुत करनेवाली होकर **नः**=हमारे बीच **उच्छ**=गुणों का प्रकाश कर। हे **सुजाते**=माता-पिता की उत्तम पुत्री! तू **प्रथमा**=सर्वश्रेष्ठ गिनी जाकर **जरस्व**=प्रिय पुरुष के गुणों का वर्णन कर।

भावार्थ–विद्वान् गृहस्थी तथा ब्रह्मचारी जन प्रातःकाल की उषा वेला में ऐश्वर्य तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिए स्तुति करें अर्थात् कार्य योजना का निर्माण करें तथा उस योजना के अनुसार पुरुषार्थ करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

कान्तिमति वधू

एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः।
दीर्घश्रुतं रयिमस्मे दधाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ–**एषा**=वह कान्तिमती वधू **राधसः नेत्री**=धन प्राप्त करानेवाली और वह **सूनृतानां नेत्री**=ज्ञानमय वचनों और सत्य-विद्याओं को प्राप्त करानेवाली **उच्छन्ती**=स्वयं उत्तम गुणों की

प्रकाशक **वसिष्ठैः**=उत्तम ब्रह्मचारियों और सन्तान के उत्तम माता-पिताओं द्वारा **रिभ्यते**=स्तुति की जाती है, वह **अस्मे**=हमारे **दीर्घ-श्रुतं**=दीर्घकाल तक श्रवण-योग्य **रयिम्**=ऐश्वर्य को **दधाना**=धारण करनेवाली हो। हे विद्वान् पुरुषो! आप **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारा सदा उत्तम साधनों से पालन करो।

भावार्थ—नव वधू ज्ञानपूर्वक उत्तम तथा मधुर वचनों द्वारा अपनी विद्या तथा गुणों को प्रकाशित करे। इससे परिवार के समस्त छोटे-बड़े जन उसके प्रशंसक बन जाएँगे। इससे परिवार ऐश्वर्यशाली तथा उन्नत बनकर प्रतिष्ठित होगा।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ और देवता उषा है।

[७७] सप्तसप्ततिमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परमेश्वरी शक्ति

उपो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै।
अभूदग्निः समिधे मानुषाणामकर्ज्योतिर्बाधमाना तमांसि ॥ १ ॥

पदार्थ—जैसे **उषा**=प्रभात वेला **उप रुरुचे**=पतिवत् सूर्य के समीप स्त्रीवत् शोभित होती है। वह **विश्वं जीवं चरायै प्रसुवन्ती**=समस्त जीव-लोक को निद्रा से उठाकर विचरने के लिये प्रेरित करती है। **समिधे**=प्रकाश करने के लिये **अग्निः अभूत्**=सूर्य-रूप अग्नि प्रकट होता है, **मानुषाणां**=मनुष्यों के लिये **तमांसि बाधमाना ज्योतींषि**=अन्धकारों को दूर करनेवाले प्रकाशों को **अकः**=प्रकट करता है, वैसे ही परमेश्वरी शक्ति **युवतिः योषा न**=युवती स्त्री के समान **विश्वं जीवं**=समस्त विश्व और जीव-संसार को **चरायै प्रसुवन्ती**=कर्म-फल-भोग के लिये उत्पन्न करती हुई **उप उ रुरुचे**=सर्वत्र शोभा दे, **अग्निः**=वह परमेश्वर अग्नि के समान प्रकाशस्वरूप **समिधे**=ज्ञान प्रकाश करने के लिये **अभूत्**=हो और वही **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के हृदय के **तमांसि**=अज्ञानान्धकारों को **बाधमाना**=दूर करता हुआ **ज्योतिः**=वेदमय ज्ञान प्रकाश को **अकः**=उपदेश करता है।

भावार्थ—परमेश्वर अपनी परमेश्वरी शक्ति से संसार के समस्त जीवों के कर्मफल भोग की व्यवस्था करता है। तथा मनुष्यों के अज्ञान का नाश करने के लिए सृष्टि के आदि में वेद-ज्ञान का प्रकाश भी करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नव वधू का कर्त्तव्य

विश्वं प्रतीची सप्रथा उदस्थाद्रुशद्वासो बिभ्रती शुक्रमश्वैत्।
हिरण्यवर्णा सुदृशीकसंदृग्गवां माता नेत्र्यह्नामरोचि ॥ २ ॥

पदार्थ—**अह्नां नेत्री**=प्रभात वेला जैसे दिनों की प्रारम्भिक नायिका, **गवां माता**=किरणों को अपने में से माता के समान पैदा करती है, वह **हिरण्य-वर्णा**=सुवर्ण-समान चमकती हुई **सुदृशीक-सन्दृग्**=आँखों को सब पदार्थ अच्छी प्रकार दिखलाती है, वह **प्रतीची**=प्रत्यक्ष होती हुई, **स-प्रथा**=विस्तृत होकर **रुशद् वासः बिभ्रती**=मानो चमकीला वस्त्र पहने **विश्वं शुक्रम् अश्वैत्**=समस्त संसार को दीप्तियुक्त कर चमका देती और बढ़ती है वैसे ही परमेश्वरी शक्ति और नव वधू माता भी **अह्नां**=न नाश होनेवाले, नित्य जीवों, न मरने योग्य बालक जीवों को **नेत्री**=प्राप्त

करानेवाली, **गवां**=लोकों और गौ आदि पशुओं को भी **माता**=माता के समान पालक। **सुदृशीक-संदृग्**=सम्यक् दृष्टि से युक्त, रमणीय वर्णवाली हो। वह **प्रतीची**=प्रत्येक की दृष्टि में पूजनीय, **रुशद्-वासः**=उज्ज्वल वस्त्रादि **बिभ्रती**=धारण करती हुई, **सप्रथा**=समान रूप से विख्यात होकर **उत्-अस्थात्**=उत्तम स्थिति प्राप्त करे और **शुक्रम् अश्वैत्**=शुद्ध आचरण करे।

भावार्थ—माता बननेवाली नव वधू अपनी होनेवाली सन्तान को दीर्घायु तथा स्वस्थ, पुष्ट बनाने के लिए श्रेष्ठ चिन्तन व शुद्ध आचरण करे। अपनी दृष्टि व वस्त्रादि को उज्ज्वल रखे इससे समाज में उसका सम्मान व प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नव वधू

देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता ॥ ३ ॥

पदार्थ—जैसे **उषा**=प्रभात की सूर्य-कान्ति **रश्मिभिः व्यक्ता अदर्शि**=किरणों से प्रकाशित दिखाई देती है, वह **चित्रामघा विश्वम् अनु प्रभूता**=विश्व में प्रकट चित्र-विचित्र-वर्णयुक्त प्रकाशों से मानो पूज्य धनयुक्त होती है। वह **सुभगा**=उत्तम भद्रवर्ण-युक्त होकर **देवानां चक्षुः**=मनुष्यों की आँखों को **श्वेतं वहन्ती**=श्वेत प्रकाश देती और **सुदृशीकम् श्वेतं अश्वम् नयन्ती**=दर्शनीय, प्रकाशवान् सूर्य को प्राप्त कराती है वैसे ही **उषा**=पति-कामना से युक्त नववधू, **सु-भगा**=सौभाग्यवती, **देवानां**=विद्वान् पुरुषों के बीच **चक्षुः**=सौम्य दृष्टि करती हुई और **श्वेतम्**=शुद्ध चरित्रवान् **सु-दृशीकम्**=उत्तम दर्शनीय, **अश्वम्**=अश्ववत् सुदृढ़ शरीरवाले पुरुष के प्रति अपनी **चक्षुः नयन्ती**=चक्षु को पहुँचाती हुई, प्रेम से वरण करती हुई, **चित्रा-मघा**=नाना धनों से युक्त और **रश्मिभिः व्यक्ता**=कान्तियों से सुशोभित, **विश्वम् अनु प्रभूता**=सबके समक्ष प्रकट होकर **अदर्शि**=दीखे।

भावार्थ—वधू बनने की इच्छुक कन्या अपनी विवेक शक्ति के द्वारा शुद्ध चरित्रवाले विद्वान्, बलवान्, कान्तियुक्त, सुदृढ़ शरीरवाले युवक को पति के रूप में वरण करे। जब लोगों के मध्य में आवे तो सौम्य दृष्टि रखे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजशक्ति

अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीं गव्यूतिमभयं कृधी नः।
यावय द्वेष आ भरा वसूनि चोदय राधो गृणते मघोनि ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे **मघोनि**=धन की स्वामिनि राजशक्ते! हे विदुषि! तू **अन्ति-वामा**=अपने समीप भोग्य पदार्थों और ऐश्वर्यों को रखती हुई **अमित्रम् दूरे**=शत्रु को दूर करती हुई **उच्छ**=स्वयं चमक। तू **उर्वीं**=बड़ी भूमि और विशाल **गव्यूतिम्**=मार्ग को **नः**=हमारे लिये **अभयं कृधि**=भय-रहित कर। **द्वेषः यवय**=द्वेष-भावों और द्वेषियों को दूर कर। **वसूनि आभर**=ऐश्वर्य प्राप्त करा, **गृणते**=उपदेष्टा पुरुष को **राधः चोदय**=ऐश्वर्य दे।

भावार्थ—विदुषी स्त्री अपनी राजशक्ति के द्वारा प्रजाओं को समस्त भोग्य पदार्थ, सुरक्षा तथा भूमि व निवास सहित समस्त ऐश्वर्य प्रदान करके समाज से विषमता व वैर-भावों=झगड़ों को दूर करे।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**उषाः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

विदुषी स्त्री

अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिर्वि भाह्युषो देवि प्रतिरन्ती न आयुः ।
इषं च नो दधती विश्ववारे गोमदश्वावद्रथवच्च राधः ॥ ५ ॥

पदार्थ-हे **उषः देवि**=शुभ गुणों से युक्त विदुषि! तू **श्रेष्टेभिः**=श्रेष्ठ गुणों से **वि भाहि**=विशेष चमक। तू **नः**=हमें **आयुः प्रतिरन्ती**=दीर्घ जीवन देती हुई और हे **विश्ववारे**=विश्व अर्थात् हृदय में प्रविष्ट पति द्वारा एकमात्र वरणीय! **नः**=हमारी **इषं**=अन्न और **गोमत् अश्वावत् रथवत् च**=गौओं, अश्वों और रथों से युक्त **राधः**=समृद्धि को **दधती**=धारण करती हुई, **वि भाहि**=विशेष चमक।

भावार्थ-विदुषी स्त्री अपने श्रेष्ठ गुणों व व्यवहार से दूसरों के हृदय को प्रभावित करके अपने ज्ञानोपदेश से लोगों को पुरुषार्थी बनाकर समस्त भौतिक ऐश्वर्य से समृद्ध बनावे।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**उषाः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

कान्तिमति स्त्री

यां त्वा दिवो दुहितर्वर्धयन्त्युषः सुजाते मतिभिर्वसिष्ठाः ।
सास्मासु धा रयिमृष्वं बृहन्तं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदार्थ-हे **उषः**=उषा के समान कान्तिमति! हे **सुजाते**=शुभ गुणों सहित, उत्तम जन्मवाली! हे **दिवः दुहितः**=सूर्यवत् विद्वान् और वीर पुरुष की पुत्रि! एवं पति-कामनाओं को पूर्ण करने हारि! **वसिष्ठाः**=उत्तम-उत्तम वसु, ब्रह्मचारी एवं गृहस्थ, पिता जन **यां त्वा वर्धयन्ति**=जिस तुझको बढ़ाते हैं, **सा**=वह तू **अस्मासु**=हमारे बीच **ऋष्वं**=बड़े भारी **बृहन्तं**=महान् **रयिम्**=ऐश्वर्य को **धाः**=धारण कर और हममें भी धारण करा। हे विद्वान् लोगो! **यूयम् नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारा सदा उत्तम साधनों से पालन करो।

भावार्थ-विद्वान् वीर पिता की पुत्री गृहस्थी जनों के ज्ञान, अनुभव एवं धन के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होकर बड़ी प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्य को धारण करे।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ तथा देवता उषा है।

○ [७८] अष्टसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**उषाः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

गुणवती स्त्री

प्रति केतवः प्रथमा अदृश्रन्नूर्ध्वा अस्या अञ्जयो वि श्रयन्ते ।
उषो अर्वाचा बृहता रथेन ज्योतिष्मता वाममस्मभ्यं वक्षि ॥ १ ॥

पदार्थ-**अस्याः**=उस विदुषी स्त्री के **प्रथमाः केतवः**=श्रेष्ठ गुण रश्मिवत् **प्रति अदृश्रन्**=दिखाई दें। **अस्याः**=इसके **अञ्जयः**=गुण प्रकाशवत् **वि-श्रयन्ते**=विविध प्रकार से प्रकट हों। हे **उषः**=कान्तिमति! तू **ज्योतिष्मता**=तेजस्वी, ज्ञानी **बृहता**=बड़े **अर्वाचा**=अश्व से चलनेवाले **रथेन**=रथ के समान दृढ, रम्य, पति के साथ मिलकर **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वामम्**=उत्तम गुणों को **वक्षि**=धारण कर।

भावार्थ–विदुषी स्त्री तेजस्विनी, ज्ञानी तथा पुष्ट शरीरवाली होकर, पति के साथ मिलकर अपने श्रेष्ठ गुणों को प्रदर्शित करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वान् स्त्री-पुरुष

प्रति षीमग्निर्जरते समिद्धः प्रति विप्रासो मतिभिर्गृणन्तः।
उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरितापं देवी ॥ २ ॥

पदार्थ–उषा ज्योतिषा विश्वा तमांसि अप बाधमाना याति=उषा अर्थात् प्रभात की सौरी प्रभा जैसे प्रकाश से अन्धकारों को दूर करती हुई व्यापती है वैसे ही **देवी**=विदुषी स्त्री **ज्योतिषा**=अपने तेजः-प्रभाव से **विश्वा दुरिता**=सब दुःखों और दुष्ट आचारों को **अप बाधमाना**=दूर करती हुई **याति**=प्राप्त होती है। **समिद्धः अग्निः**=प्रज्वलित अग्नि के समान विद्वान् **सीम् प्रति जरते**=सब प्रकार से सर्वत्र उपदेश करे और **मतिभिः**=ज्ञानों से युक्त **विप्रासः**=विद्वान् पुरुष **गृणन्तः**=उपदेश करते हुए **प्रति जरन्ते**=प्रश्न किये जाने पर, उत्तर द्वारा उपदेश करते हैं।

भावार्थ–विदुषी स्त्री अपने ज्ञान तथा सदाचार के तेज से अज्ञान व दुष्ट आचारों का नाश करे तथा विद्वान् पुरुष ज्ञान का उपदेश करे व प्रश्नों का उत्तर देकर शंकाओं का समाधान करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

नव वधू का व्यवहार

एता उ त्याः प्रत्यदृश्रन्पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः।
अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निमपाचीनं तमो अगादजुष्टम् ॥ ३ ॥

पदार्थ–एताः त्याः=ये वे **विभातीः उषसः**=चमकती उषाओं के तुल्य उज्ज्वल, **ज्योतिः यच्छन्तीः**=कान्ति प्रदान करती हुई नववधुएँ **प्रति अदृश्रन्**=दीखें। वे **सूर्यम्**=सूर्य-समान तेजस्वी **यज्ञम्**=पूजनीय **अग्निम्**=नायक को **अजीजनन्**=अपने पीछे आता हुआ प्रकट करती हैं। **अजुष्टम्**=न करने योग्य **तमः**=शोक आदि **अपाचीनं अगात्**=दूर चला जाता है अर्थात् उनके आने पर हर्ष होता है।

भावार्थ–नव वधू अपने सद्गुणों के द्वारा अपनी कान्ति प्रभाव को प्रकट करे जिससे उसका तेजस्वी पति प्रसन्न एवं तृप्त हो और दोनों हर्षित रहें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

पति-पत्नी का समर्पण

अचेति दिवो दुहिता मघोनी विश्वे पश्यन्त्युषसं विभातीम्।
आस्थाद्रथं स्वधया युज्यमानमा यमश्वासः सुयुजो वहन्ति ॥ ४ ॥

पदार्थ–दिवः दुहिता=सूर्य-पुत्री के समान कान्तिमती **मघोनी**=ऐश्वर्य-स्वामिनी, सौभाग्यवती, सुभगा **अचेति**=जानी जाती है। उस **विभातीम्**=विविध प्रकार से भासित **उषसम्**=प्रभात वेला के तुल्य ही अनुरागवती को **विश्वे पश्यन्ति**=सब देखते हैं। **यम्**=जिसको **अश्वासः**=विद्या-निष्णात जन अश्वों के तुल्य सहयोगी होकर सन्मार्ग पर ले जाते हैं उस **रथम्**=रथवत् सुदृढ़ शरीरवाले और **स्वधया**=अपने सर्वस्व को धारण करनेवाले, स्त्री के साथ **युज्यमानम्**=योग प्राप्त करनेवाले **रथम्**=रमणकारी पति को **आ अस्थात्**=प्राप्त करे।

भावार्थ—कान्तिमती स्त्री अपने विद्वान् पति के प्रति अनुरागवाली होकर रहे तथा पति-पत्नी दोनों एक दूसरे के प्रति समर्पण भाव से रहकर सुखी जीवन व्यतीत करें। इससे विद्वानों में इनकी प्रशंसा होगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुद्ध चित्त का आचरण

प्रति त्वाद्य सुमनसो बुधन्तास्माकासो मघवानो वयं च।
तिल्विलायध्वमुषसो विभातीर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे विदुषि! **सु-मनसः**=उत्तम चित्तवाले **अस्माकासः**=हमारे सम्बन्धी जन और **मघ-वानः**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवान् और **वयं च**=हम लोग सभी **अद्य**=आज के दिन **त्वा प्रति बुधन्त**=तेरे साथ उत्तम परिचय प्राप्त करें। हे **विभातीः उषसः**=चमकनेवाली प्रभात-वेलाओं के समान कुलवधुओ! आप लोग **तिल्विलायध्वम्**=तिलों से सुशोभित भूमि के समान स्नेहोत्पादक भूमि के समान होवो। **यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारी सदा उत्तम साधनों से पालन करो।

भावार्थ—विदुषी कुल वधू अपने निर्मल चित्त तथा उत्तम ज्ञान के द्वारा मधुर व प्रिय व्यवहार से पति के परिवार को अपनी ओर आकर्षित करे।

[७९] एकोनाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हितकारिणी वधू

व्युषा आवः पथ्या जनानां पञ्च क्षितीर्मानुषीर्बोधयन्ती।
सुसन्दृग्भिरुक्षभिर्भानुमश्रेद्वि सूर्यो रोदसी चक्षसावः ॥ १ ॥

पदार्थ—**जनानां पथ्या**=मनुष्यों को प्रकाश से सत्पथ बतलानेवाली **उषा**=प्रभात-वेला के तुल्य **पथ्या**=धर्म-पथ बतलाने में हितकारिणी वधू **वि-आवः**=विविध गुणों का प्रकाश करे। वह **मानुषीः पञ्च क्षितीः बोधयन्ती**=मनुष्यों के पाँचों प्रकार के प्रजाजनों को बोध कराती हुई, **सु-सं-दृग्भिः**=उत्तम सम्यग् दर्शनयुक्त, **उक्षभिः**=पुरुष-पुंगवों द्वारा **भानुम् अश्रेत्**=विशेष दीप्ति धारण करे और **सूर्यः**=आकाश और भूमि को प्रकाश से सूर्य के तुल्य पुरुष **रोदसी**=माता-पिता दोनों के कुलों को **चक्षसा**=सम्यग् दृष्टि से, **वि-आवः**=विशेष रूप से उज्ज्वल करती है।

भावार्थ—गृहस्थ के धर्म को जाननेवाली स्त्री पति के घर जाकर सबको अपने मधुर व्यवहार से आकर्षित करके सबका हित करती है और अपने तेजस्वी गुणों के द्वारा पिता तथा पति दोनों के कुलों को प्रतिष्ठा प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नव वधू का व्यवहार

व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून्विशो न युक्ता उषसो यतन्ते।
सं ते गावस्तम आ वर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति सवितेव बाहू ॥ २ ॥

पदार्थ—**उषसः**=प्रभात वेलाएँ जैसे **दिवः अन्तेषु**=आकाश के प्रान्त भागों में **अक्तून् वि अञ्जते**=रात्रि-भागों या प्रकाशों को प्रकट करती हैं वैसे ही **उषसः**=कामनायुक्त नववधुएँ **अन्तेषु**=प्रान्त भागों में विद्यमान **विशः न**=प्रजाओं के समान **दिवः अन्तेषु**=दिन के अन्त में,

अक्तून्=उज्ज्वल गृह-दीपकों को प्रकाशित करती हैं और **युक्ता यतन्ते**=नियुक्त भृत्यजनों के समान नववधुएँ पति की आज्ञा में रहकर गृह-कार्य करती हैं। हे नववधू! जैसे **गावः तमः आवर्त्तयन्ति**=किरणें अन्धकार दूर करती हैं और **ज्योतिः यच्छन्ति**=प्रकाश देती हैं, वे **सूर्यस्य बाहू इव**=सूर्य की बाहुओं के समान हैं वैसे ही **ते**=तेरी **गावः**=वाणियाँ **तमः सम् आ वर्त्तयन्ति**=शोकादि दुःख दूर करें और **ज्योतिः**=प्रकाशवत् स्फूर्त्ति दें। हे **उषः**=नववधू! तू भी **सविता इव**=प्रजोत्पादक पति के तुल्य हो, **बाहू**=एक शरीर में दो बाहुओं के तुल्य तुम दोनों मिलकर रहो।

भावार्थ—नव वधू पति के घर में आकर अपने सद्गुणों का प्रकाश करे। पति की आज्ञा का पालन करती हुई घर के कार्यों को कुशलता से करे। मीठी वाणी व मधुर व्यवहार से सबको प्रसन्न करती हुई उत्तम सन्तान को उत्पन्न करे तथा समस्त कार्यों में पति का हाथ बँटावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विदुषी वधू

अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत्सुविताय श्रवांसि।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि॥ ३॥

पदार्थ—उषा=उषा के तुल्य कान्तिमती कन्या **इन्द्र-तमा**=ऐश्वर्यवती, रानी के तुल्य और **मघोनी**=धनैश्वर्य से युक्त **अभूत**=हो। वह **सुविताय**=ऐश्वर्य-प्राप्त करने के लिये **श्रवांसि**=यशों और धनों को **अजीजनत्**=उत्पन्न करे। वह **दिवः दुहिता**=सूर्य की पुत्रीवत् प्रभा के तुल्य उज्ज्वल कामनावान् पति के मनोरथों को पूर्ण करनेवाली, ज्ञानवती स्त्री **अंगिरस्तमा**=अति विदुषी होकर **सुकृते**=पुण्यादि की वृद्धि के लिये **वसूनि**=ऐश्वर्यों को **दधाति**=धारण करे।

भावार्थ—विदुषी स्त्री पति के घर जाकर पति के मनोरथों को पूर्ण करे। अपने ज्ञान और विद्या के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त करके श्रेष्ठ कर्मों द्वारा पुण्य की वृद्धि करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गृह स्वामिनी

तावदुषो राधो अस्मभ्यं रास्व यावत्स्तोतृभ्यो अरदो गृणाना।
यां त्वा जज्ञुर्वृषभस्या रवेण वि दृळ्हस्य दुरो अद्रेरौर्णोः॥ ४॥

पदार्थ—जैसे 'उषस्' अर्थात् कान्तियुक्त विद्युत् को **वृषभस्य रवेण**=वर्षणशील मेघ के घोर गर्जन के साथ ही **जज्ञुः**=जानते हैं और वह **दृढस्य अद्रेः दुरः वि और्णोत्**=दृढ़ मेघ पर्वतादि के जलावरोधक मार्गों को खोल देती हैं वैसे ही हे विदुषी वधू! **यां त्वा**=जिस तुझको **वृषभस्य**=उत्तम पुरुष के **रवेण**=उपदेश या नाम शब्द से लोग **जज्ञुः**=जान लेते हैं वह तू **दृढस्य अद्रेः**=दृढ़ 'अद्रि' अर्थात् पर्वतवत् विशाल भवन के **दुरः**=नाना द्वारों को **वि और्णोः**=उद्घाटन कर, तू गृहपति की स्वामिनी हो और **यावत्**=जितना तू **गृणाना**=स्तुतियुक्त होकर **स्तोतृभ्यः अरदः**=विद्वानों को देवे **तावत् राधः**=उतना ही धन **अस्मभ्यं**=हमें प्रदान कर।

भावार्थ—विदुषी वधू अपने श्रेष्ठ गुणों व कर्मों से इतनी विख्यात होवे कि लोग उसके नाम से परिचित हो जावें। वह अपने घर की स्वामिनी होकर परोपकारार्थ दान देवे।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दानशील स्त्री

देवंदेवं राधसे चोदयन्त्यस्मद्र्यक्सूनृता ईरयन्ती।
व्युछन्ती नः सनये धियो धा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥५॥

पदार्थ—हे विदुषि! तू **देवं-देवं**=प्रत्येक विद्वान् पुरुष को **राधसे**=दान-योग्य धन **चोदयन्ती**=स्वीकार करने की प्रार्थना करती हुई और **अस्मद्र्यक्**=हमारे प्रति **सूनृता**=उत्तम वचन कहती हुई, **वि उच्छन्ती**=विशेष गुण प्रकट करती हुई **नः सनये**=हमें दान देने के लिये **धियः धाः**=लौकिक वैदिक कर्म और शुभ संकल्प कर। हे विद्वान् स्त्री पुरुषो! **यूयं नः स्वस्तिभिः सदा पात**=आप सदा उत्तम साधनों से हमारा पालन करें।

भावार्थ—विदुषी स्त्री अपने घर पर विद्वानों को दान स्वीकार करने की प्रार्थना किया करे और मधुरता के साथ लोक व्यवहार को वेद के अनुसार करने का शुभ संकल्प करे।

[८०] अशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुसंतान का निर्माण

प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन्।
विवर्तयन्तीं रजसी समन्ते आविष्कृण्वतीं भुवनानि विश्वा॥१॥

पदार्थ—जैसे **रजसी समन्ते**=आकाश और भूमि के प्रान्त भागों तक **वि-वर्तयन्तीं**=व्यापी हुई और **विश्वा भुवना आविः कृण्वतीं**=समस्त पदार्थों को प्रकट करती हुई **प्रति उषसं**=प्रत्येक प्रभात वेला को प्राप्त कर **विप्रासः**=विद्वान् **स्तोमेभिः गीर्भिः**=स्तुतियुक्त मन्त्रों, वाणियों से **अबुध्रन्**=ज्ञान प्राप्त करते हैं और अन्यों को कराते हैं वैसे ही **वसिष्ठाः**=ब्रह्मचारी वा पितावत् **प्रथमाः**=प्रथम कोटि के, उत्तम, विस्तृत ज्ञानवाले **विप्रासः**=विद्वान् पुरुष, **समन्ते**=समीपस्था **रजसी**=मातृ-पितृपक्ष के बन्धुजनों वा अति समीपस्थ **रजसी**=गर्भ में प्राप्त शुक्र और रज दोनों के अंशों को **विवर्त्तयन्ती**=विविध रूपों में परिणत करती हुई और **विश्वा भुवनानि**=गर्भगत भ्रूण के सब रूपों को प्रकट करती हुई उस सन्तान की इच्छुक माता को **प्रति**=लक्ष्य कर **स्तोमेभिः**=स्तुति-योग्य वचनों, व्यवहारों और **गीर्भिः**=वेद-वाणियों से **अबुध्रन्**=ज्ञान प्रदान करें, जिससे सन्तति का पोषण उत्तम और उस पर संस्कार भी उत्तम पड़ें।

भावार्थ—विद्वान् जन स्त्री जनों को माता बनने के लिए उत्तम कोटि के उपदेश द्वारा गर्भस्थ भ्रूण के पालन तथा संस्कारित संतान उत्पन्न करने के लिए वेद वाणियों के द्वारा सन्मार्गदर्शन करें तथा सन्तान उत्पन्न होने के उपरान्त उसका सुपोषण व सुसंस्कारवान् बनाने की विद्या भी प्रदान करें।

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

नव गृहिणी का जागरण

एषा स्या नव्यमायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि।
अग्र एति युवतिरह्रयाणा प्राचिकितत्सूर्यं यज्ञमग्निम्॥२॥

पदार्थ—जैसे **उषा**=प्रभात-वेला, **ज्योतिषा तमः**=प्रकाश से अन्धकार को दूर करती,

नव्यम् आयुः दधाना=सब प्राणियों को नया जीवन देती, **अग्रे**=सूर्य के आगे आती, फिर सूर्य, यज्ञ और यज्ञाग्नि को प्रबुद्ध कराती है वैसे ही **उषा स्या युवतिः**=वह यह युवति, वधू **नव्यम् आयुः दधाना**=नयी आयु धारण करती हुई **ज्योतिषा**=कान्ति से **तमः गूढ्वी**=गहरे शोक, मोहादि को दूर करके **अबोधि**=जागे और पति को जागृत करे। वह **अह्रयाणा**=लज्जा वा प्रमाद त्यागकर **युवतिः**=नवयुवति गृहिणी, **अग्रे एति**=आगे आवे, **सूर्यम्**=सूर्यवत् अपने पति को **प्राचिकितत्**=जगावे, **यज्ञम् अग्निम्**=और बाद में वही यज्ञ अर्थात् परमेश्वर और अग्निहोत्र की अग्नि को भी जगावे।

भावार्थ—नवयुवति गृहिणी अपने ज्ञान व कान्ति से रोग-शोक आदि को दूर करके प्रमाद रहित होकर पति से पहले जागे। फिर पति को जगावे। उसके बाद नित्य प्रति ब्रह्मयज्ञ में आत्म अग्नि तथा देवयज्ञ में भौतिक अग्नि को जागृत किया करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम गृहिणी

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३ ॥

पदार्थ—**अश्वावतीः**=अश्वों अर्थात् विद्यादि में निष्णात, उत्तम पुरुषों से युक्त, **गोमतीः**=देववाणियों से युक्त, **वीरवतीः**=उत्तम पुत्रों से युक्त, **भद्राः**=कल्याण देनेवाली **उषासः**=पति-पुत्रादि को चाहनेवाली देवियाँ **नः सदम् उच्छन्तु**=हमारे घरों को सदा प्रकाशित करें। वे **घृतं दुहानाः**=घृतवत् स्नेह, जल आदि पुष्टिकारक पदार्थों की वृद्धि करती हुई स्वयं भी **विश्वतः**=सब प्रकार से **प्रपीताः**=सन्तुष्ट, हृष्ट-पुष्ट होकर रहें। हे उत्तम देवियो! **यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात**=हमारी सदा उत्तम साधनों से पालना करो।

भावार्थ—उत्तम गृहिणी अपने घरों को विद्वान् पुरुषों, सुसन्तानों व वेदवाणियों के द्वारा प्रकाशित करती हैं। वे घृत, दुग्ध, अन्न, जल आदि पदार्थों की सुव्यवस्था करके सबको स्वस्थ रखती हुई स्वयं भी हृष्ट पुष्ट रहती है।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ तथा उषा देवता है।

अथ पञ्चमाष्टके षष्ठोऽध्यायः

[८१] एकाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

विदुषी स्त्री का कर्त्तव्य

प्रत्यु अदर्श्यायत्युच्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥ १ ॥

पदार्थ—जैसे **दिवः दुहिता**=सूर्य की पुत्री के समान प्रकाश से जगत् को पूर्ण करनेवाली उषा **आयती**=आती हुई और **उच्छन्ती**=प्रकट होती हुई **प्रति अदर्शि उ**=स्पष्ट दिखाई देती है, वह **महि तमः**=बड़े अन्धकार को **अप व्ययति उ**=दूर करती है और **चक्षसे**=सबको दिखलाने के लिये **ज्योतिः कृणोति**=प्रकाश करती है वैसे ही **सूनरी**=उत्तम विदुषी स्त्री, **दिवः दुहिता**=सब कामनाओं, व्यवहारों को पूर्ण करनेवाली, **आयती**=आती हुई, **उच्छन्ती**=गुणों को प्रकट करती हुई, **प्रति अदृर्शि**=प्रतिदिन दिखाई दी वह **चक्षसे**=सम्यग् दर्शन करने और अन्यों को उपदेश

करने के लिये **महि तमः अपो व्ययति**=बहुत अन्धकार, अज्ञान को दूर करे और **ज्योतिः कृणोति**=ज्ञान-प्रकाश करे।

भावार्थ-विदुषी स्त्री अपने उत्तम व्यवहारों तथा शुभ संकल्पों के द्वारा समस्त कामनाओं को पूर्ण करे, और अपने सद्गुणों के द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करे। अपने ज्ञान के उपदेश द्वारा अन्यों के अज्ञान का नाश कर ज्ञान का प्रकाश करे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**उषाः** ॥ छन्दः-**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः-**मध्यमः** ॥

स्त्री का राज्यपालन में सहयोग

उदुस्त्रियाः सृजते सूर्यः सचाँ उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत्।
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि ॥ २ ॥

पदार्थ-जैसे **अर्चिवत्**=तेजो-युक्त **नक्षत्रम्**=नक्षत्र रूप **सूर्यः**=सूर्य **उस्त्रियाः सचा उत्सृजते**=किरणों को एक साथ ऊपर फेंकता है, हे **उषः**=उषः! **तव इत् सूर्यस्य उषि**=तेरे और सूर्य के उषा काल में जैसे **भक्तेन सं गमेमहि**=हम भजन-योग्य प्रभु से संगति लाभ करें, वैसे ही हे **उषः**=कान्तिमति, उत्तम विदुषि नववधु! जब **उद्-यत्**=उगता हुआ **अर्चिवत्**=अन्यों के सत्कार योग्य **नक्षत्रम्**=नक्षत्र के समान व्यापक राज्य पालन-सामर्थ्य हो और **सचा**=साथ ही **सूर्यः**=सूर्य-तुल्य तेजस्वी पुरुष **उस्त्रियाः**=उन्नतिशील प्रजाओं को किरणों के समान **उत्सृजते**=उन्नति की ओर ले जाता है, तब **तव इत् विउषि, सूर्यस्य च वि-उषि**=तेरी और तेरे पति तेजस्वी पुरुष की विशेष इच्छा और प्रताप होने पर **भक्तेन सं गमेमहि**=हम ऐश्वर्यादि लाभ करें।

भावार्थ-विदुषी नव वधू अपने तेजस्वी पति के साथ मिलकर राज्यपालन व प्रजाओं को उन्नतिशील बनाने में सहयोग करे। राज्य को ऐश्वर्य सम्पन्न बनाने में सम्मति देकर पति की इच्छा को पूर्ण करे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**उषाः** ॥ छन्दः-**आर्षीबृहती** ॥ स्वरः-**मध्यमः** ॥

दानशील स्त्री

प्रति त्वा दुहितर्दिव उषो जीरा अभुत्स्महि।
या वहसि पुरु स्पार्हं वनन्वति रत्नं न दाशुषे मयः ॥ ३ ॥

पदार्थ-हे **दिवः दुहितः**=सूर्यवत् तेजस्वी की कामनाएँ पूर्ण करनेवाली, हे **उषः**=तेजस्विनि! हम लोग **जीराः**=शीघ्रकारी होकर **त्वा प्रति**=तुझे **अभुत्स्महि**=जानते हैं कि हे **वनन्वति**=धन की स्वामिनि! **या**=जो तू **पुरु स्पार्हं**=बहुत अधिक, चाहने योग्य ऐश्वर्य **वहसि**=धारती है, वह तू **रत्नं न**=रमणीय रत्नवत् और **मयः**=सुखकारी पदार्थ **दाशुषे**=दान देनेवाले के लिये ही **वहसि**=धारती है।

भावार्थ-तेजस्विनी स्त्री को चाहिए कि वह अपने धन को पात्र लोगों में दान करे जिससे वे प्रजाजन ऐश्वर्य सम्पन्न होवें। इस प्रकार अपने और दूसरों के सुख में वृद्धि होती है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**उषाः** ॥ छन्दः-**आर्षीभुरिग्बृहती** ॥ स्वरः-**मध्यमः** ॥

सुपुत्रवती स्त्री

उच्छन्ती या कृणोषि मंहना महि प्रख्यै देवि स्वर्दृशे।
तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वयं स्याम मातुर्न सूनवः ॥ ४ ॥

पदार्थ–या=जो तू हे **देवि**=दानशीले! हे **महि**=पूजनीये! जैसे उषा **प्रख्यै**=सब पदार्थों को बतलाने और **दृशे**=देखने के लिये **स्वः उच्छन्ती**=स्वयं प्रकट होती, सूर्य को प्रकट करती है वैसे ही **उच्छन्ती**=गुणों का प्रकाश करती हुई **प्रख्यै**=उत्तम ख्याति पाने और **दृशे**=दर्शन के लिये **मंहना**=अपने व्यवहार से **स्वः**=आदित्यवत् तेजस्वी पुरुष, या पुत्र को **कृणोषि**=उत्पन्न करती हैं। **रत्नभाजः**=पुत्रादिरत्न को धारण करनेवाली तुझसे हम **ईमहे**=याचना करें और **वयम्**=हम **मातुः सूनवः न**=माता के पुत्रों के तुल्य **स्याम**=तेरे कृपापात्र बनें।

भावार्थ–उत्तम स्त्री अपने जीवन में सद्गुणों को धारण करके सुसंस्कारित तेजस्वी पुत्र रत्न को उत्पन्न करे। अन्यों को भी दान आदि से पुत्रों के समान पुष्ट करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

ऐश्वर्य दान

तच्चित्रं राध आ भरोषो यद्दीर्घश्रुत्तमम्।
यत्ते दिवो दुहितर्मर्तभोजनं तद्रास्व भुनजामहै ॥ ५ ॥

पदार्थ–हे **उषः**=हे विदुषि! हे प्रभुशक्ते! तू हमें **तत्**=वह **चित्रम्**=अद्भुत, सञ्चय-योग्य, **राधः**=ऐश्वर्य **आ भर**=दे **यत् दीर्घश्रुत्तमम्**=जो दीर्घ काल तक श्रवण योग्य हो। हे **दिवः दुहितः**=सूर्य की पुत्री उषावत् तेजस्वी पिता की कन्ये! एवं तेजस्वी पुरुष की कामना पूर्ण करनेहारी! **यत् ते मर्त्त-भोजनम्**=जो तेरा मनुष्यों को पालन करनेवाला सामर्थ्य है **तत्**=वह तू हमें **रास्व**=दे, **भुनजामहै**=हम उसका भोग करें।

भावार्थ–विदुषी स्त्री अपने ज्ञान एवं धन को सुपात्रों में इतना बाँटे कि लोग दीर्घकाल तक स्मरण करें। यह दूसरों को पालन करने का गुण उसके यश को चिर स्थाई बना देगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**उषाः** ॥ छन्दः–**आर्षीभुरिग्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

ऐश्वर्य का वितरण

श्रवः सूरिभ्यो अमृतं वसुत्वनं वाजाँ अस्मभ्यं गोमतः।
चोदयित्री मघोनः सूनृतावत्युषा उच्छदप स्त्रिधः ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **सूनृतावति**=ऋत, ज्ञान और धन की स्वामिनि! तू **सूरिभ्यः**=विद्वान् पुरुषों के लिये **अमृतम्**=अमृतमय **श्रवः**=श्रवण-योग्य ज्ञान, आयुप्रद अन्न, **वसुत्वनं**=ऐश्वर्ययुक्त कीर्त्ति और **गोमतः वाजान्**=पशु-भूमिसम्पन्न ऐश्वर्य दे। तू **मघोनः**=ऐश्वर्यवालों को **चोदयित्री**=अपने अधीन चलाती हुई **स्त्रिधः**=हिंसक दुष्टों को **अप उच्छत्**=दूर कर।

भावार्थ–ज्ञानवती स्त्री विद्वान् पुरुषों को उत्तम अन्न, धनैश्वर्य, गाय व भूमि का दान प्रदान करके यश प्राप्त करती है तथा दुष्टों को हिंसा आदि से दूर रखने हेतु भी ऐश्वर्य बाँटती है।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ तथा देवता इन्द्रावरुणौ है।

[८२] द्व्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृज्जगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

इन्द्र-वरुण का कर्त्तव्य

इन्द्रावरुणा युवमध्वराय नो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम्।
दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः ॥ १ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्रा-वरुणा**=इन्द्र, शत्रु के हनन करने हारे! हे वरणीय सर्वश्रेष्ठ! **युवम्**=आप दोनों **अध्वराय**=हिंसा से रहित **नः**=हमारे **विशे जनाय**=प्रजाजन को **महि शर्म**=बड़ा सुख **यच्छतम्**=दो। **दीर्घ-प्रयज्युम्**=दीर्घ-काल से उत्तम संगतिवाले, एवं चिरकाल से कर, वृत्ति आदि देनेवाले पुरुष की **यः**=जो **वनुष्यति**=मर्यादा का अतिक्रमण करके हिंसा करे या उससे अधिकार से अधिक माँगे, उसको और **दूढ्यः**=दुष्ट कर्म करनेवालों को **वयं**=हम **पृतनासु**=संग्रामों के बीच **जयेम**=विजय करें।

भावार्थ–राजा तथा सेनापति दोनों को योग्य है कि वे प्रजा का उत्तमता के साथ पालन करें। कर देनेवाले प्रजा जनों से यदि कोई अतिक्रमण करके अधिक माँग करे तो उस भ्रष्टाचारी को दण्डित करें तथा राष्ट्र में दुष्टों का नाश करके प्रजा को सुखी करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृज्जगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

इन्द्र और वरुण का स्वरूप

स॒म्राळ॒न्यः स्व॒राळ॒न्य उ॑च्यते वां म॒हान्ता॒विन्द्रा॒वरु॑णा म॒हाव॑सू।
विश्वे॑ दे॒वासः॑ पर॒मे व्यो॑मनि॒ सं वा॒मोजो॑ वृषणा॒ सं बलं॑ दधुः ॥ २ ॥

पदार्थ–इन्द्र और वरुण का स्वरूप। **इन्द्रा-वरुणा**=इन्द्र और वरुण दोनों **महान्तौ**=गुणों और बलों में महान् सामर्थ्यवान् और दोनों **महावसू**=बड़े भारी वसु अर्थात् धन और अधीन बसे प्रजा के स्वामी हैं। एक के पास धनबल, दूसरे के पास जनबल, एक कोशवान् और दूसरा दण्डवान्, एक अर्थपति दूसरा बलाध्यक्ष है। **वाम्**=आप दोनों में से **अन्य सम्राट्**=एक तो 'सम्राट्' और **अन्यः स्वराट्**=दूसरा 'स्वराट्' **उच्यते**=कहलाता है। अच्छी प्रकार देदीप्यमान होने से सम्राट् और 'स्व' धन और 'स्व' अपने जन से राजावत् प्रकाशमान होने से 'स्वराट्' है। **वाम्**=आप दोनों के **परमे**=सर्वोत्कृष्ट **वि-ओमनि**=विशेष रक्षण में रहते हुए **विश्वे देवासः**=सब विद्वान्, वीर और व्यवहारवान् मनुष्य **ओजः सं दधुः**=पराक्रम या तेज एक साथ धारें और **बलं सं दधुः**=अपना बल एक साथ लगावें।

भावार्थ–राजा और सेनापति दोनों का सामर्थ्य बहुत बड़ा है। दोनों मिलकर राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने के लिए राष्ट्र के विद्वानों, वीरों तथा ऐश्वर्यशाली प्रजाओं के सामर्थ्य को एक साथ लगाने की प्रेरणा करें। इससे राष्ट्र सुदृढ़ बनेगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**आर्चीभुरिग्जगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

इन्द्र-वरुण के कार्य

अन्व॒पां खान्य॑तृन्त॒मोज॑सा॒ सूर्य॑मैरयतं दि॒वि प्र॒भुम्।
इन्द्रा॑वरुणा॒ मदे॑ अस्य मा॒यिनोऽपि॑न्वतम॒पितः॒ पिन्व॑तं॒ धियः॑ ॥ ३ ॥

पदार्थ–आप दोनों **अपां**=प्रजाओं के यातायात के लिये **खानि**=जल मार्गों के समान नाना मार्ग **अनु अतृन्तम्**=उनके अनुकूल बनाते हो और **दिवि**=शासन और व्यवहार में **प्रभुम्**=सामर्थ्यवान् **सूर्यम्**=सूर्य-समान तेजस्वी पुरुष को **ऐरयतम्**=प्रेरित करते हो। **अस्य**=इस **मायिनः**=प्रजावान् और शिल्पशक्ति के स्वामी के **मदे**=सन्तुष्ट रहने पर ही **इन्द्रा वरुणा**=इन्द्र और वरुण, अर्थ और बल के अध्यक्ष जन **अपितः**=अरक्षित प्रजाओं को भी **अपिन्वतम्**=बढ़ाते और **धियः पिन्वतम्**=नाना कर्मों, शिल्पों को पुष्ट करते हैं।

भावार्थ–राजा और सेनापति दोनों प्रजाओं के लिए यातायात के विभिन्न मार्गों (जल मार्ग,

आकाश मार्ग तथा सड़क मार्ग) को निष्कंटक करें। पिछड़े वर्ग तथा जंगली जातियों को भी नाना प्रकार के शिल्प आदि कार्यों का प्रशिक्षण देकर राष्ट्र की मुख्य धारा में जोड़ने की योजना बनावें।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्द:-**आर्षीविराड्जगती** ॥ स्वर:-**निषादः** ॥

इन्द्र-वरुण का आह्वान

युवामिद्युत्सु पृतनासु वह्नयो युवां क्षेमस्य प्रसवे मितज्ञवः।
ईशाना वस्व उभयस्य कारव इन्द्रावरुणा सुहवा हवामहे॥ ४॥

पदार्थ-हे **इन्द्रा-वरुणा**=इन्द्र ऐश्वर्यवन्! हे वरुण, शत्रु-जनों, दुष्टों, और विघ्नों के वारक अध्यक्षो! **वह्नयः**=नाना कार्यों को वहन करनेवाले प्रधान पुरुष **युत्सु**=युद्धों, **पृतनासु**=सेनाओं और प्रजाओं में **युवाम्**=तुम दोनों को **हवन्ते**=बुलाते हैं और **मित-ज्ञवः**=मित ज्ञानवाले, ज्ञानी वा विनय से गोड़े सिकोड़ कर बैठनेवाले, सभ्य, या परिमित कदमवाले जन **क्षेमस्य प्रसवे**=अप्राप्त धन को प्राप्त करने के लिये **युवाम्**=आप दोनों को याद करते हैं। **कारवः**=क्रिया-कुशल, शिल्पी और वेद-मन्त्रों के द्रष्टा हम विद्वान् जन **उभयस्य वस्वः ईशाना**=ऐहिक और पारमार्थिक वा चर और अचर दोनों के स्वामी आप दोनों **सु-हवा**=सुख से पुकारे जाने योग्य सुखदाताओं को **हवामहे**=पुकारते हैं।

भावार्थ-राजा और सेनापति मिलकर शत्रुओं व दुष्टों को अपने अधीन करें जिससे वे प्रजा को दु:ख न दे सकें। साधनहीन प्रजा को धन देकर सुखी करें। विभिन्न विद्याओं में निष्णात विद्वानों के द्वारा शिल्प आदि विद्याओं तथा वेद मन्त्रों का उपदेश कराने की व्यवस्था करें जिससे प्रजा सुखी होवे।

ऋषि:-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्द:-**आर्षीविराड्जगती** ॥ स्वर:-**निषादः** ॥

इन्द्र-वरुण का रहस्य

इन्द्रावरुणा यदिमानि चक्रथुर्विश्वा जातानि भुवनस्य मज्मना।
क्षेमेण मित्रो वरुणं दुवस्यति मरुद्भिरुग्रः शुभमन्य ईयते॥ ५॥

पदार्थ-आधिदैविक दृष्टान्तों से इन्द्र-वरुण का रहस्य। जैसे **मित्रः**=सबका मित्र सूर्य **वरुणं**=आकाश के आच्छादक मेघ को **क्षेमेण दुवस्यति**=प्रजा के पालन-सामर्थ्य, अन्न-जलादि से युक्त करता है और **अन्यः**=दूसरा **उग्रः**=प्रबल वायु **मरुद्भिः**=मध्यस्थानीय वायुओं से **शुभम् ईयते**=जल को प्राप्त कराता है और सूर्य, वायु या विद्युत् दोनों **मज्मना**=बल से **भुवनस्य इमा विश्वा जातानि**=संसार के इन समस्त प्राणियों को **चक्रथुः**=उत्पन्न करते हैं, ऐसे ही **यत् इन्द्रावरुणा**=जो इन्द्र और वरुण ऐश्वर्य और दण्ड के अध्यक्ष जन **मज्मना**=धन और सैन्य-बल से **इमानि विश्वा जातानि**=इन समस्त जनों को **चक्रथुः**=अपने अधीन और समृद्ध करते हैं। वे कैसे करते हैं? **मित्रः**=सबको मरने या नाश होने से बचानेवाला, ब्राह्मण-वर्ग **वरुणं**=दुष्टों के वारक दण्डवान् क्षत्रवर्ग को **क्षेमेण**=प्रजा के योग्यक्षेम, रक्षा या प्राप्त धन के सामर्थ्य से **दुवस्यति**=युक्त करता है, उसको प्रजा की रक्षा और पालन का अधिकार सौंपता है और **अन्यः**=दूसरा **उग्रः**=बलवान् पुरुष **मरुद्भिः**=शत्रुमारक सुभटों से युक्त होकर **शुभम् ईयते**=शोभित पद को प्राप्त करता है।

भावार्थ-इन्द्र और वरुण=राजा और सेनापति ऐश्वर्य और दण्ड के अध्यक्ष हैं। ये दोनों धन और रक्षा कार्यों से प्रजाओं को अधीन रखें। ब्राह्मण वर्ग तथा क्षत्र वर्ग को विभिन्न पदों पर

नियुक्त कर प्रजा की समृद्धि हेतु अज्ञान एवं शत्रुओं से रक्षा करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्र-वरुण का पराक्रम

महे शुल्काय वरुणस्य नु त्विष ओजो मिमाते ध्रुवमस्य यत्स्वम्।
अजामिमन्यः श्नथयन्तमातिरद्दभ्रेभिरन्यः प्र वृणोति भूयसः ॥ ६ ॥

पदार्थ—**अस्य वरुणस्य**=इस 'वरुण' की **यत्**=जो **ध्रुवम् स्वम्**=स्थिर सम्पदा है उस **महे शुल्काय**=बड़े ऐश्वर्य और **त्विषे**=तेजोवृद्धि के लिये **नु**='इन्द्र और वरुण' दोनों ही **ओजः**=पराक्रम करते हैं। कैसे करते हैं कि—**अन्तः**=एक तो **श्नथयन्तम् अजामिम्**=हिंसा करनेवाले शत्रु को **आ अतिरत्**=सब ओर से नष्ट करता है और **अन्यः**=दूसरा **दभ्रेभिः**=हिंसाकारी शस्त्रास्त्रों से **भूयसः प्र वृणोति**=बहुत शत्रुओं को आच्छादित करता और उनको दूर से ही वारण करता है।

भावार्थ—राष्ट्र के स्थिर ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए राजा और सेनापति दोनों मिलकर पराक्रम करें। राजा शासन व्यवस्था के द्वारा राष्ट्र के आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट करे और सेनापति शस्त्रास्त्रों के द्वारा बाहरी शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

हिंसा रहित प्रजा पालन

न तमंहो न दुरितानि मर्त्यमिन्द्रावरुणा न तपः कुतश्चन।
यस्य देवा गच्छथो वीथो अध्वरं न तं मर्तस्य नशते परिह्वृतिः ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे **देवा**=दानशील, विजय-कामनावाले **इन्द्रा-वरुणा**=शत्रुहन्ता और विघ्नवारक अध्यक्षो! आप दोनों **यस्य मर्तस्य अध्वरं**=जिस राष्ट्र या मनुष्य-वर्ग के 'अध्वर' अर्थात् हिंसा-रहित प्रजा-पालन के कार्य को **गच्छथः**=जाते हो और **वीथः**=रक्षा करते हो **तम् मर्तम्**=उस मनुष्य तक **न अंहः नशते**=न पाप पहुँचता है **न दुरितानि**=न बुरे फल **कुतः चन न तपः**=न किसी से सन्ताप **तं न परिह्वृतिः नशते**=और न उसको किसी की कुटिल चाल सताती है।

भावार्थ—जिस राष्ट्र के राजा व सेनापति जागरूक व पराक्रमी होते हैं उस राष्ट्र में पाप, हिंसा, भ्रष्टाचार व कुटिल जन नहीं पनप सकते। उसकी प्रजा सुखी होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्र-वरुण प्रजा के वचन सुनें

अर्वाङ् नरा दैव्येनावसा गतं शृणुतं हवं यदि मे जुजोषथः।
युवोर्हि सख्यमुत वा यदाप्यं मार्डीकमिन्द्रावरुणा नि यच्छतम् ॥ ८ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्रा-वरुणा**=ऐश्वर्यवन्! हे शत्रुवारक! **नरा**=नायको! **यदि**=यदि आप दोनों **मे जुजोषथः**=मुझसे प्रेम करते हो तो **मे हवं शृणुतम्**=मेरा वचन सुनो और **दैव्येन**=विद्वान्, वीर पुरुषों से बने **अवसा**=रक्षा आदि साधन-सहित **अर्वाङ् आगतम्**=हमारे पास आओ। **युवोः**=आप दोनों की **हि**=निश्चय से **यत्**=जो **सख्यम्**=मित्रता और **मार्डीकम् आप्यम्**=सुखकारी बन्धुता है, उसे हमें **नि यच्छतम्**=दो।

भावार्थ—राष्ट्र में राजा और सेनापति मित्रवत् रहें इससे प्रजा का मनोबल बढ़ता है। ये दोनों

प्रजाओं के मध्य में जाकर उनकी समस्याओं को सुना करें तथा उनका यथोचित समाधान किया करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः-**निचृज्जगती** ॥ स्वरः-**निषादः** ॥

राजा-सेनापति द्वारा संकट निवारण

अस्माकमिन्द्रावरुणा भरेभरे पुरायोधा भवतं कृष्ट्योजसा।
यद्वां हवन्त उभये अध स्पृधि नरस्तोकस्य तनयस्य सातिषु॥ ९॥

पदार्थ-हे **कृष्टयोजसा इन्द्रावरुणा**='कृष्टि' अर्थात् शत्रु का कर्षण, पीड़ा करनेवाली सेनाओं, पराक्रमवाले इन्द्र और वरुण, शत्रुहन्ता, शत्रुवारक अध्यक्षो! आप दोनों **अस्माकं भरे-भरे**=हमारे प्रत्येक संग्राम में **पुरोयोधा भवतम्**=आगे रहकर लड़नेवाले होवें। **यत्**=जो **नरः**=मनुष्य **उभये**=सबल, निर्बल दोनों ही **तोकस्य तनयस्य सातिषु**=पुत्र-पौत्र तक के सेवन-योग्य स्थिर भूमि आदि को प्राप्त करने हेतु **स्पृधि**=आपसी स्पर्धा में **वां हवन्ते**=तुम दोनों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ-राजा और सेनापति राष्ट्र व प्रजाओं के संकट काल में आगे रहकर समर्थ तथा निर्बल दोनों प्रकार के प्रजा जनों का संकट निवारण करने में तत्पर रहें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः-**आर्षीविराड्जगती** ॥ स्वरः-**निषादः** ॥

वेदानुसार व्यवस्था

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे॥ १०॥

पदार्थ-**इन्द्र**=ऐश्वर्यवान्, तेजस्वी **वरुणः**=मेघवत् उदार, वरणीय, **मित्रः**=स्नेही, **अर्यमा**=शत्रुओं के नियन्त्रण में कुशल पुरुष **अस्मे**=हमें **महि द्युम्नं**=बड़ा ऐश्वर्य और **सप्रथः शर्म**=विस्तारयुक्त शरण, गृह आदि **यच्छन्तु**=प्रदान करें। ये सब **ऋत-वृधः**=सत्य, न्याय, धन आदि को बढ़ाने और स्वयं बढ़नेवाले होकर **अदितेः**=अखण्ड शासनकर्त्ता, प्रजा के माता, पिता एवं पुत्रवत् पालक के **अवध्रं**=न नाश होनेवाले **ज्योतिः**=ज्ञान और प्रताप को प्रदान करें। हम भी उसी **देवस्य**=दाता **सवितुः**=प्रभु की **श्लोकं**=वाणी-वेद तथा आज्ञा का **मनामहे**=मान तथा मनन करें।

भावार्थ-राजा को योग्य है कि वह प्रजाओं के लिए घरों तथा ऐश्वर्य का दान करे। उन्हें उचित न्याय प्रदान कर अपने शासन को स्थिर करे। प्रजा पालक होकर ज्ञान के विस्तार हेतु वेदवाणी के प्रचार-प्रसार की व्यवस्था करे।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता इन्द्रावरुणौ है।

[८३] त्र्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः-**विराड्जगती** ॥ स्वरः-**निषादः** ॥

राष्ट्र रक्षा

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः।
दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम्॥ १॥

पदार्थ-जैसे **प्राचा**=पूर्व दिशा से **आप्यं पश्यमानासः**=जलों के लक्षण देखते हुए **गव्यन्तः**=भूमि-कर्षणादि के इच्छुक **पृथुपर्शवः**=बड़े हल, फावड़े आदि लेकर भूमि खोदने जाते हैं वैसे ही हे **नरा**=नायक जनो! **प्राचा**=सम्मुख से परस्पर **आप्यं**=बन्धुभाव वा प्राप्तव्य लक्ष्य को

पश्यमानासः=देखते हुए **गव्यन्तः**=भूमि-विजय की कामनावाले **पृथु-पर्शवः**=बड़े-बड़े परशु आदि शस्त्रास्त्र लिये **ययुः**=आगे बढ़ें। जैसे वायु और विद्युत् दोनों **वृत्रा हतम्**=मेघस्थ जलों पर आघात करते हैं वैसे ही **युवां**=हे इन्द्र और वरुण! शत्रुहनन और शत्रु-वारण करनेवालो! आप दोनों **दासा**=विनाशकारी और **आर्याणि**='अरि' अर्थात् शत्रु-पक्ष के **वृत्रा**=बढ़ते हुए सैन्यों को **हतम्**=मारो और **दासा च**=भृत्यादि तथा **आर्याणि**='आर्य' स्वामी वा वैश्यों के उपयोगी **वृत्रा**=नाना धनों को भी **हतम्**=प्राप्त करो। हे **इन्द्रावरुणा**=ऐश्वर्यवन्! हे श्रेष्ठ पुरुष! तुम दोनों **सुदासम्**=उत्तम दानशील, धनी तथा उत्तम भृत्य आदि की भी **अवसा अवतम्**=रक्षा साधनों द्वारा रक्षा करो।

भावार्थ—पूर्व दिशा में इन्द्रधनुष को देखकर किसान वर्षा होने का अनुमान लगाकर अपने खेत में हल व फावड़े लेकर जावे तथा कृषि कार्य करे। सामने से शत्रुसेना को विजय करने के लिए परुशा आदि शस्त्रास्त्र लेकर सेनापति सेना के साथ आगे बढ़े। इससे वैश्य, सेवक वर्ग आदि प्रजाओं तथा राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा होगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

संग्राम में ध्वज लेकर प्रयाण

यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम्।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम्॥ २ ॥

पदार्थ—**यत्र**=जिस संग्राम में **कृत-ध्वजः नरः**=झण्डे हाथ में लिये नायक जन **सम् अयन्त**=एक साथ प्रयाण करते हैं और **यस्मिन् आजा**=जिस संग्राम में **किं च न प्रियं भवति**=शायद कुछ ही प्रिय होता हो, **यत्र**=जहाँ **स्वर्दृशः**=सूर्यवत् तीक्ष्ण दृष्टिवाले तेजस्वी पुरुष से **भुवना**=समस्त लोक, प्राणी **भयन्ते**=भय करते हैं **तत्र**=ऐसे संग्रामों में **इन्द्रा-वरुणा**=इन्द्र, वरुण नाम पदाधिकारी जन **नः अधि वोचतम्**=हमारे अध्यक्ष होकर शासन आदि करें।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण=राजा और सेनापति अपने ध्वज लेकर संग्रामों में विजय के लिए प्रयाण करें। इससे समस्त प्रजाजन इन दोनों का सम्मान करेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

संग्रामों में स्थिर

सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षतेन्द्रावरुणा दिवि घोष आरुहत्।
अस्थुर्जनानामुप मामरातयोऽर्वागवसा हवनश्रुता गतम्॥ ३ ॥

पदार्थ—जब **भूम्याः अन्ताः**=भूमि के प्रान्त भाग **ध्वसिराः सम् अदृक्षन्त**=सब नष्ट-भ्रष्ट दिखाई देवें **दिवि: घोषः आरुहत्**=आकाश या पृथ्वी में बड़ा कोलाहल गूँज रहा हो और **अरातयः**=शत्रु लोग **जनानाम् उप**=राष्ट्रवासी मनुष्यों के पास तक और **माम् उप अस्थुः**=मुझ प्रजावर्ग तक आ पहुँचें ऐसी दशा में भी हे **इन्द्रा-वरुणा**=शत्रु के नाशक और वारक जनो! **हवन-श्रुता**=आह्वान पुकार सुननेवाले आप दोनों दयार्द्र होकर **अवसा आगतम्**=रक्षा-सामर्थ्य सहित प्राप्त होओ।

भावार्थ—यदि शत्रु सेना कोलाहल करती हुई तथा भूमि को नष्ट-भ्रष्ट करती हुए राष्ट्र के अन्दर प्रजाओं तक पहुँच जाये तो भी राजा और सेनापति मनोबल सुदृढ़ रखते हुए शत्रु को परास्त करने का सामर्थ्य जुटावें और प्रजा व राष्ट्र की रक्षा करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सेना का कर्त्तव्य

इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति भेदं वन्वन्ता प्र सुदासमावतम्।
ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत्पुरोहितिः ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्रावरुणा**=शत्रु का हनन और वारण करनेवाले वीर वर्गो! आप दोनों **वधनाभिः**=शत्रु को दण्ड देने और नाश करनेवाली नीतियों और सेनाओं से **अप्रति**=अप्रत्यक्ष रूप से **भेदं**=शत्रु को छिन्न-भिन्न **वन्वन्ता**=करते हुए, वा **भेदं वन्वन्ता**=राष्ट्र-भेदक शत्रु का नाश करते हुए **सु-दासम्**=शुभ दानशील भृत्यादि से युक्त राजा की **प्र अवतम्**=अच्छी प्रकार रक्षा करो। **हवीमनि**=परस्पर प्रतिस्पर्द्धा-योग्य संग्राम में **एषां**=इन विद्वान् प्रजाजनों के **ब्रह्माणि**=ज्ञान-वचनों को **शृणुतं**=सुनो। **तृत्सूनां**=शत्रुओं को मार गिरानेवाले वीर सैन्यों और संशयोच्छेदी विद्वानों की **पुरोहितिः**=सबसे आगे स्थिति और अग्रासन पर विराजना **सत्या अभवत्**=सफल हो।

भावार्थ—सेना को योग्य है कि वह युद्धों में शत्रु नाशक नीति को अपनाते हुए राजा की यत्न पूर्वक रक्षा करे। और प्रजाजनों द्वारा दी गई सूचनाओं को विद्वान् जन राजा तक पहुँचावें। इस प्रकार राजा और विद्वान् दोनों का सम्मान होवे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**आर्चीजगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रजा की रक्षा

इन्द्रावरुणावभ्या तपन्ति माघान्यर्यो वनुषामरातयः।
युवं हि वस्व उभयस्य राजथोऽध स्मा नोऽवतं पार्ये दिवि ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र, शत्रुहन्तः! हे वरुण शत्रुओं के वारक **अर्यः**=शत्रु के किये **अघानि**=पापाचार और **वनुषाम्**=हिंसक जनों या माँगनेवालों में से भी **अरातयः**=दूसरों का अधिकार हरकर न देनेवाले जन ही **मा**=मुझ राष्ट्र-वासी जन को **अभि आ तपन्ति**=सताते हैं। **युवं हि**=आप दोनों निश्चय से **उभयस्य**=मुझ प्रजाजन और मुझे सतानेवाले **वस्वः**=राष्ट्र में बसनेवाले दोनों के ऊपर **राजथः**=राजावत् शासन करो, **अध**=इसलिए आप दोनों **पार्ये दिवि**=पालनेवाले शासन व्यवहार के पद पर स्थित होकर **नः अवतं स्म**=हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—राजा और सेनापति का कर्त्तव्य है कि वे प्रजाओं को बाहरी शत्रुओं के आक्रमणों व राष्ट्र के आन्तरिक हिंसक जनों के त्रास से बचावें। उत्तम शासन व उत्तम सुरक्षा से प्रजा व राष्ट्र की रक्षा करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रजाहित

युवां हवन्त उभयास आजिष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये।
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥ ६ ॥

पदार्थ—**यत्र**=जिन संग्रामों में **दशभिः राजभिः**=दसों राजाओं वा तेजस्वी पुरुषों से **नि बाधितम्**=अति पीड़ित **सुदासं**=उत्तम दानशील पुरुष की **तृत्सुभिः**=शत्रु को काटनेवाले वीर भटों से **प्र अवतम्**=रक्षा करते हो, उन **आजिषु**=युद्धों में **इन्द्रं च**=ऐश्वर्यवान् और **वरुणं च**=श्रेष्ठ **युवां**=आप दोनों को **वस्वः सातये**=धनैश्वर्यादि के लाभ के लिये **उभयासः**=वादी

प्रतिवादी दोनों पक्ष के लोग **हवन्ते**=पुकारते हैं।

भावार्थ–संग्रामों में पीड़ित जनों को हुए नुकसान की भरपाई के लिए राजा को योग्य है वह प्रजा के मध्य में जाकर दिग्दर्शन करे तथा प्रजाजनों को उचित सहयोग व सहायता करे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**आर्षीजगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

नीति कुशल राजा

दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः।
सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुतिर्देवा एषामभवन्देवहूतिषु ॥ ७ ॥

पदार्थ–**अयज्यवः**=देवपूजा और संगति न करनेवाले **दश राजानः**=दस तेजस्वी पुरुष भी **सम् इताः**=एक साथ आकर **सुदासम् न युयुधुः**=उत्तम दानशील तथा शत्रु–नाश में कुशल राजा से नहीं लड़ सकते। **अद्मसदाम्**=समान अन्न पर स्थित **नृणाम्**=मनुष्यों की **उपस्तुतिं**=समीप–समीप बैठकर की गई प्रार्थना भी **सत्या**=फलजनक होती है। **एषाम्**=इनके **देवहूतिषु**=विद्वान् वीरों को आह्वानों, यज्ञों, संग्रामों के अवसरों पर **देवाः**=वीर पुरुष **अभवन्**=सहायक होते हैं।

भावार्थ–युद्धनीति व राजनीति में कुशल राजा के साथ दस महारथी भी एक साथ युद्ध करें तो भी नहीं हरा सकते क्योंकि इस राजा के सहायक वीर वहीं कहीं आस–पास ही होते हैं जो संकेत पाते ही शत्रु पर टूट पड़ेंगे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**आर्षीजगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

कूटनीतिक राजा

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम्।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः ॥ ८ ॥

पदार्थ–**परियत्ताय**=सब ओर से नियन्त्रित, **दाश-राज्ञे**=दशों राजाओं के बीच प्रबल, **सुदासे**=उत्तम दानशील राजा को हे **इन्द्रावरुणा**=ऐश्वर्यवन्! हे शत्रुवारणकारी मनुष्य वर्गों! **अशिक्षतम्**=आप दोनों ज्ञान, बल दो **यत्र**=जिसके अधीन **श्वित्यञ्चः**=उज्ज्वल यश, या समृद्धि को प्राप्त **कपर्दिनः**=उत्तम जटाजूट वा उत्तम धन–सम्पन्न और **धीवन्तः**=बुद्धिमान्, **तृत्सवः**=शत्रुनाशक, त्रिविध ऐश्वर्यों के स्वामी लोग **नमसा**=आदर पूर्वक अन्न, वज्र, शस्त्रादि–सहित **असपन्त**=समूह बनाकर रहते हैं। (कपर्दिनः–कपर्दः–जटाजूटः अथवा कपर्दः धनम्। कौड़ी इत्युपलक्षणम्। तद्वन्तः) पैसेवाले। अध्यात्म में–दश प्राण, दश इन्द्रियें दश राजा हैं, वे दस स्थानों पर पृथक्–पृथक् विद्यमान हैं। परस्पर उनका कोई सीधा सम्बन्ध न होने से 'अयज्यु' हैं। वे एक ही साथ हमें प्राप्त **सम्-इताः**=हैं। आत्मा 'सुदास' है, प्राण अपान इन्द्र–वरुण हैं। सुखप्रद ज्ञानतन्तु 'तृत्सु' हैं वे सुखपूर्वक होने से 'कपर्दी' हैं। वे 'नमसा, धिया' अन्न और बुद्धि के बल से आत्मा के अधीन हैं।

भावार्थ–प्रजाहितैषी राजा पर यदि दस शत्रु राजा भी एक साथ मिलकर आक्रमण करें तो भी वह नहीं हार सकता। क्योंकि सेना, प्रजा तथा गुप्तचर मिलकर उन शत्रुओं की शक्ति को ध्वस्त कर देंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञव्रतों की रक्षा

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा।
हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभिरस्मे इन्द्रावरुणा शर्म यच्छतम्॥ ९॥

पदार्थ—हे **इन्द्रा-वरुणा**=ऐश्वर्यवन्! हे वरुण! दुष्टों के वारक! आप दोनों में से **अण्यः**=एक तो **समिथेषु**=संग्राम और यज्ञों में **वृत्राणि जिघ्नते**=बढ़ते, विघ्नकारी पुरुषों को दण्ड देता है और **अन्यः**=दूसरा विद्वान् आचार्य—**सदा व्रतानि अभि रक्षते**=सदा व्रतों की रक्षा करता है। हम लोग **सुवृक्तिभिः**=उत्तम स्तुतियों से **वां हवामहे**=आप दोनों को बुलाते, अपनाते, धन, मान आदि देते हैं। हे इन्द्र! हे वरुण! सेना-सभाध्यक्षो! **अस्मे**=हमें आप दोनों **शर्म यच्छतम्**=सुख दो।

भावार्थ—राजा व सेनापति दोनों मिलकर प्रजाजनों के यज्ञ की रक्षा करें। जो यज्ञों में विघ्न डालनेवाले कुटिल जन हैं उन्हें दण्डित करें, तथा विद्वानों के द्वारा प्रजाजनों के व्रतों की रक्षा करें। इससे राजा प्रजा में प्रतिष्ठित होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**आर्षीजगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

माता-पिता के समान राजा

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे॥ १०॥

पदार्थ—**इन्द्र**=ऐश्वर्यवान्, तेजस्वी **वरुणः**=मेघवत् उदार, वरणीय, **मित्रः**=स्नेही, **अर्यमा**=शत्रुओं के नियन्त्रण में कुशल पुरुष **अस्मे**=हमें **महि द्युम्नं**=बड़ा ऐश्वर्य और **सप्रथः शर्म**=विस्तारयुक्त शरण, गृह आदि **यच्छन्तु**=प्रदान करें। ये सब **ऋत-वृधः**=सत्य, न्याय, धन आदि को बढ़ाने और स्वयं बढ़नेवाले होकर **अदितेः**=अखण्ड शासनकर्त्ता, प्रजा के माता, पिता एवं पुत्रवत् पालक के **अवध्रं**=न नाश होनेवाले **ज्योतिः**=ज्ञान और प्रताप का प्रदान करें। हम भी उसी **देवस्य**=दाता **सवितुः**=प्रभु की **श्लोकं**=वाणी-वेद तथा आज्ञा का **मनामहे**=मान तथा मनन करें।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह अपने राष्ट्र में प्रजा के लिए गृह निर्माण, उद्योग विस्तार करके आजीविका व निवास स्थान प्रदान करे। प्रजा को न्याय व सुरक्षा प्रदान कर माता-पिता के समान पालन करे।

अगले सूक्त का भी ऋषि वसिष्ठ व देवता इन्द्रावरुणौ है।

[८४] चतुरशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र वरुण का वरण

आ वां राजानावध्वरे ववृत्यां हव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः।
प्र वां घृताची बाह्वोर्दधाना परि त्मना विषुरूपा जिगाति॥ १॥

पदार्थ—हे **इन्द्रावरुणा**=ऐश्वर्यवन्! हे सर्वश्रेष्ठ! **राजानौ वां**=दीप्तियुक्त आप दोनों को मैं **हव्येभिः नमोभिः**=ग्राह्य, उत्तम वचनों और आदर-युक्त विनय कार्यों से **ववृत्यां**=वरण करता हूँ। **विषु-रूपा घृताची**=बहुत प्रकार की तेजस्विनी वा स्नेहयुक्त प्रजा **वां**=आप दोनों को

बाह्वोः प्रदधाना=बाहुओं के समान शत्रुओं को पीड़ा देनेवाले प्रधान पदों पर स्थापित करती हुई, पुरुष को स्त्री के समान **परि जिगाति**=सब प्रकार से प्राप्त हो। जैसे स्त्री **वि-सु-रूपा**=विशेष सुन्दरी, **घृताची**=घृताक्त, अंग-प्रत्यंग स्नातानुलिप्त होकर पुरुष को **बाह्वोः प्रदधाना**=बाहुपाश में लेती हुई उसे **त्मना**=स्वयं **परि जिगाति**=अपनाती है वैसे ही प्रजा भी अनुरक्त होकर उक्त इन्द्र-वरुण दोनों को, बाहुवत् सैन्यादि के अध्यक्ष पद पर नियुक्त कर, अपनावे।

भावार्थ–तेजस्वी राजा और सेनापति को प्रजाजन अन्न, शस्त्र तथा आदरयुक्त वचनों एवं आदेश पालन रूप कार्यों से राष्ट्राध्यक्ष व सेना अध्यक्ष के पदों पर नियुक्त करके स्वीकार करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्रजाहित के कार्य

युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौर्यौ सेतृभिररज्जुभिः सिनीथः।
परि नो हेळो वरुणस्य वृज्या उरुं न इन्द्रः कृणवदु लोकम्॥ २॥

पदार्थ–**यौ**=जो आप दोनों **अरज्जुभिः**=बिना रस्सियों के **सेतृभिः**=बन्धन करनेवाले राज-नियमों और व्रत-बन्धनों से **सिनीथः**=बाँध लेते हो **युवोः**=उन आप दोनों का **राष्ट्रम्**=राष्ट्र **बृहत्**=बड़ा एवं **द्यौः**=सूर्य तुल्य देदीप्यमान होकर **इन्वति**=सबको प्रसन्न करता है। **वरुणस्य हेडः**=श्रेष्ठ जन का हमारे प्रति क्रोध का भाव **नः परि वृज्याः**=हम से दूर रहे। **इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् राजा वा सेनापति **नः**=हमारे लिये **उरुं लोकं कृणवत्**=निवास हेतु विशाल लोक करे, भूमि को बसने योग्य बनावे।

भावार्थ–राजा और सेनापति सुदृढ़ राजनियमों का पालन कराके प्रजा को नियम में रखें। उत्तम व्यवहार व जनहितकारी कार्यों से प्रजा को प्रसन्न रखें तथा ऊबड़-खाबड़ भूमि को व्यवस्थित कराके उस पर बस्तियाँ बनाकर प्रजाओं को बसावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

यज्ञों का सम्पादन

कृतं नो यज्ञं विदथेषु चारुं कृतं ब्रह्माणि सूरिषु प्रशस्ता।
उपो रयिर्देवजूतो न एतु प्र णः स्पार्हाभिरूतिभिस्तिरेतम्॥ ३॥

पदार्थ–हे विद्वान्, श्रेष्ठ और दुःख निवारक जनो! आप दोनों **नः विदथेषु**=हमारे गृहों में **चारुं यज्ञं कृतं**=उत्तम यज्ञ सम्पादन करो और **सूरिषु**=विद्वानों को **प्रशस्ता ब्रह्माणि कृतम्**=उत्तम धन दो। **नः**=हमें **देवजूतः रयिः**=विद्वानों से उपदेश और सेवन योग्य ऐश्वर्य **नः उपो एतु**=प्राप्त हो। आप दोनों **स्पार्हाभिः**=चाहने योग्य उत्तम रक्षाओं द्वारा **प्र तिरेतम्**=हमें बढ़ाओ।

भावार्थ–राजा को योग्य है कि वह राज्य में विद्वानों की नियुक्ति करे जो प्रजाओं के मध्य जाकर उनके घरों में उत्तम यज्ञों का सम्पादन कराके तथा ज्ञान का उपदेश करके प्रजाओं को पुरुषार्थी एवं वीर बनने की प्रेरणा करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

अखण्ड शासन-नीति

अस्मे इन्द्रावरुणा विश्ववारं रयिं धत्तं वसुमन्तं पुरुक्षुम्।
प्र य आदित्यो अनृता मिनात्यमिता शूरो दयते वसूनि॥ ४॥

पदार्थ–इन्द्रा-वरुणा=हे ऐश्वर्यवन्! हे वरणीय! आप दोनों **अस्मे**=हमें **पुरु-क्षमम् वसुमन्तं**=बहुत अन्नसम्पदा और सुवर्णादि से युक्त, **विश्ववारं**=सबसे वरणीय **रयिं**=ऐश्वर्य **धत्तं**=दो। **यः**=जो **आदित्यः**=सूर्य-समान तेजस्वी और 'अदिति' अखण्ड शासन-नीति में कुशल और 'अदिति' भूमि का पुत्रवत् प्रिय वा शासक होकर **अनृता**=प्रजा के असत्य व्यवहारों को **प्र मिनाति**=नष्ट करता है वह **शूरः**=वीर पुरुष **अमिता वसूनि दयते**=अमित धन देता है।

भावार्थ–राजा को योग्य है वह अपनी अखण्ड शासन नीति के द्वारा प्रजाओं के असत्य व्यवहारों को नष्ट करके उन्हें राष्ट्र भक्त, पुरुषार्थी तथा वीर बनने की प्रेरणा देकर पुत्रवत् प्रजा का पालन करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

श्रेष्ठ की प्रशंसा

इयमिन्द्रं वरुणमष्ट मे गीः प्रावत्तोके तनये तूतुजाना।
सुरत्नासो देववीतिं गमेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

पदार्थ–मे=मेरी **इयं गीः**=यह वाणी **इन्द्रं**=शत्रुनाशक और **वरुणं**=श्रेष्ठ पुरुष को **अष्ट**=लक्ष्य करके हो। वह **तूतुजाना**=ज्ञान को देती हुई **तनये तोके**=पुत्र-पौत्रादि तक को **प्र अवत्**=प्राप्त हो। **वयम्**=हम **सु-रत्नासः**=शुभ रत्नों और रम्य गुणों को धारण करते हुए **देववीतिं गमेम**=विद्वानों के ज्ञान-प्रकाश और सत्कामना को **गमेम**=प्राप्त करें। हे विद्वान् लोगो! **यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारी सदा उत्तम साधनों से पालना करो।

भावार्थ–मनुष्य जनों को योग्य है कि विद्वानों की संगति में रहकर ज्ञान का प्रकाश एवं सद्प्रेरणाएँ प्राप्त करें। अपनी वाणी से सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करें। पूर्ण पुरुषार्थ से धन प्राप्त करके अपने पुत्र व पौत्रों को भी सत्यपथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करें।

अगले सूक्त के ऋषि, देवता यही हैं।

[८५] पञ्चाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः–**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वान् की प्रेरणा

पुनीषे वामरक्षसं मनीषां सोममिन्द्राय वरुणाय जुह्वत्।
घृतप्रतीकामुषसं न देवीं ता नो यामन्नुरुष्यतामभीके ॥ १ ॥

पदार्थ–हे ऐश्वर्यवन्! हे श्रेष्ठ जन! मैं **इन्द्राय वरुणाय**=इन्द्र और वरुण ऐश्वर्यवान् श्रेष्ठ पुरुष के लिये **सोमं जुह्वत्**=ऐश्वर्य देता हुआ **वाम्**=आप दोनों की **अरक्षसं मनीषाम्**=दुष्ट-संग-रहित बुद्धि को **पुनीषे**=पवित्र करूँ। **घृत-प्रतीकाम्**=स्नेह से सबको उत्तम लगनेवाली, **उषसं देवीं**=शत्रु को दग्ध करने और विजय की कामनावाली मन की प्रज्ञा को मैं स्वच्छ करूँ। **ता**=वे दोनों **अभीके यामन्**=युद्ध-प्रयाण-काल में **नः उरुष्यताम्**=हमारी रक्षा करें।

भावार्थ–विद्वान् पुरुष राजा तथा सेनापति दोनों को दुष्टों के संग से दूर रहने की प्रेरणा देकर उनकी बुद्धि को पवित्र करे, जिससे उनके मन में शत्रु का नाश करके विजय की कामना होती रहे।

ऋषि:-वसिष्ठः ॥ देवता-इन्द्रावरुणौ ॥ छन्द:-निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वर:-धैवतः ॥

राष्ट्र ध्वज की रक्षा

स्पर्धन्ते वा उ देवहूये अत्र येषु ध्वजेषु दिद्यवः पतन्ति।
युवं ताँ इन्द्रावरुणावमित्रान्हतं पराचः शर्वा विषूचः ॥ २ ॥

पदार्थ-अत्र=इस **देव-हूये**=मनुष्यों के स्पर्धा-रूप संग्राम में लोग **स्पर्धन्ते उ वा**=स्पर्द्धा करते हैं तब **येषु ध्वजेषु**=जिन ध्वजाओं पर **दिद्यवः पतन्ति**=चमकती बिजलियों के समान वे पड़ते हैं, हे **इन्द्रा-वरुणा**=शत्रुहन्तः! हे शत्रुवारक! **युवं**=तुम दोनों **तान् अमित्रान्**=उन शत्रुओं को **हतम्**=मारो और **विषूचः पराचः शर्वा**=शत्रुओं को हिंसक शस्त्रों से दूर भगाओ।

भावार्थ-शत्रुसेना यदि राष्ट्र ध्वज को काटकर गिराने का प्रयत्न करे तो राजा और सेनापति शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करके उन शत्रुओं को मार गिरावे तथा राष्ट्र ध्वज की रक्षा करे।

ऋषि:-वसिष्ठः ॥ देवता-इन्द्रावरुणौ ॥ छन्द:-निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वर:-धैवतः ॥

इन्द्र और वरुण का कार्य विभाजन

आपश्चिद्धि स्वयशसः सदःसु देवीरिन्द्रं वरुणं देवता धुः।
कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हन्ति ॥ ३ ॥

पदार्थ-स्व-यशसः=अपने धनैश्वर्य से यशस्वी, **देवीः**=दानशील, **देवताः**=मानुष-प्रजाएँ **सदः सु**=सभा-भवनों वा उत्तम पदों पर **इन्द्रं वरुणं धुः**=ऐश्वर्यवान् और श्रेष्ठ पुरुष को स्थापित करें। उन दोनों में से **एकः**=एक इन्द्र नाम अध्यक्ष **प्रविक्ताः**=अच्छी प्रकार विभक्त **कृष्टीः धारयति**=हलाकर्षित भूमियों को मेघ तुल्य प्रजाओं को धारण करे और **अन्यः**=दूसरा वरुण, शत्रुवारक अध्यक्ष **अप्रतीनि वृत्राणि**=छिपे शत्रुओं को दण्डित करे। इन्द्र का काम प्रजा को विभक्त कर शासनव्यवस्था करना और वरुण का काम दुष्टों का दमन है।

भावार्थ-राजा अपने राज्य की सुव्यवस्था के लिए सम्पूर्ण राज्य को छोटे-छोटे वर्गों=क्षेत्रों में बाँट का सुन्दर प्रशासन की व्यवस्था करे तथा सेनापति राष्ट्र के बाहरी तथा आन्तरिक शत्रुओं का दमन करके राष्ट्र की रक्षा करे।

ऋषि:-वसिष्ठः ॥ देवता-इन्द्रावरुणौ ॥ छन्द:-आर्षीत्रिष्टुप्॥ स्वर:-धैवतः ॥

समृद्ध राष्ट्र का निर्माण

स सुक्रतुर्ऋतचिदस्तु होता य आदित्य शवसा वां नमस्वान्।
आववर्तदवसे वां हविष्मानसदित्स सुविताय प्रयस्वान् ॥ ४ ॥

पदार्थ-हे **आदित्याः**=अखण्ड राजनीति और भूमि के हितैषी जनो! **यः**=जो **होता**=दानशील पुरुष **शवसा**=स्व बल से तुम दोनों के प्रति **नमस्वान्**=अन्नादि सत्कार से युक्त होता है **सः**=वह **सु-क्रतुः**=शुभ-कर्मकारी और **ऋतचित् अस्तु**=सत्य ज्ञान का उपार्जक हो और जो **अवसे**=रक्षा के लिये **वां आववर्त्तत्**=तुम दोनों को प्राप्त होता है, वह **प्रयस्वान्**=प्रयत्नशील होकर **सुविताय इत् आत्**=सुख प्राप्त करने में समर्थ, **हविष्मान्**=अन्नसम्पन्न हो।

भावार्थ-राष्ट्र भक्त धनी जन राष्ट्र के लिए कर के रूप में धन का दान करें तथा राष्ट्र के पालन एवं समृद्धि में सहयोगी बनें। वीर पुरुष राष्ट्र रक्षा के लिए सेना में भर्ती होकर मातृभूमि की सेवा करे। कर्मचारी लोग परिश्रम और पुरुषार्थ से कृषि एवं उद्योग को बढ़ावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रेष्ठ की प्रशंसा

इयमिन्द्रं वरुणमष्ट मे गीः प्रावत्तोके तनये तूतुजाना।
सुरत्नासो देववीतिं गमेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

पदार्थ—**मे**=मेरी **इयं गीः**=यह वाणी **इन्द्रं**=शत्रुनाशक और **वरुणं**=श्रेष्ठ पुरुष को **अष्ट**=लक्ष्य करके हो। वह **तूतुजाना**=ज्ञान को देती हुई **तनये तोके**=पुत्र-पौत्रादि तक को **प्र अवत्**=प्राप्त हो। **वयम्**=हम **सु-रत्नासः**=शुभ रत्नों और रम्य गुणों को धारण करते हुए **देववीतिं गमेम**=विद्वानों के ज्ञान-प्रकाश और सत्कामना को **गमेम**=प्राप्त करें। हे विद्वान् लोगो! **यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात**=आप सदा हमारी उत्तम साधनों के द्वारा पालन एवं रक्षा करें।

भावार्थ—राष्ट्र भक्त जन शत्रुओं की निंदा व श्रेष्ठ पुरुषों की प्रशंसा करें। पुरुषार्थ पूर्वक धन कमाएँ तथा विद्वानों के उपदेशों से सत्प्रेरणा प्राप्त करें।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ तथा देवता वरुण है।

[८६] षडशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वधारक परमेश्वर

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥ १ ॥

पदार्थ—वरुण परमेश्वर **अस्य महिना**=इसके महान् सामर्थ्य से **जनूंषि**=जन्मधारी समस्त प्राणी **धीरा**=बुद्धि और कर्म द्वारा प्रेरित होते हैं। **यः**=जो **चित्**=पूजनीय **उर्वी रोदसी**=विशाल आकाश और भूमि को **तस्तम्भ**=थामे है, वह ही **बृहंतं**=बड़े **ऋष्वं**=महान् **नाकम्**=सुखस्वरूप परमानन्द को **प्र नुनुदे**=देता है। वह ही **भूम नक्षत्रं च**=बहुत से नक्षत्रों को **पप्रथत्**=फैलाता है।

भावार्थ—इस भूमि, आकाश तथा नक्षत्रों को महान् सामर्थ्यवाला परमेश्वर ही रचकर टिकाता है। वही सुखों का दाता तथा परमानन्द का प्रदाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भक्त की तड़प

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत्कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ॥ २ ॥

पदार्थ—**उत**=और **स्वया तन्वा**=मैं अपने इस देह से **तत्**=उसका **कदा**=कब **संवेद**=साक्षात् करूँ और **कदा नु**=कब मैं **वरुणे अन्तः**=उस वरणीय श्रेष्ठ पुरुष के हृदय में **भुवानि**=एक हो सकूँगा। वह प्रभु, **अहृणानः**=मेरे प्रति कोप-रहित होकर **मे हव्यं**=मेरे स्तुतिवचन को **किं जुषेत**=क्योंकर प्रेम से स्वीकार करेगा और मैं **कदा**=कब **सुमनाः**=शुभ-चित्त होकर उस **मृडीकं**=आनन्दमय का **अभि ख्यम्**=साक्षात् करूँगा।

भावार्थ—ईश्वर का भक्त अपने प्रभु से पूछता है कि हे प्रभो! कब वह अवसर आएगा जब

मैं आपका साक्षात् अपने अन्तःकरण में कर सकूँगा? तथा कब आप मेरी स्तुतियों को प्रेम से स्वीकार करेंगे?

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईशदर्शन की अभिलाषा

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥ ३॥

पदार्थ—हे **वरुण**=वरणीय प्रभो! मैं **दिदृक्षु**=दर्शनाभिलाषी होकर **तद् एनः पृच्छे**=तुझसे वह पाप पूछता हूँ जिसके कारण मैं बँधा हूँ। मैं **उप-उ एमि**=जिज्ञासु होकर तेरे पास आया हूँ और मैं **चिकितुषः**=ज्ञानी पुरुषों से भी **वि पृच्छम्**=पूछता रहा हूँ। **कवयः चित् ये समानम् इत् आहुः**=विद्वान् मुझे एक समान ही कहते हैं कि **अयं वरुणः**=यह वरुण, श्रेष्ठ प्रभु ही **तुभ्यं हृणीते**=तुझ पर रुष्ट है।

भावार्थ—उपासक अपने प्रियतम से पूछे कि हे वरणीय प्रभो! मेरे कौन से पाप का फल है कि मैं आपके दर्शन से वंचित हूँ। विद्वान् लोग तो यही कहते हैं कि वह श्रेष्ठ प्रभु ही पात्रता आने पर तेरा वरण करेंगे। हे प्रभो! मुझ दर्शनाभिलाषी को दर्शन दो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अविनाशी से याचना

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥ ४॥

पदार्थ—हे **वरुण**=सर्वश्रेष्ठ प्रभो! **किम् आगः आस**=वह क्या अपराध है? **यत्**=जिसके कारण **ज्येष्ठं स्तोतारं**=बड़े-बड़े स्तुतिकर्त्ता **सखायं**=मित्र को भी **जिघांससि**=दण्ड देना चाहता है। हे **दूडभ**=दुर्लभ! हे अविनाशिन्! हे दूरभ! सदा दूर, विद्यमान! हे **स्वधावः**=अन्नपते, जीवन के स्वामिन्! **मे तत् प्रवोचः**=मुझे वह उपाय बतला जिससे **अनेनाः**=निष्पाप होकर **नमसा**=भक्ति से **तुरः**=शीघ्र **त्वा अव इयाम्**=तुझ तक पहुँच जाऊँ।

भावार्थ—उपासक प्रभु से पूछे कि हे वरुण प्रभो! किन अपराधों के कारण भक्त भी दण्ड पाता है? हे अविनाशी मुझे वह उपाय बताओ कि जिससे मैं निष्पाप होकर आप तक पहुँच सकूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्म निरीक्षण

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः।
अव राजन्पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्॥ ५॥

पदार्थ—हे **राजन्**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! तू **नः**=हमारे **पित्र्या**=माता-पिता के दोष के कारण प्राप्त, **द्रुग्धानि**=तेरे प्रति किये द्रोह आदि अपराधों को **अव सृज**=दूर कर और **वयं**=जिन अपराधों को हम **तनूभिः चकृम**=देहों से करते हैं उनको भी **अव सृज**=दूर कर। **तायुं न पशु-तृप**=चोरी की नियत से पशु को घासादि खिलानेवाले, सन्देह मात्र में बद्ध चोर के समान बँधन में बँधे, **पशु-तृपं**=अपने इन्द्रियरूप पशुओं को भोग-विलासों से तृप्त करते हुए **तायुं**=तेरे ऐश्वर्य को बिना पूछे भोगनेवाले चोरवत् मुझ **वसिष्ठं**=अति उत्तम 'वसु', तुझमें ही बसनेवाले तेरे भक्त

को तू **दाम्नः वत्सं न**=रस्से से बछड़े के समान, दयालु पशुपालकवत् **अव सृज**=बँधन से मुक्त कर।

भावार्थ–उपासक आत्म निरीक्षण करे कि माता–पिता के दोष के कारण मैंने कौन–सा पाप किया। इन्द्रियों की भोग–विलासों की तृप्ति के लिए कौन–सा पाप किया। परमात्मा की प्रेरणा रूप आत्मा की आवाज को दबाकर मैंने कौन–सा पाप कर्म किया है? इस प्रकार के चिन्तन से उपासक पाप कर्मों से बचकर बंधनों से मुक्त हो जाएगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वरुणः** ॥ छन्दः–**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

अनृत=दुःज के कारण

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **वरुण**=न्यायकारिन् प्रभो! **अनृतस्य**=विवेक–रहित, असत्य और अविवेकमय दशा को **प्रयोता**=ला देनेवाला **सः स्वः दक्षः न**=केवल वह अपना कर्म ही नहीं, प्रत्युत और बहुत कारण हैं जिनसे प्रेरित होकर जीव अनृत, पाप, दुःखादि मार्ग में आता है। वे कारण कौन–कौन से हैं? जैसे–(१) अपने किये काम तो हैं ही, या **सः स्वः दक्षः**=वह स्वस्वरूप कर्त्ता आत्मा। (२) **सा ध्रुतिः, सुरा**=वह द्रुतगति से जानेवाले जल के समान आत्मा की 'सुरा' अर्थात् सुख से रमण करने की ध्रुति, प्रवृत्ति अर्थात् रजोगुणी काम–वासना भी कारण है। (३) **विभीदकः मन्युः**=वह मन्यु, क्रोध, जिससे सब प्राणी भय खाते हैं वह भी एक कारण है। (४) **अचित्तिः**=ज्ञान न रहना भी एक कारण है। (५) **कनीयसः उप-धारे**=छोटे, अल्पशक्तिवाले जीव के समीप **स्वप्नः चन इत्**=अज्ञान में सोते के समान **ज्यायान् अस्ति**=बड़ा भी अर्थात् उसके माता–पिता, भाई–बन्धु आदि स्वयं अज्ञान वा पाप में मूढ़ रहने से दूसरे को मार्ग दिखाने में असमर्थ होते हैं। छोटा भी संग दोष से उसी ओर जाता है। कोई भी **अनृतस्य प्रयोता न**=अज्ञान को दूर करनेवाला नहीं होता।

भावार्थ–उपासक अनृत दुःज के कारण खोजता हुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचा–अपने किए कर्म, रजोगुणी वासना, क्रोध, अज्ञान, निकृष्ट की संगति, बड़ों के द्वारा मार्गदर्शन न मिलना आदि के कारण ही जीव दुःख भोगता है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वरुणः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

पाप रहित होके ही ईश्वर साक्षात्

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥ ७ ॥

पदार्थ–**अहं**=मैं **अनागाः**=पाप–रहित होकर **भूर्णये**=पालक **देवाय**=प्रकाशक परमेश्वर के लिये **मीढुषः दासः न**=दाता स्वामी के दास के समान **अरं कराणि**=बहुत सेवा करूँ। वह **देवः**=प्रभु, **अर्यः**=स्वामी **अचितः**=अज्ञानी जनों को **अचेतयत्**=ज्ञान देता है और वह **कवितरः**=सर्वाधिक विद्वान् होकर **गृत्सं**=स्तुतिकर्त्ता भक्त को **राये जुनाति**=ऐश्वर्य के लिये सन्मार्ग पर ले जाता है।

भावार्थ–मनुष्य पाप रहित होकर ही परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है। इसके लिए परमात्मा प्रदत्त आत्मा में जो प्रेरणा होती है उसे सुनकर ही जीव पाप रहित हो सकता है। वह प्रेरणा है–

लज्जा, भय, शंका व आनन्द, उत्साह, निर्भयता।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**वरुणः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

हृदय में ईश्वर पूजा

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ९ ॥

पदार्थ-हे **वरुण**=कष्टों के वारक! हे **स्वधावः**=जीवों के स्वामिन्! हे अन्नपते! **अयं सः स्तोमः**=यह वह स्तुति-वचनादि **तुभ्यम्**=तेरे लिये **हृदि चित् उप-श्रितः अस्तु**=हृदय में पूजार्थ स्थिर रहे। वह **नः क्षेमे शं उ अस्तु**=हमारे धन-प्राप्ति-काल में शान्तिदायक हो। हे विद्वान् जनो! **सदा यूयं नः पात स्वस्तिभिः**=आप हमारी सदैव उत्तम साधनों से रक्षा एवं पालना करो।

भावार्थ-उपासक ईश्वर की पूजा अपने हृदय मन्दिर में किया करे। पवित्र हृदय से ही ईश्वर की स्तुति के वचन बोले तभी जीवन में शान्ति प्राप्त होगी।

अग्रिम सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता वरुण है।

[८७] सप्ताशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**वरुणः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

वरुण के कार्य

रदत्पथो वरुणः सूर्याय प्रार्णांसि समुद्रिया नदीनाम्।
सर्गो न सृष्टो अर्वतीर्ऋतायञ्चकार महीरवनीरहभ्यः ॥ १ ॥

पदार्थ-वरुणः=व्यापक परमेश्वर **सूर्याय**=सूर्य के **पथः**=मार्गों को **रदत्**=बनाता है। वही **समुद्रिया**=समुद्र की ओर जानेवाली **नदीनां अर्णांसि**=नदियों के जलों को बहाता है। **सर्गः न सृष्टः अर्वतीः ऋतायन्**=जैसे बरसा हुआ जल नीची, बहती नदियों की ओर जाता है वैसे **सर्गः**=जगत् का बनानेवाला **सृष्टः**=जगत् का स्वामी **अर्वतीः**=अधीन महती शक्तियों और प्रकृति की विकृतियों को **ऋतायन्**=ज्ञानपूर्वक सञ्चालित करता हुआ **अहभ्यः महीः अवनीः चकार**=दिनों से रात्रियों को पृथक् करता है।

भावार्थ-जब व्यक्ति सूर्य के उदय से अस्ताचल की ओर जाना, नदियों का समुद्र की ओर बहना, दिन का प्रकाशित और रात्रि का अन्धकारमय होना देखता है तो प्रश्न होता है कि यह सब कौन कर रहा है? उत्तर में केवल वरुण परमेश्वर ही आता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**वरुणः** ॥ छन्दः-**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

व्यापक परमेश्वर

आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत्पशुर्न भूर्णिर्यवसे ससवान्।
अन्तर्मही बृहती रोदसीमे विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि ॥ २ ॥

पदार्थ-हे **वरुण**=सर्वव्यापक प्रभो! **वातः रजः**=जैसे वायु धूलि को **आ नवीनोत्**=सब तरफ उड़ाता है वैसे ही **वातः**=बलशाली **ते आत्मा**=तेरा व्यापक सामर्थ्य **रजः**=ब्रह्माण्डों में फैले, धूलि-कणवत् लोकों को **आ नवीनोत्**=सञ्चालित करता है। अध्यात्म में-**ते आत्मा वातः**=तेरा आत्मा, जीवभूत प्राण देह में **रजः आ नवीनोत्**=रक्तप्रवाह को प्रेरित करता है। **यवसे पशुः न ससवान् भूर्णिः**=घास, भूसा आदि पर पलनेवाला पशु (बैल) आदि से लादा जाकर स्वामी

के भरण-पोषण में समर्थ होता है वैसे ही यह **वातः**=वायु वा **ते आत्मा**=तेरा महान् सामर्थ्य ही **ससवान्**=अन्नादि ऐश्वर्य से समृद्ध होकर **भूर्णिः**=विश्व के भरण-पोषण में समर्थ होता है। **इमे बृहती मही रोदसी अन्तः**=इन विशाल, सुख देनेवाले आकाश-भूमि या सूर्य-भूमि के बीच **ते**=तेरे **विश्वा**=समस्त **प्रियाणि**=प्रिय **धाम**=तेज और विश्वधारक लोक, सामर्थ्य हैं।

भावार्थ-समस्त लोक-लोकान्तरों का सञ्चालन ईश्वर अपनी परमेश्वरी शक्ति से कर रहा है। विश्व का भरण-पोषण भी वही करता है। उसीका तेज सूर्य आदि में चमक रहा है। यह सब उसकी व्यापकता से ही सम्भव है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**वरुणः** ॥ छन्दः-**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

ऋतावान् विद्वान्

परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके।
ऋतावानः कवयो यज्ञधीराः प्रचेतसो य इषयन्त मन्म ॥ ३ ॥

पदार्थ-वरुणस्य स्पशः स्मदिष्टाः=जैसे दुष्टों के निवारक राजा के 'स्पश्'-गुप्तचर, अभिप्रायवान् होकर **उभे सु-मेके पश्यन्ति**=ऊपर से देखने में अच्छे-अच्छे और बुरे शास्य शासक दोनों वर्गों को देखते हैं वैसे ही **ये**=जो **प्र-चेतसः**=उत्तम ज्ञानवान् पुरुष **मन्म**=मनन योग्य ज्ञान की **इषयन्त**=अन्नवत् चाहना करते हैं वे **ऋतावानः**=वेदमय तप का सेवन करते हुए, **यज्ञ-धीराः**=त्यागयुक्त कर्म को करते, उसका अन्यों को उपदेश करते हुए **वरुणस्य स्पशः**=प्रभु के सिपाहियों के समान, उसकी बनाई सृष्टि और व्यवस्थाओं का साक्षात् दृष्टा **स्मदिष्टाः**=एक साथ समान इष्ट वा समान उत्तम लक्ष्यवाले होकर **उभे**=दोनों **सु-मेके**=सुखप्रद मेघादि से युक्त **रोदसी**=सूर्य और भूमि के समान **सुमेके**=शुभ वीर्यसेचन में समर्थ, सन्तानोत्पादक माता-पिता को सृष्टि का कारण यथावत् **परि पश्यन्ति**=देखते हैं।

भावार्थ-वेदज्ञान के धारण करनेवाले तपस्वी जन ईश्वर के द्वारा निर्मित सृष्टि का सूक्ष्मता के साथ साक्षात् कर लेते हैं। उन्हें बरसते हुए मेघों में तथा माता-पिता द्वारा की गई सन्तानोत्पत्ति में भी उस परमेश्वर की सृष्टि रचना का सामर्थ्य ही दृष्टिगोचर होता है।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**वरुणः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

ब्रह्म के रहस्यों का उपदेश

उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिः सप्त नामाघ्न्या बिभर्ति।
विद्वान्पदस्य गुह्या न वोचद्युगाय विप्र उपराय शिक्षन् ॥ ४ ॥

पदार्थ-मे मेधिराय=मुझ बुद्धिमान् पुरुष को **वरुणः**=वरणीय प्रभु **उवाच**=उपदेश करता है कि **अघ्न्या**=अविनाशी, परमेश्वरी या प्रकृति शक्ति **त्रिः सप्त नाम**=तीन गुना सात अर्थात् २१ स्वरूपों को **बिभर्त्ति**=धारण करती है। **विप्रः विद्वान्**=विविध विद्याओं से पूर्ण विद्वान् **उपराय**=समीप-स्थित **युगाय**=मनोयोग से विद्या-ग्रहण करनेवाले शिष्य को **शिक्षन्**=उपदेश देता हुआ **पदस्य**=परमप्राप्य ब्रह्म के **गुह्या न**=रहस्यों का **वोचत्**=उपदेश करे।

भावार्थ-बुद्धिमान् पुरुष इस सृष्टि को देखकर परमेश्वर की रचना सामर्थ्य का दिग्दर्शन करता है तथा अपने शिष्यों को सृष्टि के रहस्यों को प्रकट करता हुआ ज्ञानोपदेश प्रदान करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सृष्टि वरुण में स्थित है

तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन्तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः।
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्ययं शुभे कम्॥५॥

पदार्थ—तिस्रः द्यावः=तीनों लोक, भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ **अस्मिन् अन्तः निहिताः**=वरुण परमेश्वर के ही भीतर स्थित हैं और **तिस्रः भूमीः**=तीनों भूमियाँ **उपराः**=एक दूसरे के समीप स्थित **षड् विधानाः**=छह-छह प्रकार के ऋतु आदि विधानों सहित उसके ही भीतर हैं। **गृत्सः**=ज्ञान का उपदेष्टा **राजा**=सर्वोपरि शासक **वरुणः**=वरण-योग्य प्रभु ही **दिवि**=आकाश में **प्रेङ्खं**=उत्तम गति से जानेवाले **एतं**=उस **हिरण्ययम्**=तेजोमय सूर्य को, अन्तरिक्ष में गतिमान्, हित, रमणीय रूप वायु को और भूमि पर तेजोमय अग्नि को **शुभे**=दीप्ति, जल और कान्ति के लिये **चक्रे**=बनाता है।

भावार्थ—विद्वान् पुरुष समस्त लोकों तथा उन लोकों में उपस्थित दीप्ति, जल, कान्ति आदि सामर्थ्यों को उस व्यापक परमेश्वर में ही देखता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सृष्टि का पालक व्यापक परमात्मा

अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थाद् द्रप्सो न श्वेतो मृगस्तुविष्मान्।
गम्भीरशंसो रजसो विमानः सुपारक्षत्रः सतो अस्य राजा॥६॥

पदार्थ—द्यौः इव सिन्धुं=सूर्य जैसे अकेला समस्त आकाश में व्यापता है वैसे ही परमेश्वर **द्यौः**=तेजस्वरूप, **वरुणः**=सर्वव्यापक होकर **सिन्धुं**=वेगवाले प्रकृति के बने जगत्-प्रवाह को **अव स्थात्**=व्यवस्थित करता है। वह **द्रप्सः न श्वेतः**=जलविन्दुवत् रसस्वरूप व कान्तिमय है। वह **मृगः**=सिंहवत् बलवान् वा **मृगः**=ज्ञानी जनों द्वारा खोजने योग्य और **मृगः**=पावन स्वरूप, **तुविष्मान्**=सर्व शक्तिमान् है। वह **गम्भीर-शंसः**=गम्भीर समुद्र तुल्य अगाध और प्रशंसा-योग्य, **रजसः विमानः**=इस समस्त लोक-समूह का विशेष निर्माता है, वह **सुपार-क्षत्रः**=सुख से सर्वपालक, बलैश्वर्यवान्, **अस्य सतः राजा**=इस व्यक्त संसार का राजावत् शासक है।

भावार्थ—परमेश्वर सृष्टि में व्यापक है। ज्ञानी जन उसी की खोज करते हैं क्योंकि वह सबका पालक तथा शासक है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अखण्ड नियमों में चलकर निष्पाप रहें

यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः।
अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥७॥

पदार्थ—यः=जो परमेश्वर **आगः चक्रुषे चित्**=अपराध करनेवाले के भले के लिये **मृडयाति**=उस पर दया करता है, उस **वरुणे**=प्रभु के अधीन हम **अनागाः स्याम**=निष्पाप रहें। उस **अदितेः**=अखण्ड प्रभु के **व्रतानि अनु**=नियमों के अनुकूल **ऋधन्तः**=समृद्ध, हे विद्वान् जनो! **यूयं नः स्वस्तिभिः सदा पात**=आप सदैव उत्तम साधनों से रक्षा एवं पालन करो।

भावार्थ—मनुष्य लोग परमात्मा के बनाए हुए नियमों में चलकर स्वयं को निष्पाप बनावें।

यही एक मात्र उपाय है।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ तथा देवता वरुण ही है।

[८८] अष्टाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मसमर्पण

प्र शुन्ध्युवं वरुणाय प्रेष्ठां मतिं वसिष्ठ मीळ्हुषे भरस्व।
य ईमर्वाञ्चं करते यजत्रं सहस्रामघं वृषणं बृहन्तम्॥ १ ॥

पदार्थ—यः=जो परमेश्वर **ईम्**=इस **अर्वाञ्चं**=अभिमुख आये **यजत्रं**=आत्मसमर्पक और सत्संगतिवाले पुरुष को **सहस्र-मघं**=सहस्रों धनों से सम्पन्न, **वृषणं**=मेघवत् उदार और **बृहन्तम् करते**=बड़ा बना देता है उस **वरुणाय**=ऐश्वर्यदाता **मीढुषे**=ऐश्वर्यों की वृष्टि करनेवाले, परमेश्वर के निमित्त **प्रेष्टां**=अति प्रिय **मतिं**=स्तुति और बुद्धि का **प्र भरस्व**=प्रयोग कर।

भावार्थ—जो उपासक सत्संगति में रहते हुए ईश्वर के प्रति सर्वभाव से समर्पण करते हैं उसी की स्तुति करते हैं वे ऐश्वर्यशाली होकर उदार तथा महान् बनते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईश-तेज का मनन

अधा न्वस्य संदृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि।
स्व१र्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात्॥ २ ॥

पदार्थ—अध नु=और मैं **अस्य**=इस **अग्नेः**=तेजोमय **वरुणस्य**=परमेश्वर के विषय में **जगन्वान्**=ज्ञान प्राप्त कर और उसकी शरण जाकर उसके **सं-दृशम्**=सम्यक्-दर्शन-योग्य **अनीकं**=तेज का **मंसि**=मनन करता हूँ। **यद्**=जैसे **अश्मन् अन्धः वपुः दृशये निनीयात्**=चक्की आदि में पीसा अन्न या कुटी ओषधि, या **अश्मन् अन्धः**=मेघ के आधार पर उत्पन्न अन्न शरीर को उत्तम, दर्शन योग्य बनाता है वैसे ही **यत्**=जो **अधिपाः**=सर्वोपरिपालक **स्वः**=सुखकारी है वह **अन्धः**=अन्नवत् प्राणों का धारक होकर **दृशये**=साक्षात् करने के लिये **मा**=मुझे **वपुः**=रूप, शरीर आदि **निनीयात्**=प्राप्त कराता है।

भावार्थ—उपासक जन ईश्वर के प्रति समर्पण करके सदैव उसके तेजोमय स्वरूप का दिग्दर्शन करें और उसी का मनन किया करें क्योंकि यह अन्नमय शरीर परमेश्वर ने इसी निमित्त दिया है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जल गमन काल में भी ईश चिन्तन

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्॥ ३ ॥

पदार्थ—अहं=मैं और **वरुणः च**=वरणीय स्वामी, दोनों दो मित्रों के समान वा पति-पत्नीवत् **यत् नावम् आ रुहाव**=जब नाव पर चढ़ें **यत् समुद्रम् मध्यम् ईरयाव**=और जब समुद्र के बीच उसको चरावें **यत् अधि अपां**=जब जलों के ऊपर **स्नुभिः चराव**=गमनशील यानों से विचरें तो **शुभे**=शोभा और **कम्**=सुख पाने के लिये **प्रेङ्खे**=झूले पर **प्रेङ्खयावहे**=हम दोनों

झूलें।

भावार्थ–यात्रा काल में भी जब मनुष्य नाव आदि के द्वारा जलों में विचरण करता है। तब भी उस परम मित्र परमेश्वर को अपने साथ अनुभव करता हुआ उसी का मनन करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वरुणः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

वेदवाणी रूप नौका

वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषासः॥ ४॥

पदार्थ–**वरुणः**=वरणीय आचार्य के **वसिष्ठं**=अधीन वस कर ब्रह्मचारी शिष्य को **नावि**=ज्ञान-सागर से पार उतारनेवाली वेदवाणी रूप नौका में **ह**=अवश्य **आधात**=स्थापित करे। वह स्वयं **स्वपाः**=कर्मशील होकर **महोभिः**=बड़े-बड़े गुणों से **वसिष्ठं ऋषिं चकार**=उत्तम ब्रह्मचारी को वेद-मन्त्रार्थों को यथार्थ देखने में विद्वान् बनावे। **विप्रः**=विद्याओं से शिष्य को पूर्ण करनेवाला आचार्य **अन्हां सू-दिनत्वे**=दिनों को शुभ बनाने के लिये **यात् द्यावा नु यात् उषसः नु**=आये दिनों और आयी रातों में भी **स्तोतारं ततनन्**=अध्ययनशील शिष्य को विस्तृत ज्ञानवान् करे।

भावार्थ–विद्वान् आचार्य अपने ब्रह्मचारी शिष्यों को दिन-रात अध्ययन कार्य में जुटे रहकर तप करने की प्रेरणा करे। वह गुरु उत्तम उपदेश करके संसार सागर से पार उतरने की नौका के रूप में वेद ज्ञान प्रदान करके शिष्य को पूर्ण ज्ञानवान् बनावे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वरुणः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्राणपति सखा

क्व१ त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते॥ ५॥

पदार्थ–हे **वरण**=वरणीय! हे **स्वधावः**=प्राणपते! **नौ**=हम दोनों के **त्यानि सख्यानि**=वे नाना मित्रता के भाव **क्व बभूवुः**=कहाँ हुए, **यत्**=जो हम दोनों **पुराचित्**=मानो पूर्वकाल से **अवृकं**=परस्पर चोरी का भाव न रखते हुए **सचावहे**=मिलकर रहें। हे **वरुण**=वरणीय! हे **स्वधावः**=अमृत के स्वामिन्! हम **बृहन्तं**=महान् **मानं**=परिमाणवाले **सहस्रद्वारं**=सहस्रों द्वारवाले **गृहं जगाम**=घर को प्राप्त हों।

भावार्थ–परमात्मा प्राणों का भी प्राण है ऐसा जानकर उपासक जीव उस परमेश्वर से मित्रता करे। इससे मनुष्य चोरी आदि पाप भावों से बचकर अनन्त सुख को प्राप्त कर सकेगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वरुणः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सदा रहनेवाला मित्र

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वामागांसि कृणवत्सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन्भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥ ६॥

पदार्थ–हे **वरुण**=प्रभो! राजन्! तू **नित्यः**=सदा का **आपिः**=बन्धु **प्रियः**=प्रिय **सन्**=होकर हमें प्राप्त है, उस **त्वाम्**=तेरे प्रति **ते सखा**=तेरा मित्र यह जीव **आगांसि कृणवत्**=नाना अपराध करता है। हे **यक्षिन्**=यक्ष 'अर्थात्' पूजा करनेवाले भक्त जनों के स्वामिन्! हम लोग **ते**=तेरे ऐश्वर्य का **एनस्वन्तः**=पापी होकर **मा भुजेम**=भोग न करें। तू **विप्रः**=मेधावी **स्तुवते**=स्तुतिशील को

वरूथं यन्धि=वरणीय एवं दुःखों को दूर करने योग्य उत्तम गृह और बल दे।

भावार्थ—परमेश्वर जीव का सदा रहनेवाला मित्र है किन्तु यह अज्ञान के कारण ईश्वर को भूलकर नाना प्रकार के अपराध कर बैठता है इससे वह परमात्मा के द्वारा प्रदत्त ऐश्वर्य का भोग नहीं कर पाता। मनुष्य लोग सुखी रहने के लिए ईश की स्तुति=स्मरण सदैव किया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परमेश्वर जीवों के कर्म बन्धन काटता है

ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्य१स्मत्पाशं वरुणो मुमोचत्।
अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ—परमेश्वर जीवों के कर्म-बन्धन किस प्रकार काटता है? हम लोग **आसु ध्रुवासु क्षितिषु**=इन धारने योग्य, कर्म और भोग-भूमियों में **क्षियन्तः**=निवास करते हुए वा ऐश्वर्ययुक्त, वा क्षीण होते हुए, कभी ऊर्ध्वगति, कभी नीच गति प्राप्त करते हुए, **अदितेः उपस्थात्**=भूमि से **अवः वन्वानाः**=तृप्तिकारक अन्न प्राप्त करते हैं और जैसे **अदितेः उपस्थात् अवः अन्वानाः**= सूर्य से दीप्ति प्राप्त करते हैं वैसे ही **अदितेः**=अखण्ड परमेश्वर से हम **अवः**=रक्षा सुख, प्रेम **वन्वानाः**=प्राप्त करते रहें। वह **वरुणः**=प्रभु **अस्मत् पाशं**=हम से पाश को **वि मुमोचत्**=छुड़ाता है। हे विद्वान् पुरुषो! **नः यूयं सदा स्वस्तिभिः पात**=आप लोग हमारी सदा उत्तम उपायों से रक्षा करो।

भावार्थ—जीव कर्म के अनुसार भोग व भूमियों को भोगता हुआ ऊँची व नीची योनियों में जाता है। दुःख और सुख को भोगता है। किन्तु जब वह परमेश्वर की रक्षा व प्रेम का अनुभव करने लगता है तो ईश्वर उसको कर्म पाश=बन्धन से मुक्त कर देता है।

आगामी सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता वरुण है।

[८९] एकोननवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दयालु की दया

मो शु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **वरुण**=सर्वश्रेष्ठ! हे **राजन्**=देदीप्यमान! हे **सुक्षत्र**=उत्तम धन, ऐश्वर्य, बल से सम्पन्न! **अहम्**=मैं **मृन्मयं गृहम्**=मिट्टी के बने गृह के तुल्य नश्वर, मृत्यु से आक्रान्त, त्रा ग्रहण-योग्य, वा आत्मा को पकड़े हुए इस देह को **मोषु गमम्**=कभी न प्राप्त करूँ तो अच्छा हो! हे प्रभो! **मृड**=सबको सुखी करने हारे दयालो! तू **मृडय**=सुखी कर, हम पर दया कर।

भावार्थ—जीवों को आवागमन से छूटने के लिए वरुण परमात्मा की दया प्राप्त करनी चाहिए इसके लिए देहाभिमान को छोड़ने तथा ईश्वर की दीप्ति से जुड़ने का प्रयास करना चाहिए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शरणागत को सुखी कर

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः। मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **अद्रिवः**=पर्वतवत् दृढ़ पुरुषों के स्वामिन्! प्रभो! **यत्**=जब मैं **प्रस्फुरन् इव**=तड़पता हुआ-सा, **दृतिः न ध्मातः**=कुप्पे के समान फूला हुआ, फूंक से भरे चर्मवाद्य के समान रोता-

गाता **एमि**=शरण आऊँ, हे **सुक्षत्र**=सुबल! सुधन! तू मुझे **मृड मृडय**=सुखी कर।

भावार्थ–जब मनुष्य अहंकार–अभिमान में फूलकर कुप्पा हो जाता है तो अन्दर से जलने लगता है, तड़पता है। ऐसी स्थिति में केवल प्रभु की शरण में ही सुखी करने का सामर्थ्य है अतः उसी की पुकार कर।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वरुणः** ॥ छन्दः–**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

उत्तम बालवाले मुझ पर कृपा कर

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय॥ ३॥

पदार्थ–हे **समह**=पूज्य! **दीनता**=दीन होने के कारण मैं **क्रत्वः**=सत् कर्म और सत् ज्ञान के **प्रतीपं जगम**=विपरीत चला गया हूँ और **शुचे**=शोक करता हूँ। अथवा हे **शुचे**=शुद्ध प्रभो! हे **सु-क्षत्र**=बलशालिन्! तू **मृड, मृडय**=सुखी कर, कृपा कर।

भावार्थ–दुर्बल मानसिकता का मनुष्य सत्कर्मों को छोड़ दुष्कर्मों में लग जाता है इससे महान् दुःख पाता है। अतः मनुष्य उत्तम बलवाले परमेश की शरण में जाकर उसकी कृपा का पात्र बनने का प्रयास करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वरुणः** ॥ छन्दः–**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

पानी में मीन पियासी

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय॥ ४॥

पदार्थ–हे **सुक्षत्र**=उत्तम बल के स्वामिन्! **अपां मध्ये तस्थिवांसं**=जलों के बीच में खड़े **जरितारं**=रोगादि से जीर्ण होते हुए पुरुष को जैसे **तृष्णा अविदत्**=प्यास सताती है वैसे ही हे प्रभो! **जरितारं**=तेरे स्तोता **अपां मध्ये तस्थिवांसं**=आप्त पुरुषों के बीच या प्राणों से पूर्ण शरीर के बीच रहनेवाले मुझको भी **तृष्णा**=भूख-प्यास के समान विषय–भोगादि की लालसा प्राप्त है, हे प्रभो! हे **मृड, मृडय**=सबको सुखी करने हारे! तू मुझे सुखी कर।

भावार्थ–परमात्मा परम आनन्द का सागर है किन्तु विषय भोगों में फँसा हुआ अज्ञानी जीव उसके आनन्द को वैसे ही प्राप्त नहीं कर पाता जैसे तृषा रोग का जीर्ण रोगी पानी में खड़ा रहकर भी प्यास से तृषित ही रहता है। अतः भोग–विलास को छोड़ ईश शरण में जाकर सुखी हो।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वरुणः** ॥ छन्दः–**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

सत्पुरुषों से द्रोह न कर

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥ ५॥

पदार्थ–हे **वरुण**=प्रभो! **दैव्ये जने**=विद्वान् सत्पुरुष के हितकारी जन के ऊपर रहकर हम **मनुष्याः**=मनुष्य **यत् किं च**=जो कुछ भी **इदं अभिद्रोहं**=इस प्रकार का द्रोह आदि **चरामसि**=करते हैं और **अचित्ती**=बिना ज्ञान के **यत् तव धर्मा युयोपिम**=जो तेरे बनाये नियमों को उल्लंघन करते हैं, हे **देव**=प्रभो! राजन्! **तस्माद् एनसः**=उस अपराध या पाप से **नः मा रीरिषः**=हमें दुःखित मत कर।

भावार्थ–जो मनुष्य विद्वान् सत्पुरुषों से द्रोह करता है तथा ईश्वर के बनाए सृष्टि–नियम का उल्लंघन करता है वह अज्ञानी सदैव दुःखी एवं अशान्त रहता है। अतः मनुष्य ईश्वर की शरण में जाकर उसके नियमों का पालन करता हुआ विद्रोह करने से दूर रहे।

अग्रिम सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता वायु, इन्द्रवायू हैं।

षष्ठोनुवाकः

[९०] नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सेनापति के गुण

प्र वी॒र॒या शुच॑यो दद्रिरे वामध्व॒र्युभि॒र्मधु॑मन्तः सु॒तासः॑।
वह॑ वायो नि॒युतो॑ याह्यच्छा॒ पिबा॑ सु॒तस्यान्ध॑सो॒ मदा॑य ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **वायो**=ऐश्वर्यवन्! हे वायुवत् बलवान् वीर सेनापते! **शुचयः**=शुद्ध आचारवान्, धार्मिक **वीरया=वीराः**=वीर **मधुमन्तः**=बलवान्, मधुर प्रकृति, **सुतासः**=योग्य पदों पर अभिषिक्त पुरुष **अध्वर्युभिः**=प्रजा की हिंसा पीड़ा न चाहनेवाले सोम्यवृत्ति विद्वानों सहित **वाम् प्र दद्रिरे**=तुम दोनों को प्राप्त होते हैं। हे **वायो**=वायुवत् बलवन्! तू **नियुतः**=सहस्रों अश्वादि सेनाओं को **वह**=सन्मार्ग पर ले चल और **सुतस्य अन्धसः**=ऐश्वर्य से समृद्ध अन्न को **याहि**=प्राप्त कर और **मदाय**=तृप्ति के लिये उसका **पिब**=उपभोग कर।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह वीर, बलवान्, सत्यवादी, सदाचारी, प्रजा को न सतानेवाले पुरुष को सेनापति पद पर नियुक्त करे। वह सेनापति प्रजाओं को विद्वानों के सहयोग से सन्मार्ग पर चलाकर ऐश्वर्य सम्पन्न बनावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विद्वान् के संग से लाभ

ई॒शा॒नाय॒ प्रहु॑तिं॒ यस्त॒ आन॑ट् शुचिं॒ सोमं॑ शुचिपा॒स्तुभ्यं॑ वायो।
कृ॒णोषि॒ तं मर्त्ये॑षु प्रश॒स्तं जा॒तोजा॑तो जायते वा॒ज्य॑स्य ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **वायो**=विद्वन्! **यः**=जो **शुचि-पाः**=शुद्ध आचार, व्यवहार का पालक पुरुष **ते ईशानाय**=तुम सर्वैश्वर्यवान् को **शुचिं सोमं**=शुद्ध अन्नादि, ऐश्वर्य और **प्रहुतिं**=सर्वोत्तम दान **आनट्**=प्राप्त कराता है, **तं**=उसको तू **मर्त्येषु**=मनुष्यों के बीच **प्रशस्तं कृणोषि**=कर्मकुशल बना देता है और वह **जातः-जातः**=उत्तम रूप से प्रकट होकर **अस्य**=इस प्रजाजन के बीच **वाजी**=ज्ञानवान्, बलवान् **जायते**=हो जाता है।

भावार्थ—विद्वानों के संग में आनेवाला मनुष्य व्यवहार कुशल होकर ज्ञानी व दानी स्वभाववाला हो जाता है। इससे वह प्रजा जनों के मध्य में जाकर प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन सभाएँ

रा॒ये नु यं ज॒ज्ञतू॒ रोद॑सी॒मे रा॒ये दे॒वी धि॒षणा॑ धाति दे॒वम्।
अध॑ वा॒युं नि॒युतः॑ सश्चत॒ स्वा उ॒त श्वे॒तं वसु॑धितिं निरे॒के ॥ ३ ॥

पदार्थ—**इमे रोदसी**=आकाश व भूमि के तुल्य ये माता-पिता, राजसभा-प्रजासभा दोनों **राये**=राष्ट्र में ऐश्वर्य-वृद्धि के लिये **नु**=ही **यं**=जिसको **जज्ञतुः**=उत्पन्न करते और **यं देवम्**=जिस विजिगीषु को **धिषणा देवी**=सर्वोपरि विद्यमान विद्वत्सभा भी **राये**=ऐश्वर्य-रक्षा के लिये

धाति=स्थापित करती है, उस **वायुं**=शत्रु को वायुवत् मूल से उखाड़ने में समर्थ पुरुष को **स्वाः**=उसकी अपनी **नियुतः**=लक्षों सेनाएँ और प्रजाएँ **सञ्चत**=प्राप्त होती हैं **उत**=और उसी **श्वेतं**=शुद्धाचारी को **निरेके**=श्रेष्ठ पद पर **वसु-धितिम्**=ऐश्वर्य की ख्यातिवाला जानकर प्राप्त होते हैं।

भावार्थ–राष्ट्र में समस्त व्यवस्थाएँ सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर प्रतिष्ठित करने के लिए राजसभा, प्रजासभा तथा विद्वत्सभा इन तीनों का गठन होना चाहिए। ये सभाएँ मिलकर सदाचारी, वीर, पराक्रमी तथा नीति निपुण व्यक्ति को राजा के पद पर नियुक्त करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**वायुः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

छोटी उम्र में ईश्वर का ध्यान

उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥ ४ ॥

पदार्थ–जैसे **उषसः**=प्रभात वेलाएँ वा सूर्य की दाहक कान्तियें **सु-दिनाः उच्छन्**=उत्तम दिनवाली होकर प्रकट होती हैं, **अरि-प्राः**=पाप-रहित **दीध्यानाः**=देदीप्यमान, **उरु ज्योतिः विविदुः**=बहुत बड़े विशाल प्रकाशवान् सूर्य को प्राप्त करती **उशिजः**=कान्तियुक्त होकर **गव्यम् ऊर्वम् विवव्रुः**=रश्मियों के बड़े धन को फैलाती है **अनु प्रदिवः आपः सस्रुः**=अनन्तर आकाश से मेघ जल बरसते हैं वैसे ही **उषसः**=उषावत् जीवन के प्रारम्भ भाग में वर्त्तमान नर-नारीगण **सु-दिना**=शुभ दिन युक्त होकर **उच्छन्**=अपने गुण प्रकट करें और वे **दीध्यानाः**=ईश्वर-ध्यान करते हुए **उरु ज्योतिः**=बड़ी भारी ज्ञान-ज्योति को **विविदुः**=प्राप्त करें। वे **उशिजः**=प्रीतियुक्त होकर **गव्यम् ऊर्वम्**=वेदवाणी के धन को **विवव्रुः**=विविध प्रकार से वितरण करें, उसकी व्याख्या करें। **तेषाम् अनु**=उनके पीछे-पीछे ही **प्र-दिवः**=उत्तम फल की कामनावाली **आपः**=आप्त प्रजाएँ **सस्रुः**=चलें।

भावार्थ–स्त्री-पुरुष जीवन के प्रारम्भ काल अर्थात् छोटी उम्र से ही ईश्वर का ध्यान किया करें। इससे उनमें ईश्वर का दिव्य तेज चमकने लगेगा तथा वे ब्रह्मचारी होकर वेदवाणी का स्वाध्याय प्रीतिपूर्वक करते हुए अन्यों के सामने वेद की विविध व्याख्याएँ प्रकट करके प्रजाओं को आप्त प्रजा बना सकेंगे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

आत्म योगी राष्ट्र को धारें

ते सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति।
इन्द्रवायू वीरवाहं रथं वामीशानयोरभि पृक्षः सचन्ते ॥ ५ ॥

पदार्थ–**ते**=वे ज्ञानवान्, विद्वान् लोग **सत्येन मनसा**=सत्य चित्त और सत्य ज्ञान से **दीध्यानाः**=चमकते हुए **स्वेन युक्तासः**=अपने आत्मसामर्थ्य से युक्त होकर **दीध्यानाः**=चमकते हुए वा आत्मयोग का अभ्यास करते हुए **युक्तासः**=योगी होकर **स्वेन क्रतुना**=अपने ज्ञान और बल से **वहन्ति**=रथ को अश्वों के तुल्य देह को धारण करते हैं। हे **इन्द्र-वायू**=ऐश्वर्यवन्! ज्ञानवन्! **ईशानयोः वाम्**=शासक-रूप आप दोनों के **वीरवाहं रथं**=वीरों के धारक, रथवत् रमणीय उपदेश वा स्थिर पद को **वहन्ति**=धारण करते और सञ्चालित करते हैं और वे

पृक्षः=प्रीतियुक्त होकर **अभि सचन्ते**=परस्पर समवाय बनाकर रहते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग सत्य ज्ञान से युक्त चित्तवाले होकर आत्म साधना करके योगी बनें। ऐसे योगीजन राजा व सेनापति आदि पदों को प्राप्त करके राष्ट्र को धारण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समृद्ध राष्ट्र

ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यैः।
इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः ॥ ६ ॥

पदार्थ—**ये**=जो **ईशानासः**=ऐश्वर्यवान् और शासन-अधिकार से युक्त होकर **नः**=हमारे सर्वस्व राष्ट्र और सुखादि को **गोभिः**=गौओं और भूमियों **अश्वेभिः**=घोड़ों **वसुभिः**=विद्वानों, **हिरण्यैः**=सुवर्णादि धातुओं और रमणीय साधनों से **विश्वम् आयुः**=पूर्ण जीवन **दधते**=धारण करते हैं हे **इन्द्रवायू**=ऐश्वर्यवान् बलवान् प्रधान नायक पुरुषो! वे **सूरयः**=विद्वान् **अर्वद्भिः वीरैः**=शत्रुनाशक वीर पुरुषों द्वारा **पृतनासु**=संग्रामों में **सह्युः**=विजय करें।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह सम्प्रभुता=पूर्ण शासन-अधिकार के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र को गौ, भूमि, अश्व, विद्वान्, स्वर्ण आदि समस्त साधनों से सम्पन्न करे तथा शत्रुओं को विजय करने का सामर्थ्य प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम ब्रह्मचारी

अर्वन्तो न श्रवसो भिक्षमाणा इन्द्रवायू सुष्टुतिभिर्वसिष्ठाः।
वाजयन्त स्ववसे हुवेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ—हम लोग **अर्वन्तः**=शत्रुनाशक वीर पुरुषों और अश्वों के समान बलवान्, **श्रवसः भिक्षमाणाः**=श्रवण योग्य ज्ञान की योग्य गुरुओं और अन्न की गृहस्थों से याचना करते हुए, **वसिष्ठाः**=उत्तम ब्रह्मचारी होकर **सु-अवसे**=उत्तम ज्ञान और रक्षा के लिये स्वयं **वाजयन्तः**=ज्ञान, बल, धनादि को चाहते और प्राप्त करते हुए **इन्द्रवायू हुवेम**=ऐश्वर्यवान् और बलवान् जनों को प्राप्त करें। **यूयं**=आप लोग **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=हमारी सदा उत्तम उपायों से रक्षा करें।

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वे विद्वान् गुरुओं की शरण में जाकर ज्ञान की याचना करें तथा उत्तम ब्रह्मचारी बनकर गृहस्थों से अन्न की भिक्षा ग्रहण करते हुए जीविकोपार्जन करें। इस प्रकार तप करते हुए उत्तम ज्ञान, बल, पराक्रम आदि में पारंगत होकर राष्ट्र को ऐश्वर्य सम्पन्न बनावें।

आगामी सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता वायु तथा इन्द्रवायू है।

[९१] एकनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तेजस्वी सेनानायाक

कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवा अनवद्यास आसन्।
ते वायवे मनवे बाधितायावासयन्नुषसं सूर्येण ॥ १ ॥

पदार्थ-ये=जो **नमसा**=शत्रु को नमानेवाले बल से **पुरा**=पहले **वृधासः**=बढ़ने हारे **अनवद्यासः**=अनिन्दिताचरणवाले, **देवाः**=धन, पुत्र आदि के अभिलाषी **आसन्**=रहते हैं **ते**-वे **वायवे**=वायु तुल्य बलवान् वा प्राणवत् प्रिय, **मनवे**=मननशील, **बाधिताय**=पीड़ित प्रजा की रक्षा के लिये **उषसं**=प्रभात के समान तेजस्विनी सेना को **सूर्येण**=तेजस्वी नायक पुरुष के साथ **बाधिताय मनवे**=खण्डित वंशवाले मनुष्य की वंशवृद्धि के लिये **उषसं**=सन्तान की कामनायुक्त स्त्री को **सूर्येण**=पुत्रोत्पादन में समर्थ पुरुष के साथ **अवासयन्**=रखें।

भावार्थ-राष्ट्र में तेजस्वी सेनानायक के नेतृत्व में तेजस्विनी सेना हो जो शत्रु को संग्रामों में झुका सके। प्रजा की रक्षा कर सके। प्रजाजन निर्भीकता के साथ सन्तान का पालन-पोषण कर सकें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः-**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

राजा व सेनापति का कर्त्तव्य

उशन्ता दूता न दभाय गोपा मासश्च पाथः शरदश्च पूर्वीः ।
इन्द्रवायू सुष्टुतिर्वामियाना मार्डीकमीट्टे सुवितं च नव्यम् ॥ २ ॥

पदार्थ-उशन्ता=सबको चाहनेवाले **दूता**=शत्रु सन्तापक, **गोपा**=प्रजा-रक्षक, **इन्द्रवायू**=ऐश्वर्यवान्, बलवान् पुरुष **मासः च शरदः च**=वर्षों और मासों तक **पूर्वीः**=पूर्व विद्यमान प्रजा की **पाथः**=रक्षा करें। हे **इन्द्र-वायू**=ऐश्वर्यवन्! हे बलवन्! **वाम् इयाना**=आप दोनों को प्राप्त होता हुआ, **सुस्तुतिः**=उत्तम उपदेश **मार्डीकम्**=सुख और **सुवितं**=उत्तम, **नव्यम्**=स्तुत्य आचार **ईट्टे**=चाहता है।

भावार्थ-राजा और सेनापति दोनों प्रजा की अच्छी प्रकार से रक्षा करें तथा शत्रु को नष्ट करें। इससे राष्ट्र में विद्वान् लोग ज्ञान का उपदेश देकर प्रजाओं को धर्म कार्य में लगा सकेंगे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**वायुः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

कुशल सेनानायक

पीवोअन्नाँ रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः ।
ते वायवे समनसो वि तस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः ॥ ३ ॥

पदार्थ-नियुताम् अभिश्रीः=नियुक्त सैन्यों के बीच सबके आश्रय-योग्य एवं उत्तम राज्यलक्ष्मी से सम्पन्न **श्वेतः**=उज्ज्वल वस्त्र धारे **सुमेधाः**=बुद्धिमान् शत्रुनाशक पुरुष **रयि-वृधः**=ऐश्वर्य बढ़ानेवाले, **पीवः अन्नान्**=अन्नादि से हृष्ट-पुष्ट पुरुषों का **सिषक्ति**=समवाय बनाकर रहता है और **ते**=वे **नरः**=नायक पुरुष **समनसः**=एक चित्त होकर **वायवे**=नायक पुरुष की वृद्धि के लिये **वि तस्थुः**=उसके आस-पास स्थित होते हैं। वे **विश्वा**=सभी **सु-अपत्यानि**=उत्तम-उत्तम सन्तानों के समान **चक्रुः**=काम करते हैं।

भावार्थ-कुशल सेनानायक शत्रु को जीतने के लिए ऐसी रणनीति बनाता है कि विजय अवश्य मिले। इसके लिए वह अपनी सेना को छोटे-छोटे वर्गों में बाँटकर अलग-अलग महत्त्वपूर्ण स्थलों पर नियुक्त करता है। साथ ही प्रजाजनों में से हृष्ट-पुष्ट युवाओं को भी वर्गों में बाँटकर नियुक्त करता है। ये सब संकेत मिलने पर यथा समय सेनानायक के आदेश का पालन कर विजय में सहयोगी होते हैं। इसे 'गुरिल्ला युद्ध' कहते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्ता का अधिकारी

यावत्तरस्तन्वो३ यावदोजो यावन्नरश्चक्षसा दीध्यानाः ।
शुचिं सोमं शुचिपा पातमस्मे इन्द्रवायू सदतं बर्हिरेदम् ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्रवायू**=ऐश्वर्यवन्! हे शत्रुहन्तः! हे नायको! **यावत्**=जितना **तन्वः तरः**=शरीर का बल हो और **यावत् ओजः**=जितना पराक्रम हो और **यावत्**=जब तक **नरः**=नेता लोग **चक्षसा**=उत्तम ज्ञान-दर्शन से **दीध्यानाः**=देदीप्यमान हों तब तक आप दोनों **शुचिं**=शुद्ध, **सोमम्**=प्रजाजन का **पातम्**=पालन करो और **शुचिं सोमं पातं**=शुद्ध अन्न, ऐश्वर्य का उपभोग करो **इदं**=इस **बर्हिः**=वृद्धिशील प्रजा पर **सदतम्**=अध्यक्ष बनकर विराजो।

भावार्थ—राष्ट्रनायक व सेनानायक तभी तक सत्ता का सुख भोगते हुए अपने पदों पर रहने के अधिकारी हैं जब तक प्रजा का पालन अन्न-जल व ऐश्वर्य का उत्तम प्रबन्ध करें तथा समाज के नेताओं=विद्वानों का समर्थन=विश्वास हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम सेना

नियुवाना नियुतः स्पार्हवीरा इन्द्रवायू सरथं यातमर्वाक् ।
इदं हि वां प्रभृतं मध्वो अग्रमध प्रीणाना वि मुमुक्तमस्मे ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्रवायू**=विद्युत् और वायु के तुल्य बलवान् नायक पुरुषो! **स्पार्हवीराः**=मनोहर वीर पुरुषों से युक्त **नियुतः**=अश्व सेनाओं को **नियुवाना**=सञ्चालित करते हुए आप दोनों **स-रथं**=रथसहित **अर्वाक् यातम्**=आगे बढ़ो। **इदं हि**=यह कार्य ही **मध्वः अग्रं प्रभृतम्**=आप दोनों को अन्न या आजीविका प्राप्त करने का साधन है। **अध**=और **प्रीणाना**=प्रजा को प्रसन्न करते हुए **अस्मे वि मुमुक्तम्**=हमें विविध बन्धनों से मुक्त करो।

भावार्थ—राजा तथा सेनापति राष्ट्र की सेना को उत्तम वीरों, अश्वों एवं शस्त्रास्त्रों से अच्छी प्रकार से सुसज्जित करके रणक्षेत्र में आगे बढ़ें। प्रजा की रक्षा करें। राष्ट्र में राजनियमों का कठोरता से पालन कराकर राष्ट्र को सुदृढ़ बनावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुशिक्षित सेना

या वां शतं नियुतो याः सहस्रमिन्द्रवायू विश्ववाराः सचन्ते ।
आभिर्यातं सुविदत्राभिरर्वाक्पातं नरा प्रतिभृतस्य मध्वः ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्रवायू**=विद्युत्, पवन के समान तेजस्वी, बलशाली पुरुषो! **याः**=जो **वां**=आप दोनों के **शतं**=सैकड़ों और **याः सहस्रं**=जो सहस्रों **नियुतः**=अश्वों के सैन्यगण **विश्ववाराः**=शत्रुओं के वारण में समर्थ होकर **सचन्ते**=संघ बनाकर रहते हैं **आभिः**=इन **सु-विदत्राभिः**=उत्तम ऐश्वर्य लाभ करानेवाली सुशिक्षित सेनाओं से आप दोनों **अर्वाक् यातं**=आगे बढ़ो। हे **नरा**=नायक पुरुषो! आप दोनों **प्रतिभृतस्य**=वेतन द्वारा परिपुष्ट **मध्वः**=सैन्य बल की **पातम्**=रक्षा करो।

भावार्थ—सेनानायक अपनी पैदल तथा अश्वारोही सेना को गणों तथा संघों में बाँटकर उत्तम प्रशिक्षण प्रदान कर सेना को सुशिक्षित करे। अपने सैनिकों को वेतन बढ़ाकर उत्साहित करता रहे।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्मचारी सैनिक

अर्वन्तो न श्रवसो भिक्षमाणा इन्द्रवायू सुष्टुतिभिर्वसिष्ठाः ।
वाजयन्तः स्ववसे हुवेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ—हम लोग **अर्वन्तः**=शत्रुनाशक वीर पुरुषों और अश्वों के समान बलवान्, **श्रवसः भिक्षमाणाः**=श्रवण योग्य ज्ञान की योग्य गुरुओं और अन्न की गृहस्थों से याचना करते हुए, **वसिष्ठाः**=उत्तम ब्रह्मचारी होकर **सु-अवसे**=उत्तम ज्ञान और रक्षा के लिये स्वयं **वाजयन्तः**=ज्ञान, बल, धनादि को चाहते और प्राप्त करते हुए **इन्द्रवायू हुवेम**=ऐश्वर्यवान् और बलवान् जनों को प्राप्त करें। **यूयं**=आप लोग **नः सदा स्वस्तिभिः पात**=सदा हमारी उत्तम साधनों से रक्षा करें।

भावार्थ—वीर सैनिक ब्रह्मचारी होकर पूर्ण मनोयोग से उत्तम प्रशिक्षक गुरुओं से युद्ध विद्या के समस्त रहस्यों को जानें और युद्धाभ्यास किया करें।

अगले सूक्त के ऋषि देवता वसिष्ठ वायु हैं।

[९२] द्विनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्यासत्य विवेकी विद्वान्

आ वायो भूष शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार ।
उपो ते अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयम् ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **शुचिपाः**=शुद्ध चरित्रवन्! धार्मिकों की रक्षा करनेवाले! हे **वायो**=तुष से अन्नों को पृथक् करनेवाले वायु के समान सत्य, असत्य के विवेकवाले विद्वन्! तू **नः उप आ भूष**=हमें प्राप्त हो। हे **विश्व-वार**=वरण योग्य! पापों के वारक! **ते सहस्रं नियुतः**=तेरे अधीन सहस्रों आज्ञा पालक हैं। हे **देव**=विद्वन्! तू **यस्य पूर्वपेयं**=जिसके पूर्व पालन वा भोग योग्य अंश को **दधिषे**=धारण करता है, मैं उसी **मद्यम्**=तृप्तिकारक, हर्षजनक **अन्धः**=अन्न को **ते उतो अयामि**=तेरे लिये प्राप्त कराऊँ।

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वे शुद्ध चरित्रवाले सत्य-असत्य के विवेकी विद्वानों की शरण में जाकर उनके अधीन रहकर उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुए ज्ञान प्राप्त करें तथा पाप रहित होकर पुरुषार्थ पूर्वक अन्न-धन का संचय करें।

ऋषिः—वसिष्ठः ॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

अहिंसक राष्ट्रपालक

प्र सोता जीरो अध्वरेष्वस्थात्सोममिन्द्राय वायवे पिबध्यै ।
प्र यद्वां मध्वो अग्रियं भरन्त्यध्वर्यवो देवयन्तः शचीभिः ॥ २ ॥

पदार्थ—**यत्**=जिस **मध्वः**=शत्रुपीड़क बल और मधुर ऐश्वर्य के **अग्रियं**=प्रमुख पद तथा श्रेष्ठ भाग को **देवयन्तः**=शुभ गुणों और उत्तम फलों की आकांक्षावाले **अध्वर्यवः**=प्रजा की हिंसा से रहित राष्ट्र-पालक जन **वां प्र भरन्ति**=आप दोनों के लिये प्राप्त कराते हैं, उस **सोमम्**=ऐश्वर्य या बल वीर्य को **इन्द्राय वायवे**=सूर्य वायुवत् तेजस्वी और बलवान् पुरुष के **पिबध्यै**=उपभोग के लिये **अध्वरेषु**=यज्ञादि उपकारक कार्यों में **जीरः सोता**=विद्वान् वीर शासक, **प्र अस्थात्**=प्राप्त

करे।

भावार्थ—राष्ट्र में विभिन्न शासकीय पदों पर श्रेष्ठ लोगों को नियुक्त करके राजा प्रजा का उत्तमता से पालन करें। वे नियुक्त प्रशासक जन प्रजा की हिंसा न करें। यज्ञादि कार्यों में सहयोगी होकर विद्वानों का सम्मान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऐश्वर्यशाली राष्ट्र

प्र याभिर्यासि दाश्वांसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे।
नि नो रयिं सुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे **वायो**=बलवन्! **याभिः नियुद्भिः**=जिन अश्वादि सेनाओं सहित **दुरोणे**=गृहवत् राष्ट्र में विद्यमान **दाश्वांसम्**=कर आदि के दाता प्रजाजन को **अच्छ प्र यासि**=भली प्रकार प्राप्त होता है उन द्वारा ही तू **नः**=हमें **सुभोजसं रयिम्**=उत्तम भोग्य पदार्थों और रक्षा-साधनों से सम्पन्न ऐश्वर्य को **नि युवस्व**=दे और **वीरं**=वीरजन, **गव्यं राधः**=गौ आदि और **अश्व्यं च राधः**=अश्वों से बनी सम्पदा भी **नि युवस्व**=दे।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वह अपने राष्ट्र को समृद्ध एवं सुदृढ़ बनाने के लिए अश्वादि से सुसज्जित वीर सेना को बढ़ावे तथा व्यापार आदि कार्यों की वृद्धि की योजना बनावे, जिनसे कर के रूप में धन प्राप्त करके प्रजाजनों को ऐश्वर्यशाली तथा अन्य योजनाओं को सफल बनाया जा सके।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रजापालक राजा

ये वायव इन्द्रमादनास आदेवासो नितोशनासो अर्यः।
घ्नन्तो वृत्राणि सूरिभिः ष्याम सासह्वांसो युधा नृभिरमित्रान् ॥ ४ ॥

पदार्थ—**ये**=जो **वायवः**=बलवान् पुरुष **इन्द्र-मादनासः**=प्राणों के समान शत्रुहन्ता, प्रजा को प्रसन्न करने में समर्थ **आदेवासः**=सब ओर विद्वान् व्यवहारज्ञ पुरुषों को रखते और **अर्यः**=शत्रु के **नितोशनासः**=मारनेवाले हों ऐसे **सूरिभिः**=शासकों और विद्वानों द्वारा हम **वृत्राणि घ्नन्तः**=विघ्नकारक शत्रुओं का नाश करते हुए **युधा**=युद्ध द्वारा **नृभिः अमित्रान् सासह्वांसः**=वीर पुरुषों द्वारा शत्रुओं का पराजय करनेवाले हों।

भावार्थ—राजा प्रजा को प्रसन्न करनेवाला, शत्रु का नाश करनेवाला तथा प्रजाजनों के सन्मार्गदर्शन के लिए विद्वानों की सुव्यवस्था करनेवाला होकर अपने शासन को सुदृढ़ करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सैनिक व्यवस्था

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरं सहस्रिणीभिरुप याहि यज्ञम्।
वायो अस्मिन्त्सवने मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे **वायो**=बलवान् वीर! तू **शतिनीभिः सहस्रिणीभिः**=सौ-सौ तथा सहस्र-सहस्र के भटों के नायकोंवाली **नियुद्भिः**=अश्व-सेनाओं सहित **नः यज्ञं उप याहि**=हमारे यज्ञ, राज्य को प्राप्त हो। **अस्मिन् सवने मादयस्व**=इस शासन में तू प्रसन्न हो, अन्यों को प्रसन्न कर।

वीर पुरुषो! आप लोग **स्वस्तिभिः नः सदा पात**=सदा हमारी उत्तम साधनों से रक्षा करें।

भावार्थ—सेनापति अपनी सेना में सौ-सौ व सहस्र-सहस्र सैनिकों के वर्ग व संघ बनाकर अलग-अलग सेनानायक नियुक्त करे। अश्वारोही सेना की भी ऐसी ही व्यवस्था कर सेना को सुदृढ़ बनाकर राष्ट्र की रक्षा करे।

अग्रिम सूक्त का ऋषि वसिष्ठ तथा देवता इन्द्राग्नी है।

[९३] त्रिनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माता-पिता के समान प्रजापालक राजा

शुचिं नु स्तोमं नवजातमद्येन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम्।
उभा हि वां सुहवा जोहवीमि ता वाजं सद्य उशते धेष्ठा ॥ १ ॥

पदार्थ—जैसे **वृत्र-हणा**=विघ्ननाशन करनेवाले माता-पिता **नव-जातं शुचिं**=नये उत्पन्न उत्तम शुद्ध बालक को **जुषेताम्**=प्रेम करते और **धेष्ठा वाजं उशते दत्तः**=पालक माता-पिता बुभुक्षित को अन्न देते हैं वैसे ही हे **इन्द्राग्नी**=ऐश्वर्यवन् और तेजस्विन् अग्रणी नायको! आप दोनों **वृत्र-हणा**=बढ़ते शत्रुओं के नाशक होकर **शुचिम्**=पवित्र व्यवहारवाले **नवजातम्**=नये ही प्राप्त, **स्तोमं**=स्तुतियोग्य प्रजा के अधिकार **अद्य**=आज के समान सदा **जुषेताम्**=प्रेम और उत्साह से प्राप्त करें। **ता**=वे दोनों **धेष्ठा**=प्रजा, सैन्य, सभादि के अधिकार को उत्तम रीति से धारण करने में समर्थ होकर **सद्यः**=शीघ्र ही **उशते**=कामनावाले प्रजाजन को **वाजं**=अभिलषित धन, अन्न, बल, ज्ञान आदि दें। **उभाहि वां**=आप दोनों को ही मैं **सु हवा**=सुख से, आदर सहित बुलाने योग्य **जोहवीमि**=स्वीकार करता हूँ, आपको आदर से निमन्त्रित करूँ। माता-पिता दोनों ही इन्द्र और दोनों ही अग्नि हैं। वे सन्तान के बाधक कारणों का नाश करने से 'वृत्रहन्' हैं।

भावार्थ—राष्ट्रनायक तथा सेनानायक दोनों तेजस्वी होकर प्रजा को ऐश्वर्य सम्पन्न बनाकर रक्षा करें। प्रजा के साथ प्रेमपूर्वक मधुर व्यवहार करें। उन्हें सुखी बनाने के लिए इच्छित धन, अन्न, बल व ज्ञान प्रदान करावें। और प्रजा का उत्तम रीति से पुत्रवत् पालन करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्र की समृद्धि

ता सानसी शवसाना हि भूतं साकंवृधा शवसा शूशुवांसा।
क्षयन्तौ रायो यवसस्य भूरेः पृङ्क्तं वाजस्य स्थविरस्य घृष्वेः ॥ २ ॥

पदार्थ—**ता**=वे दोनों **सानसी**=सेवा योग्य, दानदाता और **शवसाना**=बलपूर्वक ऐश्वर्य भोगनेवाले, **साकं-वृधा**=एक साथ वृद्धि को प्राप्त और **शवसा**=बल से **शूशुवांसा भूतम्**=बढ़ते रहें और **भूरेः यवसस्य**=बहुत से अन्न और **रायः**=दान-योग्य धन पर **क्षयन्तौ**=प्रभुत्व करते हुए **भूरेः**=बहुत बड़े **स्थविरस्य**=चिरस्थायी **घृष्वेः**=शत्रुनाशक **वाजस्य**=बल को **पृक्तम्**=साथ मिलाये रक्खो।

भावार्थ—राष्ट्र को समृद्ध व सुदृढ़ बनाने के लिए सेवा करनेवाले, दान देनेवाले तथा ऐश्वर्य भोगनेवाले सभी जन राष्ट्र वृद्धि को प्राप्त करें। राजा व सेनानायक पड़ौसी राष्ट्रों के साथ मित्रता बनाकर युद्ध काल व आपातकाल के लिए उनके बल को अपने साथ मिलावें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संग्राम चतुर नायक

उपो ह यद्विदथं वाजिनो गुर्धीभिर्विप्राः प्रमतिमिच्छमानाः ।
अर्वन्तो न काष्ठां नक्षमाणा इन्द्राग्नी जोहुवतो नरस्ते ॥ ३ ॥

पदार्थ—यत्=जो मनुष्य **वाजिनः**=संग्रामचतुर, ऐश्वर्यवान् और **प्रमतिम् इच्छमानाः**=बुद्धि को चाहनेवाले **विप्राः**=बुद्धिमान् पुरुष **धीभिः**=बुद्धियों, कर्मों द्वारा **विदथं उपो अगुः**=ज्ञान, ऐश्वर्य और संग्राम को प्राप्त करते हैं **ते**=वे **नरः**=जन **इन्द्राग्नी**=इन्द्र अग्नि, विद्युत् अग्नि, आचार्य और अध्यापक, सभापति और सेनापति इन–इन को **जोहुवतः**=प्रमुख स्वीकार करते हुए **काष्ठां अर्वन्तः**=दूर–दूर देश की सीमा की ओर अश्व के समान आगे बढ़ते हुए **काष्ठां**=काष्ठा, अर्थात् 'क' परम सुखमय 'आस्था' स्थिति को **नक्षमाणाः**=प्राप्त करते हुए **विदथं उपो गुः**=प्राप्तव्य उद्देश्य प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—संग्राम में चतुर राजा अपने बुद्धिबल से विद्वानों, अध्यापकों, आचार्यों, सभाप्रमुखों, सेनानायकों तथा गुप्तचरों को दूर–दूर देश की सीमाओं पर नियुक्त करके अपनी व्यवस्था को सुदृढ़ करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदोपदेश

गीर्भिर्विप्रः प्रमतिमिच्छमान ईट्टे रयिं यशसं पूर्वभाजम् ।
इन्द्राग्नी वृत्रहणा सुवज्रा प्र नो नव्येभिस्तिरतं देष्णैः ॥ ४ ॥

पदार्थ—विप्रः=विद्वान् पुरुष **गीर्भिः**=वेदवाणियों द्वारा **प्रमतिम्**=उत्तम ज्ञान **इच्छमानः**=चाहता हुआ, **पूर्व-भाजम्**=पूर्व विद्वानों से सेवित, **यशसं**=यशोजनक **रयिम्**=ज्ञानैश्वर्य की **ईट्टे**=याचना करे और **इन्द्राग्नी**=आचार्य एवं विद्वान् दोनों वीर नायकों के समान **वृत्रहणा**=विघ्नों के नाशक **सु-वज्रा**=पापादि के वर्जक उपदेश एवं ज्ञान–रूप वज्र से युक्त होकर **नव्येभिः देष्णैः**=नये–से–नये उपदेष्टव्य ज्ञानों द्वारा **नः प्र तिरतम्**=हमें बढ़ावें।

भावार्थ—विद्वान् पुरुष वेदवाणियों में वर्णित ज्ञान की प्राप्ति के लिए विद्वान् आचार्यों के समीप जाकर उनका संग करे। वे विद्वान् आचार्यगण इन अन्तेवासियों को विभिन्न विद्याओं का उपदेश करके ज्ञान ऐश्वर्य से पूर्ण करें जिससे वे पाप कर्मों से बचकर उत्तम कार्यों को कर यश के भागी बनें। और प्रजा में वेद–वाणी का प्रचार करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कृतज्ञ नायक

सं यन्मही मिथती स्पर्धमाने तनूरुचा शूरसाता यतैते ।
अदेवयुं विदथे देवयुभिः सत्रा हतं सोमसुता जनेन ॥ ५ ॥

पदार्थ—यत्=जब **मही**=बड़ी–बड़ी **मिथती**=परस्पर ललकारती हुईं **तनू-रुचा**=शरीर के तेज से **स्पर्धमाने**=एक दूसरे से बढ़ने की दो स्त्रियों के समान स्पर्द्धालु दो सेनाएँ **शूर-साता**=वीरों के संग्राम में **सं-यतेते**=विजय का यत्न करती हैं उनमें, हे इन्द्र, अग्नि! वीरों और अग्रणी नायक जनो! आप दोनों **विदथे**=संग्राम में **देवयुभिः**=वृत्तिदाता राजा के पक्षवाले वीर पुरुषों के साथ

मिलकर **अदेवयुं**=राजा के अप्रिय, शत्रु जन को **सोमसुता जनेन**=अन्नादि के उत्पादक प्रजाजन के साथ मिलकर **वृत्रा हतम्**=विघ्नकारी शत्रुओं को मारो।

भावार्थ–जब युद्ध क्षेत्र में दो शत्रुसेनाएँ परस्पर विजय के लिए प्रयासरत हों उस समय सेनानायक जन तथा वीर सैनिक अपने राजा व राष्ट्र के प्रति कृतज्ञ होकर, प्रजाजनों के साथ मिलकर शत्रु सेना को हराने का प्रयत्न करें तथा शत्रु सेना को मारें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वान् यज्ञों में जावें

इमामु षु सोमसुतिमुप न एन्द्राग्नी सौमनसाय यातम्।
नू चिद्धि परिमम्नाथे अस्माना वां शश्वद्भिर्ववृतीय वाजैः ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्राग्नी**=ऐश्वर्यवन्! हे विद्वन्! आप दोनों **नः**=हमारे **इमाम्**=इस **सोमसुतिम्**=अन्न आदि द्वारा किये यज्ञ को **सौमनसाय**=उत्तम मन बनाये रखने के लिये **सु-आ-यातम्**=आदर पूर्वक आइये। **नू चित् हि**=आप कभी भी **अस्मान् परि मम्नाथे**=हमें त्यागकर अन्य को न मानें। मैं प्रजाजन **वां**=आप दोनों को **वाजैः शश्वद्भिः**=बहुत ऐश्वर्यों से **आ ववृतीय**=सम्मानित करूँ।

भावार्थ–विद्वान् जन प्रजा जनों द्वारा किए जानेवाले यज्ञों में जावें और अपने उपदेशों के द्वारा उनके अन्तःकरणों को पवित्र बनावें। प्रजाजन इन विद्वानों का अन्न–धन आदि से सम्मान करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

न्यायकारी राजा

सो अग्न एना नमसा समिद्धोऽच्छा मित्रं वरुणमिन्द्रं वोचेः।
यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळ तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु ॥ ७ ॥

पदार्थ–हे **अग्ने**=अग्रणी पुरुष! **सः**=वह तू **एना नमसा**=इस आदरयुक्त वचन और दुष्टों के नमानेवाले बल से **सम्-इद्धः**=खूब तेजस्वी होकर **मित्रं वरुणं इन्द्रं**=स्नेहवान्, श्रेष्ठ, ऐश्वर्यवान् पुरुष को **अच्छ वोचेः**=भली प्रकार कह कि **सीम्**=हम **यत्**=जो भी **आगः चकृम**=अपराध करें तू **तत्**=उसे **सु**=भली प्रकार **मृड**=न्याय पूर्वक देख। **तत्**=उसको **अर्यमा**=न्यायकारी पुरुष और **अदितिः**=सद्व्यवस्था को न टूटने देनेवाला, पुरुष हम प्रजाजनों के उस अपराध को **शिश्रथन्तु**=निर्मूल करें।

भावार्थ–राजा अपने न्याय के तेज से अपराध करनेवाले जनों को उचित दण्ड देकर राष्ट्र में सद्व्यवस्था बनाए रखे तथा उन लोगों को भविष्य में अपराध न करने की प्रेरणा करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

समय पर कर दान करें

एता अग्न आशुषाणास इष्टीर्युवोः सचाभ्यश्याम वाजान्।
मेन्द्रो नो विष्णुर्मरुतः परि ख्यन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ८ ॥

पदार्थ–हे **अग्ने**=अग्रणी जन! हम लोग **एताः**=इन **इष्टीः**=दातव्य करादि अंशों को **आशुषाणासः**=शीघ्र देते हुए, **युवोः**=तुम दोनों के **वाजान्**=ऐश्वर्यों को **सचा अभि अश्याम**=एक साथ भोग करें। **इन्द्रः विष्णुः**=ऐश्वर्यवान् जन और व्यापक अधिकारवाले शासक तथा

मरुतः=बलवान् वीर पुरुष **नः परिख्यन्**=हमारी निन्दा न करें। **यूयं नः स्वस्तिभिः सदा पात**=आप लोग सदा ही उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—राष्ट्र में जो लोग कर देने के पात्र हैं वे कर दान समय पर किया करें। इस कर दान से ही राष्ट्र की प्रगति की समस्त कार्य योजनाएँ चलती हैं। प्रशासन को कठोरता वर्तने के लिए बाध्य न होना पड़े इसका ध्यान प्रजा जनों को रखना चाहिए।

आगामी सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता इन्द्राग्नी है।

[९४] चतुर्णवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**आर्षीनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विनयशील शिष्य

इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः। अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि॥ १॥

पदार्थ—हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र, ऐश्वर्यवन्! हे **अग्रे**=अंग में झुकने हारे, विनयशील शिष्य जन! **इयं**=यह **पूर्व्य-स्तुतिः**=पूर्व पुरुषों से प्राप्त ज्ञानोपदेश **अस्य मन्मनः**=इस ज्ञानी पुरुष का **वाम्**=आप दोनों के प्रति **अभ्रात् वृष्टिः इव**=मेघ से वृष्टि तुल्य **अजनि**=प्रकट हो।

भावार्थ—शिष्य गण विनयशीलता व जिज्ञासु भाव से विद्वान् आचार्यों के सान्निध्य में रहकर इनके ज्ञानोपदेश का श्रवण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वेदवाणियों के प्रति श्रद्धा

शृणुतं जरितुर्हवमिन्द्राग्नी वनतं गिरः। ईशाना पिप्यतं धियः॥ २॥

पदार्थ—हे **इन्द्राग्नी**=ऐश्वर्य और विनयशील पुरुषो! आप दोनों ही, **जरितुः**=उपदेष्टा जन के **हवम्**=उपदेश को सुनो। **गिरः**=वेद-वाणियों और **गिरः**=उपदेष्टा जनों की **वनतम्**=सेवा करो। **ईशाना**=अधिक समर्थ होकर **धियः**=सत्कर्मों और सद्बुद्धियों को **पिप्यतम्**=बढ़ाओ।

भावार्थ—शिष्य लोग विनयभाव से आचार्यों के उपदेशों को सुनें इससे वेदवाणियों व आचार्य गण के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न होगा, सद्बुद्धि प्राप्त होगी और सत्कर्मों में रूचि हो जाएगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**आर्षीनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पराधीन न रहें

मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी माभिशस्तये। मा नो रीरधतं निदे॥ ३॥

पदार्थ—हे **नरा इन्द्राग्नी**=उत्तम नायको! हे इन्द्र, अग्नि ऐश्वर्यवन्! विद्यावन्! नायक, नायिका जनो! आप **नः**=हमें **पापत्वाय**=पाप कर्म के लिये **मा रीरधतम्**=अपने अधीन मत रक्खो। **अभि शस्तये मा रीरधतम्**=शत्रु द्वारा पीड़ित करने के लिये भी मत रक्खो, **निदे**=निन्दित कर्म वा निन्दा करनेवाले के लाभ के लिये भी हमें किसी के अधीन मत रखो।

भावार्थ—राष्ट्रनायक या सेनानायक कभी भी किसी व्यक्ति को बन्धक बनाकर पापकर्म, निन्दित कर्म या निन्दित व्यक्ति के लाभ के लिए दबाव न दे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शुभ प्रेरणा

इन्द्रे अग्ना नमो बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे। धिया धेना अवस्यवः॥ ४॥

पदार्थ–हम लोग **अवस्यवः**=ऐश्वर्यादि चाहते हुए, **इन्द्रे अग्नौ**=शत्रुहन्ता और अग्निवत् तेजस्वी वर्गों में **बृहत् नमः**=बड़ा आदर, बल और **सु-वृक्तिम्**=शुभ वर्त्ताव, शत्रु, पापादि को वर्जने का बल और **धिया**=बुद्धि और कर्म के द्वारा **धेनाः**=वाणियों को **आ ईरयामहे**=प्रेरित करें।

भावार्थ–मनुष्य अपनी बुद्धि एवं कर्मों तथा वचनों के द्वारा अन्यों को बड़ों का आदर, शुभ व्यवहार, पाप कर्मों से बचने तथा बल व पराक्रम प्राप्त करने की प्रेरणा किया करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

विद्वान् का कर्त्तव्य

ता हि शश्वन्त ईळ्त इत्था विप्रास ऊतये। सबाधो वाजसातये॥५॥

पदार्थ–**इत्था**=इस प्रकार **शश्वन्तः विप्रासः**=बहुत से विद्वान् पुरुष **सबाधः**=पीड़ित होकर दुःख पीड़ा आदि की चर्चा संदेशादि लेकर **उतये**=अपनी रक्षा और **वाजसातये**=संग्राम करने के लिये **ता हि ईडते**=उन दोनों इन्द्र, अग्नि को अध्यक्ष रूप से चाहते हैं।

भावार्थ–विद्वानों व प्रजा जनों को जब भी कोई पीड़ा या शत्रु सेना के आक्रमण की सूचना होवे तो उसके निवारण हेतु राजा व सेनानायक के पास जाकर विद्वान् लोग अपना सन्देश देवें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

राष्ट्र की समृद्धि

ता वां गीर्भिर्विपन्यवः प्रयस्वन्तो हवामहे। मेधसाता सनिष्यवः॥६॥

पदार्थ–हम **वपन्यवः**=विविध व्यवहारोंवाले, **प्रयस्वन्तः**=प्रयास वा उद्योगशील और अन्यों को **सनिष्यवः**=वृत्तिदाता **ता वां**=उन आप दोनों इन्द्र, अग्नि जनों को ही **मेध-साता**=यज्ञ और संग्राम के लिये **गीर्भिः**=नाना वाणियों से **हवामहे**=बुलाते हैं।

भावार्थ–राजा अपने राष्ट्र में विविध प्रकार के उद्योगों व सरकारी सेवा के अवसरों को बढ़ावे। राष्ट्र में यज्ञों के आयोजन तथा सैनिक प्रशिक्षण भी बहुलता से कराए जावें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

जागरूक राजा

इन्द्राग्नी अवसा गतमस्मभ्यं चर्षणीसहा। मा नो दुःशंस ईशत॥७॥

पदार्थ–हे **चर्षणी-सहा**=मनुष्यों के बीच शत्रुओं को हरानेवाले **इन्द्राग्नी**=सूर्य और अग्नि के तुल्य नायको! आप **अस्मभ्यं**=हमारी **अवसा**=रक्षा के सहित **आ गतम्**=आओ। जिससे **नः**=हम पर **दुःशंसः**=दुष्ट वचन बोलनेवाला, पुरुष **मा ईशत**=अधिकार न करे।

भावार्थ–राजा का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र में जागरूक रहे, यदि शत्रु राष्ट्र सीमावर्ती प्रजाओं को धमकावे या उनकी बस्तियों पर अधिकार करने का प्रयास करे तो तुरन्त उसको प्रत्युत्तर देकर पराजित करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**आर्षीनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

सुदृढ़ शासन व्यवस्था

मा कस्य नो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य। इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम्॥८॥

पदार्थ–हे **इन्द्राग्नी**=सूर्यवत्, अग्निवत् तेजस्विन्! आप दोनों **नः शर्म यच्छतम्**=हमें सुख

दो। **कस्य**=किसी भी **अररुषः मर्त्यस्य**=रोषकारी मनुष्य की **धूर्त्तिः**=हिंसा-चेष्टा **नः मा प्र णङ्**=हम तक न पहुँचे।

भावार्थ–राजा कठोर नियमों द्वारा शासन व्यवस्था को सुदृढ़ रखे। कोई भी उग्रवादी, आतंकवादी या शत्रु सैनिक प्रजा जनों पर हिंसा-चेष्टा न कर सके।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

ऐश्वर्यशाली व्यवस्था

गोमद्धिरण्यवद्वसु यद्वामश्वावदीमहे। इन्द्राग्नी तद्वनेमहि ॥ ९ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्राग्नी**=सूर्य-अग्निवत् तेजस्वी पुरुषो! हम **यत्**=जो और जैसा भी **वाम् ईमहे**=आप दोनों से माँगते हैं **तत्**=वह **गोमत्**=गौओं, **हिरण्यवत्**=सुवर्णादि बहुमूल्य पदार्थ और **अश्वावद्**=अश्वों से सम्पन्न **वसु**=धन **वनेमहि**=प्राप्त करें।

भावार्थ–राजा अपने राष्ट्र में व्यवस्था करे कि कोई भी निर्धन या दरिद्र न रहे। जब प्रजाजनों को गाय, अश्व, स्वर्ण, अन्न आदि की आवश्यकता होवे तो वे राजा से माँगें और राजा उन्हें आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करावे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**आर्षीनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

चिकित्सा व्यवस्था

यत्सोम आ सुते नर इन्द्राग्नी अजोहवुः। सप्तीवन्ता सपर्यवः ॥ १० ॥

पदार्थ–हे **सप्तीवन्ता**=उत्तम अश्वों के स्वामी, **इन्द्राग्नी**=विद्युत्, अग्निवत् तेजस्वी, शत्रुसंतापक जनो! **यत्**=जब **सोमे सुते**=पुत्रवत् प्रिय 'सोम' अर्थात् ओषधि, अन्नादिवत् भोग्य राष्ट्र में **नरः**=नायक लोग **सपर्यवः**=शुश्रूषा करते हुए **आ अजोहवुः**=आदर से बुलाते हैं तब आप आइये।

भावार्थ–राजा अपनी प्रजा के लिए स्वास्थ्य व चिकित्सा की समस्त व्यवस्था उपलब्ध करावे। जब भी किसी को स्वास्थ्य सेवा की आवश्यकता होवे उसे तुरन्त सुविधा उपलब्ध हो।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः–**षड्जः** ॥

शिक्षा व्यवस्था

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा। आङ्गूषैराविवासतः ॥ ११ ॥

पदार्थ–**या**=जो आप दोनों **वृत्रहन्तमा**=दुष्टों को खूब दण्ड देनेवाले, **उक्थेभिः**=उत्तम वेद-वचनों से **आ मन्दाना**=सबको प्रसन्न करते हैं, वे **गिरा चित्**=वेद वाणी से और **आंगूषै**=उत्तम स्तुति-वचनों, उपदेशों से **आ विवासतः**=ज्ञानप्रकाश करते हैं।

भावार्थ–राजा अपनी प्रजाओं के लिए शिक्षा की समुचित व्यवस्था करे। विद्वानों की नियुक्ति कर वेदवाणी तथा उत्तम ज्ञानोपदेशों के द्वारा विद्या के प्रचार की व्यवस्था करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः–**आर्षीनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धारः** ॥

न्याय व दण्ड व्यवस्था

ताविद्दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम्। आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम् ॥ १२ ॥

पदार्थ–**तौ इदद्दे दोनों ही** दुःशंसं=कठोर भाषणकर्ता **दुर्विद्वांसं**=दुर्गुणी-विद्वान्, **रक्षस्विनम्**=अन्यों के कार्यों में विघ्नकारी के सहायक, **आभोगं**=चारों तरफ से भोग विलास में मग्न, **मर्त्यं**=

मनुष्य को **हन्मना**=हननकारी हथियार से **हतम्**=दण्ड दो और **उद-धिम्**=जल धारक घट या तालाब के समान उसको भी **हन्मना हतम्**=शस्त्र द्वारा नाश करो। जैसे घट या जलाशय को तोड़ या खोदकर जल से खाली किया जाता है वैसे ही दुष्ट को दण्ड देकर उसका सर्वस्व हरना चाहिये।

भावार्थ—राजा अपने राष्ट्र में न्याय व दण्ड की व्यवस्था को सुदृढ़ करे। राष्ट्र में अशान्ति या अव्यवस्था फैलानेवालों को और राष्ट्रोन्नति के कार्यों में विघ्न उत्पन्न करनेवाले दुष्ट जनों को अपनी न्याय व्यवस्था से कठोर दण्ड देकर उसकी सम्पत्ति का भी हरण कर लेवे।

अग्रिम सूक्त का ऋषि वसिष्ठ एवं देवता सरस्वती, सरस्वान् है।

[९५] पञ्चनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्त्री के कर्त्तव्य-१

प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।
प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः ॥ १ ॥

पदार्थ—पत्नी, स्त्री के कर्त्तव्य—जैसे **सिन्धुः**=बहनेवाली नदी **क्षोदसा सस्रे**=पानी से बहती है, **यायसीः पूः**=लोहे के प्रकोट के तुल्य नगर की रक्षा करती, **रथ्या इव**=रथ में लगे अश्वों के तुल्य **प्र बाबधाना**=मार्ग के वृक्ष, लतादि को उखाड़ती हुई, **अन्याः अपः च प्रबाबधाना**=अन्य सब जल-धाराओं को बाँधती हुई, मुख्य होकर **याति**=आगे बढ़ती है वैसे ही **सरस्वती**=ज्ञानयुक्त विदुषी की **धायसा**=बालक को पिलाने योग्य दूध **क्षोदसा**=और अन्न से **प्रसस्रे**=प्रेम से प्रवाहित होती है। वह **धरुणम्**=गृहस्थ-धारक और सबका आश्रय हो, वह **आयसी पूः**=लोहे के प्रकोट के तुल्य दृढ़ एवं **आ-यसी**=सब प्रकार से श्रमवाली और **पूः**=परिवार की पालक हो। वह **रथ्या इव**=रथ में लगे अश्वों के तुल्य दृढ़ और **महिना**=स्व सामर्थ्य से **विश्वाः अन्याः अपः**=अन्य आप्त जनों को **सिन्धुः**=महानद के समान **प्र बाबधाना**=दृढ़ सम्बन्ध से बाँधती हुई **याति**=जीवन-मार्ग पर चले।

भावार्थ—विदुषी स्त्री परिवार में सबको प्रेम के व्यवहार से जोड़कर रखे, पूर्ण परिश्रम करनेवाली हो, परिवार के पालन-पोषण की सुव्यवस्था करे तथा बड़े-बड़े विद्वानों से प्रेरणा पाकर जीवन को सन्मार्ग पर चलावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्त्री के कर्त्तव्य-२

एकाचेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥ २ ॥

पदार्थ—जैसे **नदीनां एका सरस्वती शुचिः**=नदियों में से एक अधिक वेग व जलवाली नदी **गिरिभ्यः आ समुद्रात् यती**=पर्वतों से समुद्र तक जाती हुई **नाहुषाय**=मनुष्य वर्ग के लिये **घृतं पयः दुदुहे**=जल और अन्न प्रचुर मात्रा में देती है, वैसे ही **सरस्वती**=ज्ञानवाली स्त्री **नदीनाम्**=धनसम्पन्न स्त्रियों के बीच भी **शुचिः**=शुद्ध चरित्र, रूप और वाणीवाली होकर **एका चेतत्**=अकेली ही सबसे प्रशंसनीय हो। वह **गिरिभ्यः**=उपदेष्टा पिता आदि गुरुओं से **आ समुद्रात्**=कामना-योग्य पति-गृह को **यती**=प्राप्त होती हुई **भुवनस्य**=समस्त लोकों को **भूरेः**

रायः चेतन्ती=अपना बहुत ऐश्वर्य बतलाती हुई, **नाहुषाय**=सम्बन्ध में बाँधनेवाले पति के लिये **घृतं पयः**=स्नेह, दुग्ध, अन्न आदि की **दुदुहे**=वृद्धि करे।

भावार्थ—विदुषी स्त्री शुभ गुण, कर्म, स्वभाववाले पति के गृह में जाकर उत्तम व्यवहार व कार्यों से घर में घी, दूध, अन्न आदि की सुव्यवस्था करे तथा बहुत ऐश्वर्य में रहकर भी अपने शुभ चरित्र, लज्जा और प्रिय वाणी को न छोड़े।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वान्**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

श्रेष्ठ पुरुष

स वावृधे नर्यो योषणासु वृषा शिशुर्वृषभो यज्ञियासु।
स वाजिनं मघवद्भ्यो दधाति वि सातये तन्वं मामृजीत॥ ३॥

पदार्थ—नरश्रेष्ठ का वर्णन—**सः**=वह **नर्यः**=मनुष्यों में श्रेष्ठ पुरुष **यज्ञियासु**=परस्पर संग, दान-प्रतिदान द्वारा प्राप्त **योषणासु**=स्त्रियों में **वृषा**=वीर्य सेचन में समर्थ, **वृषभः**=बलवान्, **शिशुः**=सहशायी होकर **वावृधे**=पुत्र, धन-धान्यादि से बढ़े। **सः**=वह **मघवद्भ्यः**=**मखवद्भ्यः**=याज्ञिकों और धनैश्वर्य-सम्पन्न राजादि के हितार्थ **वाजिनं**=धन, ज्ञानादि से सम्पन्न पुत्र को प्रजावत् **दधाति**=धारण करे। वह **सातये**=पुत्र, धन, अन्न, ज्ञानादि के लाभ एवं संग्राम के लिये भी **तन्वं**=शरीर वा आत्मा को **वि मामृजीत**=यज्ञ, दान, स्नान, उपदेश, तप आदि उपायों से शुद्ध करे।

भावार्थ—श्रेष्ठ पुरुष अपने पुरुषार्थ से पुत्र, धन-धान्यादि ऐश्वर्यों को बढ़ावे। राजा को राष्ट्र-समृद्धि हेतु कर दान करे, यज्ञादि कार्यों को बढ़ावे तथा विपरीत परिस्थितियों में भी यज्ञ, दान, स्नान, उपदेश व तप आदि को न छोड़े।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्त्री के कर्त्तव्य-३

उत स्या नः सरस्वती जुषाणोप श्रवत्सुभगा यज्ञे अस्मिन्।
मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्यः॥ ४॥

पदार्थ—**उत**=और **स्या**=वह **सरस्वती**=ज्ञानवाली विदुषी स्त्री, **जुषाणा**=स्नेह करती हुई **अस्मिन् यज्ञे**=इस यज्ञ में **सु-भगा**=सौभाग्यवती होकर **नः उप श्रवत्**=हमारी बात सुने। वह **नमस्यैः**=नमस्कार योग्य **मित-ज्ञुभिः**=परिमित-संकुचित जानुओंवाले, ज्ञातव्य पदार्थों के ज्ञाता पुरुषों के साथ **इयाना**=प्राप्त होती हुई **राया**=ऐश्वर्य **चित्**=और **युजा**=सहयोगी पति से तू **सखिभ्यः**=स्व सखियों से **उत्तरा**=अधिक उत्कृष्ट हो।

भावार्थ—विदुषी स्त्री ज्ञान व स्नेह से पति एवं परिजनों की बातों को सुना करे। यज्ञ कार्यों को नियमित करे तथा अपनी सखियों में भी उच्च स्थान प्राप्त करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्त्री के कर्त्तव्य-४

इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रति स्तोमं सरस्वति जुषस्व।
तव शर्मन्प्रियतमे दधाना उप स्थेयाम शरणं न वृक्षम्॥ ५॥

पदार्थ—हे **सरस्वति**=ज्ञान-युक्त विदुषि! ज्ञानमय प्रभो! तू **स्तोमं प्रति जुषस्व**=स्तुत्यवचन

को प्रेम से स्वीकार कर। हम **नमोभिः**=विनय-वचनों सहित **युष्मत् आजुह्वाना**=तुमसे ग्राह्य पदार्थ लेते हुए **तव प्रियतमे शर्मन्**=तेरे प्रियतम गृह में स्वयं को **दधानाः**=रखते हुए **वृक्षं न शरणं**=वृक्ष तुल्य शरण दायक **उप स्थेयाम**=तेरे पास आयें।

भावार्थ–विदुषी स्त्री परिजनों के वचनों को ध्यान से सुने। घर में आए हुए अतिथि या भिक्षुकों का मीठे वचनों से सत्कार करते हुए उनके लिए आवश्यक पदार्थों का दान करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**सरस्वती** ॥ छन्दः–**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

स्त्री के कर्त्तव्य-५

अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः।
वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **सरस्वति**=विदुषि! हे **सुभगे**=भाग्यशालिनि! **अयम् वसिष्ठः**=यह ब्रह्मचारी **ते**=तेरे लिये **ऋतस्य द्वारौ**=सत्य ज्ञान, अन्न और धन के दो द्वारों को **व्यावः**=प्रकट करता है। हे **शुभ्रे**=शुभ चरित्रवाली! तू **स्तुवते**=गुणप्रशंसक, गुणग्राही जन को **वाजान्**=ऐश्वर्यादि **रासि**=दे। हे विद्वान् लोगो! **यूयं स्वस्तिभिः न पात**=आप सदा ही उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ–विदुषी स्त्री द्वार पर भिक्षा के लिए आए हुए ब्रह्मचारी को सत्य, अन्न, धन व ज्ञान का दान करे। अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाकर अपने सौभाग्य को बढ़ावे।

अगले सूक्त का ऋषि देवता यही हैं।

[९६] षण्णवतितमं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**सरस्वती** ॥ छन्दः–**आर्चीभुरिग्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

ईश्वर की स्तुति वेद के सूक्तों से करें

बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम्। सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी ॥ १ ॥

पदार्थ–हे **वसिष्ठ**=विद्वन्! तू **रोदसी**=भूमि और सूर्य दोनों में नायक और **नदीनाम् असुर्या**=नदियों में बलवती नदी के तुल्य समृद्ध प्रजाओं में बलशाली, प्रभु की **वृहत् उ गायिषे**=बहुत स्तुति कर। **सुवृक्तिभिः**=स्तुति, **स्तोमैः**=वेद-सूक्तों और यज्ञादि से **सरस्वतीम् इत् महय**=जो अनादि काल से ज्ञान, सुख, ऐश्वर्य का प्रवाह बहा रहा है उसे **महय**=पूज।

भावार्थ–विद्वान् पुरुष ईश्वर की स्तुति व यज्ञादि कार्य अनादिकाल से चली आ रही वेदवाणी के सूक्तों से किया करे। इससे ज्ञान, सुख और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**सरस्वती** ॥ छन्दः–**आर्षीभुरिग्बृहती** ॥ स्वरः–**मध्यमः** ॥

वेद स्वाध्याय

उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः।
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम् ॥ २ ॥

पदार्थ–**यत्**=जिस **ते**=तेरे **महिना**=सामर्थ्य से **पूरवः**=मनुष्य **उभे**=दोनों को **अधि क्षियन्ति**=प्राप्त करते हैं हे **शुभ्रे**=उज्ज्वल रूपवाली सरस्वति! ज्ञानमयी! **सा**=वह तू **मरुत्सखा**=विद्वानों की मित्र **अवित्री**=संसार की रक्षक होकर **नः बोधि**=हमें ज्ञान दे और **मघोनां**=ऐश्वर्यवान् जनों को **राधः चोद**=धनादि दे।

भावार्थ–वेदवाणी के स्वाध्याय से मनुष्य विद्वानों के संसर्ग में आकर ज्ञान तथा ऐश्वर्य को

प्राप्त करे। ज्ञान प्राप्त करके ईश्वर की प्राप्ति भी करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कल्याणी वाणी

भद्रमिद्भद्रा कृणवत्सरस्वत्यकवारी चेतति वाजिनीवती।
गृणाना जमदग्निवत्स्तुवाना च वसिष्ठवत्॥ ३॥

पदार्थ—भद्रा सरस्वती=सबका कल्याण करनेवाली वह परमेश्वरी **वाजिनी-वती**=ऐश्वर्य, अन्नादि और सूर्यादि की स्वामिनी, विद्वानों की स्वामिनी और **अकव-अरी**=कुत्सित मार्ग में न जाने देनेवाली होकर सबके लिये **भद्रम् इत् कृणवत्**=कल्याण ही करती है। वही **चेतति**=सबको ज्ञान देती है। वह **जमदग्निवत्**=अग्नि के तुल्य **गृणाना**=स्तुति की जाती है और **वसिष्ठवत्**=सब में बसनेवाले के तुल्य **स्तुवाना**=स्तुति की जाती है।

भावार्थ—परमेश्वरी शक्ति वेदवाणी सबका कल्याण करती है। विद्वान् जन वेद स्वाध्याय को कभी नहीं छोड़ते इससे वे कुत्सित मार्ग पर जाने से बच जाते हैं तथा दूसरों को भी बचा लेते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वान्** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ईश्वर से याचना

जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः। सरस्वन्तं हवामहे॥ ४॥

पदार्थ—हम लोग **जनीयन्तः**=भार्या रूप संतति जनक क्षेत्र की कामनावाले, **पुत्रीयन्तः**=पुत्रों की कामनावाले, **अग्रवः नु**=आगे बढ़नेवाले और **सु-दानवः**=उत्तम दानशील पुरुष **सरस्वन्तं**=उत्तम ज्ञानवान् प्रभु को **हवामहे**=प्राप्त होते, पुकारते, उसी से याचना करते हैं।

भावार्थ—मनुष्य लोग ईश्वर को पुकारते हुए उत्तम ज्ञान द्वारा श्रेष्ठ गुणवाली पत्नी व उत्तम सन्तान की प्राप्ति करें। इस प्रकार उत्तम ऐश्वर्य को पाकर दानशील वृत्ति रखें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वान्** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रक्षक ईश्वर

ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः। तेभिर्नोऽविता भव॥ ५॥

पदार्थ—हे **सरस्वः**=ज्ञान और बलशालिन्! **ते**=तेरे **ये**=जो **मधुमन्तः**=जल, अन्नादि युक्त, **घृतच्युतः**=स्नेह और जल प्रदाता **उर्मयः**=उत्तम तरङ्गवत् उत्कृष्ट मार्ग से जानेवाले विद्वान्, सूर्य, मेघादि हैं **तेभिः**=उनसे तू **नः**=हमारा **अविता**=रक्षक **भव**=हो।

भावार्थ—ईश्वर उत्तम ज्ञान, बल, अन्न, जल, नदी, सूर्य, मेघ आदि को रचकर हमारी रक्षा करता है। इनके बिना जीवों के जीवन नहीं चल सकते।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सरस्वान्** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दर्शनीय प्रभु

पीपिवांसं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः। भक्षीमहि प्रजामिषम्॥ ६॥

पदार्थ—यः=जो **विश्व-दर्शतः**=समस्त जीवों के लिए दर्शनीय, सूर्य समान तेजस्वी है, उस **सरस्वतः**=ज्ञानवान् प्रभु के **पीपिवांसं**=सबके पोषक, **स्तनं**=बालक का स्तन के समान पुष्टिदाता प्रभु का हम **भक्षीमहि**=सेवन करें और उसी की दी हुई **प्रजाम्, इषम्**=सन्तान, अन्न

आदि का सेवन करे।

भावार्थ—परमेश्वर समस्त जीवों के हित के लिए सृष्टि में सब पदार्थों की रचना करता है। वह सन्तान, अन्न तथा सभी पुष्टिकारक पदार्थों को बनाकर जीवों को सुखी करता है।

आगामी सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता इन्द्र, इन्द्राब्रह्मणस्पती तथा बृहस्पति हैं।

[९७] सप्तनवतितमं सूक्तम्

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईशोपासना

य॒ज्ञे दि॒वो नृ॒षद॑ने पृथि॒व्या नरो॒ यत्र॑ देव॒यवो॒ मद॑न्ति।
इन्द्रा॑य॒ यत्र॒ सव॑नानि सु॒न्वे गम॒न्मदा॑य प्रथ॒मं वय॑श्च॥ १ ॥

पदार्थ—हे परमेश्वर इन्द्र! **यत्र**=जिस **यज्ञे**=सर्वप्रद प्रभु के आश्रय **देवयवः**=दिव्य शक्तियों की कामना करनेवाले जन **दिवः पृथिव्याः**=आकाश और भूमि पर के **नृ-सदने**=मनुष्यों के रहने के स्थान में **मदन्ति**=हर्ष लाभ करते हैं। **च**=और **वयः**=ज्ञानी पुरुष **मदाय**=मोक्षानन्द के लिये **यत्र**=जिस प्रभु के आश्रय स्थिर होकर **प्रथमं गमन्**=श्रेष्ठ पद को पाते हैं उस **इन्द्राय**=प्रभु के लिये मैं **सवनानि**=उपासनाएँ **सुन्वे**=करूँ।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ईश्वर की उपासना किया करें इससे वह मोक्ष के आनन्द को प्राप्त करेगा तथा संसार में रहकर ईश्वर की रचना आकाश, भूमि आदि को देखकर ईशानुभूति करते हुए प्रसन्नचित्त रहेगा।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईशानुभूति

आ दैव्या॑ वृणीम॒हेऽवां॑सि॒ बृह॒स्पति॑र्नो मह॒ आ सखा॑यः।
यथा॒ भवे॑म मी॒ळ्हुषे॒ अना॑गा॒ यो नो॑ दा॒ता प॑रा॒वतः॑ पि॒तेव॑॥ २ ॥

पदार्थ—**यः**=जो **नः**=हमें **पिता इव**=पिता तुल्य **परावतः**=दूर-दूर से, वा परम पद से **दाता**=सब सुख ऐश्वर्यादि दाता है वह **बृहस्पतिः**=ब्रह्माण्ड का पालक **नः**=हमें **आ महे**=सब प्रकार से देता है। हे **सखायः**=मित्रो! हम उस **मीढुषे**=ऐश्वर्य सुखों के वर्षक प्रभु के प्रति **यथा**=जैसे हो **अनागाः भवेम**=निरपराध हों, इसीलिये हम **दैव्यानि अवांसि**=सर्वप्रकाशक प्रभु के दिये बलों, ऐश्वर्यों और रक्षाओं को **आ वृणीमहे**=चाहते हैं।

भावार्थ—वह परमात्मा सब ऐश्वर्यों का दाता है उसकी उपासना से मनुष्य परमपद की प्राप्ति तथा दुःखों से निवृत्ति पा लेता है। ईश्वर के सान्निध्य की अनुभूति उसे अपराधों से बचाकर आत्मबल प्रदान करती है।

ऋषि:—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राब्रह्मणस्पती** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी से स्तुति

तमु॒ ज्येष्ठं॒ नम॑सा ह॒विर्भिः॑ सु॒शेवं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ गृणीषे।
इन्द्रं॒ श्लोको॒ महि॒ दैव्यः॑ सिषक्तु॒ यो ब्रह्म॑णो दे॒वकृ॑तस्य॒ राजा॑॥ ३ ॥

पदार्थ—**यः**=जो **देव-कृतस्य**=परमेश्वर रचित दिव्य पदार्थ, पृथिवी आदि **ब्रह्मणः**=महान् ब्रह्माण्ड का **राजा**=स्वामी है उस **महि**=महान् **इन्द्रं**=प्रभु को **दैव्यः**=विद्वानों की **श्लोकः**=स्तुति

और **दैव्यः श्लोकः**=प्रभु से प्राप्त 'श्लोक' अर्थात् वेदवाणी, **सिषक्तु**=प्राप्त होती है, वह उसी का वर्णन करती है। **तम् उ ज्येष्ठं**=उसी सर्वश्रेष्ठ, **सु-शेवं**=सुखदाता, आनन्दकन्द **ब्रह्मणः पतिम्**=ब्रह्माण्ड और वेद के पालक प्रभु की मैं **हविर्भिः**=उत्तम वचनों से **गृणीषे**=स्तुति करूँ।

भावार्थ–मनुष्य ईश्वर की स्तुति वेदवाणियों से किया करे। यह वेदवाणी प्रभु ने प्रदान की है इसमें ईश्वर के स्वरूप, उसकी महिमा तथा समस्त ब्रह्माण्ड के ज्ञान-विज्ञान का समावेश है।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ईशमिलन हृदय-देश में

स आ नो योनिं सदतु प्रेष्ठो बृहस्पतिर्विश्ववारो यो अस्ति।
कामो रायः सुवीर्यस्य तं दात्पर्षन्नो अति सश्चतो अरिष्टान्॥ ४॥

पदार्थ–**यः**=जो **विश्व-वारः**=सबसे वरणीय है और जो सब संकटों को दूर करता है **सः**=वह **प्रेष्ठः**=प्रियतम, **बृहस्पतिः**=ब्रह्माण्ड का स्वामी है, वह **नः**=हमारे **योनिं**=एकत्र मिलने के स्थान हृदय-देश में **आ सदतु**=अनुग्रह कर प्राप्त हो। वही परमेश्वर हमारी जो **सुवीर्यस्य रायः कामः**=उत्तम बलयुक्त ऐश्वर्य की अभिलाषा है **तं**=उसको **दात्**=पूर्ण करता और **सश्चतः**=प्राप्त होनेवाले **अरिष्टान्**=मृत्यु-लक्षणों से भी **अतिपर्षत्**=पार करता है।

भावार्थ–उपासक जन उस वरणीय प्रभु से अपने हृदय-देश में मिलते हैं। उसके अनुग्रह को प्राप्त कर संकटों से छूटते हैं तथा ऐश्वर्य को पाते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

मोक्ष के लिए जीवन मिला है

तमा नो अर्कममृताय जुष्टमिमे धासुरमृतासः पुराजाः।
शुचिक्रन्दं यजतं पस्त्यानां बृहस्पतिमनर्वाणं हुवेम॥ ५॥

पदार्थ–**नः**=हमारे **पुराजाः**=पूर्व काल में नाना जन्मों में उत्पन्न **इमे**=ये **अमृतासः**=अविनाशी जीवगण **अमृताय**=दीर्घ जीवन के लिये **अर्कम्**=अन्न के समान **अमृताय**=मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये **जुष्टं**=प्रेम से सेवनीय **अर्कं**=अर्चना-योग्य **तम्**=उस परमेश्वर को **धासुः**=धारण करें और **पस्त्यानां**=गृहस्थों के समान देह-रूप गृहों में रहनेवाले जीवों के **यजतम्**=उपासनीय, **शुचि-क्रन्द्रं**=न्यायकर्त्ता के समान शुद्ध, निर्दोष वचन कहनेवाले, **अनर्वाणम्**=अश्वादि की अपेक्षा न करनेवाले स्वयंगामी रथ तुल्य जगत्-सञ्चालक, **बृहस्पतिम्**=बड़े-बड़े सूर्यादि के भी पालक प्रभु की हम **हुवेम**=स्तुति करें।

भावार्थ–नाना जन्मों में किए गए कर्मों के आधार पर परमेश्वर दीर्घ जीवन, अन्नादि भोग तथा मानव देह प्रदान करता है। वह जीवों को मोक्ष-सुख देने के लिए ही मानव देह देता है इसलिए उस प्रभु की स्तुति नित्य किया करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ईश्वर की भक्ति का बल

तं शग्मासो अरुषासो अश्वा बृहस्पतिं सहवाहो वहन्ति।
सहश्चिद्यस्य नीलवत्सधस्थं नभो न रूपमरुषं वसानाः॥ ६॥

पदार्थ–**सहवाहः अश्वाः यथा बृहस्पति वहन्ति**=एक साथ चलनेवाले अश्व जैसे बड़े

सैन्य के स्वामी को अपने ऊपर धारते हैं वैसे ही **यस्य**=जिस परमेश्वर का **सधस्थं**=साथ रहना ही **नीडवत्**=गृह के समान आश्रय देता और **सहः चित्**=सब दुःखों को सहन कराने में समर्थ बल है और जिसका **रूपं नभः न**=रूप आकाश वा सूर्य के समान व्यापक और **अरुषं**=तेजोमय है, **तं**=उस प्रभु को, **वसानाः**=उसकी भक्ति में रहनेवाले, **शग्मासः**=आनन्दमग्न, शक्तिमान्, **अरुषासः**=उज्ज्वल रूपयुक्त, सूर्यवत् प्रकाशमान **अश्वाः**=विद्या-विज्ञान में निष्णात पुरुष वा सूर्यादि लोक **सह-वाहः**=एक साथ मिलकर संसार यात्रा करते हुए **बृहस्पतिं वहन्ति**=महान् ब्रह्माण्ड के पालक प्रभु को अपने ऊपर धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की भक्ति में लीन रहनेवाले पुरुष हर समय परमात्मा को अपने अंग संग अनुभव करते हैं इससे उनका आत्मा इतना बलवान् हो जाता है कि सब दुःखों को सहन करने में समर्थ हो जाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परम पवित्र परमात्मा

स हि शुचिः शतपत्रः स शुन्ध्युर्हिरण्यवाशीरिषिरः स्वर्षाः ।
बृहस्पतिः स स्वावेश ऋष्वः पुरू सखिभ्य आसुतिं करिष्ठः ॥ ७ ॥

पदार्थ—**सः हि**=वह प्रभु ही **शुचिः**=पवित्र, **शतपत्रः**=शतदल कमल के समान उज्ज्वल, निस्संङ्ग है **सः शुन्ध्युः**=वह सबको शुद्ध करनेवाला, **हिरण्य-वाशीः**=हित, रमणीय वेदवाणी से युक्त, **इषिरः**=सबके चाहने योग्य, **स्वः-र्षाः**=सुखदाता है। **सः सु-आवेशः**=वह उत्तम रीति से विश्व में व्यापक, **ऋष्वः**=महान्, **सखिभ्यः**=अपने समान ख्याति, आत्मा नामवाले जीवों के लिये **पुरु आसुतिं**=बहुत-सा अन्न आदि ऐश्वर्य **करिष्ठः**=उत्पन्न करनेवाला है, वही **बृहस्पतिः**= जगत्-पालक बृहस्पति है। ऐसा ही राष्ट्र का स्वामी भी हो। वह **शुचिः**=ईमानदार, शुद्ध हो **शतपत्रः**=सैकड़ों रथों का स्वामी, **शुन्ध्युः**=राज्य के कण्टकों का शोधक, **हिरण्य-वाशीः**=लोह आदि के चमकते शस्त्रास्त्रोंवाला, **इषिरः**=सेना का सञ्चालक, **स्वर्षाः**=शत्रुतापकारी अस्त्रों तथा प्रजा के सुखों का दाता, **सु-आवेशः**=सुखपूर्वक राष्ट्र में प्रविष्ट, **ऋष्वः**=महान् **सखिभ्यः पुरु आसुतिं करिष्ठः**=मित्रों के लिये ऐश्वर्य का उत्पादक हो।

भावार्थ—ईश्वर परम पवित्र है अतः उसकी उपासना करनेवाला उपासक भी पवित्र हो जाता है। वह प्रभु अपनी कल्याणमयी वेदवाणी प्रदान कर जीवों को परम सुख व सांसारिक ऐश्वर्य देता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परमेश्वर की महिमा

देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा ।
दक्षाय्याय दक्षता सखायः करद् ब्रह्मणे सुतरा सुगाधा ॥ ८ ॥

पदार्थ—**देवी**=ऐश्वर्यों के दाता **रोदसी**=भूमि और आकाश, **देवस्य महित्वा**=सर्वप्रकाशक प्रभु के सामर्थ्य से **जनित्री**=जगत् को उत्पन्न करते हैं। वे दोनों **बृहस्पतिं**=महान् जगत्-पालक प्रभु की महिमा को ही **ववृधतुः**=बढ़ा रहे हैं। हे **सखायः**=मित्रो! आप लोग **दक्षाय्याय**=महान् सामर्थ्य के स्वामी को **दक्षत**=बढ़ाओ और जैसे **सुतरा सुगाधा ब्रह्मणे करत्**=उत्तम, सुख से अवगाहन करने योग्य जलधारा अन्न उत्पत्ति की सहायक है वैसे ही **सुतरा**=दुःख-सागर से सुख

से तरा देनेवाली उत्तम, **सु-गाधा**=वेदवाणी **ब्रह्मणे**=सामर्थ्यवान् परमेश्वर को प्राप्त करने के लिये ज्ञानोपदेश **करत्**=करे।

भावार्थ—वेदवाणी के स्वाध्याय से मनुष्य लोग ज्ञानी होकर सृष्टि के रहस्यों व उसमें व्यापक परमेश्वर की महिमा को जानकर आनन्दमग्न रहते हैं। इस वेदवाणी के ज्ञान का उपदेश अधिकाधिक किया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राब्रह्मणस्पती** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईश्वर की स्तुति

इयं वां ब्रह्मणस्पते सुवृक्तिर्ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे अकारि।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः ॥ ९ ॥

पदार्थ—हे **ब्रह्मणस्पते**=वेद और राष्ट्र के पालक! हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! जीव! **वां**=आप दोनों की **इन्द्राय वज्रिणे**=शक्तिशाली आत्मा की **इयं**=यह **सुवृक्तिः**=उत्तम स्तुति **अकारि**=की है। आप दोनों **धियः अविष्टं**=उत्तम बुद्धियों, कर्मों की रक्षा करो और **पुरन्धीः जिगृतम्**=देह के पुरवत् धारक जीवों को उपदेश करो। **वनुषां**=कर्मफल सेवन करनेवाले जीवों के **अरातीः**=सुखादि न देनेवाले, बाधक **अर्यः**=शत्रुओं को **जजस्तम्**=नष्ट करो।

भावार्थ—वेदवाणी के पालक विद्वान् ईश्वर की स्तुति करते हुए उत्तम बुद्धि एवं श्रेष्ठ कर्मों की रक्षा करते हैं। अन्यों को भी उपदेश करके उनको सुखी बनाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पती** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईश का ऐश्वर्य

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० ॥

पदार्थ—हे **बृहस्पते**=महान् विश्व-पालक! हे **इन्द्रः च**=जीवात्मन्! **युवम्**=आप दोनों, **दिव्यस्य उत पार्थिवस्य वस्वः**=आकाश और भूमि के समस्त ऐश्वर्यों के **ईशाथे**=प्रभु हो। आप दोनों **स्तुवते कीरये चित्**=स्तुतिशील विद्वान् को **रयिं धत्तम्**=ऐश्वर्य दो। हे विद्वान् जनो! **यूयं स्वस्तभिः न सदा पात**=आप सदा ही उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—ईश्वर उपासक पुरुष सृष्टि के रहस्यों को जानकर अन्यों को भी ईश्वर प्राप्ति तथा सृष्टि के रहस्यों को जानने की प्रेरणा देते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठ और देवता इन्द्र, इन्द्राबृहस्पती हैं।

[९८] अष्टनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रजा राजा को कर दान करे

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम्।
गौराद्वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन् ॥ १ ॥

पदार्थ—हे **अध्वर्यवः**=यज्ञ के इच्छुक दयाशील प्रजाजनो! आप लोग **क्षितीनाम्**=मनुष्यों में **वृषभाय**=श्रेष्ठ पुरुष के लिये **अरुणं**=कभी न रुकनेवाले, **दुग्धम्**=दूध के तुल्य, समस्त भूमि-भागों से प्राप्त **अंशुम्**=अन्नादि का अंशभाग करवत् **जुहोतन**=दो। **सुतसोमम् इच्छन्**=अभिषेक

द्वारा प्राप्ति योग्य ऐश्वर्य का इच्छुक, **इन्द्रः**=शत्रुहन्ता राजा, **गौरात्**=भूमि में रमण करनेवाले प्रजाजन से **अवपानं वेदीयान्**=प्रजा-पालन का वेतन प्राप्त करता हुआ **विश्वाहा इत् याति**=सदा प्राप्त हो।

भावार्थ-प्रजापालक राजा राष्ट्रभृत् यज्ञ करता है। राष्ट्र के भरण-पोषण, प्रजाहित के लिए राष्ट्रोन्नति की योजनाओं के लिए प्रजाजन धन तथा अन्न के रूप में राजा को कर दान करें। यह कर दान राष्ट्रोन्नति रूप यज्ञ में श्रद्धा के साथ दी गई आहुति ही मानें।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

राष्ट्र सेवक राजा

यद्दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान्पाहि सोमान्॥ २ ॥

पदार्थ-हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **यत्**=जो तू **प्र-दिवि**=उत्तम तेज होने पर **चारुं अन्नं दधिषे**=उत्तम अन्न को पुष्ट करता है, **दिवेदिवे**=दिनों-दिन जलपान के समान **अस्य पीतिम् इत् वक्षि**=इस राष्ट्र के पालन और उपभोग की कामना कर। **उत**=और **हृदा उत मनसा**=हृदय और मन से राष्ट्र को **जुषाणः**=सेवन करता और **उशन्**=नित्य चाहता हुआ **प्रस्थितान् सोमान् पाहि**=प्राप्त ऐश्वर्यों और सोम्य वीरों की रक्षा कर।

भावार्थ-राजा राष्ट्र के ऐश्वर्य का उपयोग प्रजा के लिए अन्न, जल की व्यवस्था व रक्षा साधनों में करे। राजा हृदय तथा मन से राष्ट्र की सेवा करे।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

राजा का कर्त्तव्य

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच।
एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥ ३ ॥

पदार्थ-विजिगीषु राजा का कर्त्तव्य। हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! राजन्! तू **जज्ञानः**=प्रकट होकर **सहसे**=शत्रुविजयी बल को बढ़ाने के लिये **सोमं**=ऐश्वर्यमय राष्ट्र को **पपाथ**=पालन कर और **माता**=जगत्-उत्पादक भूमि माता **ते महिमानम्**=तेरे सामर्थ्य को **प्र उवाच**=उत्तम रीति से कहे। हे **इन्द्र**=सेनानायक! तू **उरु अन्तरिक्षं**=विशाल अन्तरिक्ष को **युधा**=युद्ध-साधनों से **आ पप्राथ**=विस्तृत कर और **देवेभ्यः वरिवः चकर्थ**=विजयेच्छुक सैनिकों के लिये धन उत्पन्न कर।

भावार्थ-राष्ट्र की रक्षा को प्राथमिक सूची में रखकर राजा रक्षा-साधनों का विस्तार करे। उसका सेनापति भूमि तथा अन्तरिक्ष को भी युद्ध-साधनों से सुसज्जित तैनात करे। सैनिकों को उत्साहित रखते हुए उनकी वृत्ति-वेतन की वृद्धि करे। इससे राष्ट्र की भूमि की रक्षा होकर राष्ट्र सुदृढ़ बनेगा।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**इन्द्रः** ॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

सेना का कुशल नेतृत्व

यद्योधया महतो मन्यमानान्त्साक्षाम तान्बाहुभिः शाशदानान्।
यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम॥ ४ ॥

पदार्थ-**यत्**=जब तू **महतः**=बड़े-बड़े **मन्यमानान्**=अभिमानी शत्रुओं को **योधयाः**=हमसे

लड़ा और हम **शाशदानान्**=मारते हुए **तान्**=उनको **बाहुभिः**=बाहुओं से **साक्षाम**=पराजित करें। **वा**=और **यत्**=जब हे **इन्द्र**=सेनापते! तू **नृभिः वृतः**=वीर नायकों से घिर कर **अभियुध्याः**=शत्रुओं का सामना करे तब हम **त्वया**=तेरे बल से **तं**=उस **सौश्रवसं आजि**=कीर्त्ति-जनक संग्राम को जीतें।

भावार्थ—सेनापति युद्ध क्षेत्र में लड़ते हुए वीर सैनिकों के मध्य में जाकर उनका उत्साहवर्धन करे। उनके बीच में राष्ट्रभक्ति का उपदेश करके विजय की प्रेरणा करे। इससे सेना उत्साहित होकर संग्राम में अवश्य ही विजयी होगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सेनापति के मुख्य कर्त्तव्य

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य ॥ ५ ॥

पदार्थ—**इन्द्रस्य**=शत्रुहन्ता सेनापति के **प्रथमा**=मुख्य **कृतानि**=कर्त्तव्यों को मैं **प्र-वोचम्**=कहता हूँ। **मघवा**=ऐश्वर्यवान् **या**=जिन **नूतना**=नये-नये कार्यों को **चकार**=करे, उनको **प्र वोचं**=अच्छी प्रकार कहूँ। **यत्**=जब वह **अदेवीः मायाः**=दुष्ट पुरुषों के कपट कृत्यों को भी **असहिष्ट**=पराजित करे **अथ**=अनन्तर **सोमः**=यह ऐश्वर्ययुक्त राष्ट्र **केवलः**=केवल **अस्य अभवत्**=उसी के अधीन हो जाता है।

भावार्थ—सेनापति राष्ट्र को ऐश्वर्यशाली बनाने के लिए राष्ट्र रक्षा की नयी-नयी योजनाएँ बनावे। सेना को सदृढ़ बनाने तथा युद्ध-साधनों को तैयार एवं सुसज्जित करने के कार्य करे। राष्ट्र के अन्दर भी जो दुष्ट लोग राष्ट्र को दुर्बल करने के कपटपूर्ण कार्य करे या शत्रु राष्ट्र के गुप्तचर कोई छल करें तो उनको भी शक्ति के साथ विफल करे। इन सब कार्यों का वह स्वयं नियन्त्रण करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोपालक राजा

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत्पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥ ६ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=प्रभो! राजन्! **यत्**=जो तू **सूर्यस्य चक्षसा**=सूर्य के प्रकाश से **पश्यसि**=देखता है, इसलिए **इदं विश्वम्**=यह समस्त विश्व **अभितः**=सब तरफ **तव**=तेरे ही **पशव्यं**='पशव्य' अर्थात् इन्द्रियों से देखने योग्य है। तू **गवाम् गोपतिः असि**=सब वाणियों, भूमियों और सूर्यादि लोकों का गो पालक के समान स्वामी है। **प्रयतस्य**=सर्वोत्कृष्ट सञ्चालक तेरे ही दिये **वस्वः**=ऐश्वर्य का हम **भक्षीमहि**=भोग करें।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में गौ=गाय, भूमि तथा वेदवाणी की रक्षा एवं पालन के कार्य करे। राजा राष्ट्र के कल्याण की समस्त योजनाओं को स्वयं देखे और उन पर नियन्त्रण रखे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पती** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्र की रक्षा

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ–हे **बृहस्पते**=महान् विश्व–पालक! हे **इन्द्रः च**=जीवात्मन्! **युवम्**=आप दोनों, **दिव्यस्य उत पार्थिवस्य वस्वः**=आकाश और भूमि के समस्त ऐश्वर्यों के **ईशाथे**=प्रभु हो। आप दोनों **स्तुवते कीरये चित्**=स्तुतिशील विद्वान् को **रयिं धत्तम्**=ऐश्वर्य दो। हे विद्वान् जनो! **यूयं स्वस्तिभिः न सदा पात**=आप सदा ही उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करो।

भावार्थ–राजा व सेनापति राष्ट्र की भूमि=सीमा की रक्षा, भूमि तथा आकाश दो स्थानों में सुरक्षा–तन्त्र को स्थापित करके करें, तभी राष्ट्र समृद्ध व ऐश्वर्यशाली होगा। प्रजाजन ऐसे राष्ट्र रक्षक राजा व सेनापति का आदर करती है।

अग्रिम सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता विष्णु तथा इन्द्राविष्णू हैं।

[९९] नवनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विष्णुः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ईश्वर की महिमा अपरम्पार है

परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से॥ १॥

पदार्थ–हे **वृधाना**=सबसे बढ़े! वा जगत् के बढ़ाने हारे! **विष्णो**=सर्वव्यापक! **तन्वा**=जगत् को फैलानेवाले, **मात्रया**=जगत् को बनानेवाली प्रकृति से भी **परः**=उत्कृष्ट **ते**=तेरी **महित्वम्**=महिमा को कोई भी **न अनु अश्नुवन्ति**=पा नहीं सकते। हे **देव**=सर्वप्रकाशक! **पृथिव्याः ते**=संसार के विस्तारक तेरे ही बनाये इन **उभे**=दोनों **रजसी**=सूर्य, पृथिवी, वा आकाश और भूमि लोकों को **विद्म**=जानते हैं। तू **अस्य**=इससे भी **परम्**=उत्कृष्ट तत्त्व को **वित्वे**=जानता है।

भावार्थ–सर्वव्यापक परमेश्वर इस समस्त जगत् को फैलाता है, सबको प्रकाशित करता है, सूर्य, भूमि व आकाश आदि लोकों को बनाता और समस्त पदार्थों को जानता है। वह प्रभु जड़ प्रकृति से उत्कृष्ट है। उसकी महिमा का कोई भी पार नहीं पा सकता।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विष्णुः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ईश्वर का अनन्त सामर्थ्य

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः॥ २॥

पदार्थ–हे **विष्णो**=जगदीश्वर **न जायमानः**=न उत्पन्न होता हुआ और **जातः**=उत्पन्न हुआ कोई **ते महिम्नः**=तेरे महान् सामर्थ्य की **परम् अन्तम्**=परली सीमा को **न आप**=प्राप्त नहीं कर सका है। हे **देव**=सर्वप्रकाशक! तू **बृहन्तं**=बड़े भारी, **ऋष्वं**=महान् **नाकम्**=दुःख–रहित, मोक्ष धाम और आकाश को **उत् अस्तभ्नाः**=उठा रहा है और **पृथिव्याः**=पृथिवी की **प्राचीं ककुभं**=प्राची दिशा को जैसे सूर्य प्रकाशित करता है वैसे ही तू **पृथिव्याः**=जगत् को फैलानेवाली प्रकृति को **प्राचीं ककुभम्**=जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व से उत्तम रूप से प्रकट होनेवाले आर्जवी भाव अर्थात् विकृति भाव को **दाधर्थ**=धारण कराता है।

भावार्थ–वह जगदीश्वर अजन्मा है। उसका सामर्थ्य अनन्त है। वह मोक्ष का अधिपति है तथा आकाश, भूमि व समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता है। मूल प्रकृति में प्रेरणा करके विकृति उत्पन्न करता है, अर्थात् इस महान् सृष्टि को रचता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जगद्धारक परमेश्वर

इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या।
व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ॥ ३ ॥

पदार्थ—हे **द्यावापृथिव्यौ**=आकाश और भूमि, सूर्य और भूमि! तुम दोनों **इरा-वती**=जलों, अन्नों से युक्त तथा **धेनुमती**=रसपान करानेवाली, गौ, वाणी तथा किरणों से युक्त और **मनुषे**=मनुष्य के लिये **सु-यवसिनी**=उत्तम अन्नवाली और **दशस्या**=सुख देनेवाली **भूतम्**=होवो। हे **विष्णो**=प्रभो! तू **एते रोदसी**=इन पृथ्वी और आकाश को **वि अस्तभ्नाः**=विशेष रूप से थामे है, तू **पृथिवीम्**=पृथिवी को **अभितः**=सब ओर से **मयूखैः**=किरणों से **दाधर्थ**=धारण किये है।

भावार्थ—सूर्य, आकाश व भूमि ही अन्नों, जलों व रसों को उत्पन्न करते हैं। इनसे ही ऊर्जा प्राप्त करके समस्त प्राणी जीवन धारण करते हैं। वह व्यापक परमेश्वर इन सूर्य, आकाश व भूमि को भी धारण करता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वैज्ञानिकों के कर्तव्य

उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्।
दासस्य चिद् वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु ॥ ४ ॥

पदार्थ—हे **नरा**=नायको! हे स्त्री-पुरुषो! हे **इन्द्र-विष्णू**=विद्युत्, जल को वर्षाने हारे, सूर्य वा पवन के समान लोकोपकारक जनो! जैसे विद्युत् तथा मेघ को वर्षानेवाले तुम दोनों मिलकर **सूर्यम्**=सूर्य, **उषासम्**=और उसकी दाहिका ताप शक्ति को **जनयन्ता**=उत्पन्न करते हुए **यज्ञाय**=तत्त्वों के परस्पर मिलने के लिये **उरुं लोकं चक्रथुः**=विशाल स्थान अन्तरिक्ष को उपयोगी बनाते हो और **वृषशिप्रस्य दासस्य**=वर्षक जल-स्वरूप जलवाले मेघ की **मायाः**=नाना रचनाओं को **पृतनाज्येषु**=जलों के निमित्त आघात करते वैसे ही आप दोनों, **सूर्यम्**=सूर्य तुल्य तेजस्वी और **उषासम्**=उषा के तुल्य कान्तियुक्त विदुषी और **अग्निम्**=अग्नि तुल्य ज्ञानप्रकाशक विद्वान् को प्रकट करते हुए **यज्ञाय**=परस्पर दान, प्रतिदान, सत्संगादि के लिये **उरुं लोकं चक्रथुः उ**=विशाल गृहादि स्थान बनाओ और **पृतनाज्येषु**=संग्रामों में **वृष-शिप्रस्य**=बलवान् नेतावाले **दासस्य**=प्रजानाशक शत्रु जन की **मायाः**=कुटिल चालों का **जघ्नथुः**=नाश करो।

भावार्थ—लोकोपकार करनेवाले विद्वान् पुरुष व विदुषी स्त्रियाँ राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने के लिए सौर ऊर्जा, यज्ञ द्वारा वर्षा कराने की विद्या, उन्नत गृहों=भवनों के निर्माण की तकनीक तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अस्त्र-शस्त्र निर्माण की कला आदि के वैज्ञानिक आविष्कार करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राविष्णू** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अजेय शत्रुसेना पर विजय

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥ ५ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्राविष्णू**=ऐश्वर्यवन्! हे व्यापक शक्तिशालिन्! आप दोनों **शम्बरस्य**=शान्ति-सुख-नाशक शत्रु के **नव नवतिं च पुरः**=९९ नगरियों, प्रकारों को **श्नथिष्टम्**=नाश करो।

असुरस्य=बलवान् शत्रु के **अप्रति**=बेजोड़, **शतं सहस्रं च वर्चिनः वीरान्**=सौ हजार तेजस्वी वीरों को **साक हथः**=एक साथ दण्डित करो।

भावार्थ–राजा और सेनापति राष्ट्र में सुख और शान्ति स्थापना करने के लिए शत्रु के ९९ (निन्यानवे) प्रकार की नगरों को नष्ट करने की विद्या को जानकर शत्रु की अजेय सौ हजार सेना को भी परास्त करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्राविष्णू**॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

मन की प्रेरक शक्ति

इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती।
ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र ॥ ६ ॥

पदार्थ–हे **विष्णो**=व्यापक वीर! हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **इयं**=यह **बृहती**=बड़ी, **मनीषा**=मन की प्रेरक शक्ति, **उरुक्रमा**=बड़े पराक्रमी **बृहन्ता**=बड़े सामर्थ्यवान् **वां**=आप दोनों को **तवसा**=बल से **वर्धयन्ती**=बढ़ाती हुई **विदथेषु**=संग्रामों में **स्तोमं ररे**=उत्तम संघ-बल देती है। आप दोनों **वृजनेषु**=शत्रु नाशक प्रयाणकारी बलों में **इषः पिन्वतम्**=तीव्र प्रेरणाएँ दो।

भावार्थ–संग्रामों में विजय पाने के लिए मनोबल का सुदृढ़ होना आवश्यक है। राजा व सेनापति दृढ़ इच्छाशक्ति से संयुक्त होकर अपनी सेना का मनोबल बढ़ावें इससे सेनाएं संगठित होकर शत्रुओं पर विजय पाने के लिए तीव्रता से प्रेरित होंगी।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विष्णुः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

सेनापति का सत्कार

वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ–हे **विष्णो**=व्यापक, नाना सैन्यों से घिरे! नियमों में बद्ध! **ते**=तेरा **आसः**=स्थापन **वषट्**=सत्कार-पूर्वक **आकृणोमि**=करता हूँ। हे **शिपिविष्ट**=तेजों से युक्त! सूर्यवत् तेजस्विन्! तू **मे**=मुझ राष्ट्र जन का **तत् हव्यम् जुषस्व**=वह उपायन, भेंटादि स्वीकार कर **त्वा**=तुझे **मे**=मेरी **सु-स्तुतयः गिरः**=स्तुति में विद्वान् जन **वर्धन्तु**=बढ़ावें। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं सदा स्वस्तिभिः नः पात**=आप सदा ही उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करो।

भावार्थ–राष्ट्रभक्त प्रजाएँ सेना को अनुशासित रखकर प्रशिक्षित करनेवाले सेनापति का वाणियों तथा भेंट उपहार आदि से सम्मान किया करें। समाज के सम्मानित जन विद्वानों की प्रेरणा से इन कार्यों को करें। इससे उत्साहित होकर वे सैनिक तथा सेनापति प्रजा की रक्षा के लिए और अधिक प्रयास करेंगे।

आगामी सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता विष्णु है।

[१००] शततमं सूक्तम्

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**विष्णुः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

यशस्वी दान

नू मर्तो दयते सनिष्यन्यो विष्णव उरुगायाय दाशत्।
प्र यः सत्राचा मनसा यजात एतावन्तं नर्यमाविवासात्॥ १ ॥

पदार्थ—**यः**=जो **मर्त्तः**=मनुष्य, **सनिष्यन्**=दान देने की इच्छा से **दयते**=दान देता, दया करता है वही **उरु-गायाय**=बहुतों से स्तुतियोग्य **विष्णवे**=परमेश्वर के निमित्त **दाशत्**=दान करे! **यः**=जो मनुष्य **सत्राचा मनसा**=सत्यनिष्ठ मन से **प्र यजाते**=दान करता वा देव पूजा करता है वह **एतावन्तं**=उतना ही **नर्यम्**=मनुष्यों के हित की **आ विवासत्**=सेवा करता है।

भावार्थ—जब मनुष्य दान देना चाहे तो मन में श्रद्धा रखकर ही देवें केवल दिखावे के लिए न देवे। वह अपने हृदय में यह भाव उत्पन्न करे कि ईश्वर सर्वव्यापक है, ये धन उसीका है अतः उसी को समर्पित है। उसी की प्रजाओं=जीवों के लिए मैं दे रहा हूँ। यह दान देवपूजा कहलाएगा। ऐसे निरभिमानी दानी की लोग प्रशंसा करेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानयुक्त बुद्धि की याचना

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः।
पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः ॥ २ ॥

पदार्थ—हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! **त्वे**=तू **विश्वजन्या**=सब जनों की हितकारिणी, **अप्रयुताम्**=सबके साथ मिली हुई, **सुमतिं मतिम्**=उत्तम ज्ञानयुक्त बुद्धि को **दाः**=दे। **यथा**=जिससे, **नः**=हमारे **सुवितस्य**=उत्तम रीति से प्राप्त **भूरेः अश्वावतः**=बहुत से अश्वों से युक्त, **पुरु-चन्द्रस्य**=बहुतों के आह्लादकारी **रायः**=ऐश्वर्य का **पर्चः**=सम्पर्क हो।

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा से ज्ञानयुक्त बुद्धि की याचना किया करे। उत्तम बुद्धि के द्वारा श्रेष्ठ साधनों से उत्तम धन को प्राप्त करे। दान आदि से अन्य पात्रजनों को तृप्त व प्रसन्न करे। इससे स्वयं की अत्यन्त सन्तुष्टि मिलेगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तेजस्वी ईश्वर का शासन

त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां वि चक्रमे शतर्चसं महित्वा।
प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवीयान्त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम ॥ ३ ॥

पदार्थ—**देवः**=प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ने **महित्वा**=महान् सामर्थ्य से **एतां**=इस **पृथिवीम्**=पृथिवी को **त्रिः**=तीन प्रकार से **शत-अर्चसम्**=सैकड़ों दीप्ति युक्त पदार्थों से पूर्ण **वि चक्रमे**=बनाया है। सूर्य, विद्युत्, अग्नि से पृथ्वी को सहस्रों चमकते पदार्थों का भण्डार बनाया है। वह **तवसः तवीयान्**=बलवान् से बलवान् **विष्णुः**=प्रभु **प्र अस्तु**=सबसे उत्तम है। उस **स्थविरस्य**=नित्य प्रभु का **नाम**=नाम, स्वरूप और शासन सूर्य-प्रकाश के समान **त्वेषं हि**=तेजोमय और उज्ज्वल है।

भावार्थ—इस प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ने इस पृथ्वी लोक को कुशलता से बनाकर सूर्य, विद्युत् व अग्नि आदि से प्रकाशित कर दिया है। इसके गर्भ में अनेकों पदार्थों को भर दिया है। ये सब उसी के शासन में चल रहे हैं। ऐसे प्रभु के नाम-स्वरूप का स्मरण किया करो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बसने योग्य भूमि का स्त्रष्टा

वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास उरुक्षितिं सुजनिमा चकार ॥ ४ ॥

पदार्थ-एषः=वह **विष्णुः**=व्यापक परमेश्वर **एतां पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **मनुषे दशस्यन्**=मनुष्यों को दान देता हुआ **क्षेत्राय**=निवास करने के लिये **वि चक्रमे**=विविध प्रकार का बनाता है। **अस्य**=इसकी **कीरयः**=स्तुति करनेवाले **जनासः**=जन्तु, आत्मगण **ध्रुवासः**=नित्य हैं। वह पृथ्वी को **उरु-क्षितिम्**=बहुत जीवों से बसने योग्य और **सुजनिम्**=उत्तम रीति से जन्तुओं, अन्नादि, वनस्पतियों को उत्पादक **आ चकार**=बनाता है।

भावार्थ-उस व्यापक परमेश्वर ने इस भूमि को बसने के योग्य बनाकर जीवों के लिए दान दी है। फिर सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्न, औषधियाँ, वनस्पतियाँ तथा जीव-जन्तुओं को भी बनाता है। ऐसे दानी प्रभु की स्तुति किया करो।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**विष्णुः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

महान् प्रभु

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥ ५ ॥

पदार्थ-हे **शिपिविष्ट**=सूर्य तुल्य रश्मियों से आवृत! तू **अर्यः**=सबका स्वामी, **वयुनानि**=सब कर्मों को **विद्वान्**=जानने हारा है। **तत्**=जो तेरे ही **नाम**=स्वरूप और **वयुनानि**=कर्मों की **अद्य**=आज मैं **शंसामि**=स्तुति करता हूँ। मैं **अतव्यान्**=अल्पशक्ति मनुष्य, **त्वा तवसं**=तुझ बलवान् की स्तुति करता हूँ और **अस्य रजसः पराके**=इस विश्व के परे विद्यमान, महान् से महान् **त्वा तं गृणामि**=उस तेरी मैं प्रार्थना करता हूँ।

भावार्थ-समस्त ब्रह्माण्ड का स्वामी व्यापक होता हुआ इस विश्व से परे भी है। वह सबके कर्मों को जानता है, सबसे बलवान् है। ऐसे महान् से महान् प्रभु की स्तुति किया करो।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**विष्णुः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

तेजोरूप परमेश्वर

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥ ६ ॥

पदार्थ-ते=तेरा **किम् इत्**=कौन-सा रूप **परिचक्ष्यं भूत्**=कथन-योग्य है **यत्**=जिसको तू **ववक्षे**=स्वयं बता रहा है कि मैं **शिपिविष्टः अस्मि**=रश्मियों में प्रविष्ट, उनसे घिरे सूर्य तुल्य तेजोमय हूँ। **अस्मत्**=हमसे अपने **एतत्**=उस तेजोमय **वर्पः**=रूप को **मा अप गूह**=मत छिपा। **यत्**=क्योंकि तू **समिथे**=मिलने पर **अन्यरूपः बभूथ**=दूसरे रूपों में प्रकट होता है।

भावार्थ-वह परमेश्वर अपने तेजोमय रूप के द्वारा विश्व के समस्त पदार्थों में बसा हुआ है। संसार के जिस भी पदार्थ को देखो ऊपर से तो वे भिन्न-भिन्न नजर आएँगे किन्तु उन सबके अन्दर वही एक प्रभु अपने तेजोमय रूप में समाया हुआ है। प्रत्येक पदार्थ में उस तेजस्वी के तेज को ही देखा करो।

ऋषिः-**वसिष्ठः** ॥ देवता-**विष्णुः** ॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

तेजोमय प्रभु

वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

पदार्थ—हे **विष्णो**=व्यापक, नाना सैन्यों से घिरे! नियमों में बद्ध! **ते**=तेरा **आसः**=स्थापन **वषट्**=सत्कार-पूर्वक **आकृणोमि**=करता हूँ। हे **शिपिविष्ट**=तेजों से युक्त! सूर्यवत् तेजस्विन्! तू **मे**=मुझ राष्ट्र जन का **तत् हव्यम् जुषस्व**=वह उपायन, भेंटादि स्वीकार कर **त्वा**=तुझे **मे**=मेरी **सु-स्तुतयः गिरः**=स्तुति में विद्वान् जन **वर्धन्तु**=बढ़ावें। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं सदा स्वस्तिभिः नः पात**=आप सदैव ही उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—उस व्यापक परमेश्वर का तेज उसके सृष्टि नियामक नियमों में बसा हुआ है। सभी तेजस्वी पदार्थों में उसी का तेज है। ऐसे तेजस्वी प्रभु की स्तुति करके अपनी वाणियों को पवित्र किया करो।

अगले सूक्त का ऋषि वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः तथा देवता पर्जन्य है।

अथ पञ्चमाष्टके सप्तमोऽध्यायः

[१०१] एकोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन वेदवाणियाँ

तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा या एतदुह्रे मधुदोघमूधः ।
स वत्सं कृण्वन्गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति ॥ १ ॥

पदार्थ—जैसे **वृषभः**=बरसता मेघ **रोरवीति**=गर्जता है **ज्योतिरग्राः वाचः वदति**=प्रथम विद्युत् को चमका कर बाद में गर्जना करता है और **ऊधः मधुदोधम् दुहे**=अन्तरिक्ष से जल को दोहता है और **ओषधीनां गर्भं कृण्वन्**=ओषधियों को गर्भित करता है वैसे ही हे विद्वन्! तू **ज्योतिरग्रा**=ज्ञान-ज्योतियों से युक्त **तिस्रः वाचः**=तीनों वेदवाणियों-यजुष, ऋग् और साम को **प्र वद**=उपदेश कर **याः**=जिनसे **वृषभः**=मनुष्यों में श्रेष्ठ जन **एतत् ऊधः**=इस ऊर्ध्वस्थित ब्रह्म से **मधु-दोघम्**=ऋग्वेदमय ज्ञान-रस को **दुहे**=दोहन करता है **सः**=वह **ओषधीनां**=अन्नादि के ग्रहण करनेवाले **वत्सं**=छोटे बच्छे के समान बालक को अपना **वत्सं कृण्वन्**=शिष्य बनाकर **सद्यः**=शीघ्र ही **जातः**=स्वयं प्रकट होकर **रोरवीति**=उपदेश करता है।

भावार्थ—विद्वान् जन अपने शिष्यों को ऋग्, यजु और साम स्वरूपवाली ज्ञानज्योतियों से युक्त करे। उस सर्वोपरि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए शिष्यों के मध्य में जाकर इस वेदवाणी के सारगर्भित रहस्यों का उपदेश करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**विराट् त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीनों ऋतुओं में सुख का वर्धक

यो वर्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य जगतो देव ईशे ।
स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत्त्रिवर्तु ज्योतिः स्वभिष्ट्य१स्मे ॥ २ ॥

पदार्थ—**ओषधीनां वर्धनः**=ओषधियों को बढ़ानेवाला, **अपां वर्धनः**=जलों को बढ़ानेवाला, मेघवत् सूर्यवत् **देवः**=प्रकाश, जल का दाता **विश्वस्य जगतः ईशे**=सब जगत् का स्वामी है। वह **त्रिवर्तु ज्योतिः यंसत्**=तीनों ऋतुओं में सुखप्रद प्रकाश देता है वैसे ही **यः**=जो **देवः**=प्रभु **ओषधीनां वर्धनः**=उष्णता के धारक जीवों को बढ़ानेवाला, **यः**=जो **अपां वर्धनः**=जलचारी जीवों को बढ़ानेवाला और **यः**=जो **विश्वस्य जगतः**=समस्त जगत् का **ईशे**=स्वामी है। **सः**=वह

परमेश्वर **अस्मे**=हमें **सु-अभिष्टिः**=सुख से चाहने योग्य **त्रिवर्तु ज्योतिः**=त्रिविध ज्ञानदाता वेदमय प्रकाश और **त्रि-धातु**=तीन धातु सुवर्णादि से बने **शरणं**=गृह और तीन धातु वात, पित्त, कफ से बने शरणयोग्य देह और **त्रिवर्तु**=तीनों कालों में वर्त्तनेवाला सुख **यंसत्**=दे।

भावार्थ—समस्त जगत् का स्वामी परमेश्वर वात, पित्त, कफ इन तीन धातुओं से बने देह प्रदान करके सुख के साधन त्रिवेदमय ऋग्, यजु, साम रूप वाणी देता है। गर्मी, सर्दी, वर्षा इन तीन ऋतुओं में विभिन्न प्रकार के पदार्थ ऋतु के अनुकूल प्रदान करता है तथा जलचर, नभचर, थलचर तीनों प्रकार के जीवों को बढ़ने के साधन भी देता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के दो रूप

स्तरीरु त्वद्भवति सूत उ त्वद्यथावशं तन्वं चक्र एषः ।
पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः ॥ ३ ॥

पदार्थ—**त्वत्**=मेघ का एकरूप **स्तरीः उ**=न प्रसवनेवाली गौ तुल्य होता है, **सूते त्वत्**=और उसका एक रूप प्रसवशील गौ के तुल्य जल-धाराएँ उत्पन्न करता है। **एषः यथावशं तन्वं चक्रे**=वह सूर्य-कान्ति के अनुसार अपना व्यापक रूप बना लेता है। वह **पितुः पयः प्रतिगृभ्णाति**=सूर्य रूप पिता से जल ग्रहण करता और **तेन**=उससे **माता**=पृथिवी भी जल ग्रहण करती है। **तेन**=उस जल से **पिता वर्धते**=सूर्य महिमा से बढ़ता और **तेन पुत्रः वर्धते**=उसी जल से पुत्रवत् ओषधि, वनस्पति तथा जीवादि भी बढ़ते हैं। वैसे ही हे प्रभो! **त्वत्**=तेरा एक रूप **स्तरीः भवति उ**=सर्वाच्छादक होता है और **त्वत्**=दूसरा रूप **सूते उ**=जगत् को उत्पन्न करता है। **यथावशं**=जितनी इच्छा होती है उतना ही **एषः**=वह परमेश्वर **तन्वं**=अपना विस्तृत संसार **चक्रे**=बनाता है। **माता**=जैसे माता **पितुः**=पिता से **पयः प्रतिगृभ्णाति**=वीर्य ग्रहण कर गर्भ धारण करती है और उससे **पिता पुत्रः वर्धते**=पिता का वंश, पुत्र बढ़ता है। वैसे ही **पितुः**=सर्वपालक पिता से ही **माता**=सर्वनिर्मात्री प्रकृति **पयः**=वीर्य, शक्ति को **प्रति गृभ्णाति**=प्रति सर्ग ग्रहण करती है और **तेन**=उससे ही **पिता**=प्रभु-महिमा **वर्धते**=बढ़ती है।

भावार्थ—परमात्मा के दो रूप हैं पहला रूप है जो सृष्टि के सब पदार्थों को आच्छादित करता है और दूसरा रूप है जगत् की उत्पत्ति करना। जितना आवश्यक है उतना ही संसार प्रभु बनाते हैं। जड़ प्रकृति को वह अपनी शक्ति प्रदान करता है जिससे सृष्टि बनती है। इस सृष्टि-रचना से ही प्रभु की महिमा बढ़ती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वाधार परमेश्वर

यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः ।
त्रयः कोशास उपसेचनासो मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥ ४ ॥

पदार्थ—**यस्मिन्**=जिसके आधार पर **विश्वानि भुवनानि**=समस्त लोक, **तस्थुः**=स्थित हैं, **यस्मिन् तिस्रः द्यावः**=जिसके आश्रय तीनों लोक पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सूर्य स्थित हैं। **यस्मिन्**=जिसका आश्रय लेकर **आपः त्रेधा सस्रुः**=जल तीन प्रकार से गति करते हैं, पृथिवी से वाष्प बनकर ऊपर उठते हैं, मेघ से जल बनकर नीचे आते और समुद्र से वायु के बल पर भूमि पर आते हैं और **यस्मिन्**=जिसके आश्रय **त्रयः कोशाः**=तीन कोश **मध्वः उप-**

सेचनासः=जल वर्षक मेघों के समान मधुर आनन्द की वर्षा करनेवाले होकर **विरप्शम् अभितः**=उस महान् के चारों ओर **श्चोतन्ति**=गति करते हैं। अध्यात्म में तीन कोश–विज्ञानमय, मनोमय, आनन्दमय। सूर्य में तीन कोश–वर्णमण्डल (Chromosfhere) प्रकाशमण्डल (Photosfhere) और उद्रजन। यह सब कर्म उस महान् प्रभु के ही अधीन हो रहे हैं।

भावार्थ–पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीनों लोकों का आश्रय, जलों की तीनों गतियों का प्रेरक तथा तीनों कोश=ज्ञानकोश ऋग्, यजु, साम से जिस के आनन्द की वर्षा होती है वह सर्वाधार प्रभु ही है। उसकी महिमा को देखो।

ऋषिः–**वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः** ॥ देवता–**पर्जन्यः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्रभु की स्तुति हृदय से करें

इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत्।
मयोभुवो वृष्टयः सन्त्वस्मे सुपिप्पला ओषधीर्देवगोपाः ॥ ५ ॥

पदार्थ–**इदं वचः**=यह वचन **स्वराजे**=स्वप्रकाशस्वरूप, **पर्जन्याय**=सब रसों के दाता प्रभु के लिये **हृदः अन्तरं अस्तु**=हृदय के भीतर हो। **तत्**=उस स्तुति-वचन को प्रभु **जुजोषत्**=स्वीकार करे **अस्मे**=हमारे सुख के लिये **मयः-भुवः वृष्टयः शन्तु**=सुखदात्री वृष्टियाँ सदा हों और **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलयुक्त **देव-गोपाः**=मेघ द्वारा रक्षित **ओषधीः**=ओषधियें भी **मयः-भुव सन्तु**=सुखकारी हों।

भावार्थ–जिस परमेश्वर की कृपा से ये बादल बरसकर हमें सुखी करते हैं। औषधियों से रोग निवारण तथा फलों से स्वास्थ्यवर्द्धन होकर हमें सुख मिलता है ऐसे सुखदाता प्रभु के लिए हृदय से स्तुति किया करें। हृदय के श्रेष्ठ भावों से की गई स्तुति को ही प्रभु स्वीकार करते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः** ॥ देवता–**पर्जन्यः** ॥ छन्दः–**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

ज्ञानमय परमेश्वर

स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च।
तन्म ऋतं पातु शतशारदाय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

पदार्थ–**सः**=वह परमेश्वर **रेतोधाः**=प्रकृति देवी में विश्व के उत्पादक परम बीज, तेज को आधान करनेवाला **शश्वतीनां वृषभः**=मेघ तुल्य सुखों का वर्षक, गौओं में साण्ड के समान पृथिवियों में जीवों का बीज बोनेवाला है, **तिस्मन्**=उसके ही आश्रय **जगतः तस्थुषः च आत्मा**=जंगम और स्थावर संसार का आत्मा या सत्ता विद्यमान है। **तत् ऋतं**=वह ज्ञानमय परमेश्वर **मे शतशारदाय पातु**=मेरे जीवन को सौ वर्षों तक पालन करे। हे विद्वान् पुरुषो! **यूयं स्वस्तिभिः नः सदा पात**=आप सदैव ही उत्तम साधनों से हमारी रक्षा करें।

भावार्थ–वह परमात्मा प्रकृति में अपना तेज भरकर सृष्टि के योग्य बनाता है। जीवों के बीज-वीर्य के परमाणु पृथिवी में भरता है। जड़ और चेतन समस्त सृष्टि का आश्रय है। उस ज्ञानमय परमेश्वर से सौ वर्ष तक जीवन धारण करने का सामर्थ्य प्राप्त करो।

अग्रिम सूक्त के ऋषि देवता यही हैं।

[१०२] द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सर्वोत्पादक परमेश्वर-१

पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे। स नो यवसमिच्छतु ॥ १ ॥

पदार्थ—हे विद्वान् लोगो! **दिवः पुत्राय**=सूर्य से उत्पन्न, सूर्य के पुत्र व **मीढुषे**=सेचन करने में समर्थ, **पर्जन्याय**=जल दाता मेघ सदृश ज्ञान–प्रकाश से बहुतों के रक्षक और हृदय में आनन्द के सेचक, **पर्जन्याय**=सब रसों के दाता, सबके उत्पादक, परमेश्वर के लिये **प्र गायत**=अच्छी प्रकार स्तुति करो। **सः**=वह **नः**=हमें **यवसम्**=अन्नादि देना **इच्छतु**=चाहे।

भावार्थ—ज्ञान के प्रकाश से हृदय को आनन्द देनेवाले, बादलों से जल बरसाकर प्रसन्नता देनेवाले तथा समस्त रसों व अन्नादि को बनाकर जीवन देनेवाले सर्वोत्पादक परमेश्वर की स्तुति करने की विधि विद्वान् लोग सब मनुष्यों को बताया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सर्वोत्पादक परमेश्वर-२

यो गर्भमोषधीनां गवां कृणोत्यर्वताम्। पर्जन्यः पुरुषीणाम् ॥ २ ॥

पदार्थ—**यः**=जो **ओषधीनाम्**=मेघ तुल्य ओषधियों, **गवाम्**=गौओं, **अर्वताम्**=अश्वों और **पुरुषीणाम्**=मानव स्त्रियों के **गर्भम् कृण्णोति**=गर्भ उत्पन्न करता है, वही **पर्जन्यः**=सर्वोत्पादक प्रभु है।

भावार्थ—औषधियों, गाय व घोड़े आदि पशुओं व मनुष्यों को उत्पन्न करनेवाला वह सर्वोत्पादक परमेश्वर ही है इस रहस्य को जानें।

ऋषिः—**वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयः** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञ

तस्मा इदास्ये हविर्जुहोता मधुमत्तमम्। इळां नः संयतं करत् ॥ ३ ॥

पदार्थ—जो परमेश्वर वा गुरु **नः**=हमारे **आस्ये**=मुख में **इडाम्**=वाणी को **संयतं**=सुनियन्त्रित **करत्**=करता है **तस्मै इत्**=उसी के गुणगान के लिये **आस्ये**=मुख में **मधुमत्-तमम्**=अत्यन्त मधुर गुण युक्त **हविः**=वचन **जुहोत**=धारण करो। ऐसे ही जो प्रभु मेघ तुल्य **नः इडां संयतं करत्**=हमें नियम से अन्न देता है उसके लिये मधुर हवि को **आस्ये**=छिन्न–भिन्न करके दूर तक फैला देनेवाले अग्नि में **हविः**=मधुर अन्नादि चरु प्रदान करो।

भावार्थ—मनुष्य लोग परमेश्वर द्वारा प्रदान की गई वाणी से उसकी ही महिमा का गान=स्तुति करें और उसके द्वारा प्रदत्त अन्न–औषध आदि को अग्नि में आहुति देकर यज्ञ किया करें। इससे जीवन में सुख–शान्ति की वृद्धि होगी।

आगामी सूक्त का ऋषि वसिष्ठ व देवता मण्डूका है।

[१०३] त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वेदवाणी का प्रवचन

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १ ॥

पदार्थ—जैसे **संवत्सरं शशयानाः**=वर्ष भर पड़े रहनेवाले **मण्डूकाः**=जलवासी मेंढक **पर्जन्य-जिन्वितां वाचं प्र अवादिषुः**=मेघ से दी हुई वाणी को खूब ऊँचे-ऊँचे बोलते हैं वैसे ही **व्रत-चारिणः**=व्रत का आचरण करनेवाले **संवत्सरं शशयानाः**=वर्षभर तप करते हुए **ब्राह्मणाः**='ब्रह्म', वेद के जाननेवाले, वेदज्ञ, विद्वान् जन **मण्डूकाः**=ज्ञान, आनन्द में मग्न होकर **पर्जन्य-जिन्वितां**=प्रभु की दी हुई **वाचं**=वेद वाणी का **प्र अवादिषुः**=उत्तम रीति से प्रवचन किया करें।

भावार्थ—व्रतों को धारण करनेवाले विद्वान् जन आनन्द में भरकर अपने तपस्वी ब्रह्मचारियों के लिए वेदवाणी के रहस्यों को उत्तम प्रवचनों के द्वारा प्रदान किया करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेद का गान

दिव्या आपो अभि यदेनमायन्दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्।
गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति ॥ २ ॥

पदार्थ—**दृतिं शुष्कं न**=सूखे चर्म-पात्र के तुल्य **सरसि शयानं**=तालाब में पड़े **एनम्**=इस मण्डूक को **दिव्या आपः**=आकाश के जल **यद् अभि आयन्**=जब प्राप्त होते हैं तब **मण्डूकानां वग्नुः**=मेंढकों का शब्द **वत्सिनीनां गवां मायुः न**=बछड़े वाली गौओं के शब्द के तुल्य ही **सम् एति**=आता है वैसे ही **शुष्कं दृतिं न**=सूखे चर्मपात्र के तुल्य **सरसि**=ज्ञानमार्ग में **शयानम्**=तप करते हुए **एनम् प्रति अभि**=इस ब्राह्मण वर्ग को **दिव्याः आपः**=परमेश्वर से प्राप्त होनेवाली ज्ञान-वाणियाँ वर्षा-जल के तुल्य ही **आयन्**=प्राप्त होते हैं तब **मण्डूकानां**=ज्ञान में मग्न विद्वानों का **वग्नुः**=उपदेश और **वत्सिनीनाम्**=नियम से ब्रह्मचर्यवास करनेवाले शिष्यों से युक्त **गवाम् मायुः**=वेद-वाणियों की ध्वनि भी **अत्र**=इस लोक में **सम् एति**=अच्छी प्रकार सुनाई देती है।

भावार्थ—तपस्वी ब्राह्मण वर्ग को ईश्वर के द्वारा प्रदत्त अमृतमयी वेदवाणियों की प्राप्ति होती है। ये ज्ञानी विद्वान् ब्रह्मचर्य के तप से तपते हुए अपने अनुशासन प्रिय शिष्यों को इस वेदवाणी का उपदेश करें। तब इन गुरु और शिष्यों के द्वारा सस्वर छन्दों में गाई जानेवाली वेदवाणी लोगों को आकर्षित व प्रेरित करेगी।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेद-प्रचार

यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत्तृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम्।
अख्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति ॥ ३ ॥

पदार्थ—**उशतः**=वर्षा को चाहनेवाले और **तृष्यावतः एनान्**=प्यासे इनके प्रति **प्रावृषि आगतायाम्**=वर्षा काल आ जाने पर **अभि अवर्षीत्**=मेघ वर्षता है, **पुत्रः पितरं न**=पिता के प्रति पुत्र के तुल्य **वदन्तम् अन्यम् अन्यः उप एति**=बोलते एक मेंढक के पास दूसरा जैसे आ जाता है वैसे ही **आगतायां प्रावृषि**=वर्षाकाल आने पर **यद्-ईम्**=जब भी **उशतः**=विद्या के इच्छुक और **तृष्यावतः एनान्**=ज्ञान-पिपासा से युक्त इन शिष्यों के प्रति विद्वान् पुरुष मेघ के तुल्य **अभि अवर्षीत्**=ज्ञान-वर्षा करता है तब **वदन्तम् अन्यम् उप**=उपदेश करते हुए एक के पास **अन्यः**=दूसरा शिष्य **पुत्रः पितरं न**=पिता के पास पुत्र के तुल्य ही **अख्खलीकृत्य**=विनम्र होकर **उप एति**=आता है और ज्ञान प्राप्त करता है।

भावार्थ–वर्षा ऋतु के आने पर विद्वान् लोग बस्तियों के समीप आकर वेदवाणी का उपदेश किया करें। इससे एक-एक करके अनेकों श्रोता शिष्यगण उन विद्वानों के समीप पहुँचकर ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मण्डूकाः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्या का दान

अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्रसर्गे यदमन्दिषाताम्।
मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्कन्पृश्निः संपृङ्क्ते हरितेन वाचम्॥ ४॥

पदार्थ–जैसे **अपां प्रसर्गे**=जलों के खूब हो जाने पर **यत् अमन्दिषाताम्**=जब दो मेंढक प्रसन्न हो जाते हैं **अन्यः अन्यम् अनुगृभ्णाति**=एक दूसरे को पकड़ लेता है, **कनिष्कन् मंडूकः पृश्निः हरितेन वाचं सम्पृङ्क्ते**=पीला, कूदता मेंढक हरे मेंढक से अपनी आवाज मिलाता है वैसे ही **यत्**=जब **अपां प्रसर्गे**=आप्त वेदज्ञानों के देने के लिये गुरु-शिष्य दोनों **अमन्दिषाताम्**=प्रसन्न हो जाते हैं **एनोः**=इन गुरु और शिष्य में से **अन्यः**=एक गुरु, **अन्यम्**=दूसरे को **अनुगृभ्णाति**=अनुग्रहपूर्वक स्वीकार करता है और **यत्**=जो **अभिवृष्टः**=अभिषेचित विद्याव्रत-स्नातक **मण्डूकः**=हर्षवान् होकर **कनिष्कन्**=विद्या प्रदान करता है तब **पृश्निः**=वेद का विद्वान् **हरितेन**=ज्ञान-ग्राहक शिष्य से **वाचम् संपृक्ते**=अपनी वाणी का सम्पर्क कराता है, उसे ज्ञान देता है।

भावार्थ–गुरुजन अपने ब्रह्मचारी शिष्यों के साथ मिलकर अनुग्रहपूर्वक विद्या प्रदान करते हैं। तब ये शिष्य विद्याव्रत-स्नातक होकर प्रसन्नतापूर्वक समावर्त्तित होकर जाते हैं। अब ये विद्वान् भी अपने समीप आनेवाले शिष्यों को विद्या का दान करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मण्डूकाः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

वेद-प्रचार

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु॥ ५॥

पदार्थ–**यत्**=जब **एषाम्**=इन विद्वानों में से **अन्यः**=एक विद्वान् शिष्य **शिक्षमाणः**=शिक्षा पाकर **अन्यस्य शाक्तस्य**=दूसरे विद्या आदि से सम्पन्न गुरु की **वाचम् वदति**=वाणी को कहता है और **यत्**=जब **अप्सु अधि**=प्राप्त शिष्यों वा प्रजाओं के बीच, इन विद्वानों में **सुवाचः**=उत्तम वाणीवाले आप लोग **वदथन**=उपदेश करते हैं **तत्**=तब **एषां**=इनका **सर्वं**=समस्त **पर्व**=पालन योग्य व्रत, वेदादि-अध्ययन **समिधा इव**=समृद्ध उत्सवादि के समान हो जाता है।

भावार्थ–गुरुजनों के सान्निध्य में रहकर ब्रह्मचारी शिष्य जब विद्वान् हो जावे तो वह अपने वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान को हजारों लोगों के समूह में प्रवचन के द्वारा तथा अपने समीप आए शिष्यों को उपदेश के द्वारा प्रदान करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मण्डूकाः** ॥ छन्दः–**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वानों की विभिन्न श्रेणियाँ

गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम्।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः॥ ६॥

पदार्थ–**एषाम्**=इन विद्वानों में से **एकः**=एक **गो-मायुः**=वेदवाणियों के प्रवचन में समर्थ

होता है। **एकः अज-मायुः**=एक विद्वान् अजन्मा, परमेश्वर के प्रवचन में समर्थ है। **एक पृश्निः**=एक प्रश्नोत्तर करने में कुशल है। **एक हरितः**=एक ज्ञानों को ग्रहण करने में कुशल है। ये सब **समानं**=एक समान **नाम**='ब्राह्मण' 'विद्वान्' नाम धारण करते हुए भी **वि-रूपाः**=विविध विद्याओं को धारण करते हैं। वे **वदन्तः**=प्रवचन करते हुए **पुरुत्रा वाचं पिपिशुः**=नाना प्रकार से वाणी को प्रकट करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में कुछ विद्वान् वेदवाणी का प्रवचन करें, कुछ योगी बनकर योग सिखावें तथा परमात्मा का साक्षात्कार करावें, कुछ शोध करें, कुछ ज्ञान ग्रहण करके विभिन्न विद्याओं पर प्रयोग करें। इस प्रकार राष्ट्र में विविध विद्याओं का प्रचार होकर राष्ट्र समृद्ध बनेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पूर्ण ब्रह्म का उपदेश

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।
संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव॥ ७॥

पदार्थ—जैसे **यत्**=जब **संवत्सरस्य**=वर्ष के बीच **प्रावृषीणं अहः बभूव**=वर्षा का दिन होता है, **तत् अहः**=उस दिन **मण्डूकाः**=मेंढक **पूर्ण सरः अभितो वन्दतः परि तिष्ठन्ति**=भरे तालाब के चारों ओर बोलते हुए विराजते हैं। वैसे ही **अति-रात्रे**=अति रात्र सोमयाग की रात्रि को अतिक्रमण कर व्रतधारी विद्वान् **सोमे**=सोम अर्थात् शिष्य के निमित्त **न**=भी, हे **ब्राह्मणासः**=वेदज्ञ लोगो! आप **पूर्णं सरः अभितः वदन्तः**=पूर्ण ब्रह्म का उपदेश करते हुए **संवत्सरस्य तत् अहः**=वर्ष के उस दिन **परि स्थ**=सब एक घर-सा बनाकर बैठा करो।

भावार्थ—सोमयाग की रात्रि व्यतीत होने पर सभी व्रतधारी विद्वान् एक होकर अपने शिष्यों के लिए उस पूर्ण ब्रह्म का उपदेश करें। वर्ष के उस दिन सभी विद्वान् व शिष्य लोग एक घर जैसा बनाकर बैठा करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वर्षभर वेदोपदेश

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित्॥ ८॥

पदार्थ—**सोमिनः ब्राह्मणासः**=सोमयाग करनेवाले, वा ब्रह्मचारियों को शिक्षा देनेवाले विद्वान् लोग **परि वत्सरीणम्**=वर्ष भर **ब्रह्म कृण्वन्तः**=वेदोपदेश करते हुए **वाचम् अक्रत**=प्रवचन करें। **अध्वर्यवः**=यज्ञकर्त्ता **घर्मिणः**=सूर्यवत् तेजस्वी, **सिष्विदानाः**=स्वेदयुक्त होकर भी **केचित्**=कुछ विद्वान् लोग **गुह्याः न**=गुहा में बैठे तपस्वियों के तुल्य **गुह्याः**=बुद्धि, ज्ञान या हृदय-गुहा में रमण करते हुए **आविर्भवन्ति**=प्रकट होते हैं।

भावार्थ—विद्वान् लोग अपने ब्रह्मचारी शिष्यों को वर्षभर वेदोपदेश करते रहें। यज्ञ कराते रहें तथा गुफाओं में बैठकर तपस्या करते हुए ब्रह्म को भी जानें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेद की रक्षा

देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते।

संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम्॥ ९॥

पदार्थ—संवत्सरे=वर्ष में **तप्ताः घर्माः**=तपे घाम अर्थात् सूर्य के तेज **प्रावृषि आगतायां**=वर्षाकाल आने पर **विसर्गम् अश्नुवते**=विविध प्रकार से जलों को व्याप लेते हैं, मेघ रूप से प्रकट करते हैं, वे **द्वादशस्य**=बारह मास के बने वर्ष के **देव-हितिं**=जलप्रद मेघ की **जुगुपुः**=रक्षा करते और **नरः**=नायक वायुगण **ऋतं न प्रमिनन्ति**=वर्षा ऋतु को नष्ट नहीं होने देते वैसे ही **संवत्सरे**=एक वर्ष में **प्रावृषि आगतायाम्**=वर्षा के आने पर **तप्ताः**=तप से संतप्त, **घर्माः**=तेजस्वी पुरुष भी **विसर्गम् अश्नुवते**=विविध अध्याय, काण्डादि से युक्त वेद का अभ्यास करते हैं। वे **द्वादशस्य**=बारहों मास **देव-हितिं जुगुपुः**=परमेश्वरदत्त ज्ञान की रक्षा करते हैं और **एते**=वे **नरः**=उत्तम पुरुष **ऋतुं न प्र मिनन्ति**='ऋतु' अर्थात् ज्ञानयुक्त वेद को वैसे ही नष्ट नहीं होने देते जैसे नर-जीव अपने जातिवर्ग में ऋतु का व्यर्थ नाश नहीं होने देते।

भावार्थ—तेजस्वी विद्वान् व ब्रह्मचारीगण विविध अध्याय, काण्ड आदि से युक्त वेद का अभ्यास वर्षभर किया करें। इस प्रकार ईश्वरप्रदत्त वेद ज्ञान की रक्षा निरन्तर करते रहें। उत्तम विद्वान् पुरुष कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी ईश्वर की ज्ञानमयी वेदवाणी को नष्ट नहीं होने दें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विविध विद्याओं का उपदेश

गोमायुरदादजमायुरदात्पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः ॥ १० ॥

पदार्थ—गो-मायुः=वाणियों का उपदेष्टा **नः वसूनि अदात्**=हमें ऐश्वर्य दे। **अज-मायुः नः वसूनि अदात्**=नित्य पदार्थ जीव, आत्मा और प्रकृति का उपदेशक हमें ऐश्वर्य दे। **हरितः**=ज्ञान-संग्रही विद्वान् **नः वसूनि अदात्**=हमें ऐश्वर्य दे। **मण्डूकाः**=मोक्षादि आनन्द में मग्न और अन्यों को आनन्दित करनेवाले विद्वान् **सहस्रसावे**=सहस्रों के ऐश्वर्यों और सुखों के देने के निमित्त **गवां शतानि**=सैकड़ों वाणियों का **ददतः**=उपदेश करते हुए **आयुः प्र तिरन्ते**=आयु की वृद्धि करें।

भावार्थ—विद्वान् जन लोगों के मध्य में वेद का उपदेश करें। ईश्वर, जीव, प्रकृति इन नित्य पदार्थों का उपदेश करें। विविध भौतिक ज्ञान का उपदेश करें। मोक्ष तथा मोक्षानन्द की प्राप्ति के साधन बतावें। सांसारिक पदार्थों की समृद्धि हेतु शिल्प विद्या आदि सिखावें। इस प्रकार राष्ट्र में भौतिक तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्य की वृद्धि करें।

अग्रिम सूक्त का ऋषि वसिष्ठ तथा देवता इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ, इन्द्र, सोम, अग्नि, देवाः, ग्रावणः, मरुत, वसिष्ठ, पृथिव्यन्तरिक्षे हैं।

[१०४] चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दुष्टों का दमन

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥ १ ॥

पदार्थ—दुष्टों का दमन। हे **इन्द्रा सोमा**='इन्द्र' ऐश्वर्यवन्! शत्रुहन्तः! हे सोम, शासक जन! आप दोनों मिलकर **रक्षः तपतम्**=दुष्टों को इतना पीड़ित करो कि वे पश्चात्ताप करें। **उब्जतम्**=उनको झुकाओ। हे **वृषणा**=प्रबन्धक, बलवान् जनो! **तमः-वृधः**=अज्ञान, अन्धकार बढ़ानेवालों को **नि अर्पयतम्**=नीचे दबाओ। उन **अचितः**=मूर्ख लोगों को **परा शृणीतम्**=पीड़ित करो कि वे बुरे

पथ से हट जाएँ। उनको **नि ओषतं**=सन्तापित करो, **हतं**=दण्डित करो, **नुदेथाम्**=उनको भगाते रहो। **अत्रिणः**=प्रजा का सर्वस्व खा जानेवालों को भी **नि शिशीतम्**=तीक्ष्ण दण्ड दो।

भावार्थ–शासक जनों को योग्य है कि वह प्रजा को कष्ट देनेवाले दुष्टों को दबाए, मारे, पीड़ा पहुँचावे तथा दण्डित करे। राष्ट्र घातकों को कठोर दण्ड देवे। इससे वे दुष्ट पश्चात्ताप करेंगे तथा बुरे पथ को छोड़कर राष्ट्र की मुख्यधारा में जुड़ जावेंगे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ** ॥ छन्दः–**आर्षीजगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

पापी को पीड़ा दें

इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑सम॒भ्य१॒॑घं तपु॑र्ययस्तु च॒रुर॑ग्नि॒वाँ इ॑व।
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मी॒दिने॑ ॥ २ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्रासोमा**=ऐश्वर्यवन्! हे शासक जनो! आप दोनों **अघ-शंसं**=पाप-चर्चा करनेवाले **अघं**=पापी पुरुष को **सम् अभि धत्तम्**=अच्छी प्रकार बाँधो, वह **तपुः**=संतप्त होकर, **अग्निवान् चरुः इव**=अग्नि-युक्त पात्र के समान सन्तप्त होकर **ययस्तु**=पीड़ित हो। आप दोनों **ब्रह्म-द्विषे**=वेद और वेदज्ञ के द्वेषी **क्रव्यादे**=कच्चे मांस-खोर और **किमीदिने**=अब क्या, अब क्या इस प्रकार मूढ़ और **घोरचक्षसे**=क्रूर-दृष्टि पुरुष को **अनवायं**=निरन्तर **द्वेषः धत्तम्**=अप्रीति करो।

भावार्थ–शासक जन राष्ट्र में पाप कर्मों को फैलानेवाले पापियों को बन्धन में डालकर पीड़ित करें। वेद के विद्वानों के विरोधी, कच्चा मांस खानेवालों को भी दण्डित करें तथा पूर्वाग्रही मूर्ख लोगों का तिरस्कार करें।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ** ॥ छन्दः–**निचृज्जगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

आततायी को दण्ड

इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृतो॑ व॒व्रे अ॒न्तर॑नारम्भ॒णे तम॑सि॒ प्र वि॑ध्यतम्।
यथा॒ नातः॒ पुन॒रेक॑श्च॒नोदय॒त्तद्वा॑मस्तु॒ सह॑से मन्यु॒मच्छवः॑ ॥ ३ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्रोसोमा**=ऐश्वर्यवन्! राजन्! हे **सोम**=विद्वान् जनो! आप लोग **दुष्कृतः**=दुष्ट और दुःखदायी कामनावाले पुरुषों को **वव्रे अन्तः**=चारों ओर से घिरे कृष्णागार स्थान के भीतर और **अनारम्भणे तमसि**=अवलम्बन-रहित, ऐसे अन्धेरों में जहाँ कार्य न किया जा सके **प्र विध्यतम्**=रखकर दण्डित करो। **यथा**=जिससे **अतः**=वहाँ से **पुनः एकः चन**=फिर एक भी कोई **न उद् अयत्**=उठ के ऊपर न आवे। **वाम्**=आप दोनों का **तत्**=वह अद्भुत **मन्युमत् शवः**=क्रोध से पूर्ण पराक्रम **सहसे अस्तु**=दुष्ट की पराजय के लिये हो।

भावार्थ–प्रजा को दुःख देनेवाले दुष्ट आततायी को शासक जन कारावास में डालकर अन्धेरी कालकोठरी में रखकर दण्डित करें जिससे वह आततायी पुनः दुष्ट आचरण करने का साहस न कर सके।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ** ॥ छन्दः–**विराड्जगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

दुष्ट-पापियों को सन्ताप दें

इन्द्रा॑सोमा व॒र्तय॑तं दि॒वो व॒धं सं पृ॑थि॒व्या अ॒घशं॑साय॒ तर्ह॑णम्।
उत्त॑क्षतं स्व॒र्य१॒॑ पर्व॑तेभ्यो॒ येन॒ रक्षो॑ वावृधा॒नं नि॒जूर्व॑थः ॥ ४ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्रासोमा**=ऐश्वर्यवन्, हे विद्यावान् दोनों जनो! आप **अघ-शंसाय**=पाप-चर्चाकारी पुरुष को दण्ड देने के लिये **दिवः**=सूर्य और **पृथिव्याः**=पृथिवी से **वधं वर्तयतम्**=दण्ड किया करो और उसके लिये **तर्हणम्**=नाशकारी **स्वर्यं**=सन्तापजनक, नादकारी **पर्वतेभ्यः**=मेघों से आनेवाले विद्युत् को **उत् तक्षम्**=उत्तम रीति से प्राप्त करो। **येन**=जिससे **वावृधानं रक्षः**=बढ़ते दुष्ट जन को **निजूर्वथः**=दण्डित कर सको।

भावार्थ–राष्ट्र में पाप को फैलानेवाले पापी पुरुष को शासक वर्ग सूर्य का तेज धूप, गले तक भूमि में दबाकर तथा विद्युत् का प्रहार करके बहुत सन्ताप दे। इससे राष्ट्र में बढ़ते अपराध तथा दुष्टजनों को रोका जा सकेगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ** ॥ छन्दः–**निचृज्जगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

आकाश से दुष्टों पर अस्त्र प्रहार

इन्द्रा॑सोमा व॒र्तय॑तं दि॒वस्पर्य॑ग्नित॒प्तेभि॑र्यु॒वमश्म॑हन्मभिः।
तपु॑र्वधेभिर॒जरे॑भिर॒त्रिणो॒ नि पर्शा॑ने विध्यतं॒ यन्तु॑ निस्व॒रम्॥ ५ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्रासोमा**=राजन्! शासक जन! **युवम्**=आप दोनों **अग्नि-तप्तेभिः**=अग्नि से तपे हुए, **अश्म-हन्मभिः**=मेघ से विद्युत् तुल्य आघात करनेवाले **तपुर्वधेभिः**=दुष्ट नाशक अस्त्रों से **दिवः परि**=आकाश से दूर से ही मार कर **अत्रिणः**=प्रजा नाशक दुष्ट पुरुष के **पर्शाने**=दोनों पासों के बल समुदाय को **नि विध्यतम्**=छिन्न-भिन्न करो। जिससे वह **निः-स्वरम्**=बिना आवाज किये, बिना कष्ट पहुँचाये **यन्तु**=चला जावे।

भावार्थ–राजा दुष्ट-नाशक अस्त्रों को वायुसेना में सम्मिलित करे। इससे दुष्ट व शत्रुओं पर आकाश से ही अस्त्रों का प्रहार करके दुष्ट पुरुषों की शक्ति का नाश कर दे। तब वह दुष्ट शक्तिहीन होकर स्वयं ही भाग जाएगा।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ** ॥ छन्दः–**विराड्जगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

वेदवाणी का अवगाहन

इन्द्रा॑सोमा॒ परि॑ वां भूतु वि॒श्वत॑ इ॒यं म॒तिः क॒क्ष्याश्वे॑व वा॒जिना॑।
यां वां॒ होत्रां॑ परिहि॒नोमि॑ मे॒धये॒मा ब्रह्मा॑णि नृ॒पती॑व जिन्वतम्॥ ६ ॥

पदार्थ–**कक्ष्या वाजिना अश्वा-इव**=जैसे वेगवाले, अश्वों को बगलबन्द की रस्सी चारों ओर से बाँधती है हे **इन्द्रासोमा**=ऐश्वर्यवन् वा ज्ञानदर्शिन् आचार्य! हे सोम! सौम्य भावयुक्त शिष्य! **वां**=आप दोनों को **इयं मतिः**=यह ज्ञान वा वाणी **कक्ष्या**=अवगाहन-योग्य गम्भीर, **विश्वतः परि भूतु**=सब ओर से प्राप्त हो। **वां**=आप दोनों की **यां**=जिस **होत्रां**=ग्रहण योग्य उत्तम वाणी को **मेधया**=धारणावती बुद्धि द्वारा **परि हिनोमि**=मैं प्राप्त करूँ, **इमा ब्रह्माणि**=इन वेद-वचनों को **नृपती इव**=राजाओं के समान तुम दोनों **जिन्वतम्**=प्राप्त करो।

भावार्थ–ज्ञानी आचार्य और ब्रह्मचारी शिष्य दोनों मिलकर वेदवाणी का गम्भीर मन्थन करें। जो तथ्य व रहस्य निष्कर्ष रूप में प्राप्त हों उन्हें अपनी मेधा बुद्धि के द्वारा धारण करें तथा उनका उपदेशों द्वारा प्रचार करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कठोरतम दण्ड व्यवस्था

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो नः कदा चिदभिदासति द्रुहा॥७॥

पदार्थ—हे **इन्द्रासोमा**=ऐश्वर्यवान् ज्ञानवान् पुरुषो! आप दोनों **तुजयद्भिः**=शत्रुनाशक **एवैः**=प्रयाणशील, सैन्यों तथा अज्ञाननाशक ज्ञानों में **प्रति स्मरेथाम्**=प्रत्येक वस्तु का स्मरण करो। **भङ्गुरावतः**=गृहादि को तोड़नेवाले तथा व्रतादि के नाशक, **द्रुहः रक्षसः**=विघ्नकारी दुष्ट पुरुषों और दुष्ट भावों को **हतम्**=दण्ड दो, नष्ट करो। **यः**=जो **नः**=हमें **कदाचित्**=कभी भी **द्रुहा**=द्वेष से **अभिदासनि**=नाश करता, वा हमें अपना दास बना लेता है, ऐसे **दुष्कृते**=दुराचारी को **सुगं मा भूत्**=कभी सुख न हो।

भावार्थ—शासकवर्ग शत्रु तथा दुष्टों के नाश की नीति तैयार करते समय प्रत्येक पहलू पर विचार करे। फिर उसे कठोरता से लागू करे। घरों=भवनों को हानि पहुँचानेवाले व अपहरण करनेवाले दुष्टों को कठोरतम दण्ड दें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असत्यभाषी विद्वान् को दण्ड

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः।
आपइव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता॥८॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! **यः**=जो **पाकेन मनसा**=परिपक्व=दढ़, ज्ञान वा चित्त से अथवा **पाकेन=वाकेन**=सत्य वचन और **मनसा**=उत्तम ज्ञान-सहित **चरन्तम्**=आचरण करनेवाले **मा**=मुझ पर **अनृतेभिः वचोभि**=असत्य वचनों द्वारा **अभि-चष्टे**=आक्षेप करता है वह **असन्**=असत्य का **वक्ता**=कहनेवाला **काशिना संगृभीताः अपः इव**=मुट्ठी में लिये जलों के समान **असन् अस्तु**=नहीं-सा होकर नष्ट हो।

भावार्थ—यदि कोई विद्वान् किसी निर्दोष व्यक्ति पर झूठे आरोप लगावे तो ऐसे असत्यभाषी विद्वान् को भी राजा दण्ड दे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असत्य के प्रति प्रेरणा करनेवाले को दण्ड

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे॥९॥

पदार्थ—**ये**=जो लोग **एवैः**=बुरे अभिप्रायों से **पाक-शंसं**=परिपक्व, सत्य वचन कहनेवाले को **विहरन्ते**=विरुद्ध मार्ग में ले जाते हैं **वा**=अथवा जो **स्वधाभिः**=अपने बल, अन्न, गृह के बल से वा वेतन भोगी पुरुषों द्वारा **भद्रं दूषयन्ति**=भले आदमी को दूषित करते हैं, **सोमः**=शासक राजा, न्यायाधीश **तान्**=उनको **वा**=भी **अहये प्र ददातु**=सर्पादि जन्तु के काटने, वा सर्पवत् कुटिलाचार करने के लिये दण्ड दे। **वा**=अथवा **तान्**=ऐसे पुरुषों को **निः ऋतेः**=दुःखदायी जन्तु, सिंह, रीछ आदि वा पीड़क के **उपस्थे**=समीप **आ दधातु**=रक्खें।

भावार्थ—यदि कोई व्यक्ति सदाचारी विद्वान् को या अपने अधीन वेतनभोगी पुरुषों को किसी

निर्दोष के ऊपर झूठे आरोप या उसके विरुद्ध झूठी गवाही देने के लिए दबाव डाले या प्रेरित करे तो ऐसे असत्य के प्रति प्रेरक को भी राजा कठोरतम दण्ड देवे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मृत्युदण्ड की व्यवस्था

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च॥ १०॥

पदार्थ—हे **अग्ने**=अग्निवत् तेजस्विन्! **यः**=जो दुष्ट पुरुष **नः**=हमारे **पित्वः रसं**=अन्न के रस, सारभाग को **दिप्सति**=नष्ट करना चाहता है और **यः**=जो हमारे **अश्वानां**=घोड़ों, **गवां**=गौओं, और **तनूनां**=शरीरों के **रसं**=सारवान् बलयुक्त अंश को नाश करता है वह **रिपुः**=शत्रु, **स्तेनः**=चोर **स्तेयकृत्**=चोरी करनेवाला, पुरुष **दभ्रम् एतु**=पीड़ा वा मृत्युदण्ड को प्राप्त हो और **सः**=वह **तन्वा**=शरीर और **तना च**=पुत्रादि से **नि हीयताम्**=वञ्चित रहे।

भावार्थ—जो दुष्ट प्रजाजनों के अन्नादि खाद्य पदार्थों को नष्ट करे, उनके पशुओं को मारे, उनके परिजनों को मारे या व्यभिचार करे ऐसे दुष्ट को राजा मृत्युदण्ड देवे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुष्ट का सामाजिक बहिष्कार

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम्॥ ११॥

पदार्थ—हे **देवाः**=विद्वान् मनुष्यो! **यः च**=और जो **नः**=हमें **दिवाः**=दिन में या **नक्तम्**=रात में **दिप्सति**=हानि पहुँचाता, **सः**=वह **तन्वा तना च**=शरीर और पुत्रादि से भी **परः अस्तु**=दूर हो। वह **विश्वाः**=समस्त **तिस्रः**=तीनों **पृथिवीः**=भूमियों, लोकों से **अधः अस्तु**=नीचे रहे, वह गढ़े में, या नीची कोटि में रक्खा जावे। **अस्य यशः**=उसका यश, बल **प्रति शुष्यतु**=प्रतिदिन सूखता जाय।

भावार्थ—जो दुष्ट प्रजाजनों को दिन में या रात में हानि पहुँचाता है उसका सामाजिक बहिष्कार किया जावे जिससे उसका यश और बल दोनों नष्ट हो जाएगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्य की रक्षा असत्य का नाश करें

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ १२॥

पदार्थ—**चिकितुषे**=जाननेवाले **जनाय**=मनुष्य के लिये **सत् च असत् च**=सत्य और असत्य दोनों **सुविज्ञानं**=अच्छी प्रकार जानने योग्य हैं, क्योंकि **सत् च असत् च वचसी**=सत्य और असत्य दोनों वचन **पस्पृधाते**=परस्पर स्पर्द्धा करते हैं। दोनों विरोधी होते हैं **तयोः**=उन दोनों में **यत् सत्यं**=जो सत्य है और **यतरत् ऋजीयः**=जो अधिक ऋजु, धर्मानुकूल है **तद् इत्**=उसकी ही, **सोमः**=उत्तम शासक विद्वान् **अवति**=रक्षा करता है और **असत् हन्ति**=असत् को विनष्ट करता है।

भावार्थ—विद्वान् जन अपने विवेक से सत्य और असत्य का निर्णय अच्छी प्रकार से करें।

सत्य को भी जानें और असत्य को भी जानें तब सत्य की रक्षा और असत्य का नाश पुरुषार्थपूर्वक करें।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**सोमः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

असत्यवादी को कारावास

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ १३ ॥

पदार्थ–**सोमः**=उत्तम शासक **वृजिनं**=असत्य को **न वै उ हिनोति**=कभी वृद्धि न दे और **मिथुया धारयन्तं**=असत्य के धारक **क्षत्रियम्**=बलशाली पुरुष को भी **न हिनोति**=न बढ़ने दे। **रक्षः**=दुष्ट पुरुष को **हन्ति**=दण्ड दे, और **असद् वदन्तम् हन्ति**=असत्यवादी को दण्ड दे। **उभौ**=वे दोनों भी **इन्द्रस्य प्रसितौ**=दुष्टों के भयकारी पुरुष के उत्तम बन्धन में **शयाते**=डाले जाएँ।

भावार्थ–उत्तम शासक कभी भी झूठ को आश्रय न दे। झूठे सामर्थ्यवान् पुरुष को भी दण्ड दे तथा कारावास में बन्द करे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

विद्वानों के द्वेषी को दण्ड

यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥ १४ ॥

पदार्थ–**यदि वा**=और यदि **अहम्**=मैं **अनृतदेवः**=असत्य बात का प्रकाश करनेवाला हूँ, हे **अग्ने**=तेजस्विन्! अथवा मैं **देवान् अपि**=विद्वान् पुरुषों से भी **मोघं**=झूठ–मूठ, **ऊहे**=नाना तर्क–वितर्क करता हूँ, हे **जातवेदः**=विद्वन्! ज्ञानवन्! **अस्मभ्यम्**=विचार करो कि हमारे सुधार के लिये **किम् हृणीषे**=क्या–क्या क्रोध कर हमें किस प्रकार दण्डित करो। क्योंकि **द्रोघ-वाचः**=द्वेष की बात कहनेवाले **ते**=वे लोग **निर्ऋथं**=अति दुःखी और सत्य, ऐश्वर्यादि से रहित, कष्टमय जीवन को **सचन्ताम्**=प्राप्त हों।

भावार्थ–यदि कोई व्यक्ति झूठ का सहारा लेता है अथवा विद्वानों से व्यर्थ में तर्क–वितर्क या कुतर्क करके उन्हें कष्ट पहुँचाता है तो ऐसे द्वेषी को भी उत्तम शासक उचित दण्ड अवश्य देवे।

ऋषि:–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

अंग-भंग द्वारा दण्ड

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥ १५ ॥

पदार्थ–**यदि**=यदि मैं **यातुधानः**=अन्यों का पीड़क **अस्मि**=होऊँ और **यदि वा**=जो मैं **पूरुषस्य**=मनुष्य के **आयुः**=जीवन को **ततप**=पीड़ित करूँ, तो मैं **अद्य मुरीय**=आज ही मृत्यु को प्राप्त होऊँ। अन्य को पीड़ा देने और मनुष्य को हानि पहुँचानेवाले को मृत्युदण्ड हो। **अद्य**=और **यः**=जो **मोघं**=व्यर्थ, **मा**=मुझे **यातुधान इति आह**=पीड़ादायक कहे **सः**=वह तू **दशभिः वीरैः**=दशों प्रकार के प्राणों या दशों अंगुलियों, दोनों हाथों से **वि यूयाः**=वियुक्त हो।

भावार्थ–यदि कोई दुष्ट अन्धे लोगों को दुःखी करे या अन्य लोगों को कष्ट पहुँचावे ऐसे दुष्ट को राजा कठोर दण्ड दे। और यदि कोई व्यक्ति पीड़ित करने का झूठा आरोप लगावे तो उसे अंग-भंग करके दण्डित करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

असत्य आरोप लगानेवाले को दण्ड

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥ १६ ॥

पदार्थ–यः=जो **अयातुं मा**=अन्य को पीड़ा न देनेवाले मुझको **यातुधान इति आह**='पीड़ा देनेवाला' ऐसा कहे **वा**=और **यः**=जो **रक्षाः**=स्वयं दुष्ट पुरुष होकर **शुचिः अस्मि इति आह**=मैं निर्दोष हूँ, ऐसा कहे **इन्द्रः**=राजा **तं**=उसको **महता वधेन**=बड़े भारी शस्त्र से **हन्तु**=मारे और वह **विश्वस्य जन्तोः**=समस्त पापियों से **अधमः**=नीचा **पदीष्ट**=समझा जावे।

भावार्थ–यदि कोई दुष्ट निर्दोष लोगों पर पीड़ित करने का झूठा दोष लगावे या दोषी होकर भी स्वयं को निर्दोष बतावे ऐसे धूर्त को शस्त्र के प्रहार से (कोड़े आदि लगाकर) शासकवर्ग दण्डित करे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**ग्रावाणः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

दुराचारिणी स्त्री को दण्ड

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहा तन्वं१ गूहमाना ।
वव्राँ अनन्ताँ अव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥ १७ ॥

पदार्थ–या=जो स्त्री, **खर्गला इव**=उल्लूनी के समान **द्रुहा**=पति-द्रोह करके **तन्वं गूहमाना**=शरीर को छिपाकर **नक्तम्**=रात के समय **प्र अप जिगाति**=घर छोड़कर जाती है **सा**=वह **अनन्तां वव्रान्**=खूब गहरे गढ़ों को **अव पदीष्ट**=प्राप्त हो। **ग्रावाणः**=क्षत्रिय लोग **उपब्दैः**=घोषणाओं सहित **रक्षसः घ्नन्तु**=दुष्ट पुरुषों को विनष्ट करें।

भावार्थ–यदि कोई दुश्चरित्र स्त्री अपने पति से झगड़कर या छुपकर रात को घर से किसी अन्य पुरुष के पास चली जावे तो उस स्त्री तथा दुश्चरित्र पुरुष को भूमि में गड्ढा खोदकर दबा दिया जावे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**मरुतः** ॥ छन्दः–**निचृज्जगती** ॥ स्वरः–**निषादः** ॥

कर्त्तव्यपराण कर्मचारी को पुरस्कार

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वि१च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥ १८ ॥

पदार्थ–हे **मरुतः**=वायुवत् बलवान् पुरुषो! **ये**=जो **नक्तभिः**=रातों के समय आप लोग **वयः भूत्वी**=प्रकाशयुक्त होकर **पतयन्ति**=नगर स्वामी के समान रक्षा करते हैं **ये वा**=और जो आप लोग **अध्वरे**=हिंसारहित **देवे**=तेजस्वी पुरुष के अधीन रहकर **रिपः**=दुष्ट पुरुषों को **दधिरे**=पकड़ते हो वे आप लोग **विक्षु**=प्रजाओं में **वि तिष्ठध्वम्**=विशेष-विशेष पदों पर विराजें और **वि इच्छत**=विविध ऐश्वर्यों की कामना करें। **रक्षसः वि गृभायत**=दुष्ट पुरुषों को विविध प्रकार से पकड़ो और उनको **सं पिनष्टन**=खूब पीसो, दण्डित करो, कुचलो।

भावार्थ—जो कर्त्तव्यपरायण वीर राज पुरुष रात्रि में नगर तथा प्रजाजनों की रक्षा करते हैं, दुष्टों को पकड़कर दण्डित करते ऐसे राजभक्त कर्मचारियों को राजा पदोन्नति करके प्रोत्साहित करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आग्नेयास्त्र तथा गोली से शत्रुनाश

प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि।
प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥ १९ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=शत्रुहन्तः! तू **दिवः अश्मानम्**=आकाश से गिरे ओलों के तुल्य **दिवः**=आग्नेय अस्त्र से **अश्मानम्**=शत्रुनाशक गोली आदि कठिन वस्तु **प्र वर्त्तय**=फेंक। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन्! तू **सोम-शितम्**=ऐश्वर्य और उत्तम शासक से तीव्र हुए शत्रु और प्रजाजन दोनों का **सं शिशाधि**=अच्छी प्रकार शासन कर। **प्राक्तात्, अपाक्तात्, उदक्तात्, अधरात्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर और नीचे, दक्षिण से भी **पर्वतेन**=दृढ़ पोरुवाले दण्ड से, पशु तुल्य **रक्षसः जहि**=दुष्ट पुरुषों को दण्ड दे।

भावार्थ—राजा शत्रु का नाश करने के लिए वायुसेना को सुदृढ़ करे, शत्रुओं पर हवाई हमले करके आग्नेयास्त्र तथा गोलियों की बौछार करे। शत्रु को बन्दी बनाकर कठोर दण्ड दे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चापलूसों से सावधान

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २० ॥

पदार्थ—**एते उ त्ये**=ये वे बहुत से **श्व-यातवः**=कुत्ते के समान चाल चलने और अन्यों को पागल कुत्ते के समान बिना प्रयोजन काटने और गुर्रा-गुर्रा कर डरानेवाले लोग ही **पतयन्ति**=मालिक से बनना चाहते और प्रजा के धन को हरना चाहा करते हैं **दिप्सवः**=हिंसाकारी लोग ही **अदाभ्यम् इन्द्रं दिप्सन्ति**=अहिंसनीय, राजा को मारना चाहा करते हैं। **शक्रः**=शक्तिशाली राजा **पिशुनेभ्यः**=क्षुद्र पुरुषों का दमन करने के लिये **वधं शिशीते**=शस्त्र-बल को तेज करे। **नूनं**=अवश्य ही वह **यातुमद्भ्यः**=प्रजापीड़क पुरुषों के दमन के लिये **अशनिं**=विद्युत्वत् आघातकारी अस्त्र **सृजत्**=बनावे।

भावार्थ—राजा को ऐसे लोगों से सावधान रहना चाहिये जो सामने तो झूठी प्रशंसा करे और पीछे राजा को मारने की योजना बनावे अथवा जो राजा की झूठी प्रशंसा=चापलूसी करके प्रजा का धन हरण करें। ऐसे दुष्टों को राजा दण्ड अवश्य देवे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आक्रमणकारी को दण्ड

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्याविवासताम्।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः ॥ २१ ॥

पदार्थ—**इन्द्रः**=ऐश्वर्यवान् शत्रुहन्ता **पुरुष हविर्मथीनां**=प्रजाओं के अन्न, यज्ञों के चरु आदि को हरनेवाले **यातूनां**=प्रजापीड़कारी मनुष्यों और **अभि आ विवासताम्**=सामने से आक्रमण करनेवाले पुरुषों को **परा-शरः**=दूर तक मार मारनेवाला **आ भवत्**=हो। **परशुः यथा**

वनं=जैसे फरसा, वन को काट गिराता है, **पात्रा इव**=जैसे पत्थर वर्त्तनों को तोड़ डालता है वैसे ही **शक्रः**=शक्तिशाली राजा **रक्षसः**=दुष्ट पुरुषों को **परशुः**=कुल्हाड़ा-सा होकर **अभि एति**=प्राप्त हो और **रक्षसः सतः भिन्दन् एति**=उन दुष्टों को भेद-नीति से तोड़ता-फोड़ता हुआ प्राप्त हो।

भावार्थ—जो दुष्ट प्रजा के अन्नादि खाद्य पदार्थों व यज्ञ की सामग्री का हरण करे और जो शत्रु सामने से आक्रमण करे राजा उनको कठोरतम दण्ड देकर पीड़ा पहुँचावे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुष्टों को पत्थर से पीस दे

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ २२ ॥

पदार्थ—हे **इन्द्र**=शत्रुनाशक! राजन्! **उलूक-यातुम्**=बड़े उल्लू के समान चाल चलने और छिपकर प्रजा के धन, प्राण पर आक्रमण करनेवाले को, **शुशुलूकयातुम्**=छोटे उल्लू के समान कर्कश बोलकर डराने और गरीब जनों को पीड़ित करनेवाले को, **श्व-यातुम्**=कुत्ते के समान भौंककर, कठोर वचन कहकर प्रजाजनों को पीड़ा देनेवाले, **कोक-यातुम्**=उलूक की तीसरी जाति के समान प्रजा को कष्ट देनेवाले **सुपर्ण-यातुम्**=बाज के समान झपटनेवाले **उत**=और **गृध्रयातुम्**=गीध के समान गोल बनाकर उदासीन प्रजा को नोचकर खा जानेवाले, **रक्षः**=दुष्ट जनों को **दृषदा इव**=सिलबट्टे या चक्की के पाटों के समान पीस डालनेवाले **प्र मृण**=दण्ड द्वारा नष्ट कर डाल।

भावार्थ—जो दुष्ट लोग छिपकर प्रजा का धन हरण करें, जो कठोर बोलकर डरावें, जो गरीबों को पीड़ित करें, जो चलते फिरते समान झपटें, और जो गिरोह बनाकर प्रजा को नोचें उन सब दुष्ट जनों को राजा कठोर दण्ड दे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वसिष्ठः, पृथिव्यन्तरिक्षे** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आकाश व भूमि मार्गों से राष्ट्र की सुरक्षा

मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ २३ ॥

पदार्थ—**रक्षः**=दुष्ट पुरुष **नः**=हम तक **मा अभिनड्**=न पहुँचे। **यातुमा-वताम्**=पीड़ा देनेवाले जनों के **मिथुना**=जोड़े, स्त्री-पुरुष **या किमीदिना**=जो क्षुद्र कोटि का स्वार्थमय स्नेह करते हैं वे **अप उच्छतु**=दूर हों। **पृथिवी**=पृथिवीवत् सर्वाश्रय, विस्तृत शक्ति **नः पार्थिवात् अंहसः पातु**=हमें पृथिवी से होनेवाले कष्ट से बचावे और **अन्तरिक्षं**=अन्तरिक्ष **अस्मान्**=हमें **दिव्यात् अंहसः पातु**=आकाश की ओर से आनेवाले कष्ट से बचावे।

भावार्थ—राजा कठोर राजनियम तथा सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ करे जिससे दुष्ट लोग प्रजा तक न जा सकें। अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिए भूमि तथा आकाश दोनों ओर से होनेवाले आक्रमण को रोकने में समर्थ हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**याजुषीविराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

व्यभिचारियों को मृत्युदण्ड

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ २४ ॥

पदार्थ–हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यवन्! तू **यातुधानं पुमांसं**=पीड़क पुरुष को और **मायया शाशदानाम्**=मांया से प्रजा की नाशक **स्त्रियं उत**=स्त्री को भी **जहि**=दण्डित कर। **मूर-देवाः**=मूढ़ होकर विषयों में क्रीड़ा करनेवाले दुष्ट लोग **वि-ग्रीवासः**=बिना गर्दन के होकर **ऋदन्तु**=नष्ट हों। **ते**=वे **उत्चरन्तं**=उगते हुए **सूर्यं मा दृशन्**=सूर्य को भी न देख पावें।

भावार्थ–राष्ट्र में व्यभिचार फैलानेवाले व्यभिचारी स्त्री पुरुषों को राजा मृत्युदण्ड देवे तथा प्रजा को पीड़ित करनेवाले व ठगनेवाले स्त्री पुरुषों को भी कठोर दण्ड दे।

ऋषिः–**वसिष्ठः** ॥ देवता–**इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ** ॥ छन्दः–**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः–**गान्धार** ॥

राजा व सेनापति सावधान रहें

प्रति॑ चक्ष्व॒ वि च॒क्ष्वेन्द्र॑श्च सोम जागृतम्।
रक्षो॑भ्यो व॒धम॑स्यतम॒शनिं॑ यातु॒मद्भ्यः॑ ॥ २५ ॥

पदार्थ–हे **सोम**=ऐश्वर्यवन्! हे शासक! तुम और **इन्द्रः च**=शत्रुहन्ता सेनापति दोनों ही **प्रति चक्ष्व**=प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार को देखो और **वि-चक्ष्व**=विविध प्रकार से देखो **जागृतम्**=तुम दोनों सावधान रहो। **रक्षोभ्यः वधम् अस्यत**=दुष्टों के नाश के लिये शस्त्र प्रहार करो और **यातुमद्भ्यः अशनिम् अस्यत**=पीड़ा देनेवाले पर विद्युत् के तुल्य अस्त्र का प्रयोग करो।

भावार्थ–राजा और सेनापति दोनों राष्ट्र में होनेवाली प्रत्येक गतिविधि पर सूक्ष्म दृष्टि रखें। राष्ट्र में दुष्टों, राजद्रोहियों तथा देशद्रोहियों को यथोचित कठोरतम दण्ड देवें।

इति सप्तमं मण्डलम्

ऋग्वेदभाष्यम्

अथाष्टमं मण्डलम्

अथाष्टमं मण्डलम्

प्रथम दो मन्त्रों का ऋषि '**प्रगाथः**'=प्रभु का प्रकृष्ट गान करनेवाला है। यह '**घौर**'=घोर पुत्र है, शत्रुओं के लिये अतिभयंकर है। प्रभु का गायन ही इसे शत्रुनाश की योग्यता प्राप्त कराता है। इस प्रभु-स्मरण से ही यह '**काण्व**'=कण्व पुत्र अत्यन्त मेधावी बनता है। यह कहता है—

प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रगाथो घौरः काण्वो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उपरिष्टाद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रभु का ही शंसन

मा चिद॒न्यद्वि शं॑सत॒ सखा॑यो॒ मा रि॑षण्यत।
इन्द्र॒मित्स्तो॑ता॒ वृष॑णं॒ सचा॑ सु॒ते मुहु॑रु॒क्था च॑ शंसत॥ १॥

१. '**प्रगाथ**' मित्रों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **सखायः**=हे मित्रो! **अन्यत्**=प्रभु से भिन्न किसी अन्य का **मा चित् विशंसत**=शंसन व स्तवन मत करो। सदा प्रभु का स्मरण करते हुए तुम **मा रिषण्यत**=काम-क्रोध आदि से हिंसित मत होवो। जब हृदय में प्रभु का अधिष्ठान होता है, तो वहाँ वासनाओं का प्रवेश हो ही नहीं पाता। वासनाओं को हम न भी जीतवायें, पर प्रभु हमारे लिये इनका पराभव करते हैं तो ये वासनाएँ हमें हिंसित नहीं कर पाती। २. हे मित्रो! **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सचा**=साथ मिलकर **वृषणम्**=उस शक्तिशाली व सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्द्रं इत्**=परमैश्वर्यशाली व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को ही **स्तोता**=स्तुत करो। **च**=और **मुहुः**=बारम्बार **उक्था**=ऊँचे से गाने योग्य स्तोत्रों का **शंसत**=उस प्रभु के लिये शंसन करो। यह प्रभु-स्तवन तुम्हें सबल बनायेगा और तुम वासनाओं व रोगों से हिंसित न होवोगे।

भावार्थ—प्रभु का शंसन हमें 'काम' के आक्रमण से बचाता है। इस प्रकार यह शंसन हमें हिंसित नहीं होने देता।

ऋषिः—प्रगाथो घौरः काण्वो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीभुरिग्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'उभयंकर-उभयावी' प्रभु

अ॒व॒क्र॒क्षिणं॑ वृष॒भं य॑था॒जुरं॒ गां न च॑र्षणी॒सह॑म्। वि॒द्वेष॑णं सं॒वन॑नोभयंक॒रं मंहि॑ष्ठमुभया॒विन॑म्॥ २॥

१. गत मन्त्र के अनुसार उस प्रभु का मिलकर स्तवन करो, जो **अवक्रक्षिणम्**=शत्रुओं के अवकर्षणशील हैं। **यथा**=जैसे **वृषभम्**=शक्तिशाली हैं, उसी प्रकार **अजुरम्**=अहिंसित हैं। प्रभु हमारे शत्रुओं का हिंसन करते हैं, प्रभु इनसे हिंसित नहीं होते **गां न**=एक वृषभ के समान **चर्षणी-सहम्**=हमारे शत्रुभूत मनुष्यों का पराभव करनेवाले हैं। प्रभु हमारे आन्तर व बाह्य दोनों ही शत्रुओं का हिंसन करते हैं। २. **विद्वेषणम्**=वे प्रभु (वि-द्विष्, वि=विगत) हमारे जीवनों को द्वेष से शून्य करनेवाले हैं और **संवननम्**=संभजनीय (प्रेम) करनेवाले हैं (वन संभक्तौ)। **उभयंकरम्**=

इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस को प्राप्त करानेवाले हैं। **मंहिष्ठम्**=वे प्रभु दातृतम हैं, सर्वोपरि दाता हैं। हमारे लिये सब आवश्यक चीजों को देनेवाले हैं। **उभयाविनम्**=शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान दोनों को वे देनेवाले हैं, प्रभु ज्ञान व शक्ति दोनों से युक्त हैं, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विनाश होता है, अभ्युदय व निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, ज्ञान व शक्ति से युक्त हमारा जीवन बनता है।

इस प्रकार हम 'मेधातिथि'=बुद्धि की ओर निरन्तर गतिवाले व 'मेध्यातिथि'=पवित्रता की ओर चलनेवाले बनते हैं। अगले (३ से २९ तक) मन्त्रों के ये ही ऋषि हैं—

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

आर्त भक्त नहीं, ज्ञानी भक्त बनें

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम्॥ ३॥

(१) **यत्**=जो **चित् हि**=निश्चय से **इमे नाना जनाः**=ये विविध वृत्तियोंवाले लोग हैं, वे सब **ऊतये**=रक्षण के लिये **त्वा हवन्ते**=आपको ही पुकारते हैं। सामान्यतः मनुष्य सांसारिक कामों में उलझा रहता है और ब्रह्म को भूला रहता है। परन्तु जब कभी विघ्न व कष्ट आता है तो रक्षण के लिये प्रभु को पुकारता है। यह प्रभु का आर्त भक्त कहलाता है। यह पीड़ा के दूर होने के साथ प्रभु को फिर भूल जाता है। (२) पर हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्माकं इदं ब्रह्म**=हमारे से किया गया यह स्तवन **ते**=आपके लिये **विश्वा च अहा**=सब दिनों में **वर्धनम्**=आपके यश का वर्धन करनेवाला **भूतु**=हो। अर्थात् हम सदा आपका स्मरण करनेवाले हों। हमारे सब कार्य आपके स्मरण के साथ हों। हम आपके ज्ञानी भक्त बनें। दुःख में, सुख में समवस्था को प्राप्त करके स्थितप्रज्ञ बनें।

भावार्थ—हम प्रभु के आर्तभक्त ही न बनकर, ज्ञानी भक्त बनें। सदा प्रभु-स्मरणपूर्वक ही सब कार्यों को करें।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीस्वराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

पुरुरूप वाज

वि तर्तूर्यन्ते मघवन्विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम्।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये॥ ४॥

(१) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **विपश्चितः**=(वि पश् चित्) सब वस्तुओं को बारीकी से देखकर चिन्तन करनेवाले विद्वान्! **अर्यः**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले वीर तथा **जनानां विपः**=तत्त्वज्ञान की प्रेरणा से लोगों को कम्पित कर देनेवाले, उन्हें एक बार हिला देनेवाले लोग **वितर्तूर्यन्ते**=सब कष्टों को तैर जाते हैं। (२) हे प्रभो! आप **नेदिष्ठ उप क्रमस्व**=हमें समीपता से प्राप्त होइये। हम आपके अधिक से अधिक समीप हों। आपसे दूर होने पर ही तो हम शत्रुओं का शिकार होते हैं और नाना आपदाओं में फँस जाते हैं। आप हमें **ऊतये**=रक्षण के लिये **पुरुरूपम्**=अनेक रूपोंवाले **वाजम्**=बल को **आभर**=प्राप्त कराइये। 'शरीर, इन्द्रियों, मन व बुद्धि' के विविध बलों को प्राप्त करके हम अपना रक्षण करने में समर्थ हों।

भावार्थ—हम ज्ञानी व वीर बनकर आपत्तियों को तैरनेवाले हों। प्रभु के समीप होते हुए अनेकरूपा शक्ति को प्राप्त करके रक्षण के लिये समर्थ हों।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रभु का अपरित्याग

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्। न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥५॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय (आदृ) अथवा वज्रहस्ता (अद्रि=वज्र) प्रभो! मैं **महे शुल्काय**=महान् शुल्क के लिये **त्वाम्**=आपको **न परादेयाम्**=छोड़ दूँ। मुझे कितना भी अधिक धन प्राप्ति का प्रलोभन मिले तो भी मैं उस धन को लेने के विचार से आपका परित्याग न करूँ। **न**=ना ही **सहस्राय**=आमोद-प्रमोदमय जीवन के लिये आपको छोड़ दूँ। मैं भी इस विलासमय जीवन में प्रभु का परित्याग न कर बैठूँ। (२) **न**=ना ही **अयुताय**=अपार्थक्य के लिये, परिवार जनों से सदा सम्पृक्त रहने के लिये मैं आपको छोड़ूँ। (३) हे **वज्रिवः**=वज्रहस्त **शतामघ**=अनन्त ऐश्वर्यवाले प्रभो! **न शताय**=शत (सौ) वर्ष के दीर्घजीवन के लिये भी मैं आपका परत्याग न करूँ। मैं किन्हीं भी प्रलोभनों में फँसकर, हे प्रभो! आपका परित्याग न करूँ।

भावार्थ—'धन, विलास, भरपूर परिवार व दीर्घजीवन' आदि के प्रलोभन मुझे प्रभु से पृथक् करने में असमर्थ हों। मैं प्रभु का ही वरण करूँ।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'मातृ रूप' प्रभु

वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः। माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे॥६॥

(१) हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **मे पितुः**=मेरे पिता से **वस्यान् असि**=अधिक वसानेवाले हैं, वसुमत्त हैं। पिता भी पुत्र का पालन करता है, पर वह अल्पशक्ति व अल्पज्ञान के कारण पालन में कहीं-कहीं असमर्थ हो जाते हैं। प्रभु परम पिता हैं। सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने के कारण उनके पालन में कहीं कमी नहीं होती। (२) **उत**=और **अभुञ्जतः**=न पालन करनेवाले **भ्रातुः**=भाई से तो वे प्रभु वस्यान् हैं ही। सामान्यतः संसार में भाई अपने ही परिवार का ध्यान करता है और अपने अन्य भाइयों का ध्यान हीं कर पाता। (२) हे **वसो**=वसानेवाले प्रभो! आप **च**=और **मे माता**=मेरी माता **छदयथः**=मुझे आपत्तियों से बचाते हो (छद् अपवारणे) मेरी आपत्तियों को दूर करते हो सो आप और माता **समौ**=सम ही हो। अर्थात् पिता हो, भ्राता हो। पर सब से बड़ी बात यह की आप माता हो। आप **वसुत्वनाय**=हमारे उत्तम निवास के लिये होते हो और **राधसे**=कार्यसाधक ऐश्वर्य के लिये होते हैं।

भावार्थ—माता के समान हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभु हमारे निवास का कारण बनते हैं और हमारी कार्यसिद्धि के लिये आवश्यक धनों के देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

व्याकुल भक्त की करुण पुकार

क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः। अलर्षि युध्म खजकृत्पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः॥७॥

(१) एक भक्त प्रभु के दर्शन में समर्थ न होता हुआ, वासनाओं से पीड़ित होने पर पुकार उठता है कि हे प्रभो! **क्व इयथ**=आप कहाँ गये हुए हो। आप **क्व इत्**=कहाँ ही **असि**=विद्यमान हो। **ते मनः**=आपका मन **चित्**=निश्चय से **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों पर है। आपने सभी भक्तों का

तो कल्याण करना है, केवल मेरा ही कल्याण तो आपका लक्ष्य नहीं। (२) फिर भी इस समय मैं काम-क्रोध आदि शत्रुओं से घिरा हुआ हूँ, सो **अलर्षि**=आइये (आगच्छ)। हे **युध्म**=युद्ध कुशल और **खजकृत्**=संग्राम को करनेवाले और **पुरन्दर**=इन आसुर पुरियों का विदारण करनेवाले प्रभो! **गायत्राः**=गुणगान में कुशल स्तोता लोग **प्र अगासिषुः**=प्रकर्षेण आपका गायन करते हैं। आपके स्तवन के द्वारा वे आपको अपने हृदयों में आसीन करते हैं और इस प्रकार आपके द्वारा इन शत्रुओं पर विजय पाकर स्वस्थ होते हैं।

भावार्थ-हे प्रभो! आइये। अपने ही इन मेरे वासनारूप शत्रुओं के साथ युद्ध करना है।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

स्तवन व आसुर पुरियों का विदारण

प्रास्मै गायत्रमर्चत वावातुर्यः पुरन्दरः। याभिः काण्वस्योप बर्हिरासदं यासद्वज्री भिनत्पुरः॥ ८॥

(१) **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिये **गायत्रम्**=गाथक साम को **प्र अर्चत**=गाते हुए अर्चन करो, **यः**=जो प्रभु **वावातुः**=(वन् संभक्तौ) संभजनशील पुरुष का **पुरन्दरः**=शत्रु पुरियों का विदारण करनेवाला है। (२) उन ऋचाओं से इस गायत्र साम का गायन करो, **याभिः**=जिनसे कि **काण्वस्य**=इस मेधावी पुरुष के **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में ये प्रभु **उपासदम्**=(उपासत्तुं) आसीन होने के लिये **यासत्**=आते हैं और **वज्री**=वज्रयुक्त होते हुए **पुरः**=आसुर पुरियों को **भिनत्**=विदीर्ण करते हैं।

भावार्थ-गायत्र साम से गाये गये प्रभु हमारे शत्रुओं की पुरियों का विदारण करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

कौन से इन्द्रयाश्व?

ये ते सन्ति दशग्विनः शतिनो ये सहस्त्रिणः।
अश्वासो ये ते वृषणो रघुद्रुवस्तेभिर्नस्तूयमा गहि॥ ९॥

(१) **ये**=जो **ते**=तेरे **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व **दशग्विनः सन्ति**=दश लक्षणक धर्म में चलनेवाले हैं (धृतिः क्षमा दमो स्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्)। **शतिनः**=सौ वर्ष तक स्थिर रहनेवाले हैं। ये **सहस्त्रिणः**=जो (स+हस्) आनन्दमय प्रभु की और हमें ले जानेवाले हैं **तेभिः**=उन इन्द्रियाश्वों के साथ **नः**=हमें **तूयम्**=शीघ्र ही **अगहि**=(आगच्छ) प्राप्त होइये। (२) उन इन्द्रियाश्वों के साथ हमें प्राप्त होइये, **ये**=जो **ते**=आपके इन्द्रियाश्व **वृषणः**=शक्तिशाली है और **रघुद्रुवः**=तीव्र गतिवाले हैं, शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले हैं।

भावार्थ-प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करायें जो दश लक्षणधर्म में प्रवृत्त हों, सौ वर्ष तक चलें, ब्रह्म को प्राप्त करायें, शक्तिशाली हों व शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वेद-धेनु की प्रभु से याचना

आ त्वद्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्। इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरंकृतम्॥ १०॥

(१) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली **त्वा**=तेरे से **अद्य**=आज **धेनुम्**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेद-धेनु को **आहुवे**=पुकारता हूँ, वेद-धेनु के लिये याचना करता हूँ। आप मुझे इस वेद-धेनु को प्राप्त कराइये, जो **सबर्दुघाम्**=ज्ञानदुग्ध का हृदयों में पूरण करनेवाली है। **गायत्रवेपसम्**=स्तुति को

हमारे अन्दर प्रक्षिप्त करनेवाली है, अर्थात् स्तुति को हमारे में प्रेरित करनेवाली है इस वेदवाणी के स्वाध्याय से हम स्तुति की वृत्तिवाले बनेंगे। (२) उस वेद-धेनु को हमें प्राप्त कराइये, जो **सुदुघाम्**=सुख संदोह्य है, अध्यमन के द्वारा आराम से समझने योग्य है 'वेदेन वेदः ज्ञातव्यः'। **अन्याम्**=विलक्षण है, अन्य मनुष्यकृत ग्रन्थों जैसी नहीं है। **इषम्**=उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाली है और **उरुधाराम्**=विशाल ज्ञानदुग्ध की धाराओंवाली है। **अरंकृतम्**=जीवन को अलंकृत करनेवाली है, अथवा **अरम्**=पर्याप्त भोगों को **कृताम्**=करनेवाली है 'आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्' आदि सातों रत्नों को देनेवाली है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम वेद-धेनु को प्राप्त करें, उसके ज्ञानदुग्ध से अपना उचित पोषण करनेवाले हों।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'कुत्स-आर्जुनेय-गन्धर्व-अस्तृत'

यत्तुदत्सूर एतशं वङ्कू वातस्य पर्णिना। वहत्कुत्समार्जुनेयं शतक्रतुः त्सरद्गन्धर्वमस्तृतम्॥ ११॥

(१) **यत्**=जब **सूरः**=वह उत्तम प्रेरणा देनेवाला प्रभु **एतशम्**=(shining) इस निर्मल व दीप्त मनवाले पुरुष को **तुदत्**=प्रेरित करता है, तो **वङ्**=गतिशील **वातस्य पर्णिना**=वायु के समान पतनवाले-वेगवाले इन्द्रियाश्वों को **वहत्**=प्राप्त कराता है। हम एतश बनें, निर्मल मनवाले बनें। प्रभु हमें प्रेरणा को प्राप्त कराते हैं और तीव्र गतिवाले इन्द्रियाश्वों को देते हैं। (२) **शतक्रतुः**=वे अनन्त प्रज्ञानों व शक्तियोंवाले प्रभु **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले, **आर्जुनेयम्**=श्वेत उज्ज्वल चरित्रवाले, **गन्धर्वम्**=वेदवाणियों को धारण करनेवाले **अस्तृतम्**=किसी से हिंसित न होनेवाले उपासक को **त्सरत्**=गुप्त रूप में प्राप्त होते हैं। यह 'कुत्स, आर्जुनेय, गन्धर्व व अस्तृत' व्यक्ति अन्दर हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करता है। प्रभु 'गुहाचरन्' नामवाले हैं। हृदयरूप गुहा में सुगुप्त रूप से स्थित हैं।

भावार्थ—प्रभु शुद्ध मनवाले पुरुष को प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। गतिशील इन्द्रियाश्वों को देते हैं। वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष के हृदयदेश में सुगुप्त रूप से निवास करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्राकृतिक चमत्कार

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुरिष्कर्ता विहुतं पुनः॥ १२॥

(१) **यः**=जो प्रभु **अभिश्रिषः**=सन्धान द्रव्य के **ऋते चित्**=बिना ही, **जत्रुभ्यः आतृदः पुरा**=ग्रीवास्थिवाले स्थान से कट जाने से पूर्व **सन्धिं सन्धाता**=जोड़ को फिर से मिला देनेवाले हैं, वे प्रभु **मघवा**=सचमुच परमैश्वर्यवाले हैं। प्रभु ने शरीर की व्यवस्था ही इस प्रकार से की है कि सब घाव फिर से भर जाते हैं, गर्दन ही कट जाये तो बात और है अन्यथा सब कटाव फिर से जुड़ जाते हैं। (२) **पुरूवसुः**=वे पालक व पूरक वसुओंवाले प्रभु **विहुतम्**=कटे हुए को **पुनः**=फिर से **इष्कर्ता**=ठीक कर देते हैं। सब कटावों को प्रभु फिर से भर देते हैं।

भावार्थ—शरीर की इस रचना में क्या ही प्रभु का चमत्कार है कि बड़े से बड़ा घाव भी फिर से भर जाता है।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—शङ्कुमतीबृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

मा भूम निष्ट्याः इव

मा भू॑म॒ निष्ट्या॑ इ॒वेन्द्र॒ त्वदर॑णा इव। वना॑नि॒ न प्र॑जहि॒तान्य॑द्रिवो दु॒रोषा॑सो अमन्महि॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **निष्ट्याः इव**=घर से बहिष्कृत से **मा भूम**=मत हो जायें। आप ही तो हमारे सच्चे पिता व माता हैं, हम आप से दूर न हो जायें। और परिणामतः **त्वत्**=आप से **अरणाः**=(अरमणाः) आनन्द को न प्राप्त होनेवाले न हो जायें, हमें आपकी उपासना में ही आनन्द आये। (२) इस प्रकार आप से बहिष्कृत न हुए-हुए और आपकी उपासना में आनन्द को लेनेवाले हम **प्रजहितानि**=शाखा पत्र आदि से त्यक्त (क्षीण) **वनानि न**=वनों की तरह (मा भूम=) मत हो जायें, हम पुत्र-पौत्रों से वियुक्त से न हो जायें। हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! हम **दुरोषासः**=सब बुराइयों को दग्ध करनेवाले होते हुए **अमन्महि**=आपका स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से बहिष्कृत न हो जायें, प्रभु की उपासना में ही आनन्द का अनुभव करें। पुत्र-पौत्रों से भरे परिवारवाले हों और बुराइयों का दहन करते हुए आपका स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अनाशवः-अनुग्रासः

अम॑न्महीद॑ना॒शवो॑ऽनु॒ग्रास॑श्च वृत्रहन्। स॒कृत्सु ते॑ मह॒ता शू॑र॒ राध॑सा॒नु स्तोमं॑ मुदीमहि॥ १४॥

(१) हे **वृत्रहन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **अनाशवः**=बहुत हबड़-दबड़ में न पड़े हुए, अर्थात् शान्तभाव से सब कार्यों को करते हुए, **च**=और **अनुग्रासः**=उग्र व क्रूर क्रोधी वृत्तिवाले न होते हुए हम **इत्**=निश्चय से **अमन्महि**=आपका मनन व स्तवन करते हैं। (२) हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **सकृत्**=एक बार तो **ते महता राधसा**=आपसे दिये गये इस महान् ज्ञानैश्वर्य के साथ **स्तोमं अनु सु मुदीमहि**=आपके स्तवन के अनुसार उत्तम आनन्द का अनुभव करते हैं। ज्ञानपूर्वक आपका स्तवन हमें आनन्दित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम शान्त व मृदु स्वभाव बनकर प्रभु का स्तवन करते हैं। ज्ञानपूर्वक इन प्रभु-स्तवनों में ही आनन्द का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

उपासना व सोमरक्षण

यदि॒ स्तोमं॒ मम॒ श्रव॑द॒स्माक॒मिन्द्र॒मिन्द॑वः। ति॒रः प॒वित्रं॑ ससृ॒वांस॑ आ॒शवो॒ मन्द॑न्तु तुग्र्या॒वृधः॑॥ १५॥

(१) **यदि**=यदि **मम स्तोमम्**=मेरे से किये गये स्तुति समूह को **श्रवत्**=वे प्रभु सुनते हैं तो **इन्दवः अस्माकम्**=ये सोमकण हमारे होते हैं। और ये सोमकण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **मन्दन्तु**=आनन्दित करनेवाले हों। प्रभु की उपासना से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और सोमकण सुरक्षित रहते हैं। (२) ये सोमकण **तिरः**=तिरोहित रूप में रुधिर के अन्दर व्याप्त हुए-हुए **पवित्रं ससृवांसः**=पवित्र हृदयवाले पुरुष की ओर गतिवाले होते हैं। **आशवः**=ये शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले होते हैं। और **तुग्र्यावृधः**=जलों से वर्धन को प्राप्त होते हैं। 'आपः रेतो भूत्वा०'=जल ही तो शरीर में रेतःकणों के रूप में होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से शरीर में सोमकणों का रक्षण होता है।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—आर्चीभुरिग्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

यज्ञशीलता व प्रभु-स्तवन

आ त्वद्य सधस्तुतिं वावातुः सख्युरा गहि। उपस्तुतिर्मघोनां प्र त्वावत्वधा ते वश्मि सुष्टुतिम्॥ १६॥

(१) हे प्रभो! **अद्य**=आज **वावातुः**=आपके सम्भजन की कामनावाले **सख्युः**=मित्र की **सधस्तुतिम्**=सब घरवालों के साथ मिलकर की जानेवाली इस स्तुति को **तु**=तो **आ आगहि**=अवश्य प्राप्त होइये। हम मिलकर आपका स्तवन करनेवाले बनें। (२) **मघोनाम्**=यज्ञशील पुरुषों की (मघ=मख) **उपस्तुतिः**=स्तुति **त्वा**=आपको **प्र अवतु**=प्रीणित करनेवाली हो। हम यज्ञशील बनें और आपके स्तवन में प्रवृत्त हों। **अधा**=अब मैं तो **ते सुष्टुतिम्**=आपकी उत्तम स्तुति की ही **वश्मि**=कामना करता हूँ, मैं यही चाहता हूँ कि आपका स्तवन करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं आपका स्तोता व सखा बनूँ, यज्ञशील बनकर आपका ही स्तवन करनेवाला होऊँ।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'उपासना, कर्म व स्वाध्याय' द्वारा सोमरक्षण

सोता हि सोममद्रिभिरेमेनमप्सु धावत। गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन्वक्षणाभ्यः॥ १७॥

(१) **सोमम्**=सोम शक्ति को **हि**=निश्चय से **अद्रिभिः सोत**=उपासना के द्वारा उत्पन्न करो, अपने अन्दर प्रेरित करो। (adore) प्रभु की उपासना हमारे जीवन में सोम शक्ति की स्थिरता का कारण बनती है। **ईम्**=निश्चय से **एनम्**=इस सोम को **अप्सु**=कर्मों में **आधावत**=शुद्ध करो। कर्मों में लगे रहने से यह सोम वासनाओं से मलिन नहीं होता। (२) **गव्यावस्त्रा इव**=ज्ञान की वाणियों को वस्त्रों की तरह **वासयन्तः इत्**=धारण करते हुए ही **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **वक्षणाभ्यः निर्धुक्षन्**=सब प्रकार की उन्नतियों (growth) के लिये इन सोमों का दोहन करते हैं। ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। सो ज्ञानवस्त्रों का धारण सोमरक्षण में सहायक होता है। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन भी बनता है। इस प्रकार सोम का सद्व्यय होकर सब प्रकार की उन्नति हो पाती है।

भावार्थ—सोमरक्षण के साधन ये हैं—(१) उपासना (अद्रिभिः), (२) कर्मव्यापृति (अप्सु), (३) स्वाध्याय (गव्या वस्त्रा वासयन्तः)। सुरक्षित सोम सब उन्नतियों का साधन बनता है।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सुक्रतो पृण

अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण॥ १८॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **अध**=अब **ज्मः**=शरीररूप पृथिवी के दृष्टिकोण से **वा**=या **अध**=अब **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के दृष्टिकोण से तथा **बृहतः**=विशाल **रोचनात्**=दीप्त हृदयान्तरिक्ष के दृष्टिकोण से **अधि वर्धस्व**=आधिक्येन वृद्धिवाला हो। शरीर को दृढ़, मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल व हृदय को नैर्मल्य दीप्त बनानेवाला हो। (२) हे **सुक्रतो**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाले जीव! तू **मम अया गिरा**=मेरी इस ज्ञान वाणी के द्वारा **जाता**=उत्पन्न सब अंग-प्रत्यंगों को **तन्वा**=शक्ति के विस्तार से **आपृण**=आपूरित कर। वेदवाणी में उपदिष्ट मार्ग से चलते हुए हम सब अंगों को शक्तिशाली बनानेवाले हों।

भावार्थ—हम शरीर, मस्तिष्क व हृदय के दृष्टिकोण से उन्नत हों। वेदवाणी के अनुसार जीवन को बिताते हुए सब अंगों की शक्ति का वर्धन करें।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—निचृद्बृहती **स्वरः**—मध्यमः

'प्रभु प्राप्ति, ज्ञान व शक्ति वर्धन'

इन्द्राय सु मदिन्तमं सोमं सोता वरेण्यम्। शक्र एणं पीपयद्विश्वया धिया हिन्वानं न वाजयुम्॥ १९॥

(१) **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं सु सोत**=सोम को (वीर्य को) सम्यक् उत्पन्न करो, जो सोम **मदिन्तमम्**=मादयितृतम है, अधिक से अधिक उल्लास का जनक है और **वरेण्यम्**=वरणीय है, सम्भजनीय है। सोम के रक्षण के द्वारा ही प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) **शक्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **एनम्**=इस सोम को **पीपयत्**=हमारे अन्दर आप्यायित करते हैं। उस सोम को आप्यायित करते हैं, जो **विश्वया धिया हिन्वानम्**=सम्पूर्ण ज्ञान से हमें प्रीणित करता है, **न**=और (न=च) **वाजयुम्**=हमारे साथ शक्ति को जोड़ता है। सोमरक्षण से ज्ञान व शक्ति का वर्धन होता है।

भावार्थ—उस प्रभु की प्राप्ति के लिये हम सोम का रक्षण करें। सुरक्षित सोम हमारे ज्ञान व बल का वर्धन करेगा।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—आर्षीबृहती **स्वरः**—मध्यमः

कः ईशानं न याचिषत्

मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत्॥ २०॥

(१) हे प्रभो! **सोमस्य गल्दया**=(गालनेन आस्रावणेन) शरीर में सोम के आस्रावण के हेतु से **अहम्**=मैं **त्वा**=आप से **गिरा**=इन ज्ञान वाणियों के द्वारा **सदा याचन्**=सदा याचना करता हुआ होऊँ। अर्थात् मेरी एक ही आराधना हो कि प्रभु कृपा से मैं सोम का शरीर में रक्षण कर पाऊँ। (२) इस प्रकार **सवनेषु**=यज्ञों में याचना करता हुआ मैं **भूर्णिम्**=पालन करनेवाले **मृगं न**=अन्वेषणीय के समान उन आपको (मृग् अन्वेषणे) **मा चुक्रुधम्**=क्रुद्ध न कर बैठूँ। यह सोमरक्षण की निरन्तर रट बारम्बार प्रार्थना आप के क्रोध का कारण न बन जाये। **ईशानम्**=ईशान स्वामी से **कः न याचिषत्**=कौन याचना नहीं करता! और किससे मैंने याचना करनी! आप से ही तो माँगना है।

भावार्थ—मैं सदा प्रभु से यही याचना करूँ कि मैं यज्ञों में लगा रहूँ और सोम को शरीर में सुरक्षित कर पाऊँ।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—विराड्बृहती **स्वरः**—मध्यमः

उल्लास, शक्ति व शत्रु विजेता सन्तान

मदेनेषितं मदमुग्रमुग्रेण शवसा। विश्वेषां तरुतारं मदच्युतं मदे हि ष्मा ददाति नः॥ २१॥

(१) **मदेन**=उल्लास के हेतु से तथा **उग्रेण शवसा**=प्रबल शक्ति के हेतु से **इषितम्**=शरीर में प्रेरित किये गये इस **उग्रम्**=तेजस्वी **मदे**=उल्लासजनक सोम को जितेन्द्रिय पुरुष पीने का प्रयत्न करे। (२) **मदे**=सोमपान से जनित उल्लास के होने पर वे प्रभु **नः**=हमारे लिये **हि ष्मा**=निश्चय से **विश्वेषां तरुतारम्**=सब शत्रुओं के तैर जानेवाले **मदच्युतम्**=शत्रुओं के मद को च्युत करनेवाले सन्तान को **ददाति**=देते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से 'उल्लास व शक्ति' प्राप्त होती है। इससे शत्रु विजेता सन्तान प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सुन्वन्-स्तुवन् (दाश्वान्)

शेवारे वार्या पुरु देवो मर्ताय दाशुषे।
स सुन्वते च स्तुवते च रासते विश्वगूर्तो अरिष्टुतः॥ २२॥

(१) **देवः**=वह सब कुछ देनेवाला प्रभु **शेवारे**=(शेवं सुखं तस्य अरे गमके यज्ञे) सुख प्राप्त करानेवाले यज्ञों में **दाशुषे**=हविरूप से घृत आदि को देनेवाले **मर्ताय**=मनुष्य के लिये **पुरु**=बहुत **वार्या**=वरणीय धनों को **रासते**=देता है। वस्तुतः प्रभु यज्ञशील को सब काम्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। यह यज्ञ 'कामधुक्' तो है ही। (२) **सः**=वह **विश्वगूर्तः**=सर्वत्र उद्यमवाले **अरिष्टुतः**=(ऋ गतौ) गतिशील पुरुषों से स्तुति किये गये प्रभु **सुन्वते**=यज्ञशील **च**=और **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले प्रभु के लिये सब आवश्यक वस्तुओं को देते ही हैं।

भावार्थ—दानशील-यज्ञशील स्तोता के लिये प्रभु सब आवश्यक वस्तुओं को देते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिग्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'चित्र राधस्' की प्राप्ति

एन्द्र याहि मत्स्व चित्रेण देव राधसा। सरो न प्रास्युदरं सपीतिभिरा सोमेभिरुरु स्फिरम्॥ २३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! **आयाहि**=आप आइये। हे **देव**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! **चित्रेण राधसा**=अद्भुत व चायनीय (पूजनीय-उत्कृष्ट) धन से **मत्स्व**=हमें आनन्दित करिये। (२) हे प्रभो! आप **सरः न**=एक जलाशय की तरह **उरु**=विशाल व **स्फिरम्**=प्रवृद्ध **उदरम्**=मध्यभाग को **सपीतिभिः सोमेभिः**=प्राणों के साथ पीये जाते हुए इन सोमों से **प्रासि**=पूर्ण करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा शरीर में सोमकणों की ऊर्ध्व गति होती है। इस प्रकार प्राण का सोम का पान करनेवाले होने से 'सपीति' कहे गये हैं। इन सोमकणों के रक्षण से शरीर का मध्य, अर्थात् हृदयान्तरिक्ष प्रवृद्ध व विशाल बनता है। वस्तुतः यह सोमरक्षण ही अद्भुत ऐश्वर्य की प्राप्ति का साधन बनता है।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम सोम का रक्षण कर पायें। यह सोमरक्षण हमारे लिये अद्भुत ऐश्वर्य की प्राप्ति का साधन बने। इससे हमारा हृदयान्तरिक्ष विशाल व प्रवृद्ध बने।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

अर्वाञ्चि खानि (अन्तर्मुखी इन्द्रियाँ)

आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये॥ २४॥

(१) हे प्रभो! **हिरण्यये रथे**=इस हितरमणीय, या तेजस्विता से दीप्त ज्योतिर्मय शरीर-रथ में **युक्ताः**=जुते हुए **हरयः**=इन्द्रियाश्व **आशतम्**=शतवर्षपर्यन्त **आ सहस्रम्**=(स+हस्) आनन्दमय-कोश तक **वहन्तु**=हमें प्राप्त करायें। ये इन्द्रियाश्व बाहर विषयों में न भटककर हमें अन्नमय कोश से ऊपर प्राणमयकोश में, वहाँ से मनोमय व विज्ञानमयकोश में होते हुए आनन्दमयकोश में प्राप्त करानेवाले हों। ताकि **सोमपीतये**=सोम को हम पान कर सकें, अर्थात् सोम का शरीर में ही रक्षण

करनेवाले हों। (२) हे प्रभो! इस प्रकार ये इन्द्रियाश्व **ब्रह्मयुजः**=एक महान् लक्ष्य से (ब्रह्म=great) हमें सम्बद्ध करनेवाले हों। और **केशिनः**=प्रकाश की रश्मियोंवाले हों।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ शरीर-रथ में जुती हुई विषयों में न भटककर हमें आनन्दमयकोश की ओर ले चलें। इस प्रकार ये हमें एक महान् लक्ष्य से सम्बद्ध करनेवाली हों और प्रकाश की रश्मियोंवाली हों।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—निचृद्बृहती **स्वरः**—मध्यमः

हरी मयूरशेप्या

आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या।
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये॥ २५॥

(१) हे प्रभो! इस **हिरण्यये रथे**=मेरे हितरमणीय-तेजस्विता से दीप्त शरीर-रथ में **शितिपृष्ठा**=श्वेत पृष्ठवाले, अर्थात् वासनाओं के आवरण से न मलिन हुए-हुए, **मयूरशेप्या**=(मह्यां रौति) प्रभु-स्तवन द्वारा उत्तम रूप (शेप) को प्राप्त हुए-हुए **हरी**=इन्द्रियाश्व **त्वा**=आपको **आवहताम्**=प्राप्त करायें। हमारी इन्द्रियाँ विषय मलिन न हों, अपितु स्तुति से दीप्त हों। और इस प्रकार ये इन्द्रियाँ अर्वाङ्मुखी होती हुई प्रभु प्राप्ति का साधन बनें। (२) आपको शरीर-रथ में प्राप्त कराना इस **मध्वो**=जीवन को मधुर बनानेवाले, **अन्धसः**=आध्यातव्य अथवा जीवन के लिये अन्नरूप **विवक्षणस्य**=विशिष्ट उन्नति के साधनभूत (वक्षण=growth) सोम के **पीतये**=पान के लिये हो। हम सोम का शरीर में रक्षण करते हुए सब प्रकार से उन्नत हों।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व प्रभु-स्तवन द्वारा उज्ज्वल बने रहें। सोम का रक्षण करते हुए हम उन्नत हों।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—आर्षीबृहती **स्वरः**—मध्यमः

'परिष्कृत रसी' सोम

पिबा त्व१स्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव। परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते॥ २६॥

(१) हे **गिर्वणः**=ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तुतिवाणियों से सम्भजनीय प्रभो! **अस्य सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम का **पूर्वपाः इव**=सब से प्रथम पान करनेवाले के समान **पिबा तु**=अवश्य पान कर। हम आपके स्तवन के द्वारा इस सोम का रक्षण करनेवाले बनें। (२) **परिष्कृतस्य**=वासनाओं से न मलिन हुए-हुए **रसिनः**=जीवन को रसमय बनानेवाले इस सोम की **इयम्**=यह **आसुतिः**=उत्पत्ति **चारुः**=अत्यन्त सुन्दर है और **मदाय पत्यते**=यह उल्लास के लिये होती है (पत्यते संपद्यते सा०)। परिष्कृत सोम जीवन में सुरक्षित हुआ आनन्द का जनक होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन सोमरक्षण का साधन बने। सुरक्षित सोम उल्लास का जनक हो।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—आर्षीबृहती **स्वरः**—मध्यमः

सतत प्रभु-स्मरण

य एको अस्ति दंसना महाँ उग्रो अभि व्रतैः।
गमत्स शिप्री न स योषदा गमद्धवं न परि वर्जति॥ २७॥

(१) **यः**=जो प्रभु **एकः अस्ति**=अद्वितीय हैं **दंसना**=अपने सृष्टि उत्पत्ति आदि कर्मों से **महान्**=महनीय व पूजनीय हैं। **व्रतैः**=सूर्य, विद्युत, अग्नि आदि देवों के निर्माण रूप कर्मों से

उग्रः=अत्यन्त तेजस्वी हैं, वे प्रभु **अभिगमत्**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त हों, हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। (२) **सः**=वे प्रभु **शिप्री**=शोभन हनु व नासिकावाले हैं। प्रभु ने हमारे लिये उत्तम दंष्ट्राओं व नासिका को प्राप्त कराया है। इन जबड़ों से खूब चबाकर भोजन करते हुए हम नीरोग बने रहते हैं और नासिका से प्राणसाधना करते हुए मन को निर्मल बना पाते हैं। **सः**=वे प्रभु **न योषत्**=कभी हमारे से पृथक् न हों। **हवं आगमत्**=हमारे पुकार के होते ही हमें प्राप्त हों। **न परिवर्जति**=प्रभु कभी हमारा परित्याग न कर दें। हम अपने उत्तम कर्मों से सदा प्रभु के प्रिय बने रहें।

भावार्थ–प्रभु अद्वितीय हैं। हम उत्तम कर्मों को करते हुए, नीरोग व निर्मल बनते हुए, सदा प्रभु के प्रिय रहें। कभी प्रभु से पृथक् न हों।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृत्पथ्या बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

शुष्णासुर की पुरी का संपेषण

त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक्।
त्वं भा अनु चरो अध द्विता यदिन्द्र हव्यो भुवः॥ २८॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **त्वम्**=आप **यत्**=जब **हव्यः**=पुकारने योग्य होते हैं, अर्थात् जब उपासकों से आप उपासनीय होते हैं, तो **शुष्णस्य**=सुखा देनेवाले इस कामदेव की (शुष्णासुर के) **चरिष्ण्वम्**=निरन्तर चरणशील **पुरम्**=नगरी को **वधैः**=आयुधों से, इन्द्रिय, मन व बुद्धि रूप अस्त्रों से **सं पिणक्**=छिन्न-भिन्न कर देते हैं। कामाक्रान्त पुरुष अत्यन्त अशान्त होता है। सो काम की पुरी को 'चरिष्ण्वं' कहा गया है। (२) इस काम की पुरी के विध्वंस के होने पर **त्वम्**=आप **भाः अनुचरः**=दीप्तियों के साथ हमें प्राप्त होते हैं। **अध**=अब **द्विता**=हमारे जीवनों में दो का विस्तार होता है (द्वौ तनोति) शरीर में शक्ति का (=क्षत्र का) तथा मस्तिष्क में ज्ञान का (=ब्रह्म का) काम विध्वंस शरीर में शक्ति संचय व मस्तिष्क में ज्ञान संचय का कारण बनता है।

भावार्थ–हम प्रभु की उपासना करते हुए काम का विध्वंस करनेवाले बनें। इस काम विध्वंस से दीप्तियों को प्राप्त करते हुए 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास करें।

ऋषिः—मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'प्रातः, मध्याह्न, सायं व अर्धरात्रि' में प्रभु-स्मरण

मम त्वा सूर उदिते मम मध्यन्दिने दिवः।
मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत॥ २९॥

(१) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **सूरे उदिते**=सूर्योदय के समय **मम स्तोमासः**=मेरे से किये जानेवाले स्तवन **त्वा**=आपको **आ अवृत्सत**=मेरी ओर आवृत्त करनेवाले हों (आवर्तयन्तु)। सूर्योदय के समय मैं आपका स्तवन करूँ। इसी प्रकार **दिवः मध्यन्दिने**=दिन के मध्यभाग में, मध्याह्न में **मम**=मेरे से किये गये ये स्तवन आपको मदभिमुख करनेवाले हों। (२) **प्रपित्वे**=दिन के अवसान के प्राप्त होने पर, अर्थात् सायंकाल के समय भी **मम**=मेरे स्तवन आपको मदभिमुख करें। तथा **शर्वरे अपि**=रात्रि के समय भी ये स्तोम आपको मदभिमुख करनेवाले हों। मैं सदा प्रातः, मध्याह्न, सायं व रात्रि में आपका ध्यान करता हुआ आपको अपने अभिमुख करनेवाला बनूँ। सदा आपके समीप रहता हुआ अपने कर्तव्य कर्मों को अप्रमाद से करूँ।

भावार्थ—हम प्रातः, मध्याह्न, सायं व अर्धरात्रि में, अर्थात् सदा प्रभु-स्मरण करते हुए अपने जीवनों को पवित्र बनायें। प्रभु से दूर होने पर ही जीवनों में अपवित्रता का प्रवेश होता है।

ऋषिः—आसङ्गः प्लायोगिः ॥ **देवता**—आसङ्गस्य दानस्तुतिः ॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिग्बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

निन्दिताश्व का प्रपथी बनना

स्तुहि स्तुहीदेते घा ते मंहिष्ठासो मघोनाम्।
निन्दिताश्वः प्रपथी परमज्या मघस्य मेध्यातिथे॥ ३०॥

(१) हे जीव **स्तुहि स्तुहि इत्**=तू स्तवन करनेवाला बन और स्तवन करनेवाला बन ही। इस स्तवन के करने पर **एते**=ये **ते**=तेरे इन्द्रियाश्व **घा**=निश्चय से **मघोनां मंहिष्ठासः**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों में भी दातृतम होते हैं। प्रभु-स्तवन से लोभ विनष्ट होता है, दान की वृत्ति पुष्पित होती है। (२) प्रभु-स्तवन से पूर्व जो व्यक्ति **निन्दिताश्वः**=कुत्सित इन्द्रियाश्वोंवाला बना हुआ था, वह **प्रपथी**=प्रकृष्ट मार्ग पर चलनेवाला बनता है, **परमज्याः**=उत्कृष्ट शत्रुओं को भी विनष्ट करनेवाला होता है। हे **मेध्यातिथे**=मेध्य प्रभु को अतिथि बनानेवाले जीव! इस स्तवन से तू **मघस्य**=यज्ञ का हो जाता है, यज्ञमय तेरा जीवन बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करने से इन्द्रियाँ निन्दित वृत्तियों का परित्याग करके शुभ मार्ग की ओर चलती हैं।

ऋषिः—आसङ्गः प्लायोगिः ॥ **देवता**—आसङ्गस्य दानस्तुतिः ॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

याद्वः पशुः

आ यदश्वान्वनन्वतः श्रद्धयाहं रथे रुहम्।
उत वामस्य वसुनश्चिकेतति यो अस्ति याद्वः पशुः॥ ३१॥

(१) **यत्**=जब **अहम्**=मैं **वनन्वतः**=प्रभु का सम्भजन करते हुए **अश्वान्**=इन्द्रियाश्वों को **श्रद्धया**=बड़ी श्रद्धा से **रथे**=शरीर-रथ में जोतकर चलता हूँ तो **आरुहम्**=उन्नतिपथ पर आरूढ़ होता हूँ। इन्द्रियाश्वों को अलस नहीं होने देता, इसी कारण मैं अग्रगति कर पाता हूँ। (२) **उत**=और **यः**=जो **याद्वः**=(यद्वो मनुष्याः) मनुष्यों का हित करनेवाला **पशुः**=द्रष्टा **अस्ति**=होता है यह **वामस्य**=सुन्दर **वसुनः**=वसु का, धन का **चिकेतति**=जाननेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु-सम्भजन पूर्वक जीवनयात्रा में आगे बढ़नेवाला व्यक्ति मानव हित की भावनावाला होता है यह तत्त्वद्रष्टा बनकर सुन्दर धनों का अर्जन करनेवाला बनता है, उत्तम साधनों से ही धन कमाता है।

ऋषिः—आसङ्गः प्लायोगिः ॥ **देवता**—आसङ्गस्य दानस्तुतिः ॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिग्बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

आसंगस्य स्वनद्रथः

य ऋज्रा मह्यं मामहे सह त्वचा हिरण्यया। एष विश्वान्यभ्यस्तु सौभगासङ्गस्य स्वनद्रथः॥ ३२॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **यः**=जो **ऋज्रा**=ऋजुगामी इन्द्रियाश्वों को **मह्यं मामहे**=मेरे लिये देता है अथवा इन इन्द्रियाश्वों से मेरा पूजन करता है, **एषः**=यह उपासक **हिरण्यया त्वचा सह**=ज्योतिर्मय, तेजस्वी, आवरणभूत शरीर के साथ **विश्वानि**=सब **सौभगानि**=उत्तम ऐश्वर्यों को **अभ्यस्तु**=सर्वतः प्राप्त हो। इन्हें जीतनेवाला बने। यह ऐश्वर्यों का पति हो, ऐश्वर्य इसके पति न

हो जायें। (२) **आसंगस्य**=(आ असंगस्य) इस सर्वथा ऐश्वर्यों में अनासक्त पुरुष का **स्वनद्रथः**=वह शरीर-रथ सदा प्रभु के स्तोत्रों के स्तवनवाला हो। यह सदा नाम-स्मरण करता हुआ जीवनयात्रा में आगे बढ़े।

भावार्थ-हम इन्द्रियों को विषयाशक्ति से बचाकर प्रभु के उपासन में लगायें। तेजस्वी शरीरवाले हों, ऐश्वर्यों के स्वामी हो। अनासक्त भाव से चलते हुए सदा प्रभु के नामों का उच्चारण करें।

ऋषिः—आसङ्गः प्लायोगिः॥ **देवता**—आसङ्गस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

दश उक्षणः

अध प्लायोगिरति दासदन्यानासङ्गो अग्ने दशभिः सहस्रैः।
अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो नळाइव सरसो निरतिष्ठन्॥ ३३॥

(१) **अध**=अब यह **प्लायोगिः**=प्रकर्षेण कर्मयोग के मार्ग पर चलनेवाला **आसंगः**= (आ असंगः) विषयों में अनासक्त पुरुष **अन्यान्**=अपने से भिन्न, विरोधी, काम आदि शत्रुओं को **अतिदासत्**=अतिशयेन विनष्ट करता है। (२) **अग्ने**=हे प्रभो! **अध**=अब कामादि शत्रुओं का विनाश करने पर **सहस्रैः**=आनन्दमय **दशभिः**=दसों इन्द्रियों के साथ **मह्यम्**=मेरे लिये **दश**=दस **उक्षणः**=शक्ति का मेरे में सेचन करनेवाले **रुशन्तः**=चमकते हुए प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय) **सरसः**=तालाब से **नडाः इव**=तृणविशेषों की तरह **निरतिष्ठन्**=निकलकर स्थित होते हैं। वस्तुतः शरीर तालाब है तो दश प्राण उससे उत्पन्न होकर उसमें स्थित होनेवाले दश तृणविशेष हैं। इनके द्वारा शरीर में शक्ति का सेचन होता है, ये ही शरीर में सोमकणों की ऊर्ध्वगति का कारण बनते हैं।

भावार्थ-कर्मों में व्यापृत उपासक काम आदि शत्रुओं का विनाश करता है। इसकी इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं और इसके प्राण शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति का कारण बनते हैं।

ऋषिः—शश्वत्याङ्गिरस्यासङ्गस्य पत्नी॥ **देवता**—आसङ्गः॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'स्थूर', 'उरु' तथा 'सुभद्र भोजन का भर्ता'

अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः।
शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि॥ ३४॥

(१) **अस्य**=इस प्लायोगि का (१।३३) प्रकर्षेण कर्मयोग के मार्ग पर चलनेवाले का **अनु**=क्रमशः दिन व दिन **स्थूरं ददृशे**=स्थूलत्व व दृढ़ता दिखती है। **पुरस्तात्**=यह आगे और आगे बढ़ता हुआ **अनस्थः**=अस्थिशून्य-सा भरे शरीरवाला दिखता है। हड्डियों का ढाँचा नहीं लगता। **उरुः**=विशाल हृदयवाला व **अवरम्बमाणः**=प्रभु का आलम्बन करता हुआ, प्रभु के आधारवाला होता है। (२) **शश्वती**=सनातन काल से चली आनेवाली **नारी**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाली यह वेदमाता **अभिचक्ष्य**=इसे देखकर **आह**=कहती है कि हे **अर्य**=जितेन्द्रिय पुरुष तू **सुभद्रं भोजनम्**=अत्यन्त कल्याणकर इस पालक ज्ञान को (भुजपालने) **बिभर्षि**=धारण करता है। वेद से यह ज्ञान प्राप्ति की प्रेरणा लेता है। यह ज्ञान ही तो इसके जीवन को उत्कृष्ट बनाता है।

भावार्थ-कर्मयोगी पुरुष शरीर में स्थूल व दृढ, मन में विशाल व प्रभु-भक्तिवाला तथा मस्तिष्क में ज्ञान को धारण करनेवाला होता है।

अब यह मेधातिथि=बुद्धि को अपना अतिथि बनानेवाला 'प्रियमेध' बनता है। कण-कण करके शक्ति का संचय करता हुआ 'काण्व' व 'आंगिरस' बनता है। यह प्रभु का स्तवन करता हुआ सोम रक्षण के लिये यत्नशील होता है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

निर्भयता

इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्। अनाभयिन्ररिमा ते॥ १॥

(१) प्रभु जीव से कहता है कि हे **वसो**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले उपासक **इदम्**=यह **अन्धः**=सोमलक्षण अन्न **सुतम्**=तेरे लिये उत्पन्न किया गया है। इसको तू **सुपूर्णं उदरम्**=उदर को पूर्ण करता हुआ **पिबा**=अपने में पीनेवाला बन, अपने अन्दर इसे तू सुरक्षित कर। (२) सोमरक्षण के द्वारा सब प्रकार के रोगों के भय से ऊपर उठे हुए **अनाभयिन्**=अभयता को प्राप्त उपासक! **ते**=तेरे लिये **ररिमा**=इस सोम को देते हैं। यह शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ तेरे कल्याण का साधक हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम (क) रोगों से ऊपर उठाकर हमें उत्तम निवासवाला बनाता है, (ख) तथा यह सोमरक्षण हमें काम-क्रोध आदि के आक्रमण के भय से दूर रखता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

नर-अश्न-अवि-नदी

नृभिर्धूतः सुतो अश्नैरव्यो वारैः परिपूतः। अश्वो न निक्तो नदीषु॥ २॥

(१) यह सोम **नृभिः धूतः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से कम्पन द्वारा पवित्र किया जाता है। ये लोग वासनाओं को कम्पित करके दूर करते हैं और इस प्रकार सोम वासनाओं से मलिन नहीं होता। **अश्नैः**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त रहनेवाले लोगों से यह **सुतः**=अपने अन्दर उत्पन्न किया जाता है। और **अव्यः**=रक्षण करनेवाले पुरुष के **वारैः**=वासनाओं के निवारण के द्वारा यह सोम **परिपूतः**=सर्वथा पवित्र किया जाता है। (२) यह सोम **अश्वः न**=अश्व के समान है, इस सोम के द्वारा हम जीवनयात्रा को अच्छी प्रकार पूर्ण कर पाते हैं। यह **नदीषु**=स्तोताओं में (नद शब्दे) **निक्तः**=शुद्ध व पोषित होता है। प्रभु-स्मरण सोम के पवित्र करने का साधन बन जाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि हम नर=उन्नतिपथ पर चलनेवाले बनें। **अश्न**=सदा कर्मों में व्याप्त हों। **अवि**=अपना रक्षण करनेवाले हों, वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचायें। नदी=प्रभु के स्तोता बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गोभिः श्रीणन्तः

तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः। इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **तम्**=उस **ते**=आपके दिये हुए इस **यवम्**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को पृथक् करनेवाले और अच्छाइयों को मिलानेवाले सोम को **यथा**=जिस प्रकार **गोभिः श्रीणन्तः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा परिपक्व करते हुए **स्वादुं अकर्म**=जीवन को मधुर बनानेवाला करते हैं। सोम 'यव' है, दुरितों को दूर व भद्र को समीप करनेवाला है। ज्ञान में लगे रहना सोम को परिपक्व

करने का साधन है। इस सोम के ठीक परिपाक से जीवन मधुर बनता है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वा**=आप को **अस्मिन्**=इस **सधमादे**=(सह माद्यन्ति अस्मिन्) प्रभु के साथ आनन्द अनुभव करने के स्थान हृदय में आमन्त्रित करते हैं। सोमरक्षण ही हमें इस आमन्त्रण के लिये योग्य बनाता है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन से सब बुराइयों को दूर करनेवाला है। ज्ञान की वाणियों के द्वारा इसका परिपाक होता है। परिपक्व सोम जीवन को मधुर बनाता है, और हमें हृदय में प्रभु को आमन्त्रित करने के योग्य बनाता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोमपा इन्द्रः विश्वायुः (भवति)

इन्द्र इत्सोमपा एक इन्द्रः सुतपा विश्वायुः। अन्तर्देवान्मर्त्यांश्च॥ ४॥

(१) **एकः इन्द्रः इत्**=वह एक जितेन्द्रिय पुरुष ही **सोमपाः**=सोम का अपने अन्दर रक्षण करनेवाला बनता है यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष ही **सुतपाः**=उत्पन्न सोम का पान करता है और परिणामतः **विश्वायुः**=पूर्ण जीवनवाला होता है। सोम ही सुरक्षित होकर दीर्घ व सुन्दर जीवन का साधन बनता है। (२) यह सोम ही **देवान् अन्तः**=इन्द्रियरूप देवों के अन्दर कार्य करता है। अर्थात् इन्द्रियों को यही सशक्त बनाता है। **च**=और **मर्त्यान् अन्तः**=इन नश्वर 'पृथिवी, जल, तेज, वायु' आदि भूतों से बने शरीरों में कार्य करता है। इन शरीरों को भी यह सोम ही ठीक रखता है। ये भूत क्षर हैं, सो इन्हें मर्त्य कहा है। इन्द्रियाँ मृत्यु पर भी साथ जाती हैं, सो देव व अमर हैं। इन सबके अन्दर सोम की ही शक्ति काम करती है।

भावार्थ—इन्द्र सोम का पालन करता है सो उत्तम दीर्घ जीवनवाला बनता है। यह सोम की इन्द्रियों व शरीर के स्वास्थ्य का साधन बनता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उरुव्यचाः सुहार्द

न यं शुक्रो न दुराशीर्न तृप्रा उरुव्यचसम्। अपस्पृण्वते सुहार्दम्॥ ५॥

(१) **यम्**=जिस **उरुव्यचसम्**=महान् विस्तारवाले प्रभु को **शुक्रः**=(शुक् गतौ) गतिशील पुरुष **न अपस्पृण्वते**=प्रीणित नहीं करता, सो बात नहीं है। अर्थात् गतिशील पुरुष ही स्वकर्म द्वारा प्रभु का अर्चन करता है। **दुराशी**=(दुर् आ शृ) बुराई का समन्तात् विनाश करनेवाला व्यक्ति उस **सुहार्दम्**=उत्तम मित्र प्रभु को **न**=प्रीणित नहीं करता ऐसी बात नहीं है। (२) इसी प्रकार **तृप्राः**=जीवन को उत्तम बनाने के द्वारा अपने माता, पिता व बड़ों को प्रसन्न करनेवाले व्यक्ति **न**=उस प्रभु को प्रीणित न करें, सो नहीं है। प्रभु को ये तृप्र प्रीणित करते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु अत्यन्त विस्तारवाले व उत्तम मित्र हैं। प्रभु को गतिशील (शुक्र) बुराइयों को शीर्ण करनेवाले (दुराशी) उत्तम कर्मों से माता, पिता को प्रसन्न करनेवाले (शृ) व्यक्ति प्रीणित करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गोभिः मृगयन्ते, अभित्सरन्ति धेनुभिः

गोभिर्यदीमन्ये अस्मन्मृगं न व्रा मृगयन्ते। अभित्सरन्ति धेनुभिः॥ ६॥

(१) **यत्**=जब **अस्मत् अन्ये**=हमारे से भिन्न ये लोग **ईम्**=निश्चय से **गोभिः**=इन ज्ञान की वाणियों द्वारा उस प्रभु को **मृगयन्ते**=ढूँढ़ते हैं। इस प्रकार ढूँढ़ते हैं, **न**=जैसे **व्राः मृगम्**=घेर लेनेवाले शिकारी शिकार के योग्य पशु को। हमें भी चाहिये कि हम भी स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवाणियों का ग्रहण करते हुए प्रभु के अन्वेषण के लिये यत्नशील हों। (२) ये लोग **धेनुभिः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली इन वेद-धेनुओं से **अभित्सरन्ति**=उस प्रभु के समीप शान्तिपूर्वक प्राप्त होते हैं। इनके द्वारा हम क्यों न प्रभु को पायेंगे?

भावार्थ–ज्ञान की वाणियों द्वारा हम इष्टदेवता से अपना सम्बन्ध स्थापित करें। वेद-धेनुओं को अपनाते हुए प्रभु के समीप हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः‌ **देवता**—इन्द्रः‌ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री‌
स्वरः—षड्जः‌

त्रयः सोमाः

त्रय इन्द्र॑स्य॒ सोमा॑ः सु॒तास॑ः सन्तु दे॒वस्य॑। स्वे क्षये॑ सुत॒पाव्न॑ः ॥ ७ ॥

(१) शरीर में सोम का सम्पादन व रक्षण करना होता है। सोम का सम्पादन ही 'सवन' है। ये सवन तीन हैं–'प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन'। जीवन के प्रथम चौबीस वर्ष प्रातः सवन हैं, अगले चवालीस वर्ष माध्यन्दिन सवन, अन्तिम अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं। इन तीनों सवनों में सम्पादित होने से सोम भी तीन हैं। ये **त्रयः सुतासः सोमाः**=तीनों सवनों में उत्पन्न किये गये सोम **देवस्य**=दिव्यगुणों का अपने में वर्धन करनेवाले **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **सन्तु**= हों। इन्द्रदेव तीनों सवनों में सोम का पान करनेवाला हो। ये सोम ही तो उसे 'इन्द्रदेव' बनाते हैं। (२) ये तीनों सोम उन इन्द्रदेव के हों, जो **स्वे क्षये**=अपने इस शरीररूप गृह में **सुतपाव्नः**=उत्पन्न सोमों का पान करते हैं। शरीर में ही सोम का रक्षण सोम का पान है।

भावार्थ–हम जीवन के प्रातः, मध्याह्न व सायं में (बाल्य, यौवन व वार्धक्य में) सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यह सोम का पान हमें दिव्यगुण-सम्पन्न व ऐश्वर्यशाली बनायेगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः‌ **देवता**—इन्द्रः‌ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री‌
स्वरः—षड्जः‌

द्रोणकलश-पूतभृत्-आधवनीय (त्रयः कोशासः)

त्रय॒ः कोशा॑सः श्चोतन्ति ति॒स्रश्च॒म्व॑ः सु॒पूर्णा॑ः। स॒मा॒ने अधि॒ भार्म॑न्॥ ८ ॥

(१) शरीर में यह अन्नमयकोश 'द्रोणकलश' है (द्रु गतौ) सब गतियों का यह आधार है। प्राणमयकोश 'पूतभृत' है, पवित्र इन्द्रियों का धारण करनेवाला। मनोमयकोश 'आधवनीय' है, जिससे सब वासनाओं को कम्पित करके दूर करना चाहिए। ये **त्रयः कोशासः**=तीनों कोश **श्चोतन्ति**=सोम के क्षरणवाले होते हैं। इन में सोम का क्षरण होता है। इनमें सोम का क्षरण होने पर **तिस्रः चम्वः**=तीनों शरीररूप पात्र **सुपूर्णाः**=उत्तमता से पूर्ण होते हैं। 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' सब शरीर न्यूनताओं से रहित होकर हमारे जीवन को पूर्ण बनानेवाले होते हैं। (२) ये सोम **समाने भार्मन् अधि**=(अधिः सप्तम्यर्थानुवादी) समान भरण के निमित्त होते हैं। अन्नमयकोश को ये नीरोग व तेजस्वी बनाते हैं। प्राणमयकोश को ये ही 'वीर्यवान्' करते हैं। मनोमयकोश इनके द्वारा 'ओजस्वी व बलवान्' होता है। विज्ञानमयकोश को ये दीप्त ज्ञानवाला बनाते हैं इन्हीं से आनन्दमयकोश सहस्वाला होता है।

भावार्थ–सोम जब अन्नमय, प्राणमय व मनोमयकोश में गति करता है तो हमारे जीवन की

पूर्णता का यह कारण बनता है। यह सब कोशों का समानरूप से भरण करता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शुचिः मन्दिष्ठः

शुचिरसि पुरुनिःष्ठाः क्षीरैर्मध्यत आशीर्तः। दध्ना मन्दिष्ठः शूरस्य॥ ९॥

(१) हे सोम! तू **शुचिः असि**=पवित्र है, हमारे जीवन को पवित्र करनेवाला है। **पुरुनिःष्ठाः**=पालक व पूरक रूप से शरीर निष्ठ होनेवाला है, शरीर में स्थित होकर तू पालन व पूरण करता है। **क्षीरैः**=दुग्धों से उत्पन्न हुआ-हुआ तू **मध्यतः**=शरीर मध्य में स्थित हुआ-हुआ **आशीर्तः**=समन्तात् शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला है। (२) हे सोम तू **शूरस्य**=इन शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले पुरुष का **दध्ना**=धारक बल के द्वारा **मन्दिष्ठः**=अधिक से अधिक आनन्दित करनेवाला है।

भावार्थ—सोम हमें पवित्र व आनन्दमय जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इमे त इन्द्र सोमास्तीव्रा अस्मे सुतासः। शुक्रा आशिरं याचन्ते॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! **इमे**=ये **ते**=आपके **सोमाः**=सोमकण **तीव्राः**=बड़े तीव्र हैं, शत्रुओं के लिये भयंकर हैं। **अस्मे**=हमारे लिये **सुतासः**=ये उत्पन्न किये गये हैं। (२) **शुक्राः**=(शुक गतौ) गतिशील पुरुष **आशिरम्**=(आशृणाति) समन्तात् शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले इस सोम को **याचन्ते**=माँगते हैं। गतिशीलता के द्वारा ही सोम का रक्षण होता है। सुरक्षित सोम शरीर में रोग व वासनारूप शत्रुओं के विनाश का कारण बनता है।

भावार्थ—गतिशील पुरुष सोम का रक्षण करते हुए नीरोग शरीर व निर्मल मन को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'पुरोडाशं' सोमम्

ताँ आशिरं पुरोळाशमिन्द्रेमं सोमं श्रीणीहि। रेवन्तं हि त्वा शृणोमि॥ ११॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! **तान्**=गत मन्त्र में वर्णित **शुक्र**=गतिशील पुरुषों का लक्ष्य करके **इमम्**=इस **आशिरम्**=समन्तात् शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले, **पुरोडाशम्**=(दाश्नोति hurt, kill) सर्वप्रथम रोगों व वासनाओं को नष्ट करनेवाले **सोमम्**=सोम को **श्रीणीहि**=परिपक्व करिये। इस सोम के परिपाक से ही हमारा जीवन सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न बनेगा। (२) हे प्रभो! **त्वा**=आपको **रेवन्तम्**=सर्वैश्वर्य-सम्पन्न **हि**=ही **शृणोमि**=सुनता हूँ। आपके द्वारा सोम के परिपाक होने पर मैं भी सब कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त करूँगा।

भावार्थ—सोम का परिपाक होने से यह सोम रोग व वासनारूप शत्रुओं को शीर्ण करता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ऊधर्न नग्ना जरन्ते

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ १२॥

(१) **सुरायाम्**=शराब में **दुर्मदासः**=दुष्ट मद को प्राप्त हुए-हुए व्यक्ति **न**=जिस प्रकार

युध्यन्ते=युद्ध करते इसी प्रकार **हृत्सु पीतासः**=हृदयों में सोम का पान करनेवाले, अर्थात् खूब ही सोम का रक्षण करनेवाले लोग रोगों व वासनाओं से युद्ध करते हैं। शराब पीकर सैनिक राजस नशे में शत्रुओं पर प्रहार करते हैं। ये सोम पुरुष सात्त्विक मद सम्पन्न होकर रोगों व वासनाओं से युद्ध करते हैं। (२) ये सोमरक्षक पुरुष **नग्नाः**=(ग्राः छन्दांसि तानि न जहति) छन्दों द्वारा प्रभु का स्तवन करनेवाले ज्ञानी पुरुष **ऊधः न**=सब ज्ञानदुग्धों के आधारभूत 'ऊधस्' के समान उस प्रभु का **जरन्ते**=स्तवन करते हैं। प्रभु को ये 'उधस्' के रूप में देखते हैं। गौ का 'ऊधस्' दुग्ध का आधार होता है, प्रभु रूप 'ऊधस्' सब ज्ञानदुग्धों के आधार हैं। सोमी पुरुष ही तीव्र बुद्धि बनकर इन ज्ञानदुग्धों का पान करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के मद में यह सोमी पुरुष रोगों व वासनाओं से युद्ध करता है। वेदवाणियों का परित्याग न करता हुआ यह प्रभु को ज्ञानदुग्धाधार के रूप में स्तुत करता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

रेवतः स्तोता रेवान्

रेवाँ इद्रेवतः स्तोता स्यात्त्वावतो मघोनः। प्रेदु हरिवः श्रुतस्य॥ १३॥

(१) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! **त्वावतः**=आप जैसे **श्रुतस्य मघोनः**=प्रख्यात (प्रसिद्ध) ऐश्वर्यशाली का **स्तोता**=स्तुति करनेवाला उपासक **उ**=निश्चय से **प्र स्यात् इत्**=(प्रभवेद् एव) प्रभावशाली होता ही है। प्रभु का स्तवन करता हुआ उपासक प्रभु क्यों न बनेगा! **रेवतः**=धनवान् का स्तोता **इत्**=निश्चय से **रेवान्**=धनी होता ही है। इसी प्रकार उस प्रख्यात मघवा प्रभु का स्तोता प्रभावशाली होगा ही।

भावार्थ—धनी का स्तोता भी धनी बनता है। इसी प्रकार हम उस मघवान् प्रभु के स्तोता बनते हुए प्रभु ही बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'मूक स्तवन के भी श्रोता' प्रभु

उक्थं चन शस्यमानमगोररिरा चिकेत। न गायत्रं गीयमानम्॥ १४॥

(१) **अरिः**=(ऋ गतौ) सर्वत्र प्राप्त वे प्रभु **अगोः**=(गौ=वाणी) वाक्शक्ति रहित मूक पुरुष के **चन**=भी **शस्यमानम्**=हृदय में शंसन किये जाते हुए **उक्थम्**=स्तोत्र को **आचिकेत**=सम्यक् जानते हैं। मूक पुरुष से किये जाते हुए मूक स्तवन को भी वे समझते हैं। (२) इसी प्रकार **न गीयमानम्**=स्वरपूर्वक न गाये जाते हुए **गायत्रम्**=गायत्र स्तोभ को भी वे जानते ही हैं। अर्थात् यदि एक स्तोता गायन न कर सका, तो उसका स्तोत्र न सुना जायेगा ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—प्रभु मूक स्तवन को भी सुनते ही हैं। 'बिना गायन के उच्चरित स्तोत्रों को प्रभु न सुनेंगे' यह बात नहीं है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पीयत्नु व शर्धत्

मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः। शिक्षा शचीवः शचीभिः॥ १५॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **नः**=हमें **पीयत्नवे**=वधशील शत्रु के लिये **मा परा दाः**=

मत दे डालिये इसी प्रकार **शर्धते**=हमें कुचल देनेवाले शत्रु के लिये **मा**=मत दे डालिये। शरीर को नष्ट करनेवाले रोग 'पीयत्नु' हैं। मन को अभिभूत कर लेनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रु 'शर्धन्' हैं। हम इनके वश में न हो जायें। (२) हे **शचीवः**=शक्तिमन् प्रभो! **शचीभिः**=अपनी शक्तियों के द्वारा **शिक्षा**=शत्रुओं को अभिभूत करने के लिये हमें शक्तिशाली बनाने की कामना करिये। आपके अनुग्रह से सशक्त बनकर हम शत्रुओं का शातन कर पायें।

भावार्थ—हे प्रभो! वध करनेवाले रोग और मनों को अभिभूत करनेवाले काम-क्रोध आदि आसुरभाव हमें आक्रान्त न कर पायें। प्रभु हमें शक्ति दें कि हम इन शत्रुओं को अभिभूत कर सकें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः। कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते॥ १६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **त्वायन्तः**=आपको प्राप्त करने की कामनावले होते हुए **उ**=निश्चय से **त्वा**=आपका ही स्तवन करते हैं। **तदिदर्थाः**=(तत् इत अर्थाः) वह प्रभु स्तवन ही हमारा प्रयोजन हो। अन्य लौकिक कामनाओं से स्तवन न करके हम स्तवन को स्तवन के लिये ही करें। 'स्तवन ही हमारा कर्त्तव्य है' ऐसा जानें। हवन करते हुए हम **सखायः**=आपके मित्र होते हैं। (२) **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **उक्थेभिः**=उच्चैःगीयमान स्तोतों से **जरन्ते**=हे प्रभो! आपका स्तवन करते हैं। मूर्ख व नासमझ पुरुष ही स्तवन से दूर रहता है।।

भावार्थ—हम शुद्ध भाव से, कामनारहित मन से प्रभु का स्तवन करें। यही हमारा मुख्य काम हो।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु का ही स्तवन

न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ। तवेदु स्तोमं चिकेत॥ १७॥

(१) हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलता रूप वज्र (वज् गतौ) वाले प्रभो! मैं **अपसः नविष्टौ**=कर्मों के अभिनव याग में, अर्थात् प्रत्येक कर्मयज्ञ के अवसर पर **वा ईम्**=निश्चय से अन्यत् **न आपपन**=किसी और का स्तवन न करूँ। (२) **तव इत् उ**=निश्चय से आपके ही **स्तोमं चिकेत**=स्तवन को जानूँ। अर्थात् आपका ही स्तवन करूँ।

भावार्थ—हम प्रत्येक कार्य के अवसर पर प्रभु का स्तवन करें। प्रभु का स्तवन ही हमें शक्ति देगा और हम कार्य को सफलता के साथ कर सकेंगे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पुरुषार्थ में ही दिव्यता व आनन्द का वास हो

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ १८॥

(१) **देवाः**=सब देव **सुन्वन्तम्**=यज्ञशील को **इच्छन्ति**=चाहते हैं। यज्ञों में प्रवृत्त पुरुष ही देवों का प्रिय बनता है। **स्वप्नाय न स्पृहयन्ति**=सोनेवाले को देव नहीं चाहते। आलसी देवों का प्रिय नहीं होता। (२) आलस्य को छोड़कर **अतन्द्राः**=तन्द्राशून्य जीवनवाले पुरुष **प्रमादं यन्ति**=प्रकृष्ट हर्ष को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष ही देवों का प्रिय बनता है, अर्थात् दिव्यगुणों को धारण करता है। आलस्य के साथ दिव्यगुणों का वास नहीं। पुरुषार्थ में ही आनन्द है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री
स्वरः—षड्जः

महान् इव युवजानिः

ओ षु प्र याहि वाजेभिर्मा हृणीथा अभ्य१स्मान्। महाँइव युवजानिः॥ १९॥

(१) हे प्रभो! आप **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **असमान् अभि**=हमारे प्रति **सु**=सम्यक् **आप्रयाहि**=आइये। **मा हृणीथाः**=हमारे पर आप क्रोध न करें। हम अपने कुकर्मों से आपके क्रोध के पात्र न बन जायें। आप हमें सब शक्तियों को प्राप्त कराइये। (२) हे प्रभो! आप महान् हैं, मैं भी **महान् इव**=आप जैसा ही महान् बनने का प्रयत्न करूँ। **युवजानिः**=(युवतिर्जाया यस्य)=मैं इस वेदवाणीरूप युवति का पति बनूँ, यह वेदवाणी मेरी जाया हो। 'दोषों को पृथक् करनेवाली व गुणों को मिलानेवाली' यह युवति है 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। गुणों को जन्म देनेवाली यह 'जाया' है।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति प्राप्त करायें, हम प्रभु के क्रोध के पात्र न हों। महान् बनें। वेदवाणी को पत्नी के रूप में प्राप्त कर अपनी पूर्णता करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री
स्वरः—षड्जः

अश्रीरः इव जामाता

मो ष्व१द्य दुर्हणावान्त्सायं करदारे अस्मत्। अश्रीरइव जामाता॥ २०॥

(१) 'काम' वासना मनुष्य का बुरी तरह से अन्त कर देती है। यह नशे में ले जाकर (मदनः) हमारे ज्ञान को नष्ट करके (मन्मथः) हमें समाप्त कर देती है (मारः)। सो कहते हैं कि यह **दुर्हणावान्**=बुरी तरह से मार डालनेवाला काम **अद्य**=आज **मा उ**=मत ही **सायं करत्**=(षो अन्तकर्मणि) हमारा अन्त कर दे। (२) यह काम **अस्मत् आरे**=हमारे से दूर ही रहे। **इव**=जैसे हम चाहते हैं कि **अश्रीरः जामाता**=श्री (शोभा) से शून्य जामाता (हमारी कन्या का पति) हमारे से दूर रहे। यह हमारे विनाश का कारण बनता है।

भावार्थ—काम-वासना बुरी तरह से हमें नष्ट करनेवाली है। यह हमारे से दूर ही रहे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री
स्वरः—षड्जः

सुमति-मनांसि (ज्ञान)

विद्मा ह्यस्य वीरस्य भूरिदावरीं सुमतिम्। त्रिषु जातस्य मनांसि॥ २१॥

(१) **अस्य वीरस्य**=इस (वि+ईर) विशेषरूप से शत्रुओं के कम्पक प्रभु की **भूरिदावरीम्**=अनन्त ऐश्वर्यों के देनेवाली **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **हि**=निश्चय से **विद्मा**=जानें, प्राप्त करें। प्रभु के अनुग्रह से हमें उत्तम बुद्धि प्राप्त हो। (२) **त्रिषु**=तीनों लोकों में **जातस्य**=प्रादुर्भूत अपनी महिमा से दिखनेवाले, उस प्रभु के **मनांसि**=ज्ञानों को भी हम प्राप्त करें। वेद में दिये गये सब ज्ञान हम प्राप्त कर पायें।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हमें उत्तम बुद्धि प्राप्त हो और उसके द्वारा हम सब ज्ञानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

कण्वमन्तं यशस्तरं

आ तू षिञ्च कण्वमन्तं न घा विद्म शवसानात्। यशस्तरं शतमूतेः॥ २२॥

(१) हे प्रभो! आप **तु**=निश्चय से **आसिञ्च**=हमें शक्ति से सिक्त करिये। आप के अनुग्रह से सोम का (वीर्य का) हमारे अंग-प्रत्यंग में सेचन हो। (२) हम **शतं उतेः**=सैंकड़ों रक्षणोंवाले **शवसानात्**=शक्तिशाली की तरह आचरण करते हुए आप से भिन्न किसी को भी **कण्ववन्तम्**=मेधाविता से युक्त व **यशस्तरम्**=अधिक यशस्वी **घा**=निश्चय से **न विद्म**=नहीं जानते।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति सम्पन्न करें। प्रभु ही सर्वोपरि मेधावी व शक्ति सम्पन्न हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'इन्द्रइन्द्र वीर शक्र नर्य'

ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय सोमं वीराय शक्राय। भरा पिबन्नर्याय॥ २३॥

(१) हे **सोतः**=सोम को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **ज्येष्ठेन**=ज्येष्ठता के हेतु से **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **सोमम् भरा**=सोम का भरण करिये। इस सोम शक्ति के द्वारा यह जितेन्द्रिय पुरुष ज्येष्ठता को प्राप्त होता है। (२) इन **वीराय**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करके दूर करनेवाले, **शक्राय**=शक्ति सम्पन्न **नर्याय**=नर हित के कार्यों में प्रवृत्त पुरुष के लिये **पिबन्**=इस सोम का पान करिये। इस सोम को इस के शरीर में ही सुरक्षित करिये। सोमरक्षण से ही वस्तुतः यह 'वीर, शक्र व नर्य' बनता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के द्वारा 'वीर, शक्र व नर्य' बनें। 'इन्द्र' बनकर, जितेन्द्रिय बनकर सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रशस्त बल की प्राप्ति

यो वेदिष्ठो अव्यथिष्वश्वावन्तं जरितृभ्यः। वाजं स्तोतृभ्यो गोमन्तम्॥ २४॥

(१) **अव्यथिषु**=औरों को पीड़ित न करनेवाले सज्जनों में जो **वाजम्**=बल है, उस **अश्वावन्तम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाले बल को **यः**=जो प्रभु **जरितृभ्यः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले स्तोताओं के लिये **वेदिष्ठः**=सर्वाधिक प्राप्त करानेवाले हैं। (२) उस **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले बल को प्रभु **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तोताओं को वह बल प्राप्त कराते हैं, जो औरों को न पीड़ित करनेवाले पुरुषों में होता है। तथा जो बल उत्तम कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियोंवाला है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'मद्य-वीर-शूर'

पन्यंपन्यमित्सोतार आ धावत मद्याय। सोमं वीराय शूराय॥ २५॥

(१) हे **सोतारः**=सोम का अपने में सम्पादन करनेवाले पुरुषो! यह सोम जो **पन्यम्**=स्तुत्य है और **इत्**=निश्चय से स्तुत्य है, इस **सोमम्**=सोम को **आधावत**=सर्वथा शुद्ध करो। इसे वासनाओं

से मलिन मत होने दो। (२) यह सोम निश्चय से **मद्याय**=सदा प्रसन्न रहनेवाले पुरुष के लिये है **वीराय**=यह वीर के लिये है, वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले के लिये हैं। **शूराय**=यह रोगों को शीर्ण करनेवाले के लिये है। वस्तुतः सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही हमें 'मद्य, वीर व शूर' बनाता है।

भावार्थ—हम सोम को वासनाओं से मलिन न होने दें। यह सोम हमें आनन्दमय वीर व शूर बनायेगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

नियमते शतमूतिः

पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत्। नि यमते शतमूतिः॥ २६॥

(१) वे प्रभु **वृत्रहा**=हमारे वासना रूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाले हैं और इस प्रकार **सुतं पाता**=उत्पन्न सोम का रक्षण करते हैं। ये प्रभु **घा**=निश्चय से **आगनत्**=हमें प्राप्त हों। (२) **अस्मत्**=हमारे से **आरे**=दूर व समीप देशों में होते हुए वे प्रभु **शतमूतिः**=सैंकड़ों रक्षणोंवाले होते हुए **नियमते**=सारे संसार का नियमन करते हैं। 'आराद् दूरसमीपयोः' प्रभु हमारे से दूर से दूर देश में हैं और समीप से समीप देश में भी है। सर्वत्र होते हुए वे संसार का नियमन कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारी वासनाओं का विनाश करके हमारे सोम का रक्षण करते हैं, वे दूर व समीप सर्वत्र होते हुए सैंकड़ों रक्षणोंवाले हैं और संसार का नियमन कर रहे हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ब्रह्म-युजा-शग्मा-हरी

एह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम्। गीर्भिः श्रुतं गिर्वणसम्॥ २७॥

(१) **इह**=इस जीवन में **हरी**=ये हमारे इन्द्रियाश्व **सखायम्**=उस मित्र प्रभु को **आवक्षतः**=प्राप्त कराते हैं। वे इन्द्रियाश्व जो **ब्रह्मयुजा**=ज्ञान के साथ सम्पर्क को करनेवाले हैं और **शग्मा**=(शग्म इति कर्म नाम नि० २।१) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले हैं। और इन यज्ञादि कर्मों के द्वारा सुख प्राप्त करानेवाले होते हैं (शग्म इति सुख नाम नि० ३।६)। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में लगी रहें और इसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहें तो मनुष्य प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चल रहा होता है। (२) ये इन्द्रियाश्व उस सखा को प्राप्त कराते हैं, जो **गीर्भिः श्रुतम्**=वेदवाणियों के द्वारा सुनाई पड़ते हैं 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' सब ऋचाएँ उस प्रभु का ही तो वर्णन कर रही हैं। **गिर्वणसम्**=वे प्रभु इन ज्ञान वाणियों के द्वारा सम्भजनीय हैं। इन ज्ञानवाणियों में विचरनेवाला पुरुष ही प्रभु को पाता है।

भावार्थ—हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त होकर तथा कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि कर्मों को करते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीस्वराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

ऋषीवः, शचीवः

स्वादवः सोमा आ याहि श्रीताः सोमा आ याहि।
शिप्रिन्नृषीवः शचीवो नायमच्छा सधमादम्॥ २८॥

(१) हे **शिप्रिन्**=उत्तम हनु व नासिका को हमारे लिये प्राप्त करानेवाले! **ऋषीवः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों को देनेवाले (ऋषि=तत्त्वदर्शन करानेवाली) **शचीवः**=प्रशस्त कर्मों की साधनभूत कर्मेन्द्रियोंवाले प्रभो! हमारे जीवन में **सोमाः**=सोमकण **स्वादवः**=आनन्द के साधन बने हैं। सो **आयाहि**=आप आइये। **सोमाः**=ये सोमकण ठीक **श्रीताः**=परिपक्व हुए हैं। **आयाहि**=आप आइये। (२) हे प्रभो! आप हमें प्राप्त होइये। आप हमें **सधमादम्**=आपके साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले हृदयक्षेत्र की **अच्छा**=ओर **नायम्**=(नेतुं) ले जाने के लिये प्राप्त होइये। प्रभु का अनुग्रह ही हमें अन्तर्मुख वृत्तिवाला बनायेगा। तभी हम हृदय में प्रभु की उपासना करते हुए आनन्द का अनुभव करेंगे।

भावार्थ—हम सोमरक्षण करें तभी हम प्रभु प्राप्ति के पात्र होंगे। यही सोमरक्षण हमें अधिकाधिक अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनायेगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

महे, राधसे, नृम्णाय

स्तुतश्च यास्त्वा वर्धन्ति महे राधसे नृम्णाय। इन्द्र कारिणं वृधन्तः॥ २९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तुतः च**=और वे स्तुतियाँ **याः**=जो **त्वा**=आपको बढ़ाती हैं, आपका यशोगान करती हैं, वे इस स्तोता के **महे**=महत्त्व के लिये होती हैं, **राधसे**=ऐश्वर्य के लिये होती हैं और **नृम्णाय**=शक्ति के लिये होती हैं। इन स्तुतियों के द्वारा स्तोता का 'महत्त्व (यश), ऐश्वर्य व बल' बढ़ता है। (२) हे प्रभो! आपके ये स्तवन **कारिणम्**=क्रियाशील पुरुष का ही **वृधन्तः**=वर्धन करते हैं। वस्तुतः सच्चा स्तोता होता ही क्रियाशील है। अकर्मण्यता का प्रभु स्तवन से कोई सम्बन्ध नहीं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हैं। यह प्रभु-स्तवन हमारी महिमा (यश) को बढ़ाता है, हमारे ऐश्वर्य की वृद्धि का कारण बनता है और हमारे बल का वर्धन करता है। स्तोता सदा क्रियावान् होता है, अकर्मण्य नहीं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान-सवन

गिरश्च यास्ते गिर्वाह उक्था च तुभ्यं तानि। सत्रा दधिरे शवांसि॥ ३०॥

(१) हे **गिर्वाहः**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **गिरः च याः**=ये जो भी ज्ञान की वाणियाँ हैं, वे **ते**=आपकी ही हैं। आप ही सब ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाले हैं। **उक्थ च**=और जो भी स्तुति-वचन हैं, वे सब भी **तुभ्यम्**=आप के लिये ही हैं। सब पूजा परम्परया आपकी ही पूजा होती है (२) **तानि**=वे स्तुति-वचन **सत्रा**=सदा इस स्तोता के जीवन में **शवांसि दधिरे**=बलों को धारण करते हैं। स्तोता प्रभु के बल से बल-सम्पन्न होकर सब आन्तर शत्रुओं को दूर भगानेवाला होता है और बाह्य कष्टों का सहन कर पाता है।

भावार्थ—सब ज्ञान प्रभु से प्राप्त होता है। प्रभु का स्तवन स्तोता को बल सम्पन्न करता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तुविकूर्मिः वज्रहस्तः

एवेदेष तुविकूर्मिर्वाजाँ एको वज्रहस्तः। सनादमृक्तो दयते॥ ३१॥

(१) **एवा**=सचमुच **इत्**=ही **एषः**=यह प्रभु **तुविकूर्मिः**=महान् कर्मोंवाले हैं। इन सब महान् लोक-लोकान्तरों को बनानेवाले हैं। वे **एकः**=अद्वितीय प्रभु ही **वज्रहस्तः**=वज्रहस्त होकर सब लोकों का नियमन व शासन कर रहे हैं। उसी के वज्र के भय से सब सूर्य आदि अपने-अपने मार्ग पर चल रहे हैं (२) ये प्रभु ही **सनाद् अमृक्तः**=(unhurt) सदा से अहिंसित व (unwashed) अशोधनीय, सदा पवित्र होते हुए **वाजान् दयते**=सब शक्तियों को उपासकों के लिये प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही इन महान् लोकों के निर्माता व धारक हैं। वे सदा पवित्र प्रभु हमारे लिये शक्तियाँ को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

महीभिः शचीभिः महान्

हन्ता वृत्रं दक्षिणेनेन्द्रः पुरू पुरुहूतः। महान्महीभिः शचीभिः॥ ३२॥

(१) वे **पुरुहूतः**=बहुतों से पुकारे जाने योग्य **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **दक्षिणेन**=(दक्ष्-दक्षणे to grow) शक्तियों के वर्धन के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **पुरु हन्ता**=खूब ही विनष्ट करनेवाले हैं। प्रभु का स्तवन स्तोता को शक्ति-सम्पन्न बनाता है। इस शक्ति से सम्पन्न होकर स्तोता वासना को विनष्ट कर पाता है। (२) वे प्रभु **महीभिः शचीभिः**=महनीय शक्तियों के कारण **महान्**=महान् हैं, पूजनीय हैं। प्रभु का स्तोता भी इन शक्तियों को प्राप्त करके महान् बनता है।

भावार्थ—प्रभु शक्तियों से महान् हैं। वे स्तोता को भी शक्ति-सम्पन्न बनाकर वासना के विनाश के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'बलों व विजयों के आधार' प्रभु

यस्मिन्विश्वाश्चर्षणय उत च्यौत्ना ज्रयांसि च। अनु घेन्मन्दी मघोनः॥ ३३॥

(१) प्रभु वे हैं, **यस्मिन्**=जिनके आधार में **विश्वाः चर्षणयः**=सब श्रमशील मनुष्यों का निवास है। **उत**=और भी जो **च्यौत्ना**=शत्रुओं को च्युत करनेवाले बल का निवास है। **च**=और **ज्रयांसि**=(ज्रियति) सब विजयों के आधार वे प्रभु ही हैं। (२) वस्तुतः उपासक **मघोनः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की **अनु घ इत्**=अनुकूलता में ही **मन्दी**=आनन्द का अनुभव करता है। जितना-जितना प्रभु का अनुसरण करता है, उतना-उतना आनन्दित होता है।

भावार्थ—सब कामशील मनुष्यों का आधार प्रभु ही हैं। सब बलों व विजयों के भी वे ही आधार हैं। प्रभु के अनुसरण में स्तोता आनन्द का अनुभव करता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'निर्माता-शक्तिदाता' प्रभु

एष एतानि चकारेन्द्रो विश्वा योऽति शृण्वे। वाजदावा मघोनाम्॥ ३४॥

(१) **एषः**=यह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **एतानि**=इन **विश्वा**=सब लोक-लोकान्तरों को **चकार**=बनाते हैं। प्रभु ही सब लोकों के निर्माता हैं। (२) और **यः**=जो **अतिशृण्वे**=अपने

बलों के कारण सब को लाँघकर स्थित हुए-हुए सुने जाते हैं, वे प्रभु ही **मघोनाम्**=सब यज्ञशील पुरुषों के **वाजदावा**=शक्तियों के देनेवाले हैं।

भावार्थ–प्रभु ही सब लोकों के निर्माता हैं। वे ही सर्वाधिक शक्तिवाले हैं। यज्ञशील पुरुषों को शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

रथं प्रभर्ता

प्रभर्ता रथं गव्यन्तमपाकाच्चिद्यमवति। इनो वसु स हि वाळ्हा॥ ३५॥

(१) वे प्रभु ही **रथम्**=हमारे इस शरीर-रथ का **प्रभर्ता**=भरण करते हैं। उस रथ का जो **गव्यन्तम्**=ज्ञान की वाणियों की कामनावाला होता है। अर्थात् प्रभु इस शरीर-रथ को ऐसा बनाते हैं कि हम इसमें ज्ञान की वाणियों की कामनावाले बनते हैं। और वे प्रभु **चित्**=ही **यम्**=जिस शरीर-रथ को **अपाकात्**=(Indigestion) अपचन से **अवति**=बचाते हैं। प्रभु-स्मरण से भोजन की नियमितता के होने पर अपचन व रोगों का भय नहीं रहता। (२) वे प्रभु **इनः**=स्वामी हैं। **सः हि**=वे ही **वसु वोढा**=सब निवास के लिये आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं। ये धन हमें निधन (मृत्यु) से बचानेवाले होते हैं।

भावार्थ–प्रभु ही हमारे शरीर-रथों का रक्षण करते हैं, हमें ज्ञानयुक्त व नीरोग बनाते हैं। निवास के लिये आवश्यक धनों को प्रभु ही प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सनिता-हन्ता (वृत्रं)-अविता

सनिता विप्रो अर्वद्भिर्हन्ता वृत्रं नृभिः शूरः। सत्योऽविता विधन्तम्॥ ३६॥

(१) वे **विप्रः**=हमारा विशेष रूप से पूरण करनेवाले प्रभु **अर्वद्भिः**=इन्द्रियाश्वों के द्वारा हमारे लिये **सनिता**=ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करानेवाले हैं। वे **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभु **नृभिः**=उत्तम मार्ग से ले चलनेवाले पुरुषों के द्वारा **वृत्रं हन्ता**=हमारे जीवनों में वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं। उत्तम माता, पिता व आचार्य को पाकर हम वासनामय जीवनवाले बन जाने से बचे रहते हैं। (२) वे प्रभु **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। **विधन्तं अविता**=उपासक का रक्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ–वे प्रभु ज्ञान व शक्ति के देनेवाले हैं, वासना को विनष्ट करनेवाले हैं और उपासक के रक्षक हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सत्यमद्वा

यजध्वैनं प्रियमेधा इन्द्रं सत्राचा मनसा। यो भूत्सोमैः सत्यमद्वा॥ ३७॥

(१) हे **प्रियमेधाः**=(मेध=यज्ञ, **मेधा**=बुद्धि) यज्ञों से प्रेमवाले अथवा प्रिय बुद्धिवाले पुरुषो! **एनं इन्द्रम्**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सत्राचा**=(सत्रं अञ्चति, सत्र=sacrifice, vrtue) यज्ञ व गुणों की ओर झुकाववाले **मनसा**=मन से **यजध्व (म्)**=उपासित करो। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि हम यज्ञों को यज्ञ की भावना व उत्कृष्ट गुणों के उपार्जन की भावनावाला बनायें। (२) उस प्रभु की उपासना करो **यः**=जो **सोमैः**=सोमों के द्वारा, वीर्यकणों के द्वारा

सत्यमद्वा भूत्=सच्चे आनन्द को प्राप्त करानेवाले होते हैं। इन सोमकणों के रक्षण से ही सब 'तेज, वीर्य, ओज बल, ज्ञान व सहस्' की प्राप्ति होती हैं। ये ही हमारे जीवनों के सच्चे ऐश्वर्य हैं।

भावार्थ–हम यज्ञप्रिय व बुद्धि प्रिय बनकर प्रभु का उपासन करें। प्रभु सोमकणों के रक्षण के द्वारा हमारे जीवनों में आनन्द का संचार करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

'गाथश्रवस्-श्रवस्काम' प्रभु

गाथश्रवसं सत्पतिं श्रवस्कामं पुरुत्मानम्। कण्वासो गात वाजिनम्॥ ३८॥

(१) **कण्वासः**=हे मेधावी पुरुषो! उस **वाजिनम्**=शक्तिशाली प्रभु का **गात**=गायन करो, जो प्रभु **गाथश्रवसम्**=गायन योग्य यशवाले हैं। **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक हैं। (२) रक्षण के उद्देश्य से ही **श्रवस्कामम्**=हमारे लिये ज्ञान की कामनावाले हैं और **पुरुत्मानम्**=पालक व पूरक स्वरूपवाले हैं (पृ पालनपूरणयोः)।

भावार्थ–हम उन प्रभु का गायन करें जो गेययशवाले हैं, सज्जनों के रक्षक हैं, हमारे लिये ज्ञान की कामनावाले हैं, पालन व पूरण के स्वभाववाले हैं और प्रशस्त शक्तिवाले हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सखा शचीवान्

य ऋते चिद्गास्पदेभ्यो दात्सखा नृभ्यः शचीवान्। ये अस्मिन्काममश्रियन्॥ ३९॥

(१) **यः**=जो प्रभु **ऋते चित्**=सत्य ज्ञान की प्राप्ति कराने के निमित्त ही **पदेभ्यः**=(पद् गतौ) गतिशील **नृभ्यः**=मनुष्यों के लिये **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **दात्**=देते हैं। वे प्रभु ही हमारे **सखा**=सच्चे मित्र हैं। **शचीवान्**=वे प्रभु ही सब कर्मों व प्रज्ञानोंवाले हैं। (२) ये प्रभु उन मनुष्यों के लिये इन ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराते हैं **ये**=जो **अस्मिन्**=इस प्रभु में कामं **अश्रियन्**=अपनी सब इच्छाओं को आश्रित करते हैं। अर्थात् प्रभु के प्रति जो आत्मार्पण करनेवाले होते हैं, उनके लिये प्रभु इन ज्ञानों को अवश्य प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ–प्रभु हमारे सच्चे सखा हैं, वे शक्ति व प्रज्ञान के भण्डार हैं। ये अपने प्रति आत्मार्पण करनेवाले गतिशील पुरुषों के लिये ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

धीमान्-काण्व-मेध्यातिथि

इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम्। मेषो भूतो३ऽभि यन्नयः॥ ४०॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय-उपासनीय प्रभो! **इत्था**=सचमुच **मेषः**=सुखों का सेचन करनेवाले **भूतः**=हुए-हुए तथा **धीवन्तम्**=बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले की **अभियन्**=ओर जाते हुए आप **काण्वम्**=मेधावी को तथा **मेध्यातिथिम्**=पवित्र कर्मों की (मेध्य) और निरन्तर गतिवाले पुरुष को (अत सातत्यगमने) **अयः**=प्राप्त होते हैं। (२) प्रभु उसी को प्राप्त होते हैं, जो (क) बुद्धिपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त हों, (ख) मेधावी हो तथा (ग) पवित्र कर्मों में निरन्तर गतिवाला हो। ऐसे व्यक्तियों के लिये ही आप सुखों का सेचन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को वही प्राप्त करता है जो ज्ञानपूर्वक कर्मों को करता हुआ पवित्राचरण बनता है। इन्हीं के लिये प्रभु सुखों का सेचन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः॥ **देवता**—विभिन्दोर्दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—पादनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

चत्वार अष्टा ददत्

शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददत्। अष्ट परः सहस्रा॥ ४१॥

(१) हे **विभिन्दो**=शत्रुओं का भेदन करनेवाले प्रभो! **अस्मै**=इस उपासक के लिये **चत्वारि**=चारों वेद ज्ञानों को **अयुता**=अपृथग्भूत रूप में **ददत्**=देते हुए **शिक्षा**=इसे शत्रु-नाशन के लिये शक्ति-सम्पन्न करिये (शकिः सन्नन्तः)। प्रकृति, जीव, परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करते हुए हम नीरोग व अशत्रु बने हुए शान्ति से उन्नतिपथ पर आगे बढ़ें। ऋचाएँ हमें प्रकृति का, यजु जीव का, साम आत्मा का तथा अथर्व नीरोगता व अशत्रुता के उपायों का ज्ञान देनेवाले हों। (२) हे प्रभो! आप हमें **अष्टा**=पञ्चभूतों तथा मन-बुद्धि व अहंकार को प्राप्त कराइये। इन आठ को प्राप्त कराइये, जो **परः सहस्रा**=उत्कृष्ट सहस् (बल) वाले हैं। अथवा जिनमें आनन्दमयकोश (स+हस्) सर्वोपरि है।

भावार्थ—प्रभु हमें चारों वेदों का ज्ञान दें तथा हमारे पञ्चभूतों व मन, बुद्धि, अहंकार को बल-सम्पन्न करें।

सूचना—उत्तम अहंकार 'आत्मगौरव की भावना' के रूप में प्रकट होता है।

ऋषिः—मेधातिथिः॥ **देवता**—विभिन्दोर्दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—आर्शीनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

जगतः पितरौ (प्रकृति परमेश्वरौ)

उत सु त्ये पयोवृधा माकी रणस्य नप्त्या। जनित्वनाय मामहे॥ ४२॥

(१) **उत**=और **त्ये**=उन **पयोवृधा**=शक्ति व ज्ञानदुग्ध के द्वारा हमारा वर्धन करनेवाले, **रणस्य**=रमणीयता का **माकी**=(निर्मात्र्यौ) निर्माण करनेवाले **नप्त्या**=हमारा पतन न होने देनेवाले माता-पितृरूप प्रकृति व परमेश्वर को **जनित्वनाय**=शक्तियों के प्रादुर्भाव के लिये **सुमामहे**=उत्तमता से पूजते हैं। (२) प्रकृति शरीर को सशक्त बनाती है, प्रभु आत्मा को सज्ञान बनाते हैं। इस प्रकार प्रकृति व प्रभु मिलकर जीवरूप सन्तान का पालन करते हैं। शक्ति व ज्ञान के द्वारा ये हमारे जीवन को कितना ही सुन्दर बनाते हैं?

भावार्थ—प्रकृति व परमेश्वर इस जगत् के माता-पिता के समान हैं। ये शक्ति व ज्ञानदुग्ध के द्वारा हमारा वर्धन करते हैं, हमारे जीवन में रमणीयता का निर्माण करते हैं, हमें गिरने नहीं देते। हम इन दोनों का आराधन करते हैं।

इस सूक्त के मन्त्र चालीस में 'मेध्यातिथि काण्व' का उल्लेख है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—ककुम्मतीबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'गोमान् रसी' सोम

पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
आपिर्नो बोधि सधमाद्यो वृधेऽस्माँ अवन्तु ते धियः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **रसिनः**=जीवन को रसमय बनानेवाले **सुतस्य**=उत्पन्न सोम का **पिबा**=पान करिये और **नः मत्स्वा**=हमें आनन्दित करिये। प्रभु के अनुग्रह से सोम का रक्षण होता है। यह सोम हमारी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाता है और जीवन को रसमय बनाता है। इस प्रकार प्रभु इस सोम के द्वारा हमें आनन्दित करते हैं। (२) हे प्रभो! **नः आपिः**=हमारे मित्रभूत आप **बोधि**=हमारा ध्यान करिये। आप **सधमाद्यः**=हृदय में हमारे साथ स्थित हुए-हुए हमें आनन्दित करनेवाले हैं। **ते धियः**=आपसे प्राप्त करायी गयी बुद्धियाँ **वृधे**=वृद्धि के लिये हों और **अस्मान् अवन्तु**=हमारा रक्षण करें।

भावार्थ–प्रभु हमारे जीवन में सोमरक्षण के द्वारा प्रशस्त इन्द्रियों को व रस को प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमारे मित्र हैं। प्रभु से प्राप्त करायी गयी बुद्धियाँ हमारा वर्धन व रक्षण करती हैं।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—सतःपङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

मा नः स्तः अभिमातये

भूयाम॑ ते सुम॒तौ वा॒जिनो॑ व॒यं मा न॑: स्त॒रभिमा॑तये।
अ॒स्मा॒ञ्चि॒त्राभि॑रवताद॒भिष्टि॑भि॒रा न॑: सु॒म्नेषु॑ यामय॥ २॥

(१) हे प्रभो! **वयम्**=हम **ते सुमतौ**=आपकी कल्याणी मति में चलते हुए **वाजिनः**=शक्तिशाली **भूमाय**=हों। इस प्रकार सुमति प्राप्त कराके आप **नः**=हमें **अभिमातये**=अभिमान रूप शत्रु के लिये **मा स्तः**=मत विनष्ट करिये। (२) **अस्मान्**=हमें आप **चित्राभिः**=अद्भुत **अभिष्टिभिः**=(इष्ट प्राप्तियों) के द्वारा **अवतात्**=सहायताओं (assistance) से रक्षित करिये। तथा **नः**=हमें **सुम्नेषु**=आनन्दों में व अपने रक्षणों में **आयामय**=नियमित करिये। हमारा निवास सदा आनन्दों में व आपके रक्षणों में हो।

भावार्थ–हमें प्रभु की कल्याणी मति प्राप्त हो। हम अभिमान से दूर रहें। प्रभु अद्भुत सहायताओं द्वारा हमारा रक्षण करें और हमें अपने रक्षणों में स्थापित करें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

पावकवर्णाः शुचयः विपश्चितः

इ॒मा उ॑ त्वा पुरूवसो॒ गिरो॑ वर्धन्तु॒ या मम॑।
पा॒व॒कव॑र्णा॒: शुच॑यो वि॒प॒श्चि॒तो॒ऽभि स्तोमै॑रनूषत॥ ३॥

(१) हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक वसुओं (धनों) वाले प्रभो! **इमाः याः मम गिरः**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं वे **उ त्वा वर्धन्तु**=निश्चय से आपका ही वर्धन करनेवाली हों। हम सदा आपका ही स्तवन करें। (२) **पावकवर्णाः**=अग्नि के समान वर्णवाले, तेजस्वी, **शुचयः**=पवित्र मनोंवाले, **विपश्चितः**=ज्ञानी पुरुष ही **स्तोमैः**=स्तुतियों के द्वारा आपका **अभि अनूषत**=प्रातः-सायं (अभि=दिन के दोनों ओर) स्तवन करते हैं। वस्तुतः आपके स्तवन से ही वे 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बनते हैं।

भावार्थ–हम सदा प्रभु का स्तवन करें। यह प्रभु-स्तवन हमें शरीरों में अग्नि के समान तेजस्वी, मनों में पवित्र व मस्तिष्क में ज्ञानोज्ज्वल बनायेगा।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञेषु विप्रराज्ये

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रइव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥४॥

(१) **अयम्**=ये प्रभु **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों से **सहस्रम्**=आनन्दपूर्वक **सहस्कृतः**=अपना बल (सहस्) बनाते हैं। अर्थात् ऋषि लोग प्रभु को हृदयों में धारण करते हुए, प्रभु के बल से अपने को बल-सम्पन्न बनाते हैं। ये प्रभु **समुद्रः इव**=समुद्र के समान **पप्रथे**=विस्तृत हैं। समुद्र अनन्त-सा प्रतीत होता है, प्रभु हैं ही अनन्त। (२) **सः**=वह **अस्य**=इसकी **महिमा**=महिमा **सत्यः**=सत्य है कि **यज्ञेषु**=यज्ञों में और **विप्रराज्ये**=ज्ञानियों के राज्य में **शवः गृणे**=इस प्रभु के बल का स्तवन होता है। स्तुत्य बलवाले वे प्रभु हैं, प्रभु का यह बल यज्ञों व ज्ञानयज्ञों का रक्षण करता है।

भावार्थ—ऋषि प्रभु को ही अपना बल बनाते हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं। प्रभु के बल का सर्वत्र यज्ञों व ज्ञानयज्ञों में स्तवन होता है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

इन्द्र की आराधना

इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे। इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये॥५॥

(१) हम **इन्द्रं इत्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **देवतातये**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिये **हवामहे**=पुकारते हैं **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही **प्रयति अध्वरे**=इस चलते हुए जीवन यज्ञ के निमित्त, अर्थात् जीवनयज्ञ की रक्षा के लिये पुकारते हैं। (२) **इन्द्रम्**=उस शत्रु विद्रावक प्रभु को ही **समीके**=संग्रामों में पुकारते हैं, प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही तो हम शत्रुओं का विद्रावण कर पायेंगे। (३) **वनिनः**=सम्भजन करनेवाले हम **धनस्य सातये**=धन की प्राप्ति के लिये उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से ही (क) दिव्यगुणों का विस्तार होता है, (ख) जीवनयज्ञ सुरक्षित रूप से चलता है, (ग) संग्राम में हम विजयी बनते हैं और (ग) धनों की प्राप्ति में समर्थ होते हैं।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

इन्द्र की महिमा

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः॥६॥

(१) **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से **रोदसी**=द्यावापृथिवी में **शवः**=बल को **पप्रथत्**=विस्तृत करता है। सर्वत्र द्यावापृथिवी में प्रभु की शक्ति ही कार्य कर रही है। **इन्द्रः**=ये परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **सूर्यम्**=सूर्य को **अरोचयत्**=दीप्त करते हैं। सूर्यादि सब ज्योतिर्मय पिण्ड प्रभु की ज्योति से ही ज्योतिर्मय हो रहे हैं। (२) **ह**=निश्चय से **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **येमिरे**=नियमित हो रहे हैं, प्रभु ही इनका नियमन कर रहे हैं। **इन्द्रे**=उस शक्तिशाली प्रभु में ही **इन्दवः**=शक्तिशाली **सुवानाः** हैं (स्वानासः)।

भावार्थ—द्यावापृथिवी में सर्वत्र प्रभु की शक्ति का विस्तार है, प्रभु ही सूर्य को दीप्त करते हैं, सब भुवन प्रभु में नियमित हो रहे हैं, प्रभु में ही शक्तिशाली शब्दों का निवास है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

चारों आश्रमों में प्रभु-स्तवन

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम्॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **पूर्वपीतये**=जीवन के पूर्व भाग में सोम के रक्षण के लिये **त्वा अभि**=आपका लक्ष्य करके ही **समस्वरन्**=स्तुति शब्दों का उच्चारण करते हैं, आपका स्तवन ही वासनाओं के विनाश के द्वारा हमें सोमरक्षण के योग्य बनाता है। (२) **आयवः**=संसार व्यवहारों में चलनेवाले गृहस्थ पुरुष भी **स्तोमेभिः**=स्तुति समूहों के द्वारा आप को ही स्तुत करते हैं। आपका स्तवन ही उन्हें भोग-विलास में फँसने से बचाकर आगे बढ़ानेवाला होता है। (३) गृहस्थ से ऊपर उठकर **समीचीनासः**=प्रभु के साथ मिलकर गति करनेवाले (सं अञ्चू) प्रभु-स्मरण पूर्वक गतिवाले **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त व्यक्ति आपके ही (समस्वरत्) स्तुति शब्दों का उच्चारण करते हैं और (४) अन्त में **रुद्राः**=(रुत) ज्ञानोपदेश करनेवाले ये परिव्राजक लोग भी **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम आप को ही **गृणन्त**=स्तुत करते हैं। आपका स्तवन ही उन्हें अनासक्त होने की शक्ति देता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण ही एक ब्रह्मचारी को सोम के रक्षण के योग्य बनाता है। प्रभु-स्मरण से ही गृहस्थ भोग-प्रसक्त नहीं हो जाता? प्रभु-स्मरण ही वनस्थ को स्वाध्याय प्रवृत्त कर दीप्त जीवनवाला बनाता है। प्रभु-स्मरण ही सन्यस्त को सब कमियों से दूर रहने में समर्थ करता है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—स्वराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वृष्ण्यं शवः

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा॥ ८॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सुतस्य अस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम के **विष्णवि मदे**=शरीर में व्याप्त मद (उल्लास) के होने पर **इत्**=ही **वृष्णयं शवः**=शक्ति को सेचन करनेवाले, अंग-प्रत्यंग को सशक्त बनानेवाले बल को **वावृधे**=अपने अन्दर बढ़ाता है। (२) **आयवः**=गतिशील पुरुष **अस्य**=इस सोम की **तम्**=उस **महिमानम्**=महिमा को **पूर्वथा**=पहले की तरह **अनुष्टुवन्ति**=स्तुत करते हैं। सोम का महत्त्व सदा गाया जाता रहा है। यही उत्कृष्ट जीवन का आधार बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर के सब अंगों को सशक्त बनाता है। सोम की महिमा सदा वेदवाणियों से गायी जाती रही है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सुवीर्य-ब्रह्म

तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ॥ ९॥

(१) हे प्रभो! मैं **त्वा**=आप से **तत्**=उस **सुवीर्यं यामि**=उत्कृष्ट शक्ति की याचना करता हूँ और **पूर्वचित्तये**=पालक व पूरक चित्ति (चेतना) के लिये **तद् ब्रह्म**=उस ज्ञान की याचना करता हूँ, **येना**=जिस 'सुवीर्य और ब्रह्म' के द्वारा **यतिभ्यः**=संयमी पुरुषों के लिये तथा **भृगवे**=ज्ञान के द्वारा अपना परिपाक करनेवाले के लिये **हिते धने**=हितकर धन के निमित्त **आविथ**=आप रक्षण करनेवाले होते हो। ये यति और भृगु सुवीर्य और ब्रह्म के द्वारा उत्कृष्ट धनों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। (२) हे प्रभो! मैं उस सुवीर्य और ब्रह्म की आप से याचना करता हूँ **येन**=जिस से आप **प्रस्कण्वं आविथ**=प्रकृष्ट मेधावी पुरुष का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें वह सुवीर्य व ज्ञान प्राप्त कराइये जिससे कि हम पूर्ण चेतना में रहते हुए यति बनें, भृगु बनें व प्रस्कण्व बन पायें 'संयमी-ज्ञानपरिपक्व-मेधावी'।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—सतःपङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'अनन्त महिम' प्रभु

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **येन**=जिस बल के द्वारा **समुद्रं असृजः**=आप समुद्र का निर्माण करते हैं, **महीः**=इन पृथिवियों का व **अपः**=जलों का निर्माण करते हैं, **ते**=आपका **तत् शवः**=वह बल **वृष्णि**=सुखों का वर्षण करनेवाला है। (२) **अस्य**=इस प्रभु की **सः महिमा**=वह महिमा **सद्यः**=शीघ्र **न सन्नशे**=प्राप्त करने योग्य नहीं होती **यम्**=जिस महिमा को **क्षोणीः**=ये सम्पूर्ण पृथिवियाँ **अनुचक्रदे**=प्रतिदिन क्रन्दतापूर्वक कह रही हैं। 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'।

भावार्थ—प्रभु अपने अद्भुत बल से समुद्र, पृथिवी व जलों का निर्माण करते हैं। प्रभु की महिमा को ये पृथिवियाँ पुकार-पुकार कर कह रही है। प्रभु की इस महिमा को व्याप्त करने का सम्भव नहीं।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

शक्ति के द्वारा पालन व पूरण

शग्धी न इन्द्र यत्त्वा रयिं यामि सुवीर्यम्।
शग्धि वाजाय प्रथमं सिषासते शग्धि स्तोमाय पूर्व्य॥ ११॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जिस **रयिम्**=ऐश्वर्य को व **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **त्वा यामि**=आप से याचना करता हूँ, उसे **नः**=हमारे लिये **शग्धि**=दीजिये (देहि द०)। (२) हे प्रभो! आप **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **वाजाय सिषासते**=शक्ति के लिये सम्भजन की कामनावाले पुरुष के लिये **शग्धि**=शक्ति को दीजिये। (३) हे **पूर्व्य**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम प्रभो! आप **स्तोमाय**=स्तुति करनेवाले के लिये **शग्धि**=शक्ति को देनेवाले होइये। इस शक्ति ने ही तो हमारा पालन व पूरण करना है।

भावार्थ—प्रभु से हम शक्ति की याचना करते हैं। हम स्तोता बनें, सर्वप्रथम प्रभु का सम्भजन करें। प्रभु हमें शक्ति देंगे और हम अपना पालन व पूरण कर पायेंगे।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

पौर-रुशम-श्यावक-कृप-चणेर्

शग्धी नो अस्य यद्ध पौरमाविथ धिय इन्द्र सिषासतः।
शग्धि यथा रुशमं श्यावकं कृपमिन्द्र प्रावः स्वर्णरम्॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **धियः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों का **सिषासतः**=सम्भजन करनेवाले **अस्य**=इस बल को **नः**=हमारे लिये **शग्धि**=दीजिये, **यत् ह**=जिस बल के द्वारा आप **पौरम्**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवाले मनुष्य को **आविथ**=रक्षित करते हो। हमें प्रभु कृपा से वह बल प्राप्त हो जिसके द्वारा हम बुद्धिपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त रहें। यही मार्ग है जिससे कि हम अपना पालन व पूरण करते हैं और 'पौर' बनते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप इस प्रकार हमें **शग्धि**=समर्थ करिये सामर्थ्य दीजिये **यथा**=जिस से आप **प्रावः**=हमारा प्रकर्षेण रक्षण करें। उन हम लोगों का रक्षण करें जो **रुशमम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले बनें हैं। **श्यावकम्**=(श्यै गतौ) गतिशील हुये हैं। **कृपम्**=सामर्थ्य का सम्पादन करनेवाले व **स्वर्णरम्**=प्रकाश की ओर अपने को ले चलनेवाले हुए हैं।

भावार्थ—प्रभु उनको शक्तिशाली बनाकर रक्षित करते हैं, जो (क) अपना पालन व पूरण करें, (ख) वासनाओं का संहार करे, (ग) गतिशील हों, (घ) सामर्थ्य-सम्पन्न बनें, (ङ) प्रकाश के ओर चलनेवाले हों।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

महिमानं, इन्द्रियं, स्वः

कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः।
नही न्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्वर्गृणन्त आनशुः॥ १३॥

(१) **अतशीनाम्**=विविध योनियों में गतिशील इन जीवों में **नव्यः**=(नु स्तुतौ) स्तुति में उत्तम, **तुरः**=अतएव वासनाओं का संहार करनेवाला **मर्त्यः**=मनुष्य **कत्**=कभी ही **गृणीत**=उस प्रभु का स्तवन करता है। सामान्यतः मनुष्य वासनामय जीवनवाला होकर इन प्राकृतिक भोगों में ही फँसा रह जाता है। सौभाग्यवश कोई एक उस प्रभु के स्तवन की ओर झुकता है। (२) **नु**=अब इन स्तवन करनेवालों में भी **अस्य**=इस प्रभु के **इन्द्रियम्**=बल व **स्वः**=प्रकाश का **गृणन्तः**=स्तवन करते हुए ये स्तोता लोग इसकी **महिमानम्**=महिमा को **नहि आनशुः**=व्याप्त नहीं कर पाते, प्रभु की महिमा को पूर्णरूपेण नहीं जान पाते। प्रभु के बल व प्रकाश का स्तवन करते हुए ये लोग प्रभु की महिमा के अन्त को नहीं पा पाते।

भावार्थ—विरल व्यक्ति ही प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। स्तवन करनेवाले भी प्रभु की महिमा का अन्त नहीं जान पाते।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—सतःपङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

सुन्वतः-स्तुवतः

कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्र ओहते।
कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः॥ १४॥

(१) हे **देवत**=प्रकाशमय प्रभो! **ऋतयन्तः**=ऋत को अपनाने की कामनावाले ये लोग **कत्**

उ=कब ही **स्तुवन्ते**=आपका स्तवन करते हैं? **कः**=कौन **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **विप्रः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाला, न्यूनताओं को दूर करनेवाला व्यक्ति **ओहते**=आपको प्राप्त होता है (ओहः गतौ Reaching) (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् **मघवन्**=सब यज्ञोंवाले (मघ=मख) प्रभो! **कदा**=कब **सुन्वतः**=यज्ञशील पुरुष की **हवम्**=पुकार को सुनकर **आगमः**=आप आते हैं। **कत् उ**=और कब ही **स्तुवतः**=स्तुति करनेवाले की पुकार को सुनकर आप प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु–सम्पर्क से अनृत का विनाश होता है यह ऋत को अपनानेवाले लोग ऋषि व विप्र बनकर प्रभु को प्राप्त होते हैं। प्रभु यज्ञशील स्तोताओं की पुकार को सुनते हैं।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सदा विजयी

उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथाइव॥ १५॥

(१) **त्ये**=वे **स्तोमासः**=स्तुति करनेवाले लोग उ=निश्चय से **मधुमत्तमाः**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाली **गिरः**=ज्ञान की वाणियों का **उद् ईरते**=उच्चारण करते हैं। (२) इन ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले ये स्तोता लोग **सत्राजितः**=सदा विजयी, **धनसाः**=उत्तम धनों को प्राप्त करनेवाले, **अक्षित-उत्तमः**=अक्षीण रक्षणोंवाले तथा **रथाः इव**=महारथियों के समान **वाजयन्तः**=संग्राम में शक्तिशाली पुरुष की तरह आचरण करते हैं।

भावार्थ—स्तोता लोग मधुर ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हैं। परिणामतः सदा विजयी, धनैश्वर्यवाले, सुरक्षित जीवनवाले तथा महारथियों के समान संग्राम करते हुए होते हैं।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्पं- ॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

(आयवः प्रियमेधासः) सर्वोत्कृष्ट जीवन

कण्वाइव भृगवः सूर्याइव विश्वमिद्धीतमानशुः।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन्॥ १६॥

(१) **कण्वाः इव**=मेधावी पुरुषों के समान **भृगवः**=ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले ये उपासक **सूर्याः इव**=सूर्यों के समान होते हैं, सूर्य की तरह सर्वत्र प्रकाश को करनेवाले होते हैं। ये **इत्**=निश्चय से **धीतम्**=(thought about, reflected upon) **सुचिन्तित विश्वम्**=संसार को **आनशुः**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् संसार में सब चीजों को तात्त्विक दृष्टिकोण से देखते हुए वर्तते हैं। परिणामतः ये किसी भी वस्तु में उलझते नहीं। (२) ये **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्तोमेभिः**=स्तुति समूहों से **महयन्तः**=पूजते हुए, **आयवः**=गतिशील जीवन बिताते हुए, **प्रियमेधासः**=प्रिय बुद्धिवाले (मेधा) अथवा यज्ञप्रिय (मेध=यज्ञ) होते हुए **अस्वरन्**=अपने शरीरों को तथा पीड़ित करते हैं, तपस्वी जीवन बिताते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानाग्नि में अपने जीवन को परिपक्व करें। सब चीजों को तात्त्विक दृष्टि से देखते हुए वर्तें। प्रभु का स्तवन करते हुए, गतिशील जीवन बिताते हुए, यज्ञप्रिय व तपस्वी बनें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पथ्याबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

अर्वाचीनः

युक्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः।
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभिरा गहि॥ १७॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् **वृत्रहन्तम्**=वासनाओं को अतिशयेन विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **परावतः**=सुदूर देशों में भटकनेवाले इन **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **युक्ष्वा**=हमारे शरीर-रथ में युक्त करिये। ये इधर-उधर न भटककर, यहाँ शरीर में स्थित हुए-हुए अपने कार्यों को अच्छी प्रकार करनेवाले हों। (२) हे **मघवन्**=सब यज्ञों के भोक्ता (मघ=मख) आप **अर्वाचीनः**=हमें अन्दर हृदयान्तरिक्ष में प्राप्त होइये (अर्वाङ् अञ्चति)। हम हृदयों में आपका ध्यान करनेवाले बनें। हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **सोमपीतये**=हमारी सोमशक्ति के शरीर में ही पान के लिये आप **ऋष्वेभिः**=उत्कृष्ट इन्द्रियाश्वों के साथ **आगहि**=हमें प्राप्त होइये। आपकी कृपा से हमें उत्कृष्ट पवित्र इन्द्रियाँ प्राप्त हों और हम सोम का रक्षण कर सकें।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व विषयों में भटकनेवाले न हों। हम सोम का शरीर में ही रक्षण कर सकें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

ते कारवः

इमे हि ते कारवो वावशुर्धिया विप्रासो मेधसातये।
स त्वं नो मघवन्निन्द्र गिर्वणो वेनो न शृणुधी हवम्॥ १८ ॥

(१) हे प्रभो! **इमे ते कारवः**=ये आपके स्तोता लोग **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करते हुए **धिया**=बुद्धिपूर्वक **मेधसातये**=यज्ञों की प्राप्ति के लिये **हि**=निश्चय से **वावशुः**=कामना करते हैं। प्रभु का स्तोता (क) अपने जीवन में न्यूनताओं को दूर करने के लिये यत्नशील होता है। (ख) यज्ञमय जीवन बिताता है। (ग) सब कर्मों को बुद्धिपूर्वक कुशलता से करता है। (२) हे **मघवन्**=यज्ञशील **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा उपासनीय प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमारे लिये **वेनः न**=हमारे प्रति प्रेमवाले होते हुए **हवं शृणुधि**=हमारी पुकार को सुनिये। हम आपके प्रिय बनें, हमारी प्रार्थना सदा सुनी जाये।

भावार्थ—सच्चा स्तोता अपने जीवन की न्यूनताओं को दूर करता हुआ बुद्धिपूर्वक यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहता है। प्रभु का यह प्रिय बनता है, इसकी प्रार्थना सदा सुनी जाती है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'अर्बुद-मृगय-मायी-पर्वत' से गौओं को बाहिर करना

निरिन्द्र बृहतीभ्यो वृत्रं धनुभ्यो अस्फुरः।
निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिनो निः पर्वतस्य गा आजः॥ १९ ॥

(१) **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **बृहतीभ्यः धनुर्भ्यः**=वृद्धि के कारणभूत प्रणव (ओंकार) रूप धनुषों के द्वारा **वृत्रम्**=वासनारूप शत्रु को **निः अस्फुरः**=निश्चय से विनष्ट करनेवाला हो। 'ओ३म्' के जप के द्वारा तू वासना को अपने से दूर कर। (२) **अर्बुदस्य**=कुटिलता की वृत्ति, **मृगयस्य**=तृष्णा की वृत्ति की (मृग अन्वेषणे। सदा धन की खोज में रहना) तथा **मायिनः**=अत्यन्त मायाविनी कामवृत्ति की शिकार बनी हुई **गाः**=इन्द्रियों को **निः आजः**=इन वृत्तियों से बाहर कर। तथा **पर्वतस्य**=अविद्या पर्वत में निरुद्ध इन इन्द्रियों को इस पर्वत से **निः**=(आजः) बाहिर गतिवाला कर।

भावार्थ—प्रणव (ओ३म्) के जप से हम वासना को विनष्ट करें। इन्द्रियों को 'कुटिलता, तृष्णा, काम व अविद्या' का शिकार न होने दें।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वासना विनाश व दीप्ति

निर॒ग्नयो॑ रुरुचु॒र्निरु॒ सूर्यो॒ः निः सोम॑ इन्द्रि॒यो रसः॑।
निर॒न्तरि॑क्षादधमो म॒हामहिं कृषे तदि॑न्द्र॒ पौंस्य॑म्॥ २०॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू जब **अन्तरिक्षात्**=हृदयान्तरिक्ष से इस **महां अहिम्**=महान् हनन करनेवाली (आहन्ती) वासना को **निरधमः**=सुदूर विनष्ट करता है, तो तू **तत्**=उस **पौंस्यम्**=पुरुषार्थ को **कृषे**=करता है कि **अग्नयः**=शरीर में सब अग्नियाँ **निः रुरुचुः**=निश्चय से दीप्त हो उठती हैं, 'पार्थिव पदार्थों का ज्ञान, अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान तथा द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान' ये सब अग्नियाँ चमक उठती हैं। इसी प्रकार 'उत्साह की अग्नि', 'शक्ति की अग्नि' व 'ज्ञान की अग्नि' ये सब अग्नियाँ चमक उठती हैं। (२) **उ**=और **सूर्यः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में सूर्य **निः**=निश्चय से दीप्त होता है। **सोमः**=शरीर में उत्पन्न हुई-हुई सोमशक्ति **निः**=निश्चय से दीप्त हो उठती है तथा **इन्द्रियः रसः**=(इन्द्रियं वीर्यं बलम्) बल के कारण उत्पन्न होनेवाला जीवन का रस चमक उठता है।

भावार्थ—वासना विनाश से शरीर में 'अग्नियाँ, ज्ञान का सूर्य, सोमशक्ति व बल से उत्पन्न रस' सब चमक उठते हैं।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—पाकस्थाम्नः कौरयाणस्य दानस्तुतिः॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥
स्वरः—गान्धारः॥

'इन्द्रः मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः'

यं मे॑ दु॒रिन्द्रो॑ म॒रुतः॒ पाक॑स्थामा॒ कौर॑याणः।
विश्वे॑षां॒ त्मना॒ शोभि॑ष्ठ॒मुपे॑व दि॒वि धाव॑मानम्॥ २१॥

(१) **यम्**=जिस प्रभु को **मे**=मेरे लिये वे आचार्य **दुः**=देते हैं, जो **इन्द्रः**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता व जितेन्द्रिय हैं, **मरुतः**=प्राणसाधना में चलनेवाले हैं। **पाकस्थामा**=परिपक्व व शुद्ध बलवाले हैं और **कौरयाणः**=क्रियाशील हैं। मैं उसका **विश्वेषाम्**=सबके मध्य **त्मना**=आत्मरूप से **शोभिष्ठम्**=अतिशोभनीय **उप इव**=अत्यन्त समीप **दिवि**=आकाश में **धावमानम्**=गति करते हुये देखता हूँ।

भावार्थ—प्राण साधक योगाभ्यासा जन सर्वत्र परम प्रभु को देखते हैं।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वः॥ देवता—पाकस्थाम्नः कौरयाणस्य दानस्तुतिः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

पाकस्था सुधुरम्

रोहि॑तं मे॒ पाक॑स्थामा सु॒धुरं॑ कक्ष्य॒प्राम्। अदा॑द्रा॒यो वि॒बोध॑नम्॥ २२॥

पाकस्थामा=वह बल का पुञ्ज प्रभु **सुधुरम्**=सुख से धारण योग्य **कक्ष्यप्राम्**=कोखों में पूर्ण **रोहितम्**=जन्मनेवाला, प्रादुर्भूत होनेवाला शरीर वा आत्मा **अदात्**=देता है, वह **रायः**=सम्पत्ति तथा **विबोधनम्**=विशेष साधन मन, बुद्धि, इन्द्रियादि (अदात्) देता है।

भावार्थ—वह परम प्रभु जीव को सब साधन देता है।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वःङ्क देवता—पाकस्थाम्नः कौरयाणस्य दानस्तुतिःङ्क छन्दः—निचृद्गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

दश वह्नयः

यस्मा॑ अ॒न्ये दश॒ प्रति॒ धुरं॒ वह॑न्ति॒ वह्न॑यः। अस्तं॒ वयो॒ न तुग्र्य॑म्॥ २३॥

तुग्र्यं वयः न=बलवान् गृहपति को तीव्रगामी घोड़े जिस प्रकार **अस्तम्**=गृह को ले जाते हैं, इसी प्रकार **यस्मै**=प्रभु दर्शन के लिए **अन्ये**=दूसरे **दश**=दस **वह्नयः**=अग्निवत् तेजस्वी प्राण **धुरं प्रति**=धारक आत्मा के अधीन **वहन्ति**=उसको वहन करते हैं।

भावार्थ—दस प्राण आत्मा से शरीर में धारण करते हैं।

ऋषिः—मेध्यातिथिः काण्वःङ्क देवता—पाकसथाम्नः कौरयाणस्य दानस्तुतिःङ्क छन्दः—बृहतीङ्क स्वरः—मध्यमःङ्क

भोजं तुरीयम्

आ॒त्मा पि॒तुस्त॒नूर्वास॑ ओजो॒दा अ॒भ्यञ्ज॑नम्।
तु॒रीय॒मिद्रोहि॑तस्य॒ पाक॑स्थामानं भो॒जं दा॒तार॑मब्रवम्॥ २४॥

मैं **रोहितस्य**=जन्मनेवाले शरीर, प्रादुर्भूत जीवात्मा को **पाकस्थामानम्**=अत्यन्त बलशाली **भोजम्**=पालक प्रभु को **अब्रवम्**=बतलाता हूँ कि वे प्रभु **तुरीयम् इत्**='हिरण्यगर्भ, तैजस व प्राज्ञ' इन तीन पादों से ऊपर उठकर चतुर्थ 'शान्त शिव अद्वैत' पाद के रूप में हैं। **पाकस्थामानम्**=परिपक्व बलवाले हैं। **भोजम्**=सबका पालन करनेवाले हैं और पालन के लिये सब आवश्यक शक्तियों व पदार्थों के **दातारम्**=देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही 'आत्मा, अन्न, शरीर, वस्त्र, ओज के दाता, कान्ति व शक्ति के दाता' हैं। वे प्रभु 'तुरीय, पाकस्थामा, भोज व दाता' हैं।

इस महान् देव का आतिशय्य करनेवाला 'देवातिथि' अगले सूक्त का ऋषि है। यह 'काण्व' मेधावी है। इन्द्र का स्तवन करता हुआ कहता है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—देवातिथिः काण्वःङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—भुरिगनुष्टुपङ्क स्वरः—गान्धारःङ्क

प्रभु कहाँ नहीं हैं?

यदि॑न्द्र॒ प्रागपा॒गुद॒ङ्न्य॑ग्वा हू॒यसे॒ नृभिः॑।
सिमा॑ पु॒रू नृषू॑तो अ॒स्यान॒वेऽसि॑ प्रशर्ध तु॒र्वशे॑॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यद्**=जो आप **प्राक् अपाक्**=पूर्व में व पश्चिम में **उदङ् न्यग् वा**=या उत्तर व दक्षिण में **नृभिः हूयसे**=मनुष्यों से पुकारे जाते हैं। वे आप **सिमा**=सब दिशाओं में विद्यमान हैं। आप कहाँ नहीं हैं? आप **पुरु**=खूब ही **नृषूतः असि**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों के सारथि हैं। (२) **आनवे**=(अन प्राणने) आप इन नर मनुष्यों को प्राणित व उत्साहित करनेवाले हैं। हे **प्रशर्ध**=प्रकृष्ट शक्ति-सम्पन्न प्रभो! आप **तुर्वशे असि**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करने के लिये होते हैं। प्रभु का भक्त प्रभु से शक्ति व उत्साह को प्राप्त करके शीघ्रता से शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक हैं। उन्नतिपथ पर चलनेवालों के रथ के सारथि होते हैं। उत्साह

व शक्ति देते हैं। शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले हैं।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'रुम-रुशम-श्यावक-कृप'

यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभिः स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यद् वा**=या तो **रुमे**=(रु शब्दे) स्तुति शब्दों का उच्चारण करनेवाले पुरुष में या **रुशमे**=स्तुति शब्दों का उच्चारण करते हुए शत्रु-संहार करनेवाले में (रुश शब्दे) तथा **श्यावके**=शत्रु-संहार के उद्देश्य से ही निरन्तर गतिशील पुरुष में और **कृपे**=(कृप् सामर्थ्ये) शक्तिशाली पुरुष में **सचा**=समवाय (मेल) वाले होते हुए आप **मादयसे**=इन उपासकों को आनन्दित करते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तोमवाहसः**=स्तुति समूहों का धारण करनेवाले **कण्वासः**=बुद्धिमान् लोग **ब्रह्मभिः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित होनेवाली इन स्तुति वाणियों से **त्वा यच्छन्ति**=आपके प्रति अपने को दे डालते हैं। **आगहि**=आप इन स्तोताओं को प्राप्त होइये।

भावार्थ—प्रभु उन्हें प्राप्त होते हैं जो (क) स्तुति शब्दों का उच्चारण करते हैं, (ख) वासनाओं का संहार करते हैं, (ग) गतिशील हैं तथा (घ) शक्तिशाली बनते हैं। स्तोता प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, प्रभु इन्हें प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्यासा मृग जैसे जलधारा पर

यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम्।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब॥ ३॥

(१) प्रभु कहते हैं **यथा**=जैसे **गौरः**=एक मृग **तृष्यन्**=प्यासा होता हुआ **अपा कृतम्**=जल से बने हुए, जल से युक्त **इरिणम्**=एक जलप्रवाह की **अव एति**=ओर आता है, इसी प्रकार हे जीव! तू भी **नः**=हमारे **प्रपित्वे**=(अभीके नि०) समीप **आपित्वे**=मित्रता में **तूयं आगति**=शीघ्र आनेवाला हो। वस्तुतः तेरी प्यास यहाँ आकर ही बुझेगी संसार के पदार्थ तेरी प्यास को न बुझायेंगे। उनसे तो तेरी तृष्णा और बढ़ती ही जायेगी। (२) **कण्वेषु**=मेधावी पुरुषों में **सचा**=मेलवाला होता हुआ तू **सु पिब**=अच्छी प्रकार ज्ञान जलों का पान कर। यह ज्ञानजल ही तुझे निर्मल भी बनायेंगे और तेरी प्यास को भी बुझायेंगे। इनसे निर्मल बना हुआ तू हमें प्राप्त होगा।

भावार्थ—हम प्रभु चरणों में ऐसे उपस्थित हों जैसे एक प्यासा मृग जलधारा पर उपस्थित होता है। मेधावी पुरुषों के सत्संग में हम ज्ञान जलों का पान करें।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

सोमरक्षण व सहस् की प्राप्ति

मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधोदेयाय सुन्वते।
आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद् दधिषे सहः॥ ४॥

(१) हे **मघवन्**=यज्ञशील **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इन्दवः**=ये सोमकण **त्वा**=तुझे **मन्दन्तु**=आनन्दित करनेवाले हों। ये सोमकण **सुन्वते**=यज्ञशील (पुरुष) के लिये **राधोदेयाय**=ऐश्वर्य के

देनेवाले होते हैं। (२) सो हे जीव! तू **चमूसुतम्**=इस शरीर में उत्पन्न किये गये इस सोम को **अपिबः**=पीनेवाला हो और **आमुष्यः**=इस शरीर में ही चारों ओर इसे सुहुत करनेवाला बन और **तद्**=तब **ज्येष्ठं सहः**=सर्वोत्कृष्ट बल को **दधिषे**=धारण कर।

भावार्थ—यज्ञशीलता व जितेन्द्रियता हमें सोम के रक्षण के योग्य बनाये। इस सोमरक्षण के द्वारा हम सर्वोत्कृष्ट बल को (आनन्दमयकोश की सहस् शक्ति को) धारण करें।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पथ्याबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सहस्वी व ओजस्वी बनना

प्र च॑क्रे सह॑सा सहो॑ ब॒भञ्ज॑ म॒न्युमोज॑सा।
विश्वे॑ त इन्द्र पृतना॒यवो॑ यहो॒ नि वृ॒क्षाइ॑व येमिरे॥५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सहसा**=बल के द्वारा **सहः**=शत्रुओं के मर्षण को **प्र चक्रे**=प्रकर्षेण करता है। **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **मन्युम्**=इन के क्रोध को **बभञ्ज**=भग्न कर देता है। (२) प्रभु जीव से कह रहे हैं कि हे **यहो**=प्रिय पुत्र! **ते**=तेरे **विश्वे**=सब **पृतनायवः**=सेना के द्वारा आक्रमण करनेवाले **वृक्षाः इव**=वृक्षों की तरह **नियेमिरे**=काबू में किये जाते हैं। काम-क्रोध-लोभ आदि को तू इस प्रकार वशीभूत कर लेता है कि उनकी सब हलचल पूर्ण रूप से संयत हो जाती है। उनकी उग्रता समाप्त होकर वे भी वृक्षों की तरह छाया को देनेवाले हो जाते हैं। धर्माविरुद्ध होकर वे भी शुभ रूप हो जाते हैं।

भावार्थ—हम सहस्वी व ओजस्वी बनकर काम-क्रोध आदि शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले हों।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रावर्ग पुत्र

स॒ह॒स्रेणे॑व सचते यवी॒युधा॒ यस्त॒ आन॒ळुप॑स्तुतिम्।
पु॒त्रं प्रा॑व॒र्गं कृ॑णुते सु॒वीर्ये॑ दा॒श्नोति॒ नम॑उक्तिभिः॥६॥

(१) हे प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपकी **स्तुतिं आनट्**=स्तुति को व्यापता है, अर्थात् सदा आपका स्तवन करता हुआ कार्यों को करता है वह **सहस्रेण इव**=हजारों के समान **यवीयुधा**=शत्रु-नाशक बल से **सचते**=संयुक्त होता है। स्तोता के अन्दर हजारों पुरुषों का बल आ जाता है और यह शत्रु-नाश करने में समर्थ होता है। (२) **नम उक्तिभिः**=नमन के वचनों से, प्रभु के प्रति इन स्तुति-वचनों से **सुवीर्ये**=उत्तम वीर्य के होने पर **पुत्रम्**=सन्तान को **प्रावर्गम्**=प्रकर्षेण शत्रुओं का वर्जन करनेवाला **कृणुते**=करता है। अर्थात् इस उपासक की सन्तान नीरोग व निर्मल होती है। और यह इन स्तुति-वचनों से सब शत्रुओं को **दाश्नोति**=समाप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हजारों पुरुषों के बल के समान बल प्राप्त होता है। सन्तान नीरोग व निर्मल मनवाली होती है। हम भी सब शत्रुओं का शातन (संहार) कर पाते हैं।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

मा भेम, मा श्रमिष्म

मा भे॑म॒ मा श्र॑मिष्मो॒ग्रस्य॑ स॒ख्ये तव॑।
म॒हत्ते॒ वृष्णो॑ अ॒भि॒चक्ष्यं॑ कृ॒तं पश्ये॑म तु॒र्वशं॒ यदु॑म्॥७॥

(१) हे प्रभो! **उग्रस्य**=शत्रुओं के लिये भयंकर **तव**=आपके **सख्ये**=मित्रभाव में हम **मा भेम**=न तो शत्रुओं से भयभीत हों और **मा**=ना ही **श्रमिष्म**=थक जायें, सदा श्रमशील बनें रहें, अनथक रूप से कार्य करनेवाले हों। (२) **वृष्णः**=शक्तिशाली **ते**=आपकी **महत्**=महान् **अभिचक्ष्यम्**=(means of defence) रक्षण व्यवस्था **कृतम्**=की गयी है। उस रक्षण व्यवस्था से रक्षित हुए-हुए हम अपने को **तुर्वशम्**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाला व **यदुम्**=यत्नशील **पश्येम**=देखें। आप से रक्षित हुए-हुए हम शत्रुओं के शीर्ण करके सदा धर्म कार्यों में यत्नशील रहें।

भावार्थ-प्रभु की मित्रता में हम अभय व सतत कार्यशील बनें। प्रभु की रक्षण व्यवस्था में शत्रुओं को वश में करनेवाले व यत्नशील हों।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

मधुयुक्त धेनुदुग्ध का सेवन

सव्यामनु स्फिग्यं वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति।
मध्वा संपृक्ताः सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब॥ ८॥

(१) कटि प्रदेश में स्थित 'सव्या स्फिग्य'=गर्भधानी है। **सव्यां सिफगयं अनु**=गर्भधानी में निवास के बाद गत मन्त्र का यह 'तुर्वश-यदु' **वावसे**=उत्तम निवासवाला होता है। **वृधा**=शक्तिशाली बनता है। **अस्य**=इसका **दानः**=त्याग-भाव (दाप् लवने) बुराइयों का खण्डन व (दैप् शोधने) शोधन **न रोषति**=हिंसित नहीं होता। यह जीवन में त्याग भाववाला बनता है, सब बुराइयों को दूर करके जीवन को शुद्ध बनाये रखता है। (२) 'ऐसा जीवन बन सके' इस के लिये आवश्यक है कि हम प्रभु के इस निर्देश के अनुसार कार्य करें कि **सारधेण मध्वा**=मधुमक्षिकाओं से संचित शहद से **धेनवः**=नवसूतिका गौवों का दूध **संपृक्ताः**=मिलाया गया है। **तूयं ऐहि**=शीघ्र आओ, **द्रुव**=गतिशील बनो और **पिब**=इस का पान करो। वस्तुतः गर्भिणी माता शहद युक्त इन नवसूतिका गौ के दुग्ध के प्रयोग से शक्तिशाली शुद्ध जीवनवाले सन्तान को जन्म देती है।

भावार्थ-यदि गर्भिणी माता मधुयुक्त धेनुदुग्ध का प्रयोग करती है तो सन्तान शक्तिशाली शुद्ध जीवनवाली, त्याग वृत्तिवाली होती है।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पथ्याबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सुरूपः गोमान्

अश्वी रथी सुरूप इद्गोमाँ इदिन्द्र ते सखा।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रो याति सभामुप॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते सखा**=आपका मित्र **अश्वी**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होता है, **रथी**=उत्तम शरीर-रथवाला बनता है और **इत्**=निश्चय से **सुरूपः**=उत्तम रूपवाला होता है। यह **गोमान् इत्**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाला ही होता है। जहाँ इसका रूप उत्तम होता है, वहाँ यह ज्ञान के दृष्टिकोण से भी उत्तम होता है। (२) यह **सदा**=सदा **श्वात्रभाजा**=(श्वि वृद्धौ) वृद्धि का सेवन करनेवाले **वयसा**=आयुष्य से **सचते**=युक्त होता है जीवन में सदा बढ़ता ही चलता है और **चन्द्रः**=आह्लादमय मनोवृत्तिवाला **सभां उपयाति**=सभा में उपस्थित होता है। जब कभी जन समुदाय में आता है, प्रसन्न ही मनोवृत्तिवाला होता है।

भावार्थ-प्रभु का मित्र 'उत्तम इन्द्रियों व शरीरवाला, सुरूप, ज्ञानी, वृद्धिशील व प्रसन्न मनोवृत्तिवाला' होता है।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—सतः पङ्क्तिः **स्वरः**—पञ्चमः

सोमपान से ओजिष्ठ सहस् की प्राप्ति

ऋश्यो न तृष्यन्नवपानमा गहि पिबा सोमं वशाँ अनु।
निमेघमानो मघवन्दिवेदिव ओजिष्ठं दधिषे सहः॥ १०॥

(१) **न**=जैसे **तृष्यन्**=पिपासाकुल हुआ-हुआ **ऋश्यः**=मृग **अवपानम्**=पानी पीने स्थान-जलाशय आदि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार हे जीव! तू भी **आगहि**=आ और **वशान् अनु**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुपात में **सोम पिबा**=सोम का पान कर। इस सोम शक्ति के पान से ही तेरी पिपासा शान्त होगी, यह सोम ही तो तेरे में शक्ति व ज्ञान का वर्धन करेगा। (२) हे **मघवन्**=यज्ञशील पुरुष! (मघ=मख) **निमेघमानः**=(मिह् सेचने) अपने अन्दर शक्ति का सेचन करता हुआ ही तू **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **ओजष्ठिम्**=ओजस्विता से युक्त **सहः**=शत्रुओं के कुचलनेवाले बल को **दधिषे**=धारण करता है। यज्ञादि कर्मों में लगे रहने से वासनाओं का उदय नहीं होता और सोमरक्षण होकर शक्ति की वृद्धि होती है।

भावार्थ—हम सोमपान के लिये प्रबल कामनावाले हों, इन्द्रियों को वश में करते हुए सोम का रक्षण करें, प्रतिदिन सोम का शरीर में ही सिक्त करते हुए ओजस्वी व सहस्वी बनें।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—निचृद् बृहती **स्वरः**—मध्यमः

प्रभु के समीप पहुँचना

अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति।
उप नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा॥ ११॥

(१) हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील पुरुष! **त्वं द्रावया**=तू वासनाओं को दूर भगा दे। **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **सोमं पिपासति**=सोम के पान की कामना करता है। यज्ञशीलता वासनाओं से बचायेगी। वासनाओं का अभाव इसे सोमरक्षण के योग्य करेगा। (२) यह सोमपान करनेवाला इन्द्र **नूनम्**=निश्चय से **वृषणा**=शक्तिशाली **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **उपयुयुजे**=शरीर-रथ में जोतता है। **च**=और सदा उत्तम कर्मों में लगा हुआ **वृत्रहा**=वासना का विनाश करनेवाला यह **इन्द्र**=उस इन्द्रियाश्वों से जुते शरीर-रथ के द्वारा **आजगाम**=प्रभु के समीप आता है।

भावार्थ—वासनाओं को दूर करके हम सोम का रक्षण करें। शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतकर, वासनारूप विघ्नों को नष्ट करते हुए, प्रभु तक पहुँचने के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः **स्वरः**—पञ्चमः

सोमरक्षण के तीन लाभ

स्वयं चित्स मन्यते दाशुरिर्जनो यत्रा सोमस्य तृम्पसि।
इदं ते अन्नं युज्यं समुक्षितं तस्येहि प्र द्रवा पिब॥ १२॥

(१) **यत्रा**=जब **सोमस्य तृम्पसि**=तू सोम से तृप्त होता है, अर्थात् सोम का रक्षण करनेवाला बनता है, तो **सजनः**=वह मनुष्य स्वयं **चित् स्वयं मन्यते**=ज्ञानवान् बनता है। यह व्यक्ति सोम के द्वारा दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनकर अन्तः प्रकाश को देखनेवाला होता है। **दाशुरिः**=दान व त्याग की वृत्तिवाला बनता है। (२) हे जीव! **इदम्**=यह सोम **ते अन्नम्**=तेरा अन्न है। **युज्यम्**=यह

तुझे प्रभु से मिलाने का उत्तम साधन है। **समुक्षितम्**=शरीर के अंग-प्रत्यंगों में यह सिक्त होता है। तू **इहि**=आ, **प्र द्रवा**=शीघ्र गतिवाला हो और **तस्य पिब**=उस सोम का तू पान कर।

भावार्थ—सोमरक्षण के लाभ ये हैं-(क) अन्तःप्रकाश प्राप्त होता है, (ख) त्यागवृत्ति का उदय होता है, (ग) यह सोम हमें प्रभु से मिलानेवाला होता है। इस प्रकार इस सोम का महत्त्व स्पष्ट है। सो हमें सोमरक्षण पर बड़ा बल देना चाहिए।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

रथेष्ठाय इन्द्राय

रथेष्ठायाध्वर्यवः सोममिन्द्राय सोतन। अधि ब्रध्नस्याद्रयो वि चक्षते सुन्वन्तो दाश्वध्वरम्॥ १३॥

(१) हे **अध्वर्यवः**=यज्ञशील पुरुषो! **रथेष्ठाय**=तुम्हारे इस शरीर-रथ के सारथिभूत **इन्द्राय**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं सोतन**=सोम को (वीर्य को) अपने अन्दर उत्पन्न करो। (२) **दाशु**=दानवृत्ति से युक्त **अध्वरम्**=इस हिंसारहित यज्ञ को **सुन्वन्तः**=करते हुए **अद्रयः**=उपासक लोग (आद्रियन्ते इति अद्रयः) **ब्रध्नस्य**=उस महान् प्रभु के पद को **अधि-विचक्षते**=अपने हृदय देशों में देखते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिये आवश्यक है कि-(क) शरीर में सोम का रक्षण करें (ख) यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

अध्वरश्रियः सप्तयः

उप ब्रध्नं वावाता वृषणा हरी इन्द्रमपसु वक्षतः।
अर्वाञ्चं त्वा सप्तयोऽध्वरश्रियो वहन्तु सवनेदुप॥ १४॥

(१) **वावाता**=निरन्तर गतिशील, **वृषणा**=शक्तिशाली **हरी**=इन्द्रियाश्व **अपसु**=कर्मों में निरन्तर व्याप्ति के होने पर **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **ब्रध्नं उप वक्षतः**=उस महान् प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिये इन्द्रियों का कर्मों में व्याप्त रहना व शक्तिशाली बने रहना आवश्यक है। (२) हे (इन्द्र)=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **सप्तयः**=कर्मों में सर्पणशील इन्द्रियाश्व **अध्वरश्रियः**=यज्ञों का सेवन करनेवाले होते हुए **अर्वाञ्चम्**=अन्दर हृदय देश की ओर **वहन्तु**=ले चलें। सदा **इत्**=निश्चय से **सवना उप**=यज्ञों के समीप प्राप्त करायें।

भावार्थ—इन्द्रियाश्वों का यज्ञादि कर्मों में लगे रहना व विषयों से बचे रहना ही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है। यज्ञसेवी इन्द्रियाश्व ही हमें प्रभु-दर्शन करायेंगे।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः पूषा वा॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रभु-वरण से बुद्धि व शक्ति की प्राप्ति

प्र पूषणं वृणीमहे युज्याय पुरूवसुम्।
स शक्र शिक्ष पुरुहूत नो धिया तुजे राये विमोचन॥ १५॥

(१) हम **युज्याय**=मित्रता के लिये (union) मेल के लिये **पूषणम्**=उस पोषक प्रभु को **प्रवृणीमहे**=वरते हैं, जो **पुरूवसुम्**=खूब ही पालक व पूरक धनवाले हैं। प्रभु की मित्रता में निवास के लिये आवश्यक धनों की कमी नहीं रहती। (२) हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन्, **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले, **विमोचन**=सब शत्रुओं से मुक्त करनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें

तुजे=शत्रुओं के संहार के लिये तथा **राये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **धिया**=बुद्धि के साथ **शिक्ष**=शक्तिशाली बनाइये।

भावार्थ—हम मित्रता के लिये प्रभु का ही वरण करें। प्रभु हमें बुद्धि व शक्ति को प्राप्त करायें। जिससे हम शत्रुओं का संहार कर सकें तथा ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः पूषा वा॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

उस्त्रियं वसु

सं नः शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरं रास्व रायो विमोचन।
त्वे तन्नः सुवेदमुस्त्रियं वसु यं त्वं हिनोषि मर्त्यम्॥ १६॥

(१) **भुरिजोः**=द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में **नः**=हमें **संशिशीहि**=इस प्रकार तेज करिये **इव**=जैसे **क्षुरम्**=एक छुरे को तेज करते हैं। हमारा मस्तिष्क तीव्र ज्ञान ज्योति से चमके और शरीर तेजस्विता से। हे **विमोचन**=सब कष्टों से मुक्त करनेवाले प्रभो! **रायः रास्व**=हमारे लिये कार्यसाधक धनों को दीजिये। (२) **त्वे**=आपके आश्रय में **नः**=हमारे लिये **तत्**=वह **उस्त्रियम्**=ज्ञान की रश्मियों से युक्त **वसु**=धन **सुवेदम्**=सुलभ (विद् लाभे) होता है, **यम्**=जिस धन को (यत्) **त्वम्**=आप **मर्त्यम्**=मनुष्य के लिये **हिनोषि**=प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे मस्तिष्क व शरीर को ज्ञान व शक्ति से दीप्त करें। धनों को प्राप्त करायें। ज्ञान रश्मियों से युक्त धन को हमारे लिये प्रेरित करें।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः पूषा वा॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'स्व' (आत्मा) की ही कामना

वेमि त्वा पूषन्नृञ्जसे वेमि स्तोतव आघृणे।
न तस्य वेम्यरणं हि तद्वसो स्तुषे पज्राय साम्ने॥ १७॥

(१) हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **ऋञ्जसे**=अपने जीवन को सद्गुणों से प्रसाधित करने के लिये **त्वा वेमि**=आपको ही **वेमि**=चाहता हूँ। हे **आघृणे**=सर्वतो दीप्त प्रभो! **स्तोतवे**=स्तुति करने के लिये आपकी ही **वेमि**=मैं कामना नहीं करता हूँ। **हि**=निश्चय से **तत्**=यह भौतिक धन **अरणम्**=('स्व' से विपरीत) आत्मा से भिन्न है मेरा विरोधी है, मेरी उन्नति में रुकावट बनता है। हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! मैं **पज्राय**=शक्तिशाली धनी होते हुए सभी **साम्ने**=शान्त, सब के साथ समान व्यवहार करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष के लिये **स्तुषे**=स्तवन करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु का वरण करें, प्रभु का ही स्तवन करें। केवल भौतिक धन हमारे पतन का कारण बनता है। प्रभु-स्मरण के साथ हम धनी होते हुए समान वर्तनेवाले व शान्त बनते हैं।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः पूषा वा॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

नित्यं रेक्णः

परा गावो यवसं कच्चिदाघृणे नित्यं रेक्णो अमर्त्य।
अस्माकं पूषन्नविता शिवो भव मंहिष्ठो वाजसातये॥ १८॥

(१) हे **आघृणे**=सर्वत दीप्त प्रभो! **गावः**=हमारी ये इन्द्रियाँ **परा**=दूर बाहिर की ओर **यवसम्**=विषयरूप घास को चरने के लिये जाती हैं। हे **अमर्त्य**=हमें न नष्ट होने देनेवाले प्रभो! **कच्चित्**=क्या कभी ये इन्द्रियाँ **नित्यं रेक्णः**=उस अविनश्वर ज्ञानरूप धन को लेने के लिये भी

चलेंगी? क्या हमारी इन्द्रियाँ ज्ञान की रुचिवाली न बनेगी? (२) हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारे **अविता**=रक्षक व **शिवः**=कल्याण करनेवाले **भव**=होइये। आप **वाजसातये**=शक्ति को प्राप्त कराने के लिये **मंहिष्ठः**=दातृतम होइये। आप हमें अधिक से अधिक शक्ति को प्राप्त करानेवाले हों। यह शक्ति ही हमारा रक्षण व कल्याण करेगी। विषयों में भटककर इन्द्रियाँ शक्तियों को जीर्ण कर लेती थीं। आप की कृपा से ये ज्ञान की ओर झुकी और हम अमंगल से बच गये।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हमारी इन्द्रियाँ विषयों में न भटककर ज्ञानरूप नित्य धन की प्राप्ति के लिये झुकाववाली हों। प्रभु हमारा रक्षण करें और अधिक से अधिक शक्ति को प्राप्त करायें।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—कुरुङ्गस्य दानस्तुतिः ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

'दिविष्टि-राति-तुर्वश'

स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु। राज्ञस्त्वेषस्य सुभगस्य रातिषु तुर्वशेष्वमन्महि॥ १९॥

(१) **दिविष्टिषु**=(दिव् इष्) ज्ञानयज्ञ को करनेवाले व्यक्तियों में **कुरुङ्गस्य**=(कवते, रंगति) ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले गतिशील प्रभु के **स्थूरं राधः**=महान् ऐश्वर्य को हम **अमन्महि**=आदरपूर्वक देखते हैं, उस धन को जो **शताश्वम्**=शत वर्षपर्यन्त इन्द्रियों को कर्मों में व्याप्त रूप से रखनेवाला है। जिस धन के कारण इन्द्रियों की शक्ति अन्त तक ठीक बनी रहती है। (२) **रातिषु**=दान की वृत्तिवाले **तुर्वशेषु**=त्वरा से शीघ्रता से काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को वश में करनेवाले पुरुषों में उस **राज्ञः**=सारे ब्रह्माण्ड के व्यवस्थापक **त्वेषस्य**=ज्ञानदीप्त **सुभगस्य**=उत्तम ऐश्वर्यवाले प्रभु के 'स्थूरं राधः'=महान् ऐश्वर्य को हम आदर से सोचते हैं। इन व्यक्तियों में प्रभु-प्रदत्त ऐश्वर्य को देखकर हम भी 'दिविष्टि, राति व तुर्वश' बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान की कामनावाले, दानशील-लोभ आदि को वश में करनेवाले बनें। हमें प्रभु कृपा से वह महान् धन प्राप्त होगा जो हमारी इन्द्रियों को शतवर्षपर्यन्त अजीर्ण शक्ति रखेगा।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—कुरुङ्गस्य दानस्तुतिः ॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

षष्टिं सहस्रा गवां यूथानि

धीभिः सातानि काण्वस्य वाजिनः प्रियमेधैरभिद्युभिः।
षष्टिं सहस्रानु निर्मजामजे निर्यूथानि गवामृषिः॥ २०॥

(१) **प्रियमेधैः**=प्रिय है यज्ञ जिनको ऐसे यज्ञशील व्यक्तियों से तथा **अभिद्युभिः**=प्रातः-सायं ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करनेवाले (अभि=दोनों ओर) स्वाध्यायशील लोगों से **काण्वस्य**=उस अतिशयेन मेधावी **वाजिनः**=शक्तिशाली प्रभु के **गवां यूथानि**=इन्द्रियों के समूह **धीभिः सातानि**=बुद्धिपूर्वक कर्म करने के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। वस्तुतः यज्ञशीलता हमारी कर्मेन्द्रियों को पवित्र बनाती है, तो स्वाध्याय हमारी ज्ञानेन्द्रियों को पवित्र करता है। (२) मैं **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा बनकर **निर्मजाम्**=अतिशयेन शुद्ध **गवाम्**=वेदवाणियों के **षष्टिं सहस्रा**=साठ हजार **यूथानि**=समूहों के **अनु**=पीछे **निर् अजे**=विषय-वासनाओं के (गर्त) से इन्द्रियों को बाहिर करता हूँ। इन वेदवाणियों के स्वाध्याय के द्वारा इन्द्रियों को विषय व्यावृत्त बनाता हूँ, वेदवाणियाँ संख्या में बीस हजार के लगभग हैं। वे 'आध्यात्मक, आधिभौतिक व आधिदैविक' अर्थों के भेद से ६० हजार हो जाती हैं। इनके अनुसार जीवन में चलने से इन्द्रियाँ बड़ी शुद्ध बनी रहती हैं।

भावार्थ–प्रभु 'काण्व व वाजी' हैं, मेधा व शक्ति के पुञ्ज हैं। इस प्रभु से दी गयी इन्द्रियों को वस्तुतः यज्ञशील स्वाध्याय रुचि पुरुष ही प्राप्त करते हैं, वे ही इन्हें शुद्ध बनाये रखने में समर्थ होते हैं। तत्त्वद्रष्टा पुरुष वेदवाणियों के स्वाध्याय से इन्द्रियों को विषयगर्त में नहीं गिरने देता।

ऋषिः—देवातिथिः काण्वः॥ **देवता**—कुरुङ्गस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

वेद ध्वनिमय वातावरण

वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणुः। गां भजन्त मेहनाश्वं भजन्त मेहना॥ २१॥

(१) गत मन्त्र में उस ऋषि का उल्लेख हुआ है जो वेदवाणियों के निरन्तर अपनाने में प्रवृत्त है। यह कहता है कि **मे अभिपित्वे**=मेरे प्राप्त होने पर **वृक्षाः चित्**=वृक्ष भी **अरारणुः**=इन वेदवाणियों का ही उच्चारण करते हैं। अर्थात् इसका सारा वातावरण ही वेदवाणीमय हो जाता है। ऐसा होने पर यह स्वाभाविक ही है कि किसी प्रकार की विषय-वासनाओं की वहाँ स्थिति न हो। यह वासनाशून्यता शरीर में सोमरक्षण की अनुकूलतावाली होती है। (२) ऐसा होने पर ये लोग **मेहना**=सोम शक्ति के शरीर में सेचन के द्वारा **गां भजन्त**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करते हैं। **मेहना**=इस शक्ति सेचन के द्वारा **अश्वं भजन्त**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ–हमारा सारा वातावरण वेदवाणियों की ध्वनि से पूर्ण हो हम सोम शक्ति के शरीर में सेचन के द्वारा प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों व प्रशस्त कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करें।

यह वेदध्वनिमय वातावरण में निवास करनेवाला, सोम का शरीर में सेचन करके इन्द्रियों को प्रशस्त बननेवाला साधक 'ब्रह्मातिथि' होता है, ब्रह्म की ओर निरन्तर चलनेवाला। यह 'काण्व' मेधावी होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है–

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उषा व युवति

दूरादिहेव यत्सत्यरुणप्सुरशिश्वितत्। वि भानुं विश्वधातनत्॥ १॥

(१) **दूरात्**=सुदूर प्रदेश में, प्राचीदिग्भाग में होती हुई यह उषा **यत्**=जब **इह एव सती**=यहाँ हमारे समीप ही होती हुई प्रतीत होती है, तो यह **अरुणप्सुः**=अव्यक्त लालिमा सम्पन्न रूपवाली उषा **अशिश्वितत्**=सारे आकाश को (सफेद) ही कर डालती है। **भानुम्**=अपने प्रकाश को **विश्वधा**=सब ओर **वि अतनत्**=विशेषरूप से फैलानेवाली होती है। (२) इसी प्रकार इस उषा के समान एक युवति **दूरात्**=बड़े दूर स्थित पितृगृह से **यत्**=जब **इह एव**=यहाँ पतिकुल में ही **सती**=होती हुई **अरुणप्सुः**=स्वास्थ्य की लालिमा युक्त रूपवाली **अशिश्वितत्**=सारे घर को उज्ज्वल करनेवाली होती है तो यह **भानुम्**=प्रकाश को **विश्वधा**=सब ओर अड़ोस-पड़ोस में **वि अत्यनत्**=विशेषरूप से फैलाती है। इसके आने से घर और घर का सारा क्षेत्र चमक उठता है।

भावार्थ–उषा आती है और किस प्रकार अन्धकार को दूर करके प्रकाश को फैलाती है। इसी प्रकार एक युवति को पतिकुल में आकर प्रकाश को फैलानेवाली बनना है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सबलता व एकाग्रता

नृवद्दस्रा मनोयुजा रथेन पृथुपाजसा। सचेथे अश्विनोषसम्॥ २॥

(१) **नृवद् दस्रा**=एक उत्तम नेता के समान दुःखों का उपक्षय करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान **उषसं सचेथे**=उषा के साथ संगत होते हैं। अर्थात् हम उषाकाल में उद्बुद्ध होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं। ये प्राणापान ही हमारे दुःखों का विनाश करते हैं, ये ही हमें नीरोग व निर्मल बनाते हैं। (२) ये प्राणापान **रथेन**=उस शरीर-रथ से हमें प्राप्त होते हैं जो **मनोयुजा**=उत्तम मन से युक्त है तथा **पृथुपाजसा**=विशाल शक्तिवाला है। प्राणसाधना से शरीर शक्ति-सम्पन्न बनता है तो मन इधर-उधर भटकनेवाला न होकर एकाग्र होता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों यह साधना हमारे रोगों व मलों का क्षय करेगी। हमें यह सबल व एकाग्र मनोवृत्तिवाला बनायेगी।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

स्तुतिमय मनन ज्ञानदीप्त मस्तिष्क

युवाभ्यां वाजिनीवसू प्रति स्तोमा अदृक्षत। वाचं दूतो यथोहिषे॥ ३॥

(१) हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! **युवाभ्याम्**=आपके द्वारा, आपकी साधना के द्वारा **स्तोमाः**=स्तुति-वचन **अति अदृक्षत**=प्रतिदिन देखे जाते हैं। अर्थात् आपकी साधना से हम प्रतिदिन प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले होते हैं। (२) आपकी साधना से मैं **यथा दूतः**=जैसे कोई सन्देशवाहक होता है उसके समान **वाचं ओहिषे**=ज्ञान की वाणियों का धारण करता हूँ। प्राणसाधक पुरुष ज्ञान की वाणियों का धारण करता हुआ सर्वत्र इस ज्ञान-सन्देश को पहुँचानेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे मनों को स्तुति से तथा मस्तिष्कों को ज्ञान से परिपूर्ण करती है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पुरुप्रिया-पुरुमन्द्रा-पुरूवासू

पुरुप्रिया ण ऊतये पुरुमन्द्रा पुरूवसू। स्तुषे कण्वासो अश्विना॥ ४॥

(१) **अश्विना**=प्राणापान **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिये हों। ये प्राणापान **पुरुप्रिया**=खूब ही प्रीणित करनेवाले हैं, इनकी साधना अन्तःप्रीति का अनुभव कराती है। नीरोगता के कारण चित्त में भी प्रसन्नता का अनुभव होता है। **पुरुमन्द्रा**=ये खूब ही आनन्द को उत्पन्न करनेवाले हैं। मन में वासनाओं के न रहने के कारण मनःप्रसाद का अनुभव होता है। ये **पुरूवसू**=पालक व पूरक वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। निवास के लिये आवश्यक तत्त्व ही वसु हैं। प्राणसाधना से सब वसुओं की प्राप्ति होती है। (२) सो **कण्वासः**=मेधावी पुरुष इन प्राणापान के **स्तुषे**=स्तवन के लिये होते हैं। प्राणापान के गुणों का स्मरण करते हुए वे इनकी साधना में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना (क) प्रीति व आनन्द का कारण बनती है, (ख) शरीर के लिये सब आवश्यक तत्त्वों को, वसुओं को जन्म देती है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इषयन्ता शुभस्पती

मंहिष्ठा वाजसातमेषयन्ता शुभस्पती। गन्तारा दाशुषो गृहम्॥ ५॥

(१) ये प्राणापान **मंहिष्ठा**=हमारे लिये दातृतम हैं, सर्वोत्तम दाता हैं, गत मन्त्र के अनुसार सब वसुओं को देनेवाले हैं। **वाजसा-तमा**=शक्ति को प्राप्त करानेवालों में सर्वोत्तम हैं। प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर शक्ति बढ़ती ही है। **इषयन्ता**=ये हमारे लिये प्रभु-प्रेरणा की

कामनावाले होते हैं। प्राणसाधना से हृदय निर्मल होता है, इस निर्मल हृदय में प्रभु-प्रेरणा सुनाई पड़ती है। इस प्रकार ये **शुभस्पती**=हमारे जीवनों में शुभ कार्यों के, सौन्दर्य के रक्षक होते हैं। (२) ये प्राणापान **दाशुषः**=दाश्वान् के, देने की वृत्तिवाले के, त्यागशील के **गृहम्**=शरीररूप गृह को **गन्तारा**=प्राप्त होनेवाले हैं। त्यागवृत्ति से विपरीत भोगवृत्ति होती है। इस वृत्ति में प्राणापान की क्षीणता होती है। ये इस भोगी के शरीर गृह को छोड़ जाते हैं। प्राणसाधना के साथ युक्ताहार-विहार अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर में सब आवश्यक वसुओं की स्थापना करती है, शक्ति को देती है, हमें प्रभु प्रेरणा को सुनने योग्य बनाती है, हमारे में शुभ का रक्षण करती है। इस साधना में भोगवृत्ति नितरां विघातक है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अवितारिणी सुमेधा

ता सुदेवाय दाशुषे सुमेधामवितारिणीम्। घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्॥ ६॥

(१) **ता**=वे दोनों प्राणापान **सुदेवाय**=शुभ देववृत्तिवाले, **दाशुषे**=भोगवृत्ति से ऊपर उठे हुए दाश्वान् पुरुष के लिये **अवितारिणीम्**=अहिंसक व अनपायिनी (स्थिर) **सुमेधाम्**=उत्तम बुद्धि को **उक्षतम्**=पवित्र कर देते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि भी चमक उठती है, यह विवेकख्यातिवाली बनती है। (२) हे प्राणापानो! आप इस साधक के **गव्यूतिम्**=इन्द्रियरूप गौओं के प्रचारक्षेत्र को **घृतैः**=निर्मलता व ज्ञानदीप्तियों से (उक्षतम्) सिक्त करते हो। प्राणसाधक की इन्द्रियाँ निर्मल कर्मों को करनेवाली तथा ज्ञानदीप्ति को बढ़ानेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना (क) अहिंसक व स्थिर सुमेधा को प्राप्त कराती हैं। (ख) इन्द्रियों को निर्मल कर्मों व ज्ञानवृद्धि के कार्यों में प्रवृत्त करती है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'श्येन-आशु' अश्व

आ नः स्तोममुप द्रवत्तूयं श्येनेभिराशुभिः। यातमश्वेभिरश्विना॥ ७॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नः**=हमारे **स्तोमम्**=स्तुति समूह को **द्रवत् तूयम्**=दौड़कर शीघ्रता से **श्येनेभिः**=शंसनीय गतिवाले **आशुभिः**=शीघ्रता से कार्यों में व्यापनेवाले **अश्वेभिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **उप आयतम्**=समीपता से प्राप्त होवो। (२) प्राणसाधना हमें स्तुति में प्रवृत्त करती है तथा हमारे इन्द्रियाश्वों को प्रशस्त गतिवाला, शुभ कर्म प्रवृत्त व शीघ्र गतिवाला, स्फूर्तियुक्त करती है।

भावार्थ—प्राणसाधन के द्वारा (क) हमारी वृत्ति प्रभु-प्रवण होती है, प्रभु के स्तोत्र हमें प्रिय होते हैं, (ख) हमारे इन्द्रियाश्व शंसनीय गतिवाले व शीघ्रगतिवाले होते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तीन प्रकाशे व अन्धकार विनाश

येभिस्तिस्रः परावतो दिवो विश्वानि रोचना। त्रीँरक्तून्परिदीयथः॥ ८॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित उन इन्द्रियाश्वों के साथ, हे प्राणापानो! आप हमें प्राप्त होवो **येभिः**=जिन के द्वारा **तिस्रः परावतः दिवः**=तीन सुदूर के प्रकाशों को, उच्च ज्ञानों को, प्रकृति जीव व परमात्मा के ज्ञानों को **परिदीयथः**=प्राप्त कराते हो। (२) उन इन्द्रियाश्वों से हमें प्राप्त होवो

जिनसे कि **विश्वानि रोचना**=सब दीप्तियों को आप (परिदीयथः) दीप्त करते हो। शरीर, मन व बुद्धि सभी को आप दीप्त बनाते हो। तथा **त्रीन् अक्तून्**=तीन अन्धकारों को (परिदीयथः) कम व विनष्ट करते हो। 'काम' इन्द्रियों को अन्धकारमय बनाता है, क्रोध मन को तथा लोभ बुद्धि को। प्राणसाधना इन तीनों ही अन्धकारों को दूर करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) प्रकृति, जीव, परमात्मा का उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, (ख) शरीर, मन, बुद्धि दीप्त हो उठते हैं, (ग) काम-क्रोध-लोभ रूप अन्धकार विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गोमतीः इषः

उत नो गोमतीरिष उत सातीरहर्विदा। वि पथः सातये सितम्॥ ९॥

(१) **उत**=और हे **अहर्विदा**=रात्रि के अन्धकार को दूर करके दिन के प्रकाश को प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! (प्राणसाधना से अन्धकार दूर होता है और प्रकाश प्राप्त होता है) आप **नः**=हमारे लिये **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **विसितम्**=विशेष रूप से बाँधो। हमें आपके द्वारा बुद्धि की तीव्रता से ज्ञान प्राप्त हो तथा मन की पवित्रता से प्रभु-प्रेरणा सुनायी पड़े। (२) **उत**=और हे प्राणापानो! आप **सातीः**=सब लाभों को हमारे साथ जोड़ो, सब प्राप्त करने योग्य वसुओं को हम प्राप्त करें। तथा **सातये**=इन प्राप्तियों के लिये **पथः**=मार्गों को (विसितम्) विशेषरूप से हमारे साथ नियमित करिये। इन मार्गों पर चलते हुए हम सब प्राप्तियों को सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) बुद्धि की तीव्रता के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, (ख) मानस पवित्रता से प्रभु-प्रेरणा सुनायी पड़ती है, (ग) मार्ग पर चलते हुए हम सब आवश्यक सम्पदाओं को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'गोमन्-सुवीर-सुरथ' रयि

आ नो गोमन्तमश्विना सुवीरं सुरथं रयिम्। वोळ्हमश्वावतीरिषः॥ १०॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नः**=हमारे लिये **रयिं आवोढम्**=उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराओ, जो **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है, **सुवीरम्**=उत्तम सन्तानोंवाला है तथा **सुरथम्**=प्रशस्त शरीर-रथवाला है। प्राणसाधक धन को प्राप्त करता है, परन्तु उसके जीवन में इस धन का घातक प्रभाव नहीं होता। यह धन उसे भोग-विलास में फँसाकर उसकी इन्द्रियों को जीर्ण करनेवाला नहीं होता। इस धन से उसकी सन्तानें कुत्सित प्रभावों से आक्रान्त नहीं हो जातीं और उसका यह शरीर ठीक बना रहता है। (२) हे प्राणापानो! आप हमें **अश्वावतीः**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली **इषः**=प्रेरणाओं को प्राप्त कराओ। प्राणसाधना से हमारी कर्मेन्द्रियाँ उत्तम बनें और प्रभु-प्रेरणा के अनुसार कार्यों को करनेवाली हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें वह धन प्राप्त होता है जो हमारी इन्द्रियों, सन्तानों व शरीररूप रथों को उत्तम बनाता है। हमारी कर्मेन्द्रियाँ भी उत्तम बनती हैं और प्रभु-प्रेरणा के अनुसार चलती हैं।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दस्रा हिरण्यवर्तनी

वावृधाना शुभस्पती दस्रा हिरण्यवर्तनी। पिबतं सोम्यं मधु॥ ११॥

(१) हे प्राणापानो! आप **वावृधाना**=खूब ही हमारी वृद्धि का कारण बनते हो। **शुभस्पती**=हमारे जीवनों में सब सौन्दर्यों का रक्षण करते हो। **दस्त्रा**=सब दास्यव भावों का उपक्षय करनेवाले हो और **हिरण्यवर्तनी**=हितरमणीय ज्योतिर्मय मार्ग पर हमें ले चलनेवाले हो। (२) आप **सोम्यं मधु**=इस सोमरूप सारभूत वस्तु का **पिबतम्**=पान करो। हमारे शरीरों में इस सोम की ऊर्ध्वगति होकर शरीर में ही इसका व्यापन हो। यही सुरक्षित सोम ही तो सब उन्नतियों का मूल बनेगा।

भावार्थ—प्राणसाधना शक्तियों का वर्धन करती है, सौन्दर्य को बढ़ाती है, अशुभवृत्तियों को नष्ट करती है, हमें ज्योतिर्मय मार्ग पर ले चलती है। शरीर में सोम का रक्षण करती है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

अदाभ्यं छर्दिः

अस्मभ्यं वाजिनीवसू मघवद्भ्यश्च सप्रथः। छर्दिर्यन्तमदाभ्यम्॥ १२॥

(१) हे प्राणापानो! आप **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनवाले हो। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **मघवद्भ्यः च**=और सब (मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों के लिये **सप्रथः**=शक्तियों के विस्तारवाले, शक्तियों के विस्तार से युक्त **अदाभ्यम्**=रोगों व वासनाओं से हिंसित न होनेवाले इस **छर्दिः**=शरीर गृह को **यन्तम्**=प्राप्त कराओ। (२) प्राणसाधना से शरीर की शक्तियों का विस्तार होता है, और यह रोगों व वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्राणापान ही शक्तिरूप धन को प्राप्त करानेवाले हैं। ये यज्ञशील पुरुषों के शरीर गृह को रोगों व वासनाओं से अभिभूत नहीं होने देते।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

ज्ञान-रक्षण

नि षु ब्रह्म जनानां याविष्टं तूयमा गतम्। मो ष्व१न्याँ उपारतम्॥ १३॥

(१) हे प्राणापानो! **या**=जो आप **जनानाम्**=लोगों के **ब्रह्म**=ज्ञान को **नि**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **अविष्टम्**=रक्षित करते हो, वे आप **तूयं आगतम्**=शीघ्रता से प्राप्त होवो। (२) **अन्यान्**=ज्ञान विरोधी अन्य भावों को **मा उ**=मत ही **सु उपारतम्**=हमारे समीप प्राप्त कराओ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी ज्ञानदीप्ति विकसित होती है, अतः हम प्राण-साधक बनें।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

धिष्ण्या

अस्य पिबतमश्विना युवं मदस्य चारुणः। मध्वो रातस्य धिष्ण्या॥ १४॥

हे **अश्विना**=प्राणापान के स्वामी जनो! आप दोनों **धिष्ण्या**=स्तुति योग्य **एतस्य**=आदर पूर्वक दिये **अस्य**=इस **चारुणः**=उत्तम **मदस्य**=हर्षकारक सोम का **पिबतम्**=पान करो।

भावार्थ—प्राणापानसेवी वीर्यरक्षण में समर्थ होता है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

विश्वधायसम्

अस्मे आ वहतं रयिं शतवन्तं सहस्त्रिणम्। पुरुक्षुं विश्वधायसम्॥ १५॥

हे जितेन्द्रिय जनो! आप दोनों **अस्मे**=हमारे लिए **शतवन्तम्**=सौ **सहस्त्रिणम्**=और सहस्त्रों **रयिम्**=ऐश्वर्यों को **आ वहतम्**=प्राप्त कराओ। वह **पुरुक्षुम्**=बहुतों को बसाने और **विश्व-**

धारयसम्=सबका पालक हो।

भावार्थ—हम प्रभु कृपा से बहुतों के पालक होवें।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

विह्वयन्ते मनीषिणः

पुरुत्रा चिद्धि वां नरा विह्वयन्ते मनीषिणः। वाघद्भिरश्विना गतम्॥ १६॥

हे **नरौ**=स्त्री-पुरुषो! **मनीषिणः**=ज्ञानी लोगों **वाम्**=आप दोनों को **पुरुत्रा चित् हि**=बहुत से कार्यों में **विह्वयन्ते**=बुलाते हैं। आप **वाघद्भिः**=समर्थ **अश्विना**=अश्वों के समान **आ गतम्**=आओ।

भावार्थ—हम मनस्वी बनकर ज्ञानी जनों की संगति में रहें।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

हविष्मन्तो अरंकृतः

जनासो वृक्तबर्हिषो हविष्मन्तो अरंकृतः। युवां हवन्ते अश्विना॥ १७॥

हे **अश्विना**=राष्ट्र के अध्यक्ष्य और सेनापति **जनासः**=जनो! **युवाम्**=आप दोनों को **वृक्त-बर्हिषः**=शत्रुहन्ता **हविष्मन्तः**=समृद्धियुक्त **अरंकृतः**=उद्योगीजन **हवन्ते**=बुलाते हैं। शक्तियों का विकास करने की कामनावाले लोग प्राणापान की साधना करते हैं। यह साधना इन्हें 'पवित्र हृदयवाला, त्याग की वृत्तिवाला व सद्गुणालंकृत जीवनवाला' बनाती है।

भावार्थ—हमारे राष्ट्रपति-सेनापति शत्रुहन्ता हों।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वाहिष्ठः (स्तोमः)

अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः। युवाभ्यां भूत्वश्विना॥ १८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अद्य**=आज **अस्माकम्**=हमारा **अयम्**=यह **याम्**=आपके लिये किया गया **स्तोमः**=स्तुति समूह **युवाभ्यां अन्तमः भूतु**=आपके लिये अन्तिकतम हो, अत्यन्त प्रिय हो। अर्थात् हमें यह आपकी स्तुति आपके प्रति रुचिवाला बनाये, हम प्राणसाधना की प्रवृत्तिवाले हों। (२) यह स्तोम **वाहिष्ठः**=हमें अधिक-से-अधिक लक्ष्य के समीप पहुँचानेवाला हो। वस्तुतः प्राणसाधना ही चित्तवृत्ति की एकाग्रता का साधन बनकर हमें प्रभु-दर्शन कराती है। यह प्रभु-दर्शन ही अन्तिम लक्ष्य है, यहाँ हमें यह प्राणों का स्तवन पहुँचानेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणापान का स्तवन करते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। यह साधना ही हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचायेगी।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मधुनः दृतिः

यो ह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्षणे। ततः पिबतमश्विना॥ १९॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यः**=जो **ह**=निश्चय से **वाम्**=आपका **मधुनः दृतिः**=सोम का पात्र है, इस शरीर में सोमरक्षण का स्थान है, **ततः**=उससे **पिबतम्**=इस सोम को पीओ। इस सोम को सारे शरीर में व्याप्त करनेवाले होवो। सोम उत्पन्न होकर सोमयानी में संगृहीत होता है। प्राणसाधना के द्वारा यह इससे निकलकर रुधिर के साथ सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। (२)

यह सोम **रथचर्षणे**=रथ को गति देने के निमित्त स्थापित हुआ है। (चर्षणं) सोम के सुरक्षित होने पर ही शरीर-रथ की सारी गतियाँ निर्भर करती हैं। सोम-विनाश में इस रथ की सब गतियाँ समाप्त हो जाती हैं और मृत्यु हो जाती है।

भावार्थ-शरीर-रथ की ठीक गति इसी बात पर निर्भर करती है कि हम प्राणसाधना द्वारा शरीर में सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

शारीरिक शान्ति (नीरोगता) व हृदय शुद्धि

तेन॑ नो वाजिनीवसू प॒श्वे तो॒काय॒ शं गवे॑। वह॑तं॒ पीव॑रीरि॒षः॥ २०॥

(१) **तेन**=गत मन्त्र में वर्णित सोम के पान के द्वारा, हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! आप **पश्वे**=पशुओं के लिये, **तोकाय**=सन्तानों के लिये, **गवे**=गौओं के लिये **शम्**=शान्ति को प्राप्त करानेवाले होइये। (२) हे प्राणापानो! आप **नः**=हमारे लिये इस सोमपान के द्वारा **पीवरीः इषः**=आप्यायित करनेवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **वहतम्**=प्राप्त कराओ। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणायें हृदय शुद्धि के होने पर ही सुन पड़ती हैं। प्राणसाधना इस हृदय शुद्धि का साधन बनती है। ये सब प्रेरणायें हमारा आप्यायन करनेवाली होती हैं।

भावार्थ-प्राणायाम से शारीरिक शान्ति व हृदय की शुद्धि प्राप्त होती है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

दिव्य प्रेरणायें व ज्ञान प्रवाह

उ॒त नो॑ दि॒व्या इष॑ उ॒त सिन्धूँ॑रहर्विदा। अप॒ द्वारे॑व वर्षथः॥ २१॥

(१) हे **अहिर्विदा**=अज्ञानान्धकार को दूर करके प्रकाश को प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! **उत**=और **नः**=हमारे लिये **दिव्याः इषः**=प्रभु से दी जानेवाली दिव्य प्रेरणाओं को **वर्षथः**=बरसाओ। हम सदा अपने शुद्ध हृदयों में प्रभु की प्रेरणाओं को सुननेवाले बनें। (२) **उत**=और **द्वारा**=सब इन्द्रिय द्वारों को **अप इव**=वासना विनाश के द्वारा अपावृत (खोल) करके **सिन्धून्**=ज्ञानजलों का, ज्ञान-प्रवाहों का **वर्षथः**=वर्षण करो।

भावार्थ-प्राणसाधना से हमें दिव्य-प्रेरणायें शुद्ध हृदयों में सुन पड़ें तथा इन्द्रियों के विषय व्यावृत्त होने से हम ज्ञान प्रवाहों को अपने में प्रवाहित कर पायें।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

तौग्र्य का रक्षण

क॒दा वां॑ तौग्र्यो वि॑धत्समु॒द्रे ज॑हि॒तो न॑रा। यद्वां॒ रथो॒ वि॒भि॒ष्पता॑त्॥ २२॥

(१) हे **नरा**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **समुद्रे जहितः**=(कामोहि समुद्रः) वासना के समुद्र में फेंका हुआ यह **तौग्र्यः**=(तुग्र्या=water, आपः=रेतः) रेतःकणरूप जलों की रक्षा की कामनावाला पुरुष **कदा**=कब **वां विधत्**=आपकी उपासना करता है? **यत्**=जिससे **वां रथः**=आपका यह शरीर-रथ **विभिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **पतात्**=प्राप्त हो। (२) हम अपने शरीर को प्राणापान का ही रथ बनायें। अर्थात् प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। इससे इन्द्रियों के दोषों का दहन होकर इन्द्रियाश्व बड़े शक्तिशाली व स्फूर्तिमय बनेंगे। प्राणापान की साधना ही कामसमुद्र में डूबने से बचाती है।

भावार्थ-प्राणसाधना ही इन्द्रियों को निर्दोष बनाती है और हमें वासना-समुद्र में डूबने नहीं

देती।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सब दोषों से बचाव

युवं कण्वाय नासत्यापिरिप्ताय हुर्म्ये। शश्वदूतीर्दशस्यथः॥ २३॥

(१) हे **नासत्या**=असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप **हर्म्ये**=इस शरीर गृह में **अपिरिप्ताय**=शतशः वासनाओं व रोगों से पीड़ित **कण्वाय**=मेधावी पुरुष के लिये **शश्वत्**=सदा **ऊतीः**=रक्षणों को **दशस्यथः**=देते हो। (२) प्राणसाधना ही मेधावी पुरुष को रोगों व वासनाओं से बचाती है। प्राणसाधना के अभाव में एक पुरुष रोगों व वासनाओं से आक्रान्त होता ही रहता है।

भावार्थ—प्राणापान 'नासत्या' हैं। वे इस शरीर में हमें वासनाओं व रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ऊतिभिः-सुशस्तिभिः

ताभिरा यातमूतिभिर्नव्यसीभिः सुशस्तिभिः। यद्वां वृषण्वसू हुवे॥ २४॥

(१) हे **वृषण्वसू**=शक्ति का सेचन करनेवाले, धनोंवाले प्राणापानो! **यद् वां हुवे**=जब मैं आपको पुकारूँ तो आप **ताभिः**=उन **नव्यसीभिः**=अतिशयेन स्तुत्य (नु स्तुतौ) **ऊतिभिः**=रक्षणों के साथ **आयातम्**=हमें प्राप्त होवो। आप से रक्षित हुए-हुए हम किन्हीं भी रोगों व वासनाओं से आक्रान्त न हों। (२) हे प्राणापानो! हमारा रक्षण करते हुए आप **सुशस्तिभिः**=प्रशस्त स्थितियों के साथ हमें प्राप्त होवो। प्राणसाधना द्वारा हम सदा प्रशस्त कर्मों को ही करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवनों में शक्तिशाली वसुओं को (धनों को) प्राप्त कराये। हमारा रोगों व वासनाओं के आक्रमण से रक्षण करे। हमारे जीवनों को प्रशस्त बनाये।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'कण्व-प्रियमेध-उपस्तुत-अत्रि-शिञ्जार'

यथा चित्कण्वमावतं प्रियमेधमुपस्तुतम्। अत्रिं शिञ्जारमश्विना॥ २५॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यथा चित्**=जैसे निश्चय से **कण्वम्**=मेधावी पुरुष को **आवतम्**=आप रक्षित करते हो। इसी प्रकार **प्रियमेधम्**=यज्ञप्रिय मनुष्य को तथा **उपस्तुतम्**=यज्ञों के द्वारा ही प्रभु-स्तवन व प्रभु-पूजन करनेवाले व्यक्ति को आप (आवतं) रक्षित करते हो। (२) हे प्राणापानो! **अत्रिम्**=काम-क्रोध-लोभ से दूर रहनेवाले का आप रक्षण करते हो और **शिञ्जारम्**=सदा प्रभु के गुणों का गान करनेवाले, प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले को आप रक्षित करते हो। वस्तुतः प्राणसाधना ही हमें 'कण्व, प्रियमेध, उपस्तुत, अत्रि व शिञ्जार' बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'मेधावी, यज्ञशील, स्तुति-प्रवण, काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठे हुए तथा सदा मधुरता से प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले' बनेंगे।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'अंशु-अगस्त्य-सोभरि'

यथोत कृत्व्ये धनेंऽशुं गोष्वगस्त्यम्। यथा वाजेषु सोभरिम्॥ २६॥

(१) **उत यथा**=और जैसे, हे प्राणापानो! आप **कृत्व्ये धने**=पुरुषार्थ से प्राप्त करने योग्य धन में **अंशुम्**=धनों का विभाग करनेवाले को रक्षित करते हो, इसी प्रकार **गोषु**=ज्ञान की वाणियों में **अगस्त्यम्**=(अगं अस्याति) अविद्या-पर्वत को परे फेंकनेवाले को आप रक्षित करते हैं। (२) इन अंशु और अगस्त्य को उसी प्रकार रक्षित करते हैं, **यथा**=जैसे **वाजेषु**=शक्तियों में **सोभरिम्**=अपना उत्तमता से पोषण करनेवाले को आप रक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) हम पुरुषार्थ से धनार्जन करके उस धन को विभक्त करनेवाले बनते हैं, (ख) अविद्या पर्वत को परे फेंकने के लिये हम सदा ज्ञान की वाणियों में चलते हैं, तथा (ग) शक्तियों का सम्पादन करते हुए अपना उत्तमता से भरण करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सुम्नम्

एतावद्वां वृषण्वसू अतो वा भूयो अश्विना। गृणन्तः सुम्नमीमहे॥ २७॥

(१) हे **वृषण्वसू**=शक्ति सेचक धनोंवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप से **एतावत्**=इतने **सुम्नम्**=आनन्द व रक्षण को **ईमहे**=माँगते हैं। गत मन्त्र के अनुसार हम यही चाहते हैं कि आप से रक्षित होकर हम 'अंशु अगस्त्य व सोभरि' बन पायें। (२) हे प्राणापानो! **गृणन्तः**=स्तुति-वचनों का उच्चारण करते हुए हम **अतः भूयः वा**=इस से भी अधिक आनन्द व रक्षण की कामना करते हैं। आप से रक्षित होकर हम प्रभु को ही प्राप्त करनेवाले बन पायें।

भावार्थ—हे प्राणापानो! आप हमारे जीवनों में वसुओं का वर्षण करते हो। आप से हम उचित रक्षण व आनन्द की याचना करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'हिरण्यवन्धु-हिरण्याभीशु-दिविस्पृश्' रथ

रथं हिरण्यवन्धुरं हिरण्याभीशुमश्विना। आ हि स्थाथो दिविस्पृशम्॥ २८॥

(१) **अश्विना**=हे प्राणापानो! आप **रथम्**=उस शरीर-रथ पर **हि**=निश्चय से **आस्थाथः**=अधिष्ठित होते हो जो **दिविस्पृशम्**=प्रकाश का स्पर्श करनेवाला है, प्रकाशमय है। शरीर-रथ में बुद्धि ही विद्युद्दीप का काम करती है, प्राणापान ही इस बुद्धि को बड़ा तीव्र बनाते हैं। (२) प्राणापान उस शरीर-रथ पर स्थित होते हैं जो **हिरण्यवन्धुरम्**=ज्योतिर्मय व सुन्दर है, ज्योति के कारण बड़ा सुन्दर है और **हिरण्याभीशुम्**=हितरमणीय मनरूप लगामवाला है।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर-रथ 'ज्योतिर्मय सुन्दर, उत्तम मन रूप लगामवाला तथा बुद्धि के कारण उज्ज्वल' बनता है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

हिरण्यय रथ

हिरण्ययी वां रभिरीषा अक्षो हिरण्ययः। उभा चक्रा हिरण्यया॥ २९॥

(१) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **ईषा**=रथ का दण्ड **रभिः**=दृढ़ वा **हिरण्ययी**=तेजस्विता से दीप्त है। इस शरीर में हाथ ही ईषा स्थानापन्न हैं, ये दृढ़ व तेजो दीप्त हैं। आपके रथ का **अक्षः**=(axle) धुरा भी **हिरण्ययः**=तेजो दीप्त है, रीढ़ की हड्डी पृष्ठवंश ही अक्ष है। वह पूर्ण स्वस्थ है। (२) इस रथ के **उभा चक्रा**= दोनों चक्र **हिरण्यया**=स्वर्ण के समान चमकते हुए हैं। स्थूल शरीर (अन्नमयकोश) एक चक्र है, तो मस्तिष्क (विज्ञानमयकोश) दूसरा चक्र है। ये

दोनों ही शक्ति व ज्योति से चमक रहे हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर इस शरीर-रथ की 'ईषा, अक्ष व दोनों चक्र' हिरण्यय, दीप्त होते हैं। सारा रथ ही चमक उठता है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

प्रभु-स्मरण के साथ प्राणायाम

तेन॑ नो वाजिनीवसू परा॒वत॑श्चि॒दा ग॑तम्। उपे॒मां सु॑ष्टु॒तिं मम॑॥ ३०॥

(१) हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! **तेन**=गत मन्त्र में वर्णित उस हिरण्यय-रथ के हेतु से **परावतः चित्**=सुदूर देश से भी **नः आगतम्**=हमें प्राप्त होवो। अर्थात् हम किन्हीं भी सांसारिक कार्यों में कितने भी उलझे हों, प्राणायाम (प्राणसाधना) को कभी उपेक्षित न करें। सब कार्यों को छोड़कर भी समय पर प्राणसाधना अवश्य करें। (२) हे प्राणापानो! आप **मम**=मेरी **इमाम्**=इस **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **उप**=समीपता से प्राप्त होवो। मैं प्राणसाधना करता हुआ प्रभु का स्तवन करूँ।

भावार्थ—हम प्रतिदिन अन्य कार्यों में उलझे हुए होने पर भी प्राणसाधना अवश्य करें। प्राणायाम करते हुए प्रभु का स्मरण भी करें।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

प्राणसाधना व सात्विक भोजन

आ व॑हेथे परा॒कात्पू॒र्वीर॒श्नन्ता॑वश्विना। इषो॒ दासी॑रमर्त्या॥ ३१॥

(१) हे **अमर्त्या अश्विना**=हमें न मरने देनेवाले प्राणापानो! आप **दासीः**=रोगों का उपक्षय करनेवाले **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले **इषः**=अन्नों को **अश्नन्तौ**=खाते हुए इन 'अनमीव शुष्मी' नीरोगता को देनेवाले व शक्ति का पूरण करनेवाले अन्नों का सेवन करते हुए **पराकात्**=दूरदेश से भी **आवहेथे**=लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हो। (२) प्राणसाधना के साथ 'युक्ताहार-विहार' भी अत्यन्त आवश्यक है, भोजन के अतियम से प्राणसाधना लाभप्रद नहीं रहती। नीरोगता को देनेवाले व शक्ति का पूरण करनेवाले अन्नों का सेवन आवश्यक है। इस प्रकार भोजन के नियम के साथ प्राणसाधना चली तो यह हमें अवश्य लक्ष्य-स्थान पर पहुँचायेगी। चाहे हम कितना भी लक्ष्य से दूर हों, यह साधना हमें उन्नत करते हुए लक्ष्य पर पहुँचायेगी ही।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। इस साधना के साथ भोजन का भी नियम रखें। ऐसा करने पर हम कितना भी दूर हों, अवश्य लक्ष्य-स्थान पर पहुँचेंगे ही।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

शक्ति-ज्ञान-धन

आ नो॑ द्यु॒म्नैरा श्रवो॑भि॒रा रा॒या या॑तमश्विना। पुरु॑श्चन्द्रा॒ नास॑त्या॥ ३२॥

(१) हे **अश्विना**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! आप **नः**=हमें **द्युम्नैः आयातम्**=शक्तियों के साथ **आयातम्**=प्राप्त होवो। (द्युम्नं=energy, strength, power)। हे **पुरुश्चन्द्रा**=खूब ही आह्लादित करनेवाले प्राणापानो! आप **श्रवोभिः**=ज्ञानों के साथ (आ=) हमें प्राप्त होवो। वस्तुतः ज्ञान के द्वारा ही आप अविद्यान्धकार को व वासनाओं को विनष्ट करके हमें आनन्दित करते हो। (२) हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्रभो! आप **राया**=धनों के साथ (आ) हमें प्राप्त होवो। वस्तुतः प्राणसाधना को करते हुए हम पवित्र साधनों से ही धनों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें शक्ति, ज्ञान व धनों को प्राप्त कराती है। इस से हम 'कर्मशील (अश्विना), आनन्दमय (पुरुश्चन्द्रा) व सत्यशील (न सत्या)' बनते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'प्रुषितप्सवः-पर्णिनः' वयः

एह वां प्रुषितप्सवो वयो वहन्तु पर्णिनः। अच्छा स्वध्वरं जनम्॥ ३३॥

(१) हे प्राणापानो! **इह**=यहाँ **वाम्**=आप दोनों को **वयः**=इन्द्रियरूप अश्व **स्वध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञशील **जनम्**=मनुष्य के **अच्छा**=ओर **आ वहन्तु**=प्राप्त करायें। अर्थात् हम सदा प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। (२) वे इन्द्रियाश्व हमें प्राणसाधना में प्रवृत्त करें, जो **प्रुषितप्सवः**=शक्ति-सिक्त रूपवाले हैं अर्थात् तेजस्विता से चमकते हुए रूपवाले हैं। तथा **पर्णिनः**=(पर्ण-पृ पालनपूरणयोः) जो इन्द्रियाश्व सब न्यूनताओं से रहित होकर अपना शक्ति से पूरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के द्वारा इन्द्रियों को तेजो दीप्त तथा शक्ति से पूर्ण बनायें।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'शत्रुओं से अनाक्रान्त' रथ

रथं वामनुगायसं य इषा वर्तते सह। न चक्रमभि बाधते॥ ३४॥

(१) हे प्राणापानो! **वां रथम्**=आपके रथ को **चक्रम्**=रोगों व वासनारूप शत्रुओं का समूह **न अभिबाधते**=पीड़ित नहीं करता। अतएव आपका यह रथ **अनुगायसम्**=प्रशंसनीय-स्तुत्य है अथवा लक्ष्य के अनुकूल गतिवाला है। (२) यह रथ वह है **यः**=जो **इषा सह वर्तते**=प्रभु की प्रेरणा के साथ है, अर्थात् जो रथ प्रभु प्रेरणा के अनुसार ही गतिवाला है। यह रथ सदा प्रभु प्रेरणा से प्रदर्शित मार्ग पर चलता है।

भावार्थ—प्रामसाधना से यह शरीर-रथ रोगों व वासनाओं से बाधित नहीं होता। यह साधना हमें प्रभु प्रेरणा के सुनने योग्य बनाती है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'शरीर, इन्द्रियों व बुद्धि' का परिमार्जन

हिरण्ययेन रथेन द्रवत्पाणिभिरश्वैः। धीजवना नासत्या॥ ३५॥

(१) हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **हिरण्ययेन रथेन**=हितरमणीय व ज्योतिर्मय शरीर-रथ से तथा **द्रवत् पाणिभिः**=कर्मों में शीघ्रता से प्रवृत्त हाथोंवाले **अश्वैः**=इन्द्रियाश्वों से **धीजवना**=हमारे जीवनों में बुद्धि व कर्मों को प्रेरित करनेवाले हो। (२) प्राणसाधना से शरीर तेजस्वी बनता है, इन्द्रियाश्व स्फूर्तिवाले बनते हैं। शरीर में बुद्धि व कर्मों की प्रेरणा होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना 'शरीर, इन्द्रियों व बुद्धि' को उत्तम बनाती है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'मृग जागृवान्' का मधुर-जीवन

युवं मृगं जागृवांसं स्वदथो वा वृषण्वसू। ता नः पृङ्क्तमिषा रयिम्॥ ३६॥

(१) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **वृषण्वसू**=शक्ति रूप धनोंवाले हो। आप **मृगम्**=आत्मान्वेषण करनेवाले **वा**=और **जागृवांसम्**=सदा जागरित, सावधान, विषयों में न फँसनेवाले

पुरुष को **स्वदथः**=स्वादयुक्त, मधुर-जीवनवाला बनाते हो। (२) **ता**=वे आप दोनों **नः**=हमारे लिये **इषा**=प्रभु-प्रेरणा के साथ **रयिम्**=धन को **पृङ्क्तम्**=सम्पृक्त करो। हम पवित्र हृदय बनकर प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाले बनें। यह प्रेरणा ही हमें धनों के दुरुपयोग से बचानेवाली होगी।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम आत्मान्वेषण करनेवाले सदा सावधान बनकर मधुर जीवनवाले बनते हैं। यह प्राणसाधना हमें प्रभु-प्रेरणा के साथ धनों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ, चैद्यस्य कशोर्दानस्तुतिः ॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती ॥
स्वरः—मध्यमः ॥

चैद्यः कशुः

ता मे अश्विना सनीनां विद्यातं नवानाम्।
यथा चिच्चैद्यः कशुः शतमुष्ट्रानां ददत्सहस्रा दश गोनाम्॥ ३७॥

(१) **ता अश्विना**=वे प्राणापान **मे**=मेरे लिये **नवानाम्**=स्तुत्य (नु स्तुतौ) **सनीनाम्**=प्राप्तियों का **विद्यातम्**=ज्ञान दें। इन प्राणापान की साधना से मुझे अन्नमय आदि सब कोशों का उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो। (२) प्राणापान का ऐसा अनुग्रह हो कि **यथा**=जिस से **चित्**=निश्चयपूर्वक **चैद्यः**=(चित् एव चैद्यः) ज्ञानस्वरूप **कशुः**=(कश गतिशासनयोः) सर्वत्र क्रियावाला सर्वशासक प्रभु **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **उष्ट्रानाम्**=(उष् दाहे) दोषदहन शक्तियों का **ददत्**=देनेवाला हो तथा **गोनाम्**=इन ज्ञान की वाणियों के **दश सहस्रा**=दस हजारों को (=ऋग्वेदस्थ १० हजार मन्त्रों को) वे प्रभु हमारे लिये देनेवाले हों। यह ज्ञानाग्नि ही तो कर्म-दोषों को भस्म करके उन्हें पवित्र करेगी।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से सब कोशों का ऐश्वर्य प्राप्त हो। शतवर्षपर्यन्त दोषदहन शक्ति मिले। तथा कर्मदोषों को भस्म करनेवाली ज्ञान-वाणियाँ प्राप्त हों।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—चैद्यस्य कशोर्दानस्तुतिः ॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती ॥
स्वरः—मध्यमः ॥

दस राजाओं की प्राप्ति (राजा=प्राण)

यो मे हिरण्यसंदृशो दश राज्ञो अमंहत।
अधस्पदा इच्चैद्यस्य कृष्टयश्चर्मम्ना अभितो जनाः॥ ३८॥

(१) **यः**=जो प्रभु **मे**=मेरे लिये **दश**=दस **हिरण्यसन्दृशः**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान, तेजस्वी **राज्ञः**=जीवन को व्यवस्थित (regulated) करनेवाले, जीवन के शासक प्राणों को **अमंहत**=देते हैं। **इत्**=निश्चय से उस **चैद्यस्य**=(चित् एव चैद्यः) सर्वज्ञ प्रभु के **कृष्टयः**=सब मनुष्य **अधस्पदाः**=पावों के नीचे हैं, अर्थात् उसके अधीन हैं, उसी के शासन में चल रहे हैं। (२) सामान्यतः **अभितः**=सब ओर **जनाः**=लोग **चर्मम्नाः**=(म्ना अभ्यासे) चर्मवेष्टित इस देह को बार-बार लेनेवाले हैं। ये देह प्रभु की कर्मव्यवस्था के अनुसार ही इन लोगों को लेने पड़ते हैं। जब कभी प्रभु का साक्षात्कार होता है, तभी यह देह-बन्धन समाप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें दश प्राणों को प्राप्त कराते हैं। वे सर्वज्ञ प्रभु सब जीवों को अपनी आधीनता में ले चल रहे हैं। जब तक प्रभु-दर्शन नहीं होता, तब तक बारम्बार यह शरीर लेना ही पड़ता है।

ऋषिः—ब्रह्मातिथिः काण्वः॥ **देवता**— चैद्यस्य कशोर्दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—आर्षीनिचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

ज्ञानियों का दुर्गम मार्ग

माकिरेना पथा गाद्येनेमे यन्ति चेदयः। अन्यो नेत्सूरिरोहते भूरिदावत्तरो जनः॥ ३९॥

(१) **येन**=जिस मार्ग से **इमे**=ये **चेदयः**=(चित् का अपत्य चेदि) ज्ञानी पुरुष **यन्ति**=जाते हैं, **एना पथा**=इस मार्ग से **माकिः गात्**=सामान्य पुरुष नहीं जा पाता। (२) **अन्यः**=सामान्य मनुष्य **न इत्**=नहीं ही इस पर चल पाता। **सूरिः**=ज्ञानी ही **ओहते**=इस मार्ग पर आगे बढ़ता है। यह ज्ञानी **भूरिदावत्तरः**=खूब ही दानशील होता है। भोगवृत्ति से ऊपर उठा होने के कारण यह खूब दे पाता है। और इसीलिए **जनः**=उत्तरोत्तर अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला होता है। सामान्य मनुष्य प्रभु की ओर न चलकर प्रकृति की ओर चलता है। उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। वह उन्हीं के भार से दब जाता है। इसके गुणों का विकास नहीं हो पाता। ज्ञानी प्रभु के मार्ग पर चलता है, सामान्य मनुष्य इस मार्ग पर नहीं ही चलता।

भावार्थ—जिस मार्ग पर ज्ञानी चलते हैं, वह प्रभु प्राप्ति का मार्ग सामान्य मनुष्य के लिये बड़ा कठिन होता है। ज्ञानी ही उस पर चलकर दानशील व अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले होते हैं।

इस मार्ग पर चलनेवाला यह 'काण्व'=मेधावी पुरुष प्रभु का प्रिय 'वत्स' होता है। यह 'वत्स काण्व' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

द्वितीयोऽनुवाकः

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ओजस्विता से महान्

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे॥ १॥

(१) **यः इन्द्रः**=जो परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं, वे **ओजसा महान्**=अपनी ओजस्विता से महान् हैं। अपने सब कार्यों को करने का उनमें पूर्ण सामर्थ्य है। वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **वृष्टिमान् पर्जन्यः इव**=वृष्टि करनेवाले बादल के समान हैं। वे सब के सन्ताप को हरनेवाले व सब इष्टों को प्राप्त करानेवाले हैं। (२) ये प्रभु **वत्सस्य**=(वदति) इस स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले प्रिय स्तोता के **स्तोमैः**=स्तुति समूहों से **वावृधे**=खूब ही बढ़ाये जाते हैं। अर्थात् स्तोता प्रभु का खूब ही स्तवन करता है, प्रभु के गुणों का सर्वत्र प्रख्यापन करता है।

भावार्थ—प्रभु अपनी ओजस्विता से महान् हैं। सब काम्य पदार्थों का वर्षण करनेवाले हैं। प्रभु प्रिय लोग सर्वत्र प्रभु-स्तवन द्वारा प्रभु की महिमा का प्रख्यापन करते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

विप्र

प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः। विप्रा ऋतस्य वाहसा॥ २॥

(१) **ऋतस्य**=ऋत का, सत्य वेद ज्ञान का **पिप्रतः**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में पूरण करनेवाले प्रभु की **प्रजाम्**=प्रजा को **यत्**=जब **प्र भरन्त**=प्रकर्षेण धारण करनेवाले होते हैं, तो

ये **वह्नयः**=इस प्रजा-पोषण के भार का वहन करनेवाले लोग, **ऋतस्य वाहसा**=स्वयं अपने अन्दर ऋत का वहन करने के कारण **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले ज्ञानी कहलाते हैं। (२) एवं विप्रों के दो मुख्य लक्षण हैं कि-(क) प्रभु की प्रजा का ये पालन करते हैं और (ख) इस पालन की क्रिया को सम्यक् कर सकने के लिये ये सत्य वेदज्ञान को धारण करते हुए अपना विशेषरूप से पूरण करते हैं।

भावार्थ-विप्र वे हैं जो-(१) प्रभु की प्रजा का पालन करें और (२) ज्ञान के धारण से अपनी न्यूनताओं को दूर करें।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु का संरक्षण

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम्। जामि ब्रुवत आयुधम्॥ ३॥

(१) **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **यद्**=जब **इन्द्रम्**=उस सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **स्तोमैः**=स्तुति समूहों के द्वारा **यज्ञस्य साधनम्**=अपने सब उत्तम कर्मों का सिद्ध करनेवाला **अक्रत**=कर लेते हैं, तो वे **आयुधम्**=इन बाह्य अस्त्र-शस्त्रों को **जामि ब्रुवते**=व्यर्थ ही कहते हैं। (२) प्रभु जब रक्षक हैं तो इन अस्त्रों की बहुत उपयोगिता नहीं रह जाती। प्रभु के रक्षण के प्रकार अद्भुत ही हैं। प्रभु-विश्वासी प्रयत्न में कमी नहीं रखता और सफलता उसे प्रभु अवश्य ही प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ-प्रभु के संरक्षण के होने पर बाह्य अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो जाते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

नम्रता से ज्ञान प्राप्ति

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः। समुद्रायेव सिन्धवः॥ ४॥

(१) **अस्य मन्यवे**=इस प्रभु के ज्ञान के लिये **विश्वाः**=सब **विशः**=संसार में प्रवेश करनेवाली **कृष्टयः**=श्रमशील प्रजायें **संनमन्त**=इस प्रकार नतमस्तक होती हैं, **इव**=जिस प्रकार **समुद्राय**=समुद्र के लिये **सिन्धवः**=नदियाँ। (२) नदियाँ निम्न मार्ग से जाती हुई समुद्र को प्राप्त करती हैं। इसी प्रकार प्रजायें नम्रता को धारण करती हुई प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान को प्राप्त करती हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिये नम्रता ही मुख्य साधन है।

भावार्थ-हम नम्रता को धारण करते हुए प्रभु से दिये जानेवाले वेदज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान+शक्ति=ओजस्विता

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत्। इन्द्रश्चर्मेव रोदसी॥ ५॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **चर्म इव**=चर्म की तरह **यत्**=जब **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **समवर्तयत्**=ओढ़ लेता है, मस्तिष्क रूप द्युलोक तथा शरीर रूप पृथिवीलोक दोनों का धारण करता है, **तत्**=तो **अस्य ओजः**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का ओज (शक्ति) **तित्विष**=चमक उठती है। (२) ओजस्विता केवल शरीर की शक्ति से नहीं, अपितु मस्तिष्क के ज्ञान के भी होने पर चमकती है। 'शरीर की शक्ति व मस्तिष्क के ज्ञान' दोनों के ही धारण की आवश्यकता है। ये दोनों सम्मिलित रूप से धारण किये जाने पर इस रूप में हमारे रक्षक होते हैं, जैसे एक ढाल। ढाल के द्वारा योद्धा अपना रक्षण करता है। ये शक्ति व ज्ञान इस उपासक के लिये ढाल का काम

देते हैं।

भावार्थ—शरीर की शक्ति व मस्तिष्क के ज्ञान दोनों को सम्मिलित रूप से धारण करने पर हम ओजस्वी बनते हैं। यह ओजस्विता ही हमारा रक्षण करनेवाली ढाल होती है।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'शतपर्व-वृष्णी' वज्र

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा। शिरो बिभेद वृष्णिना॥ ६॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **दोधतः**=(दुध) हमारा विनाश करनेवाली **वृत्रस्य**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के **शिरः**=सिर का **चित्**=निश्चय से **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **विबिभेद**=विदारण कर देता है। क्रियाशीलता हमारे पर वासना के आक्रमण को नहीं होने देती। (२) यह क्रियाशीलतारूप वज्र **वृष्णिना**=बड़ा प्रबल है, हमारे में शक्ति का सेचन करनेवाला है। तथा **शतपर्वणाः**=शतवर्षपर्यन्त हमारा पूरण करनेवाला है। क्रियाशीलता से शक्ति बनी रहती है और सौ वर्ष का पूर्ण जीवन प्राप्त होता है।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशील बना रहकर वासना का विनाश करनेवाला बनता है। इससे वह शक्ति-सम्पन्न व शतवर्षपर्यन्त जीनेवाला होता है।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उपासना से दीप्त जीवन की प्राप्ति

इमा अभि प्र णोनुमो विपामग्रेषु धीतयः। अग्नेः शोचिर्न दिद्युतः॥ ७॥

(१) **विपाम्**=मेधावी पुरुषों में **अग्रेषु**=प्रमुख स्थान में स्थित व्यक्तियों में जो **इमाः**=ये **धीतयः**=(devotion) उपासनायें हैं उनके प्रति **अभि प्रणोनुमः**=हम बारम्बार नतमस्तक होते हैं। इन उपासनाओं का हम आदर करते हैं। वस्तुतः ये उपासनायें ही उन्हें 'विप्' (मेधावी) बनाती हैं, मेधावियों में भी अग्र-स्थान में स्थित करती हैं। (२) ये उपासनायें **अग्नेः शोचिः न**=अग्नि की दीप्ति के समान **दिद्युतः**=चमकती हैं। उपासनाओं से इन मेधावी पुरुषों का जीवन चमक उठता है।

भावार्थ—मेधावी पुरुषों से की जानेवाली उपासनाओं का हम आदर करते हैं। ये उपासनायें ही उनके जीवनों को अग्नि की दीप्ति के समान दीप्त करती हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

हृदय से की गई उपासना व दीप्ति

गुहा सतीरुप त्मना प्र यच्छोचन्त धीतयः। कण्वा ऋतस्य धारया॥ ८॥

(१) **गुहा सतीः**=हृदयरूप गुहा के अन्दर होती हुई **धीतमः**=ये उपासनायें **यत्**=जब **त्मना उप**=आत्मा की समीपता में **शोचन्त**=दीप्त होती हैं, तो **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **ऋतस्य**=सत्य की, सत्य ज्ञान को प्रकट करनेवाली **धारया**=वाणी से (शोचन्त=)दीप्त हो उठते हैं। (२) हृदय में प्रभु का ध्यान करने पर उपासनायें प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो उठती हैं। इस प्रभु के द्वारा सत्य ज्ञान को प्राप्त करके उस ज्ञान को प्रकट करनेवाली वाणी से मेधावी पुरुष भी चमक उठते हैं।

भावार्थ—हृदय के अन्तस्तल से की गई उपासनायें प्रभु की दीप्ति से उपासक को दीप्त करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'गोमान् अश्वी' रयि

प्र तमिन्द्र नशीमहि रयिं गोमन्तमश्विनम्। प्र ब्रह्म पूर्वचित्तये॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तं रयिम्**=उस ज्ञानैश्वर्य को व धन को हम **प्र नशीमहि**=प्राप्त करें, जो **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है तथा **अश्विनम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है। हम धन का इस प्रकार से विनियोग करें कि वह इन्द्रियों को प्रशस्त ही बनानेवाला हो। किसी प्रकार से इन्द्रियों की शक्ति में जीर्णता न आ जाये। (२) हम **ब्रह्म**=परमात्मा को **प्र**=(नशीमहि) प्राप्त करें ताकि **पूर्वचित्तये**=हम उस चेतना व ज्ञान के लिये हों जो हमारा पालन व पूरण करता है। हृदयस्थ ब्रह्म ने ही तो हमें यह ज्ञान देना है।

भावार्थ—धन का हम ऐसा विनियोग करें कि हमारी इन्द्रियाँ प्रशस्त शक्तिवाली ही बनें। ब्रह्म का ध्यान करें, ये प्रभु ही उस चेतना को प्राप्त करायेंगे, जो हमारा पूरण करनेवाली होगी।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सूर्य के समान

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ। अहं सूर्यइवाजनि॥ १०॥

(१) **अहम्**=मैं **इत् हि**=निश्चय से **पितुः**=अपने पिता प्रभु से **ऋतस्य**=सत्य ज्ञान की **मेधाम्**=बुद्धि को **परिजग्रभ**=ग्रहण करूँ। प्रभु की उपासना करता हुआ हृदयस्थ प्रभु से प्रकाश को प्राप्त करूँ। (२) इस प्रकाश को प्राप्त करके **अहम्**=मैं **सूर्य इव**=सूर्य की तरह **अजनि**=हो गया हूँ। प्रभु से दिया हुआ प्रकाश इस प्रकार मुझे चमका देता है जैसे सूर्य।

भावार्थ—हम प्रभु का ध्यान करें। हृदयस्थ प्रभु से प्रकाश को प्राप्त करें। यह प्रकाश हमें सूर्यवत् दीप्त करनेवाला होगा।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सनातन ज्ञान से बल की प्राप्ति

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्। येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे॥ ११॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार मैं प्रभु से प्रकाश को प्राप्त करता हूँ। **अहम्**=मैं **प्रत्नेन मन्मना**=इस सनातन (पुराणे) सदा सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले ज्ञान से **गिरः शुम्भामि**=अपनी वाणियों को ऐसे अलंकृत करता हूँ **कण्ववत्**=जैसे एक मेधावी पुरुष किया करता है। वस्तुतः यह सनातन ज्ञान ही मुझे मेधावी बनाता है। (२) उस ज्ञान से मैं अपनी वाणियों को अलंकृत करता हूँ **येन**=जिससे **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **इत्**=निश्चय से **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को **दधे**=धारण करता है। इस ज्ञानाग्नि से ही इन्द्र सब असुरों को दग्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—सनातन वेदज्ञान मेरी वाणियों को अलंकृत करे। इस ज्ञान के द्वारा जितेन्द्रिय बनता हुआ मैं सब वासनारूप शत्रुओं के शोषक बल को धारण करूँ।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वर्धस्व सुष्टुतः

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः। ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! ऐसे भी लोग हैं **ये**=जो आपको **न तुष्टुवु**=स्तुत

नहीं करते। प्रकृति के भोगों में फँसे हुए, उन्हीं के जुटाने में यत्नशील वे संसार को ईश्वररहित नहीं कहते हैं। आपकी सत्ता से ही इनकार करते हैं। **च**=और इनके विपरीत वे **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुष भी हैं **ये**=जो आपका **तुष्टुवुः**=स्तवन करते हैं, सब कार्यों को आपसे ही होता हुआ जानते हैं। (२) इस प्रकार द्विविध लोगों को देखता हुआ मैं तो आपका स्तवन करनेवाला ही बनूँ। **मम**=मेरे तो **इत्**=निश्चय से **सुष्टुतः**=उत्तमता से स्तुत हुए-हुए आप **वर्धस्व**=(वर्धयस्व) वृद्धि का कारण बनें। मैं आपका स्तवन करता हुआ आप जैसा बनने का यत्न करूँ और इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होऊँ।

भावार्थ—प्राकृतिक भोगों में फँसे हुए लोग ईश्वर का स्मरण नहीं करते। तत्त्वद्रष्टा ऋषि प्रभु की स्तुति करते हैं। मैं प्रभु-स्तवन करता हुआ वृद्धि को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अपः समुद्रं ऐरयत्

यदस्य मन्युरध्वनीद्वि वृत्रं पर्वशो रुजन्। अपः समुद्रमैरयत्॥ १३॥

(१) **यत्**=जब **अस्य**=इस प्रभु का **मन्युः**=यह वेदज्ञान **अध्वनीत्**=हमारे जीवनों में शब्दायमान होता है तो यह **ज्ञान वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **पर्वशः**=पोरी-पोरी करके **रुजन्**=भग्न करनेवाला होता है। ज्ञान-वासना का खण्डन कर देता है। (२) यह ज्ञानी पुरुष **अपः**=सब कर्मों को **समुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु की ओर **ऐरयत्**=प्रेरित करता है। जिस-जिस कर्म को यह ज्ञानी करता है, उसे प्रभु के अर्पण करता चलता है।

भावार्थ—प्रभु से दिया गया ज्ञान यदि हमारे हृदयों में आता है तो सब वासनाओं का विनाश कर देता है। यह ज्ञानी सब कर्मों को प्रभु के अर्पण करता है।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शुष्ण पर वज्र-प्रहार

नि शुष्ण इन्द्र धर्णसिं वज्रं जघन्थ दस्यवि। वृषा ह्युग्र शृण्विषे॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विनाशक प्रभो! आप **शुष्णे**=हमारा शोषण करनेवाले **दस्यवि**=काम-वासनारूप दस्यु पर **धर्णसिम्**=हमारा धारण करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **निजघन्थ**= प्रहृत करते हो। अर्थात् आप क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासना का विनाश करते हो। (२) हे **उग्र**=तेजस्विन् अथवा शत्रु-भयंकर प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वृषा**=अत्यन्त शक्तिशाली **शृण्विषे**=सुने जाते हैं। आपकी उपासना से शक्तिशाली बनकर मैं भी इन शत्रुओं का संहार करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं पर क्रियाशीलतारूप वज्र का प्रहार करते हैं। वे प्रभु शक्तिशाली हैं, उपासक को भी शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पादोऽस्य विश्वा भूतानि

न द्याव इन्द्रमोजसा नान्तरिक्षाणि वज्रिणम्। न विव्यचन्त भूमयः॥ १५॥

(१) **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **द्यावः**=ये द्युलोक **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **न विव्यचन्त**=(व्यच समवाये) घेर नहीं पाते। **वज्रिणम्**=उस वज्रहस्त प्रभु को **न अन्तरिक्षाणि**=ना ही अन्तरिक्षलोक (विव्यचन्त=) घेर पाते हैं। प्रभु इन द्युलोक व अन्तरिक्ष लोकों से बहुत बड़े हैं, ये तो प्रभु के एक देश में स्थित हैं। (२) **भूमयः**=ये पृथिवीलोक भी

न विव्यचन्त=उस प्रभु को नहीं घेर सकते।

भावार्थ—प्रभु त्रिलोकी से बहुत विशाल हैं ये तीनों लोक प्रभु के एकदेश में स्थित हैं।

सूचना—यहाँ 'द्यावः, अन्तरिक्षाणि, भूमयः' ये बहुवचनान्त प्रयोग कई सौर लोकों के होने की सूचना दे रहे हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोमरक्षण-सन्मार्ग पर गमन-मुक्ति

यस्त इन्द्र महीरपः स्तभूयमान आशयत्। नि तं पद्यासु शिश्नथः॥ १६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो **ते**=तेरे **महीः अपः**=इन महत्त्वपूर्ण रेतःकण रूप जलों को **स्तभूयमानः**=शरीर में ही थामता हुआ **आशयत्**=निवास करता है अथवा उन रेतःकणों को शरीर में ही निवास कराता है, **तम्**=उस पुरुष को आप **पद्यासु**=मार्गों में ही स्थापित करते हुए **निशिश्नथः**=(Liberate) निश्चय से मुक्त करते हो। (२) प्रभु ने शरीर में रेतःकणों को जन्म दिया है। जो भी व्यक्ति इन्हें शरीर में सुरक्षित करता है, वह मार्ग-भ्रष्ट नहीं होता और अन्ततः मुक्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से सन्मार्ग पर चलते हुए हम मोक्ष का लाभ करते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मही समीची रोदसी

य इमे रोदसी मही समीची समजग्रभीत्। तमोभिरिन्द्र तं गुहः॥ १७॥

(१) **यः**=जो **इमे**=इन **मही**=महत्त्वपूर्ण **समीची**=सम्यक् व सम्मिलित गतिवाले **रोदसी**=द्यावा-पृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **समजग्रभीत्**=ग्रहण करता है। हे **इन्द्र**=शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **तम्**=उस पालक को आप **तमोभिः**=(तमोभ्यः) अन्धकारों से **गुहः**=बचाते हैं, छिपाकर रखते हैं। अन्धकार उसपर आक्रमण नहीं कर पाते।

भावार्थ—हम मस्तिष्क व शरीर दोनों को मिलाकर चलें। प्रभु हमें अन्धकारों से बचायेंगे।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

यतयः-भृगवः

य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥ १८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! ये **यतयः**=जो यति हैं, संयमी पुरुष हैं, ये **च**=और जो **भृगवः**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले हैं, वे **त्वा तुष्टुवुः**=आपका स्तवन करते हैं। (२) हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **मम इत्**=मेरे भी **हवम्**=पुकार को, प्रार्थना को **श्रुधि**=आप सुनिये। मैं भी आपका आराधक बनूँ। यति व भृगु बनकर आपकी उपासना करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम संयमी व ज्ञानी बनकर प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन ही वस्तुतः हमें संयम व ज्ञान-परिपक्वता में सहायक होगा।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पृश्नि-घृत-अमृतत्व

इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम्। एनामृतस्य पिप्युषीः॥ १९॥

(१) हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **इमाः**=ये **ते**=आपकी **पृश्नयः**=प्रकाश की किरणें

हैं। **आशिरम्**=(आशृणाति) ये अन्धकार को समन्तात् शीर्ण करनेवाली **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को **दुहते**=हमारे में पूरित करती हैं। (२) ये प्रकाश की किरणें **एना**=इस ज्ञान दीप्ति के द्वारा **अमृतस्य**=अमृतत्व का **पिप्युषीः**=आप्यायन करती हैं। ज्ञानाग्नि में सब वासनायें भस्म हो जाती हैं और इस प्रकार हमारा जीवन नीरोग व निर्मल बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु की प्रकाश की किरणें हमारे आदर ज्ञान दीप्ति का पूरण करके वासना विदाह के द्वारा अमृतत्व को देनेवाली होती हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु को स्तवन के द्वारा धारण करना

या इन्द्र प्रस्वस्त्वासा गर्भमचक्रिरन्। परि धर्मेव सूर्यम्॥ २०॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **याः**=जो **प्रस्वः**=प्रकृष्ट जन्मवाली प्रजायें हैं, वे **आसा**=स्तुति के द्वारा **त्वा**=आपको **गर्भं अचक्रिरन्**=गर्भ में धारण करती हैं। (२) उन आपको अपने अन्दर धारण करती हैं, जो आप **परिधर्म**=चारों ओर धारण करनेवाले **सूर्यं इव**=सूर्य के समान हैं। सूर्य अपने प्रकाश व प्राणशक्ति से सबका धारण करता है। सूर्य के भी सूर्य आप हैं। आप ही सूर्य में इस शक्ति को स्थापित करते हैं।

भावार्थ—हम स्तुति द्वारा प्रभु का अपने अन्दर धारण करें। प्रभु हमारा धारण करेंगे, सूर्य की तरह हमें प्राण शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

स्तवन-सोमरक्षण

त्वामिच्छवसस्पते कण्वा उक्थेन वावृधुः। त्वां सुतास इन्दवः॥ २१॥

(१) हे **शवसः पते**=सब बलों के स्वामिन् प्रभो! **त्वां इत्**=आपको ही **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **उक्थेन**=स्तोत्रों के द्वारा **वावृधुः**=बढ़ाते हैं। स्तवन के द्वारा निरन्तर अपने अन्दर धारण करने का प्रयत्न करते हैं। (२) **त्वाम्**=आपको ही **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए **इन्दवः**=सोमकण बढ़ाते हैं। सोमकणों के द्वारा बुद्धि की तीव्रता होकर आपके दर्शन की योग्यता हमारे में उत्पन्न होती है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न बना पाता है। मेधावी पुरुष स्तोत्रों व सोमरक्षण द्वारा प्रभु को पाने का यत्न करते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रशस्तिः-यज्ञः

तवेदिन्द्र प्रणीतिषूत प्रशस्तिरद्रिवः। यज्ञो वितन्तसाय्यः॥ २२॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रवत् अथवा आदरणीय प्रभो! **तव प्रणीतिषु**=आपके प्रणयनों में ही **प्रशस्तिः**=जीवन का प्रशस्त्य निहित है। आपकी प्रेरणा के अनुसार चलने पर ही जीवन प्रशस्त बनता है। (२) **उत**=और आपके प्रणयनों में ही **यज्ञः**=यज्ञ **वितन्तसाय्यः**=अति-विस्तारवाला होता है। जब हम प्रभु की उपासना करते हैं तो हमारे जीवन में सब प्रशस्त बातों का प्रवेश होता है, अप्रशस्त बातें हमारे जीवन से दूर होती हैं। और हमारा जीवन अधिकाधिक यज्ञमय बनता जाता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से जीवन प्रशस्त व यज्ञमय बनता है।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उत्तम साधन व उत्तम फल

आ नं इन्द्र महीमिषं पुरं न दर्षि गोमंतीम्। उत प्रजां सुवीर्यम्॥ २३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **गोमती पुरं न**=इस प्रशस्त इन्द्रियोंवाली शरीर नगरी के समान **मही इषम्**=महनीय प्रेरणा को भी **अदर्षि**=प्राप्त कराइये। उत्तम इन्द्रियोंवाले शरीर के साथ उत्तम इच्छाओं व प्रेरणाओं को भी दीजिये। (२) **उत**=और इस प्रकार उत्तम इन्द्रियों, उत्तम शरीर व उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त कराके आप हमारे लिये **प्रजाम्**=उत्तम सन्तानों व **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य (शक्ति) को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हमें 'उत्तम इन्द्रियोंवाला शरीर, उत्तम प्रेरणा, उत्तम सन्तान व उत्तम शक्ति' प्राप्त हो।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

आशु अश्व्यम्

उत त्यदाश्वश्व्यं यदिन्द्र नाहुषीष्वा। अग्रे विक्षु प्रदीदयत्॥ २४॥

(१) **उत**=और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्यद्**=उस **आशु**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **अश्व**=इन्द्रिय समूह को हमें प्राप्त कराइये ('आदर्षि' गत मन्त्र से आवृत्त है) (२) हे प्रभो! उस इन्द्रिय समूह को प्राप्त कराइये **यत्**=जो **नाहुषीषु विक्षु**=मानव प्रजाओं में (णह बन्धने) अपने को आपके साथ जोड़नेवाली प्रजाओं में **अग्रे**=सब से आगे **प्रदीदयत्**=दीप्त होता है। उपासक में इन्द्रिय समूह दग्ध दोष होकर चमक उठता है।

भावार्थ—हमें वह इन्द्रिय समूह प्राप्त कराइये जो उपासकों में दीप्त रूप से स्थित होता है।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञानदीप्त हृदय

अभि व्रजं न तत्निषे सूर उपाकचक्षसम्। यदिन्द्र मृळयासि नः॥ २५॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब आप **नः मृडयासि**=हमें सुखी करते हैं, तो **सूरः**=सूर्य के समान देदीप्यमान आप **उपाकचक्षसम्**=अति समीप हृदयदेश में दर्शनीय ज्ञान को **व्रजं न**=एक गृह के समान विश्राम-स्थान के समान **अभितत्निषे**=चारों ओर विस्तृत करते हैं। (२) ज्ञान को देकर ही प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। ज्ञान सब दोषों को दग्ध करके हमें पवित्र बनाता है और इस प्रकार सब अशुभों के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों को ज्ञान से दीप्त करके हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं। इस प्रकार प्रभु हमें सुखी करते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

महान् ओजस्वी

यदुङ्ग तविषीयस इन्द्र प्रराजसि क्षितीः। महाँ अपार ओजसा॥ २६॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यद्**=जब आप **अंग**=शीघ्र ही **तविषीयसे**=(तविषी) उपासक के जीवन में शक्ति की तरह आचरण करते हैं, जब उपासक के जीवन की आप शक्ति बनते हैं तो **क्षितीः**=अन्नमयकोश आदि पाँचों भूमियों को **प्रराजसि**=दीप्त

कर देते हैं। आप की ज्योति से उपासक का जीवन चमक उठता है। आपके बल से बल-सम्पन्न यह उपासक सब दोषों को दग्ध करके दीप्त जीवनवाला बन जाता है। (२) हे प्रभो! आप **महान्**=पूज्य हैं, **ओजसा अपारः**=ओजस्विता से अपार हैं, अनन्त ओजस्वितावाले हैं। यह उपासक भी महान् व ओजस्वी बनता है।

भावार्थ—उपासक के जीवन में प्रभु की शक्ति काम करती है, अतएव वह महान् व अनन्त ओजस्वितावाला प्रतीत होता है।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

हविष्मतीः विशः

तं त्वा हविष्मतीर्विश उप ब्रुवत ऊतये। उरुज्रयसमिन्दुभिः॥ २७॥

(१) **तं त्वा**=उन आप को, हे प्रभो! **हविष्मतीः विशः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाली प्रजायें **ऊतये**=रक्षा के लिये **उपब्रुवते**=प्रार्थना करती हैं, पुकारती हैं। प्रभु का आराधन हवि के द्वारा होता है, त्यागपूर्वक अदन ही प्रभु की उपासना का साधन है। प्रभु से यह उपासक रक्षित होता है। (२) **उरुज्रयसम्**=महान् बल व वेगवाले प्रभु को **इन्दुभिः**=सोमकणों के रक्षण के हेतु से (उपब्रुवते) पुकारते हैं। प्रभु की उपासना से वासना विनाश द्वारा सोम का रक्षण होता है, यह सुरक्षित सोम उपासक को सबल बनाता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना यज्ञशेष के सेवन से होती है। प्रभु उपासक का रक्षण करते हैं। वासनाओं के आक्रमण से बचाकर उसे सोमरक्षण के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गिरि-नदि के संपर्क में विप्रों का निर्माण

उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥ २८॥

(१) ('गृणाति' इति गिरिः) **गिरीणाम्**=ज्ञान का उपदेश करनेवाले गुरुओं के **उपह्वरे**=सान्निध्य में **च**=तथा **नदीनाम्**=स्तोताओं के **संगथे**=संग में **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **विप्रः अजायत**=एक ज्ञानी पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। (२) ज्ञानी गुरुओं का तथा प्रभु के उपासक स्तोताओं का सम्पर्क एक युवक को कमियों से बचाकर उत्कृष्ट जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—हमारा सम्पर्क ज्ञानियों व भक्तों के साथ हो। यह सम्पर्क ही हमें उत्कृष्ट जीवनवाला बनायेगा। हम विप्र बन सकेंगे।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

समुद्रम्-उद्वतः

अतः समुद्रमुद्वतश्चिकित्वाँ अव पश्यति। यतो विपान एजति॥ २९॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **यतः**=क्योंकि एक युवक ज्ञानी गुरुओं व प्रभु स्तोताओं के सम्पर्क में **विपानः**=विशेषरूप से अपना रक्षण करता हुआ **रजति**=गति करता है **अतः**=इसीलिए **चिकित्वान्**=ज्ञानी बनता है। यह उत्तम संग उसे विषय वासनाओं में फँसने से बचाता है तथा उसकी ज्ञान वृद्धि का कारण बनता है। (२) यह ज्ञान को प्राप्त करता हुआ **समुद्रम्**=(स+मुद्) उस आनन्दमय प्रभु को **अवपश्यति**=अन्दर हृदयदेश में देखता है और **उद्वतः**=इन उत्तम लोकों को देखता है। एक-एक लोक में उस उस प्रभु की महिमा दिखती है। प्रत्येक लोक का रचना

सौन्दर्य उसके हृदय में प्रभु की महिमा को अंकित करनेवाला होता है।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में विषयों से अपने को बचाते हुए चलेंगे तो हम भी ज्ञानी बनेंगे। प्रभु का ज्ञान प्राप्त करेंगे, प्रभु से रचित इन उत्कृष्ट लोकों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वासरं ज्योतिः

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा॥ ३०॥

(१) **यत्**=जब **दिवा**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा **परः**=वह परम प्रभु **इध्यते**=अपने हृदयदेशों में समिद्ध किया जाता है **आत इत्**=तब ही **प्रत्नस्य रेतसः**=उस सनातन शक्ति की **वासरं ज्योतिः**=सबको बसानेवाली व अन्धकार को विनष्ट करनेवाली ज्योति को **पश्यन्ति**=देखते हैं। (२) हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर वह प्रभु एक सनातन शक्ति व अन्धकार विनाशक ज्योति के रूप में दिखता है। यह उपासक भी अपने जीवन में शक्ति व ज्योति के सम्पादन का यत्न करता है। यह यत्न ही प्रभु की सच्ची उपासना होती है।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान करनेवाले प्रभु को एक सनातन शक्ति के रूप में व वासर ज्योति के रूप में देखते हैं। स्वयं भी शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न होने का यत्न करते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मति-पौंस्य-वृष्ण्य

कण्वास इन्द्र ते मतिं विश्वे वर्धन्ति पौंस्यम्। उतो शविष्ठ वृष्ण्यम्॥ ३१॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **विश्वे कण्वासः**=सब मेधावी पुरुष **ते**=आप से दी जानेवाली **मतिम्**=बुद्धि को तथा **पौंस्यम्**=पुरुषार्थ को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। प्रभु की उपासना के मार्ग में चलनेवाले लोग बुद्धि और पौरुष के बढ़ाने के लिये सदा यत्नशील होते हैं। (२) हे **शविष्ठ**=सर्वोत्तम शक्ति-सम्पन्न प्रभो! **उत**=और **उ**=निश्चय से ये मेधावी पुरुष **वृष्ण्यम्**=अपने वीर्य को बढ़ाते हैं। वीर्य को बढ़ाने का भाव शरीर में इसे सुरक्षित रखने से ही है। प्रकृति प्रवण पुरुष भोगों की ओर झुककर वीर्य का विनाश कर बैठता है, प्रभु-भक्त वीर्य का रक्षण करता है। यह वीर्यरक्षण उसकी मनोवृत्ति व मस्तिष्क दोनों को सुन्दर बनाता है।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभु का उपासन करते हुए 'बुद्धि-पौरुष व वीर्य' का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

स्तुति द्वारा मति का वर्धन

इमां म इन्द्र सुष्टुतिं जुषस्व प्र सु मामव। उत प्र वर्धया मतिम्॥ ३२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **मे**=मेरे से की जानेवाली **इमां सुष्टुतिं**=इस उत्तम स्तुति को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। मेरे से किया जानेवाला स्तवन मुझे आपका प्रिय बनाये। मैं आपका ही भक्त बनूँ, हे प्रभो! **माम्**=मुझे **सु अव**=अच्छी प्रकार रक्षित करिये। आप से रक्षित हुआ-हुआ मैं वासनाओं व रोगों का शिकार न होऊँ। (२) **उत**=और आप **मतिम्**=मेरी बुद्धि को **प्रवर्धया**=बढ़ाइये। इस बुद्धि के द्वारा मैं सदा ठीक मार्ग पर चलता हुआ अपना रक्षण कर पाऊँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें, प्रभु द्वारा रक्षित हों। प्रभु हमारी बुद्धि का वर्धन करें। यह बुद्धि ही तो मुझे रक्षण के योग्य बनायेगी।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तुभ्यं उत जीवसे

उत ब्रह्मण्या वयं तुभ्यं प्रवृद्ध वज्रिवः। विप्रा अतक्ष्म जीवसे॥ ३३॥

(१) हे **प्रवृद्ध**=सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए, **वज्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले **वयम्**=हम **तुभ्यम्**=आप की प्राप्ति के लिये **उत**=तथा **जीवसे**=दीर्घ-जीवन के लिये **ब्रह्मण्या**=ज्ञान में उत्तम वाणियों को **अतक्ष्म**=करते हैं। (२) ये उत्तम वाणियाँ हमारे ज्ञान को बढ़ाती हुई हमारे जीवन को उत्तम बनाती हैं तथा हमें आपकी प्राप्ति का पान बनाती हैं।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियों का सम्पादन ही वह मार्ग है जिससे कि हम अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं और प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सदा प्रभु चिन्तन

अभि कण्वा अनूषतापो न प्रवता यतीः। इन्द्रं वनन्वती मतिः॥ ३४॥

(१) **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **आपः न**=जलों के समान **प्रवता**=निम्न मार्ग से **यतीः**=जाते हुए, नम्रता से सब कार्यों को करते हुए, **अभि अनूषत**=प्रातः-सायं प्रभु का स्तवन करते हैं। (२) इन मेधावी पुरुषों की **मतिः**=बुद्धि **इन्द्रं वनन्वती**=परमैश्वर्यशाली प्रभु का सम्भजन करती हुई होती है। यह सदा प्रभु का चिन्तन करते हैं।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करते हैं। इनकी बुद्धि प्रभु का ही सम्भजन करती है।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'अनुत्तमन्यु-अजर' प्रभु

इन्द्रमुक्थानि वावृधुः समुद्रमिव सिन्धवः। अनुत्तमन्युमजरम्॥ ३५॥

(१) **इव**=जैसे **सिन्धवः**=नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र का वर्धन करती हैं, इसी प्रकार **उक्थानि**=स्तोत्र हमारे हृदयों में **इन्द्रम्**=प्रभु को **वावृधुः**=बढ़ाते हैं। जितना-जितना हम प्रभु का स्तवन करते हैं, उतना-उतना प्रभु का भाव हमारे में वृद्धि को प्राप्त होता है। (२) उस प्रभु को ये स्तोत्र बढ़ाते हैं, जो **अनुत्तमन्युम्**=(अनुत्त=अप्रेरित) अप्रेरित ज्ञानवाले हैं, स्वाभाविक ज्ञानवाले हैं, किसी और से जो ज्ञान को नहीं प्राप्त करते तथा **अजरम्**=कभी जीर्ण होनेवाले नहीं। प्रभु की शक्ति कभी जीर्ण नहीं होती। इस प्रकार प्रभु को स्मरण करते हुए हम भी ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमारे में प्रभु के भाव को बढ़ाता है, प्रभु ज्ञानस्वरूप हैं, अजीर्ण शक्तिवाले हैं। हम भी इस रूप में प्रभु का स्मरण करते हुए 'ज्ञानी व सशक्त' बनने के लिये यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

हर्यत हरि

आ नो याहि परावतो हरिभ्यां हर्यताभ्याम्। इममिन्द्र सुतं पिब॥ ३६॥

(१) हे प्रभो! **परावतः**=सुदूर देश की यात्रा के उद्देश्य से **हर्यताभ्यां हरिभ्याम्**=गतिशील व तेजस्विता से कान्त (सुन्दर) इन्द्रियाश्वों से **नः**=हमें **आयाहि**=आप प्राप्त होइये। इन उत्तम ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों से हम सुदूरस्थ लक्ष्य पर पहुँचनेवाले बनें। (२) इन इन्द्रियाश्वों को 'हर्यत' बनाने के लिये हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **इमम्**=इस **सुतम्**=उत्पन्न सोम को **पिब**=हमारे शरीर में ही पीनेवाले होइये यह सुरक्षित सोम ही इन्द्रियों को सशक्त बनता है।

भावार्थ—सुदूर लक्ष्य पर पहुँचाने के लिये प्रभु हमें गतिशील कान्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करायें। इन्हें गतिशील कान्त बनाने के लिये सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वाजसातये

त्वामिद् वृत्रहन्तम जनासो वृक्तबर्हिषः। हवन्ते वाजसातये॥ ३७॥

(१) हे **वृत्रहन्तम**=वासना को अधिक से अधिक विनष्ट करनेवाले प्रभो! **वृक्तबर्हिषः**=जिन्होंने हृदयक्षेत्र से वासना के घास-फूस को उखाड़ फेंका है ऐसे **जनासः**=लोग **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये **त्वां इत**=आपको ही **हवन्ते**=पुकारते हैं। (२) प्रभु का आराधन ही हमारी वासनाओं को विनष्ट करता है और इस प्रकार हमें सबल बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें, प्रभु हमारी वासना को विनष्ट करेंगे और हमें शक्ति-सम्पन्न करेंगे।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

तेरे अनुकूल (त्वा अनु)

अनु त्वा रोदसी उभे चक्रं न वर्त्येतशम्। अनु सुवानास इन्दवः॥ ३८॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब वृक्तबर्हिष् लोग शक्ति प्राप्ति के लिये प्रभु को पुकारते हैं तो **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी **त्वा अनु वर्ति**=तेरे अनुकूल वर्तनवाले होते हैं। इस प्रकार तेरे अनुकूल वर्तनवाले होते हैं **न**=जैसे **चक्रम्**=रथ **एतशम्**=(अनु) घोड़े के पीछे आता है। उस उपासक का मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवी लोक दोनों ही इसके प्रति अनुकूलता के लिये हुए होते हैं। (२) **सुवानासः**=उत्पन्न होते हुए **इन्दवः**=सोमकण भी **अनु**=अनुकूलतावाले होते हैं। अर्थात् उनकी शरीर में ही ऊर्ध्वगति होकर शरीर की शोभा के वे कारण बनते हैं।

भावार्थ—वृक्तबर्हिष् उपासकों के शरीर व मस्तिष्क बड़े ठीक होते हैं। सोमकण इनके शरीर में सुरक्षित रहते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'स्वर्णर शर्यणावान्' प्रभु की उपासना में

मन्दस्वा सु स्वर्णर उतेन्द्र शर्यणावति। मत्स्वा विवस्वतो मती॥ ३९॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **स्वर्णरे**=प्रकाश की ओर ले चलनेवाले उस प्रभु की उपासना में **सुमन्दस्व**=उत्तम आनन्दवाला हो। **उत**=और **शर्यणावति**=सब काम, क्रोध, लोभ

आदि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले उस प्रभु में आनन्द का अनुभव कर। (२) **विवस्वतः**=ज्ञान-रश्मियोंवाले, ज्ञान-रश्मियों द्वारा अन्धकार को दूर करनेवाले प्रभु की **मती**=इस बुद्धि में, प्रभु के दिये गये वेदज्ञान में **मत्स्वा**=आनन्द को ग्रहण कर।

भावार्थ-हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें प्रकाश की ओर ले चलेंगे तथा हमारे वासना रूप शत्रुओं का संहार करेंगे। प्रभु से दिये गये वेदज्ञान में ही हम आनन्द को लें।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वृत्रहा सोमपातमः

वावृधान उप द्यवि वृषा वज्र्यरोरवीत्। वृत्रहा सोमपातमः ॥ ४० ॥

(१) **द्यवि उप**=वासना विनाश से पवित्र हुए-हुए प्रकाशमय हृदय में **वावृधानः**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **वृषा**=हमारे लिये शक्ति का सेचन करनेवाला **वज्री**=वज्रहस्त प्रभु **अरारेवीत्**=खूब ही ज्ञानोपदेश को करता है। पवित्र हृदय पुरुषों में प्रभु प्रेरणा सुनायी पड़ती ही है। (२) ये प्रभु **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करते हैं और **सोमपातमः**=अधिक से अधिक सोम को शरीर में सुरक्षित करते हैं। वासना ही सोमरक्षण में महान् विघ्न है। उसे दूर करके प्रभु हमारे सोम का रक्षण करके हमें शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ-पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश अधिकाधिक बढ़ता चलता है। प्रभु वासना का विनाश करते हैं व सोम का रक्षण करते हैं। सोमरक्षण के द्वारा प्रभु हमारे जीवनों में शक्ति का सेचन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पूर्वजा ऋषि

ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा। इन्द्र चोष्कूयसे वसु॥ ४१ ॥

(१) हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा हैं। **पूर्वजाः असि**=बनने से पहले ही हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'। **एकः**=आप अद्वितीय हैं, **ओजसा ईशानः**=ओजस्विता के कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप ही **वसु**=सब धनों को **चोष्कूयसे**=देते हैं। जीवन के लिये आवश्यक सब धन आप से ही प्राप्त कराये जाते हैं।

भावार्थ-प्रभु तत्त्वद्रष्टा सदा से वर्तमान व ईशान हैं। प्रभु ही सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'प्रभु, यज्ञों व सात्विक अन्न' की ओर

अस्माकं त्वा सुताँ उप वीतपृष्ठा अभि प्रयः। शतं वहन्तु हरयः॥ ४२ ॥

(१) हे प्रभो! **अस्माकम्**=हमारे ये **वीतपृष्ठाः**=चमकती पीठवाले, अर्थात् तेजस्वी **हरयः**=इन्द्रियाश्व **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **त्वा उप**=आपके समीप **वहन्तु**=ले चलनेवाले हों। अर्थात् हम इन इन्द्रियाश्वों द्वारा आपकी उपासन करनेवाले बनें। **सुतान् उप**=नाना यज्ञों के समीप ये हमें प्राप्त करनेवाले हों। इनके द्वारा हम सदा यज्ञों को करते रहें। (२) ये इन्द्रियाश्व **प्रयः अभि**=उत्तम सात्त्विक अन्न की ओर हमें ले चलें। इस सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए ये इन्द्रियाश्व हमें सात्त्विक वृत्तिवाला बनायें।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ प्रभु की ओर यज्ञों की ओर व सात्त्विक अन्न की ओर झुकाववाली हों।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-स्तवन व ज्ञान प्राप्ति

इमां सु पूर्व्यां धियं मधोर्घृतस्य पिप्युषीम्। कण्वा उक्थेन वावृधुः॥ ४३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **इमाम्**=इस **पूर्व्याम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे से दी जानेवाली **मधोः**=अत्यन्त मधुर, जीवन को मधुर बनानेवाली **घृतस्य**=ज्ञानदीप्ति को **पिप्युषीम्**=आप्यायित करनेवाली **धियम्**=बुद्धि को, वेदज्ञान को **कण्वः**=मेधावी पुरुष **उक्थेन**=स्तोत्रों के द्वारा **सु वावृधुः**=सम्यक् अपने अन्दर बढ़ानेवाले होते हैं। (२) प्रभु स्तवन से हृदय की शुद्धि होती है और बुद्धि की तीव्रता होती है। इस हृदय शुद्धि व बुद्धि की तीव्रता से ज्ञान का सम्यक् वर्धन होता है। यह ज्ञान ही जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दिया जानेवाला ज्ञान जीवन के माधुर्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इस ज्ञान को मेधावी पुरुष प्रभु-स्तवन से शुद्ध हृदय व तीव्र बुद्धि बनकर प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्र का वरण

इन्द्रमिद्विमहीनां मेधे वृणीत मर्त्यः। इन्द्रं सनिष्युरूतये॥ ४४॥

(१) **विमहीनाम्**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमियों के **मेधे**=सम्पर्क के निमित्त **मर्त्यः**=मनुष्य **इन्द्रं इत्**=उस प्रभु का ही **वृणीत**=वरण करे। योगमार्ग में अगली-अगली भूमि अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रभु की उपासना हमें इन भूमियों पर पहुँचने में सहायक होती है। (२) **सनिष्युः**=सब ऐश्वर्यों के सम्भजन की कामनावाला पुरुष भी **ऊतये**=रक्षण के लिये **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को वरे। प्रभु के अनुग्रह से ही ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं और वे ऐश्वर्य हमारे पतन का कारण नहीं बनते।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें योग की अगली-अगली भूमियों में पहुँचायेगी। यह उपासना ही हमें ऐश्वर्य की स्थिति में पतन से बचायेगी।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रियमेधस्तुता हरी

अर्वाञ्चं त्वा पुरुष्टुत प्रियमेधस्तुता हरी। सोमपेयाय वक्षतः॥ ४५॥

(१) हे **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुत प्रभो! **हरी**=ये इन्द्रियाश्व **त्वा**=आपको **अर्वाञ्चम्**=अन्दर हृदयदेश में **वक्षतः**=धारण करते हैं। वे इन्द्रियाश्व आपका धारण करते हैं जो **प्रियमेधस्तुता**=यज्ञ व स्तुति के साथ प्रेमवाले हैं। (२) ये इन्द्रियाश्व यज्ञों व स्तवन में प्रवृत्त हुए-हुए वासनाओं से बचे रहते हैं। वासनाओं का शिकार न होने से ही ये **सोमपेयाय**=सोम के पान के लिये होते हैं। सोमरक्षण ही जीवन में सब उन्नतियों का मूल बनता है।

भावार्थ—जब इन्द्रियाँ यज्ञों व स्तवन में प्रवृत्त होती हैं, तो हृदय में प्रभु को धारण करने के कारण वासनाओं के आक्रमण से बची रहती है और सोम का पान करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—तिरिन्दिरस्य पारशव्यस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

तिरिन्दिर पर्शु

शतमहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शावा ददे। राधांसि याद्वानाम्॥ ४६॥

(१) प्रभु सर्वत्र तिरोहित रूप से विद्यमान हैं, तथा परमैश्वर्यशाली हैं, सो 'तिरिन्दिर' हैं। 'पर्शुः' (पशु) सर्वद्रष्टा हैं। इस **तिरिन्द्रि**=हृदयगुहा में तिरोहित परमैश्वर्यशाली प्रभु में **पर्शौ**=उस सर्वद्रष्टा प्रभु में **अहम्**=मैं **याद्वानाम्**=यत्नशील पुरुषों के **शतं सहस्रम्**=सैंकड़ों व हजारों **राधांसि**=ऐश्वर्यों को **आददे**=ग्रहण करता हूँ। (२) प्रभु का स्मरण करता हुआ मैं यत्नशील बना रहता हूँ और कार्य-साधक धनों को प्राप्त करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु तिरोहित रूप से सर्वत्र विद्यमान परमैश्वर्यशाली व सर्वद्रष्टा हैं। इनका स्मरण करता हुआ मैं आवश्यक धनों को जुटानेवाला बनता हूँ।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—तिरिन्दिरस्य पारशव्यस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—पादनिचृद्गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

पज्र-सामन्

त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम्। ददुष्पज्राय साम्ने॥ ४७॥

(१) ज्ञान धन आदि का अर्जन करनेवाला 'पज्र' है, शान्त स्वभाव का व्यक्ति 'सामन्' है। इस **पज्राय साम्ने**=ज्ञान आदि के अर्जक शान्त स्वभाव पुरुष के लिये सब देव **अर्वताम्**=(अर्व् हिंसायाम् to kill) रोग आदि का संहार करनेवाले प्राणों के **त्रीणि शतानि**=तीन सौ को **ददुः**=देते हैं। सब प्राकृतिक देव उसकी अनुकूलतावाले होते हुए इसे दीर्घजीवी बनाते हैं। यह 'पज्र सामन्' तीन सौ वर्षों तक जीनेवाला होता है। (२) इस 'पज्र सामन्' को **वेद** =ज्ञानी पुरुष **गोनाम्**=ज्ञान की वाणियों के **दश सहस्रा**=इन दस हजारों को प्राप्त कराते हैं। ऋग्वेद की इन वाणियों द्वारा सब विज्ञान को प्राप्त करके यह 'पज्र सामन्' खूब ही अभ्युदय को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—ज्ञान व धन आदि का अर्जन करनेवाले शान्त स्वभाव के बनकर हम तीन सौ वर्ष के दीर्घ जीवन को और इन सहस्रों ज्ञान वाणियों को प्राप्त हों।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—तिरिन्दिरस्य पारशव्यस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

'दिवम्, उष्ट्रान्, चतुर्युजः'

उदानट् ककुहो दिवमुष्ट्राञ्चतुर्युजो ददत्। श्रवसा याद्वं जनम्॥ ४८॥

(१) **ककुहः**=सब गुणों के दृष्टिकोण से शिखर पर वर्तमान सर्वश्रेष्ठ प्रभु **श्रवसा**=ज्ञान के द्वारा **याद्वं जनम्**=यत्नशील मनुष्य को **उदानट्**=उत्कर्ष को प्राप्त कराते हैं। (२) इस उत्कर्ष को प्राप्त कराने के लिये ही प्रभु उसे **दिवम्**=ज्ञान को **ददत्**=देते हैं। **उष्ट्रान्**=(उष दाहे) ज्ञानाग्नि के द्वारा वासना दहन शक्तियों को प्राप्त कराते हैं तथा **चतुर्युजः** (ददत्)=धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों को उसके लिये देते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वश्रेष्ठ हैं। वे यत्नशील उपासक को 'ज्ञान, दोष दहन शक्ति व धर्मार्थ काम मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों के लिये यत्नशीलता' प्राप्त कराके उन्नत करते हैं।

इस प्रकार ज्ञान द्वारा निर्दोष जीवनवाला बनकर यह फिर (पुनः) प्रभु का प्रिय (वत्स) बनता है। सो 'पुनर्वत्सः' कहलाता है। यह 'काण्व' मेधावी है। यह 'पुनर्वत्स काण्व' ही अगले सूक्त का ऋषि है। अपने जीवन के उत्कर्ष के लिये यह प्राणसाधना करता हुआ 'मरुतों' (प्राणों) का आराधन करता है-

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

त्रिष्टुभ् इष्

प्र यद्वस्त्रिष्टुभमिषं मरुतो विप्रो अक्षरत्। वि पर्वतेषु राजथ॥ १॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यद्**=जब **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला व्यक्ति **वः**= आपके द्वारा **त्रिष्टुभम्**='काम-क्रोध-लोभ' तीनों को रोक देनेवाली (त्रि स्तुभ्) **इषम्**=प्रभु प्रेरणा को **प्र अक्षरत्**=अपने में प्रकर्षेण संचलित करता है, अर्थात् प्राणायाम द्वारा शुद्ध हृदय में प्रभु प्रेरणा को सुनने का प्रयत्न करता है, तो आप इन **पर्वतेषु**=(पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवाले लोगों में **विराजथ**=विशेषरूप से शोभायमान होते हो। इन प्राणसाधकों में प्राण विशिष्ट शोभावाले होते हैं। अर्थात् इनका जीवन बहुत ही सुन्दर बन जाता है। (२) प्राणसाधना 'शरीर, हृदय व मस्तिष्क' तीनों को क्रमशः नीरोग, निर्मल व तीव्र बनाती है। यही पुरुष प्रभु प्रेरणा को सुनने का पात्र बनता है। प्रभु प्रेरणा उसके 'काम-क्रोध-लोभ' आदि असुरभावों को विनष्ट करनेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणसाधन से पवित्र हुए-हुए हृदयों में प्रभु प्रेरणा सुनाई पड़ती है। वह इसके (काम-क्रोध-लोभरूप) तीनों दोषों को रोकनेवाली होती है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अविद्या पर्वत विदारण

यदङ्ग तविषीयवो यामं शुभ्रा अचिध्वम्। नि पर्वता अहासत॥ २॥

(१) हे मरुतो (प्राणो)! **यत्**=जब **अङ्ग**=शीघ्र ही **तविषीयवः**=बल को जोड़ने की कामनावाले होते हुए **शुभ्राः**=जीवन को उज्ज्वल बनानेवाले आप **यामं अचिध्वम्**=संयम का संचय करते हो, जितेन्द्रियता की वृद्धि करते हो तो **पर्वताः**=अविद्या पर्वत **नि अहासत**=निश्चय से दूर कर दिये जाते हैं। (२) प्राणसाधक के मार्ग में अविद्या पर्वत रुकावट नहीं बने रहते।

भावार्थ—प्राणसाधना से जितेन्द्रिय बनकर हम अविद्या को विनष्ट करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वाश्रासः पृश्निमातरः

उदीरयन्त वायुभिर्वाश्रासः पृश्निमातरः। धुक्षन्त पिप्युषीमिषम्॥ ३॥

(१) ये साधक लोग **वायुभिः**=इन प्राणों के द्वारा, प्राणसाधना के द्वारा **उदीरयन्त**=ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं। **वाश्रासः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं। **पृश्निमातरः**=प्रकाश की किरणों का अपने अन्दर निर्माण करनेवाले होते हैं। (२) ये **पिप्युषीम्**=जीवन को आप्यायित करनेवाले **इषम्**=अन्न को **धुक्षन्त**=अपने में पूरित करते हैं। प्राणसाधना के साथ इस सात्त्विक अन्न का सेवन इनको योग मार्ग में आगे बढ़ानेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणायाम के साथ सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए ये साधक प्रभु के नामों का

उच्चारण करते हैं और स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-रश्मियों का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मिहं वपन्ति, पर्वतान् प्रवेपयन्ति

वपन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान्। यद्यामं यान्ति वायुभिः॥ ४॥

(१) **यद्**=जब **वायुभिः**=इन प्राणों के द्वारा **यामं यान्ति**=जितेन्द्रियता को (याम control) प्राप्त करते हैं, तो **मरुतः**=ये प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **मिहं वपन्ति**=अंग-प्रत्यंग में शक्ति का सेचन करते हैं और **पर्वतान् प्रवेपयन्ति**=अविद्या पर्वतों को कम्पित करके दूर करते हैं। (२) प्राणसाधना हमें इन्द्रियों को वशीभूत करने में समर्थ करती है। यह जितेन्द्रियता सोम का रक्षण करती है। सोमरक्षण से शरीर शक्ति-सम्पन्न बनता है तो मस्तिष्क का अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रिय बनकर हम सोमरक्षण करते हुए शरीर को शक्ति-सम्पन्न तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाते हैं।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

महे शुष्माय

नि यद्यामाय वो गिरिर्नि सिन्धवो विधर्मणे। महे शुष्माय येमिरे॥ ५॥

(१) **यद्**=जब एक व्यक्ति **वः यामाय**=हे प्राणो! आपके संयम के लिये होता है तो **गिरिः**=(गृणाति) ज्ञान का उपदेष्टा बनता है। उस समय **सिन्धवः**=ये ज्ञान प्रवाह **नि**=निश्चय से उसके **विधर्मणे**=विशिष्ट धारण के लिये होते हैं। प्राणसाधना से ज्ञानदीप्ति बढ़ती है। (२) हे प्राणो! आप **महे शुष्माय**=महनीय शत्रु-शोषक बल के लिये **नियेमिरे**=संयत किये जाते हैं। प्राणसाधना के द्वारा वह बल प्राप्त होता है, जो शत्रुओं का शोषण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे ज्ञान व बल का वर्धन करती है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रातः-सायं प्राणसाधना

युष्माँ उ नक्तमूतये युष्मान्दिवा हवामहे। युष्मान्प्रयत्यध्वरे॥ ६॥

(१) हे प्राणो! **युष्मान् उ**=आपको ही **नक्तम्**=रात्रि में **ऊतये**=रक्षण के लिये हम **हवामहे**=पुकारते हैं। **युष्मान्**=आपको ही **दिवा**=दिन में रक्षण के लिये पुकारते हैं। प्रातः-सायं प्राणसाधना करते हुए हम वासनाओं व रोगों के आक्रमण से अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। (२) हे प्राणो! **युष्मान्**=आपको ही हम **अध्वरे प्रयति**=यज्ञ के चलते हुए होने पर रक्षण के लिये पुकारते हैं। यह जीवनयज्ञ प्राणों द्वारा ही रक्षित होता हुआ चलता है। वस्तुतः प्राणसाधना से ही यह यज्ञ बना रहता है। प्राणसाधना के अभाव में जीवन की वह पवित्रता स्थिर नहीं रहती।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्राणसाधना करते हुए रोगों व वासनाओं से अपने को आक्रान्त न होने दें और इस प्रकार अपने जीवन को एक पवित्र यज्ञ का रूप दे सकें।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अरुणप्सवः चित्राः

उदु त्ये अरुणप्सवश्चित्रा यामेभिरीरते। वाश्रा अधि ष्णुना दिवः॥ ७॥

(१) **त्ये**=वे प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **उ**=निश्चय से **अरुणप्सवः**=तेजस्वी (हलकी लालिमावाले) रूपवाले होते हैं। **चित्राः**=अद्भुत जीवनवाले व (चित्) ज्ञान को देनेवाले होते हैं। **यामेभिः**=संयमों के द्वारा **उद् ईरते**=उन्नति के मार्ग पर चलते हैं। (२) **वाश्राः**=ये प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले होते हैं। **दिवः**=ज्ञान के **स्नुना अधि**=शिखर के साथ शोभायमान होते हैं। ज्ञान के शिखर पर स्थित हुए-हुए ये व्यक्ति सदा प्रभु-स्मरण में प्रवृत्त रहते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'तेजस्विता, ज्ञान, संयमवृत्ति व प्रभु-प्रवणता' प्राप्त होती है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

ओजस्विता-ज्ञान-रश्मियाँ

सृजन्ति रश्मिमोजसा पन्थां सूर्याय यातवे। ते भानुभिर्वि तस्थिरे॥ ८॥

(१) प्राणसाधना के होने पर ये प्राण **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **रश्मिम्**=ज्ञान की रश्मियों को **सृजन्ति**=हमारे अन्दर उत्पन्न करते हैं। तथा **सूर्याय**=सहस्रार चक्र (सूर्य चक्र) की ओर **यातवे**=जाने के लिये **पन्थाम्**=मार्ग को बनाते हैं। इस सहस्रार चक्र में पहुँचने पर ही सत्य का ही पोषण करनेवाली प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। (२) इस प्रकार **ते**=वे प्राणसाधक पुरुष **भानुभिः**=प्रकाश की किरणों के साथ **वितस्थिरे**=जीवन में विशिष्ट स्थितिवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें ओजस्विता के साथ ज्ञान-रश्मियों को प्राप्त कराती है। हम मस्तिष्क में स्थित सूर्य चक्र में पहुँचकर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' को प्राप्त करते हैं। हमारा जीवन विशिष्ट दीप्तियोंवाला होता है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

ज्ञान-स्तवन-प्रार्थना

इमां मे मरुतो गिरमिमं स्तोममृभुक्षणः। इमं मे वनता हवम्॥ ९॥

(१) **मरुतः**=हे प्राणो! **इमां मे गिरम्**=इस मेरी ज्ञान की वाणी को **वनता**=सेवन करो। हे **ऋभुक्षणः**=विशाल दीप्ति में निवास करनेवाले प्राणो, ज्ञान को विशाल बनानेवाले प्राणो! **इमं स्तोमं (वनता)**=इस मेरे स्तुति समूह का सेवन करो। प्राणसाधना के द्वारा मैं ज्ञान की वाणियों की ओर झुकाववाला बनूँ तथा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनूँ। (२) हे प्राणो! **मे**=मेरी **इमं इहवम्**=इस पुकार को, प्रार्थना का **वनत**=सेवन करो। प्राणसाधना के द्वारा मैं प्रार्थना की वृत्तिवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना मुझे 'ज्ञान, स्तवन व प्रभु प्रार्थना' की ओर झुकाववाला बनाये।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

त्रीणि सरांसि

त्रीणि सरांसि पृश्नयो दुदुह्रे वज्रिणे मधु। उत्सं कवन्धमुद्रिणम्॥ १०॥

(१) ये प्राण 'पृश्नयः' कहलाते हैं क्योंकि ज्ञानदीप्ति का ये कारण बनते हैं। ये प्राण **वज्रिणे**=क्रियाशील पुरुष के लिये **त्रीणि सरांसि**='प्रकृति, जीव व परमात्म' सम्बन्धी तीन ज्ञान प्रवाहों को **दुदुह्रे**=प्रपूरित करते हैं। इन ज्ञान प्रवाहों के द्वारा वे इसके जीवन में **मधु**=माधुर्य का दोहन करते हैं। (२) ये प्राण **उद्रिणम्**=ज्ञान जल से पूर्ण **उत्सम्**=स्रोत को प्रपूरित करते हैं जो **कवन्धम्**=हमारे जीवनों में उस आनन्दमय (क) प्रभु को हमारे साथ बाँधने (वन्ध) वाला होता

है।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करके हम अपने जीवनों को मधुर बना पाते हैं और अन्ततः यह ज्ञान हमें प्रभु का सम्पर्क प्राप्त कराता है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दिवः सुम्नायन्तः

मरुतो यद्ध वो दिवः सुम्नायन्तो हवामहे। आ तू न उप गन्तन॥ ११॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यत् ह**=जब निश्चय से **दिवः सुम्नायन्तः**=ज्ञान के सुख की कामना करते हुए हम **वः हवामहे**=आपको पुकारते हैं, **तु**=तो आप **नः**=हमें **आ उपगन्तन**=सर्वथा समीपता से प्राप्त होवो। (२) प्राणसाधना से ही बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान का सुख प्राप्त होता है। प्राणसाधना के अभाव में ज्ञान एकदम अरुचिकर प्रतीत होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से बुद्धि तीव्र होती है। बुद्धि की तीव्रता के होने पर हमें ज्ञान प्राप्ति में आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'सुदानु रुद्र ऋभुक्षा प्रचेतस्' प्राण

यूयं हि ष्ठा सुदानवो रुद्रा ऋभुक्षणो दमे। उत प्रचेतसो मदे॥ १२॥

(१) हे प्राणो! **यूयम्**=आप **हि**=निश्चय से **सुदानवः**=(दाप् लवने) अच्छी प्रकार वासनाओं का विच्छेद करनेवाले **स्थ**=हो। **रुद्राः**=(रुत् द्र) रोगों को भगानेवाले हो तथा **दमे**=इस शरीर गृह में अथवा दमन के होने पर **ऋभुक्षणः**=विशाल ज्योति में निवास करनेवाले हो। प्राण शरीर को नीरोग बनाते हैं, मन को निर्मल तथा बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। (२) **उत**=और **मदे**=हर्ष के निमित्त **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट चेतनावाले होते हो। प्रकृष्ट चेतना को प्राप्त कराके ही आप हमारे जीवनों को उल्लासमय बनाते हो।

भावार्थ—प्राण 'वासनाओं को काटनेवाले, रोगों को भगानेवाले, विशाल ज्ञान दीप्ति में निवासवाले व प्रकृष्ट चेतना को देनेवाले' हैं।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'मदच्युत् पुरुक्षु विश्वधायस्' धन

आ नो रयिं मदच्युतं पुरुक्षुं विश्वधायसम्। इयर्ता मरुतो दिवः॥ १३॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आप **दिवः**=ज्ञान के प्रकाशवाले हो। आपकी साधना से ही ज्ञानदीप्ति बढ़ती है। (२) आप **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=उस धन को **आ इयर्त**=सर्वथा प्राप्त कराओ जो **मदच्युतम्**=अभिमान को हमारे से दूर रखनेवाला है, **पुरुक्षुम्**=पालक पूरक अन्नोंवाला है तथा **विश्वधायसम्**=सबका धारण करनेवाला है। (२) धन में तीन ही दोष हैं—(क) अभिमान का पैदा हो जाना, (ख) भोगवृत्ति में पड़कर स्वादिष्ट भोजनों में फँस जाना, (ग) अपनी ही भोग-सामग्री को बढ़ाते हुए धन का अपने सुख के लिये ही व्यय करना। प्राणसाधना के होने पर हम इन तीनों दोषों से बचे रहेंगे। यह साधना हमें धन का मद न होने देगी, हम पालक व पूरक सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करेंगे। हम धन का विनियोग लोक हित के कार्यों में करेंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना प्रकाश को प्राप्त कराती हुई हमें धन के साथ 'निरभिमानता, भोगों में

अनासक्ति व लोकहित प्रवृत्ति' देती है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जितेन्द्रियता-सोमरक्षण-आनन्द

अधीव यद्गिरीणां यामं शुभ्रा अचिध्वम्। सुवानैर्मन्दध्व इन्दुभिः॥ १४॥

(१) हे **शुभ्राः**=हमारे जीवनों को शुभ्र बनानेवाले प्राणो! **यद्**=जब **गिरीणाम्**=इन ज्ञान की वाणियों के अन्दर विचरनेवाले ज्ञानी पुरुषों के जीवन में **अधि इव**=खूब अधिकता से **यामम्**=संयम का **अचिध्वम्**=संचय करते हो, तो **सुवानैः**=उत्पन्न किये जाते हुए इन **इन्दुभिः**=सोमकणों से **मन्दध्वे**=आनन्दित करते हो। (२) प्राणसाधना से इन ज्ञानी पुरुषों का जीवन खूब ही संयमवाला होता है। यह संयम सोमरक्षण का साधन बनता है। सुरक्षित सोम जीवन को 'नीरोग, निर्मल व दीप्त' बनाकर आनन्दमय बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'जितेन्द्रियता, सोमरक्षण व आनन्द' की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्राणरक्षण व ज्ञान का मनन

एतावतश्चिदेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः। अदाभ्यस्य मन्मभिः॥ १५॥

(१) **एतावतः**=इतने से, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार क्योंकि ये मरुत् (प्राण) हमें इन सोमकणों के रक्षण के द्वारा आनन्दित करते हैं, इसलिए **एषाम्**=इन प्राणों के **सुम्नम्**=रक्षण को **भिक्षेत**=माँगे। 'प्राणों का रक्षण हमें प्राप्त हो' ऐसी कामना उपासक करे। (२) **अदाभ्यस्य**=उस अहिंसनीय प्रभु के **मन्मभिः**=दिये गये इन ज्ञानों के साथ हम प्राणों के रक्षण की कामना करें। ये प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान हमें प्राप्त हों। और प्राणायाम द्वारा प्राणों की साधना करते हुए हम अपना रक्षण कर पायें। प्राणसाधना से ही शरीर में सोम का रक्षण होगा। उसके रक्षण से ही सब रक्षणों का सम्भव होगा।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करें और प्रभु से दिये गये इन ज्ञानों को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अक्षित उत्स

ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभिः। उत्सं दुहन्तो अक्षितम्॥ १६॥

(१) **ये**=जो **द्रप्साः इव**=जल-बिन्दुओं के समान **वृष्टिभिः**=शक्तियों के सेचन के द्वारा (जैसे जल-बिन्दु भूमि को सिक्त करते हैं, इसी प्रकार ये रेतःकण (द्रप्स) शक्ति का सेचन करते हैं) **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **अनु धमन्ति**=अनुकूलता से शब्दयुक्त करते हैं अथवा अनुकूलता से निर्मित करते हैं (cast=ढालना)। शरीर में ये रेतःकण शक्ति का निर्माण करते हैं और मस्तिष्क में इनके द्वारा ही ज्ञान का सञ्चार किया जाता है। (२) ये द्रप्स ही, ये शक्तिकण ही **अक्षितम्**=कभी क्षीण न होनेवाले **उत्सम्**=ज्ञान के स्रोत को **दुहन्तः**=हमारे अन्दर पूरित करते हैं। ज्ञानाग्नि का ईंधन ये ही बनते हैं। इनके द्वारा ही बुद्धि सूक्ष्म होकर ज्ञान का ग्रहण करनेवाली बनती है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा शरीर में सुरक्षित सोमकण हमारे शरीर व मस्तिष्क का अनुकूलता से निर्माण करते हैं और हमारे जीवनों में न क्षीण होनेवाले ज्ञानस्रोत को प्रवाहित करते हैं।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः **देवता**—मरुतः **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

उदु स्वानेभिरीरत उद्रथैरुदु वायुभिः। उत्स्तोमैः पृश्निमातरः॥ १७॥

(१) **पृश्निमातरः**=प्राणसाधना के द्वारा ज्ञानरश्मियों का अपने अन्दर निर्माण करनेवाले लोग **स्वानेभिः**=इन ज्ञान की वाणियों के उच्चारण के द्वारा **उ**=निश्चय से **उदीरते**=उन्नत होते हैं। ये साधक **रथैः**=इन शरीर-रथों से भी **उद्**=ऊपर उठते हैं। इनका ठीक प्रयोग करते हुए जीवन में उन्नत होते हैं। (२) **उ**=और ये साधक **वायुभिः**=(वा गतौ) इन गतिशील इन्द्रियाश्वों के द्वारा **उत्**=उन्नत होते हैं, वायुसम वेगवाले इन्द्रियाश्व इन्हें आगे और आगे ले चलते हैं। **स्तोमैः**=प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **उत्**=ये उन्नत होते हैं। वस्तुतः प्रभु का स्तवन करते हुए ही ये सब कार्यों को करते हैं। इनके शरीररथ ज्ञान की वाणियों से जुड़े हुए हैं, तो इनकी इन्द्रियों से होनेवाले सब कर्म प्रभु-स्तवनों से।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा (क) हम शरीर-रथों को दृढ़ बनायें, (ख) इन शरीर-रथों को ज्ञान की वाणियों के प्रकाश से युक्त करें, (ग) इन्द्रियाँ हमारी सतत कर्त्तव्यकर्मपरायण हों, (घ) हमारे कर्म प्रभु-स्तवन के साथ चलें।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः **देवता**—मरुतः **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

'तुर्वश, यदु, कण्व, धनस्पृत्'

येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम्। राये सु तस्य धीमहि॥ १८॥

(१) हे मरुतो (प्राणो)! **येन**=जिस मार्ग से आप **तुर्वशम्**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाले, **यदुम्**=यत्नशील मनुष्य को **आव**=रक्षित करते हो। **येन**=जिस मार्ग से **धनस्पृतम्**=धन के देनेवाले **कण्वम्**=मेधावी पुरुष को रक्षित करते हो। हम भी **राये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **तस्य**=उस उपाय का **सुधीमहि**=सम्यक् धारण करते हैं। (२) वस्तुतः प्राणसाधना ही हमें 'तुर्वश, यदु, कण्व व धनस्पृत्' बनाती है। प्राणसाधना के द्वारा ही हम उस मार्ग पर चलने में भी समर्थ होते हैं जिस पर कि चलकर हम ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना करते हुए हम शत्रुओं को वश में करनेवाले, यत्नशील, मेधावी व धन के दाता बनें। ये प्राणसाधना ही हमें धन प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कराये।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः **देवता**—मरुतः **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

'सुदानवः' मरुतः

इमा उ वः सुदानवो घृतं न पिप्युषीरिषः। वर्धान्काण्वस्य मन्मभिः॥ १९॥

(१) ये मरुत् (प्राण) 'सुदानु' हैं, सब उत्तमताओं को देनेवाले हैं, अथवा सब बुराइयों का खण्डन करनेवाले हैं (दाप् लवने)। हे **सुदानवः**=सुदानु प्राणो! **उ**=निश्चय से **इमाः**=ये **वः**=आपकी साधना के द्वारा प्राप्त होनेवाली, **इषः**=प्रेरणा **घृतं न**=ज्ञान की दीप्ति की तरह **पिप्युषीः**=आप्यायित करनेवाली हैं। प्राणसाधना के होने पर बुद्धि की तीव्रता से ज्ञान की वृद्धि होती है और हृदय की पवित्रता से अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है। (२) ये ज्ञान दीप्तियाँ व प्रेरणायें **काण्वस्य**=इस मेधावी पुरुष के **मन्मभिः**=स्तोत्रों के साथ **वर्धान्**=वृद्धि को प्राप्त होती हैं। एक समझदार साधक प्रभु का स्तवन करता है और प्राणसाधना के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ प्रभु प्रेरणा को सुननेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राण सुदानु हैं, बुराइयों का खण्डन करनेवाले हैं। ये ज्ञानदीप्तिवाला को बढ़ाते हैं, अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को हमें सुनाते हैं। तथा हमें प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनाते हैं।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'वृक्तबर्हिषः' मरुतः

क्वं नूनं सुदानवो मदथा वृक्तबर्हिषः। ब्रह्मा को वः सपर्यति॥ २०॥

(१) हे **सुदानवः**=सब उत्तमताओं को देनेवाले प्राणो! आप **नूनम्**=निश्चय से **क्व**=कहाँ, किस स्थिति में हमें **मदथा**=आनन्दित करते हो? तभी तो जब कि आप **वृक्तबर्हिषः**=हमारे हृदय क्षेत्रों से वासना के घास-फूस को उखाड़नेवाले होते हो। हृदयों को निर्मल करके आप आनन्द के देनेवाले होते हो। (२) **कः वः सपर्यति**=कौन आपका पूजन करता है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तुतः वही आपका पूजन करता है जो **ब्रह्मा**=सात्त्विक पुरुषों में भी उत्तम सात्त्विक बनता है, चतुर्वेदवेत्ता होता है, ज्ञान के उच्चतम शिखर पर पहुँचता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के दो परिणाम हैं—हृदयक्षेत्र से वासनाओं का उखाड़ा जाना तथा मस्तिष्क का ज्ञानोज्ज्वल होना।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोम-ऋत के शर्ध

नहि ष्म यद्ध वः पुरा स्तोमेभिर्वृक्तबर्हिषः। शर्धाँ ऋतस्य जिन्वथ॥ २१॥

(१) हे **वृक्तबर्हिषः**=हृदयक्षेत्र से वासना के घास-फूस को उखाड़ देनेवाले प्राणो! आप उन **ऋतस्य**=ऋत के, यज्ञ के व सत्य के **शर्धान्**=बलों को **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **जिन्वथ**=प्राप्त कराते हो, **यत् ह**=जो निश्चय से **वः पुरा नहि स्म**=आपकी साधना से पूर्व नहीं होते। (२) प्राणसाधना के होने पर हमारे जीवन से असत्य दूर हो जाता है। प्राणापान को 'नासत्या' कहा ही है, 'न असत्या'=जिनके कारण असत्य नहीं रहता। प्राणसाधना से ही स्तुति वृत्ति उत्पन्न होती है। यह असत्य से दूर रहनेवाला स्तोता शत्रुओं को कुचलनेवाले बलों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से प्रभु-स्तवन की वृत्ति जागती है तथा सत्य का बल प्राप्त होता है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

समु त्ये महतीरपः सं क्षोणी समु सूर्यम्। सं वज्रं पर्वशो दधुः॥ २२॥

(१) **त्ये**=गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना से 'प्रभु-स्तवन की वृत्ति तथा सत्य के बल को' अपनानेवाले लोग **उ**=निश्चय से **महनीः अपः**=महत्त्वपूर्ण रेतःकणरूप जलों को **संदधुः**=धारण करते हैं। प्राणसाधना ही रेतःकणों के रक्षण का कारण बनती है। रेतःकणों के रक्षण के द्वारा **क्षोणी**=इस शरीररूप पृथिवी को **सम्**=धारण करते हैं **उ**=और **सूर्यम्**=सूर्य को **सम्**=धारण करते हैं। अध्यात्म में यह सूर्य 'ज्ञान का सूर्य' है। इस सूर्य के ये धारण करनेवाले होते हैं। (२) ये लोग इस प्रकार 'रेतःकणों, शरीर तथा ज्ञानसूर्य' को धारण करके **पर्वशः**=एक-एक पर्व में **वज्रं दधुः**=क्रियाशीलतारूप वज्र को धारण करते हैं। इनके सब अंग क्रियाशील होते हैं। ये जीवन को क्रियामय बनाये रखते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'रेतःकणों का रक्षण होकर, शरीर की दृढ़ता, ज्ञानसूर्य का उदय तथा क्रियाशीलता' प्राप्त होती है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'वृत्र तथा पर्वतों' पर आक्रमण

वि वृत्रं पर्वशो ययुर्वि पर्वताँ अराजिनः। चक्राणा वृष्णि पौंस्यम्॥ २३॥

(१) ये मरुत् (प्राण) **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना पर **पर्वशः**=पर्व-पर्व पर **वि ययु**=(या प्रापणे invade) आक्रमण करते हैं। वासना पर आक्रमण करके **अराजिनः**=न चमकनेवाले **पर्वतान्**=अविद्य पर्वतों पर **वि (ययुः)**=आक्रमण करनेवाले होते हैं। प्राणसाधना से वासना विनाश के द्वारा सुरक्षित रेतःकण ज्ञानाग्नि का दीपन करते हैं और अविद्या पर्वत को छिन्न-भिन्न करते हैं। (२) ये मरुत् हमारे जीवनों में **वृष्णि**=सुखों के वर्षण करनेवाले **पौंस्यम्**=बल को **चक्राणाः**=करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) वासना का विनाश होता है, (ख) अविद्या का विध्वंस होता है तथा (ग) बल की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शुष्म-क्रतु (शक्ति-प्रज्ञान)

अनु त्रितस्य युध्यतः शुष्ममावन्नुत क्रतुम्। अन्विन्द्रं वृत्रतूर्ये॥ २४॥

(१) **युध्यतः**=वासनाओं से युद्ध करते हुए **त्रितस्य**=मेधा से तीर्णतम (नि० ४।१।६), अर्थात् अत्यन्त मेधावी पुरुष के **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को ये प्राण **अनु आवन्**=अनुकूलता से रक्षित करते हैं। **उत**=और **क्रतुम्**=इसके प्रज्ञान का रक्षण करते हैं। (२) **वृत्रतूर्ये**=वासना विनाशवाले संग्राम में ये प्राण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अनु**=अनुकूलता से रक्षित करते हैं।

भावार्थ—जिस समय मेधावी पुरुष वासनाओं से युद्ध करता है तो ये प्राण उसके बल व प्रज्ञान का रक्षण करते हैं। इन्द्र इन प्राणों की सहायता से ही वासना का संहार कर पाता है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शुभ्र जीवन

विद्युद्धस्ता अभिद्यवः शिप्राः शीर्षन्हिरण्ययीः। शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये॥ २५॥

(१) 'मरुत्'-प्राण हैं। प्राणसाधना करनेवाले पुरुष भी मरुत् कहलाते हैं। ये मरुत् 'विद्युद् हस्ताः'=विद्युत् से बने हाथोंवाले, अर्थात् शीघ्रता से कार्य करनेवाले, **अभिद्यवः**=सब ओर से दीप्तिवाले, तेजस्वी **शुभ्राः**=निर्मल जीवनवाले होते हैं। इनके मनों में राग-द्वेष आदि का मल नहीं होता। (२) ये प्राणसाधक पुरुष **शीर्षन्**=अपने सिरों पर **हिरण्ययीः**=ज्योतिर्मय **शिप्राः**=शिरस्त्राणों को **व्यञ्जत**=प्रकट करते हैं और **श्रिये**=शोभा के लिये होते हैं। योद्धाओं ने सिरों के रक्षण के लिये शिरस्त्राण (टोपियो) धारण किये होते हैं। इन प्राणसाधकों ने भी मस्तिष्क में ज्ञानरूप शिरस्त्राण को ही मानो स्थापित किया होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) हाथ विद्युत् के समान शीघ्रता से कार्यों को करते हैं, (ख) शरीर सब ओर दीप्तिवाला, तेजस्वी बनता है, (ग) मस्तिष्क में ज्ञानरूप शिरस्त्राण की स्थापना होती है, (घ) इन साधकों के हृदय निर्मल होते हैं।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सूर्य द्वार से आगे बढ़ना

उशना यत्परावत उक्ष्णो रन्ध्रमयातन। द्यौर्न चक्रदद्भिया॥ २६॥

(१) **उशनाः**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाला व्यक्ति **यत्**=जब **परावतः उक्ष्णः**=उस सुदूर सूर्य के **रन्ध्रम्**=(छिद्र) द्वार को **अयातन**=प्राप्त होता है तो **द्यौः न**=प्रकाशमय जीवनवाला होता हुआ 'विरज' होता हुआ **अभिया**=कहीं पतन न हो जाये इस भय से **चक्रद**=प्रभु का आह्वान करता है। (२) साधना में उन्नत होता हुआ पुरुष शरीर में सब से निचले 'मूलाधार चक्र' से ऊपर उठता हुआ सब से ऊपर 'सूर्य चक्र' (सहस्रार चक्र) में पहुँचता है तो अद्भुत सिद्धियों को प्राप्त करता है। यहाँ सिद्धियों में फँस जाने का अधिक से अधिक भय होता है। इस भय से यह प्रभु का आह्वान करता है कि हे प्रभो! मैं इन सिद्धियों में आसक्त न होकर आपकी ओर आगे और आगे बढ़ता ही जाऊँ। यदि नहीं फँसता तो अमृत प्रभु को प्राप्त करता ही है।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले बनकर प्राणसाधना के द्वारा शरीरस्थ सूर्य द्वार से ऊपर उठें। 'सिद्धियों में न गिर जायें' सो प्रभु का आराधन करें। प्रकाशमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यज्ञ-वीर्य-ज्योति

आ नो मखस्य दावनेऽश्वैर्हिरण्यपाणिभिः। देवास उप गन्तन॥ २७॥

(१) हे **देवासः**=दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले प्राणो! आप **नः**=हमारे लिये **मखस्य दावने**=यज्ञों के देने के निमित्त, हमारे में यज्ञिय भावनाओं को जन्म देने के लिये **आ उपगन्तन**=सर्वथा प्राप्त होवो। इस प्राणसाधना के द्वारा ही यज्ञिय भावना का उदय होता है। (२) हे प्राणो! **हिरण्यपाणिभिः**=(हिरण्यं वै वीर्यं, हिरण्यं वै ज्योतिः) वीर्य व ज्योति को, शक्ति व प्रकाश को हाथ में लिये हुए **अश्वैः**=इन्द्रियाश्वों से आप हमें प्राप्त होवो। प्राणसाधना से कर्मेन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानदीप्त होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से यज्ञिय वृत्ति का जन्म होता है। यह साधना हमारी इन्द्रियों को उत्तम बनाती है।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रोहितः प्रष्टिः

यदेषां पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहितः। यान्ति शुभ्रा रिणन्नपः॥ २८॥

(१) **यद्**=जब **एषाम्**=इन प्राणसाधकों के **रथे**=शरीर-रथ में **पृषतीः**=इन इन्द्रिय मृगों को, इन्द्रियरूप मृगों को वह **रोहितः**=सब दृष्टिकोणों से बढ़ा हुआ **प्रष्टिः**=द्रष्टा प्रभु (अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति) **वहति**=प्राप्त कराता है, अर्थात् प्रभु इनका नियन्ता बनता है, तो ये साधक **शुभ्राः**=शुभ्र जीवनवाले बनकर **यान्ति**=गतिशील होते हैं। **अपः**=रेतःकणरूप जलों को **रिणन्**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। (२) हमारे इस शरीर-रथ का नियन्ता प्रभु बनें। वह द्रष्टा प्रभु जब हमारे इन इन्द्रिय मृगों के नियन्ता बनते हैं, तो हमारे जीवन में किसी प्रकार की मलिनता नहीं आती। जीवन शुभ्र बन जाता है। उस समय रेतःकणों का रक्षण होकर जीवन 'नीरोग, निर्मल व दीप्त' बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे इन्द्रिय मृगों के नियन्ता बनें। ऐसा होने पर हमारे जीवन शुभ्र बनेंगे। शक्तिकण शरीर में ही प्रेरित होंगे।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सब चक्रों का ठीक होना

सुषोमे शर्यणावत्यार्जीके पस्त्यावति। ययुर्निचक्रया नरः॥ २९॥

(१) **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग इस शरीर गृह में **निचक्रया**=नियमित चक्रसमूह से **ययुः**=गति करते हैं। इनका शरीरों में मूलाधार चक्र से सहस्रार चक्र तक सब आठों चक्र अपना-अपना कार्य ठीक रूप से करते हैं प्राणसाधना ही इन चक्रों की गति को ठीक रखती है। (२) 'कैसे शरीर गृह में ये गति करते हैं?' इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **सुषोमे**=(सु-सोमे) उत्तम सोमवाले। प्राणसाधना से वीर्य शुद्ध बना रहता है, इसकी ऊर्ध्वगति होती है। **शर्यणावति**=संहारवाले, इस शरीर गृह में रोगकृमियों के वासनाओं का संहार हो जाता है। **आर्जीके**=जिस शरीर गृह में शक्ति का खूब उपार्जन हुआ है। **पस्त्यावति**=जिस शरीर गृह में सब पस्त्य (cells) उत्तम होते हैं।

भावार्थ—शरीर वही अच्छा है जिसमें सोम का रक्षण हो, रोगकृमि व वासनाओं का संहार हो, शक्ति का उपार्जन हो तथा सब घटक (cells) ठीक हों। इसमें आठों चक्रों की गति ठीक हो।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्राणसाधक की आतुरता

कदा गच्छाथ मरुत इत्था विप्रं हवमानम्। मार्डीकेभिर्नाधमानम्॥ ३०॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आप **इत्था**=सत्यरूप में **हवमानम्**=पुकारते हुए **विप्रम्**=इस अपने पूरण करनेवाले पुरुष को **कदा**=कब **गच्छाथ**=प्राप्त होते हो। (२) **मार्डीकेभिः**=उस (मृडीकस्य शिवस्य इमानि) आनन्दमय प्रभु के नामों से **नाधमानम्**=याचना करते हुए इस विप्र को आप कब प्राप्त होवोगे? प्राणसाधना करते हुए प्रभु के नामों का उच्चारण साधना में सहायक हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना करता हुआ पुरुष प्रभु के नामों का उच्चारण करे तथा उसे साधना के लिये एक आतुरता-सी हो।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु की ओर ही चलना

कद्ध नूनं कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन। को वः सखित्व ओहते॥ ३१॥

(१) हे **कधप्रियः**=प्रभु-स्तवन के प्रिय पुरुषो! **यत्**=जब **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर **अजहातन**=तुम चलते हो (हा गतौ), तो **नूनम्**=निश्चय से यह गमन **कत् ह**=(कं तनोति इति कत्) आनन्द का विस्तार करनेवाला होता है। (२) **कः**=वह आनन्दमय प्रभु ही **वः सखित्वे**=तुम्हारी मित्रता में **ओहते**=प्राप्त हो जाता है। उस आनन्दस्वरूप के प्राप्त होने पर आनन्द ही आनन्द हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु की ओर चलें। हम प्रभु के मित्र बन पायें।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वज्रहस्तैः हिरण्यवाशीभिः

सहो षु णो वज्रहस्तैः कण्वासो अग्निं मरुद्भिः। स्तुषे हिरण्यवाशीभिः॥ ३२॥

(१) **नः**=हमारे में **कण्वासः**=जो भी मेधावी पुरुष हैं, वे **अग्नि सु स्तुषे**=उस अग्रेणी प्रभु का उत्तमता से स्तवन करनेवाले होते हों। (२) इस स्तवन को वे **मरुद्भिः सह**=इन प्राणों के साथ ही करते हैं। प्राणसाधना करते हुए वे प्रभु-नामोच्चारण करते हैं। ये प्राण **वज्रहस्तैः**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए हैं, तथा **हिरण्यवाशीभिः**=हितरमणीय ज्योतिर्मयी वाणीवाले हैं। प्राणसाधना के द्वारा शक्ति का वर्धन होकर यह साधक क्रियाशील बनता है तथा ज्ञानाग्नि की दीप्ति से सदा हितरमणीय वाणी का ही उच्चारण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों। इससे हमारे हाथ उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होंगे तथा वाणी सदा हितरमणीय वचनों का उच्चारण करनेवाली होगी।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—आर्षीविराङ्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वृष्णः, प्रयज्यून्, चित्रवाजान्

ओ षु वृष्णः प्रयज्यूना नव्यसे सुविताय। ववृत्याम् चित्रवाजान्॥ ३३॥

(१) मैं **वृष्णः**=शक्ति का सेचन करनेवाले, **प्रयज्यून्**=प्रकृष्ट कर्मों में संगत होनेवाले व हमें निकृष्ट वस्तुओं से संगत करनेवाले, **चित्रवाजान्**=अद्भुत बलोंवाले प्राणों को **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार आप **वृत्याम्**=अपनी ओर आवृत्त करें। (२) मैं इन प्राणों को अपने जीवन में इसलिए आवृत्त करूँ कि **आनव्यसे सुविताय**=सर्वथा स्तुत्य सुवित के लिये मैं होऊँ। अर्थात् मैं स्तुत्य सुमार्ग पर ही चलनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राण हमारे में शक्ति का सेचन करते हैं, उत्तम बातों की ओर हमें प्रेरित करते हैं, अद्भुत शक्तियों को प्राप्त कराते हैं। प्राणसाधना से हम सदा स्तुत्य सुमार्ग पर (आक्रमण करते हैं) चलते हैं।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

गिरयः, पर्शानासः, मन्यमानाः, पर्वताः

गिरयश्चिन्नि जिहते पर्शानासो मन्यमानाः। पर्वताश्चिन्नि येमिरे॥ ३४॥

(१) **गिरयः**=(गृणाति) प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले ये उपासक **चित्**=निश्चय से **निजिहते**=नम्रता से गतिवाले होते हैं। **पर्शानासः**=सदा ज्ञानवाणियों के सम्पर्कवाले होते हैं। **मन्यमानाः**=प्रभु का चिन्तन करनेवाले होते हैं। (२) **पर्वताः**=(पर्व पूरणे) ये अपना पूरण करनेवाले, न्यूनताओं को दूर करनेवाले, व्यक्ति **चित्**=निश्चय से **नियेमिरे**=नियमित जीवनवाले होते हैं। ये इन्द्रियों व मन का नियमन करके कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा 'ज्ञान, प्रभु सम्पर्क, मनन व पूरण' को प्राप्त हों। जीवन में इन्द्रियों का नियमन करते हुए नम्रता से चलें।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ देवता—मरुतः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

योगसाधना व युक्ताहार-विहारता

आक्ष्णयावानो वहन्त्यन्तरिक्षेण पततः। धातारः स्तुवते वयः॥ ३५॥

(१) ये प्राण **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले के लिये **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **आवहन्ति**=प्राप्त कराते हैं। जो प्रभु-स्मरणपूर्वक इस प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है, वह नीरोग, निर्मल व तीव्र बुद्धियुक्त जीवन को प्राप्त करता है। (२) ये प्राण **आक्ष्णयावानः**=(अक्ष्ण) अखण्ड गतिवाले हैं। और **अन्तरिक्षेण**=मध्य मार्ग से **पततः**=चलते हुए पुरुष का **धातारः**=धारण करनेवाले हैं। प्राणसाधना के साथ युक्ताहार-विहारवाला होना आवश्यक है।

भावार्थ-प्राण निरन्तर चल रहे हैं। ये युक्ताहार-विहार पुरुष के लिये उत्कृष्ट जीवन को धारित करते हैं। स्तोता के लिये उत्कृष्ट जीवन को देते हैं।

ऋषिः—पुनर्वत्सः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पूर्व्यः छन्दः

अ॒ग्निर्हि जानि॑ पू॒र्व्यश्छन्दो॒ न सूरो॑ अ॒र्चिषा॑। ते भा॒नुभि॒र्वि त॑स्थिरे॥ ३६॥

(१) **अग्निः**=यह अग्रेणी प्रभु **हि**=निश्चय से **जानि**=हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होता है। **पूर्व्यः**=यह सृष्टि से पहले होनेवाला है। **छन्दः**=(छादयिता) उपासक का रक्षण करनेवाला है। **अर्चिषा**=अपनी दीप्ति से **सूरः न**=सूर्य के समान है। (२) **ते**=वे प्राणसाधना द्वारा हृदयों में इस प्रभु का दर्शन करनेवाले लोग **भानुभिः**=ज्ञानदीप्तियों के साथ **वितस्थिरे**=विशेषरूप से स्थित होते हैं। ये प्रकाशमय जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ-प्राणसाधना से हृदयों में प्रभु का प्रकाश होता है। इस प्रभु-प्रेरणा से हृदय जगमगा उठता है।

इस प्रभु के प्रादुर्भाव से ये उपासक 'सध्वंस'=वासनाओं के ध्वंस करनेवाले होते हैं। ये मेधावी 'काण्व' तो हैं ही। ये 'अश्विनौ'=प्राणापान का आराधन करते हुए कहते हैं-

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

दस्रा हिरण्यवर्तनी

आ नो॒ विश्वा॑भिरू॒तिभि॒रश्वि॑ना॒ गच्छ॑तं यु॒वम्। दस्रा॒ हिर॑ण्यवर्तनी॒ पिब॑तं सो॒म्यं मधु॑॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **नः**=हमें **आगच्छतम्**=प्राप्त होवो। **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के साथ आप हमें प्राप्त होवो। ये प्राणापान शरीर को रोगों से बचाते हैं, तो मन को मलों से, वासनाओं से बचाते हैं और बुद्धि को मलिन न होने देकर दीप्त बनाते हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **दस्रा**=सब मलों का उपक्षय करनेवाले हो। **हिरण्यवर्तनी**=हितरमणीय व ज्योतिर्मय मार्गवाले हो। आपकी आराधना करनेवाला कभी मलिन मार्ग का आक्रमण नहीं करता। आप **सोम्यं मधु**=सोम सम्बन्धी मधु का, सोमरूप सारभूत वस्तु का, **पिबतम्**=पान करो। यह सुरक्षित सोम ही शरीर को नीरोग तथा बुद्धि को दीप्त बनाता है।

भावार्थ-प्राणापान सब प्रकार का रक्षण प्राप्त कराते हैं। ये मलों का उपक्षय करके हमें ज्योतिर्मय मार्ग से ले चलते हैं। शरीर में सोम का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

कवी गम्भीरचेतसा

आ नू॒नं या॑तमश्विना॒ रथे॑न॒ सूर्य॑त्वचा। भुजी॒ हिर॑ण्यपेशसा॒ कवी॒ गम्भी॑रचेतसा॥ २॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नूनम्**=निश्चय से **सूर्यत्वचा रथेन**=सूर्य के समान कान्तियुक्त आवरणवाले, अर्थात् तेजस्वी **रथेन**=शरीर-रथ से **आयातम्**=हमें प्राप्त होवो। प्राणसाधना इस शरीर को सूर्यसम तेजस्वी बनाये। (२) ये प्राणापान **भुजी**=हमारा पालन करनेवाले हैं (शरीर)। **हिरण्यपेशसा**=ज्योतिर्मयरूपवाले हैं। **कवी**=हमें क्रान्तदर्शी, तीव्र बुद्धिवाला बनाते हैं। तथा **गम्भीरचेतसा**=गम्भीर चित्तवाले हैं। प्राणसाधक पुरुष चित्त की गम्भीरता को प्राप्त करता है।

भावार्थ–प्राणसाधना से शरीर तेजस्वी होता है। ये प्राण हमारा पालन करते हैं, 'ज्योति, बुद्धि व गम्भीर चित्त' को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

दोष-वर्जन

आ यातं नहुषस्पर्यान्तरिक्षात्सुवृक्तिभिः। पिबाथो अश्विना मधु कण्वानां सवने सुतम्॥ ३॥

(१) **नहुषः**=(नह बन्धने) औरों के साथ अपने को बाँधकर चलनेवाले इस निःस्वार्थ मनुष्य के **अन्तरिक्षात् परि**=हृदयान्तरिक्ष से (परिः पञ्चम्यर्थानुवादी) **सुवृक्तिभिः**=सुष्ठु दोष वर्जन के हेतु से **आयातम्**=आप प्राप्त होवो। प्राणसाधना के द्वारा ही हृदय दोषों से शून्य बनता है। (२) इस दोष शून्यता के होने पर हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **कण्वानाम्**=इन मेधावी पुरुषों के **सवने**=जीवनयज्ञ में **सुतम्**=उत्पन्न इस **मधु**=ओषधियों के सारभूत सोम को **पिबाथः**=शरीर में ही पीनेवाले होवो। शरीर में व्याप्त सोम ही सब दोषों के दूरीकरण का साधन बनता है।

भावार्थ–प्राणसाधना से हृदयान्तरिक्ष से सब वासना दोषों का निराकरण हो जाता है। शरीर में प्राण ही सोम को सुरक्षित करते हैं।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्षीविराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

सोम्य मधु का पान

आ नो यातं दिवस्पर्यान्तरिक्षादधप्रिया। पुत्रः कण्वस्य वामिह सुषाव सोम्यं मधु॥ ४॥

(१) हे **अधप्रिया**=(कधप्रिया) प्रभु-स्तवन के प्रति प्रीति को उत्पन्न करनेवाले प्राणापानो! **नः**=हमें **दिवः परि आयातम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक के हेतु से **आयातम्**=प्राप्त होवो। **अन्तरिक्षात् आ (यातम्)**=हृदयान्तरिक्ष के हेतु से प्राप्त होवो। आप ही हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को दीप्त बनाते हो और आप ही हृदयान्तरिक्ष को पवित्र करते हो। (२) **कण्वस्य पुत्रः**=मेधावी का पुत्र, अर्थात् अत्यन्त मेधावी पुरुष **इह**=इस जीवन में **वाम्**=आपके लिये इस **सोम्यं मधु**=सोम सम्बन्धी सारभूत वस्तु को **सुषाव**=उत्पन्न करता है। प्राणसाधना द्वारा ही शरीर में इस मधु के पान का सम्भव होता है।

भावार्थ–प्राणसाधना मस्तिष्क को दीप्त बनाती है, हृदय को निर्मल करती है, शरीर में सोम का रक्षण करती है।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

ज्ञान-स्तवन व कर्म

आ नो यातमुपश्रुत्यश्विना सोमपीतये। स्वाहा स्तोमस्य वर्धना प्र कवी धीतिभिर्नरा॥ ५॥

(१) ('श्रूयते इति श्रुत, उपगता श्रुत यस्मिन्') हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **उपश्रुति**=इस ज्ञानयज्ञ में **नः**=हमें **आयातम्**=प्राप्त होवो। आप **सोमपीतये**=सोम के पान के लिये होवो। आप

के द्वारा सोम (वीर्य) शरीर में ही व्याप्त किया जाये। (२) हे प्राणापानो! आप **स्वाहा**=(सु आ हा) सम्यक् समन्तात् दोषों का वर्जन करनेवाले हो। **स्तोमस्य वर्धना**=स्तुति समूह का हमारे में वर्धन करनेवाले हो। **कवी**=हमें क्रान्तदर्शी बनाते हो। **प्रधीतिभिः**=प्रकृष्ट कर्मों के द्वारा **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'ज्ञान-स्तवन व उत्तम कर्मों' का वर्धन होता है।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु-स्तवन व रक्षण

यच्चिद्धि वां पुर ऋषयो जुहूरेऽवसे नरा। आ यातमश्विना गतमुपेमां सुष्टुतिं मम॥ ६॥

(१) हे **नरा**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **यत् चित् हि**=जब ही **ऋषयः**=ये तत्त्वद्रष्टा गतिशील पुरुष **वाम्**=आपको **पुरः**=सब से पहले **अवसे**=रक्षा के लिये **जुहूरे**=पुकारते हैं, तो आप **आयातम्**=आते हो। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मम**=मेरी **इमां सुष्टुतिम्**=इस उत्तम स्तुति को **आगतम्**=प्राप्त होवो। मैं आपका उत्तम स्तवन करनेवाला बनूँ। प्राणों का उत्तम स्तवन 'प्राणायाम' ही है। प्राणायाम के होने पर प्रभु-स्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है। ये प्राण रोग आदि से हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें प्रभु-स्तवन की ओर प्रवृत्त करती है और रोग आदि से हमारा रक्षण करती है।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्षीविराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

स्वर्विदा-हवनश्रुता

दिवश्चिद्रोचनादध्या नो गन्तं स्वर्विदा। धीभिर्वत्सप्रचेतसा स्तोमेभिर्हवनश्रुता॥ ७॥

(१) हे **स्वर्विदा**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! **दिवः चित्**=मस्तिष्करूप द्युलोक के दृष्टिकोण से तथा **रोचनात् अधि**=वासनामल से रहित अतएव चमकते हुए हृदयान्तरिक्ष के दृष्टिकोण से **नः आगन्तम्**=हमें प्राप्त होवो। प्राणसाधना के द्वारा हमारा मस्तिष्क व हृदय दोनों ही उत्तम बनें। (२) हे प्राणापानो! आप **धीभिः**=बुद्धियों के द्वारा **वत्सप्रचेतसा**=अपने प्रिय आराधक को प्रकृष्ट ज्ञानवाला बनाते हो। और **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **हवनश्रुता**=प्रभु की पुकार को सुननेवाले होते हो। प्राणसाधना से मस्तिष्क ज्ञान परिपूर्ण बनता है तथा प्रभु-स्तवन करते हुए हम हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुन पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से प्रकाश प्राप्त होता है। मस्तिष्क व हृदय दोनों निर्मल हो जाते हैं। मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से चमक उठता है तो पवित्र हृदय में प्रभु की प्रेरणा पड़ती है।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्नुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

दिव्य गुण विकास व ज्ञान का वर्धन

किमन्ये पर्यासतेऽस्मत्स्तोमेभिरश्विना। पुत्रः कण्वस्य वामृषिर्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत्॥ ८॥

(१) **अश्विना**=हे प्राणापानो! **अस्मत् स्तोमेभिः**=हमारी इन स्तुतियों के द्वारा **किम्**=क्या ही **अन्ये**=विलक्षण दिव्यगुण **पर्यासते**=हमारे में चारों ओर स्थित होते हैं। प्रभु-स्तवन के साथ प्राणसाधना के होने पर हमारा जीवन दिव्य गुणों से युक्त बनता है। (२) इसीलिए यह **कण्वस्य पुत्रः**=मेधावी का पुत्र अत्यन्त मेधावी, **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा, **वत्सः**=(वदति) ज्ञान की वाणियों का

उच्चारण करनेवाला पुरुष **गीर्भिः**=इन ज्ञान वाणियों के हेतु से **वां अवीवृधत्**=आपका वर्धन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन में अद्भुत दिव्यगुणों का विकास होता है तथा ज्ञान का वर्धन होता है।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अरि प्रा वृत्रहन्तमा

आ वां विप्र इहावसेऽह्वत्स्तोमेभिरश्विना। अरिप्रा वृत्रहन्तमा ता नो भूतं मयोभुवा॥ ९॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला व्यक्ति **इह**=यहाँ **अवसे**=रक्षण के लिये **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **वाम्**=आप दोनों को **आ अह्वत्**=सर्वथा पुकारता है। आपकी आराधना ही उसे रोगों व वासनाओं से अपना रक्षण करने में समर्थ करती है, आपकी आराधना से ही वह अपना पूरण कर पाता है। (२) **अरि प्रा**=आप दोषरहित हो, दोषों को दूर करनेवाले हो। **वृत्रहन्तमा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को अधिक से अधिक नष्ट करनेवाले हो। **ता**=वे आप दोनों **नः**=हमारे लिये **मयोभुवा**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाले **भूतम्**=होइये।

भावार्थ—प्राणसाधना ही जीवन में हमें रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचाती है। ये प्राणापान हमारे जीवनों को निर्दोष वासनाशून्य व कल्याणमय बनाते हैं।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—आर्षीविराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

योषणा का अश्विनी देवों के रथ पर अधिष्ठान

आ यद्वां योषणा रथमतिष्ठद्वाजिनीवसू। विश्वान्यश्विना युवं प्र धीतान्यगच्छतम्॥ १०॥

(१) हे **वाजिनीवसू**=शक्ति व ज्ञानरूप धनवाले प्राणापानो! **यद्**=जब **वाम्**=आपकी साधनावाले **रथम्**=इस शरीर-रथ पर **योषणा**=सब बुराइयों का अमिश्रण व अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाली यह वेदवाणी (सूर्या) **आतिष्ठतः**=अधिष्ठित होती है। तो हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **विश्वानि**=सब **धीतानि**=अभिलषितों को **प्र अगच्छतम्**=प्राप्त हो जाते हो। (२) प्राणसाधना से ज्ञानदीप्ति होने के कारण यह शरीर-रथ 'सूर्या' (बुद्धि का प्रकाश) का अधिष्ठान बनता है। उस समय कोई अभिलषित वस्तु अप्राप्य नहीं रहती।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान की दीप्ति होती है और सब अभिलषित पूर्ण होते हैं।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—आर्षीविराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

माधुर्ययुक्त वचन का शंसन

अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना। वत्सो वां मधुमद्वचोऽशंसीत्काव्यः कविः॥ ११॥

(१) **अतः**=गत मन्त्र के अनुसार इस प्राणसाधना से सब अभिलषित पूर्ण होते हैं, सो **सहस्रनिर्णिजा**=हजारों प्रकार से शुद्ध बने इस **रथेन**=शरीर-रथ से **आयातम्**=आप हमें प्राप्त होवो। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! वत्सः=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला **काव्यम्**=(काव्यं अत्र अस्ति) प्रभु के अजरामर वेद काव्य को अपनानेवाला **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ स्तोता **वाम्**=आपके प्रति **मधुमत् वचः**=माधुर्ययुक्त वचन का **अशंसीत्**=शासन करता है। वस्तुतः प्राणसाधना करनेवाला कटुवचनों का कभी प्रयोग नहीं करता।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर-रथ सब प्रकार से परिशुद्ध बनता है। ज्ञान वृद्धि व वाणी का माधुर्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

पुरुमन्द्रा पुरूवसू

पुरुमन्द्रा पुरूवसू मनोतरा रयीणाम्। स्तोमं मे अश्विनाविममभि वह्नी अनूषाताम्॥ १२॥

(१) ये **अश्विनौ**=प्राणापानो **पुरुमन्द्रा**=खूब ही आह्लादित करनेवाले हैं। **पुरूवसू**=पालक व पूरक धनों को प्राप्त करानेवाले हैं। **रयीणाम्**=सब ऐश्वर्यों के **मनोतरा** (मन्तारौ दातारौ सा०)=देनेवाले हैं। (२) ये **अश्विनौ**=प्राणापान **वह्नी**=मुझे लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। ये **मे**=मेरे **इमं सोमम्**=इस स्तोम को **अभि अनूषाताम्**=प्रातः-सायं उच्चारित करायें। हम प्राणसाधना करते हुए प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'आनन्द, वसु व रयि' को प्राप्त कराती है। ये हमें स्तुति की वृत्तिवाला बनाती है और हमें लक्ष्य-स्थान की ओर ले चलती है।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्षीविराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

उत्तम धन, समय पर अनिन्दित कर्म

आ नो विश्वान्यश्विना धत्तं राधांस्यह्रया। कृतं न ऋत्वियावतो मा नो रीरधतं निदे॥ १३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नः**=हमारे लिये **विश्वानि**=सब **अह्रया**=(अलज्जाहेतूनि) अलज्जा कर **राधांसि**=धनों को **आधत्तम्**=धारण करो। अर्थात् प्राणसाधना करते हुए हम इस प्रकार उत्तम उपायों से धनों का अर्जन करें कि हमें किसी प्रकार से लज्जित न होना पड़े, शुद्ध ही मार्गों से हम धनार्जन करें। (२) हे प्राणापानो! आप **नः**=हमें **ऋत्वियावतः**=(ऋतौ भवं ऋत्वियं) ऋतु पर कर्म करनेवाला **कृतम्**=बनाओ। हम सब कार्य समय पर करें। **नः**=हमें **निदे**=निन्दात्मक कर्म के लिये **मा रीरधतम्**=मत सिद्ध करो। हम इस प्रकार इन्द्रियों के पराधीन न हो जायें कि निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्त हो जायें।

भावार्थ—प्राणसाधना करते हुए हम (१) उत्तम कर्मों से धनार्जन करें, (२) सब कर्मों को ऋतु के अनुसार समय पर करनेवाले बनें, (३) निन्दात्मक कर्मों में प्रवृत्त न हों।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

(सुदूर में व समीप में) रेचक व पूरक (प्राणायाम)

यन्नासत्या परावति यद्वा स्थो अध्यम्बरे। अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना॥ १४॥

(१) हे **नासत्या**=(न+असत्या) हमारे जीवनों से असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जब **परावति**=सुदूर देश में **स्थः**=तुम होते हो, अर्थात् 'रेचक' प्राणायाम में जब शरीर से तुम्हारी स्थिति दूर होती है। **यद्वा**=या जब **अम्बरे अधि**=यहाँ समीप ही (अन्तिके सा०) हृदयदेश में होते हैं, 'पूरक' के समय जब हृदय में ही आपका परिपूरण होता है। तो **अतः**=इस रेचक व पूरक प्रक्रिया के द्वारा आप इस शरीर-रथ को **सहस्रनिर्णिजा**=हजारों प्रकार से शुद्ध कर डालते हो। (२) इस **सहस्रनिर्णिक् रथेन**=शरीर-रथ से हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **आयातम्**=हमें प्राप्त होवो। पूरक प्राणायाम में शुद्ध वायु को फेफड़ों में भरकर हम रेचक में अशुद्ध वायु को बाहिर फेंकने की करते हैं। इस प्रकार शरीर का शोधन होता चलता है।

भावार्थ—रेचक व पूरक प्राणायाम के द्वारा हम इस शरीर-रथ को सर्वथा शुद्ध बनायें।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

सहस्रनिर्णिजं-धृतश्चुतम्

यो वां नासत्यावृषिर्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत्। तस्मै सहस्रनिर्णिजमिषं धत्तं घृतश्चुतम्॥ १५॥

(१) हे **नासत्यो**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **यः**=जो **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **वत्सः**=वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला पुरुष **गीर्भिः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों के द्वारा **वाम्**=आपका **अवीवृधत्**=वर्धन करते हैं। **तस्मै**=उसके लिये आप **इषम्**=प्रभु की उस प्रेरणा का **धत्तम्**=धारण करते हो, जो **सहस्रनिर्णिजम्**=हजारों प्रकार से हमारा शोधन करनेवाली है तथा **घृतश्चुतम्**=ज्ञानदीप्ति को हमारे में क्षरित करनेवाली है। (२) जब एक व्यक्ति प्राणसाधना द्वारा अपने हृदय को शुद्ध करता है, तो वहाँ हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है। यह प्रेरणा हमारे जीवनों का शोधन करती है (सहस्रनिर्णिजम्) और हमारे ज्ञान को बढ़ाती है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा शुद्ध हुए-हुए हृदय में प्रभु प्रेरणा को सुनें। यह प्रेरणा हमारे जीवन का शोधन करती है और हमारे ज्ञान को बढ़ाती है।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

बल-प्राण-ज्ञान

प्रास्मा ऊर्जं घृतश्चुतमश्विना यच्छतं युवम्। यो वां सुम्नाय तुष्टवद्वसूयाद्दानुनस्पती॥ १६॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **अस्मै**=इस साधक के लिये **घृतश्चुतम्**=ज्ञान को क्षरित करनेवाले **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **प्रयच्छतम्**=दो। अर्थात् आपका साधक शरीर में बल को, प्राणशक्ति को तथा ज्ञान को प्राप्त करे। (२) **यः**=जो **वाम्**=आपका **तुष्टवत्**=स्तवन करे, वह **सुम्नाय**=आप से दिये गये रक्षण को प्राप्त करे। हे **दानुनस्पती**=सब दानों के स्वामी प्राणापानो! वही **वसूयात्**=वसुओं को प्राप्त करने की कामनावाला हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'बल-प्राणशक्ति-ज्ञान' प्राप्त होता है। ये प्राण हमारे लिये रक्षक बनते हैं और सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्षीविराड्नुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

रिशादसा-पुरुभुजा

आ नो गन्तं रिशादसेमं स्तोमं पुरुभुजा। कृतं नः सुश्रियो नरेमा दातमभिष्टये॥ १७॥

(१) हे **रिशादसा**=हमारे हिंसक काम-क्रोध आदि शत्रुओं को खा जानेवाले प्राणापानो! **नः**=हमारे **इमम्**=इस **स्तोमम्**=स्तुति समूह को **आगन्तम्**=आप प्राप्त होवो। आप **पुरुभुता**=बहुतों के पालन व पोषण करनेवाले हो। हमारा पालन, पूरण व रोगों से रक्षण करनेवाले हो। (२) हे **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! आप **नः**=हमें **सुश्रियः**=उत्तम श्रीवाला **कृतम्**=करिये। **इमा**=इन सब वसुओं को **अभिष्टये**=अभि प्राप्ति के लिये, अभीष्ट सुख की प्राप्ति के लिये **दातम्**=दीजिये।

भावार्थ—प्राणापान शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं, हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। हमें ये उत्तम श्रीवाला बनाते हैं। ये हमें सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'यज्ञों के रक्षक' प्राणापान

आ वां विश्वाभिरूतिभिः प्रियमेधा अहूषत। राजन्तावध्वराणामश्विना यामहूतिषु॥ १८॥

(१) हे प्राणापानो! **प्रियमेधाः**=यज्ञप्रिय लोग **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के हेतु से **वाम्**=आपको **आ अहूषत**=सर्वथा पुकारते हैं। प्राणापान ने ही रक्षण का कार्य करना है। इनसे रक्षित होने पर ही सब यज्ञ चलते हैं। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यामहूतिषु**=(यामः=संयमः) संयम की पुकारोंवाले यज्ञों में **अध्वराणां राजन्तौ**=सब हिंसारहित कर्मों में आप ही दीप्त होते हो। प्राणसाधना से ही हम इन्द्रियों व मन का संयम कर पाते हैं। तभी हमारे जीवन में सब अध्वरों का प्रवर्तन होता है।

भावार्थ—प्राणापान ही हमारे सब यज्ञों का रक्षण करते हैं। यह साधना ही हमें संयमी बनाती है।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

मयोभुवा-शम्भुवा

आ नो गन्तं मयोभुवाश्विना शंभुवा युवम्। यो वां विपन्यू धीतिभिर्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत्॥ १९॥

(१) हे **मयोभुवा**=(मयसः=सुखस्य भावयितारौ) सुख के उत्पन्न करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **नः**=हमें आगन्तम्=प्राप्त होइये। **युवम्**=आप **शम्भुवा**=सब रोगों के शमन को उत्पन्न करनेवाले हो। (२) हे **विपन्यू**=विशेषरूप से स्तुति के योग्य प्राणापानो! **यः**=जो **वत्सः**=वेदवाणियों का उच्चारण करनेवाला यह ज्ञानी पुरुष है, वह **धीतिभिः**=उत्तम यज्ञादि क्रियाओं से तथा **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **वां अवीवृधत्**=आपका वर्धन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधक को चाहिये कि वह यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहे, स्वाध्याय को अपनाये (धीतिभिः, गीर्भिः)। इस प्रकार प्राण उसे सुखी व नीरोग बनायेंगे।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'कण्व मेधातिथि वशदशव्रज गोशर्य'

याभिः कण्वं मेधातिथिं याभिर्वशं दशव्रजम्। याभिर्गोशर्यमावतं ताभिर्नोऽवतं नरा॥ २०॥

(१) हे उत्तम स्त्री पुरुषो, सेनापति-सभापति आदि जनो! आप लोग **याभिः**=जिन उपायों से **कण्वं**=विद्वान् **मेधातिथिम् अवतम्**=अन्नादि सत्कार योग्य अतिथि की रक्षा करते और **याभिः**=जिन क्रियाओं से **दश-वज्रम्**=दशों दिशाओं में जानेवाले मार्गों से युक्त **वशं**=वश करने योग्य राष्ट्रजन या मन आदि को वश करते हो, और **याभिः**=जिन सैन्यादि से **गो-शर्यम्**='गो' अर्थात् धनुष की डोरी और 'शर' बाण इनके चलाने में कुशल सैन्य व गो-भूमि के हिंसक, कृषकादि की **आवतम्**=रक्षा करते **ताभिः**=उनसे ही हे **नरा**=नायक पुरुषो! **नः अवतम्**=हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—हे देवो! तुमने जिन सुरक्षा के साधनों से उत्तम मेधावाले ज्ञानी के पशुओं की रक्षा की थी, उन्हीं साधनों से हमारी भी रक्षा करो।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

त्रसदस्युमावतम्

याभिर्नरा त्रसदस्युमावतं कृत्व्ये धने। ताभिः ष्व१स्माँ अश्विना प्रावतं वाजसातये॥ २१॥

याभिः=जिन उपायों से **धने कृत्व्ये**=धन की रक्षा के लिये **त्रसदस्युम्**=रक्षक रखते हो, **ताभिः**=उनसे हे **अश्विना**=राष्ट्राध्यक्षो **वाजसातये**=अन्नादि के लाभ के लिए **अस्मान्**=हमारी **सु प्र**=अच्छी प्रकार **अवतम्**=रक्षा कीजिए।

भावार्थ—राज्याधिकारी अपने धन के समान प्रजाधन की भी रक्षा करें।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

पुरुस्पृहा

प्र वां स्तोमाः सुवृक्तयो गिरो वर्धन्त्वश्विना। पुरुत्रा वृत्रहन्तमा ता नो भूतं पुरुस्पृहा॥ २२॥

हे **अश्विना**=प्राणापानो! **स्तोमाः**=स्तुति योग्य कार्य **सुवृक्तयः**=उत्तम **गिरः**=वाणियों **वाम्**=आप दोनों को **प्र वर्धन्तु**=खूब बढ़ावें। **ता**=वे **पुरुत्रा**=बहुतों के रक्षक **वृत्रहन्तमा**=पापनाशक **नः**=हमारे **पुरुस्पृहा**=बहुतों के प्रेमपात्र **भूतम्**=होवो।

भावार्थ—प्राणापान हमारे श्रेष्ठ कार्यों तथा श्रेष्ठ वाणियों को बढ़ावें, जिससे हम सर्वप्रिय बनें।

ऋषिः—सध्वंसः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—आर्षीविराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

त्रीणि पदानि

त्रीणि पदान्यश्विनोराविः सान्ति गुहा परः। कवी ऋतस्य पत्मभिरर्वाग्जीवेभ्यस्परि॥ २३॥

त्रीणि पदानि=तीन स्थान **अश्विनोः**=प्राणापान की **गुहा**=बुद्धि में **परः**=उत्तम **आविः सान्ति**=प्रकट होते हैं। **ऋतस्य**=सत्य ज्ञान के **पत्मभिः**=तीनों पदों से **अर्वाक्**=साक्षात् **कवी**=क्रान्तिदर्शी **जीवेभ्यः परि**=जीवों के हितार्थ होवें।

भावार्थ—प्राणसाधना से निर्मलीभूत हृदय में तीनों ज्ञान की वाणियों का प्रकाश होता है। ये प्राणापान हमें क्रान्तदर्शी बनाते हैं। ऋत के मार्ग से चलाते हैं और शरीर के अन्दर गति करते हुए सब दोषों का वर्जन करनेवाले होते हैं।

'शशकर्णः काण्वः' अगले सूक्त का ऋषि है। 'शशः कर्णो यस्य'=प्लुतगतिवाला है कान जिसका। अर्थात् जो कान से खूब काम करता है, 'बहुश्रुत' बनता है। सुनता बहुत है, बोलता कम है। यह 'अश्विनौ' का आराधन करता हुआ कहता है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अवृकं पृथु छर्दिः

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे। प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दिर्युयुतं या अरातयः॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **नूनम्**=निश्चय से **वत्सस्य**=ज्ञान व स्तुति वाणियों का उच्चारण करनेवाले इस अपने प्रिय साधक के **अवसे**=रक्षण के लिये **आगन्तम्**=आइये। प्राणापान ही हमें रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं। (२) **अस्मै**=इस वत्स के लिये

छर्दिः=ऐसे शरीर गृह को **प्रयच्छतम्**=दीजिये, जो **अवृकम्**=बाधक शत्रुओं से रहित है। तथा **पृथु**=विशाल है अर्थात् जिस शरीर गृह में वासनाओं व रोगों का प्रवेश नहीं, तथा जो विस्तृत शक्तियोंवाला है। ऐसे शरीर गृह को प्राप्त कराने के लिये **याः**=जो **अरातयः**=शत्रु हैं उन्हें **युयुतम्**=पृथक् करिये।

भावार्थ—प्राणापान हमारा रक्षण करें हमें रोगों की बाधाओं से रहित, विस्मृत शक्तिवाले शरीर गृह को प्राप्त करायें। हमारे काम-क्रोध-लोभरूप शत्रुओं को हमारे से पृथक् करें।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वःॾ **देवता**—अश्विनौॾ **छन्दः**—गायत्रीॾ **स्वरः**—षड्जःॾ

'सन्तोष-ज्ञान व स्वास्थ्य' रूप धन

यदुन्तरिक्षे यद्दिवि यत्पञ्च मानुषाँ अनु। नृम्णं तद्धत्तमश्विना॥ २॥

(१) मानव जीवन को सुखी करनेवाला धन 'नृम्ण' कहलाता है। हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जो **नृम्णम्**=धन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में होता है। अर्थात् जो सन्तोष-आत्मतृप्ति-रूप धन हृदय में निवास करता है, **तत्**=उस धन को **धत्तम्**=हमारे लिये धारण करिये। प्राणसाधना से हृदय निर्मल होता है, चित्तवृत्ति बाह्य धनों के लिये बहुत लालायित नहीं होती। इस प्रकार हृदय में एक सन्तोष के आनन्द का अनुभव होता है। (२) **यत्**=जो **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-धन है, उसे आप हमारे लिये धारण करिये। प्राणसाधना से काम-वासना का विनाश होकर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। (२) हे प्राणापानो! **यत्**=जो **पञ्च**=पाँच, **मानुषान्**=मानव सम्बन्धी वस्तुओं के **अनु**=अनुकूलतावाला धन है, उसे आप हमारे लिये प्राप्त कराइये मानव सम्बन्धी पाँच वस्तुएँ सर्वप्रथम शरीर के बनानेवाले पाँच महाभूत हैं 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश'। फिर पाँच प्राण हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' हैं। इन सब के अनुकूल धनों को ये प्राणापान हमारे लिये प्राप्त करायें।

भावार्थ—हृदय के सन्तोषरूप धन को, मस्तिष्क के ज्ञानरूप धन को तथा मानव पञ्चकों के पूर्ण स्वास्थ्यरूप धन को ये प्राणापान हमारे लिये प्राप्त करायें।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वःॾ **देवता**—अश्विनौॾ **छन्दः**—निचृद् गायत्रीॾ **स्वरः**—षड्जःॾ

'प्राण महत्व-चिन्तन'

ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः। एवेत्काण्वस्य बोधतम्॥ ३॥

(१) ये **विप्रासः**=जो अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष हैं वे हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **दसांसि**=वीरतापूर्ण कर्मों का **परिमामृशुः**=चिन्तन करते हैं। इन कर्मों का चिन्तन करते हुए जिन शुभ कर्मों का (परिमामृशुः) स्पर्श करते हैं, आपकी साधना के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। (२) **एवा इत्**=ऐसा होने पर ही अर्थात् जब यह आपकी साधना में प्रवृत्त होता है तभी **काण्वस्य**=इस मेधावी पुरुष का आप **बोधतम्**=ध्यान करते हो। समझदार व्यक्ति प्राणों का रक्षण करता है, प्राण उसका रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणों के महत्त्व को समझते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त हों और इन प्राणों द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वःॾ **देवता**—अश्विनौॾ **छन्दः**—बृहतीॾ **स्वरः**—मध्यमःॾ

घर्म-सोम

अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते। अयं सोमो मधुमान्वाजिनीवसू येन वृत्रं चिकेतथः॥ ४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका **घर्मः**=तेज **स्तोमेन**=प्रभु-स्तवन के साथ **परिषिच्यते**=शरीर में चारों ओर सिक्त होता है। जब प्रभु-स्तवन के साथ प्राणसाधना चलती है, तो शरीर में सब अंग तेजस्विता से सिक्त होते हैं। (२) हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका, आपके द्वारा शरीर में सुरक्षित होनेवाला, **सोमः**=सोम (वीर्य शक्ति) **मधुमान्**=जीवन को मधुर बनाने वाला है। **येन**=जिस सोम के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **चिकेतथः**=आप हन्तव्य रूप में जानते हो। (हन्तव्यतया जानीथः, हिन्दी में भी यह शब्द प्रयोग 'अच्छा, मैं तुझे समझ लूँगा' इस रूप में होता है)। सोम शक्ति के रक्षण से ही वासनाओं का विनाश होकर ज्ञान की वृद्धि होती है।

भावार्थ–प्रभु-स्तवन के साथ प्राणसाधना के चलने पर शरीर में तेजस्विता व सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वःङ्क **देवता**—अश्विनौङ्क **छन्दः**—ककुबुष्णिक्ङ्क **स्वरः**—ऋषभःङ्क

(जल व ओषधि का सेवन) वानस्पतिक भोजन

यद॒प्सु यद्वन॒स्पतौ॑ यदोष॑धीषु पुरुदंससा कृ॒तम्। तेन॑ माविष्टमश्विना ॥ ५ ॥

(१) हे **पुरुदंससा**=पालक व पूरक कर्मोंवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जो तेज (घर्म) आप **अप्सु**=जलों का प्रयोग होने पर **यद् वनस्पतौ**=जो वनस्पतियों का प्रयोग होने पर तथा **यत् ओषधीषु**=जो तेज आप ओषधियों का प्रयोग होने पर **कृतम्**=उत्पन्न करते हो। **तेन**=उस तेज से **मा अविष्टम्**=मेरा रक्षण करो। (२) यहाँ 'अप्सु, वनस्पतौ, ओषधीषु' इन शब्दों का प्रयोग स्पष्ट प्रतिपादन कर रहा है कि योगसाधना में खान-पान की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। प्राणायाम के साथ मनुष्य का शाकभोजी होना आवश्यक है। सादा खान-पान योगसाधना में सहायक होता है।

भावार्थ–हम जलों व ओषधियों के प्रयोग के साथ प्राणापान की साधना करते हुए तेजस्वी बनें और अपना रक्षण करें।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वःङ्क **देवता**—अश्विनौङ्क **छन्दः**—बृहतीङ्क **स्वरः**—मध्यमःङ्क

भुरण्यथः-भिषज्यथः

यन्ना॑सत्या भु॒र॒ण्यथो॒ यद्वा॑ देव भिष॒ज्यथः॑।
अ॒यं वां॑ व॒त्सो म॒तिभि॒र्न वि॑न्धते ह॒विष्म॑न्तं॒ हि गच्छ॑थः ॥ ६ ॥

(१) हे **नासत्या**=हमारे जीवनों से सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **यत्**=जब **भुरण्यथः**=हमारे सब रोगों की चिकित्सा करते हो, तो **अयम्**=यह **वाम्**=आपका **वत्सः**=प्रिय आराधक **मतिभिः**=केवल ज्ञानों से **न विन्धते**=आपको प्राप्त नहीं करता। **हि**=निश्चय से आप **हविष्मन्तम्**=दानपूर्वक अदन करनेवाले व्यक्ति को **गच्छथः**=प्राप्त होते हो। (२) प्राणसाधना करनेवाला पुरुष यह अच्छी तरह समझ लेता है कि ये प्राणापान हमारा पालन करते हैं, ये ही हमारे सब रोगों को दूर करते हैं। ऐसा समझता हुआ यह पुरुष केवल प्राणों का स्तवन ही नहीं करता रहता। यह इस स्तवन के साथ त्यागपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनकर प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। 'हविष्मान्' बनता है।

भावार्थ–प्राणापान हमारा पालन करते हैं, सब रोगों की चिकित्सा करते हैं। इनका हम स्तवन करें तथा त्यागपूर्वक अदनवाले बनकर हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप् ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

मधुमत्तमं घर्मम्

आ नूनमश्विनोर्ऋषिः स्तोमं चिकेत वामया। आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि॥ ७॥

(१) **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा-ज्ञानी पुरुष **नूनम्**=निश्चय से **अश्विनोः स्तोमम्**=प्राणापान के स्तवन को **वामया**=सुन्दर वाणी के द्वारा **आचिकेत**=सर्वथा करने के लिये जानता है। प्राणापान का स्तवन करता हुआ प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। (२) इस प्राणसाधना में प्रवृत्त होने के द्वारा यह ऋषि **अथर्वणि** (न थर्वति=चरति)=न डाँवाडोल होनेवाले चित्त के होने पर **सोमम्**=सोम शक्ति को **आसिञ्चात्**=अपने शरीर में ही सर्वतः सिक्त करता है। यह सोम **मधुमत्तमम्**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाला है और **घर्मम्**=यह तेजस्विता ही तेजस्विता है, अपने रक्षक को तेजस्वी बनानेवाला है।

भावार्थ—हम प्राणापान के लाभों का स्तवन करते हुए प्राणसाधना द्वारा सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति करनेवाले हों। यह सोम हमें माधुर्य व तेज प्राप्त करायेगा।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप् ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

रघुवर्तनिं रथम्

आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना। आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत॥ ८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नूनम्**=निश्चय से, **रघुवर्तनिं** (**लघुगमनं**)=शीघ्र गतिवाले इस **रथम्**=शरीर-रथ पर आप **आतिष्ठाथः**=स्थित होते हो। प्राणसाधना के द्वारा यह शरीर-रथ आलस्यशून्य (स्फूर्तिवाला) बनता है। (२) सो **इमे**=ये **मम**=मेरे, मेरे से किये जानेवाले **सोमाः**=स्तुति समूह **नभः न**=सूर्य के समान तेजस्वी **वाम्**=आपको **आचुच्यवीरत**=अभिगत होते हैं। मैं प्राणापान का स्तवन करता हुआ प्राणसाधना में प्रवृत्त होता हूँ। यह प्राणसाधना मुझे सूर्य की तरह तेजस्वी बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। यह प्राणसाधना हमें सूर्यसम तेजस्वी बनाती है।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—पादनिचृदनुष्टुप् ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

उक्थैः-वाणीभिः

यदद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि। यद्वा वाणीभिरश्विनेवेत्काण्वस्य बोधतम्॥ ९॥

(१) हे **नासत्या**=हमारे जीवनों से असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जब **अद्य**=आज हम **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **वाम्**=आपको **आचुच्युवीमहि**=अपने अन्दर प्राप्त करायें। **वा**=अथवा **यद्**=जब **वाणीभिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा आपको अपने में प्राप्त करायें, तो हे **अश्विना**=प्राणापानो! **काण्वस्य इव**=समझदार मेधावी पुरुष की तरह **इत्**=निश्चय से **बोधतम्**=हमारा ध्यान करो। हम आपके अनुग्रह से समझदार बनें। (२) प्राणसाधना में प्रगति के लिये प्रभु-स्तवन (उक्थ) व स्वाध्याय (वाणी) सहायक होते हैं। वस्तुतः इनके द्वारा ही प्राणसाधना में हम प्रगति कर पाते हैं। साधित प्राण हमारी बुद्धि का वर्धन करते हुए हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन व स्वाध्याय द्वारा प्राणों की साधना में प्रगति करने में समर्थ हों। साधित प्राण हमारी बुद्धि का वर्धन करते हुए हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—आर्षीनिचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'कक्षीवान्-पृथी वैन्य'

यद्वां कक्षीवाँ उत यद्व्यश्व ऋषिर्यद्वां दीर्घतमा जुहाव।
पृथी यद्वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम्॥ १०॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यद्**=जब **वाम्**=आपको **कक्षीवान्**=बद्ध कक्ष्यावाला (one who has girded up one's loins) कमरकसे हुए, दृढ़ निश्चयी पुरुष **जुहाव**=पुकारता है, **उत**=और **यद्**=जब **व्यश्वः**=विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष पुकारता है और **यद्**=जब **वाम्**=आपको **दीर्घतमाः**=तमोगुण को विदीर्ण करनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुष पुकारता है। और अन्ततः **यद्**=जब **वैन्यः**=लोकहित की प्रबल कामनावाला (वनेतिः चर्मन्तकर्मा) **पृथी**=अत्यन्त विस्तारवाला, सारी वसुधा ही को अपना कुटुम्ब बना लेनेवाला आपको पुकारता है। तो हे प्राणापानो! आप **अतः**=इस प्रार्थना व आराधना के द्वारा **सादनेषु एव इत्**=यज्ञ गृहों में ही **चेतयेथाम्**=चेतना युक्त करते हो। अर्थात् आप इन आराधकों को सदा यज्ञशील बनाते हो। (२) हमारा जीवन प्रथमाश्रम में 'कक्षीवान्' का जीवन हो, जीवनयात्रा में आगे बढ़ने के लिये दृढ़ निश्चयी पुरुष का जीवन हो। 'कक्षीवान्' शब्द की भावना ही ब्रह्मचर्य सूक्त में 'मेखलया' शब्द से व्यक्त हुई हैं। द्वितीयाश्रम में हमें 'व्यश्व' बनना है, विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाला हमें इन्द्रियाश्वों को विषयों की घास चरने में ही व्यस्त नहीं रहने देना। तृतीयाश्रम में तप व स्वाध्याय के द्वारा तमोगुण का विदारण करके 'दीर्घतमा' बनना है। चतुर्थ में सर्वलोकहित की कामना करते हुए अधिक से अधिक व्यापक परिवारवाला (वसुधारूप परिवारवाला) 'पृथी वैन्य' बन जाना है। ये सब बातें हो तभी सकेंगी जब हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होंगे। प्राणसाधना से जीवन यज्ञमय रहेगा, अन्यथा यह भोग-प्रधान बन जायेगा।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए 'कक्षीवान्, व्यश्व, दीर्घतमा व पृथी वैन्य' बनें।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—त्रिपादविराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

छर्दिष्पा-तनूपा

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा। वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम्॥ ११॥

(१) हे प्राणापानो! आप **छर्दिष्पाः**=हमारे शरीरगृह के रक्षक होते हुए **यातम्**=हमें प्राप्त होवो। **उत**=और **नः**=हमारे लिये **परस्पाः**=अतिशयेन रक्षक **भूतम्**=होइये। **जगत्पाः**=इस संसार के आप रक्षक हों, **उत**=और **नः**=हमारे **तनूपा**=शरीरों के आप रक्षक बनें। (२) **तोकाय तनयाय**=हमारे पुत्र-पौत्रों के लिये भी **वर्तिः**=रथमार्ग को **यातम्**=प्राप्त कराइये, अर्थात् वे सदा सन्मार्ग पर चलनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारा सब प्रकार से रक्षण करनेवाली हो। हमारे पुत्र-पौत्रों को भी यह सन्मार्ग पर ले चलनेवाली बने।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

इन्द्र-वायु-आदित्य-विष्णु

यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद्वा वायुना भवथः समोकसा।

यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद्वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः॥ १२॥

(१) प्राणसाधना हमें जितेन्द्रिय बनाती है। इस बात को इस रूप में कहते हैं कि हे **अश्विना**=प्राणापानो! आपकी साधना के होने पर समय आता है **यत्**=जब कि **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष के साथ **सरथं याथः**=समान रथ में गति करते हो। शरीर ही रथ है। इसमें जितेन्द्रिय पुरुष का प्राणों के साथ निवास होता है। **यद् वा**=अथवा आप **वायुना**=वायु के साथ (वा गतौ) गतिशील पुरुष के साथ **सं ओकसा**=समान गृहवाले **भवथः**=होते हो। अर्थात् प्राणसाधना हमारे जीवनों को बड़ा क्रियाशील बनाती है। (२) हे प्राणापानो! **यत्**=जब आप **ऋभुभिः**=(उरु भान्ति, ऋतेनभान्ति) खूब ज्ञान-ज्योति से दीप्त होनेवाले **आदित्येभिः**=सब ज्ञानों का आदान करनेवाले पुरुषों के साथ **सजोषसा**=प्रीतियुक्त होते हो, **यद् वा**=अथवा आप **विष्णोः**=व्यापक उन्नति करनेवाले पुरुष के **विक्रमणेषु**=(त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः०) विक्रमणों में, तीन पदों में **तिष्ठथः**=स्थित होते हो। शरीर को 'तैजस' बनाना ही इस विष्णु का प्रथम पद है। मन को 'वैश्वानर' (=सब मनुष्यों के हित की भावनावाला) बनाना दूसरा पद है। मस्तिष्क को 'प्राज्ञ' बनाना तीसरा) ये सब पद प्राणसाधना से ही रखे जाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'जितेन्द्रिय, क्रियाशील, ज्ञानदीप्त व व्यापक उन्नतिवाला (विष्णु)' बनाती है।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

श्रेष्ठं अवः

यद॒द्याश्विना॑व॒हं हु॒वेय॒ वाज॑सातये। यत्पृ॒त्सु तु॒र्वणे॒ सह॒स्तच्छ्रेष्ठ॑म॒श्विनो॒रवः॑॥ १३॥

(१) **यत्**=जब **अद्य**=आज **अहम्**=मैं **अश्विनौ**=प्राणापान का **हुवेय**=आह्वान करूँ, यदि मैं प्राणसाधना में प्रवृत्त होऊँ, तो ये प्राणापान **वाजसातये**=मुझे शक्ति को प्राप्त कराने के लिये हों। (२) **यत्**=क्योंकि प्राणसाधना से **पृत्सु**=संग्रामों में **तुर्वणे**=शत्रुओं के हिंसन के निमित्त **सहः**=बल प्राप्त होता है, **तत्**=सो **अश्विनोः**=इन प्राणापान का **अवः**=रक्षण **श्रेष्ठम्**=श्रेष्ठ है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा शक्ति प्राप्त होती है। शक्ति से शत्रुओं का मर्षण होता है। इस प्रकार प्राणों द्वारा प्राप्त होनेवाला रक्षण श्रेष्ठ है।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'तुर्वश-यदु-कण्व'

आ नू॒नं या॑तमश्विने॒मा ह॒व्यानि॑ वां हि॒ता।
इ॒मे सोमा॑सो॒ अधि॑ तु॒र्वशे॒ यदा॑वि॒मे कण्वे॑षु वा॒मथ॑॥ १४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणपानो! आप **नूनम्**=निश्चय से **आयातम्**=हमें प्राप्त होवो। **इमा**=ये **हव्यानि**=हव्य पदार्थ, यज्ञशेष के रूप में सेवन किये जानेवाले पदार्थ **वां हिता**=आपके लिये निहित हुए हैं। हव्य पदार्थों का सेवन प्राणसाधना के लिये बड़ा सहायक होता है। (२) **अथः इमे**=ये अब **वाम्**=आपके **सोमासः**=सोमकण आपके द्वारा रक्षित होनेवाले सोमकण **तुर्वशे अधि**=शत्रुओं को त्वरा से वश में करनेवाले पुरुष में होते हैं। **यदौ**=यत्नशील पुरुष में, सदा क्रिया में तत्पर पुरुष में इनका निवास होता है। **इमे**=ये सोमकण **कण्वेषु**=मेधावी पुरुषों में निवास करते हैं। प्राणसाधना ही सोमरक्षण के द्वारा हमें 'तुर्वश, यदु वा कण्व' बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ हव्य पदार्थों का ही सेवन अभीष्ट है। प्राणसाधना से सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है। तब हम 'शत्रुओं को वश में करनेवाले यत्नशील व मेधावी' बन

पाते हैं।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'वत्स विमद'

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम्। तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम्॥ १५॥

(१) प्राणापान वासना को विनष्ट करके ज्ञानदीप्ति का साधन बनते हैं, सो इन्हें 'प्रचेतसा' कहा गया है। हे **नासत्या**=हमारे जीवनों से असत्य को दूर करनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जो **पराके**=दूर देश के विषय में तथा **अर्वाके**=समीप क्षेत्र के विषय में **भेषजम्**=औषध **अस्ति**=है। **तेन**=उस औषध के साथ, हे **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञान के साधनभूत प्राणापानो! **नूनम्**=निश्चय से **वत्साय**=इस ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले **विमदाय**=मद व अभिमान से शून्य जीवनवाले इस ऋषि के लिये **छर्दिः**=सुरक्षित गृह को प्राप्त कराओ। (२) यह शरीर ही 'सुरक्षित गृह' है। जब इसमें प्रथम ड्योढ़ी के रूप में स्थित अन्नमयकोश नीरोग होता है तथा तृतीय ड्योढ़ी के रूप में स्थित मनोमयकोश वासनाशून्य होता है तो यह शरीर गृह बड़ा सुन्दर बनता है। इसे ऐसा बनाने के लिये प्राणसाधना ही साधन है। यही प्राणों का 'अर्वाक व पराक' क्षेत्र के विषय में भेषज है। ये प्राण रोगों व वासनाओं पर आक्रमण करके इस गृह को दृढ़ व प्रकाशमय बनाते हैं। प्राणापान ऐसे शरीर गृह को 'वत्स विमद' के लिये प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर के रोग दूर होंगे और मन की वासनायें नष्ट होंगी। इस प्रकार यह शरीर गृह बड़ा सुन्दर बनेगा।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्च्युनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

मतिं रातिम्

अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः। व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः॥ १६॥

(१) **अहम्**=मैं **अश्विनोः**=प्राणापान की **वाचा**=स्तुतिरूप वाणी के द्वारा **देव्या साकम्**=इस प्रकाशमयी ज्ञानवाणी के साथ **प्र अभुत्सि**=प्रबुद्ध हो उठा हूँ। जब प्राणापान के स्तवन व साधन में मैं प्रवृत्त होता हूँ तो मैं ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करता हूँ। (२) हे **देवि**=प्रकाशमयी ज्ञान वाणि! तू **आ**=(गच्छ) हमें प्राप्त हो और **मतिं व्यावः**=हमारी बुद्धि को अज्ञानान्धकारों के आवरणों से रहित कर। तथा **मर्त्येभ्यः**=मनुष्यों के लिये **रातिं वि (आवः=यच्छ)**=धनों को देनेवाली हो।

भावार्थ—प्राणसाधक ज्ञानदीप्ति को तथा आवश्यक धनों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रातःकालीन कार्यक्रम

प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि। प्र यज्ञहोतरानुषक्प्र मदाय श्रवो बृहत्॥ १७॥

(१) हे **उषः**=उषाकाल की देवि! **अश्विना प्रबोधयः**=तू प्राणापान को हमारे में प्रबुद्ध कर। अर्थात् हम प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। हे **देवि**=प्रकाशयुक्त **सूनृते**=प्रिय सत्य वाणीवाली उषे! **महि**=(मह पूजायाम्) पूजा को **प्र (बोधय)**=हमारे में प्रबुद्ध कर। हम प्रातः प्रबुद्ध होकर प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हों। (२) हे **आनुषक्**=निरन्तर **यज्ञहोतः**=यज्ञों में हव्यों को आहुत करनेवाली! तू **प्र**=हमें प्रबुद्ध कर। हम प्रातः यज्ञों को करनेवाले हों। हे उषे! तू **मदाय**=आनन्द को प्राप्त कराने के लिये **बृहत् श्रवः**=बृहत् उत्कृष्ट ज्ञान को **प्र**=हमारे में प्रबुद्ध कर।

भावार्थ—हम प्रातः जागकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। प्राणसाधना के साथ 'प्रभु-पूजन-यज्ञ व स्वाध्याय' को करें।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

नृपाय्यं वर्तिः

यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे। आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम्॥ १८॥

(१) हे **उषः**=उषाकाल की देवि! **यत्**=जब **भानुना**=दीप्ति के साथ **यासि**=तू प्राप्त होती है और **सूर्येण संरोचसे**=सूर्य के साथ सम्यक् दीप्त हो उठती है तो **ह**=निश्चय से **अयम्**=यह **अश्विनोः**=प्राणापान का **रथः**=शरीररूप रथ वह शरीर जिसमें प्राणसाधना प्रवृत्त हुई है, **नृपाय्यं वर्तिः**=मनुष्यों की रक्षा करनेवाले मार्ग पर **आयाति**=गतिवाला होता है। अर्थात् हम उसी मार्ग पर चलना प्रारम्भ करते हैं जो हमें सदा सुरक्षित रखता है, जिस मार्ग पर चलते हुए हम विषयों में फँसकर विनष्ट नहीं हो जाते। (२) 'अश्विनोः रथः' शब्द इस भाव को सुव्यक्त कर रहे हैं कि हमें प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना में अवश्य प्रवृत्त होना है। यह साधना ही हमारे जीवन में मलिनताओं को न आने देगी। प्राणसाधक सदा 'नृपाय्य वर्ति' से शरीर-रथ को ले चलता है।

भावार्थ—उषा के होते ही हम प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना के लिये उद्यत हों। सदा उस मार्ग का आक्रमण करें, जो मनुष्यों का रक्षण करनेवाला है।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

सोमरक्षण व ज्ञानवाणियों का उच्चारण

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः। यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना॥ १९॥

(१) **यद्**=जब **आपीतासः**=शरीर में समन्तात् पिये गये **अंशवः**=सोमकण, **ऊधभिः गावः न**=अपने ऊधसों से गौवों की तरह **दुह्रे**=ज्ञान दुग्ध का हमारे अन्दर दोहन करते हैं। सोमरक्षण से ही बुद्धि की तीव्रता होकर, ज्ञान की वृद्धि होती है। (२) **यद् वा**=और जब **अश्विना**=प्राणापानों के द्वारा (भ्याम्=आ) **देवयन्तः**=दिव्यगुणों की कामनावाले लोग **वाणीः**=इन ज्ञान की वाणियों का **प्र अनूषत**=प्रकर्षेण उच्चारण करते हैं। तभी गत मन्त्र के अनुसार यह प्राणापान का रथ उस मार्ग पर चलता है, जो मनुष्यों का रक्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण होकर बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होती है। उसी समय ज्ञान की वाणियों का उच्चारण होता है।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'द्युम्न-शवस्-शर्म-दक्ष'

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे। प्र दक्षाय प्रचेतसा॥ २०॥

(१) हे **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञान को प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! आप हमारी **द्युम्नाय**=ज्ञान-ज्योति के लिये **प्र (भवतम्)**=होवो। **शवसे**=बल के लिये **प्र (भवतम्)**=होवो। (२) इसी प्रकार **नृषाह्याय**=शत्रु नायकों का, काम-क्रोध-लोभरूप शत्रु सेनापतियों का पराभव करनेवाले **शर्मणे**=सुख के लिये **प्र (भवतम्)**=होइये और **दक्षाय**=(growth) सब प्रकार की उन्नति के लिये **प्र (भवतम्)**=होइये।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हमें 'ज्ञान-बल-शत्रु पराजय जनित सुख व विकास' प्राप्त हो।

ऋषिः—शशकर्णः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

धीभिः-सुम्नेभिः

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः। यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या॥ २१॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यत्**=क्योंकि **धीभिः**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के द्वारा **पितुः योनाः**=उस परमपिता प्रभु के गृह में **निषीदथः**=आसीन होते हो, अर्थात् आपकी साधना के द्वारा मल-क्षय व ज्ञानदीप्ति होकर प्रभु का दर्शन होता है। **यद् वा**=अथवा **सुम्नेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा आप ब्रह्मलोक में निवास कराते हो, सो **उक्थ्या**=आप स्तुत्य होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से बुद्धि का विकास होता है, स्तुति की प्रवृत्ति जागरित होती है। ये बुद्धि व स्तुति हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

यह प्रभु का स्तवन करनेवाला 'प्रगाथ' कहलाता है। यह 'काण्व'=अत्यन्त मेधावी तो है ही। यह अगले सूक्त का ऋषि है। यह 'अश्विनौ' का आराधन करता हुआ कहता है कि—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

यज्ञ-ज्ञान व प्रभु का उपासन

यत्स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद्वादो रोचने दिवः। यद्वा समुद्रे अध्याकृते गृहेऽत आ यातमश्विना॥ १॥

(१) वैदिक संस्कृति में यह पृथिवी 'देव-यजनी' कही गयी है, यह देवों के यज्ञ करने का स्थान है। 'दीर्घ अस्थताः प्रसप्रानः यज्ञगृहाः यस्मिन्'। हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=यदि आप **दीर्घप्रसद्मनि**=इस विस्तृत यज्ञ गृहोंवाले पृथिवीलोक में **स्थः**=हो। **यद् वा**=अथवा यदि **अदः**=उस **दिवः**=द्युलोक के **रोचने**=दीप्त स्थान में आप हो। **यद् वा**=अथवा यदि **समुद्रे अधि**=(स मुद्) आनन्द से युक्त हृदयान्तरिक्ष में **आकृते**=बनाये हुए **गृहे**=घर में हो **अतः**=इस दृष्टिकोण से हे प्राणापानो! आप हमें **आयातम्**=प्राप्त होवो। (२) प्राणसाधना करनेवाला पुरुष अपने गृह को यज्ञगृह बनाने का प्रयत्न करता है। उसे यह स्मरण रहता है कि 'हविर्धानम्' अग्निहोत्र का कमरा उसके घर का प्रमुख कमरा होता है। यह प्राणसाधक ज्ञान दीप्त मस्तिष्करूप द्युलोक में निवास करता है। तथा यह साधक अपने हृदय को प्रभु का गृह (मन्दिर) बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—प्राणसाधक का घर 'यज्ञ-घर' बनता है, इसका मस्तिष्क दीप्त होता है, और इसका हृदय प्रभु का निवास-स्थान बनता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'यज्ञ-ज्ञान व दिव्य गुण'

यद्वा यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुरेवेत्काण्वस्य बोधतम्।
बृहस्पतिं विश्वान्देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा॥ २॥

(१) हे प्राणापानो! आप **यद्**=जब **वा**=निश्चय से **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **यज्ञम्**=यज्ञ को **संमिमिक्षथुः**=सिक्त करते हो, इसके जीवन को यज्ञमय बना देते हो, तो उस समय **एवा इत्**=इस प्रकार निश्चय से **काण्वस्य**=इस मेधावी पुरुष का **बोधतम्**=पूरी तरह ध्यान करते हो, इसका रक्षण करते हो। (२) हे **आशुहेषसा**=इन्द्रियाश्वों को शीघ्रता से कार्यों में प्रेरित करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **अहम्**=मैं आपकी साधना द्वारा **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के अधिष्ठातृदेव प्रभु को

हुवे=पुकारता हूँ। इस ज्ञान के द्वारा **विश्वान् देवान्**=सब देवों को पुकारता हूँ और **इन्द्राविष्णू**=सब देवों में भी विशेषकर इन्द्र और विष्णु को पुकारता हूँ। सब दिव्यगुणों को धारण करता हुआ विशेषतया जितेन्द्रियता व व्यापकता के धारण का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय बने। हम प्राणसाधना करते हुए 'ज्ञान, दिव्यगुणों, जितेन्द्रियता व उदारता' की ओर झुकें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिगनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

सुदंससा-गृभेकृता

त्या न्व१श्विना हुवे सुदंससा गृभे कृता। ययोरस्ति प्र णः सख्यं देवेष्वध्याप्यम्॥ ३॥

(१) **त्या**=उन **अश्विना**=प्राणापान को **हुवे**=पुकारता हूँ, जो **सुदंससा**=शोभन कर्मवाले हैं। **गृभे**=सद्गुणों के ग्रहण के लिये **कृता**=किये गये हैं। इन प्राणों की साधना के द्वारा ही हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित होते हैं और सद्गुणों के ग्रहण करनेवाले बनते हैं। (२) **ययोः**=जिन प्राणों में **नः**=हमारा **सख्यम्**=मित्रभाव **प्र अस्ति**=प्रकर्षेण है, वे प्राणापान ही **देवेषु अधि**=दिव्यगुणों में **आप्यम्**=मित्रता के कारण बनते हैं। प्राणसाधना के द्वारा ही हम सब दिव्यगुणों को अपने में विकसित कर पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और सद्गुणों को ग्रहण कर पाते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिक् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'यज्ञ स्तवन सोमरक्षण व आत्मधारण शक्ति'

ययोरधि प्र यज्ञा असूरे सन्ति सूरयः।
ता यज्ञस्याध्वरस्य प्रचेतसा स्वधाभिर्या पिबतः सोम्यं मधु॥ ४॥

(१) वे प्राणापान **ययोः अधि**=जिन में **यज्ञाः**=यज्ञ **प्र सन्ति**=प्रकर्षेण निवास करते हैं जिनकी साधना के होने पर **असूरे**=स्तोतृरहित स्थान में भी **सूरयः**=स्तोता लोग **सन्ति**=हो जाते हैं। अर्थात् ये प्राणापान हमें यज्ञों में प्रवृत्त करते हैं और इनकी साधना के द्वारा हमारे में स्तुति की वृत्ति उत्पन्न होती है। (२) **ता**=वे प्राणापान **अध्वरस्य यज्ञस्य**=हिंसारहित यज्ञों के **प्रचेतसा**=प्रकर्षेण चेतानेवाले होते हैं। **यः**=जो प्राणापान **स्वधाभिः**=आत्मधारण शक्तियों के हेतु से **सोम्यं मधु**=सोम सम्बन्धी मधु का **पिबतः**=पान करते हैं। शरीर में सोम को सुरक्षित करके ये प्राणापान ही हमें आत्मधारण शक्ति प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर जीवन में 'यज्ञ, प्रभु-स्तवन, सोमरक्षण व आत्मधारण शक्ति' का प्रादुर्भाव होता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'द्रुह्यु अनु तुर्वश यदु'

यदद्याश्विनावपाग्यत्प्राक्स्थो वाजिनीवसू। यद् द्रुह्यव्यनवि तुर्वशे यदौ हुवे वामथ मा गतम्॥ ५॥

(१) हे **वाजिनीवसू**=शक्ति रूप धनवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जो आप **अद्य**=आज **अपाक्**=अधः प्रदेश में **स्थः**=हो व **यत्**=जो **प्राक्स्थः**=ऊपरले प्रदेश में हो, **वाम्**=आपको **हुवे**=मैं पुकारता हूँ, आप **मा आगतम्**=मुझे प्राप्त होवो। अपान का कार्यक्षेत्र नीचे है और प्राणों

का ऊपर। मैं इन दोनों का (आह्वान) करता हूँ। ये मुझे प्राप्त हों। अपान द्वारा दोष निराकरण का कार्य हो, प्राण के द्वारा मेरे में बल संचार का कार्य चले। (२) अब **यद्**=जब **द्रुह्यवि**=(द्रुह जिघांसायाम्) काम-क्रोध-लोभ का संहार करनेवाले में आप होते हो, **अनवि**=प्राणशक्ति सम्पन्न में आप होते हो, **तुर्वशे**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाले में आप होते हो तथा **यदौ**=यत्नशील पुरुष में आप होते हो। ऐसे आपको मैं पुकारता हूँ। आपकी आराधना ही वस्तुतः मुझे 'द्रुह्यु, अनु, तुर्वश व यदु' बनाती है।

भावार्थ—प्राणापान का कार्य क्रमशः प्राग्भाग में व अपाग्भाग में चलता है। ये हमें 'शत्रुओं का संहार करनेवाला, प्राणशक्ति सम्पन्न व यत्नशील' बनाते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—आर्षीस्वराड्बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

स्वधा

यद॒न्तरि॑क्षे॒ पत॑थः पुरुभुजा॒ यद्वे॒मे रोद॑सी॒ अनु॑। यद्वा॑ स्व॒धाभि॑र्धि॒तिष्ठ॑थो॒ रथ॒मत॒ आ या॑तमश्विना ॥ ६ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यत्**=क्योंकि **अन्तरिक्षे पतथः**=हृदयान्तरिक्ष गतिवाले होते हो और **पुरुयुजा**=खूब ही हमारा पालन करनेवाले होते हो, **अतः**=इसलिए **आयातम्**=आप हमें प्राप्त होओ। प्राणापान ही हृदय में गति करते हुए हमारा पालन करते हैं। (२) और हे प्राणापानो! आप ही **यद्वा**=क्योंकि निश्चय से **इमे रोदसी अनु**=इन द्यावापृथिवी के, मस्तिष्क व शरीर के अनुकूल होते हो। आप ही मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाते हो तथा शरीर को शक्ति-सम्पन्न करते हो। **यद्वा**=और क्योंकि आप ही **स्वधाभिः**=आत्मधारण शक्तियों के साथ **रथं अधितिष्ठथः**=शरीर-रथ में अधिष्ठित होते हो, इसलिए आप हमें प्राप्त होवो।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'हृदयान्तरिक्ष, मस्तिष्क व शरीर' सब उत्तम बनते हैं। प्राणसाधना ही आत्मधारण शक्ति को प्राप्त कराती है।

इस प्रकार 'हृदय, शरीर व मस्तिष्क' सभी को उत्तम बनानेवाला यह साधक प्रभु का प्रिय 'वत्स' होता है। यह अत्यन्त मेधावी 'काण्व' है। यह अग्नि नाम से प्रभु की उपासना करता है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—वत्सः काण्वः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिग्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

○ 'व्रतपा-देव-ईड्य' प्रभु

त्वम॑ग्ने व्रत॒पा अ॑सि दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा। त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑ ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **व्रतपाः असि**=ब्रह्माण्ड में कार्य कर रहे सब नियमों के पालक हैं। सूर्य, चन्द्र व सभी नक्षत्र आदि पिण्ड आप से बनाये नियमों के अनुसार मार्ग का आक्रमण कर रहे हैं। (२) आप ही **मर्त्येषु**=इन सब मनुष्यों में भी **आ**=सब ओर **देवः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। हृदयस्थरूपेण सभी को आप प्रेरणा देते हुए मार्ग का दर्शन कराते हैं। (३) **त्वम्**=आप ही **आ**=चारों ओर **यज्ञेषु**=यज्ञों के अन्दर **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं वस्तुतः आप से प्राप्त करायी गयी प्रेरणा व शक्ति से ही यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं।

भावार्थ—सारे ब्रह्माण्ड को नियम में चलानेवाले वे प्रभु हैं। हृदयस्थरूपेण सब मनुष्यों को प्रभु ही प्रकाश प्राप्त कराते हैं। सब यज्ञों में प्रभु ही उपास्य हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—वर्धमानागायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'युद्धों में व यज्ञों में' उपास्य प्रभु

त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य। अग्ने रथीरध्वराणाम्॥ २॥

(१) हे **सहन्त्य**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही **विथेषु**=संग्रामों में (विदथः battle) **प्रशस्यः**=प्रशंसा के योग्य होते हैं। आप से ही शक्ति को प्राप्त करके हम शत्रुओं का शातन (=संहार) कर पाते हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप ही **अध्वराणाम्**=सब हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के **रथीः**=प्रणेता हैं। आप के रक्षण में ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ही संग्रामों में विजय प्राप्त होती है और प्रभु के रक्षण से ही सब यज्ञ पूर्ण होते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'द्वेष व अदान' से दूर

स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि जातवेदः। अदेवीरग्ने अरातीः॥ ३॥

(१) हे **जातवेदः**=सब के अन्दर वर्तमान (जाते जाते विद्यते) सर्वज्ञ (जातं जातं वेत्ति) प्रभो! **स त्वम्**=वे आप **अस्मत्**=हमारे से **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अपयुयोधि**=सुदूर पृथक् करिये। सब में आपकी उपस्थिति को देखते हुए हम द्वेष की भावना से दूर रहें। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **अदेवाः**=दिव्य भावनाओं की विनाशक **अरातीः**=अदान की वृत्तियों को भी हमारे से दूर करिये।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करते हुए हम द्वेष व अदान (कृपणता) की वृत्ति से दूर रहें।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रिपु से किया गया 'यज्ञ' यज्ञ नहीं

अन्ति चित्सन्तमह यज्ञं मर्तस्य रिपोः। नोप वेषि जातवेदः॥ ४॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **अन्ति चित् सन्तम्**=अत्यन्त समीप होते हुए भी, अर्थात् अतिप्रिय होते हुए भी **यज्ञम्**=यज्ञ को **अह**=निश्चय से **न उपवेषि**=नहीं चाहते। यह यज्ञ आपको प्रिय नहीं होता, यदि यह **रिपोः मर्तस्य**=शत्रुभूत मनुष्य का होता है। अर्थात् जो मनुष्य औरों के साथ शत्रुता करता रहता है, उसका यज्ञ आपको प्रिय नहीं होता। (२) यज्ञों के द्वारा प्रभु-पूजन अवश्य होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। परन्तु इन यज्ञों को करते हुए हमें देववृत्ति का बनना है। हम पड़ोसियों के साथ वैरभाव रखते हुए यज्ञों से प्रभु को रिझा नहीं सकते।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनकर, शत्रुता को तिलाञ्जलि देकर यज्ञों को करें। ये ही यज्ञ हमें प्रभु का प्रिय बनायेंगे।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अमर्त्य जातवेदस्' का स्मरण

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे। विप्रासो जातवेदसः॥ ५॥

(१) **मर्ताः**=मरणधर्मा होते हुए हम **अमर्त्यस्य**=अमर आपके **नाम**=नाम को **भूरि मनामहे**=खूब ही मनन का विषय बनाते हैं। वस्तुतः अमर्त्य स्वरूप में आपका चिन्तन करते हुए हम भी 'अमर्त्य' बनने के लिये यत्नशील होते हैं। (२) हे प्रभो! **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करने

का प्रयत्न करनेवाले हम **जातवेदसः**=सर्वज्ञ आपका स्मरण करते हैं। सर्वज्ञरूप में आपका स्मरण करते हुए हम भी अधिक से अधिक ज्ञानी बनने का यत्न करते हैं। यह ज्ञान ही हमारी न्यूनताओं को दूर करके हमारे पूरण का साधन बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु को 'अमर्त्य जातवेदा' के रूप में स्मरण करते हुये अधिक से अधिक ज्ञान को प्राप्त करें और इस ज्ञान के द्वारा सब कमियों को भस्म करते हुए अमर्त्य बनने के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अवस् व ऊति

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये। अग्निं गीर्भिर्हवामहे॥ ६॥

(१) **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले हम **विप्रम्**=हमारा पूरण करनेवाले ज्ञानी प्रभु को **अवसे**=(fame, wealth) यश व धन के लिये **हवामहे**=पुकारते हैं। यश को प्राप्त करने के लिये हमें अपना पूरण करने की प्रेरणा मिले। धन के द्वारा हम पूर्ति के सब साधनों को जुटानेवाले हों। (२) हम **मर्तासः**=मरणधर्मा पुरुष **ऊतये**=रक्षण के लिये **देवम्**=उन रोगों व वासनाओं को जीतने की कामनावाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु ही हमारे रोगों व हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं। (३) हम **गीर्भिः**=ज्ञान वाणियों के द्वारा **अग्निम्**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु हमें ज्ञान देते हैं और इस प्रकार हमें उन्नत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु से हम यश, धन व रक्षण प्राप्त करें। प्रभु ज्ञान की वाणियों के द्वारा हमें निरन्तर उन्नत करते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

स्तवन-मन का नियमन-मोक्ष

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्। अग्ने त्वांकामया गिरा॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **ते वत्सः**=आपका प्रिय यह साधक **परमात् चित् सधस्थात्**=सर्वोत्कृष्ट सह-स्थानरूप मोक्ष से, इस मोक्ष को प्राप्त करने के हेतु से **मनः आयमत्**=मन को सर्वथा वश में करता है। (२) हे प्रभो! **त्वां कामया**=आपको ही चाहनेवाली **गिरा**=स्तुति वाणी के द्वारा यह साधक मन को वश में करता है। यह मन का नियमन ही सर्वमहान् साधना है। प्रभु की स्तुति वाणियों का उच्चारण मनोनिरोध का साधन बनता है। निरुद्ध मन मोक्ष को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन मनोनिरोध का उपाय बने। निरुद्ध मन मोक्ष प्राप्ति का कारण हो।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

संग्राम विजय

पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे॥ ८॥

(१) हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **पुरुत्रा**=इन बहुत स्थानों में **सदृङ् असि**=समान रूप से दिखनेवाले हैं। सर्वत्र समान रूप से आपकी स्थिति है। आप **विश्वाः**=सब **विशः अनु**=प्रजाओं का लक्ष्य करके **प्रभुः**=प्रभाव को पैदा करनेवाले हैं। सब को शक्ति देनेवाले आप ही हैं। (२) **समत्सु**=संग्रामों में **त्वा हवामहे**=हम आपको ही पुकारते हैं। आपने ही इन संग्रामों में हमें विजय

प्राप्त करानी है, आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही उपासक काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित कर पाता है।

भावार्थ-प्रभु सर्वत्र समान रूप से स्थित हैं, सब प्रजाओं को शक्ति प्राप्त कराते हैं, संग्रामों में हम प्रभु को ही पुकारते हैं, प्रभु ही तो हमें विजयी बनायेंगे।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'चित्रराधस्' प्रभु का आवाहन

समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे। वाजेषु चित्रराधसम्॥ ९॥

(१) **समत्सु**=संग्रामों में **वाजयन्तः**=बल की कामनावाले होते हुए हम **अवसे**=यश (fame) के लिये, विजय श्री को प्राप्त करने के लिये **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु ने ही तो हमें इन संग्रामों में इस विजय श्री को प्राप्त कराना है। (२) **वाजेषु**=संग्रामों में **चित्रराधसम्**=चायनीय, अद्भुत-धन को प्राप्त करानेवाले प्रभु को हम पुकारते हैं। प्रभु ही हमें इन संग्रामों में अद्भुत सफलताओं को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ-हम उस चित्रराधस् अद्भुत धनों के स्वामी प्रभु का आवाहन करते हैं। ये प्रभु ही हमें युद्धों में विजय प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वत्सः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

मैं प्रभु का शरीर बनूँ

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रयस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व॥ १०॥

(१) हे प्रभो! आप **प्रत्नः**=सनातन पुरुष हैं। **हि**=निश्चय से **कम्**=आनन्दस्वरूप हैं। **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं। **च**=और **सनात्**=सदा से **अध्वरेषु**=इन हिंसारहित कर्मों में **होता**=होता है, हमारे लिये सब कुछ देनेवाले हैं (हु दाने)। आप के द्वारा ही हम इन अध्वरों को कर पाते हैं। **च**=और **नव्यः सत्सि**=स्तुत्य होते हुए आप हमारे हृदयों में आसीन होते हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **स्वां तन्वम्**=अपने इस शरीरभूत मुझ को **च**=अवश्य **पिप्रयस्व**=प्रीणित करिये। आप से सब प्रकार के स्वास्थ्य को प्राप्त करके मैं तृप्ति का अनुभव करूँ। **च**=और हे प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **सौभगम्**=सुभगत्व को **आयजस्व**=सर्वथा संगत करिये। आपके अनुग्रह से मैं 'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्य' रूप भग को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ-प्रभु ही सदा से ईड्य व स्तुत्य हैं। मैं प्रभु का शरीर बनूँ, प्रभु को अपनी आत्मा समझूँ। प्रभु मेरे लिये सभी सौभाग्यों को प्राप्त करायें।

प्रभु के उपासन से अपना पूरण करता हुआ मैं 'पर्वत' बनूँ। पर्वत बननेवाला ही 'काण्व'=मेधावी है। यह इन्द्र का आराधन करता हुआ कहता है-

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'सोमपातमः' मदः

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति। येना हंसि न्यत्रिणं तमीमहे॥ १॥

(१) हे **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन् **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विदारक प्रभो! **यः**=जो

सोमपातमः=अतिशेयन सोम का पान करनेवाला **मदः**=उल्लास **चेतति**=जाना जाता है, **तम्**=उस मद को **ईमहे**=हम माँगते हैं। अर्थात् हम प्रभु की उपासना करते हुए सोमरक्षण से होनेवाले मद को प्राप्त हों। (२) हे इन्द्र! हमें आप उस सोमरक्षण जनित मद को प्राप्त कराइये **येन**=जिससे कि आप **अत्रिणम्**=(अद भक्षणे) हमें खा ही जानेवाली वासनाओं को **निहंसि**=निश्चय से विनष्ट करते हैं। सोमरक्षण से शरीरस्थ रोगों के नाश की तरह हृदयस्थ वासनाओं का भी विनाश होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण द्वारा हम सोम का रक्षण करते हुए उल्लासमय जीवनवाले हों और हमारा विनाश करनेवाली वासनाओं को सुदूर विनष्ट कर डालें।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

दशग्व-समुद्र

येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्। येना समुद्रमाविथा तमीमहे॥ २॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित **येन**=जिस 'सोमपातम मद' से, हे प्रभो! आप **दशग्वम्**=दसवें दश तक जानेवाले, अर्थात् सौ वर्ष तक दीर्घ जीवन को प्राप्त करनेवाले इस आराधक को **आविथ**=रक्षित करते हो **तं ईमहे**=उस मद को हम आप से माँगते हैं। सोमरक्षण के द्वारा उल्लासमय होते हुए हम शतवर्ष जीवी बनें। (२) हे प्रभो! आप जिस मद से **अध्रिगुम्**=अधृतगमनवाले, मार्ग पर चलते समय वासना रूप विघ्नों से न रुक जानेवाले पुरुष को रक्षित करते हो, उसे हम चाहते हैं। जिस मद से आप **वेपयन्तम्**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले पुरुष को रक्षित करते हो, और जिससे **स्वर्णरम्**=प्रकाश की ओर अपने को ले जानेवाले पुरुष को आप रक्षित करते हो, उस मद को हम चाहते हैं। (३) हम उस मद को चाहते हैं **येना**=जिससे आप **समुद्रम्**=(स+मुद्) आनन्दित रहनेवाले पुरुष को रक्षित करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से जनित उल्लास हमें दीर्घजीवी, अधृतगमन, शत्रुओं को कम्पित करनेवाला, प्रकाश की ओर चलनेवाला व आनन्दमय मनोवृत्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

सोमरक्षण के चार लाभ

येन सिन्धुं महीरपो रथाँइव प्रचोदयः। पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे॥ ३॥

(१) **येन**=जिस सोमपानजनित मद से, हे प्रभो! **सिन्धुम्**=ज्ञान नदी को, **महीः अपः**=महत्त्वपूर्ण कर्मों को **रथान् इव**=शरीर-रथों को जैसे लक्ष्य की ओर उसी प्रकार **प्रचोदयः**=आप प्रेरित करते हो **तं ईमहे**=उस मद की हम याचना करते हैं। अर्थात् यह सोमपानजनित मद (क) हमारे अन्दर ज्ञानेन्द्रियों को प्रवाहित करता है, (ख) इससे हमारे कर्म उत्तम होते हैं, (ग) हमारे शरीर-रथ लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। (२) हम इसलिए इस सोमपानजनित मद की साधना करते हैं कि **ऋतस्य**=यज्ञ के व सत्य के **पन्थां यातवे**=मार्ग पर हम चलनेवाले हों।

भावार्थ—सोमरक्षण के चार लाभ हैं—ज्ञान प्राप्ति, उत्तम कर्म, शरीर-रथ का लक्ष्य की ओर बढ़ना तथा ऋत के मार्ग का आक्रमण।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु-स्तवन के तीन लाभ

इमं स्तोममभिष्टये घृतं न पूतमद्रिवः। येना नु सद्य ओजसा ववक्षिथ॥ ४॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! **इमं स्तोमम्**=इस स्तोत्र को आप हमें प्राप्त कराइये। यह स्तोत्र **अभिष्टये**=हमारे इष्टों की प्राप्ति के लिये हो। **घृतं न पूतम्**=यह स्तोम घृत के समान पवित्र हो। घृत जैसे मलों के क्षरण के द्वारा शरीर को दीप्त करता है, इसी प्रकार यह स्तोम हमारे मानस मलों को दूर करके हमें दीप्त-ज्ञानवाला बनाये। (२) हे प्रभो! हमें वह स्तोम प्राप्त कराइये, **येन**=जिससे **नु**=अब **सद्यः**=शीघ्र ही **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **ववक्षिथ**=(वहसि) आप हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन इष्ट को प्राप्त कराता है, हमें पवित्र दीप्त जीवनवाला बनाता है, और ओजस्विता को देता हुआ लक्ष्य-स्थान की ओर ले चलता है।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

हृदय में स्तुति तरंगों का उत्थान

इमं जुषस्व गिर्वणः समुद्रइव पिन्वते। इन्द्र विश्वाभिरूतिभिर्ववक्षिथ॥ ५॥

(१) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा सम्भजनीय प्रभो! **इमं जुषस्व**=इस हमारे से की जानेवाली स्तुति का सेवन करिये, यह आपके लिये प्रिय हो। यह स्तुति **समुद्रः इव**=समुद्र की तरह **पिन्वते**=वृद्धि को प्राप्त होती है। चन्द्रोदय से जैसे समुद्र में ज्वार आती है, उसी प्रकार आपका चिन्तन मेरे में स्तुति तरंगों के उत्थान का कारण बनता है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के साथ आप **ववक्षिथ**=(वहसि) हमारे लिये सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—प्रभु का चिन्तन हमारे हृदयों में प्रभु-स्तवन की वृत्ति को अधिकाधिक बढ़ाये। प्रभु हमें रक्षणों व ऐश्वर्यों को प्राप्त करायें।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु के साथ मित्रता

यो नो देवः परावतः सखित्वनाय मामहे। दिवो न वृष्टिं प्रथयन्ववक्षिथ॥ ६॥

(१) **यः**=जो **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **परावतः**=दूर से दूर देश में वर्तमान हैं, सर्वत्र जिनकी सत्ता है। वह प्रभु **नः**=हमारे लिये **सखित्वनाय**=मित्र-भाव के लिये **मामहे**=पूजित होते हैं। (२) हे प्रभो! आप **दिवः वृष्टिं न**=द्युलोक से वर्षा के समान **प्रथयन्**=हमारे लिये सब ऐश्वर्यों का विस्तार करते हुए **ववक्षिथ**=(वहसि) ऐश्वर्यों को हमें प्राप्त कराते हो।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन द्वारा प्रभु-मैत्री के लिये यत्नशील हों। प्रभु प्राप्ति में ही सब ऐश्वर्यों की प्राप्ति है।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

केतवः-वज्रः

ववक्षुरस्य केतव उत वज्रो गभस्त्योः। यत्सूर्यो न रोदसी अवर्धयत्॥ ७॥

(१) **अस्य**=इस प्रभु के **केतवः**=प्रज्ञान **ववक्षुः**=हमारे लिये कल्याणों को प्राप्त कराते हैं। **उत**=और **गभस्त्योः**=बाहुवों में **वज्रः**=यह क्रियाशीलता रूप वज्र कल्याण को प्राप्त कराता है। अर्थात् प्रभु प्रदत्त प्रज्ञान को प्राप्त करके, तदनुसार क्रियाशील जीवनवाले बनकर ही हम कल्याण को प्राप्त करते हैं। (२) **यत्**=जब **सूर्यः न**=सूर्य के समान वे प्रभु (आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्) **रोदसी अवर्धयत्**=हमारे द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का वर्धन करते हैं। प्रभु का प्रज्ञान

हमारे मस्तिष्क को दीप्त करता है, तो यह वज्र (क्रियाशीलता) हमारे शरीर को सबल बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान व क्रियाशीलता ही उत्थान के प्रमुख साधन हैं। मस्तिष्क में प्रज्ञान, हाथों में क्रियाशीलता रूप वज्र ही हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

महिषासुर विनाश

यदि॑ प्रवृद्ध सत्पते स॒हस्रं॑ महि॒षाँ अघः॑। आदित्त॑ इन्द्रि॒यं महि॒ प्र वा॑वृधे॥ ८॥

(१) हे **प्रवृद्ध**=सब दृष्टिकोणों से बढ़े हुए, प्रत्येक गुण की चरमसीमा रूप **सत्पते**=उत्तमताओं के रक्षक प्रभो! **यदि**=यदि **सहस्रम्**=इन अनेक संख्याओंवाले **महिषान्**=महान् आसुरभावों को **अघः**=नष्ट करते हैं। **आत् इत्**=तब ही **ते**=आपका दिया हुआ यह **इन्द्रिय**=बल **महि प्रवावृधे**=खूब वृद्धि को प्राप्त करता है। (२) जब उपासक प्रभु का चिन्तन करता है तो वह प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होकर आसुरभावों को विनष्ट कर पाता है। यह आसुरभाव विनाश उसकी वास्तविक शक्ति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम आसुरभावों का विनाश करते हुए शक्ति का वर्धन करें।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

अर्शसान-दहन

इन्द्रः॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒र्न्यर्शसा॒नमो॑षति। अ॒ग्निर्वने॑व सास॒हिः प्र वा॑वृधे॥ ९॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सूर्यस्य**=ज्ञानसूर्य की **रश्मिभिः**=किरणों से **अर्शसानम्**=राक्षसीभावों को **नि ओषति**=नितरां दग्ध करता है। इस प्रकार दग्ध करता है कि **इव**=जैसे **अग्निः वना**=आग वनों को दग्ध करती है। ज्ञानाग्नि में सब वासनाओं के झाड़-झंकाड़ जल जाते हैं। (२) **सासहिः**=यह राक्षसीभावों को कुचलनेवाला पुरुष **प्रवावृधे**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त होता है। राक्षसीभावों का विनाश ज्ञानवृद्धि द्वारा ही होता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर ज्ञान को बढ़ाते हुए, आसुरीभावों को विनष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'ऋत्वियावती नवीयसी' धीतिः

इ॒यं त॑ ऋ॒त्विया॑वती धी॒तिरे॑ति॒ नवी॑यसी। स॒प॒र्यन्ती॑ पुरुप्रि॒या मिमी॑त॒ इत्॥ १०॥

(१) **इयम्**=यह **ते धीतिः**=आपकी स्तुति **एति**=मुझे प्राप्त होती है। मैं आपका स्तवन करनेवाला बनता हूँ। वह स्तुति मुझे प्राप्त होती है जो **ऋत्वियावती**=ऋत्विय कर्मों से युक्त है, अर्थात् आपके स्तवन के साथ मैं समय-समय पर किये जाने योग्य कर्मों को करनेवाला होता हूँ। अतएव यह स्तुति **नवीयसी**=मेरे जीवन को प्रशस्यतर बनानेवाली होती है (नव=नु स्तुतौ)। (२) यह स्तुति **सपर्यन्ती**=आपका पूजन करती हुई, **पुरुप्रिया**=खूब ही प्रीणित करनेवाली होती है और **इत्**=निश्चय से **मिमीते**=हमारे जीवनों का उत्तम निर्माण करती है।

भावार्थ—कर्त्तव्य कर्मों से युक्त प्रभु-स्तवन हमारे जीवनों को प्रशस्त बनाता है।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

गर्भो यज्ञस्य, देवयुः

गर्भो॑ य॒ज्ञस्य॑ देव॒युः क्रतुं॑ पुनीत आनु॒षक्। स्तोमै॒रिन्द्र॑स्य वावृधे॒ मिमी॑त॒ इत्॥ ११॥

(१) **यज्ञस्य गर्भः**=यज्ञ का ग्रहण करनेवाला, सदा यज्ञशील, **देवयुः**=दिव्य गुणों को अपने साथ जोड़ने की कामनावाला यह स्तोता **आनुषक्**=निरन्तर **क्रतुम्**=अपनी शक्ति व प्रज्ञान को **पुनीते**=पवित्र करता है सदा यज्ञों में प्रवृत्त रहने से उसकी शक्ति बढ़ती है और प्रभु प्राप्ति की कामना उसे ज्ञानदीप्त बनाती है। (२) यह व्यक्ति **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **स्तोमैः**=स्तोत्रों से **वावृधे**=वृद्धि को प्राप्त करता है और **इत्**=निश्चय से **मिमीते**=अपने जीवन का निर्माण करता है। प्रभु का स्तवन उसे प्रभु जैसा बनने की प्रेरणा देता है और इस प्रकार उसके जीवन का सुन्दर निर्माण होता है।

भावार्थ–हम यज्ञशील बनें, दिव्यगुणों को अपनाने की कामना करें, प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों। यही जीवन-निर्माण का मार्ग है।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

मित्रस्य सनिः पप्रथे

सनिर्मित्रस्य पप्रथ इन्द्रः सोमस्य पीतये। प्राची वाशीव सुन्वते मिमीत इत्॥ १२॥

(१) **मित्रस्य**=उस 'प्रमीतेः त्रायते'=पापों से बचानेवाले प्रभु का **सनिः**=सम्भजन करनेवाला **पप्रथे**=विस्तृत होता है, अपनी शक्तियों का यह विस्तार करनेवाला होता है। **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **सोमस्य पीतये**=सोम के पान के लिये होता है, अर्थात् सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता है। इस सोमरक्षण के द्वारा ही तो उसकी शक्तियों का विस्तार होता है। (२) इस **सुन्वते**=सोम का सम्पादन करनेवाले के लिये **वाशी**=यह वेदवाणी **प्राची इव**=(प्राङ् अञ्चति) आगे और आगे गतिवाली होती है। वेदवाणी इस सुन्वन् पुरुष की वृद्धि का कारण बनती है। यह वेदवाणी **इत्**=निश्चय से **मिमीते**=इसके जीवन का निर्माण करती है।

भावार्थ–प्रभु का सम्भजन करनेवाला अपनी शक्तियों का विस्तार करता है। यह जितेन्द्रिय पुरुष सोम का अपने अन्दर रक्षण करता है। वेदवाणी इसके जीवन में अग्रगति का कारण बनती है।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

विप्र-उक्थवाहस्-आयु

यं विप्रा उक्थवाहसोऽभिप्रमन्दुरायवः। घृतं न पिप्य आसन्यृतस्य यत्॥ १३॥

(१) **यम्**=जिस ज्ञान को **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले, **उक्थवाहसः**=स्तोत्रों का धारण करनेवाले **आयवः**=गतिशील मनुष्य **अभिप्रमन्दुः**=प्रशंसित करते हैं, जिस ज्ञान की महिमा का प्रतिपादन ये 'विप्र-उक्थवाहस्-आयु' करते हैं, मैं उस **घृतं न**=घृत के समान 'मलक्षरण व दीप्ति' को प्राप्त करानेवाले ज्ञान को **आसनि**=अपने मुख में **पिप्ये**=आप्यायित करता हूँ। उस ज्ञान को अपने में आप्यायित करता हूँ, **यत्**=जो **ऋतस्य**=सत्य का है। (२) प्रभु से दिया गया वेदज्ञान 'सत्य ज्ञान' है, इसे मैं अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न करता हूँ। बढ़ा तभी पाता हूँ जब मैं 'विप्र उक्थवाहस् व आयु' बनता हूँ।

भावार्थ–हमारे में अपना पूरण करने की वृत्ति हो, स्तुति को हम करनेवाले बनें, गतिशील हों। ऐसा होने पर हम सत्य ज्ञान को देनेवाली वेदवाणी को धारण करेंगे। यह हमारे मलों का क्षरण करती हुई हमें दीप्त जीवनवाला बनायेगी।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

पुरुप्रशस्त सोम

उत स्वराजे अदितिः स्तोममिन्द्राय जीजनत्। पुरुप्रशस्तमूतय ऋतस्य यत्॥ १४॥

(१) **उत**=और **अदितिः**=(अ-दितिः, दो अवखण्डने) व्रतमय जीवनवाला, व्रतों को न तोड़नेवाला यह पुरुष **स्वराजे**=स्वयं देदीप्यमान, किसी अन्य से दीप्ति को न प्राप्त करनेवाले **इन्द्राय**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभु के लिये **स्तोमम्**=स्तुति को **जीजनत्**=उत्पन्न करता है, स्तुति को करनेवाला बनता है। (२) उस सोम को अपने में प्रादुर्भूत करता है **यत्**, **ऋतस्य**=जो उस सत्यस्वरूप प्रभु का है और **पुरुप्रशस्तम्**=अत्यन्त प्रशस्त है। **ऊतये**=जो स्तोम रक्षण के लिये होता है। यह स्तोम स्तोता को वासनाओं व रोगों के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तुति हमारा रक्षण करेगी और हमें अतिप्रशस्त जीवनवाला बनायेगी।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

ऊतये-प्रशस्तये

अभि वह्नय ऊतयेऽनूषत प्रशस्तये। न देव विव्रता हरी ऋतस्य यत्॥ १५॥

(१) **वह्नयः**=(वह प्रापणे) अपने को उन्नतिपथ पर आगे और आगे प्राप्त करानेवाले उपासक **अभि अनूषत**=प्रातः-सायं प्रभु का स्तवन करते हैं और इस स्तवन के द्वारा **उतये**=अपने रक्षण के लिये होते हैं और **प्रशस्तये**=अपने जीवन को प्रशस्त बनाने के लिये होते हैं। (२) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! इस स्तुति के कारण **हरी**=हमारे ये इन्द्रियाश्व **विव्रता न**=शास्त्र विरुद्ध व्रतोंवाले नहीं होते। **यत्**=जब ये इन्द्रियाश्व **ऋतस्य**=ऋत के हो जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ सत्य ज्ञान को प्राप्त करनेवाली व कर्मेन्द्रियाँ सत्य कर्मोंवाली होती हैं। ऐसी स्थिति में ये कभी विव्रत नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन रक्षण व जीवन को प्रशस्त बनाने के लिये होता है। इस स्तवन से इन्द्रियाश्व सत्यमार्ग पर चलते हुए कभी शास्त्र विरुद्ध व्रतोंवाले नहीं होते।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

विष्णु त्रित व आप्त्य

यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये। यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः॥ १६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब आप **विष्णवि**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक उदार हृदयवाले पुरुष में **सोमम्**=सोम को **सं मन्दसे**=प्रशंसित करते हैं। **यद्वा**=अथवा **घ**=निश्चय से **त्रिते**=(त्रीन् तनोति) 'ज्ञान, कर्म, उपासना' तीनों का विस्तार करनेवाले में आप सोम को प्रशंसित करते हैं, **आप्त्ये**=आप्तों में उत्तम पुरुषों में आप इस सोम को प्रशंसित करते हैं। अर्थात् यह सोमरक्षण ही उन्हें 'विष्णु, त्रित व आप्त्य' बनाता है। एक पुरुष में उदारता (विष्णु) 'ज्ञान, कर्म, उपासना' तीनों के विस्तार (त्रित) व आप्तता को देखकर और इन बातों को सोममूलक जानकर लोग सोम का प्रशंसन तो करेंगे ही। (२) **यद् वा**=अथवा हे इन्द्र! आप **मरुत्सु**=इन प्राणसाधक पुरुषों में **इन्दुभिः**=इन सुरक्षित सोमकणों से **संमन्दसे**=(To shine) चमकते हैं। सोमकणों का संरक्षण ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, यह बुद्धि को तीव्र बनाता है। इस तीव्र बुद्धि से प्रभु का दर्शन

होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम उदार हृदय, ज्ञान, कर्म, उपासना का विस्तार करनेवाले व आप्त बनते हैं। प्राणसाधना के होने पर सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

परावति-समुद्रे

यद्वा॑ शक्र परा॒वति॑ समु॒द्रे अधि॒ मन्द॑से। अ॒स्माक॒मित्सु॒ते र॑णा॒ समिन्दु॑भिः॥ १७॥

(१) हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यद् वा**=अथवा आप **परावति**=पराविद्यावाले में ब्रह्मविद्या को प्राप्त करनेवाले में तथा **समुद्रे**=(स+मुद्) सदा आनन्दमय स्वभाववाले पुरुष में **अधिमन्दसे**=(shine) आधिक्येन चमकते हैं। प्रभु प्राप्ति का उपाय 'पराविद्या में रुचिवाला होना' तथा 'सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न करना' है। (२) हे प्रभो! **अस्माकम्**=हमारी **इत्**=निश्चय से **सुते**=इस सोम सम्पादन रूप क्रिया के होने पर **इन्दुभिः**=सोमकणों के द्वारा **संरण**=हमारे अन्दर रमणवाले होइये। यह सोमरक्षण हमें आपके दर्शन का पात्र बनाये।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि-(क) हम पराविद्या में रुचिवाले हों, (ख) सदा आनन्दमय रहें, (ग) सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करने के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'सन्वन् यजमान' की वृद्धि

यद्वासि॑ सुन्व॒तो वृ॒धो यज॑मानस्य सत्पते। उ॒क्थे वा॒ यस्य॒ रण्य॑सि॒ समिन्दु॑भिः॥ १८॥

(१) हे **सत्पते**=उत्तम कर्मों के रक्षक प्रभो! आप **यद् वा**=निश्चय से **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले, अपने अन्दर सोम को सुरक्षित करनेवाले **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **वृधः**=बढ़ानेवाले **असि**=हैं। इस यज्ञशील सोमी पुरुष को आप सदा बढ़ाते हैं। (२) **वा**=अथवा उसके आप बढ़ानेवाले हैं **यस्य**=जिसके **उक्थे**=स्तोत्र में आप **इन्दुभिः**=सोमकणों के द्वारा **संरण्यसि**=सम्यक् प्रीतिवाले होते हैं। जो भी स्तोता सोमकणों का रक्षण करता हुआ प्रभु-स्तवन करता है, वह प्रभु का प्रिय बनता है। प्रभु का स्तोत्र उसके लिये प्रभु प्रीति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षक यज्ञशील पुरुष का वर्धन करते हैं। सोमरक्षक स्तोता से किया जानेवाला स्तवन प्रभु को प्रिय होता है।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्षीविराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

यज्ञया तुर्वणे

दे॒वंदे॑वं॒ वोऽव॑स॒ इन्द्र॑मिन्द्रं गृणी॒षणि॑। अधा॑ य॒ज्ञाय॑ तु॒र्वणे॒ व्या॑नशुः॥ १९॥

(१) **देवम्**=उस प्रकाशमय **वः देवम्**=तुम्हें प्रकाशित करनेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली (वः) **इन्द्र**=तुम्हें ऐश्वर्यों को प्राप्त करानेवाले प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिये **गृणीषणि**=स्तुत करता हूँ। (२) **अधा**=अब **तुर्वणे**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले **यज्ञाय**=पूजनीय प्रभु के लिये **व्यानशुः**=मेरी स्तुतियाँ व्याप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हमारा जीवन प्रकाशमय बनता है (देवम्), ऐश्वर्यशाली होता है (इन्द्रम्), यह स्तवन हमें रोगों व वासनाओं से बचाता है (अवसे), हमारे शत्रुओं का हिंसन करता है (तुर्वणे)।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

यज्ञ-सोम-होत्रा

य॒ज्ञेभि॑र्य॒ज्ञवा॑हसं॒ सोमे॑भिः सोम॒पात॑मम्। हो॒त्राभि॒रिन्द्रं॑ वावृधु॒र्व्या॑नशुः॥ २०॥

(१) **यज्ञवाहसम्**=सब यज्ञों के प्राप्त करानेवाले उस प्रभु को **यज्ञेभिः**=यज्ञों से **वावृधुः**=बढ़ाते हैं और **व्यानशुः**=प्राप्त करते हैं। यज्ञों से दिव्य भाव का उत्तरोत्तर वर्धन होता है और अन्ततः हम यज्ञों को प्राप्त करानेवाले प्रभु को प्राप्त करते हैं। (२) **सोमेभिः**=सोमों के रक्षण के द्वारा **सोमपातमम्**=अधिक से अधिक सोम का रक्षण करनेवाले उस प्रभु को हम अपने अन्दर बढ़ाते हैं और उसे प्राप्त करते हैं। (३) यज्ञों के द्वारा वासनाओं का विनाश होता है, यज्ञशील पुरुष वासनाओं से बचा रहकर सोम का रक्षण करता है। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ये दीप्त ज्ञानाग्निवाले पुरुष **होत्राभिः**=ज्ञान की वाणियों से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपने अन्दर बढ़ाते हैं और अन्ततः प्रभु को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों, यह यज्ञशीलता हमें वासनाओं से बचाये। सोमरक्षण द्वारा दीप्त ज्ञानाग्निवाले होकर हम स्तोतों द्वारा उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की महिमा का वर्धन करें और प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रणीतयः-प्रशस्तयः

म॒हीर॑स्य॒ प्रणी॑तयः पू॒र्वीरु॒त प्रश॑स्तयः। विश्वा॒ वसू॑नि दा॒शुषे॒ व्या॑नशुः॥ २१॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार स्तुतिवाणियों से प्रभु का अपने में वर्धन करनेवाले व प्रभु को प्राप्त करनेवाले अनुभव करते हैं कि **अस्य**=इस प्रभु की **प्रणीतयः**=प्रणीतियाँ, उत्कृष्ट मार्ग पर अपने सखा को ले चलने के क्रम, **महीः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। **उत**=और **प्रशस्तयः**=प्रभु की प्रशस्तियाँ–स्तुतियाँ **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली हैं। इन स्तुति–वाणियों से हमें जीवन के उत्कृष्ट मार्ग की प्रेरणा मिलती है। (२) इस प्रभु के स्तोता **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिये **विश्वा वसूनि**=सब वसु **व्यानशुः**=विशेष रूप से प्राप्त होते हैं। दाश्वान् पुरुष प्रभु के प्रति अपने को दे डालनेवाला यह उपासक, सब वसुओं को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्रभु प्रेरणा के अनुसार चलें। प्रभु का शंसन करें। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। हम सब वसुओं (धनों) को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु-स्मरण-ओजस्विता-वासना विनाश

इन्द्रं॑ वृ॒त्राय॒ हन्त॑वे दे॒वासो॑ दधिरे पु॒रः। इन्द्रं॒ वाणी॑रनूषता॒ समोज॑से॥ २२॥

(१) **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **वृत्राय हन्तवे**=वृत्र के, ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के लिये **इन्द्रम्**=उस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **पुरः दधिरे**=अपने आगे स्थापित करते हैं। सदा उस इन्द्र का स्मरण करते हैं, यह स्मरण ही उन्हें वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता। (२) **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही **वाणीः**=इन की स्तुति–वाणियाँ **अनूषत**=स्तुत करती हैं। यह स्तवन **सं ओजसे**=समीचीन ओज के लिये होता है। स्तवन के द्वारा उत्पन्न ओज ही इन्हें वासनारूप शत्रुओं के विनाश के योग्य बनाता है।

भावार्थ—स्तवन के द्वारा प्रभु के ओज से ओजस्वी बनकर हम वासनारूप शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु महिमा स्मरण व ओजस्विता की प्राप्ति

म॒हान्तं॑ महि॒ना व॒यं स्तोमे॑भिर्हवन॒श्रुत॑म्। अ॒र्कैर॒भि प्र णो॑नुमः॒ समोज॑से॥ २३॥

(१) **महिना**=अपनी महिमा से **महान्तम्**=महान् उस प्रभु को **वयम्**=हम **स्तोमेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **अभि प्रणोनुमः**=बारम्बार स्तुत करते हैं। यह प्रभु-स्तवन ही हमें भी महान् बनाता है। (२) उस **हवनश्रुतम्**=उपासक की पुकार को सुननेवाले प्रभु को **अर्कैः**=स्तुति साधन मन्त्रों के द्वारा हम स्तुत करते हैं। यह स्तवन ही **सं ओजसे**=समीचीन ओज के लिये होता है। इस ओज से ओजस्वी बनकर हम वासना विनाश के द्वारा प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए प्रभु की महिमा का स्मरण करते हैं, ओजस्वी बनकर वासनाओं का विनाश कर पाते हैं।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु की व्याप्ति व दीप्ति

न यं वि॒वि॒क्तो रोद॑सी॒ नान्तरि॑क्षाणि व॒ज्रिण॑म्। अ॒मादिद॑स्य तित्विषे॒ समोज॑सः॥ २४॥

(१) प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **न विविक्तः**=अपने से पृथक् नहीं कर पाते। प्रभु सम्पूर्ण द्यावापृथिवी में व्याप्त हैं, कोई स्थान नहीं जहाँ कि प्रभु न हों। **वज्रिणम्**=उस वज्रहस्त शासक प्रभु को **अन्तरिक्षाणि**=(अन्तराक्षान्तानि) द्यावापृथिवी के बीच में रहनेवाले ये सब लोक-लोकान्तर **न**=पृथक् नहीं कर पाते। प्रभु इन लोकों में हैं, ये लोक प्रभु में हैं। (२) **अस्य**=इस **ओजसः**=ओज के पुञ्ज प्रभु की **अमात्**=ओजस्विता से **इत्**=ही **संतित्विषे**=सब लोक-लोकान्तर सम्यक् दीप्त होते हैं। सब लोकों को दीप्त करनेवाले वे प्रभु हैं। मुझे भी प्रभु से ही दीप्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक प्रभु ही अपनी व्याप्ति से सब पिण्डों को दीप्त कर रहे हैं।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

संग्राम विजय

यदि॑न्द्र पृत॒नाज्ये॑ दे॒वास्त्वा॑ दधि॒रे पु॒रः। आदित्ते॑ हर्य॒ता हरी॑ ववक्षतुः॥ २५॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **पृतनाज्ये**=संग्राम में **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **त्वा**=आपको **पुरः दधिरे**=आगे स्थापित करते हैं। **आत् इत्**=तब शीघ्र ही **हर्यता**=ये गतिशील **हरी**=इन्द्रियाश्व **ते ववक्षतुः**=हमें आपके समीप प्राप्त कराते हैं। (२) संसार में वासनाओं के संग्राम में विजय प्राप्ति प्रभु कृपा से ही होती है। प्रभु ही वस्तुतः हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं। इस वासना विनाश से निर्मल हुई-हुई इन्द्रियाँ हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—देवता प्रभु के उपासन से वासना संग्राम में विजयी बनते हैं। निर्मल इन्द्रियाश्व हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'नदीवृत्'-वृत्र का वर्ध्य

यदा वृत्रं नदीवृतं शवसा वज्रिन्नवधीः। आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः॥ २६॥

(१) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **यदा**=जब **नदीवृतम्**=इस ज्ञानजल के प्रवाहवाली सरस्वती नदी को आवृत कर लेनेवाले इस **वृत्रम्**=काम-वासना रूप वृत्र को **शवसा**=शक्ति के द्वारा **अवधीः**=आप विनष्ट करते हैं। **आत् इत्**=तब ही शीघ्र **हर्यता हरी**=ये गतिशील इन्द्रियाश्व **ते ववक्षतुः**=आपके समीप हमें प्राप्त कराते हैं। (२) प्रभु की प्राप्ति में अज्ञान का आवरण ही विघातक बना हुआ है। इस आवरण के हटते ही हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। यह आवरण ही 'वृत्र' है, वासना है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम इस वासना को विनष्ट करें। इसके नष्ट होते ही सरस्वती नदी का ज्ञानजल हमारे जीवनों को निर्मल कर डालेगा। उस समय हमारे ये इन्द्रियाश्व सन्मार्ग से आगे बढ़ते हुए हमें प्रभु के समीप प्राप्त करायेंगे।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें शक्ति-सम्पन्न बनायेगी। हम वासना का विनाश करके ज्ञान को अपने में प्रवाहित कर पायेंगे। उस समय हमारे इन्द्रियाश्व उस मार्ग से चलेंगे, जिससे कि हम प्रभु के समीप और समीप पहुँचते जायेंगे।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

विष्णु के तीन कदम

यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे। आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः॥ २७॥

(१) **यदा**=जब **विष्णुः**=यह उदारवृत्ति का पुरुष (विष् व्याप्तौ) **ते ओजसा**=हे प्रभो! आपके ओज से, बल से **त्रीणि पदा विचक्रमे**=तीन पदों को रखता है। अर्थात् आपकी उपासना से आपके सम्पर्क में आता हुआ शक्तिशाली बनकर शरीर में तेजस्वी, मन में सब के प्रति हित की भावनावाला व मस्तिष्क में प्राज्ञ बनता है **आत् इत्**=तब शीघ्र ही **हर्यता हरी**=ये गतिशील इन्द्रियाश्व **ते ववक्षतुः**=आपके समीप हमें प्राप्त कराते हैं। (२) प्रभु की उपासना से पूर्व जीव उन्नति न कर सकने के कारण 'वामन' (बौना)-सा होता है। प्रभु की उपासना उसे 'विष्णु' (व्यापक) बनाती है। यह शरीर में तैजस, मन में वैश्वानर व मस्तिष्क में प्राज्ञ बनता है। यही इसके तीन पद हैं। यह पुरुष अपनी इन्द्रियों से सत्कर्मों को करता हुआ प्रभु के समीप प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम उदारवृत्ति के बनते हुए जीवन में तीन पदों को रखें। तैजस, वैश्वानर व प्राज्ञ बनें। इन्द्रियों से सन्मार्ग का आक्रमण करते हुए प्रभु के समीप प्राप्त हों।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

इन्द्रिय संयम द्वारा भुवन संयम

यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ २८॥

(१) **यदा**=जब **ते**=तेरे ये **हर्यता हरी**=गतिशील इन्द्रियाश्व **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **वावृधाते**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं, अर्थात् इन इन्द्रियाश्वों को जब तू वश में करके दिन व दिन आगे और आगे बढ़ता है। **आत् इत्**=तब ही शीघ्र **ते**=तेरे द्वारा **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **येमिरे**=नियम में किये जाते हैं। (२) जितेन्द्रिय पुरुष ही सब भुवन को वश में करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—जब इन्द्रियों के संयम के द्वारा हम आगे और आगे बढ़ते हैं तो सब भुवनों का संयम करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

मारुतीः विशः

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ २९ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यदा**=जब **ते**=आपकी ये **मारुतीः विशः**=प्राणसाधक प्रजायें **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिये **नियेमिरे**=अपने को नियम में करनेवाली होती हैं। **आत् इत्**=तब शीघ्र ही **ते**=वे अपने को वश में करनेवाले लोग **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को **येमिरे**=वशीभूत करनेवाले होते हैं। (२) प्राणसाधना के द्वारा इन्द्रियों का संयम होता है। यह संयमी पुरुष प्रभु को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। यह सब भुवनों को भी वश में कर पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा अपना संयम करते हुए हम सबको वश में करनेवाले हों और प्रभु प्राप्ति के अधिकारी बनें।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

ज्ञानसूर्योदय

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ ३० ॥

(१) **यदा**=जब **अमुम्**=उस **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **शुक्रं ज्योतिः**=देदीप्यमान ज्ञान ज्योति को **अधारयः**=धारण करता है। **आत् इत्**=तब शीघ्र ही **ते**=तेरे द्वारा **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **येमिरे**=वश में किये जाते हैं। (२) ज्ञानसूर्योदय के होने पर सब अन्धकार विनष्ट हो जाता है। उस अन्धकार के विनाश के साथ सब वासनाओं का विलय हो जाता है, इस वासना विलय से मनुष्य पूर्ण संयमी होकर सब भुवनों को वश में कर पाता है।

भावार्थ—हम मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का धारण करें। यह ज्ञानसूर्य हमें सब भुवनों को वशीभूत करने में समर्थ करे। अथवा ज्ञान-सूर्योदय के होने पर हम आत्मसंयम के द्वारा सर्वसंयमी बनते हैं।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

धीतिभिः सुष्टुतिम्

इमां त इन्द्र सुष्टुतिं विप्र इयर्ति धीतिभिः। जामिं पदेव पिप्रतीं प्राध्वरे॥ ३१ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **विप्रः**=यह ज्ञानी पुरुष **इमाम्**=इस **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **धीतिभिः**=उत्तम कर्मों के साथ **ते इयर्ति**=आपके प्रति प्रेरित करता है। अर्थात् यह विप्र उत्तम कर्मों को करता हुआ प्रभु का स्तवन करता है। (२) उसी प्रकार यह स्तुति को प्रेरित करता है **इव**=जैसे **पदा**=पैरों को **पिप्रतीम्**=पूर्ण करती हुई **जामिम्**=बहिन को **प्राध्वरे**=प्रकृष्ट गृहस्थ यज्ञ में प्रेरित करता है। सप्तपदी में सात पैरों को रखती हुई बहिन को भाई उत्तम गृहस्थ में प्रवेश कराता है। इसी प्रकार एक विप्र उत्तम स्तुति को प्रभु के प्रति प्रेरित करता है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्मों के साथ प्रभु-स्तवन करते हुए अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'प्रिय धाम' की प्राप्ति

यद॑स्य॒ धाम॑नि प्रि॒ये स॑मीची॒नासो॒ अस्व॑रन्। नाभा॑ य॒ज्ञस्य॑ दो॒हना॒ प्राध्व॒रे॥ ३२॥

(१) **यद्**=जब **अस्य**=इस प्रभु के **प्रिये धामनि**=प्रिय धाम के निमित्त **समीचीनासः**=सम्यक् गति करते हुए ये उपासक **अस्वरन्**=उस प्रभु के गुणों का उच्चारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु प्राप्ति का मार्ग तो यही है कि हम (क) प्रभु का स्तवन करें, (ख) और सदा उत्तम मार्ग पर चलें। (२) उत्तम मार्ग में चलने का भाव यह है कि **नाभा**=हम सदा नाभि में निवास करें। 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'=यज्ञ ही भुवन की नाभि है। **यज्ञस्य दोहना**=सदा यज्ञों का दोहन करनेवाले हों। **प्राध्वरे**=प्रकृष्ट हिंसा रहित कर्मों में हमारी गति हो।

भावार्थ—प्रभु के प्रिय धाम की प्राप्ति का उपाय यह है कि हम प्रभु-स्तवन करते हुए सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में गतिवाले हों।

ऋषिः—पर्वतः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—आर्चीस्वराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'सुवीर्य-स्वश्व्य-सुगव्य'

सु॒वीर्यं॒ स्वश्व्यं॑ सु॒गव्य॑मिन्द्र दद्धि नः। होते॑व पू॒र्वचि॑त्तये॒ प्राध्व॒रे॥ ३३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को, **स्वश्व्यम्**=उत्तम कर्मेन्द्रिय समूह को तथा **सुगव्यम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रिय समूह को **दद्धि**=दीजिये। गत मन्त्र के अनुसार सदा प्रभु-स्तवनपूर्वक उत्तम कर्मों को करने से हमें 'सुवीर्य-स्वश्व्य व सुगव्य' की प्राप्ति होती है। (२) हे प्रभो! आप **होता इव**=एक होता के समान **प्राध्वरे**=प्रकृष्ट हिंसारहित कर्मों में हमारी गति के होने पर **पूर्व चित्तये**=हमारे लिये पालक व पूरक चित्ति के लिये हों। हमें आप उस ज्ञान को दें, जो हमारा पालन व पूरण करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु के अनुग्रह से यज्ञादि उत्तम कर्मों में चलते हुए सदा पालक व पूरक ज्ञान को प्राप्त करें। प्रभु हमारे लिये 'सुवीर्य, स्वश्व्य व सुगव्य' को दें।

अपने जीवन को अध्वरों में पवित्र करनेवाला यह व्यक्ति अपने पवित्र जीवन से औरों को भी पवित्र करता है सो 'नारद' (नारं नरसमूहं दायति) कहलाता है। यह 'काण्व' अत्यन्त मेधावी नारद इन्द्र का स्तवन करता हुआ कहता है कि—

तृतीयोऽनुवाकः

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रशस्त 'बल व प्रज्ञान'

इन्द्रः॑ सु॒तेषु॒ सोमे॑षु॒ क्रतुं॑ पुनीत उ॒क्थ्य॑म्। वि॒दे वृ॒धस्य॒ दक्ष॑सो म॒हान्हि षः॥ १॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **सोमेषु सुतेषु**=सोम के उत्पन्न होने पर, शरीर में शक्तिकणों के रक्षण के होने पर **उक्थ्यम्**=प्रशंसनीय **क्रतुम्**=प्रज्ञान व शक्ति को **पुनीते**=पवित्र करता है। प्रभु ने शरीर में सोम को उत्पन्न किया है। इस सोम के रक्षण के होने पर शरीर में बल का वर्धन होता है, तो मस्तिष्क में ज्ञान का। इस प्रकार जीवन प्रशस्त बनता है। (२) ये प्रभु **वृधस्य**=वृद्धि के कारणभूत **दक्षसः**=बल के **विदे**=प्राप्त कराने के लिये होते हैं। वस्तुतः **सः**=वे

प्रभु **हि**=निश्चय से **महान्**=बड़े हैं। प्रभु की महिमा अनन्त है। हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु-स्मरण हमें वासनाओं के आक्रमण से बचायेगा और हम सोमरक्षण के द्वारा प्रशस्त बल व प्रज्ञान को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—प्रभु सुरक्षित सोम के द्वारा हमारे लिये प्रशस्त 'बल व प्रज्ञान' को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

सुपारः सुश्रवस्तमः

स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः। सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित्॥ २॥

(१) **सः**=वे प्रभु **प्रथमे**=इस अत्यन्त विस्तृत **व्योमनि**=आकाश में व **देवानां सदने**=देववृत्ति के पुरुषों के गृहों में स्थित हुए-हुए **वृधः**=वर्धन को करनेवाले हैं। प्रभु आकाश की तरह व्यापक हैं, वस्तुतः प्रभु ही आकाश हैं। देववृत्ति के पुरुषों के घरों में प्रभु का निवास है। ये प्रभु ही वस्तुतः उन्हें देव बनाते हैं। (२) प्रभु **सुपारः**=अच्छी प्रकार हमें सब विघ्नों से पार करनेवाले हैं। **सुश्रवस्तमः**=उत्तम ज्ञानवाले हैं, उत्तम ज्ञान को देनेवाले हैं और सारे **अप्सुजित्**=सम्यक् कर्मों में विजय को प्राप्त करानेवाले हैं। सब कर्म प्रभु के अनुग्रह से ही पूर्ण होते हैं।

भावार्थ—प्रभु आकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं। देव गृहों में प्रभु का निवास है। ये प्रभु ही सब विघ्नों से पार करनेवाले, उत्तम ज्ञान को देनेवाले व कर्मों में विजय को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः— **नारदः काण्वः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

वाजसातये-वृधे

तमह्वे वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम्। भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे॥ ३॥

(१) मैं **तम्**=उस **शुष्मिणम्**=शत्रु-शोषक बल को प्राप्त करानेवाले **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **भराय**=संग्राम के लिये **वाजसातये**=शक्ति को प्राप्त कराने के लिये **अह्वे**=पुकारता हूँ। प्रभु ही वह शक्ति देते हैं, जिससे कि हम संग्राम में विजयी हो पाते हैं। (२) **सुम्ने**=सुख प्राप्ति के निमित्त आप **नः**=हमारे **अन्तमः सखा**=अन्तिकम मित्र **भव**=होइये। इस मित्रता के द्वारा **वृधे**=हमारे वर्धन के लिये होइये। 'सुम्ने' शब्द का अर्थ स्तोत्र होता है। हम आपका स्तवन करें, तो आप हमारे मित्र होकर हमारी वृद्धि का कारण बनिये।

भावार्थ—प्रभु शक्ति प्राप्त कराते हैं, यह शक्ति ही हमें संग्राम में विजयी बनाती है। हम प्रभु का स्तवन करते हैं, तो हमारे मित्र होते हुए हमारी वृद्धि का कारण बनते हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

वसुवर्षण व हृदय दीपन

इयं त इन्द्र गिर्वणो रातिः क्षरति सुन्वतः। मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि॥ ४॥

(१) हे **गिर्वणः**=(गीर्भिः वननीय) ज्ञान की वाणियों से उपासनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुन्वतः**=सृष्टियज्ञ को करते हुए **ते**=तेरी **इयं रातिः**=यह दान क्रिया **क्षरति**=मेघवत् सुखों का वर्षण करनेवाली होती है। प्रभु सब वसुओं का वर्षण करते हैं। (२) **मन्दानः**=अपनी राति से आनन्दित करते हुए आप **अस्य बर्हिषः**=इस वासनाशून्य हृदय के **विराजसि**=विशिष्ट रूप से दीप्त करनेवाले होते हो।

भावार्थ—उपासक के लिये प्रभु की दान क्रिया निरन्तर वसुओं का वर्षण करनेवाली होती

है। वासना शून्य हृदय में आसीन होते हुए आप उस हृदय को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'चित्रं स्वर्विदं' रयिम्

नूनं तदिन्द्र दद्धि नो यत्त्वा सुन्वन्त ईमहे। रयिं नश्चित्रमा भरा स्वर्विदम्॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नूनम्**=निश्चय से **नः**=हमारे लिये **तत्**=उस धन को **दद्धि**=दीजिये, **यत्**=जिसे **सुन्वन्तः**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करते हुए हम **त्वा ईमहे**=आप से माँगते हैं। (२) हे प्रभो! **नः**=हमारे लिये **रयिं आभर**=उस धन को प्राप्त कराइये जो **चित्रम्**=(चित्) चेतना को देनेवाला है, ज्ञान का बढ़ानेवाला है और **स्वर्विदम्**=स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला है। जिस धन के द्वारा हमारा घर स्वर्ग बनता है और जिससे हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें उस धन को प्राप्त करायें, जो ज्ञान प्राप्ति के साधनों को जुटाने में सहायक हो, तथा जो हमें आवश्यक भोग्य पदार्थों को प्राप्त कराके सुखमय जीवनवाला बनाये।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

विचर्षणिः

स्तोता यत्ते विचर्षणिरतिप्रशर्धयद्गिरः। वया इवानु रोहते जुषन्त यत्॥ ६ ॥

(१) हे प्रभो! **यत्**=जब यह साधक **ते स्तोता**=आपका स्तवन करनेवाला होता है, तो यह **विचर्षणिः**=विशेषेण द्रष्टा बनता है, संसार के सब पदार्थों को ठीक रूप में देखता है। अब यह **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **अति प्रशर्धयत्**=अतिशयेन शत्रु प्रसहनशील करता है। अर्थात् सदा ज्ञान की वाणियों के अध्ययन में लगा रहकर काम-क्रोध आदि शत्रुओं से अपने को आक्रान्त नहीं होने देता। (२) **यत्**=जब ये साधक **जुषन्त**=प्रीतिपूर्वक इन वाणियों का सेवन करते हैं तो **वयाः इव**=वृक्ष की शाखाओं की तरह **अनुरोहते**=अनुकूलता से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। जैसे वृक्ष की शाखायें ऊपर और ऊपर फैलती चलती हैं, उसी प्रकार इस स्तोता में उस स्तुत्य प्रभु के गुणों का वर्धन होता चलता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमारे दृष्टिकोण को ठीक बनाता है, हमारे जीवन में ज्ञान की वाणियाँ काम-क्रोध आदि शत्रुओं का वर्धन करनेवाली होती हैं, हमारे में दिव्यगुणों का उत्तरोत्तर वर्धन होता है।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

ज्ञान का प्रकाश

प्रत्नवज्जनया गिरः शृणुधी जरितुर्हवम्। मदेमदे ववक्षिथा सुकृत्वने॥ ७ ॥

(१) हे प्रभो! आप **प्रत्नवत्**=प्राचीनकाल की तरह, अर्थात् जैसा आप सदा से करते आ रहे हैं, उसी प्रकार **गिरः जनय**=ज्ञान की वाणियों को हमारे में प्रादुर्भूत करिये। हृदयस्थ आपके द्वारा हमें ज्ञान की वाणियों का प्रकाश प्राप्त हो। **जरितुः**=स्तोता की **हवम्**=पुकार को **शृणुधि**=आप सुनिये। स्तोता की प्रार्थना आप द्वारा सुनी जाये। (२) हे प्रभो! आप **मदे मदे**=सोम के रक्षण से उत्पन्न मद (=उल्लास) के होने पर **सुकृत्वने**=इस शुभ कर्म करनेवाले के लिये **ववक्षिथ**=सब इष्ट वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। सोमरक्षण से हमारी वृत्ति शुभ बनती है, यह शुभवृत्ति हमें शुभ

कर्मों को कराती है। ये शुभ कर्म शुभ फलों का साधन बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हमारे हृदयों में ज्ञान की वाणियों का प्रकाश हो। हमारी प्रार्थना प्रभु से सुनी जाये। हम सोमरक्षण द्वारा शुभ कर्मों को करते हुए शुभ ही फलों को प्राप्त करें।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

उत्कृष्ट बुद्धि की प्राप्ति

क्रीळन्त्यस्य सूनृता आपो न प्रवता यतीः। अया धिया य उच्यते पतिर्दिवः ॥ ८ ॥

(१) **अस्य**=इस प्रभु की **सूनृताः**=प्रिय सत्य वाणियाँ **क्रीडन्ति**=इस प्रकार विहरण करती हैं, **न**=जैसे **प्रवता यतीः आपः**=निम्न मार्ग से गति करते हुए जल। हमें प्रभु की वेदवाणियाँ प्राप्त होती हैं, तब हम नम्र-विनीत-झुके हुए (निम्न प्रवत्) बनते हैं। (२) **अया**=इस **धिया**=बुद्धि के हेतु से **यः उच्यते**=जिसकी प्रार्थना की जाती है, वह प्रभु ही **दिवः पतिः**=ज्ञान का स्वामी है। उस ज्ञान के स्वामी से ही हम उत्कृष्ट बुद्धि की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रार्थना करते हैं। प्रभु हमें उत्कृष्ट बुद्धि प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

नमोवृधैः अवस्युभिः

उतो पतिर्य उच्यते कृष्टीनामेक इद्वशी। नमोवृधैरवस्युभिः सुते रण ॥ ९ ॥

(१) **उत उ**=निश्चय से **यः**=जो आप **पतिः उच्यते**=संसार के स्वामी कहे जाते हैं। वे आप **कृष्टीनाम्**=सब मनुष्यों के **एकः इत्**=अकेले ही **वशी**=वश में करनेवाले हैं। सब के आप ही शासक हैं। (२) **नमोवृधैः**=नमन की भावना को उत्तरोत्तर अपने में बढ़ानेवाले, **अवस्युभिः**=रक्षणेच्छु पुरुषों के साथ जो भी व्यक्ति रोगों व वासनाओं से अपना रक्षण करते हैं, उन पुरुषों के साथ **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर आप **रण**=(रमस्व) आनन्द का अनुभव कीजिये। अर्थात् ये लोग आपकी प्रीति के पात्र बनें।

भावार्थ—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक प्रभु के वे व्यक्ति प्रिय होते हैं, जो (क) नम्रता को धारण करते हैं, (ख) अपने शरीरों को रोगों से तथा मनों को वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं, (ग) तथा शरीर में सोम शक्ति (वीर्य शक्ति) का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'श्रुत विपश्चित्' प्रभु का स्तवन

स्तुहि श्रुतं विपश्चितं हरी यस्य प्रसक्षिणा। गन्तारा दाशुषो गृहं नमस्विनः ॥ १० ॥

(१) उस प्रभु का तू **स्तुहि**=स्तवन करे, जो **श्रुतम्**=सर्वत्र वेदवाणियों में सुने जाते हैं, तथा **विपश्चितम्**=ज्ञानी हैं, सम्पूर्ण ज्ञान के निधान हैं। (२) उस प्रभु का तू स्तवन कर **यस्य**=जिस **प्रसक्षिणा**=वासनारूप शत्रुओं का अभिभव करनेवाले **हरी**=इन्द्रियाश्व, ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **नमस्विनः**=नमस्कार की भावनावाले **दाशुषः**=दाश्वान् यज्ञशील पुरुष के **गृहम्**=शरीरगृह को **गन्तारा**=प्राप्त होते हैं। अर्थात् प्रभु इस यज्ञशील आराधक को उन उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं, जो वासनारूप शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु के प्रति नमन की भावनावाले हों। दाश्वान् (यज्ञशील) बनें। प्रभु कृपा से हमें वासनाओं से अनाक्रान्त इन्द्रियाँ प्राप्त होंगी।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'सशक्त कार्यकारिणी' इन्द्रियाँ

तूतुजानो महेमतेऽश्वेभिः प्रुषितप्सुभिः। आ याहि यज्ञमाशुभिः शमिद्धि ते॥ ११॥

(१) हे **महेमते**=(महते फलाय मतिर्यस्य) महान् फल के लिये बुद्धिवाले प्रभो! अर्थात् महान् मोक्षरूप फल को प्राप्त कराने के लिये बुद्धि को देनेवाले प्रभो! **तूतुजानः**=हमारे शत्रुओं का संहार करते हुए आप उन **अश्वेभिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **यज्ञं आयाहि**=हमारे जीवनयज्ञ में प्राप्त होइये, जो **प्रुषितप्सुभिः**=शक्ति से सिक्त रूपवाले, स्निग्धरूपवाले हैं व **आशुभिः**=शीघ्रता से अपने कर्मों का व्यापन करनेवाले हैं। (२) **ते**=तेरे इस उपासक के लिये **इत् हि**=निश्चय से **शाम्**=शान्ति प्राप्त हो। वस्तुतः जीवन में शान्ति तभी प्राप्त होती है जब कि इन्द्रियाँ उत्तम हों। 'सुख' का शब्दार्थ इन्द्रियों का उत्तम होना (सु) ही तो है। प्रभु कृपा से हमें वे इन्द्रियाँ प्राप्त हों जो सुरक्षित सोम के द्वारा शक्ति के सेचनवाली हों, तथा अपने कार्यों में शीघ्रता से व्याप्त होनेवाली हों।

भावार्थ—वे बुद्धि को देनेवाले प्रभु हमारे लिये सशक्त कर्मों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों को दें, जिससे कि हमारा जीवन निरुपद्रव व शान्तिवाला हो।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

रयि-श्रवस्

इन्द्र शविष्ठ सत्पते रयिं गृणत्सु धारय। श्रवः सूरिभ्यो अमृतं वसुत्वनम्॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **शविष्ठ**=निरतिशय शक्तिवाले सर्वशक्तिमन्! **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! आप **गृणत्सु**=स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवालों में **रयिं धारय**=ऐश्वर्य का धारण करिये। उस ऐश्वर्य का धारण करिये जो इन स्तोताओं को भी शक्तिशाली व सत्कर्मों का पालक बनाये। (२) हे प्रभो! आप **सूरिभ्यः**=इन ज्ञानी पुरुषों के लिये **श्रवः**=उस ज्ञान को प्राप्त कराइये, जो **अमृतम्**=अमृतत्व को, नीरोगता को देनेवाला हो, तथा **वसुत्वनम्**=उत्तम निवास का कारण बने।

भावार्थ—प्रभु हमें उस ऐश्वर्य को प्राप्त करायें, जो बल व उत्तमता का जनक हो। प्रभु उस ज्ञान को दें, जो नीरोगता व उत्तम निवास का साधन बने।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रातः व मध्याह्न में प्रभु-स्तवन

हवे त्वा सूर उदिते हवे मध्यन्दिने दिवः। जुषाण इन्द्र सप्तिभिर्न आ गहि॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सूरे उदिते**=सूर्योदय के होने पर **त्वा हवे**=आप को मैं पुकारता हूँ। इसी प्रकार **दिवः**=दिन के **मध्यन्दिने**=मध्य भाग में, दुपहर के समय **हवे**=मैं आपको पुकारता हूँ। जीवनरूप दिन के प्रथम २४ वर्ष प्रातःकाल हैं, अगले ४४ वर्ष मध्याह्न हैं। इन में हम प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के प्रिय बनते हैं। (२) स्तवन किये जाते हुए हे प्रभो! आप **जुषाणः**=प्रीयमाण होते हुए **सप्तिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों के साथ **नः आगहि**=हमें प्राप्त होइये। आपका स्तवन हमारी इन्द्रियों को पवित्र बनानेवाला हो। जीवन के प्रातः व मध्याह्न में यदि हम इन्द्रियों को पवित्र रख सके, तो जीवन के सायंकाल में तो ये इन्द्रियाश्व शान्त बने ही रहेंगे।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमारे इन्द्रियाश्वों को निर्मल बनानेवाला हो।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'पूर्व्य तन्तु' का तनन

आ तू गहि प्र तु द्रव मत्स्वा सुतस्य गोमतः। तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं यथा विदे॥ १४॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **आगहि तु**=आ तो, अर्थात् प्रभु की ओर चलनेवाला बन। **प्र द्रव**=और शीघ्रता से अपने कर्त्तव्य कर्मों को करनेवाला हो। **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले, इन्द्रियों के प्रशस्त बनानेवाले **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का **मत्स्वा**=तू आनन्द ले। इस सोम के रक्षण के द्वारा जीवन में उल्लासवाला बन। (२) **पूर्व्यम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में ही दिये गये **तन्तुं तनुष्व**=यज्ञ तन्तु का विस्तार करनेवाला बन। इसलिए तू इस यज्ञ तन्तु का विस्तार कर कि **यथा विदे**=ठीक यथार्थ वस्तुओं का तू ग्रहण कर सके।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर चलें। कर्त्तव्य कर्मों को स्फूर्ति के साथ करनेवाले हों। सोमरक्षण द्वारा इन्द्रियों को प्रशस्त बनायें। यज्ञशील हों।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

अन्धसः अविता इत् असि

यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन्। यद्वा समुद्रे अन्धसोऽवितेदसि॥ १५॥

(१) हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यत्**=जो आप **परावति**=सुदूर द्युलोक में **असि**=हैं। हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो आप **अर्वावति**=इस समीप के पृथ्वीलोक में हैं। **यद् वा**=अथवा जो आप **समुद्रे**=इस अन्तरिक्षलोकरूप समुद्र में हैं। आप **इत्**=निश्चय से **अन्धसः**=इस आध्यातत्व सोम के द्वारा **अविता असि**=हमारा रक्षण करनेवाले हैं। (२) वे सर्वव्यापक प्रभु इन सब लोकों में निवास करनेवाले प्राणियों का सोम के द्वारा रक्षण करते हैं। शरीर में उत्पन्न हुई-हुई सोम शक्ति शरीर में सुरक्षित होने पर सब रोगों से बचाती है। सोमरक्षण के द्वारा हम मृत्यु को अपने से दूर रखते हैं।

भावार्थ—द्युलोकस्थ, अन्तरिक्षस्थ, पृथिवीस्थ सब प्राणियों के रक्षण के लिये प्रभु ने सोम-शक्ति का स्थापन किया है।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

गिरः-इन्दवः

इन्द्रं वर्धन्तु नो गिर इन्द्रं सुतास इन्दवः। इन्द्रे हविष्मतीर्विशो अराणिषुः॥ १६॥

(१) **नः**=हमारी **गिरः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति-वाणियाँ **इन्द्रं वर्धन्तु**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का वर्धन करें, प्रभु के गुणों का गायन करें, उसकी महिमा का सर्वत्र प्रकाश करें। **सुतासः**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए **इन्दवः**=सोमकण **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को हमारे अन्दर बढ़ायें। अर्थात् सोमरक्षण के द्वारा तीव्र बुद्धि बनकर हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें। (२) **हविष्मतीः**=प्रशस्त हविवाली, अर्थात् त्यागपूर्वक अदन करनेवाली **विशः**=प्रजायें **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **अराणिषुः**=(अरंसिषुः) रमण करती हैं। प्रभु को न भूलती हुई, प्रभु में स्थित हुई-हुई ये प्रजायें एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करती हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु का वर्धन करें। सोमरक्षण द्वारा तीव्र बुद्धि बनकर प्रभु का दर्शन करें। त्यागवृत्तिवाले बनकर प्रभु में स्थित हुए-हुए आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु-महिमा का गायन व आत्मरक्षण

तमिद्विप्रा॑ अव॒स्यवः॑ प्र॒वत्व॑तीभिरू॒तिभिः॑। इन्द्रं॑ क्षो॒णीर॑वर्धयन्व॒याइ॑व॥ १७॥

(१) **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **प्रवत्वतीभिः**=उत्कर्ष की ओर ले जानेवाले **ऊतिभिः**=रक्षणों के हेतु से **इत्**=निश्चयपूर्वक **तं इत्**=उस प्रभु को ही **अवर्धयन्**=अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हैं और प्रभु के गुणों को धारण करने के लिये यत्नशील होते हैं। (२) **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **क्षोणीः**=पृथिवी पर निवास करनेवाले सब मनुष्य **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं। **वयाः इव**=ये सब लोक-लोकान्तर उस प्रभुरूप वृक्ष की शाखाओं की तरह हैं। ये सब शाखायें जैसे उस वृक्ष की महिमा को बढ़ाती हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य उस प्रभु की महिमा का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी रक्षणेच्छु पुरुष प्रभु की महिमा का गायन करते हैं। यह महिमा का गायन ही हमारा रक्षण करता है और हमें उत्कर्ष की ओर ले जाता है।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

त्रिकद्रुकेषु चेतनम्

त्रिक॑द्रुकेषु॒ चेत॑नं दे॒वासो॑ य॒ज्ञम॑त्नत। तमिद्व॑र्धन्तु नो॒ गिरः॑ स॒दावृ॑धम्॥ १८॥

(१) **त्रिकद्रुकेषु**=(कदि आह्वाने) प्रातः, मध्याह्न व सायं तीनों आह्वान कालों में **चेतनम्**=उपासकों की चेतना को बढ़ानेवाले **यज्ञम्**=उपास्य प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अत्नत**=अपने अन्दर निरुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। जितना-जितना प्रभु का स्मरण करते हैं, उतना-उतना ही अपनी चेतना को ये बढ़ानेवाले होते हैं। (२) **नः गिरः**=हमारी ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति-वाणियाँ **इत्**=निश्चय से **तम्**=उस **सदावृधम्**=सदा से बढ़े हुए प्रभु को ही **वर्धन्तु**=बढ़ायें। अर्थात् हम सदा प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें। प्रभु-स्तवन ही हमारी वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—हम जीवन के प्रातः, मध्याह्न व सायं में अर्थात् आजीवन प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें। यह स्मरण ही हमारी चेतना को ठीक रखेगा। अन्यथा हम विस्मृति में डूबकर कुछ का कुछ करते रहेंगे।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

शुचिः पावकः अद्भुतः

स्तो॒ता यत्ते॒ अनु॑व्रत उ॒क्थान्यृ॑तु॒था द॒धे। शुचिः॑ पाव॒क उ॑च्यते॒ सो अद्भु॑तः॥ १९॥

(१) हे प्रभो! **यत्**=जब **ते स्तोता**=यह जीव आपका स्तोता बनता है, तो **अनुव्रतः**=आपके अनुकूल व्रतवाला होता है। आप सर्वज्ञ हैं, यह भी ज्ञानी बनने का प्रयत्न करता है। आप दयालु हैं, यह भी दया को अपनाने का प्रयत्न करता है। और **ऋतुथा**=समय-समय पर **उक्थानि दधे**=आपके स्तोत्रों का धारण करता है। (२) यह स्तोता **शुचिः**=अपने को पवित्र बनाता है। **पावकः**=औरों को भी पवित्र जीवनवाला करता है, इस प्रकार बना हुआ **सः**=यह स्तोता **अद्भुतः उच्यते**=सब से अद्भुत जीवनवाला कहाता है। सब कोई इसे आश्चर्य से देखते हैं। इसे वे महापुरुष के रूप में देखते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तोता स्तवन करता हुआ प्रभु के गुणों को धारण करता है। इस प्रकार पवित्र बनता है, पवित्र कर्मोंवाला होता है। अद्भुत जीवनवाला होता है।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सर्वदीपक प्रभु

तदिद्रुद्रस्य चेतति यह्वं प्रत्नेषु धामसु। मनो यत्रा वि तद्दधुर्विचेतसः ॥ २० ॥

(१) **प्रत्नेषु धामसु**=इन पुराणे, सनातन **धामसु**=पृथिवी आदि लोकों में **रुद्रस्य**=सब दुःखों के द्रावक प्रभु का **इत्**=ही **तत् यह्वम्**=वह महान् बल **चेतति**=जाना जाता है। ये पृथिवी आदि लोक उसी के बल से बलवाले हो रहे हैं। (२) उस रुद्र की दीप्ति व बल से ये सब पिण्ड दीप्त व दृढ़ हो रहे हैं, **यत्रा**=जिस प्रभु में **विचेतसः**=विशिष्ट ज्ञानवाले पुरुष **तत् मनः**=अपने उस मन को **विदधुः**=विशेषरूप से धारण करते हैं। सब ज्ञानी उस प्रभु का ही ध्यान करते हैं, जिस प्रभु का बल सब पिण्डों को धारण करता है।

भावार्थ—सब सूर्य आदि पिण्डों को प्रभु का तेज ही दीप्त कर रहा है। ज्ञानी पुरुष इस प्रभु में ही अपने मन को निरुद्ध करते हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभु की मित्रता

यदि मे सख्यमावर इमस्य पाह्यन्धसः। येन विश्वा अति द्विषो अतारिम ॥ २१ ॥

(१) हे प्रभो! **यदि**=यदि **मे सख्यम्**=मेरी मित्रता को **आवरः**=आप स्वीकार करते हैं, तो **इमस्य**=इस **अन्धसः**=सोम शक्ति का (वीर्य का) **पाहि**=मेरे अन्दर रक्षण करते हैं। प्रभु की मित्रता वासना-विनाश का कारण बनकर सोमरक्षण का साधन बनती है। (२) **येन**=जिस सोमरक्षण के द्वारा **विश्वाः**=सब अन्दर घुस आनेवाले **द्विषः**=रोगों व ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्भावों को **अति अतारिम**=हम पार कर जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है। सोमरक्षण के द्वारा हम रोगों व दुर्भावों को नष्ट कर पाते हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

कदा त इन्द्र गिर्वणः स्तोता भवाति शन्तमः। कदा नो गव्ये अश्व्ये वसौ दधः ॥ २२ ॥

(१) प्रभु प्राप्ति के लिये आतुरता को अनुभव करता हुआ स्तोता कहता है कि हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से सम्भजनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **कदा**=कब **ते स्तोता**=आपका यह स्तवन करनेवाला उपासक **शन्तमः भवाति**=शान्त जीवनवाला होता है? अर्थात् आपका स्तवन करता हुआ कब मैं शान्ति को प्राप्त करूँगा? (२) **कदा**=कब आप **नः**=हमें **गव्ये**=ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी तथा **अश्व्ये**=कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी **वसौ दधः**=वसु में धारण करोगे? अर्थात् कब आपकी कृपा से हमें उत्तम कर्मेन्द्रियाँ व उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त होंगी?

भावार्थ—प्रभु के स्तवन से शान्ति मिलती है और इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'सुष्टुता वृषणा' हरी

उत ते सुष्टुता हरी वृषणा वहतो रथम्। अजुर्यस्य मदिन्तमं यमीमहे ॥ २३ ॥

(१) **उत**=और **अजुर्यस्य**=कभी जीर्ण न होनेवाले **ते**=आपसे दिये हुए **सुष्टुता**=उत्तम स्तुतिवाले **वृषणा**=शक्तिशाली **हरी**=इन्द्रियाश्व **रथम्**=इस शरीर-रथ को **वहतः**=लक्ष्य की ओर

ले चलते हैं। (२) उस रथ को ले चलते हैं **यम्**=जिसको **मदिन्तमम्**=आनन्दमय आप से **ईमहे**=हम माँगते हैं ('ईमहे' क्रियादि कर्मक है) आनन्दमय प्रभु से हम उत्तम शरीर-रथ की याचना करते हैं। उस प्रभु से दिया गया यह शरीर-रथ हमारे आनन्द का साधन बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमें न जीर्ण होनेवाला व आनन्द को प्राप्त करानेवाला शरीर-रथ प्राप्त कराते हैं। शक्तिशाली प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को देते हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

अथ द्विता

तमीमहे पुरुष्टुतं यह्वं प्रत्नाभिरूतिभिः। नि बर्हिषि प्रिये सदद्ध द्विता ॥ २४ ॥

(१) **तम्**=उस **पुरुष्टुतम्**=बहुतों से स्तुति किये गये **यह्वम्**=महान् प्रभु को **प्रत्नाभिः**=सनातन, सदा से चले आ रहे **ऊतिभिः**=रक्षणों के हेतु से **ईमहे**=याचना करते हैं। प्रभु सदा से जीवों का रक्षण करते ही हैं। प्रभु से इसी रक्षण की हम याचना करते हैं। (२) वे प्रभु **प्रिये**=तृप्त व कान्त **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **निसदत्**=विराजमान हों। और **अध**=अब **द्वितः**=हमारी शक्ति व ज्ञान का विस्तार होता है। 'द्वौ तनोति) प्रभु की हृदय में उपस्थिति हमें मार्ग भ्रष्ट नहीं होने देती। परिणामतः मार्ग पर चलते हुए हम ज्ञान व शक्ति का विस्तार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु के हृदय में आसीन होने पर हमारा मस्तिष्क ज्ञान परिपूर्ण होता है, तो शरीर शक्ति-सम्पन्न बन जाता है।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

आआध्यापित करनेवाली प्रेरणा

वर्धस्वा सु पुरुष्टुत ऋषिष्टुताभिरूतिभिः। धुक्षस्व पिप्युषीमिषमवा च नः ॥ २५ ॥

(१) हे **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुति किये गये प्रभो! आप **ऋषि स्तुताभिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों से प्रशंसित **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **सु वर्धस्व**=हमें सम्यक् बढ़ानेवाले होइये। स्तुति के द्वारा हम प्रभु की रक्षा के पात्र बनते हैं। (२) हे प्रभो! आप **पिप्युषीम्**=हमारा आप्यायन (=वर्धन) करनेवाली **इषम्**=प्रेरणा को **धुक्षस्व**=हमारे में प्रपूरित करिये। हम आपकी प्रेरणा को प्राप्त करें, इस प्रेरणा के अनुसार मार्ग पर चलते हुए हम उन्नति व वृद्धि को प्राप्त करते हैं। हे प्रभो! आप हमें प्रेरणा प्राप्त कराइये **च**=और **नः**=हमें **अव**=रक्षित करिये। आपकी प्रेरणा हमें वासना आदि के आक्रमण से बचानेवाली हो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें रक्षण प्राप्त करायें और उत्तम प्रेरणा देते हुए हमें सुरक्षित करें।

ऋषिः—नारदः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'मनोयुज्' धी

इन्द्र त्वमवितेदसीत्था स्तुवतो अद्रिवः। ऋतादियर्मि ते धियं मनोयुजम् ॥ २६ ॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रहस्त (अद्रिः वज्रम्) अथवा आदरणीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! (आद्रियते) **त्वम्**=आप **स्तुवतः**=स्तुति करनेवाले के **इत्था**=सचमुच **अविता असि इत्**=रक्षक ही हैं। आपका स्तोता वासनाओं का शिकार नहीं होता। आपका स्मरण वासनाओं व रोगों के आक्रमण से बचानेवाला होता है। (२) मैं **ते**=आपके, आप से दिये गये **ऋतात्**=इस सत्य वेदज्ञान से **मनोयुजम्**=मन को युक्त करनेवाली **धियम्**=बुद्धि को, मेधा को **इयर्मि**=अपने अन्दर प्रेरित

करता हूँ। मुझे आपके इस सत्य वेदज्ञान के अध्ययन से वह बुद्धि प्राप्त होती है जो मेरे मन को विक्षिप्तावस्था से हटाकर निरुद्धावस्था में लानेवाली होती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करनेवाले का रक्षण करते हैं। यह स्तोता वेदज्ञान के द्वारा उस बुद्धि को प्राप्त करता है जो उसके मन को भटकने से बचाती है।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'सधमाद्या प्रतद्वसू' हरी

इह त्या सधमाद्या युजानः सोमपीतये। हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर॥ २७॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **इह**=हमारे जीवन में, शरीर-रथ में **त्या हरी**=उन इन्द्रियाश्वों को **युजानः**=युक्त करते हुए **सोमपीतये**=सोम के पान के लिये, सोम के रक्षण के लिये **अभिस्वर**=(अभिगच्छ) हमें प्राप्त होइये। प्रभु की प्राप्ति में वासनाओं का उत्थान नहीं होता। परिणामतः सोमरक्षण सम्भव होता है। (२) इन्द्रियाश्व **सधमाद्या**=साथ रहते हुये हमें आनन्दित करनेवाले हों, भटकनेवाले न हों। तथा **प्रतद्वसू**=प्राप्त वसू (विस्तीर्णधनौ) प्राप्त धन हों। कर्मेन्द्रियाँ शक्ति-सम्पन्न हों, तो ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-सम्पन्न। शक्ति व ज्ञान ही इन इन्द्रियाश्वों की सम्पत्ति है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे इन्द्रियाश्व न भटकनेवाले हों तथा 'शक्ति व ज्ञान' रूप धन से युक्त हों। प्रभु हमें प्राप्त हों, जिससे हम वासनाओं से अनाक्रान्त रहकर सोम का रक्षण कर सकें।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'नीरोग-श्री सम्पन्न' जीवन

अभि स्वरन्तु ये तव रुद्रासः सक्षत श्रियम्। उतो मरुत्वतीर्विशो अभि प्रयः॥ २८॥

(१) **ये**=जो भी व्यक्ति **तव अभि स्वरन्तु** (त्वाम् अभि०)=आपकी ओर आनेवाले होते हैं, वे **रुद्रासः**=रोगों को दूर भगानेवाले होते हैं तथा **श्रियम्**=शोभा का **सक्षत**=सेवन करते हैं। इनका जीवन बड़ी शोभावाला होता है। (२) **उत उ**=और निश्चय से **महत्वतीः**=प्रशस्त प्राणोंवाली, प्राणसाधना में प्रवृत्त होनेवाली **विशः**=प्रजायें **प्रयः अभि**=सात्त्विक अन्नों की ओर ही गतिवाली होती हैं। प्राणायाम के साथ युक्ताहार-विहार तो आवश्यक ही है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक नीरोग, शोभावाला तथा प्राणसाधना को करता हुआ सात्त्विक अन्नों का सेवन करता है।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति

इमा अस्य प्रतूर्तयः पदं जुषन्त यद्दिवि। नाभा यज्ञस्य सं दधुर्यथा विदे॥ २९॥

(१) **इमाः अस्य**=ये इसकी प्रजायें **प्रतूर्तयः**=प्रकर्षेण शत्रुओं की हिंसक होती हैं। **यत्**=क्योंकि **दिवि**=द्युलोक में, प्रकाशमय लोक में **पदं जुषन्त**=पद को प्रीतिपूर्वक रखती हैं। अर्थात् प्रभु के उपासक लोग ज्ञान-प्रधान जीवन बिताते हैं और काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं। (२) **यथा विदे**=यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये **यज्ञस्य**=उस पूजनीय प्रभु की **नाभा**=(णह बन्धने) बन्धुता में **सन्दधुः**=अपने को स्थापित करते हैं। प्रभु के सम्पर्क में ही सत्यज्ञान का प्रकाश हृदयों में हुआ करता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासक ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हुए काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करते हैं। ये प्रभु की बन्धुता में निवास करते हुए सत्य ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—आर्षीविराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

यज्ञ का महत्त्व

अयं दीर्घाय चक्षसे प्राचि प्रयत्यध्वरे। मिमीते यज्ञमानुषग्विचक्ष्य॥ ३०॥

(१) **अयम्**=यह उपासक **प्राचि**=(प्र-अञ्च्) प्रकृष्ट गति, उन्नति के साधनभूत **अध्वरे**=हिंसारहित कर्मों के **प्रयति**=प्रकर्षेण चलने पर **दीर्घाय चक्षसे**=दीर्घ ज्ञान के लिये होता है। अर्थात् यज्ञों को करता हुआ दीर्घ दृष्टिवाला बनता है। (२) यह **विचक्ष्य**=विशेषरूप से देखकर अर्थात् विचार करके **आनुषक्**=निरन्तर **यज्ञं मिमीते**=यज्ञ को करनेवाला होता है। वह यह समझ लेता है कि यह यज्ञ ही इष्टकामधुक् है तथा यज्ञ से ही यह लोक व परलोक कल्याणमय बनता है।

भावार्थ—यज्ञों को करते हुए हम दीर्घ दृष्टिवाले बनें। यज्ञों के महत्त्व को समझकर हम निरन्तर यज्ञशील बनें।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

वृषा रथः

वृषायमिन्द्र ते रथ उतो ते वृषणा हरी। वृषा त्वं शतक्रतो वृषा हवः॥ ३१॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **अयं ते रथः**=यह आपका शरीररूप-रथ **वृषा**=सुखों का सेचन करनेवाला है। **उत उ**=और निश्चय से **ते हरी**=आपसे हमारे लिये प्राप्त कराये गये ये इन्द्रियाश्व **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। (२) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व बलवाले प्रभो! **त्वं वृषा**=आप हमारे पर सुखों का वर्षण करते हैं। **हवः**=आपकी पुकार, आपकी आराधना **वृषा**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाली है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें यह सुखों के वर्षक शरीर-रथ व इन्द्रियाश्व प्राप्त कराये हैं। प्रभु तो सुख देनेवाले हैं ही, प्रभु की आराधना हमें सुखी करती है।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

वृषा ग्रावा

वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा सोमो अयं सुतः। वृषा यज्ञो यमिन्वसि वृषा हवः॥ ३२॥

(१) हे प्रभो! यह **ग्रावा**='अश्माभवतु नस्तनूः' आप से दिया गया पाषाणवत् दृढ़ शरीर **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाला हो। **मदः**=आप की आराधना से प्राप्त होनेवाला उल्लास **वृषा**=सुखवर्षक हो। **अयं सुतः सोमः**=यह उत्पन्न हुआ-हुआ सोम (वीर्य) **वृषा**=सब अंगों को दृढ़ बनाता हुआ सुखकर हो। (२) हे प्रभो! **यज्ञः**=वे यज्ञ **वृषा**=सुखकर हों **यं इन्वसि**=जिनकी आप हमारे लिये प्रेरणा देते हैं तथा **हवः**=आपकी पुकार, आपकी आराधना **वृषा**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाली हो।

भावार्थ—'यह पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर, प्रभु की आराधना से प्राप्त उल्लास, शरीर में उत्पन्न हुआ-हुआ सोम तथा प्रभु से प्रेरित यज्ञ व प्रभु की आराधना' ये सब हमारे लिये सुखों के वर्षक हों।

ऋषिः—नारदः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

वृषा हवः

वृषा त्वा वृषणं हुवे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः। वावन्थ हि प्रतिष्टुतिं वृषा हवः॥ ३३॥

(१) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! मैं **चित्राभिः ऊतिभिः**=अद्भुत रक्षणों के हेतु से **वृषणं त्वा**=शक्तिशाली व सुखवर्षक आप को **वृषा**=शक्तिशाली बनता हुआ **हुवे**=पुकारता हूँ। (२) आप **हि**=निश्चय से **प्रतिष्टुतिम्**=आपको लक्ष्य करके की गई स्तुति को **वावन्थ**=सेवन करते हैं। यह मेरे द्वारा की गई स्तुति मुझे आपका प्रिय बनाती है। **हवः वृषा**=आपकी पुकार, आपकी आराधना, हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाली होती है।

भावार्थ–हम उस सुखवर्षक प्रभु का आराधन करें। यही प्रभु के अद्भुत रक्षणों को प्राप्त करने का मार्ग है। हम प्रतिदिन प्रभु-स्तवन करते हुए प्रभु के प्रिय बनें। यह प्रभु का आराधन हमें सुखी करेगा।

प्रभु की आराधना करता हुआ यह व्यक्ति गौओं व अश्वों को, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को उत्तम बना पाता है। गौवों के विषय में उत्तम कथनवाला अश्वों के विषय में उत्तम कथनवाला यह 'गोषूक्ती व अश्वसूक्ती' बनता है। ये दोनों काण्वायन=अत्यन्त मेधावी हैं। इन्द्र नाम से प्रभु-स्मरण करते हुए कहते हैं–

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-स्तवन व ऐश्वर्य

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोषखा स्यात्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यथा**=जैसे **त्वम्**=आप **एकः इत्**=अद्वितीय ही **वस्वः**=सम्पूर्ण धनों के ईश हैं, **यद्**=यदि **अहम्**=मैं भी इसी प्रकार **ईशीय**=इन धनों का ईश होता, तो **मे स्तोता**=मेरा स्तोता **गोषखा स्यात्**=गौओं सहित होता। अर्थात् उसे गवादिक धन की किसी प्रकार से कमी न रहती। (२) एक सामान्य धनी पुरुष का स्तोता भी आवश्यक धनों को प्राप्त कर लेता है, तो क्या प्रभु का उपासक भूखा मरेगा? प्रभु का उपासक पुरुषार्थ करता है और प्रभु में पूर्ण विश्वास रखता है। यह विश्वास ही उसके जीवन के उल्लास का रहस्य होता है।

भावार्थ–प्रभु के उपासक को जीवन के लिये आवश्यक चीजों की कभी कमी नहीं रहती।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दित्सेयं-शिक्षेयम्

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे। यदहं गोपतिः स्याम्॥ २॥

(१) हे **शचीपते**=सब शक्तियों के स्वामिन् प्रभो! **यद् अहम्**=जब मैं **गोपतिः**=गौवों का स्वामी **स्याम्**=होऊँ, अर्थात् धन-सम्पन्न बनूँ तो **अस्मै**=इस **मनीषिणे**=मन को वश में करनेवाले प्राज्ञ मनुष्य के लिये **दित्सेयम्**=देने की कामना करूँ और **शिक्षेयम्**=प्रार्थित धन को अवश्य दूँ। (२) हे प्रभो! मैं आपका सेवक बनकर आप से दिये गये धन का ठीक प्रकार से वितरण करनेवाला बनूँ। सब धन को आपका समझता हुआ मैं उस धन को आपके भक्तों में ही वितरण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ–हम प्रभु के अनुग्रह से धन-सम्पन्न हों, तो उस धन को पात्र पुरुषों में वितीर्ण करनेवाले बनें।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ‌ देवता—इन्द्रः‌ छन्दः—गायत्री‌ स्वरः—षड्जः‌

वेद-धेनु

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते। गामश्वं पिप्युषी दुहे॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते धेनुः**=आपकी यह वेदवाणीरूपी गौ **सूनृता**=(सु ऊन् ऋत) उत्तम दुःख का परिहाण करनेवाले सत्य ज्ञान-दुग्ध को देनेवाली है। सब सत्य ज्ञानों का यह कोश है। (२) यह **पिप्युषी**=अपने ज्ञान-दुग्ध द्वारा आप्यायन (=वर्धन) करनेवाली वेद-धेनु **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिये तथा **सुन्वते**=अपने शरीर में सोम का अभिषव करनेवाले पुरुष के लिये **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों को तथा **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को **दुहे**=प्रपूरित करती है। यह वेद-धेनु अपने ज्ञानदुग्ध के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों का पोषण करती है, तो यज्ञों की प्रेरणा देती हुई कर्मेन्द्रियों को सबल बनाती है।

भावार्थ—वेद सब सत्य ज्ञानों को देता हुआ हमारी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का पोषण करता है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ‌ देवता—इन्द्रः‌ छन्दः—निचृद्गायत्री‌ स्वरः—षड्जः‌

प्रभु का अहिंसित ऐश्वर्य

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः। यद्दित्ससि स्तुतो मघम्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **न देवः**=न तो कोई प्राकृतिक शक्ति और **न मर्त्यः**=न ही कोई मनुष्य **ते**=आपके **राधसः**=ऐश्वर्य का, धन का **वर्ता**=निवारक **अस्ति**=है। आपकी ऐश्वर्यशालिनता का किसी से भी प्रतिबन्ध नहीं किया जा सकता। (२) आपके उस ऐश्वर्य का कोई भी निवारण नहीं कर पाता **यत् मघम्**=जिस ऐश्वर्य को **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप, इस स्तोता के लिये **दित्ससि**=देने की कामनावाले होते हैं। प्रभु का स्तोता वही है जो प्रभु के निर्देश के अनुसार यज्ञिय कर्मों में प्रवृत्त रहता है। इन कर्म-प्रवृत्त मनुष्यों को प्रभु जीवन के लिये आवश्यक धन अवश्य प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तोता के लिये धन प्राप्त कराते हैं, तो इस धन को कोई हिंसित नहीं कर पाता।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ‌ देवता—इन्द्रः‌ छन्दः—निचृद्गायत्री‌ स्वरः—षड्जः‌

यज्ञः इन्द्रं अवर्धयत्

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि॥ ५॥

(१) प्रभु का सच्चा स्तवन यज्ञों के द्वारा ही होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। यह **यज्ञः**=यज्ञ लोकहित के लिये किया जानेवाला कर्म **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **अवर्धयत्**=बढ़ाता है। यज्ञों से सब प्रकार से उत्थान ही उत्थान होता है। (२) ये यज्ञ इस इन्द्र का वर्धन तब करते हैं **यद्**=जब यह **भूमिम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **व्यवर्तयत्**=विशिष्ट वर्तनवाला करता है। शरीर को सदा उत्तम कर्मों में ही प्रेरित करता है। इसे स्वस्थ रखता हुआ कार्य-क्षम बनाये रखता है तथा **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **ओपशम्**=ज्ञानरूप शिरोभूषण को **चक्राणः**=करनेवाला होता है। शरीर में शक्ति तथा मस्तिष्क में ज्ञान का धारण करके यह यज्ञों में प्रवृत्त रहता है। ये यज्ञ इसका वर्धन करते हैं।

भावार्थ—हम पृथिवीरूप शरीर को शक्ति-सम्पन्न करके विशिष्ट वर्तनवाला बनायें। मस्तिष्क ज्ञानाभरण से भूषित करें। इन शक्ति व ज्ञान के द्वारा यज्ञों को करें। ये यज्ञ हमारे वर्धन का कारण बनेंगे।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सब धनों के विजेता प्रभु

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः। ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपसे प्राप्त कराये जानेवाले **ऊतिम्**=रक्षण को **आवृणीमहे**=वरते हैं। आपके रक्षण को प्राप्त करके ही तो हम सब प्रकार से उन्नति कर सकेंगे। (२) उन आपके रक्षण का हम वरण करते हैं, जो आप **वावृधानस्य**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त हैं तथा उपासकों का सदा वर्धन करनेवाले हैं। तथा **विश्वा धनानि जिग्युषः**=सब धनों का विजय करते हैं। आप ही हमारे लिये इन धनों का विजय करके हमें सदा रक्षण के योग्य बनाते हैं। ये धन ही ठीक प्रकार से उपयुक्त होकर हमारी बुद्धि का हेतु बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के रक्षण का वरण करते हैं। ये प्रभु सदा हमारा वर्धन कर रहे हैं और हमारे लिये धनों का विजय करते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वल का भेदन

व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद्वलम्॥ ७॥

(१) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **यद्**=जब **वलम्**=ज्ञान पर परदे के रूप में आ जानेवाली इस वासना को **अभिनद्**=विदीर्ण करता है, तो **सोमस्य मदे**=सोमरक्षण से जनित उल्लास के होने पर **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **रोचना**=ज्ञानदीप्तियों से **व्यतिरत्**=बढ़ाता है। (२) बल व वृत्र पर्यायवाची शब्द हैं। काम-वासना को ये नाम इसलिये दिये गये हैं कि यह वासना ज्ञान पर परदा-सा डाल देती है। इस वासना के विनष्ट होने पर शरीर में सोम का रक्षण होता है और हृदयान्तरिक्ष ज्ञान दीप्तियों से चमक उठता है, सुरक्षित सोम ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष वासना को विनष्ट करके सोम का रक्षण करता हुआ ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इसका हृदयान्तरिक्ष ज्ञान दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गाः उदाजत्

उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः। अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्॥ ८॥

(१) **प्रभु अंगिरोभ्यः**=सोमरक्षण द्वारा अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले पुरुषों के लिये **गाः**=इन्द्रियों को **उद् आजत्**=विषयों के चक्र से बाहिर प्रेरित करते हैं। (२) **गुहा सतीः**=अविद्या की गुफा में वर्तमान इन्द्रियरूप गौवों को **आविष्कृण्वन्**=गुफा से निकाल कर प्रकट करने के निमित्त **वलम्**=बलासुर को, इस कामनारूप शत्रु को **अर्वाञ्चं नुनुदे**=अधोमुख प्रेरित करते हैं, अर्थात् इस बलासुर को विनष्ट करके इन्द्रियों को अज्ञानान्धकार से मुक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु अंगिरा के लिये वासना को विनष्ट करके इन्द्रिय रूप गौओं को अज्ञानान्धकार की गुफा से बाहिर ले आते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्थिराणि, न पराणुदे

इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च। स्थिराणि न पराणुदे॥ ९॥

(१) **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के द्वारा **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक की **रोचना**=दीप्तियाँ **दृढ़ानि**=दृढ़ की जाती हैं **च**=और **दृंहितानि**=वर्धित होती है। प्रभु हमारे ज्ञानों को स्थिर व वर्धित करते हैं। (२) **स्थिराणि**=ये स्थिर ज्ञान **न पराणुदे**=वासनारूप शत्रुओं से धकेलने योग्य नहीं होते। वस्तुतः ज्ञान निर्मल होता है, तो वासना से अभिभूत हो जाता है। प्रबल ज्ञान कभी भी वासनाओं का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु हमारे मस्तिष्क के ज्ञानों को दृढ़ करते हैं। ये दृढ़ ज्ञान वासना से अभिभूत न होकर वासना को दग्ध करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

भक्ति की तरंगों का आनन्दोल्लास

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते। वि ते मदा अराजिषुः॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आपका **स्तोमः**=स्तुति समूह मेरे अन्दर इस प्रकार **अजिरायते**=क्षिप्रगामी के समान आचरण करता है, **इव**=जैसे **अदन्**=हर्ष का अनुभव करती हुई, मस्त होती हुई **अपाम् ऊर्मिः**=जल की तरंग शीघ्र गतिवाली होती है। जैसे समुद्र तरंगों से तरंगित होता है, इसी प्रकार हमारा मानस समुद्र भक्ति की तरंगों से तरंगित होता है। (२) हे प्रभो! **ते मदाः**=तेरी भक्ति से उत्पन्न हुए-हुए आनन्दोल्लास **वि अराजिषुः**=विशिष्ट रूप से दीप्त होते हैं।

भावार्थ—हमारा हृदय भक्ति की तरंगों से तरंगित होता है। ये तरंगें हमारे हृदयों को आनन्दोल्लसित करती हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तोतॄणां भद्रकृत्

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः। स्तोतॄणामुत भद्रकृत्॥ ११॥

(१) हे **इन्द्र**=प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **स्तोमवर्धनः असि**=हमारे स्तुति समूह का वर्धन करनेवाले हैं। आप ही **उक्थवर्धनः**=ऊँचे से गायन के योग्य उत्तम वचनों के बढ़ानेवाले हैं। (२) **उत**= और **स्तोतॄणाम्**=इन स्तोताओं के **भद्रकृत्**=कल्याण को करनेवाले हैं। प्रभु का स्तोता प्रभु के गुणों को अपने अन्दर धारण करने की प्रेरणा को प्राप्त करता हुआ कल्याम का भागी होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें। यही कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु की उपासना व यज्ञ

इन्द्रमित्केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः। उप यज्ञं सुराधसम्॥ १२॥

(१) **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **इत्**=निश्चय से **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **हरी**=इन्द्रियाश्व **सोमपेयाय**=सोम का पान करने के लिये **वक्षतः**=धारण करते हैं। प्रभु का स्मरण ही हमें इस योग्य बनाता है कि हम सोम का शरीर में रक्षण कर सकें। (२)

ये इन्द्रियाश्व हमें **सुराधसम्**=उत्तम ऐश्वर्यों के प्राप्त करानेवाले **यज्ञम् उप**=यज्ञ के समीप प्राप्त कराते हैं। इन यज्ञों में प्रवृत्त रहकर ही हम वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं। यह वासनारहित जीवन ही सोमरक्षण के योग्य होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को प्रभु की उपासना व यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त करें। यही मार्ग है, जिससे कि हम वासनाओं का शिकार न होंगे और सोम का रक्षण कर सकेंगे।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

नमुचि के सिर का उद् वर्तन

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजयः स्पृधः॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **अपां फेनेन**=कर्मों के वर्धन के द्वारा ही **नमुचेः**=नमुचि के पीछा न छोड़नेवाली (न+मुच्) अहंकार की वासना के **शिरः**=सिर को **उद् अवर्तयः**=उद्वृत्त कर देता है। इस वासनारूप नमुचि के सिर का छेदन कर्मों के वर्धन के द्वारा ही होता है। निरन्तर कर्मों में लगे रहकर ही हम वासना को जीत पाते हैं। (२) यह वह समय होता है **यत्**=जब कि तू **विश्वाः**=सब **स्पृधः**=शत्रु-सैन्यों को **अजयः**=पराजित करनेवाला होता है। काम-क्रोध-लोभ आदि सब अन्तःशत्रुओं का पराभव इस 'अपां फेन'=कर्मवर्धन से ही होता है।

भावार्थ—निरन्तर कर्मों में लगे रहकर हम अहंभाव से काम-क्रोध-लोभ आदि से ऊपर उठ पाते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दस्युओं का अवधूनन

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः। अव दस्यूँरधूनुथाः॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **दस्यून्**=दास्यव वृत्तियों को, राक्षसीभावों को **अव अधूनुथाः**=कम्पित करके अपने से दूर करता है। (२) उन सब दस्युवृत्तियों को तू अपने से दूर करता है जो **मायाभिः**=छल-छिद्रों के साथ **उत् सिसृप्सतः**=खूब फैलती हैं और **द्यां आरुरुक्षतः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आरूढ़ होने की कामना करती हैं, मस्तिष्क में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर उन सब दस्युवृत्तियों को अपने से दूर करें, जो छल-छिद्र से युक्त हैं तथा मस्तिष्क को अपने वश में कर लेती हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

असुन्वा संसद् का विनाश

असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः। सोमपा उत्तरो भवन्॥ १५॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप हमारे जीवनों में **असुन्वाम्**=अपने अन्दर सोम का अभिषव न करनेवाली, सोम का रक्षण न करनेवाली **संसदम्**=आसुरभावों की सभा को **विषूचीम्**=विविध विरुद्ध दिशाओं में गतिवाली को **व्यनाशयः**=विनष्ट करते हैं। प्रभु की उपासना से आसुरी वृत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं। ये आसुरी वृत्तियाँ शरीर में सोम-रक्षण के अनुकूल नहीं होती। (२) इन आसुरी वृत्तियों के विनाश के द्वारा वे प्रभु **सोमपाः**=हमारे अन्दर सोम का रक्षण करते हैं। इस सोमरक्षण के द्वारा **उत्तरः भवन्**=हमारे जीवनों में प्रभु ऊपर और ऊपर होते

हैं, अर्थात् हम प्रभु की ओर अधिकाधिक झुकाववाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से आसुरी भाव विनष्ट होते हैं। इनके विनाश से शरीर में सोम का रक्षण होता है और हमारा प्रभु की उपासना के प्रति झुकाव बढ़ता है।

अगले सूक्त के 'ऋषि देवता' भी इसी प्रकार हैं। सो वही विषय प्रस्तुत है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'पुरुहूत पुरुष्टुत' प्रभु का गान

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्। इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत॥ १॥

(१) **तम्**=उस **पुरुहूतम्**=बहुतों से पुकारे जानेवाले **पुरुष्टुतम्**=खूब स्तुति किये जानेवाले प्रभु का **उ**=ही **अभिप्रगायत**=प्रातः-सायं गुणगान करो। यह गायन ही आसुर वृत्तियों को तुम्हारे से दूर भगानेवाला होगा। (२) उस **तविषम्**=महान् सर्वशक्तिमान् **इन्द्रम्**=प्रभु को ही **गीर्भिः**=ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तुति वाणियों से **आविवासत**=परिचरित करो, पूजो। यह प्रभु-पूजन ही हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचायेगा। इसी से हम मार्ग पर आगे बढ़ते हुए लक्ष्य स्थान पर पहुँचेंगे।

भावार्थ—प्रभु का गायन, प्रभु का पूजन ही हमें प्रभु के समान महान् व बलवान् बनायेगा।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् प्रभु की सर्वाधार हैं

यस्य द्विबर्हसो बृहत्सहो दाधार रोदसी। गिरींरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना॥ २॥

(१) **यस्य**=जिस **द्विबर्हसः**=ज्ञान और शक्ति दोनों दृष्टिकोणों से बढ़े हुए प्रभु का **बृहत् सहः**=महान् बल **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **दाधार**=धारण करता है। वे प्रभु ही **वृषत्वना**=अपने वीर्य व सामर्थ्य से **गिरीन्**=पर्वतों को, **अज्रान्**=खेतों को (मैदानों को), **अपः**=जलों को तथा **स्वः**=प्रकाश को धारण करते हैं। (२) वस्तुतः प्रभु ही सर्वाधार हैं। सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ होने से सब चीजों का वे ठीक रूप में धारण कर रहे हैं। प्रभु का उपासक भी ज्ञान और शक्ति को बढ़ाता हुआ अपने जीवन में मस्तिष्क व शरीर दोनों का सुन्दरता से धारण करता है।

भावार्थ—वे सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने सामर्थ्य से सारे ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

विजयी बल, श्रवणीय ज्ञान

स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे। इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे॥ ३॥

(१) हे **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुत प्रभो! **सः**=वे आप **राजसि**=सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं। **एकः**=बिना किसी अन्य की सहायता के अकेले ही **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जिघ्नसे**=नष्ट करते हैं। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप वासनाओं को विनष्ट करके हमारे लिये **जैत्रा**=विजय के साधनभूत बलों को **च**=तथा **श्रवस्या**=श्रवणीय ज्ञानों को **यन्तवे**=देने के लिये होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु वासनाओं को नष्ट करके हमारे लिये जैत्र बल व श्रवणीय ज्ञान को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'लोककृत्नु-हरिश्रि' मद

तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम्। उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम्॥ ४॥

(१) हे प्रभो! **तम्**=उस **ते**=आपके द्वारा जिसकी व्यवस्था की गई है, उस सोम के रक्षण से उत्पन्न **मदम्**=उल्लास की **गृणीमसि**=हम प्रशंसा करते हैं। यह मद **वृषणम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला है **पृत्सु**=संग्रामों में **सासहिम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। (२) **उ**=और निश्चय से **लोककृत्नुम्**=यह मद हमारे जीवनों में प्रकाश को करनेवाला है। हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! यह मद **हरिश्रियम्**=इन्द्रियों की श्री का कारण होता है। सब इन्द्रियाँ इसी से दीप्ति को प्राप्त करती हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से सोमरक्षण होकर हमें वह उल्लास प्राप्त होता है, जो हमें शक्तिशाली बनाता है, संग्राम में विजयी करता है, प्रकाश को प्राप्त कराता है और इन्द्रियों की श्री को बढ़ाता है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

आयवे-मनवे

येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ। मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि॥ ५॥

(१) हे प्रभो! गत मन्त्र में वर्णित **येन**=जिस सोमपान जनित मद से **आयवे**=गतिशील व्यक्ति के लिये **च**=और **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **ज्योतींषि**=ज्योतियों को **विवेदिथ**=प्राप्त कराते हैं। **अस्य**=इस **बर्हिषः**=वृद्धि के कारणभूत सोम का **विराजसि**=विशेषरूप से दीपन करते हैं। इस सोम के दीपन से ही **मन्दानः**=आप इन जीवों को आनन्दित करते हैं। (२) सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि हम 'आयु' बनें, गतिशील बनें। तथा 'मनु' विचारशील हों। उत्तम कर्मों में लगे रहना और स्वाध्यायशील होना ही हमें सोमरक्षण के योग्य बनाता है। रक्षित सोम ही सब वृद्धियों का कारण बनता है। यही जीवन में आनन्द का भी हेतु बनता है।

भावार्थ—हम गतिशील व विचारशील बनकर सोम का रक्षण करें। यह सुरक्षित सोम वृद्धि व आनन्द का कारण बनेगा।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'वृषपत्नीः अपः' जय

तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा। वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे॥ ६॥

(१) हे प्रभो! **अद्या चित्**=आज भी **पूर्वथा**=पहले की तरह इस सृष्टि में भी उसी प्रकार जैसे पूर्व सृष्टि में **उक्थिनः**=स्तोता लोग **ते**=आप के **तत्**=उस सोमपान जनित बल का **अनुष्टुवन्ति**=स्तवन करते हैं। यह सोमरक्षण से जनित मद वस्तुतः प्रशस्यतम है। यही सब वृद्धियों व उन्नतियों का मूल है। (२) हे प्रभो! आप हमारे लिये **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **अपः**=रेतःकणरूप जलों का **जया**=विजय करिये। ये रेतःकणरूप जल ही **वृषपत्नीः**=शक्तिशाली पुरुषों से रक्षणीय हैं। 'वृष' शब्द का अर्थ धर्म भी है। ये सोमकण ही हमारे जीवन में धर्म का रक्षण करते हैं 'वृषपत्नी' हैं।

भावार्थ—प्रभु ने सोमरक्षण से उत्पन्न होनेवाले बल व मद की अद्भुत ही व्यवस्था की है।

प्रभु के अनुग्रह से हम इन रेतःकणरूप जलों का सदा विजय करें। ये रेतःकणरूप जल ही सब शक्तिशाली पुरुषों से रक्षणीय हैं, ये ही हमारे जीवनों में धर्म का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

शुष्म-क्रतु-वज्र-इन्द्रिय

तव त्यदिन्द्रियं बृहत्तव शुष्ममुत क्रतुम्। वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम्॥ ७॥

(१) हे उपासक! **धिषणा**=यह स्तुति **तव**=तेरी **त्यत्**=उस **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को **शिशाति**=तीक्ष्ण करती है। **उत**=और यह स्तुति **तव**=तेरे **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को और **क्रतुम्**=प्रज्ञान को बढ़ाती है। (२) इन्द्रियशक्ति, शत्रु-शोषक बल व अज्ञान का वर्धन करती हुई यह स्तुति **वरेण्यम्**=वरणीय, चाहने योग्य **वज्रम्**=क्रियाशीलता को बढ़ानेवाली होती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हमारा जीवन 'शक्ति-प्रज्ञान व क्रियाशीलता' वाला होता है। यह स्तुति हमारी इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करती है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'पृथिवी, द्युलोक, जल व पर्वतों' द्वारा प्रभु-स्तवन

तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः। त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **द्यौः**=यह द्युलोक **तव**=आपके **पौंस्यम्**=बल को **वर्धति**=बढ़ाता है, अर्थात् आपकी शक्ति का सूचन करता है। **पृथिवी**=यह पृथिवी आपके **श्रवः**=यश को बढ़ाती है। पृथिवी आपकी महिमा का ख्यापन करती है। (२) **आपः**=ये जल **पर्वतासः च**=और पर्वत **त्वां हिन्विरे**=आपको ही प्राप्त कराते हैं। इन समुद्रस्थ अनन्त से जलों को व गगनचुम्बी पर्वत शिखरों को देखकर आपकी महिमा का ही स्मरण होता है।

भावार्थ—यह आकाश और यह पृथिवी ये समुद्रजल व पर्वत सभी प्रभु की महिमा का प्रकाश कर रहे हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

उपासक का जीवन

त्वां विष्णुर्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः। त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम्॥ ९॥

(१) हे प्रभो! वास्तव में **त्वाम्**=आपका **गृणाति**=स्तवन वही करता है जो **विष्णुः**=व्यापक व उदारवृत्तिवाला बनता है, **बृहन्**=वृद्धि को करनेवाला होता है, **क्षयः**=उत्तम निवास व गतिवाला बनता है, **मित्रः**=सब के प्रति स्नेहवाला होता है और **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला होता है प्रभु का वास्तविक स्तवन तो यही है कि हम इस प्रकार के जीवनवाले बनें। (२) हे प्रभो! **त्वाम्**=आपकी **अनु**=अनुकूलता को करता हुआ यह **मारुतं शर्धः**=प्राणों का बल **मदति**=(मादयति)=आनन्द का अनुभव कराता है। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति की एकाग्रता होकर प्रभु में प्रीति बढ़ती है और एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक 'उदार, वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, उत्तम निवास व गतिवाला, सब का मित्र व निर्द्वेष' होता है। यह प्राणसाधना को करता हुआ चित्तवृत्ति की एकाग्रता के द्वारा प्रभु प्राप्ति के आनन्द को पाता है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

वृषा-मंहिष्ठः

त्वं वृषा जनानां मंहिष्ठ इन्द्र जज्ञिषे। सत्रा विश्वा स्वपत्यानि दधिषे॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **जनानाम्**=इन उपासक लोगों के **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाले व **मंहिष्ठः**=दातृतम, सब आवश्यक ऐश्वर्यों के देनेवाले **जज्ञिषे**=होते हैं। **सत्रा**=एकदम इकट्ठे हो, **विश्वा**=सब **स्वपत्यानि**=शोभन अपतन की हेतुभूत चीजों को **दधिषे**= धारण करते हैं। हम प्रभु का उपासन करते हैं, तो प्रभु हमें उन सब पदार्थों को प्राप्त कराते हैं, जो हमारे अपतन का कारण बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सुखों के वर्षक हैं, दातृतम हैं, सब अपतन साधक वस्तुओं का धारण करानेवाले हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

वृत्र-तोशन

सत्रा त्वं पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि तोशसे। नान्य इन्द्रात्करणं भूय इन्वति॥ ११॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **पुरुष्टुत**=पालक व पूरक स्तुतिवाले हैं, आपकी स्तुति स्तोता का पालन व पूरण करती है। आप **सत्रा**=एकदम ही **एकः**=बिना किसी अन्य की सहायता के **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **तोशसे**=विनष्ट करते हैं। (२) **इन्द्रात् अन्यः**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से भिन्न और कोई **भूयः**=अधिक **करणम्**=शत्रुवधादि कर्मों को **न इन्वति**=व्याप्त नहीं करता है। वासना-विनाश आदि महान् कर्मों को करनेवाले प्रभु ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ही उपासक के काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु-स्तवन व प्रकाश प्राप्ति

यदिन्द्र मन्मशस्त्वा नाना हवन्त ऊतये। अस्माकेभिर्नृभिरत्रा स्वर्जय॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **मन्मशः**=उस-उस स्तोत्र के द्वारा **त्वा**=आपको **नाना**=बहुत प्रकार से **ऊतये**=रक्षण के लिये **हवन्ते**=पुकारते हैं। तो **अत्रा**=यहाँ इस जीवन-संग्राम में **अस्माकेभिः नृभिः**=हमारे उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगों के द्वारा **स्वः**=प्रकाश व सुख का **जय**=विजय करिये। (२) जीवन वस्तुतः एक प्रबल संग्राम है। नाना वासनाओं का आक्रमण होता रहता है और उन वासनाओं का शिकार होकर हम 'ज्ञान व सुख' को खो बैठते हैं। प्रभु ही इस संग्राम में हमारे रक्षक होते हैं। इस रक्षण के लिये स्तोता प्रभु को पुकारता है। यह पुकार ही यहाँ 'मन्म' शब्द से कही गयी है।

भावार्थ—हम रक्षण के लिये प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु रक्षण को प्राप्त करके हम सुख व प्रकाश (स्वः) को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

विश्वा रूपाण्याविशन्

अरं क्षयाय नो महे विश्वा रूपाण्याविशन्। इन्द्रं जैत्राय हर्षया शचीपतिम्॥ १३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे स्तोतः! तू **नः**=हमारे इन **विश्वा रूपाणि**=सब रूपों में

आविशन्=प्रवेश करता हुआ, अर्थात् सब प्राणियों के जीवन के साथ अपने जीवन को मिलाता हुआ **महे क्षयाय**=महान् निवास व गति के लिये **अरम्**=समर्थ हो। सब के साथ अपने को एक करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर बना। (२) उन **शचीपतिम्**=सब शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामी **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जैत्राय**=विजय के लिये **हर्षया**=हर्षित कर। अपने कर्मों से हम प्रभु को प्रीणित करनेवाले बनें। प्रभु हमें विजयी बनायेंगे। सर्वमहान् कर्म यही है कि हम सब प्राणियों के साथ एक होने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—सब प्राणियों के साथ अपने को एक करते हुए हम उत्तम निवासवाले बनें। शक्ति व प्रज्ञानों के स्वामी प्रभु को अपने कर्मों से प्रसन्न करते हुए सदा विजयी बनें।

यह सब प्राणियों के साथ अपने को एक करनेवाला व्यक्ति भौतिक सुखों से ऊपर उठकर पवित्र हृदय बनने का प्रयत्न करता है। सो 'इरिम्बिठि' कहलाता है, 'बिठ' अन्तरिक्ष की ओर 'इर' गति करनेवाला। भूलोक से ऊपर उठकर यह अन्तरिक्षलोक में गतिवाला होता है। भौतिक भोगों में न फँसना ही समझदारी है, एवं यह 'काण्व' है। यह 'इरिम्बिठि काण्व' कहता है कि—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'नरं-नृषाहं-मंहिष्ठम्'

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः। नरं नृषाहं मंहिष्ठम्॥ १ ॥

(१) **गीर्भिः**=इन ज्ञान-वाणियों के द्वारा उस **नव्यम्**=स्तुत्य **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **प्रस्तोत**=स्तुत करो जो **चर्षणीनां सम्राजम्**=श्रमशील तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के दीप्त करनेवाले हैं। (२) उस प्रभु का स्तवन करो जो **नरम्**=हमें नेतृत्व देनेवाले हैं, उन्नतिपथ पर आगे ले चलनेवाले हैं। **नृषाहम्**=शत्रुभूत मनुष्यों का पराभव करनेवाले हैं। **मंहिष्ठम्**=दातृतम हैं, हमारे लिये सब उन्नति-साधनों को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम उस श्रमशील तत्त्वद्रष्टा पुरुषों को दीप्ति के प्राप्त करानेवाले स्तुत्य प्रभु का स्तवन करें। प्रभु ही हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं। प्रभु ही हमारे शत्रुओं का पराभव करते हैं। प्रभु ही हमारे लिये सर्वोत्तम दाता हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

उक्थानि-श्रवस्या

यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या। अपामवो न समुद्रे॥ २ ॥

(१) उस प्रभु का स्तवन करो, **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **उक्थानि**=स्तोत्र **रण्यन्ति**=रमण करते हैं **च**=और **विश्वानि**=सब **श्रवस्या**=कीर्तियाँ रमण करती हैं। सब स्तोत्र उस प्रभु के हैं सब यश उस प्रभु के हैं। (२) ये सब स्तोत्र व कीर्तियाँ प्रभु में इस प्रकार रमण करती हैं, **न**=जैसे **समुद्रे**=समुद्र में **अपाम्**=जलों के **अवः**=प्रवाह। जैसे जलों की तरंगें समुद्र में ही रम जाती हैं उसी प्रकार सब स्तोत्र व कीर्तियाँ प्रभु में ही रम जाती हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्तवन करें, जो सब स्तोत्रों व यशों के रमण-स्थान हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्येष्ठराट् प्रभु का स्तवन

तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम्। महो वाजिनं सनिभ्यः ॥ ३ ॥

(१) **तम्**=उस प्रभु को **सुष्टुत्या**=उत्तम स्तुति से **आविवासे**=पूजित करता हूँ। जो प्रभु **ज्येष्ठराजम्**=द्युलोक के ज्येष्ठ देव सूर्य में, अन्तरिक्ष के ज्येष्ठ देव विद्युत् में तथा पृथिवी के ज्येष्ठ देव अग्नि में दीप्त हो रहे हैं। इन सबको वे प्रभु ही तो दीप्ति प्राप्त करा रहे हैं। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ जो **भरे**=संग्राम में **महः**=महान् वृत्रवध आदि कर्मों के **कृत्नुम्**=करनेवाले हैं। जो प्रभु **सनिभ्यः**=सम्भजनशील पुरुषों के लिये **वाजिनम्**=बल को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का हम पूजन करें, जो प्रभु सूर्य आदि को दीप्ति के देनेवाले हैं, संग्राम में वृत्रवध आदि कर्मों के करनेवाले हैं तथा उपासकों के लिये शक्ति को देनेवाले हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु-दर्शन का अद्भुत आनन्द

यस्यानूना गभीरा मदा उरवस्तरुत्राः। हर्षुमन्तः शूरसातौ ॥ ४ ॥

(१) उस प्रभु का मैं उत्तम स्तुति से पूजन करता हूँ **यस्य मदाः**=जिसके उल्लास, जिसके दर्शन से भक्त हृदय में उत्पन्न हुए-हुए उल्लास **अनूनाः**=सब न्यूनताओं से रहित होते हैं, **गभीराः**=गाम्भीर्य को लिये हुए होते हैं। ये उल्लास **उरवः**=विशाल व **तरुत्राः**=वासनाओं से तरानेवाले होते हैं। (२) ये प्रभु-दर्शन जनित उल्लास **शूरसातौ**=शूरों से सम्भजनीय संग्रामों में **हर्षुमन्तः**=हर्ष को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन जनित उल्लास न्यूनताओं को दूर करनेवाले, गाम्भीर्य को लिये हुए, विशाल व वासनाओं से तरानेवाले व संग्रामों में हर्ष को देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु मित्रता में विजय

तमिद्धनेषु हितेष्वधिवाकाय हवन्ते। येषामिन्द्रस्ते जयन्ति ॥ ५ ॥

(१) **तं इत्**=उस प्रभु को ही **हितेषु धनेषु**=हितकर धनों के निमित्त **अधिवाकाय**=अधिक्येन उपदेश देने के लिये **हवन्ते**=पुकारते हैं। प्रभु ही तो हमें हितकर धनों की प्राप्ति के निमित्त उत्तम ज्ञानोपदेश करते हैं। (२) इस जीवन-संग्राम में **येषां इन्द्रः**=जिनके वे प्रभु हैं **ते जयन्ति**=वे विजयी होते हैं। प्रभु की मित्रता में ही विजय है। प्रकृति की ओर जाना, प्रकृति में फँस जाना ही पराजय का कारण बनता है।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करके ही हम सुपथ से हितकर धनों का अर्जन करनेवाले बनेंगे। जो प्रभु के बनते हैं, वे सदा विजयी होते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

च्यौत्नैः, कृतेभिः

तमिच्च्यौत्नैरार्यन्ति तं कृतेभिश्चर्षणयः। एष इन्द्रो वरिवस्कृत् ॥ ६ ॥

(१) वे **चर्षणयः**=श्रमशील मनुष्य **तं इत्**=उस प्रभु को ही **च्यौत्नैः**=शत्रुओं को च्युत करनेवाले बलों के हेतु से **आर्यन्ति**=प्राप्त होते हैं। प्रभु ने ही वस्तुतः वह बल प्राप्त कराना

है, जिससे हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराजय कर पाते हैं। **तम्**=उस प्रभु को ही **कृतेभिः**= पुण्य कर्मों के हेतु से प्राप्त होते हैं। प्रभु की उपासना ही हमारा झुकाव पुण्यकर्मों की ओर रखती है। (२) **एषः**=यह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **वरिवः कृत्**=सब धनों का करनेवाला है। उपासकों के लिये सब ऐश्वर्यों को प्रभु ही प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु उपासना से च्यौत्न=शत्रु च्युत और पुण्य कर्मा बनें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'ब्रह्मा-ऋषि-पुरुहूत'

इन्द्रो॑ ब्र॒ह्मेन्द्र॒ ऋषि॒रिन्द्र॑: पु॒रू पु॑रुहू॒तः। म॒हान्म॒हीभि॒: शची॑भिः॥ ७॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **ब्रह्मा**=(great) महान् हैं। **इन्द्रः**=वे प्रभु ही **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा हैं। **इन्द्रः**=वे प्रभु ही **पुरु**=खूब ही **पुरुहूतः**=बहुतों से पुकारे जाते हैं। अन्त में सब प्रभु को ही पुकारते हैं। (२) वे प्रभु **महीभिः शचीभिः**=महान् शक्तियों व प्रज्ञानों से **महान्**=पूजनीय हैं।

भावार्थ—वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही 'ब्रह्मा, ऋषि व पुरुहूत' हैं। वे महान् शक्तियों व प्रज्ञानों से सचमुच महान् हैं, पूजनीय हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

एकः सन् 'अभिभूतिः'

स स्तो॒म्यः स हव्य॒: स॒त्यः सत्वा॑ तुविकू॒र्मिः। एक॑श्चि॒त्सन्न॒भिभू॑तिः॥ ८॥

(१) **सः**=वे प्रभु ही **स्तोम्यः**=स्तुति के योग्य हैं **सः**=वे ही **हव्यः**=पुकारने के योग्य हैं। **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। **सत्वा**=शत्रुओं का सादन (विनाश) करनेवाले हैं। **तुविकूर्मिः**=सृष्टि-उत्पत्ति धारण व प्रलय आदि महान् कर्मों के करनेवाले हैं। (२) **एकः सन्**=अकेले होते हुए भी **चित्**=निश्चय से **अभिभूतिः**=सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। उपासक प्रभु की शक्ति से ही काम-क्रोध आदि का पराजय कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु ही उपास्य हैं। प्रभु ही हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'ऋग् यजु साम' मन्त्रों द्वारा प्रभु का गायन

तम॒र्केभि॒स्तं साम॑भि॒स्तं गा॑य॒त्रैश्च॑र्ष॒णय॑:। इन्द्रं॑ वर्धन्ति क्षि॒तय॑:॥ ९॥

(१) **चर्षणयः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुष **तम्**=उस प्रभु को ही **अर्केभिः**=स्तुति साधन ऋचाओं से **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। **तम्**=उस प्रभु को ही **सामभिः**=साम-मन्त्रों से स्तुत करते हैं और **तम्**=उस प्रभु को ही **गायत्रैः**=गायन करनेवाले का त्राण करनेवाले यजु-मन्त्रों से याद करते हैं। (२) **क्षितयः**=इस शरीर में उत्तमता से निवास करते हुए गतिशील पुरुष **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं।

भावार्थ—ऋचाओं, यजु व साम मन्त्रों से प्रभु का ही गायन होता है। उत्तम निवास व गतिवाले मनुष्य प्रभु का ही वर्धन करते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

धन प्रणयन-ज्योतिष्करण-शत्रु-मर्षण

प्र॒णे॒तारं॒ वस्यो॒ अच्छा॒ कर्ता॑रं॒ ज्योति॑: स॒मत्सु॑। सा॒स॒ह्वांसं॑ यु॒धामित्रा॑न्॥ १०॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार मनुष्य उस प्रभु का स्तवन करते हैं जो **वस्यः अच्छा**=प्रशस्त धन की ओर **प्रणेतारम्**=ले जानेवाले हैं। और **समत्सु**=संग्रामों में **ज्योतिः**=प्रशस्त ज्ञान को **कर्तारम्**=करनेवाले हैं। इस ज्ञानाग्नि के द्वारा ही तो शत्रु भस्म होते हैं। (२) ये प्रभु ही **युधा**=युद्ध के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **सासह्वांसम्**=कुचल देनेवाले हैं।

भावार्थ–प्रभु प्रशस्त धन को प्राप्त कराते हैं। संग्राम में ज्ञानाग्नि द्वारा शत्रुओं को भस्म करते हैं। युद्ध द्वारा शत्रुओं को कुचल देते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'पप्रिः' इन्द्रः (पारयाति)

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रो विश्वा अति द्विषः॥ ११॥

(१) **सः**=वह **पप्रिः**=पूरयिता, न्यूनताओं को दूर करके हमारा पूरण करनेवाले **इन्द्रः**=सर्वशत्रु-विनाशक प्रभु **नः**=हमें **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **पारयाति**=इस भवसागर से पार करते हैं। उसी प्रकार पार करते हैं, जैसे **नावा**=एक नाविक नाव द्वारा हमें नदी से पार करता है। (२) वे **पुरुहूतः**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभु हमें **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अति**=पार ले जानेवाले हैं। जीवन की साधना में सब से बड़ी बात यही है कि हम द्वेष से ऊपर उठें।

भावार्थ–प्रभु हमें द्वेष आदि अशुभ वृत्तियों से दूर करते हुए कल्याण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दशस्या च गातुया च

स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या च गातुया च। अच्छा च नः सुम्नं नेषि॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमें **वाजेभिः**=बलों के साथ **दशस्य च**=धनों को भी दीजिये **गातुय च**=और हमें उत्तम सुख का मार्ग दिखाइये (मार्गम् इच्छ)। (२) **च**=और हे प्रभो! इस प्रकाश व शक्ति के साथ धनों को देते हुए तथा मार्ग पर ले चलते हुए आप **नः**=हमें **सुम्नं अच्छा**=सुख की ओर अथवा स्तवन की ओर **नेषि**=ले चलिये।

भावार्थ–हम प्रभु कृपा से शक्ति व धन को प्राप्त करते हुए मार्ग पर चलें और सुख को प्राप्त करें।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी 'इरिम्बिठि काण्व' व 'इन्द्र' ही हैं–

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

हृदयासन पर प्रभु को आसीन करना

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **आयाहि**=आइये। **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **हि**=ही हमने **सुषुमा**=इस सोम का सवन किया है। **इमं सोमं पिब**=इस सोम का आप इस शरीर में ही पान करिये आपकी उपासना ही हमें वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के योग्य बनाती है। (२) इस प्रकार सोमरक्षण के होने पर **इदम्**=इस **मम**=मेरे **बर्हिः**=हृदयासन पर **आसदः**=आप विराजिये। सोमरक्षण से यह हृदयान्तरिक्ष सब वासनाओं के धूम से रहित होकर दीप्त हो उठता है। इस पवित्र हृदय में प्रभु का वास होता है।

भावार्थ—हमें प्रभु प्राप्त हों। प्रभु-स्मरण द्वारा हम सोम का रक्षण कर पायें। यह सोमरक्षण हमारे हृदय को पवित्र बना दे।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'ब्रह्मयुजा केशिना' हरी

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना। उप ब्रह्माणि नः शृणु॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले, **ब्रह्मयुजा**=ज्ञान वाणियों के साथ सम्पर्कवाले **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **त्वा**=आपको **आवहताम्**=हमें प्राप्त करायें। (२) हे प्रभो! **नः**=हमारे **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक किये गये स्तोत्रों को आप **उपशृणु**=समीपता से सुनिये।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ प्रकाश व ज्ञान की ओर चलती हुई हमें प्रभु को प्राप्त करायें, हमारे मुख से प्रभु के स्तोत्र ही उच्चारित हों।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ब्रह्माणः, सोमिनः, सुतावन्तः

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः। सुतावन्तो हवामहे॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **ब्रह्माणः**=ज्ञान की वाणियोंवाले **वयम्**=हम **युजा**=आप के साथ मिलानेवाली स्तुति के द्वारा **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। हे **इन्द्र**=हमारे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **सोमपाम्**=हमारे सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाले आपको हम **सोमिनः**=प्रशस्त सोमवाले होते हुए इस सोम को वासनाओं से मलिन न होने देते हुए पुकारते हैं। (२) **सुतावन्तः**=प्रशस्त यज्ञों (सुतं=सवः) वाले होते हुए हम आपको पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु का वास्तविक स्तवन ज्ञानी, सोमरक्षक यज्ञशील पुरुष ही करते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

यज्ञ-स्तुति-सोमरक्षण

आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप। पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः॥ ४॥

(१) **सुतावतः**=प्रशस्त यज्ञों (सुतं=सवः) वाले **नः**=हमें **आयाहि**=प्राप्त होइये। यज्ञों को करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। हे प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारी, हमारे से की जानेवाली **सुष्टुतीः**=उत्तम स्तुतियों को **उप**=समीपता से प्राप्त होइये। हमारे से किये जानेवाले स्तवन हमें आपके समीप प्राप्त करायें। (२) हे **सुशिप्रिन्**=उत्तम हनु व नासिकावाले, उत्तम हनुओं व नासिका को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **अन्धसः**=इस आध्यातव्य सोम का **पिबा**=पान करिये। आपके अनुग्रह से सात्त्विक भोजनों का सम्यक् चर्वण करते हुए तथा प्राणसाधना करते हुए हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर पायें।

भावार्थ—'यज्ञ-स्तुति व सोमरक्षण' हमें प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गृभाय जिह्वया मधु

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु। गृभाय जिह्वया मधु॥ ५॥

(१) प्रभु उपासक को कहते हैं कि मैं **ते**=तेरे **कुक्ष्योः**=उदर के दायें व बायें भागों में इस सोम को **आसिञ्चामि**=आसिक्त करता हूँ। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम **गात्रा अनु विधावतु**=सब अंगों को अनुकूलता से प्राप्त हो और उन अंगों का शोधन करनेवाला हो। (२) इस सोमरक्षण के द्वारा तू **जिह्वया**=जिह्वा से **मधु गृभाय**=माधुर्य का ग्रहण कर। जिह्वा से तू सदा शुभ शब्दों को ही बोलनेवाला हो। सोमरक्षण तुझे मधुरभाषी बनाये।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में सुरक्षित करते हुए अंग-प्रत्यंग को शुद्ध बनायें, हमारी जिह्वा सदा मधुर शब्द बोलनेवाली हो।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

स्वादुः-मधुमान्-शम्

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान्तन्वे३ तव। सोमः शमस्तु ते हृदे॥ ६॥

(१) यह शरीर में सुरक्षित सोम **संसुदे**=सम्यक् उत्तम दान करनेवाले **ते**=तेरे लिये **स्वादुः अस्तु**=जीवन को मधुर बनानेवाला हो। **तव तन्वे**=तेरे शरीर के लिये यह **मधुमान्**=माधुर्य को लिये हुए हो, अर्थात् तेरे जीवन की सब क्रियाओं को यह मधुर बना दे। (२) यह **सोमः**=सोम **ते हृदे**=तेरे हृदय के लिये **शं अस्तु**=शान्ति को देनेवाला हो। सुरक्षित सोम हमें शान्तचित्त बनाये।

भावार्थ—सुररिक्षत सोम जीवन को आनन्दयुक्त मधुर व शान्त हृदय बनाता है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'पत्नियों के समान सुरक्षित' सोम

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः। प्र सोम इन्द्र सर्पतु॥ ७॥

(१) हे **विचर्षणे**=विद्रष्टः तत्त्व के द्रष्टा **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **उ**=निश्चय से **अयं सोमः**=यह सोम (वीर्य) **त्वा प्रसर्पतु**=तुझे समीपता से प्राप्त हो, तेरे शरीर में ही यह गतिवाला हो। (२) यह सोम तत्त्वद्रष्टा जितेन्द्रिय पुरुष के अन्दर इस प्रकार सुरक्षित हो, **इव**=जैसे **जनीः**=जाया-पत्नी-शुक्ल वस्त्रों से अभिसंवृत होती है। शुक्ल वस्त्रों से अभिसंवृत पत्नी की तरह यह सोम शुक्ल भावनाओं से अभिसंवृत हो। शुक्ल भावनाओं से अभिसंवृत सोम ही शरीर में सुरक्षित रहता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनते हुए, शरीर में सोम को शुक्लभावनारूप वस्त्रों से अभिसंवृत करके रक्षित करनेवाले हों।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

तुविग्रीव-वपोदर-सुबाहु

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते॥ ८॥

(१) **अन्धसः**=आध्यातव्य सोम के **मदे**=मद में, सोमरक्षण से जनित उल्लास में यह सोमी पुरुष **सुबाहुः**=उत्तम बाहुवाला बनता है, इसकी भुजाओं में शक्ति होती है। **वपोदर**=इसका उदर सोम के बीज को अपने अन्दर ही बोनेवाला होता है (वप्=बोना), अर्थात् यह सोम को अपने में ही सुरक्षित रखनेवाला होता है। **तुविग्रीवः**=महान् ग्रीवावाला होता है, उच्च ज्ञान से विभूषित कण्ठवाला होता है। (२) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जिघ्नते**=नष्ट करनेवाला होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष वासनाओं को विनष्ट करके सोम का रक्षण करता है। यह सुरक्षित

सोम उसे शक्तिशाली, सद्गुणों के बीजों को बोनेवाला व उच्च ज्ञान से अलंकृत कण्ठवाला बनाता है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पुरः प्रेहि

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा। वृत्राणि वृत्रहञ्जहि॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **पुरः प्रेहि**=आगे और आगे चलनेवाला बन। **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **विश्वस्य**=हमारे न चाहते हुए भी अन्दर घुस आनेवाले इन काम-क्रोध का तू **ईशानः**=शासक बनता है। इन्हें पूर्णतया संयत करनेवाला होता है। (२) हे **वृत्रहन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले! तू **वृत्राणि**=इन वासनाओं को विनष्ट कर।

भावार्थ—हम निरन्तर आगे बढ़े, काम-क्रोध आदि के शासक हों, इन्हें पूर्णरूप से वश में करें। इन आवरणभूत वासनाओं को दूर करें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

संयम से वसु प्राप्ति

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि। यजमानाय सुन्वते॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **ते अङ्कुशः**=आपका यह नियमन **दीर्घः**=(दृ विदारणे) सब अन्धकारों का विदारण करनेवाला हो। आपकी उपासना से प्राप्त संयम का भाव हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करे। (२) यह अंकुश (संयम का भाव) ही वह उपाय है। **येना**=जिससे आप **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोम का अपने में सम्पादन करनेवाले के लिये **वसु प्रयच्छसि**=धन को देते हैं, निवास को उत्तम बनाने के लिये आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—उपासक का जीवन संयत बनाता है। इससे वह यज्ञशील व सोमरक्षक बनता हुआ वसु (जीवनधन) को प्राप्त करता है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

क्रियाशीलता व सोमपान

अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि। एहीमस्य द्रवा पिब॥ ११॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अयं सोमः**=यह सोम **ते**=तेरे लिये **अधि बर्हिषि**=इस वासनाशून्य हृदय में **निपूतः**=नितरां पवित्र हुआ है। वासनायें ही सोम को अपवित्र करती हैं। वासनाओं के अभाव में यह सोम पवित्र बना रहता है। (२) **एहि**=आ, और **ईम्**=निश्चय से **द्रव**=गतिशील बन सदा अकर्मण्यता से दूर रह और **अस्य पिब**=इस सोम का पान कर।

भावार्थ—हृदय को वासनाओं से आक्रान्त न होने देते हुए हम सोम का रक्षण करें। क्रियाशील बनकर सोम को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

आखण्डल का आह्वान

शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः। आखण्डल प्र हूयसे॥ १२॥

(१) हे **शाचिगो**=शक्तिशाली इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले (गावः इन्द्रियाणि), **शाचिपूजन**=शक्ति के द्वारा उपासनीय प्रभो! **अयम्**=यह सोम **ते रणाय**=आप के अन्दर रमण के लिये

सुत:=उत्पन्न हुआ है। इसका रक्षण करके मैं आपका दर्शन कर पाता हूँ और आनन्द का अनुभव करता हूँ। (२) हे **आखण्डल**=सर्वत: वासनाओं का खण्डन करनेवाले प्रभो! **प्रहूयसे**=हमारे से आप ही पुकारे जाते हैं। आपने ही तो इन वासनाओं पर मुझे विजय प्राप्त करायी है।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्तिशाली इन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं। शक्ति के द्वारा ही प्रभु का पूजन होता है। इस शक्ति के लिये सोम का रक्षण आवश्यक है। सोमरक्षण के लिये हम प्रभु को पुकारते हैं।

ऋषि:—इरिम्बिठि: काण्व:॥ **देवता**—इन्द्र:॥ **छन्द:**—विराड्गायत्री॥ **स्वर:**—षड्ज:॥

'कुण्डपाय्य' में मन का धारण

यस्ते शृङ्गवृषो नपात्प्रणपात्कुण्डपाय्य:। न्यस्मिन्दध्र आ मन:॥ १३॥

(१) 'कुण्डपाय्य' एक यज्ञ है जिसमें कुण्ड के द्वारा सोम का पान होता है। यहाँ 'कुण्ड' का भाव वासनाओं के दहन से है (कुडि दाहे)। वासना दहन के द्वारा शरीर में सोम का रक्षण होता है। यही 'कुण्डपाय्य' यज्ञ है। प्रभु 'शृंगवृष्' हैं, (शृणन्ति-शृंग) ज्ञानरश्मियों द्वारा सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। हे **शृंगवृष: नपात्**=प्रभु के पुत्र, अर्थात् प्रभु की आज्ञा में चलनेवाले और अतएव **प्रणपात्**=प्रकर्षेण अपना पतन न होने देनेवाले जीव! **य:**=जो **ते**=तेरा **कुण्डपाय्य:**=वासनादहन द्वारा सोमपानरूप यज्ञ है। **अस्मिन्**=इस यज्ञ में **मन:**=तेरा मन **आनिदध्रे**=सर्वथा निहित हो। (२) तू सोम को शरीर में पीने के लिये मन में दृढ़ निश्चय कर। इसके लिये तू उस प्रभु का सच्चा पुत्र बन जो ज्ञानरश्मियों द्वारा तेरे पर सुखों का वर्षण करते हैं। तू अपने को गिरने न दे। 'कुण्डपाय्य' यज्ञ में ही तेरा मन स्थापित हो।

भावार्थ—हम प्रभु के सच्चे पुत्र बनें। वासनाओं को दग्ध करते हुए सोम का रक्षण करें।

ऋषि:—इरिम्बिठि: काण्व:॥ **देवता**—इन्द्र:॥ **छन्द:**—आसुरीबृहती॥ **स्वर:**—मध्यम:॥

इन्द्र: मुनीनां सखा

वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम्। द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा॥ १४॥

(१) हे **वास्तोष्पते**=गृहपते, हमारे शरीररूप गृहों के रक्षक प्रभो! **स्थूणा**=इस गृह का आधारभूत स्तम्भ, अर्थात् मेरुदण्ड **ध्रुवा**=ध्रुव हो। हमारा मेरुदण्ड (रीढ की हड्डी) सदा ठीक बना रहे। **सोम्यानाम्**=सोम का रक्षण करनेवाले हमारा **अंसत्रम्**=स्कन्धों का त्रायक (रक्षक) बल सदा ध्रुव हो। अर्थात् कन्धे इत्यादि सब अंग सबल बने रहें। (२) वह **द्रप्स:**=आनन्दमय व प्रकाश का देनेवाला, **शश्वतीनाम्**=बहुत-सी **पुरां भेत्ता**=असुरों की नगरियों का ध्वंसक **इन्द्र:**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **मुनीनाम्**=हम मननशील, मौन रहनेवाले (कम बोलनेवाले) पुरुषों का **सखा**=मित्र हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर गृहों का रक्षण करें। हम सोम्य (सोमरक्षक) बनकर सबल बने रहें। वे प्रभु हमारे मित्र हों। प्रभु की मित्रता में मैं आसुरभावों को दूर कर पाऊँ। विचारशील मुनि बनूँ।

ऋषि:—इरिम्बिठि: काण्व:॥ **देवता**—इन्द्र:॥ **छन्द:**—आर्षीभुरिग्बृहती॥ **स्वर:**—मध्यम:॥

'पृदाकु-सानु:'

पृदाकुसानुर्यजतो गवेषण एक: सन्नभि भूयस:।
भूर्णिमश्वं नयत्तुजा पुरो गृभेन्द्रं सोमस्य पीतये॥ १५॥

(१) वे प्रभु **पृदाकुसानु:**=(पृदाकु-सानु) पालन-पोषण (?) सब वस्तुओं के देनेवालों

के शिखर पर हैं। अर्थात् दातृ-शिरोमणि हैं। **यजतः**=पूजनीय हैं। **गवेषणः**=(गवामेषयिता) ज्ञान की वाणियों के प्राप्त करानेवाले हैं। **एकः सन्**=अकेले होते हुए **भूयसः**=बहुत शत्रुओं को **अभि (भवति)**=अभिभूत करनेवाले हैं। (२) ये प्रभु **भूर्णिम्**=हमारा भरण करनेवाले **अश्वम्**=इन्द्रियाश्व को **नयत्**=प्राप्त कराते हैं। **तुजा**=वासना शत्रुओं के हिंसन के द्वारा तथा **गृभा**=उत्तम गुणों के ग्रहण के द्वारा **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **पुरः**=(नयत्) आगे प्राप्त कराते हैं और **सोमस्य पीतये**=इसके सोम के पान (रक्षण) के लिये होते हैं। सोमरक्षण द्वारा ही तो प्रभु इसे उन्नत करते हैं।

भावार्थ-प्रभु सर्वोत्तम दाता हैं, पूजनीय हैं, इन्द्रियों के प्राप्त करानेवाले हैं, वासनारूप शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। ये प्रभु उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं, वासना विनाश द्वारा आगे ले चलते हैं, सोम का रक्षण करते हैं।

इरिम्बिठि काण्व ही अगले सूक्त में आदित्यों से प्रकाश को प्राप्त करने के लिये कहता है-

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ **देवता**—आदित्याः ॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

आदित्यों की प्रेरणाएँ

इदं ह नूनमेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः। आदित्यानामपूर्व्यं सवीमनि॥ १॥

(१) प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करनेवाले विद्वान् 'वसु' हैं। 'प्रकृति-जीव' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले 'रुद्र' कहलाते हैं और 'प्रकृति-जीव-परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करनेवाले ये विद्वान् 'आदित्य' हैं। **मर्त्यः**=मनुष्य **एषां आदित्यानाम्**=इन आदित्यों के **इदम्**=इस **हनूनम्**=निश्चय से **अपूर्व्यम्**=अद्भुत **सुम्नम्**=अनुग्रह व रक्षण को **भिक्षेत**=माँगे। (२) **सवीमनि**=सदा इन आदित्यों की प्रेरणा में चलने का प्रयत्न करे। इस प्रेरणा में चलने से ही हम भी आदित्य बन पायेंगे।

भावार्थ-हम आदित्य विद्वानों की प्रेरणा में चलते हुए उनके अनुग्रह को प्राप्त कर सकें। यही मार्ग है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ **देवता**—आदित्याः ॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

अहिंसित मार्ग

अनर्वाणो ह्येषां पन्था आदित्यानाम्। अदब्धाः सन्ति पायवः सुगेवृधः॥ २॥

(१) **एषां आदित्यानाम्**=इन अदिति के पुत्रों के **पन्थाः**=मार्ग **अनर्वाणः**=अहिंसित होते हैं। **हि**=निश्चय से इनके मार्ग **अदब्धाः सन्ति**=पवित्र व सत्य हैं। (२) इन आदित्यों के मार्ग **पायवः**=हमारा रक्षण करनेवाले हैं, और **सुगेवृधः**=सुख में वृद्धि को करनेवाले हैं।

भावार्थ-हम सदा आदित्यों के मार्ग पर ही चलनेवाले हों। यह मार्ग अहिंसित, पवित्र, रक्षक व सुखवर्धक है।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः ॥ **देवता**—आदित्याः ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'सविता-भग-वरुण-मित्र-अर्यमा' का आराधन

तत्सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा। शर्म यच्छन्तु सप्रथो यदीमहे॥ ३॥

(१) **'सविता'**=उत्पादक है, निर्माण की देवता है। **'भगः'**=ऐश्वर्य की देवता है। **'वरुणः'**=निर्द्वेषता की सूचना देता है। **'मित्रः'**=सब के प्रति स्नेहवाला है और **'अर्यमा'**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का नियमन करनेवाला है। (२) ये सब देव **नः**=हमारे लिये **तत्**=उस

सप्रथः=विस्तारवाले **शर्म**=सुख को **सुयच्छन्तु**=सम्यक् दें, **यत् ईमहे**=जिस की हम याचना करते हैं। वस्तुतः जीवन का वास्तविक सुख सविता आदि देवों की आराधना में ही है। इनकी आराधना का स्वरूप यही है कि हम निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हों, सुपथ से ऐश्वर्य का सम्पादन करें, निर्द्वेष बनें, सब के प्रति स्नेहवाले हों, काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करें।

भावार्थ—हम सविता आदि देवों का आराधन करते हुए सुख के भागी बनें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

देवी अदिति

देवेभिर्देव्यदितेऽरिष्टभर्मन्ना गहि। स्मत्सूरिभिः पुरुप्रिये सुशर्मभिः॥ ४॥

(१) 'अदिति' स्वास्थ्य की देवता है 'न दितिः यस्याः' (दिति=खण्डन)। यह स्वास्थ्य दिव्य गुणों को जन्म देता है, सो यह अदिति 'देवी' है, यास्क ने इसे 'अदीना देवमाता' कहा है। यह स्वास्थ्य हमें दीनता से ऊपर उठाता है, हमारे अन्दर दिव्य गुणों को जन्म देता है। अहिंसित भरणवाली होने से यह 'अरिष्ट-भर्मा' है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **अरिष्टभर्मन्**=अहिंसित भरणवाली, **देवि**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली **अदिते**=स्वास्थ्य की देवि! तू **देवेभिः**=दिव्यगुणों के साथ **आगहि**=हमें प्राप्त हो। (२) हे **पुरुप्रिये**=खूब ही प्रीणित करनेवाले (सारा आनन्द स्वास्थ्य में ही तो है) अदिते! तू **स्मत्**=प्रशस्त **सूरिभिः**=विद्वानों के साथ **सुशर्मभिः**=उत्तम रक्षण को प्राप्त करानेवाले ज्ञानी पुरुषों के साथ हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—हम स्वस्थ बनें। यह स्वास्थ्य हमें दिव्य गुणों की ओर प्रेरित करे और हम प्रशस्त ज्ञानियों के सम्पर्क में सुरक्षित जीवनवाले हों।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

द्वेष व पाप से दूर

ते हि पुत्रासो अदितेर्विदुर्द्वेषांसि योतवे। अंहोश्चिदुरुचक्रयोऽनेहसः॥ ५॥

(१) **ते**=वे **अदितेः पुत्रासः**=अदिति के पुत्र आदित्य विद्वान् **हि**=निश्चय से **द्वेषांसि**=द्वेषों को **योतवे**=पृथक् करने के लिये **विदुः**=जानते हैं। वे हमें ऐसे मार्ग से ले चलते हैं कि हम द्वेष की भावना में नहीं फँसते, द्वेष आदि की ओर हमारा झुकाव ही नहीं रहता। (२) वे आदित्य **उरुचक्रयः**=खूब ही क्रियाशील जीवनवाले होते हैं। **अनेहसः**=निष्पाप होते हैं। ये विद्वान् **अंहोः चित्**=पाप से हमें पृथक् करना जानते हैं।

भावार्थ—हम आदित्य विद्वानों के सम्पर्क में चलें। ये हमें द्वेष व पाप से दूर करेंगे।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'अद्वयाः' अदितिः

अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वयाः। अदितिः पात्वंहसः सदावृधा॥ ६॥

(१) 'अदिति' स्वास्थ्य की देवता है। स्वस्थ पुरुष काम-क्रोध आदि का भी शिकार नहीं होता यह अदिति 'अद्वयाः' है, 'अन्दर कुछ और बाहिर कुछ' इस प्रकार के कपट से वह रहित है। यह **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता **दिवा**=दिन में **नः**=हमारे इन **पशुम्**='कामः पशुः, क्रोधः पशुः' काम-क्रोध आदि पशुतुल्य वृत्तियों को **पातु**=रक्षित करे, जैसे शेर को पिञ्जरे में बन्द रखते हैं, इसी प्रकार इन्हें नियन्त्रण में रखे। **अदितिः**=यह स्वास्थ्य की देवता **अद्वयाः**=हमें कपटरहित बनाती हुई **नक्तम्**=रात्रि में **पातु**=हमारे पशुओं का रक्षण करे, इन्हें बद्ध रखे। (२) **सदावृधा**=सदा

वृद्धि का कारण होती हुई यह **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता **अंहसः पातु**=हमें पाप से बचाये।

भावार्थ—हम स्वस्थ बनें। यह स्वास्थ्य हमारे काम-क्रोध को दिन-रात नियन्त्रण में रखे और हमें पापों की ओर न जाने दे।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

मतिः+अदितिः=बुद्धि व स्वास्थ्य

उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्या गमत्। सा शन्ताति मयस्करदप स्रिधः॥ ७॥

(१) **उत**=और **दिवा**=इस दिन **नः**=हमें **स्या**=वह **मतिः**=बुद्धि और **अदितिः**=स्वास्थ्य **ऊत्या**=रक्षण के हेतु से **आगमत्**=प्राप्त हो। हम शरीर में स्वस्थ हों, मस्तिष्क में खूब ज्ञान-सम्पन्न हों। (२) **सा**=वह मति और **अदिति**=बुद्धि व स्वास्थ्य **शन्ताति**=शान्ति का विस्तार करनेवाला **मयः करत्**=आरोग्यता व कल्याण को करनेवाला हो। **स्रिधः**=बाधक शत्रुओं को **अप**=हमारे से दूर करे।

भावार्थ—हम प्रतिदिन बुद्धि-सम्पन्न व स्वस्थ बनते हुए अपना रक्षण कर पायें, शान्त जीवनवाले हों, कल्याण को प्राप्त करें तथा बाधक शत्रुओं को दूर करें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

अश्विना

उत त्या दैव्या भिषजा शं नः करतो अश्विना। युयुयातामितो रपो अप स्रिधः॥ ८॥

(१) **उत**=और **त्या**=वे **अश्विना**=प्राणापान **दैव्या भिषजा**=उस महान् देव प्रभु के द्वारा शरीर में स्थापित (देवस्य इमौ) वैद्य हैं। ये वैद्य **नः**=हमारे लिये **शम्**=रोगों के शमन को **करतः**=करते हैं। (२) ये प्राणापान **इतः**=यहाँ से **रपः**=पाप को, दोष को **युयुयात्मा**=पृथक् करें तथा **स्रिधः**=बाधक शत्रुओं को **अप**=(गमयताम्) दूर करें।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा वशीभूत प्राणापान सब शारीरिक दोषों को दूर करते हैं। (रपः) काम-क्रोध आदि बाधक शत्रुओं को भी हमारे से पृथक् करते हैं। इस प्रकार हमारे जीवनों में ये शान्ति का कारण बनते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निसूर्यानिलाः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

शान्ति

शमग्निरग्निभिः करच्छं नस्तपतु सूर्यः। शं वातो वात्वरपा अप स्रिधः॥ ९॥

अग्निः=अग्नि **अग्निभिः**=आग्नेय पदार्थों से **न**=हमें **शं करत्**=शान्ति प्रदान करे। **सूर्य**=सूर्य **नः**=हमारे लिये **तपतु**=शान्ति से तपे। **वातः**=वायु **अरपाः**=नीरोग **वातु**=बहे। **स्रिधः अप**=रोग दूर हों।

भावार्थ—अग्नि, सूर्य, वायु हमें शान्तिदायक हों।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

आदित्यासः

अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम्। आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥ १०॥

हे **आदित्यासः**=बुद्धि व स्वास्थ के देवो! **अमीवाम्**=रोगों को **अप**=दूर करो। **स्रिधम् अप**=दुःखों को दूर करो। **दुर्मतिम् अप**=दुर्बुद्धि को दूर करो। **नः अंहसः** **युयोतन**=हमारे पापों

को दूर करो।

भावार्थ—हम रोग, दुःख, दुर्बुद्धि तथा पापों से बचें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

विश्ववेदसः

युयोता शरुमस्मदाँ आदित्यास उतामतिम्। ऋधग्द्वेषः कृणुत विश्ववेदसः॥ ११॥

हे **विश्ववेदसः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **अस्मत**=हमारे **शरुम्**=हिंस्र भाव को **अमतिम्**=निर्बुद्धि को **युयोत**=दूर करो **उत**=तथा **द्वेषः**=द्वेष को **ऋधक् कृणुत**=अलग करो।

भावार्थ—वह सर्वज्ञ हमारे हिंसक भाव, निर्बुद्धि तथा द्वेषता को दूर करे।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

सुदानव

तत्सु नः शर्म यच्छतादित्या यन्मुमोचति। एनस्वन्तं चिदेनसः सुदानवः॥ १२॥

हे **आदित्याः**=विद्वानो! **सुदानवः**=दानवीरो! **यत**=जो **एनस्वन्तम् चित्**=पापी को **एनसः**=पाप से **मुमोचति**=छुड़ाता है, **तत्**=उस **शर्म**=सुख को **नः**=हमें **यच्छत**=दीजिए।

भावार्थ—हम पाप कर्म छोड़कर सुखी होवें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

रिरिषीष्ट

यो नः कश्चिद्रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः। स्वैः ष एवै रिरिषीष्ट युर्जनः॥ १३॥

(१) **यः कश्चित् मर्त्यः**=जो कोई मनुष्य **रक्षस्त्वेन**=अपनी राक्षसी प्रवृत्ति के कारण **नः**=हमें **रिरिक्षति**=(जिहिंसिषति) मारना चाहता है। **सः**=वह **जनः**=मनुष्य **स्वैः एवैः**=अपनी ही इन गतियों से **युः**=दुःख को प्राप्त होता हुआ **रिरिषीष्ट**=हिंसित हो जाये। (२) पापी का पापकर्म उसी को हानि करनेवाला हो। हम उन कर्मों से व्यर्थ में परेशान न हों।

भावार्थ—पापी का पापकर्म उसी के पतन का कारण बने। हम उसके दुष्कर्म का शिकार न हों। सामान्यतः समझदारी से चलते हुए हम इन राक्षसी भावों को सफल न होने दें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'दुर्हणावान्-द्वयु' दुःशंस

समित्तमघमश्नवद्दुःशंसं मर्त्यं रिपुम्। यो अस्मत्रा दुर्हणावाँ उप द्वयुः॥ १४॥

(१) **तम्**=उस **दुःशंसम्**=अशुभ का शंसन करनेवाले औरों के अशुभ को चाहनेवाले, **रिपुं मर्त्यम्**=औरों का विदारण करनेवाले मनुष्य को **इत्**=ही **अघम्**=वह पाप व कष्ट **सं अश्नवत्**=सम्यक् व्याप्त करे, **यः**=जो **अस्मत्रा**=हमारे विषय में **दुर्हणावान्**=बुरी तरह से हनन करनेवाला है और **द्वयुः उप**=(जायते) दो प्रकार का, अन्दर कुछ और बाहिर कुछ, अर्थात् छल-छिद्रवाला होता है। (२) वस्तुतः जो औरों का बुरा चाहता है, उसका स्वयं ही बुरा होता है। वस्तुतः न तो हमें 'दुर्हणावान्' बनना चाहिये और न ही 'द्वयु'।

भावार्थ—हम न तो औरों का हनन करनेवाले हों, ना ही छल-छिद्र से वर्तें। ये बातें हमारी अकीर्ति का कारण बनेंगी। उस अघ के शिकार हम ही होंगे।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—पादनिचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

संसार में समझदार बनना

पाकत्रा स्थन देवा हृत्सु जानीथ मर्त्यम्। उप द्वयुं चाद्वयुं च वसवः॥ १५॥

(१) हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! आप **पाकत्रास्थन**=परिपक्व ज्ञानवाले होवो, परिपक्व बुद्धिवाले बनो। अपरिपक्व ज्ञानवाला मनुष्य सदा दुःखी होता है। (२) हे **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले ज्ञानी पुरुषो! आप **हृत्सु**=अपने हृदयों में **द्वयुं च**=छल-छिद्रवाले पुरुष को व **अद्वयुं च**=निष्कपट **मर्त्यम्**=मनुष्य को **उप जानीथ**=जानते हो। यह ठीक है कि आप छली के छल की उद्घोषणा नहीं करते फिरते। परन्तु उसको ठीक रूप में जानकर उसके धोखे में नहीं आते।

भावार्थ—हम परिपक्व ज्ञानवाले बनें। छली के छल को अपने हृदय में जानते अवश्य हों। इस प्रकार धोखे से बचकर अपने निवास को उत्तम बनायें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—पादनिचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'पर्वत-जल व द्युलोक और पृथ्वीलोक' की अनुकूलता

आ शर्म पर्वतानामोतापां वृणीमहे। द्यावाक्षामारे अस्मद्रपस्कृतम्॥ १६॥

(१) हम **पर्वतानाम्**=पर्वतों के **उत**=और **अपाम्**=जलों के **शर्म**=सुख को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। हमें पर्वतों व जलों से कल्याण ही कल्याण प्राप्त हो। (२) हे **द्यावाक्षामा**=द्युलोक व पृथ्वीलोक **अस्मद्**=हमारे से **रपः**=पाप को व दोष को **आरे कृतम्**=दूर करिये। सारा ब्रह्माण्ड हमारे साथ अनुकूलतावाला हो और हमारा जीवन बड़ा निर्दोष बने।

भावार्थ—पर्वत, जल, द्युलोक व पृथ्वीलोक सब हमारे साथ अनुकूलतावाले हों और परिणामतः हमारा जीवन निर्दोष बने।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

वसुओं का भद्र शर्म

ते नो भद्रेण शर्मणा युष्माकं नावा वसवः। अति विश्वानि दुरिता पिपर्तन॥ १७॥

(१) हे **वसवः**=जीवन में निवास को उत्तम बनानेवाले वसुओ! **ते**=वे आप **नः**=हमें **युष्माकम्**=आपके **भद्रेण शर्मणा**=कल्याणकर रक्षण से **विश्वानि दुरिता**=सब दुरितों के **अति पिपर्तन**=पार ले जावो, **नावा**=जैसे नाव से नदी के पार ले जाते हैं। (२) वसुओं का 'भद्र शर्म'=कल्याणकर रक्षण हमारे लिये इस भव जलधि को तैरने के लिये नौका के समान हो जाये।

भावार्थ—हम जीवन को उत्तम बनानेवाले वसुओं के भद्रशर्म से इस भवजलधि को ऐसे तैर जायें, जैसे कि नाव से नदी को तैर जाते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'द्राघीय आयुः'

तुचे तनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे। आदित्यासः सुमहसः कृणोतन॥ १८॥

(१) हे **सुमहसः**=उत्तम तेजवाले **आदित्यासः**=आदित्य विद्वानो! आप अपने ज्ञानोपदेश से **तुचे**=हमारे पुत्रों के लिये **तनाय**=पौत्रों के लिये तथा **नः जीवसे**=हमारे उत्तम जीवन के लिये **तत्**=उस **द्राघीयः आयुः**=दीर्घजीवन को **सुकृणोतन**=सम्यक् करिये। (२) हम इन विद्वानों के

सम्पर्क में उस उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करें, जो हमारे लिये तथा हमारे पुत्र-पौत्रों के लिये दीर्घजीवन का कारण बने।

भावार्थ—हम तेजस्वी आदित्य विद्वानों से ज्ञान को प्राप्त करके दीर्घजीवनवाले बनें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

यज्ञ हमें आदित्यों के कृपा पात्र बनायें

यज्ञो हीळो वो अन्तर आदित्या अस्ति मृळत। युष्मे इद्वो अपि ष्मसि सजात्ये॥ १९॥

(१) हे **आदित्याः**=सूर्यसम ज्ञानरश्मियों को फैलानेवाले विद्वानो! **वः**=आपका **अन्तरः**=अन्तिकतम, अत्यन्त प्रिय यह **यज्ञ**=यज्ञ **हीडः**=गन्तव्य व प्राप्तव्य **अस्ति**=हुआ है। अर्थात् आपके ज्ञानोपदेश से हमने यह यज्ञमार्ग अपनाया है। **मृडत**=आप हमारे जीवन को सुखी करिये। (२) हम **युष्मे इत्**=आप में ही निवासवाले हों। सदा आपके सम्पर्क में रहें। **वः सजात्ये**=आपके बन्धुत्व में **अपि स्मसि**=भी हो पायें। इस यज्ञमार्ग पर चलते हुए हम आपके बन जायें।

भावार्थ—हम आदित्य विद्वानों के सम्पर्क में आकर यज्ञमार्ग को स्वीकार करें। इस प्रकार इन आदित्यों की कृपा के पात्र हों, उन्हीं के वर्ग में सम्मिलित हो जायें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्राणायाम तथा 'स्नेह व निर्द्वेषता' की साधना

बृहद्वरूथं मरुतां देवं त्रातारमश्विना। मित्रमीमहे वरुणं स्वस्तये॥ २०॥

(१) **मरुताम्**=प्राणों का **वरूथम्**=दोष निवारक बल **बृहत्**=महान् है। हम उस **त्रातारं देवम्**=रक्षक देव प्रभु से **अश्विना**=इन प्राणापानों की ही **ईमहे**=याचना करते हैं। इन प्राणापान के द्वारा हमारा जीवन सबल व निर्दोष बनेगा। (२) हम **मित्रम्**=स्नेह की देवता व **वरुणम्**=निर्द्वेषता की देवता से **स्वस्तये**=कल्याण के लिये (ईमहे) याचना करते हैं। हमारे जीवन में प्राणसाधना के साथ स्नेह व निर्द्वेषता की साधना चले।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी प्राणापान शक्ति प्रबल हो, इससे हमारे शरीर निर्दोष व सबल बनें। हम स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाते हुए कल्याण के भागी हों।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

त्रिवरूथं छर्दिः

अनेहो मित्रार्यमन्नृवद्वरुण शंस्यम्। त्रिवरूथं मरुतो यन्त नश्छर्दिः॥ २१॥

(१) हे **मित्र**=स्नेह की देवते! **अर्यमन्**=शत्रु नियमन की देवते! (अरीन् यच्छति), **वरुण**=निर्द्वेषता की देवते! तथा **मरुतः**=प्राणो! आप सब **नः**=हमारे लिये **छर्दिः**=ऐसे गृह को दीजिये, जो **अनेहः**=पापशून्य हो, **नृवत्**=उन्नतिशील पुत्र-पौत्रोंवाला हो, **शंस्यम्**=प्रभु-शंसन में उत्तम हो और अतएव शंसनीय हो। (२) ऐसा गृह दीजिये जो **त्रिवरूथम्**=शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक तीनों दोषों का निवारण करनेवाला हो। हमारे घरों में सभी इन त्रिविध दोषों से रहित प्रशस्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम 'स्नेह निर्द्वेषता' व 'काम आदि के नियमन' की साधना को करते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त होंगे। इससे हमारे घर पापशून्य, उत्तम सन्तानोंवाले, प्रशस्त व 'शरीर, मन व बुद्धि' सम्बन्धी दोषों से रहित होंगे।

ऋषिः—इरिम्बिठिः काण्वः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

मृत्युबन्धवः मनवः

ये चिद्धि मृत्युबन्धव आदित्या मनवः स्मसि। प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन॥ २२॥

(१) हे **आदित्याः**=सूर्य के समान ज्ञानरश्मियों को फैलानेवाले विद्वानो! **ये चित् हि**=जो निश्चय से हम **मनवः स्मसि**=विचारशील बनते हैं और **मृत्युबन्धवः**=मृत्यु के बन्धु होते हैं, अर्थात् मृत्यु को कभी भूलते नहीं हैं। तो आप **नः**=हमारे **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिये **आयुः**=आयुष्य को **प्र सु तिरेतन**=खूब बढ़ाइये। (२) दीर्घजीवन का मार्ग यही है कि हम सदा सब कार्यों को विचारपूर्वक करें तथा मृत्यु को कभी भूलें नहीं। यह भी आवश्यक है कि मृत्यु की चिन्ता ही न करते रहें, मृत्यु को अपना बन्धु ही समझें।

भावार्थ—मृत्यु के अविस्मरण से सदा सुपथ पर चलते हुए, विचारशील बनकर हम दीर्घजीवी बनें।

यह मृत्यु को न भूलनेवाला व्यक्ति अपने में अच्छाइयों का भरण करता हुआ 'सोभरि' बनता है। यह मेधावी तो है ही 'काण्व'। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु का स्तवन करता है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

सन्ध्या व अग्निहोत्र

तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे। देवत्रा हव्यमोहिरे॥ १॥

(१) **तम्**=उस **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु की **गूर्धय**=स्तुत करो। जो प्रभु **स्वर्णरम्**=प्रकाशमय व सुखमय लोक की ओर हमें ले चलनेवाले हैं। **अरतिम्**=जो प्रभु (ऋ गतौ) सर्वत्र गतिवाले हैं अथवा (अ-रतिम्) कहीं भी आसक्त नहीं। (२) **देवासः**=देववृत्ति के लोग इस प्रभु का **दधन्विरे**=धारण करते हैं, प्रभु का ध्यान करते हैं। और **देवत्रा**=वायु आगे देवों में **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को **ओहिरे**=प्राप्त कराते हैं। अग्निहोत्र में घृत व हव्य पदार्थों की आहुति देते हैं। अग्नि के द्वारा छोटे-छोटे कणों में विभक्त होकर ये पदार्थ सब वायु आदि देवों में पहुँचते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के व्यक्ति उस प्रकाशमय प्रभु की उपासना करते हैं और अग्निहोत्र को नियम से करते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

विभूतराति-चित्तशोचिष्-पूर्व्य

विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीळिष्व यन्तुरम्।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम्॥ २॥

(१) हे **विप्र**=मेधाविन् स्तोतः! तू **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु की **ईडिष्व**=स्तुत कर। जो प्रभु **विभूतरातिम्**=व्यापक प्रभूत दानवाले हैं और **चित्रशोचिषम्**=अद्भुत ज्ञान दीप्तिवाले हैं। प्रभु तुझे धन भी प्राप्त करायेंगे और ज्ञान भी देंगे। (२) हे **सोभरे**=अपना उत्तमता से भरण करनेवाले मेधाविन्! तू उस प्रभु का स्तवन कर, जो **अस्य**=इस **सोम्यस्य**=सोम के द्वारा **साध्म**=सोमरक्षण से चलनेवाले **मेधस्य**=जीवनयज्ञ के **यन्तुरम्**=नियामक हैं। **अध्वराय**=इस जीवनयज्ञ को सुन्दरता से पूर्ण करने के लिये **ईम्**=निश्चय से **पूर्व्यम्**=उस पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम प्रभु को

प्र (ईडिष्व)=प्रकर्षेण स्तुत कर।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करो। प्रभु ही जीवन यज्ञ की पूर्ति के लिये सब दानों को देते हैं, ज्ञान को प्राप्त कराते हैं, हमारी कमियों को दूर करते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'यजिष्ठ-देव-अमर्त्य' प्रभु

यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **यजिष्ठम्**=अतिशयेन पूज्य **त्वा**=आपका **ववृमहे**=हम वरण करते हैं। जो आप **देवम्**=प्रकाशमय हैं, **देवत्रा होतारम्**=देवों में इस प्रकाश को देनेवाले हैं (हु दाने)। सूर्य आदि देव आपकी दीप्ति से ही तो दीप्त होते हैं। **अमर्त्यम्**=अविनाशी हैं। (२) हम उस प्रभु का वरण करते हैं जो **अस्य यज्ञस्य**=इस हमारे जीवनयज्ञ के **सुक्रतुम्**=(सुष्ठु कर्तारम्) उत्तमता से सम्पादित करनेवाले हैं, जीवन यज्ञ का संचालन प्रभु के द्वारा ही तो होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का ही वरण करें। यही प्रकाश प्राप्ति व अविनाश का मार्ग है। प्रभु ही जीवनयज्ञ को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'मित्र वरुण व आपः' का सुख

ऊर्जो नपातं सुभगं सुदीदितिमग्निं श्रेष्ठशोचिषम्।
स नो मित्रस्य वरुणस्य सो अपामा सुम्नं यक्षते दिवि॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हम उस प्रभु का (ववृमहे) वरण करते हैं, जो **ऊर्जः नपातं**=शक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। **सुभगम्**=शोभन धनवाले हैं। **सुदीदितिम्**=उत्तम दीप्ति से युक्त हैं तथा **श्रेष्ठशोचिषम्**=अति प्रशस्त तेजवाले हैं। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **मित्रस्य**=स्नेह की देवता के तथा **वरुणस्य**=निर्द्वेषता की देवता के **सुम्नम्**=सुख को **यक्षते**=देते हैं (यज् दाने)। हमें स्नेह व निर्द्वेषतावाला बनाकर प्रीतियुक्त करते हैं। **सः**=वे प्रभु ही **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक के निमित्त **अपां सुम्नम्**=(आपः रेतो भूत्वा०) रेतःकणों के सुख को प्राप्त कराते हैं। सुरक्षित रेतःकण ही हमारी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं और ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं। दीप्त ज्ञानाग्नि ही जीवन के सब वास्तविक सुखों के मूल में है।

भावार्थ—प्रभु हमारी शक्ति को नष्ट नहीं होने देते। शोभन धन व दीप्तिवाले वे प्रभु हमें तेजस्वी बनाते हैं। प्रभु का उपासक सब के प्रति स्नेहवाला व निर्द्वेष होता है। यह शक्तिकणों का रक्षण करके दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—ककुबुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु के प्रति अर्पण

यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये। यो नमसा स्वध्वरः॥ ५॥

(१) **यः मर्तः**=जो मनुष्य **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा, **यः**=जो **आहुती**=आहुति के द्वारा दानपूर्वक अदन के द्वारा तथा **यः**=जो **वेदेन**=वेदाध्ययन के द्वारा **अग्नये ददाश**=उस अग्रेणी प्रभु के लिये अपने को दे डालता है। **यः**=जो **नमसा**=नमन के द्वारा उस प्रभु के प्रति अपने को देता है। वह **स्वध्वरः**=उत्तम जीवनयज्ञवाला होता है। (२) प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति

जीवन के अन्दर ज्ञानदीप्ति को, त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति को, वेदाध्ययन को तथा नमन को लाने के लिये यत्नशील होता है। प्रभु इसके जीवनयज्ञ को बड़ा सुन्दर बना देते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान, त्याग, वेदाध्ययन व नमन को अपनाकर प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, प्रभु के अनुग्रह से सुन्दर जीवनयज्ञवाले हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

आधिदैविक व आधिभौतिक कष्टों से दूर

तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः।
न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत्॥ ६॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, **तस्य इत्**=उसके ही **आशवः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **अर्वन्तः**=इन्द्रियाश्व **रंहयन्ते**=कर्त्तव्य कर्मों में तीव्र गतिवाले होते हैं। **तस्य**=उसी का **यशः**=यश **द्युम्नितमम्**=अधिक से अधिक दीप्तिवाला होता है। इसका जीवन यशस्वी व ज्ञान की दीप्तिवाला होता है। (२) **तम्**=इस प्रभु के उपासक को **कुतश्चन**=कहीं से भी **देवकृतम्**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् आदि देवों से उत्पन्न हुआ-हुआ **अंहः**=कष्ट **नशत्**=नहीं प्राप्त होता और **न**=न ही **मर्त्यकृतम्**=मनुष्यों से उत्पन्न हुआ-हुआ कष्ट प्राप्त होता है। अर्थात् यह उपासक प्राकृतिक जगत् व लौकिक जगत् की अनुकूलता को प्राप्त करता है और शान्त सुखी जीवनवाला होता है। ऐसी स्थिति में सब इन्द्रियाँ व बुद्धि अपना-अपना कार्य ठीक से करती हैं। सो इस उपासक को अध्यात्म कष्टों से भी पीड़ा नहीं प्राप्त होती। त्रिविध कष्टों से ऊपर उठकर यह प्रभु के अधिकाधिक समीप होता जाता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले को न आधिदैविक कष्ट प्राप्त होते हैं, न आधिभौतिक। यह उत्तम इन्द्रियों व बुद्धिवाला बनकर अध्यात्म कष्टों से भी ऊपर उठ जाता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

स्वग्नयः

स्वग्नयो वो अग्निभिः स्याम सूनो सहस ऊर्जां पते। सुवीरस्त्वमस्मयुः॥ ७॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, बल के पुञ्ज **ऊर्जाम्पते**=बलों व प्राणशक्तियों के स्वामिन् प्रभो! हम **वः**=आपके **अग्निभिः**=उत्तम मातारूप दक्षिणाग्नि, उत्तम पिता रूप गार्हपत्य अग्नि तथा उत्तम आचार्यरूप आहवनीयाग्नि से **स्वग्नयः स्याम**=उत्तम यज्ञाग्नियोंवाले बनें। इन माता, पिता व आचार्य से पालित-पोषित व शिक्षित होकर हम सदा यज्ञ आदि उत्तम कार्यों को करनेवाले बनें। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **सुवीरः**=उत्तम वीर सन्तानों को प्राप्त करानेवाले हैं (शोभना वीराः यस्मात्)। **अस्मयुः**=सदा हमें चाहनेवाले होइये, अर्थात् हम आपके प्रिय बन सकें।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से उत्तम माता, पिता, आचार्यरूप अग्नियों को प्राप्त करके हम उत्तम यज्ञादि कर्मों की ओर झुकाववाले बनें। हम उत्तम सन्तानोंवाले हों और प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिक्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

अतिथिर्न, रथो न

प्रशंसमानो अतिथिर्न मित्रियोऽग्नी रथो न वेद्यः।
त्वे क्षेमासो अपि सन्ति साधवस्त्वं राजा रयीणाम्॥ ८॥

(१) **प्रशंसमानः**=प्रकर्षेण शंसन, ज्ञानोपदेश करते हुए **अतिथिः न**=अतिथि की तरह आप **मित्रियः**=इन स्नेही स्तोताओं के हित करनेवाले हैं। **अग्निः**=अग्रेणी होते हुए आप **रथः न**=रथ के समान **वेद्यः**=जानने योग्य हैं। रथ जैसे लक्ष्य-स्थान पर ले जाता है, इसी प्रकार आप हमें लक्ष्य-स्थान पर ले जानेवाले हैं। (२) **त्वे**=आप में **क्षेमासः**=(क्षि विवासगत्योः) निवास व गति करनेवाले **अपि**=भी **साधवः सन्ति**=कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं, प्रभु स्मरणपूर्वक गति करनेवाले व्यक्ति साधुत्व को प्राप्त करते हैं। **त्वम्**=आप **रयीणां राजा**=सब धनों व ऐश्वर्यों को स्वामी हैं।

भावार्थ—प्रभु अतिथि के समान ज्ञानोपदेश करते हुए हमारा हित करते हैं। रथ के समान हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। प्रभु में निवास करनेवाला साधुत्व को प्राप्त करता है। प्रभु ही सब धनों के स्वामी हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

दाश्वध्वर-प्रशंस्य

सो अद्धा दाश्वध्वरोऽग्ने मर्तः सुभग स प्रशंस्यः। स धीभिरस्तु सनिता॥ ९॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सः मर्तः**=वह मनुष्य जो गत मन्त्र के अनुसार आप में निवास करता हुआ गतिवाला होता है वह **अद्धा**=सचमुच निःसन्देह **दाश्वध्वरः**=यज्ञों में दानशील होता है। हे **सुभग**=उत्तम ऐश्वर्यवाले प्रभो! **सः**=यह आप में निवास करनेवाला व्यक्ति ही **प्रशंस्यः**=प्रशस्त जीवनवाला होता है। (२) **सः**=वह मनुष्य ही **धीभिः**=उत्तम प्रज्ञानों व कर्मों से **सनिता**=सम्भजनशील होता है, अर्थात् उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाला बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु में निवास करते हुए सदा यज्ञों में दानशील हों, प्रशस्त जीवनवाले बनें और उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाले हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—सतः पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

क्षयद्वीरः

यस्य त्वमूर्ध्वो अध्वराय तिष्ठसि क्षयद्वीरः स साधते।
सो अर्वद्भिः सनिता स विपन्युभिः स शूरैः सनिता कृतम्॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **यस्य अध्वराय**=जिसके जीवनयज्ञ के रक्षण के लिये **त्वम्**=आप **ऊर्ध्वः तिष्ठसि**=ऊपर स्थित होते हैं, सदा उद्यत होते हैं, **सः**=वह **क्षयद्वीरः**=निवास करते हैं वीर जिसके यहाँ, अर्थात् वीर सन्तानोंवाला बनता है। **साधते**=यह सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला होता है। (२) **सः**=वह **अर्वद्भिः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों से **सनिता**=सम्भजनशील होता है। **सः**=वह **विपन्युभिः**=(नि० ३।१५ विपन्यु=मेधावी) मेधावी पुरुषों से **कृतम्**=किये हुए कर्मों को **सनिता**=सम्भजनशील होता है। अर्थात् मेधावी पुरुषों की तरह कर्मों को करता है। **सः**=वह **शूरैः**=शूरवीरों से **कृतम्**=किये हुए कर्मों को **सनिता**=सम्भजनशील होता है। अर्थात् शूरों की तरह कार्यों को करता है। इसके व्यवहार में कायरता नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु जब हमारे जीवनयज्ञ के रक्षक होते हैं तो हम (क) वीर सन्तानोंवाले होते हैं, (ख) कार्यों को सिद्ध करते हैं, (ग) प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनते हैं, (घ) तथा मेधावी व शूर पुरुषों के कार्यों को करते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

उपासना व अग्निहोत्र (स्तोमं चनः)

यस्याग्निर्वपुर्गृहे स्तोमं चनो दधीत विश्ववार्यः। हव्या वा वेविषद्विषः॥ ११॥

(१) **यस्य गृहे**=जिसके घर में **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **स्तोमम्**=स्तुति समूह को धारण करता है और जिसके घर में **विश्ववार्यः**=सब से वरने के योग्य यह अग्निः=यज्ञकुण्ड में स्थापित आहवनीय **स्तोमं चनः**=अन्न को **दधीत**=धारण करती है। अर्थात् जिसके घर में प्रभु की उपासना व अग्निहोत्र नियम से होता है, वह **वपुः**=सब बुराइयों का वपन (छेदन) करनेवाला होता है। प्रभु की उपासना उसके मानस मलों का अपहरण करती है, तो अग्निहोत्र उसके शारीरिक दोषों को दूर करता है। (२) यह पुरुष **विषः**=वायु आदि व्याप्त देवों को **वा**=निश्चय से **हव्या**=सब हव्य पदार्थों को **वेविषद्**=प्राप्त कराता है। इस प्रकार यह सब देवों की पवित्रता व ऋतुओं की अनुकूलता का साधक होता हुआ, लोक-कल्याण में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें तथा अग्निहोत्री बनें। इस प्रकार हम सब बुराइयों का छेदन कर पायेंगे।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

स्तोता-यष्टा-तत्त्ववेत्ता

विप्रस्य वा स्तुवतः सहसो यहो मक्षूतमस्य रातिषु।
अवोदेवमुपरिमर्त्यं कृधि वसो विविदुषो वचः॥ १२॥

(१) हे **सहसो यहो**=बल के पुत्र, बल के पुञ्ज (सर्वशक्तिमन्) **वसो**=सब को निवास देनेवाले प्रभो! इस **स्तुवतः**=स्तुति करते हुए **विप्रस्य**=ज्ञानी पुरुष के **वा**=तथा **रातिषु**=दान के कार्यों में **मक्षूतमस्य**=शीघ्रतम पुरुष के **विविदुषः**=इस तत्त्वज्ञानी के **वचः**=वचनों को **अवः देवम्**=द्युलोक नीचे तथा **उपरिमर्त्यम्**=मर्त्यलोक के ऊपर, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त **कृधि**=करिये। (२) इस तत्त्वज्ञानी के वचनों को सब कोई सुने। और उसकी तरह ही प्रभु-स्तवन को करनेवाला, यज्ञशील व ज्ञानी बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—स्तोता-यज्ञशील ज्ञानियों के ज्ञानोपदेश सर्वत्र पहुँचें। उनसे प्रेरणा को प्राप्त करके लोग भी वैसा बनने के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पुरउष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

हव्यदातिभिः-नमोभिः-गिरा

यो अग्निं हव्यदातिभिर्नमोभिर्वा सुदक्षमाविवासति। गिरा वाजिरशोचिषम्॥ १३॥

(१) **यः**=जो **सुदक्षम्**=शोभन बलवाले व उन्नति के कारणभूत **अग्निम्**=अग्नि को, अग्रेणी प्रभु को **हव्यदातिभिः**=हव्यों के देने के द्वारा, अर्थात् यज्ञों के द्वारा **वा**=तथा **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **आविवासति**=पूजित करता है, वह भी अग्नि बनता है, आगे बढ़नेवाला होता है तथा **सुदक्ष**=शोभन बलवाला बनता है। (२) **वा**=या जो **गिरा**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति वाणियों के द्वारा **अजिर शोचिषम्**=गति द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकनेवाले तेज से युक्त प्रभु का उपासन करता है (अज गतिक्षेपणयोः) यह उपासक इस उपासना से तेजस्वी बनकर सब बुराइयों को परे फेंकनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन 'यज्ञों नमस्कारों व ज्ञान वाणियों' द्वारा होता है। उपासक 'आगे बढ़नेवाला, उत्तम बलवाला व गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले तेजवाला' होता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

धीभिः-द्युम्नैः (बुद्धि-विद्या)

स॒मिधा॒ यो निशि॑ती॒ दाश॒ददि॑तिं॒ धाम॑भिरस्य॒ मर्त्यः॑।
विश्वेत्स धी॒भिः सु॒भगो॒ जना॒ँ अति॑ द्यु॒म्नैरु॒द्नइ॑व तारिषत्॥ १४॥

(१) **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **अस्य**=इस अग्रेणी प्रभु के **धामभिः**=तेजों की प्राप्ति के हेतु से **निशिती**=प्रज्वलन हेतुभूत **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **अदितिं दाशत्**=अदीना देवमाता के प्रति अपना अर्पण करता है। अर्थात् जब मनुष्य अपने अन्दर उस ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करता है जो वासनाओं को दग्ध करती है और प्रभु के तेजों को प्राप्त कराती है, तो वह अपने जीवन को दिव्यगुणों के उत्पादन के योग्य बना पाता है। (२) **सः**=वह पुरुष **धीभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा व बुद्धियों के द्वारा **सुभगः**=उत्तम ऐश्वर्यवाला होता हुआ **द्युम्नैः**=ज्ञान-ज्योतियों से **विश्वा इत्**=सब ही **जनान्**=लोगों को **अतितारिषत्**=अतिक्रमण कर जाता है, **इव**=जैसे कोई व्यक्ति **उद्नः**=जल से पार हो जाता है।

भावार्थ—हम अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करें। यही हमें प्रभु के तेजों को प्राप्त करायेगी, दिव्यगुणों का हमारे अन्दर वर्धन करेगी। बुद्धि व विद्या का सम्पादन करते हुए सब से आगे बढ़ जायेंगे (अति समं क्राम)।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

शत्रु-पराभावक 'द्युम्न'

तद॑ग्ने द्यु॒म्नमा भ॑र॒ यत्सा॒सह॒त्सद॑ने॒ कं चि॑द॒त्रिण॑म्। म॒न्युं जन॑स्य दू॒ढ्यः॑॥ १५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तद्**=उस **द्युम्नम्**=ज्ञानज्योति को **आभर**=हमारे में भरिये **यत्**=जो **सदने**=इस शरीर गृह में आ जानेवाले **कञ्चिद्**=किसी भी **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाले राक्षसी भाव को **सासहत्**=पराभूत कर दे, कुचल दे। (२) और उस ज्ञान-ज्योति को दीजिये जो **दूढ्यः**=दुर्बुद्धि **जनस्य**=मनुष्य के **मन्युम्**=क्रोध को परभूत कर दे, अर्थात् दुर्बुद्धि मनुष्य की इस ज्ञानी के ज्ञान से प्रभावित होकर क्रोध को न करनेवाला हो जाये।

भावार्थ—हम ज्ञान-ज्योति के द्वारा वासनाओं को पराभूत करनेवाले बनें। दुर्बुद्धि जनों के क्रोध का भी विलापन करनेवाले हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

वह 'बल'

येन॒ चष्टे॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा येन॒ नास॑त्या॒ भगः॑।
व॒यं तत्ते॒ शव॑सा गातु॒वित्त॑मा॒ इन्द्र॑त्वोता विधेमहि॥ १६॥

(१) **येन शवसा**=जिस बल के द्वारा **वरुणः**=निर्द्वेषता की देवता **चष्टे**=हमारे जीवन को प्रकाशित करती है, **मित्रः**=स्नेह की देवता तथा **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) शत्रु नियमन की देवता हमारे जीवन को प्रकाशमय करती है। **येन**=जिस बल के द्वारा **नासत्या**=अश्विनी देव, अर्थात् प्राणापान तथा **भगः**=ऐश्वर्य की देवता हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाती है। **वयम्**=हम

ते=आपके **तत्**=उस बल को **विधेमहि**=परिचरित करते हैं, पूजते हैं। हम इस बल का पूजन करते हैं, यह बल ही हमारे जीवन में 'वरुण' आदि देवों के निवास का कारण बनता है। (२) इसी बल से हम, हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वोताः**=आप के द्वारा रक्षित होते हैं और **गातुवित्तमाः**=अधिक से अधिक मार्ग को प्राप्त करनेवाले होते हैं। यह बल ही हमें मार्गभ्रष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ—हम बल का सम्पादन करते हुए 'निर्द्वेष, स्नेहवाले, शत्रु-नियन्ता, प्राणापान की शक्ति से सम्पन्न, ऐश्वर्यशाली व मार्ग पर चलनेवाले' बनें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

नृचक्षा-सुक्रतु

ते घेदग्ने स्वाध्यो३ ये त्वा विप्र निदधिरे नृचक्षसम्। विप्रासो देव सुक्रतुम्॥ १७॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते**=वे **घा इत्**=ही निश्चय से **स्वाध्यः**=उत्तम ध्यानवाले होते हैं, **ये**=जो हे **विप्र**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **निदधिरे**=अपने हृदयों में धारण करते हैं। (२) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! उत्तम ध्याता वे ही हैं जो **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले, अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले होते हुए, **नृचक्षसम्**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले **सुक्रतुम्**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञानोंवाले आपको अपने हृदयों में धारण करते हैं। आपका ध्यान करते हुए ये स्वयं भी 'नृचक्षा व सुक्रतु' बनने का ध्यान करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का हृदय में धारण करनेवाला ही उत्तम ध्याता है। यह 'नृचक्षा व सुक्रतु' बनता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

यज्ञ-सोम सम्पादन=ऐश्वर्य का विजय

त इद्वेदिं सुभग त आहुतिं ते सोतुं चक्रिरे दिवि।
त इद्वाजेभिर्जिग्युर्महद्धनं ये त्वे कामं न्येरिरे॥ १८॥

(१) हे **सुभग**=उत्तम ऐश्वर्योंवाले प्रभो! **ये**=जो लोग **त्वे**=आपके विषय में **कामम्**=इच्छा को **न्येरिरे**=प्रेरित करते हैं, अर्थात् आपको प्राप्त करने की कामनावाले होते हैं, **ते इत्**=वे ही **वेदिम्**=वेदि को, यज्ञभूमि को **चक्रिरे**=बनाते हैं। **ते**=वे ही **आहुतिम्**=(चक्रिरे) वहाँ यज्ञाग्नि में आहुतियों को करते हैं। **ते**=वे **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश के निमित्त **सोतुम्**=सोम के सम्पादन के लिये प्रवृत्त होते हैं। सोमरक्षण के द्वारा ही तो वे अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त कर पायेंगे। इस प्रकार प्रभु प्राप्ति की कामनावाले पुरुष यज्ञशील होते हैं और सोम का सम्पादन करते हैं। (२) **ते**=वे यज्ञशील व सोम का सम्पादन करनेवाले व्यक्ति **इत्**=ही **वाजेभिः**=शक्तियों के द्वारा व त्यागों के द्वारा (वाज=sacrifice) **महद्**=महान् **धनम्**=धन का **जिग्युः**=विजय करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति की कामनावाले लोग यज्ञशील व सोम का सम्पादन करते हैं। ये ही त्याग व शक्ति के द्वारा महान् धन का विजय करते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—ककुबुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

चार बातें

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः॥ १९॥

(१) **नः**=हमारे लिये **आहुतः**=जिसके प्रति अपना अर्पण किया गया है वह **अग्निः**=माता, पिता, आचार्यरूप अग्नि **भद्रः**=कल्याणकर हो। हम माता, पिता, आचार्य के प्रति पूर्णरूप से अपना अर्पण करनेवाले हों और ये हमारा कल्याण करनेवाले हों। **रातिः**=दान की प्रक्रिया **भद्रा**=हमारे लिये कल्याणकर हो, इस दान से हमारी बुराइयों का छेदन होकर हमारा जीवन शुद्ध बने। (२) हे **सुभग**=उत्तम ऐश्वर्यवाले प्रभो! **अध्वरः**=हिंसारहित यज्ञरूप कर्म **भद्रः**=हमारा कल्याण करें। **उत**=और **प्रशस्तयः**=प्रभु के प्रशंसन, स्तवन **भद्राः**=हमारे लिये कल्याणकर हों।

भावार्थ—हम माता, पिता, आचार्य के प्रति अपने अर्पण से जीवन को प्रारम्भ करें। गृहस्थ में दान देनेवाले बनें। वानप्रस्थ की साधना में यज्ञात्मक कर्म करते हुए संन्यस्त होकर सतत प्रभु-शंसन में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत् पं-ः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

संग्राम में उत्तम मन के द्वारा विजय

भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहः।
अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टिभिः॥ २०॥

(१) हे प्रभो! आप **वृत्रतूर्ये**=संग्राम में, काम-क्रोध-लोभ आदि के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्राम में हमारे **मनः**=मन को **भद्रं कृणुष्व**=कल्याणयुक्त करिये। हमारा मन ऐसा बने **येन**=जिससे **समत्सु**=संग्रामों में **सासहः**=हम इन शत्रुओं का पराभव कर पायें। (२) **शर्धताम्**=हमारा प्रसहन (पराभव) करते हुए इन काम-क्रोध आदि के **भूरि**=खूब ही **स्थिरा**=दृढ़ भी धनुषों को **अवतनुहि**=अवनत करिये, ज्यारहित करिये, आक्रमण के अयोग्य कर दीजिये। **ते**=आपके **अभिष्टिभिः**=अभ्येषण (प्राप्ति) साधन स्तोत्रों से हम **वनेम**=उत्कृष्ट धनों का सम्भजन करें।

भावार्थ—प्रभु अध्यात्म-संग्रामों में हमारे मनों को इस प्रकार भद्र बनायें, कि हम इन संग्रामों में शत्रुओं को जीत ही पायें। शत्रुओं के धनुषों को आप ढीला करिये। हम प्रभु प्राप्ति के साधनभूत स्तोत्रों से उत्तम धनों का सम्भजन करें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'दूत, अरति, यजिष्ठ, हव्यवाहन' प्रभु

ईळे गिरा मनुर्हितं यं देवा दूतमरतिं न्येरिरे। यजिष्ठं हव्यवाहनम्॥ २१॥

(१) मैं **गिरा**=स्तुति वाणियों के द्वारा **मनुर्हितम्**=विचारशील पुरुष के द्वारा हृदय में स्थापित किये गये प्रभु को **ईडे**=उपासित करता हूँ। **यम्**=जिस को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **न्येरिदे**=प्राप्त होते हैं। (२) उस प्रभु की उपासना करता हूँ जो **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं, **अरतिम्**=स्वामी (अर्य) हैं अथवा (अ रतिम्) अनासक्त हैं। **यजिष्ठम्**=अधिक से अधिक पूज्य हैं और **हव्यवाहनम्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। विचारशील देववृत्ति के पुरुष प्रभु को प्राप्त किया करते हैं। प्रभु ज्ञान का सन्देश देनेवाले अनासक्त सर्वाधिक पूज्य व सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञों से सुवीर्य-प्राप्ति

तिग्मजम्भाय तरुणाय राजते प्रयो गायस्यग्नये।
यः पिंशते सूनृताभिः सुवीर्यमग्निर्घृतेभिराहुतः॥ २२॥

(१) **तिग्मजम्भाय**=तीक्ष्ण दंष्ट्राओंवाले, **तरुणाय**=सब रोगों से तरानेवाले, **राजते**=चमकते हुए **अग्नये**=अग्नि के लिये **प्रयः**=हविर्लक्षण अन्न को **गायसि**=तू प्राप्त कराता है। प्रभु जीव को अग्निहोत्र की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि यह अग्नि रोगकृमियों के लिये बड़ा तीक्ष्ण दंष्ट्र है, तुम्हें रोगों से तरानेवाला है। इसके लिये हविर्द्रव्यों को प्राप्त करा के तुम स्वस्थ व राजमान (चमकते हुए) बनोगे। (२) **यः अग्निः**=जो अग्नि है, वह **सूनृताभिः**=प्रिय सत्य मन्त्रात्मक वाणियों से तथा **घृतेभिः**=घृतों से **आहुतः**=आहुत हुआ-हुआ **सुवीर्यं पिंशते**=स्तोता के साथ उत्तम शक्ति को आश्लेषित करता है। इन यज्ञों में प्रवृत्त होने से मन्त्रात्मक वाणियों का उच्चारण व त्याग की वृत्ति का उदय होता रहता है। परिणामतः वासनामय जीवन नहीं बनता। सोमरक्षण होकर जीवन सुन्दरतम बनता है।

भावार्थ—हम अग्निहोत्र आदि यज्ञों में प्रवृत्त हों। ये यज्ञ जहाँ हमें नीरोग बनायेंगे, वहाँ हमारे साथ उत्तम शक्ति का सम्पर्क करेंगे।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

असुर इव निर्णिजम् (प्रभु की तरह)

यदी घृतेभिराहुतो वाशीमग्निर्भरत उच्चाव च। असुरइव निर्णिजम्॥ २३॥

(१) **यदि**=यदि **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **घृतेभिः**=ज्ञानदीप्तियों से **आहुतः**=समन्तात् हुत होता है, और **वाशीम्**=अपनी प्रभु गुणगान की ध्वनि का **उत् च अव च**=आरोह व अवरोह पूर्वक **भरते**=भरण करता है, तो यह अग्नि **असुरः इव**=उस प्राणशक्ति का संचार करनेवाले ब्रह्म की तरह **निर्णिजम्**=रूप को धारण करता है। (२) हम अपने अन्दर ज्ञान की निरन्तर आहुतियाँ दें तथा प्रभु के गुणों का गायन करें तभी हम प्रभु को प्राप्त करेंगे। प्रभु की तरह ही चमक उठेंगे।

भावार्थ—ज्ञान व स्तवन हमें प्रभु धारण के योग्य बनाते हैं। उस समय हम भी उस ब्रह्म की तरह दीप्त रूपवाले हो उठते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

देव

यो हव्यान्यैरयता मनुर्हितो देव आसा सुगन्धिना।
विवासते वार्याणि स्वध्वरो होता देवो अमर्त्यः॥ २४॥

(१) **यः**=जो **हव्यानि**=हव्य पदार्थों को **ऐरयत**=अग्नि द्वारा वायु आदि देवों में प्रेरित करता है, अर्थात् सदा यज्ञशील होता है। **मनुः**=विचारशील बनता है व **हितः**=सबका हित करनेवाला होता है। सदा **सुगन्धिना आसा**=उत्तम सुगन्धित शब्दों से युक्त मुखवाला होता है, यही पुरुष **देवः**=देव है। (२) यह **वार्याणि**=सदा वरणीय वस्तुओं व धनों को **विवासते**=विशेषरूप से धारण करता है। **स्वध्वरः**=उन वार्य वस्तुओं के द्वारा उत्तम हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला व

अमर्त्यः=नीरोग होता है।

भावार्थ—देव वह होता है जो यज्ञशील, विचारक, हितकर, मधुरभाषी है। यह वरणीय धनों को प्राप्त करके यज्ञशील, दाता, प्रकाशमय जीवनवाला व नीरोग बनता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

अमर्त्य

यद॑ग्ने मर्त्य॒स्त्वं स्याम॒हं मि॑त्रमहो॒ अम॑र्त्यः। सह॑सः सूनवाहुत॥ २५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी, **मित्रमहः**=मृत्यु से बचाने वाले तेज से युक्त, **सहसः सूनो**=शक्ति के पुञ्ज, **आहुत**=समनगत् दानोंवाले प्रभो! **यत्**=यदि **अहम्**=मैं **मर्त्यः**=मरणधर्मा पुरुष **त्वं स्याम्**=तू हो जाऊँ तो फिर **अमर्त्यः**=तेरे समान ही अमर्त्य बन जाऊँ। (२) अमर्त्य बनने का भाव यह है कि इस जीवन में नीरोग होना और फिर जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाना। यह सब होगा तभी जब हम अग्रगतिवाले बनें, तेजस्वी हों, बल का सम्पादन करें व त्यागशील बनें।

भावार्थ—हम 'अग्ने, मित्रमहः, सहसः सूनो, आहुत' शब्दों से प्रभु का स्मरण करते हुए प्रभु जैसे बनें। इस प्रकार हम मर्त्यता से अमर्त्यता में प्रवेश कर जायेंगे।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'अभिशस्ति व पाप' के लिये प्रार्थना नहीं

न त्वा॑ रासीया॒भिश॑स्तये॒ वसो॒ न पा॑प॒त्वाय॑ सन्त्य।
न मे॑ स्तो॒ताम॑ती॒वा न दुर्हि॑तः॒ स्याद॑ग्ने॒ न पा॒पया॑॥ २६॥

(१) हे **वसो**=वसानेवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **अभिशस्तये**=किसी के भी हिंसन के लिये **न रासीय**=व्यर्थ की प्रार्थना न करता रहूँ। हे **सन्त्य**=सम्भजनीय प्रभो! **पापत्वाय**=किसी पाप कर्म के लिये भी **न रासीय**=न प्रार्थना करूँ। (२) हे **मे अग्ने**=मेरे अग्रेणी प्रभो! यह आपका **स्तोता**=उपासक **न अमतीवा**=न दुर्बुद्धि हो **न दुर्हितः**=न बुरे कर्मों में स्थापित हो, **न पापया स्यात्**=न पाप बुद्धि से बाधित हो। आपका स्तवन करता हुआ मैं सुबुद्धि बनूँ, सदा सत्कार्यों में प्रवृत्त रहूँ, कभी भी पाप बुद्धि से बाधित न होऊँ।

भावार्थ—हम कभी भी किसी की हिंसा के लिये व पाप के लिये प्रार्थना न करें। प्रभु के उपासक बनते हुए सुबुद्धि व सत्कार्य प्रवृत्त हों और पाप से दूर रहें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—भुरिगार्चीविराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

यज्ञाग्नि का सुभरण

पि॒तुर्न पु॒त्रः सुभृ॑तो दुरो॒ण आ दे॒वाँ ए॑तु॒ प्र णो॑ ह॒विः॥ २७॥

(१) **पितुः पुत्रः न**=पिता से जिस प्रकार पुत्र का सुभरण किया जाता है, इसी प्रकार यह यज्ञिय अग्नि **दुरोणे**=घर में **सुभृतः**=हमारे से सम्यक् धारण की जाये। (२) **नः**=हमारी **हविः**=अग्नि में डाली गयी आहुति **देवान्**=वायु आदि देवों को **आ एतु**=समन्तात् प्राप्त हो। अग्नि इन हविर्द्रव्यों को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके सारे वायुमण्डल में फैलानेवाला हो।

भावार्थ—हम घरों में यज्ञाग्नि का इस प्रकार भरण करें जैसे पिता पुत्र का भरण करता है। इसे हम अपना मुख्य कर्त्तव्य समझें। यह यज्ञ ही सब वायुमण्डल को पवित्र करता है व हमारे लिये नीरोग बनाता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु के बनें, प्रकृति में न फँसें

तवाहमग्न ऊतिभिर्नेदिष्ठाभिः सचेय जोषमा वसो। सदा देवस्य मर्त्यः॥ २८॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **अहम्**=मैं **तव**=आपकी **नेदिष्ठाभिः**=अन्तिकतम **ऊतिभिः**=रक्षणों से **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों के सेवन को **आसचेय**=अपने साथ जोड़नेवाला बनूँ। आपसे रक्षित हुआ-हुआ प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों में लगा रहूँ। (२) हे **वसो**=वसानेवाले प्रभो! मैं **सदा**=सदा **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रकाशमय आपका ही **मर्त्यः**=मनुष्य बना रहूँ। इसी प्रकार मैं उत्तम निवासवाला बन पाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम कर्त्तव्य कर्मों में तत्पर रहें। सदा उस देव के बनें, प्रकृति में फँस न जायें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'ऋतु-राति-प्रशस्ति'

तव क्रत्वा सनेयं तव रातिभिरग्ने तव प्रशस्तिभिः।
त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो ममाग्ने हर्षस्व दातवे॥ २९॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **क्रत्वा**=कर्म व प्रज्ञान के द्वारा **तव सनेयम्**=आपका सम्भजन करूँ। अर्थात् यज्ञ आदि कर्मों में प्रवृत्त होकर और प्रज्ञान को प्राप्त करके आपका उपासक बनूँ। **रातिभिः**=दान की क्रियाओं से **तव**=आपका सम्भजन करूँ। तथा **प्रशस्तिभिः**=स्तुतियों के द्वारा **तव**=आपका सम्भजन करूँ। एवं प्रभु का उपासन 'कर्म, प्रज्ञान, दान व स्तवन' से होता है। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **त्वां इत्**=आपको ही **प्रमतिं आहुः**=प्रकृष्ट बुद्धिवाला कहते हैं। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप इस प्रमति को, प्रकृष्ट बुद्धि को **मम दातवे**=मेरे लिये देने के लिये **हर्षस्व**=प्रसन्न होइये इस प्रमति के द्वारा ही तो मैं अपने निवास को उत्तम बना पाऊँगा।

भावार्थ—हम 'कर्म-प्रज्ञान, दान व स्तवन' से प्रभु का शंसन करें। प्रभु से प्रकृष्ट प्रज्ञा को पाकर अपने निवास को उत्तम बनायें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—ककुबुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु के 'सुवीर-वाजभर्मभिः' रक्षण

प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः। यस्य त्वं सख्यमावरः॥ ३०॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **यस्य**=जिस भी उपासक की **सख्यम्**=मित्रता का **आवरः**=आप वरण करते हैं, **सः**=वह **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों के द्वारा **प्रतिरते**=अतिशयेन वृद्धि को प्राप्त करता है। (२) ये आपके रक्षण **सुवीराभिः**=हमें उत्तम वीर सन्तानों को प्राप्त करानेवाले हैं, तथा **वाजभर्मभिः**=हमारे शक्ति का भरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में, प्रभु के रक्षणों के द्वारा उत्तम सन्तानों व शक्ति को प्राप्त करके हम वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत् पं-:॥ स्वरः—पञ्चमः॥

यक्ष (केनोपनिषद्)

तवं द्रप्सो नीलवान्वाश ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा ददे।
त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि॥ ३१॥

(१) हे **सिष्णो**=अपने प्रकाश से हमारे ध्यान को अपनी ओर खेंचनेवाले प्रभो! **तव द्रप्सः**= आपका ज्योतिष्कण (spark) **नीलवान्**=(नील) एक शुभ उद्घोषणावाला है। **वाशः**=यह एक पुकार है। **ऋत्वियः**=यह पुकार उस समय के अनुकूल होती है। **इन्धानः**=मैं अपने अन्दर ज्ञान को दीप्त करता हुआ **आददे**=इस पुकार का ग्रहण करता हूँ। (२) आप मेरे जीवन में **महीनाम्**=पूजा के लिये उचित **उषसाम्**=उषाकालों के तो **प्रियः असि**=प्रिय हैं ही। अर्थात् उषाकालों में तो मैं आपका स्मरण करता ही हूँ। आप **क्षपः**=रात्रि व **वस्तुषु**=दिनों में (वस्तु) **राजसि**=मेरे जीवन में चमकते हैं। अर्थात् मैं दिन-रात आपका स्मरण करता हूँ। यह सदा आपका स्मरण ही मेरे जीवन को पवित्र व प्रकाशमय बनाता है। (३) सर्वत्र प्रभु की ज्योति चमक रही है। विचारक को यह ज्योति अपनी ओर आकृष्ट करती है। वह सदा उस प्रभु का स्मरण करता हुआ अपने जीवन को निरभिमान बना पाता है।

भावार्थ—मेरे जीवन में प्रभु की ज्योति चमके प्रभु के ज्योतिष्कण से आकृष्ट होऊँ। दिन-रात प्रभु को स्मरण करता हुआ इस ज्योतिष्कण को लेने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

सहस्रमुष्कं-स्वभिष्टि-सम्राट्-त्रासदस्यव

तमागन्म सोभरयः सहस्रमुष्कं स्वभिष्टिमवसे। सम्राजं त्रासदस्यवम्॥ ३२॥

(१) **सोभरयः**=अपना उत्तमता से भरण करनेवाले हम **तम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिये **आगन्म**=प्राप्त होते हैं। जो प्रभु **सहस्रमुष्कम्**=अनन्त तेजवाले हैं (तमांसि मुष्णन्ति=मुष्क), **स्वभिष्टिम्**=सम्यक् अभ्येषणीय हैं। ये प्रभु ही जानने योग्य व प्रार्थना करने योग्य हैं। (२) उस प्रभु को हम प्राप्त होते हैं जो **सम्राजम्**=सम्यक् देदीप्यमान हैं और **त्रासदस्यवम्**=दास्यव भावों को भयभीत करनेवाले हैं। जिनके तेज की अग्नि में 'काम-क्रोध-लोभ' आदि दास्यव भाव दग्ध हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'सहस्रमुष्क, स्वभिष्टि, सम्राट् व त्रासदस्यव' हैं। इन प्रभु को रक्षण के लिये हम प्राप्त हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पादनिचृत्पं-:॥ स्वरः—पञ्चमः॥

शुभ-क्षत्र

यस्यं ते अग्ने अन्ये अग्नयं उपक्षितों वयाइंव।
विपो न द्युम्ना नि युवे जनानां तवं क्षत्राणि वर्धयन्॥ ३३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **यस्य**=जिन **ते**=आपके **अन्ये**=दूसरे **अग्नयः**=माता, पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ **उपक्षितः**=समीप रहनेवाले हैं, **वयाः इव**=इस प्रकार समीप रहनेवाले हैं जैसे शाखायें वृक्ष के समीप होती हैं, शाखा जब तक वृक्ष के साथ है तब तक उसमें भी रस का संचार होता रहता है, अलग होते ही वह सूख जाती है। इसी प्रकार संसार की सब अग्नियाँ उस महान्

अग्नि प्रभु से ही अग्नित्व को प्राप्त होती हैं। प्रभु से अलग होते ही उनका अग्नित्व समाप्त हो जाता है। (२) मैं इन अग्नियों के प्रति अपना अर्पण करता हुआ, इनकी आज्ञा में चलता हुआ **तव क्षत्राणि**=आपके बलों को **वर्धयन्**=अपने में बढ़ाता हुआ, **विपः न**=मेधावी स्तोताओं की तरह **जनानाम्**=लोगों के **द्युम्ना**=यशों को **नियुवे**=नितरां प्राप्त होता हूँ। अर्थात् लोगों में यशस्वी जीवनवाला बनता हूँ।

भावार्थ–प्रभु महान् अग्नि हैं, इनकी उपासना से अन्यत्र अग्नित्व की प्राप्ति होती है। इन माता, पिता, आचार्यरूप अग्नियों के सान्निध्य से हम भी बल-सम्पन्न व यशस्वी जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्यः॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'आदित्य-अद्रुक्-सुदानु'

यमा॑दित्यासो अद्रुहः पारं नय॑थ मर्त्य॑म्। म॒घोनां॒ विश्वे॑षां सुदानवः॥ ३४॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित उस महान् अग्नि (प्रभु) की उपेक्षित अन्य अग्नियों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे अग्नियो! **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य को आप **पारं नयथ**=सब अशिवों के पार ले जाते हो। ये मनुष्य **आदित्यासः**=उत्कृष्ट ज्ञान का आदान करनेवाले, ज्ञानों से सूर्य की तरह चमकनेवाले बनते हैं। **अद्रुहः**=ये द्रोह की भावना से रहित होते हैं तथा **विश्वेषां मघोनाम्**=सब यज्ञशील पुरुषों में **सुदानवः**=खूब ही अधिक दानशील होते हैं। (२) उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके ये युवक ज्ञान के दृष्टिकोण से सूर्य की तरह चमकनेवाले आदित्य बनते हैं। मन के दृष्टिकोण से ये द्रोह की भावना से रहित होते हैं तथा खूब ही यज्ञों में दान की प्रवृत्तिवाले बनते हैं। मस्तिष्क में 'आदित्य', मन में 'अध्रुक्', हाथों में 'सुदानु' होते हैं।

भावार्थ–हम उत्तम माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में 'आदित्य, अध्रुक् व सुदानु' बनें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—आदित्यः॥ **छन्दः**—स्वराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वरुण, मित्र, अर्यमा

यूयं रा॑जानः॒ कं चि॑च्चर्षणीसहः क्षय॑न्तं॒ मानु॑षाँ॒ अनु॑।
व॒यं ते वो॒ वरु॑ण॒ मित्रार्य॑म॒न्त्स्यामेदृ॒तस्य॑ र॒थ्यः॑॥ ३५॥

(१) हे **वरुण**=निर्द्वेषता की देवते! **मित्र**=स्नेह की देवते! तथा **अर्यमन्**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि को नियन्त्रित करनेवाली देवते! **ते वयम्**=वे हम **वः**=आपके ही हों, आप तीनों की आराधना करनेवाले हों और **इत्**=निश्चय से **ऋतस्य**=यज्ञ आदि ऋत (ठीक) कर्मों के ही **रथ्यः**=प्रणेता **स्याम**=हों। (२) हे **यूयम्**=मित्र व अर्यमन्! आप सब **राजानः**=हमारे जीवनों को दीप्त बनानेवाले हो। **चर्षणीसहः**=हमारे शत्रुभूत मनुष्यों का पराभव करनेवाले हो। हम 'स्नेह, निर्द्वेषता व संयम' से शत्रुओं की शत्रुता को समाप्त करनेवाले बनते हैं। हे वरुण मित्र अर्यमन्! आप **मानुषान् क्षयन्तम्**=सब मनुष्यों को उत्तम निवास व गति देनेवाले, अर्थात् सब के हित में प्रवृत्त **कंचित्**=किसी विरल व्यक्ति के **अनु**=अनुकूल होते हो। कोई विरल पुरुष ही 'वरुण, मित्र व अर्यमा' की आराधना करता हुआ सब के हित में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ–हम 'निर्द्वेषता, स्नेह व संयम' के धारण करनेवाले बनकर यज्ञ आदि उत्तम कर्मों के प्रणेता हों। इनकी आराधना से शत्रुओं की शत्रुता को दूर करें। सब के हित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—त्रसदस्योर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

पौरुकुत्स्यः त्रसदस्युः

अदा॑न्मे पौरुकु॒त्स्यः प॑ञ्चा॒शतं॑ त्र॒सद॑स्युर्व॒धूना॑म्। मंहि॑ष्ठो अ॒र्यः सत्प॑तिः ॥ ३६ ॥

(१) **पौरुकुत्स्यः**=पुरुकुत्स का सन्तान, अर्थात् बड़ा पुरुकुत्सः=खूब ही वासनाओं का संहार करनेवाले (कुक्ष हिंसायाम्) **त्रसदस्युः**=दास्यव भावनाओं को भयभीत करनेवाले जिनके हृदयस्थ होने पर दास्यव भावनायें उत्पन्न ही नहीं होती वे प्रभु **मे**=मेरे लिये **वधूनाम्**=ज्ञान का वहन करनेवाली **पञ्चाशतम्**=(पञ्च, शतम्) शत वर्ष पर्यन्त ठीक कार्य करनेवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियों को **अदात्**=देते हैं। (२) ये प्रभु **मंहिष्ठः**=दातृतम हैं, सर्वोत्तम दाता हैं। **अर्यः**=स्वामी हैं। **सत्पतिः**=सब सत्कार्यों के रक्षक हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये वासनाओं के संहार के द्वारा शतवर्षपर्यन्त चलनेवाली पाँच ज्ञानवाहिनी ज्ञानेन्द्रियों को देते हैं। वस्तुतः यह प्रभु का महान् दान है। वे प्रभु ही स्वामी हैं, सब सत्कार्यों के रक्षक हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—त्रसदस्योर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—विराट् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'प्रयियु, वयियु, सुवास्तु'

उ॒त मे॑ प्र॒यियो॑र्व॒यियोः॑ सु॒वास्त्वा॒ अधि॒ तुग्व॑नि।
ति॒सृ॒णां स॑प्त॒तीनां॑ श्या॒वः प्र॑णे॒ता भु॑व॒द्वसु॒र्दिया॑नां॒ पतिः॑ ॥ ३७ ॥

(१) **उत**=और **मे**=मेरे लिये वे प्रभु **प्रयियोः**=जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धन के (प्रयायते अनेन) **प्रणेता**=प्राप्त करानेवाले हैं। **वयियोः**=(ऊयते येन) जिससे कर्म तन्तु का विस्तार किया जाता है उस ज्ञानरूप वस्त्र के **प्रणेता**=देनेवाले हैं। तथा **सुवास्त्वाः**=उत्तम शरीर गृह के देनेवाले हैं। वे **तिसृणाम्**=तीनों **सप्ततीनाम्**=सर्पणशील जीवन में निरन्तर बढ़नेवाले काम, क्रोध व लोभ के **अधि तुग्वनि**=आधिक्येन हिंसन के निमित्त प्रभु ही 'वयियु, सुवास्तु व प्रयियु' के देनेवाले हैं। वे कर्मतन्तु के विस्तारक ज्ञान को देकर प्रभु मुझे 'काम' से ऊपर उठाते हैं। उत्तम निवास के हेतुभूत इस शरीर गृह को देकर 'क्रोध' से दूर करते हैं तथा 'प्रयियु'=आवश्यक धन को देकर 'लोभ' से परे करते हैं। (२) वे प्रभु ही **श्यावः**=(श्यैङ् गतौ) सब कार्यों के संचालक हैं। **भुवद्वसुः**=सब वसुओं के भावयिता (उत्पादक) हैं तथा **दियानां पतिः**=दानशील पुरुषों के रक्षक हैं। प्रभु का इस प्रकार स्मरण करते हुए हम इन तीनों सप्ततियों का तीनों सर्पणशील 'काम-क्रोध-लोभ' का शमन कर सकें।

भावार्थ—प्रभु ही धन-कर्मतन्तु विस्तारक ज्ञान तथा उत्तम शरीर गृह को देकर हमें काम-क्रोध-लोभ से दूर करते हैं। हम प्रभु का इस रूप में स्मरण करें, कि प्रभु ही सब कार्यों के सञ्चालक, धनों के उत्पादक व दानों के स्वामी हैं।

अगले सूक्त में 'सोभरि' मरुतों का स्तवन करते हैं। मरुत् 'अध्यात्म' में प्राण हैं, 'अधिदैवत' रूप में ये वायु हैं, 'आधिभौतिक' क्षेत्र में ये सैनिक हैं—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—ककुबुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

स्थिरा चित् नमयिष्णवः

आ ग॑न्ता॒ मा रि॑षण्यत॒ प्रस्था॑वानो॒ माप॑ स्थाता समन्यवः। स्थि॒रा चि॑न्नमयिष्णवः ॥ १ ॥

(१) हे प्राणो! **आगन्त**=तुम हमें प्राप्त होवो। **मा रिषण्यत**=हमें किसी भी रोग आदि से हिंसित न होने दो। **प्रस्थावानः**=निरन्तर प्रस्थानवाले, निरन्तर गतिशील आप **मा अपस्थात**=हमारे से दूर मत होवो। **समन्यवः**=आप सब, प्राण, अपान, व्यान आदि भेद से अनेक रूपों में काम करनेवाले, **समन्यवः**=समानरूप से तेजस्वी होवो (spirit, mettle, courage)। (२) हे प्राणो! आप **स्थिरा चित्**=बड़े दृढ़मूल भी 'रोग व काम-क्रोध-लोभ' आदि शत्रुओं को **नमयिष्णवः**=झुका देनेवाले होवो। आपकी कार्यशक्ति से हम नीरोग बनें।

भावार्थ—प्राणशक्ति हमें नीरोग व शान्त जीवनवाला बनाती है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—सतः पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

वीडुपविभिः-सुदीतिभिः

वी॒ळु॒प॒विभि॑र्मरुत ऋभुक्षण॒ आ रु॑द्रासः सुदी॒तिभिः॑।
इ॒षा नो॑ अ॒द्या ग॑ता पुरुस्पृहो य॒ज्ञमा सो॑भरी॒यवः॑॥ २॥

(१) हे **ऋभुक्षणः**=(उरुभासमान निवासाः) खूब दीप्त निवासवाले, **रुद्रासः**=रोगों का द्रावण करनेवाले **मरुतः**=प्राणो! **वीडुपविभिः**=दृढ़ रथनेमियोंवाले **सुदीतिभिः**=उत्तम दीप्तियों से युक्त शरीररथों से **आगत**=हमें प्राप्त होवो। आपकी साधना से यह शरीररथ दृढ़ व दीप्तिमय बने। (२) हे **पुरुस्पृहः**=खूब ही स्पृहणीय, **सोभरीयवः**=मुझे सोभरि (=उत्तम भरणवाला) बनाने की कामनावाले मरुतो! **अद्य**=आज **नः यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ में **इषा**=उत्तम प्रेरणा के हेतु से **आगत**=प्राप्त होवो। आपकी साधना से ही तो हृदय की शुद्धि होने पर अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारे शरीर दृढ़ व दीप्त बनें। हमें इस जीवनयज्ञ में प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़े। तदनुसार कार्य करते हुए हम 'सोभरि' बनें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्राणों का 'उग्र शुष्म'

वि॒द्मा हि रु॒द्रिया॑णां॒ शुष्म॑मु॒ग्रं म॒रुतां॒ शिमी॑वताम्। विष्णो॑रे॒षस्य॑ मी॒ळ्हुषा॑म्॥ ३॥

(१) हम **रुद्रियाणाम्**=रोगों को दूर करनेवालों में उत्तम **शिमीवताम्**=प्रशस्त कर्मोंवाले प्राणों के **उग्रम्**=तेजस्वी **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को **हि**=निश्चय से **विद्म**=जानते हैं। प्राण रोगों को दूर करते हैं, हमें प्रशस्त कर्मों में प्रवृत्त करते हैं और शत्रु-शोषक तेज प्राप्त कराते हैं। (२) हम उन प्राणों के बल को जानते हैं, जो **एषस्यः**= अभ्येषणीय=चाहने योग्य **विष्णोः**=व्यापक रेतःकण रूप जलों के **मीढुषाम्**=शरीर में सेचन करनेवाले हैं। प्राणसाधना से शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है, ये रेतःकण शरीर में रुधिर के साथ सर्वत्र व्याप्त होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) रोग दूर होते हैं, (ख) प्रशस्त कर्मों को हम सिद्ध करते हैं, (ग) रेतःकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

शुभ्रखादयः-स्वभानवः

वि द्वी॒पानि॒ पाप॑त॒न्तिष्ठ॑द्दु॒च्छुनो॒भे यु॑जन्त॒ रोद॑सी।
प्र धन्वा॑न्यैरत शुभ्रखादयो॒ यदेज॑थ स्वभानवः॥ ४॥

(१) हे **शुभ्रखादयः**=चमकते हुए आयुधोंवाले, **स्वभानवः**=अपनी दीप्तिवाले, अर्थात् बिना वेश के स्वयं भी तेजस्विता से चमकनेवाले वीर सैनिको! **यद्**=जब **एजथ**=आप हिलते हो, गतिमय होते हो तो **द्वीपानि विपापतन्**=द्वीप के द्वीप हिल उठते हैं। **तिष्ठत्**=सब स्थान वृक्ष आदि **दुच्छुना**=बुरी तरह से हिल जाते हैं (शुन् To move)। ये सैनिक चलते हैं तो पृथिवी से उठी धूलि आकाश तक पहुँचती है। इस प्रकार ये सैनिक **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **युजन्त**=मिला-सा देते हैं। (२) हे सैनिको! आप **धन्वानि**=इन मरुस्थलों को **प्र ऐरत**=प्रकर्षेण गतिवाला करते हो। मरुस्थल अपने रेत को कहीं का कहीं पहुँचा देते हैं। सारा रेगिस्तान कम्पित-सा हो उठता है।

भावार्थ—दीप्त अस्त्रों से सुसज्जित, तेजस्विता से दीप्त सैनिक जब चलते हैं, तो सारा प्रदेश ही चल-सा पड़ता है, सब स्थावर चीजें हिल जाती हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—ककुबुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

सैनिकों की गति से भूमि का भी काँप उठना

अच्युता चिद्वो अज्मन्ना नानदति पर्वतासो वनस्पतिः। भूमिर्यामेषु रेजते॥ ५॥

(१) हे सैनिको! **वः**=आपके **अज्मन्**='संग्रामे गमने सति' संग्राम में गति के होने पर **अच्युता चित् पर्वतासः**=कभी न हिलनेवाले पर्वत भी तथा **वनस्पतिः**=सब वृक्ष **आनानदति**=हिल जाने पर शब्दायमान हो उठते हैं। (२) **यामेषु**=आपकी गतियों के होने पर **भूमिः**=सम्पूर्ण पृथिवी ही **रेजते**=काँप उठती है।

भावार्थ—सैनिकों की हलचल से पर्वत, वनस्पति व सारी भूमि ही शब्दायमान हो उठती है और हिल पड़ती है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—पादनिचृत्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

सैनिकों के लिये द्युलोक भी मार्ग छोड़ देता है

अमाय वो मरुतो यातवे द्यौर्जिहीत उत्तरा बृहत्।
यत्रा नरो देदिशते तनूष्वा त्वक्षांसि बाह्वोजसः॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**=सैनिको! **वः**=तुम्हारे **अमाय**=बल के लिये व **यातवे**=गति के लिये **द्यौः**=यह द्युलोक **बृहत्**=खूब ही **उत्तरा**=उद्गततर होकर **जिहीते**=गतिवाला होता है। मानो द्युलोक भी इन सैनिकों के लिये मार्ग छोड़ देता है। (२) यह वहाँ होता है, **यत्रा**=जहाँ कि **बाह्वोजसः**=बाहुओं में बलवाले, सबल भुजाओंवाले, **नरः**=आगे और आगे बढ़नेवाले ये सैनिक **तनुषू**=अपने शरीरों पर **त्वक्षांसि**=दीप्त आयुधों को **आदेदिशते**=आदिष्ट करते हैं, धारण करते हैं।

भावार्थ—अस्त्रों से सुसज्जित वीरों की सेना के चलने पर द्युलोक भी मानो उनके लिये मार्ग को छोड़ देता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—ककुबुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

वृषप्सवः-अह्रुतप्सवः

स्वधामनु श्रियं नरो महि त्वेषा अमवन्तो वृषप्सवः। वहन्ते अह्रुतप्सवः॥ ७॥

(१) **त्वेषाः** नरः=दीप्त आगे बढ़नेवाले सैनिक **स्वधां अनु**=आत्मधारण शक्ति के अनुसार **महि**=महान् **श्रियम्**=शोभा को **वहन्ते**=धारण करते हैं। ये अपने धारण के लिये किसी दूसरे पर

आश्रित नहीं होते। ये औरों का, सारे राष्ट्र का धारण करते हैं। (२) ये सैनिक **अमवन्तः**=बल सम्पन्न होते हैं। **वृषप्सवः**=शक्ति सिक्त रूपवाले होते हैं, बड़े तेजस्वी प्रतीत होते हैं। **अह्रुतप्सवः**=अकुटिलरूप होते हैं, छल-छिद्र की भावना से रहित होते हुए शुद्ध हृदय से देश के रक्षक होते हैं। अपने स्वार्थ के लिये कभी देश-द्रोह नहीं करते है।

भावार्थ—सैनिकों की शोभा अद्भुत ही होती है। ये बलवान् तेजस्वी व निश्छल वृत्ति से देश की सेवा करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

गोभिः वाणः अज्यते (इषे, भुजे, स्परसे)

गोभि॑र्वा॒णो अ॑ज्यते॒ सोभ॑रीणां॒ रथे॒ कोशे॑ हिर॒ण्यये॑।
गोब॑न्धवः सुजा॒तास॑ इ॒षे भु॒जे म॒हान्तो॑ नः॒ स्पर॑से॒ नु॥ ८॥

(१) **सोभरीणाम्**=उत्तमता से अपने 'शरीर, मन व बुद्धि' का भरण करनेवालों के **रथे**=इस शरीररथ में **हिरण्यये कोशे**=ज्योतिर्मय कोश में, ज्ञानोज्ज्वल हृदयदेश में **गोभिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वाणः**=उस प्रभु की वाणी **अज्यते**=प्रकट होती है। इन वेद-वाणियों का स्वाध्याय प्रभु की वाणी के सुनने में सहायक होता है। (२) **गोबन्धवः**=ज्ञान की वाणियों को हमारे साथ बाँधनेवाले, **सुजातासः**=उत्तम विकासवाले, **महान्तः**=महनीय, ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राण हमारे जीवनों में **इषे**=प्रभु-प्रेरणा को सुनने के लिये होते हैं, ये **भुजे**=हमारे पालन के लिये होते हैं और **नु**=निश्चय से **नः**=हमारे **स्परसे**=(प्रीत्यै बलाय च) बलवर्धन व प्रीति के लिये होते हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय हृदयदेश में प्रभु की वाणी के सुनने में सहायक होता है। प्राणसाधना से हृदय में प्रेरणा सुनाई पड़ती है, शरीर का पालन ठीक से होता है तथा बल व प्रीति का अनुभव होता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

हव्य पदार्थों का सेवन व प्राणवर्धन

प्रति॑ वो वृषदञ्जयो॒ वृष्णे॒ शर्धा॑य॒ मारु॑ताय भरध्वम्। ह॒व्या वृष॑प्रयाव्णे॥ ९॥

(१) हे **वृषदञ्जयः**=सुखों के वर्षक सोम से अपने को सिक्त करनेवाले साधको! आप **वः**=तुम्हारे **वृष्णे**=शक्ति का सेचन करनेवाले, **वृषप्रयाव्णे**=शक्तिशाली गतियोंवाले **मारुताय शर्धाय**=इन प्राणों के बल के लिये **हव्या**=हव्य पदार्थों को **प्रतिभरध्वम्**=प्रतिदिन धारण करनेवाले होवो। (२) हव्य पदार्थों का सेवन ही प्राण शक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। साधित हुए-हुए ये प्राण शरीर में शक्ति का सेचन करते हैं। और हमारी सब गतियों को शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—हम हव्य पदार्थों का सेवन करते हुए अपने में प्राणों की शक्ति का भरण करें। ये प्राण हमारी क्रियाओं को शक्ति सम्पन्न करेंगे।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—सतःपङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'वृषणश्व-वृषप्सु-वृषनाभि' रथ

वृ॒ष॒ण॒श्वेन॑ मरुतो॒ वृष॑प्सुना॒ रथे॑न॒ वृष॑नाभिना।
आ श्ये॒नासो॒ न प॒क्षिणो॒ वृथा॑ नरो ह॒व्या नो॑ वी॒तये॑ गत॥ १०॥

(१) हे **नरः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **मरुतः**=प्राणो! आप **रथेन**=उस शरीर रथ के हेतु से **नः**=हमारे इन **हव्या**=हव्य पदार्थों के **वीतये**=भक्षण के लिये **वृथा**=अनायास ही **आगत**=प्राप्त होवो। **न**=जिस प्रकार **पक्षिणः**=उत्तम पँखोंवाले **श्येनासः**=श्येन (बाज) पक्षी प्राप्त होते हैं। श्येन चिड़िया आदि का शिकार करते हैं और ये प्राण रोगों का। (२) प्राण रोगों को समाप्त करके हमें उस शरीररथ से युक्त करते हैं जो **वृषणश्वेन**=शक्तिशाली इन्द्रियाश्वोंवाला है, **वृषप्सुना**=तेजस्वी रूपवाला है तथा **वृषनाभिना**=शक्तिशाली नाभिवाला है, जिसमें सब नाड़ियों का बन्धन-स्थान बड़ा दृढ़ है।

भावार्थ—प्राणशक्ति के वर्धन के लिये हव्य पदार्थों का सेवन करने पर हमारा शरीररथ शक्तिशाली इन्द्रियाश्वोंवाला, तेजरूपवाला व शक्तिशाली नाड़ी-बन्धनवाला बनता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

वीर सैनिकों का समान वेष (uniform)

समानमञ्ज्येषां वि भ्राजन्ते रुक्मासो अधि बाहुषु। दविद्युतत्यृष्टयः॥ ११॥

(१) **ऐषाम्**=इन वीर सैनिकों का **अञ्जि**=रूप व्यञ्जक पोशाक **समानम्**=समान है। सब समान वेष को धारण किये हुए हैं (uniform)। इन की **बाहुषु अधि**=भुजाओं पर **रुक्मासः**=सोने के बने दीप्त अंगद (भूषणविशेष व पदक) **विभ्राजन्ते**=विशेषरूप से चमक रहे हैं। (२) इन के हाथों में **ऋष्टयः**=शत्रु-नाशक अस्त्र **दविद्युतति**=चमकते हैं। इन की चमक शत्रुओं की आँखों को चुँधियानेवाली होती है।

भावार्थ—वीर सेनानी समान वेष में खूब ही रोबीले प्रतीत होते हैं। इन की भुजाओं पर स्वर्ण के पदक तथा हाथों में शत्रु-नाशक अस्त्र इन की दीप्ति को बढ़ानेवाले होते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—पादनिचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

वीर सैनिक व देश की श्री का वर्धन

त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो नकिष्टनूषु येतिरे।
स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु वोऽनीकेष्वधि श्रियः॥ १२॥

(१) **ते**=वे युद्धभूमि में प्राणों को त्यागनेवाले सैनिक **उग्रासः**=बड़े उद्गूर्ण बलवाले, बढ़े हुए बलवाले हैं। **वृषणः**=शक्तिशाली हैं। **उग्रबाहवः**=बड़ी तेजस्वी भुजाओंवाले हैं। ये **तानूषु**=अपने शरीरों के रक्षक के विषय में **नकिः येतिरे**=कभी प्रयत्न नहीं करते। अपने सबल शरीरों को देश के लिये आहुत करने के लिये ये तैयार पर तैयार होते हैं। (२) इनके **रथेषु**=रथों पर **स्थिरा धन्वानि**=दृढ़ धनुष व **आयुध**=अन्य युद्ध के अस्त्र होते हैं। वस्तुतः हे सैनिको! **वः**=आपके **अनीकेषु अधि**=सेनाओं के अग्रभागों में ही **श्रियः**=राष्ट्र की सब सम्पत्तियों का निवास है।

भावार्थ—तेजस्वी सैनिक देशरक्षा के लिये प्राणत्याग करते हुए भयभीत नहीं होते। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रथों पर आरूढ़ होकर शत्रु-विजय करते हुए ये देश की 'श्री' की अभिवृद्धि का कारण बनते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'सप्रथः त्वेषं' नाम

येषामर्णो न सप्रथो नाम त्वेषं शश्वतामेकमिद्भुजे। वयो न पित्र्यं सहः॥ १३॥

(१) **येषाम्**=जिन **शश्वताम्**=(शश ह्रुतगतौ) तीव्र गतिवाले मरुतों (सैनिकों) का **त्वेषम्**=दीप्त **नाम**=शत्रुओं को नमानेवाला बल **अर्णः न**= समुद्र जल के समान **सप्रथः**=विस्तार से युक्त है, विस्तार से ही क्या युक्त है? **एकं इत्**=अद्वितीय ही है। यह बल **भुजे**=राष्ट्र के पालन के लिये होता है। (२) **वयः न**=आयुष्य की तरह **सहः**=इनका शत्रुमर्षक बल **पित्र्यम्**=पिता के कार्य के करने में उत्तम होता है, अर्थात् इन सैनिकों का आयुष्य व बल राष्ट्ररक्षण में ही विनियुक्त होता है पिता जैसे परिवार का रक्षण करता है, इसी प्रकार ये सैनिक अपने जीवन व बल से राष्ट्र का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—तीव्र गतिवाले सैनिकों का बल विस्तृत व दीप्त होता है। यह राष्ट्र रक्षण में विनियुक्त होता है। इनका आयुष्य व बल राष्ट्र के लिये वही काम करता है, जो पिता परिवार के लिये किया करता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिक्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

सैनिकों का समादर

तान्वन्दस्व मरुतस्ताँ उप स्तुहि तेषां हि धुनीनाम्।
अराणां न चरमस्तदेषां दाना मह्ना तदेषाम्॥ १४॥

(१) **तान मरुतः**=गत मन्त्र में वर्णित राष्ट्र रक्षक वीर सैनिकों का **वन्दस्व**=तू वन्दन कर। **तान् उपस्तु हि**=उनकी स्तुति कर, इनकी उचित प्रशंसा का हम गायन करें। **धुनीनां तेषां हि**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले उन सैनिकों में निश्चय से, **चरमः न**=कोई पिछला नहीं, सब एक से एक बढ़ करके हैं। **अराणां (न)**=जिस प्रकार चक्र में लगे दण्ड सब समान ही होते हैं, कोई पहला व कोई पिछला नहीं होता। इसी प्रकार ये सैनिक सब एक दूसरे से बढ़कर के हैं। (२) वस्तुतः राष्ट्र में जो भी उन्नति व शान्ति दिखती है, **तद्**=यह सब **एषां दाना**=इनके (दाप लवने) शत्रु-खण्डनात्मक कार्य के द्वारा ही होती है। यह राष्ट्र जो भी दिखता है, **तद्**=वह सब **एषाम्**=इनकी **मह्ना**=महिमा से ही दिखता है। राष्ट्र की सब उन्नति के मूल में ये राष्ट्र रक्षक मरुत् ही होते हैं।

भावार्थ—हम सैनिकों का वन्दन करें, इनकी उचित प्रशंसा करें। इन शत्रु-कम्पक सैनिकों में सब एक दूसरे से बढ़कर हैं। राष्ट्र की सब उन्नति के मूल में इनका ही शत्रु-खण्डनात्मक कार्य है, इनकी महिमा से राष्ट्र खड़ा है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

प्राणसाधना व सुभगता

सुभगः स व ऊतिष्वास पूर्वासु मरुतो व्युष्टिषु। यो वा नूनमुतासति॥ १५॥

(१) हे **मरुतः**=शरीरस्थ प्राणो! जो मनुष्य **पूर्वासु व्युष्टिषु**=जीवन के प्रारम्भिक (व्युष्टि= Day-break) प्रातःकालों में, अर्थात् आयुष्य के प्रथम वर्षों में, **वः**=आपके **ऊतिषु**=रक्षणों में **आस**=रहता है व वीर्य रक्षण द्वारा दीप्ति को प्राप्त करता है (अस दीप्तौ), **सः**=वह पुरुष **सुभगः**= उत्तम भाग्यवाला होता है। (२) **उत**=और **यः**=जो **वा**=निश्चय से **नूनम्**=अब भी जीवन के माध्यन्दिन सवन व तृतीय सवन में भी आपके रक्षणों में **असति**=रहता है, वह अतिशयेन सौभाग्यवान् होता है। प्राणसाधना ही तो वीर्य की ऊर्ध्वगति का कारण बनती है। इसी से मनुष्य सब सौभाग्यों का आश्रय स्थान होता है।

भावार्थ—हम जीवन के प्रातःकाल में ही प्राणों की साधना करते हुए वीर्य की ऊर्ध्वगति के द्वारा जीवन में सौभाग्य सम्पन्न बनें। जीवन के मध्याह्न व सायंकाल में भी यह प्राणसाधना व वीर्यरक्षण का हेतु बने।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—सतः पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

द्युम्न-वाज-सुम्न

यस्य॑ वा यू॒यं प्रति॑ वाजिनो नर॒ आ ह॒व्या वी॒तये॑ ग॒थ।
अ॒भि ष द्यु॒म्नैरु॒त वाज॑सातिभिः सु॒म्ना वो॑ धूतयो नशत्॥ १६॥

(१) हे **वाजिनः**=शक्तिशाली **नरः**=उन्नतिपथ पर हमें ले चलनेवाले प्राणो! **यस्य**=जिस भी मनुष्य के **न**=निश्चय से **हव्य**=हव्य पदार्थों को ही **वीतये**=खाने के लिये **यूयम्**=आप **प्रति आगथ**=प्रतिदिन प्राप्त होते हो। अर्थात् जो मनुष्य सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करता हुआ आपका वर्धन करता है **सः**=वह **वा**=आपकी **द्युम्नैः**=ज्ञान-ज्योतियों से **अभिनशत्**=व्याप्त होता है। (२) **उत**=और वह पुरुष **वाजसातिभिः**=शक्तियों के सम्भजन से युक्त होता है। हे **धूतयः**=शत्रुओं से कम्पित करनेवाले प्राणो! रोगों व वासनाओं को नष्ट करनेवाले प्राणो! यह व्यक्ति **वः**=आपके **सुम्ना**=सब सुखों व रक्षणों को **नशत्**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के साथ सात्त्विक भोजन को अपनायें, तो ज्ञान शक्ति व सब सुखों को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'रुद्रस्य सूनवः-युवानः' (मरुतः)

यथा॑ रु॒द्रस्य॑ सू॒नवो॑ दि॒वो वश॒न्त्यसु॑रस्य वे॒धसः॑। युवा॑न॒स्तथेद॑सत्॥ १७॥

(१) **यथा**=जैसे **रुद्रस्य सूनवः**=रोगों के द्रावयिता के पुत्र, अर्थात् खूब ही रोगों का द्रावण करनेवाले, प्राण **वशन्ति**=चाहते हैं, **इत्**=निश्चय से तथा **असत्**=वैसा ही हो जाता है। अर्थात् शरीर में शासन प्राणों का है। (२) ये प्राण **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के तथा **असुरस्य**=(असून् एति) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले सोम के **वेधसः**=(विधातारः) कर्ता हैं। इन प्राणों ने ही शक्ति की ऊर्ध्वगति करनी है, तथा उस सुरक्षित सोम को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करना है। और इस प्रकार ये प्राण **युवानः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) सब बुराइयों को पृथक् करनेवाले व सब अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं।

भावार्थ—शरीर में प्राण रोगों को दूर भगानेवाले, ज्ञान व सोम के कर्ता तथा सब बुराइयों को दूर करके सब अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

वस्यसा हृदा (उप आववृध्वम्)

ये चार्ह॑न्ति म॒रुतः॑ सु॒दान॑वः॒ स्मन्मी॒ळ्हुष॒श्चर॑न्ति॒ ये।
अत॑श्चि॒दा न॒ उप॒ वस्य॑सा हृ॒दा युवा॑न॒ आ व॑वृध्वम्॥ १८॥

(१) **ये**=जो **सुदानवः**=उत्तम दानशील पुरुष अथवा वासनाओं का छेदन करनेवाले पुरुष (दाप् लवने) **मरुतः**=इन प्राणों का **अर्हन्ति**=पूजन करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं। **च**=और **ये**=जो **स्मत्**=प्रशस्त रूप से **मीढुषः**=शरीर में शक्ति का सेचन करनेवाले प्राणों को

चरन्ति=उत्तम हवियों से पूजित करते हैं, अर्थात् प्राणवर्धक हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हैं। **अतः**=सो **चित्**=निश्चय से **नः**=हम दोनों, प्राणसाधना द्वारा पूजन करनेवाले तथा हव्य पदार्थों के सेवन से प्राणवर्धन करनेवाले, लोगों को **आ**=लक्ष्य करके **वस्यसा**=वसुमत्तम, अतिशयेन वसुओंवाले, **हृदा**=हृदय से **उप आववृध्वम्**=(उपेत्य अभिसंभजत) प्राप्त होवो। अर्थात् हमें अतिशयेन उत्तम हृदय प्राप्त कराओ। हमारा हृदय वासनाओं से शून्य होकर दिव्य गुणों का निवास-स्थान बने। (२) **युवानः**=हे प्राणो! आप सब बुराइयों को पृथक् करनेवाले व अच्छाइयों को मिलानेवाले हो। इस प्रकार आप ही हमारे हृदयों को पवित्र बनाते हो।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों, हव्य पदार्थों के सेवन से प्राणशक्ति को बढ़ायें। ये प्राण हमें प्रशस्त हृदय प्राप्त करायेंगे। ये सब बुराइयों को दूर करनेवाले व अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—ककुबुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'युवा-वृषा-पावक' प्राण

यूनं ऊ षु नविष्ठया वृष्णः पावकाँ अभि सोभरे गिरा। गाय गाइव चर्कृषत्॥ १९॥

(१) हे **सोभरे**=अपना उत्तम प्रकार से भरण करनेवाले! तू **उ**=निश्चय से **यूनः**=बुराइयों को दूर करनेवाले और अच्छाइयों का मेल करनेवाले (यु मिश्रणामिश्रणयोः), इसी उद्देश्य से **वृष्णः**=शक्ति का शरीर में सेचन करनेवाले **पावकान्**=जीवनों को पवित्र करनेवाले प्राणों को **सुनविष्ठया**=अतिशयेन स्तुत्य **गिरा**=वाणी से **अभिगाय**=स्तुत कर। प्राणों के महत्त्व का स्मरण कर। (२) उसी प्रकार तू प्राणों का गायन कर, **इव**=जैसे **चर्कृषत्**=खेती करता हुआ व्यक्ति (यूनः वृष्णः) **गाः**=युवा शक्तिशाली बैलों का शंसन करता है। इन बैलों के द्वारा उसका खेती का कार्य सुचारुरूपेण चलता है, इसी प्रकार युवा-वृषा-पावक प्राणों के द्वारा शरीर क्षेत्र का कार्य चला करता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के द्वारा प्राणों को शक्तिशाली बनायें। ये प्राण हमारे जीवनों से सब बुराइयों को दूर करके उन्हें पवित्र बनायेंगे।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—मरुतः ॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

'वृषा-चन्द्र-सुश्रवस्तम' मरुत् (सैनिक)

साहा ये सन्ति मुष्टिहेव हव्यो विश्वासु पृत्सु होतृषु।
वृष्णश्चन्द्रान्न सुश्रवस्तमान् गिरा वन्दस्व मरुतो अह॥ २०॥

(१) **ये**=जो (मरुतः) सैनिक **साहाः**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले **सन्ति**=हैं। **विश्वासु**=सब **होतृषु**=आह्वानशील (जिन में एक दूसरे को ललकारा जा रहा है, ऐसे **पृत्सु**=संग्रामों में **मुष्टिहा इव**=एक मल्ल की तरह (मुक्के के प्रहार से मारनेवाले की तरह) **हव्यः**=पुकारने योग्य होते हैं। संग्रामों में इन शत्रुमर्षक सैनिकों ने ही तो विजय प्राप्त करनी होती है। (२) इन **वृष्णः**=शक्तिशाली **चन्द्रान् न**=(न=इव) जैसे आह्लादमय हैं, प्रसन्नता से युक्त हैं उसी प्रकार **सुश्रवस्तमान्**=अतिशयेन कीर्ति से सम्पन्न **मरुतः**=सैनिकों को **अह**=निश्चय से **वन्दस्व**=वन्दित कर। इन वीर सैनिकों को उचित आदर दिया जाये। ये वीर सैनिक शक्तिशाली होते हुए प्रसन्नता पूर्वक युद्धों में प्राणत्याग के लिये उद्यत रहते हैं। इन्हें सन्मान मिलना ही चाहिये।

भावार्थ—युद्ध के समय सैनिकों की ही पुकार होती है। इन शक्तिशाली प्रसन्न मनवाले कीर्ति-सम्पन्न सैनिकों का हमें समादर करना आवश्यक है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

समन्यवः-सबन्धवः

गावश्चिद्धा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः। रिहते ककुभो मिथः॥ २१॥

(१) **मरुतः**=एक राष्ट्र के सैनिक **चिद् घा**=निश्चय से **समन्यवः**=देश के शत्रुओं के प्रति रोष से भरे होते हैं। **गावः**=(गच्छन्ति) प्रचण्ड रोष में ये शत्रु के प्रति जानेवाले होते हैं। इस प्रचण्ड मन्यु के कारण ही इनके आक्रमण में प्रचण्डता आती है। (२) ये सैनिक **सजात्येन**=समान जातित्व (nationality) के कारण **सबन्धवः**=सबन्धु होते हैं, परस्पर बन्धुत्ववाले होते हैं। आपस में ये एक होकर अपना व्यापार करते हैं। (३) **मिथः**=परस्पर एकत्व के कारण ही ये **ककुभः रिहते**=दिशाओं को चाटनेवाले होते हैं (रिह आस्वादने) दिग्विजयी बनते हैं। शत्रुओं का उच्चाटन करते हुए ये दिशाओं के अन्त तक पहुँचते हैं।

भावार्थ—एक राष्ट्र के सैनिक शत्रु के प्रति रोषवाले होते हुए शत्रु पर आक्रमण करते हैं। ये एक जातीयता (भारतीयता आदि nationalities) के कारण परस्पर बन्धुत्व से पूर्ण होते हैं। इस एकता से सबल बनकर ये दिग्विजयी बनते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—सतः पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

नृतवः-रुक्मवक्षसः

मर्तश्चिद्वो नृतवो रुक्मवक्षस उप भ्रातृत्वमायति।
अधि नो गात मरुतः सदा हि व आपित्वमस्ति निध्रुवि॥ २२॥

(१) हे **रुक्मवक्षसः**=बाहुवों पर स्वर्ण के पदकों को धारण करनेवाले, वीरता के सूचक पदकों से युक्त भुजाओंवाले, **नृतवः**=रणांगण में नृत्य करनेवाले **मरुतः**=वीर सैनिको! **मर्तः चित्**=एक राष्ट्र का सामान्य मनुष्य भी **वः**=आपके **भ्रातृत्वम्**=भ्रातृत्व को **उपायति**=समीपता से प्राप्त होता है। आप एक सामान्य मनुष्य को भी रक्षित करने के लिये यत्नशील होते हो। (२) हे सैनिको! **नः**=हमारे लिये **अधिगात**=आधिक्येन गतिवाले होवो। **वः**=आपका **आपित्वम्**=बन्धुत्व **हि**=ही **सदा**=हमेशा **निध्रुवि**=राष्ट्र की ध्रुवता का कारण **अस्ति**=है। आपका यह बन्धुत्व ही राष्ट्र का रक्षक होता है।

भावार्थ—राष्ट्र के सैनिक राष्ट्र के प्रत्येक पुरुष में भ्रातृत्व को अनुभव करते हैं। इन सैनिकों का यह मित्रभाव ही राष्ट्र का रक्षण करता है। ये राष्ट्र रक्षण के लिये रणांगण में नृत्य करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—ककुबुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'मारुत भेषज'

मरुतो मारुतस्य न आ भेषजस्य वहता सुदानवः। यूयं सखायः सप्तयः॥ २३॥

(१) शरीर में प्राण ही सब रोगों का औषध हैं। ये ही सब रोगों का उच्छेद करनेवाले हैं। हे **सुदानवः**=उत्तमता से रोगों का दान (दाप् लवने) छेदन करनेवाले **मरुतः**=प्राणो! **नः**=हमारे लिये **मारुतस्य भेषजस्य**=इस प्राणसम्बन्धी औषध का **आवहत**=प्रापण करो। हमारे लिये इस मारुत औषध को प्राप्त कराओ। इस आपकी औषध ने ही तो सब रोगों को मारना है। (२) **यूयम्**=आप ही हमारे **सखायः**=सच्चे मित्र हैं, **सप्तयः**=शरीर की प्रत्येक नाड़ी में सर्पणशील हैं।

आपने ही सब मलों का उच्छेदन करके शोधन करना है।

भावार्थ—प्राण ही सब रोगों के मुख्य औषध हैं। प्राणशक्ति के अभाव हमें सब अन्य औषध व्यर्थ हैं। ये प्राण ही हमारे सखा हैं, शरीर में सर्वत्र संचारवाले हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'ज्ञान-नीरोगता-शक्ति-शत्रुराहित्य'

याभिः सिन्धुमवथ याभिस्तूर्वथ याभिर्दशस्यथा क्रिविम्।
मयो नो भूतोतिभिर्मयोभुवः शिवाभिरसचद्विषः॥ २४॥

(१) हे प्राणो! आप **याभिः**=जिन **ऊतिभिः**=रक्षणों से **सिन्धुम्**=ज्ञान के समुद्रभूत आचार्य का **अवथ**=रक्षण करते हो (तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे)। **याभिः**=जिन रक्षणों से सब रोगकृमियों का **तूर्वथ**=हिंसन करते हो। **याभिः**=जिन रक्षणों से **क्रिविम्**=क्रियाशील पुरुष को **दशस्यथ**=सब शक्तियों को प्राप्त कराते हो (प्राणसाधना के द्वारा क्रियाशीलता को बढ़ाकर होकर शक्ति की वृद्धि होती है) उन रक्षणों से **नः**=हमारे लिये **मयः**=कल्याण करें **भूत**=(भू प्राप्तौ, प्रापयत) प्राप्त कराओ। (२) हे प्राणो! आप **मयोभुवः**=सब कल्याणों के प्राप्त करानेवाले हो। और **शिवाभिः**=(उतिभिः) कल्याणकर रक्षणों के द्वारा **असचद्विषः**=(असक्तद्विषः) शत्रुओं को हमारे से पृथक् करनेवाले हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) ज्ञान की वृद्धि होती है, (ख) रोगरूप शत्रुओं का हिंसन होता है, (ग) क्रियाशीलता की वृद्धि होकर शक्ति की वृद्धि होती है, (घ) काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का हमारे साथ सम्बन्ध नहीं रहता।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'सिन्धु, असिक्नी, समुद्र व पर्वतों' का स्वास्थ्य

यत्सिन्धौ यदसिक्न्यां यत्समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः। यत्पर्वतेषु भेषजम्॥ २५॥

(१) **सिन्धौ**=रक्त-रुधिर की प्रवाहिका नाड़ियों के विषय में **यत्**=जो **भेषजम्**=औषध है, **असिक्न्याम्**=नीलरक्तवाहिनी नाड़ियों के विषय में **यत्**=जो (भेषजम्=) औषध है। **समुद्रेषु**=रक्त के सरोवर भूत हृदय-फुफ्फुस आदि के विषय में **यत्**=जो औषध है। और **यत्**=जो औषध **पर्वतेषु**=अस्थि पर्वरूप पर्वतों के विषय में है। वह सब औषध इस **सुबर्हिषः**=रोगों का खूब ही उद्बर्हण करनेवाले **मरुतः**=प्राणों का है ('मरुतः' षष्ठी लेनी है)। (२) 'सिन्धु, असिक्नी, समुद्र व पर्वतों' के दोषों को प्राण ही दूर कर पाते हैं। इनके लिये औषध इतने प्रभावजनक नहीं होते। प्राणसाधना के होने पर उभयविध नाड़ियों के, हृदय व फुप्फुस के तथा मेरुदण्ड आदि पर्वतों के दोष दूर हो जाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर नाड़ियां, फुफ्फुस व मेरुदण्ड आदि सब स्वस्थ रहते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

रोगशमन

विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा तेना नो अधि वोचत।
क्षमा रपो मरुत आतुरस्य न इष्कर्ता विह्रुतं पुनः॥ २६॥

(१) हे प्राणो! आप **विश्वं पश्यन्तः**=हमारे सब अंगों का ध्यान करते हुए **तनूषु**=शरीरों

में **आविभृथ**=समन्तात् सब शक्तियों का धारण करो। **तेन**=सब शक्तियों के धारण के द्वारा **नः**=हमारे लिये **अधिवोचत**=आधिक्येन ज्ञान का उपदेश करो। सब शक्तियों के ठीक होने पर ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व मस्तिष्क भी ठीक कार्य करेंगे और परिणामतः ज्ञानवृद्धि होगी ही। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! **आतुरस्य**=व्याधि पीड़ित अंग के **रपः**=दोष का **क्षमा**=(क्षरन्तिः) शमन हो। और **नः**=हमारे **विह्रुतम्**=कुटिल हुए-हुए अंग को **पुनः**=फिर **इष्कर्त**=(निःशेषेण सम्पूर्ण कुरुत) सम्पूर्ण करनेवाले होवो।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर प्राण शरीर के सब अंगों की शक्तियों को ठीक रखते हैं, हमारे ज्ञान का वर्धन करते हैं। रोग का शमन करते हैं। विकृत अंग को फिर से ठीक कर देते हैं।

अगले सूक्त में 'सोभरि काण्व' इन्द्र का स्तवन करते हैं—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'स्थूरं चित्रं' हवामहे

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः। वाजे चित्रं हवामहे॥ १॥

(१) हे **अपूर्व्य**=अद्भुत, अनुमय दिव्यगुणोंवाले प्रभो! **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **कच्चित्**=किसी **स्थूरं न**=दृढ़ आश्रय के समान **त्वाम्**=आपको **भरन्तः**=अपने में भरण करनेवाले होते हैं, आपका हम धारण करते हैं। आपका धारण ही हमारी शक्तियों व रक्षण का साधन बनता है। (२) **वाजे**=सब संग्रामों में **चित्रम्**=अद्भुत शक्ति-सम्पन्न आपको ही हम **हवामहे**=पुकारते हैं। आपके द्वारा ही शक्ति सम्पन्न होकर हम संग्रामों में विजयी बन पायेंगे।

भावार्थ—प्रभु ही इस संसार संघर्ष में हमारे दृढ़ आश्रय हैं। वे ही हमें संग्रामों में विजयी बनानेवाले हैं। उन अद्भुत शक्ति सम्पन्न प्रभु को हम पुकारते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'अवितारं' ववृमहे

उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम्॥ २॥

(१) हे प्रभो! **कर्मन्**=इन यज्ञादि कर्मों में **ऊतये**=रक्षण के लिये हम **त्वा उप**=आपके समीप प्राप्त होते हैं। **यः**=जो प्रभु **धृषत्**=शत्रुओं का धर्षण करते हैं, **सः**=वे **युवा**=बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले **उग्रः**=तेजस्वी प्रभु **नः**=हमें **चक्राम**=प्राप्त हों व उत्साहयुक्त करें। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण (पराभव) करनेवाले प्रभो! **अवितारम्**=रक्षक **त्वाम्**=आपको **इत् हि**=ही **ववृमहे**=हम वरते हैं। **सखायः**=सखा बनते हुए हम **सानसिम्**=सम्भजनीय आपको ही प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—हम रक्षण के लिये यज्ञादि कर्मों में प्रभु को ही प्राप्त होते हैं। वे शत्रुधर्षक तेजस्वी प्रभु ही हमें उत्साहयुक्त करते हैं। रक्षक प्रभु का ही हम वरण करते हैं। मित्र बनकर उस सम्भजनीय प्रभु का ही उपासन करते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अश्वपते-गोपते-उर्वरापते

आ याहीम इन्दवोऽश्वपते गोपत उर्वरापते। सोमं सोमपते पिब॥ ३॥

(१) प्रभो! **आयाहि**=आप हमें प्राप्त होइये। **इमे इन्दवः**=ये सोमकण हमारे शरीरों में उत्पन्न हुए-हुए हैं। हे **सोमपते**=सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! **सोमं पिब**=इस सोम का पान कीजिये। इस सोम का आपने ही तो रक्षण करना है। (२) हे **आश्वपते**=उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के रक्षक प्रभो! **उर्वरा**=नये-नये विचारों को सोचनेवाली उर्वरा बुद्धि के रक्षक प्रभो! आप ही सोमरक्षण द्वारा हमें उत्तम इन्द्रियों व बुद्धि को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आपने ही शरीर में सोम के उत्पादन की व्यवस्था की है। आप ही इसके रक्षण के द्वारा हमारे लिये उत्तम कर्मेन्द्रियों, उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व उर्वरा बुद्धि को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अबन्धवः बन्धुमन्तं (येमिम)

वयं हि त्वा बन्धुमन्तमबन्धवो विप्रास इन्द्र येमिम।
या ते धामानि वृषभ तेभिरा गहि विश्वेभिः सोमपीतये॥ ४॥

(१) **अबन्धवः**=अपने को विषय-वासनाओं में न बन्धने देनेवाले, **विप्रासः**=अपनी न्यूनताओं को दूर करके पूरण करनेवाले **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **बन्धुमन्तम्**=सारे संसार को अपने में बान्धनेवाले **त्वा**=आपको, हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **येमिम**=अपने साथ बाँधने का प्रयत्न करते हैं। हम आपको अपना बन्धु बनाने का प्रयत्न करते हैं। (२) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् प्रभो! **या**=जो **ते**=आपके **धामानि**=तेज हैं, **तेभिः विश्वेभिः**=उन सब तेजों से आप **सोमपीतये**=हमारे सोम-रक्षण के लिये **आगहि**=आइये। आपके बन्धुत्व में सोम का रक्षण करते हुए हम भी शक्ति-सम्पन्न बन पायें।

भावार्थ—हम विषय-वासनाओं से अबद्ध बनकर उस सबको नियम में बाँधनेवाले प्रभु को अपने साथ बान्धते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनते हैं और सोम का रक्षण कर पाते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—ककुबुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

सोम में आसीन होना

सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे। अभि त्वामिन्द्र नोनुमः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके इस **मधौ**=सब ओषधियों के सारभूत सोम में **सीदन्तः**=स्थित होते हुए, अर्थात् भोजन के रूप में ग्रहण किये हुए द्रव्यों के अन्तिम सार इस सोम (वीर्य) को सुरक्षित करते हुए, हम **त्वाम्**=आपको **अभिनोनुमः**=प्रातः-सायं खूब ही स्तुत करते हैं। आपका स्तवन ही तो हमें वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के योग्य बनाता है। (२) उस सोम में हम स्थित होते हैं, जो **गोश्रीते**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा परिपक्व होता है, अर्थात् स्वाध्याय के द्वारा शरीर में सुरक्षित रहकर जीवन का ठीक से परिपाक करनेवाला होता है। **मदिरे**=जो सोम मद व उल्लास का जनक है तथा **विवक्षणे**=हमारी विशिष्ट उन्नति का कारण बनता है (वक्ष To grow)। इस सोम में हम इस प्रकार स्थित हों, **यथा**=जैसे **वयः**=पक्षी वृक्ष पर स्थित होते हैं। यह सोम ही वस्तुतः हमारे जीवन का आधार है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम शरीर में उत्पन्न सोम को अपने जीवन का आधार बनाते हैं। इसके रक्षण के उद्देश्य से आपका स्तवन करते हैं, जिससे हम विनाशक वासनाओं से बचे रहें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

स्तवन द्वारा दीप्ति की प्राप्ति

अच्छा च त्वैना नमसा वदामसि किं मुहुश्चिद्वि दीधयः।
सन्ति कामासो हरिवो ददिष्ट्वं स्मो वयं सन्ति नो धियः॥ ६॥

(१) हे प्रभो! **त्वा**=आपके **अच्छ**=प्रति **एना नमसा**=इस नमन के द्वारा **वदामसि**=स्तुति-वचनों का उच्चारण करते हैं **च**=और **मुहुः चित्**=फिर भी आप **किं विदीधयः**=कुछ अद्भुत ही प्रकार से हमारे जीवनों में दीप्त करते हो। हम आपका स्तवन करते हैं, आप हमें दीप्त जीवनवाला बनाते हो। (२) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **कामासः सन्ति**=हमारी नाना प्रकार की कामनायें हैं और **त्वं ददिः**=आप सदा देनेवाले हैं, देना आपका स्वभाव ही है। इसलिए **वयं स्मः**=हम आपके सान्निध्य में हैं और **नः धियः सन्ति**=हमारी बुद्धियाँ हैं। आपकी समीपता से दूर होने पर ही बुद्धि का भ्रंश हुआ करता है। आपके समीप रहते हुए हम प्रशस्त बुद्धिवाले ही बने रहें।

भावार्थ—हम नम्रता से प्रभु का स्तवन करते हैं, प्रभु हमारे जीवनों को दीप्त बनाते हैं। प्रभु ही हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं। हम प्रभु के समीप रहते हैं, प्रभु हमें बुद्धि प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—ककुबुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

नवीन जीवन

नूत्ना इदिन्द्र ते वयमूती अभूम नहि नू ते अद्रिवः। विद्मा पुरा परीणसः॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपके **ऊती**=रक्षण के द्वारा **नूत्नाः इत्**=निश्चय से एकदम नवीन जीवनवाले ही **अभूम**=हो गये हैं। आपके रक्षण में सब वासनाओं से बचकर हम अपने जीवन को पवित्र व उज्ज्वल बना पाये हैं। (२) हे **अद्रिवः**=आदरणीय अथवा वज्रहस्त प्रभो! **पुरा**=पहले हम **परीणसः**=सर्वत्र व्याप्त-महान् **ते**=आपके विषय में **नहि नू**=नहीं ही **विद्म**=जानते थे। आज आपके रक्षण इस जीवन के अद्भुत परिवर्तन से हम आपकी महिमा का कुछ आभास पा सके हैं।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण से जीवन में एक नवीन पवित्रता व उज्ज्वलता आ जाती है। यह हमें प्रभु की महिमा का कुछ आभास कराती है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का 'सखित्वं-भोज्यम्'

विद्मा सखित्वमुत शूर भोज्य१मा ते ता वज्रिन्नीमहे।
उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो वाजे सुशिप्र गोमति॥ ८॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **ते सखित्वम्**=आपकी मित्रता को **उत**=तथा **भोज्यम्**=पालन के साधनभूत धन को **विद्म**=हम जानते हैं। हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! हम **ता**=उन सखित्व और धन को **आ ईमहे**=सर्वथा याचित करते हैं। आपके सखित्व और और धन

को प्राप्त करके ही हम जीवनयात्रा में सफलता से आगे बढ़ पायेंगे। (२) **उत**=और हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! हे **सुशिप्र**=शोभन शिरस्त्राणवाले प्रभो! ज्ञान के द्वारा मस्तिष्क का रक्षण करनेवाले प्रभो! आप **उ**=निश्चय से **समस्मिन्**=सब **गोमति वाजे**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बल में **नः**=हमें **आशिशीहि**=समन्तात् तीक्ष्ण कीजिये। हमें प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बल को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम प्रभु की मित्रता व पालक धन को प्राप्त करें। प्रभु हमें प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बल को दें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—ककुबुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

सब प्रशस्त वसुओं के प्रापक प्रभु

यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु वः स्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ९॥

(१) **यः**=जो प्रभु **नः**=हमारे लिये **इदं इदम्**=ये और ये सब दर्शनीयतया विद्यमान **वस्यः**=प्रशस्त वसुओं को **पुरा**=पहले **प्र आनिनाय**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हैं, **तम्**=उस **वः**=तुम्हारे प्रभु को **उ**=ही **स्तुषे**=स्तुत करता हूँ। (२) हे **सखायः**=मित्रो! मैं **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **ऊतये**=रक्षण के लिये स्तुत करता हूँ। ये प्रभु ही सब वसुओं को प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे लिये सब प्रशस्त वसुओं को प्राप्त कराते हैं। इन प्रभु का ही मैं स्तवन करता हूँ। यह स्तवन ही मेरे रक्षण का साधन हो जाता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

सच्चा स्तोता=सदा प्रसन्न

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम्॥ १०॥

(१) **हर्यश्वम्**=सब अज्ञानों व पापों का हरण करनेवाले (हरि) इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले, **सत्पतिम्**=श्रेष्ठ कर्मों के रक्षक, **चर्षणीसहम्**=शत्रुभूत मनुष्यों का पराभव करनेवाले प्रभु को **सः**=वह **हि**=ही (स्तुषे) **स्म**=स्तुत करता है ('स्तुषे' क्रिया गत मन्त्र से अनुवृत्त है) **यः**=जो **अमन्दत**=सदा प्रसन्न रहता है। प्रभु जिस भी स्थिति में रखें, उसी स्थिति में प्रसन्न रहना ही प्रभु का सच्चा स्तोता बनना है। (२) **सः मघवा**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **तु**=तो **नः स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिये **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त सुचारुरूपेण कार्य करनेवाले **गव्यम्**=ज्ञानेन्द्रिय समूह को तथा **अश्व्यम्**=कर्मेन्द्रिय समूह को **आवयति**=(प्रापयति) प्राप्त कराते हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा हमारा जीवन बड़ा सुन्दर बना रहता है, इन्हीं की ठीक स्थिति व क्रिया पर सम्पूर्ण सुख निर्भर है (सु+ख)।

भावार्थ—'हम सदा प्रसन्न रहें'। यही वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तवन है। प्रभु हमारे लिये सौ वर्ष तक चलनेवाले इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—ककुबुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु की मैत्री व सज्जन संग

त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ब्रुवीमहि। संस्थे जनस्य गोमतः॥ ११॥

(१) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् प्रभो! **त्वया युजा**=तुझ साथी के साथ **वयम्**=हम **हस्वित्**=निश्चय से **श्वसन्तम्**=हमारे सामने फुँकार मारते हुए 'काम-क्रोध' आदि शत्रुओं को **प्रति ब्रुवीमहि**=प्रत्याहूत करते हैं। ललकारते हुए शत्रुओं की ललकार को स्वीकार करते हैं। आप को साथी पाकर हम भयङ्कर से भयङ्कर शत्रु का सामना कर पाते हैं। (२) इस जीवन में **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **जनस्य**=व्यक्ति के **संस्थे**=समीप संस्थान में हम इन शत्रुओं को आहूत करते हैं। इन सज्जनों का संग हमें काम-क्रोध आदि को जीतने के लिये सतत प्रेरणा प्राप्त कराता है।

भावार्थ-प्रभु की मित्रता में व सज्जनों के संग में हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पादनिचृत्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

कारिणः-दूढ्यः (जयेम)

जयेम कारे पुरुहूत कारिणोऽभि तिष्ठेम दूढ्यः।
नृभिर्वृत्रं हन्याम शूशुयाम चावेरिन्द्र प्र णो धियः ॥ १२ ॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जाने योग्य प्रभो! हम आपकी सहायता से **कारिणः**=(कृ हिंसायाम्) हमारा हिंसन करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' आदि शत्रुओं को **कारे**=संग्राम में **जयेम**=जीतें। तथा **दूढ्यः**=दुर्बुद्धियों को भी **अभितिष्ठेम**=पराजित करनेवाले हों। (२) **नृभिः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणों के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **हन्याम**=नष्ट करें। **च**=और **शूशुयाम**=अपनी शक्तियों का वर्धन करें। हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः धियः**=हमारी बुद्धियों को **प्र अवेः**=प्रकर्षेण रक्षित करिये। क्रम यही है-(क) वासना-विनाश, (ख) शक्तिवर्धन, (ग) तथा बुद्धियों का विकास।

भावार्थ-हम प्रभु की उपासना से हिंसा करनेवाले काम-क्रोध-लोभ को तथा दुर्बुद्धियों को दूर कर पायें। वासना-विनाश के द्वारा हमारी शक्तियों का वर्धन हो तथा हम बुद्धि को सुरक्षित कर पायें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

युधा इत् आपित्वं इच्छसे

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि। युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **अभ्रातृव्यः**=शत्रुरहित **असि**=हैं। तथा **जनुषा**=पूर्णरूप से शक्तियों के प्रादुर्भाव के द्वारा **सनात्**=सदा से ही **अना**=अनेतृक व **अनापिः**=अबन्धु **असि**=हैं। आप सबके नेता हैं, आपका कोई और नेता नहीं। आपके समान शक्तियोंवाला कोई और नहीं, सो समानता के अभाव में आपका कोई बन्धु भी नहीं। (२) आप उपासकों के मित्र अवश्य होते हैं। परन्तु **युधा**=युद्ध के द्वारा **इत्**=ही **आपित्वम्**=मित्रभाव को **इच्छसे**=चाहते हैं। अर्थात् जब एक व्यक्ति 'काम-क्रोध-लोभ' आदि से युद्ध करता है, इन्हें जीतने का प्रयत्न करता है, तभी प्रभु इसके मित्र होते हैं। प्रभु जितनी पूर्णता कठिन है, परन्तु उस पूर्णता की ओर चलनेवाला ही प्रभु की मित्रता का पात्र होता है।

भावार्थ-प्रभु शत्रुरहित हैं। प्रभु का कोई नेता नहीं, वे सब के नेता हैं। समानता के द्वारा कोई प्रभु का बन्धु नहीं, प्रभु की बराबरी का नहीं। जो भी काम-क्रोध आदि से संघर्ष करता है वही प्रभु का मित्र बन पाता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सम्पत्ति विस्मारक है, विपत्ति स्मारक

नकीं रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे॥ १४॥

(१) हे प्रभो! आप **रेवन्तम्**=धनवान् को, यज्ञ आदि में धन का विनियोग न करनेवाले पुरुष को **सख्याय**=मित्रता के लिये **नकिः विन्दसे**=नहीं प्राप्त करते। ऐसे व्यक्ति के आप कभी मित्र नहीं होते। **ते**=वे **सुराश्वः**=(सुर ऐश्वर्ये) ऐश्वर्य से फूलनेवाले लोग **पीयन्ति**=अध्वर से विपरीत हिंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। खूब अभिमान में फूले हुए ये लोग प्रभु को भूल जाते हैं। (२) **यदा**=जब आप **नदनुं कृणोषि**=गर्जना करते हैं, अर्थात् जब जरा भूकम्प-सा आता है तो सब सम्पत्ति हिलती-सी प्रतीत होती है, तो आप **समूहसि**=(change, modify) उनके जीवन में परिर्वतन लाते हैं। **आत् इत्**=उस समय ही **पिता इव हूयसे**=पिता के समान आप पुकारे जाते हैं। वे धनी व्याकुलता के होने पर थोड़े परिवर्तित जीवनवाले होते हैं और प्रभु की ओर झुकाववाले हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु धनी के मित्र नहीं होते। ये धनी तो धन के मद में फूले हुए हिंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। जब कभी सम्पत्ति विनष्ट होने लगती है, तो ये व्याकुल होकर प्रभु की ओर झुकते हैं और पिता की तरह प्रभु को पुकारते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

अमाजुरः-मूरासः

मा ते अमाजुरो यथा मूरास इन्द्र सख्ये त्वावतः। नि षदाम सचा सुते॥ १५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **ते**=वे **अमाजुरः**=घर में ही जीर्ण हो जानेवाले **मा**=न हों **यथा**=जैसे **मूरासः**=सामान्यतः मूढ मनुष्य होते हैं। जीवन भर गृहस्थ के चक्कर में ही न पड़े रहें। अर्थात् पुत्रों के पालन व पोषण से निवृत्त होकर, सन्तान के सन्तान हो जाने पर निवृत्त हो जायें। (२) हमारी कामना तो यह है कि हम **त्वावतः**=आप जैसे की **सख्ये**=मित्रता में **निषदाम**=आसीन हों। आपकी उपासना करनेवाले बनें। **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सचा**=सदा आपके साथ मिलकर चलनेवाले हों। गृहस्थ से ऊपर उठकर वनस्थ हो सदा स्वाध्याय आदि में तत्पर रहकर आपके उपासक बनें।

भावार्थ—हम घर में ही जीर्ण हो जानेवाले मूढ़ न बनें। पुत्रों के पालन के बाद वनस्थ होकर प्रभु की मित्रता में आसीन होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

किसी ओर से माँगें

मा ते गोदत्र निरराम राधस इन्द्र मा ते गृहामहि।
दृळ्हा चिदर्यः प्र मृशाभ्या भर न ते दामान आदभे॥ १६॥

(१) हे **गोदत्र**=सब ज्ञान की वाणियों व इन्द्रियों को देनेवाले प्रभो! हम **ते राधसः**=आपके ऐश्वर्य से **मा मत निरराम**=(निर्गमाम) पृथक् हों, सदा आपसे ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले हों। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! ते होते हुए हम **मा गृहामहि**=औरों से लेनेवाले न हों। सदा

देनेवाले बनें, लेनेवाले नहीं। (२) **अर्यः**=स्वामी होते हुए आप **चित्**=निश्चय से **दृढा**=स्थिर ऐश्वर्यों को **प्रमृश**=हमारे लिये सोचिये। हमें ऐसा ज्ञान दीजिये कि हम स्थिर ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाले हों। **अभि आभर**=हमें इन ऐश्वर्यों से भर दीजिये। **ते**=आपकी **दामानः**=दान क्रियायें **न आदभे**=कभी हिंसित नहीं होती। आप से प्राप्त धनों को हम भी देनेवाले बनें।

भावार्थ—हमें सदा प्रभु के अनुग्रह से धन प्राप्त हो, हम कभी औरों से माँगें नहीं। हमारे धन स्थिर हों। प्रभु के दान के हम सदा पात्र बने रहें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—चित्रस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

इन्द्रः-सरस्वती

इन्द्रो वा घेदियन्मघं सरस्वती वा सुभगा ददिर्वसु। त्वं वा चित्र दाशुषे॥ १७॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **'वा घा इत्'**=ही निश्चय से **इयत् मघम्**=इतने धन को **ददिः**=देनेवाला होता है। **वा**=अथवा **सरस्वती**=यह ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **सुभगा**=हमारे लिये उत्तम ऐश्वर्यों का कारण बनती है। प्रभु की उपासना करते हुए जब हम ज्ञान के उपासक बनते हैं, तो हम ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। (२) हे **चित्र**=(चित्) ज्ञान के देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **वा ही दाशुषे**=इस आत्मसमर्पण करनेवाले मनुष्य के लिये **वसु**=निवास के लिये आवश्यक उत्तम धनों के **ददिः**=देनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, स्वाध्याय में प्रवृत्त हों। प्रभु हमारे लिये सब आवश्यक धनों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—चित्रस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

राजा-राजकाः

चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु।
पर्जन्यइव ततनद्धि वृष्ट्या सहस्रमयुता ददत्॥ १८॥

(१) **चित्रः**=यह ज्ञान के देनेवाला (चित्-र) प्रभु **इत्**=ही **राजा**=सब धनों का स्वामी है। **अन्यके**=इस प्रभु से अतिरिक्त **यके**=जो भी स्वामी हैं वे **सरस्वतीं अनु**=अपने-अपने ज्ञान के अनुपात में **राजकाः**=छोटे-छोटे राजा ही हैं। प्रभु की तुलना में मनुष्य का स्वामित्व क्या? यद्यपि मनुष्यों में अपने ज्ञान के अनुपात में कुछ 'राजत्व' होता है, परन्तु प्रभु की तुलना में वह राजत्व अत्यन्त तुच्छ होता है। (२) ये प्रभु तो **सहस्रं अयुता**=हजारों व लाखों को **ददत्**=देते हुए इस प्रकार मनुष्य को धनों से आच्छादित कर देते हैं, **इव**=जैसे **पर्जन्यः**=बादल **वृष्ट्या**=वृष्टि से **ततनत् हि**=सम्पूर्ण भूमि को फैला देता है। वृष्टि के होने पर सर्वत्र भूमि पर पानी ही पानी दृष्टिगोचर होने लगता है, इसी प्रकार प्रभु धन की वर्षा करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही राजा हैं और तो 'राजक' ही हैं (छोटे-छोटे राजा)। प्रभु हमें धनों से इस प्रकार आच्छादित कर देते हैं, जैसे मेघ वृष्टि से भूमि को।

अगले सूक्त में 'सोभरि' 'अश्विनौ'=प्राणापान का स्तवन करते हैं—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सुहवा रुद्रवर्तनी (अश्विना)

ओ त्यमह्व आ रथमद्या दंसिष्ठमूतये। यमश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी आ सूर्यायै तस्थथुः॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अद्य**=आज **त्यम्**=उस **आदंसिष्ठम्**=अत्यन्त दर्शनीय व उत्तम कर्मोंवाले **रथम्**=शरीररूप रथ को **उ**=ही **आ अह्वे**=सर्वथा पुकारता हूँ, **यम्**=जिस रथ पर आप **सूर्यायै**=सूर्य के लिये **आतस्थथुः**=स्थित होते हो। मुझे भी ऐसा शरीर-रथ मिले, जिसके द्वारा मैं शत्रुओं का संहार करता हुआ ज्ञान वृद्धि से ब्रह्म को प्राप्त होनेवाला बनूँ। (२) हे प्राणापानो! आप **सुहवा**=शोभनवालों का आह्वान करनेवाले हों, सब शुभों को शरीर में प्राप्त कराते हो। **रुद्रवर्तनी**=(रुत्+द्र+वर्तनि) आपका मार्ग सब रोगों का द्रावण करनेवाला है। सब रोगों को दूर भगाते हुए आप **ऊतये**=रक्षण के लिये होते हो।

भावार्थ–प्राणसाधना के द्वारा यह शरीर-रथ दर्शनीय व उत्तम कर्मोंवाला बनता है। प्राणापान इस शरीर में शोभनता का आह्वान करते हैं, रोगों को दूर करते हैं तथा सूर्यसम ज्ञान-ज्योति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

उत्तम शरीर-रथ

पूर्वापुषं सुहवं पुरुस्पृहं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम्।
सचनावन्तं सुमतिभिः सोभरे विद्वेषसमनेहसम्॥ २॥

(१) प्राणापान के उस शरीर-रथ को पुकारता हूँ (अह्वे) जो **पूर्वापुषम्**=सर्वप्रथम (पूर्व) पोषणवाला है। **सुहवम्**=शोभन चीजों के आह्वानवाला है। **पुरुस्पहम्**=बहुतों से स्पृहणीय है। **भुज्युम्**=उत्तम पालनवाला है **वाजेषु पूर्व्यम्**=सब शक्तियों में सर्वप्रथम स्थान में स्थित होनेवाला है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ शक्ति-सम्पन्न है। (२) उस शरीर-रथ को मैं पुकारता हूँ जो **रचनावन्तम्**=उत्तम भजनवाला है अथवा उत्तम प्रेमवाला है तथा **सुमतिभिः**=कल्याणी मतियों के द्वारा **विद्वेषसम्**=द्वेषशून्य है तथा **अनेहसम्**=सब प्रकार के पापों से रहित है। हे **सोभरे**=अपना उत्तम भरण करनेवाले ऋषे! तू ऐसे ही शरीर-रथ का स्तवन कर व ऐसे ही शरीर-रथ को प्राप्त करने के लिये यत्नशील हो।

भावार्थ–प्राणसाधना के द्वारा हमारा यह शरीर-रथ 'पुष्ट, शक्तिशाली, प्रभु-भजन व प्रेमवाला, सुमति सम्पन्न, द्वेषशून्य व निष्पाप' बने।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रभु-नमन व यज्ञशीलता

इह त्या पुरुभूतमा देवा नमोभिरश्विना।
अर्वाचीना स्ववसे करामहे गन्तारा दाशुषो गृहम्॥ ३॥

(१) **इह**=इस जीवन में हम **त्या**=उन **पुरु-भू-तमा**=अतिशयेन बहुत भी शत्रुओं का पराभव करनेवाले **देवा**=जीवन को प्रकाशमय बनानेवाले **अश्विना**=प्राणापानों को **नमोभिः**=प्रभु के प्रति नमनों के द्वारा **अर्वाचीना**=हमारे अभिमुख प्राप्त होनेवाला **करामहे**=करते हैं। ये प्राणापान ही **स्ववसे**=हमारे उत्तम रक्षण के लिये होते हैं। प्रभु का आराधन हमारी प्राणशक्ति के वर्धन में सहायक होता है। (२) ये प्राणापान **दाशुषः**=दाश्वान के, यज्ञशील पुरुष के **गृहम्**=शरीररूप गृह को **गन्तारा**=प्राप्त होनेवाले होते हैं। यज्ञशीलता भी प्राणापान की शक्ति की वृद्धि में सहायक है।

भावार्थ–हम प्रभु-नमन व यज्ञशीलता के द्वारा प्राणापान की शक्ति का वर्धन करें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—सतः पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

एक चक्र मस्तिष्क (द्योलोक) की ओर तो दूसरा शरीर (पृथिवी) की ओर

युवो रथस्य परि चक्रमीयत ईर्मान्यद्वामिषण्यति।
अस्माँ अच्छा सुमतिर्वां शुभस्पती आ धेनुरिव धावतु॥ ४॥

(१) हे अश्विनी देवो, प्राणापानो! **युवोः**=आपके **रथस्य**=इस शरीर-रथ का **चक्रम्**=एक चक्र तो **परि ईयते**=(द्यां) सुदूर मस्तिष्करूप द्युलोक में गतिवाला होता है। अर्थात् आप अपनी गति के द्वारा मस्तिष्करूप द्युलोक को बड़ा सुन्दर बनाते हो। **वाम्**=आपका **अन्यत्**=दूसरा चक्र **ईर्मा**=भुजाओं को **इषण्यति**=(गच्छति) जाता है। अर्थात् आप की दूसरी गति इस शरीर में भुजाओं की शक्ति का वर्धन करती है। प्राणसाधना से मस्तिष्क का ठीक रूप में विकास होकर प्रकाश की वृद्धि होती है और भुजाओं की शक्ति बढ़ती है। प्राणायाम से ज्ञान व बल दोनों का वर्धन होता है। (२) हे प्राणापानो! **शुभस्पती**=(शुभस्=उदक=रेतस्) आप शरीर में रेतःकण रूप जलों के रक्षक हो। और इस प्रकार **वाम्**=आपकी **सुमतिः**=कल्याणीमति रेतःकणों से प्रदीप्त हुई-हुई बुद्धि **अस्मान् अच्छा**=हमारी ओर इस प्रकार **आधावतु**=सर्वथा दौड़ती हुई प्राप्त हो, **इव**=जैसे **धेनुः**=नव प्रसूता गौ बछड़े की ओर आती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञान व बल का वर्धन होता है। प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होकर सुमति की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'त्रिबन्धुर-हिरण्याभीशु' रथ

रथो यो वां त्रिवन्धुरो हिरण्याभीशुरश्विना। परि द्यावापृथिवी भूषति श्रुतस्तेन नासत्या गतम्॥ ५॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यः**=जो **वाम्**=आपका **रथः**=शरीररूप रथ **त्रिबन्धुरः**=तीनों 'शरीर, मन व बुद्धि' के सौन्दर्यवाला है तथा **हिरण्याभीशुः**=ज्योतिर्मय मनरूप लगामवाला है, वह **द्यावापृथिवी**=इस मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा शरीररूप पृथिवी को **परिभूषति**=सर्वतः ज्ञान व शक्ति आदि से सुभूषित करता है। प्राणापान के द्वारा यह प्रभु से जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये दिया गया रथ सुन्दर ही सुन्दर बन जाता है। शरीर, मन व बुद्धि का सौन्दर्य प्राणसाधना पर ही निर्भर करता है। (२) हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! यह रथ **श्रुतः**=बुद्धि के द्वारा खूब ही ज्ञान-सम्पन्न बना है। **तेन**=उस रथ से **आगतम्**=आप हमें प्राप्त होइये। प्राणसाधना से यह शरीर-रथ सुन्दरतम बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में जहाँ किसी प्रकार का रोग नहीं रहता, मन सब मलों से रहित हो जाता है और बुद्धि सब कुण्ठाओं से ऊपर उठकर सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय का ग्रहण करती है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

यव का उत्पादन

दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः।
ता वामद्य सुमतिभिः शुभस्पती अश्विना प्र स्तुवीमहि॥ ६॥

(१) हे प्राणापानो! आप **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **पूर्व्यम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये

गये, अथवा पालन व पूरण में उत्तम ज्ञान को **दशस्यन्ता**=देते हुए, **दिवि**=इस ज्ञान के प्रकाश के निमित्त **यवम्**=यव को, जौ को **वृकेण**=हल के द्वारा **कर्षथः**=उपजाते हो। 'प्राणापानौ व्रीहियवौ दिवस्पुत्रौ अमर्त्यौ' 'यवे ह प्राण आहितः अपानो व्रीहिराहितः' आदि मन्त्र भागों में प्राणापान का व्रीहि व यव के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है। इन्हें दिवस्पुत्र कहा गया है। यहाँ यही बात 'दिव् के निमित्त यव की कृषि करने' के द्वारा कही गयी है। (२) **ता वाम्**=उन आपको हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अद्य**=आज **प्रस्तुवीमहि**=हम स्तुत करते हैं। आप सब दोषों को दूर करने के द्वारा **सुमतिभिः**=कल्याणी मतियों को उत्पन्न करते हुए **शुभस्पती**=(शुभस्=उदक=रेतस्) शरीर में रेतःकणों के रक्षक होते हो। वस्तुतः यव का भोजन भी रेतःकणों के रक्षण में सहायक होता है।

भावार्थ—प्राणापान विचारशील पुरुष के लिये प्रकृष्ट ज्ञान को प्राप्त कराते हैं। ये शरीर में शुभ विचारों की उत्पत्ति के द्वारा रेतःकणों को सुरक्षित करते हैं। प्राणसाधक के लिये यव-भोजन अनुकूल होता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—पथ्याबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

ऋत का मार्ग व बल वृद्धि

उप॑ नो वाजिनीवसू यातमृतस्य॑ पथिभिः। येभिस्तृक्षिं वृषणा त्रासदस्यवं महे क्षत्राय जिन्वथः॥ ७॥

(१) हे **वाजिनीवसू**=(वाजिनी=अन्न) अन्न ही है धन जिनका अथवा शक्तिरूप धनवाले (वाजिनं) प्राणापानो! आप **ऋतस्य पथिभिः**=ऋत के मार्गों के हेतु से **नः**=हमारे **उप यातम्**=समीप प्राप्त होवो। प्राणसाधना के द्वारा दोषों का दहन होकर मनुष्य ऋत के मार्ग को अपनानेवाला बनता है। (२) उन ऋत के मार्गों के हेतु से आप हमें प्राप्त होवो **येभिः**=जिन के द्वारा **तृक्षिम्**=इस गतिशील पुरुष को **त्रासदस्यवम्**=गतिशीलता के कारण सब बुराइयाँ जिससे भयभीत होकर दूर रहती हैं, इस पुरुष को, हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **महे क्षत्राय**=महान् बल के लिये **जिन्वथः**=प्रीणित करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से दोषों का दहन होकर मनुष्य ऋत के मार्ग पर चलता है। इस प्रकार ऋत के मार्ग पर चलने से उसके जीवन में महान् बल की वृद्धि होती है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'वृषणवसू' (प्राणापान)

अ॒यं वा॒मद्रि॑भिः सु॒तः सोमो॑ नरा वृषण्वसू। आ या॑तं सोम॑पीतये॒ पिब॑तं दा॒शुषो॑ गृ॒हे॥ ८॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले, **वृषण्वसू**=शक्ति रूप धनोंवाले प्राणापानो! **अद्रिभिः**=उपासकों के द्वारा **वाम्**=आपके लिये **अयम्**=यह **सोमः**=सोम **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। प्राणसाधना से सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है, और सुरक्षित सोम के द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन होता है। (२) हे प्राणापानो! आप **सोमपीतये**=इस सोम के रक्षण के लिये **आयातम्**=आइये, आपने ही तो इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति करनी है। **आपः दाशुषः**=दाश्वान् पुरुष के **गृहे**=घर में **पिबतम्**=इस सोम को पीनेवाले होइये। यह शरीर ही घर है। 'दाश्वान्' पुरुष वह है जिसका जीवन दानपूर्वक भोगवाला, अर्थात् यज्ञशील हो। यह पुरुष ही भोगवाद से ऊपर उठने के कारण सोम का रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त होंगे और दानशील बने रहेंगे, तो भोग वृत्ति से ऊपर उठने के कारण सोम का शरीर में रक्षण कर पायेंगे।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

पीवरीः इषः (हृदय में प्रभु प्रेरणा का योग)

आ हि रुहतमश्विना रथे कोशे हिरण्यये वृषण्वसू। युञ्जाथां पीवरीरिषः॥ ९॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **हि**=निश्चय से **रथे आरुहतम्**=इस शरीररूप रथ पर आरूढ़ होइये। अर्थात् इस शरीर में प्राणापान की साधना निरन्तर चले, यह प्राणापान का ही रथ बन जाये। (२) हे **वृषण्वसू**=शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! आप इस शरीर में **हिरण्यये कोशे**=ज्योतिर्मय मनोमय कोश में **पीवरीः**=(पावयितृणि सा०) पवित्रता को उत्पन्न करनेवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **युञ्जाथाम्**=जोड़नेवाले होइये। प्राणसाधना से पवित्र हुए-हुए हृदय में ही प्रभु-प्रेरणाओं के सुनने का सम्भव होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना को नियम से करें। प्राणसाधना से पवित्रीभूत हृदय में प्रभु प्रेरणा का श्रवण होता है। ये प्रेरणायें हमारे जीवनों को और पवित्र बनाती हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—सतः पंक्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

भिषज्यतं यद् आतुरम्

याभिः पक्थमवथो याभिरध्रिगुं याभिर्बभ्रुं विजोषसम्।
ताभिर्नो मक्षू तूयमश्विना गतं भिषज्यतं यदातुरम्॥ १०॥

(१) **याभिः**=जिन रक्षणों के द्वारा **पक्थम्**=ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले को आप **अवथः**=रक्षित करते हो। **याभिः**=जिन रक्षणों से **अध्रिगुम्**=अधृत गमनवाले, न्याय मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़नेवाले व्यक्ति का आप रक्षण करते हो। और **याभिः**=जिन रक्षणों से **बभ्रुम्**=भरण करनेवाले को पालन-पोषण करनेवाले को व **विजोषसम्**=विशिष्ट प्रीति से कर्त्तव्यों का सेवन करनेवाले को रक्षित करते हो। हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ताभिः**=उन रक्षणों के साथ **नः**=हमें **मक्षू**=शीघ्र, **तूयम्**=त्वरा के साथ **आगतम्**=प्राप्त होवो। प्राणापान ही वस्तुतः हमें 'पक्थ-अध्रिगु-बभ्रु व विजोषस' बनाते हैं। (२) हे प्राणापानो! आप हमें प्राप्त होवो और **यद्**=जो भी हमारा अंग-प्रत्यंग **आतुरम्**=रुग्ण हो, उसे **भिषज्यतम्**=चिकित्सित करो। प्राणापान ही सर्वमहान् वैद्य हैं, ये सब रोगों को दूर करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'परिपक्व ज्ञानवाले, न्याय मार्ग पर आगे बढ़नेवाले, ठीक से भरण-पोषण करनेवाले व प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य का सेवन करनेवाले' बनते हैं। ये प्राणापान सब रुग्ण अंगों को नीरोग बनाते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

वयं गीर्भिः विपन्यवः

यदध्रिगावो अध्रिगू इदा चिदह्नो अश्विना हवामहे। वयं गीर्भिर्विपन्यवः॥ ११॥

(१) **यद्**=जब **अध्रिगावः**=अधृतज्ञान की वाणियोंवाली, न रुकी हुई ज्ञान की वाणियोंवाले, नियमित रूप से स्वाध्याय में प्रवृत्त हम **अह्नः**=दिन के **इदा चित्**=इस समय **अध्रिगू**=अधृतगमनवाले, संग्राम में न रुकी हुई गतिवाले **अश्विना**=प्राणापानों को **हवामहे**=पुकारते हैं। अर्थात् स्वाध्याय आदि में विघातक शत्रुओं के काम-क्रोध-लोभ आदि के विजयार्थ हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं। (२) इस प्रकार प्राणसाधना में प्रवृत्त हुए-हुए **वयम्**=हम **गीर्भिः**=इन ज्ञान वाणियों के द्वारा **विपन्यवः**=विशिष्ट रूप से प्रभु-स्तवन करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तवन यही है

कि हम ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करें और उनके निर्देशानुसार अपना व्यवहार करें।

भावार्थ—हम नियमित रूप से स्वाध्यायशील हों। स्वाध्याय विरोधी शत्रुओं को प्राणसाधना द्वारा दूर करें। ज्ञान की वाणियों द्वारा ही प्रभु का स्तवन करें, इनके अनुसार अपना व्यवहार करें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

'हवं (विश्वासुं विश्ववार्यम्)' आयातम्

ताभिरा यातं वृषणोपं मे हवं विश्वप्सुं विश्ववार्यम्।
इषा मंहिष्ठा पुरुभूतमा नरा याभिः क्रिविं वावृधुस्ताभिरा गतम्॥ १२ ॥

(१) हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! आप **ताभिः**=उन रक्षणों के साथ **मे हवम्**=मेरी पुकार को सुनकर **उप आयातम्**=मुझे समीपता से प्राप्त होवो। यह पुकार (प्रार्थना) ही तो **विश्वप्सुम्**=सब सुन्दर रूपोंवाली व **विश्ववार्यम्**=सब वरणीय वस्तुओंवाली है। प्रार्थना से ही तो मैं सब अंग-प्रत्यंगों को सुरूप बना सकूँगा, यह प्रार्थना ही मेरे लिये सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाली होगी। (२) **इषा**=प्रभु प्रेरणा के द्वारा **नरा**=आप हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हो। इस प्रकार **मंहिष्ठा**=हमारे लिये सर्वमहान् दाता हो और **पुरुभूतमा**=अधिक से अधिक शत्रुओं का पराभव करनेवाले हो। हे प्राणापानो! **याभिः**=जिन रक्षणों से **क्रिविम्**=क्रियाशील व्यक्ति को **वावृधुः**=आप बढ़ाते हो **ताभिः**=उन रक्षणों से **आगतम्**=आप हमें प्राप्त होवो।

भावार्थ—मेरी प्रार्थना के साथ हे प्राणापानो! आप मुझे प्राप्त होवो। आप प्रार्थनाशील व क्रियाशील को प्राप्त होते ही हो।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

प्राणापान का स्तवन व इनके लिये याचना

ताविदा चिदहानां तावश्विना वन्दमान उपं ब्रुवे। ता ऊ नमोभिरीमहे॥ १३ ॥

(१) **अहानाम्**=दिनों के **इदा चित्**=इस समय में **तौ अश्विना**=उन शत्रुओं के पराभव करनेवाले (पुरु भूतमा) प्राणापान को **उपब्रुवे**=वर्णित करता हूँ। **वन्दमानः**=प्रभु वन्दना करता हुआ **तौ**=उनसे ही याचना करता हूँ। (२) **उ**=निश्चय से **नमोभिः**=प्रभु के प्रति नमन के साथ **तौ**=उन प्राणापान को ही माँगता हूँ। प्रभु से यही याचना करता हूँ कि मेरी प्राणापान शक्ति सदा वृद्धि को प्राप्त हो। इन प्राणापान ने ही तो मेरे 'शरीर, मन व बुद्धि' को अनातुर बनाना है।

भावार्थ—हम प्राणापान के गुणों का स्तवन करें। वन्दन व नमन करते हुए प्रभु से प्राणापान की ही याचना करें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

शुभस्पती-रुद्रवर्तनी (अश्विना)

ताविद्दोषा ता उषसि शुभस्पती ता यामन्रुद्रवर्तनी।
मा नो मर्ताय रिपवे वाजिनीवसू परो रुद्रावति ख्यतम्॥ १४ ॥

(१) **तौ इत्**=उन प्राणापान को ही **दोषा**=रात्रि में, **ता**=उनकी ही **उषसि**=उषा में याचना करता हूँ। **शुभस्पती**=रेतःकणरूप जलों के रक्षक **ता**=वे प्राणापान ही **यामन्**=इस जीवनमार्ग में **रुद्रवर्तनी**=रोगों के द्रावक मार्गवाले हैं, अर्थात् ये प्राणापान ही रोगों को दूर करनेवाले हैं। (२) हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनवाले **रुद्रौ**=रोगद्रावक प्राणापानो! आप **नः**=हमें **रिपवे**=हमारा

विदारण करनेवाले **मर्ताय**=मृत्यु के कारणभूत काम, क्रोध व लोभ के लिये **मा परः अतिख्यतम्**=परित्यक्त न कर दीजिये, इनके हमें वशीभूत मत होने दीजिये।

भावार्थ—प्राणापान रेतःकणों के रक्षण के द्वारा रोगों के द्रावक हैं। ये हमें काम-क्रोध आदि का शिकार नहीं होने देते।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः **देवता**—अश्विनौ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक् **स्वरः**—ऋषभः

सुग्म्याय सक्षणी (अश्विना)

आ सुग्म्याय सुग्म्यं प्राता रथेनाश्विना वा सक्षणी। हुवे पितेव सोभरी॥ १५॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **सुग्म्याय**=सुख के लिये **सक्षणी**=सेवनीय हो (To be associated weth)। आप **वा**=निश्चय से **रथेन**=इस शरीर-रथ के द्वारा हमारे जीवनों में **सुगम्यम्**=सुख को **आ प्रातः**=सर्वथा पूरित करते हो (प्रा पूरणे)। (२) **पिता इव हुवे**=पुत्र से पिता की तरह आप मेरे से पुकारे जाते हो। **सोभरी**=आप हमारा उसी प्रकार उत्तम भरण करनेवाले हो, जैसे पिता पुत्र का भरण करता है।

भावार्थ—प्राणापान का आराधन सुख प्राप्ति के लिये आवश्यक है। आराधित हुए-हुए प्राणापान हमारे जीवन को सुखी बनाते हैं। ये हमारे से इसी प्रकार पुकारने योग्य हैं, जैसे पुत्रों से पिता।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः **देवता**—अश्विनौ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः **स्वरः**—पञ्चमः

वृषणा-मदच्युता (अश्विना)

मनोजवसा वृषणा मदच्युता मक्षुंगमाभिरूतिभिः।
आरात्ताच्चिद्भूतमस्मे अवसे पूर्वीभिः पुरुभोजसा॥ १६॥

(१) हे प्राणापानो! आप **मनोजवसा**=मन के समान वेगवाले हो, मन के समान शक्तिशाली हो। **वृषणा**=हमारे शरीरों में शक्ति का सेचन करनेवाले हो। **मदच्युता**=अहंकाररूप शत्रु का विनाश करनेवाले हो, **पुरुभोजसा**=खूब ही पालन व पोषण करनेवाले हो। (२) आप **ऊतिभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा **अस्मे अवसे**=हमारे रक्षण के लिये **आरात्तात् चित्**=समीप ही **भूतम्**=होइये। उन रक्षणों के साथ हमारे समीप होइये जो **मक्षुंगमाभिः**=शीघ्र गतिवाले हैं तथा **पूर्वीभिः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं अथवा सर्वोत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—प्राणापान अतिशयित शक्तिवाले हैं। ये हमें शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं, परन्तु अहंकार वाला नहीं होने देते। इनके रक्षण हमें गतिशील व न्यूनताओं से रहित (पूर्वी) बनाते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः **देवता**—अश्विनौ **छन्दः**—उष्णिक् **स्वरः**—ऋषभः

मधुपातमा नरा (अश्विना)

आ नो अश्वावदश्विना वर्तिर्यासिष्टं मधुपातमा नरा। गोमद्दस्रा हिरण्यवत्॥ १७॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नः**=हमारे लिये **अश्वावदत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाले (अश्नुवते कर्मसु) **वर्तिः**=शरीर गृह को **आ यासिष्टम्**=सर्वथा प्राप्त कराओ। आप **मधुपातमा**=शरीर में अतिशयेन सोम (मधु) का रक्षण करनेवाले हैं और इस प्रकार **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। (२) हे **दस्रा**=सब दुःखों व दारिद्र्यों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आप हमारे लिये **गोमत्**=(गमयन्ति अर्थान्) प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले तथा **हिरण्यवत्**=(हिरण्यं वै

ज्योति:) ज्योतिर्मय ज्ञान की ज्योतिवाले शरीर गृह को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होकर सब प्रकार की उन्नति होती है। ये हमारे शरीर को 'उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व ज्ञान-ज्योति' वाला बनाते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

सुवीर्यम्-विश्वा वामानि

सुप्रावर्गं सुवीर्यं सुष्ठु वार्यमनाधृष्टं रक्षस्विना।
अस्मिन्ना वामायाने वाजिनीवसू विश्वा वामानि धीमहि॥ १८॥

(१) **अस्मिन्**=इस **वाम्**=आपके **आयाने**=आने पर हम **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य का **धीमहिः**=धारण करें। जो **सुप्रावर्गम्**=सम्यक् शत्रुओं का वर्जन करनेवाला है। **सुष्ठु**=अच्छी प्रकार **वार्यम्**=वरने के योग्य है। रक्षस्विना **अनाधृष्टम्**=प्रबल राक्षसी भावों से भी न धर्षणीय है। (२) हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनवाले प्राणापानो! हम आपके आने पर **विश्वाः**=सब **वामानि**=सुन्दर वस्तुओं को (आधीमहि)=सर्वथा धारण करनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम उत्तम वीर्य (शक्ति) तथा सब सुन्दर वस्तुओं को धारण करनेवाले बनें।

यह सुवीर्य को धारण करनेवाला व्यक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट इन्द्रियरूप अश्वोंवाला बनता है, सो 'वैयश्व' कहलाता है। सबके प्रति सह अनुभूति (sympathy) वाला होने से यह 'विश्वमनाः' नामवाला होता है। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु का स्मरण करता हुआ कहता है कि—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रतीव्यं ईडिष्व

ईळिष्वा हि प्रतीव्यं॒ यज॑स्व जा॒तवे॑दसम्। च॒रि॒ष्णुधू॑म॒मगृ॑भीतशोचिषम्॥ १॥

(१) उस प्रभु का तू **ईडिष्व**=स्तवन कर, जो **हि**=निश्चय से **प्रतीव्यम्**=(प्रति+वी) काम-क्रोध आदि शत्रुओं के प्रति जानेवाले हैं, उन पर आक्रमण करनेवाले हैं। 'काम' स्मर है, या सदा सांसारिक विषयों के प्रति हमें उत्कण्ठित करता है। पर प्रभु 'स्मर-हर' हैं। इस काम-वासना का विनाश करनेवाले हैं। इन **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ प्रभु का **यजस्व**=तू पूजन कर, इन प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बन। प्रभु के ज्ञान से ज्ञान-सम्पन्न बनकर तू ज्ञानाग्नि में वासनाओं का विध्वंस कर पायेगा। (२) वे प्रभु **चरिष्णुधूमम्**=गति के स्वभाववाले व सब दुर्भावों को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं। गतिमयता ही वस्तुतः वासनाओं के आक्रमण से बचने का मार्ग है। इस 'चरिष्णु धूम' का यजन करता हुआ उपासक भी सदा क्रियाशील होता है, अतएव वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है। **अगृभीत शोचिषम्**=इस प्रभु की ज्ञानदीप्ति कभी भी किसी आवरण से गृभीत नहीं होती, अनावृत्त ज्योतिवाले वे प्रभु सदा ही दीप्त हैं। इनका उपासक भी अपनी ज्ञान-ज्योति को 'काम-वासना' रूप वृत्त से आवृत नहीं होने देता।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन इस रूप में करें कि वे प्रतीव्य हैं, हमारी वासनाओं पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट करनेवाले हैं। **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ हैं। चरिष्णुधूम हैं, स्वाभाविक क्रियावाले व वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं। **अगृभीत शोचिम्**=अनावृत ज्ञान-

ज्योतिवाले हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'विश्वचर्षणि व विश्वमना' बनना

दामानं विश्वचर्षणेऽग्निं विश्वमनो गिरा। उत स्तुषे विष्पर्धसो रथानाम्॥ २॥

(१) हे **विश्व-चर्षणे**=सर्वत्र प्रविष्ट, सर्वव्यापक प्रभु का दर्शन करनेवाले, **विश्वमनः**=व्यापक प्रभु में ही मन को लगानेवाले उपासक! उस **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **गिरा**=इन ज्ञान की वाणियों से **स्तुषे**=स्तुत कर। प्रभु का स्तवन ही तेरी उन्नति का कारण बनेगा। (२) **उत**=और उस प्रभु का तू स्तवन कर जो **वि-स्पर्धसः**=विगत मात्सर्यवाले 'विश्वमना' पुरुषों के लिये **रथानाम्**=उत्तम शरीररूप रथों के **दामानम्**=देनेवाले हैं। इन उत्तम शरीर रथों द्वारा वे प्रभु ही हमें जीवन यात्रा की पूर्ति के लिये सक्षम बनाते हैं।

भावार्थ—उस प्रभु को देखनेवाले व तद्गत मनवाले बनकर हम प्रभु का स्तवन करें। हमारे लिये प्रभु उन उत्तम शरीररथों को प्राप्त कराते हैं, जिनके द्वारा हम जीवनयात्रा को अत्यन्त सुन्दरता से पूर्ण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'खान-पान' का नियन्त्रण

येषामाबाध ऋग्मिय इषः पृक्षश्च निग्रभे। उपविदा वह्निर्विन्दते वसु॥ ३॥

(१) **येषाम्**=जिन उपासकों के ये प्रभु **आबाधः**=समन्तात् शत्रुओं का बाधन करनेवाले होते हैं, वे प्रभु **ऋग्मियः**=उन उपासकों द्वारा ऋचाओं से अर्चनीय होते हैं, स्तुति के योग्य होते हैं। ये प्रभु इन उपासकों के **इषः**=पेय द्रव्यों को **च**=तथा **पृक्षः**=(food) भोज्य द्रव्यों को **निग्रभे**=नियन्त्रित करते हैं। अर्थात् इनके खान-पान को बड़ा मर्यादित करते हैं। (२) ये **वह्निः**=सब आवश्यक द्रव्यों को प्राप्त करानेवाले प्रभु **उपविदा**=उपवेदन व ज्ञान के साथ **वसु**=धन को **विन्दते**=(वेदयति) प्राप्त कराते हैं। प्रभु धन देते हैं, धन के साथ धन के उपयोग के विषय में ज्ञान भी देते हैं।

भावार्थ—जो प्रभु का स्तवन करते हैं, प्रभु उन्हें मर्यादित खान-पानवाला बनाते हैं। और ज्ञान के साथ धन को भी प्राप्त कराते हैं। ताकि ये उपासक धन से जीवन यात्रा में आगे बढ़ पायें और ज्ञान के द्वारा धन की हानियों से बचे रहें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'तपुर्जम्भस्य-सुद्युत्-गणश्री'

उदस्य शोचिरस्थाद्दीदियुषो व्यजरम्। तपुर्जम्भस्य सुद्युतो गणश्रियः॥ ४॥

(१) **अस्य**=गत मन्त्र में वर्णित **दीदियुषः**=ज्ञान-ज्योति से देदीप्यमान उपासक की **अजरम्**=न जीर्ण होनेवाली **शोचिः**=दीप्ति **वि उद् अस्थात्**=विशेषरूप से उत्थित होती है, यह उपासक 'स्वास्थ्य नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता' के द्वारा जीवन में चमक उठता है। (२) उस उपासक की ज्योति चमक उठती है, जो **तपुर्जम्भस्य**=तपस्वी दंष्ट्रावाला है, अर्थात् जिसके दाँत खान-पान की क्रिया में अत्यन्त तपस्वी हैं। जो सात्त्विक भोजन को ही मात्रा में ग्रहण करता है। **सुद्युतः**=स्वाध्याय के द्वारा अत्यन्त द्युतिमय जीवनवाला है। **गणश्रियः**=जो शरीरस्थ सब गणों की शोभावाला है, जिसके पञ्चभूत, पञ्च प्राण, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण

पञ्चक (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय) सभी शोभा-सम्पन्न हैं।

भावार्थ-हम तपस्वी दाँतोंवाले, स्वाध्यायशील व सब शरीरस्थ इन्द्रिय आदि के गणों को श्री-सम्पन्न बनानेवाले हों। हम स्थिर ज्योति से चमक उठेंगे।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

सामर्थ्य व ज्ञानदीप्ति (कृपा-भासा)

उदु तिष्ठ स्वध्वर स्तवानो देव्या कृपा। अभिख्या भासा बृहता शुशुक्वनिः॥ ५॥

(१) हे **स्वध्वर**=उत्तम यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले तू **उ**=निश्चय से **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो, लेटा न रह। आलस्य को छोड़कर कर्मों में प्रवृत्त हो। **स्तवानः**=स्तुति करता हुआ तू **देव्या**=उस देदीप्यमान प्रभु के **कृपा**=सामर्थ्य से **शुशुक्वनिः**=चमकनेवाला हो। तुझे उस प्रभु की शक्ति प्राप्त हो। (२) न केवल शक्ति से, अपितु **बृहता**=वृद्धि की कारणभूत **अभिख्या**=सर्वतः प्रकाश को करनेवाली **भासा**=ज्ञानदीप्ति से तू दीप्त बन।

भावार्थ-हम आलस्य को परे फेंक कर यज्ञ आदि कर्मों में प्रवृत्त हों। प्रभु-स्तवन करते हुए प्रभु के सामर्थ्य व ज्ञान दीप्ति से दीप्त बनें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

दूतः-हव्यवाहनः

अग्ने याहि सुशस्तिभिर्हव्या जुह्वान आनुषक्। यथा दूतो बभूथ हव्यवाहनः॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **सुशस्तिभिः**=उत्तम ज्ञान के शंसनों के साथ **याहि**=हमें प्राप्त होइये, हम आपकी उपासना करें और हृदयस्थ आप से उत्तम प्रेरणात्मक ज्ञानों को प्राप्त करें। आप हमारे लिये **आनुषक्**=निरन्तर **हव्या जुह्वानः**=हव्य पदार्थों के देनेवाले हों। (२) हे प्रभो! आप ऐसा अनुग्रह करिये **यथा**=जिस से आप हमारे लिये **दूतः**=ज्ञान के सन्देश को देनेवाले व **हव्य वाहनः**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ-हम प्रभु के उपासक बनें। प्रभु हमारे लिये ज्ञान के सन्देश को प्राप्त करायेंगे और हव्य (पवित्र) पदार्थों के देनेवाले होंगे।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

उसी का शंसन, उसी का स्तवन

अग्निं वः पूर्व्यं हुवे होतारं चर्षणीनाम्। तमया वाचा गृणे तमु वः स्तुषे॥ ७॥

(१) मैं **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **वः पूर्व्यम्**=जो तुम मनुष्यों के पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं, **हुवे**=पुकारता हूँ। उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के लिये **होतारम्**=सब पदार्थों के देनेवाले हैं। प्रभु ही इनके सब यज्ञों को पूर्ण किया करते हैं। (२) **तम्**=उस प्रभु को मैं **अया वाचा**=इस वाणी से **गृणे**=शंसित करता हूँ, इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा मैं प्रभु का ही शंसन करता हूँ। **तं उ**=उस प्रभु को ही **वः**=तुम्हारे लिये **स्तुषे**=स्तुत करता हूँ। घर में जब माता-पिता प्रभु का स्तवन करते हैं तो सन्तानों में भी प्रभु का कुछ विचार उत्पन्न होता है। यह स्तवन सन्तानों को भी प्रभु की ओर ले चलता है।

भावार्थ-हम प्रभु का ही शंसन करें, प्रभु का ही स्तवन करें। वे प्रभु ही हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, व हमारे यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

यज्ञों द्वारा हृदय में अद्भुत क्रतु प्रभु का स्थापन

यज्ञेभिरद्भुतक्रतुं यं कृपा सूदयन्त इत्। मित्रं न जने सुधितमृतावनि ॥ ८ ॥

(१) **अद्भुत क्रतुम्**=अनुपम (अपूर्व) शक्तिवाले **यम्**=जिस प्रभु को **यज्ञेभिः**=यज्ञों के द्वारा **कृपा**=सामर्थ्य प्राप्ति के हेतु से **सूदयन्ते इत्**=अपने अन्दर निश्चय से प्रेरित करते हैं। प्रभु की शक्ति अनन्त है। इन प्रभु को यज्ञों के द्वारा हम अपने हृदयों में देखनेवाले बनते हैं और परिणामतः प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न कर पाते हैं। (२) उस प्रभु को हम अपने अन्दर प्रेरित करते हैं, देखने का प्रयत्न करते हैं, जो **ऋतावनि जने**=यज्ञशील मनुष्यों में नियमित आचरणवाले मनुष्यों में **मित्रं न**=मित्र के समान **सुधितम्**=सम्यक् स्थापित होते हैं। हम सब यज्ञशील व नियमित जीवनवाले बनते हैं, तो प्रभु को हृदयस्थ मित्र के रूप में पाते हैं।

भावार्थ—यज्ञ प्रवृत्त मनुष्यों को प्रभु प्राप्त होते हैं। परिणामतः ये यज्ञशील व्यक्ति प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न बनते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'यज्ञों-ज्ञान की वाणियों व नमन' के द्वारा प्रभु का उपासन

ऋतावानमृतायवो यज्ञस्य साधनं गिरा। उपो एनं जुजुषुर्नमसस्पदे ॥ ९ ॥

(१) **ऋतायवः**=यज्ञशील पुरुष **ऋतावानम्**=सब यज्ञों के रक्षक **यज्ञस्य साधनम्**=सब यज्ञों के सिद्ध करनेवाले प्रभु को **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से **जुजुषुः**=प्रीतिपूर्वक सेवित करते हैं। (२) **एनं उ**=इस प्रभु को ही **नमसः पदे**=नमन के स्थान में, नम्रतापूर्वक ध्यान करने के स्थल में **उपजुजुषुः**=समीपता से उपासित करते हैं।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा, ज्ञान की वाणियों के द्वारा तथा ध्यान में नमन के द्वारा प्रभु का ही उपासन होता है। कर्मकाण्ड (ऋतायवः) ज्ञानकाण्ड (गिरा) उपासना काण्ड (नमसस्पदे) ये सब उपासना ही हो जाते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अंगिरस्तम-यशस्तम

अच्छा नो अङ्गिरस्तमं यज्ञासो यन्तु संयतः। होता यो अस्ति विक्ष्वा यशस्तमः ॥ १० ॥

(१) **नः**=हमारे **संयतः**=संयम पूर्वक किये गये, दीक्षा को ग्रहण कर किये गये **यज्ञासः**=यज्ञ **अंगिरस्तम**=उस महान् अंगिरा की **अच्छा**=ओर उस अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले प्रभु की ओर **यन्तु**=जानेवाले हों। ये यज्ञ हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाले हों। (२) उस प्रभु को प्राप्त करानेवाले हों, **यः**=जो **विक्षु**=सब प्रजाओं में स्थित हुए-हुए **होता अस्ति**=सब यज्ञों के करनेवाले हैं तथा **अयशस्तमः**=चारों ओर यशस्वितम हैं, सर्वत्र जिनकी महिमा फैली हुई है। सब उत्तम कर्म उस प्रभु की प्रेरणा व शक्ति से ही तो हो रहे हैं।

भावार्थ—हमें सब यज्ञ प्रभु की ओर ले चलनेवाले हों। इन यज्ञों को वस्तुतः प्रभु ही तो कर रहे होते हैं। वे प्रभु अंगिरस्तम हैं, यशस्तम हैं। हमें भी वे ऐसा ही बनायेंगे।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वःङ्क देवता—अग्निःङ्क छन्दः—विराडुष्णिक्ङ्क स्वरः—ऋषभःङ्क

ज्ञान-शक्ति

अग्रे तव त्ये अजरेन्धानासो बृहद्भाः। अश्वाइव वृषणस्तविषीयवः॥ ११॥

(१) हे **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले, सदा वृद्ध **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तव**=आपके **त्ये**=वे उपासक **इन्धानासः**=अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले होते हैं। परिणामतः **बृहद्भाः**=अत्यन्त बढ़ी हुई ज्ञान ज्योतिवाले होते हैं। (२) ये आपके उपासक **अश्वाः इव**=घोड़े के समान **वृषणः**=शक्तिशाली होते हैं और **तविषीयवः**=(बलं आचरन्तः) सबलता से सब कर्मों को करनेवाले होते हैं। इनके कर्म निर्बल नहीं होते, वीर्यवत्तर होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक ज्ञानाग्नि को दीप्त करके बढ़ी हुई ज्ञान-ज्योतिवाले होते हैं, घोड़ों की तरह सबल होते हैं, इनके सब कर्म भी सबल होते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वःङ्क देवता—अग्निःङ्क छन्दः—पादनिचृदुष्णिक्ङ्क स्वरः—ऋषभःङ्क

सुवीर्यं 'रयिम्'

स त्वं न ऊर्जां पते रयिं रास्व सुवीर्यम्। प्राव नस्तोके तनये समत्स्वा॥ १२॥

(१) हे **अर्जांपते**=बलों व प्राणशक्तियों के स्वामिन्! **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमारे लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य (पराक्रम) से युक्त **रयिम्**=ऐश्वर्य को **नः**=हमारे लिये **रास्व**=दीजिये। (२) इस प्रकार शक्तियुक्त धन को देकर आप **नः**=हमें **तोके**=सन्तानों) के विषय में **तनये**=पौत्रों के विषय में तथा **समत्सु**=इन जीवन-संग्रामों में **आ**=सर्वथा **प्राव**=प्रकर्षेण रक्षित करिये। आप से रक्षण को प्राप्त करके ही हम अपने सन्तानों को उत्तम बना पायेंगे और इस संसार संग्राम में विजयी हो सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम शक्तियुक्त धन को प्राप्त करायें। वे हमें सन्तानों को उत्तम बनाने में समर्थ करें तथा जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करायें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वःङ्क देवता—अग्निःङ्क छन्दः—उष्णिक्ङ्क स्वरः—ऋषभःङ्क

प्रभु-प्रसादन से राक्षसी भावों का विनाश

यद्वा उ विश्वपतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशि। विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति॥ १३॥

(१) **यद्**=जब **वा उ**=निश्चय से **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु **शितः**=तनूकृत होते हैं, अर्थात् जब हम अन्नमय आदि कोशों के आवरणों को हटाकर, 'मुञ्जाद् इव इषीकां' मूञ्ज से अलग करके जैसे सींक को, इसी प्रकार प्रभु को देखते हैं और जब वे प्रभु **सुप्रीतः**=कर्त्तव्यपालन के द्वारा हमारे पर प्रीतिवाले होते हैं, तो वे **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **मनुषः विशि**=विचारशील पुरुष के इस शरीररूप गृह में **विश्वा इत्**=सब ही **रक्षांसि**=राक्षसी भावों को **प्रतिसेधति**=प्रतिषिद्ध करनेवाले होते हैं। (२) अन्नमय आदि कोशों का आवरण आ जाने से आत्मा स्थूल-सा प्रतीत होता है, इसी में आत्मा का व्यवहार होने लगता है। इन आवरणों को हटाते जायें तो मानो आत्मा तनूकृत होता चलता है। यही 'शितः' शब्द की भावना है। उत्तम कर्मों से हम इस आत्म स्थित प्रभु को प्रसन्न करते हैं। प्रभु हमारे सब राक्षसी भावों का विनाश करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सब प्रजाओं के स्वामी हैं। जब हम प्रभु को उनके सूक्ष्मरूप में देख पाते हैं और स्वकर्त्तव्य कर्मों के करने के द्वारा उनकी आराधना कर पाते हैं, तो प्रभु हमारी सब अशुभ वृत्तियों को दूर कर देते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

मायावी राक्षसों का दहन

श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते। नि मायिनस्तपुषा रक्षसो दह॥ १४॥

(१) हे **वीर**=शत्रुओं के कम्पक, **विश्पते**=इस प्रकार प्रजाओं के रक्षक **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **मे**=मेरे से किये जानेवाले इस **नवस्य**=(नव गतौ) मुझे गतिमय जीवनवाला बनानेवाले **स्तोमस्य**=स्तोम का **श्रुष्टी**=श्रवण करके आप **मायिनः रक्षसः**=इन मायावी राक्षसी भावों को **तपुषा**=अपने तापक तेज से **निदह**=नितरां दग्ध कर दीजिये। (२) प्रभु का स्तवन जहाँ हमारे सामने एक उच्च लक्ष्य को उपस्थित करके विशिष्ट गति को पैदा करता है, वहाँ हमें यह स्तवन प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनाता है। यह प्रभु का तापक तेज सब राक्षसी भावों को दग्ध कर देता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें गतिमय व शक्ति-सम्पन्न बनायेगा। यह शक्ति सब मायावी राक्षसी वृत्तियों को शीर्ण करनेवाली होगी।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

कामदेव 'स्मर' है, तो प्रभु 'स्मर-हर' हैं

न तस्य मायया चन रिपुरीशीत मर्त्यः। यो अग्नये ददाश हव्यदातिभिः॥ १५॥

(१) **यः**=जो भी उपासक **हव्यदातिभिः**=हव्यों के देने के द्वारा, यज्ञशीलता के द्वारा भोगवृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा **अग्नये**=उस अग्रणी प्रभु के लिये **ददाश**=अपना अर्पण कर देता है। जितना-जितना हम भोगों से ऊपर उठते हैं उतना-उतना ही प्रभु के उपासक बनते हैं। **तस्य**=उस उपासक का यह **रिपुः**=हमें विदीर्ण कर देनेवाला **मर्त्यः**=मार, काम (देव) **मायया चन**=अपनी पूरी माया से भी **न ईशीत**=ईश नहीं बन पाता।

भावार्थ—यज्ञशीलता से हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। ऐसी स्थिति में यह कामदेव हमें अपना शिकार न बना पायेगा।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

उक्षण्युः-व्यश्वः

व्यश्वस्त्वा वसुविदमुक्षण्युरप्रीणादृषिः। महो राये तमु त्वा समिधीमहि॥ १६॥

(१) हे प्रभो! **वसुविदम्**=सब वसुओं के प्राप्त करानेवाले **त्वा**=आपको यह **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा उपासक **अप्रीणात्**=प्रसन्न कर पाता है, जो **व्यश्वः**=विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाला बनता है, जो अपनी इन्द्रियों को भोगों में नहीं फँसने देता और इस प्रकार इनकी शक्ति को क्षीण नहीं होने देता। जो **उक्षण्युः**=सर्वसुखों के सेचक आपकी ही प्राप्ति की कामनावाला होता है। (२) हम भी **तं त्वा उ**=उन आपको ही **महः राये**=महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **समिधीमहि**=अपने अन्दर समिद्ध करते हैं। अपने हृदयों में आपके प्रकाश को देखने का प्रयत्न करते हुए हम भी महान् ऐश्वर्य के भागी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु को प्रीणित वही कर पाता है जो—(क) अपने इन्द्रियाश्वों को भोग से दूर रखकर सबल बनाये रखता है, (ख) जो सर्वसुख सेचक प्रभु की प्राप्ति की ही कामनावाला होता है, (ग) जो तत्त्वद्रष्टा बनता है। इस प्रभु के प्रीणन में ही महान् ऐश्वर्य का लाभ है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वःङ्क देवता—अग्निःङ्क छन्दः—विराडुष्णिक्ङ्क स्वरः—ऋषभःङ्क

उशनाः काव्यः

उशना काव्यस्त्वा नि होतारमसादयत्। आयजिं त्वा मनवे जातवेदसम्॥ १७॥

(१) हे प्रभो! **उशनाः**=आपकी प्राप्ति की प्रबल कामनावाला **काव्यः**=यह क्रान्तप्रज्ञ तत्त्वदर्शी पुरुष **होतारम्**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले **त्वा**=आपको **नि असादयत्**=नम्रता से अपने हृदयासन पर बिठाता है। (२) उन **त्वा**=आपको अपने हृदयासन पर बिठाता है जो आप **आयजिम्**=समन्तात् सब पदार्थों में पूज्य हैं, जिन आपकी महिमा प्रत्येक पदार्थ में दिखती है। जो आप **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **जातवेदसम्**=(जाते-जाते विद्यते) प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान हो रहे हैं। एक विचारशील पुरुष को प्रत्येक पदार्थ में आपकी सत्ता का अनुभव होता है। वह पृथिवी में 'पुण्य गन्ध' के रूप में, जलों में 'रस' रूप में, अग्नि में 'तेज' के रूप में, वायु में 'गति' के रूप में व आकाश में 'शब्द' के रूप में आपको देखता है।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले तत्त्वद्रष्टा बनकर हम सर्वत्र उस प्रभु की सत्ता को देखने का प्रयत्न करें। ये प्रभु ही 'आयजि' हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वःङ्क देवता—अग्निःङ्क छन्दः—उष्णिक्ङ्क स्वरः—ऋषभःङ्क

प्रथमः यज्ञियः

विश्वे हि त्वा सजोषसो देवासो दूतमक्रत। श्रुष्टी देव प्रथमो यज्ञियो भुवः॥ १८॥

(१) हे अग्ने! **विश्वे**=सब **देवासः**=देव वृत्ति के पुरुष **सजोषसः**=समान रूप से प्रीतिवाले होकर उपासना करते हुए **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको **दूतं अक्रत**=ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाला बनाते हैं। अर्थात् आप की उपासना करते हुए हृदयस्थ आपके द्वारा ज्ञान को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं। (२) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप ही **श्रुष्टी**=शीघ्र **प्रथमः**=सर्वमुख्य **यज्ञियः**=उपासनीय **भुवः**=होते हैं। सब को आपकी ही उपासना करनी योग्य है। आपकी उपासना से ही पवित्र हृदय बनकर हम आपके द्वारा ज्ञान-सन्देश को सुननेवाले बनते हैं।

भावार्थ—देव वृत्ति के पुरुष परस्पर मिलकर प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करते हैं। इस प्रकार प्रभु से ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करनेवाले होते हैं। प्रभु ही सर्वमुख्य उपासनीय हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वःङ्क देवता—अग्निःङ्क छन्दः—निचृदुष्णिक्ङ्क स्वरः—ऋषभःङ्क

अमृतं-पावकम्

इमं घा वीरो अमृतं दूतं कृण्वीत मर्त्यः। पावकं कृष्णवर्तनिं विहायसम्॥ १९॥

(१) **वीरः मर्त्यः**=शत्रुओं को, काम-क्रोध आदि को कम्पित करके दूर करनेवाला मनुष्य **घा**=निश्चय से **इमम्**=इस **अमृतम्**=अविनाशी प्रभु को **दूतम्**=ज्ञान के सन्देश का प्रापक **कृण्वीत**=करता है। प्रभु की उपासना करता हुआ पवित्र हृदय में प्रभु के सन्देश को सुनता है। (२) उस प्रभु को अपने लिये ज्ञान-सन्देश का प्राप्त करानेवाला बनाता है जो **पापकम्**=पवित्र करनेवाले हैं। **कृष्ण-वर्तनिम्**=सब पापों (कृष्ण) को नष्ट करनेवाले हैं (वर्तनिं-उलटनेवाले) अथवा आकर्षक (कृष्ण) मार्ग (वर्तनि) वाले हैं और **विहायसम्**=महान् हैं, आकाशवत् व्यापक हैं।

भावार्थ—प्रभु पावक हैं। हम प्रभु की उपासना करते हुए इस अमृत प्रभु को ही अपना ज्ञान-सन्देश प्रापक बनायें। हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान की प्रेरणा को प्राप्त करें। ज्ञान-सन्देश द्वारा पवित्र करते हुए प्रभु ही हमें अमृत बनाते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

प्रत्नमीड्यम्

तं हुवेम यतस्रुचः सुभासं शुक्रशोचिषम्। विशामग्निमजरं प्रत्नमीड्यम्॥ २०॥

(१) **यतस्रुचः**=(वाग् वै स्रुचः श० ६।३।१।८) संयत वाणीवाले होते हुए हम **तम्**=उस प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं। जो प्रभु **सुभासम्**=उत्तम दीप्तिवाले हैं और **शुक्रशोचिषम्**=देदीप्यमान ज्ञान-ज्योतिवाले हैं। (२) उस प्रभु को हम संयतवाक् बनकर स्तुत करते हैं, जो **विशाम्**=सब प्रजाओं के **अग्निम्**=अग्रेणी हैं, **अजरम्**=कभी जीर्ण होनेवाले नहीं, **प्रत्नम्**=सनातन हैं और **ईड्यम्**=स्तुति के योग्य हैं।

भावार्थ—वाणी का संयम करते हुए हम प्रभु का आराधन करते हैं, तो प्रभु हमारी ज्ञानदीप्ति व पवित्रता को बढ़ानेवाले होते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

भूरि षोषं, वीरवद् यशः

यो अस्मै हव्यदातिभिराहुतिं मर्तोऽविधत्। भूरि पोषं स धत्ते वीरवद्यशः॥ २१॥

(१) **यः मर्तः**=जो मनुष्य **अस्मै**=इस प्रभु के लिये **हव्यदातिभिः**=हव्य पदार्थों के दान के द्वारा, यज्ञशीलता के द्वारा भोगवृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा **आहुतिम्**=अपने अर्पण को (हु दाने) **अविधत्**=करता है, **सः**=वह **भूरि**=खूब ही **पोषम्**=पोषण को **धत्ते**=धारण करता है। जैसे माता के प्रति अर्पित हुआ-हुआ बालक माता से पोषण को प्राप्त करता है, उसी प्रकार जब हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, तो प्रभु हमारा समुचित पोषण करते हैं। (२) यह प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति **वीरवत्**=प्रशस्त वीर सन्तानोंवाले **यशः**=यश को धारण करता है। प्रभु इसे उत्तम सन्तानों को प्राप्त कराते हैं तथा यशस्वी जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—भोगवृत्ति से ऊपर उठकर त्याग वृत्तिवाले बनकर हम प्रभु का पूजन करते हैं, प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं। प्रभु हमारा खूब ही पोषण करते हैं और वीर सन्तानों के साथ यशस्वी जीवन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

हविष्मती स्रुक्

प्रथमं जातवेदसमग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम्। प्रति स्रुगेति नमसा हविष्मती॥ २२॥

(१) 'स्रुक्' वाणी है (वाग्वै स्रुचः श० ६।३।१।८) यह **स्रुक्**=वाणी **हविष्मती**=हविवाली होती हुई, त्यागपूर्वक अदन के स्वभाववाली होती हुई, **नमसा**=नमस्कार के साथ **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **प्रति एति**=ओर जानेवाला होती है। अर्थात् प्रभु का ही स्तवन करती है। (२) उस प्रभु को जो **प्रथमम्**=सर्वत्र व्यापक हैं (प्रथ विस्तारे), **जातवेदसम्**=(जाते-जाते=विद्यते) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान हैं, **अग्निम्**=अग्रेणी हैं और **यज्ञेषु पूर्व्यम्**=यज्ञों के होने पर पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं।

भावार्थ—हमारी वाणी त्याग पूर्वक अदन करती हुई नमस्कार के साथ प्रभु की अर्चना करनेवाली हो। ये प्रभु हमें यज्ञों में प्रवृत्त करके हमारा उत्तमता से पालन करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पादनिचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

स्वाध्याय-प्रशस्तेन्द्रियता-त्यागवृत्ति=उपासना

आभिर्विधेमाग्नये ज्येष्ठाभिर्व्यश्ववत्। मंहिष्ठाभिर्मतिभिः शुक्रशोचिषे॥ २३॥

(१) **आभिः**=इन **ज्येष्ठाभिः**=प्रशस्यतम वेदवाणियों से हम **व्यश्ववत्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले पुरुष की तरह **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिये **विधेम**=पूजन करते हैं। वस्तुतः 'स्वाध्याय में अतिरिक्त समय को बिताना और इस प्रकार प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला बनना' ही प्रभु का सच्चा पूजन है। (२) **मंहिष्ठाभिः**=(मंहतेर्दानकर्मणः) अधिक से अधिक दान की भावनावाली, अतिशयित त्याग की भावनावाली, **मतिभिः**=बुद्धियों से हम **शुक्रशोचिषे**=अतिशयेन देदीप्यमान ज्ञान की ज्योतिवाले उस प्रभु का उपासन करते हैं। त्याग की भावना ही हमारी बुद्धियों को स्वस्थ बनाती है। स्वस्थ बुद्धि ज्ञानदीप्ति का साधन बनती है।

भावार्थ—वेदवाणियों का स्वाध्याय करते हुए हम प्रशस्तेन्द्रिय बनें। अतिशयेन त्याग की वृत्तिवाली बुद्धिवाले हों। यही प्रभु का सच्चा उपासन है, यही ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—आर्चीस्वराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

यज्ञशीलता-तत्त्वदर्शन-प्रशस्तेन्द्रियता=उपासना

नूनमर्च विहायसे स्तोमेभिः स्थूरयूपवत्। ऋषे वैयश्व दम्यायाग्नये॥ २४॥

(१) 'यूप' शब्द यज्ञस्तम्भ के लिये प्रयुक्त होता है। 'स्थूर यूप' वह व्यक्ति है, जिसके यज्ञस्तम्भ बड़े दृढ़ हैं। जो यज्ञशील है, जिसने यज्ञों के लिये समुचित यज्ञस्थली का घर में निर्माण किया है, वेद के आदेश के अनुसार सर्वप्रथम कक्ष 'हविर्धानं' ही बनाया है। यह 'स्थूर यूप' प्रभु का उपासक है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। इस **स्थूरयूपवत्**=यज्ञशील पुरुष की तरह **नूनम्**=निश्चय से **विहायसे**=उस आकाशवत् व्यापक महान् प्रभु के लिये **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **अर्च**=अर्चना कर। (२) हे **ऋषे**=तत्त्वद्रष्टः! **वैयश्व**=विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले उपासक तू **दम्याय**=तुम्हारे गृह का हित करनेवाले उस **अग्नये**=अग्रणी प्रभु के लिये अर्चना करनेवाला बन।

भावार्थ—प्रभु का उपासक यह है जो (क) यज्ञशील है (स्थूरयूप), (ख) तत्त्वद्रष्टा बनता है (ऋषि), (ग) इन्द्रियाश्वों को प्रशस्त बनाता है (वैयश्व)। ये प्रभु उपासक के गृह का कल्याण करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

मानुषाणां अतिथिं, वनस्पतीनां सूनुम्

अतिथिं मानुषाणां सूनुं वनस्पतीनाम्। विप्रा अग्निमवसे प्रत्नमीळते॥ २५॥

(१) **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले, अपनी कमियों को दूर करनेवाले, ज्ञानी पुरुष **प्रत्नम्**=उस सनातन **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिये **ईडते**=स्तुत करते हैं। इस स्तोता विप्र का प्रभु रक्षण करते ही हैं, इसे काम-क्रोध-लोभ आदि के आक्रमण से बचाते हैं। (२) उस प्रभु को उपासित करते हैं जो **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों का **अतिथिम्**=अतिथि है, अतिथिवत् पूज्य है। तथा **वनस्पतीनाम्**=(वन=A ray of light) ज्ञान-रश्मियों के रक्षक पुरुषों का **सूनुम्**=(षू प्रेरणे) प्रेरक है। विचारशील पुरुष सदा प्रभु का पूजन करते हैं और ज्ञानरश्मियों का रक्षण करनेवाले पुरुष प्रभु-प्रेरणा को सुन पाते हैं।

भावार्थ—विप्र रक्षण के लिये प्रभु की आराधना करते हैं। विचारशील पुरुष प्रभु को अतिथिवत् पूजते हैं और ज्ञानरश्मियों का रक्षण करनेवाले पुरुष प्रभु की प्रेरणा को सुना करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

महान् अधिष्ठाता

महो विश्वाँ अभि षतोऽभि हव्यानि मानुषा। अग्ने नि षत्सि नमसाधि बर्हिषि॥ २६॥

(१) **अभि**=चारों ओर **सतः**=विद्यमान **महः विश्वान्**=महान् विश्वों को (लोकों को) आप **निषत्सि**=निश्चय से अधिष्ठित करते हैं। तथा **मानुषा**=विचारशील पुरुषों से किये जानेवाले **हव्यानि**=हवि प्रदान (यज्ञ) आदि कर्मों को भी आप ही **अभि (निषत्सि)**=अधिष्ठित करते हो। सब लोकों में व्याप्त हुए-हुए आप उनका धारण व नियमन कर रहे हैं। आप ही इन विचारशील पुरुषों के यज्ञों को सिद्ध करते हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नमसा**=नमस् के द्वारा, जब भी उपासक आपके प्रति नमन को धारण करता है तो आप **बर्हिषि**=उसके वासनाशून्य हृदय में **अधि निषत्सि**=आधिक्येन स्थित होते हैं, वह उपासक हृदय में आपका दर्शन कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु सब लोकों के नियामक हैं, सब यज्ञों के अधिष्ठाता हैं, विनीत पुरुष के हृदय में स्थित होते हैं, वहाँ प्रभु का दर्शन होता है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'सुवीर्य सुसन्तान व सुयश' बनानेवाला धन

वंस्वा नो वार्या पुरु वंस्व रायः पुरुस्पृहः। सुवीर्यस्य प्रजावतो यशस्वतः॥ २७॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **वार्या**=वरणीय धनों को **वंस्वा**=दीजिये। और **पुरुस्पृहः**=बहुतों से स्पृहणीय (चाहने योग्य) **रायः**=धनों को **पुरुवंस्व**=खूब ही दीजिये। (२) उस धन को दीजिये जो **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति से युक्त है, **प्रजावतः**=उत्तम सन्तानोंवाला है तथा **यशस्वतः**=मुझे यशस्वान् बनानेवाला है। अर्थात् जिस धन के द्वारा भोगों में फँसकर मैं निर्बल नहीं हो जाता, जिस धन के द्वारा मेरे सन्तान बिगड़ नहीं जाते तथा जिस धन से मैं उत्तम कर्मों को करता हुआ यशस्वी जीवनवाला होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करायें। उस स्पृहणीय धन को भी प्राप्त करायें, जो मुझे सुवीर्य-सुसन्तान व सुयश बनाये।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

शान्त व क्रियाशील

त्वं वरो सुषाम्णेऽग्ने जनाय चोदय। सदा वसो रातिं यविष्ठ शश्वते॥ २८॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वं वरः**=आप ही वरणीय हैं, श्रेष्ठ हैं। आप **सुषाम्णे जनाय**=उत्तम सामवाले, शान्तिवाले **जनाय**=व्यक्ति के लिये **रातिम्**=धन के दान को **चोदय**=प्रेरित कीजिये। (२) हे **वसो**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले **यविष्ठ**=बुराई को अधिक से अधिक दूर करनेवाले प्रभो! आप **शश्वते**=प्लुत गतिवाले, स्फूर्तिवाले क्रियाशील व्यक्ति के लिये **सदा**=हमेशा (रातिं चोदय) धनों को प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु शान्त व क्रियाशील व्यक्ति के लिये, शान्तिपूर्वक कर्त्तव्य में लगे व्यक्ति के लिये, धनों के दान को प्रेरित करते हैं। ये धन उनकी उन्नति के लिये, उनके निवास को उत्तम बनाने के लिये व बुराइयों को दूर करने के लिये होते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

गोमती: इष:-मह: राय: सातिम्

त्वं हि सुप्रतूरसि त्वं नो गोमतीरिषः। महो रायः सातिमग्ने अपा वृधि॥ २९॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=ही **सुप्रतूः असि**=अच्छी प्रकार शत्रुओं का संहार करनेवाले (तुर्व्) हैं। **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **अपावृधि**=वासना के आवरण को हटाकर प्राप्त करानेवाले होइये। (२) हे प्रभो! आप **महः रायः**=महान् ऐश्वर्य के **सातिम्**=दान को (अपावृधि)=हमारे लिये आवरण हटाकर प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से काम-क्रोध आदि शत्रुओं के विनाश के द्वारा हम प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली प्रेरणाओं को व महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

पूतदक्षसा (मित्रावरुणा)

अग्ने त्वं यशा अस्या मित्रावरुणा वह। ऋतावाना सम्राजा पूतदक्षसा॥ ३०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **यशाः असि**=यशस्वी ही यशस्वी हैं। आप हमारे लिये भी **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को **आवह**=प्राप्त कराइये। ये स्नेह व निर्द्वेषता के भाव मुझे भी यशस्वी बनायें। (२) ये मित्र और वरुण **ऋतावाना**=ऋतवाले, यज्ञवाले हैं। हमारे जीवनों में ऋत का रक्षण करते हैं। **सम्राजा**=ये हमारे जीवनों को सम्यग् राजमान (दीप्त) बनाते हैं। **पूतदक्षसा**=हमारे बलों को पवित्र करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करके हम ऋत का धारण करें, दीप्त जीवनवाले बनें, शुद्ध बलवाले हों।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'विश्वमना वैयश्व' ही है। यह 'इन्द्र' नाम से प्रभु का स्तवन करता है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

नृतम-धृष्णु

सखाय आ शिषामहि ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे। स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे॥ १॥

(१) **सखायः**=हे मित्रो! हम **वज्रिणे**=वज्रहस्त **इन्द्राय**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु के लिये **ब्रह्म**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **आशिषामहि**=आदरपूर्वक गुणों का वर्णन करते हैं। उस प्रभु के गुणों का वर्णन करते हुए उन गुणों को धारण करने के लिये यत्नशील होते हैं। (२) **वः**=तुम सब के **नृतमाय**=नेतृतम-सर्वोत्तम नेता **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभु के लिये **उ**=ही **सु**=सम्यक् **स्तुषे**=स्तुति करता हूँ। मैं प्रभु-स्तवन करता हूँ, प्रभु मेरे शत्रुओं का धर्षण करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु वज्रहस्त होकर हमारे शत्रुओं का धर्षण करते हैं, वे हमारे सर्वोत्तम नेता हैं। हम सब मिलकर प्रभु के गुणों का ही वर्णन करें। उन्हें धारण करने के लिये यत्नशील हों। इस प्रकार सच्चे स्तोता बनें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

वासना-विनाश व ऐश्वर्यदान

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा। मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप **शवसा**=बल के द्वारा **हि**=निश्चयपूर्वक **श्रुतः असि**=प्रसिद्ध हैं। **वृत्रहत्येन**=वासना के विनाश के द्वारा आप 'वृत्र-हा'='वृत्रहा' नामवाले हैं। आप ही ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करते हैं। (२) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **मघैः**=ऐश्वर्यों से **मघोनः**=सब ऐश्वर्यशालियों को **अति**=लांघ करके **दाशसि**=देनेवाले हैं। किसी भी अन्य धनी ने क्या देना? देनेवाले आप ही हैं।

भावार्थ—प्रभु बल के द्वारा वासनारूप शत्रु का संहार करनेवाले हैं। इस प्रकार वे प्रभु हमारी अध्यात्म उन्नति का कारण बनते हैं। वे प्रभु ही सब ऐश्वर्यों को देकर हमारी ऐहिक उन्नति के साधक होते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

वसुः-ददिः

स नः स्तवान आ भर रयिं चित्रश्रवस्तमम्। निरेके चिद्यो हरिवो वसुर्ददिः॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **सः**=वे आप **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **नः**=हमारे लिये **चित्रश्रवस्तमम्**=अद्भुत ज्ञान व यश को प्राप्त करानेवाले **रयिम्**=धन को **आभर**=दीजिये। आप से दिया गया धन इस प्रकार विनियुक्त हो कि यह ज्ञान की वृद्धि करनेवाला हो तथा हमारे यश को बढ़ानेवाला हो। (२) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! उस धन को दीजिये **यः**=जो **चित्**=निश्चय से **निरेके**=निर्गमन में ही हो, अर्थात् जो सदा दान में विनियुक्त होता रहे। हे प्रभो! आप ही **वसुः**=हमें बसानेवाले हैं। धनों को देकर तथा दान की वृत्ति को प्राप्त कराके आप हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। **ददिः**=सब कुछ देनेवाले आप ही तो हैं।

भावार्थ—प्रभु वह धन देते हैं, जो हमारे ज्ञान व यश की वृद्धि का कारण बनता है, जो दान में विनियुक्त होता है। प्रभु इस प्रकार हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं। सब कुछ देनेवाले प्रभु ही तो हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'निरेक प्रिय' धन

आ निरेकमुत प्रियमिन्द्र दर्षि जनानाम्। धृषता धृष्णो स्तवमान आ भर॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **जनानाम्**=लोगों के **निरेकम्**=जिसका सदा दान में विनियोग होता है (विरेचनात् वा निर्गमनाद्वा) **उत**=और **प्रियम्**=जो प्रीणन का कारण बनता है उस धन को **आदर्षि**=(आदृ=To desire) चाहिये, लोगों के लिये इस 'निरेक प्रिय' धन की कामना करिये। (२) हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! **स्तवमाना**=स्तुति किये जाते हुए आप **धृषता**=शत्रुधर्षक सामर्थ्य के साथ **आभर**=हमारे लिये धन का पोषण करिये। हम धनों को प्राप्त करें। पर साथ ही हमारे मन शत्रुधर्षक सामर्थ्यवाले हों जिससे उन धनों के कारण हम वैषयिक वृत्तिवाले न हो जायें।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन प्राप्त करायें, जो दान में विनियुक्त हो, प्रीति का कारण बने। तथा साथ ही प्रभु हमें शत्रुधर्षक सामर्थ्य को भी दें ताकि उस धन से हम विषयों की ओर बह

न जायें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

आमुरः-परिबाधः

न ते स॒व्यं न दक्षि॑णं॒ हस्तं॑ वरन्त आ॒मुरः॑। न प॑रि॒बाधो॑ हरिवो॒ गवि॑ष्टिषु॥ ५॥

(१) हे प्रभो! **आमुरः**=संग्राम में आभिमुख्येन मरनेवाले व्यक्ति **ते**=आपके **न सव्यम्**=न तो बायें हाथ को **न दक्षिणं हस्तम्**=और न ही दायें हाथ को **वरन्त**=रोकते हैं। अर्थात् इनके लिये आप दोनों हाथों से धनों को देनेवाले होते हैं। (२) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **गविष्टिषु**=ज्ञान की वाणियों के अन्वेषणात्मक यज्ञों में चलनेवाले और अतएव **परिबाधः**=समन्तात् शत्रुओं का बाधन करनेवाले लोग **न**=आपके हाथों को रोकते नहीं। इनके लिये भी आप सब ऐश्वर्यों के देनेवाले होते हैं। गविष्टियों में चलना, स्वाध्याय में प्रवृत्त रहना, **अन्तः**=शत्रुओं के बाधन का सर्वोत्तम साधन है। इन व्यक्तियों के लिये प्रभु सब धनों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम संग्राम में पीठ न दिखानेवाले, रणांगण में प्राण परित्याग करनेवाले बनें। हम स्वाध्याय प्रवृत्त होकर समन्तात् काम-क्रोध आदि शत्रुओं का बाधन करें। प्रभु हमारे लिये सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'कामं-मनः' आपृण

आ त्वा॒ गोभि॑रिव व्र॒जं गी॒र्भिर्ऋ॑णोम्यद्रिवः। आ स्मा॒ कामं॑ जरि॒तुरा मनः॑ पृण॥ ६॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **ऋणोमि**=सर्वथा प्राप्त होता हूँ। उसी प्रकार प्राप्त होता हूँ, **इव**=जैसे एक ग्वाला **गोभिः**=गौवों के साथ **व्रजम्**=एक गौओं के बाड़े को प्राप्त होता है। मैं भी सब इन्द्रियरूप गौवों को नियन्त्रित करके आपके समीप प्राप्त होता हूँ। (२) हे प्रभो! आप **जरितुः**=स्तोता की **कामम्**=अभिलाषा को **आपृण**=पूर्ण करिये तथा **मनः**=इसके मन को **स्म**=अवश्य **आपृण**=पूरण करिये।

भावार्थ—हम स्तुति वाणियों से प्रभु की ओर जानेवाले हों। प्रभु हमारी कामनाओं को पूर्ण करेंगे और हमारे मनों की न्यूनताओं को दूर करके उनका पूरण करेंगे।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

विश्वमना

विश्वा॑नि वि॒श्वम॑नसो धि॒या नो॑ वृत्रहन्तम। उग्र॑ प्रणेत॒रधि॑ षू व॑सो गहि॥ ७॥

(१) हे **वृत्रहन्तम**=वासनाओं का अतिशयेन विनाश करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **विश्वमनसः**=सारे विश्व के साथ जिसने अपने मन को जोड़ा हुआ है, उस पुरुष की **धिया**=बुद्धि के साथ **विश्वानि**=सब धनों को प्राप्त कराइये (आगहि)। हम वासनाओं से ऊपर उठकर सब के प्रति प्रीतियुक्त मनवाले होते हुए बुद्धि के साथ सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करें। (२) हे **उग्र**=तेजस्विन्! **प्रणेतः**=प्रकृष्ट नेतृत्व को देनेवाले! **वसो**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले प्रभो! आप हमें **सु**=अच्छी प्रकार **अधिगहि**=ग्रहण करिये, हम आपके प्रिय बन पायें।

भावार्थ—वासनाओं से ऊपर उठकर हम 'विश्वमना' बनें। हम 'तेजस्वी, प्रकृष्ट नेता, हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले' प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'स्तुत्य-स्पृहणीय-कार्यसाधक' धन

वयं ते अस्य वृत्रहन्विद्याम शूर नव्यसः। वसोः स्पार्हस्य पुरुहूत राधसः॥ ८॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले, **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपके **अस्य**=इस **नव्यसः**=अतिशयेन स्तुत्य धन को **विद्याम**=प्राप्त करें (विद् लाभे) अथवा जानें। अर्थात् हमें धन प्राप्त हो और हम धन का उत्तम ही विनियोग करें। (२) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! हम आपके **स्पार्हस्य**=स्पृहणीय **राधसः**=कार्यसाधक **वसोः**=धन का (रिद्याम) लाभ प्राप्त करें (विद् लाभे)। अर्थात् हमें स्पृहणीय कार्यसाधक धन प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हमें 'स्तुत्य स्पृहणीय कार्यसाधक' धन प्राप्त हो।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

अपरीतं शवः, अमृक्ता रातिः

इन्द्र यथा ह्यस्ति तेऽपरीतं नृतो शवः। अमृक्ता रातिः पुरुहूत दाशुषे॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हे **नृतो**=सम्पूर्ण संसार को नृत्य करानेवाले प्रभो! **यथा**=जैसे **ते शवः**=आपका बल **हि**=निश्चय से **अपरीतं अस्ति**=शत्रुओं से अपरिगत, अव्याप्त होता है, अर्थात् कोई भी आप के बल को अभिभूत नहीं कर पाता। उसी प्रकार **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिये, दानशील पुरुष के लिये **रातिः**=आपका दान **अमृक्ता**=अहिंसित है। अर्थात् दानशील के लिये आपका दान सदा प्रवृत्त रहता ही है। (२) प्रभु अपने उपासक के लिये उस शक्ति को प्राप्त कराते हैं जो किसी भी शत्रु से अभिभूत नहीं होती, तथा प्रभु इस उपासक के लिये उस धन के दान को करते हैं, जो सदा होता ही रहता है। यह धन का दान कभी समाप्त नहीं होता।

भावार्थ—उस सर्वशक्तिमान् प्रभु का बल शत्रुओं से अभिभूत नहीं होता। उस प्रभु का धन का दान दाश्वान् पुरुष के लिये सदा होता ही है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

राधसे-मघत्तये

आ वृषस्व महामह महे नृतम राधसे। दूळ्हश्चिद् दृह्य मघवन्मघत्तये॥ १०॥

(१) हे **महामह**=महान् पूजनीय **नृतम**=नेतृतम, सर्वोत्तम नेतः प्रभो! आप **महे राधसे**=महान् ऐश्वर्य के लिये **आवृषस्व**=हमें शक्तिशाली बनाइये। आपका पूजन करते हुए, आपसे प्रदर्शित पथ के पथिक बनते हुए शक्तिशाली बनकर हम महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करें। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **दृढः चित् (दृढानि)**=दृढ़ भी शत्रु-दुर्गों को **दृह्य**=विदीर्ण कीजिये, जिससे **मघत्तये**=हम ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकें। 'काम-क्रोध-लोभ' रूप आसुरभावों के दुर्गों के नष्ट होने पर ही वास्तविक ऐश्वर्य का लाभ होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति दें कि हम ऐश्वर्य को सिद्ध कर सकें। दृढ़ भी शत्रु-दुर्गों को विदीर्ण करके हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करें, काम-क्रोध-लोभ को पराजित करके हम 'शरीर, मन व मस्तिष्क' के स्वास्थ्य को सिद्ध करें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु से ही याचना

नू अन्यत्रा चिदद्रिवस्त्वन्नो जग्मुराशसः। मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिः॥ ११॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! **नः आशसः**=हमारी कामनायें, आशंसन, अभिलाषायें **त्वत्**=आप से **अन्यत्र**=और जगह **नू चित्**=नहीं ही **जग्मुः**=जायें। अर्थात् हम अपनी सब अभिलाषायें आप के सामने ही प्रकट करें। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **ऊतिभिः**=रक्षणों के साथ **तव**=आपके **तत्**=उस ऐश्वर्य को **शग्धि**=दीजिये (देहि)।

भावार्थ—हम प्रभु से ही याचना करें। प्रभु रक्षणों के साथ हमें सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

धन-ज्ञान व बल

नह्यङ्ग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे। राये द्युम्नाय शवसे च गिर्वणः॥ १२॥

(१) हे **नृतो**=सम्पूर्ण संसार को नृत्य करानेवाले, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के संचालक प्रभो! **त्वद् अन्यम्**=आप से भिन्न किसी अन्य को **राधसे**=ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये **न हि**=नहीं ही **विन्दामि**=प्राप्त करता हूँ। आप ही को सब ऐश्वर्यों के देनेवाला जानता हूँ। (२) हे **अंग**=गतिशील प्रभो! हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से उपासनीय प्रभो! मैं **राये**=धन के लिये, **द्युम्नाय**=ज्ञान-ज्योति के लिये **च**=और **शवसे**=बल के लिये आप को ही प्राप्त करता हूँ। आप ही तो मेरे लिये सब धनों, ज्ञानों व बलों के प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे लिये 'धन, ज्ञान व बल' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

सोमरक्षण व धन-प्राप्ति

एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु। प्र राधसा चोदयाते महित्वना॥ १३॥

(१) हे जीवो! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **इन्दुम्**=सोम को **आसिञ्चत**=शरीर में ही चारों ओर सिक्त करो। वस्तुतः ये प्रभु ही **सोम्यम्**=सोम सम्बन्धी **मधु**=इस सारभूत जीवन को मधुर बनानेवाली वस्तु को **पिबाति**=शरीर में ही पीनेवाले व सुरक्षित करनेवाले हैं। प्रभु-स्मरण से ही सोम का रक्षण होता है। (२) ये प्रभु ही **महित्वना**=अपनी महिमा से **राधसा**=कार्यसिद्धि के उद्देश्य से सब धनों को **प्रचोदयाते**=हमारे में प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें। वस्तुतः प्रभु ही सोम को सुरक्षित करते हैं और हमारे लिये कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

स्तुति करता हुआ 'अश्व्य'

उपो हरीणां पतिं दक्षं पृञ्चन्तमब्रवम्। नूनं श्रुधि स्तुवतो अश्व्यस्य॥ १४॥

(१) मैं **हरीणां पतिम्**=सब दुःखों का हरण करनेवाले इन्द्रियाश्वों के स्वामी, **दक्षम्**=हमारे बलों का वर्धन करनेवाले **पृञ्चन्तम्**=सर्वत्र सम्पृक्त, सर्वव्यापक प्रभु का **उ**=निश्चय से **उप अब्रवम्**=समीपता से उच्चारण करूँ, प्रभु के गुणों का गायन करूँ। (२) हे प्रभो! आप **स्तुवतः**=स्तुति करते हुए **अश्व्यस्य**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले की स्तुति को **नूनम्**=निश्चय से **श्रुधि**=सुनिये। जो भी

व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को उत्तम बनाता है, उसके स्तुति वचनों को प्रभु अवश्य सुनते हैं। इन्द्रियों को उत्तम बनाने के लिये जो यत्नशील नहीं, उसका स्तवन व्यर्थ ही है।

भावार्थ–स्तोता के इन्द्रियाश्वों को प्रभु उत्तम बनाते हैं। उसके बल का वर्धन करते हैं। उसके साथ प्रभु का सम्पर्क बढ़ता है। हम इन्द्रियाश्वों को उत्तम बनाने के लिये यत्नशील हों, तभी हमारा स्तवन सार्थक होगा।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

वीरता-ऐश्वर्य-गतिशीलता व कल्याण

नह्य१ङ्ग पुरा चन जज्ञे वीरतरस्त्वत्। नकी राया नैवथा न भन्दना॥ १५॥

(१) हे **अंग**=गतिशील प्रभो! **पुराचन**=आज तक पहले कभी भी **त्वत्**=आप से **वीरतरः**=अधिक वीर **न हि**=नहीं ही **जज्ञे**=हुआ। प्रभु सर्वोपरि वीर हैं। प्रभु ही हमारे सब शत्रुओं को कम्पित करनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! **नकिः राया**=तो ही धन के दृष्टिकोण से आप से अधिक कोई हुआ है। **न एवथा**=न गतिशीलता के दृष्टिकोण से आप से कोई अधिक है और **न**=न ही **भन्दना**=कल्याण व सुख के दृष्टिकोण से कोई आप से अधिक हुआ है।

भावार्थ–प्रभु ही 'वीरता, ऐश्वर्य, गतिशीलता व कल्याण' के स्रोत हैं। इन दृष्टिकोणों से कोई भी प्रभु से अधिक नहीं है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

कर्मठ ही सच्चा उपासक है

एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः। एवा हि वीरः स्तवते सदावृधः॥ १६॥

(१) हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील पुरुष! तू **इत्** वा **उ**=निश्चय से **मध्वः अन्धसः**=माधुर्य का संचार करनेवाले सोम (वीर्य) से भी **मदिन्तरम्**=अधिक आनन्दित करनेवाले उस प्रभु को **आसिञ्च**=अपने में सिक्त कर। प्रभु की उपासना का भाव तेरी नस-नस में व्याप्त हो जाये। (२) वह **वीरः**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करके दूर करनेवाला, **सदावृधः**=सदा वृद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ प्रभु **एवा हि**=गतिशीलता के द्वारा ही **स्तवते**=स्तुति किया जाता है। अर्थात् क्रियाशील पुरुष ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ–शरीर में सुरक्षित सोम उल्लास का कारण होता है। प्रभु का हृदय में धारण उससे भी अधिक आनन्दित करनेवाला होता है। उस 'वीर सदावृध्' प्रभु का सच्चा उपासक वही है जो क्रियाशील है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

न शवसा, न भन्दना

इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम्। उदानंश शवसा न भन्दना॥ १७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **हरीणां स्थातः**=इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठाता प्रभो! **ते**=आपकी **पूर्व्यस्तुतिम्**=पालन व पूरण करनेवाली बातों में सर्वोत्तम इस स्तुति को **नकिः उदानंश**=कोई भी अति व्याप्त नहीं कर पाता, कोई भी व्यक्ति आपकी स्तुति का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं होता। (२) **न शवसा**=न तो बल से आपको कोई अतिक्रान्त करता है और **न भन्दना**=न कल्याण व सुख से कोई आपको लाँघनेवाला है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। यह स्तुति हमारी न्यूनताओं को दूर करके हमारा पूरण करती है। प्रभु हमें 'बल, कल्याण व सुख' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'शक्तियों के स्वामी-यज्ञों से वर्धनीय' प्रभु

तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः। अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम्॥ १८॥

(१) **श्रवस्यवः**=ज्ञान व यश की कामनावाले हम **तम्**=उस **वः**=तुम सब के **वाजानाम्**=बलों के **पतिम्**=स्वामी प्रभु को **अहूमहि**=पुकारते हैं। प्रभु हमारी सब इन्द्रियों के बल का वर्धन करके हमारे ज्ञान व शक्ति का वर्धन करते हैं। इस प्रकार हमारा जीवन यशस्वी बनता है। (२) हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **अप्रायुभिः**=प्रमाद से रहित **यज्ञेभिः**=यज्ञों से **वावृधेन्यम्**=वर्धनीय हैं। जब हम प्रमादशून्य होकर यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं, तो प्रभु का प्रकाश हमारे में निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु सब शक्तियों के स्वामी हैं। यज्ञों के द्वारा प्रभु का प्रकाश हमारे में होता है। इस प्रभु को ज्ञानी व यशस्वी बनने के लिये हम पुकारते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'स्तोम्य नर' प्रभु का स्तवन

एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम्। कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत्॥ १९॥

(१) हे **सखायः**=मित्रो! **एत उ**=निश्चय से आओ। **नु**=अब उस **स्तोम्यम्**=स्तुति के योग्य **नरम्**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु का **स्तवाम**=स्तवन करें। यह सम्मिलित प्रार्थना हमें प्रभु के अधिक और अधिक समीप लानेवाली हो। (२) हम उस प्रभु का स्तवन करें **यः**=जो **एकः इत्**=अकेले ही **विश्वः कृष्टीः**=सब मनुष्यों को **अभ्यस्ति**=अभिभूत करनेवाले हैं। हमारे सब शत्रुओं का पराजय ये प्रभु ही तो करेंगे।

भावार्थ—हम सब मित्र मिलकर प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे सब शत्रुओं का अभिभव करके हमें उन्नतिपथ पर ले चलेंगे।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'घृत व मधु' से भी अधिक मधुर वचन

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः। घृतात्स्वादीयो मधुनश्च वोचत॥ २०॥

(१) **अगोरुधाय**=(गाः न रुणद्धि) ज्ञान की वाणियों को न रोकनेवाले, निरन्तर ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाले, **गविषे**=हमारे लिये (गावः इन्द्रियाणि) उत्तम इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाले और इस प्रकार **द्युक्षाय**=प्रकाश में निवास करानेवाले प्रभु के लिये, ऐसे प्रभु की प्राप्ति के लिये **दस्म्यम्**=दुःख का नाश करनेवालों में उत्तम **वचः**=वचन को **वोचत**=बोलो। दुःखियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दुःखनिवारक वचनों को बोलनेवाला ही उस प्रभु को प्राप्त करता है जो निरन्तर ज्ञान की वाणियों व उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराके हमें प्रकाश में निवासवाला बनाते हैं। (२) हे मनुष्यो! प्रभु की प्राप्ति के लिये **घृतात् स्वादीयः**=घृत से भी अधिक स्वादिष्ट **च**=तथा **मधुनः**=शहद से भी अधिक मधुर वचन (वोचत) बोलो। कटु वचन दूसरे के हृदय को काटते हुए अन्तःस्थित प्रभु के भी निरादर का कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति के लिये 'दुःखनाशक, घृत से भी स्वादिष्ट और शहद से भी अधिक मधुर' वचनों को बोलें। ये प्रभु ज्ञान की वाणियों व उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराके हमारे लिये प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

अनन्त 'वीर्य-ऐश्वर्य-ज्ञान व दान' वाले प्रभु

यस्यामितानि वीर्या३ न राधः पर्येतवे। ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥ २१ ॥

(१) **यस्य**=जिस प्रभु के **वीर्या**=वृत्रवध आदि पराक्रम के कार्य **अमितानि**=अगणित हैं, अपरिमित हैं, अनन्त शक्तिवाले वे प्रभु हैं। उस प्रभु का **राधः**=ऐश्वर्य **पर्येतवे न**=चारों ओर से घेरे जाने योग्य नहीं है। अनन्त है उस प्रभु का ऐश्वर्य। (२) **ज्योतिः न**=प्रकाश की तरह **दक्षिणा**=उस प्रभु का दान भी **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार को **अभ्यस्ति**=अभिभूत करनेवाला है। उस प्रभु की ज्योति व उस प्रभु का दान निरतिशय है, सर्वातिशायी है, सब से अधिक है।

भावार्थ—प्रभु का पराक्रम व ऐश्वर्य अनन्त है। वे प्रभु अपनी ज्योति व अपने दान से सभी को अभिभूत करनेवाले हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'अनूर्मि-वाजी-यम' प्रभु का स्तवन

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम्। अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥ २२ ॥

(१) **व्यश्ववत्**=व्यश्व की तरह उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले पुरुष की तरह तू **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन कर, जो **अनूर्मिम्**=(ऊर्मि) शोक-मोह, जरा-मृत्यु व क्षुत् पिपासा रूप ऊर्मियों से रहित हैं 'शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत् पिपासे षडूर्मयः'। उस प्रभु में शोक-मोह आदि किसी भी दुर्बलता का निवास नहीं। **वाजिनम्**=जो प्रभु शक्तिशाली हैं और **यमम्**=सर्वनियन्ता हैं। इस प्रभु का स्तवन करता हुआ स्तोता भी दुर्बलताओं से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है, शक्तिशाली बनता है और अपना संयम करनेवाला होता है। (२) उस प्रभु का हम स्तवन करें जो **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिये, प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिये **अर्यः**=काम-क्रोध-लोभरूप शत्रुओं के **गयम्**=गृह को **विमंहमानम्**=विशेषरूप से प्राप्त कराता है। काम ने आज तक इन्द्रियों में अपना निवास बनाया हुआ था, क्रोध ने मन को अपनाया हुआ था और लोभ ने बुद्धि पर अधिकार किया हुआ था। प्रभु इन सब को दूर करके यह शरीर गृह दाश्वान् को प्राप्त कराते हैं। उपासक के जीवन में काम-क्रोध-लोभ का निवास नहीं रहता।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम शोक-मोह आदि से ऊपर उठते हैं, शक्तिशाली व संयमी बनते हैं। हमारा शरीर काम-क्रोध-लोभ का घर नहीं बना रहता।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'दशमं नवम्' (स्तुहि)

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम्। सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥ २३ ॥

(१) **एवा**=गतिशीलता के द्वारा, स्वकर्त्तव्य कर्म में लगे रहने के द्वारा, हे **वैयश्व**=विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले स्तोता! तू **नूनम्**=निश्चय से **उपस्तुहि**=उस प्रभु का स्तवन कर, जो प्रभु **दशमम्**=(दश्यत्से शत्र्यवः अनेन) हमारे शत्रुओं का विध्वंस करनेवाले हैं अतएव **नवम्**=स्तुत्य हैं (नु स्तुतौ)। (२) उस प्रभु का तू स्तवन कर जो **सुविद्वांसम्**=उत्तम ज्ञानी हैं व **चरणीनाम्**=कर्त्तव्य

कर्मों के आचरण में तत्पर मनुष्यों के **चर्कृत्यम्**=फिर-फिर नमस्कार करने योग्य हैं। यह प्रभु नमस्कार ही तो उन्हें शक्ति देता है।

भावार्थ-उस 'शत्रु-विध्वंसक-स्तुत्य-सुविद्वान्-नमस्कर्त्तव्य' प्रभु का हम स्तवन करें। यह स्तवन ही हमें उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला व कर्त्तव्य कर्मक्षम बनायेगा।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु-स्मरण व दुर्वृत्तिभङ्ग

वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्। अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव॥ २४॥

(१) हे **वज्रहस्त**=वज्र को हाथ में लिये हुए प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **निर्ऋतीनाम्**=उपद्रवचारी राक्षसी भावों के **परिवृजम्**=परिवर्जन को, हमारे से पृथक् करने को **वेत्था**=जानते हैं। आपका स्मरण व स्तवन होते ही हमारे हृदयों को राक्षसी भाव छोड़कर चले जाते हैं। (२) इसी प्रकार आप इन राक्षसी भावों के परिवर्जन को जानते हैं, **इव**=जिस प्रकार **शुन्ध्युः**=यह सब अन्धकार का शोधन कर देनेवाला सूर्य **अहरहः**=प्रतिदिन **परिपदाम्**=आहार के लिये चारों ओर गतिवाले पशु-पक्षियों के स्वस्थान परिवर्जन को जानता है। सूर्योदय होते ही सब पक्षी घोंसलों को छोड़कर इधर-उधर निकल जाते हैं। इसी प्रकार प्रभु-स्मरण होते ही राक्षसी भाव हृदयों को छोड़ जाते हैं।

भावार्थ-प्रभु-स्मरण राक्षसी भावों को दूर भगा देता है। इनको दूर रखने के लिये दिन-रात प्रभु-स्मरण आवश्यक है। सूर्यास्त होने पर पक्षी जैसे घोंसलों में लौट आते हैं, इसी प्रकार प्रभु का विस्मरण होते ही राक्षसी भावों के लौट आने की आशंका होती है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्रभु-रक्षण के द्वारा ज्ञान व शक्ति का विस्तार

तदिन्द्राव आ भर येना दंसिष्ठ कृत्वने। द्विता कुत्साय शिश्नथो नि चोदय॥ २५॥

(१) हे **दंसिष्ठ**=शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **येन**=जिस रक्षण के द्वारा आप **कृत्वने**=कर्त्तव्य कर्मों को करनेवाले पुरुष का पालन करते हैं, **तद् अवः**=उस रक्षण को हमारे लिये **आभर**=प्राप्त कराइये। (२) आप अपने रक्षण के द्वारा **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले इस पुरुष के लिये **द्विता**=ज्ञान व शक्ति के विस्तार के हेतु से (द्वौ तनोति) **शिश्नथः**=शत्रुओं का संहार करते हैं। शत्रुओं के संहार के द्वारा उसके ज्ञान व सामर्थ्य का वर्धन करते हैं। हमारे लिये भी उस रक्षण को **नि चोदय**=नितरां प्रेरित करिये। आप के इस रक्षण के द्वारा हम शत्रुओं से अनाक्रान्त होकर ज्ञान व शक्ति का वर्धन कर पायें।

भावार्थ-प्रभु कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति का रक्षण करते हैं। वासनाओं का संहार करनेवाला पुरुष प्रभु-रक्षण को प्राप्त करता है। प्रभु से रक्षित व्यक्ति वासनाओं से आक्रान्त न होकर ज्ञान व शक्ति का विस्तार कर पाता है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

अभिमान विजय

तमु त्वा नूनमीमहे नव्यं दंसिष्ठ सन्यसे। स त्वं नो विश्वा अभिमातीः सक्षणिः॥ २६॥

(१) हे **नव्य**=स्तुत्य **दंसिष्ठ**=शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **तं त्वा उ नूनम्**=उन आपको ही निश्चय से **सन्यसे**=सब कामनाओं के त्याग के लिये **ईमहे**=याचना करते हैं। (२)

सः=वे **त्वम्**=आप ही **नः**=हमारे **विश्वाः**=सब **अभिमातीः**=शत्रुओं को, अभिमान आदि आसुरभावों को **सक्षणिः**=पराभूत करनेवाले हैं।

भावार्थ–प्रभु उपासक की कामनाओं व अभिमान आदि आसुर भावों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

विनाशक पाप से छुटकारा

य ऋक्षादंहसो मुचद्यो वार्यात्सप्त सिन्धुषु। वधर्दासस्य तुविनृम्ण नीनमः॥ २७॥

यः=जो प्रभु **ऋक्षात्**=(ऋन् मनुष्यान् क्षणोति) मनुष्यों का संहार करनेवाले **अंहसः**=पाप से **मुचत्**=मुक्त करते हैं। **यः वा**=या जो **सप्त सिन्धुषु**=सातों समुद्रों में होनेवाले धनों को स्तोताओं के लिये **अर्यात्**=प्रेरित करते हैं। हे **तुविनृम्ण**=महान् धन व बल वाले प्रभो! वे आप **दासस्य**=हमारा उपक्षय करनेवाले इस वासनारूप शत्रु के **वधः**=वध साधन आयुध को **नीनमः**=नत करते हैं, झुका देते हैं। यह दास हमारा उपक्षय नहीं कर पाता।

भावार्थ–प्रभु पापों से मुक्त करके हमें सब ऐश्वर्यों को देते हैं। हमारा उपक्षय करनेवाली वासना को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—वरोः सौषाम्णस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

पति-पत्नी की दानशीलता

यथा वरो सुषाम्णे सनिभ्य आवहो रयिम्। व्यश्वेभ्यः सुभगे वाजिनीवति॥ २८॥

(१) यहाँ मन्त्र में पति-पत्नी को 'वरु व सुभगा' कहा गया है। पति वरु है, श्रेष्ठ मार्ग का वरण करनेवाला है, प्रकृति की अपेक्षा प्रभु के मार्ग पर चलनेवाला है। पत्नी घर को सौभाग्य-सम्पन्न बनानेवाली है। इनके लिये कहते हैं कि हे **वरो**=श्रेष्ठ मार्ग का वरण करनेवाले गृह स्वामिन्! तू **यथा**=जैसे **सुषाम्णे**=उत्तम शान्त स्वभाववाले उपासकों के लिये **सनिभ्यः**=संविभावा के लिये **रयिं आवहः**=धन को प्राप्त कराता है। इसी प्रकार हे **वाजिनीवति**=उत्तम अन्नोंवाली **सुभगे**=घर को सौभाग्य सम्पन्न बनानेवाली पत्नि! तू भी **व्यश्वेभ्यः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले पुरुषों के लिये धन को देनेवाली होती है। (२) वस्तुतः घर में अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने के द्वारा घर को उत्तम बनाते हुए पति-पत्नी दोनों का ही कर्त्तव्य है कि उत्तम पुरुषों के लिये उत्तम कार्यों के लिये सदा दान करते ही रहें।

भावार्थ–पति उत्तम मार्ग का वरण करता हुआ घर को ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाये तथा पत्नी घर में अन्न की कमी न होने देती हुई घर को सौभाग्य-सम्पन्न रखे। दोनों सदा उत्तम पुरुषों को उत्तम कार्यों के लिये धन देते रहें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—वरोः सौषाम्णस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

'व्यश्व सोमी' के लिये दान

आ नार्यस्य दक्षिणा व्यश्वाँ एतु सोमिनः। स्थूरं च राधः शतवत्सहस्रवत्॥ २९॥

(१) **नार्यस्य**=अतिशयेन नरहितकारी पुरुष (नर्यस्य अपत्यम्) की **दक्षिणा**=दान **व्यश्वान्**=विशिष्ट इन्द्रियाश्ववाले **सोमिनः**=सोमरक्षक पुरुषों को **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। गत मन्त्र का

'वरु' ही यहाँ नार्य है। यह उन पुरुषों के लिये दान करता है जो उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले व सोमरक्षक (संयमी जीवनवाले) हैं। (२) इन दानों से नार्य का धन घट नहीं जाता। अपितु उसका **राधः**=ऐश्वर्य **स्थूरम्**=(स्थूलं) और अधिक बढ़ा हुआ **शतवत्**=सैंकड़ों की संख्यावाला **च**=व **सहस्रवत्**=सहस्रों की संख्यावाला होता है।

भावार्थ—हम परोपकार की वृत्तिवाले बनकर उत्तम इन्द्रियोंवाले संयमी पुरुषों के लिये दान को दें। हमारा यह दिया हुआ दान हमारे ऐश्वर्य को सैंकड़ों व हजारों गुणा बढ़ानेवाला होगा।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—वरोः सौषाम्णस्य दानस्तुतिः ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप् ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

गोमती पर अवस्थान

यत्त्वा पृच्छादीजानः कुहया कुहयाकृते। एषो अपश्रितो वलो गोमतीमव तिष्ठति॥ ३०॥

(१) हे **कुहया कुहयाकृते**=(कुहया-कुहया कृतिः यस्य) हे आश्चर्यों और आश्चर्यों को करनेवाले, जादू भरे ब्रह्माण्ड को बनानेवाले प्रभो! **यत्**=जब **ईजानः**=यज्ञशील पुरुष **त्वा पृच्छात्**=आपके विषय में जिज्ञासावाला होता है, तो **एषः**=यह **अपश्रितः**=विषय-वासनाओं से दूर हुआ-हुआ **वलः**=(वरः) काम-क्रोध-लोभ का निवारण करनेवाला जिज्ञासु **गोमतीम्**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली वेदमाता के समीप **अवतिष्ठिति**=अवस्थित होता है, नम्रता से स्थित होता है। (२) संसार को आश्चर्यमय रचनाओं से भरा हुआ देखकर उपासक प्रभु विषयक जिज्ञासावाला बनता है। यह जिज्ञासा उसे विषय-वासनाओं से ऊपर उठाती है। काम-क्रोध-लोभ से दूर होता हुआ यह उपासक स्वाध्यांय प्रवृत्त होता है। इस स्वाध्याय के द्वारा यह अपने जीवन को और अधिक पवित्र करता हुआ प्रभु-दर्शन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। हमारे में प्रभु-विषयक जिज्ञासा हो। यह जिज्ञासा हमें सत्पथ पर प्रवृत्त करेगी। हम स्वाध्यायशील बनकर वेदमाता के चरणों में स्थित होकर पिता प्रभु के प्रिय बन पायेंगे।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'विश्वमना वैयश्व' ही है। यह मित्रावरुणौ की आराधना करता है। 'मित्रावरुणा' का भाव स्नेह व निर्द्वेषता का धारण करना है। ये प्राणापान का भी द्योतन करते हैं—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'संसार के रक्षक' मित्रावरुण

ता वां विश्वस्य गोपा देवा देवेषु यज्ञिया। ऋतावाना यजसे पूतदक्षसा॥ १॥

(१) **ता**=वे **वाम्**=आप दोनों (युवां) स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **विश्वस्य गोपा**=संसार के रक्षक हो। स्नेह व निर्द्वेषता के अभाव में संसार का विनाश है। **देवा**=ये प्रकाशमय हैं, **देवेषु यज्ञिया**=सब दिव्यगुणों में संगतिकरण योग्य हैं। (२) **ऋतावाना**=ये स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमारे जीवनों में ऋत का रक्षण करनेवाले हैं। **पूतदक्षसा**=हमारे बलों को पवित्र बनानेवाले हैं। हे विश्वमना वैयश्व! तू **यजसे**=इनका अपने साथ मेल करता है। इन भावों को अपनाकर ही वस्तुतः तू 'विश्वमना वैयश्व' बनता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव ही संसार के रक्षक हैं, प्रकाशमय हैं, सब दिव्यगुणों में श्रेष्ठ व संगतिकरण योग्य हैं, हमारे जीवनों में ऋत का रक्षण करते हैं और हमारे बलों को पवित्र बनाते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'सुजाता-तनया-धृतव्रता'

मित्रा तना न रथ्या३ वरुणो यश्च सुक्रतुः। सनात्सुजाता तनया धृतव्रता॥ २॥

(१) **मित्रा**=स्नेह का भाव, जो **न**=जैसे **तना**=शक्तियों का विस्तार करनेवाला है, उसी प्रकार **रथ्या**=शरीररूप रथ को उत्तमता से ले चलनेवाला है। **यः च**=और जो **वरुणः**=निर्द्वेषता का भाव है, व **सुक्रतुः**=उत्तम प्रज्ञान व शक्तिवाला है। स्नेह से शक्ति वृद्धि होती है और शरीर रथ का उत्तम संचालन होता है। निर्द्वेषता से ज्ञान व शक्ति का वर्धन होता है। (२) ये मित्र और वरुण **सनात्**=सदा से **सुजाता**=उत्तम विकासवाले हैं, **तनया**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले हैं और **धृतव्रता**=व्रतों का धारण करनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से उत्तम विकास-शक्तियों का विस्तार व पुण्य कर्मों का धारण होता है।

भावार्थ—स्नेह यदि हमारी शक्तियों का विस्तार करता है और शरीर-रथ का उत्तम संचालन करता है, तो निर्द्वेषता का भाव हमें **सुक्रतु**=उत्तम कर्मों व प्रज्ञानवाला बनाता है। ये स्नेह व निर्द्वेषता के भाव उत्तम विकासवाले, शक्तियों का विस्तार करनेवाले व पुण्य कर्मों के धारक हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

अक्षिति माता से मित्रावरुणौ का जन्म

ता माता विश्ववेदसासुर्याय प्रमहसा। मही जजानादितिर्ऋतावरी॥ ३॥

(१) **ता**=उन मित्र और वरुण को **ऋतावरी**=ऋत का रक्षण करनेवाली **मही**=महनीय **अदितिः माता**=अदीना देवमाता, स्वास्थ्य की देवता (अ+दिति=अखण्डन, स्वास्थ्य का न टूटना) **जजान**=उत्पन्न करती है। स्वस्थ मनुष्य ही स्नेह व निर्द्वेषता के भावों का धारण करनेवाला होता है। अस्वास्थ्य मनुष्य को चिड़चिड़ा बना देता है। (२) ये मित्र और वरुण **विश्ववेदसा**=सम्पूर्ण आन्तर धनों को प्राप्त करानेवाले हैं और **प्रमहसा**=प्रकृष्ट तेजवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर सब दिव्यगुण, सारी दैवी सम्पत्ति प्राप्त होती है और हम तेजस्विता का अपने में रक्षण करनेवाले होते हैं। अदिति माता इसलिए मित्रावरुणौ को जन्म देती है कि **असुर्याय**=आसुर भावों का विनाशक बल हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—स्वास्थ्य हमारे जीवनों में स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को जन्म देता है। इन स्नेह व निर्द्वेषता के भावों से सम्पूर्ण दैवी सम्पत्ति प्राप्त होती है और प्रकृष्ट तेज प्राप्त होता है। ये मित्रावरुण सब आसुर भावों के विनाशक बल को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

सम्राजा देवौ असुरा

महान्ता मित्रावरुणा सम्राजा देवावसुरा। ऋतावानावृतमा घोषतो बृहत्॥ ४॥

(१) **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **महान्ता**=महान् हैं, महिमावाले हैं, पूज्य हैं। **सम्राजा**=ये जीवन को सम्यक् राजमान (दीप्त) बनाते हैं। **देवौ**=प्रकाशमय हैं और **असुरा**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं। द्वेष प्राणशक्ति के ह्रास का कारण होता है। (२) **ऋतावानौ**=ऋत का रक्षण करनेवाले ये मित्र और वरुण **बृहत् ऋतम्**=वृद्धि के कारणभूत ऋत को **आघोषतः**=हमारे जीवन में उच्चारित करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के भावों से हमारा जीवन **ऋतमय**=यज्ञमय बनता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमारे जीवनों को यज्ञमय बनाते हैं। इन यज्ञों के द्वारा ये हमें दीप्त, दिव्यगुणयुक्त व प्राणशक्ति सम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'शक्ति को न गिरने देनेवाले, उन्नति के प्रेरक' मित्रावरुणौ

नपाता शवसो महः सूनू दक्षस्य सुक्रतू। सृप्रदानू इषो वास्त्वधि क्षितः ॥ ५ ॥

(१) वे मित्र और वरुण=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **महः शवसः नपातः**=महान् बल के न नष्ट होने देनेवाले हैं। **दक्षस्य सूनू**=उन्नति के प्रेरक हैं (दक्ष् To grow)। **सुक्रतू**=शोभन प्रज्ञानों व कर्मोंवाले हैं। (२) **इषः**=प्रभु प्रेरणा को प्राप्त कराने के द्वारा **सृप्रदानू**=विस्तृत रूप में वासनाओं का **लवन**=खण्डन करनेवाले हैं (दाप् लवने)। ये मित्र और वरुण **वास्तु अधि**=इस शरीर गृह में **क्षितः**=निवास करते हैं।

भावार्थ—मेरे जीवन में स्नेह व निर्द्वेषता शक्ति को नष्ट नहीं होने देते, उन्नति का कारण बनते हैं। ये उत्तम शक्ति व प्रज्ञान को उत्पन्न करते हैं। प्रभु प्रेरणा के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

सब धन, दिव्य व पार्थिव प्रेरणायें, आनन्द की वृष्टि

सं या दानूनि येमथुर्दिव्याः पार्थिवीरिषः। नभस्वतीरा वां चरन्तु वृष्टयः ॥ ६ ॥

(१) **या**=जो आप हे मित्र और वरुण! **दानूनि**=सब देय धनों को **संयेमथुः**=हमारे लिये देते हो, उन **वाम्**=आपको **दिव्याः**=मस्तिष्करूप द्युलोक सम्बन्धी तथा **पार्थिवीः**=शरीररूप पृथिवी सम्बन्धी **इषः**=प्रेरणायें **आचरन्तु**=प्राप्त हों। अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर हृदयस्थ प्रभु के द्वारा मस्तिष्क व शरीर को ठीक बनाये रखने के लिये प्रेरणायें प्राप्त होती हैं। (२) इन प्रेरणाओं को प्राप्त करने पर और तदनुसार जीवन को बनाने पर **नभस्वतीः**=धर्ममेघ समाधि में मस्तिष्करूप आकाश से होनेवाली **वृष्टयः**=आनन्द की वर्षायें **आचरन्तु**=हमें सर्वथा प्राप्त हों।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से सब दैवी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। मस्तिष्क व शरीर सम्बन्धी प्रेरणायें हृदयस्थ प्रभु से हमारे लिये दी जाती हैं। और अन्ततः धर्ममेघ समाधि में पहुँचकर हम आनन्द की वृष्टियों का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

यज्ञ-दीप्ति-नम्रता

अधि या बृहतो दिवो३ऽभि यूथेव पश्यतः। ऋतावाना सम्राजा नमसे हिता ॥ ७ ॥

(१) **या**=जो मित्र और वरुण हैं, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हैं, ये **बृहतः दिवः**=महान् दिव्यगुणों को हमारे जीवनों में **अधि पश्यतः**=आधिक्येन देखते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमारे में दिव्यगुणों को जन्म देते हैं। इस प्रकार ये दिव्यगुणों का ध्यान करते हैं, **इव**=जैसे पालक लोग **यूथा अभि**=गौओं आदि के झुण्डों को देखते हैं। (२) ये मित्र और वरुण **ऋतावाना**=ऋत का, यज्ञ का रक्षण करनेवाले हैं, **सम्राजा**=हमारे जीवनों को सम्यक् दीप्त करनेवाले हैं। और **नमसे हिता**=नमन के लिये हितकर हैं। अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें अभिमान को नहीं उत्पन्न होने देते।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से (क) दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है, (ख) ऋत का रक्षण होता है, (ग) जीवन देदीप्यमान बनता है और (घ) नम्रता व निरभिमानता की स्थापना होती है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

ऋतावाना, धृतव्रता, क्षत्रिया

ऋतावा॑ना॒ नि षे॑दतुः॒ साम्रा॑ज्याय सु॒क्रतू॑। धृ॒तव्र॑ता क्ष॒त्रिया॑ क्ष॒त्रमा॑शतुः ॥ ८ ॥

(१) **ऋतावाना**=ऋत का, यज्ञ का रक्षण करनेवाले मित्र और वरुण (स्नेह व निर्द्वेषता के भाव) **साम्राज्याय**=जीवन को सम्यक् दीप्त करने के लिये **निषेदतुः**=निषण्ण होते हैं। हमारे जीवनों में स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर दीप्ति प्राप्त होती है। ये **सुक्रतू**=शोभन कर्मों व प्रज्ञानोंवाले हैं। (२) ये मित्र और वरुण **धृतव्रता**=व्रतों व पुण्यों का धारण करनेवाले हैं, **क्षत्रिया**=सब क्षतों से हमारा त्राण (रक्षण) करनेवाले हैं। **क्षत्रं आशतुः**=ये शरीर में बल का व्यापन करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के अभाव में विष उत्पन्न होकर शरीर की शक्ति का ह्रास करते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से शरीर में दीप्ति प्रज्ञान व उत्तम कर्मों की स्थिति होती है। हम पुण्य कर्मों को करते हुए बल का व्यापन करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

सन्मार्गदर्शक 'मित्रावरुणौ'

अ॒क्ष्णश्चि॑द्गातु॒वित्त॑रानुल्ब॒णेन॒ चक्ष॑सा। नि चि॑न्मि॒षन्ता॑ निचि॒रा नि चि॑क्यतुः ॥ ९ ॥

(१) ये मित्र और वरुण=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **अक्ष्णः चित्**=आँखों से भी अधिक **गातुवित्तरा**=मार्ग को जाननेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता ठीक ही मार्ग को दिखाते हैं। द्वेष में मनुष्य गलत सोचता है। (२) ये स्नेह व निर्द्वेषता **अनुल्बणेन चक्षसा चित्**=न दुःसह तेजवाली सौम्य दृष्टि से ही अथवा अनुरवण-अदुःखद-वचनों से ही (चक्ष् व्यक्तायां वाचि) **निमिषन्ता**=सब व्यवहारों को करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता में कटुता का स्थान नहीं रहता। (३) ये स्नेह व निर्द्वेषता **निचिरा**=नितरां चिरन्तन होते हुए, अर्थात् दीर्घायुष्यवाले होते हुए **निचिक्यतुः**=(पूजितौ बभूवतुः सा०) सत्कार के योग्य होते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता से दीर्घायुष्य प्राप्त होता है तथा जीवन सत्करणीय बनता है। लोग ऐसे जीवन को आदर की दृष्टि से देखते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता से (१) हमें जीवन का ठीक मार्ग दिखता है, (२) हमारे सब व्यवहार मधुर होते हैं, (३) दीर्घ सत्करणीय जीवन प्राप्त होता है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—विश्वेदेवाः ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

अदितिः-नासत्या-मरुतः

उ॒त नो॑ दे॒व्यदि॑तिरुरु॒ष्यतां॒ नास॑त्या। उ॒रु॒ष्यन्तु॑ म॒रुतो॑ वृ॒द्धश॑वसः ॥ १० ॥

(१) **उत**=और **देवी**=दिव्यगुणों की जननी **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता **नः**=हमें **उरुष्यताम्**=रक्षित करे यह अदिति ही 'मित्र और वरुण' को जन्म देकर, स्नेह व निर्द्वेषता को उत्पन्न करके, हमारा रक्षण करती है। **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले अश्विनीदेव हमारा रक्षण करें। (२) **वृद्धशवसः**=बढ़े हुए बलवाले **मरुतः**=प्राण **उरुष्यन्तु**=हमारा रक्षण करें।

भावार्थ—'दिव्यगुणों को जन्म देनेवाली स्वास्थ्य की देवता, प्राणापान तथा शरीर में कार्य करनेवाले अन्य प्राण' ये सब हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

शरीररूप नाव का रक्षण

ते नो॑ ना॒वमु॑रुष्यत॒ दिवा॒ नक्तं॑ सुदानवः। अरि॑ष्यन्तो॒ नि पा॒युभिः॑ सचेमहि॥ ११॥

(१) हे मरुतो-प्राणो! **सुदानवः**=सम्यक् वासनाओं को खण्डित करनेवाले **ते**=वे आप **नः**=हमारी **नावम्**=नौका को, इस जीवन-यात्रा की पूर्णता की साधनभूत शरीररूप नाव को **दिवा नक्तम्**=दिन-रात **उरुष्यत**=रक्षित करो। (२) हम **अरिष्यन्तः**=अहिंसित होते हुए **पायुभिः**=रक्षक प्राणों से **निसचेमहि**=नितरां समवेत हों।

भावार्थ—प्राण ही सुदानु हैं, सम्यक् वासनारूप शत्रुओं का खण्डन करनेवाले हैं। ये हमारी शरीररूप नाव का रक्षण करें। हम इन रक्षक प्राणों के साथ सदा समवेत हों।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—उष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

अरिष्यन्तः (अहिंसा धर्म का पालन करनेवाले)

अघ्न॑ते॒ विष्ण॑वे व॒यमरि॑ष्यन्तः सु॒दान॑वे। श्रु॒धि स्व॑यावन्त्सिन्धो पू॒र्वचि॑त्तये॥ १२॥

(१) **वयम्**=हम **अरिष्यन्तः**=किसी की हिंसा न करते हुए **अघ्नते**=उस अहिंसक, **विष्णवे**=सर्वव्यापक व सर्वाधार, **सुदानवे**=यज्ञय दानशील **पूर्वचित्तये**=पूर्ण ज्ञानी प्रभु के लिये हों। उस प्रभु का स्तवन करें। प्रभु के स्तवन का सर्वोत्तम प्रकार यही है कि हम अहिंसक बनें, किसी का बुरा न करें। (२) हे **स्वयावन्**=अपने सामर्थ्य से सब गतियों को करनेवाले, **सिन्धो**= आनन्द रस के सागर अथवा स्तोताओं के प्रति सब धनों को प्रवाहित करनेवाले (स्यन्दनशील) प्रभो! **श्रुधि**=आप हमारी प्रार्थना को सुनिये। प्रभु से हमारी प्रार्थना तभी सुनी जायेगी जब कि हम भी 'स्वयावा व सिन्धु' बनने का प्रयत्न करेंगे।

भावार्थ—हम अहिंसक बनकर अहिंसक प्रभु के सच्चे स्तोता बनें। अपना कार्य अपने आप करनेवाले व धनों का दान करनेवाले बनें जिससे हमारी प्रार्थना सुनी जाये।

सूचना—'अरिष्यन्तः' का भाव वासनाओं से हिंसित न होते हुए भी है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'वार्य, वरिष्ठ, गोपयत्य' धन

तद्वार्यं॑ वृणीमहे॒ वरि॑ष्ठं गोप॒यत्य॑म्। मि॒त्रो यत्पान्ति॒ वरु॑णो॒ यद॑र्य॒मा॥ १३॥

(१) हम **तत्**=उस **वार्यम्**=वरने के योग्य, **वरिष्ठम्**=उरुतर-विशाल **गोपयत्यम्**=सब के रक्षक धन को **वृणीमहे**=वरते हैं। ऐसा ही धन चाहते हैं, जो सचमुच श्रेष्ठ विशाल व सर्वरक्षक हो। (२) उस धन को हम चाहते हैं **यत्**=जिसे **मित्रः**=सब के साथ स्नेह करनेवाले **वरुणः**=व निर्द्वेषता की भावनावाले व्यक्ति **पान्ति**=रक्षित करते हैं। उस धन को **यत्**=जिसे **अर्यमा**=काम-क्रोध-लोभ को वश में करनेवाले व्यक्ति सुरक्षित करते हैं।

भावार्थ—हमें वरणीय विशाल सर्वरक्षक धन प्राप्त हो। हम स्नेहवाले निर्द्वेष व काम-क्रोध आदि को वश में करनेवाले व्यक्तियों से रक्षित धन को प्राप्त करें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'स्वास्थ्य व प्रसाद' रूप धन का रक्षण

उ॒त नः॒ सिन्धु॑र॒पां तन्म॒रुत॒स्तद॒श्विना॑। इन्द्रो॒ विष्णु॑र्मी॒ढ्वांसः॑ स॒जोष॑सः॥ १४॥

(१) **उत**=और **नः**=हमारे **तत्**=उस धन को **अपां सिन्धुः**=शक्ति कणों को हमारे में प्रवाहित करनेवाली देवता सुरक्षित करे। **तत्**=उस धन को **मरुतः**=प्राण तथा **अश्विना**=सूर्य और चन्द्र (दायां व बायां स्वर) सुरक्षित करें। स्पष्ट है कि यह धन स्वास्थ्य का धन है। इसे ये सब देव सुरक्षित करें। (२) **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की देवता तथा **विष्णुः**=व्यापकता, उदारता का भाव उस धन को सुरक्षित करे। ये सब देव **सजोषसः**=समान रूप से प्रीतिवाले होते हुए हमारे लिये **मीढ्वांसः**=सुखों का सेचन करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम शक्तिकणों का रक्षण करें, प्राणसाधना में प्रवृत्त हों, दायें व बायें नासा के स्वर को (सूर्य-चन्द्र) ठीक रखें। जितेन्द्रिय व उदार हृदय बनें। ये सब देव हमारे स्वास्थ्य व प्रसाद रूप धन का रक्षण करेंगे।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—मित्रावरुणौ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

शत्रु के अभिमान को कुचलना

ते हि ष्मा वनुषो नरोऽभिमातिं कयस्य चित्। तिग्मं न क्षोदः प्रतिघ्नन्ति भूर्णयः॥ १५॥

(१) **ते**=वे **हि**=ही **ष्मा**=निश्चय से **वनुषः नरः**=प्रभु का सम्भजन करनेवाले, उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य हैं, जो **कयस्य चित्**=किसी भी शत्रु के **अभिमतिम्**=अभिमान को **प्रतिघ्नन्ति**=विनष्ट कर देते हैं। सब शत्रुओं को वशीभूत करना ही प्रभु का सच्चा सम्भजन है। (२) ये **भूर्णयः**=ठीक प्रकार से पोषण करनेवाले लोग इन 'काम-क्रोध-लोभ' आदि शत्रुओं की सत्ता को इस प्रकार विनष्ट करते हैं, **न**=जैसे **तिग्मं क्षोदः**=तीव्र वेगवाला जल-प्रवाह सामने आये वृक्षों को उखाड़ फेंकता है।

भावार्थ—प्रभु के सच्चे उपासक उन्नतिशील मनुष्य वही हैं, जो काम-क्रोध-लोभ के वेग को समाप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—मित्रावरुणौ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

विश्पतिः

अयमेक इत्था पुरूरु चष्टे वि विश्पतिः। तस्य व्रतान्यनु वश्चरामसि॥ १६॥

(१) **अयम्**=यह प्रभु **एकः**=अकेला ही **इत्था**=सचमुच **पुरू**=(पुरूणि) बहुत **उरु**=(उरूणि) विशाल लोकों को **विचष्टे**=विशेषरूप से प्रकाशित करता है। **विश्पतिः**=वही सब प्रजाओं का स्वामी है, वही सब का रक्षक है। (२) **तस्य व्रतानि**=उस प्रभु के व्रतों के **अनु चरामसि**=अनुकूल आचरण करते हैं। **वः**=तुम सब के हित के लिये प्रभु के व्रतों का हम पालन करते हैं। 'सबका पालन करना, व सब का रक्षण' ही प्रभु का सर्वमहान् व्रत है। इस व्रत का पालन ही प्रभु प्राप्ति का उपाय है।

भावार्थ—प्रभु अकेले ही सब विशाल लोकों का प्रकाशन कर रहे हैं। प्रभु ही सब प्रजाओं के रक्षक हैं। हम भी प्रभु के व्रतों का अनुचरण करते हुए सर्वहित में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—मित्रावरुणौ॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

मित्र और वरुण के व्रतों का पालन

अनु पूर्वाण्योक्या साम्राज्यस्य सश्चिम। मित्रस्य व्रता वरुणस्य दीर्घश्रुत्॥ १७॥

(१) (साम्राज्यम् अस्य अस्ति) **साम्राज्यस्य**=इस सृष्टिरूप सत्य साम्राज्यवाले (इन्द्रः सत्यः सम्राट्) **मित्रस्य**=पापों से बचानेवाले (प्रमीतेः त्रायते) अथवा सब के प्रति स्नेह करनेवाले प्रभु के

पूर्वाणि=पालन व पूरण करनेवाले अथवा पूर्णता को लिये हुए **ओक्या**=गृह हितकारी नियमों को **अनु सश्चिम**=पालित करें। प्रभु से निर्दिष्ट नियमों के अनुसार ही घरों में वर्तें। नियमानुकूल वर्तन ही गृहों का कल्याण करेगा। (२) **दीर्घश्रुत्**=(दीर्घश्रुतः) उस दीर्घदर्शी सर्वज्ञ **वरुण**=पापों व द्वेषों से निवारित करनेवाले प्रभु के **व्रता**=कर्मों का हम अनुकरण करें। वरुण के व्रतों का पालन करते हुए हम कभी बन्धन में न पड़ेंगे।

भावार्थ—हम उस सब के मित्र सम्राट् के गृह हितकारी नियमों का पालन करते हुए घरों को उत्तम बनायें। उस सर्वज्ञ वरुण के व्रतों का पालन करते हुए सब बन्धनों से ऊपर उठें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

प्रभु की महिमा का सर्वत्र दर्शन

परि यो रश्मिना दिवोऽन्तान्ममे पृथिव्याः। उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा॥ १८॥

(१) **यः**=जो प्रभु हैं, वे **दिवः**=द्युलोक के तथा **पृथिव्याः**=पृथिवीलोक के **अन्तान्**=अन्तों को **रश्मिना**=अपने तेज से **परिममे**=(परिमिनोति) मापते हैं, अपने प्रकाश से द्युलोक व पृथिवी-लोक के अन्तों को अवभासित करते हैं। (२) वे प्रभु **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को**महित्वा**=अपनी महिमा से **आपप्रौ**=पूरित करते हैं। इन द्यावापृथिवी में सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु द्युलोक, पृथिवीलोक को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। इन लोकों में सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

प्रभु ही 'सूर्य' हैं, प्रभु ही 'अग्नि'

उदु ष्य शरणे दिवो ज्योतिरयंस्त सूर्यः। अग्निर्न शुक्रः समिधान आहुतः॥ १९॥

(१) **स्यः**=वे प्रभु **सूर्यः**=सूर्य हैं। और **दिवः शरणे**=इस देदीप्यमान आदित्य के गृह में, अर्थात् द्युलोक में **ज्योतिः उदयंस्त**=प्रकाश को उदित करते हैं। सम्पूर्ण द्युलोक को प्रभु ही अवभासित करते हैं। यह सूर्य व ये सब नक्षत्र प्रभु के प्रकाश से ही तो प्रकाशित हो रहे हैं। सूर्य के भी सूर्य प्रभु ही हैं। (२) ये प्रभु ही **अग्निः न**=इस अग्निदेव के समान **शुक्रः**=देदीप्यमान हैं। **समिधानः**=स्तोताओं से अपने हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं और **आहुतः**=(आ हुते यस्य) सर्वत्र दानोंवाले हैं। और अन्ततः सब प्रभु के प्रति ही अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्य के रूप में द्युलोक को अवभासित करते हैं। प्रभु ही अग्नि के रूप में समिद्ध व आहुत होते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

प्रभु रूप महान् बन

वचो दीर्घप्रसद्मनीशे वाजस्य गोमतः। ईशे हि पित्वोऽविषस्य दावने॥ २०॥

(१) **दीर्घप्रसद्मनि**=इस महान् प्रकृष्ट भवनभूत, सब के शरण दाता प्रभु के विषय में **वचः**=स्तुति-वचनों का उच्चारण कर। ये प्रभु ही **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले व प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले बल को **ईशे**=ईश हैं। प्रभु ही प्रशस्त इन्द्रियों को, ज्ञान को व बल को देते हैं। (२) वे प्रभु **हि**=ही **अविषस्य**=सब प्रकार के विषैले प्रभावों से रहित **पित्वः**=अन्न के **दावने**=देने में **ईशे**=ईश हैं। प्रभु ही अमृततुल्य पोषक अन्नों को भी प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही महान् भवन हैं, सब की शरण हैं। ये प्रभु ही प्रशस्त इन्द्रियों को, ज्ञान व शक्ति को तथा निर्विघ्न अन्न को देने में समर्थ हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

प्रभु-स्तवन व दानशीलता

तत्सूर्यं रोदसी उभे दोषा वस्तोरुप ब्रुवे। भोजेष्वस्माँ अभ्युच्चरा सदा॥ २१॥

(१) मैं **दोषावस्तोः**=दिन-रात **उभे रोदसीः**=इन दोनों द्यावापृथिवी के **तत्**=उस **सूर्यम्**=प्रकाशक प्रभु को **उपब्रुवे**=उपासना में स्थित होकर स्तुत करता हूँ। प्रभु ही तो इन द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्तों को अपनी रश्मियों से अवभासित कर रहे हैं। (२) हे प्रभो! आप **सदा**=हमेशा **अस्मान्**=हमें **भोजेषु**=पालन करनेवाले पुरुषों में **अभि उत् चर**=उत्कृष्ट गतिवाला करिये, उन्नत करिये। हम भोजों में उत्कृष्ट भोज बनें, खूब दानशील हों।

भावार्थ—हम द्यावापृथिवी में सर्वत्र प्रभु के प्रकाश को देखते हुए प्रभु का गुणगान करें। प्रभु हमें उत्कृष्ट दानशील बनायें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'ऋज्रः रजत-युक्त' रथ

ऋज्रमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे। रथं युक्तमसनाम सुषामणि॥ २२॥

(१) यह शरीर रथ है, जो प्रभु से जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये दिया जाता है। प्रभु कहते हैं कि **उक्षण्यायने**=उक्षण में, शरीर में ही शक्ति के सेचन में, उत्तम पुरुष में, अर्थात् उत्पन्न वीर्यशक्ति को जो प्राणायाम आदि के द्वारा शरीर में ही सिक्त करता है, उस पुरुष में हम **ऋज्रम्**=ऋजुमार्ग से गति करनेवाले इस **रथम्**=शरीररथ को **असनाम**=(सन् To bestow) देते हैं। शक्ति को शरीर में सिक्त करनेवाला पुरुष कुटिल स्वभाव नहीं होता। (२) **हरयाणे**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का हरण करनेवाले में, इनको हरा देनेवाले में **रजतम्**=रजत सदृश देदीप्यमान, तेजस्वी अथवा रञ्जनात्मक रथ को हम देते हैं। हरयाण का रथ दीप्त व सब का रञ्जन करनेवाला होता है। यह किसी को अपने व्यवहार से पीड़ित नहीं करता। (३) **सुषामणि**=शोभन सामवाले, शान्तवृत्तिवाले व उत्तम स्तोत्रोंवाले पुरुष में **युक्तम**=(रथं असनाम) साम्य बुद्धि से युक्त रथ को देते हैं। सुषामा पुरुष साम्य बुद्धि से युक्त होकर स्थितप्रज्ञ बन जाता है। यह डाँवाडोल नहीं होता।

भावार्थ—उक्षण्यायन का रथ ऋज्र होता है। हरयाण का रजत तथा सुषामा का रथ शोभायुक्त होता है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः ॥ **देवता**—मित्रावरुणौ ॥ **छन्दः**—आर्च्युष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

इन्द्रियाश्व कैसे ?

ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना। उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा॥ २३॥

(१) गत मन्त्र में उत्तम शरीररथ का वर्णन किया था। प्रस्तुत मन्त्र में उत्तम इन्द्रियाश्वों का उल्लेख करते हैं, **मे**=मेरे **ता**=वे ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्व **हरीणाम्**=हरित वर्ण दीप्त (हरि=A ray of light) **अश्व्यानाम्**=अश्व संघों के बीच में **नितोशना**=शत्रुओं का बाधन करनेवाले हैं। ये मेरे इन्द्रियाश्व काम रूप शत्रु से आक्रान्त नहीं होते। (२) **उत**=और उ=निश्चय से **नु**=अब ये अश्व **कृत्व्यानाम्**=कर्तव्य कर्मों के करने में कुशल अश्वों में कुशल होते हुए शत्रुओं के बाधक होते हैं। ये **नृवाहसा**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों को लक्ष्य-स्थान पर ले जानेवाले हैं।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व काम आदि शत्रुओं के बाधक, कर्त्तव्य कर्मों को करने में कुशल व नरों को लक्ष्य-स्थान पर ले जानेवाले हों।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वः॥ **देवता**—मित्रावरुणौ॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

वाजिनौ अर्वन्तौ

स्मदभीशू कशावन्ता विप्रा नविष्ठया मती। महो वाजिनावर्वन्ता सचासनम्॥ २४॥

(१) **स्मद् अभीशू**=शोभन शरीर की कान्तिवाले अथवा शोभन लगामवाले, **कशावन्ता**=अर्थों को प्रकाशक शुभ वाणीवाले, **विप्रा**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले, मेधाविता से युक्त इन्द्रियाश्वों को **नविष्ठया मती**=अत्यन्त स्तुत्य बुद्धि के साथ **सचा**=साथ-साथ **असनम्**=प्राप्त करता हूँ। (२) ये इन्द्रियाश्व **महः वाजिनौ**=बड़े शक्तिशाली व **अर्वन्ता**=वासनाओं का संहार करनेवाले हैं। इन इन्द्रियाश्वों के द्वारा ही तो मैं लक्ष्य-स्थान पर पहुँचूँगा।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व प्रशस्त लगामवाले, प्रशस्त शब्दोंवाले, पूरण को करनेवाले, शक्तिशाली व वासनाओं का संहार करनेवाले हों। इनको मैं स्तुत्य बुद्धि के साथ प्राप्त करता हूँ।

अगले सूक्त का भी ऋषि 'विश्वमना वैयश्व' ही है—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

अतूर्तदक्षा (अश्विना)

युवोरु षू रथं हुवे सधस्तुत्याय सूरिषु। अतूर्तदक्षा वृषणा वृषण्वसू॥ १॥

(१) हे अश्विनौ (प्राणापानो)! **युवोः**=आप के निश्चय से **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **सु हुवे**=सम्यक् पुकारता हूँ। **सूरिषु**=ज्ञानी पुरुषों में **सधस्तुत्याय**=मिलकर स्तुति करने योग्य उस प्रभु की प्राप्ति के लिये। प्रभु की प्राप्ति इस प्राणापान के रथ के द्वारा ही होती है। अर्थात् प्राणायाम द्वारा चित्तवृत्ति निरोध के होने पर ही प्रभु का साक्षात्कार होता है। इस प्रभु का ज्ञानी लोग मिलकर स्तवन करते हैं। (२) ये प्राणापान **अतूर्तदक्षा**=अहिंसित बलवाले, **वृषणा**=शक्तिशाली व **वृषण्वसू**=सुखों के वर्षक धनवाले हैं। प्राणसाधना के द्वारा वह बल प्राप्त होता है, जो किन्हीं भी आन्तर शत्रुओं से हिंसित नहीं होता। ये हमें बलवान् बनाते हैं और उन सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं, जो हमारे जीवन में सुखों का वर्षण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर ज्ञानी पुरुष मिलकर प्रभु का स्तवन करते हैं। ये प्राणापान अहिंसित बलवाले, शक्तिशाली व सुखवर्षक वसुओंवाले हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

वृषणा वृषण्वसू

युवं वरो सुषाम्णे महे तने नासत्या। अवोभिर्याथो वृषणा वृषण्वसू॥ २॥

(१) हे **नासत्या**=असत्य से रहित अश्विनीदेवो-प्राणापानो! **युवम्**=आप **उ**=निश्चय से **वरा**=वरने के योग्य हो। आपकी साधना ही मनुष्य का महान् कर्त्तव्य है। आप **सुषाम्णे**=उत्तम साम-शान्ति व उपासना वाले पुरुष के लिये **महे तने**=शक्तियों के महान् विस्तार के लिये होते हो। (२) हे प्राणापानो! आप **वृषणा**=शक्तिशाली हो, **वृषण्वसू**=सुखवर्षक वसुओंवाले हो। **अवोभिः याथः**=सब रक्षणों के हेतु से आप हमें प्राप्त होते हो। शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति

करके 'शरीर, मन व बुद्धि' का आप ही रक्षण करते हो।

भावार्थ—मनुष्य को इस जीवन में प्राणसाधना का ही वरण करना चाहिये। यही उसकी शक्तियों के विस्तार को करेगी। यही उसका सर्वथा रक्षण करेगी।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

इषः इषयन्तौ (अश्विनौ)

ता वा॒म॒द्य ह॑वामहे ह॒व्येभि॑र्वाजिनीवसू। पू॒र्वीरि॒ष इ॒षय॑न्ता॒वति॑ क्ष॒पः ॥ ३ ॥

(१) हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! **ता वाम्**=उन आपको **अद्य**=आज **हव्येभिः**=हव्य पदार्थों के साथ **हवामहे**=हम पुकारते हैं। प्राणसाधना के साथ हव्य पदार्थों का सेवन आवश्यक है। आराधित प्राणापान हमारे लिये शक्तिरूप धनों को प्राप्त कराते हैं। (२) उन आपको हम पुकारते हैं, जो आप **अतिक्षपः**=(क्षपायाः अति क्रमे) अज्ञान रात्रि के समाप्त होने पर **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली **इषः**=प्रभु प्रेरणाओं को **इषयन्तौ**=हमारे लिये प्रेरित करते हो, प्राणसाधना से अज्ञानान्धकार का विनाश होता है। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणायें सुनाई पड़ती हैं। ये प्रेरणायें हमारा पालन व पूरण करती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ यज्ञिय सात्त्विक आहार का ही सेवन करना चाहिये। ये प्राणापान अज्ञानान्धकार का ध्वंस करके हमें प्रभु प्रेरणा के सुनने के योग्य बनाते हैं, ये प्रेरणायें ही हमारा पालन व पूरण करती हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'श्रुत वाहिष्ठ' रथ

आ वां॒ वाहि॑ष्ठो अश्विना॒ रथो॑ यातु श्रु॒तो न॑रा। उप॒ स्तोमा॑न्तु॒रस्य॑ दर्शथः श्रि॒ये ॥ ४ ॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपका **वाहिष्ठः**=जीवनयात्रा में उत्तमता से आगे और आगे ले चलनेवाला **श्रुतः**=प्रसिद्ध अथवा ज्ञान के श्रवण से युक्त **रथः**=यह शरीररथ **आयातु**=हमें प्राप्त हो। प्राणसाधना के होने पर यह शरीरस्थ बड़ा दृढ़ बना रहता है, यह ज्ञानाग्नि से प्रकाशमय बन जाता है। यह श्रुत वाहिष्ठ रथ हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति का उत्तम साधन बनता है। (२) हे अश्विनौ! आप **तुरस्य**=वासनाओं का संहार करनेवाले प्रभु की **स्तोमान्**=स्तुतियों को **उपदर्शथः**=हमें ज्ञान कराते हो, हमें स्तुति की वृत्ति का बनाते हो। **श्रिये**=जिससे हमारा जीवन शोभावाला हो। प्राणसाधक पुरुष प्रभु-स्तवन करता हुआ जीवन को बड़ा शोभामय बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीर-रथ 'वाहिष्ठ व श्रुत' बनता है, दृढ़ प्रकाशमय। प्राणसाधक प्रभु-स्तवन करता हुआ जीवन को श्री-सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

जुहुराणा चित् मन्येथाम्

जु॒हु॒रा॒णा चि॑दश्वि॒ना म॑न्येथां वृषण्वसू। यु॒वं हि रु॑द्रा॒ पर्ष॑थो॒ अति॒ द्विषः॑ ॥ ५ ॥

(१) हे **वृषण्वसू**=सुखवर्षक वसुओं को प्राप्त करानेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप **जुहुराणा चित्**=शरीर में नस-नाड़ियों में टेढ़ी-मेढ़ी (crooked) गति करते हुए भी **मन्येथाम्**=हमें ज्ञान की वृद्धिवाला करते हो। प्राण ज्ञान प्रकार से विविध नाड़ियों में से कुञ्चित गतिवाले होते हैं। ये प्राण शक्ति की ऊर्ध्वगति द्वारा ज्ञानाग्नि के दीपन का कारण बनते हैं। (२) **युवम्**=आप

हि=ही **रुद्रा**=सब रोगों को दूर भगानेवाले हो। **द्विषः अतिपर्षथः**=द्वेष की भावनाओं से हमें पार करते हो। (हतम्) द्वेष की भावनाओं को आप विनष्ट करते हो।

भावार्थ—प्राणापान शरीर नाड़ीचक्र में टेढ़ी-मेढ़ी गति से घूमते हुए भी हमारी ज्ञान वृद्धि का कारण बनते हैं और द्वेष की भावनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

धियञ्जिन्वा-मधुवर्णा-शुभस्पती

दस्रा हि विश्वमानुषङ्मक्षूभिः परिदीयथः। धियंजिन्वा मधुवर्णा शुभस्पती॥ ६॥

(१) हे प्राणापानो! आप **दस्रा हि**=निश्चय से शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले हो। **विश्वम्**=सब व्यक्तियों को **आनुषक्**=निरन्तर **मक्षूभिः**=शीघ्रगामी इन्द्रियाश्वों के साथ **परिदीयथः**=समन्तात् प्राप्त होते हैं, प्राणसाधना से वासनारूप शत्रुओं का विनाश होता है और ये प्राणापान इन्द्रियों को शक्ति-सम्पन्न बनाकर कार्यों में त्वरित गतिवाला करते हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **धियञ्जिन्वा**=बुद्धियों को प्रेरित करनेवाले हो। प्राणसाधना से बुद्धि सूक्ष्म और सूक्ष्मतर बनती चलती है। **मधुवर्णा**=ये प्राणापान अत्यन्त मधुरवर्णवाले कान्तिमान् हैं। शरीर को ये शक्ति रक्षण द्वारा 'मधुवर्ण' बनाते हैं। **शुभस्पती**=ये शरीर में रेतःकणरूप जलों के रक्षक हैं। इस रेतःकण रूप जल के रक्षण के द्वारा ही ये 'धियञ्जिन्वा' व 'मधुवर्णा' होते हैं, वीर्यशक्ति ही बुद्धि को तीव्र व शरीर को तेजस्वी बनाता है।

भावार्थ—प्राणापान वासनाविलय के द्वारा तीव्र गतिवाले इन्द्रियाश्वों के साथ हमें प्राप्त होते हैं। ये बुद्धि को प्रेरित करते हैं, शरीर को कान्ति-सम्पन्न बनाते हैं, शरीर में रेतःकणों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—उष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

राया विश्वपुषा सह

उप नो यातमश्विना राया विश्वपुषा सह। मघवाना सुवीरावनपच्युता॥ ७॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नः**=हमें **विश्वपुषा राया सह**=सब का पोषण करनेवाले धन के साथ **उपयातम्**=प्राप्त होवो। प्राणसाधक धनार्जन करता है, यह धन केवल उसका पोषण न करके सबका पोषण करनेवाला होता है। (२) हे अश्विना! आप **मघवाना**=सब ऐश्वर्योंवाले हो। **सुवीरा**=उत्तम वीर हो। **अनपच्युता**=शत्रुओं से अनपच्यावनीय हों, शत्रु आप को आक्रान्त नहीं कर पाते। प्राणसाधना के होने पर शरीर में रोगों व वासनाओं का प्रवेश नहीं हो पाता।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें सर्वपोषक धन को प्राप्त कराती है। प्राणापान 'ऐश्वर्य, वीरता व शत्रुओं से अपराजेयता' वाले हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

देवेभिः सचनस्तमा

आ मे अस्य प्रतीव्यमिन्द्रनासत्या गतम्। देवा देवेभिरद्य सचनस्तमा॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आपके अनुग्रह से **अस्य**=इस **मे**=मेरे **प्रतीव्यम्**=यज्ञ को (पुनः पुनः वियन्ति देवाः अत्र हवींषि) जीवनयज्ञ को **नासत्या**=प्राणापान **आगतम्**=प्राप्त हों। हमारी यह प्राणसाधना प्रतिदिन प्रवृत्त रहे। (२) **देवा**=ये प्राणापान प्रकाशमय हैं, ज्ञानाग्नि को दीप्त

करनेवाले हैं। ये **अद्य**=आज **देवेभिः**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाले पुरुषों से **सचनस्तमा**=अतिशयेन समवेतव्य हैं, सेवनीय हैं। इनके आराधन से ही तो दिव्यता प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना प्रतिदिन करनी ही चाहिये। ये प्राणापान जीवन को प्रकाशमय व दिव्यता सम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्राणसाधना के तीन लाभ

वयं हि वां हवामह उक्षण्यन्तो व्यश्ववत्। सुमतिभिरुप विप्राविहा गतम्॥ ९॥

(१) हे प्राणापानो! **वयम्**=हम **उक्षण्यन्तः**=शरीर में शक्ति के सेचन की कामना करते हुए **हि**=निश्चय से **वाम्**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। आपके द्वारा ही तो हम इस वीर्यशक्ति को शरीर में सिक्त कर पायेंगे। हम आपको **व्यश्ववत्**='व्यश्व' की तरह पुकारते हैं। (२) हे **विप्रौ**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्राणापानो! आप **सुमतिभिः**=कल्याणी मतियों के साथ **इह**=इस जीवनयज्ञ में हमें **उपागतम्**=समीपता से प्राप्त होवो। प्राणसाधना के द्वारा शक्ति का सेचन होकर बुद्धि की सूक्ष्मता भी प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) शरीर में शक्ति का सुरक्षण होगा, (ख) हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम बनेंगे, (ग) हमारी बुद्धि सूक्ष्म होगी।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

कुवित्ते श्रवतो हवम्

अश्विना स्वृषे स्तुहि कुवित्ते श्रवतो हवम्। नेदीयसः कूळयातः पणीँरुत॥ १०॥

(१) हे **ऋषे**=तत्त्वद्रष्टः पुरुष! तू **अश्विना**=प्राणापान को **सुस्तुहि**=सम्यक् स्तुत कर। ये प्राणापान **ते**=तेरी **हवम्**=पुकार को **कुवित्**=खूब ही **श्रवतः**=सुनते हैं। हमारी कामनाओं को प्राणापान ही तो पूर्ण करते हैं। (२) ये प्राणापान **नेदीयसः**=अपने अन्तिकतम उपासकों को **उत**=और **पणीन्**=सब व्यवहारों को प्रभु-स्तवन पूर्वक करनेवालों को **कूळयातः**=सुरक्षित करते हैं।

भावार्थ—जीवन में यह प्राणसाधना सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है। यह अपने अन्तिकतम उपासकों को सुरक्षित करती है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

स्नेह-निर्द्वेषता व संयम

वैयश्वस्य श्रुतं नरोतो मे अस्य वेदथः। सजोषसा वरुणो मित्रो अर्यमा॥ ११॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **वैयश्वस्य**=व्यश्व पुत्र, अर्थात् अत्यन्त विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले **मे**=मेरी प्रार्थना को **श्रुतम्**=आप सुनो। **उत**=और **उ**=निश्चय से **मे अस्य वेदथः**=मेरी इस प्रकार को **वेदथः**=आप जानो। अर्थात् मेरी आराधना व्यर्थ न जाये। आपकी इस आराधना से ही मैं अपने इन्द्रियाश्वों को विषयों से अनाक्रान्त व पवित्र बना पाऊँगा। (२) आपकी आराधना से ही मेरे जीवन में **मित्रः वरुणः**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **सजोषसा**=प्रीतिपूर्वक संगत हों। आपकी आराधना से ही **अर्यमा**=(अदीन् यच्छति) काम-क्रोध-लोभ का संयम मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से मेरे जीवन में 'स्नेह, निर्द्वेषता व संयम' के दिव्यभावों का वास होता है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

युवादत्त 'धिषणा', युवानीत 'शक्ति'

युवादत्तस्य धिष्ण्या युवानीतस्य सूरिभिः। अहरहर्वृषणा मह्यं शिक्षतम्॥ १२॥

(१) हे **दिष्ण्या**=(धिषणार्हौ) स्तुति के योग्य अथवा उत्तम बुद्धि को प्राप्त करानेवाले (धिषणा=बुद्धि) **वृषणा**=शक्ति का शरीर में सेचन करनेवाले प्राणापानो! **युवादत्तस्य**=आप से दिये जानेवाले ज्ञान को तथा **युवानीतस्य**=आप से आनीत (प्राप्त करायी जानेवाली) शक्ति को **सूरिभिः**=ज्ञानी स्तोताओं के सम्पर्क के द्वारा **अहरहः**=प्रतिदिन **मह्यम्**=मेरे लिये **शिक्षतम्**=दीजिये। (२) ज्ञानी स्तोताओं के सम्पर्क में हम भी ज्ञान की रुचिवाले बनेंगे तथा विषय वासनाओं में न फँसने के कारण शक्ति को प्राप्त करनेवाले होंगे। ज्ञानी स्तोताओं के सम्पर्क की ओर झुकाव इस प्राणापान की साधना से ही होगा। एवं यह साधना हमें ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करानेवाली बनेगी।

भावार्थ—हे प्राणापानो! हम आप से दत्त ज्ञान को तथा आप से प्राप्त करायी गयी शक्ति को ज्ञानियों के सम्पर्क में रहते हुए प्राप्त करें।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्राणसाधना से आवृत जीवन

यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव। सपर्यन्ता शुभे चक्राते अश्विना॥ १३॥

(१) **यः**=जो भी व्यक्ति हे प्राणापानो! **वाम्**=आपके **यज्ञेभिः**=यज्ञों से, पूजनों से **आवृतः**=समन्तात् इस प्रकार आवृत होता है, **इव**=जैसे **अधिवस्त्रा वधूः**=उत्कृष्ट वस्त्रों को धारण किये हुए वधू। हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप उसे **सपर्यन्ता**=अभीष्ट ज्ञान व शक्ति के दान से पूजित करते हुए **शुभे चक्राते**=सदा मंगल कार्यों में व्यापृत करते हो। (२) मनुष्य प्राण–साधना से अपने जीवन को इस प्रकार आवृत कर ले, जैसे एक वधू वस्त्रों से अपने शरीर को आवृत करती है। वधू की शोभा अपने अंगों को वस्त्रों से आवृत किये हुए होने में ही है। इसी प्रकार मनुष्य की शोभा इसी में है कि वह अपने प्रत्येक दिन को प्राणसाधना से आवृत कर ले, प्रातः भी प्राणसाधना, सायं भी प्राणसाधना। ये प्राणापान ज्ञान व शक्ति आदि इष्ट पदार्थों को प्राप्त करायेंगे और हमें सदा शुभ वृत्तिवाला बनायेंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवन की रक्षिका बन जाये। यह हमें ज्ञान व शक्ति आदि अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त कराती हुई सदा शुभ कार्यों में प्रवृत्त रखेगी।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

अश्विनीदेवों का सोमपान

यो वामुरुव्यचस्तमं चिकेतति नृपाय्यम्। वर्तिरश्विना परि यातमस्मयू॥ १४॥

(१) **यः**=जो भी **उरुव्यचस्तमम्**=अतिशयेन शक्तियों के विस्तारवाले, **नृपाय्यम्**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानों से पातव्य सोम को (वीर्य शक्ति को) **वाम्**=आपके लिये देना **चिकेतति**=जानता है, अर्थात् जो आपकी साधना के द्वारा सोम को शरीर में ही सुरक्षित करना जानता है। हे प्राणापानो! **अस्मयू**=हमारे हित की कामनावाले आप उस पुरुष के **वर्तिः**=इस शरीर

गृह को **परियातम्**=प्राप्त होवो। (२) जो व्यक्ति यह समझता है कि सोमरक्षण द्वारा अधिक से अधिक शक्तियों का विस्तार होगा तथा जो यह जानता है कि प्राणसाधना से ही सोम का शरीर में रक्षण होगा यह अवश्य प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। यही प्राणापान का हमारे शरीर गृह में प्राप्त होना है। इससे सोम शरीर में ही सुरक्षित होता है। यही अश्विनी देवों का सोमपान है।

भावार्थ—हमारे हित की कामनावाले प्राणापान हमारे शरीर गृह में प्राप्त हों। हम इनके पूजन के द्वारा सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले बनें। शरीर में सुरक्षित सोम सब शक्तियों के विस्तार का कारण बने।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

प्राणसाधना व प्रभु-दर्शन

अ॒स्मभ्यं॑ सु वृ॑षण्वसू या॒तं व॒र्तिर्नृ॒पाय्य॑म्। वि॒षु॒द्रुहे॑व य॒ज्ञमू॑हथु॒र्गिरा॥ १५॥

(१) **असम्भ्यम्**=हमारे लिये हे **वृषण्वसू**=सुखों के वर्षणशील धनोंवाले प्राणापानो! आप **नृपाय्यम्**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले आप द्वारा पातव्य सोम का लक्ष्य करके **वर्तिः**=हमारे शरीर गृह को **सुयातम्**=सम्यक् प्राप्त होवो। हमारे शरीर गृह में प्राणापान की साधना चलेगी तो सोम का भी रक्षण होगा और सोमरक्षण द्वारा सब सुख वर्षक धन प्राप्त होंगे। (२) हे प्राणापानो! जैसे **विषुद्रुहा**=(वि सु द्रुहन्ति अनेन) शर के द्वारा व्याध मृग को अपने समीप प्राप्त कराता है, इसी प्रकार हे प्राणापानो! आप **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के साथ **यज्ञम्**=उस उपासनीय प्रभु को **ऊहथुः**=हमारे समीप प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना से ज्ञानवृद्धि होती है और विवेकख्याति के द्वारा आत्मदर्शन होता है। यह साधक प्राणों द्वारा मन को वशीभूत करके आत्मदर्शन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानवृद्धि होकर उस उपासनीय प्रभु का दर्शन होता है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्राणापान का स्तोम 'वाहिष्ठ' है

वाहि॑ष्ठो वां॒ हवा॑नां॒ स्तोमो॑ दू॒तो हु॑वन्नरा। यु॒वाभ्यां॑ भूत्वश्विना॥ १६॥

(१) हे प्राणापानो! **वां स्तोमः**=आपका यह स्तवन **हवानाम्**=स्तोमों में **वाहिष्ठः**=वोढृतम है। प्राणापान की साधना ही सर्वोत्तम स्तुति है। प्राणापान चित्तवृत्ति का निरोध करके हमें प्रभु प्रवण करता है। एवं प्राणापान का स्तवन प्रभु का स्तवन हो जाता है, यह हमें प्रभु तक ले जाता है। हे **नरा**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! यह स्तोम **दूतः**=दूत बनता है, ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करानेवाला होता है और **हुवत्**=हमारे हृदयों में आसीन होने के लिये प्रभु को पुकारता है। (२) सो हे **अश्विना**=प्राणापानो! हमारा स्तोम तो **युवाभ्यां भूतु**=आपके लिये ही हो। हम आपकी ही आराधना करें। यह आराधना ही हमारे लिये वाहिष्ठ होगी, हमें अतिशयेन प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाली होगी।

भावार्थ—प्राणापान का स्तवन सर्वोत्तम स्तवन है, यह हमें प्रभु के अतिशयेन समीप पहुँचानेवाला है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्राणापान ने मेरी प्रार्थना को कब सुना?

यद॒दो दि॒वो अ॑र्ण॒व इ॒षो वा॒ मद॑थो गृ॒हे। श्रु॒तमिन्मे॑ अमर्त्या॥ १७॥

(१) प्राणसाधना से शरीर में शक्ति का रक्षण होता है। यह सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इसी बात को इस प्रकार कहते हैं कि हे प्राणापानो! **यद्**=जब आप **अदः**=उस **दिवः**=ज्ञान के **क्रर्णवे**=समुद्र में **मदथः**=आनन्द का अनुभव करते हो। तब ही यह कहा जा सकता है कि आपने **मे**=मेरी प्रार्थना को **इत्**=निश्चय से **श्रुतम्**=सुना। (२) ये प्राणापान चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा हृदय को बड़ा पवित्र बनाते हैं। उस पवित्र हृदय में प्रभु प्रेरणा सुनाई पड़ती है। मन्त्र में कहते हैं कि **यद**=जब **इषः**=प्रेरणा के **गृहे**=गृहभूत हृदय में आप **वा**=निश्चय से **मदथः**=आनन्दित होते हो तो हे **अमर्त्या**=हमें न मरने देनेवाले व विषय-वासनाओं का शिकार न होने देनेवाले प्राणापानो! आप मेरी प्रार्थना को सुनते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना का यही फल है कि ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और साधक ज्ञानार्णव में तैरता हुआ आनन्द का अनुभव करता है। इसी प्रकार पवित्र हृदय में प्रभु प्रेरणा को सुनता हुआ यह साधक वासनाओं का शिकार नहीं हो जाता।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्राणसाधक पुरुष व स्त्री

उत स्या श्वैतयावरी वाहिष्ठा वां नदीनाम्। सिन्धुर्हिरण्यवर्तनिः॥ १८॥

(१) हे प्राणापानो! **उत**=और निश्चय से **स्या**=वह स्त्री **वाम्**=आपकी है, आपकी उपासना करनेवाली है जो **श्वेत-या-वरी**=शुद्ध मार्ग से गति करनेवाली है और **नदीनाम्**=समृद्धियों की **वाहिष्ठा**=वोढ़तमा बनती है। प्राणसाधिका स्त्री का जीवन शुद्ध व समृद्ध बनता है। (२) प्राणसाधक पुरुष, हे प्राणापानो! जो पुरुष आपकी साधना करता है, वह **सिन्धुः**=(सिनाति दधाति च) शक्ति को अपने में बाँधनेवाला होता है और इस प्रकार अपना धारण करनेवाला बनता है। यह **हिरण्यवर्तनिः**=ज्योतिर्मय मार्गवाला होता है। स्वाध्याय द्वारा अपनी ज्ञान-ज्योति को बढ़ानेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'शुद्धता, ऐश्वर्य, शक्ति व ज्योति' प्राप्त होती है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सुकीर्ति, सुबुद्धि व सुशीलता

स्मदेतया सुकीर्त्याश्विना श्वेतया धिया। वहेथे शुभ्रयावाना॥ १९॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **एतया सुकीर्त्या**=(चित्त=रत) विविध रंगोंवाली, अर्थात् नाना उत्तम कर्मों से विविध कार्यक्षेत्रों में प्राप्त होनेवाली, उत्तम कीर्ति से तथा **श्वेतया**=निर्मल वासनाओं से अनावृत **धिया**=बुद्धि से **स्मत्**=(सुमत्=शोभनम्) बड़ी शोभा के साथ **वहेथे**=हमें जीवनयात्रा में ले चलते हो। प्राणसाधना के द्वारा बुद्धि की तीव्रता व हृदय की निर्मलता के कारण सब कार्य उत्तम होते हैं। परिणामतः जीवन बड़ा यशस्वी होता है। (२) हे प्राणापानो! आप **शुभ्रयावाना**=जीवन में हमें बड़े शुभ्र (उज्ज्वल) मार्ग से ले चलते हो, हमारे शील को बड़ा शोभन बना देते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'सुकीर्ति, सुबुद्धि व सुशीलता' की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—वायुः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

शुद्ध वायु के सम्पर्क के लाभ

युक्ष्वा हि त्वं रथासहा युवस्व पोष्या वसो। आन्नो वायो मधु पिबास्माकं सवना गहि॥ २०॥

(१) 'वायु' ही प्राणरूप होकर नासिका में प्रवेश करता है। सो अब वायु से आराधना करते हैं कि हे वायो! **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **रथासहा**=शरीर-रथ के वहन में समर्थ इन्द्रियाश्वों को **युक्ष्वा**=शरीर-रथ में जोत। हे **वसो**=वसानेवाले वायुदेव! तू **पोष्या**=उत्तम पोषणवाले दृढ़ अंगों को **युवस्व**=इस शरीर में मिश्रित कर (मिला)। इस शरीर-रथ का एक-एक अंग दृढ़ हो। (२) **आत्**=अब, हे वायो! **नः**=हमारे **मधु**=सब ओषधियों के सारभूत, भोजन से रस-रुधिर आदि क्रम से उत्पन्न हुए-हुए अत्यन्त सारभूत सोम को तू **पिब**=पी, शरीर में ही व्याप्त कर। **अस्माकम्**=हमारे **सवना**=जीवन के 'प्रातः, मध्याह्न व सायं' के तीनों सवनों में **आगहि**=तू हमें प्राप्त हो। हम सदा शुद्ध वायु के सम्पर्क में होते हुए तीनों सवनों में सोम का पान करें, वीर्य का रक्षण करें।

भावार्थ—शुद्ध वायु का सम्पर्क, शुद्ध वायु में होनेवाला प्राणायाम, हमारी इन्द्रियों को सशक्त बनाये, अंगों को दृढ़ करे, सोम को शरीर में सुरक्षित करे तथा दीर्घजीवन प्राप्त कराये।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—वायुः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

त्वष्टा का जामाता (वायु)

तव॑ वायवृतस्पते त्वष्टु॑र्जामातरद्भुत। अवां॒स्या वृ॑णीमहे॥ २१॥

(१) हे **वायो**=वायुदेव! हम **तव**=आपके **आवांसि**=रक्षणों को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। सदा शुद्ध वायु के सम्पर्क में होते हुए, शुद्ध वायु में प्राणायाम करते हुए, सब शक्तियों का रक्षण कर पाते हैं। (२) हे वायो! आप **ऋतस्पते**=रेतःकण रूप जलों के रक्षक हो, प्राणायाम के द्वारा इन शक्तिकणों की ऊर्ध्वगति होती है। **त्वष्टुः जामातः**=संसार के निर्माता प्रभु की पुत्री के तुम रक्षक हो। वायु हमारे जीवनों में 'संज्ञा' का रक्षण करती है, वायु के बन्द होते ही चेतना समाप्त हो जाती है। **अद्भुत**=हे वायो! हमारे जीवनों के लिये तुम अद्भुत ही हो, वस्तुतः तुम्हीं जीवन हो।

भावार्थ—वायु शरीर में रेतःकण रूप जलों का रक्षक है। जीवन में इसका अद्भुत ही स्थान है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—वायुः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

सुतावन्तः-द्युम्नाः-जनासः

त्वष्टु॒र्जामा॑तरं व॒यमीशा॑नं रा॒य ईमहे। सु॒ताव॑न्तो वा॒युं द्यु॒म्ना जना॑सः॥ २२॥

(१) **त्वष्टुः जामातरम्**=प्रजापति की, संसार निर्माता प्रभु की अवि (रक्षण शक्ति) के रक्षक, **ईशानम्**=इस प्रकार सब के ईशान (स्वामी) **वायुम्**=वायुदेव से हम **रायः ईमहे**=धनों की याचना करते हैं। वायु से सब ऐश्वर्यों को माँगते हैं। (२) इस प्रकार वायु के प्रिय होते हुए हम **सुतावन्तः**=शरीर में उत्पन्न प्रशस्त सोमवाले होते हैं। **द्युम्नाः**=ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करते हैं। **जनासः**=अपनी सब शक्तियों का विकास कर पाते हैं।

भावार्थ—वायु के रक्षण में हम प्रशस्त सोम शक्तिवाले, ज्ञान-ज्योतिवाले व शक्तियों के प्रादुर्भाववाले बनते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—वायुः॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

ज्ञान-उत्तम इन्द्रियाश्व-तेजस्विता

वायो॑ या॒हि शि॒वा दि॒वो वह॑स्वा॒ सु स्वश्व्य॑म्। वह॑स्व म॒हः पृ॑थु॒पक्ष॑सा॒ रथे॑॥ २३॥

(१) **वायो**=हे वायुदेव! **दिवः**=द्युलोक के, मस्तिष्करूप द्युलोक के **शिवा**=कल्याणकर ज्ञानों को **याहि**=प्राप्त करा। तू **स्वश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियाश्व समूह को **सुवहस्व**=सम्यक् प्राप्त करानेवाला हो। (२) **रक्षे**=इस शरीर-रथ में **महः**=तेजस्विता को **वहस्व**=प्राप्त करा। तथा **पृथुपक्षसा**=विशाल ज्ञान व शक्ति के परिग्रहोंवाले (पक्ष परिग्रहे) इन्द्रियाश्वों को संयुक्त कर।

भावार्थ—शुद्ध वायु का सम्पर्क मस्तिष्क को दीप्त करके ज्ञान-वृद्धि का कारण बनता है, इन्द्रियाश्वों को उत्तम बनाता है, तथा तेजस्विता को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—वायुः॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

दृढ़ शरीर व उत्तम इन्द्रियाश्व

त्वां हि सुप्सरस्तमं नृषदनेषु हूमहे। ग्रावाणं नाश्वपृष्ठं मंहना॥ २४॥

(१) हे वायो! **त्वां हि**=तुझे ही **नृषदनेषु**=मनुष्यों से बैठने योग्य इन यज्ञगृहों में, यज्ञों के अवसर पर **हूमहे**=पुकारते हैं। यज्ञों का मुख्य उद्देश्य वायु शुद्धि ही तो होता है। उस वायु को हम पुकारते हैं। जो **सुप्सरस्तमम्**=अतिशयेन शोभन रूपवाला है। यह वायु स्वास्थ्य के द्वारा सुन्दर रूप को प्राप्त कराता है। (२) हे वायो! तुझे **मंहना**=स्तुति के द्वारा पुकारते हैं जो तू **ग्रावाण न**=ग्रावा के समान **अश्वपृष्ठ**=अश्वों का पृष्ठ है। शरीर को तू ग्रावा (पत्थर) के समान दृढ़ बनाता है और इन्द्रियाश्वों का तो तू आधार ही है। वायु ही शरीर व इन्द्रियों को स्वस्थ करता है।

भावार्थ—यज्ञों द्वारा वायु को पवित्र करते हुए हम दृढ़ शरीरों व उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—विश्वमना वैयश्वो व्यश्वो वाङ्गिरसः॥ **देवता**—वायुः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वाजान् अपः धियः

स त्वं नो देव मनसा वायो मन्दानो अग्रियः। कृधि वाजाँ अपो धियः॥ २५॥

(१) हे **देव**=सब न्यूनताओं व रोगों को पराजित करनेवाले **वायो**=वायुदेव! **सः त्वम्**=वह तू **नः**=हमें **मनसा**=उत्तम मन के द्वारा **मन्दानः**=आनन्दित करनेवाला हो। **अग्रियः**=तेरा ही सब देवों में प्रमुख स्थान है, तू सर्वश्रेष्ठ है। (२) तू हमारे जीवनों में **वाजान्**=शक्तियों को **कृधि**=कर। **अपः**=रेतःकण रूप जलों को तू करनेवाला हो। **धियः**=बुद्धियों का तू सम्पादन कर।

भावार्थ—वायु का देवों में प्रथम स्थान है, यह हमारे जीवनों में शक्ति, बुद्धि व रेतःकणों को जन्म देता है।

वायु के आराधन से उत्कृष्ट मन को प्राप्त करके यह 'मनु' बनता है। प्रकाश की किरणोंवाला होता हुआ यह 'वैवस्वत' होता है। यह 'मनु वैवस्वत' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्राणसाधना-स्वाध्याय-देव-सम्पर्क

अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे। ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पतिं देवाँ अवो वरेण्यम्॥ १॥

(१) **उक्थे**=स्तोत्रों के होने पर **अग्निः पुरोहितः**=वह अग्रेणी प्रभु सामने ही स्थापित होता है। हम स्तोत्रों के द्वारा प्रभु का दर्शन करनेवाले बनते हैं। **अध्वरे**=यज्ञ में **ग्रावाणः**=उपदेष्टा

लोग (गृणन्ति) ज्ञानोपदेष्टा गुरु **बर्हिः**=हमारी वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले होते हैं। हमारे जीवनों को वासनाशून्य बनाते हैं। (२) मैं **ऋचा**=स्तुति के द्वारा **मरुतः**=प्राणों से, **ब्रह्मणस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी प्रभु से, **देवान्**=सब ज्ञानी पुरुषों से व सूर्य आदि देवों से **वरेण्यं अवः**=वरण करने योग्य रक्षण की **यामि**=(याचामि) याचना करता हूँ। प्राणसाधना (मरुतः), स्वाध्याय (ब्रह्मणस्पतिं) व देवों का सम्पर्क (देवान्) मेरे जीवन को अतिशयेन सुरक्षित करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—स्तोत्रों द्वारा हम प्रभु-दर्शन का प्रयत्न करें। ज्ञानी गुरुओं के सम्पर्क में वासनाओं का उद्बर्हण कर पायें। प्राणसाधना, स्वाध्याय व देव-सम्पर्क हमारे जीवनों को रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचायें।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः ॥ **देवता**—विश्वेदेवाः ॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

स्थावर जंगम जगत् की अनुकूलता

आ पशुं गासि पृथिवीं वनस्पतीनुषासा नक्तमोषधीः ।
विश्वे च नो वसवो विश्ववेदसो धीनां भूत प्रावितारः ॥ २ ॥

(१) हे अग्ने! आप हमारे जीवनों में **पशुम्**=गौ आदि पशुओं को, **पृथिवीम्**=इस भूमि माता को **वनस्पतीन्**=ज्ञान रश्मियों की रक्षक इन वनस्पतियों को, बुद्धि को कायम रखनेवाली वनस्पतियों को **ओषधीः**=(ओषः सोमः धीयते यासु) अपने अन्दर दोषों के दग्ध करनेवाले सोम (वीर्य) को धारण करनेवाली ओषधियों को **उषासानक्तम्**=दिन-रात **आगासि**=प्राप्त कराते हो व स्तुत करते हो। हम इनके ठीक प्रयोग से जीवन को उज्ज्वल बना पाते हैं। (२) **च**=और हे **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञान धनोंवाले **विश्वे वसवः**=सब वसुओं! जीवन के निवास को उत्तम बनानेवाले ज्ञानियो! **नः**=हमारी **धीनाम्**=बुद्धियों के आप **प्रावितारः**=प्रकृष्ट रक्षक **भूत**=होवो। आप से दिये जानेवाले ज्ञान से हमारी बुद्धियाँ ठीक बनी रहें।

भावार्थ—सब पशु, पृथिवी आदि पदार्थ हमारे जीवन को उज्ज्वल बनायें। सब देव ज्ञान द्वारा हमारी बुद्धियों को प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः ॥ **देवता**—विश्वेदेवाः ॥ **छन्दः**—शङ्कुमती बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

यज्ञ की महिमा

प्र सू न एत्वध्वरो३ऽग्ना देवेषु पूर्व्यः । आदित्येषु प्र वरुणे धृतव्रते मरुत्सु विश्वभानुषु ॥ ३ ॥

(१) **नः**=हमें वह **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम **अध्वरः**=यज्ञात्मक कर्म **प्र सु एतु**=प्रकर्षेण सम्यक् प्राप्त हो। जो यज्ञ **अग्ना**=(अग्रेणी) अग्रेणी पुरुष में होता है, निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाला पुरुष जिस यज्ञ को करता है, वह यज्ञ हमें प्राप्त हो। इसी प्रकार **देवेषु**=देववृत्तिवाले पुरुष में जो यज्ञ होता है, वह यज्ञ हमें प्राप्त हो। उस यज्ञ को करते हुए हम भी देव बनें। (२) **आदित्येषु**=(आदानात् आदित्यः) सब स्थानों से अच्छाई को ग्रहण करनेवाले पुरुषों में जो यज्ञ होता है, वह हमें प्राप्त हो। इसी प्रकार **प्रधृत व्रते**=प्रकर्षेण व्रतों को धारण करनेवाले **वरुणे**=पापों से निवृत्त, निर्द्वेष जीवनवाले पुरुष में जो यज्ञ होता है उस यज्ञ को हम प्राप्त करें। और अन्ततः **विश्वभानुषु**=सर्वत्र प्रविष्ट तेजस्वितावाले, अंग-प्रत्यंग में तेजस्वितावाले, **मरुत्सु**=प्राणसाधक पुरुषों में जो यज्ञ होता है, वह यज्ञ हमें भी प्राप्त हो।

भावार्थ—पालक व पूरक यज्ञों को करते हुए हम 'अग्नि, देव, आदित्य, धृतव्रत वरुण व विश्वभानु मरुत्' बनें।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अवृक छर्दि

विश्वे हि ष्मा मनवे विश्ववेदसो भुवन्वृधे रिशादसः।
अरिष्टेभिः पायुभिर्विश्ववेदसो यन्ता नोऽवृकं छर्दिः॥ ४॥

(१) **विश्वे**=सब **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनोंवाले व ज्ञानोंवाले, **रिशादसः**=हिंसक शत्रुओं को (काम-क्रोध-लोभ को) नष्ट करनेवाले देव **हि ष्मा**=निश्चय से **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **वृधे भुवन्**=वृद्धि के लिये होते हैं। ऐसे देवों के सम्पर्क में आकर एक विचारशील पुरुष दिन-प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता चलता है। (२) ये **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनों व ज्ञानोंवाले देव **अरिष्टेभिः पायुभिः**=अहिंसित रक्षणों के द्वारा **नः**=हमारे लिये **अवृकम्**=(वृक) भेड़िये, उल्लू, कौवे व गीदड़ की वृत्तिवाले पुरुषों से रहित **छर्दिः**=घर को **यन्त**=प्राप्त करायें। हमारे घरों में 'बहुत खानेवाले, मूर्ख, धूर्त व कायर' व्यक्ति न हों। हम स्वयं उत्तम वृत्ति के बनें, हमारे सन्तान भी उत्तम वृत्ति के हों।

भावार्थ—ज्ञानियों के सम्पर्क में हम दिव्यता में वृद्धि को प्राप्त करें। हमारे घरों में 'मिताहारी, ज्ञानी, सरल व वीर' पुरुषों का निवास हो।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—विराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

देव-सम्पर्क-प्राणसाधना-स्वास्थ्य

आ नो अद्य समनसो गन्ता विश्वे सजोषसः। ऋचा गिरा मरुतो देव्यदिते सदने पस्त्ये महि॥ ५॥

(१) हे **विश्वे**=सब देवो! आप **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों का सेवन करनेवाले होते हुए **समनसः**=समान चित्त होकर **नः**=हमें **अद्य**=आज **आगन्ता**=प्राप्त होवो। हमारा देवों के साथ सम्पर्क हो, जो देव मिलकर प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों को करते हैं तथा समान चित्तवाले होते हैं। (२) हे **मरुतः**=प्राणो! तथा **महि**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **देवि**=दिव्य गुणों की जननि **अदिते**=स्वास्थ्य की देवते! आप **ऋचा**=ज्ञान की वाणियों के साथ तथा **गिरा**=स्तुति-वाणियों के साथ **सदने**=हमारे बैठने के स्थान **पस्त्ये**=इस गृह में (आगन्त) आओ।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में हमारा जीवन चले, हम स्वस्थ बनें, प्राणसाधना में प्रवृत्त हों, स्वाध्याय तथा स्तवन की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'इन्द्र, वरुण, तुर, नर, आदित्य'

अभि प्रिया मरुतो या वो अश्व्या हव्या मित्र प्रयाथन।
आ बर्हिरिन्द्रो वरुणस्तुरा नर आदित्यासः सदन्तु नः॥ ६॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **या**=जो **वः**=आपके **प्रिया**=प्रीति के जनक **अश्व्या**=अश्वसंघ हैं, उत्तम इन्द्रियाश्व हैं, उन्हें **अभि प्रयाथन**=हमारे सम्मुख प्राप्त कराइये। हे **मित्र**=स्नेह की देवते! तू **हव्या**=हव्य पदार्थों को, यज्ञशेष के रूप में सेवन किये जानेवाले पदार्थों को हमारे लिये प्राप्त करा। सब के प्रति स्नेहवाला पुरुष यज्ञशेष का ही सेवन करेगा। यह कभी अकेला खानेवाला नहीं हो सकता। (२) **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले व्यक्ति, **आदित्यासः**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले व्यक्ति **आदसन्तु**=आसीन हों। हम हृदय में 'इन्द्र' का ध्यान करते हुए जितेन्द्रिय बनें,

'वरुण' का ध्यान करते हुए 'निर्द्वेष' बनें। हम भी 'तुर नरों' का स्मरण करते हुए शत्रु-संहार करनेवाले उन्नत पुरुष हों। तथा आदित्यों का स्मरण करते हुए आदित्य ही बनने के लिये यत्नशील हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी इन्द्रियाँ उत्तम हों। स्नेह से पूर्ण होते हुए हम यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें। हृदय में 'जितेन्द्रिय, निर्द्वेष, शत्रु-संहारक, गुणों का आदान करनेवाले' बनने का निश्चय करें।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वृक्तबर्हिषः

वयं वो वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आनुषक्। सुतसोमासो वरुण हवामहे मनुष्वदिद्धाग्नयः॥ ७॥

(१) हे **वरुण**=सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **वः**=आपको **आनुषक्**=निरन्तर **हवामहे**=पुकारते हैं। वे हम आपको पुकारते हैं, जो **वृक्तबर्हिषः**='पापशून्य किया है हृदयान्तरिक्ष को जिन्होंने' ऐसे हैं। **हितप्रयसः**='धारण किया है सात्त्विक अन्नों को जिन्होंने' ऐसे हैं। और इस प्रकार **सुतसोमासः**='उत्पन्न किया है सोम जिन्होंने' ऐसे हैं। हृदय को पापशून्य करके सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाले ही सोम का रक्षण कर पाते हैं। (२) सोमरक्षण के द्वारा ये **इद्धाग्नयः**=समिद्ध ज्ञानग्नि की दीप्तिवाले हैं। ये ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके **मनुः वत्**=विचारशील पुरुष बने हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक (क) हृदय से पापों को दूर करते हैं, (ख) सात्त्विक अन्न का सेवन करते हैं, (ग) सोम का रक्षण करते हैं, (घ) ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं, (ङ) विचारशील बनते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—पर्ि-॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

देवों व महादेव का आगमन

आ प्र यात मरुतो विष्णो अश्विना पूषन्माकीनया धिया।
इन्द्र आ यातु प्रथमः सनिष्युभिर्वृषा यो वृत्रहा गृणे॥ ८॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **आ प्रयात**=आप हमें सर्वथा प्राप्त होवो। हमारे जीवन में इन मरुतों का कार्य ठीक से चलता रहे। **विष्णो**=(यज्ञो वै विष्णुः) हे यज्ञ! तू प्राप्त हो। हमारा जीवन यज्ञमय बने। हमारी वृत्ति व्यापक हो, हम केवल अपने लिये न जियें। **अश्विना**=हे **अश्विनौ**=प्राणापानौ! आप हमें प्राप्त होवो। हमारी प्राण शक्ति व अपान शक्ति ठीक बनी रहे। नासिका का दायां स्वर व बायां स्वर दोनों ठीक बने रहें। इस प्रकार हे **पूषन्**=पोषण की देवते! तू हमें प्राप्त हो। हमारा सब अंग-प्रत्यंगों का पोषण ठीक से चलता रहे। **माकीनया धिया**=मेरी बुद्धि के हेतु से ये सब देव हमें प्राप्त हों। इन सब देवों के आने से हमें सद्बुद्धि प्राप्त हो। (२) इन सब दिव्य गुणों व बुद्धि के स्थापन के होने पर **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **आयातु**=हमें प्राप्त हो। **प्रथमः**=जो प्रभु सर्वव्यापक हैं (प्रथ विस्तारे), अथवा सब से प्रथम हैं, पहिले से ही हैं। **सनिष्युभिः**=सम्भजन की कामनावाले उपासकों से **यः**=जो **वृषा**=शक्तिशाली व **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाला **गृणे**=स्तुत होता है, कहा जाता है।

भावार्थ—हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें, विशाल हृदय हों। हमारे सूर्य व चन्द्र स्वर ठीक कार्य करते हैं (अश्विनौ) सब अंगों का ठीक पोषण हो। हमारी बुद्धि स्वस्थ हो। इस प्रकार हम प्रभु

प्राप्ति के पात्र बनें।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—निचृद्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अच्छिद्रं शर्म

वि नो देवासो अद्रुहोऽच्छिद्रं शर्म यच्छत। न यद्दूराद्वसवो नू चिदन्तितो वरूथमादधर्षति॥ ९॥

(१) **अद्रुहः**=सब प्रकार के द्रोह की भावना से रहित **देवासः**=देवो! **नः**=हमारे लिये **अच्छिद्रम्**=सब दोषों से शून्य **शर्म**=गृह को **वियच्छत**=प्राप्त कराओ। वस्तुतः हम द्रोहशून्य दिव्य वृत्तियोंवाले बनें, तो हमारे घर बड़े निर्दोष बनते हैं। (२) हे **वसवः**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले देवो! हमें उस **वरूथम्**=रक्षक गृह को प्राप्त कराओ **यत्**=जिसको **न दूरात्**=न तो दूर से **नू चित**=और न ही **अन्तितः**=समीप से कोई भी शत्रु **आदर्धर्षति**=हिंसित करता है।

भावार्थ—हमारे घर निर्दोष हों। इनमें रहनेवाले द्रोह की भावना से शून्य दिव्य वृत्तिवाले बनें। इनमें किसी प्रकार का दूर व समीप से उपस्थित होनेवाला रोग न आ जाये।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—पादनिचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सुविताय-सुम्नाय

अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम्।
प्र णः पूर्वस्मै सुविताय वोचत मक्षू सुम्नाय नव्यसे॥ १०॥

(१) हे **देवासः**=देवो! **हि**=निश्चय से **वः**=आपका **सजात्यम्**=समान जातित्व **अस्ति**=है। हे **रिशादसः**=हिंसक 'काम-क्रोध-लोभ' आदि भावों के विनाशक देवो! आपका **आप्यम्**=बन्धुत्व **अस्ति**=है। दिव्य गुण सब एक जाति के हैं और एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं। एक दिव्य गुण के अपनाने पर दूसरे दिव्य गुण स्वतः उसके साथ खिंचे चले आते हैं। (२) हे देवो! दिव्य वृत्तिवाले पुरुषो! **नः**=हमारे लिये **पूर्वस्मै**=सर्वोत्कृष्ट **सुविताय**=सुवित के लिये (सुष्टु ईयते) अभ्युदय के लिये **प्रवोचत**=मार्ग का उपदेश करो **मक्षु**=शीघ्र **नव्यसे**=नवतर, अतिशयेन स्तुत्य **सुम्नाय**=यज्ञ के लिये उपदेश करो।

भावार्थ—दिव्यगुणों का परस्पर समान जातित्व व बन्धुत्व है। इन दिव्य गुणों से सम्पन्न पुरुष हमारे लिये अभ्युदय व स्तुत्य यज्ञों का उपदेश करें। इस सुवित व सुम्न के प्राप्त करके हम भी देव बनें।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—विराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

दिव्य गुणों का धारण प्रभु-भजन

इदा हि व उपस्तुतिमिदा वामस्य भक्तये। उप वो विश्ववेदसो नमस्युराँ असृक्ष्यन्यामिव॥ ११॥

(१) हे **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानों व धनों को प्राप्त करानेवाले देवो! (विश्वं वेदः यस्मात्) मैं **इदा हि**=अभी ही **वः**=आप की **उपस्तुतिम्**=समीप आसीन होकर स्तुति को **उप आ असृक्षि**=निर्मित करता हूँ, आपका स्तवन करता हूँ। इन देवों का स्तवन हमें भी देववृत्ति का बनाता है। यह स्तवन **इदा**=अब **वामस्य**=उस सर्वोत्तम, सुन्दरतम प्रभु के **भक्तये**=भजन के लिये हो जाता है। (२) हे देवो! मैं आपकी **अन्यां इव**=असाधारण ही पहले औरों से न की गई, औरों से विलक्षण स्तुति को करता हूँ। मैं आपकी क्रियात्मक स्तुति करता हूँ, आपको अपनाता हुआ आपका स्तोता बनता हूँ। **नमस्युः**=इस स्तुति के द्वारा मैं प्रभु के प्रति नमन की भावनावाला होता

हूँ। जितना-जितना मैं दिव्य गुणों को अपनाता हूँ, उतना-उतना ही विनत बनता जाता हूँ, विनित बनना ही तो प्रभु का बनना है। यह विनीतता मुझे प्रभु के समीप पहुँचाती है।

भावार्थ—दिव्य गुणों का स्तवन करते हुए हम प्रभु के उपासक बन जायें। दिव्य गुणों का स्तवन व अपनाना ही प्रभु के प्रति नमन है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः ॥ **देवता**—विश्वेदेवाः ॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराट्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

सूर्य के द्वारा 'सरण' की प्रेरणा

उदु ष्य वः सविता सुप्रणीतयोऽस्थादूर्ध्वो वरेण्यः।
नि द्विपादश्चतुष्पादो अर्थिनोऽविश्रन्पतयिष्णवः॥ १२॥

(१) हे **सुप्रणीतयः**=उत्तम मार्ग से जीवन का प्रणयन करनेवाले, शुभ मार्ग से चलनेवाले मनुष्यो! **स्यः**=वह **वः सविता**=तुम्हें कर्मों में प्रेरणा देनेवाला सूर्य **उ**=निश्चय से **उद् अस्थात्**=उदय हुआ है। **ऊर्ध्वः**=यह ऊपर गतिवाला सूर्य **वरेण्यः**=वरणीय है, सम्भजनीय है। इसका सम्भजन यही है कि हम भी ऊर्ध्वगतिवाले हों। (२) इस सूर्य के उदय होते ही **द्विपादः**=दो पाँवोंवाले मनुष्य, **चतुष्पादः**=चार पाँवोंवाले पशु, **अर्थिनः**=भिन्न-भिन्न प्रयोजनोंवाले अथवा धन को चाहनेवाले लोग तथा **पतयिष्णवः**=आकाश में उत्पतनवाले ये पक्षी **नि आविश्रत्**=(स्व स्व कर्मणि निविशन्ते) अपने-अपने कार्य में निविष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—सूर्योदय होता है। सभी मनुष्य व पशु-पक्षी अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। सूर्य के सरण से हमें भी गतिशीलता की प्रेरणा लेनी है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः ॥ **देवता**—विश्वेदेवाः ॥ **छन्दः**—विराड्बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

अवसे-अभिष्टये-वाजसातये

देवंदेवं वोऽवसे देवंदेवमभिष्टये। देवंदेवं हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया॥ १३॥

(१) हम **अवसे**=रक्षण के लिये **वः देवं देवम्**=तुम सब के प्रकाशित करनेवाले उस देव को **हुवेम**=पुकारते हैं। उस **देवं देवम्**=देवों के भी देव महादेव प्रभु को **अभिष्टये**=काम आदि वासनाओं पर आक्रमण के लिये पुकारते हैं। कामदेव पर महादेव ही तो आक्रमण करेंगे। (२) हम **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये **देव्या धिया**=प्रकाशमयी बुद्धि से **गृणन्तः**=स्तवन करते हुए, स्तुति-वाणियों का उच्चारण करते हुए **देवं देवम्**=उस देवाधिदेव को पुकारते हैं।

भावार्थ—उस देवाधिदेव प्रभु का आराधन रक्षण के लिये होता है, हमारी वासनाओं पर यह आक्रमण का-सा बनता है और शक्ति लाभ के लिये होता है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः ॥ **देवता**—विश्वेदेवाः ॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

समन्यवः देवासः

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकं सरातयः।
ते नो अद्य ते अपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः॥ १४॥

(१) **देवासः**='माता, पिता, आचार्य, अतिथि' आदि देव **हि ष्म**=निश्चय से **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **समन्यवः**=क्रतुवाले होते हैं (मन्यु=क्रतु) प्रज्ञान व शक्ति को प्राप्त करानेवाले होते हैं। ये सब **साकम्**=मिलकर **सरातयः**=उसके लिये शक्ति व धनों को देनेवाले होते हैं। (२) **ते**=वे सब **अद्य**=आज **नः**=हमारे लिये **वरिवोविदः**=उत्तम धनों को प्राप्त करानेवाले हों। हमारे

लिये तो देव धनों को दें ही, **अपरं तु**=और पिछले दिनों में, आगे आनेवाले दिनों में **तुचे**=हमारे सन्तानों के लिये भी ये आचार्य व अतिथिरूप देव उत्तम ज्ञान धनों को दें।

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि देव हमारे लिये तथा हमारे आगे आनेवाले सन्तानों के लिये भी ज्ञान व शक्तिरूप धन को प्राप्त करायें।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—आर्चीबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

मित्र-वरुण आदि के तेज का पूजन

प्र वः शंसाम्यद्रुहः संस्थ उपस्तुतीनाम्। न तं धूर्तिर्वरुण मित्र मर्त्यं यो वो धामभ्योऽविधत्॥ १५ ॥

(१) हे **अद्रुहः**=द्रोह की भावना से शून्य देवो! **उपस्तुतीनाम्**=(उप इत्य स्तुतिर्येषां) मिलकर स्तुति करने के योग्य **वः**=आपका **संस्थे**=मिलकर बैठने के स्थान इस यज्ञभूमि में **प्रशंसामि**=खूब ही शंसन करता हूँ। (२) हे **मित्र वरुण**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवताओ! **यः**=जो भी पुरुष **वः**=आपके **धामभ्यः**=तेजों के लिये **अविधत्**=पूजन करता है, **तम्**=उस पुरुष को **धूर्तिः न**=हिंसा बाधित नहीं करती। मित्र व वरुण का उपासक कभी हिंसा आदि की भावनाओं का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—हम यज्ञों में, मिलकर बैठने के स्थानों में 'मित्र व वरुण' आदि देवों का शंसन किया करें। इनका तेज हमें सब हिंसनों से बचानेवाला होगा।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

दान व सर्वतो वृद्धि

प्र स क्षयं तिरते वि महीरिषो यो वो वराय दाशति।
प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्पर्यरिष्टः सर्व एधते॥ १६ ॥

(१) हे देवो! **यः**=जो **वराय**=उत्कृष्ट कार्यों के लिये **वः दाशति**=आपके प्रति दान करनेवाला होता है **सः**=वह **क्षयम्**=अपने गृह को **प्रतिरते**=खूब बढ़ानेवाला होता है। यह **महीः इषः**=महत्त्वपूर्ण अन्नों को बढ़ानेवाला होता है, इसके घर में सात्त्विक भोजनों की कमी नहीं रहती। (२) यह **धर्मणाः**=धर्म के द्वारा **प्रजाभिः**=सन्तानों से **परि प्रजायते**=सर्वतः उत्तम प्रजावाला होता है। और **अरिष्टः**=अहिंसित होता हुआ **सर्वः एधते**=पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होता है, यह 'शारीरिक स्वास्थ्य, मानस प्रसाद व बुद्धि की तीव्रता' रूप सब धनों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—उत्तम कार्यों के लिये देवों को देनेवाला पुरुष (क) गृह को बढ़ाता है, (ख) सात्त्विक अन्नों की वहाँ कमी नहीं होती, (ग) उत्तम सन्तान को प्राप्त करता है और (घ) 'शरीर, मन, बुद्धि' सब के दृष्टिकोणों से बढ़ता है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'अर्यमा मित्र व वरुण' की उपासना का फल

ऋते स विन्दते युधः सुगेभिर्यात्यध्वनः। अर्यमा मित्रो वरुणः सरातयो यं त्रायन्ते सजोषसः॥ १७ ॥

(१) **यम्**=जिसको **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियामक देव, **मित्रः**=स्नेह का देवता **वरुणः**=द्वेष निवारण का देव **सरातयः**=समानरूप से 'स्वास्थ्य-मनः प्रसाद व बुद्धि की तीव्रता' रूप धनों को प्राप्त करानेवाले होते हुए, **सजोषसः**=परस्पर संगत हुए-हुए **त्रायन्ते**=रक्षित करते हैं **सः**=वह **युधः ऋते**=बिना ही बाह्य युद्धों के बिना किन्हीं महान् क्लेशों

के **विन्दते**=सब आवश्यक धनों को प्राप्त करता है और **सुगेभिः**=उत्तम गन्तव्य साधनों से **अध्वनः याति**=मार्गों का आक्रमण करता है। (२) हम अपने जीवन में काम-क्रोध आदि का नियमन करते हुए 'स्नेह व निर्द्वेषता' को अपनाते हैं, तो बिना अत्यधिक आयास के हम आवश्यक धनों व जीवनयात्रा के साधनों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जीवन में हमारा प्रयत्न यह हो कि हम काम-क्रोध के वशीभूत न होकर स्नेह व निर्द्वेषता से चलें। इस प्रकार हम बिना परेशानी के आवश्यक धनों व गमनसाधनों को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

अज्र में न्यञ्चन, दुर्ग में सुसरण

अज्रे चिदस्मै कृणुथा न्यञ्चनं दुर्गे चिदा सुसरणम्।
एषा चिदस्मादशनिः परो नु सास्रेधन्ती वि नश्यतु॥ १८॥

(१) **अस्मै**=इस गत मन्त्र में वर्णित 'अर्यमा, मित्र व वरुण' के उपासक के लिये **अज्रे चित्**=युद्ध क्षेत्रों में भी **न्यञ्चनम्**=नितरां गमन को **कृणुथा**=करते हो। (अज्र=field) यह अर्यमा आदि का उपासक काम-क्रोध-लोभ से सदा संग्राम करता हुआ विजयी बनता है। और इसके लिये, हे अर्यमा आदि देवो! आप **दुर्गे चित्**=बड़े दुःख से गन्तव्य मार्गों में भी **आसुसरणम्**=समन्तात् सुगमता से गति को सिद्ध करते हो। (२) **एषा अशनिः**=यह शत्रु प्रयुक्त वज्र तो **अस्मात्**=इस से **नु**=निश्चय से **परा उ**=दूर ही रहता है। **सा**=वह शत्रु प्रयुक्त **अशनि अस्रेधन्ती**=किसी भी प्रकार से इसका हिंसन न करती हुई **विनश्यतु**=नष्ट हो जाये।

भावार्थ—'अर्यमा, मित्र व वरुण' का उपासक युद्ध भूमियों में शत्रुओं को कुचलता हुआ गमन करता है। दुर्गों में भी सुगमता से आगे बढ़ता है। इस पर शत्रुओं के वज्र का आक्रमण नहीं होता। यह वज्र किसी का हिंसन न करता हुआ विनष्ट हो जाता है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रियक्षत्रों का ऋतधारण

यदद्य सूर्यं उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दुध। यन्निम्रुचि प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यन्दिने दिवः॥ १९॥

(१) हे **प्रियक्षत्राः**=प्रीणयितृ बलवाले, जो बल के द्वारा रक्षणात्मक कार्यों को ही करते हैं, ऐसे देवो! **यत्**=जब **अद्य**=आज **सूर्ये उद्यति**=सूर्य के उदय होने का समय हो, उस समय **ऋतं दध**=ऋत का धारण करो। ऋत के धारण व अनृत के परित्याग के व्रत का धारण करो। 'जो ठीक है, वही मैं करूँगा' ऐसा निश्चय करो। (२) हे **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनों व ज्ञानोंवाले देवो! आप **यत्**=जब **निम्रुचि**=सूर्य के निम्रोचन का, अस्त होने का समय हो, **प्रबुधि**=उदय का समय हो, **यद्वा**=अथवा जब **दिवः मध्यन्दिने**=दिन के मध्य का समय हो, उस समय आप हमारे में ऋत का धारण करो। सब देवों के अनुग्रह से हम ऋत का धारण करनेवाले बनें। यही सम्पूर्ण धनों व ज्ञानों को प्राप्त करने का मार्ग है।

भावार्थ—हम रक्षक बलवाले बनते हुए सूर्योदय के समय ही 'ऋत' के धारण का व्रत लें। सब देव प्रातः, मध्याह्न व सायं हमारे अन्दर ऋत को स्थापित करने का अनुग्रह करें। ऋत का धारण ही हमें ज्ञानी व धनी बनायेगा।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ऋतं यते, दाशुषे

यद्वाभिपित्वे असुरा ऋतं यते छर्दिर्येम वि दाशुषे।
वयं तद्वो वसवो विश्ववेदस उप स्थेयाम मध्य आ॥ २०॥

(१) हे **असुराः**=हमारे जीवनों में प्राणशक्ति का संचार करनेवाले (असु+र) अथवा शत्रुओं को दूर फेंकनेवाले (अस् क्षेपणे) देवो! आप **अभिपित्वे**=हमारे यज्ञों में प्राप्त होने पर **ऋतं यते**=यज्ञों की ओर गतिवाले, **यद्वा**=अथवा **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिये **छर्दिः वियेम**=गृह को देते हो। **वयम्**=हम **वः**=आपके **तद् मध्ये**=उस घर में **उप आ स्थेयाम**=उपासना में स्थित हों। (२) हे देवो! आप **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले से और **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनों व ज्ञानों को प्राप्त करानेवाले हो।

भावार्थ—हम अपने गृह को उन व्यक्तियों का गृह बनायें जो ऋत की ओर चल रहे हैं, यज्ञात्मक जीवन बिता रहे हैं और दानशील हैं। सब देव हमारे निवास को उत्तम बनायेंगे और सम्पूर्ण धनों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'मनु-जुह्वान-प्रचेता'

यदद्य सूर उदिते यन्मध्यन्दिन आतुचि। वामं धत्थ मनवे विश्ववेदसो जुह्वानाय प्रचेतसे॥ २१॥

(१) हे **विश्ववेदसः**=सब धनों व ज्ञानोंवाले देवो! हम यही चाहते हैं (वृणीमहे २२) **यत्**=कि **अद्य**=आज **सूरे उदिते**=सूर्य के उदय होने पर और **यत् मध्यन्दिने**=जब मध्याह्न हो उस समय **आतुचि**=सूर्य के नीलांचन काल में, अर्थात् सायं आप **वामं धत्थ**=जो भी सुन्दर है उसे धारण करिये। प्रातः, मध्याह्न व सायं, अर्थात् सदा सब देव हमारे लिये सुन्दर ही वस्तु का धारण करें। (२) उनके लिये सुन्दर वस्तु का धारण करें जो **मनवे**=अवबोधवाले, विचारवाले बनते हैं, ज्ञानी बनते हैं। उनके लिये जो **जुह्वानाय**=यज्ञशील होते हैं और **प्रचेतसे**=प्रकृष्ट-चेतनावाले होते हैं।

भावार्थ—हम 'मनु-जुह्वान-प्रचेता' बनें। प्रभु हमारे लिये सब वरणीय वस्तुओं का धारण करेंगे।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

बहुपाय्य-धन

वयं तद्वः सम्राज आ वृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम्।
अश्याम तदादित्या जुह्वतो हविर्येन वस्योऽनशामहै॥ २२॥

(१) हे **सम्राजः**=सम्यग् राजमान-दीप्यमान देवो! **वयम्**=हम **वः**=आप से **तत्**=उस धन को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं, **येन**=जिससे **वस्यः**=अतिशयेन वसुमत्त्व को, प्रशस्त धनशालिता को **अनशामहै**=प्राप्त करते हैं। **न**=जैसे **पुत्रः**=पुत्र पिता से धन को प्राप्त करता है, इसी प्रकार हम आप से **'बहुपाय्यम्'**=बहुतों का रक्षण करनेवाले धन को वरते हैं। (२) हे **आदित्याः**=अदिति (स्वास्थ्य) के पुत्रभूत देवो! हम **तत्**=उस धन को **अश्याम**=प्राप्त करें, **येन**=जिससे **हविः जुह्वतः**=हवि को आहुत करते हुए, यज्ञशील बनते हुए हम प्रशस्त धनशालिता को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम उस धन को प्राप्त करें जो—(क) बहुतों का रक्षण करनेवाला हो तथा (ख) जिससे कि हमें अपने यज्ञों को सिद्ध कर सकें।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी 'मनुर्वैवस्वत' और 'विश्वेदेवा:' ही हैं—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषि:—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तेंतीस देवों से ज्ञान व शक्ति का लाभ

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्॥ १॥

(१) ११ देव पृथिवीस्थ हैं, ११ अन्तरिक्षस्थ देव हैं और ११ द्युलोकस्थ देव हैं। इस प्रकार ये तेंतीस देव हैं। **ये**=जो **त्रयस् परः**=तीन अधिक **त्रिंशति**=३०, अर्थात् तेंतीस **देवासः**=देव हैं। ये सब देव इन देवों से सूचित दिव्यभाव **बर्हिः असदन्**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में **आसदन्**=आसीन हों। (२) ये सब देव **अह**=निश्चय से हमें **विदन्**=जानें, प्राप्त हों। (द्वौ तनोति—इति द्विता) ज्ञान व शक्ति दोनों के विस्तार के हेतु से ये सब देव हमें **असनन्**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले हों।

भावार्थ—सब दिव्य गुणों का हम धारण करें। ये देव हमारे में 'ज्ञान व शक्ति' का विस्तार करें।

ऋषि:—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

कैसे बनें?

वरुणो मित्रो अर्यमा स्मद्रातिषाचो अग्नयः। पत्नीवन्तो वषट्कृताः॥ २॥

(१) **वरुणः**=द्वेष निवारण की देवता, **मित्रः**=स्नेह की देवता, **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के नियमन की देवता, **स्मद् रातिषाचः**=शोभन (स्मत् सुमत् राति, येषां, तान् सचन्ते) दानवाले यज्ञशील पुरुषों के साथ सम्बद्ध **अग्नयः**='गार्हपत्य, आहवनीय व दक्षिणाग्नि' रूप अग्नियाँ। ये सब देव **पत्नीवन्तः**=पत्नियोंवाले होते हुए **वषट्कृताः**=हमारे से आदर दिये गये हैं, इनके प्रति हमने अपना अर्पण किया है। (२) देवों की शक्तियाँ ही देव पत्नियाँ हैं। इनके प्रति हम अपना अर्पण करें, इन्हें अपने में धारण करने के लिये यत्नशील हों। हम वरुण बनें, अर्थात् निर्द्वेषता को धारण करें। हम मित्र बनें, स्नेह को धारण करें। अर्यमा बनते हुए काम-क्रोध-लोभ का नियमन करें। यज्ञशीलों को धनों को प्रदान करनेवाली यज्ञाग्नियों का सेवन करें। सब देवपत्नियों को आदर देनेवाले होते हुए इन देवों की शक्तियों को धारण करें।

भावार्थ—हम निर्द्वेष, स्नेही, शत्रुनियन्ता, यज्ञशील व देवशक्तियों को धारण करनेवाले बनें।

ऋषि:—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

देवों द्वारा सर्वतोरक्षण

ते नो गोपा अपाच्यास्त उदक्त इत्था न्यक्। पुरस्तात्सर्वया विशा॥ ३॥

(१) **ते**=वे सब देव **अपाच्याः**=प्रतीची (पश्चिम) दिशा से **नः गोपाः**=हमारे रक्षक हों। **उदक्तः**=उत्तर दिशा से भी **ते**=वे हमारे रक्षक हों। **इत्था**=इसी प्रकार ऊर्ध्वा व दक्षिणा दिक् से भी वे हमारे रक्षक हों। (२) **न्यक्**=नीचे, अर्थात् नीची दिशा में स्थित ये अधःस्थ देव भी हमारा रक्षण करें। ये देव **सर्वया विशा**=सम्पूर्ण प्रजा के साथ **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा से हमारा रक्षण करें।

भावार्थ—दिव्यभाव सब दिशाओं से हमारा रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

देवों का चाहना और वैसा हो जाना

यथा वशन्ति देवास्तथेदसत्तदेषां नकिरा मिनत्। अरावा चन मर्त्यः॥ ४॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यथा वशन्ति**=जैसा चाहते हैं तथा **इत् असत्**=वैसा ही हो जाता है। **तेषाम्**=उनकी **तत्**=उस कामना को **नकिः आमिनत्**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाता। (२) **अरावा चन**=अदानशील भी **मर्त्यः**=मनुष्य देवों की कामना होने पर हवि को देता ही है।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष जैसा चाहते हैं वैसा ही हो जाता है, उनकी कामना को कोई हिंसित नहीं कर पाता। कृपण से कृपण व्यक्ति भी उनके कहने पर हवि को देता ही है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सात ऋषियों के सात आयुध

सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे॥ ५॥

(१) 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' इस मन्त्रभाग के अनुसार शरीर में सात ऋषियों का धारण हुआ है। इन **सप्तानाम्**=सातों ऋषियों के **सप्त ऋषयः**=सात आयुध हैं। इन आयुधों के द्वारा ही तो ये अपना कार्य कर पायेंगे। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' दो कान, दो नासा-छिद्र, दो आँखें व मुख ही इनके आयुध हैं। **एषाम्**=इनके **सप्त द्युम्नाम्**=सात ज्ञानधन हैं। इन ज्ञानधनों की प्राप्ति के साधन ही वे कान आदि हैं। (२) **उ**=निश्चय से **सप्त**=ये सात ऋषि **श्रियः**=शोभाओं को **अधि धिरे**=आधिक्येन धारण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः यह शरीर इन सात ऋषियों का ही आश्रम है। इस आश्रम की शोभा इनके साथ ही है।

भावार्थ—शरीर में सात ऋषि रहते हैं। सात इनके आयुध हैं जिनके द्वारा ये ज्ञानधनों को प्राप्त करते हैं। ये सात ही इस शरीर को शोभा-सम्पन्न बनाते हैं।

सूचना—मरुतों को भी सात भागों में बाँटा गया है। ये मरुत्-त्राण भी यहाँ लिये जा सकते हैं। राष्ट्रपरक अर्थ करते समय सात राज्यांग यहाँ विवक्षित होंगे 'स्वाम्यमात्य सुहृत् कोशराष्ट्र दुर्ग वलानि च' 'वैवस्वत मनु' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—आर्चीगायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

बभ्रुः एकः (सोमः)

बभ्रुरेको विषुणः सूनरो युवाञ्ज्यङ्क्ते हिरण्ययम्॥ १॥

(१) वह परमात्मा **एकः**=अद्वितीय **बभ्रुः**=सबका भरण करनेवाला है, अकेला ही सबके भरण में समर्थ है। **विषुणः**=वह (विष्वगञ्चनः) सर्वतः गमनवाला है। **सूनरः**=उत्तम नेता है। सब के लिये पथप्रदर्शन करनेवाला है। (२) **युवा**=यह नित्य तरुण है, बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाला है (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। यह योगियों के लिये अपने **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय **अञ्जि**=रूप को **अङ्क्ते**=व्यक्त करता है।

भावार्थ—प्रभु अद्वितीय भरण करनेवाले, सर्वत्र गतिवाले, उत्तम नेता व नित्य तरुण हैं। योगी लोग इनके ज्योतिर्मय रूप को देखते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—आर्चीगायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

द्योतनः-मेधिरः (अग्निः)

योनिमेक आ संसाद द्योतनोऽन्तर्देवेषु मेधिरः ॥ २ ॥

(१) वह **एकः**=अद्वितीय प्रभु **योनिम्**=मूल कारण प्रकृति को **आससाद**=अध्यक्षरूपेण अधिष्ठित करता है। उस प्रभु से अधिष्ठित प्रकृति ही तो सब लोक-लोकान्तरों को प्रसूत करती है। (२) **देवेषु अन्तः**=सब सूर्यादि देवों में **द्योतनः**=दीप्ति को देनेवाला है, तथा (देवेषु अन्तः=) सब विद्वानों में **मेधिरः**=मेधा बुद्धि को यह देनेवाला है।

भावार्थ—वह अद्वितीय प्रभु प्रकृति का अधिष्ठाता है, वह हमें सुबुद्धि प्रदान करे।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'आयसी वाशी' के धारक प्रभु (त्वष्टा)

वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः ॥ ३ ॥

(१) **एकः**=वह अद्वितीय प्रभु **देवेषु अन्तः**=सब देवों में **निध्रुविः**=ध्रुवना से निवास करनेवाला है या नितरां गमनशील है अथवा संग्रामों में शत्रुओं के सामने अतिशयेन स्थिरतावाला है। (२) ये प्रभु **हस्ते**=हाथ में **आयसीम्**=लोहे के बने हुए **वाशीम्**=(शब्दयति आक्रन्दयति शत्रून् अनया) तक्षण साधन कुठार को **बिभर्ति**=धारण करते हैं। प्रभु इस वाशी के द्वारा शत्रुओं का तक्षण कर देते हैं।

भावार्थ—सब देवों में प्रभु का निवास है। प्रभु से ही ये देवत्व को प्राप्त कर रहे हैं। प्रभु अपनी आयसी वाशी से सब शत्रुओं का विनाश कर देते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'वज्रभर्ता-वृत्रहन्ता' प्रभु (इन्द्रः)

वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितं तेन वृत्राणि जिघ्नते ॥ ४ ॥

(१) **एकः**=अद्वितीय प्रभु **हस्ते**=हाथ में **आहितम्**=स्थापित **वज्रम्**=वज्र को **बिभर्ति**=धारण करते हैं। (२) **तेन**=इस वज्र के द्वारा वे **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जिघ्नते**=विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान की आवरणभूत वासना को प्रभु विनष्ट कर देते हैं। वे प्रभु वज्रहस्त हैं। उपासक प्रभु का ध्यान करता है, प्रभु उसके शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तिग्म आयुधधारी प्रभु (रुद्रः)

तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुधं शुचिरुग्रो जलाषभेषजः ॥ ५ ॥

(१) **एकः**=वे अद्वितीय प्रभु **हस्ते**=हाथ में **तिग्मं आयुधम्**=बड़े तीक्ष्ण अस्त्र को **बिभर्ति**=धारण करते हैं। इस आयुध के द्वारा ही तो ये सब शत्रुओं का विनाश करते हैं। (२) वे **शुचिः**=पवित्र हैं। **उग्रः**=तेजस्वी हैं। **जलाषभेषजः**=सुखकर औषधोंवाले हैं, अथवा जल रूप महान् औषधवाले हैं। जल के द्वारा सब रोगों को दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हाथ में तिग्म आयुध को लिये हुए हैं, हमारे सब शत्रुओं का संहार करके हमें पवित्र व नीरोग बनाते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिग्गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

मार्गरक्षक प्रभु (पूषा)

पथ एकः पीपाय तस्करो यथाँ एष वेद निधीनाम्॥ ६॥

(१) **एकः**=वह अद्वितीय प्रभु **पथः**=मार्गों का **पीपाय**=रक्षण करते हैं। यज्ञशीलों के स्वर्ग मार्ग का तथा पापशीलों के यातना (पीड़ा) मार्ग को रक्षित करनेवाले वे प्रभु ही हैं। (२) **यथा**=क्योंकि वे प्रभु **तस्करः**=(तद् करोति) उन सबका निर्माण करनेवाले हैं, सो **एषः**=ये प्रभु **निधीनां वेद**=सब कोशों को जानते हैं, सब धनों को वे प्रभु ही प्राप्त कराते हैं (विद् लाभे)।

भावार्थ—प्रभु ही सब मार्गों के रक्षक हैं, प्रभु ही सब निधियों के वेत्ता हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिग्गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

लोकत्रय विक्रान्ता प्रभु (विष्णु)

त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे यत्र देवासो मदन्ति॥ ७॥

(१) यह **एकः**=अद्वितीय **उरुगायः**=(उरुभिः गातव्यः) बहुतों से गाया जाता हुआ, अथवा इन विशाल लोकों में गति करनेवाला प्रभु **त्रीणि**='भूः भुवः स्वः' पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूप तीनों लोकों को **विचक्रमे**=सम्यक् विक्रान्त करता है। प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं। (२) ये वे लोक हैं, **यत्र**=जिन में **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं। 'वसु' भूलोक में, 'रुद्र' अन्तरिक्षलोक में तथा 'आदित्य' द्युलोक में आनन्दित होते हैं। जब हमारी अदेव वृत्ति बनती है तभी ये लोक हमें निरानन्द प्रतीत होते हैं। उस समय हम खीझते ही रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु तीनों लोकों में गतिवाले हैं। ये लोक देववृत्तिवाले पुरुषों के लिये आनन्दप्रद हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिग्गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

प्राणापान का इन्द्रियाश्वों व बुद्धि के साथ निवास

विभिर्द्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः॥ ८॥

(१) इस शरीर में **द्वा**=ये दो अश्विनी देव, प्राण और अपान **विभिः**=इन्द्रियाश्वों के द्वारा (वि=horse) **एकया सह**=उस (एके मुख्यान्यकेवलाः) एक मुख्य साधनभूत बुद्धि के साथ **प्रचरतः**=विचरते हैं। प्राणापान, इन्द्रियों व बुद्धि के साथ जीवनयात्रा में चलते हैं। (२) ये अश्विनी देव **प्रवासा इव**=प्रवासियों के समान **वसतः**=निवास करते हैं। वे इस संसार को अपना घर नहीं मान लेते। यहाँ वे अपने को यात्रा पर प्रवास में आया हुआ मानते हैं। उनका यहाँ व्यवहार यात्रियों की तरह ही होता है। एक यात्री कम से कम भार लेकर चलता है, ये भी अपरिग्रह की वृत्ति से चलते हैं।

भावार्थ—प्राणापान इन्द्रियों के द्वारा सब गति करते हैं। वे बुद्धिपूर्वक यहाँ प्रवास में निवास करते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिग्गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

मित्रावरुणौ (स्नेह व निर्द्वेषता)

सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि सम्राजा सर्पिरासुती॥ ९॥

(१) इस जीवनयात्रा में **द्वा**=दो मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **दिवि**=सदा प्रकाशमय लोक में, स्वर्ग में **सदः चक्राते**=हमारा घर बनाते हैं, निवास करते हैं। यदि संसार में हम स्नेह व निर्द्वेषता से चलें तो जीवनयात्रा बड़ी सुखमय व निर्विघ्न रहती है। (२) ये मित्र और वरुण **उपमा**=(उप+मा) सब कुछ देनेवाले हैं। इनके होने पर 'स्वास्थ्य, शान्ति व बुद्धि' प्राप्त होती है। **सम्राजा**=ये हमारे जीवनों को सम्यक् दीप्त करते हैं। और **सर्पिरासुती**=(सर्पिः=उदकं=रेतः नि० १.१२) शरीर में रेतःकण रूप जलों को सर्वत्र आसुत करनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर शरीर में इन वीर्यकणों का सम्यक् प्रतिष्ठान होता है। 'सर्पिस्' का अर्थ घृत भी है, घृत 'दीप्ति' का पर्याय है। रेतःकणों के रक्षण के द्वारा हमारे जीवनों में ज्ञानदीप्ति चमक उठती है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता ही इस जीवनयात्रा के मूल मन्त्र हैं, ये जीवन को स्वर्गतुल्य बना देते हैं, दीप्त कर देते हैं, शक्ति-सम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीचः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड्गायत्री॥
स्वरः—षड्जः॥

अत्रयः (काम-क्रोध-लोभ से परे)

अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन्॥ १०॥

(१) **अर्चन्तः**=प्रभु का पूजन करते हुए **एके**=काम-क्रोध-लोभ को पराजित करनेवाले कई व्यक्ति **महि**=महान् **साम**=साममन्त्रों द्वारा उपासना को **मन्वत**=जानते हैं, अर्थात् साममन्त्रों द्वारा प्रभु का पूजन करते हैं। (२) **तेन**=इन साममन्त्रों द्वारा प्रभु-पूजन से **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **अरोचयन्**=दीप्त करते हैं। प्रभु-पूजन से हमारे जीवनों में ज्ञान सूर्य का उदय होता है। हृदयस्थ प्रभु से हम ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम साममन्त्रों द्वारा प्रभु का उपासन करें। यह प्रभु का उपासन हमारे जीवनों में ज्ञान की ज्योति को जगायेगा।

अगला सूक्त भी 'वैवस्वत मनु' का ही है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दिव्य गुणधारण-प्रभु-पूजन

नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतोमहान्त इत्॥ १॥

(१) हे **देवासः**=दिव्य गुणो! **वः**=तुम्हारे में से कोई भी **अर्भकः**=कम महत्त्व का **नहि अस्ति**=नहीं है। सब दिव्य गुण एक से एक बढ़कर महत्त्व रखते हैं। **न कुमारकः**=आप में से कोई भी कुत्सित उपायों से किसी का नाश करनेवाला नहीं। (२) **विश्वे**=ये सब दिव्य गुण **इत्**=निश्चय से **सतः**=इस पूर्ण सनातन सत्य प्रभु के **महान्तः**=(मह पूजायाम्) पूजन करनेवाले होते हैं। दिव्य गुणों का धारण ही सच्चा प्रभु-पूजन है।

भावार्थ—सब दिव्य गुण समानरूप से महत्त्वपूर्ण हैं। देव वृत्तिवाले पुरुष किसी को भी कुत्सित उपायों से मारते नहीं। इन दिव्य गुणों का धारण ही सच्चा प्रभु-पूजन है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—पुरउष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

रिशादसः-यज्ञियासः

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः॥ २॥

(१) **इति**=इस प्रकार गत मन्त्र में वर्णित रीति से **स्तुतासः**=स्तुति किये गये, हे देवो! आप **रिशादसः**=(रिशतां हिंसतामसितारः) हिंसक शत्रुओं को हमारे से दूर करनेवाले हो। (२) **ये**=जो आप **त्रयः च त्रिंशत् च**=तीन और तीस, अर्थात् तेंतीस हो वे आप **मनोः**=मननशील व्यक्ति के **देवाः**=जीवन को द्योतित करनेवाले हो। **यज्ञियासः**=आप संगतिकरण योग्य हो या आदरणीय हो।

भावार्थ—सब दिव्य गुणों को इसी रूप में सोचना कि इनमें कोई कम आवश्यक नहीं है। ऐसा सोचने पर ये दिव्य गुण हमारे जीवन से दोषों को दूर करते हैं और उसे द्योतित (प्रकाशमय) कर देते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

मानव मार्ग से दूर न होना

ते नस्त्राध्वं तेऽवत त उ नो अधि वोचत। मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः॥ ३॥

(१) हे **ते**=वे दिव्य गुणो! **नः**=हमें **त्राध्वम्**=रोग आदि के आक्रमण से बचाओ। **ते**=वे आप हमें **अवत**=काम-क्रोध-लोभ का शिकार होने से रक्षित करो। **ते**=वे आप **उ**=निश्चय से **नः**=हमें **अधिवोचत**=आधिक्येन ज्ञान का उपदेश करनेवाले होवो। (२) इस प्रकार ज्ञान देते हुए आप **नः**=हमें **परावतः**=सुदूर काल से चले आये **पित्र्यात्**=परम पिता प्रभु से प्राप्त **मानवात्**=मानव, मनुष्योचित **पथः अधि**=मार्ग से दूर **मा नैष्ट**=दूर न ले जाइये। दिव्य गुणों का ध्यान करते हुए हम मानवोचित मार्ग से ही गति करनेवाले हों।

भावार्थ—दिव्य गुणों का धारण हमें नीरोग व काम-क्रोध से अनाक्रान्त जीवनवाला बनाये। ये हमें ज्ञान की ओर ले चलें और मानवोचित मार्ग से दूर न ले जायें।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

देवासः वैश्वानरः

ये देवास इह स्थन विश्वे वैश्वानरा उत। अस्मभ्यं शर्म सप्रथो गवेऽश्वाय यच्छत॥ ४॥

(१) **ये**=जो **देवासः**=दिव्य गुण **इह स्थन**=इस हमारे जीवन में होते हैं, वे **विश्वे**=सब **वैश्वानराः**=मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। दिव्य गुण जिस व्यक्ति के जीवन में होते हैं, उसी का कल्याण न करके सभी का कल्याण करते हैं। इनका प्रभाव उस सारे वातावरण पर ही पड़ता है। (२) **उत**=और हे देवो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **सप्रथः**=अतिशयेन विस्तारवाले **शर्म**=सुख को **यच्छत**=दीजिये। हमारे **गवे अश्वाय**=गौ, घोड़े आदि पशुओं के लिये भी ये कल्याण-कर प्रभाववाले हों। अथवा **गवे**=हमारी ज्ञानेन्द्रियों तथा **अश्वाय**=कर्मेन्द्रियों के लिये ये कल्याणकर हों।

भावार्थ—दिव्य गुणों के धारण से आसपास के सारे वातावरण पर सुखद प्रभाव होता है। ये दिव्य गुण हमारे लिये तथा हमारे गवादिक पशुओं के लिये भी सुखकर हों।

अगले सूक्त का ऋषि भी मनु वैवस्वत ही है–

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः ॥ **देवता**—ईज्यास्तवो यजमानप्रशंसा च ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

यज्ञ के लाभ

यो यजाति यजात इत्सुनवच्च पचाति च। ब्रह्मेदिन्द्रस्य चाकनत्॥ १॥

(१) **यः**=जो **यजाति**=एक बार यज्ञ करता है, वह **यजाते इत्**=फिर अवश्य यज्ञ करता ही है। यज्ञ से देखे गये लाभ उसे यज्ञ की रुचिवाला बना देते हैं। (२) यह अपने जीवन में **सुनवत्**=सोम का अभिषव करता है, वीर्य शक्ति का सम्पादन करता है, **च**=और **पचाति च**=अवश्य ही वेद के आदेश के अनुसार पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान के भोजन का परिपाक करता है। यह **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **ब्रह्म इत्**=इस वेदज्ञान को ही, इन वेदवाणियों के द्वारा स्तवन को ही **चाकनत्**=चाहता है। इसे स्वाध्याय व स्तवन ही रुचिकर होता है।

भावार्थ—यज्ञ करने से यज्ञ फलों के दृष्टिगोचर होने पर मनुष्य यज्ञशील ही बन जाता है। यह अपने अन्दर सोम शक्ति का सम्पादन करता है, ज्ञान के भोजन का परिपाक करता है, प्रभु के वेदज्ञान को अपनाता हुआ उन वेदवाणियों से प्रभु का स्तवन करता है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः ॥ **देवता**—ईज्यास्तवो यजमानप्रशंसा च ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

पुरोडाश-सोम (यज्ञशेष का सेवन-सोमरक्षण)

पुरोळाशं यो अस्मै सोमं ररत आशिरम्। पादित्तं शक्रो अंहसः ॥ २ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **अस्मै**=इस जीव के लिये **पुरोडाशम्**=हुतशेष को **ररते**=देते हैं। प्रभु जीव को यही आदेश करते हैं कि वह यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बने। 'केवलाघो भवति केवलादी' अकेले स्वयं ही सब खा जानेवाला तो पापी होता है। और वे प्रभु **आशिरम्**=समन्तात् शरीर में रोगकृमियों के शीर्ण करनेवाले **सोमम्**=सोम शक्ति को, वीर्य को **ररते**=देते हैं। इस सोम के रक्षण से ही तो हमारे जीवन का सारा उत्थान होना है। (२) **शक्रः**=ये सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **तम्**=उस यज्ञशेष का सेवन करनेवाले तथा सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष को **अंहसः**=पाप से **पात् इत्**=अवश्य बचाते ही हैं। वस्तुतः 'यज्ञशेष का सेवन व सोमरक्षण' मनुष्य को पाप की ओर झुकने ही नहीं देते।

भावार्थ—प्रभु के आदेश के अनुसार 'यज्ञशेष का सेवन करते हुए तथा सोम का रक्षण करते हुए' हम अपने को पापों से पृथक् रखने में समर्थ हों।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः ॥ **देवता**—ईज्यास्तवो यजमानप्रशंसा च ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

द्युमान् रथः

तस्य द्युमाँ असद्रथो देवजूतः स शूशुवत्। विश्वा वन्वन्नमित्रिया ॥ ३ ॥

(१) **तस्य**=उस, गत मन्त्र में वर्णित यज्ञशेष सेवी सोमरक्षक, पुरुष का **रथः**=यह शरीर-रथ **द्युमान्** **असत्**=ज्योतिर्मय होता है। रक्षित सोम इसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। (२) **देवजूतः**=उस महान् देव प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त कराया गया **सः**=वह उपासक **शूशुवत्**=सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त करता है। (३) यह **विश्वा**=सब, हमारे अन्दर हमारे न चाहते हुए भी घुस आनेवाली **अमित्रिया**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुभूत वासनाओं का **वन्वन्**=यह पराजय

करनेवाला होता है। इन वासनाओं का हिंसन करके ही तो यह बढ़ता है।

भावार्थ—यज्ञशीलता से हमारा शरीर-रथ ज्योतिर्मय होता है। यह यज्ञशील पुरुष प्रभु प्रेरणा को प्राप्त करके वृद्धि को प्राप्त होता है। यह सब शत्रुभूत वासनाओं को हिंसित करता है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—ईज्यास्तवो यजमानप्रशंसा च॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उत्तम गौ

अस्य प्रजावती गृहेऽसश्चन्ती दिवेदिवे। इळा धेनुमती दुहे॥ ४॥

(१) **अस्य**=इस यज्ञशील पुरुष के **गृहे**=घर में **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **इडा**=गौ **दुहे**=दुग्ध का प्रपूरण करती है। यह गौ **प्रजावती**=प्रशस्त प्रजावाली होती है, बांझ नहीं होती। **असश्चन्ती**=यह सूख नहीं जाती, दूध देती ही रहती है। **धेनुमती**=यह प्रशस्त धेनुओंवाली होती है, अर्थात् इससे उत्पन्न बछियाँ भी उत्तम दूध देनेवाली होती हैं। (२) यज्ञों का प्रभाव केवल घर के मानवों पर ही नहीं पड़ता। इन यज्ञों से उस गृह के पशु भी अधिक स्वस्थ बनते हैं। यह यज्ञ हमें प्रजा और पशु दोनों दृष्टिकोणों से बढ़ानेवाला होता है। जिस देश में यज्ञ होंगे, वहाँ मनुष्य उत्तम होंगे, तो पशु भी उत्तम होंगे। उस देश में गौएँ खूब दोग्ध्री होंगी।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष को 'प्रजावती, असश्चन्ती, धेनुमती' गौ की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पती॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

समनसा दम्पती

या दंपती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा॥ ५॥

(१) **या**=जो **दम्पती**=पति-पत्नी **समनसा**=समान मनवाले होते हैं, परस्पर एक विचार के होते हैं, वे **सुनुतः**=अपने शरीरों में सोम का अभिषव करते हैं, शक्ति का सम्पादन करते हैं, **च**=और **आधावतः**=जीवन को समन्तात् शुद्ध बना लेते हैं। ये भोगवृत्ति से ऊपर उठकर पवित्र जीवन बिताते हुए उत्तम मनवाले होते हैं। (२) इनके गृह में **नित्यया**=सदा होनेवाली **आशिरा**=शत्रुओं को शीर्ण करने की प्रक्रिया से **देवासः**=देववृत्ति के ही सन्तान होते हैं। वस्तुतः सन्तानों की उत्तमता के लिये आवश्यक है कि—(क) पति-पत्नी परस्पर समान मनवाले हों, (ख) ये अपने जीवन में सोम का सम्पादन करनेवाले हैं, (ग) जीवन को शुद्ध बनायें, यह शोधन प्रक्रिया नित्य चलनेवाली हो। ऐसा होने पर सन्तान देव वृत्ति के होते ही हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी समान मनवाले, सोम का रक्षण करनेवाले, जीवन को शुद्ध बनानेवाले हों, तो सन्तान उत्तम होते ही हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पती॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उत्तम अन्न-उत्तम शक्ति

प्रति प्राशव्याँ इतः सम्यञ्चा बर्हिराशाते। न ता वाजेषु वायतः॥ ६॥

(१) जो पति-पत्नी **सम्यञ्चा**=सम्यक् मिलकर गतिवाले होते हुए **बर्हिः**=यज्ञों को **आशाते**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा यज्ञशील बनते हैं, वे **प्राशव्यान्**=खाने के योग्य उत्तम अन्नों के **प्रति इतः**=प्रति जाते हैं, इन्हें उत्तम अन्न सदा प्राप्त रहते हैं। (२) इन उत्तम अन्नों के प्रयोग के द्वारा **ता**=वे पति-पत्नी **वाजेषु**=शक्तियों में **न वायतः**=क्षीण नहीं होते।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों को उत्तम अन्न प्राप्त होते हैं। इन उत्तम अन्नों से इनकी शक्ति कभी

क्षीण नहीं होती।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः **देवता**—दम्पती **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

यज्ञ-सुमति-ज्ञान

न देवानामपि ह्नुतः सुमतिं न जुगुक्षतः। श्रवो बृहद्विवासतः॥ ७॥

(१) ये पति-पत्नी **देवानाम्**=देवों का **न अपिह्नुतः**=कभी प्रवंचन नहीं करते देवों से दिये हुये भोजनों को देवों के लिये न देकर सबका सब स्वयं नहीं खा जाते। उनके लिये बिना दिये सब खा जानेवाले चोर ही तो होते हैं। (२) ये पति-पत्नी **सुमतिम्**=कल्याणी मति को कभी न **जुगुक्षतः**=संवृत नहीं करते। इनकी बुद्धि पर वासना का परदा नहीं पड़ता। (३) ये पति-पत्नी इस दीप्त बुद्धि से **बृहत् श्रवः**=विशाल ज्ञान को **विवासतः**=धारण करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील बनें। यज्ञशीलता से बुद्धि पर लोभ का परदा नहीं पड़ जाता। अनावृत बुद्धि से ज्ञान का विस्तार होता है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः **देवता**—दम्पती **छन्दः**—विराड्गायत्री **स्वरः**—षड्जः

सन्तान-सुखमय पूर्ण जीवन-ज्ञान

पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः। उभा हिरण्यपेशसा॥ ८॥

(१) **पुत्रिणा**=प्रशस्त पुत्रोंवाले, **ता**=वे पति-पत्नी **कुमारिणा**=(कुमार क्रीडायाम्) पुत्रों व नप्ताओं से खेलते हुए (क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः) **विश्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **व्यश्नुतः**=प्राप्त करते हैं। (२) **उभा**=ये दोनों **हिरण्यपेशसा**=हितरमणीय ज्ञान से सुन्दर रूपवाले होते हैं।

भावार्थ—हम उत्तम सन्तानोंवाले हों। सन्तानों के साथ सुख को प्राप्त होते हुए पूर्ण जीवन को प्राप्त करें। ज्ञान से सुन्दर रूपवाले बनें।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः **देवता**—दम्पती **छन्दः**—अनुष्टुप् **स्वरः**—गान्धारः

सन्तान निर्माण के लिये परस्पर मेल

वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्तामृताय कम्। समूधो रोमशं हतो देवेषु कृणुतो दुवः॥ ९॥

(१) **वीतिहोत्रा**=(वीतिः प्रियकरः होत्र यज्ञः ययोः) जिनको यज्ञ बड़ा प्रिय है। **कृतद्वसू**=(याचमान कृतधनौ-पात्रेषूपयुक्तधनौ) पात्रों में धनों को उपयुक्त करनेवाले, अर्थात् जो दानशील हैं। **अमृताय**=अमरण के लिये, नीरोगता के लिये **कम्**=सुखप्रद हविरूप अन्न को **दशस्यन्ता**=देवों के लिये देते हैं। (२) ये पति-पत्नी **अमृताय**=प्रजा के द्वारा अमर बने रहने के लिये **ऊधः**=योनि को तथा **रोमशम्**=रोमयुक्त (यौवन युक्त) अंग को **संहतः**=संयुक्त करते हैं। केवल सन्तान निर्माण के लिये ही इस मैथुन का प्रयोग करते हैं। और उत्तम सन्तानोंवाले ये पति-पत्नी **देवेषु**=देवों में **दुवः**=परिचर्या-उपासना को **कृणुतः**=करते हैं।

भावार्थ—आदर्श पति-पत्नी (क) यज्ञशील होते हैं, (ख) दान की वृत्तिवाले बनते हैं, (ग) नीरोगता के लिये हविरूप अन्नों को देनेवाले होते हैं। (घ) सन्तान निर्माण के लिये ही शक्ति का विनियोग करते हैं। (ङ) देवों का उपासन करते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः **देवता**—दम्पत्योराशिषः **छन्दः**—पादनिचृद्गायत्री **स्वरः**—षड्जः

पर्वतों, नदियों व प्रभु के आनन्द की प्राप्ति

आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम्। आ विष्णोः सचाभुवः॥ १०॥

(१) हम **पर्वतानाम्**=(पर्व पूरणे) अपना पूरण करने में यत्नशील, न्यूनताओं को दूर करने में लगे हुए पुरुषों के **शर्म**=सुख को **आवृणीमहे**=वरते हैं। पर्वतों को जो सुख होता है, हम भी पर्वत बनते हुए उस सुख को प्राप्त करें। (२) **नदीनाम्**=प्रभु के स्तोताओं को जो आनन्द प्राप्त होता है (नद् शब्दे) हम उस आनन्द को वरते हैं। स्तवन करते हुए हम भी 'नदि' बनते हैं और इन नदियों (स्तोताओं) के आनन्द का अनुभव करते हैं। (३) **सचाभुवः**=सदा साथ रहनेवाले **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के आनन्द को **(वर्णीमहे)**=वरते हैं। प्रभु को अपने हृदयों में स्थित रूप में अनुभव करते हुए वाचाम् अगोचर (वर्णनातीत) आनन्द में मग्न होते हैं।

भावार्थ—आदर्श पति-पत्नियों की यही कामना होती है कि हम अपने जीवन की न्यूनताओं को दूर करके पूरण के आनन्द का अनुभव करें। प्रभु-स्तवन करते हुए स्तोताओं को प्राप्त होनेवाले आनन्द के भागी बनें। और हृदयस्थ प्रभु का दर्शन करते हुए आनन्दमग्न हो जायें।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पत्योराशिषः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

विशाल मार्ग

एतु पूषा रयिर्भगः स्वस्ति सर्वधातमः। उरुरध्वा स्वस्तये॥ ११॥

(१) **रयिः**=धनों का देनेवाला, **भगः**=भजनीय, **सर्वधातमः**=सबका धारण करनेवाला **पूषा**=पोषक देव **आ एतु**=हमें सर्वथा प्राप्त हो और **स्वस्ति**=हमारा कल्याण हो। (२) **उरुः अध्वा**=विशाल मार्ग **स्वस्तये**=हमारे अविनाश के लिये हो। हम संकुचित मार्ग से न चलते हुए विशाल मार्ग से चलें।

भावार्थ—हमें पोषक प्रभु प्राप्त हों। उनके प्राप्त होने पर हम सदा विशाल मार्ग का ही आक्रमण करेंगे। यह विशाल मार्ग पर चलना हमारे अविनाश का कारण बनेगा।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पत्योराशिषः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-स्तवन से प्रशस्त बुद्धि व निष्पापता

अरमतिरनर्वणो विश्वो देवस्य मनसा। आदित्यानामनेह इत्॥ १२॥

(१) **अनर्वणः**=उस हिंसा न करनेवाले व हिंसित न होनेवाले **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के **मनसा**=मनन से **विश्वः**=सब कोई **अरमतिः**=अलंकृत बुद्धिवाला होता है। प्रभु का मनन व स्तवन हमें सद्बुद्धि प्राप्त कराता है। (२) **आदित्यानाम्**=अदीना देवमाता के पुत्रों का, अर्थात् दिव्यता के धारण करनेवाले व्यक्तियों की **अनेहः**=निष्पापता **इत्**=निश्चय से इस प्रभु मनन के द्वारा ही होती है। हम भी प्रभु का मनन (ध्यान) करते हुए अलंकृत बुद्धिवाले व निष्पाप बन पायें।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन प्रशस्त बुद्धि व निष्पापता का साधन है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पत्योराशिषः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

स्नेह, संयम, निर्द्वेषता व सत्य

यथा नो मित्रो अर्यमा वरुणः सन्ति गोपाः। सुगा ऋतस्य पन्थाः॥ १३॥

(१) **यथा**=जिस प्रकार **नः**=हमारे लिये **मित्रः**=स्नेह की देवता, **अर्यमा**=शत्रु नियमन की देवता (अरीन् यच्छति) **वरुणः**=निर्द्वेषता का भाव **गोपाः**=रक्षक **सन्ति**=हैं, इसी प्रकार **ऋतस्य पन्थाः**=सत्य के मार्ग **सुगाः**=शोभनतया गन्तव्य हैं, कल्याण की ओर ले चलनेवाले हैं। (२) जीवनयात्रा में 'स्नेह, संयम व निर्द्वेषता' का भाव आवश्यक है। यही मार्ग हमारा रक्षण करेगा। सत्य के मार्ग से चलते हुए हम सदा शुभ को प्राप्त होंगे।

भावार्थ—हमारे जीवनों में 'स्नेह, संयम, निर्द्वेषता व सत्य' हों।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पत्योराशिषः॥ **छन्दः**—विराट् अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'वशु प्रदाता' प्रभु

अग्निं वः पूर्व्यं गिरा देवमीळे वसूनाम्। सपर्यन्तः पुरुप्रियं मित्रं न क्षेत्रसाधसम्॥ १४॥

(१) **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु का **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से **ईडे**=मैं स्तवन करता हूँ। **वः पूर्व्यम्**=जो तुम सबका पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम है, **वसूनां देवम्**=सब वसुओं का देनेवाला है। इस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ। (२) उस **पुरुप्रियम्**=पालक व पूरक (पुरु) तथा प्रीणित करनेवाले प्रभु को, जो **मित्रं न**=एक मित्र के समान **क्षेत्रसाधसम्**=इस हमारे शरीर रूप क्षेत्र को सिद्ध करनेवाले हैं। उस प्रभु को **सपर्यन्तः**=पूजते हुए हम वसुओं की याचना करते हैं। प्रभु ही हमारे निवास के लिये आवश्यक सब वसुओं के देनेवाले हैं।

भावार्थ—हम उस पूर्व्य अग्नि का स्तवन करें। वे अग्रेणी प्रभु ही सब वसुओं को देकर हमारे जीवनयज्ञ को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पत्योराशिषः॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

देववान् का गतिशील रथ

मक्षू देववतो रथः शूरो वा पृत्सु कासु चित्।
देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत्॥ १५॥

(१) **देववतः**=उस देववाले प्रभु के उपासक का **रथः**=यह शरीर-रथ **मक्षू**=शीघ्र गतिवाला होता है। यह उपासक **कासुचित् पृत्सु**=किन्हीं भी शत्रु-सेनाओं में **वा**=निश्चय से **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला होता है। (२) **यः यजमानः**=जो यज्ञशील पुरुष **इत्**=निश्चय से **देवानां मनः**=देवों के मन को **इयक्षति**=अपने साथ संगत करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् अपने मन को दिव्य बनाने की कोशिश करता है। यह **इत्**=निश्चय से **अयज्वनः**=अयज्ञशील पुरुषों को **अभिभुवत्**=अभिभूत करनेवाला होता है। यज्ञशील पुरुष दिव्य मनवाला बनकर अयज्ञशीलों को परास्त कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासक का शरीर-रथ गतिशील होता है। यह उपासक संग्रामों में शत्रुओं को शीर्ण करता है। यज्ञशील बनकर दैववृत्ति का बनता है और अयज्ञशील पुरुषों को अभिभूत करनेवाला होता है।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पत्योराशिषः॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'यजमान-सुन्वान-देवयु'

न यजमान रिष्यसि न सुन्वान न देवयो।
देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत्॥ १६॥

(१) हे **यजमान**=यज्ञशील पुरुष! तू **न रिष्यसि**=हिंसित नहीं होता, तुझे वासनाएँ आक्रान्त नहीं कर पातीं। हे **सुन्वान**=अपने शरीर में सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष! **न**=तू हिंसित नहीं होता। हे **देवयो**=उस प्रकाशमय प्रभु को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले पुरुष! तू **न**=हिंसित नहीं होता। 'यजमान, सुन्वान व देवयु' बनकर हम वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचायें।

(२) **यः**=जो भी **यजमानः**=यज्ञशील बनकर **देवानां मनः**=देवों के मन को **इत्**=निश्चय से **इयक्षति**=अपने साथ संगत करने की कामना करता है, वह **इत्**=निश्चय से **अयज्वनः**=अयज्ञशील पुरुषों को **अभिभुवत्**=अभिभूत करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, शरीर में सोम शक्ति का सम्पादन करें, उस देव (प्रभु) को प्राप्त करने की कामनावाले हों। ऐसा होने पर हम वासनारूप शत्रुओं से हिंसित न होंगे। यज्ञशील बनकर दिव्य मनवाले होते हुए हम अयज्ञशील पुरुषों का अभिभव करनेवाले हों। यज्ञशीलता हमें अयज्ञशीलों से ऊपर उठाये।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पत्योराशिषः॥ **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

यज्ञशील की सर्वोत्कृष्ट स्थिति

नकिष्टं कर्मणा नशन्न प्र योषन्न योषति।
देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत्॥ १७॥

(१) **यः**=जो **यजमानः**=यज्ञशील बनकर **इत्**=निश्चय से **देवानां मनः**=देवों के मन को **इयक्षति**=अपने साथ संगत करने का प्रयत्न करता है, वह **इत्**=निश्चय से **अयज्वनः**=अयज्ञशील पुरुषों को **अभिभुवत्**=अभिभूत कर लेता है। (२) **तम्**=उस यजमान को **कर्मणा**=किन्हीं भी कर्मों के द्वारा **नकिः नशत्**=कोई व्याप्त (प्राप्त) नहीं कर पाता। यज्ञशीलता ही सर्वोत्तम कर्म है। कोई भी इसको **न योषत्**=स्वस्थान से च्युत नहीं कर पाता। **योषति**=यह यजमान अपने पुत्रों व धनों में रहता हुआ भी कभी उस प्रभु से पृथक् नहीं होता।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष दिव्य मन को प्राप्त करके सर्वोत्तम स्थिति में पहुँचता है। यह स्वस्थान से परिभ्रष्ट नहीं किया जाता। संसार में रहता हुआ भी प्रभु से पृथक् नहीं होता।

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः॥ **देवता**—दम्पत्योराशिषः॥ **छन्दः**—आर्चीभुरिक्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

सुवीर्य, आशु अश्व्यम्

असदत्र सुवीर्यमुत त्यदाश्वश्व्यम्। देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत्॥ १८॥

(१) **यः यजमानः**=जो यज्ञशील पुरुष **देवानां मनः**=देवों के मन को, दिव्य गुण-सम्पन्न मन को **इत्**=निश्चय से **इयक्षति**=अपने साथ जोड़ने की कामना करता है, वह **इत्**=निश्चय ही **अयज्वनः**=अयज्ञशीलों को **अभिभुवत्**=अभिभूत कर लेता है। (२) **अत्र**=इस यजमान के जीवन में **सुवीर्यं असत्**=उत्कृष्ट वीर्य होता है, **उत**=और **त्यत्**=वह प्रसिद्ध **आशु**=शीघ्रगामी **अश्व्यम्**=इन्द्रियाश्वों का समूह होता है, यज्ञशील पुरुष उत्कृष्ट वीर्य को व स्फूर्तिमय इन्द्रिय समूह को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर मन को दिव्य गुण-सम्पन्न बनायें। इससे हमें सुवीर्य व उत्तम इन्द्रिय समूह की प्राप्ति होगी।

इन उत्तम इन्द्रियों के द्वारा हम ज्ञान-वर्धन करते हुए तथा सुवीर्य द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हुए 'मेधातिथि' बनते हैं, निरन्तर बुद्धि की ओर चलनेवाले। ऐसा होने पर हम 'काण्व'=कण्व पुत्र अतिशयेन मेधावी होते हैं। मेधातिथि इन्द्र का उपासन करता हुआ कहता है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'इन्द्र' के कर्मों का गायन

प्र कृतान्यृजीषिणः कण्वा इन्द्रस्य गाथया। मदे सोमस्य वोचत॥ १॥

(१) हे **कण्वाः**=मेधावी पुरुषो! तुम **सोमस्य मदे**=सोमरक्षण द्वारा उत्पन्न उल्लास के होने पर **ऋजीषिणः**=(ऋतु+इष्) सरल मार्ग की प्रेरणा देनेवाले **इन्द्रस्य**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के **कृतानि**=कर्मों का, सृष्टि के निर्माण व धारण आदि कर्मों का **गाथया**=इन वेद-वाणियों के द्वारा **प्रवोचत**=प्रकर्षेण प्रतिवादन करो। (२) प्रभु के कर्मों का गायन करते हुए हम भी उन जैसे कर्मों को ही करने का निश्चय करें। हम भी निर्माण के व धारण के कार्यों में प्रवृत्त हों। प्रभु-भक्त वही है, जो प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः इसी प्रकार हम सोम का भी रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—हम मेधावी बनकर सोम के मद में प्रभु के कर्मों का गायन करें, जिससे इन जैसे कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए हम सोम का रक्षण कर पायें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

असुरहन्ता प्रभु

यः सृबिन्दमनर्शनिं पिप्रुं दासमहीशुवम्। वधीदुग्रो रिणन्नपः॥ २॥

(१) **य**=जो प्रभु **सृविन्दम्**=सृ-विन्द को (सृ, विन्दति) हमारे पर आक्रमण करके हमारा विदारण कर देनेवाले क्रोध को **वधीत्**=नष्ट करते हैं, वे **उग्रः**=तेजस्वी शत्रुहन्ता प्रभु **अपः रिणन्**=शक्ति के कणों को हमारे में **रिणन्**=प्रेरित करते हैं। क्रोध आदि आसुर भावनायें वीर्यरक्षा के अनुकूल नहीं है। (२) वे प्रभु **अनर्शनिम्**=(ऋश्) जिसका नाश नहीं किया जा सकता उस काम को भी प्रभु ही भस्म करते हैं। **पिप्रुम्**=अपने को ही भरते रहने की स्वार्थभावना को भी प्रभु ही दूर करते हैं। **दाशम्**=उपक्षय कर डालनेवाली, बुद्धि को विनष्ट कर डालनेवाली लोभ वृत्ति को भी ये प्रभु ही समाप्त करते हैं और **अहीशुवम्**=(अहि शिव) साँप की तरह कुटिल गतिवाली छल-छिद्र की भावना का भी अन्त ये प्रभु ही तो करेंगे (युयोध्यस्मज्जुहुराणम्)।

भावार्थ—प्रभु हमारे 'क्रोध, काम, स्वार्थ, लोभ या छलकपट' को दूर करें और शक्ति के कणों को हमारे शरीरों में ही प्रेरित करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

अर्बुद-वेधन

न्यर्बुदस्य विष्टपं वर्ष्माणं बृहतस्तिर। कृषे तदिन्द्र पौंस्यम्॥ ३॥

(१) **बृहतः**=महान् **अर्बुदस्य**=(अहेः) आहन्ता कामदेव के **विष्टपम्**=अत्यन्त संतापक **वर्ष्माणम्**=इस सुन्दर रूप को (शरीर को) **नितिर**=विद्ध करिये। यह काम हमारे पर आक्रमण करता है। हमारे लिये इसके जीतने का सम्भव नहीं होता। इस काम का वेधन तो आपने ही करना है। यह काम सुन्दर है, पर परिणाम में अत्यन्त सन्तापक है। (२) हे **इन्द्र**=शत्रु-संहारक प्रभो! **तत् पौंस्यम्**=उस शक्ति के कर्म को **वृषे**=आप ही करते हैं। आपके लिये ही इसके संहार का सम्भव है।

भावार्थ—इस अत्यन्त शक्तिशाली सन्तापक काम के शरीर को हे प्रभो! आप ही विद्ध कर पाते हैं। हमारे लिये इसके जीतने का सम्भव नहीं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

श्रुताय-ऊतये

प्रति श्रुताय वो धृषत्तूर्णाशं न गिरेरधि। हुवे सुशिप्रमूतये॥ ४॥

(१) **वः**=तुम्हारे **श्रुताय**=ज्ञान के लिये वे प्रभु वासना को **प्रतिधृषत्**=कुचल डालते हैं। वासना ही तो ज्ञान पर परदा डाले रखती है। वासना-विनाश से ज्ञान चमक उठता है। (२) मैं **ऊतये**=रक्षण के लिये **सुशिप्रम्**=शोभन हनु व नासिका को देनेवाले उस प्रभु को **हुवे**=इस प्रकार पुकारता हूँ, **न**=जैसे **गिरेः अधि**=मेघ या पर्वत से **तूर्णाशम्**=उदक को माँगते हैं। मेघ प्यासे के लिये उदक को प्राप्त कराके उसका रक्षण करता है, इसी प्रकार प्रभु हमें उत्तम जबड़े व नासिका प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं। जबड़ों से भोजन का ठीक चर्वण होने पर रोगों की आशंका जाती रहती है, और नासिका से गहरा श्वास लेने पर (प्राणायाम करने पर) मानस दोषों का निराकरण हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु वासना को विनष्ट करके हमारे ज्ञान का वर्धन करते हैं। उत्तम जबड़ों व नासिका छिद्रों को प्राप्त कराके प्रभु हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

व्रज-विदारण

स गोरश्वस्य वि व्रजं मन्दानः सोम्येभ्यः। पुरं न शूर दर्षसि॥ ५॥

(१) हे प्रभो! **मन्दानः**=स्तुति किये जाते हुए **सः**=वे आप **सोम्येभ्यः**=सोम का (वीर्य शक्ति का) रक्षण करनेवाले पुरुषों के लिये **गोः**=ज्ञानेन्द्रियों के तथा **अश्वस्य**=कर्मेन्द्रियों के **व्रजम्**=बाड़े को **विदर्षसि**=विदीर्ण करते हैं। इन इन्द्रियों को विषयों के बाड़े से बाहर करते हैं। प्रभु की उपासना उपासक की इन्द्रियों को विषयों में फँसने से बचाती है, और परिणामतः ये उपासक सोम का रक्षण कर पाते हैं। (२) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप इस विषयों की बाड़ को इस प्रकार विदीर्ण करते हैं, **न**=जैसे **पुरम्**=काम-क्रोध-लोभरूप शत्रुओं की नगरी को आप विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही उपासक की इन्द्रियों को विषयों की बाड़ से बाहर करते हैं और काम आदि शत्रुओं की नगरी का विध्वंस करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोमरक्षण-प्रभु-स्तवन-सात्त्विक अन्न सेवन

यदि मे रारणः सुत उक्थे वा दधसे चनः। आरादुप स्वधा गहि॥ ६॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **यदि**=यदि **मे**=मेरे **सुते**=उत्पन्न किये हुए इस सोम में **रारणः**=तू रमण करता है, **वा**=और यदि **उक्थे**=स्तोत्र में, स्तुति में रमण करता है तथा **चनः दधसे**=सात्त्विक अन्न का सेवन करता है। तो **स्वधा**=आत्मधारण शक्ति के हेतु से **आरात् उपगाहि**=हमारे अत्यन्त समीप प्राप्त होनेवाला हो (आरात्=समीप)। (२) आत्मधारणशक्ति को प्राप्त करने के लिये प्रभु का सान्निध्य आवश्यक है। प्रभु के सान्निध्य के लिये तीन बातें सहायक

होती हैं-(क) सोम का रक्षण, (ख) प्रभु का स्तवन, (ग) सात्त्विक अन्न का सेवन।

भावार्थ-हम 'सोमरक्षण, प्रभु-स्तवन व सात्त्विक अन्न के सेवन' को अपनाकर प्रभु के उपासक बनें। यही आत्मधारणशक्ति की प्राप्ति का उपाय है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोमरक्षण द्वारा प्रीणन

वयं घा ते अपि ष्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः। त्वं नो जिन्व सोमपाः॥ ७॥

(१) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से सम्भजनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **घा**=निश्चय से **ते**=आपके **स्तोतारः**=स्तुति करनेवाले **स्मसि**=हैं। (२) हे **सोमपाः**=हमारे सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **जिन्व**=सोमरक्षण के द्वारा प्रीणित करनेवाले होइये।

भावार्थ-हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु सोमरक्षण द्वारा हमें प्रीणित करेंगे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अविनाशक अन्न व धन

उत नः पितुमा भर संरराणो अविक्षितम्। मघवन्भूरि ते वसु॥ ८॥

(१) **उत**=और हे प्रभो! **संरराणः**=हमारे से की जानेवाली स्तुति में रमण करते हुए आप **नः**=हमारे लिये **अविक्षितम्**=जिससे विनाश नहीं होता उस **पितुम्**=अन्न का **आभर**=भरण करिये, हमें 'अविक्षित अन्न' को प्राप्त कराइये। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते वसु**=आप से दिया जानेवाला धन **भूरि**=हमारा खूब ही पालन व पोषण करनेवाला है।

भावार्थ-प्रभु हमारे लिये अविनाशक (पोषक) अन्न को तथा धन को देनेवाले हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गोमतः, हिरण्यवतः अश्विनः

उत नो गोमतस्कृधि हिरण्यवतो अश्विनः। इळाभिः सं रभेमहि॥ ९॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हमें **उत**=निश्चय से **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला **कृधि**=करिये। **हिरण्यवतः**=(हिरण्यं वै वीर्यम्) प्रशस्त वीर्यवाला करिये तथा **अश्विनः**=उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वोंवाला करिये। इस **हिरण्य**=वीर्य के रक्षण के द्वारा ही आप हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाला बनाते हैं। (२) हे प्रभो! आप के अनुग्रह से हम **इडाभिः**=इन वेद-वाणियों के साथ **संरभेमहि**=सम्यक् उद्योगवाले हों। हमारे सब कार्य इन वेद-वाणियों के अनुसार हों। वस्तुतः वीर्यरक्षण द्वारा उत्तम इन्द्रियोंवाले बनकर हम क्यों न उत्तम कार्यों में प्रवृत्त होंगे?

भावार्थ-प्रभु के अनुग्रह से (क) हम वीर्यरक्षण द्वारा प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाले बनें, (ख) तथा वेदवाणियों के अनुसार यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'बृबदुक्थ-सूप्रकरस्न' प्रभु

बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये। साधु कृण्वन्तमवसे॥ १०॥

(१) हम **बृबदुक्थम्**=(बृहत् उक्थं) महान् स्तुतिवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षण के लिये **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु का स्तवन ही हमें सब आसुर भावों के आक्रमण से बचाता है। ये प्रभु **सृप्रकरस्नम्**=प्रसृत भुजाओंवाले हैं, विस्तृत भुजाओंवाले हैं। प्रभु इन भुजाओं से हमारा

पालन करते हैं। वे सर्वव्यापक प्रभु 'सर्वतो बाहु' हैं, उनमें सर्वत्र भुजाओं के गुण विद्यमान हैं। (२) हम **अवसे**=पालन के लिये इस प्रभु को पुकारते हैं जो साधु **कृण्वन्तम्**=प्रत्येक वस्तु को सुन्दरता से कर रहे हैं। प्रभु के किसी भी कार्य में असौन्दर्य व अपूर्णता नहीं है। प्रभु की उपासना करते हुए हम इन वस्तुओं का ठीक प्रयोग करेंगे तो अवश्य अपना रक्षण व पालन कर पायेंगे।

भावार्थ–वे प्रभु महान् स्तुतिवाले, प्रसृत भुजाओंवाले व सब बातों को सुन्दरता से करनेवाले हैं। इन प्रभु को हम रक्षण व पालन के लिये पुकारते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'शतक्रतु-पुरूवसु' प्रभु

यः सं॒स्थे चि॒च्छ॒तक्र॑तु॒रादीं॑ कृ॒णोति॑ वृ॒त्र॒हा। ज॒रि॒तृभ्यः॑ पु॒रू॒वसुः॑॥ ११॥

(१) **यः**=जो प्रभु **संस्थे**=संग्राम में **चित्**=निश्चय से **शतक्रतुः**=अनन्त कर्मों व शक्तियोंवाले होते हैं, वे **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभु ही **आत्**=अब हमारे से उपासना के किये जाने पर **ईं कृणोति**=खूब ही शत्रुवध आदि कर्मों को करते हैं। (२) ये प्रभु **जरितृभ्यः**=इन स्तोताओं के लिये **पुरूवसुः**=पालक व पूरक धनों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ–प्रभु उपासक को शक्ति प्राप्त कराते हैं, जिससे वह संग्राम में काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश कर सके। ये प्रभु उपासक के लिये पालक व पूरक धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'शक्र-दान-वान्' प्रभु

स नः॑ श॒क्रश्चि॒दा श॑क॒द्दान॑वाँ अन्तराभ॒रः। इन्द्रो॒ विश्वा॑भिरू॒तिभिः॑॥१२॥

(१) **सः**=वे प्रभु **शक्रः**=शक्तिशाली हैं **नः**=हमें **चित्**=भी **आशकत्**=सब प्रकार से शक्तिशाली बनाते हैं। **दान-वान्**=वे प्रभु सब कुछ देनेवाले हैं (दा दाने) अथवा शत्रुओं का खण्डन करनेवाले हैं, (दाप लवने)। **अन्तः आभरः**=वे प्रभु हमें अपने अन्दर धारण करते हैं। (२) **इन्द्रः**=वे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा हमारा भरण व पोषण करते हैं।

भावार्थ–वे प्रभु हमें शक्तिशाली बनाते हैं, हमारे लिये सब कुछ देते हैं। सब रक्षणों के साथ हमारा भरण व पोषण करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'महान् सुपार' प्रभु

यो रा॒यो॒३ऽव॒निर्म॒हान्त्सु॑पा॒रः सु॑न्व॒तः सखा॑। तमिन्द्र॑म॒भि गा॑यत॥ १३॥

(१) **यः**=जो प्रभु **रायः वनिः**=धनों का सम्भजन करनेवाले हैं। **महान्**=पूजनीय हैं। **सुपारः**=उत्तमता से हमें यज्ञादि कर्मों की समाप्ति तक ले जाते हैं (पार कर्मसमाप्तौ)। ये प्रभु **सुन्वतः सखा**=यज्ञशील पुरुषों के मित्र हैं। (२) **तं इन्द्रम्**=उस ऐश्वर्यशाली प्रभु का **अभिगायत**=प्रातः-सायं (दिन के दोनों ओर) गायन करो। प्रभु का स्तवन करते हुए ही हम उचित धनों को प्राप्त करके यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त व सफल हो पायेंगे। ये प्रभु यज्ञशील पुरुषों के मित्र होते हैं।

भावार्थ–प्रभु धनों का उचित संविभाग करके हमें यज्ञादि कर्मों के योग्य बनाते हैं और उन कर्मों के अन्त तक पहुँचाते हैं। यज्ञशील पुरुषों के ही प्रभु मित्र हैं।

ऋषि:—मेधातिथि: काण्व:ङ्क देवता—इन्द्र:ङ्क छन्द:—गायत्रीङ्क स्वर:—षड्ज:ङ्क

'यन्ता-जेता-ईशान' प्रभु

आयन्तारं महि स्थिरं पृतनासु श्रवोजितम्। भूरेरीशानमोजसा॥ १४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'तं इन्द्रं अभिगायत'=उस इन्द्र का गायन करो जो **आयन्तारम्**=समन्तात् नियमन करनेवाले हैं, सम्पूर्ण संसार को वश में करनेवाले हैं। **पृतनासु**=संग्रामों में **महि**=महान् **स्थिरम्**=स्थिर **श्रव: जितम्**=यश का विजय करनेवाले हैं। प्रभु कभी पराजित तो होते ही नहीं। (२) उस प्रभु का गायन करो जो **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **भूरे: ईशानम्**=सब पालक व पोषक धनों के स्वामी हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु का गायन करें जो 'सर्वनियन्ता, संग्राम विजेता व धनों के ईशान' हैं।

ऋषि:—मेधातिथि: काण्व:ङ्क देवता—इन्द्र:ङ्क छन्द:—निचृद्गायत्रीङ्क स्वर:—षड्ज:ङ्क

'नियन्ता-दाता' प्रभु

नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम्। नकिर्वक्ता न दादिति॥ १५॥

(१) **अस्य**=इस प्रभु की **सूनृतानाम्**=(सु+ऊन+ऋत) उत्तम दु:खों का परिहाण करनेवाली व सत्य **शचीनाम्**=शक्तियों व प्रज्ञानों का **नकि: नियन्ता**=कोई नियन्ता (रोकनेवाला) नहीं है। प्रभु अपनी शक्ति से सबका नियमन करते हैं। प्रभु का नियन्ता कोई नहीं। (२) संसार में ऐसा **वक्ता**=कहनेवाला भी **नकि:**=कोई नहीं कि **न दात् इति**=प्रभु ने हमें नहीं दिया। प्रभु कर्मानुसार जिस भी स्थिति में हमें रखते हैं, उस स्थिति में उन्नति के लिये सब आवश्यक साधनों को प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु सब शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामी हैं। हमें उन्नति के लिये सब आवश्यक साधनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषि:—मेधातिथि: काण्व:ङ्क देवता—इन्द्र:ङ्क छन्द:—गायत्रीङ्क स्वर:—षड्ज:ङ्क

'ऋणमुक्ति'

न नूनं ब्रह्मणामृणं प्राशूनामस्ति सुन्वताम्। न सोमो अप्रता पपे॥ १६॥

(१) **नूनम्**=निश्चय से **ब्रह्मणाम्**=ज्ञान का पुञ्ज बननेवाले स्वाध्यायशील पुरुषों का **ऋणं न अस्ति**=ऋषि ऋण नहीं रहता। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-वृद्धि करते हुए ये पुरुष ऋषि ऋण से उऋण हो जाते हैं। (२) **प्राशूनाम्**=(अश व्याप्तौ) यज्ञादि कर्मों में व्याप्त होनेवालों का देवऋण नहीं रहता। यज्ञादि के द्वारा वायु आदि देवों को शुद्ध करते हुए ये पुरुष देवऋण से उऋण हो जाते हैं। (३) **सुन्वताम्**=अपने शरीर में सोम का सम्यक् अभिषव करनेवाले, इस सुरक्षित सोम से उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले पुरुषों का ऋण नहीं है, उत्तम सन्तान को जन्म देकर ये व्यक्ति पितृऋण से उऋण हो जाते हैं। (४) **अप्रता**=(प्रा पूरणे) अपना पूरण न करनेवाले पुरुष से **सोम:**=सोम **न पपे**=नहीं अपने अन्दर पिया जाता। अपना पूरण करनेवाला व्यक्ति सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता है।

भावार्थ—हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञानी बनकर ऋषिऋण से, यज्ञादि कर्मों में व्याप्त होकर देवऋण से तथा सोमरक्षण से उत्तम सन्तान को जन्म देकर पितृऋण से मुक्त हों। अपना पूरण करने की कामनावाले होकर सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गायन-स्तवन-तप

पन्य इदुप गायत पन्यं उक्थानि शंसत। ब्रह्मा कृणोत पन्य इत्॥ १७॥

(१) **पन्ये इत्**=उस स्तुति के योग्य प्रभु के विषय में ही **उपगायत**=गायन करो। **पन्ये**=उस स्तुत्य प्रभु के विषय में ही **उक्थानि**=स्तोत्रों का **शंसत**=शंसन व उच्चारण करो। (२) **पन्ये**=उस प्रभु की प्राप्ति के निमित्त **इत्**=निश्चय से **ब्रह्मा**=विविध तपस्याओं को **कृणोत**=करो।

भावार्थ—हम प्रभु के गुणों का गायन करें। प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु प्राप्ति के निमित्त विविध तपस्याओं को करनेवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—भुरिग्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पन्यः-यज्वनो वृधः

पन्य आ दर्दिरच्छता सहस्रा वाज्यवृतः। इन्द्रो यो यज्वनो वृधः॥१८॥

(१) **यः**=जो **वाजी**=शक्तिशाली प्रभु **शता सहस्रा**=सैंकड़ों व हज़ारों शत्रुओं को **आदर्दिरत्**=विदीर्ण करते हैं, वे प्रभु ही **पन्यः**=स्तुति के योग्य हैं। यह प्रभु-स्तवन ही हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करता है। (२) ये प्रभु **अवृतः**=शत्रुओं से कभी घेरे नहीं जाते। **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं और **यज्वनः वृधः**=यज्ञशील पुरुषों के बढ़ानेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें व यज्ञशील बनें। प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे व हमारा वर्धन करेंगे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-स्मरण व आत्मधारणशक्ति

वि षू चर स्वधा अनु कृष्टीनामन्वाहुवः। इन्द्र पिब सुतानाम्॥ १९॥

(१) हे प्रभो! आप **स्वधाः अनु**=आत्मधारणशक्तियों के अनुपात में **वि सु चर**=विशेषरूप से हमारे हृदय देशों में सम्यक् गतिवाले होइये। वास्तव में जितना-जितना हम आपका हृदय में स्मरण करते हैं, उतना-उतना ही आत्मधारण के योग्य बनते हैं। (२) हे प्रभो! आप **कृष्टीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **अनु आहुवः**=अनुकूलता से आह्वान के योग्य हैं। ये श्रमशील व्यक्ति आपको पुकारते हैं। आपका आराधन ही उन्हें 'कृष्टि' बनाता है। हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **सुतानाम्**=हमारे शरीरों में उत्पन्न इन सोमों का **पिब**=पान करिये, इसे शरीर में ही सुरक्षित करिये।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण हमें आत्मधारणशक्ति देता है, हमें 'कृष्टि' बनाता है, हमारे अन्दर सोम का रक्षण करता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोमरूप सम्पत्ति

पिब स्वधैनवानामुत यस्तुग्र्ये सचा। उतायमिन्द्र यस्तव॥ २०॥

(१) 'वेदवाणी' ज्ञानदुग्ध को देनेवाली, प्रभु की धेनु है। विविध ज्ञान ही इस धेनु के **धैनव**=दुग्ध हैं। हे जीव! तू **स्वधैनवानाम्**=उस परमात्मा (स्व) की वेद-धेनु के इन ज्ञानदुग्धों का **पिब**=पान कर। **उत्**=और **यः**=जो सोम **तुग्र्ये**=(तुग्र्या=water आपः=रेतः) रेतःकणों के

रक्षक पुरुष में (तुग्र्याः अस्य सन्ति इति) **सचा**=समवेत होता है, उस सोम का तू पान कर। (२) **उत**=और हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **अयम्**=यह **यः**=जो सोम है, वह **तव**=तेरा है। यह सोम ही तेरी वास्तविक सम्पत्ति है। यही तेरी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके तुझे ज्ञानदुग्धों के पान के योग्य बनायेगा।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। इस प्रकार ज्ञानदुग्धों का पान करनेवाले बनें। यह सोम ही हमारी वास्तविक सम्पत्ति है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोमरक्षण व प्रभु प्राप्ति

अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपारणे। इमं रातं सुतं पिब॥ २१॥

(१) **मन्युषाविणम्**=ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले प्रभु को (मन्यु=ज्ञान, षु=पैदा करना) **अति इहि**=अतिशयेन प्राप्त हो। **उपारणे**=(Proximity समीपता) समीपता के निमित्त **सुषुवांसम्**=इस सोम का सम्पादन करनेवाले प्रभु को (अति इहिः) अतिशयेन प्राप्त हो। प्रभु ने हमारे शरीरों में सोम का सम्पादन किया है। इसके रक्षण के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। (२) इसलिए हे जीव! **इमम्**=इस **रातम्**=दिये हुए **सुतम्**=सोम को **पिब**=तू पीनेवाला बन। इस सोम के पान से ही हम प्रभु के सान्निध्य को प्राप्त करेंगे। यह प्रभु सान्निध्य हमारे अन्दर उत्कृष्ट ज्ञान-ज्योति को जगायेगा।

भावार्थ—प्रभु ने हमें यह सोमशक्ति प्राप्त कराई है। इसके पान से हम प्रभु की समीपतावाले होंगे। प्रभु की समीपता में उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इहि तिस्रः, इहि पञ्च

इहि तिस्रः परावत इहि पञ्च जनाँ अति। धेना इन्द्रावचाकशत्॥ २२॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **परावतः**=दूर देश से इन्द्रियों के इधर-उधर भटकने को छोड़कर **तिस्रः**=ऋग्, यजु, सामरूप तीन प्रभु की वाणियों को **इहि**=प्राप्त हो। इन वाणियों को प्राप्त करके **पञ्च**=पाँचों **जनान्**=विकासों को, पाँचों कोशों के उत्कर्ष को **अति इहि**=अतिशयेन प्राप्त कर। (२) हे इन्द्र! तू **धेनाः**=इन ज्ञान की वाणियों को **अवचाकशत्**=देखता हुआ हो। सदा तू इन ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करनेवाला बन।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर, इन्द्रियों के विषयों में न भटकने देकर ज्ञान की वाणियों का ध्ययन करें। पाँचों कोशों के विकास को ठीक प्रकार से कर पायें। सदा प्रभु की इन ज्ञान-वाणियों को देखनेवाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

यथा सूर्यः, आपः न (इव)

सूर्यो रश्मिं यथा सृजा त्वा यच्छन्तु मे गिरः। निम्नमापो न सध्र्यक्॥ २३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करता हुआ तू **यथा सूर्यः**=जैसे सूर्य होता है, वैसा ही बन। सूर्य की तरह ही **रश्मिं सृज**=अपने अन्दर ज्ञानरश्मियों को उत्पन्न कर। सूर्य की तरह ही तू प्रकाश को देनेवाला हो। **त्वा**=तुझे **मे गिरः**=मेरी ये वेदरूप ज्ञान की वाणियाँ **यच्छन्तु**=नियमित करनेवाली हों। इनके अनुसार ही तेरा जीवन बने। ये तेरे लिये कार्य

व अकार्य की व्यवस्थिति में प्रमाण हों। (२) ये वाणियाँ **सध्र्यक्**=(सह अञ्चन्ति) मिलकर गति करती हुईं तुझे **आपः नः**=जलों की तरह **निम्नम्**=नम्रता के मार्ग में नियमित करनेवाली हों। 'ऋग्' विज्ञान है, 'यजु' कर्म है, 'साम' उपासना। ये तीनों तेरे अन्दर मिलकर गति करें। तू ज्ञानपूर्वक कर्म कर तथा उन कर्मों को प्रभु के प्रति अर्पण करता हुआ प्रभु का उपासक बन। इस प्रकार तू जीवन में नम्र हो।

भावार्थ—हम अपने अन्दर ज्ञान के सूर्य का उदय करें। प्रभु की इन वेद-वाणियों के अनुसार जीवन को बनायें। 'ज्ञान, कर्म, उपासना' के मेल से जीवन में नम्रतावाले बनें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-स्मरण से सोमरक्षण, सोमरक्षण से प्रभु-दर्शन

अध्वर्यवा तु हि षिञ्च सोमं वीराय शिप्रिणे। भरा सुतस्य पीतये॥ २४॥

(१) हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील पुरुष! तू **वीराय**=(वि+ईर) शत्रुओं को कम्पित करनेवाले, **शिप्रिणे**=उत्तम हनु व नासिका को प्राप्त करानेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिये **तु हि**=शीघ्र ही **सोमम्**=सोम को, वीर्यशक्ति को **आसिञ्च**=शरीर में समन्तात् सींचनेवाला बन। इस शक्ति के रक्षण से ही दीप्त ज्ञानार्यग्निवाला बनकर तू सूक्ष्म बुद्धि से प्रभु का दर्शन करेगा। (२) तू **सुतस्य**=इस उत्पन्न सोम के **पीतये**=शरीर में ही पीने के लिये भी **भरा**=उस प्रभु को हृदय में धारण कर। यह प्रभु-स्मरण वासना-विनाश के द्वारा तुझे सोमरक्षण के योग्य बनायेगा।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हम सोम का रक्षण कर पायेंगे। सुरक्षित सोम बुद्धि को तीव्र बनाकर हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनायेगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु के आश्चर्यकारक कर्म

य उद्नः फलिगं भिनन्न्यक्सिन्धूँरवासृजत्। यो गोषु पक्वं धारयत्॥ २५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार तू उस प्रभु का हृदय में धारण कर (भर) **यः**=जो **उद्नः**=जल के हेतु से **फलिगम्**=मेघ को (विशीर्ण होकर इधर-उधर गति करनेवाला फल्+गम्) **भिनत्**=विदीर्ण करता है। इसे विदीर्ण करके **न्यक्**=नीचे **सिन्धून्**=जल-प्रवाहों को **अवासृजत्**=उत्पन्न करता है। (२) उस प्रभु का धारण कर **यः**=जो **गोषु**=गौओं में **पक्वम्**=परिपक्व दूध को **धारयत्**=धारण करते हैं। गोस्तन से वे बाहिर आता हुआ दूध खूब उष्णता को लिये हुए होता है। इस प्रभु के धारण से ही हम शरीर में सोम का रक्षण कर सकेंगे।

भावार्थ—'मेघों का विदारण, जलप्रवाहों की सृष्टि व गौवों से उष्ण दुग्ध की प्राप्ति' ये सब बातें ही हमें आश्चर्य में डाल देती हैं और प्रभु की महिमा का स्मरण कराती हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

और्णवाभम

अहन्वृत्रमृचीषम और्णवाभमहीशुवम्। हिमेनाविध्यदर्बुदम्॥ २६॥

(१) **ऋचीषमः**=स्तुति के समान वह प्रभु (प्रभु की जितनी भी स्तुति करें, प्रभु उतने ही महान् हैं। प्रभु की कभी अधिक स्तुति तो हो ही नहीं सकती। वे अनन्त हैं, स्तुति तो सान्त ही रहेगी) **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अहन्**=नष्ट करते हैं। (२) **और्णवाभम्**=मकड़ी के समान छल-छिद्र के जाल के तनने की वृत्ति को वे प्रभु नष्ट करते हैं। इसी प्रकार **अहीशुवम्**=(श्व

गतौ) सर्प की तरह कुटिल गतिवाली आसुरी वृत्ति को प्रभु नष्ट करते हैं। (२) **अर्बुदम्**=साँप को **हिमेन**=कपूर के द्वारा (campher) अथवा (fresh butter) मक्खन के द्वारा **अविध्यत्**=बींधते हैं। प्रभु का उपासक 'अर्बुद' का 'हिम' से ही वेधन करेगा।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें वासना, छलछिद्र के जालों, कपट से वृद्धि व सर्पवृत्ति से सदा दूर रखेगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'उग्र निष्टुर्' प्रभु का गुणगान

प्र वं उग्रार्य निष्टुरेऽषाळ्हाय प्रसक्षिणे। देवत्तं ब्रह्म गायत॥ २७॥

(१) **उग्राय**=उस तेजस्वी, **निष्टुरे**=शत्रुओं को नष्ट करनेवाले, **अषाढाय**=शत्रुओं से अभिभूत न होनेवाले, **प्रसक्षिणे**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले प्रभु के लिये **वः**=तुम **देवत्तम्**=उस देव से ही दिये गये अथवा गुरु-शिष्य परम्परा के क्रम में ज्ञानियों से प्राप्त कराये गये **ब्रह्म**=स्तोत्र का **प्रगायत**=प्रकर्षेण गायन करो। (२) यह प्रभु के स्तोत्रों का गायन ही तुम्हें शत्रुओं से अभिभूत होने से बचायेगा। स्तोता के शत्रुओं को प्रभु ही पराजित करते हैं। प्रभु की शक्ति से सम्पन्न होकर यह स्तोता आन्तर व बाह्य शत्रुओं का पराजय करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का गुणगान करें। यह गायन हमें उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त करायेगा और काम आदि शत्रुओं के वशीभूत न होने देगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

व्रतमय जीवन

यो विश्वान्यभि व्रता सोमस्य मदे अन्धसः। इन्द्रो देवेषु चेतति॥ २८॥

(१) **यः**=जो **अन्धसः सोमस्य मदे**=शरीर के भोजनरूप इस सोम के मद में, उल्लास में **विश्वानि व्रता अभि**=सब व्रतों की ओर चलता है। अर्थात् सोम को शरीर में सुरक्षित करता है, इस सोम को शरीर का भोजन बनाता है, वह सदा उत्तम कर्मों में ही प्रवृत्त होता है। सोम का विनाश ही मनुष्य को विलासमयी व पापमयी वृत्ति का बना देता है। (२) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **देवेषु चेतति**=देवताओं के, विद्वानों के सम्पर्क में उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ाता है। सोमरक्षण से इसकी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और यह ज्ञान की रुचिवाला बनकर देवों के सम्पर्क से अपने ज्ञान को बढ़ाता है।

भावार्थ—सोम को हम शरीर का भोजन बनायें। इससे उल्लासमय जीवनवाले बनकर व्रती जीवनवाले बनें। विद्वानों के सम्पर्क में अपने ज्ञान को बढ़ायें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

सोमरूप अन्न की ओर

इह त्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्या। वोळ्हामभि प्रयो हितम्॥ २९॥

(१) **इह**=इस जीवन में **त्या**=वे **सधमाद्या**=मिलकर कार्य करने के द्वारा आनन्दित करनेवाले (ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ कर्म करें, तो जीवन में आनन्द तो बना ही रहता है) **हिरण्यकेश्या**=हितरमणीय ज्ञानरश्मियोंवाले **हरी**=इन्द्रियाश्व हमें **हितम्**=हितकर **प्रयः**=सोमरूप अन्न की **अभि**=ओर **वोढाम्**=ले चलें। (२) जिस समय ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त रहती हैं और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों में लगी रहती हैं उस समय हितकर रमणीय ज्ञान बढ़ता

है और वासनाओं से आक्रान्त न होने के कारण हम सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह सोमरक्षण ही जीवन के सब हितों का साधक होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ परस्पर मिलकर कार्य करती हुईं-हमें ज्ञानप्रधान जीवनवाला बनायें और सोमरक्षण के योग्य बनायें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—भुरिग्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रियमेधस्तुता हरी

अर्वाञ्चं त्वा पुरुष्टुत प्रियमेधस्तुता हरी। सोमपेयाय वक्षतः॥ ३०॥

(१) हे **पुरुष्टुत**=पालक व पूरक स्तुतिवाले प्रभो! हमारे ये **प्रियमेधस्तुता**=प्रिय हैं यज्ञ और स्तवन जिनको ऐसे **हरी**=इन्द्रियाश्व **त्वा**=आपको **सोमपेयाय**=सोम को शरीर में ही पीने के लिये, इसे शरीर में सुरक्षित करने के लिये **अर्वाञ्चं वक्षतः**=हृदय के अन्दर धारण करते हैं, ये इन्द्रियाँ आपका ही ज्ञान प्राप्त करती हुईं, आपके ही गुणों व नामों का उच्चारण करती हुईं आपको हृदय में स्थापित करती हैं। (२) हृदय में प्रभु का स्मरण ही हमें वासनाओं से आक्रान्त होने से बचाता है, तभी हम सोम का रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ यज्ञों व स्तवन आदि पवित्र कार्यों में लगी रहेंगी, तभी हम हृदय में प्रभु का दर्शन करेंगे और वासनाविहीन पवित्र जीवनवाले बनकर सोम का रक्षण कर पायेंगे।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी 'मेधातिथि काण्व' व 'इन्द्र' ही हैं—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

उपासक का जीवन

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते॥ १॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **घ**=निश्चय से **त्वा**=आपको **स्तोतारः**=स्तवन करनेवाले बनकर उपासित करते हैं। (२) **सुतावन्तः**=सोम का सम्पादन करनेवाले, **आपः न**=जलों के समान, अर्थात् शान्त व नम्रता से गति करनेवाले, **वृक्तबर्हिषः**=जिन्होंने हृदयक्षेत्र से वासनाओं को दूर किया है (वृजी वर्जने), ऐसे ये स्तोता लोग **पवित्रस्य**=जीवन को पवित्र बनानेवाले सोम के **प्रस्रवणेषु**=शरीर में चारों ओर प्रस्तुत होने पर शरीर में ही व्याप्त होने पर, हे प्रभो! **परि आसते**=आपका उपासन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक (क) शरीर में सोम का रक्षण करता है, (ख) जलों की तरह शान्त व नम्र स्वभाववाले होते हैं, (ग) शरीर में सोम को व्याप्त करते हुए हृदय को पवित्र बनाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

स्वब्दीव वंसगः

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः॥ २॥

(१) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **उक्थिनः**=स्तोता **नरः**=लोग **सुते**=शरीर में सोम का सम्पादन करने पर तथा **निरेके**=(रेकृ शंकायाम्) शंकाशून्य हृदय के होने पर, आप में पूर्ण श्रद्धा के होने पर **त्वा स्वरन्ति**=आपके स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं, आपके गुणों का गायन करते हैं। (२) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **कदा**=कब **सुतं तृषाणः**=उत्पन्न सोम के प्रति तीव्र व्याप्तवाला होता हुआ, सोमरक्षण की प्रबल कामनावाला होता हुआ यह स्तोता **ओके आगमः**=अपने घर में आयेगा? अर्थात् विषयों में न भटकता हुआ कब यह अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनेगा! कब यह **स्वब्दी इव**=उत्तम वर्षोंवाले पुरुष के समान होगा? अर्थात् कब समझदार होकर **वंसगः**=वननीय, सुन्दर गतिवाला होगा।

भावार्थ—प्रभु का उपासन वही करता है जो (क) सोम का रक्षण करता है तथा (ख) हृदय में प्रभुसत्ता के विषय में शंका रहित होता है। यह यही चाहता है कि मैं (क) सोम का रक्षण कर पाऊँ, (ख) इन्द्रियों को विषयों में भटकने से रोक सकूँ, (ग) तथा समझदार बनकर सुन्दर आचरणवाला होऊँ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

ज्ञान-बल-धन

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्रिणम्।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे॥ ३॥

(१) हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! **कण्वेभिः**=विद्वानों के द्वारा **आधृषत्**=आप हमारे शत्रुओं का धर्षण कीजिये। उनसे ज्ञान प्राप्त करके हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। आप हमारे लिये **सहस्रिणं वाजम्**=सहस्रों शत्रुओं का पराजय करने में समर्थ बल को **दर्षि**=दीजिये। (२) हे **विचर्षणे**=(विद्रष्टः) हमारा विशेषरूप से ध्यान करनेवाले **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **मक्षु**=शीघ्र **पिशङ्ग रूपम्**=उज्ज्वल रूपवाले, **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले धन को **ईमहे**=माँगते हैं। हमारे लिये आप उस धन को प्राप्त कराइये जो हमें तेजस्वी बनाये, हमारी इन्द्रियों को सशक्त करे। यह धन हमें विलास में ले जाकर अशक्त करनेवाला न हो।

भावार्थ—हम ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञान को प्राप्त करके वासनाओं को कुचल डालें। प्रभु हमें हजारों शत्रुओं को पराभूत करनेवाले बल को दें। हमें वह धन दें, जो हमें तेजस्वी व प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाये।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रभु रूप 'ज्योतिर्मय रथ'

पाहि गायान्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे।
यः संमिश्लो हर्योर्यः सुते सचा वज्री रथो हिरण्ययः॥ ४॥

(१) हे **मेध्यातिथे**=उस मेध्य (पवित्र) प्रभु का आतिथ्य करनेवाले जीव! तू **पाहि**=सोम का रक्षण कर। **अन्धसः**=इस सोम के **मदे**=उल्लास में **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **गाय**=गायन कर। (२) उस प्रभु का तू गायन कर **यः**=जो **हर्योः**=इन्द्रियरूप अश्वों का **संमिश्लः**=हमारे शरीर-रथ में मेल करनेवाला है। **यः**=जो **सुते**=सोम के सम्पादन में **सचा**=हमारा साथी होता है, अर्थात् सोमरक्षण में प्रभु ही सहायक होते हैं। **वज्री**=जो प्रभु वज्रहस्त हैं, शत्रुओं

को दण्डित करनेवाले हैं और **हिरण्ययः रथः**=ज्योतिर्मय रथ हैं। प्रभु को अपना आधार बनाकर ही तो हम जीवनयात्रा पूरी कर पाते हैं। प्रभुरूप रथ हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के गुणों का गायन करें, सोम का रक्षण करें। प्रभु ही हमें प्रशस्त इन्द्रियों को देते हैं। प्रभु ही जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये हमारे ज्योतिर्मय रथ बनते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'सुक्रतु-पूर्भित्' इन्द्र

यः सुषव्यः सुदक्षिण इनो यः सुक्रतुर्गृणे।
य आकरः सहस्रा यः शतामघ इन्द्रो यः पूर्भिदारितः॥ ५॥

(१) **यः**=जो **सुषव्यः सुदक्षिणः**=उत्तम बायें व दायें हाथवाले हैं अथवा **सुषव्यः**=उत्तमता से जगत् का निर्माण करनेवाले हैं और उत्तम दान देनेवाले हैं। **इनः**=स्वामी हैं। **यः सुक्रतुः**=जो शोभन प्रज्ञा व शक्तिवाले हैं। **गृणे**=वे प्रभु हमारे से स्तुति किये जाते हैं। (२) **यः**=जो **सहस्रा आकरः**=हजारों लोक-लोकान्तरों को बनानेवाले हैं। **यः शतामघः**=जो सैंकड़ों ऐश्वर्योंवाले हैं। **यः**=जो **इन्द्रः**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले वे प्रभु **आरितः**=स्तुति द्वारा प्राप्त हुए-हुए (ऋ गतौ) **पूर्भित्**=काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं की पुरियों का विदारण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम उस अनन्त शक्ति व अनन्त प्रज्ञावाले प्रभु का स्मरण करें, जो स्तुति किये जाने पर सब अध्यात्म शत्रुओं का विध्वंस करनेवाले हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

क्रत्वा गौरिव शाकिनः

यो धृषितो योऽवृतो यो अस्ति श्मश्रुषु श्रितः।
विभूतद्युम्नश्च्यवनः पुरुष्टुतः क्रत्वा गौरिव शाकिनः॥ ६॥

(१) **यः**=जो प्रभु **धृषितः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं। **यः अवृतः**=जो शत्रुओं से घिरे हुए नहीं है, घेरे नहीं जा सकते हैं। **यः**=जो **श्मश्रुषु**=(युद्धेषु, श्रयन्त्यस्मिन् वीराः) युद्धों में **श्रितः अस्ति**=आश्रय किये जाते हैं। युद्धों के समय सब प्रभु का ही स्मरण करते हैं। (२) वे **विभूतद्युम्नः**=देदीप्यमान ज्ञान ज्योतिवाले व प्रभूत धनवाले (द्युम्न=धन) प्रभु **च्यवनः**=शत्रुओं को च्युत करनेवाले हैं। अतएव **पुरुष्टुतः**=खूब ही स्तुति किये जाते हैं। ये प्रभु **क्रत्वा**=प्रज्ञानपूर्वक कर्म के द्वारा (क्रतु=प्रज्ञान, कर्म) **शाकिनः**=अपने को शक्तिशाली बनानेवाले यज्ञशील पुरुष के लिये **गौः इव**=गौ के समान हैं। जैसे गौ दूध को देती है, इसी प्रकार प्रभु इस यजमान की सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं।

भावार्थ—शक्तिशाली अनन्त धनवाले प्रभु कर्मों द्वारा अपने को शक्तिशाली बनानेवाले यजमान की सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सोमरक्षण के लाभ व साधन

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे।

अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः॥ ७॥

(१) **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर **कः**=कोई विरल पुरुष ही **ईम्**=निश्चय से **सचा**=अपने साथ होनेवाले इस प्रभु को **वेद**=जानता है। ऐसे व्यक्ति विरल ही होते हैं जो संयमी जीवन बिताते हुए, सोमरक्षण द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रभु का दर्शन करते हैं। **पिबन्तम्**=सोम का पान करनेवाले को **कद्वयः**=आनन्दयुक्त जीवन **दधे**=धारण करता है (कत्पयं) अर्थात् इस सोमरक्षक पुरुष का जीवन आनन्दमय होता है। (२) **अयम्**=यह **यः**=जो **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **पुरः विभिनत्ति**=शत्रुओं की नगरियों को विदीर्ण कर देता है, काम-क्रोध-लोभ के किलों को तोड़ देता है, यह **अन्धसः**=इस सोम के द्वारा **मन्दानः**=आनन्द का अनुभव करता है। यह **शिप्री**=उत्तम हनु व नासिकाओंवाला बनता है। अर्थात् चबाकर खाता है और प्राणायाम को अपनाता है।

भावार्थ-सोमरक्षण (क) हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है, (ख) जीवन को आनन्दमय करता है। सो हम वासनाओं को विनष्ट करके, चबाकर खाते हुए तथा प्राणायाम करते हुए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

महान्, चरसि ओजसा

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा॥ ८॥

(१) **न**=जिस प्रकार **वारणः**=शत्रुओं का वारण करनेवाला **मृगः**=पशु (हाथी) **दाना**=मदजलों को, इसी प्रकार प्रभु **पुरुत्रा**=बहुत प्रदेशों में **चरथम्**=इस शरीर-रथ को **दधे**=धारण करते हैं। मदमत्त हाथी शत्रुओं को कुचल डालता है, इसी प्रकार प्रभु ने हमें यह शरीर-रथ शत्रुओं को कुचलने के लिये दिया है। (२) हे प्रभो! **त्वा**=आपको **नकिः नियमत्**=कोई भी रोक नहीं सकता। **सुते**=हमारे शरीरों में सोम का सम्पादन होने पर **आगमः**=आप अवश्य आते ही हैं। **महान्**=आप पूजनीय हैं और **ओजसा चरसि**=बल के साथ विचरते हैं। अर्थात् जब उपासक प्रभु को अपने हृदय में धारण करता है, तो वह प्रभु के बल से अपने को बल-सम्पन्न बना पाता है।

भावार्थ-प्रभु ने यह शरीर वासनारूप शत्रुओं को कुचलने के लिये दिया है। सोमरक्षण के होने पर प्रभु प्राप्त होते हैं। उपासक को ओजस्वी बनाते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

स्थिरः, रणाय संस्कृतः

य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत्॥ ९॥

(१) **यः**=जो **उग्रः**=तेजस्वी **सन्**=होता हुआ **अनिष्टृतः**=शत्रुओं से निस्तीर्ण नहीं किया जा सकता, शत्रु जिसका पराभव नहीं कर सकते, **स्थिरः**=जो स्थिर है, अविचल है, **रणाय संस्कृतः**=युद्ध के लिये पूर्णरूप से सज्जित है, शस्त्र आदि से अलंकृत है। इस प्रकार ये **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु हैं। वस्तुतः जो प्रभु-भक्त होते हैं वे 'तेजस्वी-शत्रुओं से अपराभूत-स्थिर व युद्ध के लिये सुसज्जित' होते हैं। ये शत्रुओं से कभी पराजित नहीं होते। (२) ये **मघवा**=ऐश्वर्यशाली 'इन्द्र' **यदि**=यदि **स्तोतुः हवं शृणवत्**=स्तोता की पुकार को सुनते

हैं तो **न योषति**=उसे हिंसित नहीं होने देते। **आगमत्**=उसकी रक्षा के लिये आते ही हैं। प्रभु-भक्त प्रभु की आराधना से अपने में शक्ति का अनुभव करता है और अपना रक्षण करने में समर्थ होता है।

भावार्थ–प्रभु-भक्त 'तेजस्वी, शत्रुओं से अपराभूत, स्थिर व युद्ध के लिये सुसज्जित' बनता है। प्रभु को पुकारता हुआ अपने में शक्ति का संचार करता है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वृषा

सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽवृतः।
वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुतः॥ १०॥

(१) **सत्यम्**=सचमुच **इत्था**=इस प्रकार आप **वृषा इत् असि**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **नः**=हमारे लिये **वृषजूतिः**=सुखकर प्रेरणा को देनेवाले हैं। **अवृतः**=आप कभी भी शत्रुओं से घेरे नहीं जाते। (२) हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **शृण्विषे**=सुने जाते हैं। **परावति**=सुदूर देश में भी आप **वृषा**=सुखवर्षक हैं। **उ**=और **अर्वावति**=समीप देश में भी (वृषा) **श्रुतः**=सुखवर्षक रूप में प्रसिद्ध हैं। क्या दूर, क्या समीप, आप सर्वत्र कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ–प्रभु वृषा हैं, सुखवर्षक हैं। सुखकर प्रेरणाओं को देते हुए और हमारे शत्रुओं को समाप्त करते हुए, वे दूर व समीप सर्वत्र ही सुख प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

शरीर-रथ

वृषणस्ते अभीशवो वृषा कशा हिरण्ययी।
वृषा रथो मघवन्वृषणा हरी वृषा त्वं शतक्रतो॥ ११॥

(१) हे प्रभो! आपने हमें यह शरीर-रथ दिया है। इसमें **ते**=आपसे दी गयी **अभीशवः**=चित्तवृत्ति रूप रश्मियाँ (लगामें) **वृषणः**=शक्तिशाली हैं। यह **हिरण्ययी**=ज्योतिर्मयी **कशा**=वाणी रूप चाबुक भी **वृषा**=शक्तिशाली व सुखवर्षक है। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **रथः**=आपका दिया हुआ यह शरीर-रथ **वृषा**=शक्तिशाली है। इसमें जुते हुए **हरी**=इन्द्रियरूप अश्व **वृषणा**=शक्तिशाली हैं। हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व कर्मोंवाले प्रभो! **त्वम्**=आप इन सब वसुओं को देकर हमारे लिये **वृषा**=सुखों के वर्षक होते हो।

भावार्थ–प्रभु ने यह शरीर-रथ हमें जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये दिया है। इसमें चित्तवृत्तियाँ ही लगाम हैं, ज्योतिर्मयी वाणी चाबुक है, इन्द्रियाश्व घोड़े हैं। ये सब के सब शक्तिशाली हैं। प्रभु इन्हें देकर हमारे पर अनन्त सुखों का वर्षण करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सोम का नाड़ियों में धारण

वृषा सोता सुनोतु ते वृषन्नृजीषिन्ना भर।

वृषा दधन्वे वृषणं नदीष्वा तुभ्यं स्थातर्हरीणाम्॥ १२॥

(१) **सोता**=सोम का शरीर में सम्पादन करनेवाला **वृषा**=शक्तिशाली बनता है। यह **ते**=हे प्रभो! आपकी प्राप्ति के लिये **सुनोतु**=इस सोम का सम्पादन करे। हे **वृषन्**=सुखवर्षक, **ऋजीषिन्**=ऋजुमार्ग की प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **आभर**=आप हमारे में सोम का भरण करियेॐ (२) हे **हरीणां स्थातः**=इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठाता प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिये **वृषा**=यह शक्तिशाली स्तोता **वृषणम्**=शक्ति के देनेवाले इस सोम को **नदीषु**=शरीरस्थ नाड़ियों में **आदधन्वे**=समन्तात् धारण करता है। रुधिर में व्याप्त सोम इन नाड़ीरूप नदियों में प्रवाहित होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण ही प्रभु प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वःॐ **देवता**—इन्द्रःॐ **छन्दः**—आर्चीभुरिग्बृहतीॐ **स्वरः**—मध्यमःॐ

सोमरक्षण व ज्ञानवाणियों का उच्चारण

एन्द्र याहि पीतये मधु शविष्ठ सोम्यम्।
नायमच्छा मघवा शृणवद्गिरो ब्रह्मोक्था च सुक्रतुः॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष, **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्ति-सम्पन्न पुरुष! तू **सोम्यं मधु**=इस सोम-सम्बन्धी मधु को **पीतये**=पीने के लिये **आयाहि**=आ। प्रातः-सायं प्रभु के समीप उपस्थित होने से ही तू सोम का पान कर सकेगा। यह सोम सब भोजन के रूप में गृहीत ओषधियों का सार है, अतएव 'मधु' है। (२) इस सोमपान के लिये प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में उपस्थित होना इसलिए आवश्यक है कि इस सोमपान के बिना **अयम्**=यह **मघवा**=ऐश्वर्यशाली **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा प्रभु **अच्छा**=आभिमुख्येन **गिरः**=हमारे से उच्चारित ऋग् रूप वाणियों को **ब्रह्म**=अन्य यजुरूप वाणियों को व **उक्था**=सामरूप स्तोत्रों को **न शृणवत्**=नहीं सुनते। सोमरक्षण के अभाव में इन 'गिर् ब्रह्म व उक्थों' का उच्चारण हमें प्रभु का प्रिय नहीं बनाता।

भावार्थ—हम ऋग्, यजु, सामरूप वाणियों का उच्चारण करें। इनका उच्चारण करते हुए सोमरक्षण का ध्यान करें। सोमरक्षण के अभाव में केवल इन वाणियों का उच्चारण हमें प्रभु का प्रिय न बनायेगा।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वःॐ **देवता**—इन्द्रःॐ **छन्दः**—निचृद्बृहतीॐ **स्वरः**—मध्यमःॐ

प्रभु प्राप्ति व यज्ञ

वहन्तु त्वा रथेष्ठामा हरयो रथयुजः।
तिरश्चिदर्यं सवनानि वृत्रहन्नन्येषां या शतक्रतो॥ १४॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को नष्ट करनेवाले प्रभो! **रथयुजः**=हमारे शरीर-रथ में जुते हुए **हरयः**=इन्द्रियरूप अश्व **रथेष्ठाम्**=इस शरीर-रथ में स्थित, **तिरः चित्**=तिरोहित होते हुए भी, अदृश्य से होते हुए भी **अर्यम्**=स्वामी **त्वा**=आपको **आवहन्तु**=प्राप्त करायें। हमारी इन्द्रियाँ विषयों में न फँसकर आपकी ओर झुकाववाली हों। (२) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानोंवाले प्रभो! हमारी इन्द्रियाँ **या**=जो **अन्येषाम्**=सामान्य पुरुषों से भिन्न विलक्षण पुरुषों के **सवनानि**=यज्ञ हैं, उन्हें (**आवहन्तु**=) प्राप्त करायें। हम भी सामान्य प्राकृत पुरुषों की तरह विषयों में न फँसे रहे। अपितु, विषयव्यावृत्त होकर यज्ञ-प्रवण बनें।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ प्रभु प्राप्ति व यज्ञों की ओर झुकाववाली हों।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

स्तवन-यज्ञ

अस्माकमद्यान्तमं स्तोमं धिष्व महामह।
अस्माकं ते सवना सन्तु शन्तमा मदाय द्युक्ष सोमपा॥ १५॥

(१) हे **महामह**=महान् पूज्य प्रभो! **अद्य**=आज **अस्माकम्**=हमारे **अन्तमं स्तोमम्**=अन्तिकतम स्तोम को **धिष्व**=धारण करिये। हम हृदय के अन्तस्तल से आपके स्तोम को करनेवाले बनें। (२) हे **द्युक्ष**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले, **सोमपाः**=हमारे सोम का रक्षण करनेवाले (प्रभु की उपासना से सोम का रक्षण होता है) **ते सवना**=आपके ये यज्ञ, आप से वेद में उपदिष्ट यज्ञ **अस्माकम्**=हमारे **शन्तमा**=अधिक से अधिक शान्ति को देनेवाले हों और **मदाय**=उल्लास के लिये हों।

भावार्थ—हम हृदय के अन्तस्तल से प्रभु का स्तवन करें। हमें वेदोपदिष्ट यज्ञ प्रिय हों। इन यज्ञों में हम शान्ति व आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'शासन' रक्षण के लिये

नहि षस्तव नो मम शास्त्रे अन्यस्य रण्यति। यो अस्मान्वीर आनयत्॥ १६॥

(१) **यः वीरः**=जो शत्रुओं को कम्पित करनेवाला वीर **अस्मान्**=हमें **आनयत्**=लक्ष्य-स्थान पर प्राप्त कराता है, **सः**=वह **नहि तव**=न तेरे, **नो मम**=न मेरे, न ही **अन्यस्य**=किसी दूसरे के **शास्त्रे**=शास्त्र में **रण्यति**=आनन्द का अनुभव करता है। वे प्रभु तो रक्षण में ही आनन्द लेते हैं। (२) प्रभु का शासन शासन के लिए नहीं है। वह केवल रक्षण के लिये है। शासन का उद्देश्य शासन न होकर रक्षण ही होना उचित है।

भावार्थ—प्रभु हमारे पर, हमारे रक्षण के लिये ही शासन करते हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अशास्यं मनः, क्रतुं रघुम्

इन्द्रश्चिद्घा तदब्रवीत्स्त्रिया अशास्यं मनः। उतो अह क्रतुं रघुम्॥ १७॥

इन **इन्द्रः**=प्रभु ने **चित्**=ही **घा**=निश्चय से **तद् अब्रवीत्**=वह बात कही है कि **स्त्रियाः**=स्त्री का **मनः**=मन **अशास्यम्**=शासन करने योग्य नहीं। पति को यह नहीं चाहिये कि पत्नी के मन पर शासन ही करता रहे। पत्नी के मन को मारना नहीं चाहिए। ऐसा करने से सन्तान कभी सुरूप नहीं होती। **उत**=और **उ**=निश्चय से प्रभु ने ही इनके **क्रतुम्**=प्रज्ञान को **रघुम्**=(रहतेर्गतिकर्मणः) गतिवाला, क्रियात्मक **अह**=ही (अब्रवीत्=) कहा है। स्त्रियों की प्रज्ञा क्रियात्मक होती है। वे प्रत्येक चीज का कोई न कोई उपाय ढूँढ़ ही लेती हैं।

भावार्थ—एक उत्तम पति को पत्नी का मन मारना नहीं चाहिए। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि इनकी बुद्धि क्रियात्मक होती है। ये प्रत्येक समस्या का कोई न कोई मार्ग निकाल लेती हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'मदच्युता मिथुना' सप्ती

सप्ती चिद्धा मदच्युता मिथुना वहतो रथम्। एवेद्धूर्वृष्ण उत्तरा॥ १८॥

(१) पति-पत्नी तो **चित् घा**=निश्चय से इस गृहस्थ शकट के **सप्ती**=अश्व हैं। अश्वों के समान ये गृहस्थ शकट का ठीक से वहन करते हैं। **मदच्युता**=मद को छोड़नेवाले, अभिमान को न करनेवाले **मिथुना**=स्त्री पुमान् (पति-पत्नी) ही मिलकर **रथं वहतः**=गृहस्थ-रथ को ठीक लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं। (२) ऐसा होते हुए भी **वृष्णः**=वीर्य का सेचन करनेवाले पुरुष से **धूः**=गृहस्थ शकट की धुरा के समान यह स्त्री उत्तरा **एव इत्**=निश्चय से उत्कृष्ट है। रथ में अश्व से जैसे धुरा ऊपर होती है, इसी प्रकार पिता से माता का महत्त्व अधिक है।

भावार्थ—अभिमान को छोड़कर परस्पर मिलकर पति-पत्नी गृहस्थयज्ञ को पूर्ण करते हैं। माता का मान निश्चय से पिता से अधिक है।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

निरभिमानता व शालीनता (पत्नी के दो गुण)

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन्त्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥ १९॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार स्त्री का महत्त्व अधिक है, तो भी उसे नम्र तो होना ही चाहिये। इसी में उसकी प्रतिष्ठा है। मन्त्र कहता है कि **अधः पश्यस्व**=नीचे देख **मा उपरि**=ऊपर नहीं। तेरे में अकड़ न हो। तू घर में शासन करनेवाली अवश्य है, पर तू **पादकौ**=पाँओं को **संहर तराम्**=मिलाकर रखनेवाली हो, असभ्यता से पाँव के फैला के न फिर। (२) इस प्रकार तू वस्त्रों का धारण करे कि **ते**=तेरे **कशप्लकौ**=टखने व निचले अंग **मा दृशन्**=नहीं दीखें। वस्त्रों से तू अपने को ठीक प्रकार से आवृत कर जिससे तेरे निचले अंग दिखते न रहें। वस्तुतः इस प्रकार के आचरणवाली **स्त्री**=स्त्री **हि**=निश्चय से गृहस्थयज्ञ में **ब्रह्मा**=ब्रह्म (=सर्वमुख्य ऋत्विज्) **बभूविथ**=होती है। इसी ने इस यज्ञ को निर्दोष बनाना है।

भावार्थ—निरभिमान व शालीन स्त्री ही गृहस्थ यज्ञ की ब्रह्मा बनती है, गृहस्थ यज्ञ को यही निर्दोष व निर्विघ्न बनाकर पूर्ण करती है। इसे नम्र होना चाहिए, सभ्य चालवाली होना चाहिए तथा ठीक से वस्त्रों का धारण करना चाहिए।'

अगले सूक्त का ऋषि 'नीपातिथि काण्व' है (नीप=deep) गम्भीरता की ओर निरन्तर चलनेवाला सदा गम्भीर विचार करनेवाला यह मेधावी (काण्व) है। यह प्रभु का उत्तम स्तवन करनेवाला बनता है, प्रभु की दीप्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। प्रभु इसे प्रेरणा देते हैं कि—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

स्तवन-ज्ञान

एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम्। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के द्वारा **कण्वस्य**=बुद्धिमान् पुरुष की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **उप आयाहि**=समीपता से प्राप्त हो। अर्थात् जैसे एक बुद्धिमान्

पुरुष प्रभु का स्तवन करता है, तू भी उसी तरह प्रभु का स्तवन करनेवाला बन। (२) और **अमुष्य**=उस **दिवः**=प्रकाशमय (=ज्ञान के पुञ्ज) **शासतः**=शासक प्रभु के **दिवम्**=ज्ञान-प्रकाश को **यय**=प्राप्त हो। हे **इन्द्र**=दिवावसो! तू ज्ञानरूप धनवाला तो है ही। ज्ञान ही तो तेरा वास्तविक धन है। सो हे दिवावसो! तू प्रभु का स्तवन कर और उस प्रकाशमय प्रभु के प्रकाशरूप धन को प्राप्त कर।

भावार्थ—प्रभु जीव को प्रेरणा देते हैं कि—तू मेधावी पुरुष की तरह प्रभु का स्तवन करनेवाला बन, (ख) तथा दिवावसु बनता हुआ प्रभु से प्रकाशरूप धन को प्राप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

आचार्य द्वारा ज्ञानदान

आ त्वा ग्रावा वदन्निह सोमी घोषेण यच्छतु। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥ २॥

(१) **इह**=इस ब्रह्मचर्याश्रम में **ग्रावा**=उपदेष्टा गुरु **सोमी**=स्वयं सोम का रक्षण करनेवाला होता हुआ **त्वा वदन्**=तुझे पुकारता हुआ (उपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् अथर्व० १।१।४) **घोषेण**=इन वेद-मन्त्रों के उच्चारण के द्वारा **आयच्छतु**=सब विषयों में (समन्तात्) ज्ञान देनेवाला हो। आचार्य उच्चारण कर उसके बाद तू भी उसी प्रकार उच्चारण करता हुआ ज्ञान को प्राप्त कर। (२) हे **दिवानसो**=ज्ञानधन! तू **अमुष्य**=उस **शासतः**=शासक प्रभु के **दिवम्**=ज्ञान को **यय**=प्राप्त कर।

भावार्थ—आचार्य हमें अपने समीप बुलाये और स्वयं वेद घोष करता हुआ हमारे लिये वेदज्ञान को दे।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

अनुशासन

अत्रा वि नेमिरेषामुरां न धूनुते वृकः। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥ ३॥

(१) **अत्रा**=यहाँ ब्रह्मचर्याश्रम में, गत मन्त्र का सोमी आचार्य **एषाम्**=इन विद्यार्थियों का **विनेमिः**=विशेषरूप से परिधि बनता है। इनको उचित अनुशासन में रखता हुआ इन्हें मार्ग से विचलित नहीं होने देता। अनुशासन में रखनेवाला आचार्य शास्ता है, विद्यार्थी 'शिष्य' है। आचार्य इनकी वासनाओं को इस प्रकार **धूनुते**=कम्पित करके दूर कर देता है **न**=जैसे **वृकः**=भेड़िया **उराम्**=भेड़ को कम्पित करनेवाला होता है। (२) हे ज्ञानधन शिष्य! तू उस शासक प्रकाशमय प्रभु के ज्ञान को प्राप्त कर।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थियों को अनुशासन में रखता हुआ उनको मर्यादा में चलाता है। इनकी वासनाओं को कम्पित करके दूर करता है। ज्ञान धन को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

अवसे-वाजसातये

आ त्वा कण्वा इहावसे हवन्ते वाजसातये। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥ ४॥

(१) हे प्रभो! गत मन्त्र के अनुसार शासन में चलते हुए **कण्वा**=मेधावी पुरुष **त्वा**=आपको **इह**=इस जीवन में **अवसे**=रक्षण के लिये तथा **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये **आहवन्ते**=पुकारते हैं। प्रभु की आराधना ही हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती है और शक्ति को प्राप्त कराती है। (२) हे ज्ञानधन जीव! तू उस प्रकाशमय शासक के प्रकाश को प्राप्त कर।

भावार्थ—मेधावी पुरुष रक्षण के लिये शक्ति की प्राप्ति के लिये प्रभु को पुकारते हैं। ये ज्ञानधन पुरुष प्रभु के प्रकाश को पाने के लिये यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

पूर्वपाय्यम्

दधामि ते सुतानां वृष्णे न पूर्वपाय्यम्। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥५॥

(१) हे जीव! **वृष्णे ते**=शक्तिशाली तेरे लिये **पूर्वपाय्यं न**=सर्वमुख्य पेय वस्तु के समान **सुतानां दधामि**=इन उत्पन्न हुए-हुए सोमों को धारण करता हूँ। इन सोमों के धारण से ही तू शक्तिशाली जीवनवाला बनता है। (२) हे ज्ञानधन! तू उस प्रकाशमय शासक के प्रकाशधनको प्राप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें। इसे सर्वमुख्य पेय वस्तु समझें, इसे शरीर में ही पीना है (imbibe करना है)।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

स्मत् पुरन्धिः-विश्वतोधीः

स्मत्पुरन्धिर्न आ गहि विश्वतोधीर्न ऊतये। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥६॥

(१) हे प्रभो! **स्मत् पुरन्धिः**=प्रशस्त पालक बुद्धिवाले आप **नः आगहि**=हमें प्राप्त होइये। **विश्वतः धीः**=सब ओर चलनेवाली बुद्धिवाले आप **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिये होइये। आप से प्रशस्त पालक बुद्धि को प्राप्त करके तथा सब विषयों में प्रवेशवाली बुद्धि को प्राप्त करके हम अपना रक्षण कर सकें। (२) हे ज्ञानधन जीव! तू शासक प्रकाशमय प्रभु के ज्ञानधन को प्राप्त कर।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रशस्त पालक बुद्धि को दें। हम सब विषयों में प्रवेशवाली बुद्धि को प्राप्त करके अपना कल्याण सिद्ध कर सकें।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

बुद्धि-रक्षण-धन

आ नो याहि महेमते सहस्रोते शतामघ। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥७॥

(१) हे **महेमते**=महनीय बुद्धिवाले, **सहस्रोते**=हजारों रक्षणोंवाले, **शतामघ**=अनन्त ऐश्वर्योंवाले प्रभो! **नः आयाहि**=आप हमें प्राप्त होइये। आप ने ही हमें बुद्धि, रक्षण व धन प्राप्त कराना है। (२) हे ज्ञानधन! तू उस प्रकाशमय शासक प्रभु के ज्ञानधन को प्राप्त कर।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि देते हैं, रक्षण प्राप्त कराते हैं तथा सब आवश्यक धनों को देते हैं। हम प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करें।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

होता, मनु, हित, देवत्रा ईड्य

आ त्वा होता मनुर्हितो देवत्रा वक्षदीड्यः। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥८॥

(१) हे प्रभो! **त्वा**=आपको **आवक्षत्**=धारण करता है। कौन? **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला, **मनुः**=विचारशील, **हितः**=सबका हित करनेवाला तथा **देवत्रा ईड्यः**=देवों में स्तुत्य, अर्थात् खूब उत्कृष्ट देव। हम 'होता, मनु, हित व देवत्रा इड्ये' बनकर ही प्रभु को प्राप्त करते हैं। (२) हे ज्ञानधन जीव! तू उस शासक प्रकाशमय प्रभु के ज्ञानधन को प्राप्त कर।

भावार्थ—हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। विचारशील हों, सबका भला करें, दिव्यगुणों के कारण प्रशंसनीय बनें। यही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

श्येनं पक्षा इव

आ त्वा॑ मद॒च्युता॒ हरी॑ श्ये॒नं प॒क्षेव॑ वक्षतः। दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो॥ ९॥

(१) हे जीव! **त्वा**=तुझे **मदच्युता**=अभिमान का सर्वथा त्याग करनेवाले **हरी**=इन्द्रियाश्व इस प्रकार **आवक्षतः**=लक्ष्य-स्थान पर ले जाते हैं, **इव**=जैसे **श्येनम्**=बाज को **पक्षा**=पङ्ख लक्ष्य पर पहुँचाते हैं। हम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को ठीक से व्यापृत करते हुए ही प्रभुरूप लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। (११) हे ज्ञानधन! तू उस शासक प्रकाशमय प्रभु के ज्ञानधन को प्राप्त कर।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व अभिमान से शून्य होते हुए स्वकार्य व्यापृति के द्वारा हमें प्रभु रूप लक्ष्य को प्राप्त करायें।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु गुणगान व सोमरक्षण

आ या॑ह्यर्य॒ आ परि॒ स्वाहा॒ सोम॑स्य पी॒तये॑। दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो॥ १०॥

(१) हे **अर्य**=अपने मन का स्वामित्व करनेवाले जीव! तू **परि**=चारों ओर से, चारों ओर से चित्तवृत्ति को हटाकर **आयाहि**=प्रभु के समीप प्राप्त होनेवाला हो। **स्वाहा**=तू आत्मत्याग करनेवाला बन (स्व+हा) अथवा (सु आह) उत्तमता से प्रभु के गुणों का उच्चारण कर। जिससे **सोमस्य पीतये**=तू सोम के रक्षण के लिये समर्थ हो। यह प्रभु गुणगान तुझे विषयों से व्यावृत्त करके सोमरक्षण में समर्थ करेगा। (२) हे ज्ञानधन जीव! तू उस शासक प्रकाशमय प्रभु के ज्ञानधन को प्राप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर प्रभु की ओर चलें। प्रभु गुणगान करते हुए सोम का रक्षण करनेवाले बनें। ज्ञानधन को प्राप्त करें।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ज्ञान-श्रवण-सम्मिलित-स्तवन

आ नो॑ या॒ह्युप॑श्रुत्यु॒क्थेषु॑ रणया इ॒ह। दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो॥ ११॥

(१) हे जीव! तू **नः**=हमारे **उपश्रुति**=समीप ज्ञान-श्रवण के कार्य में **आयाहि**=आ। हमारे समीप उपस्थित होकर ज्ञान का श्रवण करनेवाला बन। हृदयस्थ प्रभु प्रेरणा देते हैं। उस प्रेरणा के सुनने से ज्ञानवृद्धि होती है। **उक्थेषु**=स्तोत्रों में **सह**=मिलकर **रणयः**=आनन्द का अनुभव कर। घर के सब व्यक्ति मिलकर बैठें और मिलकर स्तोत्रों का श्रवण करें। (२) हे ज्ञानधन जीव! तू उस प्रकाशमय शासक के ज्ञानधन को प्राप्त कर।

भावार्थ—हम हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान की वाणियों का श्रवण करें। घरों में सब मिलकर प्रभु का गुणगान करें। उस प्रकाशमय प्रभु से ज्ञानधन को प्राप्त करें।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सम्भृताश्व

सरू॑पै॒रा सु नो॑ गहि॒ संभृ॑तैः॒ संभृ॑ताश्वः। दि॒वो अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दि॑वावसो॥ १२॥

(१) प्रभु को हम प्राप्त तभी करेंगे यदि इन्द्रियाश्वों को ठीक रखेंगे। सो प्रभु कहते हैं कि **सम्भृताश्वः**=सम्यक् भृत-भरण किये गये इन्द्रियाश्वोंवाला तू **सम्भृतैः**=इन सम्यक् पोषित

सरूपैः=रूप युक्त, अर्थात् तेजस्वी इन्द्रियाश्वों से **नः**=हमें **सु**=सम्यक् **आगहि**=प्राप्त हो। इन्द्रियों का स-रूप व सम्भृत बनाकर हम यात्रा को पूर्ण करें और प्रभु को प्राप्त हों। (२) हे ज्ञानधन जीव! तू उस प्रकाशमय शासक के ज्ञानधन को प्राप्त कर।

भावार्थ—हम सम्भृताश्व बनें। इन्द्रियों का ठीक भरण करके प्रभु को प्राप्त हों। उस प्रकाशमय प्रभु से ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

पर्वतों व समुद्रों से प्रभु की ओर

आ याहि पर्वतेभ्यः समुद्रस्याधि विष्टपः। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥ १३॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **पर्वतेभ्यः**=इन पर्वतों से **आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त हो। पर्वतों पर प्राकृतिक शोभा को देखता हुआ तू रचयिता का स्मरण करनेवाला बन। इसी प्रकार **समुद्रस्य अधिविष्टपः**=समुद्र के इस लोक से (विष्टप्=लोक) तू हमें प्राप्त हो। समुद्र भी तो प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। ये समुद्र और पर्वत तुझे प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले हों 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'। (२) हे ज्ञानधन जीव! तू उस प्रकाशमय शासक से ज्ञानधन को प्राप्त कर।

भावार्थ—हम पर्वतों व समुद्रों में प्रभु की महिमा का स्मरण करते हुए प्रभु को प्राप्त हों। उस प्रभु से प्रकाश को प्राप्त करें।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का ग्रथन

आ नो गव्यान्यश्व्या सहस्रा शूर दर्दृहि। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥ १४॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! तू **नः**=हमारे से दिये हुए **सहस्रा**=इन अनेकों **गव्यानि**=ज्ञानेन्द्रिय समूहों को तथा **अश्व्या**=कर्मेन्द्रिय समूहों को **आदर्दृहिः**=सर्वथा ग्रथित कर (string to gether) ये मिलकर कार्य करनेवाली हों। परस्पर अविरुद्ध रूप से ये ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ कार्यों को करनेवाली हों। (२) हे ज्ञानधन जीव! तू उस प्रकाशमय शासक के ज्ञानधन को प्राप्त कर।

भावार्थ—हम प्रभु से दी गई इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को एक सूत्र में ग्रथित कर कार्य करनेवाले बनें। वही ज्ञानवृद्धि का मार्ग है। इसी से हम उस प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञानधन को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—नीपातिथिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

अयुतानि शतानि च

आ नः सहस्रशो भरायुतानि शतानि च। दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो॥ १५॥

(१) हे जीव! तू **नः**=हमारे इन **अयुतानि**=लाखों **च**=और **शतानि**=सैंकड़ों अथवा **अ-युतानि**=आत्मा से पृथक् न होनेवाले **शतानि च**=और सौ के सौ वर्ष तक ठीक से चलनेवाले ज्ञानधनों को **सहस्रशः** आभर=अपने में धारण कर। (२) हे ज्ञानधन जीव! तू उस प्रकाशमय शासक के ज्ञानधन को प्राप्त हो।

भावार्थ—हम आत्मा से पृथक् न होनेवाले ज्ञानों को शतवर्षपर्यन्त अनेक प्रकार से धारण करनेवाले बनें। ज्ञान को ही धन समझें।

ऋषिः—सहस्रं वसुरोचिषोऽङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'सहस्रा ओजिष्ठ अश्व्य पशु'

आ यदिन्द्रश्च दद्वहे सहस्रं वसुरोचिषः। ओजिष्ठमश्व्यं पशुम्॥ १६॥

(१) **वसुरोचिषः**=ज्ञान कीदीप्तिरूप धनवाले हम **इन्द्रः च**=और परमैश्वर्यशाली प्रभु, **यत्**=जो **सहस्रम्**=(स+हस्) आनन्द से युक्त है तथा **ओजिष्ठम्**=ओजस्वितम है उस **पशुम्**=(पश्यति) सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करनेवाले **अश्व्यम्**=इन्द्रियाश्व समूह को **आदद्वहे**=सर्वथा प्राप्त करते हैं। (२) **वसुरोचिष्**=उत्तम इन्द्रियाश्व समूह को प्राप्त करते हैं। परन्तु करते प्रभु की सहायता से ही हैं। सो कहते हैं कि 'वसुरोचिष् और इन्द्र'। ये इन्द्रियाँ स्वस्थ होती हुई 'सु+ख' का कारण होती हैं, सो 'सहस्रं' विशेषण है। ज्ञान प्राप्ति का साधन बनती हैं, सो 'पशुं' विशेषण है।

भावार्थ—हम ज्ञानदीप्तिरूप धनवाले बनकर प्रभु की उपासना करते हुए ओजस्वी–आनन्द की कारणभूत ज्ञान को प्राप्त करानेवाली इन्द्रियों को पाते हैं।

ऋषिः—सहस्रं वसुरोचिषोऽङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कैसे इन्द्रियाश्व ?

य ऋज्रा वातरंहसोऽरुषासो रघुष्यदः। भ्राजन्ते सूर्याइव॥ १७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हम उन इन्द्रियाश्वों को पाते हैं **ये**=जो **ऋज्राः**=ऋजुगामी हैं, सरल मार्ग से चलनेवाले हैं। **वातरंहसः**=वायु के समान वेगवाले हैं। **अरुषासः**=आरोचमान हैं। **रघुष्यदः**=खूब तीव्र गतिवाले हैं। (२) ये इन्द्रियाश्व **सूर्याः इव**=सूर्यों के समान **भ्राजन्ते**=चमकते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना से ऋजुगामी, वातवेगवाले, आरोचमान, तीव्रगतिवाले, सूर्यवत् दीप्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करें।

ऋषिः—सहस्रं वसुरोचिषोऽङ्गिरसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पारावत

पारावतस्य रातिषु द्रवच्चक्रेष्वाशुषु। तिष्ठं वनस्य मध्य आ॥ १८॥

(१) प्रभु 'पारावत' हैं, पार हैं, अवत हैं। सब कर्मों को पार लगानेवाले हैं, प्रभु कृपा ही हमें सब कर्मों के अन्त तक ले जाती है। वे प्रभु अवत हैं, रक्षक हैं। इन **पारावतस्य**=पारावत प्रभु के **रातिषु**=दानों में, इस प्रभु से दिये जानेवाले **द्रवच्चक्रेषु**=गतिमय रथचक्रोंवाले **आशुषु**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले इन्द्रियाश्वों के ऊपर **तिष्ठम्**=मैं स्थित हूँ। (२) इसी का परिणाम है कि मैं **वनस्य मध्ये**=प्रकाश की किरणों के बीच में स्थित होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु मुझे गतिमय चक्रोंवाले शरीर–रथ को देते हैं। इसमें कर्मों में व्याप्त होनेवाले इन्द्रियाश्व जुते हैं। इनके द्वारा मैं सदा ज्ञानरश्मियों में निवास करूँ।

गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाला 'श्यावाश्व' अगले सूक्त का ऋषि है। वह 'अश्विनौ' का आराधन करता है–

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

प्राणसाधना से दिव्य भावों का विकास

अ॒ग्निनेन्द्रे॑ण॒ वरु॑णेन॒ विष्णु॑नादि॒त्यै रु॒द्रैर्वसु॑भिः सचा॒भुवा॑।
स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण च॒ सोमं॑ पिबतमश्विना॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **उषसा सूर्येण च**=उषाकाल व सूर्य के साथ **सजोषसा**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए आप **सोमं पिबतम्**=सोम का पान करो। प्राणसाधना के द्वारा शरीर में सोम (वीर्यशक्ति) की ऊर्ध्वगति होती है। यही अश्विनी देवों का सोमपान है। यह प्राणसाधना उषाकाल में प्रबुद्ध होकर प्रातः सूर्योदय तक होती है। इसी से इन्हें 'उषा व सूर्य से सेवित' कहा है। (२) ये प्राणापान **अग्निना**=अग्नि के साथ **सचाभुवा**=मिलकर होते हैं। 'अग्नि'=अग्रेणी हैं, यह प्रगति का प्रतीक है। प्राणसाधना प्रगति का मूल है। इसी प्रकार **इन्द्रेण**=इन्द्र के साथ होनेवाले ये प्राणापान हैं। ये हमें जितेन्द्रिय बनाते हैं। **वरुणेन**=वरुण के साथ संगत ये प्राणापान द्वेष का हमारे से वारण करते हैं। **विष्णुना**=विष्णु से संगत हुए-हुए ये हमें व्यापक व उदार वृत्ति को बनाते हैं (विष् व्याप्तौ)। (३) ये प्राणापान **आदित्यैः रुद्रैः वसुभिः**=आदित्य रुद्र व वसुओं के साथ होनेवाले हैं। ये हमें आदित्यों के समान सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले बनाते हैं। सब रोगों का ये विद्रावण करनेवाले रुद्रों के समान होते हैं। तथा हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले ये 'वसु' ही होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है और सब दिव्य भावों का विकास होता है। प्रातः उषाकाल व सूर्योदय का समय प्राणसाधना के लिये सर्वोत्तम समय है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस समय वायुमण्डल में ओषजोन गैस प्रचुरमात्रा में होती है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

प्राणसाधना से 'बुद्धि व शक्ति' की प्राप्ति

विश्वा॑भिर्धी॒भिर्भुव॑नेन वाजिना दि॒वा पृ॑थि॒व्याद्रि॑भिः सचा॒भुवा॑।
स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण च॒ सोमं॑ पिबतमश्विना॥ २॥

(१) उषाकाल में सूर्योदय के समय तक सेवित किये जाते हुए ये प्राणापान सोम का शरीर में रक्षण करें। (२) **विश्वाभिः धीभिः**=सब बुद्धियों के साथ **सचाभुवा**=समवेत होकर रहनेवाले, **वाजिना भुवनेन**=शक्तिशाली शरीररूप लोक के साथ रहनेवाले, **दिवा**=प्रभु मस्तिष्करूप द्युलोक के साथ, **पृथिव्या**=शरीररूप पृथिवी के साथ **अद्रिभिः**=(adore) उपासनाओं के साथ समवेत होकर रहनेवाले ये प्राणापान सोम का पान करें।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा (क) बुद्धि का विकास होता है, (ख) शरीर के सब अंग सबल बनते हैं, (ग) मस्तिष्क व शरीर ठीक रूप से विकसित होते हैं तथा (घ) चित्तवृत्ति की एकाग्रता होकर प्रभु प्रवणता प्राप्त होती है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्राणसाधना व तेंतीस देव

विश्वै॑र्दे॒वैस्त्रि॒भिरे॑काद॒शैरि॒हाद्भिर्म॒रुद्भि॒र्भृगु॑भिः सचा॒भुवा॑।
स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण च॒ सोमं॑ पिबतमश्विना॥ ३॥

(१) उषाकाल में सूर्योदय तक सेवन किये जाते हुए ये प्राणापान सोम का शरीर में रक्षण करें। (२) **इह**=इस जीवन में **त्रिभिः एकादशैः**=११ पृथिवीलोक में, ११ अन्तरिक्षलोक में तथा ११ द्युलोक में इस प्रकार तीन गुणा ग्यारह, अर्थात् तेंतीस **विश्वैः देवैः**=सब देवों के साथ **सचाभुवा**=समवेत होकर होनेवाले ये प्राणापान सोम का पान करें। प्राणसाधना के द्वारा त्रिलोकी के ये तेंतीस देवता इस शरीर में भी विकसित होते हैं। पृथिवी के ग्यारह देवताओं का मुखिया 'अग्नि' है, अन्तरिक्ष के ११ देवों का मुखिया वायु है और द्युलोक के ११ देवों का मुखिया सूर्य है। प्राणसाधक के भी स्थूल शरीर में अग्नि व शक्ति की उष्णता होती है, हृदय में (वा गतौ) गति का संकल्प होता है और मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य होता है। (२) **अद्भिः**=(अप्=कर्म) कर्मों के साथ, **मरुद्भिः**=शरीर में कार्य करनेवाली सब वायुओं के साथ तथा **भृगुभिः**=(भ्रस्ज् पाके)=ज्ञान परिपाकों के साथ समवेत होकर होनेवाले ये प्राणापान सोम का पान करें। प्राणसाधक कर्मशील व परिपक्व ज्ञानवाला बनता है और उसके शरीर में सब वायुवें अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में तेंतीस के तेंतीस देवों का ठीक विकास होता है। प्राणसाधक कर्मशील व परिपक्व ज्ञानवाला बनता है। इसके शरीर में सब मरुत् (वायु) ठीक से कार्य करते हुए शरीर का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ-प्रार्थना-सवन

जु॒षेथां॑ य॒ज्ञं बोध॑तं॒ हव॑स्य मे॒ विश्वे॒ह दे॑वौ॒ सव॒नाव॑ गच्छतम्।
स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण॒ चेषं॑ नो वोळ्हमश्विना॥ ४॥

(१) **उषसा सूर्येण च सजोषसा**=उषाकाल से सूर्योदय तक प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए **अश्विना**=प्राणापानो **नः**=हमारे लिये **इषं वोढम्**=प्रभु प्रेरणा को प्राप्त कराओ। प्राणसाधना से मन के दोष दूर होकर, उस पवित्र हृदय में ही प्रभु प्रेरणा के सुनने का सम्भव होता है। (२) इस प्रभु प्रेरणा को प्राप्त कराने के द्वारा, हे प्राणापानो! आप **यज्ञं जुषेथाम्**=यज्ञ का सेवन करो। **मे हवस्य बोधतं**=मेरी पुकार को जानो, अर्थात् मुझे प्रभु प्रार्थना की वृत्तिवाला बनाओ। मैं नम्रता से प्रभु का आवाहन करनेवाला बनूँ। हे **देवौ**=दिव्य गुणों को विकसित करनेवाले प्राणपानो! आप **इह**=इस जीवन में **विश्वा सवना**=सब निर्माणात्मक कार्यों को **अवगच्छतम्**=जानो, अर्थात् सदा निर्माणात्मक कार्य करनेवाले बनो।

भावार्थ—प्राणसाधना से पवित्रीभूत हृदय में हम प्रभु प्रेरणा को सुनते हैं। उस प्रेरणा के अनुसार यज्ञशील बनते हैं, प्रार्थना की वृत्तिवाले होते हैं और सदा निर्माणात्मक कार्यों को करते हैं।

सूचना—'सवन' शब्द से 'प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन' का ग्रहण करें तो अर्थ यह होगा कि सब सवनों को प्राप्त करो, अर्थात् २४+४४+४८=११६ वर्ष तक जीनेवाले बनो।

प्रातः सवन=प्रथम २४ वर्ष, माध्यन्दिन सवन=अगले ४४ वर्ष तृतीय सवन=अन्तिम ४८ वर्ष।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

स्तवन-तेजस्विता

स्तोमं जुषेथां युवशेव कन्यनां विश्वेह देवौ सवनाव गच्छतम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चेषं नो वोळ्हमश्विना॥ ५॥

(१) हे प्राणापानो! आप **स्तोमं जुषेथाम्**=प्रभु के स्तोत्र का सेवन करो तथा **युवशा इव**=युवावस्था में निवास करनेवाले युवकों के समान **कन्यनाम्**=(कन् दीप्तौ) दीप्ति का सेवन करो। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्राणसाधना से स्तवन की वृत्ति व दीप्ति (तेजस्विता) प्राप्त होती है।

सूचना—अवशिष्ट मन्त्र भाग मन्त्र संख्या चार की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

ज्ञान-यज्ञ

गिरो जुषेथामध्वरं जुषेथां विश्वेह देवौ सवनाव गच्छतम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चेषं नो वोळ्हमश्विना॥ ६॥

(१) हे प्राणापानो! **गिरः जुषेथाम्**=आप ज्ञान की वाणियों का सेवन करो। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होकर हमारी ज्ञान प्रवणता होती ही है। उस ज्ञान के अनुसार **अध्वरम्**=हिंसारहित कर्मों का **जुषेथाम्**=सेवन करो। अवशिष्ट मन्त्र भाग मन्त्र संख्या चार में व्याख्यात है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी रुचि ज्ञान व यज्ञों की ओर प्रेरित होती है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

त्रिः वर्तिः यातमश्विना

हारिद्रवेव पतथो वनेदुप सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः।
सजोषसा उषसा सूर्येण च त्रिर्वर्तिर्यातमश्विना॥ ७॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम (वीर्यशक्ति) की ओर इस प्रकार **अवगच्छथः**=जाते हो **इव**=जैसे **हारिद्रवा**=सारस पक्षि विशेष **इत्**=निश्चय से **वना उप पतथः**=जलों के समीप प्राप्त होते हैं अथवा **इव**=जिस प्रकार **महिषा**=पिपासित भैंसें पानी की ओर जाती हैं। प्राण इन सोमों में ही विचरते हैं, इन्हें वे शरीर में ही पीने का प्रयत्न करते हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **उषसा सूर्येण च सजोषसा**=उषाकाल व सूर्य के साथ प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए **त्रिः**=तीन प्रकार से **वर्तिः यातम्**=मार्ग का आक्रमण करो। तीन प्रकार से मार्ग के आक्रमण का भाव यह है कि ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए उन कर्मों को परमेश्वरार्पण करनेवाले बनो। इस प्रकार जीवन में 'ज्ञान कर्म व उपासना' का समन्वय करो।

भावार्थ—जलचर हारिद्रव पक्षियों की तरह हमारे प्राणापान सोमकणों में विचरें। पिपासित महिषों की तरह ये सोमकणों का पान करनेवाले हों। प्राणसाधना के होने पर ये प्राणापान हमारे जीवन में ज्ञान कर्म व उपासना का समन्वय करें।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

हंसौ इव, अध्वगौ इव

हं॒सावि॑व पतथो अध्व॒गावि॑व॒ सोमं॑ सु॒तं म॑हि॒षेवाव॑ गच्छथः।
स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण च॒ त्रिर्व॒र्तिर्या॑तमश्विना॥ ८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम के प्रति इस प्रकार **पतथः**=गति करते हो, **इव**=जैसे **हंसो**=दो हंस आकाश में गति करते हैं। अथवा **इव**=जिस प्रकार **अध्वगौ**=दो पथिक मार्ग में गति करते हैं। शेष मन्त्रभाग मन्त्र संख्या सात में व्याख्यात है।

भावार्थ—प्राणापान सोम की ऊर्ध्वगति करके हमें हंसों के समान उज्वल व पथिकों के समान मार्ग पर चलनेवाला बनाते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

श्येनौ इव

श्ये॒नावि॑व पतथो ह॒व्यदा॑तये॒ सोमं॑ सु॒तं म॑हि॒षेवाव॑ गच्छथः।
स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण च॒ त्रिर्व॒र्तिर्या॑तमश्विना॥ ९॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **हव्यदातये**=(हव्यानांदातिः यस्य) यज्ञशील पुरुष के लिये **सुतं सोमं**=उत्पन्न हुए-हुए सोम के प्रति इस प्रकार **पतथः**=गति करते हो, **इव**=जिस प्रकार **श्येनौ**=दो श्येन (बाज) पक्षी गति करते हैं। श्येन गतिशील हैं, प्राणापान भी गतिशील हैं। श्येन शत्रुभूत पक्षियों को समाप्त करता है, ये प्राणापान शत्रुभूत वासनाओं को समाप्त करते हैं। वासना समाप्ति के द्वारा ये हमें यज्ञशील बनाते हैं। शेष मन्त्रभाग मन्त्र संख्या सात पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ—प्राणापान दो श्येन पक्षियों के समान हैं। ये वासनारूप चिड़ियों को समाप्त करके सोम का रक्षण करते हैं, और हमें यज्ञशील बनाते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ऊर्जं नो धत्तमश्विना

पिब॑तं च तृ॒ष्णु॒तं चा च॑ गच्छतं प्र॒जां च॑ ध॒त्तं द्रवि॑णं च धत्तम्।
स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण॒ चोर्जं॑ नो धत्तमश्विना॥ १०॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **पिबतं च**=सोम का पान करो, **तृष्णुतं च**=और अपने अन्दर तृप्ति का अनुभव करो। सोमरक्षण से एक आनन्द विशेष का अनुभव होता ही है। हे प्राणापानो! **आगच्छतं च**=आप हमें प्राप्त होवो और **प्रजां च धत्तम्**=उत्तम प्रजा का हमारे लिये धारण करो, **च**=और **द्रविणं धत्तम्**=संसारयात्रा को चलाने के लिये आवश्यक धन को धारण करो। (२) **उषसा सूर्येण च**=उषा और सूर्य के साथ **सजोषसा**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए आप **नः**=हमारे लिये **ऊर्जं धत्तम्**=बल व प्राणशक्ति का धारण करो (ऊर्ज् बलप्राणनयोः)।

भावार्थ—प्राणसाधना से (१) सोमरक्षण होकर तृप्ति का अनुभव होता है, (२) उत्तम सन्तान प्राप्त होती है। (३) धन कमाने की योग्यता प्राप्त होती है। (४) बल व प्राणशक्ति का वर्धन होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

विजय-स्तवन-रक्षण

जयतं च प्र स्तुतं च प्र चावतं प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना॥ ११॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **जयतं च**=विजय प्राप्त करो, सब रोगों व वासनाओं को पराजित करके विजयी बनो। **प्रस्तुतं च**=खूब ही प्रभु का स्तवन करो, **च**=और **प्र अवतम्**=हमारा सब प्रकार से रक्षण करो। अब शिष्ट मन्त्र भाग १० पर व्याख्यात है।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'विजय-स्तवन की वृत्ति व रक्षण' प्राप्त होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

शत्रुहनन-मित्र प्राप्ति

हतं च शत्रून्यततं च मित्रिणः प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना॥ १२॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **शत्रून् हतं च**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का संहार करो। **च मित्रिणः**=स्नेह करनेवाले, दया दान दाक्षिण्य आदि भावों को **यततम्**=अपना साथी बनाओ। अवशिष्ट मन्त्रभाग १० पर व्याख्यात है।

भावार्थ—प्राणसाधना से काम-क्रोध-लोभ आदि का विनाश होकर, दया दान दाक्षिण्य आदि उत्तम भावों की वृद्धि होती है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मित्र-वरुण-धर्म-मरुत्

मित्रावरुणवन्ता उत धर्मवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना॥ १३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मित्रावरुणवन्ता**=मित्र और वरुणवाले हो, स्नेह व निर्द्वेषता के भाववाले हो। **उत**=और **धर्मवन्ता**=धर्मोंवाले हो, धारणात्मक कर्मोंवाले हो। **मरुत्वन्ता**=शरीरस्थ विविध वायुवोंवाले होते हुए आप **जरितुः**=स्तोता की **हवम्**=पुकार को **गच्छथः**=जाते हो। अर्थात् स्तोता की प्रार्थना को स्वीकार करके उसे प्राप्त होते हो। (२) **उषसा सूर्येण च सजोषसा**=उषा और सूर्य के साथ प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए आप **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **यातम्**=गति करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारे में (क) स्नेह व निर्द्वेषता के भाव बढ़ते हैं, (ख) धर्म की वृद्धि होती है, (ग) शरीर में सब वायुवें ठीक काम करती हैं, (घ) हमारा जीवन आदित्यों के अनुसार बनता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अंगरस

अङ्गिरस्वन्ता उत विष्णुवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना॥ १४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **अंगिरस्वन्ता**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले हो **उत**=और **विष्णुवन्ता**=(विष् व्याप्तौ) व्यापकता व उदारता की वृत्तिवाले हो। अवशिष्ट मन्त्र भाग १३ पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अंग-प्रत्यंग रसवाले बने रहते हैं और हृदय की उदारता प्राप्त होती है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

ऋभुमन्ता-वृषणा-वाजवन्ता

ऋभुमन्ता वृषणा वाजवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम्।
सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना॥ १५॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ऋभुमन्ता**=ऋभुवाले हो (ऋतेन भाति) सत्यज्ञान से दीप्त होनेवाले हो। **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले हो और **वाजवन्ता**=प्रशस्त बलवाले हो। अवशिष्ट मन्त्र भाग १३ पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सत्यज्ञान, सुख तथा शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

ब्रह्म-धियः

ब्रह्म जिन्वतमुत जिन्वतं धियो हतं रक्षांसि सेधतममीवाः।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं सुन्वतो अश्विना॥ १६॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप हमारे अन्दर **ब्रह्म जिन्वतम्**=ज्ञान का प्रीणन (वर्धन) करिये। **उत**=और **धियः जिन्वतम्**=ज्ञान पूर्वक किये जानेवाले कर्मों का वर्धन करिये। **रक्षांसि**=रोगकृमियों व आसुरीभावों का **हतम्**=विनाश करिये। तथा **अमीवाः**=रोगों का **सेधतम्**= निषेध करिये, रोगों को हमारे से दूर करिये। (२) **उषसा सूर्येण च**=उषाकाल के तथा सूर्य के **सजोषसा**=साथ प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए आप **सोमं सुन्वतः**=हमारे अन्दर सोम का सम्पादन करिये। उषाकाल में सूर्योदय तक प्राणसाधना करते हुए हम शरीर में सोमशक्ति का सम्यक् सम्पादन करनेवाले हों। प्राणायाम द्वारा सोम के शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम (वीर्य) शरीर में ही व्याप्त होता है। इससे हमारे ज्ञान व ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों का वर्धन होता है। राक्षसीभाव दूर होते हैं और रोग विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

बल-उन्नतिपथ पर बढ़ना

क्षत्रं जिन्वतमुत जिन्वतं नॄन्हतं रक्षांसि सेधतममीवाः।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं सुन्वतो अश्विना॥ १७॥

(१) हे प्राणापानो! आप **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल का हमारे में वर्धन करो। **उत**=और **नॄन् जिन्वतम्**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले मनुष्यों का प्रीणन करो। अवशिष्ट मन्त्रभाग मन्त्र संख्या १६ पर व्याख्यात है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा सोमरक्षण होकर हमारा बल बढ़ता है तथा हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ पाते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

प्राणसाधना-गोदुग्ध सेवन

धेनूर्जिन्वतमुत जिन्वतं विशों हतं रक्षांसि सेधतममीवाः।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं सुन्वतो अश्विना॥ १८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप सोम के सम्पादन के द्वारा **धेनूः जिन्वतम्**=गौओं का वर्धन करो और गोदुग्ध द्वारा **विशः**=सब प्रजाओं का **जिन्वतम्**=वर्धन करो। अवशिष्ट मन्त्रभाग मन्त्र संख्या १६ पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ—प्राणसाधक को चाहिए कि खुले वायु में प्रचार (घूमना) करनेवाली गौओं के दुग्ध का पान करके अपना वर्धन करे। प्राणसाधना के साथ गोदुग्ध सेवन करते हुए हम नीरोग जीवन बिताते हुए वृद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

अत्रि व श्यावाश्व

अत्रेरिव शृणुतं पूर्व्यस्तुतिं श्यावाश्वस्य सुन्वतो मदच्युता।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाश्विना तिरोअह्न्यम्॥ १९॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **अत्रेः इव**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठनेवाले की तरह (अ+त्रि) मेरी **पूर्व्यस्तुतिम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम स्तुति को **शृणुतम्**=सुनो। प्राणसाधना द्वारा मैं अत्रि बनूँ और प्रभु के उस स्तवन को करूँ जो मेरा पालन व पूरण करे। (२) हे **मदच्युता**=गर्व को विनष्ट करनेवाले प्राणापानो! आप **श्यावाश्वस्य**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले इस स्तोता के (श्यैङ् गतौ) **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करते हो। **उषसा सूर्येण च**=उषाकाल व सूर्य के साथ **सजोषसा**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए आप इस सोम को **तिरः अह्न्यम्**=तिरोहित रूप में रुधिर में व्याप्तिवाला (अह व्याप्तौ) करते हो। यह सोम का शरीर में व्यापन ही हमें अत्रि व श्यावाश्व बनाता है।

भावार्थ—शत्रुओं को गर्व को नष्ट करनेवाले अश्विदेवो! तुम सोमरस निचोड़ते हुए स्तोता की स्तुति सुनकर उसके पास जाओ और उसके यज्ञ को उत्तम रीति से चलाकर उसे देवों के समान भरपूर ऐश्वर्य प्रदान करो।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

सर्ग-सुष्टुति

सर्गाँइव सृजतं सुष्टुतीरुप श्यावाश्वस्य मदच्युता।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाश्विना तिरोअह्न्यम्॥ २०॥

(१) हे प्राणापानो! आप **सर्गान्**=हमारे अन्दर दृढ़ निश्चयों को, लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने के भावों को और **इव**=इन अध्यवसायों की तरह **सुष्टुतीः**=उत्तम स्तुतियों को **उपसृजतम्**=उत्पन्न करो। शेष मन्त्र भाग मन्त्र संख्या १९ पर व्याख्यात है।

भावार्थ–हम प्राणसाधना के द्वारा अध्यवसाय व उत्तम स्तुतिवाले बनें।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—पं-॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

रश्मि-अध्वर

र॒श्मीँरि॑व यच्छतमध्व॒राँ उप॑ श्या॒वाश्व॑स्य सुन्व॒तो म॑दच्युता।
स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण॒ चाश्वि॑ना ति॒रोअ॑ह्न्यम्॥ २१॥

(१) हे प्राणापानो! आप **रश्मीन् इव**=ज्ञान की किरणों की तरह **अध्वरान्**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को **उपयच्छतम्**=हमारे लिये दो अथवा हमारे अन्दर इनका नियमन करो। शेष मन्त्र भाग मन्त्र संख्या १९ पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ–प्राणसाधना द्वारा ज्ञानकिरणों का वर्धन होता है और हमारे जीवनों में यज्ञात्मक कर्म चलते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृत् पं-॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

अन्तर्मुखी वृत्ति व रणीय रत्नों का धारण

अ॒र्वाग्रथं॒ नि य॑च्छतं॒ पिब॑तं सो॒म्यं मधु॑।
आ या॑तमश्विना॒ गत॑मव॒स्युर्वा॑म॒हं हु॑वे ध॒त्तं रत्ना॑नि दा॒शुषे॑॥ २२॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **रथम्**=शरीर-रथ को **अर्वाक्**=अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनाते हुए **नियच्छतम्**=विषय-वासनाओं में जाने से रोको। और **सोम्यम्**=सोम-सम्बन्धी **मधु**=मधु का, सारभूत वस्तु का **पिबतम्**=पान करो। हे प्राणापानो! आप **आयातम्**=हमें प्राप्त होवो। **आगतम्**=अवश्य ही प्राप्त होवो। (२) **अवस्युः**=रक्षण की कामनावाला **अहम्**=मैं **वाम्**=आप दोनों को **हुवे**=पुकारता हूँ। **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले मेरे लिये आप की साधना में प्रवृत्त मेरे लिये **रत्नानि**=रमणीय धनों को **धत्तम्**=धारण करिये।

भावार्थ–प्राणसाधना से (क) शरीर-रथ की वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, इन्द्रियाँ विषयों में नहीं भटकती। (ख) सोम का शरीर में रक्षण होता है, (ग) रोगों से रक्षण होता है, (घ) और शरीर में रमणीय रत्नों का धारण होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—पुरस्ताज्ज्योतिर्नामजगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

नमस्कार-अध्वर

न॒मो॒वा॒के प्रस्थि॑ते अध्व॒रे न॑रा वि॒वक्ष॑णस्य पी॒तये॑।
आ या॑तमश्विना॒ गत॑मव॒स्युर्वा॑म॒हं हु॑वे ध॒त्तं रत्ना॑नि दा॒शुषे॑॥ २३॥

(१) हे **नरा**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! आप **नमोवाके प्रस्थिते**=प्रभु के प्रति नमस्कार वचनों के प्रस्थित होने पर, प्रभु की प्रति नम उक्ति के करने पर तथा **अध्वरे**=यज्ञों के होने पर **विवक्षणस्य पीतये**=विशिष्ट उन्नति के साधनभूत सोम के (वक्ष् To grow) पान के लिये प्राप्त होवो। अवशिष्ट मन्त्र भाग २२ मन्त्र पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ–हम प्राणसाधना के साथ प्रभु के प्रति नमन करें तथा यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों। यही सोमरक्षण का मार्ग है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्राणसाधना द्वारा प्रकाश व आनन्द की प्राप्ति

स्वाहाकृतस्य तृम्पतं सुतस्य देवावन्धसः।
आ यातमश्विना गतमवस्युर्वामहं हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे॥ २४॥

(१) हे **देवौ**=जीवन को दिव्यगुणयुक्त प्रकाशमय बनानेवाले प्राणापानो! आप **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए तथा **स्वाहाकृतस्य**=शरीर के अन्दर आहुत किये गये **अन्धसः**=सोम के पान से **तृम्पतम्**=तृप्ति का अनुभव करो, सोम को शरीर में ही व्याप्त करके जीवन को आनन्दमय बनाओ। अवशिष्ट मन्त्रभाग २२ मन्त्र पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम का शरीर में ही व्यापन होकर प्रकाश व आनन्द का अनुभव होता है।

अगले सूक्त में श्यावाश्व ऋषि 'इन्द्र' का आराधन करते हुए कहते हैं—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—शक्वरी॥ स्वरः—धैवतः॥

विश्वाः पृतनाः सेहानः

अवितासि सुन्वतो वृक्तबर्हिषः पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।
यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **सुन्वतः**=सोम का अभिषव करनेवाले, शरीर में सोम का सम्पादन करनेवाले, **वृक्तबर्हिषः**=जिसने हृदयक्षेत्र से पापों का वर्जन किया है (वृजी वर्जने) उस यज्ञशील पुरुष के **अविता असि**=रक्षक हैं। इस रक्षण के लिये **सोमं पिब**=सोम का पान करिये, इसके सोम को शरीर में सुरक्षित करिये। **कम्**=इस आनन्दप्रद सोम को **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिये पीजिये, शरीर में ही इसे लीन करिये (Imbibe) (२) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! उस सोम को आप पान करिये **यं भागम्**=जिस भजनीय सोम को **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **अधारयन्**=धारण करते हैं। इस सोम के रक्षण के द्वारा ही तो हम तीव्र-बुद्धि बनकर प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। (३) हे प्रभो! आप इस सोमरक्षण के द्वारा इन यज्ञशील पुरुषों के जीवन में **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सेनाओं का तथा **उरुज्रयः**=उनके महान् वेग का **सं सेहानः**=सम्यक् पराभव करते हैं। आप **अप्सुजित्**=सब कर्मों में हमें विजय प्राप्त कराते हैं। **मरुत्वान्**=प्रशस्त वायुवोंवाले हैं, शरीर में प्राणों के रूप से इन उत्तम वायुवों को प्राप्त कराते हैं और **सत्पते**=सत्, अर्थात् उत्तम कर्मों के रक्षक हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा प्रभु ही संयमी पवित्र हृदय पुरुष का रक्षण करते हैं। संयत सोम ही प्रभु-दर्शन का कारण बनता है और रोग व वासनारूप शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृच्छक्वरी॥ स्वरः—धैवतः॥

स्तोता का रक्षण

प्राव स्तोतारं मघवन्नव त्वां पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।
यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते॥ २॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तोतारं प्राव**=तू स्तोता का रक्षण कर। वस्तुतः यह स्तोता तो आपका ही रूप बन गया है। सो आप **त्वाम्**=अपने को ही **अव**=रक्षित करिये। इस रक्षण के लिये ही **सोमं पिब**=सोम का पान करिये। शिष्ट मन्त्रभाग संख्या एक पर व्याख्यात है।

भावार्थ–प्रभु स्तोता का रक्षण करते हैं, स्तोता तो प्रभु का ही रूप है, सो प्रभु स्तोता का रक्षण करते हुए अपना ही रक्षण करते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट्शक्वरी॥ **स्वरः**—धैवतः॥

ऊर्जा, ओजसा

ऊर्जा देवाँ अवस्योजसा त्वां पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।
यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते॥ ३॥

(१) हे प्रभो! आप **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के द्वारा **देवान्**=दिव्य गुणयुक्त पुरुषों का **अवसि**=रक्षण करते हैं। आप इन देवों का क्या रक्षण करते हैं, ये तो आपके ही छोटे रूप हैं। सो आप **त्वाम्**=अपने को ही **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा रक्षित करते हैं। इस रक्षण के लिये ही **सोमं पिबा**=सोम का पान करिये। शेष मन्त्र भाग मन्त्र संख्या एक पर व्याख्यात है।

भावार्थ–प्रभु बल, प्राणशक्ति व ओजस्विता के द्वारा दिव्य गुणयुक्त पुरुषों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृच्छक्वरी॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'दिवः पृथिव्याः' जनिता

जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।
यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते॥ ४॥

(१) हे प्रभो! आप **दिवः**=द्युलोक के **जनिता**=प्रादुर्भूत करनेवाले हैं। **जनिता पृथिव्याः**=इस पृथिवी के भी जनिता हैं। मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक को आप ही तो उत्पन्न करते हैं। इस मस्तिष्क व शरीर के सम्यक् विकास के लिये आप सोम का रक्षण करिये। अवशिष्ट मन्त्र भाग एक संख्या पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ–प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक के उत्पत्तिकर्ता हैं। हमारे जीवनों में मस्तिष्क को दीप्त तथा शरीर को प्रभु ही दृढ़ बनाते हैं। इसके लिये आप सोम का रक्षण करिये।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—शक्वरी॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'अश्वानां गवां' जनिता

जनिताश्वानां जनिता गवामसि पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।
यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते॥ ५॥

(१) हे प्रभो! आप ही **अश्वानाम्**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों के **जनिता**=उत्पादक हैं तथा **गवाम्**=(गमयन्ति अर्थात्) अर्थों की ज्ञापक ज्ञानेन्द्रियों के भी आप ही **जनिता असि**=प्रादुर्भूत करनेवाले हैं। इन कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को सशक्त बनाने के लिये आप सोम का पान करिये। अवशिष्ट मन्त्र भाग एक संख्या पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षण द्वारा हमारी कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को सशक्त बनाते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—शक्वरी॥ **स्वरः**—धैवतः॥

स्तोमं-महः

अत्रीणां स्तोममद्रिवो महस्कृधि पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।
यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते॥ ६॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! आप **अत्रीणाम्**=(अ+त्रि) 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठनेवाले पुरुषों के **स्तोमम्**=स्तुति समूह को तथा **महः**=(Light, power) प्रकाश व शक्ति को **कृधि**=करिये। इसके लिये इनके सोम का रक्षण करिये। शेष मन्त्र भाग संख्या एक पर द्रष्टव्य है।

भावार्थ—प्रभु काम-क्रोध-लोभ के विजेता पुरुषों को स्तुति की वृत्ति तथा प्रकाश व बल प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

त्रसदस्यु का रक्षण (ब्रह्माणि वर्धयन्)

श्यावाश्वस्य सुन्वतस्तथा शृणु यथाशृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः।
प्र त्रसदस्युमाविथ त्वमेक इन्नृषाह्य इन्द्र ब्रह्माणि वर्धयन्॥ ७॥

(१) हे प्रभो! इस **श्यावाश्वस्य**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले **सुन्वतः**=सोम का अपने में अभिषव करनेवाले वीर्यशक्ति का सम्पादन करनेवाले की प्रार्थना को आप **तथा शृणु**=उसी प्रकार सुनिये **यथा**=जैसे **कर्माणि कृण्वतः**=कर्मों को करते हुए **अत्रेः**=काम-क्रोध-लोभ से रहित पुरुष की प्रार्थना को **अशृणोः**=सुनते हैं। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **एकः इत्**=अकेले ही **ब्रह्माणि**=ज्ञानों व स्तोत्रों को **वर्धयन्**=बढ़ाते हुए, **नृषाह्ये**=युद्ध में **त्रसदस्युम्**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को भयभीत करनेवाले इस त्रसदस्यु को **प्र आविथ**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु उसी की प्रार्थना को सुनते हैं जो-(क) गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाला है, (ख) सोम का सम्पादन करता है, (ग) काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठता है, (घ) और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहता है। ज्ञानों व स्तवन वृत्ति को बढ़ाते हुए प्रभु इसको 'त्रसदस्यु' बनाते हैं, काम-क्रोध-लोभ आदि से इसका रक्षण करते हैं।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी क्रमशः 'श्यावाश्व' व 'इन्द्र' ही हैं-

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडतिजगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

माध्यन्दिन स्तवन के सोम का पान

प्रेदं ब्रह्म वृत्रतूर्येष्वाविथ प्र सुन्वतः शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **वृत्रतूर्येषु**=वासना के विनाशवाले संग्रामों में **इदं ब्रह्म**=इस ज्ञान का **प्र आविथ**=प्रकर्षेण रक्षण करते हैं। हे **शचीपते**=प्रज्ञा व कर्मों

के स्वामिन् प्रभो! आप **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा **सुन्वतः**=सोमाभिषव करनेवाले इस पुरुष का प्र (आविथ) रक्षण करते हैं। (२) हे **वृत्रहन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले, **अनेद्य**=अनिन्दनीय-पापरहित **वज्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! आप **माध्यन्दिनस्य सवनस्य**=हमारे जीवन के माध्यन्दिन-सवन सम्बन्धी, अर्थात् २५ से ६८ वर्ष तक चलनेवाले गृहस्थ यज्ञ सम्बन्धी **सोमस्य पिबा**=सोम का पान करिये। आपकी कृपा से हम यौवन में भी, संयमी जीवन के बनकर वीर्यशक्ति को सुरक्षित करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षक पुरुष के ज्ञान का रक्षण करते हैं। प्रभु कृपा से ही हम यौवन में भी संयमी जीवनवाले बनकर सोम का रक्षण कर पाते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

'द्रोग्ध्री सेनाओं के पराजेता' प्रभु

सेहान उग्र पृतना अभि द्रुहः शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः॥ २॥

हे **उग्र**=उद्गूर्ण बलवाले, **शचीपते**=कर्मों व प्रज्ञानों के स्वामिन्! **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा **अभिद्रुहः**=हमारे शरीरों व मनों का द्रोह करनेवाली **पृतनाः**=रोग व वासनारूप शत्रु-सैन्यों का **सेहानः**=पराभव करनेवाले होइये। शिष्ट मन्त्रभाग मन्त्र संख्या एक पर द्रष्टव्य है।

भावार्थः—प्रभु हमारे रोग व वासनारूप शत्रुओं का पराभव करते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

'एकराट्' प्रभु

एकराळस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः॥ ३॥

हे **शचीपते**=सब कर्मों व प्रज्ञानों के स्वामिन् **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा **अस्य भुवनस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **एकराट्**=अद्वितीय शासक होते हुए **राजसि**=दीप्त हो रहे हैं। अवशिष्ट मन्त्र भाग मन्त्र संख्या एक पर द्रष्टव्य है।

भावार्थः—प्रभु ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक व नियामक रूप से दीप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

'सर्वलोकस्थापक' प्रभु

सस्थावाना यवयसि त्वमेक इच्छचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः॥ ४॥

हे **शचीपते**=सब कर्मों व प्रज्ञानों के स्वामिन्! **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् शत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वम् एकः इत्**=आप अकेले ही **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा **सस्थावाना**=समान रूप से अपने-अपने स्थान में स्थित इन द्युलोक व पृथिवीलोक को **यवयसि**=पृथक्-पृथक् स्वस्थान में स्थित रखते हैं। अवशिष्ट मन्त्र भाग मन्त्र संख्या एक पर देखिए।

भावार्थः—सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान प्रभु ही सब लोकों को पृथक्-पृथक् स्वस्थान में स्थापित करते हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'योगक्षेम के ईश' प्रभु

क्षेमस्य च प्रयुजश्च त्वमीशिषे शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः॥ ५॥

हे **शचीपते**—सब प्रज्ञानों व कर्मों के स्वामिन्! **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! ये आप **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा **क्षेमस्य च**=क्षेम के प्राप्त वस्तुओं के रक्षण के **च**=तथा **प्रयुजः**=प्रयोग के अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के **ईशिषे**=ईश हैं। आप ही सबके योगक्षेम को सिद्ध करते हैं। अवशिष्ट मन्त्र भाग मन्त्र संख्या एक पर देखिए।

भावार्थः—सम्पूर्ण योगक्षेम के ईश प्रभु ही हैं। मनुष्य को यह सोचकर निःशंक भाव से कर्तव्य कर्मों में लगे रहना चाहिए।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'निराधार, पर सर्वाधार' प्रभु

क्षत्राय त्वमवसि न त्वमाविथ शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः॥ ६॥

हे **शचीपते**=सब प्रज्ञानों व कर्मों के स्वामिन्! **इन्द्र**=सर्वशत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा आप **क्षत्राय**=बल की प्राप्ति के लिए अवसि=हमारा रक्षण करते हैं। **त्वं न आविथ**=आप किसी दूसरे से रक्षित नहीं किये जाते। अवशिष्ट मन्त्र भाग मन्त्र संख्या एक पर देखिए।

भावार्थः—प्रभु सबके रक्षक हैं। प्रभु का कोई अन्य रक्षक नहीं। निराधार प्रभु ही सर्वाधार हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'क्षत्राणि वर्धयन्'

श्यावाश्वस्य रेभतस्था शृणु यथाशृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः।
प्र त्रसदस्युमाविथ त्वमेक इन्नृषाह्य इन्द्र क्षत्राणि वर्धयन्॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशत्रुविद्रावक प्रभो! आप **श्यावाश्वस्य**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले **रेभतः**—स्तोता की प्रार्थना को **तथा शृणु**=उस प्रकार सुनिए, **यथा**=जैसे **कर्माणि कृण्वतः**=कर्मों को करते हुए **अत्रेः**=काम-क्रोध-लोभ—तीनों से रहित पुरुष की प्रार्थना को **अशृणोः**=सुनते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वम् एकः इत्**=आप अकेले ही **क्षत्राणि वर्धयन्**=बलों को बढ़ाते हुए, **नृषाह्ये**=संग्राम में **त्रसदस्युम्**=वासनाओं को भयभीत करनेवाले पुरुष को **प्र आविथ**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं।

भावार्थः—प्रभु क्रियाशील स्तोता की प्रार्थना को सुनते हैं। यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त 'काम-क्रोध-लोभ' से शून्य पुरुष की प्रार्थना को सुनते हैं। हे प्रभो! आप संग्रामों में हमारे बलों का वर्धन करते हुए हमें त्रसदस्यु=(जिससे शत्रु भयभीत हों) बनाते हैं और हमारा रक्षण करते हैं।

अगले सूक्त में 'श्यावाश्व' ऋषि 'इन्द्र' का स्तवन व आराधन करते हैं—

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'जीवन-पक्ष के ऋत्विज्' इन्द्राग्नी

यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु। इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्॥ १॥

(१) 'इन्द्र' बल का प्रतीक है और 'अग्नि' प्रकाश का। ३६.७ में '**ब्रह्माणि वर्धयन्**' तथा ३७.७ में '**क्षत्राणि वर्धयन्**' शब्दों में इन प्रकाश व बल का प्रतिपादन 'ब्रह्म व क्षत्र' शब्दों से हुआ है। ये प्रकाश और बल ही जीवनयज्ञ को सुन्दरता से चलाते हैं। हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! आप **हि**=ही **यज्ञस्य**=इस जीवनयज्ञ के **ऋत्विजा स्थः**=ऋत्विज् हो। आपके द्वारा ही यह जीवनयज्ञ चलता है। आप **वाजेषु**=शक्तियों में व **कर्मसु**=सब कर्मों में **सस्नी**=शुद्धता को करनेवाले हो। (२) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! **तस्य**=उस जीवनयज्ञ का **बोधतम्**=आप ध्यान करो–उसे जानो–उसकी चिन्ता करो। आपको ही जीवनयज्ञ को सफल व सुन्दर बनाना है।

भावार्थः—बल व प्रकाश के दिव्य भाव जीवनयज्ञ के ऋत्विज् हैं। ये हमारी शक्तियों व कर्मों को पवित्र बनाते हैं। ये ही इसका ध्यान करनेवाले हैं।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'रोगों व वासनाओं के विनाशक' इन्द्राग्नी

तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता। इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्॥ २॥

(१) ये **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि **तोशासा**=रोगरूप शत्रुओं का संहार करनेवाले व **रथयावाना**=इस शरीररथ को लक्ष्य स्थान की ओर ले चलनेवाले हैं। रोग यात्रा में विघ्न पैदा कर देते हैं और आगे बढ़ना रुक जाता है। ये बल व प्रकाश के दिव्यभाव रोगों को समाप्त करके हमें आगे बढ़ाते हैं। (२) ये **वृत्रहणा**=ज्ञान की आवरण कामवासना को नष्ट करनेवाले हैं और **अपराजिता**=कभी पराजित होनेवाले नहीं। ये इन्द्र और अग्नि **तस्य**=हमारे उस जीवनयज्ञ का **बोधतम्**=ध्यान करें–उसे सम्यक् परिपूर्ण करें।

भावार्थः—बल व प्रकाश के दिव्य भाव रोगों को नष्ट कर शरीररथ को लक्ष्य स्थान की ओर ले-चलते हैं। ये वासना को नष्ट करते हैं और कभी काम-क्रोध आदि से पराजित नहीं होते।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मदिरं मधु

इदं वां मदिरं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः। इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्॥ ३॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के दिव्य भावो! **इदं**=यह **वां**=आपका **मदिरं**=उल्लास का जनक **मधु**=सब भोजन के रूप में ग्रहण की गई ओषधियों का सारभूत सोम (वीर्य) है। (२) **नरः**=उन्नति पथ पर चलनेवाले लोग **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा **अधुक्षत्**=इसे अपने में प्रपूरित करते हैं। हे इन्द्राग्नी आप **तस्य**=उस जीवनयज्ञ का, जिसमें कि सोम का धारण किया जाता है, **बोधतम्**=ध्यान करो। आपको ही इस जीवनयज्ञ में सोम की आहुति देनी है।

भावार्थः=उपासना के द्वारा उन्नति पथ पर बढ़नेवाले लोग सोम का रक्षण करते हैं। यह सुरक्षित सोम बल व प्रकाश के साथ उल्लास का जनक होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'सधस्तुती' इन्द्राग्नी

जुषेथां यज्ञमिष्टये सुतं सोमं सधस्तुती। इन्द्राग्नी आ गतं नरा॥ ४॥

(१) हे **सधस्तुती**=मिलकर स्तुति करनेवाले **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के दिव्य भावो! (जीवन में बल व प्रकाश का मेल होने पर प्रभु का सच्चा स्तवन चलता है) आप **इष्टये**=अभीष्ट (मोक्ष) सुख की प्राप्ति के लिए **यज्ञं**=श्रेष्ठतम कर्मों का–लोकहितात्मक कर्मों का **जुषेथाम्**=सेवन करो। (२) हे **नरा**=उन्नति पथ पर ले चलनेवाले इन्द्राग्नी! आप **सुतं सोमं**=उत्पन्न हुए–हुए सोम के प्रति **आगतम्**=आओ। इस सोम का शरीर में रक्षण करते हुए आप वृद्धि को प्राप्त होवें। सुरक्षित सोम ही बल व प्रकाश की वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थः–बल व प्रकाश के दिव्य भाव (क) हमें स्तुति में प्रवृत्त करें, (ख) यज्ञशील बनाएँ, (ग) सोम का शरीर में रक्षण करें।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जीवन के तीनों सवनों की सम्यक् पूर्ति

इमा जुषेथां सवना येभिर्हव्यान्यूहथुः। इन्द्राग्नी आ गतं नरा॥ ५॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! आप **इमा**=इन **सवना**=जीवन के तीनों सवनों की–प्रातः, मध्याह्न व तृतीय सवन की–प्रथम २४ वर्ष (प्रातः सवन), मध्य के ४४ वर्ष (माध्यन्दिन सवन), अन्तिम ४८ वर्षों (तृतीय सवन) का **जुषेथाम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। बल व प्रकाश के द्वारा हम जीवनयज्ञ के तीनों सवनों को पूरा कर पाएँ। (२) **येभिः**=जिन सवनों के उद्देश्य से **हव्यानि**=हव्य पदार्थों को **ऊहथुः**=आप धारण करते हो। हव्य (पवित्र) पदार्थों का सेवन करते हुए हम जीवन के तीनों सवनों को पूरा करें। हे **नरा**=हमें उन्नति पथ पर ले चलनेवाले इन्द्राग्नी! आप **आगतम्**=हमें प्राप्त होवें।

भावार्थः–बल व प्रकाश के दिव्यभाव हमारे जीवनयज्ञ के तीनों सवनों को पूर्ण करें। उनकी पूर्ति के हेतु से ये हव्य पदार्थों का सेवन करें।

ऋषिः—श्यावाश्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

गायत्रवर्तनि सुष्टुति

इमां गायत्रवर्तनिं जुषेथां सुष्टुतिं मम। इन्द्राग्नी आ गतं नरा॥ ६॥

(१) गय का अर्थ है प्राण, उनका रक्षण ही त्राण है। प्राणरक्षण सम्बन्धी वर्तनि (मार्ग) ही गायत्रवर्तनि है। हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! आप **इमां**=इस **मम**=मेरी **गायत्रवर्तनिं**=प्राणरक्षण की मार्गभूत **सुष्टुतिं**=उत्तम स्तुति को **जुषेथाम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित करो। मैं उत्तम स्तवन में प्रवृत्त हुआ–हुआ अपने प्राणों का रक्षण करूँ। वह रक्षित प्राणशक्ति मेरे बल व प्रकाश का वर्धन करे। (२) हे इन्द्राग्नी! आप **नरा**=मुझे उन्नति पथ पर ले चलनेवाले हो, **आगतम्**=आप मुझे प्राप्त होवें।

भावार्थः–मैं बल व प्रकाश के वर्धन के लिए उस उत्तम स्तुति को करनेवाला बनूँ, जो मेरी प्राणशक्ति का रक्षण करती है।

ऋषिः—श्यावाश्वः देवता—इन्द्राग्नी छन्दः—निचृद्गायत्री स्वरः—षड्जः

'जेन्यावसू' इन्द्राग्नी

प्रातर्यावभिरा गतं देवेभिर्जेन्यावसू। इन्द्राग्नी सोमपीतये॥ ७॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के दिव्यभावो! आप **जेन्यावसू**=जेतव्य धनोंवाले हो-सब धनों का आप ही विजय करते हो। आप **प्रातर्यावभिः**=प्रातः-प्रातः ही प्राप्त करने योग्य **देवेभिः**= दिव्यभावों के साथ **आगतम्**=हमें प्राप्त होवें। प्रातः उठते ही हम दिव्यभावनाओं को प्राप्त करने का ध्यान करें। (२) इन दिव्य भावों को प्राप्त करने के हेतु से हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि! आप **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए आइए। सोम का शरीर में रक्षण ही सोमपान है। इस सोमरक्षण से ही सब दिव्यभाव विकसित होते हैं।

भावार्थः—बल व प्रकाश के दिव्यभाव ही सब जेतव्य धनों को प्राप्त कराते हैं। ये ही सोमरक्षण द्वारा सब दिव्य भावों को विकसित करते हैं। बल व प्रकाश के होने पर ही अन्य सब दिव्यभावों के आने का सम्भव होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः देवता—इन्द्राग्नी छन्दः—विराड्गायत्री स्वरः—षड्जः

श्यावाश्व व अत्रि

श्यावाश्वस्य सुन्वतोऽत्रीणां शृणुतं हवम्। इन्द्राग्नी सोमपीतये॥ ८॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के दिव्यभावो! आप **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करते हुए **श्यावाश्वस्य**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले पुरुष की तथा **अत्रीणां**=काम-क्रोध-लोभ से रहित पुरुषों की **हवम्**=पुकार को **शृणुतं**=सुनो। वस्तुतः ये इन्द्र और अग्नि 'श्यावाश्व व अत्रि' को ही प्राप्त होते हैं। (२) हे इन्द्राग्नी! आप **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए होओ। सोमरक्षण द्वारा ही आप बलसम्पन्न करके मुझे 'श्यावाश्व' बनाते हैं तथा प्रकाशसम्पन्न करके आप मुझे 'अत्रि' बनाते हैं।

भावार्थः—इन्द्राग्नी की आराधना मुझे गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाला 'श्यावाश्व' बनाए तथा काम, क्रोध, लोभ से रहित करके यह मुझे 'अत्रि' बनाए।

ऋषिः—श्यावाश्वः देवता—इन्द्राग्नी छन्दः—गायत्री स्वरः—षड्जः

मेधिर की तरह

एवा वामह्व ऊतये यथाहुवन्त मेधिराः। इन्द्राग्नी सोमपीतये॥ ९॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के दिव्यभावो! मैं **वाम्**=आप दोनों को **ऊतये**=रक्षण के लिए **एवा**=इस प्रकार **अह्वे**=पुकारता हूँ, **यथा**=जैसे **मेधिराः**=बुद्धिमान् पुरुष **अहुवन्त**=पुकारते हैं। (२) हे इन्द्राग्नी! आप **सोमपीतये**=मेरे जीवन में सोम के रक्षण के लिए होते हो।

भावार्थः—बल व प्रकाश का आराधन हमारे जीवन में सोमरक्षण करता हुआ हमारा रक्षण करता है। हमें रोगों व वासनाओं से आक्रान्त होने से बचाता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः देवता—इन्द्राग्नी छन्दः—निचृद्गायत्री स्वरः—षड्जः

सरस्वतीवाले इन्द्राग्नी

आहं सरस्वतीवतोरिन्द्राग्न्योरवो वृणे। याभ्यां गायत्रमृच्यते॥ १०॥

(१) **अहं**=मैं **सरस्वतीवतोः**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवतावाले **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि

की **अवः**=रक्षा को **वृणे**=सर्वथा वरता हूँ। इन्द्राग्नी का आराधन ही मुझे सरस्वती का प्रशस्त आराधक बनाता है। बल व बुद्धि से युक्त होकर ही मैं सरस्वती का आराधक बन पाता हूँ। (२) मैं उन इन्द्र और अग्नि के का वरण करता हूँ। **याभ्यां**=जिनसे **गायत्रं**=प्राणरक्षक स्तवन **ऋच्यते**=स्तुत होता है। इन्द्र और अग्नि ही वस्तुतः प्राणरक्षक सोम का उच्चरण करते हैं। मैं बल व प्रकाश से युक्त होकर हृदय में उस स्तुति की वृत्ति को अपना पाता हूँ, जो मेरी प्राणरक्षा का साधन बनती है।

भावार्थः—बल व प्रकाश का आराधन मुझे प्रशस्त ज्ञान को प्राप्त करता है। इस आराधन से ही मैं उस स्तवन को करता हूँ, जो मेरा प्राणरक्षक बनता है।

बल व प्रकाश के आराधन से यह 'नाभाग' बनता है—One who nips evil in the Bud. रोग व वासनारूप शत्रु को प्रारम्भ में ही समाप्त करनेवाला (**मम्** हिंसात्मक)। यही समझदारी है कि बुराई को प्रारम्भ ही में समाप्त किया जाए, सो यह 'कण्व' है। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु का आराधन करता है—

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

प्रभु-स्तवन के द्वारा दिव्यता की प्राप्ति व दोषदहन

अ॒ग्निम॑स्तोष्यृ॒ग्मिय॑म॒ग्निमी॒ळा य॒जध्यै॑ ।
अ॒ग्निर्दे॒वाँ अ॑नक्तु न उ॒भे हि वि॒दथे॑ क॒विर॒न्तश्चर॑ति दू॒त्यं१॒॑ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥ १ ॥

(१) **ऋग्मियं**=स्तुति के योग्य **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु से **अस्तोषि**=स्तवन करता हूँ। उस **अग्निं**=प्रभु को **यजध्यै**=अपने साथ संगत करने के लिए **यजध्यै**=मैं उसका यजन करता हूँ। वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **नः**=हमारे लिए **देवान्**=सब दिव्यभावों को **अनक्तु**=प्राप्त कराए। प्रभु के सम्पर्क में दिव्यता प्राप्त होती ही है। (२) वह **कविः**=क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु **हि**=ही **उभे**=दोनों द्यावापृथिवी अथवा प्रकृति व आत्मतत्त्व के **विदथे**=ज्ञान के निमित्त **अन्तः**=हमारे हृदयों में **दूत्यं चरति**=ज्ञान-सन्देश वहन के कार्य को करते हैं। प्रभु ही सब ज्ञानों के स्रोत हैं। इन ज्ञानों के परिणामस्वरूप **समे अन्यके**=सब काम-क्रोध आदि शत्रु **नभन्ताम्**=विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थः—प्रभु स्तवन के द्वारा प्रभु का मेल होने पर दिव्यता प्राप्त होती है तथा वह ज्ञान प्राप्त होता है, जिस ज्ञान में सब काम-क्रोध आदि का दहन हो जाता है।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

स्तुति व यज्ञशीलता से शत्रुपराभव

न्य॑ग्ने॒ नव्य॑सा॒ वच॑स्त॒नूषु॒ शंस॑मेषाम् ।
न्यरा॑ती॒ ररा॑व्णां॒ विश्वा॑ अ॒र्यो अरा॑तीरि॒तो यु॑च्छन्त्वा॒मुरो॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नव्यसा वचः**=(वचसा) स्तुत्य (प्रशस्य) वचनों के द्वारा **तनूषु**=हमारे शरीरों में **एषां**=इन शत्रुओं के **शंसं**=(Charm, Spell) जादू को **नि (युच्छ)**=दूर कर। **रराव्णां**=हवि के देनेवाले यज्ञशील पुरुषों के **अरातीः**=शत्रुओं को **नि (युच्छ)**=दूर करिए। (२) हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **विश्वा**=सब **अर्यः**=आक्रमण करनेवाले **आमुरः**=समनत् हिंसन करनेवाले **अरातीः**=शत्रु **इतः**=यहाँ से **युच्छन्तु**=(गच्छन्तु) चले जाएँ। **समे**=सारे **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थः—प्रभु-स्तवन से हम शत्रुओं के जादू को समाप्त करनेवाले हैं। यज्ञशील बनकर सब शत्रुओं को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

घृतं+मन्मानि

अग्ने मन्मानि तुभ्यं कं घृतं न जुह्व आसनि
स देवेषु प्र चिकिद्धि त्वं ह्यसि पूर्व्यः शिवो दूतो विवस्वतो नभन्तामन्यके समे ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तुभ्यं**=आपकी प्राप्ति के लिए मैं **आसनि**=मुख में **कं घृतं**=सुखकर ज्ञानदीप्ति को (घृ दीप्तौ) तथा **मन्मानि**=स्तोत्रों को **जुह्वे**=आहुत करता हूँ, अर्थात् मेरा मुख ज्ञान की वाणियों को तथा स्तुतिवचनों को ही उच्चारित करनेवाला बनता है। (२) **स त्वं**=वे आप **देवेषु प्रचिकिद्धि**=सूर्य आदि सब देवों के विषय में हमें ज्ञानयुक्त कीजिए। **त्वं हि**=आप ही **पूर्व्यः असि**= सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले हैं। उस समय आप ही तो ज्ञान देनेवाले हैं। आप **शिवः**=कल्याण करनेवाले हैं तथा **विवस्वतः दूतः**=विवस्वान् के दूत हैं—जो भी ज्ञान के सूर्य हैं उनके लिए भी ज्ञान के सन्देश को देनेवाले हैं। इस ज्ञान के होने पर **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=विनष्ट हों।

भावार्थः—प्रभुप्राप्ति के लिए हम ज्ञान व स्तवन की ओर झुकते हैं। प्रभु ही हमें सब सूर्य आदि देवों के विषय में ज्ञान देते हैं। ज्ञान देकर प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

शं-योः-मयः

तत्तदग्निर्वयो दधे यथायथा कृपण्यति
ऊर्जाहुतिर्वसूनां शं च योश्च मयो दधे विश्वस्यै देवहूत्यै नभन्तामन्यके समे ॥ ४ ॥

(१) एक स्तोता **यथा यथा**=जैसे-जैसे **कृपण्यति**=याचना करता है, **अग्निः**=प्रभु **तत् तत्**=उस-उस **वयः**=जीवन को **दधे**=धारण करते हैं। अभ्युदय की कामनावाले को अभ्युदय प्राप्त कराते हैं, तो निःश्रेयस की कामनावाले को निःश्रेयस के योग्य बनाते हैं। **ऊर्जाहुतिः**(हु दाने)=बल व प्राणशक्ति को देनेवाले प्रभु **वसूनां**=अपने निवास को उत्तम बनानेवालों को **शं**=शान्ति, **च**=और **योः**=भयों का शमन (दूरीकरण), **च**=तथा **मयः**=सुख **दधे**=प्राप्त कराते हैं। (२) प्रभु इन वसुओं के लिए **विश्वस्यै देवहूत्यै**=सब दिव्यगुणों के आह्वान के लिए होते हैं। प्रभु इनके जीवनों में सब दिव्यगुणों का धारण करते हैं।

भावार्थः—उपासक की कामना के अनुसार प्रभु उसके जीवन को बनाते हैं। उसे शान्ति, निर्भयता व सुख प्राप्त कराते हैं उसे दिव्य गुणों में स्थापित करके काम-क्रोध आदि से रहित करते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

शत्रुविनाश व दिव्यगुण प्राप्ति

स चिकेत सहीयसाग्निश्चित्रेण कर्मणा
स होता शश्वतीनां दक्षिणाभिरभीवृत इनोति च प्रतीव्यं नभन्तामन्यके समे ॥ ५ ॥

(१) **सः**=वे **अग्निः**=प्रभु **सहीयसा**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले **चित्रेण कर्मणा**=अद्भुत

कर्म से **चिकेत**=जाने जाते हैं। प्रभु अपने उपासकों के शत्रुओं का विनाश करते हैं। **सः**=वे प्रभु **शश्वतीनां होता**=(नि०-३.१ 'बहु' शश्वत्) बहुत दिव्यभावनाओं के होता-(आह्वाता) पुकारनेवाले हैं, अर्थात् प्रभु के अनुग्रह से स्तोता के जीवन में दिव्यभावनाओं का वर्धन होता है। (२) वे प्रभु **दक्षिणाभिः**=दक्षिणाओं से **अभीवृतः**=परिवृत हैं, अर्थात् सब देय पदार्थों को स्तोता को प्राप्त कराने के लिए उद्यत हैं, **च**=और **प्रतीव्यम्**=(प्रत्येतव्यम्) आक्रमण करने योग्य शत्रु को **इनोति**=आक्रान्त करते हैं-उस पर आक्रमण के लिए जाते हैं। प्रभु के अनुग्रह से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ-प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को नष्ट करके दिव्य भावों को प्राप्त कराते हैं। हमारे लिए सब आवश्यक पदार्थों को देते हैं और हमारे शत्रुओं को आक्रान्त करते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

अग्निः द्वारा व्यूर्णुते

अ॒ग्निर्जा॒ता दे॒वाना॑म॒ग्निर्वे॑द॒ मर्ता॑नामपी॒च्य॑म्।
अ॒ग्निः स द्र॑विणो॒दा अ॒ग्निर्द्वारा॒ व्यू॑र्णुते॒ स्वा॑हुतो॒ नवी॑यसा॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे॥ ६॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु ही **देवानां जाता वेद**=सूर्य, चन्द्र,तारे आदि सब दिव्य पदार्थों के जन्म व विकास को जानता है व प्राप्त कराता है। प्रभु ही इन्हें उत्पन्न करते हैं और उस-उस शक्ति को प्राप्त कराते हैं। वे **अग्नि**=अग्रणी प्रभु ही **मर्तानाम्**=मनुष्यों के **अपीच्यम्**=अन्तर्हित रहस्यमय बातों को भी **वेद**=हृदयस्थरूपेण जाननेवाले हैं। (२) **सः**=वे **अग्निः**=सब प्रगतियों के साधक प्रभु ही **द्रविणोदाः**=सब धनों के देनेवाले हैं। **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **द्वारा व्यूर्णुते**=सब इन्द्रियनद्वारों को आच्छादन रहित करते हैं। इन पर आए हुए मलावरणों को हटाते हैं। सो ये प्रभु हमारे द्वारा **नवीयसा**=अतिशयेन गति के कारणभूत (नव गतौ) स्तोत्रों से **स्वाहुतः**=सम्यक् आपत होते हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं और प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं। प्रभु के गुणों को अपनाने की कोशिश करते हैं। हमारे **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हों।

भावार्थः-प्रभु ही सूर्य आदि देवों को विकास प्राप्त कराते हैं। हमारे हृदयों की बातों को जानते हैं। सब धनों को देते हैं, इन्द्रियद्वारों को मलावरणरहित करते हैं। तभी हम काम आदि शत्रुओं को नष्ट कर पाते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

देव व यज्ञिय पुरुषों में प्रभु का वास

अ॒ग्निर्दे॒वेषु॒ संव॑सुः॒ स वि॒क्षु य॒ज्ञिया॒स्वा।
स मु॒दा काव्या॑ पु॒रु विश्वं॒ भूमे॑व पुष्यति दे॒वो दे॒वेषु॑ य॒ज्ञियो॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे॥ ७॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **देवेषु**=देववृति के व्यक्तियों में **संवसुः**=सम्यक् वास को करता है। देववृत्तिवाले व्यक्ति वे हैं जो (दिव् विजिगीषा) काम, क्रोध, लोभ आदि को जीतने की प्रबल कामनावाले होते हैं। **सः**=वे प्रभु ही **यज्ञियासु विक्षु**=यज्ञशील प्रजाओं में **आ**=समन्तात् वास करते हैं। **सः**=वे प्रभु **मुदा**=आनन्द के साथ **काव्या**=कवि कर्मों को **पुरु**=खूब **पुष्यति**=देखते हैं। उन कर्मों का रक्षण करते हैं (Look after)। उसी प्रकार रक्षण करते हैं, **इव**=जैसे **विश्वं**=सब प्राणियों को **भूम**=यह भूमि देखती है। भूमि माता के समान सब प्राणियों का धारण करती है, इसी प्रकार प्रभु सब कवि कर्मों का ध्यान करते हैं। प्रभु का उपासक कवि बनता है-क्रान्तदर्शी

होता है। उपासना से उसकी बुद्धि सूक्ष्मग्राहिणी बनती है। यह बुद्धि सत्य को बड़े प्रिय ढंग से कहनेवाली बनती है। (२) **देवः**=ये प्रकाशमय प्रभु **देवेषु**=सब देवों में **यज्ञियः**=उपास्य होते हैं। प्रभु को गुरुओं का गुरु–महान् गुरु, देवों का देव–महादेव कहते हैं। ये ईश्वरों के ईश्वर–परमेश्वर हैं। इनके उपासन से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थः–प्रभु का निवास दिव्य वृत्तिवाले–यज्ञशील–पुरुषों में होता है। प्रभु हमारे जीवनों में ज्ञान की क्रियाओं के साथ आनन्द को जोड़नेवाले होते हैं। देव प्रभु का उपासन करते हैं और शत्रु को हरा कर पाते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

सप्तमानुषः, सिन्धुषु श्रितः

यो अ॒ग्निः स॒प्तमा॑नुषः श्रि॒तो विश्वे॑षु॒ सिन्धु॑षु।
तमाग॑न्म त्रिप॒स्त्यं म॑न्धा॒तुर्द॑स्यु॒हन्त॑मम॒ग्निं य॒ज्ञेषु॑ पू॒र्व्यं नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे॥ ८॥

(१) **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **सप्तमानुषः**=(सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुः) सातों मर्यादाओं का पालन करनेवाले मनुष्यों में निवास करते हैं तथा **विश्वेषु**=सब **सिन्धुषु**=(स्यन्दन्ते) निरन्तर कर्मों में प्रवाहित होनेवाली भुजाओं में **श्रितः**=आश्रित हैं–निवास करते हैं। **तम्**=उस प्रभु को **आगन्म**=हम प्राप्त होते हैं। (२) उन प्रभु को हम प्राप्त होते हैं, जो **त्रिपस्त्यम्**=(पस्त्य=गृह) ज्ञान, कर्म व उपासना रूप तीन गृहोंवाले हैं, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए, उन कर्मों को प्रभु के प्रति अर्पण करने से प्राप्त होते हैं। जो **मन्धातुः**=ज्ञान का धारण करनेवाले के **दस्युहन्तमम्**=दास्यव भावों को अधिक–से–अधिक नष्ट करनेवाले हैं। **अग्निम्**=अग्रणी हैं। **यज्ञेषु पूर्व्यम्**=यज्ञों के होने पर पालन व पूरण करनेवालों में सर्वोत्तम हैं। इस प्रभु के अनुग्रह से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थः–प्रभु का निवास उसमें होता है जो सातों मर्यादाओं का पालन करे व क्रियाशील हो। ये प्रभु तभी प्राप्त होते हैं, जब हम ज्ञान, कर्म व उपासना–तीनों का जीवन में समन्वय करें। प्रभु ही हमें ज्ञानी बनाकर हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

विप्रः-दूतः-परिष्कृतः

अ॒ग्निस्त्रीणि॑ त्रि॒धातू॒न्या क्षे॑ति वि॒दथा॑ क॒विः।
स त्रीँरे॑काद॒शाँ इ॒ह यक्ष॑च्च पि॒प्रय॑च्च नो॒ विप्रो॑ दू॒तः परि॑ष्कृतो॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे॥ ९॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **त्रिधातूनि**=शरीर, मन व बुद्धि–तीनों को धारण करनेवाले **त्रीणि विदथा**=तीनों 'ऋग्–यजु–साम' रूप ज्ञान की वाणियों में **आक्षेति**=सदा से निवास करते हैं। **कविः**=वे प्रभु ही इस वेदरूप काव्य के कवि हैं 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' (२) **सः**=वे प्रभु **त्रीन् एकादशान्**=तीन गुणा ग्यारह अर्थात् तैंतीस देवों को **इह**=इस जीवन में **यक्षत्**=संगत करते हैं, **च**=और **नः पिप्रयत्**=हमें प्रीणित करते हैं अथवा हमारी सब कामनाओं का पूरण करते हैं। वे प्रभु **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं, **दूतः**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं तथा **परिष्कृतः**=(परिष्कृतम् अस्य अस्ति) पूर्ण परिष्कार व शुद्धि को करनेवाले हैं। प्रभु के अनुग्रह से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थः-प्रभु सर्वज्ञ हैं, वे सब देवों को हमारे साथ संगत करते हैं। ज्ञान देकर हमारा पूरण व परिष्कार करते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुपङ्क्तिः॥ **स्वरः**—धैवतः॥

परिस्रुतः-स्वसेतवः आपः

त्वं नो अग्न आयुषु देवेषु पूर्व्य वस्व एक इरज्यसि।
त्वामापः परिस्रुतः परि यन्ति स्वसेतवो नभन्तामन्यके समे॥ १०॥

(१) हे **पूर्व्य**=सर्वप्रथम स्थान में स्थित अथवा पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वं**=आप **आयुषु**=मनुष्यों में **नः**=हमारे **वस्वः**-धनों के **एकः इरज्यसि**=अद्वितीय ईश्वर हैं, सब धनों के स्वामी आप ही हैं। **देवेषु**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि देवों में भी विद्यमान वसु के **त्वं**=आप ही **इरज्यसि**=ईश हैं। (२) **त्वाम्**=आपको **आपः**=वे प्रजाएँ **परियन्ति**=सर्वथा प्राप्त होती हैं जो **परिस्रुतः**=(परि-स्रु) समन्तात् अपने कर्तव्यकर्मों में गतिवाली हैं तथा **स्वसेतवः**=स्वयं अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाली हैं। हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **समे**=सब **अन्यकेः**-काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ-प्रभु ही मनुष्यों व देवों में होनेवाले सब ऐश्वर्यों के स्वामी है। प्रभु को कर्तव्यपालक व्रती पुरुष प्राप्त होते हैं। अगले सूक्त में देवता 'इन्द्राग्नी' हैं-

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्राग्नी॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुपङ्क्तिः॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'इन्द्र व अग्नि' के द्वारा शत्रुपराभव

इन्द्राग्नी युवं सु नः सहन्ता दासथो रयिम्।
येन दृळ्हा समत्स्वा वीळु चित्साहिषीमह्यग्निर्वनेव वात इन्नभन्तामन्यके समे॥ १॥

(१) 'इन्द्र' बल का प्रतीक है और 'अग्नि' प्रकाश का। हे **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवो! **युवं**=आप **सु**=सम्यक् **सहन्ता**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले हो। आप शत्रुओं का पराभव करके **आ**=हमारे लिए **रयिं**=ऐश्वर्य को **दासथः**=देते है। (२) आप हमारे लिए उस ऐश्वर्य को देते हो **येन**=जिससे कि **समत्सु**=संग्रामों में **दृळ्हा**=दृढ़ और **वीळु चित्**=निश्चय से अतिप्रबल भी शत्रुओं को **आसाहिषीमहि**=समन्तात् पराभूत करनेवाले हों। इस प्रकार शत्रुओं को पराभूत करनेवाले हों **इव**=जैसे **अग्निः**=आग **वाते**=वायु के होने पर **इत्**=निश्चय से **वना**=वनों को विनष्ट कर डालता है। हे प्रभो! आपके आनुग्रह से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ-बल व प्रकाश का सम्पादन करते हुए हम संग्रामों में सब शत्रुओं का पराभव करनेवाले हों।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्राग्नी॥ **छन्दः**—स्वराट् शक्वरी॥ **स्वरः**—धैवतः॥

वाजसातये+मेधसातये

नहि वां वव्रयामहेऽथेन्द्रमिद्यजामहे शविष्ठं नृणां नरम्।
स नः कदा चिदर्वता गमदा वाजसातये गमदा मेधसातये नभन्तामन्यके समे॥ २॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि देवो! हम **वां**=आप से **नहि वव्रयामहे**=कुछ याचना नहीं

करते हैं। हम तो **अथ**=अब **इन्द्रं इत्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **यजामहे**=पूजते हैं, अपने साथ संगत करते हैं। जो प्रभु **शविष्ठं**=सर्वाधिक शक्तिशाली हैं तथा **नृणां नरम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों को आगे ले-चलनेवाले हैं। (२) **सः**=वे प्रभु **कदाचित्**=कभी तो **नः**=हमें **अर्वता**=कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के द्वारा **आगमत्**=प्राप्त होते हैं और **वाजसातये**=शक्ति के लाभ के लिए होते हैं और कभी इन ज्ञानेन्द्रियरूप अश्वों से (इन्द्रियाश्वों से) (सा) **गमदा**=प्राप्त होते हैं और **मेधसातये**=हमारे साथ यज्ञों को संभक्त करने के लिए होते हैं। प्रभु प्रदत्ता इस वाज (शक्ति) व मेध (यज्ञ) के द्वारा **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—हम किसी भी वस्तु की याचना न करते हुए प्रभु का ही पूजन करें। प्रभु हमें आगे ले चलेंगे। प्रभु हमें इन्द्रियाश्वों के द्वारा शक्ति व यज्ञों को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्राग्नी॥ **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

उत्तम भरण-ज्ञान व उत्तम कर्म

ता हि मध्यं भराणामिन्द्राग्नी अधिक्षितः।
ता उ कवित्वना कवी पृच्छ्यमाना सखीयते सं धीतमश्नुतं नरा नभन्तामन्यके समे॥ ३॥

(१) **ता इन्द्राग्नी**=वे इन्द्र और अग्नि=बल व प्रकाश के देव **हि**=ही **भराणां मध्यं अधिक्षितः**=अपना ठीक से भरण करनेवाले लोगों के मध्यलोक अर्थात् हृदयान्तरिक्ष में निवास करते हैं। **स्तुतः**=इन्हीं के कारण वे अपना भरण कर पाते हैं। **ता**=वे **उ**=ही **कवित्वना**=वेदरूप काव्य के द्वारा **कवी**=क्रान्तदर्शी बनते हैं। इन्द्र व अग्नि की उपासना हमें प्रकृष्ट ज्ञान को प्राप्त कराती है। (२) ये इन्द्र और अग्नि **पृच्छ्यमाना**=प्रार्थना किए जाते हुए **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले-चलते हैं। हम बल व प्रकाश की ही प्रार्थना करेंगे तो निरन्तर उन्नत होंगे ही। **सखीयते**=मित्र की तरह आचरण करनेवाले मनुष्य के लिए **धीतं**=उत्तम कर्मों को **सम् अश्नुतं**=सम्यक् व्याप्त करते हैं। बल व प्रकाश के होने पर उत्तम ही कर्म होते हैं। हे इन्द्राग्नी! आपके अनुग्रह से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—बल व प्रकाश का आराधन हमें उत्तम भरणवाला, ज्ञानी व उत्तम कर्मोंवाला बनाता है।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्राग्नी॥ **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

यजसा+गिरा

अभ्यर्च नभाकवदिन्द्राग्नी यजसा गिरा।
ययोर्विश्वमिदं जगदियं द्यौः पृथिवी मह्युपस्थे बिभृतो वसु नभन्तामन्यके समे॥ ४॥

(१) हे जीव! तू **नभाकवत्**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले की तरह **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवों का **यजसा**=यज्ञों के द्वारा **गिरा**=और ज्ञान की वाणियों के द्वारा **अभ्यर्च**=पूजन कर। सामान्यतः यज्ञों के द्वारा इन्द्र (बल की देवता) का पूजन होता है और ज्ञानवाणियों के द्वारा अग्नि (प्रकाश की देवता) का अर्चन हुआ करता है। (२) उन इन्द्राग्नी का तू पूजन कर **ययोः**= जिनमें **इदं विश्व जगत्**=यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है। सम्पूर्ण जगत् का आधार ये इन्द्र व अग्नि ही तो हैं। इन इन्द्र और अग्नि के **उपस्थे**=गोद में ही **इयं द्यौः**=यह मस्तिष्करूप द्युलोक तथा **मही पृथिवी**=यह महत्त्वपूर्ण शरीररूप पृथिवीलोक **वसु**=ज्ञान व शक्तिरूप धनों को **बिभृतः**= धारण

करते हैं। इस इन्द्र और अग्नि की उपासना से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—हम यज्ञों व ज्ञान की वाणियों के द्वारा बल व प्रकाश के देवों का उपासन करें। ये ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आधार हैं। इन्हीं से मस्तिष्क ज्ञानरूप धनवाला बनता है, तो शरीर शक्तिरूप धनवाला। इनके उपासन से हमारे सब शत्रु समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्राग्नी॥ **छन्दः**—जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

सप्तबुध्न जिह्मबार (अर्णव)

प्र ब्रह्माणि नभाकवदिन्द्राग्निभ्यामिरज्यत । या सप्तबुध्नमर्णवं जिह्मबारमपोर्णुत इन्द्र ईशान ओजसा नभन्तामन्यके समे ॥ ५ ॥

(१) **नभाकवत्**=शत्रुओं के हिंसित करनेवाले उपासक के समान **इन्द्राग्निभ्यां**=बल व प्रकाश के देवों के लिए **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को **प्र इरज्यत**=प्रकर्षेण प्रेरित करो। उन इन्द्र और अग्नि के लिए **या**=जो **सप्तबुध्नं**=(बुध्न=मूल-bottom) **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'** दो कान, दो नासिका छिद्र और दो आँखें व मुख रूप सात मूलोंवाले तथा **जिह्मबारम्**=सब जिह्मताओं का (टेढ़ेपन का-कुटिलता का) निवारण करनेवाले **अर्णवम्**=ज्ञानसमुद्र को **अपोर्णुतः**= दूरीभूत आवरणवाला करते हैं। इन्द्र और अग्नि की उपासना से ज्ञान चमक उठता है। (२) **इन्द्रः**=यह बल की देवता **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **ईशानः**=सब अच्छाइयों का ईश बनती है। इसके द्वारा **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=विनष्ट हों।

भावार्थ—हम इन्द्र व अग्नि (बल व प्रकाश) का आराधन करते हुए ज्ञानसमुद्र को अपगत आवरणवाला करें। इन्द्र हमारे जीवन में सब अच्छाइयों का ईश हो।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्राग्नी॥ **छन्दः**—भुरिग्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

ओजो दासस्य दम्भय

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितमोजो दासस्य दम्भय ।
वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजेमहि नभन्तामन्यके समे ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=प्रभो! **दासस्य**=हमारे उपक्षय करनेवाले इस दास (वृत्र) के **ओजः**=ओज को **दम्भय**=विनष्ट करिए। उसी प्रकार **अपि वृश्च**=अवश्य नष्ट करिए, **इव**=जैसेकि **व्रततेः**=बेल के **पुराणवद्**=अत्यन्त पुराने (जीर्ण) हुए-हुए **गुष्पितं**=(Interlaced, Interwined), उलझे हुए शाखासमूह को कोई नष्ट कर देता है। (२) **वयं**=हम **अस्य**=इस दास के **सम्भृतं**=सञ्चित **तद् वसुः**=उस शक्तिरूप धन को **इन्द्रेण**=उस शत्रु विद्रावक प्रभु के द्वारा **विभजेमहि**=विभक्त कर डालें। इस इन्द्र के द्वारा शत्रु की शक्ति को शीर्ण करनेवाले हों। इन्द्र के साहाय्य से हमारे **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासन से शत्रु की शक्ति को शीर्ण करनेवाले बनें। बेल के पुराने पड़े हुए उलझे हुए शाखासमूह के समान शत्रु को काट डालें।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्राग्नी॥ **छन्दः**—जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

तना+गिरा

यदिन्द्राग्नी जना इमे विह्वयन्ते तना गिरा ।
अस्माकेभिर्नृभिर्वयं सासह्याम पृतन्यतो वनुयाम वनुष्यतो नभन्तामन्यके समे ॥ ७ ॥

(१) **इमे जनाः**=ये लोग **यत्**=जब **तना**=शक्तियों के विस्तार के हेतु से तथा **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के हेतु से **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के देवों को **विह्वयन्ते**=पुकारते हैं-उनकी आराधना करते हैं। तो इन इन्द्र और अग्नि के आराधक इन **अस्माकेभिः नृभिः**=हमारे लोगों के द्वारा **वयं**=हम **पृतन्यतः**=सेना के द्वारा आक्रमण करनेवालों को-संग्राम करनेवालों को **सासह्याम**=पराभूत करनेवाले हों। (२) इन्द्र और अग्नि की आराधना करते हुए हम **वनुष्यतः वनुयाम**=हिंसा करते हुए शत्रुओं को हिंसित करनेवाले हों। हमारे **समे**=सारे **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=विनष्ट हों।

भावार्थ-इन्द्र और अग्नि का आराधन करते हुए हम शक्तियों के विस्तार के द्वारा तथा ज्ञानवृद्धि के द्वारा शत्रुओं को पराजित करनेवाले हों।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

नीचे से ऊपर की ओर

या नु श्वेतावुवो दिव उच्चरात उप द्युभिः ।
इन्द्राग्न्योरनु व्रतमुहाना यन्ति सिन्धवो यान्त्सीं बन्धादमुञ्चतां नभन्तामन्यके समे ॥ ८ ॥

(१) **याः**=जो **नु**=निश्चय से **श्वेतौ**=जीवन को शुद्ध बनानेवाले इन्द्र और अग्नि-बल व प्रकाश के देवता **द्युभिः**=अपने प्रकाशों से **अवः**=अधः प्रदेश से **दिवः उप**=द्युलोक के समीप **उच्चरातः**=ऊपर प्राप्त कराते हैं, उन **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि के **व्रतं**=व्रत को **उहाना**=धारण करते हुए, अर्थात् इन्द्र अग्नि के आराधन के लिए आवश्यक व्रतों को धारण करते हुए **सिन्धवः**=गतिशील पुरुष **यन्ति**=जीवन मार्ग पर चलते हैं। (२) **यान्**=जिन सिन्धुओं को, गतिशील पुरुषों को **सीम्**=निश्चय से इन्द्र और अग्नि **बन्धात् अमुञ्चतां**=बन्ध से छुड़ाते हैं। ये इन्द्र और अग्नि व्रती पुरुष के बन्धनों को समाप्त करके उन्हें जीवन-मरण के चक्र से ऊपर उठाते हैं। इन इन्द्र और अग्नि की उपासना से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हों।

भावार्थः-इन्द्र और अग्नि व्रतमय जीवनवाले पुरुष को उन्नत करते हैं। विषय के बन्धनों से मुक्त करके ये उन्हें मोक्ष का पात्र बनाते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

उपमातयः-प्रशस्तयः

पूर्वीष्ट इन्द्रोपमातयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः सूनो हिन्वस्य हरिवः ।
वस्वो वीरस्यापृचो या नु साधन्त नो धियो नभन्तामन्यके समे ॥ ९ ॥

(१) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले, **सूनो**=उत्तम प्रेरणा को देनेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपकी **उपमातयः**=देन **पूर्वीः**=बहुत हैं, **उत**=और **प्रशस्तयः**=आपकी प्रशस्तियाँ-स्तुतियाँ **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली हैं। (पृ पालनपूरणयोः)। (२) हे प्रभो! **हिन्वस्य**=प्रीणित करनेवाले **वस्वः**=सबको बसानेवाले **वीरस्य**=शक्तिशाली आपके **आपृचः**=सम्पर्क (पृची सम्पर्के) वे हैं **याः**=जो **नु**=निश्चय से **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **साधन्त**=सिद्ध करते हैं। सो आपके सम्पर्कों के द्वारा **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ-प्रभु ने हमारे लिए सब उन्नति के साधन प्राप्त कराए हैं। प्रभु का स्तवन हमारी बुद्धियों को उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराता है। उस वीर प्रभु का सम्पर्क हमें शक्ति सम्पन्न बनाता है

और हम शत्रुओं पर विजय पाते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

जेषत् स्वर्वतीः अपः

तं शिशीता सुवृक्तिभिस्त्वेषं सत्वानमृग्मियम्। उतो नु चिद्य ओजसा शुष्णस्याण्डानि भेदति जेषत्स्वर्वतीरपो नभन्तामन्यके समे॥ १०॥

(१) **तं**=उस प्रभु को **सुवृक्तिभिः**=पापवर्जन की हेतुभूत उत्तम स्तुतियों से **शिशीत**=(संस्कुरुत) अपने अन्दर तीक्ष्ण व संस्कृत करो, अर्थात् प्रभु की भावना को अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न करो। जो प्रभु **त्वेषं**=दीप्त हैं, **सत्वानम्**=शक्तिशाली हैं व **ऋग्मियम्**=ऋचाओं से स्तुति के योग्य हैं। (२) उन प्रभु को अपने अन्दर प्रादुर्भूत करो **उत उ नु चित्**=और निश्चय से **यः**=जो **ओजसा**=शक्ति के द्वारा **शुष्णस्य आण्डानि**=शोक कामदेव के अपत्यों को भी (अण्डात् जातानि) **भेदति**=विदीर्ण कर देते हैं, अर्थात् प्रभु कामदेव को भस्म कर देते हैं। काम को नष्ट करके प्रभु ही **स्वर्वतीः**=प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले **अपः**=रेतःकणरूप जलों को **जेषत्**=विजय करते हैं। कामाग्नि की रेतःकणरूप जलों को विनष्ट करती है, इस कामाग्नि के विध्वंस से रेतःकणों का रक्षण होता ही है और ऐसा होने पर **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ। वीर्यरक्षण के होने पर सब रोग व वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

भावार्थः—हम स्तुति के द्वारा प्रभु को अपने में दीप्त करें। प्रभु की शक्ति हमारी वासना का विनाश करती है और वीर्यरक्षण द्वारा प्रकाश व सुख को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आण्डा शुष्णस्य भेदति

तं शिशीता स्वध्वरं सत्यं सत्वानमृत्वियम्। उतो नु चिद्य ओहत आण्डा शुष्णस्य भेदत्यजैः स्वर्वतीरपो नभन्तामन्यके समे॥ ११॥

(१) **तं**=उस प्रभु को **शिशीत**=अपने अन्दर तीक्ष्ण करो—स्तुतियों से संस्कृत करो, जो प्रभु **सत्यं**=सत्यस्वरूप हैं, **सत्वानम्**=शक्तिसम्पन्न हैं। **स्वध्वरं**=उत्तम यज्ञ आदि कर्मों के सिद्ध करनेवाले हैं। जिनकी शक्ति से उपासक यज्ञ आदि कर्मों को कर पाता है, अतएव **ऋत्वियम्**=प्रभु ऋतु-ऋतु में अर्थात् सदा उपासना के योग्य हैं। (२) **उत उ नु चित्**=और निश्चय से **यः**=जो प्रभु **ओहते**=स्तुति किये जाते हैं वे **शुष्णस्य आण्डा**=कामदेव के अपत्यों को भी **भेदति**=विदीर्ण कर देते हैं—वासना के मूल को ही विनष्ट कर देते हैं और **स्वर्वतीः**=प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले **अपः**=रेतःकणों को **अजैः**—जीतते हैं। इस प्रकार काम विनाश से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=विनष्ट हों।

भावार्थ—प्रभु 'स्वध्वर-सत्य-सत्वा-ऋत्विय' हैं। इनकी स्तुति जब उपासक करता है, तो प्रभु काम का समूल विनाश कर देते हैं और हमारे रेतःकणों का रक्षण कर के हमारे सब वासना व रोगरूप शत्रुओं का विनाश कर देते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पिता-मन्धाता-अङ्गिराः

एवेन्द्राग्निभ्यां पितृवन्नवीयो मन्धातृवदङ्गिरस्वदवाचि। त्रिधातुना शर्मणा पातमस्मान्वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ १२॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इन्द्राग्निभ्यां**=बल व प्रकाश के देवों के लिए **पितृवत्**=एक रक्षक पुरुष की तरह—जैसे एक रक्षणात्मक कर्मों में लगा हुआ व्यक्ति स्तुति करता है, उसी तरह **नवीयः**=(नु स्तुतौ) स्तुतिवचन **अवाचि**=उच्चारण किया जाता है। **मन्धातृवत्** (मन्+धा)=ज्ञान को धारण करनेवाले पुरुष की तरह हमारे से इन्द्राग्नी के लिए स्तुतिवचन उच्चारित होती है तथा **अङ्गिरस्वत्**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले पुरुष की तरह हमारे से इन्द्राग्नी के लिए स्तुति की जाती है। वस्तुतः इन्द्र और अग्नि का स्तोता 'रक्षक-ज्ञान का धारण करनेवाला व अंग-प्रत्यंग रसवाला' बनता है। (२) हे इन्द्र और अग्ने! आप **त्रिधातुना**=वात-पित्त व कफ़ तीनों का सम्यक् धारण करनेवाले **शर्मणा**=शरीर गृह से-इस प्रकार के शरीर को प्राप्त कराने के द्वारा **अस्मान् पातम्**=हमारा रक्षण करो। आपके द्वारा **वयं**=हम **रयीणाम्**=सब ऐश्वर्यों के **पतयः**=स्वामी **स्याम**=हों।

भावार्थ—हम रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होते हुए, ज्ञान को धारण करते हुए, अंगों को रसमय (शक्तिशाली) बनाते हुए इन्द्र और अग्नि का उपासन करें। अपने अन्दर बल व प्रकाश का वर्धन करें। बल व प्रकाश के द्वारा हमारा शरीर गृह 'वात-पित्त व कफ' सब धातुओं के साम्यवाला हो। हम ऐश्वर्यों के स्वामी बनें।

अगले सूक्त में नाभाक 'वरुण' का स्तवन करते हैं—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ **देवता**—वरुणः ॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

'वरुण व मरुतों' का पूजन

अस्मा ऊ षु प्रभूतये वरुणाय मरुद्भ्योऽर्चा विदुष्टरेभ्यः।
यो धीता मानुषाणां पश्वो गाइव रक्षति नभन्तामन्यके समे॥ १॥

(१) **अस्मा**=इस **सु प्रभूतये**=उत्तम प्रकृष्ट ऐश्वर्यवाले **वरुणाय**=पापनिवारक प्रभु के लिए तथा **विदुष्टरेभ्यः**=उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करानेवाले **मरुद्भ्यः**=प्राणों के लिए **ऊ**=निश्चय से **अर्चा**=पूजन करो। प्रभु की उपासना से पाप दूर होते हैं और उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त होता है। प्राणसाधना से दोषों का क्षय होकर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। (२) **यः**=जो वरुण हैं वे **धीता**=कर्मों के द्वारा **मानुषाणां**=मनुष्यों की **पश्वः**=ज्ञानेन्द्रियों को (पश्यन्ति) इस प्रकार **रक्षति**=सुरक्षित करते हैं, **इव**=जैसे एक ग्वाला **गाः**=गौओं का रक्षण करता है। ऐसा होने पर अर्थात् वरुण द्वारा हमारी ज्ञानेन्द्रियों के रक्षित होने पर **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थः—हम पापनिवारक वरुण का उपासन करें। ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाले प्राणों की साधना में प्रवृत्त हों। प्रभु कर्मों में प्रेरित करके हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं और हमारे सब शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ **देवता**—वरुणः ॥ **छन्दः**—निचृज्जगती ॥ **स्वरः**—निषादः ॥

'सप्तस्वसा' स 'मध्यमः'

तमू षु समना गिरा पितृणां च मन्मभिः।
नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे॥ २॥

(१) **तम्**=उस प्रभु को **ऊ**=ही **समना गिरा**=मननयुक्त वाणी के द्वारा **च**=तथा **पितृणां मन्मभिः**=रक्षक पुरुषों के मननीय स्तुतिवचनों के द्वारा तथा **नाभाकस्य**=काम-क्रोध आदि का

हिंसन करनेवाले पुरुष के **प्रशस्तिभिः**=शंसनवचनों के द्वारा **सु** (अभिष्टौमि)=सम्यक् स्तुत करता हूँ। (२) **यः**=जो प्रभु **सिन्धूनां**=स्यन्दनशील रेतःकणों के **उप**=समीप **उदये**=(उद्भव) उद्गत होते हैं, अर्थात् रेतःकणों का रक्षण होने पर प्रभु का दर्शन होता है। **सः**=वे प्रभु **सप्तस्वसा**=(सप्त स्व-सृ) सात छन्दोरूप आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाली वेदवाणियोंवाले हैं। **मध्यमः**=सबके मध्य में होनेवाले हैं–सबके अन्दर विद्यमान हैं। इन अन्तः स्थित प्रभु के अनुग्रह से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ–ज्ञानयुक्त वाणियों से–मननीय स्तोत्रों से तथा शंसनवचनों से हम प्रभु का स्तवन करें। सोमरक्षण के होने पर इस प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है। वे प्रभु सात छन्दोरूप वेदवाणियों के देनेवाले हैं, सबके अन्दर व्याप्त हो रहे हैं। इन्हीं के अनुग्रह से शत्रुओं का विनाश होता है।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ **देवता**—वरुणः ॥ **छन्दः**—निचृज्जगती ॥ **स्वरः**—निषादः ॥

उस्रः मायया निदधे

स क्षपः परि षस्वजे न्युं१स्रो मायया दधे स विश्वं परि दर्शतः।
तस्य वेनीरनु व्रतमुषस्तिस्रो अवर्धयन्नभन्तामन्यके समे॥ ३॥

(१) **सः**=वे प्रभु **क्षपः**=(क्षप्–Throw away) शत्रुओं को परे फेंकनेवालों का **परिषस्वजे**=आलिंगन करते हैं। **सः उस्रः**=वे प्रकाशमय प्रभु **मायया**=अपनी माया से, प्रज्ञान से **विश्वं निदधे**=सारे संसार को धारण करते हैं। **परिदर्शतः**=वे दर्शनीय हैं। (२) **तस्य वेनीः**=उस प्रभु की प्राप्ति की कामनावाली प्रजाएँ **व्रतम् अनु**=व्रतों के अनुसार **तिस्रः**=तीनों **उषा**=उषाओं को **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं। 'उषस्' की भावना 'दोष दहन' की है। उपासक लोग व्रतमय जीवन बिताते हुए 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों के दोषों को दग्ध कर देते हैं। ऐसा करने पर **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ–प्रभु उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो काम-क्रोध को विनष्ट कर देते हैं। व्रती जीवनवाले पुरुष शरीर, मन व बुद्धि के दोषों को दग्ध करते हुए प्रभु को प्राप्त होने के अधिकारी होते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ **देवता**—वरुणः ॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

वरुणस्य

यः ककुभो निधारयः पृथिव्यामधि दर्शतः।
स माता पूर्व्यं पदं तद्वरुणस्य सप्त्यं स हि गोपाइवेर्यो नभन्तामन्यके समे॥ ४॥

(१) **यः**=जो प्रभु **ककुभः**=सब दिशाओं को **निधारयः**=निश्चय से धारण करते हैं और जो **पृथिव्यां**=इस पृथिवी पर **अधिदर्शतः**=आधिक्येन दर्शनीय है–सर्वत्र (सब पदार्थों में) उस प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। **सः**=वे प्रभु ही **पूर्व्यं पदं माता**=मोक्षरूप लोक का निर्माण करनेवाले हैं। (२) **वरुणस्य**=द्वेष के निवारण करनेवाले का ही **तत्**=वह **सप्त्यं**=सर्पणयोग्य होता है। इस मोक्षपद को निर्द्वेष व्यक्ति ही पाता है। **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **गोपाः इव**=ग्वाले के समान हैं। ग्वाला जैसे गौओं का रक्षण करता है, उसी प्रकार प्रभु हमारा सबका रक्षण करते हैं। **ईर्यः**=वे प्रभु ही गन्तव्य हैं (**ईर् गतौ**)। हम सबको उस प्रभु की ओर ही चलना चाहिए, जिससे **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ–वे प्रभु ही धारक हैं–सर्वत्र प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है। ये ही मोक्षलोक का भी निर्माण करते हैं। सबके रक्षक हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धर्ता-कविः

यो धर्ता भुवनानां य उस्राणामपीच्या३ वेद नामानि गुह्या।
स कविः काव्या पुरु रूपं द्यौरिव पुष्यति नभन्तामन्यके समे॥ ५॥

(१) **यः**=जो प्रभु **भुवनानां धर्ता**=सब लोकों का धारण करनेवाले हैं। **यः**=जो प्रभु **उस्राणाम्**=वेदवाणी रूप गौओं के **अपीच्याः**=अन्तर्हित **गुह्या**=हृदयदेश में प्रकट होनेवाले **नामानि**=नामों को **वेद**=प्राप्त कराते हैं। **सः कवि**=वे प्रभु ही क्रान्तप्रज्ञ है, प्रत्येक वस्तु के मर्म को जानते हैं। (२) वे प्रभु ही **काव्याः**=वेदरूप काव्यों का **पुष्यति**=इस प्रकार पोषण करते हैं, **इव**=जिस प्रकार **द्यौः**=यह आकाश **पुरु रूपं**=अनेक रूपों का पोषण करता है। इस प्रभु के स्मरण से हमारे **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हों।

भावार्थः–प्रभु ही धारक हैं–सब पदार्थों को ज्ञापक है। वे कवि प्रभु ही सब ज्ञानों को देते हुए हमारे शत्रुओं को शीर्ण करते हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

त्रितं जूती सपर्यत

यस्मिन्विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिता।
त्रितं जूती सपर्यत व्रजे गावो संयुजे युजे अश्वाँ अयुक्षत नभन्तामन्यके समे॥ ६॥

(१) **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **विश्वानि काव्या**=सब काव्य (वेदज्ञान) इस प्रकार **श्रिता**=आश्रित हैं, **इव**=जैसे **चक्रे**=चक्र में **नाभिः**=नाभि आश्रित होती है। उस **त्रितं**=तीनों के (त्रीन् तनोति) विस्तार करनेवाले, 'ऋग्, यजु, साम' रूप तीनों के बढ़ानेवाले प्रभु को **जूती**=जव के द्वारा–वेग के द्वारा स्फूर्त से कर्मों को करने के द्वारा **सपर्यत**=पूजो। (२) **न**=जैसे **गावः**=सब गौवें **व्रजे**=बाड़े में **संयुजे**=साथ मेलवाली होती है, उसी प्रकार **युजे**=उस प्रभु से मेल के लिए **अश्वान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **अयुक्षत**=(युज समाधौ) समाहित करो। इन्द्रियों को इधर-उधर भटकने से रोको जिससे **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थः–प्रभु में ही सब वेदज्ञान निहित हैं। इस प्रभु को कर्मों द्वारा हम उपासित करें। इन्द्रियों से विषयों में भटकने से रोकें। यही शत्रुनाश का मार्ग है।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आसु अत्कः आशये

य आस्वत्क आशये विश्वा जातान्येषाम्।
परि धामानि मर्मृशद्वरुणस्य पुरो गये विश्वे देवा अनु व्रतं नभन्तामन्यके समे॥ ७॥

(१) **यः**=जो वरुण **आसु**=इन लोकों व प्रजाओं में **अत्कः**=(व्याप्तः) व्याप्त हुए-हुए **आशये**=रहते हैं और **एषां**=इन लोकों के **विश्वा**=सब **जातानि**=प्रादुर्भावों को तथा इन प्रजाओं के **धामानि**=तेजों को **परिमर्मृशत्**=छूते हैं (मृश्, To handle) व्यवस्थित करते हैं। (२) **वरुणस्य**=इस शासक प्रभु के **पुरः**=सामने ही गये, अपने-अपने घर में, स्थान में **देवाः**=सब देव **व्रतं**=अपने-अपने व्रत का **अनु** (गच्छन्ति)=अनुसरण करते हैं। हम सब इस प्रभु के समक्ष होते हुए कार्य करेंगे तो **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=अवश्य नष्ट होंगे ही।

भावार्थः—प्रभु ही व्यापकता के द्वारा सबका नियमन कर रहे हैं। प्रभु के स्मरण से ही सब शत्रुओं का विनाश होता है।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—वरुणः॥ **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

समुद्रः-अपीच्यः-तुरः

स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे।
स माया अर्चिना पदास्तृणान्नाकमारुहन्नभन्तामन्यके समे॥ ८॥

(१) **सः**=वे प्रभु **समुद्रः**=(स+मुद्) सदा आनन्द के साथ हैं-आनन्दस्वरूप हैं। **अपीच्यः**=सबके अन्दर अन्तूहत हैं-छिपे रूप में विद्यमान हैं। **तुरः**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले हैं। जब एक उपासक प्रभु का इस रूप में उपासन करता है, तो वह भी आनन्द को प्राप्त करता है, सदा अन्दर स्थित होने का प्रयत्न करता है, बहिर्मुखी वृत्तिवाला नहीं होता और काम-क्रोध आदि का संहार करनेवाला होता है। इस उपासक के हृदयान्तरिक्ष में वे प्रभु इस प्रकार **रोहति**=प्रादुर्भूत होते हैं, **इव**=जैसे **द्याम्**=द्युलोक में सूर्य का प्रादुर्भाव होता है। सूर्योदय हुआ और अन्धकार समाप्त हुआ, इसी प्रकार प्रभु का प्रादुर्भाव होते ही सब वासनान्धकार विलीन हो जाता है। यह वह समय होता हैं **यद्**=जब **आसु**=इन प्रजाओं में वे प्रभु **यजुः निदधे**=यज्ञात्मक कर्मों को स्थापित करते हैं। वे उपासक अपने लिए न जी कर औरों के लिए जीते हैं। (२) **सः**=वह प्रभु का उपासक **अर्चिना**=उपासना के द्वारा तथा **पदा**=(पद गतौ) गतिशीलता के द्वारा **माया अस्तृणात्**=मायाओं को हिंसित करता है। प्रभुस्मरण पूर्वक कर्मों को करता हुआ प्रकृति की माया से आकृष्ट नहीं होता। वह प्राकृतिक माया इस उपासक को वशीभूत नहीं कर पाती। माया को तैरकर यह **नाकम् अरुहत्**=मोक्षलोक में आरोहण करता है। इस प्रभुस्मरण के द्वारा हमारे **समे**=सारे **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—हम आनन्दमय-अन्तूहत-वासनासंहारक प्रभु का स्मरण करें। प्रभुरूप सूर्य के उदय होते ही सारा वासनान्धकार विलीन हो जाएगा। प्रभुप्रेरणा से हमारा जीवन यज्ञशील बनेगा। उपासना व क्रियाशीलता के द्वारा सब माया को तैर कर हम मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—वरुणः॥ **छन्दः**—जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

स सप्तानाम् इरज्यति

यस्य श्वेता विचक्षणा तिस्रो भूमीरधिक्षितः।
त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुवं सदः स सप्तानामिरज्यति नभन्तामन्यके समे॥ ९॥

(१) **यस्य**=जिस **तिस्रः भूमीः**=तीनों-पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक-लोकों में (भूमियों में) **अधिक्षितः**=अधिष्ठातृरूपेण निवास करते हुए प्रभु के **विचक्षणा**=विशेषरूप से प्रकाश को करनेवाले **श्वेता**=उज्ज्वल शक्ति व ज्ञान के तेज **त्रिः उत्तराणि**=तीनों उत्कृष्ट 'शरीर-मन व मस्तिष्क' रूप लोकों का **पप्रतुः**=पूरण करते हैं। उस **वरुणस्य**=पापनिवारक प्रभु का **सदः**=स्थान **ध्रुवं**=ध्रुव है। इस ब्रह्मलोक में पहुँचकर जीव 'अव्यय' स्थान को प्राप्त कर लेता है। **सः**=वे वरुण **सप्तानाम्**=सातों लाकों के 'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' के **इरज्यति**=ऐश्वर्यवाले हैं। ये सातों लोक प्रभु का ही ऐश्वर्य हैं। इस प्रभु के उपासन से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—तीनों लोकों के अधिष्ठाता प्रभु हमारे 'शरीर, मन व मस्तिष्क' को शक्ति व ज्ञान

के तेज से पूरित करते हैं। ये प्रभु ही सातों लोकों के स्वामी हैं। इनके अनुग्रह से हमारे सब शत्रु विनष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—वरुणः॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

श्वेतान्+कृष्णान्

यः श्वेताँ अधिनिर्णिजश्चक्रे कृष्णाँ अनु व्रता।
स धाम पूर्व्यं ममे यः स्कम्भेन वि रोदसी अजो न द्यामधारयन्नभन्तामन्यके समे॥ १०॥

(१) **यः**=जो प्रभु **श्वेतान्**=प्रकाश से चमकते हुए श्वेत रंग के **अधिनिर्णिजः**=अति शयेन शुद्ध सूर्य आदि लोकों को **चक्रे**=बनाते हैं, तथा **व्रता अनु**=नियमों के अनुसार (व्रतं=नियमः) **कृष्णान्**=भूमि आदि कृष्ण लोकों को बनाते हैं। **सः**=वे प्रभु ही **पूर्व्यं धाम**=सर्वोत्कृष्ट मोक्षलोक का **ममे**=निर्माण करते हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **स्कम्भेन**=अपनी धारक (थामने की) शक्ति से **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **वि अधारयत्**=विशेष रूप से धारण करते हैं। वे **अजः न**=सर्वसंचालक के समान (अज् गतौ) **द्याम्**=इस देदीप्यमान आदित्य को धारण करते हैं। इस सर्वाधार प्रभु के द्वारा हमारा धारण होने पर **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थः-प्रभु ही स्वयं प्रकाश सूर्य आदि लोकों को तथा स्वयं आकाश (कृष्ण) पृथिवी आदि लोकों को बनाते हैं। प्रभु ही मोक्षलोक का भी निर्माण करनेवाले हैं-प्रभु ही मोक्षलोक हैं। वे अपनी धारणशक्ति से द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करते हैं। सूर्य को भी थामते हैं। इन प्रभु की कृपा से हमारे काम आदि शत्रु विनष्ट हो जाएँ।

अगले सूक्त में प्रथम तीन मन्त्रों में 'वरुण' व पिछले तीन मन्त्रों में 'अश्विन' देवता हैं:-

४२. [द्वाचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—वरुणः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'धर्ता-निर्माता-अधिष्ठाता' प्रभु

अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥ १॥

(१) **असुरः**=सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करनेवाला, **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनोंवाला प्रभु **द्याम्**=द्युलोक को **अस्तभ्नात्**=थामता है-आकाशस्थ सब लोक-लोकान्तरों के प्रभु स्वामी हैं। (२) वे वरुण प्रभु ही **पृथिव्याः**=इस विशाल अन्तरिक्ष के व पृथिवीलोक के **वरिमाणं**=विस्तार को **अमिमीत**=बनाते हैं। वे **सम्राट्**=सारे ब्रह्माण्ड के शासक प्रभु **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों के **आसीदत्**=अधिष्ठाता हैं। **तानि**=वे लोक=लोकान्तरों के धारण-निर्माण व अधिष्ठातृत्व आदि **विश्वा इत्**=सब ही **व्रतानि**=कर्म **वरुणस्य**=उस पापनिवारक प्रभु के ही हैं।

भावार्थ-द्युलोक को प्रभु थामते हैं, पृथिवी के विस्तार का निर्माण करते हैं और सब लोकों के अधिष्ठाता हैं। ये सब काम उस प्रभु के ही हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—वरुणः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'बृहन्+धीर+अमृतगोपा' प्रभु

एवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तं नमस्या धीरममृतस्य गोपाम्।

स नः शर्म त्रिवरूथं वि यंसत्पातं नो द्यावापृथिवी उपस्थे॥ २॥

(१) **एवा**=इस प्रकार–गतमन्त्र में वर्णित प्रकार से **बृहन्तं**=उस महान् **वरुणं**=वरुण को **वन्दस्व**=वन्दित कर। **अमृतस्य गोपाम्**=अमृतत्व के रक्षक **धीरं**=उस ज्ञानी प्रभु को **नमस्या**=नमन कर, उसको पूजित कर। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **त्रिवरूथं**=तीनों 'ज्ञान, कर्म व उपासना' रूप धनोंवाले (वरूथं=Wealth) **शर्म**=शरीरगृह को **वियंसत्**=दें। **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **उपस्थे**=अपनी गोद में **नः पातम्**=हमें सुरक्षित करें।

भावार्थः=हम उस महान् धीर अमृत के रक्षक प्रभु का वन्दन व नमन करें। वे हमें 'ज्ञान, कर्म व उपासना' रूप सम्पत्तिवाले शरीरगृह को प्राप्त कराएँगें और इस द्यावापृथिवी की गोद में हम सुरक्षित रहेंगे। द्युलोक हमारा पिता होगा, पृथिवी माता।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः॥ **देवता**—वरुणः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

सुतर्मा नौका

इमां धियं शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि।
ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम॥ ३॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **वरुण**=नियामक देव! **इमां धियं**=इस ज्ञानपूर्वक किये जाते हुए कर्म को **शिक्षमाणस्य**=अनुष्ठान करते हुए मेरे **क्रतुं**=प्रज्ञान को व **दक्षं**=बल को **संशिशाधि**=सम्यक् तीक्ष्ण करिये। आप से प्राप्त कराये गये ज्ञान व बल के द्वारा ही तो मैं इस कर्म को कर पाऊँगा। (२) आपके अनुग्रह से हम उस **सुतर्माणम्**=सम्यक् तरानेवाली **नावं**=यज्ञरूप नौका पर **अधिरुहेम**=आरूढ़ हों, **यया**=जिसके द्वारा **विश्वा**=सब बुराइयों को **अति तरेम**=तैर जाएँ।

भावार्थ–प्रभु से प्रज्ञान व शक्ति को प्राप्त करके हम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों। ये यज्ञ ही सब दुरितों को तैर जाने के लिए नाव हैं।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः अर्चनाना वा॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

ग्रावाणः+विप्रः

आ वां ग्रावाणो अश्विना धीभिर्विप्रा अचुच्यवुः।
नासत्या सोमपीतये नभन्तामन्यके समे॥ ४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वां**=आपकी **ग्रावाणः**=स्तुति की वाणियों का उच्चारण करनेवाले **विप्राः**=ज्ञानी लोग **धीभिः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के हेतु से **आ अचुच्यवुः**=सर्वथा प्राप्त होते हैं, आपकी ओर आते हैं। प्राणापान की साधना ही वस्तुतः हमें 'ग्रावा व विप्र' बनाती है। इस साधना से ही हम ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। (२) हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **सोमपीतये**=शरीर में सोम के पान के लिए होते हो। आपके द्वारा ही शरीर में सोम का रक्षण होता है। इस सोमरक्षण के होने पर **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ–हम स्तुति व ज्ञान में प्रवृत्त हुए-हुए प्राणसाधना को करनेवाले बनें। यह साधना शरीर में सोम का रक्षण करती हुई हमारे काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का विनाश करती है।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः अर्चनाना वा॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

मत्रिः

यथा वामत्रिरश्विना गीर्भिर्विप्रो अजोहवीत्। नासत्या सोमपीतये नभन्तामन्यके समे॥ ५॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यथा**=जिस प्रकार **विप्रः**=ज्ञानी **अत्रिः**=काम-क्रोध व लोभ से ऊपर उठा हुआ अत्रि **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **वाम्**=आपको **अजोहवीत्**=पुकारता है, उसी प्रकार मैं भी आपका आराधन करता हूँ। (२) हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **सोमपीतये**=शरीर में सोम के (वीर्यशक्ति के) रक्षण के लिए होते हैं। आपकी साधना से **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—हम काम-क्रोध लोभ से ऊपर उठकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। यह साधना ही सोम रक्षण द्वारा हमारे शत्रुओं का शातन करेगी।

ऋषिः—नाभाकः काण्वः अर्चनाना वा॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

मेधिराः

एवा वामह्व ऊतये यथाहुवन्त मेधिराः। नासत्या सोमपीतये नभन्तामन्यके समे॥ ६॥

(१) हे **नासत्या**=प्राणापानो! मैं **ऊतये**=रक्षण के लिए **वाम्**=आपको **एवा**=इस प्रकार **अह्वे**=पुकारता हूँ। **यथा**=जैसे **मेधिराः**=ज्ञानी पुरुष-मेधावी पुरुष **आहुवन्त**=पुकारते हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए होते हो। इस सोमरक्षण के द्वारा **समे**=सब **अन्यके**=शत्रु **नभन्ताम्**=विनष्ट हों।

भावार्थः—हम मेधावी बनकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। इस साधना द्वारा सोमरक्षण करके काम आदि सब शत्रुओं का विनाश करें।

सोमरक्षण से विशिष्ट रूपवाले तेजस्वी बनकर हम 'विरूप' बनते हैं, 'आङ्गिरस' होते हैं—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले। यह विरूप 'अग्नि' नाम से प्रभु का स्तवन करता है।

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'विप्र-वेधा-अग्नि-अस्तृतयज्वा' प्रभु

इमे विप्रस्य वेधसोऽग्नेरस्तृतयज्वनः। गिरः स्तोमास ईरते॥ १॥

(१) **इमे**=ये **स्तोमासः**=स्तुतिरूप मन्त्रों द्वारा स्तुति करनेवाले उपासक लोग **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु की **गिरः**=स्तुतिवाणियों का **ईरते**=उच्चारण करते हैं। (२) उन प्रभु की स्तुतिवाणियों का उच्चारण करते हैं जो **विप्रस्य**=विशेषरूप से सबका पूरण करनेवाले ज्ञानी हैं। **वेधसः**=जगत के विधाता-निर्माण करनेवाले हैं। **अस्तृतयज्वनः**=यज्ञशील पुरुषों को नष्ट न होने देनेवाले हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु की स्तुतिवाणियों का उच्चारण करें, जो 'विप्र-वेधाः-अग्नि व अस्तृतयज्वा' हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'जातवेदा विचर्षणि अग्नि' प्रभु

अस्मै ते प्रतिहर्यते जातवेदो विचर्षणे। अग्ने जनामि सुष्टुतिम्॥ २॥

(१) हे **जातवेदः**=सम्पूर्ण धनों का प्रादुर्भाव करनेवाले, **विचर्षणे**=विद्रष्टः प्रभो! सबका ध्यान करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अस्मै**=इस **प्रतिहर्यते**=प्रत्येक प्राणी के हित की कामनावाले **ते**=आपके लिए **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **जनामि**=उत्पन्न करता हूँ। (२) प्रभु का स्तवन करता हुआ मैं आवश्यक धनों की प्राप्ति करता हूँ—ज्ञान की प्राप्ति करके—विचर्षणि बनकर—मैं आगे और

आगे बढ़ता हूँ।

भावार्थ:–प्रभु-स्तवन करते हुए हम 'धन+ज्ञान+व उन्नति' को प्राप्त करें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'वासना-वन-विलय'

आरोकाइव घेदह तिग्मा अग्ने तव त्विषः। दद्भिर्वनानि बप्सति॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तव**=आपकी **तिग्मा**=अतितीक्ष्ण **त्विषः**=ज्ञानदीप्तियाँ **घा इत् अह**=निश्चय से और अवश्य निश्चय से **वनानि**=हृदयक्षेत्र में उग आनेवाली वासनारूप झाड़ियों को इस प्रकार **बप्सति**=खा जाती हैं। **इव**=जैसे अग्नि की **आरोकाः**=दीप्त ज्वालाएँ **दद्भिः**=लपट-रूप दाँतों से (वनानि बप्सति) वनों को निगल जाती हैं। (२) अग्नि की ज्वालाओं में वन भस्म हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रभु की ज्ञानदीप्तियों में वासनाओं का विध्वंस हो जाता है।

भावार्थ:–प्रभु की उपासना के होने पर हमारी सब वासनाएँ प्रभु की ज्ञान ज्वालाओं में दग्ध हो जाती हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अग्नयः (यज्ञाग्नियाँ)

हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि। यतन्ते वृथगग्नयः॥ ४॥

(१) **अग्नयः**=यज्ञों की अग्नियाँ **हरयः**=हम सबके कष्टों का हरण करनेवाली होती हुई **वृथक्**=पृथक्-पृथक् स्थानों में **उप द्यवि**=अन्तरिक्षलोक में **यतन्ते**=रोगकृमिनाश के लिए यत्नशील होती हैं। (२) ये अग्नियाँ **धूमकेतवः**=धूमरूप ध्वजावाली हैं और **वातजूताः**=वायु द्वारा प्रेरित होती है। वायु इनका उद्‌बोधक होता है।

भावार्थ–यज्ञाग्नियाँ अन्तरिक्ष में उठती हुई रोगकृमिविनाश द्वारा यज्ञशील पुरुषों के कष्टों का अपहरण करती हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उषसाम् केतवः इव

एते त्ये वृथगग्नय इद्धासः समदृक्षत। उषसामिव केतवः॥ ५॥

(१) **एते**=ये **त्ये**=वे प्रसिद्ध **अग्नयः**=यज्ञाग्नियाँ **वृथक्**=पृथक्-पृथक् स्थानों में **इद्धासः**=समिद्ध हुई-हुई **समदृक्षत**=दिखती हैं। सर्वत्र-सब घरों में यज्ञाग्नियाँ दीप्त हो रही हैं। (२) ये यज्ञाग्नियाँ **उषसां**=उषाकालों की **केवतः इव**=पताकाएँ सी हैं–उषाकालों की यह प्रज्ञापक हैं, सूचना देनेवाली हैं।

भावार्थ:–उषाकालों में सर्वत्र होते हुए यज्ञ अग्नियों द्वारा उषा का प्रज्ञापन कर रहे हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अग्निर्यद् रोधति क्षमि

कृष्णा रजांसि पत्सुतः प्रयाणे जातवेदसः। अग्निर्यद्रोधति क्षमि॥ ६॥

(१) **अग्निः**=एक प्रगतिशील जीव **यद्**=जब **क्षमि**=इस पृथिवीरूप शरीर में **रोधति**=प्राणों का निरोध करता है तो इस **पत्सुतः**=(पद् सु=सवति To go, move) वेदवाणी (वेदशब्दों) के अनुसार गति करनेवाले **जातवेदसः**=ज्ञानी पुरुष के **प्रयाणे**=जीवनमार्ग में **रजांसि**=राजसभाव

कृष्णा=(कृष् –To pull away, tear) दूर व विनष्ट हो जाते हैं। (२) प्राणायाम के द्वारा हमारा ज्ञान बढ़ता है। सब राजसभाव विनष्ट होते हैं और इस साधक की वृत्ति सात्त्विक बन जाती है।

भावार्थः–प्राणनिरोध से ज्ञान का वर्धन होता है, राजसभाव विनष्ट होते हैं, वृत्ति सात्त्विक बनती है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मात्रा में वानस्पतिक भोजन

धासिं कृण्वान ओषधीर्बप्सदग्निर्न वायति। पुनर्यन्तरुणीरपि॥ ७॥

(१) **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **धासिं कृण्वानः**=धारणात्मक भोजन को करता हुआ–अर्थात् शरीर धारण के ही लिए भोजन को ग्रहण करता हुआ, **ओषधीः बप्सत्**=ओषधि वनस्पतियों का ही भक्षण करता हुआ **न वायति**=श्रान्त नहीं होता जाता। शुष्क अंग–प्रत्यंगोंवाला नहीं हो जाता। (२) और **पुनः**=फिर यह प्रगतिशील जीव इन वानस्पतिक भोजनों को करता हुआ **तरुणीः अपि यत्**=संसार सागर से तरानेवाली भावनाओं की ओर ही गतिवाला होता है।

भावार्थ–मात्रा में किया गया वानस्पतिक भोजन (क) शरीर को सरस अङ्ग–प्रत्यङ्गोंवाला बनाता है, और (ख) भावनाओं को उत्तम बनाता है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'जञ्जणाभवन्' प्रभु

जिह्वाभिरह नन्नमदर्चिषा जञ्जणाभवन्। अग्निर्वनेषु रोचते॥ ८॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **वनेषु**=उपासकों में (वन् संभक्तौ) **रोचते**=चमकता है। यह प्रभु **जिह्वाभिः**=अपनी ज्ञान–ज्वालाओं से **अह**=निश्चयपूर्वक **नन्नमत**=सब शत्रुओं को झुका देता है। हम प्रभु की उपासना करते हैं। प्रभु हमारे हृदयों में दीप्त होते हुए ज्ञानाग्नि के द्वारा सब काम–क्रोध आदि शत्रुओं को भस्म कर देते हैं। (२) ये प्रभु **अर्चिषा**=ज्ञानदीप्ति से **जञ्जणाभवन्**=(जजन–Burning) ज्वलित व दीप्त होते हैं। इसी ज्ञान–ज्वाला ही में तो सब शत्रुओं का दहन होता है।

भावार्थ–प्रभु उपासकों में अपनी ज्ञानदीप्ति से चमकते हैं और काम–क्रोध आदि को दग्ध कर देते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वानस्पतिक भोजन व प्रभुदर्शन

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः॥ ९॥

(१) **अग्ने**=प्रभो! **अप्सु**=सब प्रजाओं में **तव**=तेरी **सधि**=समानरूप से स्थिति है। **सः**=वे आप **ओषधीः अनुरुध्यसे**=ओषधियों का अनुरोध (अपेक्षा) करते हैं, अर्थात् आपके दर्शन के लिए आवश्यक है कि मनुष्य **मांसाहार** की ओर न झुके। (२) **गर्भे सन्**=सब प्राणियों के अन्दर होते हुए, आप **पुनः**=फिर **जायसे**=प्रादुर्भूत होते हैं। प्रभु की सत्ता तो सर्वत्र ही है। पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश दिखता है। पवित्र हृदय के लिए पवित्र भोजन की अवश्यकता है।

भावार्थ–प्रभु का निवास सब में है। उनका प्रादुर्भाव (व प्रकाश) वहीं होता है, जहाँ पवित्र भोजन के परिणामरूप पवित्र हृदयों का निर्माण होता है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अग्निहोत्र

उदग्ने तव तद् घृतादर्ची रोचत आहुतम्। निंसानं जुह्वो३ मुखे॥ १०॥

(१) हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **तव तद् अर्चिः**=तेरी वह ज्वाला **घृतात्**=घृत के द्वारा **आहुतम्**=समन्तात् आहुत हुई-हुई **उद्रोचते**=ऊपर उठती हुई चमकती है। (२) यह ज्वाला **जुह्वः**=घृत के चम्मच के **मुखे**=अग्रभाग में **निंसानम्**=चुम्बन करती प्रतीत होती है। यज्ञाग्नि की ज्वाला इतनी ऊपर उठती है कि आहुति साधनभूत चम्मच को छूती प्रतीत होती है।

भावार्थः—जिन घरों में अग्निहोत्र में अग्नि की ज्वालाएँ सब ऊपर उठती हैं, वहाँ इस अग्निहोत्र के द्वारा 'सौमनस्य' प्राप्त होकर शान्ति का निवास होता है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उक्षान्न+वशान्न (यज्ञाग्नि)

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये॥ ११॥

(१) **वेधसे**=सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाले (इष्ट कामधुक्) **अग्नये**=यज्ञाग्नि के लिए **स्तोमैः**=स्तुति मन्त्रों के साथ **विधेम**=पूजन करें। अग्नि का पूजन यही है कि इसमें उत्तम ओषधियों व घृत की आहुति दी जाए। ये सब औषध द्रव्य सूक्ष्मरूप में होकर वायुमण्डल को रोगकृमिशून्य करते हैं और श्वासवायु के साथ शरीर में जाकर हमें नीरोग बनाते हैं। (२) उस अग्नि का हम पूजन करते हैं जो **उक्षान्नाय**='उक्षा नामक' ओषधिरूप अन्नवाला है। इसी प्रकार **वशान्नाय**=वश्य अर्थात् पृथिवी से उत्पन्न ओषधियाँ जिसके अन्न हैं और **सोमपृष्ठाय**=कर्पूर जिसका आधार बनता है। कर्पूर द्वारा जो प्रज्वलित की जाती है।

भावार्थः—कर्पूर द्वारा इसे प्रज्वलित करें। इस प्रकार यह अग्निहोत्र हमारी इष्टकामनाओं को पूर्ण करेगा।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'वरेण्यक्रतु' प्रभु

उत त्वा नमसा वयं होतर्वरेण्यक्रतो। अग्ने समिद्भिरीमहे॥ १२॥

(१) हे **होतः**=सब आवश्यक साधनों के देनेवाले **उत**=और **वरेण्यक्रतो**=वरणीय प्रज्ञानवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वयं**=हम **त्वा**=आपसे **नमसा**=नमन के द्वारा तथा **समिद्भिः**=ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **ईमहे**=प्रार्थना करते हैं। (२) आप ही हमारे लिए वरणीय ज्ञान को प्राप्त कराते हैं। यह ज्ञान ही हमारी सब उन्नतियों का साधन बनता हैं।

भावार्थः—प्रभु 'होता' हैं, 'वरेण्यक्रतु' हैं। हम नमन व ज्ञानदीप्ति द्वारा प्रभु का उपासन करते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

भृगुवत्, मनुष्वत्, अङ्गिरस्वत्

उत त्वा भृगुवच्छुचे मनुष्वदग्न आहुत। अङ्गिरस्वद्धवामहे॥ १३॥

(१) **उत**=और हे **शुचे**=पूर्ण पवित्र व दीप्त, **आहुत**=समन्तात् दानोंवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हम **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) प्रभु की आराधना हम **भृगुवत्**=भृगु की तरह करते

हैं। तपस्या की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाला 'भृगु' है। **मनुष्वत्**=मनुज् की तरह हम प्रभु का आराधन करते हैं। विचारशील-अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला व्यक्ति 'मनुः' है। **अंगिरस्वत्**=अंगिरा की तरह हम प्रभुपूजन करते हैं। अंगिरा वह व्यक्ति है जो अपने अंग-प्रत्यंग को रसमय बनाता है।

भावार्थ-प्रभु का उपासक तपस्वी (भृगु) विचारशील (मनुष्) व स्वस्थ (अंगिरस्) होता है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—ककुम्मती गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'अग्नि+विप्र+सन्+सखा'

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता। सखा सख्या समिध्यसे॥ १४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वं**=आप **हि**=निश्चय से **अग्निना**=प्रगतिशील उपासक से **समिध्यसे**=हृदयदेश में समिद्ध किये जाते हैं। **विप्रः**=ज्ञानी आप **विप्रेण**=ज्ञानी उपासक के द्वारा समिद्ध होते हैं। **सन्**=सब उत्तमताओं वाले सत्यस्वरूप आप **सता**=सज्जनता को अपनानेवाले उपासक से समिद्ध किये जाते हैं। **सखा**=सबके मित्रभूत आप **सख्या**=मित्रभाव से चलनेवाले पुरुष के द्वारा उपासित होते हैं। (२) उपास्य के रंग में अपने को रंगता हुआ उपासक ही सभी उपासना कर पाता है। सो हम 'अग्नि' बनकर 'अग्नि' नामक प्रभु का उपासन करें। 'विप्र' बनकर विप्र प्रभु को पूजित करें। 'सत्' बनकर सत्यस्वरूप प्रभु के सेवक हों और मित्रता को अपनाकर सबके मित्र प्रभु को प्रसन्न करें। ब्रह्मचर्याश्रम में 'अग्नि', गृहस्थ में 'विप्र', वानप्रस्थ में 'सत्' व संन्यास में 'सखा' होऊँ।

भावार्थः-प्रभु का उपासक 'अग्नि, विप्र, सत् व सखा' होता है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सहस्त्रिणम् रयिम्

स त्वं विप्राय दाशुषे र॒यिं दे॑हि सह॒स्रिण॑म्। अग्ने॑ वी॒रव॑ती॒मिष॑म्॥ १५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **स त्वं**=वे आप **विप्राय**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले **दाशुषे**=दाश्वान्-दानशील व आत्मसमर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **सहस्त्रिणं**=सहस्रों की संख्यावाले-बहुत अधिक **रयिं**=ऐश्वर्य को **देहि**=दीजिए। (२) हे अग्ने! आप **वीरवतीम्**=(वीर=प्राण) प्राणोंवाली **इषं**=प्रेरणा को प्राप्त कराइए। प्रेरणा को प्राप्त कराइए और प्रेरणा के साथ उस प्राणशक्ति को भी प्राप्त कराइए जिससे कि उस प्रेरणा को हम कार्यान्वित कर पाएँ।

भावार्थ-हे प्रभो! हम ज्ञानी व आत्मसमर्पण करनेवाले बनें। आप हमारे लिए ऐश्वर्य, प्राणशक्ति व प्रेरणा को प्राप्त कराइए।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

रोहिदश्व-शुचिव्रत

अग्ने॒ भ्रात॒: सह॑स्कृत॒ रोहि॑दश्व॒ शुचि॑व्रत। इ॒मं स्तोमं॑ जुषस्व मे॥ १६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **मे**=मेरे **इमं स्तोमं**=इस स्तोत्र को (स्तवन को) **जुषस्व**=सेवन करिए। यह मेरे से किये जानेवाला स्तोत्र आपके लिए प्रिय हो। (२) **भ्रातः**=हे प्रभो! आप ही कार्यभार का वहन करनेवाले हैं। **सहस्कृत**=आप ही बल को उत्पन्न करनेवाले हैं-आपसे प्राप्त कराई गई शक्ति से ही हम सब कर्तव्यों का पालन कर पाते हैं। **रोहिदश्व**=आप उन्नतिशील

इन्द्रियाश्वोंवाले हैं और **शुचिव्रत**=पवित्र व्रतोंवाले हैं। आप सशक्त इन्द्रियों व पवित्र कर्मों को हमें प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे लिए शक्ति को प्राप्त कराके हमें कर्तव्यभार के वहन के योग्य बनाते हैं। उन्नत इन्द्रियों को प्राप्त कराके प्रभु ही हमें पवित्र व्रतोंवाला करते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वाश्राय प्रतिहर्यते

उत त्वाग्ने मम स्तुतो वाश्राय प्रतिहर्यते। गोष्ठं गावइवाशत॥ १७॥

(१) **उत**=और हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **मम स्तुतः**=मेरे से की जानेवाली स्तुतियाँ **त्वा**=आपको **आशत**=इस प्रकार व्याप्त करनेवाली हों **इव**=जैसे **वाश्राय**=रंभाते हुये **प्रतिहर्यते**=(दुग्धपान की) कामनावाले बछड़े के लिए **गावः**=गौवें **गोष्ठं**=गोशाला का व्यापन करती हैं। (२) गौवें जैसे गोशाला में बछड़े के हित के लिए आती हैं, इसी प्रकार मेरी स्तुतियाँ मेरे ही हित के लिए आपको प्राप्त हों। इन स्तोत्रों के द्वारा प्रेरणाओं को प्राप्त करता हुआ मैं उन्नत जीवनवाला बनूँ। मैं भी **वाश्रः**=स्तुतियों का उच्चारण करनेवाला बनूँ, तथा **प्रतिहर्यन्**=आपकी प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होऊँ।

भावार्थः—प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हम प्रभु का स्तवन करें। ये स्तवन हमें उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त कराके हमारा हित सिद्ध करें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्रिय निरोध

तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक्। अग्ने कामाय येमिरे॥ १८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अंगिरस्तम**=हमारे अंग-प्रत्यंग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **ताः विश्वाः**=वे सब **सुक्षितयः**=उत्तम निवास व गतिवाली—स्वस्थशरीर में स्वस्थ गतिवाली—प्रजाएँ **कामाय तुभ्यं**=कामना करने योग्य (कान्त) आपकी प्राप्ति के लिए पृथक्-पृथक् विषयों से पृथक् करके **येमिरे**=इन्द्रियों का नियमन करती हैं। (२) इन्द्रिय निरोध ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है, प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति स्वस्थ बनता है व स्वस्थ गतिवाला होता है।

भावार्थ—हम स्वस्थ गतिवाले बनकर प्रभुप्राप्ति के लिए इन्द्रियों का निरोध करनेवाले बनें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अह्मसद्याय (घर में रहने के लिए)

अग्निं धीभिर्मनीषिणो मेधिरासो विपश्चितः। अद्मसद्याय हिन्विरे॥ १९॥

(१) **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले, **मेधिरासः**=बुद्धिमान्, **विपश्चितः**=ज्ञानी पुरुष **धीभिः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों को करने के द्वारा **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को **अद्मसद्याय**=शरीररूप गृह में **सद्**=बैठना निवास के लिए **हिन्विरे**=प्रीणित करते हैं—प्रसन्न करते हैं, मनाते हैं। (२) जब मनीषी, मेधिर, विपश्चित, पुरुष ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तो प्रभु को शरीररूप गृह में निवास के लिए प्रेरित कर लेते हैं। इन मनीषियों के शरीरों में प्रभु का वास होता है।

भावार्थः—हम मन को वश में करें, बुद्धिमान बनें तथा विपश्चित् (ज्ञानी) हों। ऐसा बनकर ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त हों। तब प्रभु का हमारे हृदय में दर्शन होगा।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'वाजी-वह्नि' अग्नि

तं त्वामज्मेषु वाजिनं तन्वाना अग्ने अध्वरम्। वह्निं होतारमीळते॥ २०॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तं वह्निं**=उन सब कार्यों के वहन करनेवाले **होतारं**=सब कुछ देनेवाले **वाजिनं**=शक्तिशाली **त्वाम्**=आपको **अज्मेषु**=गृहों में **अध्वरं तन्वानाः**=यज्ञों का विस्तार करनेवाले लोग **ईडते**=उपासित करते हैं। (२) प्रभु की उपासना यज्ञों से होती है। उपासित प्रभु ही हमारे यज्ञ आदि कार्यों का वहन करते हैं, वे ही हमारे लिए सब आवश्यक साधनों को प्राप्त कराते हैं तथा शक्ति सम्पन्न करते हैं।

भावार्थः—हम घरों में यज्ञों का विस्तार करें। यही प्रभु की उपासना का प्रकार है। प्रभु ही हमें सब साधनों व शक्ति को प्राप्त कराके इन यज्ञों को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विशो विश्वा अनु प्रभुः

पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो अनु प्रभुः। समत्सु त्वा हवामहे॥ २१॥

(१) हे प्रभो! आप **पुरुत्रा**=सर्वत्र **हि**=ही **सदृङ् असि**=समान रूप से हैं। **विश्वाः**=सब **विशः अनु**=प्रजाओं के अनुकूलता से **प्रभुः**=स्वामी हैं, अर्थात् सबका समान रूप से कल्याण करनेवाले प्रभु हैं। (२) हम **समत्सु**=संग्रामों में व (स मद्) हर्षावसरों में **त्वा हवामहे**=आपको ही पुकारते हैं। आपके द्वारा ही तो इन संग्रामों में विजय व हर्षावसरों में संयम को पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र समान रूप से हैं। सब के अनुकूल स्वामी हैं। प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी करते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अग्निः विभ्राजते घृतैः

तमीळिष्व य आहुतोऽग्निर्विभ्राजते घृतैः। इमं नः शृणवद्धवम्॥ २२॥

(१) **तम्**=उस प्रभु को **ईडिष्व**=स्तुत कर **यः**=जो **आहुतः**=समन्तात् दानोंवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **घृतैः**=ज्ञानदीप्तियों व मलों के क्षरण से (घृ क्षरणदीप्त्योः) हृदय की निर्मलता से **विभ्राजते**=चमक उठते हैं। हम ज्ञान को बढ़ाएँ, मानसमलों को दूर करें तो अवश्य प्रभु के प्रकाश को देखेंगे। (२) वे प्रभु **नः**=हमारी **इमं हवं**=इस पुकार को **शृणवत्**=सुनें। प्रभु उसी पुरुष की पुकार को सुनते हैं जो अपने जीवन में घृत-ज्ञानदीप्ति व मलक्षरण (नैर्मल्य) को धारण करता है।

भावार्थ—प्रभु के दान चारों ओर विद्यमान हैं। इन प्रभु को हम ज्ञानदीप्ति व निर्मलता के द्वारा देख पाते हैं। ऐसा करने पर ही प्रभु हमारी पुकार को सुनते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

द्वेष का अप-हनन

तं त्वा वयं हवामहे शृण्वन्तं जातवेदसम्। अग्ने घ्नन्तमप द्विषः॥ २३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तं**=उन **शृण्वन्तं**=हमारी प्रार्थना को सुनते हुए **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ **त्वा**=आपको **वयं**=हम **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) उन आपको पुकारते हैं, जो **द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं को **अपघ्नन्तम्**=हमारे से सुदूर विनष्ट कर रहे हैं।

भावार्थः—प्रभु के आराधन से हमारी सब द्वेष की प्रवृत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः **देवता**—अग्निः **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

धर्मणाम् अध्यक्षम्

विशां राजानमद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम्। अग्निमीळे स उ श्रवत्॥ २४॥

(१) **इमम् अग्निम्**=इस अग्रणी प्रभु को **ईडे**=मैं स्तुत करता हूँ। **सः उ**=वे ही **श्रवत्**=मेरी प्रार्थना को सुनते हैं। (२) उस प्रभु का मैं ईडन करता हूँ जो **विशां राजानम्**=सब प्रजाओं के राजा (शासक) हैं। **अद्भुतम्**=अनुपम हैं। **धर्मणाम्**=सब धर्म कार्यों के अथवा धारणात्मक कर्मों के **अध्यक्षम्**=अध्यक्ष हैं। सब धर्मकार्य प्रभु की अध्यक्षता में ही सम्पन्न होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु ही सबके शासक, अनुपम व सब धर्म-कर्मों के अध्यक्ष हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः **देवता**—अग्निः **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

सप्तिं न

अग्निं विश्वायुवेपसं मर्यं न वाजिनं हितम्। सप्तिं न वाजयामसि॥ २५॥

(१) **अग्निं**=उस परमात्मा को हम **वाजयामसि**=निवेदन करते हैं व प्रार्थना करते हैं, जो **सप्तिं न**=हमारे लिए एक अश्व के समान हैं। घोड़ा हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचाता है—प्रभु को अपना आधार बनाकर भी हम लक्ष्यस्थान पर पहुँचते हैं। (२) उस प्रभु को हम आराधित करते हैं, जो **विश्वायुवेपसं** (विश्व आयु वेप्)=सब आक्रमण करनेवालों को कम्पित करनेवाले हैं ('एति' इति आयुः) काम-क्रोध आदि को हमारे से दूर करनेवाले हैं। **मर्यं न**=मनुष्यों के लिए हितकर के समान हैं। **वाजिनं**=शक्तिशाली हैं और **हितम्**=हितकर हैं अथवा सबके अन्दर स्थापित हैं।

भावार्थः—प्रभु हमारे सब शत्रुओं को कम्पित करनेवाले—मनुष्यमात्र के लिए हितकर व शक्तिशाली हैं। प्रभु को अपना आधार बनाकर के ही हम लक्ष्यस्थान पर पहुँचते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः **देवता**—अग्निः **छन्दः**—निचृद् गायत्री **स्वरः**—षड्जः

'मृध्र, द्विष्, राक्षस्' विनाश

घ्नन्मृध्राण्यप द्विषो दहन्रक्षांसि विश्वहा। अग्ने तिग्मेन दीदिहि॥ २६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **मृध्राणि**=हमारा हिंसन करनेवाले दास्यव भावों को **घ्नन्**=नष्ट करते हुए **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अप**=हमारे से दूर करते हुए तथा **विश्वहा**=सदा **रक्षांसि दहन्**=राक्षसी भावों को दग्ध करते हुए **तिग्मेन**=अपनी तीव्र ज्ञानज्योति से **दीदिहि**=हमारे में दीप्त होइए। (२) प्रभु की उपासना से सब हिंसक वासनाएँ विनष्ट हो जाती है—द्वेष दूर हो जाते हैं, राक्षसी भाव दग्ध हो जाते हैं। ऐसा होने पर प्रभु का प्रकाश हमारे में चमक उठता है।

भावार्थः—हिंसक शत्रुओं द्वेषों व राक्षसीभावों से ऊपर उठने के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु की उपासना करें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः **देवता**—अग्निः **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

मनुष्वत्

यं त्वा जनास इन्धते मनुष्वदङ्गिरस्तम। अग्ने स बोधि मे वचः॥ २७॥

(१) हे **अंगिरस्तम**=हमें अंग-प्रत्यंग में अधिक-से-अधिक रसमय बनानेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः**=वे आप **मे वचः**=मेरे प्रार्थनावचन को **बोधि**=जानिए। मेरी पुकार को आप सुनिए। (२) वे आप मेरी पुकार को सुनिए **यः**=जिन **त्वा**=आपको **जनासः**=लोग **मनुष्वत्**=विचारशील पुरुष की तरह **इन्धते**=अपने अन्दर दीप्त करते हैं। जितना-जितना हम विचारशील बनते हैं, उतना-उतना प्रभु को अपने में दीप्त कर पाते हैं।

भावार्थः-हम विचारशील बनकर प्रभु को अपने में देखने का प्रयत्न करें। प्रभु ही हमारी प्रार्थना को सुनते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दिविजाः, अप्सुजाः

यदग्ने दिविजा अस्यप्सुजा वा सहस्कृत। तं त्वा गीर्भिर्हवामहे॥ २८॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यद्**=जो आप **दिविजाः असि**=ज्ञानज्योति के होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले हैं। **वा**=अथवा **अप्सुजाः**=रेतःकणरूप जलों में प्रादुर्भूत होनेवाले हैं। प्रभु का प्रकाश उसी को दिखता है, जो ज्ञानज्योति को अपने अन्दर दीप्त करता है, तथा रेतःकणों का रक्षण करता हुआ ज्ञानाग्नि को समिद्ध करता है। (२) हे **सहस्कृत**=बल का हमारे में सम्पादन करनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको हम **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों से **हवामहे**=पुकारते हैं।

भावार्थ-प्रभु का दर्शन ज्ञानी व सोमरक्षक संयमी पुरुष को होता है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अत्तवे धासिं हिन्वन्ति

तुभ्यं घेत्ते जना इमे विश्वाः सुक्षितयः पृथक्। धासिं हिन्वन्त्यत्तवे॥ २९॥

(१) **इमे**=ये **ते**=वे **विश्वाः**=सब **सुक्षितयः**=उत्तम निवास व गतिवाले **जनाः**=मनुष्य **घा इत्**=निश्चय से **तुभ्यं**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **अत्तवे**=खाने के लिए **पृथक्**=अलग-अलग **धासिं**=धारणात्मक भोजन को **हिन्वन्ति**=प्रेरित करते हैं। (२) प्रभु प्राप्ति के लिए शरीर को स्वस्थ रखना भी आवश्यक है। शरीर के स्वास्थ्य के लिए धारणात्मक भोजन का ही करना ठीक है। यह भोजन शरीरों की प्रकृति के पार्थक्य के कारण पृथक्-पृथक् ही होगा। यह ठीक है कि भोजन का भी उद्देश्य शरीर के स्वास्थ्य के द्वारा प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ना ही होना चाहिए।

भावार्थ-उत्तम निवासवाले लोग भोजन को भी प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से शरीर को स्वस्थ रखने के लिए करते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

नृचक्षसः-स्वाध्यः

ते घेदग्ने स्वाध्योऽहा विश्वा नृचक्षसः। तरन्तः स्याम दुर्गहा॥ ३०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **घा इत्**=निश्चय से **ते**=आपका **स्वाध्यः**=उत्तम आध्यान करनेवाले, **विश्वा अहा**=सब दिनों अर्थात् सदा **नृचक्षसः**=सब मनुष्यों को देखनेवाले-उनका ध्यान करनेवाले-उनके हित के लिए कर्मों को करनेवाले हम **दुर् गहा**=कठिनता से पार करने योग्य शत्रु को **तरन्तः स्याम**=तैर जानेवाले हों। (२) काम-क्रोध आदि प्रबल भयंकर शत्रुओं को जीतने का यही मार्ग है कि हम प्रभु का ध्यान करें और सर्वहितकर कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—दु-र्गह शत्रुओं को भी ध्यान करनेवाले तथा लोकहित के कर्मों में लगे रहनेवाले लोग तैर जाते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'मन्द्र, पुरुप्रिय, शीर, पावकशोचिष्' अग्नि

अ॒ग्निं म॒न्द्रं पु॑रुप्रि॒यं शी॒रं पा॑व॒कशो॑चिषम्। हृ॒द्भिर्म॒न्द्रेभि॑रीमहे॥ ३१॥

(१) सबसे ऊँचा तप 'मनः प्रसाद' है। सो करते हैं कि **मन्द्रेभिः**=सदा आनन्द में रहनेवाले **हृद्भिः**=हृदयों से हम **अग्निं**=अग्रणी प्रभु की **ईमहे**=(याचामहे) प्रार्थना करते हैं। (२) उस प्रभु का आराधन करते हैं जो **मन्द्रं**=सदा आनन्दमय हैं। **पुरुप्रियं**=पालक व पूरक व प्रीणित करनेवाले हैं। **शीरं**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले हैं। **पावकशोचिषम्**=पवित्र दीप्तिवाले हैं। इनका आराधन करते हुए हम भी ऐसा ही बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रसादयुक्त हृदय से उस आनन्दमय-बुराइयों को समाप्त करनेवाले-पवित्र दीप्ति वाले प्रभु का उपासन करते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शर्धन् तमांसि जिघ्नसे

स त्वम॑ग्ने वि॒भाव॑सुः सृ॒जन्त्सूर्यो॒ न र॒श्मिभिः॑। शर्ध॒न्तमां॑सि जिघ्नसे॥ ३२॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सः त्वं**=वे आप **विभावसुः**=ज्योतिरूप धनवाले हैं। **सृजन् सूर्यः**=उदय होता हुआ सूर्य **न**=जैसे **रश्मिभिः**=किरणों से अन्धकार का नाश करता है। उसी प्रकार आप **शर्धन्**=बल को करते हुए-शत्रुनाशक शक्ति को उत्पन्न करते हुए **तमांसि**=सब अज्ञानान्धकारों को **जिघ्नसे**=नष्ट करते हैं। (२) प्रभु सूर्य हैं। सूर्य का उदय हुआ और अन्धकार गया। इसी प्रकार प्रभु का प्रकाश होते ही सब वासनान्धकार विलीन हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु विभावसु हैं। प्रभु के उदय होते ही वासना व अविद्या के अन्धकार का विनाश हो जाता है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'दात्रं वार्यं वसु'

तत्ते॑ सहस्व ईमहे दा॒त्रं यन्नोप॒दस्य॑ति। त्वद॑ग्ने॒ वार्यं॒ वसु॑॥ ३३॥

(१) हे **सहस्वः**=बलवान् **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! हम **ते**=आपके **तत्**=उस **दात्रं**=दातव्य धन को **ईमहे**=माँगते हैं **यत्**=जो **न उपदस्यति**=कभी क्षीण नहीं होता अथवा हमारी क्षीणता का वह धन कारण नहीं बनता। (२) हे अग्ने! **त्वत्**=आपसे हमें **वार्यं वसु**=वरणीय धन ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से हम वरणीय, दान देने योग्य धन को प्राप्त करते हैं।

अगले सूक्त के ऋषि भी 'विरूप आङ्गिरस' ही हैं—

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'समिधा, घृत, हव्य' से प्रभुपूजन

स॒मिधा॒ग्निं दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒तात॑िथिम्। आस्मि॑न्ह॒व्या जु॑होतन॥ १॥

(१) **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **अग्निं**=उस प्रकाशमय प्रभु का **दुवस्यत**=पूजन करो। **घृतैः**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तियों से **अतिथिम्**=निरन्तर गतिशील उस प्रभु को **बोधयत**=अपने में जगाओ। (२) **अस्मिन्**=इस प्रभु की प्राप्ति के निमित्त **हव्या आजुहोतन**=हव्य पदार्थों को ही अपने में ही आहुत करो, अर्थात् पवित्र यज्ञिय पदार्थों का ही सेवन करो।

भावार्थ–प्रभु प्राप्ति के लिए तीन उपाय हैं–(१) अपने अन्दर ज्ञानदीप्ति का वर्धन करना, (२) मानसमलों को अपने से दूर करना (इन मलों का क्षरण), (३) हव्य पदार्थों का सेवन करना।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'स्तोम-मन्म—सूक्त'

अग्ने स्तोमं जुषस्व मे वर्धस्वानेन मन्मना। प्रति सूक्तानि हर्य नः॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मे**=मेरे से किये जानेवाले **स्तोमं**=स्तुतिसमूह को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। मेरे से किये जानेवाले ये स्तुतिसमूह मुझे आपका प्रिय बनाएँ। **अनेन**=इस **मन्मना**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तोम से **वर्धस्व**=आप मेरे अन्दर बढ़िये। आपके लिए उच्चरित ये 'मन्म' मेरे में आपके भावों को बढ़ानेवाले हों। ये मन्म दिव्यता के वर्धन का कारण बनें। (२) **नः**=हमारे **सूक्तानि**=सूक्तों को–उत्तम गुण प्रतिपादक वचनों को **प्रतिहर्य**=आप प्रतिदिन चाहें–आपके लिए ये सूक्त इष्ट हों।

भावार्थ–हम 'साम' द्वारा प्रभु के स्तोमों का उच्चारण करें। यजुर्मन्त्रों द्वारा प्रभु के मन्मों को करनेवाले बनें और ऋचाओं द्वारा सूक्तों का उच्चारण करें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'दूत-हव्यवाट्' प्रभु

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ आ सादयादिह॥ ३॥

(१) मैं **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को **दूतं**=ज्ञानसन्देश को प्राप्त करानेवाले के रूप में **पुरः दधे**=सदा सामने स्थापित करता हूँ–प्रभु को कभी विस्मृत नहीं करता। **हव्यवाहम्**=सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभु से मैं **उपब्रुवे**=प्रार्थना करता हूँ–सब हव्यों को प्राप्त कराने के लिए प्रभु को पुकारता हूँ। (२) ये प्रभु कृपा करके **इह**=इस जीवन में **देवान्**=सब दिव्य गुणों को **आसादयात्**=बिठाएँ–स्थापित करें।

भावार्थः–प्रभु ज्ञानसन्देश को प्राप्त करानेवाले हैं, प्रभु ही सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु के अनुग्रह से ही हमारा जीवन दिव्यगुणसम्पन्न बनता है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'बृहन्तः शुक्रासः' अर्चयः

उत्ते बृहन्तो अर्चयः समिधानस्य दीदिवः। अग्ने शुक्रास ईरते॥ ४॥

(१) हे **दीदिवः**=प्रकाशमय प्रभो! **समिधानस्य**=हृदय देश में समिद्ध किये जाते हुए **ते**=आपके **बृहन्तः**=वृद्धि की कारणभूत **अर्चयः**=ज्ञानज्वालाएँ **उद् ईरते**=उद्गत होती है। हृदय में प्रभु का ध्यान करने पर हृदय ज्ञानज्वालाओं से उज्ज्वल हो उठता है। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आपके उपासन से **शुक्रासः**=चमकती हुई ज्ञानदीप्तियाँ उद्गत होती हैं।

भावार्थ–हृदय में प्रभु का ध्यान हृदय को ज्ञानदीप्तियों से उज्ज्वल कर देता है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

स्तवन व हव्य पदार्थों का सेवन

उप॑ त्वा जु॒ह्वो॒३॒॑ मम॑ घृ॒ताची॑र्यन्तु हर्यत। अग्ने॑ ह॒व्या जु॑षस्व नः॥ ५॥

(१) हे **हर्यत**=कमनीय प्रभो! **मम**=मेरी **घृताचीः**=ज्ञानदीप्ति को प्राप्त होनेवाली **जुह्वः**=वाणियाँ **त्वा उपयन्तु**=आपको समीपता से प्राप्त हों। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **नः**=हमारे लिए **हव्या**=हव्य पदार्थों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कराइए। हम हव्य पदार्थों का ही सेवन करें।

भावार्थ—हम प्रभु का ज्ञानदीप्तवाणियों द्वारा स्तवन करें और हव्य पदार्थों का ही सेवन करें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'मन्द्र-विभावसु' प्रभु

म॒न्द्रं होता॑रमृ॒त्विजं॑ चि॒त्रभा॑नुं वि॒भाव॑सुम्। अ॒ग्निमी॑ळे॒ स उ॑ श्रवत्॥ ६॥

(१) मैं **अग्निं**=उन अग्रणी प्रभु को **ईडे**=उपासित करता हूँ। **सः उ**=वे ही **श्रवत्**=मेरी प्रार्थना को सुनते हैं। (२) वे प्रभु **मन्द्रं**=आनन्दमय हैं। **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले हैं। **ऋत्विजम्**=हमारे जीवन यज्ञों के ऋत्विक् हैं। **चित्रभानुं**=अद्भुत दीप्तिवाले हैं। **विभावसुम्**=ज्ञानदीप्तिरूप धनवाले हैं।

भावार्थः—प्रभु का आराधन हमें 'आनन्द व ज्ञानधन' को प्राप्त कराता है। हमारी सब प्रार्थनाएँ प्रभुद्वारा सुनी जाती हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अध्वराणामभिश्रियम्

प्र॒त्नं होता॑रमीड्यं॒ जुष्ट॑म॒ग्निं क॒विक्र॑तुम्। अ॒ध्व॒राणा॑मभि॒श्रिय॑म्॥ ७॥

(१) मैं उस प्रभु का स्तवन करता हूँ जो **प्रत्नं**=सनातन हैं—सदा से हैं, पुराण पुरुष हैं। **होतारं**=सब कुछ देनेवाले हैं। **ईड्यं**=स्तुति के योग्य हैं। **जुष्टं**=प्रीतिपूर्वक सेवित होते हैं। **अग्निम्**=अग्रणी हैं। **कविक्रतुम्** (कविश्चासौ क्रतुञ्च)=क्रान्तदर्शी व शक्ति के पुञ्ज हैं। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ जो **अध्वराणाम् अभिश्रियम्**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के अन्दर निवास करनेवाले हैं। जहाँ यज्ञ हैं, वहीं प्रभु का वास है।

भावार्थ—हम उस पुराण पुरुष का उपासन करें। वे प्रभु ही सब कुछ देनेवाले, स्तुत्य, सेवनीय, अग्रणी, क्रान्तदर्शी व शक्तिपुञ्ज हैं। प्रभु का निवास वहीं होता है, जहाँ यज्ञों का उपक्रम हो।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

निरन्तर हव्य पदार्थों का सेवन

जु॒षा॒णो अ॑ङ्गिरस्तमे॒मा ह॒व्यान्या॑नु॒षक्। अग्ने॑ य॒ज्ञं न॑य ऋतु॒था॥ ८॥

हे **अंगिरस्तम**=प्राणों के प्राण **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **इमा**=इन **हव्यानि**=हव्य पदार्थों का पवित्र सात्त्विक पदार्थों का **आनुषक्**=निरन्तर **जुषाणः**=सेवन कराते हुए आप **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **यज्ञं नय**=हमारे जीवनयज्ञ को आगे और आगे ले-चलनेवाले होइए।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा से हम सदा सात्त्विक पदार्थों का सेवन करनेवाले बनें। यह सात्त्विक पदार्थों को सेवन ही हमारे जीवनयज्ञ की पूर्ति का साधन होगा।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'संभजनीय व उज्ज्वल ज्ञानदीप्तिवाले' प्रभु

समिधान उ सन्त्य शुक्रशोच इहा वह। चिकित्वान्दैव्यं जनम्॥ ९॥

(१) हे **सन्त्य**=संभजनीय, **शुक्रशोचे**=देदीप्यमान ज्ञानदीप्तिवाले प्रभो! **समिधानः उ**=हृदयदेश में समिध्यमान होते हुए ही **चिकित्वान्**=ज्ञानी आप **इह**=इस जीवनयज्ञ में **दैव्यं जनं**=देव की ओर जा रहे मनुष्य को (प्रभु के उपासक को) **आवह**=प्राप्त कराइए। (२) प्रभु की कृपा से हमारा सम्पर्क दिव्य प्रवृत्तिवाले लोगों से हो। इनके सम्पर्क में हम प्रभु के संभजनवाले, उज्ज्वल ज्ञानदीप्तिवाले बनेंगे और इस प्रकार यह जीवनयज्ञ बड़ी सुन्दरता से पूर्ण होगा।

भावार्थः—सत्संग से हम प्रभु के उपासक व उज्ज्वल ज्ञानदीप्तिवाले बनें। इस प्रकार इस जीवनयज्ञ को पवित्रता से पूर्ण करें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'विप्र-विभावसु' प्रभु

विप्रं होतारमद्रुहं धूमकेतुं विभावसुम्। यज्ञानां केतुमीमहे॥ १०॥

(१) **यज्ञानां**=सब यज्ञों के **केतुं**=प्रकाशक (प्रज्ञापक) प्रभु से **ईमहे**=याचना करते हैं। उस प्रभु से याचना करते हैं, जो **विप्रं**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। (२) वे प्रभु **होतारं**=सब कुछ देनेवाले हैं। **अद्रुहं**=द्रोहशून्य हैं। **धूमकेतुं**=वासनाओं को प्रकम्पित करनेवाले ज्ञान को देनेवाले हैं। **विभावसुम्**=ज्योतिरूप धनवाले हैं।

भावार्थ—यज्ञों के प्रकाशक प्रभु से हम यही याचना करते हैं, वे हमें शक्ति दें कि हम अपना पूरण करते हुए दानशील, द्रोहशून्य व ज्ञान द्वारा वासनाओं को कम्पित करनेवाले ज्ञानमय बन पाएँ।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु की उपासना व निर्द्वेषता

अग्ने नि पाहि नस्त्वं प्रति ष्म देव रीषतः। भिन्धि द्वेषः सहस्कृतः॥ ११॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वं**=आप **नः**=हमें **प्रतिरीषतः**=प्रत्येक हिंसक शत्रु से—काम, क्रोध, लोभ आदि अन्तःशत्रुओं से **निपाहि स्म**=निश्चय से रक्षित करिये। (२) हे **सहस्कृतः**=बल का सम्पादन करनेवाले प्रभो! आप **द्वेषः भिन्धि**=सब द्वेष की भावनाओं का विदारण करिये। आपकी प्रेरणा से हमारा जीवन निर्द्वेष बने।

भावार्थ—प्रभु हमें हिंसक काम-क्रोध आदि शत्रुओं से बचाएँ। हमें द्वेष से दूर करें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु आत्मा हों, हम प्रभु के शरीर

अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस्तन्वं१ स्वाम्। कविर्विप्रेण वावृधे॥ १२॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **प्रत्नेन मन्मना**=सनातन वेदरूप ज्ञानज्योति से **स्वाम् तन्वम्**=अपने शरीरभूत इस जीव को **शुम्भानः**=शोभित करते हैं। हमारे अन्दर प्रभु का वास है। सो हम प्रभु के शरीररूप हैं। प्रभु इस शरीर को सनातन ज्ञानज्योति से सुशोभित करते हैं। जो भी प्रभु का शरीर बनेगा, वह ज्ञानज्योति से दीप्त जीवनवाला बनेगा। (२) ये **कविः**=क्रान्तदर्शी—सर्वज्ञ प्रभु **विप्रेण**=ज्ञानी पुरुष से **वावृधे**=स्तुतियों के द्वारा बढ़ाए जाते हैं। प्रभु का स्तवन करता हुआ यह ज्ञानी अपने अन्दर

प्रभु की दिव्यता को धारण करता है। यही प्रभु का वर्धन है।

भावार्थ—हम अपने अन्दर प्रभु को बिठावें। प्रभु हमें ज्ञानदीप्त बनाएँगे। इस प्रकार हमें दिव्यता प्राप्त होगी।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ऊर्जोनपातम्-पावकशोचिषम्

ऊर्जो नपा॑तमा हु॑वेऽग्निं पा॑व॒कशो॑चिषम्। अ॒स्मिन्य॒ज्ञे स्व॑ध्व॒रे॥ १३॥

(१) मैं **अस्मिन्**=इस **स्वध्वरे**=उत्तम हिंसारहित कर्मोंवाले **यज्ञे**=जीवनयज्ञ में **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को **आहुवे**=पुकारता हूँ—प्रभु से याचना करता हूँ। (२) वे प्रभु **ऊर्जो नपातं**=हमारी शक्ति को विनष्ट नहीं होने देते। **पावकशोचिषम्**=प्रभु पवित्र ज्ञानदीप्तिवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें शक्तिसम्पन्न व पवित्र ज्ञानदीप्तिवाला बनाएगा।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'मित्रमहाः' अग्नि

स नो॑ मित्रमहु॒स्त्वमग्ने॑ शु॒क्रेण॑ शो॒चिषा॑। दे॒वैरा स॑त्सि ब॒र्हिषि॑॥ १४॥

हे **मित्रमहः**=प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले तेजवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **शुक्रेण शोचिषा**=बड़ी उज्ज्वल ज्ञानदीप्ति के साथ तथा **देवैः**=दिव्य गुणों के साथ **नः**=हमारे **बर्हिषि**=हृदयान्तरिक्ष में **आसत्सि**=आसीत होइए।

भावार्थः—प्रभु की कृपा से हमें ज्ञान व दिव्य गुण प्राप्त हों। प्रभु का तेज हमें मृत्यु से बचानेवाला हो।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तस्मा इद् दीदयद् वसु

यो अ॒ग्निं त॒न्वो॑३ दमे॑ दे॒वं मर्तः॑ सप॒र्यति॑। तस्मा॒ इद्दी॑दय॒द्वसु॑॥ १५॥

यः=जो **मर्तः**=मनुष्य **देवं अग्निं**=उस प्रकाशमय अग्रणी प्रभु को **तन्वः दमे**=इस शरीर के घर में, अर्थात् शरीररूप गृह में **सपर्यति**=पूजता है, **तस्मा**=उसके लिए **इत्**=निश्चय से वे प्रभु **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धनों को दीदयत्=देते हैं।

भावार्थः—प्रभु उपासक के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराते ही हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अग्नि=प्रगतिशील जीव

अ॒ग्निर्मू॒र्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्या अ॒यम्। अ॒पां रेतां॑सि जिन्वति॥ १६॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जो अपने शरीरगृह में प्रभु का उपासन करता है वह **अग्निः**=अपने को आगे और आगे प्राप्त कराता है। आगे बढ़ता हुआ यह **मूर्धा**=शिखर पर पहुँचता है। **दिवः ककुत्**=यह ज्ञान के शिखर पर होता है—ज्ञानियों में श्रेष्ठ बनता है। **अयं**=यह **पृथिव्याः पतिः**=इस शरीररूप पृथिवी का स्वामी होता है। (२) यह सब कुछ इसलिए कर पाता है क्योंकि यह **अपां**=जलों के साथ सम्बद्ध **रेतांसि**=शरीरस्थ रेतःकणों को (आपः रेतो भूत्वा) **जिन्वति**=शरीर में ही प्रेरित करता है। प्राणायाम आदि साधनों के द्वारा यह इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगतिवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासन से (क) आगे बढ़ते हुए शिखर पर पहुँचे (ख) ज्ञान के शिखर पर हों (ग) शरीर के रक्षक हों (घ) रेतःकणों को शरीर में ही ऊपर प्रेरित करनेवाले बनें।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञानज्वाला+तेजस्विता

उद॑ग्ने॒ शुच॑य॒स्तव॑ शु॒क्रा भ्राज॑न्त ईरते। तव॒ ज्योतीं॑ष्य॒र्चयः॑॥ १७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तव**=आपकी **शुचयः**=पवित्र **शुक्राः**=दीप्त **अर्चयः**=ज्ञान-ज्वालाएँ **भ्राजन्तः**=चमकती हुईं तब **ज्यतेती षि**=तेरी ज्योतियों को—तेजस्विताओं को **उदीरते**=उद्गत करती हैं। (२) जब हम प्रभु की उपासना करते हैं, तो हमारे जीवनों में प्रभु की ज्ञानज्योतियाँ व तेजस्विताएँ चमक उठती हैं।

भावार्थ—उपासक के जीवन में प्रभु की पवित्र ज्ञानज्वालाएँ व तेजस्विता में चमक आती हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु की शरण में

ईशि॑षे॒ वार्य॑स्य॒ हि दा॒त्रस्या॑ग्ने॒ स्व॑र्पतिः। स्तो॒ता स्यां॒ तव॒ शर्म॑णि॥ १८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **हि**=निश्चय से **वार्यस्य**=वरणीय **दात्रस्य**=दातव्य धन के **ईशिषे**=ईश हैं। आप ही सबके लिए वरणीय धनों को प्राप्त कराते हैं। हे अग्ने! आप **स्वः पतिः**=प्रकाश के स्वामी हैं—प्रकाश के द्वारा सुख के रक्षक हैं। (२) **स्तोता**=आपका स्तवन करनेवाला मैं **तव शर्मणि**=आपकी शरण में **स्याम्**=सदा होऊँ। आपकी छत्र-छाया मुझे सदा प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु ही वरणीय धनों को देते हैं। प्रभु ही प्रकाश व सुख के रक्षक हैं। स्तोता को सदा प्रभु की शरण प्राप्त होती है।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

चित्तिभिः

त्वाम॑ग्ने मनी॒षिण॒स्त्वां हि॑न्वन्ति॒ चित्ति॑भिः। त्वां व॑र्धन्तु नो॒ गिरः॑॥ १९॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **मनीषिणः**=मन को वश में करनेवाले समझदार उपासक **त्वां**=आपको, और **त्वां**=आपको ही **चित्तिभिः**=भक्ति के द्वारा **हिन्वन्ति**=प्रीणित करते हैं। (२) हे प्रभो! **नः**=हमारी **गिरः**=ये स्तुतिवाणियाँ **वर्धन्तु**=आपका वर्धन करें। इन स्तुतिवाणियों के द्वारा हम आपके गुणों का सर्वत्र प्रख्यापन करें।

भावार्थ—समझदार मनुष्य भक्ति द्वारा प्रभु को प्रीणित करते हैं। स्तुतिवाणियों द्वारा प्रभु की महिमा का ही सर्वत्र वर्धन करते हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु की मित्रता में

अद॑ब्धस्य स्व॒धाव॑तो दू॒तस्य॒ रेभ॑तः॒ सदा॑। अ॒ग्नेः स॒ख्यं वृ॑णीमहे॥ २०॥

(१) हम **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु की **सख्यं**=मित्रता को **वृणीमहे**=वरते हैं। प्रभु की मित्रता ही वास्तविक मित्रता है। (२) उस प्रभु की मित्रता को हम **सदा**=सदा वरते हैं जो **अदब्धस्य**=

अहिंसित हैं, **स्वधावतः**=आत्म धारणशक्तिवाले हैं—किसी अन्य से प्रभु का धारण नहीं होता, **दूतस्य**=जो ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं तथा **रेभतः**='ऋग्, यजु, साम' रूप तीनों वाणियों का उच्चारण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की मित्रता का वरण करें। इस मित्रता से हम काम-क्रोध आदि से हिंसित न होंगे, अपना धारण स्वयं कर पाएँगे, तथा प्रभु के ज्ञान-सन्देश को सुन पाएँगे। हमारा जीवन 'ज्ञान-कर्म-उपासना' से युक्त होगा।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'शुचिव्रततम' प्रभु

अ॒ग्निः शुचि॑व्रततम॒: शुचि॒र्विप्र॒: शुचि॑: क॒विः । शुची॑ रोचत॒ आहु॑तः ॥ २१ ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **रोचते**=दीप्त होते हैं। ये प्रभु **शुचिव्रततमः**=अत्यन्त पवित्र व्रतोंवाले हैं। **शुचिः**=पवित्र हैं, **विप्रः**=ज्ञानी हैं। **शुचिः**=पवित्र हैं, व **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ हैं। (२) ये **शुचिः**=पवित्र कर्मोंवाले हैं। पवित्र ज्ञानवाले हैं। पवित्र दानोंवाले हैं।

भावार्थ—राष्ट्र का नायक अत्यन्त पवित्र कर्मों को करनेवाला, पवित्र बुद्धिवाला तथा दूरदर्शी हो।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

धीतयः-गिरः

उ॒त त्वा॑ धी॒तयो॒ मम॒ गिरो॑ वर्धन्तु वि॒श्वहा॑ । अग्ने॑ स॒ख्यस्य॑ बोधि नः ॥ २२ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **उत**=और **मम**=मेरे **धीतयः**=कर्म तथा **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **विश्वहा**=सदा **त्वा वर्धन्तु**=आपका वर्धन करें। हम कर्मों के द्वारा आपका पूजन करें और स्तुतिवाणियों द्वारा आपके गुणों का प्रतिपादन करें। (२) हे अग्ने! आप **नः**=हमारे **सख्यस्य**=मित्रभाव को **बोधि**=जानिये। हम सदा आपकी मैत्री में सब व्यवहारों को करनेवाले हों।

भावार्थ—हम कर्मों व स्तुतिवाणियों के द्वारा प्रभु का अपने में वर्धन करें। हे प्रभो! हमें आपकी मित्रता सदा प्राप्त हो।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तू मैं, मैं तू

यद॑ग्ने॒ स्याम॒हं त्वं त्वं वा॑ घा॒ स्या अ॒हम् । स्युष्टे॑ स॒त्या इ॒हाशिष॑: ॥ २३ ॥

(१) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **यद्**=यदि **अहं**=मैं **त्वं स्याम्**=तू हो जाऊँ, **वा**=और **त्वं**=तू **घा**=निश्चय से **अहं स्याम्**=मैं हो जाऊँ, तो **ते आशिषः**=आपके सब आशीर्वाद **इह**=यहाँ **सत्याः स्युः**=सत्य हो जाएँ। (२) जीवनयात्रा में सर्वोच्च स्थिति यही है कि हम प्रभु से मिल जाएँ। 'मैं प्रभु, व प्रभु मैं' हो जाना ही अद्वैत हैं। यही स्थिति पूर्ण निर्भीकता की स्थिति है।

भावार्थ—हम अपने को प्रभु से एक करने का प्रयत्न करें। ऐसा होने पर सब मंगल कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'वसु, वसुपति, विभावसु' वसु

वसु॒र्वसु॑पति॒र्हि क॒मस्य॑ग्ने वि॒भाव॑सुः । स्याम॑ ते सुम॒ताव॒पि ॥ २४ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **वसुः**=सबको बसानेवाले हैं। **वसुपतिः**=सब धनों के स्वामी है। **हि**=निश्चय से **कं**=आनन्दमय **असि**=हैं। **विभावसुः**=दीप्ति रूप धनवाले हैं। (२) हम **ते**=आपकी **सुमतौ**=कल्याणी मति में **अपि स्याम**=ही हों। हमारे पर प्रभु का सदा अनुग्रह बना रहे।

भावार्थ—प्रभु सबको बसानेवाले, सब धनों के स्वामी, दीप्ति रूप धनवाले हैं। उस आनन्दमय प्रभु की कल्याणी मति में हमारा निवास हो।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः **देवता**—अग्निः **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

अनायास (स्वाभाविक) स्तवन

अग्ने धृतव्रताय ते समुद्रायेव सिन्धवः। गिरो वाश्रास ईरते॥ २५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **धृतव्रताय**=सब व्रतों का धारण करनेवाले **ते**=तेरे लिए **वाश्रासः**=आपके गुणों व कर्मों का प्रतिपादन करनेवाली **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **ईरते**=इस प्रकार प्रेरित होती हैं, **इव**=जैसे **सिन्धवः**=नदियाँ **समुद्राय**=समुद्र के लिए।

भावार्थ—एक स्तोता कहता है कि हे प्रभो! आपकी स्तुतियाँ अनायास ही मेरे हृदय में उठती हैं। मैं स्तुति के स्वभाववाला ही हो जाता हूँ, जैसे नदियाँ समुद्र की ओर जाने के स्वभाववाली होती हैं।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः देवता—अग्निः **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

अग्निं शुम्भामि मन्मभिः

युवानं विश्पतिं कविं विश्वादं पुरुवेपसम्। अग्निं शुम्भामि मन्मभिः॥ २६॥

(१) **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को **मन्मभिः**=मननीय स्तोतों से **शुम्भामि**=अपने अन्दर शोभित करता हूँ। प्रभु-स्तवन करता हुआ प्रभु के गुणों को अपने जीवन में धारण करने का प्रयत्न करता हूँ। (२) जो प्रभु **युवानं**=सब बुराइयों को पृथक् करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ जोड़नेवाले हैं। **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं। **कविं**=क्रान्तप्रज्ञ हैं। **विश्वादं**=सम्पूर्ण विश्व का अपने अन्दर आदान करनेवाले हैं और **पुरुवेपसम्**=पालक व पूरक कर्मों को करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए हम प्रभु के गुणों को अपने जीवन में धारण के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः **देवता**—अग्निः **छन्दः**—यवमध्यागायत्री **स्वरः**—षड्जः

'यज्ञों के रथी' प्रभु

यज्ञानां रथ्ये वयं तिग्मजम्भाय वीळवे। स्तोमैरिषेमाग्नये॥ २७॥

(१) **वयं**=हम **स्तोमैः**=स्तोत्रों के द्वारा **अग्नये**=उस अग्रणी प्रभु के लिए **इषेम**=जानेवाले हों। स्तोत्रों को करते हुए-उन स्तुत्यगुणों के अपने में धारण करते हुए-प्रभु के समीप और समीप होने चलें। (२) जो प्रभु **यज्ञानां रथ्ये**=यज्ञों के प्रणेता हैं। **तिग्मजम्भाय**=तीक्ष्ण दंष्ट्राओं वाले हैं-तीक्ष्ण वशकारी साधनों से सम्पन्न हैं। **वीडवे**=बलवान् हैं।

भावार्थः—यज्ञों के प्रणेता प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी यज्ञशील हों और प्रभु के समीप और अधिक समीप होते जाएँ।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तुति द्वारा तल्लीनता

अयमग्ने त्वे अपि जरिता भूतु सन्त्य। तस्मै पावक मृळय॥ २८॥

(१) हे **सन्त्य**=संभजनीय **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अयं जरिता**=यह स्तोता **त्वे अपि**=आप में ही **भूतु**=हो जाए। आपके स्तवन में निमग्न हुआ-हुआ आप में ही लीन हुआ-हुआ हो जाएँ। (२) हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **तस्मै**=उस स्तोता के लिए **मृडय**=आप सुख को करनेवाले होइये।

भावार्थ—हम उस संभजनीय प्रभु का स्तवन करते हुए स्तुति में लीन हो जाएँ और प्रभु के अनुग्रह-पात्र बन पाएँ।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—ककुम्मतीगायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सदा जागृविः

धीरो ह्यस्यद्मसद्विप्रो न जागृविः सदा। अग्ने दीदयसि द्यवि॥ २९॥

(१) हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **धीर असि**=(धियं राति) हमारे लिए बुद्धि को देनेवाले हैं। **अद्म सत्**=हमारे इस शरीररूप गृह में रहनेवाले हैं। **विप्रः न**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले के समान **जागृविः सदा**=सदा जागरणशील हैं। हमारी न्यूनताओं को दूर करने में सदा तत्पर हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **द्यवि**=अपने प्रकाशमय स्वरूप में **दीदयसि**=सदा दीप्त हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम बुद्धि सम्पन्न होकर अपने में प्रकाश को बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दुरितों व मृध्रों से बचाव

पुराग्ने दुरितेभ्यः पुरा मृध्रेभ्यः कवे। प्र ण आयुर्वसो तिर॥ ३०॥

(१) हे **वसो**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले प्रभो! आप **नः आयुः**=हमारे जीवन को **प्रतिर**=बढ़ाइए। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **दुरितेभ्यः पुरा**=पूर्व इसके कि हम दुरितों में चले जाएँ आप हमारे जीवन को उन्नत करें। इसी प्रकार हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन् प्रभो! **मृध्रेभ्यः पुरा**=पूर्व इसके कि हम हिंसक काम-क्रोध आदि शत्रुओं का शिकार हो जाएँ, आप हमारे आयुष्य को बढ़ाएँ।

भावार्थ—प्रभु के कृपापात्र बनकर हम दुरितों व मृध्रों (हिंसक शत्रुओं) का शिकार न होकर दीर्घजीवनवाले बनें।

इस प्रकार प्रभुरक्षण में हम 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' बनें (शुच दीप्तौ) 'काण्व' समझदार हों। यह 'त्रिशोक काण्व' इन्द्र का उपासन करता है:—

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्राग्नी॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा॥ १॥

(१) **ये**=जो **घा**=निश्चय से **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **आ इन्धते**=अपने अन्दर दीप्त

करते हैं, वे **आनुषक्**=निरन्तर **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयासन को **स्तृणन्ति**=बिछाते हैं-अर्थात् हृदय को पवित्र कर पाते हैं। (२) ये वे होते हैं **येषां**=जिनका **इन्द्रः**=यह शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **युवा**=सब बुराइयों को पृथक् करनेवाला **सखा**=मित्र होता है।

भावार्थ-हम प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। हृदय को पवित्र बनाएँ। यही प्रभु की मित्रता की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

इध्मः+शस्तं+स्वरुः

बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः। येषामिन्द्रो युवा सखा॥ २॥

(१) **येषां**=जिनका **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **युवा**=बुराइयों को दूर करनेवाला **सखा**=मित्र होता है, **एषां**=इन उपासकों की **इध्मः**=ज्ञानदीप्ति **इत्**=निश्चय से **बृहन् इत्**=खूब बढ़ी हुई होती हैं, प्रभु की मित्रता में ज्ञान की वृद्धि होती है। (२) इस मित्रता में **शस्तं भूरि**=प्रशस्त कर्म पालन व पोषण करनेवाले होते हैं, अथवा यह खूब प्रशस्त कर्मों को करनेवाला बनता है और **स्वरुः**=(स्वृ उपतापे) इनका शत्रु-संतापन का कार्य **पृथुः**=अतिशयेन विशाल होता है।

भावार्थ-प्रभु की मित्रता में (क) ज्ञान बढ़ता है, (ख) प्रशस्त कर्म हमारा भरण करते हैं (ग) हम काम-क्रोध आदि को सन्तप्त करके दूर कर पाते हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

शत्रु पराजय

अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः। येषामिन्द्रो युवा सखा॥ ३॥

(१) **येषां**=जिनका **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **युवा**=बुराइयों को दूर करनेवाला **सखा**=मित्र होता है, वह **अयुद्धः इत्**=योधा न होता हुआ भी **शूरः**=शूर बनता है और **युधावृतं**=योद्धाओं से घिरे प्रबल शत्रु को भी **सत्वभिः**=व्रतों के द्वारा **आ अजति**=समन्तात् उखाड़ फेंकता है। (२) प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर यह काम-क्रोध-लोभ आदि प्रबल शत्रुओं को भी पराजित करनेवाला होता है।

भावार्थः-प्रभु की मित्रता में कोई भी शत्रु हमारे लिए अजेय नहीं होता।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

वीर सन्तानों का जन्म

आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छद्वि मातरम्। क उग्राः के ह शृण्विरे॥ ४॥

(१) प्रभु के उपासकों के घरों में वीर सन्तानों का ही जन्म होता है। ऐसा सन्तान **वृत्र-हा**=वासना को विनष्ट करनेवाला होता है। यह **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ ही **बुन्दं**=इषु को (बाण को) **आददे**=ग्रहण करत है और **मातरं वि पृच्छद्**=माता से पूछता है कि **के के उग्रः**=कौन-कौन तेज स्वभाववाले-अत्याचार करनेवाले **ह**=निश्चय से **शृण्विरे**=सुने जाते हैं। (२) यहाँ काव्यमय भाषा में कहते हैं कि यह वृत्रहा सन्तान जन्म से ही वीरता की भावना से ओत-प्रोत होता है। इसके अन्दर शत्रुविनाश की भावना ओत-प्रोत होती है।

भावार्थः-एक वीर सन्तान जन्म से ही वीरता की भावना को लिए हुए अत्याचारियों के दमन के लिए उत्साह सम्पन्न होता है।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शवसी (माता)

प्रति त्वा शवसी वदद्गिरावप्सो न योधिषत्। यस्ते शत्रुत्वमाचके॥ ५॥

(१) हे इन्द्र! **शवसी**=बलवती माता, गतमन्त्र से वर्णित प्रश्न को सुनकर **त्वा प्रतिवदत्**=तेरे प्रति कहती है **यः**=जो **ते**=तेरे **शत्रुत्वम् आचके**=शत्रुत्व की कामना करता है, उसके साथ तू **गिरौ**=पर्वत पर **अप्सः न**=(अप्सु सरति) जल संचारी विद्युत् के समान **योधिषत्**=युद्ध कर। उस शत्रु पर ऐसे आक्रमण कर जैसे पर्वत पर विद्युत् का आक्रमण होता है। बिजली गिरती है और पत्थर छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसी प्रकार तू शत्रुओं पर आक्रमण कर और शत्रु छिन्न-भिन्न हो जाएँ।

भावार्थः—वीर माता सन्तान को उत्साहित करती हुई कहती है कि शत्रुओं पर तेरा आक्रमण इस प्रकार हो जैसे पर्वत पर विद्युत् पतन।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कामना की पूर्ति व बल की प्राप्ति

उत त्वं मघवञ्छृणु यस्ते वष्टि ववक्षि तत्। यद्वीळयासि वीळु तत्॥ ६॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं**=आप **उत शृणु**=हमारी प्रार्थना को अवश्य सुनिए। **यः**=जो स्तोता **ते वष्टि**=आपसे जिस वस्तु की कामना करता है, आप **तत् ववक्षि**=उस वस्तु को प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्रभो! **यत् वीड्यासि**=जिसको भी आप शक्तिशाली बनाते हैं, **तत् वीडु**=वह दृढ़ शक्तिशाली होता ही है।

भावार्थ—प्रभु प्रार्थना को सुनकर स्तोता की कामना को पूर्ण करते ही हैं। स्तोता को वे दृढ़ बनाते हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रथीनां रथीतमः

यदाजिं यात्याजिकृदिन्द्रः स्वश्वयुरुप। रथीतमो रथीनाम्॥ ७॥

(१) **आजिकृत्**=संग्राम को करनेवाला **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **स्वश्वयुः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों की कामनावाला होता हुआ **यद्**=जब **आजिम् उपयाति**=संग्राम को प्राप्त होता है, तो वह **रथीनां रथीतमः**=रथियों में श्रेष्ठ रथी होता है। (२) प्रभु का सम्पर्क इसे खूब शक्ति सम्पन्न बना देता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक कभी संग्राम में पराजित नहीं होता। यह उत्तम रथी बनता है।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुश्रवस्तमः

वि षु विश्वा अभियुजो वज्रिन्विष्वग्यथा वृह। भवा नः सुश्रवस्तमः॥ ८॥

(१) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! आप **विश्वाः**=सब **अभियुजः**=हमारे पर आक्रमण करनेवाली सेनाओं को **यथा विष्वक्**=जिस प्रकार सब ओर भाग जाएँ। इस प्रकार **वि सु वृह**=सम्यक् उच्छिन्न कर दीजिए। (२) हमारे सब शत्रुओं को समाप्त करके **नः**=हमें **सुश्रवस्तमः**=उत्तम यशस्वी बनानेवाले **भव**=होइए। शत्रुओं को जीतकर हमारा जीवन यश से अन्वित हो।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम सब आक्रमण करनेवाली शत्रु सेनाओं को पराजित कर पाएँ और इस प्रकार जीवन में यशस्वी हों।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

कैसा रथ ?

अस्माकं सु रथं पुर इन्द्रः कृणोतु सातये। न यं धूर्वन्ति धूर्तयः॥ ९॥

(१) **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **अस्माकं**=हमारे **सु-रथं**=उत्तम रथ को **पुरः कृणोतु**=आगे करें। यह रथ शत्रुओं की ओर आक्रमण के लिए आगे ही बढ़े। **सातये**=यह सब धनों की प्राप्ति के लिए हो। 'काम' को पराजित करके हम 'स्वास्थ्य-धन' को प्राप्त करें। 'क्रोध' को जीतकर हम 'मानसशान्तिरूप धन' को प्राप्त करें। 'लोभ' को जीतकर हम 'ज्ञान धन' को प्राप्त करें। (२) हमारा यह रथ ऐसा हो कि **यं**=जिसे **धूर्तयः**=हिंसक शत्रु **न धूर्वन्ति**=हिंसित नहीं कर पायें।

भावार्थ—हमारा शरीर रथ आगे और आगे बढ़े। यह सब धनों का विजय करनेवाला हो। किसी से हिंसित न हो।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ते द्विषः परिवृज्याम

वृज्याम ते परि द्विषोऽरं ते शक्र दावने। गमेमेदिन्द्र गोमतः॥ १०॥

(१) हे प्रभो! हम **ते**=आपके **द्विषः**=द्वेष करनेवाले लोगों को **परिवृज्याम**=दूर से छोड़नेवाले हों, ऐसे पुरुषों के संग में न बैठें। हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! हम **ते दावने**=आपके दान में **अरं**=खूब हों, अर्थात् आपकी देनों को खूब ही प्राप्त करें। (२) हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! हम **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले आपके समीप **इत्**=निश्चय से **गमेमः**=जाएँ। आपके समीप प्राप्त होकर हम इन ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु के द्वेषियों से हम दूर रहें। प्रभु से दातव्य धनों को खूब ही प्राप्त करें। प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले प्रभु के समीप खूब ही ज्ञानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शनैः चित् यन्तः (शान्तिपूर्वक गति)

शनैश्चिद्यन्तो अद्रिवोऽश्वावन्तः शतग्विनः। विवक्षणा अनेहसः॥ ११॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! हम आपकी उपासना में **शनै चित् यन्तः**=निश्चय से शान्तिपूर्वक गतिवाले होते हुए **अश्वावन्तः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले बनें। तथा **शतग्विनः**=शत वर्षपर्यन्त आयुष्य में जानेवाले हों। (२) **विवक्षणाः**=हम विशिष्ट उन्नतिवाले हों तथा **अनेहसः**= निष्पाप जीवनवाले हों।

भावार्थ—जीवन में शान्तिपूर्वक चलते हुए हम प्रशस्त इन्द्रियोंवाले, दीर्घजीवी, विशिष्ट विकासवाले व निष्पाप हों।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'सहस्रा शता' सूनृता

ऊर्ध्वा हि ते दिवेदिवे सहस्रा सूनृता शता। जरितृभ्यो विमंहते॥ १२॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके **सहस्त्रा**=सहस्त्रों व **शता**=सैंकड़ों अथवा **सहस्त्रा**=(सहस्) आनन्दप्रद **शता**=शत वर्ष पर्यन्त चलनेवाले **सूनृता**=सौभाग्ययुक्त धन **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **हि**=निश्चय से **ऊर्ध्वा**=ऊपर उठे हुए हैं, अर्थात् उद्यत हैं। (२) **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए दिये जानेवाले इन धनों को यह उपासक **विमंहते**=विशेषरूप से स्तुत करता है।

भावार्थ—प्रभु की देन सैंकड़ों व सहस्त्रों हैं। एक स्तोता उन देनों का गायन करता है।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

धनञ्जयं-आदारिणम्

विद्मा हि त्वा धनंजयमिन्द्रं दृळ्हा चिदारुजम्। आदारिणं यथा गयम्॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **धनञ्जयम्**=सब धनों का विजेता **विद्मा**=जानते हैं। सब धनों का विजय आप ही करते हैं। आप **दृढ़ाचित्**=प्रबल भी शत्रुओं का **आरुजं**=समन्तात् भंग करनेवाले हैं। (२) **आदारिणं**=शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करनेवाले आपको हम **यथा गयम्**=घर के समान जानते हैं। आप हमारे लिए उपद्रवों से रक्षक गृह के समान हैं।

भावार्थः—प्रभु धनों के विजेता-शत्रुओं के छेत्ता व गृह के समान रक्षक हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'ककुहं पणिम्'

ककुहं चित्त्वा कवे मन्दन्तु धृष्णविन्दवः। आ त्वा पणिं यदीमहे॥ १४॥

(१) हे **कवे**=सर्वज्ञ (क्रान्तप्रज्ञ) **धृष्णो**=शत्रुधर्षक प्रभो! **ककुहं**=सर्वश्रेष्ठ (शिखर- भूत) **त्वा**=आपको **चित्**=निश्चय से **इन्दवः**=ये सोमकण (सब ऐश्वर्य) **मन्दन्तु**=आनन्दित करते हैं। जब हम सोमकणों का रक्षण करते हैं, तो ये रक्षित सोमकण हमारे जीवन में आपके प्रकाश को बढ़ाते है और इस प्रकार हमें आपका प्रिय बनाते हैं। (२) यह वह समय है **यत्**=जब **पणिं**=(पण स्तुतौ) स्तुति के योग्य आपको **आ ईमहे**=सब प्रकार से प्राृथत करते हैं। प्रभु से सब उचित साधनों को पाकर हम उन साधनों के सत्प्रयोग से प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना करते हुए हम सोमरक्षण से प्रभु को प्रसन्न करके सब उचित साधनों को प्राप्त कराने के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

रेवान् अदाशुरिः

यस्ते रेवाँ अदाशुरिः प्रममर्ष मघत्तये। तस्य नो वेद आ भर॥ १५॥

(१) हे प्रभो! **यः**=जो **रेवान्**=धनवान् होकर **ते अदाशुरिः**=आपकी प्राप्ति के लिए यज्ञादि कर्मों में दानशील नहीं होता तथा **मघत्तये**=धन को देने के लिए **प्रममर्ष**=भूल जाता है व प्रमाद करता है। **तस्य वेदः**=उसके धन को **नः**=हमारे लिए **आभर**=प्राप्त कराइये। उससे धन को छीनकर दानशील व्यक्ति के लिए उस धन को प्राप्त कराइये। (२) वस्तुतः धन तो प्रभु का ही है। एक व्यक्ति तो उस धन को रक्षकमात्र है। प्रभु प्रेरणा के अनुसार उस धन का यज्ञादि में विनियोग ही ठीक है।

भावार्थ—हम धन को प्रभु का समझते हुए, उसका यज्ञादि सत्कर्मों के लिए सदा दान करनेवाले हों, यही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है। धनी अदाता पुरुष प्रभु से सदा दूर है।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोमिनः सखायः

इम उ त्वा वि चक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः। पुष्टावन्तो यथा पशुम्॥ १६॥

(१) **इमे**=ये **सोमिनः**=सोम का रक्षण करनेवाले **सखायः**=सखा लोग—सबके मित्र **उ**=ही हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वा विचक्षते**=आपको देखते हैं। आपके दर्शन के पात्र से 'सोमी सखा' ही होते हैं। (२) इस प्रकार ये आपके दर्शन को करते हैं **यथा**=जैसे **पुष्टावन्तः**=पुष्टि के साधन- भूत घास को लिये हुए लोग **पशुम्**=गवादि पशु को देखते हैं, घास लेकर पशु के समीप लाया जाता है, सोम व मित्रभाव को लेकर प्रभु के समीप।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करते हुए तथा सबके साथ मित्रभाव से वर्तते हुए प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अबधिरं-श्रुत्कर्णम्

उत त्वाबधिरं वयं श्रुत्कर्णं सन्तमूतये। दूरादिह हवामहे॥ १७॥

(१) **उत**=और **वयं**=हम **दूरात्**=दूर से ही—आपके उपासक न होते हुए भी **इह**=यहाँ इस जीवन में **ऊतये**=रक्षण के लिए **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) उन आपको हम पुकारते हैं जो **अबधिरं**=बधिर नहीं हैं। **श्रुत्कर्णम्**=श्रवण पर कर्णोंवाले हैं। जिनके कान सदा सुनने में लगे हैं। **सन्तम्**=जो श्रेष्ठ हैं।

भावार्थः—प्रभु की प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाती। यह बहरे कानों पर नहीं पड़ती।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दुर्मर्ष बल

यच्छुश्रूया इमं हवं दुर्मर्षं चक्रिया उत। भवेरापिर्नो अन्तमः॥ १८॥

(१) हे प्रभो! आप **यद्**=जब **इमं हवं**=हमारी पुकार को **शुश्रूयाः**=सुनते हैं, **उत**=और **दुर्मर्षम्**=शत्रुओं से न सहने योग्य बल को हमारे लिए **चक्रियाः**=करते हैं, तो **नः**=हमारे **अन्तमः**=अन्तिकतम **आपिः**=मित्र **भवेः**=होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्तिकतम मित्र हैं। वे हमें उस बल को प्राप्त कराते हैं, जो शत्रुओं से सहने योग्य नहीं होता।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

गो-दाः इन्द्रः

यच्चिद्धि ते अपि व्यथिर्जगन्वांसो अमन्महि। गोदा इदिन्द्र बोधि नः॥ १९॥

(१) **यत् चित् हि**=जब निश्चय से **व्यथिः**=पीड़ित हुए-हुए हम **ते जगन्वांसः**=आपके समीप आनेवाले होकर **अमन्महि**=आपका मनन व स्तवन करें, तो हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **इत्**=निश्चय से **गो-दाः**=ज्ञान की वाणियों को देनेवाले होकर **बोधि**=हमें उद्बुद्ध करनेवाले हों। (२) आपसे प्राप्त ज्ञान के द्वारा हम ठीक मार्ग पर चलते हुए अपने कष्टों को दूर कर सकें। यह ज्ञान हमारे अन्दर पवित्रता का संचार करके हमारे पापों व कष्टों को दूर करनेवाला हो।

भावार्थ—इस संसार के भवसागर में विषयों के ग्राहों से पीड़ित होकर जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं, तो प्रभु हमें ज्ञान देकर उनकी पकड़ से छुड़ाते हैं और हमारे कष्टों का अन्त करते हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'सबका सहारा' प्रभु

आ त्वा॑ र॒म्भं न जिव्र॑यो रर॒म्भा श॑वसस्पते। उ॒श्मसि॑ त्वा स॒धस्थ॒ आ॥ २०॥

(१) हे **शवसस्पते**=बल के स्वामिन्! **जिव्रयः रम्भं न**=वृद्ध जैसे एक आश्रययष्टि को सहायता लेता है उसी प्रकार हम **त्वा आ ररभ्मा**=आपका आश्रय लेनेवाले हों। आप ही तो निराधार होते हुए सर्वाधार हैं। (२) हम **सधस्थे**=मिलकर बैठने के यज्ञवेदिरूप स्थानों में अथवा आपके साथ मिलकर बैठने के स्थान हृदयदेश में **त्वा आ उश्मसि**=आपको ही चाहते हैं। आपकी प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। आप ही तो वह स्थान हैं जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वाधार हैं। प्रभु का ही हृदयदेश में ध्यान करते हुए कामना करें। प्रभु सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'पुरुनृम्ण सत्वा' प्रभु

स्तो॒त्रमिन्द्रा॑य गायत पुरु॒नृ॒म्णाय॒ सत्व॑ने। नकि॒र्यं वृ॑ण्व॒ते यु॒धि॥ २१॥

(१) हे मनुष्यो! **यं**=जिसको **युधि**=युद्ध में **नकिः वृण्वते**=कोई भी रोक नहीं सकता, उस **सत्वने**=बलशाली, शत्रुओं का सादन करनेवाले **पुरुनृम्णाय**=बहुत धनों व शक्तियों के स्वामी **इन्द्राय**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु के लिए **स्तोत्रं गायत**=स्तुति का गायन करो। (२) इस संसार संघर्ष में प्रभु ने ही हमें विजय प्राप्त करानी है। प्रभु अनन्तशक्ति व धनवाले हैं, सब शत्रुओं का सादन करनेवाले हैं। प्रभु का गायन करते हुए उस शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर हम शत्रुओं को पराजित कर पाते हैं।

भावार्थ—अनन्त शक्ति व धनवाले शत्रुसंहारक प्रभु का ही हम स्तवन करें। प्रभु युद्ध में अपराजेय हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

प्रभुस्मरण-सोमरक्षण-आनन्द का अनुभव

अ॒भि त्वा॑ वृषभा सु॒ते सु॒तं सृ॑जामि पी॒तये॑। तृ॒म्पा व्य॑श्नुही॒ मद॑म्॥ २२॥

(१) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् सुखवर्षक प्रभो! **सुते**=शरीर में सोम का अभिषव होने पर **सुतं**=इस उत्पन्न सोम को **पीतये**=पीने के लिए **त्वा**=आपको **अभिसृजामि**=प्रातः-सायं (दिन के दोनों ओर) स्मरण द्वारा उत्पन्न करता हूँ, आपकी भावना को अपने में जगाता हूँ। (२) **तृम्पा**=इस सोमपान द्वारा आप मुझे तृप्ति व प्रीति का अनुभव कराइये तथा **मदं व्यश्नुहि**=आनन्द को मेरे में व्याप्त करिये।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से, वासनाओं का शिकार न होते हुए, हम सोमरक्षण द्वारा तृप्ति व आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

किनके संग से बचना ?

मा त्वां मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दंभन्। माकीं ब्रह्मद्विषो वनः॥ २३॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **अविष्यवः**=(अव्=हिंसा, आदान) औरों की हिंसा से सांसारिक ऐश्वर्यों का आदान करनेवाले, **उपहस्वानः**=धर्म व नैतिक मार्ग का उपहास करनेवाले **मूराः**=विषयों से मूढ़ बने हुए लोग **त्वा**=आपको **मा आदभन्**=हिंसित करनेवाले न हों। इनके दबाव में तू भी इनके रंग में न रंगा जाए। (२) **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान व प्रभु के प्रति न प्रीतिवाले लोगों को **माकीं वनः**=सेवन करनेवाला न हो। ऐसों के संग में मत उठ-बैठ।

भावार्थ—हम विषयमूढ़, हिंसा से संग्रह की प्रवृत्तिवाले, धार्मिक बातों का उपहास करनेवाले, ज्ञान की प्रति अरुचिवाले लोगों का संग न करें।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोमपान व आनन्द

इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे। सरो गौरो यथा पिब॥ २४॥

(१) हे जीव! **इह**=इस जीवन में **गोपरीणसा**=ज्ञान की वाणियों द्वारा शरीर में चारों ओर व्याप्त होनेवाले सोम के द्वारा **त्वा**=तुझे **महे राधसे**=महान् साफल्य (सफलता) के लिए ये सोमकण ही **मन्दन्तु**=आनन्दित करनेवाले हों। (२) **यथा**=जैसे एक **गौरः**=गौरमृग **सरः**=तालाब को-तालाब के पानी को पीता है, तू उसी प्रकार इस सोम का **पिब**=पान कर।

भावार्थ—सोम का रक्षण ही सफलता व आनन्द का स्रोत हैं। इसके रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम अतिरिक्त समय को ज्ञानी की वाणियों की अध्ययन में ही लगाएँ।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान की ही चर्चा

या वृत्रहा परावति सना नवा च चुच्युवे। ता संसत्सु प्र वोचत॥ २५॥

(१) **वृत्रहा**=सब ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को नष्ट करनेवाले प्रभु **परावति**=आज से कितने ही सुदूर काल में **या सना**=जिन सनातन परन्तु **च**=फिर भी **नवा**=इन नवीन ज्ञान की वाणियों को **चुच्युवे**=प्रेरित करते हैं। **ता**=उन ज्ञान की वाणियों को **संसत्सु**=सभाओं में **प्रवोचत**=प्रकर्षेण उच्चरित करो। (२) हम जब भी एकत्रित हों परस्पर ज्ञान की ही चर्चा करें। यह ज्ञान की चर्चा ही हमें पवित्र करेगी। यही हमें सोमरक्षण के योग्य बनाएगी।

भावार्थ—प्रभु सदा से जिन ज्ञानवाणियों की प्रेरणा देते आए हैं, हम मिलने पर उन्हीं का प्रवचन करें। यह ज्ञान में विचरना ही हमें वासना का शिकार होने से बचाएगा।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कद्रुवः सुतम् अपिबत्

अपिबत्कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे। अत्रादेदिष्ट पौंस्यम्॥ २६॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **कद्रुवः**=(कवते) उस ज्ञानोपदेष्टा प्रभु के **सुतम्**=उत्पादित इस सोम को **अपिबत्**=पीता है, शरीर में ही व्याप्त करता है और **सहस्रबाह्वे**=सहस्रों प्रयत्नों को कर पाता है। यह सुरक्षित सोम उसे शक्तिशाली बनाता है और इसे प्रयत्न करने में समर्थ करता

है। (२) **अत्र**=यहाँ, अर्थात् सोम का रक्षण होने पर **पौंस्यम् अदेदिष्ट**=इसका पौरुष चमक उठता है।

भावार्थ—इन्द्र बनकर हम सोम का रक्षण करें और शक्तिशाली व प्रयत्नशील बनें। पौरुष से दीप्त हों।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

यदु

सत्यं तत्तुर्वशे यदौ विदानो अह्नवाय्यम्। व्यानट् तुर्वणे शमि ॥ २७ ॥

(१) **तुर्वशे**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाले **यदौ**=यत्नशील जन में **तत्**=उस **अह्नवाय्यम्**=न छिपाए जाने की आवश्यकतावाले सत्य को **विदानः**=जानता हुआ पुरुष **तुर्वणे**=इस जीवनसंग्राम में **शमि**=कर्म को **व्यानट्**=व्याप्त करता है सदा क्रियाशील बनता है। (२) यह क्रियाशीलता ही उसे व्यसनों से बचाकर सत्यमार्ग की ओर ले-चलती है। सत्य का निवास 'तुर्वश, व यदु' में ही होता हे। 'यदु' ही 'तुर्वश' भी बन पाता है।

भावार्थ—हम अपने में सत्य को धारण करने के लिए काम-क्रोध आदि शत्रुओं को वश में करनेवाले (तुर्वश) यत्नशील (यदु) बनें, सदा उत्तम कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'तरणि-त्रद-समान' प्रभु का शंसन

तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः। समानमु प्र शंसिषम् ॥ २८ ॥

(१) मैं प्रभु का **प्रशंसिषम्**=शंसन करता हूँ। उस प्रभु का, जो **वः**=तुम सब **जनानां**=लोगों के **तरणिं**=तारक हैं—विषय-वासनाओं व कष्टों से पार ले-जानेवाले हैं। **त्रदं**=शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं शत्रुनाश के द्वारा ही वे हमें कष्टों से पार ले जाते हैं। (२) मैं उस प्रभु का शंसन करता हूँ जो **गोमतः वाजस्य**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बल को **सम् आनं**=(अन् प्राणने) सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं। प्रभु हमारे में प्राणशक्ति का संचार करते हैं—एक-एक इन्द्रिय को सबल बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें कष्टों से तरानेवाले हैं, हमारे शत्रुओं का विनाश करनेवाले हैं और हमारी इन्द्रयों की शक्ति को प्राणित करनेवाले हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

ऋभुक्षणं-तुग्र्यावृधम्

ऋभुक्षणं न वर्तव उक्थेषु तुग्र्यावृधम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ २९ ॥

(१) **न** (संप्रत्यर्थे)=अब हम **ऋभुक्षणं**=महान् प्रभु को **वर्तवे**=चुननेवाले हों। प्रकृति की अपेक्षा प्रभु का वरण करनेवाले हों। उस प्रभु का वरण करें जो **उक्थेषु**=स्तोत्रों के होने पर **तुग्र्यावृधम्**=रेतःकणरूप जलों का वर्धन करनेवाले हैं। (२) हम **सौमे सुते**=सोम को सम्पादित होने पर **इन्द्रं**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **सचा**=साथ होनेवाले हों। यह प्रभु के साथ होना ही वस्तुतः हमें सोमरक्षण के योग्य बनाता है।

भावार्थ—प्रभु महान् है, महान् ज्ञानज्योति में निवास करनेवाले हैं। शरीरस्थ रेतःकणों का रक्षण करनेवाले हैं। सोम के रक्षित होने पर ही प्रभु का दर्शन होता है।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

योन्यं 'गिरिम्'

यः कृन्तदिद्वि योन्यं त्रिशोकाय गिरिं पृथुम्। गोभ्यो गातुं निरेतवे॥ ३०॥

(१) शरीर में नाड़ियाँ 'नदियाँ' हैं तो अस्थियाँ 'पर्वत'। रीढ़ ही हड्डी मेरुदण्ड व मेरुपर्वत है। यह विशाल पर्वत है–अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पर्वत है। इसमें 'इडा, पिंगला, सुषुम्णा' इन तीन नाड़ियों का स्थान है। इनमें 'इडा' ही गंगा है, 'पिंगला' यमुना तथा 'सुषुम्णा' सरस्वती है। प्राणसाधना द्वारा सुषुम्णा का जागरण होता है **यः**=जो भी **योन्यं**=शरीररूप योनि व गृह में होनेवाले **पृथुं गिरिं**=इस विशाल मेरुदण्ड रूप पर्वत को **इत्**=निश्चय से **विकृन्तत्**=छिन्न करता है, अर्थात् सुषुम्णा के द्वार को खोलता है वह **त्रिशोकाय**=तीनों दीप्तियों के लिये होता है–यह शरीर, मन व बुद्धि तीनों को दीप्त करता है। (२) यह साधक ही **गोभ्यः**=ज्ञान की वाणियों के **निरेतवे**=निश्चय से प्राप्त होने के लिए **गातुम्**=मार्ग को बनाते हैं। इस प्राणसाधना से ज्ञान का निश्चय से वर्धन होता है।

भावार्थ–हम शरीरस्थ मेरुदण्डरूप मेरुपर्वत में स्थित इडा, पिंगला व सुषुम्णा आदि नाड़ियों के द्वारों को प्राणसाधना द्वारा खोलें और ज्ञान की वाणियों की प्राप्ति के लिए मार्ग को तैयार करें।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दधिषे-मनस्यसि-इयक्षसि

यद्दधिषे मनस्यसि मन्दानः प्रेदियक्षसि। मा तत्करिन्द्र मृळय॥ ३१॥

(१) हे प्रभो! **मन्दानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **यद्**=जिस शुभ को **दधिषे**=धारण करते हैं, **मनस्यसि**=हमारे लिए देने का संकल्प करते हैं और **इत्**=निश्चय से **इयक्षसि**=(प्रयच्छसि) हमारे लिए देते हैं, **तत्**=उसे **मा कः**=मत नष्ट करिये। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप शुभ वस्तुओं को देकर हमारे लिए **मृळय**=सुख को करनेवाले होइये।

भावार्थ–हे प्रभो! आप जिस शुभ को धारण करते हैं–हमारे लिए देने का संकल्प करते हैं और हमारे लिए देते हैं, उसे नष्ट न करिये, हमारे लिए दीजिए ही और हमें सुखी करिये।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सन्त की वाणी व क्रिया का महत्त्व

दभ्रं चिद्धि त्वावतः कृतं शृण्वे अधि क्षमि। जिगात्विन्द्र ते मनः॥ ३२॥

(१) हे प्रभो! **त्वावतः**=आपको धारण करनेवाले का **दभ्रं**=थोड़ा-सा **चित् हि**=भी **कृतं**=किया हुआ **अधिक्षमि**=इस पृथिवी पर **शृण्वे**=प्रसिद्ध रूप में सुना जाता है, अर्थात् आपको धारण करनेवाले की छोटी-सी क्रिया का भी बड़ा महत्त्व होता है–लोगों पर उसका बड़ा प्रभाव होता है। (२) सो हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **मनः**=हमारा मन **ते जिगातु**=आपके प्रति जानेवाला हो। हम सदा आपको स्मरण करें और आपका धारण करें।

भावार्थ–प्रभु को धारण करनेवाले की छोटी-सी क्रिया भी बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। उसका एक शब्द भी बड़ा प्रभाव पैदा करता है।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुकीर्तयः-प्रशस्तयः (प्रभु की)

तवेदु ताः सुकीर्तयोऽसन्नुत प्रशस्तयः। यदिन्द्र मृळयासि नः॥ ३३॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ताः**=वे **सुकीर्तयः**=उत्तम कीर्तियाँ **उ**=निश्चय से **तव इत् असन्**=आपकी ही हैं, **यत्**=कि आप **नः**=हमें **मृडयासि**=सुखी करते हैं। (२) **उतः**=और हे प्रभो! (ताः) वे **प्रशस्तयः**=प्रशस्तियाँ भी आपकी ही हैं।

भावार्थ—वस्तुतः प्रभु ही हमारे जीवन को सुखी बनाते हैं। हमें प्रभु का ही कीर्तन व शंसन करना योग्य है।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अनन्त कृपालु प्रभु

मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु। वधीर्मा शूर भूरिषु॥ ३४॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **एकस्मिन् आगसि**=एक अपराध में **मा वधीः**=मत हिंसित करिये। **द्वयोः**=दो अपराधों में भी **मा**=मत दण्डित करिये। **उत**=और **त्रिषु**=तीन अपराधों में भी आपने हमें हिंसित न करना। (२) हे शूर! **भूरिषु**=बहुत अपराधों के होने पर भी हमें **मा वधीः**=हिंसित न करियेगा। हमारे से कदम-कदम पर गलतियाँ तो होंगी ही। शक्ति व ज्ञान की अल्पता के कारण जब हम गलतियाँ कर बैठें, तो भी हम आपके कोपभाजन न हों। आप जैसे परम मित्र के द्वारा उत्तम प्रेरणा को प्राप्त कर हम शुभ मार्ग पर आगे बढ़ें।

भावार्थ—हम गलतियों के होने पर भी प्रभु के अनग्रह के ही पात्र हों। प्रभु प्रेरणा को प्राप्त करके अपराधों से ऊपर उठें।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु से भय

बिभया हि त्वावत उग्रादभिप्रभङ्गिणः। दस्मादहमृतीषहः॥ ३५॥

(१) हे प्रभो! **त्वावतः**=आप जैसे **उग्रात्**=तेजस्वी, **अभिप्रभङ्गिणः**=शत्रुओं का पराजय करनेवाले, **दस्मात्**=सब बुराइयों का उपक्षय करनेवाले, **ऋतीषहः**=शत्रुकृत हिंसा का मर्षण करनेवाले (कुचल देनेवाले) से **अहं**=मैं **हि**=निश्चय से **बिभया**=भयभीत होता हूँ। (२) आप से भयभीत होकर ही तो मैं और सब ओर से निर्भीक हो सकता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से भयभीत होनेवाला ही निर्भीक होता है। प्रभु इसके सब शत्रुओं का नाश करते हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मनः ते आवृत्वद् भवतु

मा सख्युः शूनमा विदे मा पुत्रस्य प्रभूवसो। आवृत्वद्भूतु ते मनः॥ ३६॥

(१) **प्रभूवसो**=प्रभूत धन के स्वामिन् प्रभो! **सख्युः**=मैं अपने मित्रों की **शूनं**=अशुभ धन आदि की वृद्धि का **मा आविदे**=मत आवेदन करता रहूँ। इसी प्रकार **पुत्रस्य**=पुत्र की भी अशुभ धनवृद्धि का **मा**=मत निवेदन करूँ। मेरे मित्र व सन्तान सब शुभ मार्ग से धन को कमानेवाले हों।

(२) हे प्रभो! **मनः**=हमारा मन **ते**=आपके प्रति **आवृत्वत्**=आवर्तनवाला **भूतु**=हो। आपका स्मरण करते हुए हम स्वस्थ धनवृद्धिवाले बनें।

भावार्थ—हमारे मित्र व हमारे सन्तान सब शुभमार्ग से धनवृद्धि को करें। हमारा मन सदा प्रभु के प्रति आवर्तनवाला हो।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अनाक्रुष्ट जीवन

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्। जहा को अस्मदीषते॥ ३७॥

(१) हे **मर्याः**= मनुष्यो! **कः नु**=कौन **अमिथितः**=अनाक्रुष्ट जीवनवाला–अनिन्दित **सखा**=मित्र **सखायं**=मित्र को **अब्रवीत्**=कहता है कि **कः जहा**=कौन हमें मारता है, **कः**=कौन **अस्मत्**=हमारे से **ईषते**=भयभीत होता है? (२) पवित्र जीवनवाले साथी मिलते हैं तो परस्पर यही कहते हैं कि न हम किसी को भयभीत करें, न किसी से भयभीत हों।

भावार्थ—वे ही मित्र श्रेष्ठ हैं, जोकि परस्पर इस प्रकार की ही चर्चा करें कि 'न हम किसी से मारे जाएँ, न हम किसी को मारें।'

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

आवयः

एवारे वृषभा सुतेऽसिन्वन्भूर्यावयः। श्वघ्नीव निवता चरन्॥ ३८॥

(१) हे **वृषभ**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **एवारे**=(एव+अर=ऋ गतौ) गतमन्त्र में वर्णित प्रकार से गति के होने पर, **सुते**=सोम का सम्पादन करने पर **आवयः**=सोम का रक्षण करनेवाले लोग **भूरि**=खूब ही **असिन्वन्**=इस सोम को शरीर में बद्ध करते हैं। (२) यह सोमरक्षक पुरुष **श्वघ्नीव इव**=कितव (जुआरी) की तरह **निवता चरन्**=नम्रता के मार्ग से (निम्न मार्ग से) गतिवाला होता है। जैसे एक जुआरी धननाश से लज्जित होकर नम्र सा बन जाता है, इसी प्रकार यह सोमरक्षक नम्रतावाला होता है।

भावार्थ—अपना रक्षण करनेवाले सोम का शरीर में बन्धन करते हैं। ये अपने जीवन में नम्रता के स्वभाववाले होते हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वचोयुजा हरी

आ त एता वचोयुजा हरी गृभ्णे सुमद्रथा। यदीं ब्रह्मभ्य इद्ददः॥ ३९॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके **एता**=इन **सुमद्रथा**=शोभन शरीररथवाले–इस शोभन रथ में जुतनेवाले **वचोयुजा**=वेदवचनों के अनुसार कार्यों में लानेवाले व रथ में युक्त होनेवाले **हरी**=कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रियरूप अश्वों को **आगृभ्णे**=ग्रहण करता हूँ। एक सारथि जैसे लगाम से घोड़ों को वशीभूत करता है, उसी प्रकार मैं इन इन्द्रियाश्वों को वश में करता हूँ। (२) **यत्**=क्योंकि **ईम्**=निश्चय से **ब्रह्मभ्यः**=ज्ञानप्राप्ति के लिए (ज्ञान की वाणियों के लिए) व महान् कर्मों के लिए **इत्**=ही **ददः**=आप इन इन्द्रियाश्वों को देते हैं। इन इन्द्रियों को वश में करके ही मैं ज्ञान व महान् कर्मों का सम्पादन कर सकूँगा।

भावार्थ—हम प्रभु से प्रदत्त इन इन्द्रियाश्वों को वश में करके ही ज्ञान व महान् कर्मों का सम्पादन कर सकते हैं।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'द्विषः, बाधः, मृधः' अपजहि

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः। वसु स्पार्हं तदा भर॥ ४०॥

(१) हे प्रभो! आप **विश्वाः**=सब, हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाली **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अपभिन्धि**=सुदूर विदीर्ण करिये। **बाधः**=हमें बाधा पहुँचानेवाली इन वासनाओं को **परि जहि**=सर्वथा नष्ट कर दीजिए **मृधः**=हमारा विनाश (हिंसन) करनेवाली वृत्तियों को भी विनष्ट करिये। (२) इसप्रकार हमें द्वेष व वासनाओं से रहित करके **तत्**=उस प्रसिद्ध **स्पार्हं**=स्पृहणीय **वसु**=धन को **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु हमें द्वेष, वासना व हिंसक शत्रुओं से बचाकर स्पृहणीय धन को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वीडौ-स्थिरे-पर्शाने

यद्वीळाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदा भर॥ ४१॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **स्पार्हं वसु**=स्पृहणीय धन **वीडौ**=दृढ़ शरीरवाले बलवान् पुरुष में है, **यत्**=जो धन **स्थिरे**=स्थिरवृत्तिवाले, स्थितप्रज्ञ मनुष्य में हैं और **यत्**=जो धन **पर्शाने**=विचारशील पुरुष में **पराभृतम्**=धारण किया गया है, **तद्**=उस धन को **आभर**=हमारे लिए प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम सबल शरीरवाले, स्थिरवृत्तिवाले व विचारशील बनें और स्पृहणीय धन को प्राप्त करें।

ऋषिः—त्रिशोकः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

विश्वमानुषः

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति। वसु स्पार्हं तदा भर॥ ४२॥

(१) जो केवल अपने लिए न जीकर व्यापक जीवनवाला बनता है, अपने परिवार में औरों को भी सम्मिलित कर लेता है, वह '**विश्वमानुषः**' कहलाता है। प्रभु इसे जिस धन को देते हैं, उसे यह औरों के लिए प्राप्त कराता है। हे प्रभो! **विश्वमानुषः**=उदार मनोवृत्तिवाला पुरुष **ते**=आपके द्वारा **दत्तस्य**=दिये हुए **भूरेः**=पालन व पोषण करनेवाले **यस्य**=जिसका **वेदति**=औरों के लिए प्रापण कराता है (विद् लाभे)। **तद्**=उस स्पार्हं **वसु**=स्पृहणीय धन को **आभरः**=हमारे लिए प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम स्वार्थी न बनकर 'विश्वमानुष' बनें। यह विश्वमानुष प्रभुप्रदत्त धन को औरों के लिए प्राप्त कराता है। ऐसा ही स्पृहणीय धन हमें भी प्राप्त हों।

अपने मन को वश में करनेवाला यह 'वशः' कहलाता है। अपने इन्द्रियाश्वों को उत्तम बनाने के कारण यह 'अश्व्य' है। यह इन्द्र का स्तवन करता हुआ कहता है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभुभक्तों का संग

त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः। स्मसि स्थातर्हरीणाम्॥ १॥

(१) हे **पुरूवसो**=प्रभूतधन, **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्, **प्रणेतः**=सर्वकर्मों के पार प्राप्त करानेवाले, **हरीणां**=हमारे इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठातः प्रभो! **वयं**=हम **त्वावतः**=आप जैसे के ही **स्मसि**=हैं, अर्थात् हम उन्हीं लोगों के सम्पर्क में आएँ जो आपके गुणों को धारण करके कुछ आप जैसे बनते हैं।

भावार्थः—हम प्रभु जैसे व्यक्तियों के संग में चलें। यही प्रभु के समीप पहुँचने का मार्ग है। इसी से हम पर्याप्त धन को प्राप्त करेंगे, कर्मों को सफलता से पूर्ण करेंगे और इन्द्रियों के अधिष्ठाता बन पाएँगे।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'इषां रयीणाम्' दातारम्

त्वां हि सत्यमद्रिवो विद्म दातारमिषाम्। विद्म दातारं रयीणाम्॥ २॥

(१) हे **अद्रिवः**=(अत्ति शत्रुम्) शत्रुओं का विध्वंस करनेवाले प्रभो! **त्वां**=आपको **हि**=ही **सत्यं**=सचमुच **इषां**=उत्तम प्रेरणाओं का **दातारम्**=देनेवाला **विद्म**=जानें। (२) हम आपको ही **रयीणाम्**=सब धनों का **दातारं**=दाता **विद्म**=जानें।

भावार्थ—प्रभु ही सब धनों को देनेवाले हैं। वे ही इन धनों के सदुपयोग के लिए प्रेरणाओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शतमूति-शतक्रतु (प्रभु)

आ यस्य ते महिमानं शतमूते शतक्रतो। गीर्भिर्गृणन्ति कारवः॥ ३॥

(१) हे **शतमूते**=सैंकड़ों रक्षणोंवाले व **शतक्रतो**=सैंकड़ों प्रज्ञानों व कर्मोंवाले प्रभो! **यस्य ते**=जिन आपकी **महिमानं**=महिमा को **कारवः**=यज्ञादि कर्मों को करनेवाले लोग **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **आगृणन्ति**=सदा स्तुत करते हैं। (२) हे प्रभो! आपका वस्तुतः यशोगान तो क्रियाशील लोग ही करते हैं। उन्हीं को आपका रक्षण प्राप्त होता है, उन्हीं के लिए आप प्रज्ञान व शक्ति को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—कारु-कुशलता से कर्म करनेवाला-प्रभु का उपासक होता है। यही प्रभु से रक्षण प्रज्ञान व शक्ति को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—प्रतिष्ठागायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुनीथः (मर्त्यः)

सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा। मित्रः पान्त्यद्रुहः॥ ४॥

(१) **सः मर्त्यः**=वह मनुष्य **घा**=निश्चय से **सुनीथः**=उत्तम यज्ञोंवाला या उत्तम मार्गवाला होता है, **यं**=जिसको **मरुतः**=प्राण **पान्ति**=रक्षित करते हैं, अर्थात् प्राणसाधना करता हुआ जो मनुष्य अपने अन्दर शक्ति की उर्ध्व गतिवाला होता है, वह निश्चय से अपना रक्षण कर पाता है—उसका

शरीर नीरोग बन जाता है। (२) वह मनुष्य जीवन में उत्तम प्रणयन (मार्ग) वाला होता है **यम्**=जिसको **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) संयम की देवता तथा **मित्रः**=स्नेह की देवता तथा (वरुणः) निर्द्वेषता का भाव **अद्रुहः**=सब प्रकार के द्रोह से रहित हुए-हुए (पान्ति=) रक्षित करते हैं।

भावार्थ—रोगों व वासनाओं से रक्षण का मार्ग यही है कि हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों तथा स्नेह, संयम व निर्द्वेषता का पोषण करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

आदित्यजूतः

दधा॑नो॒ गोम॒दश्व॑वत्सु॒वीर्य॑मादि॒त्यजू॑त एधते। सदा॑ रा॒या पु॑रु॒स्पृहा॑॥ ५॥

(१) **आदित्यजूतः**=सूर्य से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाली, **अश्ववत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **दधानः**=धारण करता है। सूर्य की तरह निरन्तर क्रियाशील जीवन बिताने से इन्द्रियाँ उत्तम शक्तिसम्पन्न बनती हैं। (२) यह व्यक्ति **सदा**=सदा **पुरुस्पृहा**=बहुतों से चाहने योग्य **राया**=ऐश्वर्य से **एधते**=बढ़ता है।

भावार्थ—सूर्य से प्रेरणा को प्राप्त करके निरन्तर क्रियाशील बननेवाला व्यक्ति प्रशस्त इन्द्रियों को, वीर्य (शक्ति) को तथा स्पृहणीय धन को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्रं दानम् ईमहे (शवसानम्, अभीर्वम्)

तमिन्द्रं॒ दान॑मीमहे शव॒सान॑मभी॑र्वम्। ईशा॑नं रा॒य ई॑महे॥ ६॥

(१) **तम्**=उस **इन्द्रं**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से **दानं**=उस धन को दान की **ईमहे**=याचना करते हैं जो हमारे जीवन में **शवसानम्**=बल की तरह आचरण करता है—जो धन हमें बलवान् बनाता है तथा **अभीर्वम्**=हमें निडर बनाता है। (२) उस **ईशानं**=ईश से-स्वामी से ही हम **रायः**=दान देने योग्य धनों को मांगते हैं। हम उन धनों की याचना करते हैं, जो लोकहित के लिए दान में विनियुक्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से हम उस धन की याचना करते हैं जोकि हमें (क) सबल बनाएँ, (ख) अभीरु बनाएँ, तथा (ग) दान में विनियुक्त हो।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

अभीरवः ऊतयः

तस्मि॒न्हि सन्त्यू॒तयो॒ विश्वा॒ अभी॑रवः॒ सचा॑। तमा व॑हन्तु॒ सप्त॑यः पुरू॒वसुं॒ मदा॑य॒ हर॑यः सु॒तम्॥ ७॥

(१) **तस्मिन्**=उस प्रभु में **हि**=निश्चय से **विश्वाः**=सब **अभीरवः**=हमें भीरुता से ऊपर उठानेवाले-कायरता से दूर करनेवाले **ऊतयः**=रक्षण **सचा**=समवेत **सन्ति**=हैं। सब रक्षण प्रभु के आधार से रहते हैं। प्रभु सब रक्षणों को प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **तम्**=उस **पुरूवसुं**=पालक व पूरक वसुओंवाले (ऐश्वर्योंवाले) प्रभु को **सप्तयः**=हमारे ये इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=हमारे लिए प्राप्त कराएँ। ये **हरयः**=इन्द्रियाश्व **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम को **मदायः**=हर्ष व उल्लास के लिए (**आवहन्तु**)=प्राप्त कराएँ। हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी हों—हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें, तथा सोम का रक्षण कर पाएँ। इन्द्रियों की बहिर्मुखता वीर्यरक्षण के अनुकूल नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु द्वारा ही सब रक्षण प्राप्त होते हैं। ये रक्षण ही हमें निडर बनाते हैं। हमारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखवृत्तिवाली होकर हमें प्रभुदर्शन के व सोमरक्षण के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

वरेण्य 'मद'

यस्ते मदो वरेण्यो य इन्द्र वृत्रहन्तमः। य आददिः स्वर्नृभिर्यः पृतनासु दुष्टरः॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो **ते मदः**=तेरी प्राप्ति से प्राप्त होनेवाला मद (उल्लास) है वह **वरेण्यः**=वरने योग्य है। वह मद **यः**=जो **वृत्रहन्तमः**=वासनाओं को अधिक-से-अधिक विनष्ट करनेवाला है। (२) हे प्रभो! वह आपका मद **नृभिः**=मनुष्यों से वरणीय है **यः**=जो **स्वः**=प्रकाश को **आददिः**=ग्रहण करनेवाला है तथा **यः**=जो मद **पृतनासु**=संग्रामों में **दुष्टरः**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से प्राप्त मद (उल्लास) (१) वासना को विनष्ट करता है, (२) प्रकाश को प्राप्त कराता है (३) शत्रुओ से अभिभूत नहीं होता।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—स्वराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'दुष्टर, श्रवाय्य व तरुता' मद

यो दुष्टरो विश्ववार श्रवाय्यो वाजेष्वस्ति तरुता।
स नः शविष्ठ सवना वसो गहि गमेम गोमति व्रजे॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के मद का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यः**=जो, हे **विश्ववार**=सब से वरणीय प्रभो! अथवा सब वरणीय वस्तुओंवाले प्रभो! (**मदः**=) आपकी प्राप्ति से उत्पन्न मद है वह **दुष्टरः**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं **श्रवाय्यः**=यह हमारे जीवन को यशस्वी बनानेवाला है, **वाजेषु**=संग्रामों में **तरुता अस्ति**=तरानेवाला है। (२) हे **शविष्ठ**=सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न! **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे **सवना**=जीवनयज्ञों में **आगहि**=प्राप्त होइये। हम आपके अनुग्रह से **गोमति व्रजे**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले इस शरीररूप गृह में **गोमत**=प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मद 'दुष्टर, श्रवाय्य व तरुता' है। हमें प्रभु प्राप्त हों और हम प्रशस्त इन्द्रियोंवाले शरीर को प्राप्त हों।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गव्या+अश्वया+रथया

गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया। वरिवस्य महामह॥ १०॥

(१) हे **महामह**=महान् प्रकाशवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **यथा पुरा**=जैसे पहले युगों में उसी प्रकार **गव्या**=ज्ञानेन्द्रिय समूह को देने की कामना से, **उ**=और **अश्वया**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराने की कामना से **उत**=और **रथया**=उत्तम शरीररथ को प्राप्त कराने की कामना से **सुवरिवस्य**=सम्यक् आदृत करिये। (२) प्रभुद्वारा उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियों व उत्तम शरीररथ का प्राप्त कराया जाना ही हमारा महान् आदर है।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ, उत्तम कर्मेन्द्रियाँ व उत्तम शरीररूप रथ प्राप्त कराते हैं। इनका ठीक प्रयोग हमें भी महान् प्रकाशवाला बनाता है।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

धन+शक्ति+बुद्धि

नहि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा। दशस्या नो मघवन्नू चिदद्रिवो धियो वाजेभिराविथ॥ ११॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **राधसः**=ऐश्वर्य के **अन्तं**=अन्त को **सत्रा**=सचमुच **न हि विन्दामि**=नहीं प्राप्त कर सकता हूँ—आपका ऐश्वर्य सचमुच अनन्त है। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए भी आवश्यक धनों को **नूचित्**=शीघ्र ही **दशस्य**=दीजिए। (२) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! आप ही इन आवश्यक धनों को देकर **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **धियः**=हमारी बुद्धियों को व कर्मों को **आविथ**=रक्षित करते हो।

भावार्थ—वे अनन्त ऐश्वर्यवाले प्रभु हमें जीवनयात्रा के लिए आवश्यक धनों को देकर हमारी शक्तियों व बुद्धियों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

श्रावयत्सखा

य ऋष्वः श्रावयत्सखा विश्वेत्स वेद जनिमा पुरुष्टुतः।
तं विश्वे मानुषा युगेन्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुचः॥ १२॥

(१) **यः**=जो प्रभु **ऋष्वः**=दर्शनीय—सुन्दर—ही—सुन्दर हैं, **श्रावयत्सखा**=अपने मित्र बननेवालों को ज्ञान को सुनानेवाले हैं। **सः**=वे **पुरुष्टुतः**=बहुतों से स्तुति किये गये प्रभु **विश्वा इत्**=सब ही **जनिमा**=उत्पन्न होनेवालों को **वेद**=जानते हैं। (२) **तं**=उस **इन्द्रं**=परमैश्वर्यशाली **तविषं**=अतिशयेन बलवान् प्रभु को **विश्वे**=सब **यतस्रुचः**=संयत वाणीवाले पुरुष **मानुषा युगा**=मानव युगों में, अर्थात् सब कालों में **हवन्ते**=पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु दर्शनीय—ज्ञान देनेवाले व सर्वज्ञ हैं। वाणी का संयम करनेवाले सभी पुरुष उस प्रभु का सदा आराधन करते हैं।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पुरूवसुः-पुरःस्थाता

स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः पुरःस्थाता मघवा वृत्रहा भुवत्॥ १३॥

(१) **सः**=वे प्रभु ही **वाजेषु**=संग्रामों में **नः अविता**=हमारे रक्षक हैं। **पुरूवसुः**=वे प्रभु पालक व पूरक धनोंवाले हैं। **पुरःस्थाता**=हमारे आगे ठहरनेवाले हैं—हमारे लिए नेतृत्व को देनेवाले हैं। (२) वे **मघवा**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **वृत्रहा**=वासनाओं को नष्ट करनेवाले **भुवत्**=हैं।

भावार्थ—प्रभु संग्रामों में हमारे रक्षक हैं, पालक व पूरक धनों को प्राप्त कराते हैं—हमारे मार्गदर्शक हैं—हमारी वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

वीरं, विचेतसं, श्रुत्यं शाकिनम्

अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम्।
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा॥ १४॥

(१) **वः वीरं**=तुम्हारे शत्रुओं के कम्पित करनेवाले (वि+ईर्) **महा विचेतसम्**=महान्

विशिष्ट प्रज्ञानवाले प्रभु को **अन्धसः मदेषु**=सोमपानजनित मदों में **गिरा**=इस ज्ञान की वाणियों के द्वारा **अभिगाय**=तू गायन कर। (२) तू **इन्द्रं**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले, **नाम**=शत्रुओं को नमानेवाले–झुका देनेवाले **श्रुत्यं**=ज्ञान में प्रसिद्ध **शाकिनं**=शक्तिशाली–हमें शक्तिशाली बनानेवाले–प्रभु को **वचो यथा**=वेदवाणी के अनुसार स्तुत कर।

भावार्थ–प्रभु वीर व विचेता हैं–शत्रुओं को नष्ट करनेवाले व ज्ञानी हैं। वे ज्ञान में प्रसिद्ध व शक्तिशाली हैं। इन प्रभु का हम स्तवन करें।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रेक्ण वसु वाजिनम् (धन व शक्ति)

दुदी रेक्णस्तन्वे दुदिर्वसु दुदिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनम्। नूनमथ॥ १५॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! आप **तन्वे**=हमारे शरीरों के रक्षण के लिए **रेक्णः**=धन को **ददिः**=देनेवाले हैं। आप **नूनं**=शीघ्र ही **अथ**=अभी ही **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धन को **ददिः**=देनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! आप **वाजेषु**=संग्रामों में **वाजिनम्**=(Power) शक्ति को **ददिः**=देनेवाले हैं।

भावार्थ–प्रभु शरीर के लिए आवश्यक धनों को देते हैं और संग्रामों में शक्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पुरउष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

वसु प्राप्ति व शत्रुदलन

विश्वेषामिरज्यन्तं वसूनां सासह्वांसं चिदस्य वर्पसः। कृपयतो नूनमत्यथ॥ १६॥

(१) तू **विश्वेषां**=सब **वसूनां**=वसुओं के–निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों के **ईरज्यन्तं**=स्वामी, और **अस्य**=इस **कृपयतः**=(युद्धं कल्पयतः) युद्ध को करते हुए **वर्पसः**=तेजस्वी शत्रु के **सासह्वांसं**=अभिभूत करनेवाले प्रभु को **नूनं**=निश्चय से स्तुत कर। (२) हे जीव! **अथ**=अब **नूनं**=शीघ्र ही **अतिचित्**=अभी ही तू उस प्रभु को स्तुत कर। यह प्रभुस्तवन ही तेरे जीवन को सब वसुओं के प्राप्त कराने के द्वारा उत्तम बनाएगा और तेरे सब शत्रुओं को अभिभूत करके तेरे जीवन को मधुर बनाएगा।

भावार्थ–हम प्रभुस्तवन करें। यही सब वसुओं को प्राप्त करने व सब शत्रुओं को अभिभूत करने का मार्ग हैं।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

मीढुषे-अरंगमाय-जग्मये

महः सु वो अरमिषे स्तवामहे मीळ्हुषे अरंगमाय जग्मये।
यज्ञेभिर्गीर्भिर्विश्वमनुषां मरुतामियक्षसि गाये त्वा नमसा गिरा॥ १७॥

(१) हे इन्द्र! **महः वः**=महान् आपके **अरं**=गमन को (ऋ गतौ) **सु इषे**=सम्यक् चाहता हूँ इसीलिए **मीढुषे**=सुखों के वर्षक, **अरंगमाय**=पर्याप्त गमनवाले–सर्वत्र गमनवाले, **जग्मये**=सदा क्रियाशील (स्वाभाविकी ज्ञान–बल–क्रिया च) उस प्रभु के लिए **स्तवामहे**=हम स्तवन करते हैं। (२) हे प्रभो! आप **यज्ञेभिः**=यज्ञों के द्वारा और **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **विश्वमनुषां**=सब मननशील **मरुतां**=मनुष्यों के **इयक्षसि**=सम्पर्कवाले होते हैं (यज संगतिकरणे)। ये मननशील पुरुष

यज्ञों व ज्ञान की वाणियों के द्वारा आपको प्राप्त होते हैं। हे प्रभो! मैं **नमसा**=नमन के साथ **गिरा**=स्तुतिवाणियों से **गाये**=आपका गायन करता हूँ।

भावार्थ—मैं नमन यज्ञ व ज्ञान की वाणियों के द्वारा प्रभु का स्तवन करता हूँ। प्रभु ही हमें सब सुखों का वर्षण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

गिरीणां अज्मभिः स्नुभिः

ये पातयन्ते अज्मभिर्गिरीणां स्नुभिरेषाम्। यज्ञं महिष्वणीनां सुम्नं तुविष्वणीनां प्राध्वरे॥ १८॥

(१) **गिरीणां**=आश्रमों में ज्ञानोपदेश करनेवाले (गृणन्ति) गुरुओं के **अज्मभिः**=जीवनमार्गों से **स्नुभिः**=इनकी स्नायुओं से—इनकी तरह उत्साह से **ये**=जो **पातयन्ते**=चलते हैं, **एषां**=इन **महिष्वणीनां**=महनीय ध्वनिवाले ज्ञानियों के **यज्ञं**=संग को (यज संगतिकरणे) हम प्राप्त हों। इनके संग में हम भी तत्त्वदर्शनवाले बनें। (२) इन **तुविष्वणीनां**=महान् ध्वनिवालों के **सुम्नं**=स्तोत्रों को **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में हम प्राप्त करें। स्तोत्रों का ऊँचे-ऊँचे उच्चारण करें।

भावार्थ—हम ज्ञानोपदेष्टाओं के मार्गों व उत्साहों का अवलम्बन करते हुए चलें। हम इनके सम्पर्क में आकर प्रभु के स्तोता बनें।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

दुर्मति विनाश तथा 'ज्येष्ठ युज्य' धन की प्राप्ति

प्रभङ्गं दुर्मतीनामिन्द्र शविष्ठा भर। रयिमस्मभ्यं युज्यं चोदयन्मते ज्येष्ठं चोदयन्मते॥ १९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिसम्पन्न **चोदयन्मते**=बुद्धि को प्रेरित करनेवाले प्रभो! हमारे लिए **दुर्मतीनां प्रभङ्गं**=दुर्मतियों के विनाश को **आभर**=पुष्ट करिये। आपके अनुग्रह से हमारी सब दुर्मतियाँ दूर हों। (२) हे **चोदयन्मते**=उत्तम बुद्धियों को प्रेरित करनेवाले प्रभो! आप **अस्मभ्यं**=हमारे लिए **ज्येष्ठं**=अतिप्रशस्त व **युज्यं**=योग्य—हमारे लिए उचित अथवा हमें सबके साथ मिलानेवाले **रयिं**=धन को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु हमारी बुद्धियों को सत्प्रेरणा देकर दुर्मतियों को दूर करिये और प्रशस्त सबके साथ मेल करानेवाले धन को प्राप्त कराइये।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

भुज्यु पूर्व्य=शत्रु से अपना रक्षण

सनितः सुसनितरुग्र चित्र चेतिष्ठ सूनृत। प्रासहा सम्राट् सहुरिं सहन्तं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम्॥ २०॥

(१) **सनितः**=हे सब धनों के संभक्त, **सुसनितः**=खूब अच्छी प्रकार धनों का संविभाग करनेवाले, **उग्र**=तेजस्विन्, **चित्र**=(चित्) ज्ञान के देनेवाले, **चेतिष्ठ**=चेतानेवाले, **सूनृत**=प्रिय सत्य वाणीवाले प्रभो! आप **सम्राट्**=शासक हैं, शक्ति से दीप्त हैं। (२) हे प्रभो! आप **वाजेषु**=संग्रामों में **प्रासहा**=उस शत्रु का पराभव करिये जो **सहुरिं**=सबका मर्षण करनेवाला है, **सहन्तं**=सहनेवाला है—शत्रुकृत घाटे से न घबरानेवाला है। **भुज्युं**=अपने भोग को बढ़ानेवाला है तथा **पूर्व्यम्**=पहले आक्रमण करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु ही शासक हैं। वे हमारे अपने भोग को बढ़ानेवाले तथा प्रथम आक्रमण करनेवाले शत्रु को कुचलनेवाले हैं।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—पृथुश्रवसः कानीतस्य दानुस्तुतिः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

क्रियाशीलता व 'पूर्त कर्मों' को करना

आ स एतु य ईवदाँ अदेवः पूर्तमाददे।
यथा चिद्वशो अश्व्यः पृथुश्रवसि कानीतेऽस्या व्युष्याददे॥ २१॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **सः**=वह **आ एतु**=हमारे पास सर्वथा प्राप्त हो **यः**=जो **आ ईवत्**=सर्वथा गतिशील है। अकर्मण्य का प्रभु के समीप प्राप्त होने का अधिकार नहीं। वह प्रभु के समीप प्राप्त हो, जो **अदेवः**=देववृत्ति को पूर्णतया न अपना सकने पर भी **पूर्तम् आददे**=बावड़ी, कुआँ, तालाब व पूजागृह आदि के निर्माण के कार्यों को **आददे**=स्वीकार करता है। कुछ न कुछ लोकहित करनेवाला प्रभु के समीप प्राप्त होता ही है। (२) **यथाचिद्**=जैसे-जैसे **वशः**=इन्द्रियों को वश में करनेवाला और **अश्व्यः**=इन्द्रियाश्वों को प्रशस्त बनानेवाला यह उपासक **पृथुश्रवसि**=विशाल ज्ञानदीप्तिवाली **कानीते**=प्रकाश से चमकनेवाली—ज्ञान व स्वास्थ्य के तेज को प्राप्त करानेवाली **अस्याः**=इस **व्युषि**=उषा के उदित होने पर **आददे**=इन पूर्तकर्मों को स्वीकार करता है, उसी अनुपात में यह प्रभु के समीप होता है।

भावार्थ—इस क्रियाशील बनकर लोकहित के कर्मों में प्रवृत्त हों। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—पृथुश्रवसः कानीतस्य दानुस्तुतिः॥ छन्दः—निचृद् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अश्व-उष्ट्र-गौ

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा॥ २२॥

(१) 'अश्नुते इति अश्वः, तेषु उत्तमः अश्व्यः' **अश्व्यस्य**=व्यापक तत्त्वों में सर्वोत्तम उस प्रभु के **अयुता**=सदा साथ रहनेवाले **षष्टिं सहस्रा**='आध्यात्मिक-आधिभौतिक व आधिदैविक' इन त्रिविध अश्वों के कारण बीस हज़ार होते हुए भी साठ हजार मन्त्ररूप वचनों को मैं **असनम्**=प्राप्त करूँ। इन मन्त्ररूप वचनों के द्वारा होनेवाले **उष्ट्राणां विंशतिं** (उष दाहे+त्र)=दोषदहन की २० क्रियाओं को **शता**=शतवर्षपर्यन्त प्राप्त करूँ। मेरे दसों प्राण व दसों इन्द्रियाँ बड़ी निर्दोष बनें। इन बीस के सब दोष ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाएँ। (२) इस प्रकार दोषदहन से **दश श्यावीनां**=(श्यैङ् गतौ) दस गतिशील इन्द्रियों को भी **शता**=शतवर्षपर्यन्त प्राप्त करूँ। इन्द्रियाँ निर्दोष बनें और सौ वर्ष तक ठीक कार्य करती रहें। इन इन्द्रियों के ठीक होने पर **त्र्यरुषीणाम्**=शरीर, मन व मस्तिष्क—तीनों को आरोचमान बनानेवाली अथवा 'ज्ञान-कर्म-उपासना' तीनों का प्रकाश करनेवाली **गवां**=वेदवाणीरूपी गौओं को **दश दश**=दस गुणा दस अर्थात् १०० वर्ष तक प्राप्त करूँ। ये वेदवाणीरूप गौएँ **सहस्रा**=मेरे लिए (स+हस्) आनन्दोल्लास को देनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभु के मन्त्ररूप वचनों को प्राप्त करके मैं प्राणों व इन्द्रियों को ज्ञानाग्नि में निर्दोष बना पाऊँ। मेरी ये निर्दोष इन्द्रियाँ खूब क्रियाशील हों, और ये ज्ञान, कर्म व उपासना का प्रकाश करनेवाली वेदवाणीरूप गौओं के दुग्ध का पान करें और आनन्द को सिद्ध करें।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—पृथुश्रवसः कानीतस्य दानुस्तुतिः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रथ के दस घोड़े

दर्श श्यावा ऋधद्रयो वीतवारास आशवः। मथ्रा नेमिं नि वावृतुः॥ २३॥

(१) **दश**=दस **श्यावाः**=गतिशील इन्द्रियाश्व **नेमिं**=रथचक्र को **निवावृतुः**=निश्चय से परिवृतत करते हैं—आगे और आगे ले-चलते हैं। शरीर ही रथ हैं, इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं। ये दस घोड़े इस रथ में जुते हैं। ये ही इसे उन्नति के मार्ग पर आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। (२) ये इन्द्रियाश्व **ऋधद्रयः**=बढ़े हुए वेगवाले हैं। **वीतवारासः**=ये प्राप्त वरणीय शक्तिवाले हैं। **आशवः**=शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाले हैं और **मथ्रा**=शत्रुओं को कुचल देनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व गतिशील वेगवान्-बलवान् मार्ग का व्यापन करनेवाले व शत्रुओं को कुचलनेवाले हों।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—पृथुश्रवसः कानीतस्य दानुस्तुतिः॥ छन्दः—निचृद् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

हिरण्यय रथ

दानासः पृथुश्रवसः कानीतस्य सुराधसः।
रथं हिरण्ययं ददन्मंहिष्ठः सूरिरभूद्वर्षिष्ठमकृत श्रवः॥ २४॥

(१) उस **पृथुश्रवसः**=विस्तृत कीर्तिवाले, **कानीतस्य**=दीप्त, **सुराधसः**=शोभन ऐश्वर्योंवाले प्रभु के **दानासः**=ये सब दृश्यमान दान है। गतमन्त्र में वर्णित दस इन्द्रियाश्व भी उस प्रभु की ही देन हैं। (२) **हिरण्ययं रथं ददत्**=इस ज्योतिर्मय शरीररथ को देता हुआ वह प्रभु **मंहिष्ठः**=हमारे लिए दातृतम है—सर्वोत्तम दाता है। इन वस्तुओं को देने के साथ वे प्रभु **सूरिः अभूत्**=प्रेरणा देनेवाले हैं। इन वस्तुओं का प्रयोग व प्रतियोग न करके यथायोग करने के लिए प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं। इस प्रेरणा के द्वारा ही प्रभु हमारे लिए **वर्षिष्ठ**=अत्यन्त उत्कृष्ठ व बहुत **अवः**=ज्ञान को **अकृत**=करते हैं। इस ज्ञान से ही तो हमारा जीवन पवित्र बनता है।

भावार्थ—प्रभु के दान अनन्त हैं। प्रभु ने यह ज्योतिर्मय शरीररथ हमें दिया है। इसको चलाने के लिए वे प्रेरणा दे रहे हैं। इस प्रेरणा से ही हमारा ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

तने, मखाय, पाजसे

आ नो वायो महे तने याहि मखाय पाजसे।
वयं हि ते चकृमा भूरि दावने सद्यश्चिन्महि दावने॥ २५॥

(१) हे **वायो**=गति के द्वारा सब बुराइयों का विध्वंस करनेवाले प्रभो! **आयाहि**=आप आइये। **नः**=हमारे **महे**=महान् **तने**=शक्ति के विस्तार के लिए आप हमें प्राप्त होइये। **मखाय**=यज्ञों के लिए तथा **पाजसे**=शक्ति के लिए आप हमें प्राप्त होइए। (२) **वयं**=हम **भूरिदावने**=खूब ही देनेवाले **ते**=आपके लिए **हि**=निश्चय से **चकृमा**=स्तुति को करें। **महिदावने**=महान् दाता के लिए **सद्यः चित्**=शीघ्र ही स्तुति को करें।

भावार्थ—प्रभुस्तवन द्वारा हम प्रभु के सान्निध्य को प्राप्त करें। यह सान्निध्य हमारी शक्तियों के विस्तार के लिए-यज्ञ की प्रवृत्ति के लिए तथा बल के लिए हो। उस महान् दाता प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी दानशील बनें।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—स्वराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अश्वेभिः वहते, उस्त्राः वस्ते

यो अश्वेभिर्वहते वस्त उस्त्रास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम्।
एभिः सोमेभिः सोमसुद्भिः सोमपा दानाय शुक्रपूतपाः॥ २६॥

(१) **यः**=जो **अश्वेभिः**=इन्द्रियाश्वों के द्वारा **वहते**=शरीररथ को लक्ष्य की ओर ले-जाता है, वह **सप्ततीनां**=(सप्=To worship)प्रभुपूजन करनेवाली वेदवाणियों के **त्रिः सप्त**=तीन प्रकार से-आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक अर्थ भेद से-सात छन्दों में प्रतिपादित **उस्त्राः**=ज्ञानरश्मियों को **वस्ते**=धारण करता है। (२) यह ज्ञानरश्मियों को धारण करनेवाला व्यक्ति **एभिः**=इन **सोमेभिः**=सोमकणों के द्वारा और **सोमसुद्भिः**=सोम का अभिषव करनेवाले पुरुषों के सम्पर्क में **सोमपाः**=सोम का पान (रक्षण) करनेवाला होता हुआ **दानाय**=सदा दान के लिए होता है-देने की वृत्तिवाला बनता है। **शुक्रपूतपाः**=शुक्र से-वीर्य से-पूत-पवित्र हुई-हुई इन्द्रियों का रक्षण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि (१) इन्द्रियाश्वों के द्वारा शरीररथ को लक्ष्य की ओर ले-चलें। (२) वेदवाणियों की ज्ञान किरणों को धारण करें। (३) सोम का रक्षण करें। (४) सोम से सबल बनी हुई इन्द्रियों का रक्षण करें, (५) दान की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

सुकृत्तराय सुक्रतुः

यो म इमं चिदु त्मनामन्दच्चित्रं दावने।
अरट्वे अक्षे नहुषे सुकृत्वनि सुकृत्तराय सुक्रतुः॥ २७॥

(१) **यः**=जो प्रभु **मे**=मेरे लिए **चित् उ**=निश्चय से **इमं**=इस **चित्रं**=ज्ञानप्रद धन को **दावने**=देने के लिए **त्मना**=स्वयं **अमन्दत्**=आनन्द का अनुभव करता है। वे प्रभु **अरट्वे**=न रोनेवाले, **अ-क्षे**=न क्षीण होनेवाले, **नहुषे**=अपने को औरों से बाँधनेवाले (नह बन्धने) **सुकृत्वनि**= उत्तमता से कर्तव्य कर्मों को करनेवाले पुरुषों में **सुकृत्तराय**=शोभनकर्मों को करनेवाले के लिए **सुक्रतुः**=उत्तम प्रज्ञान व शक्तिवाला होता है। (२) प्रभु हमारे लिए ज्ञानप्रद धन को देते हुए आनन्दित होते हैं। हम संसार में रोयें नहीं, क्षीणशक्ति न हो जाएँ, औरों के साथ अपने को बाँधकर चलें, उत्तम कर्तव्य कर्मों को करनेवाले बनें। सुकृत्तर बनें-पुण्य कर्म करनेवाले बनें। प्रभु हमें शक्ति देंगे।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए ज्ञानरूप धन को देते हैं। हम शोभनकर्मों में प्रवृत्त होंगे तो प्रभु से शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'अश्वेषितं-रजेषितं-शुनेषितं' अज्म

उचथ्ये वपुषि यः स्वराळुत वायो घृतस्नाः।
अश्वेषितं रजेषितं शुनेषितं प्राज्म तदिदं नु तत्॥ २८॥

(१) **उचथ्ये**=स्तुति में उत्तम (स्तुत्य) **वपुषि**=शरीर में **यः**=जो **स्वराट्**=स्वयं शासन करनेवाला बनता है। **उत**=और हे **वायो**=गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभो! जो **घृतस्नाः**=ज्ञान की दीप्ति में स्नान करके अपना शोधन करता है। यही घर को उत्तम बनाता है।

(२) **अश्वेषितं**=(अश् व्याप्तौ) सर्वव्यापक प्रभु से प्रापित **रजेषितं**=(रञ्ज्) रञ्जनात्मक-आनन्दमय-प्रभु से प्राप्ति तथा **शुनेषितं**=(शुन गतौ) गतिमय प्रभु से प्रापित **तत्**=वह **इदं**=यह **नु**=निश्चय से **तत् प्र अज्म**=वह प्रकृष्ट गृह है (अज्म=home)। प्रभु ने यह शरीररूप गृह प्राप्त कराया है। हमें चाहिए कि हम भी कुछ व्यापक उदारवृत्तिवाले बनें, आनन्दमय स्वभाववाले बनें तथा गतिशील हों। तभी यह शरीरगृह उत्तम बनेगा।

भावार्थ—इस शरीरगृह में हम स्तुति करनेवाले बनें, ज्ञान में अपने को पवित्र करें। उदार प्रसन्न व गतिशील बनकर शरीरगृह को उत्तम बनाएँ। इसके लिए ऐसा कहा जा सके कि—'घर तो यह है।'

ऋषिः—वशोऽश्व्यः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

वेदवचन+शक्तिसिक्त इन्द्रियाँ

अध॑ प्रि॒यमि॑षि॒राय॑ ष॒ष्टिं स॒हस्रा॑सनम्। अश्वा॑ना॒मिन्न वृष्णा॑म्॥ २९ ॥

(१) **अध**=सब **इषिराय**=उस प्रेरक प्रभु के लिए **प्रियं**=प्रिय **षष्टिं सहस्रा**=आध्यात्मिक-आधिभौतिक व आधिदैविक अर्थभेद से २० हज़ार होते हुए भी जो ६० हज़ार हैं उन वेदवचनों को **असनम्**=मैं प्राप्त करूँ। (२) **न**=इसी प्रकार **इत्**=निश्चय से **वृष्णाम् अश्वानाम्**=शक्ति का सेचन करनेवाले इन्द्रियाश्वों का ग्रहण करूँ।

भावार्थ—वेदवचनों का ग्रहण करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें। शक्तिसिक्त इन्द्रियों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

प्रभु के समीप

गावो॒ न यू॒थमुप॑ यन्ति॒ वध्र॑य॒ उप॒ मा य॑न्ति॒ वध्र॑यः ॥ ३० ॥

(१) **न**=जिस प्रकार **गावः**=गौवें, अपने रक्षण के लिए **यूथम्**=गोसमूह को प्राप्त होती हैं। अलग न घूमकर झुण्ड में ही आ जाती है, उसी प्रकार **वध्रयः**=अपने को व्रतों की रज्जु में बाँधनेवाले संयमी लोग **उपयन्ति**=अपने रक्षणों के लिए प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि ये **वध्रयः**=संयमी पुरुष **मा उपयन्ति**=मुझे समीपता से प्राप्त होते हैं। प्रभु सामीप्य में ही ये अपने को सुरक्षित अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम व्रतों के बन्धनों में अपने को बाँधते हुए अपने रक्षण के लिए प्रभु के इस प्रकार समीप हों, जैसे गौवें झुण्ड के समीप।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—स्वराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

चारथ गण की शुद्धता

अध॒ यच्चार॑थे ग॒णे श॒तमुष्ट्राँ॒ अचि॑क्रदत्। अध॒ श्वित्ने॑षु विं॒शतिं॑ श॒ता ॥ ३१ ॥

(१) शरीर चरथ हैं। इसमें इन्द्रियों का समूह व प्राणों का समूह 'चारथ गण' है। **अध**=अब **यत्**=जब **चारथे गणे**=इस शरीरस्थ इन्द्रियसमूह व प्राणसमूह में **शतं**=शतवर्षपर्यन्त **उष्ट्रान्** (उष दाहे)=दोषदहन की वृत्तियों-शक्तियों को **अचिक्रदत्**=पुकारता है **अध**=तो **श्वित्नेषु**=इन श्वेतगणों में **विंशतिं**=बीस दोषदहन प्रक्रियाओं को **शता**=शतवर्षपर्यन्त प्राप्त करता है। (२) प्रभु से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि वे हमारे इन्द्रियसमूह व प्राणसमूहों को दग्धदोष करें, और इन बीस संख्यावाले प्राणेन्द्रिय समूहों में शतवर्षपर्यन्त ये दोषदहन प्रक्रियाएँ चलती रहें।

भावार्थ—हमारा इन्द्रियों व प्राणों का समूह दोषदहन से निर्दोष बने। यह समूह निर्मल व श्वेत बन जाएँ।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः ॥ **देवता**—वायुः ॥ **छन्दः**—बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

इन्द्रगोपाः-देवगोपाः

शतं दासे बल्बूथे विप्रस्तरुक्ष आ ददे।
ते ते वायविमे जना मदन्तीन्द्रगोपा मदन्ति देवगोपाः ॥ ३२ ॥

(१) **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला व्यक्ति **दासे**=शत्रुओं का उपक्षय होने पर तथा **बल्बूथे**=बल का गृह बनने पर **तरुक्षः**=उस तारक प्रभु में (क्षि निवासे) निवास करनेवाला होता हुआ **शतं**=शतवर्ष के जीवन को **आददे**=ग्रहण करता है। (२) हे **वायो**=गति के द्वारा सब बुराइयों का गन्धन करनेवाले प्रभो! **इमे जनाः**=ये लोग **ते**=आपके हैं और **ते**=वे **इन्द्रगोपाः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से रक्षित होते हुए (इन्द्रः गोपाः येषां) **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं। **देवगोपाः**=दिव्यगुणों का रक्षण करनेवाले ये लोग (देवानां गोपाः) **मदन्ति**=आनन्दित होते हैं।

भावार्थ—हम वासनाओं का क्षय करके तथा बल का गृह बनकर प्रभु में निवास करते हुए सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें। प्रभु से रक्षित होते हुए और दिव्यगुणों का रक्षण करते हुए हम आनन्दित हों।

ऋषिः—वशोऽश्व्यः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'मही योषणा अधिरुक्मा'

अध स्या योषणा मही प्रतीची वशमश्व्यम्। अधिरुक्मा वि नीयते ॥ ३३ ॥

(१) **अध**=अब **स्या**=वह **योषणा**=बुराइयों को पृथक् करनेवाली व अच्छाइयों को मिलानेवाली यह वेदवाणीरूप माता **मही**=महनीय होती हुई **अधिरुक्मा**=अतिशयित ज्ञानरूप रुक्माभरणोंवाली **वशं**=अपनी इन्द्रियों को वश में करनेवाले **अश्वयं**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष के **प्रतीची**=अभिमुख प्राप्त होनेवाली **विनीयते**=ले जायी जाती हैं। (२) जितेन्द्रिय पुरुष को यह वेदवाणी प्राप्त होती है। यह उसके जीवन से सब दोषों को दूर करती है और अच्छाइयों को प्राप्त करती है। यह ज्ञानरूप देदीप्यमान आभरणोंवाली वेदवाणी इस वश को ही प्राप्त होती है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय (वश) व प्रशस्तेन्द्रिय (अश्व्य) बनें। हमें वेदज्ञान प्राप्त होगा। यह हमारे जीवन का पवित्र व दीप्त बनाएगा। इस योषणा के द्वारा-बुराइयों को पृथक् करनेवाली वेदवाणी के द्वारा—'हम त्रित' बनते हैं-काम-क्रोध-लोभ तीनों को तैर जाते हैं तथा 'आप्त्य' बनते हैं-प्रभु को प्राप्त करनेवालों में उत्तम। यह 'त्रित आप्त्य' आदित्यों का स्तवन करता है—

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—त्रित आप्त्यः ॥ **देवता**—आदित्याः ॥ **छन्दः**—जगती ॥ **स्वरः**—निषादः ॥

'मित्र और वरुण' का महान् रक्षण

महि वो महतामवो वरुण मित्र दाशुषे।
यमादित्या अभि द्रुहो रक्षथा नेमघं नशदनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥ १ ॥

(१) हे **वरुण**=निर्द्वेषता के दिव्यभाव, **मित्र**=स्नेह के दिव्यभाव! **महतो**=महान् **वः**=आपका

अवः=रक्षण **महि**=महान् है। यह रक्षण **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए होता है-उस व्यक्ति के लिए जो आपके प्रति अपने को दे डालता है-जिसकी साधना यही होती है कि निर्द्वेष बनना है और प्रेमवाला बनना है। (२) हे **आदित्याः**=उत्तमताओं का आदान करनेवाले दिव्यभावो! **यं**=जिसको **द्रुहाः**=द्रोह की भावना से **अभिरक्षथ**=आप बचाते हो, इस व्यक्ति को **ईम्**=निश्चय से **अघं**=पाप **न नशत्**=नहीं व्यापता। हे आदित्यो! **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=हमें निष्पाप बनानेवाले हैं। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ-मित्र और वरुण व आदित्यों का रक्षण महान् है। ये हमें द्रोह की भावना से बचाकर निष्पाप बनाते हैं। इनके रक्षण उत्तम हैं व पवित्र बनानेवाले हैं।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

पक्षा वयो यथोपरि

विदा देवा अघानामादित्यासो अपाकृतिम्।
पक्षा वयो यथोपरि व्यश्स्मे शर्म यच्छतानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ २॥

(१) हे **आदित्यासः**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले **देवाः**=देवो! दिव्यभावो! आप **अघानां**=पापों के **अपाकृतिम्**=दूरीकरण को **विद**=जानते हो, अर्थात् आप सब अशुभ-वृत्तियों को हमारे से दूर करते हो। (२) **यथा**=जैसे **वयः**=पक्षी **पक्षा**=पंखों को अपने बच्चों के **उपरि**=ऊपर उनके रक्षण के लिए करते हैं, इसी प्रकार आप **अस्मे**=हमारे लिए **शर्म**=शरण को **वियच्छत**=विशेष रूप से दो। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=निष्पाप हैं। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ-मित्र वरुण आदि आदित्य देवों का रक्षण हमारे जीवनों को निष्पाप बनाता है। ये हमारा उत्तम रक्षण करते हैं।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

वरूथ्य धनों की प्राप्ति

व्यश्स्मे अधि शर्म तत्पक्षा वयो न यन्तन।
विश्वानि विश्ववेदसो वरूथ्या मनामहेऽनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ ३॥

(१) हे देवो! **अस्मे**=हमारे लिए **तत् शर्म**=उस शरण को **अधिवियन्तन**=आधिक्येन प्राप्त कराओ, **न**=जैसे **वयः**=पक्षी **पक्षा**=अपने पंखों को बच्चों के रक्षण के लिए प्राप्त कराते हैं। (२) हे **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनोंवालो देवो! आपसे **विश्वानि**=सब **वरूथ्यानि**=गृहोचित धनों को **मनामहे**=माँगते हैं। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=निष्पाप हैं-हमारे जीवनों को पापशून्य बनानेवाले हैं। **वः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ-मित्र, वरुण आदि दिव्यभाव हमें गृहोचित सब उत्तम धनों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

विश्वस्य रायः ईशते

यस्मा अरासत क्षयं जीवातुं च प्रचेतसः।
मनोर्विश्वस्य घेदिम आदित्या राय ईशतेऽनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ ४॥

(१) **अस्मा**=हमारे लिए, हे **आदित्यः**=अच्छाइयों का आदान करनेवाले दिव्यभावो! आप

क्षयं=उत्तम निवास को **च**=व **जीवातुं**=जीवनौषध को **अरासत**=दीजिए। (२) **इमे**=ये आदित्य **घा इत्**=निश्चय से **विश्वस्य**=सब **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **मनोः**=विचारशील पुरुष के **रायः**=धनों के **ईशते**=ऐश्वर्यवाले हैं, अर्थात् ये आदित्य सब ज्ञानादि उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=निष्पाप हैं—हमें पापशून्य जीवनवाला बनाते हैं। **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—आदित्यवृत्तियाँ हमारे लिए प्रकृष्ट ज्ञान के साथ सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

निष्पापता

परि णो वृणजन्नघा दुर्गाणि रथ्यो यथा ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मण्यादित्यानामुतावस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥ ५ ॥

(१) **नः**=हमें **अघा**=पाप **परिवृणजन्**=सर्वथा छोड़ जाएँ, **यथा**=जैसे **रथ्यः**=रथ का वहन करनेवाले घोड़े **दुर्गाणि**=गड्ढे आदि विषम मार्गों को छोड़ जाते हैं। (२) हम **इत्**=निश्चय से **इन्द्रस्य**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु की **शर्मणि**=शरण में (shelter) **स्याम**=हों। **उत**=और **आदित्यानाम्**=आदित्यों के **अवसि**=रक्षण में हों। हे आदित्यो! **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **अनेहसः**=हमें निष्पाप बनाते हैं **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—आदित्यवृत्तियाँ व प्रभु की शरण हमें निष्पाप बनानेवाली हों।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

अदभ्र धन

परिह्वृतेदना जनो युष्मादत्तस्य वायति ।
देवा अदभ्रमाश वो यमादित्या अहेतनानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥ ६ ॥

(१) **परिह्वृता इत् अना**=तप नियम आदि से परिपीड़ित शरीर से ही युक्त **जनः**=मनुष्य **युष्मादत्तस्य**=हे देवो! आपसे दिये हुए धन को **वायति**=प्राप्त होता है। (२) हे **आशवः**=शीघ्र गतिवाले **आदित्याः**=अच्छाइयों का आदान करनेवाले **देवाः**=देवो! आप **यं**=जिसको **अहेतन**=व्याप्त करते हो-प्राप्त होते हो, वह-वह **अदभ्रं**=अनल्प बहुत अधिक धन को प्राप्त होता है। **वः**=तुम्हारे **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=हमें निष्पाप बनानेवाले हैं। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—तपस्वी पुरुष ही आदित्यों से अनल्प धन को प्राप्त करता है।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

क्रोध से मार्गभ्रष्ट न होना

न तं तिग्मं चन त्यजो न द्रासदभि तं गुरु ।
यस्मा उ शर्म सप्रथ आदित्यासो अराध्वमनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥ ७ ॥

(१) हे **आदित्यासः**=अच्छाइयों का आदान करनेवाले देवो! **यस्मा**=जिसके लिए आप **उ**=निश्चय से **सप्रथः**=विस्तृत **शर्म**=सुख **अराध्वम्**=देते हो उस व्यक्ति को **तिग्मं चन**=बड़ा तीव्र भी **त्यजः**=क्रोध **न द्रासत्**=कुत्सित गतिवाला नहीं करता है। **तं**=उसको **गुरु**=महान्

क्रोध भी **न अभि** (द्रासत्)=कुत्सित गतिवाला नहीं करता। (२) हे आदित्यो! **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=निष्पाप हैं। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं। आपके रक्षणों से रक्षित होकर हम निष्पाप बनते हैं।

भावार्थ–आदित्यों से रक्षित हुआ-हुआ पुरुष तीव्र व महान् क्रोध से कुत्सित गतिवाला नहीं होता। क्रोध के कारण यह कुकर्म नहीं करता।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

देव-संग

यु॒ष्मे दे॑वा॒ अपि॑ ष्मसि॒ यु॒ध्यन्त॑इव॒ वर्म॑सु।
यू॒यं म॒हो न॒ एन॑सो यू॒यमर्भा॑दुरुष्यताने॒हसो॑ व ऊ॒तयः॑ सुऊ॒तयो॑ व ऊ॒तयः॑॥ ८॥

(१) हे **देवाः**=देवो! दिव्य वृत्तिवाले पुरुषो! **युष्मे अपि ष्मसि**=आपमें हम अपिहित (ढके हुए) हों। आपमें हम इस प्रकार सुरक्षित हों, **इव**=जैसे **युध्यन्तः**=युद्ध करते हुए लोग **वर्मसु**= कवचों में सुरक्षित होते हैं। कवच जिस प्रकार शस्त्रों के घात से हमें बचाता है, उसी प्रकार देव हमारा रक्षण करते हैं। (२) हे देवो! **यूयं**=आप **नः**=हमें **महः एनसः**=महान् पापों से **उरुष्यत**=बचाते हो। **यूयं**=आप ही हमें **अर्भात्**=छोटे पापों से रक्षित करते हो। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=हमें निष्पाप बनानेवाले हैं। **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण है। सत्संग हमें सब प्रकार से पापों के आक्रमण से बचाता है। (३) यहाँ इस सूक्त में १८ बार **'अनेहसो व ऊतयः'** कहा गया है। १८ ही व्यसन हैं। १० कामज, ८ क्रोधज। इन सब व्यसनों से यह सत्संग हमारा रक्षण करता है। जीवित पुरुषों के सत्संग की तरह ही दिवंगत पुरुषों का संग भी उनके ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा प्राप्त होता है। यह संग सर्वोत्तम संग है।

भावार्थ–देव पुरुषों का संग हमें सब पापों के आक्रमण से बचाता है।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

अदिति

अदि॑तिर्न उरुष्य॒त्वदि॑तिः॒ शर्म॑ यच्छतु।
मा॒ता मि॒त्रस्य॑ रे॒वतो॑ऽर्य॒म्णो वरु॑णस्य चाने॒हसो॑ व ऊ॒तयः॑ सुऊ॒तयो॑ व ऊ॒तयः॑॥ ९॥

(१) **अदितिः**=अदीना देवमाता–हमें दीनता से ऊपर उठानेवाली और दिव्यगुणों को जन्म देनेवाली स्वास्थ्य की देवता **नः**=हमें **उरुष्यतु**=रक्षित करे। यह **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता **शर्म**=सुख को **यच्छतु**=दे। (२) यह स्वास्थ्य की देवता **मित्रस्य**=मित्र की **रेवतः**=रेवान् की **अर्यम्णः**=अर्यमा की **च वरुणस्य**=और वरुण की माता–निर्माण करनेवाली है। यह हमें स्नेहवाला (मित्र) धनवान् (रेवान्) संयमी (अर्यमा) व निर्द्वेष (वरुण) बनाती है। हे देवो! **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=हमें निष्पाप बनाते हैं। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ–स्वास्थ्य हमें रक्षित करता है–सुखी बनाता है। यह हमें स्नेहवाला, धनी, संयमी व निर्द्वेष बनाता है।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शरणं (=घर)

यद्देवाः शर्म शरणं यद्भद्रं यदनातुरम्।
त्रिधातु यद्वरूथ्यं१ तदस्मासु वि यन्तनानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ १०॥

(१) हे **देवाः**=दिव्यभावो! **यत्**=जो **शरणं**=गृह **शर्म**=सुख को देनेवाला है, **यद्**=जो **भद्रं**=कल्याण कर है, **यद्**=जो **अनातुरम्**=सब रोगों से रहित है, **त्रिधातु**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का सुन्दरता से धारण करनेवाला है और **यद्**=जो **वरूथ्यम्**=उत्तम धनवाला है व कष्ट का निवारण करनेवाला है, **तद्**=उस घर को **अस्मासु वियन्तन**=हमारे लिए प्राप्त कराइये। (२) हे देवो! **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=निष्पाप हैं—हमें पापशून्य बनानेवाले हैं। **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—दिव्यगुणों के धारण से घर सुख व कल्याण को करनेवाला तथा नीरोग व उत्तम शरीर, मन व बुद्धिवाला तथा कष्टों से रहित बनता है।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—स्वराट् त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आदित्यों की कृपादृष्टि

आदित्या अव हि ख्यताधि कूलादिव स्पशः।
सुतीर्थमर्वतो यथानु नो नेषथा सुगमनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ ११॥

(१) हे **आदित्याः**=अच्छाइयों का आदान करनेवाले आदित्यो! आप अधः स्थित हम लोगों का **हि**=निश्चय से **अव ख्यत**=इस प्रकार ध्यान करिये, **इव**=जिस प्रकार **अधिकूलात्**=ऊपर किनारे से **स्पशः**=द्रष्टा लोग अधोगत उदक को देखते हैं। वहाँ स्थित लोग **यथा**=जिसप्रकार **अर्वतः**=घोड़ों को **सुतीर्थम्**=उत्तम घाट पर पानी पीने के लिए ले-जाते हैं, उसी प्रकार **नः**=हमें **सुगम् अनुनेषथा**=सुन्दर गमनयोग्य मार्ग पर ले-चलिये। (२) माता, पिता, आचार्य व अतिथियों का कार्य यही है कि छोटों के लिए वे मार्ग प्रणेता हों। हे आदित्यो! **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **अनेहसः**=निष्पाप हैं—हमें पापशून्य जीवनवाला बनाते हैं। **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—आदित्यों के निरीक्षण में हम उत्तम मार्गों से गति करते हुए निष्पाप व सुन्दर जीवनवाले बनें।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

रक्षस्वी का अकल्याण

नेह भद्रं रक्षस्विने नावयै नोपया उत।
गवे च भद्रं धेनवे वीराय च श्रवस्यतेऽनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ १२॥

(१) अपने रक्षण के लिए औरों का क्षय करनेवाला पुरुष 'रक्षस्वी' है। **इह**=यहाँ संसार में **रक्षस्विने**=इस रक्षस्वी पुरुष के लिए **भद्रं न**=कल्याण न हो। **अवयै**=निम्न गतिवाले के लिए **न**=कल्याण न हो **उत**=और **उपयै न**=हिंसा के लिए हमारी ओर आते हुए के लिए कल्याण न हो। (२) **धेनवे**=नवसूतिका दुधार **गवे च**=गौ के लिए निश्चय से कल्याण हो, **च**=तथा **श्रवस्यते**=यशस्वी जीवन की कामनावाले **वीराय**=वीर पुरुष के लिए कल्याण हो। **वः**=आपके

ऊतयः=रक्षण **अनेहसः**=निष्पाप हों, **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हों।

भावार्थ—रक्षस्वी-निम्न गतिवाले-हिंसा के लिए समीप आनेवाले का अकल्याण हो होता है। नवसूतिका गौ व यशस्वी वीर का कल्याण हो।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

यद् आविः, यद् अपीच्यम्

यदाविर्यदपीच्यं देवासो अस्ति दुष्कृतम्।
त्रिते तद्विश्वमाप्त्य आरे अस्मद्दधातनानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ १३॥

(१) **यद्**=जो भी **आविः**=प्रकट पाप है और **यद् अपीच्यम्**=जो अन्तर्हित **दुष्कृतं अस्ति**=पाप है, हे **देवासः**=देवो! **तद्**=उस **विश्वं**=सब पाप को **त्रिते**=काम, क्रोध, लोभ को तैरनेवाले **आप्तये**=प्रभु प्राप्ति में उत्तम पुरुषों की अधीनता में रहनेवाले **अस्मद्**=हम लोगों से **आरे दधातन**=दूर स्थापित करिये। त्रितों व आप्त्यों के सम्पर्क में रहते हुए हम पापों से सदा दूर रहें। (२) हे देवो! **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **अनेहसः**=निष्पाप हैं। **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थः—त्रित आप्त्य लोगों के सम्पर्क में हम अपने जीवनों को निष्पाप बनाएँ।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्या उषाश्च॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

दुःष्वप्न्य दूरीकरण

यच्च गोषु दुष्ष्वप्न्यं यच्चास्मे दुहितर्दिवः।
त्रिताय तद्विभावर्याप्त्याय परा वहानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ १४॥

हे **दिवः दुहितः**=ज्ञान का प्रपूरण करनेवाली उषे! **यत् च**=जो भी **गोषु**=इन्द्रियों के विषय में **दुःष्वप्न्यं**=अशुभ स्वप्न आता है, **च**=और **यत्**=जो **अस्मे**=हमारे विषय में अशुभ स्वप्न होता है, **तत्**=उसे हे **विभावरि**=प्रकाशमयी उषे! **त्रिताय**='काम-क्रोध-लोभ' को तैरनेवाले **आप्त्याय**=प्रभुप्राप्ति में उत्तम मेरे लिए **परावह**=दूर करनेवाली हो। वस्तुतः हम उषाकाल में प्रबुद्ध ही हो जाएँ, ताकि इन अशुभ स्वप्नों का शिकार न हों। (२) **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **अनेहसः**=निष्पाप हैं। **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—हम काम-क्रोध-लोभ को तैरनेवाले-प्रभुप्राप्ति परायण बनकर अशुभ स्वप्नों से ऊपर उठें।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्या उषाश्च॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

धन व सौन्दर्य के आकर्षण से दूर

निष्कं वा घा कृणवते स्रजं वा दुहितर्दिवः।
त्रिते दुष्ष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परि दद्मस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ १५॥

(१) हे **दिवः दुहितः**=प्रकाश का पूरण करनेवाली उषे! **निष्कं**=स्वर्ण आभूषणों को **वा घा**=निश्चय से **कृणवते**=बनानेवाले के लिए **वा**=अथवा **स्रजं**=माला को करनेवाले के लिए जो **दुःष्वप्न्यं**=अशुभ स्वप्न होता है। **सर्वं**=उस सबकी **त्रिते आप्त्ये**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले विद्वान् की समीपता में **परि दद्मसि**=अपने से दूर करते हैं (परेर्वर्जने)। (२) सुवर्णादि आभूषण व माला आदि धारण करनेवाले व्यक्ति को देखकर चित्त में जो दुर्विचार आते हैं, उन्हें

त्रित आप्त्यों को समीपता में नष्ट करें। दृढ़व्रती होकर सुवर्ण आदि देखकर व माला आदि से अलंकृत वनिताओं को देखकर स्वप्न में भी प्रलुब्ध न हों। हे देवो! **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **अनेहसः**=हमें निष्पाप बनाते हैं। **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—हम काम-क्रोध-लोभ को जीतनेवाले आप्त विद्वानों के सामीप्य में रहकर स्वर्ण व मालाओं के आकर्षण से ऊपर उठ जाएँ। इनके विषय में ही हम स्वप्न न देखते रहें।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्या उषाश्च॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

त्रित+द्वित

तदन्नाय तदपसे तं भागमुपसेदुषे।
त्रिताय च द्विताय चोषो दुष्ष्वप्न्यं वहानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ १६॥

(१) **तदन्नाय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही अन्नों का सेवन करनेवाले, **तदवसे**=प्रभुप्राप्ति के लिए ही कर्म करनेवाले तथा **तं भागं**=उस भजनीय प्रभु को **उपसेदुषे**=उपासित करनेवाले **त्रिताय**=(त्रीन् तरति) काम-क्रोध-लोभ को तैर जानेवाले **च**=और **द्विताय**=(द्वौ तनोति) विद्या व श्रद्धा दोनों का विस्तार करनेवाले के लिए, हे **उषः**=उषा की देवते! **दुष्ष्वप्न्यं**=अशुभ स्वप्नों को **वह**=दूर करनेवाली हो। (२) हे उषाओ! **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **अनेहसः**=हमें निष्पाप बनानेवाले हैं। **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए ही अन्नों का सेवन करनेवाला, प्रभु प्राप्त्यर्थ कर्मों को करनेवाला, प्रभु का उपासक, काम-क्रोध-लोभ को तैरनेवाला व विद्या और श्रद्धा व विकास करनेवाला बनता है। यह उषाकाल में प्रबुद्ध होकर उपासना में प्रवृत्त होता है और अशुभ स्वप्नों से बचा रहता है।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्या उषाश्च॥ **छन्दः**—स्वराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

ऋण आदि की तरह अशुभ स्वप्न अपसारण

यथा कलां यथा शफं यथ ऋणं संनयामसि।
एवा दुष्ष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये सं नयामस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ १७॥

(१) **यथा**=जैसे **कलां**=काल के एक-एक अवयव को हम **संनयामसि**=व्यतीत करते हैं, **यथा शफं**=जैसे एक-एक पद (चरण) को रखते हुए हम मार्ग को पार कर लेते हैं **यथ ऋणं**=जैसे थोड़ा-थोड़ा करके हम ऋण को समाप्त कर लेते हैं, **एवा**=इसी प्रकार **आप्त्ये**=विद्वान् पुरुष की समीपता में हम **सर्वं दुष्ष्वप्न्यं**=सब अशुभ स्वप्न को समाप्त करते हैं। धीरे-धीरे अपने जीवन को सुन्दर बनाते हुए अशुभ स्वप्नों से ऊपर उठते हैं। (२) हे देवो! **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **अनेहसः**=हमें निष्पाप बनाते हैं। **वः ऊतयः**=आपके रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानियों के सम्पर्क में थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ते हुए उन्नत जीवनवाले बनकर अशुभ स्वप्नों से दूर हों।

ऋषिः—त्रित आप्त्यः॥ **देवता**—आदित्या उषाश्च॥ **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

निर्लोभता-संविभाग व निष्पापता

अजैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम्।
उषो यस्माद्दुष्ष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छत्वनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ १८॥

(१) हे **उषः**=उषे! **अद्य**=आज हम **अजैष्म**=विजयी हुए हैं। **असनाम**=हमने धनों का

संभजन-संविभाग किया है। **च**=और **वयं**=हम **अनागसः अभूम**=निष्पाप हुए हैं। वस्तुतः लोभ से आक्रान्त होकर हम धनों को संविभक्त न कर संगृहीत करते हैं और धन संग्रह में पाप ग्रसित हो जाते हैं। लोक को जीतकर धनों का संविभाग करते हैं और निष्पाप होते हैं। (२) हे **उषः**=उषे! **यस्मात्**=जिस **दुष्ष्वप्नात्**=अशुभ स्वप्न से **अभैष्म**=हम भयभीत होते हैं, **तत्**=वह **अप उच्छतु**=हमारे से दूर विवासित हो। हे देवो! **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **अनेहसः**=हमें निष्पाप बनाते हैं। **वः**=आपके **ऊतयः**=रक्षण **सु ऊतयः**=उत्तम रक्षण हैं।

भावार्थ—लोभ पर विजय पाकर हम धनों का संविभाग (दान) करनेवाले हों और निष्पाप हों। अशुभ स्वप्नों से दूर हों। निष्पाप बनने के लिए हम प्रभु का गायन करनेवाले 'प्रगाथ' बनें, बुद्धिमान् 'काण्व' हों। इस प्रकार सोमरक्षण करते हुए हम निष्पाप बनेंगे। अगले सूक्त में इस सोम का ही वर्णन हैं—

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

सुमेधाः स्वाध्यः

स्वादोरभक्षि वयसः सुमेधाः स्वाध्यो वरिवोवित्तरस्य।
विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो मधु ब्रुवन्तो अभि संचरन्ति॥ १॥

(१) **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला व **स्वाध्यः**=उत्तम कर्मोंवाला होता हुआ मैं **वरिवोवित्तरस्य**=उत्कृष्ट वरणीय धनों को प्राप्त करानेवाले **स्वादोः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **वयसः**=आयुष्य के प्रमुख साधनभूत सोमरूप अन्न का **अभक्षि**=सेवन करूँ। सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखूँ। (२) उस सोम को मैं सुरक्षित रखूँ **यं**=जिसको **विश्वे**=सब **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष, **उत**=और **मर्त्यासः**=लौकिक दृष्टिकोणवाले पुरुष भी **मधु ब्रुवन्तः**='यह अतिशयेन मधुर है', ऐसा कहते हुए **अभिसञ्चरन्ति**=प्राप्त करते हैं-इस सोम के रक्षण के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें (१) सुमेधा व सुकर्मा बनाता है। (२) यह जीवन को मधुर बनाता है (३) जीवन धनों को प्राप्त कराता है।

इसलिए देव व सामान्य मनुष्य भी इसे 'मधु' कहते हुए प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

अन्तः च प्रागाः-अदितिः भवासि

अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवास्यवयाता हरसो दैव्यस्य।
इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः श्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः॥ २॥

(१) हे सोम! तू **अन्तः च प्रागा**=जब निश्चय से शरीर के अन्दर जाता है-शरीर में व्याप्त होता है, तो **अदितिः भवासि**=अदीना देवमाता के रूप में होता है, हमारी अदीनता का कारण बनता है और दिव्यगुणों का निर्माण करनेवाला होता है। तू **दैव्यस्य हरसः**=उस देव के क्रोध का **अवयाता**=हमारे से पृथक् करनेवाला होता है। इस सोम के द्वारा सुन्दर जीवनवाले बनकर हम प्रभु के प्रिय होते हैं। (२) हे **इन्दो**=सोम! तू **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष की **सख्यं**=मित्रता का **जुषाणः**=सेवन करता हुआ इस प्रकार **राये**=ऐश्वर्य के लिए **अनु ऋध्याः**=अनुकूलता से हमें

प्राप्त होता है, **इव**=जैसे **श्रौष्टी**=शीघ्रगामी अश्व **धुरं**=रथ धुरा को प्राप्त होकर अभिमत देश की ओर ले-जाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (१) हमें स्वस्थ बनाता है (२) प्रभु का प्रिय बनता है। (३) ऐश्वर्य की ओर ले-चलता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—सोमः ॥ **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

अमृत-देव-ज्योतिर्मय

अपा॑म॒ सोम॑म॒मृता॑ अभू॒माग॑न्म॒ ज्योति॒रवि॑दाम दे॒वान्।
किं नू॒नम॒स्मान्कृ॑णव॒दरा॑तिः॒ किमु॑ धू॒र्तिर॑मृत॒ मर्त्य॑स्य ॥ ३ ॥

(१) **सोमम् अपाम**=हमने सोम का पान किया है और **अमृताः**=नीरोग (अमर) **अभूम**=हो गए हैं। **ज्योतिः अगन्म**=ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त किया है और **देवान् अविदाम**=दिव्यगुणों को प्राप्त करनेवाले हुए हैं। सोमरक्षण से हम शरीर में नीरोग, मन में दिव्य भावनाओंवाले, तथा मस्तिष्क में ज्ञानज्योतिवाले बने हैं। (२) इस सोमरक्षण के होने पर **नूनं**=निश्चय से **अरातिः**=शत्रु **अस्मान्**=हमारा **किं कृणवत्**=क्या कर सकता है? **उ**=और हे **अमृत**=हमें न मरने देनेवाले सोम! **मर्त्यस्य**=किसी भी मनुष्य की **धूर्तिः**=हिंसकवृत्ति भी हमारी क्या हानि कर सकती है? सोमरक्षण से हम न अन्तःशत्रुओं से आक्रान्त होते हैं, न बाह्यशत्रुओं से।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम (१) शरीर में नीरोग बनते हैं (२) मन में देव (३) मस्तिष्क में ज्योतिर्मय (४) ये सोमरक्षण हमें अन्तः व बाह्य शत्रुओं का शिकार नहीं होने देता।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—सोमः ॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

'शान्ति-कल्याण-बुद्धि व दीर्घजीवन' का दाता सोम

शं नो॑ भव हृ॒द आ पी॒त इ॑न्दो पि॒तेव॑ सोम सू॒नवे॑ सु॒शेवः॑।
सखे॑व॒ सख्य॑ उरुशंस॒ धीरः॒ प्र ण॒ आयु॑र्जी॒वसे॑ सोम तारीः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! तू **आपीतः**=शरीर में समन्तात् पिया हुआ **नः**=हमारे **हृदे**=हृदय के लिए **शं**=शान्ति को देनेवाला **भव**=हो। हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **सूनवे पिता इव**=पुत्र के लिए पिता की तरह **सुशेवः**=उत्तम कल्याण को करनेवाला हो। (२) हे **उरुशंस**=बहुधा शंसनीय सोम! तू **धीरः**=बुद्धि को प्रेरित करनेवाला है-बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाला है। तू **सख्ये**=मित्र के लिए **सखा इव**=मित्र की तरह है। अपने रक्षक का तू रक्षण करता है। हे सोम! तू **जीवसे**=जीवन के लिए **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **प्रतारीः**=प्रकर्षेण बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (१) हृदय में शान्ति को देता है, (२) कल्याण करता है, (३) बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है (४) तथा दीर्घजीवन का कारण होता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—सोमः ॥ **छन्दः**—विराट्जगती ॥ **स्वरः**—निषादः ॥

'यश-रक्षण-दृढ़ता व पवित्रता व नीरोगता' का दाता सोम

इ॒मे मा॑ पी॒ता य॒शस॑ उरु॒ष्यवो॒ रथं॒ न गावः॒ सम॑नाह॒ पर्व॑सु।
ते मा॑ रक्षन्तु वि॒स्रस॑श्च॒रित्रा॑दु॒त मा॒ स्रामा॑द्यवयन्त्वि॒न्दवः॑ ॥ ५ ॥

(१) **इमे**=ये **पीताः**=शरीर के अन्दर पिये गये सोमकण **मा**=मेरे लिए **यशसः**=यशस्कर होते

हैं और **उरुष्यवः**=मेरे लिए रक्षा की कामनावाले होते हैं। **न**=जैसे **गावः**=गोस्नायु- निर्मित रज्जुएँ **रथं**=रथ को **पर्वसु**=पर्वों में, इसी प्रकार ये सोम मुझे **पर्वसु**=शरीर के प्रत्येक पर्व में **समनाह**=सन्नद्ध करते हैं। मेरे प्रत्येक पर्व को ये सुदृढ़ ग्रन्थिवाला करते हैं। (२) **ते**=वे सोम **मा**=मुझे **विस्रसः चरित्रात्**=चरित्रभ्रंश से **रक्षन्तु**=बचाएँ **उत**=और **इन्दवः**=ये सोमकण **मा**=मुझे **स्रामाद्**=व्याधि से **यवयन्तु**=पृथक् करें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (१) हमें यशस्वी बनाता है, (२) रोगों से बचाता है, (३) सुदृढ़ शरीर पर्वोंवाला करता है, (४) चरित्रभ्रंश व रोगों से दूर करता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

दीप्ति उल्लास व पुष्टि

अ॒ग्निं न मा॑ मथि॒तं सं दि॑दीपः॒ प्र च॑क्षय कृणु॒हि वस्य॑सो नः।
अथा॒ हि ते॒ मद॒ आ सो॑म॒ मन्ये॑ रे॒वाँइ॑व॒ प्र च॑रा पु॒ष्टिमच्छ॑॥ ६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **मा**=मुझे **मथितं अग्निं न**=मथी हुई अग्नि के समान **सन्दिदीपः**=संदीप्त कर, जैसे मथित अग्नि चमक उठती है, इसी प्रकार हम तेरे से चमक उठें। **प्रचक्षय**=तू हमें प्रकृष्ट चक्षुवाला बना। हमारी दर्शन शक्ति को बढ़ा। **नः**=हमें **वस्यसः**=प्रशस्त वसुओंवाला **कृणुहि**=कर। (२) **अथा**=अब हे सोम! **मदे**=मद व उल्लास के निमित्त मैं **हि**=निश्चय से **ते आमन्ये**=तेरा स्तवन करता हूँ। **रेवान् इव**=तू सब धनोंवाले की तरह होता हुआ **पुष्टिम् अच्छ**=पोषण की ओर **प्रचर**=गतिवाला हो। हे सोम! तू हमारे अंग-प्रत्यंग को पुष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—सोम हमें दीप्त-प्रकृष्ट चक्षुवाला-प्रशस्त वसुओंवाला-उल्लासमय व पुष्ट करे।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'दीर्घजीवन का दाता' सोम

इ॒षि॒रेण॑ ते॒ मन॑सा सु॒तस्य॑ भक्षी॒महि॒ पित्र्य॑स्येव रा॒यः।
सोम॑ राजन्प्र ण॒ आयूं॑षि तारी॒रहा॑नीव॒ सूर्यो॑ वास॒राणि॑॥ ७॥

(१) हे सोम! वीर्यशक्ते! **सुतस्य ते**=उत्पन्न हुए-हुए तेरा **इषिरेण मनसा**=इच्छावाले मन से **भक्षीमहि**=भक्षण करें-तुझे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें। इस प्रकार तेरा भक्षण करें, **इव**=जैसे **पित्र्यस्य रायः**=पिता से प्राप्त धन का उपयोग करते हैं। हम इस सोम को पिता प्रभु से प्राप्त धन समझें। (२) हे **राजन्**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाले सोम! **नः**=हमारे **आयूंषि**=जीवनों का **प्रतारीः**=प्रकर्षेण वर्धन करनेवाले होइये। इस प्रकार हमारे जीवनों को बढ़ाओ **इव**=जैसे **सूर्यः**=सूर्य **वासराणि**=जगत् को बसानेवाले **अहानि**=दिनों को बढ़ाता है। सूर्य दिनों का विस्तार करता है, यह सोम (वीर्य) हमारे जीवनकाल का विस्तार करनेवाला हो।

भावार्थ—हम सोम को प्रभु से दिया हुआ धन समझें। इस धन का समुचित रक्षण व प्रयोग करें। यह सुरक्षित सोम हमारे दीर्घजीवन का कारण बने।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दक्षः+मन्युः

सोम राजन्मृळया नः स्वस्ति तव स्मसि व्रत्या३स्तस्य विद्धि।
अलर्ति दक्ष उत मन्युरिन्दो मा नो अर्यो अनुकामं परा दाः॥ ८॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **राजन्**=जीवन को दीप्त करनेवाले सोम! **नः**=हमें **मृडय**=सुखी कर। **स्वस्ति**=तेरे रक्षण के द्वारा हमारा कल्याण हो। हम **व्रत्याः**=व्रतमय जीवनवाले होकर **तव स्मसि**=तेरे हैं। **तस्य विद्धि**=उस हमारे व्रतित्व को तू जान। हमारे व्रतों का ध्यान करते हुए हमारे अन्दर तू सुरक्षित रह। (२) हे **इन्दो**=सोम! तेरे व्रतों का पालन करनेवाला यह व्यक्ति **दक्षः**=उन्नत योग्य व शत्रुओं का संहार करनेवाला होता है। **उत**=और **मन्युः**=मननशील ज्ञानी होता हुआ **अलर्ति**=गति करता है। हे सोम! तू **नः**=हमें **अर्यः**=शत्रु की **अनुकामं**=इच्छा के अनुसार **मा परादाः**=मत छोड़ दे। शत्रु की दया पर हमें छोड़नेवाला न हो, अर्थात् हम शत्रुओं के वशीभूत न हो जाएँ।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए आवश्यक व्रतों का पालन करते हुए हम उन्नत प्रवृद्ध शक्ति वाले व ज्ञानी बनें। इस सोमरक्षण से हम रोग व वासनारूप शत्रुओं के वश में न हों।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—विराट् त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'रक्षक' सोम

त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपा गात्रेगात्रे निषसत्था नृचक्षाः।
यत्ते वयं प्रमिनाम व्रतानि स नो मृळ सुषखा देव वस्यः॥ ९॥

(१) हे **सोम**=वीर्य! **त्वं**=तू **हि**=निश्चय से **नः**=हमारे **तन्वः**=शरीर का **गोपाः**=रक्षक है। **नृचक्षाः**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाला होता हुआ तू **गात्रे गात्रे**=अंग-प्रत्यंग में **निषसत्था**=स्थित होता है। (२) **यत्**=यद्यपि **वयं**=हम कभी-कभी **ते व्रतानि**=तेरे व्रतों को **प्रमिनाम**=हिंसित कर बैठते हैं। तो भी **सः**=वह तू **नः**=हमारे लिए **मृड**=सुख को करनेवाला हो। हे **देव**=प्रकाशमय व रोगों को जीतने की कामनावाले सोम (विजिगीषा)! तू **सुषखा**=हमारा उत्तम मित्र होता हुआ **वस्यः**=हमें उत्तम वसुओंवाला कर-श्रेष्ठ बना।

भावार्थ—अंग-प्रत्यंग में व्याप्त होता हुआ सोम हमारा रक्षक है, यह हमें सुखी करता है, श्रेष्ठ बनाता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ऋदूदर सखा (सोम)

ऋदूदरेण सख्या सचेय यो मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः।
अयं यः सोमो न्यधाय्यस्मे तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायुः॥ १०॥

(१) मैं **ऋदूदरेण**=उदर के अबाधक-उदर को पीड़ित न करनेवाला **सख्या**=इस मित्रभूत सोम से **सचेय**=संगत होऊँ। **यः**=जो सोम **पीतः**=पिया हुआ **मा**=मुझे **न रिष्येत्**=हिंसित न करे। (२) हे **हर्यश्व**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले इन्द्र! **अयं**=यह **यः**=जो **सोमः**=सोम **अस्मे**=हमारे में **न्यधायि**=स्थापित किया गया है, **तस्मै**=उसके लिए मैं **इन्द्रं**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **प्रतिरं आयुः**=दीर्घजीवन को **एमि**=माँगता हूँ। यह सोम मेरे अन्दर सदा स्थित हुआ-हुआ

मुझे दीर्घजीवन प्रदान करे।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम उदर को बाधा नहीं पहुँचाता। इस प्रकार हमें नीरोग रखता हुआ यह दीर्घजीवी बनाता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

अनिराः अमीवाः अप अस्थुः

अप त्या अस्थुरनिरा अमीवा निरत्रसन्तमिषीचीरभैषुः।
आ सोमो अस्माँ अरुहद्विहाया अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥ ११॥

(१) **विहायाः**=महान् यह **सोमः**=वीर्य **अस्मान् आ अरुहत्**=हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्गों में आरुढ़ हुआ है। **सो त्याः**=वे **अनिराः**=जिनका दूर करना कठिन है, अथवा (इरा-अन्न) अन्नाभाववाली-जिनमें भूख मर जाती है, वे **अमीवाः**=बीमारियाँ **अप अस्थुः**=हमारे से दूर स्थित हुई हैं। ये **तमिषीचीः**=बलसम्पन्न-अतिप्रबल रोग **निरत्रसन्**=निश्चय से हमें डराते हैं और **अभैषुः**=भयभीत करते हैं। सोमरक्षण द्वारा ये हमारे से भयभीत होकर दूर हो जाते हैं। (२) इस सोमरक्षण के द्वारा मनुष्य उस स्थिति में **अगन्म**=जाते हैं, **यत्र**=जिसमें कि **आयुः प्रतिरन्ते**=अपने आयुष्य को बढ़ानेवाले होते हैं। सोम सब रोगों को दूर करके हमारे लिए दीर्घजीवन को देनेवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा भयंकर रोग भी दूर हो जाते हैं और इस प्रकार नीरोगता व दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

मृडीके-सुमतौ

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्याँ आविवेश।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम॥ १२॥

(१) हे **पितरः**=पालक शक्तियो! **यः इन्दुः**=जो सोम **हृत्सुपीतः**=हृदयों में पिया हुआ-रजकर पिया हुआ-शरीर को अन्दर सुरक्षित किया हुआ **नः मर्त्यान्**=हम मरणधर्मा प्राणियों में **आविवेश**=प्रविष्ट होता है, वह **अमर्त्यः**=हमें अमर बनाता है-अमरता व नीरोगता का कारण बनता है। (२) **तस्मै सोमाय**=इस सोम के रक्षण के लिए **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **विधेम**=हम प्रभु का पूजन करें। यह यज्ञशेष का सेवन व प्रभुपूजन ही हमें सोमरक्षण के योग्य बनाएगा। हम **अस्य**=इस सोम के **मृडीके**=सुख में व **सुमतौ**=कल्याणी मति में **स्याम**=हों। सोम हमें सुखी करे और शुभ बुद्धि प्राप्त कराए।

भावार्थ—'त्यागपूर्वक अदन व प्रभुपूजन' सोमरक्षण के साधन हैं। सुरक्षित सोम 'नीरोगता सुख, वसु, बुद्धि' प्राप्त कराता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

द्यावापृथिवी का विस्तार

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ १३॥

(१) हे **सोम**=वीर्य! **त्वं**=तू **पितृभिः**=इन रक्षा करनेवाले लोगों के साथ **संविदानः**=ऐकमत्य

को प्राप्त हुआ-हुआ संगत हुआ-हुआ **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर को **अनु आततन्थ**=अनुकूलता से विस्तृत करनेवाला हो। तू मस्तिष्क को दीप्त व शरीर को सुदृढ़ बना। (२) हे **इन्दो**=सोम! **तस्मै ते**=उस तेरे लिए **हविषा विधेम**=त्यागपूर्वक अदन के साथ प्रभुपूजन करें। त्यागपूर्वक अदन व प्रभुपूजन करते हुए हम तेरा रक्षण करें और **वयं**=हम **रयीणां**=सब आवश्यक ऐश्वर्यों के **पतयः स्याम**=स्वामी हों।

भावार्थ-सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर का ठीक विकास करता है-आवश्यक ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—सोमः ॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

न नींद, न गपशप

त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ १४ ॥

(१) हे **त्रातारः देवाः**=रक्षक देवो! **नः**=हमें **अधिवोचत**=आधिक्येन ज्ञानोपदेश को प्राप्त कराओ। आपसे हमें वह ज्ञान प्राप्त हो जिससे कि **नः निद्रा मा ईशत**=नींद हमारा ईश न बन पाए। **उत**=और **मा जल्पिः**=गपशप की आदत भी हमारी ईश न बने। ये 'सोये रहना व गपशप मारते रहना' सोमरक्षण के लिए सहायक नहीं। (२) सो नींद व गपशप से ऊपर उठकर यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए हम-नींद अर्थात् तमोगुण, गपशप अर्थात् रजोगुण इन दोनों से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में अवस्थित हुए-हुए **वयं**=हम **विश्वह**=सदा **सोमस्य**=सोम के **प्रियासः**=प्रिय हों और **सुवीरासः**=उत्तम वीर बने हुए हम **विदथम्**=ज्ञान का ही **आवदेम**=समन्तात् कथन करें। यह ज्ञान का वातावरण ही सोमरक्षण के लिए अनुकूल है।

भावार्थ-हम ज्ञानियों से उपदेश लेते हुए नींद व गपशप का परित्याग करें। सोमरक्षण द्वारा वीर बनते हुए सदा ज्ञान का चर्चन करें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—सोमः ॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराट् त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

वयोधाः-स्वर्वित्

त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः।
त्वं न इन्द ऊतिभिः सजोषाः पाहि पश्चातादुत वा पुरस्तात्॥ १५ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्य! **त्वं**=तू **नः**=हमारे लिए **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाला है। **त्वं**=तू ही **स्वर्वित्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाला है। **नृचक्षाः**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाला तू **आविश**=शरीर में सब अंगों में प्रवेशवाला हो। (२) हे **इन्दो**=सोम! **त्वं**=तू **नः**=हमारे लिए **ऊतिभिः**=(ऊतयः-महतः=प्राणाः) प्राणों के साथ **सजोषाः**=संगत हुआ-हुआ उनके साथ प्रीयमाण होता हुआ **पश्चातात्**=पीछे से **उत वा**=अथवा **पुरस्तात्**=आगे से **पाहि**=रक्षित करनेवाला हो।

भावार्थः-सुरक्षित सोम उत्कृष्ट जीवन को व प्रकाश को प्राप्त कराता है। यह प्राणों के साथ हमारा सर्वतः रक्षण करता है।

सोमरक्षण के उद्देश्य से ही अगले सूक्त में 'इन्द्र' का उपासन है। इस उपासन को करनेवाला मेधावी 'प्रस्कण्व काण्व' सूक्त का ऋषि है-

अथ बालखिल्यम्

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

'जरितृभ्यः पुरुवसुः' इन्द्र

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति॥ १॥

(१) **वः**=तुम्हारे **सुराधसम्**=उत्तम ऐश्वर्य व साफल्य को देनेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यथाविदे**=यथार्थ ज्ञान के लिए **अभि प्र अर्च**=प्रातः-सायं प्रकर्षेण अर्चित कर। (२) उस इन्द्र का अर्चनकर **यः**=जो **मघवा**=परमैश्वर्यशाली **पुरूवसुः**=पालक व पूरक धनोंवाला प्रभु **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **सहस्रेण इव**=सहस्रों के समान **शिक्षति**=आवश्यक धनों को देता है। सहस्रों व्यक्ति भी मिलकर हमारे लिए वह धन नहीं प्राप्त कराते, जिसे कि प्रभु देते हैं।

भावार्थ—हम परमैश्वर्यशाली प्रभु का पूजन करें। यही ज्ञानप्राप्ति का मार्ग है। इसी से हमें आवश्यक धनों की प्राप्ति होगी। प्रभु ही सब सफलताओं को देते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

अनन्तशक्ति-अनन्तदान

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः॥ २॥

(१) **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण के हेतु से **शतानीका इव**=सैंकड़ों सैन्यों के समान **प्रजिगाति**=ये प्रभु गति करते हैं। सैंकड़ों सेनाएँ भी वह शत्रुसंहार कार्य नहीं कर पातीं, जो इस प्रभु द्वारा सम्पन्न हो जाता है। ये प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए-प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **वृत्राणि हन्ति**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करते हैं। (२) **गिरेः**=पर्वत से प्रवाहित होनेवाले **रसाः इव**=रसों के समान **अस्य**=इस **पुरुभोजसः**=खूब ही पालन करनेवाले प्रभु के **दत्राणि**=दान **प्रपिन्विरे**=प्रजाओं का पोषण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने प्रति अर्पण करनेवाले के लिए अनन्तशक्ति प्रदान करते हैं, इस शक्ति से उपासक वासनारूप शत्रुओं का विनाश करता है। प्रभु के दान उपासक का पोषण करते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

सोमरक्षण व सफलता

आ त्वा सुतास इन्दवो मदा य इन्द्र गिर्वणः।
आपो न वज्रिन्नन्वोक्यं सरः पृणन्ति शूर राधसे॥ ३॥

(१) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों का सम्भजन करनवाले **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये **मदाः**=जो उल्लासजनक **इन्दवः**=सोमकण हैं, वे **पृणन्ति**=पूरित करते हैं। इस प्रकार पूरित करते हैं **न**=जैसे **ओक्यं सरः**=निवासस्थान व आश्रयभूत तालाब को **आपः**=जल **ननु**=निश्चय से पूरित करनेवाले होते हैं। (२) इन सोमकणों को अपने में पूरित करके ही तू **राधसे**=सफलता के लिए होता है। ये सोमकण

तुझे शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। यह शक्ति तेरी सफलता का साधन बनती है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना व जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना ही सोमरक्षण का साधन है। सुरक्षित सोम सफलता को देनेवाला है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः **स्वरः**—पञ्चमः

'अनेहसं प्रतरणं विवक्षणम्'

अ॒ने॒हसं॑ प्र॒तर॑णं वि॒वक्ष॑णं॒ मध्वः॒ स्वादि॑ष्ठमीं पिब।
आ यथा॑ मन्दसा॒नः कि॒रासि॑ नः॒ प्र क्षु॒द्रेव॒ त्मना॑ धृ॒षत्॥ ४॥

(१) हे जीव! तू **ईम्**=निश्चय से **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम के **स्वादिष्ठं**=अतिशयेन मधुर रस को **पिब**=पी। यह रस **अनेहसं**=तुझे निष्पाप बनानेवाला हैं, **प्रतरणं**=सब रोगों व वासनाओं से तरानेवाला है, **विवक्षणं**=विशिष्टरूप से उन्नत करनेवाला है। (२) प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू **नः**=हमारे इस सोमरस को **मन्दसानः**=उल्लास का अनुभव करता हुआ **यथा**=जैसे आकिरासि=शरीर में चारों ओर विकीर्ण करनेवाला होता है, तो **त्मना**=स्वयम् **क्षुद्रा इव**=जैसे **आकिरासि**=शरीर में चारों ओर विकीर्ण करनेवाला होता है, तो **त्मना**=स्वयम् **क्षुद्रा इव**=वासना आदि प्रबल शत्रुओं को भी तुच्छ शत्रुओं की तरह **प्रधृषत्**=अभिभूत करता है। इन वासनारूप शत्रुओं का कुचलना तेरे लिए आसान हो जाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें निष्पाप, रोगों व वासनाओं को तैरनेवाला व उन्नतिशील बनाता है। सोमरक्षक पुरुष उल्लसित होकर प्रबल शत्रुओं को भी आसानी से जीत लेता है।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—भुरिग्बृहती **स्वरः**—मध्यमः

प्रभुस्तवन व दानशीलता

आ नः॒ स्तोम॒मुप॑ द्र॒वद्धि॑या॒नो अश्वो॒ न सोतृ॑भिः।
यं ते॑ स्वधावन्स्व॒दय॑न्ति धे॒नव॒ इन्द्र॒ कण्वे॑षु रा॒तयः॑॥ ५॥

(१) **सोतृभिः**=सोम का अभिषव (उत्पादन) करनेवालों से-शरीर में सोम का सम्पादन करनेवालों से **हियानः**=प्रेरित किये जाते हुए, हे प्रभो! आप **नः स्तोमम्**=हमारी स्तुति को **आ उपद्रवत्**=प्राप्त होइये। हम आपके स्तोता बनें। आप हमारे लिए **अश्वः न**=लक्ष्य स्थान पर पहुँचनेवाले अश्व के समान हैं। आपके द्वारा ही तो हम जीवनयात्रा को पूर्ण कर सकेंगे। (२) हे **स्वधावन्**=आत्मधारणशक्तिवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यं**=जिस आपके सोम का **धेनवः**=(धेट् पाने) सोम को शरीर में पीनेवाले स्तोता लोग **स्वदयन्ति**=आस्वाद लेते हैं, वे **कण्वेषु**=बुद्धिमन् पुरुषों में **रातयः**=दानशील होते हैं। भोगवृत्ति से ऊपर उठकर दानशील बनकर ही वे सोमरक्षण में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम प्रभुस्तवन करें और दानशील बनकर भोगवृत्ति से ऊपर उठें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः **देवता**—इन्द्रः **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः **स्वरः**—पञ्चमः

विभूतिम् अक्षितावसुम्

उ॒ग्रं न वी॒रं नम॒सोप॑ सेदिम॒ विभू॑ति॒मक्षि॑तावसुम्।
उ॒द्रीव॑ वज्रिन्नव॒तो न सि॑ञ्च॒ते क्षर॑न्तीन्द्र धी॒तयः॑॥ ६॥

(१) हम **उग्रं न**=अत्यन्त तेजस्वी के समान **वीरं**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **विभूतिम्**=

विशिष्ट ऐश्वर्यवाले **अक्षितावसुम्**=अक्षीण धनवाले प्रभु को **नमसा**=नमन के द्वारा **उपसेदिम**=उपासित करते हैं। (२) हे **वज्रिन्**=शत्रुओं के संहारक वज्र को हाथ में लिये हुए प्रभो! आप **उद्रीवण अवतः न**=जलपूर्ण कूप की तरह **सिञ्चते**=हमें सुखों व शक्तियों से सींचते हैं। कुआँ जल से सींचता है, प्रभु शक्ति से। हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **धीतयः क्षरन्ति**=हमारी स्तुतियाँ आपकी ओर ही प्रवाहित होती हैं। यह प्रभुस्तवन ही हमें ऐश्वर्यों व शक्ति को देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम उस प्रभु के चरणों में नम्रता से उपस्थित हों, जो वीर व विभूतिमान हैं। प्रभु हमें शक्ति से सिक्त करेंगे और उस शक्ति से ही हम शत्रुओं को शीर्ण कर पाएँगे।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

आशुभिः उग्रेभिः

यद्ध नूनं यद्वा यज्ञे यद्वा पृथिव्यामधि।
अतो नो यज्ञमाशुभिर्महेमत उग्र उग्रेभिरा गहि॥ ७॥

(१) **यत् ह नूनं**=आप निश्चय से शीघ्र ही **नः**=हमारे **यज्ञं**=इस जीवन-यज्ञ को **आशुभिः**=शीघ्रगति वाले **उग्रेभिः**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वों से **आगहि**=प्राप्त होइये। (२) हे **उग्र**=तेजस्विन्! **महेमते**=महान् बुद्धि (ज्ञान)वाले प्रभो **यद् वा यज्ञे**=चाहे हम लोकहित के लिए होनेवाले यज्ञात्मक कर्मों में हों, **यद् वा**=और चाहे **पृथिव्याम् अधि**=इस शरीररूप पृथिवी के लिए ही हम कर्मों में लगे हों आप **इतः**=इन कर्मों की पूत के हेतु से (**नः**)=हमें अवश्य प्राप्त होइये ही।

भावार्थ—प्रभु से हम शीघ्रता ये कर्मों में व्याप्त होनेवाले तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करके यज्ञात्मक कर्मों को व शरीर रक्षणात्मक कर्मों को करनेवाले हों।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'अजिरासः प्रसक्षिणः' हरयः

अजिरासो हरयो ये त आशवो वाताइव प्रसक्षिणः।
येभिरपत्यं मनुषः परीयसे येभिर्विश्वं स्वर्दृशे॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **हरयः**=इन्द्रियाश्व हैं, ये **अजिरासः**=बड़े क्रियाशील हैं, **आशवः**=शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं। **वाताः इव**=वायुओं के समान शीघ्र गतिवाले हैं। **प्रसक्षिणः**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले हैं। (२) ये इन्द्रियाश्व वे हैं **येभिः**=जिनसे आप **मनुषः अपत्यं**=विचारशील की सन्तान अर्थात् खूब विचारशील को **परीयसे**=सर्वतः गति कराते हैं। **येभिः**=जिन इन्द्रियाश्वों से आप **विश्वं स्वः**=सम्पूर्ण प्रकाश को **दृशे**=दिखाने के लिए होते हैं। प्रभुप्रदत्त कर्मेन्द्रियों द्वारा सब कर्म होते हैं, प्रभुप्रदत्त ज्ञानेन्द्रियों से सब ज्ञान प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें खूब क्रियाशील इन्द्रियाँ प्राप्त कराई हैं। इनके द्वारा हम सब कर्मों को कर पाते हैं और ज्ञानों को ग्रहण करते हैं। ये इन्द्रियाश्व शत्रुओं का अभिभव करते हैं।

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

मेध्यातिथिम् नीपातिथिम्

एतावतस्त ईमह इन्द्र सुम्नस्य गोमतः।
यथा प्रावो मघवन्मेध्यातिथिं यथा नीपातिथिं धने॥ ९॥

(१) हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आपसे **एतावतः**=इतने **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की

वाणियोंवाले **सुम्नस्य**=प्रभुस्तवन की **ईमहे**=याचना करते हैं। हम यही चाहते हैं कि स्वाध्याय द्वारा ज्ञान का वर्धन करें और स्तवन द्वारा जीवन के लक्ष्य का सदा स्मरण करें। (२) हम इस 'गोमान् सुम्न' की याचना इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **मेध्यातिथिं**=मेध्य=पवित्र-प्रभु को अतिथि बनानेवाले मुझे **प्राव:**=प्रकर्षेण रक्षित करें और **यथा**=जिससे **नीपातिथिं**=(नीप=deep) उस गम्भीरतम प्रभु को अतिथि बनानेवाले मुझे **धने**=धन के निमित्त रक्षित करें।

भावार्थ—हम स्वाध्याय व स्तवन द्वारा 'पवित्र व गम्भीर' प्रभु को अपना अतिथि बनाएँ। यही ऐश्वर्य प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषि:—प्रस्कण्व: काण्व:॥ **देवता**—इन्द्र:॥ **छन्द:**—निचृत् पङ्क्ति:॥ **स्वर:**—पञ्चम:॥

त्रसदस्यु कण्व, दशव्रज पक्थ, ऋजिश्वा गोशर्य

यथा कण्वे मघवन्त्रसदस्यवि यथा पक्थे दशव्रजे।
यथा गोशर्ये असनोर्ऋजिश्वनीन्द्र गोमद्धिरण्यवत्॥ १०॥

(१) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप मेरे लिए **गोमद्**=प्रशस्त इन्द्रियों व प्रशस्त ज्ञान की वाणियों वाले तथा **हिरण्यवत्**=(हिरण्यं वै वीर्यम्) प्रशस्त शक्तिवाले धन को **असनो:**=देते हैं। उसी प्रकार मेरे लिए धन को देते हैं, **यथा**=जैसे **त्रसदस्यवि**=दास्यव वृत्तियों को अपने से भयभीत कर दूर भगानेवाले **कण्वे**=बुद्धिमान् पुरुष में इस धन को प्राप्त कराते हैं। **यथा**=जैसे **दशव्रजे**=दसों इन्द्रियों को संयम के बाड़े में निरुद्ध करनेवाले **पक्थे**=परिपक्व बुद्धिवाले व तप:पक्व पुरुष में इस धन को देते हैं। (२) **यथा**=जैसे **ऋजिश्वनि**=ऋजु (सरल) मार्ग से गति करनेवाले **गोशर्ये**=इन्द्रिय दोषों के हिंसन में उत्तम पुरुष में आप इस धन को देते हैं। मुझे भी इस प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले व प्रशस्त शक्तिवाले धन को दीजिए।

भावार्थ—हम 'त्रसदस्यु कण्व बनें। दशव्रज पक्थ, व ऋजिश्वा गोशर्य' बनें। प्रभु हमें प्रशस्त ज्ञानवाले व प्रशस्त शक्तिवाले धन को देंगे।

'गोमत् हिरण्यवत्' शक्तियों से प्रतिपादित धन को प्राप्त करके यह 'पुष्टिगु' बनता है। मेधावी 'काण्व' तो है ही इसी का अगला सूक्त है—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषि:—पुष्टिगु: काण्व:॥ **देवता**—इन्द्र:॥ **छन्द:**—निचृद् बृहती॥ **स्वर:**—मध्यम:॥

ज्ञान ऐश्वर्य व शक्ति

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये।
य: सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते॥ १॥

(१) **सुश्रुतं**=उत्तम ज्ञानवाले, **सुराधसम्**=उत्तम ऐश्वर्यवाले **शक्रं**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अभिष्टये**=इष्टप्राप्ति की **पीतये प्र असे**=प्रकर्षेण पूजित कर। पूजित प्रभु उपासक को भी 'ज्ञान ऐश्वर्य व शक्ति' प्राप्त कराएँगे। (२) उस प्रभु का तू पूजन कर **य:**=जो **सुन्वते**=सोम का सम्पादन करनेवाले अथवा यज्ञशील **स्तुवते**=स्तोता के लिए **काम्यं वसु**=चाहनेयोग्य धन को **सहस्रेण इव**=सहस्रों की तरह **मंहते**=देते हैं। सहस्रों व्यक्ति भी वह धन नहीं प्राप्त कराते जो वे प्रभु स्तोता के लिए अकेले ही देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम 'ज्ञानी, ऐश्वर्यशाली, शक्तिमान्' प्रभु की अर्चना करें। यज्ञशील व स्तोता बनें और प्रभु से कमनीय धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—पुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

शतानीका हेतयः

श॒तानी॑का हे॒तयो॑ अस्य दु॒ष्टरा॒ इन्द्र॑स्य स॒मिषो॑ म॒हीः ।
गि॒रिर्न भु॒ज्मा म॒घव॑त्सु पिन्वते॒ यदीं॑ सु॒ता अम॑न्दिषुः ॥ २ ॥

(१) **अस्य**=इस **इन्द्रस्य**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु के **हेतयः**=हनन साधन आयुध **शतानीकाः**=सैंकड़ों सैन्यों के समान सबल हैं अतएव **दुष्टराः**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं। इन आयुधों से शत्रु बच नहीं पाते। इस प्रभु की **सम् इषः**=हमारे साथ संगत होनेवाली प्रेरणाएँ **महीः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन प्रेरणाओं को न सुनने पर ही हम पथभ्रष्ट होते हैं और प्रभु की हेतियों से दण्डित होते हैं। (२) वे प्रभु **भुज्मा**=सबका पालन करनेवाले हैं। **गिरिः न**=(गृणाति) एक उपदेष्टा के समान **मघवत्सु**=यज्ञशील पुरुषों में **पिन्वते**=ज्ञान व ऐश्वर्य का वर्षण करते हैं, **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम **अमन्दिषुः**=हमें आनन्दित करनेवाले होते हैं, अर्थात् यदि हम सोमरक्षण द्वारा जीवन को उल्लासमय बनाते हैं, तो प्रभु से ज्ञान व ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं इनका उल्लङ्घन करने पर हम प्रभु के हननसाधन आयुधों से बच नहीं पाते और जब प्रभु से उत्पन्न किये गये सोमकणों का हम रक्षण करते हैं तो प्रभु हमारे लिए ज्ञान व ऐश्वर्य का वर्षण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—पुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

सोमरक्षण से 'प्रभुस्तवन-यज्ञशीलता-पूरणता'

यदीं॑ सु॒तास॒ इन्द॑वो॒ऽभि प्रि॒यमम॑न्दिषुः ।
आपो॒ न धा॑यि॒ सव॑नं म॒ आ व॑सो दु॒घा॑ इ॒वोप॑ दा॒शुषे॑ ॥ ३ ॥

(१) **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सुतासः इन्दवः**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकण **प्रियम् अभि**=उस प्रिय प्रभु को लक्ष्य करके **अमन्दिषुः**=स्तुति में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् इन सोमकणों का रक्षक प्रीति को अनुभव करता हुआ प्रभुस्तवन में प्रवृत्त होता है। उस समय **आपः न**=इन रेतःकणों के समान (आपः रेतो भूत्वा) **मे**=मेरे अन्दर **सवनं**=यज्ञ का **धायि**=धारण होता है। यह सोमरक्षक पुरुष यज्ञशील बनता है। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **उपदाशुषे**=आपके समीप अपना अर्पण करनेवाले के लिए ये सोमकण **आदुघाः इव**=समन्तात् पूरण करनेवाले से होते हैं। प्रभु के सान्निध्य से सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम हमारी कमियों को दूर करके पूरण करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण (१) हमें प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला बनाता है। (२) इससे हम यज्ञशील बनते हैं और (३) ये हमारी कमियों को दूर करके हमारा पूरण करते हैं।

ऋषिः—पुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

अनेहसं, ऊतये हवमानम्

अ॒ने॒हसं॑ वो॒ हव॑मानमू॒तये॒ मध्वः॑ क्षरन्ति धी॒तयः॑ ।
आ त्वा॑ वसो॒ हव॑माना॒स इन्द॑व॒ उप॑ स्तो॒त्रेषु॑ दधिरे ॥ ४ ॥

(१) **धीतयः**=ध्यानवृत्तियाँ (meditation) **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम को **क्षरन्ति**=शरीर में सञ्चारित करती हैं। प्रभु का स्मरण शरीर में सोमरक्षण के लिए अनुकूल होता है। उस सोम को ये ध्यानवृत्तियाँ शरीर में सञ्चारित करती है जो **अनेहसं**=हमारे जीवन को निष्पाप बनाता है और **वः**=तुम्हारे **ऊतये**=रक्षण के लिए **हवमानम्**=पुकारा जाता है–स्तुत किया जाता है। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **हवमानासः**=रक्षण के लिए पुकारे जाते हुए ये **इन्दवः**=सोमकण **त्वा**=आपको **स्तोत्रेषु**=स्तुतिसमूहों में **आ**=समन्तात् **दधिरे**=धारण करते हैं। सोमरक्षण हमें स्तुति की वृत्तिवाला बनाता ही है।

भावार्थ–सुरक्षित सोम (१) हमें निष्पाप बनाता है, (२) हमारा रक्षण करता है (३) हमें प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—पुष्टिगुः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

गूर्तयः पौराः

आ नः सोमे स्वध्वर इयानो अत्यो न तोशते।
यं ते स्वदावन्त्स्वदन्ति गूर्तयः पौरे छन्दयसे हवम्॥५॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **सोमे**=सोमरक्षण के होने पर तथा **स्वध्वरे**=उत्तम हिंसारहित कर्मों के होने पर **इयानः अत्यः न**=प्रेरित किये जाते हुए अश्व के समान **आ तोशते**=समन्तात् शत्रुओं का विनाश करते हैं। जैसे अश्वारोही से प्रेरित अश्व शत्रुसैन्य पर आक्रमण करता है, इसी प्रकार प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। (२) हे **स्वदावन्**=सम्पत्तियों के देनेवाले प्रभो! **यं**=जिस **ते**=आपके इस सोम का **गूर्तयः**=उद्यमशील लोग **स्वदन्ति**=आनन्द अनुभव करते हैं, उन उद्यमशील **पौरे**=पालन व पूरण करनेवाले लोगों में ही आपके **हवं**=पुकार को **छन्दयसे**=चाहते हैं। इन पौरों से की जानेवाली प्रार्थना ही आपको प्रिय होती है। श्रमशीलता हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है। रक्षित सोम से हम अपना पूरण करनेवाले 'पौर' बनते हैं। इन पौरों की आराधना ही प्रभु को प्रिय होती है।

भावार्थ–सोमरक्षण के होने पर व हिंसारहित कर्मों में लगाने पर प्रभु हमारे शत्रुओं को विनष्ट कर डालते हैं। श्रमशीलता से सोमरक्षण करता हुआ अपना पूरण करनेवाला व्यक्ति ही प्रभु का प्रिय होता है।

ऋषिः—पुष्टिगुः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पर्ङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'जलपूर्ण कूप के समान' प्रभु

प्र वीरमुग्रं विविचिं धनस्पृतं विभूतिं राधसो महः।
उद्रीव वज्रिन्नवतो वसुत्वना सदा पीपेथ दाशुषे॥६॥

(१) हम **वीरम्**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले, **उग्रं**=तेजस्वी, **विविचिम्**=विवेकशील, **धनस्पृतं**=धन से सबको प्रीणित करनेवाले, **महः राधसः**=महान् ऐश्वर्यों की **विभूतिम्**=विशिष्ट भूति (ऐश्वर्य)वाले प्रभु को **प्र** (उपसेदिम)=प्रकर्षेण उपासित करनेवाले हों। (२) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! आप **उद्रीवः अवतः**=जलपूर्ण कूप के समान हैं। सदा सबके लिए जलों को प्राप्त कराता हुआ कुआँ खाली नहीं हो जाता। वह जैसे सबको जल देता है, इसी प्रकार हे प्रभो! आप सदा–सदा **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए–आत्मसमर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **वसुत्वना**=वसुओं के द्वारा **पीपेथ**=आप्यायन करनेवाले होते हो।

भावार्थ—प्रभु जलपूर्ण कूप के समान हैं। श्रम के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति प्रभु से धनरूप जल को प्राप्त कर पाता है।

ऋषिः—पुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

उत्तम शरीर, उत्तम मस्तिष्क व मोक्षलोक

यद्ध नूनं परावति यद्वा पृथिव्यां दिवि।
युजान इन्द्र हरिभिर्महेमत ऋष्व ऋष्वेभिरा गहि॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो आप हैं, वे **ह**=निश्चय से **नूनं**=शीघ्र (Immediate) **परावति**=उस सुदूर मोक्षलोक के निमित्त **यद् वा**=अथवा **पृथिव्यां**=इस शरीररूप पृथिवी के निमित्त, **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक के निमित्त **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के द्वारा शरीररथ को **युजानः**=जोतते हुए **आगहि**=हमें प्राप्त होइये। आप से प्राप्त कराई गई ये इन्द्रियाँ ही हमें 'उत्तम शरीर उत्तम मस्तिष्क व मोक्षलोक' को प्राप्त कराने का साधन बनती हैं। (२) हे **महेमते**=महान् बुद्धिवाले व **ऋष्व**=सर्वोत्तम प्रभो! आप **ऋष्वेभिः**=महत्त्वपूर्ण उत्कृष्ट इन्द्रियों के साथ हमें प्राप्त होइये। आपसे प्राप्त कराई गई ये उत्कृष्ट इन्द्रियाँ ही हमें उत्कृष्ट लोक को प्राप्त करानेवाली होंगी।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें उत्कृष्ट इन्द्रियाँ प्राप्त कराइये। इनके द्वारा ठीक मार्ग का आक्रमण करते हुए हम शरीर व मस्तिष्क को उत्कृष्ट बनाकर मोक्षलोक को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—पुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

रथिरासो हरयो ये ते अस्रिध ओजो वातस्य पिप्रति।
येभिर्नि दस्युं मनुषो निघोषयो येभिः स्वः परीयसे॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **ये**=जो आपके दिये हुए **हरयः**=इन्द्रियाश्व हैं, **ते**=वे **रथिरासः**=शरीररथ को उत्तमता से ले चलनेवाले हैं, **अस्रिधः**=अहिंसित है और **वातस्य ओजः**=वायु के बल को **पिप्रति**=अपने में भरते हैं। (२) ये इन्द्रियाश्व वे हैं, **येभिः**=जिनसे **मनुषः**=विचारशील पुरुष **दस्युं**=विनाशक वासनारूप शत्रु को **नि**=निश्चय से **निघोषयः**=रुलानेवाले होते हैं और **येभिः**=जिनसे इन शत्रुओं हो रुलाकर, अर्थात् नष्ट करके **स्वः**=प्रकाश को **परीयसे**=समन्तात् प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के द्वारा प्राप्त कराई गई इन्द्रियाँ (१) शरीररथ को आगे ले-चलती हैं, (२) हमें हिंसित नहीं होने देतीं, (३) वायु सम ओजवाला बनाती हैं, (४) अशुभ वृत्तियों को नष्ट करती हैं, (५) प्रकाश को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—पुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

'एतश व वश' का रक्षण

एतावतस्ते वसो विद्याम शूर नव्यसः।
यथा प्राव एतशं कृत्व्ये धने यथा वशं दशव्रजे॥ ९॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले! **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले! **नव्यसः ते**=स्तुति के योग्य आपके **एतावतः**=इतने ऐश्वर्य को **विद्याम**=प्राप्त करें। (२) **यथा**=जिस प्रकार आप **कृत्व्ये धने**=पुरुषार्थ से कमाने योग्य धन के होने पर **एतशं**=दीप्त व पवित्र पुरुष को

प्राव:=रक्षित करते हैं और **यथा**=जैसे **दशव्रजे**=दसों इन्द्रियों को संयम के बाड़े में रोकने पर **वशं**=इस वशी-जितेन्द्रिय-पुरुष को आप रक्षित करते हैं। हमें भी आप इस एतश और वश की तरह रक्षित करिये।

भावार्थ-हम पुरुषार्थ से धनार्जन करते हुए पवित्र व दीप्त जीवनवाले बनें। दसों इन्द्रियों को संयम बाड़े में निरुद्ध करके वशी बनें। इस प्रकार हम प्रभु द्वारा रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—पुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पं- ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

कण्व-गोशर्य

यथा कण्वे मघवन्मेधे अध्वरे दीर्घनीथे दमूनसि।
यथा गोशर्ये असिषासो अद्रिवो मयि गोत्रं हरिश्रियम्॥ १०॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **यथा**=जैसे **कण्वे**=मेधावी पुरुष में, **मेधे**=यज्ञमय जीवनवाले पुरुष में, **अध्वरे**=हिंसारहित व्यक्ति में, **दीर्घनीथे**=तम से शून्य (विदीर्ण तमवाले) प्रणयन (मार्ग)वाले में, **दमूनसि**=दान्त मनवाले पुरुष में आप **हरिश्रियं**=अज्ञान के हरण करनेवाली श्री से युक्त **गोत्रं**=ज्ञान की वाणियों के समूह को **असनोः**=देते हैं, उसी प्रकार **मयि**=मेरे में भी इस ज्ञानवाणी समूह को प्राप्त कराइए। (२) हे प्रभो! **यथा**=जैसे **गोशर्ये**=(गोभिः शृणोति) इन ज्ञान की वाणियों द्वारा सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाले में आप श्री को प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार मुझे भी श्रीसम्पन्न करिये।

भावार्थ-हम कण्व-मेध-अध्वर-दीर्घनीथ-दमूना व गोशर्य बनकर अज्ञानविध्वंसक श्री से युक्त ज्ञानवाणी समूह को प्राप्त करें।

सूचनाः-यहाँ सूक्त ४९ व ५० के मन्त्रों की समता द्रष्टव्य है-

		४९	५०
मन्त्र	१ में	सुराधस इन्द्रम् अर्च सहस्रेणेव शिक्षति	सुराधसं शक्रम् अर्च सहस्रेणेव मंहते
"	२ "	शतानीका---गिरेरिव	शतानीका---गिरिर्न
"	३ "	आ त्वा सुतास इन्दवः	यदीं सुतास इन्दवः
"	४ "	अनेहसं	अनेहसं
"	५ "	यं ते स्वधावन्त्स्वदयन्ति धेनवः	यं ते स्वदावन्त्स्वदन्ति गूर्तयः
"	६ "	उग्रं न वीरं---उद्रीव वज्रिन्नवतो	प्र वीरमुग्रं----उद्रीव वज्रिन्नवतो
"	७ "	महेमते उग्र उग्रेभिरा गहि	महेमते ऋष्व ऋष्वेभिरा गहि
"	८ "	अजिरासो हरयः	रथिरासो हरयः
"	९ "	एतावतस्त ईमहे इन्द्र सुम्नस्य गोमतः	एतवास्ते वसो विद्याम शूर नव्यसः
"	१० "	यथा कण्वे मघवन् त्रसदस्यवि गोमत् हिरण्यवत्	यथा कण्वे मघवन् मेधे अध्वरे गोत्रं हरिश्रियम्

इस 'हरिश्रियं गोत्रं' व 'गोमत् हिरण्यवत्' (वसु) को प्राप्त करके हम 'श्रुष्टिगु' (श्रुष्टि=Prosperit) समृद्ध इन्द्रियों वा ज्ञान की वाणियोंवाले बनते हैं। यही व्यक्ति 'कण्व'=मेधावी है। यह प्रार्थना करता है-

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद् बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

मनु-श्रुष्टिगु

यथा मनौ सांवरणौ सोममिन्द्रापिबः सुतम्।
नीपातिथौ मघवन्मेध्यातिथौ पुष्टिगौ श्रुष्टिगौ सचा॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यथा**=जैसे **मनौ**=विचारशील पुरुष में, **सांवरणौ**=अपना सम्यक् आच्छादन करनेवाले पुरुष में **सुतं सोमं अपिबः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को आप पीते हो, अर्थात् इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करते हों। इसी प्रकार हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **नीपातिथौ**=(नीप=Deep) उस गम्भीर आपको अतिथि बनानेवाले में **सचा**=समवेत होकर सोम का पान करते हैं। सोम का रक्षण उस व्यक्ति में होता है जो 'विचारशील-अपना रक्षण करनेवाला व प्रभु का आतिथ्य करनेवाला' होता है। (२) इसी प्रकार हे प्रभो! आप **मेध्यातिथौ**=पवित्र प्रभु का आतिथ्य करनेवाले में, **पुष्टिगौ**=पुष्ट इन्द्रियोंवाले में, तथा **श्रुष्टिगौ**=समृद्ध व सानन्द इन्द्रियोंवाले में समवेत होकर आप सोम का पान करते हैं, अर्थात् यह **'मेध्यातिथि=पुष्टिगु व श्रुष्टिगु'** पुरुष प्रभु का उपासन करता हुआ सोम का रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—हम 'मनु-सांवरणि-नीपतिथि-मेध्यातिथि-पुष्टिगु व श्रुष्टिगु' बनकर प्रभु का उपासन करते हुए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दस्यवे वृकः

पार्षद्वाणः प्रस्कण्वं समसादयच्छयानं जिव्रिमुद्धितम्।
सहस्राण्यसिषासद्गवामृषिस्त्वोतो दस्यवे वृकः॥ २॥

(१) **पार्षद्वाणः**=ज्ञान की वाणियों को देनेवाला प्रभु **प्रस्कण्वं**=मेधावी को-मेधावी के लिए **शयानं**=सर्वत्र निवास करनेवाले **जिव्रिम्**=सनातन पुराण **उद्धितम्**=उत्कृष्ट हित करनेवाले प्रभु को **समसादयत्**=प्राप्त कराते हैं। प्रभुकृपा से ही एक मेधावी पुरुष प्रभु का दर्शन करता है। (२) **गवां**=इन ज्ञान की वाणियों का **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा व्यक्ति **सहस्राणि**=सहस्रों धनों का **असिषासद्**=संभजन करनेवाला होता है। हे प्रभो! **त्वा ऊतः**=आपसे रक्षित किया गया यह व्यक्ति **दस्यवे**=विनाशक वृत्ति के लिए (दसु उपक्षये) **वृकः**=भेड़िये के समान होता है, अर्थात् इन दास्यव वृत्तियों को समाप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान से ही हम प्रभुदर्शन कर पाते हैं। प्रभु से रक्षित होकर हम दास्यव भावनाओं को समाप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद् बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

चिकिद्यः ऋषिचोदनः

य उक्थेभिर्न विन्धते चिकिद्य ऋषिचोदनः।
इन्द्रं तमच्छा वद नव्यस्या मत्यरिष्यन्तं न भोजसे॥ ३॥

(१) **यः**=जो **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **न विन्धते**=पूर्णतया विद्ध नहीं होते, अर्थात् जो स्तोत्रों द्वारा पूरा-पूरा जाने नहीं जाते, **चिकिद्यः**=जानने योग्य-वेद्य हैं, **ऋषिचोदनः**=तत्त्वदर्शियों

को प्रेरित करनेवाले हैं, **तम्**=उस **इन्द्रम् अच्छ**=प्रभु को लक्ष्य करके **नव्यस्या मती**=अतिशयेन स्तुत्य मति के द्वारा **वद**=स्तुतिवचनों का उच्चारण कर। (२) **अरिष्यन्तं न**=किसी भी प्रकार हिंसित न होते हुए के समान उस प्रभु का तु स्तवन कर। स्तुति किये गये प्रभु **भोजसे**=तेरे पालन के लिए होते हैं।

भावार्थ–प्रभु ही वेद्य हैं, पर किन्हीं पर शब्दों से प्रभु के पूर्ण वर्णन का सम्भव नहीं। इन्हीं प्रभु का हमें स्तवन करना चाहिए। ये प्रभु हमारा पालन करते हैं।

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

मोक्षपद की ओर

यस्मा अर्कं सप्तशीर्षाणमानृचुस्त्रिधातुमुत्तमे पदे।
स त्वि१मा विश्वा भुवनानि चिक्रददादिज्जनिष्ट पौंस्यम्॥ ४॥

(१) **यस्मा**=जिस प्रभु के लिए **अर्कम्**=पूजा के साधनभूत वेदमन्त्रों (अर्चन्ति अनेन) से, जो वेदमन्त्र **सप्तशीर्षाणम्**=सप्त छन्दोरूप सात सिरोंवाले हैं तथा **त्रिधातुम्**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का धारण करनेवाले हैं, उन मन्त्रों से **आनृचः**=पूजन करते हैं और **उत्तमे पदे**=सर्वोत्तम मोक्षपद का लाभ करते हैं। **सः**=वे प्रभु ही **तु**=तो **इमा**=इन **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोगों को **चिक्रदद्**=इस मोक्षपद के लिए आहूत करते हैं। हृदयस्थरूपेण उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा करते हैं। (२) जब हम इस प्रेरणा को–आह्वान को–सुनते हैं **आत् इत्**=तब ही शीघ्र **पौंस्यं जनिष्ट**=शक्ति उत्पन्न होती है। अपने अन्दर शक्ति का सम्पादन करके यह उपासक निरन्तर आगे बढ़ता है।

भावार्थ–हम वेदमन्त्रों द्वारा प्रभुपूजन करें। प्रभुप्रेरणा को सुनते हुए ठीक मार्ग पर चलते हुए मोक्षपद की ओर बढ़ें।

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

गोमान् व्रज में

यो नो दाता वसूनामिन्द्रं तं हूमहे वयम्।
विद्मा ह्यस्य सुमतिं नवीयसीं गमेम गोमति व्रजे॥ ५॥

(१) **यः**=जो **नः**=हमारे लिए **वसूनां**=सब वसुओं (धनों) के **दाता**=देनेवाले हैं, **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **वयम्**=हम **हूमहे**=पुकारते हैं, उस प्रभु की ही आराधना करते हैं। (२) इस आराधना से **अस्य**=इन प्रभु की **नवीयसीं**=अतिशयेन प्रशस्य **सुमतिं**=कल्याणी मति को–वेदोपदिष्ट ज्ञान को–**हि**=निश्चय से **विद्मा**=जानें। इस ज्ञान को प्राप्त करते हुए **गोमति**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियों वाले **व्रजे**=(व्रज गतौ) गतिक्षेत्र में–कर्मक्षेत्र में, **गमेम**=जाएँ, अर्थात् सदा ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाले हों।

भावार्थ–सब धनों के दाता प्रभु का हम आराधन करें। वेदोपदिष्ट प्रभु की कल्याणी मति को प्राप्त करके ज्ञानपूर्वक कर्म करें।

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

दान से धनवृद्धि

यस्मै त्वं वसो दानाय शिक्षसि स रायस्पोषमश्नुते।
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे॥ ६॥

(१) हे **वसोः**=सब को बसानेवाले-सबके लिए वसुओं को देनेवाले प्रभो! **यस्मै**=जिसके लिए **त्वं**=आप **दानाय**=धनों के दान के लिए **शिक्षसि**=शिक्षण करते हैं, **सः**=वह धनों का दान करता हुआ पुरुष **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **अश्नुते**=प्राप्त करता है। दान देने से उसका धन बढ़ता ही है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **वयं**=हम हे **मघवन्**=(मघ=मख) सब यज्ञोंवाले **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा सम्भजनीय प्रभो! **सुतावन्तः**=सोम का सम्पादन करनेवाले होकर **हवामहे**=पुकारते हैं। सोम का शरीर में रक्षण करते हुए हम आपके आराधक बनते हैं।

भावार्थ—दान देने से धन की वृद्धि ही होती है। हे प्रभो! धनों के दाता आपकी हम आराधना करें—आपकी प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

सदा 'सर्वद' प्रभु

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ७ ॥

(१) हे प्रभो! आप **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=हमारी हिंसा करनेवाले **न**=नहीं है अथवा आप हमारे लिए (वन्ध्य) गौ के समान नहीं है—आप हमारे लिए सदा आवश्यक वस्तु रूप दुग्ध को प्राप्त करानेवाले हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए-दानशील पुरुष के लिए **सश्चसि**=प्राप्त होनेवाले हैं। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **देवस्य ते**=सब कुछ देनेवाले आपका **इत् नु**=निश्चय से **भूयः दानं**=खूब दान **उप उप इत् नु**=समीप और अत्यन्त समीप ही **पृच्यते**=हमारे साथ से संपृक्त होता है। हम आपके दानों का पात्र बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें निरन्तर आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

पार्थिव

प्र यो ननक्षे अभ्योजसा क्रिविं वधैः शुष्णं निघोषयन्।
यदेदस्तम्भीत्प्रथयन्नमूं दिवमादिज्जनिष्ट पार्थिवः ॥ ८ ॥

(१) **यः**=जो **क्रिविं**=हिंसक **शुष्णं**=शोषक कामासुर को **वधैः**=वध साधनभूत आयुधों से **निघोषयन्**=शब्दशून्य करता हुआ उसके **अभिप्रति ओजसा**=पराक्रम के साथ **प्रननक्षे**=आक्रमण करता है और **यदा**=जब **इत्**=निश्चय से **अमूं दिवं**=उस मस्तिष्करूप द्युलोक को **प्रथयन्**=विस्तृत करता हुआ **अस्तम्भीत्**=थामता है—धारण करता है, तो **आत् इत्**=शीघ्र ही निश्चय से **पार्थिवः**=इस पृथिवीरूप शरीर का स्वामी **जनिष्ट**=हो जाता है। (२) इस जीवनसंग्राम में हमारा कर्तव्य है कि हम [१] वासनारूप शत्रु को पराजित करें [२] और मस्तिष्करूप द्युलोक को धारण करें। वासनाविनाश ही ज्ञानविस्तार का हेतु है। इस प्रकार वासनाविनाश व ज्ञानधारण से ही हम इस शरीर में पार्थिव-सम्राट् बन पाते हैं।

भावार्थ—हमारा कर्तव्य यही है कि [१] वासना को विनष्ट करें, [२] ज्ञान को धारण करें [३] और पार्थिव, पृथिवीरूप शरीर के अधिपति बनें।

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

अर्य-रुशम

यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यते रयिः॥ ९॥

(१) **यस्य**=जिसका **अयं**=यह **विश्वः**=सब **आर्यः**=श्रेष्ठ, **दासः**=(दसु उपक्षये) वासनाओं का क्षय करनेवाला **शेवधिपाः**=शक्ति व ज्ञानरूप कोश का रक्षण करनेवाला **अरिः**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला (ऋ गतौ) है, अर्थात् ये 'आर्य, दास, शेवधिपा व अरि' उस प्रभु के सच्चे उपासक हैं। (२) वे प्रभु **तिरः चित्**=तिरोहित रूप में होते हुए भी **अर्ये**=जितेन्द्रिय पुरुष में, **रुशमे**=शत्रुओं का संहार करनेवाले पुरुष में, **पवीरवि**=शत्रुघातक अस्त्रोंवाले पुरुष में **अज्यते**=व्यक्त होते हैं। **सः**=वह **रयिः**=ऐश्वर्यभूत प्रभु **तुभ्य इत्**=तेरे लिए भी **अज्यसे**=व्यक्त होता है। हम भी 'अर्य व रुशम' बनें और प्रभु का दर्शन करें।

भावार्थ—प्रभु सबमें तिरोहितरूप से रह रहे हैं। जो जितेन्द्रिय व वासनारूप शत्रुओं का संहार करनेवाला बनता है, उसमें वे प्रभु प्रकट होते हैं।

ऋषिः—श्रुष्टिगुः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'मधुमान् घृतश्चुत् व अर्क' प्रभु

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः॥ १०॥

(१) **तुरण्यवः**=क्षिप्रकारी कर्मकुशल **विप्रासः**=अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले लोग **मधुमन्तं**=अत्यन्त माधुर्यवाले **घृतश्चुतं**=दीप्ति को हमारे जीवनों में आसिक्त करनेवाले **अर्कम्**=पूजनीय प्रभु का **आनृचुः**=अर्चन करते हैं। (२) इस प्रभु के अर्चन से **अस्मे**=हमारे लिए **रयिः पप्रथे**=ऐश्वर्य का विस्तार होता है। **वृष्ण्यं शवः**=हमें सुखों का सेचन करनेवाला बल प्राप्त होता है। **अस्मे**=हमारे लिए **सुवानासः**=उत्पन्न होते हुए सोमकण **इन्दवः**=शक्तिशाली बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का अर्चन करें। हमें ऐश्वर्य व शक्ति प्राप्त होगी। हमारे अन्दर सुरक्षित सोमकण हमें तेजस्वी व ओजस्वी बनाएँगे। प्रभु की उपासना जीवन को मधुर व ज्ञानदीप्त बनाती है।

इस मन्त्र में वर्णित 'तुरण्यु' पुरुष ही 'आयु' (इ गतौ) है, समझदार होने से ये 'काण्व' हैं। यह 'आयु काण्व' अगले सूक्त का ऋषि है। यह इन्द्र का उपासन करता हुआ कहता है कि—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—आयुः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'मनु विवास्वान् त्रित आयु'

यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम्।
यथा त्रिते छन्द इन्द्र जुजोषस्यायौ मादयसे सचा॥ १॥

(१) **यथा**=जिस प्रकार **मनौ**=विचारशील पुरुष में तथा **विवस्वति**=अज्ञानान्धकार को

विवासित करनेवाले पुरुष में, हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **सुतं सोमं**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का **अपिबः**=पान करते हैं। जब हम विचारशील बनते हैं और अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए स्वाध्यायशील होते हैं तो वासनाओं से बचे रहते हैं और इस प्रकार सोम का रक्षण करते हैं। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यथा**=जिस प्रकार आप **त्रिते**=काम-क्रोध-लोभ को तैर जानेवाले में **छन्दः**=इन ज्ञान की वाणियों को **जुजोषसि**=प्रीतिपूर्वक सेवन कराते हैं इसी तरह **आयौ**=गतिशील पुरुष में **सचा**=समवेत होकर **मादयसे**=उसे आनन्दित करते हैं।

भावार्थ—हम 'मनु विवस्वान्' विचारशील व स्वाध्यायशील बनकर सोम को शरीर में सुरक्षित रखें। 'त्रित' बनकर ज्ञान की वाणियों के प्रति प्रेमवाले हों। 'आयु' बनकर प्रभु से मेलवाले होते हुए आनन्दित हों।

ऋषिः—आयुः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

पृषध्र=ऋजूनस्

पृषध्रे मेध्ये मातरिश्वनीन्द्र सुवाने अमन्दथाः।
यथा सोमं दशशिप्रे दशोण्ये स्यूमरश्मावृजूनसि॥ २॥

(१) **यथा**=जिस प्रकार हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **पृषध्रे**=शक्ति सेचन के द्वारा अपना धारण करनेवाले में, **मेध्ये**=यज्ञों में उत्तम, अर्थात् यज्ञशील पुरुष में, **मातरिश्वनि**=वेदमाता के अनुसार गति द्वारा वृद्धि को प्राप्त करनेवाले व **सोमं सुवाने**=सोम का सम्पादन करनेवाले में **अमन्दथाः**=आप आनन्द को करते हो, अर्थात् इन 'पृषध्र' आदि को प्रभु आनन्दित करते हैं। (२) **यथा**=जिस प्रकार **दशशिप्रे**=दस शिरस्त्राणोंवाले में, अर्थात् दसों इन्द्रियों को सुरक्षित रखनेवाले में, **दशोण्ये**=दसों इन्द्रियों के मलों को दूर करनेवाले में (ओण् अपनयने), **स्यूमरश्मौ**=आनन्दकर ज्ञानरश्मियोंवाले में तथा **ऋजूनसि**=ऋजु (सरल) मार्ग से गति करते हुए दुःखों का परिहाण (ऊन् परिहाणे) करनेवाले में आनन्दित करते हैं। इसी प्रकार हमारे जीवनों में सोमरक्षण द्वारा आनन्द को करनेवाले होइये।

भावार्थ—हम 'पृषध्र, मेध्य, मातरिश्वा, सोमसवन करनेवाले, दशशिप्र, दशोण्य, स्यूनरश्मि, ऋजूनस्' बनकर आनन्दित हों।

ऋषिः—आयुः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

उप मित्रस्य धर्मभिः

य उक्था केवला दधे यः सोमं धृषितापिबत्।
यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रम उप मित्रस्य धर्मभिः॥ ३॥

(१) **यः**=जो **केवलाः**=आनन्द में संचार करानेवाले **उक्था**=स्तोत्रों को **दधे**=धारण करता है, अर्थात् प्रभु का स्तवन करता हुआ आनन्द में विचरता है। **यः**=जो **धृषिता**=शत्रुओं के-काम, क्रोध आदि के-धर्षण के द्वारा **सोमं**=सोम को **अपिबत्**=पीता है, अर्थात् शरीर में सोम का रक्षण करता है। (२) **यस्मै**=जिसके लिए **विष्णुः**=वह सबमें व्यापक रहनेवाला परमात्मा **त्रीणि पदा**=तीन कदमों को **विचक्रमे**=रखता है, अर्थात् जो प्रभुस्मरण करता हुआ शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य को प्राप्त करता है, वह **मित्रस्य धामभिः**=सूर्य के तेजों से युक्त हुआ-हुआ **उप**=उस प्रभु के समीप होता है।

भावार्थ—हम स्तवनों में आनन्द लें, काम, क्रोध को जीतकर सोम का शरीर में रक्षण करें, प्रभु के अनुग्रह से शरीर, मन व बुद्धि का विकास करें। तभी हम सूर्य सम तेजों को धारण करते हुए प्रभु के समीप होंगे।

ऋषिः—आयुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

स्तुति-शक्ति-ज्ञान

यस्य त्वमिन्द्र स्तोमेषु चाकनो वाजे वाजिञ्छतक्रतो।
तं त्वा वयं सुदुघामिव गोदुहो जुहूमसि श्रवस्यवः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यस्य**=जिसके **स्तोमेषु**=स्तुतिवचनों में **त्वं**=आप **चाकनः**=कामनावाले होते हैं—जिसके स्तुतिवचन आपके लिए कान्त होते हैं। हे **वाजिन्**=शक्तिसम्पन्न **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानवाले प्रभो! जिसके **वाजे**=बल में आप कामनावाले होते हैं, अर्थात् जिसे आप सबल बनाने का अनुग्रह करते हैं, अर्थात् आप ही हमें स्तुतिप्रवण व शक्तिशाली बनाते हैं। (२) **तं त्वा**=उन आपको **वयं**=हम **श्रवस्यवः**=ज्ञान व यशस्वी जीवन की कामनावाले होते हुए इस प्रकार **जुहूमसि**=पुकारते हैं, जैसे **गोदुहः**=गोधुक् (गोप) लोग दुग्धदोहन के लिए **सुदुघाम्**=उत्तमता से दोहने योग्य गौ को। आपसे हमें उत्तम ज्ञानदुग्ध प्राप्त होता है, जिसने हमें परिपुष्ट, पवित्र व यशस्वी बनाना है।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम स्तुतिप्रवण, शक्तिसम्पन्न व ज्ञान के पिपासु बनें। शरीर में शक्ति, मस्तिष्क में ज्ञान व मन में हमारे स्तुति की भावना हो।

ऋषिः—आयुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

गोः अश्वस्य प्रदातु नः

यो नो दाता स नः पिता महाँ उग्र ईशानकृत्।
अयामन्नुग्रो मघवा पुरूवसुर्गोरश्वस्य प्र दातु नः॥ ५॥

(१) **यः**=जो **नः**=हमारे लिए **दाता**=सबकुछ देनेवाले हैं, **सः**=वे **नः**=हमारे **पिता**=पिता हैं। **महान्**=पूजनीय हैं। **उग्रः**=तेजस्वी हैं। **ईशानकृत्**=ऐश्वर्य को करनेवाले हैं। (२) वे प्रभु **उग्रः**=तेजस्वी व **मघवा**=ऐश्वर्यशाली हैं। वे हमारे लिए **अयामन्**=इन धनों को देते हैं। वे **पुरूवसुः**=पालक व पूरक वसुओं के देनेवाले प्रभु **नः**=हमारे लिए **गोः**=ज्ञानेन्द्रियों व **अश्वस्य**=कर्मेन्द्रियों को **प्रदातु**=देनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु सर्वप्रद हैं। हमारे लिए वे ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को तथा पालक व पूरक धनों को देनेवाले हों।

ऋषिः—आयुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

'वसुपति-शतक्रतु' इन्द्र

यस्मै त्वं वसो दानाय मंहसे स रायस्पोषमिन्वति।
वसूयवो वसुपतिं शतक्रतुं स्तोमैरिन्द्रं हवामहे॥ ६॥

(१) हे **वसो**=बसानेवाले प्रभो! या वसुओं को देनेवाले प्रभो! **यस्मै**=जिसके लिए **त्वं**=आप **मंहसे**=धनों को देते हैं, वह सब **दानाय**=दान के लिए होता है। **सः**=वह **रायस्पोषम्**: धन प्रभु का होता है।

हम उस धन के रक्षक होते हैं। इस धन का हमें लोकहित के लिए विनियोग करना होता है। **सः**=वह दान देनेवाला व्यक्ति **रायः**=धनों के **पोषम्**=पोषण को **इन्वति**=प्राप्त होता है। (२) हम भी **वसूयवः**=वसुओं को प्राप्त करने की कामनावाले होते हुए उन **वसुपतिं**=वसुओं के स्वामी **शतक्रतुं**=अनन्त प्रज्ञान व कर्मोंवाले **इन्द्रं**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्तोमैः**=स्तुतिसमूहों से **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु ने ही तो हमें वसुओं को प्राप्त कराना है।

भावार्थ–प्रभु हमें दान के लिए धनों को प्राप्त कराते हैं। उस वसुपति को ही हम स्तोमों द्वारा आराधित करते हैं।

ऋषिः—आयुः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'तुरीय आदित्य' प्रभु

कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी।
तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियमा तस्थावमृतं दिवि॥७॥

(१) हे प्रभो! आप **कदा च**=कभी भी **न प्रयुच्छसि**=प्रमाद नहीं करते हो। **उभे**=दोनों **जन्मनी**=जन्मों को–इहलोक व परलोक को **निपासि**=निश्चय से रक्षित करते हो। (२) हे **तुरीय**=समाधिजन्य तुरीयावस्था से प्राप्त होने योग्य! **आदित्य**=सूर्यवत् देदीप्यमान प्रभो! (आदित्यवर्णम्) **ते हवनम्**=आपका पुकारना **इन्द्रियम्**=वीर्य व बल है, अर्थात् आपकी आराधना से शक्ति प्राप्त होती है। आपके **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **अमृतं**=नीरोगता व अमरता **आतस्थौ**=स्थित है। आपसे दिया जानेवाला यह ज्ञान का प्रकाश हमारे लिए अमृतत्व को देनेवाला है।

भावार्थ–प्रभु प्रमादरहित होकर हमारे इहलोक व परलोक का रक्षण करते हैं। प्रभु की आराधना हमें शक्ति देती है। प्रभु से दिये गये ज्ञान के प्रकाश में अमृतत्व निहित हैं।

ऋषिः—आयुः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

कण्ववत् शृणुधि हवम्

यस्मै त्वं मघवन्निन्द्र गिर्वणः शिक्षो शिक्षसि दाशुषे।
अस्माकं गिर उत सुष्टुतिं वसो कण्ववच्छृणुधी हवम्॥८॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से सम्भजनीय! **शिक्षो**=शिक्षित करनेवाले प्रभो! **त्वं**=आप **यस्मै दाशुषे**=जिस दानशील पुरुष के लिए होते हो, उसे **शिक्षसि**=शिक्षित करते हो। जो प्रभु का बनता है, प्रभु उसे शिक्षित करते हैं। (२) हे **वसो**=बसानेवाले प्रभो! **अस्माकं**=इनकी **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को उस **सुष्टुतिं**=उत्तम स्तुति को आप **शृणुधि**=सुनिये। हे प्रभो! हमारी **हवम्**=पुकार व प्रार्थना को इस प्रकार सुनिये जैसे **कण्ववत्**=कण्व–एक मेधावी पुरुष की प्रार्थना को सुनते हैं।

भावार्थ–हम प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करें–प्रभु हमें आवश्यक धनों को दें। प्रभु हमारी पुकार को सुनें।

ऋषिः—आयुः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वेदवाणी द्वारा बुद्धिवर्धन

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत॥९॥

(१) **पूर्व्यं**=पालन व पूरण करने में उत्तम **मन्म**=मननीय स्तोत्र **अस्तावि**=हमारे से स्तुत होता है। हम प्रभु का विचारपूर्वक स्तवन करते हैं—यह स्तवन हमारी लक्ष्यदृष्टि को पैदा करता हुआ हमारा पूरण करता है। **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **ब्रह्म वोचत**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करो। (२) **ऋतस्य**=सत्य ज्ञान की **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली **बृहतीः**=ये वर्धन की हेतुभूत वाणियाँ **अनूषत**=हमारे से स्तुत होती हैं। इस वेदवाणी के स्तवन से **स्तोतुः**=स्तवन करनेवाले की **मेधाः**=बुद्धियाँ **असृक्षत**=सृष्ट होती हैं। वेदवाणियों का अध्ययन बुद्धियों की वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभुप्राप्ति के लिए ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें। ये वेदवाणियाँ हमारी बुद्धि का वर्धन करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—आयुः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

प्रभु ही ऐश्वर्य के प्रेरक हैं

समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम्।
सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः॥ १०॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **बृहतीः रायः**=वृद्धि के कारणभूत धनों को **सम् अधूनुत**=(Promoted) हमारी ओर प्रेरित करते हैं। वे प्रभु ही **क्षोणी**=पृथिवी को **सं**=प्रेरित करते हैं, **उ**=और **सूर्यं**=सूर्य को **सं**=प्रेरित करते हैं। (२) **शुचयः**=जीवन को पवित्र बनानेवाले **शुक्रासः**=वीर्यकण **इन्द्रम्**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सम् अमन्दिषुः**=आनन्दित करते हैं। वीर्यकणों की रक्षा करनेवाला पुरुष प्रभु का प्रिय बनता है। ये **गवाशिरः**=इन्द्रियों के मलों का संहार करनेवाले **सोमाः**=सोमकण प्रभु को आनन्दित करते हैं। जब उपासक सोमकणों के रक्षण के द्वारा इन्द्रियों को सशक्त व निर्मल बनाता है, तो यह प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों को हमारी ओर प्रेरित करते हैं। प्रभु ही पृथिवी व सूर्य को गति देते हैं। सोमरक्षक पुरुष प्रभु का प्रिय बनता है।

जीवन को पवित्र बनानेवाला 'मेध्य काण्व' अगले सूक्त का ऋषि है। यह इन्द्र की उपासना इस प्रकार करता है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेध्यः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

'पूर्भित्तम' इन्द्र

उपमं त्वा मघोनां ज्येष्ठं च वृषभाणाम्।
पूर्भित्तमं मघवन्निन्द्र गोविदमीशानं राय ईमहे॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ईशानं त्वा**=सब धनों के स्वामी आपसे **रायः ईमहे**=धनों की याचना करते हैं, उन आपसे धनों की याचना करते हैं जो **मघोनाम् उपमं**=ऐश्वर्यशाली पुरुषों के उपमानभूत हैं, **च**=और **वृषभाणां ज्येष्ठम्**=शक्तिशालियों में श्रेष्ठ हैं। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! उन आपसे हम धनों की याचना करते हैं जो **पूर्भित्तमम्**=असुरों की पुरियों का सर्वाधिक विदारण करनेवाले हैं, अर्थात् उपासकों को आसुरभावशून्य बनानेवाले हैं। **गोविदम्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु श्रेष्ठ हैं—ज्ञान की वाणियों को देकर हमें आसुरभावों से ऊपर उठानेवाले हैं।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'आयु-कुत्स-अतिथिग्व-हर्यश्व व शतक्रतु'

य आयुं कुत्समतिथिग्वमर्दयो वावृधानो दिवेदिवे।
तं त्वा वयं हर्यश्वं शतक्रतुं वाजयन्तो हवामहे॥ २॥

(१) **यः**=जो प्रभु **आयुं**=गतिशील पुरुष को, **कुत्सं**=वासनाओं का संहार करनेवाले को, **अतिथिग्वं**=उस महान् अतिथि प्रभु की ओर जानेवाले को **अर्दयः**=प्राप्त होते हैं (अर्द गतौ), जो **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **वावृधानः**=हमारा खूब ही वर्धन करनेवाले हैं, **तं त्वा**=उन आपको **वयं**=हम **हवामहे**=पुकारते हैं। आपके अनुग्रह से ही तो हम 'आयु, कुत्स व अतिथिग्व' बन पाते हैं। (२) हम **वाजयन्तः**=शक्ति को प्राप्त करने की कामनावाले होते हुए **हर्यश्वं**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले, **शतक्रतुं**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु के अनुग्रह से हम 'हर्यश्व व शतक्रतु' बन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का आराधन करते हुए हम 'आयु, कुत्स, अतिथिग्व, हर्यश्व व शतक्रतु' बनें।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराट् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

परावति-अर्वावति

आ नो विश्वेषां रसं मध्वः सिञ्चन्त्वद्रयः।
ये परावति सुन्विरे जनेष्वा ये अर्वावतीन्दवः॥ ३॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **अद्रयः**=प्रभु का आदर करनेवाले उपासक लोग **नः**=हमारे से उत्पन्न किये गये **विश्वेषां रसं**=सब ओषधियों के सारभूत अथवा सब अंगों को रसमय बनानेवाले **मध्वः**=सोम का आ **सिञ्चन्तु**=सब अंग-प्रत्यगों में सेचन करें। (२) उन सोमकणों का सेचन करें **ये**=जो **जनेषु**=लोगों में **परावति**=उस सुदूर मोक्षलोक की प्राप्ति के निमित्त **सुन्विरे**=उत्पन्न किये जाते हैं और **ये**=जो **अर्वावति**=इस अर्वाक्-समीपस्थ इहलोक के लिए **आ**=समन्तात् सुत किये जाते हैं। इन सोमकणों के रक्षण से ही इहलोक व परलोक का कल्याण होता है। इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस का निर्भर इस सोमरक्षण पर ही है।

भावार्थ—प्रभु के आदेश के अनुसार हम शरीर में ही सोम का सेचन करें। यह सोम ही अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक है।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

निर्द्वेषता व उल्लास

विश्वा द्वेषांसि जहि चाव चा कृधि विश्वे सन्वन्त्वा वसु।
शीष्टेषु चित्ते मदिरासो अंशवो यत्रा सोमस्य तृम्पसि॥ ४॥

(१) हे इन्द्र! **यत्रा**=जहाँ **सोमस्य तृम्पसि**=तू सोम से तृप्ति का अनुभव करता है, वहाँ **विश्वा**=सब **द्वेषांसि**=द्वेषो को **जहि**=विनष्ट कर, **च**=और **अवकृधि**=सब द्वेषों को हमारे से दूर कर। सोमरक्षण से द्वेषादि की वृत्तियाँ उत्पन्न ही नहीं होती। (२) इस सोमरक्षण से **विश्वे**=सब **वसु**=धन **आ सन्वन्तु**=तुझे प्राप्त हों। ये **अंशवः**=सोमकण **शीष्टेषु**=शिष्ट पुरुषों में **चित्ते**

मदिरासः=हृदय में उल्लास को पैदा करनेवाले हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से निर्द्वेषता प्राप्त होती है और हृदयों में उल्लास होता है।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

बुद्धि-शान्ति-इष्टप्राप्ति-बन्धुत्व

इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः।
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः॥५॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **नेदीयः**=अत्यन्त समीप **इत्**=निश्चय से **आ इहि**=सर्वथा प्राप्त होइये। आप **मितमेधाभिः** (निमित)=जिनमें मेधा का निर्माण हुआ है, उन रक्षणों के साथ हमें प्राप्त होइये। प्रभु जिसका रक्षण करते हैं, उसे बुद्धि प्राप्त करा देते हैं। (२) हे **शन्तम**=अधिक-से-अधिक शान्ति को देनेवाले प्रभो! आप **शन्तमाभिः**=अधिक-से-अधिक शान्ति को देनेवाली **अभिष्टिभिः**=इष्टप्राप्तियों के द्वारा **आ**=हमें प्राप्त होइये। हे **स्वापे**=उत्तम बन्धुभूत प्रभो! आप **स्वापिभिः**=उत्तम बन्धुत्वों से **आ**=हमें प्राप्त होइये।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण हमें बुद्धि व शान्ति प्राप्त कराते हैं। इन रक्षणों को प्राप्त करके हम शत्रुओं पर आक्रमण करके इष्ट को प्राप्त करते हैं। प्रभु ही हमारे सर्वश्रेष्ठ बन्धु हैं।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'स्तोत्रों व यज्ञों' द्वारा शक्तिवर्धन

आजितुरं सत्पतिं विश्वचर्षणिं कृधि प्रजास्वाभगम्।
प्र सू तिरा शचीभिर्ये त उक्थिनः क्रतुं पुनत आनुषक्॥६॥

(१) हे प्रभो! आप **आजितुरं कृधि**=हमें संग्राम में शत्रुओं का संहार करनेवाला बनाइये। **सत्पतिं**=सज्जनों का रक्षक व **विश्वचर्षणिं**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाला, अर्थात् स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठकर परार्थवृत्तिवाला बनाइये। आप हमें **प्रजासु आभगम्**=सब प्रजाओं में सब प्रकार से ऐश्वर्यवाला बनाइये। (२) हे प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **उक्थिनः**=स्तोता हैं और जो **आनुषक्**=निरन्तर **क्रतुं पुनते**=यज्ञों को पवित्र करते हैं, अर्थात् यज्ञों के द्वारा पवित्र जीवनवाले होते हैं, उन्हें **शचीभिः**=शक्तियों के द्वारा **सु**=सम्यक् **प्रतिर**=बढ़ाइये। स्तोत्र व यज्ञ हमें शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—स्तोत्रों व यज्ञों से शक्तिवर्धन होता है। हम संग्रामविजयी व ऐश्वर्यशाली बनते हैं।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

साधिष्ठः

यस्ते साधिष्ठोऽवसे ते स्याम भरेषु ते।
वयं होत्राभिरुत देवहूतिभिः ससवांसो मनामहे॥७॥

(१) **यः**=जो **ते**=तेरा होता है वह **साधिष्ठः**=अतिशयेन सिद्धि को प्राप्त होनेवाला होता है। वह **ते**=आपके **अवसे**=रक्षण के लिए होता है। हम **भरेषु**=संग्रामों में **ते स्याम**=आपके हों। आपके द्वारा ही तो हमने संग्रामों में विजय प्राप्त करनी है। (२) **वयं**=हम **होत्राभिः**=यज्ञों के द्वारा-त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **उत**=और **देवहूतिभिः**=दिव्यगुणों को पुकारने के द्वारा **ससवांसः**=आपका संभजन करते हुए **मनामहे**=आपका मनन करते हैं-आपका चिन्तन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक सिद्धि को प्राप्त करता है, सुरक्षित होता हुआ संग्राम में विजयी बनता है। अग्निहोत्र व दिव्यगुणों की साधना ही प्रभु का संभजन है। इस संभजन को करते हुए हम प्रभु का चिन्तन करें।

ऋषिः—मेध्यः काण्वःॐ **देवता**—इन्द्रःॐ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिःॐ **स्वरः**—पञ्चमःॐ

मथीनाम् अग्रे

अहं हि ते हरिवो ब्रह्म वाजयुराजिं यामि सदोतिभिः।
त्वामिदेव तममे समश्वयुर्गव्युरग्रे मथीनाम्॥ ८॥

(१) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **ते**=आपकी **वाजयुः**=शक्ति को अपने साथ जोड़ने की कामनावाला **अहं**=मैं **हि**=निश्चय से **सदा**=सदा **ऊतिभिः**=रक्षणों के साथ ब्रह्म-ज्ञान को तथा **आजिं**=संग्राम में गति व शत्रुक्षेपण को (अज गतिक्षेपणयोः) **यामि**=(याचामि) माँगता हूँ। (२) **अश्वयुः**=उत्तम कमेन्द्रियों की कामनावाला तथा **गव्युः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामनावाला मैं **त्वाम् इत् एव**=आपको ही **संतमे**=चाहता हूँ। आपके अनुग्रह से मैं **मथीनाम् अग्रे**=शत्रुओं को कुचलनेवालों के अग्रभाग में होऊँ।

भावार्थ—मैं ज्ञान व संग्रामविजय को प्राप्त करूँ। प्रभु को प्राप्त करके शत्रुओं को कुचलने वाला अगुआ बनूँ।

अगले सूक्त का ऋषि 'मातरिश्वा काण्व' है—वेदमाता में चलनेवाला समझदार। वेदमाता के अनुसार कर्म करनेवाला यह काण्व प्रभुस्तवन करता हुआ कहता है—

५४. [चतुःपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—मातरिश्वा काण्वःॐ **देवता**—इन्द्रःॐ **छन्दः**—निचृत् बृहतीॐ **स्वरः**—मध्यमःॐ

ते स्तोभन्तः ऊर्जमावन्

एतत्ते इन्द्र वीर्यं गीर्भिर्गृणन्ति कारवः।
ते स्तोभन्त ऊर्जमावन्घृतश्चुतं पौरासो नक्षन्धीतिभिः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **कारवः**=कुशलता से कार्यों को करने के द्वारा आपके स्तोता लोग **ते एतत्**=आपकी इस **वीर्यं**=शक्ति को **गीर्भिः गृणन्ति**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा स्तुत करते हैं और **स्तोभन्तः ते**=स्तवन व शंसन करते हुए वे **ऊर्जम्**=अपने बल व प्राणशक्ति का **आवन्**=रक्षण करते हैं। (२) ये बल का रक्षण करनेवाले **पौरासः**=शरीररूपी पुरी को पवित्र व दृढ़ बनानेवाले लोग **धीतिभिः**=ध्यान की प्रक्रियाओं के द्वारा **घृतश्चुतं**=ज्ञानदीप्ति व नैर्मल्य को सब ओर क्षरित करनेवाले प्रभु को **नक्षन्**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति का स्मरण करते हुए हम भी अपनी शक्ति का रक्षण करें। ध्यान की प्रक्रियाओं के द्वारा हम प्रभु को पानेवाले बनें।

ऋषिः—मातरिश्वा काण्वःॐ **देवता**—इन्द्रःॐ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिःॐ **स्वरः**—पञ्चमःॐ

संवर्त+कृश

नक्षन्त इन्द्रमवसे सुकृत्यया येषां सुतेषु मन्दसे।
यथा संवर्ते अमदो यथा कृश एवास्मे इन्द्र मत्स्व॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **येषां**=जिनके **सुतेषु**=उत्पन्न किये गये सोमकणों में

अथवा यज्ञों में (सुत-सव-यज्ञ) **मन्दसे**=आप आनन्दित होते हैं। जो सोमरक्षण द्वारा अथवा यज्ञों द्वारा आपको आनन्दित करते हैं, वे **सुकृत्यया**=शुभकर्मों के द्वारा **अवसे**=रक्षण के लिए **इन्द्रं नक्षन्ते**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को-आपको प्राप्त होते हैं। (२) हे प्रभो! **यथा**=जैसे **संवर्ते**=इन्द्रियों व मन को विषयों से हटा कर प्रत्याहृत करनेवाले मनुष्य में आप **अमदः**=हूषत होते हो, **यथा**=जैसे **कृशे**=भोगविलास से दूर रहते हुए तपःकृश व्यक्ति में आप आनन्दित होते हो, हे इन्द्र! **एवा**=इसी प्रकार **अस्मे**=हमारे में **मत्स्व**=आप आनन्दित होइये।

भावार्थ—प्रभु को उत्तम कर्मों के द्वारा हम प्राप्त होते हैं। प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु को वे व्यक्ति प्रीणित करते हैं जो यज्ञशील हैं, इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करनेवाले हैं तथा भोगविलास से दूर रहकर तपःकृश जीवन बिताते हैं।

ऋषिः—मातरिश्वा काण्वः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वसवः, रुद्राः, मरुतः

आ नो विश्वे सजोषसो देवासो गन्तनोप नः।
वसवो रुद्रा अवसे न आ गमञ्छृण्वन्तु मरुतो हवम्॥ ३॥

(१) **नः**=हमारे प्रति **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए **विश्वे**=सब **देवासः**=देव **आ**=सब ओर से **नः उपगन्तन**=हमारे समीप प्राप्त हों। हम सदा देवों के संग को प्राप्त करें। (२) **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले, **रुद्राः**=सब रोगों को दूर भगानेवाले विद्वान् **नः अवसे**=हमारे रक्षण के लिए **आगमन्**=हमें प्राप्त हों। **मरुतः**=प्राणसाधना में प्रवृत्त साधक लोग **हवम् शृण्वन्तु**=हमारी पुकार को सुनें। इनके सम्पर्क में हम भी 'वसु-रुद्र व मरुत्' बन पाएँ।

भावार्थ—सब दिव्यगुण हमें प्राप्त हों। हम वसु, रुद्र व मरुतों के सम्पर्क में आकर उत्तम निवासवाले, नीरोग व प्राणशक्तिसम्पन्न बनें।

ऋषिः—मातरिश्वा काण्वः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

सम्पूर्ण आधिदैविक जगत् की अनुकूलता

पूषा विष्णुर्हवनं मे सरस्वत्यवन्तु सप्त सिन्धवः।
आपो वातः पर्वतासो वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवम्॥ ४॥

(१) **पूषा**=पोषक सूर्य, **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु, **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता, **सप्त सिन्धवः**=सात छन्दों में प्रवाहित होनेवाले सात ज्ञान प्रवाह (स्यन्द) **मे**=मेरे **हवनम् अवन्तु**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक अदन को रक्षित करें। इन सबके अनुग्रह से मैं दानपूर्वक अदन करनेवाला बनूँ। (२) **आपः**=जल **वातः**=वायु **पर्वतासः**=पर्वत और **वनस्पतिः**=वनस्पति तथा **पृथिवी**=यह भूमिमाता **हवम्**=मेरी पुकार को **शृणोतु**=सुनें। इन सबकी हमारे लिए अनुकूलता हो। इनकी अनुकूलता में हम पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त करें।

भावार्थ—'पूषा, विष्णु, सरस्वती व सप्त सिन्धुओं' की कृपा से मैं त्यागपूर्वक अदन करनेवाला बनूँ। जल, वायु, पर्वत, वनस्पति व पृथिवी की अनुकूलता में मैं स्वस्थ बनूँ।

ऋषिः—मातरिश्वा काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

माघोनं राधः

यदिन्द्र राधो अस्ति ते माघोनं मघवत्तम।
तेन नो बोधि सधमाद्यो वृधे भगो दानाय वृत्रहन्॥ ५॥

(१) हे **मघवत्तम**=अतिशयेन ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **माघोनं**=हमें (मघ=मख) यज्ञशील बनानेवाला **राधः**=ऐश्वर्य **अस्ति**=है, **तेन**=उस ऐश्वर्य से **नः बोधि**=हमें जानिये, अर्थात् उस ऐश्वर्य को हमें प्राप्त कराइये। (२) हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **सधमाद्यः**=हमारे साथ होते हुए हमें आनन्दित करनेवाले हैं और **वृधे**=हमारी वृद्धि के लिए होते हैं। **भगः**=ऐश्वर्य के पुञ्ज आप **दानाय**=हमें सब ऐश्वर्यों के देने के लिए होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से दिया गया धन हमें यज्ञशील बनाता है। हमारे साथ होते हुए प्रभु हमें आनन्दित करते हैं। हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हुए हमारा वर्धन करते हैं।

ऋषिः—मातरिश्वा काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

आजिपति-नृपति

आजिपते नृपते त्वमिद्धि नो वाज आ वक्षि सुक्रतो।
वीती होत्राभिरुत देववीतिभिः ससवांसो वि शृण्विरे॥ ६॥

(१) हे **आजिपते**=युद्धों के रक्षक, **नृपते**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों के रक्षक, **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! **त्वम् इत् हि**=आप ही **नः**=हमें **वाजे**=शक्ति में **आवक्षि**=धारण करते हो, अर्थात् आप ही हमें सब सामर्थ्यों को देते हो। (२) आपके उपासक **वीती**=(वी असने) अन्धकार को परे फेंकने के द्वारा **होत्राभिः**=दानपूर्वक अदन की प्रक्रियाओं से, अर्थात् यज्ञशेष के सेवन से तथा **देववीतिभिः**=दिव्यगुणों की प्राप्तियों से **ससवांसः**=प्रभु का संभजन करते हुए **विशृण्विरे**=विशिष्ट ख्याति को प्राप्त करते हैं। वास्तव में प्रभु के सम्पर्क से ये युद्धों में विजयी बनते हैं और नर बनकर आगे बढ़ते हैं।

भावार्थः—प्रभु हमें शक्ति देते हैं। यज्ञशेष के सेवन व दिव्यगुणों की प्राप्ति से ही वस्तुतः प्रभुसंभजन होता है। प्रभु हमें संग्राम में विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—मातरिश्वा काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

आशिषः, आयुः इष्

सन्ति ह्यर्य आशिष इन्द्र आयुर्जनानाम्।
अस्मान्नक्षस्व मघवन्नुपावसे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम्॥ ७॥

(१) **अर्ये**=स्वामी में **हि**=ही **आशिषः सन्ति**=सब इच्छाएँ व आकांक्षाएँ हैं, अर्थात् प्रभु से ही सब इच्छाओं के पूर्ण होने की आशा है। **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली शत्रुविद्रावक प्रभु में ही **जनानाम् आयुः**=मनुष्यों की आयु है, अर्थात् प्रभु की उपासना ही हमें काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं से बचाकर दीर्घजीवन प्रदान करती है। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन् प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **अवसे**=रक्षण के लिए **उपनक्षस्व**=समीपता से प्राप्त होइये। आपकी समीपता में हम किसी भी शत्रु से आक्रान्त नहीं हो पाते। हे प्रभो! आप **पिप्युषीम्**=हमारा आप्यायन करनेवाली **इषम्**=प्रेरणा को **धुक्षस्व**=हमारे अन्दर प्रपूरित करिये। आपकी प्रेरणा से ठीक मार्ग पर चलते हुए हम सदा अपना आप्यायन कर पाएँ।

भावार्थ—प्रभु ही हमारी आकांक्षाओं को पूर्ण करते हैं, दीर्घजीवन प्रदान करते हैं, हमारा रक्षण करते हुए प्रभु हमें सब प्रेरणा प्राप्त कराते हैं, जो हमारा वर्धन करनेवाली होती है।

ऋषिः—मातरिश्वा काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुस्तवन व उत्तम धन की प्राप्ति

वयं त इन्द्र स्तोमेभिर्विधेम त्वमस्माकं शतक्रतो।
महि स्थूरं शशयं राधो अह्रयं प्रस्कण्वाय नि तोशय॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयं**=हम **स्तोमेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **ते विधेम**=आपका पूजन करें। हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व कर्मोंवाले प्रभो! **त्वम् अस्माकं**=आप हमारे हैं। वस्तुतः आप ही तो हमारे बन्धु हैं। (२) हे प्रभो! आप **प्रस्कण्वाय**=इस अत्यन्त मेधावी पुरुष के लिए **राधः**=कार्यसाधक धन **नितोशय**=प्राप्त कराइये। जो धन **महि**=महान् है, **स्थूरे**=स्थिर है, **शशयं**=अतिशयेन प्रशंसनीय व **अह्रयं**=क्षीण न होनेवाला है।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करें। प्रभु के बन्धुत्व को प्राप्त करके न क्षीण होनेवाले धन को प्राप्त करें।

प्रभुस्तवन में प्रवृत्त व्यक्ति भोगों में नहीं फंसता। तपस्वी जीवन बिताता हुआ यह तपःकृश होता है। यह 'कृश' ही अगले सूक्त का ऋषि है। वह समझदार तो है ही 'काण्व'। यह कहता है कि—

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—कृशः काण्वः ॥ देवता—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः ॥ छन्दः—पादनिचृद् गायत्री ॥
स्वरः—षड्जः ॥

सर्वत्र प्रभु शक्ति का अनुभव

भूरीदिन्द्रस्य वीर्यं१ व्यख्यमभ्यायति। राधस्ते दस्यवे वृक॥ १॥

(१) मैं **इन्द्रस्य**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु के **भूरि इत्**=महान् ही **वीर्यं**=पराक्रम को **व्यख्यम्**=विशेष रूप से देखता हूँ। सब ओर प्रभु की शक्ति का अनुभव होता है। (२) हे **दस्यवे वृक**=दास्यववृत्ति के लिए वृक के समान, अर्थात् अशुभवृत्तियों को नष्ट करनेवाले प्रभो! **ते राधः**=आपका ऐश्वर्य **अभ्यायति**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होता है। जब एक साधक सर्वत्र उस प्रभु की शक्ति का अनुभव करता है, तो अशुभवृत्तियों से ऊपर उठकर शुभ ऐश्वर्य को पाता ही है।

भावार्थ—हम सर्वत्र प्रभु की शक्ति को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारी अशुभ वृत्तियों को दूर करेंगे और शुभ ऐश्वर्य को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—कृशः काण्वः ॥ देवता—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शतं श्वेतासः उक्षणः

शतं श्वेतास उक्षणो दिवि तारो न रोचन्ते। मह्ना दिवं न तस्तभुः॥ २॥

(१) शतमन्त्र में वर्णित इन्द्रशक्ति का उल्लेख करते हुए ही कहते हैं कि उस प्रभु की **मह्ना**=महिमा से **शतं**=सैकड़ों **श्वेतासः**=शुभ्र उज्ज्वल प्रकाश से देदीप्यमान **उक्षणः**=पृथ्वी पर जलसेचन के करानेवाले सूर्य **दिवि**=द्युलोक में **तारः न**=तारों के समान **रोचन्ते**=चमकते हैं। इस सूर्य के समान ब्रह्माण्ड में कितने ही सूर्य हैं। (२) ये सूर्य **दिवं न**=द्युलोक के समान सब लोकों को **तस्तभुः**=आकर्षण के द्वारा थामते हैं—इन लोकों का ये सूर्य ही धारण करते हैं।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड में अनेक सूर्य हैं। ये सूर्य अपने चारों ओर के लोकों का धारण करते हैं।

ऋषिः—कृशः काण्वः॥ देवता—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सृष्टि की विविधता

श॒तं वे॒णूञ्छ॒तं शुनः॑ श॒तं चर्मा॑णि म्ला॒तानि॑।
श॒तं मे॑ बल्बजस्तु॒का अरु॑षीणां॒ चतुः॑शतम्॥ ३॥

(१) गतमन्त्र में सैकड़ों सूर्यों का उल्लेख था। इस सूर्य की किरणें ही **शतं वेणून्**=सैकड़ों वेणुओं को धारण करती हैं। वेणु यहाँ वनस्पति का प्रतीक है—वनस्पति मात्र को ये सूर्य किरणें ही धारण करती हैं। **शतं शुनः**=सैकड़ों कुत्तों को ये धारण करती हैं। 'श्वा' शब्द यहाँ पशुओं का प्रतीक हैं। **शतं**=सैकड़ों प्रकार के **म्लातानि**=कमाये हुए **चर्माणि**=चमड़े इन सूर्यकिरणों द्वारा ही प्राप्त कराये जाते हैं। प्रत्येक पशु का चर्म अलग-अलग ही प्रकार का है। (२) प्रभु ने **मे**=मेरे लिए **शतं**=सैकड़ों **बल्बजस्तुका**=तृणों के गुच्छों का निर्माण किया है। **अरुषीणां चतुःशतम्**=आरोचमान ज्वालाओं के भी चार सौ भेद हैं। ज्वालाएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे उपयोग के लिए इस विविध सृष्टि का निर्माण किया है। नाना प्रकार की वनस्पतियाँ, नाना पशु, तथा नाना प्रकार के चमड़े व तृणगुच्छ तथा नाना प्रकार की ज्वालाएँ प्रभु द्वारा निर्मित हुई हैं।

ऋषिः—कृशः काण्वः॥ देवता—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुदेव व काण्वायन

सु॒दे॒वाः स्थ॑ काण्वायना॒ वयो॑वयो विच॒रन्तः॑। अश्वा॑सो॒ न च॑ङ्क्रमत॥ ४॥

(१) हे जीवो! तुम **सुदेवाः स्थ**=उत्तम माता-पिता व आचार्यरूप देवों को प्राप्त हुए हो, अतएव **काण्वायनाः**=अतिशयेन मेधावी बने हो। **वयः वयः**=आयुष्य के पहले प्रयाण से दूसरे प्रयाण में, दूसरे से तीसरे में तथा तीसरे से चौथे प्रयाण में **विचरन्तः**=विचरण करते हुए होओ। ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में, गृहस्थ से वानप्रस्थ में और वहाँ से संन्यास में। (२) इस प्रकार **अश्वासः न**=अश्वों की तरह **चङ्क्रमत**=खूब ही गतिवाले होओ और आगे और आगे बढ़ते हुए लक्ष्य पर पहुँचनेवाले बनो।

भावार्थ—उत्तम माता, पिता व आचार्यों को पाकर हम ज्ञानी बनें। जीवन के प्रयाणों में घोड़ों के समान आगे और आगे बढ़ते हुए हम लक्ष्य स्थान पर पहुँचें।

ऋषिः—कृशः काण्वः॥ देवता—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

'साप्त अनून' प्रभु

आदित्सा॒प्तस्य॑ चर्किर॒न्नानू॑नस्य॒ महि॒ श्रवः॑।
श्या॒वीर॑तिध्व॒सन्प॒थश्चक्षु॑षा च॒न सं॒नशे॑॥ ५॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित (सुदेव काण्वायन) **आत् इत्**=अब शीघ्र ही **साप्तस्य**=(सप्) उस पूजनीय व सर्वत्र प्राप्त **आ अनूनस्य**=सब प्रकार से कमियों से रहित उस पूर्ण प्रभु के **महि श्रवः**=महान् यश को **चर्किरन्**=करते हैं। (२) उस प्रभु का यशोगान करते हुए ये व्यक्ति **श्यावीः पथः**=कुकर्म मार्गों को-राजस व तामस मार्गों को **अतिध्वसन्**=नष्ट करते हैं। सदा सात्त्विक मार्गों का ही आक्रमण करते हैं। यह प्रभु का यशोगान करता हुआ सात्त्विक मार्ग से चलनेवाला व्यक्ति **चक्षुषा चन संनशे**=उस प्रभु को प्राप्त करता है—अर्थात् आँख

से सर्वत्र उस प्रभु की महिमा को देखता है।

भावार्थ—हम उस सर्वत्र प्राप्त अन्यून प्रभु का गायन करें। सात्त्विक मार्गों से चलते हुए प्रभु की महिमा को सर्वत्र देखें।

सात्त्विक मार्ग से चलनेवाला यह व्यक्ति धन की आसक्ति से ऊपर उठा होने के कारण धन का वर्षण करता हुआ सबका धारण करनेवाला बनता है सो 'पृषध्र' है। समझदार होने से यह 'काण्व' है। यह दान की महिमा का वर्णन करता हुआ कहता है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—पृषध्रः काण्वः॥ **देवता**—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अह्रयं राधः, शवः

प्रति॑ ते दस्यवे वृक॒ राधो॑ अद॒र्श्यह्र॑यम्। द्यौर्न प्र॑थि॒ना शवः॑॥ १॥

(१) हे **दस्यवे वृक**=दास्यव वृत्तियों के लिए वृक के समान—दास्यववृत्तिरूप भेड़ों को समाप्त करनेवाले भेड़िये के समान प्रभो! **ते**=आपका **राधः**=ऐश्वर्य **प्रति अदर्शि**=प्रत्येक स्थान में दृष्टिगोचर होता है, जो **अह्रयम्**=अक्षीण हैं। आपका ऐश्वर्य कभी क्षीण नहीं होता। (२) आपका **शवः**=बल भी **प्रथिना**=विस्तार के दृष्टिकोण से **द्यौः न**=आकाश के समान है। प्रभु की शक्ति का प्रकाश सर्वत्र है।

भावार्थ—प्रभु का ऐश्वर्य अक्षीण है, शक्ति अनन्त है। उपासक के लिए भी प्रभु अक्षय धन व बल प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—पृषधः काण्वः॥ **देवता**—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वेदज्ञान की महिमा

दश॒ मह्यं॑ पौतक्र॒तः स॒हस्रा॒ दस्य॑वे॒ वृकः॑। नित्या॑द्रा॒यो अ॑मंहत॥ २॥

(१) **पौतक्रतः**=पवित्र ज्ञान व पवित्र कर्मोंवाला, **दस्यवे वृकः**=दास्यव वृत्तियों के लिए भेड़िये के समान वह प्रभु **मह्यं**=मेरे लिए **नित्यात्**=इस नित्य (सनातन) वेदज्ञान के द्वारा **सहस्राः**=आनन्दयुक्त **दश**=दस इन्द्रियों व प्राणों को **अमंहत**=देते हैं। (२) इस वेदज्ञान के द्वारा ही वे प्रभु **सहस्रा रायः**=आनन्द के साधक धनों को प्राप्त कराते हैं। इस धन के द्वारा हम भी पवित्र ज्ञान व पवित्र कर्मों को सिद्ध करते हुए 'पौतक्रत' बनते हैं। वेदज्ञान हमें भी 'दस्यवे वृक' बनाता है।

भावार्थ—प्रभु वेदज्ञान द्वारा हमें प्रसन्न इन्द्रियों व आनन्दप्रद धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—पृषध्रः काण्वः॥ **देवता**—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गर्दभ+ऊर्णावती

श॒तं मे॑ गर्द॒भानां॑ श॒तमूर्णा॑वतीनाम्। श॒तं दा॒साँ अति॒ स्रजः॑॥ ३॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित वेदज्ञान के द्वारा प्रभु **मे**=मेरे लिए **शतं**=शतवर्ष पर्यन्त ठीक रहनेवाली **गर्दभानां**=कार्यभार को गधे के समान उठानेवाली कर्मेन्द्रियों को तथा **शतं**=शतवर्ष पर्यन्त अपना कार्य ठीक से करनेवाली **ऊर्णावतीनाम्**=(ऊर्णु आच्छादने) हमें पापों से आच्छादित करनेवाली—बचानेवाली ज्ञानेन्द्रियों को **अमंहत**=देते हैं। (२) इस प्रकार उत्तम कर्मेन्द्रियों व उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को देकर प्रभु हमारे लिए **शतं**=शतवर्षपर्यन्त **दासान्**=(दसु उपक्षये) वासनाविनाशों को प्राप्त कराते

हैं।

भावार्थ—वेदज्ञान के द्वारा प्रभु हमारी कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को प्रशस्त बनाते हैं और वासनाओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—पृषध्रः काण्वः॥ **देवता**—प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पूतक्रता के लिए भी व्यक्ता

तत्रो अपि प्राणीयत पूतक्रतायै व्यक्ता। अश्वानामिन्न यूथ्याम्॥ ४॥

(१) **तत्र**=वहाँ इस मानवजीवन में **पूतक्रतायै**=पवित्र ज्ञान व कर्मोंवाली इस स्त्री के लिए **अपि**=भी **उ**=निश्चय से **व्यक्ता**=सब पदार्थों के प्रकाशवाली—सब सत्य विद्याओं के प्रकाशवाली—यह वेदवाणी **प्राणीयत**=प्राप्त कराई जाती है। (२) उसीप्रकार यह वेदवाणी पूतक्रता के लिए प्राप्त कराई जाती है **न**=जैसे **इत्**=निश्चय से **अश्वानाम् यूथ्याम्**=इन्द्रियाश्वों का समूह। स्त्री को भी कमेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त कराई जाती हैं। इसी प्रकार उसे वेदज्ञान भी दिया जाता है।

भावार्थः—पवित्र ज्ञान व कर्मोंवाली स्त्रियाँ भी इन्द्रियाश्वों के समूह की तरह इस वेदज्ञान को प्राप्त करती हैं। 'उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार न हो' यह बात नहीं है।

ऋषिः—पृषध्रः काण्वः॥ **देवता**—अग्निसूर्यौ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

हव्यवाट्-सुमद्रथः

अचेत्यग्निश्चिकितुर्हव्यवाट् स सुमद्रथः।
अग्निः शुक्रेण शोचिषा बृहत्सूरो अरोचत दिवि सूर्यो अरोचत॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणी को प्राप्त करनेवाला **अचेति**=चेतनावाला होता है। यह **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति **चिकितुः**=ज्ञानी बनता है, **हव्यवाट्**=हव्य का वहन करनेवाला अर्थात् यज्ञशील होता है। **सः**=वह **सुमद्रथः**=प्रशस्त शरीररूप रथवाला होता है। वह **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति **शुक्रेण शोचिषाः**=देदीप्यमान ज्ञानज्योति से **बृहत्**=खूब **अरोचत**=चमकता है। (२) **सूरः**=यह सूर्य के समान होता है। इसके **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य **अरोचतः**=चमक उठता है।

भावार्थ—वेदवाणी के अध्ययन से हम चेतनावाले होकर हव्य का ही सेवन करते हैं। उत्तम शरीररूप रथवाले बनकर देदीप्यमान ज्ञानज्योति से सूर्य की तरह चमक उठते हैं।

ज्ञान से अपने जीवन को पवित्र करनेवला वह व्यक्ति 'मेध्य' नामवाला होता है—ज्ञानज्योति से चमकनेवाला 'काण्व' बनता है। यह प्राणापान की साधना करता हुआ 'अश्विनौ' का आराधन करता हुआ कहता है—

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

क्रतुना-शचीभिः

युवं देवा क्रतुना पूर्व्येण युक्ता रथेन तविषं यजत्रा।
आगच्छतं नासत्या शचीभिरिदं तृतीयं सवनं पिबाथः॥ १॥

(१) हे **देवा**=रोगों व वासनाओं को जीतने की कामनावाले (दिव् विजिगीषायां) **यजत्रा**=संगतिकरण द्वारा रक्षण करनेवाले अथवा पूजा के योग्य **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले

प्राणापानो! **युवं**=आप **क्रतुना**=प्रज्ञान व शक्ति के साथ तथा **पूर्व्येण**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम **रथेन**=शरीररथ के साथ **तविषं**=बलपूर्वक **आगच्छतम्**=हमें प्राप्त होओ। (२) हे प्राणापानो! आप **शचीभिः**=शक्तियों के हेतु से **इदं तृतीयं सवनं**=इस तृतीय सवन को भी **पिबाथः**=सोम का पान करनेवाला बनाओ। जीवन के प्रथम २४ वर्ष प्रातः सवन हैं, अगले ४४ वर्ष माध्यन्दिनसवन हैं और अन्तिम ४८ वर्ष तृतीय सवन हैं। प्राणसाधना द्वारा सोम का रक्षण करते हुए हम इस तृतीय सवन को भी सबल बनाएँ।

भवार्थ—प्राणायाम द्वारा अश्विनी देवों का आराधन हमारे जीवन को शक्तिशाली बनाता है। इससे हम जीवन के तृतीय सवन में भी सबल बने रहते हैं।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

देवों व महादेव का दर्शन

युवां देवास्त्रय एकादशासः सत्याः सत्यस्य ददृशे पुरस्तात्।
अस्माकं यज्ञं सवनं जुषाणा पातं सोममश्विना दीद्यग्नी॥ २॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवां**=आप दोनों को **त्रयः एकादशासः**=तीन गुणा ग्यारह, अर्थात् तैंतीस **सत्याः देवाः**=सत्य देव **सत्यस्य पुरस्तात्**=उस सत्यस्वरूप प्रभु से पूर्व **ददृशे**=देखते हैं। प्राणसाधना के होने पर जीवन में पहले ३३ देवों का प्रकाश होता है और तदनन्तर प्रभु की ज्योति का दर्शन होता है। प्राणसाधना हमारे जीवन में दिव्यगुणों का वर्धन करती हुई हमें प्रभु को समीप प्राप्त कराती है। (२) हे प्राणापानो! आप **अस्माकं**=हमारे **यज्ञं सवनं**=यज्ञमय प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन व तृतीय सवन का **जुषाणा**=सेवन करते हुए **सोमं पातं**=सोम का रक्षण करो और इस प्रकार **दीद्यग्नी**=देदीप्यमान ज्ञानाग्निवाले होओ।

भावार्थ—प्राणसाधना से दिव्यभावों का वर्धन होकर अन्ततः प्रभु का दर्शन होता है। सोम का रक्षण होकर ज्ञानाग्नि का दीपन होता है।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'शरीर, मन व बुद्धि' का शक्ति सम्पन्न होना

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत्ताँ उप याता पिबध्यै॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वां**=आपका **तत्**=वह **कृतं**=कर्म **पनाय्यं**=स्तुत्य है, जो **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का, **रजसः**=हृदयरूप अन्तरिक्षलोक का तथा **पृथिव्याः**=शरीररूप पृथिवीलोक का **वृषभः**=शक्ति का सेचन करनेवाला है। प्राणापान शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति का कारण बनते हैं। इस सुरक्षित सोम के द्वारा वे 'शरीर, हृदय व मस्तिष्क' तीनों को शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। (२) **उत**=और **पिबध्यै**=सोमपान के लिए **ये**=जो **गविष्टौ**=ज्ञानयज्ञों में **सहस्रं**=सहस्रों **शंसा**=ज्ञान की वाणियों के उच्चारण हैं, **तान् सर्वान्**=उन सबको **उपयात**=समीपता से प्राप्त होओ। ज्ञान की वाणियों के अध्ययन से वासनाओं की ओर झुकाव नहीं रहता और इसप्रकार सोम रक्षण सम्भव होता है। सो प्राणायाम के अभ्यासी को चाहिए कि अतिरिक्त समय को सदा स्वाध्याय में व्यतीत करे।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों ही सशक्त बनते हैं। सोमरक्षण के लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य अतिरिक्त समय का यापन स्वाध्याय में करे।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मधुमान् सोम का पान

अयं वां भागो निहितो यजत्रेमा गिरो नासत्योप यातम्।
पिबतं सोमं मधुमन्तमस्मे प्र दाश्वांसमवतं शचीभिः॥ ४॥

(१) **यजत्रा**=संगतिकरण द्वारा त्राण करनेवाले प्राणापानो! **अयं**=यह **वां**=आपका **भागः**=भाग **निहितः**=स्थापित हुआ है। यह सोम आपका ही भाग है, आपको इसका सेवन करना है। हे **नासत्या**=असत्य से रहित प्राणापानो। **इमाः गिरः**=इन ज्ञान की वाणियों को **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होओ। प्राणसाधना से सोमरक्षण द्वारा बुद्धि की तीव्रता होकर इन ज्ञान की वाणियों का ग्रहण होता है। (२) हे प्राणापानो! आप **अस्मे**=हमारे लिए **मधुमन्तं सोमं**=जीवन को अतिशयेन मधुर बनानेवाले सोम का **पिबतं**=पान करो। **दाश्वांसम्**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले को **शचीभिः**=प्रज्ञानों व कर्मों के द्वारा **प्र अवतम्**=प्रकर्षेण रक्षित करो।

भावार्थ—प्राणापान सोम का रक्षण करते हैं, ज्ञान की वाणियों को प्राप्त होते हैं, सोमपान द्वारा प्रज्ञानों व कर्मों का रक्षण करते हैं।

इस प्राणसाधना से होनेवाले सोमरक्षण से सब दिव्यगुणों का विकास होता है। सो अगले सूक्त का देवता 'विश्वेदेवाः' है–

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ देवता—विश्वेदेवा ऋत्विजो वा॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अनूचान, ब्राह्मण युक्त

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित्॥ १॥

(१) **ऋत्विजः**=ऋत्विज् लोग **यं**=जिसको **बहुधा**=अनेक प्रकार से **कल्पयन्तः**= कल्पना का विषय बनाते हैं, **सचेतसः**=ज्ञानी पुरुष **इमं यज्ञं**=इस यज्ञ को **वहन्ति**=धारण करते हैं। ज्ञानी पुरुषों का जीवन यज्ञमय ही होता है। (२) **यः**=जो **अनूचानः**=ज्ञान का प्रवचन करनेवाला **ब्राह्मणः**=ब्रह्मवेत्ता पुरुष **युक्तः**=योगयुक्त **आसीत्**=होता है। **तत्र**=उस योग को करने पर **यजमानस्य**=इस यज्ञशील उपासक की **संवित्**=अनुभूति **स्वित्**=निश्चय से **का**=आनन्दमयी होती है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष यज्ञशील होते हैं। ये ज्ञानी–ब्रह्मवेत्ता–योगी पुरुष एक अद्भुत आनन्द की अनुभूति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु की अद्भुत महिमा

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥ २॥

(१) **एक एव अग्निः**=एक ही अग्नि **बहुधा समिद्धः**='गार्हपत्य, आहवनीय व दक्षिणाग्नि' आदि रूप से दीप्त होता है। **एकः सूर्यः**=एक ही सूर्य **विश्वम् अनु प्रभूतः**=सम्पूर्ण संसार के

प्रति प्रभाववाला होता है। **एकः एव उषाः**=एक ही उषा **इदं सर्वम्**=इस सबको **विभाति**=दीप्त कर देती है-प्रकाशमय करनेवाली होती है। **एकं वा**=वह एक ही सत् पदार्थ **इदं सर्वम्**=यह सब कुछ **विबभूव**=हो जाता है। एक ही प्रकृति कितने ही रूपों में विकृति को धारण करती है।

(२) अग्नि के विविध रूपों का विचार करें तो उस अग्नि में ही प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होने लगती है। यह अग्नि ऑक्सीजन व हाईड्रोजन को मिलाकर पानी बना देती है और वही कालान्तर में उस जल को फाड़कर फिर गैसों का रूप दे देती है। सूर्य का विचार करें तो वहाँ भी प्रभु की अद्भुत महिमा दिखती है। कितनी दूरी तक इस सूर्याग्नि का संताप व प्रकाश पहुँचता है? उषा का अपना ही कुछ अद्भुत महत्त्व है। एक प्रकृति से कितने विविध पदार्थ बने जाते हैं? यह सब विचार हमें उस प्रभु की महिमा का स्मरण कराता है।

भावार्थ-एक ही अग्नि विविध कार्यों को करती हुई नानारूप धारण करती है। एक ही सूर्य विश्व को किस प्रकार प्राण व प्रकाश प्राप्त करा रहा है। उषा उदय होती हुई सब अन्धकार को दूर कर देती है। एक ही सत् प्रकृति उस कुशल कारीगर के हाथों सूर्य-चन्द्र आदि विविध रूपों में विकृत हो जाती है।

ऋषिः—मेध्यः काण्वः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'ज्योतिष्मान् त्रिचक्र' रथ

ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम्।
चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अति रिक्तं पिबध्यै॥ ३॥

(१) मैं **तं रथं**=उस शरीररथ को **वां अति हुवे**=आपसे अश्विनीदेवों से अतिशयेन पुकारता हूँ। प्राणापान से मैं उस रथ की याचना करता हूँ जो **ज्योतिष्मन्तं**=ज्योतिवाला है, **केतुमन्तं**=प्रज्ञानसम्पन्न है। **त्रिचक्रं**=ज्ञान, कर्म व उपासनारूप तीनों चक्रोंवाला है। **सुखं**=(सु खं) उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला है। **सुषदं**=उत्तम गतिवाला है (सद् गतौ) **भूरिवारम्**=बहुतों से वरने योग्य है। (२) **यस्य**=जिस रथ के **योगे**=सम्पर्क में **चित्रा**=अद्भुत **मघा**=ऐश्वर्य **अधिजज्ञे**=उत्पन्न होता है। उस **रिक्तं**=दोषशून्य रथ को **पिबध्यै**=आनन्दरस के पान के लिए आपसे मांगता हूँ।

भावार्थ-प्राणसाधना से यह शरीररथ ज्ञान, कर्म व उपासना से युक्त होकर हमारे लिए सुखकर हो। इस दोषशून्य रथ को हम आनन्दरसपान के लिए प्रार्थित करते हैं।

इस शरीररथ का सम्यक् पालन करनेवाला व्यक्ति 'सुपर्ण' है यह 'काण्व'=मेधावी है। यह रथ की उत्तमता के लिए ही 'इन्द्रावरुणौ' की आराधना करता है-जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता की। यह कहता है कि-

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—सुपर्णः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रावरुणौ॥ **छन्दः**—जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

इन्द्रावरुणा

इमानि वां भागधेयानि सिस्रत इन्द्रावरुणा प्र महे सुतेषु वाम्।
यज्ञेयज्ञे ह सवना भुरण्यथो यत्सुन्वते यजमानाय शिक्षथः॥ १॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के दिव्यभावो! **इमानि**=ये शरीर में उत्पन्न सोमकण **वां**=आपके **भागधेयानि**=भाग होते हुए **प्र सिस्रते**=शरीर के अंग-प्रत्यंगों में गतिवाले

होते हैं। हे इन्द्रावरुण! मैं **सुतेषु**=इन सोमकणों का सम्पादन होने पर **वाम्**=आपको **महे**=पूजता हूँ। जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता का पूजन ही इन सोमकणों को शरीर में सुरक्षित करता है। (२) हे इन्द्रावरुण! आप **यज्ञे यज्ञे**=प्रत्येक यज्ञ में **ह**=निश्चय से **सवना**=ऐश्वर्यों का **भुरण्यथः**=भरण करते हो। **यत्**=जब **सुन्वते यजमानाय**=शरीर में सोम का अभिषव करनेवाले यज्ञशील पुरुष के लिए आप **शिक्षथः**=शक्ति को प्राप्त कराने की कामनावाले होते हो।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व निर्द्वेष बनकर शरीर में सोम का रक्षण करें—इससे यज्ञशील बनकर ऐश्वर्यशाली व प्रभु के पूजक बनें।

ऋषिः—सुपर्णः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रावरुणौ॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

वानस्पतिक भोजन

निष्षिध्वरीरोषधीराप आस्तामिन्द्रावरुणा महिमानमाशत।
या सिस्रतू रजसः पारे अध्वनो ययोः शत्रुर्नकिरादेव ओहते॥ २॥

(१) हमारे शरीरों में **ओषधीः आपः**=ओषधियाँ व जल **निःषिध्वरीः आस्ताम्**=सब रोगों व वासनाओं का निषेध करनेवाली हों। शुद्ध जल व वानस्पतिक भोजन शरीर को व्याधिशून्य तथा मन को आधिशून्य बनाए। इस शरीर में **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भाव **महिमानम् आशत**=महिमा को व्याप्त करनेवाले हों। जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के कारण हमारा जीवन महिमाशाली हो। (२) वे इन्द्र और वरुण महिमा को व्याप्त करते हैं **या**=जो **रजसः अध्वनः**=इस लोकमार्ग के **पारे**=पार **सिस्रतु**=गतिवाले होते हैं। वस्तुतः इस जीवनयात्रा में हमें जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता ही मार्ग के अन्त तक पहुँचानेवाली होती हैं। ये इन्द्र और वरुण वे हैं **योः**=जिनका **शत्रुः**=शत्रु **आत् नकिः**=निश्चय से नहीं ही **ओहते**=प्राप्त होता। जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता हमें सब शत्रुओं से रहित करके जीवनयात्रा को पूर्ण करने में सहायक होती हैं।

भावार्थ—हम वानस्पतिक भोजन व शुद्ध जल को अपना खान-पान बनाकर जितेन्द्रिय व निर्द्वेष बनें और जीवनयात्रा को निर्विघ्न पूर्ण कर सकें।

ऋषिः—सुपर्णः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रावरुणौ॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

सत्यं तदिन्द्रावरुणा कृशस्य वां मध्व ऊर्मिं दुहते सप्त वाणीः।
ताभिर्दाश्वांसमवतं शुभस्पती यो वामदब्धो अभि पाति चित्तिभिः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भावो! **सत्यं तत्**=वह सत्य है कि **वां**=आपके **कृशस्य**=तपःकृश व्यक्ति के जीवन में **सप्त वाणीः**=सात छन्दोमयी सात वेदवाणियाँ **मध्वः ऊर्मिं**=सोम की तरंग को अथवा सोमरक्षणजनित उल्लास को **दुहते**=पूरित करती हैं। जो व्यक्ति जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता की साधना करता है वह तपःकृश बनता है। यह वेदवाणियों का स्वाध्याय करता हुआ सोम का रक्षण करता है और सोमरक्षणजनित उल्लास को प्राप्त करता है। (२) हे **शुभस्पती**=शुभ कल्याणमार्ग के पालक इन्द्र और वरुण! आप **ताभिः**=उन वेदवाणियों के द्वारा उस **दाश्वांसं**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष को **अवतम्**=रक्षित करो। उस दाश्वान् को, **यः**=जो **अदब्धः**=वासनाओं से हिंसित न होता हुआ **चित्तिभिः**=ज्ञानों के द्वारा **वाम्**=आपका—जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता का **अभिपति**=रक्षण करता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता की साधना करते हुए तपःकृश बनें। स्वाध्याय करते हुए हम सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—सुपर्णः काण्वः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—विराड् जगती॥ स्वरः—निषादः॥

वेदवाणियाँ (सप्त स्वसारः)

घृतप्रुषः सौम्या जीरदानवः सप्त स्वसारः सदन ऋतस्य।
या ह वामिन्द्रावरुणा घृतश्चुतस्ताभिर्धत्तं यजमानाय शिक्षतम्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रिया व निर्द्वेषता के भावो! **याः**=जो **ह**=निश्चय से **वाम्**=आपकी **सप्त**=सात छन्दोमयी वेदवाणियाँ **स्वसारः**=(स्व+सृ) आत्मतत्व की ओर ले-चलनेवाली हैं, वे वाणियाँ **घृतप्रुषः**=ज्ञानदीप्ति से सिक्त करनेवाली हैं, **सौम्याः**=हमें सौम्य स्वभाव का बनानेवाली हैं और **जीरदानवः**=जीवन प्रदान करनेवाली हैं। ये वाणियाँ हमारे जीवनों में **घृतश्चुतः**=ज्योति को क्षरित करनेवाली हैं। (२) **ताभिः**=उन वाणियों के द्वारा **ऋतस्य सदने**=सत्य के निवास स्थान प्रभु में **धत्तम्**=हमें स्थापित करिये। हे इन्द्रावरुणा! आप **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **शिक्षतम्**=शिक्षा को देनेवाले होइये अथवा इस यजमान को शक्तिशाली बनाने की कामना कीजिए।

भावार्थ—वेदवाणियाँ ज्ञानदीप्ति से हमें व्याप्त करनेवाली, हमें सौम्य व दीर्घजीवी बनानेवाली हैं। ये हमें आत्मतत्व की ओर ले-चलती हैं। जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भाव हमें इन वेदवाणियों के द्वारा प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सुपर्णः काण्वः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—विराड् जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'शुभस्पती' इन्द्रावरुणा

अवोचाम महते सौभगाय सत्यं त्वेषाभ्यां महिमानमिन्द्रियम्।
अस्मान्त्स्विन्द्रावरुणा घृतश्चुतस्त्रिभिः साप्तेभिरवतं शुभस्पती॥ ५॥

(१) हम **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य की प्राप्ति के लिए **त्वेषाभ्यां**=दीप्त इन्द्र और वरुण के लिए-जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भावों के लिए **सत्यं महिमानं**=सच्ची सत्य महिमा को तथा **इन्द्रियं**=इनके बल को **अवोचाम**=स्तुतिरूप में कहते हैं। इन्द्र और वरुण के महत्त्व व बल को समझते हुए इनका धारण करते हैं और परिणामतः महान् सौभाग्यवाले होते हैं। (२) हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के भावो! **घृतश्चुतः**=अपने में ज्ञानदीप्ति को क्षरित करनेवाले **अस्मान्**=हम लोगों को आप **त्रिभिः**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक रूप से तीन प्रकार के अर्थोंवाली **साप्तेभिः**=सप्त छन्दोमयी वेदवाणियों के द्वारा **अवतम्**=रक्षित करो। आप ही तो **शुभस्पती**=सब शुभ बातों का रक्षण करनेवाले हो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के महत्त्व को हम समझें। ये दिव्यभाव ही हमारे अन्दर सब शुभ बातों का रक्षण करेंगे।

ऋषिः—सुपर्णः काण्वः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

तप से ज्ञान व उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति

इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतमदत्तमग्रे।
यानि स्थानान्यसृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के दिव्यभावो! आप **यत्**=जिस **मनीषां**=बुद्धि को **वाचा**=ज्ञान की वाणियों को, **मतिं**=मननशक्ति को तथा **श्रुतं**=शास्त्रज्ञान को **ऋषिभ्यः**='अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' आदि ऋषियों के लिए **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में **अदत्तम्**=देते हो। मैं

भी **तपसा**=तप के द्वारा **अपश्यम्**=उन ज्ञानों का द्रष्टा बनूँ। (२) **यज्ञं तन्वानाः**=यज्ञों का विस्तार करते हुए **धीराः**=बुद्धि में रमण करनेवाले ज्ञानी पुरुष **यानि स्थानानि**=जिन उत्तम लोकों को **असृजन्त**=सृष्ट करते हैं-प्राप्त करते हैं, मैं भी तप के द्वारा उन लोकों को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ-तप के द्वारा मैं ज्ञान को प्राप्त करूँ। यह तप मुझे उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त करानेवाला हो।

ऋषिः—सुपर्णः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रावरुणौ॥ **छन्दः**—विराड् जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

सौमनसम्, अदृप्तं रायस्पोषम्

इन्द्रा॑वरुणा सौमन॒सम॑दृ॒प्तं रा॒यस्पोषं॒ यज॑मानेषु धत्तम्।
प्र॒जां पुष्टिं॑ भूतिम॒स्मासु॑ धत्तं दी॒र्घा॒यु॒त्वाय॒ प्र ति॑रतं न॒ आयुः॑॥ ७॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के दिव्यभावो! **यजमानेषु**=यज्ञशील पुरुषों में **सौमनसं**=उत्तम मन को और **अदृप्तं**=गर्व से शून्य **रायस्पोषं**=धन के पोषण को **धत्तम्**=धारण कीजिए। इन्द्र और वरुण की कृपा से हम यज्ञशील बनकर उत्तम मनवाले व विनीततायुक्त श्री वाले बनें। (२) हे इन्द्रावरुणा! आप **प्रजां**=उत्तम सन्तान को, **पुष्टिं**=शरीर की दृढ़ता को और **भूतिम्**=ऐश्वर्य को **अस्मासु धत्तम्**=हमारे में धारण करिये और **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घजीवन के लिए **नः आयुः**=हमारी आयु को **प्रतिरतं**=बढ़ाइए।

भावार्थ-जितेन्द्रियता व निर्द्वेषता के द्वारा हम उत्तम मन, गर्वशून्य धन, प्रजा, पुष्टि व ऐश्वर्य को प्राप्त करें व दीर्घजीवी बनें।

इन्द्र व वरुण की आराधना से यह उपासक तेजस्वी बनता है, सो 'भर्गः' नामवाला होता है। प्रभु के गुणों का गायन करने से यह 'प्रगाथ' है। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु का आराधन करता है -

इति बालखिल्यं समाप्तम्॥

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

अग्नियों के साथ 'अग्नि'

अग्न॒ आ या॑ह्य॒ग्निभि॒र्होता॑रं त्वा वृणीमहे।
आ त्वाम॑नक्तु॒ प्रय॑ता ह॒विष्म॑ती॒ यजि॑ष्ठं ब॒र्हिरा॒सदे॑॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **अग्निभिः**=उत्तम मातारूप दक्षिणाग्नि, उत्तम पितारूप गार्हपत्य अग्नि तथा उत्तम आचार्यरूप आहवनीय अग्नि के साथ **आयाहि**=हमें प्राप्त होइये। **होतारं**=सब कुछ देनेवाले **त्वा**=आपको **वृणीमहे**=वरते हैं। आपकी प्राप्ति से सब कुछ प्राप्त हो ही जाता है। (२) **यजिष्ठं**=अतिशयेन पूजनीय **त्वाम्**=तुझे **बर्हिः आसदे**=हमारे हृदयासन पर बिठाने के लिए **हविष्मती**=हवि से युक्त यह **प्रयता**=पवित्र वेदवाणी **अनक्तु**=हमारे जीवनों में प्राप्त कराए। 'यज्ञ व ज्ञान' हमें प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ-उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करके ज्ञान को प्राप्त करते हुए हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। यज्ञों से युक्त पवित्र वेदवाणी हमें प्रभु की समीपता में प्राप्त कराती है।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—आर्चीस्वराट् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ऊर्जो नपातं-घृतकेशम् (ईमहे)

अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम्॥ २॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज प्रभो! हे **अंगिरः**=सर्वत्र गतिवाले प्रभो! इस **अध्वरे**=जीवनयज्ञ में **स्रुचः**=(वाग् वै स्रुक् श० ६, ३.१.८) ज्ञान की वाणियाँ **हि**=निश्चय **त्वा अच्छा**=आपकी ओर **चरन्ति**=गतिवाली होती हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ हमें आपके समीप प्राप्त कराती हैं। (२) हम **यज्ञेषु**=यज्ञों में उस प्रभु को **ईमहे**=आराधित करते हैं-स्तुत करते हैं। जो **ऊर्जः न पातं**=शक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। **घृतकेशं**=दीप्त ज्ञान की रश्मियोंवाले हैं। **अग्निं**=अग्रणी है और **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं।

भावार्थ—इस जीवनयज्ञ में हम ज्ञान को प्राप्त करते हुए प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे और ज्ञानदीप्ति को देंगे।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पादनिचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'कवि व मेधा' प्रभु

अग्ने कविर्वेधा असि होता पावक यक्ष्यः।
मन्द्रो यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यो विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ व **वेधाः असि**=विधाता-कर्मफलानुसार सबको विविध योनियों में जन्म देनेवाले हैं। हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! आप **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं, अतएव **यक्ष्यः**=पूजनीय हैं। (२) आप **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप व **यजिष्ठः**=अतिशयेन पूज्य हैं। **विप्रेभिः**=ज्ञानी पुरुषों के द्वारा **मन्माभिः**=मननीय स्तोत्रों से हे **शुक्र**=देदीप्यमान व पवित्र प्रभो! आप **अध्वरेषु**=यज्ञों में **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं।

भावार्थ—प्रभु कवि हैं, विधाता हैं। ये प्रभु ही उपासनीय हैं। ज्ञानी पुरुष मननीय स्तोत्रों के द्वारा प्रभु का उपासन करते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

देवसम्पर्क—सात्विक अन्न—ध्यान

अद्रोघमा वहोशतो यविष्ठ्य देवाँ अजस्र वीतये।
अभि प्रयांसि सुधिता वसो गहि मन्दस्व धीतिभिर्हितः॥ ४॥

(१) हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को हमारे से पृथक् करनेवाले **अजस्र**=अविनाशिन् प्रभो! **अद्रोघं**=द्रोह की भावना से रहित मुझे **वीतये**=अज्ञानान्धकार के ध्वंस के लिए **उशतः**=हमारे भले की कामनावाले **देवान्**=देवों के प्रति **आवह**=प्राप्त कराइए। इन देवों के सम्पर्क में हमारा अज्ञान दूर हो जाए। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **सुधिता**=सम्यक् स्थापित किये गये **प्रयांसि**=अन्नों की **अभि**=ओर **गहि**=हमें प्राप्त कराइए। हम इन सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करनेवाले बनें। हे प्रभो! **धीतिभिः**=ध्यानवृत्तियों व स्तुतियों के द्वारा **हितः**=हृदय में स्थापित हुए-हुए आप **मन्दस्व**=हमें आनन्दित करिये।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रिय विद्वानों के सम्पर्क से निवृत्त अज्ञानान्धकारवाला करें। सात्त्विक अन्नों के सेवन से हमें उत्तम निवासवाला बनाएँ। ध्यान द्वारा हृदय में स्थापित होकर प्रभु हमें आनन्दित करें।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सप्रथाः ऋतः कविः

त्वमित्सुप्रथा असि अग्ने त्रातर्ऋतस्कविः।
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः॥५॥

(१) हे **त्रातः**=रक्षक **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम् इत्**=आप ही **सप्रथाः**=अतिशयेन विस्तारवाले **असि**=हैं। **ऋतः**=सत्यस्वरूप हैं, **कविः**=क्रान्तदर्शी हैं। (२) हे **समिधान**=सम्यग्रूप से सदा दीप्त **दीदिवः**=देदीप्यमान प्रभो! **वेधसः**=उत्तम यज्ञादि कर्मों के करनेवाले **विप्रासः**=ज्ञानी पुरुष **त्वां**=आपको **आविवासन्ति**=पूजते हैं। वस्तुतः प्रभु का पूजन इसी प्रकार होता है कि हम ज्ञान को प्राप्त करें और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों।

भावार्थः—प्रभु सर्वत्र व्याप्त-सत्यस्वरूप व क्रान्तदर्शी हैं। उन देदीप्यमान प्रभु का उपासन ज्ञान व यज्ञ द्वारा होता है।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

सूरयः शत्रूषाहः स्वग्नयः

शोचा शोचिष्ठ दीदिहि विशे मयो रास्व स्तोत्रे महाँ असि।
देवानां शर्मन्मम सन्तु सूरयः शत्रूषाहः स्वग्नयः॥६॥

(१) हे **शोचिष्ठ**=अतिशयेन दीप्त होनेवाले प्रभो! आप **शोच**=दीप्त होइये और **दीदिहि**=हमें दीप्त करिए। **स्तोत्रे विशे**=स्तुति करनेवाली प्रजा के लिए **मयः रास्व**=कल्याण को दीजिए। आप **महान् असि**=महान् हैं—पूजनीय हैं। (२) **देवानां**=विद्वानों की **शर्मन्**=शरण में **मम**=मेरे पुत्र **सूरयः**=विद्वान्, **शत्रूषाहः**= काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाले व **स्वग्नयः**=उत्तम यज्ञाग्नियोंवाले **सन्तु**=हों।

भावार्थ—प्रभु हमें दीप्त करें व हमारे लिए कल्याण प्राप्त कराएँ। प्रभु के अनुग्रह से हमारे सन्तान ज्ञानी गुरुओं के रक्षण में 'ज्ञानी-पवित्र व शुभकर्म करनेवाले' बनें।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

दुर्मन्मा द्रोही का संहार

यथा चिद् वृद्धमतसमग्ने संजूर्वसि क्षमि।
एवा दह मित्रमहो यो अस्मध्रुग्दुर्मन्मा कश्च वेनति॥७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्निदेव! **यथा**=जिस प्रकार **चित्**=निश्चय से **क्षमि**=इस पृथ्वी पर **वृद्धम्**=बढ़े हुए **अतसं**=शुष्क काष्ठ को अग्नि **संजूर्वसि**=सम्यक् दग्ध करता है, **एवा**=इसी प्रकार हे **मित्रमहः**=मित्रों से महान् तेजवाले प्रभो! उस व्यक्ति को आप **दहः**=भस्म कर दीजिए **यो कश्च**=जो कोई **अस्मध्रुग्**=हमारा द्रोह करता है और **दुर्मन्मा**=दुर्मति होता हुआ **वेनति** (वेन् गतौ)=हमारे पर आक्रमण करता है। (२) औरों का द्रोह करनेवाले व अशुभ चाहनेवाले स्वयं दग्ध हो जाएँ।

भावार्थ—हम किसी का अशुभ का चिन्तन न करें। दुर्मन्मा (दुर्मति) बनकर औरों का द्रोह

न करते रहें। ये द्रोह करनेवाले व्यक्ति प्रभु के प्रिय नहीं होते।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

दुष्टों की अधीनता में नहीं

मा नो मर्ताय रिपवे रक्षस्विने माघशंसाय रीरधः।
अस्त्रेधद्भिस्तरणिभिर्यविष्ठ्य शिवेभिः पाहि पायुभिः॥ ८॥

(१) हे **यविष्ठ्य**=सब अशुभों को दूर करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **रिपवे मर्ताय**=शत्रुभूत मनुष्य के लिए **मा रीरधः**= मत वशीभूत करिये। **रक्षस्विने**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले के वशीभूत मत करिये। इसी प्रकार **अघशंसाय**=पाप का शंसन करनेवाले के लिए **मा**=मत वशीभूत करिये। (२) **अस्त्रेधद्भिः**=अहिंसक, **तरणिभिः**=तारक, **शिवेभिः**=कल्याणकर **पायुभिः**= रक्षणों के द्वारा **पाहि**=हमारी रक्षण करिये।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रुभूत, राक्षसी प्रवृत्तिवाले, अशुभ के शंसक पुरुष के अधीन न करें। हम अहिंसित, तारक, कल्याणकर रक्षणों के द्वारा रक्षित करें।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

चार वेद

पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥ ९॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **नः**=हमें **एकया**=ऋचारूप प्रथम (मुख्य) वाणी के द्वारा **पाहि**=रक्षित करिये। **उत**=और **द्वितीयया**=यजूरूप दूसरी वाणी से भी **पाहि**=रक्षित करिये। (२) हे **ऊर्जाम्पते**=बलों व प्राणशक्तियों के स्वामिन्! **तिसृभिः गीर्भिः**=सामरूप तृतीय वाणियों के द्वारा भी **पाहि**=रक्षण करिये। हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **चतसृभिः**=चारों वाणियों के द्वारा **पाहि**=हमारा रक्षण करिये। (३) ऋचाएँ विज्ञान का शिक्षण करती है। यजुर्मन्त्र यज्ञात्मक कर्मों का प्रतिपादन करते हैं। इस विज्ञान व इन यज्ञों से उन्नति होती है। सो यहाँ प्रभु को 'अग्ने' नाम से सम्बोधित किया है। तीसरी सामरूप वाणियों से प्रभुसम्पर्क द्वारा शक्ति का संचार होता है। सो सम्बोधन भी 'ऊर्जाम्पते' है। अथर्व हमें 'वाचस्पति' बनाकर उत्तम निवासवाला बनाता है। सो सम्बोधन भी 'वसो' है।

भावार्थ—ऋग् व यजूरूप वाणियाँ हमारी अग्रगति का कारण बनती हैं। साममन्त्र हमारे में बल व प्राण का संचार करते हैं। चौथे अथर्वमन्त्र, हमें रोगों व युद्धों से ऊपर उठाकर उत्तम निवासवाला बनाते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

नेदिष्ठ आपि

पाहि विश्वस्माद्रक्षसो अराव्णः प्र स्म वाजेषु नोऽव।
त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **विश्वस्मात्**=सब **आराव्णः**=अदानशीलता आदि **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों से **पाहि**=बचाइए। आप **वाजेषु**=संग्रामों में **नः**=हमें **प्र अव स्म**=निश्चय से रक्षित करिये। (२) **त्वाम्**=आपको **इत् हि**=निश्चय से **देवतातये**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिए और **वृधे**=वृद्धि के

लिए **नेदिष्ठं आपिं**=अन्तिकतम मित्र को **नक्षामहे**=प्राप्त होते हैं। आपको प्राप्त करके ही हम अदानशीलता आदि अशुभ बातों से दूर होकर शुभ गुणों को प्राप्त करेंगे। आपकी उपासना ही हमें संग्राम में विजयी बनाती है। यह आपकी मित्रता ही हमारी वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना अन्तिकतम मित्र समझें। प्रभु हमें संग्राम में विजयी व दिव्यगुणसम्पन्न बनाएँगे। इस मित्रता से ही हमारी सब प्रकार से वृद्धि होगी।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

'वयोवृधं शंस्यम्' रयिम्

आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती स्वयशस्तरम्॥ ११॥

(१) **उपमाते**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले **अग्ने**=प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **रयिं**=धन को **आरास्व**=सब ओर से दीजिए। उस धन को जो **वयोवृधम्**=हमारी आयु की वृद्धि का कारण बने **च**=और **शंस्यम्**=प्रशंसनीय हो। (२) हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे लिए उस धन को दीजिए, जो **पुरुस्पृमहं**=बहुत ही स्पृहणीय हो तथा **सुनीति**=शुभनीतिमार्ग से कमाया जाकर **स्वयशस्तरम्**=अपनी कीर्ति को बढ़ानेवाले हो।

भावार्थः—प्रभु का स्मरण करते हुए हम शुभनीतिमार्ग से उस धन का अर्जन करें जो हमारे आयुष्य को बढ़ाए तथा प्रशंसनीय, स्पृहणीय व यशस्वी बनानेवाला हो।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—पं- ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

सात्त्विक अन्न से सात्त्विक बुद्धि

येन वंसाम पृतनासु शर्धतस्तरन्तो अर्य आदिशः।
स त्वं नो वर्ध प्रयसा शचीवसो जिन्वा धियो वसुविदः॥ १२॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार हमें वह धन दीजिए **येन**=जिससे **पृतनासु**=संग्रामों में **शर्धतः**=हिंसा करनेवाले **अर्यः**=शत्रुओं को तथा **आदिशः**=शस्त्रों के फेंकनेवालों को **तरन्तः**=पार करते हुए **वंसाम**=विजयी बनें अथवा इन शत्रुओं को नष्ट कर सकें। (२) हे **शचीवसो**=प्रज्ञानधन प्रभो! **सः**=वे **त्वं**=आप **नः**=हमें **प्रयसा**=सात्त्विक अन्न के द्वारा **वर्ध**=बढ़ाइए। **वसुविदः**=वसुओं को प्राप्त करानेवाली **धियः**=बुद्धियों को **जिन्व**=हमारे अन्दर प्रेरित करिये। हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से शुद्ध बुद्धिवाले बनकर वसुओं को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमें वह धन प्राप्त हो जिससे कि हम शत्रुओं को पराजित कर पाएँ। प्रभु के अनुग्रह से हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए सात्त्विक बुद्धिवाले होकर वसुओं को प्राप्त करें।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

यज्ञाग्नि व रोगकृमिरूप शत्रुविनाश

शिशानो वृषभो यथाग्निः शृङ्गे दविध्वत्।
तिग्मा अस्य हनवो न प्रतिधृषे सुजम्भः सहसो यहुः॥ १३॥

(१) **यथा**=जैसे **शृंगे**=सींगों को **शिशानः**=तीक्ष्ण करता हुआ **वृषभः**=बैल **दविध्वत्**=शत्रुओं को कम्पित करता है, इसी प्रकार **अग्निः**=यज्ञाग्नि रोगकृमिरूप शत्रुओं को अपनी तीक्ष्ण ज्वालाओं से विनष्ट करता है। (२) **अस्य**=इस यज्ञाग्नि की **हनवः**=हननशील ज्वालाएँ **तिग्माः**=बड़ी

तीक्ष्ण हैं। **न प्रतिधृषे**=शत्रुओं से इनका धर्षण नहीं हो सकता। यह अग्नि **सुजम्भः**=उत्तम दंष्ट्राओंवाला है। **सहसः यहुः**=बल का पुञ्ज है। यह अग्नि बल का पुञ्ज होता हुआ सब शत्रुओं का विनाश करता है।

भावार्थ—यज्ञाग्नि बल का पुञ्ज हैं। यह ज्वालारूप दंष्ट्राओं से सब रोग कृमिरूप शत्रुओं को विनष्ट करता है।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—निचृत् पं- ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

राष्ट्रयज्ञ का होता राष्ट्रपति

नहि ते अग्ने वृषभ प्रतिधृषे जम्भासो यद्वितिष्ठसे।
स त्वं नो होतः सुहुतं हविष्कृधि वंस्वा नो वार्या पुरु॥ १४॥

(१) हे **वृषभ**=वर्षक **अग्ने**=अग्नि! **ते**=तेरे **जम्भासः**=दंष्ट्रास्थानीय ज्वालाएँ **नहि प्रतिधृषे**= धर्षण के लिए नहीं होतीं, **यद्**=जब तू **वितिष्ठसे**=रोगकृमिरूप शत्रुओं का सामना करती है। अग्नि की ये ज्वालाएँ शत्रुओं को समाप्त करनेवाली होती हैं। इसी प्रकार एक प्रजा पर सुखों का वर्षण करनेवाले अग्रणी राजा के दंष्ट्रास्थानीय अस्त्र जब शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं तो ये धर्षणीय नहीं होते। (२) हे **होतः**=राष्ट्रयज्ञ के संचालक राजन्! **सः त्वं**=वह तू **नः**=हमारे **हविः**=कर रूप में दिये गये हविरूप धन को **सुहुतं कृधि**=सम्यक् हुत कर, अर्थात् कररूप में दिये गये धन को तू राष्ट्रयज्ञ में सम्यक् विनियुक्त कर। **नः**=हमारे लिए **पुरु**=खूब ही **वार्या**=वरणीय धन को **वंस्व**=देनेवाला हो। राजा राष्ट्र की इस प्रकार व्यवस्था करे कि सब प्रजावर्ग उचित धनों को अॢजत कर सकें।

भावार्थ—राष्ट्रपति के शस्त्र शत्रुओं से धर्षणीय न हों। वह कर का सद्विनियोग करे। प्रजा के लिए उचित व्यवस्था के द्वारा धनों को प्राप्त करानेवाला हो।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

यज्ञशील देववृत्तिवाले उपासकों में प्रभु का प्रकाश

शेषे वनेषु मात्रोः सं त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्या वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि॥ १५॥

(१) हे प्रभो! आप **वनेषु**=(वन् संभक्तौ) संभजनशील पुरुषों में **मात्रोः**=ज्ञान व श्रद्धारूप निर्माण करनेवाले (मा) तत्त्वों के होने पर **शेषे**=निवास करते हैं। **त्वा**=आपको **मर्तासः**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले-मन को मार लेनेवाले पुरुष **समिन्धते**=अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। (२) हे प्रभो! आप **हविष्कृतः**=हवि को करनेवाले यज्ञशील पुरुष के **हव्या**=हव्य पदार्थों को **अतन्द्रः**=सब प्रकार की तन्द्रा से रहित हुए-हुए **वहति**=प्राप्त कराते हैं। यज्ञशील पुरुष को प्रभु ही यज्ञ के सब साधनों को प्राप्त कराते हैं। **आत् इत्**=अब शीघ्र ही **देवेषु**=देववृत्ति वाले पुरुषों में **राजसि**=दीप्त होते हैं। देववृत्तिवाले पुरुष हृदयों में आपका दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का निवास ज्ञान व श्रद्धासम्पन्न उपासकों में होता है। मन को मार लेनेवाले पुरुष प्रभु को अपने में समिद्ध करते हैं। यज्ञशील पुरुषों को प्रभु ही हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। देववृत्ति वाले पुरुषों में प्रभु दीप्त होते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पादनिचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'सुत्यज अह्वय' प्रभु

सप्त होतारस्तमिदीळते त्वाग्ने सुत्यजमह्रयम्।
भिनत्स्यद्रिं तपसा वि शोचिषा प्राग्ने तिष्ठ जनाँ अति॥ १६॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सप्त होतारः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' दो कर्ण, दो नासिका, दो आँख व मुख रूप सप्त होता **तम् त्वा इत्**=उन आपको ही **ईडते**=स्तुत करते हैं। जो आप **सुत्यजम्**=उत्तम त्याग व दानवाले हैं तथा **अह्रयम्**=न क्षीण होनेवाले हैं। (२) आप **तपसा**=तप के द्वारा तथा **शोचिषा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **अद्रिं**=अविद्यापर्वत को **विभिनत्सि**=विदीर्ण करते हैं। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **जनान्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले हमें **अति**=अतिशयेन **प्रतिष्ठ**=(प्रगच्छ) प्राप्त होवें।

भावार्थ—हम कान, आँख आदि द्वारा प्रभु की महिमा को ही सुनें व देखें। प्रभु तप व ज्ञान के द्वारा हमारी अविद्या को विनष्ट करते हैं। शक्तियों का विकास करनेवालों को ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

वृक्तबर्हिषः हितप्रयसः

अग्निमग्निं वो अध्रिगुं हुवेम वृक्तबर्हिषः।
अग्निं हितप्रयसः शश्वतीष्वा होतारं चर्षणीनाम्॥ १७॥

(१) **वः**=तुम सबके **अग्निं**=अग्रणी उस **अध्रिगुं**=अधृतगमनवाले **अग्नि**=प्रकाशस्वरूप प्रभु को **हुवेम**=हम पुकारते हैं। उस प्रभु की गति को कोई भी रोक नहीं सकता। **वृक्तबर्हिषः**=(वृजी वर्जने) जिसमें से वासनाओं का वर्जन किया गया है ऐसे वासनाशून्य हृदयवाले, **हितप्रयसः** (निहितहविष्काः)=अग्निकुण्ड में हवि का स्थापन करनेवाले यज्ञशील हम **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को पुकारते हैं। (२) उस प्रभु को हम पुकारते हैं जो **शश्वतीषु**=इस सनातन प्रजाओं में **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **आ होतारं**=समन्तात् सब आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं अथवा यज्ञों के साधक हैं।

भावार्थ—हम वासनाशून्य हृदयवाले व यज्ञशील बनकर उस प्रकाशमय प्रभु का आराधन करते हैं। वस्तुतः प्रभु ही हमारे यज्ञों को सिद्ध करते हैं और हमें आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ज्ञान-उपासना-कर्म

केतेन शर्मन्त्सचते सुषामण्यग्ने तुभ्यं चिकित्वना।
इषण्यया नः पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये॥ १८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **चिकित्वना**=ज्ञानी पुरुष के द्वारा **केतेन**=ज्ञानप्राप्ति के साथ **सुषामणि**=उत्तम साम-उपासनात्मक स्तोत्र वाले **शर्मन्**=सुखसाधन यज्ञ में **तुभ्यं सचते**=आपके लिए यह उपासक प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुषों के सम्पर्क में ज्ञान प्राप्त करता है, प्रभु के स्तोत्रों

का उच्चारण करता है और सुखसाधन यज्ञों में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यह परमात्मा को प्राप्त करता है। (२) हे प्रभो! **इषण्यया**=आप अपनी इच्छा से **नः**=हमारे लिए **पुरुरूपं**=अनेक रूपोंवाले **नेदिष्ठं**=अन्तिकतम=सदा समीप रहनेवाले **वाजं**=ऐश्वर्य को **आभर**=प्राप्त कराइए। यह ऐश्वर्य **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए हो। यह धन विलास में फंसाकर हमारा विनाश करनेवाला न हो जाए।

भावार्थ—'ज्ञान, उपासना व यज्ञरूप कर्म' हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाले हों। प्रभु हमारे लिए जैसा ठीक समझें वैसा, विविध व स्थिररूप से रहनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

दिवस्पायुः दुरोणयुः

अग्ने जरितर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षसः।
अप्रोषिवान्गृहपतिर्महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः॥ १९॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप **जरितः** (जरिता=गरिता)=ज्ञान का उपदेश करनेवाले **देव**=सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाले प्रभो! आप **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं, **रक्षसः तेपानः**=राक्षसी वृत्तियों को संतप्त करके दूर करनेवाले हैं। (२) **अप्रोषिवान्**=कभी भी प्रवास न करनेवाले, अर्थात् सदा हमारे साथ रहनेवाले आप हैं। **गृहपति**=इस शरीरगृह के आप ही तो रक्षक हैं। **महान् असि**=आप पूज्य हैं। **दिवस्पायुः**=ज्ञान के रक्षक हैं और इस प्रकार **दुरोणयुः**=(दुर्, ओणृ अपनयने) सब बुराइयों के अपनयन को हमारे साथ जोड़नेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानोपदेश के द्वारा हमारे जीवनों को पवित्र बनाते हैं। वे ज्ञानरक्षण द्वारा सब बुराइयों का अपनयन करनेवाले हैं। सब प्रजाओं के रक्षक हैं, हमारे घरों के स्वामी हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'राक्षसीभाव-पीड़ा-दारिद्र्य व भूख' का निराकरण

मा नो रक्ष आ वेशीदाघृणीवसो मा यातुर्यातुमावताम्।
परोगव्यूत्यनिरामप क्षुधमग्ने सेध रक्षस्विनः॥ २०॥

(१) **आघृणीवसो**=समन्तात् ज्ञानरश्मिरूप धनोंवाले प्रभो! **नः**=हमारे अन्दर **रक्षः**=राक्षसीवृत्ति **मा आवेशीत्**=मत प्रविष्ट हो और **यातुमावताम्**=पीड़ा देनेवालों की **यातुः**=पीड़ा भी **मा**=हमारे अन्दर मत प्रविष्ट हो। ज्ञान से पवित्रता होती है, पवित्रता से पीड़ा का विनाश होता है। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **अनिरां**=अन्नाभावरूप दारिद्र्य को **परोगव्यूतिम्**=कोसों दूर **अपसेध**=निषिद्ध करिये। **क्षुधम्**=भूख को दूर रखिये—हम सदा भूख से न सताये जाएँ। **रक्षस्विनः**=राक्षसी प्रवृत्तियों को भी हमारे से दूर करिये।

भावार्थ—ज्ञानपुञ्ज प्रभु की ज्ञानरश्मियों से दीप्त जीवनवाले बनकर हम राक्षसीभावों व पीड़ाओं से दूर हों। दारिद्र्य-भूख व राक्षसीभाव हमारे से कोसों दूर रहें।

ज्ञानरश्मियों से दीप्त जीवनवाला यह तेजस्वी बनता है। सो 'भर्गः' (तेज) नामवाला होता है। प्रभु का गायन करने से 'प्रागाथ' है। यह 'इन्द्र' नाम से प्रभु का स्मरण करता है।

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सूक्ष्मार्थग्राहिणी बुद्धि

उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः।
सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत्॥ १॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे लिए **उभयं इदं वचः**=प्रकृति व आत्मा दोनों के ज्ञान के देनेवाले इस वेदवचन को **अर्वाक्**=अन्तर्हृदय में (हमारे अभिमुख) **शृणवत्**=(अन्तर्भावित ण्यर्थ) सुनाएँ। हृदयस्थ प्रभु से हम उन ज्ञान की वाणियों को सुन पाएँ जो प्रकृति व आत्मा का ज्ञान देनेवाली हैं। (२) वह **शविष्ठः**=अतिशयेन शक्तिशाली **मघवा**=ज्ञानरूप ऐश्वर्यवाले प्रभु **सत्राच्या**= सत्यज्ञान के साथ गतिवाली—सत्यज्ञान को प्राप्त करानेवाली **धिया**=बुद्धि के साथ **आगमत्**=हमें प्राप्त हों। ये प्रभु **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए हों। सोमरक्षण द्वारा ही वे हमें उस सूक्ष्मार्थग्राहिणी बुद्धि को प्राप्त कराएँगे जो प्रकृति व आत्मा के तत्त्व को समझने के योग्य हमें बनाएगी।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रकृति व आत्मा के ज्ञान को देनेवाले वेदवचनों को सुनाएँ। सोमरक्षण द्वारा उस बुद्धि को प्राप्त कराएँ जो सूक्ष्म अर्थों के सत्यतत्त्व को जानने में समर्थ हो।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पर्ङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'स्वराट् वृषभ' प्रभु

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः॥ २॥

(१) **तं**=उस **स्वराजं**=स्वयं देदीप्यमान, **वृषभं**=शक्तिशाली प्रभु को **हि**=निश्चय से **धिषणे**=द्यावापृथिवी **निष्टतक्षतुः**=(संचस्करतुः) संस्कृत करते हैं। द्युलोक प्रभु की दीप्ति का आभास देता है, तो पृथिवीलोक प्रभु की शक्ति व दृढ़ता का। प्रभु ने ही वस्तुतः द्युलोक को तेजस्वी व पृथिवीलोक को दृढ़ बनाया है। **तम्**=उस प्रभु को ही हम **ओजसे**=बल की प्राप्ति के लिए अपने अन्दर देखने का प्रयत्न करें। (२) **उत**=और हे प्रभो! आप **उपमानां**=उपमानभूत देवों में **प्रथमः**=मुख्य होते हुए **निषीदसि**=हमारे हृदयों में निषण्ण होते हैं। हमने अपने पिता प्रभु जैसा ज्ञानी व शक्तिशाली बनने का प्रयत्न करना है। हमारे लिए यह कहा जाए कि वह प्रभु के समान ज्ञानी है व प्रभु के समान शक्तिशाली है। वस्तुतः ऐसे ही व्यक्ति जनता को प्रभु के अवतार प्रतीत होने लगते हैं। **ते मनः**=आपके प्रति प्रवण मन **हि**=निश्चय से **सोमकामम्**=सोम की कामनावाला होता है। प्रभु-प्रवण मन विलास में नहीं जाता और इस प्रकार सोम का रक्षण हो पाता है।

भावार्थ—द्युलोक में स्वराट् प्रभु का प्रकाश है, तो पृथिवी में शक्तिशाली प्रभु की दृढ़ता। इस प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी 'प्रकाश व शक्ति' का सम्पादन करें। प्रभु-प्रवण मन सदा सोम का रक्षक होता है।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'अधृष्ट दधृष्वणि' प्रभु

आ वृषस्व पुरूवसो सुतस्येन्द्रान्धसः।
विद्मा हि त्वा हरिवः पृत्सु सासहिमधृष्टं चिद्दधृष्वणिम्॥ ३॥

(१) हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक वसुओंवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसः**=सोम का **आवृषस्व**=हमारे अंग-प्रत्यंग में सेचन करिये। आपका उपासन हमें वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के योग्य बनाए। (२) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **विद्म**=जानते हैं कि आप **पृत्सु**=संग्रामों में **सासहिम्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले हैं। **अधृष्टं चित्**=निश्चय से अधर्षणीय हैं और **दधृष्वणिम्**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण हमारे शरीरों में सोम रक्षण का साधन बनता है। इस प्रकार प्रभु हमें संग्रामों में विजयी व अधर्षणीय बनाते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'अप्रामिसत्य-मघवा' प्रभु

अप्रामिसत्य मघवन्तथेदसदिन्द्र क्रत्वा यथा वशः।
सनेम वाजं तव शिप्रिन्नवसा मक्षू चिद्यन्तो अद्रिवः॥ ४॥

(१) हे **अप्रामिसत्य**=अहिंसित सत्य-सत्यस्वरूप, **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्, **इन्द्र**= सर्वशक्तिमन् प्रभो! **तथा इत् असत्**=वैसा ही होता है **यथा**=जैसा आप **क्रत्वा**=शक्ति व प्रज्ञान से **वशः**=चाहते हैं। (२) हे **शिप्रिन्**=हमें उत्तम हनू व नासिका को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **तव अवसा**= आपके रक्षण के द्वारा **वाजं सनेम**=हम शक्ति व ऐश्वर्य को प्राप्त करें। जबड़ों की उत्तमता भोजन के ठीक चबाने के द्वारा शक्तिवर्धन का कारण बनती है। नासिका की उत्तमता प्राणायाम द्वारा ज्ञान आदि ऐश्वर्यों को प्राप्त कराती है। हे **अद्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! हम **मक्षू**=शीघ्र **चित्**=ही **यन्तः**=शत्रुओं के प्रति जानेवाले हों—उन पर आक्रमण करनेवाले हों।

भावार्थ—यह संसार प्रभु की शक्ति व प्रज्ञान से ठीक रूप में चल रहा है। सत्यस्वरूप प्रभु के रक्षण में हम ज्ञान के ऐश्वर्य व शक्ति को प्राप्त करें—शत्रुओं को आक्रान्त कर पाएँ।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

ऐश्वर्य-यश व वसु

शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि॥ ५॥

(१) हे **शचीपते**=शक्तियों (कर्मों) व प्रज्ञानों के स्वामिन्! **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **विश्वाभिः**=सब **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **उ**=निश्चय से **शग्धि**=हमारे लिए सब उत्तम पदार्थों को दीजिए। (२) **भगं न**=ऐश्वर्यपुञ्ज के समान **यशसं**=यशस्वी तथा **वसुविदं**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले **त्वा**=आपको हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **हि अनुचरामसि**= निश्चय से उपासित करते हैं। आपकी उपासना हमें भी 'ऐश्वर्यशाली-यशस्वी व सब वसुओं (धनों) के प्राप्त करनेवाला' बनाएगी।

भावार्थ—वे शचीपति प्रभु हमें रक्षित करते हुए सब उत्तम पदार्थ प्राप्त कराते हैं। प्रभु की उपासना हमें 'ऐश्वर्य-यश व वसुओं' को देती हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

पौरः

पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत्त्वे यद्यद्यामि तदा भर॥ ६॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों के आप **पौरः**=पूरयिता **असि**=हैं, **गवाम्**=अर्थों की गमक ज्ञानेन्द्रियों के आप **पुरुकृत्**=पालन व पूरण करनेवाले हैं। आप हमारे लिए **हिरण्ययः उत्सः**=ज्योतिर्मय स्रोत के समान हैं। (२) **त्वे**=आपमें **दानं**=हमारे लिए देय धन **नकिः हि**=नहीं ही **परिमधिषत्**=हिंसित होता, अर्थात् आप सदा हमारे लिए इन धनों को प्राप्त कराते हैं। **यद्-यद् यामि**=जो-जो मैं आपसे माँगता हूँ **तद्**=उसे **आभर**=हमारे लिए प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु हमारी ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियों के पूरण को करते हैं—हमारे लिए ज्ञान के स्रोत हैं। जो कुछ हम माँगते हैं, वे सदा देते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—पादनिचृद् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

भग—गौ—अश्व

त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये। उद्वावृषस्व मघवन्गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये॥ ७॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **चेरवे**=चरणशील के लिए-पुरुषार्थी के लिए **हि**=प्राप्त होइए तथा **भगं विदाः**=ऐश्वर्य को प्राप्त कराइए जिससे **वसुत्तये**=(वसुदानाय) वह धन का दान कर सके। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **गविष्टये**=ज्ञानेन्द्रियों की कामनावाले के लिए **उद्वावृषस्व**=खूब ही उसमें शक्ति का सेचन कीजिए तथा **अश्वमिष्टये**=कर्मेन्द्रियों की इच्छावाले करिये। इस शक्ति से सेचन के द्वारा उसकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को अपना कार्य करने में सशक्त बनाइए।

भावार्थ—श्रमशील को प्रभु प्राप्त होते हैं और उसे दान देने के लिए धन प्राप्त कराते हैं, तथा उसे शक्तिसम्पन्न कर समर्थ ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाला करते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रगाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

वह रक्षक 'पुरन्दर' इन्द्र

त्वं पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा दानाय मंहसे।
आ पुरन्दरं चकृम विप्रवचस इन्द्रं गायन्तोऽवसे॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **त्वं**=आप **पुरू**=बहुत **सहस्राणि**=सहस्रों **च**=और **शतानि**=सैकड़ों **यूथा**=गवादि के समूहों को **दानाय**=दानशील पुरुष के लिए **मंहसे**=देते हैं। यह ठीक ही है कि 'दान दो, प्रभु और देंगे'। (२) हम **विप्रवचसः**=विविध प्रकृष्ट स्तुतिवचनोंवाले **गायन्तः**=प्रभु का गुणगान करते हुए उस **पुरन्दरं**=असुर पुरियों का विदारण करनेवाले **इन्द्रं**=शत्रुविद्रावक प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **चकृम**=अपने अभिमुख करते हैं। हम प्रभु का ही स्मरण करते हैं—प्रभु हमारे रक्षक बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें दान के लिए खूब ही धनों को प्राप्त कराते हैं। हम प्रभु को गाते हैं—यह गायन हमारा रक्षक हो जाता है।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

प्रभु की आज्ञा का पालन से आनन्द

अविप्रो वा यदविधद्विप्रो वेन्द्र ते वचः।
स प्र ममन्दत्त्वाया शतक्रतो प्राचामन्यो अहंसन॥ ९॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्तिवाले, **प्राचामन्यो**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानशालिन् **अहंसन**=आत्मसम्मान के भाव को देनेहारे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अविप्रः वा**=अल्प ज्ञानवाला व्यक्ति **वा**=अथवा **विप्र**=ज्ञानी जो कोई भी **यद्**=जब **ते वचः अविधत्**=आपके वचन का (निर्देश का) पालन करता है, **सः**=वह **त्वाया**=आपकी प्राप्ति की कामना से **प्रममन्दत्**=प्रकृष्ट आनन्द को प्राप्त करता है। (२) ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। ज्ञानप्राप्ति का भी उद्देश्य यही है कि हम प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चलें—प्रभु की आज्ञाओं को मानें। जब प्रभु के आदेशों का पालन करते हुए हम चलते हैं तो आनन्द की प्राप्ति होती ही है।

भावार्थ—प्रभु के निर्देशों के अनुसार यज्ञात्मक जीवन बनाने पर जीवन में एक अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती है।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'उग्रबाहु म्रक्षकृत्वा' प्रभु

उग्रबाहुर्म्रक्षकृत्वा पुरन्दरो यदि मे शृणवद्धवम्।
वसूयवो वसुपतिं शतक्रतुं स्तोमैरिन्द्रं हवामहे॥ १०॥

(१) **उग्रबाहुः**=तेजस्वी भुजाओंवाला, **म्रक्षकृत्वा**=शत्रुओं का वध करनेवाला, **पुरन्दरः**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला वह प्रभु ही **यदि**=यदि **मे**=मेरी **हवम्**=पुकार को **शृणवत्**=सुनता है, तो **वसूयवः**=वसुओं की कामनावाले होते हुए हम **वसुपतिं**=वसुओं के स्वामी **शतक्रतुं**=अनन्त शक्तिवाले **इन्द्रं**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **स्तोमैः**=स्तोत्रों के द्वारा **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) वस्तुतः संसार में प्रभु ही हमारी कामनाओं को पूर्ण करते हैं। प्रभु को पुकारना ही ठीक है। अन्य व्यक्ति तो संपत्ति में ही साथी हैं। विपत्ति में सहायक प्रभु ही हैं। ये प्रभु ही हमारे शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही तेजस्वी व शत्रुओं के नाशक हैं। प्रभु ही हमारी पुकार को सुनते हैं। हमें उस वसुपति प्रभु को ही पुकारना योग्य है।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'निष्पाप उदार ज्ञानी' उपासक

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः।
यदिन्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै॥ ११॥

(१) **पापासः**=पापवृत्तिवाले होकर हम **न मनामहे**=प्रभु का उपासन नहीं करते। **अरायासः न**=अपानशील बनकर भी हम प्रभु का स्तवन नहीं करते। **न**=न ही **जल्हवः**=मूर्ख बनकर हम

प्रभु का भजन करते हैं। (२) निष्पाप, उदार (दानशील) व ज्ञानी बनकर **यद्**=जब **इत् नु**=निश्चय से उस **वृषणं**=सुखवर्षक **इन्द्रं**=परमेश्वर्यशाली प्रभु को उपासित करते हैं तो **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में उस इन्द्र को **सचा**=सदा साथ होनेवाला **सखायं**=मित्र **कृणवामहै**=करते हैं।

भावार्थ–निष्पाप, दानशील व ज्ञानी बनकर हम प्रभु का उपासन करते हैं और प्रभु को अपना मित्र बना पाते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभुस्तवनरूप दुर्ग

उग्रं युयुज्म पृतनासु सासहिमृणकातिमदाभ्यम्।
वेदा भृमं चित्सनिता रथीतमो वाजिनं यमिदू नशत्॥ १२॥

(१) हम **उग्रं**=उस तेजस्वी प्रभु को **युयुज्म**=योग द्वारा प्राप्त करें, जो प्रभु **पृतनासु सासहिम्**=संग्रामों में शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, **ऋणकातिं**=दुर्गभूमिरूप है स्तुति जिनकी, अर्थात् जिनकी स्तुति एक किले के समान शत्रुओं के आक्रमण से हमारा रक्षण करती है। **अदाभ्यम्**=जो हिंसित होनेवाले नहीं। (२) जैसे **रथीतमः**=उत्तम सारथि **भृमं चित्**=भ्रमणशील अश्व को ही **वेद**=प्राप्त करता है, इसी प्रकार वह **सनिता**=सब कुछ देनेवाले प्रभु **यम् इत् उ**=जिसको ही **वाजिनं**=शक्तिशाली (वेद) जानता है, उसी को **नशत्**=प्राप्त होता है।

भावार्थ–प्रभु का स्तवन स्तोता के लिए एक दुर्ग के समान होता है। यह स्तवन शत्रुओं के आक्रमण से उसका रक्षण करता है। प्रभु सबल को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'अभयकर्ता' प्रभु

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **यतः**=जिधर से भी हम **भयामहे**=भयभीत हों, **ततः**=उधर से **नः**=हमें **अभयं कृधि**=निर्भय कीजिए। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **शग्धि**=आप शक्तिशाली हो। **तत्**=सो **तव ऊतिभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा **नः**=हमारे **विद्विषः**=द्वेषियों व **विमृधः**=हिंसकों को **जहि**=नष्ट करिये।

भावार्थ–प्रभु हमें सर्वतः निर्भय करते हैं। हे प्रभो! आप हमारे द्वेषियों व हिंसकों को समाप्त करिये।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

राधस् तथा महान् क्षय

त्वं हि राधस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधतः।
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे॥ १४॥

(१) हे **राधस्पते**=ऐश्वर्य के स्वामिन् प्रभो! **त्वं**=आप **हि**=निश्चय से **विधतः**=परिचर्या (उपासना) करनेवाले उपासक के **राधसः**=ऐश्वर्य के तथा **महः क्षयस्य**=महान् निवासस्थान के (क्षि निवासगत्योः) **असि**=(वर्धयिता) बढ़ानेवाले हो। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्, **गिर्वणः**=ज्ञान

की वाणियों से सेवनीय **इन्द्र**=शत्रु- विद्रावक प्रभो! **सुतावन्तः**=सोम का सम्पादन करनेवाले **वयं**=हम **तं त्वा**=उन आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी हम उपासना करते हैं। आपकी उपासना ही हमारे अभ्युदय का कारण बनती है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करते हुए हम प्रभु की उपासना करते हैं। उपासित प्रभु हमारे लिए ऐश्वर्य के देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

स्पट् उत वृत्रहा

इन्द्रः स्पळुत वृत्रहा परस्पा नो वरेण्यः।
स नो रक्षिषच्चरमं स मध्यमं स पश्चात्पातु नः पुरः॥ १५॥

(१) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **स्पट्**=सर्वद्रष्टा व सर्वज्ञ हैं, **उत**=और **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। **परस्पः**=(परस्मात् पाति) शत्रुओं से रक्षित करनेवाले हैं और **नः**=हमारे लिए **वरेण्यः**=वरणीय हैं। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **चरमं**=जीवन के अन्तिम भाग को **रक्षिषत्**=रक्षित करें, **सः मध्यमं**=वे प्रभु जीवन के मध्यभाग (यौवन) को भी रक्षित करें। बाल्य को तो प्रभु माता-पिता व आचार्यों द्वारा रक्षित करते ही हैं। वे जीवन के यौवन व वार्धक्य के भी रक्षक हों। **सः**=वे प्रभु **पश्चात्**=पीछे से **पातु**=रक्षित करें तथा **नः**=हमें **पुरः**=सामने से (पातु=) रक्षित करें।

भावार्थ—वे सर्वद्रष्टा प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हुए हमें शत्रुओं से रक्षित करें। वे आगे-पीछे सब ओर से हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

रक्षक प्रभु

त्वं नः पश्चादधरादुत्तरात्पुर इन्द्र नि पाहि विश्वतः।
आरे अस्मत्कृणुहि दैव्यं भयमारे हेतीरदेवीः॥ १६॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वं**=आप **नः**=हमें **पश्चात्**=पीछे से **पुरः**=सामने से **अधरात्**=नीचे से (दक्षिण से) तथा **उत्तरात्**=ऊपर से (उत्तर से) **विश्वतः**=सब ओर से **निपाहि**=रक्षित करिये। (२) आप **दैव्यं भयं**=आधिदैविक आपत्तियों के भय को **अस्मत्**=हमारे से **आरे**=दूर **कृणुहि**=करिये तथा **अदेवीः**=अदिव्य-राक्षसी **हेतीः**=आयुधों को भी **आरे**=हमारे से दूर करिये।

भावार्थ—प्रभु सब ओर से हमारा रक्षण करें। आधिदैविक आपत्तियों को प्रभु दूर करें तथा राक्षसी वृत्ति के लोगों के आयुधों को भी हमारे से पृथक् करें।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निः ॥ **छन्दः**—पादनिचृद् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

सदा रक्षण करनेवाले प्रभु

अद्याद्या श्वः-श्व इन्द्र त्रास्व परे च नः।
विश्वा च नो जरितॄन्त्सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः॥ १७॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **अद्य अद्य**='आज' कहलानेवाले सब दिनों में, **श्वः श्वः**='कल' कहलानेवाले सब दिनों में **च**=और **परे**=परसों व परले दिनों में भी **नः त्रास्व**=हमारा

रक्षण कीजिए। (२) हे **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! **नः जरितॄन्**=हम स्तोताओं को **विश्वा च अहा**=सब ही दिनों **दिवा नक्तं च**=दिन-रात **रक्षिषः**=रक्षित करिये।

भावार्थ—आज, कल, परसों व सदा दिन-रात प्रभु हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'प्रभङ्गी शूरः'

प्रभङ्गी शूरो मघवा तुवीमघः संमिश्लो वीर्याय कम्।
उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः॥ १८॥

(१) वे प्रभु **प्रभङ्गी**=शत्रुओं का भञ्जन करनेवाले, **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले, **मघवा**=ऐश्वर्यशाली व **तुवीमघः**=महान् धनवाले हैं। **संमिश्लः**=उपासकों के साथ सम्यक् मेलवाले वे प्रभु **वीर्याय**=शक्ति के लिए होते हैं और **कम्**=सुख को प्राप्त कराते हैं। (२) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानवाले प्रभो! **उभा ते बाहू**=दोनों आपकी भुजाएँ **वृषणा**=सुखों का सेचन करनेवाली हैं, **या**=जो **वज्रं निमिमिक्षतुः**=वज्र को निश्चय से अपने साथ जोड़ती हैं—धारण करती हैं।

भावार्थ—शत्रुओं को शीर्ण करके प्रभु अपने सम्पर्क से हमें शक्तिशाली बनाते हैं। प्रभु की भुजाएँ, शत्रुओं के लिए वज्र को धारण करती हुईं, हमारे पर सुखों का वर्षण करती हैं।

प्रभु का गायन करनेवाला 'प्रगाथ काण्व' अगले सूक्त में इन्द्र का स्तवन करता हुआ कहता है—

६२. [द्विषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

माहिनं वयः

प्रो अस्मा उपस्तुतिं भरता यज्जुजोषति।
उक्थैरिन्द्रस्य माहिनं वयो वर्धन्ति सोमिनो भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥ १॥

(१) **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **उपस्तुतिं**=उपासनापूर्वक की जानेवाली स्तुति को **उ**=निश्चय से **प्रभरत**=प्रकर्षेण सम्पादित करो। **यत्**=जिसे **जुजोषति**=प्रभु प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते हैं। जो स्तुति हमें प्रभु का प्रिय बनाती है। (२) **सोमिनः**=सोम की रक्षण करनेवाले पुरुष **इन्द्रस्य उक्थैः**=प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **माहिनं**=प्रभुपूजा से युक्त **वयः**=शक्ति को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **रातयः**=दान **भद्राः**=कल्याणकर हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमें प्रभु का प्रिय बनाता है। प्रभुस्तवन से सोमरक्षण द्वारा शक्ति का वर्धन होता है। प्रभु के दान कल्याणकर हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'शक्तिप्रदाता' सर्वशक्तिमान् प्रभु

अयुजो असमो नृभिरेकः कृष्टीरयास्यः।
पूर्वीरति प्र वावृधे विश्वा जातान्योजसा भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥ २॥

(१) वे प्रभु **अयुजः**=औरों की किसी सहाय की अपेक्षा नहीं रखते। **असमः**=उनके

समान कोई नहीं है। वे **एकः**=अद्वितीय प्रभु **नृभिः**=सारे मनुष्यों व देवों से **अयास्यः**=पराजित नहीं किये जा सकते। ये प्रभु **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाली **कृष्टीः**=श्रमशील प्रजाओं को **अति प्रवावृधे**=अतिशयेन बढ़ानेवाले हैं। (२) ये प्रभु **विश्वाः**=सब **जातानि**=उत्पन्न प्राणियों को **ओजसा**=ओज से बढ़ाते हैं। इस **इन्द्रस्य**=सर्वशक्तिमान् प्रभु की **रातयः**=देन **भद्राः**=कल्याणकर हैं।

भावार्थ—अनन्त शक्तिवाले वे प्रभु अद्वितीय हैं। सभी को वे ही शक्ति प्राप्त करा रहे हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'जीरदानु' प्रभु

अहि॑तेन चि॒दर्व॑ता जी॒रदा॑नुः सिषासति।
प्र॒वाच्य॒मिन्द्र॒ तत्तव॑ वी॒र्या॑णि करिष्य॒तो भ॒द्रा इन्द्र॑स्य रा॒तयः॑॥ ३॥

(१) वह प्रभु **अहितेन**=न जोते हुए **अर्वता चित्**=घोड़े से ही **सिषासति**=सबके संभजन की कामनावाला होता है। 'घोड़े को जोतकर रथ से प्रभु आते हों' सो बात नहीं। प्रभु तो सदा सर्वत्र प्राप्त हैं ही। **जीरदानुः**=वे प्रभु ही जीवन को देनेवाले हैं। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **वीर्याणि करिष्यतः**=शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले **तव**=आपका **तत्**=वह कर्म **प्रवाच्यम्**=प्रकर्षेण स्तुति के योग्य है। बिना ही घोड़े जुते रथ के वे आते हैं और हम सबके लिए जीवन को देते हैं। इस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **रातयः**=दान **भद्राः**=हमारे लिए कल्याणकर हैं।

भावार्थ—प्रभु बिना रथ में जुते घोड़े के ही हमें प्राप्त होते हैं और हमारे लिए जीवन को देनेवाले होते हैं। प्रभु के शक्तिशाली कर्म स्तुति के योग्य हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

ब्रह्माणि वर्धना

आ या॑हि कृ॒णवा॑म त॒ इन्द्र॒ ब्रह्मा॑णि॒ वर्ध॑ना।
येभिः॑ शविष्ठ चा॒कनो॑ भ॒द्रमि॒ह श्र॑वस्य॒ते भ॒द्रा इन्द्र॑स्य रा॒तयः॑॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **आयाहि**=आप हमें प्राप्त होइए। **ते**=आपके लिए **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को **कृणवाम**=करते हैं। ये स्तोत्र **वर्धनाः**=हमारे वर्धन के लिए होते हैं। इनसे हमें जीवन में प्रेरणा प्राप्त होती है। इनसे एक लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है। (२) ये स्तोत्र वे हैं, **येभिः**=जिनसे, हे **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिसम्पन्न प्रभो! आप **इह**=यहाँ इस जीवन में **श्रवस्यते**=यश व ज्ञान की कामनावाले पुरुष के लिए **भद्रं**=कल्याण को **चाकनः**=चाहते हैं। **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **रातयः**=दान **भद्राः**=निश्चय ही कल्याणकर होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तवन को करें। यह स्तवन हमारी वृद्धि का कारण बनता है। प्रभु इस ज्ञानेच्छु स्तोता के कल्याण को करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

तीव्रैः सोमैः सपर्यतः, नमोभिः प्रतिभूषतः

धृ॒षत॑श्चिद् धृ॒षन्मनः॑ कृ॒णोषी॑न्द्र॒ यत्त्वम्।
ती॒व्रैः सोमैः॑ सपर्य॒तो नमो॑भिः प्रति॒भूष॑तो भ॒द्रा इन्द्र॑स्य रा॒तयः॑॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वं**=आप **तीव्रैः**=शक्तिशाली **सोमैः**=शरीरस्थ सोम (वीर्य) कणों द्वारा **सपर्यतः**=आपका पूजन करते हुए उपासक के **मनः**=मन को **यत्**=जब **धृषतः चित् धृषत्**=धर्षक से भी धर्षक-शत्रुओं को पीस डालनेवाला **कृणोषि**=करते हैं। तब **नमोभिः**=आपके प्रति नमन से **प्रतिभूषतः**=अंग-प्रत्यंग को शक्ति से अलंकृत करते हुए पुरुष के लिए **इन्द्रस्य**=ऐश्वर्यशाली आपकी **रातयः**=देन **भद्राः**=कल्याणकर होती हैं। (२) प्रभु का पूजन वही करता है जो शरीर में सोम का रक्षण करता है और प्रभु के प्रति नमनवाला होता हुआ अंग-प्रत्यंग को शक्ति से अलंकृत करता है। प्रभु इस पुजारी के मन को शत्रुओं को पीस डालनेवाला बना देते हैं।

भावार्थ–प्रभु की उपासना सोमरक्षण व नमन द्वारा होती हैं। प्रभु हमारे मन को शत्रुओं का ध्वंसक बनाते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'ऋचीषम' प्रभु

अव चष्ट ऋचीषमोऽवताँइव मानुषः ।
जुष्ट्वी दक्षस्य सोमिनः सखायं कृणुते युजं भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥ ६ ॥

(१) **इव**=जैसे **मानुषः**=प्यासा मनुष्य **अवतान्**=कुओं को **अवचष्टे**=देखता है, इसी प्रकार **ऋषीषमः**=(ऋचा समः) स्तुति के अनुरूप, अर्थात् वास्तव में ही दयालु वे प्रभु **अवतान्**=रक्षणीय पुरुषों को **अवचष्टे**=कृपादृष्टि से देखते हैं। (२) **दक्षस्य**=उन्नतिशील **सोमिनः**=सोमरक्षक पुरुष के प्रति **जुष्ट्वी**=प्रीतिवाले होकर उसे **युजं सखायं कृणुते**=सदा साथ रहनेवाले मित्र बनाते हैं। इन **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **रातयः**=दान **भद्राः**=कल्याणकर हैं।

भावार्थ–प्रभु अपनी स्तुति के वस्तुतः अनुरूप ही हैं। वे उन्नतिशील सोमरक्षक पुरुष के मित्र होते हैं और उस प्रभु की सब देन कल्याणकर है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वीर्यम्-क्रतुम्

विश्वे त इन्द्र वीर्यं देवा अनु क्रतुं ददुः ।
भुवो विश्वस्य गोपतिः पुरुष्टुत भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् देव! **विश्वे देवाः**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, जल, अग्नि, (तेज), वायु, आकाश, मेघ आदि सब देव **ते**=आपके **वीर्यम्**=शक्ति के **अनु**=अनुसार ही **ददुः**=हमारे लिए शक्ति को देते हैं। इसी प्रकार सब विद्वान् आपके **क्रतुं**=प्रज्ञान के अनुसार ही हमारे लिए प्रज्ञान को देनेवाले होते हैं। सूर्य आदि में शक्ति की स्थापना आप ही करते हैं। ज्ञानियों में ज्ञान को देनेवाले भी आप ही हैं। (२) हे **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुति किये गये प्रभो! आप ही **विश्वस्य**=सब **गोपतिः भुवः**=किरणों व ज्ञान की वाणियों के स्वामी हैं। **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली आपकी **रातयः**=देन **भद्राः**=कल्याणकर हैं।

भावार्थ–सब सूर्य आदि देवों में शक्ति का स्थापन प्रभु ही करते हैं तथा सब ज्ञानियों में प्रज्ञान का स्थापन करनेवाले प्रभु ही हैं। किरणों व ज्ञान की वाणियों के स्वामी प्रभु ही हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

शवः-ओजः

गृणे तदिन्द्र ते शव उपमं देवतातये।
यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! मैं **ते**=आपके **तत्**=उस **शवः**=बल को **गृणे**=स्तवन करता हूँ जो **उपमं**=हमारे अन्तिकतम होता हुआ **देवतातये**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिए होता है। (२) हे **शचीपते**=शक्ति व प्रज्ञानों के स्वामिन्! आप **यद्**=जब **ओजसा**=ओज के द्वारा **वृत्रं**=ज्ञानी की आवरणभूत वासना को **हंसि**=विनष्ट करते हैं, तो **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली आपकी **रातयः**=देन **भद्राः**=हमारे लिए कल्याणकर ही होती हैं।

भावार्थ—प्रभु का बल हमारे में दिव्यगुणों के विस्तार के लिए होता है। प्रभु का ओज हमारी वासना को विनष्ट करता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

वपुष्यतः=समनाः

समनेव वपुष्यतः कृणवन्मानुषा युगा।
विदे तदिन्द्रश्चेतनमध श्रुतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥९॥

(१) **इन्द्रः**=वासनारूप शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु **मानुषा युगा**=मानव दम्पतियों को **समना इव**=समान मनवाला-सा-एक हृदयवाला-सा-अभिन्नहृदय व **वपुष्यतः**=उत्तम शरीर की कामना वाला करते हैं। (२) वे प्रभु **तत् चेतनं**=उस प्रज्ञान को **विदे**=प्राप्त कराते हैं, जिससे कि मनुष्य शरीरों को स्वस्थ रखते हैं (वपुष्यतः) तथा मनों को अविरुद्ध बना पाते हैं (समना)। **अध**=अब इन स्वस्थ शरीरोंवाले व समान मनोंवाले मानुष युगों में **श्रुतः**=ये प्रभु ही श्रुत होते हैं। ये प्रभु की ही महिमा का गायन करते हैं कि **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **रातयः**=देन **भद्राः**=कल्याणकर हैं।

भावार्थ—उपासक मानवदम्पतियों को प्रभु उत्तम शरीरवाला व समान मनवाला बनाते हैं। ऐसा ही वे ज्ञान देते हैं। प्रभु की देन कितना ही कल्याण करनेवाली हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

बल-प्रभु-प्रज्ञान

उज्जातमिन्द्र ते शव उत्त्वामुत्तव क्रतुम्।
भूरिगो भूरि वावृधुर्मघवन्तव शर्मणि भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥१०॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **जातम्**=अपने अन्दर उत्पन्न हुए-हुए **ते शवः**=आपके बल को ये उपासक सोमरक्षण द्वारा **भूरि**=खूब ही **उद् वावृधुः**=बढ़ाते हैं। शक्ति को ही क्या बढ़ाते हैं, **त्वाम् उत्** (वावृधुः)=आपको ही वे अपने अन्दर बढ़ाते हैं। **तव**=आपके **क्रतुम्**=प्रज्ञान को **उत्** (वावृधुः)=बढ़ाते हैं। उपासक प्रभु की शक्ति को-प्रभु को व प्रज्ञान को अपने अन्दर धारण करता है। (२) हे **भूरिगो**=पालक व पोषक (भृ धारणपोषणयोः) ज्ञान की वाणियोंवाले **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **तव शर्मणि**=आपके आशीर्वाद व रक्षण में ये **भूरि वावृधुः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। **इन्द्रस्य**=ऐश्वर्यशाली आपकी **रातयः**=देन **भद्राः**=सदा कल्याणकर हैं।

भावार्थ—उपासक में प्रभु का बल, प्रभु की भावना व प्रज्ञान का वर्धन होता है। ये प्रभु के आशीर्वाद से खूब ही वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

प्रभु के साथ मेल व ऐश्वर्यलाभ

अहं च त्वं च वृत्रहन्त्सं युज्याव सनिभ्य आ।
अरातीवा चिदद्रिवोऽनु नौ शूर मंसते भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥ ११॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **अहं च त्वम् च**=मैं और आप **आ सनिभ्यः**=समन्तात् ऐश्वर्य के प्राप्ति के लिए **संयुज्याव**=सम्यक् मिल जाएँ। मैं आपके साथ एक होकर ही तो सब ऐश्वर्यों को पानेवाला बनता हूँ। (२) हे **अद्रिवः**=वज्रहस्त अथवा आदरणीय **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **नौ**=इकट्ठे हुए-हुए हमारे **आरातीवा**=अदानशील पुरुष भी **अनुमंसते**=अनुकूल मतिवाला होता है। प्रभु के साथ एक हो गये उपासक को कृपण व्यक्ति भी उदारता से धनों का देनेवाला होता है। उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **रातयः**=देन **भद्राः**=अतिशयेन कल्याणकर हैं।

भावार्थ—प्रभु के साथ मेल हो जाने पर सब ऐश्वर्यों की प्राप्ति हो जाती है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

महान् असुन्वतः वधः

सत्यमिद्वा उ तं वयमिन्द्रं स्तवाम नानृतम्।
महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥ १२॥

(१) **वयं**=हम **तं इन्द्रं**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सत्यम् इत् वा उ**=सचमुच ही निश्चय से **स्तवाम**=स्तुति करते हैं, **अनृतं न**=झूठ-मूठ नहीं, अर्थात् किसी स्वार्थ के कारण यों ही स्तुति न करके वस्तुतः हृदय से प्रभु का स्तवन कर रहे हैं। (२) जो भी व्यक्ति अपने अन्दर सोम का रक्षण नहीं करता, उस **असुन्वतः**=सोम का अभिषव न करनेवाले व्यक्ति का अथवा अयज्ञशील पुरुष का **वधः**=वध **महान्**=बड़ा है। **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले की **भूरि**=बहुत अधिक **ज्योतींषि**=ज्ञानदीप्तियाँ होती हैं। इस सुन्वन् पुरुष के लिए **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **रातयः**=देन **भद्राः**=कल्याणकर होती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन हृदय से करते हैं। यज्ञशील सोमरक्षक पुरुष ही ज्योति को प्राप्त करता है। इसके लिए प्रभु की देन सदा कल्याणकर होती हैं।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'प्रगाथ काण्व' ही है—

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

कर्मों द्वारा प्रभु की प्राप्ति

स पूर्व्यो महानां वेनः क्रतुभिरानजे। यस्य द्वारा मनुष्पिता देवेषु धिय आनजे॥ १॥

(१) **सः**=वह **महानां**=पूज्यों में **पूर्व्यः**=मुख्य **वेनः**=कान्त प्रभु **क्रतुभिः**=यज्ञात्मककर्मों के द्वारा **आनजे**=प्राप्त होता है। उनके कर्तव्य कर्मों को करने से ही हम प्रभु का पूजन कर पाते हैं।

(२) **यस्य**=जिस प्रभु के **द्वारा**=प्राप्ति के साधनभूत (द्वारभूत) **धियः**=कर्मों को **मनुः पिता**=विचारशील रक्षक पुरुष **देवेषु**=देववृत्ति के पुरुषों में **आनजे**=प्राप्त होता है। उन देवों के पथ पर चलता हुआ यह विचारशील पुरुष भी प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहने से होती है। एक विचारशील पुरुष देवों का अनुसरण करता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

सोमपृष्ठासः अद्रयः

दिवो मानं नोत्सदन्त्सोमपृष्ठासो अद्रयः। उक्था ब्रह्म च शंस्या॥ २॥

(१) **सोमपृष्ठासः**=सोम (वीर्य) शक्ति को अपना आधार बनानेवाले **अद्रयः**=उपासक **दिवः मानं**=ज्ञान के निर्माता प्रभु को **न उत्सदन्**=छोड़कर दूर नहीं जाते। ये सोमरक्षक उपासक अवश्य प्रभु को पानेवाले बनते हैं। (२) इनके जीवन में **उक्था**=स्तोत्र **च**=और **ब्रह्म**=ज्ञान के वचन **शंस्या**=शंसनीय होते हैं।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाले उपासक अवश्य प्रभु को प्राप्त करते हैं। ये स्तोत्रों व ज्ञानवचनों का उच्चारण करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

इन्द्रियों का अनावरण

स विद्वाँ अङ्गिरोभ्य इन्द्रो गा अवृणोदप। स्तुषे तदस्य पौंस्यम्॥ ३॥

(१) **सः**=वे **विद्वान्**=ज्ञानी **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अंगिरोभ्यः**=(अगि गतौ) क्रियाशील पुरुषों के लिए **गाः**=इन्द्रियों का **अप अवृणोत्**=विषयवासनाओं के आवरण से रहित करता है। क्रियाशील बने रहने पर इन्द्रियाँ विषयों में नहीं फंसती। (२) मैं **अस्य**=इन प्रभु के **तत्**=उस **पौंस्यम्**=वीरतापूर्ण कर्म का **स्तुषे**=स्तवन करता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्तवन करता हूँ। प्रभु मेरी इन्द्रियों को वासनाओं के आवरण से रहित करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप् ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

वाकस्य वक्षणिः

स प्रत्नथा कविवृध इन्द्रो वाकस्य वक्षणिः। शिवो अर्कस्य होमन्यस्मत्रा गन्त्ववसे॥ ४॥

(१) **सः**=वे प्रभु **प्रत्नथा**=सनातन काल से **कविवृधः**=विद्वानों का वर्धन करनेवाले हैं। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **वाकस्य**=स्तोता के **वक्षणिः** (वोढा)=लक्ष्यस्थान पर प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **अर्कस्य**=स्तोता के पूजा करनेवाले का **शिवः**=वे कल्याण करनेवाले हैं। वे प्रभु **होमनि**=होम के होने पर—पुकार के व यज्ञों के होने पर **अवसे**=रक्षण के लिए **अस्मत्रा गन्तु**=हमें प्राप्त हों। जब हम प्रभु को पुकारें व यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करें तो प्रभु हमें प्राप्त हों—हमारा रक्षण करें।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानियों का वर्धन करते हैं। स्तोता को लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं। पुजारी का कल्याण करते हैं। प्रार्थना करनेवाले को प्राप्त होकर उसका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञशीलता व स्तवन

आदू नु ते अनु क्रतुं स्वाहा वरस्य यज्यवः। श्वात्रमर्का अनूषतेन्द्र गोत्रस्य दावने॥ ५॥

(१) **आत् उ**=अब शीघ्र ही **नु**=निश्चय से **क्रतुम्**=आप से दी गई शक्ति के **अनु**=अनुसार **स्वाहा-वरस्य**='स्वाहा' की वरणीय अग्नि की **यज्यवः**=पूजा करनेवाले यज्ञशील **अर्काः**=उपासक **श्वात्रम्**=(श्वि गतिवृद्धयोः) गतिशील सदावृद्ध उस प्रभु को **अनूषत**=स्तुत करते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोत्रस्य**=ज्ञान की वाणियों के समूह के **दावने**=देने के निमित्त वे आपका स्तवन करते हैं। स्तोता को ही तो आपकी ये ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—प्रभु के शक्ति को प्राप्त करके हम यज्ञशील बनें। प्रभु का स्तवन करते हुए हम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अध्वर' प्रभु

इन्द्रे विश्वानि वीर्या कृतानि कर्त्वानि च। यमर्का अध्वरं विदुः॥ ६॥

(१) **इन्द्रे**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु में ही **विश्वानि**=सब **कृतानि**=आज तक किये गये **च**=और **कर्त्वानि**=भविष्य में किये जानेवाले **वीर्या**=शक्तिशाली कर्म हैं। (२) उस प्रभु में सब शक्तिशाली कर्म हैं **यम्**=जिसको **अर्काः**=उपासक **अध्वरं**=हिंसा से रहित **विदुः**=जानते हैं। प्रभु सर्वशक्ति सम्पन्न हैं, पर वे किसी का हिंसन नहीं करते।

भावार्थ—उस सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु में ही सब शक्तिशाली कर्म होते हैं। ये प्रभु 'अध्वर' हैं–किसी की हिंसा करनेवाले नहीं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

पाञ्चजन्य का प्रभुपूजन

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत। अस्तृणाद्बर्हणा विपो३ऽर्यो मानस्य स क्षयः॥ ७॥

(१) **यत्**=जब **पाञ्चजन्यया**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र व निषाद' रूप पंचजनों का हित करनेवाले **विशा**=प्रजा से **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के विषय में **घोषाः**=स्तुतिवचन **असृक्षत**=किये जाते हैं तो वे प्रभु **बर्हणा**=(बृहि वृद्धौ) अपनी शत्रुओं के उद्बर्हण की शक्ति से **अस्तृणात्**=काम आदि शत्रुओं का हिंसन करते हैं। (२) इसीलिए **विपः**=मेधावी स्तोता के **सः अर्यः**=वे स्वामी प्रभु **मानस्य**=पूजा के **क्षयः**=निवासस्थान होते हैं। मेधावी स्तोता प्रभु का पूजन करता हुआ काम आदि शत्रुओं का विनाश कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु का स्तोता वही है जो पञ्जजनों का हित करे। प्रभु स्तोता के शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जीवनमार्ग के रक्षक प्रभु

इयमु ते अनुष्टुतिश्चकृषे तानि पौंस्या। प्रावश्चक्रस्य वर्तनिम्॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **इयम्**=यह **उ**=निश्चय से **ते**=आपकी **अनुष्टुतिः**=अनुदिन की जानेवाली स्तुति है आप ही **तानि**=उन प्रसिद्ध **पौंस्या**=शक्ति के कर्मों को **चकृषे**=करते हैं। (२) आप ही

चक्रस्य=इस हमारे शरीररथ के चक्र के **वर्तनिम्**=मार्ग को **प्राव:**=रक्षित करते हैं। आपसे रक्षित हुए-हुए ही हम अपने जीवनमार्ग में आगे बढ़ पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। सब शक्तिशाली कर्मों को प्रभु ही करते हैं। प्रभु ही हमारे जीवनमार्ग का रक्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सात्त्विक भोजन

अस्य वृष्णो व्योदन उरु क्रमिष्ट जीवसे। यवं न पश्व आ ददे॥ ९॥

(१) **अस्य**=इस **वृष्ण:**=सब सुखों के वर्षक प्रभु के-प्रभु से उत्पन्न किये गये **व्योदने**=विशिष्ट ओदन-सात्त्विक भोजन के होने पर यह जीव **उरु क्रमिष्ट**=खूब क्रियाशील होता है तथा **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन के लिए होता है। (२) **न**=जिस प्रकार **पश्व:**=पशु **यवं**=जौ को, उसी प्रकार यह भोजन को **आददे**=ग्रहण करता है। पशु स्वाद के कारण नहीं खाते रहते। इसी प्रकार यह भी मात्रा में ही भोजन करता है।

भावार्थ—हम उस सुखों के वर्षक प्रभु से दिये गये सात्त्विक भोजनों को ही करें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दक्षपितरः

तद्दधाना अवस्यवो युष्माभिर्दक्षपितरः। स्याम मरुत्वतो वृधे॥ १०॥

(१) हम **युष्माभिः**=आपसे-प्रभु से दिये गये **तद्**=उस, गतमन्त्र में वर्णित व्योदन को-सात्त्विक भोजन को, **दधानाः**=धारण करते हुए **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले व **दक्षपितरः**=शक्ति के रक्षक हों। (२) हम **मरुत्वतः**=प्राणोंवाले इस इन्द्र के **वृधे**=वर्धन के लिए **स्याम**=हों। सात्त्विक अन्न का सेवन हमारी प्राणशक्ति को बढ़ाए।

भावार्थः—हम सात्त्विक अन्नों के द्वारा अपना रक्षण करें, शक्ति को बढ़ाएँ तथा प्राणशक्तिसम्पन्न बनें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

जेषाम त्वया युजा

बळृत्वियाय धाम्न ऋक्वभिः शूर नोनुमः। जेषामेन्द्र त्वया युजा॥ ११॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **बट्**=यह सत्य है कि **ऋत्वियाय**=समय पर प्राप्त होनेवाले **धाम्ने**=उस-उस तेज के लिए **ऋक्वभिः**=ऋचाओं के द्वारा-स्तुतिवचनों के द्वारा **नोनुमः**=हम आपका खूब ही स्तवन करते हैं। आपका यह स्तवन हमें तेजस्वी बनाता है। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वया युजा**=आपको साथी के रूप में पाकर हम **जेषाम**=विजय को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभुस्तवन हमें तेज प्राप्त करता है। प्रभु को साथी के रूप में पाकर हम शत्रुओं को पराजित करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—देवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

इन्द्रज्येष्ठाः देवाः अस्मान् अवन्तु

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः।
यः शंसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ अवन्तु देवाः॥ १२॥

(१) **मेहना**=शरीर में शक्ति के सेचन के द्वारा **पर्वतासः**=हमारा पूरण करनेवाले **रुद्राः**=रोगों के द्रावक–दूर भगानेवाले प्राण **वृत्रहत्ये**=वासना के विनाश के निमित्तभूत **भरहूतौ**=संग्राम में पुकार के होने पर **अस्मे**=हमारे लिए **सजोषा**=समान रूप से प्रीतिवाले हों। प्राणों की अनुकूलता से हम शरीर में शक्ति का सेचन करते हुए रोगशून्य व वासनाशून्य बनते हैं। (२) **यः**=जो **शंसते**=ज्ञान की वाणियों का शंसन करनेवाले तथा **स्तुवते**=स्तवन करनेवाले के लिए **पज्रः**=शक्तिशाली होता हुआ **धायि**=धारण किया जाता है वह इन्द्र, तथा **इन्द्रज्येष्ठाः देवाः**=इन्द्र है ज्येष्ठ जिनमें वे सब देव **अस्मान् अवन्तु**=हमारा रक्षण करें। सब देवों के साथ महादेव हमारे लिए कल्याणकर हों।

भावार्थ—प्राणयाम द्वारा अंग–प्रत्यंग को शक्ति से सिक्त करके हम रोगों व वासनाओं को जीतें। शक्ति के धारण करनेवाले प्रभु सब देवों के साथ हमारा कल्याण करें।

अगले सूक्त के भी ऋषि 'प्रगाथ काण्व' व देवता 'इन्द्र' हैं–

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

धन व सत्संग

उत्त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः। अव ब्रह्मद्विषो जहि॥ १॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! **त्वा**=आपको **स्तोमाः**=हमारे से की जानेवाली स्तुतियाँ **उत् मन्दन्तु**=उत्कर्षेण आनन्दित करें। ये स्तोत्र हमें आपका प्रिय बनाएँ। आप हमारे लिए **राधः कृणुष्व**=कार्यसाधक धनों को कीजिए। (२) **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान से अप्रीतिवाले लोगों को **अवजहि**=हमारे से दूर करिये। हमें ज्ञानी लोगों का ही सम्पर्क प्राप्त हो। मूर्खों के सम्पर्क से हम सदा दूर रहें।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करते हुए कार्यसाधक धनों को प्राप्त करें और ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अराधस् पणियों का विनाश

पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि। नहि त्वा कश्चन प्रति॥ २॥

(१) हे इन्द्र! आप **पणीन्**=लोभयुक्त व्यवहारवाले **अराधसः**=यज्ञों के असाधक धनोंवाले धनियों को **पदा**=पाँव से **नि बाधस्व**=नीचे पीड़ित करिये–इन्हें पाँव तले रोंद डालिये। **महान् असि**=आप पूज्य हैं। (२) हे प्रभो! **कश्चन**=कोई भी **त्वा प्रति नहि**=आपका सामना करनेवाला नहीं है। आप अद्वितीय शक्तिशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु लोभी अयज्ञिय वृत्तिवाले धनियों को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'मुक्त व अमुक्त सभी का ईश' प्रभु

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्। त्वं राजा जनानाम्॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं**=आप **सुतानां**=कर्मानुसार उस-उस शरीर को ग्रहण करनेवाले उत्पन्न लोगों के **ईशिषे**=ईश होते हैं। **त्वम्**=आप ही **असुतानाम्**=शरीर को न धारण करनेवाले, उत्पन्न न होनेवाले-मुक्त पुरुषों के भी ईश हैं। (२) **त्वं**=आप ही **जनानाम्**=सब जन्म-धारियों के **राजा**=व्यवस्थापक-कर्मानुसार फल देनेवाले हैं।

भावार्थ—मुक्त व अमुक्त सभी के प्रभु ईश हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दिविक्षयः

एहि प्रेहि क्षयो दिव्या३घोषञ्चर्षणीनाम्। ओभे पृणासि रोदसी॥ ४॥

(१) हे प्रभो! **एहि**=आप हमें प्राप्त होइए, **प्रेहि**=प्रकर्षेण प्राप्त होइए। आप **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के लिए **आघोषम्**=यह घोषणा करते हुए कि **दिवि क्षयः**=तुम्हारा ज्ञान में निवास है, ज्ञानपूर्वक ही तुमने गति करनी है (क्षि निवासगत्योः) प्राप्त होइए। (२) हे प्रभो! आप इस घोषणा के द्वारा ही **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **आपृणासि**=आपूरित कर देते हैं। ज्ञानपूर्वक क्रिया करनेवाला व्यक्ति स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु मनुष्य को यही उपदेश करते हैं कि ज्ञान में ही तुम्हारा निवास हो, ज्ञानपूर्वक ही तुम्हारी क्रियाएँ हों।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अविद्यापर्वत का विदारण

त्यं चित्पर्वतं गिरिं शतवन्तं सहस्रिणम्। वि स्तोतृभ्यो रुरोजिथ॥ ५॥

(१) अविद्या पञ्चपर्वा कहलाती है-'अविद्या अस्मिता राग द्वेष व अभिनिवेश' रूप पांच क्लेश ही इसके पांच पर्व हैं। यह अविद्या शत सहस्रों व हज़ारों रूपों में प्रकट होती है। प्रभु ही इस अविद्यापर्वत का विदारण करते हैं। **त्यं**=उस **चित्**=निश्चय से **पर्वत**=पाँच पर्वोंवाले अविद्यापर्वत को, **गिरिं**=जो हमें निगल-सा जाता है, **शतवन्तं**=सैकड़ों शाखाओंवाला है तथा **सहस्रिणं**=सहस्रों प्रशाखाओंवाला हैं, इस पर्वत को, हे प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए आप ही **विरुरोजिथ**=विशेषरूप से भग्न करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु ही हमारे लिए अविद्या पर्वत का विनाश करेंगे।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभुस्मरण से सोमरक्षण

वयमु त्वा दिवा सुते वयं नक्तं हवामहे। अस्माकं काममा पृण॥ ६॥

(१) हे प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **त्वा**=आपको **सुते**=शरीर में सोम का सम्पादन करने पर **दिवा**=दिन में **हवामहे**=पुकारते हैं। **नक्तं**=रात में भी **वयं**=हम आपका आह्वान करते हैं। आपका आराधन ही वस्तुतः हमें सोमरक्षण के योग्य बनाता है। (२) **अस्माकं कामं आपृण**=आप हमारी कामना को पूर्ण करिये।

भावार्थ—प्रभुस्मरण करते हुए हम सोम का रक्षण करें। इस प्रकार सब उन्नतियों को सिद्ध कर पाएँ।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

विरलो जनः

क्वं१ स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः। ब्रह्मा कस्तं संपर्यति॥ ७॥

(१) संसार में **स्यः**=वह व्यक्ति **क्व**=कहाँ है? जो **वृषभः**=शरीर में शक्ति के सेचन के द्वारा बलवान् बना है। **युवा**=बुराइयों को अपने से पृथक् करनेवाला व अच्छाइयों का अपने से मिश्रण करनेवाला है। **तुविग्रीवः**=महान् ग्रीवावाला है। **तुवि**=अनेक ग्रीवाओंवाला है। अन्नमय कोश में बलवान्, प्राण (इन्द्रियाँ) मय कोश में असत् को छोड़कर सत्वाला तथा मनोमय कोश में तुविग्रीव। यह सभी को अपनी मैं में समाविष्ट करता है—सो सभी के साथ मिलकर खाता है। यही 'अनेक ग्रीवाओंवाला होना' हैं। (२) यह **अनानतः**=ज्ञान के सम्पादन के कारण विषयवासना से न दबा हुआ होता है। **ब्रह्मा**=यह परमार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है कि 'सब प्राणी उस प्रभु में हैं, सबमें उस प्रभु का वास है'। यह ज्ञान ही इसकी आनन्दमयता का कारण बनता है। **कः**=वह आनन्दमय प्रभु भी **तं**=उस 'वृषभ-युवा-तुविग्रीव-अनानत-ब्रह्मा' बनने का प्रयत्न करते हुए प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

यज्ञशीलता व प्रभुलिप्सा

कस्यं स्वित्सवनं वृषा जुजुष्वाँ अव गच्छति। इन्द्रं क उ स्विदा चके॥ ८॥

(१) **वृषा**=वह सुखों का वर्षक प्रभु **कस्य स्वित्**=किसी के ही **सवनं जुजुष्वान्**=यज्ञ को प्रीति से सेवन करता हुआ **अवगच्छति**=इसे अपना प्रिय जानता है। संसार में विरल व्यक्ति ही यज्ञों द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले होते हैं। (२) **कः उ स्वित्**=और कोई ही **इन्द्रं आचके**=उस प्रभु की प्राप्ति की कामनावाला होता है। मनुष्य सामान्यतः धन को चाहता है—धन को देनेवाले प्रभु को नहीं।

भावार्थ—संसार में विरल ही पुरुष यज्ञशील हैं और विरल ही प्रभुप्राप्ति की कामनावाले होते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दान-सुवीर्य-उक्थ

कं ते दाना असक्षत वृत्रहन्कं सुवीर्या। उक्थे क उ स्विदन्तमः॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **कं**=किसी विरल व्यक्ति को ही **ते दाना**=तेरी दानवृत्तियाँ **असक्षत**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् कोई विरल व्यक्ति ही आपकी उपासना करता हुआ दानवृत्तिवाला होता है। हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **कं**=किसी एक आध को ही **सुवीर्या**=उत्तम वीर्य (पराक्रम) प्राप्त होते हैं। (२) **कः उ**=और कोई ही **उक्थे**=स्तोत्रों के होने पर **स्वित्**=निश्चय से **अन्तमः**=आपका अन्तिकतम होता है। ऐसे व्यक्ति कम ही हैं जो आपकी स्तुति करते हुए आपके उपासक बनते हैं।

भावार्थ—विरल ही व्यक्ति दानवृत्ति को अपना कर कामनाओं से ऊपर उठकर शक्तिशाली बनते हैं और प्रभुस्तवन करते हुए प्रभु के उपासक बनते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पोषण के निमित्त सोम का सवन

अयं ते मानुषे जने सोमः पूरुषु सूयते। तस्येहि प्र द्रवा पिब॥ १०॥

(१) **अयं सोमः**=यह सोम **मानुषे जने**=विचारशील मनुष्य में **पूरुषु**=पालन व पूरण की क्रियाओं के निमित्त **ते**=आपके द्वारा **सूयते**=उत्पन्न किया जाता है। विचारशील मनुष्य इसका रक्षण करते हुए अंग-प्रत्यंग का पोषण करते हैं। (२) हे प्रभो! आप **इहि**=आइए, **प्रद्रव**=प्रकर्षेण हमारे प्रति गतिवाले होइए और **तस्य पिब**=उस सोम का पान करिये। आपका उपासन ही हमें सोम के रक्षण के योग्य बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीरों में अंगों के पोषण के निमित्त सोम का उत्पादन करते हैं। प्रभु ही वस्तुतः इसका रक्षण भी करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शर्यणावान्-सुषोमा-आर्जीकीय

अयं ते शर्यणावति सुषोमायामधि प्रियः। आर्जीकीये मदिन्तमः॥ ११॥

(१) हे प्रभो! **अयं**=यह **ते**=आपसे उत्पादित सोम **शर्यणावति**=(शॄ हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष में तथा **सुषोमायां**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव की प्रजाओं में **अधि प्रियः**=आधिक्येन प्रीतिवाला होता है। (२) **आर्जीकीये**=सरलता से अलंकृत पुरुष में यह सोम **मदिन्तमः**=अतिशयेन हर्षजनक होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए तीन बातें आवश्यक हैं-(१) वासनाओं का संहार (२) सौम्यता (३) सरलता। सुरक्षित सोम प्रीति व आनन्द का जनक होता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

राधसे-मदाय-घृष्वये

तमद्य राधसे महे चारुं मदाय घृष्वये। एहीमिन्द्र द्रवा पिब॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तम्**=उस **चारुं**=सुन्दर अथवा चरणीय (भक्षणीय) सोम को **पिब**=शरीर में ही पीनेवाला हो। (२) पिया हुआ **महे**=महान् **राधसे**=सफलता व ऐश्वर्य के लिए होता है। यह सोम **मदाय**=आनन्द के लिए होता है तथा **घृष्वये**=शत्रुओं के घर्षण के लिए होता है। **एहि**=आओ द्रव=गतिमय जीवनवाले बनो और **ईम्**=इस समय इस सोम का पान करो। शरीर में ही इसे सुरक्षित करो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम महान् साफल्य के लिए होता है। आनन्द को प्राप्त कराता है तथा शत्रुओं का घर्षण करता है।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी 'प्रागाथ काण्व' व 'इन्द्र' हैं-

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'सदा उपस्थित' प्रभु

यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः। आ याहि तूयमाशुभिः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यद्**=जब आप **प्राग्**=पूर्व में, **अपाक्**=पश्चिम में, **उदङ्**=उत्तर में **वा**=या **न्यग्**=दक्षिण में कहीं भी **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **हूयसे**=पुकारे जाते हैं। तो **तूयम्**=शीघ्र ही **आशुभिः**=शीघ्रगामी अश्वों से **आयाहि**=हमें प्राप्त होइए। (२) आपने ही तो हमारा रक्षण करना है। इस भवसागर में आप ही नाव हैं। इस जीवनयात्रा में आप ही रथ हैं।

भावार्थ–सर्वव्यापक प्रभु को हम पुकारते हैं तो वे शीघ्र ही हमारी पुकार को सुन उपस्थित होते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञानस्रोत, धर्म्ययुद्ध, अन्नभण्डार

यद्वा प्रस्रवणे दिवो मादयासे स्वर्णरे। यद्वा समुद्रे अन्धसः॥ २॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार हे प्रभो! आप आराधकों को प्राप्त होते हो, और **यद् वा**=या तो **दिवः प्रस्रवणे**=ज्ञान के स्रोत में **मादयासे**=उन्हें आनन्दित करते हो अथवा **स्वर्णरे**=स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले धर्म्ययुद्ध में उन्हें आनन्द प्राप्त कराते हैं। **यद्वा**=अथवा **अन्धसः समुद्रे**=अन्न के समुद्र में–अन्न के भण्डारों में उन्हें आनन्द देनेवाले होते हो। (२) प्रभु का आराधक ब्राह्मणवृत्ति का होने पर ज्ञान के स्रोत में तैरता–सा प्रतीत होता है। क्षत्रियवृत्ति का होकर यह आराधक धर्म्ययुद्धों में प्राणत्याग करता हुआ स्वर्ग को प्राप्त करता है। वैश्यवृत्ति का होने पर यह राष्ट्र के लिए अन्नसमुद्रों को जन्म देनेवाला होता है।

भावार्थ–प्रभु का उपासक 'ज्ञान, बल व धन' का भण्डार बनता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

भोजसे=पीतये

आ त्वा गीर्भिर्महामुरुं हुवे गामिव भोजसे। इन्द्र सोमस्य पीतये॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **त्वा आहुवे**=आपको पुकारता हूँ। जो आप **महाम्**=महान् हैं–पूजनीय हैं तथा **उरुं**=विशाल व सर्वव्यापक हैं। (२) आपको मैं इसप्रकार पुकारता हूँ **इव**=जैसे **भोजसे**=पालन व पोषण के लिए **गाम्**=गौ को पुकारते हैं। गौ दूध देकर हमारा पालन पोषण करती है, इसी प्रकार प्रभु ज्ञानदुग्ध प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं। हे इन्द्र! मैं आपको **सोमस्य पीतये**=सोम के पान के लिए पुकारता हूँ। आपकी आराधना ही सोम का रक्षण करके हमारे ज्ञान की वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ–प्रभु महान् हैं–सर्वव्यापक हैं। ज्ञानदुग्ध देकर प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। सोमरक्षण द्वारा प्रभु ही हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

महिमा+महस्

आ त इन्द्र महिमानं हरयो देव ते महः। रथे वहन्तु बिभ्रतः॥ ४॥

(१) हे इन्द्र! सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **ते महिमानं**=आपकी महिमा को **हरयः**=ये ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सर्वत्र आपकी महिमा को देखें। (२) हे **देव**=इस संसाररूप क्रीड़ा के करनेवाले प्रभो! **ते महः**=आपके तेज को **रथे**

बिभ्रतः=शरीररूप रथ में धारण करते हुए ये कर्मेन्द्रियरूप अश्व **वहन्तु**=हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हों।

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें और हमारी कर्मेन्द्रियाँ प्रभु की शक्ति का धारण करनेवाली हों।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

महिमा-बल-ऐश्वर्य

इन्द्रं गृणीष उ स्तुषे महाँ उग्र ईशानकृत्। एहि नः सुतं पिब॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **गृणीषे**=आप ही इस रूप में कहे जाते हो कि **महान्**=आप पूजनीय व सर्वव्यापक हैं, **उग्रः**=उद्गूर्ण बलवाले हैं-बढ़े हुए बलवाले हैं, **ईशानकृत्**=सब ऐश्वर्यों के करनेवाले हैं। (२) हे इन्द्र! मैं **उ**=निश्चय से **स्तुषे**=आपका स्तवन करता हूँ। आप **नः एहि**=हमें प्राप्त होइए और **सुतं पिब**=हमारे अन्दर उत्पन्न हुए-हुए सोम का पान करिये। इस सोमरक्षण द्वारा ही हम 'महिमा-बल व ऐश्वर्य' को प्राप्त करनेवाले होंगे।

भावार्थ—उस 'महान्, उग्र, ईशानकृत्' प्रभु का स्मरण करते हुए हम सोम का रक्षण करें और 'महिमा, बल व ऐश्वर्य' को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। मन में महिमा, शरीर में बल व मस्तिष्क में ज्ञानैश्वर्य का हम धारण करें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सुतावन्तः=प्रयस्वन्तः

सुतावन्तस्त्वा वयं प्रयस्वन्तो हवामहे। इदं नो बर्हिरासदे॥ ६॥

(१) **सुतावन्तः**=उत्पन्न सोम को प्रशस्तरूप में रक्षण करनेवाले **वयं**=हम **त्वा**=हे प्रभो! आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) **प्रयस्वन्तः**=प्रशस्त सात्त्विक भोजनवाले बनकर हम आपको **नः**=हमारे **इदं बर्हिः**=इस वासनामलशून्य हृदयासन पर **आसदे**=बैठने के लिए पुकारते हैं।

भावार्थ—हम सुतावानम् व प्रयस्वान्-सोम का रक्षण करनेवाले व प्रशस्त सात्त्विक भोजन करनेवाले बनकर प्रभु की आराधना करें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शश्वतां साधारणः

यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्र साधारणस्त्वम्। तं त्वा वयं हवामहे॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं**=आप **यत्**=क्योंकि **चित् हि**=निश्चय से **शश्वतां**=अनेक व सनातनकाल से चली आ रही प्रजाओं के **साधारणः असि**=समानरूप से-निष्पक्षपात-पालक हैं, सो **तं त्वा**=उन आपको **वयं**=हम **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) प्रभु की रक्षण व पालन-व्यवस्था में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं। सो प्रभु का आह्वान हम करते हैं, वहाँ किसी प्रकार के अन्याय का भय नहीं।

भावार्थ—प्रभु समानरूप से सबका पालन करनेवाले हैं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड् गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उपासना व सोमरक्षण

इदं ते सोम्यं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः। जुषाण इन्द्र तत्पिब॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **इदं**=इस **सोम्यं मधु**=सोमसम्बन्धी सारभूत वस्तु को **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा (आ+दृ) **अधुक्षन्**=अपने शरीर में ही प्रपूरित करते हैं। (२) **जुषाणः**=हमारे प्रति प्रीतिवाले होते हुए आप अथवा हमारे से प्रीतिपूर्वक उपासना किये जाते हुए आप **तत् पिब**=उस सोम का रक्षण करिये।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा ही प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु की उपासना से ही सोमरक्षण का सम्भव होता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञानदाता प्रभु

विश्वाँ अर्यो विपश्चितोऽति ख्यस्तूयमा गहि। अस्मे धेहि श्रवो बृहत्॥ ९॥

(१) हे इन्द्र! **अर्यः**=आप ही स्वामी हैं। **विश्वान्**=सब **विपश्चितः**=ज्ञानियों को **अतिख्यः**=आप ही अतशयेन ज्ञान से दीप्त करते हैं। आप **तूयम्**=शीघ्रता से **आगहि**=हमें प्राप्त होइए। (२) आप **अस्मे**=हमारे लिए **बृहत् श्रवः**=बहुत ज्ञान को **धेहि**=धारण कीजिए।

भावार्थ—सब ज्ञानियों को प्रभु ही ज्ञानदीप्त करते हैं। प्रभु का हम पर भी अनुग्रह हो और प्रभु हमें उत्कृष्ट ज्ञान को दें।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड् गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पृषतीनां, हिरण्यवीनाम्

दाता मे पृषतीनां राजा हिरण्यवीनाम्। मा देवा मघवा रिषत्॥ १०॥

(१) **मघवा**=वह ऐश्वर्यशाली प्रभु **मे**=मेरे लिए **पृषतीनां दाता**=सब धनों को प्राप्त करानेवाली कर्मेन्द्रियों को (कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के) **दाता**=देनेवाले हैं। वे प्रभु **हिरण्यवीनां राजा**=हितरमणीय ज्ञान को प्राप्त करानेवाले ज्ञानेन्द्रिरूप गौओं के **राजा**=स्वामी हैं—हमारे लिए इनकी क्रियाओं को करनेवाले हैं। (२) **देवाः**=हे ज्ञानियो! **मघवा मा रिषत्**=प्रभु कभी हिंसित न हों। तुम कभी प्रभु का विस्मरण न करो। प्रभु ही तो तुम्हें उत्तम कर्मेन्द्रियों व उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करएँगे।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए उत्तम इन्द्रियों को देते हैं। हम प्रभु को कभी भूलें नहीं।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'चन्द्रं बृहत् पृथु शुक्रं' हिरण्यम्

सहस्रे पृषतीनामधि श्चन्द्रं बृहत्पृथु। शुक्रं हिरण्यमा ददे॥ ११॥

(१) **पृषतीनाम् सहस्रे अधि**=अपने को शक्ति से सिक्त करनेवाली कर्मेन्द्रियों के सहस्रसंख्याक धनों के ऊपर अर्थात् कर्मेन्द्रियों द्वारा सहस्रों धनों का अर्जन करने के साथ मैं ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार के द्वारा उस **हिरण्यम्**=हितरमणीय ज्ञान को **आददे**=ग्रहण करता हूँ जो **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ)

शक्तियों की वृद्धि का कारणभूत हैं, **पृथु**=हृदय को विशाल बनानेवाला है और इस प्रकार **चन्द्रं**=आह्लादजनक है और **शुक्रं**=पवित्र जीवन को देनेवाला है। (२) कर्मेन्द्रियों के व्यापार द्वारा—श्रम द्वारा—शतशः धनों का अर्जन आवश्यक है।

भावार्थ—हम श्रम द्वारा धनों का अर्जन करते हुए हितरमणीय ज्ञान का उपादान करें जो हमारे जीवन को बढ़ी हुई शक्तियोंवाला, विशाल हृदयवाला व पवित्र बनाता है।

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उत्कृष्ट ज्ञानधन

नपा॑तो दु॒र्गह॑स्य मे स॒हस्रे॑ण सु॒राध॑सः। श्रवो॑ दे॒वेष्व॑क्रत॥ १२॥

(१) **नपातः**=न गिरने देनेवाले (न पातयति इति)—पापों में फँसने के बचानेवाले, **सहस्रेण**=शतशः धनों से **दुर्गहस्य**=दुर्ग्राह्य—धनों के द्वारा अप्राप्य **मे**=मेरे **सुराधसः**=उत्तम ज्ञानरूप ऐश्वर्य का **श्रवः**=श्रवण **देवेषु**=माता, पिता व आचार्यरूप देवों की समीपता में **अक्रत**=करो। (२) ज्ञानरूप धन इन बाह्य धनों के द्वारा अप्राप्य हैं। यह तो नम्रता, जिज्ञासा व बड़ों की सेवा से ही प्राप्त होता है। इस ज्ञान के लिए हम बड़ों की उपासना करें। उनकी समीपता में ही यह ज्ञान प्राप्त होगा।

भावार्थ—प्रभु से दत्त वेदज्ञान हमारा रक्षक है। यह धनों से प्राप्य नहीं। देवों की शुश्रूषा से ही यह प्राप्त होता है।

देवों की उपासना से इस ज्ञान का संख्यान (सम्यग् दर्शन) करनेवाला 'कलि' अगले सूक्त का ऋषि है। यह 'प्रागाथ' प्रभु के गुणों का गायन करनेवाला होता हुआ 'इन्द्र' नाम से प्रभु का उपासन करता है—

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

भरं न कारिणम्

तरो॑भिर्वो वि॒दद्व॑सु॒मिन्द्रं॑ स॒बाध॑ ऊ॒तये॑। बृ॒हद्गाय॑न्तः सु॒तसो॑मे अध्व॒रे हु॒वे भरं॒ न का॒रिण॑म्॥ १॥

(१) **तरोभिः**=अतिशयेन वेगवाले (बलसम्पन्न) इन्द्रियाश्वों के द्वारा **वः**=तुम्हारे लिए **विददवसुं**=धनों को प्राप्त करानेवाले **इन्द्रं**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सबाधः**=काम-क्रोध आदि का बाधन करनेवाले उपासक **बृहद् गायन्तः**=खूब ही गाते हैं। यह प्रभु का गायन ही उन्हें उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराके वसु के सम्पादन में समर्थ करता है। (२) मैं भी **सुतसोमे**=जिसमें सोम का (वीर्य का) सम्पादन किया गया है, उस **अध्वरे**=जीवनयज्ञ में **हुवे**=उस प्रभु को इस प्रकार पुकारता हूँ, **न**=जैसे **कारिणं**=हितकरणशील **भरं**=भर्ता (पति) को गृह के लोग बुलाते हैं। प्रभु ने ही तो हमारा रक्षण करना है। इस रक्षण के हेतु से ही प्रभु ने शरीर में सोम की स्थापना की है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को वेगवान् इन्द्रियाश्वों के द्वारा वसु के अर्जन के योग्य बनाते हैं। प्रभु का हम स्मरण करते हैं। प्रभु ही हमारे हित करनेवाले पालक व पोषक हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

शशमानाय सुन्वते जरित्रे

न यं दुध्रा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदे सुशिप्रमन्धसः।
य आदृत्या शशमानाय सुन्वते दाता जरित्र उक्थ्यम्॥ २॥

(१) **यं**=जिस **सुशिप्रं**=शोभन शिरस्त्राणवाले सर्वशक्तिमान् प्रभु को **दुध्राः**=दुर्धर अर्थात् बड़े-बड़े शक्तिशाली भी **न वरन्ते**=रोक नहीं सकते **स्थिरा मुरः**=स्थिर शत्रुमारक बली भी **न**=रोक नहीं पाते, वे प्रभु वे हैं **यः**=जो **अन्धसः मदे**=सोमपानजनित उल्लास में **शशमानाय**=प्लुत गतिवाले-स्फूर्ति से कार्य करनेवाले, **सुन्वते**=यज्ञशील **उक्थ्यं**=स्तुत्य प्रभु का **जरित्रे**=स्तवन करनेवाले के लिए **आदृत्य**=आदरपूर्वक **दाता**=सब कुछ देनेवाले हैं। प्रभु इस स्तोता को सम्मान भी प्राप्त कराते हैं, धन भी।

भावार्थ—प्रभु का वारण 'असुर, देव, मनुष्य' कोई भी नहीं कर पाते—'न दुध्र, न स्थिर और न मुर्'। ये प्रभु सोम का रक्षण करनेवाले, अतएव उल्लासमय, शीघ्र गतिवाले यज्ञशील स्तोता को मानसहित धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'शक्र हिरण्यय' प्रभु

यः शक्रो मृक्षो अश्व्यो यो वा कीजो हिरण्ययः।
स ऊर्वस्य रेजयत्यपावृतिमिन्द्रो गव्यस्य वृत्रहा॥ ३॥

(१) **यः**=जो प्रभु **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् हैं, **मृक्षः**=अतिशयेन शुद्ध हैं, **अश्व्यः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों के देनेवाले हैं, **वा**=अथवा **यः**=जो **कीजः**=(किम् इदानीं जातः) अद्भुत **हिरण्ययः**=हितरमणीय ज्योतिवाले हैं। (२) **सः**=वे **इन्द्रः**=सर्वशत्रुसंहारक प्रभु **वृत्रहा**=वासनाओं को विनष्ट करने वाले हैं। ये प्रभु ही **उर्वस्य गव्यस्य**=हमें पापों से बचानेवाले वेदरूप ज्ञान की वाणियों के समूह की **आवृतिम्**=आवृति को **अपरेजयति**=कम्पित करके दूर करते हैं, अर्थात् हमारे लिए इन ज्ञान की वाणियों के समूह को प्रकट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु शक्तिमान्, शुद्ध उत्तम इन्द्रियाश्वों के दाता व अद्भुत ज्योतिर्मय हैं। वे वासना को विनष्ट करके हमारे लिए वेदवाणियों के समूह प्रकट करते हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दाश्वान् को प्रभु देते हैं

निखातं चिद्यः पुरुसंभृतं वसूदिद्वपति दाशुषे।
वज्री सुशिप्रो हर्यश्व इत्करदिन्द्रः क्रत्वा यथा वशत्॥ ४॥

(१) **यः**=जो प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए-दानशील पुरुष के लिए **निखातं चित्**=भूमि में गड़े हुए भी **पुरु संभृतं**=खूब ही सञ्चित **वसु**=धन को **इत्**=निश्चय से **उद्वपति**=उखाड़कर प्राप्त करते हैं। दाश्वान् को धन की कमी नहीं रहती। (२) वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **वज्री**=वज्रहस्त हैं-दुष्टों के लिए हाथ में वज्र लिये हुए हैं। **सुशिप्रः**=शोभन शिरस्त्राणवाले हैं। **हर्यश्वः**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले हैं। वे प्रभु **यथा वशत्**=जैसा चाहते हैं वैसा ही **क्रत्वा**=प्रज्ञान व शक्ति से **करत्**=करते हैं।

भावार्थ—दाश्वान् पुरुष के लिए प्रभु भूमि में गड़े खानों में स्वर्ण आदि तथा खेतों में अन्नरूप धन को प्राप्त करते हैं। दुष्टों को दण्डित करते हुए वे प्रभु प्रज्ञान व शक्ति से सब बातों को ठीक प्रकार करनेवाले हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

यज्ञ व स्तोत्र

यद्वावन्थ पुरुष्टुत पुरा चिच्छूर नृणाम्। वयं तत्त इन्द्र सं भरामसि यज्ञमुक्थं तुरं वचः॥ ५॥

(१) हे **पुरुष्टुत**=पालक व पूरक स्तुतिवाले **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **यद् वावन्थ**=जो चाहते हैं। वह **नृणां**=मनुष्यों के **पुराचित्**=पालन व पूरण की दृष्टि से ही चाहते हों। (२) **तत्**=सो हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **वयं**=हम **ते**=आपके लिए **तुरं**=शीघ्र ही **यज्ञं**=यज्ञ को तथा **उक्थं वचः**=स्तुतिवचनों को **संभरामसि**=सम्यक् भृत करते हैं। इन यज्ञों व स्तोत्रों के द्वारा हम आपके प्रिय बन पाते हैं। यज्ञों से हम, भोगासक्त होने से बचे रहते हैं, तथा ये स्तोत्र हमारे सामने जीवन के लक्ष्य को उपस्थित करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु सदा हमारे पालन व पूरण को चाहते हैं। हम यज्ञों व स्तोत्रों द्वारा प्रभु के प्रिय बनते हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

ब्रह्मकृते सुन्वते

सचा सोमेषु पुरुहूत वज्रिवो मदाय द्युक्ष सोमपाः।
त्वमिद्धि ब्रह्मकृते काम्यं वसु देष्ठः सुन्वते भुवः॥ ६॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले, **वज्रिवः**=वज्रहस्त, **द्युक्ष**=ज्योति में निवास करनेवाले प्रभो! आप **सोमेषु**=सोमकणों के शरीर में सुरक्षित होने पर **सचा**=हमारे साथ होते हैं। सोमरक्षण द्वारा हम आप को प्राप्त करते हैं। वस्तुतः हे प्रभो! आप ही **सोमपाः**=हमारे सोम का रक्षण करते हो—आपके स्तवन से सोम का रक्षण करते हुए हम **मदाय**=उल्लास के लिए होते हैं। सुरक्षित सोम हमें उल्लसित जीवनवाला बनाता है। (२) **त्वम् इत् हि**=आप ही निश्चय से **ब्रह्मकृते**=ज्ञान का सम्पादन करनेवाले **सुन्वते**=यज्ञशील पुरुष के लिए **काम्यं वसु**=कमनीय धन को **देष्ठः भुवः**=अधिक-से-अधिक देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षण द्वारा हमारे जीवन को उल्लासमय बनाते हैं। ज्ञानी यज्ञशील पुरुष के लिए प्रभु ही कमनीय धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

स्तवन-सोमरक्षण-प्रभुप्राप्ति

वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्। तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते॥ ७॥

(१) **वयं**=हम **एनं**=इस **वज्रिणम्**=वज्रहस्त प्रभु को **इह**=इस जीवन में **इदा**=अब और **ह्यः**=भूतकाल में भी (गतदिवस में भी) **अपीपेम**=आप्यायित करते हैं। स्तोत्रों के द्वारा हम प्रभु की भावना को अपने अन्दर बढ़ाते हैं। (२) **तस्मा उ**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही **अद्य**=आज **समना**=संग्राम के द्वारा वासनाओं को पराजित करके **सुतं भरा**=सोम का सम्भरण करते हैं। वे प्रभु **नूनं**=निश्चय से **श्रुते**=शास्त्रश्रवण के होने पर **भूषत**=प्राप्त होते हैं (आभवतु=आगच्छतु)।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्तवन करें। स्तुति द्वारा वासनाओं को पराजित करके सोम का रक्षण करें। सोमरक्षण द्वारा तीव्रबुद्धि होकर प्रभुदर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

चित्रया धिया (आगहि)

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति।
सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया॥ ८॥

(१) **वारणः**=सबके मार्गों को रोकनेवाला **वृकः चित्**=स्तेन (चोर) भी तथा **उरामथिः**=मार्ग में जानेवालों का हिंसक डाकू भी **अस्य वयुनेषु**=इस प्रभु के प्रज्ञानों के होने पर—कहीं अकस्मात् सत्संग में प्रभु का उपदेश सुनने पर **आभूषति**=आनुकूल्य को प्राप्त करता है। प्रतिकूल कर्मों से निवृत्त हो जाता है। (२) **सः**=वे हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **इमं नः**=इस हमारे **स्तोमं**=स्तवन को **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते हुए **चित्रया धिया**=चेतना को देनेवाली बुद्धि के साथ **प्र आगहि**=प्रकर्षेण प्राप्त होइए।

भावार्थ—प्रभुविषयक उपदेश चोरों व डाकुओं के जीवन में भी परिवर्तन लानेवाला होता है। प्रभु हमारे स्तोम से प्रसन्न हों और हमारे लिए चेतनादायिनी बुद्धि को दें।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'

कदू न्वस्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम्। केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा॥ ९॥

(१) **कत् उ नु**=कौन-सा निश्चय से **पौंस्यं**=पौरुष का काम-वृत्र आदि का विनाश रूप कर्म, **अस्य**=इस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अकृतम् अस्ति**=न किया हुआ है? अर्थात् वृत्रवध आदि सब पौरुष के कर्म इस प्रभु द्वारा ही तो किये जाते हैं। (२) **केन उ नु श्रोमतेन**=और निश्चय से किस श्रावणीय पौरुष के कार्य से **न शुश्रुवे**=वे प्रभु सुने नहीं जाते। **जनुषः परि**=जन्म से लेकर ही, अर्थात् अब ही उस प्रभु का हृदयों में कुछ प्रादुर्भाव होता है, तभी ही वे प्रभु **वृत्रहा**=वासना का विनाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—वासनाविनाश आदि सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभु ही हैं। वे प्रभु हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते ही सब शत्रुओं का विनाश कर देते हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

बेकनाटान् अहर्दृशः

कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।
इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि॥ १०॥

(१) **कद् उ**=कब ही **अस्य**=इस इन्द्र के **महीः**=महान् **तविषीः**=बल **अधृष्टाः**=शत्रुओं के धर्षक नहीं होते? **कद् उ**=और कब **वृत्रघ्नः**=इस वृत्रविनाशक इन्द्र का **अस्तृतम्**=हन्तव्य शत्रु अहिंसित होता है? अर्थात् इन्द्र का बल सदा शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है, वह हन्तव्य को मारता ही है। (२) **उत**=और **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक प्रभु **विश्वान्**=सब **अहर्दृशः**=दिन ही दिन को देखनेवाले—पाप के फलरूप भविष्य में आनेवाली रात्रि को न देखनेवाले **बेकनाटान्**='दो और एक' इन शब्दों से नचानेवाले **पणीन्**=एक का दो करके लेनेवाली लुब्धक पणियों को

क्रत्वा=अपनी शक्ति से व प्रज्ञान से **अभि**=अभिभूत करता है।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति अनन्त है। प्रभु अपने प्रज्ञान व बल से लुब्धकों को विनष्ट करते हैं। केवल इहलोक को देखनेवाले 'To look after' के सिद्धान्तवाले प्रभु द्वारा विनष्ट किये जाते हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

भृतिं न

वयं घा ते अपूर्व्येन्द्र ब्रह्माणि वृत्रहन्।
पुरूतमासः पुरुहूत वज्रिवो भृतिं न प्र भरामसि ॥ ११ ॥

(१) हे **अपूर्व्य**=अद्भुत **वृत्रहन्**=वासना के विनाशक **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **वयं**=हम **घा**=निश्चय से **ते**=आपके लिए **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को व ज्ञान की वाणियों को **प्रभरामसि**=प्रकर्षेण धारण करते हैं। (२) हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक हैं आह्वान जिसका, ऐसे **वज्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! **पुरुतमासः**=अधिक-से-अधिक पालन व पूरण करनेवाले हम आपकी स्तुति को **भृतिं न**=भृति के समान धारण करते हैं (भ्रियते यया)। यह स्तुति हमारा धारण करनेवाली है, यह जानकर इसमें हम प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमारा भरण करनेवाला है। सो इसे हम भृति के समान धारण करते हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

तुविकूर्मी प्रभु

पूर्वीश्चिद्धि त्वे तुविकूर्मिन्नाशसो हवन्त इन्द्रोतयः।
तिरश्चिदर्यः सवना वसो गहि शविष्ठ श्रुधि मे हवम् ॥ १२ ॥

(१) हे **तुविकूर्मिन्**=महान् कर्मोंवाले प्रभो! **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाले **आशसः**=आशंसन **चित् हि**=निश्चय से **त्वे**=आप में ही स्थित हैं। आपके आशंसन (स्तवन) हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ऊतयः**=सब रक्षण **हवन्ते**=आपको ही पुकारते हैं। जब रक्षण की आवश्यकता होती है, तो सब कोई आपको ही पुकारता है। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **तिरः चित्**=तिरोहित होते हुए भी आप **अर्यः**=सबके स्वामी हैं। **सवना आगहि**=हमारे जीवनयज्ञों में आप प्राप्त होइए। हे **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन् प्रभो! **मे**=मेरी **हवं**=पुकार को **श्रुधि**=सुनिये।

भावार्थ—प्रभु के आशंसन हमारा पूरण करनेवाले हैं, प्रभु में ही सब रक्षण हैं, तिरोहित रूप से सर्वत्र विद्यमान वे प्रभु ही स्वामी हैं। वे हमारे जीवनयज्ञों में प्राप्त होते हैं। प्रभु हमारी पुकार को सुनते हैं और हमें बल प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

'मर्डिता' प्रभु

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥ १३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयं**=हम **घा**=निश्चय से **ते**=आपके हैं। सो **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले हम **इत् उ**=निश्चय से **त्वे**=आप में **अपिष्मसि**=हैं। हम सदा अपने को आपकी गोद में अनुभव करते हैं। (२) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वद् अन्यः**=आपसे भिन्न **कश्चन**=कोई भी **मर्डिता**=हमें सुखी करनेवाला **नहि अस्ति**=नहीं है।

भावार्थ—हम प्रभु के हों। प्रभु की गोद में निवास करें। प्रभु से भिन्न कोई हमें सुखी करनेवाला नहीं हैं।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पादनिचृद् पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

'दारिद्र्य-भूख-निन्दा' से बचाव

त्वं नो अस्या अमतेरुत क्षुधोऽभिशस्तेरव स्पृधि।
त्वं न ऊती तव चित्रया धिया शिक्षा शचिष्ठ गातुवित्॥ १४॥

(१) हे **शचिष्ठ**=शक्तिशालिन् प्रभो! **त्वं**=आप **नः**=हमें **अस्याः**=इस **अमतेः**=(Poverty) दारिद्र्य से **उत**=और **क्षुधः**=भूख से तथा **अभिशस्तेः**=निन्दा से **अवस्पृधि**=पृथक् करिये। (२) हे प्रभो! आप ही **गातुवित्**=मार्ग को जाननेवाले हैं, सो **त्वं**=आप **नः**=हमें **ऊती**=रक्षण के हेतु से **तव**=आपकी **चित्रया धिया**=ज्ञान को देनेवाली बुद्धि से **शिक्षा**=शिक्षित करिये व शक्तिशाली बनाने की कामना कीजिए। आपसे उत्तम बुद्धि को पाकर हम अपना रक्षण कर पाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें दारिद्र्य, भूख व निन्दा से बचाएँ। वह मार्ग का ज्ञान देनेवाले प्रभु हमें चेतना देनेवाली बुद्धि को प्राप्त कराके शिक्षित करें।

ऋषिः—कलिः प्रागाथः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—अनुष्टुप् ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

'कलि' का निर्भय जीवन

सोम इद्वः सुतो अस्तु कलयो मा बिभीतन।
अपेदेष ध्वस्मायति स्वयं घैषो अपायति॥ १५॥

(१) हे **कलयः**=ज्ञान का सम्यग् दर्शन करनेवाले तत्त्वज्ञानी पुरुषो! **इत्**=निश्चय से **सोमः**=सोम (वीर्य) **वः**=आपका **सुतः**=सम्पादित किया गया **अस्तु**=हो—आप शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले बनो और **मा बिभीतन**=सब प्रकार के भयों से ऊपर उठो। (२) सोम के रक्षण के होने पर **एषः**=यह **ध्वस्मा**=ध्वंसक तत्त्व **इत्**=निश्चय से **अप अयति**=दूर होता है। **एषः**=यह **घा**=निश्चय से **स्वयं**=अपने आप ही **अप अयति**=दूर हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष सोम का रक्षण करते हैं। यह सोमरक्षण ही उन्हें निर्भय बनाता है। यही उनके जीवन से ध्वंसक तत्त्वों को दूर करता है।

सब ध्वंसक तत्त्वों के दूर होने से इसका जीवन आनन्दमय होता है (मदी हर्षे), यह 'मत्स्य' कहलाता है। इसी आनन्दमयता के कारण यह 'सम्मद' का सन्तान व 'साम्मद' कहलाता है। सबका आदरणीय होने से 'मान्य' है। स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाने से 'मैत्रावरुणि' है। यह प्रार्थना करता है कि—

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः ॥ देवता—आदित्याः ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आदित्यों द्वारा रक्षण

त्यान्नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान्याचिषामहे। सुमृळीकाँ अभिष्टये॥ १॥

(१) अपने जीवन में ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का आदान करनेवाले 'आदित्य' कहलाते हैं। ये आदित्य क्षतों से त्राण करनेवाले होते हुए 'क्षत्रिय' कहे जाते हैं। **नु**=अब **त्यान्**=उन **आदित्यान्**=ज्ञान का आदान करनेवाले **क्षत्रियान्**=बलसम्पन्न पुरुषों से हम **अव याचिषामहे**=रक्षण की याचना करते हैं। ये आदित्य क्षत्रिय सब क्षतों से हमें बचानेवाले हों। (२) **सुमृळीकान्**=उत्तम सुख को प्राप्त करनेवाले इन आदित्यों को **अभिष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिए हम प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—आदित्य विद्वानों का सम्पर्क हमें रक्षण व सुख प्राप्त कराता है।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः ॥ देवता—आदित्याः ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्नेह, निर्द्वेषता व संयम

मित्रो नो अत्यंहतिं वरुणः पर्षदर्यमा। आदित्यासो यथा विदुः॥ २॥

(१) **मित्रः**=स्नेह की देवता, **वरुणः**=निर्द्वेषता की देवता तथा **अर्यमा**=संयम की देवता ये सब **नः**=हमें **अंहतिं अतिपर्षत्**=पाप से पार ले जाएँ='स्नेह, निर्द्वेषता व संयम' को अपनाकर हम निष्पाप बनें। (२) **आदित्यासः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का आदान करनेवाले ज्ञानी पुरुष भी **यथा**=जैसे **विदुः**=ठीक जानें, उस प्रकार हमें पापों से दूर करें। आदित्यों के रक्षण में हमारा जीवन निष्पाप बने।

भावार्थ—हम स्नेह, निर्द्वेषता व संयम को अपनाते हुए निष्पाप बनें। ऊँचे-से=ऊँचे ज्ञान का ग्रहण करते हुए पवित्र जीवनवाले बनें।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः ॥ देवता—आदित्याः ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

चित्रं उक्थ्यं 'वरूथम्'

तेषां हि चित्रमुक्थ्यं१ वरूथमस्ति दाशुषे। आदित्यानामरंकृते॥ ३॥

(१) **तेषां**=उन **आदित्यानां**=ज्ञान व गुणों का आदान करनेवालों का **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए-अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए तथा **अरङ्कृते**=खूब क्रियाशीलता द्वारा अपने जीवन को अलंकृत करनेवाले पुरुष के लिए **हि**=निश्चय से **चित्रं**=अद्भुत **उक्थ्यं**=प्रशंसनीय **वरूथम्**=धन **अस्ति**=है। (२) ये आदित्य इन दाश्वान् अरङ्कृत पुरुषों को अद्भुत प्रशंसनीय धन प्राप्त कराते हैं। जो विद्यार्थी आचार्य के प्रति अपना अर्पण कर देता है व पुरुषार्थवाला होता है, वह उत्कृष्ट ज्ञान धन को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम उत्कृष्ट ज्ञानियों के सम्पर्क में पुरुषार्थशील होते हुए ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'स्नेह, निर्द्वेषता व संयम' का महान् रक्षण

महिं वो महतामवो वरुण मित्रार्यमन्। अवांस्या वृणीमहे॥ ४॥

(१) हे **वरुण**=निर्द्वेषता के देव, **मित्र**=स्नेह की देवते तथा **अर्यमन्**=संयम के देव! **महतां वः**=महान् आपका **अवः**=रक्षण भी **महि**=महान् है। (२) हे मित्र, वरुण व अर्यमन्! हम आपके **अवांसि**=रक्षणों को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं।

भावार्थ—हमें सदा 'स्नेह, निर्द्वेषता व संयम' का महान् रक्षण प्राप्त हो।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

हवनश्रुत् आदित्य

जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्। कद्ध स्थ हवनश्रुतः॥ ५॥

(१) **आदित्यासः**=हे गुणों का आदान करानेवाले आदित्यो! आप **पुरा हथात्**=मृत्यु से पूर्व ही **जीवान् नः**=जीवित हम लोगों को **अभिधेतन**=(अभिधावत) प्राप्त होओ और हमारे जीवनों को शुद्ध बनाने की कृपा करो (धावु शुद्धौ)। (२) हे **हवनश्रुतः**-हमारी पुकार को सुननेवाले आदित्यो! **कत् ह स्थ**=आप कहाँ हो? जहाँ भी आप हो, आप हमें शीघ्रता से प्राप्त होओ और हमारे जीवनों को शुद्ध बनाने का अनुग्रह करो।

भावार्थ—इस जीवन में हमें शीघ्र ही आदित्यों का सम्पर्क प्राप्त हो, ये आदित्य हमारे जीवनों को शुद्ध बनाएँ।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

श्रान्ताय सुन्वते

यद्वः श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति यच्छर्दिः। तेना नो अधि वोचत॥ ६॥

(१) **यद्**=जो **वः**=आपका **श्रान्ताय**=श्रमशील व्यक्ति के लिए और **सुन्वते**=शरीर में सोम का सवन करनेवाले पुरुष के लिए **वरूथम्**=धन **अस्ति**=है, इसके लिए **यत्**=जो आपका **छर्दिः**=गृह है, **तेन**=उस धन व गृह के हेतु से **नः**=हमें **अधिवोचत**=आधिक्येन उपदेश हो। (२) आदित्य विद्वानों से ज्ञान को प्राप्त करके हम श्रमशील व सोम का रक्षण करनेवाले बनते हैं। ये श्रम व सोमरक्षण हमें उत्तम धन व गृहवाला बनाते हैं।

भावार्थ—आदित्य विद्वान् हमें ज्ञान देकर श्रम व सोमरक्षण का महत्त्व समझाते हैं। ये बातें हमें उत्तम धन व गृह प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अद्भुतैनसः' आदित्याः

अस्ति देवा अंहोरुर्वस्ति रत्नमनागसः। आदित्या अद्भुतैनसः॥ ७॥

(१) हे **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! **अंहोः**=पापी पुरुष का **उरु अस्ति**=धन अत्यधिक है। यह पाप से खूब धन कमा ले लेता है—घर की इसे कमी नहीं रहती, पर **अनागसः**=निष्पाप पुरुष का ही **रत्नं अस्ति**=रमणीय धन होता है। सुपथ से कमाया गया धन ही जीवन में रमणीयता का कारण बनता है। (२) इसी से **आदित्यद्यः**=गुणों व ज्ञानों का आदान करनेवाले पुरुष **अद्भुत एनसः**=अभूतपाप होते हैं। ये कभी पाप में प्रवृत्त नहीं होते। पाप से ये धनार्जन नहीं करते।

भावार्थ—पाप से कमाया धन अधिक होता हुआ भी रमणीयता का साधक नहीं होता। आदित्य विद्वान् सदा पाप से परे रहते हैं।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः ॥
देवता—आदित्याः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

सेतुः

मा नः सेतुः सिषेदयं महे वृणक्तु नस्परि। इन्द्र इद्धि श्रुतो वशी॥ ८॥

(१) हे इन्द्र! **नः**=हमें **अयं**=यह **सेतुः**=विषयों का बन्धन **मा सिषेत्**=न बाँधे। हम विषयजाल में न जकड़े जाएँ। **महे**=महान् कार्यों के लिए यह बन्धन **नः**=हमें **परिवृणक्तु**=(परि-वर्जयतु) छोड़नेवाला हो। विषयों के बन्धन में बंधने पर हम कोई महान् कार्य नहीं कर पाते। (२) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इत् हि**=ही निश्चय से **श्रुतः**=शास्त्र ज्ञानवाला व **वशी**= सबको वश में करनेवाला है।

भावार्थ—हम विषयों के बन्धन में बंधने पर किसी महान् कार्य को नहीं कर पाते। स्वयं जितेन्द्रिय बनकर हम औरों को भी वश में कर पाते हैं।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः ॥
देवता—आदित्याः ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

पापजाल में न फंसना

मा नो मृचा रिपूणां वृजिनानामविष्यवः। देवा अभि प्र मृक्षत॥ ९॥

(१) हे **अविष्यवः देवाः**=हमारे रक्षण की कामनावाले देवो! **नः**=हमें **वृजिनानां रिपूणाम्**=हिंसक शत्रुओं के **मृचा**=हिंसक जाल से **मा अभिप्रमृक्षत**=हिंसित मत होने दो। (२) 'माता, पिता व आचार्य' रूप देवों के सम्पर्क में हम सदा पापों के जाल में फंसने से बचे रहें।

भावार्थ—हम पापियों के जाल में न फंसे।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः ॥
देवता—आदित्याः ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

अदिति (मही-देवी-सुमृडीका)

उत त्वामदिते मह्यहं देव्युप ब्रुवे। सुमृळीकामभिष्टये॥ १०॥

(१) **उत**=और हे **महि**=महनीय, **देवि**=प्रकाशमयी **अदिते**=स्वास्थ्य की देवते! **अहं**=मैं **त्वाम् उपब्रुवे**=तेरी ही आराधना करता हूँ—तुझे ही माँगता हूँ। (२) **सुमृडीकाम्**=उत्तम सुख को देनेवाली तुझ स्वास्थ्य की देवता को ही **अभिष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिए पुकारता हूँ।

भावार्थ—स्वास्थ्य ही हमारे जीवनों को महान् प्रकाशमय व सुखी बनाता है। ('मही-देवी-सुमृडीका' अदिति)

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'दीन, गभीर, उग्र'

पर्षि दीने गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसतः। माकिस्तोकस्य नो रिषत्॥ ११॥

(१) हे अदिते! स्वास्थ्य की देवते! तू **दीने**=ऊँची उड़ान लेनेवाले-उच्च लक्ष्यवाले **गभीरे**=गम्भीर वृत्तिवाले **उग्रपुत्रे**=हमारे तेजस्वी पुत्र के विषय में **जिघांसतः**=हिंसा की कामनावाले पुरुष से **आपर्षि**=रक्षण करती है। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाला यह हमारा सन्तान विनष्ट नहीं होता। (२) इस हिंसक का जाल **नः**=हमारे **तोकस्य**=सन्तान का **माकिः रिषत्**=हिंसन करनेवाला न हो।

भावार्थ—स्वास्थ्य हमारे सन्तानों को उच्च लक्ष्यवाला, गम्भीर प्रकृतिवाला व तेजस्वी बनाए। इन्हें कोई भी विषयजाल में न फंसा सके।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उरुव्रजा=उरूची

अनेहो न उरुव्रज उरूचि वि प्रसर्तवे। कृधि तोकाय जीवसे॥ १२॥

(१) हे **उरुव्रजे**=(व्रज गतौ) विशाल गति की देवते, अर्थात् क्रियाशीलते! तू **नः**=हमें **अनेहः**=निष्पाप **कृधि**=कर। हे **उरूचि**=(उरु अञ्चु पूजने) उस विशाल प्रभु की पूजन की वृत्ति! तू हमें **विप्रसर्तवे**=विशिष्ट व प्रकृष्ट गति के लिए करनेवाली हो। प्रभुपूजन करते हुए हम उत्तम गतिवाले हों। (२) हे उरुव्रजे व उरूचि! तू हमें **तोकाय**=उत्तम सन्तानों की प्राप्ति के लिए तथा **जीवसे**=दीर्घजीवन के लिए **कृधि**=कर।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनकर निष्पाप हों। उस विशाल प्रभु का पूजन करते हुए प्रकृष्ट गतिवाले हों। हम उत्तम सन्तानों व दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

क्षितीनां मूर्धानः

ये मूर्धानः क्षितीनामदब्धासः स्वयशसः। व्रता रक्षन्ते अद्रुहः॥ १३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार गतिशील व उपासक लोग वे होते हैं **ये**=जो **क्षितीनां मूर्धानः**=मनुष्यों के शिरोमणि बनते हैं। **अदब्धासः**=ये वासनाओं से हिंसित नहीं होते। **स्वयशसा**=अपने उत्तम कर्मों के कारण यशस्वी होते हैं। (२) ये व्रता **रक्षन्ते**=व्रतों का पालन करते हैं और **अद्रुहः**=किसी का द्रोह नहीं करते।

भावार्थ—पुरुषोत्तम वह है जो (१) वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता (२) यशस्वी कर्मोंवाला है, (३) व्रतमय जीवनवाला, तथा (४) द्रोहशून्य है।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अदिति+आदित्य

ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत। स्तेनं बद्धमिवादिते॥ १४॥

(१) **आदित्यासः**=हे आदित्य पुरुषो! सब अच्छाइयों को अपने अन्दर धारण करनेवाले पुरुषों! **ते**=वे आप **नः**=हमें भी **वृकाणाम्**=भेड़िए की तरह हमारा हिंसन करनेवाली अशुभवृत्तियों के **आस्नः**=मुख से-उनका शिकार हो जाने से **मुमोचत**=छुड़ाओ। (२) हे **अदिते**=स्वास्थ्य की देवते! तू **बद्धं स्तेनम् इव**=बंधे चोर के समान-वासनाओं से जकड़े हुए मुझको इनके बन्धन से छुड़ाने का अनुग्रह कर।

भावार्थ-हम स्वास्थ्य व सत्पुरुषों के संग से वासनाओं का शिकार होने से बचें।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अंहिसा+सुमति

अपो षु ण इयं शरुरादित्या अप दुर्मतिः। अस्मदेत्वजघ्नुषी॥ १५॥

(१) हे **आदित्याः**=ज्ञानों व गुणों का आदान करनेवाले पुरुषो! **नः**=हमारे से **इयं**=यह **शरुः**=हिंसा की वृत्ति **उ**=निश्चय से **अप एतु**=दूर हो। हम औरों का हिंसन करनेवाले न बनें। (२) **दुर्मतिः**=दुर्बुद्धि भी **अस्मत्**=हमारे से **सु**=अच्छी प्रकार **अप एतु**=दूर हो। **अजघ्नुषी**=यह दुर्मति हमारा हिंसन करनेवाली न हो।

भावार्थ-आदित्यों के सम्पर्क में हम अहिंसक मनोवृत्तिवाले व सुमतिवाले बनें।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुदानु आदित्य

शश्वद्धि वः सुदानव आदित्या ऊतिभिर्वयम्। पुरा नूनं बुभुज्महे॥ १६॥

(१) हे **सुदानवः**=(दाप् लवने) बुराई का सम्यक् खण्डन करनेवाले **आदित्याः**= आदित्य विद्वानो! **वः**=आपके **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **वयं**=हम **शश्वत् हि**=सर्वदा ही **पुरा**=पालन व पूरण के द्वारा **नूनं**=निश्चय से **बुभुज्महे**=पालन के लिए भोगों को प्राप्त करें (भुज पालनाभ्यवहारयोः)। (२) ज्ञानियों का सम्पर्क हमें भोगों में फंसने से बचाए। ये भोग हमारा पालन करनेवाले हों-हम इनके शिकार ही न हो जाएँ।

भावार्थ-ज्ञानियों का सम्पर्क हमें वासनाओं से बचाए। हम सांसारिक भोगों को पालन के दृष्टिकोण से ही ग्रहण करें।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥
देवता—आदित्याः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

क्रियाशीलता व पापनिवृत्ति

शश्वन्तं हि प्रचेतसः प्रतियन्तं चिदेनसः। देवाः कृणुथ जीवसे॥ १७॥

(१) हे **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानोंवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **शश्वन्तं**=(शश प्लुतगतौ)-प्लुप्त गतिवाले-स्फूर्तवाले-सतत क्रियाशील और **हि**=निश्चय से **एनसः प्रतियन्तं चित्**=पाप से निवृत्त होते हुए इस उपासक को **जीवसे**=दीर्घजीवन के लिए **कृणुथ**=करिये। (२) ज्ञानी देवों का सम्पर्क हमें क्रियाशील व पापनिवृत्त बनाए। ऐसा बनाकर यह देवसम्पर्क हमें दीर्घजीवी बनाता है।

भावार्थ-हम ज्ञानी देवों के सम्पर्क में रहें। क्रियाशीलता व पाप की ओर न रुझानवाले बनें। इस प्रकार हम दीर्घजीवन को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाःङ्क
देवता—आदित्याःङ्क **छन्दः**—गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

(नव्य) स्तुत्य ज्ञान

तत्सु नो नव्यं सन्यस आदित्या यन्मुमोचति। बन्धाद्बद्धमिवादिते॥ १८॥

(१) हे **आदित्याः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का आदान करनेवाले ज्ञानी पुरुषो! **नः**=हमारे लिए **तत्**=वह **नव्यं**=स्तुत्य (नु स्तुतौ) अथवा हमें गतिशील बनानेवाला (नव गतौ) ज्ञान **सुसंन्यसे**=सम्यक् सेवनीय हो **यत्**=जो **मुमोचति**=सब अशुभ कर्मों से छुड़ानेवाला होता है। (२) हे **अदिते**=स्वास्थ्य की देवते! मुझे वह ज्ञान प्राप्त हो जो **बद्धम् इव**=विषय-जाल से बद्ध-सा हुए-हुए मुझको **बन्धात्**=बन्धन से **मुमोचति**=छुड़ा देता है।

भावार्थ-हम आदित्यों के सम्पर्क में स्वस्थ रहते हुए उस ज्ञान को प्राप्त करें जो हमें विषयों के बन्धन से मुक्त करनेवाला हो।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाःङ्क
देवता—आदित्याःङ्क **छन्दः**—गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

तत् तरः

नास्माकमस्ति तत्तर आदित्यासो अतिष्कदे। यूयमस्मभ्यं मृळत॥ १९॥

(१) **आदित्यासः**=हे आदित्य विद्वानो! **अस्माकं**=हमारा **तत्**=वह **तरः**=वेग व बल **न अस्ति**=नहीं है, जो **अतिष्कदे**=विषयों के बन्धन को लाँघने में समर्थ हो, अर्थात् हम स्वयं विषयासक्ति से ऊपर उठ जाएँगे, सो बात नहीं हैं। (२) हे आदित्यो! **यूयं**=आप ही **अस्मभ्यं मृडत**=हमारे लिए सुख को देनेवाले होओ। आपकी कृपा होगी तभी हम ज्ञान को प्राप्त करके इस वासनाजाल से मुक्त हो सकेंगे।

भावार्थ-आदित्य विद्वानों का सम्पर्क हमें उस ज्ञान के बल को प्राप्त कराएगा जो हमें वासनाजाल को तैरने में समर्थ करके सुखी करेगा।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाःङ्क
देवता—आदित्याःङ्क **छन्दः**—गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

पूर्ण जीवन

मा नो हेतिर्विवस्वत आदित्याः कृत्रिमा शरुः। पुरा नु जरसो वधीत्॥ २०॥

(१) हे **आदित्याः**=आदित्य विद्वानो! **नः**=हमें **विवस्वतः**=इस किरणोंवाले सूर्य की **कृत्रिमा**=क्रिया से निवृत्त (सम्पादित) **शरुः**=रोगकृमिनाशक **हेतिः**=शक्तिरूप शस्त्र **जरसः**

पुरा=पूर्ण वृद्धावस्था से पूर्व नु=निश्चय से मा वधीत्=मत नष्ट होने दे। (२) हम सूर्य के सम्पर्क में क्रियाशील जीवन बिताते हुए पूर्ण वृद्धावस्था को बितानेवाले हों। सूर्य की किरणों में रोगकृमिनाशक शक्ति है। उसका हम लाभ लें। इन सूर्य- किरणों के सेवन के लिए भी हम धूप में लेटे न रहें- क्रियाशील जीवन बिताएँ। यह मन्त्र 'कृत्रिमा' शब्द से व्यक्त किया गया है।

भावार्थ-सूर्य-किरणों के सम्पर्क में क्रियाशील जीवन हमें दीर्घजीवी बनाए।

ऋषिः—मत्स्यः साम्मदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धाः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'द्वेष-कुटिलता-छल-पाप' से दूर

वि षु द्वेषो व्यंहृतिमादित्यासो वि संहितम्। विष्वग्वि वृहता रपः॥ २१॥

(१) हे **आदित्यासः**=आदित्य विद्वानो! आप **द्वेषः**=द्वेष को **सु**=सम्यक् **विवृहता**=हमारे जीवन में से उन्मूलित कर दो। **अंहतिम्**=कुटिलतारूप पाप को **वि**=हमारे से पृथक् करो। **संहितम्**=धोखा-छल, कपट आदि की वृत्ति को **वि**=हमारे से पृथक् करिये। (२) आप अनुग्रह करके **विष्वक्**=विविध क्रियाओं में आ जानेवाले **रपः**=दोषों को **विवृहत**=उन्मूलित करिये। हमारा जीवन आपके अनुग्रह से निर्दोष हो।

भावार्थ-आदित्यों का सम्पर्क हमें 'द्वेष-कुटिलता-छल व दोषों' से दूर करे।

इस निर्दोष जीवनवाले व्यक्ति को 'मेधा, बुद्धि व मेध=यज्ञ' ही प्रिय होते हैं, सो यह प्रिय मेध कहलाता है। यह प्रार्थना करता है कि-

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

ऊतये-सुम्नाय

आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि। तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते॥ १॥

(१) हे **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन् प्रभो! **ऊतये**=रक्षा के लिए **त्वा**=आपको इसप्रकार **आवर्तयामि**=अपने जीवन में आवृत्त करते हैं **यथा**=जैसे **रथं**=रथ को। प्रभुरूप रथ के द्वारा हम अपनी जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाते हैं। (२) हे **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! **तुविकूर्मिम्**=महान् कर्मोंवाले, **ऋतीषहं**=हिंसकों का अभिभव करनेवाले **इन्द्रं**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को (आपको) **सुम्नाय** (आवर्तयामसि)=सुख प्राप्ति के लिए आवृत्त करते हैं।

भावार्थ-इस जीवन में रक्षा के लिए व सुख के लिए हम प्रभु को अपने में आवृत्त करते हैं। प्रभुस्मरण हमें मार्गभ्रंश से बचाता है तथा सुख प्राप्त कराता है।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तुविशुष्म, तुविक्रतोः

तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते। आ पप्राथ महित्वना॥ २॥

(१) हे **तुविशुष्म**=महान् बलवाले! **तुविक्रतो**=महती प्रज्ञावाले (महान् प्रज्ञानवाले) **शचीवः**=शक्तिसम्पन्न कर्मोंवाले **मते**=मनन-बुद्धि व प्रज्ञानवाले प्रभो! आप **विश्वया**=सर्वत्र व्याप्त **महित्वना**=महिमा से **आपप्राथ**=सर्वत्र विस्तृत हो रहे हो। (२) प्रभु की महिमा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परिपूरित है। सूर्यादि पिण्डों में प्रभु की शक्ति व तेज का अनुभव होता है। ज्ञानियों में प्रभु

के ज्ञान की झलक मिलती है।

भावार्थ—सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा को व्यक्त कर रहा है।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

हिरण्ययं वज्रम्

यस्य॑ ते महि॒ना म॒हः परि॑ ज्मा॒यन्त॑मी॒यतुः॑। हस्ता॒ वज्रं॑ हिर॒ण्यय॑म्॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वे आप अपनी महिमा से सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं **यस्य**=जिन **महः**=महान् **ते**=आपके **हस्ता**=हाथ **महिना**=अपनी महिमा से **ज्मायन्तं**=पृथिवी में सर्वत्र व्याप्त होते हुए **हिरण्ययं वज्रं**=ज्योतिर्मय वज्र को **परि ईयतुः**=चारों ओर गतिवाला करते हैं। (२) वज्रहस्त प्रभु अपने वज्र के द्वारा दुष्टों को दण्डित करते हुए हमारे भय का निवारण करते हैं। प्रभु के दण्ड से कोई भी पापी छूट नहीं सकता। यह प्रभु की अचूक दण्ड-व्यवस्था ही हम सबके सन्तोष व शान्ति का कारण बनती है।

भावार्थ—प्रभु अपने ज्योतिर्मय-दीप्त-वज्र से दुष्टों को दण्डित करते हुए हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु-आराधन का लाभ

वि॒श्वान॑रस्य व॒स्पति॒मना॑नतस्य॒ शव॑सः। ए॒वैश्च॑ चर्षणी॒नामू॒ती हु॑वे॒ रथा॑नाम्॥ ४॥

(१) **विश्वानरस्य**=सब मनुष्यों के हित करनेवाले **अनानतस्य**=शत्रुओं से न झुकाये जानेवाले **वः**=तुम्हारे **शवसः**=बल के **पतिम्**=रक्षक प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ। वस्तुतः प्रभु का आराधन ही हमारे जीवन में उस बल का सञ्चार करता है जो सबका हित करनेवाला व अनानत (न झुकनेवाला) होता है। (२) **च**=और मैं प्रभु को **चर्षणीनाम् एवैः**=श्रमशील तत्त्वद्रष्टा पुरुषों की गतियों के हेतु से तथा **रथानाम् ऊती**=शरीररूप रथों के रक्षण के दृष्टिकोण से पुकारता हूँ। यह प्रभु का आराधन हमें ज्ञानयुक्त श्रमवाला करता है तथा सुरक्षित शरीररूप रथवाला बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का आराधन करते हैं। यह आराधन (१) हमें शत्रुओं से झुकाये जानेवाले बल का स्वामी बनाता है, (२) श्रमशील ज्ञानी पुरुषों की क्रियाओं से युक्त करता है (३) हमारे शरीररथों का रक्षण करता है।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अभिष्टये-ऊतये

अ॒भिष्ट॑ये स॒दावृ॑धं॒ स्व॑र्मीळ्हेषु॒ यं नरः॑। नाना॒ हव॑न्त ऊ॒तये॑॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ **यं**=जिस **सदावृधं**=सदा से बढ़े हुए तथा उपासकों को बढ़ानेवाले प्रभु को **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **अभिष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिए **हवन्ते**=पुकारते हैं। (२) इस प्रभु को ही **स्वर्मीढेषु**=स्वर्ग के साधनभूत संग्रामों में **ऊतये**=रक्षण के लिए **नाना**=पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में स्थित लोग नाना प्रकार से **हवन्ते**=पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारी इष्टप्राप्ति के लिए होते हैं। प्रभु ही संग्रामों में हमें विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'परोमात्र' प्रभु

परोमात्रमृचीषममिन्द्रमुग्रं सुराधसम्। ईशानं चिद्वसूनाम्॥ ६॥

(१) मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **परोमात्रं**=मात्रा से परे हैं–माप से ऊपर हैं–जो देश व काल से मापे नहीं जा सकते–दिक् कालाद्यनवच्छिन्न हैं। **ऋचीषमम्**=स्तुति के समान हैं–जितनी भी स्तुति प्रभु की की जाए, प्रभु उससे न्यून नहीं अथवा स्तोता के लिए स्तुति के अनुरूप वे प्रभु हैं। **इन्द्रं**=सब शक्ति के कर्मों को करनेवाले हैं। **उग्रं**=तेजस्वी हैं और **सुराधसम्**=उत्तम ऐश्वर्यवाले हैं। (२) मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **चिद्**=निश्चय से **वसूनाम्**=सब वसुओं के **ईशानम्**=ईशान हैं।

भावार्थ–उस अनन्त, तेजस्वी, ऐश्वर्यशाली, वसुओं के स्वामी प्रभु का मैं स्मरण करता हूँ। मेरे लिए प्रभु उतने ही हैं जितना कि मैं उनका स्तवन कर पाता हूँ।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

महे राधसे-पीतये

तन्तमिद्राधसे मह इन्द्रं चोदामि पीतये। यः पूर्व्यामनुष्टुतिमीशे कृष्टीनां नृतुः॥ ७॥

(१) **तं तं इन्द्रं इत्**=उसको और उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही **महे राधसे**=महान् ऐश्वर्य के लिए तथा **पीतये**=अपने अन्दर सोम के रक्षण के लिए **चोदामि**=प्रेरित करता हूँ। हृदय में प्रभु का ही स्मरण करता हूँ। यह स्मरण हमें ऐश्वर्यशाली बनाता है और सोमरक्षण के योग्य करता है। (२) मैं उस प्रभु को अपने अन्दर प्रेरित करता हूँ **यः**=जो **पूर्व्याम्**=सर्वश्रेष्ठ **अनुष्टुतिं**=अनुदिन की जानेवाली स्तुति के **ईशे**=ईश हैं तथा **कृष्टीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **नृतुः**=उत्कृष्ट कर्मफलों को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ–प्रभु का हृदय में धारण हमें महान् ऐश्वर्य को प्राप्त कराएगा और हमारे में सोम का रक्षण करेगा। ये प्रभु ही श्रमशील व्यक्तियों को उस-उस कर्मफल को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

न मित्रता-न बल

न यस्य ते शवसान सख्यमानंश मर्त्यः। नकिः शवांसि ते नशत्॥ ८॥

(१) हे **शवसान**=शक्तिशालिन् प्रभो! **यस्य ते**=जिन आपके **सख्यं**=मित्रभाव को **मर्त्यः**=विषयों के पीछे मरनेवाला मनुष्य **न आनंश**=नहीं प्राप्त करता, परिणामतः **ते शवांसि**=आपके बलों को भी **नकिः नशत्**=नहीं व्याप्त करता। (२) प्रभु का मित्र बननेवाला ही प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनता है। प्रभु की मित्रता से दूर होकर प्रकृति में फंसकर वह अपनी शक्तियों को जीर्ण कर लेता है।

भावार्थ–हम प्रभु की मित्रता को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हैं। ऐसा करने पर हम प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होंगे।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अप्सु सूर्ये

त्वोतासस्त्वा युजाप्सु सूर्ये महद्धनम्। जयेम पृत्सु वज्रिवः॥ ९॥

(१) हे **वज्रिवः**=क्रियाशीलतारूप वज्र (वज गतौ) को हाथ में लिये हुए प्रभो! **त्वा ऊतासः**=आपके द्वारा रक्षित हुए-हुए हम **त्वायुजा**=आप साथी के साथ **अप्सु**=रेतःकणरूप जलों के सुरक्षित होने पर अथवा कर्मों के होने पर और **सूर्ये**=ज्ञानसूर्य का उदय होने पर **पृत्सु**=संग्रामों में **महद्धनम्**=महान् धन को **जयेम**=जीतनेवाले हों। (२) प्रभु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम क्रियाशील हों और ज्ञान का खूब संचय करें। ऐसी स्थिति में ही हम वासनाओं को संग्राम में जीत पाएँगें और महान् धन का विजय करेंगे।

भावार्थ—हे इन्द्र! तुझ से रक्षित होकर हम तेरी सहायता प्राप्त करके यज्ञ कर्मों को करें तथा संग्रामों में बहुत सारे धन को जीतें।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

यज्ञेभिः=गीर्भिः

तं त्वा यज्ञेभिरीमहे तं गीर्भिर्गिर्वणस्तम।
इन्द्र यथा चिदाविथ वाजेषु पुरुमाय्यम॥ १०॥

(१) हे **गिर्वणस्तम**=ज्ञान की वाणियों से अधिक-से-अधिक संभजनीय प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको हम **यज्ञेभिः**=यज्ञों के द्वारा तथा **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **ईमहे**=याचना करते हैं। यज्ञों व ज्ञानवाणियों के द्वारा आपकी उपासना करते हैं। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **आप पुरुमाय्यम्**=(बहुप्रज्ञं बहुस्तुतिं वा) बहुत प्रज्ञावाले व स्तुतिवाले उपासक को **वाजेषु**=संग्रामों में **यथाचिद्**=जिस प्रकार से निश्चयपूर्वक **आविथ**=रक्षित करते हैं। यह 'पुरुमाय्य' आपकी रक्षा को प्राप्त करता ही है।

भावार्थ—हम यज्ञों व ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु संग्रामों में हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

स्वादु सख्यम्

यस्य ते स्वादु सख्यं स्वाद्वी प्रणीतिरद्रिवः। यज्ञो वितन्तसाय्यः॥ ११॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! अथवा वज्रहस्त प्रभो! **यस्य ते**=जिन आपकी **सख्यं**=मित्रता **स्वादु**=जीवन को मधुर बनानेवाली है, उन आपका **प्रणीतिः**=प्रणयन-हमें आगे ले चलने का मार्ग भी **स्वाद्वी**=मधुर है। आप हमें मधुरता से ही उन्नति पथ पर ले चलते हैं। (२) हमें **यज्ञः**=आपकी उपासना ही **वितन्तसाय्यः** (विशेषेण तननीयः)=विशेष रूप से करनी चाहिए। आपका उपासन ही वस्तुतः हमें मधुर व उन्नत जीवनवाला बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता मधुर है-उनका प्रणयन भी मधुर है। सो हमें प्रभु का ही उपासन विशेषरूप से करना योग्य है।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'अ-दरिद्रता'

उरु णस्तन्वे३ तन उरु क्षयाय नस्कृधि। उरु णो यन्धि जीवसे॥ १२॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **तन्वे**=सन्तान के लिए **उरुकृधि**=पर्याप्त धन को करिये। **नः**=हमारे **तने**=पौत्रों के लिए भी **क्षयाय**=(क्षिनिवासगत्योः) निवास व गति के लिए-कार्यों के

सुचारुरूपेण चलाने के लिए **उरु कृधि**=पर्याप्त धन को करिये। (२) **जीवसे**=जीवनयात्रा को सम्यक् पूर्ण करने के लिए **नः**=हमें भी **उरु यन्धि**=पर्याप्त दीजिए।

भावार्थ—हमारे घर में दरिद्रता न हो। हमारे जीवन व हमारे पुत्र-पौत्रों के जीवन सुन्दरता से चलें।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

विशालता (दूरदृष्टि)

उ॒रुं नृभ्य॑ उ॒रुं गव॑ उ॒रुं रथा॑य॒ पन्था॑म्। दे॒ववी॑तिं मनामहे॥ १३॥

(१) हे प्रभो! **नृभ्यः**=मनुष्यों के लिए **उरुं पन्थाम्**=विशाल मार्ग की **मनामहे**=हम याचना करते हैं। सब मनुष्यों के साथ हम विशाल दृष्टिकोण से ही सारा व्यवहार करें। **गो**=गौओं के लिए भी **उरुं** (पन्थां मनामहे)=हम विशाल मार्ग को अपनाएँ। दूरदृष्टि से ही उनकी उपयोगिता को सोचें। उनके दूध में थोड़े से मक्खन की कमी हमें भैंस के दूध के प्रति प्रेमवाला न बना दे। (२) हम **रथाय**=अपने शरीररूप रथ के लिए भी **उरुं पन्थाम्**=विशाल मार्ग को **मनामहे**=माँगते हैं, अर्थात् हमारे सारे व्यवहार दीर्घदृष्टि से ही किये जाएँ। इस प्रकार **देववीतिं**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की-दिव्यगुणों की प्राप्ति के साधनभूत यज्ञों की हम कामना करते हैं।

भावार्थ—सब मनुष्यों के साथ हमारा व्यवहार विशाल मन से हो। गौवों के विषय में हमारी दृष्टि दूर के हित को सोचनेवाली हो। शरीर के विषय में दूरदृष्टि से प्रत्येक क्रिया को करें। दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—ऋक्षाश्वमेधयोर्दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

षड् स्वादुरातयः

उप॑ मा॒ षड् द्वाद्वा॒ नरः॒ सोम॑स्य॒ हर्ष्या॑। तिष्ठ॑न्ति स्वादुरा॒तयः॑॥ १४॥

(१) 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सप्तर्षियों में 'दो कान, दो नासिका-छिद्र तथा दो आँखें'—ये दो के तीन युग्म हैं। ये सब **'नरः'** (नृ नये)=हमें आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। ये **द्वाद्वा**=दो-दो के तीन युग्म, इस प्रकार **षड्**=छः **नरः**=उन्नति पथ पर ले चलनेवाले ऋषि **मा उप तिष्ठन्ति**=मेरे समीप स्थित होते हैं। प्रभु के अनुग्रह से ये ६ ऋषि हमें प्राप्त हुए हैं। (२) **सोमस्य**=सोमरक्षण से उत्पन्न **हर्ष्या**=हर्ष से ये ऋषि **स्वादुरातयः**=जीवन को मधुर बनानेवाले ज्ञान को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमें 'दो कान, दो आँख, दो नासिकाछिद्र और मुख' ये सात ऋषि प्राप्त कराए हैं। सोमरक्षण से हृष्ट (हृषत) हुए-हुए ये ऋषि मधुर ज्ञान को हमारे लिए प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—ऋक्षाश्वमेधयोर्दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्रोत, ऋक्षसूनु आश्वमेघ

ऋ॒ज्रावि॑न्द्रो॒त आ द॑दे॒ हरी॒ ऋक्ष॑स्य सू॒नवि॑। आ॒श्व॒मे॒धस्य॒ रोहि॑ता॥ १५॥

(१) **इन्द्रोत**=(इन्द्र+उत) प्रभु से रक्षित व्यक्ति में **ऋज्रौ**=ऋजुगामी जो इन्द्रियाश्व हैं, उनको **आददे**=मैं ग्रहण करता हूँ। प्रभु के उपासक के ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व सरल मार्ग से चलनेवाले होते हैं। मैं भी इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करता हूँ। (२) **ऋक्षस्य**=गतिशील पुरुष के

(ऋष् गतौ) **सूनवि**=पुत्र में, अर्थात् अत्यन्त गतिशील में जो **हरी**=हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले इन्द्रियाश्व हैं, उन्हें मैं प्राप्त करता हूँ। (३) **आश्वमेधस्य**=अश्वमेध के पुत्र, अर्थात् उत्कृष्ट अश्वमेध (अश्नुते इति अश्वः)-सर्वव्यापक प्रभु के साथ मेल करनेवाले के (मेधृ संगमे) **रोहिता**=तेजस्वी (लालवर्ण के) इन्द्रियाश्वों को मैं प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ–प्रभु से रक्षित गतिशील पुरुष के इन्द्रियाश्व ऋजुगामी व लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं। सर्वव्यापक प्रभु के साथ मेलवाला पुरुष इन्द्रियाश्वों को तेजस्वी बनाता है।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—ऋक्षाश्वमेधयोर्दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सुरथ-स्वभीशु-सुपेशस्

सुरथाँ आतिथिग्वे स्वभीशूँरार्क्षे। आश्वमेधे सुपेशसः॥ १६॥

(१) **आतिथिग्वे**=अतिथिग्व–उस महान् अतिथि प्रभु के प्रति गतिवाले के सन्तान, अर्थात् अतिशयेन प्रभु की ओर जानेवाले, प्रभु से रक्षित 'इन्द्रोत' में होनेवाले **सुरथान्**=शोभन शरीररथवाले इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करता हूँ। (२) **आर्क्षे**=ऋक्षपुत्र में–अतिशयेन गतिशील व्यक्ति में होनेवाले **स्वभीशून्**=उत्तम मनरूप लगामवाले इन्द्रियाश्वों को मैं प्राप्त करता हूँ। (३) **आश्वमेधे**=सर्वव्यापक प्रभु से मेलवाले पुरुष में होनेवाले **सुपेशसः**=उत्तम आकृतिवाले इन्द्रियाश्वों को मैं प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ–हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम शरीररूप रथवाले–उत्तम मनरूप लगामवाले व उत्तम आकृति के हों।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—ऋक्षाश्वमेधयोर्दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

आतिथिग्व-इन्द्रोत-पूतक्रतु

षळश्वाँ आतिथिग्व इन्द्रोते वधूमतः। सचा पूतक्रतौ सनम्॥ १७॥

(१) **आतिथिग्वे**=निरन्तर उस महान् अतिथि प्रभु की ओर गतिवाले, **इन्द्रोते**=परमैश्वर्यवान् प्रभु से रक्षित **पूतक्रतौ**=पवित्र प्रज्ञान व कर्मोंवाले पुरुष में **सचा**=संगत **वधूमतः**=कार्यवहन की शक्तिवाली (वह धातु से वधू) **षड् अश्वान्**=मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों को **सनम्**=प्राप्त करता हूँ। (२) मेरे इन्द्रियाश्व अपने कार्यों को सुचारूरूपेण करते हैं। मुझे चाहिए कि मैं प्रभु की ओर गतिवाला–प्रभु से रक्षित व पवित्र प्रज्ञानों व कर्मोंवाला बनूँ।

भावार्थ–मुझे वे इन्द्रियाश्व प्राप्त हों, जो प्रभु की ओर जानेवाले को प्राप्त होते हैं, जो प्रभु से रक्षित व्यक्ति को प्राप्त होते हैं और जो पवित्र प्रज्ञान व कर्मोंवाले पुरुष को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—ऋक्षाश्वमेधयोर्दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'अरुषी-कशावती' बुद्धि

ऐषु चेतद् वृषण्वत्यन्तर्ऋज्रेष्वरुषी। स्वभीशुः कशावती॥ १८॥

एषु ऋज्रेषु अन्तः=इन सरल गतिवाले इन्द्रियाश्वों से युक्त पुरुषों के हृदयों में **वृषण्वती**=शक्तिशाली प्राणोंवाली, **अरुषी**=आरोचमान, **स्वभीशुः**=उत्तम लगामवाली–सम्यक् नियन्त्रण करनेवाली, **कशावती**=उत्तम ज्ञान की वाणियोंवाली बुद्धि **आचेतत्**=सर्वथा चेतना को करनेवाली होती है।

भावार्थ–हम ऋजु बनें–सरल गतिवाले बनें। हमें वह बुद्धि प्राप्त होगी जो उत्तम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराती हुई तथा हमारे जीवनों में सम्यक् नियन्त्रण करती हुई हमें प्राणशक्तिसम्पन्न

व आरोचमान बनाएगी।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ **देवता**—ऋक्षाश्वमेधयोर्दानस्तुतिः ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

निरवद्य जीवन

न युष्मे वाजबन्धवो निनित्सुश्चन मर्त्यः। अवद्यमधि दीधरत्॥ १९॥

(१) गतमन्त्रों के अनुसार उत्तम इन्द्रियाश्वों व बुद्धि को धारण करनेवाले हे **वाजबन्धवः**=उत्तम भोजन व शक्ति को अपने साथ जोड़नेवाले पुरुषो! **युष्मे**=तुम्हारे में **निनित्सुः चन मर्त्यः**=निन्दा करने की इच्छावाला पुरुष भी **अवद्यम्**=पाप को **न अधि दीधरत्**=नहीं धारण कर पाता है। (२) तुम्हारा जीवन इस प्रकार प्रशस्त होता है कि तुम्हारे निन्दक भी तुम्हारी निन्दा नहीं कर पाते।

भावार्थ—सरल इन्द्रियाश्वों व आरोचमान बुद्धि को धारण करके हम इस प्रकार प्रशस्त जीवनवाले बनें कि हमारे शत्रु भी हमारी निन्दा न कर सकें।

इस प्रकार निरवद्य जीवनवाले बनकर हम 'प्रियमेध' बनें। हमें 'यज्ञ व मेधा' ही प्रिय हो। यह प्रियमेध ही अगले सूक्त का ऋषि हैं—

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप् ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

'त्रिष्टुभम्' इषम्

प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं मन्दद्वीरायेन्दवे। धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति॥ १॥

(१) **मन्दद् वीराय**=वीरों को आनन्दित करनेवाले **इन्दवे**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **वः**=तुम्हारी **त्रिष्टुभं**='काम, क्रोध, लोभ' तीनों को समाप्त करनेवाली (त्रि+ष्टुभ्) **इषं**=इच्छा को **प्र प्र**=प्रकर्षेण प्रकट करो, प्रभु के प्रति अपनी इसी इच्छा को प्रकट करो कि प्रभु हमें 'काम, क्रोध व लोभ' से ऊपर उठाएँ। (२) उपर्युक्त इच्छा के प्रबल होने पर वे प्रभु **वः**=तुम्हारे **मेधसातये**=यज्ञों के संभजन के लिए—इसलिए कि तुम्हारी वृत्ति यज्ञात्मक बने, **पुरन्ध्या**=शरीररूप पुरी का धारण करनेवाली **धिया**=बुद्धि से **आविवासति**=तुम्हें सत्कृत करता है।

भावार्थ—जब हम प्रभु के प्रति इस कामना को प्रकट करते हैं कि हम 'काम, क्रोध, लोभ' को जीत पाएँ, तो प्रभु हमें यज्ञशील बनने के लिए पालक बुद्धि प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'ओदती-योयुवती-अघ्न्या' धेनु

नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम्। पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि॥ २॥

(१) **वः**=तुम्हें **ओदतीनां**=ज्ञान जल से सींचनेवाली (उन्दी क्लेदने) वेदवाणियों के **नदं**=उच्चारण करनेवाले से (को) **योयुवतीनाम्**=सब बुराइयों से पृथक् करनेवाली वेदवाणियों के **नदं**=उच्चारण करनेवाले प्रभु के से ही तू **इषुध्यसि**=प्रार्थना करता है। (२) **वः**=तुम्हारे लिए **अघ्न्यानां**=अहन्तव्य-सदा अध्ययन के योग्य **धेनूनां**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणियाँरूप गौओं के **पतिं**=स्वामी उस प्रभु से ही तू प्रार्थना करता हैं।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम प्रभु से यही आराधना करें कि वे प्रभु हमें ज्ञानजल से सिक्त करनेवाली वेदवाणियों को प्राप्त कराएँ। वे हमें उन वाणियों को प्राप्त कराएँ जो हमें सब बुराइयों से पृथक् करती हैं। प्रभु की ये वेद-

धेनुएँ हमारे लिए अहन्तव्य हैं—हमें सदा इनका स्वाध्याय करना चाहिए।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

दिव्यगुणों का जन्म

ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः। जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः॥ ३॥

(१) **ताः**=वे **अस्य**=इस प्रभु की **सूददोहसः**=(सूद=Pouring out) उच्चरित वाणियों का अपने में प्रपूरण करनेवाले **पृश्नयः**=ज्ञानदीप्तियों का स्पर्श करनेवाले लोग **सोमं श्रीणन्ति**=सोम का (वीर्यशक्ति का) अपने में परिपाक करते हैं। इसको अपने में ठीक प्रकार से परिपक्व करके ये अपने ज्ञानाग्नि को दीप्त कर पाते हैं। (२) ये वीर्य का ठीक से परिपाक करनेवाली **विशः**=प्रजाएँ **देवानां जन्मन्**=दिव्य गुणों की उत्पत्ति के विषय में तथा **त्रिषु**=प्रकृति, जीव व आत्मा के विषय में **दिवः अरोचने**=ज्ञान को दीप्त करने में समर्थ होती हैं।

भावार्थ—हम सोमशक्ति को अपने ठीक प्रकार से परिपक्व करके ज्ञानाग्नि को दीप्त करें। इससे हमारे में दिव्यगुणों का विकास होगा और 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त होगा।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सत्यस्य सूनम् (अर्थ)

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे। सूनुं सत्यस्य सत्पतिम्॥ ४॥

(१) **यथाविदे**=यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए **गोपतिं**=ज्ञान की वाणियों के स्वामी **इन्द्रं**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **गिरा**=स्तुतिवाणियों से **अभि प्र अर्च**=आभिमुख्येन खूब स्तुति कर। (२) उस प्रभु का तू अर्चन कर जो **सत्यस्य सूनुं**=सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं और **सत्यपतिम्**=सज्जनों के व सत्कर्मों के रक्षक हैं।

भावार्थ—प्रभुपूजन से यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। प्रभु ही सत्य की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं और सत्कर्मों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अरुषीः हरयः

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि। यत्राभि संनवामहे॥ ५॥

यत्र=जहाँ **बर्हिषि अधि**=हृदयक्षेत्र में स्थित हुए-हुए **अभिसन्नवामहे**=प्रातः-सायं (अभि-दिन के दोनों ओर) प्रभु का स्मरण करते हैं तो **हरयः**=इन्द्रियाश्व **आ अरुषीः**=समन्तात् आरोचमान-निर्मल **ससृज्रिरे**=बनाए जाते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण हमारी इन्द्रियों को आरोचमान व निर्मल बनाता है।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

आशिरं मधु

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु। यत्सीमुपह्वरे विदत्॥ ६॥

(१) **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय **वज्रिणे**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए पुरुष के लिए **गावः**=वेदवाणीरूप गौवें **आशिरं**=समन्तात् काम-क्रोध आदि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **मधु**=मधुर ज्ञान को-जीवन को मधुर बनानेवाले आत्मज्ञान को **दुदुह्रे**=प्रपूरित करती हैं। (२) उस ज्ञान को

ये वेदवाणियाँ प्राप्त कराती हैं, **यत्**=जिसको **सीम्**=निश्चय से **उपह्वरे**=हृदय के एकान्त देश में **विदत्**=यह उपासक प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर वेदधेनु से ज्ञानदुग्ध का दोहन करें। यह हृदय के एकान्त देश में प्राप्त होनेवाला ज्ञान हमारे जीवन को मधुर बनाएगा। यह सब वासनाओं को विनष्ट करेगा।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

सख्युः पदे

उद्यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि। मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥ ७ ॥

(१) एक पत्नी यह कामना करती है कि मैं **च इन्द्रः**=और मेरा यह जितेन्द्रिय पति हम दोनों **उद्यद् ब्रध्नस्य**=उदय होते हुए अथवा जो उत्कृष्ट है उस सूर्य के **विष्टपं**=तापशून्य (वि+तप) अथवा विशिष्ट रूप से दीप्त **गृहं**=गृह को **गन्वहि**=जाएँ, अर्थात् हमारे घर में सूर्य की किरणें व प्रकाश खूब अच्छी प्रकार आएँ-सूर्यकिरणें इस गृह को तापशून्य व नीरोग बनानेवाली हों। (२) **मध्वः पीत्वा**=इस गृह में रहते हुए हम सोम का पान करके **सख्युः पदे**=उस परमसखा प्रभु के चरणों में **त्रिःसप्त**=इक्कीस शक्तियों को **सचेवहि**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारे घर सूर्य किरणों से प्रकाशित हैं। इनमें हम प्रभु का स्मरण करते हुए सोमरक्षण द्वारा २१ शक्तियों को स्थिर रखें।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पादनिचृदनुष्टुप्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

प्रियमेधों द्वारा प्रभु का पूजन

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत। अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥ ८ ॥

(१) **अर्चत**=उस प्रभु का पूजन करो, **प्रार्चत**=खूब ही पूजन करो। **प्रियमेधासः**=हे यज्ञप्रिय (मेध=यज्ञ) लोगो! इन यज्ञों के द्वारा उस प्रभु का **अर्चत**=पूजन करो। (२) **उत**=और **पुत्रकाः**=(पुनाति, त्रायते) अपने जीवन को पवित्र बनानेवाले व अपना त्राण करनेवाले **अर्चन्तु**=पूजन करें। उस प्रभु का **अर्चत**=पूजन करो, जो **पुरं न**=पालन व पूरण करनेवाले के समान हैं, तथा **धृष्णु**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, हमारे शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं। उस प्रभु का यज्ञों के द्वारा हम पूजन करें।

ऋषिः—प्रियमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्पङ्क्तिः ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

माम् अनुस्मर युध्य च

अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत्। पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥ ९ ॥

(१) **गर्गरः**=युद्ध का नगाड़ा **अवस्वराति**=अतिशयेन भयानक शब्द को कर रहा है। **गोधा**=हस्तघ्न **परिसनिष्वणत्**=चारों ओर आवाज़ को फैला रहे हैं। हस्तघ्नों पर होनेवाले डोरी के प्रहारों से शब्द उठ रहे हैं। **पिङ्गा**=पिंगल वर्णवाली **ज्या परिचनिष्कत्**=धनुष की डोरी चारों ओर गति कर रही है—आक्रमण कर रही है। (२) एवं चारों ओर सारा वातावरण भयंकर युद्ध का है। इस युद्ध में **इन्द्राय**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु के लिए **ब्रह्म उच्चतम्**=मन्त्रों द्वारा स्तवन उत्थित हुआ है। हमारा यही कर्तव्य है कि प्रभु का स्मरण करें और युद्ध में सन्नद्ध रहें। प्रभुस्मरण

ही हमें इस संसार संघर्ष में विजयी बनाएगा।

भावार्थ—चारों ओर युद्ध का वातावरण उपस्थित है। हम प्रभु का स्मरण करें और युद्ध को करते चलें। प्रभु ही तो हमें विजयी बनाएँगे।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

अनपस्फुरः सुदुघा गौवें

आ यत्पतन्त्येन्यः सुदुघा अनपस्फुरः। अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे॥ १०॥

(१) **यत्**=जब **अनपस्फुरः**=न बिदकनेवाली, **सुदुघाः**=सुख संदोह्य **एन्यः**=शुभ्रवर्ण की गौवें **आपतन्ति**=समन्तात् गृहों की ओर आनेवाली होती हैं, तो उस समय **अपस्फुरं**=हृदय कम्पन को दूर करनेवाले **सोमं**=सोम को—ताजे दूध को—**गृभायत**=ग्रहण करो। यह दूध **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष के रक्षण के लिए होता है। (२) गौवें 'सुदुघा' होनी चाहिएँ, ये अनपस्फुर होंगी तो इनके दूध में किसी प्रकार का विष नहीं होगा। यह ताजा गोदुग्ध ही सोम है। यह हृदय की धड़कन को भी ठीक रखता है, अर्थात् एतत् सम्बद्ध सब रोगों से हमें बचानेवाला है।

भावार्थ—हम सुख संदोह्य गौवों के ताजे दूध का प्रयोग करें। यही सोम है। यह जितेन्द्रिय पुरुष का रक्षण करता है। उसे हृदय कम्पन आदि के रोग से बचाता है।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—'विश्वेदेवाः', वरुणः॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

इन्द्र-अग्नि-देव

अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत।
वरुण इदिह क्षयत्तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव॥ ११॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अपात्**=इस सोम का पान करता है। **अग्निः**=प्रगतिशील पुरुष **अपात्**=इसको पीता है। **विश्वेदेवाः**=सब देव इस सोमपान में **अमत्सत**=हर्ष का अनुभव करते हैं। (२) **वरुणः**=वह पाप-निवारक प्रभु **इत्**=निश्चय से **इह**=इस सोमपान करनेवाले के जीवन में **क्षयत्**=निवास करता है। **तम्**=उस प्रभु को **अपः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रजाएँ **अभ्यनूषत**=स्तुत करती हैं। उसी प्रकार स्तुति करती हैं, **इव**=जैसे **संशिश्वरीः**=उत्तम बछड़ोंवाली गाएँ **वत्सम्**=बछड़े के प्रति जाती हुई शब्द को करती है। इसी प्रकार प्रेम से पूर्ण होकर ये कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रजाएँ अपने प्रिय प्रभु के प्रति स्तुति शब्दों को बोलती हैं।

भावार्थ—सोमपान हमें 'इन्द्र, अग्नि व देव' बनाता है, शरीर में सबल (इन्द्र) मस्तिष्क में प्रकाशमय (अग्नि) तथा मन में 'देव'। सोमपान करनेवालों में ही परमात्मा का निवास होता है। ये कर्मों में व्याप्त रहकर प्रभु का स्मरण करते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—वरुणः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

सप्त सिन्धवः

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥ १२॥

(१) हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! आप **सुदेवः असि**=सर्वोत्तम देव हैं—देवों के अधिदेव हैं। **यस्य**=जिन **ते**=आपकी **सप्त सिन्धवः**=सात छन्दों में प्रवाहित होनेवाली ज्ञानजल की नदियाँ **काकुदं अनुक्षरन्ति**=हमारे तालु में बहती है, उसी प्रकार **इव**=जैसे **सूर्म्यं**=प्रकाश व रश्मिजाल **सुषिराम्**=सछिद्र वस्तु में प्रवेश करता है। (२) हम प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु की वेदवाणियाँ

हमारे जीवन में इस प्रकार प्रवेश करती हैं, जैसे सछिद्र भित्ति में सूर्यरश्मियाँ। ये रश्मियाँ ही वेदवाणियों का प्रकाश ही हमारे जीवन को निर्मल बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवन को निर्मल कर देगा। हमें यह प्रकाश 'सुदेव' बना देगा।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

वपुः (यो अमुच्यत)

यो व्य॒तीँ॑रफाणय॒त्सुयु॑क्ताँ॒ उप॑ दा॒शुषे॑। त॒क्वो ने॒ता तदिद्वपु॑रुप॒मा यो अमु॑च्यत॥ १३॥

(१) **यः**=जो **दाशुषे**=दानशील अथवा अपने को प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले के लिए **वि+अतीन्**=विशिष्ट गतिवाले **सुयुक्तान्**=उत्तमता से शरीररथ सम्बद्ध (में जुते हुए) इन्द्रियाश्वों को **उप अफाणयत्**=समीपता से प्राप्त कराता है। वह प्रभु **तक्वः**=हमारे यज्ञों में प्राप्त होनेवाले हैं। वस्तुतः प्रभु ही हमें यज्ञों के प्रति प्राप्त कराते हैं। **प्रभु नेता**=वे प्रभु ही हमें मार्ग पर ले-चलनेवाले हैं नेता होते हैं तो **तद् इत्**=तब ही यह उपासक **वपुः**=सब बुराइयों का वपन (छेदन) करनेवाला होता है। **उपमा**=ये औरों के लिए उपमानभूत हो जाता है। ऐसा बन जाता है कि **यः अमुच्यत**=जो मुक्त हो जाता है। पवित्र जीवनवाले पुरुषों को लोग इससे उपमा देने लग जाते हैं यह तो पहले ऐसा पवित्र है, जैसा वह 'वपुः'।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु हमें गतिशील सुयुक्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराके उत्तम मार्ग पर ले चलेंगे। हम बुराइयों का छेदन करके उपमानभूत जीवन को प्राप्त करेंगे-जीवनमुक्त से बन जाएँगे।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'मुक्तिप्रदाता' प्रभु

अतीदु॑ श॒क्र ओ॑हत॒ इन्द्रो॒ विश्वा॒ अति॒ द्विषः॑। भि॒नत्क॒नीन॑ ओ॒द॒नं प॒च्यमा॑नं प॒रो गि॒रा॥ १४॥

(१) **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **इत् उ**=निश्चय ही **अति ओहते**=हमें भवसागर के पार ले जाता है। **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **विश्वाः द्विषः**=सब द्वेषों के **अति**=पार प्राप्त करता है। (२) वह **कनीनः**=(कन दीप्तौ) दीप्त प्रभु-प्रकाशमय प्रभु **परः**=सबसे परस्तात् वर्तमान हैं-सब गुणों के दृष्टिकोण से परे हैं-उत्कृष्ट हैं। वे प्रभु ही **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **पच्यमानं**=परिपक्व किये जाते हुए इस **ओदनं**=हमारे अन्नमय कोश को-इस स्थूल शरीर के **भिनत्**=हमारे से पृथक् करते हैं-हमें मुक्ति के मार्ग पर आगे ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही 'शक्र' हैं, 'इन्द्र' हैं। वे ही हमें सब द्वेषों से ऊपर उठाते हैं और ज्ञानाग्नि में परिपक्व करके हमें मुक्त करते हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'

अ॒र्भ॒को न कु॑मार॒कोऽधि॑ तिष्ठ॒न्नवं॒ रथ॑म्। स प॑क्षन्महि॒षं मृ॒गं पि॒त्रे मा॒त्रे वि॑भु॒क्रतु॑म्॥ १५॥

जीव को चाहिए कि **अर्भकः न**=एक छोटे बालक के समान हो। **कुमारकः**=वह सब क्रीड़ा को करनेवाला हो As innocent as a child=एक बालक के समान निर्दोष व्यवहारवाला हो-व्यर्थ में चुस्त चालाक न बने। **नवं रथं अधितिष्ठन्**=इस स्तुत्य व गतिशील (नु स्तुतौ, नव गतौ)

शरीररथ पर आरूढ़ होता हुआ **सः**=वह **पित्रे मात्रे**=पिता व माता के लिए उस **महिषं**=पूजनीय **मृगं**=अन्वेषणीय **विभुक्रतुम्**=सर्वव्यापक प्रज्ञानस्वरूप प्रभु को **पक्षत्**=परिगृहीत करे (पक्ष परिग्रहे)।

भावार्थ—हम बालकों की तरह निर्दोष जीवनवाले बनें। शरीररथ को स्तुत्य व गतिशील बनाएँ। प्रभु को ही माता व पिता समझें। प्रभु पूज्य हैं, अन्वेषणीय हैं, सर्वव्यापक व प्रज्ञानस्वरूप हैं।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु की ओर

आ तू सुशिप्र दम्पते रथं तिष्ठा हिरण्ययम्।
अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम्॥ १६॥

(१) पत्नी पति से कहती है कि हे **सुशिप्र**=शोभन हनुओं व नासिकावाले—उत्तम भोजन व प्राणायाम को करनेवाले! **दम्पते**=शरीररूप गृह का रक्षण करनेवाले जीव! **हिरण्ययं रथं**=ज्योतिर्मय शरीररथ पर **तू**=प्रातिक स्थित हो ही। इस शरीररथ को तू ज्ञानज्योति से परिपूर्ण कर। (२) **अध**=अब, जीवन को इस प्रकार सात्त्विक भोजनवाला, प्राणसाधनासम्पन्न व ज्योतिर्मय बनाने पर, हम उस प्रभु को **सचेवहि**=प्राप्त हों, जो **द्युक्षं**=सदा प्रकाश में निवास करनेवाले हैं। **सहस्रपादम्**=सहस्रों पांवोंवाले हैं—सर्वत्र गतिवाले हैं। **रुषं**=आरोचमान व (अ-रुषं) क्रोधरहित हैं। **स्वस्तिगाम्**=कल्याण की ओर गतिवाले हैं—हमें कल्याणपथ पर ले चलनेवाले हैं और **अनेहसम्**=निष्पाप हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक भोजन को करते हुए शरीररथ का रक्षण करें व इसे ज्योतिर्मय बनाएँ। पति-पत्नी मिलकर प्रकाशमय प्रभु का उपासन करें कि हमें कल्याण के मार्ग ले चलते हुए निष्पाप जीवनवाला बनाएँगे।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सुधितम् अर्थम्

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते। अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव आवर्तयन्ति दावने॥ १७॥

(१) **तं स्वराजं**=उस स्वयं देदीप्यमान प्रभु को **इत्था**=सचमुच **घा ईम्**=निश्चय से **नमस्विनः**=नमस्कारवाले **उपासते**=उपासित करते हैं। (२) **अस्य**=इस उपासक का **अर्थं**=प्राप्तव्य धन **चित्**=निश्चय से **सुधितम्**=सम्यक् स्थापित होता है। **यत्**=जो धन **एतवे**=जीवन के कार्यों को संचालित करने के लिए होता है और इस धन को वे **दावने**=हवि आदि के देने के लिए-दान के लिए **आवर्तयन्ति**=आवृत्त करते हैं।

भावार्थ—नमन से युक्त होकर हम प्रभु का उपासन करते हैं। प्रभु हमें धन देते हैं। यह धन कार्यसंचालन व दान में विनियुक्त होता है।

ऋषिः—प्रियमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रियमेधासः, वृक्तबर्हिषः, हितप्रयसः

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम्। पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत॥ १८॥

(१) **प्रियमेधासः**=बुद्धि के साथ प्रेमवाले लोग **एषाम्**=इनके अर्थात् अपने **प्रत्नस्य ओकसः अनु**=सनातन गृह को लक्ष्य करके **वृक्तबर्हिषः**=हृदयरूप क्षेत्र को वासनारूप घास-फूस से रहित करते हैं। (२) **हितप्रयसः**=हितकर (यज्ञादि उद्योगों) में लगे हुए **पूर्वां**=

सर्वमुख्य अथवा पालन व पूरण करनेवाली **प्रयतिं**=दान की प्रक्रिया को **अनु आशत**=व्याप्त करते हैं। सदा दानशील बनते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मलोकरूप अपने सनातन गृह को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम 'प्रियमेध'=बुद्धिप्रिय बनें। हृदयक्षेत्र में से हम वासनाओं के घास-फूस को उखाड़ डालें तथा सदा हितकर उद्योगों में लगे हुए हों।

गतमन्त्र में वृणत दान की प्रक्रिया से ही ये वासनारूप शत्रुओं का खण्डन करनेवाले 'पुरुहन्मा' बनते हैं। अगले सूक्त का ऋषि यह 'पुरुहन्मा' ही है। इसकी प्रार्थना का स्वरूप है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'ज्येष्ठः वृत्रहा' प्रभु

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः। विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे॥ १॥

(१) मैं उस प्रभु का **गृणे**=स्तवन करता हूँ **यः**=जो **चर्षणीनां राजा**=श्रमशील मनुष्यों के जीवन को दीप्त बनानेवाला है। **रथेभिः याता**=शरीररूप रथों से हमें प्राप्त होनेवाला है, अर्थात् उत्तम शरीररूप रथों को प्राप्त करता है। **अध्रिगुः**=अधृतगमन वाला है। (२) ये प्रभु ही **विश्वासां**=सब **पृतनानां**=शत्रुसैन्यों के **तरुता**=तैर जानेवाले हैं। वे प्रभु **ज्येष्ठः**=प्रशस्यतम हैं, **यः**=जो **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमें वासनारूप शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ करते हैं। प्रभु ही हमें उत्तम शरीररथ प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

वज्रः-सूर्यः

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो न सूर्यः॥ २॥

(१) हे **पुरुहन्मन्**=खूब ही शत्रुओं का हनन करनेवाले जीव! तू **तं**=उस **इन्द्रं**=शत्रुविद्रावक प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **शुम्भ**=अपने जीवन में अलङ्कृत कर। उस प्रभु को अलंकृत कर **यस्य द्विता**=जिसका दोनों ओर विस्तार है—उस प्रभु की अनन्त शक्ति है और अनन्त ज्ञान है। प्रभु को धारण करने पर हम भी ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करेंगे। (२) उस **विधर्तरि**=विशेष रूप से धारण करनेवाले प्रभु में **हस्ताय**=(हननाय) शत्रुसंहार के लिए **दर्शतः**=दर्शनीय **महः**=महान् **वज्रः**=वज्र **प्रतिधायि**=धारण किया जाता है। **नः**=और (च) **दिवे**=प्रकाश के लिए **सूर्यः**=सूर्य धारण किया जाता है। 'वज्र' शत्रुसंहार की शक्ति का प्रतीक है और 'सूर्य' ज्ञान का।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में प्रभु का धारण करें। प्रभु शत्रुहनन के लिए वज्र का धारण करते हैं और प्रकाश के लिए सूर्य का। प्रभु का धारण हमें शक्ति व प्रकाश प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—पुरुहन्मा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

नकिः तं कर्मणा नशत्

नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम्।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्ण्वोजसम्॥ ३॥

(१) **तं**=उस व्यक्ति को **कर्मणा**=कर्मों से **नकिः नशत्**=कोई भी व्याप्त नहीं कर पाता, अर्थात् उसके समान कोई भी महान् कर्मों को नहीं कर पाता, **यः**=जो **सदावृधं**=सदा से वर्धमान प्रभु को **चकार**=अपने अन्दर कराता है, अर्थात् जो प्रभु को अपने में धारण करता है। इस स्तोता को प्रभु की शक्ति प्राप्त होती है—इसके अन्दर प्रभु की शक्ति ही कार्य कर रही होती है। (२) **न**=(संप्रति) अब हम **यज्ञैः**=यज्ञात्मक कर्मों से **इन्द्रं**=उस प्रभु को ही उपासित करें, जो प्रभु **विश्वगूर्तम्**=सबसे स्तुति के योग्य हैं, **ऋभ्वसं**=महान् हैं। **अधृष्टं**=किसी से भी धृषत होनेवाले नहीं और **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **धृष्णवम्**=सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें असाधारण (महान्) कार्यों को करने में समर्थ करेगी। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर हम सब शत्रुओं का धर्षण कर पाएँगे।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क **देवता**—इन्द्रःङ्क **छन्दः**—पर्ि-ःङ्क **स्वरः**—पञ्चमःङ्क

द्यावः क्षामः अनोनवुः

अषाळ्हमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामो अनोनवुः॥ ४॥

(१) **द्यावः**=ये द्युलोक में होनेवाले सूर्य व **क्षामः**=पृथिवीलोक उस प्रभु का ही **अनोनवुः**=अतिशयेन स्तवन करते हैं जो **अषाढं**=शत्रुओं से कभी पराभूत नहीं होते, **उग्रं**=उद्गूर्ण बलवाले व तेजस्वी हैं तथा **पृतनासु सासहिम्**=शत्रुसैन्यों में पराभव को करनेवाले हैं। (२) **यस्मिन् जायमाने**=जिसके प्रादुर्भूत होने पर **महीः**=महत्त्वपूर्ण, **उरुज्रयः**=महान् वेग वाली, अर्थात् हमें क्रियाओं में प्रेरित करनेवाली **धेनवः**=वेदवाणीरूप गौवें **सम् अनोनवुः**=सम्यक् शब्दायमान हो उठती है। हृदय में प्रभु का प्रकाश हुआ और वेदज्ञान हमें उस-उस क्रिया में प्रेरित करने लगा।

भावार्थ—ये सूर्य आदि पदार्थ प्रभु की महिमा का ही प्रकाश कर रहे हैं। प्रभु का प्रकाश हृदय में होनेपर वेदवाणी हमारे लिए उत्कृष्ट कर्मों की प्रेरणा देनेवाली होती है।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क **देवता**—इन्द्रःङ्क **छन्दः**—विराड्बृहतीङ्क **स्वरः**—मध्यमःङ्क

ज्यायान् एभ्यः लोकेभ्यः

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमिरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यद्**=यदि **द्यावः**=ये द्युलोक **शतं**=सैंकड़ों **स्युः**=हों, तो भी **ते**=तेरा **न**=(अश्नुवन्ति) व्यापन नहीं कर सकते। **उत**=और **शतं भूमीः**=सैंकड़ों भूमियाँ हो तो ये भी तेरा व्यापन नहीं कर पातीं। (२) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **त्वा**=आपको **सहस्रं सूर्याः**=सहस्रों भी सूर्य **न**=प्रकाशित नहीं कर पाते। **जातं**=सृष्टि से पहले ही प्रादुर्भूत हुए-हुए आपको **रोदसी**=द्यावापृथिवी **न अनु अष्ट**=व्याप्त करनेवाले नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु को सहस्रों भी द्युलोक, पृथिवीलोक व सूर्य व्याप्त नहीं कर पाते। प्रभु इनसे महान् हैं।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—निचृत् पं-ःङ्क स्वरः—पञ्चमःङ्क

शवसा आपप्राथ

आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा।
अस्माँ अव मघवन्गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः ॥ ६ ॥

(१) हे **वृषन्**=सुखों का वर्षण करनेवाले **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन् प्रभो! आप **वृष्ण्या**=सुखों का वर्षण करनेवाली **महिना**=अपनी महिमा से **विश्वा**=सबको **शवसा**=बल से **आपप्राथ**=आपूरित करते हैं। प्रभु का जो भी धारण करता है, वह प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनता है। (२) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मान्**=हमें **गोमति व्रजे**=इस इन्द्रियरूप गौओंवाले शरीररूप बाड़े में **चित्राभिः ऊतिभिः**=अद्भुत रक्षणों के द्वारा **अव**=रक्षित करिये।

भावार्थ—प्रभु ही हमें शक्ति से प्रपूरित करते हैं। प्रभु के अनुग्रह से हमारा शरीररूप व्रज प्रशस्त इन्द्रियरूप गौवोंवाला होता है।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—विराड्बृहतीङ्क स्वरः—मध्यमःङ्क

अदेवः एतग्वा

न सीमदेव आपदिषं दीर्घायो मर्त्यः।
एतग्वा चिद्य एतशा युयोजते हरी इन्द्रो युयोजते ॥ ७ ॥

(१) हे **दीर्घायो**=(दीर्घ जीवनवाले) नित्य इन्द्र! **अदेवः मर्त्यः**=देव (प्रभु) से दूर रहनेवाला मनुष्य **सीम्**=निश्चय से **इषं न आपत्**=प्रभु की प्रेरणा को नहीं प्राप्त करता। प्रभु के सम्पर्क में रहनेवाला ही प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त करता है। (२) **एतग्वा**=उस श्वेत शुद्ध प्रभु की ओर गतिवाला **चित्**=ही **यः**=जो **एतशा**=शुद्ध- श्वेत वर्णवाले **हरीः**=इन्द्रियाश्वों को **युयोजते**= अपने शरीररथ में जोतता है, वही **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनकर **युयोजते**=इन्द्रियाश्वों को जोतता है।

भावार्थ—प्रभु से दूर रहनेवाला व्यक्त प्रभु-प्रेरणा को नहीं प्राप्त करता। शुद्ध प्रभु की ओर चलनेवाला मनुष्य ही जितेन्द्रिय बनकर शुद्ध इन्द्रियाश्वों को शरीररथ में जोतता है।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—आर्चीस्वराड् बृहतीङ्क स्वरः—मध्यमःङ्क

'गाधेषु आ-रणेषु वाजेषु' हव्यः

तं वो महो महाय्यमिन्द्रं दानाय सक्षणिम्।
यो गाधेषु य आरणेषु हव्यो वाजेष्वस्ति हव्यः ॥ ८ ॥

(१) **तं**=उस **वः महः**=तुम्हारे तेज (महस्=Power or Lustre) व दीप्तिरूप उस प्रभु का परिचरण करो। वे प्रभु ही तुम्हें तेजस्विता व दीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं। **महाय्यं इन्द्रं**=उस पूजनीय-शत्रुविद्रावक प्रभु को ही पूजो। **दानाय**=शत्रुओं के खण्डन के लिए **सक्षणिम्**=उपासकों के साथ समवेत होनेवाले प्रभु को पूजो। (२) **यः**=जो प्रभु **गाधेषु**=(गाधृ प्रतिष्ठायाम्) प्रतिष्ठा को प्राप्त करानेवाले कार्यों में **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। प्रभु ही तो उन कार्यों को निर्विघ्नता से पूर्ण करेंगे। **यः**=जो प्रभु **आ-रणेषु**=समन्तात् आनन्दमय-रमणीय कार्यों में भी पुकारने योग्य हैं। वे प्रभु ही **वाजेषु**=संग्रामों में **हव्यः**=पुकारने योग्य **अस्ति**=हैं। प्रभु ने ही हमें उन संग्रामों में विजय प्राप्त करानी हैं।

भावार्थ—प्रभु का पूजन करेंगे तो प्रभु की शक्ति से हम शक्तिसम्पन्न बनेंगे। तभी हम उत्तम कार्यों को करके प्रतिष्ठा को प्राप्त करेंगे। तभी उत्तम कार्यों को प्राप्त करके आनन्दित होंगे। तभी संग्रामों में विजयी होंगे।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क **देवता**—इन्द्रःङ्क **छन्दः**—बृहतीङ्क **स्वरः**—मध्यमःङ्क

राधसे, मघत्तये, श्रवसे

उदू षु णो वसो महे मृशस्व शूर राधसे। उदू षु मह्यै मघवन्मघत्तय उदिन्द्र श्रवसे महे॥ ९॥

(१) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **महे राधसे**=महान् ऐश्वर्य के लिए **उन्मृशस्व**=स्पर्श करिये। आपके सम्पर्क से हम उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करें। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **उ**=और **सु**=सम्यक् **मह्यै मघत्तये**=महान् ऐश्वर्य के दान के लिए हमें ऊँचा उठाइए (उत्थापय)। (३) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **महे श्रवसे**=महान् यश व ज्ञान के लिए **उत्**=हमें उठाइए।

भावार्थ—हम प्रभु के सम्पर्क से, ऐश्वर्य को-दान की वृत्ति को तथा महान् यश को प्राप्त करें।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क **देवता**—इन्द्रःङ्क **छन्दः**—आर्चीस्वराड् बृहतीङ्क **स्वरः**—मध्यमःङ्क

'ऋतयु' प्रभु

त्वं न इन्द्र ऋतयुस्त्वानिदो नि तृम्पसि। मध्ये वसिष्व तुविनृम्णोर्वोर्नि दासं शिश्नथो हथैः॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं**=आप **नः**=हमारे साथ **ऋतयुः**=यज्ञों को-ऋत को-जोड़नेवाले हैं। हमारे लिए यज्ञों की कामनावाले हैं। हे प्रभो! आप **त्वानिदः**=आपकी निन्दा करनेवालों को भी **नि तृम्पसि**=भोजनादि से प्रीणित करनेवाले हैं। (२) हे **तुविनृम्ण**=महान् धनवाले प्रभो! आप हमें **ऊर्वोः मध्ये वसिष्व**=अपनी जांघों के बीच में निवास कराइए-अपनी गोद में बिठाइए। आपके हम प्रिय हों। आप **दासं**=औरों का उपक्षय करनेवालों को **हथैः**=हनन-साधन आयुधों से **निशिश्नथः**=निश्चय से हिंसित करते हो।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें यज्ञशील बनाइए। हम आपके प्रिय बनें। उपक्षय करनेवाले का आप विनाश करते हैं।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क **देवता**—इन्द्रःङ्क **छन्दः**—बृहतीङ्क **स्वरः**—मध्यमःङ्क

'अन्यव्रत-अमानुष-अयज्वा-अदेवयु' का स्वर्गभ्रंश

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्। अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः॥ ११॥

(१) वह **सखा**=यज्ञशील पुरुषों का मित्र **पर्वतः**=हमारा पूरण करनेवाला प्रभु **अन्यव्रतम्**=वेदोपदिष्ट कर्मों से भिन्न कर्मों को करनेवाले को, **अमानुषम्**=निर्दय को **अयज्वानम्**=अयज्ञशील को **अदेवयुम्**=दिव्यगुणों को प्राप्त करने की कामना न करनेवाले का **स्वः**=स्वर्ग से **अवदुधुवीत**=कम्पित करके दूर कर देता है। 'अन्यव्रत, अमानुष, अयज्वा, अदेवयु' को सुख प्राप्त नहीं होता। (२) **पर्वतः**=वह पूरण करनेवाला प्रभु **दस्युं** [illegible] **सुघ्नाय**=सम्यक् हनन के लिए प्रेरित कर इस दस्यु का आप विनाश करिये।

भावार्थ–प्रभु 'अन्यव्रत, अमानुष, अयज्वा, अदेवयु' पुरुष को सुखों से पृथक् करते हैं। दस्यु का प्रभु विनाश करते हैं।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—आर्चीबृहतीङ्क स्वरः—मध्यमःङ्क

द्विः संगृभाय

त्वं न इन्द्रासां हस्ते शविष्ठ दावने। धानानां न सं गृभायास्मयुर्द्विः सं गृभायास्मयुः॥ १२॥

(१) हे **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिमन् **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वं**=आप **नः**=हमारे लिये **दावने**=देने के लिए **आसां धानानां**=इन धानों को **हस्ते**=हाथ में **संगृभाय**=सम्यक् ग्रहण करिये। **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले आप **धानानां न**=धानों के समान हमारे लिए आवश्यक वस्तुओं का ग्रहण करिये। (२) ग्रहण ही क्या? **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले आप **द्विःसंगृभाय**=दो बार इन धानों का **संगृभाय**=सम्यक् ग्रहण करिये।

भावार्थ–प्रभु हमारे लिए आवश्यक धन-धान्य की कमी न होने दें।

सूचना–'धानानां द्विः संगृभाय' शब्दों में दो बार के भोजन का संकेत स्पष्ट है।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—उष्णिक्ङ्क स्वरः—ऋषभःङ्क

'भोजः सूरिः अह्रयः' प्रभु

सखायः क्रतुमिच्छत कथा राधाम शरस्य। उपस्तुतिं भोजः सूरिर्यो अह्रयः॥ १३॥

(१) हे **सखायः**=मित्रो! **क्रतुं**=यज्ञ, शक्ति व प्रज्ञान की **इच्छत**=कामना करो। **कथा**=किसप्रकार हम **शरस्य**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभु की **उपस्तुतिं राधाम**=आराधना कर सकें। यज्ञों के द्वारा ही तो प्रभु का पूजन होगा। प्रज्ञान से व शक्ति के सम्पादन से ही तो हम प्रभु के प्रिय बन पाएँगे। (२) वे प्रभु **भोजः**=सबका पालन करनेवाले हैं। **सूरिः**=सबको प्रेरणा देनेवाले हैं (षू प्रेरणे)। **यः**=जो प्रभु **अह्रयः**=अतिशयेन बुद्धिमान् हैं अथवा शुद्ध होने से लज्जाशून्य हैं।

भावार्थ–वे प्रभु पालन करनेवाले, प्रेरणा देनेवाले व अतिशयेन बुद्धिमान् हैं। इस प्रभु का हम 'यज्ञों, शक्तियों व प्रज्ञानों' के द्वारा आराधन करें।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—भुरिगनुष्टुपङ्क स्वरः—गान्धारःङ्क

भूरिभिः, बर्हिष्मद्भिः, ऋषिभिः

भूरिभिः समह ऋषिभिर्बर्हिष्मद्भिः स्तविष्यसे। यदित्थमेकमेकमिच्छर वत्सान्पराददः॥ १४॥

(१) हे **समह**=समानरूप से सबसे पूज्य प्रभो! आप **भूरिभिः**–(भृ धारणपोषणयोः) धारण व पोषण करनेवाले, **बर्हिष्मद्भिः**=वासनाशून्य हृदयोंवाले **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों से **स्तविष्यसे**=स्तुति किये जाते हैं। (२) **यत्**=क्योंकि हे **शर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **इत्थम्**=इस प्रकार-स्तवन किये जाने पर **वत्सान्**=अपने इन प्रिय उपासकों को **एकम् एकम् इत्**=निश्चय से एक-एक वस्तु **पराददः**=देते हैं। प्रभु का उपासक प्रभु से सब आवश्यक धनों को प्राप्त करता है। योगक्षेम को चलानेवाले प्रभु ही तो हैं।

भावार्थ–उपासक वह है जो शरीर का ठीक पालन व पोषण करे, हृदय को वासना-शून्य बनाए, मस्तिष्क में ऋषितुल्य ज्ञानवाला हो। प्रभु इन वत्सों को सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—पुरुहन्माङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—निचृदुष्णिक्ङ्क स्वरः—ऋषभःङ्क

कर्णगृह्या 'त्रिभ्यः'

कर्णगृह्या मघवा शौरदेव्यो वत्सं नस्त्रिभ्य आनयत्। अजां सूरिर्न धातवे॥ १५॥

(१) **मघवा**=ऐश्वर्यशाली, **शौरदेव्यः**=(शूरश्च असौ देवश्च, स्वार्थे ष्यञ्) शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला, प्रकाशमय प्रभु **नः**=हमें **कर्णगृह्या**=कानों से पकड़कर **त्रिभ्य आनयत्**='ज्ञान, कर्म व उपासना' इन तीनों के लिए प्राप्त कराता है। उचित दण्ड देता हुआ वह प्रभु हमें ठीक मार्ग से चलाकर मस्तिष्क में ज्ञानसम्पन्न, हाथों में यज्ञादि कर्मोंवाला तथा हृदय में उपासनावाला बनाता है। (२) प्रभु हमें इन तीनों के लिए इस प्रकार प्राप्त करता है **न**=जैसे **सूरिः**=एक समझदार व्यक्ति **धातवे**=दूध पीने के लिए **वत्सं**=मेमने को (बच्चे को) **अजां**=बकरी को प्राप्त कराता है। उस विद्वान् को वत्स से वैर नहीं होता। इसी प्रकार प्रभु भी हमें हित की भावना से ही कानों में पकड़कर 'ज्ञान' आदि की ओर ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु मघवा हैं, शौरदेव्य हैं। वे हमें कानों से पकड़कर 'ज्ञान, कर्म व उपासना' की ओर ले चलते हैं।

ज्ञान, कर्म व उपासना में चलता हुआ यह 'सुदीति' उत्तम दीप्तिवाला बनता है (दी-to shine) यह सबके लिए सुखों का सेचन करनेवाला 'पुरुमीढ' होता है। यह प्रार्थना करता है कि—

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरःङ्क देवता—अग्निःङ्क छन्दः—विराड्गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

'अरातेः, द्विषः' पाहि

त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः। उत द्विषो मर्त्यस्य॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **महोभिः**=तेजस्विताओं के द्वारा-हमारे में तेजस्विता का स्थापन करके **विश्वस्याः**=सबके अन्दर प्रवेश कर जानेवाली (विशति) **अरातेः**=अदानवृत्ति से **पाहि**=बचाइए। तेजस्वी बनकर हम कृपणता से ऊपर उठें। तेजस्वी सदा दानशूर होता है। (२) **उत**=और हे प्रभो! **मर्त्यस्य**=मनुष्यमात्र के प्रति **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से भी हमें (पाहि) बचाइए। हम किसी के प्रति द्वेषवाले न हों।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें तेजस्वी बनाए। तेजस्विता हमें अदानवृत्ति व द्वेष की भावनाओं से दूर करे।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरःङ्क देवता—अग्निःङ्क छन्दः—निचृद्गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

'पौरुषेय मन्यु' से अनाक्रान्त

नहि मन्युः पौरुषेय ईशे हि वः प्रियजात। त्वमिदसि क्षपावान्॥ २॥

(१) हे **प्रियजात**=(प्रियेषु जातः) यज्ञादि द्वारा आपका प्रीणन करनेवालों में प्रादुर्भूत होनेवाले प्रभो! **पौरुषेय मन्युः**=पुरुषों में आ जानेवाला क्रोध **हि**=निश्चय से **वः**=आपके उपासकों को **नहि ईशे**=अपने अधीन नहीं कर लेता—क्रोध उनका स्वामी नहीं बन जाता। (२) **त्वम् इत्**=आप ही **वस्तुतः क्षपावान् असि**=सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं को परे फेंकनेवाले हैं। आप ही इन्हें हमारे से दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें क्रोध के आक्रमण से बचाए।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उर्जोनपात्+भद्रशोचे

स नो विश्वेभिर्देवेभिरूर्जो नपाद्भद्रशोचे। रयिं देहि विश्ववारम्॥ ३॥

(१) हे **ऊर्जोनपात्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले **भद्रशोचे**=कल्याणकर दीप्तिवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **विश्वेभिः देवेभिः**=सब दिव्यगुणों के साथ **रयिं**=धन को **देहि**=दीजिए, जो धन **विश्ववारम्**=सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है। (२) हम प्रभु का उपासन करेंगे तो प्रभु के अनुग्रह से जहाँ शक्ति को प्राप्त करेंगे, वहाँ साथ ही कल्याणकर दीप्ति को प्राप्त करनेवाले बनेंगे। यह शक्ति व दीप्ति हमें दिव्य- गुणों के साथ वरणीय धन को प्राप्त कराएगी।

भावार्थ—प्रभु शक्ति को न गिरने देनेवाले व कल्याणकर दीप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं। इनको प्राप्त करके हम दिव्यगुणों व वरणीय धनों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अरातयः रायो न युवन्त

न तमग्ने अरातयो मर्तं युवन्त रायः। यं त्रायसे दाश्वांसम्॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तं मर्तम्**=उस मनुष्य को **अरातयः**=शत्रु **रायः**=धन से **न युवन्त**=पृथक् नहीं कर पाते, **यं**=जिस **दाश्वांसम्**=दानशील को आप **त्रायसे**=रक्षित करते हैं। (२) हम दाश्वान् बनें। दानशील पुरुष सदा प्रभु का प्रिय होता है, क्योंकि यह धन के प्रति आसक्तिवाला नहीं होता। हम प्रभु के प्रिय होंगे तो कोई भी हमें धनों से पृथक् न कर पाएगा।

भावार्थ—दानशील व्यक्ति प्रभु से रक्षण को प्राप्त करता है। इसे कोई भी ऐश्वर्य से पृथक् करनेवाला नहीं होता।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

गोषु गन्ता

यं त्वं विप्र मेधसातावग्ने हिनोषि धनाय। स तवोती गोषु गन्ता॥ ५॥

(१) हे **विप्र**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यं**=जिस भी व्यक्ति को **त्वं**=आप **मेधसातौ**=यज्ञों की प्राप्ति के निमित्त **धनाय हिनोषि**=धन के लिए प्रेरित करते हैं। **सः**=वह **तव ऊती**=आपके रक्षणों के द्वारा **गोषु गन्ता**=ज्ञान की वाणियों में गतिवाला होता है। (२) हम प्रभु की उपासना करते हैं तो प्रभु हमें यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। उन यज्ञादि के लिए आवश्यक धनों को भी प्राप्त कराते हैं। यह उपासक धनों का यज्ञों में विनियोग करता हुआ विषयों में नहीं फंसता और उत्कृष्ट ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को यज्ञों के लिए धनों की कमी नहीं होने देते। प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ यह व्यक्ति ज्ञान की वाणियों की ओर चलता है।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वस्यः अच्छ

त्वं रयिं पुरुवीरमग्ने दाशुषे मर्ताय। प्र णो नय वस्यो अच्छ॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वं**=आप **दाशुषे मर्ताय**=दाश्वान्-दानशील-मनुष्य के लिए **पुरुवीरं**=पालक व पूरक वीरता से युक्त **रयिं**=धन को अथवा वीर सन्तानोंवाले धन को प्राप्त कराते

हैं। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमें भी **वस्यः**=उत्कृष्ट धन की **अच्छ**=ओर प्रयाण=प्रकर्षेण ले चलिये।

भावार्थ—हम दाश्वान् (दानशील) बनें। प्रभु हमें वीर सन्तानोंवाले धन को प्राप्त कराएँगे। प्रभु सदा हमें प्रशस्त धन की ओर ले चलें।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'अघायते दुराध्ये' मा परादाः

उरुष्या णो मा परा दा अघायते जातवेदः। दुराध्ये३ मर्ताय॥ ७॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ व सर्वधन प्रभो! आप **नः**=हमें **उरुष्य**=रक्षित करिये। (२) आप हमें **अघायते**=पाप की इच्छावाले **दुराध्ये**=दुष्ट ध्यानवाले—दुर्विचिन्तक **मर्ताय**=पुरुष के लिए **मा परादाः**=मत दे डालिये। ऐसे पुरुषों के वश में हमें न करिये।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से इस जीवन-संग्राम में हम दुष्ट विचारों से बचें तथा दुष्ट विचारवालों के वशीभूत भी न हो जायें।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु की देन को कोई नहीं रोक पाता

अग्ने माकिष्टे देवस्य रातिमदेवो युयोत। त्वमीशिषे वसूनाम्॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तं देवस्य रातिम्**=आप देव के दान को **अदेवा**=कोई भी अदेव-दानवीवृत्तिवाला पुरुष **माकिः युयोत**=हमारे से पृथक् न करे। हम प्रभु को दानों को सदा प्राप्त करते रहें। (२) हे प्रभो! **त्वं**=आप ही **वसूनाम् ईशिषे**=सब वसुओं के ईश हैं। आप ही सब वसुओं के देनेवाले हैं। देनेवाले आपको रोक ही कौन सकता है।

भावार्थ—प्रभु की देन को कोई भी अदेव वृत्तिवाला पुरुष विहत नहीं कर सकता। प्रभु ही सब वसुओं के ईश हैं।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'माहिनस्य वस्वः' उपमासि

स नो वस्व उप मास्यूर्जो नपान्माहिनस्य। सखे वसो जरितृभ्यः॥ ९॥

(१) हे **ऊर्जो नपात्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **माहिनस्य**=महत्त्वपूर्ण—हमारे जीवन को महनीय बनानेवाले **वस्वः**=धन को **उपमासि**=समीप निर्मित करते हैं अर्थात् प्राप्त कराते हैं। (२) हे **सखे**=मित्र **वसो**=सबको बसानेवाले प्रभो! **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए आप धन को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तोता को महनीय धन प्राप्त कराते हैं, वह धन जो उसे शक्ति से भ्रष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'गिरः+यज्ञासः'

अच्छा नः शीरशोचिषं गिरो यन्तु दर्शतम्। अच्छा यज्ञासो नमसा पुरूवसुं पुरुप्रशस्तमूतये॥ १०॥

(१) **नः गिरः**=हमारी ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तुतिवाणियाँ **शीरशोचिषं**=काम-क्रोध आदि के विनाशक ज्ञानदीप्तिवाले **दर्शतम्**=दर्शनीय प्रभु को **अच्छा**=ओर **यन्तु**=जाएँ-प्राप्त हों। हम प्रभु

का स्तवन करें। (२) **नमसा**=नमन के साथ **यज्ञासः**=यज्ञ भी उस **पुरुवसुं**=पालक व पूरक धनोंवाले **पुरुप्रशस्तं**=अतिशयेन प्रशस्त प्रभु को **अच्छा (यन्तु)**=प्राप्त हों, अर्थात् हम नमन के साथ यज्ञों के द्वारा प्रभु को प्राप्त करें। **ऊतये**=ये प्रभु ही हमारे रक्षण के लिए हैं। हम प्रभु का उपासन करते हैं, प्रभु हमारा रक्षण।

भावार्थ—स्तुतिवाणियों, यज्ञों व नमन के द्वारा हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें सब आवश्यक धनों को (पुरुवसु) प्राप्त कराके तथा प्रशस्त जीवनवाला (पुरुप्रशस्त) बनाकर रक्षित करेंगे।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

द्विता, अमृतः होता मन्द्रतमः

अ॒ग्निं सू॒नुं सह॑सो जा॒तवे॑दसं दा॒नाय॒ वार्या॑णाम्।
द्वि॒ता यो भूद॒मृतो॒ मर्त्ये॒ष्वा होता॑ म॒न्द्रत॑मो वि॒शि॥ ११॥

(१) हमारी स्तुतिवाणियाँ (**गिरः यन्तु**=) उस प्रभु की ओर प्राप्त हों जो **अग्निं**=अग्रणी हैं, **सहसः सूनुं**=बल के पुत्र-पुतले-पुञ्ज हैं, **जातवेदसं**=सर्वज्ञ व सर्वधन हैं। उस प्रभु को हमारी स्तुतिवाणियाँ प्राप्त हों, जिससे प्रभु **वार्याणाम् दानाय**=वरणीय धनों के देने के लिए हैं। (२) उस प्रभु का हम स्तवन करें **यः**=जो **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **द्विता**=(द्वौ तनोति) दो का, ज्ञान व शक्ति का विस्तार करनेवाले **भूत्**=होते हैं। वे प्रभु **विशि**=सब प्रजाओं में **आ होता**=समन्तात् देनेवाले होते हैं, तथा **अमृतः**=नीरोगता को देनेवाले व **मन्द्रतमः**=(मादयितृतमः) अतिशयेन आनन्दित करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें ज्ञान देंगे व शक्ति देंगे। प्रभु होता, अमृत व मन्द्रतम हैं।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

क्षैत्राय साधसे

अ॒ग्निं वो॑ देव॒यज्य॑या॒ग्निं प्र॑य॒त्य॑ध्व॒रे। अ॒ग्निं धी॒षु प्र॑थ॒मम॒ग्निमर्व॑त्य॒ग्निं क्षैत्रा॑य॒ साध॑से॥ १२॥

(१) **वः**=तुम्हारे **देवयज्यया**=दिव्यगुणों के संगतिकरण के हेतु से **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को स्तुत करता हूँ। इस **प्रयति अध्वरे**=चल रहे जीवनयज्ञ में प्रभु का स्तवन करता हूँ। वस्तुतः प्रभु स्तवन ही जीवन को यज्ञमय बनाता है। (२) **धीषु**=बुद्धियों के निमित्त उस **प्रथमं अग्निं**=सर्वमुख्य प्रभु को स्तुत करता हूँ 'धियो यो नः प्रचोदयात्'। **अर्वति**=शत्रुओं के संहार के निमित्त **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को स्तुत करता हूँ। **क्षैत्राय**=इस शरीर-क्षेत्र सम्बन्धी **साधसे**=साधना के लिए- शरीर को पूर्णरूप से स्वस्थ रखने के लिए **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को स्तुत करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन ही हमें दिव्यगुणों से सम्पृक्त करेगा, इसी से जीवन यज्ञमय बनेगा, बुद्धि प्रशस्त होगी, शत्रुओं का संहार होगा व शरीररूप क्षेत्र की साधना पूर्ण होगी।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वसुं-सन्तं-तनूपाम्

अ॒ग्निरि॒षां स॒ख्ये द॑दातु न॒ ईशे॒ यो वार्या॑णाम्।
अ॒ग्निं तो॒के तन॑ये॒ शश्व॑दीमहे॒ वसुं॒ सन्तं॑ तनू॒पाम्॥ १३॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **सख्ये**=मित्रभूत जीव के लिए **इषां ददातु**=प्रेरणा को प्राप्त कराएँ। प्रभु की प्रेरणा ही हमें जीवनमार्ग से भ्रष्ट होने से बचाएगी। वे प्रभु **यः**=जो **नः**=हमारे लिए **वार्याणाम्**=वरणीय वस्तुओं के **ईशे**=ईश हैं। (२) **अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को **तोके**=पुत्रों के निमित्त तथा **तनये**=पौत्रों के निमित्त **शश्वद्**=सदा **ईमहे**=याचना करते हैं। उस प्रभु को जो **वसुं**=सबको बसानेवाले हैं। **सन्तम्**=सत् हैं तथा **तनूपाम्**=हमारे शरीरों का रक्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रेरणा देते हैं, वरणीय धनों को प्राप्त कराते हैं, पुत्रों व पौत्रों का रक्षण करते हैं, बसानेवाले हैं, सत् हैं और हमारे शरीरों का रक्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सुदीतये छर्दिः

अ॒ग्निमी॑ळि॒ष्वाव॑से॒ गाथा॑भिः शी॒रशो॑चिषम्। अ॒ग्निं रा॒ये पु॑रुमीळ्ह श्रु॒तं नरो॒ऽग्निं सु॑दी॒तये॑ छ॒र्दिः॥ १४॥

(१) **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **गाथाभिः**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **ईडिष्व**=उपासित कर। हे **पुरुमीढ**=खूब ही शक्ति का अपने में सेचन करनेवाले उपासक! तू **राये**=ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए **शीरशोचिषं**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाली ज्ञानदीप्तिवाले **श्रुतं**=उस प्रसिद्ध **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को उपासित कर। (२) हे **नरः**=मनुष्यो! **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु **सुदीतये**=उत्तम दीप्तिवाले नर के लिए—खूब ज्ञान को प्राप्त करनेवाले मनुष्य के लिए **छर्दिः**=शरणस्थान व गृह हैं। सुदीति को वे प्रभु शरण देनेवाले हैं।

भावार्थ—हम स्तुतिवाणियों से प्रभु का अर्चन करें। प्रभु ही हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही ज्ञानदीप्तिवाले के लिए शरणस्थान हैं।

ऋषिः—सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतरः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

वस्तुः ऋषूणाम्

अ॒ग्निं द्वेषो॒ योत॒वै नो॑ गृणीमस्य॒ग्निं शं योश्च॒ दात॑वे।
विश्वा॑सु वि॒क्ष्व॑वि॒तेव॒ हव्यो॒ भुव॒द्वस्तु॑र्ऋषू॒णाम्॥ १५॥

(१) **अग्निं**=उस परमात्मा को **गृणीमसि**=हम स्तुत करते हैं, जिससे **नः द्वेषः योतवै**=हमारे से द्वेष की भावनाओं को वे दूर करें। **अग्निं**=उस परमात्मा को हम **शं**=शान्ति **च**=तथा **योः**=भयों के यावन को देने के लिए पुकारते हैं। (२) वे प्रभु **विश्वासु विक्षु**=सब प्रजाओं में **अविता इव**=रक्षक के समान **हव्यः भुवत्**=पुकारने योग्य होते हैं। वे प्रभु **ऋषूणाम्**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के **वस्तुः**=उत्तम निवास का कारण होते हैं।

भावार्थः—प्रभु का उपासन हमें 'निर्द्वेष-शान्त व निर्भय' बनाता है। प्रभु हमारे रक्षक हैं, तत्त्वद्रष्टाओं के वस्तु (निवासक) हैं।

गतमन्त्र के अनुसार 'निर्द्वेष, शान्त व निर्भय' बनकर हम 'हर्यत' बनते हैं—उत्तम गति व कान्तिवाले। प्रभु का स्तवन करने से 'प्रागाथ' होते हैं। 'हर्यत प्रागाथ' ही अगले सूक्त के ऋषि हैं :—

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अध्वर्यु

ह॒विष्कृ॑णुध्व॒मा ग॑म॒दध्व॒र्युर्व॑नते॒ पुनः॑। वि॒द्वाँ अ॑स्य प्र॒शास॑नम्॥ १॥

(१) हे मनुष्यो! **हविः कृणुध्वम्**=हवि को सम्पादित करो-जीवन में त्यागपूर्वक अदन वाले बनो। (हु दानादनयोः)। प्रभु का वास्तविक पूजन इस हवि के द्वारा ही होता है। '**कस्मै देवाय हविषा विधेम**'। हवि के होने पर ही **आगमत्**=वे प्रभु आते हैं। प्रभु की प्राप्ति यज्ञशील व्यक्ति को ही होती है। (२) **पुनः**=फिर **अध्वर्युः**=यज्ञशील व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु की **प्रशासनं**=आज्ञा को **विद्वान्**=जानता हुआ **वनते**=यज्ञ का संभजन करता है-यज्ञों को करता हुआ ही हो तो वह प्रभु का उपासन कर पाता है '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**'।

भावार्थ-हम हवि के द्वारा प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा ॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

होतृत्व व प्रभु की मित्रता

नि तिग्ममभ्यं१ंशुं सीदद्धोता मनावधि। जुषाणो अस्य सख्यम्॥ २॥

(१) यह **होता**=यज्ञशील पुरुष **तिग्मं अंशुम् अभि**=अग्नि की तेज दीप्ति (ज्वाला) के सामने **मनौ अधि**=उस ज्ञानपुञ्ज प्रभु के अधिष्ठतृत्व में **निसीदत्**=आसीन होता है। प्रभुस्मरण करता हुआ यज्ञ को करता है। (२) यह होता **अस्य**=इस प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता का **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। यज्ञ के द्वारा ही तो हम प्रभु के प्रिय बन पाते हैं।

भावार्थ-हम प्रभु का उपासन करते हुए अग्नि में आहुति देनेवाले बनें। यह होता बनना ही हमें प्रभु का प्रिय बनाएगा।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया। गृभ्णन्ति जिह्वया ससम्॥ ३॥

(१) **जने अन्तः**=प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले व्यक्ति के अन्दर वर्तमान **तं**=उस **रुद्रं**=दुःखों के द्रावक प्रभु को **मनीषया**=बुद्धि के द्वारा **इच्छन्ति**=प्राप्त करना चाहते हैं। वे प्रभु **परः**=(परस्तात्) इन्द्रियों से परे हैं। इन्द्रियों का विषय नहीं बनते। (२) इस **ससम्**=सबके अन्दर प्रसुप्त प्रभु को **जिह्वया**=जिह्वा से उच्चारित स्तुति के द्वारा **गृभ्णन्ति**=ग्रहण करते हैं। प्रभु का ज्ञान स्तोता को ही हो पाता है।

भावार्थ-प्रभु हृदयदेश में शयन करते हैं। वहाँ प्रभु का स्तोता लोग बुद्धि के द्वारा ग्रहण करते हैं।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

दृषद्-वध

जाम्यतीतपे धनुर्वयोधा अरुहद्वनम्। दृषदं जिह्वयावधीत्॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का स्तवन करने पर **जामि धनुः**=हमें खा जानेवाला कामदेव का धनुष् **अतीतपे**=अतिशयेन तप्त होता है, अर्थात् कामदेव का धनुष् हमें विद्ध नहीं कर पाता। ऐसा होने पर **वयोधाः**=आयुष्य का धारण करनेवाला सोम **वयनम् अरुहत्**=इस शरीरगृह में आरोहण करता है, अर्थात् सोम की ऊर्ध्वगति होती है। (२) यह स्तोता **जिह्वया**=जिह्वा प्रभव स्तुति के द्वारा **दृषदं**=पाषाण तुल्य दृढ़ वासनाओं को **अवधीत्**=विनष्ट करता है। वासना 'दृषत्' है (दृ+सद्)-हमारा विदारण करके भी बनी रहती है। स्तोता ही इसका वध कर पाता है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से कामदेव का धनुष सन्तप्त होकर भस्म हो जाता है। शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होती है। स्तुतिद्वारा वासनाओं का वध होता है।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

चरन्, वत्सः, रुशन्

चर॑न्व॒त्सो रुश॑न्नि॒ह नि॑दा॒तारं॒ न वि॑न्दते। वेति॒ स्तोत॑व अ॒म्ब्य॑म्॥ ५॥

(१) **चरन्**=खूब गतिशील होता हुआ **वत्सः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला (वदति) **इह**=इस जीवन में **रुशन्**=ज्ञान से चमकता हुआ होता है—शुभ्र जीवनवाला होता है। यह **निदातारं**=(दाप् लवने) काटनेवाली वासनाओं को **न विन्दते**=नहीं प्राप्त करता है। इसे वासनाएँ विदीर्ण नहीं कर पातीं। (२) यह वत्स **स्तोतवे**=स्तुति के लिए **अम्ब्यम्**=‘ज्ञान, कर्म व उपासना’ की त्रिविध वाणियों का उच्चारण करनेवाले प्रभु को **वेति**=(कामयते) चाहता है। प्रभु का स्तवन ही तो इसे वासनाओं से विदीर्ण नहीं होने देता।

भावार्थ—शरीर में ‘चरन्’, मन या वाणी में ‘वत्स’, मस्तिष्क में ‘रुशन्’ बनते हुए हम प्रभु के स्तवन की ही कामना करें। ऐसा होने पर हमें वासनाएँ विदीर्ण न कर पाएँगी।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

बृहत् योजनम्

उ॒तो न्व॑स्य॒ यन्म॒हदश्वा॑व॒द्योज॑नं बृ॒हत्। दा॒मा रथ॑स्य॒ ददृ॑शे॥ ६॥

(१) **उत**=और **उ**=निश्चय से **नु**=अब **अस्य**=इस स्तोता का **यत्**=जो **महत्**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **अश्वावत्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला **बृहत् योजनम्**=वृद्धि का कारणभूत योजन है—शरीररथ में इन्द्रियाश्वों का जोतना है यह **ददृशे**=दिखता है। (२) यह योजन **रथस्य**=शरीररथ का **दामा**=एक महान् बन्धन है। यह बन्धन ही इस रथ को विषयों के पत्थरों से टकराकर टूटने से बचाता है।

भावार्थ—स्तोता इन्द्रियाश्वों को शरीररथ में इस प्रकार जोतता है कि यह रथ आगे और आगे बढ़ता चलता है और विषयों से टकराकर चूर-चूर नहीं हो जाता।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दुहन्ति सप्त एकाम्

दु॒हन्ति॑ स॒प्तैका॒मुप॒ द्वा पञ्च॑ सृजतः। ती॒र्थे सिन्धो॒रधि॑ स्व॒रे॥ ७॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार शरीररथ का ठीक से योजन होने पर **सप्त**=शरीररथ सात ऋषि ‘कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्’ कर्ण आदि **एकाम्**=इस अद्वितीय वेदधेनु का **दुहन्ति**=दोहन करते हैं। सातों इन्द्रियाँ ज्ञान को प्राप्त करानेवाली होती हैं। (२) वेदधेनु का दोहन होने पर इस समय **द्वा**=दो—प्राण और अपान **पञ्च**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों को **सिन्धोः**=ज्ञानसमुद्र के **तीर्थे**=घाट पर **स्वरे अधि**=उस स्वयं राजमान प्रभु के **उपसृजतः**=समीप संसृष्ट करते है। प्राणसाधना के द्वारा इन्द्रियाँ, विषयों में न जाकर प्रभुप्रवण होती हैं।

भावार्थ—हम कान आदि के द्वारा ज्ञान का वर्धन करें। प्राणसाधना द्वारा इन्द्रियों को प्रभुप्रवण करें।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ देवता—अग्निर्हवींषि वा॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विवस्वान् के कोश का आच्यवन

आ दुशभिर्विवस्वत इन्द्रः कोशमचुच्यवीत्। खेदया त्रिवृता दिवः॥ ८॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **दशभिः**=दसों इन्द्रियों के द्वारा **विवस्वतः कोशम्**=प्रकाशमय प्रभु के ज्ञान के कोश को **आ अचुच्यवीत्**=अपने अन्दर क्षरित करता है। (२) **दिवः**=ज्ञान की **खेदया**=रश्मि के **त्रिवृतता**=(त्रिषु वर्तते) प्रकृति, जीव, परमात्मा में वर्तनेवाली हेतु से यह जितेन्द्रिय पुरुष विवस्वान् के कोश को अपने में क्षरित करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर हम दसों इन्द्रियों से ज्ञान का वर्धन करनेवाले बनें। हमें प्रकृति, जीव व परमात्मा के ज्ञान की रश्मियाँ प्राप्त हों।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ देवता—अग्निर्हवींषि वा॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

होतारः मध्वा अञ्जते

परि त्रिधातुरध्वरं जूर्णिरेति नवीयसी। मध्वा होतारो अञ्जते॥ ९॥

(१) **त्रिधातुः**='वात-पित्त-कफ' से धारण किया जानेवाला यह शरीर **नवीयसी**=नवीन-स्तुत्य-शक्ति से **जूर्णिः**=वेगवान् होकर **अध्वरं परि एति**=यज्ञात्मक कर्मों में गतिवाला होता है। (२) **होतारः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले लोग **मध्वा**=माधुर्य से **अञ्जते**=जीवन को अलङ्कृत करते हैं।

भावार्थ—यदि जीवन को शक्तिशाली बनाकर हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं तो जीवन को मधुर बना पाते हैं।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ देवता—अग्निर्हवींषि वा॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'उच्चाचक्रं नीचीनबारम्' अवतम्

सिञ्चन्ति नमसावतमुच्चाचक्रं परिज्मानम्। नीचीनबारमक्षितम्॥ १०॥

(१) यह शरीर आत्मा का निवास स्थान होने से रक्षणीय है, सो 'अवत' है। इसमें मूलाधार चक्र से ऊपर उठते-उठते हम सहस्रार चक्र तक पहुँचते हैं। ये चक्र आठ हैं 'अष्टचक्रा नवद्वारा०'। 'शिश्न व गुदा' नामक दो मलद्वार इसमें नीचे की ओर हैं, सो यह 'उच्चाचक्र' व 'नीचीनवद्वार' है। विविध गतियोंवाला होने से यह 'परिज्मा' है। (२) **अवतम्**=रक्षणीय इस शरीर को **नमसा**=प्रभु के प्रति नमन के द्वारा **सिञ्चन्ति**=शरीर में सुरक्षित सोमशक्ति से **सिञ्चन्ति**=सींचते हैं। यह शक्ति ही इस शरीर का रक्षण करती है। (३) यह शरीर **उच्चाचक्रम्**=एक के ऊपर दूसरा, इस प्रकार ऊपर और ऊपर आठ चक्रोंवाला है। **परिज्मानम्**=चारों ओर गतिवाला है। **नीचीनबारम्**=नीचे अधोमुख दो मलद्वारोंवाला है और **अक्षितम्**=न क्षीण होनेवाला व पुष्ट है।

भावार्थ—शरीर को हमें शक्ति के रक्षण के द्वारा परिपुष्ट रखना है। निवासस्थान के रूप में यह रक्षणीय है। इसमें आठ चक्र हैं। नीचे दो मलद्वार हैं। यह समन्तात् गतिवाला है—गति के धारण से ही इसमें शक्ति बनी रहती है।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ देवता—अग्निर्हवींषि वा॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जीवन्मुक्त का मधुर हृदय

अभ्यारमिदद्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु। अवतस्य विसर्जने॥ ११॥

(१) **अद्रयः**=(आद्रियमाणाः) प्रभु का पूजन (worship) करनेवाले **अभि+आरम् इत**=उस प्रभु की ओर जाकर ही **अवतस्य**=इस शरीर के **विसर्जने**=विसर्जन में समर्थ होते हैं। शरीर को वे ही छोड़ पाते हैं—इस जन्म-मरण के चक्र से वे ही छूट पाते हैं, जो प्रभु का उपासन करते हैं। (२) इन उपासकों के **पुष्करे**=हृदयकमल में अथवा हृदयान्तरिक्ष में **मधुः निषिक्तम्**=मधु सिक्त हुआ-हुआ होता है, अर्थात् इनके हृदय माधुर्य से परिपूर्ण होते हैं। एक उपासक राग-द्वेष से शून्य हृदयवाला होता हुआ सबके प्रति माधुर्य को लिए हुए होता है।

भावार्थ—उपासक का हृदय सबके प्रति मधुरता से परिपूर्ण होता है। ये जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मही यज्ञस्य रप्सुदा

गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया॥ १२॥

(१) हे **गावः**=वेदवाणीरूप गौओ! **अवतं**=इस आत्मा के निवासस्थानभूत और अतएव रक्षणीय शरीर का **उपावत**=समीपता से रक्षण करो। हमें इन वेदवाणियों का सदा सान्निध्य प्राप्त हो और हम इनके अनुसार जीवन को बनाते हुए इस शरीर का रक्षण कर पाएँ। (२) **मही**-यह पृथिवी **यज्ञस्य**=यज्ञ के **रप्सु-दा**=प्रारम्भ करने की कामनावाले के लिए फल को देनेवाली है। हम यज्ञशील बनें और हमारे लिए यह पृथिवी सब उत्कृष्ट कामों का-काम्य पदार्थों का-दोहन करनेवाली होगी। (३) **उभा कर्णा हिरण्यया**=हमारे दोनों कान ज्योतिर्मय बनें। वेदवाणियों को सुनते हुए वे प्रकाश से परिपूर्ण हों। (४) निरुक्त २.११ के अनुसार 'मही' का अर्थ गौ है। यह वेदवाणीरूप गौ **यज्ञस्य**=यज्ञ का **रप्-सु-दा**=मन्त्रशब्दों के द्वारा सम्यक् उपदेश देनेवाली हैं। इस उपदेश से ही हमारे दोनों कान ज्योतिर्मय बनते हैं।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौएँ हमारे शरीर का रक्षण करती हैं। यह वेदवाणी यज्ञों का उत्तम उपदेश देती हुई हमारे कानों को ज्योतिर्मय बनाती हैं।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

रसा दधीत वृषभम्

आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम्। रसा दधीत वृषभम्॥ १३॥

(१) **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर **श्रियं**=श्री को-शोभा को **आसिञ्चत**=चारों ओर सिक्त करो। यह सोम ही शरीर में सर्वत्र श्री का कारण बनता है। (२) इस सोम के रक्षण के होने पर **रसा**=यह पृथिवी उस पुरुष का **दधीत**=धारण करे, जो **रोदस्योः अभिश्रियम्**=द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में सर्वतः श्रीसम्पन्न है-जिसका मस्तिष्क सूर्य की तरह ज्ञान ज्योति-वाला है तथा शरीर पृथिवी की तरह दृढ़ है। तथा **वृषभं**=जो शक्तिशाली है अथवा सबके लिए सुखों का सेचन करनेवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मस्तिष्क व शरीर दोनों ही श्रीसम्पन्न बनते हैं।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ते जानत स्वम् ओक्यम्

ते जानत स्वमोक्यं१ सं वत्सासो न मातृभिः। मिथो नसन्त जामिभिः॥ १४॥

(१) **ते**=वे–गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष **स्वम्**=अपने **ओक्यं**=शरीररूप गृह में ही निवास करनेवाले उस परमात्मतत्त्व को **जानत**=जानते हैं और उस प्रभु के साथ इस प्रकार संगत होते हैं **न**=जैसे **वत्सासः**=बछड़े **मातृभिः सम्** (गच्छन्ते)=माताओं के साथ। बछड़ा गौ के साथ, ये उपासक प्रभु के साथ। (२) ये प्रभु के द्रष्टा लोग **जामिभिः**=सब बन्धुजनों के साथ **मिथः न सन्त**=परस्पर मिलकर गतिवाले होते हैं। किसी के प्रति इनका वैर-विरोध व विद्वेष नहीं होता।

भावार्थ–सोमी पुरुष अपने अन्दर प्रभु का दर्शन करते हैं और सबके साथ मिलकर चलते हैं।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

इन्द्रे, अग्नौ

उप स्रक्वेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि। इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ॥ १५ ॥

(१) **स्रक्वेषु**=(सृज्=निर्माण) शरीरावयवों के निर्माणों के निमित्त अर्थात् शरीर की कमी को दूर करने के लिए **उपबप्सतः**=प्रभु के उपासन के साथ भोजन करते हुए ये उपासक **दिवि**=प्रकाश में **धरुणं**=अपने को धारण **कृण्वते**=करते हैं। सदा ज्ञानप्रधान जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं। (२) **इन्द्रे**=उस सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु में तथा **अग्ना**=प्रकाशमय प्रभु में **नमः**=ये नमन वाले होते हैं तथा **स्वः**=प्रकाश को प्राप्त करते हैं। प्रभुनमन इनके हृदयों को पवित्र व वासनाशून्य बनाता है और परिणामतः ये सबल होते हैं। इस प्रभुनमन के द्वारा ही ये अन्तर्ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ–हम शरीरधारण के लिए ही भोजन करें–सदा प्रकाश में निवास करें। सर्वशक्तिमान् प्रभु के प्रति नमन करते हुए प्रकाशमय जीवन बिताएँ।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

इषम्, ऊर्जम्, सप्तपदीम्

अधुक्षत्पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदीमरिः। सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः ॥ १६ ॥

(१) **अरिः**=(ऋ गतौ) यह निरन्तर गतिशील उपासक **पिप्युषीम्**=आप्यायन करनेवाले–वर्धन करनेवाले अन्न को ही अपने में **अधुक्षत्**=प्रपूरित करता है। इस अन्न का सेवन करता हुआ यह **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करता है। (२) यह (**अरि**=) क्रियाशील पुरुष **सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः**=सूर्य की सातों किरणों के सम्पर्क में रहता हुआ **सप्तपदीम्**='भूः भुव, स्व, महः, जनः, तपः, सत्यम्'–'स्वास्थ्य–ज्ञान–जितेन्द्रियता–हृदय की विशालता–विकास–तप व सत्य' रूप सात पदों को (**अधुक्षत्**)=प्रपूरित करता है।

भावार्थ–प्रभु के उपासक बनकर सूर्य किरणों के सम्पर्क में जीवन बिताते हुए हम उत्तम अन्न का सेवन करें और अपने अन्दर बल व प्राणशक्ति का दोहन करें। इस जीवन में हम 'स्वास्थ्य–ज्ञान–जितेन्द्रियता–उदारता–विकास–तप व सत्य' का धारण करें।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

सोम का आदान=आतुर का भेषज

सोमस्य मित्रावरुणोदिता सूर आ ददे। तदातुरस्य भेषजम् ॥ १७ ॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के दिव्यभावो! **सूरे उदिता**=सूर्य के उदय के निमित्त यह उपासक **सोमस्य आददे**=सोम का आदान करता है। शरीर में सोमशक्ति का रक्षण ही ज्ञान के सूर्य का उदय करता है। यह सोम ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। (२) **तद्**=यह सोम का पान ही **आतुरस्य भेषजम्**=रोगी की औषध है। सोमरक्षण द्वारा ही सब रोगों की चिकित्सा होती है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें सोमरक्षण के योग्य बनाते हैं। इस सोमरक्षण से मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है तथा शरीरस्थ सब रोग विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—हर्यतः प्रागाथः ॥ **देवता**—अग्निर्हवींषि वा ॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

निधान्यं पदम्

उतो न्वस्य यत्पदं हर्यतस्य निधान्यम्। परि द्यां जिह्वयातनत्॥ १८॥

(१) **उत उ**=और निश्चय से **अस्य**=इस, गतमन्त्र के अनुसार, सोम का रक्षण करनेवाले **हर्यतस्य**=गतिशील व प्रभुप्राप्ति की कामनावाले पुरुष का **यत् पदं**=जो पद होता है वह **निधान्यम्**=उस विश्व के पर निधान को प्राप्त करानेवाला होता है। यह अपने सब कर्मों को इस प्रकार करता है कि प्रभु की ओर बढ़ता चलता है। (२) यह **जिह्वया**=अपनी जिह्वा से **द्याम्**=ज्ञान को **परि अतनत्**=चारों ओर फैलानेवाला होता है। स्वयं जितेन्द्रियता से सोम का रक्षण करता हुआ ज्ञान को बढ़ाता है और ज्ञान का प्रसार करता है।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर ही चलनेवाले बनें तथा ज्ञान का विस्तार करनेवाले हों।

यह गोपवन—ज्ञान की वाणियों का द्वारा पवित्रता को करनेवाला होता है। काम, क्रोध, लोभ से ऊपर उठ जाने से 'आत्रेय' होता है। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सातों को संयमरज्जु से बाँधने वाला यह 'सप्तवध्रि' है। यह अश्विनौ का आराधन करता है—

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

उदीरावाम ऋतायते

उदीराथामृतायते युञ्जाथामश्विना रथम्। अन्ति षद्भूतु वामवः॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ऋतायते**=ऋत की कामनावाले पुरुष के लिए—सब बातें युक्त रूप में करनेवाले पुरुष के लिए **उद् ईराथाम्**=उत्कृष्ट गतिवाले होओ। प्राणसाधना ऋतायन् पुरुष के लिए—युक्ताहार-विहारवाले पुरुष के लिए—सब कर्मों में युक्तचेष्ट पुरुष के लिए उत्कर्ष को प्राप्त कराती है। हे प्राणापानो! आप **रथम्**=इस शरीररथ को **युञ्जाथाम्**=उत्कृष्ट इन्द्रियाश्वों से युक्त करो। '**प्राणायामैर्दहेद्दोषान्**'=प्राणायामों से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं और उत्तम इन्द्रियाश्व शरीररथ को लक्ष्य की ओर ले चलनेवाले होते हैं। (२) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **सत्**=उत्तम है यह सदा **अन्ति भूतु**=हमें समीपता से प्राप्त हो। हम सदा प्राणसाधना में प्रवृत्त हुए-हुए शरीर का पालन (रोगों से बचाव) तथा मन का पूरण (वासनाओं से अनाक्रान्तत्व) कर सकें।

भावार्थ—ऋत की कामनावाला पुरुष प्राणसाधना से शरीररथ को उत्तम इन्द्रियाश्वों से युक्त करके उत्कर्ष की ओर ले चलता है। प्राणापानों का रक्षण उत्तम है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जवीयसा रथेन (लघुत्वम्)

निमिषश्चिज्जवीयसा रथेना यातमश्विना। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ २ ॥

(१) **निमिषः चित् जवीयसा**=आँख की पलक से भी अधिक वेगवान् **रथेन**=शरीररथ से हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **आयातम्**=हमें प्राप्त होओ। प्राणसाधना के द्वारा शरीररथ में अद्भुत स्फूर्त उत्पन्न हो जाती है, लघुत्व आ जाता है। (२) हे प्राणापानो! **वाम् अवः सत्**=आपके द्वारा प्राप्त रक्षण उत्तम है। वह **अन्ति भूतु**=हमें समीपता से प्राप्त हो। हम सदा प्राणसाधनावाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा शरीररथ स्फूर्तवाला (शीघ्र गतिवाला) बनता है। इसमें लघुत्व उत्पन्न हो जाता है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोमरक्षण

उप स्तृणीतमत्रये हिमेन घर्ममश्विना। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ ३ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **अत्रये**='काम-क्रोध व लोभ' इन तीनों से ऊपर उठनेवाले के लिए **घर्मं**=शरीर में होनेवाली शक्ति को उष्णता को **हिमेन**=प्रभु के स्तुतिवचनों द्वारा उत्पन्न शान्ति से-बर्फ से-**उपस्तृणीत**=आच्छादित करो। इस सोमकणों में वासना का उबाल न पैदा हो जाए। (२) हे प्राणापानो! **वाम् अवः सत्**=आपका रक्षण उत्तम है। यह रक्षण **अन्ति भूतु**=हमारे समीप हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम (वीर्य) की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है। वासनाओं के विनाश से सोम शान्त बना रहता है—उसमें उबाल नहीं आता।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आरोग्य (दोषों पर आक्रमण)

कुह स्थः कुह जग्मथुः कुह श्येनेव पेतथुः। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ ४ ॥

(१) शरीर में सब इन्द्रियों का स्थान निश्चित है। परन्तु इन प्राणापान का स्थान अज्ञात ही है—सारे शरीर में ये विचरण करते हैं। '**कुह स्थः**'=हे प्राणापानो! आप कहाँ होते हो? नासिकाछिद्र से बाहर **कुह जग्मथुः**=कहाँ जाते हो? और **कुह**=कहाँ **श्येन इव**=बाज पक्षी के समान **पेतथुः**=आक्रमण करते हो? जैसे बाज़ अपने शिकार पर झपट्टा मारता है, इसी प्रकार ये प्राणापान शरीरस्थ दोषों पर आक्रमण करते हैं 'प्राणायामैर्दहेद्दोषान्'। (२) हे प्राणापानो! **वाम् अवः सत्**=आपका रक्षण उत्तम है। वह रक्षण **अन्ति भूतु**=हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणापान शरीरस्थ दोषों पर आक्रमण करते हैं। इस प्रकार प्राणसाधना से आरोग्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभुप्रेरणा का श्रावण

यदद्य कर्हि कर्हि चिच्छुश्रूयातमिमं हवम्। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ ५ ॥

(१) हे प्राणापानो! **यद्**=जब **अद्य**=आज **कर्हि चित्**=किसी समय **इमं हवम्**=इस हृदयस्थ

प्रभु की पुकार को **शुश्रूयातम्**=सुनते हो, तो **वाम्**=आपका यह **सत् अवः**=उत्तम रक्षण **अन्ति भूतु**=हमारे सदा समीप हो। (२) प्राणसाधना से हृदय की निर्मलता प्राप्त होती है और उस निर्मल हृदय में प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है। यह प्रभुप्रेरणा हमारा मार्गदर्शन करती हुई हमारा रक्षण करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हृदय की निर्मलता सिद्ध होती है। उस निर्मल हृदय में प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'नेदिष्ठ आप्य' की प्राप्ति

अश्विना यामहूतमा नेदिष्ठं याम्याप्यम्। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ ६ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **याम-हूतमा**=समय पर अतिशयेन आह्वातव्य हो। हमें समय पर आपकी आराधना करनी ही चाहिए। यह नियमपूर्वक प्राणों की साधना ही 'शरीर, मन व बुद्धि' को निर्दोष बनानेवाली है। (२) हे प्राणापानो! मैं आप से **नेदिष्ठम् आप्यं**=अन्तिकतम बन्धुत्व को—उस प्रभु की मित्रता को **यामि**=माँगता हूँ (याचामि)। **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **सत्**=उत्तम है। वह **अन्ति भूतु**=हमें सदा समीपता से प्राप्त हो। आपके रक्षण के द्वारा ही हमें प्रभु की मित्रता प्राप्त होगी।

भावार्थः—प्राणसाधना के द्वारा ही हमें प्रभु की मित्रता प्राप्त होती है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

अत्रि का 'अवन् गृह'

अवन्तमत्रये गृहं कृणुतं युवमश्विना। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ ७ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **अत्रये**='काम-क्रोध व लोभ' से ऊपर उठे हुए पुरुष के लिए **अवन्तं गृहं कृणुतम्**=रक्षक घर को बनाओ। प्राणसाधना द्वारा यह साधक 'काम-क्रोध व लोभ' से दूर हो तथा इस साधना से यह शरीरगृह रोगाक्रान्त न हो। इसमें रहता हुआ अत्रि रोगरूप शत्रुओं से बचा रहे। (२) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **सत्**=उत्तम है। वह रक्षण **अन्ति भूतु**=हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से यह शरीरगृह सदा, सुरक्षित गृह हो। इसमें आधि-व्याधि से बचे रहें।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

वासनाग्नि से तप्त न होना

वरेथे अग्निमातपो वदते वल्ग्वत्रये। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ ८ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **वल्गु वदते**=मधुर स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हुए **अत्रये**=काम-क्रोध व लोभ से ऊपर उठे व्यक्ति के लिए **अग्निम्**=वासनाओं की अग्नि को **आतपः**=सन्तापक शक्ति से **वरेथे**=निवारित करते हो, अर्थात् प्राणसाधना से यह अत्रि कामाग्नि (वासनाग्नि) से संतप्त नहीं होता। (२) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **सत् अवः**=उत्तम रक्षण **अन्ति भूतु**=हमें सदा समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना मनुष्य को वासनीय से संतप्त नहीं होने देती।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अग्नि का धारा का हृदय में शयन

प्र सप्तवध्रिराशसा धारामग्नेरशायत। अन्ति षद्भूतु वामवः॥ ९॥

(१) **सप्तवध्रिः**='कर्णाविमौ नासिके अक्षणी मुखम्'-दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो आँखें व मुख रूप सातों इन्द्रियों को संयम रूप से बांधनेवाला यह उपासक **आशसा**=उत्तम आशंसन व स्तवन के द्वारा **अग्नेः धाराम्**=(धारा-वाग् नि० १.११) उस अग्रेणी प्रभु की वाणी को **प्र आशायत**=अपने में निवास करता है। (२) हे प्राणापानो! **वां**=आप का **अवः**=रक्षण **सत्**=उत्तम है। उससे हम प्रभु की वाणी को सुन पाते हैं। वह रक्षण **अन्तिभूतु**=हमारे समीप हो। आपसे रक्षित हुए-हुए हम पवित्र हृदय में प्रभु की वाणी को सुनें।

भावार्थ—प्राणसाधना मनुष्य को कान आदि सातों इन्द्रियों का संयम करने में समर्थ करती है। सो हमें प्राणापान का रक्षण प्राप्त हो।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वृषणवसू (अश्विना)

इहा गतं वृषणवसू शृणुतं म इमं हवम्। अन्ति षद्भूतु वामवः॥ १०॥

(१) हे **वृषणवसू**=सुखसेचक स्वास्थ्य आदि धनों को प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! आप **इह आगतम्**=मेरे इस जीवन में प्राप्त होओ। मैं इस जीवन में आपकी साधना करनेवाला बनकर उत्तम स्वास्थ्यधन को प्राप्त करूँ। (२) हे प्राणापानो! **मे**=मेरे लिए **इमं**=इस **हवं शृणुतम्**=प्रभु की पुकार को सुनो। (३) **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **सत्**=उत्तम है। यह **अन्ति भूतु**=मुझे समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना (१) स्वास्थ्य आदि धनों को प्राप्त कराके सुखों का सेचन करती है। (२) हमें प्रभु की पुकार को सुनने के योग्य बनाती है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'प्राणापान का विलक्षण रक्षण'

किमिदं वां पुराणवज्जरतोरिव शस्यते। अन्ति षद्भूतु वामवः॥ ११॥

(१) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **इदं**=यह रक्षण **पुराणवत्**=उस पुराणपुरुष के रक्षण की तरह **किम्**=क्या ही विलक्षण है? आपका यह रक्षण उसी प्रकार **शस्यते**=स्तुति किया जाता है, **इव**=जैसे **जरतोः**=उस वृद्ध-पुराणपुरुष प्रभु का रक्षण प्रशंसित होता है। प्रभु का रक्षण अद्भुत है। प्राणापानों का रक्षण भी कम अद्भुत नहीं। वस्तुतः प्रभु प्राणापान के द्वारा ही तो हमारा रक्षण करते हैं। (२) **वाम् अवः**=आपका रक्षण **सत्**=उत्तम है। वह हमें **अन्ति भूतु**=समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणापान का रक्षण प्रभु के रक्षण की तरह अद्भुत है। यह रक्षण हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'सम् आनता' (=सम्यक् जीवन)

समानं वां सजात्यं समानो बन्धुरश्विना। अन्ति षद्भूतु वामवः॥ १२॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वां**=आपका **सजात्यं** **समानम्**=समानरूप से प्रादुर्भाव हमें सम्यक् प्रीणित करनेवाला है। प्राणापान का प्रादुर्भाव हमारे में जीवनीशक्ति का संचार करता है।

हे प्राणापानो! आपका **बन्धुः**=अपनें में बाँधनेवाला व्यक्ति **समानः**=आपने को सम्यक् प्रीणित करनेवाला होता है। (सम् आनयति) प्राणसाधना से जीवनशक्ति का विकास होता ही है। (२) सो **वाम्**=आपका **सत् अवः**=उत्तम रक्षण **अन्ति भूतु**=हमारे समीप हो—हमें सदा प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे में जीवनशक्ति का संचार करती है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

रजांसि वियाति

यो वां रजांस्यश्विना रथो वियाति रोदसी। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ १३ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो **यः**=जो **वां**=आपका **रथः**=यह शरीररूप रथ है, अर्थात् जिस शरीररूप रथ में प्राणसाधना नियम से चलती है, वह रथ **रजांसि** (ज्योतिरज उच्यते रजतेः नि० ४.२९)=ज्योतियों को **वियाति**=विशेष रूप से प्राप्त होता है। प्राणसाधना से दोषों का दहन होकर यह रथ ज्योतिर्मय हो उठता है। (२) यह प्राणापान का रथ **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को विशेष रूप से प्राप्त होता है। प्राणसाधना से मस्तिष्क बनता है, तो शरीर सबल होता है। हे प्राणापानो! **वाम् अवः**=आपका रक्षण **सत्**=उत्तम है और यह **अन्ति भूतु**=हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन ज्योतिर्मय बनता है। मस्तिष्क दीप्त होता है और शरीर सबल बनता है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ

आ नो गव्येभिरश्व्यैः सहस्रैरुप गच्छतम्। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ १४ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **नः**=हमें **सहस्रैः**=(सहस्) आनन्दयुक्त—विकसित शक्तियोंवाले **गव्येभिः**=ज्ञानेन्द्रिय समूहों से तथा **अश्व्यैः**=कर्मेन्द्रिय समूहों से **उप आगच्छतम्**=समीपता से प्राप्त होओ। प्राणसाधना के द्वारा ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ विकसित शक्तिवाली बनें। (२) हे प्राणापानो! **वाम् अवः**=आपका रक्षण **सत्**=उत्तम है। यह रक्षण हमें **अन्ति भूतु**=समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ विकसित शक्तिवाली बनती हैं।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

निर्दोष इन्द्रियाँ

मा नो गव्येभिरश्व्यैः सहस्रेभिरति ख्यतम्। अन्ति षद्भूतु वामवः ॥ १५ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **नः**=हमें **सहस्रेभिः**=प्रसन्न-पूर्ण विकासवाले **गव्येभिः**= ज्ञानेन्द्रियसमूहों से तथा **अश्व्यैः**=कर्मेन्द्रियसमूहों से **मा अतिख्यतम्**=निवारित मत करो—मत वञ्चित करो। प्राणसाधना के द्वारा हमें अवश्य उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हों। (२) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **सत्**=उत्तम है। यह हमें **अन्ति भूतु**=समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निर्दोष न बनें ऐसा नहीं होता।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वाङ्क देवता—अश्विनौङ्क छन्दः—गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

अरुणप्सु+ऋत+ज्योति

अरुणप्सुरुषा अभूदकर्ज्योतिर्ऋतावरी। अन्ति षद्भूतु वामवः॥ १६॥

(१) हे प्राणापानो! आपके अनुग्रह से **उषाः**=उषाकाल हमारे लिए **अरुणप्सुः**=तेजोमय रूपवाला **अभूत्**=हो। हम उषा में प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों और उषा के समान ही दीप्त रूपवाले बनें। हमारे लिए **ऋतावरी**=ऋत का पालन करनेवाली यह उषा **ज्योतिः अकः**=प्रकाश को करती है। उषाकाल में प्राणायाम करने पर जीवन ऋतमय (यज्ञमय) ज्योतिवाला बनता है। (२) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **सत्**=उत्तम है। वह रक्षण **अन्ति भूतु**=हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम प्राणसाधना करके दीप्त रूपवाले, ज्योतिर्मय व ऋतमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वाङ्क देवता—अश्विनौङ्क छन्दः—गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

वृक्षं परशुमान् इव

अश्विना सु विचाकशद् वृक्षं परशुमाँइव। अन्ति षद्भूतु वामवः॥ १७॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आपका आराधक **सुविचाकशत्**=उत्तम प्रकाशमय जीवनवाला होता हुआ अज्ञानान्धकार को इसी प्रकार दूर कर पाता है, **इव**=जैसे **परशुमान्**=कुल्हाड़ेवाला **वृक्षं**=वृक्ष को काट डालता है। (२) **वाम्**=आपका **अवः**=रक्षण **सत्**=उत्तम है। यह रक्षण **अन्ति भूतु**=अन्तिकतम हो—हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से वासनावृक्षों का व्रश्चन करते हुए हम अज्ञानान्धकार को दूर करके प्रकाशमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वाङ्क देवता—अश्विनौङ्क छन्दः—गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

'कृष्णा विद्' के दुर्ग का विध्वंस

पुरं न धृष्णवा रुज कृष्णया बाधितो विशा। अन्ति षद्भूतु वामवः॥ १८॥

(१) हे **धृष्णो**:=प्राणसाधना द्वारा वासनाओं का धर्षण करनेवाले साधक (सप्त वध्रे)! तू **कृष्णया**=(कर्ष वा) जबर्दस्ती अपनी ओर खींचनेवाली **विशा**=अन्दर घुस आनेवाली वासनाओं से **बाधितः**=पीड़ित हुआ-हुआ इन वासनाओं को प्राणसाधना द्वारा इस प्रकार **आरुज**=छिन्न-भिन्न कर **न**=जैसे **पुरं**=शत्रु की नगरी का ध्वंस किया जाता है। (२) यही तेरी आराधना हो कि हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **सत् अवः**=उत्तम रक्षण **अन्ति भूतु**=हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा काम-क्रोध-लोभरूप वासनाओं के दुर्गों का विध्वंस कर डालें।

'गोपवन' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है—

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—गोपवन आत्रेयःङ्क देवता—अग्निःङ्क छन्दः—निचृदनुष्टुप्ङ्क स्वरः—गान्धारःङ्क

शूषस्य दुर्यम्

विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्। अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः॥ १॥

(१) **वाजयन्तः**=शक्ति को प्राप्त करने की कामनावाले लोग उस प्रभु के **मन्मभिः**=मननीय स्तोत्रों के हेतु से **वचः स्तुषे**=स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हैं। जो प्रभु **वः**=तुम **विशः विशः**=प्रजाओं के **अतिथिं**=अतिथि हैं—निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। **पुरुप्रियम्**=पालक व पूरक हैं तथा पालन व पूरण के द्वारा प्रीणन करनेवाले हैं। (२) उस प्रभु का स्तवन करते हैं, जो **वः अग्निं**=तुम सबके अग्रणी हैं—आगे ले चलनेवाले हैं तथा **शूषस्य दुर्यम्**=सुख व बल के गृह हैं। प्रभु अपने उपासक को शक्ति प्राप्त कराते हैं। इस शक्ति के द्वारा उसका जीवन सुखी होता है। (३) मननपूर्वक प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी उन्हीं गुणों को धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—मननपूर्वक प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी शक्तिशाली बनें। यही सुख- प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मित्रं न सर्पिरासुतिम्

यं जनासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम्। प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः॥ २॥

(१) **यं**=जिस **मित्रं न**=मित्र के समान प्रभु को **हविष्मन्तः जनासः**=हविवाले लोग—दानपूर्वक अदन करनेवाले लोग **प्रशस्तिभिः प्रशंसन्ति**=शंसनात्मक स्तुतिवाक्यों से प्रशंसित करते हैं। हवि के द्वारा ही वस्तुतः प्रभुपूजन होता है। (२) वे प्रभु '**सर्पिरासुतिम्**'=(सर्पिः आसूयतेऽनेन इति) हमारे जीवनों में सर्पि को आसुत करनेवाले हैं। 'सृप गतौ' से बनकर 'सर्पिः' शब्द यहाँ 'दीप्त प्रशस्त गति' का वाचक है। प्रभु अपने उपासक को इस प्रकार दीप्त गतिवाला बनाते हैं, जैसे एक मित्र मित्र को दीप्त गतिवाला बनाता है।

भावार्थ—हम हविवाले बनकर प्रभु का शंसन करें। प्रभु हमें मित्र की तरह उत्तम मार्ग से ले चलनेवाले होंगे।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दिवि ऐरयत्

पन्यांसं जातवेदसं यो देवतात्युद्यता। हव्यान्यैरयद्दिवि॥ ३॥

(१) उस **पन्यांसं**=स्तुत्य **जातवेदसं**=सर्वज्ञ व सर्वैश्वर्य युक्त प्रभु का (प्रशंसन्ति), शंसन करते हैं—**यः**=जो हमारे जीवनों में **उद्यता**=उद्यम से प्राप्त **हव्यानि**=हव्य पदार्थों को **देवताति**=यज्ञों में **ऐरयत्**=प्रेरित कराता है और इसप्रकार हमें **दिवि**=ज्ञान में प्रेरित करता है। (२) प्रभु अपने उपासक को श्रम से उत्तम पदार्थों को अर्जित करने के लिए शिक्षित करते हैं। उन पदार्थों को यज्ञों में विनियुक्त कराते हैं और इस प्रकार हमें ज्ञान में उपस्थित करते हैं।

भावार्थ—हम श्रम से धनार्जन करते हुए यज्ञशील बनें और ज्ञान में अवस्थित हों।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'श्रुतर्वा-बृहन्-आर्क्ष'

आगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम्। यस्य श्रुतर्वा बृहन्नार्क्षो अनीक एधते॥ ४॥

(१) हम **वृत्रहन्तमम्**=वासनाओं के अधिक-से-अधिक विनष्ट करनेवाले प्रभु को **आगन्म**=प्राप्त होते हैं जो प्रभु **ज्येष्ठं**=प्रशस्यतम हैं, **अग्निम्**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं तथा **आनवम्**=हमें प्रीणित करनेवाले हैं। (२) उन प्रभु को हम प्राप्त होते हैं, **यस्य**=जिनके **अनीके**=बल में वह

एधते=वृद्धि को प्राप्त होता है, जो श्रुतर्वा=(श्रुतेन इयर्ति) शास्त्रज्ञान के अनुसार गतिवाला होता है। बृहन्=बड़े हृदयवाला होता है-विशाल हृदय। आर्क्षः=(ऋष् गतौ) गतिशील होता है-सदा क्रियाशील। मस्तिष्क में 'श्रुतर्वा', हृदय में 'बृहन्' तथा हाथों में 'आर्क्ष' बनकर हम प्रभु के सच्चे उपासक होते हैं और प्रभु के बल से बलसम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ-प्रभु के हम उपासक बनें। प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करेंगे-हमें प्राणशक्ति प्राप्त कराएँगें और प्रशस्त जीवनवाला बनाएँगे। सच्चा उपासक 'श्रुतर्वा-बृहन् व आर्क्ष' होता है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अमृतं-तिरःतमांसि दर्शतम्

अमृतं जातवेदसं तिरस्तमांसि दर्शतम्। घृताहवनमीड्यम्॥ ५॥

(१) हम उन प्रभु को प्राप्त हों जो **अमृतं**=मृत्यु से परे हैं-सब रोगों से अतीत। **जातवेदसं**=सर्वज्ञ व सर्वैश्वर्यवाले हैं। **तमांसि तिरः**=सब अन्धकारों से परे हैं और **दर्शतम्**=दर्शनीय हैं। (२) उन प्रभु को प्राप्त हों, जो **घृताहवनम्**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति के हेतु पुकारने योग्य हैं तथा **ईड्यम्**=स्तुत्य हैं।

भावार्थ-प्रभु अपने उपासक को नीरोग (अमृतं) ज्ञानी (जातवेदसं) अन्धकारों से परे व दर्शनीय जीवनवाला बनाते हैं। ये प्रभु ही स्तुत्य हैं। ये हमारे जीवनों में मलों को दूर करके हमें ज्ञानदीप्त जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

जुह्वानासः-यतस्रुचः

सबाधो यं जना इमेऽग्निं हव्येभिरीळते। जुह्वानासो यतस्रुचः॥ ६॥

(१) हम उस **अग्निं**=अग्रणी प्रभु को प्राप्त करते हैं, **यं**=जिनको **ये**=ये **सबाधः**=काम, क्रोध आदि शत्रुओं के बाधन के साथ रहनेवाले **जनाः**=लोग **हव्येभिः**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **इडते**=उपासित करते हैं। प्रभु की उपासना करनेवाला (क) काम आदि शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करता है। (ख) और सदा दानपूर्वक यज्ञशेष का ही सेवन करता है। (२) ये प्रभु के उपासक **जुह्वानासः**=सदा यज्ञशील होते हैं और **यतस्रुचः**=नियमित वाणीवाले होते हैं। वाणी को वश में रखते हुए सदा शुभशब्दों का ही प्रयोग करते हैं।

भावार्थ-उपासक (१) काम आदि को जीतता है, (२) यज्ञशेष का सेवन करता है, (३) सदा यज्ञशील होता है, (४) वाणी को वश में रखता है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

नव्यसी मतिः

इयं ते नव्यसी मतिरग्ने अधाय्यस्मदा। मन्द्र सुजात सुक्रतोऽमूर दस्मातिथे॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **इयं**=यह **ते**=आपकी **नव्यासी**=अतिशयेन प्रशस्य **मतिः**=मननपूर्वक की गई स्तुति **अस्मद्**=हमारे में (अस्मासु) **आ अधायि**=सर्वथा निहित होती है। हम सदा आपका स्मरण करते हैं। (२) हे **मन्द्र**=आनन्दमय, **सुजात**=सर्वत्र शुभ को जन्म देनेवाले, **सुक्रतो**=शोभन प्रज्ञान व शक्तिवाले, **अमर**=अमूढ-सब मूढताओं को नष्ट करनेवाले, **दस्म**=दर्शनीय अथवा सब बुराइयों का उपक्षय करनेवाले **अतिथे**=सतत गमनशील प्रभो! आपका स्तवन हम सदा

करते हैं। आपका 'मन्द्र' आदि शब्दों से स्तवन करते हुए वैसा ही बनने का प्रयत्न करते हैं। (क) हम अपने जीवनों में उत्तम बातों का विकास करते हुए आनन्दमय बनने का प्रयत्न करते हैं। (ख) मूढ़ न बनकर शोभन प्रज्ञान व शक्ति के सम्पादन के लिए यत्नशील होते हैं तथा (ग) निरन्तर क्रियाशील होते हुए सब बुराइयों का उपक्षय करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें—प्रभु जैसा ही बनने का यत्न करें। उत्तम विकास द्वारा आनन्द को, विषयों के प्रति न मूढ़ बनकर शोभन शक्ति व प्रज्ञान को तथा निरन्तर क्रियाशील बनकर वासनाविलय को प्राप्त करें।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

चनिष्ठा (स्तुति)

सा ते अग्ने शन्तमा चनिष्ठा भवतु प्रिया। तया वर्धस्व सुष्टुतः॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सा**=वह **ते**=आपकी हमारे से की जाती हुई (नव्यसी मतिः ७) स्तुति **शन्तमा**=अतिशयेन शान्ति को देनेवाली **भवतु**=हो। वह स्तुति **चनिष्ठा**=हमारे सब काम आदि शत्रुओं का संहार करनेवाली हो। यह हमारे हृदयों में प्रेरणा को देनेवाली हो यह हमें अतिशयित आनन्द को देनेवाली हो तथा यह हमें पर्याप्त भोजनों को भी प्राप्त करानेवाली हो, इस प्रकार यह स्तुति **प्रिया**=प्रीतिजनक हो। (२) **तया**=उस स्तुति से **सुष्टुतः**=सम्यक् स्तुत हुए-हुए आप **वर्धस्व**=हमारे हृदयों में बढ़िये। स्तुति हमें आपके गुणों से युक्त करनेवाली हो। आपकी दिव्यता का इस स्तुति द्वारा हमारे में अवतरण हो।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से 'शान्ति, प्रभुप्रेरणा, शत्रुसंहार, आनन्द, सब अन्न व प्रीति' प्राप्त होती है। इससे हमारे में दिव्यता का वर्धन होता है।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

द्युम्नैः द्युम्निनी

सा द्युम्नैर्द्युम्निनी बृहदुपोप श्रवसि श्रवः। दधीत वृत्रतूर्ये॥ ९॥

(१) **सा**=वह प्रभु के लिए की जानेवाली स्तुति **द्युम्नैः द्युम्निनी**=ज्ञानज्योतियों से ज्योतिर्मयी हो। स्तुति से हमारा हृदय प्रकाशमय बने। (२) यह स्तुति **वृत्रतूर्ये**=वासना के विनाश के निमित्त हमारे **श्रवसि**=कान में **बृहत् श्रवः**=खूब ज्ञान को **उप उप दधीत**=समीपता से धारण करे। हम ज्ञान की वाणियों का श्रवण करते हुए प्रकाशमय जीवनवाले बनें। इस प्रकाश में वासनाओं के अन्धकार का विलय हो जाए।

भावार्थ—स्तुति हमारे जीवन को प्रकाशमय बनायें। इस प्रकाश में वासना का विलय हो जाए।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

पन्यं पन्यम्

अश्वमिद्गां रथप्रां त्वेषमिन्द्रं न सत्पतिम्। यस्य श्रवांसि तूर्वथ पन्यंपन्यं च कृष्टयः॥ १०॥

(१) हे **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्यो! उस प्रभु का तुम स्तवन करो जो **इत्**=निश्चय से **अश्वम्**=(अश्नुते) सब लोक-लोकान्तरों को व्याप्त किये हुए हैं। **गाम्**=(गमयति अर्थान्) हृदयस्थरूपेण सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाले हैं। **रथप्राम्**=हमारे शरीररूप रथों का पूरण करनेवाले

हैं। **त्वेषं**=दीप्त हैं तथा **इन्द्रं न**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले के समान **सत्पतिम्**=अच्छाइयों के रक्षक हैं। (२) हे मनुष्यो! उस प्रभु का परिचरण करो, **यस्य**=जिसके **श्रवांसि**=ज्ञानों को तुम **तूर्वथ**=अपने अन्दर सुरक्षित करते हो **च**=और **पन्यम् पन्यम्**=प्रत्येक स्तुत्य वस्तु को अपने अन्दर सुरक्षित करते हो। प्रभुस्तवन के द्वारा हम प्रभु के गुणों को अपने अन्दर धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु व्यापक, ज्ञान को देनेवाले, शरीरों का पूरण करनेवाले व शत्रुओं का विद्रावण करके अच्छाइयों का रक्षण करनेवाले हैं। प्रभु ज्ञान व स्तुत्य गुणों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गोपवनः गिरा चनिष्ठत्

यं त्वा गोपवनो गिरा चनिष्ठदग्ने अङ्गिरः। स पावक श्रुधी हवम्॥ ११॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी **अंगिरः**=अंग-प्रत्यंगों में रस का संचार करनेवाले प्रभो! **यं त्वा**=जिन आपको **गोपवनः**=ज्ञान की वाणियों को पवित्र करनेवाला उपासक **गिरा**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **चनिष्ठत्**=प्राप्त करने की कामना करता है। (२) **सः**=वे आप, हे **पावक**=पवित्र करनेवाले प्रभो! **हवम्**=पुकार को **श्रुधि**=सुनिये।

भावार्थ—स्तुतिवाणियों के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करने की कामना करें। प्रभु हमारे जीवन को पवित्र करते हैं।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वाजसातये

यं त्वा जनास ईळते सबाधो वाजसातये। स बोधि वृत्रतूर्ये॥ १२॥

(१) **सबाधः**=शत्रुओं के बाधन के साथ विद्यमान **जनासः**=लोग, अर्थात् काम, क्रोध, लोभ को जीतनेवाले लोग, हे प्रभो! **यं त्वां**=जिन आपको **ईडते**=उपासित करते हैं। वे लोग **वाजसातये**=शक्ति को प्राप्त करने के लिए होते हैं। (२) हे प्रभो! **सः**=वे आप **वृत्रतूर्ये**=वासना के संहार के निमित्त **बोधि**=हमें बोधवाला करिये-ज्ञान देकर हमें वासनाविनाश के योग्य बनाइए।

भावार्थः—उपासक वही है जो काम-क्रोध आदि का संहार करता है। यह उपासक शक्ति को प्राप्त करता है। प्रभु इसे ज्ञानसम्पन्न करके वासना के विनाश के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—श्रुतर्वण आर्क्षस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

आर्क्ष-श्रुतर्वा-मदच्युत्

अहं हुवान आर्क्षे श्रुतर्वणि मदच्युति। शर्धांसीव स्तुकाविनां मृक्षा शीर्षा चतुर्णाम्॥ १३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहं**=मैं **आर्क्षे**=गतिशील पुरुष में, **श्रुतर्वणि**=ज्ञान के प्रति चलनेवाले व्यक्ति में तथा **मदच्युति**=अभिमान को छोड़नेवाले पुरुष में **हुवानः**=हूयमान होता हुआ-इनसे आराधित होता हुआ-**चतुर्णाम्**='काम-क्रोध-लोभ-मोह' इन चारों के **शीर्षा**=सिरों का **मृक्षा**=सफाया कर डालता हूँ। इन काम आदि चारों को ही समाप्त कर डालता हूँ। (२) मैं इसप्रकार इन्हें नष्ट कर देता हूँ, **इव**=जैसेकि **स्तुकाविनां**=वृषभों के (बैलों के) **शर्धांसि**=बलों को कोई समाप्त कर देता है।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा उपासक 'गतिशील, ज्ञानप्रिय व निरभिमान' होता है। प्रभु इसके 'काम-क्रोध-लोभ-मोह' को समाप्त कर देते हैं।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—श्रुतर्वण आर्क्षस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

आशवः, द्रवित्नवः, सुरथासः

मां चत्वार आशवः शविष्ठस्य द्रवित्नवः। सुरथासो अभि प्रयो वक्षन्वयो न तुग्र्यम्॥ १४॥

(१) **मां**=मुझे **शविष्ठस्य**=उस सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न प्रभु के-प्रभु से दिये गये **चत्वारः**=‘इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और हृदय’ रूप चार प्रमुख साधन **तुग्र्य वयः न**=शत्रुसंहारक आयुष्य के समान **प्रयः**=(प्रयस्) उद्योग की **अभि**=ओर **वक्षन्**=प्राप्त कराएँ। इन इन्द्रियों आदि के द्वारा हमारा जीवन काम, क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करनेवाला हो तथा हम सतत यत्नशील हों-आलस्य से सदा दूर रहें। (२) ये चारों **आशवः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले हों। **द्रवित्नवः**=(द्रु अभिगतौ) शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हों-और इस प्रकार हमें प्रभु की ओर ले चलनेवाले हों और **सुरथासः**=शरीररूप रथ को सदा उत्तम रखें।

भावार्थ—हमारी ‘इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और हृदय’ हमारे जीवन को शत्रुसंहारक तथा यत्नशील बनाएँ। इनके द्वारा हमारा यह शरीररथ शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला व प्रभु की ओर हमें ले चलनेवाला हो।

ऋषिः—गोपवन आत्रेयः॥ **देवता**—श्रुतर्वण आर्क्षस्य दानस्तुतिः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

महेनदी, परुष्णी

सत्यमित्त्वा महेनदि परुष्ण्यव देदिशम्। नेमापो अश्वदातरः शविष्ठादस्ति मर्त्यः॥ १५॥

(१) हे **महेनदि**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाली और इसप्रकार **परुष्णि**=हमारा पालन व पूरण करने वाली बुद्धि! **सत्यम् इत्**=सचमुच ही **त्वा**=तुझे **अवदेदिशम्**=मैं इस विषयवासनामय संसार से परे प्रेरित करता हूँ (Direct, order, command)। (२) हे **आपः**=प्रजाओ! **न ईम्**=नहीं ही निश्चय से **शविष्ठात्**=उस शक्तिशाली प्रभु को छोड़कर कोई अन्य **मर्त्यः**=मनुष्य **अश्व-दा-तरः अस्ति**=उत्कृष्ट इन्द्रियाश्वों को देनेवाला है। प्रभु ही इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं-हमारी बुद्धि इन्हें प्रभु की ओर ही ले चलनेवाली हो। बुद्धि ही तो सारथि है। मैं रथी इसे इस रथ को प्रभु की ओर ले चलने के लिए निर्देश करता हूँ।

भावार्थ—हमारी बुद्धि इन्द्रियाश्वों को प्रभु की ओर ले चलनेवाली हो। यह बुद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाली है तथा हमारा पालन व पुरण करनेवाली है।

गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की ओर चलनेवाला यह व्यक्ति ‘विरूप’=विशिष्ट रूपवाला बनता है। यह ‘अग्नि’ नाम से प्रभु का स्मरण करता है-

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—विरूपः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

देवहूतमान्

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वाँ अग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः॥ १॥

हे **अग्ने**=अग्रणी! तू **रथी इव अश्वान्**=जैसे रथी अश्वों को जोड़ता है उसी प्रकार **देवहूतमान्**=योग्यजनों को **युक्ष्व**=जोड़। **होता**=दाता **पूर्व्यः**=पूर्ण होकर **नि सदः**=विराज।

भावार्थ—अधिकारी योग्यतम व्यक्ति की नियुक्ति करे, तथा पूर्ण वेतनादि की व्यवस्था करे।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विदुष्टरः

उत नो देव देवाँ अच्छा वोचो विदुष्टरः। श्रद्विश्वा वार्या कृधि॥ २॥

हे **देव**=ज्ञानी! तू **विदुस् तरः**=श्रेष्ठ विद्वान् होकर **देवान्**=ज्ञानेच्छुक **नः**=हमको **अच्छ वोचः**=उपदेश कर, **उत**=तथा **विश्वा**=सम्पूर्ण **वार्या**=वरणीय ज्ञानों को **श्रत्**=सत्य ही **कृधि**=प्रकट कर।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष श्रेष्ठ ज्ञान को प्रकट करे छिपाये नहीं।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ऋतावा

त्वं ह यद्यविष्ठ्य सहसः सूनवाहुत। ऋतावा यज्ञियो भुवः॥ ३॥

हे **यविष्ठ्य**=युवतमा, **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज! **आहुत**=सर्व स्वीकृत प्रभो! **त्वं ह**=आप ही **ऋतावा**=सत्य न्याय के पालक तथा **यज्ञियः भुवः**=दान योग्य सुपात्र हो।

भावार्थ—वह परमात्मा सत्य-न्याय के पालक हैं।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'सहस्री शती' वाज

अयमग्निः सहस्त्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः। मूर्धा कवी रयीणाम्॥ ४॥

(१) **अयम् अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु **वाजस्य**=शक्ति के **पतिः**=स्वामी हैं—रक्षक हैं। उस शक्ति के स्वामी हैं, जो **सहस्त्रिणः**=(सहस्) हमारे जीवनों को आनन्दमय बनाती है तथा **शतिनः**=सौ वर्ष तक जीवन को बड़ा ठीक बनाए रखती है। (२) वे **कविः**=सर्वज्ञ प्रभु **रयीणां मूर्धा**=सब ऐश्वर्यों के शिखर हैं। प्रभु ही सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। सब धनों के विजेता प्रभु ही हमारे लिए उस-उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वह शक्ति प्राप्त कराते हैं, जो हमारे जीवनों को आनन्दमय व दीर्घ बनाती है प्रभु ही सर्वज्ञ व सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यज्ञमय जीवन

तं नेमिमृभवो यथा नमस्व सहूतिभिः। नेदीयो यज्ञमङ्गिरः॥ ५॥

(१) हे **अङ्गिरः**=सब गतियों के देनेवाले प्रभो! (अगि गतौ) आप **सहूतिभिः**=(हूत्या सह वर्तन्ते) आपको पुकारनेवाले उपासकों के साथ **तं यज्ञं**=उस यज्ञ को **नेदीयः नमस्व**=हमारे बहुत समीप नत करिये। इस प्रकार समीप करिये **यथा**=जैसे **ऋभवः**=शिल्पी **नेमिं**=चक्र परिधि को अरों पर नमाते हैं। (२) नेमि ने अरों को अपने में आवृत किया हुआ होता है, इसी प्रकार यज्ञ भी हमारे जीवनों को आवृत किया हुआ हो। हम उपासकों के साथ सदा सद्विचारों के वातावरण में रहते हुए यज्ञमय जीवन बिताएँ।

भावार्थ—प्रभु को पुकारने वाले लोगों के साथ हमारा सम्पर्क हो, उनके साथ पवित्र विचारोंवाले बनते हुए हम यज्ञमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अभिद्यु वृषा

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्॥ ६॥

(१) हे **विरूप**=पवित्र जीवन के कारण विशिष्ट रूपवाले जीव! तू **नूनं**=निश्चय से **तस्मै**=उस **अभिद्यवे**=अधि व व्याधियों पर आक्रमण करनेवाले, **वृष्णे**=सब सुखों के वर्षक प्रभु के लिए **नित्यया वाचा**=इस सनातन वेदवाणी से **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **चोदस्व**=प्रेरित कर। (२) हम वेदमन्त्रों द्वारा प्रभु का स्तवन करने में प्रवृत्त हों। यह वेदवाणी प्रभु की सनातन ज्ञान की वाणी है। इसके द्वारा प्रभु का स्तवन करते हुए हम सब आधि-व्याधियों से ऊपर उठते हैं। हम भी उस स्तुत्य प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारी आधि- व्याधियों को विनष्ट करेंगे।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पणिस्तरण

कमु ष्विदस्य सेनयाग्नेरपाकचक्षसः। पणिं गोषु स्तरामहे॥ ७॥

(१) **अस्य**=इस **अपाकचक्षसः**=अनल्प ज्ञानवाले-सर्वज्ञ **अग्नेः**=प्रकाशमय प्रभु की **सेनया**=(सह इनेन प्रभुणा) सेना से-नेतृत्व शक्ति से **कम् उ स्वित्**=किसी भी-अधिक से-अधिक शक्तिशाली भी **पणिं**=कृपणता व अपवित्रता की भावना को **गोषु**=ज्ञान की वाणियों के होने पर **स्तरामहे**=विनष्ट करते हैं। (२) प्रभु पूर्ण ज्ञानवाले हैं। उनकी प्रेरणा में चलते हुए हम ज्ञान का वर्धन कर पाते हैं। यह ज्ञान हमें कृपणता से ऊपर उठाकर पवित्र बना देता है।

भावार्थ—हम सर्वज्ञ प्रभु की प्रेरणा में चलें। इस प्रकार हम कृपणता व अपवित्रता को विनष्ट करके ज्ञानोज्ज्वल जीवनवाले बनें।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—आर्चीस्वराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवानां विशः+अघ्न्याः

मा नो देवानां विशः प्रस्नातीरिवोस्राः। कृशं न हासुरघ्न्याः॥ ८॥

(१) **नः**=हमें **देवानां विशः**=देवों की प्रजाएँ-दिव्यगुणों के प्रवेश-**मा हासुः**=मत छोड़ जाएँ, अर्थात् हम सदा दिव्यगुणों के प्रवेशवाले बनें, इसी प्रकार **अघ्न्याः**=ये अहन्तव्य ज्ञान की वाणियाँ हमें **न**=नहीं **हासुः**=छोड़ जाएँ। ज्ञानदुग्ध को देनेवाली ये वेदवाणीरूप गौएँ हमारे लिय अहन्तव्य हों। हम सदा इनका स्वाध्याय द्वारा दोहन करें। (२) **इव**=जैसे **प्रस्नातीः**=(पयः क्षरन्तीः) दूध को प्रस्तुत करती हुई **उस्राः**=गौएँ **कृशं**=छोटे (दुर्बल) बछड़े को नहीं छोड़ती, इसी प्रकार हमें दिव्यगुणों के प्रवेश व वेदवाणियाँ न छोड़ जाएँ। इन वेदवाणीरूप गौओं के ज्ञानदुग्ध ने ही तो हमें सबल बनाना है।

भावार्थ—हमें दिव्यगुण व वेदवाणियाँ इस प्रकार न छोड़ जायँ, जैसे दूध को क्षरित करती हुई गोएँ छोटे बछड़े को नहीं छोड़ जातीं।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ऊर्मिः न नावम्

मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः। ऊर्मिर्न नावमा वधीत्॥ ९॥

(१) **नः**=हमें **परिद्वेषसः**=चारों ओर द्वेषवाले-सबके साथ द्वेष करनेवाले **समस्य**=सब **दूढ्यः**=दुर्बुद्धि पुरुष के **अंहतिः**=पाप **मा आवधीत्**=मत नष्ट करनेवाले हों। हम भी द्वेष की वृत्ति में पड़कर दुर्बुद्धि न बन जाएँ। (२) ये द्वेष की भावनाएँ इसी प्रकार हमारा नाश करनेवाली होती हैं, **न**=जैसे **ऊर्मिः**=तरंग **नावम्**=नाव को।

भावार्थ—द्वेष करनेवालों से भी हम द्वेष न करें। यह द्वेष हमारी शरीररूप नाव को भिन्न कर देगा। तब संसारसमुद्र को कैसे तैरेंगे?

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अमित्र-अर्दन

नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः। अमैरमित्रमर्दय॥ १०॥

(१) हे **अग्ने**=सब दोषों को दग्ध करनेवाले प्रभो! हे **देव**=सब शत्रुओं को जीतने की कामना करनेवाले प्रभो! **कृष्टयः**=श्रमशील व्यक्ति ही वस्तुतः **गृणन्ति**=आपका स्तवन करते हैं। स्तुति हमें पुरुषार्थवाला बनाती है। हम स्तुत्य के गुणों को धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं। (२) हे प्रभो! **अमैः**=बलों के द्वारा **अमित्रम्**=हमारे शत्रुभूत काम-क्रोध आदि को **अर्दय**=आप पीड़ित करके हमारे से दूर करिये। हमें शक्ति दीजिए कि हम काम-क्रोध आदि से ऊपर उठ पायें।

भावार्थ—प्रभु के प्रति नमन व स्तवन से ओज को प्राप्त करके हम काम आदि शत्रुओं का संहार करें।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

गविष्टये

कुवित्सु नो गविष्टयेऽग्ने संवेषिषो रयिम्। उरुकृदुरु णस्कृधि॥ ११॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः**=हमारे लिए **गविष्टये**=गौओं के-ज्ञानवाणियों के एषण (प्राप्ति) के निमित्त **कुवित्**=खूब ही **रयिं**=धन को **सु**=अच्छी प्रकार **संवेषिणः**=प्राप्त कराइये। प्रभु हमें धन दें। हम उस धन का विनियोग ज्ञान के साधनों को जुटाने में करें। धन भोग साधनों को जुटाने में ही व्ययित न हो। (२) हे प्रभो! आप **उरुकृतः**=खूब ही धनों को करनेवाले हैं। **नः**=हमारे लिए **उरुकृधि**=खूब ही धन को करिये। आपकी कृपा से हम खूब धन को प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए खूब ही धन को प्राप्त करायें। यह धन ज्ञान प्राप्ति के साधनों को जुटाने में व्ययित हो।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सं वर्गं, सं रयिं (जय)

मा नो अस्मिन्महाधने परा वर्ग्भारभृद्यथा। संवर्गं सं रयिं जय॥ १२॥

(१) हे प्रभो! आप **अस्मिन्**=इस **महाधने**=महान् संग्राम में **नः**=हमें **मा परावर्ग**=दूर छोड़ मत दीजिए। **यथा**=जैसे **भारभृत्**=भार को उठानेवाला अन्त में भार को छोड़ देता है, इसी प्रकार

हमें आप छोड़ मत दीजिये। हम आपके भारभूत न बन जाएँ। (२) हे प्रभो! आप हमारे लिये **सं वर्गम्**=सम्यक् शत्रुओं के वर्जन का **जय**=विजय कीजिये। यहाँ हमारे लिये **रयिम्**=ऐश्वर्य को **सं जय**=सम्यक् जीतिये। हम आपके अनुग्रह से सम्यक् शत्रुओं का विजय करें तथा ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमको कामादि शत्रुओं से विजय प्राप्त कराकर हमें ऐश्वर्य युक्त करता है।

ऋषिः—विरूपः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अमवत् शवः

अन्यमस्मद्भिया इयमग्ने सिषक्तु दुच्छुना। वर्धा नो अमवच्छवः॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **इयम्**=यह **दुच्छुना**=दुष्ट गति (दुराचरण) **अस्मत् अन्यम्**=हमारे से भिन्न ही किसी व्यक्ति को **भिया सिषक्तु**=भय के साथ सेवन करे। हमारे से यह सदा दूर रहे। दूसरा हमारे साथ अशुभ व्यवहार भी करे, तो भी हम दुष्ट गति को स्वीकार न करें। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **अमवत्**=शक्तियुक्त **शवः**=वेग को-स्फूर्ति के साथ कार्य करने की प्रवृत्ति को **वर्धा**=बढ़ाइये। सदा स्फूर्ति के साथ कर्त्तव्यकर्मों को करते हुए हम अशुभाचरण से बचे रहें।

भावार्थ—दुष्ट आचरण हमें छोड़ जाये। शुभ आचरण हमें सदा सबल बनाये रखें।

ऋषिः—विरूपः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

नमोयुक्त-अदुर्मख

यस्याजुषन्नमस्विनः शमीमदुर्मखस्य वा। तं घेदग्निर्वृधावति॥ १४॥

यस्य=जिस **नमस्विनः**=नमनशील **वा**=तथा **अदुर्मखस्य**=अदुष्ट यज्ञोंवाले उपासक के **शमीम्**=शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मों को **अजुषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, अर्थात् जिस नम्र यज्ञशील पुरुष के शान्तकर्म प्रभु को प्रीणित करते हैं, **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **तम्**=उस उपासक को **धारत्**=निश्चय से **वृधा अवति**=वृद्धि के द्वारा प्रीणित करते हैं। (२) हम कर्मों द्वारा ही प्रभु का प्रीणन कर पाते हैं। ऐसा करने पर प्रभु हमारी वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम नम्र यज्ञशील बनकर कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहें। यही प्रभु के आराधन का मार्ग है। प्रभु हमारा वर्धन करेंगे।

ऋषिः—विरूपः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वह तारक प्रभु

परस्या अधि संवतोऽवराँ अभ्या तर। यत्राहमस्मि ताँ अव॥ १५॥

(१) हे प्रभो! **परस्याः संवतः अधि**=अत्यन्त दूर के वर्षों से, अर्थात् सदा से **अवरान्**=आपके छोटे सखारूप हम जीवों को आप **अभ्यातर**=इस संसार समुद्र से तराने का अनुग्रह करिये। आपके अनुग्रह से हम सांसारिक विषयों में न फँसकर इस भवसागर से उत्तीर्ण हो सकें। (२) हे प्रभो! **यत्र अहं अस्मि**=जिस भी परिवार, समाज व देश में मैं हूँ, **तान् अव**=उन सबका आप रक्षण करिये। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर मैं सभी का रक्षण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही सनातन काल से हम सखाओं को इस भवसागर से तरानेवाले हैं। आप से शक्ति प्राप्त करके हम सभी का हित करनेवाले बनें।

ऋषिः—विरूपः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वह पिता (प्रभु)

विद्मा हि ते पुरा वयमग्ने पितुर्यथावसः। अधा ते सुम्नमीमहे ॥ १६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **पितुः ते**=पितृरूप आपके–रक्षण आपके **अवसः**=रक्षण को **वयम्**=हम **यथा पुरा**=पहले की तरह, अर्थात् सदा से **विद्मा हि**=अवश्य प्राप्त करें। आप सदा से हमारा रक्षण करते आये हैं। हम अब भी आपके रक्षणीय हों। (२) **अधा**=अब **ते**=आपके **सुम्नं**=(hymn) स्तोत्र को **ईमहे**=हम चाहते हैं। आपके स्तवन में ही हम सदा आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ–प्रभु हमारे सनातन काल से रक्षक हैं। हम सदा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें। प्रभु का स्तवन करते हम 'सुति'=सोमसम्पादन को 'कुरु' करनेवाले 'कुरुसुति' बनें। सोमरक्षण करते हुए ही हम यज्ञ (सुति) शील बनें। यही बुद्धिमत्ता है। यह 'काण्व' बुद्धिमान् 'कुरुसुति' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह इन्द्र नाम से प्रभु का स्तवन करता है–

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मायिनं, ओजसा ईशानम्

इमं नु मायिनं हुव इन्द्रमीशानमोजसा। मरुत्वन्तं न वृञ्जसे ॥ १ ॥

(१) **नु**=निश्चय से मैं **इमं इन्द्रम्**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ। उस इन्द्र को, जो **मायिनम्**=प्रज्ञावाले हैं–सर्वज्ञ हैं, **ओजसा ईशानम्**=अपने बल से सम्पूर्ण संसार के ईशान (स्वामी) हैं। (२) **न** (च)=और मैं उस इन्द्र को पुकारता हूँ जो **मरुत्वन्तम्**=(मरुतः प्राणाः) प्राणशक्तिवाले हैं। इन प्राणों के द्वारा **वृञ्जसे**=शत्रुओं के छेदन के लिये हैं। प्राणसाधना के द्वारा न केवल रोगों का ही नाश होता है, अपितु वासनाओं का भी विनाश होता है।

भावार्थ–प्रभु सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् हैं। हमें प्राणों को देते हुए इस योग्य बनाते हैं कि हम रोगों व वासनाओं को विच्छिन्न कर सकें।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मरुत्सखा इन्द्रः

अयमिन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः। वज्रेण शतपर्वणा ॥ २ ॥

(१) **अयं इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **मरुत्सखा**=प्राणों को मित्ररूप में पानेवाला होकर (मरुतः सखायो यस्य), अर्थात् प्राणसाधना के द्वारा **वृत्रस्य**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के **शिरः**=सिर को **वि अभिनत्**=विदीर्ण कर देता है। प्राणसाधना के द्वारा वासना का विनाश करता है। (२) यह इन्द्र **शतपर्वणा**=(पर्व=to fill) सौ वर्ष तक जीवन को भरनेवाले, अर्थात् आजीवन चलनेवाले **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासना को विनष्ट करता है। गतिशीलता उसे वासना का शिकार होने से बचाती है।

भावार्थ–एक जितेन्द्रिय पुरुष प्राणसाधना को करता हुआ वासना को विनष्ट करता है। सौ वर्ष तक इसका जीवन गतिशील बना रहता है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वृत्रं वि ऐरयत्

वावृधानो मरुत्सखेन्द्रो विवृत्रमैरयत्। सृजन्त्समुद्रिया अपः॥ ३॥

(१) **मरुत्सखा**=प्राण हैं सखा जिसके, वह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वावृधाना**='शरीर, मन व बुद्धि' के दृष्टिकोण से अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **वृत्रम्**=वासना को **वि ऐरयत्**=विशेषरूप से कम्पित करके विनष्ट करता है। (२) यह **समुद्रियाः**=(स+मुद्) उस आनन्दमय प्रभु की ओर ले-जानेवाले **अपः**=कर्मों को **सृजन्**=उत्पन्न करता हुआ होता है। सदा उत्तम कर्मों को करता हुआ, इन कर्मों के द्वारा प्रभु का अर्चन करता है। 'अप' का अर्थ 'रेतःकण' भी है। उन रेतःकणों को उत्पन्न करता है, जो इसे प्रभु प्राप्ति में सहायक होते हैं। इनके रक्षण से तीव्रबुद्धि होकर वह प्रभु का दर्शन करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रिय पुरुष वासना का विनाश करता है और रेतःकणों का रक्षण करता हुआ प्रभु की ओर बढ़ता है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मरुत्वता स्वः जितम्

अयं ह येन वा इदं स्वर्मरुत्वता जितम्। इन्द्रेण सोमपीतये॥ ४॥

(१) **अयम्**=यह जीव ही **ह**=निश्चय से **सोमपीतये**=अपने अन्दर सोम के रक्षण के लिये समर्थ होता है **येन वा**=जिसने निश्चय से **मरुत्वता**=उत्तम प्राणोंवाला होते हुए, अर्थात् प्राणसाधना द्वारा प्राणों की शक्ति को बढ़ाते हुए, **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष ने **इदं स्वः**=यह प्रकाश व सुख **जितम्**=जीता है-प्राप्त किया है। (२) वस्तुतः हमारा मौलिक कर्त्तव्य यही है कि हम सोम का रक्षण करते हुए अपने अन्दर ज्ञान के प्रकाश को बढ़ायें। यह ज्ञान का प्रकाश ही हमारे जीवन को सुखी बनाता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा सोम (वीर्य) का रक्षण करें। यह सुरक्षित सोम बुद्धि की तीव्रता द्वारा प्रकाश को प्राप्त करायेगा।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मरुत्वान् ऋजीषी

मरुत्वन्तमृजीषिणमोजस्वन्तं विरप्शिनम्। इन्द्रं गीर्भिर्हवामहे॥ ५॥

(१) **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु को अपने जीवन में धारण करने का प्रयत्न करते हैं। (२) उन प्रभु को हम पुकारते हैं, जो **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाले हैं-हमारे लिये प्राणशक्ति को प्राप्त कराते हैं। **ऋजीषिणम्**=ऋजुता के मार्ग की प्रेरणा देते हैं। **ओजस्वन्तम्**=ओजस्वी हैं और **विरप्शिनम्**=महान् हैं। प्रभु का आराधन करते हुए हम प्राणशक्ति-सम्पन्न, ऋजुमार्ग से चलनेवाले, ओजस्वी व महान् बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु प्राणशक्ति की हमारे में स्थापना करनेवाले, ऋजुता की प्रेरणा देनेवाले, ओजस्वी व महान् हैं। हम प्रभु का आराधन करते हुए प्राणशक्ति-सम्पन्न व ओजस्वी बनें। ऋजुमार्ग से चलते हुए महान् बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रत्नेन मन्मना

इन्द्रं प्रत्नेन मन्मना मरुत्वन्तं हवामहे। अस्य सोमस्य पीतये॥ ६॥

(१) **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **प्रत्नेन मन्मना**=सनातन वेदज्ञान के द्वारा **हवामहे**=हम पुकारते हैं। (२) **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाले-प्राणों की हमारे में स्थापना करनेवाले प्रभु को **अस्य सोमस्य पीतये**=इस सोम के पान के लिये पुकारते हैं। प्रभु का स्तवन हमें वासनाओं के आक्रमण से बचायेगा। प्राणायाम द्वारा सोमशक्ति की शरीर में ऊर्ध्वगति होगी। इस प्रकार हम सोम का रक्षण करने में समर्थ होंगे।

भावार्थ—प्रभुस्मरण व प्राणायाम के करते हुए हम सोम का शरीर में रक्षण करें।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'मरुत्वान् मीढ्वान्' इन्द्र

मरुत्वाँ इन्द्र मीढ्वः पिबा सोमं शतक्रतो। अस्मिन्यज्ञे पुरुष्टुत॥ ७॥

(१) हे **मीढ्वः**=सब सुखों का सेचन करनेवाले **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालि प्रभो! आप **मरुत्वान्**=प्राणोंवाले हैं। (२) इन प्राणों को स्थापना करते हुए आप **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **सोमं पिब**=सोमशक्ति का रक्षण करिये। हे **पुरुष्टुत**=अत्यन्त ही स्तवन किये जानेवाले प्रभो! आप का स्तवन ही हमारा पालन व पूरण करनेवाला है। (पुरु ष्टुतं यस्य)। प्राणों की साधना करते हुए हम शरीर में सोम का रक्षण कर पायेंगे। अपने अन्दर सोम का रक्षण करते हुए हम अपने को 'शतक्रतु' बना पायें। इस सोम ने ही हमारे में शक्ति का सेचन करना है, इसी ने ज्ञानाग्नि को दीप्त करना है।

भावार्थः—वे प्रभु हमारे जीवन में सोम का रक्षण करते हुए हमें शक्ति व ज्ञान से परिपूर्ण करते हैं।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोमरक्षण व प्रभुदर्शन

तुभ्येदिन्द्र मरुत्वते सुताः सोमासो अद्रिवः। हृदा हूयन्त उक्थिनः॥ ८॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **तुभ्यं इत्**=आपकी प्राप्ति के लिये ही **सोमासः**=सोमकण शरीर में **सुताः**=उत्पन्न किये गये हैं। इनके रक्षण से ही ज्ञानाग्नि का दीपन होकर प्रभु का साक्षात्कार होता है। (२) हे प्रभो! **मरुत्वते**=प्रशस्त प्राणों को स्थापित करनेवाले आपके लिये ही **उक्थिनः**=सोमयज्ञोंवाले वे उपासक **हृदा**=हृदय से **हूयन्ते**=आवाहन करते हैं। आपका अराधन ही हमें प्राणशक्तिसम्पन्न बनाता है। इन प्राणों की साधना के द्वारा हम सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा सोम की ऊर्ध्वगति करके ही हम प्रभुदर्शन के अधिकारी बनते हैं।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दिविष्टिषु

पिबेदिन्द्र मरुत्सखा सुतं सोमं दिविष्टिषु। वज्रं शिशान ओजसा॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **मरुत्सखा**=प्राणरूप मित्रों को प्राप्त करानेवाले आप **सुतं**

सोमम्=उत्पन्न हुए सोम को **पिबा इत्**=शरीर में पीजिये ही। आपकी आराधना से व प्राणायाम से सोमकण शरीर में सुरक्षित रहें। (२) इस सोमरक्षण द्वारा **दिविष्टिषु**=ज्ञान के प्रकाशों के प्राप्त होने पर यह उपासक **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **वज्रं शिशानः**=(वज गतौ) गतिशीलता को तीव्र करनेवाला हो। ज्ञानी व ओजस्वी बने और गतिशील हो।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा सोमरक्षण होकर हमारे ज्ञान ओज व गतिशीलता में वृद्धि हो।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शिप्रे अवेपयः

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः। सोममिन्द्र चमू सुतम्॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष तू **चमू सुतम्**=मस्तिष्क व शरीर के निमित्त उत्पन्न किये गये **सोमम्**=सोम को-वीर्यशक्ति को **पीत्वी**=शरीर में ही सुरक्षित करके **ओजसा सह**=ओजस्विता के साथ **उत्तिष्ठन्**=उन्नत होता हुआ **शिप्रे**=शत्रुओं के जबड़ों को **अवेपयः**=कम्पित कर देता है। (२) शरीर में प्रभु ने सोमशक्ति को स्थापित किया है। यह शरीर को शक्तिशाली बनाती है और मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करती है। इसके रक्षण से ओजस्वी बनकर हम शत्रुओं को परास्त करते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें वह शक्ति प्राप्त कराता है जो हमें शत्रुओं को पराभूत करने में समर्थ करती है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

क्रक्षमाण (one who gives a crushing defeat to his enemies)

अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम्। इन्द्र यद्दस्युहाभवः॥ ११॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यद्**=जब तू **दस्युहा अभवः**=वासनारूप दास्यववृत्तियों को नष्ट करनेवाला होता है, तो **क्रक्षमाणम्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले **त्वा अनु**=तेरे अनुसार **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **अकृपेताम्**=सामर्थ्यसम्पन्न बनते हैं। (२) यह इन्द्र जितना-जितना वासना का विनाश करता चलता है, उसी अनुपात में उसके मस्तिष्क व शरीर शक्तिसम्पन्न होते चलते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर वासना का विनाश करें। तभी हमारे शरीर दृढ़ व मस्तिष्क दीप्त बनेंगे।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अष्टापदी वाक्

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात्परि तन्वं ममे॥ १२॥

(१) **अहम्**=मैं, गतमन्त्र के अनुसार 'दस्युहा' बनकर **इन्द्रात्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **वाचम्**=ज्ञान की वाणी को **परिममे**=अपने अन्दर निर्मित करता हूँ, जो **अष्टापदीं**='कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादन, सम्बन्ध, अधिकरण व सम्बोधन' रूप आठ पदोंवाली हैं। **नवस्रक्तिम्**='तिप् तस् सि-सिप् धस् थ-मिप् वस् मस्' रूप नौ रूपों में निर्मित होनेवाली है। **ऋतस्पृशम्**=सब सत्यविद्याओं के स्पर्शवाली है। 'नवस्रक्तिम्' शब्द का यह भी अर्थ है कि जो नवीन स्तुत्य जीवन का निर्माण करनेवाली है। (२) इस ज्ञान की वाणी के साथ मैं प्रभु से **तन्वम्**=शक्तियों के विस्तार

को (परिममे=) अपने में निर्मित करता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु से ज्ञान की वाणी को और शक्तियों के विस्तार को प्राप्त करता हूँ।

अगले सूक्त का ऋषि देवता भी 'कुरु सुति काण्व' व 'इन्द्र' ही हैं—

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

के उग्राः ?

जज्ञानो नु शतक्रतुर्वि पृच्छदिति मातरम्। क उग्राः के ह शृण्विरे॥ १ ॥

(१) यहाँ काव्यमय भाषा में उत्पन्न होता हुआ बालक माता से पूछता है और माता उसे अगले मन्त्र में उतार देती है। वस्तुतः माता ही लोरियाँ देते हुए इस प्रकार की ही बात प्रश्नोत्तर के ढंग से करती है। **जज्ञानः नु**=प्रादुर्भूत होता हुआ ही **शतक्रतुः**=ये शतवर्ष पर्यन्त शक्ति व प्रज्ञानवाला बालक, **मातरम्**=माता से **इति**=यह **वि पृच्छात्**=पूछता है कि ये **उग्राः**=कौन भयंकर शत्रु हैं? **के**=कौन **ह**=निश्चय से **शृण्विरे**=लोक में उग्रशत्रु सुने जाते हैं? अर्थात् मैंने इस जीवन में किन भयंकर शत्रुओं का सामना करना है? (२) इस प्रश्न को सुनकर माता उसे अगले मन्त्र में उत्तर देती है कि इन-इन शत्रुओं को तूने जीतना है।

भावार्थ—माता उत्पन्न हुए बालक के साथ प्रारम्भ से ही इस प्रकार बातचीत करे कि बालक पर सुन्दर प्रभाव पड़े, वह किन्हीं भी वासनारूप शत्रुओं का शिकार न हो जाये।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

और्णवाभम् अहीशुवम्

आदीं शवस्यब्रवीदौर्णवाभमहीशुवम्। ते पुत्र सन्तु निष्टुरः॥ २ ॥

(१) इस प्रकार प्रश्न के होने पर **आत् ईम्**=अब निश्चय से **शवसी**=शक्तिसम्पन्न गतिशील माता **अब्रवीत्**=कहती है कि **और्णवाभम्**=मकड़ी (ऊर्णनाभि) की तरह अपने जाल को फैलानेवाले **अहीशुभम्**=(अहि शिव) सर्प की तरह (आहन्ति इति) गतिवाले व निरन्तर अपने विष-प्रभाव को बढ़ानेवाले (शिव गतिवृद्ध्योः) 'काम' को ही तू अपना उग्रतम शत्रु जान। (२) हे **पुत्र**=अपने जीवन को पवित्र व सुरक्षित (पु+त्रा, पुनाति त्रायते) बनानेवाले प्रिय पुत्र! ये काम आदि शत्रु ही **ते**=तेरे **निष्टुरः सन्तु**=निस्तारणीय हों। इन शत्रुओं को तू सदा समाप्त करनेवाला बन। इनके वशीभूत तूने नहीं होना।

भावार्थ—माता बालक को इस प्रकार प्रेरणा देती है कि तूने वासनाजाल को विनष्ट करनेवाला बनना है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वृत्रहा-दस्युहा

समित्तान्वृत्रहाखिदत्खे अराँइव खेदया। प्रवृद्धो दस्युहाभवत्॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्रों के शब्दों में इस प्रकार माता से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ यह बालक **प्रवृद्धः**=प्रकृष्ट वृद्धि को प्राप्त हुआ **दस्युहा अभवत्**=सब दास्यववृत्तियों को विनष्ट करनेवाला बनता है। (२) यह दस्युहा बालक **वृत्रहा**=वासनारूप परदे को विनष्ट करनेवाला होता है और **तान्**=उन वासनारूप शत्रुओं को **इत्**=निश्चय से **सं अखिदत्**=सम्यक् विनष्ट करता है। यह इन शत्रुओं को इस

प्रकार बाँध देता है **इव**=जैसे **खे**=रथचक्र की नाभि में **अरान्**=अरों को **खेदया**=रज्जु से बाँध दिया जाता है। काम आदि को यह पूर्णरूप से वश में कर लेता है।

भावार्थ—माता से उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करता हुआ यह बालक बड़ा होकर वृत्रहा व दस्युहा बनता है—वासना को विनष्ट करता है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

एकया प्रधिा

एकया प्रतिधापिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्रः सोमस्य काणुका॥ ४॥

(१) उल्लिखित प्रकार से माता प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला यह बालक बड़ा होकर **एकया प्रतिधा**=अद्वितीय प्रतिधान से, अर्थात् इन्द्रियों को विशेषरूप से विषयों से आवृत्त (प्रत्याहृत) करने के द्वारा **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनकर **सोमस्य**=सोमशक्ति के (वीर्यशक्ति के) **काणुका**=कान्त-सुन्दर **सरांसि**=प्रवाहों को **त्रिंशतम्**=शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष के तीसों अहोरात्रों में **साकं अपिबत्**=साथ पीनेवाला होता है—प्रभु की उपासना करता हुआ, प्रभु के सम्पर्क में रहने से वासनाओं के आक्रमण से सदा बचता हुआ अपने अन्दर पीनेवाला होता है (Imbibe)—सोम को अपने अंग-प्रत्यंगों में ही व्याप्त करता है। (२) वस्तुतः उन्नति का मार्ग यही है कि हम दिन-रात सोम के रक्षण का ध्यान करें। सोमशक्ति के ये प्रवाह ही हमारे अंग-प्रत्यंगों को सुन्दर शक्ति प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये अत्यन्त अधिक प्रत्याहार (प्रतिधान) की आवश्यकता है। एक युवक को सदा इस बात का ध्यान हो—तीसों अहोरात्रों में वह इसके रक्षण के लिये यत्नशील हो।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अभि गन्धर्वम्

अभि गन्धर्वमतृणदबुध्नेषु रजःस्वा। इन्द्रो ब्रह्मभ्य इद् वृधे॥ ५॥

(१) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **गन्धर्वं अभि**=वेदवाणी के धारण करनेवाले प्रभु की ओर चलता है **अबुध्नेषु**=पदविधान के अयोग्य **रजः सु**=लोकों में, अर्थात् हृदयान्तरिक्ष में **अतृणत्**=यह वासनाओं का विनाश करता है। इसके हृदय में वासनाएँ अपना पैर नहीं जमा पातीं। इन वासनाओं के लिये इसका हृदय 'अबुध्न' बना रहता है। (२) यह इन्द्र वासनाओं का विनाश करके **इत्**=निश्चय से **ब्रह्मभ्यः वृधे**=ज्ञानों के वर्धन के लिये होता है। वासनाविनाश के बिना ज्ञान वृद्धि का सम्भव है ही नहीं।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु की ओर चलता है और हृदयस्थली से वासनाओं के झाड़ी-झंकाड़ों को उखाड़ फेंकता है। यह अपने जीवन में उत्तमोत्तम ज्ञान की वृद्धि को करता है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पक्वम् ओदनम्

निराविध्यद्गिरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्॥ ६॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सु आततम्**=अत्यन्त विस्तृत **बुन्दम्**=ज्ञानरूप बाण को (भासमानो द्रवतीति वा नि०) **आ-धारयत्**=समन्तात् धारण करता है। इस ज्ञानरूप बाण से वह **निराविध्यत्**=वासनारूप शत्रुओं को सुदूर बाहर विद्ध करनेवाला होता है। वासनाओं को विद्ध करके बाहर निकाल देता है। (२) यह इन्द्र **गिरिभ्यः**=ज्ञानोपदेष्टा गुरुओं से **पक्वं ओदनम्**=पूर्ण

परिपक्व ज्ञान के भोजन को प्राप्त करता है। इस ओदन को पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण करनेवाला यह जीव 'पञ्चौदन' कहा गया है।

भावार्थ–एक जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानरूप बाण से वासनारूप शत्रु को मारकर पञ्चौदन बनता है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शतब्रध्न

श॒तब्र॑ध्न॒ इषु॒स्तव॑ स॒हस्र॑पर्ण॒ एक॒ इत्। यमि॑न्द्र चकृ॒षे युज॑म्॥ ७॥

हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशालिन्! आप **यम् युजं चकृषे**=जिसे अपना सहायक बनाते हो, वह **तव इषुः**=आपका बाण **शतब्रध्नः**=सैकड़ों आश्रयोंवाला **सहस्रपर्णः**=सहस्रों बलों से सम्पन्न **एकः इत्**=अद्वितीय हो जाता है।

भावार्थ–जिस पर प्रभु कृपा करें, वह निर्बल भी बली तथा विपन्न भी सम्पन्न हो जाता है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ऋभुष्ठिर

तेन॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र॒ नृभ्यो॒ नारि॑भ्यो॒ अत्त॑वे। स॒द्यो जा॒त ऋ॑भुष्ठिर॥ ८॥

हे **ऋभुष्ठिर**=सत्य न्याय से स्थिर राजन्! तू **सद्यः जातः**=शीघ्र ही राजा होकर **तेन**=राज्य बल से **स्तोतृभ्यः नृभ्यः नारिभ्यः**=प्रशंसक स्त्री पुरुषों के लिये **अत्तवे**=भोजन के लिये **आभर**=अन्न प्रदान कर।

भावार्थ–राजा अपने राज्य में अन्नादि का अभाव न होने दे।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

परीणसा

ए॒ता च्यौ॒त्नानि॑ ते कृ॒ता वर्षि॑ष्ठानि॒ परी॑णसा। हृ॒दा वी॒ड्वधा॑रयः॥ ९॥

एता=ये **च्यौत्नानि**=बली **वर्षिष्ठानि**=तथा बरसनेवाले **ते कृता**=तेरे बनाये हुये हैं। तू उनको **वीडु परीणसा**=स्थिरतापूर्वक **हृदा**=हृदय से **अधारयः**=धारण कर।

भावार्थ–सभी बली, व बरसनेवाले बादलादि परमेश्वर ने धारण कर रखे हैं।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

महिषि, क्षीरपाक ओदन, एमुष वराह

विश्वेत्ता विष्णु॒राभ॑रदुरुक्र॒मस्त्वेषि॑तः। श॒तं म॑हि॒षान्क्षी॑रपा॒कमो॑द॒नं व॑रा॒हमिन्द्र॑ एमु॒षम्॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा इषितः**=तेरे से प्रार्थना किया हुआ-तेरे से जाना गया-यह **विष्णुः**=सर्वव्यापक **उरुक्रमः**=महान् पराक्रमवाला प्रभु **विश्वा इत् ता**=सब ही निश्चय से उन ज्ञानों को-गतमन्त्र में वर्णित 'च्यौत्न वर्षिष्ठ' ज्ञानों को **आभरत्**=प्राप्त कराता है। (२) ये प्रभु ही **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **महिषान्**=(मह पूजायाम्) पूजा की भावनाओं को-अथवा उत्तम यज्ञों को प्राप्त कराते हैं। **क्षीरपाकम्**=वेदरूप गौ में पके **ओदनम्**=ज्ञान के भोजन को प्राप्त कराते हैं। तथा **एमुषम्**=(मुष स्तेये) सब बुराइयों का मोषण करनेवाली **वराहम्**=(वरं वरं आहन्ति, हन्

गतौ=प्राप्तौ) उत्तमताओं को प्राप्त करानेवाली वृत्ति को हमारे अन्दर भरते हैं।

भावार्थ–प्रार्थना किये हुए प्रभु ज्ञानों को, पूजा की भावनाओं को, वेदधेनु के दुग्ध में पके ज्ञान के भोजन को तथा बुराइयों को समाप्त करनेवाली उत्तमता की वृत्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

धनुः, बुन्दः व बाहू

तुविक्षं ते सुकृतं सूमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः।
उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदृदूवृधा॥ ११॥

(१) **ते धनुः**=हे इन्द्र! तेरा धनुष **तुविक्षम्**=शत्रुओं का महान् क्षय करनेवाला है, **सुकृतम्**=शोभन कर्मोंवाला व **शभयम्**=उत्तम सुख को देनेवाला है। वस्तुतः 'प्रणवो धनुः'=प्रभु का नाम ही धनुष है। यह प्रभु नामस्मरण शत्रुओं का विनाशक, शुभ का उत्पादक तथा सुखद है। **बुन्दः**=बाण (इषु) **साधुः**=सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला व **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय है। आत्मा ही बाण है–यह साधु व हिरण्य बना है। (२) हे इन्द्र! **ते**=तेरी **उभा बाहू**=दोनों भुजाएँ **रण्या**=रमणीय वरण के लिये उत्तम हैं, **सुसंस्कृते**=ये भुजाएँ पूर्णरूप से परिष्कृत हैं। **ऋदूपे**=सब पीड़कों को दूर फेंकनेवाली हैं तथा **चित्**=निश्चय से **ऋदूवृधा**=इन पीड़क शत्रुओं को विद्ध करनेवाली हैं।

भावार्थ–प्रणवरूप धनुष को हम ग्रहण करें। यह शत्रुओं का क्षय करनेवाला, शुभ कर्मोंवाला व सुख को देनेवाला है। हम आत्मरूप बाण को उत्तम कार्यों का साधक व ज्योतिर्मय बनायें। हमारी भुजाएँ संग्राम में उत्तम व शत्रुओं को परे फेंकनेवाली व उन्हें विद्ध करनेवाली हों।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'कुरुसुति काण्व' ही है–

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पुरोडाश+गोशत

पुरोळाशं नो अन्धस इन्द्र सहस्रमा भर। शता च शूर गोनाम्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिये **अन्धसः**=अन्न के **सहस्रम्**=आनन्दमय (स+हस्) **पुरोडाशम्**=(oblation) हुत (पुरा-दाश्), अर्थात् पहले यज्ञ में देने को और फिर यज्ञशेष के रूप में सेवन को **आभर**=भरिये–प्राप्त कराइये। हम सदा यज्ञशेष का सेवन करें। (२) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप हुतशेष को तो हमें प्राप्त कराइये ही। **च**=और **गोनां शता**=ज्ञान की वाणियों को भी सैकड़ों की संख्या में प्राप्त करानेवाले होइये।

भावार्थ–हम हुतशेष का सेवन करें–देकर बचे हुए को ही खाएँ। तथा अत्यन्त ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

व्यञ्जनम्+अभ्यञ्जनम्

आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम्। सचा मना हिरण्यया॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **व्यञ्जनम्**=विविध विज्ञानों के प्रकाश को (Making clear) **आभर**=प्राप्त कराइये। **गाम् अश्वम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराइये। इन्हीं से तो हम उन विषयों के शास्त्रीय व क्रियात्मक ज्ञान को प्राप्त कर पायेंगे। इन विज्ञानों के द्वारा

अभ्यञ्जनम्=Decoration अध्यात्म ज्ञान के अलंकरण को प्राप्त कराइये। ये विज्ञान अध्यात्म ज्ञान का सहायक बनें। (२) इस प्रकार, हे प्रभो! आप **सचा**=साथ-साथ ही हमारे लिये **मना**=इन मननीय **हिरण्यया**=हितरमणीय ज्ञानों को दीजिये।

भावार्थ—विविध विज्ञान 'व्यञ्जन' हैं, तो अध्यात्मज्ञान 'अभ्यञ्जन' है। प्रभु हमारे लिये इन व्यञ्जनों व अभ्यञ्जन को साथ-साथ प्राप्त कराएँ। इनके लिये हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को दें।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

कर्णशोभना

उत नः कर्णशोभना पुरूणि धृष्णवा भर। त्वं हि शृण्विषे वसो॥ ३॥

(१) हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **उत**=निश्चय से **पुरूणि**=खूब पालन व पूरण करनेवाले **कर्णशोभना**=कानों के लिये शोभा के कारणभूत ज्ञानों को **आभर**=प्राप्त कराइये। ये ज्ञान के वचन ही हमारे कानों के लिये शोभा के वर्धक हों। (२) हे **वसो**=ज्ञान को देकर हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=ही **शृण्विषे**=हमारे से सुने जाते हैं। हमारे लिये ज्ञानों को देनेवाले आप ही हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान के वचनों को सुनें। ये ज्ञानवाणियाँ ही हमारे कानों के आभरण हों।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वृधीक, सुषा व सुदा

नकीं वृधीक इन्द्र ते न सुषा न सुदा उत। नान्यस्त्वच्छूर वाघतः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वाघतः**=ऋत्विजों-यज्ञशील पुरुषों का **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न कोई और **वृधीकः**=बढ़ानेवाला **नकीम्**=नहीं है। आप ही सब यज्ञशील पुरुषों के बढ़ानेवाले हैं। (२) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **न ते सुषाः**=आपका कोई भी सुष्ठु सम्भजन करनेवाला नहीं है। संग्राम आदि में आप ही इन ऋत्विजों के संभक्ता (=साथ देनेवाले) होते हैं। **उत**=और **न सुदाः**=आपके समान कोई और उत्तम दाता नहीं। **न**=वस्तुतः आपसे भिन्न कोई नहीं है। आपसे पृथक् स्थान में किसी की सत्ता नहीं है। प्रकृति व जीव सब आपके आधार से ही हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। प्रभु ही यज्ञशील पुरुषों के बढ़ानेवाले, संग्राम में साथ देनेवाले व सब उत्तम साधनों व पदार्थों को देनेवाले हैं।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

न निकर्तवे, न परिशक्तवे

नकीमिन्द्रो निकर्तवे न शक्रः परिशक्तवे। विश्वं शृणोति पश्यति॥ ५॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **निकर्तवे नकीम्**=निरादर व हिंसा के लिये नहीं होते-कोई भी प्रभु का निरादर व हिंसन नहीं कर सकता। **शक्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **परिशक्तवे न**=बल द्वारा पराजित करने योग्य नहीं होते। वे प्रभु सर्वाधिक ऐश्वर्यवाले व सर्वशक्तिमान् हैं। (२) वे प्रभु ही **विश्वं शृणोति**=सब को सुनते हैं-सब की प्रार्थना को सुननेवाले वे प्रभु ही हैं और सब को वे ही **पश्यति**=देखते हैं (Look after) सब का वे ही पालन व पोषण करते हैं।

भावार्थः—कोई भी प्रभु का हिंसन व निरादर नहीं कर सकता। प्रभु ही सब की प्रार्थना

को सुनते हैं व सभी का पालन करते हैं।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

क्रोध का पराभव

स मन्युं मर्त्यानामदब्धो नि चिकीषते। पुरा निदश्चिकीषते॥ ६॥

(१) **सः अदब्धः**=वे किसी से हिंसित न होनेवाले प्रभु **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के **मन्युम्**=क्रोध को **निचिकीषते**=(निकरोति) निरादृत करते हैं-पराभूत करते हैं। प्रभु का स्मरण करने पर यह उपासक क्रोधशून्यवृत्तिवाला बनता है। (२) **निदः पुरा**=निन्दनीय स्थिति में पहुँचने से पूर्व ही प्रभु इनके क्रोध को **चिकीषते**=निकृत करते हैं। क्रोध के कारण मनुष्य उपहास्य व निन्द्य स्थिति में पहुँच जाता है। प्रभु अपने उपासक को इस स्थिति में कभी नहीं पहुँचने देते।

भावार्थ—प्रभु अपने उपासक को क्रोध पर विजयी बनाते हैं। उपासना क्रोध को दूर करती है।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

क्रतुसे पूर्ण उदर

क्रत्व इत्पूर्णमुदरं तुरस्यास्ति विधतः। वृत्रघ्नः सोमपाव्नः॥ ७॥

(१) **तुरस्य**=कर्मों को त्वरा से करते हुए **विधतः**=उपासक का-कर्म के द्वारा उपासना करते हुए पुरुष का **उदरम्**=उदर-आभ्यन्तर प्रदेश **इत्**=निश्चय से **क्रत्वः**=शक्ति व प्रज्ञान से **पूर्णम्**=परिपूर्ण **अस्ति**=होता है। इसका प्राणमयकोश शक्ति से परिपूर्ण होता है, तो इसका विज्ञानमयकोश ज्ञान से परिपूर्ण हुआ करता है। (२) **वृत्रघ्नः**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाले और इस **सोमपाव्नः**=सोम का (वीर्य का) रक्षण करनेवाले पुरुष का उदर क्रतु से पूर्ण हुआ करता है। सोम ने ही तो शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान की स्थापना करनी है।

भावार्थ—हम त्वरा से कर्तव्य कर्मों को करते हुए प्रभु का पूजन करें। वासना को विनष्ट करते हुए सोम का रक्षण करनेवाले बनें। इस प्रकार हम शक्ति व ज्ञान से परिपूर्ण हृदयवाले बनेंगे।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वसूनि+सौभगा

त्वे वसूनि संगता विश्वा च सोम सौभगा। सुदात्वपरिह्वृता॥ ८॥

(१) हे **सोम**=सोम का पान करनेवाले (सोमपायिन्) इन्द्र! **त्वे**=आप में **वसूनि**=निवास के लिये आवश्यक सब तत्त्व-सब धन **संगता**=संगत होते हैं। **च**=और आप में ही सब **शौभगा**=सौभाग्य संगत हुए हैं। सोमशक्ति का रक्षण हमारे जीवनों को भी वसुओं और सौभाग्यों से संगत करे। (२) हे प्रभो! आपके **सुदानु**=उत्तम दान **अपरिह्वृता**=कुटिलता से रहित हैं। प्रभु के अनुग्रह से हमें 'स्वास्थ्य, पवित्रता व ज्ञानदीप्ति' प्राप्त होती है। इनके प्राप्त होने से हमारा जीवन अकुटिल बनता है।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हमें सब वसु व सौभाग्य प्राप्त हों। ये वसु व सौभाग्य हमारे जीवनों को अकुटिल बनाएँ।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यवयुः, गव्युः, हिरण्ययुः, अश्वयुः (कामः)

त्वामिद्यवयुर्मम कामो गव्युर्हिरण्ययुः। त्वामश्वयुरेषते॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **मम**=मेरा **यवयुः कामः**=(यवः यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराई को दूर करने व अच्छाई को प्राप्त करने का काम (मनोरथ) **त्वां इत्**=आपको ही **एषते**=प्राप्त होता है, अर्थात् मैं 'यव' की कामनावाला होता हुआ आपको ही प्राप्त होता हूँ। इसी प्रकार **गव्युः**=ज्ञानेन्द्रियों की प्राप्ति का काम (मनोरथ) आपको ही प्राप्त होता है। (२) इसी प्रकार **हिरण्ययुः**=हितरमणीय ज्ञान की अभिलाषा आपकी ओर ही मुझे लाती है तथा **अश्वयुः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों की कामना **त्वाम्**=आपको ही प्राप्त करती है।

भावार्थ—प्रभु ही हमें बुराइयों से दूर करके अच्छाइयों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, हितरमणीय ज्ञानों व उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—कुरुसुतिः काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

दान व प्रभुप्राप्ति

तवेदिन्द्राहमाशसा हस्ते दात्रं चना ददे। दिनस्य वा मघवन्त्संभृतस्य वा पूर्धि यवस्य काशिना॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अहम्**=मैं **तव इत् आशसा**=आपकी ही आशा से (hoping) प्राप्ति की कामना से (desire) **हस्ते**=हाथ में **दात्रम्**=दान की क्रिया को **चनः**=निश्चय से **आददे**=ग्रहण करता हूँ। दान की वृत्ति हमारी बुराइयों का अवदान (खण्डन) करती है और इस प्रकार हमारे जीवनों को पवित्र बनाकर हमें प्रभुप्राप्ति के योग्य करती है। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **संभृतस्य दिनस्य**=सम्यक् भरण किये गये **दिनस्य**=दिन के **काशिना**=(light, splendour) प्रकाश से **वा**=तथा **यवस्य**=बुराई को पृथक् करने व अच्छाई को धारण करने के प्रकाश से हमारे जीवन को **पूर्धि**=भरिये।

भावार्थ—हम दान की वृत्तिवाले बनकर पवित्र जीवनवाले हों। यही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है। हमारा दिन उत्तम कार्यों से भरा हुआ हो। हम सदा बुराई को दूर करने और अच्छाई को धारण करनेवाले बनें। इसी से जीवन प्रकाशमय होगा।

गतमन्त्र के अनुसार अपने प्रत्येक दिन को उत्तम कार्यों से भरनेवाला यह 'कृत्नु' है। तपस्वी होने से 'भार्गव' है। यह सोमरक्षण के द्वारा ही ऐसा बन पाता है—

[७९] एकोनाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कृत्नुर्भार्गवः॥ देवता—सोमः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'विश्वजित्' सोम

अयं कृत्नुरगृभीतो विश्वजिदुद्भिदित्सोमः। ऋषिर्विप्रः काव्येन॥ १॥

(१) शरीर में सुरक्षित **अयम्**=यह **सोमः**=सोम **कृत्नुः**=हमें क्रियाशील बनानेवाला है। **अगृभीतः**=यह रोग आदि शत्रुओं से गृहीत नहीं होता **विश्वजित्**=सबको जीतनेवाला है—यही रोगों को पराजित करके हमें स्वास्थ्य को प्राप्त कराता है, वासनाओं को अभिभूत करके पवित्र मनवाला बनाता है तथा बुद्धि की कुण्ठता को नष्ट करके ज्ञानदीप्त जीवनवाला करता है। इस प्रकार यह सोम **उद्भित्**=हमारी सब उन्नतियों को करनेवाला है। (२) यह सोम **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा है।

बुद्धि को तीव्र बना के हमें तत्त्वज्ञान देनेवाला है। **काव्येन**=वेदरूप महान् काव्य के द्वारा यह **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम 'विश्वजित्' है यह हमें शरीर में क्रियाशील, नीरोग, उन्नतिशील व ज्ञानी बनाता है।

ऋषिः—कृत्नुर्भार्गवः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'नग्न-तुर-अन्ध व श्रोण' प्रभुकृपा से कृपा बन जाते हैं?

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम्। प्रेमन्धः ख्यन्निः श्रोणो भूत्॥ २॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित सोम शरीर में सुरक्षित होकर हमें उस महान् सोम (प्रभु) की कृपा का पात्र बनाता है **यत्**=जो ब्रह्म **नग्नं अभ्यूर्णोति**=नग्न को वस्त्रों से आच्छादित करता है, **यत्**=जो **विश्वम्**=सब **तुरम्**=रोगहिंसित पुरुष को **भिषक्ति**=चिकित्सित करता है। (२) उस प्रभु के अनुग्रह से शरीर में सोम के पूर्णरूप से सुरक्षित होने पर **अन्धः**=अन्धा भी **इम्**=निश्चय से **प्र ख्यत्**=देखता है और **श्रोणः**=पंगु भी **निः भूत्**=घर से बाहर जानेवाला बनता है, अर्थात् प्रभु के अनुग्रह से सुरक्षित सोम दृष्टिशक्ति व चलने की शक्ति प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु का अनुग्रह नग्न को वस्त्रों से आच्छादित करता है, रोगी को नीरोग बनाता है, अन्धे को देखनेवाला और लंगड़े को खूब चलनेवाला बनाता है।

ऋषिः—कृत्नुर्भार्गवः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—विराट् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

क्षीण करनेवाला द्वेष

त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यः। उरु यन्तासि वरूथम्॥ ३॥

(१) हे **सोम**=सम्पूर्ण संसार को जन्म देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **अन्यकृतेभ्यः**=दूसरों से हमारे अन्दर उत्पन्न किये गये **तनूकृद्भ्यः**=हमें क्षीण करनेवाले **द्वेषोभ्यः**=द्वेष के भावों से **उरु**=विशाल-महान् **वरूथम्**=रक्षक बल को **यन्तासि**=देनेवाले हैं। (२) प्रभु का स्मरण हमें द्वेष के भावों से दूर करता है। द्वेष हमें क्षीण करनेवाला है। प्रभु ही हमें इस द्वेष से अनाक्रान्त होने का सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—इस शरीर में सोम का रक्षण करें और प्रभु का स्मरण करें तो द्वेष से ऊपर उठ पाते हैं।

ऋषिः—कृत्नुर्भार्गवः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

चित्ती+दक्षैः

त्वं चित्ती तव दक्षैर्दिव आ पृथिव्या ऋजीषिन्। यावीरघस्य चिद् द्वेषः॥ ४॥

(१) हे **ऋजीषिन्**=ऋजुता (=सरलता) के मार्ग की प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **तव**=अपने **चित्ती**=ज्ञान से तथा **दक्षैः**=बलों से **दिवः**=मस्तिष्क के दृष्टिकोण से तथा **पृथिव्याः**=शरीर के दृष्टिकोण से (पृथिवी शरीरम्) **अघस्य**=हमारा हनन करनेवाले पापी के **चित्**=भी **द्वेषः**=द्वेष को **आयावीः**=सर्वतः हमारे से पृथक् करिये। (२) ज्ञान और बल हमें द्वेष से दूर करते हैं। द्वेष के अभाव में ज्ञान और बल की वृद्धि होती है। तभी मस्तिष्क व शरीर का ठीक से विकास हो पाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति देकर द्वेष से दूर करें। निर्द्वेषता हमारे मस्तिष्क व शरीर

को ठीक रखती है।

ऋषिः—कृत्नुर्भार्गवः ॥ देवता—सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

धनप्राप्ति व दान

अर्थिनो यन्ति चेदर्थं गच्छानिद्ददुषो रातिम्। ववृज्युस्तृष्यतः कामम्॥ ५॥

(१) **अर्थिनः**=प्रार्थना करनेवाले–'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' का जप करनेवाले **चेत्**=यदि प्रभु की कृपा से **अर्थं यन्ति**=धन को प्राप्त करते हैं। तो **इत्**=निश्चय से वे **ददुषः**=दानशील पुरुष के **रातिम्**=दान के भाव को भी **गच्छान्**=प्राप्त करें। धन प्राप्त होने पर दानशील बनें। (२) अब ये अर्थी धनी बनकर **तृष्यतः**=प्यासे की **कामम्**=अभिलाषा को **ववृज्युः**=पूर्ण करें। उसकी धन की प्यास को धनदान द्वारा बुझानेवाले हों। अथवा प्यासे की कामना को छोड़नेवाले हों, अर्थात् सतत धन के लोभ में ही न पड़े रहें।

भावार्थ—हम प्रभुकृपा से धन को प्राप्त करें तो दान की वृत्ति को भी प्राप्त करें। खूब दान देनेवाले बनें, धन के लोभ में न पड़ें।

ऋषिः—कृत्नुर्भार्गवः ॥ देवता—सोमः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान+यज्ञ=शान्त दीर्घजीवन

विदद्यत्पूर्व्यं नष्टमुदीमृतायुमीरयत्। प्रेमायुस्तारीदतीर्णम्॥ ६॥

यद्=जब **पूर्व्यम्**=जीवन के पूर्व काल में–ब्रह्मचर्याश्रम में होनेवाले ज्ञानरूप धन को **विदद्**=प्राप्त करता है, और **ईम्**=निश्चय से **नष्टम्**=अदृष्ट–सामान्यतः न दिखनेवाली **ऋतायुम्**=यज्ञ की कामना को **ईं उद् ईरयत्**=निश्चय से अपने में प्रेरित करता है। तो **ईम्**=निश्चय से **अतीर्णम्**=काम–क्रोध आदि शत्रुओं से अनाक्रान्त **आयुः**=जीवन को **प्रतारीत्**=बढ़ाता है।

भावार्थ—हम ज्ञान को प्राप्त करें–यज्ञशील बनें। यही काम–क्रोध आदि से अनाक्रान्त दीर्घजीवन को प्राप्त करने का मार्ग है।

ऋषिः—कृत्नुर्भार्गवः ॥ देवता—सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सुशेवः+अवातः (सोमः)

सुशेवो नो मृळयाकुरदृप्तक्रतुरवातः। भवा नः सोम शं हृदे॥ ७॥

(१) हे **सोमः**=वीर्यशक्ते! शरीर में सुरक्षित हुई तू **नः हृदे**=हमारे हृदयों के लिये **शं भवा**=शान्ति को देनेवाली हो। सुरक्षित वीर्य हमें शान्त हृदय बनाता है। (२) यह सोम **नः**=हमारे लिये **सुशेवः**=उत्तम कल्याण को करनेवाला हो। **मृडयाकुः**=यह हमें सुखी करे। **अदृप्तक्रतुः**=यह हमें गर्वशून्य ज्ञान व शक्तिवाला बनाये तथा **अवातः**=(वा To injure, न वातं यस्मात्) सब प्रकार की हानियों से–रोगादि के आक्रमणों से बचाये।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें शान्त हृदयवाला बनाता है। यह हमें शरीर व मन से सुखी करता है। शक्ति व ज्ञान के होने पर भी हमें निरभिमान बनाता है और रोगादि से आक्रान्त नहीं होने देता।

ऋषिः—कृत्नुर्भार्गवः ॥ देवता—सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'उद्वेग व भय' से दूर

मा नः सोम सं वीविजो मा वि बीभिषथा राजन्। मा नो हार्दि त्विषा वधीः॥ ८॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **नः**=हमें **मा संवीविजः**=मत उद्विग्न होने दे। तेरे रक्षण से हमारे हृदय शान्त बने रहें। हे **राजन्**=हमारे जीवनों को दीप्त बनानेवाले सोम! **मा वि बीभिषथाः**=हमें रोग आदि के भय से आक्रान्त मत होने दे। (२) हे सोम! तू **नः**=हमें **हार्दि**=हृदयों में **त्विषा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **मा वधीः**=काम आदि शत्रुओं से हिंसित मत होने दे।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें उद्वेग व रोगों के भय से मुक्त करता है। यह हमें ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराके काम-क्रोध से हिंसित नहीं होने देता।

ऋषिः—कृत्नुर्भार्गवः॥ **देवता**—सोमः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

द्विषः स्त्रिधः (अपसेध)

अव॒ यत्स्वे स॒धस्थे॑ दे॒वानां॑ दुर्म॒तीरीक्षे॑। राज॒न्नप॒ द्विषः॑ सेध॒ मीढ्वो॒ अप॒ स्त्रिधः॑ सेध॥ ९॥

(१) **यत्**=जब **देवानाम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों के **स्वे सधस्थे**=आत्मा के साथ मिलकर बैठने के स्थान में, अर्थात् हृदयदेश में स्थित हुआ मैं **दुर्मतीः**=अशुभ विचारों को **अव ईक्षे**=अपने से दूर हुआ देखता हूँ तो यही प्रार्थना करता हूँ कि हे **राजन्**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाले सोम! तू **द्विषः अपसेध**=द्वेष की भावनाओं को हमारे से दूर कर। हे **मीढ्वः**=सुखों का सेचन करनेवाले सोम तू **स्त्रिधः**=हिंसाओं को (अपसेध=) हमारे से पृथक् कर।

भावार्थ—हम हृदयदेश में प्रभु का ध्यान करते हुए दुर्विकारों से बचें। द्वेष व हिंसाओं से दूर होते हुए अपने जीवनों को उत्तम बनायें।

[८०] अशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—एकद्यूर्नौधसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'अद्वितीय सुखदाता' प्रभु

न॒ह्य१॒॑न्यं ब॒ळाक॑रं मर्डि॒तारं॑ शतक्रतो। त्वं न॑ इन्द्र मृळय॥ १॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! मैं **वट्**=सचमुच **अन्यम्**=आपसे भिन्न किसी और को **मर्डितारम्**=मेरे जीवन को सुखी करनेवाला **नहि आकरम्**=नहीं करता हूँ। आपको ही मैं सुख प्राप्त करानेवाला जानता हूँ। (२) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **मृडय**=सुखी करिये।

भावार्थ—हम प्रभु पर पूर्ण आस्था रखें। प्रभु ही हमें जीवन में सुखी करनेवाले हैं।

ऋषिः—एकद्यूर्नौधसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'शक्ति-प्रदाता' प्रभु

यो नः॒ शश्व॑त्पु॒राधि॒थामृ॑ध्रो॒ वाज॑सातये। स त्वं न॑ इन्द्र मृळय॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो आप **अमृध्रः**=अहिंसित होते हुए **नः**=हमें **शश्वत्**=सदा से **पुरा**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण के द्वारा **आविथ**=रक्षित करते हो। वे आप **वाजसातये**=शक्ति को प्राप्त कराने के लिये होते हैं। इस शक्ति के द्वारा ही आप हमें पालन व पूरण के योग्य बनाते हैं। (२) हे प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमें **मृडय**=सुखी करिये।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति को प्राप्त कराके पालन व पूरण के योग्य बनाते हैं। इस प्रकार हमें प्रभु सुखी करते हैं।

ऋषिः—एकद्यूर्नौधसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'रध्रचोदन' व 'सुन्वान के रक्षक' प्रभु

किमङ्ग रध्रचोदनः सुन्वानस्यावितेदसि। कुवित्स्विन्द्र णः शकः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **किम्**=क्या ही **अंग**=शीघ्र अथवा खूब **रध्रचोदनः**= आराधक को प्रेरित करनेवाले हैं। उपासक को सदा प्रभु से उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है। आप **सुन्वानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **इत्**=निश्चय से **अविता असि**=रक्षक हैं। वस्तुतः प्रभु की कृपा से ही इन यज्ञशील पुरुषों के यज्ञ पूर्ण होते हैं। (२) हे इन्द्र! आप **नः**=हमें **कुवित्**=खूब ही **सुशकः**=उत्तम शक्तिशाली बनाइये।

भावार्थ—प्रभु आराधकों को प्रेरणा प्राप्त कराते हैं, यज्ञशील पुरुषों का रक्षण करते हैं। ये प्रभु हमें खूब शक्तिशाली बनायें।

ऋषिः—एकद्यूर्नौधसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'उन्नति के साधक' प्रभु

इन्द्र प्र णो रथमव पश्चाच्चित्सन्तमद्रिवः। पुरस्तादेनं मे कृधि॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः रथम्**=हमारे इस शरीररथ को **प्र अव**=प्रकर्षेण रक्षित करिये। आपने ही शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त कराके हमें सुरक्षित करना है। (२) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! आप **पश्चात् चित् सन्तम्**=पीछे भी होते हुए-पिछड़े हुवे भी **एनम्**= इस **मे**=मेरे (रथं=) शरीररथ को **पुरस्तात् कृधि**=आगे करिये। आपके अनुग्रह से हम अवनत न रहकर खूब उन्नत हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीररथ का रक्षण करते हैं। ये हमें आगे बढ़ाते हैं।

ऋषिः—एकद्यूर्नौधसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वाजयु श्रवः

हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि। उपमं वाजयु श्रवः॥ ५॥

(१) हे प्रभो! **हन्त नु**=यह दुःख की ही बात है कि **नु किं आससे**=आप अब भी क्यों बैठे ही हैं? आप हमारे पर अनुग्रह करिये और **नः**=हमारे **रथम्**=शरीररथ को **प्रथमं कृधि**=सर्वप्रथम करिये। 'हमारा यह रथ सब से आगे हो' बस ऐसी ही कृपा आप करिये। (२) आपके अनुग्रह से **वाजयु श्रवः**=हमारे साथ शक्ति को जोड़नेवाला ज्ञान **उपमम्**=हमारे अन्तिकतम हो। हमें शक्तियुक्त ज्ञान प्राप्त हो। इसे प्राप्त कराने में आप विलम्ब न करिये।

भावार्थ—प्रभु हमारे सरीर-रथ को आगे उन्नतिशील बनाते हैं।

ऋषिः—एकद्यूर्नौधसः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'रक्षक व विजयप्रापक' प्रभु

अवा नो वाजयुं रथं सुकरं ते किमित्परि। अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृधि॥ ६॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **वाजयुम्**=शक्ति को अपने साथ जोड़नेवाले **रथम्**=इस शरीररथ को **अवा**=रक्षित करिये। **ते**=आपके लिये **परि**=चारों ओर दिखनेवाला यह कर्त्तव्य समूह **किमित्**=क्या ही **सुकरम्**=सुगमता से करने योग्य है, आप हमारे इन शरीररथों का अनायास ही

रक्षण कर सकते हैं। (२) हे प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **सुजिग्युषः**=उत्तम विजयशील **कृधि**=करिये। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर हम सदा विजयी बनें।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीररथों का रक्षण करते हैं—प्रभु के लिये यह बात अनायास ही साध्य है। प्रभु हमें विजयी बनायें।

ऋषिः—एकद्यूनौंधसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पूरणकर्ता 'पूः' प्रभु

इन्द्र॒ दृह्य॑स्व॒ पूर॑सि भ॒द्रा त॑ एति निष्कृ॒तम्। इ॒यं धीर्ऋ॒त्विया॑वती॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **दृह्यस्व**=आप हमें दृढ़ बनाइये। **पूः असि**=आप हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। (२) **इयम्**=यह **ऋत्वियावती**=ऋतु-ऋतु में होनेवाली-समय-समय पर होनेवाली **भद्रा**=कल्याणकारिणी **धीः**=बुद्धिपूर्वक की गई स्तुति **ते**=आपके **निष्कृतम्**=संस्कृत हृदयरूप स्थान में **एति**=प्राप्त होती है। हम हृदयस्थित आपका स्तवन करते हैं। आपने ही तो हमें दृढ़ बनाना है—आपने ही हमारा पूरण करना है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमें दृढ़ बनाते हैं और हमारा पूरण करते हैं।

ऋषिः—एकद्यूनौंधसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उर्वी काष्ठा

मा सी॑मव॒द्य आ भा॑गु॒र्वी काष्ठा॑ हि॒तं धन॑म्। अ॒पावृ॑क्ता अर॒त्नयः॑॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **सीम्**=निश्चय से आप हमें **अवद्ये**=पाप में **मा आभाग्**=मत भागी बनाइये। हमें अपनी प्रेरणा द्वारा सदा पापों से बचाइये। **काष्ठा उर्वी**=हमारा लक्ष्य विशाल हो **हितं धनम्**=हम सदा हितकर धन का ही अर्जन करें। (२) **अरत्नयः**=अरममाण शत्रु-आनन्द के विघ्नभूत काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु **अपावृक्ताः**=हमारे से सुदूर परित्यक्त हों।

भावार्थ—हम पाप से दूर रहें। हमारा लक्ष्य ऊँचा हो। सदा हितकर धन का अर्जन करें। काम-क्रोध आदि को दूर करें।

ऋषिः—एकद्यूनौंधसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तुरीय यज्ञिय नाम

तु॒रीयं॒ नाम॑ य॒ज्ञियं॑ य॒दा कर॒स्तदु॑श्मसि। आदित्पति॑र्न ओहसे॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **यदा**=जब आप हमारे लिये **तुरीयम्**=चौथे **यज्ञियं नाम**=पवित्र नाम को करा करते हैं, **तत्**=तो **उश्मसि**=हम आपकी प्राप्ति की ही कामना करते हैं। मन में सब के हित की भावना को लेने पर हम 'वैश्वानर' होते हैं। सर्वहितकारी कर्मों में सफलता के लिये 'तैजस' अर्थात् तेजस्वी शरीरवाले बनते हैं और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करके 'प्राज्ञ' बनते हैं। अब चौथे स्थान में 'शान्त शिव अद्वैत' स्थिति को प्राप्त करते हैं। यही 'यज्ञिय तुरीय नाम' हैं। (२) इस तुरीय नाम को प्राप्त करने पर **आत् इत्**=अब शीघ्र ही **पतिः**=सर्वरक्षक आप **नः**=हमें **ओहसे**=अपने समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम 'वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ' बनते हुए 'शान्त शिव अद्वैत' स्थिति में पहुँचें। यहीं प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—एकद्यूर्नौधसः॥ देवता—देवाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अवीवृधत्+अमन्दीत्

अवींवृधद्वो अमृता अमन्दीदेकद्यूर्देवा उत याश्च देवीः।
तस्मा उ राधः कृणुत प्रशस्तं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ १०॥

(१) हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **उत**=और **याः च देवी**=जो भी देववृत्ति की नारियाँ हैं, **उ**=उन आप सबको वह **एकद्यूः**=अद्वितीय दीप्तिवाला प्रभु ही **अवीवृधत्**=बढ़ाता है। हे **अमृताः**=विषयवासनाओं के पीछे न मरनेवाले नर-नारियो! वह प्रभु ही तुम्हें **अमन्दीत्**=आनन्दित करता है। (२) **तस्मा**=उसकी प्राप्ति के लिये तुम **उ**=निश्चय से **राधः**=धन को **प्रशस्तं कृणुत**=प्रशस्त करो, अर्थात् धन को अपवित्र साधनों से मत कमाओ। तुम्हें **प्रातः**=प्रातः **मक्षू**=शीघ्र ही **धियावसुः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों से निवास को उत्तम बनानेवाला वह प्रभु **जगम्यात्**=प्राप्त हो। तुम प्रातः सर्वप्रथम उस प्रभु का ही स्मरण करो।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनें। विषयवासनाओं में न उलझें। प्रातः सर्वप्रथम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु ही हमें बढ़ाते हैं, वे ही आनन्दित करते हैं।

यह प्रभु से अपना संश्लेषण (मेल) करनेवाला 'कुसीदी' कहलाता है (कुस संश्लेषणे)। यही समझदार (काण्व) है। यह प्रभु से कहता है—

नवमोऽनुवाकः

[८१] एकाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'महाहस्ती' प्रभु

आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **महाहस्ती**=महान् हाथोंवाले हैं। आप **नः**=हमारे लिये **दक्षिणेन**=दक्षिण हाथ से **तु**=अवश्य ही **आ संगृभाय**=सर्वतः सम्यक् सम्पत्ति को संगृहीत कराइये। आपके अनुग्रह से हम सदा सरल-अकुटिल (अवाम-न टेढ़े) मार्गों से धन का संग्रह करें। (२) उस धन का, जो **क्षुमन्तम्**=(क्षु शब्दे) प्रभु की स्तुतिवाला है, जो हमें प्रभुस्तवन से पृथक् नहीं कर देता। **चित्रम्**=जो ज्ञान को देनेवाला है (चित्+र) जो धन ज्ञानवृद्धि का साधन बनता है अतएव **ग्रामम्**=ग्रहणीय है।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम उस धन को प्राप्त करें, जो प्रशस्त मार्गों से कमाया जाता है-स्तुत्य है। जो धन हमारी ज्ञानवृद्धि का साधन बनता है और ग्रहणीय है।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'तुविकूर्मि-तुविमात्र' प्रभु

विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम्। तुविमात्रमवोभिः॥ २॥

(१) हे प्रभो! हम **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **तुविकूर्मिम्**=महान् कर्मोंवाला व **तुविदेष्णम्**=महान् देनेवाला **विद्मा**=जानते हैं। (२) आप उपासकों के **अवोभिः**=रक्षणों के हेतु से **तुवीमघम्**=महान् ऐश्वर्यवाले व **तुविमात्रम्**=महान् परिमाणवाले-अनन्त सर्वव्यापक हैं।

भावार्थ–प्रभु महान् कर्मोंवाले, महान् देनेवाले, महान् ऐश्वर्य व महान् परिमाणवाले (सर्वव्यापक) हैं।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

भीमं न+गाम्

नहि त्वा शूर देवा न मर्तासो दित्सन्तम्। भीमं न गां वारयन्ते॥ ३॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **नहि देवाः**=न देव और **न मर्तासः**=न मनुष्य **दित्सन्तम्**=देने की कामनावाले **त्वा**=आपको **वारयन्ते**=रोक पाते हैं। (२) **भीमं न, गाम्**=आप जैसे शत्रुओं के लिये भयंकर हैं, उसी प्रकार (गाम्=गम् गतौ) उपासकों के लिये अर्थों के गमक हैं। आप शत्रुओं को नष्ट करके अर्थों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ–प्रभु शत्रुओं के लिये भयंकर हैं, उपासकों के लिये अर्थों के गमक। देने की कामनावाले प्रभु को कोई रोक नहीं सकता।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभुस्मरणपूर्वक धनार्जन

एतो न्विन्द्रं स्तवामेशानं वस्वः स्वराजम्। न राधसा मर्धिषन्नः॥ ४॥

(१) हे मित्रो! **एत उ**=आओ ही। **नु**=अब **इन्द्रं स्तवाम**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का स्तवन करें। जो प्रभु **वस्वः ईशानम्**=धनों के ईशान हैं, **स्वराजम्**=स्वयं देदीप्यमान हैं। (२) वे प्रभु **नः**=हमें **राधसा**=धन से **न मर्धिषत्**=कुचला नहीं जाने देते। प्रभुस्मरण के साथ अर्जित धन हमें हिंसित करनेवाला नहीं होता। इस धन से न हम विलास में फँसते हैं और न विनष्ट होते हैं।

भावार्थ–प्रभुस्मरणपूर्वक धनार्जन करते हुए हम धन से कभी विनष्ट न हों।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभुस्तवन व पुरुषार्थ से धनार्जन

प्र स्तोषदुप गासिषच्छ्रवत्साम गीयमानम्। अभि राधसा जुगुरत्॥ ५॥

(१) जीव को चाहिए कि **प्र स्तोषत्**=प्रभुस्तवन करे। **उप गासिषत्**=प्रभु का ही गायन करे। **गीयमानं साम श्रवत्**=गाये जाते हुए प्रभुस्तोत्रों को ही सुने, अर्थात् जीवन को प्रभुस्तवन व गुणगानमय बना दे। (२) यह जीव **राधसा**=कार्यसाधक धन की प्राप्ति के हेतु से **अभिजुगुरत्**=उद्यमशील हो, अर्थात् पुरुषार्थ से जीवनयात्रा की सिद्धि के लिये धनार्जन करे।

भावार्थ–हम प्रभुस्तवन करें और पुरुषार्थ से धनार्जन करें।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उत्साहित होकर वसु को प्राप्त करना

आ नो भर दक्षिणेनाभि सव्येन प्र मृश। इन्द्र मा नो वसोर्निर्भाक्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिये **दक्षिणेन**=दाहिने हाथ से **आभर**=ऐश्वर्य को प्राप्त कराइये। **सव्येन अभि प्रमृश**=बाएँ हाथ से हमें थपकी देकर उत्साहित करिये (मृक्ष्) उत्साहित होकर हम धनार्जन के लिये उद्योगवाले हों। (२) हे प्रभो! हमें **वसोः**=निवास के लिये आवश्यक धन से **मा निर्भाक्**=वञ्चित मत करिये। वसु में हमें भागी बनाइये।

भावार्थ–हे प्रभो! आप हमें उत्साहित करिये और पुरुषार्थ के द्वारा धनार्जन में समर्थ करिये।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कृपण धन-हरण

उप क्रमस्वा भर धृषता धृष्णो जनानाम्। अदाशूष्टरस्य वेदः॥ ७॥

(१) **उप क्रमस्व**=हे राजन्! तू राष्ट्र में अनैतिक जीवनवाले पुरुषों पर आक्रमण करनेवाला है- उनके विरुद्ध कार्यवाही को करनेवाला हो। (to go against=उपक्रम) (२) हे **धृष्णो**=धर्षक राजन्! तू **धृषता**=अपने शत्रुधर्षक बल से **जनानाम्**=लोगों में **अदाशूः तरस्य**=इस अतिकृपण व्यक्ति के **वेदः**=धन को **आभर** (आहर)=हर ले।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि राष्ट्र में कृपण व्यक्तियों के विरुद्ध कार्यवाही करे और उनके धन का अपहरण करके उन्हें प्रवासित कर दे।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु के बल से बल सम्पन्न बनें

इन्द्र य उ नु ते अस्ति वाजो विप्रेभिः सनित्वः। अस्माभिः सु तं सनुहि॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो **उ**=निश्चय से **नु**=अब **ते**=आपका **वाजः**=बल **अस्ति**=है, वह **वि त्रेभिः**=ज्ञान के द्वारा अपना पूरण करनेवाले पुरुषों से **सनित्वः**=सम्भजनीय होता है। (२) आप **तम्**=उस बल को **अस्माभिः सु सनुहि**=हमारे साथ सम्यक् सम्भक्त करिये। उस बल को आप हमारे लिये दीजिये।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रभु के बल को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं। हम भी उस बल से अपने को सम्भक्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आह्लादक बल

सद्योजुवस्ते वाजा अस्मभ्यं विश्वश्चन्द्राः। वशैश्च मक्षू जरन्ते॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **ते वाजाः**=आपके बल **अस्मभ्यं सद्योजुवः**=शीघ्र ही हमें सन्मार्ग पर प्रेरित करनेवाले होते हैं **विश्वश्चन्द्राः**=ये बल सब के लिये आह्लाद का कारण बनते हैं। (२) ये बल **वशैः**=शत्रुओं को वशीभूत करने के हेतुओं से **मक्षू**=शीघ्र ही **जरन्ते**=आपका स्तवन करते हैं। आपका स्तवन करते हुए हम बलों के द्वारा शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु के बल हमें सत्कर्त्तव्यों में प्रेरित करें-ये सब के लिये आह्लादक हों और शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले हों।

कुसीदी काण्व ही प्रभु से प्रार्थना करता है—

इति षष्ठाष्टके पञ्चमोऽध्यायः

अथ षष्ठाष्टके षष्ठोऽध्यायः

[८२] द्व्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

परावतः+अर्वावतः

आ प्र द्रव परावतोऽर्वावतश्च वृत्रहन्। मध्वः प्रति प्रभर्मणि॥ १॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **परावतः**=सुदूर फल के हेतु से, अर्थात् परलोक में निःश्रेयस की प्राप्ति के हेतु से **न**=तथा **अर्वावतः**=समीप फल के हेतु से, अर्थात् इहलोक में अभ्युदय की प्राप्ति के हेतु से **आ प्रद्रव**=हमें सर्वतः प्राप्त होइये। आपने ही हमें अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त कराना है। (२) हे प्रभो! **मध्वः**=सब ओषधियों के सारभूत व जीवन को मधुर बनानेवाले सोम के **प्रति प्रभर्मणि**=प्रतिदिन धारण के निमित्त आप हमें प्राप्त होइये। आपकी उपासना ही हमें वासनाओं से बचाकर इस सोम के रक्षण के योग्य बनायेगी।

भावार्थ–प्रभुस्तवन हमें वासनाओं से बचाकर अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त कराता है तथा सोम के रक्षण के योग्य करता है।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'तीव्राः मादयिष्णवः' सोमासः

तीव्राः सोमास आ गहि सुतासो मादयिष्णवः। पिबा दधृग्यथोचिषे॥ २॥

(१) ये **सोमासः**=सोमकण **तीव्राः**=(तीव्=To be strong) बड़ी शक्ति को देनेवाले हैं। सो हे जीव! तू **आगहि**=इनका सब प्रकार से ग्रहण कर–इनके प्रति आनेवाला हो। **सुतासः**=उत्पन्न हुए ये सोमकण **मादयिष्णवः**=आनन्द व मस्ती को देनेवाले हैं। (२) **दधृक्**=काम–क्रोध आदि शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता हुआ तू **पिबा**=इनका पान कर–इन्हें शरीर में ही सुरक्षित कर। **यथा**=जिससे **ओचिषे**=तू इनका अपने में समवाय करनेवाला हो। तेरे रुधिर के साथ ये समवेत होकर सर्वत्र शरीर में व्याप्त रहें।

भावार्थ–शरीर में उत्पन्न हुए तथा शरीर में ही व्याप्त किये गये सोमकण हमें शक्तिशाली बनाते हैं और हमें आनन्दित करते हैं।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वराय मन्यवे

इषा मन्दस्वादु तेऽरं वराय मन्यवे। भुवत्त इन्द्र शं हृदे॥ ३॥

(१) **इषा**=इस सोमरूप अन्न से **मन्दस्व**=आनन्द का अनुभव कर। **आत् उ**=अब शीघ्र ही यह सोमरूप अन्न **ते**=तेरे **वराय मन्यवे**=उत्कृष्ट ज्ञान के लिये **अरम्**=पर्याप्त होता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करने का साधन बनता है। अथवा यह सोम **मन्यवे वराय अरम्**=क्रोध के निवारण के लिये पर्याप्त होता है। सोमरक्षक पुरुष कभी क्रोध का शिकार नहीं होता। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! यह सोम **ते**=तेरे **हृदे**=हृदय के लिये **शं भुवत्**=शान्ति को देनेवाला होता है।

भावार्थ–सोमरक्षण से (क) ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, (ख) क्रोध शान्त होता है, (ग) हृदय में शान्ति होती है।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उपमे रोचने दिवः

आ त्वशत्रवा गहि न्युक्थानि च हूयसे। उपमे रोचने दिवः॥ ४॥

(१) हे **अशत्रो**=सब काम–क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले सोम! **आ आगहि तु**=तू हमें सर्वथा प्राप्त हो ही। (२) **च**=और तू हमें **दिवः**=ज्ञान के **उपमे**=अन्तिकतम **रोचने**=दीप्त

स्थान में-हृदयदेश में **उक्थानि निहूयसे**=स्तोत्रों के प्रति पुकारता है, अर्थात् सुरक्षित सोम हमारे ज्ञान को बढ़ाता है और हमें प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ–शरीर में सुरक्षित सोम हमें क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ करता है। हमारे ज्ञान को बढ़ाता है और हमें प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गोभिः श्रीतः (सोमः)

तुभ्यायमद्रिभिः सुतो गोभिः श्रीतो मदाय कम्। प्र सोम इन्द्र हूयते॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अयं सोमः**=यह सोम (वीर्यकण) **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिये **अद्रिभिः**=उपासकों के द्वारा **सुतः**=उत्पन्न किया जाता है। इसके रक्षण से ही तो प्रभु की प्राप्ति होती है। **गोभिः श्रीतः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा इसका परिपाक होता है। यह **कम्**=निश्चय से **मदाय**=हमारे उल्लास के लिये होता है। (२) इस कारण से ही यह **सोमः**=सोम **प्र हूयते**=ज्ञानाग्नि में आहुत किया जाता है। ज्ञानाग्नि में आहुत सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। दीप्त ज्ञानाग्नि प्रभुदर्शन का साधक बनती है।

भावार्थ–सुरक्षित सोम प्रभुप्राप्ति का साधन बनता है। स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना सोमरक्षण का साधन बनता है। सुरक्षित सोम आनन्द का जनक होता है।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोम की पीति व तृप्ति

इन्द्र श्रुधि सु मे हवमस्मे सुतस्य गोमतः। वि पीतिं तृप्तिमश्नुहि॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **मे हवम्**=मेरी प्रार्थना को **सु श्रुधि**=सम्यक् सुनिये। आप **अस्मे**=हमारे हित के लिये **सुतस्य**=उत्पन्न किये गये **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले सोम के **प्रीतिम्**=पान को व **तृप्तिम्**=तृप्ति को **वि अश्नुहि**=व्याप्त करिये। (२) आपकी कृपा से सोम मेरे अन्दर सुरक्षित हो। यह सोम मुझे तृप्ति का अनुभव कराये।

भावार्थ–हम प्रभु का आराधन करते हुए सोम को शरीर में सुरक्षित कर सकें और तृप्ति का अनुभव करें।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

चमूषु सुतः

य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः। पिबेदस्य त्वमीशिषे॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः सोमः**=जो सोम है, वह **ते**=तेरे द्वारा **चमसेषु**=इन शरीररूप पात्रों में **चमूषु**=(चम्वौ=द्यावापृथिव्यौ नि० ३.३०) द्यावापृथिवी के निमित्त-मस्तिष्क व शरीर के निमित्त **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। यह सोम शरीर को शक्तिशाली बनाता है, तो मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करता है। (२) हे प्रभो! आप **अस्य**=इस सोम का **पिबा इत्**=पान करिये ही। **त्वं ईशिषे**=आप ही इस सोमपान के लिये ईश हैं। वस्तुतः प्रभु का उपासन ही वासनाविनाश द्वारा हमें सोम के पान के योग्य बनाता है।

भावार्थ–प्रभुस्मरण द्वारा हम वासना को विनष्ट करके सोम को शरीर में सुरक्षित रखें। सुरक्षित सोम मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है, तो शरीर को सबल करता है।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अप्सु चन्द्रमाः इव

यो अप्सु चन्द्रमाइव सोमश्चमूषु ददृशे। पिबेदस्य त्वमीशिषे॥ ८॥

(१) **यः सोमः**=जो यह सोम है, वह **चमूषु**=शरीरस्थ द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर में इस प्रकार **ददृशे**=दिखता है, **इव**=जैसे **अप्सु**=अन्तरिक्ष में **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा दिखता है। अन्तरिक्ष चन्द्रमा से उज्ज्वल हो उठता है, इसी प्रकार सोम से-वीर्य से-मस्तिष्क व शरीर चमक उठते हैं। (२) हे प्रभो! आप **अस्य**=इस सोम का **पिबा इत्**=पान करिये ही। **त्वं ईशिषे**=आप ही इसके पान के लिये ईश हैं। आपका स्मरण वासनाओं का विनाश करता है और इस प्रकार सोम का रक्षण होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर को इस प्रकार उज्ज्वल कर देता है, जैसे चन्द्रमा आकाश को।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

श्येनः पदा आभरत्

यं ते श्येनः पदाभरत्तिरो रजांस्यस्पृतम्। पिबेदस्य त्वमीशिषे॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **यम्**=जिस **ते**=आपके सोम को **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला **पदा आभरत्**=क्रियाशीलता के द्वारा अपने में धारण करता है। यह श्येन **अस्पृतम्**=काम-क्रोध आदि व रोगरूप शत्रुओं से अस्पृष्ट सोम को **रजांसि तिरः**=राजस भावों को तिरस्कृत करके अपने में धारण करता है वासनाएँ ही सोमरक्षण में विघातक होती हैं। (२) हे प्रभो! आप ही **अस्य**=इस सोम का **पिबा**=पान करिये। **त्वं ईशिषे**=आप ही इसके पान के लिये ईश हैं। प्रभुस्मरण ही हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाकर सोमपान के योग्य बनाता है।

भावार्थ—गतिशील पुरुष ही राजसभावों से ऊपर उठकर सोम का रक्षण कर पाता है। प्रभु का उपासन हमें राजसभावों के आक्रमण से बचाकर सोमरक्षण के योग्य बनाता है।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'कुसीदी काण्व' ही है। यह प्रार्थना करता है कि—

[८३] त्र्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवों का महान् रक्षण

देवानामिदवो महत्तदा वृणीमहे वयम्। वृष्णामस्मभ्यमूतये॥ १॥

(१) **देवानाम्**=देवों का-माता-पिता, आचार्य आदि का (मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव) **अवः**=रक्षण **इत्**=निश्चय से **महत्**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **वयम्**=हम **तत्**=उस रक्षण का **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण करते हैं। प्रभुकृपा से इन देवों का रक्षण हमें सदा प्राप्त रहे। (२) **वृष्णाम्**=सुखों के वर्षण करनेवाले देवों का यह रक्षण **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **ऊतये**=रक्षण के लिये होता है। ५ वर्ष तक माता के, ८ वर्ष तक पिता के, २४ वर्ष तक आचार्यों के तदनन्तर गृहस्थ में विद्वान् अतिथियों के रक्षण में हमारा जीवन सुरक्षित रहता है-हम विलास की ओर नहीं बह जाते।

भावार्थ—सुखों के वर्षक माता-पिता, आचार्य आदि देवों का रक्षण महत्त्वपूर्ण होता है—

हम इस रक्षण को प्राप्त करके सुरक्षित जीवन बिता सकें। संसार के विषयों में फँसने से बचे रहें।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'वृधासः+प्रचेतसः' (देवाः)

ते नः सन्तु युजः सदा वरुणो मित्रो अर्यमा। वृधासश्च प्रचेतसः॥ २॥

(१) **ते**=वे **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाली देवता, **मित्रः**=स्नेह की देवता, तथा **अर्यमा**=संयम की देवता (अरीन् यच्छति) **नः**=हमारे **सदा**=सदा **युजः सन्तु**=साथी हों-इनका योग हमें सदा प्राप्त हो। (२) ये देव **वृधासः**=हमारी वृद्धि करनेवाले हैं-हमारे शत्रुओं का छेदन करनेवाले हैं (वर्धनम्=Cutting, Dividing), **च**=तथा **प्रचेतसः**=हमारी चेतना को प्रकृष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य आदि के रक्षण में हम 'निर्द्वेषता, स्नेह व संयम' वाले बनें। ये दिव्य भाव हमारी वृद्धि का कारण होंगे और हमें प्रकृष्ट चेतनावाला करेंगे।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ऋतस्य रथ्यः (देवाः)

अति नो विष्पिता पुरु नौभिरपो न पर्षथ। यूयमृतस्य रथ्यः॥ ३॥

(१) हे देवो! **नः**=हमें **विष्पिता**=विविधरूपों में प्राप्त **पुरुः**=बहुत इन शत्रु बलों को **अति पर्षथ**=शत्रुवध के द्वारा पार प्राप्त कराओ। हम इन शत्रुओं के आक्रमणों के शिकार न हो जाएँ। अथवा विस्तृत यज्ञ आदि कर्मों के, रक्षणों द्वारा, समाप्ति तक ले चलो। इस प्रकार पार ले चलो **न**=जैसे **नौभिः अपा**=नावों द्वारा जलों के पार पहुँचाया जाता है। (२) हे देवो! **यूयम्**=आप **ऋतस्य रथ्यः**=ऋत के-जो भी ठीक है, उसके प्रणेता हो। आप हमें ठीक ही मार्ग पर ले चलेंगे।

भावार्थ—'वरुण, मित्र व अर्यमा' आदि देव हमें ठीक मार्ग पर ले चलते हैं। ये हमें शत्रुबलों के पार प्राप्त कराते हैं तथा उत्तम कर्मों में पूर्णता तक पहुँचानेवाले होते हैं।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—पादनिचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वामम् (आवृणीमहे)

वामं नो अस्त्वर्यमन्वामं वरुण शंस्यम्। वामं ह्यावृणीमहे॥ ४॥

(१) हे **अर्यमन्** (अरीन् यच्छति)=संयम के देव! **नः**=हमारे लिये **वामं अस्तु**=सुन्दर (वननी-संभजनीय) धन प्राप्त हो। हे **वरुण**=द्वेष व पाप के निवारण के दिव्य भाव! हमारे लिये **वामम्**=वननीय (सुन्दर) तथा **शंस्यम्**=प्रशंसनीय धन प्राप्त हो। हम, हे देवो! **वामम्**=संभजनीय सुन्दर धन का **हि**=ही **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण करते हैं। हम यही चाहते हैं कि हमें सुन्दर प्रशस्त धन प्राप्त हों।

भावार्थ—हमें प्रशस्त धन प्राप्त हो।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पाप की कमायी नहीं

वामस्य हि प्रचेतस ईशानासो रिशादसः। नेमादित्या अघस्य यत्॥ ५॥

(१) हे **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानोंवाले, **रिशादसः**=शत्रुओं को नष्ट कर देनेवाले देवो! आप

हि=निश्चय से **वामस्य**=सुन्दर (वननीय) धनों के ही **ईशानासः**=स्वामी हैं। आपके अनुग्रह से हमें वाम धन ही प्राप्त हो। (२) हे **आदित्याः**=अदिति (स्वास्थ्य) के पुत्रो! पूर्ण स्वस्थ देवो! आप **ईम्**=निश्चय से उस धन के **ईशान न**=नहीं होते हो **यत् अघस्य**=जो धन पाप का है। हम भी पाप के मार्ग से कभी धन का अर्जन न करें।

भावार्थ—हम प्रकृष्ट ज्ञानवाले बनें, काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करें और सदा शुभ मार्ग से धन का अर्जन करें।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'क्षियन्तः-यान्तः' (देवान् हूमहे)

वयमिद्वः सुदानवः क्षियन्तो यान्तो अध्वन्ना। देवा वृधाय हूमहे॥ ६॥

(१) हे **सुदानवः**=(दाप् लवने) बुराइयों का अच्छी प्रकार छेदन करनेवाले देवो! **वयम्**=हम **इत्**=निश्चय से **क्षियन्तः**=घरों पर निवास करते हुए (क्षि निवासे) व यज्ञादि कर्मों में गतिवाले होते हुए (क्षि गतौ) तथा इन यज्ञादि कर्मों के लिये सामग्री को जुटाने के लिये **अध्वन् आयान्तः**=मार्ग पर चारों ओर गति करते हुए, अर्थात् विविध कर्मों में लगे हुए **वः हूमहे**=आपको ही पुकारते हैं। (२) हे **देवाः**=दिव्य वृत्ति के पुरुषो! आप ही **वृधाय**=हमारी वृद्धि के लिये होते हो अथवा 'मित्र, वरुण व अर्यमा' आदि दिव्यभाव ही हमारी वृद्धि के लिये होते हैं।

भावार्थ—घर पर यज्ञादि कर्मों के लिये निवास करते हुए तथा साधन संग्रह के लिये मार्गों पर चलते हुए हम देवों का आह्वान करते हैं। इनका रक्षण ही हमारी वृद्धि के लिये होता है।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—स्वराडार्ची गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'इन्द्र, विष्णु, मरुतों व अश्विना' के साथ बन्धुत्व

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतो अश्विना॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रियता के दिव्य भाव! **विष्णो**=(विष् व्याप्तौ) व्यापकता के दिव्य भाव! **मरुतः**=(मित राविणः) परिमित बोलने के दिव्य भावो! तथा **अश्विना**=प्राणापानो! आप सब **एषाम्**=इन **सजात्यानां नः**=आपके ही समान जातिवाले भाई, मित्र आदि भूत हमारा **अधि इत**=(to take care of) ध्यान करनेवाले होओ। (२) हम 'इन्द्र, विष्णु, मरुत् व अश्विना' के ही बन्धु बनें। इनके द्वारा हमारा रक्षण किया जाये। हम जितेन्द्रिय-उदार (विशाल हृदय)-कम बोलनेवाले व प्राणापान की साधना करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम 'इन्द्र, विष्णु, मरुतों व प्राणापान' की बन्धुता को प्राप्त करें, अर्थात् 'जितेन्द्रिय, उदार हृदय, मितरावी व प्राणापान की साधना करनेवाले' बनें। यही रक्षण का मार्ग है।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मातुः गर्भे

प्र भ्रातृत्वं सुदानवोऽध द्विता समान्या। मातुर्गर्भे भरामहे॥ ८॥

(१) हे **सुदानवः**=सम्यक् बुराइयों का खण्डन करनेवाले देवो! हम **अध**=अब **मातुः गर्भे**=ज्ञान के द्वारा हमारा निर्माण करनेवाले आचार्य के गर्भ में (आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः) **समान्या द्विता**=समान रूप से जीवन को देनेवाले ज्ञान व शक्ति के विस्तार से आपके साथ **भ्रातृत्वम्**=बन्धुत्व को **प्रभरामहे**=अपने में परिपुष्ट करते हैं।

(२) आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन करता हुआ उसे गर्भ में धारण करता है। इस प्रकार आचार्य माता का स्थान ग्रहण करता है यहाँ विद्यार्थी अपने जीवन में शक्ति व ज्ञान का विस्तार करता हुआ जीवन को उत्तम बनाता है। इस प्रकार हम उत्तम जीवनवाले बनकर देवों के साथ अपने बन्धुत्व को पुष्ट करते हैं।

भावार्थ—आचार्य के गर्भ में रहकर हम शक्ति व ज्ञान का विस्तार करें। इस प्रकार हम भी देवों के साथ बन्धुत्ववाले हों।

ऋषिः—कुसीदी काण्वः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्रज्येष्ठा, अभिद्यवः, सुदानवः (देवाः)

यूयं हि ष्ठा सुदानव इन्द्रज्येष्ठा अभिद्यवः। अधा चिद्व उत ब्रुवे॥ ९॥

(१) दे देवो! **यूयम्**=आप **हि**=निश्चय से **इन्द्रज्येष्ठाः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ज्येष्ठत्व देनेवाले **अभिद्यवः**=(अभिगत दीप्तयः) प्राप्त ज्ञान ज्योतिवाले तथा **सुदानवः**=बुराइयों का सम्यक् खण्डन करनेवाले हो। (२) **अधा चित्**=सो अब निश्चय से **वः उपब्रुवे**=आपका ही मैं स्तवन करता हूँ। **उत**=और आप से ही अपने जीवन के निर्माण के लिये प्रार्थना करता हूँ। आप प्रभु की उपासना के द्वारा प्राप्त ज्ञान ज्योतिवाले हो। आप हमारे जीवनों में भी बुराइयों का खण्डन करते हुए उन्हें उज्ज्वल बनाने का अनुग्रह करो।

भावार्थ—देव वे हैं जो प्रभु को ज्येष्ठ बनाकर ज्ञान को प्राप्त करते हैं और बुराइयों का अपने जीवन में खण्डन करते हैं। इनके सम्पर्क में हम भी देव बनें।

देव बनकर महादेव की प्राप्ति की प्रबल कामनावाले हम 'उशना' बनें (कामयमान)। 'उशना' ही काम्य है—कविपुत्र है—अतिशयेन क्रान्तदर्शी है। यह प्रभु की प्रार्थना करता हुआ कहता है—

[८४] चतुरशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'प्रेष्ठ-अतिथि' का स्तवन

प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्। अग्निं रथं न वेद्यम्॥ १॥

(१) मैं **वः**=सब के **प्रेष्ठम्**=प्रियतम उस प्रभु को **स्तुषे**=स्तुत करता हूँ। उस प्रभु को जो **अतिथिम्**=हमारे हित के लिये हमें निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं (अत सातत्यगमने)। जो **मित्रं इव प्रियम्**=एक मित्र के समान प्रिय हैं—उत्तम प्रेरणाओं को देते हुए प्रीणित करनेवाले हैं। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ जो **अग्निम्**=अग्रेणी हैं—हमें निरन्तर आगे ले चलनेवाले हैं। **रथं न वेद्यम्**=इस जीवन-यात्रा में रथ के समान जानने योग्य हैं। प्रभु के द्वारा ही हमारी जीवन-यात्रा पूर्ण हो सकेगी।

भावार्थ—प्रभु हमारे प्रियतम-निरन्तर हमारे हित के लिये गतिवाले मित्र हैं। वे ही हमें आगे ले चलनेवाले व हमारी जीवन-यात्रा को पूर्ण करनेवाले रथ के समान हैं। इन प्रभु का ही हम स्तवन करें।

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

कविम् इव प्रचेतसम्

कविमिव प्रचेतसं यं देवासो अध द्विता। नि मर्त्येष्वादधुः॥ २॥

(१) उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं **यम्**=जिसको **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **द्विता**=ज्ञान व शक्ति विस्तार के द्वारा (द्वौ तनोति) **मर्त्येषु**=अपने इन मरणधर्मा शरीरों में **नि आदधुः**=निश्चय से धारण करते हैं। (२) उस प्रभु को हम स्तुत करते हैं जो **कविं इव**=क्रान्तदर्शी की तरह **प्रचेतस**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं। वे प्रभु ही हमें भी प्रकृष्ट चेतनावाला करते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु क्रान्तदर्शी होते हुए उपासकों को प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाले हैं। हम भी देव बनकर ज्ञान व शक्ति के विस्तार के द्वारा प्रभु को अपने में धारण करें।

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

दाश्वान् के रक्षक प्रभु

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना॥ ३॥

(१) हे **यविष्ठ**=बुराइयों को हमारे से अधिक से अधिक पृथक् करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे से मिलानेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **दाशुषः नॄन्**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले मनुष्यों को **पाहि**=रक्षित करिये। आप **गिरः**=हमारी इन प्रार्थना वाणियों को **शृयुधि**=अवश्य सुनिये। आपने ही तो हमारा रक्षण करना है—हम आपके ही शरणागत हैं। (२) **उत**=और आप **त्मना तोकं रक्षा**=स्वयं ही हम सन्तानों का रक्षण कीजिये। हमारा व हमारे सन्तानों का आपने ही रक्षण करना है। पुत्र कभी पिता से रक्षण की प्रार्थना थोड़े ही किया करता है? पिता स्वयं ही पुत्र का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु ही हमारा व हमारे सन्तानों का रक्षण करेंगे।

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'अग्नि, अंगिराः, ऊर्जोनपात् व देव'

कया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम्। वराय देव मन्यवे॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **अंगिरः**=अंग-प्रत्यंग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **ऊर्जो न पात्**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवाले प्रभो! हम **कया**=किस वाणी से **ते उपस्तुतिम्**=आपके स्तवन को करें? अर्थात् शब्दों से आपके स्तवन करने का सम्भव नहीं। आपकी महिमा शब्दातीत है। (२) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप ही **वराय मन्यवे**=उत्कृष्ट ज्ञान के लिये होते हैं। आपकी उपासना से ही हमें ज्ञान प्राप्त होता है। आपकी उपासना ही हमें प्रगतिशील (अग्नि) रसमय अंगोंवाला (अंगिरः) व स्थिर बलवाला (ऊर्जोनपात्) बनाती है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा शब्दों से वर्णनीय नहीं। प्रभु का उपासन हमें प्रगतिशील, रसमय अंगोंवाला, स्थिर शक्ति व उत्कृष्ट ज्ञानवाला बनाता है।

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

यज्ञ+नमन

दाशेम कस्य मनसा यज्ञस्य सहसो यहो। कदु वोच इदं नमः॥ ५॥

(१) हे **सहसो यहो**=बल के पुत्र—शक्ति के पुञ्ज प्रभो! हम **कस्य यज्ञस्य**=आनन्दप्रद यज्ञ के **मनसा**=मन से, अर्थात् यज्ञ की प्रवृत्तिवाले मन से **दाशेम**=आपके प्रति अपने को देनेवाले बनें। यज्ञों के द्वारा आपका उपासन करें। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। (२) हे प्रभो! हम उ=निश्चय

से **कत्**=(कं तनोति) आनन्द का विस्तार करनेवाले **इदं नमः**=इस नमस्कार वचन को **वोचे**=बोलें।

भावार्थ—हम यज्ञों व नमन के द्वारा प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वाजद्रविणसो गिरः

अधा त्वं हि नस्करो विश्वा अस्मभ्यं सुक्षितीः। वाजद्रविणसो गिरः॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार हम प्रभु का यज्ञों व नमन के द्वारा उपासन करें और हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अधा**=अब **नः**=हमें उन्नत **करः**=करनेवाले होइये। आप ही हमारे जीवनों को उत्कृष्ट बनाइये। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **विश्वाः**=सब **सुक्षितीः**=उत्तम निवासों व गतियों को करिये। (२) इसी उद्देश्य से आप हमारे लिये **वाजद्रविणसः**=शक्तिरूप धनवाली इन **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को भी करिये। हम शक्तियुक्त ज्ञान को प्राप्त करके अपने निवासों व गमनों को उत्कृष्ट बनायें।

भावार्थ—प्रभु ही उपासकों के जीवनों को उत्कृष्ट बनाते हैं। प्रभु ही हमारे निवास व गमन को उत्तम बनाने के लिये हमें शक्तियुक्त ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गोषाता यस्य ते गिरः

कस्य नूनं परीणसो धियो जिन्वसि दंपते। गोषाता यस्य ते गिरः॥ ७॥

(१) हे **दम्पते**=गृहपते! हम सबके गृहों के रक्षक प्रभो! आप **नूनम्**=निश्चय से **कस्य**=आनन्द के–आनन्द को प्राप्त करानेवाले **परीणसः**=बहुत **धिया**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों को **जिन्वसि**=(प्रीणयसि) प्रीणित करते हैं–इन कर्मों को हमें प्राप्त कराते हैं। (२) **यस्य**=जिस **ते**=आपकी **गिरः**=स्तुतियाँ **गोषाता**=हमारे साथ ज्ञान का सम्भजन करनेवाली है। आप स्तोता के लिये ज्ञान को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक को आनन्द को प्राप्त करानेवाले बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों में प्रेरित करते हैं और उसके ज्ञान को बढ़ाते हैं।

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

तं मर्जयन्त (उसी की उपासना)

तं मर्जयन्त सुक्रतुं पुरोयावानमाजिषु। स्वेषु क्षयेषु वाजिनम्॥ ८॥

(१) **ते**=वे उस प्रभु को ही **स्वेषु क्षयेषु**=अपने निवासस्थानों में–गृहों में व हृदयों में **मर्जयन्त**=अलंकृत करते हैं व उपासित करते हैं। घरों में मिलकर प्रभु का उपासन घरवालों को पवित्र जीवनवाला बनाता है। हृदयदेश में प्रभु का ध्यान हमें प्रभु के सान्निध्य में 'शक्ति, पवित्रता व ज्ञान' से दीप्त करता है। (२) उस प्रभु का ध्यान करते हैं जो **सुक्रतुम्**=शोभन कर्मों व प्रज्ञानवाले हैं–उपासक को भी वे शुभ कर्मों व प्रज्ञानोंवाला बनाते हैं। **आजिषु पुरः यावानम्**=संग्रामों में आगे ले चलनेवाले वे प्रभु हैं। प्रभु ही हमें काम-क्रोध आदि से संग्रामों में विजयी बनाते हैं। **वाजिनम्**=वे प्रभु शक्तिशाली हैं–उपासक के जीवन में शक्ति का संचार करते हैं।

भावार्थ—हम घरों में मिलकर प्रभु का उपासन करें–हृदयदेश में प्रभु का ध्यान करें। प्रभु हमें शोभन कर्मों व प्रज्ञानवाला बनायेंगे। वे हमें काम-क्रोध आदि से संग्राम में विजयी करेंगे

और शक्तिशाली बनायेंगे।

ऋषिः—उशना काव्यः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सुवीरः एधते

क्षेति क्षेमेभिः साधुभिर्नकिर्यं घ्नन्ति हन्ति यः। अग्ने सुवीर एधते॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना करनेवाला व्यक्ति **क्षेमेभिः**=कल्याणकर **साधुभिः**= उत्तम कार्यों से **क्षेति**=घर में निवास करता है, अर्थात् सदा उत्तम कल्याणकर कर्मों को करता है। यह उपासक वह होता है **यम्**=जिसको **नकिः घ्नन्ति**=काम-क्रोध आदि शत्रु मार नहीं सकते; प्रत्युत **यः हन्तिः**=जो इन शत्रुओं को मारनेवाला होता है। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आपका यह उपासक **सुवीरः एधते**=उत्तम वीर बनकर वृद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—उपासक (क) उत्तम कार्यों में प्रवृत्त होता है, (ख) काम-क्रोध आदि का शिकार नहीं होता, (ग) इन काम-क्रोध आदि को नष्ट करता है, (घ) उत्तम वीर बनकर वृद्धि को प्राप्त करता है।

यह शत्रुओं का धर्षण करनेवाला-विलेखन करनेवाला-उपासक 'कृष्ण' बनता है-यह आंगिरस तो बनेगा ही-अंग-प्रत्यंग में रसवाला शक्तिशाली। यह शरीर में सोम के रक्षण के लिये अश्विना (प्राणापान) का आह्वान करता है-

[८५] पञ्चाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कृष्णः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'मधु सोम' का पान

आ मे हवं नासत्याश्विना गच्छतं युवम्। मध्वः सोमस्य पीतये॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **मे हवम्**=मेरी पुकार को सुनकर **आगच्छतम्**= अवश्य प्राप्त होओ। आप ही **नासत्या**=मेरे जीवन से सब असत्यों को दूर करनेवाले हो (न+असत्या)। (२) आप ही **मध्वः**=हमारे जीवनों को मधुर बनानेवाले **सोमस्य**=सोम के **पीतये**=रक्षण के लिये होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है। सोमरक्षण द्वारा ये प्राणापान हमारे जीवन से सब असत्यों को दूर करते हैं और उन्हें मधुर बनाते हैं।

ऋषिः—कृष्णः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

स्तोम-हव (स्तुति-प्रार्थना)

इमं मे स्तोममश्विनेमं मे शृणुतं हवम्। मध्वः सोमस्य पीतये॥ २॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मे**=मेरे से किये जानेवाले **इमम्**=इस **स्तोमम्**=स्तवन को **शृणुतम्**=सुनो। हम प्राणसाधना करते हुए प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। (२) हे प्राणापानो! आप **मे**=मेरी **इमम्**=इस **हवम्**=पुकार को (शृणुतं=) सुनो। मेरी इस प्रार्थना को सुनो। मेरी प्रार्थना को सुनते हुए आप **मध्वः**=मेरे जीवन को मधुर बनानेवाले **सोमस्य पीतये**=सोम के रक्षण के लिये होओ।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए प्रभु की स्तुति प्रार्थना में संलग्न हों। इस प्रकार सोम का रक्षण करते हुए हम जीवन को मधुर बनायेंगे।

ऋषिः—कृष्णः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

कृष्ण

अयं वां कृष्णो अश्विना हवते वाजिनीवसू। मध्वः सोमस्य पीतये॥ ३॥

(१) हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनोंवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **अयम्**=यह **कृष्णः**=वासनाओं का विलेखन (कृष्) करनेवाला आपका उपासक **वां हवते**=आपको पुकारता है। (२) आप इस कृष्ण के जीवन में **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले इस **सोमस्य**=सोम के-वीर्य के **पीतये**=रक्षण के लिये होओ।

भावार्थ—प्राणापान का उपासक 'कृष्ण' होता है-यह वासनाओं का विलेखन (अवदारण) करता है और सोम का रक्षण करता है।

ऋषिः—कृष्णः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

नरा (अश्विना)

शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा। मध्वः सोमस्य पीतये॥ ४॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! आप **जरितुः**=स्तवन करनेवाले इस **कृष्णस्य**=वासनाओं का विलेखन करनेवाले उपासक की **हवम्**=प्रकार को **शृणुतम्**=सुनो। (२) आप ही **स्तुवतः**=स्तुति करनेवाले इस स्तोता के **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **सोमस्य**=सोम के **पीतये**=पान के लिये होते हो। आप ही इसके सोम का रक्षण करते हो।

भावार्थ—प्राणापान ही स्तोता के सोम का रक्षण करते हुए उसके जीवन को मधुर बनाते हैं।

ऋषिः—कृष्णः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'स्तुवन् विप्र' का 'अदाभ्यं छर्दि'

छर्दिर्यन्तमदाभ्यं विप्राय स्तुवते नरा। मध्वः सोमस्य पीतये॥ ५॥

(१) हे **नरा**=सबको आगे और आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! आप **स्तुवते**=प्रभु का स्तवन करनेवाले **विप्राय**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले इस ज्ञानी पुरुष के लिये **अदाभ्यम्**=रोगों व वासनाओं से अहिंसित **छर्दिः**=शरीररूप गृह को **यन्तम्**=दीजिये। (२) हे प्राणापानो! आप **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **सोमस्य**=सोम के-वीर्यशक्ति के **पीतये**=रक्षण के लिये होइये। इस रक्षित सोम ने ही तो हमें 'स्तुवन् विप्र' बनाना है।

भावार्थ—प्राणसाधना करता हुआ स्तोता विप्र रोगों व वासनाओं से अहिंसित शरीररूप गृह प्राप्त करता है।

ऋषिः—कृष्णः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दाश्वान् के गृह में प्राणापान का आगमन

गच्छतं दाशुषो गृहमित्था स्तुवतो अश्विना। मध्वः सोमस्य पीतये॥ ६॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **इत्था**=सत्यरूप में **स्तुवतः**=स्तुति करते हुए **दाशुषः**=आपके प्रति अर्पण करनेवाले व्यक्ति के **गृहं गच्छतम्**=शरीररूप गृह में प्राप्त होओ, अर्थात् यह स्तोता आपकी अराधना करता हुआ अपने इस शरीर गृह में आपको प्रतिष्ठित कर पाये। (२) आप **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले रस **सोमस्य**=सोम के **पीतये**=रक्षण के लिये होओ।

भावार्थ—हम प्राणापान द्वारा प्राणापान की प्रतिष्ठा करें—ये शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति के कारण बनेंगे।

ऋषिः—कृष्णः **देवता**—अश्विनौ **छन्दः**—निचृद् गायत्री **स्वरः**—षड्जः

रथ में रासभ का योजन

युञ्जाथां रासभं रथे वीड्वङ्गे वृषण्वसू। मध्वः सोमस्य पीतये॥ ७॥

(१) हे **वृषण्वसू**=जीवन के धनों का वर्षण करनेवाले प्राणापानो! आप **वीड्वंगे**=दृढ़ अंगोंवाले इस **रथे**=रथ में **रासभम्**=ऋग्, यजु, सामरूप वाणियों का उच्चारण करनेवाले प्रभु को **युञ्जाथाम्**=युक्त करिये। प्रभु ही मेरे रथ के सञ्चालक हों। प्रभुरूप सारथि को पाकर मैं इस रथ के द्वारा लक्ष्यस्थान पर क्यों न पहुँचूँगा? उस समय, प्रभु की प्रेरणा में मेरा जीवन कितना शुद्ध होगा? विजय ही विजय को प्राप्त करता हुआ मैं अवश्य काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विजेता 'जिष्णु' होऊँगा। (२) हे प्राणापानो! इस प्रकार वासनाओं का विनाश करके आप **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **सोमस्य पीतये**=सोम के रक्षण के लिये होओ। इस सोमरक्षण के द्वारा हम 'सौम्य' जीवनवाले बनें।

भावार्थ—हमारे शरीररथ के सञ्चालक प्रभु हों, वे हमें 'ज्ञान, कर्म व उपासना' की प्रेरणा देते हुए सोमरक्षण द्वारा सुन्दर जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—कृष्णः **देवता**—अश्विनौ **छन्दः**—गायत्री **स्वरः**—षड्जः

'त्रिवन्धुर त्रिवृत्' रथ

त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेना यातमश्विना। मध्वः सोमस्य पीतये॥ ८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **रथेन**=इस शरीररथ से हमें **आयातम्**=प्राप्त होवो, जो शरीररथ **'त्रिबन्धुरेण'**=सुन्दर 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' वाला है। अन्नमयकोश शरीररथ का ढाँचा है, इस रथ में प्राणमय (प्राणाः वाव इन्द्रियाणि) मनोमय व विज्ञानमयकोश रूप तीन सुन्दर आसन (Seat) हैं। (वन्धुर Beautiful) । यह रथ **त्रिवृता**=(त्रिषु वर्तते) 'ज्ञान, कर्म व उपासना' रूप तीनों मार्गों का आक्रमण करता है। (२) हे प्राणापानो! आप इस त्रिवृत रथ से वासनाओं को कुचलते हुए **मध्वः सोमस्य पीतये**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम के पान के लिये होओ।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' तीनों की निर्दोषता व सुन्दरता प्राप्त होती है सोमरक्षण द्वारा हम 'ज्ञान, कर्म व उपासना' के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं—ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के द्वारा हम प्रभु के उपासक बनते हैं।

ऋषिः—कृष्णः **देवता**—अश्विनौ **छन्दः**—विराड् गायत्री **स्वरः**—षड्जः

ज्ञान की वाणियों का रक्षण

नू मे गिरो नासत्याश्विना प्रावतं युवम्। मध्वः सोमस्य पीतये॥ ९॥

(१) हे **नासत्या**=सब असत्यों को मेरे जीवन से दूर करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप निश्चय से **मे**=मेरे लिये **गिरः**=ज्ञानवाणियों व स्तुतिवाणियों को **प्रावतम्**=प्रकर्षेण रक्षित करिये। प्राणापान की साधना से हमारा जीवन ज्ञानमय व स्तुतिमय बने। (२) इसी उद्देश्य से हे प्राणापानो! आप **मध्वः सोमस्य पीतये**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम के रक्षण के लिये होओ।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा सोमरक्षण होकर हमारा ज्ञान बढ़े।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'कृष्ण आंगिरस' ही है। यह कृष्ण ही पूर्ण जीवनवाला 'विश्वक' हो जाता है। यह 'अश्विनौ' का ही आराधन करता हुआ कहता है—

[८६] षडशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कृष्णो विश्वको वा कार्ष्णिः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराड् जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

दस्रा भिषजा

उभा हि दस्रा भिषजा मयोभुवोभा दक्षस्य वचसो बभूवथुः।
ता वां विश्वको हवते तनूकृथे मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्॥ १॥

(१) हे प्राणापानो! आप **उभा**=दोनों **हि**=निश्चय से **दस्रा**=दुःखों का उपक्षय करनेवाले हो। **भिषजा**=सब रोगों का निराकरण करनेवाले हो। **मयोभुवा**=नीरोग बनाकर कल्याण को उत्पन्न करनेवाले हो। **उभा**=आप दोनों **दक्षस्य**=बल के **वचसः**=कहनेवाले, अर्थात् शक्ति में जन्म देनेवाले **बभूवथुः**=होते हो। (२) **ता वाम्**=उन आप दोनों को **विश्वकः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को स्वस्थ, निर्मल व तीव्र बनाने की कामनावाला यह सम्पूर्ण उन्नति को चाहनेवाला **विश्वक** **तनूकृथे**=शत्रुओं को क्षीण करने के निमित्त (तनू thin) **हवते**=पुकारता है। आप दोनों **नः**=हमें **मा वि यौष्टम्**=अपने से पृथक् मत कर दो। **सख्या**=अपनी मित्रताओं को (सख्यानि) हमारे से पृथक् न करो। **मुमोचतम्**=हमें सब कष्टों से बचाओ।

भावार्थ—प्राणापान (क) वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं। (ख) रोगों को दूर करनेवाले हैं। (ग) सुख को उत्पन्न करनेवाले हैं। (घ) ये हमारे में बल का वर्धन करते हैं। (ङ) इनकी आराधना से शत्रुओं का क्षय होकर हमारा वर्धन होता है। सो हम सदा प्राणसाधना को करनेवाले हों।

ऋषिः—कृष्णो विश्वको वा कार्ष्णिः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृज्जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

धियं, वस्यः

कथा नूनं वां विमना उप स्तवद्युवं धियं ददथुर्वस्यइष्टये।
ता वां विश्वको हवते तनूकृथे मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्॥ २॥

(१) **विमनाः**=विविध दिशाओं में भागनेवाले मनवाला यह 'विमनाः' के लिये प्राणसाधना कठिन हो जाती है। सो हम मन को एकाग्र करने के लिये इस प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। हे प्राणापानो! **युवम्**=आप ही **इष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिये **धियम्**=बुद्धि को तथा **वस्यः**=प्रशस्त धन को **ददथुः**=देते हो। (२) **ता वाम्**=उन आप दोनों को **विश्वकः**=यह पूर्ण उन्नति को अपनानेवाला **तनूकृथे**=शत्रुओं को क्षीण करने के निमित्त **हवते**=पुकारता है। हे प्राणापानो! **नः**=हमें **मा वि यौष्टम्**=छोड़ मत जाओ। **सख्या**=मित्रताओं को नष्ट मत कर दो। आप अवश्य ही **मुमोचतम्**=हमें रोगों व वासनारूप शत्रुओं से मुक्त करो।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनोवृत्ति एकाग्र होती है। इससे उत्तम बुद्धि व प्रशस्त धन प्राप्त होता है।

ऋषिः—कृष्णो विश्वको वा कार्ष्णिः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराड् जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

पुरुभुजा (अश्विना)

युवं हि ष्मा पुरुभुजेममेधतुं विष्णाप्वे ददथुर्वस्यइष्टये।
ता वां विश्वको हवते तनूकृथे मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्॥ ३॥

(१) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **हि ष्मा**=निश्चय से **पुरुभुजा**=खूब ही पालन करनेवाले हो आप **विष्णाप्वे**=(विष्णुं कर्मणा व्याप्नोति) यज्ञादि कर्मों के द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाले इस के लिए **एधतुम्**=वृद्धि के साधनभूत धन आदि को **ददथुः**=देते हो। आप **वस्यः**=प्रशस्त वसुओं के द्वारा **इष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिये होते हो। (२) **ता वाम्**=उन आप दोनों को **विश्वकः**=यह अपनी पूर्ण उन्नति करनेवाला **विश्वक तनूकृथे**=वासनारूप शत्रुओं को क्षीण करने के लिये **हवते**=पुकारता है। आप **नः**=हमें **मा वि यौष्टम्**=मत छोड़ जाओ। **सख्या**=हमारे साथ अपनी मित्रताओं को मत नष्ट करो और आप **मुमोचतम्**=हमें रोगों व वासनारूप शत्रुओं से मुक्त करो।

भावार्थ—प्राणापान ही हमारा पालन कर रहे हैं। ये ही हमारी वृद्धि का कारण होते हैं। ये हमें शत्रुओं से मुक्त करें।

ऋषिः—कृष्णो विश्वको वा कार्ष्णिः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृज्जगती ॥ **स्वरः**—निषादः ॥

'स्वादिष्ठा' सुमतिः

उत त्यं वीरं धनसामृजीषिणं दूरे चित्सन्तमवसे हवामहे।
यस्य स्वादिष्ठा सुमतिः पितुर्यथा मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्॥ ४॥

(१) हे प्राणापानो! हम **उत**=निश्चय से **त्यम्**=उस **वीरम्**=(वि ईर) शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **धनसाम्**=धनों को प्राप्त करानेवाले **ऋजीषिणम्**=ऋजुमार्ग की प्रेरणा देनेवाले, **दूरे चित् सन्तम्**=दूर से दूर प्रदेश में भी वर्तमान उस प्रभु को **अवसे हवामहे**=रक्षण के लिये पुकारते हैं। (२) उस प्रभु को हम पुकारते हैं, **यस्य**=जिसकी **यथा पितुः**=जैसे एक पिता की, अर्थात् पिता की ओर से पुत्र के लिये दी गई **सुमतिः**=कल्याणी मति **स्वादिष्ठा**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाली है। हे प्राणापानो! आप **नः मा वि यौष्टम्**=हमारे से पृथक् न होओ। **सख्या**=अपनी मैत्रियों को मत नष्ट करो। **मुमोचतम्**=आप हमें सब रोगों व वासनारूप शत्रुओं से छुड़ाओ।

भावार्थ—हम प्रभुस्मरण पूर्वक प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। हमें वह सुमति प्राप्त हो जो जीवन को मधुरतम बनाती है।

ऋषिः—कृष्णो विश्वको वा कार्ष्णिः ॥ **देवता**—अश्विनौ ॥ **छन्दः**—निचृज्जगती ॥ **स्वरः**—निषादः ॥

ऋत

ऋतेन देवः सविता शमायत ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे।
ऋतं सासाह महि चित्पृतन्यतो मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम्॥ ५॥

(१) **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **ऋतेन**=ऋत के द्वारा **शमायते**=हमारे जीवनों को बड़ा शान्त बनाता है। **ऋतस्य शृंगम्**=ऋत का **शृंग**=शत्रुनाशक बल **उर्विया वि पप्रथे**=खूब ही विस्तृत होता है। सत्य हमें जहाँ शान्ति प्राप्त कराता है, वहाँ हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को भी विनष्ट करता है। (२) **ऋतम्**=यह ऋत **महि चित् पृतन्यतः**=महान् भी शत्रुओं को **सासाह**=पराभूत करता है। प्राणापान ही इस ऋत के प्राप्त करानेवाले हैं—प्राणसाधना द्वारा जीवन अनृत से रहित होकर ऋतवाला बनता है। सो, प्राणापानो! **नः**=हमें **मा वि यौष्टम्**=छोड़ मत जाओ। **सख्या**=अपनी मित्रताओं को हमें प्राप्त कराओ। **मुमोचतम्**=हमें सब शत्रुओं से मुक्त करो।

भावार्थ—ऋत हमारे जीवन को शान्त करता है—ऋत हमारे सब शत्रुओं को नष्ट करता है। प्राणसाधना द्वारा हम जीवन को ऋतमय बनाएँ।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'कृष्ण आंगिरस' है। अथवा 'प्रियमेध आंगिरस' भी कहा गया है—प्रियमेधावाला—शक्तिवाली अंगोंवाला। यह 'अश्विनौ' का स्तवन करता हुआ कहता है—

[८७] सप्ताशतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कृष्णो द्युम्नीको वा वासिष्ठः प्रियमेधो वा॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

दिवि प्रियः

द्युम्नी वां स्तोमो अश्विना क्रिविर्न सेक आ गतम्।
मध्वः सुतस्य स दिवि प्रियो नरा पातं गौराविवेरिणे॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपका **स्तोमः**=स्तवन **द्युम्नी**=हमारी ज्ञान ज्योति को बढ़ानेवाला है। आपका यह स्तवन **सेके**=उदक के सेचन के होने पर **क्रिविः न**=कूएँ के समान है। वृष्टि द्वारा जलसेचन होने पर कूआँ अल्प उदकवाला नहीं होता। इसी प्रकार प्राणापान का स्तवन हमें अल्पज्ञानवाला नहीं रखता। प्राणसाधना से ज्ञान खूब ही दीप्त हो उठता है। सो हे प्राणपानो! **आगतम्**=आप आओ। (२) हे **नरः**=हमें आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम का **पातम्**=पान करो। इस प्रकार से पान करो, **इव**=जैसे **इरिणे**=(a riverlet) एक छोटी नदी पर **गौरौ**=दो गौर मृग पानी पीते हैं। हे प्राणापानो! जिसके शरीर में आप उत्पन्न हुए इस सोम का रक्षण करते हो **सः**=वह **दिवि प्रियः**=ज्ञान में प्रीतिवाला होता है। सुरक्षित सोम इसकी बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है। यह अपनी सूक्ष्म बुद्धि से गम्भीर विषयों को भी समझनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर ज्ञानदीप्ति की वृद्धि होती है। प्राणापान सोम का शरीर में पान करते हुए बुद्धि को सूक्ष्म बनाते हैं। यह सूक्ष्म बुद्धि पुरुष ज्ञानप्रिय बनता है।

ऋषिः—कृष्णो द्युम्नीको वा वासिष्ठः प्रियमेधो वा॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद् पङ्क्तिः॥
स्वरः—पञ्चमः॥

वेदसा वयः

पिबतं घर्मं मधुमन्तमश्विना बर्हिः सीदतं नरा।
ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आ नि पातं वेदसा वयः॥ २॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मधुमन्तम्**=जीवन को मधुर बनानेवाले **धर्मम्**=शरीर में क्षरित होनेवाले सोम को **पिबतम्**=शरीर में ही पीनेवाले होओ। हे **नरः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! आप **वर्हिः सीदतम्**=हमारे वासनाशून्य हृदयासन पर **सीदतम्**=आसीन होओ। हमें सदा हृदय में प्राणसाधना पर पूर्ण आस्था हो। (२) **ता**=वे **मनुषः दुरोणे**=इस मानव शरीररूप गृह में **मन्दसाना**=सोमरक्षण द्वारा हर्षित होते हुए आप **वेदसा**=ज्ञान के साथ **वयः**=आयुष्य का **निपातम्**=रक्षण करो। हमारा जीवन ज्ञानवाला व दीर्घ हो।

भावार्थ—प्राणापान सोम का रक्षण करते हैं। जीवन को यह ज्ञानमय व दीर्घ बनाते हैं।

ऋषिः—कृष्णो द्युम्नीको वा वासिष्ठः प्रियमेधो वाङ्ग **देवता**—अश्विनौङ्ग **छन्दः**—बृहतीङ्ग **स्वरः**—मध्यमःङ्ग

'प्रियमेध वृक्तबर्हिष्'

आ वां विश्वाभिरूतिभिः प्रियमेधा अहूषत।
ता वर्तिर्यातमुप वृक्तबर्हिषो जुष्टं यज्ञं दिविष्टिषु॥ ३॥

(१) हे प्राणापानो! **प्रियमेधाः**=(मेध=यज्ञ) यज्ञप्रिय लोग **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के हेतु से **वाम्**=आपको **आ अहूषत**=सब ओर से पुकारते हैं। आपकी साधना में ही प्रवृत्त होते हैं। **ता**=वे आप दोनों **वृक्तबर्हिषः**=वासनारूप घास-फूस को छिन्न करनेवाले पुरुष के **बर्हिः**=शरीररूप गृह में **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होओ। वस्तुतः आपकी साधना ही इसे 'वृक्तबर्हिष्' बनाती है। (२) आप ही इस 'प्रियमेध वृक्तबर्हिष्' को यज्ञप्रिय व वासनाओं का छिन्न करनेवाला बनाते हो। **दिविष्टिषु**=(दिव् इष्टि) दिनों के आने पर, अर्थात् प्रातःकाल के होने पर आप ही इस 'प्रियमेध' के जीवन में **यज्ञं जुष्टम्**=यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करो। आपकी साधना से यह सदा यज्ञ की वृत्तिवाला बना रहे।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा जीवन यज्ञमय बनता है। इस साधना से ही हम हृदयक्षेत्र से वासना के घास-फूस को उखाड़ फेंकते हैं।

ऋषिः—कृष्णो द्युम्नीको वा वासिष्ठः प्रियमेधो वाङ्ग **देवता**—अश्विनौङ्ग **छन्दः**—निचृद् पङ्क्तिःङ्ग
स्वरः—पञ्चमःङ्ग

सोमपान+प्रभुस्तवन

पिबतं सोमं मधुमन्तमश्विना बर्हिः सीदतं सुमत्।
ता वावृधाना उप सुष्टुतिं दिवो गन्तं गौराविवेरिणम्॥ ४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मधुमन्तम्**=जीवन को मधुर बनानेवाले **सोमं पिबतम्**=सोम का-वीर्यशक्ति का पान करो और **सुमत्**=(शोभनं) शोभनतया **बर्हिः**=छिन्न वासनाओंवाले हृदय में **सीदतम्**=आसीन होओ। आपने ही वस्तुतः वीर्यरक्षण द्वारा हमारे जीवन को मधुर बनाना है और इसे वासनाशून्य करना है। (२) **वावृधाना**=हमारे जीवनों में वृद्धि को प्राप्त करते हुए **ता**=वे आप दोनों **दिवः**=उस प्रकाशमय प्रभु के **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तवन को इस प्रकार **उपगन्तम्**=समीपता से प्राप्त होओ, **इव**=जैसे **गौरौ**=दो तृषित गौर मृग **इरिणम्**=एक छोटी नदी को प्राप्त होते हैं। नदी को प्राप्त करके ही उन गौर मृगों की तृषा शान्त होती है, इसी प्रकार प्रभुस्तवन ही हमारे प्राणापानों के लिये शान्ति का देनेवाला हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण द्वारा जीवन मधुर बनता है-हृदय वासनाशून्य होता है-प्रभुस्तवन की प्रवृत्ति जागरित होती है।

ऋषिः—कृष्णो द्युम्नीको वा वासिष्ठः प्रियमेधो वाङ्ग **देवता**—अश्विनौङ्ग **छन्दः**—निचृद् बृहतीङ्ग
स्वरः—मध्यमःङ्ग

प्रुषितप्सु अश्व (स्निग्धरूप इन्द्रयाश्व)

आ नूनं यातमश्विनाश्वेभिः प्रुषितप्सुभिः।
दस्रा हिरण्यवर्तनी शुभस्पती पातं सोममृतावृधा॥ ५॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नूनम्**=निश्चय से **प्रुषितप्सुभिः**=स्निग्धरूप-दीप्तरूपवाले-

शक्ति से सिक्तरूपवाले **अश्वेभिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **आयातम्**=हमें प्राप्त होओ। सोमरक्षण द्वारा आप हमारी इन्द्रियों को शक्तिसिक्त बनाओ। (२) **दस्रा**=हमारे शत्रुओं का आप ही क्षय करनेवाले हो। शत्रुक्षय के द्वारा आप ही **हिरण्यवर्तनी**=हमारे जीवन को ज्योतिर्मय मार्गवाला बनाते हो और इस प्रकार **शुभस्पती**=शुभ का रक्षण करते हो। हे **ऋतावृधा**=ऋत का (सत्य का व यज्ञ का) वर्धन करनेवाले प्राणापानो! आप **सोमं पातम्**=हमारे जीवनों में सोम का रक्षण करो।

भावार्थ—प्राणापान सोमरक्षण द्वारा हमारे इन्द्रियाश्वों को दीप्तरूपवाला बनाते हैं। ये हमारे शत्रुओं का क्षय करनेवाले, जीवनमार्ग को ज्योतिर्मय बनानेवाले व शुभ के रक्षक हैं।

ऋषिः—कृष्णो द्युम्नीको वा वासिष्ठः प्रियमेधो वा॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—निचृद् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

विप्रासः विपन्यवः

वयं हि वां हवामहे विपन्यवो विप्रासो वाजसातये।
ता वल्गू दस्रा पुरुदंससा धियाश्विना श्रुष्ट्या गतम्॥ ६॥

(१) हे प्राणापानो! **वयम्**=हम **विपन्यवः**=विशिष्ट स्तुतिवाले होते हुए **वि प्रासः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी बनकर **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये **हि**=निश्चयपूर्वक **वाम्**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं प्राणसाधना ही तो हमें सब शक्तियों को प्राप्त कराती है। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ता**=वे आप दोनों **वल्गू**=सुन्दर गतिवाले हो—जीवन को उत्तम गतिवाला बनाते हो। **दस्रा**=शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले हो। **पुरुदंससा**=पालक व पूरक कर्मोंवाले हो—आप शरीर का पालन करते हो, तो मन का आप पूरण करनेवाले हो। आप **धिया**=बुद्धि को प्राप्त कराने के हेतु से **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें शक्ति प्राप्त कराती है—यह हमें बुद्धि देती है। शक्ति व बुद्धि से सम्पन्न बनकर हम स्तोता, ज्ञानी व पवित्र जीवनवाले बन पाते हैं।

यह विपन्यु (स्तोता) ही अगले सूक्त का ऋषि 'नोधा' बनता है (नौति इति नोधाः) यह इन्द्र का स्तवन करता हुआ कहता है—

[८८] अष्टाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—नोधाः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

दस्मम् ऋतीषहम्

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः। अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥ १॥

(१) **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **स्वसरेषु अभिर्नवामहे**=दिनों में (सूर्यकर्तृकेषु दिवसेषु नि०) प्रातः-सायं (अभि) स्तुत करते हैं—प्रभु की ओर जाते हैं, प्रभु की उपासना में बैठते हैं। इस प्रकार प्रभु की ओर जाते हैं **न**=जैसे स्वसरेषु (सुष्ठु अस्यन्ते प्रेर्यन्ते गावः अत्र) गोष्ठों में **धेनवः**=गौवें **वत्सम्**=बछड़े की ओर जाती हैं। जिस प्रकार प्रेम से भरी हुई गौवें जाती हैं, उसी प्रकार प्रेम से परिपूर्ण हृदयोंवाले हम प्रभु की ओर जानेवाले बनें। (२) उस प्रभु की ओर हम जायें, जो **वः दस्यम्**=तुम सबके दुःखों का उपक्षय करनेवाले हैं। **ऋतीषहम्**=(ऋतयो बाधकाः शत्रवः) काम-क्रोध आदि बाधक शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। **वसोः**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले **अन्धसः**=सोम (वीर्य) के द्वारा **मन्दानम्**=हमें

आनन्दित करनेवाले हैं। वस्तुतः प्रभु काम-क्रोध आदि को विनष्ट करके हमें सोमरक्षण द्वारा सब दुःखों से दूर व आनन्द से परिपूर्ण जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हमारे अन्दर सोम का रक्षण करते हैं और हमारे दुःखों को दूर करके हमें आनन्दमय जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—नोधाः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पंक्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

द्युक्षं, तविषीभिरावृतम्

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम्।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्त्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे॥ २॥

(१) उस प्रभु से हम **मक्षू**=शीघ्र **वाजम्**=बल को **ईमहे**=माँगते हैं। जो बल **क्षुमन्तम्**=प्रभु के स्तवन से युक्त है, **शतिनम्**=सौ के सौ वर्ष तक स्थिर रहता है अथवा शतवर्ष के जीवन को प्राप्त कराता है, **सहस्त्रिणम्**=(स हस्) जीवन को आनन्दयुक्त रखता है तथा **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है अथवा प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाला है। (२) उन प्रभु से हम बल की याचना करते हैं जो **द्युक्षम्**=ज्ञान की दीप्ति में निवास करनेवाले हैं, **सुदानुम्**=सम्यक् हमारी वासनाओं का ज्ञान द्वारा विनाश करनेवाले हैं (दाप् लवने), **तविषीभिः आवृतम्**=बलों से आवृत हैं—बल ही बल हैं—बल के पुञ्ज हैं। तथा **गिरिं न**=(गुरुं न) एक ज्ञानोपदेष्टा गुरु के समान **पुरुभोजसम्**=खूब ही हमारा पालन करनेवाले हैं। ये प्रभु हमें भी ज्ञानयुक्त बल को देकर सुरक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सदा ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले व बल के पुञ्ज हैं। उपासक को भी ज्ञानयुक्त बल देकर वे सुरक्षित जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—नोधाः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—बृहती ॥ **स्वरः**—मध्यमः ॥

प्रभु की (अजेय्य) शक्ति

न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीळवः।
यद्दित्ससि स्तुवते मावते वसु नकिष्टदा मिनाति ते॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वा**=आपको **बृहन्तः**=बड़े विशाल **वीडवः**=दृढ़ भी **अद्रयः**=पर्वत **न वरन्त**=रोक नहीं सकते। महान् से महान् भी पर्वत आपके मार्ग में विघ्नरूप नहीं हो सकते। (२) **यत्**=जब आप **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले **मा-वते**=(मा=मापना-ज्ञान प्राप्त करना) ज्ञान को प्राप्त करनेवाले के लिये **वसु दित्ससि**=धन को देने की कामनावाले होते हैं, तो **ते**=आपके **तत्**=उस धन को **नकिः आमिनाति**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाता।

भावार्थ—प्रभु के मार्ग में कोई विघ्न नहीं कर पाता। प्रभु स्तोता ज्ञानी के लिये जो धन देना चाहते हैं, उसे कोई हिंसित नहीं कर पाता।

ऋषिः—नोधाः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पंक्तिः ॥ **स्वरः**—पञ्चमः ॥

क्रत्वा शवसा दंसना

योद्धासि क्रत्वा शवसोत दंसना विश्वा जाताभि मज्मना।

आ त्वायमर्क ऊतये ववर्तति यं गोतमा अजीजनन्॥ ४॥

(१) हे प्रभो! आप **क्रत्वा**=अपने प्रज्ञान से **उत**=और **शवसा**=बल से **योद्धा असि**=शत्रुओं पर संप्रहार करनेवाले हैं। हे प्रभो! आप **विश्वा जाता**=सब प्रादुर्भूत होनेवाली वासनाओं को **दंसना**=अपने कर्मों से तथा **मज्मना**=शत्रुओं को मसल देनेवाले बल से **अभि** (भवसि)=अभिभूत करनेवाले हैं। (२) **अयम्**=यह **अर्थः**=स्तोता **ऊतये**=अपने रक्षण के लिये **त्वा**=आपको **आवर्तति**=अपने अभिमुख आवृत्त करता है। उन आपको यह अपने अभिमुख करने के लिये यत्नशील होता है, **यम्**=जिनको **गोतमाः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले **अजीजनन्**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें 'प्रज्ञान शक्ति व क्रियाशीलता' प्राप्त करायेंगे और इस प्रकार हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करेंगे।

ऋषिः—नोधाः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

स्व-धा

प्र हि रि॑रि॒क्ष ओज॑सा दि॒वो अन्ते॑भ्य॒स्परि॑। न त्वा॑ विव्याच॒ रज॑ इन्द्र॒ पार्थि॑व॒मनु॑ स्व॒धां व॑वक्षिथ॥५॥

(१) हे प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **दिवः परि अन्तेभ्यः**=द्युलोक के पर्यन्तों से भी **ओजसा**=अपने बल से **प्ररिरिक्षे**=अतिरिक्त होते हैं। यह द्युलोक आपकी शक्ति को व्याप्त नहीं कर पाता। यह **पार्थिवं रजः**=पार्थिव लोक भी **त्वा न विव्याच**=आपको व्याप्त नहीं कर पाता। प्रभु को ये द्यावापृथिवी अपने सीमित करनेवाले नहीं होते। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **स्वधां अनु ववक्षिथ**=हमारे लिये आत्मधारणशक्ति को प्राप्त कराने की कामना करिये। आपकी उपासना हमें 'स्व-धा' को प्राप्त करानेवाली हो। आत्मधारणशक्ति से युक्त होकर हम अधिक और अधिक आपके समीप हो सकें।

भावार्थ—प्रभु को ये द्यावापृथिवी माप नहीं सकते। प्रभु का ओज इनमें समा नहीं पाता। प्रभु का उपासन हमें भी स्वधा=आत्मधारणशक्तिवाला बनाये।

ऋषिः—नोधाः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

दाशुषे दशस्यसि

नकि॒: परि॑ष्टिर्मघवन्म॒घस्य॑ ते॒ यद्दा॒शुषे॑ दश॒स्यसि॑।
अ॒स्माकं॑ बोध्यु॒चथ॑स्य चोदि॒ता मंहि॑ष्ठो॒ वाज॑सातये॥६॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपके **मघस्य**=ऐश्वर्य का **नकिः परिष्टिः**=कोई भी रोकनेवाला (परिबाधकः) नहीं है, **यद्**=जब **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिये आप **दशस्यसि**=देते हैं। प्रभु जब दाश्वान् को धन प्राप्त कराते हैं, तो कोई रोक थोड़े ही सकता है। (२) हे प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारा **बोधि**=(बुध्यस्व) ध्यान करिये) आप ही **उचथस्य चोदिता**=स्तोत्रों के प्रेरक हैं। आपकी प्रेरणा से ही हम स्तवन में प्रवृत्त हो पाते हैं। आप **मंहिष्ठः**=सर्वमहान् दाता हैं। आप ही **वाजसातये**=शक्ति को प्राप्त कराने के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्रभु दानशील पुरुष को धन प्राप्त कराते हैं। वे हमारे जीवनों में स्तोत्रों के प्रेरक होते हैं। वे सर्वमहान् दाता प्रभु हमें शक्ति को प्राप्त कराते हैं।

यह दानशील पुरुष 'नृ-मेध' बनता है—सब पुरुषों के साथ मेलवाला होता है। इसका यह मेल पालन व पूरण के लिये होता है, सो यह 'पुरुमेध' कहलाता है। यह सब से यही कहता है कि हम प्रभु का गायन करें—

[८९] एकोननवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ देवता—इन्द्रः छन्दः—बृहती स्वरः—मध्यमः

प्रभु का गायन वृत्रहन्तम हैं तथा ज्योति का जनक है

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्। येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि॥ १॥

(१) हे **मरुतः**=परिमित बोलनेवाले क्रियाशील स्तोताओ! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **बृहत्**=खूब ही **गायत**=गायन करो। यह गायन **वृत्रहन्तमम्**=वासनाओं को अधिक से अधिक विनष्ट करनेवाला होगा। (२) उस **देवाय**=प्रकाशमय प्रभु के लिये उस स्तोत्र का गायन करो, **येन**=जिससे कि **ऋतावृधः**=ऋत का (यज्ञ का) अपने में वर्धन करनेवाले लोग **ज्योतिः**=प्रकाश के **अजनयन्**=अपने में प्रादुर्भूत करते हैं। उस ज्योति को, जो **देवम्**=उनके जीवन को द्योतित करनेवाली होती है तथा **जागृवि**=उन्हें सतत जागरणशील बनाती है—उन्हें लक्ष्य को भूलने नहीं देती। यह ज्योति उन्हें सदा सावधान रखती है और शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होने देती।

भावार्थ—हम परिमित बोलनेवाले व क्रियाशील बनकर प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमारे जीवन में ज्योति को जगाएगा और वासनान्धकार का विलय कर देगा।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ देवता—इन्द्रः छन्दः—पादनिचृत् पङ्क्तिः स्वरः—पञ्चमः

'अशस्तिहा-द्युम्नी' इन्द्र

अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहाथेन्द्रो द्युम्न्याभवत्। देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण॥ २॥

(१) **अशस्तिहा**=सब अप्रशस्त भावों का विनाश करनेवाला **इन्द्रः**=वह शत्रुसंहारक प्रभु **अभिशस्तीः**=शत्रुकृत हिंसनों को **अप अधमत्**=हमारे से सुदूर विनष्ट करता है और **अथ**=अब वह प्रभु **द्युम्नी आभवत्**=हमारे लिये सर्वतः ज्ञान की ज्योतियोंवाला होता है। इन ज्ञानज्योतियों से प्रभु हमारे जीवन को उज्ज्वल कर देते हैं। (२) हे **बृहद्भानो**=महान् दीप्तिवाले! **मरुद्गण**=मरुतों के-प्राणों के गणोंवाले, अर्थात् प्राणसमूह को प्राप्त करानेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **ते सख्याय**=आपकी मित्रता के लिये **येमिरे**=अपने जीवन को संयमवाला बनाते हैं। प्राणसाधना व स्वाध्याय द्वारा ज्ञानप्राप्ति ही संयम का साधन बनती हैं और हमें प्रभु की मित्रता का पात्र बनाती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें काम-क्रोध आदि शत्रुओं के हिंसन से बचाते हैं और ज्ञान-ज्योति से हमारे जीवन को दीप्त करते हैं। हमें चाहिए कि प्राणापान व स्वाध्याय द्वारा संयत जीवनवाले बनकर प्रभु की मित्रता के पात्र बनें।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ देवता—इन्द्रः छन्दः—निचृद् बृहती स्वरः—मध्यमः

'वृत्रहा-शतक्रतु' इन्द्र

प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत। वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा॥ ३॥

(१) हे **मरुतः**=मितरावी क्रियाशील स्तोताओ! आप **नः**=तुम्हारे सच्चे सखा उस **बृहते**=महान् **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **ब्रह्म**=ज्ञानपूर्वक की गयी स्तुतिवाणियों का **प्र अर्चत**=प्रकर्षेण उच्चारण करो। इन ज्ञानवाणियों द्वारा प्रभु का खूब ही अर्चन करो-पूजन करो। (२) वह **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाला **शतक्रतुः**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाला प्रभु **शतपर्वणा**=शतसंख्याक धाराओंवाले **वज्रेण**=ज्ञानवज्र के द्वारा (वज:=गति=ज्ञान) **वृत्रं हनति**=वृत्र

का विनाश करते हैं। ज्ञानी के नित्य वैरी कामरूप शत्रु का विध्वंस करके प्रभु हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं।

भावार्थ—हम उस महान् इन्द्र का स्तवन करें। प्रभु ज्ञानवज्र द्वारा हमारे वासनारूप शत्रु को-वृत्र को विनष्ट करेंगे।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'हनो वृत्रं-जया स्वः'

अभि प्र भर धृषता धृषन्मनः श्रवश्चित्ते असद् बृहत्।
अर्षन्त्वापो जवसा वि मातरो हनो वृत्रं जया स्वः॥ ४॥

(१) हे **धृषन्मनः**=शत्रुओं के धर्षणशील मनवाले इन्द्र! **ते**=आपका **बृहत्**=महान् **श्रवः**=ज्ञान **चित्**=निश्चय से **असत्**=है। आप **धृषता**=शत्रुओं के धर्षक मन के साथ उस ज्ञान को **अभि प्रभर**=हमारे लिये सर्वतः भरिये। (२) इस ज्ञान के द्वारा वासना का विनाश होकर **वि-मातरः**=विशिष्टरूप से हमारा निर्माण करनेवाले अतएव मातृभूत **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण (आप=रेतो भूत्वा०) **जवसा**=वेग के साथ **अर्षन्तु**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में गतिवाले हों। इन रेतःकणों का शरीर में ही व्यापन हो। इसी उद्देश्य से, हे प्रभो! आप **वृत्रम्**=हमारे वासनारूप शत्रु को **हनः**=विनष्ट करिये तथा **स्वः जया**=हमारे लिये प्रकाश व सुख का विजय करिये।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रुधर्षक ज्ञानबल को प्राप्त कराएँ। वासनाविनाश के द्वारा शक्तिकणों का शरीर में ही संयम हो और हमारा जीवन प्रकाश व सुख से सम्पन्न हो।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

पृथिवी प्रथन व द्युलोक स्तम्भन

यज्जायथा अपूर्व्य मघवन्वृत्रहत्याय। तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उत द्याम्॥ ५॥

(१) हे **अपूर्व्य**=सबसे पूर्व विद्यमान-स्वतो व्यतिरिक्त पूर्व्य से रहित **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब **जायथाः**=आपका हमारे हृदयों में प्रादुर्भाव होता है, तो **वृत्रहत्याय**=यह प्रादुर्भाव वासना के विनाश के लिये कारण बनता है। आपका प्रादुर्भाव होते ही ज्ञान के प्रकाश में वासनान्धकार का विलय हो जाता है। (२) **तत्**=तब आप **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी का **अप्रथयः**=विस्तार करते हैं। **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अस्तभ्नाः**=थामते हैं। आपका प्रादुर्भाव वासना को विनष्ट करके शरीर की शक्तियों का विस्तार करता है और ज्ञान ज्योति को दीप्त करता है।

भावार्थ—हृदयों में प्रभु का प्रादुर्भाव होते ही वासना का दहन हो जाता है इससे शरीर में रेतःकणों का रक्षण होकर शक्तियों का विस्तार होता है और ज्ञान का दीपन होता है।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञ+अर्क=वासनाविनाश

तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः। तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम्॥ ६॥

(१) हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार हृदयों में आपके प्रादुर्भाव होने पर **तत्**=तब **ते**=आपका **यज्ञः**=पूजन (यज्ञ=देवपूजा) **अजायत**=हमारे जीवनों में प्रादुर्भूत होता है। हम आपकी पूजा करनेवाले बनते हैं **उत**=और **तत्**=तब **हस्कृतिः**=हास-प्रकाश व हर्ष को करनेवाला **अर्कः**=आपका

स्तवन प्रादुर्भूत होता है। हम आपके स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। यह स्तवन हमारे अद्भुत हर्ष का साधन बनता है। (२) **तत्**=तब आप **यत् जातम्**=जो क्रोध आदि शत्रु हमारे यहाँ उत्पन्न हो चुके हैं-दृढ़मूल से बन गये हैं **यच्च**=और जो **जन्त्वम्**=पैदा होने की तैयारी में हैं-अंकुरित हो रहे हैं **तद् विश्वम्**=उन सब को आप **अभिभूः असि**=अभिभूत करनेवाले होते हैं।

भावार्थ-हृदयों में प्रभु का प्रादुर्भाव होते ही (१) जीवन यज्ञमय बन जाता है, (२) हम प्रभुस्तवन में हर्ष का अनुभव करने लगते हैं, (३) सब उत्पन्न हो चुकी व हो रही क्रोध आदि की वासनाओं को अभिभूत कर लेते हैं।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रभुस्तवन द्वारा ज्ञानवृद्धि

आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयो दिवि। घर्मं न सामन्तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत्॥ ७॥

(१) हे प्रभो! आप ही **आमासु**=हमारी अपरिपक्व बुद्धियों में **पक्वम्**=परिपक्व ज्ञान को **ऐरयः**=प्रेरित करते हैं और आप ही **दिवि**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यम्**=ज्ञान-सूर्य को **आरोहयः**=आरूढ़ करते हैं। (२) **घर्मं न**=(Sunshine) वे प्रभु सूर्यप्रकाश के समान दीप्त हैं (आदित्यवर्णम्)। **सामन्**=शान्ति के निमित्त उस प्रभु को **सुवृक्तिभिः**=सम्यक् दोषवर्जन हेतुभूत स्तुतियों से **तपता**=दीप्त करो। **गिर्वणसे**=स्तुतिवाणियों के द्वारा सेवनीय उस प्रभु के लिये **बृहत्**=यह बृहत् साम (स्तुति) **जुष्टम्**=प्रीतिकर होती है। स्तुति हमें प्रभु का प्रिय बनाती है।

भावार्थ-हम जितना प्रभु का स्तवन करते हैं, उतना ही प्रभु को प्रिय होते हैं। प्रभु हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का आरोहण करते हैं।

अगला सूक्त भी 'नृमेध पुरुमेधौ' ऋषियों का ही है—

[९०] नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

ब्रह्माणि सवनानि उप

आ नो विश्वासु हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः॥ १॥

(१) **इन्द्रः**=वह शत्रुसंहारक प्रभु **विश्वासु समत्सु**=सब संग्रामों में **हव्यः**=पुकारने योग्य होते हैं। वे प्रभु **नः**=हमें **आभूषतु**=अलंकृत करनेवाले हों। प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करके ही हम शत्रुओं का संहार कर पाते हैं। (२) वे प्रभु सदा **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक की गयी स्तुतिवाणियों के तथा **सवनानि**=यज्ञों के **उप**=समीप होते हैं। प्रभु वहीं होते हैं जहाँ कि स्तवन हो तथा यज्ञ हो। वे प्रभु **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करते हैं। **परमज्याः**=(परमान् जिनाति) अत्यन्त प्रबल शत्रुओं को भी समाप्त करनेवाले हैं। **ऋचीषमः**=(स्तुत्या समः) स्तुतियों से अभिमुखीकरणीय होते हैं। जितना हम प्रभु का स्तवन करते हैं, उतना ही प्रभु के समीप होते हैं।

भावार्थ-सब संग्रामों में प्रभु ही हमें विजयी बनाते हैं। वे ही हमारे जीवनों को अलंकृत करते हैं। ज्ञान व यज्ञ के द्वारा हम प्रभु को समीपता से प्राप्त होते हैं। प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

राधसां प्रथमः दाता

त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यासि सत्य ईशानकृत्।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः॥ २॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **राधसाम्**=ऐश्वर्यों के **प्रथमः दाता असि**=सर्वमुख्य दाता हैं। आप **सत्यः असि**=सत्यस्वरूप हैं। **ईशानकृत्**=स्तोताओं को ऐश्वर्यों का ईशान (स्वामी) बनानेवाले हैं। (२) **तुविद्युम्नस्य**=महान् ज्ञान ज्योतिवाले **शवसः पुत्रस्य**=बल के पुत्र-सर्वशक्तिमान् **महः**=महान् आपके **युज्या**=योग्य-संगतिकरण योग्य धनों को **आवृणीमहे**=हमें वरते हैं। हम प्रभु से देव धनों को ही प्राप्त करने की कामना करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वमुख्य ऐश्वर्यों के दाता हैं। उस महान् ज्ञानज्योतिवाले सर्वशक्तिमान् प्रभु के धनों का ही हम वरण करते हैं।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

स्तुति से प्रभुसान्निध्य

ब्रह्मा त इन्द्र गिर्वणः क्रियन्ते अनतिद्भुता।
इमा जुषस्व हर्यश्व योजनेन्द्र या ते अमन्महि॥ ३॥

(१) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा सेवनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपके **अनतिद्भुता**=(सर्वान् अतिक्रम्य न वर्तन्ते भवन्ति—इन्द्र गुणव्यापकानि यथार्थनूतानि) यथार्थ गुणानुरूप **ब्रह्मा**=स्तुतिवचन **क्रियन्ते**=हमारे से उच्चारण किये जाते हैं। हे **हर्यश्व**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **इमा जुषस्व**=इन स्तुतिवाक्यों को प्रीतिपूर्वक सेचन करिये। ये वाक्य आपके लिये प्रीतिकर हों। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **या**=जिन स्तुतिवाक्यों को **ते अमन्महि**=आपके लिये हम उच्चारित करते हैं, वे **योजना**=हमें आपके साथ मिलानेवाले हैं। इन स्तुतिवचनों से अपने जीवनों में प्रेरणा को प्राप्त करते हुए हम आप जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार हम आपके अधिकाधिक समीप होते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमें प्रभु का प्रिय बनाता है। इनसे जीवनों में प्रेरणा को प्राप्त होते हुए हम प्रभु के अधिकाधिक समीप आते चलते हैं।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'सत्यः अनानतः' प्रभु

त्वं हि सत्यो मघवन्ननानतो वृत्रा भूरि न्यृञ्जसे।
स त्वं शविष्ठ वज्रहस्त दाशुषेऽर्वाञ्चं रयिमा कृधि॥ ४॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं हि सत्यः**=आप ही सत्यस्वरूप हैं। **अनानतः**=किसी से भी पराभूत नहीं किये जाते। आप **वृत्रा**=वासनाओं को **भूरि**=खूब ही **न्यृञ्जसे**=(न्यङ्क रोषि) पराभूत करते हैं। (२) हे **शविष्ठ**=सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न **वज्रहस्त**=हाथ में वज्र लिये हुए प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिये-दानशील पुरुष के लिये **रयिं अर्वाञ्चं आकृधि**=धन को सर्वतः अभिमुख करिये। आप दानशील पुरुष को धन प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सत्यस्वरूप व किसी भी शत्रु से पराभूत न होनेवाले हैं। प्रभु हमारे लिये वासनाओं का विनाश करके ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'यशाः ऋजीषी' प्रभु

त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पते। त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इदनुत्ता चर्षणीधृता॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **यशाः असि**=यशस्वी हो। हे **शवसस्पते**=शक्ति के स्वामिन् प्रभो! आप **ऋजीषी**=उपासक के लिये ऋजुत्स की प्रेरणा देनेवाले हो। (२) **त्वम्**=आप **एकः इत्**=अकेले ही-बिना ही किसी की सहायता के **चर्षणीधृता**=मनुष्यों का धारण करनेवाले वज्र के द्वारा **वृत्राणि**=हमारे वासनारूप शत्रुओं को **हंसि**=नष्ट करते हो। उन शत्रुओं को जो **अनुत्ता**=सामान्यतः परे धकेले नहीं जा सकते और **अप्रतीनि**=जिनका सामना करना बड़ा कठिन है।

भावार्थ—प्रभु हमें यशस्वी जीवनवाला बनाते हैं, सरलता की प्रेरणा देते हैं और अतिप्रबल भी वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—नृमेधपुरुमेधौ॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु की शरण-शत्रुओं का महान् छेदन

तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं राधो भागमिवेमहे।
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नवन्॥ ६॥

(१) हे **असुर**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभो! **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **तं त्वा उ**=उन आपको ही **भागं इव**=जैसे पुत्र पिता से भजनीय (अपने भागरूप) धन को माँगता है, उसी प्रकार **नूनम्**=निश्चय से **राधः ईमहे**=कार्यसाधक धन की याचना करते हैं। आपने ही हमारे लिये इन धनों को प्राप्त कराना है। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **ते**=आपकी **शरणा**=शरणागति **मही कृत्तिः इव**=अतिमहान् शत्रुछेदन के समान है। आपकी शरण में आने पर हमारे सब शत्रुओं का छेदन हो जाता है। इसलिए हम तो यही चाहते हैं कि **ते सुम्ना**=आपके स्तोत्र **नः**=हमें **प्र अश्नवन्**=प्रकर्षेण व्याप्त करनेवाले हों। हम आपका स्तवन करते हुए आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर सब शत्रुओं का छेदन व विद्रावण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम प्रभु से कार्यसाधक धन की याचना करें। प्रभु की शरण हमारे शत्रुओं का छेदन करती है। सो हम सदा प्रभुस्तवन करते हुए प्रभु की शरण में रहने का प्रयत्न करें।

'काम, क्रोध व लोभ' रूप शत्रुओं को दूर करके यह 'आत्रेयी' (अविद्यमानाः त्रयो यस्याः) बनती है। शत्रुओं को दूर (अप) रोकने के कारण (अल) यह 'अपाला' कहलाती है। यही अगले सूक्त की ऋषिका है—

९१. [एकनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अपालात्रेयी॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

इन्द्राय-शक्राय

कन्या३ वारवायती सोममपि स्रुताविदत्।
अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवै त्वा शक्राय सुनवै त्वा॥ १॥

(१) 'वारयति इति' **वाः**=शत्रुओं का वारण करनेवाली यह **कन्या**=(कन दीप्तौ) दीप्त जीवनवाली बनती है। **अव आयती**=काम-क्रोध आदि से दूर गति करती हुई यह **स्त्रुता**=(स्रु गतौ) मार्ग पर चलने के द्वारा **सोमं अपि अविदत्**=सोम को भी प्राप्त करती है-अपने जीवन में सोम का रक्षण करनेवाली होती है। (२) **अस्तम्**=अपने इस शरीररूप गृह को **भरन्ती**=सोम के द्वारा भरती हुई-परिपुष्ट करती हुई **अब्रवीत्**=यह कहती है कि हे सोम! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **त्वा सुनवै**=मैं तुझे उत्पन्न करती हूँ। **शक्राय**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु की प्राप्ति के लिये **त्वा सुनवै**=मैं तुझे अपने में अभिषुत करती हूँ।

भावार्थ-हम शत्रुओं का वारण करते हुए सोम का रक्षण करें। यह सोमरक्षण प्रभुप्राप्ति का साधन बनेगा। यह हमें भी 'इन्द्र व शक्त' बनायेगा।

ऋषिः—अपालात्रेयी॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

जम्भसुत का पान

असौ य एषि वीरको गृहंगृहं विचाकशत्।
इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्॥ २॥

(१) हे प्रभो! **यः**=जो आप **वीरकः**=शत्रुओं को अतिशयेन कम्पित करके दूर करनेवाले हैं (वि+ईर) **असौ**=वे आप **एषि**=प्राप्त होते हैं और **गृहंगृहं विचाकशत्**=प्रत्येक गृह को दीप्त करनेवाले होते हैं। हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश होते ही सारा शरीरगृह चमक उठता है। (२) हे प्रभो! **इमम्**=इस **जम्भसुतम्**=जबड़ों के द्वारा उत्पन्न किये गये-जबड़ों से चबाकर खाये गये भोजन से उत्पन्न होनेवाले-सोम को **पिब**=शरीर में ही पीने का अनुग्रह करिये। यह सोम **धानावन्तम्**=शरीर के धारण करनेवाला है। **करम्भिणम्**=(क+रम्भ्) आनन्द के साथ आलिंगनवाला है-जीवन को आनन्दमय बनाता है। **अपूपवन्तम्**=(अपूप=Honey-comb) शहद के छत्तेवाला है, अर्थात् वाणी को शहद के समान मधुर बनानेवाला है। **उक्थिनम्**=स्तोत्रोंवाला है-यह सोम सुरक्षित होकर इस रक्षक पुरुष को प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ-प्रभु का प्रकाश होते ही यह शरीरगृह चमक उठता है। शरीर में सोमरक्षण होकर जीवन 'स्थिर शक्तिवाला, आनन्दमय, मधुर व प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला' बनता है।

ऋषिः—अपालात्रेयी॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

त्वा न अधीमसि चन (प्रभु को भूल ही जाते हैं)

आ चन त्वा चिकित्सामोऽधि चन त्वा नेमसि। शनैरिव शनकैरिवेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **त्वा**=आपको **चन**=(एव) ही **आचिकित्सामः**=जानने की कामना करते हैं। सामान्यतः इस संसार में विषयों में उलझकर **त्वा**=आपको **न अधि इमसि चन**=नहीं ही स्मरण करते हैं। विषयों का परदा पड़ते ही आप हमारे से ओझल हो जाते हैं। (२) हे **इन्दो**=सोम! तू **शनैः इव**=कुछ धीमे-धीमे यह **शनकैः इव**=धीरे-धीरे ही **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिये **परिस्रव**=हमारे में परिस्रुत हो। धीमे-धीमे यह सोम अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त होनेवाला हो। शान्तिपूर्वक अंगों में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम हमारे जीवनों को इस प्रकार प्रकाशमय बनाता है कि हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ-सामान्यतः विषयों में उलझा हुआ पुरुष प्रभु का स्मरण नहीं करता। हम प्रभु को जानने की कामना करें। इसी उद्देश्य से सोम को शरीर में सुरक्षित करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—अपालात्रेयी॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

विषयोन्मुख इन्द्रियों को विषयपराङ्मुख करना

कुविच्छकत्कुवित्करत्कुविन्नो वस्यसस्करत्। कुवित्पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण संगमामहै॥ ४॥

(१) वे प्रभु सोमरक्षण द्वारा **कुवित्**=खूब ही **शकत्**=हमें शक्तिशाली बनाते हैं। **कुवित्**=खूब ही **करत्**=(कृ विक्षेपे) शत्रुओं को विक्षिप्त करते हैं और इस प्रकार **नः**=हमें **कुवित्**=खूब ही **वस्यसः**=प्रशस्त वसुओंवाला करते हैं। (२) हम भी इन **पतिद्विषः**=उस पति प्रभु से प्रीति न करनेवाली (द्विष् अप्रीतौ) **कुवित् यतीः**=खूब ही इधर-उधर विषयों में भटकती हुई इन्द्रियों को **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के साथ **संगमामहै**=संगत करते हैं। इन्द्रियों को विषयव्यावृत्त कर प्रभु की ओर प्रेरित करना ही मानवजीवन की उत्कृष्ट साधना है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा शक्ति बढ़ती है, वासनाविनाश होता है और प्रशस्त वसुओं की प्राप्ति होती है। हम विषयोन्मुख इन्द्रियों को प्रभुप्रवण करने का यत्न करें।

ऋषिः—अपालात्रेयी॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

त्रिलोकी का उत्कर्ष

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय। शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥ ५॥

(१) हे प्रभो! **इमानि**=ये **त्रीणि**=तीन **विष्टपा**=लोक हैं। यह शरीर ही पृथिवीलोक है, हृदय अन्तरिक्षलोक है तथा मस्तिष्क ही द्युलोक है। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तानि विरोहय**=उन तीनों लोकों को विशिष्टरूप से उन्नत करिये। (२) **शिरः**=मेरा मस्तिष्क **ततस्य**=अत्यन्त विस्तृत ज्ञान का भण्डार हो। मेरी हृदयभूमि को आप **उर्वराम्**=खूब उर्वरा करिये-यह हृदयक्षेत्र नीरस न हो। यह क्षेत्र स्नेह की भावनाओं की उत्पत्ति के लिये उर्वर हो। **आत्**=अब **इदम्**=यह वीर्य **मे**=मेरे **उदरे**=उदर में **उप**=समीपता से रहे। शक्ति का मेरे अन्दर रक्षण करिये। मस्तिष्क ज्ञान का, हृदय स्नेह का शरीर वीर्य (शक्ति) का उत्पत्तिस्थल बने।

भावार्थ—प्रभु मेरी त्रिलोकी को उत्कृष्ट बनाएँ। मस्तिष्करूप द्युलोक विस्तृत ज्ञान के प्रकाश का आधार बने। हृदय प्रेम की भावनाओं का उर्वर क्षेत्र हो। शरीर शक्ति का आधार हो।

ऋषिः—अपालात्रेयी॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

रोमशा

असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं१ मम। अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि॥ ६॥

(१) हे प्रभो! **असौ च या**=और जो वह **नः उर्वरा**=हमारी उर्वरा हृदयस्थली है, गत मन्त्र के अनुसार जो प्रेम के भावों के लिये अतिशयेन उपजाऊ है, उसको **आत्**=अब **इमाम्**=इस **मम तन्वम्**=मेरे शरीर को **अथ उ**=और अब **यत्**=जो **ततस्य**=विस्तृत ज्ञान का निधान **शिरः**=सिर है। **सर्वाता**=उन सब को **रोमशा कृधि**=(रु शब्दे) प्रभु-स्तवन में निवासवाला बनाइये। (२) हमारा मस्तिष्क, हमारा हृदय, हमारा शरीर सभी प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—हम हृदय, शरीर व मस्तिष्क सभी से प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। हृदय प्रभु के प्रेम से, शरीर प्रभु की शक्ति से व मस्तिष्क प्रभु के ज्ञान से परिपूर्ण हो।

ऋषिः—अपालात्रेयी॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सूर्यत्वच् बनना

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो। अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्॥ ७॥

(१) **रथस्य**=शरीररूप रथ के **खे**=छिद्र में **अनसः**=(अन प्राणने) प्राणमय कोश के, इन्द्रियों के (प्राणाः वाव इन्द्रियाणि) **खे**=छिद्र में तथा **युगस्य**=आत्मा व इन्द्रियों के मिलानेवाले मन के (मन द्वारा आत्मा का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है) **खे**=छिद्र में, हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! **अपालाम्**=सब दोषों का सुदूर वारण करनेवाली को **त्रिः**=तीन बार (शरीर, इन्द्रियों व मन से) **पूत्वी**=पवित्र करके **सूर्यत्वचम्**=सूर्य के समान त्वचावाला **अकृणोः**=तूने कर दिया।

भावार्थ–प्रभु अपने उपासक को शरीर, इन्द्रियों व मन में निर्दोष बनाकर दीप्त जीवनवाला बना देते हैं। यह उपासक सूर्यसम तेजस्वी प्रतीत होने लगता है।

प्रभु द्वारा पवित्र किया गया यह उपासक ज्ञान को (श्रुत) अपना सुरक्षा स्थान (कक्ष) बनाता है, सो 'श्रुतकक्ष' नामवाला होता है। इस उत्तम (सु) रक्षा स्थानवाला (कक्ष) यह 'सुकक्ष' बनता है। यह सब अंगों में रसवाला 'आंगिरस' तो है ही। यह सब साथियों से इन्द्र के गायन के लिये कहता है–

९२. [द्विनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

विश्वासाह-शतक्रतु प्रभु का गायन

पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत। विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम्॥ १॥

(१) हे मित्रो! **वः**=तुम्हारे **अन्धसः**=सोम का, वीर्यशक्ति का **आपान्तम्**=सर्वतः रक्षण करनेवाले **इन्द्रम्**=उस शत्रु-विद्रावक प्रभु का **अभि प्रगायत**=दिन के दोनों ओर प्रातः-सायं गायन करो। प्रभु-स्तवन से ही प्रत्येक दिन को प्रारम्भ करो और प्रभु-स्तवन ही प्रत्येक दिन का अन्तिम कार्य हो। (२) उन प्रभु का गायन करो जो **विश्वासाहम्**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। **शतक्रतुम्**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले हैं। तथा **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **मंहिष्ठम्**=सर्वोत्तम दाता हैं, इनके लिये सब ऐश्वर्यों के प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ–प्रभु उपासक के सब शत्रुओं का पराभव करते हैं। उसके लिये शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त कराके सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। हम प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का गायन करें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्र

पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यं१ सनश्रुतम्। इन्द्र इति ब्रवीतन॥ २॥

(१) **पुरुहूतम्**=(पुरु हूतं यस्य) पालन व पूरण करनेवाली है पुकार जिसकी-जिसकी आराधना से शरीर नीरोग बनता है और मन पवित्र होता है, **पुरुष्टुतम्**=जो खूब ही स्तुत होता है, सम्पूर्ण वेद जिसका स्तवन कर रहा है **गाथान्यम्**=जो गायन के योग्य हैं और **सनश्रुतम्**=सदा से (सनातन काल से) प्रसिद्ध हैं, पुराण पुरुष हैं। उन प्रभु को **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं (इदि परमैश्वर्ये, सर्वाणि बल कर्माणि इन्द्रस्य, इनः सन् शत्रून् द्रावयति) **इति**=इस प्रकार **ब्रवीतन**=व्यक्त रूप से गाओ। 'इन्द्र' नाम से प्रभु का गायन करो।

भावार्थ–उस सनातन प्रभु को हम 'इन्द्र' नाम से स्मरण करें। इन्द्र ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—पादनिचृद् गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

महानां वाजानां दाता

इन्द्र इन्नो महानां दाता वाजानां नृतुः। महाँ अभिज्ञ्वा यमत्॥ ३॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे लिये **इत्**=निश्चय से **महानाम्**=(मघानां) सब ऐश्वर्यों के **दाता**=देनेवाले हैं। वे प्रभु ही **वाजानाम्**=सब शक्तियों के व गतियों के देनेवाले हैं। इन ऐश्वर्यों व शक्तियों को देकर प्रभु ही **नृतुः**=हमें आगे ले चलनेवाले अथवा इस सम्पूर्ण नृत्य के करानेवाले हैं। यह संसार अभिनय-स्थली है, प्रभु ही सब अभिनय करानेवाले सूत्रधार हैं। जीव ही अभिनेता (Actors) हैं। (२) वे **महान्**=पूजनीय प्रभु **अभिशु**=(अभिगत जानुकं यथा स्यात् तथा) घुटने टिकवाकर **आयमत्**=हमें नियम में रखते हैं। हमें वे विनीत व संयमी बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये ऐश्वर्यों व शक्तियों को प्राप्त कराते हैं। वे ही इस संसाररूप अभिनय-स्थली के सूत्रधार होते हुए हमें नृत्य कराते हैं, अपने शासन से वे हमें विनीत व संयमी बनाते हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—निचृद् गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

सुदक्षस्य-प्रहोषिणः

अपादु शिप्र्यन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः। इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः॥ ४॥

(१) वे **शिप्री**=उत्तम हनु व नासिकाओं को प्राप्त करानेवाले प्रभु खूब चबाकर भोजन करने व प्राणायाम श्रमसाधनों से **अन्धसः**=शरीर-रथ सोम का **उ**=निश्चय से **अपाद्**=रक्षण करते हैं। इस सोम का जो **सुदक्षस्य**=हमें उत्तम बल को देता है तथा **प्रहोषिणः**=हमें त्याग की वृत्तिवाला बनाता है (हु दाने)। (२) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **इन्दोः**=इस सोम के द्वारा **यवाशिरः**=(यु अभिश्रणे, शृ हिंसायाम्) सब मलों का हमारे से अभिश्रण करनेवाले व सब वासनाओं का संहार करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम उत्तम सात्त्विक भोजन को चबाकर खायें तथा प्राणायाम में प्रवृत्त हों। इस प्रकार सोमरक्षण द्वारा जीवन को नीरोग व पवित्र बनानेवाले हों। यह सोम हमें उत्तम बलवाला व त्याग की वृत्तिवाला बनायेगा।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—आर्चीस्वराड् गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

पूजन-सोमकण-दिव्यता का वर्धन

तम्वभि प्रार्चतेन्द्रं सोमस्य पीतये। तदिद्ध्यस्य वर्धनम्॥ ५॥

(१) **तं इन्द्रं उ**=उस शत्रु-विद्रायक प्रभु को ही **अभि प्रार्चत**=आभिमुख्येन पूजित करनेवाले बनो। प्रातः-सायं प्रभु को ही पूजन करो। यह पूजन ही **सोमस्य पीतये**=सोम के रक्षण के लिये होगा। इसी प्रकार सोम का रक्षण होगा। (२) **तत् इत् हि**=वह पूजन द्वारा सोम का रक्षण ही **अस्य वर्धनम्**=उपासक के जीवन में प्रभु का वर्धन करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्रभु-पूजन करते हुए सोमरक्षण द्वारा अपने जीवन में प्रभु का वर्धन करनेवाले बनें, जीवन को अधिकाधिक दिव्य बना पायें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्क देवता—इन्द्रःङ्क छन्दः—विराड् गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

निरक्षण द्वारा विजय

अस्य पीत्वा मदानां देवो देवस्यौजसा। विश्वाभि भुवना भुवत्॥ ६॥

(१) **अस्य**=इस सोम का **पीत्वा**=पान करके **मदानाम्**=हर्षों व उल्लासों का **देवः**=अपने में क्रीडन करनेवाला होता है। सोमी पुरुष के जीवन में उल्लासों की क्रीडा होती है। (२) यह सोमी पुरुष **देवस्य ओजसा**=उस महादेव प्रभु के ओज (बल) से **विश्वा भुवना अभिभुवत्**=सब भुवनों को अभिभूत करनेवाला, सब पर विजय पानेवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से जीवन उल्लासमय बनता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर यह सोमी पुरुष सब भुवनों का विजय करता है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सत्रासाहं (प्रभुं) आच्यावयसि

त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम्। आ च्यावयस्यूतये॥ ७॥

(१) **त्वम्**=उस प्रभु को **उ**=ही **ऊतये**=अपने रक्षण के लिये **आच्यावयसि**=(आगमय) प्राप्त कर अपने हृदय मन्दिर में प्राप्त करा। (२) वे प्रभु ही **वः**=तुम्हारे **सत्रासाहम्**=सदा शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं और वे प्रभु ही **विश्वासु गीर्षु आयतम्**=सब वेद वाणियों में विस्तृत हैं, सब वाणियाँ प्रभु का ही वर्णन कर रही हैं।

भावार्थ—प्रभु को ही हम प्राप्त करने का प्रयत्न करें वे ही हमारे शत्रुओं का पराभव करनेवाले व सब वेदवाणियों के प्रतिपाद्य विषय हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

युध्मं (प्रभुम्) आच्यावयसि

युध्मं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम्। नरमवार्यक्रतुम्॥ ८॥

(१) उस प्रभु को प्राप्त करो जो **युध्मम्**=तुम्हारे शत्रुओं के साथ युद्ध करनेवाले हैं। **सन्तम्**=जो सदा विद्यमान हैं, सत्यस्वरूप हैं। **अनर्वाणम्**=हिंसित न होने देनेवाले हैं। **सोमपाम्**=सोम का रक्षण करनेवाले हैं। **अनपच्युतम्**=शत्रुओं द्वारा पराभूत न होनेवाले हैं। (२) वे प्रभु ही **नरम्**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हैं व **अवार्यक्रतुम्**=अनिवारणीय शक्ति व प्रज्ञानवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु को प्राप्त करके ही हम युद्ध में शत्रुओं का पराभव कर पाते हैं। यह प्रभु-स्मरण ही हमारे सोमरक्षण का साधन बनता है और हमें उन्नतिपथ पर ले चलता है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

पार्यधन

शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वाँ ऋचीषम। अवा नः पार्ये धने॥ ९॥

(१) हे **ऋचीषम**=(ऋच्, ईष् गतौ) स्तुति के द्वारा गन्तव्य प्रभो! **नः**=हमें **रायः**=धनों को **आशिक्ष**=दीजिये। हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! आप **पुरु**=खूब ही **विद्वान्**=ज्ञानवान् हैं। हमारे लिये आवश्यक धनों को आप प्राप्त कराते ही हैं। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमें **पार्ये धने**=जीवन यात्रा के पूर्ण करने के लिये आवश्यक धन से **अवा**=रक्षित करिये। आवश्यक धन प्राप्त कराके आप हमारा रक्षण करिये।

भावार्थ—प्रभु स्तुति के द्वारा सान्निध्य के योग्य हैं। वे हमें जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक धन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इषा (शतवाजया, सहस्त्रवाजया)

अतश्चिदिन्द्र ण उपा याहि शतवाजया। इषा सहस्त्रवाजया॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **अतः चित्**=इसलिए ही, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार 'पार्य धन' को प्राप्त कराने के लिये ही **नः**=हमें **इषा**=प्रेरणा के साथ **उप आयाहि**=समीपता से प्राप्त होइये। आपकी प्रेरणा ही हमें उत्तम श्रमों में संलग्न करके इस 'पार्य धन' को प्राप्त करानेवाली होगी। (२) यह प्रेरणा **शतवाजया**=सैकड़ों शक्तियोंवाली है। सैकड़ों ही क्या **सहस्त्रवाजया**=सहस्त्रों शक्तियोंवाली है। अथवा शतवर्ष पर्यन्त सहस्त्रों शक्तियों को देनेवाली है।

भावार्थ—प्रभु हमें उस प्रेरणा के साथ प्राप्त हों, जो हमें शतवर्ष पर्यन्त सहस्त्रों शक्तियों को प्राप्त करानेवाली हो।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शक्र, गोदरे, वज्रिवः

अयाम धीवतो धियोऽर्वद्भिः शक्र गोदरे। जयेम पृत्सु वज्रिवः॥ ११॥

(१) हे **शक्र**=शक्ति-सम्पन्न **गोदरे**=ज्ञान की वाणियों के मर्मों को खोलनेवाले प्रभो! हम आपका स्तवन करते हुए **धीवतः**=प्रशस्त बुद्धि व कर्मोंवाले पुरुष के **धियः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों को **अयाम**=प्राप्त हों। (२) हे **वज्रिवः**=वज्रहस्त अथवा गतिशील प्रभो! हम **अर्वद्भिः**=आप से दिये गये इन इन्द्रियाश्वों के द्वारा **पृत्सु**=संग्रामों में **जयेम**=विजयी हों। हम ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्ति में तथा कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि उत्तम कर्मों में उत्पन्न हुए-हुए वासनाओं को सदा जीतनेवाले बनें।

भावार्थ—उपासित प्रभु हमें शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं, हमारे लिये ज्ञान की वाणियों के मर्मों को बींधते हैं, हमें क्रियाशील बनाते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए हम सदा वासना-संग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तुति व प्रभु प्रियता

वयमु त्वा शतक्रतो गावो न यवसेष्वा। उक्थेषु रणयामसि॥ १२॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **त्वा**=आपको **उक्थेषु**=स्तोत्रों में **आरणयामसि**=रमणवाला करते हैं। इस प्रकार **न**=जैसे **यवसेषु गावः**=घासों में गौओं को। (२) हम इस प्रकार हृदय से आपके स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं कि आप उन स्तोत्रों में प्रीतिवाले होते हैं। इन स्तोत्रों के द्वारा हम आपके प्रिय बनते हैं।

भावार्थ—हम स्तोत्रों के द्वारा प्रभु की प्रीति का सम्पादन करते हुए प्रभु से शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मनुष्योचित कामनाएँ

विश्वा हि मर्त्यत्वनानुकामा शतक्रतो। अगन्म वज्रिन्नाशसः॥ १३॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **विश्वा हि**=सब ही **मर्त्यत्वना**=

(मर्त्यत्वानि) मनुष्य **अनुकामा**=(कामान् अनुगतानि) कामनाओं से युक्त हैं। मनुष्य का बिलकुल निष्काम होना सम्भव नहीं। (२) सो हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! गतिशील प्रभो! हम **आशसः**=आशंसनों को उन्नति के लिये साधनभूत पदार्थों की कामनाओं को **अगन्म**=प्राप्त हों।

भावार्थ—हम पत्थर की तरह जड़ न हों। उन्नति के लिये साधनभूत पदार्थों की कामनाओंवाले हों। उनकी पूर्ति के लिये गतिशील हों।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

कामकातयः

त्वे सु पुत्र शवसोऽवृत्रन्कामकातयः। न त्वामिन्द्राति रिच्यते॥ १४॥

(१) हे **शवसः पुत्र**=बल के पुत्र, शक्ति के पुतले, सर्वशक्तिमन् प्रभो! **कामकातयः**=(कामपराः कातयः शब्दाः येषां) नाना कामनाओं की प्रार्थना करनेवाले ये उपासक **त्वे सु अवृजन्**=आप में स्थित होते हुए उत्तम वृत्तिवाले होते हैं। आपका स्मरण करते हुए ये शुभ मार्ग से ही अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिये यत्नशील होते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वां न अतिरिच्यते**=आप से कोई भी अधिक नहीं है। सो आपको छोड़कर और किस की आराधना करना।

भावार्थ—प्रभु से ही हम सब काम्य पदार्थों की याचना करते हैं। प्रभु ही हमारी कामनाओं को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'सनिष्ठा, घोरा' धी

स नो वृषन्त्सनिष्ठया सं घोरया द्रवित्न्वा। धियाविड्ढि पुरन्ध्या॥ १५॥

(१) हे **वृषन्**=सब सुखों व काम्य पदार्थों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **धिया**=बुद्धि के द्वारा **अविड्ढि**=रक्षित करिये। बुद्धि ही 'मे-धा' है, मेरा धारण करनेवाली है। (२) उस बुद्धि के द्वारा जो **सनिष्ठया**=(स-निष्ठया) प्रभु में पूर्ण निष्ठा व आस्थावाली है, अथवा (सन् संभक्तौ) सब उत्तम पदार्थों का सम्भजन करानेवाली है। **सं घोरया**=सम्यक् घोर है, शत्रुओं के लिये भयङ्कर है। **द्रवित्न्वा**=शत्रुओं को दूर भगानेवाली है तथा **पुरन्ध्या**=खूब पालन व पूरण करनेवाली है, बहुतों का धारण करनेवाली है।

भावार्थ—प्रभु हमें वह बुद्धि दें जो निष्ठावाली व सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाली है। जो बुद्धि शत्रुओं के लिये भयङ्कर व शत्रुओं को दूर भगानेवाली है। वह बुद्धि प्रभु हमें दें जो बहुतों का धारण करनेवाली है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'द्युम्नितमः' मदः

यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः। तेन नूनं मदे मदेः॥ १६॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपका दिया हुआ **मदः**=हर्ष का उत्पादक यह सोम है, वह **नूनम्**=निश्चय से **द्युम्नितमः**=हमारे जीवनों को खूब ही ज्योतिर्मय बनानेवाला है। (२) **तेन**=उस उल्लास जनक सोम से **नूनम्**=निश्चय ही **मदे**=उल्लास के होने पर आप **मदेः**=हमें आनन्दित करनेवाले हों।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को ज्योतिर्मय व उल्लासयुक्त करता है। इससे जीवन

आनन्दमय बनता है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'चित्रश्रवस्तम, वृत्रहन्तम, ओजोदातम' मद

यस्ते चित्रश्रवस्तमो य इन्द्र वृत्रहन्तमः। य ओजोदातमो मदः॥ १७॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! हमें उस मद को, हर्षजनक सोम को प्राप्त कराइये **यः**=जो **ते**=आपका **मदः**=उल्लासजनक सोम **चित्रश्रवस्तमः**=अद्भुत ज्ञान को सर्वाधिक प्राप्त करानेवाला है। **यः**=जो सोम **वृत्रहन्तमः**=वासना को अधिक से अधिक नष्ट करनेवाला है। और **यः**=जो **ओजोदातमः**=अत्यधिक ओज को देनेवाला है।

भावार्थ–प्रभु से प्राप्त कराया गया यह उल्लासजनक सोम (क) अद्भुत ज्ञान को देनेवाला है, (ख) वासना को विनष्ट करनेवाला है और (ग) हमें खूब ही ओजस्वी बनानेवाला है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अद्रिवः-सत्य-सोमपाः-दस्म

विद्मा हि यस्ते अद्रिवस्त्वादत्तः सत्य सोमपाः। विश्वासु दस्म कृष्टिषु॥ १८॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय, **सत्य**=सत्यस्वरूप, **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले, **दस्म**=शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **यः**=जो **विश्वासु**=सब **कृष्टिषु**=श्रमशील मनुष्यों में **त्यादत्तः**=आप से दिया गया धन है, उसे हम भी **ते**=आप से **विद्मा हि**=प्राप्त करें ही। (२) प्रभु श्रमशील मनुष्यों को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। हम भी श्रमशील बनकर प्रभु से दिये जानेवाले इस ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

भावार्थ–हम प्रभु का उपासन (आदर) करें। वे सत्यस्वरूप प्रभु हमारे सोम का रक्षण करते हुए हमारे सब शत्रुओं का उपक्षय करें। श्रमशील बनकर हम प्रभु से दिये जानेवाले धन के पात्र बनें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम का स्वाध्याय व स्तवन द्वारा शरीर में स्तोभन (रोकना)

इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः। अर्कमर्चन्तु कारवः॥ १९॥

(१) उस **मद्वने**=(मद्+वन्) हर्ष का सम्भजन करनेवाले, आनन्दस्वरूप **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **नः गिरः**=हमारी ज्ञान की वाणियाँ **सुतं परिष्टोभन्तु**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को शरीर में ही चारों ओर रोकनेवाली हों। (स्तोभते=stop) शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर ही प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) **कारवः**=क्रियाओं को कुशलता से करने के द्वारा प्रभु का अर्चन करनेवाले स्तोता **अर्कम्**=उस उपासनीय प्रभु का **अर्चन्तु**=पूजन करें। कर्त्तव्य कर्मों को करके उन्हें प्रभु के लिये अर्पित करना ही प्रभु का अर्चन है।

भावार्थ–उस आनन्दमय प्रभु की प्राप्ति के लिये सोम का रक्षण आवश्यक है। सोमरक्षण के लिये स्वाध्याय व प्रभु-स्तवन साधन बनते हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'श्री का आधार' विष्णु

यस्मिन्विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः। इन्द्रं सुते हवामहे॥ २०॥

(१) **यस्मिन्**=जिन प्रभु में **विश्वाः श्रियः**=सब लक्ष्मियाँ **अधि**=आधिक्येन निवास करती हैं। जिस प्रभु के विषय में **सप्त**=सातों **संसदः**=होता 'कर्णाविमौनासिके चक्षणी मुखम्' **रणन्ति**=स्तवन करते हैं। उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को, सब इन्द्रियों को शक्ति देनेवाले प्रभु को **सुते**=इस सोम के सम्पादन व रक्षण के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु ने ही वासना विनाश द्वारा इस सोम का रक्षण करना है।

भावार्थ–प्रभु ही सब श्रियों के आधार हैं। प्रभु ने ही कर्ण आदि इन्द्रियों को श्री-सम्पन्न बनाना है। इस श्री-सम्पन्नता के लिये प्रभु ही सोम का सम्पादन व रक्षण करते हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ज्योतिः, गौर, आयुः (त्रिकद्रुक)

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत। तमिद्वर्धन्तु नो गिरः॥ २१॥

(१) **त्रिकद्रुकेषु**='ज्योतिः गौः आयुः'= 'हमें ज्योति प्राप्त कराओ, हमारे लिये उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराइये (गौ) तथा हमें दीर्घजीवी बनाइये' इस प्रकार तीनों आह्वानों के होने पर (कदि आह्वाने) **चेतनम्**=चेतना को, ज्ञान को देनेवाले **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अत्नत**=अपने में विस्तृत करते हैं। (२) **नः गिरः**=हमारी ये वाणियाँ भी **तं इत्**=उस प्रभु का ही **वर्धन्तु**=वर्धन करें। हम वाणियों से प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु हमारे ज्ञान को बढ़ायेंगे, हमें उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त करायेंगे और इस प्रकार हमें प्रशस्त दीर्घ जीवनवाला करेंगे।

भावार्थ–प्रभु का ही देववृत्ति के पुरुष पुकारते हैं। प्रभु-स्तवन करते हुए वे ज्ञान के प्रकाश को, उत्तम इन्द्रियों को व दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु में प्रवेश

आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः। न त्वामिन्द्राति रिच्यते॥ २२॥

(१) 'इन्दु' शब्द सोम का वाचक है। सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष भी यहाँ 'इन्दु' कहे गये हैं। ये **इन्दवः**=सोम का अपने में रक्षण करनेवाले पुरुष **त्वा आविशन्तु**=हे प्रभो! आप में प्रवेश करनेवाले हों। इस प्रकार वे आप में प्रवेश कर जायें **इव**=जैसे **सिन्धवः**=नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं और समुद्र ही हो जाती हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! वस्तुतः **त्वा न अतिरिच्यते**=कोई भी वस्तु आप से अतिरिक्त नहीं है। सभी को आपने अपने गर्भ में धारण किया हुआ है। सोमरक्षक पुरुष अपने को आप में अनुभव करता है।

भावार्थ–हम सोमरक्षण करते हुए प्रभु में प्रवेश करनेवाले बनें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु के उदर को सोम से भरना

विव्यक्थ महिना वृषन्भक्षं सोमस्य जागृवे। य इन्द्र जठरेषु ते॥ २३॥

(१) हे **वृषन्**=सुखों का वर्षण करनेवाले **जागृवे**=सदा जागरणशील प्रभो! आप ही **महिना**=अपनी महिमा से **सोमस्य भक्षम्**=सोम के भक्षण को **विव्यक्थ**=व्याप्त करते हैं। अर्थात् आपके अनुग्रह से ही सोम का शरीर में व्यापन होता है। (२) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! उस सोम का आप व्यापन करते हो **यः**=जो **ते जठरेषु**=आपके उदरों में हैं। हम अपने इन उदरों को जब आपका उदर बना देते हैं, अर्थात् इसे आपका ही जानकर पवित्र रखने

का प्रयत्न करते हैं, तो सोम इसमें सुरक्षित रहता है।

भावार्थ—प्रभु सदा जागरणशील (अप्रमत्त) व हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। वे प्रभु हमारे अन्दर सोम का रक्षण करते हैं। हम इन उदरों को प्रभु का उदर बना के पवित्र भोजनों को करते हुए सोम का रक्षण कर पायें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

धामभ्यः अरम्

अरं त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन्। अरं धामभ्य इन्दवः॥ २४॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **सोमः**=यह सोम **ते कुक्षये**=आप से दी गई इस कुक्षि के लिये **अरं भवतुम्**=भूषित करनेवाला हो। यह सोम कुक्षि में ही सुरक्षित रहकर उसे भूषित करे। (२) हे प्रभो! ये **इन्दवः**=सोमकण **धामभ्यः**=सब तेजों के लिये **अरम्**=पर्याप्त हों। इनके रक्षण से तेजस्विता का लाभ हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शरीर को अलंकृत करे। सब तेजों को यह प्राप्त करानेवाला हो।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अश्व-गौ-इन्द्रधाम

अरमश्वाय गायति श्रुतकक्षो अरं गवे। अरमिन्द्रस्य धाम्ने॥ २५॥

(१) **श्रुतकक्षः**=ज्ञान को ही अपना रक्षा-स्थान बनानेवाला (कक्ष hiding place) यह उपासक **अश्वाय**=उत्तम कर्मेन्द्रियों की प्राप्ति के लिये **अरं गायति**=खूब ही प्रभु का गायन करता है। यह **गवे**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की प्राप्ति के लिये **अरम्**=खूब ही गायन करता है। (२) इसी प्रकार **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **धाम्ने**=तेज के लिये **अरम्**=खूब ही गायन करता है।

भावार्थ—हम 'श्रुतकक्ष' बनें। स्वाध्याय द्वारा व्यर्थ के व्यसनों से बचकर उत्तम कर्मेन्द्रियों उत्तम ज्ञानेन्द्रियों में प्रभु के तेज को पाने के लिये खूब ही प्रभु का गायन करें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोमरक्षण और सद्गुण धारण

अरं हि ष्मा सुतेषु णः सोमेष्विन्द्र भूषसि। अरं ते शक्र दावने॥ २६॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **सु सोमेषु सुतेषु**=सोमों का सम्पादन होने पर **नः**=हमें **हिष्मा**=निश्चय से **अरं भूषसि**=खूब ही गुणों से सुभूषित करते हैं। (२) हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! ये **ते**=आपके सोमकण **दावने**=दानशील पुरुष के लिये **अरम्**=पर्याप्त हों। दानशील पुरुष भोग-विलास से ऊपर उठकर इन सोमकणों का रक्षण करनेवाला बने। सुरक्षित सोमकण उसे सद्गुणों से सुभूषित करें।

भावार्थ—हम दानशील बनकर भोगवृत्ति से ऊपर उठकर, सोमकणों के रक्षण के द्वारा सद्गुणों का धारण करें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-स्तवन व प्रभु प्राप्ति

पराकात्ताच्चिदद्रिवस्त्वां नक्षन्त नो गिरः। अरं गमाम ते वयम्॥ २७॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! **पराकातात् चित्**=अत्यन्त सुदूर देश से भी **नः गिरः**=हमारी स्तुति-वाणियाँ **त्वां नक्षन्त**=आपको प्राप्त होती हैं। हम चाहे आप से कितनी भी दूर हैं, अभी आपके दर्शन के पात्र चाहे नहीं भी बन पाये हैं, तो भी आपकी सत्ता में निष्ठा रखते हुए हम आपका स्तवन करते हैं। (२) हे प्रभो! इस प्रकार आपका स्तवन करते हुए **वयम्**=हम **ते**=आपके प्रति **अरं गमाम**=खूब ही गतिवाले हों। आपके समीप और समीप प्राप्त होनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु से दूर होते हुए भी हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु को समीपता से प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्क **देवता**—इन्द्रःङ्क **छन्दः**—विराड् गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

वीर-शूर-स्थिर

एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः। एवा ते राध्यं मनः॥ २८॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **वीरयुः**=वीरों को प्राप्त होने की कामनावाले **असि एव**=हैं ही। वीरों को आप प्राप्त होते हैं। आप **एवा**=सचमुच **शूरः**=शूरवीर हैं **उत**=और **स्थिरः**=स्थिर हैं, शत्रुओं से विचलित किये जानेवाले नहीं हैं। (२) **एवा**=सचमुच **ते**=आपके द्वारा ही **मनः राध्यम्**=मन वश में करने योग्य है। आपकी उपासना से ही एक उपासक अपने मन को वश में कर पाता है। उपासक भी उपास्य प्रभु के समान 'वीर, शूर व स्थिर' बनता है और मन को वश में करता है।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु के समान ही 'वीर, शूर व स्थिर' बनें। ऐसा बनकर हम मन को भी वश में कर पायेंगे।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्क **देवता**—इन्द्रःङ्क **छन्दः**—गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

दान की वृत्ति व प्रभु मित्रता

एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः। अधा चिदिन्द्र मे सचा॥ २९॥

(१) हे **तुवीमघ**=महान् ऐश्वर्यवाले प्रभो! **विश्वेभिः**=सब **धातृभिः**=धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त उपासकों से **एवा**=सचमुच **रातिः**=दान की वृत्ति **धायि**=धारण की जाती है। इस वृत्ति के बिना धारणात्मक कर्मों का सम्भव भी तो नहीं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अधा**=अब **चित्**=निश्चय से आप **मे सचा**=मेरे साथ होते हैं। दान की वृत्ति ही मुझे आपका प्रिय बनाती है।

भावार्थ—हम दान की वृत्ति को अपनाकर धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। यह वृत्ति ही मुझे प्रभु की मित्रता को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वाङ्क **देवता**—इन्द्रःङ्क **छन्दः**—निचृद् गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

मा तन्द्रयुः (अनालस्य)

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते। मत्स्वा सुतस्य गोमतः॥ ३०॥

(१) जीव को प्रभु कहते हैं कि हे **वाजानां पते**=शक्तियों के रक्षक जीव! तू गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की मित्रता में दान की वृत्तिवाला बनकर धारणात्मक कर्मों को करता हुआ, **ब्रह्म इव**=प्रभु जैसा बनकर **तन्द्रयुः**=आलस्य को अपने साथ जोड़नेवाला **मा उ**=मत ही **सुभव**=सम्यक् हो। कभी आलसी न बनकर सदा सत्कर्मों में प्रवृत्त रह। (२) तू **सुतस्य**=शरीर में उत्पन्न किये गये इस **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियों व इन्द्रियोंवाले सोम का रक्षण करता हुआ **मत्स्वा**=आनन्द का अनुभव कर। सुरक्षित सोम तेरे ज्ञान को बढ़ाये। यह तेरी इन्द्रियों को सशक्त बनाये और तू

जीवन में आनन्द व उल्लास का अनुभव करे।

भावार्थ—हम शक्तियों के स्वामी बनकर प्रभु जैसा बनते हुए कभी आलसी न हों। उत्पन्न सोम के रक्षण के द्वारा इन्द्रियों को प्रशस्त बनाकर आनन्दयुक्त जीवनवाले हों।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

त्वा युजा वनेम तत्

मा न इन्द्राभ्याऽऽ दिशः सूरो अक्तुष्वा यमन्। त्वा युजा वनेम तत्॥ ३१॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-संहारक प्रभो! **नः**=हमें **अभ्यादिशः**=सब ओर से आयुधों को अतिशयेन विसृष्ट करते हुए, सब ओर से आक्रमण करते हुए **सूरः**=(सर्वत्र सरणशीलाः) सर्वत्र सरणशील ये आसुरभाव **अक्तुषु**=अज्ञानान्धकार की रात्रियों में **मा आयमन्**=मत बाँधनेवाले हों। हम अज्ञानवश कामादि शत्रुओं के शिकार न हो जायें। (२) **त्वा युजा**=आप को साथी के रूप में पाकर, आप के सहाय से **सूरोतत्**=उस आसुर वृत्ति समूह को **वनेम**=पराजित करनेवाले हों।

भावार्थ—हम अज्ञानवश वासनाओं से बद्ध न हो जायें। प्रभु को मित्र बनाकर इन वासनाओं का विनाश कर सकें।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

आप हमारे, हम आपके

त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः। त्वमस्माकं तव स्मसि॥ ३२॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभो! **त्वया युजा**=आप साथी के साथ **वयम्**=हम **स्पृधः**=स्पर्श करनेवाले शत्रुओं को, काम-क्रोध-लोभ आदि को **इत्**=निश्चय से **प्रति ब्रुवीमहि**= निराकृत कर उसे इनकी ललकार का ठीक उत्तर दे सकें। (२) हे प्रभो! **त्वं अस्माकम्**=आप हमारे हों। **तव स्मसि**=हम आपके हों। हम आप से मिलकर ही तो शत्रुओं को जीत पायेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के साथ मिलकर शत्रुओं को पराजित कर सकें। प्रभु हमारे हों, हम प्रभु के हों। यह ऐक्य ही तो शत्रु-विद्रावक होगा।

ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु-परिचर्या

त्वामिद्धि त्वायवोऽनुनोनुवतश्चरान्। सखाय इन्द्र कारवः॥ ३३॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **त्वायवः**=आपकी प्राप्ति की कामनावाले **अनुनोनुवतः**= प्रतिदिन अनुक्रमेण आपका स्तवन करते हुए **सखायः**=आपके मित्रभूत ये **कारवः**=कुशलतापूर्वक कर्मों के करने के द्वारा आपका स्तवन करनेवाले स्तोता लोग **त्वां इत् हि**=आपका ही निश्चय से **चरान्**=परिचरण (उपासन) करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति की कामनावाले हों, प्रतिदिन प्रभु-स्तवन करें। कुशलतापूर्वक कर्मों को करते हुए प्रभु के सखा बनें। इन कर्मों द्वारा प्रभु की अर्चना करें।

यह सतत प्रभु के उपासन करता हुआ प्रभु रूप उत्तम (सु) रक्षण स्थान (कक्ष) को प्राप्त करनेवाला 'सुकक्ष' अगले सूक्त का ऋषि है। यह अंग अंग में रसवाला यह 'आंगिरस' इन्द्र का स्तवन करता है—

९३. [त्रिनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

श्रुतामघ-अस्ता

उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम्। अस्तारमेषि सूर्य॥ १॥

(१) हे **सूर्य**=आदित्यवर्ण, सहस्र सूर्यसम तेजस्विन् प्रभो! आप **घा इत्**=निश्चय से **अभि उदेषि**=उस व्यक्ति के सम्मुख उदित होते हो, उसको प्राप्त होते हो, जो **श्रुतामघम्**=ज्ञानरूप ऐश्वर्यवाला होता है। (२) आप उस व्यक्ति को प्राप्त होते हो जो ज्ञानैश्वर्य होकर **वृषभम्**=शक्तिशाली बनता है। (३) आप उसे प्राप्त होते हो जो ज्ञानैश्वर्यवाला व शक्तिशाली बनकर **नर्यापसम्**=नरहितकारी कर्मों में प्रवृत्त होता है और इस प्रकार जो **अस्तारम्**=सब वासनाओं को अपने से सुदूर फेंकनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु उसे प्राप्त होते हैं जो ज्ञानैश्वर्यवाला, शक्तिशाली, लोकहित के कर्मों को करनेवाला व वासनाओं को परे फेंकनेवाला बनता है।

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

नवनवति पुरियों का भेदन

नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा। अहिं च वृत्रहावधीत्॥ २॥

(१) प्रभु वे हैं **यः**=जो **बाह्वोजसा**=बाहुओं के पराक्रम से **नवनवतिम्**=निन्यानवे **पुरः**=असुरों की पुरियों को, अनेकों आसुरभावों को **बिभेद**=विदीर्ण कर देते हैं। (२) **च**=और **वृत्रहा**=वासनाओं को नष्ट करनेवाले वे प्रभु **अहिम्**=इस आहन्ता कामरूप शत्रु का **अवधीत्**=वध कर डालते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही असुरों की पुरियों का विध्वंस करते हैं। वे ही विनाशक वासनाओं का विलय करते हैं।

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अश्वावत् गोमत् यवमत्

स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद्यवमत्। उरुधारेव दोहते॥ ३॥

(१) **सः**=वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारा **शिवः सखा**=कल्याणकारी मित्र है। (२) ये प्रभु हमारे लिये **अश्वावत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाले, **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले व **यवमत्**=बुराइयों को पृथक् करके अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाले ऐश्वर्य का इस प्रकार **दोहते**=प्रपूरण करते हैं, **इव**=जैसे **उरुधारा**=विशाल दुग्ध की धाराओंवाली गौ वत्स के लिये दूध का दोहन करती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे शिव मित्र हैं। वे हमारे लिये उस ऐश्वर्य को देते हैं, जो हमारी इन्द्रियों को उत्तम बनाता है और हमें सब बुराइयों से पृथक् करके अच्छाइयों से मिलाता है।

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्र, वृत्रहन्, सूर्य

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥ ४॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले व **सूर्य**=सूर्य की तरह निरन्तर क्रियाशील जीव! **यद्**=जब **अद्य कत् च**=आज या जब भी कभी तू **उत्**=प्रकृति

से ऊपर उठकर **अभि अगाः**=मेरी ओर आता है तो **तत् सर्वम्**=वह सब, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते वशे**=तेरी इच्छा पर ही निर्भर करता है। तू दृढ़ संकल्प करेगा, वासनाओं को विनष्ट कर ज्ञानरस से दीप्त जीवनवाला बनेगा तो अवश्य मेरी ओर (प्रभु की ओर) आनेवाला होगा। (२) प्रभु की ओर आने पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **तत् सर्वम्**=वह सब **ते वशे**=तेरे वश में होगा। प्रभु को प्राप्त कर लेने पर सब जगत् के पदार्थ तो प्राप्त हो ही जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति का दृढ़ संकल्प करें। यह संकल्प हमें वासना विनाश में प्रवृत्त करेगा और तब हमारे जीवन में वासनाओं के मेघों का विलय होकर ज्ञानसूर्य का उदय होगा।

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अपने अमरत्व को पहचानना

यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे। उतो तत्सत्यमित्तव॥ ५॥

(१) प्रभु जीव से कह रहे हैं कि—हे **प्रवृद्ध**=ज्ञान के दृष्टिकोण से वृद्धि को प्राप्त हुए-हुए **सत्पते**=उत्तम कर्मों के रक्षक जीव! **यद्वा**=जब निश्चय से '**न मरा**'='मैं मरता नहीं, मैं अमर हूँ' **इति मन्यसे**=इस प्रकार तू मानता है तो **उत उ**=निश्चय से **तव**=तेरा **तत्**=वह अपने को अमर जानना **सत्यं इत्**=सत्य ही है। (२) अपने अमरत्व को पहचानने पर ही तू वास्तविक सत्य को पानेवाला होता है।

भावार्थ—हम अपने अमरत्व को पहचानकर शरीर आदि में 'मैं' की बुद्धि से ऊपर उठें। यही ज्ञान हमें प्राकृतिक भोगों की तुच्छता को स्पष्ट करता हुआ उनके बन्धन में पड़ने से बचायेगा।

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सोमासः परावति

ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे। सर्वांस्ताँ इन्द्र गच्छसि॥ ६॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार अपने अमरत्व को पहचानने पर तथा विषयों की तुच्छता को समझने पर **ये**=जो **सोमासः**=सोमकण **परावति**=उस सुदूर मस्तिष्करूप द्युलोक के निमित्त **सुन्विरे**=उत्पन्न किये गये हैं, अथवा **ये**=जो **अर्वावति**=समीपस्थ इस शरीररूप पृथिवीलोक के निमित्त उत्पन्न किये गये हैं, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **तान् सर्वान्**=उन सब सोमकणों को **गच्छसि**=प्राप्त होता है। (२) अपने अमरत्व को समझकर, विषयों से ऊपर उठने पर ही सोमकणों का रक्षण होता है। इनके रक्षण से ही मस्तिष्करूप द्युलोक दीप्त तथा शरीररूप पृथिवीलोक दृढ़ बनता है।

भावार्थ—हम अपने को अमर जानें। विषयों की तुच्छता को पहचानें। सोमकणों का रक्षण करते हुए मस्तिष्क को दीप्त बनायें तथा शरीर को दृढ़ करें।

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वृषा वृषभः भुवत्

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत्॥ ७॥

(१) **तं इन्द्रम्**=उस शत्रु-विद्रावक सर्वशक्तिमान् प्रभु को **वाजयामसि**=हम अपने अन्दर गतिवाला करते हैं। अर्थात् सदा उसे अपने अन्दर अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने पर वे प्रभु **महे**=उस महान्, अति प्रबल **वृत्राय हन्तवे**=वृत्र के विनाश के लिये होते हैं। प्रभु हमारी वासना को विनष्ट करते हैं। (२) वासना को विनष्ट करके **सः**=वे **वृषा**=हमारे पर सुखों के सेवन करनेवाले प्रभु **वृषभः**=हमारे लिये साधनभूत धनों का वर्षण करनेवाले **भुवत्**=होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें। प्रभु हमारी वासना को विनष्ट करेंगे और हमें आवश्यक धन आदि साधनों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

'इन्द्र' का लक्षण

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः। द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ ८ ॥

(१) **इन्द्रः सः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव वह है जो **दामने कृतः**=इन्द्रियों के संयम (दाम=बन्धन) के लिये किया गया है। **ओजिष्ठः**=ओजस्वितम है। इन्द्रियों का संयम ही तो उसे ओजस्वी बनाता है। **सः**=वह इन्द्र **मदे**=सोमपान जनित उल्लास के होने पर शक्ति का रक्षण होने पर **हितः**=सब का हित करनेवाला होता है। (२) **द्युम्नी**=यह ज्ञान की ज्योतिवाला होता है। **श्लोकी**=यशस्वी जीवनवाला होता है। हितकर कर्मों में प्रवृत्त हुआ-हुआ यह सदा यश को प्राप्त होता है। परन्तु यशस्वी होता हुआ **स सोम्यः**=वह अत्यन्त विनीत व शान्त होता है।

भावार्थ—इन्द्र वह है जो-(क) इन्द्रियों के संयम के द्वारा 'ओजिष्ठ' बनता है, (ख) सोमरक्षण जनित उल्लास में सदा हितकर कर्मों में प्रवृत्त होता है, (ग) ज्ञान-ज्योति को ही अपना ऐश्वर्य बनाता है, (घ) यशस्वी जीवनवाला होता है, (ङ) अतिशयेन विनीत होता है।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

गिरा संभृतः वज्रो न

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः। ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ ९ ॥

(१) **गिरा**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति-वाणियों के द्वारा **सम्भृतः**=सम्यक् धारण किया गया यह प्रभु **वज्रः न**=उपासक के लिये वज्र के समान होता है। उपासक इस प्रभुरूप वज्र के द्वारा ही काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करनेवाला होता है। वे प्रभु **सबलः**=सदा शक्ति के साथ वर्तमान हैं और **अपच्युतः**=कभी भी शत्रुओं द्वारा स्थानभ्रष्ट नहीं किये जाते। (२) ये **ऋष्वः**=महान् **अस्तृतः**=अहिंसित प्रभु **ववक्षे**=स्तोताओं के लिये धन आदि साधनों को प्राप्त कराने की कामनावाले होते हैं। इन साधनों को प्राप्त करके साधक उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—स्तुति के द्वारा सम्भृत प्रभु स्तोता के हाथ में वज्र के समान होते हैं। वे सबल प्रभु शत्रुओं से च्युत नहीं किये जा सकते। ये महान् अहिंसित प्रभु ही स्तोता के लिये सब साधनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—सुकक्षः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री ॥ **स्वरः**—षड्जः ॥

दुर्गे चित् सुगम्

दुर्गे चिन्नः सुगं कृधि गृणान इन्द्र गिर्वणः। त्वं च मघवन्वशः ॥ १० ॥

(१) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा सम्भजनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **नः**=हमारे लिये **दुर्गे चित्**=दुर्गम मार्गों में भी **सुगं कृधि**=सुगमता से जाने का सम्भव करिये। हम धर्म के दुर्गम मार्गों में सुगमता से चल सकें। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **वशः**=हमारे लिये सब ऐश्वर्यों के देने की कामना करिये।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम धर्म के मार्गों पर आसानी से चल सकें। प्रभु के प्रिय होते हुए प्रभु से सब आवश्यक ऐश्वर्यों को प्राप्त करें।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु के आदेश का पालन व स्वराज्य

यस्य॑ ते॒ नू चि॑दा॒दिशं॒ न मि॒नन्ति॑ स्व॒राज्य॑म्। न दे॒वो नाध्रि॑गु॒र्जनः॑॥ ११॥

(१) हे प्रभो! **यस्य ते**=जिन आपके **आदिशम्**=आदेश को, आज्ञा को **नु चित्**=निश्चय से **न मिनन्ति**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाते। वस्तुतः आपकी आज्ञा को हिंसित न करते हुए वे **स्वराज्यम्**=आत्मशासन को नष्ट नहीं करते। (२) **न देवः**=न तो देव **न**=नहीं **आध्रिगुः जनः**=अधृत गमन मनुष्य विषय-वासनाओं से जिनकी गति रोकी नहीं जाती वे मनुष्य, आपके शासन को तोड़ते हैं। ये देव व अध्रिगुजन सदा स्वराज्य का उपभोग करते हैं।

भावार्थ—हम देव व विषयों से न रोकी हुई गतिवाले बनकर प्रभु के शासन में चलें, तथा सदा स्वराज्य का उपभोग करें। विषयों व किन्हीं दूसरों के पराधीन न हो जायें।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अप्रतिष्कुत शुष्म

अधा॑ ते॒ अप्र॑तिष्कुतं दे॒वी शुष्मं॑ सपर्यतः। उ॒भे सु॑शिप्र॒ रोद॑सी॥ १२॥

(१) हे **सुशिप्र**=शोभन हनु व नासिकावाले, हमारे लिये उत्तम जबड़ों व नासिका को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **अधा**=अब **ते**=आपके **अप्रतिष्कुतम्**=किन्हीं भी शत्रुओं से आक्रान्त न होने योग्य **शुष्मम्**=बल को **उभे**=दोनों **देवी**=दिव्य गुण-सम्पन्न प्रकाशमय **रोदसी**=द्यावापृथिवी **सपर्यतः**=पूजित करते हैं। ये दोनों द्यावापृथिवी आपके अधीन होते हैं। (२) प्रभु ने हमें जबड़े भोजन को चबाने के लिये तथा नासिका छिद्र प्राणसाधना के लिये दिये हैं। खूब चबाया गया भोजन यदि पृथिवीरूप शरीर को दृढ़ करता है तो प्राणसाधना मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करती है। इस प्रकार द्यावापृथिवी में प्रभु के बल का प्रकाश होता है। तब शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होता और मस्तिष्क दुर्विचारों से अभिभूत नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु ने जबड़े दिये हैं। इनके द्वारा खूब चबाकर खाया गया भोजन शरीर को दृढ़ बनाता है। प्रभु ने नासिका छिद्र प्राणसाधना के लिये दिये हैं, यह प्राणसाधना मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाती है। अब न रोग, न दुर्विचार हमारे पर आक्रमण करते हैं।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

काली व लाल सब गौओं में सफेद दूध

त्वमे॒तद॑धारयः कृ॒ष्णासु॒ रोहि॑णीषु च। परु॑ष्णीषु॒ रुश॒त्पयः॑॥ १३॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **कृष्णासु**=कृष्ण वर्णवाली **च**=व **रोहिणीषु**=रोहित वर्णवाली **पुरुष्णीषु**=पालन व पूरण करनेवाली गौओं में **एतत्**=इस **रुशत्**=देदीप्यमान-चमकते हुए **पयः**=दुग्ध को **अधारयः**=धारण करते हैं। (२) गौओं का रंग भिन्न-भिन्न है। परन्तु उनके अन्दर दूध का वर्ण अलग-अलग नहीं। इसी प्रकार प्रभु सब भिन्न-भिन्न वर्णवाली त्वचाओंवाले मनुष्यों के लिये देदीप्यमान् ज्ञानदुग्ध को धारण करते हैं।

भावार्थ—यह भी प्रभु के अद्भुत कार्यों में से एक कार्य है कि सब भिन्न-भिन्न वर्णवाली गौओं में दूध का वर्ण एक ही है।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मृग के अम की प्राप्ति

वि यद्हेरध त्विषो विश्वे देवासो अक्रमुः। विदन्मृगस्य ताँ अमः॥ १४॥

(१) **विश्वे देवासः**=सब देववृत्ति के पुरुष **यद्**=जब **अहेः**=आहनन करनेवाले इस वृत्रासुर की, वासना की **त्विषः**=दीप्तियों को **वि अक्रमुः**=विशेषरूप से आक्रान्त करते हैं, **अध**=तो अब **तान्**=उन देवों को **मृगस्य**=उस अन्वेषणीय प्रभु का **अमः**=बल **विदत्**=प्राप्त होता है। (२) वासना को जीतकर ही हम अपने अन्दर प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले बनते हैं। वासना ज्ञान पर परदे के रूप में पड़ी रहती है, इसी से यह 'वृत्र' कहलाती है। इसका नाश हुआ और प्रभु का प्रकाश हुआ।

भावार्थ—देव लोग वासना की दीप्ति को आक्रान्त करके प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनते हैं।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

निवरः (प्रभु)

आदु मे निवरो भुवद् वृत्रहादिष्ट पौंस्यम्। अजातशत्रुरस्तृतः॥ १५॥

(१) **आद् उ**=अब शीघ्र ही निश्चय से प्रभु **मे**=मेरे लिये **निवरः**=शत्रुओं का निवारण करनेवाले **भुवत्**=होते हैं। और हे **वृत्रहा**=वासनारूप शत्रु का नाश करनेवाले प्रभु **पौंस्यम्**=बल को **अदिष्ट**=मेरे लिये देते हैं। (२) ये प्रभु **अजातशत्रुः**=अजातशत्रु हैं। प्रभु का कोई भी शासन करनेवाला नहीं हो सकता। **अस्तृतः**=प्रभु किसी से हिंसित नहीं होते। प्रभु का उपासक भी अजातशत्रु व अहिंसित बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं का निवारण करते हैं और वासना विनाश द्वारा हमारे में बल का स्थापन करते हैं। वे कभी किसी से हिंसित नहीं किये जा सकते।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आशुषे, राधसे महे

श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम्। आ शुषे राधसे महे॥ १६॥

(१) **आ शुषे**=समन्तात् शत्रुओं के शोषण के लिये (शुष से भाव में क्विप्) तथा **महे राधसे**=जीवन की महान् सफलता के लिये उस प्रभु का **प्र**=खूब ही स्तवन करो जो **श्रुतम्**=सब वेदवाणियों में सुने जाते हैं। **वः वृत्रहन्तमम्**=तुम्हारी वासनाओं का खूब ही विनाश करनेवाले हैं तथा **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **शर्धम्**=बलभूत हैं। (२) जब हम प्रभु का स्मरण करेंगे, तो वे हमारी वासनाओं का विनाश करके हमें शक्ति प्रदान करेंगे। यह शक्ति ही हमें शत्रुओं के शोषण के लिये समर्थ करेगी और जीवन में महान् साफल्य को देगी।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण हमें वासना-विनाश द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनाता है। हम शत्रुओं का शोषण करते हुए जीवन में सफलता को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

गव्या धी

अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुष्टुत। यत्सोमेसोम आभवः॥ १७॥

(१) हे **पुरुणामन्**=अनन्त स्तोत्रोंवाले, **पुरुष्टुत**=खूब ही स्तुति किये गये प्रभो! **यत्**=जब **सोमे सोमे**=सोमकणों के रक्षित होने पर आप **आभवः**=(भू प्राप्तौ) हमें प्राप्त होते हैं, तो **च**=निश्चय से **अया**=इस **गव्यया**=ज्ञान की वाणियों की कामनावाली **धिया**=बुद्धि से हमें प्राप्त होते हैं। आप हमारे लिये उस बुद्धि को प्राप्त कराते हैं, जो ज्ञान की वाणियों की कामनावाली होती है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोत्रों का गायन करें। यह गायन हमें ज्ञान की वाणियों की रुचिवाली बुद्धि को प्राप्त करायेगा।

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

'बोधिन्मना' प्रभु

बोधिन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः। शृणोतु शक्र आशिषम्॥ १८॥

(१) वह **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे लिये **इत्**=निश्चय से **बोधिन्मनाः**=ज्ञानयुक्त मन को देनेवाला हो। प्रभु हमें सदा प्रबुद्ध मन को प्राप्त करायें। वे प्रभु हमारे लिये **भूर्यासुतिः**=खूब ही सोम का सम्पादन करनेवाले हों। यह सोम ही तो मन आदि करणों (साधनों) की शक्ति का वर्धन करता है। (२) **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु हमारी **आशिषम्**=आशीः-इच्छा व प्रार्थना को **शृणोतु**=सुने। प्रभु हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करें।

भावार्थ—वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभु हमें प्रबुद्ध मन को प्राप्त करायें, हमारे लिये सोम का सम्पादन करें और हमारी कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हों।

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

कया उत्या

कया त्वं न ऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्य आ भर॥ १९॥

(१) हे **वृषन्**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **कया उत्या**=कल्याणकर रक्षण के द्वारा **अभि प्रमन्दसे**=आनन्दित करनेवाले होते हैं। आप से रक्षित हुए-हुए हम इह लोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस को (अभि) प्राप्त करनेवाले बनकर आनन्द लाभ कर पाते हैं। (२) हे प्रभो! आप इस **कया**=कल्याणकर (आनन्दमय) रक्षण के द्वारा **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **आभर**=समन्तात् भरण व पोषण के लिये होइये।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में हम इहलोक व परलोक की उन्नति करते हुए आनन्दित हों। प्रभु के रक्षण में हम ठीक से भरण व पोषण में समर्थ हों।

ऋषिः—सुकक्षः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

कस्य सचा

कस्य वृषा सुते सचा नियुत्वान्वृषभो रणत्। वृत्रहा सोमपीतये॥ २०॥

(१) (सच्=To honour, To assist) **कस्य**=उस आनन्दमय प्रभु के पूजन व सहाय से (सचा-सच्) **सुते**=शरीर में सोम का सम्पादन होने पर यह उपासक **वृषा**=अंग-प्रत्यंग में उस सोम का सेचन करनेवाला होता है। यह **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला, **वृषभः**=शक्तिशाली बनकर **रणत्**=प्रभु-स्तवन में रमण करता है। (२) इस प्रभु-पूजन से ही यह **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाला होता हुआ **सोमपीतये**=सोम के पान (रक्षण) के लिये समर्थ होता है।

भावार्थ—प्रभु-पूजन हमें वासनाओं को जीतने व सोमरक्षण में समर्थ करता है। सोमरक्षण

द्वारा शक्तिशाली व प्रशस्तेन्द्रिय बनकर यह और भी अधिक प्रभु-स्तवन में रमण करनेवाला होता है।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'दाश्वान् के पालक' प्रभु

अभी षु णस्त्वं रयिं मन्दसानः सहस्त्रिणम्। प्रयन्ता बोधि दाशुषे॥ २१॥

(१) हे प्रभो! **मन्दसानः**=गत मन्त्र के अनुसार उपासक के प्रति प्रीतिवाले होते हुए **त्वम्**=आप **नः**=हम उपासकों के लिये **सु**=अच्छी प्रकार **सहस्त्रिणं रयिम्**=सहस्रों का भरण करनेवाले ऐश्वर्य को **अभि प्रयन्ता**=देनेवाले होइये। (२) हे प्रभो! **दाशुषे**=दाश्वान्, दानशील पुरुष के लिये **बोधि**=अवश्य ऐश्वर्य प्रदान का ध्यान करिये।

भावार्थ—हम प्रभु का ध्यान करें। प्रभु हमें अवश्य ऐश्वर्यों को प्राप्त करायेंगे। हम दानशील बनेंगे, प्रभु अवश्य हमारा पालन करेंगे।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अपां जग्मिः-निचुम्पुणः

पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये। अपां जग्मिर्निचुम्पुणः॥ २२॥

(१) **पत्नीवन्तः**=प्रशस्त पत्नियोंवाले, अर्थात् अपनी पत्नी के साथ सदा उत्तम कार्यों को करनेवाले **सुताः**=(सुतं अस्य अस्ति इति) सोम का सम्पादन करनेवाले **इमे**=ये साधक **उशन्तः**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाले होते हुए **वीतये यन्ति**=(To shine) प्रकाश के लिये गतिवाले होते हैं। इनका जीवन अधिकाधिक प्रकाशमय होता जाता है। (२) यह उपासक **अपां जग्मिः**=सदा कर्मों के प्रति जानेवाला, अर्थात् क्रियाशील होता है और **निचुम्पुणः**=(नितरां चमनेन प्रीणति) सोम के भक्षण अन्दर ही व्यापन के द्वारा अपना प्रीणन करनेवाला होता है। सोमरक्षण द्वारा अपने में प्रीति का अनुभव करता है।

भावार्थ—गृहस्थ में प्रशस्त पत्नीवाले होते हुए हम सोमरक्षण द्वारा प्रभु प्राप्ति की कामनावाले बनें। सदा क्रियाशील होते हुए सोमरक्षण द्वारा जीवन में प्रीति का अनुभव करें।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अवभृथ की ओर

इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधासो अध्वरे। अच्छावभृथमोजसा॥ २३॥

(१) इस जीवन में 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सात ऋषि (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) प्रभु द्वारा **इष्टाः**=यज्ञों के करनेवाले **होत्राः**=सात होता **असृक्षत**=उत्पन्न किये गये हैं। ये सात ऋषि ही यज्ञों को करनेवाले सात होता हैं (येन यज्ञस्तायते सप्त होता)। इसलिए सद्गृहस्थ सदा यज्ञशील बनते हैं और **अध्वरे**=यज्ञों में **इन्द्रं वृधासः**=उस प्रभु का वर्धन करनेवाले होते हैं। इन यज्ञों के द्वारा ही तो प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) ये सद्गृहस्थ **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अवभृथम्**=अच्छा यज्ञान्त-स्नान की ओर बढ़ते हैं। अर्थात् इनका जीवन यज्ञमय ही बना रहता है और ये सफलता के साथ इन यज्ञों के द्वारा उस प्रभु का पूजन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम सब इन्द्रियों से यज्ञों को करते हुए प्रभु का अपने में वर्धन करें। हमारा जीवन यज्ञमय बना रहे।

ऋषिः—सुकक्षःꣳ देवता—इन्द्रःꣳ छन्दः—विराड् गायत्रीꣳ स्वरः—षड्जःꣳ

हितं प्रयः अभि

इह त्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्या। वोळ्हामभि प्रयो हितम्॥ २४॥

(१) **इह**=इस जीवन में **त्या**=वे **सधमाद्या**=(सह माधन्तौ) मिलकर आनन्दित होते हुए **हिरण्यकेश्या**=हितरमणीय ज्ञान-रश्मियोंवाले **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **हितम्**=हितकर **प्रयः अभि**=(प्रयस्=sacrifice) यज्ञों की ओर **वोढाम्**=हमें ले चलें। (२) हमारे जीवन में ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ कर्म करनेवाली हैं। ये मिलकर चलती हुई हमें आनन्दित करनेवाली हों। सदा हित रमणीय ज्ञानवाली ये हों और यज्ञों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हितरमणीय ज्ञानरश्मियोंवाली हों और कर्मेन्द्रियाँ सदा हितकर यज्ञों में प्रवृत्त रहें। इस प्रकार मिलकर ये हमें आनन्दित करनेवाली हों।

ऋषिः—सुकक्षःꣳ देवता—इन्द्रःꣳ छन्दः—गायत्रीꣳ स्वरः—षड्जःꣳ

सोमरक्षण-प्रभु प्राप्ति-महत्त्व का अनुभव

तुभ्यं सोमाः सुता इमे स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो। स्तोतृभ्य इन्द्रमा वह॥ २५॥

(१) हे **विभावसो**=विशिष्ट दीप्तियों के निवास-स्थानभूत प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिये ही **इमे सोमाः सुताः**=ये सोमकण सम्पादित हुए हैं। शरीर में सोमकणों के रक्षण से ही उस महान् सोम (शान्त प्रभु) की प्राप्ति होती है। हे प्रभो! **बर्हिः स्तीर्णम्**=यह हृदयासन आप के बैठने के लिये बिछाया गया है। (२) हे प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिये **इन्द्रम्**=(इन्द्र=greatness) महत्त्व को, बड़प्पन को **आवह**=प्राप्त कराइये। आपका स्तवन करते हुए हम बड़े बनें और तुच्छ भोगों से ऊपर उठें।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम अपने हृदयासन पर प्रभु को बिठायें और अपने महत्त्व को समझते हुए तुच्छ भोगों से ऊपर उठें।

ऋषिः—सुकक्षःꣳ देवता—इन्द्रःꣳ छन्दः—गायत्रीꣳ स्वरः—षड्जःꣳ

दक्षं-रत्ना

आ ते दक्षं वि रोचना दधद्रत्ना वि दाशुषे। स्तोतृभ्य इन्द्रमर्चत॥ २६॥

(१) वह प्रभु ही **ते**=तेरे लिये **दक्षम्**=बल को **आ दधत्**=अंग-प्रत्यंग में धारण करता है। प्रभु ही **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिये तथा **स्तोतृभ्यः**=सब स्तवन करनेवालों के लिये **विरोचना**=विशिष्ट दीप्तिवाले **रत्ना**=रमणीय धनों को **विदधत्**=विशेषरूप से स्थापित करता है। (२) इसलिए हे स्तोताओ! तुम **इन्द्रं अर्चत**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का ही अर्चन करो। प्रभु की अर्चना ही तुम्हें बल व रत्नों को प्राप्त करायेगी।

भावार्थ—प्रभु की अर्चना करते हुए हम बल व रमणीय रत्नों (धनों) को प्राप्त करें। सदा दानशील बनें।

ऋषिः—सुकक्षःꣳ देवता—इन्द्रःꣳ छन्दः—निचृद् गायत्रीꣳ स्वरः—षड्जःꣳ

इन्द्रिय-उक्था

आ ते दधामीन्द्रियमुक्था विश्वा शतक्रतो। स्तोतृभ्य इन्द्र मृळय॥ २७॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! मैं **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **इन्द्रियं**

आदधामि=अपने में वीर्य व बल की स्थापना करता हूँ शक्ति का रक्षण न करनेवाले को आप प्राप्त नहीं होते। हे प्रभो! मैं **विश्वा उक्था**=सब स्तोत्रों को धारण करता हूँ। आपका स्तवन करता हुआ आपके अनुरूप बनने का प्रयत्न करता हूँ। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **मृडय**=सुख दीजिये।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये प्रभु स्तवन व शक्ति का धारण आवश्यक है। यही सुख प्राप्ति का भी मार्ग है।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इष् व ऊर्ज्

भ॒द्रम्भ॑द्रं न॒ आ भ॒रेष॒मूर्जं॑ शतक्रतो। यदि॑न्द्र मृ॒ळया॑सि नः॥ २८॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **भद्रं भद्रम्**=कल्याणकारक व सुखजनक **इषम्**=प्रेरणा को व **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **आभर**=प्राप्त कराइये। हमें अपनी कल्याणी प्रेरणा को प्राप्त कराइये तथा उस प्रेरणा को जीवन में अनूदित करने की शक्ति भी दीजिये। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यत्**=क्योंकि आप इस इष और ऊर्ज के द्वारा **नः**=हमें **मृडयासि**=सुखी करते हैं। प्रभु की उत्तम प्रेरणा व प्रेरणा को कार्यान्वित करने के लिये दी गई शक्ति हमें सुखी करती है।

भावार्थ—प्रभु से हम कल्याणी प्रेरणा व शक्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विश्वानि सुवितानि

स नो॒ विश्वा॒न्या भ॑र सुवि॒तानि॑ शतक्रतो। यदि॑न्द्र मृ॒ळया॑सि नः॥ २९॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिये **विश्वानि**=सब **सुवितानि**=सुष्ठु प्राप्तव्य अभ्युदयों को **आभर**=प्राप्त कराइये। सब दुरितों को दूर करके हमें सदाचरण जनित अभ्युदय को ही दीजिये। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यत्**=क्योंकि आप ही **नः**=हमें **मृडयासि**=सुखी करते हैं। आप ही सब सुख साधक अभ्युदयों के देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमारे लिये सब सुवितों को, सुष्ठु प्राप्तव्य अभ्युदयों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वृत्रहन्तम

त्वामिद् वृ॑त्रहन्तम सु॒ताव॑न्तो हवामहे। यदि॑न्द्र मृ॒ळया॑सि नः॥ ३०॥

(१) हे **वृत्रहन्तम**=वासनाओं को अधिक से अधिक विनष्ट करनेवाले प्रभो! **सुतावन्तः**=सोम का सम्यक् सवन करनेवाले, सोम को शरीर में सुरक्षित करनेवाले, हम **त्वां इत्**=आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना ही वासना विनाश के द्वारा हमें सोम के रक्षण के योग्य बनायेगी। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यत्**=क्योंकि **नः**=हमें **मृडयासि**=आप ही सुखी करते हैं। आपकी आराधना करते हुए हम पवित्र व शान्त जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना हमारे वासना शत्रुओं का विनाश करती है और हमें सोमरक्षण द्वारा सुखी करती है।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मदानां पति

उप॑ नो॒ हरि॑भिः सु॒तं या॒हि म॑दानां पते। उप॑ नो॒ हरि॑भिः सु॒तम्॥ ३१॥

(१) हे **मदानां पते**=आनन्द के जनक सोमकणों के रक्षक प्रभो! आप **नः**=हमें **हरिभिः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों के हेतु से **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न सोम को **उपयाहि**=(अन्तर्भावितण्यर्थ) समीपता से प्राप्त कराइये। इस सोम के रक्षण से ही सब इन्द्रियाँ सशक्त बनेंगी। (२) हे प्रभो! आप अवश्य ही **नः**=हमें **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के हेतु से **सुतम्**=इस उत्पन्न सोम को **उप**=समीपता से प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से सोम का रक्षण होकर हमारी सब इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शतक्रतु

द्वि॒ता यो वृ॑त्र॒हन्त॑मो वि॒द इन्द्रः॑ श॒तक्र॑तुः। उप॑ नो॒ हरि॑भिः सु॒तम्॥ ३२॥

(१) **द्विता**=(द्वौ तनोति) शक्ति व ज्ञान के विस्तार के द्वारा **यः**=जो **वृत्रहन्तमः**=वासनाओं का अधिक से अधिक विनाश करनेवाला है, वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला प्रभु **शतक्रतुः**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाला **विदे**=जाना जाता है। (२) यह प्रभु **नः**=हमें **हरिभिः**=इन्द्रियों के होने से **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न सोम को **उप**=समीपता से प्राप्त कराये। इस सुरक्षित सोम ने ही तो इन्द्रियों को शक्ति-सम्पन्न बनाना है।

भावार्थ—प्रभु शक्ति व ज्ञान के विस्तार के द्वारा हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं। वे हमें भी सोमरक्षण द्वारा अपने समान 'शतक्रतु' बनाते हैं।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोमानां पाता

त्वं हि वृ॑त्रहन्ने॒षां पा॒ता सोमा॑ना॒मसि॑। उप॑ नो॒ हरि॑भिः सु॒तम्॥ ३३॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **एषाम्**=इन **सोमानाम्**=सोमकणों के **पाता असि**=रक्षक हैं। वस्तुतः इनके रक्षण का सामर्थ्य हमारे में नहीं है। प्रभु ही वासनाओं के विनाश के द्वारा इन सोमकणों का रक्षण करते हैं। (२) हे प्रभो! **नः**=हमें **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों के हेतु से, इन्हें सबल बनाने के दृष्टिकोण से **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न सोम को **उप**=समीपता से प्राप्त कराइये।

भावार्थ—शरीर में सोमरक्षण का सामर्थ्य हमें प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही वस्तुतः इन सोमकणों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—सुकक्षः॥ देवता—इन्द्र ऋभवश्च॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'ऋभुक्षणं ऋभुं' रयिं

इन्द्र॑ इ॒षे द॑दातु न ऋभु॒क्षण॑मृ॒भुं र॒यिम्। वा॒जी द॑दातु वा॒जिन॑म्॥ ३४॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमें **इषे**=(इष्णाति To strike, To unite) रोग आदि शत्रुओं के विनाश के लिये **ऋभुक्षणम्**=महान् तथा **ऋभुम्**=(उरु भाति) ज्ञानदीप्ति से खूब चमकनेवाले **रयिम्**=ऐश्वर्य को **ददातु**=दें। हमें धन तो प्राप्त हो, पर हम उसका विनियोग भोग-

विलास की वृद्धि में न करके यज्ञादि कर्मों व ज्ञान की वृद्धि में करें। (२) **वाजी**=वे शक्तिशाली प्रभु हमें **वाजिनम्**=शक्ति **ददातु**=दें। धन का ठीक विनियोग करते हुए हम अपने यश, ज्ञान व बल का वर्धन करें।

भावार्थ—प्रभु हमें धन प्राप्त करायें। उस धन का यज्ञों में विनियोग करते हुए हम ज्ञान व बल का वर्धन करते हुए यशस्वी हों।

भोगविलास में न फँसनेवाला व्यक्ति 'बिन्दु' बनता है। शरीर में उत्पन्न सोम को (बिन्द् To form a part) शरीर का ही भाग बनाता है। सोम का शरीर में व्याप्त करनेवाला यह 'बिन्दु' पवित्र बलवाला 'पूत-दक्ष' होता है। यह 'बिन्दु पूतदक्ष' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

दशमोऽनुवाकः

९४. [चतुर्नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

गौः (वेदवाणी)

गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम्। युक्ता वह्नी रथानाम्॥ १॥

(१) यहाँ वेदवाणी 'गौ' शब्द से कही गयी है। यह सब पदार्थों का ज्ञान देती है (अर्थान् गमयति) यह **गौः**=वेदवाणी **मरुताम्**=(मितराविणां, महद् द्रवतां वा) कम बोलनेवाले, खूब गतिशील व्यक्तियों के **श्रवस्युः**=ज्ञान की कामनावाली होती है। इन मरुतों को यह खूब ज्ञानी बनाती है। यह **मघोनाम्**=यज्ञशील पुरुषों की **माता**=निर्मात्री है (मघ=मख)। यह **धयति**=शरीर में सोम का पान करती है। स्वाध्याय से वासनाओं का निराकरण होकर सोम का रक्षण होता ही है। **युक्ता**=जब इस वेदवाणी का हम अपने साथ योग करते हैं, तो युक्त हुई-हुई यह **रथानाम्**=इन शरीर रथों का **वह्निः**=लक्ष्य-स्थान की ओर वहन करनेवाली है। यह शरीर-रथों को उन्नतिपथ पर ले चलती हुई हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाती है।

भावार्थ—वेदमाता हमें मितरावी-खूब क्रियाशील व ज्ञानी बनाती है। यह हमें यज्ञशील बनाती हुई वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के योग्य बनाती है। यह हमें लक्ष्य-स्थान की ओर ले चलती है।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—विराड्गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वेदमाता की गोद में

यस्या देवा उपस्थे व्रता विश्वे धारयन्ते। सूर्यामासा दृशे कम्॥ २॥

(१) गत मन्त्र में वेदवाणी को माता कहा गया है। यह वह माता है **यस्याः**=जिसके **उपस्थे**=गोद में स्थित हुए-हुए **विश्वे देवाः**=सब देववृत्ति के पुरुष **व्रता धारयन्ते**=व्रतों का धारण करते हैं। वस्तुतः इस वेदवाणी का स्वाध्याय ही उन्हें देववृत्ति का व व्रतमय जीवनवाला बनाता है। (२) इस माता की गोद में स्थित होनेवाले ये देव **सूर्यामासा दृशे**=सूर्य व चन्द्रमा को देखने के लिये होते हैं। अर्थात् सूर्योदय के साथ ही ये अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं और सूर्यास्त ही इनकी कर्म-निवृत्ति का समय होता है। सूर्य व चन्द्र ही इनकी घड़ी होते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक जीवन को बिताते हुए ये **कम्**=सुखमय जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—वेदमाता की गोद में स्थित हुए-हुए हम व्रतमय जीवन बितायें, सूर्य-चन्द्रमा को ही अपनी घड़ी बनाकर नियमित जीवन बिताते हुए हम सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा देवता—मरुतः छन्दः— गायत्री स्वरः—षड्जः

तत् सु नो अर्यः

तत्सु नो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः। मरुतः सोमपीतये॥ ३॥

(१) **विश्वे**=सब **कावः**=कार्यों को कुशलता से करनेवाले स्तोता लोग **आ गृणन्ति**=सदा यही सर्वत्र कहते हैं कि **तत्**=वह ब्रह्म ही **नः**=हमारा **सु अर्यः**=उत्तम स्वामी है। प्रभु को ही अधिष्ठाता मानकर उसके निर्देशों के अनुसार ये अपना जीवन बिताते हैं। (२) ये **मरुतः**=मितरावी व खूब क्रियाशील पुरुष **सोमपीतये**=शरीर में सोम का पान करने के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को अपना स्वामी जानकर उसकी आराधना के लिये ही हम अपने कर्त्तव्यों को सम्यक् करें। परिमित बोलनेवाले खूब क्रियाशील बनकर सोम का शरीर में ही रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा देवता—मरुतः छन्दः—निचृद्गायत्री स्वरः—षड्जः

मरुतः स्वराजः अश्विना

अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः। उत स्वराजो अश्विना॥ ४॥

(१) **अयं सोमः**=यह सोम **सुतः अस्ति**=शरीर में सम्पादित हुआ है। **अस्य**=इसका **मरुतः**=परिमित बोलनेवाले खूब क्रियाशील लोग ही **पिबन्ति**=पान करते हैं। (२) **उत**=और **स्वराजः**=आत्मशासन करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान की साधना में प्रवृत्त पुरुष इस सोम का शरीर में रक्षण कर पाते हैं। सोमरक्षण से ही सब उन्नतियों का होना सम्भव होता है।

भावार्थ—शरीर में सोम का रक्षण 'मरुत्, स्वराट् व अश्विना' करते हैं। मितरावी खूब क्रियाशील पुरुष, आत्मशासन करनेवाले, प्राणसाधक पुरुष सोम का रक्षण कर पाते हैं।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वा देवता—मरुतः छन्दः—गायत्री स्वरः—षड्जः

मित्र अर्यमा वरुण

पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूतस्य वरुणः। त्रिषधस्थस्य जावतः॥ ५॥

(५) **मित्रः**=सब पापों से अपने को बचानेवाला स्नेहशील (प्रमीतेः चायते, मिद् स्नेहने), **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध-लोभ को वश में करनेवाला और **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाले पुरुष इस **पूतस्य**=वासना-विनाश के द्वारा पवित्र सोम का **तना**=शक्तियों के विस्तार के हेतु से **पिबन्ति**=पान करते हैं। सोमरक्षण के लिये 'मित्र, अर्यमा व वरुण' बनना चाहिये। सुरक्षित सोम शक्तियों के विस्तार का हेतु बनता है। (२) ये मित्र, वरुण व अर्यमा उस सोम का पान करते हैं जो **त्रिषधस्थस्य**=शरीर, मन व बुद्धि रूप तीनों स्थानों में समान रूप से स्थित होता है। शरीर को यह दृढ़ बनाता है, मन को प्रसन्न व मस्तिष्क को दीप्त बनाता है। इस प्रकार इस सोम की स्थिति इन तीनों स्थानों में है। यह सोम **जावतः**=विकासवाला है, सब शक्तियों के विकास का कारण बनता है।

भावार्थ—हम 'मित्र, वरुण व अर्यमा' बनकर सोम का रक्षण करते हैं। यह सोम हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों को समानरूप से उन्नत करता है। यह हमारी शक्तियों के विकास का हेतु होता है।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वाङ्क देवता—मरुतःङ्क छन्दः—निचृद् गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

प्रातः होता इव

उतो न्वस्य जोषमाँ इन्द्रः सुतस्य गोमतः प्रातर्होतेव मत्सति ॥ ६ ॥

(१) **उत**=और **उ**=निश्चय से **नु**=अब **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अस्य**=इस **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले **सुतस्य**=सोम के **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन के अनुपात में ही **आमत्सति**=इस प्रकार आनन्दित होता है, **इव**=जैसे **प्रातः होता**=प्रातःकाल होता आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण हमारे जीवन को इस प्रकार आनन्दमय बनाता है जैसे प्रातःकाल अग्निहोत्र करनेवाला आनन्दित होता है।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वाङ्क देवता—मरुतःङ्क छन्दः—गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

सूरयः-पूतदक्षसः

कदत्विषन्त सूरयस्तिर आपइव स्रिधः। अर्षन्ति पूतदक्षसः ॥ ७ ॥

(१) हे प्रभो! **कत्**=(कदा) वह समय कब आयेगा जब कि मेरे जीवन में **अत्विषन्त**=ये मरुत् दीप्त होते हैं, चमक उठते हैं। ये मरुत् **सूरयः**=मुझे ज्ञानी बनानेवाले हैं। प्राणसाधना से ही सोमरक्षण होकर ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। ये मरुत् **स्रिधः**=शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे **तिरः**=रुधिर में तिरोहित हुए-हुए **आपः**=रेतःकण रोगों का विनाश करते हैं। (२) **पूतदक्षसः**=शरीरस्थ बल को पवित्र करनेवाले ये मरुत् **अर्षन्ति**=शरीर में गति करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है, (ख) रोगकृमि व वासनारूप शत्रुओं का विनाश होता है, (ग) बल पवित्र होता है।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वाङ्क देवता—मरुतःङ्क छन्दः—विराड् गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

दस्मवर्चस् (मरुत्)

कद्वो अद्य महानां देवानामवो वृणे। त्मना च दस्मवर्चसाम् ॥ ८ ॥

(१) हे मरुतो! मैं **अद्य**=आज **वः**=आप **महानाम्**=महनीय-पूजनीय **देवानाम्**=देवों के **कत्**=आनन्द का विस्तार करनेवाले (कं तनोति) **अवः**=रक्षण का **वृणे**=वरण करता हूँ। (२) **च**=और उन मरुतों के रक्षण का मैं वरण करता हूँ जो **त्मना**=स्वयं ही **दस्मवर्चसाम्**=शत्रु-संहारक अथवा दर्शनीय तेजवाले हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें आनन्दप्रद रक्षण प्राप्त होता है। ये प्राण शत्रु-संहारक तेज से सम्पन्न हैं।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वाङ्क देवता—मरुतःङ्क छन्दः—गायत्रीङ्क स्वरः—षड्जःङ्क

प्राणसाधना-सोमरक्षण-दीप्ति

आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन्रोचना दिवः। मरुतः सोमपीतये ॥ ९ ॥

(१) **ये**=जो मरुत् **विश्वा**=सब **पार्थिवानि**=इस पार्थिव शरीर के अंगों की शक्ति को तथा **दिवः रोचना**=मस्तिष्करूप द्युलोक के दीप्त विज्ञानों को **आ पप्रथन्**=विस्तृत करते हैं। वे **मरुतः**=मरुत् ४९ भागों में बटे हुए प्राण **सोमपीतये**=सोम के पान के लिये हों। प्राणसाधना द्वारा हम सोम का रक्षण करनेवाले बनें। (२) प्राणसाधना द्वारा शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होती है। सोम का शरीर में ही व्यापन होता है। शरीर में व्याप्त हुआ यह सोम अंगों को तेज से दीप्त करता

है और मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है।

भावार्थ—हमारे शरीर में प्राणसाधना द्वारा सोम का व्यापन हो। यह सोम अंगों को तेजस्वी व मस्तिष्क को दीप्त बनाये।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वाङ्क **देवता**—मरुतःङ्क **छन्दः**—निचृद् गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

पूतदक्षसः-दिवः

त्यान्नु पूतदक्षसो दिवो वो मरुतो हुवे। अस्य सोमस्य पीतये॥ १०॥

(१) मैं **त्यान्**=उन **मरुतः**=प्राणों को **नु**=अब **हुवे**=पुकारता हूँ जो **वः**=तुम्हारे **पूतदक्षसाः**=बल को पवित्र करनेवाले हैं और **दिवः**=ज्ञान की दीप्ति को देनेवाले हैं। (२) इन मरुतों को मैं **अस्य**=इस **सोमस्य**=सोम के **पीतये**=पान व रक्षण के लिये पुकारता हूँ। सोमरक्षण द्वारा ही ये मरुत् बल व ज्ञान का वर्धन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण द्वारा ज्ञान तथा बल का वर्धन होता है।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वाङ्क **देवता**—मरुतःङ्क **छन्दः**—निचृद् गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

रोदसी-स्तम्भन

त्यान्नु ये वि रोदसी तस्तभुर्मरुतो हुवे। अस्य सोमस्य पीतये॥ ११॥

(१) **त्यान् मरुतः**=उन मरुतों को **नु हुवे**=निश्चय से पुकारता हूँ, **ये**=जो **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **वितस्तभुः**=विशेषरूप से थामते हैं। (२) इन मरुतों को मैं **अस्य**=इस **सोमस्य**=सोम के **पीतये**=रक्षण के लिये पुकारता हूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना सोमरक्षण द्वारा द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का स्तम्भन करती है। इस प्रकार यह साधना ज्ञान व बल का धारण करती है।

ऋषिः—बिन्दुः पूतदक्षो वाङ्क **देवता**—मरुतःङ्क **छन्दः**—निचृद् गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

गिरिष्ठां-वृषणम्

त्यं नु मारुतं गणं गिरिष्ठां वृषणं हुवे। अस्य सोमस्य पीतये॥ १२॥

(१) **त्यम्**=उस **मारुतं गणम्**=प्राणों के गण को **नु**=निश्चय से **हुवे**=पुकारता हूँ, प्राणसाधना में प्रवृत्त होता हूँ। इन प्राणों के गण का मैं आराधन करता हूँ जो **गिरिष्ठाम्**=ज्ञान की वाणियों में स्थित होनेवाला है तथा **वृषणम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला है। (२) इस प्राणगण को मैं **अस्य सोमस्य**=इस सोम के **पीतये**=पान व रक्षण के लिये पुकारता हूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना सोमरक्षण द्वारा हमें ज्ञान की वाणियों में स्थित करती है और शक्तिशाली बनाती है।

इस प्रकार सोमरक्षण द्वारा हम इस संसाररूपी 'अश्मन्वती नदी' को पार करने में समर्थ होते हैं। सो 'तिरश्चीः' बनते हैं (crossing ouer, traversing)। आंगिरस=अंग-प्रत्यंग में रसवाले तो होते ही हैं। यह तिरश्ची आंगिरस ही अगले सूक्त का ऋषि है—

९५. [पञ्चनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—तिरश्चीःङ्क **देवता**—इन्द्रःङ्क **छन्दः**—विराडनुष्टुप्ङ्क **स्वरः**—गान्धारःङ्क

रथीः इव

आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः। अभि त्वा समनूषतेन्द्र वत्सं मातरः॥ १॥

(१) हे प्रभो! **गिरः**=ये ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियाँ **त्वा आ अस्थुः**=आपको प्राप्त होती हैं। ये हमें आपकी ओर लानेवाली होती हैं। हे **गिर्वणः**=स्तुतिवाणियों से सम्भजनीय प्रभो! **सुतेषु**=शरीर में सोम का सम्पादन होने पर आप हमारे लिये **रथीः इव**=रथवान् की तरह होते हैं, एक रथवान् की तरह आप ही हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! ये उपासक **त्वा**=आपको **अभि**=दिन के दोनों ओर प्रातः व सायं **समनूषत**=स्तुत करते हैं, **न**=जैसे **मातरः**=धेनुएँ **वत्सम्**=बछड़े की प्रति प्रेम से हम्भारव को करती हैं। ये उपासक भी प्रेम से स्तुति-वचनों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रातः-सायं प्रेम से किया गया यह प्रभु-स्तवन हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाला होगा।

ऋषिः—तिरश्चीः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

सोमरक्षण व प्रभु प्राप्ति

आ त्वा शुक्रा अचुच्यवुः सुतास इन्द्र गिर्वणः।
पिबा त्व१स्यान्धस इन्द्र विश्वासु ते हितम्॥ २॥

(१) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से सम्भजनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुतासः**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए **शुक्राः**=ये शक्तिकण **त्वा**=आपको **आ अचुच्यवुः**=हमारे लिये प्राप्त करानेवाले हों। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **अस्य अन्धसः**=इस सोम का **पिबा तु**=आप ही पान करेंगे। आपकी उपासना ही वासना-विनाश द्वारा इसके रक्षण का साधन बनती है। **विश्वासु**=सब प्रजाओं में **ते हितम्**=आपके द्वारा ही इसकी स्थापना हुई है।

भावार्थ—प्रभु ही सब शरीरों में सोम की स्थापना करते हैं। प्रभु की उपासना द्वारा ही इसका रक्षण होता है और इसके रक्षण से ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—तिरश्चीः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'पति व राजा' प्रभु

पिबा सोमं मदाय कमिन्द्र श्येनाभृतं सुतम्। त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सोमं पिब**=सोम का हमारे शरीर में ही आप रक्षण करिये। उस सोम का जो **कम्**=सुख को देनेवाला है। **श्येनाभृतम्**=(श्यैङ् गतौ) गतिशील पुरुष के द्वारा धारण किया जाता है। **सुतम्**=शरीर में उत्पादित इस सोम को आप ही रक्षित करिये। रक्षित हुआ-हुआ यह सोम **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिये होता है। (२) हे प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **शश्वतीनां विशाम्**=इन सनातन काल से आ रही अथवा गतिशील प्रजाओं के **पतिः**=रक्षक व **राजा**=शासक **असि**=हैं। आप ही सब प्रजाओं के जीवनों को कर्मानुसार नियन्त्रित करते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो आप ही रक्षक व शासक हैं। आप हमारे जीवनों में सोम का रक्षण करते हुए उल्लास को प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—तिरश्चीः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'शक्ति व ज्ञान' से युक्त धन

श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति। सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो **त्वा सपर्यति**=आपका पूजन करता है, उस

तिरश्च्याः=वासनाओं को पार कर जानेवाले उपासक की **हवं श्रुधि**=पुकार को सुनिये। (२) इस उपासक के लिये **रायः**=धन का **पूर्धि**=पूरण करिये, जो धन **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य व पराक्रम से युक्त है तथा **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाला है। हे प्रभो! **महान् असि**=आप ही पूजनीय हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करें, वासनाओं को जीतने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें 'शक्ति व ज्ञान' से युक्त धन को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—तिरश्चीः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'सत्य सनातन' ज्ञान

इन्द्र यस्ते नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत्। चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम्॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः**=जो **ते**=तेरे लिये **नवीयसीम्**=नवतर-अतिशयेन स्तुत्य **मन्द्राम्**=हर्षजनक **गिरम्**=स्तुतिवाणी को **अजीजनत्**=प्रादुर्भूत करता है। उसके लिये आप **धियम्**=बुद्धि को, बुद्धिजन्य ज्ञान को करिये। जो वेदज्ञान **चिकित्विन्मनसम्**=समझदार पुरुषों से मनन के योग्य है। **प्रत्नाम्**=सनातनकाल से चला आ रहा है। **ऋतस्य पिप्युषीम्**=ऋत का, सत्य का आप्यायन-वर्धन करनेवाला है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारे लिये सत्य सनातन ज्ञान को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—तिरश्चीः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु-भजन व प्रभु पौंस्य प्राप्ति

तमु ष्टवाम यं गिर इन्द्रमुक्थानि वावृधुः। पुरूण्यस्य पौंस्या सिषासन्तो वनामहे॥ ६॥

(१) **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमेश्वर्यशाली प्रभु का **उ**=ही हम **स्तवाम**=स्तवन करते हैं। **यम्**=जिस प्रभु को **गिरः**=सब ज्ञान की वाणियाँ तथा **उक्थानि**=स्तुति-वचन **वावृधुः**=बढ़ाते हैं। जितना-जितना हम इन ज्ञान की वाणियों व स्तुतिवचनों को उच्चरित करते हैं, उतना-उतना ही प्रभु को अपने में बढ़ा पाते हैं। प्रभु की दिव्यता का धारण ही प्रभु का वर्धन है। (२) **अस्य**=इस प्रभु का **पौंस्या**=बल **पुरूणि**=बहुत अधिक व पालक व पूरक हैं। इन बलों को **सिषासन्तः**=प्राप्त करने की कामनावाले होते हुए हम **वनामहे**=प्रभु का सम्भजन करते हैं। प्रभु सम्भजन हमें प्रभु के इन बलों में भागी बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियों व स्तुति-वचनों से हम प्रभु का सम्भजन करते हैं। यह सम्भजन हमें प्रभु के बलों में भागी बनाता है।

ऋषिः—तिरश्चीः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराडनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

'शुद्ध आशीर्वान्' स्तोता

एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना। शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्ध आशीर्वान्ममत्तु॥ ७॥

(१) **एत उ**=आओ ही, हे मित्रो! **नु**=अब **शुद्धं इन्द्रम्**=उस अपापविद्ध-पवित्र परमैश्वर्यशाली प्रभु को **शुद्धेन साम्ना**=निर्दोष, पवित्र हृदय से उच्चरित साम से (स्तोत्र से) **स्तवाम**=स्तुत करें। (२) **शुद्धैः उक्थैः**=निर्दोष-पवित्र हृदय से उच्चरित स्तोत्रों से **वावृध्वांसम्**=वृद्धि को प्राप्त होनेवाले उस प्रभु को **शुद्धः**=शुद्ध जीवनवाला **आशीर्वान्**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाला यह उपासक **ममत्तु**=आनन्दित करे।

भावार्थ—हम मिलकर हृदय से प्रभु का उपासन करें। स्तवन से हमारे में प्रभु के प्रकाश का वर्धन होता है। हम शुद्ध जीवनवाले व प्रभु प्राप्ति की कामनावाले बनकर प्रभु को आराधित कर पाते हैं।

ऋषिः—तिरश्ची:॥ **देवता**—इन्द्र:॥ **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धार:॥

शुद्धता

इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः। शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **शुद्धः**=शुद्ध स्वरूप आप **नः आगहि**=हमें प्राप्त होइये। **शुद्धः**=पवित्र आप **शुद्धाभिः ऊतिभिः**=पवित्र करनेवाले रक्षणों के साथ हमें प्राप्त होइये। (२) **शुद्धः**=शुद्धस्वरूप आप **रयिम्**=धन को **निधारय**=हमारे में धारण करिये। **शुद्धः**=पवित्र **सोम्यः**=सोम का रक्षण करनेवाले आप **ममद्धि**=आनन्दित होइये। हम आपका स्तवन करते हुए शुद्ध जीवनवाले बनकर, सोम का रक्षण करते हुए आपके प्रिय बनें।

भावार्थ—पवित्र प्रभु के पवित्र रक्षण हमें पवित्र धनवाला व सोमरक्षण द्वारा पवित्र जीवनवाला बनायें।

ऋषिः—तिरश्ची:॥ **देवता**—इन्द्र:॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धार:॥

रयि-रत्न-वाज

इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे। शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **शुद्धः**=शुद्धस्वरूप आप **हि**=निश्चय से **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=धन को दीजिये। **शुद्धः**=शुद्धस्वरूप आप **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये **रत्नानि**=रमणीय धनों को दीजिये। (२) **शुद्धः**=अपापविद्ध, पूर्ण पवित्र, आप उपासकों के भी **वृत्राणि**=ज्ञान के आवरणभूत मलों को **जिघ्नसे**=नष्ट कर देते हैं। **शुद्धः**=पूर्ण पवित्र आप इन वृत्रों के विनाश के द्वारा **वाजम्**=बल को **सिषाससि**=हमारे लिये देने की कामना करते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक को धन-रमणीय रत्न व बल को प्राप्त कराते हैं। इसके मलों को विनष्ट करते हैं।

शुद्ध बनकर यह ज्ञान की ज्योति का विस्तार करनेवाला 'द्यु-तान' बनता है। अथवा 'द्योतते, आ अनिति च'=ज्ञान-ज्योति से दीप्त होता है और अंग-प्रत्यंग में प्राणशक्तिवाला होता है। प्राणों की साधना से ऐसा बनने के कारण यह 'मारुतः' कहलाता है। यह 'द्युतान मारुत' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

९६. [षण्णवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुत:॥ **देवता**—इन्द्र:॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवत:॥

'इन्द्र' का जीवन

अस्मा उषास आतिरन्त याममिन्द्राय नक्तमूर्म्याः सुवाचः।
अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः॥ १॥

(१) **अस्मै इन्द्राय**=इस 'जितेन्द्रिय पुरुष' के लिये **उषासः**=उषायें **यामं आतिरन्त**=नियमन की भावना को बढ़ाती हैं। यह उषा में प्रबुद्ध होकर प्रभु-स्मरण में मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। तथा **ऊर्म्याः**=(ऊर्म्या=Light) रातें **नक्तम्**=अपर रात्रिकाल में **सुवाचः**=शोभन वाणियों—

वाली होती हैं। उस समय प्रबुद्ध होकर ये जितेन्द्रिय पुरुष वेदाध्ययन व शास्त्र श्रवण चिन्तनादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। (२) **अस्मा**=इसके लिये **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण **मातरः**=जीवन का निर्माण करनेवाले व **सप्त**=सर्पणशील होकर अंग-प्रत्यंग में रुधिर के साथ गतिवाले होकर **तस्थुः**= स्थित होते हैं। और **सिन्धवः**=ज्ञान की नदियाँ **सुपाराः**=शोभनतया पार ले जानेवाली व **नृभ्यः तराय**=लोगों के लिये तैरने के लिये होती हैं, लोगों को विषयों से पार ले जाती हैं। यह लोगों में ज्ञान का प्रसार करता हुआ उन्हें विषय-वासनाओं से दूर ले जाता है।

भावार्थ-इन्द्र, एक जितेन्द्रिय पुरुष-(क) प्रातः जागकर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करता है, (ख) अपररात्रिकाल में वेदवाणियों द्वारा स्तोत्रों का उच्चारण करता है, (ग) रेतःकणों को शरीर में सुरक्षित करता है, (घ) लोगों में ज्ञान का प्रसार करता है।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतःॾ **देवता**—इन्द्रःॾ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्ॾ **स्वरः**—धैवतःॾ

अविद्या पर्वत के २१ शिखरों का वेधन

अतिविद्धा विथुरेणा चिदस्त्रा त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम्।
न तद्देवो न मर्त्यस्तुतुर्याद्यानि प्रवृद्धो वृषभश्चकार॥ २॥

(१) इस इन्द्र के द्वारा **गिरीणाम्**=अविद्या पर्वतों के **संहिता**=अतिदृढ़ **त्रिः सप्त**=इक्कीस **सानु**=शिखर **विथुरेण चित्**=निश्चय से शत्रुओं के लिये व्यथा कर **अस्त्रा**=क्रियाशीलतारूप अस्त्र के द्वारा **अतिविद्धा**=अतिशयेन विद्ध किये जाते हैं। स्थान व समय के दृष्टिकोण से अविद्या इक्कीस भागों में विभक्त है। १२ मास व ६ ऋतुएँ समय को सूचित करती हैं तथा तीन लोक (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक) स्थान को। इन के विषय में अज्ञान ही गिरि हैं। इनके शिखरों का भेदन क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा ही होता है। (२) इन अविद्यापर्वत भेदन आदि **यानि**=जिन कर्मों को **प्रवृद्धः**=जितेन्द्रियता द्वारा प्रवृद्ध शक्तिवाला **वृषभः चकार**=यह प्रजाओं पर सुखों का वर्षण करनेवाला इन्द्र करता है, **तत्**=उस कर्म को **न देवः**=न कोई देव व **न मर्त्यः**=न ही मनुष्य **तुतुर्यात्**=हिंसित कर पाता है। इन्द्र के इन प्रजा हितकारी कर्मों में आधिदैविक व आधिभौतिक आपत्तियाँ नहीं आतीं।

भावार्थ-एक जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा अविद्या का विनाश करता है। तथा प्रवृद्ध शक्तिवाला बनकर ज्ञान प्रसार द्वारा लोगों पर सुखों का वर्षण करता है। इसके इस कर्म में आधिदैविक व आधिभौतिक विघ्न नहीं आते।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतःॾ **देवता**—इन्द्रःॾ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्ॾ **स्वरः**—धैवतःॾ

भूयिष्ठं ओजः

इन्द्रस्य वज्र आयसो निमिश्ल इन्द्रस्य बाह्वोर्भूयिष्ठमोजः।
शीर्षन्निन्द्रस्य क्रतवो निरेक आसन्नेषन्त श्रुत्या उपाके॥ ३॥

(१) **इन्द्रस्य**=एक जितेन्द्रिय पुरुष का **वज्रः आयसः**=क्रियाशीलतारूप वज्र लोहे का बना होता है, अर्थात् यह क्रिया करता हुआ थकता नहीं। यह वज्र **निमिश्लः**=उसके साथ अतिशयेन सम्बद्ध होता है। यह कभी क्रियाशील न हो, ऐसा नहीं होता। इसीलिए **इन्द्रस्य** बाह्वोः=इस जितेन्द्रिय पुरुष की भुजाओं में **भूयिष्ठं ओजः**=खूब ही बल होता है। क्रियाशीलता में ही शक्ति का रहस्य है। (२) इस **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **शीर्षन्**=सिर में **क्रतवः**=ज्ञान होते हैं, जो **निरेके**=सब मलों के विरेचन के निमित्त बनते हैं। **आसन्**=इसके मुख में **श्रुत्या**=स्तोतात्मक

श्रुति वाक्य **एषन्त**=गतिवाले होते हैं जो **उपाके**=इसे प्रभु का अन्तिकतम करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष 'सतत क्रियाशीलता के द्वारा शक्तिशाली' बनता है। इसके मस्तिष्क में ज्ञान होता है, मुख में श्रुतिवाक्य। ज्ञान इसे पवित्र करता है, श्रुति वाक्य प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'यज्ञिय, च्यवन, केतु, वृषभ'

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥ ४॥

(१) हे मैं प्रभो! **त्वा**=आपको **यज्ञियानां यज्ञियम्**=पूजनीयों में पूजनीय **मन्ये**=मानता हूँ। 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' पूज्य हैं। उन सब के भी पूज्य प्रभु हैं। प्रभु पूजनीयों के भी पूजनीय हैं। हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **अच्युतानाम्**=अतिप्रबल शत्रुओं के भी **च्यवनम्**=च्युत करनेवाला, नष्ट करनेवाला **मन्ये**=जानता हूँ। (२) **त्वा**=आपको मैं हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सत्वनाम्**=स्तुतियों व हवियों द्वारा सम्भजन करनेवालों का **केतुं मन्ये**=रोगापनयन द्वारा उत्तम निवास को करनेवाला जानता हूँ। **त्वा**=आपको **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों का **वृषभम्**=सुखों का वर्षण करनेवाला **मन्ये**=मानता हूँ।

भावार्थ—प्रभु पूज्य हैं, शत्रु-संहारक हैं। भक्तों के जीवन को उत्तम बनानेवाले हैं, श्रमशील व्यक्तियों को सुखी करनेवाले हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

'मदच्युत वज्र'

आ यद्वज्रं बाह्वोरिन्द्र धत्से मदच्युतमहये हन्तवा उ।
प्र पर्वता अनवन्त प्र गावः प्र ब्रह्माणो अभिनक्षन्त इन्द्रम्॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=प्रभु-विद्रावक जितेन्द्रिय पुरुष! **यद्**=जब तू **बाह्वोः**=अपनी भुजाओं में **मदच्युतम्**=शत्रुओं के मद को च्युत करनेवाले **वज्रम्**=वज्र को **आधत्से**=धारण करता है, तो **उ**=निश्चय से **अहये हन्तवै**=यह वज्र वासनारूप अहि के विनाश के लिये होता है। उस समय **पर्वताः**=अविद्या पर्वत **प्र अनवन्त**=(नवते=To go) प्रकर्षेण हिल जाते हैं। क्रियाशीलता ही वज्र है। यही अविद्या पर्वत का विनाश करती है। (२) इस अविद्या पर्वत के भेदन के होने पर **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **गावः**=सब इन्द्रियाँ **प्र अभिनक्षन्त**=खूब ही अभिमुख्येन प्राप्त होती हैं। और **ब्रह्माणः**=इस इन्द्र को ज्ञानी पुरुष प्राप्त होते हैं। इन ज्ञानियों के सम्पर्क में इसका ज्ञान खूब ही बढ़ता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता से वासना विनष्ट होती है। इस से अज्ञान के पर्वत का विदारण होता है। तब इन्द्रियाँ स्वस्थ होती हैं। और ज्ञान की वृद्धि होती हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

गीर्भिः-नमोभिः

तमु ष्टवाम य इमा जजान विश्वा जातान्यवराण्यस्मात्।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुपो नमोभिर्वृषभं विशेम॥ ६॥

(१) **तं स्तवाम**=उस प्रभु का ही स्तवन करते हैं, **यः**=जो **इमा जजान**=इन सब लोकों को प्रादुर्भूत करते हैं। **विश्वा**=सब **जातानि**=प्रादुर्भूत हुए-हुए लोक-लोकान्तर **अस्मात् अवराणि**=इस प्रभु से अवरकाल में होनेवाले हैं। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'। (२) **इन्द्रेण**=उस प्रभु के साथ ही **गीर्भिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **मित्रं दिधिषेम**=मैत्री को धारण करें। **उ**=और **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **वृषभम्**=उस शक्तिशाली प्रभु को **उपविशेम**=समीपता से प्राप्त हों, प्रभु के समीप उपविष्ट हों।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियों द्वारा उस प्रभु की मित्रता को प्राप्त करें, नमस्कार द्वारा प्रभु के समीप उपविष्ट हों।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

प्राणसाधना-वृत्रविनाश-देव मित्रता

वृत्रस्य॑ त्वा श्वसथादीष॑माणा विश्वे॑ देवा अ॑जहुर्ये सखा॑यः।
मरुद्भि॑रिन्द्र सख्यं॑ ते अस्त्वथेमा विश्वाः॒ पृत॑ना जयासि॥ ७॥

(१) शरीर में जब ज्ञान की आवरणभूत वासना का प्रवेश होता है तो **वृत्रस्य**=इस कामदेव के **श्वसथात्**=श्वास से **ईषमाणाः**=सब ओर भागते हुए **विश्वे देवाः**=सब दिव्य भाव, ये **सखायः**=जो अब तक तेरे मित्र थे वे **त्वा अजहुः**=तुझे छोड़ जाते हैं। वासना के साथ दिव्य गुणों का वास नहीं। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **ते**=तेरा **सख्यम्**=मित्रभाव **अस्तु**=हो। तू प्राणसाधना करनेवाला बन। **अथ**=अब **इमाः विश्वाः पृतनाः**=इन शरीर-राष्ट्र में घुस आनेवाली वासनात्मक शत्रु-सेनाओं को **जयासि**=तू जीत लेता है। प्राणसाधना वासनाविलय का हेतु बनती है।

भावार्थ—वासना ही दिव्य गुणों की शत्रु है। हम प्राणसाधना द्वारा वासना का विनाश करें और दिव्य गुणों की मित्रता को प्राप्त करें।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

प्राणसाधना व त्यागपूर्वक अदन

त्रिः ष॒ष्टिस्त्वा॑ म॒रुतो॑ वावृधा॒ना उ॒स्राइ॑व रा॒शयो॑ य॒ज्ञिया॑सः।
उप॒ त्वेमः॑ कृ॒धि नो॑ भाग॒धेयं॒ शुष्मं॑ त ए॒ना ह॒विषा॑ विधेम॥ ८॥

(१) **त्रिः षष्टिः**=६३ संख्या में विभक्त हुए-हुए **मरुतः**=ये प्राण **त्वा वावृधानाः**=तेरा खूब वर्धन करते हुए **राशयः उस्राः इव**=राशिभूत-संघीभूत-प्रकाश की किरणों के समान हैं। संघीभूत प्रकाश की किरणें सब मलों को दग्ध कर देती हैं। अतएव ये मरुत् **यज्ञियासः**=संगतिकरण योग्य हैं। इन प्राणों की जितनी भी साधना की जाये, वह ठीक ही है। (२) हे प्रभो! इस प्राणसाधना को करते हुए हम **त्वा उप इमः**=आपको समीपता से प्राप्त होते हैं। आप **नः**=हमारे लिये **भागधेयम्**=भजनीय धन को **कृधि**=करिये। **ते**=आपके प्रति **एना हविषा**=इस हवि के द्वारा **शुष्मे विधेम**=शत्रु-शोषक बल को अपने में सम्पादित करते हैं। त्यागपूर्वक अदन से प्रभु का पूजन होता है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। यह हवि इस उपासक को वह बल प्राप्त कराती है, जो काम-क्रोध आदि शत्रुओं का शोषण कर देता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना व त्यागपूर्वक अदन करते हुए प्रभु का पूजन करें। यही शत्रुशोषक बल को प्राप्त करने का मार्ग है।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

प्राणसाधना-क्रियाशीलता-प्रभु उपासना

तिग्ममायुधं मरुतामनीकं कस्त इन्द्र प्रति वज्रं दधर्ष।
अनायुधासो असुरा अदेवाश्चक्रेण ताँ अप वप ऋजीषिन्॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! यह **मरुतां अनीकम्**=प्राणों का सैन्य **तिग्मायुधम्**=बड़े तीव्र अस्त्रवाला है। प्राणसाधना के होने पर शत्रु इस साधक का धर्षण नहीं कर सकते। हे प्रभो! **कः**=कौन **ते**=आपके **वज्रं प्रति दधर्ष**=क्रियाशीलता रूप वज्र का धर्षण कर सकता है? मनुष्य प्राणसाधना करे और क्रियाशील बना रहे तो कोई भी काम-क्रोध आदि शत्रु इसे सता नहीं पाते। (२) **अदेवाः**=दिव्य भावनाओं से रहित ये **असुराः**=आसुरभाव **अनायुधासः**=प्राणसाधना व क्रियाशीलता के सामने आयुधशून्य हो जाते हैं। हे **ऋजीषिन्**=ऋजुता की (सरलता की) प्रेरणा देनेवाले प्रभो! आप **चक्रेण**=इस दैनिक कार्यचक्र के द्वारा, दिनचर्या में लगे रहने के द्वारा **अप वप**=छिन्न कर डालिये। प्रभु की उपासना के साथ हम दैनिक कर्त्तव्यों में तत्पर रहें तो काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु सुदूर विनष्ट हो जायेंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना, क्रियाशीलता व प्रभु उपासना ही वे शस्त्र हैं जिनसे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार हो जाता है।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

स्तवन-स्वाध्याय

मह उग्राय तवसे सुवृक्तिं प्रेरय शिवतमाय पश्वः।
गिर्वाहसे गिर इन्द्राय पूर्वीर्धेहि तन्वे कुविदङ्ग वेदत्॥ १०॥

(१) **महे उग्राय**=उस महान् तेजस्वी, **तवसे**=शक्तिशाली, **पश्वः शिवतमाय**=पशु तक का कल्याण करनेवाले, **गिर्वाहसे**=ज्ञान की वाणियों का वहन करनेवाले **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **सुवृक्तिं**=शोभन-स्तुति को प्रेरित करो। (२) उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **पूर्वीः गिरः धेहि**=पालन व पूरण करनेवाली या सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली इन वाणियों का धारण कर। वे प्रभु **तन्वे**=शक्तियों के विस्तार के लिये **अंग**=शीघ्र ही **कुवित्**=खूब **वेदत्**=धन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—उस महान् तेजस्वी प्रभु के लिये हम स्तवन करनेवाले बनें। साथ पालन व पूरण करनेवाली ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करें। प्रभु हमारे लिये आवश्यक धनों को अवश्य प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

द्रुणा न पारमीरया नदीनाम्

उक्थवाहसे विभ्वे मनीषां द्रुणा न पारमीरया नदीनाम्।
नि स्पृश धिया तन्वि श्रुतस्य जुष्टतरस्य कुविदङ्ग वेदत्॥ ११॥

(१) **उक्थवाहसे**=स्तोत्रों के द्वारा धारण किये जानेवाले **विभ्वे**=उस महान् व शत्रुओं का अभिभव करनेवाले प्रभु के लिये **मनीषाम्** **ईरय**=प्रेरित कर, बुद्धि बन। प्रभु की महिमा का ही चिन्तन करनेवाला हो। उस प्रभु का चिन्तन कर जो तुझे **नदीनां पारं द्रुणा न**=नदियों

के पार नाव के द्वारा ले जाने के समान ही भवसागर से पार ले जाते हैं। (२) प्रभु की उपासना के द्वारा **तन्वि**=अपने में **धिया**=बुद्धि के द्वारा **जुष्टतरस्य**=अतिशयेन सेवनीय **श्रुतस्य**=शास्त्रज्ञान का **निस्पृश**=स्पर्श कर। खूब ही स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान का वर्धन करनेवाला बन। वे प्रभु **अंग**=शीघ्र ही **कुवित्**=खूब **वेदत्**=धन को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम स्तवन व स्वाध्याय में प्रवृत्त हों। प्रभु हमें भवसागर से पार ले जानेवाले होंगे।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

रो मत, बात तो कह

तद्विविड्ढि यत्त इन्द्रो जुजोषत्स्तुहि सुष्टुतिं नमसा विवास।
उप भूष जरितर्मा रुवण्यः श्रावया वाचं कुविदङ्ग वेदत्॥ १२॥

(१) हे जीव! तू **तत्**=उस स्तोत्र को **विविड्ढि**=अपने में व्याप्त कर, **यत्**=जिस **ते**=तेरे स्तोत्र को **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **जुजोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। हे जीव! तू **सुष्टुतिम्**=उस उत्तम स्तुतिवाले प्रभु को **स्तुहि**=स्तुत कर। **नमसा**=नमन के द्वारा **आविवास**=उस प्रभु का आभिमुख्येन उपासन कर। (२) हे **जरितः**=स्तोतः! **उपभूष**=अपने जीवन को अलंकृत कर। **मा रुवण्यः**=धन आदि के अभाव के कारण रो नहीं। **वाचं श्रावया**=ज्ञान की वाणियों को सुना। अथवा प्रार्थना तो कर। वे प्रभु **अंग**=शीघ्र ही **कुवित्**=खूब ही **वेदत्**=धन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन व पूजन कर। अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत कर। रो मत। बात तो कह। प्रभु खूब ही धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

अंशुमतीं अवातिष्ठत् (द्रप्सः, कृष्णः)

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त॥ १३॥

(१) **द्रप्सः**=(drop, a spark) प्रभु का अंश रूप (miniature) यह जीव **दशभिः**=दस **सहस्रैः**=(सहस्=बल) बलवान् प्राणों के साथ **इयानः**=गति करता हुआ **कृषअमः**=सब दोषों को कृश करनेवाला होता है और **अंशुमतीम्**=प्रकाश की किरणोंवाली ज्ञान नदी के समीप **अवतिष्ठत्**=नम्रता से स्थित होता है। (२) **शच्या**=शक्ति व प्रज्ञान से **धमन्तम्**=(To cast, throw away) शत्रुओं को परे फेंकते हुए **तम्**=उस कृष्णा को **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **आवत्**=रक्षित करते हैं। **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य) कर्मनेता मनुष्यों में प्रेमवाले वे प्रभु **स्नेहितीः**=सबका हिंसन करनेवाली वासनाओं को **अप अधत्त**=सुदूर स्थापित करनेवाले होते हैं, वासनाओं के प्रभु विनाशक हैं।

भावार्थ—जीव जब अंशुमती (ज्ञान की किरणोंवाली) सरस्वती का उपासक बनता है, तो प्रभु उसका रक्षण करते हैं और उसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः ॥ **देवता**—इन्द्रः मरुतश्च ॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

नभः न

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।

नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ॥ १४॥

(१) **द्रप्सम्**=उस प्रभु के छोटे रूप जीव को **विषुणे**=उस चारों ओर गति (व्याप्ति) वाले प्रभु में **पश्यम्**=मैं देखता हूँ। प्रभु की गोद में जीव को स्थित अनुभव करता हूँ। यह **अंशुमत्याः नद्यः**=प्रकाश की किरणोंवाली ज्ञान नदी (सरस्वती) के **उपह्वरे**=अत्यन्त गूढ़ स्थान में **चरन्तम्**=गति कर रहा है। (२) **नभः न**=आदित्य के समान **अवतस्थिवांसम्**=स्थित **कृष्णाम्**=वासनाओं के क्षीण करनेवाले को **इष्यामि**=चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मैं वासनारूप वृत्र को विनष्ट करके सूर्य की तरह चमकूँ। हे **वृषणः**=शक्तिशाली मरुतो (प्राणो)! **वः**=तुम **आजौ**=संग्राम में **युध्यत**=इन वासनारूप शत्रुओं के साथ युद्ध करो। इन्हें पराजित करके ही तो मैं चमक सकूँगा।

भावार्थ—जीव उस व्यापक प्रभु में स्थित अपने को देखे। सदा ज्ञान के अन्दर विचरने का प्रयत्न करे। प्राणसाधना द्वारा वासनाओं का विनाश करके सूर्य की तरह चमके।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः ॥ **देवता**—इन्द्राबृहस्पती ॥ **छन्दः**—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

स्वाध्याय व प्रभु मैत्री

अध॑ द्र॒प्सो अं॒शु॒मत्या॑ उ॒पस्थेऽधा॑रयत्त॒न्वं॑ तित्विषा॒णः ।
विशो॒ अदे॑वीर॒भ्याऽ॒३॒॑चर॑न्ती॒र्बृह॒स्पति॑ना यु॒जेन्द्रः॑ ससाहे ॥ १५ ॥

(१) **अध**=अब **द्रप्सः**=परमात्मा का छोटा रूप यह जीव **अंशमत्याः**=प्रकाश की किरणोंवाली ज्ञान नदी के **उपस्थे**=समीप **अधारयत्**=अपने को धारण करता है। इस प्रकार यह अपने **तन्वम्**=शरीर को **तित्विषाणः**=दीप्त करनेवाला होता है। 'शरीर में तेज, मस्तिष्क में ज्ञान' इस प्रकार यह चमक उठता है। (२) यह तित्विषाण **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अदेवीः**=आसुरी **अभ्याचरन्तीः**=आक्रमण करती हुई **विशः**=प्रजाओं को काम-क्रोध आदि आसुरभावों को **बृहस्पतिना युजा**=ज्ञान के स्वामी प्रभु को साथी के रूप में पाकर **ससाहे**=अभिभूत करनेवाला होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय व प्रभु की मित्रता हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती हैं। प्रभु की मित्रता से हम सब शत्रुओं का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप् ॥ **स्वरः**—धैवतः ॥

काम आदि सात शत्रुओं का शातन

त्वं ह॒ त्यत्स॒प्तभ्यो॒ जाय॑मानोऽश॒त्रुभ्यो॑ अभवः॒ शत्रु॑रिन्द्र ।
गू॒ळ्हे द्यावा॑पृथि॒वी अन्व॑विन्दो विभु॒मद्भ्यो॒ भुव॑नेभ्यो॒ रणं॑ धाः ॥ १६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस कर्म को करता है कि **जायमानः**=विकास को प्राप्त होता हुआ तू **अशत्रुभ्यः**=जिनका शातन (समाप्ति) बड़ा कठिन है उन **सप्तभ्यः**='काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर व अविद्या' नामक सात शत्रुओं के लिये **शत्रुः अभवः**=शातन करनेवाला होता है। (२) इन शत्रुओं का शातन करके **गूढे द्यावापृथिवी**=शत्रुओं से आवृत हुए-हुए मस्तिष्क व शरीर को तू फिर से **अन्वविन्दः**=प्राप्त करता है। काम-लोभ आदि ने इनको आवृत-सा कर लिया था। काम आदि के विनाश से हम इन्हें फिर प्राप्त करनेवाले होते हैं। इनको काम आदि के आवरण से रहित करके **विभुमद्भ्यः**=महत्त्वयुक्त **भुवनेभ्यः**=लोकों के लिये, शरीर के सब अंगों के लिये, **रणं धाः**=रमणीयता को तू धारण करता है।

भावार्थ–'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर व अविद्या' ये हमारे प्रबल शत्रु हैं। इनका शातन करके ही हम मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ कर पाते हैं और सब अंगों के लिये रमणीयता को धारण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पं॰॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

शुष्णासुर वध व गो प्राप्ति

त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन्धृषितो जघन्थ।
त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः॥ १७॥

(१) हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए इन्द्र! **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस **अप्रतिमानम्**=निरूपम-अतिप्रबल **ओजः**=शुष्णासुर के ओज को, वासना के बल को **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **धृषितः**=संग्राम में शत्रुहनन में कुशल होता हुआ **जघन्थ**=नष्ट करता है। (२) इसके ओज को नष्ट करता हुआ **त्वम्**=तू **वधत्रैः**=हनन साधन आयुधों से **शुष्णस्य अवातिरः**=इस शुष्णासुर का अपने शिकार को सुखा देनेवाली काम-वासना का वध कर डालता है। इस प्रकार हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **शच्यः**=अपनी शक्ति व प्रज्ञान से **इत्**=निश्चयपूर्वक **गाः अविन्दः**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करता है। कामविध्वंस से ही ज्ञान प्राप्त होता है। काम ही तो सदा ज्ञान को आवृत किये रहता है।

भावार्थ–हम क्रियाशीलता के द्वारा वासना को विनष्ट करें और ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

वृत्राणां घनः

त्वं ह त्यद् वृषभ चर्षणीनां घनो वृत्राणां तविषो बभूथ।
त्वं सिन्धूँरसृजस्तस्तभानान्त्वमपो अजयो दासपत्नीः॥ १८॥

(१) हे **वृषभ**=सुखों के वर्षक प्रभो! **त्वम्**=आप ही **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस कर्म को करते हैं कि **तविषः**=शक्तिशाली आप **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **वृत्राणाम्**=वासनारूप शत्रुओं के **घनः**=विनाश करनेवाले **बभूथ**=होते हो। (२) इन वासनाओं को नष्ट करके **त्वम्**=आप **तस्तभानान्**=इन वासनाओं द्वारा रुद्ध किये गये **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **असृजः**=उत्पन्न करते हो। और **दासपत्नीः**=विनाशक काम जिनका पति बन गया था, उन **अपः**=शरीरस्थ रेतःकणों को **त्वं अजयः**=आप विजयी करते हो।

भावार्थ–प्रभु हमारे ज्ञान के आवरणभूत शत्रुओं का विनाश करते हैं और ज्ञानप्रवाहों को सृष्ट करते हुए शरीर में रेतःकणों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

सुक्रतुः-अनुत्तमन्युः

स सुक्रतू रणिता यः सुतेष्वनुत्तमन्युर्यो अहेव रेवान्।
य एक इन्नर्यपांसि कर्ता स वृत्रहा प्रतीदन्यमाहुः॥ १९॥

(१) **सः**=वह प्रभु **सुक्रतुः**=शोभन प्रज्ञान व शक्तिवाले हैं। **यः**=जो **सुतेषु**=सब उत्पन्न पदार्थों

में रमण करनेवाले हैं। (२) वे प्रभु **अनुत्तमन्युः**=अनष्ट ज्ञानवाले हैं, **यः**=जो **अहा इव**=सूर्य से दीप्त दिवसों के समान **रेवान्**=प्रकाश की सम्पत्तिवाले हैं। प्रभु प्रकाशमय ही हैं। (२) **यः**=जो **एकः इत्**=अद्वितीय ही, बिना किसी अन्य की सहायता के ही **नरि**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों में **अपांसि**=लोक हितकारी कर्मों को **कर्ता**=करनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **वृत्रहा**=वासना का विनाश करते हैं। इस प्रभु को **इत्**=ही **अन्यं प्रति आहुः**=सब शत्रुओं का सामना करनेवाला कहते हैं।

भावार्थ—शोभन शक्ति व प्रज्ञानवाले हैं। वे सर्वत्र व्याप्त हैं। नर पुरुषों में प्रभु ही सब उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं। प्रभु ही शत्रुओं का अभिभव करते हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

श्रवस्यस्य वाजस्य दाता

स वृ॒त्र॒हेन्द्र॑श्चर्षणी॒धृत्तं सु॑ष्टु॒त्या हव्यं॑ हुवेम।
स प्रा॑वि॒ता म॒घवा॑ नोऽधिव॒क्ता स वाज॑स्य श्रव॒स्य॑स्य दा॒ता॥ २०॥

(१) **सः**=वह **वृत्रहा**=वासना का विनाश करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **चर्षणीधृत्**=श्रमशील मनुष्यों का धारण करनेवाला है। **हव्यम्**=पुकारने योग्य **तम्**=उस प्रभु को हम **सुष्टुत्या**=उत्तम स्तुति से **हुवेम**=पुकारते हैं। प्रभु का सम्यक् स्तवन करते हैं। (२) **सः**=वे **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **नः प्राविता**=हमारे उत्तम रक्षक हैं। **अधिवक्ता**=अध्यक्षरूपेण प्रेरणा को देनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **श्रवस्यस्य**=यश की प्राप्ति के हेतुभूत **वाजस्य**=बल के **दाता**=देनेवाले हैं। प्रभु हमें यह शक्ति प्राप्त कराते हैं, जिससे हम रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हुए-हुए यशस्वी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासना के विनाश के द्वारा हमारा धारण करनेवाले हैं। वे हमें निरन्तर प्रेरणा देते हैं। वे यशस्वी बल प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—तिरश्चीर्द्युतानो वा मरुतः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट् पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

वृत्रहा-ऋभुक्षाः

स वृ॒त्र॒हेन्द्र॑ ऋभु॒क्षाः स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो हव्यो॑ बभूव।
कृ॒ण्वन्नपां॑सि॒ नर्या॑ पु॒रूणि॒ सोमो॒ न पी॒तो हव्यः॒ सखि॑भ्यः॥ २१॥

(१) **सः**=वे **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभु **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं। **ऋभुक्षाः**=(ऋभुभिः सह क्षियति) ज्ञानदीप्त पुरुषों के साथ निवास करनेवाले हैं। **सद्यः जज्ञानः**=ज्ञानियों के हृदयों में शीघ्र ही प्रादुर्भूत होते हुए प्रभु **हव्यः बभूव**=पुकारने योग्य होते हैं। (२) ये प्रभु **नर्या**=नरहितकारी **पुरूणि**=बहुत **अपांसि**=कर्मों को **कृण्वन्**=करते हुए, **पीतः सोमः न**=शरीर में सुरक्षित सोम की तरह, **सखिभ्यः**=मित्रभूत ऋत्विजों से **हव्यः**=पुकारने योग्य होते हैं। शरीर में सुरक्षित सोम जैसे हमारा हित करता है उसी प्रकार प्रभु अपने सखाओं का हित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासना को विनष्ट कर हमें ज्ञान प्राप्त कराते हैं। ज्ञानियों में निवास करते हुए वे प्रभु उनके माध्यम से सब नरहितकारी कर्मों को करते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि यह ज्ञानी स्तोता 'रेभः काश्यपः' नामवाला है। यह इन्द्र का स्तवन इस प्रकार करता है—

९७. [सप्तनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

स्तोता व वृक्तबर्हिष्

या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः। स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्वर्वान्**=सब सुखों व प्रकाशोंवाले आप **याः भुजः**=जिन पालन के साधनभूत धनों को **असुरेभ्यः**=अपने में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवालों के लिये **असुः**=प्राण **आभरः**=प्राप्त कराते हैं। **अस्य**=इस धन के द्वारा **स्तोतारं इत्**=स्तोता को निश्चय ही, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **वर्धय**=बढ़ाइये। (२) **च**=और **ये**=जो **त्वे**=आप में स्थित होते हुए, आपकी उपासना करते हुए **वृक्तबर्हिषः**=अपने हृदयान्तरिक्ष को (बर्हिष्) छिन्न पापोंवाला करते हैं (वृक्त) जो हृदयक्षेत्र में से वासना की घास-फूस को उखाड़ डालते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तोता को व उपासना द्वारा पवित्र हृदयवाले को सब पालन के साधनभूत धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

यजमान, सुन्वन्, दक्षिणावान्

यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन्तं धेहि मा पणौ॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **यम्**=जिस **अश्वम्**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली (कर्मेन्द्रियों) को **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों को तथा **अव्ययम्**=व्ययित न होनेवाले भजनीय धन को **दधिषे**=धारण करते हैं। **तम्**=उसे **तस्मिन्**=उस **यजमाने**=यज्ञशील, **सुन्वति**=सोम का सम्पादन करनेवाले **दक्षिणावति**=दानशील पुरुष में **धेहि**=स्थापित करिये। (२) यह यजमान आप से दी गयी कर्मेन्द्रियों से यज्ञात्मक पवित्र कर्मों को करेगा। ज्ञानेन्द्रियों से सोमरक्षण द्वारा दीप्त बुद्धिवाला बनकर, ज्ञान को प्राप्त करेगा। धन को यह सदा लोकहित के कार्यों में देनेवाला बनेगा। आप इस धन को **पणौ**=वणिक् वृत्तिवाले अयष्टा भोग-प्रसित पुरुष में मत स्थापित करें।

भावार्थ—हम यज्ञशील, सोम के रक्षक व दानशील बनें। प्रभु हमें उत्तम कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ व स्थिर धन प्राप्त करायें।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

निद्रालु 'अव्रतः अदेवयु' के धन का नाश

य इन्द्र सस्त्यव्रतोऽनुष्वापमदेवयुः। स्वैः ष एवैर्मुमुरत्पोष्यं रयिं सनुतर्धेहि तं ततः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यः सस्ति**=जो सोता है, **अव्रतः**=अपने नियमित कर्मों को नहीं करता है। और **अनुष्वापम्**=निद्रा व आलस्य के साथ-साथ **अदेवयुः**=दिव्य गुणों को अपने साथ जोड़ने की कामना से रहित होता है। **सः**=वह **स्वैः एवैः**=अपने ही आचरणों से **पोष्यं रयिम्**=पोषण योग्य जन (सन्तान) व धन का **मुमुरत्**=नाश कर लेता है। (२) हे प्रभो! **ततः**=उस व्यक्ति से **तम्**=उस रयि को, उस धन को **सनुतः धेहि**=अन्तर्हित करके ही धारण करिये। इसे उस धन से वञ्चित करिये।

भावार्थ—हम आलस्य में सोये न रहें। प्रबुद्ध होकर व्रतमय जीवनवाले व दिव्य गुणों की

प्राप्ति की कामनावाले बनें। यही ऐश्वर्य-भाजन बनने का मार्ग है।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

शक्र-वृत्रहा

यच्छ॒क्रासि॑ परा॒वति॒ यद॑र्वा॒वति॑ वृत्रहन्।
अत॑स्त्वा गी॒र्भिर्द्यु॒गदि॑न्द्र के॒शिभिः॑ सु॒तावाँ॒ आ वि॑वासति॥ ४॥

(१) हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन्! **वृत्रहन्**=सब ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **यत्**=क्योंकि आप **परावति**=दूर से दूर देश में भी हैं और **यत्**=क्योंकि **अर्वावति**=समीप से समीप देश में भी है (तद् दूरे तद्वन्तिके, तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः), **अतः**=इसीलिए उन सर्वव्यापक **त्वा**=आपको **द्युगत्**=यह ज्ञान-ज्योति में चलनेवाला **सुतावान्**=सोम का शरीर में सम्पादन करनेवाला पुरुष **केशिभिः**=ज्ञान की रश्मियोंवाली **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों से **आविवासति**=पूजता है, परिचरित करता है। (२) आपकी सर्वव्यापकता का स्मरण ही इसे भोगमार्ग में फँसने से बचाता है और ज्ञान के मार्ग पर चलने में प्रवृत्त करता है। इस मार्ग पर चलता हुआ यह भी 'शक्र व वृत्रहा' बनने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक हैं। यह सर्वव्यापकता का स्मरण हमें ज्ञानमार्ग पर चलते हुए, सोमरक्षण द्वारा, शक्तिशाली व वासनाओं का विनाशक बनाये।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

हृदय में प्रभु दर्शन

यद्वासि॑ रोच॒ने दि॒वः स॑मु॒द्रस्याधि॑ वि॒ष्टपि॑। यत्पार्थि॑वे॒ सद॑ने वृत्रहन्तम॒ यद॒न्तरि॑क्ष॒ आ ग॑हि॥ ५॥

(१) हे **वृत्रहन्तम**=वासनाओं के अधिक से अधिक विनाशक प्रभो! आप **यत्**=जो **वा**=निश्चय से **दिवः रोचने**=द्युलोक के दीप्त प्रदेश में **असि**=विद्यमान हैं तथा **समुद्रस्य**=इस आकाश (मध्यलोक) के **विष्टपि**=लोक में हैं, **यत्**=जो **पार्थिवे सदने**=इस पृथिवीरूप गृह में हैं। आपकी सत्ता त्रिलोकी में है। (२) **यत्**=जो आप **अन्तरिक्षे**=हमारे हृदयान्तरिक्षों में भी **आगहि**=प्राप्त होते हैं। हम अपने हृदयों में आपकी सत्ता को अनुभव करें। आपकी सर्वव्यापकता का स्मरण करते हुए आपको हृदयों में देखने के लिये यत्नशील हों।

भावार्थ—सर्वत्र त्रिलोकी में व्यापक प्रभु हमारे हृदयों में आसीन हो। हृदयों में प्रभु का दर्शन करते हुए हम अपने जीवनों को पवित्र बनायें।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

शक्ति-धन

स नः॒ सोमे॑षु सोमपाः सु॒तेषु॑ शवसस्पते। मा॒दय॑स्व॒ राध॑सा सू॒नृता॑व॒तेन्द्र॑ रा॒या परी॑णसा॥ ६॥

(१) हे **शवसस्पते**=शक्तियों के स्वामिन् प्रभो! **सः**=वे आप **सोमेषु सुतेषु**=सोमकणों के शरीर में उत्पन्न होने पर **नः**=हमारे लिये **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले हैं। इस सोमरक्षण द्वारा आप हमें भी शक्तिशाली बनाते हैं। (३) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **परीणसा**=बहुत (पर्याप्त) **राया**=धन से **मादयस्व**=हमें आनन्दित कीजिये। जो धन **राधसा**=कार्यों को सिद्ध करनेवाला है और **सूनृतावता**=सत्यवाला है। प्रिय सत्यवाणी से युक्त धन ही शोभा का बढ़ानेवाला है।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति प्राप्त करायें तथा सत्य मार्ग से अर्जित धन से हमें जीवन में सुखी

करें।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

'सच्चे बन्धु, सच्चे रक्षक' प्रभु

मा न॑ इन्द्र॒ परा॑ वृण॒ग्भवा॑ नः सध॒माद्यः॑। त्वं न॑ ऊ॒ती त्वमिन्न॒ आप्यं॒ मा न॑ इन्द्र॒ परा॑ वृणक्॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें आप **मा परावृणक्**=छोड़ मत दीजिये। आप **नः**=हमारे **सधमाद्यः**=साथ होते हुए हृदयों में आनन्द को प्राप्त करानेवाले **भव**=होइये। आपके साथ हृदयों में स्थित होते हुए हम आनन्द का अनुभव करें। (२) **त्वम्**=आप ही **नः**=हमारे **ऊती**=रक्षक हैं। **त्वं इत्**=आप ही **नः आप्यम्**=हमारे बन्धुत्ववाले हैं। वास्तविक बन्धु आप ही हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **मा परावृणक्**=मत छोड़ दीजिये। आपकी छत्रछाया में हम 'सत्य शिव व सुन्दर' जीवनवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु का साथ हमें सदा प्राप्त हो। प्रभु के साहचर्य में हम आनन्द का अनुभव करें। प्रभु ही हमारे रक्षक हैं, प्रभु ही सच्चे बन्धु हैं।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

हृदयों में प्रभु का वास व सोमरक्षण

अ॒स्मे इ॑न्द्र॒ सचा॑ सु॒ते नि ष॑दा पी॒तये॒ मधु॑।
कृ॒धी ज॑रि॒त्रे म॑घव॒न्नवो॑ म॒हद॒स्मे इ॑न्द्र॒ सचा॑ सु॒ते॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **अस्मे**=हमारे **सचा**=साथ **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर **निषदा**=निषण्ण होइये। आप हृदय में आसीन होंगे, तभी वासनाओं का विनाश होगा। सो **मधुपीतये**=इस जीवन को मधुर बनानेवाले सोम को पीने के लिये आप हमारे हृदयों में स्थित होइये। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् **इन्द्र**=प्रभो! **अस्मे**=हमारे में **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर **सचा**=साथ होते हुए आप **जरित्रे**=स्तोता के लिये **महत् अवः**=महान् रक्षण को **कृधि**=करिये।

भावार्थ—हमारे हृदयों में प्रभु का वास हो। इससे सोम का रक्षण होकर हमारा जीवन मधुर बने तो रोगों से बचा रहे।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

'असीम, अचिन्त्य (अगम्य)' प्रभु

न त्वा॑ दे॒वास॑ आशत॒ न मर्त्या॑सो अद्रिवः।
विश्वा॑ जा॒तानि॒ शव॑सा॒भिभूर॑सि॒ न त्वा॑ दे॒वास॑ आशत॥ ९॥

(१) हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! **त्वा**=आपको **देवासः**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सब प्राकृतिक देव **न आशत**=नहीं व्याप सकते। आपकी महिमा इन्हीं में ही समाप्त नहीं हो जाती। **न मर्त्यासः**=न ही मनुष्य आपकी महिमा का व्यापन कर पाते हैं। मनुष्यों से भी आप अचिन्त्य व अगम्य होते हो। (२) हे प्रभो! **विश्वा**=सब **जातानि**=उत्पन्न पदार्थों व व्यक्तियों को आप **शवसा**=अपने बल से **अभिभूः असि**=अभिभूत करनेवाले हैं। ये सब **देवासः**=देव **त्वा**=आपको **न आशत**=व्याप्त नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभु की महिमा न सूर्य-चन्द्र आदि से सीमित की जाती है, न मनुष्य उसका पूर्णतया चिन्तन कर पाते हैं।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिग्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रभु का प्रकाश व शत्रु-विनाश

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्॥ १०॥

(१) **विश्वाः**=सब **पृतनाः**=शत्रु-सेनाओं को **अभिभूतरम्**=अभिभूत करनेवाले **नरम्**=सबको आगे ले चलनेवाले **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **सजूः**=मिलकर स्तवन करते हुए (सह जुषन्ते) उपासक **ततक्षुः**=अपने में निर्मित करते हैं। स्तवन द्वारा प्रभु की दिव्यता को अपने अन्दर बढ़ाते हैं। इस प्रभु की भावना की वृद्धि से सब शत्रुओं को ये जीत पाते हैं। **च**=और **राजसे**=अपने प्रकाशन के लिये **जजनुः**=प्रभु को अपने में प्रादुर्भूत करते हैं। (२) **वरे**=श्रेष्ठता की प्राप्ति के निमित्त उस प्रभु को अपने में प्रादुर्भूत करते हैं, जो **क्रत्वा वरिष्ठम्**=प्रज्ञान व शक्ति से श्रेष्ठतम हैं। **आमुरिम्**=शत्रुओं को मारनेवाले हैं। **उत**=और **उग्रम्**=तेजस्वी हैं, **ओजिष्ठम्**= ओजस्वितम हैं, **तवसम्**=बलवान् हैं और **तरस्विनम्**=वेगवान् हैं।

भावार्थ—स्तुति के द्वारा अपने में हम प्रभु का निर्माण करें। जीवन में दीप्ति के लिये प्रभु को प्रादुर्भूत करें। प्रभु सब शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

स्तुति से 'सोमरक्षण, प्रकाश वृद्धि व पुण्य का लाभ'

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः॥ ११॥

(१) **रेभासः**=स्तोता लोग **ईं इन्द्रम्**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सोमस्य पीतये**=सोम के रक्षण के लिये **सं अस्वरन्**=स्तुत करते हैं। प्रभु-स्तवन द्वारा, वासनाओं से आक्रान्त न होते हुए ये स्तोता सोमरक्षण कर पाते हैं। (२) **स्वः पतिम्**=सुख व प्रकाश के स्वामी **ईम्**=इस प्रभु को **यद्**=जब ये स्तुत करते हैं, तो वे प्रभु **वृधे**=इनकी वृद्धि के लिये होते हैं। वे प्रभु **हि**=निश्चय से **ओजसा**=ओजस्विता के साथ तथा **ऊतिभिः**=रक्षणों के साथ **धृतव्रतः**=इनके उत्तम कर्मों का धारण करते हुए **सम्** (गच्छते)=इनके साथ संगत होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे जीवन में सोम का रक्षण करेंगे, प्रकाश को प्राप्त करायेंगे, अपने रक्षणों व ओज से हमारे व्रतों का रक्षण करेंगे। इस प्रकार हमारी वृद्धि का कारण बनेंगे।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

नेमिम्

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः॥ १२॥

(१) स्तोता लोग **नेमिम्**=इस ब्रह्माण्ड की परिधिरूप उस प्रभु को, सर्वत्र व्याप्त उस प्रभु को नमस्कार करते हैं। **विप्राः**=ज्ञानी लोग **चक्षसा**=प्रभु की महिमा को सर्वत्र देखने के द्वारा तथा **अभिस्वरा**=स्तोत्र के द्वारा **मेषम्**=(मेषति=sprinkle)=सर्वसुखों के सेचक प्रभु को नमस्कार करते हैं। (२) **सुदीतयः**=उत्तम ज्ञान की दीप्तिवाले, **अद्रुहः**=द्रोह की भावना से रहित **वः**=तुम सब

अपि=भी **कर्णे**=प्रभु महिमा के श्रवण में **तरस्विनः**=वेगवाले होते हुए **ऋक्वभिः**=ऋचाओं के द्वारा अर्चन-साधन मन्त्रों के द्वारा **सम्**=उस प्रभु के साथ संगत होवो।

भावार्थ—ज्ञानी लोग सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन करते हुए उस व्यापक प्रभु को स्तोत्रों द्वारा प्रणाम करते हैं। हम भी ज्ञानदीप्ति व अद्रोह को धारण करते हुए इन स्तोत्रों का श्रवण करें और अर्चन-साधन मन्त्रों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अति जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

सुपथ से ऐश्वर्य प्राप्ति

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद्राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री॥ १३॥

(१) **तम्**=उस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। जो **मघवानम्**=ऐश्वर्यशाली हैं, **उग्रम्**=तेजस्वी हैं। **सत्रा**=सचमुच **शवांसि**=बलों को **दधानम्**=धारण कर रहे हैं अतएव **अप्रतिष्कुतम्**=शत्रुओं से अप्रतिरोधनीय हैं। (२) वे प्रभु **मंहिष्ठः**=दातृतम हैं, महान् दाता हैं, **च**=और **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **यज्ञियः**=पूजनीय हैं। ये प्रभु **राये**=ऐश्वर्य को प्राप्त कराने के लिये **आववर्तत्**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त हों। ये **वज्री**=वज्रहस्त प्रभु **नः**=हमारे लिये **विश्वा सुपथा**=सब सुमार्गों को **कृणोतु**=करें। हम विपथ से हटकर सदा सुमार्ग पर चलनेवाले बनें।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें। प्रभु ही हमारे सब शत्रुओं का संहार करते हैं। सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं। हमारे मार्गों को सुपथ करते हैं, हमें विपथ से परावृत्त करते हैं।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट् त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

शत्रु-नगरियों का विध्वंस

त्वं पुर इन्द्र चिकिदेना व्योजसा शविष्ठ शक्र नाशयध्यै।
त्वद्विश्वानि भुवनानि वज्रिन्द्यावा रेजेते पृथिवी च भीषा॥ १४॥

(१) हे **शविष्ठ**=बलवत्तम, **शक्र**=शत्रुहनन के लिये शक्तिवाले, **चिकित्**=ज्ञानी **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! **त्वम्**=आप **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **एना**=इन **पुरः**=शत्रु-पुरियों को **विनाशयध्यै**=विनष्ट करने के लिये होते हैं। 'काम' इन्द्रियों में अपनी नगरी बनाता है, 'क्रोध' मन में तथा 'लोभ' बुद्धि में। प्रभु इन सब पुरियों का विनाश कर देते हैं। (२) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **त्वत्**=आप से **विश्वानि भुवनानि**=सब भुवन (प्राणी) **भीषा**=भय से काँप उठते हैं। **च**=और **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक भी भय से **रेजेते**=काँप जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी शक्ति से शत्रु-पुरियों का विध्वंस कर देते हैं। प्रभु के भय से सब प्राणी व द्यावापृथिवी काँप उठते हैं।

ऋषिः—रेभः काश्यपः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—ककुम्मतीजगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

सत्य-निष्पापता-धन

तन्म ऋतमिन्द्र शूर चित्र पात्वपो न वज्रिन्दुरिताति पर्षि भूरि।
कदा न इन्द्र राय आ दशस्येर्विश्वप्स्न्यस्य स्पृहयाय्यस्य राजन्॥ १५॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले, **चित्र**=आश्चर्यमय अथवा (चित्) ज्ञान-प्रदातः,

इन्द्र=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **मे**=मुझे **तत्**=वह **ऋते**=ऋत (सत्य) **पातु**=रक्षित करे। हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! आप हमें सब **दुरिता**=पापों के **भूरि**=खूब ही **अतिपर्षि**=इस प्रकार पार करिये, **न**=जैसे एक नाविक **अपः**=यात्री को जलों के पार करता है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् **राजन्**=शासक प्रभो! आप **कदा**=कब **नः**=हमारे लिये **विश्वपस्न्यस्य**=स्पृहणीय **रायः**=धन को **आदशस्ये**=देंगे? कब हम आप से इस धन को प्राप्त करेंगे?

भावार्थ—सत्य हमारा रक्षण करे। प्रभु हमें पापों से पार करें और स्पृहणीय अनेकरूप धन को प्राप्त करायें।

यह सुपथ से चलनेवाला सत्यवादी 'नृ-मेध' बनता है, सब मनुष्यों के साथ मेल से चलता है। यह इन्द्र का स्तवन करता है—

९८. [अष्टनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'इन्द्र विप्र बृहत्, धर्मकृत् विपश्चित् पनस्यु'

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥ १॥

(१) **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **साम गायत**=साम (स्तोत्र) का गायन करो। **विप्राय**=ज्ञानी, **बृहते**=महान् प्रभु के लिये **बृहत्**=खूब ही साम का गायन करो। (२) उस प्रभु के लिये गायन करो, जो **धर्मकृते**=धारणात्मक कर्मों को करनेवाले हैं। **विपश्चिते**=ज्ञानी हैं और **पनस्यवे**=स्तुति को चाहनेवाले हैं। जीव को इस स्तुति के द्वारा ही अपने लक्ष्य का स्मरण होता है। यह लक्ष्य का अविस्मरण उसकी प्रगति का साधन बनता है। इसीलिए प्रभु यह चाहते हैं, कि जीव का जीवन स्तुतिमय हो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु के समान ही इन्द्र (जितेन्द्रिय) बृहत् (वृद्धिवाले) विप्र (अपना पूरण करनेवाले) धर्मकृत् (धर्म के कार्य करनेवाले) विपश्चित् (ज्ञानी) व स्तुतिमय (पनस्यु) बनें।

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—ककुम्मत्युष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

विश्वकर्मा, विश्वदेवः

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **त्वम्**=आप **अभिभूः असि**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। **त्वम्**=आप ही **सूर्यं अरोचयः**=सूर्य को दीप्त करते हैं। प्रभु हमारे भी काम-क्रोध आदि शत्रुओं को अभिभूत करके हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य को उदित करते हैं। (२) हे प्रभो! आप ही **विश्वकर्मा**=सब कर्मों को करनेवाले व **विश्वदेवः**=सब दिव्य गुणोंवाले वा सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं। अतएव **महान् असि**=आप महान् हैं, पूज्य हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब शत्रुओं का अभिभव करते हैं। प्रभु ही सूर्य को दीप्त करते हैं। प्रभु विश्वकर्मा, विश्वदेव व महान् हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

निरुक्त-कथन

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः। देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे॥ ३॥

(१) हे प्रभो! आप **ज्योतिषा विभ्राजन्**=ज्योति से दीप्त होते हुए **स्वः**=सुख को **अगच्छः**= प्राप्त होते हैं, आप आनन्दस्वरूप हैं। आप ही **दिवः**=आदित्य के **रोचनम्**=प्रकाशक तेज को प्राप्त कराते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **ते**=आपकी **सख्याय**=मित्रता के लिये **येमिरे**=अपने को नियमों के बन्धन में बाँधते हैं। यह संयम ही उन देवों को महादेव का मित्र बनाता है।

भावार्थ—प्रभु ज्योति से दीप्त व आनन्दमय हैं, ये सूर्य को भी दीप्ति प्राप्त कराते हैं। संयम के द्वारा देव प्रभु मैत्री के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—पादनिचृदुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

सत्राजित्

एन्द्र नो गधि प्रियः सत्राजिदगोह्यः। गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिवः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **आगधि**=प्राप्त होइये। **प्रियः**=आप प्रीति व आनन्द के जनक हैं, **सत्राजित्**=सदा विजय प्राप्त करानेवाले हैं। **अगोह्यः**=किसी से भी संवृत नहीं किये जाने योग्य हैं। सारे ब्रह्माण्ड को आपने अपने में आवृत किया हुआ है। 'अगोह्यः' का भाव यह भी है कि प्रभु की महिमा कण-कण में दृष्टिगोचर होती है, सो प्रभु का प्रकाश तो सर्वत्र है। (२) आप **गिरिः न**=उपदेष्टा के समान हैं। हृदयस्थरूपेण सदा सत्कर्मों की प्रेरणा दे रहे हैं। **विश्वतः पृथुः**=सब दृष्टिकोणों से विशाल हैं। आपका ज्ञान, बल व ऐश्वर्य सब अनन्त है। आप **दिवः पतिः**=प्रकाश के, ज्ञान के स्वामी हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें विजय प्राप्त कराते हैं। ज्ञानोपदेश द्वारा वे हमारा कल्याण करते हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—उष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'ब्रह्माण्ड के शासक' प्रभु

अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी। इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥ ५ ॥

(१) हे **सत्य**=सत्यस्वरूप **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **अभि बभूथ**=अभिभूत करते हो। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपके वश में है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! आप **सुन्वतः**=यज्ञशील पुरुष के व सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष के **वृधः**=बढ़ानेवाले **असि**=हैं। **दिवः**=द्युलोक के व प्रकाश के **पतिः**=स्वामी व रक्षक हैं। जो भी सोम का अपने जीवन में सम्पादन करता है, उसे आप स्वर्ग व प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं। सोम का सम्पादन करनेवाले के रक्षक हैं। प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—ककुम्मत्युष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

'पुरांदर्ता'

त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि। हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **शश्वतीनाम्**=अनेक **पुराम्**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं की नगरियों के **दर्ता असि**=विदीर्ण करनेवाले हैं। (२) इन नगरियों का विध्वंस करके आप **दस्योः**=हमारा उपक्षय करनेवाले के **हन्ता असि**=नष्ट करनेवाले हैं।

मनोः वृधः=विचारशील पुरुष का वर्धन करनेवाले हैं तथा **दिवः**=प्रकाश व स्वर्ग के **पतिः**=स्वामी हैं।

भावार्थ—शत्रु-पुरियों का विदारण करके, दस्युओं के विध्वंस के द्वारा प्रभु विचारशील पुरुषों का वर्धन करते हैं और इनके जीवन को प्रकाशमय व सुखमय बनाते हैं।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

'महः कामान्' (महान् कामनायें)

अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान्महः ससृज्महे। उदेव यन्त उदभिः॥ ७॥

(१) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा उपासनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अधा हि**=अब निश्चय से **त्वा उप**=आपके समीप ही **महः कामान्**=इन महान् कामनाओं को **ससृज्महे**=अपने में उत्पन्न कर पाते हैं। प्रभु की उपासना से उस महान् प्रभु का सम्पर्क हमारे में महान् ही कामनाओं को जन्म देता है। (२) **इव**=जैसे **उदा यन्तः**=पानी में से जाते हुए पुरुष **उदभिः**=जलों से अपने को संसृष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—नदी से जानेवाले पुरुष जैसे जलों से संसृष्ट होते हैं, इसी प्रकार महान् प्रभु के सम्पर्कवाले पुरुष महान कामनाओं से संसृष्ट हो पाते हैं। इनके अन्दर तुच्छ कामनायें उत्पन्न ही नहीं होती।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

स्तुति-प्रभु प्रकाश-दुरित दूरीकरण

वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि। वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे॥ ८॥

(१) **न**=जैसे **यव्याभिः**=यवों के क्षेत्रों के उद्देश्य से **वाः**=जल को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। जलों के द्वारा ही यव क्षेत्रों ने बढ़ना होता है। एवं हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **यव्याभिः**=(यु अमिश्रणे) बुराइयों को पृथक् करने के उद्देश्य से **ब्रह्माणि**=हमारी स्तुति-वाणियाँ **त्वा वर्धन्ति**=आपको बढ़ाती हैं। (२) हे **अद्रिवः**=आदरणीय व वज्रहस्त प्रभो! **वावृध्वांसं चित्**=सब दृष्टिकोणों से बढ़े हुए भी आपको **दिवे दिवे**=प्रतिदिन हमारी स्तुतिवाणियाँ बढ़ाती हैं। इन स्तुतिवाणियों के द्वारा ही हम अपने अन्दर आपके प्रकाश को अधिक और अधिक बढ़ा पाते हैं।

भावार्थ—स्तवन के द्वारा प्रभु के प्रकाश का अपने अन्दर वर्धन करते हुए हम अपने जीवन से बुराइयों को दूर करें।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

इन्द्रवाहा, वचोयुजा

युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे। इन्द्रवाहा वचोयुजा॥ ९॥

(१) **इषिरस्य**=उस सर्वप्रेरक, सबको गति देनेवाले प्रभु की **गाथया**=गुणगाथा के साथ **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **उरौ रथे**=इस विशाल शरीर-रथ में **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। उस रथ में इनको जोतते हैं जो **उरुयुगे**=विशाल युगवाला है, मन ही युग है, यह आत्मा व इन्द्रियों को जोड़नेवाला है। (२) ये **इन्द्रियाश्ववाहा**=जितेन्द्रिय पुरुष का लक्ष्य की ओर वहन करनेवाले हैं, इस जितेन्द्रिय पुरुष को ये प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। **वचोयुजा**=ये इन्द्रियाश्व वेदवाणी के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रेरक प्रभु का गुणगान करनेवाला व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में वेदवाणी के निर्देश के अनुसार युक्त कर प्रभुरूप लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

ओजः-नृम्णं

त्वं न इन्द्रा भरँ ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे। आ वीरं पृतनाषहम्॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **ओजः**=बल को तथा **नृम्णम्**=धन को **आभर**=प्राप्त कराइये। (२) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले **विचर्षणे**=सब के द्रष्टा प्रभो! आप हमें **पृतनाषहम्**=शत्रु-सेनाओं का अभिभव करनेवाले **वीरम्**=वीर सन्तान को **आ (भर)**=प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु का उपासन करते हुए हम बल, धन तथा वीर सन्तान को प्राप्त करके सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

सुम्नम्

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥ ११॥

(१) हे **वसो**=सब को अपने में बसानेवाले प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **नः पिता**=हमारे पिता हैं। हे **शतक्रतो**=अनन्त सामर्थ्य व प्रज्ञानवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही हमारी **माता बभूविथ**=माता हैं। (२) **अधा**=सो अब **ते**=आप से ही **सुम्नम्**=सब सुखों की **ईमहे**=याचना करते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही हमारे पिता हैं, आप ही माता हैं, आप से ही हम सब सुखों की याचना करते हैं।

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—विराडुष्णिक् ॥ **स्वरः**—ऋषभः ॥

सुवीर्यम्

त्वां शुष्मिन्पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो। स नो रास्व सुवीर्यम्॥ १२॥

(१) हे **शुष्मिन्**=शत्रुओं के शोषक बल से सम्पन्न! **पुरुहूत**=बहुतों के पुकारे जानेवाले **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्ति से सम्पन्न प्रभो! **वाजयन्तम्**=हमारे साथ सम्पर्कवाले **त्वाम् उपब्रुवे**=आपको ही मैं पुकारता हूँ। (२) हे प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिये **सुवीर्यं रास्व**=उत्तम शक्ति को दीजिये।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु उपासक के साथ भी शक्ति को जोड़ते हैं। हमें भी प्रभु सुवीर्य को प्राप्त करायें।

अगले सूक्त में भी 'नृमेध' ही 'इन्द्र' का स्तवन कर रहा है—

९९. [नवनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—नृमेधः ॥ **देवता**—इन्द्रः ॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड् बृहती ॥ **स्वरः**—गान्धारः ॥

भूर्णयः नरः

त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन्वज्रिन्भूर्णयः। स इन्द्र स्तोमवाहसामिह श्रुध्युप स्वसरमा गहि॥ १॥

(१) हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त-क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथ में लिये हुए प्रभो! **त्वाम्**=आपको

ह्यः=बल, अर्थात् गत समय में तथा **इव**=(इदानीम्) अब भी ये **भूर्णयः**=भरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **अपीप्यन्**=स्तुतियों के द्वारा बढ़ाते हैं। (२) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **सः**=वे आप **इह**=यहाँ **स्तोमवाहसाम्**=स्तुति-समूहों का वहन करनेवाले इन उपासकों के स्तोत्र को **श्रुधि**=सुनिये। **स्व-सरम्**=आत्मतत्व की ओर चलनेवाले इस उपासक को **उप आ गहि**=समीपता से प्राप्त होइये। नि० ३.४ में 'स्वसरम्' गृह का नाम है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि **स्वसरं उपागहि**=हमारे घर में प्राप्त होइये।

भावार्थ—भरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होकर हम प्रभु का उपासन करें। हम स्तोताओं की प्रार्थना को प्रभु सुने और हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—नृमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रभु-स्मरण पूर्वक जीवन को सुभूषित करना

मत्स्वा सुशिप्र हरिवस्तदीमहे त्वे आ भूषन्ति वेधसः।
तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्या सुतेष्विन्द्र गिर्वणः॥ २॥

(१) हे **सुशिप्र**=शोभन हनू (जबड़े) व नासिकाओं को प्राप्त करानेवाले, **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को देनेवाले प्रभो! **मत्स्वा**=आप इन साधनों द्वारा हमें आनन्दित करिये। **तत् ईमहे**=वही बात हम आप से माँगते हैं। **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष **त्वे आभूषन्ति**=आप में निवास करते हुए अपने जीवन को सद् गुणों से भूषित करते हैं। (२) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से वननीय (उपासनीय) **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुतेषु**=इन सब उत्पन्न पदार्थों में **तव**=आपके **श्रवांसि**=यश **उपमानि**=उपमानभूत हैं तथा **उक्थ्या**=प्रशंसनीय हैं। प्रत्येक पदार्थ आपकी महिमा को प्रकट कर रहा है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें उत्तम जबड़े, नासिका व इन्द्रियाश्व प्राप्त कराके जीवन को आनन्दमय बनाने के साधन जुटा दिये हैं। हम प्रभु में निवास करते हुए इन साधनों के सदुपयोग कर जीवन को अलंकृत करनेवाले हों। प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखें।

ऋषिः—नृमेधः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृद्बृहती॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

श्रायन्त इव सूर्यम्

श्रायन्तइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत। वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम॥ ३॥

(१) **सूर्यम् इव**=सूर्य की तरह, अर्थात् जैसे सूर्य की धूप में पसीना आ जाता है, इसी प्रकार **श्रायन्तः**=(आयति To sweat) श्रम के कारण पसीने से तरवतर होते हुए **इन्द्रस्व**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **विश्वा इत् वसूनि**=इन सब पदार्थों को (धनों को) **भक्षत**=उपयुक्त करो। बिना श्रम के खाना पाप है। (२) **ओजसा**=ओजस्विता से, बल से **जाते**=उत्पन्न हुए-हुए अथवा **जनमाने**=आगे उत्पन्न होनेवाले धन में **भागं न**=अपने भाग के समान वसु को **प्रतिदीधिम**=धारण करें। हम काम से व बल से धनों का अर्जन करें। उन्हें अपने-अपने भाग के अनुसार बाँटकर खानेवाले बनें।

भावार्थ—धूप में जैसे पसीना आ जाता है, उसी प्रकार श्रम से पसीनेवाले होकर हम धनों को कमायें। उन्हें भाग के अनुसार बाँटकर खायें।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'अनर्शराति वसुदा' प्रभु

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।
सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन्॥ ४॥

(१) उस **आनर्शरातिम्**=निष्पाप दानवाले (A sinless doner) **वसुदाम्**=धनों के दाता प्रभु को **उपस्तुहि**=स्तुत कर। **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **रातयः**=दान **भद्राः**=कल्याणकर हैं। (२) **सः**=वे प्रभु **अस्य विधतः**=प्रभु की पूजा करनेवाले की, उपासक की **कामम्**=कामना को **न रोषति**=हिंसित नहीं करते। ये प्रभु **मनः**=उपासक के मन को **दानाय चोदयन्**=दान के लिये प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—हम उस वसुओं के देनेवाले प्रभु का स्तवन करें। प्रभु स्तोता की कामना को पूर्ण करते ही हैं। प्रभु हमारे मनों को दान के लिये प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृद् बृहती॥ स्वरः—गान्धारः॥

'अशस्तिहा-विश्वतूः' प्रभु

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रतूर्तिषु**=संग्रामों में **विश्वाः**=सब **स्पृधः**=स्पर्धाकारिणी शत्रु-सेनाओं को **अभि असि**=अभिभूत करनेवाले हैं। (२) आप **अशस्तिहा**=इन शत्रुओं से की जानेवाली हिंसाओं के हन्ता हैं। **जनिता**=इन शत्रुओं की हिंसा को पैदा करनेवाले हैं शत्रुओं से हमें हिंसित नहीं होने देते। हमें शत्रुओं के हिंसन के योग्य बनाते हैं। **विश्वतूः असि**=सब शत्रुओं के हिंसन करनेवाले आप ही हैं। **त्वम्**=आप ही **तरुष्यतः**=हिंसन करनेवालों को **तूर्य**=विनष्ट करिये।

भावार्थ—प्रभु ही संग्रामों में हमारे शत्रुओं का पराभव करते हैं। सब हिंसकों का हिंसन प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु के बल का अनुगमन

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ते**=आपके **तुरयन्तं शुष्मम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले बल का **क्षोणी**=द्यावापृथिवी **अनु ईयतुः**=अनुगमन करते हैं। **न**=जैसे **मातरा शिशुम्**=माता-पिता प्रेमवश छोटे बच्चे के पीछे-पीछे चलते हैं। (२) **ते मन्यवे**=आपके क्रोध के लिये **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रु-सैन्य **श्नथयन्त**=श्नथित व खिन्न हो जाते हैं। **यद्**=जब आप **वृत्रं तूर्वसि**=वृत्र को, ज्ञान के आवरणभूत 'काम' को विध्वस्त करते हैं। उस समय शत्रु-सैन्य ढीले पड़ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति का ही सम्पूर्ण संसार अनुगमन करता है। प्रभु के मन्यु के सामने सब शत्रु शिथिल हो जाते हैं। प्रभु ही वृत्र का विनाश करते हैं।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद् बृहती॥ स्वरः—गान्धारः॥

'तुग्र्यावृध' प्रभु

इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्। आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम्॥ ७॥

(१) **वः**=तुम्हारे **अजरम्**=जरा को दूर करनेवाले, **प्रहेतारम्**=शत्रुओं को दूर प्रेरित करनेवाले **अप्रहितम्**=किसी से भी पराषित न होनेवाले, **आशुम्**=वेगवान्, **जेतारम्**=शत्रुओं को पराजित करनेवाले, **हेतारम्**=शत्रुओं को दूर कम्पित करनेवाले प्रभु को **ऊती**=रक्षण के लिये **इत**=द्यावापृथिवी प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु ही सबका रक्षण करते हैं। (२) उस प्रभु को रक्षा के लिये सब प्राप्त होते हैं जो **रथीतमम्**=रथ के सर्वोच्च संचालक हैं, **अतूर्तम्**=किसी से हिंसित होनेवाले नहीं। तथा **तुग्रयावृधम्**=शरीरस्थ रेतःकणरूप जलों का वर्धन करनेवाले हैं। वस्तुतः शत्रुओं का हिंसन करके, शरीर में शक्तिकणों के वर्धन के द्वारा ही, प्रभु हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण द्यावापृथिवी रक्षण के लिये प्रभु को ही प्राप्त होते हैं। प्रभु शत्रुओं का हिंसन करके हमारा रक्षण करते हैं। वे रेतःकणरूप जलों का हमारे में वर्धन करते हैं।

ऋषिः—नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पं- ॥ स्वरः—पञ्चमः॥

इष्कर्तारं अनिष्कृतं

इष्कर्तारमनिष्कृतं सहस्कृतं शतमूतिं शतक्रतुम्।
समानमिन्द्रमवसे हवामहे वसवानं वसूजुवम्॥ ८॥

(१) **इष्कर्तारम्**=सब के सञ्चालक, **अनिष्कृतम्**=अन्यों से अप्रेरित, **सहस्कृतम्**=सब बलों के उत्पादक, **शतभूतिम्**=सैंकड़ों रक्षासाधनों से युक्त, **शतक्रतुम्**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले, **समानम्**=(सं आनम्) सम्यक् प्राणित करनेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिये **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) उस प्रभु को पुकारते हैं जो **वसवानम्**=सबको बसानेवाले हैं तथा **वसूजुवम्**=सब वसुओं के हमारे लिये प्रेरित करनेवाले हैं।.

भावार्थ—प्रभु सर्वसंचालक हैं। शत्रुओं को नष्ट करके हमारे में शक्ति का सम्पादन करते हैं। सबको आच्छादित करनेवाले व सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। इन प्रभु को रक्षण के लिये हम पुकारते हैं।

जो प्रभु के बिना अपने को अधूरा समझता है वह 'नेम भार्गव' है, **नेम**=अधूरा। भार्गव=भृगु का अपत्य=खूब तपस्या की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाला। तपस्या के द्वारा ही यह प्रभु को जान पाता है। उस समय प्रभु को यह अपने सच्चे मित्र के रूप में देखता है। प्रारम्भिक स्थिति में प्रभु की सत्ता के विषय में इसे सन्देह भी होता है। यह कहता है कि—

१००. [शततमं सूक्तम्]

ऋषिः—नेमो भार्गवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

निमित्तमात्रं भव (सव्यसाचिन्)

अयं त एमि तन्वा पुरस्ताद्विश्वे देवा अभि मा यन्ति पश्चात्।
यदा मह्यं दीधरो भागमिन्द्रादिन्मया कृणवो वीर्याणि॥ १॥

(१) जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अयम्**=यह मैं **तन्वा**=इस शरीर के साथ **ते पुरस्तात्**=आपके सामने **एमि**=उपस्थित होता हूँ। **विश्वे देवाः**=सब देव **मा**=मेरे **पश्चाद्**

अभियन्ति=पीछे आते हैं, अर्थात् सब दिव्य गुण मुझे प्राप्त होते हैं। प्रभु के सामने उपस्थित होने पर सब दिव्य गुणों का हमारे में प्रवेश होता है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यदा**=जब **मह्यम्**=मेरे लिये **भागं दीधरः**=भाग को धारण करते हैं, मुझे जब आपके भजनीय गुण प्राप्त होते हैं **आत् इत्**=तब शीघ्र ही **मया**=मेरे द्वारा आप **वीर्याणि कृणवः**=शक्तिशाली कार्यों को करते हैं। मैं आपका माध्यम बन जाता हूँ। और आपकी शक्ति से मेरे द्वारा सब कार्य होने लगते हैं। मैं आपका ही भक्त बन जाता हूँ। मेरे द्वारा आपसे किये जानेवाले सब कार्य महान् होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के सामने उपस्थित हों, हमें प्रभु के दिव्य गुण प्राप्त होंगे। जब प्रभु हमें भजनीय दिव्य गुणों को धारण करायेंगे, तो हमारे द्वारा महान् कार्य हो रहे होंगे।

ऋषिः—नेमो भार्गवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'दक्षियातः सखा' (पूर्ण विश्वसनीय मित्र प्रभु)

दधामि ते मधुनो भक्षमग्रे हितस्ते भागः सुतो अस्तु सोमः।
असश्च त्वं दक्षिणतः सखा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि॥ २॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके **मधुनः**=इस जीवन को मधुर बनानेवाले सोम के **भक्षम्**=भोजन को, शरीर के अन्दर धारण को **अग्रे दधामि**=सब से पहले स्थापित करता हूँ। मैं सोमरक्षण को अपना मूल-कर्त्तव्य बनाता हूँ। **सुतः सोमः**=शरीर में उत्पन्न सोम **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **हितः भागः अस्तु**=शरीर में सुरक्षित भजनीय वस्तु बने। सोमरक्षण के द्वारा मैं आपको प्राप्त करनेवाला बनूँ। (२) **च**=और हे प्रभो! इस सोमरक्षण के होने पर **त्वम्**=आप **मे**=मेरे **दक्षिणतः सखा**=दाहिने हाथ के रूप में मित्र पूर्ण विश्वसनीय मित्र **असः**=हों। आपको मित्र रूप में पाकर **अधा**=अब **वृत्राणि**=वृत्रों को, वासनाओं को **भूरि जङ्घनाव**=खूब ही विनष्ट करें।

भावार्थ—हम सोमरक्षण को प्राथमिकता दें। इसके रक्षण को ही प्रभु प्राप्ति का साधन जानें। आप मेरे विश्वसनीय मित्र हों। हम दोनों मिलकर वासना रूप शत्रुओं का खूब ही विनाश करें।

ऋषिः—नेमो भार्गवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु में पूर्ण विश्वास व प्रभु-स्तवन

प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम॥ ३॥

(१) **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए तुम **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **स्तोमम्**=स्तुति को **प्र सु भरत**=प्रकर्षेण सम्पादित करो। **सत्यं अस्ति**=यदि प्रभु सत्य हैं, तो उनके लिये **सत्यम्**=सत्य ही स्तोम का सम्पादन करो। हृदय में प्रभु सत्ता की सत्यता में विश्वास करते हुए तुम प्रभु का हृदय से सच्चा ही स्तवन करो। (२) **नेमः उ त्वः**=अधूरे ज्ञानवाला ही कोई व्यक्ति (त्वः) **इति आह**=यह कहता है कि **इन्द्रः न अस्ति**=परमैश्वर्यशाली प्रभु नहीं है। **कः ईं ददर्श**=किसने इस प्रभु को देखा है? **कं अभिष्टवाम्**=किसका स्तवन हम करें? (३) अपरिपक्वता में ऐसे ही विचार उठते हैं। धीमे-धीमे तपस्या की अग्नि में परिपक्व होने पर ज्ञान वृद्धि के परिणामस्वरूप वह संसार के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की सत्ता का अनुभव करने लगता है।

भावार्थ—प्रभु के लिये हृदय से सचमुच स्तवन करो, प्रभु सत्ता में पूर्ण विश्वास रक्खो। ज्ञान की अपरिपक्वता के स्थिति में प्रभु की सत्ता में सन्देह होने लगता है।

ऋषिः—इन्द्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'आदर्दिरः'

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि॥४॥

(१) प्रभु सत्ता के विषय में संदिग्ध स्तोता से प्रभु कहते हैं कि हे **जरितः**=स्तोतः! **अयं अस्मि**=मैं तो ये तेरे सामने ही हूँ, **मा**=मुझे **इह**=यहाँ **पश्य**=देख। इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ में तुझे मेरी सत्ता दिखेगी। **विश्वा जातानि**=सब उत्पन्न पदार्थों को **मह्ना**=अपनी महिमा से **अभ्यस्मि**=अभिभूत करनेवाला हूँ। (२) **ऋतस्य प्रदिशः**=सत्य के उपदेष्टा लोग **मा वर्धयन्ति**=मेरा वर्धन करते हैं। सत्य ज्ञान को प्राप्त करनेवाले ज्ञानी प्रभु की महिमा को देखते हुए उसका सब के लिये प्रतिपादन करते हैं। प्रभु कहते हैं कि मैं **आदर्दिरः**=समन्तात् सब लोकों का विदारण करनेवाला हूँ। प्रलय के समय मैं ही **भुवना**=सब भुवनों को **दर्दरीमि**=विदीर्ण करता हूँ। वर्तमान में भी उपासकों के शत्रुओं का मैं ही विदारण (विनाश) करता हूँ।

भावार्थ—ज्ञान के होने पर सब पदार्थों में प्रभु की महिमा दिखती है। पदार्थों के प्रलय में किसी अनन्त शक्ति का हाथ दिखता ही है। वासनारूप शत्रुओं का भी तो हमारे लिये विदारण बड़ा कठिन होता है। इनका विदारण करनेवाली शक्ति वे प्रभु ही हैं।

ऋषिः—इन्द्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शिशु के साथ बात

आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचदचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः॥५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि—**ऋतस्य वेनाः**=ऋत की, यज्ञ की कामनावाले **यत्**=जब **मा अरुहन्**=मुझे प्राप्त होते हैं, मेरा आरोहण करते हैं। उस मेरा, जो **एकम्**=अद्वितीय हूँ और **हर्यतस्य**=(हर्य गतिकान्त्योः) गतिमय चमकनेवाली इस प्रकृति के **पृष्ठे आसीनम्**=पृष्ठ पर आसीन हूँ। मेरे से अधिष्ठित प्रकृति ही तो चराचर को जन्म देती है। (२) उस समय **मनः चित् मे**=मन निश्चय से मेरा हो जाता है। यह प्रभु में लीन मन **हृदे आ प्रत्यवोचत्**=हृदय के लिये प्रतिवचन को कहता है—हृदयस्थ प्रभु के साथ बातचीत ही करता है। **सखायः**=ये प्रभु के मित्र लोग **अन्तः**=हृदय के अन्दर उस **शिशुम्**=अविद्या आदि दोषों के तनू कर्ता प्रभु को **अचिक्रदन्**=पुकारते हैं। हृदयस्थ प्रभु की आराधना करते हैं। अपने दोषों के क्षय के लिये प्रभु को पुकारते हैं।

भावार्थ—हम ऋत की कामनावाले होकर प्रभु को प्राप्त हों। प्रभु से अधिष्ठित प्रकृति को ही चराचर को जन्म देती हुई जानें। प्रभु में मन को लगाकर हृदयस्थ प्रभु से बात करें, दोषों का क्षय करनेवाले उस प्रभु को ही पुकारें।

ऋषिः—नेमो भार्गवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'पारावतं पुरुसम्भृतं' वसु

विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या या चकर्थ मघवन्निन्द्र सुन्वते।
पारावतं यत्पुरुसंभृतं वस्वपावृणोः शरभाय ऋषिबन्धवे॥६॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **या**=जिन कर्मों को आप **सुन्वते**=

सोमाभिषव करनेवाले, शरीर में सोम का सम्पादन करनेवाले, पुरुष के लिये **चकर्थ**=करते हैं, **ते**=आपके **ता**=वे **विश्वा इत्**=सब कर्म ही **सवनेषु**=यज्ञों में, शुभकर्मों के प्रसंगों में **प्रवाच्या**=प्रवचन के योग्य होते हैं। यज्ञों में एकत्र होने पर लोग उन कर्मों का गायन करते हैं। (२) आप **यत्**=जो **पारावतम्**=(पारः च अवतः च) संसार सागर से पार लगानेवाला और सबका रक्षण करनेवाला, **पुरुसंभृतम्**=खूब ही सम्भरण करनेवाला (पुरु सम्भृतं यस्मात्) **वसु**=धन है, उसे **शरभाय**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले **ऋषिबन्धव**=वेदज्ञान को अपने साथ बाँधनेवाले ज्ञानी पुरुष के लिये **अपावृणोः**=अपावृत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षण करनेवाले पुरुष को अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त कराते हैं। वासनाओं का हिंसन करनेवाले ज्ञानी पुरुष को उत्तम रक्षक व भवबन्धनछेदक वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—नेमो भार्गवः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

वृत्र के मर्म पर वज्र प्रहार

प्र नूनं धावता पृथङ् नेह यो वो अवावरीत्।
नि षीं वृत्रस्य मर्मणि वज्रमिन्द्रो अपीपतत्॥ ७॥

(१) **नूनम्**=निश्चय से जो वृत्र (काम) नामक शत्रु **प्रधावता**=तुम्हारी ओर प्रकर्षेण दौड़ता है। **यः**=जो **इह**=इस जीवन में **पृथङ् न**=तुम्हारे से पृथक् नहीं होता है, अपितु **वः**=तुम्हें **अवावरीत्**=आवृत किये रहता है, तुम्हारे पर परदे के रूप में पड़ा रहता है। उस **वृत्रस्य**=ज्ञान की आवरणभूत काम-वासना के **मर्मणि**=मर्मस्थल पर **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **वज्रम्**=वज्र को **सीम्**=निश्चय से **नि अपीपतत्**=गिराता है, वज्र द्वारा उसका विनाश कर देता है। (२) काम-वासना हमारे पर निरन्तर आक्रमण करती है, हमें यह घेरे रहती है। प्रभु की कृपा से ही हम क्रियाशीलता द्वारा इस पर विजय पाने में समर्थ होते हैं। क्रियाशीलता ही वज्र है, जो इसका विनाश करती है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण के साथ सतत क्रियाशील बनकर हम वासना को विनष्ट करें।

ऋषिः—नेमो भार्गवः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥ **स्वरः**—गान्धारः॥

आयसीं पुरं अतरत्

मनोजवा अयमान आयसीमतरत्पुरम्। दिवं सुपर्णो गत्वाय सोमं वज्रिण आभरत॥ ८॥

(१) **मनोजवाः**=मन में क्रिया के वेगवाला मन में सदा कर्मों के संकल्पोंवाला **अयमानः**=गतिशील जीव **आयसीं पुरम्**=लोहे के समान दृढ़ इस शरीर नगरी को **अतरत्**=तैर जाता है, पार कर जाता है। सदा कर्ममय जीवनवाला, वासनाओं के बन्धन में न फँसता हुआ यह शरीर-बन्धन से ऊपर उठ जाता है। (२) यह **सुपर्णः**=सम्यक् पालन व पूरण करनेवाला व्यक्ति **दिवम्**=द्युलोक को **गत्वाय**=जाकर प्रकाशमय लोक को प्राप्त करके ज्ञानमय जीवन वाला होकर **वज्रिणे**=उस वज्रहस्त प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं आभरत्**=शरीर में सोम का भरण करता है। सोमरक्षण द्वारा ही उस सोम प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सदा क्रियाशील जीवनवाले बनकर हम शरीर-बन्धन से ऊपर उठें। प्रकाशमय जीवनवाले होकर, सोमरक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—नेमो भार्गवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

(प्रभु प्राप्ति के तीन उपाय) समुद्र में प्रभु का शयन

समुद्रे अन्तः शयत उद्ना वज्रो अभीवृतः। भरन्त्यस्मै संयतः पुरःप्रस्रवणा बलिम्॥ ९॥

(१) वह प्रभु **समुद्रे अन्तः** (स+मुद्)=प्रसादयुक्त हृदय में, मनः प्रसादवाले व्यक्ति में **शयते**=शयन करता है। प्रभु का निवास प्रसन्न हृदय में ही तो होता है। वह **वज्रः**=क्रियाशील प्रभु **उद्ना**=शरीरस्थ रेतःकण रूप जलों के द्वारा **अभीवृतः**=आभिमुख्येन वृत होता है, रेतःकणों का रक्षक पुरुष ही प्रभु का वरण कर पाता है। (२) **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिये **संयतः**=संयमवाले पुरुष, **पुरः प्रस्रवणाः**=आगे और आगे गतिवाले पुरुष **बलिं भरन्ति**=उत्तम कर्मों के उपहार को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का उपाय यह है कि—(क) हम मन को प्रसादयुक्त (निर्मल) करें, (ख) शरीर में रेतःकणों का रक्षण करें, (ग) कर्त्तव्य कर्मों को करने के द्वारा प्रभु का अर्चन करें।

ऋषिः—नेमो भार्गवः ॥ देवता—वाक् ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'राष्ट्री मन्द्रा' वेदवाणी

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥ १०॥

(१) **यद्**=जब **वाग्**=यह प्रभु से दी गयी वेदवाणी **अविचेतनानि**=अप्रज्ञात अर्थों को **वदन्ती**=प्रज्ञापित करती हुई **देवानां निषसाद**=देवों के हृदय में आसीन होती है, तो यह **राष्ट्री**=उनका दीपन करनेवाली व **मन्द्रा**=आनन्द की जननी होती है। (२) यह वेदवाणी **चतस्रः**=चारों दिशाओं के प्रति, सब दिशाओं में रहनेवाले मनुष्यों के प्रति **ऊर्जं दुदुहे**=बल व प्राणशक्ति का प्रपूरण करती है। **पयांसि**=आप्यायनों व वर्धनों को करनेवाली होती है, सब अंगों की शक्ति का आप्यायन करती है। अथवा **ऊर्जं पयांसि**=अन्नों व दुग्धों को देनेवाली होती है। ज्ञान देकर मनुष्य का इन वस्तुओं के उत्पादन व अर्जन के योग्य बनाती है। **अस्याः**=इसका **परमम्**=परम, अन्तिम, सर्वोत्तम, प्रतिपाद्य विषय प्रभु तो **क्व स्वित्**=कहीं ही **जगाम**=प्राप्त होता है। अर्थात् प्रभु को तो इस वेदवाणी के द्वारा विरल व्यक्ति ही जान पाते हैं। परन्तु विरल वेदाध्येता ही इसके द्वारा उस प्रभु को प्राप्त करते हैं। ये कुछ व्यक्ति ही मोक्ष सुख को पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी देवों के हृदय में स्थित होती हुई अर्थों का ज्ञान देती है, उनके हृदयों को दीप्त करती है, आनन्दमय बनाती है। यह सब के लिये बल प्राणशक्ति व आप्यायन (वर्धन) को प्राप्त कराती है। कुछ ज्ञानी पुरुष इसके अन्तिम प्रतिपाद्य विषय प्रभु को भी जान पाते हैं।

ऋषिः—नेमो भार्गवः ॥ देवता—वाक् ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वाग् धेनुः

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥ ११॥

(१) **देवीम्**=सब विज्ञानों का द्योतन (प्रकाश) करनेवाली **वाचम्**=इस वेदवाणी को **देवाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **अजनयन्त**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं। **ताम्**=उस वेदवाणी को **विश्वरूपाः**=विश्व का निरूपण करनेवाले, वेदवाणी के द्वारा विश्व का ज्ञान प्राप्त करनेवाले **पशवः**=द्रष्टा पुरुष **वदन्ति**=लोगों के लिये उपदिष्ट करते हैं। (२) **सा**=वह **वाग् धेनुः**=वेदवाणी

रूप गौ **नः**=हमारे लिये **मन्द्रा**=आनन्द की जनक, **इषं ऊर्जं दुहाना**=अन्न व रस को प्राप्त करानेवाली, **सुष्टुता**=हमारे से सम्यक् स्तुत हुई-हुई **अस्मान् उपैतु**=हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—यह वेदवाणी देव पुरुषों के हृदयों में प्रादुर्भूत होती है। ये द्रष्टा पुरुष लोगों के लिये इसका उपदेश करते हैं। वह हमारे लिये आनन्द को देनेवाली, अन्न-रस का दोहन करनेवाली वेदवाणी रूप गौ हमारे से स्तुत हो और हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—नेमो भार्गवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रकाश की प्राप्ति

सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व द्यौर्देहि लोकं वज्राय विष्कभे।
हनाव वृत्रं रिणचाव सिन्धूनिन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः ॥ १२ ॥

(१) हे **सखे**=मित्र **विष्णो**=व्यापक प्रभो! **वितरं विक्रमस्व**=हमारे शत्रुओं पर खूब ही आक्रमण करिये। इन काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करके **द्यौः देहि**=प्रकाश को दीजिये। तथा **वज्राय विष्कभे**=क्रियाशीलतारूप वज्र को धारण करने के लिये **लोकम्**=प्रकाश को प्राप्त कराइये। आप से दिये गये प्रकाश में हम अपने कर्त्तव्यपथ को सम्यक् देखनेवाले हों। (२) हे प्रभो! आप से मिलकर हम **वृत्रं हनाव**=वृत्र का विनाश कर पायें, काम का विध्वंस कर सकें। काम विध्वंस द्वारा **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **रिणचाव**=गतिवाला करें। हमारी तो एक ही कामना है कि **विसृष्टाः**=काम आदि शत्रुओं के बन्धन से मुक्त हुए हमारे सब बन्धु **इन्द्रस्य प्रसवे**=उस शासक प्रभु की अनुज्ञा में **यन्तु**=गतिवाले हों। प्रभु की आज्ञानुसार सब वर्तनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं का अत्यन्त विनाश करें। प्रकाश को प्राप्त करायें। उस प्रकाश के अनुसार हम कर्म करें। प्रभु के साथ मिलकर वासना को विनष्ट करें, ज्ञानप्रवाहों को प्रवृत्त करें। सब लोग वासनामुक्त होकर प्रभु के निर्देश के अनुसार चलें।

वासनाओं से मुक्ति के कारण यह 'जमदग्नि' बनता है, खूब दीप्त जाठराग्निवाला व प्रज्वलित यज्ञाग्निवाला यह 'मित्रावरुणौ' को अपने अनुकूल करने के लिये यत्नशील होता है—

१०१. [एकोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृद् बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

देवतातये-अभिष्टये-हव्यदातये

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये। यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टय आचक्रे हव्यदातये ॥ १ ॥

(१) **ऋधक्**=विशेषकर **इत्था**=सचमुच वह पुरुष **शशमे**=शमवाला, शान्तिवाला बनता है, जो **देवतातये**=दिव्य गुणों के विस्तार के लिये यत्नशील होता है। (२) **यः**=जो **नूनम्**=निश्चय से **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता (द्वेष निवारण) के भावों को **आचक्रे**=अपने अन्दर उत्पन्न करता है, वह **अभिष्टये**=रोगों व वासनाओं पर आक्रमण के लिये होता है, और **हव्यदातये**=हव्य के देने के लिये होता है, अर्थात् यज्ञ करता है।

भावार्थ—हम शम की साधना करके दिव्य गुणों का विस्तार करें। स्नेह व निर्द्वेषता को धारण करते हुए वासनाओं पर आक्रमण करें और यज्ञशील बनें।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

मित्रावरुणौ

वर्षिष्ठक्षत्रा उरुचक्षसा नरा राजाना दीर्घश्रुत्तमा।
ता बाहुता न दंसना रथर्यतः साकं सूर्यस्य रश्मिभिः॥ २॥

(१) मित्र और वरुण, अर्थात् स्नेह व द्वेष-निवारण (निर्द्वेषता) के भाव **वर्षिष्ठक्षत्रा**=अतिशयेन प्रवृद्ध बलवाले हैं और **उरु चक्षसा**=विशाल दृष्टि व ज्ञान प्रकाशवाले हैं। ये **नराः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले, **राजाना**=जीवन को दीप्त बनानेवाले व **दीर्घश्रुत्तमा**=अन्धकार विदारक शास्त्र ज्ञानवाले हैं। मित्र और वरुण हमें विद्वान् बनाते हैं। (२) **ता**=वे मित्र और वरुण **बाहुता न**=दोनों भुजाओं के समान, **सूर्यस्य रश्मिभिः साकम्**=सूर्य की किरणों के साथ **दंसना रथर्यतः**=कर्मों को प्राप्त करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के भावों के होने पर मनुष्य ज्ञान के प्रकाश में यज्ञादि उत्तम कार्यों में तत्पर रहता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमारे बल का वर्धन करते हैं, दृष्टि को विशाल बनाते हैं, हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं। दीप्त व ज्ञानयुक्त जीवनवाला बनाते हैं। यज्ञ आदि कर्मों में हमें प्रवृत्त रखते हैं।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अजिरः दूतः

प्र यो वां मित्रावरुणाजिरो दूतो अद्रवत्। अयःशीर्षा मदेरघुः॥ ३॥

(१) हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व द्वेषनिवारण के भावो! **यः**=जो **वाम्**=आपके प्रति **प्र अद्रवत्**=प्रकर्षेण गतिवाला होता है वह **अजिरः**=क्रियाशीलता द्वारा सब मलों को परे फेंकनेवाला व **दूतः**=अध्यात्म शत्रुओं को संतप्त करनेवाला होता है, राग-द्वेष उसके समीप नहीं फटकते। (२) यह मित्र और वरुण का उपासक **अयःशीर्षा**=हिरण्यालंकृत सिरवाला, अर्थात् स्थिर ज्ञान से सुशोभित मस्तिष्कवाला व **मदेरघुः**=उल्लासजनक सोम के सुरक्षित होने से तीव्र गतिवाला होता है। यह स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें क्रियाशील व सब वासनाओं को संतप्त करनेवाला बनाते हैं। इनसे हम स्थिरज्ञान से सुशोभित मस्तिष्कवाले व उल्लासपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों को करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ देवता—मित्रावरुणौ॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

बाहुभ्यां न उरुष्यतम्

न यः संपृच्छे न पुनर्हवीतवे न संवादाय रमते।
तस्मान्नो अद्य समृतेरुरुष्यतं बाहुभ्यां न उरुष्यतम्॥ ४॥

(१) **यः**=जो कामासक्ति **संपृच्छे**=प्रभु विषयक सम्प्रश्न के लिये **न रमते**=आनन्दित नहीं होती, (कामासक्त पुरुष को प्रभु विषयक प्रश्न ही रुचिकर नहीं होता)। **पुनः**=फिर जो क्रोध **हवीतवे**=प्रभु को पुकारने के लिये **न** (रमते)=प्रीतिवाला नहीं होता, (क्रोध में प्रभु का नाम न लेकर वाणी अपशब्दों को ही बोलती है)। जो लोभ **संवादाय**=प्रभु विषयक वार्ता के लिये न (रमते) आनन्द का अनुभव नहीं करता। **नः**=हमें हे मित्र और वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता के भाव! **अद्य**=आज **तस्मात् समृतेः**=इस वासना के आक्रमण से **उरुष्यतम्**=अपि बचाओ। हम काम, क्रोध,

लोभ में न फँसकर प्रभु की चर्चा में स्वाद लें। प्रभु के विषय में ही सम्प्रश्न करें, प्रभु को ही पुकारें, परस्पर आत्मविषयक संवाद ही करनेवाले हों। (२) हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आप **बाहुभ्याम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस विषयक प्रयत्नों के द्वारा, निरन्तर कर्मों में लगे रहने के द्वारा **नः**=हमें **उरुष्यतम्**=काम-क्रोध-लोभ के आक्रमण से बचायें।

भावार्थ—हम काम-क्रोध-लोभ के आक्रमण से बचकर स्नेह व निर्द्वेषता का भाव धारण करते हुए प्रभु विषयक प्रश्नों को करें, प्रभु को पुकारें, प्रभु विषयक संवादों को करें। निरन्तर कर्त्तव्य कर्मों में लगे रहने के द्वारा हम इन शत्रुओं के आक्रमण से अपने को बचानेवाले हों।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—मित्रावरुणादित्याश्चङ्क **छन्दः**—आर्चीस्वराड्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'मित्र, अर्यमा व वरुण' का स्तवन

प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो। वरूथ्यं१ वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत॥ ५॥

(१) हे **ऋतावसो**=ऋतरूपी वसुवाले, यज्ञ को ही अपना धन बनानेवाले, उपासक **मित्राय**=स्नेह की देवता के लिये **सचथ्यम्**=मेल में उत्तम, सम्यक् मेल के करानेवाले **वचः**=वचन का **प्र (गाय)**=यत्न कर। **अर्यम्णे**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाले अर्यमा के लिये **वरूथ्यम्**=उत्तम कवच काम करनेवाले वचन का प्र (गाय) गायन कर। इसी प्रकार **वरुणे**=वरुण के विषय में, द्वेष निवारण के पवित्र भाव के विषय में, **छन्द्यं वचः**=छादन में, उत्तम रक्षण में उत्तम वचन को बोल। मित्र, अर्यमा व वरुण की आराधना करता तू 'मित्र, अर्यमा और वरुण' ही बन। (२) **राजसु**=जीवन को दीप्त बनानेवाले इन 'मित्र, अर्यमा व वरुण' के विषय में **स्तोत्रम्**=स्तोत्र का **गायत**=गायन करो। इनका स्तवन करते हुए 'स्नेह, संयम व निर्द्वेषता' को धारण करो।

भावार्थ—हम 'मित्र' का स्तवन करते हुए परस्पर मेलवाले हों। 'अर्यमा' का स्तवन करते हुए शत्रुओं के आक्रमण से अपने को बचायें। 'वरुण' की आराधना ही हमारा छादन हो। इस प्रकार हमारा जीवन दीप्त बने।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—आदित्याः॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

एकं जेन्यं वसु

ते हिन्विरे अरुणं जेन्यं वस्वेकं पुत्रं तिसृणाम्। ते धामान्यमृता मर्त्यानामदब्धा अभि चक्षते॥ ६॥

(१) **ते**=वे गत मन्त्रों में वर्णित 'मित्र, अर्यमा व वरुण' **अरुणम्**=तेजस्वी (ऋ गतौ) हमें गतिशील बनानेवाले, **जेन्यम्**=विजयशील **वसु**=धन को **हिन्विरे**=प्राप्त कराते हैं। जो वसु **एकम्**=अद्वितीय है। तथा **तिसृणाम्**=शरीर, मन व बुद्धिरूपी पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक नामक तीनों लोकों का **पुत्रम्**=(पुनातित्रायते) पवित्र करनेवाला व त्राण करनेवाला है। (२) **अमृताः**=(न मृतं येभ्यः) मृत्यु से ऊपर उठानेवाले **अदब्धाः**=किसी से हिंसित न होनेवाले **ते**=वे मित्र, अर्यमा और वरुण **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के **धामानि**=तेजों का **अभिचक्षते**=ध्यान करते हैं, रक्षण करते हैं।

भावार्थ—स्नेह, संयम व निर्द्वेषता के द्वारा हमारा जीवन पवित्र व सुरक्षित बना रहता है। इनसे हमारे शरीर, मन व बुद्धि का तेज कायम रहता है।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

द्युमत्तम वचन व कर्म

आ मे वचांस्युद्यता द्युमत्तमानि कर्त्वा। उभा यातं नासत्या सजोषसा प्रति हव्यानि वीतये॥ ७॥

(१) प्राणापान 'नासत्या' कहलाते हैं—नासिका में होनेवाले हैं तथा सब असत्यों को दूर करनेवाले हैं। हे **नासत्या**=प्राणापानो! **मे**=मेरे **द्युमत्तमानि**=अतिशयेन ज्योतिर्मय ज्ञान के प्रकाश से युक्त **वचांसि**=वचन **उद्यता**=उद्यत हैं। **कर्त्वा**=मेरे कर्म भी उद्यत हैं। **उभा**=आप दोनों **सजोषसा**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए **आयातम्**=हमें प्राप्त होवो। आपके द्वारा ही इन द्युमत्तम वचनों व कर्मों का सम्भव होगा। (२) आप दोनों **हव्यानि**=हव्य पदार्थों के सात्त्विक भोजनों के **वीतये**=भक्षण के लिये **प्रति (यातम्)**=प्रतिदिन प्राप्त होवो। अर्थात् हमारे प्राणापान सात्त्विक भोजनों को ही करनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम ज्योतिर्मय ज्ञान की वाणियों को प्राप्त हों तथा ज्योतिर्मय कर्मों को करनेवाले बनें। इस साधना में हमारा भोजन बड़ा सात्त्विक हो।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

'अरक्षस् राति'

रातिं यद्वामरक्षसं हवामहे युवाभ्यां वाजिनीवसू।
प्राचीं होत्रां प्रतिरन्ताविंत नरा गृणाना जमदग्निना॥ ८॥

(१) हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनवाले प्राणापानो! **यद्**=जब हम **वाम्**=आपकी **अरक्षसम्**=सब राक्षसी भावों को दूर करनेवाली **रातिम्**=देन को **युवाभ्याम्**=आप से **हवामहे**=माँगते हैं, तो आप **प्राचीम्**=हमें उन्नतिपथ पर आगे और आगे ले चलनेवाली **होत्राम्**=वाणी को, वेदवाणी को **प्रतिरन्तौ**=बढ़ाते हुए आप **इतम्**=हमें प्राप्त होते हो। (होत्रा=वाक् नि० १।११) इस ज्ञान की वाणी के द्वारा ही सब राक्षसी भावों का अन्त होता है। सो यह आपकी देन वस्तुतः 'अरक्षस्' है। (२) हे प्राणापानो! आप **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर आगे और आगे ले चलनेवाले हो। **जमदग्निना**=प्रज्वलित जाठराग्निवाले से **गृणाना**=आप स्तुतमात्र होते हो। आपके द्वारा ही यह शरीरस्थ **वैश्वानर**=अग्नि सदा चतुर्विध भोजनों का पाचन करती है। एक जमदग्नि पुरुष प्राणापान की महिमा का अनुभव करता है, उनके गुणों का स्तवन करता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना से हमें वह ज्ञान की वाणी प्राप्त होती है, जो हमारे सब राक्षसी भावों का विनाश करके हमें दिव्य जीवनवाला बनाती है।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—वायुः॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

दिविस्पृश यज्ञ

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः।
अन्तः पवित्र उपरि श्रीणानोऽ३ऽयं शुक्रो अयामि ते॥ ९॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वायो**=(वा गतौ) जीवन को सदा गतिमय रखनेवाले पुरुष! **नः**=हमारे **दिविस्पृशम्**=ज्ञान में स्पर्श करानेवाले **यज्ञम्**='माता, पिता, आचार्य' आदि देवों के पूजनरूप यज्ञ को **आयाहि**=तू प्राप्त हो (यज् देवपूजायाम्)। (२) **अन्तः पवित्रे**=पवित्र हृदय में **सुमन्मभिः**=उत्तम मननपूर्वक की गई स्तुतियों से **अयम्**=यह **शुक्रः**=शरीर में उत्पन्न सोम **उपरि श्रीणानः**=ऊर्ध्वगतिवाला होता हुआ परिपक्व हो जाता है। **ते अयामि**=इस सोम को मैं तेरे लिये **अयामि**=प्राप्त कराता हूँ। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इसका शरीर में यही सर्वोत्तम विनियोग है।

भावार्थ—'माता, पिता, आचार्य' आदि देवों के आदर व अनुमनन से मैं ज्ञान को बढ़ाऊँ।

स्तुतियों के द्वारा हृदय को पवित्र करते हुए हम सोम की शरीर में ऊर्ध्व गति करें।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—वायुः॥ **छन्दः**—स्वराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

अध्वर्यु का ऋजुतम मार्गों से गमन

वेत्यध्वर्युः पथिभी रजिष्ठैः प्रति हव्यानि वीतये।
अधा नियुत्व उभयस्य नः पिब शुचिं सोमं गवाशिरम्॥ १०॥

(१) **अध्वर्युः**=यज्ञशील पुरुष **रजिष्ठैः पथिभिः**=ऋजुतम, सरल, छलछिद्रशून्य मार्गों से **वेति**=जाता है (गच्छति)। यह **हव्यानि**=हव्य पदार्थों के सात्त्विक भोजनों के ही **प्रति वीतये**=प्रतिदिन भक्षण के लिये होता है। सात्त्विक भोजन से सात्त्विक बुद्धिवाला होकर, यह कुटिलता से कभी कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता। (२) हे **नियुत्वः**=कर्त्तव्यों में लगे हुए प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! **नः**=हमारे **उभयस्य**=अभ्युदय व निःश्रेयस के साधक अथवा ज्ञान व बल दोनों के साधक **सोमं पिब**=सोम का तू शरीर में ही रक्षण कर। यह सोम **शुचिम्**=जीवन को पवित्र बनानेवाला है। **गवाशिरम्**=(गो-शृ) ज्ञान की वाणियों द्वारा सब मलिनताओं का संहार करनेवाला है। शरीर में सुरक्षित सोम मन को पवित्र व बुद्धि को दीप्त बनाता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर सरल मार्गों से चलें, सात्त्विक भोजनों का सेवन करें। क्रियाशील बनकर सोम का रक्षण करें। सुरक्षित सोम पवित्रता व ज्ञानवृद्धि का साधन बनता है।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—सूर्यः॥ **छन्दः**—विराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सूर्य-आदित्य

बण्महाँ असि सूर्य बळादित्य महाँ असि। महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि॥ ११॥

(१) हे **सूर्य**=हे सृष्टि के समय सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक (षू) प्रभो! आप **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं। हे **आदित्य**=प्रलय के समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ले लेनेवाले (आदानात्) प्रभो! आप **बट्**=सचमुच महान् **असि**=पूजनीय हैं। **महः सतः ते**=महान् होते हुए आपकी **महिमा**=महत्ता **पनस्यते**=हमारे से स्तुत होती है, हम आपकी महिमा का गायन करते हैं। हे **देव**=सब कुछ देनेवाले, दीप्त व उपासकों को दीप्त करनेवाले प्रभो! आप **अद्धा**=सचमुच ही **महान् असि**=महान् हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभु 'सूर्य' हैं। अन्त में सबको अपने अन्दर ले लेनेवाले प्रभु 'आदित्य' हैं। उस महान् प्रभु की महिमा का हम सदा गायन करें।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—सूर्यः॥ **छन्दः**—भुरिग्बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

(देवानाम्) असुर्यः पुरोहितः

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥ १२॥

(१) हे **सूर्य**=सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक प्रभो! आप **बट्**=सचमुच ही **श्रवसा**=ज्ञान के हेतु से **महान् असि**=महान् हैं, पूजनीय हैं। आपके पूर्ण ज्ञान के कारण आपका बनाया यह संसार भी पूर्ण है। हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **सत्रा**=सचमुच ही **महान् असि**=महान् हैं। (२) आप अपनी **मह्ना**=महिमा से **देवानां असुर्यः**=देवों के अन्दर प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले हैं (असून् राति) और **पुरोहितः**=हितोपदेष्टा हैं। आप तो एक **विभु**=व्यापक व **अदाभ्यम्**=अहिंस्य

ज्योतिः=ज्योति हैं। आपके उपासक भी इस ज्योति से अपने जीवन को दीप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने ज्ञान के कारण महान् हैं, वे एक पूर्ण (न्यूनता शून्य) सृष्टि को जन्म देते हैं। अपनी महिमा से देवों के अन्दर प्राणशक्ति का सञ्चार करते हैं और उन्हें हितकर प्रेरणा देते हैं। प्रभु एक व्यापक अहिंस्य ज्योति हैं।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—उषाः सूर्यप्रभा वा॥ **छन्दः**—आर्चीबृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सूर्यप्रभा

इयं या नीच्यर्किणी रूपा रोहिण्या कृता। चित्रेव प्रत्यदर्श्यायत्य१न्तर्दशसु बाहुषु॥ १३॥

(१) सूर्य की किरणें द्युलोक से नीचे पृथिवीलोक पर आती हैं। सो **इयम्**=यह **या**=जो सूर्यप्रभा **नीची**=अवाङ्मुखी, नीचे मुख किये हुए-सी है। **अर्किणी**=स्तुतिवाली है। इसके होने पर सब देव प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। यह **रूपा**=उत्तम रूपवाली **रोहिण्या**=प्रकाशयुक्त **कृता**=की गई है। (२) **चित्रा इव**=अत्यन्त अद्भुत-सी यह **दशसु**=दसों **बाहुषु अन्तः**=ब्रह्माण्ड की बाहु-स्थानीय दिशाओं के अन्दर **आयती**=आती हुई **प्रत्यदर्शि**=प्रतिदिन देखी जाती है।

भावार्थ—इस अद्भुत-सी सूर्यप्रभा में उस महान् सूर्य प्रभु की महिमा दिखती है। सूर्य को भी तो वे प्रभु ही दीप्ति दे रहे हैं।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—पवमानः॥ **छन्दः**—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

तिस्रः प्रजाः-अन्याः

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्य१न्या अर्कमभितो विविश्रे।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश॥ १४॥

(१) **ह**=निश्चय से **तिस्रः प्रजाः**=' पुत्रैषणा, वित्तैषणा व लोकैषणा' रूप तीन एषणाओं के अन्दर चलनेवाली **तिस्रः प्रजाः**=ये तीन प्रकार की प्रजायें **अति आयम्**=अतिशयेन गति को, आवागमन को जन्म-मरण के चक्र को **ईयुः**=प्राप्त होती हैं। **अन्याः**=इन एषणाओं से ऊपर उठ जानेवाली दूसरी प्रजायें **अर्कं अभितः**=उस अर्चनीय (पूजनीय) परमात्मा के चारों ओर प्रभु के समीप **निविविश्रे**=निवेशवाली होती हैं। ये प्रभु की भक्ति में प्रवृत्त होती हैं। (२) ये प्रजायें प्रभु का स्मरण इस रूप में करती हैं कि वह **बृहत्**=महान् प्रभु **ह**=निश्चय से **भुवनेषु अन्तः**=सब लोकों व प्राणियों के अन्दर **तस्थौ**=स्थित हैं। **पवमानः**=सब प्रजाओं को पवित्र करनेवाले वे प्रभु **हरितः आविवेश**=सब दिशाओं में व्याप्त हैं। कोई भी स्थान प्रभु की व्याप्ति से पृथक् नहीं है। ये सर्वव्यापक प्रभु हमारे अन्दर भी व्याप्त होकर हमें पवित्र कर रहे हैं।

भावार्थ—एषणात्रय में चलनेवाली प्रजायें आवागमन के चक्र से ऊपर नहीं उठ पातीं। प्रभु के उपासक ही पवित्र जीवनवाले बनकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं। आवागमन के चक्र से ये ही बच पाते हैं।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवः॥ **देवता**—गौः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

माता-दुहिता-स्वसा (गौः)

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥ १५॥

(१) यह गौ **रुद्राणां माता**=रोगों को अपने से दूर भगानेवालों का (रुत्+द्रु) निर्माण

करनेवाली है। गोदुग्ध के सेवन से शरीर में रोगों का प्रवेश नहीं होता। **वसूनां दुहिता**=शरीर में निवास को उत्तम बनानेवाले सब तत्त्वों का (वसु) यह पूरण करनेवाली है। गोदुग्ध के सेवन से शरीर में सब वसुओं का प्रपूरण होकर जीवन पूर्ण-सा बन जाता है। **आदित्यानां स्वसा**=यह गौ सब अच्छाइयों का आदान करनेवालों की बहिन के समान है। गोदुग्ध का सेवन सब अच्छाइयों को प्राप्त कराता है। यह गौ तो **अमृतस्य**=अमृतत्त्व-नीरोगता के साधनभूत दुग्ध का **नाभिः**=केन्द्र है। उस दूध का यह निवास-स्थान है जो हमें अमर बनाता है। (२) प्रभु कहते हैं कि मैं **चिकितुषे जनाय**=समझदार पुरुष के लिये **नु**=अब **प्रवोचम्**=यह स्पष्ट कहता हूँ कि **गां मा वधिष्ट**=उस गौ को मत मारो, जो **अनागाम्**=निष्पाप है, जिसके दुग्ध के सेवन से हमारे जीवन निष्पाप बनते हैं और **अदितिम्**=जिसके दुग्ध के सेवन से स्वास्थ्य का खण्डन नहीं होता। यह गोदुग्ध हमें शरीर में स्वस्थ बनाता है, मन में निष्पाप।

भावार्थ—गौ उस दूध को हमें प्राप्त कराती है जो रोगों को दूर करता है, निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को उत्पन्न करता है, सब अच्छाइयों को हमारे अन्दर प्राप्त कराता है। यह गौ 'अनागा-अदिति' है। इसका वध न करना ही समझदारी है।

ऋषिः—जमदग्निभार्गवःङ्क **देवता**—गौःङ्क **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्ङ्क **स्वरः**—धैवतःङ्क

'स्तुति ज्ञान व कर्म' की प्रतिपादिका वेद-धेनु

वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः॥ १६॥

(१) **वचोविदम्**=स्तुतिवचनों को प्राप्त कराती हुई, **वाचमुदीरयन्तीम्**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करती हुई, **विश्वाभिः धीभिः उपतिष्ठमानाम्**=सब ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के हेतु से उपस्थित होती हुई, अर्थात् सब कर्मों का ज्ञान देती हुई, **देवीम्**=इस प्रकाशमयी **गाम्**=वेदवाणी रूप गौ को **दभ्रचेताः**=नासमझ-अल्प चेतनावाला पुरुष **मा परि आ अवृक्त**=सर्वथा परित्यक्त मत करे, इसका स्वाध्याय अवश्य करे ही। (२) यह वेदवाणी रूप गौ **देवेभ्यः एयुषीम्**=देवों के लिये प्राप्त होनेवाली है। हम देववृत्ति के बनेंगे तो अवश्य इस वेदवाणी को प्राप्त करेंगे। या देवों से ही प्राप्त होती है। 'आचार्य देवो भव'=आचार्यों को देवतुल्य आदर देते हुए हम उनसे इस वेदवाणी को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यह वेदवाणी रूप गौ स्तुति ज्ञान तथा कर्म तीनों का ज्ञान देती है। इसको नासमझ ही परित्यक्त करता है। समझदार व्यक्ति देवों से इसे प्राप्त करने के लिये यत्नशील होता है।

यह देवों के सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति 'प्र-योग' (=प्रकृष्ट मेलवाला) कहाता है। यह 'भार्गव' है, बुद्धि का परिपाक करनेवाला। निरन्तर आगे बढ़ने से 'अग्नि' है। ज्ञानियों का शिष्यत्व स्वीकार करनेवाला 'बार्हस्पत्य' है। ज्ञान के द्वारा जीवन की पवित्रता का साधक यह 'पावक' है। शक्ति का सम्पादन करके यह 'गृहपति' बनता है, गृह का रक्षक। बुराइयों को पृथक् करनेवाला यह 'यविष्ठ' होता है। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु का आराधन करता है—

१०२. [द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरःङ्क **देवता**—अग्निःङ्क **छन्दः**—निचृद् गायत्रीङ्क **स्वरः**—षड्जःङ्क

बृहद् वयः

त्वमग्ने बृहद्वयो दधासि देव दाशुषे। कविर्गृहपतिर्युवा॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी, **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **त्वम्**=आप **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिये **बृहद् वयः**=वृद्धियुक्त आयुष्य **दधासि**=धारण करते हैं। जो भी आपके प्रति अपने को दे डालता है, इसे वह जीवन प्राप्त कराते हैं, जो सब दृष्टिकोणों से बढ़ा हुआ होता है। (२) **कविः**=आप क्रान्तदर्शी है, सब विद्याओं का ज्ञान देनेवाले हैं। **गृहपतिः**=हमारे शरीररूप गृहों के रक्षक हैं। **युवा**=सदा बुराइयों को पृथक् करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं (यु मिश्रणामिश्रणयोः)।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु हमारे लिये वृद्धियुक्त दीर्घजीवन को प्राप्त कराते हैं। वे सब ज्ञानों को देनेवाले, शरीर गृहों के रक्षक व हमारी सब बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ईडानया-दुवस्युवा (वेदवाचा)

स नं ईळानया सह देवाँ अग्ने दुवस्युवा। चिकिद्विभानवा वह॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **चिकित्**=आप सर्वज्ञ हैं। सो हे विभानो! विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिये **ईडानया**=स्तुति करती हुई, **दुवस्युवा**=परिचरणशील प्रभु की परिचर्या करनेवाली इस ज्ञान की वाणी के **सह**=साथ **देवान् आवह**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु हमें उस ज्ञान की वाणी को प्राप्त करायें, जिसके द्वारा हम स्तवन व प्रभु परिचर्या को कर पायें। इस वेदवाणी को प्राप्त कराने के द्वारा हमें दिव्य गुणों से युक्त जीवनवाला करें।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वाजसातये

त्वया ह स्विद्युजा वयं चोदिष्ठेन यविष्ठ्य। अभी ष्मो वाजसातये॥ ३॥

(१) हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को अधिकाधिक पृथक् करनेवाले प्रभो! **चोदिष्ठेन**=सदा सत्कर्मों के प्रेरक **त्वया**=आप **युजा**=साथी के साथ **वयम्**=हम **ह स्वित्**=निश्चय से **अभिष्मः**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले बनें। (२) काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को पराजित करके हम **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये हों। इन शत्रुओं को पराजित करके ही हम शरीर में शक्ति का रक्षण कर पाते हैं। इनका पराजय आपको मित्र बनाकर ही हुआ करता है।

भावार्थ—प्रभु के मैत्री से सत्कर्मों की प्रेरणा प्राप्त करते हुए हम शत्रुओं का पराजय करें और शक्ति का सम्पादन करनेवाले हों।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

और्व-भृगु-अप्नवान

और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदा हुवे। अग्निं समुद्रवाससम्॥ ४॥

(१) **और्व (वत्)**=और्व की तरह (उरोरपत्यम्) विशाल की सन्तान की तरह, अत्यन्त

विशाल हृदय बनकर **शुचिम्**=पवित्र प्रभु को **आहुवे**=पुकारता हूँ। वस्तुतः विशालता ही हमारे जीवन को पवित्र बनाती है। जितने-जितने विशाल बनेंगे, उतना-उतना ही पवित्र बन पायेंगे तभी हमें 'शुचि' प्रभु को पुकारने का अधिकार होगा। (२) **भृगुवत्**=(भ्रस्ज पाके) तपस्या की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले की तरह मैं **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को (आहुवे) पुकारता हूँ। तपस्वी बनकर मैं भी अग्नि बनता हूँ, निरन्तर आगे बढ़नेवाला बनता हूँ। तप ही उन्नति का साधन है। (३) **अप्नवानवत्**=(अपः कर्मनाम-Weaving ताना-बाना) कर्मों के ताने-बानेवाले, निरन्तर कर्मशील पुरुष की तरह **समुद्रवाससम्**=उस आनन्दमय सब के आच्छादक प्रभु को पुकारता हूँ। कर्मों में लगे रहने से मेरा जीवन भी आनन्दमय बनता है और मैं प्रभु को अपना वस्त्र बनाकर बड़े सुरक्षित जीवनवाला होता हूँ। मेरे कर्म पवित्र बने रहते हैं।

भावार्थ—हम विशाल हृदय बनें यही पवित्रता का मार्ग है। हम तपस्वी बनें, यही उन्नति का साधन है। हम निरन्तर क्रियाशील हों, तभी आनन्दमय प्रभु की गोद को पाने के अधिकारी होंगे।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

वातस्वनं, पर्जन्यक्रन्द्यम्

हुवे वातस्वनं कविं पर्जन्यक्रन्द्यं सहः। अग्निं समुद्रवाससम्॥ ५॥

(१) **वातस्वनम्**=(वा-गतौ) गतिशीलता की प्रेरणा देनेवाली है ध्वनि जिसकी जो हृदयस्थरूपेण सदा प्रेरणात्मक शब्दों का उच्चारण कर रहे हैं, उन **कविम्**=सब विद्याओं का वेदवाणी द्वारा उपदेश देनेवाले (कौति सर्वाः विद्याः) **पर्जन्यक्रन्द्यम्**=बादल के समान गर्जनावाले अथवा परा तृप्ति के जनक आह्वानवाले **सहः**=शक्ति के पुञ्ज प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ। (२) मैं उस प्रभु को पुकारता हूँ जो **अग्निम्**=अग्रेणी हैं, हमें उन्नतिपथ पर आगे ले चलनेवाले हैं और **समुद्रवाससम्**=सदा आनन्दमय व सभी को अपने में आच्छादित करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें, वेदाध्ययन द्वारा ज्ञान को प्राप्त करें, 'ज्ञान, कर्म, उपासना' का अपने में समन्वय करें, शक्ति का सञ्चय करें। आगे बढ़ें और प्रभु की गोद में पहुँचकर ही विश्राम लें।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

सवितुः सवं, भगस्य भुजिम्

आ सवं सवितुर्यथा भगस्येव भुजिं हुवे। अग्निं समुद्रवाससम्॥ ६॥

(१) **यथा**=जैसे **सवितुः**=उस प्रेरक प्रभु की **सवम्**=प्रेरणा को **आहुवे**=पुकारता हूँ, अर्थात् जैसे मैं चाहता हूँ कि प्रभु की प्रेरणा को सुन पाऊँ। **इव**=जैसे **भगस्य**=उस ऐश्वर्यशाली प्रभु की **भुजिम्**=पालन की साधनभूत सम्पत्ति को (आहुवे) पुकारता हूँ, अर्थात् पालन के लिये आवश्यक धन की कामना करता हूँ। (२) उसी प्रकार मैं **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को पुकारता हूँ जो **समुद्रवाससम्**=सदा आनन्दमय हैं और सबको आच्छादित करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम उस प्रेरक प्रभु की प्रेरणा को सुनें। ऐश्वर्य पुञ्ज प्रभु से पालन के लिये आवश्यक ऐश्वर्य को प्राप्त करें। निरन्तर आगे बढ़ते हुए आनन्दमय प्रभु की गोद में पहुँचकर विश्राम लें।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

नप्त्रे-सहस्वते

अ॒ग्निं वो॑ वृ॒धन्त॑मध्व॒राणां॑ पुरू॒तम॑म्। अच्छा॒ नप्त्रे॒ सह॑स्वते॥ ७॥

(१) **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को मैं पुकारता हूँ, जो **वः वृधन्तः**=तुम सबका वर्धन करनेवाले हैं तथा **अध्वराणां पुरूतमम्**=यज्ञों के अतिशयेन पालक व पूरक हैं। (२) मैं उस प्रभु की **अच्छ**=ओर चलता हूँ जो **नप्त्रे**=मुझे न गिरने देनेवाले हैं अथवा मेरे बन्धु हैं तथा **सहस्वते**=शक्तिशाली हैं, उपासक को शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करता हुआ मैं आगे बढ़ूँ, शक्तियों का वर्धन करूँ, यज्ञात्मक जीवनवाला बनूँ। प्रभु मेरा उत्त्थान करेंगे, मुझे बल देंगे।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अस्य क्रत्वा यशस्वतः

अ॒यं यथा॑ न आ॒भुव॒त्त्वष्टा॑ रू॒पेव॒ तक्ष्या॑। अ॒स्य क्रत्वा॒ यश॑स्वतः॥ ८॥

(१) **अयम्**=यह प्रभु **नः**=हमें **यथा**=ठीक-ठीक इस प्रकार **आभुवत्**=बनाता है **इव**=जैसे **त्वष्टा**=बढ़ई **तक्ष्या**=तक्षणीय-ढीलढाल कर बनाने योग्य **रूपा**=रूपवान् पदार्थों को बनाता है। (२) हम **अस्य**=इस प्रभु के **क्रत्वा**=शक्ति व प्रज्ञान से ही **यशस्वतः**=अतिशयेन यशस्वी बन पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण कर दें, प्रभु हमारा ठीक-ठीक निर्माण करेंगे, उस समय प्रभु की शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त करके हम यशस्वी जीवनवाले होंगे।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवों में श्री, मनुष्यों में बल

अ॒यं विश्वा॑ अ॒भि श्रियो॒ऽग्निर्दे॒वेषु॑ पत्यते। आ वाजै॒रुप॑ नो गमत्॥ ९॥

(१) **अयं अग्निः**=यह अग्रेणी प्रभु **देवेषु**=देवों के अन्दर होनेवाली **विश्वाः श्रियः**=सब लक्ष्मियों व शोभाओं के **अभिपत्यते**=ईश हैं, उन देवों में उस-उस श्री को प्राप्त करानेवाले ये प्रभु ही हैं। (२) ये 'अग्नि' प्रभु **नः**=हमें भी **वाजैः**=शक्तियों के साथ **उपगमत्**=प्राप्त हों। हमें भी अग्नि के अनुग्रह से बल की प्राप्ति हो।

भावार्थ—वे अग्रेणी प्रभु सूर्य आदि सब देवों में उस-उस श्री को स्थापित करते हैं। प्रभु हमारे अन्दर भी बल की स्थापना करें।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पादनिचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यशस्तम 'होता'

विश्वे॑षामि॒ह स्तु॑हि॒ होतॄ॑णां य॒शस्त॑मम्। अ॒ग्निं य॒ज्ञेषु॑ पू॒र्व्यम्॥ १०॥

(१) संसार में एक से एक बढ़कर दाता हैं, प्रभु सर्वमहान् दाता हैं। **विश्वेषाम्**=सब

होतॄणाम्=दाताओं में **यशस्तमम्**=सर्वाधिक यशस्वी प्रभु को **इह**=इस जीवन यज्ञ में **स्तुहि**=स्तुत कर। (२) उस **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को स्तुत कर जो **यज्ञेषु पूर्व्यम्**=सब यज्ञों में, श्रेष्ठतम कर्मों में पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वमहान् दाता हैं, प्रभु ही हमारे यज्ञों का पालन व पूरण करते हैं।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

ज्येष्ठः-दीर्घश्रुत्तमः

शीरं पा॑व॒कशो॑चिषं॒ ज्येष्ठो॒ यो द॒मेष्वा। दी॒दाय॑ दीर्घ॒श्रुत्त॑मः॥ ११॥

(१) **यः**=जो **दीर्घश्रुत्तमः**=अतिशयेन विद्वान् सर्वज्ञ **ज्येष्ठः**=सर्वश्रेष्ठ प्रभु हैं वे **दमेषु**=यज्ञशील पुरुषों के गृहों में **आदीदाय**=दीप्त होते हैं। (२) उन **शीरम्**=सर्वत्र अनुशायी (व्यापक) **पावकशोचिषम्**=पवित्र दीप्तिवाले प्रभु को स्तुत करो।

भावार्थ—प्रभु सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ हैं, यज्ञशील पुरुषों के गृहों में दीप्त होते हैं। उन सर्वव्यापक पवित्र दीप्तिवाले प्रभु का हम स्तवन करें।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

अर्वन्तं न, मित्रं न

तमर्व॑न्तं॒ न सा॑न॒सिं गृ॑णी॒हि वि॑प्र शु॒ष्मिण॑म्। मि॒त्रं न या॑त॒यज्ज॑नम्॥ १२॥

(१) हे **विप्र**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले साधक! तू **तम्**=उस **अर्वन्तं न**=(अर्व्) शत्रुओं का संहार करनेवाले के समान **सानसिम्**=सम्भजनीय **शुष्मिणम्**=शत्रु-शोषक बलवाले प्रभु को **गृणीहि**=स्तुत कर। प्रभु तेरे भी काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करेंगे और तुझे शक्ति प्राप्त करायेंगे। (२) उस प्रभु का तू स्तवन कर जो **मित्रं न**=एक पापों से बचानेवाले (प्रमीतेः त्रायते) सखा के समान **यातयज्जनम्**=लोगों को उत्तम कर्मों में यत्नशील करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे वासनात्मक शत्रुओं का संहार करेंगे और हमें शक्ति देते हुए एक मित्र की तरह उत्तम कर्मों में प्रेरित करेंगे।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

स्तुति से सद्गुणों व बल की प्राप्ति

उप॑ त्वा जा॒मयो॒ गिरो॒ देदि॑शतीर्हवि॒ष्कृतः॑। वा॒योरनी॑के अस्थिरन्॥ १३॥

(१) हे अग्ने! **हविष्कृतः**=इस यज्ञशील पुरुष की, इससे की जानेवाली **त्वा देदिशतः**=आपका संकेत करती हुई, आपके गुणों का प्रतिपादन करती हुई **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **उप (तिष्ठन्ते)**=आपके समीप उपस्थित होती हैं। ये स्तुतिवाणियाँ **जामयः**=सद्गुणों को जन्म देनेवाली होती हैं। इन स्तुतिवाणियों से स्तोता के हृदय में भी उस-उस गुण को धारण करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। (२) ये स्तुतिवाणियाँ स्तोता को **वायोः**=वायु के **अनीके**=बल में **अस्थिरन्**=स्थापित करती हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से स्तोता के जीवन में सद्गुणों का स्थापन होता है और ये स्तुतिवाणियाँ स्तोता को वायु के समान शक्ति-सम्पन्न करती हैं।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उपासना से हृदय की पवित्रता

यस्य॑ त्रि॒धात्ववृ॑तं ब॒र्हिस्त॒स्थावसं॑दिनम्। आप॑श्चि॒न्नि द॑धा प॒दम्॥ १४॥

(१) **यस्य**=जिस प्रभु का **बर्हिः**=यह हृदयरूप आसन **त्रिधातु**='ज्ञान, कर्म, उपासना' तीनों का धारण करनेवाला होता हुआ **तस्थै**=स्थित होता है। जब हम हृदय को प्रभु का आसन बनाते हैं, तो यह ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों का धारण करनेवाला होता है। **अवृतम्**=यह काम-क्रोध से संवृत नहीं होता, इस पर काम आदि का आवरण नहीं पड़ जाता। **असन्दिनम्**=यह विषय वासनाओं से बद्ध नहीं होता। (२) हृदय को प्रभु का आसन बनाने पर वासनाओं के विनाश के कारण **आपः चित्**=ये रेतःकणरूप जल भी **पदं निदधा**=शरीर में स्थिति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का ध्यान करने पर हृदय (क) ज्ञान, कर्म, उपासना का धारण करनेवाला बनता है, (ख) काम आदि से संवृत नहीं होता, (ग) विषयों से अबद्ध रहता है। उस समय शरीर में उत्पन्न रेतःकणों की शरीर में ही स्थिति होती है।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

शत्रुओं से अधर्षण व अन्धकार विनाश

प॒दं दे॒वस्य॑ मी॒ळ्हुषोऽना॑धृष्टाभिरू॒तिभिः॑। भ॒द्रा सूर्य॑इवोप॒दृक्॥ १५॥

(१) **मीढुषः**=सब सुखों का सेचन करनेवाले **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु का **पदम्**=स्थान **अनाधृष्टाभिः**=शत्रुओं से अधर्षणीय **ऊतिभिः**=रक्षणों से युक्त है। जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं, तो कोई भी वासनात्मक शत्रु हमारा धर्षण नहीं कर पाता। (२) इस प्रभु की **उपदृक्**=उपदृष्टि **सूर्यः इव**=सूर्य के समान है, सूर्य की तरह सब अन्धकार को दूर करनेवाली है और **भद्रा**=कल्याणकर है। जब हम प्रभु के समीप उपस्थित होते हैं और प्रभु की कृपादृष्टि को प्राप्त करते हैं, तो हमारा सब अन्धकार विनष्ट हो जाता है और हम वास्तविक कल्याण को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु में स्थित होने का प्रयत्न करें, उस समय कोई भी शत्रु हमारा धर्षण न कर पायेगा। प्रभु की कृपादृष्टि हमारे सब अन्धकार को दूर कर देगी। उस समय हमारा कल्याण ही कल्याण होगा।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

घृतस्य धीतिभिः-शोचिषा

अग्ने॑ घृ॒तस्य॑ धी॒तिभि॑स्तेपा॒नो दे॑व शो॒चिषा॑। आ दे॒वान्व॑क्षि॒ यक्षि॑ च॥ १६॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी **देव**=हमारे जीवनों को ज्ञान से द्योतित करनेवाले प्रभो! (देवो द्योतनात्) **घृतस्य**=ज्ञानदीप्तियों के **धीतिभिः**=धारणों से विविध विज्ञानों को प्राप्त कराने के द्वारा तथा **शोचिषा**=अन्तःप्रकाश के द्वारा, पूर्ण निर्मल हृदय की दीप्ति के द्वारा (चमक के द्वारा) **तेपानः**=हमारे जीवनों को दीप्त करते हुए आप **देवान् आवक्षि**=हमारे जीवनों में दिव्य गुणों को प्राप्त कराइये **च**=और **यक्षि**=उनके साथ ही हमारा सम्बन्ध कराइये।

भावार्थ—प्रभु हमें विज्ञानों के धारण व अन्तःप्रकाश से दीप्त जीवनवाला बनाते हुए दिव्य

गुणों को प्राप्त करायें, दिव्य गुणों से ही हमारा सम्बन्ध करें।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

मातरः-देवासः

तं त्वाजनन्त मातरः कविं देवासो अङ्गिरः। हव्यवाहममर्त्यम्॥ १७॥

(१) हे **अंगिरः**=हमारे अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले अथवा हमें गति देनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **मातरः**=अपने अन्दर ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले (प्रमातारः) अथवा निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले लोग **अजनन्त**=अपने अन्दर प्रादुर्भूत करते हैं। प्रभु का प्रकाश इन निर्माताओं को ही प्राप्त होता है। (२) **देवासः**=देववृत्ति के लोग ही **कविम्**=उस क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु को, **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभु को, **अमर्त्यम्**=अविनाशी प्रभु को अपने अन्दर प्रादुर्भूत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन निर्मणात्मक कार्यों में प्रवृत्त देववृत्ति के लोगों को होता है।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—पादनिचृद् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

उपासना का फल

प्रचेतसं त्वा कवेऽग्ने दूतं वरेण्यम्। हव्यवाहं नि षेदिरे॥ १८॥

(१) हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्-सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, प्रकृष्ट चेतना को प्राप्त करानेवाले, **त्वा**=आपको **निषेदिरे**=देव लोग उपासित करते हैं, आपके चरणों में बैठते हैं। (२) उन आपको देव उपासित करते हैं, जो **दूतम्**=ज्ञान के सन्देश को प्राप्त करानेवाले हैं। अतएव **वरेण्यम्**=वरणीय हैं। प्रभु के वरण में ही कल्याण है। प्रकृति का वरण हमें पीस डालता है। प्रभु का वरण होने पर प्रकृति हमारी सेवा करती है। **हव्यवाहम्**=वस्तुतः प्रभु ही सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु के चरणों में बैठनेवाला व्यक्ति (क) प्रकृष्ट चेतना को प्राप्त करता है, ज्ञान सन्देश को सुनता है, (ग) प्रकृति से सेवित होता है, (घ) सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड् गायत्री॥ **स्वरः**—षड्जः॥

न अघ्न्या, न स्वधितिः

नहि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति। अथैतादृग्भरामि ते॥ १९॥

(१) हे प्रभो! **मे**=मेरे पास **अघ्न्या**=यह अहन्तव्य वेद-धेनु **नहि अस्ति**=नहीं है। अर्थात् मैंने कोई बड़ा (वेद) ज्ञान नहीं प्राप्त किया है। **स्व-धितिः**=आत्मधारण शक्ति **न वनन्वति**=मेरे दोषों का संहार नहीं करती। आत्मधारण के द्वारा मैं जीवन को निर्दोष भी नहीं बना पाया। न तो मैं ज्ञानी हूँ, और ना ही निर्दोष। (२) **अथ**=अब **एतादृग्**=ऐसा अज्ञानी व सदोष होता हुआ भी **ते भरामि**=आपके लिये स्तुति-वचनों का भरण करता हूँ। आपका स्तवन ही मुझे दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनाकर दोषों को भस्म करने की क्षमता प्रदान करेगा।

भावार्थ—एक अज्ञानी व आत्मधारणशक्ति से रहित पुरुष भी जब प्रभु का स्तवन करता है, तो प्रभु उसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके उसमें उसके दोषों को भस्म कर देते हैं।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दारूणि=दानवृत्तियाँ

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि। ता जुषस्व यविष्ठ्य॥ २०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=जो **कानि कानि चित्**=जिन किन्हीं भी छोटी-मोटी **दारूणि**=(दा=दाने) दानवृत्तियों को (दारुः=दाता) **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **दध्मसि**=धारण करते हैं। इन सांसारिक सम्पत्तियों का त्याग व दान ही हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराता है। (२) हे **यविष्ठ्य**=हमारे से बुराइयों को पृथक् करनेवाले प्रभो! **ता जुषस्व**=उन हमारे दानों को आप प्रीतिपूर्वक स्वीकार करिये। ये धनों के त्याग हमें आपका प्रिय बनायें।

भावार्थ—हम सदा दानशील बनें। यही पवित्र बनने का व प्रभु को प्राप्त करने का मार्ग है।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उपासना से विषयासक्ति का निराकरण

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति। सर्वं तदस्तु ते घृतम्॥ २१॥

(१) **यत्**=जिस को **उपजिह्विका**=जीभ की चञ्चल प्रकृति-चटोरापन **अति**=खा जाता है। अथवा **यत्**=जो **वम्रः**=सब पढ़े-लिखे का वमन कर डालनेवाला होकर **अति स्र्पति**=ज्ञानदीप्त हो उठे। (२) प्रभु की उपासना सब विषयासक्तियों को दूर कर देती है। उपासना से जीभ का चटोरापन दूर हो जाता है और ज्ञान की रुचि उत्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—हमें जीभ का चटोरापन खा जाता है। ज्ञान में अरुचिवाले होकर हम अवारा से हो जाते हैं। उपासना सब विषयों को दूर करके हमें ज्ञानदीप्त बना देती है।

ऋषिः—प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः॥
देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद् गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

उपासना-बुद्धि-पवित्रता

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः। अग्निमीधे विवस्वभिः॥ २२॥

(१) **मर्त्यः**=सामान्यतः विषयों की ओर जानेवाला (विषयों के पीछे मरनेवाला) मनुष्य, विषयासक्ति को छोड़ने के उद्देश्य से, **मनसा**=मन से मनन व चिन्तन के द्वारा **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **इन्धानः**=अपने अन्दर समिद्ध करता हुआ **धियं सचेत**=बुद्धि को प्राप्त करे, बुद्धि का अपने साथ समवाय करे। यह बुद्धि ही उसे विषयासक्ति से मुक्त करेगी। 'उपासना से बुद्धि व बुद्धि से विषयासक्ति का निराकरण' यह क्रम है। एवं उपासना हमारे जीवनों को पवित्र कर डालती है। (२) मैं **विवस्वभिः**=विद्वान् पुरुषों के सम्पर्क से **अग्निम् ईधे**=उस प्रभु को ही अपने हृदय में समिद्ध करता हूँ। ज्ञानियों का सम्पर्क हमें भी ज्ञानी बनाता है। तब हम प्रभु की ओर झुकते हैं और सब विषय-वासनाओं से मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—हम कितने भी गिर जायें, उपासना से हमें बुद्धि प्राप्त होगी और हम फिर उत्थान को प्राप्त करेंगे। सो ज्ञानियों के सम्पर्क से हम प्रभु को अपने अन्दर दीप्त करें।

अब यह व्यक्ति अपना उत्थान करनेवाला व उत्तम भरण करनेवाला 'सोभरि' बनता है।

समझदार हो जाने से अब यह 'काण्व' है। यह अग्नि का आराधन करता हुआ कहता है—

१०३. [त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड् बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

गातु वित्तमः, आर्यस्य वर्धनः

अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन्व्रतान्यादधुः। उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्त नो गिरः॥ १॥

(१) वह **अग्नि**=अग्रेणी प्रभु **गातुवित्तमः**=अतिशयेन मार्ग का ज्ञाता **अदर्शि**=हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होता है। **यस्मिन्**=जिस प्रभु में स्थित हुए-हुए ये आराधक **व्रतानि**=अपने कर्त्तव्य कर्मों को **आदधुः**=धारण करते हैं। हृदयस्थ प्रभु मार्ग का दर्शन कराते हैं, और आराधक उस मार्ग पर आगे बढ़ता है। (२) उस **सुजातम्**=हृदयों में सम्यक् प्रादुर्भूत **आर्यस्य वर्धनम्**=आर्यों के कर्त्तव्य कर्मों का आचरण करनेवालों के **वर्धनम्**=बढ़ानेवाले **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **नः**=हमारी **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **उपोनक्षन्त**=प्राप्त हों ही। हम अवश्य प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। यह प्रभु-स्तवन ही हमें मार्गदर्शन करायेगा, मार्ग पर बढ़ने की शक्ति देगा और उत्तम कर्मों को करते हुए हम वृद्धि को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—प्रभु मार्गदर्शक हैं, मार्ग पर बढ़ने की शक्ति देते हैं, मार्ग पर चलनेवालों का वर्धन करते हैं। सो प्रभु को हमारी स्तुतिवाणियाँ प्राप्त हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद् बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

दैवोदासः

प्र दैवोदासो अग्निर्देवाँ अच्छा न मज्मना।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य सानवि॥ २॥

(१) इस जीवन में जो व्यक्ति **दैवोदासः**=उस देव का दास (सेवक) बनता है। वह **अग्निः**=आगे बढ़नेवाला होता है। और **न** (=सम्प्रति)=अब **मज्मना** (मस्ज्)=प्रभु की उपासना में गोता लगाने के द्वारा शोधन से **देवान् अच्छा**=दिव्य गुणों की ओर **प्र (चलति)**=प्रकर्षेण बढ़ता है। (२) यह दिव्य गुणों की ओर बढ़नेवाला व्यक्ति **मातरं पृथिवीं अनु**=इस भूमि माता पर उसकी गोद में अपने जीवन को सफलता से बिताने के बाद **विवावृते**=फिर अपने ब्रह्मलोक रूप गृह को लौट जाता है। अब यह **नाकस्य**=मोक्षलोक के दुःखशून्य (न अकं यत्र) सुखमय लोक के **सानवि**=शिखर प्रदेश में आनन्द की चरम सीमा में **तस्थौ**=स्थित होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें, आगे बढ़ें, प्रभु में अपने को शुद्ध कर डालें। दिव्य गुणों को बढ़ाते हुए, इस जीवनयात्रा को पूर्ण करके मोक्षसुख में स्थित हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड् बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अग्निं धीभिः सपर्यत

यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः।
सहस्रसां मेधसाताविव त्मनाग्निं धीभिः सपर्यत॥ ३॥

(१) **यस्मात्**=जिस प्रभु से **चर्कृत्यानि कृण्वतः**=कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **रेजन्त**=दीप्ति को प्राप्त करते हैं (रेज To shine), उस **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **धीभिः**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से **सपर्यत**=पूजो। प्रभु का पूजन कर्मों द्वारा ही होता

है। (२) **मेधसातौ**=(मेध=यज्ञ, साति=प्राप्ति) यज्ञों के सेवन के होने पर **स्रा इव**=स्वयं ही (एव) बिना किसी अन्य की सहायता के होने पर ही **सहस्रसाम्**=अनन्त लाभों के देनेवाले उस प्रभु का पूजन करो। प्रभु ने इन यज्ञों को 'कामधुक्' बनाया है, इनके द्वारा सब इष्टों की पूर्ति होती है।

भावार्थ—प्रभु क्रियाशील पुरुषों को दीप्त जीवनवाला बनाते हैं। कर्मों द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है। यज्ञों के सेवन के होने पर प्रभु सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

'उक्थशंसी-सहस्रपोषी' सन्तान

प्र यं राये निनीषसि मर्तो यस्ते वसो दाशत्।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम्॥ ४॥

(१) हे **वसो**=वसानेवाले, सब वसुओं के स्वामिन् प्रभो! **यम्**=जिस पुरुष को **राये निनीषसि**=आप ऐश्वर्य के लिये ले चलना चाहते हैं और **यः**=जो **ते**=आपके प्रति **दाशत्**=अपने को दे डालता है, **सः**=वह **वीरं धत्ते**=वीर सन्तानों को प्राप्त करता है। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! इस, आप से ऐश्वर्य को प्राप्त करके (आपके प्रति अपना यज्ञशील) पुरुष को अर्पण करनेवाले वह सन्तान प्राप्त होती है, जो **उक्थशंसिनम्**=प्रभु के स्तोत्रों का शंसन करनेवाली होती है। और **त्मना**=स्वयं **सहस्रपोषिणम्**=सहस्रों का पोषण करनेवाली होती है।

भावार्थ—हम प्रभु से ऐश्वर्यों को प्राप्त करके प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले यज्ञशील बनें। प्रभु कृपा से हमें प्रभु-स्तवन करनेवाली सहस्रों का पोषण करनेवाला वीर सन्तान प्राप्त होगी।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—पर्ङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

वाज-अक्षिति श्रवः

स दृळ्हे चिदभि तृणत्ति वाजमर्वता स धत्ते अक्षिति श्रवः।
त्वे देवत्रा सदा पुरूवसो विश्वा वामानि धीमहि॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला **सः**=वह उपासक **दृढे चित्**=अतिशयेन प्रबल भी काम-क्रोध रूप शत्रुओं को **अभितृणत्ति**=हिंसित करता है। इनको हिंसित करके **सः**=वह **अर्वता**=इन्द्रियाश्वों के द्वारा **वाजम्**=शक्ति को तथा **अक्षिति श्रवः**=अक्षीण ज्ञान को **धत्ते**=धारण करता है। कर्मेन्द्रियों द्वारा शक्ति को तथा ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करता है। (२) हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक धनोंवाले प्रभो! **त्वे देवत्रा**=तुझ देव में स्थित हुए-हुए हम **विश्वा वामानि**=सब वननीय, सम्भजनीय, सुन्दर वसुओं को **सदा**=सदा **धीमहि**=धारण करें।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला अति प्रबल काम-क्रोध को नष्ट करता है, शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करता है। प्रभु के आधार में सब सुन्दर वस्तुओं को धारण करें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—आर्चीस्वराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

स्तोमरूप मधुपर्क द्वारा प्रभु का आतिथ्य

यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्यग्नये॥ ६॥

(१) **यः**=जो **विश्वा वसु**=सब धनों का **दयते**=रक्षण करता है और **होता**=हमारे लिये आवश्यक धनों को देता है। वे प्रभु **जनानां मन्द्रः**=लोगों के आनन्द का कारण हैं, सब उपासकों को आनन्द को प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **अस्मै**=इस **अग्रये**=अग्रेणी प्रभु के लिये **मधोः प्रथमा पात्रा न**=मधु के मुख्य पात्रों की तरह जैसे एक अतिथि के लिये सर्वप्रथम मधुपर्क प्राप्त कराया जाता है, **स्तोमाः**=स्तुति समूह **प्रयन्तु**=प्रकर्षेण प्राप्त हों। इन स्तोमों के द्वारा ही हम प्रभु को मधुपर्क प्राप्त कराते हुए अतिथिवत् आदृत करें।

भावार्थ–प्रभु सम्पूर्ण धनों के स्वामी व दाता हैं, वे ही सब आनन्दों की खान हैं। हम स्तुति समूह रूप मधुपर्क द्वारा प्रभु का आतिथ्य करें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—स्वराड् बृहती॥ **स्वरः**—मध्यमः॥

सुदानवः-देवभवः

अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः।
उभे तोके तनये दस्म विश्वपते पर्षि राधो मघोनाम्॥ ७॥

(१) **सुदानवः**=उत्तम दानशील अथवा वासनाओं का खण्डन (दाप् लवने) करनेवाले, **देवयवः**=उस महान् देव प्रभु को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले लोग **रथ्यम्**=रथ वहन में उत्तम **अश्वं न**=अश्व के समान प्रभु को **गीर्भीः**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **मर्मृज्यन्ते**=अपने अन्दर शुद्ध करते हैं। अपने हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करते हैं। ये उपासक यह समझते हैं कि प्रभु ने ही उनके शरीर-रथ को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाना है। प्रभु का स्तवन करते हुए ये प्रभु को अपने अन्दर देखने का प्रयत्न करते हैं। (२) हे **दस्म**=सब दुःखों के नाशक **विश्पते**=सब प्रजाओं के पालक प्रभो! आप हमारे **तोके**=पुत्रों में व **तनये**=पौत्रों में **उभे**=दोनों ही में **मघोनाम्**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों की **राधः**=सम्पत्ति को **पर्षि**=प्राप्त कराइये। हमारे पुत्र-पौत्र भी ऐश्वर्य को प्राप्त करके यज्ञशील बनें।

भावार्थ–हम 'सुदानु व देवयु' बनकर स्तोमों द्वारा प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करते हैं। और प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमारे पुत्र-पौत्र भी सम्पन्न व यज्ञशील बनें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृदुष्णिक्॥ **स्वरः**—ऋषभः॥

ऋतावा, बृहत्, शुक्रशोचिः

प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे। उपस्तुतासो अग्रये॥ ८॥

(१) हे **उपस्तुतासः**=(स्तोतारः) स्तोता लोगो! **मंहिष्ठाय**=उस **दातृतम**=सर्वाधिक देनेवाले **अग्रये**=अग्रेणी प्रभु के लिये **प्रगायत**=गायन करो। उस प्रभु के लिये गायन करो जो **ऋताव्ने**=ऋत का रक्षण करनेवाले हैं। स्तोता को भी प्रभु ऋतमय ज़ीवनवाला बनाते हैं। (२) उस प्रभु के लिये गायन करो जो **बृहते**=वृद्धि को प्राप्त हुए-हुए हैं, सर्वमहान् हैं। **शुक्रशोचिषे**=दीप्त ज्ञानवाले व दीप्त तेजवाले हैं।

भावार्थ–प्रभु का स्तवन करनेवाला भी ऋतमय जीवनवाला, प्रवृद्ध शक्तियोंवाला व दीप्त तेजवाला बनता है।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

वीरवद् यशः, वाजेभिः सुमतिर्नवीयसी

आ वंसते मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः।
कुविन्नो अस्य सुमतिर्नवीयस्यच्छा वाजेभिरागमत्॥ ९॥

(१) **मघवा**=वह ऐश्वर्यशाली प्रभु **वीरवत्**=वीर सन्तानों से युक्त **यशः**=यश को **आवंसते**=देते हैं। **समिद्धः**=हृदय में समिद्ध (प्रकाशित) हुए-हुए ये प्रभु **द्युम्नी**=ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करानेवाले होते हैं और **आहुतः**=समन्तात् दानोंवाले होते हैं। (२) **अस्य**=इस प्रभु की **सुमतिः**=कल्याणीमति **नवीयसी**=अतिशयेन स्तुत्य है। यह **नः अच्छा**=हमारे प्रति **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **कुवित् आगमत्**=खूब ही प्राप्त हो।

भावार्थ—हमारे हृदयों में प्रकाशित होते हुए प्रभु हमारे लिये ज्ञान-ज्योति को दें। वीर सन्तानों से युक्त यश को प्राप्त करायें। और शक्तियों के साथ स्तुत्य सुमति को दें।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—आर्चीभुरिग्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रियाणां प्रेष्ठम्

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुह्यासावातिथिम्। अग्निं रथानां यमम्॥ १०॥

(१) हे **आसाव**=शरीर में समन्तात् सोम का सम्पादन करनेवाले स्तोतः! तू उस **अतिथिम्**=निरन्तर गतिशील महान् अतिथि प्रभु को **स्तुहि**=स्तुत कर, जो प्रभु **उ**=निश्चय से **प्रियाणां प्रेष्ठम्**=प्रियों में प्रियतम हैं। (२) उस प्रभु को स्तुत कर जो **अग्निम्**=तुझे आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। तथा **रथानां यमम्**=शरीर-रथों के नियन्ता हैं।

भावार्थ—स्तोता के प्रभु प्रियतम अतिथि हैं, उसे आगे ले चलनेवाले हैं और उसके रथ के नियन्ता हैं।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत् पं-॥ स्वरः—पञ्चमः॥

पुण्य-पाप के ज्ञाता प्रभु

उदिता यो निदिता वेदिता वस्वा यज्ञियो ववर्तति।
दुष्टरा यस्य प्रवणे नोर्मयो धिया वाजं सिषासतः॥ ११॥

(१) **यः**=जो **उदिता**=हमारे उत्कृष्ट कर्मों को व **निदिता**=निन्दनीय कर्मों को **वेदिता**=जानता है। और उन कर्मों के अनुसार ही वह **यज्ञियः**=पूजनीय प्रभु **वसु आववर्तति**=धनों को समन्तात् प्राप्त कराता है। (२) **धिया**=बुद्धि के साथ **वाजम्**=शक्ति को **सिषासतः**=हमारे लिये सम्भक्त करने की कामनावाले **यस्य**=जिस प्रभु की **ऊर्मयः**=ज्ञानदीप्तियाँ (ऊर्मि Light) उस प्रकार **दुष्टराः**=कठिनता से अभिभूत करने योग्य हैं **न**=जैसे **प्रवणे**=निम्न प्रदेश में **ऊर्मयः**=तरंगें। झुकाव की ओर गतिवाली तरंगों का वेग जैसे दुस्तर होता है, इसी प्रकार प्रभु के प्रकाश को भी कोई अभिभूत नहीं कर सकता। ये प्रभु हमें बुद्धि के साथ बल को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे पुण्य-पाप को जानते हुए हमें कर्मानुसार वसुओं को प्राप्त कराते हैं। प्रभु के प्रकाश अभिभूत करने योग्य नहीं। प्रभु ही हमें बुद्धि व बल प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

सुहोता-स्वध्वरः

मा नो हृणीतामतिथिर्वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः। यः सुहोता स्वध्वरः॥ १२॥

(१) वे प्रभु **नः**=हमारे लिये **मा हृणीताम्**=क्रोधवाले न हों, हम प्रभु के कोपभाजन न हों। उस प्रभु के जो **अतिथिः**=हमारे हित के लिये निरन्तर गतिशील हैं, **वसुः**=सब को बसानेवाले हैं और **अग्निः**=अग्रेणी हैं। (२) **एषः**=ये प्रभु **पुरुप्रशस्तः**=अत्यन्त प्रशस्त हैं। **यः सुहोता**=जो प्रभु उत्तम दाता हैं और **स्वध्वरः**=उत्तम हिंसारहित कर्मोंवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के कोपभाजन न हों। प्रभु की तरह ही निरन्तर क्रियाशील बनें, सब को बसानेवाले हों, आगे बढ़ें, प्रशस्त कर्मों को करें, दानशील व यज्ञशील हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड् बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

निर्मल स्तुतिवचन व सुख वृद्धिवाले कर्म

मो ते रिषन्ये अच्छोक्तिभिर्वसोऽग्ने केभिश्चिदेवैः।
कीरिश्चिद्धि त्वामीट्टे दूत्याय रातहव्यः स्वध्वरः॥ १३॥

(१) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **ते**=वे **उ**=निश्चय से **मा रिषन्**=मत हिंसित हों, **ये**=जो **अच्छोक्तिभिः**=निर्मल स्तुतिवचनों से तथा **केभिः चित् एवैः**=(क=सुख) निश्चय से सुख के वृद्धिकर कर्मों से आपके स्तुति करनेवाले होते हैं। (२) **कीरिः**=स्तोता **चित्**=निश्चय से **त्वाम्**=आपको **ईट्टे**=स्तुत करता है। यह **दूत्याय**=ज्ञानसन्देश के वहन रूप कर्म को करनेवाला होता है। इस कर्म के लिये ही अपने जीवन को अर्पित करता है। **रातहव्यः**=हव्यों को देनेवाला, अर्थात् अग्निहोत्र करनेवाला होता है। **स्वध्वरः**=उत्तम हिंसारहित कर्मों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—हम निर्मल स्तुतिवचनों से तथा सुखवृद्धि के कारणभूत कर्मों से प्रभु का उपासन करें। ज्ञान-सन्देश को सर्वत्र प्राप्त करायें, यज्ञशील हों, उत्तम हिंसारहित कर्मों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—सोभरिः काण्वः॥ देवता—अग्निर्मरुतश्च॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्रभु की मित्रता के लिये

आग्ने याहि मरुत्सखा रुद्रेभिः सोमपीतये। सोभर्या उप सुष्टुतिं मादयस्व स्वर्णरे॥ १४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **आयाहि**=मुझे प्राप्त होइये। **मरुत् सखा**=(मितराविणां सखा) आप कम (मपा तुला) बोलनेवाले क्रियाशील पुरुषों के मित्र हैं। आप **रुद्रेभिः**=रोगों को दूर भगानेवाले इन प्राणों के द्वारा **सोमपीतये**=शरीर में सोम के रक्षण के लिये होते हैं। (२) हे प्रभो! आप **सोभर्याः**=जीवन के कर्त्तव्यों का सम्यक् भरण करनेवाले की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **उप (आयाहि)**=समीपता से प्राप्त होइये, और **स्वर्णरे**=प्रकाशमय लोक को प्राप्त करानेवाले यज्ञों में **मादयस्व**=आनन्दित कीजिये।

भावार्थ—हम प्रभु की मित्रता की प्राप्ति के लिये परिमित बोलनेवाले हों, प्राणसाधना द्वारा सोम का शरीर में रक्षण करें, प्रभु-स्तवन के साथ यज्ञों में आनन्द का अनुभव करें।

इत्यष्टमं मण्डलम्

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(अथ नवमं मण्डलम्)

(१-११४ सूक्तम्)

एवं

(दशमं मण्डलम्)

(१-३६ सूक्तम्)

षष्ठो भागः

भाष्यकार :

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

अनुष्ठानकर्त्ता :

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)-३२२ २३०

ISBN N.-978-93-80209-19-7

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
"अभ्युदय" भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०-९८८७४-५२९५९

संस्करण : स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती जन्म एवं स्मृति माह
जनवरी, २०११ ई०

मूल्य : ३५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि-निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

३. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्यपुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी,
बरेली (उ०प्र०) चलभाष : ०९८९७८८०९३०

शब्द-संयोजक : **आर्य लेजर प्रिंटस,** हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-३१
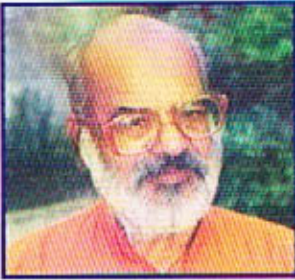
अथ नवमं मण्डलम्

नवम काण्ड के प्रथम सूक्त का ऋषि 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' है। ऋग्वेद का प्रारम्भ भी इसी ऋषि के सूक्त से होता है। यह सोमरक्षण की कामना करता है। सोमरक्षण के द्वारा मधुर ही इच्छाओंवाला यह बनता है। किसी के भी अहित की कामना यह नहीं करता। यह प्रार्थना करता है कि—

प्रथमोऽनुवाकः

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्वादिष्ठ-मदिष्ठ' सोम का पान

स्वादि॑ष्ठया॒ मदि॑ष्ठया॒ पव॑स्व सोम॒ धार॑या। इन्द्रा॑य॒ पात॑वे सु॒तः ॥ १ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **धारया**=अपनी धारणशक्ति से **पवस्व**=हमारे अन्दर गतिवाला हो (द० यजु० ७।२८) अथवा हमारे जीवन को पवित्र कर (य० ८।६३ द०)। उस धारा से हमें प्राप्त हो, जो कि **स्वादिष्ठया**=हमारे जीवन को अत्यन्त स्वाद व आनन्दवाला बनानेवाली है, जिसके द्वारा हमारी वाणी से मधुर ही शब्द उच्चारित होते हैं, जिससे मैं मधु सदृश ही बन जाता हूँ 'भूयासं मधुसन्दृशः'। उस धारा से तू हमें प्राप्त हो, जो कि **मदिष्ठया**=हमें आनन्दित करनेवाली है। सोमरक्षण से नीरोगता प्राप्त होकर जीवन उल्लासमय बनता है। (२) यह सोम **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **इन्द्राय**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पातवे**=शरीर के अन्दर ही पीने के लिये होता है। यह सोम जितेन्द्रिय पुरुष के द्वारा शरीर में ही व्याप्त किया जाता है। शरीर में व्याप्त किया गया यह सोम जीवन को स्वादिष्ठ व मदिष्ठ बनानेवाला होता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर सोम को शरीर में ही व्याप्त करें। यह हमारे जीवन को स्वादिष्ठ व मदिष्ठ बनायेगा।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'रक्षोहा विश्वचर्षणि' सोम

र॒क्षो॒हा वि॒श्वच॑र्षणिर॒भि योनि॒मयो॑हतम्। द्रुणा॑ स॒धस्थ॒मास॑दत् ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित सोम **रक्षोहा**=शरीरस्थ रोगकृमियों का नाश करनेवाला है। रोगकृमि रक्षस् हैं, ये अपने रमण के लिये हमारा क्षय करते हैं। रक्षित हुआ-हुआ वीर्य (सोम) इन्हें विनष्ट करता है। **विश्वचर्षणिः**=यह सोम विश्वद्रष्टा है, ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर यह ज्ञान को दीप्त करता है और हमें सब तत्त्वों के दर्शन के योग्य बनाता है। यह सोम **योनिम्**=अपने उत्पत्ति-स्थानभूत शरीर को **अभि आसदत्**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है। प्राणसाधना के होने पर यह ऊर्ध्वगतिवाला होकर शरीर में ही व्याप्त हो जाता है। (२) इसके शरीर में व्याप्त होने से यह शरीर **अयो हतम्**=(हन् गतौ) लोहकणों से व्याप्त होता है, रुधिर में लोहकणों की (Iron) कमी नहीं
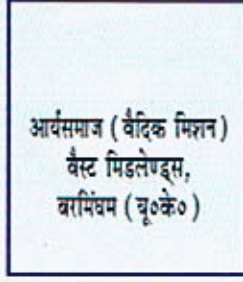
हो जाती। यह शरीर **द्रुणा सधस्थम्**=(द्रु गतौ) शरीर की सब नाड़ियों में संचरित होनेवाले रुधिर के साथ स्थित होता है (सधः सह), अर्थात् शरीर में रुधिर की कमी नहीं होती।

भावार्थ—रक्षित सोम रोगकृमियों को विनष्ट करता है, हमारे ज्ञान को दीप्त बनाता है। इसके रक्षण से शरीर में लोहकणों व रुधिर की न्यूनता नहीं होती।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'वरिवोधातम' सोम

वरिवोधातमो भव मंहिष्ठो वृत्रहन्तमः। पर्षि राधो मघोनाम्॥ ३॥

(१) हे सोम! तू रक्षित हुआ-हुआ शरीर में **वरिवोधातमः**=अधिक से अधिक वरणीय वसुओं (धनों) का धारण करनेवाला **भव**=हो। **मंहिष्ठः**=दातृतम हो, हमें दान की वृत्तिवाला बना। सोम-रक्षण करनेवाला पुरुष उदार बनता है। **वृत्रहन्तमः**=तू वासनाओं का अधिक से अधिक विनाशक हो। (२) हे सोम! तू ही **मघोनाम्**=इन पापशून्य ऐश्वर्यवालों के (मा-अघ) **राधः**=कार्यसाधक ऐश्वर्य को **पर्षि**=प्राप्त करानेवाला हो। सोमरक्षण से वासना विनष्ट होती है, शक्ति का वर्धन होता है। इस प्रकार मनुष्य आवश्यक ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाला बनता है, पर उन ऐश्वर्यों को वह सुपथ से ही कमाता है।

भावार्थ—रक्षित हुआ-हुआ सोम हमें उदार वृत्तिवाला बनाता है। तब वासनामय जीवनवाले न होने से हम सुपथ से ही धन कमाते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम से 'वीति-वाज व श्रव' की प्राप्ति

अभ्यर्ष महानां देवानां वीतिमन्धसा। अभि वाजमुत श्रवः॥ ४॥

(१) 'अन्धसस्पत इति सोमस्य पत इत्येतत्' (श० ९।१।२।४) इस वाक्य के अनुसार 'अन्धस्' सोम है। यह आध्यायनीय-अत्यन्त ध्यान देने योग्य होता है। इसके रक्षण से हमारी वृत्तियाँ सुन्दर बनती हैं। **अन्धसा**=इस सोम के रक्षण से तू **महानाम्**=महान् **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले पुरुषों के **वीतिम्**=(Light, cleaning) ज्ञान व पवित्रता को **अभि अर्ष**=अभिमुख्येन प्राप्त हो। ज्ञान और पवित्रता को प्राप्त करके तू भी देव बन। (२) तू इस सोम के रक्षण से **वाजं अभि**=शक्ति की ओर जानेवाला हो, शक्ति का तू अपने अन्दर रक्षण कर। **उत**=और **श्रवः**=, (Fame, glory) यश की ओर तू जानेवाला बन, तेरा जीवन बड़ा यशस्वी हो।

भावार्थ—सोम के रक्षण से ज्ञान व पवित्रता को प्राप्त करके हम देव बनते हैं। सोम का रक्षण हमें शक्ति का यश प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोमरक्षण से आप्तकामता

त्वामच्छा चरामसि तदिदर्थं दिवेदिवे। इन्दो त्वे न आशसः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्रो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! (इन्द् To be powerful) **त्वां अच्छा**=तेरी ओर **चरामसि**=हम गतिवाले होते हैं। तुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **तत् इत्**=वह ही **अर्थम्**=हमारा प्रयोजन होता है। हमारे जीवन का यही लक्ष्य होता है कि हम सोम का रक्षण करनेवाले बनें। इसी को जीवन का केन्द्रभूत बिन्दु बनाकर हम सब व्यवहार करते हैं। आहार-विहार ऐसा ही करने का प्रयत्न करते हैं, जो कि इसके रक्षण के अनुकूल हो। (२) हे

इन्दो=सोम! **नः आशसः**=हमारी सब कामनायें **त्वे**=तेरे में ही आधारित हैं। तेरे द्वारा ही हमारी सब कामनायें पूर्ण होती हैं। वस्तुतः सोमरक्षण ही ब्रह्मचर्य कहा है, और यही परमधर्म है **'ब्रह्मचर्यं परोधर्मः'** यही सब उत्तम कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है।

भावार्थ—हमारा लक्ष्य सोम का रक्षण हो। इसके रक्षण में ही सब कामनाओं की पूर्ति है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य दुहिता द्वारा सोम शोधन

पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥ ६॥

(१) हे मनुष्य! **ते**=तेरे **परिस्रुतं सोमम्**=चारों ओर गति करनेवाले सोम को **सूर्यस्य** दुहिता=सूर्य की दुहिता, अर्थात् श्रद्धा **पुनाति**=पवित्र करती है। 'सूर्य' ज्ञान है, उसकी **दुहिता**=पूरिका (दुह प्रपूरणे) श्रद्धा है। अकेला ज्ञान मनुष्य को ब्रह्म राक्षस बना देता है। मनुष्य उस समय ऐटम बम्ब बनाकर सर्वनाश का उपाय करता है। 'श्रद्धा' ज्ञान की इस कमी को दूर करती है। मस्तिष्क की पूर्ति हृदय से होती है। ज्ञान के श्रद्धा के साथ होने पर शरीर में हम शक्ति का रक्षण करते हैं। सामान्यतः सोम नीचे की ओर प्रवाहवाला होता है। हृदय में श्रद्धा के होने पर वहाँ वासनाएँ नहीं उठतीं, और परिणामतः सोमशक्ति पवित्र बनी रहती है। (२) यह सुरक्षित सोम **वारेण**=शत्रुनिवारक बल से **शश्वता**=(शश प्लुत गतौ) प्लुत गतिवाले **तना**=शक्ति के विस्तार से हमें पवित्र करता है।

भावार्थ—ज्ञान की पूरक श्रद्धा सोम (वीर्य) को पवित्र रखती है। तथा हमें बल तथा स्फूर्तियुक्त शक्ति विस्तार को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अण्वी तथा योषणः (दश)

तमीमण्वीः समर्य आ गृभ्णन्ति योषणो दश। स्वसारः पार्ये दिवि॥ ७॥

(१) **तम्**=उस सोम को **ईम्**=निश्चय से **अण्वीः**=सूक्ष्म बुद्धियाँ तथा **दश योषणः**=दसों इन्द्रियाँ **समर्ये**=(समर्यं संग्रामनाम, नि० २।१७) वासनाओं के साथ संग्राम में **आगृभ्णन्ति**=सर्वथा ग्रहण करती हैं। 'सोम का रक्षण बुद्धि व इन्द्रियों से होता है' इसका अभिप्राय यही है कि सोम का व्यय बुद्धि की दीप्ति व इन्द्रियों की शक्ति के वर्धन में होकर उसका अपव्यय नहीं होता। इन्द्रियों को यहाँ 'योषणः' कहा है 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' बुराइयों को अपने से अलग करनेवाली तथा अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाली ये इन्द्रियाँ सोम से ही शक्ति-सम्पन्न बनती हैं। (२) ये बुद्धियाँ व इन्द्रियाँ **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली होती हैं (स्व+सृ) तथा उस **दिवि**=ज्ञान प्रकाश में स्थित होती हैं जो कि **पार्ये**=हमें भवसागर से पार करने का साधन बनता है।

भावार्थ—हम स्वाध्याय के द्वारा बुद्धि को सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न करें। इन्द्रियों को ज्ञान प्राप्ति व यज्ञों में व्यापृत रखें। इस प्रकार सोम का रक्षण करते हुए इस उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करें, विषयों से ऊपर उठें और प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'त्रिधातु-वारण-मधु' सोम

तमीं हिन्वन्त्यग्रुवो धमन्ति बाकुरं दृतिम्। त्रिधातु वारणं मधु॥ ८॥

(१) **तम्**=उस सोम को **ईम्**=निश्चय से **अग्रुवः**=अग्रगतिवाले पुरुष, उन्नतिपथ पर चलनेवाले

पुरुष **हिन्वन्ति**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। उन्नतिपथ पर चलनेवाले सोमरक्षण के लिये स्वभावतः प्रेरित होते हैं। इस सुरक्षित सोम से ही उन्होंने उज्ज्वल होना होता है। और उन्नतिपथ पर चलने की भावना उन्हें वासनाओं का शिकार नहीं होने देती। (२) ये व्यक्ति सोमरक्षण के द्वारा इस **बाकुरम्**=(भासमानं) तेजस्विता से चमकते हुए **दृतिम्**=चर्मपात्र रूप शरीर को **धमन्ति**=तेजस्विता की अग्नि से संयुक्त करते हैं (धा अग्निसंयोगे)। सोमरक्षण इन्हें तेजस्वी व सोत्साह बनाता है। (३) यह सोम **त्रिधातु**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का धारण करनेवाला है। **वारणम्**=शरीरस्थ सब रोगों का निवारण करनेवाला है। और **मधु**=जीवन को मधुर बनानेवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये सदा उन्नतिपथ पर चलने की भावना सहायक है। यह सोम 'त्रिधातु, वारण व मधु' है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'शिशु' सोम

अभीऽ३ममघ्न्या उत श्रीणन्ति धेनवः शिशुम्। सोममिन्द्राय पातवे ॥ ९ ॥

(१) **इमम्**=इस **शिशुम्**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले **सोमम्**=सोम को **अघ्न्याः**=अहन्तव्य, अर्थात् जिनका सदा स्वाध्याय करना आवश्यक है, जिन्हें कभी भी त्यागना नहीं चाहिये, **उत**=और जो **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणियाँ हैं, वे **अभिश्रीणन्ति**=सब प्रकार से परिपक्व करती हैं। इस सोम का ठीक परिपाक होने से ही वस्तुतः शरीर तेजस्वी बनता है और बुद्धि सूक्ष्म होती है। इस सूक्ष्म बुद्धि से ही अन्त में प्रभु का दर्शन होता है। (२) इस **सोमम्**=सोम को **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पातवे**=अपने अन्दर ही व्याप्त करने के लिये ये वेदवाणियाँ ही साधन बनती हैं। इनके स्वाध्याय में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं से बचा रहता है। और इस प्रकार सोमरक्षण में समर्थ होता है।

भावार्थ—वेदवाणियों का अध्ययन हमें वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के योग्य करता है और सुररिक्षत सोम हमारी बुद्धि को तीव्र करता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मघा मंहते

अस्येदिन्द्रो मदेष्वा विश्वा वृत्राणि जिघ्नते। शूरो मघा च मंहते ॥ १० ॥

(१) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इत्**=निश्चय से **अस्य मदेषु**=इस सोम के उल्लासों में **विश्वा**=सब **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **आजिघ्नते**=सर्वथा विनष्ट करता है। सोमरक्षण उसे शक्तिशाली बनाता है, शक्ति-सम्पन्न बनकर यह वासनाओं से ऊपर उठता है। निर्बल मनुष्य को ही रोग व वासनाएँ सताती हैं। (२) **च**=और **शूरः**=वासनाओं को शीर्ण करनेवाला बनकर यह पुरुष **मघा मंहते**=खूब ही ऐश्वर्यों का दान करनेवाला बनता है। वासनामय जीवनवाला पुरुष दान नहीं कर पाता।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर वासनाओं का विनाश करें व दान की वृत्तिवाले बनें।

सूक्त का मूल विषय 'सोमरक्षण के साधन व फल' है। अगले सूक्त का भी विषय यही है। यह सोमरक्षण करनेवाला निरन्तर मेधा की ओर चलता हुआ 'मेधातिथि' कहलाता है (अत सातत्यगमने)। यह प्रार्थना करता है कि—

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'देववी' सोम

पव॑स्व देव॒वीरति॑ प॒वित्रं॑ सोम॒ रंह्या॑। इन्द्र॑मिन्दो॒ वृषा वि॑श॥ १॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **देववीः**=दिव्य गुणों की कामनावाली होती हुई **रंह्या**=बड़े वेग से, शीघ्रता से **पवित्रम्**=इस मेधातिथि के पवित्र हृदय को **अतिपवस्व**=अतिशयेन पवित्र करनेवाली हो। सोम के रक्षण से हृदय पवित्र होता है, दिव्य गुणों का वर्धन होता है। (२) हे **इन्दो**=हमारे जीवन को शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **वृषा**=सब सुखों का सेचन करनेवाला होता हुआ **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के अन्दर **आविश**=समन्तात् प्रवेश करनेवाला हो। जितेन्द्रिय बनकर हम वासनाओं को विनष्ट करते हैं। इस वासना-विनाश से सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम जहाँ हमें शक्तिशाली बनाता है, वहाँ हमारे सब सुखों का कारण बनता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से (क) दिव्य गुणों का वर्धन होता है, (ख) शक्ति प्राप्त होती है, (ग) नीरोगता आदि के द्वारा जीवन सुखी बनता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'द्युम्नवत्तम-धर्णसि' सोम

आ व॑च्यस्व॒ महि॒ प्सरो॒ वृषे॑न्दो द्यु॒म्नव॑त्तमः। आ योनिं॑ ध॒र्णसिः॑ सदः॥ २॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! तू **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला है। **महि**=महनीय **प्सरः**=(यं प्सान्ति भुञ्जते स भोगः १।४१।७ द०) भोग को **आवच्यस्व**=(अस्मान् प्रति आगमय) हमारे प्रति प्राप्त कराइये। रक्षित सोम हमारे उत्कृष्ट आनन्द का कारण बनता है। (२) **द्युम्नवत्तमः**=उत्कृष्ट ज्ञान ज्योतिवाला, **धर्णसिः**=शरीर का धारण करनेवाला यह सोम है। हे सोम! तू **योनिम्**=अपने उत्पत्ति-स्थान इस शरीर में ही **आसदः**=आसीन हो। शरीर में ही स्थित हुआ-हुआ तू ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञान को दीप्त करनेवाला हो और शरीर को नीरोग बनाकर उसका तू धारण करनेवाला बन।

भावार्थ—रक्षित सोम आनन्द व ज्ञान का वर्धन करता हुआ हमारा धारण करता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कर्मरूप वस्त्र का धारण

अधु॑क्षत प्रि॒यं मधु॒ धारा॑ सु॒तस्य॑ वे॒धसः॑। अ॒पो व॑सिष्ट सु॒क्रतुः॑॥ ३॥

(१) **वेधसः**=(A learned man) ज्ञानी पुरुष **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम की **धारा**=धारणशक्ति से **प्रियं मधु**=प्रीतिकर माधुर्य को **अधुक्षत**=अपने में प्रपूरित करते हैं। सोम का रक्षण करते हैं। यह रक्षित सोम उनके जीवन को मधुर बनाता है। (२) इस सोम के रक्षण के लिये **सुक्रतुः**=उत्तम प्रज्ञानवाला व्यक्ति **अपः वसिष्ट**=कर्मों को आच्छादित करता है, कर्मरूपी वस्त्र को धारण करता है। निरन्तर कर्मों में लगे रहने से उसे वासनाएँ नहीं सताती और इस प्रकार उसके लिये सोम के रक्षण का सम्भव होता है।

भावार्थ—निरन्तर कर्मों में लगे रहकर हम सोम का रक्षण करें यह हमारे जीवन में माधुर्य का संचार करेगा।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान-वस्त्र का धारण

महान्तं त्वा महीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः। यद्गोभिर्वासयिष्यसे ॥ ४ ॥

(१) हे जीव! **यद्**=जब **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **वासयिष्यसे**=तू अपने को आच्छादित करेगा तो **महान्तम्**=महान् बने हुए **त्वा**=तुझ को **महीः**=ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **सिन्धवः आपः**=बहनेवाले रेतःकण **अनु अर्षन्ति**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। 'आपः रेतो भूत्वा०' जल शरीर में रेतःकणों के रूप में रहते हैं। ये सब प्रकार की उन्नतियों का मूल होने से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। (२) इन रेतःकणों का रक्षण ज्ञान से अपने को आच्छादित करनेवाला ही कर पाता है। स्वाध्याय में लगे रहने से इन रेतःकणों का ज्ञानाग्नि के दीपन में व्यय होता है, और साथ ही हम वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं। इस प्रकार यह ज्ञान का आच्छादन सोमरक्षण का साधन बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना सोमरक्षण का उत्तम साधन है।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कर्मशील का शुद्ध जीवन

समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः। सोमः पवित्रे अस्मयुः ॥ ५ ॥

(१) **समुद्रः**=(स+मुद्) मनःप्रसाद के साथ रहनेवाला व्यक्ति **अप्सु**=कर्मों में **मामृजे**=अत्यन्त शुद्ध किया जाता है, कर्मों में लगे रहने से उसका जीवन पवित्र बनता है। **पवित्रे**=पवित्र हृदय के होने पर **सोमः**=यह सोम (वीर्य) **अस्मयुः**=हमारे साथ सम्पर्कवाला होता है (यु मिश्रणे)। संक्षेप में, हम कर्मों में लगे रहें तो हमारा हृदय पवित्र बना रहता है। हृदय के पवित्र होने पर सोम हमारे में सुरक्षित रहता है। (२) यह सुरक्षित सोम **विष्टम्भः**=हमारा विशेषरूप से स्तभन (धारण) करता है, हमारी शक्तियों को क्षीण नहीं होने देता तथा यह सोम **दिवः धरुणः**=ज्ञान का धारण करनेवाला होता है। सोम में ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है।

भावार्थ—हम कर्मों में लगे रहकर अपने जीवन को शुद्ध बनाते हैं। उस समय सोम हमारे में सुरक्षित रहता है। यह हमारी शक्तियों को स्थिर रखता है तथा हमारे ज्ञान का वर्धन करता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'ज्ञानी भक्त' का जीवन

अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः। सं सूर्येण रोचते ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोम को अपने में सुरक्षित करनेवाला व्यक्ति **अचिक्रदत्**=प्रातः-सायं प्रभु का आह्वान करता है। यह प्रभु का आराधन ही उसे सोमरक्षण के योग्य बनाता है। सोमरक्षण से यह **वृषा**=शक्तिशाली बनता है। शक्ति के द्वारा **हरिः**=औरों के दुःखों का हरण करनेवाला होता है। पर दुःखहरण से यह **महान्**=महान् होता है, लोक में समादृत होता है। (२) इस समय यह **मित्रः न**=सूर्य के समान **दर्शतः**=दर्शनीय होता है, अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी प्रतीत होता है और **सूर्येण**=ज्ञानसूर्य से **संरोचते**=सम्यक् देदीप्यमान होता है। यह तेजस्वी व ज्ञानी बनकर लोकहित में प्रवृत्त हुआ-हुआ प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें। शक्तिशाली बनकर परदुःखहरण में प्रवृत्त हों। तेजस्वी व ज्ञानी बनकर लोकहित को करनेवाले हों। इस प्रकार हम प्रभु के ज्ञानी भक्त बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञानसहचरित उल्लास

गिर॑स्त इन्द ओज॑सा मर्मृ॒ज्यन्ते॑ अप॒स्युवः॑। याभि॒र्मदा॑य शुम्भ॑से ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! (वीर्य) **ते ओजसा**=तेरे ओज से **अपस्युवः**=हमें कर्मों के साथ जोड़नेवाली, कर्मों की सतत प्रेरणा देनेवाली **गिरः**=ज्ञान की वाणियाँ **मर्मृज्यन्ते**=खूब परिशुद्ध की जाती हैं। वेदवाणियों में कर्मों की प्रेरणा दी गई है, सो ये 'अपस्यु' हैं। इनके परिशुद्ध ज्ञान के लिये ज्ञानाग्नि का दीप्त होना आवश्यक है। यह ज्ञानाग्नि का दीपन सोम के रक्षण से ही होता है, सोम ने ही तो इस ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना है। (२) ये वाणियाँ वे हैं **याभिः**=जिनके साथ **मदाय**=उल्लास के लिये तू **शुम्भसे**=सुशोभित होता है। सोम के रक्षण के होने पर जीवन उल्लासमय तो होता ही है। उस उल्लास के साथ ज्ञान की वाणियाँ जुड़ जायें तो उल्लास की शोभा बढ़ जाती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से जहाँ उल्लास बढ़ता है, वहां ज्ञानाग्नि भी दीप्त होती है। उल्लास व ज्ञान मिलकर शोभा के कारण बनते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उल्लास-रोग विनाश-प्रकाश

तं त्वा॒ मदा॑य घृष्व॑य उ लोककृ॒त्नुमी॑महे। तव॒ प्रश॑स्तयो म॒हीः ॥ ८ ॥

(१) हे सोम! **तं त्वा**=उस तुझ को हम **ईमहे**=याचना करते हैं, तेरी प्राप्ति के व रक्षण के लिये हम यत्नशील होते हैं। जो तू **लोककृत्नुम्**=प्रकाश (आलोक) को करनेवाला है। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि का दीपन होकर हमारा जीवन प्रकाशमय बनता है। (२) हे सोम! हम इसलिए तेरी प्राप्ति के लिये यत्नशील होते हैं कि **मदाय**=तू हमारे जीवनों में उल्लास का कारण बनता है, उल्लास के लिये होता है। **उ**=और **घृष्वये**=सब शत्रुओं को घर्षण के लिये होता है। सोमरक्षण से सब रोगकृमिरूप शत्रुओं का संहार हो जाता है। इस प्रकार हे सोम! **तव**=तेरी **प्रशस्तयः**=प्रशस्तियाँ (प्रशंसायें) **महीः**=महान् हैं। मानव जीवन के उत्कर्ष में सर्वप्रमुख स्थान इस 'सोम' का ही है। इसी में जीवन है 'मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्'।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) उल्लास का कारण होता है, (ख) रोगकृमिरूप शत्रुओं का विनाश करता है, (ग) ज्ञानाग्नि को दीप्त करके जीवन को प्रकाशमय बनाता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'इन्द्रयु' सोम

अ॒स्मभ्य॑मिन्दविन्द्र॒युर्मध्वः॑ पवस्व॒ धार॑या। प॒र्जन्यो॑ वृ॒ष्टिमाँ॑इव ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **इन्द्रयुः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को प्राप्त कराने की कामनावाला है। तेरे रक्षण से हमें प्रभु की प्राप्ति होती है, इस प्रकार तू हमारे साथ प्रभु को जोड़नेवाला है। तू **मध्वः**=माधुर्य की **धारया**=धारा से **पवस्व**=हमारे में क्षरित हो। तू हमें प्राप्त हो और तेरे द्वारा हमारा जीवन मधुर बने। (२) तू हमारे लिये **वृष्टिमान् पर्जन्यः**=वृष्टिवाले बादल की **इव**=तरह है। जिस प्रकार यह पर्जन्य संताप को दूर करके शान्ति को देनेवाला होता है, उसी प्रकार तू हमारे सब सन्तापों, रोगों व वासनाओं को शान्त करके हमें सुखी करता है।

भावार्थ—रक्षित सोम हमें प्रभु की प्राप्ति कराता है।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'जीवन यज्ञ का आत्मा' सोम

गोषा इन्दो नृषा अस्यश्वसा वाजसा उत । आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ॥ १० ॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! तू **गोषाः असि**=हमारे लिये उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को देनेवाला है। **नृषाः**=उत्तम नर (=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाली) सन्तानों को प्राप्त करानेवाला है। जहाँ तू **अश्वसाः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को देनेवाला है, **उत**=और वहां **वाजसाः**=शक्ति को भी देनेवाला है। (२) वस्तुतः तू **यज्ञस्य**=हमारे जीवन यज्ञ का **आत्मा**=आत्मा है। जीवन यज्ञ का प्राणन तेरे से ही होता है। तेरे अभाव में यह यज्ञ मृत हो जाता है। तू **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) हमारी इन्द्रियों को सशक्त बनाता है, (ख) उत्तम सन्तानों का कारण बनता है तथा (ग) जीवनयज्ञ का उत्तमता से प्रणयन करता है।

इस सूक्त की तरह अगले सूक्त में भी सोमरक्षण का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। सोमरक्षण से जीवन में सुख का (शुनं) निर्माण करनेवाला 'शुनः शेप' अगले सूक्त का ऋषि है। यह कहता है कि—

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—**शुनः शेपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अमर्त्य देव

एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयति । अभि द्रोणान्यासदम् ॥ १ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **देवः**=(विजिगीषा) शरीरों के अन्दर व्याप्त हुआ-हुआ रोगों को जीतने की कामना करता है और **अमर्त्यः**=हमें रोगों से मरने नहीं देता। सुरक्षित सोम (वीर्य) रोगकृमियों को नष्ट करता है और इस प्रकार असमय की मृत्यु से हमें बचाता है। (२) यह सोम **द्रोणानि अभि आसदम्**=शरीररूप पात्रों में आसीन होने के लिये **पर्णवीः इव**=एक पक्षी की तरह **दीयति**=गति करता है। जैसे एक पक्षी दोनों पंखों को गतिमय करके ऊपर और ऊपर उठता चलता है, इसी प्रकार यह सोम शरीर में ब्रह्म व क्षत्र (ज्ञान व बल) दोनों का वर्धन करता हुआ ऊर्ध्वगतिवाला होता है।

भावार्थ—सोम हमें मृत्यु से बचाता है। यह शरीर में ब्रह्म व क्षत्र का वर्धन करता हुआ ऊर्ध्वगतिवाला होता है।

ऋषिः—**शुनः शेपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवमान अदाभ्य

एष देवो विपा कृतोऽति ह्वरांसि धावति । पवमानो अदाभ्यः ॥ २ ॥

(१) **विपा**=(विप्=A wise man) एक बुद्धिमान् पुरुष से **कृतः**=शरीर में परिष्कृत किया गया **एषः देवः**=यह रोगकृमियों को जीतनेवाला सोम (वीर्य) **ह्वरांसि अतिधावति**=सब कुटिलताओं को भी लांघ जाता है। शरीर में परिष्कृत सोम रोगों से व कुटिलताओं से बचाकर हमें स्वस्थ शरीर व निर्मल मनवाला बनाता है। (२) यह सोम **पवमानः**=हमें पवित्र करता है और **अदाभ्यः**=कभी हिंसित होने योग्य नहीं होता। जब सोम शरीर में सुरक्षित होता है तो मन

में छलछिद्र व कुटिलता की भावनायें उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार शरीर पर रोग आक्रमण नहीं कर पाते।

भावार्थ—सुरक्षित सोम रोगकृमियों को पराजित करता है और हमें कुटिल भावों से बचाता है।

ऋषिः—**शुनः शेपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देव-पवमान-हरि

एष देवो विपन्युभिः पवमान ऋतायुभिः। हरिर्वाजाय मृज्यते॥ ३॥

(१) **एषः**=यह सोम **देवः**=रोगकृमियों को पराजित करने की कामनावाला होता है। **पवमानः**=हमारे अन्तःकरणों को पवित्र करता है। **हरिः**=सब कष्टों व पापों का हरण करता है, हमें सुखी व पुण्यशाली बनाता है। (२) यह **विपन्युभिः**=प्रभु का विशिष्ट स्तवन करनेवाले पुरुषों से तथा **ऋतायुभिः**=ऋत के द्वारा गति करनेवाले पुरुषों से (ऋत+'इ' गतौ) **वाजाय**=शक्ति प्राप्ति के लिये **मृज्यते**=शुद्ध किया जाता है। प्रभु-स्तवन व नियमित आचरण हमें वासनाओं का शिकार नहीं होने देते और इस प्रकार हम सोम को परिशुद्ध रखने में समर्थ होते हैं, परिशुद्ध सोम 'देव' हैं 'पवमान' है, 'हरि' है।

भावार्थ—'उपासना' व 'नियमित गति' हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है।

ऋषिः—**शुनः शेपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शूर

एष विश्वानि वार्या शूरो यन्निव सत्वभिः। पवमानः सिषासति॥ ४॥

(१) **एषः**=यह सोम **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता है और **विश्वानि वार्या**=सब वरणीय वस्तुओं को **सिषासति**=हमें प्राप्त कराता है। शरीर के स्वास्थ्य को, मन के प्रसाद को तथा बुद्धि की तीव्रता को देनेवाला यही है। (२) यह सोम **शूरः इव**=एक शूरवीर योद्धा के समान है, जो कि **सत्वभिः यन्**=पराक्रमों के साथ शत्रुओं के प्रति आक्रमण करनेवाला है। शरीर में रोगकृमि रूप शत्रुओं को यह सोम (वीर्य) उसी प्रकार नष्ट करता है, जैसे कि एक वीर योद्धा रणांगण में शत्रुओं को।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम वह शूरवीर योद्धा बनता है जो कि रोगकृमि रूप शत्रुओं को शीर्ण कर देता है।

ऋषिः—**शुनः शेपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रथर्यति-दशस्यति

एष देवो रथर्यति पवमानो दशस्यति। आविष्कृणोति वग्वनुम्॥ ५॥

(१) **एषः**=यह सोम **देवः**=सब रोगों को जीतने की कामना करता हुआ **रथर्यति**=उत्तम रथ को चाहता है, शरीर रूप रथ को उत्तम बनाना चाहता है। **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र बनाता हुआ **दशस्यति**=(दश आत्मनः इच्छति) दसों इन्द्रियाश्वों को सुन्दर बनाता है। सोम के द्वारा शरीर-रथ भी ठीक बना रहता है और इन्द्रियाश्व भी शक्तिशाली बने रहते हैं। (२) यह सोम हमारी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर **वग्वनुम्**=उत्तम ज्ञान की वाणियों को **आविष्कृणोति**=प्रकट करता है। बुद्धि के दीप्त होने पर और हृदय के पवित्र होने पर अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणायें सुन ही पड़ती हैं। यही आत्मा की आवाज का सुनाई पड़ना है।

भावार्थ—सोमरक्षण से शरीर, इन्द्रियाँ व बुद्धि सभी का ठीक विकास होता है।

ऋषिः—**शुनः शेपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रत्नों का आधान

एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो वि गाहते। दधद्रत्नानि दाशुषे॥ ६॥

(१) **एषः**=यह **विप्रैः**=मेधावी पुरुषों से **अभिष्टुतः**=अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्ति के साधन के रूप में स्तुत हुआ-हुआ **देवः**=रोगों को जीतने की कामनावाला सोम **अपः विगाहते**=कर्मों का अवगाहन करता है। सोम के रक्षण से इहलोक अभ्युदयवाला बनता है तो परलोक निःश्रेयसवाला होता है। एवं सोम इहलोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से स्तुत होता है। रक्षित सोम से शक्ति वर्धन होकर हमारा जीवन कर्ममय होता है। इस प्रकार यह सोम हमें कर्मों में अवगाहन करनेवाला बनाता है। (२) यह सोम **दाशुषे**=अपने को सोम के प्रति दे डालनेवाले के लिये, सोमरक्षण को ही जीवन का लक्ष्य बना लेनेवाले के लिये **रत्नानि दधत्**=रत्नों को धारण करता है। सोम के रक्षित होने पर हमें सभी रमणीय वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। यही भाव चतुर्थ मन्त्र में 'विश्वानि वार्या-सिषासति' इन शब्दों से कहा गया है।

भावार्थ—हमारे जीवन का ध्येय सोम का रक्षण हो। यह रक्षित सोम सब रमणीय वस्तुओं को हमें प्राप्त करायेगा। इसके रक्षण से तमोगुण की अकर्मण्यता नष्ट हो जाएगी।

ऋषिः—**शुनः शेपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रजोगुण से ऊपर

एष दिवं वि धावति तिरो रजांसि धारया। पवमानः कनिक्रदत्॥ ७॥

(१) **एषः**=यह सोम **धारया**=अपनी धारणशक्ति के द्वारा **रजांसि तिरः**=सब राजस भावों को तिरस्कृत करके **दिवम्**=प्रकाशमय सात्त्विकभावों की ओर (सत्वस्य लक्षणं ज्ञानम्) **विधावति**=विशेषरूप से गतिवाला होता है। सोमरक्षण से हम रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में प्रवेश करते हैं। (२) यह **पवमानः**=हमारे हृदयों को पवित्र करनेवाला सोम **कनिक्रदत्**=हमारे अन्दर ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करता है मन्त्र पाँच के अनुसार 'आविष्कृणोति वग्वनुम्'। (३) दो मन्त्र में 'अपो विगाहते' इन शब्दों में तमोगुण से ऊपर उठने का संकेत था। यहाँ 'रजांसि तिरः' इन शब्दों से रजोगुण से ऊपर उठने का निर्देश हुआ है। इस प्रकार यह सोम हमें सत्त्वगुण में स्थापित करता है। हम नित्य सत्त्वस्थ बनकर प्रभु के प्रीति पात्र होते हैं।

ऋषिः—**शुनः शेपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'स्वध्वर' सोम

एष दिवं व्यासरत्तिरो रजांस्यस्पृतः। पवमानः स्वध्वरः॥ ८॥

(१) **एषः**=यह सोम **अस्पृतः**=(स्पृणाति to kill) न नष्ट किया गया हुआ **रजांसि तिरः**=सब रजोगुण के भावों को तिरस्कृत करके **दिवं व्यासरत्**=प्रकाश की ओर गतिवाला होता है। सुरक्षित सोम जीवन को प्रकाशमय बनाता है। (२) **पवमानः**=यह सोम हमारे हृदयों को पवित्र करता है और **स्वध्वरः**=हमारे जीवनों को उत्तम यज्ञोंवाला बनाता है। मस्तिष्क दीप्त होने पर और हृदय के पवित्र होने पर जीवन यज्ञमय क्यों नहीं बनेगा?

भावार्थ—यदि सोम का हम रक्षण करेंगे तो यह हमारे जीवनों को प्रकाशमय, पवित्र व यज्ञिय बनायेगा।

ऋषिः—शुनः शेपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'दिव्यता का साधक' सोम

एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः। हरिः पवित्रे अर्षति ॥ ९ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **देवः**=रोगों को जीतने की कामनावाला है। यह **प्रत्नेन जन्मना**=उस प्राचीनकाल से प्रादुर्भूत प्रभु से, सनातन पुरुष से, शाश्वत पुराण पुरुष से **देवेभ्यः**=देववृत्ति के विकास के लिये, दिव्यगुणों के प्रापण के लिये **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। असुर लोग इसका अपव्यय करके इसके वास्तविक लाभ को नहीं प्राप्त कर पाते। (२) **हरिः**=यह सब दुःखों का हरण करनेवाला सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **अर्षति**=अपने कार्य के लिये गतिमय होता है। हृदय के पवित्र होने पर ही यह शरीर में सुरक्षित रहता है, और तब 'रोगों के नाश' आदि अपने कार्यों को करता है।

भावार्थ—सोम को प्रभु ने उत्पन्न किया है। यह हमारे जीवनों में दिव्य गुणों के विकास को करता है।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को 'प्रत्य जन्म' कहा है, वे प्रभु सदा से प्रादुर्भूत हैं, 'जातः' हैं **'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'।**

ऋषिः—शुनः शेपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु-प्रेरणा को सुनना

एष उ स्य पुरुव्रतो जज्ञानो जनयन्निषः। धारया पवते सुतः ॥ १० ॥

(१) **एषः**=यह **स्यः**=वह सोम **उ**=निश्चय से **पुरुव्रतः**=पालन व पूरक कर्मोंवाला है। यह हमारे शरीरों का रोगों से रक्षण करता है और हमारे मनों में हीन भावनाओं को नहीं उत्पन्न होने देता। **जज्ञानः**=हमारे शरीरों में प्रादुर्भूत होता हुआ यह सोम **इषः**=हृदयस्थ प्रभु की उत्तम प्रेरणाओं को **जनयन्**=प्रकट करता है। इसके रक्षण से ही हमें नैर्मल्य के द्वारा अन्तःप्रेरणायें सुन पड़ती हैं। (२) **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **धारया**=अपनी धारणशक्ति से हमारे जीवनों को **पवते**=पवित्र करता है।

भावार्थ—सोम हमें प्रभु प्रेरणाओं को सुनने के लिये आवश्यक पवित्रता को प्राप्त कराता है।

इस प्रकार सोम के महत्त्व को समझकर इस हिरण्य (सोम=वीर्य) के स्तूप (समुच्छ्राय=ऊर्ध्वगति) को करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' अगले सूक्त का ऋषि है। वह सोम का स्तवन करता हुआ उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति के लिये आराधना करता है—

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यस्तूपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

विजय तथा ज्ञान प्राप्ति

सना च सोम जेषि च पवमान महि श्रवः। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १ ॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले **सोम**=वीर्य! तू हमारे लिये **महि श्रवः**=महान् ज्ञान को **सना**=प्राप्त करा। **च**=और तू ही तो **जेषि**=हमारे लिये सब विजयों को करता है। (२) **अथा**=अब महनीय ज्ञानों को प्राप्त कराके तथा सब वासनाओं को पराभूत करके **नः**=हमें **वस्यसः**=उत्कृष्ट जीवनवाला **कृधि**=करिये। इस शरीर में हमारा निवास हो। जीवन का

वास्तविक उत्कर्ष यही है कि हम वासनाओं से पराभूत न हों तथा ज्ञान प्राप्ति के द्वारा प्रकाशमय जीवनवाले हों।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा विजयी बनकर व ज्ञान को प्राप्त करके हम उत्कृष्ट जीवनवाले हों।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्योति-स्वर्ग (सुख) सौभाग्य

सना ज्योतिः सना स्व१र्विश्वा च सोम सौभगा। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ २ ॥

(१) हे सोम! तू हमें **ज्योतिः सन**=ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करा। सोम ने ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर हमारी ज्ञान-ज्योति को दीप्त करना है। इस प्रकार ज्ञान को देकर हे सोम! तू हमें **स्वः सन**=स्वर्ग सुख को देनेवाला हो। अज्ञान ही सब क्लेशों का मूल है। 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेणाम्' अविद्या रूप क्षेत्र में ही सब कष्टों का जन्म होता है। (२) इस प्रकार ज्ञान-ज्योति व स्वर्ग सुखों को प्राप्त करके हे सोम! तू **विश्वा सौभगा च**=सब सौभाग्यों को भी (सना=) हमें प्राप्त करानेवाला हो। हमारे जीवनों को 'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व अनासक्ति' रूप छः के छः सौभाग्यों से युक्त कर। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रिया, ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा'। **अथा**=अब **नः**=हमें सौभाग्य-सम्पन्न करके **वस्यसः**=उत्कृष्ट जीवनवाला **कृधि**=कर।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों को 'ज्योति-सुख व सौभाग्य' सम्पन्न करता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दक्ष-क्रतु (बल व ज्ञान)

सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ३ ॥

(१) हे सोम! तू **दक्षं सन**=हमें बल दे। **उत**=और **क्रतुम्**=प्रज्ञान को भी प्राप्त करा। सोम के रक्षण से हम बल व प्रज्ञान से सम्पन्न हों। हमारे क्षत्र व ब्रह्म का विकास होकर हमारा जीवन श्रेष्ठ बने। (२) हे **सोम**=वीर्य! तू **मृधः**=हिंसक शत्रुओं को **अपजहि**=सुदूर विनष्ट कर। वासनाएँ ही हमारे हिंसक शत्रु हैं। बल व प्रज्ञान के विकास से वासनाओं का विनाश होता है। **अथा**=अब इस वासना विनाश को करके **नः**=हमें **वस्यसः कृधि**=उत्कृष्ट जीवनवाला कर।

भावार्थ—सोम हमारे बल व ज्ञान का विकास करके, नानारूप शत्रुओं का नाश करता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोम का पवित्रीकरण

पवीतारः पुनीतन सोममिन्द्राय पातवे। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ४ ॥

(१) हे **पवीतारः**=हमारे जीवनों को ज्ञान देकर पवित्र करनेवाले आचार्यो! आप हमारे **सोमम्**=सोम को **पुनीतन**=पवित्र करो। ज्ञान के द्वारा वासनाओं का विनाश हो और यह सोम सदा पवित्र बना रहे। यह **सोम इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पातवे**=पीने के लिये हो। एक जितेन्द्रिय पुरुष इस सोम को अपने अन्दर ही सुरक्षित करनेवाला हो। (२) इस प्रकार हमारे सोम को वासनाओं से मलिन न होने देकर आप **अथा**=अब **नः**=हमें **वस्यसः कृधि**=उत्कृष्ट जीवनवाला करिये।

भावार्थ—हम ज्ञान को प्राप्त करते हुए सोम को वासनाओं से अपवित्र न होने दें। इस प्रकार रक्षित सोम से हमारा जीवन श्रेष्ठ बनेगा।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नीरोग प्रकाशमय जीवन

त्वं सूर्ये न आ भज तव क्रत्वा तवोतिभिः। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ५ ॥

(१) हे सोम! **त्वम्**=तू **तव क्रत्वा**=तेरे द्वारा उत्पन्न प्रज्ञान से तथा **तव ऊतिभिः**=तेरे से किये गये रक्षणों से **नः**=हमें **सूर्ये आभज**=ज्ञान सूर्य में भागी बना। सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, इसी से हमारे जीवनों में ज्ञानसूर्य के उदय का सम्भव होता है। यह सोम हमें रोगों से भी बचाता है और इस प्रकार अविच्छिन्न स्वाध्याय के द्वारा हम ज्ञानसूर्य का अपने में उदय करनेवाले होते हैं। (२) हे सोम! इस प्रकार प्रज्ञान व रक्षणों के द्वारा **अथा**: अब **नः**=हमें **वस्यसः कृधि**=उत्कृष्ट जीवनवाला करिये।

भावार्थ—सोम हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है तथा रोगों के आक्रमण से हमारा रक्षण करता है। इस प्रकार हमें नीरोग व प्रकाशमय जीवन प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दीर्घकाल तक सूर्य-दर्शन

तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक्पश्येम सूर्यम्। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ६ ॥

(१) ये सोम! **तव क्रत्वा**=तेरे द्वारा उत्पन्न प्रज्ञान से तथा **तव**=तेरे द्वारा की गई **ऊतिभिः**=रक्षाओं से हम **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं पश्येम**=सूर्य को देखनेवाले बनें। अर्थात् दीर्घजीवनवाले बनें। सूर्य दर्शन से शीघ्र ही वञ्चित न हो जायें। (२) **अथा**=अब प्रज्ञान व रक्षण को प्राप्त कराके **नः**=हमें **वस्यसः**=उत्कृष्ट जीवनवाला **कृधि**=करिये।

भावार्थ—हम सोमरक्षण द्वारा ज्ञान व नीरोगता को प्राप्त करके दीर्घजीवनवाले हों।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्वायुध' सोम

अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम्। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ७ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **स्वायुध**=उत्तम आयुधोंवाले, जिसके द्वारा इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि आदि सब आयुध उत्तम बनते हैं, तू **द्विबर्हसम्**=द्यावापृथिवी इन दोनों स्थानों में बढ़े हुए (द्वयोः स्थानयोः परिवृढं) **रयिम्**=धन को **अभ्यर्ष**=(अभिगमय) हमें प्राप्त करा। मस्तिष्क रूप द्युलोक का धन 'प्रज्ञान' है तथा शरीर रूप पृथिवीलोक का धन 'बल' हे। सोम हमारे लिये प्रज्ञान व बल दोनों को प्राप्त करानेवाला हो। (२) **अथा**=और अब, प्रज्ञान और बल को प्राप्त कराके, **नः**=हमें **वस्यसः**=उत्तम निवासवाला **कृधि**=करिये। सोम के रक्षण से हमारे इन्द्रिय, मन व बुद्धि रूप आयुध उत्तम बन जाते हैं। इनके द्वारा हम जीवन-संग्राम को अच्छी तरह लड़ पाते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोभ हमारे बल व ज्ञान को बढ़ाकर हमारे इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप आयुधों को उत्तम बनाता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रोगकृमि संहार

अभ्यर्षानपच्युतो रयिं समत्सु सासहिः। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ८ ॥

(१) **समत्सु**=संग्रामों में **अनपच्युतः**=शत्रुओं से न आहत हुआ-हुआ, शत्रुओं से विचलित

न किया गया, **सासहिः**=शत्रुओं का पूर्ण पराभव करनेवाला, हे सोम! तू **रयिम्**=हमारे लिये ऐश्वर्य को **अभ्यर्ष**=प्राप्त करा। (२) शरीर में वीर्य का रोगकृमियों के साथ सतत संग्राम चलता है। इस संग्राम में यह सोम अविचलित (=स्थिर) होता हुआ इन रोगकृमियों का पराभव करता है। इनको विशेषरूप से कम्पित करके वह दूर भगा देता है। **अथा**=अब इन रोगकृमियों के संहार के द्वारा **नः**=हमें **वस्यसः**=उत्कृष्ट जीवनवाला **कृधि**=करिये।

भावार्थ—वीर्य के द्वारा शरीर में रोगकृमियों का संहार होकर हमारा जीवन उत्तम बने।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञों के द्वारा सोम का वर्धन

त्वां यज्ञैरवीवृधन्पवमान विधर्मणि। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ९ ॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **त्वाम्**=तुझे **विधर्मणि**=अपने विशिष्ट धारण के निमित्त उपासक लोग **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा **अवीवृधन्**=बढ़ाते हैं। यज्ञों से वासना का उद्भव ही नहीं होता। इस प्रकार वासना के अभाव में सोम का वर्धन होता है। यह वृद्ध सोम हमारा विशेषरूप से धारण करता है। (२) इस प्रकार **अथा**=अब विशिष्ट धारण के द्वारा, **नः**=हमें **वस्यसः**=उत्कृष्ट निवासवाला **कृधि**=करिये सोम के रक्षण से सब शक्तियों का वर्धन होता है और जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ—यज्ञों में लगे रहने के द्वारा, वासना को उत्पन्न न होने देकर, हम सोम का रक्षण करें। यह हमारा विशेषरूप से धारण करेगा।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'विश्वायु' रयि की प्राप्ति

रयिं नश्चित्रमश्विनमिन्दो विश्वायुमा भर। अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १० ॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=धन को **आभर**=प्राप्त करा, जो **अश्विनम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला है तथा **विश्वायुम्**=पूर्ण जीवन को देनेवाला है तथा **चित्रम्**=अद्भुत है अथवा 'चिती संज्ञाते' उत्तम ज्ञान से युक्त है। वस्तुतः वही धन उत्तम है जो कि—(क) ज्ञान से युक्त है, (ख) इन्द्रियों को शक्तिशाली बनानेवाला है तथा (ग) जीवन को पूर्ण बनाता है। (२) इस प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कराके **अथा**=अब **नः**=हमें **वस्यसः**=प्रशस्त जीवनवाला **कृधि**=कर। वस्तुतः जीवन का सौन्दर्य इसी में है कि वह ज्ञान-सम्पन्न हो, इन्द्रियाँ सशक्त हों, जीवन यौवन में ही समाप्त न हो जाए।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) ज्ञान बढ़ता है, (ख) इन्द्रियाँ सशक्त होती हैं, (ग) जीवन पूर्ण बनता है।

इस प्रकार यह हिरण्य स्तूप सोम की ऊर्ध्वगति करता हुआ 'असित' बनता है, विषयों से बद्ध (सित) नहीं होता 'काश्यप'=ज्ञानी बनता है और 'देवल'=दिव्य गुणों का आदान करनेवाला होता है। इसी 'असित काश्यप देवल' ऋषि का अगला सूक्त है। यह सोम का स्तवन करता हुआ कहता है कि—

[५] पञ्चम सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'समिद्ध' सोम

समिद्धो विश्वतस्पतिः पवमानो वि राजति। प्रीणन्वृषा कनिक्रदत्॥ १॥

(१) शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। ज्ञानाग्नि को दीप्त करने के कारण यहाँ सोम को 'समिद्ध' कहा गया है। सब ओर से शरीर का रक्षण करनेवाला यह 'विश्वतस्पति' है। पवित्र करनेवाला होने से 'पवमान' है। मस्तिष्क को यह 'समिद्ध' करता है। शरीर को 'रक्षित' करता है। मन को पवित्र बनाता है। मस्तिष्क के ज्ञानदीप्त होने से मैं 'काश्यप' बनता हूँ। शरीर के रोगों से अनाक्रान्त होने से मैं 'अ-सित'=अबद्ध होता हूँ। मन में पवित्रता के कारण 'देवल' होता हूँ। (२) **समिद्धः**=ज्ञान को दीप्त करनेवाला, **विश्वतस्पतिः**=शरीर को सर्वतः सुरक्षित करनेवाला **पवमानः**=मेरे मन को पवित्र करनेवाला यह सोम **विराजति**=मेरे शरीर में दीप्त होता है। (३) **प्रीणन्** (प्रीणयन्)=यह ज्ञानदीप्ति नीरोगता तथा पवित्रता से हमें प्रीणित करता है। **वृषा**=हमें शक्तिशाली बनाता है। **कनिक्रदत्**=हमें प्रभु के आह्वान की वृत्तिवाला बनाता है। सोम मानो सुरक्षित होकर प्रभु का आह्वान करता है, प्रभु की आराधना करता है।

भावार्थ—सोम 'समिद्ध, विश्वतस्पति व पवमान' है। यह मेरे लिये 'प्रसन्नता, शक्ति व प्रभु की आराधना' का कारण बनता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'तनूनपात्' सोम

तनूनपात्पवमानः शृङ्गे शिशानो अर्षति। अन्तरिक्षेण रारजत्॥ २॥

(१) यह सोम गत मन्त्र के अनुसार 'विश्वतस्पति' होता हुआ **तनूनपात्**=शरीर को गिरने नहीं देता। शरीर की शक्तियों के रक्षण का यह साधन बनता है। **पवमानः**=हृदय को पवित्र करता है। **शृंगे**=(दीप्ते उन्नतप्रदेशे सा०) शरीर के सर्वोन्नत प्रदेश मूर्धा (मस्तिष्क) में **शिशानः**=(शो तनूकरणे) ज्ञान को दीप्त करता हुआ (बुद्धि को सूक्ष्म बनाता हुआ) **अर्षति**=यह गति करता है। (२) **अन्तरिक्षेण**=हृदयदेश से **रारजत्**=(To be delighted) खूब आनन्द का यह अनुभव करता है। सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमारे उल्लास का कारण बनता है।

भावार्थ—सोम शरीर के लिये 'तनूनपात्' है। यह मन के लिये 'पवमान व राजत्' है। मस्तिष्क के लिये 'शिशान' है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'ईडेन्य' सोम

ईळेन्यः पवमानो रयिर्वि राजति द्युमान्। मधोर्धाराभिरोजसा॥ ३॥

(१) यह सोम **ईडेन्यः**=स्तुति में उत्तम है। सोमरक्षण के होने पर हमारी वृत्ति प्रभु-स्तवन की बनती है **पवमानः**=यह हमारे हृदयों को पवित्र करता है। यह हमारे लिये **द्युमान् रयिः**=ज्ञान-ज्योतिवाला धन है। (२) यह हमारे अन्दर **मधोः धाराभिः**=मधु की धाराओं से, अर्थात् अत्यन्त माधुर्य से तथा **ओजसा**=ओज (शक्ति) से **विराजति**=दीप्त होता है। हमारे जीवन को मधुर व

ओजस्वी बनाता हुआ यह शोभायमान होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम 'प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले, पवित्र, ज्ञान धनवाले, मधुर व ओजस्वी' बनते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'देव' सोम

बर्हिः प्राचीनमोजसा पवमानः स्तृणन्हरिः देवेषु देव ईयते॥ ४॥

(१) यह सोम **प्राचीनम्**=(प्र अञ्च्) सदा अग्रगति की भावनावाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को जिसने वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है उस हृदय को **ओजसा स्तृणन्**=ओजस्विता से आच्छादित करता हुआ **पवमानः**=हमें पूर्ण पवित्र बनाता है तथा **हरिः**=हमारे दुःखों व पापों का हरण करनेवाला होता है। (२) यह **देवः**=हमारे सब रोगों को जीतनेवाला तथा प्रकाशमय सोम **देवेषु**=देववृत्तिवाले पुरुषों में **ईयते**=गति करता है। देववृत्तिवाले पुरुषों में ही यह सुरक्षित रहता है।

भावार्थ—यह सोम हमें 'ओजसी, पवित्र, निष्पाप व सुखी तथा प्रकाशमय जीवनवाला' बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

हिरण्यय द्वार

उदातैर्जिहते बृहद् द्वारो देवीर्हिरण्ययीः। पवमानेन सुष्टुताः॥ ५॥

(१) शरीर में इन्द्रियाँ द्वार कहलाती हैं 'अष्टचक्रा नवद्वारा०'। सोमरक्षण के द्वारा ये प्रभु प्रवण होती हैं। प्रभु-स्तवन की प्रवृत्तिवाली बनती हैं। **पवमानेन**=इस पवित्र करनेवाले सोम से ये **सुष्टुताः**=(शोभनं स्तुतं येषां) उत्तम स्तुतिवाली होती हैं। सोम के रक्षण के होने पर भोगवृत्ति का विनाश होकर प्रभु-स्तवन की वृत्ति जगती है। (२) उस समय **द्वारः**=ये इन्द्रिय द्वार **देवीः**=(दिव् स्तुतौ) प्रभु का स्तवन करते हैं और **हिरण्ययीः**=हितरमणीय ज्ञानवाले होते हैं। तथा **उदातैः**=(आत=दिशा) उत्कृष्ट दिशाओं से **बृहत्**=खूब ही **जिहते**=गतिवाले होते हैं। जीवन में यह सोमरक्षक पुरुष उत्कृष्ट मार्ग से ही गति करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के होने पर हमारी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तवन करती हुईं, प्रकाशमय होती हुईं, उत्कृष्ट मार्ग से गति करती हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दर्शते नक्तोषासा

सुशिल्पे बृहती मही पवमानो वृषण्यति। नक्तोषासा न दर्शते॥ ६॥

(१) सोमरक्षण के होने पर जीवन सुन्दर बनता है। हम उत्तम निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहते हैं (सुशिल्पे) दिन वदिन हम आगे बढ़ते चलते हैं, वृद्धि को प्राप्त होते हैं, (बृहती) प्रभु पूजा की वृत्तिवाले होते हैं (मही) जीवन दर्शनीय बन जाता है (दर्शते)। (२) **पवमानः**=यह पवित्र करनेवाला सोम **न**=(संप्रति सा०) अब **नक्तोषासा**=हमारे रात-दिन को **वृषण्यति**=शक्तिशाली बनाने की कामना करता है। **सुशिल्पे**=उन्हें उत्तम शिल्पवाला बनाता है, हम कला पूर्ण ढंग से प्रत्येक कार्य को करते हैं। **बृहती**=(परिवृद्धे) हमारे दिन-रात बढ़े हुए होते हैं, हम प्रतिदिन अपने को कुछ आगे बढ़ा हुआ अनुभव करते हैं। **मही**=सुरक्षित सोम हमारे दिन-रात को प्रभु-पूजनवाला

बनाता है, हम प्रभु को कभी भूलते नहीं। **दर्शते**=ये दिन-रात दर्शनीय बनते हैं। हम इनमें कोई भी कार्य ऐसा नहीं करते जो कि इन्हें अमंगल बना दे।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारे दिन-रात अत्यन्त सुन्दर बन जाते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दैव्या होतारा

उभा देवा नृचक्षसा होतारा दैव्या हुवे। पवमान इन्द्रो वृषा॥ ७॥

(१) शरीर में प्राणापान 'दैव्य होता' कहलाते हैं। उस प्रभु से स्थापित होने से ये दैव्य हैं, शरीर यज्ञ के चलानेवाले ये होता हैं। शरीर में सब शक्तियों को स्थापित करनेवाले ये ही हैं। इन **उभा देवा**=दोनों शरीर के सब व्यवहारों के साधक, **नृचक्षसा**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाले **दैव्या होतारा**=प्राणापानों को **हुवे**=मैं पुकारता हूँ। इनकी आराधना करता हूँ, प्राणायाम का अभ्यास ही तो इनकी आराधना है। (२) इनकी आराधना से शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला सोम **पवमानः**=हमारे जीवन को पवित्र करता है। यह **इन्द्रः**=हमें परमैश्वर्यवाला बनाता है। **वृषा**=शक्तिशाली होता है।

भावार्थ—प्राणापान 'दैव्य होता' हैं। उनकी साधना से शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला सोम हमें पवित्र व शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'मही-सरस्वती-इडा'

भारती पवमानस्य सरस्वतीळा मही। इमं नो यज्ञमा गमन्तिस्रो देवीः सुपेशसः॥ ८॥

(१) सोम के सुरक्षित होने पर शरीर में सब व्यवस्था ठीक चलती है। मन्त्र में कहते हैं कि **नः**=हमारे **इमम्**=इस **पवमानस्य**=सोम के **यज्ञम्**=यज्ञ में **सरस्वती-इडा-मही**=सरस्वती-इडा-मही **तिस्रः**=तीनों **सुपेशसः**=जीवन का उत्तम निर्माण करनेवाली **देवीः**=देवियाँ **अगमन्**=आयें। 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' इस वाक्य के अनुसार यह जीवन 'सोम' के साथ है। इसलिए यहाँ इस जीवन को 'पवमान सोम का यज्ञ' कहा है। (२) इस सोम के सुरक्षित होने पर 'सरस्वती, इडा व मही' ये तीनों देवियाँ हमारे जीवन में आती हैं, ये तीनों 'भारती' हैं, **भारती**=हमारा उत्तमता से भरण करनेवाली हैं। निघण्टु १।११ में 'इडा, सरस्वती, मही' ये तीनों ही वाणी के नाम हैं। 'इडा' यह ऋग्वेद की वाणी हैं, जो सब भौतिक पदार्थों के विज्ञान को देती हुई हमें उत्तम अन्न प्राप्त कराती है, और हमारे इस अन्नमयकोश को बड़ा ठीक रखती है। 'सरस्वती' यजुर्वेद की वाणी है, जो सब यज्ञों व कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करती हुई, हमें शिक्षित व परिष्कृत जीवनवाला बनाती है। 'मही' साम वाणी है, जो कि हमें प्रभु-पूजन कराती हुई प्रभु के समान ही महान् बनाती है। एवं ये सब वाणियाँ भारती हैं, हमारे जीवन का सुन्दर भरण करती हैं, 'सुपेशस्' हैं। निघण्टु में भारती भी (१।११) वाणी का नाम है। 'इडा-सरस्वती-मही' तीनों ही भारती हैं। सोम के रक्षण के होने पर ये सब हमें प्राप्त होती हैं, इनके द्वारा हमारा जीवन यज्ञ उत्तमता से चलता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के होने पर हमारे जीवनयज्ञ में 'इडा-सरस्वती-मही' तीनों ही भारती देवियाँ प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'इन्दु प्रजापति'

त्वष्टा॑रमग्र॒जां गो॒पां पु॑रो॒यावा॑न॒मा हु॑वे। इन्दु॒रिन्द्रो॒ वृषा॒ हरि॒ः पव॑मानः प्र॒जाप॑तिः॥ ९॥

(१) मैं **त्वष्टारम्**=संसार के निर्माता, **अग्रजाम्**=सृष्टि से पहले होनेवाले 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे', **गोपाम्**=रक्षक, **पुरो यावानम्**=आगे ले चलनेवाले, नेतृत्व देनेवाले प्रभु को **आहुवे**=पुकारता हूँ। यह प्रभु का स्मरण ही मुझे वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के योग्य बनाता है। (२) उस समय यह **इन्दुः**=सोम **इन्द्रः**=मेरी इन्द्रियों को शक्तिशाली बनानेवाला होता है, **वृषा**=हमारे पर सब सुखों का वर्षण करता है, **हरिः**=हमारे कष्टों व पापों का हरण करता है, **पवमानः**=हमें पवित्र बनाता है और **प्रजापतिः**=हमारे सन्तानों का भी रक्षण करता है। सोमरक्षण से उत्तम सन्तान प्राप्त होते ही हैं। (३) इस सोमरक्षण के द्वारा मैं भी त्वष्टा=निर्माता, अग्रज=अग्र स्थान में होनेवाला, गोपा=अपना रक्षण करनेवाला तथा पुरोयावान्=आगे और आगे बढ़नेवाला व नेतृत्व देनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें। प्रभु स्मरण के द्वारा सोम का रक्षण करते हुए प्रभु जैसे ही बनें।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'भ्राजमान-हिरण्यय'

वन॒स्पतिं॑ पवमान॒ मध्वा॒ सम॑ङ्ग्धि॒ धार॑या। स॒हस्र॑वल्शं॒ हरि॑तं॒ भ्राज॑मानं हिर॒ण्यय॑म्॥ १०॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **वनस्पतिम्**=वानस्पतिक भोजन से पालित शरीर को **मध्वा धारया**=माधुर्य की धारा से **समङ्ग्धि**=अलंकृत कर। शरीर को यहाँ 'वनस्पति' कहा गया है। यह वानस्पतिक भोजनों से ही निर्मित होना चाहिए। सोम का रक्षण होने पर इस शरीर में निवास बड़ा मधुर हो जाता है, 'नीरोगता, पवित्रता व बुद्धि की तीव्रता' से जीवन मधुर ही मधुर बन जाता है। (२) हे सोम! तू इस शरीर को **सहस्रवल्शं**=(सहस्+वल्श्) आनन्दयुक्त-विकसित-शाखाओंवाला, **हरितम्**=हरा-भरा, अशुष्क जो सूखे काठ की तरह नीरस व गिरने के लिये तैयार नहीं है, **भ्राजमानम्**=तेजस्विता से दीप्त, **हिरण्ययम्**=ज्ञान ज्योतिवाला कर।

भावार्थ—सोम के रक्षण से शरीर 'विकसित अंग-प्रत्यंगवाला, अशुष्क, तेजोदीप्त व ज्ञान प्रकाशित' बनता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**आप्रियः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

सर्वदेवाधिष्ठानता

विश्वे॑ देवा॒ः स्वाहा॑कृतिं॒ पव॑मान॒स्या ग॑त। वा॒युर्बृह॒स्पति॑ः सूर्यो॒ऽग्निरिन्द्र॑ः स॒जोष॑सः॥ ११॥

(१) **विश्वेदेवाः**=सब देव **पवमानस्य**=इस पवित्र करनेवाले सोम की **स्वाहाकृतिम्**=शरीरयज्ञ में आहुति देने पर **आगत**=आयें। जिस समय सोम की शरीर में ही आहुति दी जाये, अर्थात् सोम का शरीर में ही रक्षण हो उस समय यह शरीर सब देवों का अधिष्ठान बने। (२) **वायुः**=यहाँ वायु का आगमन हो। वायु की तरह हम निरन्तर क्रियाशील बनें। **बृहस्पतिः**=ज्ञानियों के भी ज्ञानी का यहाँ आगमन हो। हम ऊँचे ज्ञानवाले बनें। **सूर्यः**=सूर्य की तरह प्रकाश को फैलानेवाले हम हों। **अग्निः**=अग्नि की तरह सब रोगों व वासनाओं को दग्ध करें। **इन्द्रः**='सर्वाणि

बलकर्माणि इन्द्रस्य' इन्द्र की तरह शक्तिशाली **सजोषसः**=कार्यों के करनेवाले हों।

भावार्थ—सोम के रक्षण से हमारा शरीर सब देवों का अधिष्ठान बनता है।

अगले सूक्त में भी प्रस्तुत सूक्त की तरह 'असित देवल काश्यप' प्रार्थना करता है कि—

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'देवयु-अस्मयु' सोम

मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः। अव्यो वारेष्वस्मयुः॥ १॥

(१) हे सोम! तू **मन्द्रया**=मदकर-उल्लास की जनक, **धारया**=धारा से, धारणशक्ति से **पवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र कर। सोम शरीर में ही प्रवाहित होता है, तो यह शरीर का धारण तो करता ही है, हृदय में आनन्द व उल्लास को उत्पन्न करता है। (२) **वृषा**=यह हमारे शरीरों को शक्तिशाली बनाता है, **देवयुः**=दिव्य गुणों को हमारे साथ जोड़नेवाला होता है। **अव्यः**=(अवति इति अवः 'अव्-अच्, तेषु साधु') रक्षण करनेवालों में यह उत्तम है तथा **वारेषु**=रोग-निवारणादि कार्यों में **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाला होता है।

भावार्थ—रक्षित सोम हमारे साथ दिव्य गुणों को जोड़ता है और रोगादि का निवारण करता हुआ हमारा हित करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'मद्य मद' का अभिक्षरण

अभि त्यं मद्यं मदमिन्दविन्द्र इति क्षर। अभि वाजिनो अर्वतः॥ २॥

(१) हे **इन्दो**=सोम (वीर्य)! **इन्द्रः इति**=तू सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला है, इसलिए **त्यम्**=उस **मद्यम्**=आनन्द के कारणभूत **मदम्**=मद को, हर्ष को अथक हर्षजनक रस को **अभिक्षर**=हमारी ओर प्राप्त करा। (२) इस मद्य मद के द्वारा **वाजिनः**=शक्तिशाली **अर्वतः**=इन्द्रियाश्वों को **अभि**=(क्षर) प्राप्त करा। सोम के रक्षण से शरीर में ही एक उल्लासजनक रस का क्षरण होता है। इसी रस के द्वारा इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं।

भावार्थ—सोम के रक्षण से उल्लासमय जीवन प्राप्त होता है तथा इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

वाज-श्रवस् (शक्ति-ज्ञान)

अभि त्यं पूर्व्यं मदं सुवानो अर्ष पवित्र आ। अभि वाजमुत श्रवः॥ ३॥

(१) हे सोम! **सुवानः**=शरीर में उत्पन्न किया जाता हुआ तू **पवित्रे**=मेरे हृदय के पवित्र होने पर **त्यम्**=उस **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करने में उत्तम **मदम्**=उल्लासजनक रस को **अभि आ अर्ष**=सर्वथा प्राप्त करा। (२) इस मदकर रस के द्वारा **वाजम्**=शक्ति को **अभि**=(अर्ष) प्राप्त करा **उत**=और **श्रवः**=ज्ञान को प्राप्त करा। सोम के रक्षण से शक्ति व ज्ञान प्राप्त होते हैं। रक्षित सोम से शरीर शक्तिशाली बनता है और मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त होता है।

भावार्थ—रक्षित सोम हमें वह मदकर रस प्राप्त कराये जिससे शक्ति व ज्ञान का वर्धन हो।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोमरक्षण से पवित्रता

अनु द्रप्सास इन्दव आपो न प्रवतासरन्। पुनाना इन्द्रमाशत॥ ४॥

(१) **द्रप्सासः**=(Drop) कणों के रूप में होनेवाले **इन्दवः**=ये सोम (वीर्यकण) **आपः न**=व्याप्त होनेवाले जलों के समान **प्रवता अनु असरन्**=(प्रवत् Height, elevation) शरीर में उच्चता के अनुसार गतिवाले होते हैं। शरीर में, प्राणसाधना के द्वारा, जब इनकी ऊर्ध्वगति होती है तो ये सारे शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। (२) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **पुनानाः**=पवित्र करते हुए **आशत**=ये व्याप्त करनेवाले होते हैं। जितेन्द्रियता इन सोमकणों के रक्षण का साधन बनती है। रक्षित सोमकण इस जितेन्द्रिय पुरुष को आधिव्याधियों से शून्य व पवित्र बनाते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

दश योषणः

यमत्यमिव वाजिनं मृजन्ति योषणो दश। वने क्रीळन्तमत्यविम्॥ ५॥

(१) '**योषा**' शब्द पत्नी का वाचक है। '**इन्द्र**' जीवात्मा है, इन्द्रियाँ उसकी पत्नी के समान हैं। संख्या में ये १० हैं, सो '**दश योषणः**' इन शब्दों में यहाँ इनका उल्लेख हुआ है। ये **दश योषणः**=दस इन्द्र की पत्नियाँ के रूप में विद्यमान १० इन्द्रियाँ **वाजिनम्**=शक्तिशाली **अत्यं इव**=घोड़े के समान **यम्**=जिस सोम को **मृजन्ति**=शुद्ध करती हैं। सोम शरीर में घोड़े के समान है। रथ घोड़े से गतिवाला होता है। यह शरीर सोम से गतिवाला होता है। सोम के अभाव में शरीर समाप्त हो जाता है। इन्द्रियाँ यदि विषयासक्त नहीं होती तो यह सोम पवित्र बना रहता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ इसका शोधन करती हैं। (२) इस सोम का ये शोधन करती हैं जो कि **वने क्रीडन्तम्**=उपासना में यह ज्ञान की किरणों में (worshipping; A Ray of light) क्रीडा करता है, अर्थात् हमें उपासना की वृत्तिवाला बनाता है और हमारे जीवन को प्रकाशमय करता है। इस प्रकार '**अत्यविम्**'=जो अतिशयेन रक्षा करनेवाला है। (३) प्रस्तुत मन्त्र में सोमरक्षण के तीन लाभों का संकेत है—(क) यह हमें शक्तिशाली बनाता है (वाजिनम्), (ख) हमें उपासना की वृत्तिवाला करता है (वन) तथा हमारी ज्ञानरश्मियों को दीप्त करता है (वन)।

भावार्थ—इन्द्रियाँ विषयासक्त नहीं होती तो सोम को शुद्ध बनायें रखती हैं। यह सोम हमें शक्तिशाली, उपासनामय और ज्ञान की रश्मियोंवाला बनाता है।

सूचना—'योषा' शब्द पत्नी के लिये आता है। पत्नी के घर से बुराइयों को दूर करता है (यु=अमिश्रणे) और अच्छाइयों का सम्पर्क करना है (यु मिश्रणे)। यही काम इन्द्रियों का होना चाहिए।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान में लगे रहने द्वारा सोम का रक्षण

तं गोभिर्वृषणं रसं मदाय देववीतये। सुतं भराय सं सृज॥ ६॥

(१) **तम्**=उस **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न किये गये **वृषणं रसम्**=शक्तिशाली रस को, अर्थात् सोम को **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **संसृज**=संसृष्ट कर। जब हम ज्ञान की वाणियों में प्रवृत्त होते हैं, तो सब विषय-वासनाओं से बचे रहते हैं। इन से बचने के परिणामरूप सोम का रक्षण होता है, सोम का हमारे साथ सम्पर्क है। (२) इसका अपने साथ सम्पर्क हमें इसलिए करना है कि शरीर में ही संसृष्ट हुआ-हुआ सोम **मदाय**=हमारे जीवन में उल्लास के लिये होता है। **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये होता है तथा **भराय**=शरीर के पोषण के लिये होता है।

भावार्थ—ज्ञान प्रसितता द्वारा सोम का रक्षण होता है और रक्षित सोम हमें उल्लासमय, दैवी सम्पत्तिवाला तथा पुष्ट अंग-प्रत्यंगवाला बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

आप्यायन

दे॒वो दे॒वाय॒ धार॒येन्द्रा॑य पवते सु॒तः। पयो॒ यद॑स्य पी॒पय॑त्॥ ७॥

(१) **देवः**=हमारे सब रोगों को जीतने की कामनावाला यह **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **देवाय**=प्रकाशमय जीवनवाले, स्वाध्याय की रुचिवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **धारया पवते**=धारणशक्ति के साथ प्राप्त होता है। सोम के रक्षण के लिये ये दो ही मुख्य साधन हैं—(क) स्वाध्याय की प्रवृत्तिवाला बनना, तथा (ख) इन्द्रियों को विषयों की ओर न जाने देना। (२) इस प्रकार सोम का रक्षण होने पर **यत्**=जो **अस्य**=इसकी **पयः**=आप्यायन शक्ति है, वह **पीपयत्**=इसे सब प्रकार से आप्यायित करती है। इस से शरीर पुष्ट होता है, मन निर्मल बनता है, मस्तिष्क दीप्त होता है।

भावार्थ—हम देववृत्ति के व जितेन्द्रिय बनकर सोम का रक्षण करें। यह हमारा सब अंगों में आप्यायन करेगा।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'यज्ञ का आत्मा' सोम

आ॒त्मा य॒ज्ञस्य॒ रंह्या॑ सुष्वा॒णः प॑वते सु॒तः। प्र॒त्नं नि पा॑ति॒ काव्य॑म्॥ ८॥

(१) **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **यज्ञस्य आत्मा**=जीवनयज्ञ का आत्मा ही है। आत्मा के चले जाने से जैसे जीवन समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार सोम के सुरक्षित न रहने पर यह जीवन यज्ञात्मक नहीं रहता। उस समय इस जीवन में असुरों का साम्राज्य हो जाता है। यह सोम **सुष्वाणः**=जीवनों में सब ऐश्वर्यों को उत्पन्न करता हुआ (सु=ऐश्वर्ये) **रंह्या**=वेग से **पवते**=गतिवाला होता है। इस सोम के द्वारा जीवन बड़ा क्रियाशील बना रहता है। (२) यह सुरक्षित सोम **प्रत्नं काव्यम्**=सनातन काव्य को, वेदज्ञान को **नि पाति**=हमारे में सुरक्षित करता है 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। सुरक्षित सोम से ज्ञानाग्नि का दीपन होता है, उस से हम वेदार्थ को स्पष्ट समझनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—सोम ही जीवनयज्ञ का आत्मा है। यही सब ऐश्वर्यों को उत्पन्न करता है। इसी से हमारे हृदयों में सनातन ज्ञान का प्रकाश होता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

गुहा में ज्ञानगिराओं का स्थापन

एवा पुनान इन्द्रयुर्मदं मदिष्ठ वीतये। गुहा चिद्दधिषे गिरः॥ ९॥

(१) हे **मदिष्ठ**=अतिशयेन उल्लासजनक सोम! **एवा**=इस प्रकार **पुनानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ तू **इन्द्रयुः**=जितेन्द्रिय पुरुष की कामनावाला होता है। जितेन्द्रिय पुरुष को तू प्राप्त होता है और उसके जीवन में **मदं दधिषे**=उल्लास को धारण करता है। (२) तू **वीतये**=(वी=असने) अज्ञानान्धकार के ध्वंस के लिये होता है और **चित्**=निश्चय से **गुहा**=बुद्धिरूप गुहा में **गिरः** दधिषे=ज्ञान की वाणियों को धारण करता है। सोमरक्षक पुरुष की बुद्धि में इन ज्ञान की वाणियों का प्रकाश होता है।

भावार्थ—रक्षित सोम हमारे जीवनों को पवित्र करता है तथा अज्ञानान्धकार को दूर करके हमारे जीवनों को ज्ञान से द्योतित करता है।

अगले सूक्त के भी ऋषि देवता प्रस्तुत सूक्त के समान ही हैं। वहाँ 'असित काश्यप देवल' कहता है—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

ऋत के द्वारा सोम का रक्षण

असृग्रमिन्दवः पथा धर्मन्नृतस्य सुश्रियः। विदाना अस्य योजनम्॥ १॥

(१) **इन्दवः**=सोमकण **ऋतस्य पथा**=ऋत के मार्ग से (ऋत=यज्ञ) यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहने से अथवा (ऋत, right) दिनचर्या को नियमित रूप से पालने के द्वारा **धर्मन्**=धारणात्मक कर्म में **असृग्रम्**=(सृज्यन्ते) लगाये जाते हैं। अर्थात् ऋत के द्वारा सोम का रक्षण होता है। ऋत का भाव है—(क) यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहना, (ख) दिनचर्या का ठीक पालना। ऐसा करने से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता, और सोम के रक्षण का सम्भव होता है, रक्षित सोम हमारा धारण करनेवाले होते हैं। (२) ये सोम **सुश्रियः**=उत्तम श्री का (शोभा का) कारण बनते हैं तथा **अस्य**=इस जीव के **योजनम्**=प्रभु के साथ मेल को **विदानाः**=जाननेवाले व प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—ऋत के द्वारा सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम—(क) शरीर का धारण करता है, (ख) हमें श्री-सम्पन्न बनाता है, (ग) प्रभु के साथ हमारा मेल कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोमरक्षण से 'अग्रिय व वन्द्य' बनना

प्र धारा मध्वो अग्रियो महीरपो वि गाहते। हविर्हविष्षु वन्द्यः॥ २॥

(१) **मध्वः**=ओषधि वनस्पतियों के सारभूत सोम की **धारा**=(धारया) धारणशक्ति से यह सोमरक्षक पुरुष **अग्रियः**=अग्र-स्थान पर पहुँचनेवाला होता है। इस सोम की धारणशक्ति से यह **महीः आपः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्मों का विगाहन=आलोडन करता है। सोमरक्षण से शक्तिशाली

बनकर हम उन्नत तो होते ही हैं, उस समय हम महान् कर्मों को करनेवाले बनते हैं। (२) यह सोमरक्षक पुरुष **हविः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला तथा लोकहित के कार्यों में अपनी आहुति देनेवाला होता है। **हविष्षु**=इन हविरूप पुरुषों में भी यह **प्र वन्द्यः**=वन्दना के योग्य बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) उन्नतिपथ पर हम आगे बढ़ते हैं, (ख) महत्त्वपूर्ण कार्यों को करनेवाले होते हैं, (ग) त्यागपूर्वक अदन करनेवाले व लोकहित के कार्यों में अपनी आहुति देनेवालों में श्रेष्ठ बनते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोमरक्षक का उत्कृष्ट जीवन

प्र युजो वाचो अग्रियो वृषाव चक्रदद्वने। सद्माभि सत्यो अध्वरः॥ ३॥

(१) (युज्+क=युज) गत मन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष **वाचः प्रयुजः**=वाणी का प्रकृष्ट योग करनेवाला होता है, ज्ञान की वाणियों को अपने साथ जोड़ता है। ज्ञान को प्राप्त करके **अग्रियः**=मुख्य अग्र स्थान पर पहुँचनेवाला होता है। **वृषा**=शक्तिशाली बनता है। **वने**=उपासना में (वन्=संभक्तौ) **अवचक्रदद्**=उस प्रभु का आह्वान करता है। (२) यह सोमरक्षक **सद्म अभि**=घर की ओर चलनेवाला होता है। यह जीवन की यात्रा समझता हुआ, यहाँ उलझ नहीं जाता। **सत्यः**=सदा सत्य को अपनानेवाला होता है। **अ-ध्वरः**=हिंसारहित यज्ञमय जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षक—(क) ज्ञान की वाणियों को अपने साथ जोड़ता है, (ख) उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है, (ग) शक्तिशाली बनता है, (घ) उपासनामय जीवनवाला होता है, (ङ) जीवन को यात्रा समझता है, (च) सत्य को अपनाता है, (छ) यज्ञशील होता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'काव्य व नृम्ण' का धारण

परि यत्काव्या कविर्नृम्णा वसानो अर्षति। स्वर्वाजी सिषासति॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोमरक्षण करनेवाला पुरुष **कविः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी बनता है। यह **यत्**=जब **काव्या**=ज्ञानों को व **नृम्णा**=बलों को **वसानः**=धारण करता हुआ **परि अर्षति**=चारों ओर अपने कर्त्तव्य कर्मों में गतिवाला होता है। तो **वाजी**=(वाज Sacrifice) त्याग की वृत्तिवाला होता हुआ **स्वः सिषासति**=प्रकाशमय ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। (२) सोमरक्षण से रोगकृमियों का विनाश होकर बल बढ़ता है। रक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, ज्ञानाग्नि की दीप्ति होकर हम क्रान्तदर्शी बनते हैं। इस तत्त्वदर्शन से हमारे में त्याग की भावना पैदा होती है। यह त्याग की भावना हमें ब्रह्मलोक को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से नीरोगता-ज्ञानवृद्धि-त्याग की भावना व ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

राजा की तरह

पवमानो अभि स्पृधो विशो राजेव सीदति। यदीमृण्वन्ति वेधसः॥ ५॥

(१) **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष **ऋण्वन्ति**=इस सोम को अपने अन्दर प्रेरित करते हैं (प्रेरयन्ति) तो **पवमानः**=यह जीवनों को पवित्र करनेवाला सोम **स्पृधः**=जीवन के शत्रुभूत रोगकृमियों के प्रति **अभिसीदति**=उनके विनाश के लिये जाता है। इस प्रकार उनके विनाश के लिये जाता है **इव**=जैसे कि **राजा**=एक शासक **स्पृधः विशः**=शत्रुभूत मनुष्यों के प्रति जाता है। (२) शरीर में प्रेरित हुआ-हुआ सोम हमारा इस प्रकार रक्षण करता है, जैसे कि एक राजा राष्ट्र का रक्षण करता है। राजा राष्ट्र के शत्रुओं का विनाश करता है, इसी प्रकार सोम शरीर के शत्रुभूत रोगकृमियों का विनाश करता है।

भावार्थ—शरीर में प्रेरित सोम शरीर राष्ट्र का रोगकृमिरूप शत्रुओं से रक्षण करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

अव्यः=सर्वोत्तमरक्षक

अव्यो वारे परि प्रियो हरिर्वनेषु सीदति। रेभो वनुष्यते मती॥ ६॥

(१) **अव्यः**=(अवति इति **अव्**=अच्, तेषु साधुः) यह सोम रक्षण करनेवालों में उत्तम है। **वारे**=रोगकृमिरूप शत्रुओं के वारण के निमित्त **परिप्रियः**=सर्वत्र प्रिय होता है। **हरिः**=शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ हमारे सब कष्टों का हरण करनेवाला होता है, (ग) **वनेषु सीदति**=उपासनाओं व ज्ञान-किरणों में यह स्थित होता है। इसके रक्षण के साधन यही हैं कि—(क) हम प्रभु की उपासना में प्रवृत्त रहें, तथा (ख) स्वाध्यायशील बनकर ज्ञान को उत्तरोत्तर बढ़ायें। (३) यह सोम का रक्षण करनेवाला **रेभः**=प्रभु का स्तोता बनकर **मती**=बुद्धि के द्वारा **वनुष्यते**=सब वासनारूप शत्रुओं का संहार करता है (वन् To hurt)।

भावार्थ—सोमरक्षकों में सर्वोत्तम है। यह हमारे सब कष्टों का हरण करता है। ज्ञान को बढ़ाता है, वृत्ति को उपासनामयी करता है। इसका रक्षक बुद्धि की तीव्रता के द्वारा वासनाओं को पराजित करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

वायु-इन्द्र-अश्विना की प्राप्ति

स वायुमिन्द्रमश्विना साकं मदेन गच्छति। रणा यो अस्य धर्मभिः॥ ७॥

(१) **यः**=जो व्यक्ति **अस्य**=इस सोम के **धर्मभिः**=धारणों के द्वारा **रणा**=जीवन में आनन्द का अनुभव करता है, अर्थात् जो सोमरक्षणों में ही आनन्द को मानता है, **सः**=वह **मदेन साकम्**=जीवन के उल्लास के साथ **वायुम्**=वायु को, **इन्द्रम्**=इन्द्र को, **अश्विना**=अश्विनी देवों को **गच्छति**=प्राप्त होता है। (२) सोमरक्षण से जीवन में आनन्द का अनुभव होता है। यह सोमरक्षक वायु को प्राप्त करता है, अर्थात् वायु की तरह सतत क्रियाशील होता है। इन्द्र को प्राप्त होता है, देवराट् बनता है, सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाला होता है। अश्विनीदेवों को प्राप्त करता है, अपनी प्राणापान शक्ति को बढ़ानेवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) गतिशीलता प्राप्त होती है, (ख) हम सब आसुर वृत्तियों का संहार कर पाते हैं, (ग) प्राणापान शक्ति बढ़ती है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'मित्र, वरुण व भग' बनना

आ मित्रावरुणा भगं मध्वः पवन्त ऊर्मयः। विदाना अस्य शक्मभिः॥ ८॥

(१) **मध्वः**=ओषधियों के सारभूत सोम की **ऊर्मयः**=तरंगें **मित्रावरुणा**=मित्र-वरुण को **भगम्**=और भग को **आपवन्ते**=सर्वथा प्राप्त होती हैं। सब के साथ स्नेह करनेवाला 'मित्र' है, 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' न करनेवाला। अपने को पाप से निवृत्त करनेवाला 'वरुण' है। यह अशुभ कर्मों का अपने से निवारण करता है। 'भज सेवायाम्' से बना हुआ 'भग' शब्द उपासक का वाचक है। ये 'मित्र, वरुण व भग' ही अपने में सोम का रक्षण कर पाते हैं। (२) ये मित्र, वरुण और भग **अस्य**=इस सोम की **शक्मभिः**=शक्तियों से **विदानाः**=उस प्रभु के ज्ञानवाले बनते हैं, रक्षित सोम बुद्धि को तीव्र करता है, तीव्र बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—'मित्र, वरुण व भग' बनकर हम सोम का रक्षण करें। रक्षित सोम हमें तीव्र बुद्धि बनाकर प्रभु-दर्शन के योग्य बनायेगा।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

वाज-श्रवस्-वसु

अस्मभ्यं रोदसी रयिं मध्वो वाजस्य सातये। श्रवो वसूनि सं जितम्॥ ९॥

(१) **रोदसी**=द्यावापृथिवी **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **वाजस्य सातये**=शक्ति के लाभ के लिये **मध्वः रयिम्**=सोम के धन को, सोमरूप धन को **संजितम्**=जीतनेवाले हों। सारा वातावरण हमारे लिये इस बात की अनुकूलता को पैदा करे कि हम सोमरूप धन को प्राप्त करके शक्तिशाली बनें। (२) इस मधु के रयि (सोम-धन) को प्राप्त कराके ये द्यावापृथिवी हमारे लिये **श्रवः**=ज्ञान को तथा **वसूनि**=निवास के लिये आवश्यक सब तत्त्वों को जीतनेवाले हों। सोमरक्षण से हमारा ज्ञान बढ़े और हमें सब वसुओं की प्राप्ति हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें (क) शक्ति प्राप्त हो, (ख) हमारा ज्ञान बढ़े तथा (ग) सब वसुओं की हमें प्राप्ति हो।

अगले सूक्त के भी ऋषि देवता यही हैं। वहाँ 'असित' कहता है—

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रिय कामना की पूर्ति

एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य काममक्षरन्। वर्धन्तो अस्य वीर्यम्॥ १॥

(१) **एते**=ये **सोमाः**=सोमकण **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **प्रियं कामं अभि**=प्रिय इच्छा का लक्ष्य करके **अक्षरन्**=शरीर में गतिवाले होते हैं। शरीर में सुरक्षित होने पर ये इसकी सब प्रिय कामनाओं को पूर्ण करते हैं। सर्वोत्तम प्रिय कामना इस जितेन्द्रिय पुरुष की यही होती है कि मैं उस प्रभु को प्राप्त कर सकूँ। सोमरक्षण के द्वारा ही यह कामना पूर्ण होती है। यह सोम ही (वीर्य ही) उस सोम (प्रभु) को प्राप्त कराता है। (२) ये सोमकण **अस्य वीर्यम्**=इसके पराक्रम

को **वर्धन्तः**=बढ़ानेवाले होते हैं। रक्षित सोम से शरीर का एक-एक अंग शक्तिशाली बनता है। यह रक्षित सोम ही शरीर पर आक्रमण करनेवाले रोगकृमियों का विनाश करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से सब प्रिय कामनायें पूर्ण होती हैं। शक्ति का वर्धन होता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

क्रियाशील व प्राणसाधक को सोमकणों की प्राप्ति

पुनानासश्चमूषदो गच्छन्तो वायुमश्विना। ते नो धान्तु सुवीर्यम्॥ २॥

(१) **वायुम्**=गतिशील पुरुष को तथा **अश्विना**=प्राणापान की साधना करनेवाले पुरुष को **गच्छन्तः**=प्राप्त होते हुए **चमूषदः**=इस शरीर रूप चमस (पात्र) में ही स्थित होनेवाले सोमकण **पुनानासः**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। सोमकणों के रक्षण के लिये दो साधन हैं—(क) क्रिया में लगे रहना, (ख) प्राणापान की साधना करना, प्राणायाम का अभ्यासी बनना। रक्षित सोम हमारे जीवन को पवित्र बनाता है, आधि-व्याधियों से शून्य करता है। (२) **ते**=वे सोमकण **नः**=हमारे लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम पराक्रम को **धान्तु**=धारण करें।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोमकण रोगकृमियों को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोमरक्षण से जीवन की सफलता

इन्द्रस्य सोम राधसे पुनानो हार्दि चोदय। ऋतस्य योनिमासदम्॥ ३॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **हार्दि**=हृदय में **पुनानः**=पवित्रता को करती हुई **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष की **राधसे**=सिद्धि प्राप्ति के लिये **चोदय**=प्रेरणा को देनेवाली हो। रक्षित हुए-हुए सोम के द्वारा यह साधक पवित्र जीवनवाला बने और अन्ततः सफलता को प्राप्त करे। (२) **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान उस प्रभु को **आसदम्**=पाने के लिये यह समर्थ हो। इस सोम के रक्षण के द्वारा ही जीवन पवित्र बनता है और ज्ञानाग्नि दीप्ति होती है। ज्ञानाग्नि के दीप्त होने पर ही वासनाओं का विनाश होता है और प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—रक्षित सोम हमें पवित्र करे, सफलता की ओर प्रेरित करे और अन्ततः प्रभु को प्राप्त करानेवाला हो।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

दश क्षिपः-सप्त धीतयः

मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतयः। अनु विप्रा अमादिषुः॥ ४॥

(१) शरीर में दस इन्द्रियाँ हैं। वे जब व्यसनों को अपने से परे फेंकती हैं तो 'दश क्षिपः' कहलाती हैं (क्षिप्=फेंकना)। 'कर्णाविभौ नासिके चक्षणी मुखम्' ये सात जीवनयज्ञ के होता हैं, ये जब प्रभु का ध्यान करनेवाले होते हैं तो 'धीतयः' कहलाते हैं। **त्वा**=हे सोम! तुझे **दश**=ये दस **क्षिपः**=व्यसनों को दूर फेंकनेवाली इन्द्रियाँ **मृजन्ति**=शुद्ध करती हैं। इन्द्रियाँ विषयों में न फँसी हों तो सोम शक्ति में वासनाओं का उबाल नहीं आता और वह पवित्र बनी रहती है। (२)

सप्त=सात (दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व वाणी) **धीतयः**=प्रभु का ध्यान करनेवाले जीवनयज्ञ के होता **हिन्वन्ति**=तुझे शरीर में ही प्रेरित करते हैं। **अनु**=इस शरीर के अन्दर प्रेरण के अनुपात में ही **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **अमादिषुः**=हर्ष का अनुभव करते हैं। जितना सोमरक्षण, उतना उल्लास।

भावार्थ—इन्द्रियां विषयों से रहित हों तथा प्रभु ध्यान में प्रवृत्त रहें तो सोम शरीर में सुरक्षित रहता है, तभी उल्लास का अनुभव होता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

देवेभ्यः—मदाय

देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेष्यः। सं गोभिर्वासयामसि॥ ५॥

(१) 'मिष' धातु छिड़कने अर्थ में आती है (To sprinkle)। यह सोम **अति मेष्यः**=अतिशयेन शरीर में ही छिड़कने योग्य है, अर्थात् इसे नष्ट न होने देकर शरीर में ही व्याप्त करना ठीक है। हे सोम! तू 'अतिमेष्य' है, सो **कं सृजानम्**=आनन्द को उत्पन्न करनेवाले **त्वा**=तुझ को **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिये तथा **मदाय**=जीवन को उल्लासमय बनाने के लिये **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **सं वासयामसि**=सम्यक् आच्छादित करते हैं, तुझे धारण करने का प्रयत्न करते हैं। (२) ज्ञान की वाणियों के द्वारा सोम के धारण का भाव यह है कि जब हम मन को इन ज्ञानवाणियों में व्यापृत करते हैं तो मन विषयों से व्यावृत्त होता है। वासनाओं का अबाल न आने से सोम का रक्षण होता है। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बन आता है। इस प्रकार इसका विनियोग बुद्धि को सूक्ष्म करने व ज्ञानदीप्ति में हो जाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम दिव्य गुणों के विकास का व उल्लास का साधन बनता है। स्वाध्याय की प्रवृत्ति हमें सोमरक्षण में सहायक होती है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

अरुषः—हरिः

पुनानः कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः। परि गव्यान्यव्यत॥ ६॥

(१) **कलशेषु**='कलाः शेरते एषु' सोलह कलाओं के आधारभूत इन शरीरों में व्याप्त होता हुआ यह सोम **पुनानः**=पवित्र करनेवाला है। यह **आ अरुषः**=आरोचमान है, ज्ञान को दीप्त करनेवाला है। **हरिः**=कष्टों व रोगों का हरण करनेवाला है। (२) इसके रक्षण के लिये **गव्यानि**=ज्ञान की वाणियों से बने हुए **वस्त्राणि**=वस्त्रों को **परि अव्यत**=समन्तात् धारण करनेवाले बनो (पर्याच्छादयति=अव्यति सा०)। 'गव्य वस्त्रों को धारण' का भाव है 'निरन्तर ज्ञान प्राप्ति में लगना'। यह ज्ञान का व्यसन ही अन्य व्यसनों से हमें बचाता है और तभी सोम के रक्षण का सम्भव होता है।

भावार्थ—रक्षित सोम हमें पवित्र बनाता है, हमारे ज्ञान को दीप्त करता है, हमारे कष्टों व रोगों का हरण करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञशीलता व प्रभु मित्रता

मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप द्विषः। इन्दो सखायमा विश॥ ७॥

(१) (मघवान्=मखवान्) हे सोम! **मघोनः**=यज्ञशील **नः**=हमें **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त हो। हमें प्राप्त होकर तू **विश्वाः द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं को **अपजहि**=हमारे से दूर कर। सदा यज्ञों में लगे रहने पर सोम का शरीर में सुरक्षित होना स्वाभाविक है। सोम के सुरक्षित होने पर हमारे जीवनों में 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' नहीं रहते। (२) **इन्दो**=हे शक्ति का संचार करनेवाले सोम! **सखायम्**=प्रभु का मित्रभूत मुझे **आविश**=समन्तात् प्राप्त हो। मैं प्रभु का मित्र बनूँ। प्रभु का मित्र बनने पर वासनाओं से मैं आक्रान्त न हूँगा और सोम को शरीर में ही व्याप्त करके 'नीरोग निर्मल व दीप्त' बन पाऊँगा।

भावार्थ—यज्ञशील व प्रभु के मित्र बनकर हम सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करें।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

आनन्द वृष्टि

वृष्टिं दिवः परि स्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि। सहो नः सोम पृत्सु धाः॥ ८॥

(१) हे सोम! तू **दिवः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक से **वृष्टिं**=धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्द की वर्षा को **परिस्रव**=परिस्रुत कर। सोमरक्षण से मनुष्य योग की अगली-अगली भूमिकाओं में पहुँचता हुआ इस धर्ममेघ समाधि की अन्तिम मंज़िल में भी पहुँचता है और आनन्द की वर्षा का अनुभव करता है। (२) हे सोम! तू **पृथिव्याः**=इस पृथिवी रूप शरीर के **द्युम्न**=(energy, strength, power) बल को **अधि**=आधिक्येन **धाः**=हमारे में स्थापित कर। सोमरक्षण से हमारा शरीर अंग-प्रत्यंग में बलवाला, सुदृढ़ बनाता है। (३) हे सोम! तू **पृत्सु**=काम-क्रोध आदि के साथ चलनेवाले अध्यात्म संग्रामों में **नः**=हमारे लिये **सहः**=शत्रुओं को कुचलने की शक्ति को (धाः) धारण कर। इस सोमरक्षण के द्वारा जैसे हम शारीरिक रोगों पर विजय पायें, उसी प्रकार मानस विकारों को भी हम पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) योगमार्ग में प्रगति होकर हमें आनन्द का लाभ होता है, (ख) शरीर का बल बढ़ता है, (ग) काम-क्रोध आदि शत्रुओं पर हम विजय पानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—षड्जः॥

प्रकाश

नृचक्षसं त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम्। भक्षीमहि प्रजामिषम्॥ ९॥

(१) हे सोम! **नृचक्षसम्**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाले, उन्हें रोगादि के आक्रमण से बचानेवाले **त्वा**=तुझे **वयम्**=हम **भक्षीमहि**=अपने अन्दर ही खानेवाले (consume) विनियुक्त करनेवाले बनें। (२) उस तुझे हम अपने अन्दर ग्रहण करनेवाले हों, जो तू **इन्द्रपीतम्**=जितेन्द्रिय पुरुष से पीया जाता है, जितेन्द्रिय पुरुष ही तुझे अपने अन्दर व्याप्त कर पाता है। **स्वर्विदम्**=जो तू प्रकाश को प्राप्त करानेवाला है। तू **प्रजाम्**=शक्तियों के प्रकृष्ट प्रादुर्भाव को करनेवाला है तथा

इषम्=(इष प्रेरणे) उत्तम प्रेरणा को प्राप्त कराता है। सोमरक्षण से हृदय निर्मल होता है और निर्मल हृदय में प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाता है।

अगले सूक्त में भी प्रस्तुत सूक्त की तरह सोम की महिमा का ही उल्लेख है—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रिय जीवन

परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः। सुवानो याति कविक्रतुः॥ १॥

(१) **सुवानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ सोम **कविक्रतुः**=क्रान्तप्रज्ञ व शक्तिशाली होता हुआ **याति**=प्राप्त होता है प्रज्ञा व शक्ति का विकास करता हुआ यह सोम **प्रिया वयांसि**=प्रिय जीवनों को **परि** (याति)=प्राप्त कराता है। (२) यह सोम हमारे जीवनों में **दिवः कविः**=ज्ञान का (कु शब्दे) उपदेश करनेवाला है, इसके द्वारा निर्मल हृदय में ज्ञान की वाणी सुन पड़ती है। इस ज्ञान के उपदेश के द्वारा ये **नप्त्योः हितः**=न पतन के कारणभूत द्यावापृथिवी में स्थापित होता है। 'द्यावापृथिवी' मस्तिष्क व शरीर है। यह सोम इन में स्थापित होता है। शरीर में स्थापित हुआ-हुआ शरीर को तेजस्वी बनाता है और मस्तिष्क में स्थापित हुआ-हुआ ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर को तेजस्वी व मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है। ऐसा ही जीवन 'प्रिय जीवन' होता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'उत्तम-स्तुतिमय-विकसित-द्रोहशून्य' जीवन

प्रप्र क्षयाय पन्यसे जनाय जुष्टो अद्रुहे। वीत्यर्ष चनिष्ठया॥ २॥

(१) हे सोम! तू **चनिष्ठया वीती**=(चनः=अन्नं) अत्यन्त सात्त्विक अन्न के भक्षण से **अर्ष**=हमें प्राप्त हो। सात्त्विक अन्न के सेवन से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। यह सुरक्षित सोम **प्रप्र क्षयाय**=अत्यन्त उत्कृष्ट निवास के लिये होता है। (२) यह **पन्यसे**=उत्तम स्तुतिमय जीवन का कारण बनता है। **जुष्टः**=सेवित हुआ-हुआ **जनाय**=शक्तियों के विकास के लिये होता है, तथा **अद्रुहे**=न द्रोह के लिये होता है। सोमरक्षक पुरुष के जीवन में 'इर्ष्या-द्वेष-क्रोध' के लिये स्थान नहीं होता।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न का सेवन सोमरक्षण के लिये अनुकूल होता है। रक्षित सोम जीवन को 'उत्तम, स्तुतिमय, विकसित, द्रोहशून्य' बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

द्यावापृथिवी का दीपन

स सूनुर्मातरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत्। महान्मही ऋतावृधा॥ ३॥

(१) **सः**=वह सोम **सूनुः**=(षू प्रेरणे) जीवन में उत्कृष्ट प्रेरणा को देनेवाला है। **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **शुचिः**=यह पवित्रता को करनेवाला है। **जाते**=(जनी प्रादुर्भावे) विकसित शक्तिवाले **मातरा**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **अरोचयत्**=यह दीप्त करता है। (२) **महान्**=यह सोम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके रक्षित होने पर (मातरा) द्यावापृथिवी, मस्तिष्क व शरीर भी **मही**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बनते हैं और **ऋतावृधा**=ऋत का वर्धन करनेवाले होते हैं। शरीर ठीक शक्तियोंवाला व मस्तिष्क ठीक ज्ञानोंवाला होता हुआ हमारे जीवन में ऋत का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर को दीप्त करता है, उन्हें ऋत का वर्धन करनेवाला बनाता है। शरीर नीरोग बना रहता है, मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बनता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

एकं अक्षि=अद्वितीय सर्वद्रष्टा

स स॒प्त धी॒तिभि॑र्हि॒तो न॒द्यो॑ अजिन्वद॒द्रुहः॑। या एक॒मक्षि॑ वावृ॒धुः॥ ४॥

(१) **सः**=वह सोम **सप्त धीतिभिः**=सात ध्यानवृत्तियों के द्वारा 'कानों, नासिका छिद्रों, आँखों व मुख' इन सातों को अन्तर्मुखी वृत्तिवाला करने के द्वारा **हितः**=शरीर में स्थापित हुआ-हुआ **नद्यः**=ज्ञान की नदियों को **अजिन्वत्**=प्रीणित करता है। इन ज्ञान की नदियों को प्रीणित करके यह **अद्रुहः**=द्रोह से रहित होता है, किसी भी प्रकार हमारा विनाश नहीं होने देता। (२) इस सोम (वीर्य) द्वारा प्रीणित हुई-हुई ये ज्ञान नदियाँ वे होती हैं **याः**=जो कि **एकं अक्षि**=उस अद्वितीय सर्वद्रष्टा प्रभु को **वावृधुः**=हमारे में बढ़ाती हैं। इन ज्ञानों को प्राप्त करके हम प्रभु को सर्वद्रष्टा के रूप में अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार यह सोम हमें हिंसित होने से बचाता है।

भावार्थ—'कान, नासिका, चक्षु, जिह्वा' इन सभी को अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनाकर हम सोम का रक्षण करते हैं। रक्षित सोम से ज्ञान की नदियों का प्रवाह चलता है। ये हमें हिंसित होने से बचाती हैं। इनके द्वारा हम प्रभु को सर्वद्रष्टा के रूप में अनुभव करते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'सन् अस्तृत युवा' सोम

ता अ॒भि सन्त॒मस्तृ॑तं म॒हे युवा॑न॒मा द॑धुः। इन्दु॑मिन्द्र॒ तव॑ व्र॒ते॥ ५॥

(१) **ताः**=वे गत मन्त्र में वर्णित धीतियाँ (ध्यानवृत्तियाँ) **सन्तम्**=श्रेष्ठ **अस्तृतम्**=अहिंसित **युवानाम्**=बुराइयों को हमारे से दूर करनेवाले और अच्छाइयों को हमारे से मिलानेवाले सोम को **महे**=महत्त्व की प्राप्ति के लिये **अभि आदधुः**=द्यावापृथिवी में स्थापित करती हैं, मस्तिष्क में (द्यावा में) यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और पृथिवी में (शरीर में) रोगकृमियों के विनाश का कारण बनता है। ज्ञान व स्वास्थ्य के द्वारा यह हमारे जीवन को सन्=श्रेष्ठ व **अस्तृत**=अहिंसित बनाता है। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तव व्रते**=तेरे व्रत में **इन्दुम्**=इस सोम को वे ध्यान वृत्तियाँ शरीर में स्थापित करनेवाली होती हैं। जब मनुष्य जितेन्द्रियता का व्रत लेता है तभी वस्तुतः वह ध्यानवृत्तिवाला बन पाता है। इस ध्यान-वृत्तियों से वह सोम का शरीर में रक्षण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—व्रतमय जीवन के द्वारा शरीर में सुरक्षित सोम हमारी 'श्रेष्ठता, अहिंसा व निर्दोषत्व' का कारण बनता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'क्रिवि' सोम

अभि वह्निरमर्त्यः सप्त पश्यति वावहिः। क्रिविर्देवीरतर्पयत्॥ ६॥

(१) **वह्निः**=हमें जीवन में सफलता से आगे-आगे ले चलनेवाला, **अमर्त्यः**=हमें रोगों से बचानेवाला, **वावहिः**=हमारे कार्यभारों का सम्यक् वहन करनेवाला यह सोम **सप्त**=शरीरयज्ञ के संचालक सातों होताओं को 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्', कानों, नासिका छिद्रों, आँखों व मुख को **अभिपश्यति**=अच्छी प्रकार देखता है, सोम इनको सुरक्षित रखता है, सोमरक्षण से इनकी शक्ति बढ़ती है। (२) **क्रिविः**=(Doing, performing) सब कार्यों को सम्यक् करता हुआ तथा विरोधी तत्त्वों का विनाश करता हुआ यह सोम **देवीः**=ज्ञान प्राप्ति की साधनभूत इन इन्द्रियों को **अतर्पयत्**=प्रीणित करता है। सोमरक्षण से ये इन्द्रियाँ प्रवृद्ध शक्तिवाली बनती हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करता है। सोम शरीर के सब कार्यों का संचालन करता है और रोगकृमियों का विनाश करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

तामसभावों का विनाश

अवा कल्पेषु नः पुमस्तमांसि सोम योध्या। तानि पुनान जङ्घनः॥ ७॥

(१) हे **पुमः**=(पुनाति इति) हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **आ कल्पेषु**=(ordinance) शास्त्रों की आज्ञाओं में **नः अव**=हमें सुरक्षित कर। सोम के रक्षण से जीवन पवित्र बनता है, हमारी रुचि शास्त्रमर्यादानुसार कर्म करने की होती है। (२) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **तमांसि योध्या**=(=योधया) अन्धकार को युद्ध करके हमारे से दूर कर। सोमशक्ति से सम्पन्न होकर हम सब तामस भावों को अपने से दूर कर पायें। हे **पुनान**=पवित्र करनेवाले सोम! **तानि**=उन सब अन्धकारों को **जङ्घनः**=पूर्णरूप से नष्ट कर।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारा जीवन शास्त्रमर्यादा में चलनेवाला हो और तामस भावों को हम विनष्ट कर सकें।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के समान दीप्त

नू नव्यसे नवीयसे सूक्ताय साधया पथः। प्रत्नवद्रोचया रुचः॥ ८॥

(१) हे सोम! **नु**=अब **नव्यसे**=स्तुति के योग्य, **नवीयसे**=(नवते to go) उत्कृष्ट गतिमय **सूक्ताय**=सूक्त के लिये **पथः**=मार्गों को **साधया**=सिद्ध कर। सोमरक्षण से हमारी रुचि ऐसी बने कि हम प्रभु का स्तवन करें, जो स्तवन प्रशंसनीय व क्रियामय जीवन से युक्त हो। (२) हे सोम! तू **रुचः**=हमारी कान्तियों को **प्रत्न-वत्**=उस सनातन प्रभु की तरह **रोचया**=दीप्त कर। सोमरक्षण से हमारी दीप्ति प्रभु जैसी हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम (क) प्रभु के क्रियामय स्तवन को करनेवाले बनें तथा (ख) प्रभु के समान दीप्तिवाले हों।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

मेधा-स्वः

पवमान महि श्रवो गामश्वं रासि वीरवत्। सना मेधां सना स्वः॥ ९॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **महि श्रवः**=महनीय ज्ञान को **वीरवत्**=वीरता से युक्त **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों को और **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को **रासि**=देता है। सोम के रक्षण से (क) ज्ञानवृद्धि होती है, (ख) इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। (२) हे सोम! सुरक्षित हुआ-हुआ तू **मेधां सन**=बुद्धि को दे तथा **स्वः**=प्रकाश को व प्रकाशजन्य सुख को **आसन**=प्राप्त करा। सोमरक्षण से बुद्धि सूक्ष्म बनती है और ज्ञान का ग्रहण करनेवाली होती है। यह सूक्ष्म बुद्धि ही प्रभु का दर्शन कराती है।

भावार्थ—सुरक्षित हुआ-हुआ सोम 'ज्ञान को, सशक्त इन्द्रियों को, मेधा को व प्रकाशजन्य सुख को' प्राप्त कराता है।

इसी विषय को अगले सूक्त में भी देखिये—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

रथों की तरह या घोड़ों की तरह

प्र स्वानासो रथाइवार्वन्तो न श्रवस्यवः। सोमासो राये अक्रमुः॥ १॥

(१) **सोमासः**=शरीर में सुरक्षित हुए-हुए सोम **प्र स्वानासः**=प्रकृष्ट शब्दोंवाले **रथाः इव**=रथों के समान होते हैं, 'रथ' यात्रा की पूर्ति का साधन होता है। ये सोम भी यात्रा पूर्ति का प्रमुख साधन बनते हैं। गतिमय रथ में ध्वनि होती है, इन सोमों के सुरक्षित होने पर मनुष्य प्रभु के सूक्तों का उच्चारण करता है। (२) ये सोम **अर्वन्तः न**=घोड़ों के समान **श्रवस्यवः**=यश की कामनावाले होते हैं। घोड़े बाह्य शत्रुओं को विजित करने में सहायक होते हैं शत्रु विजय से वे हमें यशस्वी बनाते हैं। सुरक्षित सोम अन्तः शत्रुओं को पराजित करके हमें यशस्वी बनाता है। ये सुरक्षित **सोमासः**=सोम **राये**=हमारे ऐश्वर्य के लिये **अक्रमुः**=गतिवाले होते हैं। इनके द्वारा हमारे ऐश्वर्य का वर्धन ही वर्धन होता है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। ये हमें जीवनयात्रा की पूर्ति में रथ का काम देंगे, युद्ध में विजय के लिये ये घोड़ों के समान होंगे तथा हमारे ऐश्वर्य के वर्धन का साधन बनेंगे।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोमकणों का भुजाओं में धारण

हिन्वानासो रथाइव दधन्विरे गभस्त्योः। भरासः कारिणामिव॥ २॥

(१) **इव**=जैसे **रथाः**=रथ लक्ष्यदेश की ओर जाते हैं, इसी प्रकार शरीरस्थ सोमकण **हिन्वानासः**=प्रभु प्राप्ति की ओर प्रेरित होते हैं। रथ हमें लक्ष्य-स्थान पर ले जाता है। सोमकण भी हमें 'साकाष्ठा, सापरागतिः' इन शब्दों में वर्णित प्रभु की ओर ले जाते हैं। (२) **इव**=जैसे **कारिणाम्**=कर्म करनेवालों की भुजाओं पर **भरासः**=भार **दधन्विरे**=धारण किये जाते हैं, इसी

प्रकार ये सोम भी **गभस्त्योः**=हमारी भुजाओं में स्थापित किये जाते हैं। ये सोमकण ही भुजाओं को शक्तिशाली बनाते हैं। इनके भुजाओं में स्थापन का यह भी भाव है कि जब मनुष्य सदा क्रियाशील बना रहता है तो वासनाओं से अनाक्रान्त होने के कारण वह इनका रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—सोमकण ही सुरक्षित होकर भुजाओं को शक्तिसाली बनाते हैं, तथा जीवनयात्रा की सफल पूर्ति का साधन बनते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान की वाणियों द्वारा सोमकणों का शरीर में स्थापन

राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते। यज्ञो न सप्त धातृभिः॥ ३॥

(१) **सोमासः**=सोमकण **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **अञ्जते**=शरीर में अलंकृत किये जाते हैं (अज्यन्ते सा०) **न**=जैसे कि **राजानः**=राजा लोग **प्रशस्तिभिः**=प्रशंसा की वाणियों से तथा **न**=जैसे कि **यज्ञः**=यज्ञ **सप्त**=सात **धातृभिः**=होताओं से अलंकृत किया जाता है। (२) जैसे राजाओं की प्रशस्तियाँ की जाती हैं, इसी प्रकार इन सोमकणों की भी प्रशंसा होती है। जैसे यज्ञ सात होताओं द्वारा प्रणीत होता है, इसी प्रकार यह सोम शरीर में 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात के संयम से सुरक्षित होता है। (३) 'शस्' धातु हिंसार्थक भी है। राजाओं का अलंकार यही है कि वे खूब ही शत्रुओं का शसन (हिंसन) करें। सोम भी शरीर में रोगकृमिरूप शत्रुओं का हिंसन करता है। इसी प्रकार यज्ञ जैसे सात होताओं द्वारा अलंकृत किया जाता है, यह सोम भी सात छन्दोंवाली इन ज्ञान की वाणियों से शरीर में अलंकृत किया जाता है। मनुष्य जब इन वाणियों में रुचिवाला बनता है तो वह वासनाओं से बचा रहता है। इस प्रकार ये सोमकण शरीर में ही सुरक्षित रहते हैं और शरीर को श्री-सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोमकण शरीर को अलंकृत करनेवाले होते हैं। इनकी सुरक्षा के लिये आवश्यक है कि हम ज्ञान की वाणियों की ओर झुकाववाले बने रहें।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

बर्हणा-गिरा

परि सुवानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा। सुता अर्षन्ति धारया॥ ४॥

(१) **परि सुवानासः**=(परितः सूयमानाः, षू प्रेरणे)=शरीर में चारों ओर प्रेरित किये जाते हुए सोम **इन्दवः**=सोमकण **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिये होते हैं। वस्तुतः शरीर के अंग-प्रत्यंग की शक्ति को ये ठीक रखते हैं। यह शरीर-रथ इनके कारण दृढ़ बना रहता है। इस प्रकार जीवन में उल्लास स्थिर रहता है। स्वास्थ्य के साथ ही उल्लास है। (२) **बर्हणा**=वासनाओं के उद्बर्हण के (विनाश के) द्वारा तथा **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **सुताः**=शरीर में संपादित हुए सोम **धारया अर्षन्ति**=धारण शक्ति के साथ प्राप्ति करते हैं। सोम को शरीर में सुरक्षित रखने के दो सम्बन्ध हैं, (क) वासनाओं का उद्बर्हण (विनाश), (ख) ज्ञान की वाणियों में लगाव। इस प्रकार रक्षित हुआ-हुआ सोम शरीर की शक्तियों का धारण करता है।

भावार्थ—वासनाओं के विनाश व ज्ञान प्राप्ति में तत्परता के द्वारा सोम को शरीर में सुरक्षित करके हम उल्लासमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

उषा का ऐश्वर्य व सूक्ष्म बुद्धि

आपानासो विवस्वतो जनन्त उषसो भगम्। सूरा अण्वं वि तन्वते॥ ५॥

(१) **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणोंवाले ज्ञानी पुरुष के ये सोमकण **आपानासः**=पान (पेय पदार्थ) बनते हैं। ज्ञान प्राप्ति में लगा हुआ वह इन्हें शरीर में ही चारों ओर व्याप्त करता है। शरीर में व्याप्त किये हुए ये सोमकण **उषसः भगम्**=उषा के ऐश्वर्य को **जनन्त**=हमारे जीवन में उत्पन्न करते हैं। उषा का ऐश्वर्य यही है कि वह अपने प्रकाश से अन्धकार को तो दूर करती है, पर कभी सन्ताप का कारण नहीं बनती। इसी प्रकार सुरक्षित सोम हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं और शरीर के तापों का हरण करनेवाले होते हैं। (२) **सूराः**=ज्ञानी पुरुष, इस प्रकार इन सोमकणों के रक्षण के द्वारा **अण्वम्**=(subtle) सूक्ष्म बुद्धि को **वितन्वते**=विस्तृत करते हैं। इनके रक्षण से बुद्धि बड़ी तीव्र बनती है। उस तीव्र बुद्धि से अन्ततः हम प्रभु दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति में लगे रहकर हम सोम को शरीर में ही व्याप्त करें। यह हमें उस ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करायेगा जो कि कभी संताप का कारण नहीं होता।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

अप ऋण्वन्ति

अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः। वृष्णो हरस आयवः॥ ६॥

(१) **मतीनां कारवः**=मननपूर्वक की गई स्तुतियों के करनेवाले, **प्रत्नाः**=पुरातन सभ्यता का अंगीकार करनेवाले, जिन पर नयी दुनियाँ का रंग नहीं चढ़ गया, ऐसे लोग **द्वारा**=इन्द्रिय द्वारों को **अपऋण्वन्ति**=विषय-वासनाओं से पृथक् करते हैं। (२) ये इन्द्रिय द्वारों के विषयों से अलग करनेवाले लोग ही **वृष्णः**=इस शक्ति का सेचन करनेवाले सोम के **हरसः**=आहर्ता होते हैं और **आयवः**=(एति इति) गतिशील होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण ही हमें सदा गतिशील बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'परमपद प्रापक' सात होता

समीचीनास आसते होतारः सप्तजामयः। पदमेकस्य पिप्रतः॥ ७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करने पर इस जीवनयज्ञ के **सप्त**=सात **होतारः**=होता—'कान, नासिका छिद्र, आँखें तथा मुख' **समीचीनासः**=(सम्+अञ्च्) मिलकर कार्य करनेवाले होते हैं तथा **जामयः**=उत्तम गुणों व शक्तियों का विकास करनेवाले बनते हैं। (२) इस प्रकार मिलकर कार्य करनेवाले व उत्तम शक्तियों का विकास करनेवाले ये जीवन यज्ञ के सात होता **एकस्य**=उस अद्वितीय प्रभु के 'स एष एकः, एकवृदेक एव' (अथर्व०) **पदम्**=पद को **पिप्रतः**=(पूरयन्तः) हमारे में पूरित करनेवाले होते हैं। अर्थात् ये हमें प्रभु को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से जीवनयज्ञ के सात होता 'दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' हमें प्रभु के परमपद को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

कवि के अपत्य का दोहन

नाभा नाभिं न आ ददे चक्षुश्चित्सूर्ये सचा। कवेरपत्यमा दुहे॥ ८॥

(१) **नः**=हमारे **नाभौ**='अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' यज्ञ में **नाभिम्**=शरीर-रथ के केन्द्रभूत सोम को **आददे**=ग्रहण करता हूँ। यज्ञों में प्रवृत्त रहकर मैं सोम का रक्षण करता हूँ। उस समय **चक्षुः**=आँख **चित्**=निश्चय से **सूर्ये**=सूर्य में **सचा**=संगत होती है। अर्थात् यज्ञों में लगे रहना सोमरक्षण का साधन बनता है। सुरक्षित सोम दृष्टि शक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। (२) इस सोमरक्षण से जहाँ दृष्टि शक्ति बढ़ती है, वहाँ मैं **कवेः**=उस क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु के **अपत्यम्**=अपतन के हेतुभूत ज्ञान को **आदुहे**=अपने में पूरित करता हूँ। सोमरक्षण से ही बुद्धि तीव्र होती है और वेदधेनु के दोहन करनेवाली बनती है।

भावार्थ—यज्ञों में लगे रहने से सोम का रक्षण होता है। उस समय दृष्टि शक्ति भी तीव्र बनती है और उस सर्वज्ञ परमात्मा के वेदज्ञान को हमारी बुद्धि प्राप्त करती है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रकाशमय प्रभु के पद का दर्शन

अभि प्रिया दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम्। सूरः पश्यति चक्षसा॥ ९॥

(१) **सूरः**='सुवीर्य इन्द्रः' सोमरक्षण के द्वारा उत्तम वीर्यवाला इन्द्र **प्रिया चक्षसा**=प्रिय-प्रीणित करनेवाली दृष्टिशक्ति से **दिवः पदम्**=उस प्रकाशमय प्रभु के पद को **अभिपश्यति**=देखता है। सोमरक्षण के द्वारा दृष्टिशक्ति सूक्ष्म बनती है। उस दृष्टि से सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। (२) यह प्रभु का पद **अध्वर्युभिः**=यज्ञशील पुरुषों के द्वारा **गुहा हितम्**=बुद्धिरूपी गुहा में स्थापित होता है। यज्ञशील पुरुष अपनी बुद्धि में उस प्रभु के प्रकाश को देखता है। इसी प्रकाश को सोमरक्षक इन्द्र अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से सूक्ष्म दृष्टि व तीव्र बुद्धि बनकर हम प्रभु का दर्शन करते हैं, यह प्रभु यज्ञशील पुरुषों के द्वारा बुद्धि रूप गुहा में स्थापित किये जाते हैं।

अगले सूक्त में भी इसी सोम की महिमा का प्रतिपादन है—

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोम गुणगान

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवाँ इयक्षते॥ १॥

(१) हे **नरः**=(नृ नये) उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले मनुष्यो! **अस्मै इन्दवे**=इस सोम के लिये **उपगायता**=समीपता से गायन करो। अर्थात् इसके गुणों का स्मरण करो। यह सोम **पवमानाय**=पवित्र करनेवाला है, शरीर को जहाँ रोगों से रहित करता है, वहाँ मन को वासनाओं से शून्य बनाता है। सोमरक्षण के होने पर मनुष्य क्रोध आदि के वशीभूत नहीं होता। (२) उस सोम के गुणों का गायन करो, जो कि **देवान् अभि इयक्षते**=देवों की ओर हमें ले चलता है,

देवों के साथ हमारा सम्पर्क करना चाहता है। अर्थात् सोम के द्वारा हमारे जीवन में दिव्य गुणों का वर्धन होता है।

भावार्थ—सोम (वीर्य) हमें पवित्र बनाता है, हमारे जीवन में दिव्य गुणों का वर्धन करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

माधुर्य व प्रभु प्राप्ति

अभि ते मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः। देवं देवाय देवयु॥ २॥

(१) **अथर्वाणः**=(न थर्वति) स्थिर वृत्ति के लोग **ते**=हे सोम! तेरे **पयः**=रस को अथवा तेरी आप्यायन शक्ति को **मधुना**=माधुर्य के हेतु से **अभि अशिश्रयुः**=सेवन करते हैं। अर्थात् सोम की इस आप्यायनशक्ति से जीवन को वे मधुर बनाते हैं। (२) इस सोम के 'पयस्' को **देवाय**=उस प्रकाशमय प्रभु की प्राप्ति के लिये सेवन करते हैं। यह 'पयस्' **देवम्**=प्रकाशमय है। तथा **देवयु**=उस प्रकाशमय प्रभु से हमें मिलानेवाला है (यु मिश्रणे)।

भावार्थ—रक्षित सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रभु के प्रकाश का साधन बनता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'गौ–जन–अर्वा'

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते। शं राजन्नोषधीभ्यः॥ ३॥

(१) हे सोम! **सः**=वह तू **नः पवस्व**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला हो। **गवे शम्**=हमारी ज्ञानेन्द्रियों के लिये तू शान्ति को करनेवाला हो। **जनाय शम्**=हमारी शक्तियों के प्रादुर्भाव के लिये (जन् प्रादुर्भावे) होता हुआ तू शान्ति को देनेवाला हो। **अर्वते शम्**=हमारे कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के लिये तू शान्ति को देनेवाला हो। (२) हे **राजन्**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाले सोम! तू **ओषधीभ्यः**=(पंचमी) ओषधियों के सेवन से उत्पन्न हुआ–हुआ **शम्**=शान्ति को देनेवाला हो। ओषधियाँ सामान्यतः 'सोम्य' भोजन हैं, मांसादि आग्नेय हैं। ओषधि भोजन से उत्पन्न सोम का शरीर में रक्षण सुगम हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ स्वस्थ रहती हैं। शक्तियों का विकास भी इसी सोमरक्षण पर निर्भर करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोम–गाथा–गान

बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे। सोमाय गाथमर्चत॥ ४॥

(१) **सोमाय**=शरीर में उत्पन्न होनेवाली सोमशक्ति के लिये **गाथम्**=स्तुति रूप वाणी का **अर्चत**=उच्चारण करो। सोम के गुणवर्णनात्मक मन्त्रों के द्वारा सोम का स्तवन करो। उस सोम का जो कि **नु**=निश्चय से **बभ्रवे**=शरीर का खूब ही भरण करनेवाला है। **स्वतवसे**=जो सोम आत्मिक बल को बढ़ानेवाला है। (२) उस सोम का गायन करो, जो कि **अरुणाय**=तेजस्विता के अरुण वर्णवाला है। अर्थात् जो सोम अपने रक्षक को तेजस्विता की अरुणता प्राप्त कराता है और

दिविस्पृशे=ज्ञान के दृष्टिकोण से द्युलोक को छूनेवाला है। यह शरीर में हमें तेजस्वी बनाता है, मस्तिष्क में दीप्तिमय।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर का धारण करता है, आत्मिकबल को बढ़ाता है, हमें तेजस्वी व दीप्त मस्तिष्क बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'मधु' में मधु का शोधन

हस्तच्युतेभिरद्रिभिः सुतं सोमं पुनीतन। मधावा धावता मधु॥ ५॥

(१) **सोमम्**=शरीरस्थ इस सोम (वीर्य) धातु को **पुनीतन**=पवित्र करो। जो सोम धातु **हस्तच्युतेभिः**=दान देने में खुले हाथवालों से (not close-fisted) जिनकी मुट्ठी सदा खुली है, जिनके हाथ से दान के रूप में धन क्षरित होता रहता है, ऐसे **अद्रिभिः**=(to adore) प्रभु का पूजन करनेवालों से **सुतम्**=उत्पन्न किया जाता है। दान की वृत्ति भोगवृत्ति को समाप्त करती है और इस प्रकार सोमरक्षण का साधन बन जाती है। प्रभु की उपासना भी हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाये रखती है। इस प्रकार यह भी सोम की रक्षिका बनती है। (२) **मधौ**=सारे ब्रह्माण्ड के सारभूत उस परब्रह्म में **मधु**=ओषधियों के सारभूत इस सोम का **आधावता**=धावन (=शोधन) करो।

भावार्थ—परब्रह्म में सोम का शोधन यही है कि परब्रह्म के उपासन से वासनाओं से बचे रहना। ये वासनायें ही तो सोम का विनाश करती हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'इन्दु' का इन्द्र में धारण

नमसेदुप सीदत दध्नेदभि श्रीणीतन। इन्दुमिन्द्रे दधातन॥ ६॥

(१) **नमसा**=नमन के द्वारा **इत्**=निश्चय से **उपसीदत**=प्रभु की उपासना करो। इस प्रभु की उपासना से ही **इन्दुम्**=सोम को **इन्द्रे**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के निमित्त (जितेन्द्रिय पुरुष में) **दधातन**=धारण करो। उपासना के होने पर वासनाओं की प्रबलता नहीं होती। वासनाओं की प्रबलता के अभाव में सोम का रक्षण सुगम होता है, रक्षित सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रभु के प्रकाश का साधन बनता है। (२) **दध्ना**='इन्द्रियं वै दधि' (तै० २।१।५।६) इन्द्रियों के हेतु से **इत्**=निश्चय से **अभि श्रीणीतन**=इस सोम का परिपाक करो। सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखना इसलिए आवश्यक है कि इसी के द्वारा सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहती है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये हम प्रभु का उपासन करें। रक्षित सोम हमारी इन्द्रियों की शक्ति के वर्धन का कारण बनता है और अन्ततः प्रभु के प्रकाश को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'देवेभ्यः अनुकामकृत्' सोम

अमित्रहा विचर्षणिः पवस्व सोम शं गवे। देवेभ्यो अनुकामकृत्॥ ७॥

(१) यह सोम '**अमित्र-हा**'=शरीरस्थ रोगकृमिरूप शत्रुओं का विनाशक करनेवाला है।

इनके विनाश के द्वारा **विचर्षणिः**=हमारा विशेषरूप से ध्यान करनेवाला है। हे सोम! तू हमें **पवस्व**=प्राप्त हो। तेरी प्राप्ति से **गवे** शम्=(गावः इन्द्रियाणि) हमारी इन्द्रियों के लिये **शम्**=शान्ति हो। यह सोम इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाकर उन्हें पूर्ण स्वस्थ बनाता है। (२) हे सोम! तू **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिये **अनुकामकृत्**=अनुकूल कामना को करनेवाला है। सोमरक्षण से इन देव वृत्तिवाले पुरुषों के हृदयों में उत्तम ही कामनायें उत्पन्न होती हैं और इसी सोमशक्ति से वे सब कामनायें पूर्ण हो पाती हैं।

भावार्थ—सोम रोगकृमि रूप शत्रुओं का विनाश तो करता ही है, 'प्रतिकूल कामना' रूप मानस शत्रुओं का भी विनाश करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'मनसस्पति' सोम

इन्द्रा॑य सोम॒ पात॑वे॒ मदा॑य॒ परि॑ षिच्यसे। म॒न॒श्चिन्मन॑स॒स्पतिः॥ ८॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष के पान के लिये होती है। एक जितेन्द्रिय व्यक्ति ही तुझे अपने अन्दर व्याप्त कर सकता है। तू शरीर के अंग-प्रत्यंग में **परिषिच्यसे**=चारों ओर सिक्त होती है। शरीर में सिक्त होकर तू **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिये होती है। (२) हे सोम! तू **मनः चित्**=निश्चय से ज्ञान है (मनु अवबोधने)। सोम के रक्षण से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। **मनसः पतिः**=सोम ही मन का पति है। सुरक्षित सोम मन की उत्तम स्थिति का कारण बनता है।

भावार्थ—सोम के शरीर में व्याप्त होने पर जीवन 'उल्लासमय व ज्ञानमय' बनता है। इससे मन भी ठीक स्थिति में रहता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सुवीर्य रयि

पव॑मान सु॒वीर्यं॑ र॒यिं सो॑म रिरीहि नः। इन्द॒विन्द्रे॑ण नो यु॒जा॥ ९॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **पवमान**=हमारे जीवन को पवित्र बनानेवाले सोम! तू **नः**=हमारे लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्यवाली **रयिम्**=रयि शक्ति को **रिरीहि**=दे। शरीर में 'प्राण-रयि' ये दो शक्तियाँ कार्य करती हैं। इन दोनों का मूल 'सोम' है। वस्तुतः इन दोनों शक्तियों को एक 'सोम' नाम से कहा जाता है। 'प्राण' वीर्य का पर्याय है। ये ही शक्तियाँ 'सूर्य व चन्द्र' भी कहलाती हैं, सूर्य 'प्राण' है, चन्द्र 'रयि' है। (२) हे **इन्दो**=सोम! तू शरीर में रक्षित होकर **नः**=हमें **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **युजा**=युक्त कर। सोम की महिमा से तीव्र बुद्धि बनकर हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें प्राण व रयि शक्ति से युक्त करके प्रभु प्राप्ति का पात्र बनाये।

अगले सूक्त को इसी भाव से प्रारम्भ करते हैं—

[१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'मधुमत्तम' सोम

सोमा असृग्रमिन्दवः सुता ऋतस्य सादने। इन्द्राय मधुमत्तमाः॥ १॥

(१) **सोमाः**=शरीर में ये वीर्यकण **इन्दवः**=अत्यन्त शक्ति को देनेवाले **असृग्रं** (सृज्यन्ते)=पैदा किये जाते हैं। **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **ऋतस्य सादने**=ऋत के आधारभूत प्रभु की प्राप्ति के निमित्त बनते हैं। प्रभु 'ऋत के योनि' व 'ऋत के आधार' हैं। रक्षित हुआ-हुआ सोम हमें दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनाकर प्रभु-दर्शन के योग्य करता है। (२) ये सोमकण **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मधुमत्तमाः**=अतिशयेन माधुर्य को पैदा करनेवाले होते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष ही इनका रक्षण कर पाता है। रक्षित हुए-हुए ये उसके जीवन को 'शरीर, मन व बुद्धि' का स्वास्थ्य प्राप्त कराके मधुर बनाते हैं।

भावार्थ—सोम (क) शक्ति को देता है, (ख) 'ऋत के आधार' प्रभु को प्राप्त कराता है, (ग) जीवन को स्वास्थ्य के द्वारा मधुर बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन

अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न मातरः। इन्द्रं सोमस्य पीतये॥ २॥

(१) **विप्राः**=(वि+प्रा पूरणे) सोमरक्षण के द्वारा विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अभि अनूषत**=दोनों ओर दिन के प्रारम्भ में व दिन के अन्त में प्रातः-सायं स्तुत करते हैं। प्रभु-स्तुति से ही जीवन को प्रारम्भ करते हैं, प्रभु स्तुति पर ही दिन की क्रियाओं को समाप्त करते हैं। (२) ये लोग इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हैं, **न**=जैसे कि **मातरः गावः**=दुधार धेनुएँ **वत्सम्**=उत्पन्न हुए-हुए बछड़े को पुकारती हैं। दुधार गौ का बछड़े के प्रति जो प्रेम होता है उसी प्रकार प्रभु के प्रति प्रेमवाले होते हुए हम प्रभु के निष्काम प्रिय-भक्त बनें। यह प्रभु-भक्ति **सोमस्य पीतये**=सोम के पान के लिये होती है। इस भक्ति के द्वारा हम सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करें। यह स्मरण हमें सोम के रक्षण में सहायक हो।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'गौरी में अधिश्रित' सोम

मदच्युत्क्षेति सादने सिन्धोरूर्मा विपश्चित्। सोमो गौरी अधि श्रितः॥ ३॥

(१) **सोमः**=सोम (वीर्य) **मदच्युत्**=जीवन में आनन्द को क्षरित करनेवाला है। सोम के रक्षण से जीवन उल्लासमय बनता है। यह सोम **सादने**=(ऋतस्य सादने-१) ऋत के आधारभूत प्रभु में **क्षेति**=निवास को कराता है। इस सोम के रक्षण से हमारा ज्ञान दीप्त होता है और हम अन्ततः प्रभु में निवास करनेवाले बनते हैं। यह सोम **सिन्धोः ऊर्मा**=ज्ञान-समुद्र की तरंगों में हमें

निवास करनेवाला बनाता है। सोमरक्षण से हमारा ज्ञान बढ़ता है और यह सोम **विपश्चित्**=हमें उत्कृष्ट ज्ञानी बनाता है। (२) यह सोम **गौरी**=वाणी में **अधिश्रितः**=आश्रित है। ज्ञान की वाणी में इसका आधार है। अर्थात् जब हम ज्ञान की वाणियों में रुचिवाले बन जाते हैं, तो हमारा जीवन वासनामय नहीं रहता। उस समय सोम सुरक्षित रहता है। इस प्रकार यह सोम गौरी में अधिश्रित है।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियों में अधिश्रित सोम, (क) हमें हर्षयुक्त करता है, (ख) प्रभु की प्राप्ति का साधन बनता है, (ग) ज्ञान समुद्र की तरंगों में निवास कराता है। अर्थात् हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'सुक्रतु-कवि' सोम

दिवो नाभा विचक्षणोऽव्यो वारे महीयते। सोमो यः सुक्रतुः कविः॥ ४॥

(१) **यः सोमः**=जो सोम है वह **दिवः नाभा**=ज्ञान के केन्द्र में हमें स्थापित करनेवाला है। सब ज्ञानों का केन्द्र प्रभु हैं। यह **विचक्षणः**=विशेषरूप से हमारा ध्यान करनेवाला है (चक्ष् look after) **अव्यः**=(अवति इति अवः, तेषु साधुः) रक्षण करनेवालों में उत्तम है। **वारे**=कष्टों व रोगों के निवारणात्मक कार्य में **महीयते**=महिमावाला होता है, अर्थात् कष्टों व रोगों को दूर करने में इसकी महिमा प्रसिद्ध है। (२) यह सोम **सुक्रतुः**=उत्तम शक्तिवाला है व **कविः**=क्रान्तदर्शी-ज्ञानी है। रक्षित होने पर यह हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराता है।

भावार्थ—रक्षित सोम सर्वोत्तम रक्षक है। यह शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पवित्र हृदय में प्रभु का आलिंगन

यः सोमः कलशेष्वाँ अन्तः पवित्र आहितः। तमिन्दुः परि षस्वजे॥ ५॥

(१) **यः सोमः**=जो सोम है **कलशेषु**=(कलाः शेरते अस्मिन्) कलाओं के निवास-स्थानभूत शरीरों में **आ**=चारों ओर **अन्तः**=अन्दर स्थापित होता है, अर्थात् सब कलाओं का शरीर में रक्षण इस सोम (कला) पर ही निर्भर करता है। (२) **पवित्रे**=हृदय के पवित्र होने पर **आहितः**=शरीर में समन्तात् स्थापित **इन्दुः**=सोम **तम्**=उस प्रसिद्ध प्रभु को **परिषस्वजे**=आलिंगन करनेवाला होता है। पवित्र हृदय में प्रभु का दर्शन इस सोमरक्षण पर ही आधारित है।

भावार्थ—रक्षित हुआ-हुआ सोम शरीर को सकल=पूर्ण वह सोलह कला सम्पन्न बनाता है तथा पवित्र हृदय में प्रभु-दर्शन कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधुश्चुत् कोश

प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याधि विष्टपि। जिन्वन्कोशं मधुश्चुतम्॥ ६॥

(१) **इन्दुः**=शरीर को शक्तिशाली बनानेवाला सोम **वाचं प्र इष्यति**=ज्ञान की वाणियों को हमारे में प्रकर्षेण प्रेरित करता है। यह हमारे ज्ञान को बढ़ाता हुआ **समुद्रस्य**=(स+मुद्) सदा

आनन्दमय उस प्रभु के **अधिविष्टपि**=लोक में हमें प्रेरित करता है। अर्थात् हमें प्रभु की ओर ले चलता है। (२) यह सोम **मधुश्चुतम्**=ज्ञान-मधु को क्षरित करनेवाले **कोशम्**=ज्ञान के कोश को **जिन्वन्**=प्रीणित करता है। सोम के रक्षण से विज्ञानमय कोश ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है, वह हमें सदा ज्ञानमधु का रसास्वादन करानेवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम (क) ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें, (ख) आनन्दमय प्रभु के लोक में पहुँचनेवाले हों, (ग) विज्ञानमय कोश से ज्ञानमधु का रसास्वादन कर सकें।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'नित्य-स्तोत्र-वनस्पति' सोम

नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धीनामन्तः सबर्दुघः। हिन्वानो मानुषा युगा॥ ७॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित सोम **नित्यस्तोत्रः**=सदा प्रभु के स्तोत्रोंवाला होता है, अर्थात् सोमरक्षणवाला पुरुष प्रभु की स्तुति के प्रति झुकाववाला होता है। **वनस्पतिः**=यह सोम ज्ञानरश्मियों का स्वामी है (वन=a ray of light) सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। तब ज्ञानरश्मियाँ चारों ओर फैलती हैं। (२) यह **सबर्दुघः**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाला सोम **मानुषा युगा**=मानव दम्पतियों को, विचारशील पति-पत्नियों को **धीनां अन्तः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के अन्दर **हिन्वानः**=प्रेरित करता है। सोमरक्षण के होने पर हम ज्ञानदुग्ध का पान करते हैं। इस ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाले पति-पत्नी सदा ज्ञानपूर्वक उत्तम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के होने पर हम (१) सदा प्रभु-स्तवन की रुचिवाले, (२) ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करनेवाले, (३) ज्ञानपूर्वक उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रिय ज्ञानवाणियों का प्रेरण

अभि प्रिया दिवस्पदा सोमो हिन्वानो अर्षति। विप्रस्य धारया कविः॥ ८॥

(१) **सोमः**=वीर्यशक्ति **प्रिया**=प्रीति को उत्पन्न करनेवाले **दिवः पदा**=ज्ञान के शब्दों का **हिन्वानः**=प्रेरित करता हुआ **अभि अर्षति**=शरीर में चारों ओर गतिवाला होता है। जब सोम शरीर में रक्षित होता है तो यह ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। उस समय ज्ञान की प्रिय वाणियाँ हमारे अन्दर प्रेरित होती हैं। (२) यह सोम **विप्रस्य**=(वि-प्रा) विशेषरूप से अपने अन्दर इसका पूरण करनेवाले का **धारया**=धारणशक्ति के द्वारा, **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ बनानेवाला होता है। सोम विप्र का कवि है, अपने धारण करनेवाले को ज्ञानी बनाता है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करते हैं, तो यह हमारे अन्दर प्रिय ज्ञानवाणियों को प्रेरित करता हुआ हमें ज्ञानी बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'सहस्रवर्चस् रयि'

आ पवमान धारय रयिं सहस्रवर्चसम्। अस्मे इन्दो स्वाभुवम्॥ ९॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू शरीर में रक्षित हुआ-हुआ हमारे लिये **रयिम्**=ज्ञान के ऐश्वर्य को **आधारय**=समन्तात् धारण करा। हमें तेरे द्वारा वह ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त हो जो कि **सहस्रवर्चसम्**=अनन्त तेजस्वितावाला है। हे सोम! ज्ञान के साथ शक्ति को तू प्राप्त करा। (२) हे **इन्दो**=शक्तिशालिन् सोम! **अस्मे**=हमारे लिये उस ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करा जो कि **स्वाभुवम्**=(शोभनभवनम् सा०) उत्तम ब्रह्मलोक रूप भवनवाला है, जिसके द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। जो ज्ञानैश्वर्य हमें (स्व+आ+भू) आत्मा में स्थापित करनेवाला होता है, जिस ज्ञान के द्वारा हम 'आत्मनिष्ठ' बन पाते हैं।

भावार्थ—रक्षित सोम से हमें वह ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हो जो कि अनन्त शक्तिवाला है तथा हमें आत्मनिष्ठ बनाता है।

अगले सूक्त में भी इसी भाव को देखिये—

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

गतिशील इन्द्र का 'निष्कृत'

सोमः पुनानो अर्षति सहस्रधारो अत्यविः। वायोरिन्द्रस्य निष्कृतम्॥ १॥

(१) **सोमः**=वीर्य **वायोः**=गतिशील **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **निष्कृतम्**=संस्कृत हृदय को **अर्षति**=प्राप्त होता है। हृदय के पवित्र होने पर ही सोम शरीर में सुरक्षित होता है। हृदय की पवित्रता 'वायु व इन्द्र' को प्राप्त होती है। वायु गतिशील व्यक्ति है, जो कभी अकर्मण्य नहीं होता। इसीलिए इसे वासनाएँ नहीं सताती। आलस्य के साथ ही वासनाओं का सम्बन्ध है। इस सोमरक्षण के लिये जितेन्द्रियता भी आवश्यक है। अजितेन्द्रिय के लिये सोमरक्षण नितान्त असम्भव है। 'जितेन्द्रियता व पवित्रता' पर्यायवाची से शब्द हैं। (२) रक्षित हुआ-हुआ सोम **पुनानः**=पवित्र करनेवाला होता है। **सहस्रधारः**=अनेक प्रकार से हमारा धारण करनेवाला है। **अत्यविः**=अतिशयेन रक्षण करनेवाला है। यह रोगकृमियों को नष्ट करके हमारे शरीरों का रक्षण करता है तथा 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' को नष्ट करके हमारे मनों का रक्षण करता है। ज्ञानाग्नि का तो एक मात्र ईंधन होता हुआ यह बुद्धि का रक्षण करनेवाला होता है। इस प्रकार यह सर्वोत्तम रक्षक है।

भावार्थ—गतिशील जितेन्द्रिय बनकर हम सोम का रक्षण करें। रक्षित हुआ-हुआ यह हमें पवित्र करे, हमारा धारण करे, हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' का रक्षण करे।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोम-गुण-गायन

पवमानमवस्यवो विप्रमभि प्र गायत। सुष्वाणं देववीतये॥ २॥

(१) हे **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले पुरुषो! **पवमानम्**=जीवन को पवित्र बनानेवाले **विप्रम्**=तुम्हारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले **सुष्वाणम्**=इस ऐश्वर्य के कारणभूत सोम (षू ऐश्वर्ये) का **अभि प्रगायत**=गायन करो। इसके गुणों का गायन करने से इसके रक्षण की वृत्ति तुम्हारे में उत्पन्न होगी। (२) इसके गुणों का गायन इसलिए करो कि यह उत्पन्न हुआ-हुआ **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये होता है। सोम के रक्षण से दिव्य गुणों का विकास होता है।

भावार्थ—रक्षित हुआ-हुआ सोम हमारा रक्षण करता है, यह दिव्य गुणों के विकास के लिये होता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

वाजसातये-देववीतये

पवन्ते वाजसातये सोमाः सहस्रपाजसः। गृणाना देववीतये॥ ३॥

(१) **सहस्रपाजसः**=अनन्त शक्तियोंवाले **सोमाः**=ये सोमकण **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये **पवन्ते**=हमें प्राप्त होते हैं। इनके रक्षण से शक्ति-सम्पन्न होकर हम जीवन-संग्राम में सदा विजयी बनते हैं। (२) **गृणानाः**=स्तुति किये जाते हुए ये सोमकण **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये व अन्ततः प्रभु की प्राप्ति के लिये होते हैं। सोम के स्तवन का भाव यही है कि हम इनके गुणों का रक्षण करें। इनके गुणों का स्मरण हमें इनके रक्षण के लिये प्रेरित करता है। रक्षित हुए-हुए ये हमारे अन्दर दिव्य गुणों का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम जीवन-संग्राम में विजयी बनते हैं और दिव्य गुणों की प्राप्ति करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

द्युमत्-सुवीर्यम्

उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिषः। द्युमदिन्दो सुवीर्यम्॥ ४॥

(१) हे **इन्दो**=शक्तिशाली सोम! तू **नः**=हमारे लिये **वाजसातये**=जीवन-संग्राम में विजय की प्राप्ति के लिये **बृहतीः इषः**=वृद्धि की कारणभूत प्रेरणाओं को **पवस्व**=प्राप्त करा। सोम-रक्षण से हृदय पवित्र होता है। पवित्र हृदय में प्रभु-प्रेरणा सुन पड़ती है। यह प्रेरणा हमें जीवन-संग्राम में विजयी बनाती है। (२) **उत**=और हे सोम! तू हमें **द्युमत्**=ज्योतिर्मय **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को (=शक्ति को) प्राप्त करा।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें पवित्र हृदय में प्रभु की प्रेरणायें सुन पड़ती हैं। हमें ज्योति व शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सुवीर्य रयि

ते नः सहस्रिणं रयिं पवन्तामा सुवीर्यम्। सुवाना देवास इन्दवः॥ ५॥

(१) **ते**=वे सोम **नः**=हमारे लिये **सहस्रिणम्**=सहस्र संख्यावाले **रयिम्**=ऐश्वर्य को तथा **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **आपवन्ताम्**=सर्वथा प्राप्त करायें। रक्षित हुआ-हुआ सोम ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है, उस ऐश्वर्य को जो कि शक्ति से युक्त है। (२) **सुवानाः**=उत्पन्न होते हुए ये सोम **देवासः**=हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाते हैं और **इन्दवः**=ये हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से सुवीर्य रयि की प्राप्ति होती है। ये सोम हमें प्रकाशमय शक्ति-सम्पन्न जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

अव्यवार (रक्षण में उत्तम युद्ध)

अत्या हियाना न हेतृभिरसृग्रं वाजसातये। वि वारमव्यमाशवः॥ ६॥

(१) **न**=जैसे **हेतृभिः**=प्रेरकों से **हियानाः**=प्रेरित किये जाते हुए **अत्याः**=सतत गमनशील अश्व **वाजसातये**=संग्राम के लिये **असृग्रम्**=सृष्ट होते हैं, उसी प्रकार ये सोम प्राणायाम के द्वारा शरीर में प्रेरित होते हुए **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये **वि असृग्रम्**=विशेषरूप से सृष्ट होते हैं। (२) **आशवः**=' अशू व्याप्तौ ' शरीर में व्याप्त होनेवाले ये सोम **अव्यम्**=रक्षण में उत्तम **वारम्**=(war) युद्ध को लक्ष्य करके **असृग्रम्**=सृष्ट किये जाते हैं। शरीर में सृष्ट हुए-हुए ये रोगकृमियों के साथ युद्ध करके रोगकृमियों का संहार करते हैं। तथा ये शरीर में सुरक्षित होने पर ये ' ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध ' आदि की वृत्तियों को भी विनष्ट करते हैं और इस प्रकार जीवन को पवित्र बनाते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम रोगकृमियों व वासनाओं का संग्राम में पराजय करके हमारे जीवनों को उत्तम बनाते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु की ओर

वाश्रा अर्षन्तीन्दवोऽभि वत्सं न धेनवः। दधन्विरे गभस्त्योः॥ ७॥

(१) **वाश्राः**=शब्द करती हुई **धेनवः**=गौवें **न**=जैसे **वत्सं अभि**=बछड़े की ओर **अर्षन्ति**=गति करती हैं (reach towards) इसी प्रकार **वाश्राः**=प्रभु की स्तुतियों का उच्चारण करते हुए **इन्दवः**=ये सोमकण **वत्सम्**=(वदति इति) वेदवाणी का उच्चारण करनेवाले प्रभु की **अभि**=ओर अर्षन्ति=गतिवाले होते हैं। अर्थात् प्रभु स्तवन की वृत्ति के होने पर सोम शरीर में सुरक्षित रहते हैं (वाश्राः इन्दवः)। सोमरक्षण से प्रभु की ओर झुकाव अधिक होता है। यह रक्षित सोम ही हमें प्रभु को प्राप्त कराता है। (२) रक्षित हुए-हुए ये सोमकण **गभस्त्योः**=भुजाओं में **दधन्विरे**=धारण किये जाते हैं। बाहुओं के अन्दर ये सोमकण ही शक्ति का स्थापन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—रक्षित सोम हमें प्रभु की ओर ले चलते हैं और शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

द्वेष-निराकरण

जुष्ट इन्द्राय मत्सरः पवमान कनिक्रदत्। विश्वा अप द्विषो जहि॥ ८॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! तू **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवित हुआ-हुआ **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मत्सरः**=हर्ष के संचार को करनेवाला होता है। सोमरक्षण से जीवन में उल्लास की वृद्धि होती है। (२) हे सोम! **कनिक्रदत्**=प्रभु के नामों का निरन्तर उच्चारण करता हुआ तू **विश्वाः द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं को **अपजहि**=सुदूर विनष्ट कर। सोमरक्षण से प्रभु-स्मरण की वृत्ति उत्पन्न होती है और द्वेष की भावनायें दूर होती हैं।

भावार्थ—रक्षित सोम (क) उल्लास को पैदा करता है, (ख) हमारे मनों को प्रभु-प्रवण

करता है, (ग) द्वेष को दूर करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

ऋतमय जीवन

अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः। योनावृतस्य सीदत॥ ९॥

(१) रक्षित हुए-हुए सोमकणो! **अराव्णः अपघ्नन्तः**=न देने की वृत्तियों को हमारे से दूर करते हुए होवो। सोमरक्षण करनेवाला पुरुष कभी कृपण नहीं होता। इस दान व त्याग की वृत्ति के द्वारा **पवमानाः**=हमें पवित्र करनेवाले होवो। लोभ ही तो सब पापों व अशुभ वृत्तियों का मूल है। दान इस लोभ रूप मूल को नष्ट करके सब अशुभ वृत्तियों को नष्ट कर देता है। पापवृत्ति को नष्ट करके **स्वर्दृशः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु का हमें दर्शन कराते हो। (२) हे सोमकणो! **ऋतस्य योनौ**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **सीदत**=तुम आसीन होवो। अर्थात् हमें ब्रह्मनिष्ठ बनाओ। सब कार्यों को ऋतपूर्वक करते हुए हम ऋत के अधिष्ठान प्रभु में अधिष्ठित हों।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम अदान की वृत्ति को विनष्ट कर पाते हैं। जीवन को पवित्र बना कर प्रभु-दर्शन करते हैं और ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में स्थित होते हैं। अपने जीवन को ऋतमय बनाते हैं।

पवमान सोम का ही महत्त्व अगले सूक्त में भी वर्णित है—

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

पुरुस्पृह कार

परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः। कारं बिभ्रत्पुरुस्पृहम्॥ १॥

(१) रक्षित हुआ-हुआ सोम हमारे ज्ञान को बढ़ाता है, सो यह 'कवि' कहाता है। यह **कविः**=क्रान्तदर्शी सोम **परिप्रासिष्यदत्**=शरीर में रुधिर के साथ चारों ओर प्रवाहित होता है। यह **सिन्धोः ऊर्मौ**=ज्ञान-समुद्र की (रायः समुद्राँश्चतुरः) तरंगों में **अधिश्रितः**=आधिक्येन आश्रित होता है। अर्थात् यह सोम हमें ज्ञान के शिखर पर ले जानेवाला होता है। (२) यह सोम **कारम्**=इस शरीररूप रथ को (car) **बिभ्रत्**=धारण करता है। रक्षित सोम इस रथ का ऐसा रक्षण करता है कि यह **पुरुस्पृहम्**=बहुत स्पृहणीय रूपवाला होता है, स्वस्थ व सुन्दर शरीर को बनाने में सोम का ही प्रथम स्थान है।

भावार्थ—रक्षित सोम ज्ञान को बढ़ाता है तथा शरीर को स्वस्थ व सुन्दर बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोम का परिष्करण

गिरा यदी सबन्धवः पञ्च व्राता अपस्यवः। परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम्॥ २॥

(१) शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं **यदि ई**=अगर ये **पञ्च व्राताः**=पाँच समूह रूप में रहनेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के साथ **सबन्धवः**=समान रूप से बन्धनवाली होती

हैं, अर्थात् यदि ये सदा ज्ञान प्राप्ति में लगी रहती हैं। तो ये **धर्णसिम्**=शरीर के धारक सोम को **परिष्कृण्वन्ति**=शरीर में ही परिष्कृत करती हैं। (२) इसी प्रकार शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ है, यदि ई=अगर ये पञ्च व्राताः=पाँच समूह रूप में रहनेवाली कर्मेन्द्रियाँ **गिरा**=ज्ञान की वाणी के अनुसार **अपस्यवः**=अपने साथ कर्मों को जोड़ने की कामनावाली होती हैं तो धर्णसिम्=शरीर धारक सोम को परिष्कृण्वन्ति=शरीर में ही अलंकृत करती हैं। एवं सोमरक्षण का उपाय यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में लगी रहें तथा कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति व यज्ञादि कर्मों में लगे रहकर हम सोम का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

दिव्य गुणों का विकास

आदस्य शुष्मिणो रसे विश्वे देवा अमत्सत। यदी गोभिर्वसायते॥ ३॥

(१) **आत्**=गत मन्त्र के अनुसार सोम का परिष्करण करने के अनन्तर **शुष्मिणः अस्य**= शक्तिशाली इस सोम के **रसे**=रस में, आनन्द में **विश्वे देवाः**=सब देव **अमत्सत**=आनन्द का अनुभव करते हैं। 'सब देव आनन्द का अनुभव करते हैं' इस वाक्य का भाव यह है कि सब दिव्य गुणों का विकास होता है। (२) यह विकास होता तभी है **यद् ई**=जब यह सोम निश्चय से **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वसायते**=आच्छादित किया जाता है। अर्थात् स्वाध्याय में प्रवृत्त होने के द्वारा जब हम सोम का रक्षण करते हैं तब हमारे जीवनों में दिव्य गुणों का विकास होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय में प्रवृत्त रहकर हम सोम शक्ति को वासनाओं के आक्रमण से बचायें और इस सोमरक्षण से हमारे जीवन में दिव्य गुणों का विकास हो।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के साथ मेल

निरिणानो वि धावति जहच्छर्याणि तान्वा। अत्रा सं जिघ्रते युजा॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सुरक्षित हुआ-हुआ सोम **नि-रिणानः**=(To expel, drive out) सब बुराइयों को शरीर से पृथक् करता हुआ **विधावति**=जीवन को बड़ा शुद्ध बना डालता है 'धाव् शुद्धौ'। यह सोम **तान्वा**=शक्तियों के विस्तार के द्वारा **शर्याणि**=(शृ हिंसायाम्) हमारी हिंसा करनेवाले काम-क्रोध आदि मानस शत्रुओं को तथा रोगकृमिरूप शारीर शत्रुओं को **जहत्**=यह त्यागनेवाला होता है। शरीर में रक्षित सोम शक्तियों को बढ़ाता है और आधि-व्याधियों को विनष्ट करता है। (२) इस प्रकार इस शरीर को शुद्ध बनाकर **अत्र**=यहाँ इस शरीर में **युजा**=उस अपने साथी के साथ **संजिघ्रते**=संगत होता है (संगतो भवति सा०) प्रभु ही सखा हैं, उनके साथ मेल इस सोम के द्वारा ही होता है।

भावार्थ—सोम शरीर का शोधन कर देता है, इस शुद्ध शरीर में जीव प्रभु रूप मित्र को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान के द्वारा सोम का शोधन

सोम शुद्धि से ज्ञानदीप्ति

नप्तीभिर्यो विवस्वतः शुभ्रो न मामृजे युवा। गाः कृण्वानो न निर्णिजम्॥ ५॥

(१) **यः**=जो **युवा**=हमारे सब दोषों को पृथक् करनेवाला (यु अमिश्रणे) तथा सब गुणों को मिलानेवाला (यु मिश्रणे) सोम है, वह **विवस्वतः**=ज्ञान के सूर्य की **नप्तीभिः**=न पतन होने देनेवाली शक्तियों से **शुभ्रः**=उज्ज्वल हुआ-हुआ **न**=अब (न इति संप्रत्यर्थे) **मामृजे**=हमारे जीवनों को शुद्ध बनाता है। ज्ञान प्राप्ति में लगे रहने से वासनाओं को उबाल नहीं आता। परिणामतः सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। सुरक्षित हुआ-हुआ यह हमारे जीवनों को शुद्ध बना डालता है। (२) **न**=(न=च) और यह सोम **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **कृण्वानः**=हमारे मस्तिष्क में दीप्त करता हुआ **निर्णिजम्**=शोधन व पोषण के लिये होता है। सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, ज्ञानाग्नि की दीप्ति से हम वेदवाणियों को स्पष्ट रूप में देखते हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवन को शुद्ध बनाती हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय की प्रवृत्ति सोम को शुद्ध करती है। शुद्ध सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करता हुआ इन ज्ञान की वाणियों से हमारा शोधन करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु प्राप्ति

अति श्रिती तिरश्चता गव्या जिगात्यण्व्या। वग्नुमियर्ति यं विदे॥ ६॥

(१) सोमरक्षण से बुद्धि सूक्ष्म बनती है। इस **अण्व्या**=सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा **गव्या**=(गव्यानि) वेदवाणी गौ से प्राप्य ज्ञानदुग्धों को **अति श्रिती**=(श्रयणार्थम्) अतिशयेन सेवन करने के लिये **तिरश्चता**=(तिरस् अञ्च्) तिरोहित रूप से गति करनेवाले, रुधिर में ही व्याप्त होकर गति करते हुए सोम से **जिगाति**=यह गतिमय होता है। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने पर यह सोम रुधिर व्याप्त हुआ-हुआ दिखता नहीं। इस सोम के द्वारा हमें वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाली सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त होती है। (२) इस ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाला व्यक्ति **वग्नुम्**=वेदज्ञान देनेवाले उस प्रभु को **इयर्ति**=प्राप्त होता है। उस प्रभु को **यम्**=जिसको **विदे**=जानने के लिये साधन रूप से इस सोम का शरीर में स्थापन हुआ है।

भावार्थ—सोमरक्षण से वह सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त होती है जो कि हमें वेदज्ञान को प्राप्त कराने में सहायक होती है और हमें प्रभु का साक्षात्कार करानेवाली होती है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सोम की धारण शक्तियाँ

अभि क्षिपः समग्मत मर्जयन्तीरिषस्पतिम्। पृष्ठा गृभ्णत वाजिनः॥ ७॥

(१) सोमरक्षण से पवित्र हृदय में प्रभु प्रेरणा सुन पड़ती है। इसलिए यहाँ सोम को 'इषस्पति'=प्रेरणा का पति कहा है। **क्षिपः**=वासनाओं व विषयों को अपने से परे फेंकनेवाली दस

इन्द्रियाँ **इषस्पतिम्**=प्रभु प्रेरणा के रक्षक इस सोम को **मर्जयन्तीः**=शुद्ध करती हुई **अभि सम्ग्मत**=उस प्रभु की ओर गतिवाली होती हैं। विषयों से इन्द्रियों के अनाक्रान्त होने पर ही सोम का रक्षण होता है। इसके रक्षण पर ही प्रभु प्रेरणा का सुनाई पड़ना व प्रभु का मिलना सम्भव है। (२) इसलिए **वाजिनः**=इस शक्तिशाली सोम के **पृष्ठा**=धारण शक्तियों को **गृभ्णत**=ग्रहण करनेवाले बनो। सोम ही शरीर का धारण करता है, यही मन व बुद्धि का धारण करनेवाला है।

भावार्थ—वासनाशून्य इन्द्रियाँ सोमरक्षण का साधन बनती हैं। रक्षित सोम प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है। यही हमारा धारण करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

दिव्य व पार्थिव वसु

परि दिव्यानि मर्मृशद्विश्वानि सोम पार्थिवा। वसूनि याह्यस्मयुः॥ ८॥

(१) हे सोम! तू **विश्वानि**=सब **दिव्यानि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक सम्बन्धी **वसूनि**=ज्ञान धनों को तथा सब **पार्थिवा**=शरीर रूप पृथिवी सम्बन्धी दृढ़ता व नीरोगता रूप धनों को **परिमर्मशत्**=सर्वतः ग्रहण करता हुआ **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाला होकर **याहि**=गतिवाला हो। (२) सोम ही मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है तथा इसी ने शरीर को दृढ़ व नीरोग बनाना है। इस प्रकार यही दिव्य व पार्थिव धनों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोम हमें दीप्त मस्तिष्क व दृढ़ शरीर बनाये।

सोम की महिमा को ही अगले भी सूक्त में देखिये—

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

लाभत्रयी

एष धिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्॥ १॥

(१) **एषः**=यह सोम **शूरः**=हमारे सब शत्रुओं को आधि-व्याधियों को शीर्ण करनेवाला है। **अण्व्याः**=सूक्ष्म **धिया**=बुद्धि से **याति**=हमें प्राप्त होता है। सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। (२) यह **आशुभिः**=शीघ्र गतिवाले, शीघ्रता से मार्ग को व्यापनेवाले **रथेभिः**=शरीर रूप रथों से हमें प्राप्त होता है। रक्षित सोम शरीर को दृढ़ व क्रियाशील बनाता है। (३) यह **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **निष्कृतम्**=परिष्कृत हृदय को **गच्छन्**=प्राप्त होता है। सोम से हृदय निर्मल हो उठता है। सुरक्षित सोमवाले पुरुष को 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' पीड़ित नहीं करते।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) बुद्धि सूक्ष्म बनती है, (ख) शरीर स्फूर्तिमय होता है, (ग) हृदय पवित्र बन जाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

धियायते

एष पुरू धियायते बृहते देवतातये। यत्रामृतास आसते॥ २॥

(१) **एषः**=यह सोम **पुरु**=खूब ही **धियायते**=बुद्धिपूर्वक कर्मों को करने की इच्छा करता है। सोम के रक्षित होने पर बुद्धि का वर्धन होता है और शरीर में स्फूर्ति आती है। इस प्रकार हम बुद्धिपूर्वक कर्मों को करनेवाले बनते हैं। (२) यह सोम **बृहते**=वृद्धि के कारणभूत **देवतातये**=दिव्य गुणों के विस्तार के लिये होता है। सोमरक्षण से आसुरी वृत्तियों का विनाश होकर दैवीवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। (३) यह सोम वह है **यत्र**=जिसमें **आमृतासः**=सब नीरोगतायें **आसते**=आसीन होती हैं। अर्थात् सोम के रक्षित होने पर शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण करनेवाला पुरुष बुद्धिपूर्वक कर्म करता है, अपने अन्दर दिव्य गुणों का विस्तार करता है तथा नीरोगता को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

शुभ्र मार्ग से

एष हितो वि नीयतेऽन्तः शुभ्रावता पथा। यदी तुञ्जन्ति भूर्णयः॥ ३॥

(१) **यद् ई**=जब निश्चय से **भूर्णयः**=उत्तम भरण करनेवाले पुरुष **तुञ्जन्ति**=(To kill) काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का संहार कर पाते हैं तो **एषः**=यह **अन्तः हितः**=शरीर के अन्दर स्थापित हुआ-हुआ **शुभ्रावता पथा**=उत्तम शोभावाले मार्ग से **विनीयते**=लक्ष्य-स्थान की ओर, ब्रह्म की ओर ले जाया जाता है। (२) जब मनुष्य भूर्णि बनता है, स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थ में चलता हुआ सब का भरण करनेवाला बनता है, तो वह लोभ आदि आसुर वृत्तियों को समाप्त कर पाता है। इससे यह सोम का रक्षण करने में समर्थ होता है। रक्षित सोम के द्वारा इसका जीवन मार्ग उत्तम बनता है और यह प्रभु की ओर चलता हुआ अन्ततः प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थ में प्रवृत्त होकर हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को नष्ट करके सोम का रक्षण करें। इससे हम शुभ्र मार्ग का आक्रमण करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

ऐश्वर्य-शक्ति व उत्साह

एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्योऽ वृषा। नृम्णा दधान ओजसा॥ ४॥

(१) जैसे **यूथ्यः**=यूथ का, गोसमूह का रक्षण करनेवाला **वृषा**=बैल **शृंगाणि**=अपने सींगों को **दोधुवत्**=कम्पित करता हुआ **शिशीते**=तीव्र करता है उसी प्रकार यह सोम **यूथ्यः**=कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय व प्राण आदि के यूथों को रक्षित करनेवाला है, **वृषा**=उनमें शक्ति का सेचन करनेवाला है। यह अपने **शृंगाणि**=रोगकृमि विनाशक शक्तियों को दोधुवत्=गतिमय करता है और उन शत्रुनाशक शक्तियों को शिशीते=तीव्र करता है। (२) यह **ओजसा**=अपनी ओजस्विता के द्वारा **नृम्णा**=हमारे लिये आवश्यक धनों को (wealth) व शक्ति (strength) व उत्साह (courage) को **दधानः**=धारण करता है।

भावार्थ—सोम के अन्दर रोग व वासना रूप शत्रुओं के नाश का गुण है। यह ओजस्विता के द्वारा ऐश्वर्य-शक्ति व उत्साह को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सिन्धु-पति

एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः। पतिः सिन्धूनां भवन्॥ ५॥

(१) **एषः**=यह सोम **वाजी**=शक्तिशाली है, हमें शक्ति-सम्पन्न करता है। यह **रुक्मिभिः**=स्वर्ण के समान देदीप्यमान **शुभ्रेभिः**=उज्ज्वल **अंशुभिः**=ज्ञान की किरणों से **ईयते**=हमें प्राप्त होता है। सोम के रक्षित होने पर हमारी ज्ञान की किरणें स्वर्ण के समान चमक उठती हैं, हमारा ज्ञान बड़ा उज्ज्वल व निर्मल होता है। (२) यह सोम **सिन्धूनाम्**=(रायः समुद्राँश्चतुरः०) वेदरूप चारों ज्ञान समुद्रों का **पतिः भवन्**=स्वामी बनता है सोम के रक्षण से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम ज्ञान समुद्रों के पति बनते हैं। सोम (चन्द्रमा) से जैसे समुद्र में ज्वार आती है, इसी प्रकार सोम (वीर्य) से ज्ञान-समुद्र की तरंगे ऊँची उठती हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वसु प्राप्ति

एष वसूनि पिब्दना परुषा ययिवाँ अति। अव शादेषु गच्छति॥ ६॥

(१) **एषः**=यह सोम **परुषा**=अति कठोर (प्रबल) **पिब्दना**=पीड़ित करनेवाले राक्षसी भावों को **अति ययिवान्**=लाँघकर गति करता हुआ, **शादेषु**=(शद् शातने) शत्रुओं का शातन होने पर **वसूनि**=सब वसुओं को निवास के लिये आवश्यक पदार्थों को **अवगच्छति**=अन्दर प्राप्त कराता है (जानता है)। (२) सोमरक्षण से क्रूर आसुरी भाव विनष्ट होते हैं। उत्तम दिव्य भावों का विकास होता है। ये भाव ही जीवन को सुन्दर बनानेवाले वसु हैं। इनकी प्राप्ति होती तभी है जब कि हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट कर पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण अशुभ भावों को विनष्ट करता है। सब वसुओं को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-प्रेरणा क्रदण

एतं मृजन्ति मर्ज्यमुप द्रोणेष्वायवः। प्रचक्राणं महीरिषः॥ ७॥

(१) **एतम्**=इस **मर्ज्यम्**=शुद्ध रखने योग्य सोम को **आयवः**=गतिशील मनुष्य **द्रोणेषु**=इन शरीर रूप कलशों में (पात्रों में) **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। वस्तुतः सोम को शुद्ध रखने का प्रकार यही है कि हम गतिशील बने रहें। गतिशीलता हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाये रखती है। वासनाओं के अभाव में यह सोम शुद्ध बना रहता है। (२) यह शुद्ध सोम हमारे हृदय को और अधिक निर्मल बनानेवाला होता है और उस निर्मल हृदय में **महीः**=महत्त्वपूर्ण **इषः**=प्रेरणाओं को **प्रचक्राणम्**=करनेवाला होता है। सोम के द्वारा शुद्ध हुए-हुए हृदय में प्रभु की प्रेरणायें सुन पड़ती हैं।

भावार्थ—गतिशीलता द्वारा सोम का शोधन होता है। शुद्ध सोम हृदय को निर्मल करता हुआ हमें प्रभु प्रेरणाओं को सुनने योग्य बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

श क्षिपो मृजन्ति

एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सप्त धीतयः। स्वायुधं मदिन्तमम्॥ ८॥

(१) **एतम्**=इस **त्यम्**=प्रसिद्ध सोम को **उ**=निश्चय से **दश क्षिपः**=दस विषय-वासनाओं को अपने से परे फेंकनेवाली इन्द्रियाँ तथा **सप्त धीतयः**=सात ध्यान वृत्तियाँ 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' दो कानों, दो नासिका छिद्रों, दो आँखों व मुख से होनेवाली प्रभु की उपासनायें **मृजन्ति**=शुद्ध करती हैं। अर्थात् सोम को शुद्ध रखने के लिये आवश्यक है कि हम इन्द्रियों को विषय प्रवण न होने दें और कान-आँख आदि को प्रभु के ध्यान में लगाने का प्रयत्न करें। (२) यह सुरक्षित सोम '**स्वायुधं**'=उत्तम आयुध है। यह हमें रोगों से व वासनाओं से संग्राम में विजयी बनाता है। **मदिन्तमम्**=हमारे अतिशयित हर्ष का यह कारण बनता है। हमें उल्लास को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—'इन्द्रियों को विषय प्रवणता से रोकना व प्रभु ध्यान में लगाना' ही सोमरक्षण का साधन है। यह रक्षित सोम हमारा शत्रु-संहार के लिये उत्तम आयुध बनता है और हमारे हर्ष व उल्लास का कारण होता है।

अगले सूक्त में भी इसी विषय को कहते हैं—

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

मदाय घृष्वये

प्र ते सोतार ओण्यो३ रसं मदाय घृष्वये। सर्गो न तक्त्येतशः॥ १॥

(१) हे सोम! **ओण्योः**=द्यावापृथिवी में-मस्तिष्क व शरीर में **मदाय**=आनन्द (हर्ष) के लिये तथा **घृष्वये**=शत्रुओं के घर्षण के लिये मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश से आनन्द की प्राप्ति के लिये तथा शरीर में रोगकृमियों के विनाश के लिये **ते रसम्**=तेरे रस को (सार को) **प्रसोतारः**=प्रकर्षेण उत्पन्न करने के लिये होते हैं। सोम (वीर्य) का सार ही ओजस् है। इस ओजस्विता से मस्तिष्क में (splendour, light) प्रकाश होता है, तथा शरीर में (bodily strength) शक्ति उत्पन्न होती है। (२) **सर्गः**=(सृष्टः) उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **एतशः न**=अश्व की तरह **तक्ति**=गतिवाला होता है। इस सोम के द्वारा शरीर के सब इन्द्रियाश्व शक्तिशाली बनते हैं। शक्तिशाली बनकर ये शरीर-रथ का उत्तम संचालन करते हैं।

भावार्थ—शरीर में उत्पन्न हुआ-हुआ सोम उल्लास व शत्रु-विनाश के लिये होता है। इससे इन्द्रिय अश्व शक्ति-सम्पन्न बनकर शरीर-रथ को तीव्र गति से मार्ग पर ले चलते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

दक्षस्य क्रत्वा-अन्धसा

क्रत्वा दक्षस्य रथ्यमपो वसानमन्धसा। गोषामण्वेषु सश्चिम॥ २॥

(१) हम **अण्वेषु**=सूक्ष्म तत्त्वों के ज्ञान के निमित्त सोम का **सश्चिम**=अपने साथ संयुक्त करते हैं, अपने शरीर में ही समवेत करते हैं (pervade)। जो सोम **रथ्यम्**=शरीररूप रथ की स्थिरता के लिये सर्वोत्तम है। जो **अपः वसानम्**=कर्मों का धारण करनेवाला है, अर्थात् हमें खूब क्रियाशील बनानेवाला है। **गोषाम्**=जो ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाला है, इसके द्वारा ज्ञानाग्नि तीव्र होती है और हम इन ज्ञानवाणियों के अन्तर्निहित भावों को अच्छी प्रकार समझ पाते हैं। (२) इस सोम को हम **दक्षस्य क्रत्वा**=कुशल पुरुष के कर्मों से प्राप्त करते हैं, अर्थात् कुशलतापूर्वक कर्मों में लगे रहना सोमरक्षण का उत्तम साधन है। वस्तुत: 'कार्यों को कुशलता से करना' स्वयं एक ऐसा व्यसन बन जाता है जो हमें अन्य सब व्यसनों से बचाये रखता है। व्यसन ही तो सोमरक्षण के सब से महान् विघ्न हैं। **अन्धसा**=अन्न से 'अदेर्नुं धो च' इस औणादिक सूत्र से यह शब्द बना है, इसका सामान्य अर्थ वह अन्न ही जो शरीर-रक्षण के लिये खाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण के (९।१।२।४) 'अन्धसस्पते=सोमस्य पते' इन शब्दों से स्पष्ट है कि 'अन्धस्' शब्द सोम्य अन्नों के लिये ही प्रयुक्त होता है। अन्धसा=सोम्य भोजनों के द्वारा हम इस सोम का अपने में रक्षण करते हैं।

भावार्थ—कुशल पुरुष की तरह कर्मों में लगे रहकर और सोम्य भोजनों को अपनाकर सोम का रक्षण करते हुए हम शरीर-रथ को सुदृढ़ बनाते हैं, कर्मों में सदा व्यापृत रहते हैं, ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

अनप्तं-दुष्टरम्

अनप्तमप्सु दुष्टरं सोमं पवित्र आ सृज। पुनीहीन्द्राय पातवे॥ ३॥

(१) **अनप्तम्**=(शत्रुभिरनाप्तम् सा०) शत्रुओं से न प्राप्त करने योग्य, सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर रोगकृमि आदि शत्रु इस पर आक्रमण नहीं कर सकते। **अप्सु**=कर्मों में **दुष्टरम्**=(दुःखेन तरितुं योग्यं) विघ्नादि से जो अभिभवनीय नहीं। सोम का रक्षक पुरुष जब कर्म में प्रवृत्त होता है, तो कोई भी विघ्न उसे रोकनेवाला नहीं होता। ऐसे **सोमम्**=सोम को **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **आसृज**=समन्तात् सृष्ट करनेवाला हो। हृदय की पवित्रता के होने पर सोम का रक्षण होता है। यह रक्षित सोम रोगकृमिरूप शत्रुओं को शरीर गृह में नहीं आने देता और हमें सब कर्मों में निर्विघ्नता पूर्वक सफल बनाता है। (२) **पुनीहि**=इसे पवित्र करो। इसमें मलिन वासनाओं के उबाल को न पैदा होने दो। यह **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पातवे**=पीने के लिये हो। जितेन्द्रिय पुरुष इसे शरीर में सुरक्षित करनेवाला बने। रक्षित होकर यह उसका रक्षण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हृदय को पवित्र करके हम सोम का रक्षण करें। यह रोगकृमिरूप शत्रुओं से अभिभवनीय नहीं होता, यह विघ्नों से असफल नहीं बनाया जाता। जितेन्द्रिय पुरुष से रक्षित हुआ-हुआ यह उसका रक्षण करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान के द्वारा पवित्रता

प्र पुनानस्य चेतसा सोमः पवित्रे अर्षति। क्रत्वा सधस्थमासदत्॥ ४॥

(१) **चेतसा**=ज्ञान के द्वारा **पुनानस्य**=अपने जीवन को पवित्र करते हुए व्यक्ति का

सोमः=सोम (वीर्य) **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **प्र अर्षति**=प्रकर्षेण प्राप्त होनेवाला होता है। हृदय की पवित्रता के होने पर सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। (२) **क्रत्वा**=इस सोमरक्षण से प्राप्त शक्ति के द्वारा **सधस्थम्**=प्रभु के साथ एकत्र वास को **आसदत्**=प्राप्त होता है। सोमरक्षण से जीव अपने पवित्र हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखता है। यही प्रभु के साथ एक स्थान में स्थित होना है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'=यह आत्मा निर्बल से लभ्य नहीं है। सोम हमें बल प्राप्त कराता है और प्रभु के मेल का अधिकारी बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान में लगे रहने से हम विषयों से बचे रहते हैं, इस प्रकार हमारा जीवन पवित्र रहता है और हम प्रभु का दर्शन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

नमन के द्वारा सोमरक्षण

प्र त्वा नमोभिरिन्दव इन्द्र सोमा असृक्षत। महे भराय कारिणः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **नमोभिः**=प्रभु के प्रति नमन के द्वारा **इन्दवः**=शक्ति को देनेवाले **सोमाः**=ये सोमकण **त्वा**=तेरे लिये **प्र असृक्षत**=प्रकर्षेण सृष्ट होते हैं। प्रभु के प्रति नमन हमारे अन्दर सोमकणों का रक्षण करता है। (२) रक्षित हुए-हुए ये सोमकण **महे भराय**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भरण के लिये होते हैं। इनके द्वारा हमारा उत्तम पोषण होता है। **कारिणः**=ये उत्तम शरीर रूप कार=रथवाले होते हैं। ये सोमकण शरीर-रथ को सुन्दर बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु नमन के द्वारा सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम हमारा उत्तम भरण करता है, हमारे शरीर-रथ को सुन्दर बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सर्व श्री-सम्पन्नता

पुनानो रूपे अव्यये विश्वा अर्षन्नभि श्रियः। शूरो न गोषु तिष्ठति॥ ६॥

(१) **अव्यये रूपे**=उस अविकृत रूप प्रभु में अथवा अविनाशी प्रभु में **पुनानः**=अपने को पवित्र करता हुआ यह सोम **विश्वाः**=सब **श्रियः अभि**=श्रियो (=लक्ष्मियों) की ओर **अर्षन्**=गति करता हुआ **गोषु**=इन्द्रियरूप गौओं के विषय में **शूरः न**=एक वीर की तरह **तिष्ठति**=स्थित होता है। (२) जब एक व्यक्ति प्रभु की उपासना में स्थित होता है तो वह वासनाओं से अपने को बचाकर सोम को पवित्र बनाये रखता है। यह पवित्र सोम सब लक्ष्मियों को प्राप्त कराता है। इस सोम के द्वारा इन्द्रियाँ सशक्त बनी रहती हैं। इन्द्रियाँ मानो गौवें है, तो यह सोम इन गौवों का रक्षक गोप है। यह इन्द्रिय शक्तियों को विनष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से सोम पवित्र होता है। यह सब श्रियों को प्राप्त कराता है। इन्द्रियों की शक्ति का रक्षण करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान पर्वत के शिखर पर

दिवो न सानु पिप्युषी धारा सुतस्य वेधसः। वृथा पवित्रे अर्षति॥ ७॥

(१) **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **वेधसः**=शक्ति व ज्ञान के विधाता (=कर्ता) सोम की **धारा**=धारणशक्ति **दिवः सानु न**=ज्ञानपर्वत के मानो शिखर को ही **पिप्युषी**=आप्यायित करती है। सोम हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और हमें ज्ञान के शिखर पर ही मानो पहुँचा देता है। (२) यह सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **वृथा**=अनायास ही **अर्षति**=प्राप्त होता है। हृदय के पवित्र होने पर सोमरक्षण की कठिनता नहीं होती।

भावार्थ—उत्पन्न हुआ-हुआ सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हमें ज्ञान पर्वत के शिखर पर पहुँचा देता है। यह पवित्र हृदय में सुरक्षित रहता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सब वरणीय वस्तुओं की प्राप्ति

त्वं सोम विपश्चितं तना पुनान आयुषु। अव्यो वारं वि धावसि॥ ८॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **विपश्चितम्**=ज्ञानी पुरुष को **तना**=शक्तियों के विस्तार के द्वारा **पुनानः**=पवित्र करता है। (२) **अव्यः**=रक्षकों में उत्तम तू **आयुषु**=गतिशील मनुष्यों में (एति इति आयुः) **वारम्**=वरणीय वस्तुओं को **विधावसि**=विशेष रूप से प्राप्त कराता है। सोम के रक्षण के होने पर सब वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सोम हमें सशक्त व पवित्र बनाकर सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराता है।

अगले सूक्त का विषय भी सोमरक्षण ही है—

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

भूर्णयः सोमाः

प्र निम्नेनेव सिन्धवो घ्नन्तो वृत्राणि भूर्णयः। सोमा असृग्रमाशवः॥ १॥

(१) **इव**=जैसे **निम्नेन**=निम्न मार्ग से **सिन्धवः**=नदियाँ बहती हैं और तीव्र गति से बहती हैं, इसी प्रकार **आशवः**=तीव्र गतिवाले **सोमाः**=सोमकण **असृग्रम्**=(सृज्यन्ते) शरीर में सृष्ट होते हैं। इनकी उत्पत्ति से शरीर में स्फूर्ति आ जाती है, सारा शरीर शीघ्र गति सम्पन्न, क्रियाशील बन जाता है। (२) निम्न मार्ग से जाती हुई नदियाँ किनारों व बाधाओं को तोड़ती चलती हैं, इसी प्रकार ये सोम **वृत्राणि घ्नन्तः**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले होते हैं और **भूर्णयः**=हमारा पालन करते हैं (भृ भरणे)। हमारा पालन करते हुए क्षिप्रगतिवाले होते हैं (क्षिप्रगमनाः नि०)।

भावार्थ—सोम शरीर में शीघ्र गतिवाले होते हुए वासनाओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

इन्दवः सोमाः

अभि सुवानास इन्दवो वृष्टयः पृथिवीमिव। इन्द्रं सोमासो अक्षरन्॥ २॥

(१) **सुवानासः**=शरीर में उत्पन्न किये जाते हुए **सोमासः**=सोमकण **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। ये सोमकण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के **अभि**=ओर **अक्षरन्**=गतिवाले होते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **वृष्टयः**=वृष्टियें **पृथिवीम्**=पृथिवी की ओर गतिवाली होती हैं। (२) वृष्टि पृथिवी की ओर ही आती है, इसी प्रकार सोमकण जितेन्द्रिय पुरुष की ओर आते हैं। वृष्टियाँ पृथिवी में विविध अन्नों की उत्पत्ति का कारण होती हैं इसी प्रकार सोमकण शरीर में विविध शक्तियों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। ये 'इन्दु' हैं, शक्तिशाली हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रियता से सोमकणों का रक्षण होता है। रक्षित सोमकण शक्तियों को उत्पन्न करते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

मत्सर सोम

अत्यूर्मिर्मत्सुरो मदः सोमः पुवित्रे अर्षति। विघ्नन्रक्षांसि देवुयुः॥ ३॥

(१) **सोमः**=शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम (वीर्य) **अत्यूर्मिः**=(अतिशयितः ऊर्मिः येन) अतिशयित उत्साह की तरंगवाला होता है। सोमरक्षण से शरीर में उत्साह बना रहता है। **मत्सरः**=यह आनन्द का संचार करनेवाला है। **मदः**=उल्लासजनक है। (२) यह सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **अर्षति**=गतिवाला होता है। यह सब **रक्षांसि**=राक्षसों को, रोगकृमियों व राक्षसी भावों को **विघ्नन्**=नष्ट करता हुआ **देवयुः**=उस देव को हमारे साथ मिलानेवाला होता है। उस देव की प्राप्ति की कामनावाला होता है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर उत्साह आनन्द व उल्लास का कारण बनता है। यह पवित्र हृदय में प्राप्त होता है। हमारे रोगकृमियों व राक्षसी भावों को नष्ट करके हमें प्रभु से मिलाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

कलश-शोधन

आ कुलशेषु धावति पुवित्रे परि षिच्यते। उक्थैर्यज्ञेषु वर्धते॥ ४॥

(१) 'कलाः शेरते अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से १६ कलाओं के निवास का आधार बना हुआ यह शरीर कलश है। सोम (वीर्य) **कलशेषु**=इन शरीरों में **आधावति**=समन्तात् शोधन करनेवाला होता है (धाव् शुद्धौ)। यह सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **परिषिच्यते**=समन्तात् सिक्त होता है। हृदय में अपवित्र भावों के आने पर ही तो इसका विनाश होता है। (२) यह सोम **यज्ञेषु**=यज्ञों में, श्रेष्ठतम कर्मों में **उक्थैः**=प्रभु के स्तोत्रों के होने पर **वर्धते**=बढ़ता है। सोम का वर्धन या शरीर में स्थापन तभी हो पाता है जब कि हम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त रहें और प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

भावार्थ—यज्ञों व स्तोत्रों में लगे रहकर हम सोम को शरीर में सुरक्षित रखें। यह हमें शुद्ध बनायेगा।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य-प्रेरण

अति त्री सोम रोचना रोहन्न भ्राजसे दिवम्। इष्णन्त्सूर्यं न चोदयः॥ ५॥

(१) हे **सोम**=सोम! तू **त्री रोचना**=शरीर, हृदय व मस्तिष्क, पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक इन तीन दीप्त लोकों को **अतिरोहन्**=उन्नत करके ऊपर उठता हुआ **दिवं न**=प्रकाशमय सूर्य के समान **भ्राजसे**=चमकता है। सोम के रक्षण से शरीर नीरोगता व तेजस्विता से चमकता है, हृदय निर्मलता से दीप्त हो उठता है और मस्तिष्क ज्ञान ज्योति से चमक उठता है। यह सोम का रक्षण करनेवाला सूर्य के समान चमक उठता है। (२) **इष्णन्**=गति करता हुआ तू **सूर्यं न**=सूर्य की तरह वर्तमान शरीरस्थ प्राणशक्ति को **चोदयः**=प्रेरित करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम ज्ञान के सूर्य को उदित करता है और प्राणशक्ति का वर्धन करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

विप्राः-कारवः

अभि विप्रा अनूषत मूर्धन्यज्ञस्य कारवः। दधानाश्चक्षसि प्रियम्॥ ६॥

(१) **विप्रः**=अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले, **कारवः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले पुरुष **यज्ञस्य**=श्रेष्ठतम कर्म के **मूर्धन्**=शिखर में **अभि अनूषत**=प्रातः-सायं स्तवन करते हैं। यज्ञों को करना व प्रभु-स्तवन करना ही सोमरक्षण का साधन है। (२) **चक्षसि**=ज्ञान के होने पर **प्रियं दधानाः**=इस प्रीणित करनेवाले सोम को ये धारित करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के तीन साधन हैं—(क) यज्ञों में लगना, (ख) प्रभु-स्तवन, (ग) स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवर्धन।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

अवस्यवः नरः

तमु त्वा वाजिनं नरो धीभिर्विप्रा अवस्यवः। मृजन्ति देवतातये॥ ७॥

(१) हे सोम! **तम्**=उस **वाजिनम्**=शक्तिशाली **त्वा**=तुझे **उ**=निश्चय से **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले **नरः**=उन्नतिपथ पर बढ़नेवाले लोग **धीभिः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। सोम का शोधन सदा बुद्धिपूर्वक कर्मों में लगे रहने से होता है। ऐसा करने से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता। (२) वासनाओं के आक्रमण के न होने से यह सोम शुद्ध बना रहता है और **देवतातये**=दिव्य गुणों के विस्तार के लिये होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण बुद्धि पूर्वक कर्मों में लगे रहने से होता है। सोमरक्षण से दिव्य गुणों का विस्तार होता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

चारु सोम

मधोर्धारामनु क्षर तीव्रः सधस्थमासदः। चारुर्ऋताय पीतये॥ ८॥

(१) हे सोम! तू **मधोः**=मधु की **धाराम्**=धारा को **अनुक्षर**=हमारे में अनुकूलता से क्षरित करनेवाला हो। तेरे रक्षण से हमारा जीवन अतिशयेन मधुर बने। (२) **तीव्रः**=अत्यन्त तेजस्वी होता हुआ तू **सधस्थम्**=प्रभु के साथ सहस्थिति को **आसदः**=प्राप्त कर। प्रभु के साथ एक स्थान में

हमें स्थित करनेवाला कर। (३) **चारुः**=सुन्दर जो तू है वह **ऋताय**=ऋत के लिये हो। हमारे जीवन को ऋतवाला बना। **पीतये**=तू हमारे रक्षण के लिये हो। सोम के रक्षण से जीवन अनृत से रहित होकर बड़ा सुन्दर बनता है। इस ऋत के कारण शरीर सुरक्षित रहता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को मधुर व ऋतवाला बनाता है। यही जीवन का रक्षक होता है।

अगले सूक्त में इस सोम को 'मदेषु सर्वधा असि' इन शब्दों में स्मरण किया है—

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गिरिष्ठा सोम

परि सुवानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षाः। मदेषु सर्वधा असि॥ १॥

(१) **सोमः**=सोम (वीर्यशक्ति) **सुवानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ **गिरिष्ठाः**=वेदवाणी में स्थित होता है। अर्थात् स्वाध्याय के होने पर यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और इस प्रकार ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाला होता है। यह सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **परि अक्षाः**=परितः क्षरित होता है। हृदय के पवित्र होने पर यह सोम शरीर में ही व्याप्त होता है। (२) हे सोम! **मदेषु**=तेरे रक्षण से उत्पन्न उल्लासों के होने पर तू **सर्वधाः**=सब का धारण करनेवाला **असि**=होता है। इस सोम से शरीर नीरोग बनता है, इन्द्रियाँ सशक्त, मन निर्मल व बुद्धि तीव्र होती है। इस प्रकार यह सोम 'सर्वधा' है।

भावार्थ—स्वाध्याय में प्रवृत्त रहने पर सोम शरीर में ही व्याप्त हुआ रहता है। यह जीवन को हर्षमय बनाता हुआ सबका धारण करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'विप्र व कवि' सोम

त्वं विप्रस्त्वं कविर्मधु प्र जातमन्धसः। मदेषु सर्वधा असि॥ २॥

(१) हे सोम! **त्वम्**=तू **विप्रः**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाला है। सोम के रक्षण के होने पर शरीर में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती। रोगकृमियों के विनाश स्थूल शरीर ठीक रहता है तो वासनाओं के विनाश से मन में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। (२) हे सोम! त्वम्=तू **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ व ज्ञानी है। सोमरक्षण से बुद्धि तीव्र होती है, इस तीव्र बुद्धि से हमारा ज्ञान बढ़ता है। (३) **अन्धसः**=इस सोम से **मधु प्रजातम्**=जीवन में माधुर्य का विकास होता है। सोम रक्षक के जीवन में 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध व चिड़चिड़ापन' आदि नहीं रहते। वस्तुतः हे सोम! तू **मदेषु**=उल्लासों के होने पर **सर्वधाः**=सबका धारण करनेवाला **असि**=है।

भावार्थ—सोम (क) हमारी न्यूनताओं को दूर करता है, (ख) यह हमें ज्ञानी बनाता है, (ग) जीवन को मधुर करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवों से पेय सोम

तव विश्वे सजोषसो देवासः पीतिमाशत। मदेषु सर्वधा असि॥ ३॥

(१) हे सोम! **विश्वे**=सब **सजोषसः**=प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों का सेवन करनेवाले (जुषी प्रीति सेवनयोः) **देवासः**=देववृत्ति के लोग **तव**=तेरे **पीतिम्**=पान को **आशत**=(प्राप्नुवन्) प्राप्त करते हैं। सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि—(क) हम देववृत्ति के बनें और (ख) अपने कर्त्तव्य कर्मों में लगे रहें। (२) सुरक्षित होने पर हे सोम! तू **मदेषु**=उल्लासों के होने पर **सर्वधाः**=शरीर, मन, बुद्धि सबका धारण करनेवाला **असि**=है।

भावार्थ—देववृत्ति के कर्त्तव्यपरायण लोग ही सोम का रक्षण कर पाते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'वसुप्रापक' सोम

आ यो विश्वा॑नि॒ वार्या॒ वसू॑नि॒ हस्त॑यो॒र्द॒धे। मदे॑षु स॒र्व॒धा अ॑सि॥ ४॥

(१) हे सोम! तू वह है **यः**=जो **विश्वानि**=सब **वार्या**=वरणीय, चाहने योग्य **वसूनि**=वसुओं को निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को **हस्तयोः**=हाथों में **आ दधे**=धारण करता है। इस सोम के धारण से हमें सब वसुओं की प्राप्ति होती है। (२) हे सोम! तू **मदेषु**=उल्लासों के होने पर **सर्वधाः असि**=सबका धारण करनेवाला है। 'शरीर, मन, मस्तिष्क' सभी को तू उत्तम बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

माता-पिता का पूरक पुत्र

य इ॒मे रोद॑सी म॒ही सं मा॒तरे॑व॒ दोह॑ते। मदे॑षु स॒र्व॒धा अ॑सि॥ ५॥

(१) सोम वह है **यः**=जो **इमे**=इन **मही रोदसी**=महत्त्वपूर्ण द्यावापृथिवी को **मातरा इव**=माता-पिता के समान **संदोहते**=सम्यक् प्रपूरित करता है। जैसे एक पुत्र माता-पिता की पूर्ति करनेवाला होता है (अथ यदैव जायां विन्दते उत प्रजायते, तर्हि हि सर्वो भवति श० ५।२।१।१०) पति जाया को प्राप्त करके, सन्तान को जन्म देने पर, पूर्ण होता है। एवं सन्तान माता-पिता को मानो पूर्णता प्राप्त कराता है, इसी प्रकार यह सोम मस्तिष्क व शरीर रूप (द्यावापृथिवी) पिता-माता को पूर्णता प्राप्त करानेवाला होता है। (२) सुरक्षित होने पर **मदेषु**=उल्लासों की वर्तमानता में, हे सोम! तू **सर्वधाः असि**='शरीर, मन व बुद्धि' सभी का धारण करनेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर की न्यूनताओं को दूर करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति-सम्पन्न मस्तिष्क व शरीर

परि॒ यो रोद॑सी उ॒भे स॒द्यो वाजे॑भि॒रर्ष॑ति। मदे॑षु स॒र्व॒धा अ॑सि॥ ६॥

(१) यह सोम वह है **यः**=जो **सद्यः**=शीघ्र ही **उभे रोदसी**=इन दोनों द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **परि अर्षति**=समन्तात् प्राप्त होता है। सोम के द्वारा मस्तिष्क भी शक्ति-सम्पन्न बनता है, शरीर भी। शक्ति-सम्पन्न मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त हो उठता है और शक्ति-सम्पन्न शरीर तेजस्विता से चमक आता है। (२) हे सोम! तू **मदेषु**=उल्लासों के होने पर **सर्वधाः असि**=सबका धारण करनेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर दोनों को शक्ति-सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'शुष्मी' सोम

स शुष्मी कलशेष्वा पुनानो अचिक्रदत्। मदेषु सर्वधा असि॥ ७॥

(१) **सः**=वह सोम **शुष्मी**=शत्रुशोषक बलवाला है। **कलशेषु**=सोलह कलाओं के निवास-स्थानभूत इन शरीरों में **आपुनानः**=समन्तात् पवित्रता को करता हुआ यह सोम **अचिक्रदत्**=प्रभु का आह्वान करता है। अर्थात् सोमरक्षक पुरुष प्रभु के आह्वान की वृत्तिवाला बनता है। एवं सोम हमें (क) शत्रु-शोषक बल प्राप्त कराता है, (ख) हमारे जीवनों को पवित्र करता है, (ग) और हमें प्रभु-प्रवण बनाता है। (२) हे सोम! तू **मदेषु**=उल्लासों के होने पर **सर्वधाः असि**=सबका धारण करनेवाला है। तू शत्रु-शोषक बल को प्राप्त कराके शरीरों को नीरोग बनाता है। पवित्रता के द्वारा मनों को निर्मल करता है। प्रभु सम्पर्क में लाकर हमें ज्ञान-ज्योति से दीप्त कर देता है।

भावार्थ—सोम हमें शत्रु-शोषक शक्ति देता है। हमारे मनों को पवित्र करता है। हमें प्रभु सम्पर्क में लाकर ज्ञानदीप्त बनाता है।

सूचना—'मदेषु सर्वधा असि' इस वाक्य को सात बार दुहराने का भाव यह प्रतीत होता है कि यह सोम शरीर में सातों धातुओं का ठीक से धारण करता हुआ सातों ऋषियों को (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) शक्ति सम्पन्न करता है।

इसी सोम का वर्णन अगले सूक्त में देखिये—

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दिव्य व पार्थिव वसु

यत्सोम चित्रमुक्थ्यं दिव्यं पार्थिवं वसु। तन्नः पुनान आ भर॥ १॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **यत्**=जो **चित्रम्**=अद्भुत अथवा 'चित् र' ज्ञान को देनेवाला (=बढ़ानेवाला) **दिव्यम्**=मस्तिष्क रूप द्युलोक के साथ सम्बद्ध **वसु**=ज्ञान धन है, और जो **उक्थ्यम्**=रक्षा में विनियुक्त होने के कारण स्तुति के योग्य **पार्थिवं वसु**=शरीर रूप पृथिवी के साथ सम्बद्ध शक्ति रूप धन है, **तत्**=उस धन को **नः**=हमारे लिये **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **आभर**=सर्वथा प्राप्त करा। (२) सोम से हमें दिव्य व पार्थिव दोनों धनों की प्राप्ति हो। इन दोनों धनों की प्राप्ति के लिये हृदय की पवित्रता रूप तीसरा धन है। वह भी इस सोम ने ही प्राप्त कराना है।

भावार्थ—सोम हमें मस्तिष्क में दिव्य धन (ज्ञान) प्राप्त कराये, शरीर में पार्थिव धन (शक्ति) को दे। तथा हृदयान्तरिक्ष में पवित्रता को करनेवाला हो (पुनानः)।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

स्वःपति-गोपति

युवं हि स्थः स्वर्पती इन्द्रश्च सोम गोपती। ईशाना पिप्यतं धियः॥ २॥

(१) 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष है। यह 'सोम' का रक्षण करता है। प्रभु कहते हैं कि हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **च**=और **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **युवम्**=तुम दोनों **हि**=निश्चय से **स्वःपती**=स्वर्ग के व प्रकाश के स्वामी **स्थः**=होते हो तथा **गोपती**=ज्ञान की वाणियों के स्वामी बनते हो या इन्द्रियों के स्वामी होते हो। (२) इस प्रकार प्रकाश व ज्ञान की वाणियों के व इन्द्रियों के (गावः इन्द्रियाणि) **ईशाना**=स्वामी होते हुए आप **धियः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों का **पिप्यतम्**=आप्यायन करनेवाले बनो। इन कर्मों से ही वस्तुतः प्रभु का उपासन होता है।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष सोम का रक्षण करता हुआ प्रकाश व ज्ञान का स्वामी बनकर उत्तम कर्मों का आप्यायन (वर्धन) करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

पुनानः हरिः

वृषा॑ पुना॒न आ॒युषु॑ स्त॒नय॒न्नधि॑ ब॒र्हिषि॑। हरि॑ः स॒न्योनि॒मास॑दत्॥ ३॥

(१) यह सोम (वीर्य) **वृषा**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाला है व हमें शक्तिशाली बनानेवाला है। **आयुषु**=गतिशील पुरुषों में **पुनानः**=यह पवित्रता का संचार करनेवाला है। यह **अधि बर्हिषि**=पवित्र हृदय में, वासनाशून्य हृदय में यह **स्तनयन्**=प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है। सोम के रक्षित होने पर हृदय पूर्ण पवित्र बनता है। उस पवित्र हृदय में यह सोमरक्षक प्रभु के नामों का स्मरण करता है। (२) **हरिः सन्**=सब दुःखों का हरण करनेवाला होता हुआ यह **योनिं आसदत्**=सम्पूर्ण संसार के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में आसीन होता है। सोमरक्षक व्यक्ति अन्ततः प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—रक्षित सोम (क) हमें शक्तिशाली बनाता है, (ख) पवित्र करता है, (ग) सब दुःखों का हरण करता है, (घ) प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सूनोः वत्सस्य मातरः

अवा॑वशन्त धी॒तयो॑ वृष॒भस्याधि॒ रेत॑सि। सू॒नोर्व॒त्सस्य॑ मा॒तर॑ः॥ ४॥

(१) **धीतयः**=सोम का पान करनेवाले लोग (धेट् पाने) **वृषभस्य**=उस शक्तिशाली-सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु के **अधिरेतसि**=इस रेतस् के विषय में **अवावशन्त**=कामना करते हैं। प्रभु से उत्पन्न किये गये इस सोम को अपने अन्दर ही पीने की इच्छा करती हैं, इसे अपने अन्दर सुरक्षित रखते हैं। (२) ये व्यक्ति **सूनोः**=हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले (षू प्रेरणे) **वत्सस्य**=वेद-वाणियों का उच्चारण करनेवाले उस प्रभु के **मातरः**=ज्ञान प्राप्त करनेवाले होते हैं (प्र०मा=to know)। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को ये सुनते हैं और उससे उच्चरित ज्ञान-वाणियों के द्वारा प्रभु को जाननेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उत्पन्न किये गये सोम को अपने अन्दर पीनेवाले व्यक्ति प्रभु प्रेरणा को सुन पाते हैं, उससे उच्चारित ज्ञान वाणियों को सुनते हुए प्रभु का ज्ञान प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु से मेल

कुविद् वृषण्यन्तीभ्यः पुनानो गर्भमादधत्। याः शुक्रं दुहते पयः॥ ५॥

(१) **वृषण्यन्तीभ्यः**=(वृषणं सोममात्मन इच्छन्तीभ्यः) शक्ति को देनेवाले सोम की कामना करती हुई प्रजाओं के लिये **पुनानः**=पवित्रता को करता हुआ यह सोम **कुवित्**=खूब **गर्भम्**=प्रभु के साथ मेल को **आदधत्**=धारण करता है। जब हम सोम का रक्षण करते हैं, यह रक्षित सोम हमें निर्मल जीवनवाला बनाता है, अन्ततः प्रभु से हमारा मेल कराता है। (२) उन प्रजाओं का यह प्रभु से मेल कराता है, **याः**=जो इस सोम से **शुक्रं पयः**=दीप्त आप्यायन शक्ति को **दुहते**=दोहते हैं। सोमरक्षण के द्वारा शरीर के सब अंग-प्रत्यंग आप्यायित हो उठते हैं। सब अंग-प्रत्यंगों के आप्यायित होने पर हम पूर्ण स्वास्थ्य का अनुभव करते हैं, और अपने जीवन को पवित्र बनाकर प्रभु से मेलवाले होते हैं।

भावार्थ—सोम हमारे शरीरों को आप्यायित करके हमारे जीवन को पवित्र करता है तथा प्रभु से हमारा मेल कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

शत्रुओं में भय सञ्चार

उप शिक्षा पतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रुषु। पवमान विदा रयिम्॥ ६॥

(१) हे सोम! **अपतस्थुषः**=वासनाओं से दूर स्थित होनेवाले हम लोगों को **उपशिक्ष**=उस प्रभु के समीप करनेवाला हो, हमें प्रभु को प्राप्त करा। हमारे **शत्रुषु**=शातन (=विनाश) करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं में **भियसम्**=भय को **आधेहि**=स्थापित कर। अर्थात् इस सोम के रक्षण से काम-क्रोध आदि शत्रु विनष्ट हो जायें। (२) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! तू सुरक्षित होने पर **रयिं विदा**=हमें ज्ञान रूप ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला हो। वस्तुतः सोमरक्षण से बुद्धि तीव्र होती है और हम ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोम हमें प्रभु का सान्निध्य प्राप्त कराता है, काम-क्रोधादि को विनष्ट करता है, ज्ञानैश्वर्य का वर्धन करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

नीरोग व निर्मल

नि शत्रोः सोम वृष्ण्यं नि शुष्मं नि वयस्तिर। दूरे वा सतो अन्ति वा॥ ७॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **शत्रोः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं के **वृष्ण्यम्**=बल को **नितिर**=नष्ट कर। सोमरक्षण के द्वारा हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को निर्बल करके इन्हें विनष्ट कर सकें। (२) (शत्रोः) शरीर को विनष्ट करनेवाले रोगकृमिरूप शत्रुओं के **शुष्मम्**=शोषक बल को **नितिर**=नष्ट कर। रोगकृमियों के विनाश से हम स्वस्थ बनें। **दूरे वा सतः**=दूर होनेवाले, इन रोगकृमि रूप शत्रुओं की **वा**=तथा **अन्ति**=(सतः) समीप होनेवाले 'मनसिज' काम आदि शत्रुओं की **वयः**=उमर को नितिर=नष्ट कर। अथवा वयः=(वय् गतौ) गति को विनष्ट कर।

रोगकृमि बाहर से हमारे पर आक्रमण करते हैं, काम-क्रोध आदि अन्दर से। इसलिए इन्हें यहाँ 'दूरे वा सतः' तथा 'अन्ति वा सतः' इन शब्दों से स्मरण किया है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम आन्तरिक काम-क्रोध आदि शत्रुओं को तथा बाह्य रोगकृमि रूप शत्रुओं की गति को विनष्ट करके अपने जीवन को नीरोग व निर्मल बना पायें।

इसी सोमरक्षण के लाभ को अगले सूक्त में देखिये—

[२०] षडशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

अव्यः कविः

प्र क॒विर्दे॒ववी॑तये॒ऽव्यो॒ वारे॑भिरर्षति। सा॒ह्वान्विश्वा॑ अ॒भि स्पृधः॑॥ १॥

(१) यह सोम '**कविः**'=कवि है, क्रान्तप्रज्ञ है, हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाला है। यह **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये होता है। सोम हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर, हमारे ज्ञान को बढ़ाता है तथा ज्ञानवृद्धि के द्वारा दिव्य गुणों का वर्धन करता है। (२) **अव्यः**=रक्षकों में उत्तम यह सोम **वारेभिः**=सब रोगों के निवारण के साथ **प्र अर्षति**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। यह **विश्वाः**=सब **स्पृधः**=शत्रुओं को **अभि साह्वान्**=अभिभूत करनेवाला व कुचलनेवाला होता है।

भावार्थ—रक्षित हुआ-हुआ सोम हमें क्रान्तिप्रज्ञ बनाता है, सो 'कवि' है। यह रोगों से हमें बचाता है तो 'अव्य' है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

गोमान् वाज

स हि ष्मा॑ जरि॒तृभ्य॒ आ वाजं॒ गोम॑न्त॒मिन्व॑ति। पव॑मानः सह॒स्रिण॑म्॥ २॥

(१) **सः**=वह **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला सोम **हि ष्मा**=निश्चय से **जरितृभ्यः**=उपासकों के लिये **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **सहस्रिणम्**=प्रसन्नता से परिपूर्ण **वाजम्**=बल को **आ इन्वति**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त करता है। (२) सोम का रक्षण होने पर यह हमें पवित्र बनाता है (पवमानः), हमारी वृत्ति को उपासनामय करता है (जरितृभ्यः) इन्द्रियों को प्रशस्त करता है (गोमान्) हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है (सहस्रिणं) हमारे में शक्ति का सञ्चार करता है (वाजम्)।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। यह रक्षित सोम हमें प्रशस्त इन्द्रियों से युक्त आनन्दमय शक्ति को प्राप्त कराये।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

तत्त्वचिन्तन

परि॒ विश्वा॑नि॒ चेत॑सा मृ॒शसे॒ पव॑से म॒ती। स नः॑ सोम॒ श्रवो॑ विदः॥ ३॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **सः**=वह तू **नः**=हमारे लिये **श्रवः**=ज्ञान को **विदः**=प्राप्त करा। तू

चेतसा=उत्तम चित्त के द्वारा **विश्वानि**=सब तत्त्वों को **परिमृशते**=चिन्तन करनेवाला होता है। सोम के रक्षण पर हृदय निर्मल बनता है, बुद्धि की पवित्रता के कारण हम तत्त्वों का चिन्तन करनेवाले बनते हैं। बुद्धि की सूक्ष्मता का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हम तत्त्वद्रष्टा बन पाते हैं। (२) हे सोम! तू **मती**=बुद्धि के द्वारा **पवसे**=हमारे जीवन को पवित्र करता है। बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान हमारी वासनारूप मलिनताओं को विनष्ट करता है।

भावार्थ—रक्षित सोम हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है। तत्त्वदर्शन कराता हुआ यह सोम हमें पवित्र बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

यश-रयि-इष्

अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यो ध्रुवं रयिम्। इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ४॥

(१) हे सोम! तू हमारे जीवनों को पवित्र करके **बृहद् यशः**=उत्कृष्ट यश को **अभ्यर्ष** (अभिगमय)=प्राप्त करा। (२) **मघवद्भ्यः**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुषों के लिये **ध्रुवं रयिम्**=स्थिर ऐश्वर्य को प्राप्त करा। सोमरक्षण से हम यज्ञों की वृत्तिवाले बनें। यज्ञशीलता से 'ध्रुव रयि' को प्राप्त करनेवाले हों। (३) हम **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **इष**=प्रेरणा को **आभर**=सर्वथा प्राप्त करा। हम पवित्र हृदयों में प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें।

भावार्थ—सोमरक्षण से जीवन यशस्वी-स्थिर ऐश्वर्यवाला व प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बनता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'सुव्रत' सोम

त्वं राजेव सुव्रतो गिरः सोमा विवेशिथ। पुनानो वह्ने अद्भुत॥ ५॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **पुनानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **राजा इव**=राजा की तरह **सुव्रतः**=उत्तम व्रतों व कर्मोंवाला होता है। अपनी इन्द्रियों पर शासन करनेवाला व्यक्ति 'राजा' है। सोमरक्षण के होने पर हमारे सब कर्म शोभन होते हैं। उसी प्रकार शोभन होते हैं, जैसे कि एक राजा के जितेन्द्रिय पुरुष के कर्म शोभन होते हैं, (२) हे **वह्ने**=हमारे लिये सब उत्तमताओं को प्राप्त करानेवाले **अद्भुत**=अनुपम शक्तिवाले सोम! तू **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **आविवेशिथ**=हमारे में प्रविष्ट करा। अर्थात् हमारी बुद्धियों को तीव्र बनाकर हमें ज्ञान को प्राप्त करा।

भावार्थ—सोमरक्षण के परिणामस्वरूप हमारे कर्म पवित्र हों, हमें ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त हों।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'दुष्टर' सोम

स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्त्योः। सोमश्चमूषु सीदति॥ ६॥

(१) **सः**=वह सोम **वह्निः**=हमारे लिये ज्ञान व शक्ति आदि को प्राप्त करानेवाला है। **अप्सु**=

कर्मों में **दुष्टरः**=विघ्नों से आसानी से पराभूत होनेवाला नहीं। अर्थात् सोमरक्षक पुरुष कर्मों को करता हुआ विघ्नों से पराजित नहीं हो जाता। **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता हुआ यह **गभस्त्योः**= बाहुओं में होता है। अर्थात् भुजाओं को यह शक्तिशाली बनाता है। (२) यह **सोमः**=सोम **चमूषु**=शरीररूप पात्रों में **सीदति**=आसीन होता है। वस्तुतः इस सोम (वीर्य) का आधारभूत पात्र यह शरीर ही है। शरीर में सुरक्षित होने पर यह उसे 'सत्य, यश व श्री' से सम्पन्न करता है।

भावार्थ—रक्षित सोम हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराता है। कर्मों में विघ्नों से पराभूत नहीं होने देता।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'क्रीडु' सोम

क्रीळुर्मखो न मंहयुः पवित्रं सोम गच्छसि। दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम्॥ ७॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **क्रीडुः**=क्रीडनशील है, अर्थात् सोमरक्षण करनेवाला पुरुष क्रीडक की मनोवृत्तिवाला होता है। यह हर्ष-शोक से बहुत आन्दोलित नहीं होता। **मखः न**=यह जैसा यज्ञशील है, उसी प्रकार **मंहयुः**=दान की वृत्तिवाला है। सोमरक्षक पुरुष सदा यज्ञों में प्रवृत्त रहता है तथा लोभ से ऊपर उठा होने के कारण दानशील होता है। (२) हे सोम! तू **पवित्रम्**=पवित्र हृदय को **गच्छसि**=प्राप्त होता है तथा **स्तोत्रे**=प्रभु के उपासक के लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **दधत्**=धारण करनेवाला होता है। उसे तू नीरोग बनाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन के द्वारा हृदय को पवित्र करने से सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम हमें क्रीडक की मनोवृत्तिवाला, यज्ञशील व दान देनेवाला बनाता है। इससे हमारे में बल का आधान होता है।

अगला सूक्त भी सोम की ही महिमा का प्रतिपादन कर रहा है—

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

मत्सरासः स्वर्विदः

एते धावन्तीन्दवः सोमा इन्द्राय घृष्वयः। मत्सरासः स्वर्विदः॥ १॥

(१) **एते**=ये **इन्दवः**=शक्ति को देनेवाले **सोमाः**=सोमकण **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **धावन्ति**=प्राप्त होते हैं (धाव् गतौ)। उसे प्राप्त होकर ये उसके शत्रुओं को **घृष्वयः**=नष्ट करनेवाले होते हैं, घिस देते हैं। (२) ये सोमकण शरीर में सुरक्षित होकर **मत्सरासः**=आनन्द का संचार करनेवाले हैं और **स्वर्विदः**=प्रकाश को व सुख को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रियता सोमरक्षण का साधन है। रक्षित सोम 'शक्ति को देनेवाला, आधि-व्याधि रूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला, आनन्द का संचार करनेवाला व प्रकाश को प्राप्त करानेवाला' है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'वयस्कृत्' सोम

प्रवृण्वन्तो अभियुजः सुष्वये वरिवोविदः। स्वयं स्तोत्रे वयस्कृतः॥ २॥

(१) ये सोम **प्रवृण्वन्तः**=(सुवानं संभजन्तः) उत्पन्न करनेवाले का सम्भजन करनेवाले हैं। जो भी अपने अन्दर इन सोमकणों का सम्पादन करता है, ये सोमकण उसे नीरोग व पवित्र बनाते हुए उसकी सेवा करते हैं। **अभियुजः**=ये सुरक्षित सोमकण उसके शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं, उसके अन्दर आ जानेवाले रोगकृमियों को विनष्ट करते हैं और काम-क्रोध आदि को भी उससे दूर करते हैं। (२) **सुष्वये**=उत्तम सवन करनेवाले के लिये **वरिवोविदः**=ये धन को प्राप्त कराते हैं। इनके रक्षण से शरीर के लिये आवश्यक सब वसुओं की प्राप्ति होती है। ये सोम **स्तोत्रे**=प्रभु के स्तवन करनेवाले के लिये **स्वयम्**=अपने आप **वयस्कृतः**=उत्कृष्ट जीवन को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—रक्षित सोम हमारे रोगकृमि रूप शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं। उत्तम धनों को प्राप्त कराते हैं। उत्कृष्ट जीवन को करनेवाले हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सधस्थ की ओर

वृथा क्रीळ॑न्त इन्द॑वः स॒धस्थ॑म॒भ्येक॒मित्। सिन्धो॑रू॒र्मा व्य॑क्षरन्॥ ३॥

(१) **वृथा**=अनायास ही सहजस्वभाव से **क्रीडन्तः**=मेरे अन्दर क्रीडा करते हुए मुझे क्रीडक की मनोवृत्तिवाला बनाते हुए **इन्दवः**=सोमकण उस **एकम्**=अद्वितीय **सधस्थम्**=सब के मिलकर ठहरने के स्थान 'प्रभु' की **अभि**=ओर **इत्**=ही **वि अक्षरन्**=गतिवाले होते हैं। प्रभु 'सधस्थ' हैं, सारे प्राणी उस प्रभु में ही स्थित होते हैं, वे प्रभु ही सब प्राणिरूप पक्षियों के एक नीड (घोंसला) हैं। सोम के रक्षण से हम इन प्रभु को पानेवाले बनते हैं। (२) ये सोम **सिन्धोः ऊर्मा**=ज्ञान समुद्र की तरंगों पर हमें ले जानेवाले होते हैं। 'रायः समुद्राश्चतुरः'=इन शब्दों में चार वेद चार ज्ञान धन के समुद्र ही हैं। इन की तरंगों पर तैरनेवाला वह व्यक्ति होता है जो कि अपने शरीर में उत्पन्न सोम का अपने में रक्षण करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें (क) प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर ले चलता है, (ख) इससे हम ज्ञान समुद्र की तरंगों में तैरनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सब वरणीय वस्तुओं की प्राप्ति

ए॒ते विश्वा॑नि॒ वार्या॒ पव॑मानास आशत। हि॒ता न सप्त॑यो॒ रथे॑॥ ४॥

(१) **एते**=ये **पवमानासः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम **विश्वानि**=सब **वार्या**=वरणीय वस्तुओं को **आशत**=व्याप्त करनेवाले होते हैं। सोमरक्षण से सब वरणीय वस्तुएँ हमें प्राप्त होती हैं। (२) ये सोम **रथे**=इस शरीर-रथ में **हिताः**=स्थापित, जुते हुए **सप्तयः न**=घोड़ों के समान हैं। जिस प्रकार घोड़े हमें उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार ये सोम हमें जीवनयात्रा में इस शरीर रथ के द्वारा उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले हैं, ये हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं तथा इस शरीर-रथ के द्वारा लक्ष्य स्थान (=ब्रह्म) तक पहुँचाते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'पिशंग-वेन-अरावा' प्रभु

आस्मिन्पिशङ्गमिन्दवो दधाता वेनमादिशे। यो अस्मभ्यमरावा॥ ५॥

(१) **इन्दवः**=सोमकणो! **अस्मिन्**=इस सोम के रक्षक पुरुष में **पिशंगम्**=(पिशं गच्छति) शत्रुपेषण रूप कार्य के प्रति जानेवाले उस प्रभु को **आदधात**=स्थापित करो। सोमरक्षण से प्रभु का दर्शन होता है, वे हमारे हृदयों में स्थित प्रभु काम आदि वासनाओं को विनष्ट करते हैं। (२) उस प्रभु को हमारे हृदयों में स्थापित करो जो कि **वेनम्**=सदा हमारे हित की कामनावाले हैं। इन प्रभु को **आदिशे**=हमारे हृदयों में इसलिए स्थापित करो कि इनसे हमें सदा हमारे कर्त्तव्यों का आदेश प्राप्त होता रहे। (३) उन प्रभु को हमारे हृदयों में स्थापित करो **यः**=जो कि **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **अरावा**=(न रावयति) न रुलानेवाले हैं। हमें पापों से बचाकर शुभ कर्मों में वे प्रभु प्रेरित करते हैं और इस प्रकार हमें दुर्गति से बचाकर न रुलानेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें उन प्रभु को प्राप्ति होती है जो (क) हमारे शत्रुओं को पीस डालते हैं, (ख) हमारे हित की कामना करते हुए हमें कर्त्तव्य का उपदेश देते हैं, (ग) हमें पाप व दुर्गति से बचाकर न रुलानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'रथ्य-नव-केत' प्रभु

ऋभुर्न रथ्यं नवं दधाता केतमादिशे। शुक्राः पवध्वमर्णसा॥ ६॥

(१) **ऋभुः न**='उरु भाति' ज्ञान से दीप्त समझदार पुरुष की तरह **रथ्यम्**=हमारे शरीर रथ के उत्तम सारथि **नवम्**=(नु स्तुतौ) स्तुत्य-उपासना के योग्य **केतम्**=प्रज्ञानस्वरूप प्रभु को **आदिशे**=कर्त्तव्य कर्मों का आदेश प्राप्त कराने के लिये, हे सोमकणो! उस प्रभु को मेरे **दधात**=अन्दर स्थापित करो। सोमकणों के रक्षण से मेरे हृदय में प्रभु की स्थिति हो। उस प्रभु से मुझे कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश मिलता रहे। (२) **शुक्राः**=हे सोमकणो! मेरे जीवन को (शुच्) दीप्त व पवित्र करनेवाले वीर्यकणो! तुम **अर्णसा**=ज्ञानजल के द्वारा **पवध्वम्**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले होवो।

भावार्थ—सोमरक्षण से प्रभु मेरे शरीर-रथ के सारथि बनेंगे। तब भटकने का प्रश्न ही न रहेगा। इन सोमकणों के रक्षण से हमारा ज्ञान भी उत्तरोत्तर बढ़ेगा।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

काष्ठा प्राप्ति

एत उ त्ये अवीवशन्काष्ठां वाजिनो अक्रत। सतः प्रासाविषुर्मतिम्॥ ७॥

(१) **एते**=वे **उ**=निश्चय से **त्ये**=वे सोमकण **अवीवशन्**=सदा हमारे हित की कामना करते हैं। हमारे रोगकृमि रूप शरीर शत्रुओं को तथा वासनारूप मानस शत्रुओं को विनष्ट करके ये हमारा हित करते हैं। (२) ये **वाजिनः**=शक्ति को देनेवाले सोमकण **काष्ठां अक्रत**=जीवन के लक्ष्य-स्थान को करनेवाले होते हैं। अर्थात् ये मनुष्य को लक्ष्य-स्थानभूत प्रभु तक पहुँचानेवाले होते हैं

'सा काष्ठा सा परागतिः'। (२) इसी उद्देश्य से ये सोम **सतः**=एक सत्पुरुष की **मतिम्**=बुद्धि को **प्रासाविषुः**=उत्पन्न करते हैं। एक सज्जन पुरुष की बुद्धि इन रक्षित सोमकणों से दीप्त हो उठती है, सूक्ष्म विषयों का वह ग्रहण करनेवाली बनती है।

भावार्थ—रक्षित सोमकण (क) हमारा हित करते हैं, (ख) हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं, (ग) हमारे में सद्बुद्धि का विकास करते हैं।

सूक्त का भाव एक वाक्य में यही है कि सोमरक्षण से हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। अगले सूक्त में भी सोम की महिमा का ही वर्णन है—

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रवाजिनः रथाः

एते सोमा॑स आ॒शवो॒ रथा॑इव॒ प्र वा॒जिनः॑। सर्गाः॑ सृ॒ष्टा अ॑हेषत॥ १॥

(१) **एते**=ये **सोमासः**=सोमकण **आशवः**=शरीर में व्याप्त होनेवाले हैं (अशू व्याप्तौ) तथा **प्रवाजिनः**=प्रकृष्ट घोड़ों से युक्त **रथाः इव**=रथों के समान हैं। जैसे ये रथ अवश्य हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं, इसी प्रकार सुरक्षित सोम हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले है। सोम के रक्षण से शरीर-रथ उत्तम बनता है और उसमें उत्तम इन्द्रियाश्व जुते होते हैं। सोम की शक्ति ही इन सब इन्द्रियाश्वों को शक्तिशाली बनाती है। (२) शरीर में ये सोम **सृष्टाः**=उत्पन्न हुए-हुए **सर्गाः**=अश्वों के समान हैं (सर्ग=A horse) ये जीवनयात्रा की पूर्ति का साधन बनते हैं और **अहेषत**=स्तुति के शब्दों का उच्चारण करते हैं। जैसे घोड़े हिनहिनाते हैं, इसी प्रकार सोम की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न इन्द्रियाश्व प्रभु के गुणों का गान करते हैं।

भावार्थ—सोम इन्द्रियाश्वों को शक्तिशाली बनाता है, तथा वे प्रभु का गुणगान करते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'वायु पर्जन्य व अग्नि' के समान

एते वाता॑इवो॒रवः॑ प॒र्जन्य॑स्येव वृ॒ष्टयः॑। अ॒ग्नेरि॑व भ्र॒मा वृथा॑॥ २॥

(१) **एते**=ये सोम **उरवः वाताः इव**=विशाल वायुवों के समान हैं। तीव्र गतिवाली वायुओं के समान ये सोम हमें शक्ति-सम्पन्न बनाकर तीव्र गतिवाला करते हैं। (२) ये सोम **पर्जन्यस्य वृष्टयः इव**=मेघों की वृष्टि के समान हैं। जैसे यह वृष्टि सन्ताप का हरण करनेवाली है, उसी प्रकार ये सुरक्षित सोम हमारे रोगादि का हरण करके हमें शान्ति को देनेवाले हैं। (३) ये सोम **वृथा**=अनायास ही जब शरीर में व्याप्त होते हैं, अर्थात् जब शरीर में ये स्वभावतः ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं तो **अग्नेः भ्रमाः इव**=अग्नि की आकाश में भ्रान्त होनेवाली लपटों के समान होते हैं। जैसे अग्नि की लपटें प्रकाशमान होती हैं, उसी प्रकार इस सोमरूप ईंधन से ज्ञानाग्नि की ज्वालायें प्रज्वलित होती हैं, ज्ञानाग्नि दीप्त हो उठती है।

भावार्थ—सोमकण शरीर में वायु के समान शक्ति व गति को, मन में पर्जन्य के समान सन्तापशून्यता को तथा मस्तिष्क में अग्नि के समान ज्ञानाग्नि की दीप्तता को पैदा करते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

विपश्चितः दध्याशिरः

एते पूता विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः। विपा व्यानशुर्धियः॥ ३॥

(१) **एते**=ये **सोमासः**=सोमकण **पूताः**=शुद्ध रखे जाने पर इनमें वासनाओं का उबाल न आने देने पर **विपश्चितः**=ये ज्ञानी होते हैं, अर्थात् हमें ज्ञानी बनाते हैं। सोमरक्षण करनेवाला पुरुष विशेषरूप से (बारीकी से) देखता हुआ चिन्तनशील होता है। ये सोमकण **दध्याशिरः**=(धत्ते बलं इति दधि, आशृणाति) बल को धारण करनेवाले व रोगकृमियों का विनाश करनेवाले होते हैं। (२) ये सोमकण **धियः**=हमारे ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले इन कर्मों को **विपा**=(विप् Hymns) स्तोत्रों से **व्यानशुः**=व्याप्त कर देते हैं। अर्थात् सोमरक्षण करने पर हम (क) कर्मशील होते हैं, (ख) कर्मों को बुद्धिपूर्वक करते हैं, (ग) उन कर्मों को प्रभु-स्मरण के साथ करते हैं। ऐसा करने से हमारे कर्म पवित्र बने रहते हैं और हमें उन कर्मों का अहंकार नहीं होता।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित पवित्र सोमकण हमारा धारण करते हैं। रोगकृमियों का विनाश करते हैं। सोमरक्षण करने पर हम कर्मों को ज्ञानपूर्वक प्रभु-स्मरण के साथ करते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सुपथ व उत्तम लोक

एते मृष्टा अमर्त्याः ससृवांसो न शश्रमुः। इयक्षन्तः पथो रजः॥ ४॥

(१) गत मन्त्र में जो भाव 'एते पूताः' इन शब्दों से कहा गया था, वही भाव यहाँ 'एते मृष्टाः' इन शब्दों में कहा गया है। 'मृजु शुद्धौ' **मृष्टाः**=शुद्ध रखे गये **एते**=ये सोम **अमर्त्याः**=हमें रोगादि से मृत्यु का शिकार नहीं होने देते। **ससृवांसः**=निरन्तर गति करते हुए ये सोमकण **न शश्रमुः**=थकते नहीं। ये सोमकण रक्षित होने पर हमें अनथक श्रमशील बनाते हैं। (२) ये सोमकण **पथः**=मार्गों को व **रजः**=उत्तम लोकों को **इयक्षन्तः**=हमारे साथ संगत करनेवाले होते हैं। सोमकणों के रक्षण के होने पर मनुष्य स्वभावतः सुपथ का आक्रमण करता है और उत्तम लोक की प्राप्ति का अधिकारी बनता है।

भावार्थ—सोमकण हमें (क) रोगों से मरने नहीं देते, (ख) ये हमें अनथक श्रमवाला बनाते हैं। (ग) उत्तम मार्गों की ओर हमारा झुकाव करते हैं, (घ) हमें उत्तम लोकों की प्राप्ति का अधिकारी बनाते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

द्यावापृथिवी के पृष्ठ पर

एते पृष्ठानि रोदसोर्विप्रयन्तो व्यानशुः। उतेदमुत्तमं रजः॥ ५॥

(१) **एते**=ये सोमकण **रोदसोः**=द्यावापृथिवी के **पृष्ठानि**=पृष्ठों को, शिखरों को **विप्रयन्तः**=विशेषरूप से प्राप्त होते हुए **व्यानशुः**=शरीर में व्याप्त होते हैं (अशू व्याप्तौ)। द्यावापृथिवी के शिखरों पर जाने का भाव यह है कि मस्तिष्क व शरीर की उन्नति करना। सोमकण रोगकृमियों को नष्ट करके शरीर को स्वस्थ बनाते हैं, और मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को दीप्त करते

हैं। (२) **उत**=और इस प्रकार शारीरिक व बौद्धिक उन्नति के द्वारा ये सोमकण **इदम्**=इस **उत्तमं रजः**=उत्तम लोक को व्याप्त करनेवाले होते हैं। सोमरक्षण से अन्ततः सर्वोत्तम लोक, अर्थात् ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। यह सोम (वीर्य) उस सोम (प्रभु) की प्राप्ति का कारण बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें शारीरिक व बौद्धिक उन्नति के शिखर पर ले जाता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उत्तमाय्य का व्यापन

तन्तुं तन्वानमुत्तममनु प्रवत आशत। उतेदमुत्तमाय्यम्॥ ६॥

(१) **उत्तमम्**=सर्वोत्कृष्ट 'यज्ञ-तप-दान' रूप **तन्तुम्**=कर्मतन्तु को **तन्वानम्**=विस्तृत करते हुए इस सोम के **अनु**=रक्षण के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना सोम का रक्षण करते हैं उतना-उतना **प्रवतः**=(Height, elevation) उन्नत स्थितियों को व्याप्त करते हैं। (२) **उत**=और अन्ततोगत्वा **इदम्**=इस **उत्तमाप्यम्**=उत्तम लोगों से प्राप्त होने योग्य मोक्षलोक को व्याप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें उत्तम कर्मों में प्रेरित करता हुआ उन्नत लोकों को प्राप्त कराता है, अन्ततः मोक्ष लोक का हमें अधिकारी बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'वसु व गव्य' की प्राप्ति

त्वं सोम पणिभ्य आ वसु गव्यानि धारयः। ततं तन्तुमचिक्रदः॥ ७॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **पणिभ्यः**=स्तोताओं के लिये **वसु**=निवास के लिये आवश्यक तत्त्व को **आधारयः**=शरीर में समन्तात् धारण करता है। प्रभु-स्तवन से हम वासनाओं से बचे रहते हैं, और इस प्रकार सोम सुरक्षित रहता है। यह सुरक्षित सोम हमारे शरीर में रोगकृमियों को नहीं पनपने देता। हमारा शरीर निवास के लिये आवश्यक शक्तिरूप धन से युक्त रहता है। (२) हे सोम! तू इन स्तोताओं के लिये **गव्यानि**=(धारयः) वेदवाणी रूप गौ के उत्तम ज्ञानदुग्धों को धारण करता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और जो **ततम् तन्तुम्**=इस संसार के तन्तुओं को **अचिक्रदः**=संचारित करता है। उसकी उस दीप्त ज्ञानाग्नि से हम ज्ञान के प्रकाश को पानेवाले होते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें शारीरिक वसुओं व मस्तिष्क की ज्ञानरश्मियों (गव्य) को प्राप्त कराता है।

सूक्त का भाव यह है कि सुरक्षित सोम हमें अन्ततः ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है। अगला सूक्त भी इसी भाव का द्योतक है—

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'स्फूर्ति-माधुर्य-उल्लास व तत्त्वज्ञान'

सोमा असृग्रमाशवो मधोर्मदस्य धारया। अभि विश्वानि काव्या॥ १॥

(१) **सोमाः**=सोमकण **असृग्रम्**=शरीर में उत्पन्न किये जाते हैं। ये सोमकण **आशवः**=शरीर में सुरक्षित होने पर हमें शीघ्रता से कार्यों को करानेवाले होते हैं, ये हमारे जीवनों में स्फूर्ति को पैदा करते हैं। ये सोम **मधोः**=माधुर्य के व **मदस्य**=हर्ष के **धारया**=धारण के हेतु से शरीर में उत्पन्न किये जाते हैं। शरीर में सुरक्षित हुए-हुए ये माधुर्य की व हर्ष की धारा को जन्म देते हैं। सोमरक्षक के जीवन में माधुर्य व मद होता है। 'वाणी में माधुर्य, मन में आह्लाद' ये सुरक्षित सोम के परिणाम हैं। (२) यह सोम **विश्वानि**=सब **काव्या**=तत्त्वज्ञानों को **अभि**=लक्ष्य करके शरीर में सृष्ट होता है। इससे ज्ञानाग्नि का दीपन होता है, बुद्धि को यह सूक्ष्म बनाता है। इस सूक्ष्म बुद्धि से हम तत्त्व का दर्शन करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'स्फूर्ति-माधुर्य-उल्लास व तत्त्वज्ञान' को हमारे जीवनों में जन्म देता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रत्नासः नवीयः

अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः। रुचे जनन्त सूर्यम्॥ २॥

(१) **प्रत्नासः**=अत्यन्त प्राचीनकाल में उत्पन्न किये गये ये सोमकण **आयवः**=गतिशील होते हैं। शरीर में सुरक्षित होने पर ये क्रियाशीलता को उत्पन्न करते हैं। ये सोमकण **नवीयः**=स्तुत्य **पदम्**=मार्ग का **अनु अक्रमुः**=क्रमशः आक्रमण करते हैं। सोमरक्षण करनेवाले पुरुष क्रमशः आश्रमों में स्तुत्य मार्ग का ही आक्रमण करते हैं, प्रशस्त कर्मों को ही करनेवाले होते हैं। (२) सुरक्षित हुए-हुए ये सोम **रुचे**=दीप्ति के लिये **सूर्यं जनन्त**=ज्ञानसूर्य के प्रादुर्भाव को करते हैं। ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ये उसे दीप्त करते हैं। बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर ये उसे तत्त्वदर्शन के योग्य बनाते हैं। यह तत्त्वज्ञान ही उनके कर्त्तव्य मार्ग को प्रशस्त करता है।

भावार्थ—'अत्यन्त पुराण होते हुए भी ये सोम नवीन मार्ग का आक्रमण करते हैं' इस वाक्य में विरोधाभास अलंकार है। वस्तुतः सोमकणों का जन्म सृष्टि के प्रारम्भ में ही हुआ, सो ये 'प्रत्न' हैं। इनके सुरक्षित होने पर स्तुत्य मार्ग का आक्रमण होता है, सो ये 'नवीयस्' हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रजावतीः इषः

आ पवमान नो भरार्यो अदाशुषो गयम्। कृधि प्रजावतीरिषः॥ ३॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **अर्यः**=स्वामी होता हुआ **अदाशुषः**=न देनेवाले के **गयम्**=(wealth) धन को **नः**=हमारे लिये **आभर**=प्राप्त करा। जिस समय शरीर में सोम का रक्षण करते हैं, उस समय यह सोम हमें उदार वृत्तिवाला बनाता है। तब हम धनों को दान में विनियुक्त करनेवाले होते हैं। हमारा धन लोकहित के कार्यों में व्ययित होता है। (२) हे सोम! तू हमारे लिये **प्रजावतीः**=प्रकृष्ट विकासवाली, विकास की साधनभूत **इषः**=प्रेरणाओं को **कृधि**=कर। तेरे रक्षण से हम पवित्र हृदयवाले बनें। उस पवित्र हृदय में हम उन प्रेरणाओं को सुनें जो कि हमें उत्तम मार्ग पर ले चलती हुई विकसित शक्तिवाला बनायें।

भावार्थ—सब धनों का स्वामी 'सोम' है। सोम का रक्षक पुरुष सब धनों को प्राप्त करता

है और विकास की कारणभूत प्रेरणाओं को सुनता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

मधुश्चुतं कोशं अभि

अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्। अभि कोशं मधुश्चुतम्॥ ४॥

(१) **आयवः**=गतिशील सब गतियों को उत्पन्न करनेवाले **सोमासः**=सोमकण **मद्यम्**=आनन्दजनक **मदम्**=हर्ष को **अभि पवन्ते**=लक्ष्य करके गतिवाले होते हैं। सोमकण शरीर में गतिमय होते हैं, तो जीवन में एक अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती है। (२) ये सोमकण **मधुश्चुतम्**=माधुर्य ही माधुर्य को क्षरित करनेवाले माधुर्य के स्रोत बने हुए **कोशं अभि**=कोश का लक्ष्य करके गतिवाले होते हैं। अर्थात् ये हमें प्रभु के समीप ले जाते हैं, जो प्रभु आनन्दमय व आनन्द के स्रोत हैं, उनकी ओर हमें यह सोम ही ले चलता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम आनन्द का कारण है और आनन्दमय प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सुवीरः अभिशस्तिपाः

सोमो अर्षति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसम्। सुवीरो अभिशस्तिपाः॥ ५॥

(१) **सोमः**=यह सोम **अर्षति**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में गतिवाला होता है। **धर्णसिः**=यह हमारा धारण करता है यह हमारे अन्दर **इन्द्रियम्**=बल को व **रसम्**=रस को, मधुरवाणी व मधुर व्यवहार को **दधानः**=धारण करता है। सोम के रक्षण से (क) हमारा धारण होता है, (ख) यह हमें बल देता है, (ग) हमारे जीवन को रसमय करता है। (२) यह सोम **सुवीरः**=उत्तम वीर है, यह हमारे शरीर में रोगकृमियों को कम्पित करके दूर भगाता है। **अभिशस्तिपाः**=अभितः होनेवाली हिंसा से बचाता है। यह हमें वासनाओं व रोगों का शिकार नहीं होने देता।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे शरीर में बल व मन में रस का संचार करता है। यह हमें सब प्रकार की हिंसाओं से बचाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

पवित्रता प्रभु-सम्पर्क-शक्ति

इन्द्राय सोम पवसे देवेभ्यः सधमाद्यः। इन्दो वाजं सिषाससि॥ ६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पवसे**=पवित्रता को करनेवाला होता है। इस पवित्रता के द्वारा **देवेभ्यः**=देव वृत्तिवाले पुरुषों के लिये तू **सधमाद्यः**=प्रभु के साथ आनन्द को अनुभव करानेवालों में उत्तम होता है। सोम के रक्षण से पवित्रता को प्राप्त होकर हम देव बनते हैं। देव बनकर उस प्रभु के साथ मेल के आनन्द को प्राप्त करते हैं। (२) हे **इन्दो**=सोम! तू **वाजम्**=शक्ति को **सिषाससि**=हमें देने की कामना करता है। तेरे रक्षण से हम शक्ति-सम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ—सोम (क) हमें पवित्र बनाता है, (ख) प्रभु-सम्पर्क के आनन्द को देता है, (ग)

शक्ति प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

आनन्द व अनुपम शक्ति

अस्य पीत्वा मदानामिन्द्रो वृत्राण्यप्रति। जघान जघनच्च नु॥ ७॥

(१) **मदानाम्**=मदों में, हर्षों में अत्यन्त हर्षजनक **अस्य पीत्वा**=इस सोम का (वीर्य का) पान करके **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **अप्रति**=एक अनुपम (matchless) योद्धा की तरह **वृत्राणि**=वृत्रों को, ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जघान**=नष्ट करता है **च**=और **नु**=निश्चय से **जघनत्**=विनष्ट करता है। (२) सुरक्षित हुआ-हुआ सोम अद्भुत आनन्द को प्राप्त कराता है। और हमें अनुपम शक्तिवाला बनाकर वासनाओं के विनाश के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम से हम आनन्द का अनुभव करते हैं। इससे शक्ति-सम्पन्न बनकर हम वासनाओं का विनाश करनेवाले होते हैं।

सोमरक्षण के महत्त्व को ही अगले सूक्त में भी देखिये—

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उत्कृष्ट गति

प्र सोमासो अधन्विषुः पवमानास इन्दवः। श्रीणाना अप्सु मृञ्जत॥ १॥

(१) **सोमासः**=सोमकण **प्र अधन्विषुः**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। सुरक्षित होने पर सोम हमें उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाला बनाते हैं। ये **पवमानासः**=हमें पवित्र करते हैं। **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनाते हैं। (२) **श्रीणानाः**=हमारे जीवन को परिपक्व करते हुए ये सोम **अप्सु**=कर्मों में **मृञ्जत**=शुद्ध होते हैं। सोमरक्षण से शरीर में सब शक्तियों का उत्तम परिपाक होता है। इस सोम का शोधन व रक्षण निरन्तर कर्मों में लगे रहने से होता है। यह कर्मतत्परता हमें वासनाओं से बचाती है। और वासनाओं के अभाव में सोम सुरक्षित बना रहता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) हम प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं, (ख) पवित्रता को प्राप्त करते हैं, (ग) शक्तिशाली बनते हैं, (घ) सब शक्तियों का ठीक से परिपाक कर पाते हैं। इस सोम की शुद्धि कर्मों में लगे रहने से होती है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

पुनाना

अभि गावो अधन्विषुरापो न प्रवता यतीः। पुनाना इन्द्रमाशत॥ २॥

(१) **गावः**=(गच्छन्ति इति) गमनशील सोमकण **आपः न**=जलों के समान सर्वत्र शरीर में व्याप्त होनेवाले **प्रवता यतीः**=(प्रवत् height elevation) उत्कृष्ट स्थान की ओर जाते हुए **अभि**=उस प्रभु की ओर **अधन्विषुः**=गतिवाले होते हैं। जब इन सोमकणों की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है, तो ये हमें शक्ति प्राप्त कराके गतिशील बनाते हैं, और उत्कर्ष की ओर ले जाते हुए हमें प्रभु को प्राप्त कराते हैं। (२) ये सोमकण **पुनानाः**=हमें पवित्र करते हुए **इन्द्रं आशत**=जितेन्द्रिय पुरुष में व्याप्त होते हैं। वस्तुतः जितेन्द्रियता के होने पर ये शरीर में व्याप्त होते हैं और हमें पवित्र

बनाते हैं। शरीरस्थ रोगकृमियों का ही ये संहार नहीं करते, अपितु मानस वासनाओं को भी विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) हमें उत्कृष्ट गतिवाला बनाते हैं, (ख) अन्त में प्रभु को प्राप्त कराते हैं, (ग) हमारे जीवन को पवित्र बनाते हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

उत्कृष्ट मार्ग का आक्रमण

प्र पवमान धन्वसि सोमेन्द्राय पातवे। नृभिर्यतो वि नीयसे॥ ३॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! तू **प्रधन्वसि**=हमारे शरीरों में प्रकृष्ट गतिवाला होता है। शरीर में सुरक्षित होने पर यह उत्कृष्ट पथ पर चलने की रुचिवाला बनाता है। हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष के पान के लिये होता है। जितेन्द्रिय पुरुष ही तुझे शरीर में व्याप्त कर पाता है। (२) **नृभिः**=उत्कृष्ट पथ पर चलनेवाले पुरुषों से **यतः**=संयत हुआ-हुआ तू **विनीयसे**=विशिष्ट रूप से शरीर में सर्वत्र प्राप्त कराया जाता है।

भावार्थ—शरीर में रक्षित सोम हमें उत्कृष्ट मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

सस्निः अनुमाद्यः

त्वं सोम नृमादनः पवस्व चर्षणीसहे। सस्निर्यो अनुमाद्यः॥ ४॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **नृमादनः**=मनुष्यों को आनन्दित करनेवाला है। तू **चर्षणीसहे**=सब मनुष्यों को अभिभूत करनेवाले प्रभु के लिये **पवस्व**=प्रगतिवाला हो, प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़। तेरी रक्षा करनेवाला व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो। (२) वह तू प्रभु को प्राप्त करानेवाला हो **यः**=जो कि **सस्निः**=हमारे जीवन को बड़ा शुद्ध बनाता है और **अनुमाद्यः**=उस शुद्धता के अनुपात में ही हर्ष को प्राप्त करानेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है। (ख) हमें शुद्ध करता है और (ग) प्रभु प्राप्ति का पात्र बनाता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्रधाम की प्राप्ति

इन्दो यदद्रिभिः सुतः पवित्रं परिधावसि। अरमिन्द्रस्य धाम्ने॥ ५॥

(१) **इन्दो**=हे सोम! **यत्**=जब तू **अद्रिभिः**=(those who adore) उपासकों से **सुतः**=उत्पन्न किया हुआ **पवित्रम्**=पवित्र हृदय की ओर **परिधावसि**=गतिवाला होता है तो **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **धाम्ने**=तेज के लिये **अरम्**=पर्याप्त होता है। अर्थात् तू इस उपासक को प्रभु की प्राप्ति करानेवाला होता है। (२) प्रभु की उपासना से हृदय पवित्र बनता है। हृदय की पवित्रता सोम के रक्षण का साधन बनती है, सुरक्षित सोम बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है। यह सूक्ष्म बुद्धि प्रभु-दर्शन का साधन बनती है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक, हृदय की पवित्रता के द्वारा, सोम का रक्षण करनेवाला बनता

है। सुरक्षित सोम इसे प्रभु की तेजस्विता को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

अद्भुतः

पवस्व वृत्रहन्तमोक्थेभिरनुमाद्यः। शुचिः पावको अद्भुतः॥ ६॥

(१) हे **वृत्रहन्तम**=वासनाओं को अधिक से अधिक विनष्ट करनेवाले इन्द्र! आप हमें **पवस्व**=प्राप्त होइये गतमन्त्र के अनुसार उपासक सोमरक्षण के द्वारा प्रभु का दर्शन करता है। इस प्रभु से अब उपासक कहता है कि आप मुझे प्राप्त होइये। **उक्थेभिः अनुमाद्यः**=आप स्तोत्रों से प्रसन्न करने के योग्य हैं। वस्तुतः आपके स्तोत्र उपासक को आपकी तेजस्विता प्राप्त कराके आनन्दित करनेवाले होते हैं। (२) आप **शुचिः**=पूर्ण पवित्र हैं। **पावकः**=उपासक को पवित्र करनेवाले हैं। **अद्भुतः**=अद्भुत महिमावाले हैं, आपकी उपासना से उपासक का जीवन वासनाओं के विनाश से पवित्र बनता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक के जीवन पवित्र करके आनन्दित करनेवाले हैं।

ऋषिः—**असितः काश्यपो देवलो वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

देवावीः अघशंसहा

शुचिः पावक उच्यते सोमः सुतस्य मध्वः। देवावीरघशंसहा॥ ७॥

(१) **सुतस्य मध्वः**=उत्पन्न हुए-हुए इस मधुर जीवन का **सोमः**=यह सोम **पावकः**=पवित्र करनेवाला है। **शुचिः उच्यते**=यह सोम अत्यन्त पवित्र कहा जाता है। वस्तुतः सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही जीवन को मधुर बनाता है। (२) **देवावीः**=यह देवों का (अविता) प्रीणित करनेवाला है। दिव्य गुणों का हमारे में वर्धन करनेवाला है। **अघशंसहा**=अघ, अर्थात् पाप के शंसन करनेवाले आसुरभाव को यह विनष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे जीवन में दिव्यगुणों को प्रीणित करता है और आसुरभावों को विनष्ट करता है।

इन दृढ भी आसुरभावों को विनष्ट करनेवाला 'दृढ़च्युत' होता है, पाप का संघात (विनाश) करनेवाला यह 'आगस्त्य' है। यह सोम का स्तवन करते हुए कहता है कि—

द्वितीयोऽनुवाकः

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**दृळ्हच्युत आगस्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मरुद्भ्यः वायवे प्रदः

पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे। मरुद्भ्यो वायवे मदः॥ १॥

(१) हे **हरे**=सब रोगों का हरण करनेवाले सोम! तू **दक्षसाधनः**=उन्नति को सिद्ध करनेवाला होकर **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये तू हो। **पीतये**=(पा रक्षणे) तू रक्षण के लिये हो, रोगकृमियों का विनाश करके तू हमारी रक्षा करनेवाला बन। (२) **मदः**=आनन्द को देनेवाला तू **मरुद्भ्यः**=प्राणों के लिये हो, तेरे द्वारा प्राणशक्ति की वृद्धि हो।

वायवे=तू उस गति के द्वारा सब बुराइयों का गन्धन-हिंसन करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिये हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) उन्नति का साधक होता है, (ख) दिव्य गुणों का प्रापक होता है, (ग) रोगों से हमें बचाता है, (घ) प्राणशक्ति को बढ़ाता है, (ङ) अन्ततः प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**दृळहच्युत आगस्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धर्मणा वायुमा विश

पवमान धिया हितो३ऽभि योनिं कनिक्रदत्। धर्मणा वायुमा विश॥ २॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **हितः**=शरीर के अन्दर ही स्थापित किया गया तू **योनिं अभि**=उस सब के उत्पत्ति-स्थान प्रभु की ओर हमें ले चलनेवाला हो। सोमरक्षण से ही बुद्धि की दीप्ति होकर हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) हे सोम! तू **कनिक्रदत्**=उस प्रभु का आह्वान करता हुआ, **धर्मणा**=धारणात्मक कर्मों को करने के द्वारा **वायुम्**=उस गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले प्रभु को **आविश**=प्राप्त हो, प्रभु में प्रवेश करनेवाला बन। वस्तुतः सोमरक्षण से (क) हम प्रभु-प्रवण बनकर प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं। (ख) धर्म के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, (ग) अन्ततः प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सोम का रक्षण ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहने के द्वारा होता है। रक्षित सोम हमें प्रभु की ओर झुकाववाला बनाता है और हमें धर्म के कार्यों में प्रवृत्त करके प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**दृळहच्युत आगस्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वृषा-कविः

सं देवैः शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः। वृत्रहा देववीतमः॥ ३॥

(१) **वृषा**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **देवैः सं शोभते**=दिव्य गुणों के साथ शोभायमान होता है। यह हमारे में दिव्य गुणों का वर्धन करता है। **कविः**=हमें क्रान्तप्रज्ञ बनाता है। एवं 'वृषा' सोम हमें शक्ति की प्राप्ति कराता है। 'कवि' सोम हमें क्रान्तप्रज्ञ बनानेवाला है। हमारे मनों को यह दिव्य गुणों से युक्त करता है। (२) **योनौ**=यह सोम हमें मूल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **अधिप्रियः**=आधिक्येन प्रीतिवाला करता है। (२) **वृत्रहा**=प्रभु में प्रीति के द्वारा ही यह वासनाओं को विनष्ट करता है और **देववीतमः**=दिव्य गुणों को अधिक से अधिक प्राप्त करानेवाला है। वासनाओं के विनाश से ही सद्गुणों का विकास होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें शक्तिशाली व ज्ञानी बनाता है।

ऋषिः—**दृळहच्युत आगस्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मोक्ष लोक प्राप्ति

विश्वा रूपाण्याविशन्पुनानो याति हर्यतः। यत्रामृतास आसते॥ ४॥

(१) **विश्वा रूपाणि**=सब जीवित शरीरों में **आविशन्**=समन्तात् व्याप्त होता हुआ, प्रवेश करता हुआ यह सोम **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **याति**=गति करता है। यदि सोम शरीर में व्याप्त होता है तो यह उसे तेजस्वी बनाता है। पवित्र करता है। अतएव यह सोम **हर्यतः**=कमनीय है,

इसकी कामना हम सब को करनी चाहिए। (२) यह सोम अन्ततः हमें वहाँ प्राप्त कराता है (याति) **यत्र**=जहाँ कि **अमृतासः**=मुक्तात्मा **आसते**=निवास करते हैं। अर्थात् हमारे लिये यह ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन बनता है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ हमें मोक्ष लोक का भागी बनाता है।

ऋषिः—**दृळहच्युत आगस्त्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कविक्रतुः

अरुषो जनयन्गिरः सोमः पवत आयुषक्। इन्द्रं गच्छन्कविक्रतुः ॥ ५ ॥

(१) **अरुषः**=आरोचमान **सोमः**=सोम **पवते**=पवित्र करनेवाला होता है। यह सोम अपने रक्षक को तेजस्विता से दीप्त कर देता है। यह **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **जनयन्**=प्रादुर्भूत करता है। इसके रक्षण से बुद्धि तीव्र होती है और हम ज्ञान की वाणियों के तत्त्वार्थ को देखनेवाले होते हैं। (२) **आयुषक्**=आयु के साथ मेल करनेवाला दीर्घजीवन की प्राप्ति का साधनभूत यह सोम **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **गच्छन्**=प्राप्त होता है। और **कविक्रतुः**=क्रान्तप्रज्ञ व शक्तिशाली है। मनुष्य को सूक्ष्म बुद्धिवाला व शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'तेजस्वी, तत्त्वद्रष्टा, दीर्घजीवी, सूक्ष्म बुद्धि व शक्ति-सम्पन्न' बनाता है।

ऋषिः—**दृळहच्युत आगस्त्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अर्कस्य योनिमासदम्

आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे। अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ६ ॥

(१) हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ! बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले! **मदिन्तम**=अत्यन्त **हर्षयुक्त**=जीवन को उल्लासमय बनानेवाले सोम! तू **धारया**=अपनी धारण शक्ति से **पवित्रम्**=इस पवित्र हृदयवाले पुरुष को **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त हो। (२) तू अन्ततः **अर्कस्य**=उस अर्चनीय प्रभु के **योनिम्**=स्थान को **आसदम्**=प्राप्त होने के लिये हो। तेरे रक्षण से सूक्ष्म बुद्धिवाले बनकर हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर हमें पवित्र बनाता हुआ प्रभु की प्राप्ति का पात्र बनाता है।

इस सोम को सुरक्षित करनेवाला व्यक्ति 'दार्ढच्युतः'=दृढ़ भी काम-क्रोध आदि शत्रुओं को च्युत करनेवाला तथा **इध्मवाहः**=ज्ञान की दीप्तियों को धारण करनेवाला बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है और कहता है कि—

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**इध्मवाहो दार्ळहच्युतः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

सूक्ष्म बुद्धि

तममृक्षन्त वाजिनमुपस्थे अदितेरधि। विप्रासो अण्व्या धिया ॥ १ ॥

(१) **तम्**=उस **वाजिनम्**=सम्पूर्ण शक्ति के आधारभूत सोम को **अदिते**=उस अविनाशी परमात्मा की **उपस्थे अधि**=उपासना में **अमृक्षन्त**=शुद्ध करते हैं। प्रभु की उपासना से वासनायें नहीं उत्पन्न होती। और वासनाओं के अभाव में सोम शुद्ध बना रहता है। (२) ये सोम रक्षक पुरुष **अण्व्या**=सूक्ष्म **धिया**=बुद्धि से **वि प्रासः**=अपना पूरण करनेवाले होते हैं। सोम रक्षण से

सूक्ष्म बुद्धि को प्राप्त करके अपनी सब कमियों को दूर करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासना से सोम (वीर्य) शुद्ध बना रहता है शरीर में सुरक्षित होकर यह सूक्ष्म बुद्धि को उत्पन्न करता है।

ऋषिः—**इध्मवाहो दाळर्हच्युतः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र और 'दिवः धर्ता

तं गावो अभ्यनूषत सहस्रधारमक्षितम्। इन्दुं धर्तारमा दिवः॥ २॥

(१) **तं इन्दुम्**=उस शक्तिशाली सोम को **गावः**=ये ज्ञान की वाणियाँ **अभ्यनूषत**=स्तुत करती हैं। वेदवाणियों में सोम के महत्त्व का सविस्तार प्रतिपादन हुआ है। उस सोम का जो कि **सहस्रधारम्**=हजारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाला है। **अक्षितम्**=जो हमें कभी क्षीण नहीं होने देता। (२) उस सोम का वेदवाणियाँ स्तवन करती हैं, जो कि **इन्दुम्**=हमें शक्तिशाली बनाता है और **दिवः आधर्तारम्**=ज्ञान का समन्तात् धारण करनेवाला है।

भावार्थ—सोम शतशः प्रकारों से हमारा धारण करता हुआ हमें क्षीण नहीं होने देता।

ऋषिः—**इध्मवाहो दाळर्हच्युतः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धर्णसिं भूरिधायसम्

तं वेधां मेधयाह्यन्पवमानमधि द्यवि। धर्णसिं भूरिधायसम्॥ ३॥

(१) **तम्**=उस **वेधाम्**=हमारे जीवन में सब शक्तियों के विधाता (निर्माता) **पवमानम्**=पवित्र करनेवाले सोम को **मेधया**=मेधा बुद्धि की प्राप्ति के हेतु से **अधि द्यवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **अह्यन्**=प्रेरित करते हैं। जब सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है, तो यह मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इस प्रकार यह सोम बुद्धि की सूक्ष्मता का कारण बनता है। (२) **धर्णसिम्**=यह सोम धारक हैं। शरीर में व्याप्त होने पर अंग-प्रत्यंग की शक्ति को दृढ़ करता है। **भूरिधायसम्**=यह सोम खूब ही ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाला है (धेट् पाने)। बुद्धि को तीव्र करके यह सोम ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाला होता है।

भावार्थ—रक्षित हुआ-हुआ सोम हमारी सब शक्तियों का निर्माण करनेवाला व बुद्धि को दीप्त करनेवाला है। इस प्रकार यह धारक व ज्ञानदुग्ध का पिलानेवाला होता है।

ऋषिः—**इध्मवाहो दाळर्हच्युतः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वाचः पतिं-अदाभ्यम्

तमह्यन्भुरिजोर्धिया संवसानं विवस्वतः। पतिं वाचो अदाभ्यम्॥ ४॥

(१) **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणोंवाले ज्ञानी पुरुष के **संवसानम्**=निवास को उत्तम बनानेवाले **तं**=उस सोम को **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों को करने के द्वारा **भुरिजोः**=बाहुवों में **अह्यन्**=प्रेरित करते हैं। भुजाओं में व्याप्त होकर यह हमें शक्तिशाली बनाता है। इसको शरीर में सुरक्षित करने का उपाय यही है कि सदा हम कर्मों में लगे रहें। समझदारी के साथ कर्मों में लगे रहना वह साधन है जो कि हमें वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के योग्य बनाता है। (२) यह सोम **वाचः पतिम्**=वाणी का पति हैं, ज्ञान की वाणियों का स्वामी है। इसके रक्षण से हम ज्ञान की वाणियों को खूब समझने लगते हैं। **अदाभ्यम्**=यह सोम हिंसित नहीं होता, सोम के रक्षण के होने पर शरीर को रोगकृमि हिंसित नहीं कर पाते। एवं सोम हमारे लिये ज्ञानवर्धक व स्वास्थ्य

को सिद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—कर्मों में लगे रहने से सोम का रक्षण होता है। यह ज्ञान की वाणियों का पति तथा किन्हीं भी रोगों से पीड़ित न होने देनेवाला है।

ऋषिः—**इध्मवाहो दाळ्हर्च्युतः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

हर्यतं भूरिचक्षसम्

तं सानावधि जामयो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। हर्यतं भूरिचक्षसम्॥ ५॥

(१) **जामयः**=(जमतिः गतिकर्मा नि०) अपने कर्त्तव्य में लगे रहनेवाले गतिशील पुरुष **तम्**=उस **हरिम्**=सब रोगों का हरण करनेवाले सोम को **अद्रिभिः**=(आदृ=adore) उपासनाओं के द्वारा **सानौ अधि**=शिखर प्रदेश में, मस्तिष्क में **हिन्वन्ति**=प्रेरित करते हैं। उपासना साधन बनती है, वासनाओं से बचने का इस प्रकार वासना विनाश साधन बनता है सोमरक्षण का। सुरक्षित सोम शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता हुआ मस्तिष्क में पहुँचता है। वहाँ यह ज्ञानाग्नि को दीप्त कर देता है। (२) उस सोम को शिखर प्रदेश की ओर प्रेरित करते हैं, जो कि **हर्यतम्**=कमनीय है व हमें गतिमय बनानेवाला है तथा **भूरिचक्षसम्**=पालक व पोषक ज्ञानवाला है। यह हमें उस ज्ञान को प्राप्त कराता है जो कि हमारा पालक व पोषक बनता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण (क) क्रिया में लगे रहने से होता है, (ख) तथा उपासना द्वारा सुरक्षित सोम हमारे जीवन को कमनीय व ज्ञान-ज्योतिवाला बनाता है।

ऋषिः—**इध्मवाहो दाळ्हर्च्युतः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्राय मत्सरम्

तं त्वा हिन्वन्ति वेधसः पवमान गिरावृधम्। इन्दविन्द्राय मत्सरम्॥ ६॥

(१) **वेधसः**=(a learned man) ज्ञानी पुरुष, हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **तं त्वा**=उस तुझको **हिन्वन्ति**=अपने अन्दर, मस्तिष्क की ओर प्रेरित करते हैं। जो तू **गिरावृधम्**=ज्ञान की वाणियों से वृद्धि को प्राप्त होता है। ज्ञान की वाणियों में लगे रहने से हम सोम को सुरक्षित करनेवाले होते हैं। (२) हे **इन्दो**=सोम! उस तुझको हम शरीर में ही प्रेरित करते हैं तो तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मत्सरम्**=आनन्द का संचार करनेवाला है। सोमरक्षण करनेवाला पुरुष कभी निराश व उदास नहीं होता।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जितेन्द्रिय पुरुष के जीवन को आनन्दमय बनाता है।

यह सोमरक्षक ज्ञानी पुरुष सर्वहित में प्रवृत्त हुआ-हुआ 'नृमेध' यज्ञ को करनेवाला 'नृमेध' ही बन जाता है। यह सोम की महिमा का वर्णन करता हुआ कहता है कि—

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कविः अभिष्टुतः

एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोशते। पुनानो घ्नन्नप स्त्रिधः॥ १॥

(१) **एषः**=यह सोम **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ होता है। सोम अपने रक्षक पुरुष को तीव्र बुद्धिवाला बनाता है। **अभिष्टुतः**=(अभि स्तुतं येन) इस सोम के रक्षणवाला पुरुष प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला होता है। **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में यह **अधि तोशते**=आधि-व्याधिरूप

शत्रुओं का हिंसन करनेवाला होता है। (२) **पुनानः**=यह हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **स्त्रिधः**=सब कुत्सित वृत्तियों को **अपघ्नन्**=सुदूर विनष्ट करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) बुद्धि तीव्र होती है, (ख) प्रभु-स्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है, (ग) वासनाओं का संहार होता है, (घ) पवित्रता होती है, (ङ) सब बुराइयों का विनाश होता है।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दक्षसाधनः

एष इन्द्राय वायवे स्वर्जित्परि षिच्यते। पवित्रे दक्षसाधनः ॥ २ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये होता है। **वायवे**=गतिशीलता के लिये होता है। **स्वर्जित्**=सब प्रकाशों व सुखों का विजय करनेवाला यह सोम **परिषिच्यते**=शरीर में चारों ओर सिक्त होता है। (२) **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में यह **दक्षसाधनः**=सब उन्नतियों को सिद्ध करनेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ही ऐश्वर्य, गति व उन्नति का साधक है।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिवः-मूर्धा-वृषा

एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषा सुतः। सोमो वनेषु विश्ववित् ॥ ३ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **नृभिः**=(कर्मनेतृभिः सा०) यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का प्रणयन करनेवालों से **विनीयते**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में प्राप्त कराया जाता है। यह **दिवः मूर्धा**=ज्ञान का शिखर बनता है और **सुतः**=सम्यक् उत्पन्न हुआ-हुआ **वृषा**=शक्ति का सेचन करनेवाला होता है। (२) यह **सोमः**=सोम (वीर्य) **वनेषु**=उपासकों में **विश्ववित्**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है (विद् लाभे)।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञान के दृष्टिकोण से हमें शिखर पर पहुँचाता है और शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गव्यु-हिरण्ययु

एष गव्युरचिक्रदत्पवमानो हिरण्ययुः। इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥ ४ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **गव्युः**=हमारे लिये प्रशस्त इन्द्रियों की कामना करता है, इन्द्रियों को शक्तिशाली बनाता है। **अचिक्रदत्**=प्रभु का आह्वान करता है, सोमरक्षण से मनुष्य प्रभु की ओर झुकाववाला होता है। **पवमानः**=यह हमारे जीवनों को पवित्र करता है। **हिरण्ययुः**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) हमारे लिये ज्ञान-ज्योति की कामनावाला होता है। (२) **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला यह सोम **सत्राजित्**=महान् शत्रुभूत आसुर वृत्तियों को जीतनेवाला होता है और **अस्तृतः**=स्वयं कभी हिंसित नहीं होता। शरीर में सोम के रक्षित होने पर रोग इस पर कभी आक्रमण नहीं कर पाते।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) हमारी इन्द्रियों को उत्तम बनाता है, (ख) हमें प्रभु-प्रवण करता है, (ग) पवित्र करता है, (घ) ज्ञान-ज्योति को दीप्त करता है, (ङ) हमें रोगादि शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होने देता।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य से स्पर्धा

एष सूर्येण हासते पवमानो अधि द्यवि। पवित्रे मत्सरो मदः ॥ ५ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **सूर्येण**=सूर्य से **हासते**=स्पर्धा करता है (हासतिः स्पर्धाकर्माणि)। अर्थात् सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमें सूर्य के समान तेजस्वी बनाता है। **पवमानः**=यह हमें पवित्र करता है। **अधि द्यवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में सूर्य के समान ज्ञान-ज्योतिवाला होता है। (२) **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **मत्सरः**=आनन्द का संचार करनेवाला होता है और **मदः**=उल्लास का जनक होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें सूर्य के समान दीप्तिवाला करता है।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृषा हरि

एष शुष्म्यसिष्यददन्तरिक्षे वृषा हरिः। पुनान इन्दुरिन्द्रमा ॥ ६ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **शुष्मी**=शत्रु-शोषक बलवाला है। **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में (अन्तराक्षि) मध्यमार्ग में यह **असिष्यदत्**=शरीर के अन्दर प्रवाहित होनेवाला होता है। अर्थात् जब हम अतिभोजन आदि से हटकर सदा नपी-तुली क्रियाओंवाले होते हैं तो यह हमारे अन्दर सुरक्षित रहता है। उस समय यह **वृषा**=हमें शक्तिशाली बनाता है और **हरिः**=हमारे सब रोगों का हरण करता है। (२) **पुनानः**=पवित्र करता हुआ यह **इन्दुः**=सोम (वीर्य) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **आ**=समन्तात् प्राप्त होता है। जितेन्द्रिय पुरुष इसका अपने में रक्षण करता है। रक्षित हुआ-हुआ यह उसके जीवन को आधि-व्याधियों से शून्य पवित्र बनाता है।

भावार्थ—सोम हमारे शरीर के अन्दर के शत्रुओं को नष्ट करता है।

इस सोम के रक्षण से बुद्धि भी तीव्र बनती है। सो सोम का रक्षक 'प्रियमेध' (प्रिया मेधा यस्मै) होता है। सोम का वर्णन करता हुआ प्रियमेध कहता है—

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'मनसस्पति' सोम

एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः। अव्यो वारं वि धावति ॥ १ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **वाजी**=शक्ति को देनेवाला है। **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले पुरुषों से **हितः**=अपने अन्दर स्थापित किया जाता है। शरीर के अन्दर स्थापित हुआ-हुआ यह सोम **विश्ववित्**=सब ज्ञानों को प्राप्त करानेवाला होता है तथा **मनसः पतिः**=मन का रक्षक होता है। सोम के सुरक्षित होने पर ज्ञानाग्नि तीव्र होती है तथा मन शुद्ध बनता है, मन में ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध नहीं उत्पन्न होते। (२) यह सोम **अव्यः**=रक्षण करनेवालों में उत्तम है और **वारम्**=सब वरणीय वस्तुओं को **विधावति**=विशेषरूप से प्राप्त कराता है। सोम के सुरक्षित होने पर सब धातुएँ ठीक बनी रहती हैं।

भावार्थ—लक्ष्य को ऊँचा बनानेवाले व्यक्ति सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह सोम शक्ति, ज्ञान व पवित्र भावनाओं को देनेवाला होता है।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिव्यता-तेजस्विता

एष प॒वित्रे॑ अक्षर॒त्सोमो॑ दे॒वेभ्यः॑ सु॒तः । विश्वा॒ धामा॒न्याविश॑न् ॥ २ ॥

(१) **एषः**=यह **सोमः**=सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **अक्षरत्**=संचरित होता है। सोम रक्षण के लिये हृदय की पवित्रता आवश्यक है। यह सोम **देवेभ्यः**=देवों के लिये, दिव्य गुणों के विकास के लिये **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। इसको रक्षण से हमारे जीवन में दिव्य गुणों का विकास होता है। (२) यह **विश्वा धामानि**=सब तेजों में **आविशन्**=प्रवेश करता हुआ होता है। सोम के रक्षण से अंग-प्रत्यंग तेजस्वी बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से दिव्य गुणों व तेजस्विता की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृत्रहा देववीतमः

ए॒ष दे॒वः शु॑भाय॒तेऽधि॒ योना॒वम॑र्त्यः । वृ॒त्र॒हा दे॑व॒वीत॑मः ॥ ३ ॥

(१) **एषः**=यह **देवः**=दिव्य गुणों के विकास का कारणभूत, **अमर्त्यः**=हमें रोगों के कारण असमय में न मरने देनेवाला सोम **अधियोनौ**=अपने उत्पत्ति-स्थान में, अर्थात् शरीर में ही **शुभायते**=शोभावाला होता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सब प्रकार की उन्नतियों का साधक होता है। शरीर को पृथक् हुआ-हुआ यह मल मात्र रह जाता है। (२) शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह **वृत्रहा**=सब ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करता है तथा **देववीतमः**=अधिक से अधिक दिव्य गुणों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शोभा की वृद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दशभिर्जामिभिर्यतः

ए॒ष वृषा॒ कनि॑क्रदद्द॒शभि॑र्जा॒मिभि॑र्य॒तः । अ॒भि द्रोणा॑नि धावति ॥ ४ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **वृषा**=शक्तिशाली है, शक्ति को देनेवाला है। **कनिक्रदत्**=प्रभु का आह्वान करता हुआ यह सोम **दशभिः**=दस **जामिभिः**=शक्तियों को प्रादुर्भूत करनेवाले प्राणों से **यतः**=संयत हुआ-हुआ **द्रोणानि अभि**=इन शरीर रूप पात्रों की ओर **धावति**=गतिवाला होता है, (२) प्राणापान के द्वारा सोम की ऊर्ध्वगति होती है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम हमें प्रभु-प्रवण करता है और शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—दस प्राणों के संयम से सोम शरीर में सुरक्षित होता है। सुरक्षित हुआ-हुआ यह हमें शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवमानः विचर्षणिः

ए॒ष सूर्य॑मरोचय॒त्पव॑मानो॒ विच॑र्षणिः । विश्वा॒ धामा॑नि विश्व॒वित् ॥ ५ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **अरोचयत्**=दीप्त करता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञान को दीप्त करता है। **पवमानः**=यह हमें पवित्र करनेवाला है।

विचर्षणिः=यह हमारा देखनेवाला व ध्यान करनेवाला है। हमें नीरोग रखता है। (२) यह हमारे अन्दर **विश्वा धामानि**=सब तेजों को (अरोचयत्) दीप्त करता है, और **विश्ववित्**=सब ज्ञानों को देनेवाला है (विद् ज्ञाने) अथवा सब आवश्यक वसुओं को प्राप्त कराता है (विद् लाभे)।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञान के सूर्य का उदय करता है और सब तेजों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**प्रियमेधः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शुष्मी अदाभ्यः

एष शुष्म्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति। देवावीरघशंसहा॥ ६॥

(१) **एषः**=यह सोम **शुष्मी**=हमें शत्रु-शोषक बल को प्राप्त कराता है। **अदाभ्यः**=रोगकृमियों व वासनाओं से हिंसित नहीं होता। **सोमः**=यह सोम **पुनानः**=हमें पवित्र करता हुआ **अर्षति**=गति करता है। (२) **देवावीः**=सुरक्षित हुआ-हुआ सोम दिव्यगुणों का प्रीणयिता होता है, दिव्य गुणों के द्वारा हमें तृप्त करता है और **अघशंसहा**=बुराई के शंसन करने की वृत्ति का विनाश करता है। हमारा अघों की ओर झुकाव नहीं रहता।

भावार्थ—सोम हमें 'सबल, नीरोग, पवित्र व दिव्य गुणयुक्त' बनाकर पाप से पराङ्मुख करता है।

पुनः नृमेध ऋषि कहता है—

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**नृमेधः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ओजस्विता व दिव्यगुण

प्रास्य धारा अक्षरन्वृष्णः सुतस्यौजसा। देवाँ अनु प्रभूषतः॥ १॥

(१) **अस्य**=इस **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **वृष्णः**=शक्ति को देनेवाले सोम की **धाराः**=धारायें **प्र अक्षरन्**=शरीर में प्रवाहित होती हैं। (२) शरीर में प्रवाहित होने पर ये सोम की धारायें **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **देवान् अनु**=दिव्य गुणों को **अनु**=लक्ष्य करके **प्रभूषतः**=(प्रभवितुमिच्छतः) हमें शक्तिशाली बनाने की कामना करती हैं। यह सोम हमें ओजस्वी बनाता है। हमें शक्तिशाली बनाकर हमारे अन्दर दिव्य गुणों का वर्धन करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें ओजस्वी व दिव्य गुण-सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—**नृमेधः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-ज्योति व स्तुति

सप्तिं मृजन्ति वेधसो गृणन्तः कारवो गिरा। ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम्॥ २॥

(१) **वेधसः**=बुद्धिमान् पुरुष, **गृणन्तः**=प्रभु-स्तवन करते हुए **कारवः**=उत्तमता से अपने कर्त्तव्य कर्मों को करनेवाले **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से इन ज्ञान की वाणियों के स्वाध्याय में लगकर **सप्तिम्**=इस शरीर में समवेत होनेवाले सोम को **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं (सप्=To connect)। सोम को परिशुद्ध रखने व शरीर में ही सम्बद्ध करने के तीन उपाय हैं—(क) प्रभु-स्तवन (गृणन्तः), (ख) कुशलता से कर्मों में लगे रहना (कारवः), (ग) स्वाध्याय (गिरा)। समझदार लोग इन उपायों से सोम को शरीर में ही व्याप्त करते हैं। (२) उस सोम को परिशुद्ध करते हैं जो कि **ज्योतिः जज्ञानम्**=ज्ञान-ज्योति को उत्पन्न कर रहा है तथा **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य है अथवा स्तुति में उत्तम है। अर्थात् हमें सुरक्षित होने पर प्रभु-स्तुति-प्रवण करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के साधन हैं—(क) प्रभु-स्तवन, (ख) कुशलता से कार्यों में व्यापृत रहना, (ग) स्वाध्याय। सुरक्षित सोम हमारी ज्ञानदीप्ति को बढ़ाता है और हमें प्रभु की स्तुति की ओर झुकाता है।

ऋषिः—**नृमेधः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उक्थ्य समुद्र का वर्धन

सुषहा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो। वर्धा समुद्रमुक्थ्यम्॥ ३॥

(१) हे **प्रभूवसो**=प्रभूत वसुओंवाले सोम, बहुत निवासक तत्त्वों से युक्त सोम! **पुनानाय**=गत मन्त्र के अनुसार 'स्वाध्याय, क्रियाशीलता व स्तवन' द्वारा तुझे पवित्र करनेवाले पुरुष के लिये **ते**=तेरे **तानि**=वे ज्ञान व स्तवन तेरे द्वारा दीप्त की गई ज्ञानाग्नि व उत्पन्न की गई प्रभु-स्तवन की वृत्ति **सुषहा**=अच्छी तरह शत्रुओं को कुचलनेवाली हैं। (२) हे सोम! तू **उक्थ्यम्**=उस स्तुति के योग्य **समुद्रम्**=सदा आनन्द के साथ (स-मुद्) निवास करनेवाले प्रभु को **वर्धा**=हमारे अन्दर बढ़ा। हमारे हृदयों में प्रभु के प्रकाश का वर्धन हो। हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों और उपासना में आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—सोम के सुरक्षित होने पर हम दीप्त ज्ञानवाले बनकर शत्रुओं को नष्ट करनेवाले हों और उपासना में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**नृमेधः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वसु विजय व द्वेष निराकरण

विश्वा वसूनि संजयन्पवस्व सोम धारया। इनु द्वेषांसि सध्र्यक्॥ ४॥

(१) हे **सोम**=सोम (वीर्यशक्ते!) **विश्वा वसूनि**=सब वसुओं को **संजयन्**=विजय करते हुए, निवास के लिये आवश्यक सब तत्त्वों को हमारे लिये प्राप्त कराते हुए **धारया**=अपनी धारणशक्ति के साथ **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। सोम के रक्षण से सब वसुओं की हमें प्राप्ति हो। (२) इन वसुओं को प्राप्त कराके **द्वेषांसि**=सब द्वेष की वृत्तियों को **सध्र्यक्**=साथ-साथ ही, अर्थात् इकट्ठे ही **इनु**=हमारे से सुदूर प्रेरित कर। सोम के रक्षण से हम सबल बनें और द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठें।

भावार्थ—सोमरक्षण से सब वसुओं की प्राप्ति होती है और सब द्वेष दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**नृमेधः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

निन्दनीय बातों से दूर

रक्षा सु नो अररुषः स्वनात्समस्य कस्य चित्। निदो यत्र मुमुच्महे॥ ५॥

(१) हे सोम! तू **समस्य कस्य चित्**=सब किसी **अररुषः**=न देने की वृत्तिवाले आत्मम्भरि असुर के **स्वनात्**=शब्दों से 'इदमद्य मया लब्धम्, इमं प्राप्स्ये मनोरथम्'=ये तो मिल गया, ये भी मनोरथ पूर्ण हो जाएगा 'असौ मया हतः शत्रुः हनिष्ये चापरानपि' उस शत्रु को तो मार दिया, औरों को भी मार डालूँगा। और तब 'ईश्वरोहं' मैं ही तो ईश्वर हूँगा 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया' मेरे समान होगा ही कौन? इन असुरों की बातों से **नः**=हमें **सुरक्षा**=अच्छी प्रकार बचा। हम असुरों के इन शब्दों से प्रकट होनेवाले विचारों से दूर रहें। (२) हे सोम! तू हमें आसुर भावों से दूर करके वहाँ पहुँचा **यत्र**=जहाँ कि **निदाः**=सब निन्दात्मक बातों से **मुमुच्महे**=हम अपने को मुक्त कर पायें। सब निन्दनीय आसुरभावों से ऊपर उठकर हम दिव्य जीवनवाले बनें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें सब आसुरभावों से बचानेवाला होता है, निन्दनीय कर्मों से हम पृथक् हो जाते हैं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्युमान् शुष्म

एन्दो पार्थिवं रयिं दिव्यं पवस्व धारया। द्युमन्तं शुष्ममा भर ॥ ६ ॥

(१) **इन्दो**=हे सोम! तू **पार्थिवं रयिम्**=इस शरीर रूप पृथिवी के दृढ़ता व शक्ति रूप धन को **आपवस्व**=हमें सर्वथा प्राप्त करा। इसी प्रकार **दिव्यं** (रयिं)=मस्तिष्क रूप द्युलोक के ज्ञानरूप धन को भी **धारया**=अपनी धारक शक्ति से हमारे लिये प्राप्त करा। (२) इस प्रकार **द्युमन्त**=प्रशस्त ज्ञान की ज्योतिवाले **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को **आभर**=तू हमारे लिये प्राप्त करानेवाला हो। सोमरक्षण से हमारे में 'ब्रह्म व क्षत्र' दोनों का विकास हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क बनाता है।

दृढ़ शरीर व दीप्त मस्तिष्क बनकर यह सब शत्रुओं का भेदन करनेवाला 'भिन्दु' होता हुआ 'बिन्दु' कहलाता है। सोम का रक्षक होने से भी यह सोम का पुतला 'बिन्दु' नामवाला ही हो जाती है (बिन्दुः सोम 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्')। यह कहता है—

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**बिन्दुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाणी का प्रकाश

प्र धारा अस्य शुष्मिणो वृथा पवित्रे अक्षरन्। पुनानो वाचमिष्यति ॥ १ ॥

(१) **शुष्मिणः**=शत्रु-शोषक बलवाले **अस्य**=इस सोम की **धाराः**=धारायें **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **वृथा**=अनायास ही **प्र अक्षरन्**=प्रकर्षेण क्षरित होती हैं। हृदय की पवित्रता सोम रक्षण का कारण बनती है। सोम शरीर में सुरक्षित होकर अंग-प्रत्यंग को शक्तिशाली बनाता है। (२) **पुनानः**=यह सोम हमारे जीवनों को और अधिक पवित्र करता हुआ **वाचं इष्यति**=प्रभु की वाणी को हमारे में प्रेरित करता है। पवित्र हृदय में प्रभु की वाणी का प्रकाश होता ही है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर को शक्तिशाली बनाता है (शुष्मिणः), हृदय को पवित्र करता है (पुनानः), ज्ञान की वाणियों को प्रेरित करता है।

ऋषिः—**बिन्दुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वग्नु+इन्द्रिय (ज्ञान+शक्ति)

इन्दुर्हियानः सोतृभिर्मृज्यमानः कनिक्रदत्। इयर्ति वग्नुमिन्द्रियम् ॥ २ ॥

(१) **इन्दुः**=यह सोम **सोतृभिः**=सोम का सम्पादन करनेवालों से **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता हुआ **हियानः**=शरीर में ही प्रेयमाण होता है। शरीर में प्रेरित होने पर यह **कनिक्रदत्**=प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है। सुरक्षित सोमवाले पुरुष की प्रवृत्ति प्रभु-स्मरण की ओर होती है। (२) यह सोम **वग्नुम्**=ज्ञान की वाणियों को तथा **इन्द्रियम्**=शक्ति को **इयर्ति**=हमारे में प्रेरित करता है। सोम के सुरक्षित होने पर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रिय इस सोम की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनती है, सुरक्षित सोम ही इन्हें शक्ति-सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**बिन्दुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नृषाह्य शुष्म

आ नः शुष्मं नृषाह्यं वीरवन्तं पुरुस्पृहम्। पवस्व सोम धारया ॥ ३ ॥

(१) **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **धारया**=अपनी धारण शक्ति से **नः**=हमारे लिये **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त करा। (२) उस बल को प्राप्त करा, जो कि **नृषाह्यम्**=सब मनुष्यों का पराभव करनेवाला है, जो हमें 'ईश्वरभाव' से युक्त करता है, हमें शासन शक्ति प्राप्त कराता है। **वीरवन्तम्**=जो बल वीर पुत्रोंवाला है, हमारे सन्तानों को भी वीर बनानेवाला है। **पुरुस्पृहम्**=पालक व पूरक होता हुआ स्पृहणीय है। यह बल शरीर का पालन करता है, मन का पूरण करता है और अतएव स्पृहणीय होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'नृषाह्य-वीरवान्-पुरुस्पृह' बल को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**बिन्दुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अभि द्रोणानि

प्र सोमो अति धारया पवमानो असिष्यदत्। अभि द्रोणान्यासदम् ॥ ४ ॥

(१) **सोमः**=सोम **धारया**=अपनी धारणशक्ति के साथ **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **प्र अति असिष्यदत्**=खूब ही शरीर में प्रवाहित होता है। (२) यह सोम स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर रूप **द्रोणानि**=पात्रों में **अभि आसदम्**=आभिमुख्येन प्राप्त होने के लिये होता है। शरीरों में स्थित होता हुआ यह उन्हें अपनी-अपनी शक्ति से युक्त करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम सब कोशों को पवित्र करनेवाला होता है।

ऋषिः—**बिन्दुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'मधुमत्तम-हरि' सोम

अप्सु त्वा मधुमत्तमं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दविन्द्राय पीतये ॥ ५ ॥

(१) **अप्सु**=कर्मों में **मधुमत्तमम्**=अत्यन्त माधुर्यवाले, सब कर्मों को अत्यन्त मधुर बनानेवाले, **हरिम्**=सब रोगों व मलों का हरण करनेवाले **त्वा**=तुझ को **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा (अद्रि=adore) **हिन्वन्ति**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। (२) हे **इन्दो**=सोम! अन्दर प्रेरित हुआ-हुआ तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पीतये**=(पानं पीतिः) रक्षण के लिये होता है। तू इस जितेन्द्रिय पुरुष को रोगों व वासनाओं का शिकार नहीं होने देता।

भावार्थ—सुरक्षित सोम रोगों का हरण करने से 'हरि' होता है। यह हमारे सब कार्यों में माधुर्य को ले आता है। प्रभु की उपासना से यह सोम शरीर में सुरक्षित होता है।

ऋषिः—**बिन्दुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'चारु मत्सर' सोम

सुनोता मधुमत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे। चारुं शर्धाय मत्सरम् ॥ ६ ॥

(१) **मधुमत्तमम्**=हमारे सब कर्मों को अत्यन्त मधुर बनानेवाले **सोमम्**=सोम को **वज्रिणे**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **सुनोता**=उत्पन्न करो। सोम का रक्षण

क्रियाशील जितेन्द्रिय पुरुष ही कर पाता है। सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम उसके सब कर्मों व व्यवहारों को मधुर बनाता है। (२) इस **चारुम्**=जीवन को सुन्दर बनानेवाले, **मत्सरम्**=आनन्द का संचार करनेवाले सोम को **शर्धाय**=बल के लिये सम्पादित करो। यह सोम ही तुम्हें वह शक्ति प्राप्त करायेगा जो कि शत्रुओं का संहार करती है। (शृध् to cutoff, hurt)।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे शत्रुओं का संहार करता है और हमारे जीवन को मधुर बनाता है।

सोमरक्षण से प्रशस्त इन्द्रियोंवाला यह 'गो-तम' बनता है। यह कहता है कि—

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चेतनं रयिम्

प्र सोमा॑सः स्वा॒ध्य१॒ पव॑मानासो अक्रमुः। र॒यिं कृ॑ण्वन्ति॒ चेत॑नम्॥ १॥

(१) **सोमासः**=सोमकण **प्र अक्रमुः**=शरीर में प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। शरीर में गतिवाले होकर ये **स्वाध्यः**=उत्कृष्ट धी-बुद्धि व ज्ञानवाले होते हैं 'सुध्मानाः सुकर्माणो वा सा०' उत्तम ध्यान व कर्मोंवाले होते हैं। **पवमानासः**=ये हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। (२) सुरक्षित होने पर ये **चेतनं रयिम्**=ज्ञान धन को **कृण्वन्ति**=हमारे लिये करनेवाले होते हैं। सोमकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। इस दीप्त ज्ञानाग्नि से ज्ञानधन प्राप्त होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें उत्तम ध्यान कर्म व ज्ञानवाला बनाता है। हमें यह पवित्र करता है।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'द्युम्नवर्धन' सोम

दि॒वस्पृ॑थि॒व्या अधि॒ भवे॑न्दो द्यु॒म्नवर्ध॑नः। भवा॒ वाजा॑नां॒ पतिः॑ ॥२॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! तू **दिवः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक के तथा **पृथिव्याः**=शरीर रूप पृथिवी के **अधि**=आधिक्येन **द्युम्नवर्धनः**=द्योतमान धन का बढ़ानेवाला **भव**=हो। मस्तिष्क में तू ज्ञान को बढ़ा, शरीर में शक्ति को। इस प्रकार मस्तिष्क भी ज्योतिर्मय बनता है और शरीर तेजस्वी। (२) हे सोम! तू **वाजानां पतिः**=शक्तियों का रक्षक **भवा**=हो। सुरक्षित सोम से ही सब अंग-प्रत्यंगों की शक्ति बढ़ती है।

भावार्थ—हे सोम! तू सुरक्षित होकर सब शक्तियों का रक्षण करनेवाला हो।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'प्राणायाम व स्वाध्याय' से सोमरक्षण

तुभ्यं॒ वाता॑ अभि॒प्रिय॒स्तुभ्य॑मर्षन्ति॒ सिन्ध॑वः। सोम॒ वर्ध॑न्ति॒ ते॒ महः॑ ॥ ३॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **तुभ्यम्**=तेरे लिये **वाताः**=प्राण **अभिप्रियः**=अभिप्रीणित करनेवाले होते हैं। प्राणायाम के द्वारा शरीर में इन सोमकणों की ऊर्ध्वगति होती है। इसी प्रकार **तुभ्यम्**=तेरे लिये **सिन्धवः**=ज्ञान के समुद्र **अर्षन्ति**=गतिवाले होते हैं। जितना-जितना हम स्वाध्याय की वृत्तिवाले बनते हैं, उतना-उतना ही हम सोमरक्षण के योग्य बनते हैं। स्वाध्याय से हम व्यसनों से बचे रहते हैं। यह व्यसनों से रक्षण हमारे लिये सोमरक्षण का साधन बन जाता है। सुरक्षित सोम

इस ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त करता है। एवं प्राणायाम व स्वाध्याय से सोम का रक्षण होता है। (२) **सोम**=हे सोम! ये प्राणायाम और स्वाध्याय **ते महः**=तेरे तेज को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। शरीर में सुरक्षित सोम हमें तेजस्वी बनाता है।

भावार्थ—प्राणायाम व स्वाध्याय के द्वारा सोम का रक्षण करके हम तेजस्वी बनें।

ऋषिः—**गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वाजयुक्त जीवन

आ प्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे॥ ४॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू गत मन्त्र के अनुसार प्राणायाम व स्वाध्याय के द्वारा शरीर में **आप्यायस्व**=आप्यायित हो। **ते**=तेरा **वृष्ण्यम्**=बल **विश्वतः समेतु**=सब ओर शरीर के अंग-प्रत्यंग में संगत हो। (२) तू **वाजस्य**=शक्ति के **संगथे**=मेल के निमित्त **भवा**=हो। तेरे सुरक्षित होने से हमारा जीवन वाजवाला (vigorous) शक्तिशाली हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को वाजी (vigorous) बनाता है।

ऋषिः—**गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम्य भोजन

तुभ्यं गावो घृतं पयो बभ्रो दुदुह्रे अक्षितम्। वर्षिष्ठे अधि सानवि॥ ५॥

(१) हे **बभ्रो**=खूब ही भरण-पोषण करनेवाले सोम! **तुभ्यम्**=तेरे लिये **गावः**=गौवें **अक्षितम्**=जिन से वीर्य का क्षय नहीं होता ऐसे **घृतम्**=घृत को व **पयः**=दूध को **दुदुह्रे**=दोहती हैं। अर्थात् गोघृत व गोदुग्ध वे सोम्य भोजन हैं, जिनसे कि शरीर में सोम सुरक्षित रहता है। (२) शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम **वर्षिष्ठे**=सर्वोच्च **अधिसानवि**=शिखर प्रदेश पर पहुँचता है। यह वर्षिष्ठ सानु शरीर में मस्तिष्क है। मस्तिष्क में पहुँचा हुआ यह सोम वहाँ ज्ञानाग्नि को खूब दीप्त करता है। यह दीप्त ज्ञान ब्रह्म का हमारे लिये प्रकाश करता है।

भावार्थ—गोघृत व गोदुग्ध वे सोम्य भोजन हैं जो हमारे में वीर्य को सुरक्षित रखते हैं।

ऋषिः—**गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्वायुध सोम

स्वायुधस्य ते सतो भुवनस्य पते वयम्। इन्दो सखित्वमुश्मसि॥ ६॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! **वयम्**=हम **ते**=तेरे **सखित्वम्**=सखित्व को, मित्रता को **उश्मसि**=चाहते हैं। हम तुझे अपने शरीर में ही सुरक्षित करते हैं। (२) जो तू **भुवनस्य पते**=पृथिवी (शरीर), अन्तरिक्ष (हृदय) व द्युलोक (मस्तिष्क) का पति-स्वामी व रक्षक है। और **स्वायुधस्य**=उत्तम 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों (शस्त्रों) वाले **सतः**=होते हुए तेरे हम मित्र बनते हैं। सुरक्षित सोम से 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' सभी उत्तम बनते हैं। ये हमारे लिये जीवन-संग्राम में विजय को प्राप्त करानेवाले उत्तम आयुध हैं। सोम ही इन्हें ऐसा बनाता है।

भावार्थ—सोम 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' रूप उत्तम आयुधों को प्राप्त कराता है, शरीर, हृदय व मस्तिष्क का रक्षण करता है।

यह सोम हमें 'श्यावाश्व' गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाला बनाता है। यह श्यावाश्व कहता है—

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**श्यावाश्वः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

श्रवसे विदथे

प्र सोमा॑सो मद॒च्युत॒: श्रव॑से नो म॒घोन॑: । सु॒ता वि॒दथे॑ अक्रमुः ॥ १ ॥

(१) **सोमासः**=शरीरस्थ सोम (=वीर्य) कण **मदच्युतः**=(मदस्राविणः) हमारे जीवनों में उल्लास को पैदा करनेवाले हैं। **मघोनः**=(मघ=मख) यज्ञशील **नः**=हमारे प्रति **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **अक्रमुः**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। यज्ञशीलता हमें विषय-वासनाओं से बचाती है और इस प्रकार हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है। (२) इस प्रकार यज्ञशीलता से शरीर में सुरक्षित हुए-हुए सोमकण **श्रवसे**=यशस्वी जीवन के लिये तथा **विदथे**=ज्ञान प्राप्ति के लिये होते हैं। सोम के रक्षण से हमारे बल उत्तम होते हैं, वे कर्म हमारे यश का कारण बनते हैं। तथा इस सोमरक्षण से हमारे ज्ञान की भी वृद्धि होती है। सोम कर्मेन्द्रियों को सशक्त तथा ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानदीप्त बनाता है।

भावार्थ—यज्ञशीलता के द्वारा शरीर में सुरक्षित सोम हमारे उल्लास का कारण होता हुआ हमारे कर्मों को यशस्वी बनाता है तथा हमारे ज्ञान को दीप्त करता है।

ऋषिः—**श्यावाश्वः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्राय-पीतये

आदीं॑ त्रि॒तस्य॒ योष॑णो॒ हरिं॑ हिन्व॒न्त्यद्रि॑भिः । इन्दु॒मिन्द्रा॑य पी॒तये॑ ॥ २ ॥

(१) **आत्**=अब **ईम्**=निश्चय से **त्रितस्य**='काम-क्रोध-लोभ' को जीतनेवाले (त्रीन् तरति) अथवा 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करनेवाले (त्रीन् तनोति) उपासक की **योषणः**=वाणियाँ ('योषा हि वाक्' श० १।४।४।४) **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा (आदृ adore) **इन्दुम्**=शक्ति को देनेवाले **हरिम्**=सब रोगों का हरण करनेवाले सोम को **हिन्वन्ति**=शरीर में ही प्रेरित करती है। 'ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु का उपासन' हमें सोमरक्षण के योग्य बनाता है। उपासना से वृत्ति वासनामय नहीं होती। यह शुद्ध वृत्ति ही सोम का रक्षण कराती है। (२) यह सुरक्षित सोम **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिये होता है तथा **पीतये**=रक्षा के लिये होता है। इहलोक के दृष्टिकोण से यह हमें नीरोग बनाता है तथा परलोक के दृष्टिकोण से यह हमें प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चलाता है।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु का उपासन हमें सोम के रक्षण के योग्य बनाता है। रक्षित सोम हमें प्रभु की ओर ले चलता है और हमारा रक्षण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**श्यावाश्वः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गणं-मतिम्

आदीं॑ हं॒सो यथा॑ ग॒णं विश्व॑स्यावीवश॒न्मति॑म् । अत्यो॒ न गोभि॑रज्यते ॥ ३ ॥

(१) **अत्**=अब **ईम्**=निश्चय से **हंसः**=हमारे सब रोगों का हनन करनेवाला (हन्ति इति हंसः) गत मन्त्र का हरि (हरति) यह सोम **विश्वस्य**=सोम को शरीर में ही प्रविष्ट करनेवाले पुरुष के **यथा**=जैसे **गणम्**=इन्द्रिय गणों को उसी प्रकार **मतिम्**=बुद्धि को **अवीवशत्**=निरन्तर चाहता है। शरीर में व्याप्त होने पर यह सोम कर्मेन्द्रियों को व ज्ञानेन्द्रियों को तथा बुद्धि को उत्तम बनाता है। (२) **अत्यः न**=यह सोम निरन्तर गतिवाले घोड़े के समान होता है। यह हमें खूब ही

क्रियाशील बनाता है। **गोभिः**=यह ज्ञान की वाणियों से **अज्यते**=शरीर में अलंकृत किया जाता है।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्ति में लगे रहें, तो सोम शरीर में सुरक्षित रहता है।

ऋषिः—**श्यावाश्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शरीर व मस्तिष्क का ध्यान करना

उभे सोमावचाकशन्मृगो न तक्तो अर्षसि। सीदन्नृतस्य योनिमा॥ ४॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **उभे**=दोनों द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **अवचाकशत्**=देखता हुआ दोनों का ध्यान करता हुआ तू **अर्षसि**=शरीर में गतिवाला होता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ तू **मृगः न**=जैसे आत्मान्वेषण की वृत्तिवाला होता है, उसी प्रकार **तक्तः**=(To rush upon) रोगों पर धावा बोलनेवाला होता है, रोगों पर आक्रमण करके उन्हें दूर करनेवाला होता है। (२) हे सोम! तू **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **सीदन्**=स्थित होता हुआ **आ**=हमें प्राप्त हो। अर्थात् तू हमें प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर, ऋत के मार्ग पर चलाता हुआ प्रभु को प्राप्त करानेवाला बन। प्रभु ऋत के उत्पत्ति-स्थान हैं। यह सोमरक्षक ऋत को अपनाता हुआ सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करता हुआ प्रभु को प्राप्त होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ बनाता है। यह रोगों पर आक्रमण करता है, अन्ततः हमें प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**श्यावाश्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-स्मरण व युद्ध

अभि गावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम्। अगन्नाजिं यथा हितम्॥ ५॥

(१) **गावः**=ज्ञान की वाणियाँ व इन्द्रियाँ उसी प्रकार **अभि अनूषत**=दिन के दोनों ओर प्रातः-सायं प्रभु का स्तवन करती हैं, **इव**=जैसे कि कोई **योषा**=स्त्री **प्रियं जारम्**=अपने प्रिय व्यक्ति को स्तुत करती है। वह स्त्री जैसे अपने प्रिय का सर्वभावेन स्मरण करती है, इसी प्रकार इस उपासक की वाणियाँ प्रभु का ही स्तवन करती हैं। (२) ये **यथा**=जैसे प्रभु-स्मरण करते हैं, उसी प्रकार **हितं आजिम्**=हितकर संग्राम को वासनाओं के साथ चलनेवाले सात्त्विक संग्राम को **अगन्**=प्राप्त होते हैं। यह संग्राम मनुष्य का वास्तविक हित करनेवाला है, यही सात्त्विक संग्राम है। इस संग्राम में प्रभु-स्मरण से ही तो विजय होती है।

भावार्थ—इस प्रकार प्रातः-सायं प्रभु-स्मरण करते हुए हमें इस सात्त्विक संग्राम को करते चलना है।

ऋषिः—**श्यावाश्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्युमद्यशः, सनिं मेधां उत श्रवः

अस्मे धेहि द्युमद्यशो मघवद्भ्यश्च मह्यं च। सनिं मेधामुत श्रवः॥ ६॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-स्मरण के साथ सात्त्विक संग्राम के द्वारा वासनाओं का पराजय करने पर सुरक्षित हुए-हुए सोम! तू **अस्मे**=हमारे लिये **द्युमद्यशः**=ज्योतिर्मय यश को **धेहि**=धारण कर। तेरे द्वारा हमारी ज्ञान-ज्योति बढ़े तथा हम यशस्वी कार्यों को ही करनेवाले हों। (२) **मघवद्भ्यः**=यज्ञशील पुरुषों के लिये **च**=और **मह्यम्**=मेरे लिये **सनिं मेधाम्**=धनों का उचित संविभाग करनेवाली बुद्धि को **उत**=और **श्रवः**=ज्ञान को धारण कर। सुरक्षित सोम से हमें बुद्धि

व ज्ञान प्राप्त हो।

भावार्थ—सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमारे जीवन को 'ज्योतिर्मय, यशस्वी, मेधावाला तथा ज्ञान-सम्पन्न' बनाये।

सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही हमें 'त्रित' बनाता है, 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों को तराता है। यही हमारे 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करता है (त्रीन् तनोति)। यह त्रित ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विपश्चित् सोम

प्र सोमा॑सो विप॒श्चितो॒ऽपां न य॑न्त्यू॒र्मयः॑। वना॑नि महि॒षाइ॑व॥ १॥

(१) **विपश्चितः**=हमारे जीवनों में ज्ञानों का वर्धन करनेवाले **सोमासः**=सोमकण **प्रयन्ति**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार हमें प्राप्त होते हैं, **न**=जैसे कि **अपां ऊर्मयः**=प्रजाओं को 'भूख-प्यास, शोक-मोह व जरा-मत्यु' रूप छह ऊर्मियाँ प्राप्त होती हैं। सामान्य मनुष्य को भूख-प्यास अवश्य लगती ही है। इसी प्रकार हमें सोमकण अवश्य प्राप्त हों। (२) सोमकण हमें इस प्रकार प्राप्त हों **इव**=जैसे कि **महिषाः**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले लोग **वनानि**=वनों को, एकान्त देशों को प्राप्त होते हैं। उपासक एकान्त देश को प्राप्त करके प्रभु के उपासन में प्रवृत्त होता है। हमें भी सोम प्राप्त होकर इसी प्रकार उपासना की वृत्तिवाला बनायें।

भावार्थ—सोमकणों को शरीर में सुरक्षित रखकर हम अपने ज्ञानों का वर्धन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गोमान् वाज

अ॒भि द्रोणा॑नि ब॒भ्रवः॑ शु॒क्रा ऋ॒तस्य॒ धार॑या। वाजं॒ गोम॑न्तमक्षरन्॥ २॥

(१) **बभ्रवः**=हमारा धारण करनेवाले, **शुक्राः**=ज्ञान की दीप्ति को बढ़ानेवाले ये वीर्यकण **ऋतस्य धारया**=ऋत के धारण के साथ—'जो भी ठीक है' उसे प्राप्त कराते हुए **द्रोणानि अभि**=शरीर रूप पात्रों में प्राप्त होते हैं। शरीर में सुरक्षित होने पर ये सोमकण (क) हमारा धारण करते हैं, (ख) ज्ञानदीप्ति का वर्धन करते हैं, (ग) 'जो चीज ठीक है' उसे हमारे में सुरक्षित करते हैं। (२) ये सोमकण **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले **वाजम्**=बल को **अक्षरन्**=हमारे में क्षरित करते हैं। 'गोमन्तं' शब्द का अर्थ 'प्रशस्त इन्द्रियोंवाले' भी किया जा सकता है। सोम हमारी इन्द्रियों को शक्तिशाली बनाता है, हमें बल को प्राप्त कराते हैं तथा हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं।

भावार्थ—शरीर में धारित सोम (क) हमारा धारण करते हैं, (ख) हमारी दीप्ति को बढ़ाते हैं, (ग) हमें ठीक रखते हैं, (घ) बल का वर्धन करते हैं, (ङ) ज्ञान को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र से महेन्द्र तक

सु॒ता इन्द्रा॑य वा॒यवे॒ वरु॑णाय म॒रुद्भ्यः॑। सोमा॑ अर्षन्ति॒ विष्ण॑वे॥ ३॥

(१) **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता, बल के कर्मों को करनेवाले

इन्द्र के लिये होते हैं, ये हमें इन्द्र बनाते हैं। (२) **वायवे**=(वा गतिगन्धनयोः) ये हमें गति के द्वारा सब बुराइयों का गन्धन (=हिंसन) करनेवाले बनाते हैं। (३) **वरुणाय**=ये हमारे से द्वेष आदि का निवारण करते हैं (निवारयति) सोम का रक्षण होने पर हमारे मनों में 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' नहीं उत्पन्न होते। (४) **मरुद्भ्यः**=(मरुतः प्राणाः) ये हमारे जीवनों में प्राणशक्ति का वर्धन करते हैं। वस्तुतः सोम ही प्राण है। सोमरक्षण से ही प्राणशक्ति बनी रहती है। (५) ये **सोमाः**=सोमकण **विष्णवे**=उस सर्वव्यापक प्रभु के लिये **अर्षन्ति**=गतिवाले होते हैं, इनके रक्षण से अन्ततः हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। ये हमें 'विष् व्याप्तौ' व्यापक हृदयवाला बनाते हैं यह व्यापकता ही (उदारता ही) धर्म है 'उदारं धर्ममित्याहुः'। धर्मात्मा होते हुए हम प्रभु को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सोमकण सुरक्षित होने पर हमें 'सबल इन्द्रियोंवाला, गतिशील, निर्द्वेष, प्राणशक्ति-सम्पन्न व प्रभु को प्राप्त करनेवाला' बनाते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तिस्रो वाचः

तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः। हरिरेति कनिक्रदत्॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर **तिस्रः वाचः**='ऋग्-यजु-साम' रूप तीनों वाणियाँ हमारे हृदयों में **उदीरते**=उच्चरित होती हैं। हम मस्तिष्क में विज्ञान से दीप्त होते हैं, हाथों से यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले बनते हैं और हृदय में उपासना की वृत्तिवाले होते हैं। (२) इस सोम के रक्षित होने पर **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली **गावः**=ये वेदवाणीरूप गौवें (ज्ञान की वाणियाँ) **मिमन्ति**=हमारे अन्दर शब्दायमान होती हैं। वस्तुतः **हरिः**=यह दुःखों का हरण करनेवाला सोम **कनिक्रदत्**=गर्जना करता हुआ, प्रभु का उपासन करता हुआ **एति**=हमें प्राप्त होता है। सोमरक्षण से हमारी वृत्ति प्रभु की उपासना की बनती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम 'ऋग्-यजु-साम' रूप वाणियों को प्राप्त करते हैं, वेदवाणीरूप गौ हमारे में शब्दायमान होती है। हम प्रभु का नाम-स्मरण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

स्वाध्याय द्वारा सोम शुद्धि

अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीर्ऋतस्य मातरः। मर्मृज्यन्ते दिवः शिशुम्॥ ५॥

(१) **ब्रह्मीः**=ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाली इन ज्ञान की वाणियों का **अभि**=लक्ष्य करके उपासक **अनूषत**=उस प्रभु का स्तवन करते हैं। ये वेदवाणियाँ **यह्वी**=महान् हैं, इनके द्वारा प्रभु की ओर जाया जाता है और प्रभु को पुकारा जाता है (यातश्च हूतश्च नि०)। ये **ऋतस्य मातरः**=हमारे जीवनों में ऋत का निर्माण करनेवाली हैं। हमारे से अनृत को दूर करके ये हमें ऋत की ओर ले चलती हैं। (२) ये **दिवः शिशुम्**=ज्ञान के तीव्र करनेवाले (शो तनूकरणे) ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले सोम को **मर्मृज्यन्ते**=खूब ही शुद्ध कर देती हैं। 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्'। सोम शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता हुआ मस्तिष्क में पहुँचता है। सब से प्रथम इस शरीर रूप पृथिवी में यह नीरोगता व दृढ़ता को जन्म देता है। फिर दूसरे हृदयान्तरिक्ष में यह निर्मलता को, निर्द्वेषता आदि को लानेवाला होता है। अन्ततः तीसरे द्युलोक में यह ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। वेदवाणियाँ इस सोम को शुद्ध रखती हैं। वेदवाणियों का अध्येता पुरुष वासनाओं से बचा रहता है। यह वासनाओं से बचाव ही सोम को शुद्ध रखता है।

भावार्थ—हम स्वाध्याय में प्रवृत्त रहें जिससे हमारा सोम शुद्ध बना रहे।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रायः समुद्रान् चतुरः

रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणः॥ ६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **चतुरः**=चारों **सहस्रिणः**=सहस्र संख्यावाले व (सहस्) आनन्द से युक्त **रायः समुद्रान्**=ज्ञानैश्वर्य के समुद्रों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **विश्वतः**=सब ओर से **आपवस्व**=प्राप्त करा। (२) चार वेद ही चार ज्ञानैश्वर्य के समुद्र हैं। सोम हमें इन्हें प्राप्त कराये। सोम के रक्षित होने पर ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हम इन ज्ञान-समुद्रों को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। इन ज्ञानैश्वर्यों को प्राप्त करके हमारा जीवन आनन्दमय होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें सोमरक्षण द्वारा दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनाकर चारों ज्ञानैश्वर्य के समुद्र रूप वेदों को प्राप्त करायें।

इनको प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ही त्रित बनता है, तीनों का 'शरीर, मन व बुद्धि का' विकास करनेवाला (त्रीन् तनोति) अथवा काम-क्रोध-लोभ तीनों को तैरनेवाला 'त्रीन् तरति'। यह त्रित कहता है—

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

धारया-तना

प्र सुवानो धारया तनेन्दुर्हिन्वानो अर्षति। रुजद् दृळ्हा व्योजसा॥ १॥

(१) **सुवानः**=शरीर में उत्पन्न किया जाता हुआ **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **धारया**=धारणशक्ति के हेतु से तथा **तना**=शक्तियों के विस्तार के हेतु से **हिन्वानः**=शरीर के अन्दर प्रेरित किया जाता हुआ **प्रअर्षति**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। शरीर में धारण किया हुआ यह सोम हमारा धारण करता है, हमारी शक्तियों का विस्तार करता है। (२) यह सोम **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **दृढा**=दृढ़ भी शत्रु पुरियों को काम-क्रोध-लोभ की नगरियों को **विरुजत्**=विशेषेण भग्न कर देता है। सोमरक्षण से काम-क्रोध-लोभ का विनाश करके ही यह 'त्रित' बनता है, तीनों को तैरनेवाला।

भावार्थ—सोम (क) हमारा धारण करता है, (ख) यह हमारी शक्तियों का विस्तार करता है, (ग) काम-क्रोध-लोभ का विनाश करता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

'इन्द्र-वायु-वरुण-मरुत्-विष्णु'

सुत इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमो अर्षति विष्णवे॥ २॥

(१) **सुतः**=उत्पन्न हुआ **सोमः**=सोम (वीर्य) **अर्षति**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में गतिवाला होता है। उस समय यह **इन्द्राय**=इन्द्रियों को सशक्त बनाने के लिये होता है। **वायवे**=गतिशीलता के लिये होता है। हमें यह बड़ा स्फूर्तिमय बनाता है। **वरुणाय**=यह द्वेष के निवारण के लिये होता है, सोम के रक्षण के होने पर हमारे मनों में द्वेष आदि के भाव नहीं पनपते। **मरुद्भ्यः**=यह प्राणों के लिये होता है, इस सोम के रक्षण से प्राणशक्ति का वर्धन होता है। (२) और अन्ततः

यह **विष्णवे**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति के लिये होता है, हमें उदार और उदार बनाता हुआ प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है। हम जितने-जितने विशाल मनवाले बनते जाते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप होते जाते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'सशक्त, गतिशील, निर्द्वेष, प्राणशक्ति-सम्पन्न व उदार हृदय' बनाता है।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः** ॥

आप्यायन

वृषाणं वृषभिर्यतं सुन्वन्ति सोममद्रिभिः। दुहन्ति शक्मना पयः ॥ ३ ॥

(१) **वृषाणम्**=शक्ति को देनेवाले, **वृषभिः यतम्**=शक्तिशाली पुरुषों से शरीर में ही संयत किये गये **सोमम्**=सोम को (वीर्यशक्ति को) **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा **सुन्वन्ति**=अपने में उत्पन्न करते हैं। प्रभु की उपासना से सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है। (२) **शक्मना**=शक्ति की प्राप्ति के हेतु से ये उपासक इस सोम से **पयः दुहन्ति**=शरीर में आप्यायन-वर्धन का दोहन करते हैं, प्रपूरण करते हैं। सोम के रक्षण से सब अंगों की शक्ति का वर्धन व आप्यायन होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से सब अंगों की शक्ति का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मर्ज्यः-मत्सरः

भुवत्त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सरः। सं रूपैरज्यते हरिः ॥ ४ ॥

(१) यह सोम **त्रितस्य**='काम-क्रोध-लोभ' को तैर जानेवाले का **मर्ज्यः**=शोधन करनेवालों में उत्तम होता है। सुरक्षित हुआ-हुआ सोम त्रित के जीवन को बड़ा सुन्दर बना देता है। यह **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मत्सरः**=आनन्द का संचार करनेवाला **भुवत्**=होता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम उल्लास को पैदा करता है। (२) यह **हरिः**=सब रोगों का हरण करनेवाला सोम **रूपैः**=सौन्दर्यों से **समज्यते**=समलंकृत किया जाता है। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर सब अंग-प्रत्यंग शोभायमान होते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को शुद्ध, उल्लासमय व उत्तम रूपवान् बनाता है।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रियतम हवि

अभीमृतस्य विष्टपं दुहते पृश्निमातरः। चारु प्रियतमं हविः ॥ ५ ॥

(१) **पृश्निमातरः**=('संस्प्रष्टा भासां' नि०) ज्ञान-ज्योतियों का स्पर्श करनेवाले (पृश्नि) निर्माण के कार्यों में लगनेवाले (मातरः) लोग **ईम्**=निश्चय से इस सोम को **अभिदुहते**=शरीर में शक्ति के लिये तथा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि की दीप्ति के लिये अपने अन्दर प्रपूरित करते हैं। (२) उस सोम को अपने अन्दर प्रपूरित करते हैं, जो कि **ऋतस्य विष्टपम्**=ऋत का लोक है, ऋत अर्थात् यज्ञ का आधार है। सोम के रक्षित होने पर वृत्ति यज्ञिय बनती है। **चारु**=यह सोम सुन्दर है, चरणीय है, भक्षणीय है, शरीर के ही अन्दर व्यापन के योग्य है। यह **प्रियतमं हविः**=प्रियतम हवि है, शरीर में सुरक्षित होने पर अधिक से अधिक प्रीणित करनेवाला है। यह जीवनयज्ञ की सर्वोत्तम हवि है। इसे शरीर में सुरक्षित रखना ही चाहिये।

भावार्थ—ज्ञानी व निर्माण के कार्य में लगे हुए व्यक्ति इस सोम का रक्षण करते हैं। सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम जीवन को ऋतमय बनाता है।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** । स्वरः—**षड्जः** ॥

अह्रुताः गिरः

समेनमह्रुता इमा गिरो अर्षन्ति सस्रुतः। धेनूर्वाश्रो अवीवशत् ॥ ६ ॥

(१) **एनम्**=इस सोम को **इमाः**=ये **सस्रुतः**=समानरूप से मिलकर प्रवाहित होनेवाली **अह्रुताः**=अकुटिल, हमें कुटिलता से दूर ले जानेवाली **गिरः**=ज्ञान की वाणियाँ **सं अर्षन्ति**=सम्यक् प्राप्त होती हैं। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर हमें 'ऋग्-यजु-साम' रूप ज्ञान की वाणियाँ समानरूप से प्राप्त होती हैं, मस्तिष्क में विज्ञान (ऋग्), हाथों में कर्म (यजुः) तथा मन में उपासना (साम) वाले हम बनते हैं। (२) **वाश्रः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाली यह शक्ति **धेनूः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली इन वेदवाणीरूप गौओं को **अवीवशत्**=खूब ही चाहता है। इनमें प्रीतिवाला होने से सोम रक्षित होता है। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये ज्ञान की वाणियों की प्राप्ति में लगे रहना आवश्यक है।

इस सोम के रक्षण से हम 'प्रभूवसु' बनते हैं—'प्रभावयुक्त वसुओंवाले'। प्रकृष्ट सामर्थ्यों से युक्त वसुओंवाला यह सोम के विषय में कहता है—

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रभूवसुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रयि-ज्योति

आ नः पवस्व धारया पवमान रयिं पृथुम्। यया ज्योतिर्विदासि नः ॥ १ ॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **धारया**=अपनी धारण शक्ति के द्वारा **नः**=हमारे लिये **पृथुं रयिम्**=विशाल धन को **आपवस्व**=प्राप्त करा। इस सोम के रक्षण से हम स्वस्थ शरीर बनकर आवश्यक धनों को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। (२) हे सोम! तू हमें उस धारणशक्ति के साथ प्राप्त हो, **यया**=जिससे **नः**=हमारे लिये **ज्योतिः**=प्रकाश को **विदासि**=प्राप्त कराता है। इस सोम से ही शरीर में ज्ञानाग्नि का दीपन होता है, यह दीप्त ज्ञानाग्नि से हम ज्योति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सोम के रक्षण से हमें रयि (धन) व ज्योति (ज्ञान) की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**प्रभूवसुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

समुद्रमीङ्खय-विश्वमेजय

इन्दो समुद्रमीङ्खय पवस्व विश्वमेजय। रायो धर्ता न ओजसा ॥ २ ॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! शक्ति को बढ़ानेवाले वीर्य, **समुद्रमीङ्खय**=जो तू हमारे अन्दर ज्ञान-समुद्र को प्रेरित करनेवाला है, ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला है तथा जो तू **विश्वमेजय**=शरीर में प्रविष्ट हो जानेवाले रोगकृमियों को कम्पित करनेवाला है, वह तू **नः**=हमारे लिये **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **रायः धार्ता**=ज्ञानैश्वर्य का धारण करनेवाला है। (२) यह सोम 'विश्वमेजय' है, रोगकृमियों को कम्पित करके हमें नीरोग बनाता है। नीरोग बनाकर यह हमें ओजस्वी करता है, हमारे ओज को बढ़ानेवाला होता है। यह 'समुद्रमीङ्खय' है, ज्ञान-

समुद्र को हमारे अन्दर प्रेरित करनेवाला है। इस प्रकार यह हमारे ज्ञानैश्वर्य को बढ़ाता है।

भावार्थ—यह सोम ज्ञान-समुद्र को प्रेरित करनेवाला है तथा शरीर में प्रविष्ट हो जानेवाले रोगकृमियों को कम्पित करके हमारे से दूर करनेवाला है।

ऋषिः—**प्रभूवसुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अभिष्याम पृतन्यतः

त्वया वीरेण वीरवोऽभि ष्याम पृतन्यतः। क्षरा णो अभि वार्यम्॥ ३॥

(१) हे **वीरवः**=वीरोंवाले सोम, वीरता के कार्यों को करनेवाले सोम! **वीरेण**=सब शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **त्वया**=तेरे द्वारा **पृतन्यतः**=हमारे पर आक्रमण करनेवाले रोगों व वासनारूप शत्रुओं को **अभिष्याम**=हम अभिभूत करनेवाले हों। इनको पराजित करके हम शरीर में नीरोग व मन में निर्मल बनें। (२) **नः**=हमारे लिये **वार्यम्**=वरणीय वस्तुओं को **अभिक्षर**=प्राप्त करा। सोम रक्षित होने पर सब अवाञ्छनीय तत्त्वों को विनष्ट करके हमें शरीर में दृढ़ता, मन में निर्मलता व मस्तिष्क में दीप्ति को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम सोम के रक्षण के द्वारा आक्रमण करनेवाले रोगों व वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करें और सब वरणीय धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**प्रभूवसुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वाजसा ऋषिः

प्र वाजमिन्दुरिष्यति सिषासन्वाजसा ऋषिः। व्रता विदान आयुधा॥ ४॥

(१) **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **सिषासन्**=(संभक्तुमिच्छन्) हमें शक्ति-सम्पन्न करना चाहता हुआ **वाजम्**=बल को **प्र इष्यति**=हमारे में प्रकर्षेण प्रेरित करता है। यह **वाजसाः**=बल को देनेवाला है और **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा है, हमें तत्त्वज्ञानी बनाता है। (२) यह सोम **व्रता विदानः**=हमें उत्तम कर्मों को प्राप्त कराता है (विद् लाभे) तथा **आयुधा**=उन कर्मों को पूर्ण करने के लिये 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों को प्राप्त कराता है। सोमरक्षण से हमारी 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' सब उत्तम बनते हैं और हम इन आयुधों के द्वारा सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें शक्ति देता है, ज्ञान देता है। उत्तम कर्मों में प्रेरित करता हुआ यह सोम हमें उत्तम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को प्राप्त कराता है जिससे हम उत्तम कर्मों को कर सकें।

ऋषिः—**प्रभूवसुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पुनान-गोपति

तं गीर्भिर्वाचमीङ्खयं पुनानं वासयामसि। सोमं जनस्य गोपतिम्॥ ५॥

(१) **तम्**=उस **वाचमीङ्खयम्**=ज्ञान की वाणियों के प्रेरित करनेवाले **सोमम्**=सोम को (वीर्यशक्ति को) **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **वासयामसि**=अपने अन्दर बसाते हैं। ज्ञान प्राप्ति में लगे रहने से चित्त निर्मल रहता है और वासनाओं के आक्रमण के अभाव में सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है। यह सोम **पुनान**=हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है। (२) उस सोम को हम शरीर में सुरक्षित करते हैं, जो कि **जनस्य गोपतिम्**=लोगों की इन्द्रियों का **पति**=रक्षक है। रक्षित सोम इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला है।

भावार्थ—सोम का रक्षण स्वाध्याय में लगे रहने से सम्भव है। यह सोम हमारे जीवन को

पवित्र व सशक्त इन्द्रियोंवाला बनाता है।

ऋषिः—**प्रभूवसुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धर्मणस्पति-प्रभूवसु

विश्वो यस्य॑ व्र॒ते जनो॑ दाधार॒ धर्म॑णस्पतेः। पु॒ना॒नस्य॑ प्र॒भूव॑सोः ॥ ६ ॥

(१) **विश्वो जनः**=सब मनुष्य **यस्य व्रते**=जिस सोम के व्रत में **दाधार**=अपना धारण करते हैं। जिस समय सोमरक्षण के लिये व्रत में चलते हैं, तो उस समय ये मनुष्य अपना धारण करनेवाले बनते हैं। (२) यह सोम **धर्मणस्पते**=धारणात्मक कर्मों का रक्षक है, **पुनानस्य**=पवित्र करनेवाला है तथा **प्रभूवसोः**=प्रभावयुक्त वसुओंवाला है। सोमरक्षण से मनुष्य सदा धारणात्मक कर्मों को करने की वृत्तिवाला होता है इस सोम के रक्षण से जीवन पवित्र बनता है, शरीर नीरोग तथा मन निर्मल। सोमरक्षण करनेवाला मनुष्य निवास के लिये आवश्यक सब तत्त्वों से युक्त होता है और सामर्थ्यवान् बनता है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करते हैं, तो यह (क) हमें धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त करता है, (ख) हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है, (ग) हमें प्रभाव सम्पन्न बनाता है व निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त कराता है।

'प्रभूवसु' ऋषि ही अगले सूक्त में कहता है—

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रभूवसुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कार्ष्मन् वाजी

अस॑र्जि॒ रथ्यो॒ यथा॑ प॒वित्रे॑ च॒म्वोः॑ सु॒तः। कार्ष्म॑न्वा॒जी न्य॑क्रमीत्॥ १ ॥

(१) यह सोम **असर्जि**=शरीर में उत्पन्न किया जाता है। शरीर में उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **यथा रथ्यः**=इस प्रकार है जैसे कि रथ में जुतनेवाला एक उत्तम घोड़ा। यह घोड़ा जैसे लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाला होता है, इसी प्रकार सोम भी हमें जीवनयात्रा को पूर्ण करके लक्ष्य पर पहुँचाता है। यह सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **चम्वोः**=द्यावापृथिवी के निमित्त, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के निमित्त **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। यह सोम मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाता है और शरीर को तेजस्विता से दीप्त। (२) यह **वाजी**=शक्तिशाली सोम **कार्ष्मन्**=संग्राम में **नि अक्रमीत्**=शत्रुओं को पाँव तले कुचलनेवाला होता है (कार्ष्मयुद्धं इतरेतरकर्षणात्)। रोगकृमियों को नष्ट करके यह जहाँ रोगों को विनष्ट करता है, वहाँ काम-क्रोध-लोभ आदि वासनाओं का भी यह विनाश करनेवाला है।

भावार्थ—सोम (वीर्य) शरीर में सुरक्षित होने पर रोग व वासनारूप शत्रुओं को कुचल डालता है।

ऋषिः—**प्रभूवसुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वह्नि-जागृविः-देववीः' सोम

स वह्निः॑ सोम॒ जागृ॑विः॒ पव॑स्व देव॒वीरति॑। अ॒भि कोशं॑ मधु॒श्चुत॑म्॥ २ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **सः**=वह तू **वह्निः**=शरीर-रथ में जुते घोड़े के समान हमें लक्ष्य-स्थान पर प्राप्त करानेवाला है। **जागृविः**=तू सदा जागरणशील है। शरीररक्षण के कार्य में तू अप्रमत्त

है। **देववीः**=दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला तू **अतिपवस्व**=हमें अतिशयेन प्राप्त हो। सोमरक्षण से हम (क) अन्ततः अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचते हैं। (ख) यह रक्षण कार्य में अप्रमत्त होकर हमें रोगाक्रान्त नहीं होने देता। (ख) हमारे अन्दर इसके रक्षण से दिव्य गुणों का वर्धन होता है। (२) हे सोम! तू **मधुश्चुतम्**=मधु को, माधुर्य व आनन्द को ही क्षरित करनेवाले **कोशं अभि**=कोश की ओर हमें ले चलनेवाला है। 'मधुश्चुत् कोश' प्रभु हैं, यह हमें प्रभु की ओर ले चलता है।

भावार्थ—सोम 'वह्नि-जागृवि-देववी' है, यह हमें प्रभु की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**प्रभूवसुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्योति-क्रतु-दक्ष

स नो ज्योतींषि पूर्व्य पवमान वि रोचय। क्रत्वे दक्षाय नो हिनु॥ ३॥

(१) हे **पूर्व्य**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम! **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **नः**=हमारी **ज्योतींषि**=ज्ञान-ज्योतियों को **विरोचय**=दीप्त करनेवाला हो। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और इस प्रकार सोमरक्षण से हमारा ज्ञान चमक उठता है। (२) हे सोम! तू सुरक्षित होने पर **नः**=हमें **क्रत्वे**=शक्ति के लिये तथा **दक्षाय**=(growth) उन्नति के लिये **हिनु**=प्रेरित कर। इस सोम के द्वारा हमारी शक्ति का वर्धन हो। और हम सब प्रकार से उन्नत हो पायें।

भावार्थ—सोम हमारी ज्ञान-ज्योति को बढ़ाता है, हमें सशक्त बनाता है और हमारी सब प्रकार से उन्नति का कारण बनता है।

ऋषिः—**प्रभूवसुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ऋतायुभिः शुम्भमानः

शुम्भमान ऋतायुभिर्मृज्यमानो गभस्त्योः। पवते वारे अव्यये॥ ४॥

(१) **ऋतायुभिः**=ऋत का आचरण करनेवालों से **शुम्भमानः**=शरीर में ही अलंकृत किया जाता हुआ यह सोम **गभस्त्योः**=बाहुवों में **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता है। भुजाओं से सदा कर्मों को करते हुए हम इस सोम को पवित्र बनाये रखते हैं। (२) यह सोम उसे **अव्यये वारे**=कभी नष्ट न होनेवाले वरणीय प्रभु के निमित्त **पवते**=हमें प्राप्त होता है। इस सोम के रक्षण के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—ऋत को अपनाने से सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है। अनृत ही इसके विनाश का कारण बनता है। कर्मशीलता से यह पवित्र बना रहता है। हमें पवित्र बनाकर यह प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**प्रभूवसुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'दिव्य, पार्थिव आन्तरिक्ष्य' वसु

स विश्वा दाशुषे वसु सोमो दिव्यानि पार्थिवा। पवतामान्तरिक्ष्या॥ ५॥

(१) **सः सोमः**=वह सोम (वीर्य) **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिये, सोम के लिये अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिये, सब प्रकार से सोमरक्षण में प्रवृत्त पुरुष के लिये, **विश्वा**=सब **दिव्यानि**=द्युलोक के साथ सम्बद्ध, **पार्थिवा**=पृथिवीलोक के साथ सम्बद्ध तथा **आन्तरिक्ष्या**=अन्तरिक्षलोक के साथ सम्बद्ध **वसु**=वसुओं को **पवताम्**=प्राप्त कराये। (२) शरीर में मस्तिष्क

ही द्युलोक है। द्युलोक सम्बद्ध वसु 'ज्ञान' है। अन्तरिक्ष 'हृदय' है। हृदय सम्बद्ध वसु 'पवित्रता व भक्ति' है। यह शरीर ही पृथिवी है। इसके साथ सम्बद्ध वसु 'शक्ति' है। सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमें 'ज्ञान, पवित्रता व शक्ति' सब वसुओं को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—यदि हम पूर्ण प्रयत्न से सोम का रक्षण करते हैं तो यह हमें ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाला, पवित्र व भक्ति-सम्पन्न हृदयवाला तथा शक्ति-सम्पन्न शरीरवाला बनाता है।

ऋषिः—**प्रभूवसुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अश्वयु-गव्ययुः-वीरयु

आ दिवस्पृष्ठमश्वयुर्गव्ययुः सोम रोहसि। वीरयुः शवसस्पते॥ ६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **अश्वयुः**=हमारे लिये उत्तम इन्द्रियाश्वों की कामना करता हुआ, **गव्ययुः**=तथा उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामना करता हुआ **दिवः पृष्ठम्**=शरीरस्थ मस्तिष्क रूप द्युलोक के पृष्ठ पर **आरोहसि**=आरोहण करनेवाला होता है। शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति होने पर यह मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इस प्रकार यह हमारे ज्ञान की वृद्धि का कारण होता है। (२) हे **शवसस्पते**=शक्तियों के स्वामिन् सोम! तू **वीरयुः**=हमारे साथ वीरता को जोड़नेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'अश्वयु, गव्यु तथा वीरयु' है।

उत्तम इन्द्रियोंवाला व वीरतावाला बनकर हम सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाले बनते हैं। बुराइयों को दूर फेंकनेवाला 'रहू' है। इनमें भी गिनने योग्य होने से यह 'गण' है। यह 'रहूगण' कहता है—

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवयु

स सुतः पीतये वृषा सोमः पवित्रे अर्षति। विघ्नन्रक्षांसि देवयुः॥ १॥

(१) **सः**=वह **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **सोमः**=सोम (वीर्य) **पीतये**=शरीर में ही पीने के लिये उद्दिष्ट होता है इसको शरीर में ही पान करना चाहिए। इस प्रकार यह **वृषा**=शक्ति का संचार करनेवाला सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदय पुरुष में **अर्षति**=गतिवाला होता है। (२) शरीर में गतिवाला यह सोम **रक्षांसि**=रोगकृमिरूप राक्षसों को **विघ्नन्**=नष्ट करता हुआ, **देवयुः**=हमारे साथ दिव्य गुणों को जोड़नेवाला होता है। इस सोम के द्वारा शरीर नीरोग बनता है और मन दिव्य गुणों से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम रोगकृमिरूप राक्षसों का विनाश करता है। हृदय में दिव्यभावनाओं को उत्पन्न करता है।

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विचक्षण-हरि-धर्णसि

स पवित्रे विचक्षणो हरिरर्षति धर्णसिः। अभि योनिं कनिक्रदत्॥ २॥

(१) **सः**=वह सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **अर्षति**=गतिवाला होता है। शरीर में

सुरक्षित हुआ-हुआ यह **विचक्षणः**=विशेषरूप से देखनेवाला है, हमारे ज्ञान की वृद्धि का कारण होता है। यह **हरिः**=सब रोगों का हरण करनेवाला है, अथवा सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला है तथा **धर्णसिः**=धारक है। मस्तिष्क में 'विचक्षण', हृदय में 'हरि', शरीर में यह सोम 'धर्णसि' है। (२) यह सोम **कनिक्रदत्**=उस प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **योनिं अभि**=उस ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति-स्थान (=प्रभव) प्रभु की ओर चलता है। सोमरक्षण से हमारी प्रवृत्ति प्रभु-स्मरणवाली बनती है, हम प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए प्रभु की ओर बढ़ते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें ज्ञानी, पवित्र व स्वस्थ बनाता है। हमें प्रभु-स्मरण की वृत्तिवाला बनाकर प्रभु की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वाजी-पवमानः-दिवः रोचना (रोचकः)

स वाजी रोचना दिवः पवमानो वि धावति। रक्षोहा वारमव्ययम्॥ ३॥

(१) **सः**=वह सोम **वाजी**=शक्ति को देनेवाला है, **दिवः रोचना**=ज्ञान को दीप्त करनेवाला है तथा **पवमानः**=हमारे हृदयों को पवित्र करनेवाला है। (२) **रक्षोहा**=रोगकृमिरूप राक्षसों को तथा राक्षसी भावों को नष्ट करनेवाला यह सोम **अव्ययम्**=कभी नष्ट न होनेवाले **वारम्**=उस वरणीय प्रभु की ओर **विधावति**=विशिष्टरूप से गतिवाला होता है, हमें शरीर व मन में स्वस्थ बनाकर यह सोम प्रभु की ओर ले चलता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें शक्ति देता है, ज्ञान को दीप्त करता है, पवित्र करता है। राक्षसीभावों को विनष्ट करके यह हमें प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

जामिभिः-सूर्यं सह

स त्रितस्याधि सानवि पवमानो अरोचयत्। जामिभिः सूर्यं सह॥ ४॥

(१) **सः**=वह सोम **त्रितस्य**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को तैर जानेवाले के **अधि सानवि**=शिखर प्रदेश में, अर्थात् मस्तिष्क में **पवमानः**=पवित्रता को करता हुआ **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को **अरोचयत्**=दीप्त करता है। सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। (२) **जामिभिः सह**=सद्गुणों के प्रादुर्भाव के साथ यह सोम ज्ञान सूर्य को दीप्त करता है। ज्ञान को तो यह बढ़ाता ही है, साथ ही यह सद्गुणों का भी हमारे में विकास करता है। ज्ञान के साथ मौन, शक्ति के साथ क्षमा, अभ्युदय के साथ विनय आदि गुण सोमरक्षण के होने पर ही पनपते हैं।

भावार्थ—काम-क्रोध-लोभ को तैरनेवाले के जीवन में सुरक्षित होकर सोम सद्गुणों को जन्म देता है और ज्ञान सूर्य को दीप्त करता है।

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वृत्रहा-वृषा

स वृत्रहा वृषा सुतो वरिवोविददाभ्यः। सोमो वाजमिवासरत्॥ ५॥

(१) **सः**=वह **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **वृत्रहा**=वासना को नष्ट करनेवाला है। ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करके यह ज्ञान को दीप्त करता है। **वृषा**=शक्ति को देनेवाला

है। **वरिवोवित्**=सब वरणीय धनों को प्राप्त कराता है। **अदाभ्यः**=न हिंसित होनेवाला है। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर यह रोगकृमियों का विनाश करता है और इस प्रकार यह हमें रोगों से हिंसित नहीं होने देता। (२) **सोमः**=यह सोम (=वीर्यशक्ति) इस प्रकार शरीर में **अर्षत्**=गतिवाला होता है, **इव**=जैसे कि एक अश्व **वाजम्**=संग्राम में गति करता है। यह सोम इस संग्राम में शत्रुभूत रोगकृमियों को तथा काम-क्रोध आदि वासनाओं को विनष्ट करनेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करता है। शरीर में शक्ति को देता है। वरणीय धनों को प्राप्त कराता है और हमें हिंसित नहीं होने देता।

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शरीर शोधक सोम

स देवः कविनेषितो३ऽभि द्रोणानि धावति। इन्दुरिन्द्राय मंहना॥ ६॥

(१) **सः**=वह **देवः**=प्रकाशमय **इन्दुः**=शक्ति को देनेवाला सोम **कविना**=क्रान्तप्रज्ञ समझदार व्यक्ति से **इषितः**=शरीर में प्रेरित हुआ-हुआ **द्रोणानि अभि धावति**=शरीर रूप पात्रों को लक्ष्य करके शोधन करनेवाला होता है (धाव् शुद्धौ)। (२) जीवन को शुद्ध बनाकर यह **इन्द्रः**=सोम **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मंहना**=महान् होता है अथवा (मंहते दानकर्मणः) सब वरणीय धनों को देनेवाला होता है। सब वरणीय धनों को प्राप्त कराके यह सोम उस इन्द्र को महान् बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर का शोधन करता है। यह सब वरणीय धनों को प्राप्त कराके हमें महान् बनाता है।

'रहूगण' ही अगले सूक्त में भी सोम का प्रशंसन करता हुआ कहता है—

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रथः अव्यः

एष उ स्य वृषा रथोऽव्यो वारेभिरर्षति। गच्छन्वाजं सहस्रिणम्॥ १॥

(१) **एषः**=यह **उ**=निश्चय से **स्यः**=वह सोम **वृषा**=शक्ति को देनेवाला है। **रथः**=जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये रथ के समान है। **अव्यः**=शरीर का रक्षण करनेवालों में उत्तम है। **वारेभिः**=वरणीय धनों के साथ यह **अर्षति**=शरीर में गतिवाला होता है। (२) यह सोम **सहस्रिणं वाजम्**=शत संख्यावाली बहुत अधिक **वाजम्**=शक्ति को **गच्छन्**=जाता हुआ होता है। अर्थात् सुरक्षित होने पर यह सोम खूब ही शक्ति को प्राप्त कराता है। अथवा सहस्रिणम्=आमोदयुक्त, आनन्दयुक्त बल को यह प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये उत्तम रथ होता है। यह उत्तम रक्षक है। सब वरणीय धनों को प्राप्त कराता है तथा आनन्दयुक्त शक्ति को देता है।

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

योषणः अद्रिभिः

एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये॥ २॥

(१) **एतम्**=इस **हरिम्**=सब रोगों का हरण करनेवाले सोम को **त्रितस्य**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को तैर जानेवाले त्रित की **योषणः**=ज्ञानवाणियाँ **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा **हिन्वन्ति**=शरीर में ही प्रेरित करती हैं। (२) **इन्दुम्**=इस शक्तिशाली सोम को **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के **पीतये**=रक्षण के लिये शरीर में प्रेरित करते हैं। इस सोम को शरीर में प्रेरित करने के लिये 'स्वाध्याय व उपासना' महान् साधन हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय व उपासना के द्वारा त्रित सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के लिये सतत उद्योगवाला होता है।

ऋषिः—रहूगणः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कर्म-व्यापृत इन्द्रियाँ

एतं त्यं हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युवः। याभिर्मदाय शुम्भते॥ ३॥

(१) **एतम्**=इस **त्यम्**=प्रसिद्ध सोम को **दश**=दस संख्यावाली **अपस्युवः**=कर्मों को अपने साथ जोड़नेवाली **हरितः**=इन्द्रियाँ (इन्द्रियरूप अश्व) **मर्मृज्यन्ते**=खूब शुद्ध करती हैं। इन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहें, तो सोम की शुद्धि बनी रहती है। उस समय वासनाओं का आक्रमण न होने से सोम में किसी प्रकार की मलिनता नहीं आती। (२) उन कर्मव्यापृत इन्द्रियों से सोम का शोधन होता है, **याभिः**=जिनसे **मदाय**=हर्ष व उल्लास के लिये **शुम्भते**=शोभावाला होता है, अपने को सद्गुणों से अलंकृत करता है।

भावार्थ—कर्म-व्यापृत इन्द्रियाँ वासनाओं से अनाक्रान्त होकर सोम का शोधन करती हैं।

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

श्येनो न

एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति। गच्छञ्जारो न योषितम्॥ ४॥

(१) **एषः**=यह **स्यः**=वह प्रसिद्ध सोम **मानुषीषु विक्षु**=मानव हित में लगी हुई इन्द्रियों से **आसीदति**=आसीन होता है। इस प्रकार आसीन होता है **न**=जैसे कि **श्येनः**=वह गतिशील प्रभु, अर्थात् सर्वभूत हित में लगे हुए व्यक्ति जिस प्रकार प्रभु को अपने में आसीन कर पाते हैं, उसी प्रकार इस सोम का भी अपने में रक्षण करनेवाले होते हैं। (२) यह सोम उसी प्रकार हमें **गच्छन्**=प्राप्त होता है, **न**=जैसे कि **जारः**=एक स्तोता **योषितम्**=इस वेदवाणी को प्राप्त होता है (जरते: स्तुति कर्मणः, योषा वाङ्नाम)। स्तुति करनेवाला वेदवाणी को प्राप्त करता है। इसी प्रकार यह स्तोता मानवहित में लगा हुआ इस सोम का भी रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—हम मानवहितकारी कर्मों में लगे हुए होकर सोम का अपने में रक्षण करें। सदा प्रभु का स्मरण करते हुए प्रभु को अपने में आसीन करें और सोम के रक्षक बनें।

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मद्यः रसः

एष स्य मद्यो रसोऽव चष्टे दिवः शिशुः। य इन्दुर्वारमाविशत्॥ ५॥

(१) **एषः**=यह **स्यः**=प्रसिद्ध **मद्यः**=आनन्द को देनेवालों में उत्तम **रसः**=रसरूप सोम **अवचष्टे**=रक्षित होने पर हमारा ध्यान करता है (अवनश्यति=(looks after))। हमें रोग आदि

से आक्रान्त नहीं होने देता। यह सोम **दिवः शिशुः**=ज्ञान का सूक्ष्म करनेवाला है। बुद्धि को तीव्र बनाकर ज्ञान का वर्धन करनेवाला है। (२) **यः**=जो **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **वारम्**=सब वासनाओं का निवारण करनेवाले व्यक्ति में **आविशत्**=प्रवेश करता है। जब हम वासनाओं का निवारण करते हैं तो इस सोम का अधिष्ठान बनते हैं।

भावार्थ—यह सोम 'मद्य रस' है। वासनाओं का निवारण करने पर इसे हम सुरक्षित कर पाते हैं।

ऋषिः—**रहूगणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदगायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

हरिः धर्णसिः

एष स्य पीतये सुतो हरिरर्षति धर्णसिः। क्रन्दन्योनिमुभि प्रियम्॥ ६॥

(१) **एषः**=यह **स्यः**=प्रसिद्ध **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **पीतये**=हमारे रक्षण के लिये होता है। **हरिः**=सब रोगों का हरण करनेवाला यह सोम **अर्षति**=हमें प्राप्त होता है और **धर्णसिः**=हमारा धारण करनेवाला होता है। (२) यह **प्रियम्**=उस आनन्द को देनेवाले **योनिम्**=सब के उत्पत्ति-स्थान **प्रभव**=प्रभु को **अभि**=लक्ष्य करके **क्रन्दन्**=स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवाला होता है। सोम शरीर में सुरक्षित होता है, तो हमारी वृत्ति प्रभु-स्तवन की बनती है।

भावार्थ—सोम हमारा धारण करता है। यह हमें प्रभु-भक्त बनाता है।

इस सोम के रक्षण से हम तीव्र बुद्धिवाले स्तोता बनकर 'बृहन्मति' बनते हैं। यह बृहन्मति सोम का स्तवन करता हुआ कहता है—

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**बृहन्मतिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रिय धाम की प्राप्ति

आशुरर्ष बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना। यत्र देवा इति ब्रवन्॥ १॥

(१) हे **बृहन्मते**=विशाल बुद्धिवाले पुरुष! तू **प्रियेण धाम्ना**=प्रीणित करनेवाले तेज के हेतु से **आशुः**=शीघ्रता से कर्मों में व्याप्त होनेवाला होकर **अर्ष**=वहाँ जानेवाला हो, '**यत्र देवाः**'=जहाँ देव हैं, **इति ब्रवन्**=ऐसा लोग कहते हैं। (२) सोम का रक्षण होने पर यह शरीर देवों का अधिष्ठान बनता है 'बृहन्मति' उस शरीर में ही स्थित का होने का प्रयत्न करता है, जिसमें कि सोम का रक्षण किया गया है।

भावार्थ—इस सोम के रक्षण से इसे 'प्रिय तेज' प्राप्त होता है, वह शक्ति प्राप्त होती है, जो कि इसे प्रीणित करनेवाली होती है, वस्तुतः सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम ही इसे 'बृहन्मति' बनाता है।

ऋषिः—**बृहन्मतिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आनन्द की वृष्टि

परिष्कृण्वन्ननिष्कृतं जनाय यातयन्निषः। वृष्टिं दिवः परि स्रव॥ २॥

(१) हे सोम! तू **अनिष्कृतम्**=असंस्कृत हृदय को वासना-विनाश के द्वारा **परिष्कृण्वन्**=परिष्कृत कर देता है। सोमरक्षण से वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं और हृदय निर्मल हो जाता है। इस प्रकार हृदय की निर्मलता से यह सोम **जनाय**=शक्तियों को प्रादुर्भाव करनेवाले पुरुष के लिये

इषः=प्रेरणाओं को **यातयन्**=प्राप्त कराता है। इस निर्मल हृदय से प्रभु की प्रेरणाओं का उद्गम होता है। (२) हे सोम! इस प्रकार हृदयों के परिष्कृत करके, प्रेरणाओं को प्राप्त कराके तू **दिवः**=द्युलोक से, मस्तिष्क से **वृष्टिम्**=धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली आनन्द की वर्षा को **परिस्रव**=परिस्रुत कर। सोमरक्षण का ही परिणाम है कि हम साधना में आगे बढ़ते हुए इस आनन्द की वर्षा का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से (१) हृदय परिष्कृत होता है, (२) अन्तः प्रेरणायें सुन पड़ती हैं, (३) धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्द की वर्षा का अनुभव होता है।

ऋषिः—**बृहन्मतिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विचक्षाणः विरोचयन्

सुत एति पवित्र आ त्विषिं दधान ओजसा। विचक्षाणो विरोचयन्॥ ३॥

(१) **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **एति**=प्राप्त होता है। हृदय की पवित्रता के होने पर ही यह शरीर में स्थित होता है। यह **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **त्विषिम्**=ज्ञान की दीप्ति को **आदधानः**=धारण करता हुआ होता है। 'शरीर में ओजस्विता व मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति' ये दोनों ही सोमरक्षण के मुख्य लाभ हैं। (२) मस्तिष्क को यह सोम **विचक्षाणः**=विशिष्ट ज्ञान दर्शनवाला बनाता है तथा **विरोचयन्**=शरीर को यह ओजस्विता से दीप्त करता है। सोमरक्षण से सूक्ष्म बनी हुई बुद्धि तत्त्व का दर्शन करनेवाली होती है और शरीर को यह सोमरक्षण ओजस्वी व दीप्त बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम 'ब्रह्म व क्षत्र' का पोषण कर पाते हैं।

ऋषिः—**बृहन्मतिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्युलोक से भी परे

अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ। सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत्॥ ४॥

(१) **अयम्**=यह **सः**=वह सोम **यः**=जो कि **दिवः परि**=द्युलोक के भी परे **रघुयामा**=शीघ्र गमनवाला होता है, वह **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **आ वि अक्षरत्**=संचलनवाला होता है। सोम शरीर में सुरक्षित होने पर हमें पृथिवी पृष्ठ से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, द्युलोक से भी परे स्वर्लोक में ले जानेवाला होता है। (२) यह सोम हमें **सिन्धोः ऊर्मा**=ज्ञान-समुद्र की तरंगों में ले चलनेवाला होता है, सुरक्षित सोम बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है। इस सूक्ष्म बुद्धि से ज्ञानजल का सिन्धु प्रवाहित होता है। हम इस सिन्धु की तरंगों में तैरनेवाले बनते हैं। यह ज्ञान ही तो हमें द्युलोक से भी ऊपर ब्रह्मलोक में पहुँचाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें द्युलोक से ऊपर स्वर्लोक में ले चलता है। यह हमें ज्ञान-समुद्र की तरंगों में तरानेवाला होता है।

ऋषिः—**बृहन्मतिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधु सेचन

आविवासन्परावतो अथो अर्वावतः सुतः। इन्द्राय सिच्यते मधु॥ ५॥

(१) **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **परावतः**=दूरदेश से **अथ उ**=और निश्चय से **अर्वावतः**=समीप देश से **आविवासन्**=अन्धकार को दूर करनेवाला होता है (विवासयति vanishes)। समीप देश से अन्धकार को दूर करने का भाव 'प्रकृति-विषयक अज्ञान को दूर करना'

है तथा दूरदेश से अन्धकार को दूर करने का भाव 'आत्मविषयक अज्ञान को दूर करना' है। इस प्रकार सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमें 'अपरा व परा' दोनों ही विद्याओं को प्राप्त कराता है। (२) यह सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मधु सिच्यते**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाला होकर सिक्त होता है। शरीर में सुरक्षित होने पर यह सोम हमें अत्यन्त मधुर जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष सोमरक्षण के द्वारा (क) अपरा विद्या (प्रकृति विद्या) को प्राप्त करता है, (ख) परा विद्या को प्राप्त करता है, आत्मदर्शन करता है, (ग) जीवन को मधुर बना पाता है।

ऋषिः—**बृहन्मतिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

समीचीनाः अनूषत

समीचीना अनूषत हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। योनावृतस्य सीदत॥ ६॥

(१) **समीचीनाः**=सम्यक् गतिवाले पुरुष अथवा मिलकर चलनेवाले पुरुष **अनूषत**=उस प्रभु का स्तवन करते हैं। इन **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा **हरिम्**=सब दुःखों का हरण करनेवाले सोम को **हिन्वन्ति**=शरीर के अन्दर ही प्रेरित करते हैं। (२) हे उपासको! इस सोम के रक्षण के द्वारा तुम **ऋतस्य योनौ**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **सीदत**=बैठो। सोमरक्षण हमें उत्कृष्ट जीवनवाला बनाता हुआ अन्ततः प्रभु प्राप्ति का पात्र बनाता है।

भावार्थ—उपासना से सोम शरीर में सुरक्षित होता है। इसके द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

अगले सूक्त में भी 'बृहन्मति' ही सोम के विषय में कहता है—

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**बृहन्मतिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सब शत्रुओं का विनाश

पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः। शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः॥ १॥

(१) **पुनानः**=हमें पवित्र करता हुआ यह सोम **विश्वाः मृधः अभि**=सब शत्रुओं के प्रति **अक्रमीत्**=आक्रमण करनेवाला होता है। काम-क्रोध-लोभ आदि पर आक्रमण करके यह उन्हें विनष्ट करता है, रोगकृमियों को भी यह आक्रान्त करता है। यह सोम **विचर्षणिः**=हमारा विशेषरूप से देखनेवाला, ध्यान करनेवाला है। (२) **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **धीतिभिः**=स्तुतियों व उत्तम कर्मों के द्वारा **शुम्भन्ति**=सोम को शरीर में ही सुशोभित करते हैं। सोमरक्षण में स्तुति साधन बनती है। कर्मों में लगे रहने से ही हम वासनाओं से बचते हैं और सोम को रक्षित कर पाते हैं।

भावार्थ—सोम हमारे रोग व वासना रूप शत्रुओं पर आक्रमण करता है। इसका रक्षण स्तुति व कर्म में लगे रहने से होता है।

ऋषिः—**बृहन्मतिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

योनि-आरोहण

आ योनिमरुणो रुहद्गमदिन्द्रं वृषा सुतः। ध्रुवे सदसि सीदति॥ २॥

(१) **अरुणः**=यह तेजोमय, अप्रतिहत सामर्थ्यवाला सोम **योनिम्**=अपने उत्पत्ति-स्थान इस

शरीर में **आरुहत्**=आरोहण करता है, शरीर में ही इसकी ऊर्ध्वगति होती है। ऐसी स्थिति में **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **वृषा**=शक्ति का सेचन करनेवाला होता है और **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **गमत्**=प्राप्त होता है। अथवा उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर चलनेवाला होता है। (२) उस प्रभु की ओर चलता हुआ यह सोम अन्ततः **ध्रुवे सदसि**=उस ध्रुव-अविचल सब के आधार (सर्वाधार) प्रभु में **सीदति**=स्थित होता है। हमें यह प्रभु को प्राप्त करानेवाला बनता है।

भावार्थ—सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होने पर यह हमें शक्तिशाली बनाता हुआ प्रभु की ओर ले चलता है, अन्ततः प्रभु में आसीन करता है।

ऋषिः—**बृहन्मतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

महान् रयि की प्राप्ति

नू नो॑ र॒यिं म॒हामि॑न्दो॒ऽस्मभ्यं॑ सोम वि॒श्वतः॑। आ प॑वस्व सह॒स्रिण॑म्॥ ३ ॥

(१) हे **इन्दो**=शक्तिशालिन् **सोम**=सोम (वीर्यशक्ते)! **नः**=हमारे लिये **महाम्**=महनीय **रयिम्**=ऐश्वर्य को **नु**=निश्चय से **आपवस्व**=प्राप्त करा। महनीय ऐश्वर्य शरीर के दृष्टिकोण से ओज है, और मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ज्ञान है। सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमारे लिये इसे प्राप्त कराता है। (२) हे सोम! तू **विश्वतः**=सब ओर से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **सहस्रिणम्**=सहस्र संख्यावाले, खूब अधिक अथवा (स+हस्) आनन्दयुक्त धन को प्राप्त करानेवाला हो। यह महान् आनन्दमय ऐश्वर्य 'प्रभु' ही हैं। प्रभु प्राप्ति में सम्पूर्ण धन की प्राप्ति है और इसी में आनन्द का लाभ है।

भावार्थ—सोमरक्षण से महनीय ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। सोमरक्षण से ही प्रभु की भी प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**बृहन्मतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्युम्नानि-इषः

विश्वा॑ सोम पवमान द्यु॒म्नानी॑न्दव॒ आ भ॑र। वि॒दाः स॑ह॒स्रिणी॒रिषः॑ ॥ ४ ॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले, **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले **सोम**=वीर्यशक्ते! **विश्वा**=सब **द्युम्नानि**=ज्योतियों को **आभर**=हमारे में भर दे। सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। यही हृदय को पवित्र करता है तथा शरीर में सम्पूर्ण शक्ति का संचार करनेवाला यही है। (२) हे सोम! तू **सहस्रिणीः इषः**=(स+हस्) आनन्द की कारणभूत प्रेरणाओं को **विदाः**=प्राप्त करा। इस सोम के रक्षण से हृदय पवित्र होता है, सोम 'पवमान' है। पवित्र हृदय में प्रभु की प्रेरणायें सुन पड़ती हैं। इन प्रेरणाओं में ही जीवन का उल्लास है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सब ज्योतियों व प्रेरणाओं को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**बृहन्मतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रयि-सुवीर्य-ज्ञान

स नः॑ पुना॒न आ भ॑र र॒यिं स्तो॒त्रे सु॒वीर्य॑म्। ज॒रि॒तुर्व॑र्धया॒ गिरः॑ ॥ ५ ॥

(१) हे सोम! तू **पुनानः**=हमें पवित्र करता हुआ **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=ऐश्वर्य को, ज्ञान व बल रूप धन को **आभर**=खूब ही प्राप्त करा। **स्तोत्रे**=स्तोता के लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति

को देनेवाला हो। वस्तुतः स्तोता वासनाओं से अपने को बचा पाता है और इस प्रकार सोम का रक्षण करनेवाला होता है। यह सुरक्षित सोम उसे वीर बनाता है। (२) हे सोम! तू **जरितुः**=स्तोता की **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **वर्धया**=बढ़ानेवाला हो। वस्तुतः सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। यह ज्ञानाग्नि को दीप्त करके स्तोता के ज्ञान को बढ़ाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम रयि, सुवीर्य व ज्ञान को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**बृहन्मतिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक सोम

पुनान इन्दवा भर सोम द्विबर्हसं रयिम्। वृषन्निन्दो न उक्थ्यम्॥ ६॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले **सोम**=सोम **पुनानः**=हमें पवित्र करता हुआ तू **द्विबर्हसम्**=(द्वयोः लोकयोः परिवृढम् सा०) इहलोक व परलोक के दृष्टिकोण से बढ़े हुए, अभ्युदय व निःश्रेयस रूप **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आभर**=हमें प्राप्त करा। सोमरक्षण से इस लोक में अभ्युदय को प्राप्त करने पर हम निःश्रेयस को प्राप्त करनेवाले बनें। (२) हे **वृषन्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **नः**=हमारे लिये **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य, प्रशंसनीय धन को देनेवाला हो, सोमरक्षक पुरुष धन को प्राप्त करता है। उस धन का सदुपयोग करके वह यशस्वी बनता है।

भावार्थ—सोम हमारे अभ्युदय व निःश्रेयस का साधक होता है।

सोमरक्षण से जीवन को उत्तम बनाकर यह मेध्य (=पवित्र) प्रभु के आतिथ्य के लिये उद्यत होकर 'मेध्यातिथि' बनता है। यह कहता है कि—

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दीप्त गतिशील निर्मल

प्र ये गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः। घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम्॥ १॥

(१) **ये**=जो सोम **गावः न**=(अर्थं गमयन्ति) जैसे पदार्थों का ज्ञान देनेवाले हैं, उसी प्रकार **भूर्णयः**=हमारा भरण करनेवाले हैं। सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है। इस सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा हम तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये सोम हमारे लिये 'गावः' अर्थों के गमक होते हैं। शरीर में शक्ति का संचार करते हुए ये हमारा भरण करते हैं। (२) **त्वेषाः**=ये सोम ज्ञानदीप्त हैं, हमारे ज्ञान को दीप्त करते हैं। **अयासः**=ये सोम गमनशील हैं। ज्ञानेन्द्रियों के दृष्टिकोण से ये 'त्वेष' हैं, कर्मेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'अयासः' हैं। ऐसे ये सोम **प्र अक्रमुः**=शरीर में गतिवाले होते हैं। (३) ये सोम **कृष्णां त्वचम्**=हृदय पर आये हुए वासना के मलिन आवरण को **अपघ्नन्तः**=दूर विनष्ट करनेवाले हैं। मस्तिष्क को ये सोम दीप्त बनाते हैं, शरीर को गतिशील तथा हृदय को वासना के मलिन आवरण से रहित।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'दीप्त गतिशील व निर्मल' बनाते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'सुवित' सोम का सेतु

सुवितस्य मनामहेऽति सेतुं दुराव्यम्। साह्वांसो दस्युमव्रतम्॥ २॥

(१) **सुवितस्य**=सब सुन्दर गतियों के कारणभूत सोम के (शोभनं इतं यस्मात्) **दुराव्यम्**=सब

बुराइयों से बचाने में उत्तम **सेतुम्**=शरीर में बंधन को (षिञ् बन्धने) **अतिमनामहे**=अतिशयेन आदृत करते हैं। शरीर में सोमरक्षण के महत्त्व को समझते हुए हम सदा शुभ मार्ग पर चलते हैं और अशुभ से अपना रक्षण कर पाते हैं। (२) सोमरक्षण का ही यह परिणाम है कि हम **अव्रतम्**=सब नियमों का भंग करनेवाले **दस्युम्**=नाशक आसुरी भाव को **साह्वांसः**=कुचलनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—शरीर में सोमरक्षण से हम आसुरीभावों का विनष्ट करते हैं और शुभ मार्ग पर चलनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृष्टि का स्वन

शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः। चरन्ति विद्युतो दिवि ॥ ३ ॥

(१) **पवमानस्य**=पवित्र करनेवाले, **शुष्मिणः**=शत्रुशोषक बलवाले इस सोम का **स्वनः**=शब्द **वृष्टेः इव**=वृष्टि के शब्द की तरह **शृण्वे**=सुनाई पड़ता है। वस्तुतः सोमरक्षण से धीमे-धीमे अध्यात्म वृत्ति में उत्त्थान होकर मनुष्य समाधि की स्थिति तक पहुँचता है। उस समय 'धर्ममेघ समाधि' में आनन्द की वृष्टि का अनुभव होता है। इसी वृष्टि का प्रस्तुत मन्त्र में उल्लेख है। (२) इस समय **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **विद्युतः**=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति रूप **विद्युत् चरन्ति**=गतिवाली होती है। सोमरक्षण से बुद्धि की सूक्ष्मता सिद्ध होती है और ज्ञान चमक उठता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से समाधि की स्थिति में होनेवाली आनन्द की वर्षा का अनुभव होता है। मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तियाँ चमक उठती हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रशस्त इन्द्रियाँ

आ पवस्व महीमिषं गोमदिन्दो हिरण्यवत्। अश्वावद्वाजवत्सुतः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **महीम्**=अत्यन्त महनीय (महत्त्वपूर्ण) **इषम्**=प्रेरणा को **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त करा। अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा सोमरक्षण से ही प्राप्त होती है। सोमरक्षण से वासनाओं का विध्वंस होकर हृदय की निर्मलता सिद्ध होती है। यह निर्मल हृदय प्रभु की प्रेरणाओं के सुनने का आधार बनता है। (२) यह प्रेरणा **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाली है, **हिरण्यवत्**=हितरमणीय ज्ञानवाली है। **अश्वावत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली है तथा **वाजवत्**=शक्ति व गतिवाली है (वज् गतौ)। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलने पर हमारी (क) ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम होती हैं और हमारे ज्ञान का खूब ही वर्धन होता है। (ख) इसी प्रकार हमारी कर्मेन्द्रियाँ सशक्त होती हैं और परिणामतः हम खूब स्फूर्ति के साथ क्रियाओं में लगे रहते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से पवित्र हृदय बनकर हम प्रभु की प्रेरणा को सुनते हैं। इससे हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं, हमारा ज्ञान व शक्ति बढ़ती है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्यावापृथिवी का आपूरण

स पवस्व विचर्षण आ मही रोदसी पृण। उषाः सूर्यो न रश्मिभिः ॥ ५ ॥

(१) हे **विचर्षणे**=विशेषरूप से हमारा ध्यान करनेवाले (look after) सोम! **सः**=वह तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो, हमें पवित्र करनेवाला हो। तू **मही रोदसी**=महत्त्वपूर्ण द्यावापृथिवी का

आपृण=(आ पूरय) पूरण करनेवाला हो। मस्तिष्क को ज्ञानदीप्ति से भरनेवाला हो तथा शरीर को तू शक्ति से परिपूर्ण कर। (२) इन द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को तू इस प्रकार ज्ञान व शक्ति से भरनेवाला हो **न**=जैसे कि **सूर्यः**=सूर्य **रश्मिभिः**=किरणों से **उषाः**=उषा से उपलक्षित दिनों को भर देता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे मस्तिष्क को ज्ञान से भरता है और शरीर को शक्ति से।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्राक्षारस का पात्र (A cup of tea)

परि णः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः। सरा रसेव विष्टपम्॥ ६ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **शर्मयन्त्या**=सुख को देनेवाली **धारया**=धारा से **नः विश्वतः**=हमारे चारों ओर **परि सरा**=गतिवाला हो। सोम का हमारे शरीर में चारों ओर प्रवाह हो। यह प्रवाह अंग-प्रत्यंग को शक्तिशाली बनाकर हमें सुखी करनेवाला हो। (२) यह सोम हमारे अंगों में इस प्रकार प्रवाहवाला हो **इव**=जैसे कि **रसा**=द्राक्षारस **विष्टपम्**=एक पात्र (cup) में प्रवेश करता है। शरीर ही वह विष्टप (चमस=पात्र) हो, जिसमें कि रसारूप सोम का प्रवेश हो। शरीर को अन्यत्र 'चमस' कहा ही गया है। सोम के लिये रस शब्द का प्रयोग होता ही है।

भावार्थ—शरीर रूप पात्र में डला हुआ यह सोम रूप द्राक्षारस हमारा कल्याण करता है।

मेध्यातिथि ही कहता है—

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विज्ञाननक्षत्र-ज्ञान सूर्य

जनयन्रोचना दिवो जनयन्नप्सु सूर्यम्। वसानो गा अपो हरिः॥ १ ॥

(१) **हरिः**=यह सब रोगों व वासनाओं का हरण करनेवाला सोम! **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के साथ सम्बद्ध **रोचना**=ज्ञानदीप्तियों को **जनयन्**=प्रादुर्भूत करता है। यह **अप्सु**=(आपो वै नरसूनवः) प्रजाओं के निमित्त **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **जनयन्**=उदित करता है। 'रोचना' शब्द विज्ञान के नक्षत्रों का सूचक था, तथा 'सूर्य' शब्द आत्मज्ञान के सूर्य का प्रतिपादन करता है। (२) यह सोम **गाः**=ज्ञानरश्मियों को **वसानः**=धारण करता है तथा **अपः**=उन ज्ञानरश्मियों के अनुसार होनेवाले कर्मों को धारण करता है। सोमरक्षण से हम ज्ञानी बनकर उन ज्ञान-वाणियों के अनुसार कर्म करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—सोम हमारे मस्तिष्क गगन में विज्ञान के नक्षत्रों व ज्ञान के सूर्य को दीप्त करता है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिव्यवृत्ति की प्राप्ति

एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि। धारया पवते सुतः॥ २ ॥

(१) **एषः**=यह **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **देवः**=प्रकाशमय है, यह हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाता है। यह **प्रत्नेन मन्मना**=उस सनातन (अनादि सिद्ध) ज्ञान के साथ हमें प्राप्त होता

है। सोमरक्षण से ही बुद्धि की दीप्तता को प्राप्त करके इस वेदज्ञान को प्राप्त करने का सम्भव होता है। (२) यह सोम **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों के लिये **धारया**=धारणशक्ति के साथ **परिपवते**=शरीर में चारों ओर गति करता है, वस्तुतः इसके शरीर में व्याप्त होने से ही हमारी वृत्ति दिव्य बनती है।

भावार्थ—सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमें दिव्यवृत्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अनन्त शक्तिवाले सोम

वावृधानाय तूर्वये पवन्ते वाजसातये। सोमाः सहस्रपाजसः॥ ३॥

(१) **सहस्रपाजसः**=अनन्त शक्तिवाले **सोमाः**=सोम **पवन्ते**=हमें प्राप्त होते हैं। वस्तुतः शरीर में सुरक्षित होकर ये हमें अनन्त ही शक्ति को प्राप्त कराते हैं। (२) हमें प्राप्त हुए-हुए ये सोम **वाजसातये**=उस शक्ति के साधक संग्राम के लिये होते हैं, जो कि **वावृधानाय**=हमें निरन्तर बढ़ानेवाला है तथा **तूर्वये**=काम आदि शत्रुओं का संहार करनेवाला है। अध्यात्म संग्राम 'वाजसाति' है, यह हमारी शक्ति का वर्धक है। इस संग्राम को करते हुए हम प्रतिदिन आगे बढ़ते हैं और अपने ध्वंसक शत्रुओं का ध्वंस कर पाते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित हुए-हुए सोम हमें अध्यात्म-संग्राम में विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु-स्मरण व दिव्य गुण

दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परि षिच्यते। क्रन्दन्देवाँ अजीजनत्॥ ४॥

(१) शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम **इत्**=निश्चय से **प्रत्नं पयः**=सनातन वेदज्ञान को **दुहानः**=हमारे में प्रपूरित करता हुआ **पवित्रे**=हृदय के पवित्र होने पर **परिषिच्यते**=शरीर में चारों ओर सिक्त होता है। सोमरक्षण के लिये हृदय की पवित्रता आवश्यक है। रक्षित सोम वेदज्ञान को हमें प्राप्त कराता है। (२) **क्रन्दन्**=प्रभु का आह्वान करता हुआ यह सोम **देवान्**=दिव्य गुणों को **अजीजनत्**=हमारे में प्रादुर्भूत करता है। सोमरक्षण से प्रभु-स्मरण की वृत्ति उत्पन्न होती है, और इस प्रभु-स्मरण की वृत्ति के अनुपात में दिव्य गुणों का विकास होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) हमारे में ज्ञानदुग्ध का पूरण करता है, (ख) यह हमें प्रभु-स्मरण की वृत्तिवाला बनाता है, (ग) और हमारे में दिव्य गुणों का विकास करता है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वार्य-देव-ऋत

अभि विश्वानि वार्याभि देवाँ ऋतावृधः। सोमः पुनानो अर्षति॥ ५॥

(१) **पुनानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **सोमः**=सोम (=वीर्य) **विश्वानि**=सब **वार्या**=वरणीय वस्तुओं के **अभि**=ओर **अर्षति**=गतिवाला होता है। यह हमें सब चाहने योग्य चीज़ों को प्राप्त कराता है। इसी से जीवन में किसी प्रकार की कमी नहीं रहती। (२) यह सोम **ऋतावृधः**=ऋत का, सत्य का व यज्ञ का वर्धन करनेवाले **देवान्**=दिव्य गुणों की **अभि**=ओर गतिवाला होता है। सोमरक्षण से हम ऋत का वर्धन करते हैं और जीवनों में दिव्य गुणों

का विकास होता है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होने पर हमारे जीवनों में सब वरणीय वस्तुओं को, दिव्य गुणों को तथा ऋत को बढ़ाता है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'गति व शक्ति' सम्पन्न

गोमन्नः सोम वीरवदश्वावद्वाजवत्सुतः। पवस्व बृहतीरिषः॥ ६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **सुतः**=उत्पन्न हुई-हुई तू **नः**=हमारे लिये **बृहतीः**=वृद्धि की कारणभूत **इषः**=प्रेरणाओं को **पवस्व**=प्राप्त करा। इस सोम के सुरक्षण से हृदय पवित्र होता है। पवित्र हृदय में प्रभु-प्रेरणा सुनाई पड़ती है। (२) यह प्रभु-प्रेरणा **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाली होती है, **वीरवत्**=यह हमें वीरता प्राप्त कराती है। अथवा उत्तम वीर सन्तानों के देनेवाली होती है। **अश्वावत्**=यह प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली है तथा **वाजवत्**=गति व शक्तिवाली है (वज् गतौ)।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें प्रभु-प्रेरणा के सुननेवाला बनाता है। इस प्रभु-प्रेरणा से हम प्रशस्त इन्द्रियोंवाले वीर व 'शक्ति व गति-सम्पन्न' बन पाते हैं।

मेध्यातिथि ही कहते हैं—

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गोभिः गीर्भिः

यो अत्यइव मृज्यते गोभिर्मदाय हर्यतः। तं गीर्भिर्वासयामसि॥ १॥

(१) **यः**=जो सोम **अत्यः इव**=सततगामी अश्व के समान है, अर्थात् यह हमें शक्ति-सम्पन्न बनाकर खूब ही गतिमय करता है। यह सोम **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **मृज्यते**=शुद्ध किया जाता है। यदि हम स्वाध्याय में लगते हैं तो वासनाओं से आक्रान्त न होने से यह सोम शुद्ध बना रहता है। यह **मदाय**=आनन्द व उल्लास के लिये होता है। **हर्यतः**=गतिशील व कान्त होता है। हमें गतिशील बनाता है, चाहने योग्य होता है। (२) **तम्**=उस सोम को **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों के द्वारा **वासयामसि**=अपने अन्दर धारण करते हैं। प्रभु-स्तवन करते हैं और प्रभु-स्तवन द्वारा सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह प्रभु-स्मरण हमें वासनाओं से बचाता है, और इस प्रकार सोम को हमारे में बसाता है।

भावार्थ—स्वाध्याय (गोभिः व स्तुति (गीर्भिः) सोमरक्षण के साधन हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्राय पीतये

तं नो विश्वा अवस्युवो गिरः शुम्भन्ति पूर्वथा। इन्दुमिन्द्राय पीतये॥ २॥

(१) **तं इन्दुम्**=उस शक्तिशाली सोम को **नः**=हमारी **विश्वाः**=सब **अवस्युवः**=रक्षण की कामनावाली **गिरः**=स्तुति-वाणियाँ **पूर्वथा**=पालन व पूरण के प्रकार से **शुम्भन्ति**=अलंकृत करती हैं। स्तुति-वाणियाँ प्रभु के स्मरण के द्वारा हमारे जीवन में वासनाओं को नहीं पैदा होने देती। वासनाओं के अभाव में सोम हमारे शरीर में सुरक्षित रहता हुआ उसका पालन व पूरण करता है (पृ पालनपूरणयोः)। यह सोम शरीर का रोगों से पालन (बचाव) करता है। मन का पूरण करता

है, मन में वासनाओं को नहीं आने देता। (२) वासनाओं के अभाव में यह सोम **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये होता है। तथा **पीतये**=सब प्रकार से हमारे रक्षण के लिये होता है।

भावार्थ—प्रभु उपासना के द्वारा शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम प्रभु प्राप्ति के लिये तथा रक्षण के लिये साधन बनता है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विप्र मेध्यातिथि द्वारा सोम का पवित्रीकरण

पुनानो याति हर्यतः सोमो गीर्भिः परिष्कृतः। विप्रस्य मेध्यातिथेः ॥ ३ ॥

(१) **विप्रस्य**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले, **मेध्यातिथेः**=पवित्र प्रभु को अपना अतिथि बनानेवाले, प्रभु का, हृदयासन पर बिठाकर, आतिथ्य करनेवाले, ज्ञानी पुरुष की **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों से यह **सोमः**=सोम (वीर्य) **परिष्कृतः**=सुसंस्कृत होता है। प्रभु की उपासना, वासनाओं को नहीं पैदा होने देती। यह वासनाशून्यता सोम को पवित्र रखती है। (२) यह पवित्र **हर्यतः**=कान्ति से युक्त सोम **पुनानः**=हमारे जीवन को पवित्र करता हुआ **याति**=हमें प्राप्त होता है, शरीर के अंग-प्रत्यंग में गतिवाला होता है।

भावार्थ—स्तुति-वाणियों से परिष्कृत हुआ-हुआ सोम हमें पवित्र करता है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सुश्री सहस्रवर्चस्' रयि

पवमान विदा रयिमस्मभ्यं सोम सुश्रियम्। इन्दो सहस्रवर्चसम् ॥ ४ ॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले **सोम**=वीर्य तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिम्**=रयि शक्ति को **विदा**=प्राप्त करा। 'रयि' धन को कहते हैं। जीवन को धन्य बनानेवाली सभी चीजें धन हैं, रयि हैं। सोम के रक्षण से ही इनकी प्राप्ति होती है। (२) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू हमारे लिये उस रयि को प्राप्त करा जो कि **सुश्रियम्**=उत्तम श्री (शोभा) को देनेवाली है और **सहस्रवर्चसम्**=अनन्त शक्ति को प्राप्त करानेवाली है। सोम से शोभा व शक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से हम शोभा व शक्ति-सम्पन्न रयि को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाजसृत्

इन्दुरत्यो न वाजसृत्कनिक्रन्ति पवित्र आ। यदक्षारति देवयुः ॥ ५ ॥

(१) **इन्दुः**=यह हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान है। यह हमें शक्ति-सम्पन्न करके खूब क्रियाशील बनाता है। यह सोम **वाजसृत्**=संग्राम में गतिवाला होता है। यह संग्राम अध्यात्म संग्राम है। इस संग्राम में यह सोम काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का पराभव करता है। **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **आकनिक्रन्ति**=यह खूब ही प्रभु-स्तवन करता है। सोमरक्षण से अशुभ वृत्तियों का विनाश होता है, और प्रभु-स्मरण की भावना जागती है। (२) **यद्**=जब **अति अक्षाः**=यह सोम अतिशयेन शरीर में व्याप्त होता है, तो **देवयुः**=हमारे साथ दिव्य गुणों को जोड़नेवाला होता है। हमारे में दिव्य गुणों का वर्धन करता हुआ यह सोम

हमें उस 'देव' प्रभु से मिलानेवाला होता है। इस सोम के (वीर्य के) रक्षण से ही तो उस सोम की (प्रभु की) प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विप्र का वर्धक

पवस्व वाजसातये विप्रस्य गृणतो वृधे। सोम रास्व सुवीर्यम्॥ ६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **गृणतः**=स्तुति करते हुए **विप्रस्य**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष के **वाजसातये**=शक्ति को प्राप्त कराने के लिये तथा **वृधे**=वृद्धि के लिये **पवस्व**=प्राप्त हो। शरीर में सुरक्षित वीर्य शक्ति को प्राप्त कराता है और सब प्रकार की उन्नतियों का कारण बनता है। (२) हे सोम! तू **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्यशक्ति को **रास्व**=दे। उस शक्ति को दे जिससे कि हम सब रोगों को कम्पित करके नष्ट करनेवाले हों (वि ईरयति)।

भावार्थ—सोम हमें शक्ति को प्राप्त कराता है। यह हमारा वर्धन करता है। हमारे रोगों को कम्पित करके यह दूर करनेवाला होता है।

शक्ति को प्राप्त कराके यह सोम हमें 'अयास्य'=न थकनेवाला बनाता है। यह 'अयास्य' कहता है—

[४४] चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'अयास्य' का देवों की ओर जाना

प्र ण इन्दो महे तन ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि। अभि देवाँ अयास्यः॥ १॥

(१) हे **इन्दो**=शक्ति को देनेवाले सोम! तू **नः**=हमारे **महे तने**=महान् शक्तियों के विस्तार के लिये होता है। तू **ऊर्मिं न**=(light, speed) प्रकाश व गति के समान **बिभ्रत्**=हमारा धारण करता हुआ **प्र अर्षसि**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त होता है। सोमरक्षण से ही मस्तिष्क में प्रकाश तथा शरीर में स्फूर्ति व गति उत्पन्न होती है। (२) प्रकाश तथा स्फूर्ति व गति से सम्पन्न यह **अयास्यः**=अनथक श्रमशील व्यक्ति **देवान् अभि**=दिव्य गुणों की ओर चलता है। दिव्य गुणों की ओर चलते-चलते ही तो यह उस 'देव' प्रभु तक पहुँचेगा।

भावार्थ—सुरक्षित सोम प्रकाश व गति को प्राप्त कराके हमारा धारण करता है। यह हमें दिव्यगुणों की ओर ले चलता हुआ 'देव' प्रभु का प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम का दूरदेश में प्रेरण

मती जुष्टो धिया हितः सोमो हिन्वे परावति। विप्रस्य धारया कविः॥ २॥

(१) **मती**=मननपूर्वक की गई स्तुति से **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किया हुआ **सोमः**=सोम (वीर्य) **परावति**=सुदूर देश में, मस्तिष्क रूप द्युलोक में **हिन्वे**=प्रेरित किया जाता है। प्रभु-स्तवन सोमरक्षण का साधन बनता है। सुरक्षित सोम शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता हुआ मस्तिष्क रूप द्युलोक में प्रेरित होता है, यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। यह **धिया हितः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के हेतु से शरीर में स्थापित हुआ है। इसकी शरीर में स्थिति से ही बुद्धि तीव्र बनती है।

(२) यह सोम **धारया**=अपनी धारक शक्ति के द्वारा **विप्रस्य**=ज्ञानी पुरुष का **कविः**=(कौति सर्वाः विद्याः) सब विद्याओं का उपदेश देनेवाला होता है। इसी से बुद्धि तीव्र बनती है और सब ज्ञानों का ग्रहण करनेवाली होती है। एवं सोम ज्ञानी पुरुष के लिये 'कवि' बनता है।

भावार्थ—मननपूर्वक स्तुति से सोम का रक्षण होता है। सुरक्षित सोम बुद्धि का यह वर्धक होता है और सब ज्ञानों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'जागृवि-विचर्षणि' सोम

अयं देवेषु जागृविः सुत एति पवित्र आ। सोमो याति विचर्षणिः॥ ३॥

(१) **अयम्**=यह सोम **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **जागृविः**=सदा जागरणशील है यह शरीर में रोगों के आक्रमण को नहीं होने देता तथा मन को वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता। **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में यह **आ एति**=शरीर में समन्तात् गतिवाला होता है। (२) यह **विचर्षणिः**=हमारा विशेषरूप से देखनेवाला, ध्यान करनेवाला **सोमः**=सोम **याति**=शरीर में गति करता है।

भावार्थ—सोम सदा जागरुक रहकर हमारी रक्षा करता है।

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'वाज व श्रवस्' का विजेता सोम

स नः पवस्व वाजयुश्चक्राणश्चारुमध्वरम्। बर्हिष्माँ आ विवासति॥ ४॥

हे सोम! **स**=वह तू **नः**=हमें **पवस्व**=पवित्र करनेवाला है, **वाजयुः**=बल को देनेवाला है, **चारु**=रमणीकता प्रदाता है, **अध्वरम्**=यज्ञ का प्रेरक है **बर्हिष्मान्**=दुरितों को दूर करता हुआ, **चक्राणः**=कर्मशील बनाता है, तथा **आविवासति**=हमारे आच्छादन प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोम हमें ज्ञान, बल, सौन्दर्य, उज्ज्वल चरित्र प्रदान करता है।

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विप्रवीर सदावृध

स नो भगाय वायवे विप्रवीरः सदावृधः। सोमो देवेष्वा यमत्॥ ५॥

सः=वह **विप्रवीरः**=विद्वानों में श्रेष्ठ **सोमः**=सोम **देवेषु**=प्राणों में मुख्य प्राण या आत्मा के तुल्य **सदावृधः**=सदा बढ़ानेवाला **नः**=हमें **वायवे**=गतिशील **भगाय**=ऐश्वर्य के लिये **आयमत्**=नियम में चलाता है।

भावार्थ—हम ऐश्वर्य, गतिशीलता, प्राणशक्ति, विद्वत्ता वृद्धि के लिये सोम को धारण करें।

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

क्रतुविद्गातुवित्तमः

स नो अद्य वसुत्तये क्रतुविद्गातुवित्तमः। वाजं जेषि श्रवो बृहत्॥ ६॥

(१) हे सोम! **सः**=वह तू **अद्य**=आज **नः**=हमारे **वसुत्तये**=धन लाभ के लिये **क्रतुवित्**=शक्ति को प्राप्त करानेवाला है तथा **गातुवित्तमः**=उत्कृष्ट मार्ग का ज्ञान देनेवाला है। सोम शक्ति (=क्रतु) को प्राप्त कराता है। यह ज्ञान वृद्धि के द्वारा मार्ग का प्रदर्शन करता है। शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके हम वसुओं (धनों) को प्राप्त करते हैं। (२) हे सोम! तू हमारे लिये **वाजं जेषि**=शक्ति का विजय

करता है। शक्ति के साथ **बृहत् श्रवः**=वृद्धि के कारणभूत महान् ज्ञान को तू हमारे लिये **जेषि**=जीतता है। शक्ति व ज्ञान की विजय हमारे जीवन को पूर्णता की ओर ले चलती है।

भावार्थ—सोम हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराके सब वसुओं का विजेता बनाता है।

'अयास्य' ही कहते हैं—

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

देववीतये

स प॑वस्व॒ मदा॑य॒ कं नृ॒चक्षा॑ दे॒ववी॑तये। इन्द॒विन्द्रा॑य पी॒तये॑॥ १ ॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **सः**=वह तू **मदाय**=हमारे उल्लास के लिये **कं पवस्व**=हमारे आनन्दों को पवित्र करनेवाला हो। हमारे आमोद-प्रमोद की पवित्रता ही 'हमें विलासी बन जाने से' बचाती है। यह विलास में न फँसना हमें जीर्ण होने से बचाता है और आनन्दमय बनाये रहता है। (२) हे सोम! तू **नृचक्षाः**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों का (नृ) ध्यान करनेवाला है (चक्षस्) **देववीतये**=तू दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये होता है (वी=गति=प्राप्ति) तथा दिव्य गुणों की प्राप्ति के द्वारा **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति का साधन बनता है और **पीतये**=हमारे रक्षण के लिये होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारा रक्षण करता हुआ हमें दिव्य गुणों व प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'दूत-कर्म करनेवाला' सोम

स नो॑ अर्षा॒भि दू॒त्यं१॒ त्वमिन्द्रा॑य तोशसे। दे॒वान्त्सखि॑भ्य॒ आ वर॑म्॥ २ ॥

(१) हे सोम! **सः**=वह तू **नः**=हमारे लिये **दूत्यं अभि अर्ष**=दूत-कर्म करने के लिये प्राप्त हो। तू हमारे लिये प्रभु के सन्देश को प्राप्त करानेवाला बन। **त्वम्**=तू **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **तोशसे**=हमारी वासनाओं का संहार करता है। वासनाओं के संहार से ही ज्ञानदीप्ति होकर हमें प्रभु का दर्शन होता है। (२) हे सोम! तू हम **सखिभ्यः**=सखाओं के लिये **देवान्**=दिव्य गुणों को तथा **वरम्**=वरणीय धन को **आ** (पवस्व)=प्राप्त करा।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें (क) प्रभु का सन्देश सुनाता है, (ख) वासनाओं का संहार करता है, (ग) दिव्य गुणों को तथा श्रेष्ठ धन को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'ऐश्वर्य द्वार' का उद्घाटन

उ॒त त्वाम॑रु॒णं व॒यं गोभि॑रञ्ज्मो॒ मदा॑य॒ कम्। वि नो॑ रा॒ये दुरो॑ वृधि॥ ३ ॥

(१) हे सोम! **उत**=और **अरुणम्**=तेजस्वी **कम्**=आनन्दप्रद **त्वाम्**=तुझको **वयम्**=हम **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **अञ्ज्मः**=अपने अन्दर संस्कृत करते हैं। तू **मदाय**=हमारे उल्लास का कारण बनता है। (२) हे सोम! तू **नः**=हमारे **राये**=ऐश्वर्य के लिये **दुरः विवृधि**=द्वारों को खोल डाल। सोमरक्षण से हम सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाले बनें। हमारे लिये ऐश्वर्य के द्वार खुले हों। अन्नमयादि सब कोशों को हम क्रमशः 'तेज, वीर्य, बल व ओज, मन्यु तथा सहस्' रूप ऐश्वर्यों से इस सोम के द्वारा ही परिपूर्ण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति में लगे रहकर हम सोम को शरीर में सुरक्षित करते हैं। यह सुरक्षित सोम हमारे लिये ऐश्वर्य के द्वारों को खोल डालता है।

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'जीवनयात्रा की पूर्ति का साधक' सोम

अत्यू॑ प॒वित्र॑मक्रमीद्वा॒जी धुरं॒ न याम॑नि। इन्दु॑र्दे॒वेषु॑ पत्यते॥ ४॥

(१) **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **उ**=निश्चय से **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष को **अति अक्रमीत्**=अतिशयेन प्राप्त होता है। उसी प्रकार प्राप्त होता है **न**=जैसे कि **यामनि**=जीवनयात्रा के मार्ग में **वाजा**=एक तीव्रगतिवाला घोड़ा **धुरम्**=रथ की धुरा को प्राप्त होता है। घोड़ा रथ में जुतकर हमें लक्ष्य पर पहुँचाता है। इसी प्रकार यह सोम शरीर में सुरक्षित होकर हमें ब्रह्म तक पहुँचानेवाला होता है। (२) यह **इन्दुः**=सोम **देवेषु**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों में **पत्यते**=गतिवाला होता है। वस्तुतः हमारे शरीरों में ही गतिवाला होकर यह सोम ही हमें दिव्य गुणोंवाला बनाता है।

भावार्थ—सोम हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति का साधन बनता है, यह हमें देववृत्ति का बनाता है।

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'नाव' रूप सोम

समी॒ सखा॑यो अस्वर॒न्वने॒ क्रीळ॑न्त॒मत्य॑विम्। इन्दुं॑ ना॒वा अ॑नूषत॥ ५॥

(१) **ई**=निश्चय से **सखायः**=प्रभु के मित्र **इन्दुम्**=इस सोम का **सं अस्वरन्**=सम्यक् स्तवन करते हैं। वे गुणों का प्रतिपादन करते हैं। सोम के गुणों का स्मरण सोमरक्षण के लिये प्रेरक बनता है। उसका स्तवन करते हैं जो कि **वने क्रीडन्तम्**=उपासक में (वन संभक्तौ) क्रीडा का करनेवाला है। उपासक को सोम क्रीडक की मनोवृत्तिवाला बनाता है। यह सोमरक्षक पुरुष (sport's man like spirit) क्रीडक की मनोवृत्तिवाला होता है। हम उस सोम का स्तवन करते हैं जो कि **अत्यविम्**=अतिशयेन रक्षक है। यह हमें रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता, वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। (२) **इन्दुम्**=इस सोम को **नावा**=एक नाव के रूप से **अनूषत**=स्तुत करते हैं। यह सोम जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये एक नौका के समान बनता है, इसके द्वारा हम भवसागर को आसानी से पार कर पाते हैं।

भावार्थ—सोम हमें (क) क्रीडक की मनोवृत्तिवाला बनाता है, (ख) हमारा रक्षण करता है, (ग) भवसागर को तैरने के लिये नाव के समान होता है।

ऋषिः—**अयास्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विशिष्ट दृष्टि शक्ति व सुवीर्य

तया॑ पवस्व॒ धार॑या॒ यया॑ पी॒तो वि॒चक्ष॑से। इन्दो॑ स्तो॒त्रे सु॒वीर्य॑म्॥ ६॥

(१) हे सोम! **तया**=उस **धारया**=धारण शक्ति के साथ तू हमें **पवस्व**=प्राप्त हो, **यया**=जिससे **पीतः**=शरीर के अन्दर ही पिया हुआ तू **विचक्षसे**=विशिष्ट दृष्टि शक्ति के लिये हो, हमारे ज्ञान को तू बढ़ानेवाला हो। (२) हे **इन्दो**=सोम! तू **स्तोत्रे**=स्तोता के लिये **सुवीर्यम्**=उत्कृष्ट वीर्य को प्राप्त करानेवाला बन। इस वीर्य के द्वारा वह स्तोता नीरोग जीवनवाला बने।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम उस शक्ति को देता है जिससे कि स्तोता नीरोग व विशिष्ट

दृष्टि शक्तिवाला बनता है।

अगले सूक्त में भी 'अयास्य' ही कहते हैं कि—

[४६] षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'पर्वतावृधः' सोमासः

असृग्रन्देववीतयेऽत्यासः कृत्व्याइव। क्षरन्तः पर्वतावृधः ॥ १ ॥

(१) ये सोम **देववीतये**=दिव्य गुणों की तथा दिव्य गुणों के द्वारा उस देव की प्राप्ति के लिये **असृग्रन्**=उत्पन्न किये जाते हैं। ये सोम **इव**=उस प्रकार के हैं जैसे कि **कृत्व्याः**=कर्म में कुशल **अत्यासः**=निरन्तर गतिशील घोड़े हों। जैसे ये घोड़े हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं, इसी प्रकार ये सोमकण भी हमारी लक्ष्य प्राप्ति का कारण बनते हैं। (२) ये **पर्वतावृधः**=(पर्वतेन=) ज्ञान व ब्रह्मचर्य आदि से वृद्धि को प्राप्त होनेवाले सोम **क्षरन्तः**=शरीर में व्याप्त होनेवाले होते हैं। (य० ३५।१५) आचार्य पर्वत का अर्थ 'ज्ञान व ब्रह्मचर्य' करते हैं। सोमरक्षण के ये ही साधन हैं। इनके द्वारा सोमकण शरीर में ही क्षरित होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान व ब्रह्मचर्य से शरीर में ही गतिवाले ये सोमकण दिव्य गुणों के वर्धन व प्रभु की प्राप्ति के लिये होते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

परिष्कृत सोम

परिष्कृतास इन्दवो योषेव पित्र्यावती। वायुं सोमा असृक्षत ॥ २ ॥

(१) **परिष्कृतासः**='ज्ञान व ब्रह्मचर्य' आदि से परिष्कृत हुए-हुए **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले **सोमाः**=सोमकण **वायुम्**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभु के प्रति **असृक्षत**=गतिवाले होते हैं। ये सोमकण हमें प्रभु के प्रति ले चलते हैं। (२) ये सोमकण हमें इस प्रकार प्रभु की ओर ले चलते हैं, **इव**=जैसे कि **पित्र्यावती**=उत्तम माता-पितावाली **योषा**=एक युवति वर के प्रति जाती है। जीव पत्नी है, प्रभु पति। इस पति-पत्नी सम्बन्ध को स्थिर रखनेवाला यह सोम है। शरीर में जब तक सोम का रक्षण रहता है तब तक जीव प्रभु का भक्त व उपासक बना रहता है।

भावार्थ—परिष्कृत सोम हमें प्रभु की ओर ले चलते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्रं वर्धन्ति कर्मभिः

एते सोमास इन्दवः प्रयस्वन्तश्चमू सुताः। इन्द्रं वर्धन्ति कर्मभिः ॥ ३ ॥

(१) **एते**=ये **सोमासः**=सोमकण **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। **प्रयस्वन्तः**=ये प्रकृष्ट उद्योगवाले हैं। हमें खूब क्रियाशील बनानेवाले हैं। **चमू सुताः**=द्यावापृथिवी के निमित्त, मस्तिष्क व शरीर के निमित्त उत्पन्न किये गये हैं। मस्तिष्क को ये ज्ञानदीप्त बनाते हैं और शरीर को शक्ति-सम्पन्न। (२) ये सोम **इन्द्रम्**=एक जितेन्द्रिय पुरुष को **कर्मभिः**=कर्मों के द्वारा **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। कर्मों में लगे रहने से ही इनका रक्षण होता है। रक्षित हुए-हुए सोम हमारा वर्धन करते हैं।

भावार्थ—'कर्मों में लगे रहना' हमें वासनाओं से बचाता है। वासनाओं के अभाव में सोम का रक्षण होता है। यह मस्तिष्क व शरीर का ज्ञान व शक्ति द्वारा वर्धन करता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान द्वारा सोम का उचित परिपाक

आ धा॑वता सुहस्त्यः शु॒क्रा गृ॑भ्णीत म॒न्थिना॑। गोभिः॑ श्रीणीत मत्स॒रम्॥ ४॥

(१) हे **सुहस्त्यः**=शोभन कर्मों में प्रवृत्त पुरुषो! (शोभनौ हस्तौ येषां) **आ धावता**=इस सोम को समन्तात् शुद्ध करो। **मन्थिना**=ग्रन्थों का मन्थन करनेवाले के साथ, अर्थात् ज्ञानचर्चा में आसीन होकर, **शुक्रा**=सोम का **गृभ्णीत**=ग्रहण करो। ज्ञानचर्चा में लगे रहना सोमरक्षण का सर्वोत्तम मार्ग है। (२) **गोभिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **मत्सरम्**=आनन्द को सञ्चरित करनेवाले इस सोम को **श्रीणीत**=परिपक्व करो। ज्ञान में लगे रहने से ही इस सोम में विकार नहीं आते और इसका ठीक परिपाक होता है।

भावार्थ—यज्ञादि कर्मों में लगे रहकर व ज्ञानचर्चा में प्रवृत्त रहकर हम सोम का रक्षण व ठीक परिपाक करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'गातुवित्' सोम

स प॑वस्व धनंजय प्रय॒न्ता राध॑सो म॒हः। अ॒स्मभ्यं॑ सोम गातु॒वित्॥ ५॥

(१) हे **धनञ्जय**=हमारे लिये सब आवश्यक धनों का विजय करनेवाले सोम! **सः**=वह तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो, हमारे जीवन को पवित्र कर। तू **महः राधसः**=उत्कृष्ट कार्यसाधक धन का **प्रयन्ता**=देनेवाला है। सोमरक्षण करनेवाला सदा उत्तम मार्गों से धनों का विजय करनेवाला बनता है। (२) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **गातुवित्**=मार्ग को प्राप्त करानेवाला है। हमारे लिये मार्ग का तू ज्ञान देनेवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षण से शक्ति में वृद्धि होकर हम सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त करते हैं। इससे ज्ञान में वृद्धि होकर हम मार्ग को देखनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवमान-मत्सर-मद

ए॒तं मृ॑जन्ति॒ मर्ज्यं॒ पव॑मानं॒ दश॒ क्षिपः॑। इन्द्रा॑य मत्स॒रं मद॑म्॥ ६॥

(१) **दश क्षिपः**=विषय-वासनाओं को अपने से परे फेंकनेवाली दस इन्द्रियाँ **एतम्**=इस **मर्ज्यम्**=जीवन शोधकों में सर्वोत्तम सोम को **मृजन्ति**=शुद्ध करती हैं। इन्द्रियाँ=विषयों में नहीं जाती तो यह सोम पवित्र बना रहता है। (२) यह **पवमानम्**=हमें पवित्र करनेवाला है। **मत्सरम्**=हमारे में आनन्द का संचार करनेवाला है। **मदम्**=हमें एक अध्यात्म मस्ती को देनेवाला है। इस प्रकार **इन्द्राय**=यह हमें उस प्रभु के लिये ले चलनेवाला है।

भावार्थ—विषयों से ऊपर उठकर हम सोम का रक्षण करें। यह 'पवमान, मत्सर व मद' है। हमें प्रभु को प्राप्त कराता है।

यह सोम का रक्षण करनेवाला गम्भीरता से प्रत्येक चीज के तत्त्व को देखनेवाला 'कवि' बनता है, अपनी शक्तियों का ठीक परिपाक करता हुआ यह 'भार्गव' बनता है 'भ्रस्ज पाके'। यह कवि

भार्गव कहता है—

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तेजस्विता का वर्धन

अया सोमः सुकृत्यया महश्चिदभ्यवर्धत। मन्दान उद् वृषायते ॥ १ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **अया सुकृत्यया**=इस शोभन क्रियाशीलता के द्वारा **महः चित् अभि**=तेजस्विता की ओर **अवर्धत**=बढ़ता है। यदि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहते हैं तो हम वासना के शिकार नहीं होते। इससे सोम सुरक्षित रहता है और तेजस्विता का अभिवर्धन होता है। (२) इस सोम के रक्षण के होने पर **मन्दानः**=मनुष्य प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ **उद् वृषायते**=उत्कृष्ट शक्तिशाली पुरुष की तरह आचरण करता है। निर्बल पुरुष 'ईर्ष्या, द्वेष व क्रोध' में चलता है। सबल पुरुष इन भावों को हेय समझता हुआ कभी इनसे प्रेरित नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण से तेजस्विता का वर्धन होता है और यह सोमी उत्कृष्ट शक्तिशाली पुरुष की तरह आचरण करता है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋण चयण

कृतानीदस्य कर्त्वा चेतन्ते दस्युतर्हणा। ऋणा च धृष्णुश्चयते ॥ २ ॥

अस्य=इस सोम के **दस्युतर्हणा**=दुष्ट विचारों को नष्ट करनेवाले **कर्त्वा**=कर्त्तव्य और **कृतानि इत**=किये कार्य भी **चेतन्ते**=सब जानते हैं। **धृष्णु**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला (कामादि का विजेता) **ऋणा च चयते**=सद्गुणों का संचय भी करता है।

भावार्थ—सोमी दुष्ट विचारों का शमन तथा सद्विचारों का संग्रह करता है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सहस्त्रसा

आत्सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रसा भुवत्। उक्थं यदस्य जायते ॥ ३ ॥

यत् अस्य=जब सोम का **उक्थं**=उत्पादन **जायते**=होता है। **आत्**=इसके बाद यह **सोम**=वीर्य शक्ति से **इन्द्रिय**=ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ **सहस्त्रसाः**=बहुत प्रकार से **रसः**=बलवती और **वज्रः**=तेजस्विनी **भुवत्**=बन जाती हैं।

भावार्थ—सोम हमारी उभयेन्द्रियों की शक्तियों का वर्धन करता है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्वयं कवि

स्वयं कविर्विधर्तरि विप्राय रत्नमिच्छति। यदी मर्मृज्यते धियः ॥ ४ ॥

(१) यह सोम **स्वयं कविः**=स्वयं कवि है, क्रान्तदर्शी है, बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाला है। **विधर्तरि**=अपना धारण करनेवाले में **विप्राय**=उस सर्वज्ञ ब्रह्म की प्राप्ति के लिये **रत्नम्**=रमणीय वस्तुओं को **इच्छति**=चाहता है। यह सोम हमें शरीर में नीरोगता प्रदान करता है, मन में निर्मलता को उत्पन्न करता है, बुद्धि को यह तीव्र बनाता है। इन 'नीरोगता, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता' रूप रत्नों के द्वारा यह हमें उस सर्वज्ञ प्रभु की प्राप्ति करानेवाला है। (२) यह सोम हमें तभी प्रभु

को प्राप्त कराता है **यत्**=जब कि **ई**=निश्चय से यह **धियः**=बुद्धियों को व कर्मों को **मर्मृज्यते**=खूब ही शुद्ध करता है। हमारे कर्मों को पवित्र करता हुआ यह कर्मेन्द्रियों का शोधन करता है, तो हमारे ज्ञानों का शोधन करता हुआ यह हमारी ज्ञानेन्द्रियों को शुद्ध बनाता है। इन्द्रियों का शोधन करता हुआ यह सोम हमें विषयों से दूर व प्रभु के समीप करनेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे ज्ञानों व कर्मों को शुद्ध करता हुआ हमें उन रमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराता है, जो कि हमें प्रभु के समीप ले जानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

धनों को देने की कामनावाला (रयीणां सिषासतुः)

सिषासतू रयीणां वाजेष्वर्वतामिव। भरेषु जिग्युषामसि॥ ५॥

(१) हे सोम! तू **भरेषु**=संग्रामों में **जिग्युषाम्**=विजय की कामनावालों के लिये **रयीणाम्**=धनों के **सिषासतुः**=देने की कामनावाला **असि**=है। 'काम-क्रोध-लोभ' आदि आसुरभावों के साथ संग्राम करनेवाले को यह सोम उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त कराता है। यह विजेता 'तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु व सहस्' रूप ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाला होता है। (२) **इव**=जिस प्रकार **वाजेषु**=युद्धों में **अर्वताम्**=घोड़ों को घास आदि देते हैं, इसी प्रकार सोम हमें संग्रामविजयेच्छु होने पर सब रयि प्राप्त कराता है।

भावार्थ—वासना-संग्राम में विजयी बनें, तो सुरक्षित सोम हमारे लिये सब ऐश्वर्यों को देता है।

अगले सूक्त में भी 'कवि भार्गव' ही कहता है—

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'शक्ति का धारक' सोम

तं त्वा नृम्णानि बिभ्रतं सधस्थेषु महो दिवः। चारुं सुकृत्ययेमहे॥ १॥

(१) हे सोम! **नृम्णानि बिभ्रतम्**=(strength, wealth) शक्तियों व तेज आदि ऐश्वर्यों को धारण करते हुए **चारुम्**=सुन्दर जीवन को सुन्दर बनानेवाले, **तं त्वा**=उस तुझ को **सुकृत्यया**=शोभन कर्मों के द्वारा **ईमहे**=(wish, desire) चाहते हैं। सोम के रक्षण से हमारी प्रवृत्ति शुभ कर्मों की ओर ही होती है। (२) **महः दिवः**=महान् ज्ञान के **सधस्थेषु**=मिलकर ठहरने के स्थानों के निमित्त हम इस सोम की कामना करते हैं। सोम के रक्षण से हम चित्तवृत्ति का निरोध करके हृदय में प्रभु का दर्शन करते हैं। यह हृदय 'सधस्थ' होता है, यहाँ हम परमात्मा के साथ स्थित हो रहे होते हैं। इस स्थिति में ही हमें महान् ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए 'महः दिवः सधस्थेषु' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है।

भावार्थ—सोमरक्षण से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। इसके रक्षण से हम उत्तम कर्मों में प्रेरित होते हैं। यह हमारे लिये शक्ति व धनों को धारण करता है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'शतं पुरो रुरुक्षणिम्' (clearing, of the slum)

संवृक्तधृष्णुमुक्थ्यं महामहिव्रतं मदम्। शतं पुरो रुरुक्षणिम्॥ २॥

(१) हम उस सोम को (ईमहे=) चाहते हैं जो कि **संवृक्तधृष्णुम्**=(संवृक्त=संछिन्न) नष्ट

किये हैं, धर्षणशील शत्रु जिसने ऐसा है। यह सोम 'काम-क्रोध-लोभ' को नष्ट करता है, ये शत्रु हमारा धर्षण करते हैं। सुरक्षित सोम इन धर्षक शत्रुओं को छिन्न कर डालता है। **उक्थ्यम्**=यह सोम स्तुत्य है अथवा हमें स्तुति में प्रेरित करनेवाला है। सोम के रक्षित होने पर हम प्रभु-स्तवन की ओर प्रवृत्त होते हैं। यह सोम **महामहिव्रतम्**=महान् बहुत कर्मोंवाला है। सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष महनीय कर्मों में प्रवृत्त रहता है। यह सोम **मदम्**=हमारे लिये उल्लास को देनेवाला है। (२) यह सोम शरीर में बने हुए असुरों के **शतम्**=सैकड़ों **पुरः**=नगरों को **रुरुक्षणिम्**=(विनाशयन्तम्) नष्ट करनेवाला है। 'काम' इन्द्रियों में, 'क्रोध' मन में व 'लोभ' बुद्धि में अपना नगर बनाता है। इन सब नगरों को यह सोम विध्वस्त करता है। यह सोम हमारे शरीर को असुर-पुरियों की स्थापना से मलिन नहीं होने देता। इन आसुरभावों से (slum) में परिवर्तित हुए-हुए शरीर को इन के विनाश से फिर से यह सोम सुन्दर बना देता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है, हमें स्तुति में प्रवृत्त करता है, महनीय कर्मों के प्रति झुकाववाला बनाता है, उल्लासमय करता है। यह असुरों की नगरियों का विध्वंस करता है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सुपर्ण अव्यथि' का सोम धारण

अत॑स्त्वा र॒यिम॒भि राजा॑नं सुक्रतो दि॒वः। सु॒प॒र्णो अ॑व्य॒थिर्भ॑रत्॥ ३॥

(१) हे **सुक्रतो**=शोभन कर्मन् व शोभन शक्तिवाले सोम! **अतः**=क्योंकि तू गत मन्त्र के अनुसार असुर-पुरियों का विध्वंस करता है, इसलिए **सुपर्णः**=अपना उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला व्यक्ति **अव्यथिः**=कार्यों को न व्यथित होकर करनेवाला व्यक्ति **दिवः**=प्रकाश के हेतु से **भरत्**=अपने अन्दर तुझे भरता है, शरीर में ही तेरे धारण का प्रयत्न करता है। (२) हे सोम! यह 'अव्यथि सुपर्ण' उस तेरे धारण का प्रयत्न करता है जो तू **रयिं अभि**=ऐश्वर्य का लक्ष्य करके **राजानम्**=दीप्त होनेवाला है। सोम अन्नमय आदि सब कोशों को तेज आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न करता है। इन ऐश्वर्यों से सम्पन्न करके यह हमें दीप्ति प्रदान करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि हम (क) अपने को वासनाओं के आक्रमण से बचायें तथा (ख) अनथक रूप से कार्यों में लगे रहें। यह सुरक्षित सोम हमें दीप्त जीवनवाला बनायेगा।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वि' (गतिशील, यज्ञशील) का सोम-भरण

विश्व॑स्मा॒ इत्स्व॑र्दृ॒शे साधा॑रणं र॒ज॒स्तुर॑म्। गो॒पामृ॒तस्य॒ विर्भ॑रत्॥ ४॥

(१) **विः**=(goer, sacrificer) गतिशील व त्यागशील (यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाला) पुरुष **इत्**=निश्चय से **विश्वस्मा**=सम्पूर्ण **स्वर्दृशे**=ज्ञान की प्राप्ति के लिये सोम का **भरत्**=अपने अन्दर धारण करता है। 'गतिशीलता व त्यागशीलता' सोमरक्षण के लिये सहायक बनती हैं। सुरक्षित सोम हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। (२) यह 'वि' उस सोम का धारण करता है जो कि **साधारणम्**=सब प्राणियों में समान रूप से प्रभु द्वारा स्थापित किया गया है। **रजस्तुरम्**=जो सोम सुरक्षित होने पर राजसभावों को विनष्ट करनेवाला है। और जो सोम **ऋतस्य गोपाम्**=हमारे जीवनों में ऋत का रक्षक है। सोम के रक्षण से हमारे जीवनों में सब चीज ठीक ही होती है।

भावार्थ—गतिशीलता व त्यागशीलता सोमरक्षण के साधन हैं। सुरक्षित सोम हमारे अन्दर

ऋत का रक्षण करता है। यह राजसभावों को विनष्ट करता है और हमारे ज्ञान को बढ़ाता है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'उत्कृष्ट महिमा' वाला सोम

अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे। अभिष्टिकृद्विचर्षणिः ॥ ५ ॥

(१) यह सोम **अधा**=अब, गत मन्त्र अनुसार गतिशीलता व त्यागशीलता से शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ **इन्द्रियम्**=बल व वीर्य को **हिन्वानः**=प्रेरित करता हुआ **ज्यायः महित्वम्**=उत्कृष्ट महिमा को **आनशे**=व्याप्त करता है, सोम के रक्षण से हमारा बल व वीर्य बढ़ता है और हमें उत्कृष्ट महिमा प्राप्त होती है। (२) यह सोम **अभिष्टिकृद्**=हमारी सब वासनाओं व व्याधियों पर आक्रमण करनेवाला है। यह **विचर्षणिः**=हमारा विशेषरूप से ध्यान करनेवाला है। यह हमें सब प्रकार से सुरक्षित करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) हमारे अन्दर शक्ति को प्राप्त कराता है, (ख) हमें महत्त्वपूर्ण जीवनवाला बनाता है, (ग) हमारे शत्रुओं पर आक्रमण करता है, (घ) हमारा विशेषरूप से ध्यान करता है।

अगला सूक्त भी इस कवि भार्गव का ही है—

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अयक्ष्माः बृहतीः इषः

पवस्व वृष्टिमा सु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि। अयक्ष्मा बृहतीरिषः ॥ १ ॥

(१) हे सोम! तू **नः**=हमारे लिये **वृष्टिम्**=सुखों के वर्षण को **आ सु पवस्व**=समन्तात् उत्तमता से प्राप्त करा सोमरक्षण के द्वारा हम सर्वथा सुखी हों। **दिवः परि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक से **अपाम्**=कर्मों की **ऊर्मिम्**=तरंग को प्राप्त करा। अर्थात् सोमरक्षण के द्वारा हम सदा ज्ञानपूर्वक बड़े उल्लास के साथ कर्मों को करनेवाले हों। (२) हे सोम! तू हमें उन **इषः**=प्रेरणाओं को प्राप्त करा जो कि **अयक्ष्माः**=सब प्रकार के रोगों से रहित हैं, हमें सब रोगों से ऊपर उठानेवाली हैं तथा **बृहतीः**=हमारी वृद्धि का कारण बनती है। अन्तःस्थित प्रभु से हमें प्रेरणा प्राप्त होती है। यह प्रेरणा हमारे उत्थान का कारण बनती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) हमें नीरोग बनाकर सुखी करता है, (ख) ज्ञानपूर्वक उत्साहमय कर्मों में लगाता है, (ग) प्रभु प्रेरणा को सुनने योग्य हमें बनाता है। यह प्रेरणा हमें नीरोग व उन्नत करती है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जन्यासः गावः

तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन्। जन्यास उप नो गृहम् ॥ २ ॥

(१) हे सोम! तू **तया धारया**=अपनी उस धारणशक्ति के साथ **पवस्व**=हमें प्राप्त हो, **यया**=जिससे **गावः**=वेदवाणियाँ **हि**=यहाँ इस जीवन में **आगमन्**=हमें प्राप्त हों। (२) **जन्यासः**=(जननं जनः, तत्र उत्तमाः) सद्गुणों के विकास में उत्तम ये वेदवाणियाँ **नः**=हमारे **गृहम्**=इस शरीररूप घर में **उप**=समीपता से प्राप्त हों। सोमरक्षण से बुद्धि तीव्र होती है और हम ज्ञान की वाणियों को अपनाने के लिये तैयार होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें वे वेदवाणियाँ प्राप्त होती हैं जो कि हमारे जीवनों में सद्गुणों को जन्म देनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आनन्द की वृष्टि

घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः। अस्मभ्यं वृष्टिमा पव॥ ३॥

(१) हे सोम! तू **धारया**=अपनी धारणशक्ति से **घृतं पवस्व**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति को **पवस्व**=प्राप्त करा। तू **यज्ञेषु**=उत्तम कर्मों के होने पर **देववीतमः**=अधिक से अधिक दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला हो। (२) **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **वृष्टिम्**=आनन्द की वर्षा को **आपव**=सर्वथा प्राप्त करा। सोमरक्षण से ही योग में प्रगति होकर हम धर्ममेघ समाधि तक पहुँचते हैं और आनन्द की वर्षा को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) मल नष्ट होते हैं, (ख) ज्ञानदीप्त होता है, (ग) दिव्य गुणों का वर्धन होता है, (घ) हम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, (ङ) समाधि में आनन्द की वर्षा का अनुभव होता है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पवित्र हृदय में प्रभु-प्रेरणा का श्रवण

स नं ऊर्जे व्य१व्ययं पवित्रं धाव धारया। देवासः शृणवन्हि कम्॥ ४॥

(१) हे सोम! **सः**=वह तू **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल व प्राणशक्ति को प्राप्त कराने के लिये **धाव**=प्राप्त हो **अव्ययम्**=(अ-वि-अय्) इधर-उधर न भटकनेवाले **पवित्रम्**=पवित्र हृदय को तू **वि धाव**=विशेष रूप से शुद्ध कर डाल। (२) **हि**=जिससे निश्चयपूर्वक **देवासः**=देववृत्ति के बनकर हम लोग **कम्**=प्रभु की सुखकर प्रेरणा को **शृण्वन्**=सुननेवाले बनें। हमें अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा सुन पड़े। यह प्रेरणा हमें उत्थान की ओर ले जाकर देव बनाती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हृदय पवित्र व न भटकनेवाला बनता है। वहाँ प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है।

ऋषिः—**कविर्भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रक्षोहनन

पवमानो असिष्यदद्रक्षांस्यपजङ्घनत्। प्रत्नवद्रोचयन्रुचः॥ ५॥

(१) **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला सोम **असिष्यदत्**=शरीर में प्रवाहित होता है। यह शरीर के अंग-प्रत्यंगों में **रक्षांसि**=अपने रमण के लिये हमारा क्षय करनेवाले इन रोगकृमियों को **अपजङ्घनत्**=विनष्ट करता है। इस प्रकार यह सोम हमें नीरोग बनाता है। यह नीरोगता हमारी तेजस्विता का कारण बनती है। (२) यह सोम **प्रत्नवत्**=उस सनातन प्रभु की तरह **रुचः**=दीप्तियों को **रोचयन्**=हमारे में दीप्त करता है। सोमरक्षण से हम प्रभु की तरह दीप्त हो उठते हैं। सोम हमें प्रभु की तरह दीप्त ज्ञानवाला बनाता है, तेजस्वी बनाता है। यह सोमरक्षक ब्रह्म का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम नीरोग अतएव तेजस्वी बनते हैं, हमारे में ज्ञानदीप्ति चमक उठती है।

यह दीप्त ज्ञानवाला व्यक्ति सोमरक्षण के उद्देश्य से ही प्रभु के स्तुति-वचनों का उच्चारण करता है। ये स्तुति-वचन 'उचथ' हैं, इनमें उत्तम यह 'उचथ्य' है। यह सोम के लिये कहता है—

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शरीर में बल, मस्तिष्क में ज्ञान, हृदय में प्रभु-प्रेरणा

उत्ते शुष्मास ईरते सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः। वाणस्य चोदया पविम्॥ १॥

(१) हे सोम! **ते**=तेरे **शुष्मासः**=शत्रु-शोषक बल **उद् ईरते**=उद्गत होते हैं। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर वह वर्चस् (vitality) उत्पन्न होता है जो कि सब रोगकृमियों का शोषण कर देता है। यह शुष्म उसी प्रकार उत्पन्न होता है **इव**=जैसे कि **सिन्धोः ऊर्मेः स्वनः**=ज्ञान-समुद्र की तरंगों का शब्द उत्पन्न होता है। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि भी दीप्त हो उठती है। ज्ञानजल का प्रवाह नियम से हमारे में प्रवाहित होने लगता है। (२) हे सोम! तू **वाणस्य**=वाचस्पति प्रभु की **पविम्**=वाणी को **चोदया**=हमारे में प्रेरित कर। सोमरक्षण से हृदय इस प्रकार पवित्र हो जाता है कि उसमें प्रभु की वाणी सुन पड़ने लगती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) शरीर में शत्रु-शोषक बल प्राप्त होता है, (ख) मस्तिष्क में ज्ञान-समुद्र की तरंगें उठने लगती हैं, (ग) हृदय में प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है।

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तीनों ज्ञानवाणियों का उदीरण

प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः। यदव्य एषि सानवि॥ २॥

(१) हे सोम! **ते प्रसवे**=शरीर में तेरे उत्पन्न होने पर **मखस्युवः**=यज्ञों को हमारे साथ जोड़नेवाली **तिस्रः वाचः**=ऋग्-यजु-साम रूप तीनों वाणियाँ **उदीरते**=उद्गत होती हैं। अर्थात् सोमरक्षण से हमें वह वेदज्ञान प्राप्त होता है, जो कि हमारे साथ यज्ञों को संगत करता है। (२) यह सब तब होता है **यद्**=जब कि **अव्ये**=जिसका बहुत अच्छी प्रकार रक्षण किया गया है उस **सानवि**=शिखर प्रदेश में, अर्थात् मस्तिष्क में तू **एषि**=प्राप्त होता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ऊर्ध्वगतिवाला होकर जब मस्तिष्क में प्राप्त होता है, उस समय यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हम ऋग्-यजु-साम रूप में उच्चरित प्रभु की वाणियों को समझनेवाले होते हैं। इन वाणियों के द्वारा हमें यज्ञों का ज्ञान प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से सोम की ऊर्ध्वगति होकर जब यह सोम मस्तिष्क में प्राप्त होता है तो हमें सब ज्ञान की वाणियाँ स्पष्ट होने लगती हैं।

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'प्रिय-हरि-पवमान-मधुश्चुत्'

अव्यो वारे परि प्रियं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। पवमानं मधुश्चुतम्॥ ३॥

(१) **अव्यः**=(अवति इति अविः) रक्षक के **वारे**=जिसमें से बुराइयों का निवारण किया गया है ऐसे हृदय में **प्रियम्**=प्रीणित करनेवाले **हरिम्**=दुःखों का हरण करनेवाले सोम को **अद्रिभिः**=(adore) उपासनाओं के द्वारा **परि हिन्वन्ति**=शरीर में चारों ओर प्रेरित करते हैं। जो व्यक्ति वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता है वह 'अवि' है। इसके वारे=वार में, अशुभ

वासनाओं के निवारणवाले हृदय में उपासनाओं के द्वारा सोम को शरीर में व्याप्त किया जाता है। यह सोम हरि है, सब दुःखों का हरण करनेवाला है। यह प्रिय है, शक्ति के संचार के द्वारा हमें प्रीणित करनेवाला है। (२) **पवमानम्**=यह सोम हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला है तथा **मधुश्चुतम्**=माधुर्य को हमारे में क्षरित करनेवाला है। सोमरक्षण से हमारा जीवन मधुर बनता है।

भावार्थ—सोम 'प्रिय-हरि-पवमान-मधुश्चुत्' है। प्रभु की उपासना के द्वारा इसका रक्षण होता है।

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मदिन्तम कवि

आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे। अर्कस्य योनिमासदम्॥ ४॥

(१) हे **मदिन्तम**=अत्यन्त हर्ष को देनेवाले सोम! **आपवस्व**=तू हमें समन्तात् पवित्र कर। हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्! बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले सोम! **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष का **धारया**=तू धारण कर। पवित्र हृदयवाले पुरुष में ही सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम उसका धारण करता है। सोम हमारा रक्षण इस प्रकार करता है कि यह हमारे ज्ञान को दीप्त करता है। (२) यह सोम **अर्कस्य**=उस अर्चनीय प्रभु के **योनिम्**=स्थान को **आसदम्**=आसीन होने के लिये होता है। अर्थात् सुरक्षित सोम हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें आनन्द को प्राप्त कराता है। ज्ञान को यह बढ़ानेवाला है। अन्ततः यह हमें ब्रह्मलोक में आसीन करता है।

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रकाश-रश्मियों व प्रभु की प्राप्ति

स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः। इन्दविन्द्राय पीतये॥ ५॥

(१) हे **मदिन्तम**=अत्यन्त हर्ष को देनेवाले सोम! **सः**=वह तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **अञ्जानः**=अलंकृत होता हुआ तू हमें पवित्र कर। **अक्तुभिः**=प्रकाश की रश्मियों के हेतु से तू हमें प्राप्त हो। जितना-जितना हम ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करेंगे उतना-उतना हम सोम रक्षण के योग्य बनेंगे। रक्षित सोम हमारे जीवन में प्रकाश की रश्मियों को प्राप्त करायेगा। (२) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू रक्षित होकर **इन्द्राय**=हमें प्रभु को प्राप्त कराने के लिये हो, प्रभु प्राप्ति का साधन बन। **पीतये**=तू हमारे रक्षण के लिये हो, हमें रोगों से बचानेवाला हो।

भावार्थ—स्वाध्याय के द्वारा हम सोम का रक्षण करते हैं। रक्षित सोम हमें प्रकाश की रश्मियों को प्राप्त कराके प्रभु को प्राप्त कराता है।

उच्चथ्य ही कहते हैं—

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम से प्रभु प्राप्ति व नीरोगता

अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ सृज। पुनीहीन्द्राय पातवे॥ १॥

(१) **अध्वर्यो**=हे यज्ञशील पुरुष! अहिंसात्मक कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले पुरुष, **सुतं सोमम्**=शरीर

में उत्पन्न हुए-हुए सोम को **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **आसृज**=सर्वथा संसृष्ट कर। तू हृदय को पवित्र बना और इस प्रकार सोम का शरीर में ही रक्षण करनेवाला बन। (२) **पुनीहि**=इस सोम को तू सर्वथा पवित्र कर। इसमें वासनाओं के उबाल को मत पैदा होने दे। वासनाओं से मलिन हुआ-हुआ सोम शरीर में सुरक्षित नहीं रह सकता। यह पवित्र सोम **इन्द्राय**=प्रभु प्राप्ति के लिये होता है। और **पातवे**=शरीर के रक्षण के लिये होता है। इस सोम के द्वारा शरीर में रोगकृमियों का संहार होकर नीरोगता प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना द्वारा हृदय को पवित्र बनाकर हम सोम का रक्षण करते हैं। यह हमें नीरोग बनाता है और प्रभु प्राप्ति का पात्र बनाता है।

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दिवः पीयूषम्

दिवः पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे। सुनोता मधुमत्तमम्॥ २॥

(१) **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये और **वज्रिणे**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाला बनने के लिये **सोमम्**=सोम को (वीर्यशक्ति को) **सुनोता**=अपने अन्दर सम्पादित करो। शरीर में सुररिक्षत हुआ-हुआ यह सोम रोगकृमियों के विनाश के द्वारा हमें दृढ़ शरीरवाला बनाता है। यह हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है। (२) यह सोम तो **दिवः पीयूषम्**=द्युलोक का अमृत है। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है। यह सोम मस्तिष्क को कभी नष्ट न होने देनेवाला है। ज्ञानाग्नि का यही तो ईंधन बनता है। **उत्तम्**=यह उत्तम है, अर्थात् हमें सर्वोत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त करानेवाला है। **मधुमत्तमम्**=जीवन को अतिशयेन मधुर बनानेवाला है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम ज्ञान का अमृत है, ज्ञान को न नष्ट होने देनेवाला है, हमें उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त कराता है, हमारे जीवन को मधुर बनाता है।

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधुर व पवमान

तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्यश्नते। पवमानस्य मरुतः॥ ३॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **त्ये**=वे **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति और **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष **तव व्यश्नते**=तेरा ही सेवन करते हैं, शरीर में तुझे व्याप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं। शरीर में सोम को सुरक्षित करने के लिये आवश्यक है कि हम आसुरभावों से ऊपर उठें, दिव्यभावों को अपने हृदयों में भरें। इसके हम प्राणसाधना करनेवाले बनें। प्राणसाधना द्वारा शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होती है। (२) उस सोम का हम शरीर में व्यापन करें जो कि **अन्धसः**=शरीर का अन्न बनता है, शरीर का वस्तुतः धारण करनेवाला यह सोम ही है। **मधोः**=यह जीवन को मधुर बनानेवाला है और **पवमानस्य**=हमें पवित्र बनानेवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षण में देववृत्ति व प्राणायाम सहायक हैं। यह सोम शरीर का अन्न है, जीवन को धुर बनाता है तो हमें पवित्र करता है।

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मदाय-भूर्णये-ऊतये

त्वं हि सोम वर्धयन्त्सुतो मदाय भूर्णये। वृषन्स्तोतारमूतये॥ ४॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **वर्धयन्**=सब शक्तियों का वर्धन करता हुआ **मदाय**=हर्ष के लिये होता है, **भूर्णये**=भरण के लिये होता है अथवा (भूर्णि=क्षिप्रम्) शीघ्रता से कार्यों को करने के लिये होता है। (२) हे सोम! **स्तोतारम्**=उपासक को **वृषन्**=सब सुखों से सिक्त करता हुआ तू **ऊतये**=रक्षण के लिये होता है। सोम शरीर में सुरक्षित होने पर आधिव्याधियों को विनष्ट करनेवाला होता है। प्रभु की उपासना के होने पर यह शरीर में सुरक्षित रहता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम उल्लास के लिये, शीघ्रता से कार्यों को करने के लिये तथा रक्षण के लिये होता है।

ऋषिः—**उचथ्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाज और श्रव (बल-ज्ञान)

अभ्यर्ष विचक्षण पवित्रं धारया सुतः। अभि वाजमुत श्रवः ॥ ५ ॥

(१) हे **विचक्षण**=अपने उपासक को विशिष्ट ज्ञानयुक्त करनेवाले सोम! तू **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष को **धारया**=अपनी धारण शक्ति के साथ **अभि अर्ष**=आभिमुख्येन प्राप्त हो। (२) हे सोम! तू अपने उपासक को **वाजं अभि**=शक्ति की ओर ले चल। **उत**=और **श्रवः**=उसे ज्ञान की ओर ले चल। उपासक के बल व ज्ञान को तू बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। रक्षित सोम हमारे बल व ज्ञान का वर्धन करेगा।

उचथ्य ही अगले सूक्त में कहता है—

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**उचथ्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्ति व ज्ञानदीप्ति

परि द्युक्षः सनद्रयिर्भरद्वाजं नो अन्धसा। सुवानो अर्ष पवित्र आ ॥ १ ॥

(१) **द्युक्षः**=दीप्ति में निवास करनेवाला, ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला, यह सोम **सनद्रयिः**=ऐश्वर्यों का देनेवाला है। शरीर के सब कोशों को यह ऐश्वर्य से युक्त करता है। यह **नः**=हमारे लिये **अन्धसा**=अन्न के द्वारा **वाजम्**=शक्ति को **भरत्**=भरता है। अन्न से रस-रुधिर आदि के क्रम से इसका उत्पादन होता है। उत्पन्न हुआ-हुआ सोम हमें शक्ति-सम्पन्न करता है। मांस-भक्षण से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम न तो शरीर में सुरक्षित रह पाता है और नां ही हमें शक्ति-सम्पन्न करता है। (२) हे सोम! **सुवानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ तू **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **आ अर्ष**=समन्तात् गतिवाला हो। हृदय की पवित्रता के होने पर यह सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है और उस समय यह हमें शक्ति व ज्ञान को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—अन्न के आहार से उत्पन्न सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। यह सुरक्षित सोम हमारे में शक्ति व ज्ञान का सञ्चार करता है।

ऋषिः—**उचथ्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रत्नेभिः अध्वभिः

तव प्रत्नेभिरध्वभिरव्यो वारे परि प्रियः। सहस्रधारो यात्तना ॥ २ ॥

(१) **प्रत्नेभिः अध्वभिः**=प्राचीन, सदा से चले आये मार्गों के द्वारा **तव अव्यः**=हे सोम! तेरा रक्षण करनेवाले के **वारे**=जिसमें से वासनाओं का निवारण किया गया है उस हृदय में **प्रियः**=प्रीति को प्राप्त करानेवाला **परियात्**=शरीर में चारों ओर गतिवाला हो। धर्म का मार्ग सदा से चला आ रहा है, अतएव वह सनातन है। जब कोई इस शाश्वत धर्म का लोप करके नये ही मार्ग पर चलने लगता है तभी वह विषयों का शिकार हो जाता है। शाश्वत धर्म के मार्गों पर चलता हुआ व्यक्ति सोम का रक्षण करनेवाला होता है, इस धर्म का लोप ही हमें विषय-प्रवण करके सोम-रक्षण के योग्य नहीं रहने देता। (२) सनातन धर्म मार्ग पर चलकर सोम का रक्षण करनेवाले के शरीर में यह सोम शरीर में सर्वत्र व्याप्त होता है (परियात्)। यह अंग-प्रत्यंग को सशक्त करके प्रीति को प्राप्त कराता है (प्रियः)। (२) यह सोम **तना**=शक्तियों के विस्तार के द्वारा **सहस्रधारः**=हजारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाला होता है। हम सोम का धारण करते हैं। यह सोम हमारा धारण करता है।

भावार्थ—शाश्वत धर्म मार्ग पर चलते हुए हम सोम का धारण करते हैं, तो यह सोम हमारा धारण करता है।

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

चरु तथा दान

च॒रुर्न यस्तमी॑ङ्खयेन्दो॒ न दान॑मीङ्खय। व॒धैर्व॑धस्नवीङ्खय॥ ३॥

(१) हे सोम! **यः चरुः न**=जो चरु (An oblation of rice and barley) के समान उत्कृष्ट भोजन है **तं ईंखय**=उसे हमारे लिये प्राप्त करा। अर्थात् हम यज्ञ करके सदा यज्ञशेष रूप अमृत का ही सेवन करनेवाले बनें। यह चरु के रूप में किया गया भोजन सोमरक्षण की अनुकूलता को पैदा करता है। (२) **इन्दो**=हे हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम **न**=(इदानीं सा) अब **दानम्**=दान की वृत्ति को **ईंखय**=हमें प्राप्त करा। सोमरक्षक पुरुष दान की वृत्तिवाला होता है। भोगवृत्ति सोमरक्षण के प्रतिकूल है। (३) **वधस्नो**=रोगकृमियों के वध के लिये शरीर में स्तुति होनेवाले सोम **वधैः**=सब अवाञ्छनीय तत्त्वों के विनाश के हेतु से **ईंखय**=तू हमारे अंग-प्रत्यंग में गतिवाला हो। तेरे द्वारा हमारा सारा शरीर निर्मल हो उठे।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि हम यज्ञशेष का सेवन करें। दान की वृत्तिवाले हों न कि भोगवृत्तिवाले तथा अंग-प्रत्यंग में सोम को प्राप्त कराके हम सब आधिव्याधियों को विनष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**उचथ्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

काम आदि की बल का अभिभव

नि शुष्म॑मिन्दवेषां॒ पुरु॑हूत॒ जना॑नाम्। यो अ॒स्माँ आ॒दिदे॑शति॥ ४॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाला तू जिस सोम की सभी आराधना करते हैं ऐसा तू **एषां जनानाम्**=इन विकसित शक्तिवाले, अति प्रबल शत्रुओं के **शुष्मम्**=शोषक बल को **नि**=(न्यक् कुरु) पराभूत कर। इन हमारे शत्रुभूत काम-क्रोध-लोभ के बल को पराजित करनेवाला है। (२) इन शत्रुओं के उस बल को पराभूत कर **यः**=जो कि **अस्मान्**=हमें **आदिदेशति**=(challange) युद्ध के लिये ललकारता-सा है। काम-क्रोध-लोभ का बल हमें युद्ध के लिये ललकारता हुआ सदा पराजित-सा कर देता है। शरीर में हम सोम का रक्षण कर पाते

हैं तो इन सब शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ होते हैं। प्रभु की उपासना इस सोम के रक्षण के द्वारा ही हमें सबल बनाती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम काम-क्रोध-लोभ के वेग को पराभूत करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**उचथ्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'मंहयद्रयि' सोम

श॒तं न॑ इन्द ऊ॒तिभि॑: स॒हस्रं॑ वा॒ शुची॑नाम्। पव॑स्व मंह॒यद्र॑यिः ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **मंहयद्रयिः**=सब धनों का देनेवाला है (मंहतेर्दानकर्मणः)। प्रथम मन्त्र में 'सनद्रयिः' शब्द से इसी भाव को व्यक्त किया गया था। ऐसा तू **नः**=हमें **ऊतिभिः**=रक्षणों के हेतु से **शुचीनाम्**=अपने पवित्र बलों के **शतं सहस्रं वा**=सैंकड़ों व हजारों को **पवस्व**=प्राप्त करा। (२) वस्तुतः सोम ही शरीर के सब कोशों को ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है, यही 'सनद्रयि-मंहयद्रयि' है। यही हमें पवित्र बलों को प्राप्त कराता है, उन बलों को जिनसे कि हम अपना रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें सब ऐश्वर्यों व बलों को प्राप्त कराता है।

इस बलों के देनेवाले सोम का रक्षक पुरुष 'अवत्सार' कहलाता है। यह इस सब भोजनों के सारभूत सोम का अवन (रक्षण) करता है। यह सोम के लिये कहता है कि—

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शत्रुओं का निराकरण

उत्ते॒ शुष्मा॑सो अस्थू॒ रक्षो॑ भि॒न्दन्तो॑ अद्रिवः। नु॒दस्व॒ याः प॑रि॒स्पृधः॑ ॥ १ ॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाले सोम! **ते**=उस तेरे **शुष्मासः**=बल **रक्षः भिन्दन्तः**=सब रोगकृमियों व राक्षसी भावनाओं का विदारण करते हुए **उद् अस्थुः**=शरीर में उत्थित होते हैं। सोम की शक्तियों से सब रोगकृमियों का विनाश तो होता ही है, काम-क्रोध आदि आसुर भाव भी विनष्ट होते हैं। (२) हे सोम! **याः**=जो भी **परिस्पृधः**=हमारे पराभव की कामनावाले काम-क्रोध शत्रुओं के सैन्य हैं, उन्हें **नुदस्व**=परे धकेल। वे शत्रुभूत काम-क्रोध हमारे पर प्रबल न हो सकें।

भावार्थ—हमारे अन्दर सोम की शक्ति उद्गत हो, वह हमारे शत्रुओं को पराभूत करे।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ओजस्विता से शत्रुहनन

अ॒या नि॑ज॒घ्निरोज॑सा रथस॒ङ्गे धने॑ हि॒ते। स्तवा॒ अबि॑भ्युषा हृ॒दा ॥ २ ॥

(१) हे सोम! गत मन्त्र के अनुसार तेरे रक्षण के द्वारा उत्पन्न **अया ओजसा**=इस ओज के द्वारा **निजघ्निः**=मैं शत्रुओं का हनन करनेवाला होता हूँ। (२) **रथसंगे**=इस शरीर रूप रथ के वासनाओं के साथ युद्ध के उपस्थित होने पर **हिते धने**=हितकर धन की प्राप्ति के निमित्त मैं **अबिभ्युषा**=न भयभीत हुए-हुए **हृदा**=हृदय से **स्तवा**=उस प्रभु का स्तवन करता हूँ। (संग=fight, encounter) प्रभु का स्तवन ही मुझे वह शक्ति देता है, जिससे कि मैं इन काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव कर पाता हूँ। इनका पराभव ही मुझे सोम के रक्षण के योग्य बनाता है और तभी मैं ओजस्वी व विजयी बनता हूँ। इस स्थिति में ही मुझे सब इष्ट धनों का लाभ होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से मैं ओजस्वी बनकर शत्रुओं का विजय करता हूँ। अब सोमरक्षण के होने पर मुझे सब इष्ट धन प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण के नियमों का पालन

अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या। रुज यस्त्वा पृतन्यति॥ ३॥

(१) **अस्य पवमानस्य**=इस जीवन को पवित्र करनेवाले सोम के **व्रतानि**=रक्षण के साधनभूत कर्म-नियम 'नियमः पुण्यकं व्रतम्', **दूढ्या**=(दुर्धिया) दुर्बुद्धि के कारण मेरे से **न आधृषे**=धर्षण के लिये नहीं होते। अर्थात् मैं दुष्ट बुद्धि के कारण सोम के रक्षण के साधनभूत नियमों को नहीं तोड़ता। (२) जब सोमरक्षण के नियमों का पालन करता हुआ मैं सोम का रक्षण करता हूँ तो हे सोम! **यः**=जो भी **त्वा पृतन्यति**=तेरे पर आक्रमण करता है, उसे तू **रुज**=नष्ट कर। रक्षित सोम हमारे सब शत्रुओं को नष्ट करके हमारा रक्षण करता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के नियमों का पालन करते हुए सोम का रक्षण करें। यह हमारे सब शत्रुभूत रोगकृमियों व वासनाओं का विनाश करके हमारा रक्षण करेगा।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'गति-संयम-ज्ञान'

तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम्। इन्दुमिन्द्राय मत्सरम्॥ ४॥

(१) **तम्**=उस **इन्दुम्**=शक्ति को देनेवाले सोम को **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **हिन्वन्ति**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। इस इन्दु के रक्षण से ही हमारे जीवनों में ज्ञान की ज्योति का उदय होता है, और हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनते हैं। (२) उस सोम को ये उपासक अपने अन्दर प्रेरित करते हैं जो कि **मदच्युतम्**=आनन्द को ही हमारे में क्षरित करनेवाला है। **हरिम्**=हमारे सब दुःखों का हरण करनेवाला है। **नदीषु**=गंगा, यमुना व सरस्वती 'गति, संयम व ज्ञान' इन तीनों के प्रवाहित होने पर हमें **वाजिनम्**=अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाला है। तथा **मत्सरम्**=एक अद्भुत हर्ष का हमारे में संचार करनेवाला है। (३) इस सोम को शरीर में ही प्रेरित करके हम वास्तविक आनन्द को प्राप्त करते हैं। यह हमें शक्ति-सम्पन्न करके गतिशील बनाता है, यही 'गंगा' का बहना है। यह हमारे दुर्भागों को विनष्ट करके हमें संयत जीवनवाला बनाता है, यही हमारे जीवन में 'यमुना' का प्रवाह है। यह मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, यही 'सरस्वती' का प्रकाश है। एवं सोमरक्षण हमारे में तीनों नदियों को प्रवाहित करके हमें शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से शरीर में 'गंगा', हृदय में 'यमुना' तथा मस्तिष्क में 'सरस्वती' का प्रवाह चलता है और हमारा जीवन 'गति, संयम व ज्ञान' से परिपूर्ण होता है।

अगले सूक्त में भी अवत्सार ऋषि ही कहते हैं—

[५४] चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋषि-दोहन (वेदवाणी रूप गौ का दोहन)

अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्॥ १॥

(१) जब सोम शरीर में सुरक्षित होता है, तो यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त

करता है। **अस्य**=इस सोम की **प्रत्नाम्**=सदा से चली आ रही, सनातन **द्युतम्**=ज्योति के **अनु**=अनुसार, अर्थात् जितना-जितना ये सोम का रक्षण करते हैं, उतना-उतना **अह्रयः**=(अहि=wise learned) बुद्धिमान् मनुष्य **सहस्रसां ऋषिम्**=अनन्त ज्ञान से सने हुए इस वेद से (ऋषिः वेदः) **शुक्रं पयः**=शुद्ध ज्ञानदुग्ध को **दुदुह्रे**=दोहते हैं। वेदवाणी गौ है। उसका दीप्त ज्ञान ही दुग्ध है। (२) बुद्धिमान् पुरुष सोम का अपने अन्दर रक्षण करते हैं, जिससे 'तीव्र बुद्धि' बनकर इस ज्ञान का दोहन कर सकें।

भावार्थ—सोम के अन्दर यह सनातन शक्ति है कि वह बुद्धि को तीव्र बनाता है। समझदार पुरुष इस सोम के रक्षण से तीव्र बुद्धि बनकर वेदज्ञान को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य के समान

अयं सूर्यइवोपदृगयं सरांसि धावति। सप्त प्रवत आ दिवम् ॥ २ ॥

(१) **अयम्**=गत मन्त्र के अनुसार सोमरक्षण के द्वारा वेदवाणी रूप गौ से ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाला यह पुरुष **सूर्य इव**=सूर्य की तरह **उपदृग्**=दिखनेवाला होता है। यह लगभग सूर्य जैसा लगता है। सूर्यसम तेजस्वी होता है। (२) **अयम्**=यह सोमरक्षक **सरांसि**=अपने ज्ञान सरोवरों को **धावति**=शुद्ध कर लेता है (धाव शुद्धौ)। सोम के द्वारा ज्ञानाग्नि दीप्त हो उठती है। ज्ञान का शोधन करता हुआ यह **सप्त**=सात **प्रवतः**=(height, elevation) ऊँचाइयों को, उच्च लोकों को धावति=जाता है, उन लोकों में आगे-आगे बढ़ता चलता है। और **आ दिवम्**=उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा तक पहुँचता है। ये सात लोक 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' इन सात व्याहियों द्वारा सूचित हो रहे हैं। इन लोकों का आक्रमण करता हुआ यह सोमी सूर्य सम तेजस्वी प्रतीत होता है।

भावार्थ—यह सोम रक्षक पुरुष सूर्य के समान तेजस्वी होता है, यह ज्ञानसरोवरों को शुद्ध कर डालता है, 'भू' आदि लोकों का विजय करता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवित्रता व दीप्ति

अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि। सोमो देवो न सूर्यः ॥ ३ ॥

(१) **अयम्**=यह सोम **विश्वानि**=सब **भुवना**=भुवनों को, लोकों को, शरीर के अंगों को (Localities) **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **उपरि तिष्ठति**=ऊपर, शरीर के मस्तिष्क रूप द्युलोक में **तिष्ठति**=स्थित होता है। (२) उस समय **सोमः**=यह सोम **देवः न सूर्यः**=देदीप्यमान सूर्य के समान होता है। जैसे सूर्य सब भुवनों के अन्धकार को विनष्ट करता है, इसी प्रकार यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को इस प्रकार दीप्त करता है कि सारा अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम पवित्रता को करता है तथा ज्ञानदीप्ति को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्रयु सोम

परि णो देववीतये वाजाँ अर्षसि गोमतः। पुनान इन्दविन्द्रयुः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **नः**=हमें **देववीतये**=दिव्यगुणों को प्राप्त कराने के लिये **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **वाजान्**=बलों को **परि अर्षसि**=समन्तात् प्राप्त कराता

है। 'सब इन्द्रियाँ शुद्ध हों, हम शक्ति-सम्पन्न हों' तो यही दिव्य गुणों के विकास का मार्ग है। (२) हे सोम! **पुनानः**=हमें पवित्र करते हुए तुम **इन्द्रयुः**=उस परमैश्वर्यवाले प्रभु को हमारे साथ जोड़नेवाले हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे जीवन को पवित्र करता हुआ हमें प्रभु को प्राप्त कराता है।

अवत्सार ही अगले सूक्त में भी कहता है—

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यव-पुष्ट-सौभग

यवंयवं नो अन्धसा पुष्टपुष्टं परि स्रव। सोम विश्वा च सौभगा॥ १॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **नः**=हमारे लिये **अन्धसा**=सोम्य अन्नों के द्वारा **यवं यवम्**=प्रत्येक बुराई के अमिश्रण तथा अच्छाई के मिश्रण को **परिस्रव**=प्राप्त करा। सोमरक्षण के उद्देश्य से हम सोम्य अन्नों का ही सेवन करें। यह सोम्य अन्नों का सेवन हमें दुरितों से दूर करके भद्र की ओर ही ले चलनेवाला हो। (२) हे सोम! **च**=और तू हमारे लिये **विश्वा सौभगा**=सब सौभाग्यों को प्राप्त करानेवाला हो। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा' ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्य रूप सभी सौभग्य हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) सब बुराइयाँ दूर होकर अच्छाइयाँ प्राप्त होती हैं, (ख) अंग-प्रत्यंग पुष्ट होता है, (ग) सब सौभाग्य हमें प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोमरक्षण के दो प्रमुख साधन

इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धसः। नि बर्हिषि प्रिये सदः॥ २॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! **यथा तव स्तवः**=जिस प्रकार हम तेरा स्तवन करनेवाले हैं, और **यथा**=जिस प्रकार **ते**=तेरा **अन्धसः**=सोम्य अन्न के द्वारा **जातम्**=विकास व प्रादुर्भाव हुआ है तू **प्रिये**=पवित्रता के कारण प्रीति कर **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **निषदः**=आसीन हो। (२) सोमरक्षण के दो साधन हैं—(क) एक तो हम सोम का स्तवन करते हुए सोमरक्षण के महत्त्व को समझें और सोमरक्षण के लिये प्रबल आकांक्षावाले हों। (ख) और इस सोमरक्षण के उद्देश्य से सदा सात्त्विक अन्न का ही सेवन करें। सोम्य अन्न के भक्षण से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम अवश्य शरीर में सुरक्षित रहेगा। 'जैसा अन्न वैसा मन' (आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः) अन्तःकरण की शुद्धि से यह सोम शरीर में ही व्याप्त होगा।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के महत्त्व का ध्यान करें और इसके रक्षण के उद्देश्य से सोम्य अन्नों का ही सेवन करें।

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गोवित्-अश्ववित्

उत नो गोविदश्ववित्पवस्व सोमान्धसा। मक्षूतमेभिरहभिः॥ ३॥

(१) **उत**=और हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **नः**=हमारे लिये **गोवित्**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला हो। **अश्ववित्**=उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला हो। सुरक्षित सोम सब इन्द्रियों

को सशक्त बनाता है, कर्मेन्द्रियाँ शक्ति-सम्पन्न होकर यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में रुचिवाली होती हैं। (२) हे सोम! तू **मक्षूतमेभिः**=(मक्ष् To accumalating heap, collect) अधिक से अधिक संचय की कारणभूत **अहभिः**=(अह व्याप्तौ) व्याप्तियों के द्वारा **अन्धसा**=इस सोम्य अन्न के भक्षण से तू **पवस्व**=हमें पवित्र करनेवाला हो। जिस समय हम सोम्य अन्नों का सेवन करते हैं, उस समय यह सोम शरीर में सुरक्षित होता है। रुधिर में व्याप्त होता हुआ यह सोम शरीर में संचित होता हुआ हमारे जीवनों को सब प्रकार से पवित्र करता है।

भावार्थ—सोम्य अन्न के सेवन से सोम शरीर में ही संचित व व्याप्त होता है। यह ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्रशस्त बनाता है।

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

यो जिनाति न जीयते

यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य। स पवस्व सहस्त्रजित्॥ ४॥

(१) हे सोम! **यः**=जो तू **जिनाति**=शत्रुओं का नाश करता है और **न जीयते**=रोगकृमि रूप शत्रुओं से कभी आक्रान्त नहीं होता। आक्रान्त होना तू दूर रहा, **शत्रुं समीत्य**=शत्रुओं पर आक्रमण करके **हन्ति**=उनका नाश करता है। **सः**=यह तू **सहस्त्रजित्**=शतशः शत्रुओं का विजेता **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। (२) शरीर में सोम के रक्षित होने पर यह सोम शरीर में सब रोगकृमि व वासना रूप शत्रुओं का विनाश करता है। यह रोगकृमियों पर आक्रमण करके उन्हें विनष्ट कर देता है। इस प्रकार यह सोम हमारे लिये सब आवश्यक वसुओं का विजेता बनता है।

भावार्थ—हे सोम! तू हमारे शत्रुओं का विनाश करके हमारे लिये शतशः वसुओं का विजेता बन।

अगला सूक्त भी 'अवत्सार' ऋषि का ही है—

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'देवयु' सोम

परि सोम ऋतं बृहदाशुः पवित्रे अर्षति। विघ्नन्रक्षांसि देवयुः॥ १॥

(१) **सोमः**=शरीर में उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **आशुः**=हमें शीघ्रता से कार्य करनेवाला बनाता है। यह **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **ऋतम्**=ऋत को **परि अर्षति**=प्राप्त कराता है (परिगमयति) हृदय की पवित्रता के होने पर ही इसका शरीर में रक्षण होता है। और यह शरीर में 'बृहत् ऋत' को प्राप्त कराता है। सोमरक्षक का जीवन ऋतवाला बनता है (regular) व्यवस्थित। (२) यह सोम **रक्षांसि**=रोगकृमियों व राक्षसीभावों को **विघ्नन्**=नष्ट करनेवाला होता है और इस प्रकार **देवयुः**=हमें उस महादेव से मिलानेवाला होता है। सोमरक्षण से दिव्य गुणों का वर्धन होकर अन्ततः प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमारे लिये 'बृहत् ऋत' को प्राप्त कराता है तथा दिव्य गुणों का हमारे में वर्धन करता है।

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शक्ति-यज्ञ-प्रभु प्राप्ति

यत्सोमो वाजमर्षति शतं धारा अपस्युवः। इन्द्रस्य सख्यमाविशन्॥ २॥

(१) **यत्**=जब **सोमः**=शरीर में उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **वाजम्**=शक्ति को **अर्षति**=(गमयति) प्राप्त कराता है, तो **शतं धाराः**=रस सोम की ये शतशः धारणशक्तियाँ **अपस्युवः**=(अपस्+यु) कर्म की कामनावाली होती हैं। सोम की ये धारणशक्तियाँ हमें यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त करती हैं। सोमी पुरुष सदा यज्ञों की कामनावाला होता है। (२) इन यज्ञों के द्वारा उस यज्ञरूप प्रभु की उपासना करती हुई ये सोम धारायें **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता में **आविशन्**=प्रवेश करती हैं। हमें प्रभु की मित्र बनाती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) शक्ति बढ़ती है (ख) हमारा झुकाव यज्ञों की ओर होता है, (ग) हम प्रभु को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'मृज्यसे सोम सातये'

अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत। मृज्यसे सोम सातये॥ ३॥

(१) **दश योषणः**=('यु मिश्रणामिक्षणयोः) अज्ञान व दुरित से पृथग्भूत तथा ज्ञान और भद्र से युक्त दस इन्द्रियाँ **त्वा अभि अनूषत**=हे सोम! तेरा लक्ष्य करके स्तवन करती हैं। पवित्र इन्द्रियाँ सोम की ही महिमा का प्रतिपादन करती हैं। सोमरक्षण से ही वे सशक्त व पवित्र बनी हैं। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ सोम का स्तवन करती हैं, **न**=जैसे कि **कन्या**=(कन दीप्तौ) दीप्त ज्ञानवाली वेदवाणी **जारम्**=एक स्तोता को प्रशंसित करती हैं। वेद में प्रभु के स्तोता का यत्र-तत्र शंसन है ही। वेदवाणी को स्तोता प्रिय है, पवित्र इन्द्रियों को उसी प्रकार सोम प्रिय है। (२) हे **सोम**=वीर्यशक्त! तू **सातये**=सब वसुओं की प्राप्ति के लिये **मृज्यसे**=शुद्ध किया जाता है। सोम के शोधन से शरीर में निवास के लिये सब आवश्यक तत्त्व ठीक बने रहते हैं। वासनाओं का उबाल न आने देना ही सोम का शोधन है।

भावार्थ—इन्द्रियों की पवित्रता से सोम का रक्षण होता है। वासनाओं से मलिन हुआ-हुआ सोम शरीर में सब वसुओं को स्थापित करता है।

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

निष्पापता

त्वमिन्द्राय विष्णवे स्वादुरिन्दो परि स्रव। नॄन्त्स्तोतॄन्पाह्यंहसः॥ ४॥

(१) हे **इन्दो**=हमारे जीवन को शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **त्वम्**=तू **स्वादुः**=जीवन को रसमय बनानेवाला है। **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **परिस्रव**=हमारे में प्रवाहित हो। **विष्णवे**=उस सर्वव्यापक प्रभु की प्राप्ति के लिये हमारे में प्रवाहित हो। सोमरक्षण हमें 'इन्द्र व विष्णु' बनाता, ज्ञान व शक्ति का ऐश्वर्य इस सोमरक्षण से ही प्राप्त होता है। यह सोमरक्षण ही हमें उदार (=व्यापक मनोवृत्तिवाला) बनाता है। (२) हे सोम! तू **नॄन्**=अपने को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **स्तोतॄन्**=इन स्तोताओं को **अंहसः**=सब पापों व कष्टों से **पाहि**=बचानेवाला हो। सोमरक्षण से हम आगे बढ़ने की वृत्तिवाले बनते हैं, प्रभु के स्तोता बनते हैं और इस प्रकार पापों से बचे रहते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें ज्ञानैश्वर्य सम्पन्न, व्यापक वृत्तिवाला तथा निष्पाप जीवनवाला बनाता है।

अवत्सार ही कहता है—

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सहस्रीवाज' व 'दिवः वृष्टि'

प्र ते धारा असश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टयः । अच्छा वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥

(१) (असश्चत्=not defeated or overcome) हे सोम! **ते**=तेरी **असश्चतः**=वासनाओं से अनाक्रान्त **धाराः**=धारायें **सहस्रिणं वाजं अच्छा**=सहस्र पुरुषों की शक्ति के तुल्य शक्ति की ओर **प्रयन्ति**=प्रकर्षेण प्राप्त होती हैं। अर्थात् सुरक्षित सोम हमें अनन्त शक्ति प्राप्त कराता है, हमें नागायुतवली (हजारों हाथियों के बलवाला) बनाता है। (२) उसी प्रकार ये सोम धारायें हमें बल प्राप्त कराती हैं, **न**=जैसे कि **दिवः वृष्टयः यन्ति**=ज्ञान की वृष्टियाँ हमें प्राप्त होती हैं। बल प्राप्ति की तरह इस सोमरक्षण से ज्ञान की प्राप्ति भी होती है। अथवा सोमरक्षण से ही धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली आनन्द की वर्षा हमें प्राप्त होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से बल व ज्ञान का वर्धन होता है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आयुध-रक्षण

अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षाणो अर्षति । हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥ २ ॥

(१) यह सोम शरीर में सुरक्षित होने पर **प्रियाणि**=देवों के लिये प्रीतिकर (देव-हितं) **विश्वा काव्या**=सब वेद की वाणियों को (देवस्य पश्य काव्यं, न ममार न जीर्यति) **अभिचक्षाणः**=सम्यक् देखता हुआ, अर्थात् इनके द्वारा प्रकृति व आत्मा का ज्ञान प्राप्त कराता हुआ **अर्षति**=गति करता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। ज्ञानाग्नि के दीप्त होने से ज्ञान की वाणियाँ हमें प्रिय होती हैं। उन ज्ञान की वाणियों में हम प्रकृति व आत्मा का ज्ञान पाते हैं, यही इन वाणियों का अभिचक्षण है। (२) **हरिः**=यह सब रोगों व वासनाओं का हरण करनेवाला सोम **आयुधा**=हमारे इन्द्रिय, मन व बुद्धि रूप आयुधों को **तुञ्जानः**=(guard, protect) सुरक्षित करता है। वस्तुतः सोम की शक्ति से ही ये सब आयुध शक्ति-सम्पन्न होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) ज्ञान बढ़ता है, (ख) इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि उत्तम बनते हैं।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निर्भयता-सुव्रतता-ऐश्वर्य

स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव सुव्रतः । श्येनो न वंसु षीदति ॥ ३ ॥

(१) **सः**=वह सोम **आयुभिः**=गतिशील पुरुषों से **मर्मृजानः**=शुद्ध किया जाता है। कर्म में लगे रहना ही वासनाओं से आक्रान्त न होने का उपाय है। वासनाओं से आक्रान्त न होने पर ही सोम का रक्षण होता है एवं गतिशील पुरुष सदा कर्मों में प्रवृत्त पुरुष इस सोम का रक्षण कर पाते हैं। (२) यह सोम **इभः**=(गतभयः) भयों से रहित है। इसके रक्षण के होने पर शरीर में आधि-व्याधि के आक्रमण का भय नहीं रहता। (३) यह **सुव्रतः**=उत्तम व्रतोंवाले **राजा इव**=राजा के समान है। इसके सुरक्षित होने पर हमारे कर्म उत्तम होते हैं तथा यह हमें दीप्त जीवनवाला बनाता है (राज् दीप्तौ) एक राजा अपने ऐश्वर्य से ही चमकता है, पर यदि साथ ही वह उत्तम कर्मोंवाला हो तो उसकी शोभा खूब ही बढ़ जाती है। यह सोमरक्षण हमें 'सुव्रत राजा' के समान बनाता है। (४) **श्येनः न**=एक गतिशील पुरुष की तरह यह सोम **वसु**=सम्भजनीय ऐश्वर्यों में **सीदति**=स्थित

होता है। सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करानेवाला यह सोम ही है। गतिशीलता हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है। सुरक्षित सोम हमारे लिये ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला है।

भावार्थ—गतिशील बने रहने से, वासनाओं से आक्रान्त न होने के कारण हम सोम का रक्षण कर पाते हैं। सुरक्षित सोम हमें (क) रोगादि के भय से बचाता है, (ख) हमें सुव्रत बनाकर शोभायुक्त करता है, (ग) सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्युलोक व पृथिवीलोक का ऐश्वर्य

स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि। पुनान इन्दवा भर॥ ४॥

(१) हे **इन्दो**=शक्ति को देनेवाले सोम! तू **विश्वा**=सब **दिवः अधि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में स्थित **वसु**=वसुओं को **नः**=हमारे लिये **आभर**=प्राप्त करा। मस्तिष्क रूप द्युलोक के **वसु**=ऐश्वर्य 'ज्ञान-विज्ञान' ही हैं। सुरक्षित सोम इन वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। सोम से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, बुद्धि सूक्ष्म बनती है। यह सूक्ष्म बुद्धि सब ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करनेवाली होती है। (२) **उत उ**=और निश्चय से हे सोम! **पुनानः**=तू हमें पवित्र करता हुआ **पृथिव्याः अधि**=पृथिवी में, इस शरीर रूप पृथिवी में स्थित वसुओं को भी प्राप्त करा। मस्तिष्क में ज्ञान को तू भरनेवाला हो और शरीर में शक्ति को देनेवाला हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम द्युलोक व पृथिवीलोक के ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है। अवत्सार ही कहता है—

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तरत् स मन्दी धावति

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः। तरत्स मन्दी धावति॥ १॥

(१) **सुतस्य**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसः**=इस अत्यन्त ध्यान देने योग्य (आध्यायनीयं भवति नि० ५। २। अन्धसस्पत इति सोमस्य पते इत्येतत् श० ९। १। २। ४) सोम की **धारा**=धारण शक्ति के द्वारा **तरत्**=सब रोगों व वासनाओं को तैरता हुआ **सः**=वह **मन्दी**=(To shine) ज्ञान-ज्योति से चमकनेवाला पुरुष **धावति**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में गतिवाला होता है। एवं सोमरक्षण से (क) वह नीरोग व निर्मल मनवाला बनता है, (ख) ज्ञान से दीप्त होता है और (ग) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होता है। (२) **तरत्**=वासनाओं व रोगों से तैरता हुआ **सः**=वह सोम के महत्त्व को समझनेवाला पुरुष **मन्दी**=(To praise) प्रभु का उपासक बनता है। प्रभु का उपासक बनकर **धावति**=अपने जीवन को शुद्ध करता है। प्रभु की उपासना उसे वासनाओं का शिकार नहीं होने देती। वासनाओं से आक्रान्त न होने से वह सोमरक्षण कर पाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण करनेवाला पुरुष (क) रोगों से पार हो जाता है, (ख) ज्ञानदीप्ति से चमक उठता है, (ग) यज्ञादि क्रियाओं में लगा हुआ अपने जीवन को शुद्ध बना पाता है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञानरश्मि-वसु

उस्रा वेद वसूनां मर्तस्य देव्यवसः। तरत्स मन्दी धावति॥ २॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित **अवसः**=रक्षण करनेवाले सोम की धारा **उस्रा**=(A ray of light)

प्रकाश की किरण ही है। यह अपने रक्षक की ज्ञानदीप्ति को बढ़ानेवाली है। **वसूनां वेद**=(विद लाभे) यह वसुओं को प्राप्त करानेवाली है। इसके रक्षण से शरीर में निवास को उत्तम बनानेवाले सब तत्त्वों का रक्षण होता है। यह सोम की धारा **मर्तस्य देवी**=समान्य मनुष्य को दिव्य गुण-सम्पन्न बनानेवाली है 'ऋषिकृन् मर्त्यानाम्'=मनुष्यों को मानो ऋषि बना देती है। (२) **तरत्**=वासनाओं व रोगों को तैरता हुआ **सः**=वह **मन्दी**=ज्ञान से दीप्त होता हुआ **धावति**=अपने जीवन को बड़ा शुद्ध बना लेता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराता है, वसुओं को प्राप्त कराता है और हमें देव बना देता है।

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'ध्वस्त्र व पुरुषन्ति'

ध्वस्त्रयोः पुरुषन्त्योरा तना सहस्राणि दद्महे। तरत्स मन्दी धावति॥ ३॥

(१) 'ध्वस्त्र' वह पुरुष है जो कि काम-क्रोध-लोभ का विध्वंस करता है। 'पुरु+षन्ति' वह है जो कि खूब ही दान देनेवाला है (सन्ति)। हम सोमरक्षण के द्वारा गत मन्त्र के अनुसार ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके देववृत्ति के बनते हैं। ये देववृत्ति के पुरुष 'ध्वस्त्र व पुरुषन्ति' होते हैं, वासनाओं का विध्वंस करते हैं, दान की वृत्तिवाले होते हैं। इन **ध्वस्त्रयोः पुरुषन्त्योः**=ध्वस्त्र व पुरुषन्ति के **सहस्राणि**=शतशः गुणों को **आदद्महे**=ग्रहण करते हैं। सोमरक्षण से हम 'ध्वस्त्र व पुरुषन्ति' बन पाते हैं। (२) **सः**=वह 'ध्वस्त्र व पुरुषन्ति' बननेवाला पुरुष **तरत्**=सब वासनाओं व रोगों को तैरता हुआ **मन्दी**=प्रभु का उपासक बनकर **धावति**=जीवन को शुद्ध बना पाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें 'वासनाओं का विध्वंस करनेवाला व दानवृत्तिवाला' बनाता है।

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

त्रिंशतं सहस्राणि

आ ययोस्त्रिंशतं तना सहस्राणि च दद्महे। तरत्स मन्दी धावति॥ ४॥

(१) **ययोः**=गत मन्त्र में वर्णित 'ध्वस्त्र व पुरुषन्ति' के **त्रिंशतं सहस्राणि च**=तीसों व हजारों **तना**=शक्तियों के विस्तारों व ऐश्वर्यों को **आदद्महे**=हम ग्रहण करते हैं। **सः**=वह ध्वस्त्र व वह पुरुषन्ति **तरत्**=सब रोगों व वासनाओं को तैरता हुआ **मन्दी**=ज्ञान दीप्ति से चमकता हुआ व स्तुति करता हुआ **धावति**=गति करता है व अपने जीवन को शुद्ध बनाता है। (२) 'त्रिंशतं सहस्राणि' का अर्थ '३० हजार दिन पर्यन्त' यह भी है। उस समय मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा कि हम ३० हजार दिन पर्यन्त, अर्थात् आजीवन उन शक्तियों के विस्तार को धारण करें जो कि 'ध्वस्त्र व पुरुषन्ति' को प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम वासनाओं का विध्वंस करते हुए व दानवृत्तिवाला बनते हुए शक्तियों का विस्तार करें।

अवत्सार ही अगले सूक्त में भी कहते हैं—

[५९] एकोनषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गोजित्-अश्वजित्

पवस्व गोजिदश्वजिद्विश्वजित्सोम रण्यजित्। प्रजावद्रत्नमा भर॥ १॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **गोजित्**=हमारे लिये ज्ञानेन्द्रियों का विजय करनेवाला होकर **पवस्व**=प्राप्त हो, तेरे रक्षण से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम बनें। इसी प्रकार तू हमारे लिये **अश्वजित्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को जीतनेवाला हो। **विश्वजित्**=तू हमारे लिये सब आवश्यक वसुओं का विजेता है। **रण्यजित्**=सब रमणीय पदार्थों को प्राप्त करानेवाला है। (२) तू **प्रजावत्**=उत्कृष्ट विकासवाले **रत्नम्**=रमणीय तत्त्व को **आभर**=हमारे में सर्वथा भरनेवाला हो। अथवा तू **प्रजावत्**=उत्कृष्ट सन्तान को प्राप्त करानेवाले **रत्नम्**=मणि तुल्य वीर्य को **आभर**=प्राप्त करा।

भावार्थ—सोमरक्षण से उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रियाँ सब वसु वरणीय तत्त्व प्राप्त होते हैं। यही उत्कृष्ट सन्तान के प्राप्त करानेवाले वीर्य को देता है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धिषणा की प्राप्ति

पवस्वाद्भ्यो अदाभ्यः पवस्वौषधीभ्यः। पवस्व धिषणाभ्यः ॥ २ ॥

(१) हे सोम! तू **अदाभ्यः**=हिंसित होनेवाला नहीं। **अद्भ्यः**=जलों से तू हमें **पवस्व**=प्राप्त हो। इसी प्रकार **ओषधीभ्यः पवस्व**=ओषधियों से तू हमें प्राप्त हो। शरीर में सोम के रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम ओषधियों व जलों का ही प्रयोग करें। ये ही 'सोम्य' है, सोमरक्षण के लिये अनुकूल है। मांस आदि मानव के भोजन नहीं हैं। ये हमें राक्षसी वृत्ति का बनाते हैं। शरीर में सुरक्षित सोम रोगकृमियों को विनष्ट करके हमें नीरोग बनाता है। (२) हे सोम! तू **धिषणाभ्यः**=प्रशस्त बुद्धियों के लिये **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। सुरक्षित सोम बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये हम जल व ओषधियों का ही प्रयोग करें। मांस भोजन से बचें। सुरक्षित सोम हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनायेगा।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दुरित-तरण

त्वं सोम पवमानो विश्वानि दुरिता तर। कविः सीद नि बर्हिषि ॥ ३ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला है। **विश्वानि दुरिता**=सब बुराइयों को तू **तर**=तैर जा। सोमरक्षण से सब शरीरस्थ न्यूनतायें दूर हो जाती हैं। (२) **कविः**=क्रान्तकर्मा व क्रान्तप्रज्ञ यह सोम **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **न सीद**=निषण्ण हो। हृदय के वासनाशून्य होने पर ही सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। रक्षित होने पर यह (क) हमें पवित्र बनाता है, (ख) सब दुरितों को दूर करता है, (ग) हमारी बुद्धियों को सूक्ष्म बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'पवित्रता, भद्रता व बुद्धि' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रकाश प्राप्ति

पवमान स्वर्विदो जायमानोऽभवो महान्। इन्दो विश्वाँ अभीदसि ॥ ४ ॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **जायमानः**=शरीर में प्रादुर्भूत होता हुआ **स्वः**=प्रकाश को **विदः**=प्राप्त कराता है। और **महान् अभवः**=महान् होता है। वस्तुतः शरीर में सुरक्षित सोम हमें महान् बनाता है। इसके रक्षण से ही हम कोई महान् कार्य कर पाते हैं। (२)

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **इत्**=निश्चय से **विश्वान्**=शरीर में प्रविष्ट हो जानेवाले रोगों व काम-क्रोध आदि को **अभि असि**=अभिभूत करनेवाला है। सोम हमें नीरोग व निर्मल हृदय बनाता है।

भावार्थ—सोम हमें प्रकाश को प्राप्त कराता है, महान् बनाता है और सब अशुभों को अभिभूत कर लेता है।

अवत्सार ऋषि का यह अन्तिम सूक्त है—

[६०] षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'पवमान' इन्दु

प्र गा॑य॒त्रेण॑ गायत॒ पव॑मानं॒ विच॑र्षणिम्। इन्दुं॑ स॒हस्र॑चक्षसम्॥ १॥

(१) **गायत्रेण**=गायत्र साम के द्वारा इस **पवमानम्**=हमारे जीवन को पवित्र करनेवाले **इन्दुम्**=सोम को **प्रगायत**=प्रगीत करो। इस सोम के गुणों का गान हमें इसके रक्षण के लिये प्रेरित करेगा। वेद में इस सोम का गायन प्रधानतया गायत्री छन्द के मन्त्रों में ही है। यह छन्द भी 'गया: त्राणा:, तान् तत्रे' इस व्युत्पत्ति से प्राणरक्षण का संकेत कर रहा है। सुरक्षित सोम ही प्राणरक्षण का साधन बनता है। (२) उस सोम का गायन करो जो **विचर्षणिम्**=विशेषरूप से हमारा ध्यान करता है (look after) और **सहस्रचक्षसम्**=सहस्रों ज्ञानों को देनेवाला है।

भावार्थ—हम सोम के गुणों का गायन करें, 'यह पवमान है, सहस्रचक्षस्' है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सहस्रचक्षस्-सहस्रभर्णस्

तं त्वा॑ स॒हस्र॑चक्षसमथो॑ स॒हस्र॑भर्णसम्। अति॒ वार॑मपाविषुः॥ २॥

(१) हे सोम! **तम्**=उस **सहस्रचक्षसम्**=शतशः ज्ञानों के देनेवाले **त्वा**=तुझे **अति अपाविषुः**=अतिशयेन पवित्र करने का प्रयत्न करते हैं। पवित्र सोम ही शरीर में सुरक्षित रहता है। वासनाओं से मलिन होते ही यह विनष्ट हो जाता है। (२) यह सोम 'सहस्रचक्षस्' तो है ही, **अथो**=और **सहस्रभर्णसम्**=हजारों प्रकार से हमारा भरण करनेवाला है। **वारम्**=सब अशुभों का निवारण करनेवाला है।

भावार्थ—हम सोम को वासनाओं से मलिन न होने दें। यह सोम ही हमें शतशः ज्ञानों को प्राप्त कराता है, यही हमारा भरण करता है, हमें अशुभों से बचाता है।

ऋषिः—**अवत्सारः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

कलश-धावन

अति॒ वारा॒न्पव॑मानो असिष्यदत्क॒लशाँ॑ अ॒भि धा॑वति॒ इन्द्र॑स्य॒ हार्द्या॑वि॒शन्॥ ३॥

(१) **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला यह सोम **वारान् अति**=सब अशुभों को लाँघकर **असिष्यदत्**=हमारे शरीर में प्रवाहित होता है। वासनाओं को शिकार होने पर यह मलिन होकर विनष्ट हो जाता है। यदि इन वासनाओं को हम पार कर पाते हैं, तो सोम का भी रक्षण करनेवाले होते हैं। उस समय यह सोम हमारे शरीर में ही सुरक्षित होता है। यह सोम **कलशान्**=प्राण आदि सोलह कलाओं के आधारभूत इन शरीरों को **अभिधावति**=शरीर व मन दोनों दृष्टिकोणों से शुद्ध कर डालता है। यह सोम शरीर में व्याधियों को विनष्ट करता है, तो

मानस आधियों को भी यह विनष्ट करनेवाला बनता है। (२) ये सोमकण **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **हार्दि**=हृदय में **आविशन्**=प्रवेश करते हैं। अर्थात् एक जितेन्द्रिय पुरुष को सदा इनके रक्षण का ध्यान होता है। इनके रक्षण की भावना को जगाने के लिये ही वह गायत्र साम के द्वारा इनका गायन करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शारीर व मानस शुद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—**अवत्सारः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सिद्धि-शान्ति व विकास

इन्द्र॑स्य सोम॒ राध॑से॒ शं प॑वस्व विचर्षणे। प्र॒जाव॒द्रेत॒ आ भ॑र॥ ४॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष की **राधसे**=सफलता व संसिद्धि के लिये हो। हे **विचर्षणे**=इस इन्द्र का विशेषरूप से ध्यान करनेवाले (विद्रष्टः) सोम! तू **शं पवस्व**=इसके लिये शान्तिकर होता हुआ प्राप्त हो। (२) हे सोम! तू **प्रजावत्**=प्रकृष्ट विकासवाले अथवा उत्कृष्ट सन्तान को प्राप्त करानेवाले **रेतः**=वीर्य को **आभर**=हमारे में पुष्ट कर। सुरक्षित सोम ही सब शक्तियों के विकास का कारण बनता है। इसी के रक्षण से उत्तम सन्तति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'सिद्धि, शान्ति व विकास' का कारण बनता है।

इस प्रकार सोमरक्षण के लिये कटिबद्ध हुआ-हुआ यह व्यक्ति इस मही (पृथिवी) के भोगों से ऊपर उठता है, 'अमहीयु' बनता है। अंग-प्रत्यंग में शक्तिशाली होता हुआ यह 'आंगिरस' होता है। अगला सूक्त इस 'अमहीयु आंगिरस' का ही है—

तृतीयोऽनुवाकः

[६१] एकषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

निन्यानवे असुर-पुरियों का विध्वंस

अ॒या वी॒ती परि॑ स्रव॒ यस्त॑ इन्दो॒ मदे॒ष्वा। अ॒वाह॑न्नव॒तीर्नव॑॥ १॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **अया वीती**=(वी प्रजनने) इन शक्तियों के विकास के साथ **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर **परिस्रव**=परिस्रुत हो, गतिवाला हो कि **ते मदेषु**=तेरे से उत्पन्न उल्लासों में निवास करनेवाला **यः**=जो यह इन्द्र है वह **नव नवतीः**=निन्यानवे असुरों की पुरियों को **आ अवाहन्**=समन्तात् सुदूर विनष्ट करनेवाला हो। (२) हमारे जीवनों में शतशः आसुरभाव जागते रहते हैं। कई बार हम इनके ही अधिष्ठान बन जाते हैं। जिस समय हम सोम की महिमा को समझ लेते हैं, उस समय हम सोमरक्षण करते हुए, इन आसुरभावों को विनष्ट करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम शरीर में सोम को रक्षित करें और सब आसुरभावों को मार भगायें।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शम्बर-संहार

पुरः॑ स॒द्य इ॒त्थाधि॑ये॒ दिवो॑दासाय॒ शम्ब॑रम्। अध॒ त्यं तु॒र्वशं॒ यदु॑म्॥ २॥

(१) गत मन्त्र में निन्यानवे पुरियों के विध्वंस का संकेत था। सोमरक्षण से शक्तिशाली बना

हुआ इन्द्र इन पुरियों का विध्वंस करता है। मानो सोम ही इनका विध्वंस करता हो। हे सोम! तू **सद्यः**=शीघ्र ही इन **पुरः**=शत्रु-पुरियों को विध्वस्त करता है। **इत्थाधिये**=(धी=कर्म) सत्य कर्मों को करनेवाले **दिवोदासाय**=ज्ञान-भक्त पुरुष के लिये, हे सोम! तू **शम्बरम्**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाले ईर्ष्या रूप आसुरभाव को भी तू विनष्ट करता है। (२) **अध**=अब ईर्ष्या को विनष्ट करके, हे सोम! तू इस दिवोदास को **तुर्वशम्**=शीघ्रता से शत्रुओं को वश में करनेवाला बनाता है तथा **यदुम्**=इसे यत्नशील बनाता है। वस्तुतः सुन्दर जीवन यही है कि हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करनेवाले हों और इसी उद्देश्य से कभी अकर्मण्य न हों।

भावार्थ—सत्यकर्मा ज्ञानभक्त बनकर हम ईर्ष्या से ऊपर उठें। कामादि शत्रुओं का पराजय करनेवाले बनें। सदा पुरुषार्थी हों।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'गोमत् हिरण्यवत्' अश्व

परि णो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत्। क्षरा सहस्रिणीरिषः॥ ३॥

(१) हे **अश्ववित्**=उत्तम इन्द्रियों के प्राप्त करानेवाले **इन्दो**=सोम! तू **नः**=हमारे लिये **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली, **हिरण्यवत्**=(हिरण्यं=वीर्यम्) शक्ति-सम्पन्न **अश्वम्**=इन्द्रियाश्वों को **परिक्षर**=प्राप्त करा। सोमरक्षण से हमें वे उत्तम इन्द्रियाँ प्राप्त हों, जो कि ज्ञान व शक्ति से युक्त हों। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का प्राप्त करानेवाली हों, तो कर्मेन्द्रियाँ सशक्त हों। (२) हे सोम! इस प्रकार हमारी इन्द्रियों को ठीक बनाकर **सहस्रिणीः इषः**=शतशः ज्ञानों को देनेवाली प्रेरणाओं को प्राप्त करा। सोमरक्षण से शुद्ध हृदय में हमें प्रभु की प्रेरणायें सुन पड़ें। ये प्रेरणायें हमारे लिये ज्ञान के प्रकाश को देनेवाली हों।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें 'ज्ञान व शक्ति' से युक्त इन्द्रियों को प्राप्त करायें। तथा हम अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणाओं को सुननेवाले बनें।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम सखित्व-वरण

पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः। सखित्वमा वृणीमहे॥ ४॥

(१) हे सोम! **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष को **अभ्युन्दतः**=शक्ति से सिक्त करते हुए, **पवमानस्य**=जीवन को पवित्र बनानेवाले **ते**=तेरे **सखित्वम्**=मित्रभाव को **वयम्**=हम **आवृणीमहे**=वरते हैं। (२) हम सोम के सखा बनते हैं। यह सोम का सखित्व हमें शक्ति से सिक्त करेगा और पवित्र जीवनवाला बनायेगा।

भावार्थ—सोम हमें शक्ति सिक्त करता है तथा पवित्र बनाता है।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम की ऊर्मियों का अभिक्षरण

ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया। तेभिर्नः सोम मृळय॥ ५॥

(१) हे सोम! **ये**=जो **ते**=तेरी **ऊर्मयः**=तरंगें **धारया**=अपनी धारणशक्ति से **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष की **अभिक्षरन्ति**=ओर प्राप्त होती हैं, **तेभिः**=उन ऊर्मियों से **नः**=हमें **मृडय**=सुखी कर। (२) ये सोम की तरंगें शरीर में व्याप्त होती हैं तो शरीर रोगों व वासनाओं का शिकार नहीं

होता। हम नीरोग व निर्मल हृदय बनते हैं। ऐसा ही जीवन सुखी होता है।

भावार्थ—सोम शरीर में प्रवाहित होकर हमें नीरोग व निर्मल बनाता है। यही जीवन को सुखी बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'विश्वतः ईशान' सोम

स नः पुनान आ भर रयिं वीरवतीमिषम्। ईशानः सोम विश्वतः॥ ६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **नः**=हमें **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **रयिम्**=ज्ञानैश्वर्य को **आभर**=प्राप्त करा। हे सोम! तू **वीरवतीम्**=वीरतावाली **इषम्**=प्रेरणा को प्राप्त करा। सुरक्षित सोम (क) हमें पवित्र करता है। (ख) ज्ञानैश्वर्य को हमारे लिये प्राप्त कराता है। (ग) हमें वीर बनाता है, (घ) प्रभु-प्रेरणा को सुनने के योग्य करता है। (२) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **विश्वतः ईशानः**=शरीर, मन व बुद्धि सभी के दृष्टिकोण से तू ही ईश है। तू ही हमारे शरीर को सशक्त बनाता है, तू ही मन को निर्मल बनाता है, बुद्धि को तू ही तीव्र करता है।

भावार्थ—सोम हमें पवित्र करता हुआ 'रयि, वीरता व प्रेरणा' को प्राप्त कराता है। यह सोम ही 'विश्वतः ईशान' है।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'सिन्धुमाता' सोम

एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम्। समादित्येभिरख्यत॥ ७॥

(१) **एतम्**=इस **उ**=निश्चय से **त्यम्**=प्रसिद्ध सोम को **दश**=दस **क्षिपः**=वासनाओं को परे फेंकनेवाली इन्द्रियाँ **मृजन्ति**=शुद्ध करती हैं। इन्द्रियाँ वासनाओं से आक्रान्त नहीं होती, तो सोम शुद्ध बना रहता है। यह सोम **सिन्धुमातरम्**=ज्ञान की नदियों का निर्माण करनेवाला है। सोम से ही तो बुद्धि तीव्र होती है। (२) यह सोम **आदित्येभिः**=आदित्यों से **सं अख्यत**=सम्यक् देखा जाता है। आदित्य वे विद्वान् हैं जो कि 'प्रकृति-जीव-परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करते हैं। ये इस सोम के रक्षण का पूरा ध्यान करते हैं। इस सोमरक्षण से ही तो वस्तुतः ये 'आदित्य' बन पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये इन्द्रियों को वासनाशून्य बनाना आवश्यक है।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोमरक्षण के तीन साधन

समिन्द्रेणोत वायुना सुत एति पवित्र आ। सं सूर्यस्य रश्मिभिः॥ ८॥

(१) **इन्द्रेण**=एक जितेन्द्रिय पुरुष से **उत**=और **वायुना**=गतिशील कर्मों में लगे हुए पुरुष से **सुतः**=उत्पन्न किया गया यह सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **सं आ एति**=सम्यक् समन्तात् प्राप्त होता है। सोम को शरीर में व्याप्त करने के लिये तीन बातें आवश्यक हैं—(क) जितेन्द्रियता (इन्द्रेण), (ख) गतिशीलता (वायुना), पवित्रता (पवित्रे)। (२) सुरक्षित सोम **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की रश्मियों से **सम्**=संगत होता है। यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हमें सूर्यसम दीप्तिवाला करता है 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'।

भावार्थ—जितेन्द्रियता, क्रियाशीलता व पवित्रता के द्वारा सोम का रक्षण करते हुए हम सूर्यसम ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'भग-वायु-पूषा'

स नो भगाय वायवे पूष्णे पवस्व मधुमान्। चारुर्मित्रे वरुणे च ॥ ९ ॥

(१) **सः**=हे सोम! वह तू **नः**=हमारे लिये **भगाय**=ऐश्वर्य के लिये (ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति के लिये) **वायवे**=(वा गतौ) क्रियाशीलता के लिये तथा **पूष्णे**=शरीर के उचित पोषण के लिये **पवस्व**=प्राप्त हो। तू **मधुमान्**=हमारे जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करनेवाला हो। (२) तू **मित्रे**=स्नेह की वृत्तिवाले पुरुष में **च**=और **वरुणे**=द्वेष के निवारण करनेवाले पुरुष में **चारुः**=सुन्दर है। वस्तुतः ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध की भावनाओं के साथ सोम के रक्षण का सम्भव नहीं रहता। ये वासनायें सोम को मलिन कर देती हैं।

भावार्थ—हम राग-द्वेष से दूर रहकर सोम को पवित्र रखें। यह सोम हमारे जीवन में 'ज्ञानैश्वर्य, क्रियाशीलता व पोषण' को प्राप्त करायेगा।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उग्रं शर्म, महि श्रवः

उच्चा ते जातमन्धसो दिवि षद्भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः ॥ १० ॥

(१) **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम के द्वारा **ते**=तेरा **उच्चा जातम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट विकास हुआ है। इस उत्कृष्ट विकास का स्वरूप यह है कि **दिवि सद्**=द्युलोक में होता हुआ तू **भूमि आददे**=इस भूमि का ग्रहण करता है। द्युलोक 'मस्तिष्क' है। मस्तिष्क में निवास का भाव है 'ज्ञान में विचरण करना'। भूमि 'शरीर' है। इसके ग्रहण का भाव है 'शरीर को दृढ़ बनाना'। एवं यह सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष ज्ञान में विचरण करता हुआ शरीर की दृढ़तावाला होता है। (२) **उग्रं शर्म**=यह तेजस्विता से युक्त आनन्द को प्राप्त करता है और **महि श्रवः**=(मह पूजायाम्) पूजा की भावना से युक्त ज्ञान को प्राप्त करता है। संक्षेप में यह सोमी पुरुष 'तेजस्वी, सानन्द, पूजा की वृत्तिवाला ज्ञानी' होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा हमारा उत्कृष्ट विकास होता है। उत्कृष्ट ज्ञान व दृढ़ शरीर का हमारे में मेल होता है। हमें तेजस्विता से युक्त आनन्द व पूजावृत्ति से युक्त ज्ञान प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

संविभाग पूर्वक ऐश्वर्य का सेवन

एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे ॥ ११ ॥

(१) **एना**=इस सोम के द्वारा हम **अर्ये**=उस स्वामी प्रभु में स्थित होते हुए **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के **विश्वानि**=सब **द्युम्नानि**=ऐश्वर्यों को (wealth) **सिषासन्तः**=सब में विभाग की कामना करते हुए **आ वनामहे**=सर्वथा सेवित करते हैं। (२) सोमी पुरुष मनुष्यों के सब अभ्युदयों को प्राप्त करता है। इन अभ्युदयों को प्राप्त करके वह गर्ववाला नहीं हो जाता। ब्रह्मनिष्ठ बना रहता है और इन अभ्युदयों को प्रभु का ही मानना है। प्रभु के इन धनों को वह सब के साथ संविभक्त करके ही भोगता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम (क) ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं, (ख) इन ऐश्वर्यों को प्रभु का ही मानते हैं, (ग) संविभाग पूर्वक इनका सेवन करते हैं।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'वरिवोवित्' सोम

स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः। वरिवोवित्परि स्त्रव॥ १२॥

(१) हे सोम! **सः**=वह तू **नः**=हमारे लिये **वरिवोवित्**=सब धनों का प्राप्त करानेवाला होकर **परिस्त्रव**=शरीर में चारों ओर प्रवाहित हो। (२) तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये प्राप्त हो। **यज्यवे**=यज्ञशील पुरुष के लिये प्राप्त हो। **वरुणाय**=द्वेष का निवारण करनेवाले व व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले के लिये प्राप्त हो। **मरुद्भ्यः**=प्राणसाधनों के लिये प्राप्त हो। वस्तुतः सोमरक्षण के चार साधन हैं—(क) जितेन्द्रियता, (ख) यज्ञशीलता, (ग) निर्द्वेषता व व्रतबन्धन, (घ) प्राणायाम।

भावार्थ—हम 'जितेन्द्रियता, यज्ञशीलता, निर्द्वेषता, व्रतबन्धन व प्राणायाम' के द्वारा सोम का रक्षण करते हुए सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'असुर' सोम

उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्। इन्दुं देवा अयासिषुः॥ १३॥

(१) **इन्दुम्**=सोम को **देवाः**=देववृत्तिवाले पुरुष **उ**=निश्चय से **उप अयासिषुः**=समीपता से प्राप्त होते हैं। उस सोम को जो कि **सुजातम्**=उत्तम विकास का साधन है (शोभनं जातं यस्मात्), **अप्तुरम्**=जो कर्मों को त्वरा के साथ करानेवाला है। जिससे शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। (२) **भगम्**=जो शत्रुओं का विदारण करनेवाला है, सोमरक्षण से काम-क्रोध आदि शत्रु भाग जाते हैं। यह सोम **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **परिष्कृतम्**=अलंकृत होता है। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हम इन ज्ञान की वाणियों से अपने मस्तिष्क को सुभूषित करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के बनके हम सोम का रक्षण करें। इससे हमारी शक्तियों का विकास होगा, स्फूर्ति मिलेगी, काम-क्रोध आदि का विनाश होगा, ज्ञान से हम दीप्त हो उठेंगे।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'इन्द्रस्य हृदंसनिः'

तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव। य इन्द्रस्य हृदंसनिः॥ १४॥

(१) **नः गिरः**=हमारे स्तुति-वाणियाँ **इत्**=निश्चय से **तं वर्धन्तु**=उस सोम का वर्धन करने-वाली हों। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **संशिश्वरीः**=उत्तम दुधार गौवें **वत्सम्**=बछड़े को बढ़ाती हैं। हम सोम का स्तवन करते हुए शरीर में सोम का वर्धन करें। (२) उस सोम का वर्धन करें, **यः**=जो कि **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **हृदंसनिः**=हृदय का सेवन करनेवाला है। एक जितेन्द्रिय पुरुष को यह सोम प्रिय होता है।

भावार्थ—हम सोम का स्तवन करें। सोम हमें प्रिय हो, जिससे हम इसका रक्षण करने की प्रबल कामनावाले हों।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'शं गवे'

अर्षा णः सोम शं गवे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम्। वर्धा समुद्रमुक्थ्यम्॥ १५॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **नः अर्ष**=हमें प्राप्त हो। हमें प्राप्त होकर **गवे शम्**=हमारी इन्द्रियों के लिये शान्ति का देनेवाला हो। तू हमारे अन्दर **पिप्युषीम्**=हमारा सब प्रकार से आप्यायन करनेवाली **इषम्**=प्रेरणा को **धुक्षस्व**=प्रपूरित कर। तेरे रक्षण से हम प्रभु की उस प्रेरणा को सुननेवाले बनें, जो कि सब प्रकार से हमारा वर्धन करती है। (२) हे सोम! तू हमारे अन्दर **उक्थ्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय **समुद्रम्**=ज्ञान के समुद्र को **वर्धा**=बढ़ानेवाला हो। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और इस प्रकार ज्ञान की वृद्धि होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण के तीन लाभ हैं—(क) सब इन्द्रियाँ अविकृत व शान्त होती हैं, (ख) प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है, (ग) ज्ञान की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तन्यतु (Thunderbolt)

पव॑मानो अजिजनद्दि॒वश्चि॒त्रं न त॑न्य॒तुम्। ज्योति॑र्वैश्वान॒रं बृ॒हत् ॥ १६ ॥

(१) **पवमानः**=यह हमारे जीवन को पवित्र करनेवाला सोम **ज्योतिः**=उस ज्ञान-ज्योति को **अजीजनत्**=उत्पन्न करता है, जो ज्ञान-ज्योति **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाली है और **बृहत्**=वृद्धि की कारणभूत है। (२) सोमरक्षण से वह ज्ञान प्राप्त होता है, जो **दिवः**=द्युलोक से उत्पन्न होनेवाली **चित्रं तन्यतुं न**=अद्भुत अशनि (Thunderbolt) के समान है। यह अशनि अपने अन्दर प्रकाश व गर्जना को लिये हुए है। इसी प्रकार सोमरक्षण से प्राप्त होनेवाला ज्ञान 'प्रकाश को तथा प्रभु-प्रेरणा के रूप में गर्जना को' अपने अन्दर लिये हुए है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, और हृदय की पवित्रता के कारण अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ती है।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अ-दुच्छुनः

पव॑मानस्य ते॒ रसो॒ मदो॑ राजन्नदुच्छु॒नः। वि वार॒मव्य॑मर्षति ॥ १७ ॥

(१) हे सोम! **पवमानस्य**=जीवन को पवित्र करनेवाले **ते**=तेरा **रसः**=रस (सार) **मदः**=उल्लास को देनेवाला है (मदकरः)। हे **राजन्**=शरीर को दीप्त करनेवाले सोम! तेरा रस **अदुच्छुनः**=सब दुःखों को दूर करनेवाला है (शुनं=सुखं)। रोगकृमि संहार के द्वारा यह जीवन को सुखी करनेवाला है। (२) यह सोम का रस **वारम्**=वासनाओं का निवारण करनेवाले **अव्यम्**=अपना रक्षण करनेवालों में उत्तम पुरुष को ही **वि अर्षति**=विशेषरूप से प्राप्त होता है। सोमरक्षण के लिये वासनाओं से ऊपर उठना आवश्यक ही है।

भावार्थ—वासनाओं से ऊपर उठकर हम सोम का रक्षण करें। सुरक्षित सोम (क) आनन्द को देनेवाला व (ख) सब दुःखों को दूर करनेवाला है।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दक्षः-द्युमान्

पव॑मान॒ रस॒स्तव॒ दक्षो॒ वि रा॑जति द्यु॒मान्। ज्योति॒र्विश्वं॒ स्व॑र्दृ॒शे ॥ १८ ॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **तव रसः**=तेरा सारा **दक्षः**=हमारी शक्तियों के विकास का कारण हो (growth)। यह **द्युमान्**=ज्योतिर्मय होता हुआ **विराजति**=विशेषरूप

से दीप्त होता है। (२) यह सोम उस **विश्वं ज्योतिः**=व्यापक ज्ञान के प्रकाश को करता है, जो कि अन्ततः **स्वर्दृशे**=हमें उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु के दर्शन के लिये समर्थ बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शक्तियों के विकास व ज्ञान-ज्योति का साधन बनता है। अन्ततः हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवावीः अघशंसहा

यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा। देवावीरघशंसहा॥ १९॥

(१) हे सोम! **यः ते**=जो तेरा रस **मदः**=उल्लास का जनक है, **वरेण्यः**=वरने के योग्य है, **तेन**=उस **अन्धसा**=आध्यायनीय, अत्यन्त ध्यान देने योग्य रस से तू हमें **पवस्व**=प्राप्त हो। (२) यह तेरा रस **देवावीः**=देववृत्तिवाले पुरुषों से जाने योग्य होता है (वी गतौ) तथा **अघशंसहा**=(अघशंसैः हन्यते) बुराई का शंसन करनेवालों से नष्ट किया जाता है। देववृत्ति के पुरुष इस सोम के रस का रक्षण करते हैं। अघशंसों में, राक्षसी वृत्तिवालों में इसके रक्षण का भाव नहीं होता, वे इसे भोग-विलास में विनष्ट कर बैठते हैं।

भावार्थ—सोम का रस उल्लास का जनक व वरणीय है। देव इसका रक्षण करते हैं। दैत्य, विनाश।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गोषाः अश्वसाः

जघ्निर्वृत्रममित्रियं सस्त्रिर्वाजं दिवेदिवे। गोषा उ अश्वसा असि॥ २०॥

(१) यह सोम **अमित्रियम्**=हमारे अमित्र (शत्रु) पक्ष में होनेवाले **वृत्रम्**=वासनारूप ज्ञान-नाशक शत्रु को **जघ्निः**=मारनेवाला है। सोमरक्षण वासना को विनष्ट करता है। (२) वासना को विनष्ट करके यह **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **वाजम्**=शक्ति को **सस्निः**=शुद्ध करनेवाला है। (३) **गोषाः असि**=हे सोम तू हमें उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों को देनेवाला है! **उ**=और **अश्वसाः** असि=उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है। सुरक्षित सोम कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाता है, ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानग्रहण समर्थ करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) वृत्र (वासना) का विनाश होता है, (ख) वह शक्ति को शुद्ध करता है, (ग) ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाता है।

ऋषिः—**अमहीयुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'अरुष' सोम

संमिश्लो अरुषो भव सूपस्थाभिर्न धेनुभिः। सीदञ्छ्येनो न योनिमा॥ २१॥

(१) **न**=(सं प्रति) अब, हे सोम! **सूपस्थाभिः**=उत्तम उपस्थानवाली **धेनुभिः**=वेदवाणीरूप धेनुओं से **संमिश्लः**=मिला हुआ **अरुषः भव**=आरोचमान हो। सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इस दीप्त ज्ञानाग्नि से हम ज्ञान की वाणियों को समझनेवाले बनते हैं। यह समझना ही वेदवाणी रूप धेनुओं का सूपस्थान है। जब हम इन वाणियों का उपस्थान करते हैं, तो सोम को शरीर में सुरक्षित करनेवाले होते हैं। इस प्रकार इन धेनुओं से मिला हुआ यह सोम आरोचमान होता है। (२) हे सोम! तू **श्येनः न**=शंसनीय गतिवाले के समान **योनिम्**=मूल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **आसीदन्**=स्थित होनेवाला हो। सोम के रक्षण से हमारे सब कर्म उत्तम होते हैं, हम भी सब गति शंसनीय होती

हैं। हम अन्तः प्रभु को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियों को अपनाने से सोम शरीर में सुरक्षित होता है। यह आरोचमान होता है, हमें प्रभु में स्थित करता है।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृत्राय हन्तवे

स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे। वव्रिवांसं महीरपः ॥ २२ ॥

(१) हे सोम! **सः**=वह तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो, **यः**=जो कि **वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करने के लिये **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **आविथ**=रक्षित करता है। सोम से सबल होकर यह इन्द्र वृत्र के विनाश के लिये समर्थ होता है। (२) उस इन्द्र को यह सोम रक्षित करता है, जो कि **महीः उपः**=महत्त्वपूर्ण कर्मों का **वव्रिवांसम्**=वरण करता है। वस्तुतः इन कर्मों में लगे रहना ही सोमरक्षण का साधन है, कर्मों में लगे रहने से इन्द्रियाँ विषयों में भटकती नहीं।

भावार्थ—सोम को वही रक्षित कर पाता है जो कि कर्मों में लगा रहता है। रक्षित सोम हमें वासना-विनाश के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वीर-ऐश्वर्यशाली-ज्ञानी

सुवीरासो वयं धना जयेम सोम मीढ्वः। पुनानो वर्ध नो गिरः ॥ २३ ॥

(१) हे **मीढ्वः सोम**=सब सुखों का सेचन करनेवाले सोम! **सुवीरासः वयम्**=उत्तम वीर बने हुए हम **धना**=सब धनों का **जयेम**=विजय करें। सोमरक्षण से ही शरीर के सब कोश अपने धन से परिपूर्ण होते हैं। यह सोम ही अन्नमयकोश को तेजस्वी, प्राणमय को वीर्यवान्, मनोमय को बलवान् व ओजस्वी, विज्ञानमय को ज्ञानसम्पन्न (मधुमान्) तथा आनन्दमय को सहस्वान् बनाता है। (२) हे सोम! तू **पुनानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **नः**=हमारी **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **वर्ध**=बढ़ा। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञान को बढ़ाता ही है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) हमें वीर बनाता है, (ख) हमारे सब कोशों को ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है और (ग) हमारी ज्ञानाग्नि का दीपन करता है।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शत्रु-विनाश व व्रतपालन

त्वोतासस्तवावसा स्याम वन्वन्त आमुरः। सोम व्रतेषु जागृहि ॥ २४ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **तव अवसा**=तेरे रक्षण के द्वारा **त्वा ऊतासः**=तेरे से रक्षित हुए-हुए हम **आमुरः**=हमें विनष्ट करनेवाले शत्रुओं को **वन्वन्तः स्याम**=जीतते हुए (To win) हों। सुरक्षित सोम हमें इस योग्य बनाये कि हम रोगकृमिरूप विनाशक शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले बनें। (२) हे सोम! तू **व्रतेषु जागृहि**=व्रतों में, पुण्य कार्यों में सदा जागरित हो। अर्थात् तेरे रक्षण के द्वारा हम सदा पुण्य कार्यों को करनेवाले बनें।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले हों और व्रतों का पालन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मृधः अपघ्नन्

अप्रघ्नन्पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्॥ २५॥

(१) **सोमः**=वीर्यशक्ति **मृधः**=विनाशक रोगकृमि रूप शत्रुओं को **अपघ्नन्**=सुदूर विनष्ट करती हुई **पवते**=हमें प्राप्त होती है। **सोमः**=यह सोम **अराव्णः**=न देने की वृत्तियों को, लोभ आदि वृत्तियों को **अप**=सुदूर विनष्ट करता हुआ हमें प्राप्त हुआ है। (२) यह सोम **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **निष्कृतम्**=पवित्र स्थान को **गच्छन्**=जानता है। अर्थात् यह हमें अन्ततः प्रभु को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम रोगकृमियों व अदानवृत्तियों को नष्ट करता है और हमें प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वीरवद् यशः

महो नो राय आ भर पवमान जही मृधः। रास्वेन्दो वीरवद्यशः॥ २६॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **नः**=हमारे लिये **महः रायः**=महान् धनों को **आभर**=प्राप्त कराओ। वस्तुतः सोम ही सुरक्षित हुआ-हुआ सब कोशों को धनों से परिपूर्ण करता है। हे सोम! तू **मृधः जहि**=नाशक रोगकृमिरूप शत्रुओं को विनष्ट कर। (२) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **वीरवद् यशः रास्व**=वीरतापूर्ण यश को हमारे लिये दे। तेरे द्वारा हम वीर बनें और यशस्वी कार्यों को करनेवाले हों।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें महान् ज्ञानैश्वर्य को देनेवाला हो, रोगकृमियों को नष्ट करनेवाला हो तथा वीरता व यश को प्राप्त करानेवाला बने।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

राधो दित्सन्तम्

न त्वा शतं चन ह्रुतो राधो दित्सन्तमा मिनन्। यत्पुनानो मखस्यसे॥ २७॥

(१) हे सोम! **राधः दित्सन्तम्**=सब ऐश्वर्यों को देने की कामनावाले **त्वा**=मुझे **शतं चन ह्रुतः**=सैंकड़ों भी कुटिलतायें **न आमिनन्**=हिंसित नहीं करती। जब शरीर में सोम सुरक्षित होता है तो यह हमारे लिये अन्नमयादि सब कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है और उस समय हम सब कुटिल भावों से ऊपर उठ जाते हैं, कुटिलताओं के हम शिकार नहीं होते, छल-छिद्र से रहित हमारा जीवन होता है। (२) हे सोम! **यत्**=जब तू **पुनानः**=हमारे जीवन को पवित्र करता है, तो **मखस्यसे**=हमारे जीवनों को यज्ञिय बनाने की कामनावाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) हमारे सब कोश ऐश्वर्य-सम्पन्न होते हैं, (ख) इन छल-छिद्र से ऊपर उठ जाते हैं, (ग) पवित्र यज्ञिय जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यशस्विता-निर्द्वेषता

पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने। विश्वा अप द्विषो जहि॥ २८॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! तू **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **नः पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **वृषा**=तू हमारे

लिये शक्ति को देनेवाला है। तू **नः**=हमें **जने**=लोगों में **यशसः कृधी**=यशस्वी कर। तेरे द्वारा हमारा जीवन यशवाला बने। (२) **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अप जहि**=हमारे से दूर कर। सोम के सुरक्षित होने पर हमारा जीवन द्वेष से शून्य होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम यशस्वी व निर्द्वेष बनें।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शत्रु-मर्षण

अस्य ते सख्ये वयं तवेन्दो द्युम्न उत्तमे। सासह्याम पृतन्यतः ॥ २९ ॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **अस्य ते सख्ये**=इस तेरी मित्रता में और **तव**=तेरे **उत्तमे द्युम्ने**=उत्कृष्ट ज्ञान के प्रकाश में **वयम्**=हम **पृतन्यतः**=आक्रमण करते हुए शत्रुओं को **सासह्याम**=कुचलनेवाले हों। (२) सोम के रक्षण से हमारे अन्दर वह ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित होती है, जिसमें कि सब वासनायें दग्ध हो जाती हैं।

भावार्थ—सोम की मित्रता में हम सब शत्रुओं का पराजय कर पायें।

ऋषिः—**अमहीयुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रक्षा समस्य नो निदः

या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे। रक्षा समस्य नो निदः ॥ ३० ॥

(१) हे सोम! **धूर्वणे**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले के लिये **ते**=तेरे **या**=जो **आयुधा**=आयुध **सन्ति**=हैं, वे **भीमानि**=शत्रुओं के लिये भयंकर हैं और **तिग्मानि**=अत्यन्त तीक्ष्ण हैं। प्रभु ने 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप आयुध हमारे लिये प्राप्त कराये हैं। सोम के सुरक्षित होने पर ये इतने तीव्र बनते हैं कि 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले होते हैं। (२) हे सोम! सुरक्षित होकर तू **समस्य**=सब **निदः**=निन्दित कर्मों से **नः**=हमें **रक्षा**=बचानेवाला हो। सोम के रक्षित होने पर हमारा जीवन पवित्र बनता है, इन निन्दित कर्मों में नहीं फँसते।

भावार्थ—सोमरक्षण से इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी दीप्त बनते हैं। हम निन्दित कर्मों में नहीं फँसते।

पवित्र जीवनवाले हम 'जमदग्नि' बने रहते हैं, दीप्त जाठराग्निवाले। विषय-विलास ही इस वैश्वानर अग्नि को मन्द करते हैं। इनसे ऊपर उठकर 'जमदग्नि' इस प्रकार सोम का स्तवन करता है—

[६२] द्विषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सब सौभाग्य

एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः। विश्वान्यभि सौभगा ॥ १ ॥

(१) **एते**=ये **इन्दवः**=सोमकण **विश्वानि**=सब **सौभगा अभि**=सौभाग्यों का लक्ष्य करके **तिरः**=तिरोहित रूप में, रुधिर में व्याप्त हुए-हुए और अतएव न दिखते हुए रूप में **असृग्रम्**=(सृज्यन्ते) उत्पन्न किये जाते हैं। जब तक ये रुधिर में व्याप्त रहते हैं, तब तक शरीर में सब सौभाग्यों का ये कारण बनते हैं। शरीर में किसी प्रकार के रोग को ये नहीं आने देते, सब इन्द्रियों की शक्तियाँ ठीक बनी रहती है, बुद्धि भी इन्हीं के रक्षण से तीव्र बनती है। (२) ये सोमकण **पवित्रम्**=पवित्र

हृदय को **आशवः**=व्यापनेवाले होते हैं। वस्तुतः इनके रक्षण से ही हृदय पवित्र बनता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोमकण सब सौभाग्यों को प्राप्त कराते हैं तथा हमारे हृदयों को पवित्र बनाते हैं।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दुरितों का दूरीकरण

विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः। तना कृण्वन्तो अर्वते॥ २॥

(१) ये सोम **दुरिता**=सब दुरितों को, अशुभग मनों को **पुरु**=खूब ही **विघ्नन्तः**=नष्ट करते हुए **सुगा**=शुभगमनोंवाले होते हैं। सोमरक्षण से हम दुरितों से बचकर शुभों की ओर चलनेवाले होते हैं। (२) ये सोम **तोकाय**=हमारे सन्तानों के लिये भी **वाजिनः**=शक्तिवाले होते हैं। सोमरक्षण से हमारे सन्तान भी सशक्त होते हैं। (३) ये सोम **अर्वते**=इन्द्रियरूप अश्वों के लिये **तना**=शक्तियों के विस्तार को **कृण्वन्तः**=करते हुए होते हैं। सोमरक्षण से सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं।

भावार्थ—सोम हमें अशुभ मनों से शुभ मनों की ओर प्रवृत्त करता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

संयत-वाक्

कृण्वन्तो वरिवो गवेऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम्। इळामस्मभ्यं संयतम्॥ ३॥

(१) ये सोम **गवे**=हमारी इन्द्रियों के लिये **वरिवः**=वरणीय धनों को **कृण्वन्तः**=करते हुए होते हैं। सदा इन इन्द्रियों को ये उत्तम शक्तिवाला बनाते हैं। ये सोम **सुष्टुतिं अभि अर्षन्ति**=उत्तम स्तुति की ओर चलते हैं। सुरक्षित सोम हमें स्तुति-प्रवण बनाते हैं। (२) ये सोम **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **इडाम्**=इस वेदवाणी को **संयतम्**=पूर्णरूप से वशीभूत करते हैं, इस वेदवाणी को हम खूब समझनेवाले बनते हैं। अथवा ये हमारी वाणी को संयत करते हैं, अर्थात् सोम के सुरक्षित होने पर हम संयत-वाक् होते हैं। हमारे मुख से कड़वे शब्द नहीं निकलते।

भावार्थ—सोमरक्षण के तीन लाभ हैं—(क) इन्द्रियों का सशक्त होना, (ख) स्तुति की प्रवृत्ति का उत्पन्न होना, (ग) संयत वाणीवाला बनना।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यागायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

आनन्द-कर्मकुशलता व ज्ञान

असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः। श्येनो न योनिमासदत्॥ ४॥

(१) **अंशुः**=सोम **असावि**=शरीर में उत्पन्न किया जाता है। यह **मदाय**=शरीर में रक्षित हुआ आनन्द की वृद्धि के लिये होता है। **अप्सु दक्षः**=यह कर्मों में कुशल होता है, सोमरक्षण करनेवाला पुरुष कर्मों को कुशलता से करता है। यह सोम **गिरिष्ठाः**=वेदवाणी में स्थित होता है। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हम इन ज्ञान की वाणियों को अच्छी प्रकार समझने लगते हैं। (२) यह सोम **न**=(इदानीं) अब **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला होता हुआ **योनिम्**=सारे ब्रह्माण्ड के प्रभव रूप प्रभु में **आसदत्**=आसीन होता है। हमें प्रभु को यह प्राप्त करानेवाला बनता है। इस सोम के रक्षण से ही तो उस सोम की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम आनन्द, कर्मकुशलता व ज्ञान की प्राप्ति कराता हुआ प्रभु प्राप्ति का

साधन बनता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक अन्न व सोमरक्षण

शुभ्रमन्धो देववातमप्सु धूतो नृभिः सुतः। स्वदन्ति गावः पयोभिः॥ ५॥

(१) जब **गावः**=हमारी इन्द्रियाँ **देववातम्**=देवताओं से प्रार्थित (देवताओं से जाये गये) **शुभ्रं अन्धः**=शुद्ध-सात्त्विक-अन्न को **पयोभिः**=दूध के साथ **स्वदन्ति**=खाती हैं, तो **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों से **सुतः**=शरीर में उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **अप्सु धूतः**=कर्मों में शुद्ध किया जाता है (शोधितः सा०)। (२) सात्त्विक अन्न व दुग्ध के सेवन से उत्पन्न सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। यह सोम कर्मों में शोधित होता है। अर्थात् जब हम कर्मों में लगे रहते हैं, तो वासनाओं के उत्पन्न न होने से सोम शुद्ध बना रहता है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न व दुग्ध का सेवन सोमरक्षण के लिये अनुकूल होता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधुरस का अलंकरण

आदीमश्वं न होतारोऽशूशुभन्नमृताय। मध्वो रसं सधमादे॥ ६॥

(१) **आत् ईम्**=अब शीघ्र ही उपासक लोग **सधमादे**=(सद् माद्यन्ति अस्मिन्) यज्ञ में **मध्वः रसम्**=इस जीवन को मधुर बनानेवाले सोम के रस को (सार को) **अशुशुभन्**=शरीर में ही अलंकृत करते हैं, जिससे **अमृताय**=अमृतत्व को प्राप्त कर सकें। इस सोम (रस) के शरीर में सुरक्षित होने पर शरीर में रोगों का प्रवेश नहीं होता। परिणामतः हम असमय में मृत्यु को प्राप्त नहीं होते। (२) इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने का मार्ग यही है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें। इन कर्मों में वस्तुतः हम प्रभु के साथ आनन्द का अनुभव कर रहे होते हैं। यज्ञ प्रवृत्त व्यक्ति सब विषय-वासनाओं से ऊपर उठा हुआ प्रभु के सम्पर्क में होता है। इसीलिए यज्ञ को 'सधमाद' कहा गया है। परिणामतः हम सोम का रक्षण भी करते हैं। वासनायें ही तो इसे विनष्ट करती थीं। शरीर में हम सोम को ऐसे ही शोभित करते हैं, **न**=जैसे कि **होतारः**=अश्वप्रेरक (सारथि) लोग **अश्वम्**=अपने अश्व को। सारथि अश्व को बड़ा ठीक रखता है, इसी प्रकार उपासक सोम को। इसी से तो उसकी जीवनयात्रा बड़ी शोभा के साथ पूर्ण होती है।

भावार्थ—हम यज्ञों में प्रवृत्त रहकर सोम को शरीर में ही परिशुद्ध रखें।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधुश्चुतः धाराः

यास्ते धारा मधुश्चुतोऽसृग्रमिन्द ऊतये। ताभिः पवित्रमासदः॥ ७॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! **याः**=जो **ते**=तेरी **धाराः**=धारणशक्तियाँ **मधुश्चुतः**=शरीर में माधुर्य को क्षरित करनेवाली, **ऊतये**=रक्षण के लिये **असृग्रम्**=उत्पन्न की जाती हैं, **ताभिः**=उन धाराओं से **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में तू **आसदः**=आसीन हो। (२) शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम (क) जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करता है। (ख) यह शरीर के रक्षण के लिये होता है, रोगकृमियों के विनाश के द्वारा शरीर को सुरक्षित करता है। यह सोम हृदय की पवित्रता के होने पर शरीर में सुरक्षित होता है।

भावार्थ—पवित्र हृदयवाले पुरुष में सोम का रक्षण होता है। रक्षित हुआ-हुआ यह सोम

शरीर का रक्षण करता है। जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अव्यया रोमाणि

सो अर्षेन्द्राय पीतये तिरो रोमाण्यव्यया। सीदन्योना वनेष्वा ॥ ८ ॥

(१) 'रोमं' शब्द (water) पानी के लिये प्रयुक्त होता है। ये जल शरीर में रेत:कणों के रूप में रहते हैं 'आपः रेत्यो भूत्वा'। ये कण 'अव्यया'=शरीर को न नष्ट होने देनेवाले हैं, हे सोम! तेरे ये **अव्यया रोमाणि**=शरीर को न नष्ट होने देनेवाले रेत:कण **तिरः**=शरीर में तिरोहित होकर, रुधिर में व्याप्त होकर रहते हैं। **सः**=वह तू **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पीतये**=रक्षा के लिये **अर्ष**=प्राप्त हो। (२) तू **वनेषु**=(वन् संभक्तौ) उपासकों में **योनौ**=उस सारे ब्रह्माण्ड के प्रभव (उत्पत्ति-स्थान) प्रभु में **आसीदन्**=स्थित होता है। अर्थात् इस सोमरक्षण के द्वारा ही उपासक प्रभु को प्राप्त होनेवाले होते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम रोगों से बचाकर शरीर का रक्षण करता है और उपासना की वृत्ति को पैदा करके प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

घृतं-पयः

त्वमिन्दो परि स्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः। वरिवोविद् घृतं पयः ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **त्वम्**=तू **अंगिरोभ्यः**=तेरे रक्षण के द्वारा अंग-प्रत्यंग को रसमय बनानेवालों के लिये **स्वादिष्ठः**=जीवन को अतिशयेन आनन्दयुक्त करनेवाला है। (२) **वरिवः वित्**=सब वरणीय धनों का प्राप्त करानेवाला तू **घृतम्**=(घृ दीप्तौ) ज्ञान की दीप्ति को तथा **पयः**=(ओप्यायी वृद्धौ) शक्ति की वृद्धि को **परिस्रव**=प्राप्त करा। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है और शरीर को नीरोग बनाकर अंग-प्रत्यंग की शक्ति को बढ़ाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम 'ज्ञान व शक्ति' का वर्धन करके जीवन को मधुर बनाता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

बृहत् आप्यम्

अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति। हिन्वान आप्यं बृहत् ॥ १० ॥

(१) **अयम्**=यह सोम **विचर्षणिः**=विशेषरूप से हमारा द्रष्टा (=ध्यान करनेवाला) होता है। यही तो शरीर को सब रोगों से बचाता है। **हितः**=यह सदा हमारे लिये हितकर होता है। **पवमानः**=हमारे जीवन को पवित्र बनाता है। (२) **सः**=वह सोम **बृहत् आप्यम्**=सदा वृद्धि की कारणभूत (महनीय) मित्रता को, प्रभु की मित्रता को **हिन्वानः**=प्रेरित करता हुआ **चेतति**=जाना जाता है। इस सोमरक्षण के द्वारा ही हमें प्रभु की मित्रता प्राप्त होती है। यह प्रभु की मित्रता 'बृहत्' है, हमारी वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें पवित्र बनाता हुआ प्रभु की मित्रता को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वृषव्रत' सोम

एष वृषा वृषव्रतः पवमानो अशस्तिहा। करद्वसूनि दाशुषे॥ ११ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **वृषा**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाला है। **वृषव्रतः**=शक्तिशाली कर्मोंवाला है। इसके रक्षित होने पर हमारे कर्म निर्बल नहीं होते। शक्तिपूर्वक कर्मों को करते हुए हम अवश्य उन कर्मों में सफल होते हैं। **पवमानः**=यह हमारे जीवन को पवित्र बनाता है। **अशस्तिहा**=सब बुराइयों का नाश करता है। (२) यह सोम **दाशुषे**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिये **वसूनि करत्**=निवास के लिये आवश्यक सब तत्त्वों को करनेवाला होता है। शरीर में सुरक्षित सोम सब वसुओं को जन्म देता है।

भावार्थ—यह सोम हमारे लिये सब सुखों का वर्षण करनेवाला, हमें पवित्र करनेवाला व हमारे जीवन में सब वसुओं को जन्म देनेवाला है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पुरुश्चन्द्रं पुरुस्पृहं (रयिम्)

आ पवस्व सहस्त्रिणं रयिं गोमन्तमश्विनम्। पुरुश्चन्द्रं पुरुस्पृहम्॥ १२ ॥

(१) हे सोम! तू **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आपवस्व**=हमारे लिये सर्वथा प्राप्त करा। उस रयि को, जो कि **सहस्त्रिणम्**=(सहस्) आनन्द का कारणभूत है। **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है। तथा **अश्विनम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है। सोमरक्षण से ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ उत्तम बनती हैं, जीवन आनन्दमय होता है। (२) उस रयि को, हे सोम! तू प्राप्त करा, जो कि **पुरुश्चन्द्रम्**=पालक व पूरक होता हुआ आह्लाद को देनेवाला है तथा **पुरुस्पृहम्**=पालक व पूरक होने के कारण स्पृहणीय है। सोम से प्राप्त कराया गया यह रयि ही 'तेज, वीर्य, बल व ओज, ज्ञान व आनन्द' के रूप में प्रकट होता है और जीवन को स्पृहणीय बना देता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम, शरीर के लिये अद्भुत रयि को देनेवाला होता है। इस रयि के परिणामस्वरूप जीवन उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला, उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला व आनन्दमय बनता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उरुगायः कविक्रतुः

एष स्य परि षिच्यते मर्मृज्यमान आयुभिः। उरुगायः कविक्रतुः॥ १३ ॥

(१) **एषः**=यह **स्यः**=यह सोम उल्लिखित मन्त्र के अनुसार रयि को देनेवाला सोम **आयुभिः**=गतिशील पुरुषों से (एति इति) **मर्मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता हुआ **परिषिच्यते**=शरीर में चारों ओर अंग-प्रत्यंग में सिक्त होता है। क्रियाशीलता के होने पर हम वासनाओं द्वारा सताये जाने से बचे रहते हैं। वासनाओं के अभाव में सोम शुद्ध बना रहता है। शुद्ध सोम शरीर में ही व्यापनवाला होता है। (२) यह सोम **उरुगायः**=खूब ही शंसनीय होता है, अथवा हमें शंसनीय जीवनवाला बनाता है और **कविक्रतुः**=यह क्रान्तप्रज्ञ होता है। सुरक्षित सोम हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है।

भावार्थ—गतिशीलता के द्वारा शुद्ध बना हुआ सोम शरीर में सिक्त होता है। यह हमें प्रशस्त जीवनवाला व क्रान्तप्रज्ञ बनाता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'शतामघः' (सोम)

सहस्रोतिः शतामघो विमानो रजसः कविः । इन्द्राय पवते मदः ॥ १४ ॥

(१) **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मदः**=यह उल्लास का जनक सोम **पवते**=प्राप्त होता है। जितेन्द्रियता सोमरक्षण का साधन है और रक्षित हुआ-हुआ सोम आनन्द व उल्लास को जन्म देता है। (२) यह सोम **सहस्रोतिः**=हजारों प्रकार से हमारा रक्षण करनेवाला है। **शतामघः**=सैंकड़ों ऐश्वर्योंवाला है, यह जीवन के अन्दर शतशः ऐश्वर्यों को जन्म देता है। वस्तुतः अन्नमय आदि सब कोशों को यही उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है, यही **रजसः विमानः**=(रजः कर्मणि भारत गी०) सब गति का विशेष मानपूर्वक बनानेवाला है। सोम ही हमें स्फूर्तिमय जीवनवाला बनाता है। **कविः**=यह हमें क्रान्तप्रज्ञ बनाता है। संक्षेप में यह सोम ही गति व ज्ञान को पैदा करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शरीर का रक्षण करता है, इसे सब ऐश्वर्यों से परिपूर्ण करता है। यही हमें गति व ज्ञान से युक्त करता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विः वसतौ इव

गिरा जात इह स्तुत इन्दुरिन्द्राय धीयते । विर्योना वसताविव ॥ १५ ॥

(१) **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **इह**=इस शरीर में ही **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ **स्तुतः**=गुणों से स्तवन किया गया यह **इन्दुः**=सोम **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **योनौ**=सब के मूल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में धीयते=धारण किया जाता है। जब मनुष्य स्वाध्याय में लगा हुआ इन ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करता है, तो यह सोम का रक्षण कर पाता है। इसीलिए सोम को 'गिरा जातः' कहा है। जितेन्द्रिय पुरुष इसके द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है। (२) यह सोम प्रभु में इस प्रकार धारण किया जाता है **इव**=जैसे कि **विः**=एक पक्षी **वसतौ**=अपने निवास-स्थानभूत घोंसलें में स्थापित होता है। यह सोमरक्षण करनेवाला पुरुष ही मानो पक्षी है, प्रभु इसका घोंसला बनते हैं। यही ब्रह्म-निष्ठता है एवं सोमी पुरुष ब्रह्मनिष्ठ होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय में लगे रहने से हम सोम का धारण करते हैं। सोम हमें प्रभु में धारित करता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चमूषु शक्मनासदम्

पवमानः सुतो नृभिः सोमो वाजमिवासरत् । चमूषु शक्मनासदम् ॥ १६ ॥

(१) **पवमानः सोमः**=जीवनों को पवित्र करनेवाला यह सोम **नृभिः**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवालों से **सुतः**=पैदा किया हुआ **वाजं इव**=मानो संग्राम में ही **असरत्**=गतिवाला होता है। शरीर में यह रोगकृमियों के संहार के लिये प्रवृत्त होता है, तो मन में यह वासनाओं के विनष्ट करनेवाला होता है। (२) यह सोम **चमूषु**=इन शरीर रूप पात्रों में **शक्मना**=शक्ति के साथ **आसदम्**=आसीन होने के लिये होता है। सुरक्षित हुए-हुए सोम से ही अंग-प्रत्यंग में शक्ति का संचार होता है।

भावार्थ—यह सोम ही शरीर में रोगकृमियों व वासनाओं को संग्राम में पराजित करता है। सोमरक्षणवाला पुरुष रोगों व वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता। यह शरीर रूप पात्र में शक्ति को

भरनेवाला होता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्वस्थ सुन्दर' शरीर-रथ

तं त्रिपृष्ठे त्रिवन्धुरे रथे युञ्जन्ति यातवे। ऋषीणां सप्त धीतिभिः ॥ १७ ॥

(१) यह शरीर-रथ 'वात-पित्त-कफ' रूप तीन पृष्ठों (आधारों) वाला होने से 'त्रिपृष्ठ' कहाता है। यह उत्तम 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' रूप स्थिति स्थानोंवाला होने से 'त्रिवन्धुर' कहलाता है, तीन सुन्दर स्थानोंवाला (वन्धुर=beautiful)। इस **त्रिपृष्ठे**=तीन पृष्ठोंवाले, **त्रिवन्धुरे**=तीन सुन्दर स्थानोंवाले **रथे**=शरीर-रथ में **तम्**=उस सोम को **युञ्जन्ति**=युक्त करते हैं। इस सोम को विनष्ट होने से बचाकर शरीर में ही सुरक्षित करते हैं। इसे शरीर-रथ में इसलिए सुरक्षित करते हैं कि **यातवे**=इसके द्वारा वे प्रभु की ओर जाने के लिये समर्थ हों। (२) इस सोम को वे **ऋषीणाम्**=मन्त्रद्रष्टाओं की, ज्ञानी पुरुषों की **सप्त धीतिभिः**=(धीति devotion) सात छन्दों से युक्त वेदवाणियों से होनेवाली उपासनाओं के द्वारा शरीर-रथ में युक्त करते हैं। वस्तुतः प्रभु की उपासना ही सोम को शरीर में सुरक्षित करने का प्रमुख साधन है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम शरीर-रथ को 'त्रिपृष्ठ व त्रिवन्धुर' बनाता है। यह रथ हमें प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर ले चलता है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम इस शरीर-रथ को दृढ़ व सुन्दर बनायें। सात छन्दों द्वारा होनेवाली उपासनायें ही सोमरक्षण का साधन बनती हैं। ऐसा होने पर यह शरीर-रथ हमें प्रभु की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाजाय यातवे

तं सोतारो धनस्पृतमाशुं वाजाय यातवे। हरिं हिनोत वाजिनम् ॥ १८ ॥

(१) हे **सोतारः**=सोम का शरीर में उत्पादन करनेवाले पुरुषो! **तम्**=उस **हरिम्**=सब दुःखों का हरण करनेवाले सोम को **हिनोत**=शरीर में ही प्रेरित करो। इसलिए इसे शरीर में प्रेरित करो कि **वाजाय**=यह शरीर में रोगकृमियों से होनेवाले संग्राम को करनेवाला हो तथा **यातवे**=हमें प्रभु की ओर ले चलनेवाला हो। (२) उस सोम का तुम शरीर में प्रेरित करो जो कि **धनस्पृतम्**=सब अन्नमय आदि कोशों के धनों का देनेवाला (grant) व रक्षण करनेवाला है (protect)। **आशुम्**=हमें शीघ्रता से कार्यों को करानेवाला है, और **वाजिनम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम के द्वारा हम सब कोशों के धनों को प्राप्त करके, नीरोग व शक्तिशाली बनकर, वासना-संग्राम में विजयी बनें और प्रभु की ओर जानेवाले हों।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

श्री-सम्पन्नता

आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः। शूरो न गोषु तिष्ठति ॥ १९ ॥

(१) **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **कलशम्**=इस शरीर रूप पात्र में **आविशन्**=प्रवेश करता हुआ **विश्वाः**=सब **श्रियः**=धनों की **अभि अर्षन्**=ओर ले जानेवाला होता है (अभिगमयन् सा०)। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम अन्नमय आदि सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है। (२) इन सब ऐश्वर्यों से युक्त यह **शूरः न**=शूरवीर के समान **गोषु तिष्ठति**=सब

इन्द्रियों पर अधिष्ठातृरूपेण स्थित होता है (गावः इन्द्रियाणि)। सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष जितेन्द्रिय तो होता ही है। इन इन्द्रियों को वश में करना ही सब से बड़ी शूरता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम इसे श्री-सम्पन्न बनाता है। यह सोमरक्षक पुरुष शूरवीर व इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देवेभ्यः मधु

आ त इन्दो मदाय कं पयो दुहन्त्यायवः। देवा देवेभ्यो मधु॥ २०॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **आयवः**=(एति इति आयुः) गतिशील पुरुष **मदाय**=आनन्द व उल्लास की प्राप्ति के लिये **ते**=तेरी **कं पयः**=आनन्दप्रद आप्यायन शक्ति को **आदुहन्ति**=अपने में प्रपूरित करते हैं। सोमरक्षण का सब से प्रमुख साधन कर्मों में लगे रहना ही है। न खाली हों और न वासनायें हमारे पर आक्रमण करें। वासनाओं के आक्रमण से ही तो सोम का विनाश होता है। इस प्रकार क्रिया में लगे रहकर यदि हम सोम का रक्षण करते हैं, तो जीवन में एक अद्भुत उल्लास को पाते हैं। (२) **देवाः**=हे देववृत्ति के पुरुषो! (दिव् विजिगीषायां) वासनाओं को जीतने की कामनावाले पुरुषो! यह सोम **देवेभ्यः**=सब इन्द्रियों के लिये **मधु**=अत्यन्त सारभूत उत्कृष्ट वस्तु है। यही सब इन्द्रियों को सशक्त बनानेवाला है।

भावार्थ—सोम जीवन में उल्लास को देता है, यह इन्द्रियों को सशक्त बनाता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधुमत्तम-देवश्रुत्तम

आ नः सोमं पवित्र आ सृजता मधुमत्तमम्। देवेभ्यो देवश्रुत्तमम्॥ २१॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे जीवो! तुम **नः**=हमारे **सोमम्**=इस सोम को **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **आसृजत**=सर्वथा उत्पन्न करो। हृदय की पवित्रता के होने पर ही यह शरीर में सुरक्षित रहता है। (२) उस सोम को तुम अपने में पैदा करो, जो कि **मधुमत्तमम्**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाला है तथा **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिये **देवश्रुतमम्**=उस महान् देव की वाणी को, इस ज्ञान की वाणी को अधिक से अधिक सुननेवाला है। अर्थात् इस सोम से प्रथम तो जीवन मधुर बनता है, दूसरे इसका रक्षक पुरुष ज्ञान की रुचि के उत्पन्न होने से प्रभु की वाणी को सुननेवाला होता है।

भावार्थ—हृदय को पवित्र बनाकर सोम के रक्षण से हमारा जीवन मधुर व ज्ञान-प्रवण (ज्ञान की ओर झुकाववाला) बने।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

श्रवसे महे

एते सोमा असृक्षत गृणानाः श्रवसे महे। मदिन्तमस्य धारया॥ २२॥

(१) **एते**=ये **सोमाः**=सोमकण (रेतःकण) **असृक्षत**=उत्पन्न किये जाते हैं। **गृणानाः**=स्तुति किये जाते हुए ये **महे श्रवसे**=महान् ज्ञान के लिये होते हैं। इनके रक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, बुद्धि सूक्ष्म बनती है। यह सूक्ष्म बुद्धि उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति का साधन बनती है। (२) ये सोम **मदिन्तमस्य**=(मादयितृतमस्य) अत्यन्त उल्लास को पैदा करनेवाले अपने रस की **धारया**=धारणशक्ति से उत्कृष्ट ज्ञान का साधन बनते हैं शरीर में सुरक्षित सोम अपनी धारणशक्ति

के द्वारा जहाँ शरीर को स्वस्थ बनाता है, वहाँ मस्तिष्क को खूब दीप्त बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम महान् ज्ञान की प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सनद्वाजः

अभि गव्यानि वीतये नृम्णा पुनानो अर्षसि। सनद्वाजः परि स्रव ॥ २३ ॥

(१) हे सोम! तू **पुनानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **वीतये**=(वी असने) अज्ञानान्धकार के ध्वंस के लिये **गव्यानि**=(गावः इन्द्रियाणि) इन ज्ञानेन्द्रियों सम्बन्धी **नृम्णा**=धनों को **अभि अर्षसि**=हमें प्राप्त कराता है। सोमरक्षण से सब इन्द्रियाँ सशक्त होकर अपने-अपने कार्य को सुन्दरता से करती हैं। उससे ज्ञानवृद्धि होकर हमारा अज्ञानान्धकार विनष्ट होता है। (२) **सनद्वाजः**=दी है शक्ति जिसने ऐसा यह सोम है। इसी से सब इन्द्रियों को अंगों को बल प्राप्त होता है। हे सोम! तू **परिस्रव**=हमारे शरीर में चारों ओर प्रवाहित होनेवाला हो।

भावार्थ—सोम ज्ञानेन्द्रियों के धन को प्राप्त कराता है और कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'ज्ञानाग्नि व जाठराग्नि' का दीपन

उत नो गोमतीरिषो विश्वा अर्ष परिष्टुभः। गृणानो जमदग्निना ॥ २४ ॥

(१) हे सोम! तू **उत**=निश्चय से **नः**=हमारे लिये **विश्वाः**=सब **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **अर्ष**=प्राप्त करा। ये प्रेरणायें **परिष्टुभः**=सब ओर से आक्रमण करनेवाली (परि) वासनाओं को रोकनेवाली हैं (स्तुभ्)। (२) यह सोम **जमदग्निना**=जमदग्नि से **गृणानः**=स्तुति किया जाता है। 'जमद् अग्नि' वह व्यक्ति है जिसकी कि जाठराग्नि (वैश्वानर अग्नि) ठीक रहती हैं, जिसकी अग्नि में मन्दता नहीं आती। वस्तुतः सोमरक्षण के द्वारा ही जमदग्नि बनता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि को भी दीप्त करता है, जाठराग्नि को भी।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें प्रभु-प्रेरणाओं के रूप में वह ज्ञान प्राप्त होता है जो कि वासनाओं के आक्रमण से हमें बचाता है। यह सोम जाठराग्नि को भी ठीक रखता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'अग्रिय' सोम

पवस्व वाचो अग्रियः सोम चित्राभिरूतिभिः। अभि विश्वानि काव्या ॥ २५ ॥

(१) हे सोम! तू हमारे लिये **चित्राभिः ऊतिभिः**=अद्भुत रक्षणों के हेतु से **वाचः**=ज्ञान की वाणियों को **पवस्व**=प्राप्त करा। **अग्रियः**=तू हमारी अग्रगति का साधन है। सब उन्नतियों का मूल यह सोमरक्षण ही है। (२) तू **विश्वानि काव्या अभि**=सब प्रभु की वेदवाणियों की ओर हमें ले चल 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। सोमरक्षण के द्वारा दीप्त बुद्धि बनकर हम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें।

भावार्थ—ज्ञान की वाणियों की ओर ले चलता हुआ यह सोम हमें उन्नतिपथ पर ले चलता है, यह 'अग्रिय' है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'विश्वमेजय'

त्वं समुद्रिया अपोऽग्रियो वाच ईरयन्। पवस्व विश्वमेजय ॥ २६ ॥

(१) हे **विश्वमेजय**=सब रोगकृमियों व वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले सोम! **त्वम्**=तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। तेरे द्वारा सब रोगकृमियों का विनाश होकर हमें स्वस्थ व सबल शरीर प्राप्त हो तथा वासनाओं का विनाश होकर पवित्र हृदय मिले। (२) तू **अग्रियः**=हमारी उन्नति का साधक है। **वाचः**=ज्ञान की वाणियों को उन पवित्र हृदयों में **ईरयन्**=प्रेरित करता हुआ तू **समुद्रियाः अपः**=ज्ञानैश्वर्य के समुद्र भूत इन वेदों के (रायः समुद्राँश्चतुरः) ज्ञान जलों को हमें प्राप्त करा।

भावार्थ—रोगकृमियों व वासनाओं को कम्पित करके दूर करता हुआ यह सोम हमें ज्ञान-समुद्रभूत वेदों के ज्ञान जलों को प्राप्त कराये।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'स्वलोक धारक' सोम

तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे। तुभ्यमर्षन्ति सिन्धवः॥ २७॥

(१) सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमें क्रान्तप्रज्ञ बनाता है, सो सोम को ही यहाँ 'कवि' कहा गया है। हे **कवे सोम**=हमें तीव्र बुद्धिवाला बनानेवाले सोम! **इमा भुवना**=ये सब लोक **तुभ्य महिम्ने**=तेरी महिमा के द्वारा ही **तस्थिरे**=स्थित हैं। शरीर के सब अंग-प्रत्यंग (लोक) इस सोम के द्वारा ही स्वस्थ व सशक्त बने रहते हैं। (२) **तुभ्यम्**=तेरे लिये ही **सिन्धवः**=ज्ञान-समुद्र **अर्षन्ति**=गतिवाले होते हैं। इन सोमकणों के रक्षण से ही सारा ज्ञान का प्रवाह चलता है।

भावार्थ—हे सोम! तेरी महिमा से ही सब अंग-प्रत्यंग दृढ़ बनते हैं। और तेरी महिमा से ही ज्ञान-समुद्रों का प्रवाह चलता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'अभि शुक्रां उपस्तिरम्'

प्र ते दिवो न वृष्टयो धारा यन्त्यसश्चतः। अभि शुक्रामुपस्तिरम्॥ २८॥

(१) हे सोम! **दिवः वृष्टयः न**=द्युलोक से होनेवाली वृष्टियों की तरह **ते**=तेरी **असश्चतः**=(unceasing, not drying up) न शुष्क हो जानेवाली **धाराः**=धारायें **प्रयन्ति**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त होती हैं। जैसे द्युलोक से होनेवाली वृष्टि सब सन्ताप का हरण करनेवाली होती है, इसी प्रकार इस सोम की धारायें शरीर के सब सन्तापों को विनष्ट करती हैं। (२) ये धारायें **शुक्राम्**=अत्यन्त निर्मल, **उपस्तिरम्**=आच्छादन का **अभि**=लक्ष्य करके हमें प्राप्त होती हैं। यह 'अत्यन्त निर्मल आच्छादन' प्रभु ही है। 'अमृतोपस्तरणमसि'। यह सोम हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—निरन्तर शरीर में प्रवाहित होनेवाली सोम की धारायें सब सन्तापों का हरण करती हुई प्रभुरूप दीप्त आच्छादन को हमें प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ईशानं वीतिराधसम्

इन्द्रायेन्दुं पुनीतनोग्रं दक्षाय साधनम्। ईशानं वीतिराधसम्॥ २९॥

(१) **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **इन्दुम्**=इस सोम को **पुनीतन**=पवित्र करो। यह पवित्र सोम ही ज्ञानदीप्ति का साधन बनकर प्रभु-दर्शन कराता है। उस सोम को पवित्र करो, जो कि **उग्रम्**=अत्यन्त तेजस्वी है, रोगकृमियों के लिये भयकर है। **दक्षाय**=(growth)

उन्नति व विकास के लिये **साधनम्**=साधनभूत है। (२) उस सोम को पवित्र करो, जो कि **ईशानम्**=सब ऐश्वर्यों का स्वामी है, सब अन्नमय आदि कोशों को ऐश्वर्य से परिपूर्ण करनेवाला है। **वीतिराधसम्**=(वी कान्तौ) दीप्त धनोंवाला है।

भावार्थ—हम सोम को पवित्र करें जो कि हमें 'उग्र (तेजस्वी) उन्नत व ऐश्वर्यशाली' बनाता है।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'पवमानः ऋतः कविः'

पव॑मान ऋ॒तः क॒विः सोमः॑ प॒वित्र॒मास॑दत्। दध॑त्स्तो॒त्रे सु॒वीर्य॑म् ॥ ३० ॥

(१) **सोमः**=सोम **पवित्रं आसदत्**=पवित्र हृदय पुरुष में आसीन होता है। हृदय की पवित्रता के होने पर यह शरीर में सुरक्षित होता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह **पवमानः**=हमारे जीवन को पवित्र करता है। **ऋतः**=यह हमारे जीवन को सत्यमय बनाता है। **कविः**=यह हमें क्रान्तप्रज्ञ बनाता है। (२) शरीर में सुरक्षित होने पर यह सोम **स्तोत्रे**=स्तोता के लिये **सुवीर्यं दधत्**=उत्कृष्ट वीर्य को धारण करता है। इस वीर्य के द्वारा ही यह सोम का स्तवन करनेवाला पुरुष शक्तिशाली बनता हुआ रोगों को भी जीतनेवाला बनता है और वासनाओं से भी ऊपर उठ पाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें 'पवित्र, सत्यमय व क्रान्तप्रज्ञ' बनाता है। हमारे लिये उत्कृष्ट शक्ति को धारण करता है।

इस प्रकार सोमरक्षण से यह व्यक्ति 'निध्रुवि'=नितरां ध्रुव=स्थितप्रज्ञ बनता है, 'काश्यप'=ज्ञानी होता है। इस 'निध्रुवि काश्यप' का ही अगला सूक्त है—

[६३] त्रिषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुवीर्य-ज्ञान

आ प॑वस्व सह॒स्रिणं॑ र॒यिं सो॑म सु॒वीर्य॑म्। अ॒स्मे श्रवां॑सि धारय ॥ १ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू हमारे लिये **सहस्रिणं रयिम्**=हजारों ऐश्वर्यों को **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त करा। **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को प्राप्त करा। (२) **अस्मे**=हमारे लिये **श्रवांसि**=ज्ञानों को **धारय**=धारण करा।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे लिये 'रयि, सुवीर्य व ज्ञानों' को धारण कराता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मत्सरिन्तमः

इष॒मूर्जं॑ च पिन्वस॒ इन्द्रा॑य मत्स॒रिन्त॑मः। च॒मूष्वा नि षी॑दसि ॥ २ ॥

(१) हे सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **इषम्**=प्रेरणा को, अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को **च**=और **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **पिन्वसे (क्षरसि)**=प्राप्त कराता है। इनको प्राप्त करके तू **मत्सरिन्तमः**=अतिशयेन आनन्दित करनेवाला होता है। (२) हे **चमूषु**=इन शरीररूप पात्रों में **आनिषीदसि**=समन्तात् स्थित होता है। शरीर में व्याप्त होकर ही यह हमारे लिये आनन्दित करनेवाला होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमारे लिये प्रभु-प्रेरणा को बल व प्राणशक्ति को प्राप्त कराता है और हमारे लिये मादयितृतम होता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'इन्द्र, विष्णु व वायु' के द्वारा सोमरक्षण

सुत इन्द्राय विष्णवे सोमः कलशे अक्षरत्। मधुमाँ अस्तु वायवे॥ ३॥

(१) **सुतः सोमः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **इन्द्राय विष्णवे**=इन्द्र व विष्णु के लिये **कलशे अक्षरत्**=शरीर में ही गतिवाला होता है। इन्द्र का भाव है 'जितेन्द्रिय' तथा विष्णु का भाव है 'व्यापक (उदार) हृदयवाला' यज्ञशील। जो जितेन्द्रिय व यज्ञशील बनता है, वही सोम को शरीर में सुरक्षित कर पाता है। (२) यह सोम **वायवे**=(वा गतौ) गतिशील पुरुष के लिये **मधुमान् अस्तु**=अत्यन्त माधुर्यवाला हो। गतिशील व्यक्ति के जीवन में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम उसके जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—=हम 'जितेन्द्रिय, यज्ञशील व गतिशील' बनकर सोम को सुरक्षित कर पाते हैं। यह हमारे जीवन को मधुर बनाता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'ऋतमय ऋजु' जीवन

एते असृग्रमाशवोऽति ह्वरांसि बभ्रवः। सोमा ऋतस्य धारया॥ ४॥

(१) **एते सोमाः**=ये सोमकण **ऋतस्य धारया**=ऋत के धारण के हेतु से **असृग्रम्**=पैदा किये जाते हैं। उत्पन्न हुए-हुए ये सोम हमारे जीवन में ऋत का धारण करते हैं। हमारा जीवन इस सोम से ऋतमय बनता है। (२) ये सोम **आशवः**=हमें शीघ्रता से कार्य करानेवाले, हमारे में स्फूर्ति को देनेवाले होते हैं। ये **ह्वरांसि अति**=हमें सब कुटिलताओं से दूर ले जाते हैं तथा **बभ्रवः**=ये हमारा धारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—उत्पन्न हुए-हुए सोम हमारे जीवन को ऋतमय व ऋजु बनाते हैं।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

आर्य व उदार

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्णः॥ ५॥

(१) शरीरस्थ सोम **इन्द्रं वर्धन्तः**=हमारे अन्दर इन्द्र का वर्धन करते हैं। सोमरक्षण से हमारे अन्दर प्रभु की भावना बढ़ती है। ये सोमकण '**अप्तुरः**'=हमें कर्मों में त्वरा से प्रेरित करते हैं। ये हमारे **विश्वम्**=सम्पूर्ण जीवन को **आर्यम्**=श्रेष्ठ **कृण्वन्तः**=करते हैं। (२) और ये सोम **अराव्णः**=अदानवृत्तियों को **अपघ्नन्तः**=सुदूर विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'प्रभु-प्रवण क्रियाशील आर्य व उदार' बनाता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्रं गच्छन्तः

सुता अनु स्वमा रजोऽभ्यर्षन्ति बभ्रवः। इन्द्रं गच्छन्त इन्दवः॥ ६॥

(१) **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **बभ्रवः**=हमारा धारण करनेवाले होते हैं। ये **इन्दवः**=शक्तिशाली सोम **इन्द्रं गच्छन्तः**=जितेन्द्रिय पुरुष को प्राप्त होते हैं। (२) ये सोम **स्वं रजः**=अपने लोक का **अनु**=लक्ष्य करके **आ अभ्यर्षन्ति**=शरीर में चारों ओर प्राप्त होते हैं। शरीर में सुरक्षित हुए-हुए ही ये स्वस्थान में स्थित रहते हैं। यहाँ स्थित हुए-हुए ये शरीर को 'नीरोग, निर्मल व दीप्त' बनाते हैं और हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य करते हैं। इस प्रकार ये उस इन्द्र की ओर जा रहे होते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष में ये सोम अपने स्थान में ही स्थित रहते हैं, अर्थात् शरीर से निर्गत नहीं होते और इस प्रकार ये हमें प्रभु की ओर ले चलते हैं।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य-रोचन

अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः। हिन्वानो मानुषीरपः॥ ७॥

(१) हे सोम! तू **अया**=(अनया) इस **धारया**=धारणशक्ति के साथ **पवस्व**=हमें प्राप्त हो, **यया**=जिससे कि तू **सूर्यं अरोचयः**=हमारे जीवन-गगन में सूर्यम्=ज्ञानसूर्य को अरोचयः=दीप्त करता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और उससे हमारा ज्ञान का प्रकाश चमक उठता है। (२) हे सोम! इस ज्ञान के प्रकाश के द्वारा तू **मानुषीः अपः**=मनुष्योचित कर्मों को **हिन्वानः**=हमारे में प्रेरित करता है। ज्ञानी बनकर हम यज्ञादि लोकहितकारी कर्मों में ही प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम दीप्त ज्ञानाग्निवाले बनते हैं और सदा मानवोचित कर्मों को ही करते हैं।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अन्तरिक्ष से जाना

अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि। अन्तरिक्षेण यातवे॥ ८॥

(१) **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ यह सोम **मनौ अधि**=विचारशील पुरुष में **सूरः**=सूर्य के **एतशम्**=अश्व को **अयुक्त**=जोतता है। सूर्य के अश्व को युक्त करने का भाव यही है कि हमारे जीवन में यह सोम ज्ञान के सूर्य को उदित करता है। (२) यह उदित हुआ-हुआ ज्ञान का सूर्य **अन्तरिक्षेण**=अन्तरिक्ष मार्ग से **यातवे**=जाने के लिये होता है। सोमरक्षण से जब हमें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, तो हम सदा मध्यमार्ग से चलनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें ज्ञान प्राप्त कराके मध्यमार्ग में चलनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु रूप लक्ष्य-स्थान

उत त्या हरितो दश सूरो अयुक्त यातवे। इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन्॥ ९॥

(१) **इन्दुः**=यह सोम **उत**=निश्चय से **त्याः**=उन **दश हरितः**=दसों दिशाओं में **यातवे**=जाने के लिये, सब दिशाओं में उन्नति के लिये **सूरः**=सूर्य के अश्व को **अयुक्त**=जोतता है, ज्ञान के सूर्य को उदित करता है। (२) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही तुम्हारा लक्ष्य है, **इति ब्रुवन्**=ऐसा कहता हुआ यह सोम इस सूर्य के अश्व को जोतता है। इस ज्ञानसूर्य ने हमें मध्यमार्ग से गतिवाला करके उस प्रभु के समीप प्राप्त कराना है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें ज्ञानदीप्ति के द्वारा प्रभु के समीप प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'वायवे इन्द्राय' मत्सरम्

परीतो वायवे सुतं गिर इन्द्राय मत्सरम्। अव्यो वारेषु सिञ्चत॥ १०॥

(१) **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **इतः**=इस उत्पत्ति-स्थान से **गिरः**=हे स्तोताओ! **परि सिञ्चत**=शरीर में चारों ओर सिक्त करो। शरीर के अंग-प्रत्यंग को यह शक्तिशाली बनानेवाला हो। (२) उस सोम को तुम सिक्त करो, जो कि **वायवे**=गतिशील पुरुष के लिये तथा **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मत्सरम्**=आनन्द के सञ्चार को करनेवाला है। इसलिए तुम इसे सिक्त करो कि यह **अव्यः वारेषु**=(अवेः) रक्षक पुरुष के रोगादि के निवारण को निमित्त बनाता है। हम इसका रक्षण करते हैं। यह हमें रोगों वा मानसविकारों से बचाता है। गतिशीलता व जितेन्द्रियता ही इस सोमरक्षण के साधन है।

भावार्थ—गतिशील व जितेन्द्रिय बनकर हम सोम का रक्षण करते हैं। यह रक्षित सोम हमारे जीवन में उल्लास का कारण बनता है और सब निवारण के योग्य चीजों को हमारे से दूर रखता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'दुष्टर व दूणाश' रयि

पवमान विदा रयिमस्मभ्यं सोम दुष्टरम्। यो दूणाशो वनुष्यता॥ ११॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले **सोम**=शरीर के सब ऐश्वर्यों के साधनभूत सोम! तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिं विदा**=उस धन को प्राप्त करा जो कि **दुष्टरम्**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं, अर्थात् जिस रयि को शत्रु आक्रान्त नहीं कर सकते। इस सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर हमारे पर रोगादि का आक्रमण नहीं हो सकता। (२) उस रयि को तू हमें प्राप्त करा **यः**=जो कि **वनुष्यता**=हिंसकों से **दूणाशः**=नष्ट नहीं की जा सकती। सोम के सुरक्षित होने पर मन में काम-क्रोध-लोभ आदि दुर्वासनाओं का आक्रमण नहीं हो पाता। सोमी पुरुष कभी वासनाओं का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें वह ऐश्वर्य प्राप्त होता है जो कि शत्रुओं से नष्ट नहीं किया जा सकता।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सब कोशों का ऐश्वर्य

अभ्यर्ष सहस्त्रिणं रयिं गोमन्तमश्विनम्। अभि वाजमुत श्रवः॥ १२॥

(१) हे सोम! तू **रयिम्**=उस ऐश्वर्य को **अभि अर्ष**=हमें प्राप्त करा, जो कि **सहस्त्रिणम्**=(सहस्) सदा आनन्द से युक्त है, 'सहस्' वाला है। यही तो आनन्दमय कोश का ऐश्वर्य है 'सहोसि सहो मयि धेहि'। (२) उस ऐश्वर्य को प्राप्त करा जो कि **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है तथा **अश्विनम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है। यही ऐश्वर्य प्राणमयकोश का है 'प्राणाः वाव इन्द्रियाणि'। (३) हे सोम! तू हमें **वाजं अभि**=बल की ओर ले चल। यह बल ही मनोमयकोश का ऐश्वर्य है 'बलमसि बलं मयि धेहि'। **उत** और **श्रवः**=ज्ञान की ओर तू हमें ले चल। हमारे विज्ञानमयकोश को ज्ञानैश्वर्य से तू परिपूर्ण कर।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें आनन्द, उत्तम इन्द्रियाँ, शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करानेवाला हो।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रकाश-पवित्रता-मधुरता

सोमो॑ दे॒वो न सूर्योऽद्रि॑भिः पवते सु॒तः। दधा॑नः क॒लशे॒ रस॑म्॥ १३॥

(१) **सोमः**=शरीर में उत्पन्न होनेवाला सोम **सूर्यः देवः न**=सूर्य देव के समान है। सूर्योदय होता है और सारा अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार हमारे जीवन-गगना में भी सोमरक्षण के द्वारा ज्ञान-सूर्य का उदय होता है और सब अज्ञानान्धकार विलुप्त हो जाता है। (२) **अद्रिभिः**=उपासकों से (adore) **सुतः**=उत्पन्न किया गया यह सोम **पवते**=जीवन को पवित्र करता है। यह सोम **कलशे**=सोलह कलाओं के निवास-स्थानभूत इस शरीर में **रसं दधानः**=रस को धारण करता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह जीवन को रसमय (मधुर) बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम (१) अज्ञानान्धकार को नष्ट करता है, (२) जीवन को पवित्र बनाता है, (३) इसमें मधुरता को भरता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

गोमान् वाज

ए॒ते धामा॒न्यार्या॑ शु॒क्रा ऋ॒तस्य॒ धार॑या। वाजं॒ गोम॑न्तमक्षरन्॥ १४॥

(१) **एते**=ये **शुक्राः**=जीवन को शुचि व शक्तिशाली बनानेवाले सोम **ऋतस्य धारया**=(धारा=वाङ्नामसु) सत्य वेदज्ञान की वाणी से **आर्या धामानि**=श्रेष्ठ तेजों को **अक्षरन्**=हमारे में क्षरित करते हैं। ये सोमकण ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हमें श्रेष्ठ तेजों से युक्त करते हैं। (२) **गोमन्तं वाजम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले (गावः इन्द्रियाणि) बल को ये हमारे में क्षरित करते हैं। हमें ये पवित्र व बल-सम्पन्न बनाते हैं। सुरक्षित सोम से शरीर ही नीरोग नहीं होता, मन भी इससे निर्मल बनता है। एवं यह सोम हमें पवित्र तो बनाता ही है। यह हमें शक्तिशाली भी बनाता है। पवित्र व वासनाओं से अनाक्रान्त जीवनवाला पुरुष शक्ति के रक्षण से बल-सम्पन्न तो होता ही है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें वेदज्ञान के अनुसार चलाता हुआ पवित्र व शक्ति-सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'दध्याशिरः' सोमासः

सु॒ता इन्द्रा॑य व॒ज्रिणे॒ सोमा॑सो॒ दध्या॑शिरः। प॒वित्र॒मत्य॑क्षरन्॥ १५॥

(१) **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये, **वज्रिणे**=गतिशीलता रूप वज्रवाले के लिये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमासः**=ये सोमकण **दध्याशिरः**=(धत्ते, आश्रृणाति) बल को धारण करनेवाले होते हैं तथा सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाले होते हैं। (२) **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष को ये **अति अक्षरन्**=अतिशयेन प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये साधन हैं—(क) जितेन्द्रियता, (ख) क्रियाशीलता, (ग)

हृदयता की पवित्रता। सुरक्षित हुए-हुए सोम हमें बल-सम्पन्न व निर्मल बनाते हैं।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

माधुर्य-उल्लास-दिव्यता

प्र सोम मधुमत्तमो राये अर्ष पवित्र आ। मदो यो देववीतमः॥ १६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **राये**=सब ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये, अन्नमय आदि कोशों को तेज आदि सम्पत्तियों से परिपूर्ण करने के लिये **आ प्र अर्ष**=शरीर में समन्तात् प्राप्त हो। रुधिर के साथ सारे शरीर में ही तेरा व्यापन हो। (२) वह तू हमें प्राप्त हो, **यः**=जो कि **मधुमत्तमः**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाला है। **मदः**=उल्लास का जनक है और **देववीतमः**=अधिक से अधिक दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाला है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें 'माधुर्य, उल्लास व दिव्यता' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

नदीषु वाजिनम्

तमीं मृजन्त्यायवो हरिं नदीषु वाजिनम्। इन्दुमिन्द्राय मत्सरम्॥ १७॥

(१) **आयवः**=गतिशील पुरुष **तम्**=उस सोम को **ईम्**=निश्चय से **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं, इसे वासनाओं से मलिन नहीं होने देते। जो सोम **हरिम्**=सब दुःखों का हरण करनेवाला है। जो **नदीषु**=शरीर की सब नाड़ियों में (रक्तवाहिनी धमनियों में) **वाजिनम्**=शक्ति का सञ्चार करनेवाला है। इसके नाश से सारा नाड़ी संस्थान दुर्बल पड़ जाता है। (२) उस सोम का शोधन करते हैं, जो कि **इन्दुम्**=शक्ति का संचार करनेवाला है तथा **इन्द्राय मत्सरम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये आनन्द का संञ्चार करनेवाला है।

भावार्थ—गतिशीलता से वासनाओं के आक्रमण के न होने से सोम पवित्र बना रहता है। यह रोगहर्ता, नाड़ियों को सशक्त बनानेवाला व आनन्द का दाता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गोमान् वाज

आ पवस्व हिरण्यवदश्वावत्सोम वीरवत्। वाजं गोमन्तमा भर॥ १८॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **हिरण्यवत्**=ज्योति से युक्त, ज्ञान-ज्योतिवाली, **अश्वावत्**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले **वीरवत्**=उत्तम सन्तानोंवाले ऐश्वर्य को **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त करा। हम सोमरक्षण के द्वारा ज्ञान, उत्तम इन्द्रियों व वीर सन्तानों को प्राप्त करें। (२) हे सोम! तू **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले **वाजम्**=बल को **आभर**=हमारे में भरनेवाला हो। तेरे द्वारा ज्ञानाग्नि के दीपन से इन ज्ञान की वाणियों को ग्रहण करनेवाले बनें तथा शरीर में शक्ति-सम्पन्न हों।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'ज्ञान-प्रशस्त इन्द्रियों, वीर सन्तानों व शक्ति' को देनेवाला हो।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'वाजयु-मधुमत्तम' सोम

परि वाजे न वाजयुमव्यो वारेषु सिञ्चत। इन्द्राय मधुमत्तमम्॥ १९॥

(१) **वाजे न**=जीवन संग्राम के निमित्त, संग्राम तुल्य इस जीवन में **वाजयुम्**=शक्ति को हमारे साथ जोड़नेवाले इस सोम को **अव्यः**=(अवः) सोमरक्षक पुरुष के **वारेषु**=वासनाओं के

निवारण करने पर **परि सिञ्चत**=शरीर में चारों ओर सिक्त करनेवाले होवो। जब हम वासनाओं से ऊपर उठते हैं, तो सोम को शरीर में सुरक्षित कर पाते हैं। (२) उस सोम को शरीर में सिक्त करो, जो कि **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मधुमत्तमम्**=जीवन को अतिशयेन मधुर बनानेवाला है। शरीर को यह सोम ही सब प्रकार से नीरोग व निर्मल बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें जीवन संग्राम में विजय के लिये शक्ति प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'कवि-मर्ज्य' सोम

कविं मृजन्ति मर्ज्यं धीभिर्विप्रा अवस्यवः। वृषा कनिक्रदर्षति॥ २०॥

(१) **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले व्यक्ति, **अवस्यवः**='रोगों व वासनाओं' के आक्रमण से अपने रक्षण की कामनावाले इस सोम का **धीभिः**=बुद्धिपूर्वक उत्तम कर्मों में लगे रहने के द्वारा (धी=बुद्धि व कर्म) **मृजन्ति**=शोधन करते हैं। उस सोम का शोधन करते हैं, जो कि **कविम्**=हमें क्रान्तप्रज्ञ व सूक्ष्म बुद्धिवाला बनाता है तथा **मर्ज्यम्**=शोधन के योग्य है। सोम का शोधन यही है कि यह वासनाओं से मलिन न हो। इसका साधन यही है कि हम ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त रहें। (२) **वृषा**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला यह सोम **कनिक्रत्**=प्रभु के गुणों का उच्चारण करता हुआ **अर्षति**=शरीर में गतिवाला होता है। सुरक्षित सोम हमें शक्ति-सम्पन्न व प्रभु-प्रवण बनाता है।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहकर हम सोम का शोधन करें। यह हमें शक्ति-सम्पन्न व प्रभु के प्रति प्रीतिवाला बनायेगा।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वृषणं असुरम्

वृषणं धीभिरसुरं सोममृतस्य धारया। मती विप्राः समस्वरन्॥ २१॥

(१) **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **ऋतस्य धारया**=ऋत के, जो भी ठीक है उसके धारण के हेतु से **मती**=मतिपूर्वक **सोमं समस्वरन्**=सोम का स्तवन करते हैं, सोम के गुणों का उच्चारण करते हैं। (२) उस सोम के गुणों का उच्चारण करते हैं, जो कि **वृषणम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला है तथा **धीभिः असुरम्**=बुद्धियों के साथ कर्मों को हमारे में प्रेरित करनेवाला है। सोमरक्षण से हम शक्तिसाली बनते हैं। यह सुरक्षित सोम हमें ज्ञानपूर्वक कर्मोंवाला बनाता है।

भावार्थ—सोम के गुणों का स्मरण करते हुए हम इसके रक्षण के द्वारा शक्तिशाली व कर्मशील बनते हैं।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वायुं आरोह धर्मणा

पवस्व देवायुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः। वायुमा रोह धर्मणा॥ २२॥

(१) हे **देव**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले सोम! तू **आयुषक्**=(अनुषक्तं) निरन्तर हमें **पवस्व**=प्राप्त हो **ते मदः**=तेरा उल्लास, तेरे रक्षण से उत्पन्न उल्लास **इन्द्रं गच्छतु**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को प्राप्त हो। (२) हे सोम! तू **धर्मणा**=अपनी धारण शक्ति के द्वारा **वायुं आरोह**=आरोहण करता हुआ निरन्तर गतिशील प्रभु को (वा गतौ) प्राप्त हो। यह सोम हमारे जीवन में पवित्रता

का सञ्चार करता हुआ हमें प्रभु की ओर ले जानेवाला हो। 'वायु' नाम से प्रभु का स्मरण करता हुआ यह सोमरक्षक पुरुष भी निरन्तर गतिशील बनता हुआ अपने जीवन को अधिकाधिक पवित्र करता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षण द्वारा पवित्र व उल्लासमय जीवनवाले बनकर प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

समुद्रं आविश

पवमान नि तोशसे रयिं सोम श्रवाय्यम्। प्रियः समुद्रमा विश॥ २३॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले! **नितोशसे**=तू निश्चय से हमारे रोगकृमि व वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करता है। इनको विनष्ट करके तू **श्रवाय्यम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय **रयिम्**=(आविश) ऐश्वर्य में प्रवेश करनेवाला हो। (२) **प्रियः**=अन्नमय आदि सब कोशों के ऐश्वर्यों से प्रीणित करनेवाला तू **समुद्रम्**=(स+मुद्) आनन्द के साथ वर्तमान प्रभु में **आविश**=प्रवेश कर। यह सोम हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) शत्रुओं को नष्ट करता है, (ख) उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है, (ग) अन्ततः प्रभु से हमारा मेल करता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'क्रतुवित्' सोम

अपघ्नन्पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः। नुदस्वादेवयुं जनम्॥ २४॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **मृधः**=हमें कतल करने वाले 'काम-क्रोध-लोभ' आदि शत्रुओं को **अपघ्नन्**=सुदूर विनष्ट करता हुआ **पवसे**=हमें प्राप्त होता है। हे सोम! तू इन शत्रुओं को नष्ट करके **क्रतुवित्**=हमें शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त करानेवाला है। **मत्सरः**=इस शक्ति व प्रज्ञान के द्वारा हमारे जीवन में आनन्द का संचार करनेवाला है। (२) हे सोम! तू **अदेवयुं जनम्**=उस देव प्रभु को न चाहनेवाले पुरुष को **नुदस्व**=हमारे से दूर प्रेरित कर। अर्थात् हमारी अदेवयु पुरुषों के संग में उठने-बैठने की कामना न हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे शत्रुओं का नाश करता है। हमें शक्ति व आनन्द को प्राप्त कराता है। हमारी रुचि सज्जन संग की होती है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पवमानाः शुक्रास इन्दवः

पवमाना असृक्षत सोमाः शुक्रास इन्दवः। अभि विश्वानि काव्या॥ २५॥

(१) **सोमाः**=सोमकण **असृक्षत**=हमारे शरीरों में पैदा किये जाते हैं। ये सोमकण **पवमानाः**=हमारे हृदयों को पवित्र करनेवाले हैं। **शुक्रासः**=ये हमें ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त कराते हैं और **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनाते हैं। हृदय में 'पवमान', मस्तिष्क में 'शुक्र' तथा हाथों में 'इन्दु'। (२) ये सोमकण हमें **विश्वानि काव्या**=सब ज्ञानों की **अभि**=ओर ले चलते हैं। ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ये हमें कवि बनाते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'पवित्रता, ज्ञानदीप्ति व शक्ति' की ओर हमें ले चलते हैं।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'पवित्र-शुभ्र-निर्द्वेष' जीवन

पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्रमिन्दवः। घ्नन्तो विश्वा अप द्विषः॥ २६॥

(१) **पवमानासः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले, **आशवः**=हमें शीघ्रता व स्फूर्ति से व्याप्त करनेवाले, **शुभ्राः**=दीप्त, **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले ये सोमकण **असृग्रम्**=उत्पन्न किये जाते हैं। (२) ये सोमकण **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अपघ्नन्तः**=हमारे से सुदूर विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'पवित्र, शुभ्र, निर्द्वेष' जीवनवाला करते हैं।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

त्रिलोकी का रक्षण

पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत। पृथिव्या अधि सानवि॥ २७॥

(१) **पवमानाः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले ये सोम! **दिवः परि**=द्युलोक के लक्ष्य से **असृक्षत**=उत्पन्न किये जाते हैं। 'सुरक्षित हुए-हुए ये मस्तिष्क रूप द्युलोक को ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं' इसलिए इनका उत्पादन होता है। (२) **अन्तरिक्षात्**=हृदयान्तरिक्ष के दृष्टिकोण से इनका उत्पादन होता है। उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण हृदयान्तरिक्ष को बड़ा पवित्र बनाते हैं। (३) **पृथिव्याः**=इस शरीररूप पृथिवी के **अधिसानवि**=समुच्छ्रित प्रदेश के निमित्त यह सोम उत्पन्न किया जाता है। सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम हमारे शरीर को खूब उन्नत स्वास्थ्य की स्थिति में रखता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम 'मस्तिष्क, हृदय व स्थूल शरीर' रूप त्रिलोकी को बड़ा ठीक रखता है।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रक्षांसि अपजहि

पुनानः सोम धारयेन्दो विश्वा अप स्त्रिधः। जहि रक्षांसि सुक्रतो॥ २८॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले! तू **पुनानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **धारया**=अपनी धारणशक्ति से **विश्वाः**=सब **स्त्रिधः**=हिंसक शत्रुओं को **अपजहि**=सुदूर विनष्ट करनेवाला हो। (२) हे **सुक्रतो**=उत्तम शक्ति व प्रज्ञानवाले सोम! तू **रक्षांसि**=राक्षसीभावों को विनष्ट करनेवाला बन।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला हो। इसके रक्षण से राक्षसीभाव हमारे से दूर हों।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

द्युमान् शुष्म (गोमान् वाज)

अपघ्नन्त्सोम रक्षसोऽभ्यर्ष कनिक्रदत्। द्युमन्तं शुष्ममुत्तमम्॥ २९॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **रक्षसः**=राक्षसीभावों व रोगकृमिरूप राक्षसों को **अपघ्नन्**=सुदूर विनष्ट करता हुआ तू **अभ्यर्ष**=हमें प्राप्त हो। **कनिक्रदत्**=हमारे अन्दर स्थित हुआ-हुआ तू प्रभु

के गुणों का उच्चारण करनेवाला बन। (२) तू **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय **शुष्मम्**=बल को **आभर**=हमारे में भर। तेरे रक्षण से हमें ज्योति व शक्ति की प्राप्ति हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम रोगकृमियों को नष्ट करे, हमें प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त करे, हमारे लिये ज्योतिर्मय शक्ति को प्राप्त करानेवाला हो।

ऋषिः—**निध्रुविः काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दिव्य व पार्थिव वसु

अस्मे वसूनि धारय सोम दिव्यानि पार्थिवा। इन्दो विश्वानि वार्या॥ ३०॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **अस्मे**=हमारे लिये **दिव्यानि पार्थिवा**=दिव्य और पार्थिव **वसूनि**=वसुओं को **धारय**=धारण कर। विज्ञान के नक्षत्र व आत्मज्ञान का सूर्य ही दिव्य वसु हैं। पूर्ण स्वास्थ्य ही पार्थिव वसु है। सुरक्षित सोम हमें इन वसुओं को प्राप्त करता है। (२) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **विश्वानि**=सब **वार्या**=वरणीय वसुओं को प्राप्त करा। तेरे द्वारा हमारा शरीर स्वस्थ हो, मन निर्मल हो तथा बुद्धि दीप्त हो। इस प्रकार यह सोम सब दृष्टिकोणों से हमारे जीवनों को उत्तम निवासवाला बनाये।

भावार्थ—सुरक्षित सोम दिव्य व पार्थिव वसुओं को प्राप्त कराता है। यह सब वरणीय वसुओं का दाता है।

अगले सूक्त में 'काश्यप मारीच' सोम का स्तवन करता है, ज्ञानी वासनाओं को विनष्ट करनेवाला—

[६४] चतुःषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'वृषा द्युमान्' सोम

वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः। वृषा धर्माणि दधिषे॥ १॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **वृषा**=शक्तिशाली है, हमें शक्ति-सम्पन्न बनाता है। **द्युमान् असि**=तू ज्योतिर्मय है, हमारी ज्ञान-ज्योति को बढ़ानेवाला है। (२) हे **देव**=दिव्य गुणों को हमारे में उत्पन्न करनेवाले सोम तू **वृषा**=शक्तिशाली है। **वृषव्रतः**=शक्तिशाली कर्मोंवाला है। (३) **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ तू **धर्माणि**=धारणात्मक कर्मों को **दधिषे**=हमारे में धारण करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'शक्तिशाली ज्योतिर्मय' जीवनवाला बनाता है। यह हमें शक्तिशाली कर्मोंवाला बनाता है और धारणात्मक कर्मों में हमें प्रवृत्त करता है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'सुख-वर्षक' सोम

वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा मदः। सत्यं वृषन्वृषेदसि॥ २॥

(१) हे सोम! **वृष्णः**=सब सुखों के वर्षक **ते**=तेरा **शवः**=बल **वृष्ण्यम्**=सुखवर्षकों में सर्वोत्तम है। **वनम्**=तेरा सम्भजन, तेरा सेवन **वृषा**=हमें शक्तिशाली बनाकर हमारे लिये सुखवर्षक है। **मदः**=तेरे रक्षण से उत्पन्न उल्लास **वृषा**=हमारे लिये सुखद है। (२) **सत्यम्**=सचमुच, हे **वृषन्**=सुखवर्षक सोम! **इत्**=निश्चय से **वृषा असि**=तू सुखवर्षक है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम अपने जीवनों को सुखी करें।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऐश्वर्य द्वारों का उद्घाटन

अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः। वि नो राये दुरो वृधि ॥ ३ ॥

(१) **वृषा**=हे सोम! तू हमारे लिये सुखवर्षक है। **अश्वः न**=शक्तिशाली के समान तू **चक्रदः**=उस प्रभु को पुकारता है, हमें शक्तिशाली बनाता हुआ प्रभु के स्तवन की वृत्तिवाला बनाता है। (२) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **गाः**=ज्ञानेन्द्रियों को **सम्**=हमारे साथ संगत कर। **अर्वतः**=कर्मेन्द्रियों को **सम्**=हमारे साथ संगत कर। सोमरक्षण से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ उत्तम हों। (३) हे सोम! तू **नः**=हमारे **राये**=ऐश्वर्य के लिये **दुरः**=द्वारों को **विवृधि**=खोल डाल। तेरे द्वारा हमारे अन्नमय आदि सब कोश तेजस्विता आदि ऐश्वर्यों से परिपूर्ण बनें।

भावार्थ—सोम हमारा ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को बलवान् बनाता है।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गव्या-अश्वया-वीरया

असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया। शुक्रासो वीरयाशवः ॥ ४ ॥

(१) **प्र वाजिनः**=प्रकृष्ट शक्ति के कारणभूत, **शुक्रासः**=ज्ञानदीप्ति को उत्पन्न करनेवाले **आशवः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **सोमासः**=सोमकण **असृक्षत**=उत्पन्न किये जाते हैं। (२) ये सोमकण **गव्या**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामना से **अश्वया**=उत्तम कर्मेन्द्रियों की कामना से तथा **वीरया**=उत्तम सन्तानों व वीरत्व की कामना से उत्पन्न किये जाते हैं।

भावार्थ—सोम हमें शक्ति, ज्ञानदीप्ति व स्फूर्ति को प्राप्त करानेवाले हैं। इनके रक्षण से उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियों तथा वीर सन्तानों की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोम का अलंकरण व शोधन

शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः। पवन्ते वारे अव्यये ॥ ५ ॥

(१) **ऋतायुभिः**=यज्ञ की कामनावाले पुरुषों से ये सोम **शुम्भमानाः**=अलंक्रियमाण होते हैं। यज्ञों में लगे रहने से, नियमपूर्वक उत्तम कर्मों में व्यापृत रहने से सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है और इसे अलंकृत करनेवाला बनता है। ये सोम **गभस्त्योः**=बाहुवों में **मृज्यमानाः**=शुद्ध किये जाते हैं। अभ्युदय व निःश्रेयस के लिये किये जानेवाले प्रयत्नों में शुद्ध किये जाते हैं। जब हम इन प्रयत्नों में लगे रहते हैं तो विषय-वासनाओं की ओर झुकाव न होने से ये सोम पवित्र बने रहते हैं। (२) ये सोम **वारे**=विषय-वासनाओं का निवारण करनेवाले **अव्यये**=(अ-वि-अय) इधर-उधर न भटकनेवाले पुरुष में **पवन्ते**=प्राप्त होते हैं। सोम उसी में सुरक्षित रहते हैं जो कि अपनी चित्तवृत्ति को विषयों से रोककर इधर-उधर भटकने नहीं देता।

भावार्थ—हम ऋतायु बनकर सोम को शरीर में ही अलंकृत करें। अभ्युदय व निःश्रेयस प्राप्ति की क्रियाओं में लगे हुए इसे शुद्ध बनायें।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'ज्ञान शक्ति व निर्मलता'

ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा। पवन्तामान्तरिक्ष्या ॥ ६ ॥

(१) **ते सोमाः**=वे सोमकण **दाशुषे**=अपना सोमरक्षण के प्रति अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिये, सोमरक्षण को ही ध्येय बना लेनेवाले के लिये, **विश्वा वसु**=सब वसुओं को (धनों को) **पवन्ताम्**=प्राप्त करायें। (२) उन वसुओं को, जो कि **दिव्यानि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक से सम्बद्ध हैं, **पार्थिवा**=शरीर रूप पृथिवीलोक से सम्बद्ध हैं, और **आन्तरिक्ष्या**=जो हृदयरूप अन्तरिक्षलोक से सम्बद्ध हैं। दिव्य वसु 'ज्ञान' है, पार्थिव वसु 'शक्ति' है तथा आन्तरिक्ष्य वसु 'निर्मलता' है। सोमरक्षण से ही इनकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम सोमरक्षण द्वारा 'ज्ञान, शक्ति व निर्मलता' की प्राप्ति करें।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'विश्ववित्' सोम

पवमानस्य विश्ववित्प्र ते सर्गा असृक्षत। सूर्यस्येव न रश्मयः॥ ७॥

(१) हे **विश्ववित्**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले सोम! **पवमानस्य**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले **ते**=तेरी **सर्गाः**=सृज्यमान धारायें **प्र असृक्षत**=प्रकर्षेण उत्पन्न की जाती हैं। (२) ये तेरी धारायें हमारे लिये **न**=(इदानीं) अब इस जीवन में ऐसी हैं, **इव**=जैसे कि **सूर्यस्य रश्मयः**=सूर्य की किरणें हों। सूर्य की किरणें प्रकाश व प्राणशक्ति को प्राप्त कराती हैं। सोम की धारायें भी ज्ञानाग्नि को दीप्त करती हैं, शरीर को सशक्त बनाती हैं।

भावार्थ—सोम धारायें हमारे जीवनों में सूर्य-किरणों की तरह हैं। ये प्रकाश व प्राण को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

केतुं कृण्वन्

केतुं कृण्वन्दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि। समुद्रः सोम पिन्वसे॥ ८॥

(१) हे सोम! तू **दिवः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक के **केतुं कृण्वन्**=ज्ञान-प्रकाश को करता हुआ **विश्वा रूपा अभि अर्षसि**=सब रूपों की ओर गतिवाला होता है। तू हमारे अंग-प्रत्यंग को रूपवान् बनाता है। (२) हे सोम! **समुद्रः**=(स+मुद्) आनन्द के साथ निवास को करता हुआ तू हमारे जीवनों को आनन्दमय बनाता हुआ तू **परि पिन्वसे**=हमारे लिये सब धनों को प्राप्त कराता है। हमारे सभी कोशों को तू तेज आदि ऐश्वर्यों से परिपूर्ण करता है।

भावार्थ—सोम हमें केतु, रूप व ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'प्रकाश व प्राण' का दाता सोम

हिन्वानो वाचमिष्यसि पवमान विधर्मणि। अक्रान्देवो न सूर्यः॥ ९॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! तू **हिन्वानः**=शरीर में प्रेरित किया जाता हुआ **वाचं इष्यसि**=इन ज्ञान की वाणियों को हमारे में प्रेरित करता है। जब सोम शरीर में सुरक्षित होता है तो यह ज्ञानाग्नि को दीप्त करता ही है। (२) **विधर्मणि**=हमारे अंग-प्रत्यंगों के विशिष्ट धारण के निमित्त यह सोम **सूर्यः देवः न**=सूर्यदेव के समान **अक्रान्**=हमारे शरीर में गतिवाला होता है। जैसे सूर्य प्रकाश व प्राण का संचार करता है, उसी प्रकार यह सोम भी मस्तिष्क को प्रकाशमय तथा शरीर को प्राणशक्ति-सम्पन्न करता है।

भावार्थ—सोम हमें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराता है, हमारे में प्रकाश व प्राणशक्ति का

संचार करता है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इन्दुः-चेतनः-प्रियः

इन्दुं पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मती। सृजदश्वं रथीरिव॥ १०॥

(१) **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **पविष्ट**=हमें प्राप्त हो। **चेतनः**=यह हमारे में चेतना को पैदा करनेवाला है। **प्रियः**=प्रीति को, मनःप्रसाद को उत्पन्न करनेवाला है। (२) यह **कवीनां मती**=ज्ञानियों की स्तुति के द्वारा **अश्वम्**=इन्द्रियाश्वों को **सृजत्**=शरीर रथ में युक्त करता है (Put on)। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **रथीः**=एक रथी घोड़े को रथ में जोतता है। सोमरक्षण से मनुष्य सतत क्रियाशील बनता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शरीर में शक्ति को (इन्दु) मस्तिष्क में चेतना को (चेतनः) तथा हृदय में प्रसन्नता को (प्रियः) प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ऋत की योनि में स्थित होना

ऊर्मिर्यस्ते पवित्र आ देवावीः पर्यक्षरत्। सीदन्नृतस्य योनिमा॥ ११॥

(१) हे सोम! **यः**=जो **ते**=तेरी **ऊर्मिः**=तरंग **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **आ देवावीः**=समन्तात् दिव्य गुणों की कामनावाली होती हुई **पर्यक्षरत्**=प्राप्त होती है, वह **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **आसीदन्**=निवासवाली होती है। (२) सुरक्षित सोम हमारे जीवनों में दिव्य गुणों को उत्पन्न करता है और अन्ततः हमें प्रभु को प्राप्त कराता है। ये प्रभु ही ऋत के उत्पत्ति-स्थान हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से दिव्य गुणों को प्राप्त करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मदः-देववीतमः

स नो अर्ष पवित्र आ मदो यो देववीतमः। इन्दविन्द्राय पीतये॥ १२॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **यः**=वह तू **नः**=हमें **पवित्रे**=इस पवित्र हृदय में **आ**=सर्वथा **अर्ष**=प्राप्त हो। वह तू हमें प्राप्त हो, **यः**=जो कि **मदः**=उल्लास को देनेवाला है और **देववीतम्**=अतिशयेन दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला है। (२) हे इन्दो! तू **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को प्राप्त कराने के लिये हो तथा **पीतये**=हमारे रक्षण के लिये हो, हमें रोगों के आक्रमणों से बचानेवाला हो।

भावार्थ—सोम उल्लास को पैदा करनेवाला है, दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पवित्र हृदय व सूक्ष्म बुद्धि

इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः। इन्दो रुचाभि गा इहि॥ १३॥

(१) हे सोम! **मनीषिभिः**=बुद्धिमान् पुरुषों से **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता हुआ तू **धारण**=अपनी धारणशक्ति के द्वारा **इषे**=प्रभु-प्रेरणा की प्राप्ति के लिये **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। हम तेरे रक्षण से पवित्र हृदयवाले होकर प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाले बनें। (२) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली

बनानेवाले सोम! **रुचा**=ज्ञानदीप्ति के हेतु से **गाः अभि**=इन ज्ञान की वाणियों की ओर **इहि**=तू जानेवाला हो। सोमरक्षण से हमारी बुद्धि सूक्ष्म हो, हम ज्ञान की रुचिवाले बनें। हमारा झुकाव इन ज्ञान की वाणियों की ओर हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम पवित्र-हृदय होकर प्रभु की प्रेरणा को सुनें और दीप्त ज्ञानाग्निवाले होकर ज्ञान की वाणियों की ओर झुकें।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वरिवः-ऊर्जम्

पुनानो वरिवस्कृध्यूर्जं जनाय गिर्वणः। हरे सृजान आशिरम्॥ १४॥

(१) **पुनानः**=पवित्र किये जाते हुए सोम! तू **जनाय**=इस शक्ति-विकास में तत्पर मनुष्य के लिये **वरिवः**=धन को **कृधि**=कर। यह तेरा रक्षण करनेवाला व्यक्ति अन्नमय आदि सब कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त करे। हे **गिर्वणः**=इन ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले सोम! तू **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को करनेवाला हो। (२) **हरे**=सब रोगों का हरण करनेवाले सोम! तू **आशिरम्**=समन्तात् वासनाओं के हिंसन को **सृजानः**=उत्पन्न कर। वासनाओं का तू संहार करनेवाला हो।

भावार्थ—पवित्र किया जाता हुआ सोम (वीर्य) हमारे लिये सब कोशों के ऐश्वर्य तथा बल व प्राणशक्ति को करनेवाला हो।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पुनानः-द्युमानः

पुनानो देववीतय इन्द्रस्य याहि निष्कृतम्। द्युतानोवाजिभिर्यतः॥ १५॥

(१) **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू, हे सोम! **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये हो। दिव्य गुणों को प्राप्त कराता हुआ तू **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **निष्कृतम्**=पवित्र किये हुए हृदय को **याहि**=प्राप्त हो। वस्तुतः सोमरक्षण से ही हृदय की पवित्रता सिद्ध होती है और हमारे जीवनों में दिव्य गुणों का विकास होता है। जितेन्द्रियता सोमरक्षण का प्रमुख साधन है। (२) हे सोम! तू **द्युतानः**=ज्ञान का विस्तार करनेवाला है, और **वाजिभिः**=(वज् गतौ) गतिशील पुरुषों से **यतः**=संयत किया जाता है। सदा गति में रहनेवाले क्रियाशील पुरुष ही वासनाओं से बच पाते हैं और सोम का रक्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—रक्षित हुआ-हुआ सोम हमारे जीवन को पवित्र व प्रकाशमय बनाता है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अच्छा समुद्रम्

प्र हिन्वानास इन्दवोऽच्छा समुद्रमाशवः। धिया जूता असृक्षत॥ १६॥

(१) **प्र हिन्वानासः**=प्रकर्षेण शरीर में प्रेरित किये जाते हुए **इन्दवः**=सोमकण **समुद्रं अच्छा**=उस आनन्दमय प्रभु की ओर हमें ले चलनेवाले होते हैं। हम इन सोमकणों का रक्षण करते हैं, तो ये हमें दिव्य गुणों की ओर ले चलते हुए अन्ततः उस आनन्दमय प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) ये **आशवः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले सोम, हमें कार्यों को स्फूर्ति से करानेवाले सोम **धिया**=बुद्धि के हेतु से **जूताः**=शरीर में प्रेरित हुए-हुए **असृक्षत**=उत्पन्न किये जाते हैं। प्रभु ने इन सोमकणों को इसलिए उत्पन्न किया है कि ये शरीर में स्थित हुए-हुए ज्ञानाग्नि

का ईंधन बनें। हमें सूक्ष्म बुद्धि को प्राप्त करानेवाले हों। इस सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा हम उस आनन्दमय प्रभु का दर्शन कर पायें।

भावार्थ—सामान्यतः सोम का रुधिर में ही व्यापन होता है, वासनाओं की अग्नि ही इसे विनष्ट करनेवाली बनती है। प्रभु ने इन्हें शरीर में इसलिए प्रेरित किया है कि हम सूक्ष्म बुद्धि बनकर प्रभु की ओर जानेवाले हों।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मर्मृजानास आयवः

मर्मृजानास आयवो वृथा समुद्रमिन्दवः। अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥ १७ ॥

(१) **मर्मृजानासः**=शुद्ध करते हुए, **आयवः**=(एति) शरीर में क्रियाशीलता को पैदा करते हुए **इन्दवः**=सोमकण **वृथा**=अनायास ही **समुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। शरीर में सुरक्षित सोम हृदय के दृष्टिकोण से हमें पवित्र बनाता है, शरीर के दृष्टिकोण से गतिशील। (२) इस प्रकार हमें पवित्र व गतिशील बनाते हुए ये सोमकण **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **आ (अग्मन्)**=ले जाते हैं। सोमरक्षण से हमारा जीवन ऋतमय बनता है, ऋत का वर्धन करते हुए हम 'ऋत के योनि' प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें हृदय में पवित्र बनाता है, शरीर में गतिशील। ऐसा बनाकर यह हमें प्रभु की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वीरवत् शर्म

परि णो याह्यस्मयुर्विश्वा वसून्योजसा। पाहि नः शर्म वीरवत् ॥ १८ ॥

(१) हे सोम! तू **अस्मयुः**=हमारे हित की कामना करता हुआ **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **नः**=हमारे **विश्वा वसूनि**=सब वसुओं के **परियाहि**=चारों ओर गतिवाला हो। अर्थात् हमारे वसुओं का रक्षण कर। (२) निवास के लिये आवश्यक सब तत्त्वों को हमारे में सुरक्षित करके **नः**=हमारे लिये **वीरवत्**=वीरता से पूर्ण **शर्म**=सुख को **पाहि**=रक्षित कर। हम तेरे द्वारा वीर बनें और सुखी हों।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम सब वसुओं का रक्षण करता है। हमें वीर बनाता है, सुख प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पदं युजान ऋक्वभिः

मिमाति वह्निरेतशः पदं युजान ऋक्वभिः। प्र यत्समुद्र आहितः ॥ १९ ॥

(१) यह **वह्निः**=सब कार्यों का साधक सोम (वह् To carry) **एतशः**=दीप्त होता हुआ, ज्ञानदीप्ति को बढ़ाता हुआ **मिमाति**=हमारे जीवन का निर्माण करता है। यह हमारे **पदम्**=जीवन मार्ग को **ऋक्वभिः**=विज्ञानों के साथ **युजानः**=जोड़ता है, विज्ञान के अनुसार मार्ग पर चलते हुए हम भटकने से बच जाते हैं। (२) न भटकनेवाला यह व्यक्ति आगे और आगे बढ़ता चलता है, **यत्**=जब कि अन्ततः यह **समुद्रे**=उस आनन्दमय प्रभु में **प्र आहितः**=प्रकर्षेण आहित होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे जीवन का निर्माण करता है। यह हमारे मार्ग को विज्ञान से युक्त करता है और अन्ततः हमें प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जहाति अप्रचेतसः

आ यद्योनिं हिरण्ययमाशुर्ऋतस्य सीदति। जहात्यप्रचेतसः॥ २०॥

(१) यह **आशुः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला सोम **यद्**=जब **ऋतस्य**=ऋत के, सत्य के **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय **योनिम्**=उत्पत्ति-स्थान में **आ सीदति**=सर्वथा स्थित होता है तो **अप्रचेतसः**=नासमझों को **जहाति**=यह छोड़ जाता है। (२) समझदार पुरुषों से ज्ञान-यज्ञ आदि में लगे रहने के द्वारा पवित्र किया जाता हुआ यह सोम उन्हें प्रभु को प्राप्त कराता है। नासमझ इस सोम के महत्त्व को न समझने के कारण वासनाओं में इसका विनाश कर बैठते हैं।

भावार्थ—समझदार पुरुष सोमरक्षण से प्रभु को प्राप्त करते हैं। नासमझ शारीरिक भोगों में इसका व्यय कर बैठते हैं।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'प्रचेताः, न कि अविचेताः' बनें

अभि वेना अनूषतेयक्षन्ति प्रचेतसः। मज्जन्त्यविचेतसः॥ २१॥

(१) **वेनाः**=कान्त स्तुतिमय जीवनवाले पुरुष **अभि**=दिन के दोनों ओर प्रातः-सायं **अनूषत**=उस प्रभु का स्तवन करते हैं। यह स्तवन ही उन्हें वासनाओं से बचाता है। (२) **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले समझदार पुरुष **इयक्षन्ति**=यज्ञों को करने की कामनावाले होते हैं। सदा यज्ञों में प्रवृत्त रहकर ये विषयों के ध्यान से दूर रहते हैं। (३) पर **अविचेतसः**=नासमझ लोग न स्तवन करते हैं, नां ही यज्ञों को करने की कामनावाले होते हैं। अतः ये भोगों में फँसकर वीर्य नाश करते हुए संसार सागर में **मज्जन्ति**=डूब जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन व यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति हमें भोगों में फँसने से बचाती है।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मरुत्वते इन्द्राय मधुमत्तमः

इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः। ऋतस्य योनिमासदम्॥ २२॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **मरुत्वते**=प्रशस्त मरुतों (प्राणों) वाले, प्राणसाधना करनेवाले **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पवस्व**=प्राप्त हो। **मधुमत्तमः**=तू इसके जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाला है। (२) और अन्ततः **ऋतस्य योनिम्**=उस ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु को **आसदम्**=प्राप्त होने के लिये होता है। सोमरक्षण से ही हम दीप्त ज्ञानाग्निवाले सूक्ष्म बुद्धि बनकर प्रभु का दर्शन करते हैं।

भावार्थ—प्राणायाम हमें ऊर्ध्व-रेता बनाता है। इसी से हम प्रभु-दर्शन कर पाते हैं। एवं प्राण साधक जितेन्द्रिय पुरुष के लिये यह सोम मधुमत्तम है।

ऋषिः—**काश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कौन सोम को शुद्ध करते हैं?

तं त्वा विप्रा वचोविदः परिष्कृण्वन्ति वेधसः। सं त्वा मृजन्त्यायवः॥ २३॥

(१) हे सोम! **तं त्वा**=उस तुझ को **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **वचोविदः**=स्तुति-वचनों को जाननेवाले **वेधसः**=उत्तम कार्यों के निर्माता **परिष्कृण्वन्ति**=परिष्कृत करते

हैं। ये लोग इस सोम को वासनाओं से मलिन नहीं होने देते। (२) हे सोम! **त्वा**=तुझे **आयवः**=ये गतिशील पुरुष **संमृजन्ति**=सम्यक् शुद्ध करते हैं। गतिशीलता हमें विषय-वासनाओं में फँसने नहीं देती। इस प्रकार सोम शुद्ध बना रहता है।

भावार्थ—'विप्र-वचोविद्-वेधस्-आयु' सोम का रक्षण कर पाते हैं।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कौन सोम का पान करते हैं?

रसं ते मित्रो अर्यमा पिबन्ति वरुणः कवे। पवमानस्य मरुतः॥ २४॥

(१) हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले सोम! **ते रसम्**=तेरे रस को, सार को **मित्रः**=सब के प्रति स्नेहवाला, **अर्यमा**=दान की वृत्तिवाला, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला **पिबन्ति**=पीता है। सोम का रक्षण 'मित्र, अर्यमा व वरुण' करते हैं। (२) हे सोम! **पवमानस्य**=पवित्र करनेवाले तेरे रस को **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष पीते हैं। प्राणसाधना से ही सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है।

भावार्थ—'मित्र, अर्यमा, वरुण व मरुत्' सोम का पान करते हैं।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विपश्चितं सहस्रभर्णसम्

त्वं सोम विपश्चितं पुनानो वाचमिष्यसि। इन्दो सहस्रभर्णसम्॥ २५॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **पुनानः**=पवित्र करता हुआ, हमारे हृदयों को निर्मल करता हुआ **विपश्चितं वाचम्**=हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाली प्रभु की वाणी को **इष्यसि**=हमारे में प्रेरित करता है। तेरे रक्षण से हमें प्रभु की वह वाणी सुन पड़ती है, जो कि हमारे ज्ञान का वर्धन करनेवाली है व हमें मार्ग को दिखानेवाली है। (२) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **सहस्रभर्णसम्**=सहस्रशः भरण करनेवाली वाणी को हमारे में प्रेरित करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से पवित्र हृदय में हम प्रभु की वाणी को सुनते हैं जो कि हमारा मार्गदर्शन करती है और हमारा भरण करती है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मखस्युवम्

उतो सहस्रभर्णसं वाचं सोम मखस्युवम्। पुनान इन्दवा भर॥ २६॥

(१) **उतो**=और हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू हमारे में **वाचं आभर**=उस वाणी का भरण कर, जो कि **सहस्रभर्णसम्**=हजारों प्रकार से हमारा भरण करनेवाली है और **मखस्युवम्**=हमारे साथ यज्ञों को जोड़नेवाली है। (२) **पुनानः**=पवित्र करता हुआ तू हे **इन्दो**=शक्तिशालिन् सोम! **आभर**=हमारा समन्तात् भरण करनेवाला हो। सुरक्षित सोम हमारी सब कमियों को दूर करे।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें प्रभु की उस वाणी को प्राप्त कराता है जो कि हमारे जीवन को यज्ञशील बनाती है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

समुद्र-प्रवेश

पुनान इन्दवेषां पुरुहूत जनानाम्। प्रियः समुद्रमा विश॥ २७॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **पुनानः**=पवित्र करता हुआ तू **एषां जनानाम्**=इन लोगों का **प्रियः**=प्रीति को करनेवाला है। सोम के लिये सभी आराधना करते हैं, यह हमें शक्ति देता है, हमारे लिये प्रीतिकर होता है। (२) हे सोम! तू **समुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु में **आविश**=प्रवेश करनेवाला हो। अन्ततः यह सुरक्षित सोम हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे लिये प्रीतिकर होता है, हमारा प्रभु से मेल कराता है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दविद्युतत्या रुचा

दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा। सोमाः शुक्रा गवाशिरः॥ २८॥

(१) **सोमाः**=शरीर में सुरक्षित सोम **दविद्युतत्या रुचा**=खूब दीप्त होती हुई ज्ञानदीप्ति से युक्त होते हैं। हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हमें ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं। (२) ये सोम **परिष्टोभन्त्या**=सब रोगों व वासनाओं को रोकते हुए (स्तोभ्=(To stop)) **कृपा**=सामर्थ्य से युक्त होते हैं। इनके रक्षण से हृदय पवित्र होता है और शरीर नीरोग बनता है। (३) ये सोम **शुक्राः**=हमें दीप्त व निर्मल बनाते हैं और **गवाशिरः**=(गो आ शृ) सब इन्द्रियों के मलों को समन्तात् शीर्ण करनेवाले हैं। हमारी इन्द्रियों को ये पवित्र व सशक्त बनाते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति का साधन बनता है। यह उस सामर्थ्य को प्राप्त कराता है, जो कि सब रोगों का निवारण करता है। इन्द्रियों के मलों को यह शीर्ण करता है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वाजी वाजं अक्रमीत्

हिन्वानो हेतृभिर्यत आ वाजं वाज्यक्रमीत्। सीदन्तो वनुषो यथा॥ २९॥

(१) **हेतृभिः**=प्राणसाधना द्वारा शरीर में सोम को प्रेरित करनेवालों से **हिन्वानः**=शरीर में प्रेरित किया जाता हुआ, **यतः**=शरीर में संयत किया हुआ **वाजी**=यह शक्ति-सम्पन्न सोम **वाजं आ अक्रमीत्**=संग्राम में गतिवाला होता है। शरीरस्थ रोगकृमियों का संहार करता है और हृदयस्थ वासनाओं को भी विनष्ट करता है। (२) ये सोमकण शरीर में **सीदन्तः**=ऐसे आसीन होते हैं **यथा**=जैसे कि **वनुषः**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले योद्धा। ये रोगकृमि व वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—शरीर में प्रेरित सोम रोगों व वासनाओं से युद्ध करता हुआ उन्हें पराजित करता है।

ऋषिः—**काश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दिवः संजग्मानः

ऋधक्सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवः कविः। पवस्व सूर्यो दृशे॥ ३०॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **ऋधक्**=(ऋध्नुवन् नि० ४।२५) समृद्धि को प्राप्त करता हुआ तू **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिये हो। **दिवः**=ज्ञान का **संजग्मानः**=हमारे साथ संगम (मेल) करनेवाला हो। **कविः**=क्रान्तदर्शी-क्रान्तप्रज्ञ हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाला हो। (२) **सूर्यः**=कर्मों में प्रेरित करनेवाला, शक्ति संचार के द्वारा स्फूर्ति को उत्पन्न करनेवाला तू **दृशे**=ज्ञान के लिये

पवस्व=हमें प्राप्त हो। तूने ही तो हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करना है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, हमें सूक्ष्म बुद्धि बनाता है।

अगले सूक्त में ऋषि 'भृगु वारुणि जमदग्नि' है, ज्ञान से परिपक्व बुद्धिवाला यह 'भृगु' है, सब दोषों का निवारण करनेवाला 'वारुणि' है, दीप्त जाठराग्निवाला और अतएव स्वस्थ यह 'जमदग्नि' है। इस सोम का शंसन इन शब्दों में करता है—

[६५] पञ्चषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उस्त्रि-स्वसा-जामि-महीयु

हिन्वन्ति सूरमुस्रयः स्वसारो जामयस्पतिम्। महामिन्दुं महीयुवः॥ १॥

(१) **उस्त्रयः**=(उस्र=going) गतिशील, **स्व-सारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले, **जामयः**=अपने में सद्गुणों को जन्म देनेवाले लोग **सूरम्**=शक्ति-संचार द्वारा कर्मों में प्रेरित करनेवाले **पतिम्**=रोगकृमि विनाश द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले सोम को **हिन्वन्ति**=शरीर में ही प्रेरित करते हैं। (२) **महीयुवः**=महनीय शरीर को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले लोग **महाम्**=इस महान् **इन्दुम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम को अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। इस सोम के द्वारा ही शरीर शक्तिशाली बनता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाले 'उस्त्रि, स्वसृ, जामि व महीयु' होते हैं, गतिशील, आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले, सद्गुणों का विकास करनेवाले, महनीय शरीर की कामनावाले।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रुचा रुचा

पवमान रुचारुचा देवो देवेभ्यस्परि। विश्वा वसून्या विश॥ २॥

(१) हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **रुचा रुचा**=एक-एक ज्ञानदीप्ति के द्वारा तू **देवः**=प्रकाशमय है। हमारे जीवनों को ज्योतियों से भरनेवाला है। (२) **देवेभ्यः**=इन दिव्य गुणों के द्वारा तू **विश्वा वसूनि**=सब वसुओं को, निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को **परि आविश**=(आवेशय) हमारे में प्रविष्ट करनेवाला हो। दिव्य गुणों के साथ वसुओं का सम्बन्ध है। आसुरभाव वसुओं के विनाशक हैं।

भावार्थ—सोम ज्ञानदीप्तियों से हमारे जीवन को दिव्य बनानेवाला हो।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सुष्टुति-वृष्टि

आ पवमान सुष्टुतिं वृष्टिं देवेभ्यो दुवः। इषे पवस्व संयतम्॥ ३॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! हमें **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति की वृत्ति को **वृष्टिम्**=धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्द की वर्षा को **देवेभ्यः दुवः**=देवों के लिये परिचर्या को तथा **संयतम्**=संयम को **आपवस्व**=प्राप्त करा। जिससे **इषे**=हम प्रभु-प्रेरणा के लिये हों, प्रभु की प्रेरणा को सुन सकें। (२) सोमरक्षण से हम (क) प्रभु-स्तवन की ओर झुकते हैं, (ख) समाधि में आनन्द की वृष्टि का अनुभव करते हैं। (ग) माता, पिता, आचार्य व अतिथि रूप देवों की परिचर्या करते हैं, (घ) संयम की वृत्तिवाले होते हैं। ऐसा होने पर हम सदा प्रभु की प्रेरणा को सुनते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम संयमी जीवनवाले बनकर प्रभु-प्रेरणा को सुनें।

ऋषिः—**भुगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वृषा-द्युमान्

वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे। पवमान स्वाध्यः॥ ४॥

(१) हे **पवमान**=हमें पवित्र करनेवाले सोम! तू **भानुना**=ज्ञान के प्रकाश से **वृषा**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाला **असि**=है। **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय, प्रशस्त ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करानेवाले **त्वा**=तुझ को **हि**=ही **हवामहे**=हम पुकारते हैं। तेरी ही आराधना करते हैं। (२) हे पवमान सोम! तेरी आराधना से हम **स्वाध्यः**=(सुकर्मणः, सुष्ठुध्यानवन्तो वा सा०) उत्तम कर्मोंवाले व उत्तम ध्यानवाले बनते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें उत्तम ज्ञानवाला, उत्तम ध्यानवाला व उत्तम कर्मोंवाला बनाता है।

ऋषिः—**भुगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मन्दमान सोम

आ पवस्व सुवीर्यं मन्दमानः स्वायुध। इहो ष्विन्दवा गहि॥ ५॥

(१) हे **स्वायुध**=उत्तम इन्द्रियों, मन व बुद्धि रूप आयुधोंवाले सोम **मन्दमानः**=हमें आनन्दित करता हुआ तू **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त करा। (२) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **इह उ**=इस शरीर में ही **सु**=उत्तमता से **आगहि**=तू हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को उत्तम बनाता है।

ऋषिः—**भुगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्रुणा सधस्थमश्नुषे

यदद्भिः परिषिच्यसे मृज्यमानो गभस्त्योः। द्रुणा सधस्थमश्नुषे॥ ६॥

(१) हे सोम! **यद्**=जब **अद्भिः**=कर्मों के द्वारा **परिषिच्यसे**=तू शरीर में ही चारों ओर सिक्त होता है, कर्मों में लगे रहने से, वासनाओं का आक्रमण न होने से सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है। यह सोम **गभस्त्योः**=बाहुवों में **मृज्यमानः**=सदा शुद्ध किया जाता है। 'बाहृ प्रयत्ने' यज्ञादि कर्मों को प्रयत्नपूर्वक करने में लगे रहने से ही सोम का शोधन होता है। (२) हे सोम! तू **द्रुणा**=(द्रु गतौ) इस गतिशीलता के द्वारा ही अन्ततः **सधस्थम्**=उस परमात्मा के साथ स्थिति को **अश्नुषे**=प्राप्त करता है। सोम शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ हमें गतिशील बनाता है और प्रभु को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—कर्मों में लगे रहने से हम सोमरक्षण द्वारा अन्ततः प्रभु के साथ स्थित होते हैं।

ऋषिः—**भुगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'व्यश्ववत्'

प्र सोमाय व्यश्ववत्पवमानाय गायत। महे सहस्रचक्षसे॥ ७॥

(१) **सोमाय**=इस सोम के लिये **प्रगायत**=खूब ही गायन करो, जो सोम **पवमानाय**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला है। **महे**=जो सोम हमारे जीवनों को महत्त्वपूर्ण बनानेवाला है। **सहस्रचक्षसे**=जो सोम हमें सहस्रों ज्ञानों को देनेवाला है। सोम के गुणों का गायन करेंगे, इसके गुणों का स्मरण करेंगे, तो इसके रक्षण में प्रवृत्त होंगे। सुरक्षित हुआ-हुआ यह हमें 'पवित्र,

महत्त्वपूर्ण व ज्ञानदृष्टिवाला' बनायेगा। (२) **व्यश्ववत्**=हम सोम का गायन उस प्रकार करें, जैसे कि 'व्यश्व' सोम का गायन करता है। विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष 'व्यश्व' है। सोमरक्षण से ही तो यह 'व्यश्व' बना है। हम भी सोम का रक्षण करें और 'व्यश्व' बनें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'पवित्र, महत्त्वपूर्ण जीवनवाला व ज्ञानदृष्टिवाला' बनाता है।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वर्ण-मधुश्चुत्-हरि

यस्य वर्णं मधुश्चुतं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये॥ ८॥

(१) **यस्य**=जिस सोम के **वर्णम्**=शत्रु-नाशक, **मधुश्चुतम्**=माधुर्य को क्षरित करनेवाले **हरिम्**=दुःखों के हरणकर्ता रस को **अद्रिभिः**=प्रभु की उपासनाओं के द्वारा (adore अद्रि) **हिन्वन्ति**=अपने में प्रेरित करते हैं। उस **इन्दुम्**=सोम को हम **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये और **पीतये**=अपने रक्षण के लिये धारण करें। (२) शरीर में सुरक्षित सोम सब रोगों का वारक है (वर्ण) जीवन को मधुर बनानेवाला है (मधुश्चुतम्) सब कष्टों का हरण करनेवाला है (हरि)। इस सोम के रक्षण से ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं और अपना रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—सोम 'वर्ण-मधुश्चुत्-हरि' है। इसका धारण ही प्रभु प्राप्ति व नीरोगता का साधन है।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोम सखित्व वरण

तस्य ते वाजिनो वयं विश्वा धनानि जिग्युषः। सखित्वमा वृणीमहे॥ ९॥

(१) **तस्य**=उस गत मन्त्र में वर्णित **वाजिनः**=शक्तिशाली **ते**=तेरे **सखित्वम्**=मित्रभाव को **वयम्**=हम **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। इस सोम की मित्रता में ही शक्ति की प्राप्ति है। (२) उस तेरी मित्रता को वरते हैं जो कि **विश्वा धनानि**=सब धनों को **जिग्युषः**=जीतने की कामनावाला है। इस सोम के रक्षण से ही हमें सब अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें शक्ति व सब कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मरुत्वते च मत्सरः

वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः। विश्वा दधान ओजसा॥ १०॥

(१) हे सोम! तू **वृषा**=शक्तिशाली है व सब सुखों का वर्षण करनेवाला है। तू **धारया**=अपनी धारण शक्ति के साथ हमें **पवस्व**=प्राप्त हो। **च**=और तू **मरुत्वते**=प्राणसाधना करनेवाले के लिये **मत्सरः**=आनन्द का संचार करनेवाला है। (२) **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **विश्वा**=सब धनों को **दधानः**=तू हमारे अन्दर धारण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा सुरक्षित सोम आनन्द का संचार करनेवाला है।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

वाजेषु वाजिनम्

तं त्वा धर्तारमोण्योः पवमान स्वर्दृशम्। हिन्वे वाजेषु वाजिनम्॥ ११॥

(१) हे **पवमान**=हमें पवित्र करनेवाले सोम! **ओण्योः**=द्यावापृथिवी के मस्तिष्क व शरीर के **धर्तारम्**=धारण करनेवाले, **स्वर्दृशम्**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति के दिखलानेवाले **तं त्वा**=उस तुझको **हिन्वे**=मैं अपने शरीर में प्रेरित करता हूँ। शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ सोम हमारे जीवन को पवित्र बनाता है, मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल करता है और शरीर को दृढ़ बनाता है। अन्ततः यह हमें उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु का दर्श कराता है। (२) **वाजेषु**=संग्रामों में **वाजिनम्**=शक्तिशाली इस सोम को मैं शरीर में प्रेरित करता हूँ। इसी सोम ने रोगकृमियों से संग्राम करना है। इसी ने मन में उत्पन्न हो जानेवाले काम-क्रोध को विनष्ट करता है। अध्यात्म-संग्राम में यह सोमरक्षण ही हमें विजयी बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम (क) हमें पवित्र करता है, (ख) हमारे मस्तिष्क व शरीर का धारण करता है, (ग) हमें स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु का दर्शन कराता है, (घ) अध्यात्म-संग्रामों में विजयी बनाता है।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अया-विपा (गतिशीलता व स्तुति)

अया चित्तो विपानया हरिः पवस्व धारया। युजं वाजेषु चोदय॥ १२॥

(१) शरीर में सुरक्षित सोम गतिशीलता का कारण बनता है और हमारी चित्तवृत्ति को प्रभु-प्रयण करता है। इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **अया (अय गतौ)**=इस गतिशीलता से तथा **अनया**=इस विपा (विप्=praise) प्रभु के शंसन व स्तवन से **चित्तः**=जाना हुआ तू **हरिः**=सब बुराइयों का हरण करनेवाला होता हुआ **धारया पवस्व**=धारणशक्ति के साथ हमें प्राप्त हो। सोम की प्रसिद्धि यही है कि यह (क) हमें स्फूर्तिवाला बनाता है और (ख) हमें प्रभु के शंसन की वृत्तिवाला बनाता है। (२) हे सोम! तू **युजम्**=अपने इस साथी इन्द्र को, जो निरन्तर सोमपान में प्रवृत्त है, **वाजेषु**=संग्रामों में **चोदय**=प्रेरित कर। एक जितेन्द्रिय पुरुष ही 'इन्द्र' है। यह इन्द्रियों को वश में करके सोम का पान करता है। इस सोम के रक्षण से शक्तिशाली बनकर अध्यात्म-संग्रामों में विजयी बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम (क) गतिशील में, (ख) प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले हों, (ग) तथा अध्यात्म-संग्रामों में विजयी बनें।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'विश्वदर्शत-गातुवित्' सोम

आ न इन्दो महीमिषं पवस्व विश्वदर्शतः। अस्मभ्यं सोम गातुवित्॥ १३॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **विश्वदर्शतः**=हमें सब वस्तुतत्त्वों का ज्ञान देनेवाला है। **नः**=हमारे लिये **महीं इषम्**=महनीय प्रभु-प्रेरणा को **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त करा। तेरे द्वारा निर्मल हृदय होकर हम प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें। (२) **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये, हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **गातुवित्**=मार्ग का ज्ञान देनेवाली है। इसके रक्षण से ही बुद्धि सूक्ष्म विषयों का विवेक कर पाती है और हम निर्मल हृदय होकर हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुन पाते हैं। इस प्रकार जीवन के मार्ग को हम देखते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें सब वस्तुतत्त्वों का ज्ञान देता है और मार्ग का दर्शन कराता है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोम से पूर्ण अतएव स्तुत्य 'शरीर-कलश'

आ कलशा अनूषतेन्दो धाराभिरोजसा। एन्द्रस्य पीतये विश॥ १४॥

(१) हे **इन्दो**=शक्ति को प्राप्त करानेवाले सोम! **कलशाः**=ये 'प्राण' आदि सोलह कलाओं के आधारभूत शरीर **धाराभिः**=धारण-शक्तियों से तथा **ओजसा**=ओजस्विता से **आ अनूषत**=समन्तात्-स्तुति किये जाते हैं यह सब स्तवन वस्तुतः सोम! तेरा ही स्तवन है। यह शरीररूप कलश जब वीर्यरूप सोम से पूरित होता है, तभी इसमें सब अंगों का ठीक प्रकार से धारण होता है और यह ओजस्वितावाला होता है। (२) **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के **पीतये**=रक्षण के लिये **आविश**=तू इसमें प्रवेशवाला हो, अर्थात् तेरा इसके शरीर में ही व्यापन हो।

भावार्थ—यह शरीर-कलश सोम से परिपूर्ण होने पर ही प्रशंसनीय होता है। यह सोम ही इसका रक्षण करता है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अभिमातिहा' सोम

यस्य ते मद्यं रसं तीव्रं दुहन्त्यद्रिभिः। स पवस्वाभिमातिहा॥ १५॥

(१) **यस्य ते**=जिस तेरे **मद्यम्**=आनन्द को देनेवाले **रसम्**=रस को **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा **तीव्रं दुहन्ति**=खूब ही शीघ्रता से अपने में पूरित करते हैं (दुह प्रपूरणे)। **सः**=वह तू **अभिमातिहा**=अभिमान आदि सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला होकर **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। (२) प्रभु की उपासना हमें वासनाओं की ओर झुकने से बचाती है। परिणामतः सोम का शरीर में ही रक्षण होता है। यही 'अद्रियों' से सोम का दोहन है। दुग्ध सोम आनन्द व उल्लास का कारण बनता है। शरीर में सुरक्षित यह सोम सब अभिमान आदि अध्यात्म शत्रुओं का विनाश करता है।

भावार्थ—उपासना से सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम अभिमान आदि शत्रुओं को विनष्ट करता है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

मेधा-पवित्रता-मध्यमार्ग

राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि। अन्तरिक्षेण यातवे॥ १६॥

(१) **राजा**=हमारे जीवन का रञ्जन करनेवाला यह सोम 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्' **मेधाभिः**=मेधा बुद्धियों के साथ **ईयते**=हमारे अन्दर गतिवाला होता है। यह सोम **मनौ अधि**=विचारशील पुरुष में **पवमानः**=पवित्रता को करनेवाला है। सोम 'राजा' है, यही हमारे जीवनों में आनन्द व उल्लास (रञ्जन) का कारण बनता है। सुरक्षित हुआ-हुआ यह हमें मेधाबुद्धि से युक्त करता है। तथा हमारे जीवनों को पवित्र करता है। (२) यह सोम 'अन्तरिक्षेण यातवे'=सदा मध्यमार्ग से चलने के लिये होता है। सोमरक्षण से मनुष्य की प्रवृत्ति, अति को छोड़कर, युक्ताहार-विहारवाली व युक्तचेष्ट बनती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से 'बुद्धि, पवित्रता व मध्यमार्ग से चलने की वृत्ति' प्राप्त होती है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—ककुम्मतीगायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ व ऐश्वर्य

आ न इन्दो शतग्विनं गवां पोषं स्वश्व्यम्। वहा भगत्तिमूतये ॥ १७ ॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **नः**=हमारे लिये **शतग्विनम्**=शतवर्षपर्यन्त जानेवाले (शतंगच्छति) **गवां पोषम्**=ज्ञानेन्द्रियों के पोषण का **आवह**=प्राप्त करा। सोम के रक्षण से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सौ वर्ष तक सशक्त बनी रहें। (२) **स्वश्व्यम्**=(सु अश्व य) उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के समूह को (कर्मों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियों के समूह को) प्राप्त करा। तथा **उतये**=हमारे रक्षण के लिये आवश्यक **भगत्तिम्**=(भग-दत्तिम्) ऐश्वर्य के दान को प्राप्त करा।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शतवर्षपर्यन्त उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियों व रक्षण के लिये आवश्यक ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है। सोमरक्षणवाला पुरुष आवश्यक ऐश्वर्य को कमाता ही है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

बल-वेग-वर्चस् व दिव्यता

आ नः सोम सहो जुवो रूपं न वर्चसे भर। सुष्वाणो देववीतये ॥ १८ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **नः**=हमारे लिये **सहः**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल को, **जुवः**=कर्मों को शीघ्रता से करनेवाले वेग को **न**=और (न=च) **रूपम्**=तेजस्वी रूप को **आभर**=प्राप्त करा। तू हमारे **वर्चसे**=वर्चस् के लिये हो, उस प्राणशक्ति के लिये हो जो रोगकृमियों का विनाश करती है। (२) **सुष्वाणः**=उत्पन्न किया जाता हुआ तू **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये हो। तेरे शरीर में उत्पन्न व धारण करने से हम दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'बल-वेग-वर्चस् व दिव्यता' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

द्युमत्तमः-रोरुवत्-श्येनः

अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्। सीदञ्छ्येनो न योनिमा ॥ १९ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **द्युमत्तमः**=अतिशयेन ज्योतिर्मयी होती हुई तू **द्रोणानि अभि**=इन शरीर-पात्रों की ओर **अर्ष**=गतिवाली हो। तेरा शरीर में ही व्यापन हो। शरीरस्थ होकर तू **रोरुवत्**=खूब ही उस प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाली हो। सोमरक्षण से प्रभु-स्तवन की वृत्ति तो उत्पन्न होती ही है। (२) तू **श्येनः न**=शंसनीय गतिवाले के समान होता हुआ, शुभकर्मों में प्रवृत्त हुआ-हुआ **योनिम्**=अपने उत्पत्ति-स्थान में ही **आसीदन्**=स्थित होनेवाला हो। सोम शरीर में उत्पन्न होता है, यह शरीर में ही स्थित हो। वस्तुतः तभी यह शंसनीय गतिवाला, प्रशस्त कर्मोंवाला होता है। सोमरक्षण करनेवाला पुरुष कभी अशुभ कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता।

भावार्थ—सोम ज्योतिर्मय, स्तुतिमय व शंसनीय गतिवाला है। 'द्युमत्तमः' से ज्ञानकाण्ड का संकेत है, 'रोरुवत्' से उपासना काण्ड का तथा 'श्येनः' से कर्मकाण्ड का। सोम हमारे तीनों काण्डों को प्रशस्त करता है।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सोमपायी 'इन्द्र, वायु, वरुण, मरुत् व विष्णु'

अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः। सोमो अर्षति विष्णवे॥ २०॥

(१) **अप्साः**=(अपां संभक्ता) कर्मों का सेवन करनेवाला **सोमः**=सोम **इन्द्राय अर्षति**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये प्राप्त होता है। **वायवे**=क्रियाशील पुरुष के लिये प्राप्त होता है। जितेन्द्रियता के लिये क्रिया में लगे रहना ही साधन है। (२) **वरुणाय**=यह सोम पापों का निवारण करनेवाले के लिये प्राप्त होता है। कर्मों में लगे रहने से पाप दूर ही रहते हैं। पापों में फँसे और सोम का नाश हुआ। **मरुद्भ्यः**=यह सोम मितरावियों के लिये प्राप्त होता है, कर्मशील मितरावी होता ही है। (३) यह सोम **विष्णवे**=व्यापक मनोवृत्तिवाले के लिये प्राप्त होता है। व्यापकता व उदारता ही सब आसुरभावों को दूर रखती है। आसुरभाव दूर रहते हैं, तभी सोम का रक्षण होता है।

भावार्थ—सोम का पान 'इन्द्र, वायु, वरुण, मरुत् व विष्णु' करते हैं।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक अन्न, सुपथार्जित धन

इषं तोकाय नो दधदस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणम्॥ २१॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **नः तोकाय**=हमारे सन्तानों के लिये भी **इषम्**=उत्तम अन्नों को **दधत्**=धारण करता हुआ तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **सहस्रिणम्**=(स हस्) प्रसन्नता परिपूर्ण धन को **आपवस्व**=प्राप्त करा। (२) शरीर में संयत सोम से समय पर उत्पन्न हुए-हुए सन्तान भी सदा उत्तम भावोंवाले होते हैं, वे उत्तम अन्नों के सेवन की ही कामना करते हैं। इस सोम के रक्षण से हम भी उन ऐश्वर्यों को कमानेवाले बनें, जो कि हमारे आनन्द की वृद्धि का कारण हों।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सात्त्विक विचारोंवाले सन्तानों को जन्म देता है। हम सोमरक्षण से सत्य से धनों को कमाते हुए आनन्द-लाभ करते हैं।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अर्वावति-परावति-शर्यणावति

ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे। ये वादः शर्यणावति॥ २२॥

(१) ये **सोमासः**=जो सोमकण हैं वे **परावति**=सुदूर द्युलोक के निमित्त, इस शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है, उस मस्तिष्क के निमित्त **सुन्विरे**=उत्पन्न किये जाते हैं। सोम इस मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। (२) **ये**=जो सोमकण हैं वे **अर्वावति**=इस समीप के पृथिवीलोक के निमित्त उत्पन्न किये जाते हैं। इन सोमकणों से ही शरीररूप पृथिवीलोक नीरोग होकर दृढ़ बनता है। (३) **ये वा**=या ये जो सोमकण हैं वे **अदः**=उस **शर्यणावति** (शर्यणो अन्तरिक्षदेशः द० १।८४।१४)=जिसमें वासनाओं का हिंसन किया गया है, उस हृदयान्तरिक्ष के निमित्त उत्पन्न किये जाते हैं। इन सोमकणों के द्वारा हृदय में वासनाओं का संहार होकर पवित्रता का सम्पादन होता है।

भावार्थ—सोमकण मस्तिष्क को ज्ञानाग्निदीप्त, शरीर को सुदृढ़ तथा हृदय को वासना संहारवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

क्रियाशील विद्यार्थी व शक्तियों का विस्तार करनेवाला सद्गृहस्थ

य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम्। ये वा जनेषु पञ्चसु ॥ २३ ॥

(१) ये सोमकण वे हैं, **ये**=जो **आर्जीकेषु**=विद्या के अर्जन करनेवाले ब्रह्मचारियों के निमित्त (सुन्विरे)=पैदा किये जाते हैं। इन सोमकणों से ही उनका मस्तिष्क विद्यार्जनक्षम बनता है। उन विद्यार्थियों के निमित्त जो कि **कृत्वसु**=खूद क्रियाशील, आलस्य शून्य हैं। आलस्यशून्यता भी तो इन विद्यार्थियों को सोमरक्षण से ही प्राप्त होती है। (२) ये सोमकण वे हैं **ये**=जो **पस्त्यानां मध्ये**=गृहस्थ लोगों के बीच में पैदा किये जाते हैं। इन सोमकणों के संयत करने से ही ये सद्गृहस्थ बन पाते हैं। **वा**=अथवा ये सोमकण वे हैं **ये**=जो **पञ्चसु जनेषु**=पञ्च यज्ञों को करनेवाले लोगों में अथवा (पचि विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले लोगों के निमित्त पैदा किये जाते हैं। इन सोमकणों के रक्षण से ही वे गृहों को सुन्दर बना पाते हैं और अपनी शक्तियों का विस्तार कर पाते हैं।

भावार्थ—ये सोमकण विद्यार्थी को विद्यार्जनक्षम व क्रियाशील बनाते हैं तथा एक गृहस्थ को सद्गृहस्थ व शक्तियों का विस्तार करनेवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

देवासः-इन्दवः

ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम्। सुवाना देवास इन्दवः ॥ २४ ॥

(१) **ते**=वे गत मन्त्रों में वर्णित सोमकण **नः**=हमारे लिये **दिवः परि**=द्युलोक से, मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र से **वृष्टिम्**=धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्द की वर्षा को **पवन्ताम्**=प्राप्त करायें। सोमकणों का रक्षण समाधि सिद्धि में भी बड़ा सहायक होता है। (२) ये सोमकण **सुवीर्यम्**=उत्पन्न किये जाते हुए ये सोमकण **देवासः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले होते हैं, और **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं।

भावार्थ—सोमकणों का रक्षण हमें समाधि के सर्वोच्च आनन्द को प्राप्त करने के योग्य बनाता है। ये हमारे में दिव्यगुणों को पैदा करते हैं और हमें शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'ज्ञानाग्नि व जाठराग्नि का रक्षक' सोम

पवते हर्यतो हरिर्गृणानो जमदग्निना। हिन्वानो गोरधि त्वचि ॥ २५ ॥

(१) **हर्यतः**=हमारे लिये दिव्यगुणों को प्राप्त कराने की कामना करता हुआ, **हरिः**=यह दुःखों का हरण करनेवाला सोम **गोः**=ज्ञान की वाणियों के **त्वचि अधि** (त्वच् cover)=रक्षण के निमित्त रक्षक आवरण के निमित्त **हिन्वानः**=शरीर में प्रेरित किया जाता है। शरीर में प्रेरित हुआ-हुआ सोम इन ज्ञानों का रक्षण करता है, सोम के अभाव में ज्ञानाग्नि बुझ जाती है। (२) यह सोम **जमदग्निना**=खूब खानेवाली है जाठराग्नि जिसकी ऐसे पुरुष से, दीप्त जाठराग्निवाले पुरुष से **गृणानः**=स्तुति किया जाता हुआ **पवते**=शरीर में गतिवाला होता है। वस्तुतः सोमरक्षण से ही जाठराग्नि दीप्त रहती है। सोम-विनाश जाठराग्नि की मन्दता का कारण बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का रक्षक आवरण बनता है और जाठराग्नि को दीप्त रखता है।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शुक्रासः वयोजुवः

प्र शुक्रासो वयोजुवो हिन्वानासो न सप्तयः। श्रीणाना अप्सु मृञ्जत॥ २६॥

(१) **शुक्रासः**=ज्ञानदीप्ति के कारणभूत **वयोजुवः**=आयुष्य को दीर्घकाल तक प्रेरित करनेवाले सोमकण **श्रीणानाः**=हमारी शक्तियों को परिपक्व करते हुए हैं। ये सोमकण **अप्सु**=कर्मों में **प्रमृञ्जत**=शुद्ध किये जाते हैं, कर्मों को करते रहने पर वासनाओं का आक्रमण नहीं होता। सो कर्मों में लगे रहना ही सोमकणों के शोधन का मार्ग है। (२) ये सोमकण **हिन्वानासः**=प्रेरित किये जाते हुए **सप्तयः न**=घोड़ों के समान हैं। जैसे वे घोड़े हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार ये सोमकण भी हमें प्रभु रूप लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोम-शुद्धि का साधन कर्त्तव्यपरायणता है। शुद्ध सोम हमें ज्ञानदीप्त, दीर्घ जीवनवाला तथा लक्ष्य-स्थान को प्राप्त करनेवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कर्मठ ही सोम का रक्षण करते हैं

तं त्वा सुतेष्वाभुवो हिन्विरे देवतातये। स पवस्वानया रुचा॥ २७॥

(१) हे सोम! **तं त्वा**=उस तुझ को **सुतेषु**=यज्ञों में **आभुवः**=समन्तात् होनेवाले, अर्थात् सदा यज्ञों में लगे रहनेवाले, श्रेष्ठतम कर्मों में प्रवृत्त लोग, **हिन्विरे**=अपने शरीरों में प्रेरित करते हैं। ऐसा होने पर **देवतातये**=तू दिव्यगुणों के विस्तार के लिये होता है। (२) **सः**=वह तू **अनया रुचा**=इस ज्ञानदीप्ति के साथ **पवस्व**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—सोमरक्षण का उपाय 'यज्ञों में लगे रहना' है। रक्षित सोम हमें ज्ञानदीप्ति देता है।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'सुखद-कार्यसाधक-रक्षक-स्पृहणीय' बल

आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे। पान्तमा पुरुस्पृहम्॥ २८॥

(१) हे सोम! हम **अद्य**=आज **ते**=तेरे **दक्षम्**=बल को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। जो बल, **मयोभुवम्**=कल्याण सुख व नीरोगता को उत्पन्न करनेवाला है। **वह्निम्**=जो हमें लक्ष्य-स्थान पर प्राप्त करानेवाला है। (२) तेरे उस बल को हम वरते हैं जो **पान्तम्**=हमारा रक्षण कर रहा है और **पुरुस्पृहम्**=बहुतों से स्पृहणीय, चाहने योग्य है, अर्थात् जो बल पीड़ित करनेवाला होकर अवाञ्छनीय नहीं हो गया है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम 'सुखद-कार्यसाधक-रक्षक-स्पृहणीय' बल को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'मन्द्र-विप्र-मनीषी' सोम

आ मन्द्रमा वरेण्यमा विप्रमा मनीषिणम्। पान्तमा पुरुस्पृहम्॥ २९॥

(१) हे सोम! उस तुझे हम **आ** (वृणीमहे)=वरते हैं, जो तू **मन्द्रम्**=मद व उल्लास को पैदा करनेवाला है उस तुझे **आ**=वरते हैं जो **वरेण्यम्**=वरने के योग्य है और फिर उस तुझे **आ**=वरते हैं, जो **विप्रम्**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला है और **आ**=उस तुझे वरते हैं जो कि **मनीषिणम्**=उत्कृष्ट बुद्धि को प्राप्त करानेवाला है। (२) **पान्तम्**=जो तू रक्षा करनेवाला है

और **आ** (वृणीमहे)=तेरा वरण करते हैं, जो तू **पुरुस्पृहम्**=बहुतों से स्पृहणीय है, चाहने योग्य है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'उल्लास-पूर्णता व बुद्धि' को प्राप्त कराता है। इसीलिए यह वरेण्यम् व स्पृहणीय होता है, यही हमारा रक्षण करता है।

ऋषिः—**भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रयि व सुचेतुना

आ र॒यिमा सु॑चे॒तुन॒मा सु॑क्रतो त॒नूष्वा। पान्त॒मा पु॑रु॒स्पृह॑म्॥ ३०॥

(१) हे **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञान व शक्तिवाले सोम! हम **तनूषु**=अपने शरीरों में तेरे **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आ** (वृणीमहे)=सब प्रकार से वरते हैं। तेरे **सुचेतुनम्**=उत्तम प्रज्ञान को **आ**=वरते हैं। (२) तुझे वरते हैं जो कि **पान्तम्**=हमारा रक्षण करता है और **पुरुस्पृहम्**=बहुतों से स्पृहणीय होता है।

भावार्थ—सोम, शरीर में सुरक्षित होने पर 'रयि व उत्तम चेतना' का कारण बनता है।

इस सोम के रक्षण से शतशः वासनाओं का विखनन (नाश) करनेवाले 'शतं वैखानसाः' अगले सूक्त के ऋषि हैं—

[६६] षट्षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्ज**॥

सखा सखिभ्यः

पव॑स्व विश्वचर्षणे॒ऽभि विश्वा॑नि॒ काव्या॑। सखा॒ सखि॑भ्य॒ ईड्यः॥ १॥

(१) हे **विश्वचर्षणे**=सब वस्तुतत्त्वों का दर्शन करनेवाले सोम! **विश्वानि काव्या**=सब काव्यों, ज्ञानों का अभिलक्ष्य करके **पवस्व**=तू हमें प्राप्त हो। तेरे रक्षण से हमारी ज्ञानाग्नि इस प्रकार दीप्त हो कि हम वस्तुतत्त्व को समझनेवाले बनें। (२) तू **सखिभ्यः सखा**=सखाओं के लिये सखा बनता है, जो तेरे मित्र हों उनका तू मित्र होता है। जो तेरा रक्षण करता है, उसका तू रक्षण करनेवाला होता है। **ईड्यः**=तू स्तुति के योग्य है। सोम वस्तुतत्व अत्यन्त प्रशस्त गुणोंवाला होने से स्तुत्य है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारी बुद्धि सूक्ष्म होकर वस्तुतत्त्वों को वह देखनेवाली होती है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्ज**॥

दो तेज

ताभ्यां॒ विश्व॑स्य राजसि॒ ये प॑वमान॒ धाम॑नी। प्र॒ती॒ची सो॑म त॒स्थतुः॥ २॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले **सोम**=सोम (वीर्यशक्ते) **ये**=जो **धामनी**=तेरे तेज **प्रतीची**=हमारे अन्दर गतिवाले होकर **तस्थतुः**=स्थित होते हैं, शरीर में तेजस्विता के रूप से तथा मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति के रूप से, **ताभ्याम्**=उन तेजों से **विश्वस्य राजसि**=सबका तू दीप्त करनेवाला होता है अथवा सबका तू शासक होता है। शरीर में तेजस्विता के द्वारा तू रोगकृमियों का संहार करके शरीर को अपने शासन में रखता है तथा मस्तिष्क की तेजस्विता से तू काम-क्रोध-लोभ आदि वासनाओं को दग्ध करके मन का शासन करनेवाली मनीषा (बुद्धि) वाला होता है। (२) शरीर में सुरक्षित सोम शरीर को तेजस्विता से युक्त करता है, मस्तिष्क को ज्ञानदीप्ति से। ये दोनों ही तेज एक दूसरे को पूरण करते हुए जीवन में दीप्ति को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—सोम शरीर में सुरक्षित होकर तेजस्विता व ज्ञानदीप्ति से पवित्रता का संचार करता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पवमान कवि

परि धामा॑नि॒ यानि॑ ते॒ त्वं सो॑मासि वि॒श्वतः॑। पव॑मान ऋ॒तुभिः॑ कवे॥ ३॥

(१) **सोम**=हे सोम! **यानि**=जो **ते**=तेरे **धामानि**=तेज **परि**=शरीर में चारों ओर हैं, उनके द्वारा हे सोम! तू **विश्वतः असि**=चारों ओर फैला हुआ है। (२) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले, **कवे**=शान्तप्रज्ञ-बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले सोम! तू **ऋतुभिः**=(ऋ गतौ) नियमित गतियों के द्वारा शरीर में पवित्रता व बुद्धि दीप्ति को करनेवाला है। सोमरक्षक पुरुष जीवन की गतियों में बड़ा व्यवस्थित होता है। यह नियमितता उसे पवित्र व दीप्त बुद्धिवाला बनाती है।

भावार्थ—हम शरीर में व्याप्त सोम के तेजों से पवित्र व दीप्त बुद्धि बनें।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ऊतये

पव॑स्व ज॒नय॒न्निषो॒ऽभि विश्वा॑नि॒ वार्या॑। सखा॒ सखि॑भ्य ऊ॒तये॑॥ ४॥

(१) हे सोम! तू **इषः**=प्रभु प्रेरणाओं को **जनयन्**=हृदय की पवित्रता के द्वारा प्रादुर्भूत करता हुआ **विश्वानि वार्या**=सब वरणीय वस्तुओं को **अभिपवस्व**=आभिमुख्येन प्राप्त करानेवाला हो। सोम ही शरीर के सब कोशों के ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है। (२) तू **सखिभ्यः सखा**=सखाओं के लिये सखा होता है जो सोम का रक्षण करते हैं, सोम उनका रक्षण करता है। यह **ऊतये**=उनको रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाला होता है।

भावार्थ—यह सोम (१) हृदय को पवित्र करके हमें प्रभु प्रेरणाओं को सुनाता है, (२) सब वरणीय तेज आदि धनों को प्राप्त कराता है, (३) हमारा रक्षक है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शुक्रासः अर्चयः

तव॑ शु॒क्रासो॑ अ॒र्चयो॑ दि॒वस्पृ॒ष्ठे वि त॑न्वते। प॒वित्रं॑ सोम॒ धाम॑भिः॥ ५॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **दिवः पृष्ठे**=मस्तिष्क रूप द्युलोक के आधार में **तव**=तेरी **शुक्रासः**=चमकती हुई **अर्चयाः**=ज्ञान की ज्वालायें हैं। तेरे रक्षित होने पर तेरे द्वारा ज्ञानाग्नि की ये ज्वालायें चमक उठती हैं। (२) ये ज्वालायें ही वस्तुतः **धामभिः**=अपने तेजों से **पवित्रम्**=पवित्र हृदय को **वितन्वते**=विस्तृत करती हैं। ज्ञानदीप्त होकर के हृदय को पवित्र करता है 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञान को दीप्त करता है। दीप्त ज्ञान हृदय को पवित्र करता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सप्त सिन्धवः

तवे॒मे स॒प्त सिन्ध॑वः प्र॒शिषं॑ सोम सिस्रते। तुभ्यं॑ धावन्ति धे॒नवः॑॥ ६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **इमे**=ये **सप्त सिन्धवः**=सात ज्ञान के प्रवाह (स्यन्द् प्रस्रवणे), 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों से प्रवाहित होनेवाले ज्ञान-प्रवाह, **तव**

प्रशिषम्=तेरी आज्ञा के अनुसार ही **सिस्रते**=चलते हैं। सोम ही वस्तुतः इन ज्ञान-प्रवाहों का साधन बनता है। सोम के अभाव में तो ये सब सूख जाते हैं। (२) **तुभ्यम्**=तेरे लिये ही **धेनवः**=ये ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली वेदवाणी रूप गौवें **धावन्ति**=गतिवाली होती हैं। सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर ही मनुष्य की ज्ञान की रुचि होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ही सातों ज्ञान-प्रवाहों के प्रसार का कारण बनता है। सोम के सुरक्षित होने पर ही वेदवाणी रूप धेनुएँ हमें प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अक्षिति श्रवः

प्र सोम याहि धारया सुत इन्द्राय मत्सरः। दधानो अक्षिति श्रवः॥ ७॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **धारया**=अपनी धारण शक्ति से हमें **प्रयाहि**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मत्सरः**=आनन्द का संचार करनेवाला होता है। (२) यह सोम **अक्षिति**=न नष्ट होनेवाले **श्रवः**=ज्ञान को **दधानः**=धारण करता है। अथवा उस ज्ञान को हमें प्राप्त कराता है, जो अक्षिति=हमारे न नाश का कारण बनता है।

भावार्थ—सोम हमारे शरीर का धारण करता है, मन में आनन्द का संचार करता है, मस्तिष्क में रक्षक ज्ञान को स्थापित करता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

सप्त जामयः

समु त्वा धीभिरस्वरन्हिन्वतीः सप्त जामयः। विप्रमाजा विवस्वतः॥ ८॥

(१) **सप्त**=सात **जामयः**='दो कान, दो आँखें, दो नासिका-छिद्र व मुख' रूप सात ऋषियों से जन्म लेनेवाली ज्ञान नदियाँ **हिन्वतीः**=हमें कर्मों में प्रेरित करती हुईं **त्वा उ**=हे सोम! तुझे ही **धीभिः**=इन ज्ञानपूर्वक होनेवाले कर्मों से **समु अस्वरन्**=सम्यक् स्तुत करती हैं। इन ज्ञानपूर्वक होनेवाले कर्मों में तेरी ही महिमा दिखती है। (२) हे सोम! ये ज्ञान नदियाँ **विवस्वतः**=इस ज्ञान की किरणोंवाले ज्ञानी पुरुष के **आजा**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्राम में **वि-प्रम्**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले तेरा ही स्तवन करती हैं।

भावार्थ—सोम हमारा विशेष रूप से पूरण करनेवाला है। यही ज्ञान-प्रवाहों को जन्म देनेवाला है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'अव्य जीरु अधिश्वण्' हृदय

मृजन्ति त्वा समग्रुवोऽव्ये जीरावधि ष्वणि। रेभो यदज्यसे वने॥ ९॥

(१) **अग्रुवः**=आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाले लोग **त्वा**=तुझे **संमृजन्ति**=सम्यक् शुद्ध करते हैं। वे यह समझते हैं कि सारी उन्नति इस सोमरक्षण पर ही निर्भर करती है। इस सोम का रक्षण उस हृदय के होने पर करते हैं जो **अव्ये**=(अव रक्षणे) उत्तमता से रक्षित हुआ है, जिसे वासनाओं के आक्रमण से बचाया गया है। जिसमें **जीरौ**=पाप-वासनाओं को जीर्ण किया गया है, जो हृदय पापों का अभिभव करनेवाला हुआ है। तथा **अधिष्वणि**=जो हृदय खूब ही उस प्रभु के स्वनवाला हुआ है, जिसमें प्रभु के नामों का उच्चारण हो रहा है। वस्तुतः हृदय के ऐसा होने पर ही सोम

का रक्षण होता है। (२) इस सोम का रक्षण तभी होता है **यत्**=जबकि **रेभः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ तू **वने**=सम्भजन में **अज्यसे**=गतिवाला होता है। निरन्तर प्रभु की उपासना ही वस्तुतः सोमरक्षण का साधन बनती है।

भावार्थ—सोमरक्षण का मुख्य साधन 'निरन्तर प्रभु-स्तवन व आगे बढ़ने की वृत्ति का होना' है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'रोगनाशक ज्ञानवर्धक' सोमधारायें

पवमानस्य ते कवे॒ वाजि॒न्त्सर्गा॑ असृक्षत। अर्वन्तो॒ न श्र॑व॒स्यवः॑ ॥ १० ॥

(१) हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ, **वाजिन्**=शक्तिशालिन् सोम! **पवमानस्य**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले **ते**=तेरी **सर्गाः**=धारायें **असृक्षत**=उत्पन्न की जाती हैं। इस सोम की धारायें ही हमें दीप्त बुद्धिवाला बनाती हैं, और हमारी शक्ति को बढ़ाती हैं। हृदय को भी यह सोम ही पवित्र करता है। (२) ये सोमधारायें **न**=जैसे **अर्वन्तः**=(अर्व् To kill) सब रोगों व वासनाओं को नष्ट करनेवाली हैं, उसी प्रकार ये **श्रवस्यवः**=हमारे लिये ज्ञान की कामनावाली होती हैं। हमें नीरोग व ज्ञान-सम्पन्न बनाती हैं।

भावार्थ—सोमधारायें रोगनाशक व ज्ञानवर्धक होती हैं।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आनन्दमयकोश की ओर

अच्छा॒ कोशं॑ मधु॒श्चुत॒मसृ॑ग्रं॒ वारे॑ अ॒व्यये॑। अवा॑वशन्त धी॒तयः॑ ॥ ११ ॥

(१) **वारे**=जिससे सब वासनाओं का निवारण किया गया है, **अव्यये**=(अवि अय्) 'जो विविध विषयों की ओर नहीं जा रहा', ऐसे हृदय के होने पर **मधुश्चुतं कोशम् अच्छा**=माधुर्य को टपकानेवाले आनन्दयमकोश का लक्ष्य करके सोम धारायें **असृग्रम्**=उत्पन्न की जाती हैं। हृदय की पवित्रता के होने पर ही सोम का रक्षण होता है, और रक्षित सोम आनन्द वृद्धि का कारण बनता है। (२) **धीतयः**=सोम का अपने अन्दर पान करनेवाले लोग **अवावशन्त**=अपने शोधन के लिये इस सोम की सदा कामना करते हैं। ये शरीर में सुरक्षित रहता है, तभी जीवन सर्वथा पवित्र बना रहता है, शरीर रोगों से मलिन नहीं होता, मन वासनाओं से अपवित्र नहीं होता और बुद्धि भी दीप्त बनी रहती है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम आनन्द वृद्धि का कारण बनता है। इसके रक्षण से जीवन पवित्र होता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अच्छ समुद्रम्

अच्छा॑ समु॒द्रमिन्द॒वोऽस्तं॒ गावो॒ न धे॒नवः॑। अग्म॑न्नृ॒तस्य॒ योनि॒मा ॥ १२ ॥

(१) **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोमकण **समुद्रं अच्छा**=(स+मुद्) उस आनन्दमयकोश की ओर गतिवाले होते हैं, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **धेनवः गावः**=दुधार गौवें **अस्तम्**=गृह की ओर। सोमकण क्या हैं? ये तो दुधार गौवों के समान हैं। वे गौवें दूध से प्रीणित करती हैं, सोमकण ज्ञानदुग्ध से। हमारे जीवन को ज्ञानमय बना करके ये हमें प्रभु की ओर ले चलते हैं। (२) अन्ततः, **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के, जो भी ठीक है, उसके उत्पत्ति-स्थान प्रभु के **आ अग्मन्**=ये सर्वथा

प्राप्त होते हैं। हमारे जीवनों को अधिकाधिक पवित्र व ज्ञान-सम्पन्न करते हुए ये हमें प्रभु को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—सोमकण शरीर में सुरक्षित होकर हमें प्रभु की ओर ले चलते हैं, अन्ततः प्रभु को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्ज** ॥

महान् रण के लिये

प्र ण इन्दो महे रण आपो अर्षन्ति सिन्धवः। यद्गोभिर्वासयिष्यसे॥ १३॥

(१) हे **इन्द्रो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **सिन्धवः आपः**=शरीर में प्रवाहित होनेवाले रेतःकण **नः**=हमें **महे रणे**=इस महत्त्वपूर्ण जीवन-संग्राम के निमित्त **प्र अर्षन्ति**=प्राप्त होते हैं। इन रेतःकणों के द्वारा ही हम इस जीवन-संग्राम में विजयी बनेंगे। (२) हे इन्दो! यह सब तब होता है **यद्**=जब कि **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वासयिष्यसे**=शरीर में बसाया जाता है। जब हम स्वाध्याय में प्रवृत्त होते हैं तो ये सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर शरीर में ही सुरक्षित रहते हैं। उस समय ये रोगकृमियों व लोभ आदि अशुभ-वृत्तियों को भी विनष्ट करके हमें इस महान् जीवन-संग्राम में विजयी बनाते हैं।

भावार्थ—शरीर में स्वाध्याय द्वारा सुरक्षित सोमकण हमें जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्ज** ॥

यज्ञशीलता व प्रभु-मित्रता

अस्य ते सख्ये वयमियक्षन्तस्त्वोतयः। इन्दो सखित्वमुश्मसि॥ १४॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **अस्य**=इस **ते**=तेरी **सख्ये**=मित्रता में, अर्थात् तुझे शरीर में सुरक्षित करते हुए **वयम्**=हम **इयक्षन्तः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों की कामनावाले होते हुए, **त्वा ऊतया**=तेरे द्वारा रक्षणवाले हों। (२) हे **इन्दोः**=सोम! तेरे से रक्षित हुए-हुए हम **सखित्वम्**=प्रभु की मित्रता को **उश्मसि**=चाहते हैं।

भावार्थ—शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर (क) हमारी वृत्ति यज्ञ आदि उत्तम कर्मों की ओर झुकती है, (ख) हमारी प्रभु-मित्रता की कामना होती है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्ज** ॥

ज्ञान-यज्ञ व प्रभु-प्राप्ति

आ पवस्व गविष्टये महे सोम नृचक्षसे। एन्द्रस्य जठरे विश॥ १५॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **महे**=महान् **गविष्टये**(गो इष्टि)=ज्ञान वाणियों के यज्ञ के लिये **आपवस्व**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। तेरे द्वारा ही ज्ञानाग्नि का दीपन होकर यह ज्ञान-यज्ञ चलता है। हे सोम! तू **नृचक्षसे**=उस मनुष्यों के महान् द्रष्टा प्रभु की प्राप्ति के लिये हमें प्राप्त हो। (२) तू **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के **जठरे**=जठर में, शरीर में, **आविश**=समन्तात् प्रवेशवाला हो जितेन्द्रियता से ही सोम शरीर में व्याप्त होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञान-यज्ञों द्वारा प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सदा विजयी

महाँ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द ओजिष्ठः। युध्वा सञ्छश्वज्जिगेथ ॥ १६ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू महान् **असि**=आदरणीय है। **ज्येष्ठः**=प्रशस्यतम है। हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **उग्राणाम्**=शत्रुओं के लिये उग्र (भयंकर) वस्तुओं में **ओजिष्ठः**= ओजस्वितम है। (२) **युध्वा सन्**=शरीर में रोगों व वासनाओं से युद्ध करनेवाला होता हुआ तू **अश्वत्**=सदा **जिगेथ**=विजयी होता है।

भावार्थ—सोम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रशस्यतम वस्तु है। यह हमें युद्ध में सदा विजयी बनाता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ओजीयान्-शूरतर-मंहीयान्

य उग्रेभ्यश्चिदोजीयाञ्छूरेभ्यश्चिच्छूरतरः। भूरिदाभ्यश्चिन्मंहीयान् ॥ १७ ॥

(१) **यः**=जो सोम **उग्रेभ्यः**=शत्रुओं के विध्वंसक बलवालों से **चित्**=भी **ओजीयान्**=अधिक ओजस्वी है और **चित्**=निश्चय से **शूरेभ्यः शूरतरः**=सर्वाधिक शूर है, हिंसक है। सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही शरीर के अन्दर आ जानेवाले रोगकृमियों का संहारक है तथा मन को ओजस्वी बनाता है। (२) शरीर व मन दोनों का स्वस्थ बनाकर यह सोम **चित्**=निश्चय से **भूरि-दाभ्यः**=खूब देनेवालों से भी **मंहीयान्**=अधिक देनेवाला है। यह सोम दातृतम है। शरीर की नीरोगता को तथा मन की निर्मलता को देकर यह बुद्धि की तीव्रता को देनेवाला है।

भावार्थ—यह सोम 'ओजस्वी-शूर व सब उत्तम वसुओं का दाता' है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सख्याय-युज्याय

त्वं सोम सूर एषस्तोकस्य साता तनूनाम्। वृणीमहे सख्याय वृणीमहे युज्याय ॥ १८ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **सूरः**=उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाला है (सू प्रेरणे), **इषः आसाता**=प्रेरणाओं को प्राप्त करानेवाला है, हृदय को निर्मल करके प्रभु प्रेरणाओं को तू ही प्राप्त कराता है। **तोकस्य साता**=सब वृद्धियों का तू दाता है, **तनूनाम्**=शरीरों का तू देनेवाला है। शरीरों को यह सोम ही तो नीरोग करता है। (२) तुझे हम **सख्याय**=उस प्रभु से मित्रता के लिये **वृणीमहे**=वरते हैं। **युज्याय**=उस प्रभु से सदा मेल के लिये **वृणीमहे**=वरते हैं। तेरे रक्षण से ही हम उस प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—यह सोम शरीरों को नीरोगता बनाता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवित्र प्रभु

अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ १९ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप ही **आयूंषि**=हमारे जीवनों को **पवसे**=पवित्र करते हैं। **च**=और आप **नः**=हमारे लिये **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को तथा **इषम्**=प्रेरणा को **आसुव**=प्राप्त करायें आप से कर्त्तव्य की प्रेरणा व बल को प्राप्त करके हम मार्ग पर आगे बढ़ें। (२) आप सब **दुच्छुनाम्**=दुर्गतियों व दुःखों को **आरे**=दूर **बाधस्व**=बाधित करिये, पीड़ित करिये। हमारे से सब

दुःख व दुराचरण दूर हों।

भावार्थ—प्रभु का उपासन ही हमारे जीवनों से सब दुर्गुणों को दूर करता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पांचजन्य प्रभु

अग्निरृषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्॥ २०॥

(१) **अग्निः**=वे प्रभु अग्रणी हैं, हमें अग्र-स्थान पर प्राप्त करानेवाले हैं। **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा हैं। **पवमानः**=हमें पवित्र करनेवाले हैं। **पाञ्चजन्यः**=पञ्चजन मात्र के लिये हितकर हैं। 'पञ्चजन' मनुष्य को कहते हैं जो 'पाँचो ज्ञानेन्द्रियों व पाँचों कर्मेन्द्रियों' की शक्ति का विकास करता है। वे प्रभु **पुरोहितः**=हमारे सामने आदर्श के रूप से स्थापित हैं, प्रभु में प्रत्येक गुण निरपेक्ष रूप में, निरतिशय रूप में विद्यमान है। उस-उस गुण के अंश को प्राप्त करने का उपासक ने यत्न करना है। (२) **तम्**=उस **महागयम्**=खूब ही गायन के योग्य प्रभु को **ईमहे**=हम उन सब गुणों की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का गायन करते हुए हम भी 'अग्नि, ऋषि व पवमान' बनकर 'पांचजन्य' बनने के लिये यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वर्चस्-सुवीर्य-रयि

अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषम्॥ २१॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **स्वपाः**=उत्तम कर्मोंवाले आप **अस्मे**=हमारे लिये **वर्चः**=तेज व **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **पवस्व**=प्राप्त कराइये। (२) आप **मयि**=मेरे में **पोषं रयिम्**=पालक धन को **दधत्**=धारण करिये। पालन-पोषण के पर्याप्त धन की मुझे कभी कमी न हो।

भावार्थ—हमें प्रभु कृपा से 'वर्चस्-सुवीर्य व पोषण के लिये पर्याप्त धन' की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य के समान

पवमानो अति स्रिधोऽभ्यर्षति सुष्टुतिम्। सूरो न विश्वदर्शतः॥ २२॥

(१) **पवमानः**=यह पवित्र करनेवाला सोम **अति स्रिधः**=सब हिंसक तत्त्वों से हमें ऊपर उठाता है, यह **सुष्टुतिं अभि अर्षति**=उत्तम स्तुति की ओर चलता है। हमें प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनाता है। (२) यह सोम **सूरः न**=सूर्य के समान है, सूर्य की तरह हमारे जीवन में से अन्धकार को दूर करता है। **विश्वदर्शतः**=सम्पूर्ण संसार को यह हमें दिखानेवाला है। सम्पूर्ण ज्ञानों को प्राप्त करानेवाला है।

भावार्थ—सोम हमें पवित्र करता है, हिंसक तत्त्वों का शिकार नहीं होने देता, प्रभु-स्तवन की ओर झुकाता है, हमारे जीवन में सूर्य के समान अन्धकार को दूर करके प्रकाश को करता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्दुः अत्यो विचक्षणः

स मर्मृजान आयुभिः प्रयस्वान्प्रयसे हितः। इन्दुरत्यो विचक्षणः॥ २३॥

(१) **सः**=वह **आयुभिः**=गतिशील पुरुषों से **मर्मृजानः**=शुद्ध किया जाता हुआ **इन्दुः**=हमें

शक्तिशाली बनानेवाला सोम **प्रयस्वान्**=सात्त्विक अन्नवाला होता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम ही **प्रयसे**=प्रकृष्ट उद्योग के लिये **हितः**=हितकर होता है। यह सात्त्विक अन्न से उत्पन्न सोम हमें सात्त्विक कार्यों में प्रवृत्त करता है। (२) **अत्यः**=यह सोम सततगामी अश्व की तरह होता है। हमें शक्तिशाली बनाकर निरन्तर क्रिया में प्रवृत्त करता है। **विचक्षणः**=यह विशिष्ट द्रष्टा होता है। हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके यह हमें वस्तुतत्त्वों का दर्शन कराता है।

भावार्थ—गतिशील बने रहकर हम सोम को पवित्र कर पाते हैं। यह हमें प्रकृष्ट उद्योग में प्रवृत्त करता है। हमें शक्तिशाली, गतिशील व तत्त्वद्रष्टा बनाता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'ऋतमय-ज्योतिष्मान्' जीवन

पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्। कृष्णा तमांसि जङ्घनत्॥ २४॥

(१) **पवमानः**=यह पवित्र करनेवाला सोम **बृहत् ऋतम्**=वृद्धि के कारणभूत ऋत को, सब कार्यों में नियमितता को तथा **शुक्रं ज्योतिः**=देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति को **अजीजनत्**=उत्पन्न करता है। सोम रक्षण के द्वारा हमारा जीवन ऋतमय व ज्योतिष्मान् बनता है। (२) यह सोम **कृष्णा तमांसि**=काले अन्धकारों को, घने अज्ञानान्धकारों को **जङ्घनत्**=विनष्ट करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से जीवन 'ऋतमय ज्योतिष्मान्' बनता है। अज्ञानान्धकार नष्ट होता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'चन्द्र-जीर-अजिरशोचिष' धारायें

पवमानस्य जङ्घ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत। जीरा अजिरशोचिषः॥ २५॥

(१) **पवमानस्य**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले **जङ्घ्नतः**=अज्ञानान्धकारों नष्ट करते हुए **हरेः**=सब बुराइयों का हरण करनेवाले सोम की **चन्द्राः**=आह्लाद को पैदा करनेवाली धारायें **असृक्षत**=उत्पन्न की जाती हैं। (२) सोम की ये धारायें **जीराः**=(जॄ वयोहानौ) सब रोगकृमियों व वासनाओं को जीर्ण करनेवाली हैं तथा **अजिरशोचिषः**=खूब गतिशील दीप्तिवाली हैं। अर्थात् ये ज्ञानदीप्ति को दीप्त करती हैं और हमें खूब क्रियाशील बनाती हैं।

भावार्थ—सोम की धारायें चन्द्र, जीर व अजिरशोचिष् हैं।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'जीवन की शुभ्रता का साधक' सोम

पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः। हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः॥ २६॥

(१) **पवमानः**=यह पवित्र करनेवाला सोम **रथीतमः**=अतिशयेन उत्तम शरीर-रथवाला है। यह शरीररथ को निर्दोष दृढ़ व प्रकाशमय बनाता है। यह **शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः**=निर्मल गुणों व दीप्तियों से खूब ही निर्मल व दीप्तिवाला है। (२) **हरिः**=सब दुःखों का हरण करनेवाला है। **चन्द्रः**=आह्लाद को पैदा करनेवाला है। तथा **मरुद्गणः**=प्राणों के गणवाला है। सोमरक्षण से ही तो सम्पूर्ण प्राणशक्ति की वृद्धि होती है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन को शुभ्र बनाता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वाजसातम' सोम

पवमानो व्यश्नवद्रश्मिभिर्वाजसातमः। दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम्॥ २७॥

(१) **पवमानः**=यह सोम हमारे जीवन को पवित्र करनेवाला है। यह **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से इसे **व्यश्नवत्**=व्याप्त करता है। **वाजसातमः**=अधिक से अधिक शक्ति को देनेवाला है। (२) यह सोम **स्तोत्रे**=प्रभु स्तवन करनेवाले के लिये **सुवीर्यं दधत्**=उत्तम शक्ति को धारण करता है।

भावार्थ—सोम जीवन को शक्ति व ज्ञानरश्मियों से व्याप्त करता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पुनानः

प्र सुवान इन्दुरक्षाः पवित्रमत्यव्ययम्। पुनान इन्दुरिन्द्रमा॥ २८॥

(१) **सुवानः**=शरीर में उत्पन्न किया जाता हुआ यह **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **पवित्रम्**=वासनाओं से शून्य **अव्ययम्**=(अ वि अय) विविध विषय-वासनाओं की ओर न जानेवाले हृदय को **अति अक्षाः**=अतिशयेन प्राप्त होता है, पवित्र हृदयवाले पुरुष को लक्ष्य करके क्षरित होता है। (२) **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **इन्दुः**=यह सोम **इन्द्रं आ**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर आनेवाला होता है। हमें प्रभु की ओर ले चलता है। इसी भाव को बाईसवें मन्त्र में 'अभ्यर्षति सुष्टुतिम्' शब्दों से कहा गया है।

भावार्थ—हृदय के पवित्र होने पर सोम सुरक्षित होता है। यह हमें प्रभु की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गवां त्वचि अधिक्रीडति

एष सोमो अधि त्वचि गवां क्रीळत्यद्रिभिः। इन्द्रं मदाय जोहुवत्॥ २९॥

(१) **एषः**=यह **सोमः**=सोम (वीर्य) **गवाम्**=ज्ञान की वाणियों के **अधि**=आधिक्येन **त्वचि**=सम्पर्क में **अद्रिभिः**=(adore) उपासनाओं के द्वारा **क्रीडति**=क्रीडावाला होता है। प्रभु की उपासना से ही इस सोम का शरीर में रक्षण होता है। शरीर में रक्षित सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हमें ज्ञान की वाणियों के सम्पर्क में सदा रखता है। (२) यह सोम **मदाय**=आनन्द की प्राप्ति के लिये **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जोहुवत्**=पुकारता है। सोमरक्षक पुरुष सदा प्रभु के स्तवन की वृत्तिवाला बनता है। इसी में वह आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम ज्ञान व उपासना की रुचिवाले बनते हैं। यह सोमी पुरुष प्रभु को पुकारता है और आनन्द का अनुभव करता है।

ऋषिः—**शतं वैखानसाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्युम्नवत् पयः

यस्य ते द्युम्नवत्पयः पवमानाभृतं दिवः। तेन नो मृळ जीवसे॥ ३०॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **यस्य**=जिस **ते**=तेरा **द्युम्नवत् पयः**=ज्योतिर्मय ज्ञानदुग्ध **दिवाः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से **आभृतम्**=समन्तात् प्राप्त कराया जाता है। **तेन**=उस ज्ञानदुग्ध से **नः**=हमें **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति के लिये **मृड**=सुखी कर। (२) सोमरक्षण से मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। इसी से जीवन सुखी होता है। ज्ञान ही जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। यह ज्ञान सोमरक्षण से प्राप्य है।

भावार्थ—सोम शरीर में सुरक्षित होता हुआ उस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त कराता है जो हमारे

जीवनों को सुखी करती है।

अगला सूक्त भी भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा सोमस्तवन का प्रतिपादन कर रहा है। प्रारम्भ में शक्ति को अपने में भरनेवाले 'भरद्वाज' कहते हैं—

[६७] सप्तषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'दारयु-मन्द्र-ओजिष्ठ' सोम

त्वं सोमासि धारयुर्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे। पवस्व मंहयद्रयिः॥ १॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **धारयुः असि**=धारण करनेवाला है। **मन्द्रः**=हमारे जीवन को उल्लासमय बनानेवाला है। **ओजिष्ठः**=ओजस्वितम है। सम्पूर्ण ओज का मूल तू ही तो है। (२) **अध्वरे**=इस जीव-यज्ञ में **मंहयद्रयिः**=ऐश्वर्य को देनेवाला होता हुआ तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। जीवन-यज्ञ की उत्तम पूर्ति के लिये सब कोशों की सम्पत्ति को यह सोम ही प्राप्त कराता है। 'तेज-वीर्य-बल व ओज मन्यु तथा सहस्' को प्राप्त कराके यह हमारे जीवन-यज्ञ को सफल करता है।

भावार्थ—सोम ही हमारा धारण करता है। सब कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त कराके हमारे जीवन-यज्ञ को सफल करता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'नृमादन-मत्सरिन्तम' सोम

त्वं सुतो नृमादनो दधन्वान्मत्सरिन्तमः। इन्द्राय सूरिरन्धसा॥ २॥

(१) हे सोम! **त्वम्**=तू **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **नृमादनः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों को आनन्दित करनेवाला है। **दधन्वान्**=धारण करता हुआ तू **मत्सरिन्तमः**=अतिशयेन उल्लास का संचार करनेवाला है। (२) हे सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **अन्धसा**=सात्त्विक अन्न के द्वारा **सूरिः**=उत्कृष्ठ प्रेरणा को देनेवाला होता है। सात्त्विक अन्न के प्रयोग से उत्पन्न सोम शरीर में सुरक्षित होकर हमें उत्कृष्ट मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करता है। सोमी पुरुष का झुकाव निम्न मार्ग की ओर जाने का नहीं रहता।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारा धारण करता हुआ हमारे जीवन को उल्लासमय बनाता है। सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम हमें सात्त्विकता की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्युमान् शुष्म

त्वं सुष्वाणो अद्रिभिरभ्यर्ष कनिक्रदत्। द्युमन्तं शुष्ममुत्तमम्॥ ३॥

(१) हे सोम! **अद्रिभिः**=(adore) प्रभु के उपासकों से **सुष्वाणः**=उत्पन्न किया जाता हुआ **त्वम्**=तू **कनिक्रदत्**=प्रभु का आह्वान करता हुआ, हमारी वृत्ति को और अधिक प्रभु-प्रवण करता हुआ, **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय **उत्तमं शुष्मम्**=उत्तम बल को **अभ्यर्ष**=हमें प्राप्त करा। (२) प्रभु की उपासना से, विषय-वासनाओं से बचकर, हम सोम का रक्षण करते हैं। यह सोम हमें और अधिक प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनाता है। उस समय हमें उत्कृष्ट ज्ञान की ज्योति से युक्त बल की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञान व बल को प्राप्त कराता है।

इस ज्योतिर्मय बल को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'कश्यप' है, ज्ञानी है (पश्यकः)। यह सोम-स्तवन करता हुआ कहता है—

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

हरिः वाजम् अचिक्रदत्

इन्दुर्हिन्वानो अर्षति तिरो वाराण्यव्यया। हरिर्वाजमचिक्रदत्॥ ४॥

(१) **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **हिन्वानः**=शरीर में प्रेरित किया जाता हुआ **तिरः**=तिरोहित रूप में, छिपे रूप में, **अर्षति**=हमें प्राप्त होता है। रुधिर के अन्दर व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम दिखता तो न ही, पर रुधिर में सर्वत्र होता है। इस प्रकार यह उन्हीं **वाराणि**=इन्द्रिय द्वारों को (वाराणिः द्वाराणि) प्राप्त होता है, जो कि **अव्यया**=(अ वि अय्) विविध विषयों की ओर जानेवाले नहीं हैं। जिस समय हम इन्द्रिय द्वारों को विषयों से रोकते हैं, इन्द्रियों को विषयों में नहीं जाने देते, तभी ये सोमकण शरीर में तिरोहित होकर रहते हैं। (२) **हरिः**=यह सब अशुभों का हरण करनेवाला सोम **वाजं अचिक्रदत्**=शक्ति को पुकारता है, अर्थात् जीवन का लक्ष्य शक्ति-सम्पादन को बना देता है। इस सुरक्षित सोम से शक्ति-सम्पन्न होकर हम सब बुराइयों से ऊपर उठते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को विषयों में भटकने से बचायेंगे तो सोम हमारे अन्दर तिरोहित रूप में निवास करेगा। यह हमें शक्ति-सम्पन्न बनाकर सब कष्टों से बचायेगा।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

गोमान् वाज

इन्दो व्यव्यमर्षसि वि श्रवांसि वि सौभगा। वि वाजान्त्सोम गोमतः॥ ५॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **अव्यम्**=(अव्+य) विषय-वासनाओं के आक्रमण से अपना रक्षण करनेवालों में उत्तम पुरुष को **वि अर्षसि**=विशेष रूप से प्राप्त होता है। इसे प्राप्त होकर तू **श्रवांसि**=ज्ञानों को **वि (अर्षसि)**=प्राप्त कराता है। **सौभगा**=सब सौभाग्यों को **वि**=विशेषरूप से प्राप्त कराता है। (२) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले **वाजान्**=बलों को **वि**=प्राप्त कराता है। तेरे रक्षण से इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं, और शक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'ज्ञान, सौभाग्य, शक्ति व प्रशस्तेन्द्रियों' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उस रयि को

आ न इन्दो शतग्विनं रयिं गोमन्तमश्विनम्। भरा सोम सहस्रिणम्॥ ६॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले **सोम**=वीर्यशक्ते! **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=उस ऐश्वर्य को **आभर**=सर्वथा प्राप्त करा। जो **शतग्विनम्**=(शतं गच्छति) शतवर्षपर्यन्त ठीक प्रकार से चलता है। **गोमन्तम्**=जो प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है तथा **अश्विनम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है। हम सोम के द्वारा उस ऐश्वर्य को प्राप्त करें जो (क) हमारे शतवर्षगामी जीवन को प्राप्त कराये, (ख) ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाये (ग) तथा कर्मेन्द्रियों को सशक्त करे। (२) यह ऐश्वर्य **सहस्रिणम्**=हमें 'स+हस्' सदा आमोद-प्रमोद से युक्त रखे। इससे हमारा जीवन उल्लासमय बना रहे।

भावार्थ—सोमरक्षण 'दीर्घ-जीवन, उत्तम इन्द्रियों व उल्लास' का कारण बने।

सोमरक्षण से उत्तम इन्द्रियोंवाला यह 'गो-तम' बनता है। यह सोम-स्तवन करता हुआ कहता है—

ऋषिः—**गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

पवमानास इन्दवः

पव॑मानास॒ इन्द॑वस्ति॒रः प॒वित्र॑मा॒शवः॑। इन्द्रं॒ यामे॑भिराशत॥ ७॥

(१) **पवमानासः**=पवित्र करनेवाले ये **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोमकण **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले व्यक्ति को **तिरः**=तिरोहित रूप में **आशवः**=व्याप्त करनेवाले होते हैं। इस पुरुष के रुधिर में ये इस प्रकार व्याप्त होते हैं जैसे कि 'तिलेषु तैलं, दध्नीव सर्पिः'। (२) ये सोमकण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **यामेभिः**=गतियों के द्वारा **आशत**=प्राप्त होते हैं। सोमकणों को शरीर में ही व्याप्त रखने का सर्वोत्तम साधन यही है कि हम सदा क्रियाशील बने रहें।

भावार्थ—सोमकण हमें पवित्र व शक्तिशाली बनाते हैं। क्रियाशीलता द्वारा हम इन्हें अपने में ही व्याप्त करें।

ऋषिः—**गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'ककुह' सोम

क॒कु॒हः सो॒म्यो रस॒ इन्दु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्व्यः। आ॒युः प॑वत आ॒यवे॑॥ ८॥

(१) **सोम्यः**=सोम सम्बन्धी **रसः**=रस **ककुहः**=सर्वश्रेष्ठ है, सर्वोत्तम रस यही है, यही अपने रक्षक को उन्नति के शिखर पर पहुँचाता है। **इन्दुः**=यह शक्तिशाली बनाता है। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पूर्व्यः**=यह पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम है। (११) **आयुः**=यह जीवन है। **आयवे**=गतिशील पुरुष के लिये **पवते**=प्राप्त होता है। गतिशील पुरुष ही इसका अपने में रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—यह सोम 'इन्द्र, पूर्व्य व आयु' है। यही हमें सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाता है।

ऋषिः—**गोतमः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

उस्त्रयः

हि॒न्वन्ति॒ सूर॑मु॒स्रयः॒ पव॑मानं मधु॒श्चुत॑म्। अ॒भि गि॒रा सम॑स्वरन्॥ ९॥

(१) **उस्त्रयः**=(उस्रि=going) गतिशील पुरुष, गतमन्त्र के 'आयवः' **सूरम्**=इन कर्मों में प्रेरित करनेवाले सोम को **हिन्वन्ति**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। **पवमानम्**=यह सोम पवित्र करनेवाला है, **मधुश्चुतम्**=शरीर में माधुर्य को टपकानेवाला है, यही जीवन को मधुर बनाता है। (२) इस सोम के रक्षण के उद्देश्य से ही प्रशस्तेन्द्रियोंवाले लोग (गोतमाः) **गिरा**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **अभि**=दिन के दोनों ओर प्रातः-सायं, **सं अस्वरन्**=सम्यक् उस प्रभु का स्तवन करते हैं। यह प्रभु-स्तवन ही उन्हें वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के योग्य करता है।

भावार्थ—'गतिशीलता व प्रभु की उपासना' हमें सोमरक्षण में समर्थ करती है।

इस सोमरक्षण से सब कष्टों से ऊपर उठकर ये 'अत्रि' बनते हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों से ऊपर। ये सोम स्तवन करते हुए कहते हैं—

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—पवमानः सोमः पूषा वा ॥ छन्दः—यवमध्यागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सविता-पूषा

अ॒वि॒ता नो॑ अ॒जाश्वः॑ पू॒षा याम॑नियामनि । आ भ॑क्षत्क॒न्या॑सु नः ॥ १० ॥

(१) यह **अजाश्वः**=इन्द्रिय रूप अश्वों को गतिशील व उत्क्षिप्त (नष्ट) मतवाला (अज गतिक्षेपणयो) बनाता हुआ सोम **नः**=हमारा **अविता**=रक्षक हो। इन्द्रियों को पवित्र बनाकर यह हमारा रक्षण करे। यह **यामनि यामनि**=जीवन की प्रत्येक मंजिल में **पूषा**=हमारा पोषण करता है। ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ व संन्यास रूप सभी प्रमाणों में यह हमारा पोषक होता है। (२) यह सोम **नः**=हमें **कन्यासु**=(कन् दीप्तौ) सब दीप्तियों में 'शरीर को तेजस्विता, मन की निर्मलता व बुद्धि की दीप्ति में **आभक्षत्**=भागी बनाये (आभजताम् सा०)।

भावार्थ—सोम (क) इन्द्रियाश्वों को गतिशील निर्मल बनाकर हमारा रक्षण करता है, (ख) सब जीवन के प्रमाणों में पोषक होता है, (ग) सब दीप्तियों में भागी बनाता है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—पवमानः सोमः पूषा वा ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आभक्षत् कन्यासु नः

अ॒यं सोमः॑ कप॒र्दिने॑ घृ॒तं न प॑वते॒ मधु॑ । आ भ॑क्षत्क॒न्या॑सु नः ॥ ११ ॥

(१) 'कपर्दी' शब्द का अर्थ है 'कस्य परा (पूरणेन) दायति'=मस्तिष्क के पूरण से जो अपना शोधन करता है, मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करता हुआ जीवन को जो शुद्ध बनाता है, उस **कपर्दिने**=कपर्दी के लिये **अयं सोमः**=यह सोम **घृतं न**=घृत के समान **मधु पवते**=मधु को भी प्राप्त कराता है। सुरक्षित सोम ज्ञानदीप्ति (घृ दीप्तौ) का कारण बनता है और जीवन में माधुर्य को भर देता है। (२) इस प्रकार यह सोम **नः**=हमें **कन्यासु**=सब दीप्तियों में **आभक्षत्**=भागी बनाये।

भावार्थ—ज्ञान को ही अपना ध्येय बना लेने पर हम सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह हमें ज्ञान दीप्ति व माधुर्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—पवमानः सोमः पूषा वा ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दीप्ति व पवित्रता

अ॒यं त॑ आघृणे सु॒तो घृ॒तं न प॑वते॒ शुचि॑ । आ भ॑क्षत्क॒न्या॑सु नः ॥ १२ ॥

(१) हे **आघृणे**=ज्ञानदीप्ति से सर्वतः दीप्तिमन् पुरुष! **अयम्**=यह सोम **ते सुतः**=तेरे लिये उत्पन्न किया गया है। उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **घृतं न**=घृत के समान, ज्ञानदीप्ति के समान **शुचि**=पवित्रता को करता हुआ **पवते**=तेरे में गतिवाला होता है। तुझे ज्ञानदीप्त करता है और पवित्र बनाता है। (२) यह सोम **नः**=हमें **कन्यासु**=सब दीप्तियों में **आभक्षत्**=भागी बनाये।

भावार्थ—स्वाध्याय में लगे रहने से सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम हमें दीप्ति व पवित्रता को प्राप्त कराता है दीप्ति व पवित्रता को प्राप्त करके यह 'विश्वामित्र' सबके प्रति स्नेहवाला बनता है और इस प्रकार सोम का स्तवन करता है—

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वाचो जन्तु-रत्नधा

वा॒चो ज॒न्तुः क॒वीनां॒ पव॑स्व सोम॒ धार॑या । दे॒वेषु॑ रत्न॒धा अ॑सि ॥ १३ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **कवीनाम्**=ज्ञानी पुरुषों की **वाचः**=ज्ञानवाणियों

का **जन्तुः**=जन्म देनेवाला है, तू ही उन्हें ज्ञान प्राप्त कराता है। हे सोम! तू **धारया**=अपनी धारणशक्ति के साथ **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। (२) हे सोम! तू ही **देवेषु**=दिव्य गुणवाले पुरुषों में **रत्नधा असि**=सब रमणीयताओं का धारण करनेवाला है। सब रत्नों को यह सोम ही जन्म देता है।

भावार्थ—यह सोम शरीर में सुरक्षित होकर ज्ञान की वाणियों को जन्म देना है तथा सब रत्नों का हमारे में धारण करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'श्येनो वर्म विगाहते'

आ कलशेषु धावति श्येनो वर्म वि गाहते। अभि द्रोणा कनिक्रदत्॥ १४॥

(१) यह सोम **कलशेषु**=इन शरीर रूप कलशों में (सोलह कलाओं के निवास के स्थानों में) **आधावति**=समन्तात् गतिवाला होकर शुद्धि को करता है (धाव् गतिशुद्ध्योः)। (२) **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला यह सोम **वर्म विगाहते**=(ब्रह्म वर्म ममान्तरम्) ब्रह्मरूप कवच का अवगाहन करता है, अर्थात् यह सोम हमें उस प्रभु का दर्शन कराता है, जो हमारे कवच के रूप में हैं। (२) यह सोम **द्रोणा अभि**=इन शरीर रूप द्रोण पात्रों की ओर प्राप्त होता हुआ **कनिक्रदत्**=प्रभु का स्तवन करता है। अथवा प्रभु-स्तवन करता हुआ इन पात्रों को प्राप्त होता है। प्रभु-स्तवन ही सोमरक्षण का साधन बनता है।

भावार्थ—सोम हमें शुद्ध करता है, प्रभु को प्राप्त कराता है, हमें स्तुति की वृत्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

कलशे सुतः

परि प्र सोम ते रसोऽसर्जि कलशे सुतः। श्येनो न तक्तो अर्षति॥ १५॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **ते रसः**=तेरा रस **परि असर्जि**=शरीर में सर्वतः सृष्ट होता है। यह सोम रस **कलशे**=इस सोलह कलाओं के निवास स्थान भूत शरीर में ही **सुतः**=उत्पन्न होता है। (२) इस में उत्पन्न हुआ-हुआ यह रस **श्येनः न**=शंसनीय गतिवाले के समान **तक्तः**=शरीर में गतिवाला होता हुआ **अर्षति**=हमें प्राप्त होता है।

भावार्थ—इस सोम के द्वारा ही यह शरीर 'कलश' बनता है, सब कलाओं का आधार बनता है। यही हमें शंसनीय गतिवाला बनाता है।

इससे शरीर व शरीरस्थ वैश्वानर अग्नि ठीक बनी रहती है, सो सोमरक्षक 'जमदग्नि' बनता है। यह जमदग्नि कहता है—

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिगार्चीविराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मन्दयन्-मधुमत्तमः

पवस्व सोम मदयन्निन्द्राय मधुमत्तमः॥ १६॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **मन्दयन्**=हमें आनन्दित करता हुआ अथवा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनाता हुआ **पवस्व**=प्राप्त हो। (२) तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मधुमत्तमः**=अतिशयेन माधुर्य को पैदा करनेवाला है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन को आनन्दमय व मधुर बनाता है।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिगार्चीविराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

देववीतये

असृग्रन्देववीतये वाजयन्तो रथाइव॥ १७॥

(१) ये सोम **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये **असृग्रन्**=उत्पन्न किये गये हैं। इनके रक्षण से सब दिव्यगुणों का विकास होता है। (२) ये सोम **वाजयन्तः**=संग्रामों को करते हुए **रथाः इव**=रथों के समान हैं। जैसे रथ संग्राम-विजय के साधन बनते हैं, इसी प्रकार ये सोम हमें जीवन-संग्राम में विजयी बनाते हैं। ये हमें शक्ति को प्राप्त करानेवाले हैं (वाजयन्तः)।

भावार्थ—सुरक्षित सोम दिव्यगुणों को जन्म देते हैं और संग्राम में हमें विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—**जमदग्निः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिगार्चीविराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मदिन्तमाः

ते सुतासो मदिन्तमाः शुक्रा वायुमसृक्षत॥ १८॥

(१) **ते**=वे **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम **मदिन्तमाः**=हमें अतिशयेन आनन्दित करनेवाले हैं। (२) **शुक्राः**=हमें शुचि व दीप्त बनानेवाले ये सोम **वायुम्**=गति के द्वारा सब बुराइयों को नष्ट करनेवाले को **असृक्षत**=उत्पन्न करते हैं। हमें ये गतिशील व निर्मल बनाते हैं।

भावार्थ—सोम हमें आनन्दित करनेवाले व गतिशील बनानेवाले हैं।

यह सोमरक्षक पुरुष अतिशयेन उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' बनता है, और कहता है कि—

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

तुन्नः अभिष्टुतः

ग्राव्णा तुन्नो अभिष्टुतः पवित्रं सोम गच्छसि। दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम्॥ १९॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **ग्राव्णा**=स्तोता से **तुन्नः** (guided=प्रेरित)=प्रेरित किया गया, शरीर के अन्दर ही व्याप्त किया गया तथा **अभिष्टुतः**=प्रातः-सायं स्तुति किया गया तू **पवित्रम्**=इस पवित्र हृदयवाले पुरुष को, इस स्तोता को **गच्छसि**=प्राप्त होता है। (२) इस स्तोता को प्राप्त होने पर **स्तोत्रे**=इस स्तोता के लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **दधत्**=तू धारण करता है। सोम का स्तवन करने से सोम के गुणों का सतत स्मरण होता है इस स्तवन से सोमरक्षण में नीति उत्पन्न होती है। हमारी सब क्रियायें सोमरक्षण के उद्देश्य से होती हैं। सुरक्षित सोम हमारी शक्ति का वर्धन करता है।

भावार्थ—सोम का स्तवन करनेवाला व्यक्ति सोम को शरीर में प्रेरित करता हुआ शक्ति-सम्पन्न बनता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

रक्षोहा

एष तुन्नो अभिष्टुतः पवित्रमति गाहते। रक्षोहा वारमव्ययम्॥ २०॥

(१) **एषः**=यह सोम **तुन्नः**=प्राणायामादि द्वारा शरीर के अन्दर प्रेरित हुआ-हुआ **अभिष्टुतः**=प्रातः-सायं स्तुत होता हुआ **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष को **अतिगाहते**=अतिशयेन आलोडित

करता है, पवित्र हृदय वाले पुरुष में व्याप्त होता है। (२) यह **वारम्**=सब वासनाओं का निवारण करनेवाले व **अव्ययम्**=विविध विषय-वासनाओं में न जानेवाले पुरुष को प्राप्त होता है और **रक्षोहा**=सब रोगकृमिरूप राक्षसों का तथा राक्षसीभावों का (=आसुरी वृत्तियों का) विनष्ट करनेवाला होता है।

भावार्थ—शरीर में व्याप्त सोम सब रोगकृमिरूप राक्षसों व काम आदि आसुरभावों का विनाशक है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

इहलोक व परलोक सम्बद्धभय का विनाश

यदन्ति यच्च दूरके भयं विन्दति मामिह। पवमान वि तज्जहि॥ २१॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **यद्**=जो **अन्ति**=इस समीपस्थ लोक-विषयक 'शरीर रोग' आदि का **भयम्**=भय **माम्**=मुझे **इह**=इस जीवन में **विन्दति**=प्राप्त होता है, तू **तत्**=उसे **विजहि**=विनष्ट कर। गत मन्त्र के अनुसार तू 'रक्षोहा' है, इस रोगकृमि रूप राक्षसों को तू विनष्ट कर। (२) **यत् च**=और जो **दूरके**=दूरके, परलोक के विषय में भय मुझे प्राप्त होता है, उस 'काम-क्रोध-लोभ' से आक्रान्त होने के कारण परत्र अशुभ गति के भय को भी तू ही नष्ट कर। काम, क्रोध, लोभ आदि राक्षसीभावों का भी विनाशक तू ही है।

भावार्थ—रोगकृमियों को नष्ट करके सोम ऐहिक भय को समाप्त करता है और काम-क्रोध-लोभ को समाप्त करके आमुष्यिक भय को दूर करता है। सोमरक्षण से उभयलोक का कल्याण होता है।

एवं शरीर मन में पवित्र बना हुआ यह 'पवित्र' कहता है कि—

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'पवित्रता का सम्पादक' सोम

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु नः॥ २२॥

(१) **विचर्षणिः**=विशिष्ट द्रष्टा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हमें वस्तुतत्त्व का द्रष्टा बनानेवाला **सः**=वह सोम **अद्य**=आज **नः**=हमें **पवित्रेण**=पवित्र हृदय से **पवमानः**=पवित्र करनेवाला हो। पवित्र हृदय को प्राप्त कराके यह हमें पवित्र कर डाले। (२) वह सोम **यः**=जो **पोता**=हमें पवित्र करनेवाला है **सः**=वह **नः**=हमें **पुनातु**=पवित्र करे। सोम शरीर के रोगों को नष्ट करके शरीर शुद्धि का जनक होता है। काम, क्रोध, लोभ आदि को नष्ट करके मानस शुद्धि का कारण बनता है। बुद्धि की मन्दता को दूर करके बुद्धि को भी निर्मल कर डालता है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन को रोग, क्रोध व बुद्धिमान्द्य आदि मलिनताओं से दूर करे।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अग्नि द्वारा पवित्रीकरण

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनीहि नः॥ २३॥

(१) हे **अग्ने**=हमें आगे ले चलनेवाले प्रभो! **यत्**=जो **ते**=तेरा **अर्चिषि अन्तरा**=ज्ञान-ज्वालाओं में **विततम्**=फैला हुआ प्रकाश है वह **पवित्रम्**=हमें पवित्र करनेवाला है। (२) यह पवित्र करनेवाला प्रकाश ही **ब्रह्म**=वृद्धि का साधनभूत वेदज्ञान है (बृहि वृद्धौ, 'ब्रह्मवेदः')। **तेन**=उस ज्ञान के द्वारा **नः पुनीहि**=हमें पवित्र कर।

भावार्थ—प्रभु अपने ज्ञान के प्रकाश से हमारे जीवन को पवित्र करें।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'ज्ञान व यज्ञों' द्वारा पवित्रता

यत्ते॑ प॒वित्र॑म॒र्चिव॒दग्ने॒ तेन॑ पुनीहि नः। ब्र॒ह्म॒स॒वैः पु॑नीहि नः॥ २४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=जो **ते**=तेरा **अर्चिवत्**=आकाश की ज्वालावाला अथवा 'अर्च पूजायाम्' पूजा की वृत्ति से युक्त **पवित्रम्**=जीवन को पवित्र बनानेवाला **ब्रह्म**=ज्ञान है, **तेन**=उस पवित्र ज्ञान से **नः**=हमें **पुनीहि**=पवित्र करिये। (२) हे अग्ने! इस वेदज्ञान द्वारा उपदिष्ट **सवैः**=यज्ञों से **नः**=हमें **पुनीहि**=पवित्र करिये। वेदोपदिष्ट यज्ञों को करते हुए हम पवित्र-जीवनवाले बनें।

भावार्थ—ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान को प्राप्त करें। कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले यज्ञों में प्रवृत्त हों। इस प्रकार हमारा जीवन 'ज्ञान व यज्ञ' के द्वारा पवित्र हो जाये।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**अग्निः सविता वा**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-यज्ञ

उ॒भाभ्यां॑ देव सवितः प॒वित्रे॑ण स॒वेन॑ च। मां पु॑नीहि वि॒श्वतः॑॥ २५॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **सवितः**=प्रेरक प्रभो! आप **पवित्रेण**=जीवन को पवित्र करनेवाले इस ज्ञान से **च**=तथा **सवेन**=वेदोपदिष्ट यज्ञों से **उभाभ्याम्**=ज्ञान व यज्ञ दोनों से **माम्**=मुझे **विश्वतः**=सब दृष्टियों से **पुनीहि**=पवित्र करिये। (२) अकेला ज्ञान व अकेले यज्ञ हमारे जीवनों को पवित्र नहीं कर पाते। यज्ञ रहित ज्ञान व्यर्थ-सा होता है, यह पवित्रता के स्थान में अहंकार का कारण बन जाता है। तथा ज्ञान रहित यज्ञ अत्यन्त अपवित्र व विकृत हो जाते हैं, वे यज्ञ ही नहीं रहते। 'यज्ञ' ज्ञान को सार्थक करते हैं, ज्ञान यज्ञों को पवित्र करता है। ये दोनों मिलकर हमारे जीवनों को सर्वथा पवित्र करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान व यज्ञों के समन्वय से हमारा जीवन सर्वतः पवित्र हो।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**अग्निरग्निर्वा सविता च**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

त्रिभिः धामभिः

त्रि॒भिष्ट्वं दे॑व सवित॒र्वर्षि॑ष्ठैः सोम॒ धाम॑भिः। अग्ने॒ दक्षैः॑ पुनीहि नः॥ २६॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय **सवितः**=प्रेरक प्रभो! **त्वम्**=आप **त्रिभिः**=तीनों **वर्षिष्ठैः**=अत्यन्त वृद्धतम (बढ़े हुए) **सोमधामभिः**=सोम (वीर्यशक्ति) से जनित तेजों से **नः**=हमें **पुनीहि**=पवित्र करिये। सोमरक्षण से शरीर में उत्पन्न हुआ-हुआ तेज व वीर्य शरीर को नीरोग बनाता है। मन में उत्पन्न हुआ-हुआ ओज व बल हृदय को पवित्र करता है और बुद्धि में उत्पन्न हुआ-हुआ ज्ञान उसे प्रकाशमय बनाता है। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **दक्षैः**=शरीर, मन व बुद्धि के बलों से (नः पुनीहि) हमें पवित्र जीवनवाला बनाइये।

भावार्थ—प्रभु कृपा से सोमरक्षण के द्वारा हमें शरीर, मन व बुद्धि का बल प्राप्त हो, इससे हमारा जीवन पवित्र बने।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**अग्निर्विश्वे देवा वा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

चारों आश्रमों की पवित्रता

पु॒नन्तु॒ मां दे॑वज॒नाः पु॒नन्तु॒ वस॑वो धि॒या। विश्वे॑ देवाः पुनी॒त मा॒ जात॑वेदः पुनी॒हि मा॑॥ २७॥

(१) जीवन के प्रथमाश्रम में **देवजनाः**=माता, पिता व आचार्य रूप देवजन (मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव) **मा**=मुझे **पुनन्तु**=पवित्र करें। माता मेरे चरित्र का निर्माण करे, पिता शिष्टाचार को मुझे सिखाये तथा आचार्य मुझे ज्ञान का भोजन ग्रहण करायें। (२) अब गृहस्थ में **वसवः**=गार्हस्थ्य जीवन में निवास को उत्तम बनानेवाले (वासयन्ति इति वसवः) समय-समय पर उपस्थित होनेवाले अतिथिजन **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **पुनन्तु**=हमें पवित्र करें। 'अतिथि देवो भव' ये विद्वान् अतिथि हमारे लिये देवतुल्य हों, और इनकी समय-समय पर प्राप्त होनेवाली प्रेरणा के अनुसार कर्म करते हुए हम पवित्र जीवनोंवाले बनें। (३) जीवन के तृतीय आश्रम में **विश्वे देवाः**=हे देववृत्ति के पुरुषो! **मा**=मुझे **पुनीत**=पवित्र करो। वानप्रस्थ में मेरा सान्निध्य सब देववृत्ति के पुरुषों से हो। उनके साथ निरन्तर होनेवाली ज्ञानचर्चा मेरे जीवन को पवित्र बनाये। (३) अन्ततः संन्यास में, एकाकी विचरण के नियमवाले इस तुरीयाश्रम में, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **मा पुनीहि**=आप मुझे पवित्र करिये मैं सदा आपका स्मरण करूँ और पवित्र जीवनवाला बना रहूँ।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में देवजन, द्वितीयाश्रम में वसु, तृतीय में विश्वेदेव व तुरीय में सर्वज्ञ प्रभु मेरे जीवन को पवित्र बनायें।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

विश्वेभिः अंशुभिः

प्र प्यायस्व प्र स्यन्दस्व सोम विश्वेभिरंशुभिः। देवेभ्यं उत्तमं हविः॥ २८॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **प्रप्यायस्व**=हमारा तू सब प्रकार से उत्कृष्ट वर्धन कर। तू **विश्वेभिः**=सब **अंशुभिः**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा **प्रस्वन्दस्व**=हमारे शरीरों में प्रकर्षेण गतिवाला हो। (२) **देवेभ्यः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये तू **उत्तमं हविः**=सर्वोत्तम आदान करने योग्य वस्तु है (हु आदाने, हु दानादानयोः)। पवित्र वस्तु को 'हवि' या 'हव्य पदार्थ' कहते हैं। सोम सर्वोत्तम हवि है। इसके रक्षण से दिव्यगुणों का वर्धन होता है।

भावार्थ—सोम हमारा वर्धन करे। प्रकाश की किरणों के साथ हमें प्राप्त हो। यह सोम दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के समीप उपस्थित होना

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्। अगन्म बिभ्रतो नमः॥ २९॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित सोम के रक्षण के लिये **नमः बिभ्रतः**=नमन को धारण करते हुए हम **उप अगन्म**=समीपता से, उपासक के रूप में प्राप्त हों। सदा प्रातः-सायं मन में नम्रता को धारण करते हुए प्रभु की उपासना करें। यह उपासना ही हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाकर सोमरक्षण के योग्य बनायेगी, (२) उस प्रभु का हम उपासन करें जो **प्रियम्**=हमारी प्रीति का कारण बनते हैं, प्रभु के प्रकाश को हृदय में देखते हुए एक अद्भुत ही आनन्द का हम अनुभव करते हैं। **पनिप्नतम्**=(पन स्तुतौ) वे प्रभु खूब ही स्तुति के योग्य हैं। शब्द प्रभु की स्तुति को सीमित नहीं कर पाते, प्रभु की महिमा वर्णनातीत है, वाचाम् अगोचर है। **युवानम्**=वे प्रभु हमारी सब बुराइयों को हमारे से दूर करके सब अच्छाइयों को हमारे से मिलानेवाले हैं (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। **आहुतीवृधम्**=वे प्रभु हमारे जीवनों में आहुति-त्यागवृत्ति को बढ़ानेवाले हैं। स्वयं हविरूप होते हुए वे हमें भी हविर्मय बनने की प्रेरणा देते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें प्रीति को प्राप्त करायेंगे, हमारी बुराइयों को दूर करेंगे, हमारे जीवनों में त्यागभावनाओं को बढ़ायेंगे।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**परउष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

'आखु' को प्रभु प्राप्ति

अलाय्यस्य परशुर्ननाश तमा पवस्व देव सोम। आखुं चिदेव देव सोम॥ ३०॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना करने पर **अलाय्यस्य**=(an assailing enemy) आक्रमण करनेवाले शत्रु का **परशुः**=कुठार **ननाश**=नष्ट हो जाये। जब हम प्रभु की उपासना करते हैं, तो आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं की टक्कर हृदयस्थ प्रभु से ही होती है। प्रभु से टकराकर ये नष्ट हो जाते हैं। इनके अस्त्र प्रभु पर टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार हे **देव**=प्रकाशमय **सोम**=शान्त प्रभो! **तम्**=उस अपने उपासक को **आपवस्व**=सर्वथा पवित्र जीवनवाला बनाइये। (२) हे **देव सोम**=प्रकाशमय शान्त प्रभो! आप **आखुं चित् एव**=इस (आ खनति) विषय वासनाओं को उखाड़ देनेवाले इस व्यक्ति को ही निश्चय से प्राप्त होते हैं। विषय वासनाओं से शून्य हृदय वह आसन होता है, जो प्रभु के आसीन होने के लिये उपयुक्ततम है।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं, तो हमारे शत्रुओं के अस्त्र कुण्ठित हो जाते हैं। हम 'आखु' बन पाते हैं।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**पवमान्यध्येतृस्तुतिः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

'पवित्र भोजन व प्राणायाम' द्वारा रोमरक्षण

यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्। सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥ ३१॥

(१) **यः**=जो व्यक्ति **पावमानीः**=इन पवमान (सोम) विषयक ऋचाओं को **अध्येति**=पढ़ता है व स्मरण करता है, वह जानता है कि ये ऋचायें तो **ऋषिभिः**=ऋषियों से, तत्त्वद्रष्टा पुरुषों से **संभृतं रसं**=धारण किया गया वेद का सार है। ऋचाओं द्वारा सर्वोत्तम उपदेश इन पावमानी ऋचाओं में ही दिया गया है। (२) **सः**=यह व्यक्ति इन ऋचाओं में सोम के महत्त्व को पढ़ करके **सर्वं पूतं अश्नाति**=सब पवित्र भोजन को ही खाता है। सदा सात्त्विक भोजन करता हुआ यह सोम का रक्षण करनेवाला होता है। यह उस भोजन को खाता है जो **मातरिश्वना स्वदितम्**=वायु के द्वारा स्वादवाला बना दिया गया है। प्राणायाम से जाठराग्नि का वर्धन होता है, प्राणायाम से युक्त जाठराग्नि ही भोजन का ठीक से पाचन करती है। एवं, यह भोजन प्राणरूप वायु से ही स्वदित होता है। प्राणायाम शरीर में सोमशक्ति की ऊर्ध्वगति का कारण बनता है।

भावार्थ—हम सोम देवता की इन ऋचाओं को पढ़ें। सोम के महत्त्व को समझें। सोमरक्षण के लिये पवित्र सात्त्विक भोजन करें व प्राणायाम करें।

ऋषिः—**पवित्र वसिष्ठो वोभौ वा**॥ देवता—**पवमान्यध्येतृस्तुतिः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

'क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्'

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्। तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ ३२॥

(१) **यः**=जो **पावमानाः**=जीवन को पवित्र बनानेवाली इन ऋचाओं को **अध्येति**=स्मरण करता है, वह जानता है कि **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टाओं से **संभृतं रसम्**=धारण किया गया यह वेद

का सार है। (२) इस को सदा स्मरण करनेवाले, इसको जीवन में अनूदित करनेवाले **तस्मै**=उस ज्ञानी पुरुष के लिये **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता **क्षीरम्**=क्षीर-दूध, **सर्पिः**=घृत, **मधु**=शहद व **उदकम्**=जल को **दुहे**=प्रपूरित करती है। उसे दूध, घी, शहद व जल की कमी नहीं रहती। वह ऐसे ही सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग करता है। इन सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग करता हुआ वह पवमान सोम का अपने में रक्षण करता है।

भावार्थ—सोम के महत्त्व को समझकर, सोमरक्षण करनेवाला पुरुष क्षीर, मधु व उदक आदि सात्त्विक पदार्थों का ही प्रयोग करता है।

यह सोमरक्षक पुरुष प्रभु के नामों का उच्चारण करता है (वदति इति वत्सः) प्रभु का 'वत्स' होता है। अपने सत्कर्मों से प्रभु को प्रीणित करनेवाला 'प्री' है, 'वत्सप्री'। यह **भालम्**=प्रकाश को **दनः**=(दानमनसः नि० ६।१२) देने की कामनावाला 'भालन्दन' है। सोमरक्षण से दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनकर प्रकाश को प्राप्त करता है। और उसी प्रकाश को सर्वत्र देने की कामना करता है—

चतुर्थोऽनुवाकः

[६८.] अष्टषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वेदवाणी रूप गौ का दोहन

प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आ न धेनवः।
बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः परिस्रुतमुस्त्रिया निर्णिजं धिरे॥ १॥

(१) **मधुमन्तः**=अपने अन्दर माधुर्य को लिये हुए, अपने रक्षक के जीवन को मधुर बनाते हुए, **इन्दवः**=सोमकण **देवं अच्छा**=उस महान् देव प्रभु की ओर **असिष्यदन्त**=गतिवाले होते हैं। ये सोमकण हमें प्रभु की ओर ले चलते हैं। उसी प्रकार, **न**=जैसे कि **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली **गावः**=ये वेदवाणी रूप गौवें हमें प्रभु की ओर ले चलती हैं। वस्तुतः प्रभु प्राप्ति के मुख्य साधन यही हैं (क) सोमरक्षण, (ख) वेदवाणियों का उपासन। (२) इसलिए **बर्हिषदः**=वासनाशून्य निर्मल हृदय में आसीन होनेवाले **वचनावन्तः**=प्रभु की प्रशस्त स्तुति वाणियोंवाले लोग **उस्त्रियाः**=ज्ञानदुग्धदात्री वेदवाणी रूप गौवों से **उधभिः परिस्त्रुतम्**=ऊधस् से **परिस्त्रुत निर्णिजम्**= जीवन के शोधक ज्ञानदुग्ध को **धिरे**=अपने में धारण करते हैं। 'गां पयो दोग्धि' की तरह यह द्विकर्मक वाक्य है 'उस्त्रिया निर्णिजं धिरे'। वेदवाणी गौ से ज्ञानदुग्ध को दोहते हैं। यह ज्ञानदुग्ध शुद्ध करनेवाला है, सो 'निर्णिक्' कहलाया है।

भावार्थ—हम सोमरक्षण करें। सोम द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके वेदवाणी रूप गौ से ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

स्तवन व स्वाध्याय द्वारा सोमरक्षण

स रोरुवदभि पूर्वा अचिक्रददुपारुहः श्रथयन्त्स्वादते हरिः।
तिरः पवित्रं परियन्नुरु ज्रयो नि शर्याणि दधते देव आ वरम्॥ २॥

(१) **सः**=वह सोमरक्षक पुरुष **रोरुवत्**=खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करता है।

पूर्वाः=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली इन वेदवाणियों का **अभि अचिक्रदत्**=आभिमुख्येन आह्वान करता है, उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। प्रभु-स्तवन व स्वाध्याय द्वारा सोमरक्षण करनेवाले इस व्यक्ति के लिये **हरिः**=यह दुःखों का हरण करनेवाला सोम **उपारुहः**=हमारे पर आरुढ़ हो जानेवाले आसुरभावों को **श्रथयन्**=ढीला करता हुआ **स्वादते**=हमारे जीवनों को मधुर बनाता है। (२) **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष को **तिरः परियन्**=तिरोहितरूप में रुधिर के साथ चारों ओर प्राप्त होता हुआ, **उरुज्रयः**=महान् विजयी बलवाला (ज्रि To overcome) **शर्याणि**=हिंसितव्यभावों को **निदधते**=नीचे धारण करता है, (न्यङ्करोति हिमस्ति सा०) पाँव तले कुचलता है। और **देवः**=यह प्रकाशमय सोम **वरम्**=वरणीय श्रेष्ठभावों को **आदधते**=समन्तात् धारण करता है।

भावार्थ—जब स्तवन व स्वाध्याय से हम सोमरक्षण करते हैं, यह हमारे जीवनों को मधुर बनाता है, हमारे दुर्भावों को दूर करता है, और शुभभावों को सर्वतः विस्तृत करता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अक्षीण शक्तिवाले 'मस्तिष्क व शरीर'

वि यो म॒मे य॒म्या॑ संय॒ती मदः॑ साकं॒वृधा॒ पय॑सा पिन्व॒दक्षि॑ता।
म॒ही अ॑पा॒रे रज॑सी वि॒वेवि॑दद॒भि॒व्रज॒न्नक्षि॑तं॒ पाज॒ आ द॑दे॥ ३॥

(१) **यः**=जो **मदः**=उल्लास का जनक सोम **यम्या**=युगलभूत **संयती**=(संगच्छमाने) मिलकर चलनेवाले, **साकंवृधा**=साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त होनेवाले द्युलोक व पृथिवीलोक को, मस्तिष्क व शरीर को **विममे**=बनाता है। इन्हें **पयसा**=अपने रस से **पिन्वत्**=सींचता है, और इस प्रकार **अक्षिता**=न क्षीण हुए-हुए **मही**=अत्यन्त महत्त्ववाले **अपारे**=अद्भुत शक्तिवाले **रजसा**=द्यावापृथिवी को **विवेविदत्**=हमारे लिये प्राप्त कराता है। (२) **अभिव्रजन्**=शरीर में चारों ओर गति करता हुआ सोम **अक्षितम्**=न क्षीण होनेवाले **पाजः**=बल को **आददे**=स्वीकार करता है। अर्थात् हमारे में यह अक्षीण बल को धारण करता है। सोम से हमारी शक्ति बनी रहती है और जीवन नष्ट नहीं होता।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर को अक्षीण शक्ति बनाये रखता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अंशुः यवेन पिपिशे

स मा॒तरा॑ वि॒चर॑न्वा॒जय॑न्न॒पः प्र मेधि॑रः स्व॒धया॑ पिन्वते प॒दम्।
अं॒शुर्यवे॑न पिपिशे य॒तो नृभि॒ः सं जा॒मिभि॒र्नस॑ते॒ रक्ष॑ते॒ शिरः॑॥ ४॥

(१) **सः**=वह सोम **मातरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक में, मस्तिष्क व शरीर में **विचरन्**=गति करता हुआ तथा **अपः**=अन्तरिक्षलोक को (नि० १।३) **वाजयन्**=सबल करता हुआ, हृदय को सबल बनाता हुआ, **मेधिरः**=प्रकृष्ट बुद्धिवाला होता हुआ **स्वधया**=आत्मधारणशक्ति के द्वारा **पदम्**=उस प्राप्त करने योग्य प्रभु को **प्रपिन्वते**=हमारे में बढ़ाता है। सुरक्षित सोम शरीर को सशक्त, मस्तिष्क को दीप्त ज्ञानाग्निवाला तथा हृदय को सबल बनाता है। हमें बुद्धिमान् बनाकर प्रभु प्राप्ति के योग्य करता है। (२) **अंशुः**=प्रकाश की किरणोंवाला यह सोम **यवेन**=बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रण से **पिपिशे**=जीवन को अलंकृत कर देता है (To adore)। **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों से **यतः**=काबू किया हुआ यह सोम **जामिभिः**=सद्गुणों के विकास से

संनसते=सम्यक् गतिवाला होता है और **शिरः रक्षते**=मस्तिष्क का रक्षण करता है। सोमरक्षण से मस्तिष्क का उत्तम रक्षण होता है। वस्तुतः ज्ञानाग्नि का एक मात्र ईंधन सोम ही है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर, मस्तिष्क व हृदय तीनों को ही सुन्दर बनाता है। यह सब बुराइयों को दूर करके जीवन को सजा देता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

दक्ष मन

सं दक्षेण मनसा जायते कविर्ऋतस्य गर्भो निहितो यमा परः।
यूना ह सन्ता प्रथमं वि जज्ञतुर्गुहा हितं जनिम नेममुद्यतम्॥ ५॥

(१) **कविः**=यह क्रान्तदर्शी सोम हमें क्रान्तप्रज्ञ बनानेवाला सोम **दक्षेण मनसा**=कार्यों को कुशलता से करनेवाले मन से **जायते**=हमारे में प्रादुर्भूत होता है। सुरक्षित सोम हमें 'क्रान्तप्रज्ञ व दक्ष मन वाला' बनाता है। यह सोम **ऋतस्य गर्भः**=ऋत का ग्रहण करनेवाला होता है। **यमा निहितः**=संयम के द्वारा शरीर में स्थापित हुआ-हुआ **परः**=अत्यन्त उत्कृष्ट होता है। (२) इस सोम के सुरक्षित होने पर **प्रथमम्**=पहले **ह**=निश्चय से **यूना सन्ता**=मस्तिष्क और शरीर सदा युवा से होते हुए, अक्षीण शक्तिवाले होते हुए, न जीर्ण होते हुए **विजज्ञतुः**=प्रकट होते हैं। और फिर **गुहा हितम्**=बुद्धि रूप गुहा में स्थापित **जनिम**=ज्ञान का प्रादुर्भाव **नेमं उद्यतम्**=(In parts) कुछ-कुछ उद्यत होता है। अर्थात् सोमरक्षण से अन्तर्ज्ञान प्रादुर्भूत होने लगता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से बुद्धि का विकास होता है, मन की दक्षता प्राप्त होती है, जीवन ऋतमय बनता है। मस्तिष्क व शरीर अच्छे बनते हैं। हृदय में अन्तर्ज्ञान का प्रादुर्भाव होने लगता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सोम का स्तुति द्वारा शोधन

मन्द्रस्य रूपं विविदुर्मनीषिणः श्येनो यदन्धो अभरत्परावतः।
तं मर्जयन्त सुवृधं नदीष्वाँ उशन्तमंशुं परियन्तमृग्मियम्॥ ६॥

(१) **मनीषिणः**=ज्ञानी पुरुष **मन्द्रस्य**=आनन्दकर सोम के **रूपम्**=रूप को **विविदुः**=जानते हैं। मनीषी समझते हैं कि किस प्रकार यह सोम आह्लाद का जनक है। **यद् अन्धः**=यह जो सोम है, इसे **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला पुरुष **परावतः**=सुदूर द्युलोक के हेतु से, मस्तिष्क के हेतु से **अभरत्**=अपने में धारण करता है। इस के रक्षण से ही तो मस्तिष्क का पोषण होता है। (२) **तम्**=उस **सुवृधम्**=उत्तम वृद्धि के कारणभूत **अंशुम्**=सोम को **नदीषु**=स्तुतियों में (नद=स्तोता) **अमर्जयन्त**=सर्वथा शुद्ध करते हैं। स्तुति के द्वारा उस सोम का शोधन करते हैं, जो **उशन्तम्**=हमारे लिये दिव्यगुणों की कामनावाला होता है, हमारे में दिव्यगुणों का वर्धन करता है। **परियन्तम्**=शरीर में रुधिर के साथ चारों ओर गतिवाला होता है। **ऋग्मियम्**=स्तुति के योग्य होता है, अथवा हमें स्तुति की वृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—मनीषी लोग स्तुति द्वारा सोम को परिशुद्ध करते हैं। यह उनमें दिव्यगुणों का वर्धन करता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋषिभिर्मतिभिर्धीतिभिर्हितम् (स्वाध्याय-स्तुति-यज्ञ)

त्वां मृजन्ति दश योषणः सुतं सोम ऋषिभिर्मतिभिर्धीतिभिर्हितम्।
अव्यो वारेभिरुत देवहूतिभिर्नृभिर्यतो वाजमा दर्षि सातये ॥ ७ ॥

(१) हे **सोम**=शरीर में 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, मेदस् व वीर्य' इस क्रम से सप्तम स्थान में उत्पन्न हुए-हुए सोम! **त्वाम्**=तुझे **दश**=दस **योषणः**=बुराइयों से पृथक् करनेवाली, अच्छाइयों से संयुक्त करनेवाली चित्तवृत्तियाँ **मृजन्ति**=शुद्ध करती हैं। इन्द्रियों की संख्या दस है। उनके साथ सम्बद्ध चित्तवृत्तियों को भी यहाँ दस कहा गया है। ये शुद्ध होती हैं, तो सोम शुद्ध बना रहता है। यह सोम **ऋषिभिः**=(ऋषिर्वेदा) ज्ञान की वाणियों से, **मतिभिः**=मननपूर्वक होनेवाली स्तुतियों से तथा **धीतिभिः**=धारणात्मक कर्मों से **हितम्**=शरीर में स्थापित किया गया है। मस्तिष्क ज्ञानवाणियों से पूर्ण हो, मन स्तुति में लगा हो तथा शरीर धारणात्मक कर्मों में लगा हो तो वासनाओं का आक्रमण न होने से सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है। (२) हे सोम! तू **अव्यः**=रक्षकों में उत्तम है। **वारेभिः**=वासनाओं का निवारण करनेवाले, **उत**=और **देवहूतिभिः**=उपासना में उस महान् देव को पुकारनेवाले **नृभिः**=मनुष्यों से **यतः**=शरीर में संयत हुआ-हुआ तू **वाजम्**=बल को **आदर्षि**=सर्वथा प्राप्त कराता है और **सातये**=हमारे लिये प्रभु प्राप्ति के लिये होता है। हमें तू प्रभु के सम्भजन की वृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सोमरक्षण के लिये 'स्वाध्याय, स्तवन व यज्ञ' सहायक होते हैं। सुरक्षित सोम हमें शक्ति देता है और प्रभु-प्रणव करता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

रयिषाट् अमर्त्यः

परिप्रयन्तं वय्यं सुषंसदं सोमं मनीषा अभ्यनूषत स्तुभः।
यो धारया मधुमाँ ऊर्मिणा दिव इयर्ति वाचं रयिषाळमर्त्यः ॥ ८ ॥

(१) **मनीषाः**=(मनीषा अस्य अस्ति इति मनीषः) मन की शासिका बुद्धिवाले **स्तुभः**=स्तोता लोग **सोमम्**=सोम को **अभ्यनूषत**=प्रातः-सायं स्तुत करते हैं। सोम के स्तवन से, सोम के गुणों के स्मरण से, सोमरक्षण की प्रवृत्ति उनमें और अधिक उत्पन्न होती है। उस सोम को स्तुत करते हैं, जो **परिप्रयन्तम्**=शरीर में चारों ओर गतिवाला होता है, **वय्यम्**=कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाला होता है, इस सोम के रक्षण से शक्ति व स्फूर्ति उत्पन्न होती है, **सुषंसदम्**=उत्तम संस्थानवाला होता है, सोमरक्षण से अंग-प्रत्यंग की स्थिति ठीक होती है। (२) **यः**=जो सोम **धारया**=अपनी धारणशक्ति से **मधुमान्**=माधुर्यवाला है। **ऊर्मिणा**=अपनी लहरों द्वारा अथवा (light) प्रकाश के द्वारा **दिवः वाचं इयर्ति**=प्रकाश की वाणी को हमारे में प्रेरित करता है, मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाता है। **रयिषाड्**=सब धनों का विजेता है और **अमर्त्यः**=हमें असमय मरने नहीं देता, पूर्ण आयुष्य का कारण बनता है।

भावार्थ—स्वाध्याय व स्तुति से रक्षित सोम जीवन को मधुर बनाता है, ज्ञान की वाणियों को हमारे में प्रेरित करता है, पूर्ण जीवन को देता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अद्भिः गोभिः अद्रिभिः

अयं दिव इयर्ति विश्वमा रजः सोमः पुनानः कलशेषु सीदति।
अद्भिर्गोभिर्मृज्यते अद्रिभिः सुत पुनान इन्दुर्वरिवो विदत्प्रियम्॥ ९ ॥

(१) **अयम्**=यह सोम **दिवः**=ज्ञानों को **इयर्ति**=हमारे में प्रेरित करता है। **सोमः**=सोम (वीर्य) **विश्वं रजः**=सम्पूर्ण अन्तरिक्षलोक को **आपुनानः**=सर्वथा पवित्र करता हुआ, हृदय को निर्मल बनाता हुआ **कलशेषु**=वह कलाओं के आधारभूत इन शरीरों में **सीदति**=स्थित होता है। वस्तुतः सब कलाओं को ठीक रखने का यह सोम ही आधार बनता है। सोम के कारण ही शरीर सकल व स्वस्थ (whole) बना रहता है। (२) यह **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **अद्भिः**=कर्मों से, सदा यज्ञादि कर्मों में लगे रहने से **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से, स्वाध्याय में तत्पर होने से तथा **अद्रिभिः**=उपासनाओं से (adore) **मृज्यते**=शुद्ध किया जाता है। **पुनानः**=शुद्ध किया जाता हुआ यह सोम हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनाता है, और **प्रियं वरिवः**=प्रीतिजनक धन को **विदत्**=प्राप्त कराता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम (क) ज्ञान को हमारे में प्रेरित करता है, (ख) हृदय को पवित्र बनाता है, (ग) शरीर को सब कलाओं से पूर्ण करता है, (घ) प्रिय धन को प्राप्त कराता है। इस सोम का रक्षण कर्मों में लगे रहने से, स्वाध्याय से तथा उपासना से होता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिर्भालन्दनः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अद्वेषे द्यावापृथिवी

एवा नः सोम परिषिच्यमानो वयो दधच्चित्रतमं पवस्व।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम्॥ १० ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **एवा**=इस प्रकार **परिषिच्यमानः**=शरीर में सर्वत्र सिक्त होता हुआ तू **नः**=हमारे लिये **चित्रतमम्**=अतिशयित ज्ञानवाले **वयः**=जीवन को **दधत्**=धारण करता हुआ **पवस्व**=प्राप्त हो। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ तू ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और हमारे ज्ञान को दीप्त करता है। (२) हम सोमरक्षण के द्वारा **द्यावापृथिवी**=सारे संसार को **अद्वेषे**=द्वेषशून्य रूप में **हुवेम**=पुकारते हैं। वस्तुतः सोमरक्षणवाला पुरुष द्वेषशून्य होता है। हे **देवाः**=देवो! **अस्मे**=हमारे लिये **सुवीरम्**=उत्तम वीरतावाले **रयिम्**=धन को **धत्त**=धारण करिये। हम सोमरक्षण द्वारा वीर व धनों के विजेता बनें।

भावार्थ—सोमरक्षण से जीवन 'ज्ञानपूर्ण, निर्द्वेष, धनवाला व वीरतापूर्ण' होता है।

सोमरक्षण के महत्त्व को समझकर सोम का शरीर में रक्षण करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' बनता है। (हिरण्यं=वीर्य, स्तूप समुच्छ्राये) वीर्य की शरीर में ऊर्ध्वगति करनेवाला। यह हिरण्यरूप सोम का स्तवन करता हुआ कहता है—

[६९] एकोनसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

बुद्धि-ज्ञान-उत्तम कर्म

इषुर्न धन्वन्प्रति धीयते मतिर्वत्सो न मातुरुप सर्ज्यूधनि।
उरुधारेव दुहे अग्र आयत्यस्य व्रतेष्वपि सोम इष्यते॥ १ ॥

(१) **इषुः न धन्वन्**=जैसे धनुष पर बाण **प्रतिधीयते**=धारण किया जाता है, इसी प्रकार सोमरक्षण के होने पर **मतिः**=बुद्धि धारण की जाती है। अर्थात् सोम बुद्धि का वर्धक होता है। इसलिए सोमरक्षण का अत्यन्त महत्त्व है। (२) **न**=जैसे **वत्सः**=बछड़ा **मातुः**=अपनी माता गौ को **ऊधनि**=ऊधस् के प्रति **उपसर्जि**=खुला छोड़ा जाता है, इसी प्रकार वत्स के समान यह सोमरक्षक पुरुष मातृभूत वेदधेनु के ऊधस् के प्रति, ज्ञानदुग्धाधार के प्रति खुला छोड़ा जाता है। यह वेदमाता से खूब ही ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करता है। (३) वेदमाता **अग्रे आयती**=इसकी ओर आगे आती हुई **उरुधारा इव**=विशाल ज्ञानधाराओंवाली होती हुई **दुहे**=खूब ही ज्ञानदुग्ध का पूरण करती है। यह सोमरक्षक खूब ही ज्ञान को प्राप्त करता है। वेदमाता इसे खूब ज्ञानदुग्ध देती है, उसी प्रकार जैसे कि उरुधारा गौ बछड़े को। (४) **अस्य व्रतेषु अपि**=इस प्रभु के व्रतों के पालन के निमित्त भी सोमः=यह सोम **इष्यते**=चाहा जाता है। सोमरक्षण से मनुष्य प्रभु से वेद में प्रतिपादित उत्तम कर्मों को करनेवाला बनता है। सब उत्तम कर्मों के मूल में यह सोमरक्षण है।

भावार्थ—सोमरक्षण से उत्तम बुद्धि प्राप्त करके हम ज्ञान को प्राप्त करते हैं और सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मति-मायुर्य-मधुर वाणी

उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि।
पवमानः सन्तनिः प्रघ्नतामिव मधुमान्द्रप्सः परि वारमर्षति॥ २॥

(१) सोमरक्षण से **मतिः**=बुद्धि **उ**=निश्चय से **उपपृच्यते**=समीपता से हमारे साथ सम्पृक्त होती है। सोमरक्षण बुद्धि का जनक होता है। इससे **मधु सिच्यते**=हमारे जीवन में माधुर्य का सेवन होता है। **आसनि अन्तः**=मुख में **मन्द्राजनी**=आनन्द को उत्पन्न करनेवाली वाणी **चोदते**=प्रेरित होती है। (२) **पवमानः**=यह पवित्र करनेवाला सोम **सन्तनिः**=शरीर में सम्यक् विस्तारवाला होता हुआ **मधुमान्**=माधुर्यवाला होता है, **द्रप्सः**=(द्रुत गमनशीलः) दीप्तगतिवाला होता है, शरीर में स्फूर्ति को देता है। **वारम्**=वासनाओं से अपने को बचानेवाले को यह **परि अर्षति**=प्राप्त होता है। इस प्रकार प्राप्त होता है, **इव**=जैसे कि **प्रघ्नताम्**=शिकारियों का **संतनिः**=सम्यक् विसृष्ट (छोड़ा हुआ) तीर लक्ष्य को प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से बुद्धि व माधुर्य की प्राप्ति होती है तथा मधुरवाणी ही उच्चरित होती है। यह हमें पवित्र करता है, द्रुतगतिवाला (आलस्यशून्य) बनाता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'वधूयुः-हरिः-मदः' सोमः

अव्ये वधूयुः पवते परि त्वचि श्रथ्नीते नप्तीरदितेर्ऋतं यते।
हरिरक्रान्यजतः संयतो मदो नृम्णा शिशानो महिषो न शोभते॥ ३॥

(१) **अव्ये**=अपना रक्षण करनेवाले उत्तम पुरुष में **वधूयुः**=हमारे साथ वेदवाणी रूप वधू को जोड़ने की कामनावाला यह सोम **त्वचि परिपवते**=(त्वच्=touch) प्रभु के सम्पर्क के निमित्त चारों ओर प्राप्त होता है सोम शरीर में व्याप्त होता है, तो यह हमारी बुद्धि को तीव्र करके हमारे साथ वेदज्ञान को जोड़ता है और हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है। (२) **ऋतंयते**=ऋत की ओर चलनेवाले पुरुष के लिये, सब कार्यों को ऋत के अनुसार करनेवाले के लिए, यह सोम **अदितेः**=उस अदीना देवमाता के **नप्तीः**=सन्तानों को **श्रथ्नीते**=हमारे साथ बाँधता है (श्रन्थनं=binding)। यह

वेदज्ञान ही अदीना देवमाता है। 'आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्' ये इसके सन्तान हैं। सोम इन सातों को हमारे साथ सम्बद्ध करता है, हमारे जीवन में इन्हें गूँथ देता है। (३) **हरिः**=यह सब रोगों का हरण करनेवाला सोम **अक्रान्**=हमारे शरीर में गति करता है। **यजतः**=यह सोम संगन्तव्य होता है। **संयतः**=शरीर में सम्यक् यत (काबू) हुआ-हुआ **मदः**=उल्लास का जनक होता है। **नृम्णा शिशानः**=हमारे बलों को तीक्ष्ण करता हुआ यह सोम **महिषः न**=अत्यन्त महनीय वस्तु के समान **शोभते**=शोभा को प्राप्त होता है। सब से अधिक महनीय वस्तु सोम ही है।

भावार्थ—सोम हमारे साथ वेदज्ञान को जोड़ता है। वेदज्ञान द्वारा हमें 'आयु-प्राण-प्रजा' आदि रत्नों को प्राप्त कराता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह उल्लास का जनक व शक्तिवर्धक होता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अत्कं न निक्तम् (दृढ़ कवच के समान)

उक्षा मिमाति प्रति यन्ति धेनवो देवस्य देवीरुप यन्ति निष्कृतम्।
अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत ॥ ४ ॥

(१) **उक्षा**=शरीर को शक्ति से सिक्त करनेवाला **सोमः**=सोम **मिमाति**=प्रभु के स्तुति शब्दों का उच्चारण करता है। 'सोम' रक्षित होने पर, रक्षक को प्रभु-प्रवण बनाता है। यह सोमी पुरुष प्रभु का स्तवन करता हुआ प्रभु के नामों का जप करता है। ऐसा करने पर **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली ये वेदवाणीरूप गौएँ **प्रतियन्ति**=इसकी ओर आती हैं। **देवस्य**=उस प्रभु की ये **देवीः**=दिव्य वाणियाँ **निष्कृतम्**=सोमरक्षण से संस्कृत हृदयवाले पुरुष को **उपयन्ति**=समीपता से प्राप्त होती हैं। (२) यह सोम **अर्जुनम्**=ज्ञान की वाणियों का अर्जन करनेवाले, **वराम्**=वासनाओं का निवारण करनेवाले, **अव्ययम्**=विविध विषयों की ओर न जानेवाले पुरुष को **अति अक्रमीत्**=अतिशयेन प्राप्त होता है। यह **सोमः निक्तम्**=सोम अत्यन्त शुद्ध व पुष्ट **अत्कं न**=कवच के समान **परि अव्यत**=अपने रक्षक को परितः संवृत कर लेता है। इस सोम के कवच से सुरक्षित पुरुष शारीर व मानस व्याधियाँ व आधियाँ आक्रमण नहीं कर पातीं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें प्रभु की दिव्य वाणियाँ प्राप्त होती हैं। यह सोम अध्ययनशील-विषय व्यावृत्त पुरुष का परिपुष्ट कवच बनता है। उसे रोगों से बचाता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अमृक्त रुशत् वासस्

अमृक्तेन रुशता वाससा हरिरमर्त्यो निर्णिजानः परि व्यत।
दिवस्पृष्ठं बर्हणा निर्णिजे कृतोपस्तरणं चम्वोर्नभस्मयम् ॥ ५ ॥

(१) **हरिः**=दुःखों का हरण करनेवाला **अमर्त्यः**=रोगों से न मरने देनेवाला **निर्णिजानः**=हमारे जीवन को पवित्र व पुष्ट करता हुआ यह सोम हमें **अमृक्तेन**=अहिंसित **रुशता**=चमकते हुए **वाससा**=ज्ञान के वस्त्र से **परिव्यत**=परितः आच्छादित करता है। (२) यह सोम **बर्हणा**=वासनाओं के उद्बर्हण के द्वारा **दिवः पृष्ठम्**=मस्तिष्क रूप द्युलोक के पृष्ठ को (surface को) **निर्णिजे कृत**=शोधन के लिये करता है। मस्तिष्क को दीप्त करनेवाला होता है। यह सोम **चम्वोः**=द्यावापृथिवी के, मस्तिष्क व शरीर के **नभस्मयम्**=(नभस्=water, आपः=रेतः) रेतःकणों से बने हुए

उपस्तरणम्=आच्छादन को करता है रेत:कणों से बना हुआ आच्छादन शरीर को रोगों के आक्रमण से बचाता है और मस्तिष्क को **तामस**=अन्धकार से आवृत नहीं होने देता। वस्तुत: सोम इन रेत:कणों के द्वारा शरीर को नीरोग व मस्तिष्क को दीप्त बनाता है।

भावार्थ—सोम हमारा आच्छादन बनता है। इससे हमारे पर न रोगों का आक्रमण होता है और न अज्ञानजनित कुविचारों का।

ऋषि:—**हिरण्यस्तूप:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**जगती**॥ स्वर:—**निषाद:**॥

सूर्यस्य रश्मय: इव

सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते।
तन्तुं ततं परि सर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किं चन॥ ६॥

(१) **सर्गास:**=सृज्यमान सोम **सूर्यस्य रश्मय: इव**=सूर्य की किरणों की तरह **द्रावयित्नव:**=अज्ञानान्धकार को दूर भगानेवाले हैं। **मत्सरास:**=आनन्द का संचार करनेवाले हैं। **प्रसुप:**=शत्रुओं को सुलानेवाले हैं। ये सोमकण **साकम्**=युगपत्, साथ-साथ **ततं तन्तुम्**=विस्तृत तन्तु निर्मित वस्त्र को **परिईरते**=हमारे चारों ओर प्रेरित करते हैं। हमें गत मन्त्र में वर्णित 'अमृक्त, रुशत् वासस्' से आच्छादित करते हैं। सोमकणों के वस्त्र से आच्छादित हुए-हुए हम रोगों व वासनाओं से बचे रहते हैं। (२) **आशव:**=ये शीघ्रता से हमें कार्यों में व्याप्त करनेवाले सोम **इन्द्रात् ऋते**=जितेन्द्रिय पुरुष को छोड़कर **किञ्चन धाम न पवते**=किसी अन्य स्थान में नहीं प्राप्त होते। इन सोम कणों के रक्षण के लिये जितेन्द्रियता आवश्यक है। जितेन्द्रिय पुरुष ही इनका पात्र बनता है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता के होने पर सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम सूर्यरश्मियों के समान अन्धकार को दूर करनेवाला व हमारे जीवनों में आनन्द का संचार करनेवाला है।

ऋषि:—**हिरण्यस्तूप:**॥ देवता—**पवमान: सोम:**॥ छन्द:—**निचृज्जगती**॥ स्वर:—**निषाद:**॥

वाजा: कृष्टय:

सिन्धोरिव प्रवणे निम्न आशवो वृषच्युता मदासो गातुमाशत।
शं नो निवेशे द्विपदे चतुष्पदेऽस्मे वाजाः सोम तिष्ठन्तु कृष्टयः॥ ७॥

(१) **सिन्धो: इव**=जैसे नदी के जल **निम्ने**=निम्न प्रदेश में जाते हैं, उसी प्रकार **वृषच्युता:**=(वृषो हि भगवान् धर्म:) धार्मिक पुरुष से शरीर में आसिक्त हुए-हुए ये सोमकण **प्रवणे**=(easer, modesthu humer) सोमरक्षण के लिये उत्सुक नम्र पुरुष में **गातुं आशत**=मार्ग का व्यापन करते हैं, नम्र पुरुष में सुरक्षित होकर रहते हैं। ये सोमकण **आशव:**=उसे शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त करनेवाले होते हैं। और **मदास:**=आनन्द व उल्लास का कारण बनते हैं। (२) ये सोम **न: निवेशे**=हमारे गृहों में **द्विपदे**=मनुष्यों के लिये व **चतुष्पदे**=पशुओं के लिये **शम्**=शान्ति को देनेवाले हों। हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **अस्मे**=हमारे लिये **वाजा:**=शक्तिशाली (शक्ति के पुञ्ज) **कृष्टय:**=(A learned man) विद्वान् पुरुष **तिष्ठन्तु**=ठहरें। अर्थात् हमारी इस प्रकार के सशक्त विद्वान् पुरुषों के संग में उठने-बैठने की प्रवृत्ति हो।

भावार्थ—सोम का रक्षण, इनके रक्षण के लिये उत्सुक नम्र (प्रभु-भक्त) पुरुष ही कर पाते हैं। ये सोमकण हमारे घरों को सुन्दर बनाते हैं, क्योंकि इनके रक्षण से सब नीरोग रहते हैं। सोमरक्षण से हमारी रुचि ज्ञानी सशक्त पुरुषों के साथ उठने-बैठने की होती है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वसुमत्-हिरण्यवत्-अश्वावत्-गोमत्-यवमत्'

आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्वावद्गोमद्यवमत्सुवीर्यम्।
यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥ ८ ॥

(१) हे **सोम**=सोम! तू **नः**=हमारे लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **आपवस्व**=प्राप्त करा। जो शक्ति **वसुमत्**=उत्तम वसुओंवाली है, निवास को उत्तम बनानेवाले सब आवश्यक तत्त्वों से युक्त है, **हिरण्यवत्**=ज्योति व वीर्यवाली है, हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाली है (वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है), **अश्वावत्**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली है, **गोमत्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली है तथा **यवमत्**= 'बुराइयों को दूर करनेवाली व अच्छाइयों को हमारे साथ जोड़नेवाली' है (यु मिश्रण)—मिश्रणयोः)। (२) हे सोम! **यूयम्**=तुम **हि**=ही **मम**=मेरे **पितरः**=रक्षक **स्थन**=हो। **दिवः मूर्धानः**=तुम मेरे लिये प्रकाश के शिखर हो, मुझे ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करानेवाले हो। **प्रस्थिताः**=शरीर में प्रकर्षेण स्थित हुए-हुए तुम **वयस्कृतः**=उत्तम आयुष्य को करनेवाले हो। हमारे जीवन को ये सोमकण ही दीर्घ व प्रशस्त बनाते हैं।

भावार्थ—ये सोम हमारा रक्षण करते हुए, प्रकाश को बढ़ाते हुए, हमारे जीवनों को उत्तम बनाते हैं।

सूचना—सुरक्षित सोम अन्नमयकोश को वसु (उत्तम निवास) वाला (नीरोग) बनाते हैं। प्राणमयकोश को हिरण्यवाला (वीर्यवाला) बनाते हैं, इसी से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। मनोमयकोश को **अश्वावत्**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला, विज्ञानमयकोश को उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला तथा आनन्दमयकोश को यव (बुराइयों से रहित, अच्छाइयों से युक्त) बनाते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

साति अच्छ, वृष्टिं अच्छ

एते सोमाः पवमानास इन्द्रं रथाइव प्र ययुः सातिमच्छ।
सुताः पवित्रमति यन्त्यव्यं हित्वी वव्रिं हरितो वृष्टिमच्छ ॥ ९ ॥

(१) **एते**=ये **सोमाः**=सोमकण **पवमानासः**=पवित्र करनेवाले हैं। **इन्द्रं अच्छ**=जितेन्द्रिय पुरुष की **अच्छ**=ओर इस प्रकार **प्रययुः**=प्राप्त होते हैं, **इव**=जैसे कि **रथाः**=रथ **सातिम्**=संग्राम को प्राप्त होते हैं (सीयते म्रियतेऽस्मिन्निति सातिः संग्रामः)। (२) **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोमकण **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले **अव्यम्**=अपना रक्षण करनेवालों में उत्तम पुरुष को **अतियन्ति**=अतिशयेन प्राप्त होते हैं। **हरितः**=सूर्य की रश्मियों के समान ये सोमकण **वव्रिं हित्वी**=आवरण को हटाकर, अज्ञान के परदे को दूर करके **वृष्टिं अच्छ**=आनन्द की वृष्टि की ओर हमें ले चलते हैं।

भावार्थ—ये सोम हमें जीवन-संग्राम में विजयी बनाते हैं। अज्ञान के आवरण को हटाकर आनन्द की वर्षा को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमृडीकः अनवद्यः

इन्दुविन्द्राय बृहते पवस्व सुमृळीको अनवद्यो रिशादाः।
भरा चन्द्राणि गृणते वसूनि देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥ १० ॥

(१) **इन्दो**=हे सोम! तू **बृहते**=वृद्धि (उन्नति) के मार्ग पर चलनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पवस्व**=प्राप्त हो। **सुमृडीकः**=तू उसके जीवन को सुखी करनेवाला हो। **अनवद्यः**=सब अवद्यों (पापों) से उसे ऊपर उठानेवाला हो (न अवद्यं यस्मात्)। **रिशादाः**=सब शत्रुओं का नष्ट करनेवाला हो (रिशतां असिता)। (२) **गृणते**=स्तुति करनेवाले के लिये **चन्द्राणि वसूनि**=आह्लादकर वसुओं को, निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को, **भरा**=तू प्राप्त करा। तेरे सुरक्षित होने पर **देवैः**=दिव्यगुणों से युक्त हुए-हुए (प्रकाश व दृढ़ता युक्त हुए-हुए) **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, मस्तिष्क व शरीर **नः**=हमारा **प्रावतम्**=प्रकर्षेण रक्षण करें। सुरक्षित सोम मस्तिष्क को दीप्त बनाता है और शरीर को दृढ़ करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें निष्पाप व सुखी बनाता है। ये हमें आह्लादकारक वसुओं को प्राप्त कराता है। मस्तिष्क को दीप्त व शरीर को दृढ़ करता है।

यह सोमरक्षक पुरुष निर्दोष जीवनवाला बनकर गतिशील व सबके साथ मिलकर चलनेवाला बनता है, सो 'रेणु' कहलाता है (री=गति, आलिंगन) यह सबके प्रति स्नेहवाला होने से 'वैश्वामित्रः' है। इसीका अगला सूक्त है। यह सोम का प्रशंसन करता हुआ कहता है—

[७०] सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सप्त धेनवः त्रिः दुदुहे

त्रिर॑स्मै स॒प्त धे॒नवो॑ दुदुह्रे स॒त्यामा॒शिरं॑ पू॒र्व्ये व्यो॑मनि।
च॒त्वार्य॒न्या भुव॑नानि नि॒र्णिजे॒ चारू॑णि चक्रे॒ यदृ॒तैरव॑र्धत॥ १॥

(१) **अस्मै**=इस सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष के लिये **सप्त धेनवः**=सात छन्दों से युक्त ये वेदवाणी रूप गौवें, **पूर्व्ये व्योमनि**=सर्वोत्कृष्ट हृदयकाश में **त्रिः**=तीन रूपों से, आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक रूप में **सत्याम्**=सत्य **आशिरं (आश्रृणाति)**=वासनाओं के विनाशक ज्ञान को **दुदुह्रे**=दोहती हैं। ये वेदवाणियाँ उसे वह ज्ञान प्राप्त कराती हैं, जो उसकी वासनाओं को विनष्ट करके उसके जीवन को पवित्र करता है। यह ज्ञान काम-क्रोध को विनष्ट करके उसके अध्यात्म जीवन को शान्त बनाता है। लोभ व मोह से ऊपर उठाकर इसके आधिभौतिक जीवन को उत्तम करता है। मद-मत्सर से दूर करके इसे आधिदैविक दृष्टि से ऊँचा उठाता है। (२) यह सोमरक्षक पुरुष **चत्वारि**=चारों **अन्या**=विलक्षण **भुवनानि**=लोकों को, शरीर के अंगों के, सिर, छाती, पैर व पाँवों के, **निर्णिजे**=शोधन के लिये होता है। सोम, सुरक्षित हुआ-हुआ, शरीर के सब अंगों को सशक्त करता है। **यद्**=जब **ऋतैः**=व्यवस्थित क्रियाओं के द्वारा यह **अवर्धत**=बढ़ता है, उन्नतिपथ पर चलता है तो **चारूणि चक्रे**=यह सब अंगों को सुन्दर बना डालता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है तथा शरीर के सब अंग सुन्दर बनते हैं। वेद से हम अध्यात्म अधिभूत व अधिदेव को समझनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

देवस्य सदः विदुः

स भिक्ष॑माणो अ॒मृत॑स्य॒ चारु॑ण उ॒भे द्यावा॒ काव्ये॑ना॒ वि श॑श्रथे।
तेजि॑ष्ठा अ॒पो मं॒हना॒ परि॑ व्यत॒ यदी॑ दे॒वस्य॒ श्रव॑सा॒ सदो॑ वि॒दुः॥ २॥

(१) **स**=वह सोमरक्षक पुरुष **अमृतस्य**=नीरोगता के आधारभूत **चारुणः**=जीवन को सुन्दर बनानेवाले इस सोम का **भिक्षमाणः**=याचन करता हुआ, सोमरक्षण के लिये ही प्रभु से आराधना करता हुआ, **उभे द्यावा**=दोनों मस्तिष्क व शरीर रूप द्यावापृथिवी को **काव्येन**=उत्कृष्ट ज्ञान से **विशश्रथे**=(delight repeatedly) निरन्तर आनन्दित करता है। (२) इस सोमरक्षण के द्वारा **तेजिष्ठाः**=अत्यन्त तेजस्विता को धारण करानेवाले **अपः**=रेत:कणों को **परिवत**=चारों ओर से ओढ़नेवाला बनता है। रेत:कणों को अपना कवच बनाता है। **मंहना**=(मंह=To grow, increase, To shine) विकास के दृष्टिकोण से अथवा चमकने के दृष्टिकोण से वह ऐसा करता है। सारी उन्नति व दीप्ति का निर्भर इस सोम पर ही तो है। इस सोम को अपना कवच बनाने पर **यद्**=जब **ई**=निश्चय से ये सोमरक्षक पुरुष **श्रवसा**=ज्ञान प्राप्ति के द्वारा **देवस्य सदः**=उस देव के अधिष्ठान, अर्थात् ब्रह्मलोक को **विदुः**=जान लेते हैं। सोमरक्षण से अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए अन्ततः हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सोम (वीर्य) अमृत है, चारु (सुन्दर) है। ये शरीर व मस्तिष्क को दीप्ति से युक्त करता है। इसके द्वारा हम ज्ञान-वृद्धि को करते हुए अन्ततः ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'केतवः, अमृत्यवोऽदाभ्यासः'

ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु।
येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना अगृभ्णत॥ ३॥

(१) **ते**=वे सोमकण **अस्य**=इस सोमरक्षक पुरुष के **केतवः**=प्रज्ञान का साधन **सन्तु**=हों। ये सोमकण ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। **अमृत्यवः**=ये सोमकण अ-मृत्यु हैं, इस सोमी पुरुष को रोगरूप मृत्युओं से आक्रान्त नहीं होने देते। **अदाभ्यासः**=ये काम-क्रोध आदि वासनाओं से हिंसित नहीं होते। सोमरक्षक पुरुष इन वासनाओं का शिकार नहीं होता। इस प्रकार **उभे जनुषी अनु**=भौतिक व अध्यात्म दोनों जीवनों के ये बड़े अनुकूल होते हैं। नीरोगता से भौतिक जीवन की सौन्दर्य बना रहता है और मन की निर्वासनता के कारण अध्यात्म जीवन सुन्दर होता है। (२) ये सोमकण वे हैं, **येभिः**=जिनके द्वारा भौतिक जीवन के दृष्टिकोण से **नृम्णा**=बलों का **पुनते**=पवित्रीकरण करते हैं, **च**=और अध्यात्म दृष्टिकोण से **देव्या**=दिव्यगुणों को अपने में प्रेरित करते हैं (प्रेरयन्ति सा०) **आत् इत्**=अब शीघ्र ही **राजानम्**=जीवन को दीप्त करनेवाले इस सोम को **मनना**=मनन के द्वारा **अगृभ्णत**=ग्रहण करते हैं। मनन-चिन्तन व ज्ञान प्राप्ति में लगे रहने से सोम का रक्षण होता है।

भावार्थ—सोमकण मस्तिष्क के दृष्टिकोण से 'केतवः', शरीर के दृष्टिकोण से 'अमृत्यवः' तथा हृदय के दृष्टिकोण से 'अदाभ्यासः' हैं। ये शरीर में बल को देते हैं तो मन में दिव्यगुणों का धारण करते हैं। मनन द्वारा इनका रक्षण होता है।

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मृज्यमानः दशभिः सुकर्मभिः

स मृज्यमानो दशभिः सुकर्मभिः प्र मध्यमासु मातृषु प्रमे सचा।
व्रतानि पानो अमृतस्य चारुण उभे नृचक्षा अनु पश्यते विशौ॥ ४॥

(१) सोम का रक्षण तभी होता है, जब कि सब की सब इन्द्रियाँ उत्तम कर्मों में ही लगी

रहें। **सः**=वह सोम **दशभिः सुकर्मभिः**=(शोभनं कर्म येषां) उत्तम कर्मोंवाली दसों इन्द्रियों से **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता है। यह सोम **सचा**=हमारे अन्दर समवेत होता हुआ, रुधिर में ही व्याप्त होता हुआ, **मध्यमासु**=(मध्ये वासु) हृदयदेश में निवास करनेवाली **मातृषु**=इन वेदरूप माताओं के होने पर **प्रमे**=(प्रमातुम्) वस्तुतत्त्व को जानने के लिये होता है, अर्थात् सोम हमें तत्त्वज्ञान को प्राप्त कराता है। (२) **अमृतस्य**=शरीर को रोगों का शिकार न होने देनेवाले (न मृतं यस्मात्) **चारुणः**=जीवन को सुन्दर बनानेवाले सोम के **व्रतानि**=व्रतों को, सोमरक्षण के नियमों को **पानः**=रक्षित करता हुआ, उन सब नियमों का पालन करता हुआ **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाला यह व्यक्ति **उभे विशौ**=दोनों प्रजाओं को, भौतिक दृष्टिकोण से बलशाली तथा अध्यात्म दृष्टिकोण से दिव्यगुणोंवाली प्रजाओं को **अनुपश्यते**=अनुकूलता से देखता है। अर्थात् यह अपने जीवन में, गतमन्त्र के अनुसार 'नृम्णा-देव्या' बलों व दिव्यगुणों दोनों को प्रेरित करता है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ सुकर्मों में लगी रहें तो सोम पवित्र बना रहता है। यह पवित्र सोम हमें तत्त्वज्ञान प्राप्त कराता है। सोमी पुरुष सब मनुष्यों का ध्यान करता है तथा भौतिक व अध्यात्म दोनों जीवनों को सुन्दर बनाता है।

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

इन्द्रियाय-धायसे

स मर्मृजान इन्द्रियाय धायस ओभे अन्ता रोदसी हर्षते हितः।
वृषा शुष्मेण बाधते वि दुर्मतीरादेदिशानः शर्यहेव शुरुधः॥ ५॥

(१) **सः**=वह सोम **मर्मृजानः**=शुद्ध किया जाता हुआ, अर्थात् वासनाओं से मलिन न होता हुआ **इन्द्रियाय**=सब इन्द्रियों की शक्ति के लिये होता है। यह **धायसे**=धारण के लिये होता है, शरीर, मन व बुद्धि सभी का यह धारण करता है। **उभे रोदसी अन्तः**=दोनों द्यावापृथिवी, मस्तिष्क व शरीर के अन्दर **हितः**=स्थापित हुआ-हुआ **आहर्षते**=उन्हें आनन्दित करता है, शरीर को स्वस्थ बनाता है और मस्तिष्क को दीप्त करता है। (२) **वृषा**=यह शक्तिशाली सोम **दुर्मतीः**=दुष्ट बुद्धियों को **शुष्मेण**=शत्रुशोषक बल से **विबाधते**=विशिष्ट रूप से बाधित करता है। सोमरक्षण से काम, क्रोध, लोभ आदि के बाधन से दुर्मति विनष्ट होकर हमारे में सुमति का प्रादुर्भाव होता है। यह **शर्यहा इव**=हनन-साधन इषुओं से प्रतिभयों के हनन करनेवाले योद्धा की तरह यह सोम **शुरुधः**=(शुचा रुन्धन्ति) शोकग्रस्त करनेवाली आसुरभावनाओं को **आदेदिशानः**=आह्वान करता हुआ सोम दूर भगाता है (पुनः-पुनः आह्वयन् हन्ति सा०)।

भावार्थ—रक्षित सोम हमारी इन्द्रियों के बल के लिये होता है व धारण के लिये होता है, यह शरीर व मस्तिष्क को शक्तिशाली बनाता है। दुर्मति को दूर करता है और वासनाओं को दूर भगाता है।

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

कं अवृणीत सुक्रतुः

स मातरा न ददृशान उस्त्रियो नानददेति मरुतामिव स्वनः।
जानन्नृतं प्रथमं यत्स्वर्णरं प्रशस्तये कमवृणीत सुक्रतुः॥ ६॥

(१) **सः**=वह सोम **उस्त्रियः न**=मानो प्रकाश ही प्रकाश है (brightness)। यह ज्ञानाग्नि

को दीप्त करता है। **मातरा ददृशानः**=माता-पिता, अर्थात् पृथिवी व द्युलोक (शरीर व मस्तिष्क) का ध्यान करता हुआ **नानदत्**=गर्जना करता हुआ, प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता हुआ **एति**=हमें प्राप्त होता है। यह **मरुतां इव स्वनः**=वायुओं के गर्जन के समान शब्दवाला होता है। सोमरक्षण से शरीर नीरोग बनता है, मस्तिष्क दीप्त होता है तथा हृदय प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला होता है। परिणामतः वाणी प्रभु के स्तोत्रों का ऊँचे-ऊँचे उच्चारण करनेवाली बनती है। (२) यह सोमरक्षण करनेवाला पुरुष **सुक्रतुः**=शोभनकर्मा होता हुआ **प्रथमम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले **स्वर्णरम्**=स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले **ऋतम्**=सत्य वेदज्ञान को **जानन्**=जानता हुआ **यत्**=जब होता है तो **प्रशस्तये**=जीवन की प्रशस्ति के लिये **कं अवृणीत**=उस आनन्दस्वरूप परमात्मा का वरण करता है। सोमरक्षक का झुकाव प्रभु की ओर होता है। भोग प्रवण व्यक्ति प्रकृति की ओर जाता है।

भावार्थ—सोम शरीर व मस्तिष्क दोनों को उत्तम बनाता है। हृदय में प्रभु के स्तवनवाला हमें बनाता है। सोमी पुरुष सत्य वेदज्ञान को जानता हुआ प्रभु का वरण करता है।

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

हरिणी शृंगे

रुवति भीमो वृषभस्तविष्यया शृङ्गे शिशानो हरिणी विचक्षणः।
आ योनिं सोमः सुकृतं नि षीदति गव्ययी त्वग्भवति निर्णिगव्ययी॥ ७॥

(१) **सः**=वह सोम **रुवति**=प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है। सोमरक्षण से हम प्रभु स्तवन की वृत्तिवाले बनते हैं। **भीमः**=यह शत्रुओं के लिये भयंकर होता है, काम-क्रोध आदि को विनष्ट करता है। **वृषभः**=शक्तिशाली होता है। **तविष्यया**=बल की कामना से **शृंगे**=अपने शृंगों को **शिशानः**=तीव्र करता है। उन शृंगों को, जो **हरिणी**=हमारे सब कष्टों का हरण करनेवाले हैं। ये शृंग ही शरीर के दृष्टिकोण से 'तेजस्विता' तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से 'ज्ञान' हैं। ये तेजस्विता व ज्ञान हमें सबल बनाते हैं, इनके द्वारा ही रोग व वासना रूप शत्रुओं को पराजित करते हैं। इस प्रकार यह सोम **विचक्षणः**=विशेषरूप से हमारा द्रष्टा होता है, हमारा ध्यान करता है। (२) **सोमः**=यह सोम **सुकृतम्**=अत्यन्त सुसंस्कृत **योनिम्**=शरीर रूप गृह में **आनिषीदति**=सर्वथा स्थित होता है। यह सोम हमारे लिये **गव्ययी**=ज्ञान की वाणियों से बनी हुई **त्वग् भवति**=आवरण होता है। यह 'गव्ययीत्वक्' हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती है। यह सोम **निर्णिक्**=हमारा शोधन व पोषण करनेवाला होता है। **अव्ययी** (अवि-अय्) यह विविध विषयों की ओर न जानेवाला होता है। सोमरक्षण से इन्द्रियाँ विषयों में जाने से रुकती हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें ज्ञान व तेजस्विता रूप शृंगों को प्राप्त कराता है, जिनसे हम वासनाओं व रोगों के आक्रमण से अपने को बचाते हैं।

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

त्रिधातु मधु

शुचिः पुनानस्तन्वमरेपसमव्ये हरिर्न्यधाविष्ट सानवि।
जुष्टो मित्राय वरुणाय वायवे त्रिधातु मधु क्रियते सुकर्मभिः॥ ८॥

(१) **शुचिः**=पवित्र **हरिः**=दुःखों का हरण करनेवाला सोम **अरेपसम्**=निर्दोष **तन्वम्**=शरीर को **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **अव्ये**=अपना रक्षण करनेवाले पुरुष के **सानवि**=मस्तिष्क रूप

शिखर प्रदेश में **न्यधाविष्ट**=निश्चय से गतिवाला होता है। यह 'अव्य' ऊर्ध्वरेता बनता है। इसके शरीर में रेत:कण ऊर्ध्वगतिवाले होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। (२) **मित्राय**=मित्र के लिये **वरुणाय**=वरुण के लिये तथा **वायवे**=वायु के लिये **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवित हुआ-हुआ यह सोम **सुकर्मभिः**=उत्तम कर्मोंवाले पुरुषों से 'त्रिधातु मधु'=तीनों को धारण करनेवाला मधु **क्रियते**=बनाया जाता है। यह सुरक्षित सोम हमें सबके प्रति स्नेहवाला बनाता है, यह हमें द्वेष से दूर करता है तथा क्रियाशील बनाता है (वा गतौ)। इस प्रकार यह सोम हमारे जीवन में 'मित्र, वरुण व वायु' की स्थापना करता है। ऐसा करने से यह 'त्रिधातु मधु' कहलाता है। इस मधु के रक्षण का उपाय यही है कि हम उत्तम कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—सोम शरीर को निर्दोष करता हुआ मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला होता है। यह हमारे जीवनों में 'स्नेह, निर्द्वेषता व क्रियाशीलता' को स्थापित करता हुआ 'त्रिधातु मधु' कहलाता है।

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

क्षेत्रावत् के द्वारा अनुशासन

पवस्व सोम देववीतये वृषेन्द्रस्य हार्दि सोमधानमा विश।
पुरा नो बाधाद्दुरिताति पारय क्षेत्रविद्धि दिश आहा विपृच्छते ॥ ९ ॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **वृषा**=शक्ति का सेचन करनेवाला तू **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **हार्दि**=हृदयंगम **सोमधानम्**=सोम के आधारभूत इस शरीर को **विश**=प्रविष्ट हो। हे सोम! तू शरीर में ही व्याप्त होनेवाला हो। तेरी व्याप्ति से यह सोमधान शरीर सुन्दर प्रतीत हो। (२) हे सोम! तू **नः**=हमें **पुरा बाधात्**=पूर्व इसके कि दुरित हमारी पीड़ा का कारण बनें, उन **दुरिता अतिपारय**=दुरितों से दूर ले चल। **हि**=निश्चय से **क्षेत्रवित्**=क्षेत्र को माननेवाला **विपृच्छते**=विविध जिज्ञासाओंवाले पुरुष के लिये **दिशः आह**=दिशाओं का ज्ञान देता है। हे सोम! तू ही हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त बनाकर हमें क्षेत्रवित् बनना है और इस योग्य करता है कि हम औरों के लिये मार्गदर्शन कर सकें।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें दुरितों से दूर ले चलता है। हमें क्षेत्रवित् बनाता है।

ऋषिः—**रेणुर्वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शूरो न युध्यन्

हितो न सप्तिरभि वाजमर्षेन्द्रस्येन्दो जठरमा पवस्व।
नावा न सिन्धुमति पर्षि विद्वाञ्छूरो न युध्यन्नव नो निदः स्पः ॥ १० ॥

(१) हे **इन्दो**=सोम **हितः सप्तिः न**=प्रेरित किये हुए घोड़े के समान (हित:=प्रहित:) तू **वाजं अभि अर्ष**=संग्राम की ओर चलनेवाला हो। तू **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **जठरं आपवस्व**=उदर में प्राप्त हो। जितेन्द्रिय पुरुष के शरीर में रहता हुआ तू रोगकृमियों व वासनाओं के साथ संग्राम को करनेवाला हो। इन्हें तूने ही तो समाप्त करना है। (२) **विद्वान्**=हमें ज्ञानी बनाता हुआ तू सब वासनाओं से **अतिपर्षि**=उसी प्रकार पार ले चल **न**=जैसे कि **नावा सिन्धुम्**=नौका से समुद्र को पार करते हैं। **शूरः न**=एक शूर के समान **युध्यन्**=युद्ध करता हुआ **नः**=हमें **निदः**=सब निन्दनीय बातों से **अपस्पः**=(पारय) पार कर। हम सब पापों को युद्ध में पराजित करनेवाले हों।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम एक योद्धा की तरह हमारे रोग व वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करता है।

सोमरक्षण से शक्तिशाली बना हुआ यह 'ऋषभ' कहलाता है। यह सब के प्रति स्नेहवाला होने से 'वैश्वामित्र' है। यह कहता है—

[७१] एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'द्रोह व रोग' का विनाशक सोम

आ दक्षिणा सृज्यते शुष्म्या३सदं वेति द्रुहो रक्षसः पाति जागृविः।
हरिरोपशं कृणुते नभस्पय उपस्तिरे चम्वो३र्ब्रह्म निर्णिजे॥ १॥

(१) **शुष्मी**=शत्रुशोधक बलवाला यह सोम **आसदं वेति**=अपने आधारभूत इस शरीर में गतिवाला होता है। यह सोम शरीर में ही व्याप्त होता है। इसकी व्याप्ति से **दक्षिणा आसृज्यते**=(दक्षिणे सरलोदारौ) सरलता व उदारता उत्पन्न होती है। सोमरक्षक पुरुष सरल वृत्ति का व उदार होता है। यह सोम **द्रुहः**=मन में उत्पन्न होनेवाली द्रोह की वृत्तियों से तथा **रक्षसः**=शरीर में उत्पन्न होनेवाले रोगकृमियों से **पाति**=हमारा रक्षण करता है। इस रक्षण कार्य में यह सदा **जागृविः**=जागरणशील (alert) है। (२) **हरिः**=यह सब द्रोहों व रोगों का हरण करनेवाला सोम **नभस्पयः**=द्युलोक के जल को, मस्तिष्क रूप द्युलोक के ज्ञानरूप जल को, **ओपशम्**=शिरोभूषण **कृणुते**=करता है। हमारे मस्तिष्क को ज्ञान से सुभूषित करता है। **चम्वोः**=द्यावापृथिवी के, मस्तिष्क व शरीर के, **निर्णिजे**=शोधन के लिये **ब्रह्म**=ज्ञान को **उपस्तिरे**=उपस्तीर्ण करता है, बिछाता है। ज्ञान के द्वारा हमारे मस्तिष्क व शरीर का शोधन करनेवाला यह सोम ही है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम मन से द्रोह को दूर करता है, शरीर से रोगों को। यह ज्ञान के द्वारा हमारा शोधन करनेवाला है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तेजस्विता व हृदय की शुद्धता

प्र कृष्टिहेव शूष एति रोरुवदसुर्यं१ वर्णं नि रिणीते अस्य तम्।
जहाति वव्रिं पितुरेति निष्कृतमुपप्रुतं कृणुते निर्णिजं तना॥ २॥

(१) **शूषः**=शत्रुशोषक बलवाला यह सोम **कृष्टिहा इव**=शत्रुहन्ता योद्धा की तरह **प्र एति**=प्रकर्षेण गतिवाला होता है। **रोरुवत्**=खूब ही प्रभु-स्तवन कराता हुआ यह सोम **अस्य**=इस सोमरक्षक पुरुष के **तम्**=उस **असुर्यं वर्णम्**=प्राणशक्ति-सम्पन्न तेजस्वीरूप को **निरिणीते**=निश्चय से प्राप्त कराता है। सोमरक्षण से प्रभु-स्तवन की वृत्ति पैदा होती है और तेजस्विता की प्राप्ति होती है। (२) यह सोम **वव्रिम्**=आच्छादन कर लेनेवाली जरा को **जहाति**=छोड़ता है, बुढ़ापे को नहीं आने देता। **पितुः**=उस परमपिता के **निष्कृतम्**=शुद्ध किये हुए हृदयरूप स्थान को **एति**=प्राप्त होता है। हृदय को शुद्ध बनाता है। **तना**=शक्तियों के विस्तार के द्वारा इस हृदय को **उपप्रुतम्**=(समीपगमनशीलं सा०) प्रभु के समीप जाने की वृत्तिवाला तथा **निर्णिजम्**=शुद्ध **कृणुते**=करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से तेजस्विता प्राप्त होती है, बुढ़ापा दूर होता है और हृदय बड़ा परिशुद्ध

बनता है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मोदते-नसते-साधते

अद्रिभिः सुतः पवते गभस्त्योर्वृषायते नभसा वेपते मती।
स मोदते नसते साधते गिरा नेनिक्ते अप्सु यजते परीमणि ॥ ३ ॥

(१) **अद्रिभिः**=उपासकों द्वारा (adore) **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **गभस्त्योः**=भुजाओं में **पवते**=गतिवाला होता है। उपासना के द्वारा ये उपासक, वासनाओं से बचकर सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर पाते हैं। यह सुरक्षित सोम भुजाओं में शक्ति का स्थापन करनेवाला होता है। **वृषायते**=यह सोम शक्तिशाली की तरह आचरण करता है। **नभसा**=मस्तिष्करूप द्युलोक के द्वारा तथा **मती**=मननपूर्वक की गयी स्तुति के द्वारा **वेपते**=सर्व शरीर में गतिवाला होता है (सर्वत्र गच्छति सा०) सोम को शरीर में सुरक्षित करने के प्रमुख साधन 'स्वाध्याय और स्तुति' ही हैं। (२) **सः**=यह सोमरक्षक पुरुष **मोदते**=प्रसन्नता का अनुभव करता है, **नसते**=लक्ष्य-स्थान की ओर बढ़नेवाला होता है (go toward) **साधते**=कार्यों को सिद्ध करता है। **गिरा नेनिक्ते**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा जीवन का शोधन करता है तथा **परीमणि**=पालन व पूरण के निमित्त **अप्सु यजते**=सदा कर्मों में संगवाला होता है। यह क्रियाशीलता ही इसे शरीर में नीरोग व मन में वासनाशून्य बनाये रखती है।

भावार्थ—सोम शक्ति देता है, प्रसन्नता प्राप्त कराता है, हमें क्रियाशील बनाता है। ज्ञानाग्नि को दीप्त करके जीवन का शोधन करता है, उत्कृष्ट कर्मों में व्यापृत रखके यह हमारा पालन व पूरण करता है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'द्युक्ष-पर्वतावृध-हर्म्यसक्षणि'

परि द्युक्षं सहसः पर्वतावृधं मध्वः सिञ्चन्ति हर्म्यस्य सक्षणिम्।
आ यस्मिन्गावः सुहुताद ऊधनि मूर्धञ्छ्रीणन्त्यग्रियं वरीमभिः ॥ ४ ॥

(१) **सहसः**=शक्ति-सम्पन्न (सहस्विनः) **मध्वः**=सोम के कण **परिसिञ्चन्ति**=उस जितेन्द्रिय पुरुष को शरीर में सर्वत्र सिक्त करते हैं जो कि (क) **द्युक्षं** (क्षि निवासे)=ज्ञान-ज्योति में निवास करता है, (ख) **पवतावृधम्**=शरीर को (पर्वत=A rock) एक चट्टान के समान बढ़ाता है (अश्मा भवतु नस्तनूः) तथा (ग) **हर्म्यस्य सक्षणिम्**=(an abode of evil spirits हर्म्य) आसुरभावनाओं के निवास को पराभूत करनेवाला है (सोढारं=सक्षणिम् द०) अर्थात् हृदय को आसुरभावों से शून्य करनेवाला है। वस्तुतः सोमरक्षण से ही यह मस्तिष्क में 'द्युक्ष', शरीर में 'पर्वतावृध' तथा हृदय में 'हर्म्यस्य सक्षणि' बनता है। (२) यह सोमरक्षक वह है **यस्मिन् सुहुतादे**=जिस (सु-हुत-अद्) यज्ञशेष का सेवन करनेवाले में **गावः**=वेदवाणीरूप गौवें **ऊधनि मूर्धन्**=ज्ञानदुग्ध के आधारभूत मस्तिष्क में **वरीमभिः**=हृदय की विशालताओं के साथ **अग्रियम्**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञान को **श्रीणन्ति**=परिपक्व करती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष ज्ञान में निवास करनेवाला, शरीर को चट्टान के समान दृढ़ बनानेवाला तथा आसुरभावों का पराभव करनेवाला होता है। इसमें ज्ञान की वाणियाँ हृदय की विशालता के साथ उत्कृष्ट ज्ञान को स्थापित करती हैं।

ऋषिः—ऋषभो वैश्वामित्रः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

शक्ति-दिव्यता-ज्ञान

समी रथं न भुरिजोरहेषत दश स्वसारो अदितेरुपस्थ आ।
जिगादुप ज्रयति गोरपीच्यं पदं यदस्य मतुथा अजीजनन्॥ ५॥

(१) **दश**=दस **स्वसारः**=(स्व-सृ) आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली इन्द्रियाँ, विषयों में न भटकनेवाली इन्द्रियाँ **रथं न**=जीवनयात्रा के लिये रथ के समान जो यह सोम है, उसे **ईं**=निश्चयपूर्वक **भुरिजोः**=बाहुओं में **सं अहेषत**=सम्यक् प्रेरित करती हैं। अर्थात् सोम भुजाओं में शक्ति का स्थापन करनेवाला होता है। और अन्ततः **अदितेः**=अदीना देवमाता की **उपस्थे**=गोद में **आजिगात्**=यह आता है। सुरक्षित सोम हमें अदीन व दिव्य गुण-सम्पन्न बनाता है। (२) **यत्**=जब **मतुथा**=मननपूर्वक प्रभु का स्तवन करनेवाले लोग **अस्य अजीजनन्**=इस सोम का अपने अन्दर प्रादुर्भाव करते हैं तो यह सोमरक्षक पुरुष **गोः**=वेदवाणी के **अपीच्यं पदम्**=अन्तर्हित (सुगुप्त) व अतिसुन्दर शब्दों व अर्थों की ओर **उपज्रयति**=समीपता से प्राप्त होता है। अर्थात् इस वेदवाणी को सम्यक् समझनेवाला होता है। वेदवाणी के शब्द 'अपीच्य' (beautiful) सुन्दर हैं, इनका अर्थ (Hidden) सुगुप्त है। सोम रक्षक पुरुष इन दोनों शब्दार्थों का ग्रहण करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से शक्ति व दिव्यता प्राप्त होती है। बुद्धि सूक्ष्म होकर ज्ञान की वाणियों को समझनेवाली होती है। 'शरीर में शक्ति, मन में दिव्यता, मस्तिष्क में ज्ञान'।

ऋषिः—ऋषभो वैश्वामित्रः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

श्येनो न, अश्वो न

श्येनो न योनिं सदनं धिया कृतं हिरण्ययमासदं देव एषति।
ए रिणन्ति बर्हिषि प्रियं गिराश्वो न देवाँ अप्येति यज्ञियः॥ ६॥

(१) सोम का रक्षक पुरुष **श्येनः न**=शंसनीय गतिवाले के समान **देवः**=देववृत्तिवाला व प्रकाशमान जीवनवाला होता हुआ यह **योनिम्**=सबके मूल उत्पत्ति-स्थान **सदनम्**=सर्वाधार, **धिया कृतम्**=बुद्धि के द्वारा प्रादुर्भूत किये गये, बुद्धि द्वारा जानने योग्य, **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय प्रभु को **आसदम्**=प्राप्त करने के लिये **एषति**=गतिवाला होता है। (२) **ई**=निश्चय से **प्रियम्**=प्रीति के उत्पन्न करनेवाले इस सोम को **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आरिणन्ति**=सर्वथा प्रेरित करते हैं। स्वाध्याय द्वारा हृदय को निर्वासन बनाकर सोम को शरीर में सुरक्षित करते हैं। इसी दृष्टिकोण से **अश्वः न**=निरन्तर कर्मों में व्याप्त पुरुष के समान (अशू व्याप्तौ) **यज्ञियः**=यह यज्ञशील व्यक्ति **देवान् अपि एति**=दिव्यगुणों की ओर गतिवाला होता है। कर्मों में लगे रहना ही वासनाओं से बचने का साधन होता है, इसी प्रकार जीवन यज्ञिय व दिव्य बनता है।

भावार्थ—हम शंसनीय गतिवाले होकर प्रभु की ओर चलें। कर्मों में व्याप्ति के द्वारा सोम का रक्षण करते हुए दिव्य गुणों का वर्धन करें।

ऋषिः—ऋषभो वैश्वामित्रः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

यतिः-परायतिः

परा व्यक्तो अरुषो दिवः कविर्वृषा त्रिपृष्ठो अनविष्ट गा अभि।

सहस्रणीतिर्यतिः परायती रेभो न पूर्वीरुषसो वि राजति॥ ७॥

(१) सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष **परा व्यक्तः**=पराविद्या (आत्मविद्या) से अलंकृत हुआ-हुआ **अरुचः**=आरोचमान होता है। **दिवः कविः**=ज्ञान के द्वारा क्रान्तदर्शी बना हुआ, वस्तुतत्त्वों को देखनेवाला और अतएव उनमें न फँसनेवाला, **वृषा**=शक्तिशाली होता है। **त्रिपृष्ठः**='ऋग् यजु साम' रूप तीन आधारोंवाला **गाः अभि**=वेदवाणी रूप गौओं की ओर **अनविष्ट**=(नव् गतौ) गतिवाला होता है। (२) **सहस्त्राणीतिः**=आनन्दमय प्रभु की ओर अपने को ले चलनेवाला, **यतिः**=संयमी, **परायतिः**=विषयों से दूर जानेवाला **रेभः न**=एक स्तोता के समान **पूर्वीः उषसः**=बहुत ही प्रातः-प्रातः (early in the morning) **विराजति**=अपने जीवन को व्यवस्थित करने में लगता है (regulates)। प्रातःकाल उठकर अपने नित्य कृत्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष उत्कृष्ट ज्ञानवाला, विषयों में न फँसा हुआ, ज्ञान-प्रवण व संयमी होता है। यह बहुत ही उषाकाल में प्रबुद्ध होकर अपने नित्य कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

कर्म-स्तुति-स्वाध्याय

त्वेषं रूपं कृणुते वर्णो अस्य स यत्राशयत्समृता सेधति स्त्रिधः।
अप्सा याति स्वधया दैव्यं जनं सं सुष्टुती नसते सं गोअग्रया॥ ८॥

(१) **अस्य**=इस सोम का **वर्णः**=वरण करनेवाला व्यक्ति **त्वेषं रूपं कृणुते**=दीप्त रूप को बनाता है। सोमरक्षण द्वारा यह तेजस्वी बनता है। **सः**=वह सोम **यत्र आशयत्**=जहाँ निवास करता है, वहाँ **समृता**=संग्राम में **स्त्रिधः**=हिंसक शत्रुओं को, काम-क्रोध-लोभ आदि को **सेधति**=दूर करता है (=नष्ट करता है)। (२) **अप्सः**=कर्मों का सेवन करनेवाला, निरन्तर कर्मों में लगा हुआ यह सोमरक्षक पुरुष **स्वधया**=आत्मतत्त्व के धारण के हेतु से **दैव्यं जनम्**=देववृत्तिवाले लोगों को **याति**=जाता है। इन देववृत्तिवाले लोगों के सम्पर्क में इसकी चित्तवृत्ति विषय-प्रवण न होकर आत्मतत्त्व की ओर झुकाववाली होती है। यह **सुष्टुती सं नसते**=उत्तम स्तुति के साथ संगत होता है तथा **गोअग्रया**=सृष्टि के प्रारम्भ में ही जानेवाली इस वेदवाणी रूप गौ से **सम्**=संगत होता है। इस वाणी के सम्पर्क में अपने ज्ञान को उत्तरोत्तर बढ़ाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम दीप्त जीवनवाले व जीवन-संग्राम में जीतनेवाले होंगे। कर्मशील व सदा उत्तम संग वाले बनें। सदा स्तुति व स्वाध्याय में प्रवृत्त होंगे।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'दिव्यः सुपर्णः'

उक्षेव यूथा परियन्नरावीदधि त्विषीरधित सूर्यस्य।
दिव्यः सुपर्णोऽव चक्षत क्षां सोमः परि क्रतुना पश्यते जाः॥ ९॥

(१) **सोमः**=वीर्यशक्ति **उक्षा इव**=सेक्ता की तरह बनी हुई, शरीर के अंग-प्रत्यंग को सिक्त करती हुई, **यूथा**=प्राणों व इन्द्रियों के गणों के **परियन्**=चारों ओर गति करती हुई, अर्थात् इनका रक्षण करती हुई, **अरावीत्**=उस प्रभु का स्तवन करती है। अर्थात् सोमरक्षण से हमारे शरीरस्थ सभी इन्द्रियादि के गण ठीक बने रहते हैं और हमारा अन्तःकरण स्तुति-प्रवण होता है, हमारे मुखों से प्रभु के पवित्र स्तोत्र उच्चरित होते हैं। यह सोमरक्षक पुरुष **सूर्यस्य**=ज्ञान-सूर्य की **त्विषीः**=दीप्तियों को **अधि अधित**=आधिक्येन धारण करता है। खूब ज्ञानी बनता है। (२) **दिव्यः**=सदा ज्ञान के प्रकाश में रहनेवाला, **सुपर्णः**=मन का उत्तमता से पालन करनेवाला **क्षां अवचक्षत**=इस पृथिवीरूप

शरीर को सम्यक् देखता है। शरीर का भी पूरा ध्यान करता है। **सोमः**=यह शरीरस्थ सोम (वीर्यशक्ति) **क्रतुना**=ज्ञान व शक्ति के द्वारा **जाः**=उत्पन्न होनेवाले इनको **परिपश्यते**=सब दृष्टिकोणों से ध्यान करती है। यह सोमशक्ति इन्हें मस्तिष्क में 'दिव्य', मन में 'सुपर्ण' व शरीर में पूर्ण स्वस्थ बनाती है।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें मस्तिष्क में सूर्य के समान ज्ञानदीप्त बनायेगा। हृदय में हम इस सोमरक्षण से पवित्र बनेंगे तथा शरीर में यह सोम ही हमें नीरोग बनायेगा।

शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले 'हरिमन्तः' ही अगले सूक्त के ऋषि हैं। ये सोम-स्तवन करते हुए कहते हैं—

[७२] द्विसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**हरिमन्तः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सर्वप्रिय वस्तु 'सोम'

हरिं मृजन्त्यरुषो न युज्यते सं धेनुभिः कलशे सोमो अज्यते।
उद्वाचमीरयति हिन्वते मती पुरुष्टुतस्य कति चित्परिप्रियः॥ १॥

(१) **हरिम्**=रोगों का हरण करनेवाले इस सोम को **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं, इसे वासनाओं से मलिन नहीं होने देते। **अरुषः न**=अत्यन्त आरोचमान-सा होता हुआ **धेनुभिः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणीरूप गौओं के साथ **संयुज्यते**=संयुक्त होता है। सुरक्षित सोम हमारे ज्ञानवर्धन का साधन बनता है। **सोमः**=यह सोम **कलशे**=सोलह कलाओं के आधारभूत इस शरीर में **अज्यते**=अलंकृत होता है। (२) यह सोम **वाचम्**=प्रभु की स्तुतिवाणी को **उदीरयति**=उच्चरित करता है, अर्थात् सोमरक्षण से हमारी स्तुति की वृत्ति बनती है। **मती हिन्वते**=यह सोमरक्षक पुरुष बुद्धिपूर्वक अपने को उन्नतिपथ पर प्रेरित करता है। यह सोम **पुरुष्टुतस्य**=अनन्त स्तुतिवाले उस प्रभु का **कितिचित्**=कितना ही **परिप्रियः**=सब दृष्टिकोणों से प्रिय है। वस्तुतः प्रभु ने यही सर्वोत्तम वस्तु हमें प्राप्त करायी है। इसी के रक्षण से हम प्रभु को भी प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें स्तुतिवाला व बुद्धि से जीवन में चलनेवाला बनाता है। यह सोम प्रभु की सर्वप्रिय वस्तु है। इसके रक्षण से ही हमारा जीवन सुन्दर बनता है।

ऋषिः—**हरिमन्तः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सुगभस्तयो नरः

साकं वदन्ति बहवो मनीषिण इन्द्रस्य सोमं जठरे यदादुहुः।
यदी मृजन्ति सुगभस्तयो नरः सनीळाभिर्दशभिः काम्यं मधु॥ २॥

(१) **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यवाले प्रभु के अत्यन्त प्रिय (परिप्रिय) **सोमम्**=सोम को **यदा**=जब **जठरे**=अपने अन्दर **आदुहुः**=(दुह प्रपूरणे) प्रपूरित करते हैं, तो **बहवः**=बहुत से **मनीषिणः**=बुद्धिमान् पुरुष **साकम्**=मिलकर **वदन्ति**=प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं। वस्तुतः एक परिवार में सभी मिलकर बैठें और प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें तो घर का वातावरण बड़ा सुन्दर बनता है। इस वातावरण में ही वासनाओं से ऊपर उठे रहने के कारण सोमरक्षण का सम्भव होता है। (२) **यत्**=जब **ईं**=निश्चय से **नरः**=मनुष्य **काम्यं मधु**=इस कमनीय (चाहने योग्य) सोम को **सनीडाभिः दशभिः**=इधर-उधर न भटककर अपने नियत कर्मों में एकाग्र (स-नीड) दस इन्द्रियों से **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं तो वे **सुगभस्तयः**=उत्तम ज्ञानरश्मियोंवाले होते हैं। इन्द्रियाँ जब इधर-उधर नहीं भटकतीं,

तो यह सोम शुद्ध बना रहता है। यह शुद्ध सोम शरीर में सुरक्षित होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। 'गभस्ति' शब्द का अर्थ 'हाथ' भी है। ये सोमरक्षक पुरुष उत्तम हाथोंवाले होते हैं, अर्थात् सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं।

भावार्थ—सोम को सुरक्षित करने पर हमारी स्तुति की वृत्ति बनती है। इन्द्रियाँ नियत कर्मों में लगी रहकर एकाग्र बनी रहें तो सोम का रक्षण होता है और हम उत्तम ज्ञान-रश्मियोंवाले व उत्तम कर्मोंवाले होते हैं।

ऋषिः—**हरिमन्तः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सोमरक्षण द्वारा प्रभु की वाणी का श्रवण

अरममाणो अत्येति गा अभि सूर्यस्य प्रियं दुहितुस्तिरो रवम्।
अन्वस्मै जोषमभरद्विनंगृसः सं द्वयीभिः स्वसृभिः क्षेति जामिभिः॥ ३॥

(१) सोम का रक्षण करने पर यह सोमरक्षक पुरुष **अरममाणः**=संसार के विषयों में रममाण (फँसा हुआ) न होता हुआ **अति**=इन विषयों को लाँघकर **गाः अभि एति**=ज्ञान की वाणियों की ओर आता है। यह **सूर्यस्य**=उस ज्ञानसूर्य प्रभु की **दुहितुः**=दुहितृभूत इस वेदवाणी के **प्रियम्**=अत्यन्त प्रिय **तिरः**=हृदय-मन्दिर में तिरोहित रूप से वर्तमान **रवम्**=शब्द को **अभि एति**=लक्ष्य करके गतिवाला होता है। इस सोमरक्षक पुरुष का लक्ष्य यह होता है कि यह हृदयस्थ प्रभु से उच्चारित हो रहे इस वेदवाणी के शब्दों को सुन सके। (२) **अस्मै**=इस शब्द के लिये ही यह **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक उपासन को **अन्वभरत्**=अपने में भरनेवाला होता है। इस उपासना के द्वारा यह प्रभु के सान्निध्य को प्राप्त करके उन शब्दों को सुननेवाला होता है। इन शब्दों को सुननेवाला यह **विनंगृसः** (विनं कमनीयं स्तोत्रं गृह्णाति इति सा०)=स्तोता **द्वयीभिः**=प्रकृति व आत्मा को ज्ञान देनेवाली, अपरा व परा दो प्रकार की **जामिभिः**=हमारे जीवन में सद्गुणों को जन्म देनेवाली **स्वसृभिः**=आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाली वेदवाणियों से **संक्षेति**=संगत होता है (क्षि गतौ)।

भावार्थ—सोमरक्षण से सांसारिक विषयों में न फँसकर वेद वाणियों से संगत होते हैं।

ऋषिः—**हरिमन्तः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'पुरन्धिवान्-यज्ञसाधनः' सोमः

नृधूतो अद्रिषुतो बर्हिषि प्रियः पतिर्गवां प्रदिव इन्दुर्ऋत्वियः।
पुरन्धिवान्मनुषो यज्ञसाधनः शुचिर्धिया पवते सोम इन्द्र ते॥ ४॥

(१) यह **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **नृधूतः**=(नृ नये) प्रगतिशील मनुष्यों से शोधित होता है। वे वासनामल को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। **अद्रिषुतः**=उपासकों से यह अपने अन्दर उत्पन्न किया जाता है। **बर्हिषि प्रियः**=वासनाशून्य हृदय के निमित्त यह प्रिय होता है। सोमरक्षण से ही हृदय की पवित्रता सिद्ध होती है। यह सोम **गवां पतिः**=इन्द्रियों का रक्षक होता है। सब इन्द्रियों को अपने कार्य करने की शक्ति इस सोम से ही प्राप्त होती है। **प्रदिवः**=यह प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता है, ज्ञानाग्नि का यह सोम ही तो ईंधन बनता है। **ऋत्वियः**=यह 'ऋतौ जातः' जीवन के सब कार्यों के नियमित होने पर विकसित होता है। शरीर में सोम के विकास के लिये जीवन की नियमित गति आवश्यक है, सब कार्यों को ठीक समय पर करने से ही धातुओं का विकास ठीक से होता है। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! यह सोम **पुरन्धिवान्**=प्रशस्त

द्यावापृथिवीवाला है (नि० ३।३०), तेरे शरीर व मस्तिष्क को उत्तम बनानेवाला है। **मनुषः यज्ञसाधनः**=विचारशील पुरुष के सब यज्ञों को यही सिद्ध करनेवाला है। सोम ही तो सब यज्ञों की सिद्धि के लिये शक्ति प्राप्त कराता है। **शुचिः**=यह पवित्र है। **ते**=तेरे लिये **धिया**=बुद्धि के साथ **पवते**=प्राप्त होता है, तेरी बुद्धि को यही तीव्र बनानेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ही इन्द्रियों को सशक्त बनाता है, हमारे ज्ञान को बढ़ाता है। यह सोम ही यज्ञों को सिद्ध करने के लिये शक्ति प्राप्त कराता है। मस्तिष्क व शरीर को प्रशस्त करता है।

ऋषिः—**हरिमन्तः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

नृबाहुभ्यां चोदितः

नृबाहुभ्यां चोदितो धारया सुतोऽनुष्वधं पवते सोम इन्द्र ते।
आप्राः क्रतून्त्समजैरध्वरे मतीर्वेर्न द्रुषच्चम्वो३ रासदद्धरिः ॥ ५ ॥

(१) **नृबाहुभ्यां चोदितः**=प्रगतिशील मनुष्य की बाहुओं से यह प्रेरित होता है, अर्थात् सदा क्रिया में तत्पर रहने से यह शरीर में ही व्याप्त होता है। **धारया**=धारण के हेतु से **सुतः**=यह उत्पन्न किया गया है, इसके धारण से ही शरीर का धारण होता है 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! यह **सोमः**=सोम (वीर्यशक्ति) **सुतः**=उत्पन्न हुआ **ते पवते**=पवित्रता से तुझे प्राप्त होता है। (२) इस सोम को प्राप्त करके तू **क्रतून्**=प्रज्ञानों व शक्तियों को **आप्राः**=अपने में भरता है। **अध्वरे**=इस जीवन-यज्ञ में **मतीः**=उत्कृष्ट बुद्धियों को **समजैः**=सम्यक् जीतता है। उत्कृष्ट बुद्धियोंवाला तू बनता है। **द्रुषत् वेः न**=वृक्ष पर बैठनेवाले पक्षी की तरह **हरिः**=यह सब रोगों का हरण करनेवाला सोम **चम्वोः**=द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में **आसदत्**=आसीन होता है। मस्तिष्क को यह सोम ज्ञानदीप्त बनाता है, तो इस पृथिवीरूप शरीर को यह दृढ़ बनानेवाला होता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता सोमरक्षण का साधन है। जितना-जितना हम आत्मस्वरूप का चिन्तन करेंगे, उतना ही सोम हमारे में स्थिर रहेगा। सोम की स्थिरता हमारे 'प्रज्ञान व शक्ति' को भरती हुई हमारी बुद्धि का वर्धन करेगी।

ऋषिः—**हरिमन्तः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्तनयन् अक्षित कवि

अंशुं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितं कविं कवयोऽपसो मनीषिणः।
समी गावो मतयो यन्ति संयत ऋतस्य योना सदने पुनर्भुवः ॥ ६ ॥

(१) **कवयः**=क्रान्तप्रज्ञ-तत्त्वद्रष्टा, **अपसः**=कर्मशील, **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले लोग **अंशुम्**=प्रकाश की रश्मियों को उत्पन्न करनेवाले इस सोम को **दुहन्ति**=अपने में प्रपूरित करते हैं। यह सोम **स्तनयन्तम्**=गर्जना करनेवाला है, प्रभु का स्तवन करनेवाला है, हमें प्रभु-प्रवण बनाता है। **अक्षितम्**=हमें क्षीण नहीं होने देता, सोमरक्षण से हमारी शक्ति ठीक बनी रहती है। **कविम्**=यह हमें क्रान्तप्रज्ञ बनाता है, हमारी बुद्धि को सूक्ष्म करता है, मन में 'स्तनयन्', शरीर में 'आक्षित' तथा मस्तिष्क में 'कवि' बनाता है। (२) सोम का अपने में दोहन (प्रपूरण) करने पर **ई**=निश्चय से **गावः**=ज्ञान की वाणियाँ व **मतयः**=बुद्धियाँ **संयतः**=परस्पर संगत हुईं-हुईं **संयन्ति**=इस सोमरक्षक को प्राप्त होती हैं। परिणामतः, ये सोमरक्षक पुरुष **ऋतस्य योना**=ऋत

के उत्पत्ति-स्थान, **सदने**=उस सर्वाधार प्रभु में, सब के आशयभूत प्रभु में, **पुनर्भुवः**=फिर प्रकट होनेवाले होते हैं। अर्थात् ये ब्रह्मलोक में निवासवाले होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें 'प्रभु की स्तुति करनेवाला, अक्षीण, क्रान्तदर्शी' बनाता है। इसके रक्षण से हमें ज्ञान व बुद्धि प्राप्त होती हैं (धी=विद्या) तथा अन्ततः हम ब्रह्म के साथ विचरते हैं।

ऋषिः—**हरिमन्तः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

महो दिवो धरुणः

नाभा पृथिव्या धरुणो महो दिवो३ऽपामूर्मौ सिन्धुष्वन्तरुक्षितः।
इन्द्रस्य वज्रो वृषभो विभूवसुः सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः ॥ ७ ॥

(१) यह सोम **पृथिव्याः नाभा**=इस शरीर रूप पृथिवी के केन्द्र में होता हुआ, अर्थात् शरीर की सारी शक्तियों का जन्म देनेवाला होता हुआ **महः दिवः धरुणः**=महान् द्युलोक का, मस्तिष्क का **धरुणः**=धारण करनेवाला है। सोम शरीर को सशक्त बनाता है, मस्तिष्क का धारण करता है। **अपां ऊर्मौ**=कर्मों की तंरगों में तथा **सिन्धुषु अन्तः**=ज्ञान-समुद्रों में **उक्षितः**=यह सिक्त होता है। अर्थात् निरन्तर कर्मों में लगे रहना तथा ज्ञान-समुद्र में स्नान करना (=स्वाध्याय में तत्पर रहना) सोमरक्षण का साधन बनता है। (२) शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **वज्रः**=वज्र होता है। इसी के रक्षण से यह सभी रोगादि शत्रुओं का संहार कर पाता है। **वृषभः**=यह हमें शक्तिशाली बनानेवाला है। **विभूवसुः**=यह सोम ही इन्द्र का व्यापक धन है। यह **सोमः**=सोम **चारु**=बड़ी सुन्दरता से **हृदे**=हृदय के लिये **मत्सरः**=आनन्द का संचार करता हुआ **पवते**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोम शरीर का केन्द्र में स्थित हुआ-हुआ मस्तिष्क का धारण करनेवाला है। क्रियाशीलता व ज्ञानपरता के द्वारा शरीर में सुरक्षित होता है। यही हमारा शत्रु-संहारक वज्र है, शक्ति को देनेवाला तथा व्यापक धन है। हृदय में सोम ही उल्लास को पैदा करता है।

ऋषिः—**हरिमन्तः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान व शक्ति रूप धन

स तू पवस्व परि पार्थिवं रजः स्तोत्रे शिक्षन्नाधून्वते च सुक्रतो।
मा नो निर्भाग्वसुनः सादनस्पृशो रयिं पिशङ्गं बहुलं वसीमहि ॥ ८ ॥

(१) हे **सुक्रतो**=शोभनप्रज्ञ व शोभनशक्ते सोम! **सः**=वह **तु**=तो **पार्थिवं रजः**=इस पार्थिव लोक को **परिपवस्व**=चारों ओर प्राप्त हो। अर्थात् तेरा शरीर में ही व्यापन हो। तू **स्तोत्रे**=स्तोता के लिये **च**=और **आधून्वते**=वासनाओं को अपने से कम्पित करके दूर करनेवाले के लिये **शिक्षन्**=(धनादिकं प्रयच्छन्) शक्ति व ज्ञान रूप धन को देनेवाला हो। शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ सोम हमें सशक्त बनाता है। यही सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर हमारे ज्ञान को बढ़ाता है। (२) हे सोम! तू **नः**=हमें **सादनस्पृशः**=इस शरीर रूप गृह के साथ सम्पर्कवाले **वसुनः**=शक्ति व ज्ञानरूप धन से **मा निर्भाक्**=पृथक् मत कर। हे सोम! हम तेरे रक्षण से **पिशंगं** (पिश् To adorn, decorate)=जीवन को अलंकृत करनेवाले **बहुलं रयिम्**=खूब ही ज्ञान व शक्ति रूप धन को **वसीमहि**=धारण करें।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हमें वह ज्ञान व शक्ति रूप धन प्राप्त हो, जो हमारे जीवन को अलंकृत करे।

ऋषिः—हरिमन्तः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पवित्र 'इन्द्रियाँ व हृदय'

आ तू न इन्दो शतदात्वश्व्यं सहस्रदातु पशुमद्धिरण्यवत्।
उप मास्व बृहती रेवतीरिषोऽधि स्तोत्रस्य पवमान नो गहि॥ ९ ॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **नः**=हमारे लिये **तु**=अवश्य **अश्व्यम्**=उस इन्द्रियाश्व समूह को **आ उपमास्व**=सर्वथा बना, जो कि **शतदातु सहस्रदातु**=शतवर्षपर्यन्त सहस्रों वासनाओं को खण्डित करनेवाला हो (दाप् लवने) जो वासनाओं में न फँसे। तथा **पशुमत्**=(कामः पशुः क्रोधः पशुः) प्रशस्त काम व क्रोधवाला हो। प्रशस्त काम-क्रोध वे ही हैं, जो हमारे वश में हों। **हिरण्यवत्**=जो इन्द्रियसमूह प्रशस्त ज्ञान-ज्योतिवाला है 'हिरण्यं वै ज्योति'। (२) हे सोम! तू हमारे लिये **बृहतीः**=वृद्धि की कारणभूत **रेवतीः**=प्रशस्त ज्ञान-धनवाली **इषः**=प्रेरणाओं को (उपमास्व) करनेवाला हो सोमरक्षण से पवित्र हृदय बनकर हम प्रभु की प्रेरणाओं को सुननेवाले बनें, जो प्रेरणायें हमारी वृद्धि का कारण बनें तथा हमारे ज्ञान-धन को प्रशस्त करें। हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **नः**=हमारे लिये **स्तोत्रस्य अधिगहि**=स्तोत्र का आधिक्येन ग्रहण करानेवाला हो। सोमरक्षण के द्वारा हम प्रभु के स्तोत्रों को करने की वृत्तिवाले हों।

भावार्थ—सोमरक्षण हमारे इन्द्रियसमूह को वासनाओं से आक्रान्त न होने दे। इससे हम पवित्र हृदय बनकर प्रभु प्रेरणाओं को सुनें। इस सोमरक्षण से हमारी वृत्ति प्रभु-स्तवन की हो।

सोमरक्षण द्वारा इन्द्रियों को व हृदय को पवित्र बनानेवाला 'पवित्र' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[७३] त्रिसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—पवित्रः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सत्य की नौकायें

स्रक्वे द्रप्सस्य धमतः समस्वरन्नृतस्य योना समरन्त नाभयः।
त्रीन्त्स मूर्ध्नो असुरश्चक्र आरभे सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्॥ १ ॥

(१) **स्रक्वे**=इस उत्पन्न शरीर में **धमतः**=(Throw away) सब बुराइयों को परे फेंकते हुए **द्रप्सस्य**=सोमकणों का (Drop) **समस्वरन्**=सम्यक् स्तवन करते हैं। इस सोम के गुणों का स्मरण करते हुए व इसका रक्षण करते हुए **नाभयः**=(णह बन्धने) इस सोम को अपने अन्दर बाँधनेवाले **ऋतस्य योना**=ऋत के मूल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **समरन्त**=गतिवाले होते हैं। (२) **सः**=वह सोम **आरभे**=सब कार्यों को ठीक से प्रारम्भ करने के लिये **त्रीन् मूर्ध्नः**=तीन समुच्छित लोकों को **चक्रे**=करता है। शरीर को स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचाता है, मन को निर्मलता के शिखर पर ले जाता है तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्ति के शिखर पर एवं शरीर, मन व मस्तिष्क रूप पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक को यह उन्नत करता है। यह सोम इस प्रकार **असुरः**=(असून् राति) सब प्राणशक्तियों का संचार करनेवाला होता है। इस सोम के द्वारा हमारा जीवन असत् से दूर होकर सत् को प्राप्त होता है। अब शरीर में मृत्यु न होकर अमृतत्त्व है, मन में असत् न होकर सत् है, मस्तिष्क में तमस् न होकर ज्योति है ये **सत्यस्य नावः**=सत्य की नौकायें **सुकृतम्**=पुण्यशाली व्यक्ति को **अपीपरन्**=इस भवसागर के पार ले जानेवाली होती हैं।

भावार्थ—सोम ही सब बुराइयों का दूर करनेवाला है, यह ही हमें प्रभु के समीप पहुँचाता है। सोम असत्य को दूर करके हमें 'स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व दीप्त मस्तिष्क' प्राप्त कराता है। ये सत्य की नौकायें हमें भवसागर को तैरने में समर्थ करती हैं।

ऋषिः—**पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'सम्यञ्चः—महिषाः—सिन्धोः ऊर्मौ'

सम्यक्सम्यञ्चो महिषा अहेषत सिन्धोरूर्मावधि वेना अवीविपन्।
मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कमित्प्रियामिन्द्रस्य तन्वमवीवृधन्॥ २॥

(१) **सम्यञ्चः**=सम्यक् गतिवाले, उत्तमता से कार्यों को करनेवाले, **महिषाः**=प्रभु के पूजक **सम्यक्**=अच्छी प्रकार **अहेषत**=सोम को शरीर में प्रेरित करते हैं। **वेनाः**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाले लोग **सिन्धोः ऊर्मौ**=ज्ञान-समुद्र की तरंगों में इस सोम को **अधि अवीविपन्**=आधिक्येन कम्पित करते हैं। अर्थात् जैसे झाड़कर कपड़े की धूल को अलग किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान-तरंगों में झाड़कर इस सोम को पवित्र किया जाता है। ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता। वासनाएँ ही तो सोम को मलिन करती हैं। (२) **मधोः**=इस सारभूत मधुतुल्य सोम की **धाराभिः**=धारणशक्तियों से **अर्कम्**=उस अर्चनीय प्रभु को **जनयन्तः**=अपने में प्रादुर्भूत करते हुए ये उपासक **इत्**=निश्चय से **इन्द्रस्य**=उस प्रभु की, प्रभु से दी गई **प्रियां तन्वम्**=प्रिय तनु को, शरीर को **अवीवृधन्**=बढ़ाते हैं। इस शरीर को सब शक्तियों से युक्त करते हैं। एवं सोम शरीर को सब शक्तियों से सम्पन्न करता हुआ प्रभु का दर्शन करानेवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम कर्मों में लगे रहना व पूजन सोमरक्षण के साधन हैं। स्वाध्याय में लगे रहने से यह सोम पवित्र बना रहता है। सोमरक्षण से प्रभु का दर्शन होता है और यह शरीर सब शक्तियों से सम्पन्न बनता है।

सूचना—मन्त्र में 'सम्यक् शब्द उत्तम कर्मों का संकेत करता है, 'महिषाः' उपासना का तथा 'सिन्धोः ऊर्मौ' ज्ञान का। एवं सोमरक्षण के लिये 'ज्ञान, कर्म, उपासना' तीनों का समन्वय आवश्यक है। ये तीनों क्रमशः Head, hands and heart (मस्तिष्क, हाथों व हृदय) को पवित्र करते हैं।

ऋषिः—**पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वाग्देवी की उपासना व सोमरक्षण

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम्।
महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **पवित्रवन्तः**=पवित्र मस्तिष्क, हृदय व हाथोंवाले लोग **वाचं परि आसते**=ज्ञान की वाणियों का समन्तात् सेवन करते हैं। अर्थात् सदा स्वाध्याय करते हैं। **एषाम्**=इन स्वाध्यायशील लोगों के **व्रतम्**=इस स्वाध्याय के व्रत को **प्रत्नः पिता**=वह सनातन पिता प्रभु **अभिरक्षति**=रक्षित करते हैं। अर्थात् प्रभु कृपा से इनका यह स्वाध्याय का व्रत टूटता नहीं। (२) **वरुणः**=अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला यह व्यक्ति (वरुणः=पाशी) **महः समुद्रम्**=इस महान् ज्ञान-समुद्र को **तिरः दधे**=अपने में तिरोहित करके धारण करता है। इस प्रकार **धीराः**=ये ज्ञान में रमण करनेवाले व्यक्ति **इत्**=ही **धरुणेषु**=सोम के धारण के होने पर **आरभम्**=उत्तम कार्यों का प्रारम्भ करने के लिये **शेकुः**=समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से स्वाध्याय के व्रत के अविच्छिन्न रूप से चलने पर सोम का रक्षण होता है। इस सोमरक्षण के होने पर ही हम किन्हीं भी महत्त्वपूर्ण कार्यों को कर पाते हैं।

ऋषिः—**पवित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुन्दरतम जीवन

सहस्रधारेऽव ते समस्वरन्दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवः॥ ४॥

(१) **सहस्रधारे**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाले उस प्रभु में **दिवः नाके**=प्रकाश के सुखमय लोक में स्थित हुए-हुए **ते**=वे सोमरक्षक पुरुष **अव समस्वरन्**=संसार के विषयों से दूर होकर प्रभु का गुणगान करते हैं। 'सदा प्रभु में स्थित होना तथा स्वाध्याय द्वारा प्रकाशमय लोक में स्थित होने का प्रयत्न करना' ही विषयों से बचने का तरीका है। ये लोग व्यवहार में भी **मधुजिह्वाः**=मधुरवाणीवाले होते हैं कभी कड़वे शब्द नहीं बोलते और **असश्चतः**=कहीं आसक्त नहीं होते। अनासक्त भाव से अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते चलते हैं। (२) ये व्यक्ति **अस्य स्पशः**=इस प्रभु के देखनेवाले होते हैं (स्पश् To perceive clearly) **न निमिषन्ति**=कभी पलक नहीं मारते, अर्थात् सो नहीं जाते, अप्रमत्त रहते हैं। **भूर्णयः**=सदा पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। **पदे पदे**=कदम-कदम पर **पाशिनः**=काम-क्रोध आदि पशुओं को पाश में बाँधनेवाले, **सेतवः सन्ति**=लोगों को भवसागर से पार करने के लिये पुल के समान होते हैं। स्वयं काम-क्रोध को जीतते हैं तथा औरों को ज्ञानोपदेश देकर भवसागर से पार करने में सहायक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त सदा उपासना व स्वाध्याय में प्रवृत्त होता है। मधुरवाणीवाला, अनासक्त, प्रभु का देखनेवाला, अप्रमत्त व धारणात्मक कर्मों में लगा हुआ होता है। काम-क्रोध को वश में करनेवाला व औरों को ज्ञान देकर तरानेवाला होता है।

ऋषिः—**पवित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'पिता माता' का उपासन

पितुर्मातुरध्या ये समस्वरन्नृचा शोचन्तः सन्दहन्तो अव्रतान्।
इन्द्रद्विष्टामप धमन्ति मायया त्वचमसिक्नीं भूमनो दिवस्परि॥ ५॥

(१) प्रभु पिता है और वेद (ज्ञान) माता है 'स्तुता मया वरदा वेदमाता'। **ये**=जो लोग **पितुः**=सब के पिता प्रभु का तथा **मातुः**=जीवन के निर्माण करनेवाली वेदमाता का **अधि आ समस्वरन्**=आधिक्येन स्तवन करते हैं, प्रभु की उपासना व वेद के अध्ययन को करते हैं, वे **ऋचा**=इन ज्ञान की वाणियों से (ऋग्वेद=विज्ञान वेद) **शोचन्तः**=दीप्त होते हुए और **अव्रतान्**=न करने योग्य कार्यों को **सन्दहन्तः**=भस्म करते हुए होते हैं। इन पिता माता के उपासकों का जीवन ज्ञान से दीप्त होता है और अपकर्मों से रहित होता है। (२) ये लोग **मायया**=कर्म व प्रज्ञान के द्वारा **भूमनः**=इस पृथिवी से **दिवस्परि**=और द्युलोक से अर्थात् शरीर व मस्तिष्क से **असिक्नीम्**=काली **त्वचम्**=त्वचा को आवरण को, **अपधमन्ति**=दूर कर देते हैं। शरीर व मस्तिष्क के विकारों को दूर करना ही इनकी काली त्वचा को दूर करना है। यह काली त्वचा 'इन्द्र द्विष्टाम्' प्रभु के लिये प्रीतिकर नहीं। अर्थात् विकृत शरीर व विकृत मस्तिष्कवाला व्यक्ति कभी प्रभु का प्रिय नहीं हो सकता।

भावार्थ—हम प्रभु व वेदवाणी के उपासक बनें। ज्ञान से दीप्त व अपकर्मों के दूर करनेवाले हों। शरीर व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनायें।

ऋषिः—**पवित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

न तरन्ति दुष्कृतः

प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरञ्छ्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः।
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥ ६ ॥

(१) 'मा' धातु 'प्रमाता प्रमाण प्रमेय' आदि शब्दों में 'ज्ञान' इस अर्थ की वाचक है। 'मान' है। प्रभु सनातन गुरु होने से 'प्रत्नमान' हैं। **ये**=जो लोग **प्रत्नात् मानात्**=उस गुरुओं के गुरु, सनातन गुरु प्रभु से **अधि आ समस्वरन्**=आधिक्येन खूब ही ज्ञान को प्राप्त करते हैं, वे **श्लोकयंत्रासः**=इन छन्दोबद्ध वेदवाणियों के द्वारा अपने जीवन का नियंत्रण करते हैं। **रभसस्य**=शक्ति के पुञ्ज उस प्रभु का **मन्तवः**=मनन करनेवाले होते हैं। (२) इनके विपरीत **अनक्षासः**=प्रभु को न देखनेवाले **बधिराः**=प्रभु की वाणियों को न सुननेवाले लोग **ऋतस्य पन्थाम्**=सत्य व यज्ञ के मार्ग को **अप अहासत**=सुदूर छोड़नेवाले होते हैं, धर्ममार्ग से ये दूर हो जाते हैं। ये **दुष्कृतः**=अशुभ कर्मों में प्रवृत्त लोग न **तरन्ति**=कभी तैरते नहीं। ये भवसागर में डूबते ही हैं।

भावार्थ—हम हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त करें। उस ज्ञान के अनुसार जीवन का नियन्त्रण करें। प्रभु के न देखनेवाले (न ध्यान करनेवाले) प्रभु की वाणी को न सुननेवाले लोग ऋत के मार्ग से विचलित हो जाते हैं। ये दुष्कृत लोग कभी भवसागर को तैरते नहीं।

ऋषिः—**पवित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अद्रुहः-सुदृशः-नृचक्षसः

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः ॥ ७ ॥

(१) **सहस्रधारे**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाले **वितते**=सर्वत्र विस्तृत, सर्वव्यापक, **पवित्रे**=पवित्र प्रभु में **वाचम्**=अपनी वाणी को **आपुनन्ति**=सर्वथा पवित्र करते हैं। प्रभु की उपासना के द्वारा वाणी की पवित्रता होती ही है। ये **कवयः**=क्रान्तद्रष्टा-तत्त्वज्ञानी, **मनीषिणः**=मन पर शासन करनेवाली बुद्धिवाले होते हैं। वाणी की पवित्रता इन्हें कवि व मनीषी बनाती हैं। (२) **एषाम्**=इन कवियों व मनीषियों के **रुद्रासः**=प्राण (प्राणा वै रुद्राः जै० ८।२।७) **इषिरासः**=खूब गतिशील होते हैं, अर्थात् इन्हें प्राणशक्ति गतिमय बनाती है। **अद्रुहः**=ये अपनी गतियों के द्वारा किसी का द्रोह नहीं करते। **स्पशः**=प्राणसाधना द्वारा ये प्रभु-दर्शन में प्रवृत्त होते हैं, प्रभु के देखनेवाले होते हैं। **स्वञ्चः**=उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु का पूजन करनेवाले होते हैं। **सुदृश**=उत्तम दृष्टिकोणवाले होते हैं। **नृचक्षसः**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाले होते हैं, ये केवल अपने लिये नहीं जीते।

भावार्थ—प्रभु में अपने को पवित्र करनेवाले लोग खूब गतिमय, द्रोहशून्य, उत्तम दृष्टिकोणवाले व सबका ध्यान करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**पवित्रः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋतस्य गोपाः न दभाय

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा हृद्य१न्तरा दधे।
विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवाजुष्टान्विध्यति कर्ते अव्रतान् ॥ ८ ॥

(१) **ऋतस्य**=ऋत का, सत्य व यज्ञ का **गोपाः**=रक्षक **न दभाय**=हिंसित नहीं होता। **स सुक्रतुः**=वह उत्तम कर्मों का करनेवाला **हृदि अन्तः**=हृदय के अन्दर भी **पवित्रा**=तीन पवित्र भावनाओं को—'प्रेम, करुणा व त्याग की वृत्ति को' **आदधे**=धारण करता है। इसके हृदय में 'काम' के स्थान में 'प्रेम' होता है, 'क्रोध' के स्थान में 'करुणा' तथा 'लोभ' के स्थान 'त्याग' की भावना होती है। (२) यह ऋत का रक्षक इस बात को नहीं भूलता कि **विद्वान्**=ज्ञानी **सः**=वे **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **पश्यन्**=देखते हुए प्रभु **अजुष्टान्**=यज्ञादि कर्मों का प्रीतिपूर्वक सेवन न करनेवाले **अव्रतान्**=सब पुण्य कर्मों से रहित व्यक्तियों को **कर्ते**=गढ्ढे में **अवविध्यति**=अवाङ्मुख ताड़ित करते हैं, अर्थात् इन्हें आसुरी योनियों में जन्म देते हैं, असुर्य लोकों में डालते हैं। मनुष्य योनि को न प्राप्त करके ये पशु-पक्षियों की योनि में जाते हैं।

भावार्थ—ऋत (सत्य) के रक्षक के हृदय में 'प्रेम, करुणा व त्याग' होता है। यह इस बात का स्मरण रखता है कि प्रभु अव्रत लोगों को नीच योनियों में जन्म देते हैं।

ऋषिः—**पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

कर्तं अवपदाति अप्रभुः

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चित्तत्समिनक्षन्त आशतात्रा कर्तमव पदात्यप्रभुः॥ ९॥

(१) प्रभु ऋत के तन्तु हैं, सब लोक-लोकान्तरों को अपने प्रोत करनेवाले हैं 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'। ये **ऋतस्य तन्तुः**=ऋत के सूत्र रूप प्रभु **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **विततः**=विस्तृत व व्याप्त होते हैं। पवित्र हृदयवाले पुरुष में प्रभु का निवास होता है। इसकी **जिह्वायाः**=जिह्वा के **अग्रे**=अग्रभाग में भी प्रभु ही **आ** (**विततः**)=सदा विस्तृत होते हैं, अर्थात् यह जिह्वा से भी सदा प्रभु के नाम का उच्चारण करता है। (२) इस **वरुणस्य**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभु की **मायया**=प्रज्ञा से **धीराः**=ये धीर पुरुष **तत् समिनक्षन्तः**=प्रभु को ही अपने में व्याप्त करते हुए **आशत**=कर्मों में व्याप्त होते हैं। हृदय में प्रभु का स्मरण करते हुए ही कर्मों को करते हैं। इसी कारण ये अपवित्र कर्मों की ओर नहीं झुकते। **अत्रा**=यहाँ **अ-प्रभुः**=हृदय में प्रभु को न आसीन करनेवाला व्यक्ति **कर्तं अवपदाति**=गढ्ढे में नीचे की ओर जाता है। विषय-वासनाओं में फँसकर यह जीवन को विनष्ट कर लेता है।

भावार्थ—हृदयों में प्रभु स्मरण हो, वाणी में प्रभु का नाम। इस प्रकार हमारे कर्म पवित्र होंगे। प्रभु को भूल जाने पर गढ्ढे में गिरेंगे ही।

प्रभु स्मरण करनेवाला उन्नति के लिये दृढ़-निश्चयी पुरुष 'कक्षीवान्' है। यह कहता है कि—

[७४] चतुःसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कक्षीवान्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वाजी-अरुषः

शिशुर्न जातोऽव चक्रदद्वने स्व१र्यद्वाज्यरुषः सिषासति।
दिवो रेतसा सचते पयोवृधा तमीमहे सुमती शर्म सप्रथः॥ १॥

(१) **शिशुः न जातः**=उत्पन्न हुए-हुए शिशु के समान उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **वने**=सम्भजन में **अवचक्रदत्**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। जैसे उत्पन्न बालक क्रन्दन करता है, उसी प्रकार शरीर में सोम का विकास होने पर यह सोमी पुरुष प्रभु का स्मरण करनेवाला बनता है।

यद्=जब यह **स्वः सिषासति**=उस स्वयं देदीप्यमान् ज्योति प्रभु को सम्भक्त करने की कामनावाला होता है, तो यह **वाजी**=शक्तिशाली बनता है और **अरुषः**=आरोचमान होता है। (२) यह उपासक **पयोवृधा**=(क्षत्रं वै पयः श० १२।७।३।८) क्षत्र व बल के वर्धक **दिवः**=ज्ञान प्रकाश को दीप्त करनेवाले **रेतसा**=रेतस् से (सोम से) **सचते**=समवेत होता है। सो हम **शम्**=उस सोम से **सुमती**=कल्याणी मति के साथ **सप्रथः शर्म**=सब उत्तम वस्तुओं के विस्तारवाले कल्याण की, विस्तृत कल्याण की **ईमहे**=याचना करते हैं। सोमरक्षण से हमें सद्बुद्धि प्राप्त होगी और हम शक्तियों के विस्तारवाले कल्याण को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—सोम का विकास होते ही हम प्रभु-स्मरण की वृत्तिवाले बनते हैं, शक्तिशाली होते हैं, ज्ञान से आरोचमान होते हैं। सोमरक्षण से ही कल्याणीमति व विस्तृत कल्याण प्राप्त होता है।

ऋषिः—**कक्षीवान्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'दिवः स्कम्भः-धरुणः' अंशुः

दिवो यः स्कम्भो धरुणः स्वातत आपूर्णो अंशुः पर्येति विश्वतः।
सेमे मही रोदसी यक्षदावृता समीचीने दाधार समिषः कविः॥ २॥

(१) **दिवः**=ज्ञान-प्रकाश का **यः**=जो **स्कम्भः**=धारण करनेवाला, **धरुणः**=शरीर की सब शक्तियों का आधार **स्वाततः**=(सु आ ततः) सम्यक्तया शरीर में चारों ओर व्याप्त है। **आपूर्णः**=सब दृष्टिकोणों से पूर्ण **अंशुः**=यह सोम **विश्वतः पर्येति**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में गतिवाला होता है। (२) **सः**=वह यह सोम **इमे**=इन **मही रोदसी**=महत्त्वपूर्ण द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **यक्षत्**=परस्पर संगत करता है, अर्थात् शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही उन्नत करता है। **आवृता**=अपने-अपने कार्य में आवर्तनवाले **समीचीने**=मिलकर चलनेवाले इन मस्तिष्क व शरीर को यह **दाधार**=धारण करता है। यह **कविः**=हमें क्रान्तप्रज्ञ, तत्त्वद्रष्टा बनानेवाला सोम हमारे जीवन में **इषः**=प्रेरणाओं को **सं (दाधार)**=धारण करता है। अर्थात् हमें पवित्र हृदयबनाकर प्रभु-प्रेरणाओं को सुनने के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर को संगत करता हुआ उन्नत करता है, दोनों को ही उन्नत बनाता है। इन दोनों द्यावापृथिवी को ठीक करके यह हृदयान्तरिक्ष में प्रभु प्रेरणाओं को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**कक्षीवान्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'उस्त्रियः वृषा' (सोमः)

मही प्सरः सुकृतं सोम्यं मधूर्वी गव्यूतिरदितेर्ऋतं यते।
ईशे यो वृष्टेरित उस्त्रियो वृषापां नेता य इतऊतिर्ऋग्मियः॥ ३॥

(१) **ऋतं यते**=ऋत, अर्थात् सत्य व यज्ञ की ओर जानेवाले के लिये **सुकृतम्**=बड़ी अच्छी प्रकार उत्पन्न किया हुआ **सोम्यं मधु**=यह सोम सम्बन्धी सारभूत पदार्थ **महि प्सरः**=महान् भक्षणीय पदार्थ होती है। सोम का भक्षण, अर्थात् सोम का अपने अन्दर रक्षण ही मनुष्य को ऋत का पालन करने के योग्य बनाता है। इस सोमरक्षण से **अदितेः**=(अ-दिति=खण्डन) स्वास्थ्य का **ऊर्वी गव्यूतिः**=विशाल मार्ग होता है। अर्थात् सोमरक्षण से हम स्वस्थ व दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं। (२) यह सोम वह वस्तु है **यः**=जो **वृष्टेः ईशे**=धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा को प्राप्त करानेवाली है। **इतः**=इधर जीवन में **उस्त्रियः**=(उस्त्र=a ray of light) यह प्रकाश की

रश्मियोंवाला है। **वृषा**=शरीर में शक्ति का संचार करनेवाला है। **अपां नेता**=कर्मों का यह सोम प्रणयन करनेवाला है। **यः**=जो सोम **इतः**=इस लोक से हमारा **ऊतिः**=रक्षण करनेवाला है वह **ऋग्मियः**=स्तोतव्य है। शरीर में रोगों से बचाता हुआ, मन में वासनाओं से बचाता हुआ तथा मस्तिष्क में मन्दता (Dullness) से बचाता हुआ यह सोम स्तुति के योग्य क्यों न हो?

भावार्थ—सोम ही ऋत के अनुयायी के लिये महान् भोजन है, सोम (वीर्य) ही सर्वोत्तम रक्षणीय वस्तु है। यह सोम स्वस्थ दीर्घजीवन को देता है, धर्ममेघ समाधि में यही आनन्द की वृष्टि का कारण होता है। प्रकाश व शक्ति का यही मूल है।

ऋषिः—**कक्षीवान्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'ऋतस्य नाभिः, अमृतं' (सोम)

आ॒त्मन्व॒न्नभो॑ दुह्यते घृ॒तं पय॑ ऋ॒तस्य॒ नाभि॑र॒मृतं॒ वि जा॑यते।
स॒मी॒ची॒नाः सु॒दान॑वः प्रीणन्ति॒ तं नरो॑ हि॒तमव॑ मेहन्ति॒ पेर॑वः॥ ४॥

(१) 'नभस्' शब्द जल (water) का वाचक होता हुआ यहाँ रेतःकणों (सोम) का वाचक है 'आपः रेतो भूत्वा०'। **आत्मन्वत् नभः**=यह आत्मज्ञान के प्रकाशवाला सोम (=आत्मज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करानेवाला सोम) **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को तथा **पयः**=(क्षत्रं वै पयः श० १२।७।३।८) शक्ति को **दुह्यते**=दोहा जाता है। अर्थात् सोम से ज्ञानदीप्ति व शक्ति प्राप्त होती है। यह सोम **ऋतस्य नाभिः**=ऋत का बन्धन करनेवाला है। हमारे जीवनों में सोम ही ऋत का स्थापन करता है। यह सोम **अमृतं विजायते**=हमारे लिये अमृत हो जाता है। (२) **समीचीनाः**=मिलकर सम्यक् गतिवाले **सुदानवः**=सम्यक् वासनाओं का दान (लवन, दाप् लवने), छेदन करनेवाले, वासनाओं को काटनेवाले **नरः**=व्यक्ति ही **तम्**=उस प्रभु को **प्रीणन्ति**=प्रीणित करते हैं। प्रभु इन समीचीन सुदानु पुरुषों से ही प्रसन्न होते हैं। ये **पेरवः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग **हितम्**=प्रभु द्वारा शरीर में स्थापित इस सोम को **अव**=वासनाओं से दूर होकर **मेहन्ति**=इस शरीर रूप पृथिवी में ही सिक्त करते हैं। सोम कणों का यह शरीर में सेचन ही वस्तुतः उन्हें 'पेरु'=अपना पालन व पूरण करनेवाला बनाता है।

भावार्थ—सोम ही हमारे जीवनों में ऋत का स्थापन करता है और हमारी अमरता (नीरोगता) का कारण बनता है, सो पेरु लोग सोम को शरीर में ही सिक्त करते हैं।

ऋषिः—**कक्षीवान्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ऊर्मिणा सचमानः सोमः अराबीत्

अरा॑वीदं॒शुः सच॑मान ऊ॒र्मिणा॑ देवा॒व्यं१॒ मनु॑षे पिन्वति॒ त्वच॑म्।
दधा॑ति॒ गर्भ॒मदि॑तेरु॒पस्थ॒ आ येन॑ तो॒कं च॒ तन॑यं च॒ धाम॑हे॥ ५॥

(१) **अंशुः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाला यह सोम **ऊर्मिणा**=(light) ज्ञान के प्रकाश से **सचमानः**=समवेत हुआ-हुआ **अरावीत्**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता है, स्तवन करता है। सोमरक्षण से जहां ज्ञान बढ़ता है, वहां प्रभु-स्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है। यह सोम **मनुषे**=विचारशील पुरुष के लिये **देवाव्यम्**=दिव्यगुणों के रक्षण में उत्तम **त्वचम्**=त्वचा को, रक्षक आवरण को **पिन्वति**=बढ़ाता है। सोमरक्षण से शरीर को वह कवच तुल्य त्वचा प्राप्त होती है जो उसे रोग आदि से आक्रान्त नहीं होने देती। (२) यह सोमरक्षक पुरुष **अदितेः**=अदीना देवमाता की **उपस्थे**=गोद में रहता हुआ, अदीन व दिव्यगुणोंवाला बनता हुआ, **गर्भं दधाति**=सबके अन्दर

निवास करनेवाले, सबके वर्णरूप उस प्रभु को **दधाति**=धारण करता है। **येन**=जिस प्रभु के धारण से **तोकं च**=पुत्रों को **च**=व **तनयं च**=पौत्रों को भी **आधामहे**=हम धारण करनेवाले बनते हैं। प्रभु का स्मरण हमारे सन्तानों को भी उत्तम बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम (क) प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनते हैं, (ख) हमारा ज्ञान बढ़ता है, (ग) हमारी त्वचा कवच का रूप धारण करती है, (घ) हमारे सन्तान भी उत्तम होते हैं।

ऋषिः—**कक्षीवान्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'दिवः हविः भरन्ति अमृतं घृतश्चुतः'

स॒हस्र॑धा॒रेऽव॒ ता अ॑स॒श्चत॑स्तृ॒तीये॑ सन्तु॒ रज॑सि प्र॒जाव॑तीः।
चत॑स्रो॒ नाभो॒ निहि॑ता अ॒वो दि॒वो ह॒विर्भ॑रन्त्य॒मृतं॑ घृत॒श्चुतः॑॥ ६॥

(१) **सहस्रधारे**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाले उस प्रभु में **ताः**=उन रेतःकणों को **अव**=तू रक्षित कर। प्रभु की उपासना के द्वारा तू इनका रक्षण कर। **असश्चतः**=विषयों में आसक्त न होती हुई, अतएव **प्रजावतीः**=प्रकृष्ट सन्तानोंवाली प्रजायें **तृतीये रजसि सन्तु**=तृतीय लोक में रहनेवाली हों। यह तृतीय लोक 'स्थूल व सूक्ष्म' शरीरों के बाद 'कारण' शरीर है। यही आनन्दमयकोश है। सोमरक्षक पुरुष इस आनन्दमय लोक में ही निवास करते हैं। (२) इनके जीवन में **चतस्रः**=चारों **नाभः**=ज्ञान के बन्धन **निहिताः**=स्थापित होते हैं, 'ऋग् यजु साम अथर्व' रूप चारों ज्ञानदीप्तियाँ इन्हें प्राप्त होती हैं। **अवः**=(अवति इति) ये ज्ञानदीप्तियाँ ही इनका रक्षण करनेवाली होती हैं (विच् प्रत्यय में यह रूप बना है)। ये **घृतश्चुतः**=ज्ञानदीप्ति का अपने में क्षरण करनेवाले लोग **दिवः हविः**=ज्ञान की हवि को **भरन्ति**=धारण करते हैं। यह हवि ही **अमृतम्**=इनके लिये अमृत होती है।

भावार्थ—प्रभु स्मरण से सोम का रक्षण होता है। सोमरक्षण से ज्ञानवृद्धि होती है ये लोग सदा अनासक्त भाव से कार्य करते हुए सदा आनन्दमयकोश में निवास करते हैं।

ऋषिः—**कक्षीवान्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

दिवः कवन्धमव दर्षद् उद्रिणाम्

श्वे॒तं रू॒पं कृ॑णुते॒ यत्सिषा॑सति॒ सोमो॑ मी॒ढ्वाँ असु॑रो वेद॒ भूम॑नः।
धि॒या शमी॑ सचते॒ सेम॒भि प्र॒वद्दि॒वस्कव॑न्धमव॑ दर्षदु॒द्रिण॑म्॥ ७॥

(१) यह **सोमः**=सोम **यत्**=जब **सिषासति**=प्रभु सम्भजन की कामनावाला होता है तो **श्वेतं रूपं कृणुते**=श्वेतरूप को बनाता है। अर्थात् यह सोमरक्षण हमें प्रभु-प्रवण व शुद्ध जीवनवाला बनाता है। यह **मीढ्वान्**=हमारे लिये सुखों का सेचन करनेवाला होता है। **असुरः**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाला यह सोम **भूमनः वेद**=बहुत धनों को प्राप्त कराता है (विद् लाभे)। वस्तुतः यह शरीर के सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से युक्त करता है। (२) **सः**=वह सोम ही **इम्**=निश्चय से **धिया**=बुद्धिपूर्वक **प्रवत्**=उत्कृष्ट **शमी**=कर्मों को **अभिसचते**=हमारे साथ समवेत करता है। यह सोम ही **उद्रिणम्**=ज्ञान-जलवाले **दिवः कवन्धम्**=ज्ञान-प्रकाश के मेघ को **अवदर्षत्**=अवदीर्ण करके हमारे जीवनों में ज्ञान-वृष्टि को करता है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों को शुद्ध बनाता है, हमें उत्कृष्ट कर्मों में प्रेरित करता है तथा

हमारे जीवनों में ज्ञानवृष्टि को करनेवाला होता है।

ऋषिः—**कक्षीवान्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कक्षीवान्-शतहिम

अध॑ श्वे॒तं क॒लशं॒ गोभि॑र॒क्तं कार्ष्म॒न्ना वा॒ज्य॑क्रमीत्सस॒वान्।
आ हि॑न्वि॒रे मन॑सा देव॒यन्तः॑ क॒क्षीव॑ते श॒तहि॑माय॒ गोना॑म्॥ ८॥

(१) **अध**=अब **गोभिः अक्तम्**=ज्ञान की वाणियों से प्रकाशित (अलंकृत) **श्वेतं कलशम्**=शुद्ध, कलाओं के आधारभूत शरीर को **ससवान्**=सेवन करता हुआ (संभजन्) **वाजी**=यह शक्तिशाली सोम **कार्ष्मन्**=काष्ठा की ओर, लक्ष्य-स्थान की ओर (सा काष्ठा सा परागतिः) **आ अक्रमीत्**=सर्वथा गतिवाला होता है। सोमरक्षण से शरीर शुद्ध होता है, ज्ञान से हम अलंकृत होते हैं और प्रभु की ओर चलते हैं। (२) **मनसा**=मन से **देवयन्तः**=उस देव (प्रभु) की कामना करते हुए लोग **आहिन्विरे**=इस सोम को अपने अन्दर समन्तात् प्रेरित करते हैं। यह शरीर में प्रेरित सोम की **कक्षीवते**=इस सोमरक्षण के लिये दृढ़ निश्चयी **शतहिमाय**=शतवर्षपर्यन्त गतिवाले (हि-गतौ) पुरुष के लिये **गोनाम्**=ज्ञान की वाणियों को प्रेरित करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम (क) शरीर को शुद्ध बनाता है, (ख) इसे ज्ञानालंकृत करता है, (ग) प्रभु रूप लक्ष्य की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**कक्षीवान्**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

स्वदस्व इन्द्राय पवमान पीतये

अ॒द्भिः सो॑म पपृचा॒नस्य॑ ते॒ रसोऽव्यो॒ वारं॒ वि प॑वमान धावति।
स मृ॒ज्यमा॑नः क॒विभि॑र्मदिन्तम॒ स्वद॒स्वेन्द्रा॑य पवमान पी॒तये॑॥ ९॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **अद्भिः**=कर्मों के द्वारा **पपृचानस्य**=शरीर से खूब सम्पृत होते हुए **ते रसः**=तेरा रस **अव्यः**=रक्षण में उत्तम है। सोम से बढ़कर रक्षा करनेवाली और कोई वस्तु नहीं। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! आप **वारम्**=वासनाओं का निवारण करनेवाले पुरुष को **विधावति**=विशेषरूप से प्राप्त होते हो। (२) **सः**=वह सोम **कविभिः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानियों से **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता हुआ **मदिन्तमः**=अतिशयेन आनन्दित करनेवाला होता है। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **स्वदस्व**=जीवन को मधुर बनानेवाला हो और **पीतये**=तू उसके रक्षण के लिये हो।

भावार्थ—सोमरक्षण का साधन है—'कर्मों में लगे रहना', 'ज्ञान प्राप्ति में रत रहना' और 'इस प्रकार वासनाओं का निवारण करना'। यह सोम हमें आनन्दित करता है, जीवन को मधुर बनाता है तथा हमारा रक्षण करता है।

सोमरक्षण के द्वारा यह 'कवि' बनता है, क्रान्तदर्शी तत्त्वद्रष्टा होता है। यह 'कवि' सोम शंसन करता हुआ कहता है—

[७५] पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'सोम्य' भोजनों का सेवन

अ॒भि प्रि॒याणि॑ पवते॒ चनो॑हितो॒ नामा॑नि य॒ह्वो अधि॒ येषु॒ वर्ध॑ते।

आ सूर्य॑स्य बृह॒तो बृ॒हन्नधि॒ रथं॒ विष्व॑ञ्चमरुहद्विचक्ष॒णः॥ १॥

(१) 'आग्नेय व सोम्य' दो भागों में बटे भोजनों में 'सोम्य भोजन' ही सोमरक्षण के लिये हितकर हैं सो उन्हीं का ग्रहण उचित है। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि **चनो हितः**=(हितानः) हितकर अन्नोंवाला यह सोम **प्रियाणि**=प्रीति के जनक **नामानि** (उदकानि सा० water आदि)=रेतःकणों को (आपः रेतो भूत्वा०) **अभिपवते**=प्राप्त कराता है। **येषु**=जिन रेतःकणों के होने पर **यह्वः**=(यातश्च हूतश्च, यातम् अस्य अस्ति, हूतं अस्य अस्ति) प्रभु की ओर जानेवाला व प्रभु को पुकारनेवाला यह सोमरक्षक पुरुष **अधिवर्धते**=आधिक्येन वृद्धि को प्राप्त करता है। (२) उस समय यह सोमी पुरुष **विचक्षणः**=ज्ञानी बना हुआ **बृहतः सूर्यस्य**=महान् सूर्य के, वृद्धि के कारणभूत ज्ञान के **विष्वञ्च**=सब विविध कर्त्तव्यों में सम्यक् प्रेरित होनेवाले **रथम्**=शरीर रथ पर **अधि-अरुहत्**=आरुढ़ होता है। रक्षित सोम ही ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और शक्तिवर्धन के द्वारा हमें कर्त्तव्य कर्मों के करने में क्षम करता है।

भावार्थ—सोम्य अन्नों के सेवन से हम सोमरक्षण कर पाते हैं। रक्षित सोम रेतःकणों की शरीर में व्याप्त द्वारा ज्ञान व शक्ति का वर्धन करता है।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सत्यं ब्रूयात्-प्रियं ब्रूयात्

ऋतस्य॑ जि॒ह्वा प॑वते॒ मधु॑ प्रि॒यं व॒क्ता पति॒र्धियो॑ अ॒स्या अदा॑भ्यः।
दधा॑ति पु॒त्रः पि॒त्रोर॑पी॒च्यं१॒ नाम॑ तृ॒तीय॒मधि॑ रोच॒ने दि॒वः॥ २॥

(१) गत मन्त्र की 'अधि येषु वर्धते' इस पंक्ति का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि (क) इस सोमी पुरुष को **ऋतस्य जिह्वा पवते**=सत्य की वाणी प्राप्त होती है, यह सदा सत्य ही बोलता है। पर साथ ही, **मधु**=मधुर और **प्रियं वक्ता**=प्रिय बोलता है। **अस्याः धियः पतिः**=प्रभु से दी गयी इस बुद्धि का रक्षण करनेवाला होता है और **अदाभ्यः**=वासनाओं से हिंसित नहीं होता। (२) यह **पुत्रः**=(पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र बनानेवाला व अपना रक्षण करनेवाला व्यक्ति **पित्रोः**=द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में, **अपीच्यम्**=अन्तर्हित, अर्थात् शरीर व मस्तिष्क में ही ज्ञानाग्नि के ईंधन के रूप में सुरक्षित किये गये, **दिवः अधिरोचनम्**=ज्ञान को खूब ही दीप्त करनेवाले **तृतीयम्**=वसु-रुद्र से भी ऊपर उठकर आदित्य संज्ञक **नाम**=इन रेतःकणों को **दधाति**=धारण करता है। २५ वर्ष तक के ब्रह्मचर्य में ये रेतःकण 'वसु' हैं, हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। ४४ वर्ष तक के ब्रह्मचर्य में ये 'रुद्र' हो जाते हैं, सब रोगों को दूर भगानेवाले व अमृतत्त्व प्राप्त करानेवाले होते हैं। अब तृतीय ४८ वर्ष तक के ब्रह्मचर्य में ये 'आदित्य' सब गुणों का आदान करनेवाले होते हैं। इन रेतःकणों का रक्षक सर्वगुणों का आदाता बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष 'प्रिय सत्य बोलता है, बुद्धि का रक्षक होता है, वासनाओं से हिंसित नहीं होता, देदीप्यमान ज्योति को प्राप्त करता हुआ सब गुणों का ग्रहण करनेवाला' बनता है।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

द्युतानः-त्रिपृष्ठः

अव॑ द्युता॒नः क॒लशाँ॑ अचिक्रद॒न्नृभि॑र्येमा॒नः कोश॒ आ हि॑र॒ण्यये॑।
अ॒भीमृ॒तस्य॑ दो॒हना॑ अनूष॒ताधि॑ त्रिपृ॒ष्ठ उ॒षसो॒ वि रा॑जति॥ ३॥

(१) **द्युतानः**=ज्योति का विस्तार करनेवाला सोम **कलशान्**=इन १६ कलाओं के आधारभूत

शरीरों को अब **अचिक्रदत्**=विषयों से पृथक् करके (अब) प्रभु-स्तवनवाला बनाता है (अचिक्रदत्-शब्दायते)। **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों से **हिरण्यये कोशे**=ज्योतिर्मयकोश में, विज्ञानमयकोश में **आयेमानः**=संयत किया जाता है। अर्थात् शरीर में संयत सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर विज्ञानमयकोश को खूब दीप्त बना देता है, यह 'हिरण्यय' बन जाता है। (२) **ऋतस्य दोहनाः**=ऋत का, सत्य का अपने में प्रपूरण करनेवाले लोग **ईम्**=निश्चय से **अभि अनूषत**=इस सोम का लक्ष्य करके स्तवन करते हैं। सोम का प्रातः-सायं स्तवन उन्हें सोम के रक्षण के लिये प्रेरित करता है। **त्रिपृष्ठः**=प्रातः-सवन, माध्यन्दिन सवन व तृतीय सवन ये तीन सवन जिसके आधार हैं, अर्थात् इन तीनों बाल्य यौवन व वार्धक्य में यज्ञशील बनकर हम सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह सोम **उषसः**=उषाओं को **विराजति**=विशिष्टरूप से दीप्त करता है। सोमरक्षण से हमारी उषायें बीतती हैं। सोमरक्षण वस्तुतः हमारे जीवन के दिनों को सुन्दर बनानेवाला है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों में ज्योति को बढ़ाता है। यह हमें प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनाता है और हमारे जीवन के दिनों को दीप्त करता है।

सूचना—'त्रिपृष्ठः' का भाव यह भी लिया जा सकता है कि जो हमारे बाल्य, यौवन व वार्धक्य तीनों का आधार बनता है अथवा जो शरीर, मन व बुद्धि इन तीनों को ठीक रखता है।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मतिभिः अद्रिभिः सुतः

अद्रिभिः सुतो मतिभिश्चनोहितः प्ररोचयन्रोदसी मातरा शुचिः।
रोमाण्यव्या समया वि धावति मधोर्धारा पिन्वमाना दिवेदिवे॥ ४॥

(१) **मतिभिः**=मननशील **अद्रिभिः**=उपासकों से (adore) **सुतः**=अपने अन्दर उत्पन्न किया गया **चनो हितः**=हितकर सोम्य अन्नवाला यह सोम **मातरा**=हमारे माता-पिता के समान **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **प्ररोचयन्**=दीप्त करता हुआ यह सोम है। **शुचिः**=यह पवित्र है, हमारे जीवन को पवित्र करनेवाला है। (२) यह **अव्या**=रक्षण में उत्तम **रोमाणि समया**=(रु शब्दे) स्तुति शब्दों के समीप होता हुआ **विधावति**=हमारा विशेषरूप से शोधन करता है। हमें स्तुति की प्रवृत्तिवाला बनाता है और इस प्रकार हमारे जीवन को शुद्ध करता है। इस सोमरक्षण से हमारे जीवन में **दिवे दिवे**=दिन व दिन **मधोः धारः**=माधुर्य की धारा **पिन्वमाना**=वृद्धि को प्राप्त होती है। यह सोम जीवन को अधिकाधिक मधुर बनाता चलता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये साधन हैं, (क) मननपूर्वक प्रभु स्तवन व (ख) सोम्य अन्नों का सेवन। सुरक्षित सोम के लाभ हैं, (क) मस्तिष्क व शरीर की पवित्रता, (ख) दिन व दिन माधुर्य की वृद्धि।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

आहनसः विहायसः मदाः

परि सोम प्र धन्वा स्वस्तये नृभिः पुनानो अभि वासयाशिरम्।
ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्॥ ५॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिये **परिप्रधन्व**=शरीर में चारों ओर गतिवाला हो। **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **आशिरम्**=(आ शृ) शरीर में चारों ओर न्यूनताओं को नष्ट करने की शक्ति को **अभिवासय**=बसा।

अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि कहीं भी कमी न रह जाये। (२) हे सोम! **ये**=जो **ते**=तेरे **आहनसः**=शत्रुओं को समन्तात् विनष्ट करनेवाले **विहायसः**=महान् **मदाः**=उल्लास हैं, **तेभिः**=उन उल्लासों के हेतु से तू **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **मघं दातवे**=ऐश्वर्य के दान के लिये **चोदय**=प्रेरित कर। ऐश्वर्य के दान में विनियोग से ही ये 'मद' प्राप्त होते हैं। उपभोग में ऐश्वर्य का व्यय होने पर सोमरक्षण का सम्भव नहीं रहता, तज्जनित उल्लासों की तो कथा ही क्या?

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर में शत्रुओं का विनाश करके महान् उल्लास को प्राप्त कराता है। इस उल्लास के लिये अथवा सोमरक्षण के लिये धनों का भोग में व्यय न करते हुए दान में विनियोग आवश्यक है। अगले सूक्त में भी 'कवि' ही 'पवमान सोम' का स्तवन करता है—

[७६] षट्सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कवि**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृथापाजांसि कृणुते

धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः।
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुते नदीष्वा॥ १॥

(१) **हरिः**=सब बुराइयों का हरण करनेवाला सोम **दिवः धर्ता**=ज्ञान का धारण करनेवाला होता हुआ **पवते**=प्राप्त होता है। यह सोम **कृत्व्यः रसः**=वह रस है जो कि हमें कर्त्तव्यपालन में समर्थ करता है। **देवानां दक्षः**=देवों को यह दक्ष बनाता है, कार्यकुशल बनाता है। **नृभिः अनुमाद्यः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों से रक्षण के अनुपात में अनुमाद्य होता है। जितना-जितना वे इसका रक्षण करते हैं, उतना-उतना हर्ष का अनुभव करते हैं। (२) **सत्वभिः**=बलों के हेतु से **सृजानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ यह सोम **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान है। जैसे अश्व निरन्तर गतिवाला होता है, ऐसे ही यह सोमरक्षक पुरुष निरन्तर गतिशील होता है। यह सोम **वृथा**=अनायास ही **नदीषु**=स्तवन करनेवाले पुरुषों में **पाजांसि कृणुते**=बलों को करता है। प्रभु स्तोताओं को यह सोम बल-सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञान का धारण करता है, हमें कर्त्तव्यपालन में समर्थ करता हुआ यह दक्षता को प्राप्त कराता है। हमें शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**कवि**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

रथिरः गविष्टिषु

शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्योः स्वः सिषासन्रथिरो गविष्टिषु।
इन्द्रस्य शुष्ममीरयन्नपस्युभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते मनीषिभिः॥ २॥

(१) यह सोम हमारे जीवनों में **शूरः न**=रथ शूरवीर के समान **गभस्त्योः**=भुजाओं में **आयुधा**=शस्त्रों को **धत्ते**=धारण करता है। शूरवीर शस्त्रों के द्वारा शत्रुओं का शातन करता है, इसी प्रकार यह सोम, शरीरस्थ रोग आदि शत्रुओं का संहार करता है। **स्वः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को **शिषासन्**=सम्भजन की कामनावाला होता हुआ यह सोम **गविष्टिषु**=ज्ञान-यज्ञों में **रथिरः**=उत्तम रथवाला होता है। शरीर को स्वस्थ बनाता हुआ यह सोम हमें ज्ञानयुक्त करता है। सुरक्षित सोम शरीर में 'शूरः न', मन में 'स्वः सिषासन्' तथा मस्तिष्क में 'रथि गविष्टिषु' है। (२) यह सोम **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **शुष्मम्**=बल को **ईरयन्**=प्रेरित करता है। **अपस्युभिः**=कर्मशील पुरुषों से **इन्दुः**=यह सोम **हिन्वानः**=प्रेरित किया जाता है, कर्मशील पुरुष

ही इसका रक्षण कर पाते हैं। यह **मनीषिभिः**=बुद्धिमान् पुरुषों से **अज्यते**=शरीर में अलंकृत किया जाता है। इस प्रकार सोमरक्षण के तीन साधन हैं—(क) जितेन्द्रियता (इन्द्र), (ख) कर्मशीलता (अपस्यु), (ग) स्वाध्यायशीलता द्वारा बुद्धि को बलवान् बनाना (मनीषी)।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें शूर-प्रभु का उपासक व ज्ञानी बनाता है। 'जितेन्द्रियता, कर्मशीलता व स्वाध्याय' इसके रक्षण के साधन हैं।

ऋषिः—**कवि**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

बुद्धि व बल

इन्द्र॑स्य सोम॒ पव॑मान ऊ॒र्मिणा॑ तवि॒ष्यमा॑णो ज॒ठरे॒ष्वा वि॑श।
प्र णः॑ पिन्व वि॒द्युद॒भ्रेव॒ रोद॑सी धि॒या न वाजाँ॒ उप॑ मासि॒ शश्व॑तः॥ ३॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **उर्मिणा**=प्रकाश के द्वारा **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **तविष्यमाणः**=बल का वर्धन करता हुआ **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **जठरेषु**=उदरों में, अंगमध्यों में **आविश**=प्रविष्ट होनेवाला हो। (२) तू **नः**=हमारे **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **प्रपिन्व**=प्रकर्षेण वर्धन करनेवाला हो। इस प्रकार वर्धन करनेवाला हो **इव**=जैसे कि **विद्युत्**=बिजली **अभ्रा**=बादलों के वर्धन का कारण होती है। **न**=और (न इति चार्थे) हे सोम! तू **धिया न**=बुद्धि के साथ **शश्वतः**=प्लुत गतिवाले **वाजान्**=बलों को **उपमासि**=निर्मित करता है। हमारे अन्दर बुद्धि व बल को तू स्थापन करता है। 'शश्वतः' शब्द का अर्थ 'बहून्' (अनेक) भी है। यह सोम नानाविध बलों को हमारे अन्दर स्थापित करता है।

भावार्थ—सोम हमारे लिये प्रकाश व बल को देनेवाला है।

ऋषिः—**कवि**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'ऋषिषाट्' सोम

विश्व॑स्य॒ राजा॑ पवते स्व॒र्दृश॑ ऋ॒तस्य॑ धी॒तिमृ॑षि॒षाळ॑वीवशत्।
यः सूर्य॒स्यासि॑रेण मृ॒ज्यते॑ पि॒ता म॒तीना॒मस॑मष्टकाव्यः॥ ४॥

(१) **विश्वस्य**=सबका **राजा**=दीप्त करनेवाला यह सोम **पवते**=प्राप्त होता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी को दीप्त करता है। **ऋषिषाट्**=(ऋषिः च असौ षाट् च) तत्त्वद्रष्टा व शत्रुओं का अभिभव करनेवाला यह सोम **स्वर्दृशः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योतिरूप ब्रह्म के दर्शन करनेवाले **ऋतस्य**=सत्यव्रती पुरुष के **धीतिम्**=(मतिं कर्म वा) बुद्धि व कर्म की **अवीवशत्**=कामना करता है। अर्थात् यह सोम हमें प्रभु द्रष्टा व सत्यव्रती बनाता है, हमारे कर्मों को इनके कर्मों जैसा बनाता है। (२) **यः**=जो सोम, **सूर्यस्य**=ज्ञानसूर्य के **आसिरेण**=क्षेपक बल से, मलों को दूर करनेवाली शक्ति से **मृज्यते**=शुद्ध किया जाता है, सदा स्वाध्याय में लगे रहने से यह पवित्र बना रहता है। वह सोम **मतीनां पिता**=हमारी बुद्धियों का रक्षक होता है और **असमष्ट काव्यः**=(अ सम् अष्ट काव्य) अव्याप्त ज्ञानवाला, अर्थात् विशाल ज्ञानवाला होता है। वस्तुतः सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, और हमारी ज्ञानाग्नि को खूब दीप्त करके हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है।

भावार्थ—यह सोम 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी को दीप्त करता है। यह हमारे कर्मों को प्रभुद्रष्टा व सत्यव्रती पुरुषों के कर्म बनाता है। विशाल ज्ञानवाला है।

ऋषिः—कवि ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'संग्राम विजेता' सोम

वृषेव यूथा परि कोशमर्षस्यपामुपस्थे वृषभः कनिक्रदत्।
स इन्द्राय पवसे मत्सरिन्तमो यथा जेषाम समिथे त्वोतयः ॥ ५ ॥

(१) **वृषा इव**=जैसे एक बैल **यूथा**=गो-समूहों की ओर जाता है, इसी प्रकार हे सोम! तू **कोशं परिअर्षसि**=अन्नमय आदि कोशों को प्राप्त होता है। वस्तुतः उन सब कोशों को तू ही उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है। **अपां उपस्थे**=कर्मों की उपासना में **वृषभः**=शक्तिशाली यह सोम **कनिक्रदत्**=प्रभु के स्तोत्रों का खूब ही उच्चारण करता है। अर्थात् सोमरक्षक पुरुष प्रभु-स्मरण के साथ सदा कार्यों में प्रवृत्त रहता है, यह क्रियाशीलता उसकी शक्ति को स्थिर रखती है। (२) हे सोम! **सः**=वह तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पवसे**=प्राप्त होता है। **मत्सरिन्तमः**=उसके जीवन में अतिशयेन आनन्द का संचार करता है। हे सोम! तू हमें प्राप्त हो, **यथा**=जिससे कि हम **त्वा उतयः**=तेरे से रक्षित हुए-हुए **जेषाम**=विजयी हों। सोम हमें वह शक्ति प्राप्त कराता है, जिससे कि हम सदा विजयी होते हैं।

भावार्थ—सोम हमें सदा संग्रामों में विजय प्राप्त कराता है। सब कोशों को यही परिपूर्ण करता है। प्रभु-स्मरण के साथ हमें कर्मशील बनाता है, हमारे में आनन्द का संचार करता है।

अगले सूक्त में भी 'कवि' ही सोम का स्तवन करता है—

[७७] सप्तसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—कविः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वपुषो वपुष्टरः

एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टरः।
अभीमृतस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः ॥ १ ॥

(१) **एषः**=यह सोम **प्र कोशे**=सर्वोत्कृष्ट आनन्दमय कोश में **मधुमान्**=अत्यन्त माधुर्यवाला होता हुआ **अचिक्रदत्**=प्रभु का आह्वान करता है। सोमरक्षण के होने पर माधुर्य व आनन्द की वृद्धि होती है तथा प्रभु-स्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है। यह सोम **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **वज्रः**=शत्रु-संहारक अस्त्र बनता है। **वपुषः वपुष्टरः**=सर्वोत्तम वप्ता (बोनेवाला) है, यह सोम हमारे जीवन में सब सद्गुणों के बीजों को बोता है। (२) **ईम्**=निश्चय से सोमरक्षण के होने पर **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान की **वाश्राः**=वाणियाँ **अभि अर्षन्ति**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होती हैं। ये वाणियाँ **सुदुघाः**=उत्तम ज्ञान का हमारे अन्दर प्रपूरण करनेवाली हैं तथा **घृतश्चुतः**=ज्ञानदीप्ति को व नैर्मल्य को हमारे अन्दर प्रवाहित करनेवाली हैं। ये वाणियाँ हमें इस प्रकार प्राप्त होती हैं, **इव**=जैसे कि **धेनवः**=गौवें **पयसा**=दूध के देने के हेतु से हमें प्राप्त होती हैं। ये गौवें दूध देती हैं, वेदवाणी रूप गौवें ज्ञानदुग्ध को प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) जीवन मधुर बनता है, (ख) वृत्ति प्रभु-प्रवण होती है, (ग) शत्रु संहारक शक्ति प्राप्त होती है, (घ) सद्गुणों के बीज बोये जाते हैं, (ङ) सत्य ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—**कविः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स मध्वः आयुवते

स पूर्व्यः पवते यं दिवस्परि श्येनो मथायदिषितस्तिरो रजः।
स मध्व आ युवते वेविजान इत्कृशानोरस्तुर्मनसाह बिभ्युषा॥ २॥

(१) **सः**=वह **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम सोम **पवते**=प्राप्त होता है। **यम्**=जिस सोम को **दिवः**=(दीव्यति इतिः कः) ज्ञान के प्रकाशवाला, **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला, **इषितः**=प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त व्यक्ति **परि मथायत्**=शरीर में ही मन्थन द्वारा उत्पन्न करता है। वस्तुतः भोजन का आंतों में मन्थन होकर ही रस आदि धातुओं की उत्पत्ति होती है। यह सोम **तिरः रजः**=इस अपने उत्पत्ति लोक में ही तिरोहित होकर रहता है। शरीर में उत्पन्न होता है और शरीर में ही स्थित होता है। (२) **सः**=वह सोम **मध्वः आयुवते**=माधुर्य को हमारे जीवन से मेल करता है। उस समय यह सोमरक्षक पुरुष! **कृशानोः**=दुर्बलों को भी प्राणित करनेवाले (कृशं आनयति) **अस्तुः**=वासनाओं को परे फेंकनेवाले प्रभु से **बिभ्युषा**=भयभीत होनेवाले **मनसा**=मन से **अह**=ही **वेविजानः**=गति व आचरणवाला होता है। सोमरक्षक पुरुष प्रभु से ही डरता है, किसी अन्य से नहीं।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन का पूरण करनेवाला है, यह उसमें माधुर्य का संचार करता है। सोमरक्षक पुरुष अभय होता हुआ केवल प्रभु से भयभीत होता है।

ऋषिः—**कविः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

महे वाजाय धन्वन्तु गोमते

ते नः पूर्वास उपरास इन्दवो महे वाजाय धन्वन्तु गोमते।
ईक्षेण्यासो अह्यो३ न चारवो ब्रह्मब्रह्म ये जुजुषुर्हविर्हविः॥ ३॥

(१) **ते**=वे **उपरासः**=(nearer) हमारे अधिक समीप होते हुए, हमारे अन्दर सुरक्षित होते हुए, **इन्दवः**=सोमकण **नः**=हमारे **पूर्वासः**=पालन व पूरण करनेवाले हैं। ये सोमकण **महे**=महान् **गोमते**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले **वाजाय**=बल के **धन्वन्तु**=प्राप्त हों। इन सोमकणों के रक्षण से हमें ज्ञान व बल प्राप्त हो। (२) **ईक्षेण्यासः**=ये सोम ईक्षणीय, ईक्षण में उत्तम, वस्तुतत्त्व को समझने में उत्कृष्ट हैं, इन्हीं से तो बुद्धि सूक्ष्म होकर सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करती है। **अह्यः न** (a milch cow)=दुधारु गौवों के समान **चावः**=ये सोम सुन्दर हैं। जैसे वे गौवें खूब ही दूध देती हैं, उसी प्रकार ये सोम भी खूब ही ज्ञानदुग्ध को देनेवाले हैं। सोमकण वे हैं, **ये**=जो **ब्रह्मब्रह्म**=प्रत्येक ज्ञान का **जुजुषुः**=सेवन करते हैं और **हविः हविः**=प्रत्येक त्याग का सेवन करनेवाले होते हैं। सोमरक्षण से मस्तिष्क में ज्ञान तथा हृदय में त्याग होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम जहाँ महान् बल को प्राप्त कराते हैं, वहाँ हृदय में त्याग वृत्ति को तथा मस्तिष्क में ज्ञान को स्थापित करते हैं।

ऋषिः—**कविः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गवां उरुब्जमभ्यर्षति व्रजम्

अयं नो विद्वान्वनवद्वनुष्यत इन्दुः सत्राचा मनसा पुरुष्टुतः।
इनस्य यः सदने गर्भमादधे गवामुरुब्जमभ्यर्षति व्रजम्॥ ४॥

(१) **अयम्**=यह **इन्दुः**=सोम **नः**=हमारे **वनुष्यतः**=हनन की कामनावाले शत्रुओं को **विद्वान्**=जानता हुआ **वनवत्**=उन्हें नष्ट करता है। सोमरक्षण से काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश हो जाता है। यह सोम शत्रु-विनाश करके **सत्राचा**=(सह अञ्चता) आत्मा के साथ गतिवाले, विषयों में इधर-उधर न भटकते हुए, **मनसा**=मन से **पुरुष्टुतः**=खूब ही स्तवनवाला होता है। (२) **इनस्य**=स्वामी के, अपनी इन्द्रियों को वश में करनेवाले के **सदने**=इस शरीर रूप गृह में स्थित यज्ञवेदि तुल्य हृदय-स्थली में **गर्भम्**=सभी के अन्दर रहनेवाले गर्भरूप प्रभु को **यः**=जो **आदधे**=स्थापित करता है, वह सोम **गवाम्**=वेदवाणियों के उस **व्रजम्**=समूह को **अभ्यर्षति**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है, जो **उरुब्जम्**=(उरु अप् ज) विशाल कर्मों को जन्म देनेवाला है। वेदवाणी का अध्ययन करनेवाला कभी संकुचित कर्मों को नहीं करता।

भावार्थ—सोम हमारे हिंसक शत्रुओं को विनष्ट करता है, हमारे मनों को विषयों में भटकने से बचाता है, हमें विशाल कर्मों के करनेवाला वैदिक जीवन देता है।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'अदब्धः वरुणः' सोमः

चक्रिर्दिवः पवते कृत्व्यो रसो महाँ अदब्धो वरुणो हुरुग्यते।
असावि मित्रो वृजनेषु यज्ञियोऽत्यो न यूथे वृषयुः कनिक्रदत्॥ ५॥

(१) **दिवः चक्रिः**=हमारे जीवनों में ज्ञान के प्रकाश को करनेवाला यह सोम **पवते**=प्राप्त होता है। यह **रसः**=सोम का (सार) **कृत्व्यः**=हमें कर्तव्य कर्मों के करने में कुशल बनाता है। यह **महान्**=हमें (मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाला करता है। **अदब्धः**=वासनाओं से हिंसित नहीं होता। **वरुणः**=सब द्वेष आदि अशुभ-वृत्तियों का निवारण करनेवाला है। (२) **हुरुग्यते**=(हुरुक्-हिरुक् near) प्रभु की उपासना में गति करते हुए के लिये यह सोम **असावि**=उत्पन्न किया जाता है। यह **जनेषु**=संग्रामों में **मित्रः**=हमारा मित्र होता है हमें मृत्यु से बचाता है, अतएव **यज्ञियः**=संगतिकरण योग्य होता है। **अत्यः न**=एक सततगामी अश्व के समान है, यह हमें निरन्तर क्रियाशील बनाता है। **यूथे**=कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व प्राणों के समूह में **वृषयुः**=शक्ति के सेचन को यह करने की कामनावाला है। ऐसा यह सोम **कनिक्रदत्**=खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। हमें प्रभु का स्तोता बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सोम हमें वासनाओं से हिंसित नहीं होने देता, यह सब अशुभों का निवारण करनेवाला है। हमें शक्ति देता है, संग्रामों में विजयी बनाता है।

अगले सूक्त में भी 'कवि' ही 'पवमान सोम का शंसन करता है'—

[७८] अष्टसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

राजा सोम

प्र राजा वाचं जनयन्नसिष्यददपो वसानो अभि गा इयक्षति।
गृभ्णाति रिप्रमविरस्य तान्वा शुद्धो देवानामुप याति निष्कृतम्॥ १॥

(१) **राजा**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाला यह सोम **वाचं जनयन्**=हमारे हृदयों में प्रभु की वाणी को आविर्भूत करता हुआ **असिष्यदत्**=शरीर में प्रवाहित होता है। **अपः वसानः**=हमें कर्मों से आच्छादित करता हुआ **गाः अभि**=वेदवाणियों की ओर **इयक्षति**=जाता है। हमें

क्रियाशील व ज्ञानरुचिवाला बनाता है। (२) यह सोम **रिप्रं गृभ्णाति**=सब दोषों का निग्रह करनेवाला होता है। **अस्य अविः**=इस सोम का रक्षक पुरुष **तान्वा**=शक्तियों के विस्तार के द्वारा **शुद्धः**=शुद्ध हुआ-हुआ **देवानाम्**=देवों के **निष्कृतम्**=संस्कृत स्थान को **उपयाति**=प्राप्त होता है, अर्थात् देव लोग जैसे यज्ञादि के लिये पवित्र स्थानों में एकत्रित होते हैं इसी प्रकार यह सोमरक्षक पुरुष पवित्र स्थानों में ही उपस्थित होता है, उन पवित्र कार्यों में ही रुचि रखता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हृदय में प्रभु की वाणी सुन पड़ती है, ज्ञान बढ़ता है, दोष दूर होते हैं और रुचि पवित्र कर्मों की ही ओर होती है।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सोमरक्षण व राक्षसीभावों का विनाश

इन्द्राय सोम परि षिच्यसे नृभिर्नृचक्षा ऊर्मिः कविरज्यसे वने।
पूर्वीर्हि ते स्रुतयः सन्ति यातवे सहस्रमश्वा हरयश्चमूषदः॥ २॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **इन्द्राय**=प्रभु प्राप्ति के लिये **परिषिच्यसे**=शरीर में समन्तात् सिक्त किया जाता है। शरीर में सिक्त हुआ-हुआ तू इस शरीर को प्रभु का अधिष्ठान बनाता है। **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाला तू **ऊर्मिः**=उत्साह की तरंगों को उत्पन्न करनेवाला है। **कविः**=तू क्रान्तदर्शी है, सुरक्षित सोम बुद्धि को तीव्र करता है और इस प्रकार यह मनुष्य को प्रत्येक तत्त्व के अन्तर्दृष्टिवाला बनाता है। तू **वने**=प्रभु के उपासक में **अज्यसे**=अलंकृत किया जाता है, उपासक के शरीर में सोम सुरक्षित रहता है। (२) **ते**=तेरी **स्रुतयः**=शरीर में गतियाँ **सहस्रम्**=हजारों प्रकार से **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाली **सन्ति**=होती हैं। ये गतियाँ **हि**=निश्चय से **यातवे**=राक्षसों के, राक्षसीभावों के, विनाश के लिये होती हैं (यहाँ 'मशकार्थो धूमः=मशक निवृत्ति के लिये धूआँ है' ऐसा प्रयोग है)। राक्षसीभावों के विनाश के होने पर **अश्वाः**=इन्द्रियाश्व **हरयः**=दुःखों का हरण करनेवाले व **चमूषदः**=शरीररूप चमस में स्थित होनेवाले होते हैं। अर्थात् उस समय इन्द्रियाँ इधर-उधर भटकती नहीं।

भावार्थ—सोमरक्षण से प्रभु प्राप्ति होती है, यह हमें तीव्र बुद्धि, स्वस्थ व पवित्र जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

समुद्रियाः, अप्सरसः, अन्तः आसीनाः

समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरभि सोममक्षरन्।
ता ईं हिन्वन्ति हर्म्यस्य सक्षणिं याचन्ते सुम्नं पवमानमक्षितम्॥ ३॥

(१) **समुद्रियाः**=ज्ञान समुद्र में विचरनेवाले, निरन्तर स्वाध्याय करनेवाले, **अप्सरसः**=कर्मों में विचरनेवाले, यज्ञादि कर्मों में सतत प्रवृत्त, **अन्तः आसीनाः**=बाहर भटकने की अपेक्षा अन्दर हृदय में सब चित्तवृत्तियों को आसीन करनेवाले, अन्दर प्रभु का ध्यान करनेवाले लोग **मनीषिणम्**=बुद्धिवाले, बुद्धि को तीव्र बनानेवाले **सोमम्**=सोम को **अभि अक्षरन्**=अपने शरीर में ही क्षरित करते हैं। सोमरक्षण के तीन उपाय हैं—(क) ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना, (ख) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहना, (ग) प्रभु के समीप हृदय में बैठना। सोमरक्षण का लाभ है—'बुद्धि की तीव्रता'। (२) **ताः**=वे 'समुद्रिय' व 'अप्सरस' तथा 'अन्तः आसीन' प्रजायें **ईम्**=इस **हर्म्यस्य**=इस शरीर प्रासाद के **सक्षणिम्**=(सच-समवाये) साथ समवाय वाले शरीर में सुरक्षित और (सह-

मर्षणे) शत्रुओं का पराभव करनेवाले सोम को **हिन्वन्ति**=बढ़ाता है और **पवमानम्**=इस पवित्र करनेवाले सोम से **अक्षितं सुम्नम्**=अक्षीण सुख की **याचन्ते**=याचना करते हैं, सुरक्षित सोम शत्रुओं का विनाश करता है और हमारे जीवन को सुखी करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानरुचि, क्रियाशील, उपासक बनकर सोम का रक्षण करें। यह हमारे शत्रुओं का पराभव करके हमें सुखी करेगा। सब रोगों व वासनाओं का विनाशक यह 'पवमान' है।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सर्वविजयी सोम

गोजिन्नः सोमो रथजिद्धिरण्यजित्स्वर्जिदब्जित्पवते सहस्रजित्।
यं देवासंश्चक्रिरे पीतये मदं स्वादिष्ठं द्रप्समरुणं मयोभुवम्॥ ४॥

(१) **सोमः**=यह सोम (वीर्यशक्ति) **नः**=हमारे लिये **गोजित्**=इन्द्रियों का विजय करनेवाला है। इस सोम के रक्षण से सब इन्द्रियों की शक्ति बड़ी ठीक बनी रहती है। **रथजित्**=शरीर रूप रथ को यह जीतनेवाला है, सोमरक्षण ही शरीर को नीरोग बनाता है। **हिरण्यजित्**=यह सोम (हिरण्यं वै ज्योतिः) ज्योति का विजय करनेवाला है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञान का वर्धन करता है। ज्ञानवर्धन के द्वारा यह **स्वर्जित्**=सुख का विजय करनेवाला है। अविद्या के कारण ही तो कष्ट थे। विद्या का प्रकाश हुआ और कष्ट गये। यह सोम **अब्जित्**=हमारे लिये कर्मों का विजय करनेवाला होकर **पवते**=प्राप्त होता है, सोमरक्षण से प्राप्त शक्ति हमें क्रियाशील बनाती है। इस प्रकार क्रियाशीलता के द्वारा यह सोम **सहस्रजित्**=हजारों वस्तुओं का हमारे लिये विजय करनेवाला है। (२) यह सोम वह है **यम्**=जिसको **देवासः**=देववृत्ति के व्यक्ति **पीतये चक्रिरे**=शरीर के अन्दर ही पान के लिये करते हैं। **मदम्**=यह उल्लास का जनक है, **स्वादिष्ठम्**=हमारी वाणी में माधुर्य का अतिशयेन सञ्चार करनेवाला है, **द्रप्सम्**=(दृपी हर्षणे) हर्ष को उत्पन्न करता है अथवा (संभृतः प्सानीयो भवति नि० ५।१४) शरीर में धारण किया हुआ भक्षणीय होता है, शरीर में ही व्याप्त करने योग्य होता है। **अरुणम्**=हमें तेजस्वी बनाता है और **मयोभुवम्**=नीरोगता को उत्पन्न करता है।

भावार्थ—शरीर के अंग-प्रत्यंग को ठीक रखने व सब शक्तियों को स्थिर रखने का आधार सोम ही है। इसके धारण में ही जीवन है।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उर्वी गव्यूति-अभय

एतानि सोम पवमानो अस्मयुः सत्यानि कृण्वन्द्रविणान्यर्षसि।
जहि शत्रुमन्तिके दूरके च य उर्वीं गव्यूतिमभयं च नस्कृधि॥ ५॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **एतानि द्रविणानि**=इन ऊपर के मन्त्र में कहे गये द्रविणों को (=धनों को) **सत्यानि**=सत्य **कृण्वन्**=करता हुआ **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाला होकर **अर्षसि**=शरीर में गतिवाला होता है। **पवमानः**=तू हमारे जीवन को पवित्र करता है। (२) तू **शत्रुं जहि**=हमारे शत्रुओं को विनष्ट करता है वह **अन्तिके**=समीप हो, **च**=या **यः**=जो **दूरके**=दूर हो। समीप के व दूर के सभी शत्रुओं को तू हमारे लिये नष्ट करनेवाला हो। इस प्रकार शत्रुओं का विनाश करके **नः**=हमारे लिये **उर्वीं गव्यूतिम्**=विशाल मार्ग को **च**=और **अभयम्**=निर्भयता को **कृधि**=करिये।

भावार्थ—सोम हमें सब द्रविणों को प्राप्त कराता है, हमारे सब रोग व वासनारूप शत्रुओं का विनाश करता है। हमारे लिये विशालता व निर्भयता को प्राप्त कराता है।

अगले सूक्त का ऋषि भी कवि ही है—

[७९] एकोनाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अचोदसः इन्दवः

अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र सुवानासो बृहद्दिवेषु हरयः।
वि च नशन्न इषो अरातयोऽर्यो नशन्त सनिषन्त नो धियः॥ १॥

(१) **अचोदसः**=अप्रेरित, अर्थात् **स्थिर**=वासनाओं से न हिलाये हुए, **इन्दवः**=सोमकण **नः धन्वन्तु**=हमें प्राप्त हों। **प्र सुवानासः**=प्रकर्षेण उत्पन्न किये जाते हुए ये सोम **बृहद् दिवेषु**=प्रभूत ज्योतिवाले, ज्ञान प्रधान मनुष्यों में **हरयः**=ये सब दुःखों का हरण करनेवाले होते हैं। (२) **च**=और इस सोम के रक्षण से **नः**=हमें **इषः**=हृदयस्थ प्रभु से दी गई प्रेरणाएँ **वि-नशन्**=विशेषरूप से प्राप्त हों (नश्=(To reach))। **अरातयः**=न देने की भावनाएँ व **अर्यः**=शत्रुत्व की भावनाएँ **नशन्त**=भाग जाएँ। **नः**=हमें **धियः**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्म **सनिषन्त**=सेवन करें, प्राप्त हों। अर्थात् हम सदा बुद्धिपूर्वक कर्मों को करनेवाले बनें।

भावार्थ—सोम हमारे अन्दर सुरक्षित होकर हमारे रोगादि का हरण करनेवाला हो। इसके रक्षण से पवित्र हृदय में हमें प्रभु प्रेरणाएँ सुनायी पड़ें। अदान की भावना व वासनाएँ दूर हों। हम बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले हों।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अकुटिलता-अस्वार्थ

प्र णो धन्वन्त्विन्दवो मदच्युतो धना वा येभिरर्वतो जुनीमसि।
तिरो मर्तस्य कस्य चित्परिह्वृतिं वयं धनानि विश्वधा भरेमहि॥ २॥

(१) **नः**=हमें **इन्दवः**=ये सोमकण **प्रधन्वन्तु**=प्रकर्षेण प्राप्त हों। ये हमारे लिये **मदच्युतः**=उल्लास को प्राप्त करानेवाले हों, उल्लास से ये हमें आसेचित कर दें। **येभिः**=जिन सोमों से हम **धना**=सब धनों को **वा**=तथा **अर्वतः**=इन इन्द्रियाश्वों को **जुनीमसि**=प्राप्त हों। ये सोम हमें प्राप्त होकर हमारे जीवन को उल्लासमय बनाएँ। (२) ये सोम **यस्य कस्य चित्**=जिस किसी मनुष्य की **परिह्वृतिम्**=कुटिलता को **तिरः**=हमारे से तिरोहित करें। हम एक सांसारिक पुरुष की तरह कुटिल मार्ग से धनार्जन करनेवाले न हों। **वयम्**=हम **धनानि**=धनों को **विश्वधा**=सब के धारण के हेतु से **भरेमहि**=पोषित करें। हमारे धन केवल हमारा ही पोषण करनेवाले न हों।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम धनों का विजय करें। कुटिलता से दूर रहते हुए, सबके धारण के हेतु से ही धनों का सम्पादन करें। सोम का विनाश मनुष्य को कुटिल व स्वार्थी बना देता है।

ऋषिः—**कविः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

शत्रु विनाश

उत स्वस्या अरात्या अरिर्हि ष उतान्यस्या अरात्या वृको हि षः।
धन्वन्न तृष्णा समरीत ताँ अभि सोम जहि पवमान दुराध्यः॥ ३॥

(१) **उत**=और **हि**=निश्चय से **सः**=वह सोम **स्वस्याः अरात्याः**=अध्यात्म (स्व=आत्मा) शत्रुओं का **अरिः**=अभिगन्ता-आक्रमण करनेवाला होता है, अर्थात् वासनारूप अध्यात्म शत्रुओं को वह विनष्ट करता है। **उत**=और **अन्यस्याः अरात्याः**=आत्मभिन्न शरीर के रोग आदि शत्रुओं का भी **सः**=वह सोम **हि**=निश्चय से **वृकः**=आदान कर लेनेवाला (=उन्हें पकड़कर समाप्त कर देनेवाला) होता है। (२) **तान् अभि**=उन शत्रुओं के प्रति यह **समरीत**=इस प्रकार प्रबल आक्रमण करनेवाला होता है, **न**=जैसे कि **धन्वन्**=रेगिस्तान में **तृष्णा**=प्यास हमारे पर आक्रमण करती है। हे सोम! **पवमान**=पवित्र करनेवाले वीर्य! तू **दुराध्यः**=इन दुःख से वश में करने योग्य शत्रुओं को **जहि**=नष्ट कर डाल (दुर् राध् य)।

भावार्थ—सुरक्षित सोम आत्मा व शरीर के शत्रुओं को नष्ट करता है। उन पर यह प्रबल आक्रमण करता है और कठिनता से वशीभूत होनेवाले शत्रुओं को भी समाप्त करता है।

ऋषिः—**कविः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शिखर पर

दिवि ते नाभा परमो य आददे पृथिव्यास्ते रुरुहुः सानवि क्षिपः।
अद्रयस्त्वा बप्सति गोरधि त्वच्य१प्सु त्वा हस्तैर्दुदुहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो **परमः**=(परः मीयते येन) प्रभु का ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति है वह हे सोम! **ते**=तेरे **नाभा**=बन्धन के करनेवाले **दिवि**=ज्ञान में **आददे**=तेरा ग्रहण करता है, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति में तत्पर होकर तुझे अपने अन्दर बाँधनेवाला बनता है। **ते**=वे तुझे अपने अन्दर बाँधनेवाले **क्षिपः**=वासनाओं व रोगों को अपने से दूर फेंकनेवाले लोग **पृथिव्याः सानवि**=इस शरीर रूप पृथिवी के शिखर पर **रुरुहुः**=आरूढ़ होते हैं, अधिक से अधिक उन्नति कर पाते हैं, इस शरीर को पूर्ण स्वस्थ बना पाते हैं। (२) **अद्रयः**=प्रभु के उपासक (अद्रि=one who adores), हे सोम! **गोः**=इन ज्ञान-वाणियों के **अधि**=आधिक्येन **त्वचि**=सम्पर्क में **त्वा**=तुझे **बप्सति**=खाते हैं, अपने अन्दर ही व्याप्त करते हैं। सोमरक्षण के लिये उपासना व स्वाध्याय ही मुख्य साधन हैं। ये **मनीषिणः**=ज्ञानी पुरुष **हस्तैः**=हाथों से **अप्सु**=कर्मों में लगे रहकर **त्वा**=तुझे **दुदुहुः**=अपने अन्दर प्रपूरित करते हैं। एवं कर्मों में लगे रहना हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाता है और हम सोम का रक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि (अद्रयः) उपासनामय हमारा जीवन हो, (गोः त्वचि=in touch) हम सदा ज्ञान के सम्पर्क में हों (अप्सु) कर्मों में लगे रहें। रक्षित सोम हमें द्युलोक व पृथिवीलोक के शिखर पर पहुँचायेगा, अर्थात् हमारे मस्तिष्क व शरीर को उन्नत करेगा।

ऋषिः—**कविः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सोम का 'सुभू सुपेशस्' रस

एवा त इन्दो सुभ्वं सुपेशसं रसं तुञ्जन्ति प्रथमा अभिश्रियः।
निदंनिदं पवमान नि तारिष आविस्ते शुष्मो भवतु प्रियो मदः ॥ ५ ॥

(१) **एवा**=गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से, हे **इन्दो**=सोम! **ते**=तेरे **सुभ्वम्**=शरीर, मन व बुद्धि को उत्तम करनेवाले (सु-भू) **सुपेशसम्**=अंग-प्रत्यंग की रचना को सुन्दर बनानेवाले **रसम्**=रस को, सार को **प्रथमाः**=अपनी शक्तियों व ज्ञानों का विस्तार करनेवाले **अभि-श्रियः**=प्रातः-सायं

प्रभु का उपासन करनेवाले लोग (श्रि=भज सेवायाम्) **तुञ्जन्ति**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। सोमरक्षण का उपाय है—(क) प्रथम बनना, (ख) अभि-श्री बनना। इसका लाभ यह है कि—(क) शरीर, मन और बुद्धि उत्तम होते हैं, (ख) सर्वांग-सुन्दर-रचनावाला शरीर बनता है। (२) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **निदं निदम्**=जो कुछ निन्दनीय है, उसे **नितारिषः**=नष्ट कर। **ते**=तेरा **शुष्मः**=शत्रु-शोषक बल **आविः भवतु**=प्रकट हो, जो **प्रियः**=प्रीति को देनेवाला तथा **मदः**=उल्लास का जनक है।

भावार्थ—सोमरक्षण वही कर पाता है जो अपना लक्ष्य 'प्रथम स्थान में पहुँचना रखे तथा प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करे।' रक्षित सोम सब निन्दनीय तत्त्वों को विनष्ट करता है और प्रीति व उल्लास को प्राप्त कराता है।

सोमरक्षण से अपने निवास को उत्तम बनानेवाला 'वसु' अगले सूक्त का ऋषि है, यह अपने में शक्ति को भरने के कारण 'भारद्वाज' है। यह कहता है कि—

[८०] अशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ऋतेन देवान् हवते दिवस्परि'

सोम॑स्य॒ धारा॑ पवते नृ॒चक्ष॑स ऋ॒तेन॑ दे॒वान्ह॑वते दि॒वस्परि॑।
बृह॒स्पते॑ र॒वथे॑ना॒ वि दि॑द्युते समु॒द्रासो॒ न सव॑नानि विव्यचुः ॥ १ ॥

(१) **नृचक्षसः**=मनुष्यों को देखनेवाले, उनका ध्यान करनेवाले, **सोमस्य**=सोम की **धारा**=धारणशक्ति हमें **पवते**=प्राप्त होती है। यह सोम **ऋतेन**=ऋत के द्वारा, यज्ञादि कर्मों में हमें प्रवृत्त करने के द्वारा, **दिवः परि**=द्युलोक के ऊपर, अर्थात् ज्ञानशिखर पर हमें पहुँचाकर **देवान् हवते**=देवों को पुकारता है, हमारे अन्दर दिव्य गुणों का धारण करता है। इस सोमरक्षण से—(क) हमारा शरीर यज्ञादि कर्मों में लगता है, (ख) मस्तिष्क ज्ञानवृद्धि में तत्पर होता है, (ग) और हृदय दिव्य गुणों का अधिष्ठान बनता है। (२) सोमरक्षण से जब हृदय दिव्यगुणों का अधिष्ठान बनता है, तो यह **बृहस्पतेः**=उस ज्ञान के स्वामी प्रभु के **रवथेन**=प्रेरणात्मक शब्दों से **विदिद्युते**=चमक उठता है। ये प्रभु प्रेरणा को सुननेवाले व्यक्ति **समुद्रासः न**=ज्ञान के समुद्र से बने हुए **सवनानि**=जीवन के तीनों सवनों को **विव्यचुः**=विस्तृत करते हैं। ये प्रथम २४ वर्ष के प्रातःसवन, अगले ४४ वर्षों के माध्यन्दिनसवन तथा अन्तिम ४८ वर्षों के तृतीयसवन को सुन्दरता से बिताते हुए एक सौ सोलह वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे हाथों में यज्ञों, मस्तिष्क में ज्ञान तथा हृदय में दिव्यगुणों को स्थापित करता है। उस समय हमारा हृदय प्रभु-प्रेरणा से दीप्त हो उठता है। हम ज्ञान-समुद्र बनकर दीर्घजीवन को बितानेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अयोहतं योनिम् आरोहसि द्युमान्

यं त्वा॑ वाजिन्न॒घ्न्या अ॒भ्यनू॑ष॒तायो॑हतं॒ योनि॒मा रो॑हसि द्यु॒मान्।
म॒घोना॒मायुः॑ प्रति॒रन्म॑हि॒ श्रव॒ इन्द्रा॑य सोम पवसे॒ वृषा॒ मदः॑ ॥ २ ॥

(१) हे **वाजिन्**=शक्ति-सम्पन्न सोम! **यं त्वा**=जिस तुझ को **अघ्न्याः**=ये अहन्तव्य वेदवाणी रूप गौएं **अभ्यनूषत**=स्तुत करती हैं, वेदवाणी का सदा स्वाध्याय करना ही चाहिए, इसी से

अहन्तव्य कहलाती है। इसमें सोम का स्तवन विस्तार से उपलब्ध होता है। यह सोम **द्युमान्**=ज्योतिर्मय है, ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला है, हे सोम! द्युमान् होता हुआ तू **अयोहतम्**=लोहे से घड़े हुए, अर्थात् अत्यन्त दृढ़ **योनिम्**=इस अपने उत्पत्ति-स्थानभूत शरीर में **आरोहसि**=आरोहण करता है। यह सोम ही तो शरीर को सुदृढ़ बनाता है। (२) **मघोनाम्**=यज्ञशील पुरुषों के **आयुः प्रतिरन्**=आयुष्य को बढ़ाता हुआ, हे सोम! तू **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **महि श्रवः**=महनीय ज्ञान को **पवसे**=प्राप्त कराता है। तू **वृषा**=इस इन्द्र को शक्तिशाली बनाता है और **मदः**=उसके जीवन में उल्लास का जनक है।

भावार्थ—वेद सोम की महिमा का गायन करता है। (क) यह शरीर को दृढ़ बनाता है, (ख) मस्तिष्क को ज्योतिर्मय करता है, (ग) जीवन को वीर्य बनाता है, (घ) हमें शक्ति-सम्पन्न करता हुआ उल्लास व आनन्द का जनक होता है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ऊर्जं वसानः श्रवसे सुमंगलः

एन्द्रस्य कुक्षा पवते मदिन्तम ऊर्जं वसानः श्रवसे सुमङ्गलः।
प्रत्यङ् स विश्वा भुवनाभि पप्रथे क्रीळन्हरिरत्यः स्यन्दते वृषा॥ ३॥

(१) यह **मदिन्तमः**=अतिशयित आनन्द का जनक सोम **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **कुक्षा आ पवते**=कुक्षिदेश में सर्वथा प्राप्त होता है, अर्थात् उसके अन्दर ही सुरक्षित रहता है। वहाँ **ऊर्जं वसानः**=बल व प्राणशक्ति को यह धारित करता है। **श्रवसे**=ज्ञान प्राप्ति के लिये होता है और इस प्रकार **सुमंगलः**=उत्तम कल्याण का कारण बनता है। (२) **प्रत्यङ्**=(प्रति अञ्छति) शरीर के अन्दर ही गतिवाला होता हुआ **सः**=वह सोम **विश्वा भुवना**=शरीर के सब अंगों को **अभि पप्रथे**=विस्तृत शक्तिवाला करता है। **क्रीडन्**=शरीर में ही विहार करता हुआ यह सोम **हरिः**=सब दुःखों का हरण करनेवाला होता है। **अत्यः**=निरन्तर गतिशील होता हुआ यह **स्यन्दते**=शरीर में प्रवाह रहित होता है, अपने रक्षक को यह क्रियाशील बनाता है। **वृषा**=शक्तिशाली होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम 'उल्लास-शक्ति-ज्ञान व मंगल' का साधक होता है। शरीर में ही विहरण करता हुआ सोम हमारे रोगों का हरण तो करता ही है, यह हमें गतिशील बनाकर शक्ति-सम्पन्न बनाये रखता है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'सहस्त्रजित्' सोम

तं त्वा देवेभ्यो मधुमत्तमं नरः सहस्रधारं दुहते दश क्षिपः।
नृभिः सोम प्रच्युतो ग्रावभिः सुतो विश्वान्देवाँ आ पवस्वा सहस्रजित्॥ ४॥

(१) हे सोम! **देवेभ्यः**=देव वृत्तिवाले पुरुषों के लिये **मधुमत्तमम्**=अतिपूण्य के माधुर्य को प्राप्त करनेवाले **तं**=उस **त्वा**=तुझको **दक्षक्षिपः**=दसों इन्द्रियों के विषयों को परे फेंकनेवाले **नरः**=पुरुष **दुहते**=अपने में प्रपूरित करते हैं। उस तुझको, जो तू **सहस्त्रधारम्**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला है। (२) हे सोम! **नभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों से **प्रच्युतः**=भूमि में प्रकर्षेण असेचित किया हुआ तू **ग्रावभिः**=स्तोताओं से **सुतः**=सम्पादित हुआ। **विश्वान् देवान्**=सब दिव्य गुणों को **आपवस्व**=प्राप्त करा। तू ही तो **सहस्त्रजित्**=हमारे लिये हजारों वसुओं का विजय करनेवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि हम (क) देववृत्ति के बनें, (ख) इन्द्रियों को विषयों में न फँसने दें, (ग) उन्नतिपथ पर चलते हुए प्रभु का साधन करनेवाले बनें। सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम 'मधुमत्तम' है और 'सहस्राधार' है जीवन को मधुर बनाता है, हजारों प्रकार से हमारा धारण करता है, हजारों वसुओं का हमारे लिये विजय करता है, 'सहस्रजित्' है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'मधुमान् वृषभ' सोम

तं त्वा हस्तिनो मधुमन्तमद्रिभिर्दुहन्त्यप्सु वृषभं दश क्षिपः।
इन्द्रं सोम मादयन्दैव्यं जनं सिन्धोरिवोर्मिः पवमानो अर्षसि॥ ५॥

(१) हे सोम! **तंत्वा**=उस तुझको **हस्तिनः**=उत्तम हाथोंवाले, **अद्रिभिः**=उपासनाओं के साथ प्राप्त कर्मों में प्रवृत्त होकर **दशक्षिपः**=दसों इन्द्रियों के विषयों को अपने से परे फेंकनेवाले लोग **दुहन्ति**=अपने में प्रपूरित करते हैं। भूमि में सुरक्षित हुआ-हुआ तू **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाला है, **वृषभम्**=जीवन को शक्तिशाली बनानेवाला है। (२) हे सोम! तू **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को तथा **दैव्यं जनम्**=प्रभु की ओर चलनेवाले दैव्यजन को **मादयन्**=आनन्दित करता हुआ, **सिन्धोः ऊर्मि इव**=समुद्र की लहर की तरह **पवमानः**=पवित्र करता हुआ **अर्षसि**=प्राप्त होता है। समुद्र की लहर आती है और समुद्रतट के सारे कूड़े-करकट को बहा ले जाती है। इसी प्रकार सोम सब मलिनताओं को दूर करनेवाला है।

भावार्थ—प्रशस्त हाथोंवाले बनकर, प्रभु स्मरण पूर्वक कार्यों में लगे रहना ही सोमरक्षण का साधन है। यह जीवन को मधुर व शक्तिशाली बनाता है, जीव को पवित्र कर डालता है।

अगला सूक्त भी 'वसु भारद्वाज' का ही है—

[८१] एकाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'यश-ज्ञान-आनन्द'

प्र सोमस्य पवमानस्योर्मय इन्द्रस्य यन्ति जठरं सुपेशसः।
दध्ना यदीमुन्नीता यशसा गवां दानाय शूरमुदमन्दिषुः सुताः॥ १॥

(१) **पवमानस्य**=जीवन को पवित्र बनाते हुए **सोमस्य**=सोम की **अर्मयः**=तरंगें **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **जठरम्**=उदर को **प्रयन्ति**=प्रकर्षेण प्राप्त होती हैं। जितेन्द्रिय पुरुष के शरीर में सोम सुरक्षित रहता है। वहाँ ये सोम की तरंगे **सुपेक्षसः**=अंग-अन्यंग का सुन्दर निर्माण करती हैं। (२) **दध्ना**=(धत्ते) चित्तवृत्ति का धारण करनेवाले पुरुष से **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **उन्नीताः**=ये सोमकण शरीर में ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं, तब ये सोमकण **यशसा**=यश के साथ **गवां दानाय**=ज्ञान की वाणियों के देने के लिये होते हैं। ये सोम हमारे जीवन में **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **शूरं**=शक्तिशाली पुरुष को **उद् मन्दिषुः**=खूब उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व चित्तवृत्ति निरोध द्वारा रक्षित सोम (क) शरीर का उत्तम निर्माण करते हैं, (ख) जीवन को यशस्वी बनाते हैं, (ग) हमें ज्ञानदीप्त करते हैं, (घ) उत्कृष्ट आनन्द को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शक्ति+ज्ञान, अभ्युदय+निःश्रेयस

अच्छा हि सोमः कलशाँ असिष्यदुदत्यो न वोळ्हा रघुवर्तनिर्वृषा।
अथा देवानामुभयस्य जन्मनो विद्वाँ अश्नोत्यमुत इतश्च यत्॥ २॥

(१) **सोमः**=वीर्यशक्ति **हि**=निश्चय से **कलशान् अच्छा**=१६ कलाओं के निवास-स्थान इस शरीर की ओर **असिष्यदत्**=प्रवाहवाली होती है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम अत्यन्त द्रुतगामी अश्व के समान **वोढा**=कार्य का वहन करनेवाला होता है और हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचाता है। **रघुवर्तनिः**=शीघ्रता से मार्ग का आक्रमण करनेवाला यह सोम **वृषा**=शक्तिशाली होता है। (२) **अथा**=अब यह सोम **देवानाम्**=इन देववृत्ति के पुरुषों के **उभयस्य**=दोनों **जन्मनः**=विकासों को 'शक्ति ज्ञान' के विकासों को **विद्वान्**=जानता हुआ **अमुतः च यत्**=परलोक का जो निःश्रेयस रूप ऐश्वर्य है, **च**=और **इतः यत्**=इस लोक का 'अभ्युदय' रूप ऐश्वर्य है उन दोनों ऐश्वर्यों को **अश्नोति**=व्याप्त करता है। अर्थात् सोम शक्ति व ज्ञान का प्रादुर्भाव करता हुआ अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाला है। यह शक्ति व ज्ञान का विकास करता हुआ अभ्युदय व निःश्रेयस का साधन बनता है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'वसु प्रदाता' सोम

आ नः सोम पवमानः किरा वस्विन्दो भव मघवा राधसो महः।
शिक्षा वयोधो वसवे सु चेतुना मा नो गयमारे अस्मत्परा सिचः॥ ३॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ति! तू **नः**=हमारे लिये **पवमानाः**=पवित्रता को करनेवाली है। **वसु**=निवास के लिये आवश्यक सब धनों का अधिकार हमारे लिये सर्वतः प्राप्त करानेवाली हो, शरीर के अंगप्रत्यंग में उस-उस वसु को प्राप्त करा। हे **इन्दो**=शक्तिशालिन् सोम! तू **महः राधसः**=महनीय धन की शिक्षा दे। **मघवा**=तू सर्वैश्वर्यवाला है। (२) हे **वयोधः**=उत्कृष्ट जीवन को धारित करनेवाले सोम तू **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के द्वारा **वसवे**=हमारे वसुओं के लिये हो, हमें उत्कृष्ट निवास को प्राप्त कराने के लिये हो। **नः गयम्**=हमारी प्राणशक्ति को **स्मत्**=हमारे से **मा**=मत **परासिचः**=दूर करनेवाला हो हमारी प्राण शक्ति का रक्षण कर।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सब वसुओं को प्राप्त कराके हमारे निवास को उत्तम बनाता है। यह हमारी प्राणशक्ति का रक्षक है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सोमरक्षण से सर्वदेव प्राप्ति

आ नः पूषा पवमानः सुरातयो मित्रो गच्छन्तु वरुणः सजोषसः।
बृहस्पतिर्मरुतो वायुरश्विना त्वष्टा सविता सुयमा सरस्वती॥ ४॥

(१) सोमरक्षण के होने पर **नः**=हमारे लिये **सुरातयः**=सब उत्तमताओं को देनेवाले **सजोसः**=परस्पर संगत 'पूषा पवमानः मित्रः व वरुणः'=पूषा आदि देव **आगच्छन्तु**=प्राप्त हों। हम अच्छी प्रकार अपना पोषण करनेवाले हों, पवित्रता को सिद्ध करें, सब के प्रति स्नेहवाले हों, द्वेष

का निवारण करनेवाले हों। (२) इसी प्रकार हमें **त्वष्टा**=त्वष्टा की प्राप्ति हो। हम दीप्तिमय जीवनवाले हों। (त्विष्) अथवा निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों (त्वक्ष्)। **सविता**=सविता की हमें प्राप्ति हो? हम ऐश्वर्य का उत्पादन करनेवाले हों। **सुयमा**=उत्तम संयमवाली **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता हमें प्राप्त हो। **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु हमें प्राप्त हो। **मरुतः**=प्राण हमें प्राप्त हों। **वायुः**=गतिशीलता तथा **अश्विनौ**=(सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य व चन्द्र हमें प्राप्त हों। हमारे जीवन में सूर्य व चन्द्र का समन्वय हो। सूर्य 'उष्णता' का प्रतीक है और चन्द्र 'शीतलता' का। हमारे जीवन में दोषों का सुन्दर समन्वय होकर क्रियाशीलता बनी रहे।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारा जीवन सर्वदेवमय बनता है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

विश्वमिन्वे द्यावापृथिवी

उभे द्यावापृथिवी विश्वमिन्वे अर्यमा देवो अदितिर्विधाता।
भगो नृशंस उर्व१न्तरिक्षं विश्वे देवाः पवमानं जुषन्त॥ ५॥

(१) **उभे**=दोनों **विश्वमिन्वे**=(मिन्व्) सब से आदरणीय **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क और शरीर **पवमानम्**=हमारे जीवन को पवित्र करनेवाले सोम का **जुषन्त**=सेवन करते हैं। अर्थात् सोमरक्षण के होने पर उत्कृष्ट मस्तिष्क व शरीर प्राप्त होते हैं। **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम, क्रोध आदि को वशीभूत करना, **देवः**=अकारणमयता, **अदितिः**=स्वस्थ्य, विधाता, निर्माण की दिव्यभावना, ये सब सोम के रक्षित होने पर हमारे प्रति प्रीतिवाले होते हैं। (२) **भगः**=ऐश्वर्य, **नृशंसः**=मनुष्यों के द्वारा शंसन (यशोगान), उस **अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदय तथा **विश्वेदेवाः**=सब देव इस सोम को सेवित करते हैं, सोमरक्षण के होने पर ये सब शरीर में उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—सोम के हमारे जीवन को पवित्र करने पर सब देव हमारे प्रति प्रीतिवाले होते हैं। हमारा जीवन यशस्वी बनता है।

'वसु भारद्वाज' ही अगले सूक्त में कहते हैं—

[८२] द्व्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु की ओर व प्रभु प्राप्ति

असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत्।
पुनानो वारं पर्येत्यव्ययं श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदम्॥ १॥

(१) **सोमः**=सोम (वीर्य) **असावि**=शरीर में उत्पन्न किया गया है, **अरुषः**=यह आरोचमान है। **वृषा**=शक्तिशाली है और **हरिः**=सब दुःखों का हरण करनेवाला है। **राजा इव**=यह शरीर में राजा (शासक) के समान है। **दस्मः**=सब दास्यव वृत्तियों का विनाश करनेवाला है (दसु उपक्षये)। **गाः अभि**=यह वेदवाणियों की ओर चलता है, अर्थात् सोमरक्षण से वेदवाणियों की ओर झुकाव होता है। **अचिक्रदत्**=यह प्रभु का आह्वान करता है, अर्थात् सोमरक्षक पुरुष का झुकाव प्रभु स्मरण की ओर होता है। (२) **पुनानः**=हमारे जीवन को पवित्र करता हुआ यह सोम **वारम्**=उस वरणीय प्रभु की **पर्येति**=गतिवाला होता है, जो **अव्ययम्**=कभी नष्ट होनेवाले नहीं। **श्येनः न**=शंसनीय गतिवाले के समान होता हुआ यह सोम **घृतवन्तम्**=ज्ञान की प्रीतिवाले **योनिम्**=उस संसार के उत्पत्ति स्थान प्रभु में **आसदम्**=आसीन होने के लिये होता है। संक्षेप में

क्रम यह है कि (क) सोम हमारे जीवन को पवित्र बनाता है, (ख) हम प्रभु की ओर चलते हैं, (ग) प्रशंसनीय गतिवाले होते हैं, (घ) अन्ततः प्रभु में आसीन होते हैं।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों को पवित्र करके हमें प्रभु की ओर ले चलता है। अन्ततः यह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्रियदमन (ममहिनं पर्येषि)

कविर्वेधस्या पर्येषि माहिनमत्यो न मृष्टो अभि वाजमर्षसि।
अपसेधन्दुरिता सोम मृळय घृतं वसानः परि यासि निर्णिजम्॥ २॥

(१) हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **कविः**=क्रान्त होता हुआ **वेधस्या**=उस विधाता प्रभु की प्राप्ति की कामना से **माहिनम् पर्येषि**=(power, dominion) इन्द्रियों के आदित्य को, इन्द्रियों के दमन की शक्ति को प्राप्त करता है। **मृष्ट**=शुद्ध किया गया तू **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान **वाजम् अभि अर्षसि**=शक्ति और गतिवाला होता है। जैसे घोड़े की मालिश होने पर वह तरोताजा होकर शक्तिसम्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार वासनाओं के विनाश के द्वारा परिशुद्ध सोम हमें शक्ति-सम्पन्न बनाता है। (२) शक्तिशाली बनाकर सब **दुरिता**=दुरितों को, अभद्रों को, **अपसेधन्**=दूर करते हुए, हे सोम! तू हमें **मृडयः**=सुखी कर **घृतं वसानः**=ज्ञानदीप्ति को धारण कराता हुआ तू **निर्णिजम्**=शोधन व पुष्टि को **परियासि**=चारों ओर प्राप्त कराता है। इस सोम के रक्षण से शरीर ज्ञानदीप्ति से चमक उठता है, इसका अंगप्रत्यंग निर्मल व पुष्ट हो जाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारी बुद्धि तीव्र होती है, हमारे में प्रभु प्राप्ति की कामना उत्पन्न होती है, हम इन्द्रियदमन करते हुए शक्तिशाली बनते हैं। दुरित दूर होते हैं। प्रकाश के साथ पुष्टि प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वानस्पतिक भोजन व सोमरक्षण

पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे।
स्वसार आपो अभि गा उतासरन्त्सं ग्रावभिर्नसते वीते अध्वरे॥ ३॥

(१) इस **महिषस्य**=महान् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गो महिमावाले **पर्णिनः**=पालन व पूरण करनेवाले सोम का **पर्जन्यः**=यह बादल ही पिता पितृ स्थानीय है। बादलों से हुई वृष्टि इसे जन्म देनेवाली ओषधियों, वनस्पतियों को उगाती है। वस्तुतः इन ओषधियों वनस्पतियों के सेवन से उत्पन्न सोम ही शरीर में रक्षणीय है। यह सोम **पृथिव्याः नाभा**=पृथिवी की नाभि में तथा **गिरिषु**=पर्वतों पर **क्षयं दधे**=निवास को धारण करता है। इस पृथिवी के क्षेत्रों में तथा पर्वतों पर उत्पन्न वनस्पतियाँ ही इस सोम को जन्म देती हैं। इन शब्दों से भी उसी बात पर बल दिया गया है कि हम वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करें। इनसे उत्पन्न सोम ही हमारे लिये कल्याण कर होगा। (२) **स्वसारः**=(वनस्पतियों के सेवन से उत्पन्न सोम) हमें आत्मतत्त्व की ओर ले चलते हैं। **उत**=और **आपः**=रेतकण (आपः रेतो भूत्वा०) **गाः अभि असरन्**=ज्ञान की वाणियों की ओर गतिवाले होते हैं। यह सोम **वीते अध्वरे**=कान्त यज्ञों के होने पर जीवन में सुन्दर यज्ञात्मक कर्मों के चलने पर **ग्रावभिः संनसते**=स्तोता पुरुषों के साथ संगत होता है। अर्थात् सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि हम यज्ञात्मक कार्यों में लगे रहें, प्रभु स्तवन में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—सोमरक्षण के इच्छुक पुरुष को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि वह वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करे। सुरक्षित सोमरक्षण उसे ज्ञान प्राप्ति व आत्मतत्त्व की ओर ले चलेंगे। यज्ञों में लगे रहना व प्रभु स्तवन भी सोमरक्षण में साधक होते हैं।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सर्वसुख साधक सोम

जायेव पत्यावधि शेव मंहसे पज्राया गर्भ शृणुहि ब्रवीमि ते।
अन्तर्वाणीषु प्र चरा सु जीवसेऽनिन्द्यो वृजने सोम जागृहि ॥ ४ ॥

(१) **इव**=जैसे **जाया**=पत्नी **पत्यौ**=पति के विषय में **अधिशेव**=अधिक सुख को (शेव, शेवं) प्राप्त कराती है, इसी प्रकार हे सोम, वीर्यशक्ति! तू अपने रक्षक में खूब ही सुख को **मंहसे**=देनेवाला होता है। 'स्वास्थ्य' सुख का मूल यह सोम ही तो है। हे **पज्रायाः गर्भ**=(पज्रा strength) शक्ति को अपने में धारण करनेवाले सोम! तू **शृणुहि**=मेरे से किये गये अपने को स्तवन को सुन। **ते ब्रवीमि**=मैं तेरे लिये इन स्तुतिवचनों को कहता हूँ। इन स्तुतिवचनों के द्वारा स्तोता सोम के महत्त्व को अपने हृदय पर अंकित करता है। (२) हे सोम! तू **वाणीषु अन्तः**=ज्ञान की वाणियों में **चरा**=गतिवाला हो। **सुजीवसे**=हमारे उत्कृष्ट जीवन के लिये, **अनिन्द्यः**=न निन्दित होता हुआ अत्यन्त प्रशस्य होता हुआ तू **वृजने**=शक्ति में **जागृहि**=सदा जागरित हो, हमें तू शक्तिवाला बना।

भावार्थ—सोम शक्ति का धारक है, यह सर्वोत्कृष्ट सुख को प्राप्त कराता है। यही ज्ञान की वाणियों में व शक्ति में विचरण करता है।

ऋषिः—**वसुर्भारद्वाजः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शतसाः सहस्रसाः' सोम

यथा पूर्वेभ्यः शतसा अमृध्रः सहस्रसाः पर्यया वाजमिन्दो।
एवा पवस्व सुविताय नव्यसे तव व्रतमन्वापः सचन्ते ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्दो**=सोम! तू **यथा**=जैसे **पूर्वेभ्यः**=अपना पालन व पूरण करनेवालों के लिये **अमृध्रः**=हिंसा को न करनेवाला है, उन्हें हिंसित नहीं होने देता और **शतसाः**=उन्हें पूरे सौ वर्ष के आयुष्य को देनेवाला है, **सहस्रसाः**=और हजारों वसुओं (धनों) को प्राप्त करानेवाला है। ऐसा तू **वाजं पर्ययाः**=शक्ति को हमारे अंगप्रत्यंगों में प्राप्त करानेवाला हो। (२) **एवा**=इसी प्रकार तू **नव्यसे**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) **सुविताय**=सुवित के लिये, सदाचरण के लिये, **पवस्व**=प्राप्त हो। **तव व्रतम् अनु**=तेरे व्रत के अनुपात में ही, अर्थात् जितना-जितना हम तेरा रक्षण करते हैं, उतना-उतना ही **आपः सचन्ते**=व्यापक कर्म हमारे साथ सम्यक् होते हैं। सोमरक्षण के अनुपात में ही हमारे कर्म उद्भूता के लिये हुए व पवित्र होते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'दीर्घजीवन, सब जीवनधन (वसु) शक्ति तथा पवित्र कर्मों' को प्राप्त कराता है।

सोमरक्षण से पवित्र जीवनवाला 'पवित्र' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[८३] त्र्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

तपस्या से सोमरक्षण

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत॥ १॥

(१) हे **ब्रह्मणस्पते**=हमारे जीवनों में ज्ञान के रक्षक सोम! **ते**=तेरा **पवित्रम्**=पावक सामर्थ्य **विततम्**=विस्तृत है। तू शक्ति, मन, व बुद्धि सभी को पवित्र करनेवाला है। **प्रभुः**=तू इस सब पवित्रता के कार्य को करने का सामर्थ्य रखता है। तू **विश्वतः**=सब ओर **गात्राणि पर्येषि**=शक्ति के अंग-प्रत्यंग में व्याप्त होता है, सब अंगों में व्याप्त होकर तू उनकी दुर्बलता को दूर करके उन्हें सबल बनाता है। (२) **अतप्ततनूः**=जिसने अपने शरीर को तप की अग्नि में नहीं तपाया और अतएव **आमः**=अपरिपक्व है वह **तद्**=उस सोम को न **अश्नुते**=अपने अन्दर व्याप्त नहीं कर पाता। **शृतासः**=तपस्या की अग्नि में परिपक्व होनेवाले लोग ही **इत्**=निश्चय से **वहन्तः**=इस सोम का धारण करते हुए **तत् समाशत**=उसे अपने अन्दर सम्यक् व्याप्त करते हैं (व्याप्नुवन्ति सा०)।

भावार्थ—सोमरक्षण तपस्या के होने पर ही सम्भव है, सुरक्षित सोम सब अंग-प्रत्यंगों को पवित्र करता है।

ऋषिः—**पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सुरक्षित सोम द्वारा ज्ञानशिखरारोहण

तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्।
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा॥ २॥

(१) **तपोः**=तपस्वी पुरुष के **दिवस्पदे**=मस्तिष्क रूप द्युलोक के स्थान में **पवित्रं विततम्**=यह पवमान सोम विस्तृत होता है। वहाँ मस्तिष्क में ज्ञानशक्ति का ईंधन बनकर यह उसे दीप्त करनेवाला होता है। **शोचन्तः**=दीप्त होते हुए **अस्य**=इस सोम के **तन्तवः**=तन्तु **व्यस्थिरन्**=इस तपस्वी के शरीर में सुस्थिर होते हैं। सोम कणों की निरन्तर सम्बद्ध पंक्ति ही यहाँ सोम के तन्तुओं के रूप में कही गई है। तपस्या से ही इस तन्तु की स्थिरता होती है। (२) **आशवः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त रहनेवाले लोग **अस्य**=इस सोम की **पवीतारम्**=पावन शक्ति को **अवन्ति**=अपने में सुरक्षित करते हैं। और **चेतसा**=संज्ञान के द्वारा **दिवः पृष्ठं अधितिष्ठन्ति**=मस्तिष्क रूप द्युलोक के शिखर पर आरूढ़ होते हैं।

भावार्थ—तपस्या व क्रियाशीलता के द्वारा सोम का रक्षण होता है। सुरक्षित सोम हमें पवित्र करता हुआ ज्ञानशिखर पर आरूढ़ करता है।

ऋषिः—**पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रातः जागरण व स्वाध्याय प्रवृत्ति

अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमा दधुः॥ ३॥

(१) **उषसः अग्रियः**=उषाकालों के आरम्भ में होनेवाला अर्थात् बहुत सबेरे-सबेरे जाग जानेवाला यह **पृश्निः**=आदित्य की तरह ज्ञानज्योति से दीप्त होनेवाला पुरुष **अरूरुचत्**=सोमरक्षण

द्वारा तेजस्विता से दीप्त होता है। **उक्षा**=अपने अन्दर सोम का सेवन करनेवाला, **वाजयुः**=शक्ति को अपने साथ जोड़नेवाला होता है और **भुवनानि बिभर्ति**=शरीर के सब अंग-प्रत्यंगों को व लोकों को धारण करनेवाला होता है, अर्थात् अपने को स्वस्थ बनाता हुआ सभी का धारण करता है। (२) **अस्य**=इस सोम की **मायया**=प्रज्ञा से, सोमरक्षण से उत्पन्न बुद्धि से **मायाविनः**=प्रज्ञावान् पुरुष **ममिरे**=बनाये जाते हैं। सोम ही बुद्धिमानों को बुद्धिमान् बनाता है। इस सोम के ही महत्त्व से **नृचक्षसः**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाले **पितरः**=पालक लोग, पिता बननेवाले लोग, **गर्भम् आदधुः**=गर्भ की स्थापना करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये 'प्रातः जागरण व स्वाध्याय प्रवृत्ति' सहायक साधन बनते हैं यह सोम ही बुद्धिमानों को बुद्धिमान् व पिताओं को पिता बनाता है।

ऋषिः—**पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सोमरक्षण द्वारा दिव्यगुणों का विकास

गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः।
गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत॥ ४॥

(१) **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला पुरुष ही **अस्य**=इस सोम के **इत्थापदम्**=सत्यमार्ग का, शरीर में ऊर्ध्वगतिरूप मार्ग का **रक्षति**=रक्षण करता है। यह सुरक्षित सोम **देवानाम्**=दिव्यगुणों के **जनिमानि**=प्रादुर्भावों का **पाति**=रक्षण करता है, अर्थात् दिव्यगुणों का विकास करता है। **अद्भुतः**=यह सोम वस्तुतः अनुपम वस्तु है। (२) यह **निधापतिः**=जालों का पति सोम **निधया**=जालों से **रिपुंगृभ्णाति**=काम, क्रोध आदि शत्रुओं को जकड़ लेता है। अर्थात् सुरक्षित सोम इन वासना रूप शत्रुओं को कैद कर लेता है। यही सोम की पवमानता है, पवित्रीकरण शक्ति है। **सुकृत्तमाः**=उत्तम पुण्यों को करनेवाले लोग **मधुनः भक्षम्**=इस ओषधि वनस्पतियों के भोजन से उत्पन्न हुए-हुए सारभूत सोम के भक्षण को आशत (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम दिव्यगुणों का विकास करता है, काम, क्रोध आदि को कैद-सा करके जीवन को पवित्र बनाता है।

ऋषिः—**पवित्रः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

राजा पवित्ररथः

हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यं नभो वसानः परि यास्यध्वरम्।
राजा पवित्ररथो वाजमारुहः सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत्॥ ५॥

(१) हे **हविष्मः**=उत्तम हविवाले पुरुष! तू **हविः**=दानपूर्वक अदन को तथा **नभः**=प्रकाश को **वसानः**=धारण करता हुआ, अर्थात् त्याग व स्वाध्याय के द्वारा प्रकाशमय जीवनवाला होता हुआ **अध्वरं परियासि**=यज्ञों की ओर जाता है और **महि दैव्यं सद्म**=महान् देव के गृह की ओर जाता है, यज्ञशील बनकर प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ रहा होता है। (२) इस सोमरक्षण से तू **राजा**=दीप्त जीवनवाला होता है, **पवित्ररथः**=पवित्र शरीर रूप रथवाला होता है, **वाजम् आरुहः**=तू शक्ति का आरोहण करता है। **सहस्रभृष्टिः**=हजारों शत्रुओं का भूननेवाला होता हुआ, सोमरक्षण द्वारा सब रोग व वासना रूप शत्रुओं को नष्ट करता हुआ, **बृहत् श्रवः**=बहुत अधिक ज्ञान का **जयसि**=विजय करता है।

भावार्थ—सोमरक्षणवाला पुरुष त्याग, स्वाध्याय व यज्ञों को धारण करता हुआ ब्रह्म की ओर चलता है। 'शक्तिशाली व पवित्र' बनकर शत्रुओं का नाश करता हुआ उज्ज्वल जीवनवाला होता है।

यह पवित्र रथ 'प्रजापति' बनता है, सब प्रजाओं का रक्षण करनेवाला होता है और 'वाच्यः' प्रशंसनीय जीवनवाला होता है। यह सोमस्तवन करता हुआ कहता है कि—

[८४] चतुरशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रजापतिर्वाच्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवमादनः विचर्षणिः अप्साः

पव॑स्व देव॒माद॑नो॒ विच॑र्षणिर॒प्सा इन्द्रा॑य॒ वरु॑णाय वा॒यवे॑।
कृ॒धी नो॑ अ॒द्य वरि॑वः स्व॒स्ति॒मदु॑रुक्षि॒तौ गृ॑णीहि॒ दैव्यं॒ जन॑म्॥ १॥

(१) हे सोम! तू **देवमादनः**=देववृत्ति के पुरुषों को आनन्दित करनेवाला है, **विचर्षणिः**=विशिष्ट द्रष्टा है, बुद्धि को तीव्र बनाने के द्वारा वस्तुओं के तत्त्व को दिखानेवाला है, **अप्साः**=कर्मों का सेवन करनेवाला है। सुरक्षित सोम हमें शक्ति सम्पन्न बनाकर क्रियाशील बनाता है। यह सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये प्राप्त होता है, **वरुणाय**=द्वेष का निवारण करनेवाले के लिये प्राप्त होता है, **वायवे**=(वा गतौ) गतिशील के लिये प्राप्त होता है। सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि हम 'जितेन्द्रिय, निर्दोष व क्रियाशील' बनें। (२) हे सोम! **अद्यः**=आज तू **नः**=हमारे लिये **स्वस्तिमत्**=कल्याण से युक्त **वरिवः**=धन को **कृधि**=कर तथा **उरुक्षितौ**=इस विशाल शरीर रूप पृथिवी में **दैव्यं जनम्**=देकर (प्रभु) की ओर चलनेवाले मनुष्य को **गृणीहि**=प्रातः-सायं ज्ञानपूर्वक स्तुति करनेवाला बना। इसके लिये तू ज्ञानोपदेश करनेवाला बन। सोमरक्षण ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ज्ञानवर्धन का कारण होता है। सोम शरीर को विशाल व मन को प्रभु की ओर झुकाववाला और अतएव हमें स्तुतिवाला बनाता है। सोमरक्षण से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये साधन है 'जितेन्द्रियता, निर्द्वेषता व क्रियाशीलता'। सुरक्षित सोम हमारे शरीर व मन दोनों को ही स्वस्थ बनाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वाच्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'संचृत व विचृत को करता हुआ' सोम

आ यस्त॒स्थौ भुव॑ना॒न्यम॑र्त्यो॒ विश्वा॑नि॒ सोम॑ः परि॒ तान्य॑र्षति।
कृ॒ण्वन्त्सं॒चृतं॑ वि॒चृत॑म॒भिष्ट॑य॒ इन्दुः॑ सिषक्त्यु॒षस॒ं न सूर्यः॑॥ २॥

(१) **यः**=जो **सोमः**=सोम (वीर्यशक्ति) **भुवनानि आतस्थौ**=सब अंग-प्रत्यंगों को अधिष्ठित करता है, वह सोम **अमर्त्यः**=हमें रोगों से मरने नहीं देता। वह सोम **तानि विश्वानि**=उन सब अंग-प्रत्यंगों में **परितान्यर्षति**=चारों ओर गतिवाला होता है। (२) सब अंगों में उपस्थित होकर **संचृतम्**=सब अच्छाइयों का संग्रन्थन (connecting together) **कृण्वन्**=करता हुआ और इसी प्रकार **विचृतम्**=बुराइयों का विग्रन्थन करता हुआ **अभिष्टये**=हमारी इष्ट प्राप्ति के लिये होता है। यह **इन्दुः**=सोम हमारा **सिषक्ति**=इस प्रकार सेवन करता है, **न**=जैसे कि **सूर्यः**=सूर्य **उषसम्**=उषा का। उषा को वस्तुतः सूर्य की प्रथम किरणों से ही दीप्ति प्राप्त होती है। हमारे जीवनों में यह सोम सूर्य के समान आता है, यह हमारे सारे अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोम हमें सब अच्छाइयों को मिलाता है, बुराइयों को

हमारे से दूर करता है। यह सोम हमारे जीवन के प्रकाश में सूर्य के समान उदित होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वाच्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

विद्युता धारणा

आ यो गोभिः सृज्यत ओषधीष्वा देवानां सुम्न इषयन्नुपावसुः।
आ विद्युता पवते धारया सुत इन्द्रं सोमो मादयन्दैव्यं जनम्॥ ३॥

(१) **यः**=जो **सोमः**=सोम **ओषधीषु**=ओषधियों में **आसृज्यते**=पैदा किया जाता है, अर्थात् जो सोम वानस्पतिक भोजनों के सेवन से उत्पन्न होता है, वह **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से (सृज्यते) संसृष्ट होता है। यह सोम **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों के **सुम्ने**=(Hymn) स्तोत्रों में **इषयन्**=गति करता हुआ **उपावसुः**=प्रभु की उपासना से सब वसुओं को प्राप्त करनेवाला होता है। सोमरक्षण से दिव्यवृत्ति बनती है, मनुष्य प्रभु-प्रवण बनता है और यह उपासना उसे सब जीवनधनों को प्राप्त करानेवाली होती है। (२) यह **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **विद्युता धारया**=विशिष्ट दीप्तिवाली धारणशक्ति से **पवते**=हमें प्राप्त होता है। यह सोम **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय **दैव्यं जनम्**=देव की उपासना में चलानेवाले मनुष्य को **मादयन्**=प्रसन्न करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण में वानस्पतिक भोजन सहायक होता है। सुरक्षित हुआ यह सोम ज्ञानदीप्ति को बढ़ाता है और उल्लास का कारण बनता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वाच्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'वाचम् इषिराम् उषर्बुधम्'

एष स्य सोमः पवते सहस्रजिद्धिन्वानो वाचमिषिरामुषर्बुधम्।
इन्दुः समुद्रमुदियर्ति वायुभिरेन्द्रस्य हार्दि कलशेषु सीदति॥ ४॥

(१) **एषः**=यह **स्यः**=प्रसिद्ध **सोमः**=सोम **पवते**=हमें प्राप्त होता है। यह सहस्रजित् हमारे लिये हजारों धनों का विजय करनेवाला होता है। यह हममें अन्दर **वाचम्**=उस ज्ञान की वाणी को **हिन्वानः**=प्रेरित करता हुआ होता है, जो वाणी **इषिराम्**=हमें प्रेरणा को देनेवाली है और **उषर्बुधम्**=हमें उषाकाल में प्रबुद्ध करनेवाली है। यह प्रभु की वाणी हमें उषाकाल में जागने की प्रेरणा देती है। (२) **इन्दुः**=यह सोम **वायुभिः**=गतिशीलताओं के साथ **समुद्रम् उदियर्ति**=ज्ञान के समुद्र को हमारे अन्दर प्रेरित करता है। सोमरक्षण से हमारा ज्ञान बढ़ता है, और हम उस ज्ञान के अनुसार क्रियाशील जीवनवाले होते हैं। यह **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **हार्दि**=हृदय को प्रिय लगनेवाला सोम **कलशेषु सीदति**=सूक्ष्मरूप कलशों में, १६ कलाओं के आधारभूत इन शरीरों में **सीदति**=स्थित होता है। वस्तुतः सुरक्षित सोम ही सब कलाओं का आधार बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सब वसुओं का विजय करता है। यह हमारे अन्दर ज्ञान की वाणियों को प्रेरित करता है। हमें प्रातः जागरणशील व गतिशील बनाता है, हमारा सारा जीवन इस सोम के कारण क्रियामय बना रहता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वाच्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'स्वर्चनाः' सोम

अभि त्यं गावः पयसा पयोवृधं सोमं श्रीणन्ति मतिभिः स्वर्विदम्।
धनंजयः पवते कृत्व्यो रसो विप्रः कविः काव्येना स्वर्चनाः॥ ५॥

(१) **गावः**=वेदवाणीरूप गौएँ **पयसा**=अपने ज्ञानदुग्ध से **पयोवृधम्**=आप्यायन (वृद्धि) के बढ़ानेवाले **त्यम्**=उस सोम को **अभिश्रीणन्ति**=अच्छी प्रकार परिपक्व करती हैं। इन ज्ञान की वाणियों के अध्ययन में लगे रहने से शरीर में सोम का सम्यक् रक्षण होता है। उस सोम को ये ज्ञानवाणियाँ परिपक्व करती हैं, जो **मतिभिः**=बुद्धियों के द्वारा **स्वर्विदम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाला है। (२) **धनञ्जयः**=यह सब धनों का विजेता सोम **पवते**=हमें प्राप्त होता है। यह **कृत्व्यः**=कर्तव्य कर्मों के करने में कुशल है, **रसः**=जीवन को रसमय बनाता है। **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला है, सब न्यूनताओं को दूर करता है। **कविः**=क्रान्तदर्शी है, हमारी अन्तर्दृष्टि को तीव्र बनाता है। **काव्येना**=इस अन्तर्दृष्टिवाले ज्ञान के द्वारा यह **स्वर्चनाः**=(सु अर्चना) उत्तम अर्चन करनेवाला है। अथवा (स्वः चनः pleasure) प्रकाशमय आनन्दवाला है, सुरक्षित सोम सम्यक सानन्द को देता है।

भावार्थ—सोम ज्ञान को बढ़ाता है। ज्ञानवृद्धि करता हुआ यह हमारे लिये प्रकाशमय आनन्द को प्राप्त कराता है।

गत मन्त्र के अनुसार सोमरक्षण से 'कवि व स्वर्चनाः' बनकर यह 'वेन' (मेधावी) बनता है, ज्ञान परिपक्व होने से 'भार्गव' कहलाता है, यह सोमशंसन करता हुआ कहता है कि—

[८५] पञ्चाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अप अमीवा भवतु रक्षसा सह

इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह।
मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः॥ १॥

(१) हे सोम वीर्यशक्ते **सुषुतः**=ओषधियों, वनस्पतियों के भोजन से पैदा हुआ-हुआ तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर गतिवाला हो। **रक्षसा सह**=सब आसुरी भावों के साथ **अमीवा**=रोग **अपभवतु**=दूर हो। सोम से रोग व राक्षसीभाव विनष्ट हो जाते हैं। (२) **द्वयाविनः**=अन्दर व बाहिर भिन्न-भिन्न वृत्तिवाले चालाकी व छलादि से भरे व्यक्ति **ते रसस्य**=तेरे रस का **मा मत्सत**=आनन्द प्राप्त करनेवाले न हों। हमारे लिये तो **इन्दवः**=ये सोमकण **इह**=इस शरीर में **द्रविणस्वन्तः**=सब द्रविणों को प्राप्त करानेवाले **सन्तु**=हों। अर्थात् सोमरक्षण से अन्नमय आदि सब कोशों का ऐश्वर्य परिपूर्ण बनें।

भावार्थ—सोमरक्षण से सब रोग व राक्षसी भाव दूर हों। सब कोशों का ऐश्वर्य प्राप्त हो।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

संग्राम विजय

अस्मान्त्समर्ये पवमान चोदय दक्षो देवानामसि हि प्रियो मदः।
जहि शत्रूँरभ्या भन्दनायतः पिबेन्द्र सोममव नो मृधो जहि॥ २॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **अस्मान्**=हमें **समर्ये**=इस जीवन संग्राम में **चोदय**=प्रेरित कर। **दक्षः**=तू ही सब उन्नति व सामर्थ्य का कारण है। **देवानाम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों का **हि**=निश्चय से **प्रियः मदः**=प्रीति को उत्पन्न करनेवाला आनन्दजनक **असि**=है। (२) **भन्दनायतः**=स्तुतिशील पुरुष के **शत्रून्**=रोगरूप शत्रुओं को **अभि आ जहि**=आक्रमण करके **सर्वतः**=विनष्ट कर। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष इस **सोमम्**=सोम को तू **पिब**=अपने अन्दर

पीनेवाला बन। **नः मृधः**=हमारे इन नाशक शत्रुओं को **अवजहि**=विनष्ट कर। सोमरक्षण से रोग तो नष्ट होने ही हैं, वासनाओं का भी इसके द्वारा विनाश होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें जीवन संग्राम में विजयी बनाता है।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

आत्मा इन्द्रस्य भवसि

अदब्ध इन्दो पवसे मदिन्तम आत्मेन्द्रस्य भवसि धासिरुत्तमः।
अभि स्वरन्ति बहवो मनीषिणो राजानमस्य भुवनस्य निंसते॥ ३॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **अदब्धः**=अहिंसित होता हुआ **पवसे**=हमें प्राप्त होता है। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर रोगों व वासनाओं का आक्रमण नहीं हो पाता। यह सोम **मदिन्तमः**=हमें अत्यन्त आनन्दित करनेवाला है। हे सोम! तू **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **आत्मा भवसि**=आत्मा होता है, अर्थात् तेरे बिना तो सब मृत-सा ही है। सोम ही आत्मा है, वह गयी तो बाकी तो एक शव है। तू ही **उत्तमः धासिः**=सर्वोत्तम धारक है। (२) **अस्य भुवनस्य**=इस शरीर रूप लोक के **राजानम्**=दीप्त करनेवाले तुझको ही **बहवः मनीषिणः**=ये बहुत ज्ञानी पुरुष **अभिस्वरन्ति**=स्तुति करते हैं और **निंसते**=प्रीतिपूर्वक तेरे ओर ही आते हैं। इस सोम के बिना इस शरीर राज्य में अन्धकार-ही-अन्धकार है।

भावार्थ—सोम आनन्द का जनक है, वस्तुतः शरीर का आत्मा ही है, धारक है। इसका साधन करते हुए इसके प्रति हम प्रीतिवाले हों।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सहस्रणीथः शतधारः

सहस्रणीथः शतधारो अद्भुत इन्द्रायेन्दुः पवते काम्यं मधु।
जयन्क्षेत्रमभ्यर्षा जयन्नप उरुं नो गातुं कृणु सोम मीढ्वः॥ ४॥

(१) शरीर में **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **इन्दुः**=यह सोम **पवते**=प्राप्त होता है। यह **सहस्रणीथः**=हजारों प्रकार से शरीर की क्रियाओं का प्राणयन कर रहा है, प्रत्येक नस नाड़ी में सब क्रियायें इसकी सुस्थिति पर ही निर्भर करती हैं। **शतधारः**=सैकड़ों प्रकार से यह धारण करनेवाला है। **अद्भुतः**=यह शरीर में एक अनुपम तत्त्व है। यह **काम्यं मधु**=चाहने योग्य सम्भूत वस्तु है। (२) हे **मीढ्वः**=सब शक्तियों का सेवन करनेवाले सोम, वीर्यशक्ते! तू **जयन्**=सब रोगों व वासनाओं को पराजित करता हुआ **क्षेत्रम् अभि अर्ष**=हमारे इस शरीर के प्रति प्राप्त होनेवाला हो। हमारे लिये **अपः**=कर्मों का **जयन्**=विजय करता हुआ तू हमें प्राप्त हो। तेरी शक्ति से ही हम सब कर्मों में सफलता का लाभ करें। तू **नः**=हमारे लिये **उरुं गातुम्**=विशाल मार्ग को **कृणु**=कर। तेरे सुरक्षण के होने पर हम सब कार्यों को विशाल हृदयता से करनेवाले हों।

भावार्थ—सोम एक अद्भुत वस्तु है। हजारों प्रकार से यह हमारा धारण कर रहा है। यह हमें नीरोग, क्रियाशील व विशाल हृदय बनाता है।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अत्यो न सानसिः

कनिक्रदत्कलशे गोभिरज्यसे व्य१व्ययं समया वारमर्षसि।
मर्मृज्यमानो अत्यो न सानसिरिन्द्रस्य सोम जठरे समक्षरः॥ ५॥

(१) हे सोम! **कनिक्रदत्**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ तू **कलशे**=इस शरीर कलश में **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **अज्यसे**=अलंकृत किया जाता है। सोमरक्षण से जहाँ प्रभु-प्रवणता उत्पन्न होती है, वहाँ ज्ञानाग्नि का दीपन होकर ज्ञानवृद्धि होती है। अब तू **अव्ययम्**=उस एक रस-विविधरूपों में न जानेवाले **निर्विकारं वारम्**=वरणीय प्रभु को **समया**=समीपता से **वि अर्षसि**=विशेषरूप से प्राप्त होता है। सोमरक्षण हमें प्रभु के समीप पहुँचाता है। (२) इस प्रभु उपासना से वासना विनाश के द्वारा **मर्मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता हुआ तू **अत्यः न**=निरन्तर गतिशील अश्व के समान **सानसिः**=संभजनीय होता है, युद्ध विजय के लिये जैसे वह अश्व उपदेश होता है, उसी प्रकार जीवन संग्राम में विजय के लिये यह सोम उपादेय है। हे सोम! तू **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **जठरे**=शरीर मध्य में **सम् अक्षरः**=सम्यक् क्षरित होनेवाला है। शरीर में सर्वत्र गतिवाला होता हुआ वहाँ-वहाँ की कमियों को तू दूर करनेवाला हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले होते हैं, ज्ञान को प्राप्त करते हैं, जीवन संग्राम में विजयी बनते हैं।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'स्वादुः' सोमः

स्वादुः पवस्व दिव्याय जन्मने स्वादुरिन्द्राय सुहवीतुनाम्ने।
स्वादुर्मित्राय वरुणाय वायवे बृहस्पतये मधुमाँ अदाभ्यः॥ ६॥

(१) यह सोम **स्वादुः**=जीवन के सब व्यवहारों को मधुर बनानेवाला है। हे सोम! तू **दिव्याय जन्मने**=दिव्य जन्म के लिये, दिव्यगुणों से युक्त जीवन के लिये, **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **सुहवीतुनाम्ने**=प्रभु के नामों का उत्तमता से उच्चारण करनेवाले इस प्रभु स्तोता **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **स्वादुः**=तू जीवन को मधुर बनानेवाला हो। (२) तू **मित्राय**=सब के प्रति स्नेह करनेवाले, **वरुणाय**=निर्द्वेष पुरुष के लिये **स्वादुः**=जीवन को मधुर बना। अपने रक्षक को मित्र व वरुण बनाकर आनन्दित कर। **वायवे**=क्रियाशील के लिये और **बृहस्पतये**=ज्ञानी के लिये तू स्वादु हो। अपने रक्षक को ज्ञानी व क्रियाशील बनाकर आनन्दित करनेवाला हो। तू **मधुमान्**=मधुवाला है, जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाला है। **अदाभ्यः**=तू हिंसित होनेवाला नहीं। शरीर में तेरे रक्षित होने पर रोगों व वासनाओं के आक्रमण का सम्भव नहीं।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन को दिव्य बनाता है, हमें प्रभु स्तवन की वृत्तिवाला बनाता है। हमारे में 'स्नेह-निर्द्वेषता-क्रियाशीलता व ज्ञान' को भरकर हमारे जीवन को अहिंसित व मधुर बनाता है।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'मदिरासः' इन्दवः

अत्यं मृजन्ति कलशे दश क्षिपः प्र विप्राणां मतयो वाच ईरते।
पवमाना अभ्यर्षन्ति सुष्टुतिमेन्द्रं विशन्ति मदिरास इन्दवः॥ ७॥

(१) **अत्यम्**=निरन्तर गतिशील अश्व के समान क्रियाशील, हमें क्रियाशील बनानेवाले, इस सोम को **दशक्षिपः**=दसों इन्द्रियों के विषयों को अपने से परे फेंकनेवाले लोग **कलशे मृजन्ति**=इस शरीर कलश में शुद्ध करते हैं। विषय वासना ही तो सोम को मलिन करती हैं। **विप्राणाम्**=अपना पूरण करनेवाले पुरुषों की **मतयः**=बुद्धियाँ व **वाचः**=स्तुति वाणियाँ **प्र ईरते**=प्रकर्षेण उद्गत होती

हैं। सोमरक्षण से बुद्धि व स्तुति की वृत्ति उत्पन्न होती है। (२) **पवमानः**=ये पवित्र करनेवाले सोम **सुष्टुतिम् अभि**=उत्तम स्तुतिवाले की ओर **अर्षन्ति**=गतिवाले होते हैं। उत्तम स्तुतिशील पुरुष को प्राप्त होते हैं। **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष में **आविशन्ति**=ये प्रवेश करते हैं। **मदिरासः**=ये आनन्द के जनक होते हैं और **इन्दवः**=उसे शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—विषयों से दूर होने पर सोम शुद्ध बना रहता है। यह 'मति व स्तुति' को हमारे में उत्पन्न करता है। शरीर में व्याप्त होकर शक्ति व आनन्द का कारण बनता है।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

धनन्धनं जयेम

पवमानो अभ्यर्षा सुवीर्यमुर्वीं गव्यूतिं महि शर्म सप्रथः।
माकिर्नो अस्य परिषूतिरीशतेन्दो जयेम त्वया धनंधनम्॥ ८॥

(१) **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ, हे सोम! **सुवीर्यं अभि**=उत्तम वीर्य की ओर **अर्ष**=गतिवाला हो हमें तू सुवीर्य को प्राप्त करा। **उर्वीं गव्यूतिम्**=विशाल मार्ग को प्राप्त करा। हम संकुचित मार्ग का आक्रमण करनेवाले न हों। **महि**=महान् **सप्रथः**=विस्मरण वाले **शर्मः**=सुख को तू प्राप्त करा। तेरे द्वारा हमें वह सुख प्राप्त हो जो कि उत्तरोत्तर वृद्धिवाला हो। (२) **नः**=हमारे **अस्य**=इस सोम का **परिषूतिः**=हिंसक **माकिः ईशत**=ईश न बने। काम, क्रोध, लोभ आदि सब वासनायें सोम के विनाश का कारण बनती हैं। वे इस सोम को नष्ट करनेवाली न हों। हे **इन्दो**=सोम! हम **त्वया**=तेरे द्वारा, तेरे से शक्ति को प्राप्त करके **धनं धनम्**=प्रत्येक धन को—'तेज, वीर्य, बल, ओज, विज्ञान व आनन्द' को **जयेम**=जीतनेवाले हों। हम सब धनों के विजेता बनकर जीवन को 'धन्य' बना पायें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ही सब धनों के विजय का करानेवाला होता है।

ऋषिः—**वेनो भार्गवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वृषभः विचक्षणः

अधि द्यामस्थाद्वृषभो विचक्षणोऽरूरुचद्वि दिवो रोचना कविः।
राजा पवित्रमत्येति रोरुवद्दिवः पीयूषं दुहते नृचक्षसः॥ ९॥

(१) शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम **धाम् अधि अस्थात्**=मस्तिष्करूप द्युलोक की ओर स्थितिवाला होता है। मस्तिष्क में यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। **वृषभः**=यह हमें शक्तिशाली बनाता है और **विचक्षणः**=विशेषरूप से द्रष्टा होता है, हमें वस्तुओं के तत्त्व को देखनेवाला बनाता है। यह **कविः**=आनन्दपूर्ण सोम **दिव रोचना**=मस्तिष्करूप द्युलोक के देदीप्यमान ज्ञाननक्षत्रों को **विअरूरुचत्**=विशेषरूप से दीप्तिवाला करता है। (२) **राजा**=जीवन को दीप्त करनेवाला यह सोम **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष को **अति एति**=अतिशयेन प्राप्त होता है। **रोरुवत्**=प्रभु के नामों का खूब ही उच्चारण करते हुए **दिवः पीयूषम्**=ज्ञान के अमृत को **नृचक्षसः दुहते**=(नृणां द्रष्टारः) मनुष्यों का ध्यान करनेवाले ये सोमकण प्रपूरित करते हैं। सोमरक्षण से वह ज्ञानामृत प्राप्त होता है, जिस ज्ञानामृत का पान करनेवाला प्रभु का स्तोता बनता है। अर्थात् सोम मनुष्य को प्रभु का ज्ञानी भक्त बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह हमें प्रभु का ज्ञानी भक्त बनाता है।

ऋषिः—वेनो भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—विराडजगती॥ स्वरः—निषादः॥

मधुजिह्वा असश्चतो वेनाः

दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतो वेना दुहन्त्युक्षणं गिरिष्ठाम्।
अप्सु द्रप्सं वावृधानं समुद्र आ सिन्धोरूर्मा मधुमन्तं पवित्र आ॥ १०॥

(१) **मधुजिह्वाः**=अत्यन्त मधुर वाणीवाले, कभी कड़वा शब्द न बोलनेवाले, **असश्चतः**=स्वयं के विषयों में न फँसनेवाले **वेनाः**=मेधावी पुरुष **दिवः नाके**=प्रकाश के सुखमय लोक के निमित्त प्रकाशमय स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिये, **उक्षणम्**=हमारे अन्दर शक्तियों का सेचन करनेवाले, **गिरिष्ठाम्**=ज्ञान की वाणियों में स्थित इस सोम को **दुहन्ति**=अपने में पूरित करते हैं। शरीर में प्रपूरित हुआ-हुआ सोम हमें शक्तिशाली बनाता है और ज्ञान की वाणियों में हमें प्रगतिवाला करता है। (२) **अप्सु द्रप्सम्**=कर्मों में आनन्द का अनुभव करनेवाले (दृपी हर्षणे) **वावृधानम्**=खूब वृद्धि के कारणभूत सोम को अपने में पूरित करते हैं। **समुद्रे**=उस आनन्दमय प्रभु की प्राप्ति के निमित्त इस सोम को पूरित करते हैं। **सिन्धोः ऊर्मा आ (दुहन्ति)**=समन्तात् अपने में पूरित करते हैं।

भावार्थ—हमें मीठा बोलनेवाले, विषयों में अनासक्त, मेधावी बनकर सोम का रक्षण करें। यह हमें पूर्णमय ज्ञान प्राप्त करायेगा। हमें क्रियाशील बनाकर प्रभु की प्राप्ति का पात्र करेगा। हमारा जीवन ज्ञानमय व पवित्र बनेगा।

ऋषिः—वेनो भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

बुद्धि+स्तुति+ज्योति+शक्ति व मुक्ति

नाके सुपर्णमुपपप्तिवांसं गिरो वेनानामकृपन्त पूर्वीः।
शिशुं रिहन्ति मतयः पनिप्रतं हिरण्ययं शकुनं क्षामणि स्थाम्॥ ११॥

(१) **नाके**=सुखमय लोक में **उपपप्तिवांसम्**=प्राप्त कराते हुए **सुपर्णं**=हमारा उत्तमता से पालन व पूरण करते हुए सोम को **वेनानाम्**=मेधावी पुरुषों की **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **अकृपन्त**=प्राप्त होती हैं (उपकल्पन्ते अभिद्रवन्ति सा०)। मेधावी पुरुष सोम का स्तवन करते हैं, सोम के गुणों का स्मरण करते हैं। ये **स्तुति वाणियां पूर्वीः**=उनका पालन व पूरण करती हैं, इनके कारण सोमरक्षण करते हुए वे शरीर का पालन व मन का पूरण कर पाते हैं। (२) **मतयः**=विचारशील पुरुष **रिहन्ति**=उस सोम का अपने साथ सम्पर्क करते हैं, जो **शिशुम्**=बुद्धि को तीव्र करनेवाला है, **पनिप्रतम्**=हमें स्तुति की वृत्तिवाला बनाता है, **हिरण्ययम्**=ज्ञान की ज्योतिवाला है, **शकुनम्**=शक्तिशाली बनानेवाला है और **क्षामणि स्थाम्**=(क्षै, destructive) शत्रुसंहार के कार्य में स्थित होनेवाला है।

भावार्थ—हम सोम का साधन करें यह हमें 'बुद्धि-स्तुति-ज्योति व भक्ति' को प्राप्त कराके अन्ततः मुक्ति को प्राप्त करानेवाला होगा।

ऋषिः—वेनो भार्गवः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

विश्वारूपा प्रतिचक्षाणः

ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थाद्विश्वा रूपा प्रतिचक्षाणो अस्य।
भानुः शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत्प्रारूरुचद्रोदसी मातरा शुचिः॥ १२॥

(१) **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला यह सोम **ऊर्ध्वः**=शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला

होता हुआ **नाके**=मोक्ष सुख में **अधि अस्थात्**=स्थित होता है। यह सोम **अस्य**=अपने रक्षक के **विश्वारूपा**=सब रूपों को **प्रतिचक्षाणः**=एक-एक करके देखता हुआ होता है, इसके एक-एक अंग का ध्यान करता है। (२) **भानुः**=दीप्ति को देनेवाला यह सोम **शुक्रेण शोचिषा**=उज्ज्वल ज्ञानदीप्ति के साथ **व्यद्यौत्**=चमकता है। **शुचि**=यह पवित्र सोम **मातरा**=माता पितृभूत **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **प्रारूरुचत्**=खूब दीप्त बना देता है। मस्तिष्क ही द्यावा है, शरीर ही पृथिवी है। सोम मस्तिष्क को ज्ञान से, शरीर को तेजस्विता से दीप्त करनेवाला है। दोनों को दीप्त करके यह हमारा निर्माण (माता) व (पिता) के समान करता है।

भावार्थ—सोम हमारे अंग-प्रत्यंग को ठीक बनाता हुआ मोक्ष को सिद्ध करता है। दीप्त ज्ञान ज्योति को प्राप्त कराता है, मस्तिष्क व शरीर दोनों को दीप्त करनेवाला है।

अगले सूक्त के प्रथम १० मन्त्रों में 'अकृष्टाः' विषयों से अनाकृष्ट 'माषाः' (मष् to kill) काम, क्रोध आदि को नष्ट करनेवाले ऋषि प्रार्थना करते हैं—

पञ्चमोऽनुवाकः

[८६] षडशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

दिव्यः सुपर्णा मधुमन्तः

प्र त आशवः पवमान धीजवो मदा अर्षन्ति रघुजाइव त्मना।
दिव्याः सुपर्णा मधुमन्त इन्दवो मदिन्तमासः परि कोशमासते॥ १॥

(१) हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **ते**=तेरे **आपूर्वः**=शरीर में व्याप्त होनेवाले **धीजवः**=बुद्धियों को प्रेरित करनेवाले **मदाः**=उल्लास के जनक इस **रघुजाः इवः**=शीघ्रगतिवाले अश्वों की तरह **त्मना**=स्वयं अनायास ही **प्र अर्षन्ति**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त होते हैं। (२) ये **दिव्याः**=हमारे जीवन को दिव्य बनानेवाले, **सुपर्णाः**=हमारा उत्तमत्ता से पालन व पूरण करनेवाले **मधुमन्तः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **इन्दवः**=सोमकण **मदिन्तमासः**=अतिशयेन आनन्द के जनक हैं। ये सोमकण **कोशम्**=इस शरीर रूप कोश में **परि आसते**=चारों ओर स्थित होते हैं। शरीर के अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त होकर उन्हें सुन्दर स्वस्थ व सशक्त बनाते हैं।

भावार्थ—शरीर में व्याप्त होनेवाले सोमकण बुद्धियों को प्रेरित करते हैं। ये हमारे जीवन को 'दिव्य-सुपर्ण व मधुमय' बनाते हैं।

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराडजगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मधुमना ऊर्मयः मदिरासः

प्र ते मदासो मदिरास आशवोऽसृक्षत रथ्यासो यथा पृथक्।
धेनुर्न वत्सं पयसाभि वज्रिणमिन्द्रमिन्दवो मधुमन्त ऊर्मयः॥ २॥

(१) हे सोम! **ते**=तेरे **मदासः**=उल्लास के जनक **मदिरासः**=मस्ती को लानेवाले **आशवः**=शरीर में व्याप्त होनेवाले रस **प्र असृक्षत**=प्रकर्षेण सृष्ट होते हैं। **यथा**=जैसे **रथ्यासः**=रथवहन में कुशल घोड़े, उसी प्रकार शरीर रथ का वहन करनेवाले ये सोमकण **पृथक्**=अलग-अलग अंग-प्रत्यंग में सृष्ट होते हैं। (२) **न**=जैसे **धेनुः**=गौ **वत्सम्**=बछड़े को **पयसा**=दूध से प्राप्त होती है, उसी प्रकार **इन्दवः**=ये सोमकण **वज्रिणे**=क्रियाशील **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के **अभि**=ओर

प्राप्त होते हैं। ये उसके लिये **मधुमन्तः**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए होते हैं और **ऊर्मयः**=(ऊर्मि light) ये उसके जीवन में प्रकाश को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोमकण जीवन को मधुर उल्लासमय व प्रकाशमय बनाते हैं।

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

इन्द्रियाय धायसे

अत्यो न हियानो अभि वाजमर्ष स्वर्वित्कोशं दिवो अद्रिमातरम्।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्यये सोमः पुनान इन्द्रियाय धायसे॥ ३॥

(१) **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान **हियानः**=प्रेरित किया जाता हुआ तू **वाजं अभि अर्ष**=संग्राम की ओर चलनेवाला है। घोड़ा बाह्य संग्रामों में विजय का साधन बनता है, इसी प्रकार यह सोम शरीर के अन्दर रोगवृत्तियों के साथ संग्राम में हमें विजयी बनाता है। **स्वर्वित्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाला तू **अद्रिमातरम्**=उपासक के निर्माण करनेवाले, हमें उपासनामय-जीवनवाला बनानेवाले **दिवः कोशम्**=विज्ञानमय कोश की ओर तू (आर्षय) गतिवाला हो। हमें यह सोम प्रभु का 'ज्ञानी उपासक' बनाता है। (२) **वृषा**=शक्ति का सेचन करनेवाला तू **पवित्रे**=पवित्र रूप में तथा **अव्यये**=अविनाशी **अधि सानो**=समुचित प्रदेश में, विज्ञानमय कोश में अथवा मस्तिष्क रूप द्युलोक में **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ यह सोम **इन्द्रियाय**=बल के लिये होता है तथा **धायसे**=हमारे धारण के लिये होता है। यह सोम पवित्र हृदय में तथा विज्ञानमय कोश में पवित्र होता है, अर्थात् हृदय में वासनाओं को न आने देने पर तथा स्वाध्याय में लगे रहने पर यह सोम पवित्र बना रहता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह शरीर का धारण करता है और उसे बल सम्पन्न करता है एवं इन्द्रिय को यह सबल बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर में रोगकृमियों के साथ संग्राम में हमें विजयी बनाता है। उपासना व स्वाध्याय से पवित्र बनाया गया सोम हमारा धारण करता है और हमें सबल बनाता है।

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

धीजुवः-दिव्याः

प्र त आश्विनीः पवमान धीजुवो दिव्या असृग्रन्पयसा धरीमणि।
प्रान्तर्ऋषयः स्थाविरीरसृक्षत ये त्वा मृजन्त्यृषिषाण वेधसः॥ ४॥

पवमानः=हे पवित्र करनेवाले सोम! **ते**=तेरी **आश्विनीः**=शरीर में व्याप्त होनेवाली, शरीर को स्फूर्तियुक्त करनेवाली **धीजुवः**=बुद्धियों को वेगयुक्त करनेवाली, बुद्धियों को बढ़ानेवाली, **दिव्याः**=दिव्य भावनाओं को उत्पन्न करनेवाली धारायें **पयसा**=आप्यायन (वर्धन) के हेतु से **धरीमणि**=इस धारक शरीर में **असृग्रन्**=उत्पन्न की जाती हैं। सोम (वीर्य) शरीर में स्फूर्ति को, बुद्धि में वेग को तथा हृदय में दिव्यता को जन्म देता हुआ हमारा वर्धन करता है। **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **स्थाविरीः**=शरीर को स्थिर बनानेवाली सोमधाराओं को **अन्तः**=शरीर के अन्दर **प्र असृक्षत**=प्रकर्षेण उत्पन्न करते हैं। हे **ऋषिषाण**=ऋषियों से सम्भजनीय—शरीर में संरक्षणीय—सोम **ये** जो **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष हैं वे **त्वा**=तुझे **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। हृदय में वासनाओं को न उत्पन्न होने देते हुए वे ज्ञानी पुरुष सोम को शुद्ध बनाये रखते हैं।

भावार्थ—समझदार लोग वासनाओं से अपना संरक्षण करते हुए सोम को पवित्र बनाये रखते

हैं। यह पवित्र सोम शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ शरीर को स्वस्थ-बुद्धि को वेगयुक्त व हृदय को पवित्र भावनाओंवाला बनाता है।

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विश्वस्य भुवनस्य राजसि

विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभोस्ते सतः परि यन्ति केतवः।
व्यानशिः पवसे सोम धर्मभिः पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि॥ ५॥

हे **विश्वचक्षः**=सब के दृष्टा, सब का ध्यान करनेवाले सोम! **प्रभोः**=शक्तिशाली **सतः**=होते हुए **ते**=तेरे **ऋभ्वसः**=महान् **केतवः**=प्रकाश **विश्वाधामानि**=सब तेजों को **परियन्ति**=प्राप्त होते हैं। सोम हमारे जीवनों को प्रकाशमय व शक्तिसम्पन्न (तेजस्वी) बनाता है। हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **व्यानशिः**=शरीर में व्यापनवाला तू **धर्मभिः**=धारण के हेतु से **पवसे**=सब अंगों में प्राप्त होता है। **विश्वस्य भुवनस्य**=शरीरस्थ सब भुवन का, अगं-प्रत्यंग का तू **राजसि**=दीपन करनेवाला है, **पति**=और पालन करनेवाला है।

भावार्थ—सोम प्रकाश व शक्ति को प्राप्त कराता हुआ सब अंग-प्रत्यंगों को दीप्त बनाता है।

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'उभयः पवमरानः' सोम

उभयतः पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सतः परि यन्ति केतवः।
यदी पवित्रे अधि मृज्यते हरिः सत्ता नि योना कलशेषु सीदति॥ ६॥

उभयतः=शरीर व हृदय दोनों स्थानों में **पवमानस्य**=पवित्र करते हुए, शरीर को व्याधि से शून्य तथा मन को आधि से शून्य बनाते हुए **ध्रुवस्य सतः**=शरीर से अविचलित होते हुए सोम की **केतवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाली (कित् निवासे) **रश्मयः**=ज्ञान की किरणें **परियन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **हरिः**=वासनाओं का हरण करनेवाला सोम **पवित्रे**=इस पवित्र हृदय में **अधिमृज्यते**=आधिक्येन शुद्ध किया जाता है, तो **योना**=अपने उत्पत्ति स्थान इस शरीर में **निसत्ता**=निश्चय से स्थिर होनेवाला **कलशेषु**=इन सोलह कलाओं के आधारभूत शरीरों में **सीदति**=स्थित होता है। शरीर में स्थित होने पर यह उसे सोलह कलाओं से सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शरीर को व्याधि शून्य तथा हृदय को आधि शून्य बनाकर इसे ज्ञानरश्मियों से दीप्त करता है, यह सोम उसे सोलह कलाओं से सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'स्वध्वरः-यज्ञस्य केतुः' सोमः

यज्ञस्य केतुः पवते स्वध्वरः सोमो देवानामुप याति निष्कृतम्।
सहस्रधारः परि कोशमर्षति वृषा पवित्रमत्येति रोरुवत्॥ ७॥

स्वध्वरः=उत्तम हिंसारहित कार्यों में हमें प्रवृत्त करनेवाला **सोमः**=यह सोम (वीर्यशक्ति) **यज्ञस्य केतुः**=यज्ञों का प्रकाशक होता है, हमारे जीवनों को यज्ञमय बनाता है। यह सोम **देवानाम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों के **निष्कृतम्**=संस्कृत हृदयरूप स्थान को **उपयाति**=समीपता से प्राप्त होता है। अर्थात् यह सोम देववृत्तिवाले पुरुषों के जीवन में ही सुरक्षित रहता है।

सहस्रधारः=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला यह सोम **कोशं परिअर्षति**=शरीर के कोशों में चारों ओर प्राप्त होता है। शरीर के सब कोशों को वस्तुतः यह उस-उस धन से परिपूर्ण करता है। अन्नमय कोश को यह तेज प्राप्त कराता है, प्राणमय को वीर्य, मनोमय को बल व ओज, विज्ञानमय को ज्ञान प्राप्त कराता हुआ यह आनन्दमय कोश में हमें अद्भुत सहनशक्ति से परिपूर्ण करता है **वृषा**=शक्ति का सेचन करनेवाला यह सोम **रोरुवत्**=प्रभु के स्त्रोतों का उच्चारण करता हुआ, अपने रक्षक को प्रभुभक्त बनाता हुआ, **पवित्रम्**=पवित्र हृदय को **अत्येति**=अतिशयेन प्राप्त होता है। हृदय की पवित्रता ही सोम को शरीर में सुरक्षित रखती है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों को यज्ञमय बनाता हुआ हमारे प्रत्येक कोश को उस-उस धन से परिपूर्ण करता है।

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

महो दिवः धरुणः

राजा॑ समु॒द्रं न॒द्यो॒३॑ वि गा॑हते॒ऽपामू॒र्मिं स॑चते॒ सिन्धु॑षु श्रि॒तः।
अध्य॑स्थ॒ात्सानु॒ पव॑मानो अ॒व्ययं॒ नाभा॑ पृथि॒व्या ध॒रुणो॑ म॒हो दि॒वः॥ ८॥

आत्मज्ञान यदि 'समुद्र' है—'स+मुद्' अद्भुत आनन्द को देनेवाला है, तो विज्ञान अपने नाना रूपों (नद्यः) नदियों के समान है। शरीर में सुरक्षित सोम 'राजा' जीवन को दीप्त करनेवाला है, यह **समुद्रं**=ज्ञान समुद्र को तथा **नद्यः**=विज्ञान की नदियों को **विगाहते**=विलोड़ित करता है। सुरक्षित सोम ज्ञान-विज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। यह **अपाम्**=कर्मों की **ऊर्मिम्**=(row, line) पंक्ति को **सचते**=सेवन करता है, अर्थात् सोम हमें शक्ति देकर कर्त्तव्य कर्मों के पूर्ण करने के योग्य बनाता है। यह **सिन्धुषु श्रितः**=यहाँ ज्ञान-विज्ञान की नदियों में आशय करता है, अथवा 'स्यन्दन्ते', निरन्तर क्रियाशील पुरुषों में यह स्थिर होकर रहता है। यह **पवमानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला सोम **अव्ययम् सानु**=अविनाशी ज्ञान-शिखर पर **अध्यस्थात्**=स्थित होता है। यह **पृथिव्याः नाभा**=(अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) पृथिवी के केन्द्रभूत यज्ञों में स्थित होता है तथा **महः दिवः धरुणः**=महान् स्तुति (दिव् स्तुतौ) का धारण करनेवाला है। यह सोम हमें 'ज्ञानी-यज्ञशील व स्तोता' बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें ज्ञानी-यज्ञ आदि कर्मों में प्रवृत्त तथा साधन की वृत्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

स्तनयन् अचिक्रदत्

दि॒वो न सानु॑ स्त॒नय॑न्नचिक्रद॒द् द्यौश्च॒ यस्य॑ पृथि॒वी च॒ धर्म॑भिः।
इन्द्र॑स्य स॒ख्यं पव॑ते वि॒वेवि॑द॒त्सोमः॑ पुना॒नः क॒लशे॑षु सीदति॥ ९॥

शरीर में सुरक्षित सोम **दिवः न सानु**=द्युलोक के शिखर के समान मस्तिष्क को **स्तनयन्**=ज्ञान की वाणियों से गर्जित करता हुआ **अचिक्रदत्**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। सोम के रक्षण के होने पर मस्तिष्क ज्ञान की वाणियों से तथा हृदय स्तुति वाणियों से सुभूषित होता है। **द्यौः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक **च**=तथा **पृथिवी**=यह शरीर रूप पृथिवी **यस्य**=जिस सोम के **धर्मभिः**=धारणशक्तियों से धृत होते हैं, वह सोम **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **सख्यम्**=मित्रता को **पवते**=प्राप्त होता है। **विविदत्**=अतिशयेन ज्ञान को प्राप्त कराता हुआ **सोमः**=सोम

पुनानः=वासना विनाश के द्वारा पवित्र किया जाता हुआ **कलशेषु**=शरीर कलशों में **सीदति**=स्थित होता है।

भावार्थ—सोम शरीर में स्थित हुआ-हुआ मस्तिष्क रूप द्युलोक को ज्ञानवाणियों से गर्जनायुक्त करता है, और हृदय को स्तुतिवाणियों से सुभूषित करता है।

ऋषिः—**अकृष्टा माषाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'देवानां पिता' सोमः

ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः।
दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः॥ १०॥

यह सोम **यज्ञस्य ज्योतिः**=यज्ञ का प्रकाशक है। यह **प्रियं मधु**=प्रीतिजनक मधुर रस को **पवते**=प्राप्त कराता है। **देवानां पिता**=दिव्यगुणों का रक्षक है, **जनिता**=शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाला है। **विभूवसुः**=व्यापक धनवाला है। यह सोम **स्वधयोः**=द्यावापृथिवी में आत्मा (स्व) को धारण करनेवाले (धा) मस्तिष्क व शरीर में **अपीच्यं**=अन्तर्हित-सुगुप्त रूप से वर्तमान **रत्नम्**=ज्ञान व शक्ति रूप रमणीय धन को **दधाति**=धारण करता है। इस प्रकार **मदिन्तमः**=यह उत्कृष्ट आनन्द को प्राप्त करानेवाला होता है **मत्सरः**=उल्लास का संचार करनेवाला यह सोम **इन्द्रियः**=(इन्द्रियं वीर्यं बलम्) बल का वर्धक है और **रसः**=जीवन को रस (आनन्द) वाला बनाता है।

भावार्थ—सोम के रक्षित होने पर जीवन में यज्ञों का प्रवर्तन होता है, दिव्यगुणों का वर्धन होता है और अंग-प्रत्यंग अपने-अपने धन से युक्त होता है।

इन रेतःकणों का नाम 'सिकता' है। इनको रक्षित करनेवाले ऋषि का भी 'सिकता' कहलाती है, यह निश्चय से प्रभु का उपासन करनेवाली 'निवावरी' है। यह सोमशंसन करते हुए कहती है—

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥
स्वरः—**निषादः**॥

मित्रस्य सदनेषु सीदति

अभिक्रन्दन्कलशं वाज्यर्षति पतिर्दिवः शतधारो विचक्षणः।
हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा॥ ११॥

अभिक्रन्दन्=प्रातः-सायं प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **वाजी**=शक्ति को देनेवाला यह सोम **कलशं अर्षति**=इस शरीर कलश को प्राप्त होता है। प्रभु स्मरण सोमरक्षण का सर्वोत्तम साधन है। रक्षित सोम हमें शक्तिशाली बनाता है। यह **दिवः पतिः**=ज्ञान का रक्षक होता है, शतधारः=शरीर को शतवर्ष पर्यन्त धारित करनेवाला बनाता है। **विचक्षणः**=यह हमारा विशेष रूप से **द्रष्टा**=ध्यान करनेवाला (look after) होता है। **हरिः**=सब रोगों व मलों का हरण करनेवाला यह सोम **मित्रस्य सदनेषु सीदति**=उस मित्र प्रभु के लोकों में आसीन होता है, अर्थात् यह सोम हमें ब्रह्मलोक की प्राप्ति करानेवाला होता है। **अविभिः**=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले **सिन्धुभिः**=(स्यन्द्) गतिशील पुरुषों से **मर्मृजानः**=शुद्ध किया जाता हुआ यह सोम **वृषा**=हमारे जीवनों में सुखों का सेचन करनेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञान का व शक्ति का वर्धन करता हुआ अन्ततः ब्रह्मलोक प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—सिकता निवावरी॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—विराड्जगती॥
स्वरः—निषादः॥

अग्रे अर्षति

अग्रे सिन्धूनां पवमानो अर्षत्यग्रे वाचो अग्रियो गोषु गच्छति।
अग्रे वाजस्य भजते महाधनं स्वायुधः सोतृभिः पूयते वृषा॥ १२॥

पवमानः=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला यह सोम **सिन्धूनाम्**=(स्यन्दू) निरन्तर क्रियाशील पुरुषों के जीवन में **अग्रे अर्षति**=आगे गतिवाला होता है। शरीर में आगे गतिवाला होता हुआ यह अन्त: मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। **वाचः**=(वच् व्यक्तायां वाचि) प्रभु के नामों का (गुणों का) उच्चारण करनेवाले के जीवन में यह सोम **अग्रे**=आगे बढ़ता है। **अग्रियः**=यह शरीर में आगे बढ़नेवाला सोम **गोषु गच्छति**=ज्ञान की वाणियों में गतिवाला होता है, अर्थात् हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। **अग्रे**=आगे बढ़ता हुआ यह सोम **वाजस्य**=शक्ति के **महाधनम्**=उत्कृष्ट धन को **भजते**=प्राप्त करता है, हमें यह सोम उत्कृष्ट शक्तिवाला बनाता है। **स्वायुधः**=(सु+आयुध) यह सोम 'इन्द्रिय-मन व बुद्धि' रूप सब आयुधों को, जीवन संग्राम के शस्त्रों को उत्तम बनाता है। इसीलिये **सोतृभिः**=सोम का उत्पादन करनेवाले इन पुरुषों से यह **पूयते**=पवित्र किया जाता है। **वृषा**=यह सब अंगों में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम सब अंगों को शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—सिकता निवावरी॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥
स्वरः—निषादः॥

'मतवान् शकुनः' सोमः

अयं मतवाञ्छकुनो यथा हितोऽव्ये ससार पवमान ऊर्मिणा।
तव क्रत्वा रोदसी अन्तरा कवे शुचिर्धिया पवते सोम इन्द्र ते॥ १३॥

अयं=यह सोम **यथा हितः**=जैसे-जैसे शरीर में स्थापित होता है, उसी प्रकार **मतवान्**=ज्ञानवाला है तथा **शकुनः**=शक्तिशाली बनानेवाला है। यह **पवमानः**=पवित्र करनेवाला सोम **अव्ये**=(अव्+य) रक्षकों में श्रेष्ठ पुरुष में, सोम का रक्षण करनेवालों में उत्तम पुरुष में **ऊर्मिणा**=प्रकाश की किरणों के साथ **ससार**=गतिवाला होता है (ऊर्मि)। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **कवे**=आनन्द तत्त्व को समझनेवाले पुरुष! **तव क्रत्वा**=तेरे दृढ संकल्प से, अर्थात् जब तू सोमरक्षण का दृढ़ निश्चय करता है, तो यह **ते**=तेरा **शुचिः सोमः**=पवित्र सोम **रोदसी अन्तरा**=द्यावापृथिवी, मस्तिष्क व शरीर के अन्दर **धियाऽपवते**=अन्नादि के साथ प्राप्त होता है। मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाता हुआ यह तुझे ही सम्पन्न करता है।

भावार्थ—जितना-जितना सोम का रक्षण होता है, उतना ही यह हमें ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न करता है।

ऋषिः—सिकता निवावरी॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती॥
स्वरः—निषादः॥

प्रत्न पिता का पूजन

द्रापिं वसानो यजतो दिविस्पृशमन्तरिक्षप्रा भुवनेष्वर्पितः।
स्वर्जज्ञानो नभसाभ्यक्रमीत्प्रत्नमस्य पितरमा विवासति॥ १४॥

(१) **दिविस्पृशम्**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में स्पर्श करनेवाले **द्रापिम्**=कवच को **वसानः**=आच्छादित करता हुआ **यजतः**=अत्यन्त आदरणीय व संगतिकरण योग्य यह सोम **अन्तरिक्षप्राः**=हृदयान्तरिक्ष का पूरण करनेवाला होता है और **भुवनेषु**=शरीर के सब भुवनों में, अंग-प्रत्यंग में यह **अर्पितः**=अर्पित होता है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम कवच का काम करता है, मस्तिष्क को भी सुरक्षित करता है और शरीर को भी रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता। साथ ही यह हृदय को भी वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। (२) **स्वः**=प्रकाश को **जज्ञानः**=प्रादुर्भाव करता हुआ यह **नभसा**=मस्तिष्क रूप द्युलोक से **अभ्यक्रमीत्**=गतिवाला होता है। सोम का मस्तिष्क रूप द्युलोक की ओर गतिवाला होना ही 'ऊर्ध्वरता' बनता है, इस समय यह सोम **अस्य**=इस जीव के **प्रत्नम् पितरम्**=उस सनातन पिता प्रभु का **आविवासति**=पूजन करता है। इस प्रकार यह सोम हमें ब्रह्मलोक में पहुँचानेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर के लिये कवच के समान है। इस कवच के कारण शरीर में रोग नहीं आ पाते, मस्तिष्क में कुविचार नहीं आते, हृदय वासनाओं से हीन अवस्था में नहीं पहुँचाया जाता। मनुष्य प्रभु प्रवण होता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सोमरक्षण की सर्वप्राथमिकता

सो अस्य विशे महि शर्म यच्छति यो अस्य धाम प्रथमं व्यानशे।
पदं यदस्य परमे व्योमन्यतो विश्वा अभि सं याति संयतः॥ १५॥

यः=जो सोम **अस्य धाम**=इस जीव के निवास स्थान भूत इस शरीर को **प्रथमम्**=सब से प्रथम **व्यानशे**=व्याप्त करता है, **सः**=वह **अस्य**=इस जीव के **विशे**=प्रभु में प्रवेश के लिये **महिशर्म**=महान् कल्याण को **यच्छति**=देता है। जीव का सर्वप्रथम लक्ष्य यही होना चाहिये कि 'सोम को शरीर में ही सुरक्षित करना है'। अन्य दिव्यगुणों की प्राप्ति सोमरक्षण के बाद ही होती है। क्रम यह है, सोमरक्षण, दिव्यगुणों की प्राप्ति (देवा गमन) प्रभु प्राप्ति व महान् कल्याण। **यत्**=जब **अस्य**=इस सोम का **पदम्**=स्थान **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में होता है, तो यही वह स्थान है **यतः**=जहाँ से कि **विश्वाः संयतः**=सब संग्रामों की ओर **आ संयाति**=यह सोम जाता है। सोम का हृदय में सुरक्षित होने का भाव यही है कि हृदय के वासनाशून्य होने पर ही सोम शरीर में सुरक्षित हो पाता है। वासनाएँ हृदय को छोड़ जाती हैं और सोम उसे अपना अधिष्ठान बनाता है। यहाँ स्थित हुआ-हुआ यह शरीर में सर्वत्र संग्रामों के लिये जाता है। जहाँ भी कहीं किसी रोग के साथ युद्ध के लिये जाना होता है, सोम इसे अपने मूल स्थान से वहीं पहुँचाता है और उन रोगरूप शत्रुओं को विनष्ट करता है।

भावार्थ—हमारा मूल लक्ष्य 'सोमरक्षण' ही होना चाहिये। यह सोम ही सब संग्रामों में विजय का साधन बनता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु के आदेश का न तोड़ना

प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरम्।
मर्यइव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयाम्ना पथा॥ १६॥

इन्दुः=सोम **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **निष्कृतम्**=संस्कृत-पवित्र-हृदय की ओर निश्चय से

प्र अयासीत्=प्रकर्षेण गतिवाला होता है। हृदय के पवित्र होने पर सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती ही है। **सखा**=मित्रभूत यह सोम **सख्युः**=उस सबके सखा प्रभु के **संगिरम्**=वेदोपदिष्ट आदेशों को प्रभु की आज्ञाओं को न **प्रमिनाति**=तोड़ता नहीं। सोमरक्षक पुरुष प्रभु की आज्ञाओं में चलता है। सर्वमार्गभ्रम का मूल सोम का विनाश ही है। **इव**=जैसे **मर्यः**=एक मनुष्य **युवतिभिः**=युवतियों से **समर्षति**=मेलवाला होता है, उसी प्रकार **सोमः**=सोम **कलशे**=इस १६ कलाओं के आधारभूत शरीर में **शतयाम्ना**=सौ वर्ष तक गतिवाले **पथा**=मार्ग से **समर्षति**=गतिवाला होता है। 'मर्य इव युवतिभिः' इस उपमा का स्वारस्य इतना ही है कि गति में शक्ति व उत्साह होता है। सोमरक्षण से १०० वर्ष तक शक्ति व उत्साह में कमी नहीं आती।

भावार्थ—हृदय के पवित्र होने पर सोम का रक्षण होता है। सोमरक्षक पुरुष प्रभु के आदेशों का भंग नहीं करता और इसके दीर्घजीवन शक्ति व उत्साह बने रहते हैं।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥
स्वरः—**निषादः**॥

स्तवन-मनोनिग्रह-वासना विनाश

प्र वो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवः पनस्युवः संवसनेष्वक्रमुः।
सोमं मनीषा अभ्यनूषत स्तुभोऽभि धेनवः पयसेमशिश्रयुः॥ १७॥

हे सोमकणो! **वः**=तुम्हारा **धियः (ध्यातारः)**=ध्यान करनेवाले, **मन्द्रयुवः**=उस आनन्दमय प्रभु को अपने साथ जोड़नेवाले **विपन्युवः**=स्तोता लोग **पनस्युवः**=सदा स्तुति की कामनावाले होते हुए **संवसनेषु**=उत्तम यज्ञ आदि के आधारभूत ग्रहों में **प्र अक्रमुः**=प्रकर्षेणगतिवाले होते हैं। वस्तुतः सोमरक्षण का उपाय यह है कि प्रभु की उपासना व यज्ञादि कर्मों में लगे रहना। **मनीषाः**=मन का शासन करनेवाले बुद्धिमान् लोग **स्तुभः**=वासनाओं को रोकनेवाले होते हुए **सोमं अभ्यनूषत**=सोम का स्तवन करते हैं। सोम के गुणगान से सोमरक्षण में प्रीति उत्पन्न होती है। सोमरक्षण के लिये मनोनिग्रह व वासनाओं का विनाश आवश्यक है। सोम का रक्षण होने पर **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौवें **ईम्**=निश्चय से **पयसा अभि अशिश्रयुः**=ज्ञानदुग्ध से इस सोमी पुरुष का सेवन करती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के उपाय हैं—'स्तवन-मनोनिग्रह-वासना विनाश'। सोम का लाभ है ज्ञानदुग्ध की प्राप्ति।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥
स्वरः—**निषादः**॥

'क्षुमत् वाजवत् मधुमत्' सुवीर्यम्

आ नः सोम संयतं पिप्युषीमिषमिन्दो पवस्व पवमानो अस्त्रिधम्।
या नो दोहते त्रिरहन्नसश्चुषी क्षुमद्वाजवन्मधुमत्सुवीर्यम्॥ १८॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम तू **नः**=हमारे लिये **पवमानः**=पवित्रता को करता हुआ **इषम्**=प्रभु प्रेरणा को **आपवस्व**=प्राप्त करा, जो प्रेरणा **संयतम्**=हमें उत्तम मार्ग से ले चलनेवाली है। **पिप्युषीम्**=हमारा आप्यापन करनेवाली है तथा **अस्त्रिधम्**=हमें हिंसित नहीं होने देती। सोमरक्षण से पवित्र हृदयवाले होकर हम प्रभु प्रेरणा को सुनें यह प्रेरणा हमें सन्मार्ग पर ले चलनेवाली, हमारा वर्धन करनेवाली व हमें हिंसित होने से बचानेवाली होगी। **या**=जो प्रेरणा

असश्चुषी=हमें आसक्त न होने देती हुई **नः**=हमारे लिये **अहन्**=इस जीवनरूपी दिन में **त्रिः**=तीन बार—प्रातः सवन माध्यन्दिन सवन व तृतीय सवन में **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति का **दोहते**=प्रपूरण करती है। उस उत्तम शक्ति का, जो **क्षुमत्**=ज्ञान के शब्दोंवाली है (क्षुशब्दे) **वाजवत्**=शरीर के बलवाली है तथा **मधुमत्**=मन के माधुर्यवाली है।

भावार्थ—सोम हमें पवित्र बनाकर प्रभु प्रेरणा को सुनाता है, जो प्रेरणा हमें सन्मार्ग पर ले चलती है, हमारा वर्धन करती है और हिंसन नहीं होने देती। यह प्रेरणा ही हमारे जीवन के प्रारम्भ, मध्य व अन्त में, अर्थात् सदा उस उत्तम शक्ति को भरती है जो 'ज्ञान, बल व माधुर्य' वाली है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'अह्नः उषसः दिवः' प्रतरीता सोमः

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नः प्रतरीतोषसो दिवः।
क्राणा सिन्धूनां कलशाँ अवीवशदिन्द्रस्य हार्द्याविशन्मनीषिभिः॥ १९॥

सोमः=सोम **पवते**=प्राप्त होता है। पर सोम **मतीनां वृषा**=हमारे जीवनों में बुद्धियों का वर्षक है। **विचक्षणः**=हमें विद्रष्टा-तत्त्वज्ञानी बनानेवाला है। यह सोम **अह्नः**=दिन का **प्रतरीता**=बढ़ानेवाला है, अर्थात् दीर्घायुष्य का कारण है। **उषसः (प्रतरीता)**=दोषदहन का बढ़ानेवाला है (उषदाहे)। दोषों को जलाकर यह हृदय को पवित्र करनेवाला है। **दिवः (प्रतरीता)**=ज्ञान के प्रकाश का बढ़ानेवाला है। यह सोम **सिन्धूनाम्**=ज्ञान प्रवाहों का **क्राणा**=करनेवाला है। **कलशान् अवीवशत्**=शरीरों को सोलह कलाओं का आधार बनाने की कामना करता है। शरीर को सर्वांग सम्पूर्ण बनाता है। **मनीषिभिः**=विद्वानों से **इन्द्रस्य हार्दि**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के हृदय में **आविशन्**=यह प्रवेश कराया जाता है। समझदार लोग जितेन्द्रिय बनकर इस सोम को हृदय की ओर ऊर्ध्वगतिवाला करते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमारे 'दीर्घजीवन-निर्दोष व पवित्र हृदय तथा दीप्त मस्तिष्क' का साधन बनता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'इन्द्रस्य वायोः सख्याय कर्तवे'

मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविर्नृभिर्यतः परि कोशाँ अचिक्रदत्।
त्रितस्य नाम जनयन्मधु क्षरदिन्द्रस्य वायोः सख्याय कर्तवे॥ २०॥

मनीषिभिः=विद्वानों से, मन का शासन करनेवालों से यह सोम **पवते (पूयते)**=पवित्र किया जाता है। **पूर्व्यः**=यह पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम है। **कविः**=क्रान्तदर्शी है, हमारी बुद्धियों को सूक्ष्म बनाकर यह हमें तत्त्वद्रष्टा बनाता है। **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों से **यतः**=काबू किया हुआ यह सोम **कलशान्**=इन शरीर कलशों को **परि अचिक्रदत्**=समन्तात् प्रभु के आह्वानवाला बनाता है। अर्थात् सोमरक्षण से इस शरीर में सतत प्रभुस्मरण होने लगता है, शरीर में सब क्रियाएँ प्रभुस्मरण पूर्वक होती हैं। यह सोम **त्रितस्य**=काम, क्रोध, लोभ को तैरनेवाले के नाम **जनयन्**=यश को पैदा करता हुआ, **मधुक्षरत्**=जीवन में माधुर्य का संचार करता हुआ **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के तथा **वायोः**=गतिशील पुरुष के **सख्याय कर्तवे**=प्रभु के साथ मैत्री को करने के लिये होता है।

भावार्थ—सोम 'पूर्व्य' है, कवि है। यह जितेन्द्रिय गतिशील पुरुष को प्रभु का मित्र बनाता है। अब इसके जीवन में सब क्रियाएं प्रभुस्मरण पूर्वक होने लगती हैं।

ऋषिः—**पृश्नयोऽजाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'सिन्धुभ्यः लोककृत्' अभवत्

अयं पुनान उषसो वि रोचयदयं सिन्धुभ्यो अभवदु लोककृत्।
अयं त्रिः सप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः॥ २१॥

अयम्=यह सोम **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **उषसः**=दोषदहन के द्वारा **विरोचयत्**=हमारे जीवनों को दीप्त करता है। **अयं**=यह सोम **सिन्धुभ्यः**=ज्ञान नदियों के प्रवाह के द्वारा निश्चय से **लोककृत्**=आलोक व प्रकाश को करनेवाला होता है। यह सोम हृदय को निर्दोष व मस्तिष्क को ज्ञान दीप्त बनाता है। **अयम्**=यह **त्रिसप्त**=इक्कीस बार **आशिरम्**=समन्तात् दोष विनाश का **दुदुहानः**=प्रपूरण करता हुआ, सब इक्कीस शक्तियों को निर्दोष बनाता हुआ, **सोमः**=सोम **हृदे पवते**=हृदय के लिये गतिवाला होता है, अर्थात् शरीर में ही सुरक्षित होकर ऊर्ध्वगतिवाला होता है। यह **चारु**=बड़ी सुन्दरता से जीवन में **मत्सरः**=आनन्द का संचार करता है।

भावार्थ—सोम पवित्रता व प्रकाश को प्राप्त कराता है। शरीर की सब शक्तियों को निर्दोष बनाता हुआ, शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होकर, हमें आनन्द से परिपूर्ण करता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

दिव्य तेज व दिव्य ज्ञान (सूर्यमारोहयः दिवि)

पवस्व सोम दिव्येषु धामसु सृजान इन्दो कलशे पवित्र आ।
सीदन्निन्द्रस्य जठरे कनिक्रदन्नृभिर्यतः सूर्यमारोहयो दिवि॥ २२॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **दिव्येषु धामसु**=दिव्य तेजों में **पवस्व**=गतिवाला हो। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ तू अलौकिक तेजों को प्राप्त करा। हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **कलशे**=इस शरीर कलश में **सृजानः**=सब कलाओं का निर्माण करता हुआ **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **आ (पवस्व)**=प्राप्त हो। **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **जठरे**=उदर में **सीदन्**=बैठता हुआ **कनिक्रदत्**=उस प्रभु के नामों का आह्वान करनेवाला हो। प्रभु का तू साधन करनेवाला हमें बना। **नृभिः यतः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों से संयत हुआ-हुआ तू **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **सूर्यम्**=ज्ञान सूर्य को **आरोहयः**=आरूढ़ कर। तेरे द्वारा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त हो उठे।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'दिव्य तेज व दिव्य ज्ञान' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

गोत्र-अपावरण

अद्रिभिः सुतः पवसे पवित्र आँ इन्दविन्द्रस्य जठरेष्वाविशन्।
त्वं नृचक्षा अभवो विचक्षण सोम गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरप॥ २३॥

अद्रिभिः=उपासकों से **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **पवित्रे**=पवित्र हृदय में **आपवसे**=सर्वथा गतिवाला होता है। हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **जठरेषु**=अंग-प्रत्यंगों में **आविशत्**=प्रवेशवाला होता है। इसके शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ प्रत्येक अंग में तू सिक्त होता है। हे **विचक्षण**=हमारा विशेष रूप से ध्यान करनेवाले सोम! **त्वं**

नृचक्षाः=तू सब नरों का द्रष्टा-ध्यान करनेवाला **अभवः**=होता है। अर्थात् तू इन उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों के स्वास्थ्य आदि का ध्यान करता है। हे सोम-वीर्यशक्ते! तू **अंगिरोभ्यः**=तेरे द्वारा अंग-प्रत्यंग में रसवाले अंगिराओं के लिये **गोत्रम्**=अविद्या पर्वत को **अपावृणोः**=खोल डालता है, इस अविद्या पर्वत को विदीर्ण करके इन्हें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमारे स्वास्थ्य का ध्यान करता है, अविद्या पर्वत का भेदन करता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीजगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

स्वाध्यः विप्रासः अवस्यवः

त्वां सो॑म॒ पव॑मानं स्वा॒ध्यो॒ऽनु॒ विप्रा॑सो अमदन्नव॒स्यवः॑।
त्वां सु॑प॒र्ण आभ॑रद्दि॒वस्परीन्दो॒ विश्वा॑भिर्म॒तिभिः॒ परि॑ष्कृतम्॥ २४॥

हे सोम-वीर्यशक्ते! **त्वां**=तुझे **पवमानम्**=पवित्र करनेवाले **अनु**=तेरे पीछे, अर्थात् तेरे अनुसार, जितना-जितना तेरा रक्षण करते हैं उतना-उतना **अमदन्**=आनन्दित होते हैं। कौन? **स्वाध्यः**=(सुष्ठुध्याताः) प्रभु का उत्तम उपासन करनेवाले, **विप्रासः**=ज्ञानी व अपना पूरण करनेवाले, तथा **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले। हे **इन्दो त्वाम्**=सोम तुझे **सुपर्णः**=अपना अच्छी प्रकार पालन व पूरण करनेवाला **दिवस्परि**=मस्तिष्करूप द्युलोक को लक्ष्य करके अर्थात् मस्तिष्क को परिष्कृत करने के हेतु से **आभरत्**=शरीर में चारों ओर धारण करता है। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर ही मस्तिष्क स्वस्थ बना रहता है। उस तुझे यह सुपर्ण धारण करता है या अपने में प्राप्त कराता है, जो तू **विश्वाभिः मतिभिः**=सब बुद्धियों से **परिष्कृतम्**=सुशोभित व अलङ्कृत है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें प्रभुप्रवण करता है, हमारी कमियों को दूर करता है तथा हमारा रक्षण करता है। यह सब बुद्धियों से अलंकृत हुआ-हुआ हमारे ज्ञान को बढ़ाता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

आयवः-महिषाः

अव्ये॑ पुना॒नं परि॒ वार॑ ऊ॒र्मिणा॒ हरिं॑ नवन्ते अ॒भि स॒प्त धे॒नवः॑।
अ॒पामु॒पस्थे॑ अ॒ध्याय॒वः॑ क॒विमृ॒तस्य॒ योना॑ महि॒षा अ॑हेषत॥ २५॥

अव्ये=रक्षा करनेवालों में उत्तम (अव् य) **वारे**=वासनाओं का निवारण करनेवाले पुरुष में **ऊर्मिणा**=ज्ञान रश्मियों से **परिपुनानम्**=पवित्र किये जाते हुए **हरिम्**=सर्वदुःखहर्ता सोम को **अभि**=लक्ष्य करके **सप्तधेनवः**=सात छन्दोंवाली ये वेदवाणीरूप गौवें **नवन्ते**=प्राप्त होती हैं। स्वाध्याय से वासनाओं का विनाश होकर सोम पवित्र होता है। सोम के रक्षण होने पर ये वेद धेनुएँ हमारे लिये ज्ञानदुग्ध को देनेवाली होती हैं। **अपाम्**=कर्मों की **उपस्थे**=गोद में **अधि आयवः**=आधिक्येन चलने का तथा **ऋतस्य योनौ**=ऋत के उत्पत्ति स्थान प्रभु में **महिषाः**=पूजा की वृत्तिवाले **कविम्**=इस हमें क्रान्तप्रज्ञ बनानेवाले सोम को **अहेषत**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने के लिये आवश्यक है कि हम क्रियाशील हों और उपासना की वृत्तिवाले हों।

भावार्थ—स्वाध्याय द्वारा सोम पवित्र होता है। इसके रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम कर्मों में लगे रहें और उपासना की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

विश्वानि कृण्वन् सुपथानि यज्व्यवे

इन्दुः पुनानो अति गाहते मृधो विश्वानि कृण्वन्त्सुपथानि यज्यवे।
गाः कृण्वानो निर्णिजं हर्यतः कविरत्यो न क्रीळन्परि वारमर्षति॥ २६॥

इन्द्रः=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ, गत मन्त्र के अनुसार स्वाध्याय कर्म व उपासना द्वारा वासनाओं से आक्रान्त न होने दिया जाता हुआ **मृधः**=शत्रुओं का **अति गाहते**=अतिशयेन विलोडन व मंथन कर देता है। यह सुरक्षित सोम वासनाओं को विनष्ट कर देता है। इस प्रकार यह सोम **यज्व्यवे**=यज्ञशील पुरुष के लिये **विश्वानि सुपथानि**=सब उत्तम मार्गों को **कृण्वन्**=करता है। सोमरक्षण से यज्ञशील बनकर हम सन्मार्ग का ही आक्रमण करते हैं। यह सोम **गाः कृण्वानः**=ज्ञान रश्मियों को हमारे लिये करता हुआ, **हर्यतः**=चाहने योग्य, **कविः**=क्रान्तिदर्शी, **अत्यः न**=निरन्तर गतिवाले घोड़े की तरह **क्रीडन्**=क्रीडक की मनोवृत्ति से सब कार्यों को करता हुआ **निर्णिजं**=शुचि व परिपुष्ट **वारम्**=जिसमें से सब वासनाओं का वारण किया गया है उस हृदय को **परि अर्षति**=लक्ष्य करके प्राप्त होता है। सोमरक्षण से ज्ञान बढ़ता है, क्रीडक की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है तथा हृदय पवित्र व परिपुष्ट बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शत्रुओं का नाश करता है, हमें सन्मार्ग पर ले चलता है, हमारे ज्ञान का वर्धन करता हुआ यह हमें पवित्र करता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

साधन पञ्चक

असश्चतः शतधारा अभिश्रियो हरिं नवन्तेऽव ता उदन्युवः।
क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृतं तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः॥ २७॥

असश्चतः=(Not defeated or overcome) अपराजित हुई-हुई वासनाओं से अनाक्रान्त **शतधाराः**=शतवर्ष पर्यन्त अपना धारण करनेवाली, **अभिश्रियः**=प्रातः-सायं प्रभु का उपासना करनेवाली (श्रि सेवायाम्) **उदन्युवः**=रेतःकण रूप उदक की कामनावाली **ताः**=वे प्रजायें **हरिः**=इस दुःखहर्ता सोम को **अवनवन्ते**=अन्दर ही अन्दर प्राप्त करती हैं। ये प्रजाएँ सोम को शरीर के अन्दर स्थापित करती हैं; **क्षिपः**=वासनाओं को अपने से परे फेंकनेवाले लोग, **दिवः**=प्रकाश के **अधिरोचने**=खूब दीप्त होनेवाले **तृतीये पृष्ठे**=तीर्णतम अथवा 'शरीर व हृदय' से ऊपर तीसरे मस्तिष्क के स्थान में (आधार में) **गोभिः आवृतम्**=ज्ञानरश्मियों से आवृत हुए-हुए इस सोम को **परिमृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। वस्तुतः सोम परिशुद्धि के लिये आवश्यक है कि हम अपने खाली समय का उपयोग स्वाध्याय में करे। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और इस प्रकार सोम का सदुपयोग हो जाता है। इस सोम के द्वारा हम जीवन में सदा तृतीय भूमिका में निवास करनेवाले बन पाते हैं।

भावार्थ—वासनाओं से अनाकान्त होकर, सौ वर्ष तक चलने का संकल्प करके, प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करते हुए, सोमरक्षण की प्रबल इच्छावाले बनकर, खाली समय को स्वाध्याय में बिताते हुए हम सोम का रक्षण कर पाते हैं।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'प्रथमः धामधाः'

तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसस्त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि।
अथेदं विश्वं पवमान ते वशे त्वमिन्दो प्रथमो धामधा असि॥ २८॥

हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **तव**=तेरे **दिव्यस्य रेतसः**=दिव्य रेतस् (शक्तिकण) के द्वारा ही **इमाः**=ये **प्रजाः**=प्रजायें उत्पन्न होती हैं। **त्वम्**=तू ही **विश्वस्य भुवनस्य**=सम्पूर्ण भुवन का **राजसि**=दीप्त करनेवाला है, सब प्राणियों को दीप्त करनेवाला यह सोम ही है। यही अंग-प्रत्यंग को शक्ति प्राप्त कराके उसे दीप्त करता है। हे सोम! **अथ**=अब **इदं विश्वं**=यह सम्पूर्ण विश्व **ते वशे**=तेरे ही वश में है, वस्तुतः सोम के अधीन ही सब उन्नतियाँ हैं। हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम **त्वं प्रथमः**=तू ही हमारे जीवनों में सर्वप्रथम स्थान में स्थित है, **धामधाः असि**=तू ही सब तेजों का आधान करनेवाला है।

भावार्थ—सोम ही सब को जन्म देता है, सब को दीप्त करता है, सर्वप्रथम स्थान में स्थित हुआ-हुआ सब तेजों का हमारे में स्थापन करता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'समुद्रः विश्ववित्' सोमः

त्वं समुद्रो असि विश्ववित्कवे तवेमाः पञ्च प्रदिशो विधर्मणि।
त्वं द्यां च पृथिवीं चाति जभ्रिषे तव ज्योतींषि पवमान सूर्यः॥ २९॥

हे **कवे**=आनन्दप्रज्ञ सोम! हमें तीव्र बुद्धि को प्राप्त करानेवाले सोम! **त्वम्**=तू **समुद्रः असि**=ज्ञान का समुद्र है अथवा 'सन्मुद्' सदा आनन्द के साथ रहनेवाला है। नीरोगता आदि के द्वारा आनन्द को प्राप्त करानेवाला है। **विश्ववित्**=तू सर्वज्ञ व सब कुछ प्राप्त करानेवाला है (विद् लाभे)। **इमा**=ये **पञ्चप्रदिशः**=ये विस्तृत (पचि विस्तारे) दिशायें इनमें रहनेवाले प्राणी, **तव विधर्मणि**=तेरे विशिष्ट धारण में ही स्थित है। **त्वम्**=तू **द्यां च**=मस्तिष्क रूप द्युलोक को **च**=तथा **पृथिवीं च**=शरीर रूप पृथिवी को **अतिजभ्रिषे**=अतिशयेन धारण करता है। सोम ही मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखता है। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **सूर्यः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में उदित होनेवाला सूर्य **तव ज्योतींषि**=तेरी ही ज्योतियों को (जभ्रिषे) धारण करता है, अर्थात् ज्ञानसूर्य के उदित होने का संभव तेरे ही कारण होता है।

भावार्थ—शरीर में सोम ही हमारी बुद्धि को सूक्ष्म करता है, यही हमारे ज्ञान को बढ़ाता है। मस्तिष्क व शरीर का स्वास्थ्य इसी पर निर्भर करता है। यही सबका धारण करता है, यही सब कुछ प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**सिकता निवावरी**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

रजोगुण का विशिष्टरूप में स्थापन

त्वं पवित्रे रजसो विधर्मणि देवेभ्यः सोम पवमान पूयसे।
त्वामुशिजः प्रथमा अगृभ्णत तुभ्येमा विश्वा भुवनानि येमिरे॥ ३०॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **रजसः**=रजोगुण के **विधर्मणि**=विशिष्ट रूप से धारण करने के निमित्त होता है। यह सोम का रक्षण ही एक सात्त्विक पुरुष को

रजोगुण के विशिष्ट रूप में धारण के द्वारा क्रियाशील बनाता है। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **प्रथमाः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले **उशिजः**=मेधावी पुरुष **त्वां अगृभ्णत**=तेरा ग्रहण करते हैं, तुझे अपने अन्दर सुरक्षित करने का प्रयत्न करते हैं। **इमा विश्वा भुवनानि**=ये सब भुवन **तुभ्य येमिरे**=तेरे लिये ही अपने को देनेवाले होते हैं (यच्छन्त्यात्मानम् सा०) अर्थात् सब भुवन तेरे पर ही आश्रित हैं। सोम ही सब का आधार है व नियामक है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों में रजोगुण का विशिष्टरूप में स्थापन करता है और हमें गतिशील बनाता है।

ऋषिः—**त्रय ऋषिगणाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'शिशु-पनिप्रत'

प्र रेभ एत्यति वारमव्ययं वृषा वनेष्वव चक्रदद्धरिः।
सं धीतयो वावशाना अनूषत शिशुं रिहन्ति मतयः पनिप्रतम्॥ ३१ ॥

रेभः=स्तोता हमें प्रभु साधन की ओर झुकानेवाला, यह सोम **वारम्**=वासनाओं का निवारण करनेवाले **अव्ययम्**=(अविअय) विविध विषयों की ओर न जानेवाले पुरुष को **अति**=अतिशयेन **एति**=प्राप्त होता है। **वृषा**=यह शक्ति का सेचन करनेवाला होता है। **वनेषु**=उपासकों में **अवचक्रदत्**=प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला होता है। **हरिः**=सब दुःखों का हरण करता है। **धीतयः**=प्रभु का ध्यान करनेवाले व **वावशानाः**=सोमरक्षण की प्रबल कामनावाले **सं अनूषत**=इस सोम का स्तवन करते हैं। इसके गुणों का प्रतिपादन करते हैं। **मतयः**=विचारशील पुरुष **शिशुम्**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को तीव्र करनेवाले, **पनिप्तम्**=खूब ही प्रभु का स्तवन करनेवाले इस सोम का **रिहन्ति**=आस्वाद लेते हैं। सोमरक्षण से आनन्द का अनुभव करते हैं। यह सोम बुद्धि को तीव्र बनाता है और मन को प्रभुप्रवण करता है।

भावार्थ—सोम हमारी बुद्धि को तीव्र बनाता है, प्रभु साधन की ओर हमारा झुकाव करता है। इस प्रकार यह हमारे आनन्द का कारण बनता है।

ऋषिः—**त्रय ऋषि गणाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथाविदे'

स सूर्यस्य रश्मिभिः परि व्यत तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथा विदे।
नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसीः पतिर्जनीनामुप याति निष्कृतम्॥ ३२ ॥

सः=वह सोम **सूर्यस्य रश्मिभिः**=ज्ञान सूर्य की किरणों से **परिव्यत**=अपने को आच्छादित करता है सोमरक्षण से ज्ञान दीप्त होता है। यह सोम **यथा विदे**=यथार्थ ज्ञानवाले पुरुष के लिये **त्रिवृतं तन्तुं**=तीनों सवनों में चलनेवाले 'प्रातः, मध्यान्तर व सायं' के सवनों में व्याप्त होनेवाले जीवनतन्तु को **तन्वानः**=विस्तृत करता है। अर्थात् यह सोम दीर्घायुष्य का कारण बनता है। यह सोम हमारे जीवनों में **ऋतस्य**=उस पूर्ण सत्य प्रभु की **नवीयसीः**=अत्यन्त स्तुत्य **प्रशिषः**=आज्ञाओं को **नयत्**=प्राप्त कराता है। इस सोम के रक्षण के द्वारा हम प्रभु की आज्ञाओं के पालन में चल पाते हैं। यह सोम **जनीनां**=इन वेदवाणीरूप प्रभु पत्नियों का **पतिः**=रक्षक है, अथवा शक्तियों के प्रादुर्भाव का रक्षक है। यह सोम अन्ततः **निष्कृतम्**=उस पूर्ण संस्कृत ब्रह्मलोक को **उपयाति**=समीपता से प्राप्त होता है। हमारी मोक्ष प्राप्ति का साधन बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञानवस्त्र को धारण कराता है, जीवन को दीर्घ करता है, प्रभु की

आज्ञाओं को हमें पालन कराता है, शक्तिविकास करता हुआ मोक्ष का साधन बनता है।

ऋषिः—त्रय ऋषि गणाः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

राजा सिन्धूनां-उपावसुः

राजा सिन्धूनां पवते पतिर्दिव ऋतस्य याति पथिभिः कनिक्रदत्।
सहस्रधारः परि षिच्यते हरिः पुनानो वाचं जनयन्नुपावसुः॥ ३३॥

यह सोम **सिन्धूनाम्**=ज्ञान प्रवाहों का **राजा**=स्वामी होता है। **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का **पतिः**=रक्षक होता हुआ **पवते**=हमें प्राप्त होता है। **कनिक्रदत्**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **ऋतस्य**=यज्ञ के **पथिभिः**=मार्गों से **याति**=गतिवाला होता है। सोमरक्षक के जीवन में प्रभु स्मरण पूर्वक यज्ञ चलाते हैं, यह सदा प्रभुस्मरण पूर्वक उत्तम कर्मों में लगा रहता है। **सहस्रधारः**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला **हरिः**=यह दुःखों का हरण करनेवाला सोम **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **वाचं जनयन्**=(वेद ज्ञान) वाणी को हमारे अन्दर उत्पन्न करता हुआ **उपावसुः**=उपासना के द्वारा सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। सोमरक्षक प्रभु का उपासक बनता है और सब धनों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों में 'ज्ञान+ऋत+उपासना व वसुओं' को प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—त्रय ऋषि गणाः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'महे वाजाय धन्याय धन्वसि'

पवमान मह्यर्णो वि धावसि सूरो न चित्रो अव्ययानि पव्यया।
गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतो महे वाजाय धन्याय धन्वसि॥ ३४॥

हे **पवमान**=हमें पवित्र करनेवाले सोम! तू **महि अर्णः**=महनीय (महत्वपूर्ण) ज्ञानजलों को **वि धावसि**=विशेषरूपेण प्राप्त होता है। **सूरः न**=सूर्य के समान **चित्रः**=वाचनीय-पूज्य होता हुआ तू **पव्यया**=पवित्र **अव्ययानि**=अविनश्वर (वेद) ज्ञानों को पानेवाला होता है। **गभस्तिपूतः**=इन ज्ञानरश्मियों से पवित्र हुआ-हुआ तथा **अद्रिभिः नृभिः**=उपासक प्रगति पुरुषों से **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **महे**=महान् **धन्याय**=धनयुक्त अथवा जीवन को धन्य बनानेवाले **वाजाय**=सामर्थ्य के लिये **धन्वसि**=गतिवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञान व शक्ति को प्राप्त कराके हमारे जीवनों को पवित्र करता है।

ऋषिः—त्रय ऋषि गणाः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'दिवो विष्टम्भः, उपमो विचक्षणः'

इषमूर्जं पवमानाभ्यर्षसि श्येनो न वंसु कलशेषु सीदसि।
इन्द्राय मद्वा मद्यो मदः सुतो दिवो विष्टम्भ उपमो विचक्षणः॥ ३५॥

हे **पवमान**=हमें पवित्र करनेवाले सोम! तू **इषम्**=प्रभुप्रेरणा व **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति की **अभि**=ओर **अर्षसि**=गतिवाला होता है। सोमरक्षण से हम प्रभुप्रेरणा को सुनने योग्य बनते हैं। उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिये बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करते हैं। **श्येनः न**=शंसनीय गतिवाले के समान **वंसु**=वासनाओं को पराजित करनेवाले अथवा प्रभु की उपासनावाले (वन्-संभजने) **कलशेषु**=इन शरीर कलशों में **सीदसि**=तू स्थित होता है। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मद्वा**=अतिशय आनन्द को करनेवाला **मदः**=उल्लास का जनक व **मद्यः**=मस्ती को

लानेवाला होता है। **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **दिवः विष्टम्भ**=ज्ञान का धारक है, **उपमा**=उपासना द्वारा प्रभु का ज्ञान प्राप्त करनेवाला है (उपमाति) तथा **विचक्षणः**=विशेषण द्रष्टा है, हमारा ध्यान करनेवाला है। यह सोम ही तो हमारे शरीरों को नीरोग, हृदयों को पवित्र तथा मस्तिष्क को दीप्त बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें प्रभु प्रेरणा को सुननेवाला बल व प्राणशक्तिवाला शंसनीय गतिवाला उल्लासमय ज्ञानधारक बनाता है यह सब प्रकार से हमारा ध्यान करता है।

ऋषिः—**त्रय ऋषि गणाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'तवं जज्ञानं जेन्यं विपश्चितम्'

सप्त स्वसारो अभि मातरः शिशुं नवं जज्ञानं जेन्यं विपश्चितम्।
अपां गन्धर्वं दिव्यं नृचक्षसं सोमं विश्वस्य भुवनस्य राजसे॥ ३६॥

सप्त=सात 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख रूप सप्तर्षि **स्व-सारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले होते हुए, **मातरः**=ज्ञान का निर्माण करनेवाले होते हैं और **शिशुं**=बुद्धि को तीव्र करनेवाले **सोमम्**=सोम को **अभि (गच्छन्ति)**=प्राप्त होते हैं। वस्तुतः ज्ञानेन्द्रियों को प्रभु की उपासना व ज्ञान प्राप्ति में लगाना ही सोमरक्षण का प्रमुख साधन है। उस सोम को ये सप्तर्षि प्राप्त होते हैं, जो कि **नवम्**=स्तुत्य है, **जज्ञानम्**=शक्तियों के प्रादुर्भाव को करनेवाला है **जेन्यम्**=विजयशील है, **विपश्चितम्**=ज्ञानी है, हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला है। जो सोम **अपां गन्धर्वम्**=कर्मों की प्रतिपादक ज्ञानवाणियों को धारण करनेवाला है (अपस्=कर्म), **दिव्यम्**=हमें दिव्यवृत्ति का बनानेवाला है, **नृचक्षसम्**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाला है। इस सोम को **विश्वस्य भुवनस्य**=सम्पूर्ण भुवन की **राजसे**=दीप्ति के लिये प्राप्त करते हैं। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम सारे शरीर को दीप्त करनेवाला होता है। शरीर को तेजस्विता से, मन को निर्मलता से तथा बुद्धि को तीव्रता से यह सोम उत्कृष्ट बनाता है।

भावार्थ—जब शरीरस्थ इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में लगेंगी और प्रभु उपासन में प्रवृत्त होंगी तभी सोम का रक्षण होगा। रक्षित सोम सम्पूर्ण शरीर को दीप्त बनायेगा।

ऋषिः—**त्रय ऋषि गणाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मधुमद् घृतं पयः

ईशान इमा भुवनानि वीयसे युजान इन्दो हरितः सुपर्ण्यः।
तास्ते क्षरन्तु मधुमद् घृतं पयस्तव व्रते सोम तिष्ठन्तु कृष्टयः॥ ३७॥

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **ईशानः**=सम्पूर्ण 'तेज निर्मल्य व दीप्ति' रूप ऐश्वर्योंवाला होता हुआ तू **इमा भुवनानि**=इन प्राणियों को **वीयसे**=प्राप्त होता है। शरीर को तू तेजस्विता देता है। मन को नैर्मल्य प्राप्त कराता हुआ तू बुद्धि को तीव्र करता है। हे इन्दो! तू ही इस शरीररथ में **सुपर्ण्यः**=उत्तमता से जिनका पालन व पूरण हुआ है उन **हरितः**=इन्द्रियों को **युजानः**=युक्त करता है। अर्थात् सोम ही इन्द्रियों को सशक्त व निर्दोष बनाता है। **ताः**=वे इन्द्रियाश्व (सुपर्ण्यः) **ते**=तेरे द्वारा **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्यवाली **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को तथा **पयः**=शक्ति के आप्यायन को **क्षरन्तु**=अपने में संचरित करें। सोमरक्षण द्वारा ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान सम्पन्न हो और कर्मेन्द्रियाँ सशक्त बनें। हे सोम वीर्यशक्ते! यह सब विचार कर **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **तव**=तेरे **व्रते**=व्रत में **तिष्ठन्तु**=स्थित हों। सोमरक्षण के लिये जो आवश्यक कर्म हैं, उन्हें ये करनेवाले हों।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है। ज्ञानेन्द्रियों को यह ज्ञान सम्पन्न बनाता है और कर्मेन्द्रियों को यह सशक्त करता है।

ऋषिः—**त्रय ऋषि गणाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वसुमत्+हिरण्यवत्

त्वं नृचक्षसा असि सोम विश्वतः पवमान वृषभ ता वि धावसि।
स नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवद्वयं स्याम भुवनेषु जीवसे॥ ३८॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **नृचक्षसाः असि**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाला है। वस्तुतः सोम ही मनुष्यों को रोगों व वासनाओं से बचाता है। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले, **वृषभ**=शक्ति का सेचन (वृष् सेचने) करनेवाले सोम तू **ताः**=उन प्रजाओं को **विश्वतः**=सब ओर से **विधावसि**=शुद्ध कर देता है। सुरक्षित सोम शरीर मानस व बौद्धिक सभी मलों को दूर कर देता है। **सः**=वह तू **नः**=हमारे लिये **वसुमत्**=उत्तम वसुओंवाला होता हुआ तथा **हिरण्यवत्**=उत्तम ज्योतिवाला होता हुआ **पवस्व**=प्राप्त हो शरीर में सुरक्षित सोम वसुओं व हिरण्यों को प्राप्त कराता है, शरीर में वसुओं को, मस्तिष्क में ज्योति को। हे सोम! हम तेरे रक्षण के द्वारा **वयम्**=हम **भुवनेषु**=इन लोकों में **जीवसे**=जीवन के लिये **स्याम**=हों। शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में दीप्तिवाले होते हुए हम दीर्घजीवी हों।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम दीर्घ जीवन व ज्योति का कारण बनता है।

ऋषिः—**त्रय ऋषि गणाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गोवित्-वसुवित्-हिरण्यवित्

गोवित्पवस्व वसुविद्धिरण्यविद्रेतोधा इन्दो भुवनेष्वर्पितः।
त्वं सुवीरो असि सोम विश्ववित्तं त्वा विप्रा उप गिरेम आसते॥ ३९॥

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू हमें **पवस्व**=प्राप्त हो। तू **गोवित्**=उत्कृष्ट इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है। **वसुवित्**=निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों–वसुओं को प्राप्त करानेवाला है। **हिरण्यवित्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) ज्योति को प्राप्त करानेवाला है। हे इन्दो! तू **रेतोधा**=शक्ति का आधान करनेवाला होता हुआ **भुवनेषु अर्पितः**=इन प्राणियों में स्थापित किया गया है। हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **त्वम्**=तू **सुवीरः असि**=हमें उत्तम वीर बनानेवाला है। **विश्ववित्**=सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराता है। **इमे विप्राः**=ये ज्ञानी पुरुष **तं त्वा**=उस तुझ को **उपासते**=स्तुत वाणियों के द्वारा उपासित करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'उत्तम इन्द्रियों, वसुओं व ज्योति' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**त्रय ऋषि गणाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ज्ञानी कर्मनिष्ठ उपासक' बनानेवाला सोम

उन्मध्व ऊर्मिर्वनना अतिष्ठिपदपो वसानो महिषो वि गाहते।
राजा पवित्ररथो वाजमारुहत्सहस्रभृष्टिर्जयति श्रवो बृहत्॥ ४०॥

मध्वः ऊर्मिः=माधुर्य की तरंगरूप यह सोम **वननाः**=सेवनीय ज्ञान की वाणियों को **उद् अतिष्ठिपत्**=हमारे में स्थापित करता है। हमें तीव्र बुद्धि बनाकर ज्ञान को प्राप्त कराता है। **अपः वसानः**=कर्मों को धारण करता हुआ हमें क्रियाशील बनाता हुआ **महिषः**=यह उपासनावाला सोम

विगाहते=शरीर कलश में प्रवेश करता है। सोम रक्षित हुआ-हुआ हमें प्रभु की ओर झुकाता है। **राजा**=हमारे जीवनों को व्यवस्थित व दीप्त करनेवाला (regulate दीप्तौ) **पवित्रस्थः**=शरीरस्थ को पवित्र बनानेवाला सोम **वाजं आरुहत्**=संग्राम में आरूढ़ होता है। शरीर में प्रविष्ट होकर यह रोगकृमियों व वासनाओं से संग्राम को प्रारम्भ करता है। वहाँ **सहस्रभृष्टिः**=शतशः मनुष्यों को भून डालनेवाला यह सोम **बृहत् श्रवः**=महान् यज्ञ का **जयति**=विजय करता है। सब शत्रुओं को शीर्ण करके विजयी होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'ज्ञानी कर्मनिष्ठ उपासक' बनाता है। शत्रुओं को शीर्ण करके हमारे जीवन को यशस्वी करता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ब्रह्म प्रजावत्, रयिम् अश्वपस्त्यम्

स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीर्विश्वायुर्विश्वाः सुभरा अहर्दिवि।
ब्रह्म प्रजावद्रयिमश्वपस्त्यं पीत इन्दविन्द्रमस्मभ्यं याचतात् ॥ ४१ ॥

सः=वह **विश्वायुः**=पूर्ण जीवन को प्राप्त करानेवाला सोम **अहर्दिवि**=दिन-रात **विश्वाः**=सब **सुभराः**=उत्तम भरण की साधन भूत **प्रजावतीः**=प्रकृष्ट विकासवाली **भन्दना**=स्तुतियों को **उदियर्ति**=उत्कर्षेण प्रेरित करता है। सोमरक्षण से हमारी वृत्ति प्रभुस्तवन की होती है। यह प्रभुस्तवन हमारे पूर्ण जीवन का कारण होता है, अंग-प्रत्यंग का उत्तम पोषण करनेवाला होता है और सब शक्तियों को विकसित करता है। हे **इन्दो**=सोम! **पीतः**=शरीर के अन्दर पिया हुआ तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **ब्रह्म**=उस ज्ञान की **याचतात्**=याचना कर जो **प्रजावत्**=हमारे प्रकृष्ट विकास का कारण बने, तथा **रयिम्**=हमारे लिये धन की याचना कर जो **अश्वपस्त्यम्**=उत्तम अश्वों से युक्त गृहवाला हो। यहाँ 'गृह' यह शरीर है, 'अश्व' इन्द्रियाँ हैं धन वही ठीक है जो इस शरीर व इन्द्रियों को ठीक बनाये रखे।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को स्तुतिमय बनाता है। यह ज्ञान व धन की प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

चेतसा, द्युभिः

सो अग्रे अह्नां हरिर्हर्यतो मदः प्र चेतसा चेतयते अनु द्युभिः।
द्वा जना यातयन्नन्तरीयते नरा च शंसं दैव्यं च धर्तरि ॥ ४२ ॥

सः=वह **हर्यतः**=चाहने योग्य-कमनीय **हरिः**=दुःखों का हर्ता **मदः**=उल्लास जनक सोम **अह्नां अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में **चेतसा**=चिन्तन के द्वारा तथा **द्युभिः**=ज्ञान दीप्तियों के द्वारा **अनुप्रचेतयते**=अनुकूल प्रकृष्ट चेतना को उत्पन्न करता है। सोमरक्षक पुरुष प्रातः ध्यान व स्वाध्याय की वृत्तिवाला होता है इन ध्यान व स्वाध्याय के द्वारा यह सोम हमारे जीवन में प्रकृष्ट चेतन व ज्ञान को प्राप्त कराता है। **धर्तरि**=धारण करनेवाले के **अन्तः**=अन्दर यह सोम **नराशंसं**= मनुष्यों से प्रशंसनीय **च**=और **दैव्यम्**=दिव्यगुणों के जनक उभयविध **द्वा जना**=दोनों विकास के कारणभूत ऐश्वर्यों को **यातयन्**=प्राप्त कराता हुआ **ईयते**=गति करता है। 'नराशंस ऐश्वर्य' वह है जो सुपथ से कमाया जाकर उत्तम गृह के निर्माण का साधन बनता है। 'दैव्य ऐश्वर्य' ज्ञान है जो सब सद्गुणों के विकास का साधन होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम चिन्तन व स्वाध्याय की वृत्ति को पैदा करता है। सोमरक्षक पुरुष धन को सदा सुपथ से कमाता है और ज्ञान के द्वारा सद्गुणों का अर्जन करता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अञ्जन+व्यञ्जन+समञ्जन

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते॥ ४३॥

हिरण्यपावाः=(हिरण्यं-वीर्यम्) सोमशक्ति का, वीर्य का अपने अन्दर पान करनेवाले लोग **अञ्जते**=इस शरीर के अंग-प्रत्यंग को शक्ति से अलंकृत करते हैं, **व्यञ्जते**=अपने हृदय को यज्ञिय भावनाओं से शुद्ध करते हैं। **समञ्जते**=ये अपने मस्तिष्क को ज्ञान से सजानेवाले होते हैं। **क्रतुं रिहन्ति**=ये हिरण्यपावा लोग 'शक्ति (kratas, power) यज्ञ व प्रज्ञान' का आस्वादन करते हैं। शरीर को शक्ति से, हृदय को यज्ञ से तथा मस्तिष्क को ज्ञान से अलंकृत करके ये लोग **मधुना अभ्यञ्जते**=माधुर्य से अपने सारे व्यवहार को अलंकृत करते हैं। सबके साथ अत्यन्त मधुरता से वरतते हैं। **आसु**=इन रेतकणों में, अर्थात् इन रेतकणों के सुरक्षित होने पर ये हिरण्यपावा लोग **पशुं गृभ्णते**=उस सर्वद्रष्टा प्रभु का ग्रहण करते हैं, जो प्रभु **उक्षणम्**=हमें शक्ति से सिक्त करते हैं तथा **सिन्धोः**=ज्ञाननदी के **उच्छ्वासे**=उच्छ्वासित होने पर **पतयन्तम्**=हमें प्राप्त होते हैं। जितना-जितना ज्ञान बढ़ता है, उतना-उतना प्रभु के हम समीप होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा हमारा शरीर शक्ति से, हमारा मन यज्ञियभावना से तथा मस्तिष्क प्रज्ञान से सुभूषित होता है। इस सोमरक्षक पुरुष का व्यवहार माधुर्यपूर्ण होता है, और अन्ततः यह प्रभु को पाने का अधिकारी बनता है।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचम्

विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति।
अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचमत्यो न क्रीळन्नसरद् वृषा हरिः॥ ४४॥

विपश्चिते=हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले **पवमानाय**=पवित्र करनेवाले सोम के लिये **गायत**=स्तुति शब्दों का गायन करो। **अन्धः**=यह सोम (अन्धसस्पते-सोमस्यपते श० ९.१.२.४) **महीधारा न**=महत्वपूर्ण धारा के समान **अति अर्षति**=अतिशयेन प्राप्त होता है, जैसे एक जलधारा शरीर को बाहर से पवित्र कर देती है, इसी प्रकार यह सोम अन्दर से पवित्र करनेवाला होता है। **न**=जैसे **अहिः**=साँप **जूर्णां**=जीर्ण **त्वचम्**=त्वचा को **अतिसर्पति**=छोड़कर आगे बढ़ जाता है, उसी प्रकार यह सोम सब मलों को छोड़ता हुआ आगे बढ़ने का कारण बनता है। यह **वृषा**=शक्तिशाली **हरिः**=सब दुःखों का हरण करनेवाला सोम **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान **क्रीडन्**=क्रीड़ा करता हुआ **असरत्**=गतिवाला होता है। सोमरक्षण से शक्ति सम्पन्न होकर हम आलस्य शून्य होते हैं और क्रीडक की मनोवृत्ति से निरन्तर क्रियाओं में लगे रहते हैं।

भावार्थ—सोम हमें 'ज्ञान-पवित्रता व क्रियाशीलता' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—अत्रिः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अह्नां विमानः, ओक्यः

अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नां भुवनेष्वर्पितः।
हरिर्घृतस्नुः सुदृशीको अर्णवो ज्योतीरथः पवते राय ओक्यः ॥ ४५ ॥

अग्रेगो=अग्रगति व उन्नतिवाला यह **राजा**=जीवन को दीप्त व व्यवस्थित करनेवाला (दीप्तौ), **अप्यः**=कर्मों में उत्तम सोम **तविष्यते**=स्तुति किया जाता है। यह **भुवनेषु अर्पितः**=शरीर के अंग-प्रत्यंगों में अर्पित हुआ-हुआ **अह्नां विमानः**=दिनों का उत्तम निर्माण करता है, एक-एक दिन को सुन्दर बनाता है तथा हमारे जीवन के दिनों को बढ़ाता है। संक्षेप में यह सोम सुन्दर दीर्घजीवन का कारण बनता है। **हरिः**=यह दुःखों का हरण करनेवाला है। **घृतस्नुः**=ज्ञानदीप्ति को प्रसृत करनेवाला है, ज्ञान प्रवाह को प्रवाहित करनेवाला है। **सुदृशीकः**=उत्तमदर्शनीय है, इसके रक्षण से शरीर तेजस्वी व रम्य बनता है। **अर्णवः**=यह सोम ज्ञान जलवाला है, **ज्योतीरथः**= ज्योतिर्मय रथवाला है, शरीररथ को ज्योतिर्मय बनाता है। यह **राये**=सब अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्य के लिये **पवते**=प्राप्त होता है और **ओक्यः**=इस शरीर रूप गृह के लिये अत्यन्त हितकर है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सुन्दर दीर्घ जीवन को प्राप्त कराता है। शरीर रूप गृह को बड़ा ठीक रखता है।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'त्रिधातुः' सोमः

असर्जि स्कम्भो दिव उद्यतो मदः परि त्रिधातुर्भुवनान्यर्षति।
अंशुं रिहन्ति मतयः पनिप्रतं गिरा यदि निर्णिजमृग्मिणो ययुः ॥ ४६ ॥

यह **दिवः स्कम्भः**=ज्ञान का स्कम्भ (=आधार) रूप सोम **असर्जि**=शरीर में उत्पन्न किया जाता है यह **उद्यतः**=शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता हुआ **मदः**=उल्लास का जनक होता है। **त्रिधातुः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों को धारण करनेवाला यह सोम **भुवनानि**=शरीर के सब अंगों में **परि अर्षति**=गतिवाला होता है। **मतयः**=विचारशील पुरुष **पनिप्रतम्**=खूब ही प्रभु का स्तवन करनेवाला, स्तुतिवृत्ति को पैदा करनेवाले **अंशुम्**=सोम को **रिहन्ति**=आस्वादित करते हैं। इस सोमरक्षण में वे आनन्द का अनुभव करते हैं। ये सोम के आनन्द को तब अनुभव करते हैं **यदि**=यदि **ऋग्मिणः**=ऋचाओं व विज्ञानोंवाले होते हुए ये वैज्ञानिक पुरुष **गिरा**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **निर्णिजम्**=जीवन को शुद्ध बनानेवाले उस प्रभु को **ययुः**=जाते हैं, उपासित करते हैं। यह विज्ञान व उपासना जीवन को शुद्ध बनाती है। शुद्ध वासनाशून्य जीवन में ही सोम का रक्षण होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय सोमरक्षण के साधन हैं सुरक्षित सोम 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का धारण करनेवाला है।

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ब्रह्मशक्ति के सूक्ष्मतत्त्वों का ज्ञान

प्र ते धारा अत्यण्वानि मेष्यः पुनानस्य संयतो यन्ति रंहयः।
यद्गोभिरिन्दो चम्वोः समज्यस आ सुवानः सोम कलशेषु सीदसि ॥ ४७ ॥

हे सोम! **पुनानस्य**=पवित्र किये जाते हुए **ते**=तेरे **संयतः**=सम्यक् शरीर में गति करते हुए (संयत किये गये) **ते**=तेरी **रंहयः**=वेगवती धारण (धारण शक्तियाँ) धारायें **मेध्यः**=सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाली ब्रह्मशक्ति के **अण्वानि**=सूक्ष्म तत्त्वों को **प्र अतियन्ति**=खूब प्राप्त होती हैं। अर्थात् सोमरक्षण से उत्पन्न तीव्र बुद्धि के द्वारा संसार संचालिका ब्रह्मशक्ति के तत्त्वों को हम समझने लगते हैं। हे **इन्दो**=सोम! **यद्**=जब **गोभिः**=इन ज्ञानवाणियों के द्वारा **चम्वोः**=द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में तू **समज्यसे**=अलंकृत किया जाता है, अर्थात् स्वाध्याय के द्वारा वासनाओं से दूर रहकर तेरा रक्षण होता है और तू मस्तिष्क व शरीर को ही अलंकृत करनेवाला होता है, तो **सुवानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ **सोम**=हे सोम! तू **कलशेषु**=इन शरीर कलशों में **आसीदसि**=समन्तात्=अंग-प्रत्यंग में स्थित होता है। उनमें स्थित होकर तू उनका धारण करता है, उन्हें शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—पवित्र सोम की शरीर में सुरक्षित धारायें शरीर को स्वस्थ बनाती हैं और मस्तिष्क को सूक्ष्म तत्त्वों के ज्ञान से शोभित करती हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

क्रतुवित् उक्थ्य

पवस्व सोम क्रतुविन्न उक्थ्योऽव्यो वारे परि धाव मधु प्रियम्।
जहि विश्वान्रक्षस इन्दो अत्रिणो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ४८॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **पवस्व**=तू हमें प्राप्त हो। **नः**=हमारे लिये **क्रतुवित्**='शक्ति यज्ञ व प्रज्ञान' को प्राप्त करानेवाला तू **उक्थ्यः**=स्तुत्य है। **अव्यः**=अतिशयेन रक्षणीय या रक्षकों में उत्तम तू **वारे**=द्वेष आदि का निवारण करनेवाले पुरुष में **प्रियं मधु**=प्रिय माधुर्य को **परिधाव**=समन्तात् प्राप्त करा। इस सोम रक्षक पुरुष के सब व्यवहारों को मधुर बना। हे **इन्दो**=सोम! **विश्वान्**=सब अथवा हमारे न चाहते हुए भी अन्दर घुस आनेवाले (विशन्ति) **अत्रिणः**=हमें खा जानेवाले **रक्षसः**=राक्षसी भावों को **जहि**=विनष्ट कर। हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **बृहद् वदेम**=खूब ही आपका साधन करें।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन को ऋतुमय-मधुर व राक्षसीभावों से शून्य बनाये। हम वीर बनकर ज्ञानयज्ञ में प्रभु की चर्चा करनेवाले हों।

प्रभु चर्चा की कामनावाला 'उशनाः' अगले सूक्त का ऋषि है—

[८७] सप्ताशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

संग्राम की ओर

प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति॥ १॥

हे सोम! **तु**=तू निश्चय से **प्र द्रव**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। **कोशं परि निषीद**=शरीर के प्रत्येक कोश में स्थित हो। **नृभिः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **वाजं अभि अर्ष**=रोगकृमि आदि के साथ संग्राम में गतिवाला हो। इनके साथ संग्राम करके शरीर को आधि-व्याधि से शून्य कर। **वाजिनं अश्वं न**=शक्तिशाली घोड़े की तरह **त्वा**=तुझे **मर्जयन्तः**=शुद्ध करते हुए **रशनाभिः**=स्तुति वाणियों से (रशना tongue) **बर्हिः अच्छा**=वासना

शून्य हृदय की ओर **नयन्ति**=ले जाते हैं। स्तुति वाणियों के द्वारा पवित्र करते हुए तुझे अपने अन्दर ही सुरक्षित करते हैं।

भावार्थ—स्तुति द्वारा शरीर में सुरक्षित सोम रोगकृमि आदि के साथ संग्राम करके उन्हें विनष्ट करता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

विष्टम्भो दिवः, धरुणः पृथिव्याः

स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजनं रक्षमाणः।
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः॥ २॥

स्वायुधः=उत्तम 'इन्द्रियों-मन व बुद्धि' रूप आयुधोंवाला **देवः**=जीवन को दिव्य बनानेवाला **इन्दुः**=सोम **पवते**=हमें प्राप्त होता है। यह सोम **अशस्तिहा**=सब बुराइयों को नष्ट करनेवाला है। **वृजनम्**=(energy) शक्ति का यह **रक्षमाणः**=रक्षण करनेवाला है। यह सोम **पिता**=रक्षक है, **देवानां जनिता**=दिव्यगुणों को जन्म देनेवाला है, **सुदक्षः**=उत्तम विकास (growth) का कारण बनता है। **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का यह थामनेवाला है और **पृथिव्याः धरुणः**=इस शरीररूप पृथिवी का धारण करनेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सब बुराइयों को नष्ट करता है और अच्छाइयों व शक्ति का रक्षण करता है। यह शरीर व मस्तिष्क दोनों का धारण करता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

तत्त्वदर्शन

ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन।
स चिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यं१ गुह्यं नाम गोनाम्॥ ३॥

यह सोम **ऋषिः**=अतीन्द्रिय द्रष्टा है, हमारी बुद्धियों को तीव्र बनाकर हमें तत्त्वद्रष्टा बनाता है। **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला है। **जनानां पुरः एता**=मनुष्यों का आगे चलनेवाला, अर्थात् मार्गदर्शक है। **ऋभुः**=(उरु भासमानः) खूब ही दीप्त है। **धीरः**=बुद्धि को गतिमय करनेवाला है (धियम् ईरयति)। यह **काव्येन उशनाः**=इस वेदज्ञान रूप काव्य से प्रभु प्राप्ति की कामनावाला होता है। सोमरक्षण से मनुष्य का झुकाव प्रभु प्राप्ति की ओर होता है, प्रभु प्राप्ति के लिये यह प्रभु के वेदरूप काव्य को अपनाता है। **सः**=वह सोमरक्षक पुरुष **चित्**=निश्चय से **आसां गोनाम्**=इन वेदवाणियों का **यत्**=जो **अपीच्यम्**=अन्तर्हित **गुह्यम्**=रहस्यभूत भाव **निहितम्**=स्थापित है, उस **नाम**=(mark, sign, token) संकेत को **विवेद**=जाननेवाला होता है। सोमरक्षण से ही बुद्धि की वह तीव्रता व हृदय की वह शुद्धि प्राप्त होती है जिससे कि हम वेद के इन संकेतों को समझनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से मनुष्य तीव्र बुद्धि बनकर वेदवाणियों के अन्तर्निहित अर्थ को देख पाता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'सहस्रसाः शतसाः भूरिदावा'

एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णे परि पवित्रे अक्षाः।
सहस्रसाः शतसा भूरिदावा शश्वत्तमं बर्हिरा वाज्यस्थात्॥ ४॥

हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **एषः**=यह **स्यः**=वह प्रसिद्ध **सोमः**=सोम **वृष्णे ते मधुमान्**=अपने अन्दर शक्ति कर सेचन करनेवाले तेरे लिये जीवन को मधुर बनानेवाला है। **वृषा**=यह शक्ति का सेचन करनेवाला है। जो भी इस सोम को अपने अन्दर सिक्त करता है, सोम उसे शक्तिशाली बनाता है। यह सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **परि अक्षाः**=शरीर में चारों ओर क्षरित होता है। **सहस्रसाः**=सहस्र संख्या ऐश्वर्यों को देनेवाला, **शतसाः**=पूर्ण शतवर्ष के जीवन को देनेवाला, **भूरिदावा**=खूब ही शत्रुओं का यह लवन (काटना) करनेवाला है। यह **वाजी**=शक्तिशाली सोम **शश्वत्तमम्**=सदा **बर्हिः**=वासनाशून्य रूप हृदय में **आ अस्थात्**=सर्वथा स्थित होता है। हृदय में वासनाओं के अभाव में सोम का रक्षण होता है। यह सोम हमें सहस्रों धनों को देता हुआ शतवर्ष के जीवन को देनेवाला होता है और काम-क्रोध आदि शत्रुओं को खूब ही काटनेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को मधुर बनाता है, यह 'ऐश्वर्य व दीर्घजीवन' को देता है, शत्रुओं को काटता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वाजाय अमृताय

एते सोमा अभि गव्या सहस्रा महे वाजायामृताय श्रवांसि।
पवित्रेभिः पवमाना असृग्रच्छ्रवस्यवो न पृतनाजो अत्याः॥ ५॥

एते सोमाः=ये सोमकण **सहस्रा गव्या अभि**=हजारों ज्ञानवाणियों की ओर गतिवाले होते हैं। इन ज्ञानवाणियों की ओर गतिवाले होते हुए ये सोम **महे वाजाय**=महान् शक्ति के लिये तथा **अमृताय**=अमृतत्त्व (नीरोगता) के लिये होते हैं। **पवित्रेभिः**=पवित्र हृदयवाले पुरुषों से **पवमानाः**=पवित्र किये जाते हुए ये सोम **श्रवांसि असृग्रन्**=ज्ञानों को उत्पन्न करते हैं। इन ज्ञानों से ही हम पवित्र जीवनवाले बनकर शक्तिलाभ करते हैं व अमृतत्त्व (नीरोगता) को पाते हैं। ये सोमकण **श्रवस्यवः**=ज्ञान प्राप्ति की कामनावाले हैं तथा **पृतनाजः**=संग्राम में गतिवाले **अत्याः न**=अश्वों के समान हैं। (पृतना+अज्)। सोमकण शरीरस्थ रोगकृमियों व मलिन वासनाओं को पराजित करके हमें स्वस्थ व सुन्दर जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—सोम ज्ञानवर्धन का कारण होते हैं, शक्ति व नीरोगता को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यत्नशील-रयीश-शक्तिशाली

परि हि ष्मा पुरुहूतो जनानां विश्वासरद्भोजना पूयमानः।
अथा भर श्येनभृत प्रयांसि रयिं तुञ्जानो अभि वाजमर्ष॥ ६॥

यह **पुरुहूतः**=(पुरुहूतं यस्य) पालक व पूरक है आह्वान जिसका, जिसकी प्रकार-याचना हमारे शरीरों का पालन करती है तथा मनों का पूरण करती है, वह **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ सोम-वासनाओं के उबाल से दूर रखा जाता हुए सोम (वीर्य) **जनानां**=लोगों के **विश्वा**=सब **भोजना**=रक्षक धनों को (वसुओं को) **हिष्मा**=निश्चय से **परि असरत्**=प्राप्त कराता है (अन्तर्भावितण्यर्थः 'सृ')। हे **श्येनभृत**=शंसनीय गतिवाले पुरुष से भरण किये गये सोम! तू **अथ**=अब **प्रयांसि**=उद्योगों को **आभर**=हमारे में भर, हमें यत्नशील बना। **रयिं तुञ्जानः**=धनों को देता हुआ तू **वाजं अभि**=शक्ति की ओर **अर्ष**=गतिवाला हो। सोमरक्षण से हम आलस्य शून्य होकर पुरुषार्थ से धनों का अर्जन करें और उनका ठीक प्रयोग करते हुए शक्तिशाली बनें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम सब पालक धनों को प्राप्त कराता है। हमें यत्नशील, रयीश (धन स्वामी) व शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सृष्टः सर्गः न, महिषः न

एष सुवानः परि सोमः पवित्रे सर्गो न सृष्टो अदधावदर्वा।
तिग्मे शिशानो महिषो न शृङ्गे गा गव्यन्नभि शूरो न सत्वा॥ ७॥

एषः=यह **सुवानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ **सोमः**=सोम **सृष्टः सर्गः न**=बन्धनमुक्त घोड़े की तरह **अर्वा**=शत्रु संहार को करनेवाला **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **परि अदधावत्**=चारों ओर गतिवाला होता है। शरीर में व्याप्त होता हुआ यह शरीरस्थ रोगकृमिरूप शत्रुओं का विनाश करता है, अपने **तिग्मे**=तीक्ष्ण **शृंगे**=सींगों को **शिशानः**=तीव्र करते हुए **महिषो: नः**=महिष के समान आरण्य भैंसे के समान **शूरः न**=शूरवीर के समान **सत्वा**=(शत्रूणां सादयिता) शत्रुओं का काम-क्रोध आदि का सादन (विनाश) करनेवाला **गव्यन्**=ज्ञान की वाणियों की कामनावाला होता हुआ **गाः अभि**=इन ज्ञानवाणियों की ओर गतिवाला होता है। सोमरक्षण से ही बुद्धि की तीव्रता होकर हमारी ज्ञान की रुचि बढ़ती है।

भावार्थ—सोम रोगकृमि व काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश करता है और हमें ज्ञान की रुचिवाला बनाता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अद्रेः अन्तः कूचित् ऊर्वे सतीः गाः विवेद

एषा ययौ परमादन्तरद्रेः कूचित्सतीरूर्वे गा विवेद।
दिवो न विद्युत्स्तनयन्त्यभ्रैः सोमस्य ते पवत इन्द्र धारा॥ ८॥

एषा=यह **सोमस्य धारा**=सोम की धारा **परमात्**=उत्कृष्ट मार्ग से **ययौ**=गतिवाली होती है। दक्षिणायन के स्थान में उत्तरायण से जाना है यह सोमधारा की परमगति है। इस उत्कृष्ट मार्ग से जाती हुई यह सोमधारा **अद्रेः अन्तः**=अविद्यापर्वत के अन्दर **कूचित्**=कहीं **ऊर्वे**=बाड़े में, विषयबन्धन में **सतीः**=होती हुई, फँसी हुई **गाः**=इन इन्द्रियों को यह सोमधारा कैद से मुक्त करती है। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **न**=जैसे **दिवः**=द्युलोक से **अभ्रैः**=बादलों के साथ **स्तनयन्ति**=शब्द करती हुई **विद्युत्**=विद्युत् प्राप्त होती है, उसी प्रकार **ते**=तेरी यह सोमधारा भी प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती हुई प्राप्त होती है। सोमरक्षण से प्रभु की ओर झुकाव होता ही है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम इन्द्रियों को विषय-बन्धन से मुक्त करता है। सोमरक्षण के होने पर प्रभुस्तवन की प्रवृत्ति होती है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञानवृद्धि व प्रेरणा का

उत स्म राशिं परि यासि गोनामिन्द्रेण सोम सरथं पुनानः।
पूर्वीरिषो बृहतीर्जीरदानो शिक्षा शचीवस्तव ता उपष्टुत्॥ ९॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **इन्द्रेण सरथम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के द्वारा समानरथ में, अर्थात् अपने ही शरीररथ में **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **गोनाम् राशिम्**=वेदवाणियों के समूह को **उत**

स्म=(निश्चय से) अवश्य **परियासि**=प्राप्त होता है। जब सोम शरीर में सुरक्षित होता है, तो बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान प्राप्त होता है। हे **शचीवः**=शक्तिसंपन्न सोम! **उपष्टुत्**=स्तुति करनेवाला, **जीरदानो**=शीघ्रता से सब बुराइयों का छिन्न करनेवाला (द्राप् लावने) तू **तव**=तेरी **ताः**=उन **बृहतीः**=वृद्धि की कारणभूत **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **शिक्ष**=प्राप्त करा। हम सोमरक्षण से प्रभुस्तवन की ओर झुकते हुए बुराइयों को छिन्न-भिन्न करके हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनते हैं। ये प्रेरणाएं हमारी उन्नति का कारण बनती हैं और हमारा पालन व पूरण करती हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है और हमें पवित्र हृदय बनाकर प्रभु प्रेरणा के सुनने के योग्य बनाता है।

उशना ऋषि का ही अगला सूक्त है—

[८८] अष्टाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**सतःपंक्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

मदाय-युज्याय

अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि।
त्वं ह यं चकृषे त्वं ववृष इन्दुं मदाय युज्याय सोमम्॥ १॥

हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अयं सोमः**=यह सोम **तुभ्यं सुन्वे**=तेरे लिये उत्पन्न किया जाता है, **तुभ्यं पवते**=तेरे लिये ही यह पवित्रता को करनेवाला होता है। **त्वम्**=तू **अस्य पाहि**=इसका रक्षण कर। **त्वं**=तू **ह**=निश्चय से **यं इन्दुम्**=जिस सोम को **चकृषे**=उत्पन्न करता है और जिस **सोमम्**=सोम को **ववृषे**=तू वृत करता है (वृ) अथवा शरीर में सिक्त करता है (वृष्) वह सोम तेरे **मदाय**=उल्लास के लिये होता है और **युज्याय**=प्रभु के साथ मेल के लिये होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष ही सोम का रक्षण कर पाता है। रक्षित सोम उसे उल्लासयुक्त करता है और प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वसुओं की प्राप्ति के लिये

स ईं रथो न भुरिषाळयोजि महः पुरूणि सातये वसूनि।
आदीं विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्षाता वन ऊर्ध्वा नवन्त॥ २॥

सः=वह **ईम्**=निश्चय से **भूरिषाट्**=बहुत अधिक भार को सहनेवाले **रथः न**=रथ के समान **अयोजि**=शरीर में युक्त किया जाता है। यह **महः**=महान् सोम **पुरूणि**=पालक व पूरक **वसूनि**=धनों को **सातये**=देने के लिये होता है। शरीर के अन्नमय आदि सब कोशों को यही भरनेवाला होता है। **आत् ईम्**=इस सोम के शरीररथ में संयुक्त होने पर ही **विश्वा**=सब **नहुष्याणि**=मानवहित की बातें **जाता**=प्रादुर्भूत होती हैं। ये सोम **स्वर्षाता**=प्रकाश की प्राप्ति के निमित्त **वने**=उपासक में **ऊर्ध्वा नवन्त**=उत्कृष्ट गतिवाले होते हैं। (वन् संभक्तौ) उपासना के द्वारा सोमकणों की ऊर्ध्वगति होती है और ऊर्ध्वगतिवाले होकर ये सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं और प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम वसुओं (शरीरहित धनों) की प्राप्ति के लिये होते हैं और प्रकाश की प्राप्ति का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इष्टयामा

वायुर्न यो नियुत्वाँ इष्टयामा नासत्येव हव आ शंभविष्ठः।
विश्ववारो द्रविणोदाइव त्मन्पूषेव धीजवनोऽसि सोम॥ ३॥

यः=जो सोम **वायुः न**=निरन्तर चलनेवाली वायु के समान **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला है और **इष्टयामा**=लक्ष्य तक पहुँचानेवाला है, वह सोम **नासत्या इव**=प्राणापान की तरह **हवे**=पुकारने पर **आ शम्भविष्ठः**=शरीर में समन्तात् शान्ति को उत्पन्न करनेवाला है। शरीर में सुरक्षित सोम रोगादि को विनष्ट करके शान्ति को उत्पन्न करनेवाला है। **द्रविणोदाः इव**=धनों के देनेवाले की तरह **त्मन्**=अपने अन्दर **विश्ववारः**=सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है। सोम सुरक्षित होकर शरीर में सब कोशों को वरणीय धनों से परिपूर्ण करता है। हे सोम! तू **पूषा इव**=सबके पोषक इस सूर्य की तरह **धीजवनः असि**=कर्मों को प्रेरित करनेवाला है (धी=कर्म) जैसे सूर्य सब को कर्मों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है, उसी प्रकार यह सोम हमें स्फूर्तिमय बनाता है।

भावार्थ—सोम इष्ट लक्ष्य स्थान पर हमें पहुँचाता है, रोगादि को शान्त करता है, सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराता है और स्फूर्ति को देकर कर्मों में प्रेरित करता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

महाकर्माणि चक्रिः दस्योः हन्ता

इन्द्रो न यो महा कर्माणि चक्रिर्हन्ता वृत्राणामसि सोम पूर्भित्।
पैद्वो न हि त्वमहिनाम्नां हन्ता विश्वस्यासि सोम दस्योः॥ ४॥

इन्द्रः न=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभु की तरह **यः**=जो तू **महाकर्माणि**=महान् कर्मों को **चक्रिः**=करनेवाला है वह तू **वृत्राणाम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं का **हन्ता**=विनाश करनेवाला है। हे सोम! तू **पूर्भित् असि**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला है। 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों की पुरियों का विदारण करके तू हमें सशक्त शरीरवाला, निर्मल हृदयवाला तथा परिशुद्ध बुद्धिवाला बनाता है। **पैद्वः न**=निरन्तर गतिशील अश्व की तरह हे सोम! **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **आहेनाम्नाम्**=अहि नामवाले शत्रुओं का **हन्ता असि**=विनाशक है। इन अहि (वृत्र) नाम का ही नहीं, अपितु **विश्वस्य दस्योः**=सब विनाशक शत्रुओं का तू हन्ता असि=नाश करनेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें प्रभु की तरह महान् कार्यों को करनेवाला बनाता है, और वासनाओं को नष्ट करता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वासना विनाश व प्रकाश

अग्निर्न यो वन आ सृज्यमानो वृथा पाजांसि कृणुते नदीषु।
जनो न युध्वा महत उपब्दिरियर्ति सोमः पवमान ऊर्मिम्॥ ५॥

यः=जो सोम **वने**=वन में **आसृज्यमानः**=उत्पन्न किये जाते हुए **अग्नि न**=अग्नि की तरह **वृथा**=अनायास ही **नदीषु**=स्तोताओं में **पाजांसि**=बलों को **कृणुते**=करता है। अग्नि जैसे उस

वन में सब झाड़ी-झंकाड़ों को भस्म कर देता है उसी प्रकार यह सोम इन स्तोताओं के जीवन में सब वासनाओं व रोगों को भस्म करनेवाला होता है। **युध्वा**=योद्धा **जनः न**=मनुष्य के समान यह सोम **महतः उपब्दिः**=महान् शत्रुओं को भी रुलानेवाला होता है (शब्दयिता सा०) इस प्रकार काम-क्रोध आदि शत्रुओं को समाप्त करके ये **पवमानः**=पवित्र करनेवाला **सोमः**=सोम **ऊर्मिम्**=प्रकाश की किरणों को **इयर्ति**=प्रेरित करता है। (ऊर्मि light)।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर वासना वन का विनाश करके जीवन को प्रकाशमय बनाता है।

ऋषिः-**उशनाः**॥ देवता-**पवमानः सोमः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

दिव्य कोश

एते सोमा अति वाराण्यव्या दिव्या न कोशासो अभ्रवर्षाः।
वृथा समुद्रं सिन्धवो न नीचीः सुतासो अभि कलशाँ असृग्रन्॥ ६॥

एते सोमाः=ये सोम **अभ्रवर्षाः**=मेघों से वृष्ट होनेवाले **दिव्याः कोशासः**=दिव्य कोशों के समान हैं। बादलों से वृष्ट होनेवाले जलों के समान अतिशयेन हितकर हैं। ये **अव्या**=रक्षण सम्बन्धी **वाराणि**=रोगनिवारण आदि कर्मों को **अति**=अतिशयेन करते हैं (अति कुर्षन्ति, उपसर्गस्तु तैर्योग्य क्रियाध्याहारः) । मेघबल के समान ये सोम दिव्य सम्पत्ति हैं। ये हमें नीरोग निर्मल व तीव्र बुद्धि बनानेवाले हैं। **न**=जैसे **नीचीः**=निम्न प्रवाहवाली **सिन्धवः**=नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र को **वृथा**=अनायास प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये सोम **कलशान् अभि**=सोलह कलाओं के आधारभूत इन शरीरों को लक्ष्य करके **असृग्रन्**=उत्पन्न किये जाते हैं। ये शरीर में प्रविष्ट होकर उसे सोलह कला सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—सोम दिव्य कोश हैं। ये शरीरों को सोलह कला सम्पन्न बनाते हैं।

ऋषिः-**उशनाः**॥ देवता-**पवमानः सोमः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

शुष्मी-अनभिशस्ता-सुमति-पृतनाषाद्

शुष्मी शर्धो न मारुतं पवस्वानभिशस्ता दिव्या यथा विट्।
आपो न मक्षू सुमतिर्भवा नः सहस्राप्साः पृतनाषाण्न यज्ञः॥ ७॥

हे सोम! **शुष्मी**=शत्रु शोषक बलवाला तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। तू **मारुतं शर्धः न**=प्राणों के बल के समान हमें प्राप्त हो। यह सोम क्या है? यह तो प्राणों का बल है। यह सोम तो **अनभिशस्ता**=आनन्दित **दिव्या विट् यथा**=दिव्य प्रजा के समान है। वस्तुतः सोम ही प्राणों के बल को प्राप्त कराता है और यह सोम ही हमारे जीवन को आनन्दित व दिव्य बनाता है। **आपो न**=जलों के समान तू **नः**=हमारे लिये **सुमतिः भव**=कल्याणी मतिवाला हो। जल शरीर के सब रोगों को दूर करके स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का कारण बनते हैं, इसी प्रकार सोम तीव्र बुद्धि के जनक हैं, वस्तुतः ये ही ज्ञानाग्नि के ईंधन हैं। **सहस्राप्साः**=यह सोम (सहस्) आनन्दमय रूप को प्राप्त करानेवाला है। **पृतनाषाण् न**=शत्रु सैन्य के पराभव करनेवाले के समान यह **यज्ञः**=संगतिकरण योग्य है। सोम का हम शरीर में संगतिकरण करेंगे, तो यह हमारे सब शत्रुओं का पराभव करनेवाला होगा, हमें नीरोग-निर्मल व तीव्र बुद्धिवाला बनायेगा।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें बलवान् बनाता है, हमारे जीवन को आनन्दित करता है, सुमति को देता है और हमारे रोग वासना रूप शत्रुओं का पराभव करता है।

ऋषिः—उशनाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'ज्ञानशक्ति पवित्रता व उन्नति' का साधक सोम

राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि बृहद्गभीरं तव सोम धाम।
शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रो दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम॥ ८॥

हे सोम! **नु**=अब **ते**=तेरे **व्रतानि**=कर्म **राज्ञः वरुणस्य**=राजा वरुण के हैं। वरुण 'प्रचेताः' है, तू भी हमें प्रकृष्ट चेतनावाला बनाता है। यह वरुण 'पाशी' है, तू भी हमारे शत्रुओं को जकड़नेवाला है। हे सोम! **तव धाम**=तेरा तेज **बृहद् गभीरम्**=वृद्धि का कारणभूत व गम्भीर है। सोम की शक्ति शरीर में खूब गहराई तक प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण शरीर को स्वस्थ बनाती है। हे सोम! **त्वं**=तू **प्रियः मित्रः न**=प्रिय मित्र के समान **शुचिः असि**=पवित्र है। हमारे जीवन को सोम पवित्र बनाता है, इस प्रकार यह हमारा हितचिंतक मित्र है। हे सोम! तू **अर्यमा इव**=जितेन्द्रिय पुरुष की तरह **दक्षाय्यः**=(दक्ष to grow) शत्रुओं का हिंसक है और इस प्रकार हमें उन्नत करनेवाला है।

भावार्थ—सोम 'ज्ञान-शक्ति-पवित्रता व शत्रु संहार शक्ति' को देनेवाला है। सम्पूर्ण उन्नति का साधक यह सोम ही है।

अगला सूक्त भी 'उशना' ऋषि का ही है—

[८९] एकोननवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—उशनाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण के साधन 'स्वाध्याय व ध्यान'

प्रो स्य वह्निः पथ्याभिरस्यान्दिवो न वृष्टिः पवमानो अक्षाः।
सहस्रधारो असदन्न्यस्मे मातुरुपस्थे वन आ च सोमः॥ १॥

स्यः=वह **वह्निः**=(वह प्रापणे) हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला सोम **पथ्याभिः**=हितकर यज्ञमार्गों से **प्र उ अस्यान्**=(प्रस्यन्दते) गतिवाला होता है। सोमरक्षण से हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है और हम आगे और आगे बढ़ते हुए प्रभु रूप लक्ष्य स्थान पर पहुँचनेवाले होते हैं। यह **पवमानः**=पवित्र करनेवाला सोम **दिवः वृष्टिः न**=आकाश से होनेवाली वृष्टि के समान है। यह **अक्षाः**=शरीर में व्याप्त होता है और वृष्टि के समान शरीर को शुद्ध कर डालता है। **सहस्रधारः**=हजारों प्रकार से धारण करता हुआ यह **अस्मे**=हमारे में **न्यसदत्**=निषण्ण होता है। यह सोम **मातु उपस्थे**=वेदमाता की गोद में, ज्ञान की उपासना में और **वने**=उपासना करनेवाले में **आ (सीदति)**=सर्वथा स्थित होता है। अर्थात् सोमरक्षण का साधन यही है कि हम ज्ञान प्राप्ति में लगे रहें और प्रभु की उपासना की वृत्तिवाले बनें।

भावार्थ—स्वाध्याय व ध्यान से सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचाता है, यह हमारे जीवनों को पवित्र करता है।

ऋषिः—उशनाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋतस्य नावम् अरुहत्

राजा सिन्धूनामवसिष्ट वास ऋतस्य नावमारुहद्रजिष्ठाम्।

अप्सु द्रप्सो वावृधे श्येनजूतो दुह ईं पिता दुह ईं पितुर्जाम्॥ २॥

द्रप्सः (दृपी हर्षणे:)=आनन्द का कारणभूत यह सोम **सिन्धूनां राजा**=ज्ञान प्रवाहों का दीप्त करनेवाला है, **वासः अवसिष**=ज्ञानवस्त्र का धारण करानेवाला है। यह सोम ही **रजिष्ठाम्** ऋजुतम=सरलता से युक्त **ऋतस्य नावम्**=यज्ञ की नाव का **अरुहत्**=आरोहण करता है। यह हमारे जीवन को सत्यमय सरल बनाता हुआ यज्ञिय बनाता है। यह सोम **अप्सु**=कर्मों में **वावृधे**=वृद्धि को प्राप्त करता है, अर्थात् कर्मशीलता इसके रक्षण का साधन बनता है। **श्येनजूतः**=शंसनीय गतिवाले से यह शरीर में प्रेरित होता है। अर्थात् उत्तम कर्मों में लगे रहना ही शरीर में सोम को व्याप्त करने का साधन है। ईम्=इस सोम को **पिता**=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला व्यक्ति **ईम्**=ही **दुहे**=अपने में प्रपूरित करता है। **पितुः जाम्**=सर्वरक्षक पिता प्रभु के प्रादुर्भाव करनेवाले, प्रभु साक्षात्कार के कारणभूत इस सोम को पिता=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला ही ईम्=निश्चय से दुहे=अपने में प्रपूरित करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें ज्ञानदीप्ति को प्राप्त कराता है। हमें यज्ञिय वृत्तिवाला बनाता है। इसके रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम कर्मों में लगे रहकर वासनाओं से अपने को आक्रान्त न होने दें।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'सिंहं' सोम

सिंहं नसन्त मध्वो अयासं हरिमरुषं दिवो अस्य पतिम्।
शूरो युत्सु प्रथमः पृच्छते गा अस्य चक्षसा परि पात्युक्षा॥ ३॥

सिंहम्=शत्रुओं के नाशक, **मध्वः अयासम्**=माधुर्य के प्रेरक, **हरिम्**=मलों का परिहार करनेवाले, **अरुषम्**=(अ-रुष) क्रोधशून्य, **अस्य दिवः**=इस ज्ञान के **पतिम्**=रक्षक सोम को **नसन्त**=शरीर में व्याप्त करते हैं। यह सोम **युत्सु**=संग्रामों में प्रथमः **शूरः**=मुख्य वीर योद्धा हो। **गाः पृच्छते**=यह ज्ञान की वाणियों को जानना चाहता है। सोमरक्षण से बुद्धि की तीव्रता होकर वेदवाणियों के तत्त्व को हम समझने लगते हैं। **अस्य चक्षसा**=इस सोमरक्षण से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा ही **उक्षा**=सोम का अपने अन्दर सेचन करनेवाला पुरुष **परिपाति**=अपना सर्वतः रक्षण करता है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन को नीरोग वासनाशून्य व दीप्त बनाता है। यह सर्वमहान् योद्धा है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्वसारः-जामयः-सनाभयः

मधुपृष्ठं घोरमयासमश्वं रथे युञ्जन्त्युरुचक्र ऋष्वम्।
स्वसार ईं जामयो मर्जयन्ति सनाभयो वाजिनमूर्जयन्ति॥ ४॥

स्वसारः (स्व+सृ)=आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले व्यक्ति **उरुचक्रे**=विशाल चक्रवाले **रथे**=इस शरीररथ में, अर्थात् खूब क्रियाशील इस शरीररथ में, इस सोम को **युञ्जन्ति**=युक्त करते हैं, सोम को शरीर में ही सुरक्षित करते हैं। उस सोम को, जो **मधुपृष्ठम्**=माधुर्य का आधार है, **घोरम्**=शत्रुओं के लिये, रोगों व वासनाओं के लिये भयंकर है, **अयासम्**=हमें निरन्तर क्रियाओं में प्रेरित करनेवाला है, **अश्वं**=कार्यमार्गों को शीघ्रता से व्यापनेवाला है और **ऋष्वं**=महान् व दर्शनीय है। इस सोम को **ईम्**=निश्चय से **जामयः**=अपने में सद्गुणों का विकास करनेवाले व्यक्ति

मर्जयन्ति=शुद्ध करते हैं। **सनाभयः**=(सह, नह बन्धने) अपने को प्रभु के साथ जोड़नेवाले व 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' यज्ञशील व्यक्ति **वाजिनम्**=इस शक्तिशाली सोम को **ऊर्जयन्ति**=अपने में बल व प्राणशक्ति का संचार करनेवाला करते हैं। सोमरक्षण से अपने जीवन को बलवान् बनाते हैं।

भावार्थ—आत्मतत्त्व की ओर चलना सद्गुणों को अपने में उत्पन्न करना व यज्ञशील बनना ही सोमरक्षण का साधन है, सुरक्षित सोम हमें सबल बनाता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सोमरक्षण व वेदज्ञान

चतस्र ईं घृतदुहः सचन्ते समाने अन्तर्धरुणे निषत्ताः।
ता ईमर्षन्ति नमसा पुनानास्ता ईं विश्वतः परि षन्ति पूर्वीः॥ ५॥

प्रभु सब के समान रूप से धारण करनेवाले हैं, सो वे 'समान धरुण' कहे गये हैं। वेदवाणियों का आधार भी वे प्रभु हैं। उस **समाने धरुणे अन्तः**=उस सब के आधारभूत प्रभु में **निषत्ताः**=स्थित **चतस्र**=चारों **घृतदुहः**=ज्ञानदीप्ति का दोहन करनेवाली वेदवाणियाँ **ईम्**=निश्चय से **सचन्ते**=इस सोम के साथ समवेत होती हैं। अर्थात् सोमरक्षण के होने पर ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं। **ताः**=वे वेदवाणियाँ **ईम्**=निश्चय से **नमसा**=नम्रता से **पुनानाः**=पवित्र करती हुई **अर्षन्ति**=प्राप्त होती हैं। सोमरक्षण के होने पर वेदवाणियाँ प्राप्त होती हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ हमें नम्र बनाती हैं और हमें पवित्र करती हैं। **ताः**=वे **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में ही जानेवाली अथवा हमारा पालन व पूरण करनेवाली वेदवाणियाँ **ईम्**=निश्चय से **विश्वतः**=सब प्रकार से **परिषन्ति**=(To conquer) इसके जीवन में वासनाओं को परिभूत करती हैं और ये वेदवाणियाँ ही (To guide, govern) इसके जीवन का शासन करती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारे जीवन में वेदवाणियाँ उपस्थित होती हैं, उनके अनुसार ही हमारा जीवन चलता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'मस्तिष्क शरीर व इन्द्रियों' का धारक सोम

विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य।
असत्त उत्सो गृणते नियुत्वान्मध्वो अंशुः पवत इन्द्रियाय॥ ६॥

यह सोम **दिवः विष्टम्भः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक का विशेषरूप से धारण करनेवाला है। **पृथिव्याः धरुणः**=शरीर रूप पृथिवी का धारक है। मस्तिष्क व शरीर दोनों का आधार पर सोम ही है। **विश्वः क्षितयः**=सब भूमियाँ, अर्थात् 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' सभी कोश **उत**=निश्चय से **अस्य हस्ते**=इसी के हाथ में हैं। सोम ही इनको उस-उस ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला है। **उत्सः** (उत्सरभि सर्वे कामाः अस्मात् सा०)=सब वरणीय वस्तुओं का स्रोतभूत यह सोम **गृणते**=स्तुति करनेवाले **ते**=तेरे लिये **नियत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला **असत्**=होता है। सोम के द्वारा ही ये इन्द्रियाश्व शक्तिशाली बनते हैं। यह **मध्वः अंशुः**=माधुर्ययुक्त प्रकाश की किरण ही है। सोम जीवन को मधुर व प्रकाशमय बनाता है। यह **इन्द्रियाय पवते**=(इन्द्रियं वीर्यं) शक्ति के लिये प्राप्त होता है। सब अंग-प्रत्यंगों को यह शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम मस्तिष्क शरीर व इन्द्रियों का धारण करता है।

ऋषिः—**उशनाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देववीति का साधक सोम

वन्वन्नवातो अभि देववीतिमिन्द्राय सोम वृत्रहा पवस्व।
शग्धि महः पुरुश्चन्द्रस्य रायः सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ ७॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **अवातः**=शरीर से बाहिर न प्रेरित हुआ-हुआ और **वन्वन्**=सब रोगकृमियों का (To hurt, injure) संहार करता हुआ **देववीतिम् अभि**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की ओर चलता हुआ **वृत्रहा**=सब वासनाओं का विनष्ट करनेवाला तू **इन्द्राय पवस्व**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये प्राप्त हो तू **महः**=महान् **पुरुश्चन्द्रस्य**=बहुतों के आह्लादक **रायः**=धन का **शग्धि**=हमारे लिये प्रदान कर। तेरे रक्षण के द्वारा हम ऐसे धन को प्राप्त करनेवाले बनें। इस जीवन में हम **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य के **पतयः**=रक्षक व स्वामी **स्याम**=हों।

भावार्थ—सोम रक्षित होने पर हमें दिव्यगुणों को प्राप्त कराता है, उत्तम धन की प्राप्ति करानेवाला होता है और हमें शक्तिशाली बनाता है।

दिव्यगुणों, उत्तम धनों व वीर्य को प्राप्त करके हम उत्तम जीवनवाले 'वसिष्ठ' बनते हैं। वसिष्ठ सोम का शंसन करते हुए कहते हैं—

[९०] नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वाज व वसु' का प्रदाता सोम

प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिष्यन्नयासीत्।
इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः॥ १॥

प्र हिन्वानः=प्राणसाधना आदि के द्वारा प्रकर्षेण शरीर में प्रेरित किया जाता हुआ यह सोम **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का **जनिता**=प्रादुर्भाव करनेवाला है। मस्तिष्क को यह दीप्त बनाता है और शरीर को दृढ़ करता है। **रथः न**=जीवनयात्रा के लिये यह रथ के समान है। **वाजं सनिष्यन्**=शक्ति को देता हुआ यह **अयासीत्**=हमें प्राप्त होता है। **इन्द्रं गच्छन्**=जितेन्द्रिय पुरुष को प्राप्त होता हुआ **आयुधा संशिशानः**='इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप जीवन संग्राम के अस्त्रों को तीव्र करता हुआ यह सोम हमारे लिये **विश्वा वसु**=सब धनों को **हस्तयोः आदधानः**=हाथों में धारण किये हुए है। सोमरक्षण से ही अन्नमय आदि सब कोशों का धान प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोम सब शक्तियों व वसुओं का प्रदाता है।

ऋषिः—**उशनाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'त्रिपृष्ठ-वृषा-वयोधा' सोम

अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामाङ्गूषाणामवावशन्त वाणीः।
वना वसानो वरुणो न सिन्धून्वि रत्नधा दयते वार्याणि॥ २॥

आङ्गूषाणाम्=(आघोजतां सा०) स्तोताओं की **वाणीः**=वाणियाँ **त्रिपृष्ठम्**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों के आधारभूत, **वृषणम्**=शक्तिशाली, **वयोधाम्**=उत्कृष्ट आयुष्य को धारण करनेवाले सोम का अभिलक्ष्य करके **अवावशन्त** (शब्दायन्ते सा०)=स्तवन करती हैं। शरीर में सब महिमा वस्तुतः इस सोम की ही है। **वना वसानः**=ज्ञान की रश्मियों का आच्छादित करता हुआ,

ज्ञानरश्मियों के वस्त्रों का ओढ़ाता हुआ **वरुणः न**=सब द्वेषों के निवारण करनेवाले के समान यह सोम **सिन्धून्** (वसानः)=ज्ञान समुद्रों को धारण कराता हुआ **रत्नधाः**=सब रमणीय वस्तुओं का धारण करनेवाला है। यह सोम **वार्याणि विदयते**=सब वरणीय वस्तुओं को हमारे लिये देता है।

भावार्थ—शरीर, मन व बुद्धि का धारक यह सोम हमें शक्तिशाली व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाता है। यह ज्ञानरश्मियों को धारण कराता हुआ सब रमणीय वस्तुओं को देता है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'अषाढः साह्वान्' सोमः

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ्जेता पवस्व सनिता धनानि।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाळ्हः साह्वान्पृतनासु शत्रून्॥ ३॥

धनानि सनिता=सब अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्यों का दाता सोम! तू **पवस्व**=हमें प्राप्त है। तू **शूरग्रामः**=शूर समूहोंवाला हो, 'पञ्चप्राण, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ' आदि सब समूह इस सोम के द्वारा शूर बनते हैं। **सर्ववीरः**=सब को वीर बनानेवाला यह सोम है। **सहावान्**=बलवाला **जेता**=सदा विजयी है। **तिग्मायुधः**='इन्द्रियों, मन व बुद्धि' रूप आयुधों को तेज बनानेवाला है। **क्षिप्रधन्वा**=शत्रुओं को सुदूर प्रेरित करनेवाले 'प्रणव' रूप धनुषवाला है। सोमरक्षक पुरुष प्रभु को ही अपना धनुष बनाता है और काम-क्रोध आदि शत्रुओं को परे फेंकता है। **समत्सु**=संग्रामों में **अषाढः**=शत्रुओं से पराभूत नहीं होता, **प्रतनासु**=शत्रु सैन्यों में **शत्रून्**=शत्रुओं को **साह्वान्**=पराभूत करनेवाला है।

भावार्थ—सोम हमें वीर बनाता है। सब शत्रुओं का पराभव करता हुआ यह सदा अपराजित है।

ऋषिः—**उशनाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

समीचीने पुरन्धी

उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आ पवस्वा पुरन्धी।
अपः सिषासन्नुषसः स्वर्गाः सं चिक्रदो महो अस्मभ्यं वाजान्॥ ४॥

हे सोम! **उरुगव्यूतिः**=विशाल मार्गवाला, अर्थात् हमें विशालता की ओर ले चलनेवाला तू **अभयानि कृण्वन्**=निर्भयता को करता हुआ **समीचीने**=साथ-साथ गतिवाले **पुरन्धी**=उत्तम धारक द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **आपवस्व**=प्राप्त कराता। सोमरक्षण द्वारा हमारा मस्तिष्क व शरीर उत्तम बने। ये दोनों साथ-साथ विकसित शक्तिवाले हों। **अपः**=उत्तम कर्मों के **सिषासन्**=सेवन की इच्छावाला होता हुआ तू **उषसः**=(उष दाहे) दोष दहनों को, **स्वः**=प्रकाश को **गाः**=ज्ञान की वाणियों को और **महः वाजान्**=महनीय बलों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **संचिक्रदः**=आहूत करे, इन बातों को हमारे लिये प्राप्त करानेवाला हो। सोमरक्षण से हम उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, हमारे दोष दग्ध होते हैं, प्रकाश प्राप्त होता है, ज्ञान की वाणियों व शक्तियों का लाभ होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मस्तिष्क व शरीर का साथ-साथ विकास होता है। उत्तम कर्म ज्ञान व शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—उशनाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वदेवमय जीवन

मत्सि सोम वरुणं मत्सि मित्रं मत्सीन्द्रमिन्दो पवमान विष्णुम्।
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान्मत्सि महामिन्द्रमिन्दो मदाय ॥ ५ ॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **वरुणम्**=द्वेष निवारण करनेवाले को **मत्सि**=आनन्दित कर। सोमरक्षण से ही मनुष्य द्वेष की वृत्ति से ऊपर उठता है और आनन्दित होता है। **मित्रं मत्सि**=तू सब के साथ स्नेह करनेवाले को आनन्दित करता है। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले **इन्दो**=सोम! तू **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय शक्तिशाली को व **विष्णुम्**=व्यापक-उदार-मनोवृत्तिवाले को **मत्सि**=आनन्दित करता है। तू **मारुतं शर्धः**=प्राणों के बल को **मत्सि**=आनन्दित करता है। **देवान्**=सब देवों को **मत्सि**=आनन्दित करता है। सुरक्षित सोम प्राणों के बल व दिव्यगुणों की वृद्धि का कारण बनता है। हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम **महां इन्द्रम्**=इस पूजा की वृत्तिवाले जितेन्द्रिय पुरुष को तू **मदाय**=आनन्दित करने के लिये होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से जीवन सर्वदेवमय बनता है।

ऋषिः—उशनाः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राजा इव

एवा राजेव क्रतुमाँ अमेन विश्वा घनिघ्नद्दुरिता पवस्व।
इन्दो सूक्ताय वचसे वयो धा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

हे सोम! **एवा**=(इ गतौ) अपनी गतिशीलता से **राजा इव**=राजा की तरह **क्रतुमान्**=शक्ति व कर्मोंवाला तू **अमेन**=अपने बल से **विश्वा दुरिता**=सब दुरितों को, पापों को **घनिघ्नत्**=विनष्ट करता हुआ **पवस्व**=प्राप्त हो। सोम शरीर के अंग-प्रत्यंग में गतिवाला होकर उन सब अंगों को दुरित शून्य करके हमारे जीवन को सुन्दर बनाता है। हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू हमें **सूक्ताय वचसे**=मधुर भाषण के लिये **वयः धाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करानेवाला हो। सोमरक्षण से मनुष्य सदा शुभ शब्दों को बोलने की वृत्तिवाला बनता है, यह आपे को खोकर नहीं बोलने लगता। हे सोमकणो! **यूयम्**=तुम **स्वस्तिभिः**=उत्तम स्थितियों के द्वारा **सदा**=हमेशा **न पात**=हमारा रक्षण करो।

भावार्थ—सोम हमारे जीवन को इस प्रकार परिशुद्ध बनाता है, जैसे कि एक राजा राष्ट्र को।

यह परिशुद्ध जीवनवाला व्यक्ति तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी बनता है। यह 'कश्यप' नामवाला होता है— पश्यक=द्रष्टा। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

[९१] एकनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सदनानि अच्छ (ब्रह्मलोक की ओर)

असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमो मनीषी।
दश स्वसारो अधि सानो अव्येऽजन्ति वह्निं सदनान्यच्छ ॥ १ ॥

वक्वा=यह स्तुति करनेवाला हमें, स्तुति की वृत्तिवाला बनाता है। **यथा रथ्ये आजौ**=जैसे उत्तम रथ के योग्य संग्राम में अश्व उसी प्रकार **असर्जि**=उत्पन्न किया जाता है। सोम की जीवन

संग्राम में विजय का एक मात्र आधार है। यह **धिया मनोता**=बुद्धि से बड़ा मनन करनेवाला और अतएव **प्रथमः**=सर्वमुख्य **मनीषी**=बुद्धिमान् होता है। **दश**=दस **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली इन्द्रियाँ **अव्ये**=अपना रक्षण करनेवालों में उत्तम पुरुष में **सदनानि अच्छ वह्निम्**=इस मूलगृहों की ओर ब्रह्मलोक की ओर ले जानेवाले सोम को **अधि सानो**=शिखर पर मस्तिष्क रूप द्युलोक की ओर **अजन्ति**=प्रेरित करती हैं। जब सोम की गति मस्तिष्क रूप द्युलोक की ओर होती है तभी यह हमें ब्रह्मलोक रूप की ओर ले जाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें बुद्धि सम्पन्न बनाता है। जब सोम की गति मस्तिष्क रूप द्युलोक की ओर होती है, तो यह हमें ब्रह्मलोक को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दिव्यजन का प्रजनन

वीतो जनस्य दिव्यस्य कव्यैरधि सुवानो नहुष्येभिरिन्दुः।
प्र यो नृभिरमृतो मर्त्येभिर्मर्मृजानोऽविभिर्गोभिरद्भिः॥ २॥

दिव्यस्य जनस्य=दिव्यगुण युक्त मनुष्यों के **वीती**=(प्रजनन) विकास के लिये **कव्यैः**=स्तुतिशील **नहुष्येभिः**=मनुष्यों से **अधि सुवानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ यह **इन्दुः**=सोम है। प्रभु का सवन करनेवाले लोग इस सोम को अपने अन्दर उत्पन्न करते हैं, और इसके रक्षण के द्वारा वे एक 'दिव्यजन' का विकास करते हैं, अर्थात् अपने जीवन को दिव्य बना पाते हैं। **यः**=जो सोम **मर्त्येभिः**=मनुष्यों से **प्र मर्मृजानः**=खूब शुद्ध किया जाता हुआ, वासना के उबाल से रहित किया हुआ **अमृतः**=अमृतत्त्व का कारण बनता है। यह सोम **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले पुरुषों से तथा **अविभिः**=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले पुरुषों से **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा तथा **अद्भिः**=कर्मों के द्वारा (अप=कर्म) शुद्ध किया जाता है। सोम को रक्षित करने के लिये आवश्यक है कि हम प्रगतिशील बनें (नृभिः), वासनाओं से अपना रक्षण करें (अविभिः), ज्ञान की वाणियों को अपनायें (गोभिः) सदा उत्तम कर्मों में लगे रहें (अद्भिः)।

भावार्थ—स्तोता लोग सोम का शरीर में रक्षण करके जीवन को दिव्य बनाते हैं। इसके रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम स्वाध्याय व यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'ऋक्वा, वचोवित्, सूरः' सोमः

वृषा वृष्णे रोरुवदंशुरस्मै पवमानो रुशदीर्ते पयो गोः।
सहस्रमृक्वा पथिभिर्वचोविदध्वस्मभिः सूरो अण्वं वि याति॥ ३॥

वृषा=शक्तिशाली **अंशुः**=प्रकाश की किरणों को प्राप्त करानेवाला सोम **वृष्णे**=अपने अन्दर सोम का सेचन करनेवाले के लिये **रोरुवत्**=खूब ही प्रभु का स्तवन करता है, अर्थात् अपने रक्षक को यह प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला बनाता है। **अस्मै**=इस पुरुष के लिये **पवमानः**=यह पवित्र करनेवाला सोम **गोः**=वेदवाणीरूप गौ के **रुशत्**=देदीप्यमान **पयः**=ज्ञानदुग्ध को **ईर्ते**=प्राप्त कराता है। एवं सुरक्षित सोम हृदय में प्रभु स्तवन की वृत्ति को तथा मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति को प्राप्त कराता है। यह **ऋक्वा**=स्तुति करनेवाला सोम **वचोवित्**=ज्ञान वाणियों को जाननेवाला होता है, **सूरः**=यह हमें कर्मों में प्रेरित करता है और **अध्वस्मभिः**=ध्वंस व हिंसन से रहित **सहस्रं पथिभिः**=हजारों मार्गों से **अण्वं वियाति**=उस 'अणोरणीयान्' सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभु की ओर विशेषरूप से जानेवाला

होता है। हिंसनरहित कार्यों में हमें प्रेरित करता हुआ सोम प्रभु की ओर ले जानेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें स्तवन की वृत्तिवाला बनाता है। हमें ज्ञानदीप्त करता है और उत्तम मार्गों से ले चलता हुआ शुभ दर्शन कराता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'रक्षः सदो-विनाश'

रुजा दृळ्हा चिद्रक्षसः सदांसि पुनान इन्द ऊर्णुहि वि वाजान्।
वृश्चोपरिष्टात्तुजता वधेन ये अन्ति दूरादुपनायमेषाम्॥ ४॥

हे **इन्दो**=सोम! **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **रक्षसः**=राक्षसों की, राक्षसीभावों की **दृढाचित्**=बड़ी दृढ़ भी **सदांसि**=नगरियों को आवास स्थानों को **रुजः**=छिन्न-भिन्न कर। काम ने इन्द्रियों में, क्रोध ने मन में तथा लोभ ने बुद्धि में जो किले बनाये हैं, उन्हें तू तोड़नेवाला बन। हे सोम! **वाजान्**=हमारे बलों को **वि ऊर्णुहि**=सम्यक् आच्छादित रख। ये बल शत्रुओं से विनष्ट न कर दिये जायें। **ये**=जो भी शत्रु **उपरिष्टात्**=ऊपर से **ये अन्ति**=जो समीपदेश से **दूरात्**=दूर से हमारे पर आक्रमण करते हैं, उन्हें **वृश्च**=काट डाल। **एषाम्**=इन शत्रुओं के **उपनायम्**=वेता को **तुजतावधेन**=हिंसक आयुध से विनष्ट कर काम-क्रोध आदि शत्रुओं का मुखिया यह काम ही है, इस काम को तू विनष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से सब राक्षसीभावों का विनाश होकर हमारे बलों का रक्षण होता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पुरुकृत् पुरुक्षो!

य प्रत्नवन्नव्यसे विश्ववार सूक्ताय पथः कृणुहि प्राचः।
ये दुष्षहासो वनुषा बृहन्तस्तांस्ते अश्याम पुरुकृत्पुरुक्षो॥ ५॥

हे **विश्ववारः**=सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले सोम! **सः**=वह तू **प्रत्नवत्**=सदा की तरह, पहले की तरह **नव्यसे**=(नु स्तुतौ) उत्तम स्तुति करनेवाले **सूक्ताय**=मधुर शब्दों को बोलनेवाले मेरे लिये **पथः**=मार्गों को **प्राचः कृणुहि**=अग्रगतिवाला कर। मैं तेरे रक्षण से सदा उन्नति के मार्गों पर आगे बढ़नेवाला बनूँ। हे **पुरुकृत्**=पालक व पूरक कर्मों को करनेवाले, **पुरुक्षो**=पालक व पूरक शब्दों (ज्ञानों) वाले सोम! **ये**=जो **ते**=तेरे **दुःषहासः**=शत्रुओं से न सहने योग्य **वनुषा**=शत्रु संहार द्वारा **बृहन्तः**=वृद्धि के कारणभूत अंश है **तान्**=उनको हम **अश्याम**=प्राप्त हों। सोम के अंश व कण हमारे शरीर में सर्वत्र व्याप्त हों, इनके द्वारा हम शत्रुओं का संहार करके मार्ग पर आगे बढ़ें।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ेंगे। इससे शत्रुओं को विनष्ट करके उत्तम कर्मों को करेंगे तथा उत्तम ज्ञान को प्राप्त करेंगे। यह सोम 'पुरुकृत् व पुरुक्षु' तो है ही।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अपः स्वः गाः

एवा पुनानो अपः स्व१र्गा अस्मभ्यं तोका तनयानि भूरि।
शं नः क्षेत्रमुरु ज्योतींषि सोम ज्योङ् नः सूर्यं दृशये रिरीहि॥ ६॥

हे सोम! **एवा**=गतिशीलता के द्वारा **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **अस्मभ्यम्**=हमारे

लिये **अपः**=उत्तम कर्मों को, **स्वः**=प्रकाश को तथा **गाः**=ज्ञान वाणियों को, **तोका**=उत्तम पुत्रों को **तनयानि**=पौत्रों को **भूरि**=खूब ही **रिरीहि**=दे। सोमरक्षण से ही शक्ति के द्वारा क्रियाशीलता व ज्ञान की वाणियों के द्वारा प्रकाश की प्राप्ति का सम्भव होता है। यह सोमरक्षण ही हमें उत्तम सन्तानों की प्राप्ति कराता है। हे सोम! वीर्यशक्ते! **नः**=हमारे लिये **क्षेत्रम्**=इस शरीर रूप क्षेत्र को **शम्**=शान्तिवाला, रोगादि के उपद्रव से शून्य कर। उस **ज्योतींषि**=विशाल ज्योतियों को प्राप्त करा तथा **नः**=हमारे लिये **सूर्यं**=सूर्य को **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **दृशये**=देखने के लिये **रिरीहि**=दे। दीर्घकाल तक हम सूर्य को देखनेवाले बनें, दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'शक्ति ज्ञान, उत्तम सन्तान व दीर्घ जीवन' को देनेवाला होता है।

अगला सूक्त भी 'कश्यप' का ही है—

[९२] द्विनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

श्लोकम्-इन्द्रियम् (आपत्)

परि॑ सु॒वा॒नो हरि॑रं॒शुः प॒वित्रे॒ रथो॒ न स॑र्जि स॒नये॑ हिया॒नः।
आप॒च्छ्लोक॑मिन्द्रि॒यं पू॒यमा॑नः॒ प्रति॑ दे॒वाँ अ॑जुषत॒ प्रयो॑भिः॥ १॥

सुवानः=उत्पन्न किया जाता हुआ तथा **परिहियानः**=शरीर में चारों ओर प्रेरित किया जाता हुआ यह **हरिः**=सर्वदुःखहर्ता **अंशुः**=सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **सनये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **रथः न**=रथ के समान **सर्जि**=उत्पन्न किया जाता है। जैसे रथ युद्ध में विजय का कारण होता है, उसी प्रकार यह सोम शरीर में विजय का साधन बनता है। **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ वासनाओं से मलिन न होता हुआ यह सोम **श्लोकम्**=प्रभुस्तवन को तथा **इन्द्रियम्**=बल को **आपत्**=प्राप्त होता है। शरीर में सुरक्षित होने पर यह हमें प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला तथा बल सम्पन्न बनाता है। यह सोम **प्रयोभिः**=प्रकृष्ट बलों के साथ (प्रयस्) **देवान् प्रति अजुषत**=दिव्य गुणों के प्रति प्रीतिवाला बनाता है। अर्थात् यह सोम हमें प्रयत्नशील व दिव्य वृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम विजय प्राप्ति का साधन होता है। यह हमें प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला शक्तिशाली बनाता है। इस से हम क्रियाशील व दिव्य गुण सम्पन्न बन पाते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ऋषयः सप्त विप्राः

अच्छा॑ नृ॒चक्षा॑ असरत्प॒वित्रे॒ नाम॒ दधा॑नः क॒विर॑स्य॒ योनौ॑।
सीद॒न्होते॑व॒ सद॑ने च॒मूषूपे॑मग्म॒न्नृष॑यः स॒प्त विप्राः॑॥ २॥

नृचक्षाः=मनुष्यों का ध्यान करनेवाला यह सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदयवाले पुरुष में **नाम दधानः**=प्रभु के नाम का धारण करता हुआ **अच्छा असरत्**=उस प्रभु की ओर गतिवाला होता है। **कविः**=यह क्रान्तप्रज्ञ सोम हमें सूक्ष्म तत्त्वदर्शी बनानेवाला सोम **अस्य**=इस शरीर के **योनौ**=उत्पत्ति के कारणभूत प्रभु में **सीदन्**=स्थित होता हुआ, अर्थात् प्रभु का स्मरण करता हुआ **चमूषु**=इन शरीरों में इस प्रकार स्थित होता है, **इव**=जैसे कि **होता**=एक यज्ञकर्ता **पुरुष सदने**=यज्ञगृह में स्थित होता है। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर हमारे जीवन में प्रभुस्तवन व यज्ञों का प्रणयन होता है। उस समय **सप्त**=सात 'दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' रूप सात **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा **विप्रः**=ज्ञानी **ईम्**=निश्चय से **उप अग्मन्**=समीपता से प्राप्त होते हैं। सोमरक्षण से ये ज्ञानेन्द्रियाँ

स्वकर्मक्षय हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बनती हैं। ये सचमुच 'ऋषि व विप्र' बन जाती हैं।

भावार्थ—सोम शरीर में सुरक्षित होकर हमें प्रभु स्मरण की वृत्तिवाला बनाकर सदा ब्रह्मनिष्ठ बनाता है। इस सोम से ज्ञानेन्द्रियाँ सशक्त बनकर खूब ही ज्ञानवृद्धि का साधन बनती हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमेधा गातुवित् विश्वदेव

प्र सुमेधा गातुविद्विश्वदेवः सोमः पुनानः सद एति नित्यम्।
भुवद्विश्वेषु काव्येषु रन्तानु जनान्यतते पञ्च धीरः ॥ ३ ॥

यह **सुमेधाः**=उत्तम मेधा को पैदा करनेवाला (शोभना मेधा यस्मात्), **गातुवित्**=मार्ग को जाननेवाला, सदा मार्ग का उपदेश करनेवाला, **विश्वदेवः**=सब दिव्यगुणों को विकसित करनेवाला **सोमः**=सोम **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **नित्यं**=सदा **सदः एति**=अपने घर की ओर आता है, अर्थात् शरीर में ही स्थित होता है। शरीर में स्थित होने पर यह सोम **विश्वेषु काव्येषु**=सब ज्ञानों में **रन्ता**=रमण करनेवाला **भुवत्**=होता है। तथा **धीरः**=बुद्धि को प्रेरित करनेवाला यह सोम **पञ्चजनान्**=पाँच भागों में विभक्त सारे समाज के **अनुयतते**=अनुकूल यत्नवाला होता है। सोम का रक्षण करनेवाला मनुष्य समाज विरोधी क्रियाओंवाला नहीं होता।

भावार्थ—सोम के रक्षित होने पर मनुष्य उत्तम बुद्धिवाला, मार्ग का ज्ञाता, दिव्यगुण सम्पन्न, ज्ञान में रमण करनेवाला, अविरुद्ध क्रियाओंवाला होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वदेवा धिष्ठानता

तव त्ये सोम पवमान निण्ये विश्वे देवास्त्रय एकादशासः।
दश स्वधाभिरधि सानो अव्ये मृजन्ति त्वा नद्यः सप्त यह्वीः ॥ ४ ॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **पवमानः**=जीवन को पवित्र बनानेवाले! **तव**=तेरे **निण्ये**=अन्तर्हित होने पर रुधिर में अदृश्य रूप से व्याप्त होने पर **त्ये**=वे **त्रयः एकादशासः**=तीन गुणा ग्यारह, अर्थात् पृथिवीस्थ ग्यारह, अन्तरिक्षस्थ ग्यारह और द्युलोकस्थ ग्यारह, ये तेतीस **विश्वेदेवाः**=सब देव शरीर में स्थित होते हैं। सोमरक्षण के होने पर शरीर में सब देवों की स्थिति होती है। **अव्ये**=अपना रक्षण करनेवाले में उत्तम पुरुष में **दश**=दस इन्द्रियाँ **स्वधाभिः**=आत्मधारण शक्तियों के द्वारा **अधि सानो**=शिखर प्रदेश में, मस्तिष्क रूप द्युलोक में **त्वा मृजन्ति**=तेरा शोधन करती हैं। वासनाओं से अपने को बचानेवाला पुरुष इन्द्रियों को अपने-अपने कार्य में लगाये रखता है और परिणामतः सोम की ऊर्ध्वगति होकर मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञानाग्नि का दीपन होता है। इस स्थिति में **सप्त**=सात छन्दों में प्रवाहित होनेवाली और अतएव सात **यह्वीः**=महान् **नद्यः**=ज्ञान की नदियाँ इस सोम को **मृजन्ति**=अतिशयेन शुद्ध कर डालती हैं। वेद चार हैं, सात छन्दों में होने से इन्हें यहाँ सात नदियों के रूप में कहा है। इन सात नदियों में स्नान करने पर सोम भी परिशुद्ध हो जाता है। ज्ञान के द्वारा वासनाओं का भस्मीकरण होकर सोम का शुद्ध होना स्वाभाविक ही है।

भावार्थ—सोम के शरीर में व्याप्त होने पर यह शरीर सर्वदेवाधिष्ठान बनता है। सोम की परिशुद्धि के लिये इन्द्रियों को स्वकार्यतत्पर व ज्ञान प्राप्ति में लगाये रखना आवश्यक है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सोमरक्षण व प्रभु प्राप्ति

तन्नु सत्यं पवमानस्यास्तु यत्र विश्वे कारवः संनसन्त।
ज्योतिर्यदह्ने अकृणोदु लोकं प्रावन्मनुं दस्यवे करभीकम्॥ ५॥

पवमानस्य=पवित्र करनेवाले सोम का **नु**=अब **तत्**=वह सर्वव्यापक (तनु विस्तारे) **सत्यं**=सत्यस्वरूप प्रभु **अस्तु**=हो, **यत्र**=जिसमें **विश्वे**=सब **कारवः**=स्तोता लोग **संनसन्त**=संगत होते हैं। जिस प्रभु को स्तोता लोग प्राप्त करते हैं, उसे वस्तुतः यह सोम ही उन्हें प्राप्त कराता है। वह परमात्मा इस सोम का होता है, अर्थात् सोमरक्षण से प्राप्त होता है **यत्**=जो **अह्ने**=दिन के लिये **लोकं ज्योतिः**=प्रकाशक ज्योति को **अकृणोत्**=करता है, **मनुं प्रावत्**=ज्ञानशील मनुष्य का रक्षण करता है और इस ज्ञानी मनुष्य को **दस्यवे**=दास्यव वृत्तियों के लिये **अभीके कः**=आक्रमण करनेवाला करता है। इस प्रभु को हम सोमरक्षण के द्वारा ही प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—स्तोताओं को प्राप्त होनेवाला प्रभु वस्तुतः सोमरक्षण के द्वारा ही प्राप्त होता है। ये प्रभु हमारे लिये सूर्य के प्रकाश को करते हैं। ज्ञानी पुरुष का रक्षण करते हैं, और उसे दास्यव वृत्तियों पर आक्रमण करनेवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

होता-राजा-मृगः-महिषः

परि सद्मेव पशुमान्ति होता राजा न सत्यः समितीरियानः।
सोमः पुनानः कलशाँ अयासीत्सीदन्मृगो न महिषो वनेषु॥ ६॥

इव=जैसे **होता**=यज्ञशील पुरुष **पशुमान्ति**=गौ आदि पशुओंवाले **सत्यः**=गृह को **परि इयानः**=सर्वथा प्राप्त होता है। 'होता' अपने गृह में 'अग्निहोत्री' गौ को रखता ही है, इसी के गोघृत से वह यज्ञादि करता है। **न**=जैसे सत्यः=सज्जनों के रक्षण में कुशल राजा **समितीः** इयानः=संग्रामों में गतिवाला होता है। इसी प्रकार **सोमः**=सोम **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **कलशान्**=इन सोलह कलाओं के आधारभूत शरीर को **अयासीत्**=प्राप्त होता है। यह **मृगः न**=(मृग अन्वेषणे) आत्मलोचन करनेवाले के समान **महिषः**=पूजा की वृत्तिवाला सोम **वनेषु**=उपासकों में **सीदन्**=स्थित होता है। यही वस्तुतः हमें उपासना की वृत्तिवाला बनाता है और आत्मान्वेषण की ओर झुकाववाला करता है।

भावार्थ—सोम हमें यज्ञशील, रोगादि से युद्ध करनेवाला, आत्मालोचन व पूजा की वृत्तिवाला बनाता है।

यह व्यक्ति 'नोधा' होता है जो इन्द्रियों को (नव द्वार) वंशीभूत करनेवाला। उनका ठीक से धारण करनेवाला बनता है। यह कहता है—

[९३] त्रिनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**नोधाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अत्यः न वाजी

साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी॥ १॥

दश=दस **स्व-सारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली **साकम् उक्षः**=साथ-साथ सोम का अपने में सेचन करनेवाली इन्द्रियाँ **मर्जयन्तः**=इस सोम का शोधन करती हैं। **धीरस्य**=(धिया ईर्ते) बुद्धिपूर्वक गति करनेवाले धीर पुरुष की **धीतयः**=ध्यान वृत्तियाँ **धनुत्रीः**=सोम को शरीर में प्रेरित करनेवाली होती हैं। ध्यान सोम की ऊर्ध्वगति में सहायक होता है। **हरिः**=सब रोगों का हरण करनेवाला यह सोम **सूर्यस्य जाः**=सूर्य के प्रादुर्भावों की ओर **पर्यद्रवत्**=गतिवाला होता है। इस सोम के रक्षण से जीवन में चारों ओर सूर्य का प्रकाश हो जाता है। यह सोम **अत्यः वाजी न**=सततगामी अश्व के समान **द्रोणंननक्षे**=इस शरीर रूप पात्र को प्राप्त होता है। घोड़ा जैसे संग्राम में विजय का साधन बनता है, इसी प्रकार यह सोम यहां विजय का साधन बनता है। सोम ही शरीर को अश्व की तरह क्रियाशील बनाता है।

भावार्थ—आत्मत्त्व की ओर जानेवाली इन्द्रियाँ सोम का शोधन करती हैं। शुद्ध सोम जीवन को प्रकाशमय बनाता है।

ऋषिः—**नोधाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अद्भिः संदधन्वे, उस्त्रियाभिः संगच्छते

सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो अद्भिः।
मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन्त्सं गच्छते कलश उस्त्रियाभिः॥ २॥

वावशानः=दिव्य गुणों की कामना करता हुआ, **वृषा**=शक्ति का सेचन करनेवाला, **पुरुवारः**=पालक व पूरक वरणीय वस्तुओंवाला सोम **अद्भिः**=कर्मों के द्वारा इस प्रकार **संदधन्वे**=धारण किया जाता है **न**=जैसे कि **मातृभिः**=माताओं से **शिशुः**=एक सन्तान। निरन्तर कर्मों में लगे रहना ही सोमरक्षण का उपाय है। रक्षित सोम हमारे अन्दर दिव्य गुणों का धारण करता है और हमारे में शक्ति का सेचन करता है। **न**=जैसे **मर्यः**=एक मनुष्य **योषाम् अभि**=स्त्री की ओर जाता है, उसी प्रकार यह सोम **कलशे**=इस शरीर में **निष्कृतं**=परिष्कृत हृदय की ओर **यन्**=जाता हुआ **उस्त्रियाभिः**=प्रकाशों के साथ **संगच्छते**=संगत होता है। सोम के कारण जीवन प्रकाशमय हो उठता है।

भावार्थ—कर्मों में लगे रहने से सोम का धारण होता है और धारित सोम जीवन को प्रकाशमय बना देता है।

ऋषिः—**नोधाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इन्दुः धाराभिः सचते सुमेधाः

उत प्र पिप्य ऊधरघ्न्याया इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधाः।
मूर्धानं गावः पयसा चमूष्वभि श्रीणन्ति वसुभिर्न निक्तैः॥ ३॥

उत=और **इन्दुः**=यह सोम **अघ्न्यायाः**=अहन्तव्य, नित्य स्वाध्याय के योग्य इस वेदवाणी रूप गौ के **ऊधः**=ज्ञानदुग्ध के आधार को **प्रपिप्ये**=आप्यायित करता है। हमारी बुद्धि को यह तीव्र बनाता है और हम उस ऊधस् से अधिकाधिक ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। यह सोम **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धि को देनेवाला होता हुआ **धाराभिः**=अपनी धारण शक्तियों के साथ **सचते**=हमें प्राप्त होता है। उस समय ये **गावः**=वेदवाणी रूप गौवें **पयसा**=अपने ज्ञानदुग्ध के द्वारा **चमुषु**=इन शरीरों में **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **अभिश्रीणन्ति**=चारों ओर से आच्छादित करती हैं। इस प्रकार आच्छादित करती हैं, **न**=जैसे कि **निक्तैः**=शुद्ध **वसुभिः**=वस्त्रों से, ज्ञानवाणियों से मस्तिष्क को

आच्छादित करती हैं, अर्थात् मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करती हैं।

भावार्थ—सोम के सुरक्षित होने पर मस्तिष्क ज्ञान की वाणियों से आच्छादित होता है। हमारा जीवन ज्ञानमय बनता है।

ऋषिः—**नोधाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रथिर

स नो देवेभिः पवमान रदेन्दो रयिमश्विनं वावशानः।
रथिरायतामुशती पुरन्धिरस्मद्र्य१गा दावने वसूनाम्॥ ४॥

हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले **इन्दो**=सोम **सः**=वह तू **नः**=हमारे लिये **वावशानः**=हित की कामना करता हुआ **देवेभिः**=दिव्य गुणों के साथ **अश्विनं**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **रयिं**=ऐश्वर्य को **रद**=(प्रपच्छ) दे। सोमरक्षण से हमें वह ऐश्वर्य प्राप्त हो, जो हमारी इन्द्रियों को दूषित करनेवाला न हो तथा दिव्यगुणों से युक्त हो। हे सोम! **रथिरायताम्**=प्रशस्त रथवालों की तरह आचरण करते हुए पुरुषों की **उशती**=हित की कामना करती हुई **पुरन्धिः**=पालक बुद्धि **वसूनां दावने**=उत्तम वसुओं के, धनों के, देने के निमित्त **अस्मद्र्यक्**=हमारे अभिमुख हो। हमें यह 'पुरन्धि' प्राप्त हो, इसके द्वारा हम वसुओं को प्राप्त होनेवाले हों। इन वसुओं के द्वारा हम अपने जीवन को प्रशस्त बना पायें हम रयीश हों 'प्रशस्त शरीर रथ वाले' हों।

भावार्थ—सोम हमें वह ऐश्वर्य व बुद्धि प्राप्त कराये जिससे कि हम प्रशस्त जीवनवाले हों।

ऋषिः—**नोधाः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

धियावसु

नू नो रयिमुप मास्व नृवन्तं पुनानो वाताप्यं विश्वचन्द्रम्।
प्र वन्दितुरिन्दो तार्यायुः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ ५॥

हे सोम! **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **नः**=हमारे लिये **नू**=निश्चय से **नृवन्तम्**=प्रशस्त मनुष्योंवाले **वाताप्यम्** (वातेन आप्यम्, वा गतौ)=क्रियाशीलता से प्राप्त होनेवाले, **विश्वश्चन्द्रम्**=सबके आह्लादक **रयिम्**=धन को **उपमास्व**=दे। सोमरक्षक काम से उसी धन का अर्जन करते हैं जो सर्वहितकर होता है। हे **इन्दो**=सोम! **वन्दितुः**=प्रभु के स्तोता की **आयुः प्रतारि**=आयु को तू बढ़ानेवाला हो। **प्रातः**=प्रातःकाल ही **मक्षू**=शीघ्र **धियावसुः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा वसुओं को प्राप्त करानेवाला यह सोम **जगम्यात्**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम प्रकृष्ट धन को व दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

कण-कण करके बुद्धि का संचय करनेवाला 'कण्व' (मेधावी) अगले सूक्त का ऋषि है। यह सोम के लिये कहता है—

[९४] चतुर्नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**कण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'बुद्धि व ज्ञान' का वर्धन

अधि यदस्मिन्वाजिनीव शुभः स्पर्धन्ते धियः सूर्ये न विशः।
अपो वृणानः पवते कवीयन्व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म॥ १॥

यद्=जब **अस्मिन्**=इस सोम में **धियः**=बुद्धियाँ **अधि स्पर्धन्ते**=स्पर्धावाली होती हैं, 'मैं पहले और मैं पहले' इस प्रकार अहमहमिकया एक दूसरे से पहले प्राप्त होनेवाली होती हैं। **इव**=जिस प्रकार कि **वाजिनीव**=शक्तिशाली घोड़े में **शुभः**=उत्तम रथ स्पर्धावाले होते हैं (शुभ् chariot) और **न**=जैसे **सूर्ये**=सूर्य के विषय में **विशः**=प्रजायें स्पर्धावाली होती हैं कि हमें पहले सूर्य का प्रकाश प्राप्त हो और हमें पहले प्राप्त हो। इसी प्रकार सोम में बुद्धियाँ स्पर्धावाली होती हैं। सोम ही बुद्धियों को दीप्त करनेवाला है। यह **कवीयन्**=हमें क्रान्तप्रज्ञ बनाने की कामनावाला यह सोम **अपः वृणानः**=कर्मों का वरण करता हुआ **मन्म**=ज्ञान को **पवते**=प्राप्त कराता है, **न**=जैसे कि **पशुवर्धनाय**=पशुओं के वर्धन के लिये **व्रजम्**=बाड़े को, एक बाड़े में जैसे पशु सुरक्षित होकर बढ़ते हैं, इसी प्रकार ज्ञान में हमारा वर्धन होता है। यह ज्ञान हमारे कर्मों को पवित्र करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से बुद्धियों का वर्धन होता है, ये बुद्धियाँ हमारे वर्धन का कारण बनती है।

ऋषिः—**कण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अमृत का धाम

द्विता व्यूर्ण्वन्नमृतस्य धाम स्वर्विदे भुवनानि प्रथन्त।
धियः पिन्वानाः स्वसरे न गाव ऋतायन्तीरभि वावश्र इन्दुम्॥ २॥

द्विता=शरीर व मस्तिष्क दोनों की शक्तियों का विस्तार करनेवाला यह सोम **व्यूर्ण्वन्**=विशेष रूप से हमें आच्छादित करता है, हमें सुरक्षित करता है। यह **अमृतस्यधाम**=नीरोगता का घर है। **स्वर्विदे**=प्रकाश की प्राप्ति के लिये **भुवनानि**=सब लोक **प्रथन्त**=इस सोम का विस्तार करते हैं। सोम शक्ति के विस्तार के अनुपात ही में ज्ञान का विस्तार होता है। **धियः पिन्वानाः**=बुद्धियों का वर्धन करती हुई और **ऋतायन्ती**=ऋत व यज्ञ को प्राप्त करने की कामनावाली प्रजायें **इन्दुम् अभिवावश्रे**=सोम की कामना करती हैं। **न**=जैसे कि **स्वसरे**=गोष्ठ में (सुष्ठ, अस्यन्ते प्रेर्यन्ते गावः अत्र सा०) **गावः**=गौवें **धियः पिन्वानाः**=हमारी बुद्धियों का वर्धन करती हैं, इसी प्रकार शरीर में ये सोम हमारी बुद्धि का वर्धन करते हैं। गोष्ठ में जैसे गौवे हैं, उसी प्रकार शरीर में सोम हैं।

भावार्थ—सोम शरीर व मस्तिष्क दोनों का आच्छादक बनता है। यह अमृत का धाम है।

ऋषिः—**कण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कविः काव्या भरते

परि यत्कविः काव्या भरते शूरो न रथो भुवनानि विश्वा।
देवेषु यशो मर्ताय भूषन्दक्षाय रायः पुरुभूषु नव्यः॥ ३॥

यत्=जब **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ सोम **काव्या**=ज्ञानों को **परिभरते**=हमारे अन्दर धारित करता है, उस समय यह सोम **शूरः**=शत्रुओं के बन्धक **रथः न**=रथ के समान होता है **विश्वा भुवनानि भरते**=सब भुवनों (प्राणियों) का यह भरण करता है। सोम रक्षित होकर हमें तीव्र बुद्धि बनाता है। यह बुद्धि ज्ञान की वर्धक बनती है। हमें यह ज्ञान वासना रूप शत्रुओं के विनाश में सहायक होता है और हमारी सब शक्तियों को ठीक से स्थिर रखता है। यह सोम **देवेषु**=देवों में स्थित **यशः**=यश को **मर्ताय भूषन्**=मनुष्य के लिये भावित करना चाहता है (भाषायितु मिच्छन्)। शरीर में सुरक्षित सोम मनुष्यों को देवों के समान यशस्वी बनाता है। **रायः दक्षाय**=यह

सोम ऐश्वर्यों के वर्धन के लिये होता है और इसीलिये **पुरुभूषु**=पालक व पूरक यज्ञ में यह **नव्यः**=स्तुत्य होता है। यज्ञभूमियों में एकत्रित होने पर सोम का ही संशन होता है। वस्तुतः सोमरक्षण से ही यज्ञिय भावनायें भी उत्पन्न होती हैं।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों में ज्ञान को भरता है। देवों के समान हमें यशस्वी बनाता है और यज्ञस्थलों में यही स्तुत्य होता है।

ऋषिः—**कण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

श्री सम्पन्न-जीवन

श्रि॒ये जा॒तः श्रि॒य आ निरि॑याय॒ वयो॑ जरि॒तृभ्यो॑ दधाति।
श्रियं॒ वसा॑ना अमृत॒त्वमा॑य॒न्भव॑न्ति स॒त्या स॑मि॒था मि॒तद्रौ॑॥ ४॥

यह सोम **श्रिये जातः**=हमारे जीवन में श्री के लिये उत्पन्न हुआ है। **श्रिये**=शोभा के लिये ही **आ**=चारों ओर **निरियाय**=निश्चय से गतिवाला होता है यह सोम **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिये श्रियम्=शोभा को व **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधाति**=धारण करता है। इस सोम जनित **श्रियम्**=श्री को **वसानाः**=धारण करते हुए लोग **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को, नीरोगता को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। ये सोम **मितद्रौ**=नपी तुली गतियोंवाले पुरुष में, युक्ताहार विहार पुरुष में **सत्या समिथा**=सत्य (यथार्थ) संग्राम करनेवाले **भवन्ति**=होते हैं। सोम कणों द्वारा रोगकृमियों व वासनाओं पर आक्रमण किया जाता है। इन रोगों व वासनाओं को विनष्ट करके सोम हमारे जीवनों को श्री सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—सोम रोगों व वासनाओं को विनष्ट करते हैं। हमें उत्कृष्ट श्री सम्पन्न जीवन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उरु ज्योतिः

इ॒षमू॒र्जम॒भ्य॑१॒॑र्षाश्वं॒ गामु॒रु ज्योतिः॑ कृणुहि॒ मत्सि॑ दे॒वान्।
विश्वा॑नि॒ हि सु॒षहा॒ तानि॒ तुभ्यं॒ पव॑मान॒ बाध॑से सोम॒ शत्रू॑न्॥ ५॥

हे सोम! **इषम्**=प्रभु की प्रेरणा को तथा उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिये **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **अभ्यर्षः**=प्राप्त करा। **अश्वं**=कर्मेन्द्रियों को, **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करा। **उरु ज्योतिः कृणुहि**=विशाल प्रकाश को तू हमें प्राप्त करा। **देवान् मत्सि**=दिव्य गुणों से युक्त पुरुषों को तू आनन्दित कर। हे **पवमानः**=पवित्र करनेवाले सोम! **तुभ्यम्**=तेरे लिये **विश्वानि हि तानि**=सब ही वे हमारे न चाहते हुए भी अन्दर घुस आनेवाले राक्षसी भाव **सुषहा**=सुगमता से कुचलने योग्य हैं। हे सोम! तू उन **शत्रून्**=शत्रुओं को **बाधसे**=पीड़ित करता है। वस्तुतः सोमरक्षण के होने पर शरीर में रोग ही नहीं, राक्षसीभाव भी समाप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें प्रभु प्रेरणा सुन पड़ती है, उस प्रेरणा को हम क्रियान्वित करने के लिये शक्ति को प्राप्त करते हैं। हमारी कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ उत्कृष्ट बनती हैं। विशाल ज्योति को प्राप्त करके हम देव बनते हैं। वासनाओं को कुचल पाते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि 'प्रस्कण्व' हैं, कण्वपुत्र, अर्थात् अत्यन्त मेधावी। यह कहता है—

[९५] पञ्चनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निर्णिजं गाः कृणुते

कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन्वनस्य जठरे पुनानः।
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गा अतो मतीर्जनयत स्वधाभिः ॥ १ ॥

आसृज्यमानः=शरीर में चारों ओर उत्पन्न किया जाता हुआ **हरिः**=दुःखहर्ता सोम **कनिक्रन्ति**=प्रभु के स्तवन के शब्दों का उच्चारण करता है। शरीर में सुरक्षित सोम हमें प्रभुस्तवन की ओर झुकाता है। **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ सोम **वनस्य**=उपासक के **जठरे**=उदर में **सीदन्**=स्थित होता है। अर्थात् वासनाओं के उबाल से शून्य यह सोम उपासक के शरीर में सुरक्षित रहता है। **नृभिः यतः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों से संयत किया हुआ सोम **निर्णिजम्**=शोधन व पोषण को तथा **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **कृणुते**=करता है। शरीर को यह पुष्ट बनाता है (पोषण), मन को शुद्ध करता है (शोधन) तथा मस्तिष्क को ज्ञान सम्पन्न बनाता है। **अतः**=इस सोम के द्वारा **स्वधाभिः**=आत्मधारणशक्तियों के साथ **मतीः जनयत**=प्रकृष्ट बुद्धियों को उत्पन्न करो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें पुष्ट शरीर वाला, शुद्ध मन वाला तथा ज्ञानदीप्त मस्तिष्क वाला बनाता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**संस्तारपंक्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

देव गुह्यों का आविष्कार

हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम्।
देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे ॥ २ ॥

सृजानः=उत्पन्न किया जाता हुआ **हरिः**=यह दुःखहर्ता सोम **ऋतस्य**=सत्यज्ञान की **पथ्याम्**=इस हितकर मार्ग की दर्शक वेदवाणी को **इयर्ति**=हमारे में प्रेरित करता है। **इव**=जैसे **अरिता**=चप्पुओं को चलानेवाला **नावम्**=नाव को नदी में प्रेरित करता है। **देवः**=यह सोम प्रकाशमय है। **देवानाम्**=सूर्यादि देवों के **गुह्यानि**=रहस्यों को **आविष्कृणोति नाम**=अवश्य प्रकट करता है। सोमरक्षण से तीव्रबुद्धि बनकर हम देवों के रहस्यों को समझनेवाले बनते हैं। इन रहस्यों को यह सोम **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **प्रवाचे**=प्रकृष्ट स्तोता के लिये प्रकट करता है। सोमरक्षण से ही वासनायें विनष्ट होती हैं। हृदय वासना शून्य बनता है। इस निर्मल हृदय में तत्वज्ञान का प्रकाश प्रादुर्भूत होता है।

भावार्थ—सोम हमारे हृदयों में सत्यज्ञान की हितकर वेदवाणी का प्रकाश करता है। हम सोमरक्षण के द्वारा ही तीव्रबुद्धि बनकर सूर्यादि देवों के रहस्यों को जान पाते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बुद्धि+कर्म+नमन=प्रवेश

अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ।
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चा च विशन्त्युशतीरुशन्तम् ॥ ३ ॥

अपां ऊर्मयः इव=जलों की लहरों की तरह **मनीषा**=बुद्धियाँ **ततुराणाः**=कर्मों में त्वरा

से प्रेरित करती हुई **सोमम् अच्छ**=सोम की ओर **इत्**=निश्चय से **प्र ईरते**=प्रकर्षेण गति वाली होती हैं। सोमरक्षक को वे बुद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जो उसे यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाली होती हैं। **च**=और ये ही बुद्धियाँ **नमस्यन्तीः**=प्रभु नमन को करती हुई **उपयन्ति**=प्रभु के समीप प्राप्त होती हैं। **उशतीः**=प्रभु प्राप्ति की कामना वाली होती हुईं ये बुद्धियाँ **उशन्तम्**=उस प्रभु प्राप्ति की कामना वाले पुरुष को **सं विशन्तिः**=सम्यक् प्राप्त होती हैं, **च**=और **आविशन्ति च**=सर्वथा प्रभु को प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें वे बुद्धियाँ प्राप्त होती हैं जो हमें कर्मों में प्रेरित करती हैं और प्रभु नमन करती हुईं प्रभु में प्रवेश करानेवाली होती हैं। वस्तुतः बुद्धि पूर्वक कर्म करने से और उन कर्मों को नतमस्तक हो प्रभु अर्पण करने से ही तो प्रभु प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शक्ति+ज्ञान+प्रभु प्राप्ति

तं मर्मृजानं महिषं न सानावंशुं दुहन्त्युक्षणं गिरिष्ठाम्।
तं वावशानं मतयः सचन्ते त्रितो बिभर्ति वरुणं समुद्रे॥ ४॥

तम्=उस **मर्मृजानम्**=अत्यन्त शुद्ध करते हुए, जीवन को पवित्र बनाते हुए, **अंशुम्**=सोम को **महिषं न**=जो अत्यन्त पूज्य के समान है, **दुहन्ति**=अपने में प्रपूरित करते हैं। इस सोम का दोहन **सानौ**=सानु के निमित्त करते हैं, जिससे यह हमें शिखर तक ले जानेवाला हो, उन्नति की चरम सीमा तक इस सोम ने ही तो हमें ले जाना है। उस सोम का अपने में प्रपूरण करते हैं, जो **उक्षणम्**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाला है और **गिरिष्ठाम्**=ज्ञान की वाणियों में स्थित होनेवाला है। यह सोम ही हमें शरीर में शक्ति सम्पन्न बनाता है, तो मस्तिष्क में यह हमें ज्ञानसम्पन्न करता है। इस प्रकार यह हमें उन्नति के शिखर पर ले जाता है। **वावशानं तम्**=प्रभु प्राप्ति की कामना वाले उस सोम को **मतयः**=बुद्धियाँ **सचन्ते**=समवेत होती हैं। सोमरक्षण से प्रभु की ओर झुकाव होता है और बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होती है। **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ को तैरनेवाला व्यक्ति **वरुणम्**=इस सब कष्टों का निवारण करनेवाले सोम को **समुद्रे**=उस (स+मुद्) आनन्दमय प्रभु की प्राप्ति के निमित्त **बिभर्ति**=धारण करता है। सोमरक्षण द्वारा ही हम वासनाओं को तैरकर प्रभु को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे में शक्ति का सेचन करता है, हमें ज्ञान वाणियों में प्रतिष्ठित करता है और आनन्दमय प्रभु में धारण करता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

बुद्धि+सौभागाय+सुवीर्य

इष्यन्वाचमुपवक्तेव होतुः पुनान इन्दो वि ष्या मनीषाम्।
इन्द्रश्च यत्क्षयथः सौभगाय सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ ५॥

उपवक्ता इव=उपदेष्टा की तरह **होतुः**=उस सृष्टि यज्ञ के होता प्रभु की **वाचम्**=वाणी को **इष्यन्**=उपासक के रूप में प्रेरित करता हुआ **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू हे **इन्दो**=सोम! **मनीषां**=बुद्धि को **विष्या**=हमारे में प्राप्त करानेवाला, प्रतिबद्ध करनेवाला हो (विमुञ्च सा०) **यत्**=जिस समय तू **च**=और **इन्द्रः**=वह सब शत्रुओं का द्रावण करनेवाला प्रभु **क्षयथः**=मेरे में निवास करते हो, तो **सौभगाय**=सौभाग्य के लिये होते हो। हम सोम व इन्द्र की कृपा से

सुवीर्यस्य=उत्तम शक्ति के **पतयः**=स्वामी **स्याम**=हों।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे हृदयों में प्रभु की वाणी को प्रेरित करता है, बुद्धि को देता है, सौभाग्यवर्धन करता हुआ सुवीर्य का पति बनाता है।

इस सुवीर्य के द्वारा शत्रुओं को पराजित करता हुआ 'प्रतर्दन' अगले सूक्त का ऋषि है, यह 'दैवोदासि' उस प्रभु का दास (भक्त) है। यह सोम शंसन करता हुआ कहता है।

[९६] षण्णवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रतर्दनो दैवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान-भक्ति-शक्ति

प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना।
भद्रान्कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते॥ १॥

सेनानीः=प्राणों व इन्द्रियादि की सेना का नेता यह सोम **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला है। **रथानाम्**=इन शरीररूप रथों के **अग्रे**=अग्रभाग में होता हुआ, अर्थात् मस्तिष्क में स्थित होता हुआ, ऊर्ध्वगतिवाला होता हुआ सोम मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, यही इसका शिखर पर पहुँचना है, **गव्यन्**=इन ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणियों को चाहता हुआ **एति**=गति करता है। **अस्य**=इस सोम की **सेना**=प्राण व इन्द्रियाँ मन व बुद्धि रूप सेना **हर्षते**=आनन्दित होती है, विकसित शक्ति वाली होती है। यह **सखिभ्यः**=अपने रक्षक मित्रों के लिये **भद्रान्**=कल्याण कर **इन्द्रहवान्**=प्रभु की पुकारों को **कृण्वन्**=करता हुआ, अर्थात् हम सखाओं को प्रभुस्तुतिप्रवण करता हुआ **रभसानि**=(robust) शक्तिशाली **वस्त्रा**=वस्त्ररूप अन्नमय आदि कोशों को **आदत्ते**=ग्रहण करता है।

भावार्थ—सोम हमे ज्ञान व प्रभु स्तवन की ओर झुकाव वाला करता हुआ शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो दैवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

सुमति की प्राप्ति

समस्य हरिं हरयो मृजन्त्यश्वहयैरनिशितं नमोभिः।
आ तिष्ठति रथमिन्द्रस्य सखा विद्वाँ एना सुमतिं यात्यच्छ॥ २॥

अस्य=इस जीव के **हरिम्**=दुःखहर्ता सोम को **हरयः**=इन्द्रियाश्व ही **समृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। जो सोम **अश्वहयैः**=इन्द्रियाश्वों की इधर-उधर गति से **अनिशितम्**=तेज व उबाल वाला नहीं कर दिया गया। वह सोम **नमोभिः**=प्रभु नमनों के द्वारा **रथम् आतिष्ठति**=इस शरीर रथ में ही चारों ओर स्थित होता है। यदि इन्द्रियाँ विषयों में इधर-उधर नहीं भटकती और हम प्रभु नमन में प्रवृत्त होते हैं, तो यह सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। **इन्द्रस्य सखा**=उस समय यह सोम इस जितेन्द्रिय पुरुष का मित्र होता है। **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **एना**=इस सोम के द्वारा **सुमतिं अच्छ**=कल्याणी मति की ओर **याति**=जाता है सोमरक्षण से शुभमति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ जब विषयों में नहीं जाती तो प्रभु नमन करती हुई सोम का रक्षण करती हैं। यह सोम सुरक्षित हुआ हमें सुमति को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

महे प्सरसे

स नो देव देवताते पवस्व महे सोम प्सरस इन्द्रपानः।
कृण्वन्नपो वर्षयन्द्यामुतेमामुरोरा नो वरिवस्या पुनानः॥ ३॥

हे **देव**=प्रकाशमय सोम! **सः**=वह तू **नः**=हमें **देवताते**=इस दिव्य गुणों के विस्तार वाले जीवनयज्ञ में **पवस्व**=प्राप्त हो। हे सोम, वीर्यशक्ते! तू **इन्द्रपानः**=जितेन्द्रिय पुरुष से पातव्य होता हुआ **महे प्सरसे**=महान सौन्दर्य व ऐश्वर्य के लिये होता है। हे सोम! तू **अपः कृण्वन्**=व्यापक कर्मों को जन्म देता हुआ, **द्याम् वर्षयन्**=द्युलोक से प्रकाश की वृष्टि कराता हुआ **उत**=और **इमाम्**=इस पृथ्वी रूप शरीर को शक्तिवर्षण से सिक्त करता हुआ **नः**=हमें **उरोः**=विशाल हृदयान्तरिक्ष से **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **आवरिवस्या**=ऐश्वर्यदान से सेवित कर। सोमरक्षण से हमारी क्रियाशीलता में वृद्धि होती है, मस्तिष्क दीप्त होकर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कराता है, यह शरीर शक्तिसिक्त होता है और हृदय की विशालता जीवन को पवित्र करती है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर महान् सौन्दर्य का कारण बने। इससे शरीर क्रियाशील, मस्तिष्क दीप्त बने व हृदय विशाल हो।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अजीति अहुति

अजीतयेऽहतये पवस्व स्वस्तये सर्वतातये बृहते।
तदुशन्ति विश्व इमे सखायस्तदहं वश्मि पवमान सोम॥ ४॥

हे सोम! तू **अजीतये**='हम शत्रुओं से पराजित न हो' इसके लिये **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **अहतये**='हम शत्रुओं से विनष्ट न किये जा सकें' इसके लिये हमें प्राप्त हो। इसी प्रकार **स्वस्तये**=कल्याण के लिये, **सर्वतातये**=सब सद्गुणों के विस्तार के लिये तथा **बृहते**=महान् बुद्धि के लिये तू हमें प्राप्त हो। **विश्वे इमे सखायः**=सब ये मेरे मित्र **तद् उशन्ति**=उस अजीति व अहुति की ही कामना करते हैं। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम **अहं**=मैं भी **तद् वश्मि**=वह ही चाहता हूँ। मैं भी यही कामना करता हूँ कि सोमरक्षण के द्वारा मैं शत्रुओं से न जीता जाऊँ, न मारा जाऊँ।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम शरीर में रोगों से अहत रहते हैं और मन में वासनाओं से अपराजित बनते हैं।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'इन्द्र व विष्णु' पद की प्राप्ति

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥ ५॥

सोमः=वीर्यशक्ति **पवते**=हमें प्राप्त होती है। यह **मतीनां जनिता**=बुद्धियों का प्रादुर्भाव करनेवाली होती है **दिवः जनिता**=यदि यह मस्तिष्क रूप द्युलोक का प्रादुर्भाव करती है, तो साथ ही **पृथिव्याः जनिता**=शरीर रूप पृथिवी का भी विकास करनेवाली होती है। यह सोमशक्ति **अग्नेः जनिता**=शरीर रूप पृथ्वी पर अग्नि तत्व को पैदा करनेवाली है और **सूर्यस्य जनिता**=मस्तिष्क

रूप द्युलोक में सूर्य को प्रादुर्भूत करती है। शरीर में अग्नितत्त्व से तेजस्विता को जन्म देता है और मस्तिष्क में सूर्य प्रकाश का कारण बनता है। यह सोम **इन्द्रस्य**=सब बल और कर्मों को करनेवाले इन्द्र को **जनिता**=पैदा करता है, **उत**=और **विष्णो**=व्यापक उदार हृदय वाले पुरुष को जनिता उत्पन्न करता है। यह सोम हमें 'इन्द्र व विष्णु' पद को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोम शक्ति व प्रकाश को जन्म देता हुआ हमें 'इन्द्र व विष्णु' बनाता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ब्रह्मा देवानाम्

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥ ६॥

सोमः=सोम **पवित्रम्**=पवित्र हृदय वाले पुरुष को **रेभन्**=स्तुति करता हुआ **अति एति**=अतिशयेन प्राप्त होता है। यह सोम ही स्तुति की वृत्ति को पैदा करता है। यह सोम **देवानां ब्रह्म**=देवों में ब्रह्मा है, सर्वप्रथम देव है। यह हमें देवों में श्रेष्ठतम बनाता है। **कवीनां पदवीः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानियों का मार्गदर्शक है, अर्थात् कवियों का भी कवि है। **विप्राणां ऋषिः**=मेधावियों में ऋषि है, सोम उत्कृष्ट मेधा का जनक है। **मृगाणाम्**=आत्मान्वेषण करने वालों में **महिषः**=पूज्य है। **गृध्राणाम्**=विषयलोलुप इन्द्रियों का यह **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला है। विषयलोलुप इन्द्रिय रूप गृध्रों के लिये यह श्येन हैं, उन्हें समाप्त करनेवाला 'बाज' है। यह इन्द्रियों की विषयलोलुपता को समाप्त करके उन्हें शंसनीय गतिवाला बनाता है। सोमरक्षण से इन्द्रियाँ विषयलोलुपता को छोड़कर शंसनीय गति वाली बनती हैं। यह सोम **वनानां स्वधितिः**=उपासकों में आत्मतत्व को धारण करनेवाला है। अथवा वासनावृक्ष के वनों का कुल्हाड़ा ही है, वासनाओं को छिन्न-भिन्न करके हृदय क्षेत्र को निर्मल करनेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर व श्रेष्ठतम बनाता चलता है। यह अन्ततः हमें 'ब्रह्मा' बना देता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अन्तः पश्यन्

प्रावीविपद्वाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिरः सोमः पवमानो मनीषाः।
अन्तः पश्यन्वृजनेमावराण्या तिष्ठति वृषभो गोषु जानन्॥ ७॥

पवमानः=जीवन को पवित्र करता हुआ **सोमः**=सोम **वाचः**=ज्ञान की वाणियों को और **मनीषाः**=बुद्धियों को **प्रावीविपत्**=इस प्रकार प्रेरित करता है, **न**=जैसे कि **सिन्धुः**=समुद्र **ऊर्मिम्**=लहरों को प्रेरित करता है। सोमरक्षण से हमारे जीवन में बुद्धि व ज्ञान की वाणियों का विकास होता है। यह **वृषभः**=शक्तिशाली सोम **गोषु जानन्**=ज्ञान की वाणियों में तत्त्वज्ञान वाला होता हुआ, **अन्तः पश्यन्**=विषय व्यावृत्त होकर अन्तर्मुखी वृत्ति वाला होता हुआ **इमा**=इन **अवराणि**=(न निवारवितुं शक्यानि) **अधर्षणीय वृजना**=बलों का **आतिष्ठति**= अधिष्ठाता होता है। सोम से ज्ञान बढ़ता है, वृत्ति बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होती है। शत्रुओं से अधर्षणीय शक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सोम ज्ञान की वाणियों व बुद्धियों को हमारे में प्रेरित करता है। अधर्मणीय बलों को प्राप्त कराता है। हमें अन्तर्मुखी वृत्ति वाला बनाता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वन्वन् अवातः

स मत्सरः पृत्सु वन्वन्नवातः सहस्ररेता अभि वाजमर्ष।
इन्द्रायेन्दो पवमानो मनीष्यं१शोरूर्मिमीरय गा इषण्यन्॥ ८॥

सः=वह सोम **पृत्सु**=संग्रामों में **वन्वन्**=संग्रामों में शत्रुओं का विजय करता हुआ **अवातः**= (अनभिगतः) शत्रुओं से आक्रान्त न किया जाता हुआ **मत्सरः**=आनन्द का संचार करता है। **सहस्ररेताः**=अनन्त शक्ति वाला यह सोम है। तू **वाजम् अभि अर्ष**=शत्रुओं के साथ संग्राम की ओर गतिवाला हो। हे **इन्दो**=सोम! **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पवमानः**=पवित्रता को करता हुआ **मनीषी**=प्रशस्त मनीषा वाला है, उत्तम बुद्धि को प्राप्त कराता है। तू **गाः इषण्यन्**=ज्ञान की वाणियों को प्रेरित करता हुआ **अंशोः ऊर्मिम्**=प्रकाश की किरणों की तरंगों को व पंक्तियों को **ईरय**=प्रेरित कर (ऊर्मि=row, line)।

भावार्थ—सोम अपराजित शक्ति वाला होता हुआ शत्रुओं को कुचलता है। बुद्धि का वर्धन करता हुआ ज्ञानरश्मियों की पंक्ति को प्रेरित करता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रण्यः मदाय

परि प्रियः कलशे देववात इन्द्राय सोमो रण्यो मदाय।
सहस्रधारः शतवाज इन्दुर्वाजी न सप्तिः समना जिगाति॥ ९॥

प्रियः=प्रीणित करनेवाला, **कलशे**=शरीर कलश में **देववातः**=देवों से प्रेरित हुआ-हुआ **सोमः**=सोम **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिजिगाति**=चारों ओर गतिवाला होता है। **रण्यः**=यह रमणीय सोम **मदाय**=उसके उल्लास के लिये होता है। **सहस्रधारः**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला, **शतवाजः**=सैकड़ों बलों वाला **इन्दुः**=यह सोम **वाजी न सप्तिः**=शक्तिशाली घोड़े के समान **समना**=संग्राम में **जिगाति**=गतिवाला होता है। संग्राम में रोगकृमि व वासनारूप शत्रुओं को पराजित करता हुआ यह सोम हमारे जीवन को सुन्दर व उल्लासमय बनाता है।

भावार्थ—देव लोग सोम को शरीर में ही प्रेरित करते हैं। यह शक्ति को देता हुआ व शत्रुओं को पराजित करता हुआ, हमारे जीवनों को रमणीय बनाता है व उल्लासमय करता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अभिशस्तिपाः

स पूर्व्यो वसुविज्जायमानो मृजानो अप्सु दुदुहानो अद्रौ।
अभिशस्तिपा भुवनस्य राजा विदद्गातुं ब्रह्मणे पूयमानः॥ १०॥

भावार्थ—**स**=वह सोम **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करने वालों में उत्तम है। **वसुवित्**=निवास के लिये आवश्यक सब तत्त्वों को प्राप्त करनेवाला है। **जायमानः**=शक्तियों के प्रादुर्भाव वाला है। **अप्सु मृजानः**=कर्मों में यह शुद्ध किया जाता है, अर्थात् हम कर्मों में लगे रहें, तो वासनाओं से बचे रहने से यह सोम मलिन नहीं हो पाता। **अद्रौ**=(one who adores) उपासक में यह **दुदुहानः**=प्रपूरित होता है। **अभिशस्तिपा**=हिंसक शत्रुओं से यह हमारा रक्षण करनेवाला है। **भुवनस्य राजा**=सब प्राणियों के जीवनों को यह दीप्त करनेवाला है। **पूयमानः**=पवित्र किया

जाता हुआ यह सोम **ब्रह्मणे**=ब्रह्म प्राप्ति के लिये **गातुं**=मार्ग को **विदत्**=प्राप्त कराता है व उस मार्ग का ज्ञान देता है। एवं यह सोम हमें अन्ततः ब्रह्म को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—'कर्मशीलता व उपासना' सोमरक्षण के साधन हैं, रक्षित सोम हमारा पूरण करता हुआ, शत्रुओं से बचाता हुआ, हमें ब्रह्म की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

परिधीन् अपेर्णु

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः।
वन्वन्नवातः परिधीरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः॥ ११॥

हे **पवमान**=पवित्रता को करनेवाले **सोम**=वीर्यशक्ते! **नः**=हमारे में से **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **पितरः**=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले **धीराः**=ज्ञानी लोग **त्वया हि**=तेरे द्वारा ही तेरी ही शक्ति से **कर्माणि चक्रुः**=लोक रक्षणात्मक कार्यों को कर पाते हैं। सोमरक्षण ही हमें उत्कृष्ट कार्यों को करने की क्षमता प्रदान करता है। **वन्वन्**=शत्रुओं को हिंसित करता हुआ, **अवातः**=शत्रुओं से अनाक्रान्त तू **परिधीः**=चारों ओर से घेर लेनेवाले इन राक्षसी भावों को **अपोर्णु**=आच्छादित कर, हमारे से दूर कर। **वीरेभिः अश्वैः**=वीरतापूर्ण इन इन्द्रियाश्वों से **नः**=हमारे लिये **मघवा भवः**=सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करानेवाला हो। सोमरक्षण से ही सबल बनकर कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्म करती हैं, तो ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—सब उत्तम कर्म सोमरक्षण से ही सम्भव होते हैं। यह सोम राक्षसी भावों को दूर करके हमें वास्तविक ऐश्वर्य प्राप्त कराये।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'मनु व इन्द्र' में सोम की स्थिरता

यथापवथा मनवे वयोधा अमित्रहा वरिवोविद्धविष्मान्।
एवा पवस्व द्रविणं दधान इन्द्रे सं तिष्ठ जनयायुधानि॥ १२॥

हे सोम! **यथा**=जैसे तू **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **अपवथाः**=जाता है (अगच्छः) और उसके लिये **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाला होता है, **अमित्रहा**=शत्रुओं का विनाश करनेवाला होता है, **वरिवोवित्**=धन का प्राप्त करानेवाला होता है तथा **हविष्मान्**=प्रशस्त हवि वाला दानपूर्वक अदन वाला होता है, अर्थात् उस विचारशील पुरुष को तू दानपूर्वक अदन वाला बनाता है **एवा**=इसी प्रकार **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **पवस्व**=तू प्राप्त हो। **द्रविणं दधानः**=सब अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्य को धारण कराता हुआ **सन्तिष्ठ**=स्थित हो। और **आयुधानि**=इन्द्रियाँ मन व बुद्धिरूप आयुधों को **जनय**=विकसित शक्ति वाला कर।

भावार्थ—सोम 'मनु व इन्द्र' में स्थिर होता है, 'विचारशील जितेन्द्रिय' पुरुष में। ये जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्य को धारण करता हुआ इन्द्रियों, मन व बुद्धि को विकसित शक्ति वाला करता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'माधुर्य-यज्ञभावना-क्रियाशीलता व आनन्द' की प्राप्ति

पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो अधि सानो अव्ये।

अव द्रोणानि घृतवान्ति सीद मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः॥ १३॥

हे सोम! तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **मधुमान्**=तू माधुर्य वाला है, जीवन को मधुर बनाता है। **ऋतावा**=तू हमारे जीवन में ऋत का, यज्ञ का अवन (रक्षण) करता है। **अपः वसानः**=कर्मों को धारण करता हुआ, सदा क्रियाशील होता हुआ **अव्ये**=रक्षण करने वालों में उत्तम पुरुष में **अधि सानो**=तू ऊर्ध्वगतिवाला होता हुआ शिखर पर पहुँचता है। वहाँ मस्तिष्क रूप द्युलोक को तू ज्ञानसूर्य से दीप्त करता है। अब तू **घृतवान्ति**=दीप्ति व निर्मलता (मलों के क्षरण) वाले **द्रोणानि**=इन शरीर पात्रों में तू **अव**=विषय वासनाओं के उबाल से दूर होता हुआ **सीद**=आसीन हो। **मदिन्तम्**=अत्यन्त आनन्दमय, **मत्सरः**=उल्लास का संचार करनेवाला तू **इन्द्रपानः**=जितेन्द्रिय पुरुष से पातव्य हो। जितेन्द्रिय पुरुष ही सोम का शरीर में व्यापन करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष से शरीर में व्याप्त किया हुआ सोम 'माधुर्य–यज्ञियभावना–क्रियाशीलता–आनन्द व उल्लास' को देता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शक्ति–दिव्यगुण–ज्ञान व दीर्घजीवन

वृष्टिं दिवः शतधारः पवस्व सहस्रसा वाजयुर्देववीतौ।
सं सिन्धुभिः कलशे वावशानः समुस्रियाभिः प्रतिरन्न आयुः॥ १४॥

हे सोम! **शतधारः**=सैकड़ों प्रकार से धारण करनेवाला तू **दिवः वृष्टिम्**=द्युलोक से वर्षा को, मस्तिष्क रूप द्युलोक से होनेवाली आनन्द की वर्षा को **पवस्व**=प्राप्त कर। **सहस्रसाः**=हजारों शक्तियों को प्राप्त करानेवाला तू **देववीतौ**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त **वाजयुः**=शक्ति को हमारे साथ जोड़नेवाला है। **सिन्धुभिः**=ज्ञान प्रवाहों के द्वारा **कलशे**=इस शरीर कलश में **वावशानः**=हमारे हित की कामना करता हुआ **सम्** (गच्छस्व)=संगत हो। **उस्त्रियाभिः**=ज्ञान किरणों के साथ **नः आयुः**=हमारे आयुष्य को **प्रतिरन्**=दीर्घ करता हुआ **सम्**=संगत हो।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा हमें 'शक्ति, दिव्यगुणों, ज्ञान व दीर्घजीवन' की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'शत्रुओं को जीतनेवाला' सोम

एष स्य सोमो मतिभिः पुनानोऽत्यो न वाजी तरतीदरातीः।
पयो न दुग्धमदितेरिषिरमुर्विव गातुः सुयमो न वोळ्हा॥ १५॥

एषः=यह **स्य**=प्रसिद्ध **सोमः**=सोम (वीर्य) **मतिभिः**=मननपूर्वक किये गये प्रभु के स्तोत्रों से **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ, **अत्यःवाजी न**=शक्तिशाली घोड़े के समान **अरातीः तरति इत्**=शत्रुओं को तैर ही जाता है। शरीर में सुरक्षित सोम रोगकृमि व वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला होता है। यह सोम क्रिया है? यह तो **अदितेः**=इस अदीना देवमाता वेदवाणीरूप गौ के **दुग्धम्**=दोहे हुए **पयः न**=दूध के समान है। **इषिरम्**=यह हमें कर्मों की प्रेरणा देनेवाला है। यह सोम **उरु गातुः इव**=विशाल मार्ग के समान सबसे समादरणीय है। **सुयमः**=सुनियन्तित **वोढा न**=अश्व के समान यह हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शक्तिशाली घोड़े के समान शत्रु विजय का साधन है। ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करानेवाला, हृदय को विशाल मार्ग की ओर प्रेरित करनेवाला तथा सुनियन्त्रित अश्व के समान लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आचीभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

'नामस्मरण-शक्ति-गति और ज्ञान' की ओर

स्वायुधः सोतृभिः पूयमानोऽभ्यर्ष गुह्यं चारु नाम।
अभि वाजं सप्तिरिव श्रवस्याभि वायुमभि गा देव सोम॥ १६॥

इस सोम के रक्षण से 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप जीवन संग्राम के आयुध सुन्दर बनते हैं। सो कहते हैं कि **स्वायुधः**=उत्तम आयुधों वाला, **सोतृभिः**=उत्पन्न करने वालों से **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **गुह्यम्**=बुद्धिरूप गुहा में स्थित **चारु**=सुन्दर **नाम**=प्रभु के नाम को **अभ्यर्ष**=(अभिगमय) प्राप्त करा। हम बुद्धिपूर्वक अर्थ का चिन्तन करते हुए प्रभु के नाम का जप करें। **श्रवस्याः**=हमें यशस्वी बनाने की कामना से **सप्तिः इव**=संग्राम में घोड़े की तरह **वाजं अभि**=शक्ति की ओर ले चल। **वायुं अभि**=गतिशीलता की ओर ले चल। हे **देव**=प्रकाशमय **सोम**=वीर्यशक्ते! **गाः अभि**=ज्ञान की वाणियों की ओर ले चल।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें प्रभु के नाम की ओर ले चलता है, हमें प्रभु के नाम के जप को करनेवाला बनाता है, शक्ति, गति और ज्ञान की वाणियों की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

'शिशु-जज्ञान-हर्यत-वह्नि' सोम

शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति वह्निं मरुतो गणेन।
कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन्त्सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥ १७॥

शिशुम्=बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले (शो तनूकरणे), **जज्ञानम्**=शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले, **हर्यतम्**=कमनीय इस सोम को प्राण **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। इस **वह्निम्**=हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाले सोम को **मरुतः**=प्राण **गणेन**=अपने समूह से **शुम्भन्ति**=शोभित करते हैं। यह सोम **कविः**=क्रान्तदर्शी-सूक्ष्म बुद्धि वाला है। **गीर्भिः**=इन ज्ञानवाणियों के द्वारा तथा **काव्येन**=वेदवाणीरूप काव्य के द्वारा **कविः सन्**=क्रान्तदर्शी होता हुआ यह **सोमः**=सोम **रेभन्**=प्रभुस्तवन करता हुआ **पवित्रम्**=पवित्र हृदय वाले पुरुष को **अति एति**=अतिशयेन प्राप्त होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमारी बुद्धियों को तीव्र करता है, हमारे सद्गुणों का विकास करता है, कमनीयता का कारण होता है, लक्ष्यस्थान पर पहुँचाता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ऋषिमनाः ऋषिकृत्' सोमः

ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम्।
तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजति ष्टुप्॥ १८॥

ऋषिमनाः=ऋषियों के मन के समान मन वाला **यः**=जो सोम है वह **ऋषिकृत्**=हमें ऋषि बनाता है **स्वर्षाः**=प्रकाश को प्राप्त कराता है, **सहस्रणीथः** (**नीथाः स्तुतिः**)=शत स्तुतियों वाला है। हमें सदा प्रभुस्तवन की वृत्ति वाला बनाता है। **कवीनाम् पदवीः**=ज्ञानियों के मार्ग को

कान्त बनाता है (वी-कान्ति) यह **महिषः**=(मह पूजयाम्) प्रभु पूजन की वृत्ति वाला **सोमः**=सोम **तृतीयं धाम**='प्रकृति व जीव' से ऊपर उठकर प्रभुरूप तृतीय स्थान को **सिषासन्**=(संभक्तुमिच्छन्) सेवित करने की इच्छा करता हुआ **स्तुप्**=काम-क्रोध-लोभ को रोकनेवाला (To stop) सोम **विराजं अनुराजति**=उस देदीप्यमान प्रभु के अनुसार दीप्ति वाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'ऋषि' बनाता है। प्रभु के समान दीप्ति वाला करता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'श्येनः शकुनः' सोमः

चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥ १९॥

चमूषत्=द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में आसीन होनेवाला सोम **श्येनः**=शंसनीय-गतिवाला है, विचारों की उत्तमता के कारण सदा उत्तम कर्मों वाला होता है। **शकुनः**=हमें शक्तिशाली बनाता हुआ **विभृत्वा**=विशेषरूप से हमारा भरण करता है। **गोविन्दुः**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला यह सोम **द्रप्सः**=हर्ष का कारण होता है। यह **आयुधानि**='इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप आयुधों का **बिभ्रत्**=धारण करता है। **अपां ऊर्मिम्**=कर्मों के प्रेरक **समुद्रम्**=वेदवाणीरूप ज्ञानसमुद्र को **सचमानः**=सेवन करता हुआ **महिषः**=यह पूजा की वृत्ति वाला सोम **तुरीयं धाम**='जागरित स्वप्न सुषुप्ति' इन तीन से ऊपर समाधिजन्य तुरीय स्थिति को, योगानिद्रा को **विवक्ति**=हमारे जीवनों में व्यक्त करता है, हमारे जीवनों में हम इस सोमरक्षण से उस तुरीयावस्था का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—सोम हमें शंसनीयगतिवाला व शक्तिशाली बनाता हुआ अन्तः तुरीयावस्था को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

'शुद्धि-संपत्ति-शक्ति व ज्ञान' का साधन सोम

मर्यो न शुभ्रस्तन्वं मृजानोऽत्यो न सृत्वा सनये धनानाम्।
वृषेव यूथा परि कोशमर्षन्कनिक्रदच्चम्वो३रा विवेश॥ २०॥

शुभ्रः मर्यः न=एक स्वच्छ वृत्ति के मनुष्य की तरह **तन्वम्**=शरीर को यह सोम **मृजानः**=शुद्ध करता है सोमरक्षण से शरीर में रोग नहीं रहते, मन में वासना नहीं रहती। इस प्रकार शरीर शुद्ध हो जाता है। **सृत्वा**=संग्राम में गति करनेवाले **अत्यः न**=अश्व के समान यह सोम **धनानां सनये**=अन्नमय आदि कोशों के तेजस्विता आदि धनों की प्राप्ति के लिये होता है। घोड़ा भी संग्राम में विजय को प्राप्त करा के धन लाभ का कारण बनता है। **इव**=जैसे **वृषा**=एक शक्तिशाली वृषभ **यूथा**=गोवृन्द की ओर **परि अर्षन्**=जाता हुआ शब्द करता है, इसी प्रकार यह सोम **कोशम्**=अन्नमय आदि कोशों की ओर जाता हुआ **कनिक्रदत्**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **चम्वोः आविवेश**=द्यावापृथिवी में प्रविष्ट होता है। शरीर व मस्तिष्क ही पृथ्वी व द्युलोक हैं। इनमें प्रविष्ट हुआ-हुआ सोम शरीर को शक्ति से तथा मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त बनाता है।

भावार्थ—सोम शरीर को शुद्ध बनाता है। सब अन्नमय आदि कोशों के धनों को प्राप्त कराता है। एक-एक कोश में प्रविष्ट होता हुआ, प्रभुस्मरण की ओर हमारा झुकाव करता हुआ यह सोम

शरीर को सशक्त तथा मस्तिष्क को दीप्त करता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'कनिक्रत्+क्रीडन्'

पव॑स्वेन्दो॒ पव॑मानो॒ महो॑भिः॒ कनि॑क्रद॒त्परि॒ वारा॑ण्यर्ष।
क्रीळ॒ञ्चम्वो॒३॑रा वि॑श पू॒यमा॑न॒ इन्द्रं॑ ते॒ रसो॑ मदि॒रो म॑मत्तु॥ २१॥

हे **इन्दो**=सोम! तू **महोभिः**=अपने तेजों से **पवमानः**=हमें पवित्र करता हुआ **पवस्व**=प्राप्त हो। **कनिक्रदत्**=प्रभु के नामों का स्मरण करता हुआ **वाराणि**=वरणीय धनों को **परि अर्ष**=(अभिगमय) प्राप्त करा। सोम तेजस्विता द्वारा हमें पवित्र करता है, प्रभुस्मरण की ओर हमारा झुकाव करता है, तथा सब वरणीय धनों को प्राप्त कराता है। **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ, वासनाओं से मलिन न होता हुआ तू **क्रीडन्**=हमें कीड़क की मनोवृत्ति वाला बनाता हुआ **चम्वोः**=द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में **आविशः**=प्रवेश कर। **ते**=तेरा **मदिरः**=आनन्द को देनेवाला **रसः**=रस (सार) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **ममत्तु**=आनन्दित करे। तेरे रक्षण से उत्पन्न शक्ति जीवन को उल्लासमय बनाये।

भावार्थ—सोम तेजस्विता द्वारा हमें पवित्र करे। वरणीय धनों को प्राप्त कराये। हमें कीड़क की मनोवृत्ति वाला बनाये (sport's man like spirit)।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'साम कृण्वन्-सामन्यः' सोमः

प्रास्य॒ धारा॑ बृह॒तीर॑सृग्रन्न॒क्तो गोभिः॑ क॒लशाँ॒ आ वि॑वेश।
साम॑ कृ॒ण्वन्त्सा॑म॒न्यो॑ विप॒श्चित्क्रन्द॑न्नेत्य॒भि सख्यु॒र्न जा॒मिम्॥ २२॥

अस्य=इस सोम की **बृहतीः**=वृद्धि की कारणभूत **धाराः**=धारायें **प्र असृग्रन्**=प्रकर्षेण सृष्ट होती हैं। **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **अक्तः**=कान्त बनाया गया यह सोम **कलशान्**=इन सोलह कलाओं के आधारभूत शरीर में **आविवेश**=समन्तात् प्रवेश करता है। **साम कृण्वन्**=शान्ति को करता हुआ यह सोम **सामन्यः**=(समनम्=संग्राम नाम नि० २.१७) समन में, संग्राम में कुशल है। रोगकृमि आदि को संग्राम में समाप्त करके ही यह शान्ति को प्राप्त कराता है। **विपश्चित्**=यह ज्ञानी है, बुद्धि का वर्धन करके हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला है। **क्रन्दन्**=प्रभु का आह्वान करता हुआ यह **सख्युः**=उस सखा प्रभु की **जामिम्**=पत्नी के समान जो यह वेदवाणी है, इसकी **अभि एति**=ओर यह जानेवाला होता है। सोमरक्षक ज्ञान की ओर झुकाव वाला होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय की प्रवृत्ति, वासनाओं से बचाकर, हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है। यह सोम 'शान्ति-ज्ञान-प्रभुप्रवणता' को देता हुआ हमें वेदवाणी की ओर ले जाता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शकुनः व पत्वा

अ॒प॒घ्नन्ने॑षि पवमान॒ शत्रू॑न्प्रि॒यां न जा॒रो अ॒भिगी॑त॒ इन्दुः॑।
सीद॒न्वने॑षु शकु॒नो न पत्वा॒ सोमः॑ पुना॒नः क॒लशे॑षु॒ सत्ता॑॥ २३॥

हे **पवमानः**=पवित्र करनेवाले सोम! **शत्रून्**=रोगकृमियों व काम-क्रोध आदि को **अपघ्नन् एषि**=नष्ट करता हुआ तू प्राप्त होता है। **जारः न**=एक स्तोता की तरह तू **प्रियाम्**=इस प्रभु की

प्रिय वेदवाणी को (एषि) प्राप्त होता है। और **अतएव-अभिगीतः**=स्तुति की वृत्ति वाला होता है और **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनाता है (इन्द् To be powerful) **वनेषु**=उपासकों में **सीदन्**=स्थित होता हुआ तू **शकुनः न**=शक्तिशाली के समान **पत्वा**=निरन्तर गतिशील होता है। हमारे जीवनों को तू क्रियामय बनाता है। यह **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **सोमः**=सोम **कलशेषु सत्ता**=शरीर कलशों में स्थित होनेवाला होता है।

भावार्थ—सोम शत्रुओं का विनाश करता है। हमें वेदवाणी की ओर झुकाता है। शक्तिशाली व क्रियाशील बनाता है।

ऋषिः—**प्रतर्दनो देवोदासिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सुदुघाः सुधाराः' रुचः

आ ते रुचः पर्वमानस्य सोम योषेव यन्ति सुदुघाः सुधाराः ।
हरिरानीतः पुरुवारो अप्स्वचिक्रदत्कलशे देवयूनाम् ॥ २४ ॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **ते पवमानस्य**=पवित्र करनेवाले **ते**=तेरी **रुचः**=दीप्तियाँ **सुदुघाः**=हमारा उत्तम प्रपूरण करनेवाली हैं तथा **सुधाराः**=उत्तम धारण करनेवाली हैं। ये दीप्तियाँ **योषा इव**=सब बुराइयों को दूर करनेवाली व अच्छाइयों को मिलानेवाली होती हुई **आयन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। **हरिः**=यह सब रोगों व वासनाओं का हर्ता सोम **आनीतः**=शरीर में चारों ओर प्राप्त कराया हुआ **पुरुवारः**=बहुत वरणीय धनों वाला होता है। **देवयूनाम्**=दिव्यगुणों की कामना वाले पुरुषों के **कलशे**=इस शरीर कलश में यह **अप्सु**=कर्मों में **अचिक्रदत्**=उस प्रभु का आह्वान करता है। अर्थात् सोमरक्षक पुरुष प्रभु का स्मरण करता है और कार्यों में प्रवृत्त रहता है 'मामनुस्मर युध्य च'। यह प्रभुस्मरण पूर्वक कार्यों को करना ही उसे पवित्र जीवन वाला बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से उत्पन्न दीप्तियाँ हमारे में उत्तमताओं को भरती हैं और हमारा धारण करती हैं। सोमरक्षक पुरुष प्रभुस्मरण पूर्वक कार्यों में प्रवृत्त रहता है।

अगले सूक्त में भी वसिष्ठ आदि ऋषि 'पवमान सोम' का ही यशोगान करते हैं—

[९७] सप्तनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रेषा, हेमना

अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम् ।
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन्मितेव सद्म पशुमान्ति होता ॥ १ ॥

अस्य=इस प्रभु की **प्रेषा**=प्रेरणा से तथा **हेमना**=ज्ञानज्योति से **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ **देवः**=यह दिव्यगुणों को जन्म देनेवाला सोम (वीर्य) **देवेभिः**=देववृत्ति वाले पुरुषों के साथ **रसं समपृक्त**=उस आनन्दमय प्रभु को संपृक्त करता है 'रसौ वै सः' सोमरक्षण के द्वारा देववृत्ति के पुरुष प्रभु को प्राप्त करते हैं, सोम का रक्षण चित्तवृत्ति की एकाग्रता से प्रभु प्रेरणा को सुनने व स्वाध्याय से ज्ञानवृद्धि के द्वारा होता है। **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **रेभन्**=प्रभु का साधन करता हुआ, अपने रक्षक को प्रभु का स्तोता बनाता हुआ **पवित्रम्**=पवित्र हृदयवाले पुरुष को **पर्येति**=शरीर में चारों ओर प्राप्त होता है। इस प्रकार प्राप्त होता है, **इव**=जैसे कि **होता**=यज्ञशील पुरुष **मिता**=बड़े माप से बनाये हुए **पशुमान्ति**=प्रशस्त पशुओं वाले **सद्म**=यज्ञगृहों को प्राप्त होता है। इन यज्ञगृहों में 'अग्निहोत्री' गौ बंधी होती है, इसके ही दूध से घृत आदि प्राप्त करके यज्ञों

की सिद्धि होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि हम ध्यान व स्वाध्याय की वृत्ति को अपनायें। इससे हम देव बनेंगे, प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भद्रा वस्त्रा समन्यावसानः

भद्रा वस्त्रा समन्या३ वसानो महान्कविर्निवचनानि शंसन्।
आ वच्यस्व चम्वोः पूयमानो विचक्षणो जागृविर्देववीतौ॥ २॥

हे सोम! तू गतमन्त्र के अनुसार प्रभुस्मरण व स्वाध्याय के द्वारा **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ **चम्वोः**=इन द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में **आवच्यस्व**=समन्तात् कहा जाये, शरीर में चारों ओर तेरा प्रवेश हो। वहाँ तू **भद्रा**=कल्याण कर **समन्या**=संग्राम के योग्य **वस्त्रा**=आच्छादक तेजों को **वसानः**=धारण करता हुआ हो। तूने ही तो रोगकृमियों व अशुभवृत्तियों के साथ संग्राम करना है। इस प्रकार **महान्**=तू हमारे जीवन को नीरोग व निष्पाप बनाकर महान् बना। **कविः**=क्रान्तदर्शी बना। **निवचनानि**=नम्रता से बोले जानेवाले स्तुतिवचनों को **शंसन्**=उच्चारित करनेवाला हो, हमें स्तुतिमय जीवन वाला बना। **विचक्षणः**=प्रत्येक वस्तु को बारीकी से देखनेवाला हो और **देववीतौ**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त सदा **जागृविः**=जागरित हो। तू हमें बुद्धिमान् व दिव्यगुणों वाला बना।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम रोगकृमियों के साथ संग्राम के योग्य तेज को प्राप्त कराता है। यह हमारे जीवन को पवित्र व विवेकशील बनाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यशसां यशस्तरः

समु प्रियो मृज्यते सानो अव्ये यशस्तरो यशसां क्षैतो अस्मे।
अभि स्वर धन्वा पूयमानो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ३॥

प्रियः=प्रीति व आनन्द का जनक यह सोम **उ**=निश्चय से **अव्ये**=रक्षण करने वालों में उत्तम पुरुष में **सानो**=शिखर पर, अर्थात् मस्तिष्क में **सं मृज्यते**=सम्यक् शुद्ध किया जाता है। स्वाध्याय की प्रवृत्ति ही सोम को वासनाओं से मलिन होने से बचाती है। यह शुद्ध हुआ-हुआ सोम **अस्मे**=हमारे लिये **यशसां यशस्तरः**=उत्तम यशस्वियों में भी यशस्विता का कारण बनता है। **क्षैतः**=इस प्रकार उत्तम निवास व गति का साधक होता है (क्षि निवासगत्योः) हे सोम! तू **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ **धन्वा**=अन्तरिक्ष में, हृदयान्तरिक्ष में **अभिस्वर**=प्रातः-सायं प्रभु-स्तुति के शब्दों का उच्चारण करनेवाला हो। हे सोमकणो! **यूयं**=तुम **सदा**=सब कालों में **नः**=हमें **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **पात**=रक्षित करनेवाले होवो। इन सोमकणों के द्वारा हम सुरक्षित सुन्दर जीवनवाले बनें।

भावार्थ—सोमरक्षण का यही साधन है कि हम शरीर के शिखर मस्तिष्क में इसे ज्ञानाग्नि का ईंधन बनायें, स्वाध्यायशील हों। सुरक्षित सोम हमें यशस्वी बनाता है, यह हमें प्रभुस्मरण की वृत्ति वाला बनाता है।

ऋषिः—**इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महते धनाय

प्र गा॑यता॒भ्य॑र्चाम दे॒वान्त्सोमं॑ हिनोत म॒हते॒ धना॑य।
स्वा॒दुः प॑वाते॒ अति॒ वार॒मव्य॒मा सी॑दाति क॒लशं॑ देव॒युर्नः॑ ॥ ४ ॥

हे जीवो! **प्रगायत**=खूब ही प्रभु का गायन करो और हम सब **देवान् अभ्यर्चाम**=' माता, पिता, आचार्य' आदि देवों का आदर करें, शुश्रूषण करें। इसी प्रकार हम वासना से बच सकेंगे। वासना से ऊपर उठकर **सोमं हिनोत**=सोम को अपने अन्दर प्रेरित करो। यह अन्दर प्रेरित हुआ-हुआ सोम तुम्हारे **महते धनाय**=महान् ऐश्वर्य के लिये होगा। सोम ही तो सब कोशों को ऐश्वर्ययुक्त करता है। यह सोम **स्वादुः**=हमारे जीवनों को मधुर बनानेवाला है यह **वारम्**=वासनाओं का निवारण करनेवाले पुरुष को, **अव्यम्**=रक्षण करने वालों में उत्तम पुरुष को **अति**=अतिशयेन **पवाते**=प्राप्त होता है। **देवयुः**=दिव्यगुणों को हमारे साथ जोड़नेवाला यह सोम **नः कलशम्**=हमारे शरीररूपी कलश में **आसीदाति**=आसीन होता है। शरीर में स्थिर हुआ-हुआ यह सोम ही शरीर की सब कलाओं का साधक होता है। यही इसे 'स-कल' (पूर्ण) बनाता है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन व माता-पिता, आचार्य आदि देवों का अर्चन हमें सोमरक्षण के योग्य बनाता है। क्योंकि इस प्रकार हम वासनाओं से बचे रहते हैं। सुरक्षित सोम हमारे महान् ऐश्वर्य का साधक होता है।

ऋषिः—**इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पूर्वंधाम अनु अगन्

इन्दु॑र्दे॒वाना॒मुप॑ स॒ख्यमा॒यन्त्स॒हस्र॑धारः पवते॒ मदा॑य।
नृ॒भिः स्तवा॑नो॒ अनु॒ धाम॒ पूर्व॒मग॒न्निन्द्रं॑ मह॒ते सौभ॑गाय ॥ ५ ॥

इन्दुः=हमें शक्तिशाली बनानेवाला यह सोम **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों के **सख्यम्**=मित्रता को **उपायन**=प्राप्त होता हुआ, अर्थात् देववृत्ति के पुरुषों से अपने अन्दर सुरक्षित किया जाता हुआ **सहस्रधारः**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला होता है और **मदाय**=आनन्द के लिये **पवते**=प्राप्त होता है। सुरक्षित सोम जीवन में उल्लास का कारण बनता है। **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले पुरुषों से **स्तवानः**=स्तुति किया जाता हुआ यह सोम **पूर्वं धाम**=अपने प्राचीन गृह, अर्थात् ब्रह्मलोक की **अनु अगन्**=ओर जानेवाला होता है। जब हम सोम गुणों का शंसन करते हुए सोम का रक्षण करते हैं, तो यह सोम हमें ब्रह्म को प्राप्त करानेवाला होता है। यह सोम **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिये प्राप्त होता है।

भावार्थ—जब हम देववृत्ति को अपना कर सोम का रक्षण करते हैं, तो यह हमें उल्लासमय जीवन वाला बनाता है और अन्ततः प्रभु की प्राप्ति करानेवाला होता है। यह हमारे महान् सौभाग्य का कारण बनता है।

ऋषिः—**इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रं मदो गच्छतु ते भराय

स्तो॒त्रे रा॒ये हरि॑रर्षा पुना॒न इन्द्रं॒ मदो॑ गच्छतु ते॒ भरा॑य।
दे॒वैर्या॑हि स॒रथं॒ राधो॒ अच्छा॑ यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥ ६ ॥

हे सोम! **हरिः**=सब दुःखों का हरण करनेवाला होता हुआ तू **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **स्तोत्रे**=अपने स्तवन करनेवाले के लिये **राये अर्षा**=ऐश्वर्य के लिये प्राप्त हो। अपने स्तोता को तू ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाला है। **ते मदः**=तेरा मद, तेरे रक्षण से उत्पन्न हुआ-हुआ उल्लास **भराय**=रोगों व वासनाओं से संग्राम के लिये **इन्द्रं गच्छतु**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को प्राप्त हो। हे सोम! तू **देवैः**=दिव्यगुणों के साथ **सरथम्**=समान शरीररूप रथ पर आरूढ़ होकर **राधः अच्छः**=ऐश्वर्य की ओर **याहि**=जा। तू शरीर में सुरक्षित होने पर दिव्यगुणों व ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला हो। हे सोमकणो! **यूयम्**=तुम **सदा**=हमेशा **नः**=हमें **स्वस्तिभिः**=कल्याणमय स्थितियों के द्वारा **पात**=सुरक्षित करो। इन सोमकणों के रक्षण से हम सदा कल्याणमार्ग के पथिक बनें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ऐश्वर्य उल्लास व शुभकर्मों को प्राप्त करानेवाला होता है। यह हमें जीवन संग्राम के लिये उल्लासमय बनाता है।

ऋषिः—**वृषगणो वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः

प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन्॥ ७॥

उशनाः इव=हमारे हित की कामना करता हुआ-सा यह सोम **काव्यम्**=उत्कृष्ट ज्ञान को **प्र ब्रुवाणः**=हमारे जीवन में करता हुआ होता है। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि तीव्र होकर हमारे उत्कृष्ट ज्ञान का कारण बनती है। **देवः**=यह प्रकाशमय सोम **देवानां जनिमा**=दिव्यगुणों के जन्मों को, दिव्यगुणों के प्रादुर्भाव को **विवक्ति**=हमारे जीवन में कहता है, अर्थात् सुरक्षित हुआ-हुआ यह दिव्यगुणों के विकास का कारण बनता है। **महिव्रतः**=यह महनीय व्रतों वाला होता है। अपने रक्षक को उत्कृष्ट पुण्य कार्यों का करनेवाला बनाता है। **शुचिबन्धुः**=शुचिता व पवित्रता को हमारे साथ जोड़नेवाला होता है। **पावकः**=पवित्र करनेवाला तो यह है ही। **पदा**=अपनी गति से यह सोम **वराहः**=(वरं-वरं आहन्ति, हन्-गतौ) सब उत्कृष्ट वस्तुओं को प्राप्त कराता है। यह सोम **रेभन्**=प्रभु का स्तवन करता हुआ **अभ्येति**=शरीर में चारों ओर गतिवाला होता है। रुधिर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम शरीरस्थ रोगकृमियों व वासनाओं को विनष्ट कर देता है।

भावार्थ—यह सोम रक्षित होने पर ज्ञान व दिव्यता को प्राप्त कराता है। महनीय व्रतों वाला, पवित्रता को हमारे साथ जोड़नेवाला है।

ऋषिः—**इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

तृपलं मन्युं अच्छ

प्र हंसासस्तृपलं मन्युमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः।
आङ्गूष्यं१ पवमानं सखायो दुर्मर्षं साकं प्र वदन्ति वाणम्॥ ८॥

हंसासः=(हन हिंसागत्योः) पाप का विनाश करनेवाले **वृषगणाः**=(वृष=धर्म) धर्म का सदा परिगान करनेवाले, विचार करनेवाले उपासक **अमात्**=इन काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के भय से कहीं हमें ये आक्रान्त न कर लें इस विचार से, **तृपलम्**=(क्षिप्र प्रहारिणं) इन पर शीघ्र प्रहार करनेवाले **मन्युम्**=ज्ञान के पुञ्ज (मनु अवबोधने) प्रभु की **अच्छ**=ओर **अस्तम्**=अपने घर की ओर **प्र अयासुः**=प्रकर्षेण आनेवाले होते हैं। ये 'इस वृषागण' प्रभु रूप गृह की ओर आते हैं जिससे वहाँ सुरक्षित हुए-हुए वे शत्रुओं से आक्रान्त न हों। वहाँ घर में स्थित हुए-हुए **सखायः**=ये

मित्र **साकं**=मिलकर **प्रवदन्ति**=उस प्रभु का गुणगान करते हैं, जो **आंगूष्यम्**=स्तुति के योग्य हैं, **पवमानम्**=स्तोताओं के जीवनों को पवित्र बनानेवाले हैं, **दुर्मर्षम्**=बुरी तरह से काम-क्रोधादि शत्रुओं का मर्षण करनेवाले हैं और **वाणम्**=ज्ञान की वाणियों के स्वामी हैं अथवा संभजनीय हैं। ये प्रभु ही तो हमें शत्रुओं के आक्रमण के भय से बचाते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्तवन ही शत्रुभय से बचने का उपाय है।

ऋषिः—**इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तिग्मशृङ्गः-ऋज्रः

स रंहत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीळन्तं मिमते न गावः।
परीणसं कृणुते तिग्मशृङ्गो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृज्रः ॥ ९ ॥

स=वह सोम **उरुगायस्य**=खूब स्तुत्य प्रभु की **जूतिम्**=(Impulse) प्रेरणा की ओर **रंहते**=जाता है सोमरक्षण से हृदय की पवित्रता होकर प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है। उस **वृथा**=अनायास **क्रीडन्तम्**=इस सृष्टिरूप क्रिया को करते हुए प्रभु को **गावः**=इन्द्रियाँ **न मिमते**=मापनेवाली नहीं होती। इन्द्रियाँ प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होती। सोम ही सुरक्षित होने पर बुद्धि को तीव्र करता है और हमें प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाता है। यह **तिग्मशृंगः**=तेज सीगों वाला, अर्थात् तीव्र शत्रुनाशक शक्ति वाला यह सो **परीणसं कृणुते**=(बहुविध तेजः) नाना प्रकार के तेजों को हमारे शरीर में उत्पन्न करता है, अंग-प्रत्यंग को तेजस्वी बनाता है। यह **हरिः**=सब रोगों का हरण करनेवाला सोम **दिवानक्तम्**=दिन-रात **ऋज्रः**=(ऋज्=To earn) हमारे लिये शक्तियों का अर्जन करता हुआ **ददृशे**=दिखता है। सोम ही उस-उस शक्ति को हमारे अन्दर जन्म देता है और हमें नीरोग व निर्मल बनाता है।

भावार्थ—सोम ही हमें प्रभु प्रेरणा की ओर ले जाता है। यह ही सब तेजस्विताओं का संचय करता है। इन तेजों के द्वारा यह हमें नीरोग व निर्मल बनाता है।

ऋषिः—**मन्युर्वासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृजनस्य राजा

इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय।
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातीर्वरिवः कृण्वन्वृजनस्य राजा ॥ १० ॥

इन्दुः=यह शक्तिशाली सोम **वाजी**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला होकर **पवते**=प्राप्त होता है। यह **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **गोन्योघाः**=(गो नि ओघ) इन्द्रियों में निश्चय से प्राप्त होनेवाले रससमूहवाला है, इस सोम का ही रस सब इन्द्रियों में प्रवाहित होकर उन्हें शक्तिशाली बनाता है। यह **सोमः**=सोम **सहः**=बलकर रस को **इन्वन्**=प्रेरित करता हुआ **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिये होता है। यह सोम **रक्षः**=रोगकृमियों को व राक्षसी भावों को **हन्ति**=नष्ट करता है। **अरातीः**=शत्रुओं को **परिबाधते**=हमारे से दूर ही रोकता है। यह सोम **वरिवः कृण्वन्**=वरणीय धनों को करता हुआ **वृजनस्य राजा**=बल को हमारे जीवनों में दीप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शक्ति का संचार करता है। रोगकृमियों व मानस दुर्भावों का विनाश करता है।

ऋषिः—**मन्युर्वासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तिरः रोम पवते

अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रिदुग्धः।
इन्दुरिन्द्रस्य सख्यं जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो मदाय॥ ११ ॥

अध=अब यह सोम **मध्वा धारया**=माधुर्ययुक्त धारणशक्ति से **पृचानः**=हमें संपृक्त करता हुआ **तिरः**=अन्तर्हित सोम (रु शब्दे)=शब्द को **पवते**=प्राप्त कराता है। यह अन्तर्हित शब्द ही 'प्रभु प्रेरणा' है। इसे सामन्यतः हम सुन नहीं पाते। सोमरक्षण से पवित्र हृदय वाले होकर हम इसे सुनने के योग्य होते हैं। यह सोम **अद्रिदुग्धः**=(adore=आदृ) प्रभु के उपासकों से अपने में पूरित किया जाता है। **इन्दुः**=यह शक्तिशाली सोम **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **सख्यम्**=मित्रता को **जुषाणः**=सेवित करता हुआ **देवः**=प्रकाशमयता को देनेवाला होता है (देवः द्योतनात्)। यह **मत्सरः**=आनन्द का संचय करनेवाला सोम **देवस्य**=उस प्रकाशमय जीवनवाले सोमरक्षक पुरुष के **मदाय**=उल्लास के लिये होता है, सोमरक्षण से जीवन उल्लासमय बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से जीवन मधुर, उल्लासमय व प्रकाशमय बनता है। सोमरक्षण हमें प्रभु प्रेरणा के सुनने के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**मन्युर्वासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वेन रसेन पृञ्चम्

अभि प्रियाणि पवते पुनानो देवो देवान्त्स्वेन रसेन पृञ्चन्।
इन्दुर्धर्माण्यृतुथा वसानो दश क्षिपो अव्यत सानो अव्ये॥ १२ ॥

यह **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ सोम, वासनाओं के उबाल से मलिन न किया जाता हुआ सोम **प्रियाणि**=सब प्रिय धनों को, जीवनतत्त्वों को **अभिपवते**=प्राप्त कराता है। **देवः**=यह प्रकाशमयता को देनेवाला सोम **देवान्**=सब इन्द्रियों को **स्वेन रसेन**=अपने शक्तिप्रद रस से **पृञ्चन्**=संपृक्त करता है। सब इन्द्रियों को यही बल प्राप्त कराता है। **इन्दुः**=यह शक्तिशाली सोम **धर्माणि**=धारणात्मक शक्तियों को **ऋतुथा**=समय के अनुसार **वसानः**=धारण कराता है। **दशक्षिपः**=विषय वासनाओं को परे फेंकनेवाली दस इन्द्रियाँ इस सोम को **अव्ये**=रक्षण करने वालों में उत्तम पुरुष में **सानो**=शिखर पर, मस्तिष्करूप द्युलोक में **अव्यत**=भेजती हैं (गमयन्ति)। वहाँ यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञानदीप्त जीवन वाला बनाता है। सोम की ऊर्ध्वगति तभी होती है जब कि इन्द्रियाँ विषयों में न फँसी हों।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन के प्रियतत्त्वों को प्राप्त कराता है, इन्द्रियों को सशक्त बनाता है, धारकशक्ति को देता है और मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है।

ऋषिः—**उपमन्युर्वासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृषा शोणः

वृषा शोणो अभिकनिक्रदद्गा नदयन्नेति पृथिवीमुत द्याम्।
इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ प्रचेतयन्नर्षति वाचमेमाम्॥ १३ ॥

यह सोम **वृषा**=सब अंगों में शक्ति का सेचन करनेवाला है, **शोणः**=तेजस्वी है। **गाः अभिकनिक्रदद्**=ज्ञान की वाणियों का हमारे में उच्चारण करता है, यह उन ज्ञान की वाणियों

को हमें सुनने के योग्य बनाता है जो कि प्रभु से हृदयों में उच्चारित हो रही हैं। **नदयन्**=यह हमें प्रभु के स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवाला बनाता हुआ **पृथिवीं उत द्यां एति**=इस शरीररूप पृथिवी व मस्तिष्करूप द्युलोक में प्राप्त होता है। शरीर को यह सशक्त बनाता है, तो मस्तिष्क को दीप्तिमय। इस सोम के रक्षण के होने पर **आजौ**=संग्राम में **इन्द्रस्य इव**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापति के शब्द की तरह इस सोम का **वग्नुः**=शब्द **आशृण्व**=सर्वतः सुनाई पड़ता है। यह सोम शरीर में रोगकृमियों को व काम-क्रोध आदि आसुरभावों को विनष्ट करनेवाला होता है। यह सोम **इमां वाचम्**=प्रभु की इस वाणी को **प्रचेतयन्**=अच्छी प्रकार हमारे ज्ञान का विषय बनाता हुआ **आ अर्षति**=शरीर में सर्वत्र गतिवाला होता है। सोमरक्षण हमें तीव्र बुद्धि बनाकर प्रभु की वाणी को समझने के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें शक्ति देता है, प्रभु की प्रेरणा को सुनने के योग्य करता है, हमें प्रभु का स्तोता बनाता है, शरीरस्थ शत्रुओं का नाश करता है और वेदवाणी को समझने योग्य बनाता है।

ऋषिः—**उपमन्युर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रसाय्यः पवमानः

रसाय्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुम्।
पवमानः सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिषिच्यमानः॥ १४॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिषिच्यमानः**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में सिक्त होता हुआ तू **रसाय्यः**=जीवन को रसमय बनाता है। **पयसा**=आप्यायन शक्ति से, वर्धन शक्ति से **पिन्वमानः**=शरीर को सिक्त करता हुआ **मधुमन्तम्**=माधुर्ययुक्त **अंशुम्**=प्रकाश की किरण को **ईरयन्**=प्रेरित करता हुआ तू **एषि**=प्राप्त होता है। सोम शरीर में सुरक्षित होने पर जीवन को रसमय-वृद्धशक्ति वाला व माधुर्ययुक्त प्रकाश वाला बनाता है। हे सोम! **पवमानः**=पवित्र करता हुआ तू **सन्तनिं कृण्वन्**=सब शक्तियों के विस्तार को करता हुआ **एषि**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोम जीवन को रसमय, शक्ति सम्पन्न, प्रकाशमय व मधुर बनाता है।

ऋषिः—**उपमन्युर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रुशन्तं भरमाणः

एवा पवस्व मदिरो मदायोदग्राभस्य नमयन्वधस्नैः।
परि वर्णं भरमाणो रुशन्तं गव्युर्नो अर्ष परि सोम सिक्तः॥ १५॥

शरीर में जल रेतःकणों के रूप में है। इनका संयम (ग्रहण) करनेवाला व्यक्ति 'उद-ग्राभ' है। हे सोम! **एवा**=(इ गतौ) गतिशीलता के द्वारा **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **मदिरः**=तू मद व उल्लास का जनक है। **उद-ग्राभस्य**=रेतःकणों का ग्रहण व रक्षण करनेवाले के **मदायः**=तू आनन्द के लिये होता है। **वधस्नैः**=अपने हनन साधन आयुधों से तेजस्विता रूप अश्वों से **नमयन्**=तू शत्रुओं को नतमस्तक करनेवाला होता है। वस्तुतः शत्रुओं को नष्ट करते ही तू आनन्द का जनक होता है। रोग व वासना रूप शत्रुओं को नष्ट करके **रुशन्तं वर्णम्**=चमकते हुए रूप को **भरमाणः**=धारण करता हुआ, **गव्युः**=उत्तम इन्द्रियों को हमारे साथ जोड़ने की कामना वाला **परिसिक्तः**=शरीर में चारों ओर सिक्त हुआ-हुआ तू **परि अर्षा**=शरीर में चारों ओर गतिवाला हो।

भावार्थ—सोम का रक्षक पुरुष आनन्दमय जीवन वाला होता है, इसके रोग व वासना रूप

शत्रु नष्ट हो जाते हैं, यह दीप्तरूप को धारण करता है, प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होता है।

ऋषिः—**व्याघ्रपाद्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दुरितानि विघ्नन्

जुष्ट्वी न इन्दो सुपथा सुगान्युरौ पवस्व वरिवांसि कृण्वन्।
घनेव विष्वग्दुरितानि विघ्नन्नधि ष्णुना धन्व सानो अव्ये॥ १६॥

हे **इन्दो**=सोम! **जुष्ट्वी**=प्रीतिपूर्वक प्रभु का सेवन करता हुआ तू **नः**=हमारे लिये **सुपथा**=उत्तम मार्ग से **वरिवांसि**=धनों को **सुगानि**=सुखेन प्राप्तव्य **कृण्वन्**=करता हुआ **उरौ**=विशाल हृदय में **पवस्व**=प्राप्त हो सोमरक्षण से प्रभुस्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है, सुपथ से ही धनों के अर्जन का विचार बना रहता है, हृदय की विशालता प्राप्त होती है। हे सोम! तू **घनः इव**=लोहमय आयुध से ही मानो **विष्वक्**=सब ओर **दुरितानि**=बुराइयों को **विघ्नन्**=नष्ट करता हुआ, **अव्ये**=रक्षण करने वालों में उत्तम पुरुष में **ष्णुना**=अपने प्रवाह से **सानो अधि**=शिखर प्रदेश में, मस्तिष्क रूप में **धन्व**=गतिवाला हो। मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर, हे सोम! तू ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष प्रभुस्तवन की वृत्ति वाला होता है, सुपथ से ही धनार्जन करता है, विशाल हृदयवाला होता है, दुरितों से दूर रहता है, दीप्त ज्ञानाग्नि वाला बनता है।

ऋषिः—**व्याघ्रपाद्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दिव्यां वृष्टिं अर्ष

वृष्टिं नो अर्ष दिव्यां जिगत्नुमिळावतीं शंगयीं जीरदानुम्।
स्तुकेव वीता धन्वा विचिन्वन्बन्धूँरिमाँ अवराँ इन्दो वायून्॥ १७॥

सुरक्षित सोम अन्ततः धर्ममेघ समाधि में हमें पहुँचने के योग्य बनाकर दिव्य आनन्द की वर्षा को प्राप्त कराता है। इसी बात को कहते हैं कि हे सोम! तू **नः**=हमारे लिये **दिव्यां वृष्टिम्**=इस दिव्य-अलौकिक वर्षा को **अर्षः**=प्राप्त करा। जो वृष्टि **जिगत्नुं**=हमें गतिशील बनाती है, यह ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति अधिक क्रियाशील हो जाता है 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। **इडावतीम्**=यह वेदवाणी वाली है, इस दिव्य वृष्टि का अनुभव करनेवाला ज्ञान की ओर झुकता है। **शंगयीम्**=यह शान्ति का घर है, हमारे जीवन को शान्त बनाती है। **जीरदानुम्**=शीघ्रता से सब वरणीय वस्तुओं का हमारे लिये दान करती है या हमें उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराती है। हे **इन्दो**=सोम! **इमान्**=इन **अवरान् बन्धून्**=अवर देश में स्थित बन्धुभूत **वायून्**=प्राणों को **विचिन्वन्**=विशेषरूप से संचित करता हुआ **धन्वः**=शरीर में गतिवाला हो। उन प्राणों का संचय करता हुआ तू गतिवाला हो जो **स्तुकः इव**=कुञ्चित केशसमूह के समान **वीता**=सुन्दर है। प्राण उनचास भागों में बँटे हुए हैं, सब के सब बड़े सुन्दर हैं। ये तभी तक सुन्दर है जब तक कि मिलकर इनका कार्य होता रहे। अकेले प्राण का सौन्दर्य उसी प्रकार नहीं रहता जैसे कि एक बाल का। इन प्राणों की शक्ति भी सोमरक्षण से वृद्धि को प्राप्त होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली दिव्य वृष्टि को प्राप्त कराता है, प्राणों का विशेष रूप से संचय करता है।

ऋषिः—**व्याघ्रपाद्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

पस्त्यावान्

ग्रन्थिं न वि ष्य ग्रथितं पुनान ऋजुं च गातुं वृजिनं च सोम।
अत्यो न क्रदो हरिरा सृजानो मर्यो देव धन्व पस्त्यावान्॥ १८॥

हे सोम! **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू वासनाओं के उबाल से मलिन न होने दिया जाता हुआ तू **ग्रथितं**=विषयों से जकड़े हुए मुझको **विष्य**=इन बन्धनों से मुक्त कर। **ग्रन्थिं न**=जैसे कि एक गाँठ को खोल देते हैं, इस प्रकार तू मेरी हृदयग्रन्थियों को भिन्न करनेवाला हो। **च**=और हृदयग्रन्थियों को नष्ट करके तू मुझे **ऋतुं गातुम्**=सरल मार्ग **च**=तथा **वृजिनम्**=बल को प्राप्त करा। मैं विषयों से ऊपर उठकर सबल बनकर सरल मार्ग से जीवनयात्रा में आगे बढ़ूँ। **आसृजानः**=शरीर में चारों ओर सृष्ट=प्रेरित होता हुआ तू **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान क्रियाशील होकर **क्रदः**=उस प्रभु के नामों का उच्चारण कर। सोमरक्षण से मेरी प्रवृत्ति प्रभुस्मरण की बने। **हरिः**=तू सब रोगों का हरण करनेवाला हो, **मर्यः**=शत्रुओं का मारनेवाला हो। इस प्रकार **पस्त्यावान्**=इस शरीररूप गृह को प्रशस्त बनाता हुआ तू **देव**=हे प्रकाशमय सोम! **धन्व**=मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हृदयग्रन्थियों को भिन्न करे, सरलता व सबलता को प्राप्त कराये, प्रभु की ओर हमें झुकाये, रोगों को हरें, काम-क्रोध आदि को मारे, इस प्रकार शरीर गृह को उत्तम बनाये।

ऋषिः—**शक्तिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुरभिः अदब्धः

जुष्टो मदाय देवतात इन्दो परि ष्णुना धन्व सानो अव्ये।
सहस्रधारः सुरभिरदब्धः परि स्रव वाजसातौ नृषह्ये॥ १९॥

हे **इन्दो**=सोम! **मदाय**=उल्लास की प्राप्ति के लिये सेवित हुआ-हुआ तू **देवताते**=दिव्यगुणों का विस्तार करनेवाले **अव्ये**=रक्षकों में उत्तम पुरुष में **स्नुना**=अपने प्रवाह से **सानो**=शिखर प्रदेश में, मस्तिष्क रूप द्युलोक में **परिधन्व**=गतिवाला हो। वहाँ मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का तू ईंधन बन। **सहस्रधारः**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला, **सुरभिः**=जीवन को सुगन्धित व यशस्वी बनानेवाला, **अदब्धः**=रोगों व वासनाओं से हिंसित न हुआ-हुआ तू **नृषह्ये**=नरों द्वारा शत्रुओं का मर्षण करने योग्य **वाजसातौ**=शक्ति प्राप्ति के साधनभूत संग्राम में **परिस्रव**=हमारे शरीरों में चारों ओर गतिवाला हो। सुरक्षित सोम ही तो रोगों व वासनाओं का संहार करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें अध्यात्म संग्राम में विजयी बनाये। ज्ञानाग्नि को दीप्त करे। हमारे जीवन को यशस्वी करे और उल्लासमय बनाये।

ऋषिः—**शक्तिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ससृजानासः आजौ

अरश्मानो येऽरथा अयुक्ता अत्यासो न ससृजानास आजौ।
एते शुक्रासो धन्वन्ति सोमा देवासस्ताँ उप याता पिबध्यै॥ २०॥

ये=जो **अरश्मानः**=लगाम से रहित **अरथाः**=रथशून्य **अयुक्ताः**=अबद्ध **अत्यासः न**=घोड़ों

के समान तीव्र गति वाले **आजौ ससृजानासः**=जीवन संग्राम के निमित्त उत्पन्न किये जाते हुए **एते शुक्रासः**=ये शक्तिशाली **सोमाः**=वीर्यकण **धन्वन्ति**=तुम्हें प्राप्त होते हैं। प्रभु ने इन सोमकणों को जीवन संग्राम में विजय के लिये उत्पन्न किया है। ये अत्यन्त तीव्र गति वाले हैं। इनका बन्धन व रक्षण सुगम नहीं है। हे **देवासः**=देववृत्ति के पुरुषो! **तान्**=उनको **पिबध्यै**=पीने के लिये, अपने अन्दर ही सुरक्षित करने के लिये **उपयात**=प्रभु के समीप प्राप्त होवो, उपासना में बैठो। यह उपासना ही हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोमकण ही जीवन संग्राम में हमें विजयी बनाते हैं। उपासना इनके रक्षण में साधन बनती है।

ऋषिः—**शक्तिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दिव्य जीवन व उत्कृष्ट ऐश्वर्य

एवा न इन्दो अभि देववीतिं परि स्रव नभो अर्णश्चमूषु।
सोमो अस्मभ्यं काम्यं बृहन्तं रयिं ददातु वीरवन्तमुग्रम्॥ २१॥

हे **इन्दो**=सोम! **एवा**=इस प्रकार **नः**=हमारी **देववीतिम्**=दिव्यगुणों की प्राप्ति का **अभि**=लक्ष्य करके **चमूषु**=इन शरीर रूप पात्रों में **नभः अर्णः**=द्युलोक के जल को, मस्तिष्क रूप द्युलोक के ज्ञानजल को **परिस्रव**=प्राप्त करा। सोम ही सुरक्षित होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और ज्ञान को प्राप्त कराके हमारे जीवन में दिव्यगुणों की उत्पत्ति का कारण बनता है। **सोमः**=शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिं ददातु**=उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराये जो **काम्यम्**=वस्तुतः चाहने योग्य है, **बृहन्तम्**=वृद्धि का कारण बनता है, **वीरवन्तम्**=वीर सन्तानों वाला व **उग्रम्**=तेजस्वी है। सोमी पुरुष का धन उसके जीवन में अवाञ्छनीय प्रभावों को उत्पन्न नहीं करता, यह उसके सन्तानों को भी विलास में फँसानेवाला नहीं होता। यह सोमी पुरुष स्वयं भी धन का स्वामी, न कि दास, होता हुआ उग्र व तेजस्वी बनता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम ज्ञान को प्राप्त कराके हमें दिव्य जीवन वाला बनाता है तथा उत्कृष्ट ऐश्वर्य को यह प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**कर्णश्रुद्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वेदवाणियों का पति सोम

तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग्ज्येष्ठस्य वा धर्मणि क्षोरनीके।
आदीमायन्वरमा वावशाना जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम्॥ २२॥

वेनतः=प्रभु प्राप्ति की कामना वाले **मनसः**=विचारशील स्तोता की **वाक्**=वाणी **यत्**=जब निश्चय से **तक्षत्**=वासनाओं को क्षीण कर डालती है, छील देती है, **वा**=अथवा जब यह स्तोता की वाणी **ज्येष्ठस्य**=उस सर्वश्रेष्ठ **क्षोः**=हृदयस्थरूपेण वेदवाणियों को उच्चारण करनेवाले प्रभु के **धर्मणि अनीके**=धारक बल में इस स्तोता को क्षीण वासनाओं वाला करती है। **आत् ईम्**=तब शीघ्र ही **कलशे**=इस शरीर रूप कलश में **वरं आवशानाः**=शुभ की कामना करती हुई **गावः**=ये वेदवाणियाँ **इन्दुम्**=इस सोम को **आयन्**=प्राप्त होती हैं। इस प्रकार प्राप्त होती हैं जैसे कि कोई पत्नी **जुष्टं पतिम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित पति को प्राप्त होती है। वेदवाणियाँ पत्नी होती हैं, सोम पति होता है। प्रभु के स्तवन से वासनायें क्षीण होती हैं। उस समय शरीर में सोम के रक्षण का सम्भव होता है। यह सुरक्षित सोम हमें वेदवाणियों की प्राप्ति कराता है। ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर यह

वेदवाणियों के रहस्य को समझना हमारे लिये सुगम कर देता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। इससे सोम का रक्षण होगा। सुरक्षित सोम हमें ज्ञानवाणियों को समझने के योग्य बनायेगा।

ऋषिः—**शक्तिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुमेधाः

प्र दा॑नु॒दो दि॒व्यो दा॑नुपि॒न्व ऋ॒तमृ॒ताय॑ पवते सु॒मेधाः।
ध॒र्मा भु॑वद्वृज॒न्य॑स्य॒ राजा॒ प्र र॒श्मिभि॑र्द॒शभि॑र्भारि॒ भूम॑॥ २३॥

दानुदः=दानशील पुरुषों के लिये देनेवाले, **दानुपिन्वः**=इन दानशीलों को धनों से सिक्त करनेवाले **दिव्यः**=प्रकाशमय **सुमेधाः**=(शामेना प्रज्ञा यस्मात्) उत्तम मेधा को देनेवाले प्रभु **ऋताय**=नियमित जीवनवाले पुरुष के लिये **ऋतम्**=सत्य को **प्रपवते**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हैं। ये प्रभु इस उपासक के लिये **वृजन्यस्य**=बल के **धर्माभुवत्**=धारण करनेवाले होते हैं। **राजा**=वे दीप्त प्रभु **दशाभिः**=दश इन्द्रियों से सम्बद्ध **रश्मिभिः**=लगामों से अर्थात् दसों इन्द्रियों को मन रूप लगाम द्वारा निरुद्ध करने से **भूम**=खूब ही **प्रभारि**=धारण किये जाते हैं। प्रभु का दर्शन तभी होता है, जब कि इन्द्रियों को निरुद्ध किया जाये। विषयों में अनासक्त इन्द्रियों के होने पर आवृत्त चक्षु पुरुष ही उस प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

भावार्थ—प्रभु दर्शन के लिये आवश्यक है कि हमारा जीवन नियमित हो (ऋताय) तथा हम इन्द्रियों को निरुद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**शक्तिर्वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रयिपतिः रयीणाम्

प॒वित्रे॑भिः॒ पव॑मानो नृ॒चक्षा॒ राजा॑ दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम्।
द्वि॒ता भु॑वद्रयि॒पती॑ रयी॒णामृ॒तं भर॒त्सुभृ॑तं॒ चार्वि॑न्दुः॥ २४॥

पवित्रेभिः=पवित्र हृदय वाले पुरुषों से **पवमानः**=जाया जाता हुआ **नृचक्षाः**=मनुष्यों का ध्यान (रक्षण, चक्षा look after) करनेवाला **देवानाम्**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि देवों को **उत**=और इन पिण्डों में निवास करनेवाले **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों का **राजा**=शासक वह प्रभु **द्विता**=(द्वौ तनोति) मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में शक्ति का विस्तार करनेवाला **भुवद्**=होता है। वे प्रभु ही **रयीणां रयिपतिः**=धनों के स्वामी हैं। हे **इन्दः**=शक्तिशाली प्रभु! **चारु**=सुन्दर **सुभृतम्**=उत्तम भरण करनेवाले **ऋतं भरत्**=ऋत को, यज्ञ का भरण करते हैं। इन यज्ञों के द्वारा ही वे उपासकों को सब कल्याणों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस यज्ञ को ही प्राप्त कराया और कहा कि इसके द्वारा तुम फलो-फूलोगे, यह तुम्हारी इष्टकामनाओं को पूर्ण करेगा।

भावार्थ—प्रभु उपासकों को यज्ञशील बनाकर उनके ज्ञान व शक्ति का विस्तार करते हैं। यह यज्ञ ही उनके लिये सब ऐश्वर्यों के देनेवाला होता है।

ऋषिः—**मृळीको वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'द्रविणोवित्' सोम

अर्वाँ॑ इव॒ श्रव॑से सा॒तिमच्छेन्द्र॑स्य वा॒योर॒भि वी॒तिम॑र्ष।
स नः॑ स॒हस्रा॑ बृह॒तीरिषो॑ दा॒ भवा॑ सोम द्रविणो॒वित्पु॑न॒नः॥ २५॥

हे सोम! **इव**=जैसे युद्ध में **श्रवसे**=विजय के यश के लिये **अर्वान्**=घोड़ों को प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार **सातिम्**=प्रभु प्राप्ति का **अच्छ**=लक्ष्य करके **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के तथा **वायोः**=गतिशील पुरुष के **वीतिम्**=ज्ञान को **अधि अर्ष**=तू प्राप्त हो। अर्थात् जितेन्द्रिय व गतिशील पुरुष के द्वारा तेरा शरीर में ही व्यापन किया जाये जिससे वे इन्द्र व वायु प्रभु को प्राप्त कर सकें। शरीर में सोमरक्षण का ही अन्तिम परिणाम यह है कि ज्ञानाग्नि दीप्त होकर व बुद्धि सूक्ष्म होकर प्रभु का ग्रहण होता है। हे सोम! **सः**=वह तू **नः**=हमारे लिये **सहस्रा**=हजारों **बृहतीः**=बुद्धि की कारणभूत **इषः**=प्रेरणाओं को **दाः**=दीजिये। सोमरक्षण से पवित्र हृदय होकर हम प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें। हे **सोम**=वीर्य! तू **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **द्रविणोवित्**=सब अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला **भवा**=हो। सोमरक्षण से हमारे सब कोश क्रमशः 'तेज, वीर्य, बल व ओज, ज्ञान व सहनशक्ति' से परिपूर्ण होते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व गतिशील पुरुष सोम का रक्षण करते हैं। यह सोम प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है, हमारे हृदयों में इसके रक्षण से प्रभु प्रेरणा सुन पड़ती है, यह सब कोशों को ऐश्वर्ययुक्त करता है।

ऋषिः—**मृळीको वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवाव्यः (सोमाः)

देवाव्यो नः परिषिच्यमानाः क्षयं सुवीरं धन्वन्तु सोमाः।
आयज्यवः सुमतिं विश्ववारा होतारो न दिवियजो मन्द्रतमाः॥ २६॥

देवाव्यः=देववृत्ति के व्यक्तियों को प्रीणित करनेवाले **नः**=हमारे **परिषिच्यमानाः**=शरीर में चारों ओर सींचे जाते हुए **सोमाः**=सोमकण **सुवीरं क्षयम्**=उत्तम वीर पुत्रों वाले गृह को **धन्वन्तु**=प्राप्त करायें। सोमरक्षण से सदा उत्तम वीर सन्तान प्राप्त होते हैं। **सुमतिं आयज्यवः**=ये सोम शुभ बुद्धि को हमारे साथ संगत करनेवाले हैं। **विश्ववाराः**=सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। **होतारः न**=ये होताओं के समान हैं, वस्तुतः ये ही जीवनयज्ञ को चलानेवाले हैं। **दिवियजः**=प्रकाश में हमारा सम्पर्क करानेवाले व **मन्द्रतमाः**=स्तुत्यतम हैं, अथवा अधिक से अधिक आह्लाद को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'वीर सन्तानों वाले गृह को, सुमति को व ज्ञान के प्रकाश और आनन्द को' प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**मृळीको वासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुष्ठाने रोदसी

एवा देव देवताते पवस्व महे सोम प्सरसे देवपानः।
महश्चिद्धि ष्मसि हिताः समर्ये कृधि सुष्ठाने रोदसी पुनानः॥ २७॥

हे **देव**=प्रकाशमय **सोम**=वीर्य! तू **एवा**=गतिशीलता के द्वारा (इ गतौ) **देवताते**=दिव्यगुणों के विस्तार के निमित्त **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **देवपानः**=देववृत्ति के पुरुषों से तू पातव्य है। **महे प्सरसे**=तू महान् भक्षण के लिये हो, ब्रह्म (महान्) चर्य (भक्षण) के लिये हो। तेरे रक्षण से उत्कृष्ट ज्ञान का भक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले हैं, यही वास्तविक ब्रह्मचर्य है, ब्रह्म की ओर गति है। हे सोम! **हिताः**=तेरे से प्रेरित हुए-हुए हम **समर्ये**=संग्राम में **महः चित् हि**=महान् भी शत्रुओं को **ष्मसि**=अभिभूत करनेवाले हों। **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **रोदसी**=द्यावापृथिवी

को, मस्तिष्क व शरीर को **सुष्ठाने**=उत्तम स्थितिवाला **कृधि**=कर। सोम के द्वारा मस्तिष्क व शरीर की उत्तम स्थिति हो, मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति वाला हो तो शरीर शक्ति सम्पन्न हो।

भावार्थ—सुररिक्षत सोम महान् ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला हो। इसके द्वारा संग्राम में हम रोगकृमिरूप शत्रुओं को जीतनेवाले हों। हमारे मस्तिष्क व शरीर उत्तम स्थिति में हों।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सिंहो न भीमः

अश्वो न क्रदो वृषभिर्युजानः सिंहो न भीमो मनसो जवीयान्।
अर्वाचीनैः पथिभिर्ये रजिष्ठा आ पवस्व सौमनसं न इन्दो॥ २८॥

वृषभिः=अपने अन्दर सोम का सेचन करनेवाले पुरुषों से (वृषु सेचने) **युजानः**=शरीर के साथ जोड़ा जाता हुआ तू **अश्वः न क्रदः**=घोड़े के समान उस प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है। अर्थात् घोड़े की तरह सदा कर्मों में व्याप्त होता हुआ (अशू व्याप्तौ) तू प्रभु को पुकारता है, अकर्मण्य रहकर प्रभु के नाम की रट नहीं लगाता रहता। **सिंहः न भीमः**=शेर के समान तू शत्रुओं के लिये भयंकर है। **मनसः जवीयान्**=मन से भी अधिक वेगवान् है, सोम से जीवन में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। हे **इन्दो**=सोम! तू ये **रजिष्ठाः**=जो ऋजुतम मार्ग हैं उन **अर्वाचीनैः पथिभिः**=हमें अन्तर्मुखी वृत्ति का करनेवाले, अन्दर की ओर ले चलनेवाले मार्गों से **नः**=हमारे लिये **सौमनसम्**=उत्कृष्ट **मनः**=प्रसाद को **आपवस्व**=प्राप्त करा।

भावार्थ—सोमरक्षण से मनुष्य सरल मार्गों से सब व्यवहारों को करता हुआ मनःप्रसाद को प्राप्त करता है। यह सोम उसे स्फूर्ति देता है, उसके शत्रुओं का विनाश करता है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

महान् धन का अग्रदूत

शतं धारा देवजाता असृग्रन्त्सहस्रमेनाः कवयो मृजन्ति।
इन्दो सनित्रं दिव आ पवस्व पुरएतासि महतो धनस्य॥ २९॥

हे सोम! **देवजाताः**=दिव्यगुणों के विकास के लिये उत्पन्न हुई-हुई **शतं धाराः**=सैकड़ों तेरी धारायें **असृग्रन्**=उत्पन्न की जाती हैं। **कवयः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी पुरुष **सहस्रः**=हजारों प्रकार से **एनाः**=इन धाराओं को **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। इनके शोधन से ही वस्तुतः वे कवि बन पाते हैं। हे **इन्दो**=सोम! तू **दिवः सनित्रम्**=ज्ञान के धन को **आपवस्व**=सर्वथा प्राप्त करा। तू ही इस **महतः धनस्य**=महान् धन का **पुरः एता असि**=अग्रगन्ता है। तेरे रक्षण व शरीर में व्यापन के पश्चात् ही यह ज्ञान का महान् धन प्राप्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष सब प्रकार से सोम के शोधन के लिये, इसे वासनाओं के उबाल से मलिन न होने देने के लिये यत्नशील होते हैं। यह सुरक्षित सोम ही उन्हें ज्ञान के महान् धन को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अजीतिम् आपवस्व

दिवो न सर्गा असमृग्रमह्नां राजा न मित्रं प्र मिनाति धीरः।

पितुर्न पुत्रः क्रतुभिर्यतान आ पवस्व विशे अस्या अजीतिम्॥ ३०॥

अह्राम्=दिनों में विवस्वान् की **सर्गाः न**=रश्मियों की तरह जीवन में सोम की सर्गाः=धारायें-प्रवाह **अससृग्रम्**=उत्पन्न किये जाते हैं। ये सोम के प्रवाह ही ज्ञानरश्मियों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। **धीरः**=(धियं ईरयति) बुद्धि को प्रेरित करनेवाला **राजा**=जीवन को दीप्त करनेवाला सोम **मित्रम्**=अपने सखा को, अपने रक्षण करनेवाले को **न प्रमिनाति**=हिंसित नहीं करता। **क्रतुभिः**=शक्ति व प्रज्ञानों के साथ **यतानः**=यत्न करता हुआ **पुत्रः**=पुत्र **न**=जैसे **पितुः**=पिता के अपरभाव का कारण होता है, इसी प्रकार हे सोम! तू **अस्यै विशे**=इस प्रजा के लिये **अजीतिम्**=अपराभव को **आपवस्व**=प्राप्त करा। सुरक्षित सोम कभी भी हमें रोगों व काम-क्रोध रूप शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होने देता।

भावार्थ—सोम से हम 'प्रकाशमय, रोगादि से अनाक्रान्त, अपराभूत' जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—**पराशर साक्तः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

गानां धाम पवसे

प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन्वारान्यत्पूतो अत्येष्यव्यान्।
पवमान पवसे धाम गोनां जज्ञानः सूर्यमपिन्वो अर्कैः॥ ३१॥

हे सोम! **यत्**=जब **पूतः**=पवित्र किया हुआ तू **अव्यान्**=रक्षण करनेवाले **वारान्**=उत्तम पुरुषों को **अत्येषि**=अतिशयेन प्राप्त होता है, तो **ते**=तेरी **मधुमतीः**=माधुर्य को लिये हुए **धाराः**=धारण शक्तियाँ **प्रासृग्रन्**=अतिशयेन उत्पन्न की जाती हैं। तू उन **अव्य**=वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले पुरुषों को मधुर जीवन वाला बनाता है। **पवमान**=हे पवित्र करनेवाले सोम! तू **गोनाम्**=इन्द्रियों के **धाम**=तेज को **पवसे**=प्राप्त कराता है सब इन्द्रियों को यह सोम ही शक्तिशाली बनाता है। **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होता हुआ, हे सोम! तू **अर्कैः**=अपने स्तुत्य तेजों से **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **अपिन्वः**=पूरित करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को मधुर बनाता है, इन्द्रियों को तेजस्वी करता है, ज्ञान सूर्य को दीप्त करता है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अमृतस्य धाम

कनिक्रददनु पन्थामृतस्य शुक्रो वि भास्यमृतस्य धाम।
स इन्द्राय पवसे मत्सरवान्हिन्वानो वाचं मतिभिः कवीनाम्॥ ३२॥

शुक्रः=शुद्ध सोम वासनाओं की मलिनता से रहित सोम **ऋतस्य**=यज्ञ के **पन्थाम्**=मार्ग को **अनुकनिक्रदत्**=अनूदित फिर-फिर उच्चारित करता है। अर्थात् सोमरक्षक पुरुष का जीवन यज्ञमय बनता है। हे सोम! तू **अमृतस्य**=नीरोगता का **धाम**=घर होता हुआ **विभासि**=विशिष्ट शोभा वाला होता है। अपने रक्षक को यह सोम नीरोग व तेजस्वी बनाता है। **मत्सरवान्**=प्रशस्त आनन्द के संचार करनेवाला **सः**=वह तू **इन्द्राय पवसे**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये प्राप्त होता है। तू **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शी ज्ञानियों की **मतिभिः**=बुद्धियों के साथ **वाचम्**=ज्ञान की वाणी को **हिन्वानः**=(प्रेरयन्) प्रेरित करता है। सोमरक्षण से बुद्धि सूक्ष्म बनती है और ज्ञान की वृद्धि होती है।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों को 'यज्ञमय, नीरोग, आनन्दयुक्त व बुद्धि और ज्ञान से सम्पन्न' बनाता है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमधानं कलशम् आविश

दिव्यः सुपर्णोऽव चक्षि सोम पिन्वन्धाराः कर्मणा देववीतौ।
एन्दो विश कलशं सोमधानं क्रन्दन्निहि सूर्यस्योप रश्मिम्॥ ३३॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **दिव्यः**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय (दिव्य) बनानेवाला है, **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला है। **देववीतौ**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित्त **कर्मणा**=क्रियाशीलता के साथ **धाराः पिन्वन्**=धारण शक्तियों को पूरित करता हुआ तू **अवचक्षि**=सब रोग आदि को दूर भगानेवाला होता है। (to look down upon) इन रोगादि घृणा की दृष्टि से तू देखनेवाला होता है **इन्दो**=हे सोम! तू **सोमधानम्**=प्रभु से सोम के आधार के रूप में बनाये गये **कलशम्**=इस शरीर कलश में **आविश**=तू समन्तात् प्रवेश वाला हो। तू **क्रन्दन्**=प्रभु का आह्वान करता हुआ **सूर्यस्य**=ज्ञानसूर्य की **रश्मिम्**=किरणों को **उप इहि**=प्राप्त कर। तेरे रक्षण द्वारा हमारे जीवन में प्रभुस्तवन व ज्ञान दीप्त हो उठें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम से 'क्रियाशक्ति, दिव्यगुण, प्रभुस्तवन व ज्ञानरश्मियाँ' प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तिस्रः वाचः

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥ ३४॥

प्र वह्निः=प्रकर्षेण हमारा वहन करनेवाले, सब का धारण करनेवाले वे प्रभु हृदयस्थ रूपेण **तिस्रः वाचः**='ऋग्, यजु, साम' रूप तीन वाणियों को, विज्ञान कर्म व उपासना के उपदेश को **ईरयति**=हमारे में प्रेरित करते हैं। इस वाणी के **ऋतस्य धीतिम्**=यज्ञों के धारण को तथा **ब्रह्मणः मनीषाम्**=ज्ञानदायिनी बुद्धि को प्रेरित करते हैं। इस ज्ञान की वाणी को सुनने पर **गावः**=सब इन्द्रियाँ **गोपतिं**=इन्द्रियों के स्वामी इन्द्र को **पृच्छमानाः**=जानने की इच्छा करती हुई **यन्ति**=अन्तर्मुखी गति वाली होती हैं। भटकने को छोड़कर आत्मतत्त्व की जिज्ञासा वाली बनती हैं। उस समय **वावशानाः**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामना वाले **मतयः**=मननपूर्वक स्तुति करनेवाले लोग **सोमं यन्ति**=सोम की ओर जाते हैं, सोमरक्षण द्वारा ही तो वे उस 'सोम' शान्त प्रभु को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—प्रभु वेदवाणी द्वारा हम यज्ञों व ज्ञान व उपासना में प्रेरित करते हैं। इससे हमारी इन्द्रियाँ विषयों में न भटक कर आत्मतत्त्व की ओर चलती हैं और हमारी बुद्धियाँ उस सोम 'शान्त प्रभु' को पाने के लिये यत्नशील होती हैं।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिष्टुभः अर्काः

सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः।
सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते॥ ३५॥

धेनवः=ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली **गावः**=वेदवाणी रूप गौवें **वावशानाः**=प्रबल कामना वाली होती हुई **सोमं**=उस शान्त प्रभु की ओर **सं नवन्ते**=जाती हैं। ये सब वेदवाणियाँ प्रभु का ही ज्ञान देती हैं। **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **मतिभिः**=मननवाली बुद्धियों से **सोमं पृच्छमानाः**=उस

शान्त प्रभु को जानने की इच्छा करते हुए गति करते हैं। ऐसा होने पर शरीर में **सुतः**=उत्पन्न **सोमः**=वीर्य **पूयते**=पवित्र होता है यह **अज्यमानः**=यह शरीर में ही अलंकृत किया जाता है। इस **सोमम्**=सोम के सुरक्षित होने पर **त्रिष्टुभः**=काम-क्रोध-लोभ सभी को रोकनेवाली **अर्काः**=ये प्रकाशमयी वाणियाँ सं नवन्ते=हमें सम्यक् प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ प्रभु की ओर जाती हैं। सोमरक्षण द्वारा ही हम इन्हें प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वर्धया वाचं, जनया पुरन्धिम्

एवा नः सोम परिषिच्यमान आ पवस्व पूयमानः स्वस्ति।
इन्द्रमा विश बृहता रवेण वर्धया वाचं जनया पुरन्धिम्॥ ३६॥

हे **सोम**=वीर्य! **एवा**=गतिशीलता के द्वारा (इ गतौ) **परिषिच्यमानः**=शरीर में चारों ओर सिक्त किया जाता हुआ, **पूयमानः**=वासनाओं के उबाल से मलिन न किया जाता हुआ तू **नः स्वस्तिः**=हमारे लिये कल्याण को **आपवस्व**=प्राप्त करा। **बृहता रवेण**=महान् स्व शब्द के हेतु से **इन्द्रं आविश**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को तू प्राप्त हो, इसके शरीर में सर्वत्र प्रवेश वाला हो। तेरे प्रवेश से ही हृदय की पवित्रता होकर हृदयस्थ प्रभु की वाणी सुन पड़ेगी। यह 'आत्मा की आवाज' ही सर्वमहान् शब्द है। यह श्रोता की वृद्धि का कारण बनता है। हे सोम! तू **वाचं वर्धया**=हमारे जीवन में इस ज्ञान की वाणी का वर्धन कर और **पुरन्धिम्**=पालक व पूरक बुद्धि को **जनया**=प्रादुर्भूत कर। सोमरक्षण से ही ज्ञान की वाणियों को हम समझने के योग्य बनते हैं और उत्कृष्ट बुद्धि को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम कल्याण (नीरोगता आदि) का साधक है, हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनने के योग्य बनाता है, इसके रक्षण से ज्ञान की वाणियों को हम समझने लगते हैं, बुद्धि की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

जागृविः विप्रः

आ जागृविर्विप्र ऋता मतीनां सोमः पुनानो असदच्चमूषु।
सपन्ति यं मिथुनासो निकामा अध्वर्यवो रथिरासः सुहस्ताः॥ ३७॥

जागृविः=सदा जागरणशील, निरन्तर रक्षा करनेवाला, **विप्रः**=हमारा विशेष रूप से पूरण करनेवाला **सोमः**=सोम (वीर्य) **मतीनाम्**=मननपूर्वक स्तुति करने वालों के **ऋता**=यज्ञों के द्वारा **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **चमूषु**=इन शरीर रूप पात्रों में **असदत्**=चारों ओर स्थित होता है। स्तवन व यज्ञों में लगे रहने से हमारे पर वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और सोम के रक्षण का सम्भव हो जाता है। सुरक्षित सोम हमारा रक्षण करता है और पूरण करता है। यह सोम वह है **यम्**=जिसको **मिथुनासः**=परस्पर मिलकर कार्य करनेवाले ही **सपन्ति**=स्पृष्ट करते हैं। लड़ने झगड़नेवाले क्रोधी स्वभाव के पुरुष इस का रक्षण नहीं कर पाते। **निकामाः**=रक्षण की नितरां कामना वाले ही इसका रक्षण करते हैं। **अध्वर्यवः**=यज्ञशील, **रथिरासः**=शरीररथ को उत्तम बनानेवाले **सुहस्ताः**=सदा हाथों से शोभन कर्मों में लगे हुए पुरुष ही इस सोम को शरीर में पीनेवाले होते हैं। सोम को शरीर में सुरक्षित करने का मार्ग यही है कि हम इसके रक्षण की प्रबल कामना

वाले हों और यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारा रक्षण व पूरण करता है। इसके रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम सदा उत्तम कर्मों में व्यस्त रहकर वासनाओं से बचे रहें।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धनं कारिणे न, प्रयंसत्

स पुनान उप सूरे न धातोभे अप्रा रोदसी वि ष आवः।
प्रिया चिद्यस्य प्रियसास ऊती स तू धनं कारिणे न प्र यंसत् ॥ ३८ ॥

सः=वह सोम (वीर्य) **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **नः**=हमें **सूरे उपधाता**=ज्ञान सूर्य के समीप धारण करनेवाला होता है। **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **आ अप्राः**=पूरित करता है, मस्तिष्क को ज्ञान से तथा शरीर को शक्ति से। **सः**=वह सोम **वि आवः**=हमारे जीवन में से ज्ञानसूर्योदय के द्वारा, अन्धकारों को दूर करनेवाला होता है। **यस्य**=जिस सोम की **प्रिया चित्**=निश्चय से प्रिय धारायें **प्रियसासः**=प्रीणित करनेवाली होती हैं, और **ऊती**=रक्षण के लिये होते हैं। **सः**=वह सोम **धनं प्रयंसत्**=धन को ये इस प्रकार दे **न**=जैसे कि **कारिणे**=कर्म करनेवाले के लिये मजदूरी के रूप में धन को देते हैं। हम सोम का रक्षण करने के लिये काम श्रम करें, सोम हम श्रमिकों को पारिश्रमिक के रूप में धन को देगा।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे जीवन में ज्ञान सूर्य का उदय करता है। शरीर व मस्तिष्क का पूरण करता है, अन्धकार को दूर करता है, हमें आवश्यक धनों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अविद्या पर्वत का ध्वंस

स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत्।
येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन् ॥ ३९ ॥

सः=वह **वर्धिता**=हमारी वृद्धि का करनेवाला **वर्धनः**=वृद्धिशील **पूयमानः**=पवित्र होता हुआ **सोमः**=सोम (वीर्य) **मीढ्वान्**=सुखों व शक्तियों का सेचन करनेवाला **नः**=हमें **ज्योतिषा**=ज्योति से **अभि आवीत्**=प्राप्त हो, ज्ञान-ज्योति के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाला हो। **येना**=जिस सोम द्वारा प्राप्त ज्योति से **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **पितरः**=रक्षक **पदज्ञाः**=मार्ग को जाननेवाले **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाले लोग **गाः अभि**=ज्ञान की वाणियों का लक्ष्य करके **अद्रिं उष्णन्**=अविद्या पर्वत को दग्ध करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से वह ज्योति प्राप्त होती है, जो अविद्या पर्वत को दग्ध करनेवाली होती है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मुख्य रक्षक 'सोम'

अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः ॥ ४० ॥

प्रथमे=अत्यन्त विस्तृत (प्रथ विस्तारे) **विधर्मन्**=विशिष्ट धारण के कर्म में **समुद्रः**=(स मुद्) आनन्द से युक्त यह सोम **अक्रान्**=अन्य सब वस्तुओं को लाँघ जाता है। सोम के समान कोई

अन्य वस्तु धारण करनेवाली नहीं है। यह सोम **प्रजाः जनयन्**=सब प्रजाओं को जन्म देता है, **भुवनस्य राजा**=सम्पूर्ण शरीर-लोक को दीप्त करता है। **वृषा**=यह शक्ति का सेचन करनेवाला सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदय वाले पुरुष में **अधि सानो**=समुचित प्रदेश अर्थात् मस्तिष्क रूप द्युलोक में गतिवाला होता है। मस्तिष्क में यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। **अव्ये**=रक्षकों में उत्तम पुरुष में यह **सोमः**=सोम **बृहत् वावृधे**=खूब वृद्धि को प्राप्त करता है। **सुवानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ यह सोम **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला होता है।

भावार्थ—सोम ही मुख्य रक्षक है, यही हमारे अंग-प्रत्यंग को दीप्त करनेवाला है। हमें शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्रे ओजः, सूर्ये ज्योतिः

महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥ ४१॥

महिषः=पूजा के योग्य, अत्यन्त आदरणीय **सोमः**=सोम ने **तत् महत् चकार**=वह महान् कर्म किया **यत्**=कि **अपां गर्भः**=कर्मों का धारण करनेवाला होता हुआ **देवान्**=दिव्य गुणों का **अवृणीत**=वरण करता था। सोमरक्षण द्वारा क्रियाशीलता व दिव्यता की प्राप्ति होती है। **पवमानः**=यह पवित्र करनेवाला सोम **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **ओजः अदधात्**=ओजस्विता का स्थापन करता है। **इन्दुः**=यह शक्तिशाली सोम **सूर्ये**=(सरति) निरन्तर क्रियाशील पुरुष में **ज्योतिः अजनयत्**=प्रकाश को उत्पन्न करता है।

भावार्थ—सोम दिव्यता, ओज व ज्योति को प्राप्त कराता है। मन को दिव्य, शरीर को ओजस्वी व मस्तिष्क को ज्योतिर्मय करता है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मत्सि देवान्

मत्सि वायुमिष्टये राधसे च मत्सि मित्रावरुणा पूयमानः।
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान्मत्सि द्यावापृथिवी देव सोम॥ ४२॥

हे सोम! तू **वायुम्**=गतिशील पुरुष को, निरन्तर कर्त्तव्य कर्मों में लगे हुए पुरुष को **इष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिये **च**=तथा **राधसे**=कार्यों में संसिद्धि के लिये अथवा ऐश्वर्यशक्ति के लिये **मत्सिः**=आनन्दित करता है। **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण को सब के साथ स्नेह करनेवाले निर्दोष पुरुष को **मत्सि**=आनन्दित करता है। सोमरक्षण से ही स्फूर्ति व क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। सोमरक्षण ही हमें सबके प्रति स्नेह व निर्द्वेषता की भावना वाला बनाता है। हे सोम! तू **मारुतं शर्धः**=प्राणों के बल को **मत्सि**=आनन्दित करता है, समृद्ध करता है। **देवान् मत्सि**=दिव्य गुणों को हमारे में बढ़ाता है। हे **देव सोम**=प्रकाशमय सोम (वीर्य) तू **द्यावापृथिवी मत्सि**=द्युलोक व पृथिवीलोक को, मस्तिष्क व शरीर को **मत्सि**=आनन्दित करता है। सोम के द्वारा शरीर ओजस्वी व मस्तिष्क ज्योतिर्मय बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें 'क्रियाशील, स्नेहयुक्त, निर्द्वेष, प्राण-बल-सम्पन्न, दिव्य गुणों वाला तथा दीप्त शरीर व मस्तिष्क वाला' बनाता है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृजिनस्य हन्ता

ऋजुः पवस्व वृजिनस्य हन्तापामीवां बाधमानो मृधश्च।
अभिश्रीणन्पयः पयसाभि गोनामिन्द्रस्य त्वं तव वयं सखायः॥ ४३॥

हे सोम! **ऋजुः**=सरल मन वाला तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। सोमरक्षण से हमारी प्रवृत्ति सरल होती है। **वृजिनस्य हन्ता**=यह सोम पाप का नष्ट करनेवाला है। **अमीवाम्**=रोगों को **च**=तथा **मृधः**=काम-क्रोध आदि हिंसक शत्रुओं को **अपबाधमानः**=सुदूर विनष्ट करता हुआ तू हे सोम! **गोनाम्**=इन ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौवों के **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **पयः**=ज्ञान को **अभिश्रीणन्**=अपरा विद्या व परा विद्या दोनों के दृष्टिकोण से (अभि) परिपक्व करता हुआ **त्वम्**=तू **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का मित्र होता है। सो **वयम्**=हम **तव सखायः**=तेरे मित्र बनते हैं। तुझे अपनाते हुए हम अपने कल्याण को सिद्ध करते हैं।

भावार्थ—सोम पापों, रोगों व वासनाओं को विनष्ट करता है, ज्ञान को बढ़ाता है। इस प्रकार यह हमारा सच्चा मित्र है।

ऋषिः—**वसुक्रोवासिष्ठः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मध्वः सूदं, वस्वः उत्सम्

मध्वः सूदं पवस्व वस्व उत्सं वीरं च न आ पवस्वा भगं च।
स्वदस्वेन्द्राय पवमान इन्दो रयिं च न आ पवस्वा समुद्रात्॥ ४४॥

हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **मध्वः सूदम्**=माधुर्य के झरने को (सूद=spring) **पवस्व**=प्राप्त करा। अर्थात् हमारे जीवन को माधुर्य से युक्त कर। **वस्वः उत्सम्**=वसुओं के स्रोत को तू प्राप्त करा। जीवन के लिये सब आवश्यक तत्त्व ही वसु हैं। उन सब तत्त्वों को जन्म देनेवाला यह सोम है। **च**=और हे सोम! तू **नः**=हमारे लिये **वीरम्**=वीर सन्तानों को **च**=और **भगम्**=ऐश्वर्य को देनेवाला हो। सोमरक्षण करनेवाला पुरुष वीर सन्तानों को प्राप्त करता है और सुपथ से धनार्जन कर पाता है। हे **इन्दो**=शक्तिशाली सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **स्वदस्व**=रुचिकर हो, जितेन्द्रिय पुरुष तेरे रक्षण में ही आनन्द का अनुभव करे। **च**=और **नः**=हमारे लिये **समुद्रात्**=उस आनन्दमय प्रभु से (स+मुद्) **रयिम्**=ज्ञानैश्वर्य को **आपवस्वा**=प्राप्त करानेवाला हो। सोमरक्षण से ही हृदयस्थ प्रभु की वाणी सुन पड़ती है और वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'माधुर्य, वसु, वीर सन्तान, ऐश्वर्य और ज्ञानैश्वर्य' को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

गोभिः अभिः समसरत्

सोमः सुतो धारयात्यो न हित्वा सिन्धुर्न निम्नमभि वाज्यक्षाः।
आ योनिं वन्यमसदत्पुनानः समिन्दुर्गोभिरसरत्समद्भिः॥ ४५॥

सोमः=सोम **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **धारया**=धारणशक्ति के द्वारा **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान **हित्वा**=गतिशील होता है। यह सोम हमें शक्ति सम्पन्न बनाकर गतिशील बनाता है। **सिन्धुः न**=जैसे एक नदी **निम्नम्**=निम्न प्रदेश की ओर जाती है, इसी प्रकार **वाजी**=यह

शक्तिशाली सोम **अभि अक्षाः**=हमारे शरीर में क्षरित होता है। शरीर के अन्दर व्याप्त होता हुआ यह सोम अंग-प्रत्यंग को शक्तिशाली बनाता है, और इस प्रकार हमें गतिशील करता है। **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ यह सोम **वन्यम्**=उपासना में उत्तम (वन्=संभजन) **योनिम्**=शरीरगृह में **आ असदत्**=आसीन होता है। प्रभु की उपासना के होने पर वासनाओं के विनाश से सोम शरीर में ही सुरक्षित रहता है। **इन्दुः**=यह शक्तिशाली सोम **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के साथ **सम् असरत्**=गतिवाला होता है, तथा **अद्भिः सम्**=कर्मों के साथ गतिवाला होता है। सोमरक्षण से ज्ञान की भी वृद्धि होती है, तथा क्रियाशीलता की भी।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें ज्ञान व क्रिया को शक्ति से प्राप्त कराता है। सोम का रक्षण प्रभु उपासना द्वारा होता है।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

धीरः तवस्वान्

एष स्य ते पवत इन्द्र सोमश्चमूषु धीर उशते तवस्वान्।
स्वर्चक्षा रथिरः सत्यशुष्मः कामो न यो देवयतामसर्जि॥ ४६॥

हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **एषः**=यह **स्यः**=वह प्रसिद्ध वे **सोमः**=आपको सोम (वीर्य) **चमूषु**=शरीरपात्रों में **पवते**=प्राप्त होता है। **उशते**=सोमरक्षण की कामना वाले मेरे लिये (कामयमानाय) यह सोम **धीरः**=(धियम् ईरयति) ज्ञान को प्रेरित करनेवाला है तथा **तवस्वान्**=प्रशस्त बल वाला है। यह सोम **स्वर्चक्षा**=प्रकाश को दिखानेवाला है, **रथिरः**=शरीर रूप उत्तम रथ वाला है, **सत्यशुष्मः**=सत्य के बल वाला है। मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश को, मन में सत्य को प्राप्त कराता हुआ यह सोम शरीररथ को उत्तम बनाता है। यह सोम वह है **यः**=जो **देवयतां**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामना वालों का **कामः न**=सब इच्छाओं को पूर्ण करनेवाले के समान **असर्जि**=उत्पन्न किया गया है। (कामः-कामदः इव)।

भावार्थ—सोम 'ज्ञान व शक्ति' को प्राप्त कराता है। सब कामनाओं का यह पूर्ण करनेवाला है।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रत्नेन वयसा पुनानः

एष प्रत्नेन वयसा पुनानस्तिरो वर्पांसि दुहितुर्दधानः।
वसानः शर्म त्रिवरूथमप्सु होतेव याति समनेषु रेभन्॥ ४७॥

एषः=यह सोम **प्रत्नेन**=प्राचीन (पुराणे) **वयसा**=(Soundness of constitution) शरीर के स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ, **दुहितुः**=(दुह प्रपूरणे) सोम का अपने शरीर में पूरण करनेवाले के **वर्पांसि**=रूपों व तेजों को **तिरः दधानः**=(तिरः सतः इति प्राप्तस्य नि० ३.२०) प्राप्त रूप में धारण करता हुआ है। सुरक्षित हुआ-हुआ सोम उत्कृष्ट रूप को प्राप्त कराता है और दीर्घकाल तक इस शरीर को स्वस्थ रखता है। **त्रिवरूथं**=काम-क्रोध-लोभ तीनों का निवारण करनेवाले **शर्म**=कल्याण को **वसानः**=धारण करता हुआ यह सोम **होता इव**=एक यज्ञकर्ता के समान **अप्सु**=कर्मों में **याति**=गतिवाला होता है। यह सोम **समनेषु**=संग्रामों में, व्याकुलता व क्षोभ के क्षेत्रों में **रेभन्**=प्रभु का स्तवन करनेवाला होता है। सोमरक्षक पुरुष जीवन संग्राम में प्रभुस्मरण करता हुआ आगे बढ़ता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से वही वृद्धावस्था में भी शरीर बड़ा ठीक बना रहता है, तेजस्विता कायम रहती है, काम-क्रोध-लोभ का आक्रमण नहीं होता, कर्मशीलता उत्पन्न होती है और प्रभुस्मरण के साथ हम जीवन संग्राम में लगे रहते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मधुमान् ऋतावा

नू नस्त्वं रथिरो देव सोम परि स्त्रव चम्वोः पूयमानः ।
अप्सु स्वादिष्ठो मधुमाँ ऋतावा देवो न यः सविता सत्यमन्मा ॥ ४८ ॥

हे **देव**=प्रकाशमय **सोम**=वीर्य **नु**=अब **नः**=हमारे लिये **त्वम्**=तू **रथिरः**=शरीररथ को उत्तम बनानेवाला होता हुआ **परिस्त्रव**=शरीर में चारों ओर गतिवाला हो। तू **चम्वोः**=इन द्यावापृथिवी के निमित्त मस्तिष्क व शरीर के लिये, **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ हो। तेरी पवित्रता पर ही मस्तिष्क की ज्ञान दीप्ति व शरीर की शक्ति निर्भर करती है। यह सोम **अप्सु स्वादिष्ठः**=कर्मों में अधिक से अधिक आनन्द के देनेवाला है। सोमरक्षण ही क्रियाशील बन पाता है। **मधुमान्**=यह सोम जीवन में माधुर्य का संचार करनेवाला व **ऋतावा**=ऋत का, यज्ञादि उत्तम कर्मों का रक्षक है। सोम वह है **यः**=जो कि **देवः न**=उस प्रकाशमय प्रभु के समान हमें **सविता**=कर्मों में प्रेरित करनेवाला है। **सत्यमन्मा**=सत्यज्ञान वाला है। सोमरक्षण से ही बुद्धि की तीव्रता होकर सत्य ज्ञान प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होकर मस्तिष्क व शरीर को सुन्दर बनाता है। 'क्रियाशीलता, माधुर्य व ऋत' को प्राप्त कराता है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम का पान कौन-कौन करते हैं?

अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानो३ऽभि मित्रावरुणा पूयमानः ।
अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम् ॥ ४९ ॥

हे सोम! **गृणानः**=स्तुति किया जाता हुआ तू **वायुं अभिः**=क्रियाशील पुरुष के प्रति **वीती अर्षा**=पान के लिये गतिवाला हो। क्रियाशील पुरुष सोम का रक्षण करनेवाला बनता है। **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **मित्रावरुणा अभि**=मित्र और वरुण की ओर प्राप्त हो। सबके प्रति स्नेह व निर्द्वेषता के भाव वाला व्यक्ति तेरा पान करे। **धीजवनम्**=बुद्धि के वेग वाले अर्थात् बुद्धि को खूब बढ़ानेवाले **रथेष्ठाम्**=शरीररथ के अधिष्ठाता बननेवाले **नरम्**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य को तू **अभि**=(अर्षा) प्राप्त हो। यह 'धीजवनं रथेष्ठा नर' तेरा पान करनेवाला हो। तू **इन्द्रं**=उस जितेन्द्रिय पुरुष को अभि (अर्ष)=प्राप्त हो, जो कि **वृषणम्**=अपने अन्दर शक्ति का सेचन करता है, और अतएव **वज्रबाहुम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए है।

भावार्थ—सोम का पान 'क्रियाशील (वायु), स्नेह की भावना वाला (मित्र) व द्वेष का निवारण करनेवाला (वरुण), बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला (धीजवन), जितेन्द्रिय (इन्द्र)' पुरुष ही करता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुवसन वस्त्रा

अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभि धेनूः सुदुघाः पूयमानः।
अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्याभ्यश्वान्रथिनो देव सोम ॥ ५० ॥

हे सोम! **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ-हुआ **सुवसनानि**=उत्तम आच्छादनवाले **वस्त्रा**=इन अन्नमय कोश आदि वस्त्रों को **अभि अर्षः**=(अभिगमय) प्राप्त करा। अर्थात् तेरे द्वारा ये सब अन्नमय आदि कोश उत्तम बनें। तू हमें **सुदुघाः**=उत्तमता से दोहन के योग्य **धेनूः**=ज्ञानदुग्धदात्री वेदरूप गौवों को **अभि (अर्ष)**=प्राप्त करा। **नः**=हमारे लिये **चन्द्रा**=आह्लाद कर **हिरण्या**=हितरमणीय धनों को **अभि**=प्राप्त करा। जो **भर्तवे**=भरण-पोषण के लिये पर्याप्त हों। हे **देव सोम**=प्रकाशमय वीर्य! हमें **रथिनः**=शरीररथ को उत्तमता से ले चलनेवाले **अश्वान्**=इन्द्रियाश्वों को **अभि (अर्षा)**=प्राप्त करा।

भावार्थ—सोमरक्षण से सब अन्नमय आदि कोश उत्तम बनते हैं, हमारी बुद्धि वेद धेनुओं से ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली बनती है, हम उत्तम धनों को प्राप्त करते हैं, उत्तम इन्द्रियाश्वों वाले होते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्य व पार्थिव वसुओं का प्रापण

अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः।
अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः ॥ ५१ ॥

हे सोम! तू **दिव्या वसूनि**=दिव्य वसुओं को, मस्तिष्क रूप द्युलोक के ज्ञानधन को **नः अभि अर्ष**=हमारे लिये प्राप्त करा। **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **विश्वा पार्थिवा**=सब शरीर रूप पृथिवी सम्बन्धी वसुओं को, शक्ति को **अभि (अर्ष)**=प्राप्त करा। मस्तिष्क में तू हमें ज्योतिर्मय, तथा शरीर में हमें शक्ति सम्पन्न बना। हमें तू उस दिव्य व पार्थिव वसु को, ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करा **येन**=जिससे कि हम **द्रविणम्**=धन को **अभि अश्नवाम**=प्राप्त करें। हे सोम! **नः**=हमें **जमदग्निवत्**=जमदग्नि की तरह, जिसकी जाठराग्नि भोजन का ठीक पाचन कर पाती है, उस पुरुष की तरह **आर्षेयम् अभि**=(ऋषौ भवं) वेद में उपदिष्ट ज्ञान की **अभि**=ओर ले चल।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें शरीर के तेज व मस्तिष्क की ज्योति को दे। इनके द्वारा हम जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धन को कमानेवाले हों। हमारी जाठराग्नि ठीक हो और हम ज्ञान की ओर झुकाव वाले हों।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माँश्चत्व सरसि प्रधन्व

अया पवा पवस्वैना वसूनि माँश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व।
ब्रध्नश्चिदत्र वातो न जूतः पुरुमेधश्चित्तकवे नरं दात् ॥ ५२ ॥

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **अया**=इस **पवा**=अपनी पवित्र करनेवाली धारा से **एना**=इन **वसूनि**=वसुओं को **पवस्व**=प्राप्त करा। **माँश्चत्वे**=अभिमन्यमान अभिमान आदि

शत्रुओं के चातक (विनाशक) **सरसि**=ज्ञानजल में **प्रधन्व**=तू गतिवाला हो। तू हमें उस ज्ञान को प्राप्त करा जो अहंकार आदि शत्रुओं का विनाश कर देता है। हे सोम! तेरी कृपा से **अत्र**=यहाँ हमारे जीवन में **ब्रध्नः चित्**=निश्चय से महान् आदित्य हो। यह सोमरक्षक पुरुष **वातः न जूतः**=वायु के समान सदा कर्म में प्रेरित हो। और **चित्**=निश्चय से **पुरुमेधः**=खूब यज्ञशील हो अथवा पालक व पूरक बुद्धि वाला हो। यह सुरक्षित सोम **तकवे**=गतिशील पुरुष के लिये **नरं दात्**=प्रगतिशील सन्तान को देनेवाला हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम वसुओं को और अभिमान विनाशक ज्ञानधनों को प्राप्त कराता है। सोमरक्षण से जीवन में ज्ञान सूर्य का उदय होता है, वायु के समान क्रियाशीलता उत्पन्न होती है, बुद्धि की वृद्धि होती है व उत्तम सन्तान मिलती है।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

श्रवाय्यस्य तीर्थे

उत न एना पवया पवस्वाधि श्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे।
षष्टिं सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय॥ ५३॥

उत=और हे सोम! तू **नः**=हमें **एना पवया**=इस अपनी पवित्र करनेवाली धारा से **अधिश्रुते**=सर्वाधिक प्रसिद्ध **श्रवाय्यस्य तीर्थे**=श्रवणीय ज्ञान के तीर्थभूत-गुरुभूत प्रभु के समीप **पवस्व**=प्राप्त करा। प्रभु निरतिशय ज्ञानवाले हैं, (तन्निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्) वे गुरुओं के भी गुरु हैं (स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्)। सोमरक्षण के द्वारा पवित्र जीवनवाले होकर, हम प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं। **नैगुतः** (नीचीनं गवन्ते शब्दायन्ते इति निगुतः शत्रवः, तेषां हन्ता 'नैगुतः')= काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करनेवाला सोम **षष्टिं सहस्रा वसूनि**=साठ हजार धनों को, अनन्त धनों को **रणाय**=शत्रुओं के साथ संग्राम के लिये **धूनवद्**=कम्पित करे, अर्थात् हमारे लिये इस प्रकार प्राप्त कराये **ते**=जैसे कि **पक्वं वृक्षम्**=पके हुए फलों वाले वृक्ष को कम्पित करके फलों को प्राप्त कराते हैं। शरीर में सुरक्षित सोम हमें शत्रु विजय के लिये आवश्यक सहस्रशः धनों को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—सोम हमें तीव्र बुद्धि बनाकर प्रभु को प्राप्त कराता है। तथा सहस्रशः वसुओं को प्राप्त कराके शत्रुओं का विजेता बनाता है।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृष+नाम

महीमे अस्य वृषनाम शूषे माँश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे।
अस्वापयन्निगुतः स्नेहयच्चापामित्राँ अपाचितो अचेतः॥ ५४॥

अस्य=इस सोम के **इमे**=ये **वृषनाम**='शक्ति का सेचन (वृष) और रोग आदि शत्रुओं का नमन' रूप कर्म **मही**=महत्वपूर्ण है और **शूषे**=सुखकर हैं। इसके ये कर्म **मांश्चत्वे**=अभिमान आदि शत्रुओं के विनाश के निमित्त होते हैं, और **पृशने**=(clinging to) चिपट जानेवाले, आसक्ति रूप शत्रुओं के विजय में **वधत्रे**=हिंसनशील होते हैं। सोम शक्ति के सेचन व शत्रुनमन रूप कार्यों के द्वारा हमारे अभिमान व आसक्ति रूप शत्रुओं को विनष्ट करके हमें 'निर्भय व निरहंकार' बनाता है। ऐसा बनकर के ही तो हम शान्ति को प्राप्त करते हैं। सो सोम हमें शान्ति लाभ कराता है। यह सोम **निगुतः**=अशुभ शब्द करनेवाले क्रोध आदि शत्रुओं को **अस्वापयत्**=सुला देता है

च=और **स्नेहयत्**=इनका वध कर देता है। (स्नेहयति destroy, kill) हे सोम! तू **अमित्रान्**=हमारे सब शत्रुओं को **अपाच**=(अप-अच) दूर कर। और **इतः**=हमारे इस जीवन से **अचिता**=यज्ञों में अग्निचयन न करने के भावों को **अप (अच)**=दूर करिये। हम सोमरक्षण से यज्ञशीलता की भावना वाले हों।

भावार्थ—सोम 'शक्ति से धन व शत्रुनमन' रूप कार्यों द्वारा हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं। सोमरक्षण हमें यज्ञशील बनाता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मघवद्भ्यः मघवा

सं त्री पवित्रा वितंतान्येष्यन्वेकं धावसि पूयमानः।
असि भगो असि दात्रस्य दातासि मघवा मघवद्भ्य इन्दो ॥ ५५ ॥

हे सोम! तू **त्री**=तीनों **पवित्रा**=पवित्र **विततानि**=विस्तृत शक्तियों वाले शरीर, मन व बुद्धि को **समेषि**=सम्यक् प्राप्त होता है। सोमरक्षण से शरीर में उचित अग्नितत्त्व, मन में विद्युत् तत्त्व व मस्तिष्क में सूर्य की स्थिति होती है। **पूयमानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **एकम्**=उस अद्वितीय प्रभु की ओर **अनुधावसि**=क्रमशः गतिवाला होता है। सोमरक्षण से हम प्रभु के सान्निध्य को प्राप्त करते हैं। हे सोम! तू **भगः असि**=वस्तुतः भजनीय-सेवनीय है। **दात्रस्य**=देव धन का तू दाता **असि**=देनेवाला है। हे **इन्दो**=सोम! तू **मघवद्भ्यः**=ऐश्वर्य वालों से **मघवा**=ऐश्वर्यवाला है, अर्थात् सर्वाधिक ऐश्वर्यवाला है। सुरक्षित सोम ही सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से युक्त करता है।

भावार्थ—सोम शरीर, मन व बुद्धि को पवित्र करता है, हमें प्रभु की ओर ले चलता है। यह सेवनीय है, सब देव धनों को देनेवाला है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विश्ववित् मनीषी

एष विश्ववित्पवते मनीषी सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा।
द्रप्साँ ईरयन्विदथेष्विन्दुर्वि वारमव्यं समयाति याति ॥ ५६ ॥

एषः=यह **सोम**=वीर्य **विश्ववित्**=सर्व पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करनेवाला, **मनीषी**=बुद्धिमान् **पवते**=हमें प्राप्त होता है। यही ज्ञानादि का ईंधन बनता है, सो सब पदार्थों के ज्ञान का साधन है। बुद्धि की सूक्ष्मता इसी पर निर्भर करती है। यह सोम **विश्वस्य भुवनस्य**=सम्पूर्ण भुवन का, शरीर के अंग-प्रत्यंग का **राजा**=दीप्त करनेवाला है। यह **इन्दुः**=शक्तिशाली सोम **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों के निमित्त **द्रप्सान्**=अपने कणों को (Drops) **ईरयन्**=मस्तिष्क की ओर प्रेरित करता हुआ **वारम्**=वासनाओं को वारण करनेवाले **अव्यं**=रक्षकों में उत्तम पुरुष को **समया**=समीपता से **वि अतियाति**=विशेषतया खूब प्राप्त होता है।

भावार्थ—यह सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। सब पदार्थों के ज्ञान का साधन बनता है। बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है। वासनाओं को रोकनेवाले को यह प्राप्त होता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कवयो, न गृध्राः

इन्दुं रिहन्ति महिषा अदब्धाः पदे रेभन्ति कवयो न गृध्राः।
हिन्वन्ति धीरा दशभिः क्षिपाभिः समञ्जते रूपमपां रसेन॥ ५७॥

महिषाः=परमात्मा का पूजन करनेवाले **अदब्धाः**=वासनाओं से अहिंसित लोग **इन्दुं रिहन्ति**=सोम का आस्वादन करते हैं, सोमरक्षण के आनन्द का अनुभव करते हैं। इस सोमरक्षण के लिये **कवयः**=ज्ञानी पुरुष **पदे रेभन्ति**=उन मुनियों से गन्तव्य प्रभु के विषय में (पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः) स्तुति शब्दों का उच्चारण करते हैं। **न गृध्राः**=लालची नहीं होते। प्रभुस्तवन की वृत्ति से दूर रहकर लालच में पड़ जाने पर सोमरक्षण का सम्भव नहीं होता। **धीराः**=ज्ञान में रमण करनेवाले धीर पुरुष **दशभिः क्षिपाभिः**=दसों इन्द्रियों को विषयों से पृथक् रखने के द्वारा, दस क्षिपाओं (परे फेंकना) के द्वारा **हिन्वन्ति**=सोम को शरीर में ही प्रेरित करते हैं। इस **अपां रसेन**=जलों के रस रूप सोम से (आपः रेतो भूत्वा०) **रूपम्**=अपने रूप को **समञ्जते**=सम्यक् अलंकृत करते हैं। यह सोम ही तो उन्हें तेजस्वी व ज्ञानदीप्त बनाकर उत्तम रूप प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन द्वारा वासनाओं से हिंसित न होना ही सोमरक्षण का मार्ग है। ज्ञान में प्रवृत्त रहना, लालच से दूर रहना भी सोमरक्षण के लिये आवश्यक है। सुरक्षित सोम हमें तेजोमय ज्ञानदीप्त रूप प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भरे कृतं वि चिनुयाम शश्वत्

त्वया वयं पवमानेन सोम भरे कृतं वि चिनुयाम शश्वत्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥ ५८॥

हे **सोम**=वीर्य! **पवमानेन**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले **त्वया**=तेरे से **वयम्**=हम **भरे**=इस जीवन संग्राम में **शश्वत्**=बहुत प्रकार के **कृतम्**=पुण्य को **विचिनुयाम**=संचित करें। जीवन संग्राम में शत्रुओं को जीतकर पुण्यशाली हों। **मित्रः**=स्नेह की देवता, **वरुणः**=द्वेष निवारण की देवता, **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता व व्रतों को खण्डित न करने की देवता (व्रतपालन का भाव), **सिन्धुः**=(स्यन्दते) निरन्तर कार्यों में प्रवाहित रहने की देवता, **पृथिवी**=शक्तियों की विस्तार की देवता **उत्त**=और **द्यौः**=प्रकाश की देवता ये सब **नः**=हमारे **तत्**=मन्त्र के पूर्वार्ध में कहे गये सोमरक्षण द्वारा जीवन संग्राम में बहुविध पुण्य के चयन के संकल्प को **मामहन्ताम्**=आदृत करें। इन देवों की आराधना से हमारा यह संकल्प पूर्ण हो। सोमरक्षण में 'स्नेह, निर्द्वेषता, व्रतपालन, निरन्तर क्रियाशीलता, शक्ति विस्तार व ज्ञान का प्रकाश' साधन बनते हैं। इनके द्वारा सोमरक्षण करते हुए हम संग्राम में विजयी बनें।

भावार्थ—हम स्नेह आदि के अनुवर्तन से सोम का रक्षण करते हुए जीवन संग्राम में पुण्य का ही संचय करें।

इस जीवन संग्राम को सम्यक् चलानेवाला 'अम्बरीष' (war battle) ही अगले सूक्त का ऋषि है, यह मूर्तिमान् युद्ध ही है। यह 'वार्षागिर' है ज्ञान की वाणियों द्वारा सर्वत्र ज्ञान जल का सेचन करता है। इसीलिये 'ऋजिश्वा' ऋजुमार्ग से आगे बढ़नेवाला 'भरद्वाज' अपने में शक्ति को भरनेवाला

है। यह 'पवमान सोम' का शंसन करता है—

[९८] अष्टनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्तम धन

अभि नो वाजसातमं रयिमर्ष पुरुस्पृहम्। इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभ्वासहम्॥ १ ॥

हे **इन्दो**=सोम! **नः**=हमारे लिये **रयिम्**=धन (ऐश्वर्य) को **अभ्यर्ण**=प्राप्त करा, जो कि **वाजसातमम्**=अधिक से अधिक बल को देनेवाला हो, **पुरुस्पृहम्**=बहुत ही स्पृहणीय हो अथवा पालक व पूरक होते हुए स्पृहणीय हो (पृपालनपूरणयोः)। उस धन को प्राप्त करा जो **सहस्रभर्णसम्**=हजारों का भरण करनेवाला हो। **तुविद्युम्नम्**=महान् ज्ञान ज्योतिवाला हो, **विभ्वासहम्**=महान् शक्तिशाली भी शत्रुओं का अभिभव करनेवाला हो।

भावार्थ—सोमरक्षण करनेवाला पुरुष धनार्जन करता है। यह धन उसकी बल वृद्धि व ज्ञान वृद्धि का साधन बनता है। यह धन बहुतों से स्पृहणीय, सभी का भरण करनेवाला होता है। यह धन उसे काम आदि शत्रुओं का शिकार नहीं बना देता।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'कवच के समान' यह सोम

परि ष्य सुवानो अव्ययं रथे न वर्मा॑व्यत। इन्दुरभि द्रुणा हितो हियानो धाराभिरक्षाः॥ २ ॥

स्यः=वह **सुवानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ सोम **रथे**=इस शरीर रथ में **अव्ययम्**=न नष्ट होनेवाले **वर्म न**=कवच के समान **परि अव्यत**=आच्छादित किया जाता है। कवच के समान यह रक्षक होता है। कवच के धारण किये हुए योद्धा शत्रु शरों से शीर्ण शरीर नहीं किया जाता, इसी प्रकार सोमरूपी कवच को धारण करनेवाला रोग आदि से आक्रान्त नहीं होता। **इन्दुः**=यह सोम **द्रुणा**='द्रुगतौ' क्रियाशीलता के द्वारा **अभिहितः**=शरीर में ही स्थापित हुआ-हुआ **हियानः**=शरीर के अन्दर ही प्रेरित किया जाता हुआ **धाराभिः अक्षः**=अपनी धारण शक्तियों के साथ शरीर में संचरित होता है (क्षरति) क्रिया में लगे रहना ही वासनाओं से अनाक्रान्ति का साधन है, और इस प्रकार यह क्रियाशीलता सोमरक्षण का साधन हो जाती है।

भावार्थ—सोमरूपी कवच को धारण करनेवाले को शत्रुओं के बाण भेद सकते हैं।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अव्ये मदच्युतः

परि ष्य सुवानो अक्षा इन्दुरव्ये मदच्युतः। धारा य ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा नैति गव्ययुः॥ ३ ॥

स्यः=वह **सुवानः**=उत्पन्न किया जाता हुआ **इन्दुः**=सोम **अव्ये**=रक्षण करने वालों में उत्तम पुरुष में **परि अक्षाः**=शरीर में ही चारों ओर संचार वाला होता है। शरीर में व्याप्त यह सोम **मदच्युतः**=उल्लास को टपकानेवाला होता है, जीवन को उल्लासमय बनाता है। **यः**=जो सोम **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **धारा**=अपनी धारणशक्ति के साथ **ऊर्ध्वः**=ऊर्ध्वगतिवाला होता है, वह **न**=(संप्रति) अब **गव्ययुः**=ज्ञान की वाणियों की कामना वाला होता हुआ **भ्राजा**=दीप्ति के साथ **एति**=प्राप्त कराता है। दीप्त ज्ञानाग्नि वाला पुरुष इन ज्ञान की वाणियों को अपनानेवाला बनता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम, उल्लास को प्राप्त कराता है, ऊर्ध्वगतिवाला होकर ज्ञानदीप्ति का कारण बनता है।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

'सहस्त्री शतात्मा' रयि

स हि त्वं देव शश्वते वसु मर्ताय दाशुषे। इन्दो सहस्त्रिणं रयिं शतात्मानं विवाससि॥ ४॥

हे **देव**=प्रकाशमय सोम! **सः त्वं हि**=वह तू ही **शश्वते**=(शश् प्लुतगतौ) स्फूर्ति के साथ क्रियाओं में लगे हुये **दाशुषे**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिये **वसु**=जीवन धन को **विवाससि**=देता है। क्रिया में लगे रहना व प्रभुस्मरण ही सोमरक्षण का साधन है। सुरक्षित सोम इस रक्षक के लिये जीवन के लिये आवश्यक वसुओं को प्राप्त कराता है। हे **इन्दो**=सोम! तू **रयिम्**=उस धन को भी (विवाससि) प्राप्त कराता है जो **सहस्त्रिणम्**=सहस्त्रों की संख्या वाला है, अर्थात् जीवन यात्रा के लिये पर्याप्त है, तथा **शतात्मानम्**=शत वर्ष पर्यन्त हमें गति करानेवाला है (अत सातत्यगमने) जो हमें अन्त तक क्रियाशील बनाये रखता है। वह धन जो कि हमें आलस्य का शिकार नहीं होने देता।

भावार्थ—सुरक्षित सोम प्रभुस्मरण पूर्वक क्रियाशील पुरुष को वसु सम्पन्न करता है। यह जीवनयात्रा के लिये पर्याप्त व निष्क्रिय न बना देनेवाले धन को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वसु+इष्+सुम्न

वयं ते अस्य वृत्रहन्वसो वस्वः पुरुस्पृहः। नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सुम्नस्याध्रिगो॥ ५॥

हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **वसो**=हमारे जीवन को उत्तम निवास वाला बनानेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **ते**=आपके **अस्य**=इस **पुरुस्पृहः**=बहुतों से स्पृहणीय, खूब ही स्पृहणीय **वस्वः**=सोमरूप धन के, जीवन के उत्तम निवास के कारणभूत सोम के **नि नेदिष्ठतमाः**=निश्चय से अधिकतम हों, समीपता से इसे प्राप्त करनेवाले **स्याम**=हों। हे **अध्रिगो**=अधृतगमन प्रभो! जिन आपकी व्यवस्था में कोई रुकावट नहीं उत्पन्न कर सकता उन आपकी **इषः**=प्रेरणा के हम नेदिष्ठतम=हों। आपकी प्रेरणा को हम सुननेवाले हों। तथा **सुम्नस्य**=आपके स्तवन व आनन्द के हम समीप हों आपका स्तवन करें और आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा जीवन वासना शून्य होकर सोम धन का रक्षण करे। हम प्रभु प्रेरणा को सुननेवाले बनें और अद्भुत आनन्द को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

द्विः पञ्च स्व-सारः (दस बहिनें)

द्विर्यं पञ्च स्वयशसं स्वसारो अद्रिसंहतम्। प्रियमिन्द्रस्य काम्यं प्रस्नापयन्त्यूर्मिणम्॥ ६॥

यह सोम वह है **यम्**=जिसको **द्विः पञ्च**=दस (दो बार पाँच), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ, **स्व-सारः**=आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली होकर **प्रस्नापयन्ति**=शुद्ध कर डालती हैं। इन्द्रियाँ विषयों में न जाकर जब अन्तर्मुखी वृत्तिवाली होती हैं, तो सोम शुद्ध बना रहता है, इसे वासनाओं का उबाल मलिन नहीं करता। उस सोम को ये शुद्ध करती हैं, जो **स्वयशसम्**=मनुष्य को अपने कर्मों से यशस्वी बनाता है। **अद्रि-संहतम्**=उपासना के द्वारा (adore) शरीर में सम्यक् गति वाला होता है (हन् गतौ) **प्रियम्**=प्रीति का जनक है। **इन्द्रस्य काम्ये**=जितेन्द्रिय पुरुष से कामना करने योग्य है और **ऊर्मिणम्**=प्रकाश वाला है (ऊर्मि=Light) ज्ञानाग्नि को दीप्त करके

हमें ज्ञान के प्रकाश को देनेवाला है।

भावार्थ—आत्मतत्त्व की ओर चलती हुई इन्द्रियाँ सोम को शुद्ध बनाये रखती हैं। यह शुद्ध सोम हमें यशस्वी व प्रकाशमय जीवन वाला बनाता है।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मदेन सह

परि॒ त्यं ह॑र्य॒तं हरिं॑ ब॒भ्रुं पु॑नन्ति॒ वारे॑ण। यो दे॒वान्विश्वाँ॒ इत्परि॒ मदे॑न स॒ह गच्छ॑ति॥ ७॥

त्यम्=उस **हर्यतम्**=सबसे स्पृहणीय कान्त, **हरिम्**=दुःखों व रोगों का हरण करनेवाले, **बभ्रुम्**=धारण करनेवाले सोम को **वारेण**=वासनाओं के निवारण के द्वारा **परिपुनन्ति**=सर्वथा पवित्र करते हैं। सोम शुद्धि के लिये अपने को वासनाओं से बचाना ही एकमात्र उपाय है। उस सोम को पवित्र करते हैं, **यः**=जो **विश्वान् देवान्**=सब देववृत्ति के पुरुषों को **इत्**=ही **मदेन सह**=उल्लास के साथ **परि गच्छति**=शरीर में चारों ओर प्राप्त होता है। सोमरक्षण देववृत्ति वाले पुरुष ही कर पाते हैं। सुरक्षित सोम उल्लास का जनक होता है।

भावार्थ—वासनाओं का निवारण करते हुए देव पुरुष ही सोम का पान करते हैं, यह सुरक्षित सोम जीवन में उल्लास का कारण बनता है।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

दक्ष+श्रवः (बल+ज्ञान)

अ॒स्य वो॒ ह्यव॑सा॒ पान्तो॑ दक्ष॒साध॑नम्। यः सू॒रिषु॒ श्रवो॑ बृ॒हद्द॒धे स्व१॒र्ण ह॑र्य॒तः॥ ८॥

प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम **अस्य अवसा हि**=इस सोम के रक्षण से ही **दक्षसाधनम्**=बल व उन्नति के साधनभूत रस का **पान्तः**=रक्षण करते हुए होवो। उस सोम के रक्षण से तुम बल व उन्नति का साधन करो **यः**=जो सोम **सूरिषु**=ज्ञानी स्तोताओं में **बृहत् श्रवः**=उत्कृष्ट ज्ञान को **दधे**=स्थापित करता है, ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ज्ञान के उत्कर्ष का कारण बनता है। और **स्वः न**=सूर्य की तरह **हर्यतः**=कान्त-चमकता हुआ अथवा सूर्य की तरह सब से स्पृहणीय है, चाहने योग्य है।

भावार्थ—सोमरक्षण से बल की वृद्धि होती है, उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मानवी रोदसी

स वां॑ य॒ज्ञेषु॑ मान॒वी इन्दु॑र्जनिष्ट रोदसी। दे॒वो दे॑वी गिरि॒ष्ठा अस्रे॑ध॒न्तं तु॑वि॒ष्वणि॑॥ ९॥

सः इन्दुः=वह सोम **वाम्**=आप दोनों **मानवी**=मानव हितकारी **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **जनिष्ट**=प्रादुर्भूत करता है। मस्तिष्क व शरीर के विकास के द्वारा यह सोम **यज्ञेषु**=यज्ञों में हमें प्रवृत्त करता है। यज्ञों के निमित्त ही तो सोम शरीर को शक्तिशाली व मस्तिष्क को ज्ञान दीप्त बनाता है। यह **देवः**=प्रकाशमय सोम **देवी**=प्रकाशमय द्यावापृथिवी को ही उत्पन्न करता है, शरीर को तेजोमय व मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करता है। यह तो सोम **गिरिष्ठाः**=ज्ञान की वाणियों में स्थित है, ज्ञान की वृद्धि का कारण बनता है। **तम्**=उस सोम को **तुविष्वणि**=(तुवि much स्वन-शोर) बहुत शोर में, व्यर्थ की बातों में **अस्रेधन्**=हिंसित कर देते हैं। बहुत बोलना सोमरक्षण के अनुकूल नहीं। मौन सोमरक्षण में सहायक होता है। बहुत न बोलकर कर्म में लगे

रहना ही सोमरक्षण का साधन है।

भावार्थ—सोम मस्तिष्क व शरीर दोनों को मानवहितकारी व प्रकाशमय बनाता है। ऐसे बनकर हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। बहुत बोलना व कर्म न करना, सोमरक्षण का विरोधी है।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'इन्द्र-नर-देव' का सोमपान

इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे। नरे च दक्षिणावते देवाय सदनासदे॥ १०॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **वृत्रघ्ने**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पातवे**=शरीर के अन्दर ही व्याप्त होने के लिये **परिषिच्यसे**=शरीर में चारों ओर सिक्त होता है। अर्थात् सोम का पान (=शरीर में रक्षण) वासना को जीतनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष ही कर पाता है। **दक्षिणावते**=दान की वृत्ति वाले **नरे**=(नृ-ङे) पुरुष के लिये यह सोम शरीर में परिषिक्त होता है। और **सदनासदे**=यज्ञगृह में आसीन होनेवाले **देवाय**=देववृत्ति के पुरुष के लिये तू परिषिक्त होता है। अर्थात् सोम का रक्षण दानशील त्यागी पुरुष कर पाता है और यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में आसीन होनेवाला देव पुरुष कर पाता है।

भावार्थ—सोम का पान तीन व्यक्ति करते हैं, वासना का विजेता जितेन्द्रिय पुरुष, दानशील त्यागी पुरुष तथा यज्ञगृह में आसीन होनेवाला देव पुरुष।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अपप्रोथन्तः हुरश्चितः

ते प्रत्नासो व्युष्टिषु सोमाः पवित्रे अक्षरन्। अपप्रोथन्तः सनुतर्हुरश्चितः प्रातस्ताँ अप्रचेतसः॥ ११॥

ते=वे **व्युष्टिषु**=(prosperity) ऐश्वर्यों के निमित्त **प्रत्नासः**=सदा से चले आ रहे, अर्थात् सदा ऐश्वर्यों का कारण बनते हुए **सोमाः**=सोमकण **पवित्रे**=पवित्र हृदय वाले पुरुष में **अक्षरन्**=क्षरित होते हैं। इसके शरीर में ही इन सोमों का व्यापन होता है, जो ऐश्वर्यों का साधन बनते हैं। ये सोम **प्रातः**=प्रातःकाल ही **सनुतः**=अन्तर्हित, छिपकर मन में निवास करनेवाली, **हुरश्चितः**=कुटिलता से संचय की वृत्तियों को तथा **तान्**=उन **अप्रचेतसः**=नासमझी व अज्ञान की वृत्तियों को **अपप्रोथन्तः**=निराकृत करते हैं, सुदूर विनष्ट करते हैं। सोमरक्षण से कुटिलभाव व अज्ञान नष्ट होता है।

भावार्थ—पवित्र हृदय वाले पुरुष में रक्षित होकर सोम ऐश्वर्यों का कारण बनते हैं। ये कौटिल्य व अज्ञान को हमारे से दूर करते हैं।

ऋषिः—**अम्बरीष ऋजिष्वा च**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वाजगन्ध्यम्-वाजपस्त्यम्

तं सखायः पुरोरुचं यूयं वयं च सूरयः। अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम्॥ १२॥

हे **सखायः**=मित्रो! **यूयं वयं च**=तुम और हम **सूरयः**=ज्ञानी स्तोता बनते हुए **तम्**=उस **पुरोरुचं**=सब से अग्रभाग में दीप्त हो रहे **वाजगन्ध्यम्**=(गन्ध=सम्बन्ध) शक्ति के सम्बन्ध में उत्तम, इस सोम को **अश्याम**=अपने अन्दर व्याप्त करें। शरीर में ही व्याप्त हुआ-हुआ सोम दीप्त का कारण बनता है **वाजपस्त्यम्**=शक्ति के गृहभूत इस सोम को हम सब **सनेम**=प्राप्त करें। सोम ही सब अंग-प्रत्यंगों को सबल बनाता है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन व स्वाध्याय को अपनाकर हम सोम का रक्षण करें। यह सोम ही शक्ति

का घर है। यही हमारे सब अंगों को सबल बनाता है।

'प्रभुस्तवन ही सोमरक्षण का मुख्य साधन है' इस तत्त्व का इष्टा 'काश्यप' है। यह स्तोता तो बनता ही है 'रेभ'। साथ ही यह औरों को भी प्रभुस्तवन की प्रेरणा देता है 'सूनु'। ये रेभ और सूनु दोनों ही काश्यप अगले सूक्त के ऋषि हैं—

[९९] नवनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रणवजप व वेदाध्ययन

आ हर्यताय धृष्णवे धनुस्तन्वन्ति पौंस्यम्। शुक्रां वयन्त्यसुराय निर्णिजं विपामग्रे महीयुवः॥ १॥

हर्यताय=सब से स्पृहणीय **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले इस सोम के लिये, सोम के रक्षण के लिये **पौंस्यं धनुः**=शक्ति के अभिव्यञ्जक प्रणव रूप धनुष का **तन्वन्ति**=विस्तार करते हैं। प्रणव (ओ३म्) का जप वासना विनाश के द्वारा सोम का रक्षक होता है। इस प्रकार यह प्रणव रूप धनुष हमारे जीवनों में शक्ति को प्रकट करता है। **महीयुवः**=प्रभु की पूजा की कामना वाले ये लोग **विषाम् अग्रे**=मेधावियों के अग्रभाग में स्थित होते हुए **शुक्रां निर्णिजम्**=इस देदीप्यमान शोधक वेदवाणी रूप वस्त्र को **असुराय**=इस प्राणशक्ति का संचार करनेवाले सोम के लिये **वयन्ति**=बुनते हैं, अर्थात् वेदवाणी का अध्ययन करते हैं, इस प्रकार वासनाओं से अनाक्रान्त होते हुए सोम का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रणव का जप व वेद का स्वाध्याय सोमरक्षण के सर्वोत्तम साधन है। सुरक्षित सोम रोगकृमिरूप शत्रुओं का धर्षण करता है और हमारे जीवनों में प्राणशक्ति का संचार करता है।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'क्षपा परिष्कृतः' (सोमः)

अध क्षपा परिष्कृतो वाजाँ अभि प्र गाहते। यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे॥ २॥

अध=अब **क्षपा**=गतमन्त्र के अनुसार प्रणवजप व वेदाध्ययन से वासनाओं के क्षपण के द्वारा, वासना विनाश के द्वारा **परिष्कृतः**=शुद्ध किया गया यह सोम **वाजान् अभि प्रगाहते**=शक्तियों का आलोडन करता है, शरीर में सब शक्तियों का सञ्चार करता है। यह तब होता है **यद्**=जब कि **ई**=निश्चय से **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणों वाले परिचरणशील यजमान की **धियः**=बुद्धि पूर्वक की जानेवाली क्रियायें **हरिम्**=सब रोगों का हरण करनेवाले सोम को **यातवे**=रोगकृमिरूप राक्षसों के विनाश के लिये **हिन्वन्ति**=शरीर में प्रेरित करती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये वासनाओं का विनाश आवश्यक है। उसके लिये सर्वोत्तम साधन यह है कि प्रभुस्मरण पूर्वक क्रियाओं में लगे रहें। सुरक्षित सोम रोगकृमिरूप शत्रुओं का विनाश करेगा। हमारे में शक्ति का संचार करेगा।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सूरयः आसभिः दधुः (सोम)

तमस्य मर्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः। यं गाव आसभिर्दधुः पुरा नूनं च सूरयः॥ ३॥

हम **तम्**=उस सोम को **मर्जयामसि**=शुद्ध करते हैं। प्रणवजप आदि के द्वारा वासनाओं से इसे मलिन नहीं होने देते। **अस्य**=इस सोम का **यः मदः**=जो उल्लास है वह **इन्द्रपातमः**=जितेन्द्रिय पुरुष से ही अतिशयेन पातव्य होता है। **यं**=जिस सोम को **गावः**=तत्त्वज्ञान के प्रति निरन्तर गति

वाले, अर्थों का औरों के लिये प्रकाश करनेवाले (गमयन्ति अर्थान्) **सूरयः**=ज्ञानी लोग **पुरा नूनं च**=पहले और अब भी अर्थात् सदा **आसभिः**=(असनं आसः) वासनाओं को परे फेंकने के द्वारा **दधुः**=धारण करते हैं।

भावार्थ—सोम धारण के लिये वासना विनाश आवश्यक है। शुद्ध हुआ-हुआ सोम जितेन्द्रिय पुरुष के लिये उल्लास के देनेवाला होता है।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

देवानां नाम बिभ्रती:

तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत। उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः॥ ४॥

पुनानम्=हमारे जीवनों को पवित्र करते हुए **तम्**=उस सोम को **पुराण्या गाथया**=इस सनातन वेदवाणी के द्वारा **अभ्यनूषत**=स्तुत करते हैं। वेदमन्त्रों में प्रभु द्वारा उपदिष्ट सोम के गुणों का शंसन करते हैं। **उत**=और **उ**=निश्चय से **देवानाम्**=देववृत्ति वाले पुरुषों के **नाम**=यश को अथवा शत्रुओं का नमन करनेवाले, शत्रुओं को झुका देनेवाले बल को **बिभ्रतीः**=धारण करती हुई **धीतयः**=इस सोम के पान की क्रियायें (धेट् पाने) **कृपन्त**=हमें शक्तिशाली बनाती हैं। सोम के गुणों का शंसन करनेवाला व्यक्ति सोम धारण के लिये यत्नशील होता है। धारित सोम इस सोमी पुरुष को दिव्य बल प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोम के गुणों का शंसन करते हुए हम सोम के धारण का प्रयत्न करें। यह हमें दिव्य बल यश प्राप्त करायेगा।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

दूतं न पूर्वचित्तये

तमुक्षमाणमव्यये वारे पुनन्ति धर्णसिम्। दूतं न पूर्वचित्तय आ शासते मनीषिणः॥ ५॥

अव्यये (अ वि अय)=विविध विषयों में न भटकनेवाले **वारे**=वासनाओं का वारण करनेवाले पुरुष में **उक्षमाणं**=शक्ति का सेचन करते हुए **धर्णसिम्**=शरीर के धारक **तम्**=उस सोम को **पुनन्ति**=पवित्र करते हैं **मनीषिणः**=बुद्धिमान् पुरुष **दूतं न**=ज्ञान का संदेश देनेवाले के समान इस सोम को **पूर्वचित्तये**=पालक व पूरक ज्ञान की प्राप्ति के लिये **आ शासते**=चाहते हैं। इस सोम ही तो ज्ञानाग्नि को दीप्त करके व हृदय को पवित्र करके हमें ज्ञान का सन्देश सुनाता है।

भावार्थ—सोम शक्ति का सेचन करता है, प्रभु के ज्ञान-सन्देश को सुनने के योग्य हमें बनाता है।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

उल्लास शक्ति व बुद्धि

स पुनानो मदिन्तमः सोमश्चमूषु सीदति। पशौ न रेत आदधत्पतिर्वचस्यते धियः॥ ६॥

सः=वह **सोमः**=सोम **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **मदिन्तमः**=अतिशयेन आनन्द को देनेवाला होता हुआ **चमूषु सीदति**=शरीर रूप पात्रों में स्थित होता है। शरीर में स्थित होता हुआ यह पवित्रता व उल्लास का जनक होता है। **पशौ न**=जैसे पशुओं में उसी प्रकार **रेतः आदधत्**=शक्ति का आधान करता हुआ यह सोम **धियः पतिः**=बुद्धि का रक्षक **वचस्यते**=कहा जाता है। यह सोम रक्षित हुआ-हुआ पशुओं के समान हमें सबल बनाता है, तो साथ ही हमारी बुद्धियों का रक्षक

होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम 'उल्लास शक्ति व बुद्धि' का जनक है।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

महान् कर्मों का अवगाहन

स मृ॒ज्यते सु॒कर्म॑भिर्दे॒वो दे॒वेभ्यः॑ सु॒तः। वि॒दे यदा॑सु सन्द॒दिर्म॒हीर॒पो वि गा॑हते॥ ७॥

सः=वह सोम **सुकर्मभिः**=उत्तम कर्मों में लगे हुए पुष्पों से **मृज्यते**=शुद्ध किया जाता है। कर्मों में लगे रहना ही हमें वासनाओं से बचाता है, और इस प्रकार सोमरक्षण का साधन हो जाता है। **देवः**=यह प्रकाशमय सोम **देवेभ्यः सुतः**=दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिये उत्पन्न किया गया है। यह सोम **यद्**=जब **आसु**=इन प्रजाओं में **सन्ददिः**=सम्यक् शक्ति व ज्ञान का देनेवाला **विदे**=जाना जाता है, तो यह सोम **महीः अपः**=महत्त्वपूर्ण कर्मों का **विगाहते**=अवगाहन करता है। सोमरक्षक पुरुष महत्त्वपूर्ण कर्मों का करनेवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम कर्मों में लगे रहने से ही सोम का रक्षण होता है। सोमरक्षक शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके महान् कर्मों को करनेवाला होता है।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मत्सरिन्तमः

सुत इ॑न्दो प॒वित्र॒ आ नृभि॑र्य॒तो वि नी॑यसे। इन्द्रा॑य मत्स॒रिन्त॑मश्च॒मूष्वा नि षी॑दसि॥ ८॥

हे **इन्दो**=सोम! **नृभिः यतः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से संयत हुआ-हुआ तू **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **पवित्रे**=पवित्र हृदय वाले इस पुरुष में **आविनीयसे**=सर्वथा ले जाया जाता है। सोम का शरीर में व्यापन ही इसका शरीर में संयम है। हे सोम! **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मत्सरिन्तमः**=अतिशयेन आनन्द को देनेवाला तू **चमूषु**=इन शरीर पात्रों में **आनिषदसि**=चारों ओर विराजता है।

भावार्थ—संयत सोम अतिशयेन आह्लाद का जनक होता है।

'रेभसूनू काश्यपौ' ही अगले सूक्त के भी ऋषि हैं—

[१००] शततमं सूक्तम्

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अद्रुहः—मातरः

अ॒भी न॑वन्ते अ॒द्रुहः॑ प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम्य॑म्। व॒त्सं न पूर्व॒ आयु॑नि जा॒तं रि॑हन्ति मा॒तरः॑॥ १॥

अद्रुहः=द्रोह की वृत्ति से रहित पुरुष **प्रियम्**=इस प्रीति के जनक **इन्द्रस्य काम्यम्**=जितेन्द्रिय पुरुष से चाहने के योग्य इस सोम को **अभिनवन्ते**=प्राप्त होते हैं, इसकी ओर जाते हैं। हृदयों में द्रोह व वैर आदि की भावनायें सोमरक्षण के लिये अनुकूल नहीं होती। **पूर्वे आयुनि**=जीवन के प्रारम्भ में जीवन के प्रारम्भिक भाग अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में **मातरः**=अपने जीवन का निर्माण करनेवाले व्यक्ति **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम को **रिहन्ति**=इस प्रकार आस्वादित करते हैं **न**=जैसे कि उत्पन्न हुए-हुए **वत्सम्**=बछड़े को मातरः=धेनुएँ चाटती हैं। धेनुओं का वत्सों के प्रति जैसा प्रेम होता है, इसी प्रकार सोम के प्रति उन व्यक्तियों का प्रेम होता है, जो अपने जीवन का निर्माण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—द्रोह शून्यता सोमरक्षण के लिये आवश्यक है। जीवन का निर्माण करनेवाले व्यक्ति सोम का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

द्विबर्हसं रयिम्

पुनान इन्दवा भर सोम द्विबर्हसं रयिम्। त्वं वसूनि पुष्यसि विश्वानि दाशुषो गृहे॥ २॥

हे **इन्दो**=शक्तिशाली **सोम**=वीर्य! **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **द्विबर्हसम्**=(द्वयोः स्थानयोः परिवृढम् सा०) शरीर व मस्तिष्क दोनों स्थानों में प्रभु भूत (प्रभौ परिवृढः) अर्थात् शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को दीप्त बनानेवाले **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आभर**=हमारे में धारण कर। हे सोम! तू **दाशुषः**=अपने को तेरे प्रति दे डालनेवाले, तेरे भक्त, तेरे रक्षक पुरुष के **गृहे**=इस शरीररूप घर में **त्वं**=तू **विश्वानि**=सब **वसूनि**=वसुओं को **पुष्यसि**=पुष्ट करता है। सोम जीवन रक्षण के सब तत्त्वों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोम मस्तिष्क को दीप्त व शरीर को सशक्त बनाता है, यह सब वसुओं को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मनोयुजं धियम्

त्वं धियं मनोयुजं सृजा वृष्टिं न तन्यतुः। त्वं वसूनि पार्थिवा दिव्या च सोम पुष्यसि॥ ३॥

हे **सोम**=वीर्य! शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ **त्वम्**=तू **मनोयुजम्**=मन के योग वाली **धियम्**=बुद्धि को **सृज**=उत्पन्न कर, **न**=जैसे कि **तन्यतुः**=गर्जने वाला मेघ **वृष्टिम्**=वृष्टि को पैदा करता है। सुरक्षित सोम चित्तवृत्ति की शान्ति का कारण बनता है। इस शान्त मन से युक्त बुद्धि अपने व्यापार को उत्तमता से कर पाती है। हे सोम! **त्वम्**=तू ही **पार्थिवा वसूनि**=इस शरीर रूप पृथिवी से सम्बद्ध शक्ति रूप वसुओं को **च**=तथा **दिव्या**=मस्तिष्क रूप द्युलोक से सम्बद्ध ज्ञानधनों को **पुष्यसि**=पुष्ट करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम पार्थिव व दिव्य वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

परि धावति

परि ते जिग्युषो यथा धारा सुतस्य धावति। रंहमाणा व्य१व्ययं वारं वाजीव सानसिः॥ ४॥

यथा=जैसे **जिग्युषः**=विजयशील योद्धा का वाजी=घोड़ा युद्ध में इधर-उधर दौड़ता है, उसी प्रकार हे सोम! **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **ते**=तेरी **धारा**=धारा **परिधावति**=शरीर में चारों ओर शान्ति करती हुई शोधन करती है। **रंहमाणा**=गति करती हुई यह धारा **अव्ययम्**=(अ वि अव्) विषयों में न भटकनेवाले **वारम्**=वासनाओं का निवारण करनेवाले पुरुष को प्राप्त होती है और यह जीवन संग्राम में **वाजी इव**=घोड़े की तरह **सानसिः**=संभजनीय होती है। घोड़ा जैसे युद्ध में विजय कराता है, इसी प्रकार यह सोम जीवन संग्राम में विजय का साधक होता है।

भावार्थ—सोम का जीवन संग्राम में यही स्थान है, जो युद्ध में एक विजेता योद्धा के लिये घोड़े का।

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

क्रत्वे दक्षाय

क्रत्वे दक्षाय नः कवे पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतो मित्राय वरुणाय च॥ ५॥

हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन् बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले **सोम**=वीर्य! तू **नः**=हमें **क्रत्वे**='शक्ति प्रज्ञान व कर्म' के लिये तथा **दक्षाय**=सब प्रकार की उन्नति के लिये (दक्ष् To grow) **धारया**=अपनी धारण शक्ति के साथ **पवस्व**=प्राप्त हो। हे सोम! तू **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **इन्द्राय पातवे**=इन्द्र के लिये जितेन्द्रिय पुरुष के लिये, पीने के योग्य होता है। **मित्राय**=सब के प्रति स्नेह वाले पुरुष के लिये होता है, **च**=और **वरुणाय**=द्वेष का निवारण करनेवाले पुरुष के लिये होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'शक्ति प्रज्ञान कर्म व वृद्धि' का कारण बनता है। इसका रक्षण 'जितेन्द्रिय, सब के प्रति स्नेह वाला, निर्द्वेष' पुरुष ही कर पाता है।

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

वाजसातमः मधुमत्तमः

पवस्व वाजसातमः पवित्रे धारया सुतः। इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तमः॥ ६॥

हे सोम! **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **धारया**=अपनी धारण शक्ति के साथ **पवित्रे**=पवित्र हृदय वाले पुरुष में **वाजसातमः**=अतिशयेन शक्ति को देनेवाला होता हुआ **पवस्व**=प्राप्त हो। हे **सोम**=वीर्य! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये, **विष्णवे**=व्यापक मनोवृत्ति वाले (उदार हृदय) पुरुष के लिये तथा **देवेभ्यः**=देववृत्ति वाले पुरुषों के लिये **मधुमत्तमः**=अतिशयेन माधुर्य को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—जितेन्द्रिय उदार हृदय दिव्य वृत्ति के पुरुष हृदय को पवित्र बनाकर सोम का रक्षण करते हैं। यह उन्हें शक्ति व माधुर्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

विधर्मणि

त्वां रिहन्ति मातरो हरिं पवित्रे अद्रुहः। वत्सं जातं न धेनवः पवमान विधर्मणि॥ ७॥

हे **पवमान**=जीवन को पवित्र बनानेवाले सोम! **त्वाम्**=तुझ **हरिम्**=दुःखों व रोगों के हरण करनेवाले को **मातरः**=जीवन का निर्माण करनेवाले, **अद्रुहः**=द्रोह की भावना से रहित पुरुष **रिहन्ति**=आस्वादित करते हैं। अर्थात् तेरे रक्षण में एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करते हैं। हे सोम! **विधर्मणि**=विशिष्ट धारणात्मक कार्य के निमित्त तेरा इस प्रकार ये आस्वादन करते हैं, **न**=जैसे कि **जातं वत्सम्**=उत्पन्न हुए-हुए बछड़े को **धेनवः**=नव सूतिका गौ चाटती दिखती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये अद्रोह आवश्यक है। रक्षित सोम ही धारण करता है।

ऋषिः—रेभसूनू काश्यपौ॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

अज्ञानान्धकार-विनाश

पवमान महि श्रवश्चित्रेभिर्यासि रश्मिभिः। शर्धन्तमांसि जिघ्नसे विश्वानि दाशुषो गृहे॥ ८॥

हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **चित्रेभिः रश्मिभिः**=अद्भुत ज्ञानरश्मियों के द्वारा **महि श्रवः**=महनीय ज्ञान को **यासि**=प्राप्त कराता है (या प्रापणे)। सुरक्षित सोम ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। हे सोम! तू **दाशुषः गृहे**=दाश्वान् के घर में, तेरे प्रति अपना अपना अर्पण

करनेवाले के इस शरीरगृह में **शर्धन्**=शक्तिशाली की तरह आचरण करता हुआ **विश्वानि तमांसि**=सब अन्धकारों को **जिघ्नसे**=समाप्त करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम अज्ञानान्धकार का विनाशक होता है।

ऋषिः—**रेभसूनू काश्यपौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

कवच

त्वं द्यां च महिव्रत पृथिवीं चाति जभ्रिषे। प्रति द्रापिममुञ्चथाः पवमान महित्वना॥ ९॥

हे **महिव्रत**=महनीय कर्मों वाले सोम! **त्वम्**=तू **द्यां च**=मस्तिष्क रूप द्युलोक को, **च**=और **पृथिवी**=शरीर रूप पृथिवी को **अतिजभ्रिषे**=अतिशयेन धारण करता है। सोम के सर्वमहान् कर्म ये ही हैं कि यह मस्तिष्क रूप द्युलोक को ज्ञानसूर्य से दीप्त करता है और इस शरीर रूप पृथिवी लोक को तेज की अग्नि से दीप्त करनेवाला होता है। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **महित्वना**=अपनी महिमा से **द्रापिम्**=कवच को **प्रति मुञ्चथाः**=धारण करता है। इस कवच से रक्षित पुरुष पर न रोग आक्रमण कर पाते हैं, न वासनाएँ।

भावार्थ—रक्षित सोम के महान् कर्म ये हैं कि यह मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है, शरीर को सशक्त करता है, और हमें रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचाने के लिये कवचरूप होता है।

अगले सूक्त में प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि 'अन्धीगुः श्यावाश्विः' है। 'अन्धस्' सूक्त दिन-रात के लिये प्रयुक्त होता है (अहर्वा अन्धः, अन्धोरात्रिः)। दिन-रात अर्थात् सदा से गतिशील है वह 'अन्धीगु' है, यह श्यावाश्वि गतिशील इन्द्रियाश्वों वाला है। यह प्रार्थना करता है—

[१०१] एकोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अन्धीगुः श्यावाश्वि**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

दीर्घजिह्व्यम् श्वा अपश्नथन

पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे। अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम्॥ १॥

हे **सखायः**=मित्रो! **वः**=तुम्हारे लिये **पुरःजिती**=असुर पुरियों का विजय करनेवाले **अन्धसः**=उत्पन्न रस के लिये **दीर्घजिह्व्यं**=इस दीर्घ जिह्वा वाले **श्वानम्**=स्वयं लोभ रूप कुत्ते को **अपश्नथिष्टन**=दूर हिंसित करो, स्वाद का लोभ ही यहाँ 'दीर्घजिह्व्यं श्वानं' इस शब्द से कहा गया है। स्वाद के वशीभूत हो जाने पर सोम के रक्षण का सम्भव नहीं रहता। यदि स्वाद को जीतकर हम सोम के रक्षण के लिये यत्नशील होंगे तो यह रक्षित सोम हमारे लिये आसुर भावों का पराजय करनेवाला होगा। इन आसुरभावों के विनाश से हमारा जीवन उल्लासमय होगा।

भावार्थ—स्वादेन्द्रिय को जीते बिना सोम के रक्षण का सम्भव नहीं होता। सुरक्षित सोम आसुरभावों का विनाशक होता है।

ऋषिः—**अन्धीगुः श्यावाश्वि**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अश्वो न कृत्व्यः

यो धारया पावकया परिप्रस्यन्दते सुतः। इन्दुरश्वो न कृत्व्यः॥ २॥

यः=जो सोम है वह **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **पावकया**=पवित्रता को करनेवाली **धारया**=अपनी धारण शक्ति से **परिप्रस्यन्दते**=शरीर में चारों ओर गतिवाला होता है। शरीर में सुरक्षित सोम अंग-प्रत्यंग को पवित्र कर देता है। **इन्दुः**=यह शक्तिशाली सोम **अश्वः न**=युद्ध में घोड़े के समान जीवन

संग्राम में **कृत्व्यः**=(कर्मणि साधुः) कर्मों में कुशल है। यह सोम ही हमें जीवन संग्राम में विजयी बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम पवित्रता व संग्राम-विजय को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अन्धीगुः श्यावाश्वि**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दुरोषं सोमं

तं दुरोषमभी नरः सोमं विश्वाच्या धिया। यज्ञं हिन्वन्त्यद्रिभिः॥ ३॥

नरः=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य **तं सोमम्**=उस सोम को **अद्रिभिः**=(adore) उपासनाओं के द्वारा **यज्ञं अभिहिन्वन्ति**=इस जीवन यज्ञ की ओर प्रेरित करते हैं। उपासना के द्वारा सोम सुरक्षित रहता है, वही वस्तुतः जीवन को यज्ञमय बनाता है। उस सोम को ये सुरक्षित करते हैं जो **दुरोषम्**=सब बुराइयों का दहन करनेवाला है। इसलिये इसका रक्षण करते हैं कि **विश्वाच्या धिया**=सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करानेवाली (विश्वं ज्ञानं अंचित्या) बुद्धि के हेतु से। सुरक्षित सोम बुद्धि की तीव्रता व सूक्ष्मता का हेतु बनता है।

भावार्थ—उपासना द्वारा सुरक्षित सोम बुराइयों को दग्ध करके हमें उस तीव्र बुद्धि से प्राप्त कराता है जो सब ज्ञानविज्ञान का ग्रहण करनेवाली होती है।

ऋषिः—**ययातिर्नाहुषः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मधुमत्तमाः-मन्दिनः

सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः। पवित्रवन्तो अक्षरन्देवान्गच्छन्तु वो मदाः॥ ४॥

सुतासः=उत्पन्न हुए-हुए **सोमाः**=सोम **मधुमत्तमाः**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए हैं, सुरक्षित होने पर ये जीवन को मधुर बनाते हैं। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये ये **मन्दिनः**=हर्ष को देनेवाले हैं। **पवित्रवन्तः**=पवित्रता को करनेवाले ये सोम **अक्षरत्**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में संचरित होते हैं। हे सोमकणो! **वः मदाः**=तुम्हारे उल्लास **देवान् गच्छन्तु**=इन देववृत्ति वाले पुरुषों को प्राप्त हों। देववृत्ति वाले पुरुष ही सोम का रक्षण कर पाते हैं। वे ही सोम जनित उल्लास का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोमकण 'माधुर्य, हर्ष, पवित्रता व उल्लास' को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ययातिर्नाहुषः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ओजसा विश्वस्य ईशानः

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन्। वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा॥ ५॥

'**इन्दुः**=यह शक्तिशाली सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पवते**=प्राप्त होता है' **इति**=यह बात **देवासः**=देववृत्ति के विद्वान् पुरुष **अब्रुवन्**=कहते हैं। सोम जितेन्द्रिय को ही प्राप्त होता है। **ओजसा**=ओजस्विता से **विश्वस्य**=सब का **ईशानः**=स्वामी यह सोम **वाचस्पतिः**=सब ज्ञान की वाणियों का रक्षक है। अर्थात् सोमरक्षण से बुद्धि की तीव्रता होकर जीवन में इन ज्ञानवाणियों का रक्षण होता है। यह सोम **मखस्यते**=यज्ञ की कामना करता है। अर्थात् एक पुरुष यज्ञशील बनता है, तो उसे सोम की अवश्य प्राप्ति होती है। यज्ञशीलता सोमरक्षण में साधन बनती है।

भावार्थ—सोमरक्षण जितेन्द्रिय ही कर पाता है। सुरक्षित सोम ज्ञान को प्राप्त कराता है। इस के रक्षण के लिये यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे रहना आवश्यक है।

ऋषिः—**ययातिर्नाहुषः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वाचमीङ्खयः

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः। सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे॥ ६॥

सहस्रधारः=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला **सोमः**=सोम **पवते**=हमें प्राप्त होता है। यह सोम **समुद्रः**=(स+मुद्) आनन्द से युक्त है। **वाचं ईङ्खयः**=ज्ञान की वाणियों को हमारे में प्रेरित करनेवाला है यह सोम सुरक्षित होने पर आनन्द व ज्ञान के वर्धन का कारण बनता है। **सोमः**=यह सोम **रयीणां पतिः**=सब कोशों के ऐश्वर्यों का रक्षक है। यह **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **इन्द्रस्य सखा**=जितेन्द्रिय पुरुष का मित्र है जितेन्द्रिय पुरुष में ही सोम का निवास होता है। और सुरक्षित होकर यह सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से युक्त करता है। 'तेज-वीर्य-बल व ओज-मन्यु व सहस्' सब इस सोम से ही प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सोम 'सहस्रधार, समुद्र, वाचमींखय, रयिपति व इन्द्र सखा' है।

ऋषिः—**नहुषो मानवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

पूषा

अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति। पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे॥ ७॥

अयम्=यह सोम **पूषा**=हमारा पोषण करनेवाला है। **रयिः**=यह वास्तविक ऐश्वर्य है। **भगः**=यह भजनीय-सेवनीय है, सब सौभाग्यों का कारण बनता है। **सोमः**=यह सोम **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **अर्षति**=शरीर में गतिवाला होता है। यह सोम **विश्वस्य भूमनः**=सब प्राणियों का **पतिः**=रक्षक है। यह **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **व्यख्यद्**=तेज व ज्ञान से प्रकाशित करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'पूषा रयि व भग' है। यह सब का रक्षक तथा 'मस्तिष्क व शरीर' का प्रकाशक है।

ऋषिः—**नहुषो मानवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रियाः घृष्वयः (गावः)

समु प्रिया अनूषत गावो मदाय घृष्वयः। सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः॥ ८॥

उ=निश्चय से **प्रियाः**=प्रीति की जनक **घृष्वयः**=शत्रुओं का घर्षण करनेवाली **गावः**=ज्ञान की वाणियाँ **सम् अनूषत**=मिलकर सोम का स्तवन करती हैं। इन में सोम के गुणों का शंसन है। और वे कह रही हैं कि **सोमासः**=ये सोमकण **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिये होते हैं। ये सोम ही **पथः कृण्वते**=मार्गों को करते हैं, अर्थात् हमें मार्गभ्रष्ट नहीं होने देते। **पवमानासः**=ये पवित्रता को करनेवाले हैं और **इन्दवः**=हमें शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—वेदवाणियाँ स्पष्ट कह रही हैं कि ये सोमकण उल्लास के जनक हैं, पवित्र करनेवाले व शक्ति को देनेवाले हैं।

सूचना—'प्रियाः और घृष्वयः' ये भी 'सोमासः' का विशेषण मानने पर अर्थ यह होगा कि ये सोम प्रीति के जनक हैं और रोगकृमि व वासनारूप शत्रुओं का घर्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**नहुषो मानवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ओजिष्ठ

य ओजिष्ठस्तमा भर पवमान श्रवाय्यम्। यः पञ्च चर्षणीरभि रयिं येन वनामहै॥ ९॥

हे **पवमान**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले सोम! **यः**=जो तेरा **ओजिष्ठः**=ओजस्वितम, हमें अधिक से अधिक शक्तिशाली बनानेवाला रस है **तम्**=उस **श्रवाय्यम्**=(श्रावसे उत्तमम्) ज्ञान-प्रापण में उत्तम, ज्ञानाग्नि के दीपन द्वारा ज्ञानवर्धक रस को **आभर**=हमारे लिये सर्वथा पुष्ट करिये। **सः**=जो रस **पञ्च-चर्षणीः**=पञ्चजनों को, पाँचों यज्ञों से युक्त जनों को **अभि**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है यज्ञशीलता ही मनुष्य को वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के योग्य बनाती है। हे सोम! तू हमें उस रस को प्राप्त करा **येन**=जिससे कि **रयिम्**=सब अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्यों को **वनामहे**=हम प्राप्त करें। इस सोमरस (वीर्यशक्ति) ने ही तो हमें 'तेज, वीर्य, ओजबल, मन्यु व सहस्' को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हमें वह सोम प्राप्त हो जो कि हमें 'ओजस्वी, ज्ञानी, यज्ञशील व ऐश्वर्ययुक्त' बनाता है।

ऋषिः—**मनुः सांवरणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

स्वाध्यः स्वर्विदः

सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः। मित्राः सुवाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः॥ १०॥

इन्दवः=हमें शक्तिशाली बनानेवाले **सोमाः**=सोमकण **पवन्त**=प्राप्त होते हैं। ये सोमकण **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **गातुवित्तमाः**=अधिक से अधिक मार्ग के प्रापक हैं। सोमरक्षक पुरुष मर्यादित जीवन वाला होता हुआ मार्गभ्रष्ट नहीं होता। ये सोमकण **मित्रः**=हमें प्रमीति से (मृत्यु से) बचानेवाले हैं, **सुवानः**=उत्पन्न किये जाते हुए व शरीर में प्रेरित किये जाते हुए ये **अरेपसः**=हमारे जीवन को निर्दोष बनाते हैं। **स्वाध्यः**=ये उत्तम ध्यानवाले हैं, हमारी वृत्ति को ध्यानयुक्त करते हैं। इस प्रकार **स्वर्विदः**=अन्तःप्रकाश को प्राप्त कराते हैं (स्वः=प्रकाश, विद् लाभे)।

भावार्थ—सोमरक्षण हमारे जीवन को 'मर्यादित, नीरोग व निर्दोष' बनाता है। ये हमें ध्यानवृत्ति वाला बनाकर अन्तःप्रकाश प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**मनुः सांवरणः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अभितः वसुविदः

सुष्वाणासो व्यद्रिभिश्चिताना गोरधि त्वचि। इषमस्मभ्यमभितः समस्वरन्वसुविदः॥ ११॥

अद्रिभिः=उपासकों से (आदृ) **विसुष्वाणासः**=विशेष रूप से शरीर में प्रेरित किये जाते हुए ये सोमकण **गोः**=इस वेदवाणी रूप धेनु के **अधित्वचि**=आधिक्येन सम्पर्क में **चितानाः**=हमें संज्ञान युक्त करते हैं। सोमरक्षण से वेदधेनु का सम्पर्क हमारे साथ बढ़ता है और हमारा ज्ञान वृद्धि को प्राप्त करता है। ये **अभितः**=दोनों ओर ऐहलौकिक व पारलौकिक **वसुविदः**=ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाले सोमकण **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **इषम्**=अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को **सम् अश्वरन्**=सम्यक् उच्चारित करते हैं। हमें पवित्र हृदयवाला बनाकर प्रभु प्रेरणा के सुनने के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—अन्तःप्रेरित सोमकणों से बुद्धि की सूक्ष्मता होती है और हम अधिकाधिक ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करते हैं। ये हमें उभयलोक के ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हुए प्रभु प्रेरणा को सुनने का पात्र बनाते हैं।

ऋषिः—मनुः सांवरणः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सूर्यासो न दर्शतासः

एते पूता विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः। सूर्यासो न दर्शतासो जिगत्नवो ध्रुवा घृते॥ १२॥

एते=ये **पूताः**=पवित्र हुए-हुए **सोमासः**=सोम वासनाओं के आक्रमण से न मलिन हुए-हुए सोमकण **विपश्चितः**=हमें ज्ञानी बनाते हैं। बुद्धि को तीव्र करके ये हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं। **दध्याशिरः**=(दधि च आशीः च) ये धारण करनेवाले हैं (धत्ते) और शरीर में समन्तात् रोगकृमियों को शीर्ण करनेवाले हैं (आश्रृणान्ति) ये सोमकण **सूर्यासः न**=सूर्यों के समान **दर्शतासः**=दर्शनीय हैं। हमें खूब तेजस्वी व सूर्यसम दीप्त बनाते हैं। सूर्य की तरह ही **जिगत्नवः**= निरन्तर गमनशील हैं। **घृते**=ज्ञानदीप्ति के निमित्त **ध्रुवाः**=ध्रुव साधन हैं। निश्चय से ज्ञानदीप्ति को करनेवाले हैं।

भावार्थ—सोम ज्ञान को बढ़ाते हैं, धारण करते हैं व रोगकृमियों को नष्ट करते हैं। हमें सूर्यसम तेजस्वी बनाते हैं, क्रियाशीलता को उत्पन्न करते हैं, ज्ञानदीप्ति का निश्चित कारण हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

अराधसं श्वानम् अपहत

प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः। अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः॥ १३॥

सुन्वानस्य=उत्पन्न किये जाते हुए **अन्धसः**=इस अदनीय=शरीर में ही **धारणीय**=सोम के अर्थात् सोम सम्बन्धी **तद्**=उस **वचः**=वचन को **मर्तः**=मनुष्य **न वृत**=(वृ=Keep away, oppose) अपने से दूर न रखे व इस वचन का विरोध न करे कि हे **भृगवः**=ज्ञान से अपना परिपक्व करनेवाले पुरुषो! **अराधसं**=सिद्धि में विघ्नभूत **श्वानम्**=इस लोभरूप कुत्ते को, विशेषतया स्वाद के लोभ को **अपहत**=अपने से सुदूर भगानेवाले होवो, **न मखम्**=यज्ञ को नहीं। लोभ को दूर करके सदा यज्ञशील बने रहो। स्वाद का लोभ सोमरक्षण का प्रबल विरोधी है। स्वाद सोम का विनाशक है। इसके विपरीत सदा यज्ञशेष को खाने की वृत्ति सोमरक्षण की अनुकूलता वाली है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये मूलभूत बात यह है कि हम स्वाद को जीतकर सदा यज्ञशील बनें, यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—प्रजापतिः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

क्रियाशीलता द्वारा सोमरक्षण

आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः। सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम्॥ १४॥

जामिः=सब उत्तम वसुओं को जन्म देनेवाला हमारा यह बन्धुभूत सोम **अत्के**=निरन्तर गतिशील पुरुष में **आ अव्यत**=सर्वरक्षा संवृत होता है, सुरक्षित रहता है। उसी प्रकार सुरक्षित रहता है, **न**=जैसे कि **ओण्योः**=रक्षक माता-पिता की **भुजे**=भुजा में **पुत्रः**=पुत्र। रक्षक माता-पिता की भुजा पुत्र का रक्षण करती है। इसी प्रकार क्रियाशीलता सोम का रक्षण करती है। यह सोम **जारः न**=सब शत्रुओं को जीर्ण करनेवाले के समान होता हुआ **योषणाम्**=इस वेदवाणी रूप पत्नी की ओर **सरत्**=गतिवाला होता है। वेदज्ञान को प्राप्त करता हुआ यह **वरः न**=श्रेष्ठ पुरुष के समान **योनिम्**=मूल उत्पत्ति स्थान प्रभु में **आसदम्**=आसीन होने के लिये होता है। सोमरक्षण के द्वारा ज्ञान वृद्धि होकर **अन्ततः**=प्रभु दर्शन होता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता से सोमरक्षण होता है। और सोमरक्षण से ज्ञान वृद्धि होकर प्रभु दर्शन।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दक्षसाधनः

स वीरो दक्षसाधनो वि यस्तस्तम्भ रोदसी। हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम्॥ १५॥

सः=वह सोम **वीरः**=विशेष रूप से शत्रुओं को कम्पित करनेवाला व **दक्षसाधनः**=बल व उन्नति का साधक होता है। यह सोम वह है, **यः**=जो **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **वि तस्तम्भ**=विशेष रूप से थामता है। शरीर को यही तेजस्वी बनाता है और मस्तिष्क को यही ज्ञानदीप्त करता है। **हरिः**=यह सब दुःखों का हरण करनेवाला सोम **पवित्रे**=पवित्र हृदय वाले पुरुष में **अव्यत**=रक्षित होता है। वहां रक्षित हुआ-हुआ यह **वेधाः न**=विधाता के समान शरीरस्थ सब शक्तियों का निर्माणकर्ता के समान होता हुआ **योनिम् आसदम्**=मूल उत्पत्ति स्थान प्रभु में आसीन होने के लिये होता है।

भावार्थ—'हृदय की पवित्रता' सोमरक्षण का साधन बनती है। यह सोम हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमें उन्नत करता है। यह हमारे मस्तिष्क व शरीर को ठीक करता है। सब वसुओं का निर्माण करता हुआ हमें अन्ततः प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गव्ये अधि त्वचि कनिक्रदत्

अव्यो वारेभिः पवते सोमो गव्ये अधि त्वचि। कनिक्रदद्वृषा हरिरिन्द्रस्याभ्येति निष्कृतम्॥ १६॥

अव्यः=रक्षणीय **सोमः**=सोम **वारेभिः**=वासनाओं के निवारण के द्वारा **पवते**=हमें प्राप्त होता है। वासनायें ही तो इसके विनाश का कारण होती हैं। यह सोम **गव्ये**=वेद धेनु से प्राप्त होनेवाले ज्ञानदुग्ध के **अधित्वचि**=आधिक्येन सम्पर्क में **कनिक्रदत्**=प्रभु का आह्वान करता है। सोमरक्षण से ज्ञान बढ़ता है और प्रभु स्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है। **वृषा**=यह सुखों का वर्षण करनेवाला **हरिः**=रोगों का हर्ता सोम **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष **निष्कृतम्**=संस्कृत हृदय को **अभ्येति**=प्राप्त होता है। हृदय की परिशुद्धि सोमरक्षण के लिये आवश्यक है।

भावार्थ—सोमी पुरुष ज्ञान प्राप्त कर के प्रभु का आह्वान करता है। सुखों की वर्षण व दुःखों का हरण यह सोम ही करता है। पवित्र हृदय में यह आसीन होता है।

सोमरक्षण से पवित्र हुआ-हुआ यह पुरुष 'त्रित' बनता है, तीनों 'काम, क्रोध, लोभ' को तैर जाता है। यह कहता है—

[१०२] द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

महीनां शिशुः

क्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम्। विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता॥ १॥

क्राणा=शरीर में सुरक्षित सोम यज्ञों को करनेवाला होता है। सोमरक्षक पुरुष यज्ञिय वृत्ति वाला बनता है। यह **महीनां**=उपासकों की बुद्धि को **शिशुः**=तीव्र करनेवाला होता है (शो तनूकरणे)। **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान के **दीधितिम्**=प्रकाश को **हिन्वन्**=अपने धारक के हृदय में प्रेरित करता है। इस प्रकार वृत्ति को यज्ञिय बनाकर, बुद्धि को तीव्र करके तथा सत्य ज्ञान की किरणों को प्रकाशित करके यह सोम **विश्वा प्रिया**=सब प्रिय वस्तुओं का **परिभुवत्**=व्यापन करनेवाला होता है **अध**=और अब **द्विता**=शरीर व मस्तिष्क दोनों का विस्तार करनेवाला होता है। यह सोम

शरीर में शक्ति को व मस्तिष्क में दीप्ति को स्थापित करता है।

भावार्थ—सोम हमारी वृत्ति को यज्ञिय बनाता है, बुद्धि को तीव्र करता है, ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कराता है, सब प्रिय वस्तुओं का व्यापन करता हुआ शरीर को सबल व मस्तिष्क को ज्योतिर्मय करता है।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

सप्त धामभिः अध प्रियम्

उप त्रितस्य पाष्यो३रभक्त यद् गुहा पदम्। यज्ञस्य सप्त धामभिरध प्रियम् ॥ २ ॥

यत्=जब **त्रितस्य**='काम-क्रोध-लोभ' को तैर जानेवाले त्रित के **पाष्योः**=पाषाणवत् दृढ़ मस्तिष्क व शरीर में और **गुहा**=हृदय रूप गुहा में **पदम्**=स्थान को **उप अभक्त**=समीप से सेवित करता है, अर्थात् शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम जब मस्तिष्क शरीर व हृदय में अपना कार्य करता है तो यह सोमधारक पुरुष **यज्ञस्य**=उस उपासनीय प्रभु के **सप्त धामभिः**=सातों 'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं' शब्दों से वर्णित 'स्वास्थ्य-ज्ञान-जितेन्द्रियता-हृदय की विशालता-शक्तिविकास-तप व सत्य' रूप तेजों को प्राप्त करता है और **अध**=अब **प्रियम्**=उस प्रिय प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है। सोमरक्षण के लिये वासनाओं को जीतना आवश्यक है। यह सोम ही सुरक्षित होकर मस्तिष्क हृदय व शरीर को दीप्त निर्मल व सशक्त बनाता है। ऐसी स्थिति में प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चलता हुआ यह पुरुष सातों प्रयाणों को तैर करता हुआ प्रभु को पानेवाला बनता है। **यज्ञस्य सप्त धामभिः**=इन शब्दों में योग की सप्त भूमिकाओं का भी संकेत स्पष्ट है। इन सात भूमिकाओं को पार करके यह योगी अपने प्रिय प्रभु को पानेवाला बनता है।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं से तैरने वाला, दृढ़ शरीर वाला योग सातों भूमियों को पार कर साधक प्रभु को प्राप्त कर सकता है।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

त्रीणि धारय

त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वेरया रयिम्। मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः ॥ ३ ॥

हे सोम! तू **त्रितस्य**=काम-क्रोध-लोभ को तैरनेवाले इस पुरुष के **त्रीणि धारय**=शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों का धारण कर, इसे कर्म उपासना व ज्ञान वाला बना। इसके इन 'शक्ति-यज्ञ व ज्ञान' रूप **रयिम्**=ऐश्वर्यों को **पृष्ठेषु**=शिखरों पर **एरयः**=प्रेरित कर। यह सोमी पुरुष शक्ति यज्ञ व ज्ञान रूप ऐश्वर्यों के दृष्टिकोण से बड़ा उन्नत हो। यह **सुक्रतुः**=उत्तम 'शक्ति यज्ञ व प्रज्ञान' वाला पुरुष **अस्य**=इस सोम के **योजना**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में मेल को **वि मिमीते**=विशेष रूप से करनेवाला होता है। जितना-जितना यह सोमरक्षण के लाभ को देखता है, उतना-उतना सोम को अपने साथ जोड़ने की कामना वाला होता है।

भावार्थ—सोम हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों का धारण करता है यह 'शक्ति यज्ञ व प्रज्ञान' रूप ऐश्वर्यों को बढ़ाता है।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ध्रुवो रयीणाम्

जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिये। अयं ध्रुवो रयीणां चिकेत यत् ॥ ४ ॥

जज्ञानम्=शरीर में शक्ति का विकास करते हुए **वेधम्**=(विधाताम्) विशिष्ट रूप से धारण

करनेवाले इस सोम को **सप्त-मातरः**=सात गायत्री आदि छन्दों में होने के कारण सात संख्या वाली वेदमातायें **श्रिये**=शोभा के लिये **आशासत**=उपदिष्ट करती हैं (अनु शासन्ति)। वेदमाता अपने सन्तान भूत जीवों के लिये यही उपदेश करती है कि यह सोम सुरक्षित हुआ-हुआ तुम्हारी शोभा के लिये होगा। **अयम्**=यह सोम ही **यत्**=क्योंकि **रयीणाम्**=सब ऐश्वर्यों का **ध्रुवः**=निश्चित आधार **चिकेत**=जाना जाता है। सारे ऐश्वर्य इस सोम से ही प्रादुर्भूत होते हैं। यही उनका ध्रुव सोम है।

भावार्थ—वेदमाता का यही उपदेश है कि 'सोम का रक्षण करो। यह तुम्हारी श्री का कारण होगा। यही तुम्हें सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करायेगा'।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सर्वदेवमय स्पृहणीय जीवन

अस्य व्रते सजोषसो विश्वे देवासो अद्रुहः। स्पार्हा भवन्ति रन्तयो जुषन्त यत्॥ ५॥

अस्य व्रते=इस सोमरक्षण के कर्म के होने पर **सजोषसः**=समान रूप से प्रीति वाले **विश्वे देवासः**=सब देव **अद्रुहः**=द्रोहशून्य होते हैं। अर्थात् सोमरक्षण से जीवन सर्वदेवमय बनता है। **यत्**=जब **रन्तयः**=सोमरक्षण में प्रीति वाले होते हुए **जुषन्त**=इस सोम का सेवन करते हैं तो **स्पार्हाः**=स्पृहणीय जीवनवाले **भवन्ति**=होते हैं। वस्तुतः सोमरक्षण ही जीवन को सुन्दर बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से जीवन सर्वदेवमय व स्पृहणीय बनता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

कविं मंहिष्ठम्

यमी गर्भमृतावृधो दृशे चारुमजीजनन्। कविं मंहिष्ठमध्वरे पुरुस्पृहम्॥ ६॥

यम्=जिस सोम को **ई**=निश्चय से **ऋतावृधः**=ऋत का अपने अन्दर वर्धन करनेवाले लोग **गर्भम्**=गर्भ के रूप में **अजीजनन्**=उत्पन्न करते हैं। शरीर के अन्दर ही स्थित हुआ-हुआ यह सोम **दृशे चारुम्**=दर्शन के लिये अत्यन्त सुन्दर होता है। सोमरक्षण से शरीर तेजस्वी होकर दर्शनीय बन जाता है। उस सोम को ये अपने अन्दर गर्भरूप से करते हैं, जो **किवम्**=उनको क्रान्तदर्शी बनाता है, **महिष्ठम्**=अधिक से अधिक ऐश्वर्यों का देनेवाला है। अतएव **अध्वरे**=इस जीवमय यज्ञ में **पुरुस्पृहम्**=अत्यन्त स्पहणीय है।

भावार्थ—व्यवस्थित जीवन से हम सोम का रक्षण करते हैं। यह सोम हमारे जीवन को दर्शनीय व सुन्दर बनाता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सशक्त शरीर व दीप्त मस्तिष्क

समीचीने अभि त्मना यह्वी ऋतस्य मातरा। तन्वाना यज्ञमानुषग्यदञ्जते॥ ७॥

यत्=जब **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्मों को **आनुषक्**=निरन्तर **तन्वानाः**=विस्तृत करते हुए यज्ञशील लोग **अञ्जते**=सोम से अपने को अलंकृत करते हैं, तो यह सोम उन द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **त्मना**=स्वयं **अभि**=(गच्छति) प्राप्त होता है, जो **समीचीने**=परस्पर संगत हैं, **यह्वी**=महान् हैं और **ऋतस्य मातरा**=ऋत का निर्माण करनेवाले हैं। सोम शक्ति से परिपुष्ट मस्तिष्क और शरीर ऋत अर्थात् यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का ही निर्माण करते हैं। मनुष्य निरन्तर

यज्ञादि कर्मों में लगा रहे तो वासनाओं से बचा रहता है। इस प्रकार यह सोमरक्षण के योग्य बनता है। सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर दोनों का पोषण करता है। सोम से शरीर सशक्त बनता है तो मस्तिष्क दीप्त। यही दोनों का संगत होना है। सशक्त शरीर व दीप्त मस्तिष्क मनुष्य को महान् बनाते हैं। ये जीवन को अनृत से दूर करके ऋतमय बनाते हैं।

भावार्थ—यज्ञों में लगे रहकर वासनाओं से अनाक्रान्त हम सोम का रक्षण करते हैं। यह हमारे मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व सशक्त बनाकर महान् बनाता है।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति

क्रत्वा शुक्रेभिरक्षभिर्ऋणोरप व्रजं दिवः। हिन्वन्नृतस्य दीधितिं प्राध्वरे ॥ ८ ॥

हे सोम! तू **क्रत्वा**=प्रज्ञान के द्वारा तथा **शुक्रेभिः**=निर्मल (शुचि) **अक्षभिः**=इन्द्रियों के द्वारा **दिवः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक से **व्रजं**=अन्धकार समूह को **अप ऋणोः**=दूर कर। सोम ज्ञान को बढ़ाने व इन्द्रियों को निर्मल बनाने के द्वारा मस्तिष्क रूप द्युलोक को ज्ञान सूर्य से दीप्त कर देता है। यह सोम **प्र अध्वरे**=इस प्रकृष्ट जीवनयज्ञ में **ऋतस्य दीधितिम्**=सत्य ज्ञान के प्रकाश को **हिन्वन्**=प्रेरित करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम प्रज्ञामवृद्धि व इन्द्रियों के नैर्मल्य के द्वारा ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कराता है।

सोमरक्षण के द्वारा शरीर को सशक्त व मस्तिष्क को दीप्त बनाता हुआ यह 'द्वित' बनता है। यह दोनों का विस्तार करनेवाला (द्वौ तनोति) आप्त बनता है, प्रभु को प्राप्त करने वालों में उत्तम। यह कहता है—

[१०३] त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**द्वित आप्त्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उद्यतम्। भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते ॥ १ ॥

पुनानाय=पवित्र करनेवाले, **वेधसे**=कर्मों के विधाता **सोमाय**=इस सोम के लिये, सोम के रक्षण के लिये **वचः**=स्तुतिवचन **उद्यतम्**=उद्यत हुआ है। प्रभु का स्तवन करने से वृत्ति के ठीक बने रहने के द्वारा सोम का रक्षण होता है। **मतिभिः**=बुद्धियों के द्वारा **जुजोषते**=प्रीणित करनेवाले इस सोम के लिये स्तुति वचनों को इस प्रकार **प्रभर**=धारण कर, **न**=जैसे कि एक कर्मकर्ता के लिये **भृतिम्**=भृति को धारण करते हैं। सोम हमारे लिये बुद्धि का सम्पादन करता है। सो हम सोम का साधन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तवन द्वारा सोम का रक्षण करें। रक्षित सोम हमें पवित्र करता है, हमारे जीवन में यह विधाता के समान होता है, हमें बुद्धियों से युक्त करता है।

ऋषिः—**द्वित आप्त्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

सधस्थता

परि वाराण्यव्यया गोभिरञ्जानो अर्षति। त्री षधस्था पुनानः कृणुते हरिः ॥ २ ॥

वाराणि=द्वेष का व विषयवासनाओं का निवारण जिनसे किया गया है, तथा **अव्यया**=जो विषयों में भटक नहीं रही ऐसी इन्द्रियों को **गोभिः अञ्जानः**=ज्ञान की वाणियों से अलंकृत करता हुआ यह सोम **परि अर्षति**=शरीर में चारों ओर गतिवाला होता है। सुरक्षित सोम ज्ञान का वर्धक

होता है। **हरिः**=यह सब मलों का हरण करनेवाला सोम **त्री**=तीनों—शरीर, मन व बुद्धि को **पुनानः**=पवित्र करता हुआ **सधस्था**=जीव परमात्मा को साथ-साथ ठहरनेवाला **कृणुते**=करता है। पूर्ण परिशुद्धि होने पर जीव परमात्मा में स्थित होता है ये दोनों सधस्थ हो जाते हैं।

भावार्थ—सोम हमें ज्ञान से अलंकृत करता है, पवित्र करता है, परमात्मा के साथ सहस्थिति को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**द्वित आप्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

आनन्दमय कोश की ओर

परि कोशं मधुश्चुतमव्यये वारे अर्षति। अभि वाणीर्ऋषीणां सप्त नूषत॥ ३॥

अव्यये=(अवि अय) विविध विषयों में न भटकनेवाले **वारे**=वासनाओं का निवारण करनेवाले पुरुष में यह सोम **मधुश्चुतं कोशं परि**=आनन्द को संचारित करनेवाले कोश की ओर **अर्षति**=गतिवाला होता है। अर्थात् सोमी पुरुष अन्नमय आदि कोशों से ऊपर उठकर आनन्दमय कोश की ओर चलनेवाला होता है। उस इस सोम को **ऋषीणां**=वेदों की **सप्त वाणी**=सात छन्दों में कही गयी वाणियाँ **अभि नूषत**=स्तुत करती हैं। इन वेद वाणियों में सोम की महिमा का प्रतिपादन हुआ है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम अध्यात्मवृत्ति वाले बनकर अन्नमय आदि कोशों से ऊपर उठकर आनन्दमय कोश की ओर गति वाले होते हैं।

ऋषिः—**द्वित आप्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृदुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

बुद्धि-दिव्यगुण व नीरोगता

परि णेता मतीनां विश्वदेवो अदाभ्यः। सोमः पुनानश्चम्वोर्विशद्धरिः॥ ४॥

यह सोम **मतीनां परिणेता**=बुद्धियों का हमें सब प्रकार से प्राप्त करानेवाला है। **विश्वदेवः**=सब दिव्य गुणों वाला है और **अदाभ्यः**=रोग आदि से हिंसित होनेवाला नहीं। सुरक्षित सोम बुद्धि को बढ़ाता है, दिव्य गुणों का उपजाता है और शरीर को नीरोग बनाता है। यह **सोमः**=सोम (वीर्य) **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **चम्वोः**=द्यावापृथिवी में, मस्तिष्क व शरीर में **विशत्**=प्रवेश करता है शरीर को सशक्त व मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता हुआ यह **हरिः**=सब शारीर व मानस दुःखों का हरण करनेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम बुद्धि को तीव्र, मन को दिव्य, शरीर को नीरोग बनाता है।

ऋषिः—**द्वित आप्त्यः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

दैवीः स्वधाः अनु

परि दैवीरनु स्वधा इन्द्रेण याहि सरथम्। पुनानो वाघद्वाघद्भिरमर्त्यः॥ ५॥

हे सोम! तू **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष के साथ **सरथम्**=इस शरीर रूप समान रथ में **दैवीः स्वधाः अनु**=शरीरस्थ सब देवों की आत्मधारण शक्तियों का लक्ष्य करके **परियाहि**=गतिवाला हो। शरीर में सुरक्षित सोम इन शरीरस्थ देवों का पेय बनता है और इस प्रकार उनकी शक्ति को बढ़ाता है। यही देवों का सोम-पान है। आँख में स्थित सूर्य, नासिका में स्थित वायु व मुख में स्थित अग्नि आदि देव इस सोम से ही शक्ति सम्पन्न बनते हैं। **वाघद्भिः**=धारण करने वालों से **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ यह सोम **वाघत्**=अंग-प्रत्यंग की शक्तियों को प्राप्त कराता हुआ **अमर्त्यः**=इन धारण करने वालों को नीरोग बनाता है। सोमरक्षण से नीरोगता प्राप्त होती है।

भावार्थ—शरीरस्थ सोम शरीरस्थ सब देवों को शक्ति प्राप्त कराता है। इस प्रकार सब अंगों को सशक्त करता हुआ यह नीरोगता को देनेवाला है।

ऋषिः—**द्वित आप्त्यः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

देवः देवेभ्यः सुतः

परि सप्तिर्न वाजयुर्देवो देवेभ्यः सुतः। व्यानशिः पवमानो वि धावति ॥ ६ ॥

सप्तिः न=युद्ध में सर्पणशील घोड़े के समान यह सोम **वाजयुः**=रोगकृमि आदि शत्रुओं के साथ संग्राम की कामना वाला होता है। **देवः**=प्रकाशमय वह सोम **देवेभ्यः**=शरीरस्थ देवों के लिये **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। इस सुरक्षित सोम से ही सब देवों को शक्ति प्राप्त होती है। यह **परि व्यानशिः**=शरीर में चारों ओर व्याप्त होनेवाला सोम **पवमानः**=पवित्रता को करनेवाला होता है और **विधावति**=शरीर में विशिष्ट गतिवाला होकर उसका शोधन कर डालता है।

भावार्थ—शरीरस्थ सोम 'शक्ति, दिव्यगुणों व पवित्रता' को प्राप्त करानेवाला होता है।

सोमरक्षण से 'ज्ञान व बल' दोनों ही शक्तियाँ 'शिखम् अर्गति' शिखर पर पहुँचनेवाली होती हैं सो इन शक्तियों वाले 'शिखण्डिन्यौ' हैं, ये वस्तुतत्व को देखनेवाले होने से 'काश्यप्यौ' तथा निरन्तर क्रियाशील होने से 'अप्सरसौ' (अप्+सरस्) हैं। अपना पूरण करने से 'पर्वत' हैं—ज्ञानोपदेश से सब के शोधन में प्रवृत्त होने से 'नारद' है (नरसमूहं दायति)। ये कहते हैं—

सप्तमोऽनुवाकः

[१०४] चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**पर्वतनारदौ द्वे शिखण्डिन्यौ वा काश्यप्यावप्सरसौ** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥
छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

घरों में मिलकर उपासना

सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत। शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥ १ ॥

सखायः=हे मित्रो! **आनिषीदत**=आकर नम्रता से आसीन होवो। मिलकर इस 'हविर्धान' (पूजागृह) में बैठो। **पुनानाय**=सब को पवित्र करनेवाले प्रभु का **गायत**=गुणगान करो। प्रभु का स्तवन चित्तवृत्ति के शोधन के लिये आवश्यक है। **न (संप्रति)**=और अब **यज्ञैः**=इन उपासना यज्ञों से **शिशुम्**=(शो तनूकरणे) तुम्हारी बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले इस सोम को **परिभूषत**=शरीर के अंगों में ही चारों ओर अलंकृत करो। शरीरस्थ यह सोम '**श्रिये**'=शोभा के लिये हो।

भावार्थ—घरों में मिलकर प्रभु-पूजन करते हुए हम वातावरण को धार्मिक बनायें। इस प्रकार उपासनाओं द्वारा सोम का हम शरीर में रक्षण करें जिससे यह शोभा की वृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ द्वे शिखण्डिन्यौ वा काश्यप्यावप्सरसौ** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥
छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

गयसाधनम्

समी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम्। देवाव्यं१ मदमभि द्विशवसम् ॥ २ ॥

वत्सं न=जैसे बछड़े को **मातृभिः**=मातृभूत गौवें के साथ संसृष्ट करते हैं, उस माता के समीप बछड़ा सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार **ई**=निश्चय से **गयसाधनम्**=प्राणशक्तियों के (गयः प्राणम्) सिद्ध करनेवाले इस सोम को **मातृभिः**=इन वेदमाताओं से **संसृजत**=संसृष्ट करो। यह वेदाध्ययन

(=ज्ञान की प्राप्ति) इन्हें सुरक्षित करनेवाली होगी। उस सोम को ज्ञान प्राप्ति से संसृष्ट करो जो कि **देवाव्यं**=सब दिव्यगुणों का रक्षक हो, **मदम्**=उल्लास का जनक है और **अभि द्विशवसम्**=हमें दोनों ज्ञान व शारीरिक शक्ति के बल को प्राप्त करानेवाला है। सुरक्षित सोम मस्तिष्क को ज्ञान से बलवान् तथा शरीर को शक्ति से बलवान् बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति में लगे रहने से सोम का रक्षण होता है। यह 'प्राणशक्ति, उल्लास, दिव्यगुण व ब्रह्मक्षत्र' का विकास करता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ द्वे शिखण्डिन्यौ वा काश्यप्यावप्सरसौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥
छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

शर्धाय वीतये

पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्धाय वीतये। यथा मित्राय वरुणाय शन्तमः॥ ३॥

दक्षसाधनम्=सब उन्नतियों के सिद्ध करनेवाले इस सोम को **पुनाता**=पवित्र करो। **यथा**=जिससे कि वह **शर्धाय**=शत्रुओं के अभिभव के लिये रोगकृमि आदि शत्रुओं के विनाश के लिये तथा **वीतये**=अज्ञानान्धकार के विनाश के लिये होता है। इस सोम को पवित्र करो **यथा**=जिस प्रकार यह **मित्राय**=सब के प्रति स्नेह करनेवाले **वरुणाय**=द्वेष निवारण करनेवाले के लिये **शन्तमः**=अतिशयेन शान्ति को देनेवाला होता है। वस्तुतः सोमरक्षण हमें मित्र व वरुण बनाकर वास्तविक शान्ति प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को उन्नत करता है। शत्रुओं को कुचलता है, अन्धकार को दूर करता है, शान्ति प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ द्वे शिखण्डिन्यौ वा काश्यप्यावप्सरसौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥
छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

वसुविदम्

अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत। गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि॥ ४॥

हे सोम! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **वसुविदं त्वा**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले तुझको **वाणीः**=स्तुति वाणियाँ **अभि अनूषत**=स्तुत करती हैं। तेरे गुणों का गायन करती हुई ये वाणियाँ हमें तेरे रक्षण में अधिक और अधिक प्रीतिवाला करती हैं। हम **गोभिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **ते वर्णं**=तेरे इस चोगे (covering) या आवरण को **अभिवासयामसि**=आच्छादित करते हैं। ज्ञान की वाणियों के अध्ययन में तत्पर रहने पर हम वासनाओं से बचे रहते हैं और सोम को सुरक्षित कर पाते हैं।

भावार्थ—खाली समय को ज्ञान प्राप्ति में बिताने से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और सोम के रक्षण का सम्भव होता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ द्वे शिखण्डिन्यौ वा काश्यप्यावप्सरसौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥
छन्दः—**निचृदुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

देवप्सराः

स नो मदानां पत इन्दो देवप्सरा असि। सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव॥ ५॥

हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **सः**=वह तू **नः**=हमारे लिये, हे **मदानां पते**=सब उल्लासों की रक्षा करनेवाले सोम! **देवप्सराः असि**=देवरूप है। सुरक्षित होने पर हमारे जीवनों

को दिव्य गुणोंवाला बनाता है। तेरे रक्षण से हम देवरूप हो जाते हैं। हे सोम! तू **सख्ये**=मित्र के लिये **सखा इव**=एक मित्र की तरह **गातुवित्तमः भव**=अतिशयेन मार्ग को प्राप्त करानेवाला हो। तेरे रक्षण से तीव्र बुद्धि होकर हम कर्तव्याकर्तव्य विवेक कर सकें। तथा तेरे रक्षण से ही पवित्र हृदय होकर हम अन्त:स्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'उल्लास, दिव्यता व मार्गदर्शक ज्ञान' प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ द्वे शिखण्डिन्यौ वा काश्यप्यावप्सरसौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥
छन्दः—**निचृदुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

सोमरक्षण व पवित्र व्यवहार

सनेमि कृध्य१स्मदा रक्षसं कं चिदत्रिणम्। अपादेवं द्वयुमंहो युयोधि नः॥ ६॥

हे सोम! तू **अस्मत्**=हमारे से **सनेमि**=शीघ्र ही (१२.४० नि०) **कञ्चित्**=इस अवर्णनीय रूप वाले **अत्रिणम्**=हमें खाजानेवाले **रक्षसं**=राक्षसी भाव को **अपाकृधि**=दूर कर। सोमरक्षण से सब आसुरी वृत्तियों का विनाश होता ही है। हे सोम! तू **अदेवं**=इस देव विरोधी भाव को, **द्वयुम्**=सत्यानृत व्यवहार को **अहः**=कुटिलता व पाप को **नः**=हमारे से **अपयुयोधि**=पृथक् कर।

भावार्थ—सोमरक्षण से सब 'राक्षसी भाव, देव विरोधी वृत्तियाँ, सत्यानृत व्यवहार (double dealing), कुटिलता व पाप' नष्ट हो जाते हैं।

अगले सूक्त के ऋषि भी 'पर्वत व नारद' ही हैं—

[१०५] पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**पर्वतनारदौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

यज्ञैः गूर्तिभिः

तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत। शिशुं न यज्ञैः स्वदयन्त गूर्तिभिः॥ १॥

हे **सखायः**=मित्रो! **वः मदाय**=तुम्हारे आनन्द व उल्लास के लिये **पुनानं**=पवित्र करते हुए **तं**=उस सोम को **अभिगायत**=प्रातः-सायं स्तुत करो। इस सोम के गुणों का गान करते हुए सोमरक्षण के लिये प्रवृत्त होवो। **शिशुं न**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को सूक्ष्म सा बनानेवाले इस सोम को **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों से तथा **गूर्तिभिः**=(praise) स्तुतियों से **स्वदयन्त**=स्वादवाला बनाते हैं। यज्ञों व स्तवनों से शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम जीवन को स्वादिष्ट व मधुर बनाता है। जीवन में से कड़वाहट को दूर करके यह सोम हमें मधुर व्यवहार व मधुर वाणी वाला बनाता है।

भावार्थ—यज्ञों व स्तवनों के द्वारा सुरक्षित सोम हमारे जीवनों को पवित्र व मधुर बनाता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

मतिभिः परिष्कृतः

सं वत्सइव मातृभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते। देवावीर्मदो मतिभिः परिष्कृतः॥ २॥

वत्सः=बछड़ा **इव**=जैसे **मातृभिः**= गौ के साथ **समज्यते**=संगत होता है, इसी प्रकार यह **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **हिन्वानः**=अन्दर प्रेरित किया जाता हुआ **मातृभिः**= वेदवाणीरूप माताओं के साथ संगत होता है। इस प्रकार सुरक्षित सोम ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। **देवावीः**=यह दिव्य गुणों का रक्षक है **मदः**=उल्लास का जनक है। **मतिभिः**=मननपूर्वक की गई स्तुतियों से **परिष्कृतः**=यह परिष्कृत व निर्मल हो जाता है। प्रभु स्तवन ही हमें वासनारूप

मल से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन द्वारा सोम सुरक्षित रहता है। सुरक्षित सोम ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

मधुमत्तमः

अयं दक्षाय साधनोऽयं शर्धाय वीतये। अयं देवेभ्यो मधुमत्तमः सुतः॥ ३॥

अयम्=यह सोम **दक्षाय**=सब प्रकार की उन्नति के लिये **साधनः**=साधन बनता है। **अयम्**=यह **शर्धाय**=रोगकृमि रूप शत्रुओं के संहार के लिये होता है, **वीतये**=यह आसुरभावों के ध्वंस के लिये होता है (वी असने) **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के लिये **मधुमत्तमः**=अतिशयेन माधुर्य को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'उन्नति का साधन' है, शत्रुओं के संहार के लिये होता है, आसुरभावों को दूर करता है, अतिशयेन माधुर्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

गोमत्-अश्ववत्

गोमन्न इन्दो अश्ववत्सुतः सुदक्ष धन्व। शुचिं ते वर्णमधि गोषु दीधरम्॥ ४॥

हे **सुदक्ष**=उत्तम विकास के साधनभूत **इन्दो**=सोम! **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **नः**=हमारे लिये **गोमत्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों वाले तथा **अश्ववत्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों वाले धन को **धन्व**=प्राप्त करा। सोम इन इन्द्रियों को सशक्त बनाता है। हे सोम! मैं **ते**=तेरे **शुचिम्**=दीप्त **वर्णम्**=आवरण को (covering) **गोषु**=ज्ञान की वाणियों के होने पर **अधि दीधरम्**=आधिक्येन धारण करता हूँ। सारे अतिरिक्त समय को स्वाध्याय में बिताता हुआ मैं सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर पाता हूँ यह सुरक्षित सोम मेरे लिये वह आच्छादन बनाता है, जो कि मुझे रोगों का शिकार नहीं होने देता।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारा यह आवरण बनता है, जो हमें रोगों से बचाकर शक्तिशाली इन्द्रियों वाला बनाता है।

ऋषिः—**पर्वतनारदौ**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

रुचे भव

स नो हरीणां पत इन्दो देवप्सरस्तमः। सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव॥ ५॥

हे **हरीणां पते**=इन्द्रियाश्वों के रक्षक **इन्दो**=सोम! **सः**=वह तू **देवप्सरस्तमः**=अतिशयेन दीप्त रूप से युक्त है। एक-एक इन्द्रिय को सशक्त बनाकर तू हमें खूब तेजस्वी व दीप्त रूप वाला बनाता है। **इव**=जैसे **सखा**=एक मित्र **सख्ये**=मित्र के लिये हितकर होता है, उसी प्रकार तू **नर्यः**=उन्नतिपथ पर चलने वालों के लिये हितकर हो। वस्तुतः सोमरक्षण ही हमें उन्नतिपथ पर चलने के योग्य बनाता है। हे सोम! तू **रुचे भव**=दीप्ति के लिये हो। सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर हमें ज्ञानदीप्त बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम इन्द्रियों की शक्ति का रक्षण करता है, हमें अधिक से अधिक दीप्त रूप वाला बनाता है, हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है।

ऋषिः—पर्वतनारदौ ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

'अत्री, बाध् व द्वयु' का विनाश

सनेमि त्वमस्मदाँ अदेवं कं चिदत्रिणम्। साह्वाँ इन्दो परि बाधो अप द्वयुम्॥ ६॥

हे **इन्दो**=सोम! **त्वम्**=तू **अस्मत्**=हमारे से **सनेमि**=शीघ्र ही (सनेमि=क्षिप्रं नि०) **अदेवम्**=देववृत्ति के विरोधी **कञ्चित्**=किसी **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाले राक्षसीभाव को **अप**=(गमय) दूर कर। **परिबाधः**=चारों ओर से पीड़ित करनेवाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं को **साह्वान्**=कुचलते हुए, **द्वयुम्**=असत्यानृत-छलकपट युक्त-मायावी व्यवहार को हमारे से दूर कर।

भावार्थ—सोमरक्षण के होने पर मनुष्य राक्षसीभावों से ऊपर उठता है, चारों ओर से पीड़ित करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीत पाता है, द्वैतभाव वाले मायायुक्त व्यवहार से दूर रहता है।

अगले सूक्त में प्रारम्भिक व अन्त के मन्त्रों का ऋषि **'अग्नि'**=आगे चलनेवाला है, यह **'चाक्षुषः'** चक्षु से सदा देखकर चलता है। यह सोम का शंसन करता हुआ कहता है—

[१०६] षडुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

स्वर्विदः

इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः। श्रुष्टी जातास इन्दवः स्वर्विदः॥ १॥

इमे=ये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **हरयः**=सर्व-रोग-हर सोमकण **वृषणम्**=शक्तिशाली **इन्द्रं**=जितेन्द्रिय पुरुष की **अच्छ**=ओर **यन्तु**=गति वाले हों। जितेन्द्रिय पुरुष ही इनका रक्षण कर पाता है। **जातासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये **इन्दवः**=सोमकण **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले होते हैं। ये ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं, बुद्धि को तीव्र बनाते हैं, और इस प्रकार ज्ञान को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष इन सोमकणों का रक्षण करता है। रक्षित सोमकण प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अग्निश्चाक्षुषः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

भराय सानसिः

अयं भराय सानसिरिन्द्राय पवते सुतः। सोमो जैत्रस्य चेतति यथा विदे॥ २॥

अयम्=यह सोम **भराय**=जीवन संग्राम के लिये **सानसिः**=सम्भजनीय है। इसके रक्षण से ही हम जीवन संग्राम में विजयी बन पायेंगे। **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ यह सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पवते**=प्राप्त होता है। **यथा विदे**=यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये **सोमः**=शरीर में सुरक्षित सोम **जैत्रस्य**=उस विजयशील प्रभु का **चेतति**=ज्ञान प्राप्त करता है। सोमरक्षण से यह सोमी पुरुष ज्ञान दीप्ति को प्राप्त करता हुआ प्रभु को जाननेवाला बनता है। यह ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान का कारण बनता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष से सुरक्षित सोम जीवन संग्राम में हमें विजयी बनाता है यह उस विजेता प्रभु का भी ज्ञान प्राप्त करता है, जिससे हम यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर पाते हैं।

ऋषिः—**अग्निश्चाक्षुषः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ग्राभं गृभ्णीत

अस्येदिन्द्रो मदेष्वा ग्राभं गृभ्णीत सानसिम्। वज्रं च वृषणं भरत्समप्सुजित्॥ ३॥

इन्द्रः=जितेन्द्रिय पुरुष **अस्य इत्**=इस सोम के ही **मदेषु**=उल्लासों में, सोमपान से जनित मद में उस **सानसिम्**=सम्भजनीय **ग्राभम्**=ग्रहीतव्य अथवा सारे संसार को ग्रहण करनेवाले प्रभु को **गृभ्णीत**=ग्रहण करता है। सोमरक्षण से ही प्रभु का दर्शन होता है। **च**=और इस सोमरक्षण-जनित मद में **वृषणं**=शक्तिशाली **वज्रं**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **संभरत्**=धारण करता है और **अप्सुजित्**=सदा कर्मों में प्रसित हुआ-हुआ विजयी होता है। सोमरक्षक शक्तिशाली बनकर क्रियाशील बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही प्रभु सा ग्रहण होता है। यह सोमी पुरुष क्रियाशील होता है।

ऋषिः—**चक्षुर्मानवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

द्युमन्तं शुष्मं

प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परि स्रव। द्युमन्तं शुष्ममा भरा स्वर्विदम्॥ ४॥

हे **सोम**=वीर्य! **जागृविः**=शरीर रक्षण के लिये सदा जागरित तू **प्रधन्वः**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। हे **इन्दो**=सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर गतिवाला है। इस प्रकार शरीर में व्याप्त हुआ-हुआ तू **द्युमन्तं**=ज्योतिर्मय **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को **आभरः**=धारण करनेवाला हो। उस बल को जो **'स्वर्विदम्'**=स्वयं प्रकाश प्रभु का प्राप्त करानेवाला है (स्वयं राजते)। प्रभु की प्राप्ति तभी होती है जब कि हम शरीर में शुष्मतया मस्तिष्क में द्युति को स्थापित कर पाते हैं। इन्हें प्राप्त करानेवाला साधन सोम ही है।

भावार्थ—सोम से रक्षित हुए-हुए हम 'ब्रह्म+क्षत्र' सम्पन्न हों और इस प्रकार प्रभुदर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**चक्षुर्मानवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

पथिकृद् विचक्षणः

इन्द्राय वृषणं मदं पवस्व विश्वदर्शतः। सहस्रयामा पथिकृद्विचक्षणः॥ ५॥

हे सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **वृषणम्**=शक्ति का सञ्चार करनेवाले **मदम्**=उल्लास जनक रस को (मद-मदकरं रसं) **पवस्व**=प्राप्त करा। तू **विश्वदर्शतः**=सब दृष्टिकोणों से दर्शनीय है, सुन्दर ही सुन्दर है। **सहस्रयामा**=(सह हस्) उस आनन्दमय प्रभु की ओर ले जानेवाला है। **पथिकृद्**=जीवन में मार्ग का बनानेवाला है। **विचक्षणः**=(सर्वस्य द्रष्टा) सब का द्रष्टा—ध्यान करनेवाला है (look after) सोम ही हमें रोग आदि से बचाता है। यही अशुभ प्रवृत्तियों को हमारे से दूर रखता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शक्ति व आनन्द का वर्धन करता हुआ सुन्दर ही सुन्दर है। यह हमें जीवन में रोग व वासनाओं का शिकार न होने देता हुआ, मार्ग पर ले चलता हुआ, प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**चक्षुर्मानवः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

गातुवित्तमः—मधुमत्तमः

अस्मभ्यं गातुवित्तमो देवेभ्यो मधुमत्तमः। सहस्रं याहि पथिभिः कनिक्रदत्॥ ६॥

यह सोम **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **गातुवित्तमः**=अधिक से अधिक उत्तम मार्ग को प्राप्त करानेवाला है। इसके रक्षण से ही जीवन का मार्ग उत्तम बना रहता है। यह सोम **देवेभ्यः**=देववृत्ति वाले पुरुषों के लिये **मधुमत्तमः**=अतिशयेन माधुर्य को लिये हुए होता है। यह जीवन को माधुर्य से सिक्त कर देता है। 'भूयासं मधुसन्दृशः' यह प्रार्थना सोमरक्षण से ही पूर्ण होती है। हे सोम! तू **कनिक्रदत्**=सदा उस प्रभु का आह्वान करता हुआ **पथिभिः**=मार्गों से, मार्ग पर चलने के द्वारा **सहस्र**=सदा आनन्दमय (स हस्र) 'अट्टहास' नाम वाले प्रभु को **याहि**=प्राप्त होनेवाला हो। सुरक्षित सोम हमें प्रभु को प्राप्त कराता है। प्रभु का नाम ही 'अट्टहास' है, वे सदा आनन्दमय हैं। यह सब सृष्टि उस प्रभु की अद्भुत लीला है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें जीवन में मधुर वृत्तिवाला व मार्ग पर चलनेवाला बनकार प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**मनुराप्सवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

देववीतये

पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा। आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः॥ ७॥

हे **इन्दो**=सोम! तू **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **धाराभिः**=अपनी धारणशक्तियों के साथ **देववीतये**=उस महान् देव प्रभु की प्राप्ति के लिये **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। सोम हमें ओजस्वी बनाकर प्रभु प्राप्ति का पात्र बनाता है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। हे सोम! तू **मधुमान्**=प्रशस्त माधुर्य वाला होता हुआ **नः**=हमारे **कलशं**=इस शरीर रूप कलश में **आसदः**=आसीन हो। इस शरीर की सब कलाओं का रक्षण इस सोम ने ही तो करना है।

भावार्थ—सोम हमें ओजस्वी बनाकर प्रभु को प्राप्त कराये। यह हमें मधुर बनाता हुआ सब कलाओं से युक्त जीवन वाला बनाये।

ऋषिः—**मनुराप्सवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

अमृताय कं पपुः

तव द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रं मदाय वावृधुः। त्वां देवासो अमृताय कं पपुः॥ ८॥

हे सोम! **तव**=तेरे **द्रप्साः**=(Drops) सोमकण **उदप्रुतः**=(आपः रेतो भूत्वा०) रेतस् (शक्ति) को सारे शरीर में प्राप्त करानेवाले हैं। ये **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **मदाय**=उल्लास के लिये **वावृधुः**=बढ़ाते हैं। इनके रक्षण से जीवन सदा सोत्साह बना रहता है। **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **त्वाम्**=तुझे **अमृताय**=अमृतत्व की प्राप्ति के लिये **कम्**=सुख देनेवाले को **पपुः**=अपने अन्दर ही पीने का प्रयत्न करते हैं। शरीर में सुरक्षित सोम अमृतत्व व सुख का साधन बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'उल्लास, अमृतत्व व सुख' को देता है।

ऋषिः—**मनुराप्सवः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

वृष्टिद्यावः-रीत्यापः

आ नः सुतास इन्दवः पुनाना धावता रयिम्। वृष्टिद्यावो रीत्यापः स्वर्विदः॥ ९॥

सुतासः=उत्पन्न हुए-हुए **इन्दवः**=सोमकण **पुनानाः**=पवित्र करते हुए **नः**=हमारे लिये **रयिं**=रयि को, सब अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्य को **आधावता**=प्राप्त कराओ। ये सोम **वृष्टिद्यावः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक को धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा से युक्त करनेवाले हैं। **रीत्यापः**=रेतःकणरूप जलों को शरीर में सर्वत्र प्राप्त करानेवाले हैं (=उदप्रुतः)। **स्वर्विदः**=अन्ततः

उस स्वयं प्रकाशमान प्रभु को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। धर्ममेघ समाधि में ये ही आनन्द की वृष्टि का कारण बनते हैं। प्रभु को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वाचः अग्रे

सोमः पुनानः ऊर्मिणाव्यो वारं वि धावति। अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत्॥ १०॥

सोमः=सोम (वीर्यशक्ति) **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **ऊर्मिणा**=प्रकाश के साथ **अव्यः (अवेः)**=रक्षक पुरुष के **वारम्**=जिसमें से वासनाओं का निवारण किया गया है, उस हृदय की ओर **विधावति**=विशिष्ट रूप से गतिवाला होता है। यह सोम पवित्र हृदय पुरुष को प्राप्त होता है। उसके जीवन को यह प्रकाशमय बना देता है। **कनिक्रदत्**=खूब ही उस प्रभु का आह्वान करता हुआ यह सोम **पवमानः**=हमें पवित्र बनाता हुआ **वाचः**=इस वेदवाणी से इस के द्वारा कर्तव्य मार्ग को जानता हुआ **अग्रे**=आगे और आगे बढ़ता है।

भावार्थ—सोम जीवन को प्रकाशमय करता है, पवित्र करता है, प्रभु स्तवन की वृत्ति वाला बनाता है। वेदानुकूल मार्ग पर हमें आगे बढ़ाता है।

ऋषिः—**अग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वने क्रीडन्तम्

धीभिर्हिन्वन्ति वाजिनं वने क्रीळन्तमत्यविम्। अभि त्रिपृष्ठं मतयः समस्वरन्॥ ११ ॥

धीभि=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **वाजिनं**=शक्ति का संचार करनेवाले सोम को **हिन्वन्ति**=शरीर में सर्वत्र प्रेरित करते हैं। उस सोम को प्रेरित करते हैं, जो **वने**=उपासक के जीवन में **क्रीडन्तम्**=क्रीडा को करता है, उसके जीवन को क्रीड़क की मनोवृत्ति वाला (sport's man like spirit) बनाता है। **अत्यविम्**=अतिशयेन रक्षक है। इस **त्रिपृष्ठम्**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों के आधारभूत सोम को **मतयः**=मननपूर्वक स्तुति करनेवाले लोग **अभिसमस्वरन्**=सदा प्रातः–सायं स्तुत करते हैं। दिन के प्रारम्भ में भी, तथा दिन की समाप्ति पर रात्रि के प्रारम्भ में भी (अभि) सोम के महत्व का स्मरण करते हुए वे इसे सुरक्षित रखते हैं।

भावार्थ—सोम शक्ति देता है, क्रीडक की मनोवृत्ति को प्राप्त कराता है, रक्षक है, 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का आधार बनता है।

ऋषिः—**अग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

संग्राम विजय व प्रभु वाणी श्रवण

असर्जि कलशाँ अभि मीळ्हे सप्तिर्न वाजयुः। पुनानो वाचं जनयन्नसिष्यदत्॥ १२ ॥

वाजयुः=हमारे साथ शक्ति को जोड़ने की कामना वाला यह सोम **कलशान् अभि**=शरीर रूप कलशों का लक्ष्य करके **असर्जि**=इस प्रकार उत्पन्न किया जाता है, **न**=जैसे कि **मीढे**=संग्राम में **सप्तिः**=घोड़ा सृष्ट किया जाता है। घोड़े के द्वारा हम संग्राम में विजय पाते हैं, इसी प्रकार इस सोम के द्वारा शरीर के अन्दर चलनेवाले रोगकृमियों के साथ संग्राम में हम विजयी होते हैं। **पुनानः**=पवित्र करता हुआ यह सोम **वाचं जनयन्**=हृदयस्थ प्रभु की वाणी को पैदा करता हुआ **असिष्यदत्**=प्रवाहित होता है। शरीर में व्याप्त सोम के द्वारा हृदय का पवित्रीकरण होकर वहाँ प्रभु की वाणी सुनाई पड़ने लगती है। यही 'वाचं जनयन्' शब्दों का भाव है।

भावार्थ—सोम शरीर में चलनेवाले संग्रामों में विजय प्राप्त कराने के लिये उत्पन्न किया गया है। यह हृदय को पवित्र करके हमें प्रभु की वाणी को सुनाता है।

ऋषिः—**अग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ह्वरांसि अति

पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या। अभ्यर्षन्त्स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥ १३ ॥

हर्यतः=कान्त व स्पृहणीय **हरिः**=रोगहर्ता सोम **रंह्या**=अपने वेग से **ह्वरांसि**=सब कुटिलताओं को **अतिपवते**=लाँघ कर हमें प्राप्त होता है। सोम का शरीर में प्रवेश होता है और जीवन में से कुटिलभाव नष्ट हो जाते हैं। यह सोम **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिये **वीरवद्यशः**=उत्तम सन्तानों वाले यशस्वी जीवन को **अभ्यर्षन्**=प्राप्त कराता है। सोम गुण स्तवन से सोमरक्षण की रुचि जागरित होती है। इससे जहाँ सन्तान उत्तम होते हैं, हमारा जीवन बड़ा यशस्वी बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से कुटिलभाव नष्ट होते हैं, सन्तान उत्तम होते हैं, जीवन यशस्वी बनता है।

ऋषिः—**अग्निः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

देवयुः

अया पवस्व देवयुर्मधोर्धारा असृक्षत। रेभन्पवित्रं पर्येषि विश्वतः ॥ १४ ॥

हे सोम! **देवयुः**=दिव्य भावों को हमारे साथ जोड़ने की कामना वाला तू **अया** (धारा)=अपनी इस धारण शक्ति के साथ **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। वस्तुतः दिव्य गुणों के प्रापण के उद्देश्य से ही **मधोः धाराः**=माधुर्य को उत्पन्न करनेवाले इस सोम की धारायें **असृक्षत**=उत्पन्न की जाती हैं। हे सोम! तू **रेभन्**=प्रभु का स्तवन करता हुआ, अपने रक्षक पुरुष को प्रभु स्तवन की वृत्ति वाला बनाता हुआ तू **विश्वतः**=सब ओर से **पवित्रं पर्येषि**=पवित्र हृदय वाले पुरुष को प्राप्त होता है। हृदय की पवित्रता सोम धारण के लिये आवश्यक है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे व्यवहार को मधुर बनाता है, हमें प्रभु स्तवन की वृत्ति वाला करता है। हमारे साथ दिव्य गुणों का सम्पर्क करता है।

सोमरक्षण से शरीरस्थ सातों ऋषि (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) पूर्ण स्वस्थ होते हैं। सो ये लोग 'सप्तर्षयः' ही कहलाने लगते हैं। ये सोमस्तवन करते हुए कहते हैं—

[१०७] सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

जीवन यज्ञ में सोम की आहुति

परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः। दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥ १ ॥

सुतम्=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **इतः**=इस उत्पत्ति स्थल से **परिषिञ्चत**=शरीर में चारों ओर सिक्त करो। **यः सोमः**=यह जो सोम है, वह **उत्तमं हविः**=उत्तम हवि है। यज्ञ में जैसे हवि का प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार जीवन-यज्ञ में इस सोम रूप हवि का प्रक्षेप करना चाहिये। इसे नष्ट नहीं होने देना चाहिये। **यः**=जो सोम **दधन्वान्**=हमारा धारण करता है, **नर्यः**=नरहितकारी है, **अप्सु अन्तरा**=सदा कर्मों में इसका निवास है। कर्मों में लगे रहने से ही यह सुरक्षित रहता है। **सोमम्**=इस सोम को **अद्रिभिः**=उपासनाओं के द्वारा **सुषाव**=उत्पन्न करता है। प्रभु की उपासना सोमरक्षण की अनुकूलतावाली है।

भावार्थ—उत्पन्न सोम को जीवन-यज्ञ में ही आहुत करना चाहिये। वह धारण करता है, हितकारी है। इसका रक्षण कर्मों में लगे रहने व उपासना के द्वारा होता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सुरभिन्तरः

नूनं पुनानोऽविभिः परि स्रवादब्धः सुरभिन्तरः।
सुते चित्त्वाप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गोभिरुत्तरम्॥ २॥

अविभिः=रक्षा करने वालों से **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **नूनम्**=निश्चय से **परिस्रवः**=शरीर में चारों ओर गतिवाला हो। **अदब्धः**=यह सोम रोगकृमि व वासना रूप शत्रुओं से हिंसित नहीं होता। **सुरभिन्तरः**=जीवन को अतिशयेन सुगन्धित बनाता है। हे सोम! **त्वा सुते**=तेरे उत्पन्न होने पर **चित्**=निश्चय से **अप्सु मदामः**=कर्मों में आनन्द का अनुभव करते हैं। हम **अन्धसा**=सात्त्विक अन्न के द्वारा तथा **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा इस **उत्तरम्**=अन्य सब धातुओं से उत्कृष्ट सोम को **श्रीणन्तः**=परिपक्व करते हैं। सात्त्विक अन्न 'सोम्य भोजन' कहलाते हैं। ये भोजन सोमरक्षण की अनुकूलता वाले होते हैं। इसी प्रकार ज्ञान की वाणियों में अतिरिक्त समय को बिताने से इस सोम में वासनाओं का उबाल नहीं उत्पन्न होता।

भावार्थ—सोमरक्षण के होने पर जीवन रोगादि से अहिंसित व यशस्वी बनता है। शक्ति व स्फूर्ति उत्पन्न होकर कर्मों में आनन्द का अनुभव होता है। इस सोमरक्षण के लिये सात्त्विक अन्न का सेवन व स्वाध्याय साधन हैं।

सूचना—यहाँ 'गोभिः' का अर्थ 'गोदुग्ध' भी किया जा सकता है। तब अर्थ इस प्रकार होगा कि हम 'सात्त्विक अन्न व गोदुग्ध' के सेवन से सोम का परिपाक करते हैं।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**द्विपदा विराट्**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

क्रतुः इन्दुः विचक्षणः

परि सुवानश्चक्षसे देवमादनः क्रतुरिन्दुर्विचक्षणः॥ ३॥

परि सुवानः=शरीर में चारों ओर प्रेरित किया जाता हुआ यह सोम **चक्षसे**=प्रकाश के लिये होता है यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और हमें ज्ञानदीप्त बनाता है। **देवमादनः**=यह देववृत्ति के व्यक्तियों को उल्लासमय जीवन वाला बनाता है। **क्रतुः**=यह 'शक्ति, प्रज्ञान व यज्ञों' का कारण बनता है। **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनाता है। **विचक्षणः**=यह सब का विद्रष्टा है, शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही हमें रोग आदि के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—शरीर में प्रेरित सोम 'प्रकाश, यज्ञ व शक्ति' का साधन बनता है। यह हमें देववृत्ति का बनाकर उल्लासित करता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

हिरण्ययः उत्सः

पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि। आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देव हिरण्ययः॥ ४॥

हे **सोम**=वीर्य! **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **धारया**=अपनी धारण शक्ति से **अपः वसानः**=कर्मों को धारण करता हुआ **अर्षसि**=प्राप्त होता है। सोम से शरीर में स्फूर्ति व क्रियाशीलता को जन्म मिलता है। **रत्नधाः**=सब रमणीय तत्त्वों का धारण करनेवाला, हे सोम! तू **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के उत्पत्ति स्थान प्रभु में **आसीदसि**=आसीन होता है। हे **देव**=प्रकाशमये

सोम! तू **हिरण्ययः उत्सः**=ज्योतिर्मय स्रोत है। तेरे से ज्योति का प्रवाह निःसृत होता है। वस्तुतः यह सोम ही सम्पूर्ण ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है, यही तो बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'कर्मशीलता' को प्राप्त कराता है। सब रत्नों का धारण करता हुआ प्रभु को प्राप्त कराता है। यह ज्ञान का स्रोत है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रत्नं सधस्थम् आसदत्

दुहान ऊधर्दिव्यं मधु प्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत्। आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षति नृभिर्धूतो विचक्षणः॥५॥

ऊधः दिव्यं प्रियं मधु=वेद धेनु के ज्ञान दुग्धाधार से दिव्य प्रीति जनक सारभूत उत्कृष्ट ज्ञानदुग्ध का दोहन करता हुआ यह सोम **प्रत्नम्**=उस सनातन **सधस्थम्**=सारे विश्व की सहस्थिति के स्थानभूत प्रभु को **आसदत्**=प्राप्त करता है उस प्रभु में आसीन होता है जो **आपृच्छ्यम्**=सब के जिज्ञासा का विषय बनते हैं और **धरुणम्**=सबका धारण करनेवाले हैं। सोम बुद्धि को सूक्ष्म बनाके हमें प्रभु का दर्शन कराता है। यह **वाजी**=शक्ति को प्राप्त करानेवाला सोम **अर्षति**=शरीर में गतिवाला होता है। **नृभिः धूतः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों से यह कम्पित करके निर्मल किया जाता है। वासनाओं को कम्पित करके दूर करने से यह सोम निर्मल बना रहता है। **विचक्षणः**=यह विशेषेण सब का द्रष्टा होता है। सोम हमारी नीरोगता आदि का ध्यान करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम ज्ञान धेनु से दिव्य प्रिय सारभूत ज्ञानदुग्ध का दोहन करते हैं, प्रभु में आसीन होते हैं, शक्तिशाली व नीरोग बनते हैं।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

विप्रः अंगिरस्तमः

पुनानः सोम जागृविरव्यो वारे परि प्रियः।
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तमो मध्वा यज्ञं मिमिक्ष नः॥६॥

हे **सोम**=वीर्य! **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ तू **जागृविः**=सदा जागरित प्रहरी है। तू हमारे पर रोगादि शत्रुओं के आक्रमण को नहीं होने देता। **अव्यः**=रक्षक पुरुष के **वारे**=जिसमें से वासनाओं का वारण किया गया है उस हृदय में **परिप्रियः अभवः**=सर्वथा प्रिय होता है, प्रीणन को करनेवाला होता है। **त्वम्**=तू **विप्रः**=विशेष रूप से पूरण करनेवाला, **अंगिरस्तमः**=अतिशयेन अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाला **अभवः**=होता है। हे सोम! तू **नः यज्ञम्**=हमारे इस जीवन-यज्ञ को **मध्वा**=माधुर्य से **मिमिक्ष**=सीचनेवाला हो। जीवन को मधुर बनानेवाला हो।

भावार्थ—सोम हमारा सावधान प्रहरी है। हमारा पूरण करनेवाला, अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाला व जीवन को मधुर बनानेवाला है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

विप्रः विचक्षणः

सोमो मीढ्वान्पवते गातुवित्तम ऋषिर्विप्रो विचक्षणः।
त्वं कविरभवो देववीतम आ सूर्यं रोहयो दिवि॥७॥

सोमः=वीर्य **मीढ्वान्**=अंग-प्रत्यंग में शक्ति का सेचन करनेवाला होता हुआ **पवते**=प्राप्त

होता है। यह **गातुवित्तमः**=सर्वोत्तम मार्गदर्शक है। सोमरक्षण वाला पुरुष सदा मार्ग पर चलता है। **ऋषिः**=यह तत्त्वद्रष्टा है, हमें सूक्ष्म बुद्धि बनाकर तत्त्व का दर्शन कराता है। **विप्रः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाला है और **विचक्षणः**=विशिष्ट द्रष्टा-ध्यान करनेवाला (looks after) है। हे सोम! **त्वं**=तू **कविः अभवः**=क्रान्तदर्शी होता है। **देववीतमः**=अतिशयेन दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला है। तू ही **दिवि**=हमारे मस्तिष्क रूप द्युलोक में **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **आरोहयः**=आरूढ करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ही शक्ति का सेचन करता हुआ, सब कमियों को दूर करता हुआ, हमें प्रशस्त ज्ञान वाला बनाता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अश्वया: हरिता मन्द्रया

सोमं उ षुवाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम्। अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया॥८॥

सोमः=वीर्य **उ**=निश्चय से **सोतृभिः**=सोम उत्पादक पुरुषों से **षुवाणः**=उत्पन्न किया जाता हुआ व शरीर में ही प्रेरित किया जाता हुआ **अवीनां**=रक्षकों के **स्नुभिः**=शिखरों के उद्देश्य से रक्षकों को 'स्वास्थ्य नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता' के शिखरों पर पहुँचाने के उद्देश्य से **अश्वया**=सदा कर्मों में व्याप्त करनेवाली (अक्ष् व्याप्तौ) तथा **हरिता**=अज्ञानान्धकार का हरण करनेवाली **धारया**=धारण शक्ति से **याति**=प्राप्त होता है। सुरक्षित सोम सशक्त बनाकर हमें कर्मव्याप्त करता है, तथा ज्ञानादि को दीप्त करके तीव्रबुद्धि बनाता है और अज्ञानान्धकार को समाप्त करता है (हृ हरणे) इस प्रकार ये हमें शरीर में स्वस्थ मन में निर्मल व बुद्धि में तीव्र बनाता है। अन्ततः यह **मन्द्रया**=आनन्द को देनेवाली **धारया**=धारणशक्ति के साथ हमें **याति**=प्राप्त होता है। यह सोम नीरोगता व अमृतत्व को प्राप्त कराके हमें आनन्दित करता है, प्रभु प्राप्ति का भी यही साधन होता है।

भावार्थ—सोम की धारा हमें सशक्त बनाकर कर्मों में व्याप्त करती है (अश्वया), यह तीव्रबुद्धि को देकर अज्ञानान्धकार का ही हरण करती है (हरिता), तथा नीरोगता व प्रभु प्राप्ति द्वारा आनन्दित करती है (मन्द्रया) एवं यह रक्षकों को तीन शिखरों पर पहुँचाती है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अनूपे गोमान् गोभिः अक्षाः

अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः। समुद्रं न संवरणान्यग्मन्मन्दी मदाय तोशते॥९॥

रेतःकण ही शरीर में 'आपः' हैं (आपः रेतो भूत्वा० ऐ०)। ये 'आपः' जिसमें अनुगत हुए हैं वह शरीर कलश 'अनूप' है (अनुगताः आपो यस्मिन्)। **अनूपे**=रेतःकणों से युक्त शरीर में **गोमान्**=प्रशस्त इन्द्रियों वाला पुरुष **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **अक्षाः**=व्याप्त होता है अथवा संचरण करता है। इन रेतःकणों से उसकी इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं और वह खूब ही ज्ञान को प्राप्त करता है। **सोमः**=यह सोम **दुग्धाभिः**=वेदधेनु से दोही गयी ज्ञान वाणियों के साथ **अक्षाः**=शरीर में संचरण करता है। **संवरणानि**=सब वरणीय धन इस सोम रक्षक पुरुष को **अग्मन्**=इस प्रकार आप्त होते हैं, **न**=जैसे कि नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र को सोमरक्षण से सब ऐश्वर्यों का प्रवाह हमारी ओर होता है। **मन्दी**=यह आनन्द को देनेवाला सोम **मदाय**=अपने रक्षक के जीवन में उल्लास को प्राप्त कराने के लिये **तोशते**=रोगों व वासनारूप शत्रुओं को हिंसित करता है।

भावार्थ—सोम इन्द्रियों को प्रशस्त बनाता है, ज्ञान का वर्धन करता है, सब अन्नमय आदि

कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है, शत्रुओं का संहार करके जीवन को उल्लासमय बनाता है।

ऋषिः—सप्तर्षयः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

चम्वोः विशत्

आ सोम सुवानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया। जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दधिषे॥ १०॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **अद्रिभिः**=उपासकों के द्वारा (आ दृ=Those who adore) **आसुवानः**=शरीर में ही चारों ओर प्रेरित किया जाता हुआ **तिरः**=रुधिर में तिरोहित रूप से रहता हुआ **अव्यया**=(अ वि अय) विषयों में इधर-उधर न भटकनेवाले **वाराणि**=जिनसे वासनाओं का निवारण किया गया है ऐसे हृदयों में **विशत्**=प्रवेश करता है। **न**=जैसे **जनः**=कोई व्यक्ति **पुरि**=नगर में प्रवेश करता है, इसी प्रकार यह सोम **चम्वोः**=द्यावापृथिवी में प्रवेश करता है। मस्तिष्करूप द्युलोक को यह दीप्तिमय बनाता है, और शरीर को दृढ़। इन दोनों के मध्य में सब वासनाओं को तिरस्कृत करने के द्वारा यह हृदय को भी पवित्र करनेवाला होता है। इस प्रकार यह **हरिः**=सब मलों का हरण करता है। और **वनेषु**=उपासकों में **सदः दधिषे**=अपनी सीट को (स्थान को) धारण करता है। उपासकों के जीवन में ही सुरक्षित होकर यह रहता है।

भावार्थ—शरीर में प्रविष्ट सोम शरीर के द्यावापृथिवी व अन्तरिक्ष अर्थात् मस्तिष्क, शरीर व हृदय तीनों को श्रेष्ठ बनाता है।

ऋषिः—सप्तर्षयः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

मनीषिभिः विप्रेभिः ऋक्वभिः

स मामृजे तिरो अण्वानि मेष्यो मीळ्हे सप्तिर्न वाजयुः।
अनुमाद्यः पवमानो मनीषिभिः सोमो विप्रेभिर्ऋक्वभिः॥ ११॥

सः=वह सोम **मेष्यः**=(मिष् To open the eyes) इस चमकीली—हमारी आँखों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली, प्रकृति के **तिरः**=तिरोहित-गुप्त **अण्वानि**=सूक्ष्म तत्त्वों को **मामृजे**=हमारे लिये शुद्ध कर देता है। सोमरक्षण के द्वारा हम इस मायामयी प्रकृति के रहस्य को समझने लगते हैं। यह सोम **मीढे**=संग्राम में **सप्तिः न**=समर्पणशील घोड़े के समान होता है। यह **वाजयुः**=हमारे साथ शक्ति को जोड़ने की कामना वाला होता है। इसके द्वारा सशक्त बनकर ही हम जीवन संग्राम में विजयी बनते हैं। यह **पवमानः सोमः**=पवित्र करनेवाला सोम **मनीषिभिः**=विद्वानों से, **विप्रेभिः**=अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुषों से, **ऋक्वभिः**=(ऋच स्तुतौ) पूरण के दृष्टिकोण से ही प्रभु का स्तवन करने वालों से **अनुमाद्यः**=अनुमोदनीय होता है, अर्थात् जितना-जितना वे इसका रक्षण कर पाते हैं, उतना-उतना ही आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें तीव्रबुद्धि बनाकर प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों को समझने के योग्य बनाता है। यह जीवन संग्राम में हमें शक्तिशाली बनाता है। आनन्द का अनुभव कराता है। बुद्धिमान, अपना पूरण करनेवाले स्तोता ही इसका रक्षण कर पाते हैं।

ऋषिः—सप्तर्षयः॥ देवता—पवमानः सोमः॥ छन्दः—बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

मदिरो न जागृविः

प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा।
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम्॥ १२॥

हे **सोम**=वीर्य! **देववीतये**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये तू **अर्णसा**=ज्ञानजल के द्वारा **प्रपिप्ये**=आप्यायित किया जाता है, **न**=जैसे कि **सिन्धुः**=समुद्र नदियों के जल से। वस्तुतः ज्ञान प्राप्ति में लगे रहने से सोम के रक्षण का सम्भव होता है, और रक्षित सोम हमारे में दिव्य गुणों का वर्धन करता है। **अंशोः**=ज्ञानरश्मियों के **पयसा**=आप्यायन से **मदिरः न**=अत्यन्त उल्लासयुक्त सा यह सोम **जागृविः**=सदा जागरूक होता है, यह हमारे पर रोग आदि का आक्रमण नहीं होने देता। यह हमें **मधुश्चुतं कोशं अच्छा**=मधु को टपकानेवाले आनन्दमय कोश की ओर ले जाता है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति में लगे रहने से शरीर में आप्यायित हुआ-हुआ सोम दिव्य गुणों का वर्धन करता है। यह उल्लास को पैदा करता है, सदा जागरूक पहरेदार होकर हमें रोगाक्रान्त नहीं होने देता। आनन्दमय कोश की ओर हमें ले चलता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अर्जुने अत्के

आ हर्यतो अर्जुने अत्के अव्यत प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः।
तमीं हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीष्वा गभस्त्योः॥ १३॥

हर्यतः=यह कान्त सोम **अर्जुने**=श्वेतवर्ण वाले, अर्थात् शुद्ध जीवनवाले **अत्के**=निरन्तर क्रियाशील पुरुष में **आ अव्यत**=सर्वतः संवृत व रक्षित किया जाता है। शुद्ध क्रियाशील जीवन सोमरक्षण की अनुकूलता वाला है। **प्रियः**=यह प्रीति का कारण होता है। **सूनुः न**=एक बालक के समान यह **मर्ज्यः**=शोधनीय है। जैसे एक बालक को माता शुद्ध करती है, इसी प्रकार यह सोम हमारे से शुद्ध करने योग्य है। **तम्**=उस सोम को **ईम्**=निश्चय से **अपसः**=क्रियाशील लोग **यथा रथं**=(रक्षस्य योग्यम्) शरीररथ के ही यह योग्य है ऐसा मानकर **नदीषु**=शरीरस्थ नाड़ियों में तथा **गभस्त्योः**=भुजाओं में **आहिन्वन्ति**=समन्तात् प्रेरित करते हैं। रुधिर में व्याप्त होकर यह सोम शरीरस्थ नाड़ियों में प्रवाहित होता है और क्रियाशीलता को उत्पन्न करता हुआ भुजाओं में गतिवाला होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण वही कर सकता है जो कि शुद्ध क्रियाशील जीवन का यापन करता है। क्रियाशील पुरुष ही सोम को शरीर में प्रेरित कर पाते हैं।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मनीषिणो मत्सरासः स्वर्विदः

अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम्। समुद्रस्याधि विष्टपि मनीषिणो मत्सरासः स्वर्विदः॥ १४॥

सोमासः=शरीरस्थ सोमकण **आयवः**=(इ गतौ) हमारे जीवनों को क्रियाशील बनानेवाले हैं। ये **मद्यम्**=अत्यन्त उल्लासजनक **मदम्**=हर्ष को **अभिपवन्ते**=प्राप्त कराते हैं। **समुद्रस्य**=(स+मुद्) उस आनन्दमय प्रभु के **अधिविष्टपि**=उच्च स्थान में ये हमें पहुँचाते हैं। सोमरक्षण द्वारा ही शारीरिक नीरोगता आदि को प्राप्त करके ऐहिक आनन्द मिलता है और मानस नैर्मल्य के द्वारा प्रभुदर्शन के आनन्द का भी यही साधन बनता है। ये सोम **मनीषिणः**=मनीषा को देनेवाले हैं, मन का शासन करनेवाली बुद्धि को प्राप्त कराते हैं। **मत्सरासः**=हृदयों में आनन्द का संचार करते हैं। तथा **स्वर्विदः**=उस स्वयं प्रकाश प्रभु को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम क्रियाशीलता व उल्लास का जनक होता हुआ 'बुद्धि व मन' को उत्कृष्ट बनाता है और प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

राजा देव ऋतं बृहत्

तरत्समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत् ।
अर्षन्मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् ॥ १५ ॥

पवमानः=पवित्र करता हुआ सोम **ऊर्मिणा**=अपने प्रकाश से, सोमरक्षण द्वारा उत्पन्न ज्ञान से **समुद्रं तरत्**=(कामो हि समुद्रा उ०) इस अनन्त पार वाले काम को तैर जाता है, हमें वासनाओं से यह ऊपर उठाता है। **राजा**=यह जीवन को दीप्त बनाता है। **देवः**=प्रकाशमय है, दिव्यगुणों का जनक है। **ऋतं बृहत्**=यह हमारे जीवन में उत्कृष्ट ऋत को प्राप्त कराता है। सोमरक्षण से जीवन ऋतमय बनता है। यह सोम **मित्रस्य**=सब के प्रति स्नेह वाले, **वरुणस्य**=द्वेष का निवारण करनेवाले पुरुष के **धर्मणा**=धारण के हेतु से **अर्षन्**=शरीर में गतिवाला होता है। उसके मित्र व वरुण के जीवन में यह **बृहत् ऋतं**=उत्कृष्ट ऋत को जीवन की नियमितता को **हिन्वानः**=प्रेरित करता है, बढ़ाता है। सोमरक्षण से पुरुष 'स्नेह व निर्द्वेषता' के भावों को धारण करता हुआ बड़े नियमित जीवन वाला होता है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित हुआ-हुआ हमें वासनाओं से पार ले जाता है, जीवन को 'प्रकाशमय दिव्यगुण सम्पन्न स्नेहयुक्त निर्द्वेष व ऋतमय' बनाता है।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—द्विपदा विराट् ॥ स्वरः—षड्जः ॥

राजा देवः समुद्रियः

नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो राजा देवः समुद्रियः ॥ १६ ॥

नृभिः=उन्नतिपथ पर चलानेवाले मनुष्यों से **येमानः**=नियम में किया जाता हुआ, संयत होता हुआ यह सोम **हर्यतः**=अत्यन्त स्पृहणीय होता है। **विचक्षणः**=यह विशेषरूप से शरीर का द्रष्टा-ध्यान करनेवाला होता है, इससे शरीर सुरक्षित रहता है। **राजा**=यह हमारे जीवनों को दीप्त बनाता है **देवः**=प्रकाशमय व दिव्यगुण सम्पन्न करता है और **समुद्रियः**=उस आनन्दमय प्रभु की ओर ले जानेवाला है।

भावार्थ—संयत सोम 'हर्यत-विचक्षण-राजा-देव व समुद्रिय' है।

ऋषिः—सप्तर्षयः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—विराड्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

जितेन्द्रियता-प्राणसाधना व क्रियाशीलता

इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः । सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमीं मृजन्त्यायवः ॥ १७ ॥

सुतः=उत्पन्न हुआ-हुआ **सोमः**=सोम-वीर्य **मरुत्वते**=प्राणों की साधना करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मदः**=उल्लासजनक होता हुआ **पवते**=प्राप्त होता है। प्राणसाधना व इस साधना द्वारा प्राप्त जितेन्द्रियता सोमरक्षण का साधन बनती है। **सहस्रधारः**=ये हजारों प्रकार से धारण करनेवाला सोम **अव्यम्**=रक्षकों में उत्तम पुरुष को **अति अर्षति**=अतिशयेन प्राप्त होता है। **तम्**=उस सोम को **ईम्**=निश्चय से **आयवः**=गतिशील पुरुष **मृजन्ति**=शुद्ध कर पाते हैं, इसे वासनाओं के उबाल से मलिन नहीं होने देते। क्रियाशीलता से सोम पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण 'जितेन्द्रिय-प्राणसाधक-क्रियाशील' पुरुष ही कर पाते हैं।

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अपः परिवसानः

पुनानश्चमू जनयन्मतिं कविः सोमो देवेषु रण्यति।
अपो वसानः परि गोभिरुत्तरः सीदन्वनेष्वव्यत ॥ १८ ॥

चमू=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **पुनानः**=पवित्र करता हुआ, **मतिं जनयन्**=बुद्धि को प्रादुर्भूत करता हुआ **कविः**=क्रान्तदर्शी—सूक्ष्म दृष्टि वाला **सोमः**=सोम (वीर्य) **देवेषु**=दिव्यगुणों की वृत्ति वाले पुरुषों में **रण्यति**=(रण् शके) हृदयस्थ प्रभु की वाणी को प्रकट करता है। मानो यह सोम ही उन शब्दों का उच्चारण करता हो। **अपः परि वसानः**=कर्मों को समन्तात् धारण करता हुआ, निरन्तर क्रियाशील बनता हुआ **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **उत्तरः**=सब वासनाओं को तैरनेवाला यह सोम **वनेषु**=सभजनकर्ता उपासकों में **सीदन्**=स्थित होता हुआ **अव्यत**=सुरक्षित किया जाता है व संवृत किया जाता है।

भावार्थ—सोम मस्तिष्क व शरीर को पवित्र करता है। बुद्धि को उत्पन्न करता है, हमारी सूक्ष्म दृष्टि बनाता है। इसके रक्षण से हम क्रियाशील व उत्कृष्ट ज्ञान की वाणियों वाले बनते हैं।

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

चारों ओर से घेरनेवाले राक्षसों का विनाश

तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे।
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव परिधींरति ताँ इहि ॥ १९ ॥

हे **सोम**=वीर्य! **अहम्**=मैं **तव**=तेरे **सख्ये**=मित्रता में **रारण**=आनन्द का अनुभव करता हूँ। हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **दिवे दिवे**=प्रतिदिन यह सख्य व आनन्द बढ़ता ही चलता है। हे **बभ्रो**=हमारा धारण करनेवाले सोम! **माम्**=मुझे **पुरूणि**=बहुत राक्षसी भाव **नि अव चरन्ति**=नीचे की ओर ले जाते हैं। **तान् परिधीन्**=उन चारों ओर से घेरा डालनेवाले इन राक्षसीभावों को **अति इहि**=तू पार करनेवाला हो। इन राक्षसीभावों से तू ही मुझे ऊपर उठानेवाला हो।

भावार्थ—सोम के रक्षण में ही आनन्द है, यही हमें राक्षसीभावों से पार ले जाता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोम की मित्रता के लिये

उताहं नक्तमुत सोम ते दिवा सख्याय बभ्र ऊधनि।
घृणा तपन्तमति सूर्यं परः शकुनाइव पप्तिम ॥ २० ॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **अहम्**=मैं **उत नक्तम्**=चाहे रात हो, **उत दिवा**=चाहे दिन हो, अर्थात् सदा **ते सख्याय**=तेरी मित्रता के लिये **ऊधनि**=वेदवाणी रूप धेनु के ज्ञानादुग्धाधार में निवास करनेवाला बनूँ। सारे अतिरिक्त समय को ज्ञान प्राप्ति में बिताना ही सोमरक्षण का साधन बनता है। हे **बभ्रो**=हमारा भरण करनेवाले सोम! **घृणा**=दीप्ति से **तपन्तं**=चमकते हुए **सूर्यं**=इस ज्ञानसूर्य को **अति पप्तिम**=अतिशयेन हम प्राप्त हों। उस ज्ञान सूर्य को हम प्राप्त हों जो **परः**=(परमस्थानास्थितम् सा०) मस्तिष्क रूप द्युलोक में स्थित है हम **शकुनाः इव**=आकाशमार्ग से जानेवाले पक्षियों के समान हों, पार्थिव भोगों से ऊपर उठें। यह पार्थिव भोगों से ऊपर उठना ही हमें शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—दिन-रात हम अतिरिक्त समय को स्वाध्याय में बितायें। यह स्वाध्याय ही हमें सोमरक्षण में समर्थ करेगा। यह रक्षित सोम हमारे मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञान सूर्य के उदय का कारण बनेगा।

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

रयि (पिशंग, बहुल, पुरुस्पृह)

मृज्यमानः सुहस्त्य समुद्रे वाचमिन्वसि। रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि॥ २१ ॥

हे **सुहस्त्य**=उत्तम हाथों वाले! अर्थात् हाथों को सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले सोम! **मृज्यमानः**=शुद्ध किया जाता हुआ वासनाओं के उबाल से मलिन न होने दिया जाता हुआ तू **समुद्रे**=(स-मुद्) आनन्दमय, प्रसादयुक्त हृदयान्तरिक्ष में **वाचम् इन्वसि**=प्रभु की वाणी को प्रेरित करता है। तेरे रक्षण से हृदय में प्रभु की वाणी सुन पड़ती है। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **रयिं अभ्यर्षसि**=रयि को, धन को प्राप्त कराता है, जो **पिशंग**=दीप्तियुक्त है, हमें तेजस्वी बनाता है, **बहुलम्**=सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त है और **पुरुस्पृहम्**=बहुतों से स्पृहणीय है। अर्थात् अधिक से अधिक लोगों के हित में विनियुक्त हुआ-हुआ सभी से वाचनीय होता है, सभी से प्रशंसित होता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता सोम को पवित्र बनाये रखती है। सोम हमें प्रभु प्रेरणा को सुनने का पात्र बनाता है। और स्पृहणीय धनों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

पवमान वृषा

मृजानो वारे पवमानो अव्यये वृषाव चक्रदो वने।
देवानां सोम पवमान निष्कृतं गोभिरञ्जानो अर्षसि॥ २२ ॥

वारे=वासनाओं का निवारण करनेवाले **अव्यये**=(अवि अय) विषयों में न जानेवाले पुरुष में **मृजानः**=शुद्ध किया जाता हुआ **पवमानः**=हमारे जीवन को पवित्र करनेवाला यह सोम **वृषा**=हमारे जीवन में शक्ति का सेचन करता है। तथा **वने**=उपासक में **अवचक्रदः**=वासनाओं व काम आदि शत्रुओं को दूर करके रुलानेवाला होता है (क्रदि रोदने)। काम आदि शत्रुओं को रहने का स्थान नष्ट करके यह रुलाता है। हे **सोम**=वीर्य! **पवमान**=पवित्र करनेवाला तू **गोभिः अञ्जानः**=ज्ञान की वाणियों से अलंकृत किया जाता हुआ **देवानां निष्कृतं**=देववृत्ति के पुरुषों के परिष्कृत हृदय में **अर्षसि**=प्राप्त होता है, ज्ञान की वाणियों के द्वारा शरीर में ही सुरक्षित हुआ-हुआ सोम शरीर की शोभा का कारण बनता है। यह शरीर में तभी स्थिर होता है जब कि हम हृदय को पवित्र व वासनाशून्य बनाने के लिये यत्नशील हों।

भावार्थ—सोम काम आदि शत्रुओं को स्थानभ्रष्ट करके रुलाता है। यह पवित्र हृदय पुरुषों में ही स्थिर होता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शक्ति-ज्ञान-प्रभु प्राप्ति व आनन्द

पवस्व वाजसातयेऽभि विश्वानि काव्या। त्वं समुद्रं प्रथमो वि धारयो देवेभ्यः सोम मत्सरः॥ २३ ॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **वाजसातये पवस्व**=शक्ति की प्राप्ति के लिये हमें प्राप्त हो। तू **विश्वानि**=सब **काव्या**=ज्ञानों को **अभि** (पवस्व)=हमें प्राप्त करानेवाला हो। **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) शरीर में

विस्तार को प्राप्त हुआ-हुआ **त्वम्**=तू **समुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु का **विधारयः**=धारण करनेवाला होता है। इस प्रकार **देवेभ्यः**=देववृत्ति वाले पुरुषों के लिये **मत्सरः**=आनन्द का संचार करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोम शक्ति व ज्ञान का साधन बनता है। यह प्रभु प्राप्ति व आनन्द का कारण होता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

मतिभिः-धीतिभिः

स तू पवस्व परि पार्थिवं रजो दिव्या च सोम धर्मभिः।
त्वां विप्रासो मतिभिर्विचक्षण शुभ्रं हिन्वन्ति धीतिभिः॥ २४॥

हे **सोम**=वीर्य! **सः**=वह तू **तू**=अवश्य **धर्मभिः**=अपनी धारणशक्तियों के साथ **पार्थिवं रजः**=इस शरीर रूप पार्थिव लोक को **च**=और **दिव्या** (रजः)=मस्तिष्क सम्बन्धी द्युलोक को **परिपवस्व**=प्राप्त हो। तूने ही शरीर व मस्तिष्क का धारण करना है। सो हे **विचक्षण**=विद्रष्टः! विशेषरूप से इन लोकों का धारण करनेवाले सोम! **शुभ्रम्**=वासनाओं से मलिन न हुए-हुए उज्ज्वल **त्वाम्**=तुझको **विप्रासः**=अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **मतिभिः**=ज्ञान की वाणियों से प्रथम मनन पूर्वक की गई स्तुतियों से तथा **धीतिभिः**=धर्मों से **हिन्वन्ति**=शरीर के अन्दर ही प्रेरित करते हैं और बढ़ाते हैं। इस प्रकार इनकी यह स्वाध्याय व स्तवन तथा यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति सोमरक्षण का साधन हो जाती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर व मस्तिष्क का रक्षक बनता है। इसका रक्षण स्वाध्याय व स्तवन तथा यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहने से होता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

मरुत्वन्तः मत्सराः

पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया। मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि प्रयांसि च॥ २५॥

पवित्रम्=पवित्र हृदय वाले पुरुष **धारया**=अपनी धारणशक्ति से **पवमानाः**=सर्वथा रोगकृमि आदि शत्रुओं के विनाश से पवित्र करते हुए **अति असृक्षत**=अतिशयेन सृष्ट होते हैं। हम वासनाओं से ऊपर उठकर ही सोम का रक्षण कर सकते हैं। सुरक्षित होकर ये हमारे जीवन को पूर्ण पवित्र बनायेंगे। ये सोम **मरुत्वन्तः**=प्रशस्त प्राणों वाले हैं, प्राणशक्ति का वर्धन करते हैं। **मत्सराः**=आनन्द का संचार करनेवाले हैं। **इन्द्रियाः**=बल को देनेवाले हैं (इन्द्रियं वीर्यं बलम्)। **हयाः**=हमें गतिशील बनाते हैं। **मेधाम् अभि**=बुद्धि की ओर ले चलते हैं **च**=और **प्रयांसि**=उत्कृष्ट यत्नशीलता की ओर (प्रयस्) अथवा सात्त्विक अन्नों की ओर। यह सोम हमें सात्त्विक वृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—पवित्र हृदय वाले पुरुष में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम प्राणों को प्रशस्त बनाता है, आनन्द का संचार करता है, बल को देता है, हमें गतिशील बनाता है, बुद्धि और श्रमशील वृत्ति को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**सप्तर्षयः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ज्ञान स्तुति शुद्धि

अपो वसानः परि कोशमर्षतीन्दुर्हियानः सोतृभिः।

जनयञ्ज्योतिर्मन्दना अवीवशद्गाः कृण्वानो न निर्णिजम्॥ २६॥

सोतृभिः=उत्पन्न करनेवाले इन सोम के उत्पादक पुरुषों से **हियानः**=शरीर के अन्दर प्रेरित किया जाता हुआ यह **इन्दुः**=सोम **अपः वसानः**=कर्मों को धारण करता हुआ **कोशं परि अर्षति**=आनन्दमय कोश की ओर गतिवाला होता है। **ज्योतिः जनयन्**=यह हमारे जीवनों में ज्ञान की ज्योति को उत्पन्न करता है। **मन्दनाः**=स्तुतियों की **अवीवशत्**=कामना करता है, अर्थात् हमारे अन्दर प्रभु स्तवन की वृत्ति को पैदा करता है। **गाः**=इन ज्ञान की वाणियों को **निर्णिजम् न कृण्वानः**=शोधक के रूप में करता है। सोमरक्षण से दीप्त हुई-हुई ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवनों को शुद्ध करती हैं।

भावार्थ—सोम हमारे जीवनों को ज्ञानमय, स्तुतिप्रवण व शुद्ध करता है।

अगले सूक्त में '**गौरिवीतिः**'=सात्त्विक भोजन वाला, **शक्ति**=शक्ति का पुंज, **उरुः**=विशाल हृदयवाला, **ऋजिष्वा**=सरलमार्ग से गतिवाला, **ऊर्ध्वसद्मा**=ऊपर ब्रह्मलोक में अपना घर बनानेवाला, पार्थिव भोगों में न फँसनेवाला, **कृतयशाः**=यशस्वी जीवन वाला, **ऋणञ्चयः**=रेतःकण रूप जलों का सञ्चय करनेवाला (ऋणं, जलम्) ये ऋषि हैं। ये सोम का शंसन करते हुए कहते हैं—

[१०८] अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

पव॑स्व मधु॒मत्त॑म॒ इन्द्रा॑य सोम क्रतु॒वित्त॑मो॒ मदः॑। महि॑ द्यु॒क्षत॑मो॒ मदः॑ ॥ १ ॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पवस्व**=प्राप्त हो। तू उसके लिये **मधुमत्तमः**=अतिशयेन माधुर्य को देनेवाला है। **क्रतुवित्तमः**='प्रज्ञान शक्ति व यज्ञों' को प्राप्त करानेवाला है। **मदः**=उल्लासजनक है। तू **महि**=महान् व महनीय है। **द्युक्षतमः**=ज्योति में निवास करानेवाला है। **मदः**=हर्ष को प्राप्त करानेवाला है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता से सुरक्षित सोम 'माधुर्य-प्रज्ञान शक्ति व यज्ञशीलता' को प्राप्त कराता है। ज्ञान में निवास कराता हुआ आनन्द का यह जनक है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

धर्म-प्रकाश-प्रभु प्रेरणा श्रवण

यस्य॑ ते पी॒त्वा वृ॑ष॒भो वृ॑षा॒यते॒ऽस्य पी॒ता स्व॒र्विदः॑।
स सु॒प्रके॑तो अ॒भ्य॑क्रमी॒दिषो॒ऽच्छा॒ वाजं॒ नैत॑शः ॥ २ ॥

हे सोम! **यस्य ते पीत्वा**=जिस तेरा पान करके **वृषभः**=अपने अन्दर शक्ति का सेचन करनेवाला यह पुरुष **वृषायते**=अत्यन्त धर्म का आचरण करता है (वृषा हि भगवान् धर्मः), **अस्य पीताः**=इस सोम का पान करनेवाले **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाले होते हैं। सोमरक्षण से सशक्त बनकर मनुष्य धर्म की वृत्ति वाला होता है, और यह प्रकाश को प्राप्त करता है। **सः**=वह **सुप्रकेतः**=उत्तम ज्ञान वाला **इषः अभि अक्रमीत्**=प्रभु प्रेरणाओं की ओर इस प्रकार गतिवाला होता है, **न**=जैसे कि **एतशः**=एक अश्व **वाजं अच्छा**=संग्राम की ओर गतिवाला होता है। सोमरक्षण से ज्ञान वृद्धि होकर हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें शक्तिशाली व धर्मप्रवण बनाता है, सोम पान से जीवन प्रकाशमय हो जाता है, ज्ञान को बढ़ाकर यह हमें प्रभु प्रेरणा को सुनने का पात्र बनाता है।

ऋषिः—**शक्तिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

द्युमत्तमः

त्वं ह्य१ङ्ग दैव्या पवमान जनिमानि द्युमत्तमः । अमृतत्वाय घोषयः ॥ ३ ॥

हे **अंग**=गतिशील जीवन को स्फूर्तिमय बनानेवाले **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **त्वं हि**=तू ही **दैव्या जनिमानि**=सब देवों से सम्बद्ध, सब इन्द्रियों से सम्बद्ध शक्ति विकासों को **अमृतत्वाय घोषयः**=अमृतत्व के लिये घोषित करता है। बाह्य जगत् के सब सूर्य आदि देव शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप में निवास करते हैं। इन देवों की शक्ति का विकास इस सोम के द्वारा ही होता है। सोम से शक्ति सम्पन्न बन सब इन्द्रियाँ अक्षीण शक्ति व अमर बनी रहती हैं। हे सोम! तू ही **द्युमत्तमः**=जीवन को अधिक से अधिक ज्योतिर्मय बनानेवाला है। सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ही सब इन्द्रियों की अक्षीण शक्ति व अमर बनाता है यह ही जीवन को ज्योतिर्मय करता है।

ऋषिः—**उरुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

चारुणः अमृतस्य

येना नवग्वो दुध्यङ्ङपोर्णुते येन विप्रास आपिरे।
देवानां सुम्ने अमृतस्य चारुणो येन श्रवांस्यानशुः ॥ ४ ॥

यह सोम वह है **येन**=जिसके द्वारा **नवग्वः**=स्तुत्य गतिवाला (नु स्तुतौ) **दध्यङ्**=ध्यानशील पुरुष **अप ऊर्णुते**=अज्ञान के आवरण को दूर करता है। **येन**=जिसके द्वारा **विप्रासः**=अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले लोग **आपिरे**=उस प्रभु को प्राप्त करते हैं। यह सोम वह है **येन**=जिसके द्वारा **देवानां सुम्ने**=देववृत्ति के पुरुषों के प्रभु स्तवन के होने पर (सुम्न=Hymn) **चारुणः अमृतस्य**=अत्यन्त कल्याणकर अमृतत्व को **आनशुः**=प्राप्त करते हैं तथा जिससे **श्रवांसि**=ज्ञानों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से अज्ञान का आवरण दूर होता है, प्रभु की प्राप्ति होती है, प्रभु स्तवन करते हुए हम मोक्ष को प्राप्त करते हैं, ज्ञानवृद्धि का यह सोमरक्षण कारण बनता है।

ऋषिः—**उरुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

मदिनामः

एष स्य धारया सुतोऽव्यो वारेभिः पवते मदिन्तमः । क्रीळन्नूर्मिरपामिव ॥ ५ ॥

एषः=यह **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **स्यः**=वह सोम **अव्यः**=रक्षणीय है। **वारेभिः**=वासनाओं के निवारण के द्वारा यह **पवते**=हमें प्राप्त होता है। **मदिन्तमः**=अतिशयेन उल्लास का जनक है। यह सोम हमारे जीवनों में **अपाम् ऊर्मिः इव**=कर्मों के प्रकाश की तरह (अप्=कर्म, ऊर्मि=प्रकाश) **क्रीडन्**=क्रीड़ा करता हुआ होता है। यह हमें कर्मशील बनाता है, कर्त्तव्य कर्मों के मार्ग का दर्शन कराता है और हमें क्रीडक की मनोवृत्ति वाला बनाता है। हम कर्म करते हैं, पर फल में उलझते नहीं।

भावार्थ—यह सोम 'मदिन्तम' है। हमें कर्तव्य मार्ग का दर्शन कराता है और अनासक्त भाव से कर्म करने की योग्यता प्राप्त कराता है।

ऋषिः—ऋजिष्वाः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**स्वराट्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वर्मी इव धृष्णो आरुज

य उस्रिया अप्या अन्तरश्मनो निर्गा अकृन्तदोजसा।
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवा रुज॥ ६॥

यः=जो सोम **अश्मनः अन्तः**=पाषाण तुल्य दृढ़ शरीर के अन्दर **अप्याः**=कर्मों के लिये हितकर **उस्रियाः**=प्रकाश की किरणों को तथा **गाः**=इन्द्रियों को **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **निः अकृन्तत्**=वासनारूप वृत्र के आवरण से बाहर करता है (निरच्छिनत्)—वृत्र से इन्हें छुड़ा लेता है। सोमरक्षण से ज्ञानेन्द्रियाँ व प्रकाश की किरणें वासना के आवरण से रहित होती हैं। हे सोम! तू **गव्यम्**=ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी **अश्व्यम्**=कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी **व्रजम्**=समूह को **अभितत्निषे**=विस्तृत शक्ति वाला करता है। हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले सोम! **वर्मी इव**=कवचधारी योद्धा के समान तू हमारे शत्रुओं को **आरुज**=समन्तात् भग्न करनेवाला हो।

भावार्थ—सोम शरीर को पाषाण तुल्य दृढ़ बनाता है, उसमें कर्तव्य कर्मों के प्रकाश को प्राप्त कराता है, इन्द्रिय समूह को वासना बन्धन से छुड़ाता है, वासना रूप शत्रुओं को दूर भगाता है।

ऋषिः—ऋजिष्वाः॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

वनक्रक्षम्-उदप्रुतम्

आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम्। वनक्रक्षमुदप्रुतम्॥ ७॥

आसोत=इस सोम को सर्वथा अपने में उत्पन्न करो, तथा **परिषिञ्चत**=शरीर में चारों ओर सिक्त करो। उस सोम को, जो **अश्वं न**=एक अश्व के समान **स्तोमम्**=स्तव्य है। जैसे एक घोड़ा संग्राम में विजय का कारण बनता है, उसी प्रकार यह सोम जीवन संग्राम में विजय का साधक होता है। यह सोम हमें **अप्तुरम्**=कर्मों में प्रेरित करता है और **रजस्तुरम्**=राजसी भावों को हिंसित करता है, यह सोम **वनक्रक्षं**=उपासकों के जीवन में वासनाओं को कुचलनेवाला है (क्रक्ष् crush) तथा **उदप्रुतम्**=ज्ञानजल को जीवन में गति देनेवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षण से क्रियाशीलता बढ़ती है, राजसभाव नष्ट होते हैं, वासनाएँ विकीर्ण हो जाती हैं, और ज्ञानजल प्रवाहित होता है।

ऋषिः—**ऊर्ध्वसद्मा**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

राजा देवः ऋतं बृहत्

सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत्॥ ८॥

गतमन्त्र की 'आसोत-परिषिञ्चत' क्रिया ही यहाँ भी अनुवृत्त होती है। उस सोम को उत्पन्न करो और शरीर में चारों ओर सिक्त करो जो **सहस्राधारम्**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला है, **वृषभम्**=शक्ति का सेचन करनेवाला है, **पयोवृधम्**=ज्ञानजल को बढ़ानेवाला है, **प्रियम्**=प्रीति का जनक है और **देवाय जन्मने**=दिव्यगुणों के जन्म के लिये होता है। **यः**=जो सोम **ऋतजातः**=ऋत के निमित्त यज्ञ के निमित्त उत्पन्न हुआ-हुआ **ऋतेन**=इन यज्ञों से **विवावृधे**=विशिष्ट वृद्धि को प्राप्त करता है। **राजा**=दीप्त होता है, **देवः**=दिव्यगुण सम्पन्न होता है। यह सोम **बृहत् ऋतम्**=महान् ऋत है। इसी से जीवन में सब यज्ञ व ठीक बातें होती हैं।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे जीवन में दिव्यगुणों को जन्म देता है। यह हमें दीप्तिमान् बनाता है। महान् ऋत का कारण बनता है।

ऋषिः—**ऊर्ध्वसद्मा** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वि कोशं मध्यमं युव

अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुः। वि कोशं मध्यमं युव ॥ ९ ॥

हे **देव**=प्रकाशमय! **इषस्पते**=हमारे जीवनों प्रभु प्रेरणाओं के रक्षक सोम! तू हमें **द्युम्नं अभि**=ज्ञान ज्योति की ओर ले चल। तथा **बृहद् यशः**=महान् यश की ओर ले चल। **देवयुः**=दिव्यगुणों को हमारे साथ जोड़ने की कामना वाला यह सोम है। तू **दिदीहि**=हमें दिव्यगुणों व प्रकाश को इस **मध्यमम् कोशम्**=मनोमय कोश को, जिसके एक ओर अन्नमय व प्राणमय है, तथा दूसरी ओर विज्ञानमय व आनन्दमय, उस मध्यम कोश को **वियुव**=सब बुराइयों से पृथक् कर।

भावार्थ—सोमरक्षण से 'ज्योति, यश व दिव्यगुण' प्राप्त होते हैं। इस के रक्षण से मन की पवित्रता सिद्ध होती है।

ऋषिः—**कृतयशाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

जिन्वा गविष्टये धियः

आ वच्यस्व सुदक्ष चम्वोः सुतो विशां वह्निर्न विश्पतिः।
वृष्टिं दिवः पवस्व रीतिमपां जिन्वा गविष्टये धियः ॥ १० ॥

हे **सुदक्ष**=उत्तम बल वाले सोम **चम्वोः**=द्यावापृथिवी के निमित्त, मस्तिष्क व शरीर के स्वास्थ्य के लिये **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू **आवच्यस्व**=शरीर में चारों ओर प्राप्त हो। (वंच् To go, arrive at) शरीर के अंग-प्रत्यंग में पहुँचा हुआ तू उन सब को सशक्त बना। तू **विशां वह्निः न**=प्रजाओं के लक्ष्य स्थान पर ले जानेवाले के समान है। **विश्पतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक है। **दिवः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक से **वृष्टिं**=आनन्द की वृष्टि को **पवस्व**=प्राप्त करा। योगमार्ग में धर्ममेघ समाधि में प्राप्त होनेवाली आनन्द की वृष्टि को तू सिद्ध कर। **अपां रीतिम्**=कर्मों के प्रवाह को तू प्राप्त करा। तेरे रक्षण के द्वारा हम सतत क्रियाशील बनें। **गविष्टये**=आत्मान्वेषण के लिये **धियः**=बुद्धियों को **जिन्वः**=प्रीणित कर। तेरे रक्षण से हमें बुद्धि की वह सूक्ष्मता प्राप्त हो, जो आत्मदर्शन का साधन बनती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाता है, हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचाता है। आनन्द की वृष्टि का अनुभव कराता है, निरन्तर क्रियाशील बनाकर हमें सूक्ष्म बुद्धिवाला बनाता है जिससे हम प्रभु दर्शन कर सकें।

ऋषिः—**कृतयशाः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

विश्वा वसूनि बिभ्रतम्

एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवो दुहुः। विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥ ११ ॥

एतम्=इस **उ**=निश्चय से **त्यम्**=उस सोम को **दिवः**=स्वाध्याय द्वारा ज्ञान ज्योति से दीप्त होनेवाले पुरुष **दुहुः**=अपने अन्दर प्रपूरित करते हैं, जो **मदच्युतम्**=आनन्द को प्राप्त करानेवाला है, **सहस्रधारम्**=अनेक प्रकार से धारण करनेवाला है, **वृषभम्**=शक्ति का आसेचन करता है। स्वाध्याय द्वारा सुरक्षित यह सोम **विश्वा वसूनि बिभ्रतम्**=सब वसुओं का शरीर में भरण

करनेवाला है। जीवन के लिये सब आवश्यक तत्त्वों को यह प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम आनन्द को देनेवाला, शक्ति का सेचन करनेवाला व सब निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—**ऋणञ्चयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**स्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

वृषा अमर्त्यः

वृषा वि जज्ञे जनयन्नमर्त्यः प्रतपञ्ज्योतिषा तमः।
स सुष्टुतः कविभिर्निर्णिजं दधे त्रिधात्वस्य दंससा॥ १२॥

वृषा=सब सुखों का वर्षक, **जनयन्**=हमारी शक्तियों का प्रादुर्भाव करता हुआ यह सोम **अमर्त्यः**=अमरण धर्मा **विजज्ञे**=जाना जाता है, यह हमें रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता। **ज्योतिषा**=यह ज्ञान की ज्योति के द्वारा **तमः**=अज्ञानान्धकार को **प्रतपन्**=नष्ट करता है। **सः**=वह **कविभिः**=ज्ञानी पुरुषों से **सुष्टुतः**=सम्यक् स्तुत होता है। ज्ञानी पुरुष इसके गुणों को समझते हैं। यह **निर्णिजं दधे**=शोधन को धारण करता है, जीवन को शुद्ध बनाता है। वह सोम **अस्य दंससा**=अपने शत्रु विनाशक कर्मों के द्वारा **त्रिधातु दधे**='शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों के धारणात्मक कर्म को धारण करता है। यह शरीर को सशक्त बनाता है, मन को पवित्र बनाता है, और मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करता है।

भावार्थ—यह सोम शरीर में शक्ति का सेचन करके हमें नीरोग बनाता है, ज्ञान ज्योति के द्वारा अन्धकार को दूर करता है शोधन करता हुआ 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों का धारण करता है।

ऋषिः—**ऋणञ्चयः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वसूनां, रायां, इडानां, सुक्षितीनां' आनेता

स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इळानाम्। सोमो यः सुक्षितीनाम्॥ १३॥

सः=वह सोम **सुन्वे**=हमारे लिये उत्पन्न किया जाता है **यः**=जो **वसूनाम्**=निवास के लिये सब आवश्यक तत्त्वों का **आनेता**=प्राप्त करानेवाला है। **यः**=जो **रायाम्**=सब ऐश्वर्यों का (आनेताः) प्राप्त करानेवाला है, और **यः**=जो **इडानाम्**=वेद वाणियों को ज्ञान की वाणियों का प्रापक है। वह **सोमः**=सोम उत्पन्न किया जाता है **यः**=जो **सुक्षितीनाम्**=उत्तम निवासों का कारण बनता है। शरीर में हमारा निवास इस सोम के कारण ही ठीक होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम वसुओं को ऐश्वर्यों को, ज्ञान की वाणियों को तथा उत्तम निवासों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**शक्तिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'इन्द्र, मरुत् अर्यमा व भग'

यस्य न इन्द्रः पिबाद्यस्य मरुतो यस्य वार्यमणा भगः।
आ येन मित्रावरुणा करामह एन्द्रमवसे महे॥ १४॥

गतमन्त्र की ही क्रिया यहाँ अनुवृत्त होती है। 'सः सुन्वे'=वह सोम उत्पन्न किया जाता है **यस्य**=जिसका **नः**=हमारे में से **इन्द्रः पिबात्**=जितेन्द्रिय पुरुष पान करता है। **यस्य**=जिसका **मरुतः**=प्राण पान करते हैं, अर्थात् प्राणसाधक पुरुष जिसका पान करता है **वा**=अथवा **यस्य**=जिसका

पान **अर्यमणा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाले के साथ **भगः**=(भज सेवायाम्) प्रभु भजन करनेवाला पुरुष करता है वह सोम उत्पन्न किया जाता है **येन**=जिससे कि **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता (द्वेष निवारण) के भावों को हम **आकरामहे**=सिद्ध कर पाते हैं। जिस सोम के द्वारा हम **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपने आभिमुख कर पाते हैं जो **महे अवसे**=हमारे महान् रक्षण के लिये होते हैं। प्रभु का दर्शन हमारे सब शत्रुओं का विध्वंस कर देता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये 'जितेन्द्रियता, प्राणसाधना, शत्रु नियमन व प्रभु भजन' साधन बनते हैं। सुरक्षित सोम से हम 'स्नेह व निर्द्वेषता' को प्राप्त करके प्रभु दर्शन कर पाते हैं।

ऋषिः—**शक्तिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

मदिन्तमः-मधुमत्तमः

इन्द्राय सोम पातवे नृभिर्यतः स्वायुधो मदिन्तमः। पवस्व मधुमत्तमः ॥ १५ ॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये पान के लिये **पवस्व**=प्राप्त हो। जितेन्द्रिय पुरुष तेरा पान करनेवाला बने। **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **यतः**=संयत हुआ-हुआ तू **स्वायुधः**=उत्तम 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों वाला हो। **मदिन्तमः**=अतिशयेन उल्लास को प्राप्त करानेवाला बन। **मधुमत्तमः**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाला तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व उन्नतिपथ पर चलने वालों से सुरक्षित हुआ-हुआ सोम 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' को उत्तम बनाता है उल्लास व माधुर्य को उत्पन्न करता है।

ऋषिः—**शक्तिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दिवो विष्टम्भ उत्तमः

इन्द्रस्य हार्दि सोमधानमा विश समुद्रमिव सिन्धवः।
जुष्टो मित्राय वरुणाय वायवे दिवो विष्टम्भ उत्तमः ॥ १६ ॥

हे सोम! तू **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के इस **हार्दि**=हृदयंगम, अत्यन्त सुन्दर व प्रशंसनीय **सोमधानमः**=सोम के आधारभूत शरीर कलश में **आविश**=इस प्रकार प्रविष्ट हो, **इव**=जैसे कि **सिन्धवः**=नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र में प्रविष्ट होती हैं। हे सोम! तू **मित्राय**=सबके प्रति स्नेह वाले, **वरुणाय**=निर्द्वेषता को धारण करनेवाले, **वायवे**=निरन्तर गतिशील पुरुष के लिये **जुष्टः**=प्रेम से सेवित होता है। तू **दिवः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक को **उत्तमः**=सर्वोत्तम **विष्टम्भः**=धारक होता है। सुरक्षित सोम इस मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये 'जितेन्द्रियता 'स्नेह, निर्द्वेषता व क्रियाशीलता' साधन हैं। यह मस्तिष्क का सर्वोत्तम धारक है।

गतमन्त्र के अनुसार मस्तिष्क के उत्तम धारक सोम का रक्षण करते हुए ये व्यक्ति 'धिष्ण्याः' (धिषणायां साधुः)=उत्तम बुद्धि वाले बनते हैं। इसके द्वारा 'अग्रयः' निरन्तर आगे चलनेवाले होते हैं। **ऐश्वर्यः**=(ईश्वरस्य इमे) ये प्रभु के पूरे विश्वासी आस्तिक बनते हैं। ये कहते हैं—

[१०९] नवोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अग्रयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मित्र-पूषा-भग

परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥ १ ॥

हे सोम तू **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिप्रधन्व**=शरीर रूप पात्र में चारों ओर गतिवाला हो जितेन्द्रियता के द्वारा ही वस्तुतः सोम का रक्षण होता है। यह सोम **मित्राय**=सब के प्रति स्नेह वाले इस व्यक्ति के लिये, **पूष्णे**=अपने शरीर का ठीक से पोषण करनेवाले के लिये तथा **भगाय**=प्रभु का भजन करनेवाले के लिये **स्वादुः**=जीवन को आनन्दमय बनाता है। वस्तुतः सोमरक्षण ही हमें 'मित्र-पूषा व भग' बनाता है। ऐसा बनाने पर जीवन मधुर हो जाता है। जीवन वही है जिसमें कि मेरा किसी के प्रति द्वेष नहीं, शरीर पूर्ण स्वस्थ हों तथा प्रभु भजन की मेरी वृत्ति हो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता से मैं सोम का रक्षण कर पाता हूँ। रक्षित सोम मुझे 'स्नेह वाला, स्वस्थ शरीर वाला व प्रभु भजन की वृत्ति वाला' बनाता है। इस प्रकार जीवन आनन्दमय होता है।

ऋषिः—**अग्न्यो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रज्ञान+बल

इन्द्रस्ते सोम सुतस्य पेयाः क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवाः॥ २॥

हे सोम! **सुतस्य ते**=उत्पन्न हुए-हुए तेरा **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पेयाः**=पान करे। जितेन्द्रियता के द्वारा शरीर के अन्दर ही तेरा रक्षण करे। इस प्रकार यह जितेन्द्रिय पुरुष **क्रत्वे**=प्रज्ञान के लिये तथा **दक्षाय**=बल के लिये हो। **च**=और इस सोमरक्षण के द्वारा **विश्वे देवाः**=सब दिव्य गुण इस जितेन्द्रिय पुरुष को प्राप्त हों। 'इन्द्र' इन सब देवों का अधिष्ठाता हो।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष सोम का पान करता हुआ प्रज्ञान बल व सब दिव्य गुणों को प्राप्त हो।

ऋषिः—**अग्न्यो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

शुक्र-दिव्य-पीयूष

एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः॥ ३॥

एवा=इस प्रकार हे सोम! **सः**=वह तू **अमृताय**=नीरोगता के लिये हो। **महेक्षयाय**=जीवन में महत्त्वपूर्ण निवास व गति के लिये हो। तेरे रक्षण से रोगरूप मृत्युएँ हमारे से दूर रहें और हम जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्यों को कर सकें। हे सोम! **शुक्रः**=अत्यन्त दीप्त-ज्ञान रूप दीप्ति को प्राप्त करानेवाला **दिव्यः**=दिव्य गुणों का वर्धन करनेवाला **पीयूषः**=अमृतत्व के गुण से युक्त तू **अर्ष**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम नीरोग व महत्त्वपूर्ण जीवन को प्राप्त कराता है। यह दीप्त, दिव्य व अमृत है।

ऋषिः—**अग्न्यो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

विश्वा धाम अभि

पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम॥ ४॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **महान्**=तू अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, तेरे द्वारा ही जीवन महत्त्वपूर्ण कार्यों को कर पाता है। तू **समुद्रः**=जीवन को आनन्दमय बनाता है (स+मुद्) **देवानां**

पिता=सब दिव्य गुणों का तू ही रक्षक है। **विश्वा धाम अभि**=सब तेजों की ओर तू हमें ले चल। तेरे रक्षण से अंग-प्रत्यंग तेजस्वी बने।

भावार्थ—सुरक्षित सोम जीवन को 'महत्त्वपूर्ण, आनन्दमय, दिव्यगुणयुक्त व तेजस्वी' बनाता है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'शरीर, मस्तिष्क व प्रजा' की अविकृति

शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिवे पृथिव्यै शं च प्रजायै॥ ५॥

हे **सोम**=वीर्य! **शुक्रः**=हमारे जीवन ज्ञानदीप्त व निर्मल बनानेवाला तू हमें **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये **पवस्व**=प्राप्त हो। सोमरक्षण से जीवन में आसुरभावों का विनाश होकर दिव्य गुणों का वर्धन होता है। तू **दिवे**=मस्तिष्क रूप द्युलोक के लिये, **पृथिव्यै**=शरीर रूप पृथिवी लोक के लिये, **च**=और **प्रजायै**=शक्तियों के विकास के लिये व सन्तान के लिये **शम्**=शान्ति का देनेवाला हो। सोमरक्षण से मस्तिष्क व शरीर में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। सन्तान भी अविकृत अंगोंवाले होते हैं। सोमरक्षण के अभाव में 'शरीर, मस्तिष्क व सन्तान' सभी पर दुष्प्रभाव पड़ता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम दिव्यगुणों का वर्धन करता है तथा 'मस्तिष्क, शरीर व सन्तानों' को अविकृति का कारण बनता है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

शुक्रः पीयूषः

दिवो धर्तासि शुक्रः पीयूषः सत्ये विधर्मन्वाजी पवस्व॥ ६॥

हे सोम! तू **दिवः धर्ता असि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक का धारण करनेवाला है। **शुक्रः**=हमारे जीवनों को दीप्त व निर्मल बनाता है। **पीयूषः**=तू जीवन के लिये अमृत है। शरीर में किसी प्रकार के रोगों को नहीं आने देता। **सत्ये**=उस सत्य प्रभु प्राप्ति के निमित्त जीवन में सत्य व्यवहार के निमित्त, तथा **विधर्मन्**=विशिष्ट धारण के निमित्त, सब अंग-प्रत्यंगों के स्वास्थ्य के निमित्त **वाजी**=शक्तिशाली तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—सुरक्षित सोम ही मस्तिष्क का धारण करता है। हमें दीप्ति व अमृतत्व प्राप्त कराता है। हमारे जीवन को सत्यमय बनाता हुआ हमारा धारण करता है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

द्युम्नी, सुधारः

पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महामवीनामनु पूर्व्यः॥ ७॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **द्युम्नी**=तू ज्योतिर्मय है, हमारे मस्तिष्क को ज्ञानज्योति से भरनेवाला है। **सुधारः**=बहुत अच्छी प्रकार हमारा धारण करनेवाला है। **महाम्**=प्रभु पूजन की वृत्तिवालों का (पूजन) तथा प्रभु पूजन द्वारा **अवीनाम् अनु**=रक्षकों का, सोम का रक्षण करने वालों का अनुकूलता से **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करनेवाला है। शरीर को तू रोगाक्रान्त

नहीं होने देता और मन में आसुरभावों को नहीं आने देता।

भावार्थ—प्रभु पूजक इस सोम का रक्षण करते हैं। यह उन्हें ज्योति व धारणशक्ति प्राप्त कराता हुआ उनका पालन व पूरण करता है।

ऋषिः—**अग्रयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

मन्द्रः स्वर्वित्

नृभिर्येमानो जज्ञानः पूतः क्षरद्विश्वानि मन्द्रः स्वर्वित्॥ ८॥

नृभिः=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **येमानः**=(नियम्यमानः) संयत किया जाता हुआ, **जज्ञान**=शक्तियों का प्रादुर्भाव करता हुआ, **पूतः**=यह पवित्र सोम **विश्वानि**=सब अन्नमय आदि कोशों के तेजस्वता आदि ऐश्वर्यों को **क्षरत्**=प्राप्त कराता है। यह सोम **मन्द्र**=सुख का जनक है तथा **स्वर्वित्**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करानेवाला है।

भावार्थ—उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्य ही सोम का संयम कर पाते हैं। यह संयत पवित्र सोम सब कोशों को ऐश्वर्य सम्पन्न बनाता है तथा उस ज्योतिर्मय प्रभु को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अग्रयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

पुनानः, प्रजाम् उराणः

इन्दुः पुनानः प्रजामुराणः करद्विश्वानि द्रविणानि नः ॥ ९ ॥

इन्दुः=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **पुनानः**=पवित्र करता हुआ तथा **प्रजाम्**=सब शक्तियों के प्रादुर्भाव को **उराणः**=(उरु कुर्वाणः) खूब करता हुआ है। सुरक्षित सोम से जीवन में पवित्रता व शक्तियों का विस्तार उत्पन्न होता है। यह सोम **नः**=हमारे लिये **विश्वानि**=सब **द्रविणानि**=धनों को **करत्**=करे। अन्नमय कोश को यह तेजोरूप ऐश्वर्य से भरे, प्राणमय को वीर्य से, मनोमय को ओज व बल से, विज्ञानमय को ज्ञान से (मन्युः मन अववोधने) तथा आनन्दमय को सहस् से परिपूर्ण करे।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'पवित्रता–शक्तियों के विस्तार तथा सब कोशों के ऐश्वर्य' को प्राप्त कराये।

ऋषिः—**अग्रयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रज्ञान–बल–ऐश्वर्य

पवस्व सोम क्रत्वे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥ १० ॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **क्रत्वे**=प्रज्ञान के लिये व **दक्षाय**=बल के लिये **पवस्व**=प्राप्त हो। तेरे रक्षण से ही प्रज्ञान व बल में वृद्धि होती है। **अश्वः न**=तू इस जीवन संग्राम में विजय प्राप्ति के लिये अश्व के समान है। **निक्तः**=शुद्ध किया हुआ तू वासनाओं से मलिन न किया जाता हुआ **वाजी**=शक्तिशाली होता है, इस जीवन संग्राम में हमें विजयी बनाता है और **धनाय**=सब अन्नमय आदि कोशों के धन के लिये होता है।

भावार्थ—सोम हमें प्रज्ञान, बल व ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है। जीवन संग्राम में विजयी बनाता है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

मदाय-द्युम्नाय

तं ते॑ सो॒तारो॒ रसं॒ मदा॑य पुनन्ति॒ सोमं॑ म॒हे द्यु॒म्नाय॑॥ ११॥

सोतारः=इस सोम को शरीर में उत्पन्न व प्रेरित करनेवाले साधक लोग ही, हे प्रभो! **ते**=आपके **तम्**=उस **रसम्**=आनन्द को प्राप्त करते हैं और **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिये होते हैं। प्रभुस्मरण से सोमरक्षण होता है, सोमरक्षण से प्रभु दर्शन होता है और अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। ये साधक **महे द्युम्नाय**=महान् ज्ञान के ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये **सोम पुनन्ति**=इस सोम को पवित्र करते हैं। पवित्र हुआ-हुआ वह सोम ही ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से प्रभु प्राप्ति का आनन्द तथा महान् ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

'शिशु-इन्दु'

शिशुं॑ जज्ञा॒नं हरिं॑ मृजन्ति प॒वित्रे॒ सोमं॑ दे॒वेभ्य॒ इन्दु॑म्॥ १२॥

शिशुम्=बुद्धियों को तीव्र करनेवाले (शो तनूकरणे) **जज्ञानम्**=शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले **हरिम्**=सब रोग आदि का हरण करनेवाले इस सोम को **मृजन्ति**=साधक लोग शुद्ध करते हैं, इसे वासनाओं से मलिन नहीं होने देते। **पवित्रे**=पवित्र हृदय में, जिस हृदय क्षेत्र से वासनाओं के झाड़ी-झंकाड़ों को उखाड़ दिया गया है, उस हृदय में **सोमम्**=सोम को पवित्र करते हैं। यह सोम **देवेभ्यः**=देववृत्ति वाले पुरुषों के लिये **इन्दुम्**=शक्ति को देनेवाला होता है। यह सोमरक्षण ही वस्तुतः उन्हें देव बनाता है।

भावार्थ—वासनाओं से मलिन न होने दिया जाता हुआ सोम बुद्धि को तीव्र करता है, शक्तियों को प्रादुर्भूत करता है, सब रोगकृमियों का अपहरण करता है, हमें देववृत्ति का बनाता है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

मदाय-भगाय

इन्दुः॑ पविष्ट॒ चारु॒र्मदा॑या॒पामु॒पस्थे॑ क॒विर्भगा॑य॥ १३॥

अपाम् उपस्थे=कर्मों की गोद में, अर्थात् निरन्तर यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहने पर यह **इन्दुः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला सोम **पविष्ट**=प्राप्त होता है। यह **चारुः**=सुन्दर व कल्याण कर है, **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिये है। यह सोम **कविः**=क्रान्तदर्शी होता हुआ, हमें सूक्ष्म व तीव्र बुद्धि वाला बनाता हुआ **भगाय**=ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति के लिये होता है।

भावार्थ—सोम 'इन्दु, चारु व कवि' है यह आनन्द व ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु नाम स्मरण व वासना विनाश

बिभर्ति॒ चार्विन्द्र॑स्य॒ नाम॒ येन॒ विश्वा॑नि वृ॒त्रा ज॒घान॑॥ १४॥

शरीर में सोम के रक्षण को करनेवाला पुरुष **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु के **चारु नाम**=सुन्दर कल्याणकर नाम को **बिभर्ति**=धारण करता है। वस्तुतः यह नाम स्मरण ही हमें सोमरक्षण के योग्य बनाता है। **येन**=जिस प्रभु के नाम स्मरण के द्वारा **विश्वानि**=सब **वृत्रा**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली वासनाओं को **जघान**=नष्ट करता है। नाम स्मरण से वासनाएँ नष्ट होती हैं, वासना विनाश से सोम का रक्षण होता है, सोमरक्षण से प्रभु दर्शन होता है।

भावार्थ—'प्रभु नाम स्मरण' सब वासनाओं के विनाश का साधन बनता है।

ऋषिः—**अग्रयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गोभिः श्रीतस्य

पिबन्त्यस्य विश्वे देवासो गोभिः श्रीतस्य नृभिः सुतस्य ॥ १५ ॥

विश्वे=सब **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष ही **अस्य पिबन्ति**=इस सोम का शरीर में पान करते हैं। सोमरक्षण के लिये देववृत्ति अतिशयेन सहायक होती है। सुरक्षित सोम ही उन्हें 'देव' बनाता है। शरीरस्थ इन्द्रियाँ भी देव कहलाती हैं, ये भी इस सोम का पान करती हुई ही शक्तिशाली बनती हैं। ये देव उस सोम का पान करते हैं जो **गोभिः श्रीतस्य**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा परिपक्व होता है (श्रि पाके)। स्वाध्याय में लगे रहने से सोम शरीर में सुरक्षित रहता है और ठीक प्रकार से इसका परिपाक होता है। **नृभिः सुतस्य**=यह उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से उत्पन्न किया जाता है। सदा आगे और आगे बढ़नेवाले पुरुष ही इसको अपने शरीर में उत्पन्न करके परिपक्व करते हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय में लगे रहना व उन्नति के मार्ग पर बढ़ना ही सोमरक्षण का साधन हो जाता है। सब देव इस सोम का पान करते हैं।

ऋषिः—**अग्रयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवित्र, वार, अव्य

प्र सुवानो अक्षाः सहस्रधारस्तिरः पवित्रं वि वारमव्यम् ॥ १६ ॥

सुवानः=शरीर में प्रेरित किया जाता हुआ यह सोम **सहस्रधारः**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला है। यह सोम **पवित्रम्**=पवित्र हृदय वाले पुरुष को, **वारम्**=वासनाओं के निवारण करनेवाले को **अव्यम्**=रक्षकों में उत्तम को **तिरः**=रुधिर में तिरोहित रूप से **प्र वि अक्षाः**=प्रकर्षेण विशेष रूप से प्राप्त होता है। रुधिर में व्याप्त हुआ-हुआ यह सोम सम्पूर्ण शरीर को बल प्राप्त कराता है। और अंग-प्रत्यंग का उत्तमता से धारण करता है।

भावार्थ—सोम पवित्र हृदय वाले, वासनाओं का वारण करनेवाले, रक्षकों में उत्तम पुरुष को प्राप्त होता है। यह रुधिर में तिरोहित रूप से रहता हुआ शरीर को हजारों प्रकार से धारण करता है।

ऋषिः—**अग्रयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अद्भिः मृजानः, गोभिः श्रीणानः

स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणानः ॥ १७ ॥

सः=वह **वाजी**=शक्ति का देनेवाला सोम **अक्षाः**=शरीर में व्याप्त होता है। और **सहस्त्ररेताः**=अनन्त शक्ति को प्राप्त कराता है (सहस्रं रेतांसि येन)। यह सोम **अद्रिः**=कर्मों के द्वारा **मृजानः**=शुद्ध होता है और **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **श्रीणानः**=परिपक्व किया जाता है। कर्मों में लगे रहने से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और सोम इन वासनाओं के द्वारा मलिन नहीं किया जाता। स्वाध्याय के द्वारा इस सोम का ज्ञानाग्नि में परिपाक होता है।

भावार्थ—सोम का शरीर में रक्षण कर्मों में लगाने तथा स्वाध्याय के द्वारा होता है सुरक्षित सोम हमें शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**अग्न्यो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

नृभिः येमानः

प्र सो॑म याही॒न्द्र॑स्य कु॒क्षा नृभि॑र्येमा॒नो अद्रि॑भिः सु॒तः ॥ १८ ॥

हे **सोम**=वीर्य! तू **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **कुक्षा**=उदर में **प्रयाहि**=प्रकर्षेण गतिवाला हो। इस जितेन्द्रिय पुरुष के शरीर में ही तू व्याप्तिवाला हो। **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलानेवाले मनुष्यों से तू **येमानः**=नियम्यमान होता है। इनके सामने निरन्तर आगे बढ़ने की भावना होती है, सो ये सोम का रक्षण करते हैं। **अद्रिभिः सुतः**=प्रभु के उपासकों से यह अपने अन्दर उत्पन्न किया जाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये 'जितेन्द्रियता, उन्नतिपथ पर चलना व प्रभु का उपासन' साधन बनते हैं।

ऋषिः—**अग्न्यो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

इन्द्राय सोमः सहस्त्राधारः

असर्जि वा॒जी ति॒रः प॒वित्र॒मिन्द्रा॑य॒ सोमः॑ स॒हस्र॑धारः ॥ १९ ॥

वाजी=यह शक्तिशाली सोम **पवित्रम्**=पवित्र हृदय वाले पुरुष में **तिरः असर्जि**=तिरोहित रूप से सृष्ट किया जाता है। पवित्र-हृदय पुरुष में यह रुधिर में व्याप्त रहता है। **सोमः**=यह सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **सहस्त्रधारः**=हजारों प्रकार से धारण करनेवाला है। शरीर के अन्दर शक्ति व ज्ञान का यह सोम ही स्रोत बनता है। हृदय में दिव्यता को भी यही उत्पन्न करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष से धारित यह सोम सहस्रों प्रकार से उसका धारण करता है।

ऋषिः—**अग्न्यो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीगायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

मदाय

अ॒ञ्जन्त्ये॑नं॒ मध्वो॒ रसे॒नेन्द्रा॑य॒ वृष्ण॒ इन्दुं॒ मदा॑य ॥ २० ॥

मध्वः रसेन=मधु के रस के हेतु से **एनम्**=इस सोम को **अञ्जन्ति**=शरीर में गतिमय करते हैं, शरीर में इसे अलंकृत करते हैं। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम वाणी आदि इन्द्रियों के व्यवहार में माधुर्य का संचार करता है। **इन्दुम्**=सोम को **वृष्णो**=शरीर में सिक्त करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये यह सोम **मदाय**=उल्लास के लिये होता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम माधुर्य व उल्लास को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीगायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

देवेभ्यः—पाजसे

देवेभ्य॑स्त्वा वृथा पाज॑सेऽपो वसा॑नं हरिं॑ मृजन्ति ॥ २१ ॥

अपः वसानम्=कर्मों को धारण करते हुए **हरिम्**=सब रोगों के हर्ता **त्वा**=तुझ को **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। वस्तुतः कर्मों में लगे रहना ही सोम शुद्धि का साधन है। तुझे **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये तथा **वृथा पाजसे**=अनायास ही शक्ति को प्राप्त कराने के लिये शुद्ध करते हैं। शुद्ध हुआ-हुआ सोम दिव्य गुणों व शक्ति का साधन बनता है।

भावार्थ—कर्मों में व्यापृति के द्वारा सोम को शुद्ध करते हैं। यह दिव्य गुणों व शक्ति को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तोशते नितोशते

इन्दु॒रिन्द्रा॑य तोशते॒ नि तो॑शते श्री॒णन्नु॒ग्रो रि॒णन्न॒पः ॥ २२ ॥

इन्दुः=यह शक्ति वाली सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **तोशते**=शत्रुओं का वध करता है और **नितोशते**=खूब ही वध करता है। हमारे शत्रुओं का संहार करके यह हमारे उन्नतिपथ को सुगम करता है **श्रीणन्**=ज्ञानाग्नि के द्वारा हमारा यह परिपाक करता है। **उग्रः**=तेजस्वी होता है। तथा **अपः रिणन्**=कर्म को हमारे में प्रेरित करता है। सुरक्षित हुआ-हुआ यह हमें शक्ति देकर क्रियाशील बनाता है।

भावार्थ—सोम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करता है। यह हमें ज्ञान परिपक्व करता हुआ तेजस्वी व क्रियाशील बनाता है।

इस प्रकार सोमरक्षण 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को तेजस्वी बनानेवाला यह 'त्र्यरुण' है, सब काम आदि शत्रुओं को अपने से कम्पित करके दूर करनेवाला 'त्रसदस्यु' है, दास्यव भाव इससे भयभीत होकर दूर रहते हैं। अगले सूक्त के ऋषि ये 'त्र्यरुण व त्रसदस्यु' ही हैं। ये प्रार्थना करते हैं—

[११०] दशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वृत्राणि सक्षणिः

पर्यू॒ षु प्र ध॑न्व॒ वाज॑सातये॒ परि॑ वृ॒त्राणि॑ स॒क्षणिः॑। द्वि॒षस्त॒रध्या॑ ऋण॒या न॑ ईयसे ॥ १ ॥

हे सोम! तू **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **परिप्रधन्व**=शरीर में चारों ओर गतिवाला हो। शरीर के अंग-प्रत्यंग में **वाजसातये**=तू शक्ति को देनेवाला हो। सोम ही सब अंगों को सशक्त बनाता है। इस प्रकार शक्ति को प्राप्त कराके तू **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **परिसक्षणिः**=पराभूत करनेवाला हो। **द्विषः तरध्या**=तू सब द्वेष की भावनाओं से तैराने के लिये हो। **ऋणयाः**='ऋण' शब्द 'जल' वाचक है। 'ऋण' का अर्थ 'ऋण' ही करें तो भाव यह होगा कि सोम हमें 'ऋषिऋण, देवऋण व पितृऋण' आदि से मुक्त करता है (ऋणानां यापयिता) रेतःकण

रूप जलों को प्राप्त करानेवाला तू **न ईयसे**=हमें प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोम शक्ति प्राप्त कराता है, वासनाओं को पराभूत करता है, द्वेष की भावनाओं को दूर करता है, रेतःकण रूप जलों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वाजान् अभि

अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये। वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे॥ २॥

हे **सोम**=वीर्य! **सुतं त्वा हि अनुमदामसि**=उत्पन्न हुए-हुए तेरे अनुपात में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। जितना-जितना शरीर में तेरा उत्पादन होता है, उतना-उतना ही जीवन आनन्दमय बनता है। तेरे उत्पादन से हमारा निवास **महे**=महत्त्वपूर्ण **समर्यराज्ये**=(सम् अर्य राज्ये) उत्तम स्वामी वाले इस शरीर राज्य में होता है। सोमरक्षण के होने पर इन्द्रियों का प्रभुत्व न होकर आत्मा का प्रभुत्व होता है। आत्मा 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' का अधिष्ठाता होता है। हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **वाजान् अभि**=सब शक्तियों का लक्ष्य करके **प्रगाहसे**=इस शरीर राज्य का आलोडन करता है। सोम का यहाँ प्रवेश वस्तुतः सब शक्तियों के सञ्चार के दृष्टिकोण से होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के अनुपात में ही जीवन का आनन्द है। यह सोम ही इस शरीर राज्य को आत्माधिष्ठित बनाता है। यही सब शक्तियों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

गोजीरया पुरन्ध्या

अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः। गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या॥ ३॥

हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! तू **हि**=निश्चय से **विधारे**=विशिष्ट धारण के निमित्त **सूर्यं अजीजनः**=ज्ञानसूर्य को उदित करता है। सोमरक्षण से मस्तिष्क की पवित्रता होकर ज्ञान प्राप्ति की अनुकूलता होती है। **शक्मना**=हे सोम! तू अपनी शक्ति से **पयः**=(अजीजनः) प्राप्यायन को प्राप्त करानेवाला हो। **गोजीरया**=इन्द्रियों को उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाली **पुरन्ध्या**=पालक बुद्धि के साथ **रंहमाणः**=शरीर में तीव्र गतिवाला होता है।

भावार्थ—सोम ज्ञानसूर्य को उदित करता है। शक्ति से अंगों का अप्यायन करता है, इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाली बुद्धि से हमें प्राप्त होता है।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

अमृतत्व के साधन ऋत का धारण

अजीजनो अमृत मर्त्येष्वाँ ऋतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः। सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत्॥ ४॥

हे **अमृत**=रोगों से आक्रान्त न होने देनेवाले सोम! तू **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **चारुणः**=सुन्दर **अमृतस्य**=मृत्युरूप रोगों से बचानेवाले **ऋतस्य**=ऋत के यज्ञादि उत्तम कर्मों के व नियमितता (regularity) के **धर्मन्**=धारण के निमित्त **अजीजनः**=प्रकट हुआ है। सोमरक्षण से यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति बढ़ती है तथा जीवन नियमित होता है। ये ही बातें मनुष्य को रोगों से आक्रान्त होने से बचाती हैं। हे सोम! तू **सनिष्यदत्**=अमृतता को देता हुआ **सदा**=हमेशा **वाजम् अच्छा**=शक्ति की ओर **असरः**=गतिवाला हुआ है। जीवन में शक्ति को देनेवाला यह सोम ही है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम अमृत के साधन ऋत के धारण के निमित्त उत्पन्न किया गया है। यह अमृतत्व को देता हुआ सदा शक्ति की ओर गतिवाला होता है।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती**॥
स्वरः—**मध्यमः**॥

ज्ञान स्त्रोत का खनन

अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कं चिज्जनपानमक्षितम्। शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः॥ ५॥

हे सोम! तू **श्रवसा**=ज्ञान के हेतु से **कञ्चित्**=किसी अद्भुत **अक्षितम्**=(न क्षितं यस्मात्) नाश से बचानेवाले **जनपानं**=लोकों के रक्षक व लोगों से पीने के योग्य **उत्सं न**=स्त्रोत के समान **हि**=ही ज्ञानस्त्रोत को **अभि ततर्दिथ**=खोद डालता है। सोम के द्वारा इस ज्ञानस्त्रोत पर ज्ञानजल को पीते हुए लोग ज्ञान को बढ़ा पाते हैं। सोम ही वस्तुतः इस सूक्ष्म बुद्धि को प्राप्त कराता है जो ज्ञान वृद्धि का कारण बनती है। **नः**=और यह सोम **शर्याभिः**=वासनाओं के संहार के द्वारा **गभस्त्योः**=भुजाओं में **भरमाणः**=शक्ति का भरण करता है। भुजाओं को शक्ति सम्पन्न बनाता हुआ यह सोम हमें उत्तम कर्मों के करने में समर्थ बनाता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमारे जीवन में ज्ञानस्त्रोत को खोल देता है और हमारे में शक्ति का भरण करता है।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती**॥
स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु दर्शन व साधन

आदीं के चित्पश्यमानास आप्यं वसुरुचो दिव्या अभ्यनूषत। वारं न देवः सविता व्यूर्णुते॥ ६॥

गतमन्त्र के अनुसार ज्ञानस्त्रोत व शक्ति को प्राप्त करके **आत् ईम्**=अब शीघ्र ही **केचित्**=कुछ **पश्यमानासः**=वस्तुतत्त्वों को देखते हुए, **वसुरुचः**=जीवन में निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों से दीप्त होते हुए **दिव्याः**=दिव्य मनोवृत्ति वाले पुरुष **आप्यं**=उस प्राप्त करने योग्य व सर्वत्र प्राप्त सर्वव्यापक प्रभु को **अभ्यनूषत**=स्तुत करते हैं। **न**=और अब (नः च, संगति) वह **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=सब का प्रेरक प्रभु **वारं**=वरणीय ज्ञान धन को **व्यूर्णुते**=आवरण से रहित करता है। प्रभु इन उपासकों के जीवन में ज्ञान को प्रकाशित करता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रभु स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। प्रभु उनके ज्ञानस्त्रोत को आवरण शून्य करते हैं।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

वाजाय श्रवसे

त्वे सोम प्रथमा वृक्तबर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः। स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय॥ ७॥

हे **सोम**=वीर्य! **त्वे**=तेरे में अर्थात् शरीर में तेरे स्थित होने पर ये सोम धारक पुरुष **प्रथमाः**=विस्तृत शक्तियों वाले होते हैं और **वृक्तबर्हिषः**=हृदय रूप क्षेत्र से वासनारूप घास-फूस को उखाड़नेवाले होते हैं ये **महे वाजाय**=महान् शक्ति के लिये तथा **श्रवसे**=ज्ञान प्राप्ति के लिये **धियं दधुः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों को धारण करते हैं। सोमरक्षण ही इन्हें इस योग्य बनाता है। हे **वीर**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले सोम! **सः**=वह **त्वम्**=तू **नः**=हमें **वीर्याय**=शक्तिशाली कर्मों के लिये **चोदय**=प्रेरित कर। तेरे रक्षण से शक्तिशाली कर्मों को करते हुए हम सदा वासना रूप

शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हों।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम 'शक्ति विस्तार, पवित्र हृदय, ज्ञान व वीर्य' को प्राप्त करते हैं, सब शत्रुओं को कम्पित करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

पीयूषं-पूर्व्यम्-उक्थ्यम्

दिवः पीयूषं पूर्व्यं यदुक्थ्यं महो गाहाद्दिव आ निरधुक्षत। इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन्॥ ८॥

दिवः=ज्ञान ज्योति से दीप्त होनेवाले पुरुष (द्युति) अथवा वासनाओं को जीतने की कामना वाले पुरुष विजिगीष) **दिवः**=ज्ञान के **महः गाहात्**=महान् आलोडन से, अर्थात् गम्भीर स्वाध्याय के द्वारा, उस सोम को **आ निरधुक्षत**=समन्तात् अपने अन्दर प्रपूरित करते हैं, **यत्**=जो **पीयूषम्**=अमृत है, हमें रोगों से मरने नहीं देता। **पूर्व्यम्**=हमारा पालन व पूरण करने वालों में उत्तम है। **उक्थ्यम्**=जो प्रशंसनीय व स्तुत्य है। सोमरक्षण के लिये सर्वोत्तम उपाय यही है कि हम अपने अतिरिक्त समय का विनियोग स्वाध्याय, गम्भीर अध्ययन में ही करें। ये स्वाध्यायशील पुरुष **इन्द्रं अभि**=जितेन्द्रिय पुरुष का लक्ष्य करके **जायमानम्**=प्रादुर्भूत होते हुए सोम को **समस्वरन्**=स्तुत करते हैं, इसके गुणों का प्रत्यापन करते हैं। इसके गुणों का स्मरण ही उन्हें इसके रक्षण के लिये रुचि वाला बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण का उपाय 'गम्भीर अध्ययन में प्रवृत्ति' ही है। यह हमें रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता, पूर्ति को करता है और जितेन्द्रिय पुरुष की शक्तियों का विकास करता है।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

सब अंगों का अलंकरण

अध यदिमे पवमान रोदसी इमा च विश्वा भुवनाभि मज्मना।
यूथे न निःष्ठा वृषभो वि तिष्ठसे॥ ९॥

हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **अध**=अब **यत्**=जो **इमे रोदसी**=ये द्यावापृथिवी हैं, मस्तिष्क व शरीर हैं, **च**=और **इमा विश्वा भुवनाभि**=ये सब भुवन हैं, शरीर के विविध प्रदेश हैं, अंग-प्रत्यंग हैं, इनमें तू **मज्मना**=अपने बल से **विराजसे**=विराजमान होता है। इस प्रकार विराजमान होता है, **न**=जैसे कि **यूथे**=एक गौओं के समूह में **वृषभः**=वृषभ (शक्तिशाली बैल) **निःष्ठाः**=निश्चय से स्थित होता है। जैसे वृषभ सब गौवों में शक्ति का आधान करता है, इसी प्रकार यह सोम मस्तिष्क में, शरीर में तथा शरीरस्थ सब अंग-प्रत्यंगों में शक्ति को स्थापित करता है। इस सोम के द्वारा शक्ति सम्पन्न होकर वे सब अंग शोभायमान होते हैं।

भावार्थ—सोम सब अंगों को शक्ति प्राप्त कराता हुआ उनकी शोभा का कारण बनता है।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

शतवानः इन्दुः

सोमः पुनानो अव्यये वारे शिशुर्न क्रीळन्पवमानो अक्षाः। सहस्रधारः शतवाज इन्दुः॥ १०॥

सोमः=सोम **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **अव्यये**=(अवि अय्) विषय वासनाओं में न भटकनेवाले **वारे**=द्वेष आदि का निवारण करनेवाले में **शिशुः न**=बुद्धि को तीव्र करनेवाले के समान **क्रीडन्**=क्रीडा करता हुआ, सब कार्यों को क्रीडक की मनोवृत्ति से कराता हुआ **अक्षाः**=व्याप्त होता है। सोमरक्षण के लिये हमें अव्यय व वार बनना है। सुरक्षित हुआ-हुआ यह हमें तीव्र

बुद्धि व क्रीडक की मनोवृत्ति वाला बनाएगा। हम संसार की द्वन्द्वात्मक घटानाओं में अव्याकुल होकर चल सकेंगे। **पवमानः**=यह पवित्र करता हुआ सोम **सहस्राधारः**=हमें हजारों प्रकार से धारण करता है। **शतवाजः**=सौ वर्ष के पूर्ण आयुष्यपर्यन्त शक्तिशाली बनायें रखता है और **इन्दुः**=शक्तिशाली होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम बुद्धि को तीव्र करता है, हमें क्रीडक की मनोवृत्ति वाला बनाता है, पूर्ण आयुष्यपर्यन्त शक्तिशाली बनाये रखता है।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वरिवोवित् वयोधाः

एष पुनानो मधुमाँ ऋतावेन्द्रायेन्दुः पवते स्वादुरूर्मिः। वाजसनिर्वरिवोविद्वयोधाः॥ ११॥

एषः=यह **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ (पूयमानः) **इन्दुः**=सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **पवते**=प्राप्त होता है। यह **मधुमान्**=प्रशस्त माधुर्य वाला है, जीवन के सब व्यवहारों में माधुर्य का सञ्चार करता है। और **ऋतावा**=ऋतवाला होता है, हमारे जीवन से अनृत को दूर करता है। **स्वादुः**=यह हमारे लिये जीवन को सरस बनाता है और **ऊर्मिः**=हमारे लिये 'प्रकाश' बनता है। यह सुरक्षित सोम ही हृदय को पवित्र करके अन्तःस्थित प्रभु के प्रकाश को प्राप्त कराता है। बुद्धि को तीव्र करके भी यह ज्ञान के प्रकाश का साधन बनता है। **वाजसनिः**=यह शक्ति को देता है। **वरिवः वित्**=सब कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त कराता है और **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन का धारण कराता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष में सुरक्षित हुआ-हुआ सोम 'माधुर्य, ऋत, आनन्द, प्रकाश, शक्ति, ऐश्वर्य व दीर्घ उत्कृष्ट जीवन' को सिद्ध करता है।

ऋषिः—**त्र्यरुणत्रसदस्यू**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सहमानः स्वायुधः

स पवस्व सहमानः पृतन्यून्त्सेधन्रक्षांस्यप दुर्गहाणि। स्वायुधः सासह्वान्त्सोम शत्रून्॥ १२॥

हे **सोम**=वीर्य! **सः**=वह तू **पवस्व**=हमें प्राप्त हो। **पृतन्यून्**=आक्रान्त शत्रुओं को **सहमानः**=कुचलता हुआ, तू **दुर्गहाणि**=जिनका निग्रह बड़ा कठिन है, ऐसे **रक्षांसि**=राक्षसी भावों को **अपसेधन्**=हमारे से दूर भगाता है। **स्वायुधः**=तू इस जीवन संग्राम के 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप उत्तम आयुधों वाला है। इन आयुधों के द्वारा तू **शत्रून्**=काम-क्रोध व लोभ रूप शत्रुओं को **सासह्वान्**=खूब ही कुचल डालता है। प्रशस्त इन्द्रियाँ काम के वशीभूत नहीं होती। निर्मल मन को क्रोध अशान्त नहीं कर पाता तथा तीक्ष्ण बुद्धि लोभ का शिकार नहीं हो जाती।

भावार्थ—सोम हमें प्राप्त होता है तो हमारे शत्रुओं को कुचल डालता है।

'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों को प्रशस्त बनाता है उत्तम आयुधों वाला यह पुरुष 'अत्रानित' होता है, शत्रुओं से नत नहीं किया जाता। तथा सोमरक्षण के द्वारा अंग-प्रत्यंग में, पर्व-पर्व में शक्ति वाला 'पारुच्छेपि' बनता है। यह सोम शंसन करता हुआ कहता है—

[१११] एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अनानतः पारुच्छेपिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृदष्टिः** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

विश्वा द्वेषांसि तरति

अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः
सूरो न स्वयुग्वभिः । धारा सुतस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः ।
विश्वा यद्रूपा परियात्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः ॥ १ ॥

यह सोम **अया**=(अनया) अपनी इस **हरिण्या**=अज्ञानान्धकारों का हरण करनेवाली **रुचा**=दीप्ति से **पुनानः**=हमारे जीवनों को पवित्र करता हुआ **स्वयुग्वभिः**=आत्मतत्त्व के साथ मेल वाली चित्तवृत्तियों के द्वारा **विश्वा द्वेषांसि**=सब द्वेष की भावनाओं को **तरति**=तैर जाता है। **सूरः न**=सूर्य के समान यह हमारे जीवन में ज्ञान के प्रकाश को करता हुआ सोम **स्वयुग्वभिः**=आत्मा के साथ मेल वाली इन्द्रियों से द्वेष की भावनाओं से पार हो आता है। वैषयिक रुचि वाली इन्द्रियाँ ही पारस्परिक द्वेष को उपजाती हैं। **सुतस्य**=शरीर में उत्पन्न किये गये इस सोम की **धारा**=धारण शक्ति **रोचते**=हमारे जीवन में दीप्त होती है। यह **पुनानः**=पवित्र करता हुआ सोम **अरुषः**=(अ+रुष) क्रोध शून्य होता है और **हरिः**=हमारे सब कष्टों व रोगों का हरण करता है। ऐसा यह तब करता है **यत्**=जब कि **ऋक्वभिः**=(ऋच् स्तुतौ) ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभुस्तवन होने पर **विश्वा रूपा परियाति**=सब सौन्दर्यों को (रूप=beauty) सर्वतः प्राप्त होता है। **सप्तास्येभिः**=‘कर्णाविमौ नसिके चक्षणी मुखम्’ इन सातों मुख रूप इन्द्रियों से **ऋक्वभिः**‘ ’ज्ञानपूर्वक स्तुतियों के होने पर शरीर में सुरक्षित सोम सब अंगों को सशक्त बनाकर सौन्दर्य प्रदान करता है।

भावार्थ—इन्द्रिय संयम के द्वारा आत्मतत्त्व के साथ मेल वाली इन्द्रियों से तथा ज्ञानपूर्वक साधन करती हुई इन्द्रियों से शरीर में सुरक्षित हुआ हुआ सोम हमें अपनी मलहारिणी कान्ति से पवित्र करता है और द्वेषों से दूर करता है।

ऋषिः—**अनानतः पारुच्छेपिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**भुरिगष्टिः** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

रोचमानः वयो दधे

त्वं त्यत्पणीनां विदो वसु सं मातृभिर्मर्जयसि स्व आ दम
ऋतस्य धीतिभिर्दमे । परावतो न साम तद्यत्रा रणन्ति धीतयः ।
त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥ २ ॥

हे सोम! **त्वम्**=तू **त्यत्**=उस प्रसिद्ध **वसु**=जीवन धन को, निवास के लिये आवश्यक तत्त्व को **पणीनाम्**=(पण व्यवहारे स्तुतौ च) प्रभुस्मरण पूर्वक सब व्यवहारों के करनेवाले पुरुषों को **विदः**=प्राप्त करता है। **स्वे**=अपने इस **दमे**=शरीर रूप गृह में **मातृभिः**=इन वेदमाता के ज्ञानदुग्धों के द्वारा **आ सम्मर्जयसि**=चारों ओर सम्यक् शोधन को करता है। सोमरक्षण से ज्ञानदीप्ति होकर हमारे सब व्यवहारों में शुद्धि आ जाती है। **दमे**=इस शरीरगृह में **ऋतस्य धीतिभिः**=ऋत के सत्यज्ञान व यज्ञादि उत्तम कर्मों के धारण से तू शोधन को करता है। सुरक्षित सोम हमें ज्ञानदीप्त करता है और हमारी यज्ञादि कर्मों में रुचि को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह सोम ऋतधारण के द्वारा हमें शुद्ध करता है। **तद्**=सो **न**=अब (नः संप्रति) **यत्र**=जहाँ जिस शरीरगृह में **धीतयः**=इस सोम का धारण करनेवाले **साम रणन्ति**=प्रभु के स्तुति मन्त्रों का गायन करते हैं, वहाँ यह सोम **त्रिधातुभिः**=‘इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि’ इन तीनों का धारण करनेवाली

अरुषीभिः=आरोचमान इन ज्ञानवाणियों से **वयः दधे**=उत्कृष्ट जीवन को हमारे में स्थापित करता है। **रोचमानः**=कान्ति को धारण करता हुआ यह सोम **वयः दधे**=उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कराता है। (यहाँ 'त्रिधातुभिः' का अर्थ 'प्रकृति, जीव व परमात्मा के ज्ञान को धारण करनेवाली' भी हो सकता है।)

भावार्थ—सोम प्रभुस्तवन पूर्वक व्यवहार करने वालों को वसु प्राप्त कराता है। ज्ञानवाणियों से व ऋतु के धारण से जीवन को शुद्ध बनाता है। प्रभुस्तवन करने वालों की इन्द्रियों, मन व बुद्धि को दीप्त करता हुआ उत्कृष्ठ दीर्घ जीवन का स्थापन करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**अनानतः पारुच्छेपिः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**अष्टिः** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

चेकितत् सं रश्मिभिर्यतते

पूर्वामनु प्रदिशं याति चेकितत्सं रश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो
दैव्यो दर्शतो रथः। अग्मन्नुक्थानि पौंस्येन्द्रं जैत्राय हर्षयन्।
वज्रश्च यद्भवथो अनपच्युता समत्स्वनपच्युता ॥ ३ ॥

गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षण करनेवाला पुरुष **पूर्वां प्रदिशं अनु**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये प्रकृष्ट ज्ञान के अनुसार उत्कृष्ट निर्देशों के अनुसार यह **चेकितत्**=ज्ञानी पुरुष **याति**=गति करता है। **रश्मिभिः**=सूर्य किरणों के साथ ही **संयतते**=पुरुषार्थ के कामों में प्रवृत्त हो जाता है। इसीलिये (क्योंकि यह ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगा रहता है) **दर्शतः रथः**=इसका शरीररथ दर्शनीय होता है। **दैव्यः दर्शतः रथः**=इसका यह दर्शनीय रथ उस देव (प्रभु) की ओर ले जानेवाला होता है। **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **पौंस्या**=अत्यन्त पौरुष से युक्त **उक्थानि**=स्तोत्र **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। यह इन्द्र प्रभु स्तोत्रों का उच्चारण करता है और पौरुष में प्रवृत रहता है। ये पौंस्य उक्थ जैत्राय=सदा विजय के लिये होते हैं और उस जितेन्द्रिय पुरुष को **हर्षयन्**=प्रसन्न करते हैं। हे घरों में रहनेवाले दम्पतियो! आप **यत्**=जब इन पौंस्य उक्थों को प्राप्त करते हो, **च**=और **वज्रः**=(वज गतौ) क्रियाशीलता रूप वज्र का ग्रहण करते हो तो **अनपच्युता**=कभी मार्ग से च्युत न होनेवाले **भवथः**=होते हो। **समत्सु**=इन जीवन संग्रामों में काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं से आप **अनपच्युता**=च्युत नहीं किये जाते। संग्राम में विजयी बनकर आप प्रभु को प्राप्त करते हो।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष प्रभु के निर्देशों के अनुसार सूर्योदय से ही कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। इसका शरीर रथ दर्शनीय बनता है और इसे प्रभु की ओर ले चलता है। इसे पुरुषार्थ युक्त स्तोत्र प्राप्त होते हैं। यह विजयी बनता है। घर में क्रियाशीलता रूप वज्र को धारण करनेवाले लोग जीवन संग्रामों में मार्गभ्रष्ट नहीं होते, शत्रुओं से पराजित नहीं होते।

यह संग्राम में अनपच्युत व्यक्ति 'शिशु' तीव्र बुद्धि वाला होता है (श्यो तनूकरणे) तथा आंगिरसः=अंग-प्रत्यंग में रस वाला होता है। यह पवमान सोम का शंसन करते हुए कहता है—

[११२] द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**शिशुः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोम की कामना

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम् ।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ १ ॥

इस संसार में **वा उ**=निश्चय से **नः धियः**=हमारी बुद्धियाँ **नानानम्**=नाना प्रकार की हैं। **जनानाम्**=लोगों के **व्रतानि**=कर्म भी **वि**=विविध प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ **तक्षा**=बढ़ई

रिष्टम्=गाड़ी की टूट-फूट को **इच्छति**=चाहता है। जिससे उसकी मरम्मत करके वह अपनी जीविका का उपार्जन करे। **भिषग्**=वैद्य **रुतम्**=रोग को चाहता है कि उसे इलाज का अवसर प्राप्त हो। **ब्रह्मा**=ऋत्विजों का अधिष्ठाता मुख्य ऋत्विज **सुन्वन्तम्**=यज्ञशील पुरुष को चाहता है कि उसे यज्ञ कराने का अवसर प्राप्त हो। इसी प्रकार हे **इन्दो**=शक्तिशाली सोम! तू **इन्द्राय परिस्त्रव**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये प्राप्त हो। सोम जितेन्द्रिय पुरुष की कामना करता है। मानो सोम कहता है कि यह जितेन्द्रिय ही मेरा रक्षण करेगा। रक्षित सोम तक्षा की तरह शरीररथ की टूट-फूट की मरम्मत करेगा। यह (वैद्य) की तरह रोगों को दूर करेगा। तथा ब्रह्मा की तरह हमारे जीवनयज्ञ का सुन्दर सञ्चालन करेगा। यही बुद्धियों व व्रतों का रक्षण करेगा।

भावार्थ—लोगों के विविध ज्ञानों व कर्मों को सिद्ध करनेवाला यह सोम है। यह शरीररथ टूट-फूट की मरम्मत करता है, रोगों का इलाज करता है और जीवनयज्ञ को सुन्दरता से चलाता है।

ऋषिः—**शिशुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

ओषधियाँ, पर्णभस्म व युक्ताभस्म

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम्।
कार्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्त्रव॥ २॥

जरतीभिः ओषधीभिः=परिपक्व व रोगों को जीर्ण करनेवाली ओषधियों से, **शकुनानां पर्णेभिः**=पक्षियों के पंखों से तथा **द्युभिः अश्मभिः**=ज्योतिर्मय पाषाणों से (हीरों) **कार्मारः**=क्रियाकुशल व्यक्ति **हिरण्यवन्तम्**=धनवाले पुरुष को **इच्छति**=चाहता है, इनके विक्रय के द्वारा वह अपने को धनी बनाना चाहता है। हे **इन्दो**=शक्तिशाली सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्त्रव**=प्राप्त हो। जैसे वे हिरण्यवान् पुरुष को चाहते हैं, तू इस जितेन्द्रिय की कामना कर। शरीर में कभी रोग आदि आ जाते हैं और सामान्यतः मनुष्य ओषधियों के प्रयोग से, पक्षियों के पंखों की भस्म बनाकर व मुक्ताभस्म आदि के द्वारा अपने को नीरोग बनाने की कामना करता है, इन से ही वह अपने को शक्तिशाली बनाना चाहता है। परन्तु सर्वोत्तम उपाय इस सोम का रक्षण ही है। इसके लिये हम जितेन्द्रिय बनें। यह जितेन्द्रियता सोमरक्षण द्वारा हमारे सब रोगों को विशेषरूप से कम्पित करके दूर करनेवाली होगी, यह तो है ही 'वीर्य' (वि+ईर) विशेष रूप से रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाला।

भावार्थ—हम ओषधियों, पर्णभस्म व मुक्ताभस्मों के प्रयोग से रोगों को दूर करने की अपेक्षा शरीर में सोम (वीर्य) का धारण करें। इसे ही सर्वोत्तम औषध जानें।

ऋषिः—**शिशुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

कार्यक्षमता

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गाइव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्त्रव॥ ३॥

अहं कारुः=मैं स्वयं शिल्पी हूँ। **ततः**=मेरे पिता **भिषग्**=वैद्य हैं। **नना**=माता **उपलप्रक्षिणी**=(उपलभ्यां प्रक्षिणोति धान्यादि), सत्तू को बनाती है, धान्यों को ठीकठाक करके सत्तु आदि का निर्माण करती है। इस प्रकार **नानाधियः**=विभिन्न कर्मों वाले होकर हम **वसूयवः**=वसुओं की कामना वाले होते हैं। इन सब कर्मों को हम **गाः इव**=ज्ञान की वाणियों व इन्द्रियों के अनुसार **अनु तस्थिम**=अनुष्ठित करते हैं। इस ज्ञान व इन्द्रियों की शक्ति के वर्धन के लिये हे **इन्दो**=सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्त्रव**=प्राप्त हो, शरीर में चारों ओर गतिवाला हो। तेरे से

सशक्त बनकर ही तो हम उन सब कार्यों को कर पायें।

भावार्थ—सोमरक्षण ही हमें ज्ञान व इन्द्रियों के बल को बढ़ाकर, उस-उस कार्य को कर सकने की क्षमता प्रदान करता है।

ऋषिः—**शिशुः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वाः इत् मण्डूक इच्छति

अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः।
शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ४॥

वोढा अश्वः=रथ का वहन करनेवाला घोड़ा **सुखं रथम्**=आराम देनेवाले अच्छे रथ को **इच्छति**=चाहता है। **उपमंत्रिणः**=निमन्त्रण दाता पुरुष **हसनाम्**=निमन्त्रित पुरुष की प्रसन्नता व हास्य को चाहते हैं, वे किसी भी प्रकार उसे क्रुद्ध नहीं होने देना चाहते। **शेपः**=पुंस्प्रजनन **रोमण्वन्तौ भेदौ**=लोमयुक्त दो खण्डों, अर्थात् युवति को चाहता है। **मण्डूकः**=मेंढक **इत्**=निश्चय से **वाः**=जल को चाहता है। हे **इन्दो**=शक्ति को देनेवाले सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=परिस्रुत हो। तेरे द्वारा ही कर्मों में व्याप्त होनेवाले (अश्व) पुरुष का यह शरीररथ **सुखः**=उत्तम इन्द्रियों वाला (सु+ख) बनेगा। तू ही विचारशील (उपमन्त्री) पुरुषों के जीवन को आनन्दमय बनायेगा। तू ही एक शक्तिशाली पुरुष को उत्तम सन्तान की प्राप्ति की कामना वाला करेगा। तू ही जीवन को सद्गुणों से मण्डित करनेवाले पुरुष के लिये (मण्डूक) वरणीय शक्ति को प्राप्त करानेवाला होगा।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीररथ को उत्तम बनाता है। जीवन को विचारशील व आनन्दमय बनाता है, उत्तम सन्तति को जन्म देने की योग्यता देता है, जीवन को सद्गुणों से मण्डित करने के लिये वरणीय शक्ति को प्राप्त कराता है।

सोमरक्षण के द्वारा तीव्र बुद्धि वाला यह व्यक्ति 'कश्यप'-पश्यक होता है, वस्तुओं के तत्त्व का द्रष्टा। यह 'मरीचः' होता है, सब वासनाओं को मारनेवाला। यह सोम शंसन करता हुआ कहता है—

[११३] त्रयोदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

बलं दधानः आत्मनि

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन्वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ १॥

(शर्यणा=हिंसा) **शर्यणावति**=इस जीवन में, जिसमें कि निरन्तर रोगों व काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हिंसन चल रहा है, **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे। सोम का पान करता हुआ यह **वृत्रहा**=इस ज्ञान पर आवरणभूत काम आदि शत्रुओं का संहार करनेवाला होगा। **आत्मनि**=अपने में **बलं दधानः**=बल को धारण करता हुआ यह **महत् वीर्यं करिष्यन्**=महान् पराक्रम के कार्यों को करनेवाला होगा। सो, हे **इन्दो**=सोम! तू **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=परिस्रुत हो। यह जितेन्द्रिय पुरुष तुझे प्राप्त करके इस जीवन संग्राम में शत्रुओं की शर्यणा (हिंसा) कर सके।

भावार्थ—जीवन संग्राम में सोम ही हमें विजयी बनाता है। इसका रक्षण हमें बल देता है

और हम महान् पराक्रम के कार्यों को कर पाते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋतवाकेन श्रद्धया सत्येन तपसा

आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात्सोम मीढ्वः ।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ २ ॥

हे **दिशांपते**=शास्त्र निर्देशों का रक्षण करनेवाले, अर्थात् शास्त्र निर्दिष्ट मार्ग से जीवन को प्रणीत करनेवाले, और इस प्रकार **मीढ्वः**=शक्ति का सेचन करनेवाले **सोम**=वीर्यशक्ते! तू **आर्जीकात्**=(ऋजीकस्य अयम्, ऋजीक=इन्द्र) इन्द्रलोक की प्राप्ति के हेतु से **आपवस्व**=हमें प्राप्त हो। तेरे द्वारा ही इन्द्रलोक की प्राप्ति का सम्भव हैं। **ऋतवाकेन**=सत्य वेदज्ञान के उच्चारण से, **सत्येन**=सत्य से, **श्रद्धया**=श्रद्धा से तथा **तपसा**=तप से **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ तू हे **इन्दो**=सोम! **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में परिस्रुत हो। सोमरक्षण के लिये 'ज्ञान की वाणियों का उच्चारण, अर्थात् स्वाध्याय, सत्य व्यवहार, श्रद्धा, व तप' साधन बनते हैं। सुरक्षित सोम हमारे जीवनों को शास्त्र निर्देश के अनुसार बनाता है, यह हमें शक्ति सम्पन्न बनाता हुआ प्रभु को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये 'स्वाध्याय, सत्य, श्रद्धा व तप' साधन हैं। सुरक्षित सोम इहलोक के जीवन को शास्त्र मर्यादा से बद्ध बनाता है और प्रभु की प्राप्ति का साधन होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन्

पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत् ।
तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन्तं सोमे रसमादधुरिन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ३ ॥

(पर्जन्यो वा उद्गाता श० १२।१।१।३) **पर्जन्यवृद्धम्**=उद्गाता के द्वारा जिसका वर्धन किया जाता है, प्रभु गुणगान करनेवाले से जिसका उत्कर्ष प्रतिपादित किया जाता है **तम्**=उस **महिषम्**=पूज्य प्रभु को **सूर्यस्य दुहिता**=उस प्रकाशमय प्रभु की पुत्री यह वेदवाणी **अभरत्**=हमारे अन्दर प्राप्त करती है। जब हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञान का वर्धन करते हैं तो उस प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। **तम्**=उस प्रभु को **गन्धर्वाः**=(गां धारयति) ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुष **प्रत्यगृभ्णन्**=ग्रहण करते हैं। सूर्य दुहिता, अर्थात् वेदवाणी के द्वारा, ये गन्धर्व प्रभु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। **तं रसम्**=उस आनन्दमय प्रभु को (रसो वैसः) **सोमे**=सोम के सुरक्षित होने पर **आदधुः**=अपने हृदयों में स्थापित करते हैं। सो हे **इन्दो**=सोम! तू **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो। तेरे द्वारा ही ज्ञानाग्नि का वर्धन होगा। जिस ज्ञानाग्नि से हम प्रभु के दर्शन के लिये अपने हृदयों को पवित्र कर पायेंगे।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये वेदवाणी, इसके धारण के द्वारा ज्ञानधारण, तथा सोमरक्षण साधन बनते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋत-सत्य-श्रद्धा

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् ।
श्रद्धां वदन्त्सोम राजन्धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ४ ॥

हे **ऋतद्युम्न**=सत्य ज्ञानवाले, सत्य ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले, सोम! तू **ऋतं वदन्**=हमारे जीवनों में ऋत को उच्चारित करता है। सोम के रक्षण से सत्य ज्ञान की उत्पत्ति होकर जीवन सत्यमय बन जाता है। हे **सत्यकर्मन्**=सत्य कमो4 वाले, सब क्रियाओं से असत्य को दूर करनेवाले, सोम! तू **सत्यं वदन्**=हमारे जीवनों में सत्य का ही उच्चारण करता है। क्रियाओं को नियमपूर्वक करना 'ऋत' है, और उत्तम क्रियाओं को करना ही 'सत्य' है। हे **राजन्**=जीवनों को दीप्त करनेवाले **सोम**=सोम! तू **श्रद्धां वदन्**=हमारे जीवनों में श्रद्धा को कहनेवाला हो, हमारे जीवनों को श्रद्धामय बना। हमें उस प्रभु में पूर्ण आस्था है। हे **सोम**=सोम! तू **धात्रा**=उस प्रभु के द्वारा, प्रभु स्मरण के द्वारा **परिष्कृतः**=निर्मल किया जाता है। प्रभु स्मरण हमें वासनाओं से बचाता है, और इस प्रकार सोम निर्मल बना रहता है। हे **इन्दो**=निर्मल सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो। तेरे इस शरीर में धारण के होने पर ही हमारा जीवन 'ऋत, सत्य व श्रद्धा' वाला बन पाएगा।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें सत्य ज्ञान वाला, सत्य कर्मों वाला व श्रद्धामय बनाता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

'सत्यमुग्र बृहत्' सोम

स॒त्यमु॑ग्रस्य बृ॒ह॒तः सं स्र॑वन्ति संस्र॒वाः ।
सं य॑न्ति र॒सिनो॒ रसाः॑ पुना॒नो ब्रह्म॑णा हर॒ इन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑ स्रव ॥ ५ ॥

(सत्यं यथार्थभूतं उद्गूर्णं बलं यस्य) **सत्यमुग्रस्य**=यथार्थभूत उद्गूर्ण (अवृद्ध) बल वाले, **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत सोम के **संस्रवः**=प्रवाह **संस्रवन्ति**=शरीर में सम्यक् स्रुत होते हैं। **रसिनः**=जीवन में रस का सञ्चार करनेवाले इस सोम के **रसाः**=रस (आनन्द) **संयन्ति**=हमें प्राप्त होते हैं। सुरक्षित सोम 'बल, वृद्धि व रस' का हेतु होता है। हे **हरे**=सब दुःखों का हरण करनेवाले **इन्दो**=सोम! तू **ब्रह्मणा**=ज्ञान की वाणियों द्वारा **पुनानः**=पवित्र किया जाता हुआ **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो।

भावार्थ—'स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्ति में लगना' सोम की पवित्रता का जनक होता है। पवित्र सोम 'बल, वृद्धि व रस' का साधक होता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

महत्वपूर्ण आनन्दमय जीवन

यत्र॑ ब्र॒ह्मा प॑वमान छन्द॒स्यां॒३ वाचं॒ वद॑न् ।
ग्राव्णा॒ सोमे॑ मही॒यते॒ सोमे॑नान॒न्दं ज॒नय॒न्निन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑ स्रव ॥ ६ ॥

हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **यत्र**=जिस शरीर में स्थित होकर **ब्रह्मा**=वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **छन्दस्यां वाचं**=इस सप्त छन्दोमयी वेदवाणी को **वदन्**=उच्चारित करता है। वहाँ **ग्राव्णा**=(प्राणा वै ग्रावा श० १४।२।२।३३) प्राणों के द्वारा **सोमे**=सोम के सुरक्षित होने पर **महीयते**=महिमा का अनुभव करता है। प्राणायाम के द्वारा सोम की ऊर्ध्वगति होती है। इस ऊर्ध्वगति के द्वारा शरीर पूर्ण नीरोगता वाला होता है। इस प्रकार सोमरक्षक पुरुष महिमा का अनुभव करता है। यह ब्रह्मा ज्ञानवाणियों में लगे रहकर **सोमेन**=सुरक्षित सोम के द्वारा **आनन्दं जनयन्**=जीवन में आनन्द को उत्पन्न करता है। हे **इन्दो**=सोम तू **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो।

भावार्थ—स्वाध्याय व प्राणसाधना द्वारा सोमरक्षण होता है, सुरक्षित सोम हमें महत्त्वपूर्ण आनन्दमय जीवन वाला बनाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अमृतत्व-अक्षितत्व-ज्योति-स्वः

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ७ ॥

हे **पवमान**=पवित्र करनेवाले सोम! **माम्**=मुझे **तस्मिन्**=उस **अमृते**=मृत्यु व रोगों से रहित **अक्षिते**=शक्ति क्षय से शून्य **लोके**=लोकालोक में **धेहि**=स्थापित कर, मुझे उस स्थिति में प्राप्त करा **यत्र**=जहाँ **अजस्रं ज्योतिः**=निरन्तर प्रकाश ही प्रकाश है तथा **यस्मिन् लोके**=जिस लोक में **स्वः हितम्**=सुख ही सुख की स्थापना है। सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हमें नीरोगता, अक्षीणशक्तिता, ज्योति व सुख= को प्राप्त कराता है, हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो। शरीर में व्याप्त होकर तू इस शरीर लोक को मन्त्र के शब्दों में 'अमृत, अक्षित, अजस्र ज्योतिवाला व स्वः सम्पन्न' बनाता है।

भावार्थ—हे सोम! मृत्यु और रोगों से बचाकर अमृत्व प्रदान कर।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मर्यादा-ज्ञान-शक्ति

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ८ ॥

हे **इन्दो**=सोम! **माम्**=मुझे **तत्र**=उस लोक में **अमृतं कृधि**=अमर (नीरोग) बना, **यत्र**=जहाँ **वैवस्वतः**=विवस्वान् का पुत्र (विवस्=ज्ञान किरणें) अतिशय ज्ञान सम्पन्न पुरुष **राजा**=शासक है, जीवन को बड़ा व्यवस्थित बनानेवाला है। और **यत्र**=जहाँ **दिवः अवरोधनम्**=ज्ञान का अवरोधन-प्रवेश है। 'अवरोध' शब्द अन्तःपुर के लिये प्रयुक्त होता है। सो जहाँ ज्ञान के देवताओं का ही स्थान है। तथा **यत्र**=जहाँ **अमूः**=वे **यह्वतीः**=महान् **आपः**=रेतःकण रूप जलों का स्थान है। सोमरक्षण ज्ञान वृद्धि के द्वारा जीवन को व्यवस्थित कर देता है, ज्ञान का तो यह अन्तःपुर ही बन जाता है, महत्त्वपूर्ण रेतःकणों को शरीर में व्याप्त करके यह सोमरक्षण हमें अमृतत्व प्राप्त कराता है। सो, हे **इन्दो**=सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=परिस्रुत हो, शरीर में चारों ओर व्याप्त होनेवाला हो। शरीर में व्याप्त होकर ही तू हमारे इस शरीर को अमृत बनाएगा।

भावार्थ—सोमरक्षण से शरीर व्यवस्थित ज्ञान सम्पन्न व नीरोग बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

त्रिनाके त्रिदिवे (ब्रह्मलोके)

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ९ ॥

मोक्ष में आत्मा ब्रह्म के साथ स्वतन्त्रता पूर्वक विचरता है। इस मोक्ष लोक में यह सोम ही

तो हमें पहुँचाता है। जीवन्मुक्त पुरुष शरीर में होता हुआ भी इसी ब्रह्मलोक में ही मानो विचरण कर रहा होता है, यह इसकी 'ब्राह्मी स्थिति' कहलाती है। हे सोम! **माम्**=मुझे **तत्र**=वहाँ **अमृतम्**=विषयों के पीछे न मरनेवाला, विषयों से उपराम **कृधि**=कर, **यत्र**=जहाँ कि **लोकाः**=लोक **ज्योतिष्मन्तः**=ज्योति वाले हैं, जहाँ अज्ञानान्धकार का विलोप हो गया है। और **यत्र**=जहाँ विषयों से बद्ध न होने के कारण **अनुकामं चरणम्**=इच्छापूर्ण का स्वतन्त्रता के साथ विचरण होता है। उस **दिवः**=प्रकाशमय प्रभु के **त्रिनाके**=तृतीय आनन्दमय लोक के निमित्त (यत्र देवा अमृतम् आनशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त) **त्रिदिवे**=जिसमें 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' तीनों ही प्रकाशमय हैं, उस लोक की प्राप्ति के निमित्त, हे **इन्दो**=सोम! **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्त्रव**=परिस्रुत हो। सोम की व्याप्ति ही उस 'त्रिनाक त्रिदिव' लोकों प्राप्त करानेवाली होती हैं। वहाँ पहुँचकर आनन्द ही आनन्द होता है, निर्द्वन्द्व स्थिति होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त कराएगा। इसके द्वारा हम 'त्रिनाक त्रिदिव' लोक में स्वतान्त्रतापूर्वक विचरण करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्वधा च यत्र तृप्तिश्च

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् ।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ १० ॥

हे **इन्दो**=सोम! **माम्**=मुझे **तत्र**=वहाँ **अमृतं कृधि**=पूर्ण नीरोग स्थिति प्राप्त करा, **यत्र**=जहाँ कि **कामाः**=ये सारे सांसारिक काम्य विषय **निकामाः**=निकाम हो जाते हैं, नीचे दब जाते हैं। इनसे ऊपर उठकर के जब हम कामकामी न रहकर वास्तविक शान्ति को प्राप्त करते हैं। **च**=और **यत्र**=जहाँ **ब्रध्नस्य**=उस महान् आदित्यवर्ण प्रभु का **विष्टपम्**=देदीप्यमान लोक है। इन कामनाओं से ऊपर उठकर जहाँ हम प्रभु में ही विचरण करते हैं। **च**= और हे सोम! तू मुझे वहाँ अमृत कर **यत्र**=जहाँ कि **स्वधा**=आत्मतत्त्व का धारण होता है **च**=और **तृप्तिः**=वास्तविक तृप्ति का अनुभव होता है, जहाँ हम 'आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्मतृप्त' बनते हैं (यत्र चात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते)। हे सोम! इस स्थिति में प्राप्त कराने के लिये तू **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्त्रव**=शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें सांसारिक काम्य पादर्थों की कामना से ऊपर उठाता है, ब्रह्मलोक में पहुँचाता है, आत्मरति, आत्मतृप्त बनाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**पवमानः सोमः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कामस्य यत्राप्ताः कामाः

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ११ ॥

हे **इन्दो**=सोम! **माम्**=मुझे **तत्र**=वहाँ **अमृतं कृधि**=अमृतत्त्व प्राप्त करा **यत्र**=जहाँ कि **आनन्दाः च मोदाः च**=समस्त समृद्धियाँ व हर्ष हैं। प्रभु की प्राप्ति ही सर्वमहान् समृद्धि है, इस समृद्धि में ही वास्तविक हर्ष है। जहाँ **मुदः प्रमुदः**=मोद 'प्रमोद' रूप से **आसते**=स्थित होते हैं। अर्थात् जहाँ आनन्द का मापक बहुत ऊँचा हो जाता है। **यत्र**=जहाँ **कामस्य**=इच्छा के **कामाः**=सब इष्ट विषय **आप्ताः**=प्राप्त हो जाते हैं, जहाँ प्रभु प्राप्ति के होने पर सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। उस मोक्षलोक में मुझे अमर बना। इस अमृतत्त्व को प्राप्त कराने के लिये हे **इन्दो**=सोम! तू

इन्द्राय=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=परिस्रुत हो।

भावार्थ—सोमरक्षण ही हमें ब्रह्मलोक को प्राप्त करानेवाला होगा। तत्त्वद्रष्टा 'कश्यप मारीच' ही अगले सूक्त में प्रार्थना करते हैं—

[११४] चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सुप्रजाः

य इन्दो॒ पव॑मान॒स्यानु॒ धामा॒न्यक्र॑मीत्।
तमा॑हुः सु॒प्र॒जा इति॒ यस्ते॒ सो॒मावि॑ध॒न्मन॒ इन्द्रा॒येन्दो॒ परि॑ स्रव॥ १॥

यः=जो **सोम**=हे सोम! **पवमानस्य**=पवित्र करनेवाले **इन्दोः**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम ये तेरे **धामानि**=तेजों को **अनु अक्रमीत्**=अनुक्रमेण प्राप्त करता है, **तम्**=उसी को '**सुप्रजाः**'=शोभन प्रजा वाला व उत्तम विकास वाला **इति**=इस प्रकार **आहुः**=कहते हैं। सोम को सुरक्षित करके सोम के तेजों को धारण करनेवाला पुरुष ही 'सुप्रजा' बनता है। हे **इन्दो**=सोम! **यः**=जो **ते**=तेरी प्राप्ति के लिये **मनः अविधत्**=मन को, दृढ़संकल्प को करता है उस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=तू शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो। तूने ही शरीर में व्याप्त होकर सब शक्तियों का सम्यक् विकास करना है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये हम दृढ़संकल्प वाले बनें। इस सोम की शक्तियों को धारण करते हुए ही हम 'सुप्रजा' बन पायेंगे।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

यो जज्ञे वीरुधां पतिः

ऋषे॑ मन्त्र॒कृतां॒ स्तोमैः॒ कश्य॑पोद्व॒र्धय॒न्गिरः॑।
सोमं॑ नमस्य॒ राजा॑नं॒ यो ज॒ज्ञे वी॒रुधां॒ पति॒रिन्द्रा॒येन्दो॒ परि॑ स्रव॥ २॥

हे **ऋषे**=तत्त्वद्रष्टः **कश्यप**=ज्ञानी पुरुष! तू **मन्त्रकृताम्**=विचार को करनेवाले (तज्जपः, तदर्थभावनम्) अर्थभावनवर्धक नाम जप को करनेवाले पुरुषों के **स्तोमैः**=स्तुतिसमूहों के साथ **गिरः उद्वर्धयन्**=ज्ञान की वाणियों को बढ़ाता हुआ **राजानम्**=जीवन को दीप्त करनेवाले **सोमम्**=सोम को **नमस्य**=पूज। यह सोम ही तुझे 'ऋषि कश्यप' बनायेगा। यही तेरे में स्तवन व ज्ञान का वर्धन करेगा। हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **यः**=जो तू **वीरुधाम्**=सब वनस्पतियों का वनस्पतियों के तुल्य इस पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाली प्रजाओं का (सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः) **पतिः**=रक्षक **जज्ञे**=होता है, वह तू **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें स्तोता व ज्ञानी बनाता है, यह हमारा रक्षण करता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सप्त 'दिशः—होतारः—देवाः'

स॒प्त दिशो॒ नाना॑सूर्याः स॒प्त होता॑र ऋ॒त्विजः॑।
दे॒वा आ॑दि॒त्या ये स॒प्त तेभिः॑ सोमा॒भि र॑क्ष न॒ इन्द्रा॒येन्दो॒ परि॑ स्रव॥ ३॥

हे **सोम**=वीर्यशक्ते! जो **नानासूर्याः**=विविध सूर्यों वाली **सप्त दिशः**=सात दिशायें हैं। जो

सप्त=सात **ऋत्विजः**=ऋतु-ऋतु में यज्ञ करनेवाले **होतारः**=होता हैं। तथा **ये**=जो **सप्त**=सात **आदित्याः देवाः**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले देव हैं। **तेभिः**=उनके द्वारा **नः अभिरक्ष**=तू हमारा रक्षण कर। यहाँ 'सप्त दिशः' वस्तुतः वेदोपदिष्ट सात मर्यादायें हैं, ये वेद के मानों सात आदेश हैं। इनके अनुसार हमें भिन्न कार्य करने होते हैं। सो इन्हें 'नानासूर्याः' कहा है। 'सरति इति सूर्यः' इन मर्यादाओं के अनुसार सरण ही 'सूर्य' है। इन मर्यादाओं के पालन से जीवन में सात सूर्यों का उदय होता है इनके अभाव में (seven deadly sins) सात पाप हमें घेर लेते हैं—दर्प (Pride) लोभ (covetousness) काम (Lust) क्रोध (anger) उदरम्भरिता (gluttony) ईर्ष्या (envy) और आलस्य (slachness) इन सात पापों के विपरीत (seven gifts of the holy ghosts) सात दिव्य भावनायें हैं—(wisdom) बुद्धि, विद्या (understanding), शुभ प्रेरणा (counsel) दृढ़ता (fortude) ज्ञान (knowledge) दिव्यता (godliness) प्रभु का भय (fear of the Lord)। इन सात दिव्यभावनाओं को प्राप्त करनेवाला 'सोम' ही है। शरीर में जीवनयज्ञ को चलानेवाले सप्तर्षि व सप्त होता 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' हैं। इन्हें सोम ही शक्ति सम्पन्न बनाता है। 'पाँच प्राण, मन व बुद्धि' ही सात आदित्य देव हैं—ये ही सब अच्छाइयों का ग्रहण करते हैं। इन्हें भी सोम ने ही सबल बनाता है। हे **इन्दो**=सोम! तू **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर गतिवाला हो। तू हमारे जीवन में इन सात दिशाओं, सात होताओं व सात आदित्य देवों को स्थापित करनेवाला बन।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम सात दिव्यगुणों को हमारे में स्थापित करता है। यह जीवन के सप्तर्षियों को सबल बनाता है। पाँचों प्राणों व मन-बुद्धि को यह शक्ति देता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**पवमानः सोमः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

न वासनाएँ, न रोग

यत्ते राजञ्छृतं हविस्तेन सोमाभि रक्ष नः ।
अरातीवा मा नस्तारीन्मो च नः किं चनाममदिन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ४॥

१. हे **राजन्**=जीवन को दीप्त बनानेवाले **सोम**=सोम! (वीर्यशक्ते) **यत्**=जो **ते**=तेरे लिए **हवि**=यज्ञशेष के रूप में पवित्र भोजन **श्रृते**=परिपक्व किया जाता है, **तेन**=उससे **नः अभिरक्ष**=तू हमारा रक्षण करने वाला हो, यज्ञशेष के रूप में सात्त्विक भोजन से उत्पन्न हुआ-हुआ सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। और रक्षित हुआ-हुआ सोम हमारा रक्षक करता है। २. हे सोम! **नः**=तेरे से रक्षित हुए-हुए हम लोगों को **अरातीवा**=(अरातित्वान्) शत्रुत्व की भावनाओं वाली ये वासनाएँ **मा तारीन्**=मत पराभूत करें। हम इन वासनाओं के शिकार न हों। **उ**=और **नः**= हमें **किंचन**=कुछ भी रोग आदि **मा आममत्**=मत हिंसित करें—हम किन्हीं भी व्याधियों से पीड़ित न हों। इसलिए हे **इन्दो**=सोम! तू **इन्द्राय**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **परिस्रव**=शरीर में चारों ओर परिस्रुत हो। शरीर में व्याप्त होकर तू वासनाओं व रोगों से हमें बचानेवाला हो।

भावार्थ—सात्त्विक याज्ञिक भोजन से उत्पन्न सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। यह हमें वासनाओं व रोगों से शिकार नहीं होने देता।

॥ इति नवमं मण्डलम्॥

अथ दशमं मण्डलम्

प्रथमोऽनुवाकः

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—त्रितः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'त्रित आप्त्य'

अग्रे॑ बृ॒हन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वो अ॑स्थान्निर्ज॒गन्वा॒न्तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त्।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ आ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॑न्यप्राः ॥ १ ॥

(१) प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'त्रित आप्त्य' है, जो 'त्रीन् तनोति' शरीर, मन व बुद्धि इन तीनों का विकास करता है अथवा 'त्रीन् तरति'=काम, क्रोध व लोभ तीनों को तैर जाता है और अतएव तीनों 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' कष्टों से भी पार हो जाता है वह 'त्रित' सब अशिवों को इसी पार छोड़कर परले पार सब शिव वालों (शक्तियों) को प्राप्त करने से 'आप्त्य'=प्राप्त करनेवाले उत्तम कहलाता है। (२) यह ऐसा इसलिए बन पाया कि यह **उषसाम्**=उषःकालों के **बृहत् अग्रे**=बड़ा आगे, अर्थात् बहुत ही सबेरे (early in the morning) **ऊर्ध्वः अस्थात्**=ऊपर उठ खड़ा होता है। यह समय 'ब्राह्ममुहूर्त' कहलाता है, यह ब्रह्म के मिलने का समय होता है। इस समय सोते रहना तो अपना बड़ा नुकसान करना है। 'अच्छानक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः' इन शब्दों में वेद कह रहा है कि इस समय प्रभु (अच्छः) तुम्हारी ओर (नक्षि) आते हैं और देदीप्यमान धन प्राप्त कराते हैं। हम सोये ही रह जाएँगे तो प्रभु का स्वागत करके उस द्युमत्तम रयि के प्राप्त करने से वञ्चित ही रह जाएँगे। सो त्रित बहुत ही सबेरे उठता है, वह प्रभु के स्वागत के लिये तैयार होता है। अब यह '**निर्जगन्वान्**'=घर से बाहर लम्बे भ्रमण के लिये निकल खड़ा होता है। यह प्रातः भ्रमण के लाभ को समझता है। उस समय ही खुली शुद्ध वायु में ओजोष के अंश अधिक मात्रा में रहते हैं। इसीलिए देव '**प्रातर्यावाणः**'=प्रातः भ्रमण के लिये जाने के स्वभाव वाले हैं। एक विद्वान् ने अपना अनुभव 'Long walk, long life'='लम्बा भ्रमण, लम्बा जीवन' इन शब्दों में व्यक्त किया है। (३) भ्रमण से लौटकर यह 'त्रित' **तमसः**=अन्धकार को छोड़कर **ज्योतिषा अगात्**=प्रकाश के साथ विचरण करता है। अर्थात् यह स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान की दीप्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। (४) इस प्रकार यह प्रतिदिन **अग्निः**=आगे और आगे बढ़नेवाला होता है। इसके जीवन का सूत्र ही 'ऋषि' हो जाता है। आगे बढ़ना है 'अति समं क्राम' बराबर वालों से लाँघ जाना है यह इसका ध्येय होता है। **रुशता भानुना**=चमकती हुई ज्ञान की दीप्ति से युक्त होकर यह **स्वंगः**=(सु-अगि गतौ) उत्तम गतिवाला होता है। एक-एक अंग से उत्तम क्रियाओं को यह करनेवाला होता है। ज्ञान पूर्वक कर्म करने से इसके सब कार्य बड़े पवित्र होते हैं। यह इन पवित्र कर्मों से **आजातः**=सब दृष्टिकोणों से विकास वाला होता है। 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी में यह शक्तियों को विकसित करता है, और **विश्वा**=सब **सद्मानि**=घरों व कोशों

का **अप्राः**=पूरण करता है। 'युक्ताहार विहार' के द्वारा अन्नमय कोश की कमियों को नष्ट करता है, 'प्राणायाम' इसके प्राणमय कोश का पूरण करता है, 'सत्य' से यह मनोमय कोश को पवित्र करता है 'स्वाध्याय' के द्वारा विज्ञानमय कोश का विकास करता है और कारण शरीर में विचारता हुआ सब प्राणियों के साथ एकत्व के अनुभव से पूर्ण आनन्द में विचरता है। यह 'एकत्वदर्शन' ही आनन्दमय कोश का पूरण है। एवं सब कोशों का पूरण करनेवाला यह सचमुच 'आप्त्य' होता है।

भावार्थ—हमें 'प्रातः उठना, भ्रमण के लिये जाना, स्वाध्याय, आगे बढ़ना, ज्ञानपूर्वक उत्तम क्रियाओं को करना, विकास व सब कोशों का पूरण' यही अपना कार्यक्रम बनाना चाहिये।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराटत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वानस्पतिक भोजन

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून्प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गाः ॥ २ ॥

(१) **स**=वह गतमन्त्र की सात बातों को अपनानेवाला तू **जातः**=शक्तियों के विकास वाला हुआ है, तू अपने में **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का **गर्भः**=(Joining, union) जोड़नेवाला **असि**=है, तू ने शरीर व मस्तिष्क दोनों की शक्ति का विकास किया है। केवल शरीर व केवल मस्तिष्क का विकास जीव के अधूरेपन का कारण होता है। केवल पृथिवी व केवल आकाश संसार को पूर्ण नहीं बनाता। इसी प्रकार वैयक्तिक जीवन की पूर्ति के लिये शरीर व मस्तिष्क दोनों के विकास को संगम करना आवश्यक है। अन्यथा हम राक्षस व ब्रह्म राक्षस ही बन जाते हैं। इस द्विविध विकास को जोड़नेवाले 'त्रित' से प्रभु कहते हैं कि '**अग्ने**'=हे उन्नति करनेवाले जीव! **चारुः**=शरीर व मस्तिष्क को उन्नति को अपने में संगत करके तू बड़े सुन्दर जीवन वाला हुआ है। इस सुन्दर जीवन का निर्माण तू इसलिये कर पाया है कि **ओषधीषु विभृतः**=ओषधि वनस्पतियों पर ही तेरा पालन-पोषण हुआ है। तेरा भोजन वानस्पतिक ही रहा है—'व्रीहि, यव, माष व तिल' आदि का ही तूने प्रयोग किया है, मांस भोजन ने तेरे मन को क्रूर व राजस नहीं बना दिया। ओषधि-भोजन से तेरे सब दोषों का दहन (उष दाहे) हुआ है इसीलिये तू **चित्रः**=(चित् ज्ञाने) ज्ञान का ग्रहण करनेवाला बना है। 'शिशुः' (शो तनूकरणे)=तूने अपनी बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनाया है तथा **परि तमांसि**=अन्धकारों का तू वर्जन करनेवाला हुआ है (परेर्वर्जने) और **मातृभ्यः**=तेरे जीवन का निर्माण करनेवाले 'माता-पिता व आचार्यों' से तू **अक्तून्**=ज्ञान की किरणों को **अधिकनिक्रदत्**=आधिक्येन गर्जना करता हुआ **प्रगाः**=प्राप्त हुआ है। उनसे समय-समय पर जिन ज्ञान की वाणियों को तूने सुना, उन्हें बारम्बार उच्चारण करते हुए (अधिकनिक्रदत्) तूने स्मरण कर लिया और इस प्रकार इन्हें अपने जीवन का अंग बना लिया।

भावार्थ—'विकास, शरीर व मस्तिष्क का संगम, जीवन सौन्दर्य, वानस्पतिक भोजन, ज्ञानग्रहण, बुद्धि की सूक्ष्मता, अन्धकार निरसन, ज्ञानवाणियों का जप व स्मरण' इन बातों को अपनाने से हमारा जीवन सफल होता है।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराटत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्व-अर्चन

विष्णुरित्था परममस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्।
आसा यदस्य पयो अक्रत स्वं सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र ॥ ३ ॥

इत्था=इस प्रकार से, अर्थात् उपरले मन्त्रों में वर्णित प्रकार से जीवन बिताने पर यह त्रित **विष्णुः**=व्यापक उन्नतिवाला होता है (विष् व्याप्तौ), 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी का विकास करता हुआ यह तीन कदमों को रखनेवाला त्रिविक्रम विष्णु होता है। यह **अस्य**=इस त्रित का **परमं**=सर्वोत्कृष्ट विकास होता है। यह **विद्वान्**=ज्ञानी तो बनता ही है, **जातः**=सब शक्तियों का विकास करता हुआ (जन्=प्रादुर्भावे) यह **बृहत् तृतीयम्**=उस महान् तृतीय धाम को **अभिपाति**=जीवन में या जीवन के पश्चात् दोनों ओर सुरक्षित करता है। 'तृतीये धामन् अध्यैरयन्त'=देव लोग तृतीय धाम में विचरते हैं। 'प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठना' ही प्रकृति के घर से बाहर आ जाना है 'लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा' से ऊपर उठ जाना ही 'जीव' से ऊपर उठना है। यह 'वित्त लोक व पुत्र' की इच्छाओं से ऊपर उठा हुआ पुरुष तृतीय धाम 'प्रभु' में विचरता है। इस जीवन में ही यह जीवन्मुक्त व ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है और मृत्यु के बाद तो परामुक्ति को प्राप्त करके यह ब्रह्म में विचरता ही है। यही तृतीय धाम का अभिरक्षण है। यह वह स्थिति होती है **यद्**=जब कि **अस्य**=इसके **आसा**=मुख से **पयः**=दूध अर्थात् दूध के समान मधुर शब्द **अक्रत**=निष्पन्न किये जाते हैं। यह मधुर ही शब्द बोलता है, 'गोसनिं वाचम् उदेयम्' इस प्रार्थना को यह जीवन में पूर्णतः अनूदित करता है कि गोदुग्ध की तरह मधुर ही वाणी को मैं बोलूँ। जीवन को ऐसा बनाने के उद्देश्य से ही **सचेतसः**=समझदार लोग **अत्र**=इस मानव जीवन में **स्वम्**=आत्मा को अर्थात् आत्मभूत इस परमात्मतत्त्व को **अभ्यर्चन्ति**=दिन-रात पूजित करते हैं। सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। यह प्रभुस्मरण ही उनके जीवनों को मधुर बनाये रखता है। प्रभु का उपासक सब प्राणियों में समवस्थित उस प्रभु का दर्शन करता है और सभी के प्रति प्रेम वाला होता है। इसे सब के साथ बन्धुत्व का अनुभव होता है, और यह एकत्व दर्शन ही इसे घृणा से ऊपर उठाकर प्रेमपूर्ण कर देता है।

भावार्थ—हम व्यापक उन्नति करनेवाले हों, विद्वान् व विकसित शक्तियों वाले होकर प्रभुरूप तृतीय धाम में विचरें। हमारे मुख से दुग्धसम मधुर शब्द निकलें और हम समझदार बनकर प्रभु का पूजन करनेवाले हों। प्रभु पूजन को छोड़ प्रकृति में आसक्त हो जाना ही मूर्खता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'योगक्षेमावह' हरि

अत॑ उ त्वा पितु॒भृतो॒ जनि॑त्रीरन्ना॒वृधं॒ प्रति॑ चर॒न्त्यन्नैः॑।
ता ईं॒ प्रत्ये॑षि॒ पुन॑र॒न्यरू॑पा॒ असि॒ त्वं वि॒क्षु मानु॑षीषु॒ होता॑॥ ४॥

अतः उ=इसलिए ही, क्योंकि गतमन्त्र के अनुसार तेरे मुख से सदा दुग्ध के समान आप्यायन (वर्धन) करनेवाले मधुर ही शब्द निकलते हैं, सो **त्वा**=तुझे **पितुभृतः**=अन्नों का धारण करनेवाले **जनित्रीः**=अन्नों को उत्पन्न करनेवाले अथवा माता के समान अन्नों से दूसरों का पालन करनेवाले उत्तम वैश्य लोग **अन्नैः**=अन्नों से **प्रतिचरन्ति**=सेवित करते हैं। वे तेरे लिये सब आश्वयक अन्नों की भेंटों को प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः वे तो तुझे ही **'अन्नावृधम्'**=अन्नों का वर्धन करनेवाला जानते हैं। वे यह समझते हैं कि—'न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति' जिस राष्ट्र में इन ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों का निरादर होता है वहाँ यह मित्रवरुण देवता सम्बन्धी पर्जन्य वर्षा को नहीं करता है। हे प्रभो! आप **ताः प्रति**=इन अत्यन्त मधुर भाषण करनेवाली प्रजाओं के प्रति **ईम्**=निश्चय से **एषि**=आते हो। और **पुनः**=फिर आपके आने से ये प्रजाएँ **अन्यरूपा**=विलक्षण ही रूप वाली हो जाती हैं। ये सामान्य लोगों से अत्यन्त भिन्न प्रतीत होते हैं। इनका सामान्य पुरुषों के लिये अत्यन्त

विस्मयकारक होता है, वे इन्हें अतिमानव महापुरुष व प्रभु का अवतार ही कहने लगते हैं। हे प्रभो! **त्वं**=आप इन **मानुषीषु विक्षु**=मानुष-विचारपूर्वक कर्म करनेवाली, दया की वृत्ति वाली प्रजाओं में **होता**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले **असि**=हैं। अर्थात् ऐसे पुरुषों का योगक्षेम आप ही चलाते हैं। वस्तुतः सज्जन धनियों के हृदय में प्रेरणा को पैदा करके आप इनकी सब आवश्यकताओं का उनके द्वारा पूरण कराते रहते हैं।

भावार्थ—लोकहित में लगे हुए पुरुषों का योगक्षेम प्रभु उक्त धनिकों के द्वारा कराते रहते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'जन' द्वारा प्रभु का आतिथ्य

होतारं चित्ररथमध्वरस्य यज्ञस्ययज्ञस्य केतुं रुशन्तम्।
प्रत्यर्धिं देवस्यदेवस्य मह्ना श्रिया त्वग्निमतिथिं जनानाम्॥ ५॥

गतमन्त्र में प्रभु को 'होता' कहा था, उसी शब्द से प्रभु का स्मरण करते हुए कहते हैं कि हम **तु**=तो उस प्रभु का स्मरण व स्तवन करते हैं जो कि **होतारम्**=वस्तुतः ही सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं, **चित्ररथम्**=हमारे इस शरीर रूप रथ को अद्भुत बनानेवाले हैं। इसी प्रकार हमारा भी यह शरीर रूप रथ जब प्रभु से अधिष्ठित होता है तो इस पर कामादि वासनाओं का आक्रमण नहीं हो पाता। उस समय हमारे जीवन से हिंसारहित उत्तम ही कर्म होते हैं, वे प्रभु **अ-ध्वरस्य**=सब प्रकार की हिंसा से शून्य **यज्ञस्य यज्ञस्य**=प्रत्येक उत्तम कर्म के **केतुम्**=प्रकाशक हैं। प्रभु कृपा से हमारे जीवन में यज्ञों का ही प्रकाश होता है, हम कोई भी अयज्ञिय कर्म नहीं करते। **रुशन्तम्**=वे प्रभु देदीप्यमान हैं, ज्ञान के पुञ्ज हैं। वे प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से व **श्रित्या**=श्री से **देवस्य देवस्य**=प्रत्येक देव की **प्रत्यर्धिम्**=(ऋध् णिच्-अर्धमति) उस-उस ऋद्धि को प्राप्त करानेवाले हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी व समुद्र ये सब उस प्रभु से ही अपनी महिमा व श्री को प्राप्त करते हैं। उपनिषद् ठीक ही कहती है कि—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस प्रभु की दीप्ति से ही यह सब देदीप्यमान हो रहा है। 'तेन देवा देवतामग्र आयन्' उस प्रभु से ही देव-देवता को प्राप्त करते हैं। मनुष्य देवों को भी देवत्व प्रभु कृपा से ही मिलता है, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज व बलवानों का बल प्रभु ही हैं। इस प्रकार **अग्निम्**=वे प्रभु ही अग्नि हैं, अग्रेणी हैं, वे हम सब को आगे ले चल रहे हैं। मार्गदर्शक व शक्ति को देनेवाले वे प्रभु ही हैं। वे प्रभु **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करने वालों के **अतिथिम्**=अतिथि हैं। प्रभु के स्वागत करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त होता है जो कि अपनी शक्तियों के विकास के लिये प्रयत्नशील हों। हम करें तो कुछ नहीं, बस थोथा कीर्तन ही करते रहें, तो इससे प्रभु थोड़े ही मिल जाएँगे? प्रभु प्राप्ति के लिये तो 'जन' बनना होता है, 'पाँचों प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों' की शक्ति को विकसित करके अपने 'पञ्चजन' इस नाम को चरितार्थ करना होता है।

भावार्थ—हम पञ्चजन बनें, प्रभु हमें प्राप्त होंगे।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुन्दर वस्त्र धारण

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः।
अरुषो जातः पद इळायाः पुरोहितो राजन्यक्षीह देवान्॥ ६॥

जीवात्मा से प्रभु कहते हैं कि, **सः**=वह तू **तु**=तो **अध**=अब **पेशनानि**=सुन्दर **वस्त्राणि**=वस्त्रों को **वसानः**=धारण के स्वभाव वाला है। ये 'स्थूल-सूक्ष्म व कारण' शरीर जीव के वस्त्र के समान हैं। गीता के 'वांसासि जीर्णानि०' इस प्रसिद्ध श्लोक में शरीरों को वस्त्रों से ही उपमित किया है। 'वसिष्याहि मिमेध्य वस्त्राण्यूर्जगम्यते' इस मन्त्र में भी शरीर ग्रहण को वस्त्र-धारण ही कहा गया है। प्रगतिशील जीव का यह कर्त्तव्य है कि इन वस्त्रों को सुन्दर बनाये रखे, इन्हें विकृत न होने दे। यह इन वस्त्रों की अविकृति ही आरोग्य है और यह आरोग्य ही सब पुरुषार्थों की नींव होता हुआ सर्वमहान् धर्म है। इस प्रकार शरीर वस्त्रों को शुद्ध रखता हुआ तू **अग्निः**=आगे बढ़नेवाला होता है। इसने सब उन्नतियों के मूल आरोग्य को अपनाया है। यह **अध पृथिव्याः नाभा**=पृथिवी की नाभि में **वसानः** (वसन्)=निवास करता है। 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' इस मन्त्र में यज्ञ को ही पृथिवी की नाभि कहा गया है। इस यज्ञ में ही सब लोक प्रतिष्ठित हैं। यज्ञ के अभाव में न इस लोक का कल्याण है, न परलोक का। 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम' (गीता) नाभि में जैसे सब नाड़ियाँ बद्ध होती हैं (नह् बन्धने) इसी प्रकार यज्ञ में सब लोक बद्ध हैं। यज्ञ ही इन सब भुवनों का केन्द्र हैं। यह 'अग्नि' प्रयत्न करता है कि उसका जीवन यज्ञमय बना रहे। 'पुरुषो भव यज्ञः' इस उपनिषद् वाक्य को वह भूलता नहीं। 'इस यज्ञ से ही मैं यज्ञरूप प्रभु की उपासना करता हूँ' (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः) यह बात वह सदा स्मरण रखता है। यज्ञमय जीवनवाला होकर यह **अरुषः**=(आरोचमानः नि०) ज्ञान से सर्वतः देदीप्यमान होता है, और **जातः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव व विकास करता है। यह **इडायाः पदे**=वेदवाणी के मार्ग में, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में **पुरोहितः**=सब से आगे निहित होता है, अर्थात् ऊँचे से ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है अथवा जीवन को अधिकाधिक वेदानुकूल बनाता है। इसे प्रभु कहते हैं कि **राजन्**=यह ज्ञान से दीप्त होनेवाले अग्ने! अथवा जीवन को नियमित (Regulated) करनेवाले 'त्रित' तू **इह**=इस मानव जीवन में **देवान्**=दिव्य वृत्ति वाले विद्वानों को **यक्षि**=अपने साथ संगत कर। अर्थात् तेरा उठना-बैठना देववृत्ति वाले ज्ञानियों के साथ ही हो। इस संग ने ही तो तुझे 'सुमनाः' बनाना है 'यथा नः सर्व सज्जनः संगत्या सुमना असत्'। इन ज्ञानियों के सम्पर्क में रहता हुआ तू देवान्=दिव्यगुणों को यक्षि=अपने साथ संगत कर। अर्थात् तेरा जीवन दैवी सम्पत्ति को लिये हुए हो। साथ ही तू शरीर में चक्षु आदि के रूप से रहनेवाले इन सूर्यादि देवों को अपने साथ मेल वाला बना। इनके साथ तेरी अनुकूलता है। इन 'जल, वायु' आदि देवों की प्रतिकूलता में ही अस्वास्थ्य होता है। इन की अनुकूलता में तू स्वस्थ होगा, तेरे ये शरीर रूप वस्त्र निर्मल बने रहेंगे।

भावार्थ—हमारे शरीर रूप वस्त्र स्वास्थ्य के सौन्दर्य वाले हों, हमारा जीवन यज्ञमय हो। हम ज्ञानदीप्त व विकसित शक्ति होकर वेदमार्ग पर आवेगें। देवों से हमारा मेल हो।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्यावापृथिवी का विस्तार

आ हि द्यावापृथिवी अग्न उभे सदा पुत्रो न मातरा ततन्थ।
प्र याह्यच्छोशतो यविष्ठाथा वह सहस्येह देवान्॥ ७॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **हि**=निश्चय से **उभे**=इन दोनों द्यावापृथिवी=मस्तिष्क रूप द्युलोक तथा शरीर रूप पृथिवी को **सदा**=सदा **आततन्थ**=सब प्रकार से विस्तृत करता है, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **पुत्रः**=एक पुत्र **मातरा**=अपने माता-पिता के यश को विस्तृत करता है उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि त्रित भी अपने मस्तिष्क व शरीर की शक्तियों

को फैलानेवाला होता है। यहाँ 'द्यौः पिता, पृथिवी माता' इन शब्दों के अनुसार द्युलोक पिता है और पृथिवीलोक माता है। हमें मस्तिष्क ही उज्ज्वलता तथा शरीर की दृढ़ता से इन्हें यशस्वी बनाना है। हे **यविष्ठ**=बुराई को अपने से दूर करनेवाले तथा अच्छाई को अपने साथ संगत करनेवाले जीव! तू **उशतः**=तेरा हित चाहनेवाले इन देवों के प्रति तू **प्रयाहि**=प्रकर्षेण आनेवाला बन। **अथ**=और हे **सहस्य**=सहस् में उत्तम अर्थात् उत्तम सहनशक्ति वाले जीव तू **इह**=इस जीवन में **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवह**=सब प्रकार से प्राप्त करा। देवताओं के सम्पर्क में आने से बुराई दूर होकर अच्छाई के साथ हमारा मेल होता है, हम 'यविष्ठ' बनते हैं हमारी क्रोध आदि की वृत्ति दूर होकर हमारे में सहन की वृत्ति पैदा होती है। हम 'सहस्य' बनते हैं। यह सहस्य बनना ही वस्तुतः धर्म मार्ग में अग्रसर होने का चिह्न है। देव लोग कभी हमें कुछ कटु प्रतीत होनेवाली बात कहते भी हैं तो वह हमारे हित की भावना से ही कही जाती है, सो हमें उसे सहना ही चाहिए।

भावार्थ—हम मस्तिष्क व शरीर दोनों का विकास करें। देवों की ओर जाते हुए जीवन में दिव्यगुणों को बढ़ायें। सूक्त का प्रारम्भ त्रित के जीवन के चित्रण से होता है। यह त्रित प्रातः उठता है। भ्रमण के बाद स्वाधाय में लगता है दिनभर ज्ञानपूर्वक क्रियाओं को करता हुआ अपने सब कोशों की न्यूनता को दूर करता है। (१) वह ज्ञान व स्वास्थ्य का सम्पादन करता है, ओषधियों पर ही शरीर का पोषण करता है। ज्ञानी व तीव्र बुद्धि बनकर ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करता है। (२) व्यापक उन्नतिवाला बनकर मोक्षरूप (ब्रह्मस्थिति) तृतीय धाम में विचरता है, मधुर ही शब्द बोलता है और समझदार होकर प्रभु का अर्चन करता है। (३) ये जहाँ जाता है वहाँ सदा सुकाल रहता है और लोग इसे अन्न की भेंट प्राप्त कराते हैं। (४) यह शरीर रूप वस्त्र को शुद्ध रखता है, यज्ञमय जीवनवाला होता है, अपने साथ दिव्यगुणों को संगत करता है। (६) शरीर व मस्तिष्क दोनों की ही शक्ति का विस्तार करता है। (७) द्वितीय सूक्त में भी इसी त्रित के जीवन का चित्रण करते हुए कहते हैं कि—

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आयजिष्ठ

पिप्रीहि देवाँ उशतो यविष्ठ विद्वाँ ऋतूँर्ऋतुपते यजेह।
ये दैव्या ऋत्विजस्तेभिरग्ने त्वं होतॄणामस्यायजिष्ठः ॥ १ ॥

हे **यविष्ठ**=बुराई को अपने से दूर करनेवाले तथा अच्छाई को अपने से संयुक्त करनेवाले जीव! **उशतः**=तेरा हित चाहनेवाले **देवान्**=माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि देवों को **पिप्रीहि**=तू अपने उत्तम कर्मों से प्रीणित करनेवाला बन। उनके कहने में चलता हुआ तू उनकी प्रसन्नता का कारण बन। हृदयस्थ उस महान् देव प्रभु की प्रेरणा को सुन तथा तदनुसार जीवन को चला। **विद्वान्**=इनके सम्पर्क में ज्ञानी बनकर **ऋतुपते**=हे ऋतुओं के पति अर्थात् समयानुसार नियमितता से कार्य करनेवाले जीव! तू **इह**=इस मानव जीवन में **ऋतून् यज**=ऋतुओं की अनुकूलता के लिये यज्ञशील हो। उत्तम कर्मों से माता-पिता आदि को प्रीणित कर, ज्ञानी बन और यज्ञशील हो। अब **ये**=जो **दैव्याः**=देव की ओर चलनेवाले, प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले **ऋत्विजः**=ऋतु-ऋतु में यज्ञशील पुरुष हैं **तेभिः**=उनके सम्पर्क में रहता हुआ **त्वम्**=तू **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **होतॄणाम्**=होताओं में, दानपूर्वक अदन करने वालों में **आयजिष्ठः**=सब प्रकार से सर्वाधिक यज्ञशील हो। वस्तुतः हम जिन भी लोगों के सम्पर्क में आते हैं उन जैसे ही जीवन वाले बन जाते

हैं। अच्छों के सम्पर्क में अच्छे, और बुरों के सम्पर्क में बुरे। यहाँ देव ऋत्विज् लोगों के सम्पर्क में आकर हम भी सर्वाधिक यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—हम बुराई को अपने से दूर करके तथा अच्छाई को अपने साथ संगत करके माता, पिता, आचार्य आदि देवों को प्रसन्न करें। हमारे सब कार्य समय पर हों। उत्तम लोगों के सम्पर्क में आकर हम उत्तम बनें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्रविणोदा ऋतावा

वेषि होत्रमुत पोत्रं जनानां मन्धातासि द्रविणोदा ऋतावा।
स्वाहा वयं कृणवामा हवींषि देवो देवान्यजत्वग्निरर्हन्॥ २॥

गत मन्त्र के अनुसार 'दैव्य ऋत्विज्' लोगों के सम्पर्क में आकर तू **होत्रम्**=होता के कर्म की **वेषि**=कामना करता है, अर्थात् तू चाहता है कि तेरे जीवन से यह 'होता' का काम होता रहे, तू सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बने। (हु दानादनयोः) यह देकर यज्ञशिष्ट को खाना ही होता बनना है। **उत**=और इस होत्र के द्वारा तू **पोत्रं**=पोता=पवित्र करनेवाले के कर्म को वेषि=चाहता है। जितने-जितने अंश में हम होता बनते हैं, उतने ही अंश में हमारे में पोतृत्य, अर्थात् पवित्रता का संचार होता है। होता बनकर ही हम पोता बनते हैं। यह होतृत्व व पोतृत्व को धारण करनेवाला व्यक्ति ही **जनानां**=मनुष्यों में **मन्धाता**=मेधावी **असि**=है। बुद्धिमत्ता होता व पोता बनने में है। समझदार पुरुष कभी भी सारा स्वयं खाकर असुर नहीं बनता। यह **द्रविणोदाः**=धन के देनेवाला होता है। यह धन को सारा स्वयं नहीं हड़प लेता। यज्ञ में विनियुक्त करके बचे हुए का ही अपने लिये व्यय करता है। इस प्रकार दानवृत्ति वाला बनकर यह **ऋतावा**=अपने जीवन में ऋत का **अवन**=रक्षण करता है। जो चीज जिस समय व जिस स्थान पर करनी चाहिये उसका उसी स्थान व उसी समय पर करना 'ऋत' है। इस प्रकार ऋतपूर्वक जीवन बिताते हुए **वयम्**=हम **स्वाहा**=(स्व+हा) स्वार्थ का त्याग **कृणवामा**=करते हैं। सारी खराबियाँ इस स्वार्थ का त्याग न करने से ही तो हैं। **हवींषि**=हवियों को हम करते हैं, अर्थात् हम सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले बनते हैं। हमारे जैसा करने पर **देवः**=यह दिव्यगुणों का पुञ्ज **अग्निः**=हमें निरन्तर आगे ले चलनेवाला **अर्हन्**=पूजा के योग्य प्रभु (अर्हः प्रशंसायाम्) वह प्रशस्य प्रभु **देवान् यजतु**=हमारे साथ देवों का संग करे। शारीरिक क्षेत्र में सूर्यादि देवों का हमारे साथ मेल हो सूर्यादि सब देवों का हमारे में अंशावतार है ही। सूर्य चक्षु के रूप में हैं तो वायु प्राणों के रूप में और अग्नि वाणी के रूप में। इन सब देवों का हमारे साथ अनुकूल्य होगा तो हम पूर्ण स्वस्थ होंगे। मानसक्षेत्र में 'देवान्' का अभिप्राय दिव्य गुणों से है। प्रभु कृपा से हमारा मन सब दिव्य गुणों वाला हो। व्यावहारिक क्षेत्र में देववृत्ति वाले विद्वान् लोग ही 'देव' हैं। प्रभु कृपा से हमें सदा इनका संग प्राप्त हो। इनके संग से हम भी इन्हीं की तरह देव बन पायेंगे।

भावार्थ—स्वार्थ त्याग से पवित्र बनते हुए हम मेधावी दाता व ऋतपालक बनें। हम यज्ञशेष को ही खायें और प्रभु हमारे साथ देवों का मेल करें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देव-यान

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनु प्रवोळ्हुम्।
अग्निर्विद्वान्त्स यजात्सेदु होता सो अध्वरान्त्स ऋतून्कल्पयाति॥ ३॥

गतमन्त्रों के अन्तिम शब्दों के अनुसार देवों के साथ हमारा संग हो। उनकी ज्ञानचर्चाओं से हम विवेक को प्राप्त करें, धर्माधर्म को जानें। तथा **देवानाम्**=उन देवों के **पन्थाम्**=मार्ग को **आ अगन्म अपि**=चलने का भी प्रयत्न करें। देवताओं के मार्ग का अनुसरण करें। **यत् शक्नवाम**=जितना भी कर सकें **तदनु**=उन देवताओं के अनुसार ही **प्रवोढुम्**=कार्यभार को वहन करने के लिये यत्नशील हों। अर्थात् यथाशक्ति हम देवों के मार्ग से ही चलें। उनसे किये जाते हुए कार्यों को ही करें। इस प्रकार देवानुसरण करनेवाला व्यक्ति ही **अग्निः**=अग्रेणी=अपने को अग्रस्थान में प्राप्त करानेवाला होता है। यही **विद्वान्**=ज्ञानी बनता है। **स**=वह **यजात्**=यज्ञशील होता है, **उ**=और **स**=वह **इत्**=निश्चय से **होता**=दानपूर्वक अदन करता है, **सः**=वह **अध्वरान्**=सदा हिंसा रहित कर्मों को **कल्पयाति**=तथा इन हिंसारहित कर्मों को करनेवाला यह **ऋतून्**=ऋतुओं को **कल्पयाति**=शक्तिशाली बनाता है। इसके लिये सारे समय सामर्थ्य को देनेवाले होते हैं। अहिंसा के अनुपात में ही इसकी शक्ति बढ़ जाती है।

भावार्थ—हम देवों के मार्ग पर चलें। यथाशक्ति उनके कर्मों का अनुसरण करें। उन्नतिशील ज्ञानी यज्ञशील व होता बनें। हिंसारहित कर्मों को करते हुए अपने लिये सब कालों को शक्ति सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

व्रतभंग दोष परिहार

यद्वो व॒यं प्र॑मि॒नाम॑ व्र॒तानि॑ वि॒दुषां॑ देवा॒ अवि॑दुष्टरासः।
अ॒ग्निष्टद्विश्व॒मा पृ॑णाति वि॒द्वान्येभि॑र्दे॒वाँ ऋ॒तुभिः॑ क॒ल्पया॑ति ॥ ४ ॥

हे **देवाः**=देवो! **विदुषां वः**=ज्ञान सम्पन्न आप लोगों के **व्रतानि**=व्रतों को **अविदुष्टरासः**=अज्ञानी से बने हुए **वयम्**=हम **यत्**=जो **प्रमिनाम**=हिंसित करते हैं **तद् विश्वम्**=उस सब को **विद्वान्**=समझदार **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति **अपृणाति**=सब प्रकार से पूरित करता है। ज्ञानी लोगों के कुछ व्रत होते हैं। ये ही व्रत योगदर्शन के शब्दों में 'यम-नियम' के रूप में कहे गये हैं। वेद में ये ही व्रत 'ऋत व सत्य' हैं। विद्वान् लोग वैयक्तिक व सामाजिक हित के दृष्टिकोण से इन व्रतों का पालन करते हैं। परन्तु एक नासमझ व्यक्ति क्षणिक आनन्द को महत्त्व देता हुआ इन व्रतों को अपनी अदूरदर्शिता से तोड़ बैठता है। पर जो व्यक्ति समझदार व प्रगतिशील होता है वह एक बार गिर जाने पर भी उठ खड़ा होता है, और प्रायश्चितादि के द्वारा उस व्रतभंग दोष को समाप्त करने के लिये प्रयत्न करता है और उस व्रत में आयी कमी को दूर करता है। ये व्रत में आयी कमी को दूर करने के प्रयत्न वे होते हैं **येभिः**=जिनसे **ऋतुभिः**=नियमित गतियों के द्वारा यह अग्नि अपने जीवन में **देवान्**=दिव्यगुणों को **कल्पयाति**=उत्पन्न करता है अथवा दैवी वृत्तियों को फिर से शक्तिशाली बनाता है। हमारी हृदयस्थली में देवों व असुरों का संग्राम तो निरन्तर चलता है। एक समझदार 'विद्वान्' व्यक्ति ऋतुओं की तरह नियमित गतियों से देवों को शक्तिशाली बनाता है और इस प्रकार आसुरवृत्तियों को पराजित करता है।

भावार्थ—हम मूर्खता से विद्वानों से पालन किये जानेवाले व्रतों को तोड़ बैठते हैं। हम 'विद्वान् व अग्नि' बनकर उन व्रतभंग दोषों को दूर करें और मर्यादित आचरण से (ऋतुभिः) दिव्यवृत्तियों को प्रबलता प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अजानन् व विजानन् का अन्तर

यत्पा॑क॒त्रा मन॑सा दी॒नद॑क्षा॒ न य॒ज्ञस्य॑ मन्व॒ते मर्त्या॑सः।
अ॒ग्निष्टद्धोता॑ क्रतु॒विद्वि॑जा॒नन्यजि॑ष्ठो दे॒वाँ ऋ॑तु॒शो य॑जाति॥ ५॥

यत्=जब **मर्त्यासः**=संसार के विषयों के ही पीछे मरनेवाले अथवा मरा-सा जीवन बितानेवाले **पाकत्रा**=(पक्तव्येन) परिपक्व करने के योग्य **मनसा**=मन से युक्त अर्थात् हीन ज्ञान वाले नासमझ तथा **दीनदक्षाः**=आर्थिक शैथिल्य व शरीर की निर्बलता के कारण हीन उत्साह वाले पुरुष होते हैं तो वे **यज्ञस्य न मन्वते**=यज्ञ का विचार नहीं करते। अज्ञानी व क्षीणसामर्थ्य मरे से पुरुषों में यज्ञों की भावना का उदय नहीं होता। उत्तम कर्मों व यज्ञादि का विचार तभी उत्पन्न होता है जब कि मनुष्य परिपक्व बुद्धि व यज्ञादि के लाभों को समझनेवाला होता है तथा आर्थिक व शारीरिक स्थिति के ठीक होने से पूर्ण उत्साह से युक्त होता है। **तत्**=(then) तब **अग्निः**=प्रगतिशील पुरुष **होता**=सदा देकर यज्ञशेष को खाने की मनोवृत्ति वाला, **क्रतुविद्**=यज्ञों के महत्त्व को समझनेवाला, **विजानन्**=विशिष्ट ज्ञानवाला पुरुष **यजिष्ठः**=अधिक से अधिक यज्ञशील होता है और **ऋतुशः**=(ऋतौ) ऋतु-ऋतु में, सदा **देवान् यजाति**=देवयज्ञ करनेवाला होता है आधिदैविक क्षेत्र में यह देवयज्ञ 'अग्निहोत्र' है, अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य तक पहुँचकर सारे देवों को प्राप्त होती है, सम्पूर्ण वायुमण्डल शुद्ध होकर ठीक समय पर वर्षादि के होने से रोगों व अकाल का भय नहीं रहता। आधिभौतिक क्षेत्र में यह देवयज्ञ=विद्वानों का संग व सेवा है। इससे मनुष्य के ज्ञान का वर्धन होता है और जीवन उत्तम बनता है। अध्यात्म में यह देवयज्ञ, 'हृदयस्थ प्रभु के साथ मेल' है। इस मेल से मनुष्य पवित्र व शान्त बनता है। मनुष्य के अन्दर इस देवयज्ञ से एक अतिमानव शक्ति का उद्गम होता है।

भावार्थ—'अजानन्' पुरुष यज्ञों में प्रवृत्त नहीं होता, इस अप्रवृति का कारण आर्थिक दुर्बलता व उत्साह की कमी भी है। विजानन् पुरुष सदा यज्ञशील होता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्पृहणीय अन्न

विश्वे॑षां॒ ह्य॑ध्व॒राणा॒मनी॑कं चि॒त्रं के॒तुं जनि॑ता त्वा ज॒जान॑।
स आ य॑जस्व नृ॒वती॒रनु॒ क्षाः स्पा॒र्हा इषः॑ क्षु॒मती॑र्वि॒श्वज॑न्याः॥ ६॥

जनिता=प्रभु ने **त्वा**=तुझे **जजान**=प्रादुर्भूत किया? किस रूप में? **विश्वेषाम्**=सब **अध्वराणां**=यज्ञों के **हि**=निश्चय से **अनीकम्**=बल के रूप में। अर्थात् तेरे में सब यज्ञों के करने का सामर्थ्य था। अब संसार के विषयों से आकृष्ट होकर हम उस शक्ति को क्षीण कर लेते हैं और हमारे में यज्ञों के करने का सामर्थ्य नहीं रह जाता। **चित्रम्**=(चिती ज्ञाने) प्रभु ने तुझे संज्ञानवाला किया। परन्तु यहाँ संसार में कामवासना ने तेरे उस ज्ञान पर परदा-सा डाल दिया। **केतुम्**=(कित निवासे रोगापनयने च) प्रभु ने तुझे इस मानव शरीर में उत्तम निवास वाला किया और तुझे रोगशून्य जीवनवाला ही उद्भूत किया। परन्तु जीव ने यहाँ विषयों की ओर झुककर अपनी आर्थिक स्थिति को भी क्षीण कर लिया और अपने शरीर को रोगों का घर बना लिया। एवं प्रभु ने तो यज्ञों की शक्ति दी थी, ज्ञान तथा उत्तम निवास तथा रोगशून्य शरीर दिया था। मनुष्य ने अपनी गलतियों से अपने जीवन से यज्ञों को विलुप्त कर दिया, अपने ज्ञान पर कामरूप परदे को

पड़ने दिया, भोगों में धन का दुरुपयोग करके क्षीण धन हो गया तथा विविध रोगों का शिकार बन गया। प्रभु जीव से कहते हैं कि **स**=वह तू अपने जीवन में कमी न आने देने के लिये **इषः**=उन अन्नों को **आ यजस्व**=सब प्रकार से अपने साथ संगत कर। जो अन्न कि **नृवतीः**=उत्तम नरों वाले हैं अर्थात् मनुष्यों को बड़ा उन्नत करनेवाले हैं (नृ नये), जिन अन्नों के सेवन से मनुष्य नर बनता है, अपने को उन्नतिपथ पर आगे ले चलनेवाला। **अनु क्षाः**=(क्षि निवासगत्योः) जो अन्न उत्तम निवास वाले गतिशील व्यक्तियों के अनुकूल हैं अर्थात् जिन अन्नों के सेवन से मनुष्य उत्तम निवास वाला तथा क्रियाशील जीवनवाला बनता है। **स्पार्हाः**=जो अन्न मनुष्य को उन्नति शिखर पर आरूढ़ होने की स्पृहा देनेवाले हैं। **क्षुमतीः**=(क्षु शके) जो अन्न मनुष्य को प्रभु के नामोच्चारण व स्तवन की ओर प्रेरित करते हैं। तथा जो अन्न **विश्वजन्याः**=सब उन्नतियों के लिये हितकर हैं, हमारी सब शक्तियों के विकास के लिये उत्तम हैं। मनुष्य की सब उन्नति व अवनति इस अन्न पर ही निर्भर करती है। तामस अन्न हमें अधोगति की ओर ले जाता है तो सात्त्विक अन्न ही हमारी सब उन्नतियों का कारण बनता है। 'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'=आहार की शुद्धि पर ही अन्तःकरण की शुद्धि आश्रय करती है। अन्तःकरण की शुद्धि ही हमें अन्ततः प्रभु दर्शन के भी योग्य बनाती है। एवं प्रस्तुत मन्त्र में उस सात्त्विक अन्न का चित्रण करते हुए कहा गया है कि तुम्हारा अन्न तुम्हें नर बनानेवाला उत्तम निवास व गतिशीलता के अनुकूल स्पृहणीय प्रभुस्तवन की ओर प्रवण करनेवाला तथा सब शक्तियों के विकास के लिये हितकर हो। इस प्रकार के अन्न के सेवन से हमारा वह मूल का शुद्ध रूप बना रहेगा। अर्थात् हम यज्ञशील ज्ञानी उत्तम निवास वाले व नीरोग बने रहेंगे।

भावार्थ—प्रभु ने जीव को यज्ञों के बल वाला ज्ञानी व उत्तम निवास वाला तथा नीरोग बनाया है। यदि हम उत्तम ही अन्नों का सेवन करेंगे तो हमारा यह स्वरूप मलिन न होगा।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्युमत् पितृयाण

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान।
पन्थामनु प्रविद्वान्पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि॥ ७॥

गतमन्त्र के अनुसार सात्त्विक भोजन करने पर **यं त्वा**=जिस तुझको **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक तथा पृथिवीलोक तथा **यं त्वा**=जिस तुझको **आपः**=व्यापक अन्तरिक्षलोक (आप व्याप्तौ) **जजान**=विकसित शक्ति वाला करते हैं। द्युलोक का अंश शरीर में मस्तिष्क है। द्युलोक की अनुकूलता के होने पर मस्तिष्क का विकास ठीक से होता है। 'पृथिवी शरीरम्' इस वाक्य के अनुसार पृथिवी अध्यात्म में शरीर है। पृथिवी की अनुकूलता से शरीर ठीक रहता है। जैसे द्युलोक तारों व सूर्य से चमकता है, इसी प्रकार हमारा मस्तिष्क भी विज्ञान के नक्षत्रों व ज्ञान के सूर्य से चमकना चाहिए। जिस प्रकार पृथिवी दृढ़ है, उसी प्रकार हमारा शरीर भी दृढ़ होना चाहिए। 'अश्माभवतु नस्तनूः' हमारा शरीर पत्थर के समान मजबूत हो। इसके बाद हमारा हृदयान्तरिक्ष कुछ व्यापकता-उदारता को लिये हुए होना चाहिए। हृदय जितना विशाल होगा उतना ही ठीक होगा। विशालता ही हृदय को पवित्र करती है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ 'आपः' शब्द का प्रयोग है, व्यापक। **यं त्वा**=जिस तुझको **सुजनिमा**=उत्तम विकास के कारणभूत **त्वष्टा**=उस महान् देवशिल्पी, सब दिव्यगुणों का निर्माण करनेवाले प्रभु ने जजान=प्रादुर्भूत शक्तियों वाला बनाया है। प्रभु के स्मरण से मनुष्य की शक्तियों का विकास ही होता चलता है, उसके जीवन में न्यूनता नहीं आती। मनुष्य

प्रभु को भूलता है और विषयासक्त होकर क्षीणशक्ति होता जाता है। वह तू जिसका कि विकास त्रिलोकी ने व त्रिलोकी के नाथ प्रभु ने किया है, **द्युमत्**=ज्योतिर्मय **पितृयाणं पन्थाम्**=पितृयाण मार्ग को **प्रविद्वान्**=खूब अच्छी प्रकार जानता हुआ **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **समिधानः**=उस प्रभु की ज्योति को अपने अन्दर समिद्ध करता हुआ **अनुविभाहि**=उस प्रभु के अनुसार दीप्ति को प्राप्त करनेवाला है। औरों की रक्षा का मार्ग ही पितृयाण मार्ग है। पिता पुत्रों का रक्षण करता है, ज्ञान देनेवाले आचार्यरूप पितर विद्यार्थियों का रक्षण करते हैं, राज्य-शासन के संचालक राजरूप पितर प्रजारूप पुत्रों का रक्षण करते हैं। इन सब का मार्ग 'पितृयाण' मार्ग है। यह ज्योतिर्मय होना चाहिए (द्युमत्)। ज्ञान की कमी के कारण ही हम रक्षण ठीक से नहीं करने पाते। अज्ञानवश रक्षण करते हुए हानि कर बैठते हैं। साथ ही इस मार्ग में चलते हुए प्रभु को अपने हृदय में समिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं तो जहाँ इस मार्ग पर उत्तमता से फल पाते हैं वहाँ प्रभु की दीप्ति से हमारा जीवन भी उसी प्रकार दीप्त हो उठता है जैसे कि लोहशलाका अग्नि में पड़कर अग्नि के समान चमक उठती है।

भावार्थ—हमारा शरीर द्यावापृथिवी व अन्तरिक्ष की अनुकूलता से व प्रभु कृपा से पूर्ण स्वस्थ होकर चमकता है हमें स्वस्थ शरीर होकर पितृयाण मार्ग से चलना चाहिये तथा प्रभु ज्योति को समिद्ध करके प्रभु के समान चमकने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस द्वितीय सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि हम 'आप्रजिक' बनें। अधिक से अधिक यज्ञशील, (१) मेधावी बनकर सदा धन को देनेवाले हों, (२) देवताओं के मार्ग पर चलें, यज्ञशील हों, होता बनें, (३) देवताओं के व्रत को तोड़ें नहीं, (४) परिपक्व बुद्धि वाले व अदीन सत्त्व वाले होकर सदा उत्तमोत्तम यज्ञों को करने का विचार करें, (५) हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से सात्त्विक वृत्ति वाले हैं तथा (६) ज्योतिर्मय पितृयाण मार्ग का आक्रमण करते हुए दीप्त जीवन वाले बनें, (७) 'खूब ही चमकें' यह भावना तृतीय सूक्त के प्रारम्भ में देते हैं—

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इन=स्वामी

इनो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमाँ अदर्शि।
चिकिद्वि भाति भासा बृहतासिक्नीमेति रुशतीमपाजन्॥ १॥

गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार प्रभु को अपने में समिद्ध करनेवाला **विभाति**=विशेष रूप से चमकता है। इसी को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—**राजन्**=(राजृ दीप्तौ) हे दीप्त जीवन वाले! अथवा (regulated) व्यवस्थित जीवन वाले जीव! तू **इनः**=अपना ईश्वर होता है, इन्द्रियों के वश में न होकर, उनको अपने वश में करनेवाला होता है। **अरतिः**=विषयों के प्रति तू रुचि वाला नहीं होता (अ-रतिः) अथवा तू निरन्तर गतिशील होता है (अरतिः=ऋगतौ) **समिद्धः**=ज्ञान की दीप्ति वाला होता है। ज्ञानदीप्त होकर **रौद्रः**=तू कामादि शत्रुओं के लिये रुद्ररूप धारण करता है, इनको अपने ज्ञान ज्वाला में दग्ध करनेवाला होता है। तू **दक्षाय**=सब प्रकार उन्नति व बलवृद्धि के लिये सुषुमान्=(सुष्ठु शोभते इति सुषुः सोमः सा०) सोम का शरीर में रक्षण करनेवाला **अदर्शि**=जाना जाता है। वस्तुतः इस सोमरक्षण से ही यह 'त्रित' **चिकित्**=विशिष्ट ज्ञानी बनकर **बृहता भासा**=वृद्धि की कारणभूत ज्ञानज्योति से **विभाति**=चमकता है तथा **रुशती**=अकल्याणी (Hurting, displeased) **असिक्नीम्**=कृष्णवर्ण असत्य वाणी को

अपाजन्=अपने से दूर फेंकता हुआ **एति**=यह प्रभु के समीप प्राप्त होता है। 'केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु'=इस प्रार्थना के अनुसार यह ज्ञान को तो दीप्त करता है तथा वाणी को अत्यन्त मधुर बनाता है। 'रुशती' वह अकल्याणी वाक् है जो कि दूसरे के दिल को दुखाती है 'असिक्नी' इसीलिए कि वह शुद्धता को लिए हुए नहीं होती। जो 'इन' है, अपनी इन्द्रियों का स्वामी है। वह कभी भी ऐसी वाणी का प्रयोग नहीं करता।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, विषयों के प्रति रुचि वाले न हों, ज्ञानदीप्त होकर वासनादि शत्रुओं के लिए रुद्र बनें। सोमरक्षण द्वारा शक्ति का वर्धन करें। ज्ञान से दीप्त हों, अकल्याणी वाणी से दूर रहें। इस प्रकार प्रभु के समीप हों।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दैवी सम्पत्ति

कृष्णां यदेनीम॒भि वर्पसा॒ भूज्जनय॒न्योषां बृह॒तः पि॒तुर्जाम्।
ऊ॒र्ध्वं भा॒नुं सूर्य॑स्य स्तभा॒यन्दि॒वो वसु॑भिरर॒तिर्वि भा॑ति ॥ २ ॥

गतमन्त्र में 'असिक्नी रुशंती' इन शब्दों में जिस मलिन अकल्याणी वाणी का उल्लेख हुआ था, उसी को प्रस्तुत मन्त्र में 'कृष्णाम् एनी' शब्दों से स्मरण किया गया है। यह गालीगलौच वाली वाणी 'कृष्णा' काली=द्वेष से भरी हुई तो है ही, यह **एनी**=चित्रविचित्र रूप वाली है, नाना रूपों में ये अपशब्द प्रकट हुआ करते हैं। **यद्**=जब सोम का रक्षण करनेवाला **वर्पसा**=अपने तेजस्वी रूप से इस **'कृष्णां एनीम्'**=मलिन नाना रूपों में प्रकट होनेवाली अशुभ वाणी **अभि अभूत्**=अभिभूत कर देता है, अर्थात् अपने जीवन में इस अकल्याणी वाणी को प्रकट नहीं होने देता। तथा **बृहतः पितुः जाम्**=उस महान् पिता प्रभु से उत्पन्न होनेवाली इस **योषाम्**=गुणों का मिश्रण व अवगुणों का अमिश्रण करनेवाली वेदवाणी को **जनयन्**=अपने में प्रादुर्भूत करता है (योषा हि वाक् श० १।४।४।४) तब यह 'त्रित' **सूर्यस्य भानुम्**=ज्ञान के सूर्य की दीप्ति को (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) **ऊर्ध्वं स्तभायन्**=बहुत उन्नत स्थिति में थामनेवाला होता है, अर्थात् ज्ञान के दृष्टिकोण से उच्चस्थिति में पहुँचता है और यह **अ-रतिः**=विषयों की अभिरुचि से शून्य अथवा 'अर-तिः' निरन्तर क्रियाशील बना हुआ **दिवः वसुभिः**=प्रकाश व दिव्यगुणों की सम्पत्तियों से अर्थात् दैवी सम्पत् से **विभाति**=अपने जीवन को विशेषरूप से शोभायुक्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन से अशुभ वाणी को दूर करें। शुभ वेदवाणी को अपनाएँ जिससे हमारा ज्ञान भी बढ़े और दुर्गुण दूर होकर दिव्यगुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भद्र भद्रा के साथ राम की ओर

भ॒द्रो भ॒द्रया॒ सच॑मान॒ आगा॒त्स्वसा॑रं जा॒रो अ॒भ्ये॑ति प॒श्चात्।
सु॒प्र॒के॒तैर्द्युभि॑र॒ग्निर्वि॒तिष्ठ॒न्रुश॑द्भि॒र्वर्णै॑र॒भि   राम॑मस्थात् ॥ ३ ॥

गतमन्त्र की समाप्ति 'दिवः वसुभिः विभाति'='दिव्यगुणों की सम्पत्तियों से चमकता है' इन शब्दों के साथ हुई है। उन दिव्य सम्पत्तियों को अपनानेवाला **भद्रः**=यह भद्र व्यक्ति **भद्रया**=(भदि कल्याणे) कल्याणी बुद्धि से **सचमानः**=समवेत हुआ-हुआ **आगात्**=आता है। कल्याणी बुद्धि यही है जो किसी का अशुभ चिन्तन नहीं करती। वस्तुतः सब का भला चाहनेवाला पुरुष ही 'भद्र' पुरुष है। आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, दोनों का ही भद्र होना आवश्यक है। **पश्चात्**=पीछे अर्थात्

भद्र बुद्धि से समवेत होने पर **जारः**=यह प्रभु का सदा स्तवन करनेवाला, क्योंकि सब स्तोता तो वही है जो कि 'सर्वभूतहिते रताः' है। यह स्तोता **स्वसारम्**=(स्वयं सरति) स्वाभाविकी क्रिया वाले पूर्ण रूप से स्वार्थशून्य क्रिया वाले, उस प्रभु को **अभ्येति**=प्राप्त होता है। जीव की क्रिया नैमित्तिक है, उसमें कुछ न कुछ स्वार्थ का अंश होता है। प्रभु इस सारे संसार को जीव के हित के लिए ही बना रहे हैं, उनकी सब क्रियाएँ जीव के कल्याण के लिये हैं प्रभु को यहाँ 'स्व-सृ' शब्द से इसलिए भी स्मरण किया है कि जीव को गति की शक्ति प्रभु प्राप्त कराते हैं, प्रभु स्वयं गतिमान् हैं, उन्हें कोई और गति देनेवाली शक्ति नहीं है। **जारः**=स्तोता जीव इस स्वयं गतिमान् प्रभु को अभ्येति=प्राप्त होता है। यह **अग्निः**=प्रभु की ओर अग्रेसर होनेवाला जीव! **द्युभिः**=देदीप्यमान **सुप्रकेतैः**=उत्तम प्रकृष्ट ज्ञानों के साथ **वितिष्ठन्**=विशेषरूप से अपने प्रकृताचार में, प्राप्त कर्तव्य में स्थित होता हुआ ('तिष्ठति प्रकृताचारे' व्यास) **रुशद्भिः**=देदीप्यमान ज्ञान ज्योति से युक्त **वर्णैः**=प्रभु के गुणवर्णनों के द्वारा **रामम्**=सर्वत्र रमण करनेवाले उस प्रभु की **अभि**=ओर **अस्थात्**=स्थित होता है। प्रभु की ओर अभिमुख होकर स्थित होनेवाला यह व्यक्ति कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता। 'रुशद्भिः' शब्द ज्ञान की दीप्ति का संकेत करता है तथा 'वर्णैः' प्रभु गुणगान का प्रतिपादन करता है। ज्ञानपूर्वक किया गया कीर्तन हमें प्रभु के समक्ष पहुँचाता है।

भावार्थ—हम भद्र बनें, हमारी बुद्धि कल्याणी हो, ज्ञानपूर्वक कर्तव्यों को हम करनेवाले बनें। ज्ञानपूर्वक प्रभुस्मरण हमें सदा प्रभु की दृष्टि में रखनेवाला हो।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शिव सखा द्वारा मार्गदर्शन

अस्य यामासो बृहतो न वग्नूनिन्धाना अग्नेः सख्युः शिवस्य।
ईड्यस्य वृष्णो बृहतः स्वासो भामासो यामन्नक्तवश्चिकित्रे ॥ ४ ॥

गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु में स्थित होने के लिये यत्नशील होते हैं तो **अस्य**=इस **बृहतः**=सदा से वर्तमान प्रभु की **यामासः** (यान्ति गच्छन्ति)=सब क्रियाएँ **न वग्नून्**=व्यर्थ की बहुत बातें न करनेवाले पुरुषों को **इन्धानाः**=दीप्त करनेवाली होती हैं। बहुत न बोलनेवाले मुनि ही (मौनात्) उस सनातन गुरु से ज्ञान प्राप्ति को प्राप्त कर पाते हैं। जैसे एक आचार्य की सब क्रियाएँ प्रिय अन्तेवासी के ज्ञान की वृद्धि के लिये होती हैं, उसी प्रकार इस प्राचीन आचार्य प्रभु की क्रियाएँ प्रिय भक्त के ज्ञान की वृद्धि के लिए होती हैं। **अग्नेः**=गतिशील जीव के **सख्युः**=मित्र और **शिवस्य**=सदा कल्याण करनेवाले अथवा (शो तनूकरणे) अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले, **ईड्यस्य**=स्तुति के योग्य **वृष्णः**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले **बृहतः**=सदा अपने मित्र का वर्धन करनेवाले (अन्तर्भावितण्यर्थो बृहि धातुः) **स्वासः**=उत्तम मुख वाले (स्वास्यस्य) अथवा (सु+आ+अस्=क्षेपणे) सब बुराइयों को हमारे से दूर फेंकनेवाले उस प्रभु की **भामासः**=ज्ञानदीप्तियाँ **यामन्**=इस जीवनयात्रा में **अक्तवः**=ज्ञान की रश्मियों के रूप में **चिकित्रे**=जानी जाती हैं। इन ज्ञान रश्मियों के प्रकाश में हमें जीवनयात्रा का मार्ग ठीक रूप में दिखता है। ये प्रकाश की किरणें हमें मार्गभ्रष्ट नहीं होने देती। प्रभु की यह सहायता प्राप्त उन्हीं को होती है जो कि अग्नि=प्रगतिशील हों। आलसी को प्रभु की सहायता नहीं प्राप्त होती। प्रभु 'अग्नि' के ही मित्र हैं सभी देव यत्नशील पुरुष के ही मित्र होते हैं 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' (God helps those who help themselves) सम्भव है कि संसार के अन्य मित्र तो शक्ति व ज्ञान की कमी के कारण चाहते हुए भी हमारा भला न कर सकें अथवा बुरा कर बैठें, परन्तु ये प्रभु सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने

से 'शिव' ही 'शिव' हैं, वे सदा हमारा कल्याण करते हैं और प्रभु का कल्याण करने का क्रम यही है कि वे हमारे अज्ञानान्धकार को क्षीण कर देते हैं। सो प्रभु जीव के लिये 'ईड्य' हैं। प्रभु के गुणों का स्मरण करता हुआ जीव अपने लिये एक आदर्श को सदा अपने सामने उपस्थित कर पाता है, और प्रगतिशील होता है। प्रभु का जीव के वर्धन का यही क्रम है। प्रभु जीव के ज्ञान को बढ़ाते हैं, इसी प्रकार वे उस पर सुखों का वर्षण करते हैं व उसको उन्नत करते हैं। प्रभु के मुख से शुभ ज्ञान की वाणियों का ही उच्चारण होता है। प्रभु के मुख से उच्चारित ये प्रेरणाएँ हमारे जीवनों को दीप्त करती हैं। ये ही हमारे जीवनमार्ग को दिखलाने के लिये प्रकाश की किरणें होती हैं।

भावार्थ—हम उस शिव सखा का स्तवन करते हुए उसकी प्रेरणाओं के प्रकाश में मार्ग को देखते हुए जीवनयात्रा में पथभ्रष्ट होने से बचें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु की वाणी

स्वना न यस्य भामासः पवन्ते रोचमानस्य बृहतः सुदिवः।
ज्येष्ठेभिर्यस्तेजिष्ठैः क्रीळुमद्भिर्वर्षिष्ठेभिर्भानुभिर्नक्षति द्याम्॥ ५॥

यस्य=जिस प्रभु की **भामासः**=ज्ञानदीप्तियाँ **स्वनाः न**=स्वनों के समान हैं, प्रभु का प्रकाश क्या है? यह अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणात्मक वाणी है। इस वाणी को सुनना ही 'अनाहत' है। आघात से उत्पन्न होने के कारण ये सब शब्द 'आहत' कहलाते हैं। ड्रम पर ड्रमष्टिक से आघात करते हैं और शब्द उत्पन्न होता है, हम जो शब्द बोलते हैं वह भी प्रारम्भ में 'मनः कायाग्निमाहन्ति' मन का कायाग्नि पर आघात होने से ही उत्पन्न होता है। यदि **रोचमानस्य**=उस तेजस्विता से चमकनेवाले **बृहतः**=अत्यन्त विशाल **सुदिवः**=उत्तम ज्ञान की ज्योति वाले प्रभु की इन वाणियों को हम सुनते हैं तो ये वाणियाँ **पवन्ते**=हमारे जीवन को पवित्र करनेवाली होती हैं। हमारे जीवनों को पवित्र करके ये वाणियाँ हमें भी उस पिता प्रभु की तरह ही 'रोचमान, बृहत् तथा सुदिव' बनाती हैं। हमारे शरीर नीरोग होकर तेजस्वी होते हैं, हमारे मन निर्मल होकर बृहत् व विशाल होते हैं, हमारी बुद्धियाँ भी निर्मल होकर ज्ञानज्योति से चमक उठती हैं। प्रभु इन **भानुभिः**=ज्ञानदीप्तियों से यह प्रभु की वाणी को सुननेवाला व्यक्ति **द्याम् नक्षति**=द्युलोक की ओर जाता है। पृथिवी से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर यह द्युलोक में पहुँचता है। यहाँ इस सूर्यसम से आगे बढ़ता हुआ यह उस अमृत अव्ययात्मा ब्रह्म को प्राप्त करता है 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'। 'कौन उस प्रभु को प्राप्त करता है अथवा द्युलोक की ओर जाता है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **यः**=जो उन ज्ञान दीप्तियों से युक्त होता है जो **ज्येष्ठेभिः**=(उपलक्षिता) हमें ज्येष्ठ बनानेवाली हैं, जिन ज्ञान दीप्तियों से हमारा जीवन श्रेष्ठ बनता है। श्रेष्ठता का अभिप्रायः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—**तेजिष्ठैः**=ये हमें अत्यन्त तेजस्वी बनाती हैं, **क्रीडुमद्भिः**=युक्ताहार विहार वाला बनाकर ये ज्ञानदीप्तियाँ जहाँ हमें शरीर में नीरोग व तेजस्वी बनाती हैं वहाँ हमारे मनों को भी निर्मल बनाकर ये हमें 'क्रीडुमान्' बनाती है। संसार हमारे लिये एक 'क्रीडु' खिलौना होता है। इस खिलौनेवाले हम होते हैं। हम प्रत्येक घटनाएँ आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। पराजय को भी एक खिलाड़ी की मनोवृत्ति से ही ग्रहण करते हैं। हानि-लाभ हमें क्षुब्ध नहीं कर देते। ये ज्ञानदीप्तियाँ **वर्षिष्ठेभिः**=ज्ञानवृद्ध तो हमें बनाती ही हैं। खूब उत्तम ज्ञान को प्राप्त कराके ये हमारे लिए सब सुखों का वर्षण करनेवाली होती हैं। एवं 'तेजिष्ठ क्रीडुमान्

व वर्षिष्ठ' बनकर हम सचमुच ज्येष्ठ बनते हैं, प्रभु की ज्ञानदीप्तियों का यही हमारे पर अनुग्रह है।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश 'आत्मा का शब्द' है (voice of conscious) इसे हम सुनते हैं तो 'रोचमान, बृहत् व सुदिव' बनते हैं, 'तेजिष्ठ, क्रीडुमान्, वर्षिष्ठ' बनकर ज्येष्ठ बनते हैं और द्युलोक को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

जो सुनते हैं

अस्य शुष्मासो ददृशानपवेर्जेहमानस्य स्वनयन्नियुद्भिः।
प्रत्नेभिर्यो रुशद्भिर्देवतमो वि रेभद्भिररतिर्भाति विभ्वा॥६॥

गतमन्त्र में प्रभु की वाणी का उल्लेख है। उस वाणी को सामान्यतः हम सुन नहीं पाते। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **अस्य**=इस प्रभुभक्त के **शुष्मासः**=शत्रु शोषक बल **स्वनयन्**=उस प्रभु की वाणी को स्वनित करते हैं, अर्थात् सुनने योग्य बनाते हैं। जिस समय हम कामादि वासनाओं को नष्ट करते हैं तभी उस अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणाएँ हमें सुन पाती हैं, वासनाओं का आवरण हटने पर ही ज्ञान का प्रकाश दिखता है। अपने शत्रु शोषक बल से वासनाओं का शोषण करनेवाला यह व्यक्ति '**ददृशानपवेः**'=(ददृशानः पविः च, दृश् कानच् तथा पू+इ) चीजों को ठीक रूप में देखनेवाला तथा पवित्र जीवनवाला होता है। **जेहमानस्य**=यह सदा गतिशील होता है 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। यह ददृशान=ठीक रूप में प्रत्येक वस्तु को देखनेवाला पवि=पवित्र तथा जेहमान=गतिशील व्यक्ति वह है **यः**=जो कि **प्रत्नेभिः**=सदा शाश्वत काल से चले आये धर्म के मार्ग पर चलनेवाले, पुराण-मार्ग का अनुसरण करनेवाले, नये-नये फैशन्स में न बह जानेवाले **रुशद्भिः**=ज्ञान की दीप्तियों से दीप्त **रेभद्भिः**=उत्तम कर्म व ज्ञान के द्वारा प्रभुस्तवन करनेवाले **नियुद्भिः**=शरीररूप रथ में निश्चित रूप से जोते जानेवाले इन्द्रियाश्वों से **देवतमः**=उत्कृष्ट देव बनता है। इसकी कर्मेन्द्रियाँ शाश्वत धर्म के मार्ग पर चलती हैं (प्रत्न), ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानदीप्त होती हैं (रुशत्) तथा इस ज्ञान व कर्म से यह प्रभु का उपासन करता है (रेभद्)। इस प्रकार यह 'देवतम'=उत्कृष्ट देव **अरतिः**=विषयों में न रुचि वाला (अ-रति) तथा सतत क्रियाशील (क्र०) तथा **विश्वा**=विभवनशील महान् होता हुआ **विभाति**=विशेष ही रूप से दीप्त होता है। यह 'वायु' आत्मा ही है। 'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्' यह शरीर के विरोध में 'वायु' शब्द से आत्मा का ही प्रतिपादन है। 'आत्मा' शब्द 'अत सातत्यगमने' से बना है और वायु 'वा गतौ' से। इन्द्रियाँ ही इस आत्मा के घोड़े हैं, इन्हें निश्चित रूप से शरीर रूप रथ में जोतता है सो ये 'नियुत्' हैं।

भावार्थ—जब हम वासनाओं का शोषण करेंगे तभी प्रभु की वाणी को सुन पायेंगे। सुनेंगे तो 'देवतम-अरति व विश्वा' बनेंगे।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रभस्वान्

स आ वक्षि महि न आ च सत्सि दिवस्पृथिव्योररतियुवत्योः।
अग्निः सुतुर्कः सुतुर्केभिरश्वै रभस्वद्भी रभस्वाँ एह गम्याः॥७॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **स**=वह 'देवतम-अरति व विश्वा' बननेवाला तू **आ**=सब ओर

से व सब प्रकार से **वक्षि**=देवों को अपने अन्दर प्राप्त कराता है, अर्थात् तू गुणों का कारण करनेवाला बनता है, **च**=और **नः**=हमारी **महि**=पूजा में **आसत्सि**=आकर स्थित होता है (मह् पूजायाम्, भावे क्विप्)। वस्तुतः प्रातः-सायं प्रभु पूजाएँ स्थित होना दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए सहायक है और दिव्यगुणों का वर्धन प्रभु-पूजन की वृत्ति को बढ़ाता है। इस प्रकार प्रभु-पूजन व दिव्यगुणों की प्राप्ति परस्पर उपकारक होते हैं। तू **युवत्योः**=परस्पर विकास वाली **दिवस्पृथि**=मस्तिष्क व शरीर के विषय में **अरतिः**=(ऋ गतौ) निरन्तर क्रियाशील होता है। अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के लिये तू सदा प्रयत्न करता है, तू मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाता है तो शरीर को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करता है एक की ही उन्नति में नहीं लगा रहता। परन्तु साथ ही '**अरतिः**'=तू इनमें रति व ममता वाला नहीं हो जाता, इनमें तू फँसता नहीं। इस प्रकार बना हुआ तू '**अग्निः**'=अग्रेणी है, अपने को उन्नत करनेवाला है। '**सु-तुकः**'=(तुक् गतौ) उत्तम गतिवाला है, वस्तुतः यह सद् आचरण है। यह तू **सुतकेभिः अश्वैः**=उत्तम गति वाले इन्द्रिय रूप अश्वों से सदा उत्तम क्रियाओं में लगी हुई इन्द्रियों से और क्रियाओं में लगे रहने के कारण ही **रभस्वद्भिः**=रभस्, अर्थात् शक्ति वाली इन्द्रियों से **रभस्वान्**=शक्तिशाली बना हुआ तू **इह**=यहाँ हमारे पास **आगम्याः**=आत्मा वाला बन। शक्तिशाली ही प्रभु को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'=यह आत्मा निर्बलों को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु उसे प्राप्त होता है जो कि—(क) दिव्यगुणों को धारण करता है, (ख) पूजा में प्रातः-सायं स्थित होता है, (ग) शरीर व मस्तिष्क दोनों को उन्नत करता है, (घ) गतिवाला तथा उत्तम गतिवाला बनता है। (ङ) उत्तम गतिशील व शक्तिशाली इन्द्रियों से शक्तिशाली होता है। इस शक्तिशाली को ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

इस सूक्त का प्रारम्भ इस रूप में है कि—ज्ञानदीप्त हों और अकल्याणी वाणी से दूर हों, (१) शुभ वेदवाणी को अपनाएँ जिससे हमारा ज्ञान बढ़े, (२) हम भद्र बनें, सदा कल्याणी बुद्धि को अपनाएँ, (३) प्रभु की प्रेरणा रूप प्रकाश में मार्ग को देखते हुए मार्गभ्रष्ट होने से बचें, (४) प्रभु की प्रेरणा को सुनते हुए 'तेजिष्ठ, क्रीडुमान् व वर्षिष्ठ' बनें, (५) इस प्रभु की वाणी को सुनने से ही हम देवतम अरति व विश्वा बनेंगे, (६) इस प्रेरणा के अनुसार चलते हुए ही 'रभस्वान्' शक्तिशाली होंगे और प्रभु को प्राप्त होने के योग्य हो जाएँगे, (७) इन लोगों के लिये प्रभु इस संसार रूप मरुस्थल में तृषा शान्ति की साधनभूत 'प्रपा' के समान होंगे—

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मरुस्थल में प्रपा

प्र ते यक्षि प्र त इयर्मि मन्म भुवो यथा वन्द्यो नो हवेषु।
धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन् ॥ १ ॥

प्रभुभक्त कहता है कि हे प्रभो! **ते प्रयक्षि**=मैं प्रकर्षेण तेरा संग करता हूँ। तेरे साथ मिलने के लिये यत्नशील होता हूँ। **ते**=आपके **मन्म**=इस वेदज्ञान व मन्त्रात्मक स्तुतियों की ओर **प्र इयर्मि**=प्रकर्षेण गति करता हूँ। ज्ञान प्राप्ति के लिये यत्नशील होता हूँ। इन ज्ञानवाणियों के द्वारा आपका स्तवन करता हूँ। **यथा**=जिससे आप **नः**=हमारी **हवेषु**=पुकारों में **वन्द्यः**=अभिवादन व स्तुति के योग्य **भुवः**=हों। हे **प्रत्न राजन्**=सनातन शासक रूप प्रभो! हे **अग्ने**=सब की उन्नति के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **इयक्षवे**=यज्ञशील व प्रतिदिन प्रातः-सायं आपके सम्पर्क में आनेवाले

और इस प्रकार **पूरवे**=अपने में शक्ति का पूरण करनेवाले मनुष्य के लिये **धन्वन्**=इस संसार रूप मरुस्थल में **प्रपा इव असि**=एक प्याऊ के समान हैं। मरुस्थल में तृषा से व्याकुल हुआ-हुआ पुरुष प्याऊ पर जल को पाकर जैसे अपनी व्याकुलता को दूर कर पाता है, इसी प्रकार इस कष्टबहुल संसार में मनुष्य प्रभु के चरणों में बैठकर शान्ति को अनुभव करता है। संसार मरुस्थल है, तो प्रभु उस मरुस्थल में प्याऊ हैं। इस प्याऊ पर भक्त लोग शान्ति देनेवाले जल का पान करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील व अपना पूरण करनेवाले बनने पर हम उस प्रभु को इस संसार रूप मरुस्थली में प्याऊ के समान पाते हैं।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उष्ण व्रजं

यं त्वा जनासो अभि संचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ।
दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन ॥ २ ॥

हे प्रभो! **यं त्वा**=जिन आपको **जनासः**=लोग उसी प्रकार प्रवेश करते हैं **इव**=जैसे **गावः**=गौवें **उष्णम् व्रजम्**=शीत शून्य कोसे-कोसे वाड़े में प्रवेश करती हैं। उष्ण व्रज में प्रवेश करके गौवें सरदी के भय से रहित हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रभु में प्रवेश करके हम मृत्यु के भय से रहित हो जाते हैं। हे **यविष्ठ**=सब बुराइयों को दूर करनेवाले तथा सब अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले प्रभो! आप **देवानां**=देववृत्ति वाले लोगों के **दूतः**=सन्देश हर हैं। दिव्य वृत्ति वालों को आप ज्ञान का सन्देश प्राप्त करते हैं। **मर्त्यानाम् अन्तः**=मनुष्यों के अन्दर उनके हृदयदेश में **महान्**=पूजा के योग्य आप **रोचनेन**=ज्ञान की दीप्ति के साथ **चरसि**=विचरते हैं। मनुष्यों को चाहिए कि अपने हृदयदेश में प्रभु का उपासन व ध्यान करें। यह प्रभु का उपासन उन्हें ज्ञानदीप्ति से दीप्त हृदयाकाश वाला बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु अपने भक्तों के लिये उसी प्रकार सुखद हैं जैसे कि गौवों के लिए एक कोसा बाड़ा। प्रभु देववृत्ति वालों को ज्ञान सन्देश प्राप्त कराते हैं। मनुष्यों के लिए वे हृदयदेश में उपासित होने पर ज्ञान की रोशनी देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चाहता हुआ और चलता हुआ

शिशुं न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्ति सचनस्यमाना।
धनोरधि प्रवता यासि हर्यञ्जिगीषसे पशुरिवावसृष्टः ॥ ३ ॥

शिशुं न त्वा=एक बच्चे के समान तुझे **जेन्यं वर्धयन्ती**=(जयशीलं=जि, विकासशीलं वा जन्) जयशील व विकासशील के रूप में बढ़ाती हुई **माता**=यह तेरे जीवन का निर्माण करनेवाली प्रभु रूप माता **सचनस्यमाना**=सदा तेरे सम्पर्क को चाहती हुई **बिभर्ति**=तेरा पोषण करती है। माता जैसे बच्चे का वर्धन करती है, उसी प्रकार प्रभु हमारा वर्धन करते हैं। ये हमें जयशील व विकासशील बनाते हैं। जीवन का निर्माण प्रभु ने ही करना है। ये प्रभु हमारा सम्पर्क कभी छोड़ते नहीं। सांसारिक माता कभी साथ छोड़ भी दे, परन्तु प्रभु हमारा साथ देंगे ही। प्रभु के सम्पर्क में रहनेवाला व्यक्ति 'जेन्य'=जयशील व विकासशील बनता है। जीव से कहते हैं कि **धनोः**=(प्रणवो धनुः) ओंकाररूप धनुष के द्वारा **प्रवता**=निम्न मार्ग से, अर्थात् सदा झुककर नम्रता से चलता हुआ तू **अधियासि**=उस प्रभु तक पहुँचता है। नम्रता ही तेरे उत्त्थान के कारण हो जाती है। इस उत्त्थान

में 'ओम्' का जप तेरे लिये सहायक होता है। इस जप से तेरी चित्तवृत्ति ठीक बनी रहती है। **हर्यन्**=(गतिकान्त्योः) उस प्रभु की ओर चलता हुआ और उस प्रभु को चाहता हुआ तू **जिगीषसे**=उस प्रभु को उसी प्रकार प्राप्त करना चाहता है, **इव**=जैसे **अवसृष्टः पशुः**=खुला छोड़ा हुआ पशु अपने गोष्ठ के प्रति आता है। जीव भी बन्धनों से मुक्त हुआ-हुआ प्रभु की ओर जाता है।

भावार्थ—प्रभु सदा साथ देनेवाली माता है, वह हमें जयशील व विकासशील बनाती है। ओम् के जप से नम्रता से चलते हुए हम प्रभु को उसी प्रकार प्राप्त करते हैं जैसे कि बन्धनमुक्त हुआ-हुआ पशु गोष्ठ को प्राप्त होता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मूढ़ों की अमूढ़ से प्रार्थना

मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से।
शये वव्रिश्चरति जिह्वयादन्रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन्॥ ४॥

हे **अमूर**=अमूढ़, माया के अधिपति होने से इस माया से मूढ़ न बनाये जानेवाले प्रभो! **चिकित्व**=हे ज्ञान सम्पन्न प्रभो! **मूराः वयम्**=मूर्ख हम लोग, इस माया से मूढ़मति बने हुए हम **महित्वम्**=आपकी महिमा को **न**=नहीं जान पाते हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अंग**=हे सर्व प्रभो! **त्वम्**=आप ही अपनी रस महिमा को **वित्से**=जानते हो। आपकी महिमा हमारे लिए अचिन्त्य है, आपकी महिमा का पार पाना किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। यह अचिन्यमहिम प्रभु **वव्रिः**=अत्यन्त सुन्दर रूप वाले होते हुए (वव्रिः रूपनाम नि ३.७) **शये**=हमारे अन्तःकरणों में ही निवास करते हैं। **जिह्वया**=जिह्वा से अर्थात् हृदयस्थ रूपेण उच्चारित वेदवाणी से **अदन्**=हमारे सब मलों को अदन्=खाते जाते हुए अर्थात् समाप्त करते हुए ये प्रभु हमारे जीवनों को उसी प्रकार निर्मल बना देते हैं जैसे कि कोई गौ जिह्वा से बछड़े के शरीर को चाटकर ठीक कर देती है। ये प्रभु **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक **सन्**= होते हुए **युवतिम्**=अपने से मिश्रण व सम्पर्क करनेवाली प्रजा को अथवा दुर्गुणों से अपना अमिश्रण व गुणों से मिश्र करनेवाले व्यक्ति को **रेरिह्यते**=खूब मधुर जीवनवाला, स्वादमय जीवनवाला बना देते हैं। जो भी व्यक्ति प्रभु के सम्पर्क में आता है, उसका जीवन मधुर बन जाता है। वह सब प्रजाओं का पति उस परमात्मा को जानता हुआ सब में समदृष्टि होकर प्रेम वाला होता है। इस एकत्व दर्शन वाले को शोक मोह नहीं सताते।

भावार्थ—प्रभु की महिमा प्रभु ही जानते हैं। अचिन्य होते हुए भी वे अपने सुन्दरतम रूप से वे प्रभु हमारे हृदयों में ही हैं। ज्ञानवाणियों से वे हमारे जीवनों को पवित्र कर देते हैं। अपने सम्पर्क में आनेवाले के जीवन को वे मधुर बना देते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नव्य जीवनवाला विरल पुरुष

कूचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः।
अस्नातापो वृषभो न प्र वेति सचेतसो यं प्रणयन्त मर्ताः॥ ५॥

संसार में मूर्ख तो बहुत हैं समझदार ज्ञानी कोई एक आध ही होता है। इस बात को मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि **कूचित्**=(कुचित्) कहीं विरल स्थान में ही **सनयासु**=(स-नया) नीति मार्ग पर चलनेवाली प्रजाओं में **नव्यः**=स्तुत्य जीवनवाला व्यक्ति **जायते**=पैदा होता है। माता-पिता

का जीवन नीति सम्पन्न हो, वे न्याय मार्ग पर चलनेवाले हों तो उनका सन्तान उत्तम वातावरण में पलकर प्रशस्त जीवनवाला बनता है। यह व्यक्ति **वने**=प्रभु के संभजन में स्थित होता है (वन्=संभक्तौ) इसकी चित्तवृत्ति भोगप्रवण न होकर प्रभु-प्रवण होती है। यह **पलितः**=पालयिता धर्म के नियमों का पालन करनेवाला होता है। **धूमकेतुः**=(धू कम्पने) इसका ज्ञान सब बुराइयों को कम्पित करके दूर करनेवाला होता है। **अस्नाता**=यह उस प्रभु में स्नान करनेवाला होता है, अर्थात् प्रभु की उपासना इस के जीवन के शोधन का कारण बनती है। यह **आपः**=(रेतः) वीर्यकणों को **प्रवेति**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है अर्थात् उन्हें सुरक्षित रखता है, और अतएव **वृषभो न**=वृषभ के समान शक्तिशाली होता है। इस प्रकार के जीवनवाला बन वही पाता है **यम्**=जिसको कि **सचेतसो मर्ताः**=समझदार ज्ञानी पुरुष **प्रणयन्त**=प्रकृष्ट मार्ग पर ले चलनेवाले होते हैं। उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करनेवाला ही तो ज्ञानी बनता है, माता ने उसे चरित्र सम्पन्न बनाना है, पिता ने उसे शिष्टाचार सिखाना है और आचार्य ने उसे साङ्गोपाङ्ग वेद-ज्ञान देना है। तीनों का सम्मिलित प्रयत्न ही इसे नव्य व स्तुत्य जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—प्रभु प्रवण वृत्ति वाला व्यक्ति विरल ही होता है। उत्कृष्ट जीवन उसीका बनता है जिसे कि योग्य माता, पिता व गुरु प्राप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दो-चार-दस रस्सियों से बाँधते हैं

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।
इयं ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः॥ ६॥

'मनुष्य ज्ञानी क्यों नहीं बन पाता'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **इव**=जैसे **वनर्गू**=इस शरीर में ही निवास करनेवाले **तनूत्यजा**=शरीर की सब शक्तियों को क्षीण कर डालनेवाले **तस्करा**=उस-उस अवाञ्छनीय कार्य को करनेवाले (तत् तत् करोति इति तस्करः) मन व बुद्धि **दशभि रशनाभिः**=दस इन्द्रिय रूप रस्सियों से **अभ्यधीताम्**=खूब अच्छी तरह धारण कर लेते हैं, जकड़ लेते हैं। मनुष्य को इन इन्द्रियों के व्यसनों में फँसाकर नष्ट कर डालते हैं। जब प्रभु कृपा होती है तो हम तभी इस बन्धन से बच पाते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! मुझे बन्धनों से छुड़ाकर आगे ले चलनेवाले प्रभो! **इयम्**=इस वेदवाणी में **नव्यसी**=अत्यन्त स्तुत्य **मनीषा**=बुद्धि व ज्ञान प्राप्त होता है। इसके द्वारा मेरी बुद्धि सद्बुद्धि बनती है। इस मन को काबू करनेवाली मनीषा के द्वारा हे प्रभो! आप **न**=जिस प्रकार रथ को उत्तम घोड़ों से जोतते हैं उसी प्रकार **रथम्**=मेरे इस शरीररूप रथ को **शुचयद्भि अंगैः**=अत्यन्त पवित्र कार्यों में व्याप्त गतिशील इन्द्रियाश्वों से **युक्ष्वा**=युक्त करिये। अर्थात् मेरी इन्द्रियाँ व्यसनों फँसकर मेरे लिये बन्धन होकर उन्नति में विघ्नभूत न हो जाएँ। पवित्र बुद्धि के द्वारा मेरा मन भी पवित्र हो, और मेरी ये इन्द्रियाँ शरीर रूप रथ को त्वरित गति से लक्ष्यस्थान की ओर ले जानेवाले घोड़ों के समान हों।

भावार्थ—हमारे मन व बुद्धि पवित्र हों, हमारी इन्द्रियाँ हमारे लिए बन्धनरज्जु न हो जाएँ।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मनीषा व गीः प्रभु की वाणी

ब्रह्म च ते जातवेदो नमश्चेयं च गीः सदमिद्वर्धनी भूत्।

रक्षा णो अग्ने तनयानि तोका रक्षोत नस्तन्वो३ अप्रयुच्छन्॥ ७॥

हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ते ब्रह्म च**=आप का 'ज्ञान' **ते नमः**=आपके प्रति नमन **च**=तथा **इयं**=यह आपकी **गीः**=वेदवाणी **सदम् इत्**=सदा ही **वर्धनी भूत्**=हमारे वर्धन का कारण बने। आपकी कृपा से हम ज्ञान को प्राप्त करें, नतमस्तक हों तथा यह आपकी वेदवाणी हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाली हो। हे **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक परमात्मन् **अप्रयुच्छन्**=प्रमादरहित होकर पूर्ण सावधानी से **नः**=हमारे **तनयानि तोका**=पुत्र-पौत्रों को भी **रक्ष**=सब प्रकार के व्यसनों के बन्धनों में पड़ने से बचाइये, **उत**=और **नः**=हमारे **तन्वः**=शरीरों को भी **रक्षा**=सुरक्षित करिये। हमारे मन व बुद्धि, गतमन्त्र के निर्देश के अनुसार, हमारे लिए तस्कर न बन जायें, वे इन्द्रिय रूप रस्सियों से हमें जकड़ कर नष्ट ही न कर डालें।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें ज्ञान, नम्रता व वेदवाणी (स्वाध्याय) प्राप्त कराइये। ये इस जीवनयात्रा में हमारी उन्नति का कारण बनें। हमारा वंश भी पवित्र भावनाओं वाला होकर फले व फूले।

इस सूक्त का प्रारम्भ में प्रभु को संसार रूप मरुस्थली में एक प्याऊ के समान चित्रित करने से हुआ है, (१) वे प्रभु ही शीतार्त मनुष्य के लिये एक कोष्णगृह (कुछ-कुछ गर्म गृह) के समान हैं, (२) माता के समान यह हम शिशुओं का वर्धन करते हैं, (३) पर हम मूढ़ उस माता की महिमा को समझते नहीं, (४) कोई एक आध विरल व्यक्ति ही उस प्रभु की पवित्र धाराओं में स्नान करनेवाला बनता है, (५) सामान्यतः तो मनुष्य बुद्धि व मनरूप चोरों से इन्द्रियरूप रज्जुओं द्वारा बाँधे जाते हैं, (६) प्रभु कृपा होती है तो हमें ज्ञान-नम्रता व प्रभु की यह वेदवाणी प्राप्त होती है और हमें बन्धनमुक्त कर आगे बढ़ानेवाली बनती है, (७) यह ज्ञान व नम्रता हमें सब सम्पत्तियों के आधार उस आनन्दमय प्रभु की ओर ले चलते हैं—

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'धनों के धरुण' प्रभु

एकः॑ समु॒द्रो ध॒रुणो॑ रयी॒णाम॒स्मद्धृ॒दो भूरि॑जन्मा॒ वि च॑ष्टे।
सिष॒क्त्यूध॑र्नि॒ण्योरु॒पस्थ॒ उत्स॑स्य॒ मध्ये॒ निहि॑तं प॒दं वेः॥ १॥

एकः=वे प्रभु एक हैं, उन्हें अपने सृष्टि निर्माण आदि कार्यों के लिए किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं। 'न तत्समोऽस्त्य अभ्यधिकः कुतोऽन्यः'=उनके समान भी कोई नहीं, अधिक का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अथवा वे प्रभु (इ गतौ) सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले हैं। **स-मुद्रः**=वे सदा आनन्दमय हैं, हर्ष के साथ हैं। **रयीणां धरुणः**=सम्पूर्ण सम्पत्तियों के कोश व धारण करनेवाले हैं। वे **भूरिजन्मा**=अनन्त पदार्थों को जन्म देनेवाले प्रभु **अस्मत्**=हमारे **हृदः**=हृदयों को **विचष्टे**=वारीकी से देख रहे हैं। हृदयों की अन्तःस्थित होते हुए वे हमारे हृदयों की सब बातों को जानते हैं। **निण्योः**=(अन्तर्हितयोः) अन्नमय कोश के अन्दर स्थापित 'मनोमय व विज्ञानमय' कोशों के **उपस्थे**=समीप वर्तमान वे प्रभु **ऊधः सिषक्ति**=सेवन करते हैं। अर्थात् विज्ञानमय कोश में पहुँचकर ही हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। हे जीव! तू **उत्सस्य**=ज्ञानस्रोत के, मानस के **मध्ये**=मध्य में **निहितम्**=स्थापित व विद्यमान **पदम्**='पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः'=उस जाने योग्य व प्राप्त करने के योग्य प्रभु के प्रति **वेः**=जानेवाला है तू सदा उस प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चल। हृदय से ही शरीर में सारे रुधिर का अभिसरण चलता है। यह हृदय रुधिर का आधार है, 'पौराणिक साहित्य में इसे मानसरोवर' कहा गया है। इस मानसरोवर में 'हंस' तैरता है। यह

हंस 'हन्ति पाप्मानम्' इस व्युत्पत्ति से परमात्मा ही है। इस प्रभु को हमें प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

भावार्थ—वे आनन्दमय प्रभु ही सब धनों के धरुण हैं। वे ही हमारे ज्ञानकोश को भी भरनेवाले हैं। उस हृदयस्थ प्रभु को जाननेवाले हम बनें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नाम-स्मरण

समानं नीळं वृषणो वसानाः सं जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः।
ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि॥ २॥

गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को जाननेवाले **वृषणः**=शक्तिशाली लोग **समानं नीडम्**=प्रभु रूप एक ही आश्रय (घोंसले) में रहनेवाले होते हैं। अर्थात् ये सभी को प्रभु का पुत्र समझते हैं, सो प्रभु को ही सब का घर जानते हैं। प्रभु को पिता के रूप में देखनेवाले तथा सब के साथ अविरोध को रखनेवाले ये शक्तिशाली तो होते ही हैं। ये **महिषाः**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पूजक करनेवाले प्रभु-भक्त **अर्वतीभिः**=खूब क्रियाशील इन्द्रिय रूप अश्वों से **संजग्मिरे**=सब के साथ मिलकर चलते हैं। अर्थात् इनकी इन्द्रियों की क्रियाएँ परस्पर विरोधी न होकर अनुकूलता वाली होती हैं 'संगच्छध्वम्' इस पिता से दिये गये उपदेश को ये अपने जीवन में अनूदित करनेवाले होते हैं। **कवयः**=ये तत्त्वज्ञानी पुरुष **ऋतस्य पदम्**=ऋत के मार्ग को **निपान्ति**=निश्चय से अपने जीवन में सुरक्षित करते हैं। जीवन में अनृत से दूर होकर सत्य को ही अपनाते हैं। इनकी सब क्रियाएँ ऋत व ठीक ही होती हैं। सूर्य व चन्द्रमा की तरह ठीक समय व स्थान पर क्रियाओं को करते हुए ये कल्याण के मार्ग का आक्रमण करते हैं। इसलिए कि 'मार्ग से कभी विचलित न हो जाएँ' ये **गुहा**=अपनी हृदयरूप गुफा में **पराणि नामानि दधिरे**=उत्कृष्ट नामों का धारण करते हैं। प्रभु के नाम का स्मरण इन्हें न्यायमार्ग से विचलित होने से बचाता है। वे प्रभु को याद करते हैं और उसके निर्देश के अनुसार 'ऋत' का पालन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हम सबके घर हैं। हम मिलकर चलते हुए प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं। हम हृदयों में प्रभु के नाम का स्मरण करते हुए उसके ही मार्ग पर चलते हैं। न्याय मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मामनुस्मर बुध्य च

ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः॥ ३॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के घर में वास करनेवाले **शिशुम्**=इस (शो तनुकरणे) तीव्र बुद्धि वाले बालक को **ऋतायिनी**=सत्य वाले तथा **मायिनी**=प्रज्ञा वाले द्युलोक व पृथिवीलोक **संदधाते**=सम्यक्तया धारण करते हैं। 'द्यौष्पिता, पृथिवी माता' इस वाक्य के अनुसार द्युलोक व पृथिवीलोक इसके माता-पिता होते हैं और वे इसके जीवन में सत्य व प्रज्ञा को भरनेवाले होते हैं। द्युलोक व पृथिवी के अन्तर्गत सभी देव इनको सत्य से शुद्ध मनवाला तथा प्रज्ञा से प्रदीप्त मस्तिष्क वाला बनाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार **वर्धयन्ती**=इसका वर्धन करते हुए ये द्युलोक व पृथिवीलोक **मित्वा**=बड़ा माप करके शिशु=इस अपने सन्तान को **जज्ञतुः**=विकसित करते हैं।

इनके अंग-प्रत्यंग बड़े माप करते हुए आनुपातिक व सुन्दर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सुन्दर मन, मस्तिष्क व शरीर वाले ये व्यक्ति **चरतः ध्रुवस्य**=जंगम व स्थावर **विश्वस्य**=सम्पूर्ण जगत् के **नाभिं**=केन्द्रभूत यज्ञ को (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) तथा **कवेः चित् तन्तुम्**=उस क्रान्तदर्शी प्रभु के सब लोकों में ओत-प्रोत सूत्र को (सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्) **मनसा**=मन से **वियन्तः**=विशेष रूप से जानेवाले होते हैं। अर्थात् ये यज्ञशील होते हैं, और सब लोकों में ओत-प्रोत सूत्र रूप प्रभु को मन से स्मरण करते हैं। इनके मन में प्रभु व हाथों में यज्ञ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु में निवास करने वालों के 'मन' सत्य वाले, 'मस्तिष्क' प्रज्ञा वाले तथा 'शरीर' सुन्दर व आनुपातिक अंगों वाले होते हैं। ये सर्वलोकहितकारी कर्मों को करते हैं और इनके मन में प्रभु का स्मरण चलता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ऋत की वर्तनि

ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातमिषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते।
अधीवासं रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम्॥ ४॥

गत मन्त्र के अनुसार **सुजातम्**=उत्तम शक्तियों के विकास वाले इस प्रभु-भक्त को **हि**=निश्चय से **ऋतस्य वर्तनयः**=सत्य व यज्ञ के मार्ग **सचन्ते**=सेवन करते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं, यह यज्ञशील होता है तथा सदा सत्याचरण ही करता है। और **प्रदिवः**=प्रकृष्ट प्रकाश व ज्ञान से युक्त अर्थात् बुद्धि को सात्त्विक बनानेवाले **इषः**=अन्न **वाजाय**=शक्ति की वृद्धि के लिए **सचन्ते**=प्राप्त होते हैं। यह उन्हीं अन्नों का सेवन करता है, जो अन्न इस की बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर इसे प्रज्ञान=सम्पन्न करें तथा इस की शारीरिक शक्ति की वृद्धि का कारण हों। **रोदसी**=माता व पिता के स्थानापन्न द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् इनमें स्थित सभी प्राकृतिक शक्तियाँ इस व्यक्ति को **अधीवासं**=(अधि=उपरि) उत्कृष्ट निवास से **वावसाने**=आच्छादित करनेवाले होते हैं (वस आच्छादने, आच्छादयित्र्यौ सा०) इसके जीवन को सूर्यादि सभी देव बड़ा उत्तम बनानेवाले होते हैं। ये द्युलोक व पृथिवीलोक **मधूनाम्**=अत्यन्त मधुर जलों के सेचन से उत्पन्न हुए-हुए **घृतै अन्नै**=मलों के क्षरण व दीप्ति वाले (घृ क्षरणदीप्त्योः) अन्नों से अथवा घृतों और अन्नों से इस व्यक्ति को **वावृधाते**=खूब बढ़ाते हैं। शुद्ध जलों से उत्पन्न चारों को खानेवाली व शुद्ध जलों के पीनेवाली (सूयवसाद् भगवती हि भूयाः, शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः) गौवों के दूध से प्राप्त घी भी सात्त्विक होगा और उसके सेवन से इस प्रभु-भक्त की सब शक्तियों का ठीक ही विकास होगा।

भावार्थ—हम सत्य के मार्ग पर चलें, सात्त्विक अन्नों व घृतों का सेवन करें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु के रूप को पाना

सप्त स्वसृररुषीर्वावशानो विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशे कम्।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य॥ ५॥

'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इस मन्त्र वाक्य के अनुसार 'दो कान, दो नासिका छिद्र दो आँखें व मुख' में सात ऋषि हैं, जो कि प्रत्येक शरीर में प्रभु के द्वारा स्थापित किये गये हैं (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे)। ये सातों ऋषि जब 'स्व' आत्मा की ओर सरण करनेवाले होते हैं तो ये 'स्व-सृ' कहलाते हैं। इन **सप्त स्वसृः**=सातों स्वसाओं को **अरुषीः**=आरोग माताः=खूब

ज्ञान से दीप्त **वावशानः**=चाहता हुआ **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **मध्वः**=अन्न के सारभूत मधुतुल्य इन सोमकणों को **उज्जभारा**=ऊर्ध्वगतिवाला करता है। ये सोमकण ही ज्ञानाग्नि के समिद्ध करनेवाले बनते हैं। उस समय ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की दीप्ति से चमक जाती हैं। इस प्रकार यह ज्ञानदीप्त पुरुष **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को **दृशे**=देखने के लिये समर्थ होता है। प्रभु का दर्शन सूक्ष्म बुद्धि से ही तो होता है 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्म्या सूक्ष्मदर्शिभिः'। इन्द्रियों से वे प्रभु ग्राह्य नहीं हैं, सूक्ष्म बुद्धि व पवित्र मन से ही प्रभु को देखना होता है (मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु)। यह विद्वान् पुरुष **अन्तःयेमे**=इन इन्द्रियों व मन को अन्दर ही नियमित करता है। यह चित्तवृत्ति का अन्तः नियमन ही 'योग' है। वशीभूत मन ही द्रष्टा को आत्मस्वरूप में स्थापित करनेवाला होता है। **अन्तरिक्षे**=यह इन्द्रियों का नियमन करनेवाला पुरुष (अन्तराक्षि) मध्यमार्ग में **पुराजाः**=आगे और आगे चलनेवाला होता है (पुरा+अज) वस्तुतः मध्यमार्ग ही मनुष्य की सब उन्नतियों का कारण बनता है। 'अति' सर्वत्र अवनति का कारण बनती है। यह मध्य मार्ग में आगे बढ़नेवाला व्यक्ति **इच्छन्**=चाहता हुआ, प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामना करता हुआ, **पूषणस्य**=उस सबके पोषण करनेवाले प्रभु के **वव्रिम्**=रूप को **अविदत्**=प्राप्त करता है। हमें प्रभु जैसा ही बनने का प्रयत्न करना है। प्रभु 'पूषा' हैं, हमें भी औरों का पोषण करनेवाला बनना है। प्रभु के रूप को प्राप्त करने का यही अभिप्राय है।

भावार्थ—'इन्द्रियों को आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाला बनाना, वीर्य की ऊर्ध्वगति से ज्ञानाग्नि को समिद्ध करना, इन्द्रियों व मन का अन्तर्नियमन, मध्यमार्ग में चलना' ये प्रभु प्राप्ति के साधन हैं जिनसे हम अपने को प्रभु के अनुरूप बनाते हैं।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सात मर्यादाएँ

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ ६ ॥

गत मन्त्र में वर्णित सप्त ऋषियों के दृष्टिकोण से **कवयः**=ज्ञानियों ने **सप्त मर्यादाः**=सात मर्यादाओं को **ततक्षुः**=बनाया है। उदाहरणार्थ—कानों के लिए यह मर्यादा बनी कि 'सुक्रतौ कर्णौ-भद्रश्रुतौ' कान सदा उत्तम बातों के ही सुननेवाले हों। वाणी के लिए यह मर्यादा हुई कि 'भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः' भद्रवाणी ही बोलने के लिए मनुष्य को भेजा गया है। इस प्रकार बनी हुई **तासाम्**=उन मर्यादाओं में से **एकाम् इत्**=एक को भी **अभि अगात्**=उल्लंघन करके यदि कोई जाता है तो **अंहुरः**=वह पापी होता है। मर्यादा का उल्लंघन ही पाप है। वह व्यक्ति जो कि मर्यादा को पालने का इच्छुक होता है वह **ह**=निश्चय से **आयोः स्कम्भे**=गतिशील, अनालसी पुरुष के आधारभूत प्रभु में **तस्थौ**=स्थित होता है। अर्थात् उस प्रभु को अपना आधार जानता है, जो प्रभु श्रमशील पुरुष के सहारा देनेवाले हैं। आलसी व्यक्ति प्रभु कृपा का पात्र नहीं बनता। यह **उपमस्य**=अत्यन्त समीप स्थित हृदय रूप गुहा में प्रविष्ट उस प्रभु के **नीडे**=आश्रय में स्थित होता है। प्रभु को ही अपना निवास स्थान बनाता है। प्रभु को अपना आश्रय जान वह अभय होता है, **पथां विसर्गे**=मार्गों के प्रकाशभूत (विसर्ग=light, splendour) प्रभु में स्थित होता है। अन्तःस्थित प्रभु सदा ठीक मार्ग का प्रदर्शन करते हैं, प्रेरणा के द्वारा मार्ग का वे प्रतिपादन करते हैं। एवं प्रभु में स्थित होनेवाला व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को भलीभान्ति जानता है। और तभी वह मर्यादाओं का पालन कर पाता है। इस मन्त्र में यह 'त्रित' **धरुणेषु**=मनुष्य का धारण करनेवाले 'मन, बुद्धि व

इन्द्रियों' में स्थित होता है, इनका वह अधिष्ठाता बनता है। इनको अपने वश में करके यह जीवनयात्रा को सुन्दरता के साथ निभाता है। जो इन्द्रियादि को अपने वश में नहीं कर पाता वह इन्हीं से पराजित होकर दोष को प्राप्त होता है।

भावार्थ—हमें सभी इन्द्रियों को वश में करके मर्यादित जीवनवाला बनना है। हम यह समझ लें कि हम पुरुषार्थी होंगे तो प्रभु हमारे मित्र होंगे, प्रभु को अपना आश्रय जानेंगे तो निर्भीक होकर कार्य करेंगे। प्रभु ही हमारे मार्गदर्शक हैं, उन्होंने हमारे धारण के लिए इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि दिये हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सृष्टि का प्रारम्भ

असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥ ७॥

सृष्टि से पूर्व प्रलयावस्था में **असत् च**=यह अव्याकृत जगत् अर्थात् कार्यरूप में न आयी हुई 'प्रकृति', **सत् च**=और सत्ता रूप से रहनेवाला प्रसुप्त-सी अवस्था में पड़ा हुआ 'जीव' ये दोनों **परमे व्योमन्**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञान सम्पन्न प्रभु में थे। उस प्रभु में जो कि 'व्योमन्'=वी+ओम्+अन्=सर्वरक्षक होते हुए एक ओर प्रकृति को उठाये हुए हैं तो दूसरी ओर जीव को। प्रकृति 'वी' है, इसमें ही सम्पूर्ण गति होती है, यही विकृत होकर ब्रह्माण्ड के रूप में आती है और यह चमकती है, इसी के कार्यों का जीव उपभोग करता है (वी-गति प्रजनन कान्ति (वादनेषु)। जीव 'अन्' है श्वास लेता है। ये प्रकृति और जीव सदा परमात्मा के आधार से रहते हैं। ये प्रभु प्रलयकाल की समाप्ति पर सृष्टि को जन्म देते हैं जैसे एक किसान भूमि में बीज का वपन करता है, इसी प्रकार प्रभु इस प्रकृति में बीज को बोते हैं और इस ब्रह्माण्ड का जन्म होता है इस जन्म देने के कारण प्रभु 'दक्ष'='सब विकास (growth) को करनेवाले' कहलाते हैं। इस **दक्षस्य**=प्रजापति के **जन्मन्**=विकास की क्रिया को करने पर अर्थात् संसार को बनाने पर **अदितेः उपस्थे**=इस पृथ्वी की गोद में अर्थात् इस भूतल पर सब से प्रथम तो वे प्रभु थे जो कि **ह**=निश्चय से **नः**=हम सब के **अग्निः**=अग्रेणी हैं, आगे ले चलनेवाले हैं और **ऋतस्य**=इस सब सत्यविद्याओं की प्रकाशिका वेदवाणी के **प्रथमजाः**=सर्वप्रथम 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिराः' इस ऋषियों के हृदयों में प्रकाश करनेवाले हैं। प्रभु के अतिरिक्त इस संसार में **वृषभः च धेनुः च**=बैल व गौ अर्थात् नर व मादा, वीर्य सेचन में समर्थ 'नर' (वृषभ) तथा दूध पिलाने में समर्थ मादा (धेनुःधेट् पाने), ये जो कि **पूर्वे आयुनि**=भरपूर युवावस्था में थे। न बाल थे और ना ही वृद्ध थे। इनके जीवन में सब आवश्यक तत्त्वों का पूरण हो चुका था (पूर्व पूरणे) अतएव ये अगले सन्तानों को जन्म देने में समर्थ थे। इस प्रकार इस सृष्टि का निर्माण हुआ। 'इस सृष्टि में हमें कैसे चलना है' इस विचार से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें जन्म दिया और वेदज्ञान प्राप्त कराया। उसके अनुसार चलते हुए ही हम आगे बढ़ेंगे।

इस सूक्त के प्रारम्भ में प्रभु को सब धनों का धरुण कहा था, (१) उस प्रभु के नामों को ही हमें हृदय में धारण करना चाहिए, (२) मन में प्रभुस्मरण करते हुए सर्वहितकारी कर्मों में लगे रहना चाहिए, (३) सत्य के मार्ग पर हम चलें और इसके लिए सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें, (४) इन्द्रियों को आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाला बनाएँ, (५) मर्यादाओं को तोड़ें नहीं, (६) और

वेदवाणी के अनुसार अपने जीवन को बनायें, (७) प्रभु की शरण में ही जीवन को चलायें—

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—त्रितः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की शरण में

अयं स यस्य शर्मन्नवोभिरग्नेरेधते जरिताभिष्टौ।
ज्येष्ठेभिर्यो भानुभिर्ऋषूणां पर्येति परिवीतो विभावा ॥ १ ॥

अयम्=ये प्रभु **स**=वे हैं **यस्य अग्नेः**=जिस अग्रेणी प्रभु के **अवोभिः**=रक्षणों से **शर्मन्**=अपने गृह में अथवा आनन्द में (शर्म सुखानि) **एधते**=वृद्धि को प्राप्त करता है। प्रभु के रक्षण ही हमारा वर्धन करनेवाले हैं, प्रभु के रक्षण से दूर होते ही हम विनष्ट होते हैं। 'वृद्धि कौन प्राप्त करता है?' इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **जरिता**=स्तोता। प्रभु के गुणों के स्तवन करनेवाला वृद्धि को प्राप्त करता है। यह गुणस्तवन उसके सामने सदा एक ऊँचे लक्ष्य को उपस्थित करता है। **अभिष्टौ**=(यागे कृते) यज्ञों के होने पर ही हम वृद्धि को प्राप्त करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए, प्रभु के आदेशानुसार, जब हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं तभी हमारी वृद्धि होती है। वृद्धि को वह प्राप्त करता है **यः**=जो कि **ज्येष्ठेभिः भानुभिः**=उत्कृष्ट ज्ञानदीप्तियों को प्राप्त करने के हेतु से **ऋभूणां**=तत्त्व द्रष्टा ज्ञानियों को **पर्येति**=परिक्रमा करता है, उनको आदर देता हुआ उनके चरणों में उपस्थित होता है। एवं यह 'स्तोता, यज्ञशील, ज्ञानियों का उपासक' वृद्धि को प्राप्त करता है, और **परिवीतः**=ज्ञान से परिवृत हुआ-हुआ, ज्ञानियों के सम्पर्क से खूब ज्ञान को प्राप्त हुआ-हुआ यह **विभावा**=विशिष्ट ही दीप्ति वाला होता है। इस ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की भान्ति अद्भुत ही होती है, यह प्रभु के तेज के अंश से चमक रहा होता है, प्रभु-सा बन गया होता है (ब्रह्म इव)।

भावार्थ—हम स्तोता-यज्ञशील-ज्ञानियों के सम्पर्क में रहनेवाले, ज्ञान से परिवृत बनकर प्रभु के रक्षणों से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—त्रितः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञानदीप्ति व क्रियाशीलता

यो भानुभिर्विभावा विभात्यग्निर्देवेभिर्ऋतावाजस्रः।
आ यो विवाय सख्या सखिभ्योऽपरिह्वृतो अत्यो न सप्तिः ॥ २ ॥

'गत मन्त्र के अनुसार जो व्यक्ति प्रभु के रक्षण में चलता है वह कैसा बनता है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **यः**=जो **भानुभिः**=ज्ञान की दीप्तियों से **विभाव**=विशेष रूप से ही दीप्तिमान् होता है, **अग्निः**=गतिशील होता हुआ **देवेभिः**=सब दिव्यगुणों से **विभाति**=सुभूषित जीवनवाला होता है। **ऋतावा**=यह सदा ऋत का रक्षण व पालन करता है, इसका कोई भी कार्य अनृत को लिये हुए नहीं होता। **अजस्त्रः**=यह सतत कार्यों को करनेवाला होता है, 'निरग्नि व अक्रिय' नहीं हो जाता, क्रियाशील बना रहता है। **वह**=जो **सख्या**=उस सखिभूत परमात्मा के साथ **आविवाय**=अपने कर्त्तव्यों की ओर जानेवाला होता है। प्रभु का स्मरण करता है और कर्मशील होता है। अपने लिये इसे कुछ करने को नहीं भी होता तो भी **सखिभ्यः**=अपने मित्रों के कार्यों के लिये यह **अपरिह्वृतः**= अपरिहिंसित व अपरिकान्त होता है। उनके हितसाधन को करता हुआ यह थक नहीं जाता। अनथक रूप से कार्य में उसी प्रकार सदा प्रवृत्त रहता है जैसे कि उसका पिता प्रभु 'स्वाभाविक क्रिया' वाला है। यह इस प्रकार क्रियाशील होता है **न**=जैसे **अत्यः**=एतत

गमनशील **सप्तिः**=घोड़ा। घोड़ा खूब गतिशील है, 'अनध्वा वाजिनां जरा' मार्ग पर न चलना पड़े तो घोड़ा शीघ्र बूढ़ा हो जाता है। इसी प्रकार इस प्रभु-भक्त को भी अ-क्रिया निर्बल करती प्रतीत होती है, वह क्रिया में ही शक्ति का अनुभव करता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट ज्ञान की तेजस्विता व क्रियाशीलता ही मनुष्य के जीवन को आदर्श बनाती हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अरिष्ट-रथ

ईशे यो विश्वस्या देववीतेरीशे विश्वायुरुषसो व्युष्टौ।
आ यस्मिन्मना हवींष्यग्नावरिष्टरथः स्कभ्नाति शूषैः॥ ३॥

गत मन्त्र के ही प्रकरण को ही आगे कहते हैं कि प्रभु की शरण में रहनेवाला वह है **यः**=जो **विश्वस्याः**=सम्पूर्ण **देववीतेः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति का **ईशे**=ईश होता है, अर्थात् सब दिव्यगुणों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। **उषसः व्युष्टौ**=उषःकाल के उदित होने पर **विश्वायुः**=पूर्ण जीवनवाला बना हुआ यह 'त्रित' (मन्त्र का ऋषि) **ईशे**=उन दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए सामर्थ्यवान् होता है। वस्तुतः यह त्रित उषःकाल में अवश्य प्रबुद्ध होकर, पवित्र भावना से प्रभु के स्वागत के लिए उद्यत होता है। ये प्रभु प्रातः आते हैं और जब हम इनका स्वागत करते हैं तो ये हमें द्युमत्तम रयि=अत्यन्त ज्योतिर्मय धनों को प्राप्त कराते हैं। **यस्मिन् अग्नौ**=जिस प्रगतिशील व्यक्ति के जीवन में **मना**=मननीय, ज्ञान को बढ़ानेवाली, बुद्धि की मननशक्ति को दीप्त करनेवाली **हवींषि आ** (हुतानि)=हवियाँ आहुत होती हैं, अर्थात् जो सदा त्याग पूर्वक उपभोग करता है, दूसरे शब्दों में अमृत (यज्ञशेष) का सेवन करता है वह **अरिष्टरथः**=अहिंसित शरीर वाला होता हुआ **शूषैः**=शत्रुओं के शोषक बलों से **स्कभ्नाति**=सब अशुभ वासनाओं के आक्रमणों को रोक देता है। अर्थात् सात्त्विक अन्न के सेवन से तथा यज्ञशेष के रूप में भोजन करने से इसकी बुद्धि व मनोवृत्ति भी बड़ी सात्त्विक बनी रहती हैं और यह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—सात्त्विक यज्ञशिष्ट भोजन हमें सब दिव्यगुणों की प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

संमिश्ल

शूषेभिर्वृधो जुषाणो अर्कैर्देवाँ अच्छा रघुपत्वा जिगाति।
मन्द्रो होता स जुह्वा३ यजिष्ठः संमिश्लो अग्निरा जिघर्ति देवान्॥ ४॥

गत मन्त्र में वर्णित **शूषेभिः**=शत्रु शोषक बलों से **वृधः**=सदा बढ़नेवाला यह बनता है। वासनाओं का शोषण करके यह सब दृष्टिकोणों से उन्नत होता है। इसकी शरीर की शक्तियों का क्षय नहीं होता, मानस पवित्रता बनी रहती है, और इसका मस्तिष्क खूब उज्ज्वल बनता है। एवं यह इन 'शूषों' से शत्रुओं का शोषण करता हुआ उन्नत ही उन्नत होता चलता है। उन्नत होकर यह **अर्कैः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों से **जुषाणः**=प्रीति पूर्वक प्रभु का उपासन करता है। यह प्रभु का उपासन ही तो वस्तुतः उस शत्रुशोषक बल को प्राप्त कराता है और उस बल के अभिमान से भी बचाता है। इस प्रकार दिव्य उन्नति के साथ नम्र बना हुआ यह **रघुपत्वा**=(लघुगमनः) शीघ्रगतिवाला, अर्थात् कर्मों में आलस्य शून्य हुआ-हुआ **देवाँ अच्छा**=दिव्यगुणों की ओर **जिगाति**=जाता है। यह दिव्यगुणों को प्राप्त करता है। **मन्द्रः**=सदा आनन्दमय स्वभाव वाला होता

है, **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करता है, यज्ञशेष को खाता है और **जुह्वा यजिष्ठः**=चम्मच से अथवा दान पूर्वक अदन की वृत्ति से उत्तम यष्टा बनता है, इसका जीवन यज्ञशील होता है। इस प्रकार सुन्दर जीवनवाला बनकर यह **संमिश्लः**=सब के साथ मिलकर चलता है, मिलनसार स्वभाव वाला होता है, औरों के सुख-दुःख में हिस्सा बटाता है। इस प्रकार **अग्नि**=यह प्रगतिशील जीव **देवान्**=दिव्यगुणों वाले ज्ञानी विद्वानों को **आजिघर्ति**=(आहारयति) अपने घर पर प्राप्त कराता है। इस प्रकार इसका यह अतिथियज्ञ चलता है और यह उन अतिथियों की सप्रेरणा से सदा सुन्दर जीवनवाला बना रहता है।

भावार्थ—शत्रुशोषक बलों से चलनेवाला यह सदा आनन्दमय स्वभाव वाला व यज्ञशील तथा मिलनसार होता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

गीर्भिः नमोभिः

तमुस्त्रामिन्द्रं न रेजमानमग्निं गीर्भिर्नमोभिरा कृणुध्वम्।
आ यं विप्रासो मतिभिर्गृणन्ति जातवेदसं जुह्वं सहानाम्॥ ५॥

तम्=उस परमात्मा को जो **उस्त्राम्**=(भोगानाम् उत्स्राविणं दातारं सा०) सब भोग्य पदार्थों के देनेवाले हैं, **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, **न रेजमानम्**=कम्पित होनेवाले नहीं हैं, कूटस्थ व निर्विकार है, अर्थात् मनुष्यों की तरह उनकी मित्रता टूट जानेवाली नहीं, **अग्निम्**=जो अग्रेणी हैं, उस प्रभु को **गीर्भिः**=वेद वाणियों के द्वारा तथा **नमोभिः**=नम्रता के द्वारा **आकृणुध्वम्**=अपने अभिमुख करने का प्रयत्न करो, अपनाने के लिये यत्नशील होवो। **यं**=जिस परमात्मा को **विप्रासः**=अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **मतिभिः**=मननीय स्तोत्रों के द्वारा **गृणन्ति**=साधना करते हैं, अर्थात् बुद्धिमत्ता से प्रभु का स्तवन करते हुए उसके गुणों को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। उस '**जातवेदसम्**'=जातवेदस् को वे स्तुत करते हैं, जो सर्वव्यापक है (जाते जाते विद्यते) सर्वज्ञ है (जातं जातं वेत्ति) तथा सम्पूर्ण धनों को उत्पन्न करनेवाला है (जातं वेदो यस्मात्, वेदस्=wealth)। तथा उस 'सहानां जुह्वम्' की वे स्तुति करते हैं जो शत्रुओं के मर्षण करनेवाले बलों को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु को ज्ञान वाणियों व नम्रता से अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। वे प्रभु ही सम्पूर्ण धनों के स्वामी हैं व सब आवश्यक भोग्य पदार्थों को देनेवाले हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सब धनों के निधान 'प्रभु'

सं यस्मिन्विश्वा वसूनि जग्मुर्वाजे नाश्वाः सप्तीवन्त एवैः।
अस्मे ऊतीरिन्द्रवाततमा अर्वाचीना अग्न आ कृणुष्व॥ ६॥

प्रभु वे हैं **यस्मिन्**=जिन में **विश्वा वसूनि**=सम्पूर्ण धन **संजग्मुः**=संगत होते हैं। सब धनों के आधार वे प्रभु ही हैं **न**=उसी प्रकार जैसे कि **वाजे**=संग्राम में **सप्तीवन्तः अश्वाः**=सर्पणशील घोड़े **एवैः**=अपने गमनों से संगत होते हैं। संग्राम में विजय इन घोड़ों पर ही निर्भर है, इसी प्रकार जीवन संग्राम में भी विजय धनों पर निर्भर होती है। धन अश्वों के समान हैं, अश्वों से संग्राम में विजय मिलती है, धन से संसार में। पर अश्वारोहियों से अधिष्ठित अश्व ही संग्राम में जीतते हैं, इसी प्रकार हम भी धनों पर अधिष्ठित होंगे, धनों के स्वामी होंगे तभी धन हमें विजय प्राप्त

करायेंगे। हम धनों के गुलाम बन जाएँगे तो इन धनों से कुचले जाएँगे। 'एवैः' शब्द इस बात की भी संकेत करता है कि धन वही ठीक है जो कि गतिमय है, जिसको हम यज्ञादि में विनियुक्त करके देवों में प्राप्त कराते रहते हैं। ठहरे हुए घोड़े ने विजय नहीं प्राप्त करनी होती इसी प्रकार तहखानों में बन्द धन हमें विजयी न बनाएगा। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **इन्द्रवाततमाः**=उस परमैश्वर्य वाले प्रभु की ओर ले चलनेवाले **ऊतीः**=रक्षणों को **अस्मे अर्वाचीनाः**=हमारे अभिमुख प्राप्त होनेवाले **आकृणुष्व**=सर्वथा करिये। हम आपके रक्षण को प्राप्त करके संसार के विषयों की ओर जानेवाले न हों, हमारा झुकाव हे प्रभो! आपकी ओर ही हो। आपको प्राप्त करने पर ये धन तो मिले मिलाये ही हैं, क्योंकि इन धनों के स्वामी तो आप ही हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को प्राप्त करें, प्रभु प्राप्ति में सब धनों की प्राप्ति हो ही जाती है। प्रभुरक्षण के प्राप्त होने पर हम इन धनों में फँस नहीं जाते।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रथमास ऊमाः

अधा ह्यग्ने मुह्ना निषद्या सुद्यो जज्ञानो हव्यो बुभूथ।
तं ते देवासो अनु केतमायन्नधावर्धन्त प्रथमास ऊमाः॥ ७॥

हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अधाहि**=अब ही, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार आप का रक्षण प्राप्त करने पर ही, **मह्ना**=अपनी महिमा से **निषद्या**=हमारे हृदयों में आसीन होकर **सद्यः**=शीघ्र ही **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होते हुए आप **हव्यः**=हमारे से पुकारे जाने योग्य **बभूथ**=होते हैं। जब हम आपके रक्षणों को प्राप्त करते हैं तब अपने हृदयों को निर्मल करके उन्हें आपके बैठने योग्य बनाते हैं। वहाँ हम आपके दर्शन करते हैं, और उसी प्रकार आपको पुकारते हैं जैसे कि एक पुत्र पिता को। **देवासः**=देव वृत्ति के लोग **ते**=आपके **तं केतम् अनु आयन्**=उस ज्ञान के अनुसार गति करते हैं, अर्थात् आपके वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं और उसे जीवन में अनूदित करने का प्रयत्न करते हैं (translate into action)। वस्तुतः जो व्यक्ति इस वेदज्ञान को जीने का प्रयत्न करते हैं वे ही 'देव' बनते हैं। **अधा**=अब, अर्थात् वेद ज्ञान को प्राप्त करने व उसे जीवन में अनूदित करने के बाद ये लोग **प्रथमासः ऊमाः**=प्रथम श्रेणी के रक्षकों के रूप में **अवर्धन्त**=बढ़ते हैं। अर्थात् ये प्रजाओं के उत्तम रक्षक बनते हैं। इनका जीवन अभाव व प्रयोग दोनों (theoretical and practical) में निपुण बनकर प्रजा का अधिक कल्याण सिद्ध कर पाता है। लोग इनके मुखों से बातों को सुनते हैं, उन बातों को ही वे उनके जीवन में देख भी पाते हैं। एवं वे बातें वास्तविक प्रभाव को पैदा करती हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग हृदय को पवित्र करके उसे प्रभु का निवास बनाते हैं। प्रभु के ज्ञान के अनुसार चलते हैं और प्रजा को शास्त्रीय व विमाता के ज्ञान देनेवाले बनकर प्रजा का रक्षण करते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ प्रभु-रक्षण में वृद्धि के प्राप्ति से होता है, (१) हमें उत्कृष्ट ज्ञान की तेजस्विता व क्रियाशीलता प्राप्त होती है, (२) सब दिव्य गुणों को प्राप्त कर के हम 'अरिष्ट-रथ' बनते हैं, (३) शत्रु शोधक बलों से बढ़ते हुए हम सब के साथ मिलजुलकर चलते हैं, (४) उस प्रभु को ही सम्पूर्ण धनों का स्वामी जानते हैं, (५) सब धन उन्हीं में तो संगत हो रहे हैं, (६) इस प्रभु को हम अपने हृदयों में बिठाने का यत्न करते हैं। ऐसा करने पर ही हम उत्तम स्थिति को प्राप्त करेंगे—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पूर्ण जीवन

स्वस्ति नो दिवो अग्ने पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यजथाय देव।
सचेमहि तव दस्म प्रकेतैरुरुष्या ण उरुभिर्देव शंसैः ॥ १ ॥

हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **नः**=हमें **दिवः**=द्युलोक के दृष्टिकोण से तथा **पृथिव्याः**=पृथिवी के दृष्टिकोण से **स्वस्ति**=उत्तम स्थिति प्राप्त हो। द्युलोक ही यहाँ शरीर में मस्तिष्क है, पृथिवी यह स्थूल शरीर है। हमारा मस्तिष्क भी उच्च स्थिति में हो और हमारा यह शरीर भी पूर्ण नीरोग हो। हे **देव**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले प्रभो! **यजथाय**=यज्ञशील के लिये **विश्वायुः धेहि**=पूर्ण जीवन को धारण करिये। यज्ञशील पुरुष के 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी बड़े सुन्दर होते हैं। और इनके सुन्दर होने पर हमारी यज्ञ की शक्ति बढ़ती है। हे **दस्म**=काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को नष्ट करनेवाले प्रभो! हम **तव प्रकेतैः**=आप के प्रकृष्ट ज्ञानों से **सचेमहि**=सम्पृक्त हों। हमें सब उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हों। हे **देव**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज व सब ज्ञानों से दीप्त प्रभो! आप **उरुभिः शंसैः**=विशाल शंसनों के द्वारा, हमारे हृदयों को उदार व विशाल बनानेवाली प्रेरणाओं के द्वारा **नः उरुष्य**=हमारा रक्षण कीजिए। वेद के सब उपदेश हमें बड़ा उदार बनानेवाले हैं, उनके अनुसार 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय'=न कोई छोटा है न बड़ा, सब भाई हैं और उन्हें सौभाग्य के लिए बढ़ना है। 'भूमिः माता पुत्रोहं पृथिव्याः' 'यह भूमि ही मेरी माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ' ये भावना हमें देश की संकुचित सीमा से भी ऊपर उठानेवाली है। 'अयुतोहं' 'मैं सब के साथ हूँ, अपृथक् हूँ' यह भाव हमें सभी में एकत्व दर्शन करानेवाला है।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क व शरीर स्वस्थ हो। पूर्ण जीवन वाले होकर हम यज्ञशील हों। प्रभु के ज्ञान को प्राप्त करें, उदार बनें।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण पूर्वक 'प्रकृति पदार्थ प्रयोग'

इमा अग्ने मतयस्तुभ्यं जाता गोभिरश्वैरभि गृणन्ति राधः।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानड्वसो दधानो मतिभिः सुजात ॥ २ ॥

हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इमाः मतयः**=ये मेरी बुद्धियाँ **तुभ्यम्**=आपके लिए अर्थात् आपके दर्शन के लिए **जाताः**=विकसित हो गई हैं। प्रभु का दर्शन इन बुद्धियों से ही तो होना है 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या'। इस संसार में विचारशील पुरुष **गोभिः**=ज्ञानेन्द्रियों से तथा **अश्वैः**=कर्मेन्द्रियों से **राधः**=सब कार्यों के साधक आपका ही (राध्-असुन् नपुंसक) **अभिगृणन्ति**=स्तवन करते हैं। 'गमयन्ति अर्थान् इति गावः' इस व्युत्पत्ति से 'गौः' ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है, तथा 'अश्नुव ते कर्मसु' इस व्युत्पत्ति से 'अश्व' शब्द कर्मेन्द्रियों का ज्ञान की वाणियों का स्वाध्याय यह ज्ञानेन्द्रियों से प्रभु का पूजन है, तथा यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहना कर्मेन्द्रियों से प्रभु-पूजन है। **यदा**=जब **मर्तः**=मनुष्य **ते अनु**=तेरे स्मरण के पश्चात् **भोगम्**=भोग्य पदार्थों को **आनट्**=प्राप्त करता है व भोगता है तो वह पुरुष हे **वसो**=उत्तम निवास के देनेवाले प्रभो! **सुजात**=उत्तम विकास वाले प्रभो! **मतिभिः दधानः**=बुद्धियों से धारण किया जाता है। अर्थात् इसकी बुद्धियाँ उन विषयों में न फँसकर अविकृत

बनी रहती हैं और इसका धारण करनेवाली होती है। प्रभु को भूलकर जब हम इन सांसारिक विषयों में जाते हैं तो उनमें प्रायः आसक्त हो जाते हैं। परिणामतः हमारी बुद्धि भी वासना के पर्दे से आवृत होकर मन्द प्रकाश वाली हो जाती है और यह हमें प्रभु दर्शन तो दूर रहा, संसार का स्वरूप भी ठीक रूप से नहीं दिखा पाती। इस प्रकार यह बुद्धि उस समय हमारा धारण नहीं कर रही होती।

भावार्थ—वेद के 'उरुशंसों' को सुनकर हमारी बुद्धि ठीक रूप में विकसित होती है और हमें प्रभुदर्शन के योग्य बनाती है, यह हमारा ठीक रूप में धारण करती है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पिता, मित्र, भाई व सखा

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्।
अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य॥ ३॥

गतमन्त्र के अनुसार प्रभुस्मरण पूर्वक भोग्य पदार्थों के सेवन से जब हमारी बुद्धि अविकृत होकर हमारा धारण करनेवाली होती है तो उस समय संसार को ठीक रूप में देखने के कारण हम **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को ही **पितरं मन्ये**=पिता मानते हैं, वस्तुतः सदा पिता व रक्षक तो वे प्रभु ही हैं। इन सांसारिक पिताओं के द्वारा भी वे प्रभु ही हमारा रक्षण कर रहे होते हैं। **अग्निम्**=उस अग्नि को ही **आपिं मन्ये**=सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करानेवाला मित्र जानता हूँ। **अग्निम्**=उस अग्नि को ही **भ्रातरम्**=मैं भ्राता समझता हूँ और इसके अतिरिक्त उस प्रभु को ही **सदम् इत्**=सदा ही साथ देनेवाला **सखायम्**=सखा जानता हूँ। हमारे ये सब सम्बन्ध वास्तविकरूप में उस प्रभु के ही साथ हैं, सांसारिक सम्बन्ध तो केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही महत्त्व रखते हैं, इनमें पूर्ण सत्यता नहीं है। मैं उस **बृहतः**=सब वृद्धियों के कारणभूत **अग्नेः**=अग्नि नामक प्रभु के **अनीकम्**=बल को **सपर्यम्**=पूजता हूँ जो बल **दिवि सूर्यस्य**=द्युलोक में स्थित सूर्य के तेज के समान है **शुक्रम्**=यह तेज हमारे जीवनों को शुद्ध व दीप्त तो बनाता ही है, इसी कारण यह **यजतम्**=संगतिकरण योग्य है। वेद में ब्रह्म को स्थान-स्थान में सूर्य से उपमित करने का प्रयत्न है, 'ब्रह्म सूर्यसमं-ज्योतिः'। सूर्य ज्योति हमारे शरीरों को नीरोग करती है तो ब्रह्म ज्योति हमारे मानसों को निर्मल व दीप्त कर देती है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे वास्तविक पिता, मित्र, भाई व सखा हैं। उनका तेज महान् है, आकाश में सूर्य के समान दीप्त व संगतिकरण योग्य है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

बुद्धि का साधन

सिध्रा अग्ने धियो अस्मे सनुत्रीर्यं त्रायसे दम आ नित्यहोता।
ऋतावा स रोहिदश्वः पुरुक्षुर्द्युभिरस्मा अहभिर्वाममस्तु॥ ४॥

हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अस्मे**=हमारे लिये **सुनुत्रीः**=सदा संविभाग करनेवाली **धियः**=बुद्धियों को **सिध्राः**=सिद्ध करिये। वस्तुतः प्रभु हमारा रक्षण इसी प्रकार करते हैं कि वे हमें संविभाग वाली बुद्धि प्रदान करते हैं। देवों ने जिसका भी रक्षण करना होता है वे उसकी बुद्धि को स्वस्थ बना देते हैं। बुद्धि का नाम 'मेधा' है 'मे'-मेरा 'धा'-धारण करनेवाली। हे प्रभो! **आप यं**=जिस भी पुरुष को **त्रायसे**=रक्षित करते हैं वह **दमे**=इस शरीर रूप गृह में **नित्यहोता**=सदा होता=दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। यह 'नित्यहोतृत्व' ही वस्तुतः उसका प्रभु-पूजन होता है और इसी के

कारण वह विषयों में न फँसकर अपना रक्षण भी कर पाता है। यह धी-सम्पन्न व्यक्ति **ऋतावा**=ऋत का अवन-रक्षण करता है। इसका जीवन सत्य-सम्पन्न होता है। इसके जीवन में सब क्रियाएँ ठीक समय व ठीक स्थान पर होती हैं। **स**=वह **ऋतावा 'रोहिदश्वः'**=वृद्धिशील इन्द्रियरूप अश्वों वाला होता है। इसकी इन्द्रियों की शक्तियाँ क्षीण नहीं होती। यह **पुरुक्षुः**=बहुत अन्न वाला होता है अर्थात् इसे अन्न की कमी नहीं होती और यह अन्न का खूब पाचन कर सकता है। अथवा यह पालक व पूरक (पृ पालनपूरणयोः) अन्न वाला होता है। यह उसी सात्त्विक अन्न का सेवन करता है जो अन्न कि इसके शरीर व मन में कमी को नहीं आने देता। इस प्रकार सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए **अस्मा**=इसके लिये **द्युभिः अहभिः**=दिन-दिन से अर्थात् प्रतिदिन **वामम् अस्तु**=सौन्दर्य ही सौन्दर्य हो। अर्थात् इसके जीवन में दिनदूनी रात चौगुणी उन्नति हो। यह सदा फलता-फूलता चले, इसके जीवन का मार्ग उन्नति का ही हो।

भावार्थ—हमें संविभाग बल और बुद्धि प्राप्त हो, इस बुद्धि का प्राप्त करके हम होता बनें, ऋत का पालन करते हुए इन्द्रियशक्ति को क्षीण न होने दें। पालक व पूरक अन्न का सेवन करते हुए दिन व दिन उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

(अध्वर का जार) प्रेय-श्रेय

द्युभिर्हितं मित्रमिव प्रयोगं प्रत्नमृत्विजमध्वरस्य जारम्।
बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त विक्षु होतारं न्यसादयन्त ॥ ५ ॥

गतमन्त्र के सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाले व्यक्ति **आयवः**=(एति) गतिशील पुरुष **अग्निं**=उस अग्रेणी प्रभु को **अजनन्त**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं और उन पवित्र हृदयों में **न्यसादयन्त**=इस प्रभु को बिठाते हैं, जो प्रभु **द्युभिः हितम्**=ज्ञान की ज्योतियों से स्थापित किया जाता है। अर्थात् प्रभु का प्रकाश बुद्धि की सूक्ष्मता का संपादन करके ज्ञान के वर्धन से ही होता है। **मित्रम् इव प्रयोगम्**=वे प्रभु सदा सच्चे स्नेही की तरह प्रकृष्ट मेल वाले हैं। मित्रता का उत्कर्ष स्वार्थ की क्षीणता के अनुपात में होता है। प्रभु का स्वार्थ क्योंकि शून्य है, तो प्रभु की मित्रता पूर्ण हैं। प्रभु की मित्रता में कभी टूट जाने का भय नहीं। वे प्रभु **प्रत्नम् ऋत्विजम्**=सनातन ऋत्विज हैं। उस-उस ऋतु में ऋतु के अनुकूल पदार्थों का हमारे साथ संगतिकरण करनेवाले हैं। **अध्वरस्य जारम्**=हमारे से किये जानेवाले हिंसा शून्य लोकहितकारी यज्ञात्मक कर्मों के (समापयितारम्) अन्त तक पहुँचानेवाले हैं। प्रभु कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। **विक्षु होतारम्**=प्रजाओं में सब आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं प्रभु ही संसार के सब पदार्थों का हमारी उन्नति के लिये निर्माण करते हैं। इस प्रभु को **आयवः**=प्रगतिशील पुरुष अपने हृदयों में प्रकाशित व स्थापित करते हैं। किस प्रकार? **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों से। वह द्विवचन का प्रयोग यह संकेत कर रहा है कि हमारे प्रयत्न केवल शारीरिक उन्नति के लिये न होकर बौद्धिक उन्नति के लिये भी हों। ये प्रयत्न प्रेय व श्रेय दोनों के साधक हों, इनमें इहलोक व परलोक दोनों का स्थान हो, ये अभ्युदाय व निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिए हों। हमारे प्रयत्न प्रकृति व परमात्मा को दोनों को प्राप्त करने के दृष्टिकोण से हो। उनमें प्रकृति विद्या व आत्मविद्या दोनों का स्थान हो। वे व्यक्तिवाद व समाजवाद दोनों दृष्टिकोणों से किये जाएँ।

भावार्थ—वे प्रभु ज्ञान के प्रकाश में दिखते हैं, सच्चे मित्र हैं, सनातन काल से सब कुछ दे रहे हैं, हमारे यज्ञों को पूर्ण करनेवाले हैं। प्रजाओं को सब कुछ देनेवाले हैं। इन प्रभु को प्राप्त

करने के लिये हमें प्रेय व श्रेय दोनों के लिए प्रत्नशील होना है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवों व महादेव का यजन

स्वयं यजस्व दिवि देव देवान् किं ते पाकः कृणवदप्रचेताः।
यथायज ऋतुभिर्देव देवानेवा यजस्व तन्वं सुजात॥ ६॥

प्रभु से जीव प्रार्थना करता है कि हे **देव**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज, दीप्ति वाले द्योतित करनेवाले प्रभो! आप **स्वयं**=अपने आप ही **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में रहनेवाले **देवान्**=देवों को, दिव्यगुणों को **यजस्व**=हमारे साथ संगत करिये। 'दिव्यगुणों का वास' ज्ञान के प्रकाश के ही साथ है। ज्ञान होने पर ही दिव्यगुण पनपते हैं। हे प्रभो! **ते पाकः**=आपका यह पक्तव्य प्रज्ञा वाला **अप्रचेताः**=नासमझ शिष्य **किं कृणवत्**=क्या कर सकता है? अर्थात् प्रभु से अनधिष्ठित जीव में तो कोई शक्ति ही नहीं। हे **देव**=सब दिव्यताओं के अधिष्ठान प्रभो! **यथा**=जैसे **ऋतुभिः**=समय-समय पर **देवान् अयजः**=अपने दिव्य गुणों से हमारा सम्पर्क किया है, **एवा**=इसी प्रकार से **सुजात**=(शोभनं जातं यस्मात्) शोभन विकास को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **तन्वम्**=(आत्मानम् अपि) अपने को भी **यजस्व**=हमारे साथ संगत करिये। अर्थात् हमारे साथ जहाँ देवों का यजन हो, वहाँ उस महादेव प्रभु का भी यजन हो। हम दिव्यगुणों को प्राप्त करते हुए प्रभु को पानेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से परिपक्व प्रज्ञा वाले 'प्रचेता' बनकर हम देवों व महादेव के सम्पर्क में निवास करनेवाले बनें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अविता व गोपाः

भवा नो अग्नेऽवितोत गोपा भवा वयस्कृदुत नो वयोधाः।
रास्वा च नः सुमहो हव्यदातिं त्रास्वोत नस्तन्वोऽ३ अप्रयुच्छन्॥ ७॥

हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः**=हमारे **अविता भवा**=रक्षक होइये आपकी कृपा से हमारे शरीरों में किसी प्रकार के रोग न आएँ। **उत**=और **गोपाः भवा**=आप हमारी इन्द्रियों के रक्षक होइये। 'गावः इन्द्रियाणि' गौवें इन्द्रियाँ हैं, प्रभु उन इन्द्रियों रूप गौवें के 'गोपा' हैं, उनकी रक्षा करनेवाले हैं। प्रभु कृपा से ये इन्द्रियाँ विषयपङ्क में नहीं फँसती हैं। इस प्रकार रोगों से व विषयों से बचाकर प्रभो! आप **वयस्कृत्**=हमारे उत्कृष्ट जीवन को करनेवाले होइये **उत**=और **नः**=हमारे में **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करिये। 'वयस्' शब्द का अर्थ 'अन्न' भी है। आप उत्तम अन्न को करनेवाले व हमारे लिये उत्तम अन्न को धारण करनेवाले होइये। **च**=और हे **सुमहः**=उत्तम तेजस्विता वाले प्रभो! **नः**=हमें **हव्यदातिम्**=हव्य के देने को **रास्व**=प्राप्त कराइये। हम सदा हव्य को देकर बचे हुए को ही खानेवाले हों। **उत**=और इस हव्य को देकर यज्ञशेष के खाने की वृत्ति को उत्पन्न करके **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **नः तन्वः**=हमारे शरीरों को **त्रास्व**=रक्षित कीजिये। यज्ञशेष का सेवन हमें भोगवृत्ति से बचाता है और इस प्रकार हमारे शरीरों को रोगों का शिकार नहीं होने देता।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हैं। वे हमें उत्कृष्ट अन्न व जीवन प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमें हव्य के देने की प्रवृत्ति वाला करते हैं और हमें भोगवाद का शिकार नहीं होने देते।

सूक्त का प्रारम्भ 'विश्वायु बनने से होता है, (१) विश्वायु बनने के लिये हम प्रभुस्मरण पूर्वक

ही प्रकृति के पदार्थों का प्रयोग करें, (२) वे प्रभु ही हमारे पिता, मित्र, भाई व सखा हैं, (३) वे हमें संविभाग वाली बुद्धि प्राप्त कराते हैं, जो कि दिनदूनी रात चौगुणी उन्नति का कारण बनती है, (४) यह उन्नति प्रेय व श्रेय दोनों को सिद्ध करने में है, (५) जब हम पुरुषार्थ करते हैं तो प्रभु-कृपा से हमारे साथ देवों व महादेव का सम्पर्क होता है, (६) वे प्रभु हमारे अविता व गोपा होते हैं, (७) इस प्रभु की कृपा से हम ज्ञान के साथ आगे बढ़ते हैं—

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिशिराः त्वाष्ट्रः

प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदानळपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ १ ॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'त्रिशिराः त्वाष्ट्रः' है। शरीर के दृष्टिकोण से यह शिखर पर पहुँचता है, मन की पवित्रता के दृष्टिकोण से यह शिखर पर पहुँचता है और मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह उन्नत होता है। इस प्रकार यह 'त्रिशिराः' तीन सिरों वाला कहलाता है और निर्माण करने के कारण इसका नाम 'त्वाष्ट्र' हो जाता है। यह 'अग्निः'=प्रगतिशील जीव **बृहता**=वृद्धि के कारणभूत **प्रकेतुना**=प्रकृष्ट ज्ञान के प्रकाश से **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **आयाति**=प्राप्त होता है। मस्तिष्क ही 'द्युलोक' है, यह शरीर 'पृथिवी' है। 'मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करना तथा शरीर को स्वस्थ बनाना' यही 'रोदसी' को प्राप्त करना है। **वृषभः**=मस्तिष्क व शरीर दोनों के दृष्टिकोण से शक्तिशाली बनकर यह **रोरवीति**=नित्य प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। प्रभु के गुण प्रतिपादक नामों का यह स्मरण करता है। **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश से **अन्तान्**=परले सिरों को **चित्**=और **उपमान्**=समीप प्रदेशों को यह **उदानट्**=प्रकृष्ट रूप में व्याप्त करता है। ज्ञान के परले सिरे 'आत्मविद्या' हैं तो उरले सिरे ही प्रकृति विद्या है। यह इन दोनों को ही खूब प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। **अपाम् उपस्थे**=(आपः रेतो भूत्वा) रेतःकणों की उपस्थिति में, शरीर में इन रेतःकणों को सुरक्षित करने के द्वारा **महिषः**=(मह पूजायाम्) प्रभु की पूजा करनेवाला यह अग्नि **ववर्ध**=वृद्धि को प्राप्त होता है। यह सब दृष्टिकोणों से उन्नति करता है।

भावार्थ—मनुष्य की उन्नति यही है कि उसका मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो, 'मन' प्रभु नाम स्मरण में लगा हो, और शरीर 'रेतःकणों' की रक्षा के द्वारा पूर्ण स्वस्थ व नीरोग हो।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सब से प्रथम स्थान में

मुमोद गर्भो वृषभः ककुद्मानस्त्रेमा वत्सः शिमीवाँ अरावीत्।
स देवतात्युद्यतानि कृण्वन्त्स्वेषु क्षयेषु प्रथमो जिगाति ॥ २ ॥

गत मन्त्र में वर्णित 'त्रिशिराः' **मुमोद**=आनन्द को प्राप्त करता है, आनन्दमय स्वभाव वाला होता है। **गर्भः**=प्रभु को अपने अन्दर धारण करनेवाला होता है। **वृषभः**=शक्तिशाली होता है, **ककुद्मान्**=शिखर वाला, अर्थात् शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति के दृष्टिकोण से उन्नत हुआ-हुआ 'त्रिशिराः' अथवा सायण के शब्दों में 'उन्नततेजस्कः'=अत्यन्त तेजस्वी होता है। **अस्रेमा** (praiseworthy=प्रशंसनीय) इसके जीवन में कोई अप्रशस्त आचरण नहीं होता। **वत्सः**=यह प्रभु का प्रिय होता है, अथवा 'वदति'=प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। और **शिमीवान्**=शान्त

भाव से उत्तम कर्मों को करनेवाला होता है। कर्मों में लगा हुआ **अरावीत्**=प्रभु का स्मरण करता है, प्रभु के नामों का जप करता है। प्रभु नाम स्मरण करता हुआ **स**=वह **देवताति**=दिव्यगुणों के विस्तार वाले यज्ञों में **उद्यतानि कृण्वन्**=उत्साहयुक्त कर्मों को करता हुआ **स्वेषु क्षयेषु**=अपने घरों में **प्रथमः**=सर्वोन्नत स्थिति में **जिगाति**=पहुँचता है। मनुष्य का आदर्श यही होना चाहिए कि 'अति समं क्राम'=मैं बराबर वालों से आगे लाँघ जाऊँ। आगे बढ़ता हुआ प्रथम स्थान में पहुँच पाऊँ।

भावार्थ—प्रभुस्मरण पूर्वक कर्म करते हुए हम निरन्तर आगे बढ़ें। कर्ममय जीवनवाले होकर आनन्दित हों।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उन्नति के शिखर पर

आ यो मूर्धानं पित्रोररब्ध न्यध्वरे दधिरे सूरो अर्णः ।
अस्य पत्मन्नरुषीरश्वबुध्ना ऋतस्य योनौ तन्वो जुषन्त ॥ ३ ॥

यः=जो **पित्रोः**=द्यावापृथिवी के, मस्तिष्क व शरीर के **मूर्धानम्**=शिखर को **आ अरब्ध**=पहुँचने के लिए सब प्रकार से यत्न प्रारम्भ करता है। अर्थात् शरीर को पूर्ण स्वस्थ रखकर शारीरिक उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और मस्तिष्क को ऊँचे से ऊँचे ज्ञान से परिपूर्ण करके मस्तिष्क के शिखर पर पहुँचता है। **सूरः** (सूर्यते be firm)=जो दृढ़ वृत्ति वाले लोग, न्याय मार्ग से न विचलित होनेवाले लोग **अर्णः**=अपनी गति को (ऋ गतौ) **अध्वरे**=हिंसा व कुटिलता से रहित यज्ञात्मक कर्मों में **निदधिरे**=निश्चय से स्थापित करते हैं। अर्थात् सदा यज्ञशील होते हैं, **अस्य**=इस अग्रेणी प्रभु के **पत्मन्**=मार्ग में **अरुषीः**=आरोचमानाः=खूब देदीप्यमान तथा **अश्वबुध्नाः**=व्याप्तमूलाः=व्यापक मूल वाली, 'धर्मार्थकाममोक्षणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्' इन शब्दों में वर्णित व्यापक आरोग्य रूप मूल वाली **तन्वः**=तनुओं को, शरीरों को **ऋतस्य योनौ**=ऋत के मूल उत्पत्ति स्थान प्रभु में **जुषन्त**=प्रीति पूर्वक सेवनवाला करते हैं। अर्थात् अपने 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीरों से उस प्रभु का ही सेवन करते हैं जो प्रभु ऋत के उत्पत्ति स्थान हैं। सब प्राकृतिक नियम उस प्रभु से ही उत्पन्न किये जाते हैं, प्रभु 'ऋत के योनि' हैं 'ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' प्रभु के सेवन व उपासन के लिये वे इन शरीरों को व्यापक आरोग्य रूप मूल वाला बनाते हैं, वे शरीर को, मन को व मस्तिष्क को सभी को स्वस्थ बनाकर प्रभु उपासन में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हमें चाहिए कि शरीर व मस्तिष्क की उन्नति के शिखर पर पहुँचें। अविचलित भाव से यज्ञनिष्ठ बनें। आरोग्य साधन कर प्रभु उपासन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सप्त-पदी

उषउषो हि वसो अग्रमेषि त्वं यमयोरभवो विभावा ।
ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन्मित्रं तन्वे३ स्वायै ॥ ४ ॥

हे **वसो**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले जीव! तू **हि**=निश्चय से **उष उषः**=प्रत्येक उषःकाल में **अग्रम् एषि**=आगे और आगे बढ़ता है। **त्वं**=तू **यमयोः**=परस्पर अवियुक्त-युग्मरूप से रहनेवाले दिन-रात में **विभावा**=विशिष्ट दीप्ति वाला **अभवः**=होता है। गत मन्त्र के अनुसार यह शरीर व मस्तिष्क की उन्नति के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करता है, सो यह स्वास्थ्य के कारण दीप्त शरीर वाला तथा ज्ञान के कारण दीप्त मस्तिष्क वाला होता है। इसीलिए इसे

'विभावा'=विशिष्ट दीप्ति वाला कहा गया है, इस प्रकार शरीर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से दीप्त हुआ-हुआ **ऋताय**=जीवन में यज्ञ की सिद्धि के लिए **सप्त पदानि दधिषे**=सात कदमों को धारण करता है। विवाह संस्कार में ये सात कदम 'सप्तपदी' के रूप में कहे जाते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण अभ्युदय के लिए ये सात कदम आवश्यक ही हैं।'(क) अन्न को जुटाना, (ख) बल व प्राणशक्ति के वर्धक अन्न का सेवन, (ग) धनार्जन, (घ) स्वास्थ्य की स्थिरता, (ङ) उत्तम सन्तान, (च) दिनचर्या का नियम तथा (छ) परस्पर मित्रभाव' इस सात बातों के होने पर जीवन सुन्दर व यज्ञमय बन पाता है। इन सात कदमों को धारण करनेवाला व्यक्ति **स्वायै तन्वे**=इस अपने शरीर से **मित्रं**=उस मित्रभूत प्रभु को **जनयन्**=प्रकट करनेवाला होता है। यह अपने हृदय में प्रभु के प्रकाश को तो देखता ही है, इसके जीवन की क्रियाओं में लोगों को प्रभु की तेजोज्योति का अंश दिखता है। एवं इसके जीवन से प्रभु का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हमें प्रतिदिन आगे बढ़ना है, विशिष्ट दीप्ति वाला बनना है। यज्ञ की सिद्धि के लिए सात कदमों को रखते हुए हम अपने शरीरों से प्रभु की अभिव्यक्ति करें।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋत का रक्षण (सप्तपदी की व्याख्या)

भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि।
भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः ॥ ५ ॥

गत मन्त्र के अनुसार जब हम अपने शरीरों में प्रभु की अभिव्यक्ति कराते हैं तो हे प्रभो! आप हमारे लिये **महः चक्षुः**=तेजस्विता से परिपूर्ण चक्षु होते हैं। अथवा प्रभु हमें तेजस्वी भी बनाते हैं और हमारे लिए मार्गदर्शक भी होते हैं, हमें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान देते हैं। कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान देकर वे **ऋतस्य गोपाः**=ऋत के रक्षक होते हैं। हमारे जीवनों में से अनृत को दूर करके ऋत को परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार **यत्**=जब आप **ऋताय वेषि**=हमारे में ऋत के लिये, ऋत की स्थापना के लिये कामना करते हैं तो **वरुणः भुवः**=द्वेष का निवारण करनेवाले होते हैं। इस द्वेष निवारण के लिये **अपाम्**=(आपः रेतो भूत्वा) रेतःकणों के **न पात्**=न गिरने देनेवाले होते हैं। सुरक्षित वीर्य वाला शूर-वीर पुरुष ही द्वेषादि से ऊपर उठ पाता है। हे प्रभो! इस द्वेष निवारण के लिये ही उस व्यक्ति के लिये **जातवेदः भुवः**=(जातं वेदो यस्मात्) उचित धन को प्राप्त करानेवाले होते हैं (वेदः=wealth)। निर्धनता भी कई अशुभ भावनाओं को जन्म देने का कारण बन जाती है। हे प्रभो! आप **यस्य हव्यं जुजोषः**=जिसके हव्य को सेवन करनेवाले होते हैं उसके लिये **दूतः**=ज्ञान के सन्देश को प्राप्त करानेवाले होते हैं। वस्तुतः एक प्रभु-भक्त धन को प्राप्त करके हव्य का सेवन करता है, त्यागपूर्वक यज्ञशेष का ही उपयोग करता है। यह यज्ञशेष का सेवन ही प्रभु का उपासन है 'हविषा विधेम'=उस आनन्द स्वरूप प्रभु का हवि के द्वारा उपासन करते हैं। इन यज्ञशेष का सेवन करने वालों को ही प्रभु का ज्ञान सन्देश प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे मार्गदर्शक हैं, हमारे जीवन को ऋतमय-वीरतापूर्ण व यज्ञशेष का सेवन करनेवाला बनाते हैं।

सूचना—पिछले मन्त्र के 'सात पदों' का भी प्रस्तुत मन्त्र में संकेत प्रतीत होता है—(१) **भुवः चक्षुर्महः**=तेजस्वतापूर्ण ज्ञान, (२) **ऋतस्य गोपाः**=ऋत का, यज्ञ का रक्षण, (३) **भुवोवरुणः**=द्वेष निवारण, (४) **अपांनपात्**=वीर्यरक्षण, (५) **जातवेदः**=उचित धनार्जन, (६) **दूतः**=ज्ञान सन्देश श्रवण, (७) **हव्यं जुजोषः**=यज्ञशेष के सेवन से प्रभु का आराधन।

ऋषिः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वर्षा हव्यवाट् जिह्वा

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ ६ ॥

हे प्रभो! आप हमारे जीवनों में **यज्ञस्य**=यज्ञात्मक कर्मों का तथा **रजसः**=क्रियाशीलता का (रजः कर्मणि) **नेता भुवः**=प्रणयन करनेवाले होते हैं, **यत्रा**=इन यज्ञात्मक कर्मों के निमित्त ही **शिवाभिः**=कल्याणकर **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों से हमें **सचसे**=समवेत-युक्त करते हैं। प्रभु हमें शुभ कर्मों की ओर झुकाव वाली इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं। 'हम अशुभ कर्मों में न प्रवृत्त हों' इसी उद्देश्य से **मूर्धानम्**=हमारे मस्तिष्क को **दिवि**=प्रकाश में **दधिषे**=हे प्रभो! आप स्थापित करते हो। हमें प्रभु ज्ञान देते हैं, जिससे कि हमारे कर्मों की पवित्रता बनी रहे। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप हमारी **जिह्वाम्**=जिह्वा को **स्वर्षाम्**=प्रकाशमय प्रभु का सेवन करनेवाली उस ज्ञान ज्योति के पुञ्ज प्रभु का नामोच्चारण करनेवाली तथा **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाली **चकृषे**=करते हैं। हमारी जिह्वा ज्ञान के शब्दों व प्रभु के नामों का ही उच्चारण करती है और पवित्र यज्ञशेष का ही सेवन करती है।

भावार्थ—(क)हम क्रियाशील हों और यज्ञों में लगे रहें, (ख) इन्द्रियों को शुभ बनाएँ, (ग) ज्ञान को धारण करे, (घ) प्रभु नामोच्चारण करें और हव्य पदार्थों का ही सेवन करें।

ऋषिः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का वारण

अस्य त्रितः क्रतुना वव्रे अन्तरिच्छन्धीतिं पितुरेवैः परस्य।
सचस्यमानः पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति ॥ ७ ॥

त्रितः='त्रीन् मनोति' धर्म, अर्थ, काम तीनों का उचित रूप में विस्तार करनेवाला अथवा 'त्रीन् तरति', 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को तैर जानेवाला **क्रतुना**=कर्म-संकल्प व प्रज्ञान के द्वारा **अस्य**=इस प्रभु का **वव्रे**=वरण करता है। प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम शरीर में कर्मशक्ति सम्पन्न हों, अकर्मण्य को ही अशुभ विचार घेरा करते हैं। मन में उस प्रभु प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प हो और मस्तिष्क प्रज्ञान से उज्ज्वल हो। ऐसा होने पर ही हम प्रभु को प्राप्त कर पाते हैं। यह व्यक्ति **एवैः**=अपनी सब गतियों व क्रियाओं से **परस्य पितुः**=उस परम पिता प्रभु ही **अन्तः**=(हृदयान्तरिक्ष) अन्तःकरण में **धीतिम्**=धारणा को अथवा प्रज्ञा को (नि० १०.४१) **इच्छन्**=चाहता है। इसकी सारी क्रियाएँ इस उद्देश्य से होती हैं कि यह हृदय में प्रभु को धारण कर पाये। यह **पित्रोः**=द्यावापृथिवी के, मस्तिष्क व शरीर के **उपस्थे**=गोद में, मस्तिष्क व शरीर के मध्य, अर्थात् हृदय में **सचस्यमानः**=उस प्रभु से सम्पर्क को प्राप्त करता हुआ (सच् to be associated) **आयुधानि**=तलवार, तोप, बन्दूक आदि अस्त्रों को **जामि**=(needless repetition) व्यर्थ की पुनरुक्ति-सा **ब्रुवाणः**=कहता हुआ **वेति**=इस संसार यात्रा में चलता है। प्रभु के सम्पर्क के होने पर मनुष्य को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि उसके लिए इन बाह्य अस्त्रों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वास्तव में तो सर्वत्र प्रभु दर्शन करने पर उसका किसी से वैर विरोध ही नहीं रहता, सो अस्त्रों का कोई उपयोग ही नहीं रह जाता।

भावार्थ—हम अपने हृदय में प्रभु का वरण करें, क्रियाशीलता के द्वारा हृदय में प्रभु का धारण

करें। प्रभु से हमारा इस प्रकार सम्बन्ध हो कि हमारे लिये ये बाह्य अस्त्र निकम्मे हो जाए।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

असुरों से युद्ध

स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रैषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत्।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः॥ ८॥

सः=वह गत मन्त्र का **त्रितः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों की शक्तियों का विस्तार करनेवाला **पित्र्याणि**=उस परमपिता प्रभु से प्राप्त होनेवाले **आयुधानि**=ज्ञान रूप अस्त्रों को **विद्वान्**=जाननेवाला, अर्थात् ज्ञानशस्त्र के प्रयोग से वासना रूप शत्रुओं को मारनेवाला, **इन्द्रेषितः**=उस परमैश्वर्यवान् प्रभु से प्रेरित हुआ-हुआ, **आप्त्यः**=दिव्यगुणों को प्राप्त करने वालों में सर्वोत्तम **अभ्ययुध्यत्**=वासनारूप शत्रुओं से मन में तथा रोगरूप शत्रुओं से शरीर में युद्ध करता है। इस युद्ध में विजय प्राप्त करके **त्रिशीर्षाणम्**=शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति रूप तीन शिखरों वाली **सप्तरश्मि**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन कान, नासिका, आँख व मुख आदि ज्ञानेन्द्रिय रूप सात ऋषियों की ज्ञान किरणों को **जघन्वान्**=खूब ही प्राप्त करता है (हन्=गति), इस प्रकार त्रिविध उन्नति के द्वारा तथा ज्ञानरश्मियों के द्वारा यह **त्रितः**=त्रिविध उन्नति का करनेवाला तथा काम-क्रोध-लोभ तीनों को तैर जानेवाला त्रित **त्वाष्ट्रस्य**=उस निर्माता प्रभु को दी हुई (त्वष्टा एव त्वाष्ट्रः) **गाः**=इन इन्द्रियों को **निः ससृजे**=विषयों के बन्धन से मुक्त करता है। आसुर वृत्तियों ने इन इन्द्रियों को आक्रान्त कर लिया था, पर त्रित इन्द्रियों को असुरों के आक्रमण से बचाता है, उनके बन्धन से छुड़ा लेता है।

भावार्थ—त्रि प्रभु से ज्ञान रूप शस्त्र को प्राप्त करके आसुर वृत्तियों व रोगों से लड़ता है और त्रिविध उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। और सप्त ऋषियों की ज्ञानकिरणों को प्राप्त करके इन्द्रियों को विषय बन्धनों से मुक्त करता है।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वासना विच्छेद व त्रिविध उन्नति

भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजोऽवाभिनत्सत्पतिर्मन्यमानम्।
त्वाष्ट्रस्य चिद्विश्वरूपस्य गोनामाचक्राणस्त्रीणि शीर्षा परा वर्क्॥ ९॥

सत्पतिः=सदा उत्तम (सत्) कर्मों में लगे रहने के द्वारा अपना रक्षण करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष **भूरि ओजः उदिनक्षन्तः**=बहुत अधिक शक्ति को व्याप्त करते हुए अर्थात् अतिशक्ति सम्पन्न होते हुए **मन्यमानं**=अपनी शक्ति के गर्व वाले अथवा प्रचण्ड (क्रुध्यमानं सा०) इस काम रूप असुर को **इत्**=निश्चय से **अवाभिनत्**=विदीर्ण करता है। 'काम' को नष्ट करने का सब से सुन्दर उपाय यही है कि 'उत्तम कर्मों में लगे रहना'। इस प्रकार काम को नष्ट करके **चित्**=निश्चय से **त्वाष्ट्रस्य**=उस दिव्यगुणों का निर्माण करनेवाले **विश्वरूपस्य**=व्यापक रूप वाले प्रभु की **गोनाम्**=इन्द्रियों के **त्रीणि**=तीन **शीर्षाणी**=शिखरों को **आचक्राणः**=करने के हेतु से **परावर्क्**=इन आसुर वृत्तियों को सुदूर छिन्न-भिन्न कर देता है। इन्द्रियों के तीन शिखर 'ज्ञान, कर्म व उपासना' हैं। इनके दृष्टिकोण से उन्नत होने के लिए वासनाओं का विच्छेद आवश्यक है। यहाँ 'ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ' इस प्रकार इन्द्रियों की द्विविधता के साथ तीन शिखरों का समन्वय निम्न सूत्र से स्पष्ट हो जाता है—'ज्ञान+कर्म=उपासना'। ज्ञान पूर्वक कर्म करना ही उपासना है।

एवं उपासना भी ज्ञान-कर्म के ही अन्तर्गत हो जाती है। एवं द्विविध इन्द्रियों से हम तीन शिखरों का आक्रमण करते हैं। परन्तु यह सब होता तभी है जब कि वासनाओं का हम विच्छेद करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—अत्यन्त प्रबल 'काम' रूप शत्रु के नष्ट होने पर ही हम 'त्रिशिरा: त्वाष्ट्र' बन पाते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ 'त्रिशिरा:' की व्याख्या से होता है, इसके मस्तिष्क में ज्ञान है, मन में प्रभु स्मरण, शरीर में रेत:कणों की व्याप्ति, (१) वह सदा प्रसन्न रहता है, कर्ममय जीवनवाला बनकर आनन्दित होता है, (२) यह आरोग्य साधन करके प्रभु उपासन में प्रवृत्त रहता है, (३) अभ्युदय की प्राप्ति के लिये यह 'अन्न-बल-धन-स्वास्थ्य-सन्तान-समयपालन व मित्रभाव रूप सात कदमों को रखता है, (४) प्रभु कृपा से हमारा जीवन ऋतमय बनता है, (५) हम हव्यपदार्थों का सेवन करते हैं, (६) प्रभु स्मरण के होने पर बाह्य अस्त्र हमारे लिये पुनरुक्त व व्यर्थ से हो जाते हैं, (७) हम इन्द्रियों को विषय-बन्धन से मुक्त कर पाते हैं, (८) प्रचण्ड कामरूप शत्रु का संहार करते हैं, (९) इस कामरूप शत्रु के संहार रूप महान् कार्य में जलों का समुचित प्रयोग हमारे लिये अतिसहायक होता है—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषि:—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्र: सिन्धुद्वीपो वाम्बरीष:** ॥ देवता—**आप:** ॥ छन्द:—**गायत्री** ॥
स्वर:—**षड्ज:** ॥

जल व नीरोगता

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

(१) **आप:**=जल **हि**=निश्चय से **स्था:**=हैं **मयोभुव:**=कल्याण व नीरोगता को उत्पन्न करनेवाले। अर्थात् जलों के समुचित प्रयोग से हम अपने शरीरों को पूर्णतया नीरोग बना पाते हैं। **ता:**=वे जल **न:**=हमें **ऊर्जे**=बल व प्राणशक्ति में **दधातन**=धारण करें। जलों का समुचित प्रयोग यह है कि—(क) हम स्नान के लिये ठण्डे पानी का प्रयोग स्पञ्जिंग के रूप में (घर्षण स्नान के रूप में) करें और पीने के लिये यथासम्भव गरम का। (ख) प्रात: जीभ व दाँतों को साफ करने के बाद जितना सम्भव हो उतना पानी पीयें, यही हमारी (Bed tea) हो। (ग) भोजन में थोड़ा-थोड़ा करके बीच-बीच में कई बार पानी लें 'मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि'। (२) इस प्रकार जलों का प्रयोग करने पर ये जल **महे**=हमारे महत्त्व के लिये हों, शरीर के भार को कुछ बढ़ाने के लिये हों। जलों के घर्षण स्नान आदि के रूप में प्रयोग से शरीर का उचित भार बढ़ता है। भारी शरीर कुछ हल्का हो जाता है और हल्का शरीर उचित भार को प्राप्त करता है। (३) **रणाय**=(रणशब्दे) जल का उचित प्रयोग शब्द शक्ति के विकास के लिये होता है। वाणी में शक्ति आ जाने से हम 'पर्जन्य निनदोपम:' मेघगर्जना के समान गम्भीर ध्वनि वाले बनते हैं। (४) **चक्षसे**=जलों के ठीक प्रयोग से ये दृष्टिशक्ति की वृद्धि के कारण बनते हैं। भोजन के बाद गीले हाथों के तलों से आँखों को कुछ मलना, प्रात: ठण्डे पानी के छींटे देना आदि प्रयोग दृष्टिशक्ति को बढ़ाते हैं, उष:पान तो निश्चय से इसके लिये अत्यन्त उपयोगी है।

भावार्थ—जल 'नीरोगता, बल व प्राणशक्ति, महत्त्व (भार: शब्दशक्ति व दृष्टिशक्ति' के वर्धक हैं।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

कामयमान माताओं के समान

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ २॥

(१) हे जलो! **यः**=जो **वः**=तुम्हारा **शिवतमः**=अत्यन्त कल्याण करनेवाला **रसः**=रस है, **नः**=हमें **इह**=इस जीवन में **तस्य**= उसका **भाजयत**=भागी बनाओ। 'भज सेवायाम्'=हमें उस रस का उसी प्रकार सेवन कराओ **इव**=जिस प्रकार **उशतीः**=बालक के हित की कामना करती हुई **मातरः**=माताएँ बच्चे को स्तन्य=(दूध) का पान कराती हैं। (२) बच्चा माता के दूध का पान करके जैसे नीरोग व पुष्ट शरीर वाला होता है, उसी प्रकार हम जलों के रस का सेवन करते हुए नीरोगता व पुष्टि को प्राप्त करते हैं। (३) यहाँ स्तन्यपान की उपमा देकर यह संकेत किया गया है कि जलों को धीमे-धीमे पीना चाहिए, उनका रस लेने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर ही जल गुणकारी होते हैं।

भावार्थ—जलों का रस हमारे लिये उसी प्रकार पुष्टिकर व नीरोगता को देनेवाला है जैसे कि हितकामना वाली माता का दूध बच्चे के लिये।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

जननशक्ति

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥ ३॥

(१) हे **आपः**=जलो! **यस्य क्षयाय**=जिस रस के निवास के हेतु से आप **जिन्वथ**=हमें प्रीणित करते हो, दोषों को दूर करके तृप्ति व प्रसन्नता का अनुभव कराते हो, **वः**=आपके **तस्मा**=उस रस के लिये **अरं गमाम**=हम खूब जायें, अर्थात् उस रस को खूब ही प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जलों में एक रस है जो कि हमारे जीवन को नीरोग, निर्मल व सशक्त बनाकर हमें प्रसन्नता का अनुभव कराता है। हम उस रस को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करें। (२) हे **आपः**=जलो! आप **च**=और **नः**=हमें **जनयथा**=विकसित शक्ति वाला करो। अथवा जननशक्ति से युक्त करो। वस्तुतः यहाँ यह संकेत स्पष्ट है कि जलों का समुचित प्रयोग वन्ध्यात्व को तथा नपुंसकत्व को नष्ट करता है।

भावार्थ—जल अपने रसों से हमें प्रीणित करते हैं तथा हमारी शक्तियों का विकास करनेवाले हैं।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

इच्छा-आक्रमण-विजय

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥ ४॥

(१) **देवीः**=(दिव्=विजिगीषा) रोगों को जीतने की कामना वाले **आपः**=जल **नः**=हमारे लिये **अभिष्टये**=रोगों पर आक्रमण के लिये (अभिष्टि=attack) और इस प्रकार **पीतये**=हमारे रक्षण के लिये **भवन्तु**=हों। रोग विनाश के द्वारा ये जल **शम्**=शान्ति को देनेवाले हों। (२) यहाँ यह क्रम ध्यान देने योग्य है—'इच्छा-आक्रमण-विजय'। जल रोगों को जीतने की इच्छा करते

हैं (देवी:), रोगों पर आक्रमण करते हैं (अभिष्टये) और उन रोगों को शान्त कर देते हैं (शं) रोग शान्ति द्वारा ये जल हमारा रक्षण करते हैं (पीतये) (३) **शं-योः**=उत्पन्न रोगों का ये जल शमन करनेवाले हों (शं) तथा अनुत्पन्न रोगों का पृथक् करण करनेवाले हों, उनको हमारे से दूर ही रखनेवाले हों। 'शं' शब्द चिक्तिसा-cure व अपनयन का संकेत करता है और **योः**=रोगों को रोकने-prevention उत्पन्न ही न होने देने का। इस प्रकार ये जल रोगों का इलाज व रोकना दोनों ही काम करते हैं-(curative इलाज करनेवाला) भी हैं (preventive-अवरोधक) भी। ऐसे ये जल **नः**=हमारे **अभिस्रवन्तु**=दोनों ओर बहें। हम स्नान के रूप में इनका बाह्य प्रयोग करें और आचमन के रूप में अन्तः प्रयोग। इस प्रयोग में यह सूत्र हमें सदा ध्यान रहे कि 'अन्दर गरम और बाहर ठण्डा'। पीने में गरम पानी का तथा स्नान में ठण्डे का उपयोग हो। ठण्डे पानी का उपयोग त्वचा को सशक्त बनाता है, और गरम पानी का पीना पाचन को ठीक रखता है।

भावार्थ—जल हमारे रोगों को जीतने की कामना करते हैं, वे रोगों पर आक्रमण करते हैं और उन्हें शान्त कर देते हैं। ये जल उत्पन्न रोगों को शान्त करनेवाले तथा अनुत्पन्नों को दूर रखनेवाले हैं।

ऋषिः-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता-**आपः**॥ छन्दः-**वर्धमाना गायत्री**॥
स्वरः-**षड्जः**॥

वार्यों के ईशान

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्षणी॒नाम्। अ॒पो या॑चामि भेष॒जम्॥ ५॥

(१) ये जल **वार्याणाम्**=वरणीय, चाहने योग्य आरोग्य आदि धनों के **ईशानाः**=ईशान व स्वामी हैं, अर्थात् आरोग्य आदि धनों को देनेवाले हैं। और इस प्रकार **चर्षणीनाम्**=कामशील मनुष्यों के **क्षयन्तीः**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व क्रियाशीलता के कारण हैं। ये जल शरीर में हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं तथा नीरोगता व शक्ति को प्राप्त कराके हमारे जीवन को बड़ा क्रियाशील रखते हैं। (२) इन **अपः**=जलों को मैं **भेषजम्**=औषध को **याचामि**=माँगता हूँ। ये जल वस्तुतः सब रोगों के चिकित्सक हैं, उन्हें शान्त करने व दूर रखनेवाले हैं। इनसे हम औषध की याचना करते हैं। ये सुप्रयुक्त होकर हमें नीरोग करें।

भावार्थ—ये जल आरोग्य के ईशान हैं, हमारे निवास को उत्तम बनाकर हमें क्रियाशील बनाते हैं।

ऋषिः-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता-**आपः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥
स्वरः-**षड्जः**॥

विश्व-भेषज

अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा। अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वशं॑भुवम्॥ ६॥

(१) **सोमः**=सोम शक्ति के पुञ्ज प्रभु ने **मे**=मेरे लिये **अब्रवीत्**=यह प्रतिपादन किया है कि **अप्सु अन्तः**=जलों के अन्दर **विश्वानि भेषजः**=सम्पूर्ण औषध हैं। सब रोग जलों के ठीक प्रयोग से चिकित्सित हो सकते हैं। कोई भी रोग ऐसा नहीं जो कि इन जलों के लिये असाध्य हो। 'जल घातने' इस धातु से बना हुआ 'जल' शब्द ही इस बात का संकेत कर रहा है कि ये सब रोगों का **घात**=विनाश करनेवाले हैं। (२) प्रभु का 'सोम' नाम से स्मरण भी यहाँ भी व पूर्ण है, ये जल ही वस्तुतः 'आपः रेतो भूत्वा०' रेतःकण बनकर शरीर में प्रविष्ट होते हैं और ये हमें सोम (semen) शक्ति सम्पन्न बनाते हैं। यह सोम शक्ति ही रोगों का विनाश करती है। (३)

प्रभु ने **च**=यह भी प्रतिपादित किया है कि **अग्निं विश्वशंभुवम्**=अग्नि सब रोगों को शान्त करनेवाली है। इस प्रकार 'अप्सुः व अग्निं' शब्द 'जलों में अग्नि' को सब रोगों का शामक व भेषज कर रहे हैं। इन शब्दों में पीने के लिये गरम जल के प्रयोग का संकेत स्पष्ट है।

भावार्थ—गरम जल ही पीना चाहिए, यह हमारे सब रोगों को शान्त करेगा।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**प्रतिष्ठा गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

दीर्घकाल तक सूर्य-दर्शन

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे ॥ ७ ॥

(१) हे **आपः**=जलो! आप **मम तन्वे**=मेरे शरीर के लिये **वरूथम्**=रोगों का निवारण करनेवाले **भेषजम्**=औषध को **पृणीत**=(पूरयत) पूरित करो। अर्थात् जलों के यथायोग से मेरे शरीर में रोगों का प्रवेश न हो सके। (२) **च**=और इस प्रकार हमारी नीरोगता का कारण बनकर ये जल **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=हमारे सूर्य-दर्शन के लिये हों। अर्थात् हम दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—जल रोगनिवारण के द्वारा दीर्घजीवन के लिये होते हैं।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

'दुरित-द्रोह-आक्रोश व अनृत' (नाश)

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥ ८ ॥

(१) हे **आपः**=जलो! **यत् किञ्च**=जो कुछ भी **मयि दुरितम्**=मेरे में अशुभ आचरण आ जाता है। **इदम्**=इसको **प्रवहत**=आप बहा कर दूर कर दो। जल शरीर के मलों व रोगों को ही दूर करें, यह बात नहीं है। ये जल मानस मलों को भी, क्रोधादि को दूर करनेवाले हैं। इनके ठीक प्रयोग से स्वस्थ शरीर में मन भी स्वस्थ होता है। (२) **यद्वा**=और जो **अहम्**=मैं **अभिदुद्रोह**=किसी के प्रति द्रोह की भावना को करता हूँ, उसे भी आप बहा दो। (२) **यद्वा**=और जो **शेपे**=मैं क्रोधवश किसी को शाप देता हूँ, गाली आदि देता हूँ, उस सब आक्रोश को ये जल मेरे से दूर करें। (४) **उत**=और **अनृतम्**=सब अनृत को भी ये जल हमारे से दूर करें। हमारा सब व्यवहार ऋत को लिये हुए हो।

भावार्थ—जलों के समुचित प्रयोग से हम 'दुरित-द्रोह-आक्रोश व अनृत' से बचें।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

पयस्वान् अग्नि

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि। पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा ॥ ९ ॥

(१) **अद्य**=आज मैं **आपः**=जलों को **अनु अचारिषम्**=शास्त्रों के अनुकूल सेवित करता हूँ। **रसेन समगस्महि**=हम जलों के रस से संगत होते हैं। वस्तुतः जलों के पीने का ठीक तरीका यही है कि उन्हें रस लेकर पिया जाए। इसी विधि को 'आचमन करना' कहते हैं। (२) हे **पयस्वान् अग्ने**=अग्निदेव! प्रशस्त जलों वाला तू **आगहि**=हमें प्राप्त हो। अर्थात् हम गरम पानी का ही प्रयोग करें। (३) **तम्**=उस गरम पानी का प्रयोग करनेवाले **मा**=मुझे **वर्चसा**=वर्चस् व

दीप्ति से **संसृज**=संसृष्ट कर। यह गरम जल का प्रयोग सब प्रकार के रोगों से हमें मुक्त करे और वर्चस्वी बनाये।

भावार्थ—हम जलों का प्रयोग रस लेते हुए करें। यह गरम जल का प्रयोग हमें वर्चस्वी बनाये।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है कि जल कल्याणजनक हैं, बल व प्राणशक्ति को देनेवाले हैं, (१) इनके रस से हमारी शक्तियों का विकास होता है, (२) ये उत्पन्न रोगों को शान्त करते हैं, अनुत्पन्न को दूर रखते हैं, (३) इनमें सब औषध हैं, (४) गरम जल सब रोगों को शान्त करता है, (५) दीर्घजीवन को देता है, (६) 'दुरित-द्रोह-आक्रोश व अनृत' को भी नष्ट करता है, (७) हमें वर्चस्वी बनाता है, (८) इस वर्चस्विता के अविनाश के लिये ही गृहस्थ के मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन कराते हैं।

इस सूक्त के ऋषि 'यम व यमी' हैं। यम का अर्थ है 'आत्मसंयम वाला'। यम के इस संयम की परीक्षा के लिये ही यमी यम से विवाह का प्रस्ताव करती है—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

सन्तान का महत्त्व

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः॥ १॥

(१) यमी यम से कहती है कि **उ चित्**=निश्चय से **सखायम्**=मित्रभूत तुझ को **सख्या**=मित्रभाव से **आववृत्याम्**=(आवर्तयामि सा०) आवृत्त करती हूँ। 'पति पत्नी' परस्पर एक-दूसरे के सखा हैं, सप्तपदी के सातवें कदम में कहते हैं कि 'सखे सप्तपदी भव'। मित्रभाव से आवृत करने का अभिशय यही है कि तू मुझे पति रूप से प्राप्त हो। (२) इसलिए मैं तुझे पतिरूप से चाहती हूँ कि **पुरुचित्**=इस अत्यन्त विस्तृत **अर्णवम्**=संसार समुद्र को **जगन्वान्**=गया हुआ पुरुष **तिरः**=अन्तर्हित हो जाता है। टैनिसन एक स्थान पर लिखते हैं कि 'From great deep to the great deep he goes' मनुष्य एक महान् समुद्र से आता है, और थोड़ी-सी देर इस स्थल इस मध्य पर रहकर, दूसरे विस्तृत समुद्र में चला जाता है। न मनुष्य के आने का पता है, न जाने का; 'कहाँ से आया, कहाँ गया' यह सब अज्ञात ही है। सो मनुष्य मृत्यु पर संसार समुद्र में लीन हो जाता है और उसका कुछ पता नहीं कि वह कहाँ गया। (३) इस बात का ध्यान करके ही **प्रतरं दीध्यानः**=इस विस्तृत समुद्र का विचार करता हुआ **वेधाः**=बुद्धिमान् पुरुष **अधिक्षमि**=इस पृथ्वी पर **पितुः नपातम्**=पिता के न नष्ट होने देनेवाले सन्तान को **आदधीत**=आहित करता है। अर्थात् एक सन्तान को जन्म देता है और अपने इस नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने पर भी उस सन्तान के रूप में बना ही रहता है। इसीलिए वह प्रार्थना भी करता है कि 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'—हे प्रभो! हम सन्तानों के द्वारा अमर बने रहें। (४) यमी की युक्ति संक्षेप में यह है कि—(क) इस विशाल संसार-समुद्र में मनुष्य कुछ देर के बाद तिरोहित हो जाता है। (ख) सन्तान के रूप में ही उसका चिह्न बचा रहता है। (ग) सो सन्तान प्राप्ति के लिये तू मुझे पत्नी के रूप में चाहनेवाला हो और मेरे में सन्तान का आधान कर।

भावार्थ—मनुष्य सन्तान के रूप में ही बना रहता है सो 'सन्तान प्राप्ति के लिये यम यमी की कामना करे' यह स्वाभाविक ही है।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः** ॥ देवता—**यमी वैवस्वती** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

समीप सम्बन्ध की हानियाँ

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्रोक्त यमी की बात का उत्तर देते हुए यम कहता है कि सन्तान प्राप्ति के लिये पुरुष और स्त्री का मित्रभाव ठीक ही है, परन्तु **ते सखा**=सहोत्पन्न होने से तेरा मित्र मैं **एतत् सख्यम्**=इस पति पत्नी रूप मित्रता को **न वष्टि**=नहीं चाहता हूँ। **यत्**=क्योंकि **सलक्ष्मा**=समान लक्षणों वाली कन्या सन्तानोत्पत्ति के लिये **विषुरूपा**=बहुत ही विरूप होती है (विषमरूपा सा०) अर्थात् भाई बहिन के इतने समीप सम्बन्ध में सन्तान विरूप ही उत्पन्न होती है। प्राकृतिक क्षेत्र में 'धन विद्युत्' 'धन विद्युत्' से दूर भागती है, ऋण की ओर आकृष्ट होती है। इसी प्रकार सन्तानोत्पत्ति के लिये भी 'सलक्ष्मत्व' हानिकर है। दूर के सम्बन्ध ही ठीक होते हैं। (२) **महस्पुत्रासः**=तेजस्विता के द्वारा (पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र करनेवाले व रक्षित करनेवाले, **असुरस्य वीराः**=उस प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु के वीर पुत्र, **दिवः धर्तारः**=प्रकाश व ज्ञान के धारण करनेवाले व्यक्ति इस समीप सम्बन्ध का **उर्विया**=खूब ही **परिख्यन्**=निषेध करते हैं। (३) वस्तुतः 'यह मई स्पुत्रासः, असुरस्य वीराः तथा दिवः धर्तारः' इन शब्दों से यह संकेतित हो रहा है कि समीप सम्बन्धों का परिणाम यह होता है कि—(क) हमारी तेजस्विता का क्षय होता है, क्योंकि यह सम्बन्ध भोगवृत्ति को प्रधानता देने पर ही होता है। (ख) हम प्रभु के पुत्र न होकर प्रकृति के पुत्र हो जाते हैं, प्राकृतिक भोगों में पड़कर प्राणशक्ति को क्षीण कर बैठते हैं। (ग) हमारे ज्ञान में भी कमी आ जाती है। इन कारणों से 'तेजस्वी-प्रभु-भक्त-ज्ञानी' लोग इस समीप सम्बन्ध का प्रबल निषेध करते हैं।

भावार्थ—समीप सम्बन्ध विकृत सन्तानों को जन्म देने के कारण बनते हैं। इनके कारण हमारी तेजस्विता-प्राणशक्ति व ज्ञान में भी हीनता आती है।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती** ॥ देवता—**यमो वैवस्वतः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

सन्तान के लिये वीर्यदान की अनिन्द्यता

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा विविश्याः ॥ ३ ॥

(१) यम के इस समीप सम्बन्ध को न स्वीकार करने पर यमी फिर कहती है कि **ते**=वे **अमृतासः**=भोगवृत्ति से ऊपर उठे हुए, भोगों में न फँसनेवाले, इनके पीछे न मरनेवाले 'अ-मृत' पुरुष भी **एतत्**=इस पति-पत्नी सम्बन्ध को **घा उशन्ति**=चाहते ही हैं। प्रभु की अमैथुनी मानस-सृष्टि में उत्पन्न हुए-हुए प्रभु के अमृत पुत्रों ने क्या इस सम्बन्ध की कामना नहीं की। (२) वे तो इस सम्बन्ध को और पत्नी में सन्तान के आधान को **एकस्य मर्त्यस्य**=एक मनुष्य के **चित्**=निश्चय से **त्यजसम्**=त्याग को समझते हैं। सन्तान निर्माण के लिये यह वीर्य का दान तो सचमुच एक महान् त्याग है। (३) इसलिए हे यम! **ते मनः**=तेरा मन **अस्मे मनसि**=हमारे मन में **निधायि**=निहित हो। अर्थात् तू मेरी कामना करनेवाला हो, मुझे पति रूप से चाहनेवाला बन।

(४) **जन्युः**=सन्तान को जन्म देनेवाला **पतिः**=मेरा पति बनकर **तन्वं आविविश्याः**=मेरे शरीर में प्रवेश कर। 'तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां जायते पुनः', जाया का जायात्व यही है कि इसमें पुरुष पुनः जन्म लेता है। सन्तान के रूप में पिता ही दुबारा उत्पन्न होता है। उसके शरीर के एक अंश से ही पुत्र के शरीर का निर्माण होता है। सो पुत्र के रूप में वह शरीर की दृष्टि से भी जीवित ही बना रहता है। (५) 'जन्युः' शब्द इस भाव को सुव्यक्त कर रहा है कि सन्तान को जन्म देनेवाला 'काम' निन्दनीय नहीं है। 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' इन शब्दों में यह काम परमेश्वर की ही विभूति है और इसलिए अवाञ्छनीय नहीं है।

भावार्थ—प्रभु के अमृत पुत्र भी परस्पर पति-पत्नी भाव को चाहते ही हैं, यह तो एक महान् त्याग है। सन्तान को जन्म देने के लिये यह सम्बन्ध अनिन्द्य है।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्कृष्ट बन्धुत्व

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ॥ ४॥

(१) यम उत्तर देता हुआ कहता है कि **यत्**=जिस बात को **पुरा**=इससे पहली सृष्टि में **कत् ह न चकृमा**=कभी भी नहीं किया है **नूनम्**=अब निश्चय से **ऋता वदन्तः**=सत्यों को ही अपने जीवन से कहते हुए हम **अनृतं**=अनृत को **रपेम**=कहें? अर्थात् हम अपने जीवन में उस बात को जो कि सत्य नहीं है क्यों आने दें? यह ठीक नहीं है। (२) सृष्टि के प्रारम्भ में पुरुष **गंधर्वः**=वेद वाणी का धारण करनेवाला है तथा **अप्सु**=कर्मों में निवास वाला है अर्थात् कर्मशील है, **च**=और **योषा**=स्त्री भी **अप्या**=कर्मों में उत्तमता से लगी रहनेवाली है, वस्तुतः इसीलिए तो वह 'योषा' है, गुणों को अपने से संपृक्त करनेवाली तथा दोषों को अपने से दूर करनेवाली। **सा**=वह 'ज्ञान का धारण व कर्मशीलता' ही **नः**=हम सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले (स्त्री-पुरुषों) का **नाभिः**=(णह बन्धने) बन्धन है, हमें परस्पर बाँधनेवाली बात है। **तत्**=वह ही **नौ**=हम दोनों का भी **परमं जामि**=सर्वोत्कृष्ट बन्धुत्व है। 'पति-पत्नी' बनने से ही तो बन्धुत्व नहीं होता?

भावार्थ—पिछली सृष्टि में भी भाई-बहिन कभी पति-पत्नी के समीप सम्बन्ध में सम्बद्ध नहीं हुए। सदा ऋत का आचरण करते हुए हमें अनृत को अपनाना शोभा नहीं देता 'ज्ञानधारण व क्रियामय जीवन' ही पुरुष-स्त्री का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध है। वही भाई-बहिन का परम बन्धुत्व है।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

'सम्बन्ध-निर्माता' प्रभु

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः॥ ५॥

(१) यमी फिर यम की परीक्षा लेती हुई कहती है कि **जनिता**=हम सब को जन्म देनेवाले उस प्रभु ने **गर्भे नु**=गर्भ में ही साथ-साथ जन्म देने से **नौ**=हम दोनों को **दम्पती**=पति-पत्नी **कः**=बनाया है। वे प्रभु **देवः**=पूर्ण ज्ञानमय हैं, **त्वष्टा**=वे ही सब सम्बन्धों का निर्माण करनेवाले हैं, **सविता**=सब प्रेरणाओं के देनेवाले हैं, **विश्वरूपः**=और उन प्रेरणाओं को देकर इस संसार

को रूप प्राप्त करानेवाले हैं। (२) ज्ञानमय होने से उस प्रभु के निर्मित सम्बन्धों में गलती हो सो बात नहीं। उनकी प्रेरणायें ठीक ही हैं और उन्होंने संसार को ठीक ही रूप दिया है। **अस्य व्रतानि**=इस सविता देव के व्रतों को **नकिः प्रमिनन्ति**=कोई भी हिंसित नहीं करते हैं। प्रभु की व्यवस्था को कोई तोड़नेवाला नहीं है। (३) **नौ**=हम दोनों के **अस्य**=इस सम्बन्ध को **पृथिवी उत द्यौः**=पृथिवी और द्युलोक अर्थात् सारा संसार **वेद**=जानता है। 'हमारा यह सम्बन्ध कोई छिपा हुआ व पापमय हो' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—हमारे इस पति-पत्नी सम्बन्ध को तो करनेवाले हमारे पिता प्रभु ही हैं, यह स्पष्ट बात है, 'कोई छिपी हुई पापमय बात हो' सो नहीं।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रारम्भिक दिन की बात

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥ ६॥

(१) उत्तर देता हुआ यम कहता है कि **अस्य प्रथमस्य अह्नः**=इस पहले दिन की बात को **कः वेद**=परमात्मा ही जानता है। **ईम्**=निश्चय से **कः ददर्श**=उस दिन की बात को तो प्रभु ही देखते हैं और **इह**=सृष्टि के इस प्रारम्भ समय में **कः प्रवोचत्**=वह अनिरुक्त (अनिर्वचनीय महिमा वाले) प्रजापति ही ज्ञान का प्रवचन करते हैं। उस समय की बात मनुष्य अनुमान से ठीक-ठीक नहीं जान पाता। और अगले सृष्टिक्रम में तो निश्चय से पति-पत्नी का सम्बन्ध दूर-दूर ही होता है। (२) **मित्रस्य**=सब के साथ स्नेह करनेवाले **वरुणस्य**=द्वेषादि का निवारण करनेवाले उस प्रभु का **धाम**=तेज **बृहत्**=बहुत अधिक है अथवा सभी प्राणियों की वृद्धि का कारण है। (३) यहाँ 'मित्र वरुण' शब्दों से प्रभु का स्मरण संकेत कर रहा है कि वेद का मूलभूत उपदेश 'प्रेम व निर्द्वेषता' ही है। **उ**=और वे **कत्**=(कं तनोति) सुख का विस्तार करनेवाले प्रभु ही **ब्रवः**=सृष्टि के प्रारम्भ में हमें उपदेश देते हैं, वे हमारे पिता ही नहीं, गुरु भी हैं। हम सब उनके शिष्य हैं, वे प्रभु **नॄन्**=सब उन्नतिशील मनुष्यों को **वीच्या**=हृदय तरंगों से अर्थात् भावनाओं से **आहनः**=आहत करते हैं (हन् गतौ) हमारे जीवनों को गतिमय बनाते हैं। भावनाओं के अभाव में हमारा जीवन गतिशून्य होता। प्रभु ने काम व भाव को 'वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग' के अनुष्ठान के लिये ही हमारे हृदयों में रखा है। (काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः) इस काम को अपवित्र न होने देने के लिये ही ज्ञान है एवं ज्ञान व भाव मिलकर हमारे जीवनों व सम्बन्धों को सुन्दर बनाते हैं।

भावार्थ—पहले दिन की बात को तो प्रभु ही जानते हैं। प्रभु का तेज अनन्त है। उनका मौलिक उपदेश यही है कि हम प्रेम व निर्द्वेषता से चलें। वे प्रभु ही हमें ज्ञान देते हैं और वे ही हमारे हृदयों को भावान्वित करते हैं।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मोह (अलग होने की घबराहट)

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा॥ ७॥

(१) **यमस्य**=तुझ यम का **कामः**=प्रेम (मोह) **यम्यं मा**=मुझ यमी के प्रति **आगन्**=प्राप्त हो। **समाने योनौ**=समान ही घर में **सहशेय्याय**=साथ-साथ निवास के लिये कामना हो। अर्थात्

हमें अलग-अलग न होना पड़े। (२) यह ठीक है कि प्रभु ने कुछ ऐसी व्यवस्था की है समान रुधिर मिलकर, कुछ गुणों में नवीनता उत्पन्न न होकर, ह्रास ही होता है। इसलिए मनुष्य को दूर-दूर ही सम्बन्ध करने पड़ते हैं और इस प्रकार भिन्न-भिन्न घर परस्पर गुंथ जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो मोहवश व्यक्ति एक ही घर में सीमित हो जाते, समाज की भावना का पोषण ही न हो पाता। भाई-बहिन का सम्बन्ध यदि उन्हें एक ही घर में सीमित कर देता है तो एक स्थान पर बहिन का सम्बन्ध होना तथा दूसरे स्थान पर भाई का सम्बन्ध होना कमजकम तीन घरों को मिला देता है। (३) पर यहाँ यमी यम की परीक्षा लेती हुई उसे प्रेम के नाते प्रेरित करती है कि हे यम! तूम मेरी कामना कर। और मैं **जाया इव**=पत्नी की तरह **पत्ये**=पति के रूप में तेरे लिये **तन्वं**=अपने शरीर को **रिरिच्याम्**=(विविच्यां, प्रकाशयेयम्) प्रकाशित करूँ। अर्थात् हम परस्पर पति-पत्नी के रूप में हों। **चित्**=और निश्चय से **विवृहेव**=हम धर्म-अर्थ व काम रूप पुरुषार्थों के लिये उद्योग करें। **रथ्या चक्रा इव**=जैसे रथ के दो पहिये रथ को उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होते हैं उसी प्रकार हम पति-पत्नी इस जीवन रथ के दो पहियों के समान हों और जीवन को सफल बनायें।

भावार्थ—हे यम! क्या तुझे मेरे प्रति प्रेम नहीं? हमारा आपस में प्रेम स्वाभाविक है हम पति-पत्नी बनकर धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों को सिद्ध करते हुए जीवन को सफल करें।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

देवों के चर

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं वि वृह रथ्येव चक्रा॥ ८॥

(१) यम उत्तर देता हुआ कहता है कि 'यह समझना कि हमारा यह सम्बन्ध छिपा रहेगा' ठीक नहीं है। मनुष्यों को न भी पता लगे, सूर्यादि देव तो हमारे इन कर्मों को देखते ही हैं। 'आदित्यचन्द्रावनलानिलौ च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्' 'सूर्य, चाँद, अग्नि, वायु, द्युलोक, पृथिवीलोक, जल, हृदय, यम, दिन, रात, दोनों सन्ध्याकाल तथा धर्म' ये सब मनुष्य के वृत्त को देख रहे हैं। ये **एते**=जो ये **देवानां स्पशः**=देवों के गुप्तचर मनुष्यों के आचरण को देखते हुए, **इह चरन्ति**=यहाँ विचरण करते हैं **न तिष्ठन्ति**=न तो खड़े होते हैं, **न निमिषन्ति**=न पलक मारते हैं। अर्थात् ये देव अन्तर्हित हुए-हुए हमारे सब कार्यों को जान रहे हैं। (२) इसलिये हे **आहनः**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाली (हन्=गति, हिंसा) मेरी बहिन! **मद् अन्येन**=मेरे से भिन्न व्यक्ति के साथ **तूयम्**=शीघ्र **याहि**=तू इस जीवनयात्रा में गतिशील हो, **तेन**=उसी के साथ **विवृह**=तू धर्म, अर्थ व काम रूप पुरुषार्थ के लिये उद्योग कर। उसी के साथ मिलने पर तुम दोनों **रथ्या चक्रा इव**=रथ के पहियों के समान जीवन यात्रा में आगे और आगे बढ़नेवाले होवो।

भावार्थ—हमारे प्रत्येक कर्म को देव देख रहे हैं। सो हम समीप सम्बन्धों को दूर रखकर दूर सम्बन्धों को ही बनाकर धर्मार्थ काम को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सुदूर-सम्बन्ध

रात्रीभिरस्मा अहंभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।

दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि॥ ९॥

(१) गत मन्त्र से यम 'मत् अन्येन'=इन शब्दों में अपने से भिन्न किसी श्रेष्ठ पुरुष से अपनी बहिन के सम्बन्ध को चाहता है। यम प्रार्थना करता है कि उसकी बहिन **रात्रीभिः अहभिः**=दिन-रात **अस्मा**=अपने इस पति के लिये **दशस्येत्**=आराम को देने की इच्छा वाली हो। (२) उसकी बहिन व उसके पति पर **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य की आँख **मुहुः**=बारम्बार **उन्मिमीयात्**=खुले, अर्थात् इनका जीवन दीर्घ हो। (३) **दिवा पृथिव्या**=जैसे द्युलोक पृथिवीलोक के साथ **मिथुना**=परस्पर **सबन्धू**=साथ-साथ समान बन्धुत्व वाले होते हैं, इसी प्रकार ये भी बन्धुत्व वाले हों। द्युलोक व पृथिवीलोक कितने दूर-दूर हैं, इसी प्रकार यम भी चाहता है कि इसकी बहिन सुदूर सम्बन्ध वाली हो। मेरे से भी बहिन की दूरी कोई प्रेम को कम थोड़ा कर देगी, दूरी तो प्रेम को बढ़ा ही देती है 'distance enhances love' (४) **यमीः**=संयत जीवन वाली मेरी बहिन **यमस्य**=मुझ यम के **अजामि**=(अभ्रातरं) असम्बद्ध व्यक्ति को अर्थात् किसी सुदूर गोत्र वाले को ही **बिभृयात्**=भर्तृरूपेण ग्रहण करे। अर्थात् दूर ही कहीं सम्बन्ध वाली हो।

भावार्थ—पत्नी दिन-रात पति के सुख का ध्यान करे, परस्पर मेल व प्रेम से ये दीर्घजीवी हों। द्युलोक व पृथिवीलोक जिस प्रकार परस्पर दूरी पर हैं, इसी प्रकार सम्बन्ध दूरी पर ही हों। दूर गोत्र में ही सम्बन्ध हो।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्कृष्ट युग

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥ १०॥

(१) यम चाहता है कि **घा**=निश्चय से **ताः**=वे **उत्तरा युगानि**=उत्कृष्ट युग=समय **आगच्छान्**=आयें **यत्र**=जहाँ **जामयः**=बहिनें **अजामि**=(अभ्रातरं) न भाई को ही, न रिश्तेदार को ही, सूदर गोत्र वाले को ही **कृणवन्**=पतिरूपेण स्वीकार करें। वस्तुतः सुदूर सम्बन्धों से ही उत्कृष्ट सन्तानों का निर्माण होता है, और एक समाज उत्कृष्ट युग में पहुँचती है। (२) हे यमि! तू **वृषभाय**=एक शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुष के लिये **बाहुम्**=अपनी भुजा को **उपबर्बृहि**=उपबर्हण व तकिया बनानेवाली हो। अर्थात् उस श्रेष्ठ पुरुष व तेरा सम्बन्ध परस्पर प्रेम पूर्ण हो। हे **सुभगे**=उत्तम भाग्य वाली **मत् अन्यं**=मेरे से विलक्षण पुरुष को ही **पतिम् इच्छस्व**=पति के रूप में वरण करनेवाली हो।

भावार्थ—सुदूर सम्बन्ध में ही सौभाग्य व सौन्दर्य है। यह सुदूर सम्बन्ध ही एक राष्ट्र में उत्कृष्ट युग को लाने का कारण बनता है।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

संरक्षण व सुस्थिति

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वे३तद्रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि॥ ११॥

(१) यमी परीक्षा लेती हुई फिर कहती है कि **यत्**=यदि **अनाथं भवाति**=बहिन अनाथ-नाथ व रक्षक से रहित हो जाती है तो **किं भ्राता असत्**=वह कुत्सित भाई ही होता है। भाई को तो बहिन का सदा रक्षक होना चाहिए। और **यत्**=यदि उसको **निर्ऋतिः**=दुर्गति व कष्ट **निगच्छात्**=प्राप्त हो तो वह **किं स्वसा**=कुत्सित ही तो बहिन है। अर्थात् हे यम! तू मेरा सदा

रक्षक हो, और मैं तुझे सदा सुख के पहुँचानेवाली बनूँ। ऐसा ही हमारा सम्बन्ध बना रहे। (२) **काम-मूता**=(मव बन्धने) प्रेम भाव से बद्ध हुई-हुई **एतत्**=यह बात **बहु**=फिर-फिर **रपामि**=मैं कहती हूँ कि **तन्वा**=अपने शरीर से **मे तन्वम्**=मेरे शरीर को **संपिपृग्धि**=तू सम्यक् संपृक्त करनेवाला हो। हम एक दूसरे की कमी को दूर करनेवाले हों, परस्पर पूरक हों।

भावार्थ—पति पत्नी का रक्षण करता है, पत्नी पति को सुस्थिति प्राप्त कराती है। परस्पर प्रेमभाव से युक्त होकर वे एक दूसरे की न्यूनताओं को दूर करनेवाले होते हैं। 'पति पत्नी' वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सुख-समृद्धि-सम्पन्नता

न वा उ ते तन्वा तन्वं१ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्॥ १२॥

(१) यम उत्तर देता हुआ कहता है कि मैं **वा उ**=निश्चय से **ते तन्वा**=तेरे शरीर से **न संपपृच्याम्**=अपने शरीर को संपृक्त नहीं कर सकता, क्योंकि **यः**=जो भी भाई होकर **स्वसारं निगच्छात्**=बहिन के प्रति पतिभाव से प्राप्त होता है उसे **पापं आहुः**=ज्ञानी पुरुष पापी कहते हैं। सो इस सम्बन्ध में मैं तेरा नाथ व तू मेरी सुस्थिति का कारण थोड़े ही होगी? सो भाई के रूप में रहता हुआ ही मैं तेरा उत्तम रक्षक होऊँगा, और **स्वसा**=के रूप में ही तू मेरी उत्तम स्थिति का कारण बनेगी। (२) **मद् अन्येन**=मेरे से विलक्षण पुरुष के साथ ही **प्रमुदः कल्पयस्व**=प्रकृष्ट आनन्दों को साधनेवाली तू हो, अर्थात् घर को तू सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनानी वाली हो। (३) **ते भ्राता**=तेरे सदा सुख को प्राप्त कराने की कामना वाला मैं तेरा भाई हे **सुभगे**=उत्तम भाग्य वाली! **एतत्**=इस पति रूप सम्बन्ध को **न वष्टि**=नहीं चाहता है। मैं तेरा भाई ही रहता हुआ तेरे सौभाग्यवर्धन की कामना वाला हूँगा।

भावार्थ—हम सुदूर सम्बन्धों को स्थापित करते हुए घरों को सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनाएँ। फलते-फूलते हमारे घर आमोद-प्रमोद से भरपूर हों।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

कक्ष्या और युक्त या बेल और वृक्ष

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्॥ १३॥

(१) सम्पूर्ण कई परीक्षा में उत्तीर्ण होते हुए अपने भाई को देखकर हृदय में प्रसन्न होती हुई यमी कहती है कि **बत उ बत असि**=(Joy or satisfaction तथा wonder or surprise) अरे भाई! तू तो मेरे हृदय को आनन्दित व आश्चर्यित करनेवाला है। (२) मैंने अभी तक **ते मनः**=तेरे मानसभावों को **हृदयं च**=व दिल की गहराई (दृढ़ि आस्तिकभाव) को **न एव अविदाम**=नहीं ही जाना था। आज तेरी महत्ता को समझ बड़ी प्रसन्नता हुई है। (३) यह ठीक ही है कि **अन्या किल**=निश्चय से मेरे से विलक्षण अर्थात् सुदूर गोत्र वाली ही कोई कन्या **त्वां परिष्वजाते**=तेरा आलिंगन करे। उसी प्रकार आलिंगन करे **इव**=जैसे कि **कक्ष्या**=कमर में बाँधी जानेवाली रज्जु **युक्तम्**=अपने से सम्बद्ध घोडे को आलिंगित करती है अथवा **इव**=जैसे **लिबुजा**=बेल **वृक्षम्**=वृक्ष को आलिंगित करती है। तेरा अपनी पत्नी से सम्बन्ध तुझे शक्तिशाली बनानेवाला हो उसी प्रकार

जैसे कक्ष्या घोड़े को कसी हुई कमर वाला बनाती है। और तू पत्नी का उसी प्रकार सहारा हो तथा उसकी उन्नति का कारण बन जैसे कि वृक्ष बेल का।

भावार्थ—सुदूर सम्बन्ध के होने पर पत्नी पति की शक्ति व उत्साह के वर्धन का कारण बने और पति पत्नी का आश्रय व वर्धक हों।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

परस्पर प्रेम व सुभद्रा संवित्

अ॒न्यमू॒ षु त्वं य॑म्य॒न्य उ॒ त्वां परि॑ ष्वजाते॒ लिबु॑जेव वृ॒क्षम्।
तस्य॑ वा॒ त्वं मन॑ इ॒च्छा स वा॒ तवाधा॑ कृणुष्व सं॒विदं॒ सुभ॑द्राम्॥ १४॥

(१) यम भी बहिन के लिये मंगल कामना करता हुआ कहता है कि **यमि**=संयत जीवन वाली **त्वम्**=तू **उ**=निश्चय से **अन्यम्**=अपने से विलक्षण रुधिरादि धातुओं वाले पुरुष को ही **परिष्वजाते**=आलिंगन कर तथा **त्वां उ**=तुझे भी **अन्यः**=तेरे से विलक्षण धातुओं वाला पुरुष ही **सुपरिष्वजाते**=सम्यक् आलिंगन करे। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **लिबुज**=बेल **वृक्षम्**=वृक्ष को आलिंगन करती है। (२) **त्वम्**=तू **तस्य मनः**=उसके मन की **वा**=निश्चय से **इच्छा**=चाहनेवाली बन, **वा स**=और वह भी **तव**=तेरे मन को चाहनेवाला हो। तुम्हारा परस्पर प्रेम हो, तुम एक दूसरे के भावों को आदृत करनेवाले होवो, तुम्हारा परस्पर ऐकमत्य हो। (३) **अधा**=और अब, इस प्रकार पति के साथ प्रेम व ऐकमत्य वाली होकर **सुभद्रां संविदम्**=कल्याणी बुद्धि को (understanding) अथवा परस्परैक्यमतिता को (Agreement) **कृणुष्व**=तू करनेवाली हो। अर्थात् तुम्हारे घर में शुभ विचार व सामञ्जस्य ही बना रहे।

भावार्थ—पति पत्नी का परस्पर प्रेम हो। घर में सदा 'सुभद्रा-संवित्' बनी रहे।

इस सम्पूर्ण सूक्त में यमी यम की परीक्षा लेती हुई उसे समीप सम्बन्ध के लिये प्रेरित करती है। परन्तु यम उस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर दूर सम्बन्धों के महत्त्व को सुव्यक्त करता है। और प्रसंगवश 'घर को किस प्रकार सुन्दर बनाना चाहिए' इस बात का भी संकेत करता है। इस सुन्दर घर में 'किस प्रकार यज्ञादि में जीवन को बिताना चाहिए' इसका निर्देश करते हैं।

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

यज्ञ और वर्षा

वृषा॒ वृष्णे॒ दुदु॑हे॒ दोह॑सा दि॒वः पयां॑सि य॒ह्वो अदि॑ते॒रदा॑भ्यः।
विश्वं॒ स वे॑द॒ वरु॑णो॒ यथा॑ धि॒या स य॒ज्ञियो॑ यजतु य॒ज्ञियाँ॑ ऋ॒तून्॥ १॥

(१) प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'आंगि'=(अगि गतौ) क्रियाशील व्यक्ति है जो कि हविर्धानः=हवि का धारण करनेवाला है, यज्ञ करके यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला है। यह इस बात को समझता है कि **वृषा**=वृष्टि का करनेवाला वह प्रभु **यह्वः**=महान् है (यह्व इति महतो नामधेयम्) अथवा 'यातश्च हूतश्च'=वे प्रभु जाने जाते हैं और पुकारे जाते हैं। अर्थात् जब मनुष्य संसार में अन्य शरण को नहीं देखता, उस समय प्रभु का ही सहारा ढूँढ़ता है और प्रभु की ही ओर जाता है और उसे पुकारता है। वे प्रभु '**अदाभ्यः**'=अहिंसित हैं, अपने कार्यों के अन्दर किसी से पराभूत नहीं होते। वे 'वृषा-यह्व व अदाभ्य' प्रभु **दिवः दोहसा**=द्युलोक के दोहन से **वृष्णे**=औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए यज्ञशील पुरुष के लिये **अदितेः**=अखण्डित याग क्रिया

से, अर्थात् निरन्तर यज्ञादि के द्वारा **पयांसि**=जलों का **दुदुहे**=दोहन व पूरण करते हैं। द्युलोक रूप गौ को प्रभु दोहते हैं, उस दोहन से वृष्टिजल रूप दूध प्राप्त होता है। (२) वस्तुतः **वरुणः**=हमारे सब कष्टों का निवारण करनेवाले **सः**=वे प्रभु **यथा**=क्योंकि **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से **विश्वम्**=सब आवश्यक पदार्थों को **वेद**=प्राप्त कराते हैं। इसलिए **सः**=वह **यज्ञियः**=यज्ञशील पुरुष **यज्ञियान् क्रतून्**=यज्ञ करने योग्य ऋतुओं का लक्ष्य करके **यजतु**=यज्ञ करे। प्रभु प्रार्थना को पुरुषार्थ के उपरान्त ही सुनते हैं। अर्थात् प्रार्थना ही करते जाएँ और पुरुषार्थ न करें तो वह प्रार्थना व्यर्थ ही जाती है। सो हम कर्मशील बनें। कर्म भी समझदारी से करने चाहिएँ। 'धिया' शब्द ज्ञान व कर्म का वाचक होकर 'समझदारी से ही कर्मों के करने का' संकेत कर रहा है। समझदारी से कर्म करने का अभिप्राय यही है कि ऋतु व समय के अनुसार कर्म किया जाए। (३) सब से बड़ी बुद्धिमत्ता यही है कि मनुष्य अत्यन्त स्वार्थी बनकर अपने मुख में ही आहुति न देता रहे। 'स्वेषु आस्येषु जुह्वतः चेरुः'=अपने ही मुखों में आहुति देनेवाले तो असुर हो जाते हैं। हम असुर न बनकर 'देव' बनें। देव 'वृषा' होते हैं, औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं। इस वृषा के लिये प्रभु ही वर्षण करते हैं, और सब अन्नादि ठीक उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—हम ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करनेवाले बनें। यह यज्ञक्रिया 'अदिति' हो, अखण्डित हो। हमारे यज्ञ प्रतिदिन नियमितरूप से चलें।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

स्तवन व वेदज्ञान

रप॑द्गन्ध॒र्वीरप्या॑ च॒ योष॑णा न॒दस्य॑ ना॒दे परि॑ पातु मे॒ मनः॑।
इ॒ष्टस्य॒ मध्ये॒ अदि॑ति॒र्नि धा॑तु नो॒ भ्राता॑ नो ज्ये॒ष्ठः प्र॑थ॒मो वि वो॑चति॥ २॥

(१) एक घर में गृहिणी घर का केन्द्र होती है, वही घर को बनाती है, बच्चों का निर्माण करती है। उसकी एक-एक क्रिया बच्चों के चरित्र पर प्रभाव डालनेवाली होती है। सो वह **रपत्**=प्रातः उठकर प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती है। यह स्तोत्रोच्चारण घर के सारे वातावरण को सुन्दर बनाता है। बच्चों में भी इस से भक्तिभाव का उदय होता है। (२) **गन्धर्वीः**=यह (गांधारयति) वेदवाणी का धारण करती है। स्वाध्याय को जीवन का नियमित अंग बनाती है। (३) **अप्या**=(अप्सु साध्वी) कर्मों में यह उत्तम होती है। वेदज्ञान के अनुसार कर्मों में लगी रहती है। यह इस बात को समझती है कि अकर्मण्यता अलक्ष्मी का कारण होती है। (४) **च**=और इस कर्मशीलता के कारण ही यह **योषणा**=अवगुणों से अपने को पृथक् करनेवाली तथा गुणों से अपने को संपृक्त करनेवाली होती है। (५) गृहपति भी प्रार्थना करता है कि **नदस्य मे**=स्तवन करनेवाला जो मैं, उस मेरे **मनः**=मन को **नादे**=प्रभुस्तवन के होने पर **अदितिः**=अखण्डित यागक्रिया अथवा वे अविनाशी प्रभु **परिपातु**=सुरक्षित करें। प्रभुस्तवन में लगा हुआ मेरा मन वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त न हो। (६) **नः**=हम सब को **अदितिः**=वे अविनाशी प्रभु **इष्टस्य मध्ये**=यज्ञों के बीच में **निधातु**=स्थापित करें। प्रभु कृपा से हम सदा यज्ञ-यागों में प्रवृत्त रहें। (७) 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' ऋषियों से सनातन वेदज्ञान का दोहन करनेवाला **नः**=हमारा **ज्येष्ठः**=सबसे बड़ा **प्रथमः**=प्रथम स्थान में स्थित **भ्राता**=भाई अर्थात् ब्रह्मा ('ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव') **विवोचति**=हमें विशिष्ट रूप से वेदज्ञान देता है।

भावार्थ—आदर्श घर वही है जिसमें कि पति-पत्नी प्रभु का स्तवन करनेवाले व यज्ञशील हैं। प्रभु कृपा से उनका मन यज्ञप्रवण बना रहता है। और वे आचार्यों से वेदज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'भद्रा-क्षुमती-यशस्वती-स्वर्वती' उषा

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन्॥ ३॥

(१) **सा उ चित् नु उषा**=और अब वह उषा निश्चय से **मनवे**=समझदार पुरुष के लिये **उवास**=उदित होती है अथवा अन्धकार को दूर करती है। कैसी यह उषा? (क) **भद्रा**=(भदि कल्याणे सुखे च) कल्याण व सुख को देनेवाली, (ख) **क्षुमती**=(क्षु शब्दे) प्रार्थना व स्तुति के शब्दों वाली। अर्थात् जिसमें एक भक्त कल्याण कर कर्मों को ही करता है और प्रभु की प्रार्थना करता हुआ प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। (ग) **यशस्वती**=यह उषा हमारे लिये कीर्ति वाली हो। अर्थात् हम इसके अन्दर ऐसे ही कार्यों को करें जो कि हमारे यश व कीर्ति का कारण बनें। (घ) **स्वर्वती**=यह उषा प्रकाश वाली होती है। अर्थात् इस समय स्वाध्याय को करते हुए हम अपने ज्ञान के प्रकाश को बढ़ानेवाले हों। (२) ऐसा उषाकाल हमारे लिये तभी उदित होता है **यद्**=जब कि हम **ईम्**=निश्चय से **उशन्तम्**=हमारे हित की कामना वाले, **उशताम्**=उन्नति की कामना वाले पुरुषों के **अनुक्रतुं**=संकल्प व पुरुषार्थ के अनुसार **अग्निम्**=अग्रगति के साधक **होतारम्**=हमें उन्नति के लिये सब पदार्थों के प्राप्त करानेवाले उस प्रभु को **विदथाय**=ज्ञान प्राप्ति के लिये **जीजनन्**=हम अपने हृदयों में आविर्भूत करते हैं। वस्तुतः जब हम अपने हृदयों में उस प्रभु के प्रकाश को देखने का दृढ संकल्प व पुरुषार्थ करते हैं तभी हम प्रभु को देख पाते हैं और उसी ही समय हमारे लिये उषाकाल सचमुच 'भद्र-क्षुमान्-यशस्वान् व स्वर्वान्' होते हैं। इस प्रकार के उषाकालों को बना सकनेवाला पुरुष ही 'मनु'=सुभद्र है।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति की प्रवल कामना व पुरुषार्थ वाले हों। तब हमारे लिये प्रत्येक उषा भद्र ही भद्र होगी।

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

आर्या विशः

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषितः श्येनो अध्वरे।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत॥ ४॥

(१) गत मन्त्र में प्रभु के आविर्भाव का उल्लेख था। **अध**=इस प्रभु के प्रकाश को होने पर **श्येनः**=(श्यैङ् गतौ) यह गतिशील **विः**=जीव रूप पक्षी **इषितः**=प्रभु से प्रेरणा को दिया हुआ **त्यम्**=उस **द्रप्सम्**=हर्ष के कारणभूत सोम को **अध्वरे आभरत्**=अपने इस हिंसाशून्य जीवनयज्ञ में पोषित करता है जो सोम **विश्वम्**=शरीर में शक्ति को प्राप्त करानेवाला है, महान् (great) बनानेवाला है तथा **विचक्षणं**=विशिष्ट प्रकाश को प्राप्त करानेवाला है, मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रकाश को भरनेवाला है। (२) यहाँ सोमरक्षण के उपायों का संकेत इस रूप में हुआ है कि मनुष्य श्येनः=गतिशील बने तथा विः=ऊँची उड़ान लेनेवाला हो, अपने सामने कोई ऊँचा लक्ष्य रखे। ऐसा होने पर ही वह वासनाओं से बचकर सोम का रक्षण कर पायेगा। सोमरक्षण के लाभ 'विश्वं व विचक्षणं' शब्दों से स्पष्ट है कि यह शरीर में हमें शक्ति देती है और मस्तिष्क में प्रकाश। (३) इस प्रकार सोम के शरीर में भरण के बाद **यद्**=जब **ई**=निश्चय से **आर्याविशः**=श्रेष्ठ प्रजाएँ **द्रप्सम्**=सब दुःखों व पापों के नष्ट करनेवाले अथवा दर्शनीय, **अग्निम्**=अग्रेणी-उन्नतिपथ

पर ले चलनेवाले, **होतारम्**=सब आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले प्रभु को **वृणते**=वरती हैं। **अध**=तो इसके बाद **धीः**=ज्ञानपूर्वक कर्म **अजायत**=उत्पन्न होता है। आर्य पुरुष ज्ञानपूर्वक कर्मों को ही करते हैं। उनके कर्मों में पवित्रता के होने का यह भी कारण है कि वे प्रभु का ही वरण करते हैं। प्रकृति में फँसने पर ही मनुष्य का मन संसार की माया से आवृत होकर सत्य के स्वरूप को नहीं देख पाता। परमात्मा की शरण में जानेवाले व्यक्ति माया को तैर जाते हैं और उनके कर्मों में सत्यता का प्रकाश होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा हम शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करें। आर्य लोग प्रभु का ही वरण करते हैं, सो उनके कार्य पवित्र होते हैं।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ससवान्

सदा॑सि र॒ण्वो यव॑सेव॒ पुष्य॑ते॒ होत्रा॑भिरग्ने॒ मनु॑षः स्वध्व॒रः।
विप्र॑स्य वा॒ यच्छ॑शमा॒न उ॒क्थ्यं१॒ वाजं॑ सस॒वाँ उ॑प॒यासि॒ भूरि॑भिः॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप सदा **रण्वः असि**=सदा रमणीय हो। आप उसी प्रकार सुन्दर हो **इव**=जैसे कि **पुष्यते**=पुष्ट होनेवाले के लिये **यवसा**=यवादितृण धान्य सुन्दर होते हैं। जो किसी प्रकार की हानि न करके मनुष्य को नीरोग ही नीरोग बनानेवाले हैं। इसी प्रकार प्रभु का सान्निध्य मनुष्य की अध्यात्म उन्नति के लिये अत्यन्त हितकर है। जौ शरीर के लिये, प्रभु का स्मरण मन के लिये समान रूप से हितकर हैं। (२) **होत्राभिः**=दानपूर्वक अदन की क्रियाओं से **मनुषः**=विचारशील पुरुष अथवा विचारपूर्वक क्रियाओं को करनेवाला व्यक्ति **स्वध्वरः**=उत्तम हिंसाशून्य कर्मों वाला होता है। (३) **यत्**=जब **शशमानः**=प्रभु का स्तवन करता हुआ अथवा प्रगतिवाला खूब क्रियाशील व्यक्ति **विप्रस्य**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले व्यक्ति के **उक्थ्यं**=प्रशंसनीय **वाजम्**=बल को प्राप्त होता है। अर्थात् प्रभुस्तवन से और क्रियाशीलता से वह प्रशंसनीय बल प्राप्त होता है जो कि हमारी सब न्यूनताओं को दूर करने में सहायक होकर हमें 'विप्र' बनाता है। (४) इस 'विप्र' के लिये कहते हैं कि तू **ससवान्**=(सस्यवान्) वानस्पतिक भोजनों का सेवन करनेवाला बनकर **भूरिभिः**=धारण व पोषण की क्रियाओं से (भृ=धारण पोषणयोः) अर्थात् लोक संग्रहात्मक कार्यों से **उपयासि**=प्रभु के समीप प्राप्त होता है। प्रभु को प्राप्त करने के लिये दो बातें आवश्यक हैं—(क) वानस्पतिक भोजन को अपनामा तथा (ख) अधिक से अधिक प्राणियों के हित में प्रवृत्त होना।

भावार्थ—मनुष्य दानपूर्वक अदन करता हुआ जीवन को यज्ञमय बनाता है। प्रभुस्तवन व क्रियाशीलता को अपनाकर प्रशस्त बल को प्राप्त करता है। शाकाहारी व लोकहितकारी बनकर प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

जारः—असुरः

उदी॑रय पि॒तरा॑ जा॒र आ भग॒मिय॑क्षति हर्य॒तो हृ॒त्त इ॑ष्यति।
विव॑क्ति॒ वह्निः॑ स्वप॒स्यते॑ म॒खस्त॑वि॒ष्यते॒ असु॑रो॒ वेप॑ते म॒ती॥ ६॥

(१) **पितराः**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **उदीरय**=उत्कृष्ट गति प्राप्त करा। अर्थात् मस्तिष्क व शरीर दोनों को उन्नत कर। द्युलोक मस्तिष्क है और पृथिवीलोक शरीर। ये दोनों

माता व पिता के रूप में वर्णित होते हैं 'पृथिवी माता'। 'माता च पिता च' इस प्रकार विग्रह होने पर, एकशेष होकर, 'पितरौ' यही प्रयोग होता है। (२) **जारः**=(जरतेः स्तुतिकर्मणः) प्रभु का स्तोता **भगं**=भग को **आ इयक्षति**=सब प्रकार से अपने साथ संगत करता है। जीवन के प्रारम्भिक काल में 'ऐश्वर्यसाधक विज्ञान व धर्म' को वह अपने में दृढ़ करता है, इसके जीवन का मध्य 'यश व श्री' के साथ संगत होता है और जीवन का चरम भाग 'ज्ञान व वैरागमय' होता है। इस प्रकार उस भगवान् के सम्पर्क में आकर यह भी 'भग' वाला बनता है। (३) **हर्यतः**=(हर्य गतिकान्त्योः) उस प्रभु की ओर जानेवाला और उस प्रभु की ही कामना वाला यह **हृत्तः**=हृदय से, हृदयस्थ उस प्रभु से **इष्यति**=प्रेरणा को प्राप्त करता है। (४) **वह्निः**=उस प्रेरणा को धारण करनेवाला यह व्यक्ति उस प्रेरणा को अपने जीवन से कहता है। अर्थात् उस प्रेरणा के अनुसार कार्य करता है। प्रेरणा को कार्य में अनूदित करता है। (५) इस **स्वपस्यते**=उत्तम (सु) कर्मों (अपस्) को अपनाने के लिये इच्छा करते हुए (यं) और इस प्रकार **तविष्यते**=दिव्यगुणों की वृद्धि की इच्छा वाले पुरुष के लिये (तु=वृद्धौ) यह जीवन **मखः**=यज्ञ बन जाता है। इसका जीवन ही यज्ञमय बन जाता है। (६) **असुरः**=(अस्यति) सब अशुभों को अपने से परे फेंकनेवाला यह **मती**=बुद्धि से **वेपते**=दुरितों को कम्पित करके दूर कर देता है। इसका जीवन पवित्र ही पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—हम मस्तिष्क व शरीर की उन्नति करें। प्रभुस्तवन से भग का अपने जीवन में संगमन करें। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुनें। उसके अनुसार कार्य करें। हमारा जीवन यज्ञमय हो जाए और हम बुद्धिपूर्वक कार्य करते हुए सब दुरितों को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युमान्-अमवान्

यस्ते॑ अग्ने सु॒म॒तिं मर्तो॑ अ॒क्षत्सह॑सः सूनो अति॒ स प्र शृ॑ण्वे।
इषं॒ दधा॑नो॒ वह॑मानो॒ अश्वै॒रा स द्यु॒माँ अम॑वान्भूषति॒ द्यून्॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=(अगि गतौ गतिः ज्ञानम्) सर्वज्ञ व **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यः मर्तः**=जो भी मनुष्य **ते**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणी बुद्धि को **अक्षत्**=(अश्नुते) व्याप्त करता है अर्थात् प्राप्त करता है, **स**=वह **अति**=सर्वलोकातिग **प्रशृण्वे**=ख्याति को प्राप्त करता है। उसकी कीर्ति त्रिलोकी को भी लाँघ जाती है, यह अत्यन्त यशस्वी जीवनवाला होता है। (२) **इषं दधानः**=प्रभु की प्रेरणा को धारण करता हुआ, **अश्वैः**=इन्द्रियों से उस प्रेरणा को **वहमानः**=क्रियारूप में लाता हुआ, **स**=वह पुरुष **आ द्युमान्**=सब ओर से प्रकाशमय जीवनवाला अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान की ज्योतिवाला तथा **अमवान्**=बल वाला होता हुआ **द्यून् भूषति**=अपने दिनों को अलंकृत करता है, अर्थात् अपने जीवन के एक-एक दिन को यह सुन्दर बनाता है। (३) मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि प्रभु की प्रेरणा संक्षेप में यही है कि 'ज्ञानी बनो और कर्म में लगे रहने के द्वारा शक्ति का सम्पादन करो'। ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही वेद का सार है। यही ब्रह्म व क्षत्र के विकास का मार्ग है। प्रभु की प्रेरणा को सुनकर यह ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला पुरुष अपने जीवन के एक-एक दिन को सुन्दर बनाता है और ज्योतिर्मय तथा बलशाली होता है।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा को सुनकर हम ज्योतिर्मय शक्ति-सम्पन्न जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संहतिः=मेल

यद॑ग्न ए॒षा समि॑तिर्भवा॑ति दे॒वी दे॒वेषु॑ यज॒ता य॑जत्र।
रत्ना॑ च॒ यद्वि॒भजा॑सि स्वधावो भा॒गं नो॒ अत्र॒ वसु॑मन्तं वीतात्॥ ८॥

(१) हे **अग्रे**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **यजत**=(यज-संगतिकरण) मेल के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **एषा**=यह **समितिः**=संहतिः=मेल **भवाति**=होता है, अर्थात् जब हम परस्पर मिलकर चलते हैं, जो मिलकर चलना **देवी**=(विजिगीषा) हमारी सब बुराइयों को जीतने की कामना वाला है अर्थात् जिस मेल से सब दुर्गतियाँ दूर होती हैं, जो मेल **देवेषु**=देव पुरुषों में सदा निवास करता है 'येन देवा न वियन्ति, ते च विच्छिद्यन्ते मिथः'। **यजत्रा**=जो मेल हमें एक दूसरे का आदर करना सिखाता है (यज=पूजा) तथा जिस मेल से हम परस्पर मिलकर चलते हुए एक दूसरे का कल्याण कर पाते हैं **च**=और **यद्**=जब (२) हे **स्वधावः**=(स्व+धाव) आत्मतत्त्व का शोधन करनेवाले प्रभो! अथवा (स्वधा+व) अन्नों वाले प्रभो! आप हमें **रत्ना**=उत्तमोत्तम रमणीय वस्तुओं को **विभजासि**=प्राप्त कराते हैं तो **नः**=हमें **अत्र**=इस मानव जीवन में **वसुमन्तम्**=उत्तम निवास के देनेवाले **भागम्**=भजनीय धनों को **वीतात्**=(आगमय) प्राप्त कराइये। (३) वस्तुतः मेल के होने पर सब उत्तम वस्तुओं की प्राप्ति होती है, हम शत्रुओं को जीत पाते हैं (देवी) रमणीय धनों को, यह परस्पर का मेल ही, हमें प्राप्त कराता है। परिणामतः हमारा निवास उत्तम होता है।

भावार्थ—हम परस्पर मेल वाले हों, जिससे सब प्रकार से हमारा निवास उत्तम हो।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु की प्रेरणा

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम्।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः॥ ९॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **सदने**=इस शरीर रूप गृह में **सधस्थे**=मिल करके बैठने के स्थान हृदय में **नः श्रुधी**=हमारी बात को सुन। अर्थात् हृदय सधस्थ है, वहाँ आत्मा व परमात्मा दोनों ही का निवास है। हृदयस्थ प्रभु जीव को सदा प्रेरणा देते हैं। जीव को चाहिए कि उस प्रेरणा को सुने। प्रेरणा को सुनने में ही उसका कल्याण है। (२) प्रभु विशेष रूप से कहते हैं कि **रथं युक्ष्वा**=तू अपने रथ को जोत। यह तेरा रथ खड़ा ही न रह जाए। अर्थात् तू सदा क्रियाशील हो। (३) **अमृतस्य द्रवित्नुम्**=यह तेरा रथ अमृत का द्रावक हो। अर्थात् तू सदा मधुर शब्दों का ही बोलनेवाला हो, तेरा सारा व्यवहार ही मधुर हो। (४) **नः**=हमारे **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **आवह**=सब प्रकार से धारण करनेवाला हो। तेरा शरीर स्वस्थ हो और मस्तिष्क दीप्त हो। ये तेरा शरीर व मस्तिष्क 'देवपुत्रे' हों, दिव्यगुणों के द्वारा अपने को पवित्र रखनेवाले व सुरक्षित करनेवाले हों (देवैः पुनाति त्रायते) (५) **इह**=तू अपने इस जीवन में **देवानाम्**=दिव्य गुण-सम्पन्न विद्वानों का **अपभूः**=निरादर करनेवाला व अपने से दूर करनेवाला **माकिः स्याः**=मत हो। अर्थात् तू सदा सत्संग करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें। प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं कि—(क) क्रियाशील बनो, (ख) तुम्हारी वाणी व व्यवहार अमृत तुल्य हो, (ग) शरीर व मस्तिष्क को उत्तम बनाओ, (घ) सदा सत्संग की रुचि वाले बनो।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करनेवाले बनें—(१) हम साधन व वेदज्ञान को अपनाएँ, (२) हमारा प्रत्येक उषाकाल भद्र हो, (३) हम प्रभु का वरण करनेवाले आर्य बनें, (४) शाकाहारी व लोकहितकारी बनकर प्रभु को पाने के अधिकारी हों, (५) हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुनें, (६) प्रेरणा को सुनकर ज्ञानवान् व बलवान् बनें, (७) ज्ञान के परिणाम स्वरूप हमारा परस्पर मेल हो, (८) हम सदा सत्संग में रुचि वाले हों, (९) ऋत व सत्य को अपनाकर शरीर व मस्तिक को सुन्दर बनायें।

[१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ऋत व सत्य

द्यावा॑ ह॒ क्षामा॑ प्रथ॒मे ऋ॒तेना॑भिश्रा॒वे भ॑वतः स॒त्यवा॑चा।
दे॒वो यन्मर्ता॑न्य॒जथा॑य कृ॒ण्वन्त्सीद॒द्धोता॑ प्र॒त्यङ् स्वमसुं॒ यन्॥ १॥

(१) अध्यात्म में **द्यावा क्षामा**=‘द्युलोक व पृथिवीलोक’ का अभिप्राय मस्तिष्क व शरीर ही है ‘मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्’। जैसे द्युलोक, सूर्य व नक्षत्रों से चमकता है, उसी प्रकार हमारा मस्तिष्क ब्रह्मविद्या के सूर्य से और विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता हुआ हो। जैसे पृथिवी दृढ़ है उसी प्रकार हमारा शरीर भी दृढ़ होना चाहिए। **ह**=निश्चय से **द्यावाक्षामा**=मस्तिष्क व शरीर **प्रथमे**=मनुष्य के सब से प्रथम स्थान में है। मनुष्य का मौलिक कर्तव्य यही है कि वह मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करे। यदि हमारी शक्ति रुपया कमाने में ही अथवा व्यर्थ की कीर्ति को पाने में ही व्ययित हो गई और हमने शरीर व मस्तिष्क की उपेक्षा की तो यह हमारे जीवन की सब से बड़ी गलती होगी। (२) ये शरीर व मस्तिष्क क्रमशः **ऋतेन**=ऋत से, प्रत्येक कार्य को ठीक समय पर करने से तथा **सत्यवाचा**=सत्यवाणी से अर्थात् असत्य को सदा अपने से दूर रखने से **अभिश्रावे भवतः**=सदा अन्दर बाहर प्रशंसनीय होते हैं। शरीर व मस्तिष्क के ठीक होने पर हम घर में भी और बाहर भी कीर्ति को पाते हैं। शरीर का ठीक कहना ‘ऋत’ पर निर्भर करता है। ‘प्रत्येक भौतिक क्रिया ठीक समय पर हो’, यही ‘ऋत’ है। विशेषतः खाना–पीना व सोना–जागना तो अवश्य समय पर होना चाहिए। मस्तिष्क की पवित्रता के लिये ‘सत्यं पुनातु पुनः शिरसि’ इस ब्राह्मण वाक्य के अनुसार सत्य वाणी परम सहायिका है। (३) इस प्रकार शरीर के दृढ़ तथा मस्तिष्क के उज्ज्वल होने पर हम प्रभु के प्रिय होते हैं एक स्वस्थ व योग्य सन्तान ही पिता को प्रिय होता है और वे **देवः**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रकाशमय प्रभु **यद्**=जब **मर्तान्**=हम मनुष्यों को **यजथाय**=अपने साथ सम्पर्क के लिये **कृण्वन्**=करते हैं तो वे **प्रत्यङ्**=हमारे अन्दर ही हृदयान्तरिक्ष में (inner, interior) **सीदत्**=विराजमान होते हुए **होता**=हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले होते हुए **स्वम्**=अपनी **असुम्**=प्राणशक्ति को अथवा सब असुरों को दूर फेंकनेवाली शक्ति को **यन्**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम ऋत व सत्य के द्वारा शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनायें। प्रभु के प्रिय बनकर, प्रभु सम्पर्क में आकर अन्तःस्थित प्रभु की शक्ति से शक्ति–सम्पन्न हों। यही हमारा मूल–कर्तव्य है।

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रथमः चिकित्वान्

दे॒वो दे॒वान्परि॒भूर्ऋ॒तेन॒ वहा॑ नो ह॒व्यं प्र॑थ॒मश्चि॑कि॒त्वान्।
धू॒मके॑तुः स॒मिधा॒ भाऋ॑जीको म॒न्द्रो होता॒ नित्यो॑ वा॒चा यजी॑यान्॥ २॥

(१) प्रभु ऋत व सत्य का पालन करनेवाले जीव से कहते हैं कि **देवः**=शरीर से अजीर्ण व मस्तिष्क से दीप्त बननेवाला तू **ऋतेन**=इस ऋत के पालन से, व्यवस्थित जीवन से **देवान् परिभूः**=सब दिव्यगुणों को शरीर में चतुर्दिक् भावित करनेवाला हो। तेरे शरीर में यथास्थान उस–उस देवता की स्थिति हो। (२) तू **प्रथमः**=शरीर व मस्तिष्क को उत्तम बनाने वालों में सर्वाग्रणी

व **चिकित्वान्**=समझदार होता हुआ **नः**=हमारे **हव्यम्**=हव्य को **वहा**=वहन करनेवाला हो। अर्थात् तेरा जीवन यज्ञमय हो। तू सदा यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बन, देकर बचे हुए को खानेवाला हो (हु दानादनयोः) (३) **धूमकेतुः**=(धू=कम्पने, केत=ज्ञान) तू ज्ञान के द्वारा वासनाओं को कम्पित करके अपने से दूर करनेवाला हो। (४) **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **भाऋजीकः**=दीप्ति का अर्जन करनेवाला बन। अथवा 'ऋजुदीप्तिः'=सरल ज्ञान की दीप्ति वाला हो। (५) **मन्द्रः**=तेरा जीवन सदा प्रसन्नता-पूर्ण हो। **नित्यः होता**=तू सदा देनेवाला बन। वस्तुतः हम जितना देते हैं, उतना ही हमारा जीवन आनन्दमय होता है। (६) **वाचा यजीयान्**=ज्ञान की वाणी से तू सदा उस प्रभु का पूजन करनेवाला हो अथवा ज्ञान की वाणियों से अपना संग करनेवाला हो। अर्थात् सदा स्वाध्यायशील हो।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि हे जीव! दिव्यगुणों को धारण कर, यज्ञशील हो, ज्ञान के द्वारा वासनाओं को कम्पित करनेवाला हो, ऋजुदीप्ति-सदा प्रसन्न-नित्य होता तथा ज्ञान की वाणियों से संगत करनेवाला हो।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

गोदुग्ध व वनस्पति

स्वावृग्देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी।
विश्वे देवा अनु तत्ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः॥ ३॥

(१) मनुष्य **देवस्य**=उस दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु का **स्वावृक्**=उत्तमता से आवर्जन करनेवाला होता है। एक मनुष्य का झुकाव प्रभु की ओर होता है **यद्**=जब **ई**=निश्चय से **गोः अमृतम्**=गौ का अमृत तुल्य दुग्ध तथा **अतः गोः जातासः**=इस पृथ्वी से (गौ=भूमि) उत्पन्न वानस्पतिक भोजन **उर्वी**=इन द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **धारयन्त**=धारण करते हैं। अर्थात् जब एक मनुष्य गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजनों का सेवन करता है तो उसका शरीर व मस्तिष्क दोनों बड़े उत्तम बनते हैं। और इस मनुष्य का झुकाव प्राकृतिक भोगों की ओर न होकर प्रभु की ओर होता है। (२) जब मनुष्य का झुकाव प्रभु की ओर होता है तो **तत्**=तब **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **ते यजुः**=तेरे सम्पर्क को (यज=संगतिकरण) **अनुगुः**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। (३) प्रभु की ओर झुकाव होने पर दिव्यगुण प्राप्त होते ही हैं, **यत्**=क्योंकि **एनी**=श्वेत-शुद्ध-शुक्त वेदवाणी **दिव्यम्**=दिव्य व अलौकिक **घृतम्**=ज्ञान-दीप्ति को तथा **वा**=(वार्) रोगों के निवारण को **दुहे**=पूरित करती है (वारणं वाः)। वेदवाणी ज्ञान को तो प्राप्त कराती ही है, यह वाणी मनुष्य की वृत्ति को सुन्दर बनाकर, उसे वासनाओं से ऊपर उठाकर, नीरोग भी बनाती है। यह वरदा वेदमाता 'आयुः=प्राणं' आयुष्य व प्राण को देनेवाली तो है ही।

भावार्थ—जब गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजन हमारे शरीर व मस्तिष्क को धारण करते हैं तो हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है, हमें दिव्यगुण प्राप्त होते हैं और ज्ञान की वाणी हमारे में ज्ञान-दीप्ति व नीरोगता को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्यावापृथिवी का माधुर्य

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे।
अहा यद् द्यावोऽसुनीतिमयन्मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम्॥ ४॥

(१) **अपः**=कर्मों के **वर्धाय**=(वर्धनम् वर्धः) वर्धन के लिये **वाम्**=आप दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को **अर्चामि**=मैं पूजित करता हूँ। ये मेरे शरीर व मस्तिष्क **घृतस्नू**=घृत का स्त्रावण करनेवाले हों। (घृत=दीप्ति) मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति हो। (घृत=मलक्षरण) शरीर मलों के क्षरण वाला हो, मलों के क्षरण से यह शरीर नीरोग हो। (२) **द्यावाभूमी**=ये ज्ञानदीप्त मस्तिष्क तथा क्षरित मलों वाला शरीर **रोदसी**=(क्रन्दसी) प्रभु का आह्वान करनेवाले होते हुए **मे शृणुतम्**=सदा मेरी बात सुननेवाले हों, अर्थात् मेरी अधीनता में हों, मेरे आज्ञावर्ती हों। अथवा ये प्रभु प्रेरणा को सुननेवाले हों। (३) **यद्**=जब **द्यावः**=ज्ञानी स्तोता (दिव्=द्युतिस्तुति) ज्ञानी भक्त, **अहा**=प्रतिदिन **असुनीतिम् अयन्**=प्राणों के मार्ग पर चलते हैं, अर्थात् उस जीवनमार्ग को अपनाते हैं जो प्राणशक्ति का वर्धन करनेवाला है तो **अत्र**=इस जीवन में **नः**=हमें **पितरा**=द्यावापृथिवी (द्यौष्पिता पृथिवी माता) मस्तिष्क व शरीर **मध्वा**=माधुर्य से **शिशीताम्**=संस्कृत कर दें। अर्थात् हमारी एक-एक क्रिया जहाँ माधुर्य के लिये हुए हो वहाँ हमारा ज्ञान भी माधुर्यपूर्ण हो तथा मधुरता से ही दूसरों तक पहुँचाया जाये। वस्तुतः द्यावाभूमी का माधुर्य से पूर्ण होना ही जीवन के विकास की पराकाष्ठा है। इनको ऐसा बनाना ही इसका अर्चन है।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर ज्ञान-दीप्ति व क्षरित मलों वाले हों। हम प्राणरक्षण के मार्ग से चलें तथा अपने को मधुर बनायें।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यशो-बलम् (श्लोकः+वाजः)

किं स्वि॑न्नो राजा॑ जगृहे कदस्याति॑ व्रतं च॑कृमा को वि वे॑द।
मित्रश्चि॒द्धि ष्मा॑ जुहुरा॒णो दे॒वाञ्छ्लोको॒ न या॒तामपि॒ वाजो॒ अस्ति॑॥ ५॥

(१) वह **राजा**=देदीप्यमान (राज दीप्तौ) ब्रह्माण्ड का शासक प्रभु **किं स्वित्**=क्या **नः** **जगृहे**=हमारा ग्रहण करेगा? जैसे पिता पुत्र को गोद में लेता है उसी प्रकार क्या वे प्रभु हमें गोद में लेंगे? (२) **कत्**=कब (कदा) **अस्य**=इस प्रभु के **अतिव्रतम्**=तीव्र व्रतों को **चकृमा**=हम कर पाएँगे? अर्थात् उस पिता प्रभु की प्राप्ति के लिये साधनभूत महान् यम-नियम आदि व्रतों का हम कब पूर्णतया पालन कर सकेंगे? इन बातों को तो **कः**=वह अनिर्वचनीय (शब्दातीत) प्रजापति प्रभु ही **विवेद**=जानते हैं। 'हमारे कर्म प्रभु प्राप्ति के योग्य कब होंगे'? यह बात तो प्रभु के ही ज्ञान का विषय हो सकती है। ज्यों ही हमारे कर्म उस योग्यता के होंगे त्यों ही प्रभु हमें अपनी गोद में अवश्य ग्रहण करेंगे। (३) वे प्रभु **चित् हि ष्मा**=निश्चय से **मित्रः**=(प्रमीतेः जायते) मृत्यु व रोगों से बचानेवाले हैं, और **देवान्**=देववृत्ति वाले लोगों को **जुहुराणः**=स्नेह पूर्वक अपने समीप पुकारनेवाले हैं (स्निग्धमाह्वयमानः सा०)। जब हम देव बनते हैं, तो हमें उस पिता का स्नेह प्राप्त होता ही है। (४) परन्तु जब तक हम उस योग्यता को नहीं भी प्राप्त कर पाते तब तक **न**=(संप्रति) वर्तमान काल में **याताम्**=गतिशील हम लोगों का **श्लोकः**=यश और **वाजः अपि**=बल भी **अस्ति**=होता ही है। अर्थात् जब तक हम पूर्णरूप से देव नहीं बन जाते तब तक प्रभु कृपा से हमें गतिशीलता के द्वारा यशस्वी बल तो प्राप्त हुआ-हुआ ही रहे। इस यशस्वी बल को प्राप्त करके हम देव बनने के लिये अग्रेसर होंगे।

भावार्थ—हम देव बनकर प्रभु स्नेह के पात्र हों। गतिशील बनकर यशस्वी बल वाले हों।

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नाम-स्मरण की दुष्करता

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हम यशस्वी बल वाले होकर अविच्छिन्न प्रयत्न से देव बनेंगे और प्रभु के प्रिय होंगे। परन्तु हमारा यह प्रयत्न, प्रभु को भूल ही गये तो अवश्य विच्छिन्न हो जाएगा। सो हमें चाहिए कि प्रभु का स्मरण अवश्य रखें। यह बात ठीक है कि **अत्र**=यहाँ इस संसार में **अमृतस्य नाम**=उस अविनाशी प्रभु का नाम **दुर्मन्तु**=स्मरण करना कठिन है। (२) कठिन इसलिए है **यत्**=क्योंकि **सलक्ष्मा**=यह उत्तम लक्षणों वाली (लक्ष्मभिः सहिता) प्रकृति **विषुरूपा भवाति**=विविध सुन्दर रूपों वाली होती है। यह हिरण्मयी प्रकृति हमारे ध्यान को आकृष्ट करती है और हमें प्रभु से दूर ले जाती है। इसकी चमक हमें प्रभु नाम को विस्मृत करा देती है। वर्तमान में इस देह को धारण करके हम भी देही व साकार बने हुए हैं, प्रकृति है ही साकार। सो यह प्रकृति वर्तमान में हमारी 'सलक्ष्मा' है। हमारा झुकाव इस प्रकृति की ओर ही होता है और परिणामतः हमारे लिये प्रभु नाम-स्मरण बड़ा दुष्कर हो जाता है। (३) यदि आश्चर्यवत् **यः**=जो कोई मनुष्य **यमस्य**=उस नियन्ता प्रभु के **सुमन्तु**=उत्तम मनन योग्य नाम का **मनवते**=(अवबुध्यते) मनन करता है। **अग्ने**=हे अग्रेणी **ऋष्व**=दर्शनीय व जानने योग्य प्रभो! **तम्**=उस नाम-स्मरण करनेवाले को **अप्रयुच्छन्**=प्रमाद रहित होते हुए आप **पाहि**=रक्षित करते हो। यह स्तोता आप की रक्षा का पात्र होता है। (४) वस्तुतः यह कितने सौभाग्य का दिन होगा जब कि हम प्रभु नाम-स्मरण में लीन होंगे और प्रभु हमारी रक्षा कर रहे होंगे। यह प्रभु का स्तोता गतमन्त्र के 'याताम्' शब्द के अनुसार खूब क्रियाशील होता है। उस-उस क्रिया को करता हुआ प्रभु को भूलता नहीं, अपने को प्रभु का निमित्त जानता हुआ उन कर्मों का गर्व भी नहीं करता। यही व्यक्ति है जो कि प्रभु की रक्षा का पात्र होता है।

भावार्थ—प्रकृति की चमक के कारण यहाँ प्रभु नाम-स्मरण कठिन अवश्य है, परन्तु जब हम उस नाम का स्मरण कर पाते हैं तो प्रभु के द्वारा रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रियाशीलता व ज्ञान की उपासना

यस्मिन्देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्य१क्तून्परि द्योतनिं चरतो अजस्रा ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के रक्षण में चलनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के लोग **यस्मिन्**=जिस समय प्रभु की गोद में रहते हुए, **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **मादयन्ते**=हर्ष का अनुभव करते हैं, अर्थात् सदा ज्ञान-प्रधान जीवन बिताते हैं। (२) **विवस्वतः**=सूर्य के **सदने**=निवास-स्थान द्युलोक में **धारयन्ते**=अपना धारण करते हैं। 'द्युलोक' शरीर में मस्तिष्क है, सो जो लोग अपने को मस्तिष्क में धारित करते हैं, अर्थात् हृदय-प्रधान व भावुक वृत्ति के नहीं होते, समझदार=(sensible) तो होते हैं परन्तु बहुत महसूस कर जानेवाले=(sensitive) नहीं हो जाते। (३) **सूर्ये**='सूर्यः चक्षुर्भूत्वा०' अपनी आँखों में **ज्योतिः अदधुः**=प्रकाश को धारण करते हैं अर्थात् इनकी आँखों में सदा वह चमक होती है जो कि इनके मानस प्रसाद व उत्साह को संकेत करती है। (४) **मासि**=(चन्द्रमा

मनो भूत्वा०, मास्=(the moon) अपने मनों में **अक्तून्**=प्रकाश की किरणों को धारण करते हैं, अर्थात् हृदयस्थ प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। (५) तो इस लोक-समाज में **अजस्त्रा**=(अ+जस्=छोड़ना) कर्मों को सदा करनेवाले पति-पत्नी **द्योतनिम्**=ज्ञान की ज्योति का **परिचरतः**=सदा उपासन करते हैं। अर्थात् आदर्श लोकों के घरों में 'क्रियाशीलता व ज्ञान की उपासना' निरन्तर चलती है।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में आनन्द लें, सदा समझदारी से चलें, हमारी आँखों में ज्योति हो, मन में आह्लाद। क्रियाशील हों व ज्ञान के उपासक।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

निष्पापता व प्रभु-दर्शन

यस्मिन्देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये३ न वयमस्य विद्म।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत्॥ ८॥

(१) **यस्मिन्**=जिस परमात्मा की उपासना के होने पर **देवाः**=देववृत्ति के लोग **मन्मनि**=ज्ञानस्वरूप में **संचरन्ति**=विचरण करते हैं; जो ज्ञानस्वरूप प्रभु **अपीच्ये**=अन्तर्हित हैं, हृदय रूप गुहा में स्थित होते हुए भी हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते। **अस्य**=इस परमात्मा के स्वरूप को **वयम्**=हम **न विद्म**=नहीं जानते हैं। (२) परमात्मा हमारे हृदयों में ही हैं। ऐसा होते हुए भी वे हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते। हम प्रातः-सायं वर्षों प्रभु का उपासन करते हैं और उसको पूरा-पूरा जानते नहीं इसी से प्रभु को यहाँ 'अपीच्य' शब्द से स्मरण किया है। ये प्रभु **नः मित्रः**=हमारे मित्र हैं। **अदितिः**=(अविद्यमाना दितिर्यस्मात्) अपने उपासक के स्वास्थ्य को न नष्ट होने देनेवाले हैं। 'मित्रः' रूप में उपासक को पापों से बचाते हैं, 'अदिति' रूप में रोगों से नष्ट नहीं होने देते। एवं प्रभु हमें आधि-व्याधियों से सुरक्षित करनेवाले हैं। (३) ये **सविता**=सब उत्तम प्रेरणाओं को देनेवाले **देवः**=ज्ञान प्रकाश के पुञ्ज प्रभु **अनागान्**=निरपराध जीवन वाले हम लोगों को **वरुणाय**=द्वेष-निवारण के लिये **वोचन्**=उपदेश दें। हमारा जीवन द्वेष शून्य होगा तभी हम प्रभु का साक्षात्कार कर पायेंगे।

भावार्थ—प्रभु हमारे मित्र हैं। निर्द्वेषता से ही हम प्रभु का साक्षात्कार कर पायेंगे।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मधु-सन्दृशता

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम्।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः॥ ९॥

(१) ११.९ पर इस मन्त्र की व्याख्या हो चुकी है। इसका सामान्य अर्थ इस प्रकार है—'प्रभु हमें प्रेरणा दें' इस बात को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू इस **सदने**=शरीररूप गृह में **सधस्थे**=मिलकर बैठने के स्थान हृदय में **नः श्रुधी**=हमारी बात को सुन। (२) **रथं युक्ष्व**=तू इस शरीर रूप रथ को जोत। तेरा यह रथ गतिशून्य न हो। (३) इस अपने रथ को **अमृतस्य द्रवित्नुम्**=अमृत का द्रावक बना। अर्थात् तेरे सब कार्य माधुर्य को लिये हुए हों। (४) **देवपुत्रे**=दिव्यगुणों व ज्ञान के प्रकाश से अपने को पवित्र व सुरक्षित करनेवाले **नः रोदसी**=हमारे मस्तिष्क व शरीर को **आवह**=धारण कर। (५) **इह**=इस जीवन में तू **देवानाम्**=पवित्र जीवन वाले विद्वानों का **अपभूः**=निरादर करनेवाला **माकिः**=मत **स्याः**=हो।

सदा सत्संग को करनेवाला बन।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनें। हमारा व्यवहार मधुर हो। सदा हमें देवों का संग प्राप्त हो।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम ऋत व सत्य के पालन शरीर व मस्तिष्क को सुन्दर बनाएँ, (१) हम सर्वाग्रणी व समझदार बनने का प्रयत्न करें, (२) गोदुग्ध व वनस्पति का ही सेवन हों, (३) हम मधुर बनें, (४) यशस्वी बल वाले हों, (५) प्रभु नाम-स्मरण दुष्कर है, परन्तु उसे करना तो है ही, (६) हम क्रियाशील हों व ज्ञान के उपासक हों, (७) निष्पापता से प्रभु-दर्शन करनेवाले हों, (८) सदा सत्संग में चलें, (९) नमन के द्वारा प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करें।

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः**॥ देवता—**हविर्धाने**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान का सम्पर्क

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ १॥

(१) **वाम्**=आप दोनों के साथ **पूर्व्यम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले **ब्रह्म**=ज्ञान को **नमोभिः**=नमन के द्वारा **युजे**=संगत करता हूँ। घर के अन्दर मुख्य पात्र 'पति-पत्नी' ही हैं। जब ये प्रातः-सायं उस प्रभु का आराधन करते हैं तो इन्हें वह 'पूर्व्य ब्रह्म' प्राप्त होता है। अथर्व० में कहा है कि 'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः'=इनके घरों में उस ज्ञान का प्रकाश होता है जिससे देव विरुद्ध दिशाओं में नहीं जाते, जिस ज्ञान से वे परस्पर द्वेष नहीं करते और जो ज्ञान पुरुषों में ऐकमत्य को पैदा करनेवाला है। (२) आप लोगों को **सूरेः**=उस हृदयस्थ प्रेरक (षू प्रेरणे) प्रभु का **श्लोकः**=यशोगान व स्तवन **विएतु**=विशेषरूप से उसी प्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसे **पथ्या**=हमें पथ्य भोजन प्राप्त होते हैं। ये पथ्य भोजन जैसे शरीर को स्वस्थ करनेवाले होते हैं उसी प्रकार प्रभु का यशोगान मानस स्वास्थ्य को देनेवाला होता है। प्रभु-स्तवन से हृदयों में वासनाओं का प्रादुर्भाव नहीं होता। (३) उस 'सूरि'=प्रेरक प्रभु की वाणी को **विश्वे**=सब **शृण्वन्तु**=सुनें। सुननेवाले ही तो उस **अमृतस्य**=अमृत प्रभु के **पुत्राः**=पुत्र होते हैं। ये उस अमृत प्रभु की प्रेरणा को सुनते हुए 'आत्मानं पुनन्ति जायन्ते च' अपने को पवित्र करते हैं और अपना रक्षण करते हैं। ये वे होते हैं **ये**=जो कि **दिव्यानि धामानि**=उस प्रभु दिव्य प्रभु के तेजों को **आतस्थुः**=अपने में स्थित करते हैं, उन तेजों के अधिष्ठाता बनते हैं। इनका अन्नमय कोश 'तेजस्विता' वाला, प्राणमयकोश 'वीर्य' वाला, मनोमयकोश 'ओज व बल' वाला, विज्ञानमयकोश 'मन्यु' वाला तथा आनन्दमयकोश 'सहस्' वाला होता है और इस प्रकार ये सब ओर दिव्य धामों से देदीप्यमान दिखते हैं। प्रभु के इन तेजों से देदीप्यमान ये पुरुष 'विवस्वान्'=प्रकाश की किरणों वाले 'आदित्यः' सूर्य ही हो जाते हैं। 'विवस्वान् आदित्य' ही इन मन्त्रों के ऋषि हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-नमन के द्वारा वेदज्ञान को प्राप्त करें, प्रभु का यशोगान ही हमारा पथ्य हो, हम प्रभु की वाणी को सुनें, और प्रभु के सच्चे पुत्र बनकर दिव्य तेजों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः**॥ देवता—**हविर्धाने**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

विदाने-स्वासस्थे

यमेइव यतमाने यदैतं प्र वां भरन्मानुषा देवयन्तः।
आ सीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः॥ २॥

(१) गत मन्त्र के पति पत्नी से ही कहते हैं कि **यमे इव**=एक जोड़ी की तरह सदा साथ रहनेवाले **यतमाने**=गृह को स्वर्ग बनाने के लिये प्रयत्न करते हुए **यदा एतम्**=जब आप गतिशील होते हो। अर्थात् जब पति-पत्नी में कुछ भी विरोध नहीं होता। पूर्ण अविरोध वाले से जब ये गृह की उन्नति के लिये प्रयत्न में लगते हैं। (२) **वाम्**=आप दोनों को **मानुषा**=मनुष्यों का हित करनेवाले अथवा विचारपूर्वक कर्म करनेवाले **देवयन्तः**=उस देव को अथवा दिव्यगुणों को अपनाने की कामना वाले **प्रभरन्**=जब सदा उत्तम भावनाओं से भरते हैं, (३) तो आप **उ**=निश्चय से **स्वं लोकम्**=अपने लोक में **आसीदतम्**=आसीन होवो। अर्थात् घर को ही आप अपना स्थान समझो। सच्ची बात तो यह है कि प्रतिक्षण मन्दिर में ही रहनेवाले भी न बन जाओ। घर पर रहते हुए घर को अच्छा बनाने का प्रयत्न करो। समाज के ध्यान में कहीं बच्चों की तरफ से बेध्यानी न हो जाए। (४) **विदाने**=नैतिक स्वाध्याय व सत्संग से ज्ञानी बनते हुए **स्वासस्थे**=स्वस्थ शरीर रूप शोभन निवास स्थान वाले आप दोनों **नः**=हमारे **इन्दवे**=ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये **भवतम्**=समर्थ होवो। अर्थात् आपका शरीर स्वस्थ हो, मस्तिष्क ज्ञानपूर्ण हो, आप दोनों प्रभु के तेज के अंश से देदीप्यमान बनो।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी एक होकर चलें, उन्हें देव पुरुषों से प्रेरणा प्राप्त होती रहे। घर में रहते हुए वे ज्ञानी व स्वस्थ बनें। प्रभु के तेजस्व को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः** ॥ देवता—**हविर्धाने** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पञ्च पदारोहण व चतुष्पद्यनुगमन

पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि॥ ३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के ऐश्वर्य में अपने को **रुपः**=आरोपित करनेवाला मैं **पञ्च पदानि**=पाँचों गन्तव्य यज्ञों का **अन्वरोहम्**=आरोहण करता हूँ। अर्थात् गृहस्थ के लिये करने योग्य पाँचों यज्ञों को मैं नित्य प्रति करनेवाला बनता हूँ। मैं इस बात को नहीं भूलता कि 'अपंचयज्ञो मलिम्लुचः'=पाँचों यज्ञों को न करनेवाला गृहस्थ चोर ही है। (२) मैं **चतुष्पदीम्**='ऋग्, यजु, साम, अथर्व' रूप चार कदमों वाली इस वेदवाणी को **व्रतेन**=ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा **अन्वेमि**=क्रमशः प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। बिना व्रत के तो ज्ञान प्राप्ति का सम्भव ही नहीं है। मैं व्रत को अपनाता हूँ, और व्रत के द्वारा इस चतुष्पदी वेदवाणी का ग्रहण करता हूँ। (३) **एताम्**=इस वेदवाणी को **अक्षरेण**=उस अविनाशी प्रभु के द्वारा **प्रतिमिमे**=अपने अन्दर पूर्णरूप से निर्माण करता हूँ। वस्तुतः वेदार्थ की पूर्ण ज्ञान तो प्रभु ध्यान से ही होता है। प्रभु का ध्यान हमें मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि बनाता है। (४) **ऋतस्य नाभौ**=ऋत के, यज्ञ के अथवा नियमितता-(regularity) के बन्धन में (णह बन्धने) **अधिसंपुनामि**=मैं अपने को खूब ही पवित्र करता हूँ। यज्ञशीलता से तथा सब क्रियाओं को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से मैं अपने जीवन को पवित्र करता हूँ।

भावार्थ—हम पाँचों यज्ञों को करें। स्वाध्याय का व्रत लेकर वेदज्ञान को प्राप्त करें। प्रभु-ध्यान से इस वेदवाणी का साक्षात्कार करें। यज्ञों व नियम परायणता से जीवन को पवित्र करें।

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः** ॥ देवता—**हविर्धाने** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्थान व पतन

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ऋत के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले पुरुष अपने जीवन को पवित्र करते हैं। ये पवित्र जीवन वाले व्यक्ति ही देव कहाते हैं। देव बन जाने के बाद हमें कहीं उस देवत्व का गर्व न हो जाए। हम देव बनकर कहीं पतित न हो जाएँ। यह पतन प्रभु की ओर से नहीं होता, हमारी ही स्वाभाविक अल्पता इस पतन का कारण हुआ करती है। मन्त्र में कहते हैं कि **देवेभ्यः**=इन देव लोकों के लिये **कं मृत्युम्**=किस मृत्यु का **अवृणीत**=प्रभु वरण करते हैं? वस्तुतः मनुष्य की स्वाभाविक न्यूनता ही उसे देव बन जाने के बाद भी मृत्यु की ओर ले जा सकती है। सो देवत्व प्राप्त करने के समय अधिक सावधानी की आवश्यकता है। (२) इसी प्रकार **प्रजायै**=सामान्य लोगों के लिये **कम्**=किस **अमृतम्**=अमृतत्व को न **अवृणीत**=उस प्रभु ने वरण नहीं किया? प्रभु ने तो वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति को अमृतत्व प्राप्ति के लिये आवश्यक सभी साधनों को प्राप्त कराया ही है। व्यक्ति ही उनका सदुपयोग नहीं करता और परिणामतः अमृतत्व प्राप्ति से वञ्चित रह जाता है। (३) परन्तु जो व्यक्ति इन अमृतत्व प्राप्ति के ठीक साधनों का प्रयोग करता हुआ उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है और उन्नत होता हुआ ऊर्ध्व दिशा का अधिपति 'बृहस्पति' बनता है, उस **बृहस्पतिं ऋषिम्**=वेदज्ञान के पति तत्त्वद्रष्टा को वे प्रभु यज्ञं **अकृण्वत**=(यज संगतिकरणे) अपने साथ मेल वाला करते हैं। उस समय यह बृहस्पति 'शरीर' होता है और प्रभु उसके 'अन्तरात्मा'। (४) **यमः**=ये अन्तःस्थित सर्वनियन्ता प्रभु **प्रियां तन्वम्**=अपने प्रिय शरीरभूत इस बृहस्पति को **प्रारिरेचीत्**=सब दोषों से रिक्त कर देते हैं। अर्थात् इसके जीवन को पवित्र व निर्दोष बना देते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमें सब उन्नति के साधन प्राप्त कराये हैं। हम ज्ञानी व तत्त्वद्रष्टा बनकर प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु हमें निर्दोष बनाएँगे।

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः**॥ देवता—**हविर्धाने**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'शिशु' व 'मरुत्वान्'

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्नृतम्।
उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुष्यतः॥ ५॥

(१) पिछले मन्त्र के 'प्रारिरेचीत्' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख ये सातों **क्षरन्ति**=मल का क्षरण करके निर्मल हो जाते हैं। परन्तु ये मल का क्षरण करनेवाले किसके लिये होते हैं? (क) **शिशवे**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले के लिये। जो स्वाध्याय के द्वारा बुद्धि को निरन्तर सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न करता है, उसकी इन्द्रियाँ निर्मल बनती हैं। (ख) **मरुत्वते**=प्राणों की साधना करनेवाले के लिये। प्राण-साधना से इन्द्रियों के दोष दूर होते ही हैं। जो भी व्यक्ति बुद्धि को सूक्ष्म करने का प्रयत्न करता है तथा प्राणों की साधना करता है उसकी इन्द्रियाँ निर्मल बनती ही हैं। (२) **पुत्रासः**=प्रभु के पुत्र **पित्रे**=अपने पिता परमात्मा के लिये **ऋतं अपि अवीवृतन्**=ऋतकामी वरण करते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिये ऋत का पालन आवश्यक है। 'ठीक समय पर कार्य करना तथा सत्य व्यवहार करना' ही ऋत है। इस ऋत के पालन करनेवाले को ही प्रभु प्राप्त होते हैं। (३) इस प्रकार ऋत का पालन करनेवाले **उभे इत्**=पति-पत्नी दोनों ही **अस्य**=इस प्रभु के होते हैं। **उभयस्य**=शरीर व मस्तिष्क दोनों के ही **राजतः**=शासन करनेवाले होते हैं। **उभे यतेते**=ये दोनों गृह को स्वर्ग बनाने के लिये यत्न करते हैं। **उभयस्य पुष्यतः**='अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों का ही पोषण करनेवाले होते हैं। प्रकृति विद्या व आत्मविद्या दोनों को ही पढ़ते

हैं। अपने जीवन में ये 'व्यक्तिवाद व समाजवाद' दोनों का ही पोषण करते हैं। ये प्रेय व श्रेय दोनों का ही ये पोषण करते हैं।

भावार्थ—शिशु व मरुत्वान् की इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं। ऋत का पालक प्रभु का प्रिय होता है। ऐसे पति-पत्नी अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाले होते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्रभु नमन से हमारे साथ ज्ञान का सम्पर्क होता है। (१) हम ज्ञानी व स्वस्थ बनते हैं, (२) हम यज्ञशील व स्वाध्याय के व्रती हों, (३) हम प्रभु के प्रिय शरीर बनें, (४) अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का ही पोषण करें, (५) इसके लिये शासक नियामक प्रभु का पूजन करें।

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

राजा यम का उपासन

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ १॥

(१) **प्रवतः**=(प्रकृष्ट कर्मवतः) उत्कृष्ट कर्मों वाले, **महीः**=(मह् पूजायाम्+इ) पूजा व उपासना करने वालों को **अनु**=अनुकूलता से **परेयिवांसम्**=सुदूर स्थानों से भी प्राप्त होनेवाले प्रभु को **हविषा**=हवि के द्वारा पूजित करनेवाले होवो। प्रभु अज्ञानियों के लिये दूर से दूर होते हैं। वे ही प्रभु 'पश्यत्विस्वहैव निहितं गुहायाम्' ज्ञानियों के लिये यहाँ शरीर में ही हृदय-गुहा के भीतर निहित होते हैं। अज्ञानियों के लिये दूर हैं, ज्ञानियों के लिये वे यहीं हृदय-गुहा में निहित, समीपतम हो जाते हैं। इस प्रकार हृदयगुहा में प्रभुदर्शन के लिये आवश्यक है कि हम उत्कृष्ट कर्मों में लगे रहें (प्रवत्) तथा प्रातः-सायं उस 'एकतत्व'=अद्वितीय सत् प्रभु का उपासन करनेवाले हों (महि) (२) वे प्रभु ही इन **बहुभ्यः**=अनेकों उपासकों के लिये **पन्थाम्**=जीवनमार्ग को **अनुपस्पशानम्**= अनुकूलता से दिखलानेवाले होते हैं। 'सोम्यानां भृमिरसि'=वे प्रभु इन शान्त सोम्य स्वभाव वाले उपासकों को अज्ञानवश विरुद्ध दिशा में जा रहे हों तो, मुख मोड़कर ठीक दिशा में चलानेवाले होते हैं। (३) वे प्रभु **वैवस्वतम्**=ज्ञान की किरणों वाले हैं। अपने उपासकों के हृदयों को इन ज्ञान किरणों से उज्ज्वल करनेवाले हैं। इस ज्ञान के प्रकाश में ही ये उपासक पथभ्रष्ट नहीं होते। (४) **जनानां संगमन**=ये प्रभु लोगों के एकत्रित होने के स्थान है। इस प्रभु में अधिष्ठित होने पर सब मनुष्य परस्पर एकत्व का अनुभव करते हैं। 'एक ही प्रभु के हम सब पुत्र हैं' यह भावना उन्हें परस्पर बाँधनेवाली होती है। (५) वे प्रभु **यमम्**=हृदय में स्थित होकर सब का नियमन करनेवाले हैं तथा **राजानम्**=सूर्य, चन्द्र व तारे आदि सभी लोक-लोकान्तरों की गति को व्यवस्थित (regulated) करनेवाले हैं। (६) इस प्रभु का उपासन हवि के द्वारा होता है। दानपूर्वक अदन ही उस प्रभु की सच्ची उपासना है। यज्ञशेष का सेवन करता हुआ पुरुष 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस प्रभु निर्देश का पालन करता है और प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट कर्मों वाले उपासकों को प्रभु प्राप्त होते हैं। इन विनीत उपासकों को ही प्रभु मार्गदर्शन करते हैं। वे प्रभु ज्ञान की किरणों वाले हैं। हमें परस्पर एकत्व का अनुभव करानेवाले हैं। नियामक व शासक प्रभु का पूजन यही है कि हम यज्ञशेष का सेवन करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मार्ग का आक्रमण

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः ॥ २ ॥

(१) **प्रथमः यमः**=(प्रथविस्तारे) सम्पूर्ण जगत् में विस्तृत अर्थात् उस सर्वव्यापक व सर्वनियामक प्रभु ने **नः**=हमें **गातुम्**=मार्ग का **विवेद**=ज्ञान दिया है। **उ**=निश्चय से **एषा गव्यूतिः**=यह मार्ग **अपभर्तवा**=अपहरण के लिये **न**=नहीं होता। अर्थात् उस सर्वव्यापक (प्रथमः) सर्वनियामक (यमः) प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर चलने से हम इस संसार में विषयों से आकृष्ट नहीं हो जाते। (२) यह वह मार्ग है **यत्रा**=जिस पर **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए लोग **परेयुः**=चले हैं। वस्तुतः इस प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर चलने से ही वे अपना पूरण कर पाये हैं। इस मार्ग ने उनके जीवनों में न्यूनताओं को नहीं आने दिया। (३) **एना**=इस मार्ग से चलने के द्वारा **जज्ञानाः**=(जनी प्रादुर्भावे) अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव व विकास करनेवाले लोग ही **पथ्याः**=(पथि साधवः) उत्तम मार्ग पर चलनेवाले होते हैं और **अनुस्वाः**=उस प्रभु के अनुकूल व प्रिय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर ही चलना चाहिए। यही मार्ग हमारे पूरण व विकास के लिये होता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मातली-यम-बृहस्पति'

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ३ ॥

(१) यह **मातली**=समझदार-बुद्धिमान्-पुरुष **कव्यैः**=पितरों को, वृद्ध माता-पिता को दिये जानेवाले अन्नों से **वावृधानः**=धर्म मार्ग पर खूब बढ़नेवाला होता है। एक समझदार व्यक्ति सदा माता-पिता को श्रद्धा व आदर से भोजन कराने के बाद ही स्वयं भोजन करता है। इस माता-पिता के श्राद्ध को ही वह प्रत्यक्ष-धर्म मानता है। माता-पिता की श्रद्धापूर्वक की गई सेवा से ही वह 'आयु, विद्या, यश व बल' में वावृधान होता है। (२) **यमः**=संयमी पुरुष **अंगिरोभिः**=(ये अंगाराः आसन् ते अंगिरसोऽभवन्) अंग-प्रत्यंग में रसों के द्वारा **वावृधानः**=बढ़ता है। इसके अंग सूखे काठ की तरह मृत से नहीं हो जाते। संयम इसकी शक्तियों की वृद्धि व स्थिरता का कारण बनता है। (३) **बृहस्पतिः**=उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करनेवाला 'ब्रह्मणस्पति' **ऋक्वभिः**=विज्ञानों के द्वारा बढ़नेवाला होता है। अर्थात् यह सतत स्वाध्याय से अपने ज्ञान का वर्धन करता हुआ उन्नतिपथ पर अग्रेसर होता है और सर्वोच्च दिशा का अधिपति बनता है। (उर्ध्वा दिग् बृहस्पति-रधिपतिः) यह विज्ञान उसे उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचानेवाला होता है। (४) ये वे व्यक्ति हैं **ये च**=और जो **देवान् वावृधु**=देवताओं को बढ़ाते हैं, **यान् च**=और जिनको **देवा वावृधुः**=देव बढ़ाते हैं। अर्थात् यज्ञादि के द्वारा ये लोग देवों को तृप्त करते हैं और वृष्टि के द्वारा देव इनका सम्भावन करते हैं। (५) इनमें **अन्ये**=कई **स्वाहा**=(स्व+हा) स्वार्थ त्याग के द्वारा, अपनी सम्पत्तियों का यज्ञों में विनियोग करते हुए **मदन्ति**=आनन्द व हर्ष का अनुभव करते हैं। तथा **अन्ये**=दूसरे संसार के विषयों से विरत हुए-हुए **स्व-धया**=आत्मतत्त्व के धारण से मदन्ति=आनन्द का अनुभव करते हैं।

योगमार्ग पर चलते हुए समाधि की स्थिति में पहुँचकर अपने अन्दर ही अवर्णनीय आनन्द को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम समझदार बनकर माता-पिता को श्रद्धा से भोजनादि प्राप्त कराएँ, संयमी बनकर अंग-प्रत्यंग में रस वाले हों, बृहस्पति बनकर विज्ञानों का अध्ययन करें। यज्ञशील हों, आत्मचिन्तक। देवों को देकर सदा यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यम का प्रस्तर

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व॥ ४॥

(१) हे **यम**=संयमी पुरुष! **हि**=निश्चय से **इमं प्रस्तरम्**=इस पत्थर के समान दृढ़ शरीर में **आसीद**=बैठ, निवास करनेवाला बन। शरीर को दृढ़ बनाना मनुष्य का मौलिक कर्तव्य है। जिस प्रकार बाग की चारदिवारी का मजबूत होना अत्यावश्यक है, उसी प्रकार शरीर का दृढ़ होना आवश्यक है। इस शरीर की दृढ़ता के लिये साधन 'यम' शब्द से संकेतित हो रहा है, मनुष्य संयमी बनेगा तभी शरीर को दृढ़ बना पायेगा। संयम द्वारा शरीर के दृढ़ होने पर ही मनुष्य मन व बुद्धि की उन्नति कर सकता है। (२) इस मानस व बौद्धिक उन्नति के लिये **अंगिरोभिः**=(अगि गतौ) गतिशील **पितृभिः**=पालनात्मक कर्मों में लगे हुए व्यक्तियों से **संविदानः**=मिलकर तू ज्ञानचर्चा करनेवाला बन। आलसियों के साथ तेरा उठना-बैठना न हो, और ना ही तोड़-फोड़ के कामों में रुचि वालों के साथ तू मिल-जुल। क्योंकि जैसों के साथ तेरा संग होगा वैसा ही तो तू बनेगा। इसी दृष्टिकोण से यह प्रार्थना है कि 'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुभना असत्'=सत्संग से हमारे सब लोग उत्तम मन वाले हों। (३) सत्संग से सुमन बने हुए **त्वा**=तुझ को **कविशस्ताः**=उस महान् कवि-आनन्ददर्शी प्रभु से उपदिष्ट **मन्त्राः**=ज्ञान की वाणियाँ **आवहन्तु**=जीवन के मार्ग में ले चलनेवाली हों। अर्थात् तेरा जीवन का कार्यक्रम श्रुति के अनुकूल हो। 'मंत्रश्रुत्यं चरन्नसि'=मन्त्रों में जैसा हम सुनते हैं, उसके अनुसार हम जीवन को चलानेवाले हों। (४) हे **राजन्**=इन वेदवाणियों के अनुसार व्यवस्थित जीवन (regulated)। वाले पुरुष! तू **एना**=इस **हविषा**=हवि के द्वारा **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर। अर्थात् तुझे देकर के बचे हुए को खाने में आनन्द का अनुभव हो। तू सदा हवि का सेवन करनेवाला बन। इस हवि के सेवन से ही तो वस्तुतः तू प्रभु का उपासक बनता है।

भावार्थ—संयम से इस शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनावें, गतिशील व रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए पुरुषों के साथ हमारा संग हो। वेदज्ञान के अनुसार हम जीवन को बनायें। हवि के सेवन में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**पानिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सत्संग व यज्ञ में स्थिति

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ५॥

(१) हे **यम**=संयमी पुरुष! तू इस जीवन में **अंगिरोभिः**=सदा क्रियाशील जीवन वाले और अतएव अंग-प्रत्यंग में रस वाले, **यज्ञियेभिः**=यज्ञशील व संगतिकरण योग्य,

वैरूपैः=विशिष्ट तेजस्वी रूप वाले पुरुषों के साथ **आगहि**=आनेवाला हो, ऐसे पुरुषों के साथ ही तेरा उठना-बैठना हो। उन्हीं के साथ **मादयस्व**=तू आनन्द का अनुभव कर। (२) इन 'अंगरिस्-यज्ञिय-वैरूप' पुरुषों के संग से तेरा जीवन भी यज्ञमय व वासनाओं से ऊपर उठा हुआ हो। तू **अस्मिन् यज्ञे**=इस यज्ञमय जीवन में तथा **बर्हिषि**=वासना शून्य हृदय में (उद् बृह=उखाड़ना) उस हृदय में, जिसमें से कि वासनाओं को उखाड़ दिया गया है, **आनिषद्य**=स्थित होकर **विवस्वन्तम्**=ज्ञान की किरणों वाले प्रभु को **हुवे**=प्रकारनेवाला हो, **यः ते पिता**=जो तेरे पिता हैं। वस्तुतः हमें यही चाहिए कि हम अपने जीवन को यज्ञमय बनाएँ, हृदय को वासनाशून्य करें। इन्हीं में स्थित होकर प्रभु का उपासन करें।

भावार्थ—हमारा संग सदा उत्तम हो, जीवन यज्ञमय हो, और हम प्रभु का उपासन करने (पुकारने) वाले हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमति व सौमनस

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ६॥

(१) **नः**=हमारे **पितरः**=पालन करनेवाले (=Guardians) **अंगिरसः**=(अगि गतौ) गतिशील हैं और अतएव अंग-अंग में रस वाले हैं। वे **नवग्वाः**=स्तुत्य गति वाले हों (नु स्तुतौ) और इसी कारण नवदशक पर्यन्त जानेवाले अर्थात् नब्बे वर्ष की दीर्घ आयु तक पहुँचनेवाले हैं। **अथर्वाणः**=वे अपनी इस जीवन यात्रा में (न+थर्व) न डाँवाडोल होनेवाले हैं तथा सदा (अथ अर्वाङ्) आत्मनिरीक्षण करते हुए अपने दोषों को दूर करनेवाले हैं। **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) ज्ञान से अपने को परिपक्व करनेवाले हैं। और अतएव **सोम्यासः**=अत्यन्त सोम्य व विनीत हैं। ज्ञान का परिणाम विनीतता के रूप में होना ही चाहिए। (२) ऐसे पितरों के ही सम्पर्क में हमें रहना चाहिए। ये 'यज्ञिय'=संगतिकरण योग्य हैं। इनके सम्पर्क में आकर इन जैसे ही हम बनेंगे। **तेषां यज्ञियानाम्**=उन संगतिकरण योग्य पितरों की **वयम्**=हम **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे सौमनसे**=कल्याणकर उत्तम मन में **स्याम**=हों। हम भी उन पितरों की तरह 'सुमति व सौमनस' वाले हों। वस्तुतः इन पितरों ने ही निर्माण करना होता है। जैसे पितर होंगे, वैसे ही तो 'पुत्र' भी बनेंगे। (३) पितरों की विशेषताएँ 'अंगिरस्-नवग्व-अथर्वा-भृगु व सोम्य' इन शब्दों से सूचित हुई हैं। अन्नमयकोश के दृष्टिकोण से ये अंगिरस्=अंग-अंग में रस व शक्ति वाले हैं। प्राणमयकोश में प्रत्येक इन्द्रिय की प्रशंसनीय गति वाले=नवग्व हैं। मनोमयकोश में अथर्व=न ढाँवाडोल होनेवाले मन वाले 'स्थिरधी' हैं। विज्ञानमयकोश में 'भृगु'=परिपक्व ज्ञान वाले हैं और अन्ततः आनन्दमयकोश में अत्यन्त 'सोम्य' हैं, उस 'सोम'=शान्त प्रभु के साथ निवास करनेवाले हैं।

भावार्थ—इन पितरों के सम्पर्क में आकर इनकी 'सुमति व सौमनस' को प्राप्त करके हम भी ऐसे ही बनने के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः पितरो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यम और वरुण=संयम व निर्द्वेषता

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।

उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ७॥

(१) **यत्रा**=जिस मार्ग पर **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले **पितरः**=रक्षक लोक **परेयुः**=उत्कृष्टता से चलते हैं उन्हीं **पूर्व्येभिः**=पूरण करने में उत्तम अर्थात् सब न्यूनताओं को दूर करनेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **प्रेहि**=चल और इन्हीं मार्गों से ही **प्रेहि**=चल। हमें चाहिए यही कि हम अपने पितरों के उत्तम मार्ग पर ही चलने का प्रयत्न करें। (२) प्रभु जीव से कहते हैं कि तू अपने मार्गदर्शन के लिये **यमं**=यम को **च**=और **वरुणं देवं**=वरुण देव को **पश्यासि**=देख। यम के जीवन की विशेषता 'जीवन का नियन्त्रण' है और 'वरुण' द्वेष का निवारण करनेवाला, द्वेषशून्य सब के प्रति प्रेमपूर्ण है। इनको देखने का अभिप्राय यह है कि हम भी नियन्त्रित जीवन वाले व द्वेषशून्य बनें। (३) **उभा**=ये दोनों नियन्त्रित जीवन वाले तथा द्वेषशून्य व्यक्ति **राजाना**=चमकनेवाले होते हैं (राज् दीप्तौ)। इनका जीवन दीप्त होता है, और **स्वधया मदन्ता**=(स्व+धा) आत्मतत्त्व के धारण से हर्ष का अनुभव करते हैं। 'यम' बनकर ये पूर्ण स्वस्थ होते हैं और स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकते हैं तथा 'वरुण' व निर्द्वेष होने के कारण ये अपने हृदय में आत्मप्रकाश को देखते हैं और इस प्रकार आत्मतत्त्व के धारण से आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हमारा मार्ग वही हो जो यम व वरुण का है। संयम हमें स्वास्थ्य की दीप्ति दे, और निर्द्वेषता हमें प्रभु का प्रकाश देखने के योग्य बनाकर आनन्दित करे। यम हमारे शरीरों को पवित्र करे और वरुण मनों को। संयमी बनकर हम व्याधियों से बचें और वरुण बनकर आधियों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः पितरो वा** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

फिर घर की ओर

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ ८ ॥

(१) प्रभु जीव को निर्देश करते हैं कि **पितृभिः**=पालनात्मक कर्मों में लगे हुए पुरुषों के साथ **संगच्छस्व**=तू संगति करनेवाला हो। इनके संग में आकर तू भी निर्माणात्मक कार्यों की प्रवृत्ति वाला ही होगा। (२) **यमेन सम्**=(गच्छस्व) संयमी पुरुषों के साथ तेरा मेल हो। यह इसलिए आवश्यक है कि इनके सम्पर्क में तेरा जीवन भी संयमी बन पाएगा। (३) **परमे व्योमन्**=इस उत्कृष्ट हृदयान्तरिक्ष में तू **इष्टापूर्तेन** (संगच्छस्व)=इष्ट और आपूर्त की भावना से युक्त हो। तेरा वृत्ति यज्ञात्मक कर्मों की हो तथा तू वापी-कूप-तड़ाग आदि लोकहित की चीजों के निर्माण की वृत्ति वाला हो। (४) **अवद्यं हित्वाय**=सब निन्दनीय अशुभ कर्मों को छोड़कर **पुनः**=फिर **अस्तम्**=अपने घर, ब्रह्मलोक में **एहि**=आनेवाला बन। (५) इसी दृष्टिकोण से तू **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् वाला बनकर **तन्वा**=विस्तृत शक्तियों का शरीर से **संगच्छस्व**=संगत हो। तेरा शरीर पूर्ण स्वस्थ हो और तू अपने शरीर की शक्तियों का विस्तार करनेवाला बन। बीमार व क्षीण शक्ति शरीर से हम जीवनयात्रा को क्या पूर्ण कर पायेंगे और किस प्रकार मोक्ष में पहुँच सकेंगे?

भावार्थ—हमारा सम्पर्क संयमी निर्माणात्मक कार्यों में लगे पुरुषों के साथ हो। हमारे हृदयों में भी यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने का संकल्प हो। अशुभ से दूर होकर हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करें। यात्रा की पूर्ति के लिये स्वस्थ शरीर वाले हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः पितरो वा** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यात्रा का अवसान

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।

अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै ॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र के 'हित्वायावद्य' का ही व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि **अपेत**=सब दुरितों से दूर होने के लिये यत्न करो **वीत (वि इत)**=विशिष्ट मार्ग पर चलो। **च**=और **वि-सर्पत**=विशेषरूप से गतिशील बनो। **अतः**=इसी दृष्टिकोण से **पितरः**=रक्षक लोग **अस्मै**=इसके लिये **लोकम् अक्रन्**=प्रकाश को प्राप्त कराते हैं। पितरों से आलोक को प्राप्त करके ये अशुभ से दूर होते हुए शुभ मार्ग का ही आक्रमण करते हैं। (२) इस प्रकार **अहोभिः**=(अ+हन्) एक-एक क्षण के सदुपयोग के द्वारा, समय को नष्ट न करने के द्वारा, **अद्भिः**=(आपः=रेतः) रेतःकणों की रक्षा के द्वारा तथा **अक्तुभिः**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा **व्यक्तम्**=विशेषरूप से अलंकृत **अवसानम्**=जन्म-मरण चक्र के अन्त को **अस्मै**=इस साधक के लिये **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **ददाति**=देते हैं, इसको जन्म-मरण चक्र से मुक्त कर देते हैं। एवं स्पष्ट है कि मोक्ष प्राप्ति का साधन यही है कि हम जीवन को बड़ा अलंकृत व सुशोभित बनाएँ। जीवन को अलंकृत करने के लिये—(क) समय को व्यर्थ न जाने दें, (ख) रेतःकणों का रक्षण करें, (ग) प्रकाश की किरणों को प्राप्त करें। सदा उत्तम कर्मों में लगे रहने से ही वीर्यरक्षण होता है और उससे ज्ञानाग्नि समिद्ध होकर हमारा जीवन प्रकाशमय होता है। इस प्रकाश से जीवन सुशोभित होगा तभी हम मोक्ष के अधिकारी होंगे।

भावार्थ—हम पितरों से प्रकाश को प्राप्त करके सदा उत्तम कर्मों में लगे रहने से शक्ति के रक्षण के द्वारा ज्ञानाग्नि को समिद्ध करें। यही हमारे मोक्ष का मार्ग है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**श्वानौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दो श्वा

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥ १०॥

(१) जीवन के अन्दर काम-क्रोध उन दो श्वानों (=कुत्तों) के समान हैं जो कि **सारमेयौ**=सरमा के पुत्र हैं। सृगतौ से 'सरमा' शब्द बनता है। ये बड़े चञ्चल हैं, काम-क्रोध का स्थिरता से सम्बन्ध नहीं है। **श्वानौ**=(श्वि वृद्धौ) ये निरन्तर बढ़नेवाले हैं। काम-क्रोध बढ़ते ही जाते हैं। काम उपभोग से शान्त होने की बजाय इस प्रकार बढ़ता चलता है जैसे कि हवि के द्वारा अग्नि। **चतुरक्षौ**=ये चार आँखों वाले हैं, सदा सावधान हैं। इन्हें ज़रा-सा मौका मिला और इन्होंने हमारे पर आक्रमण किया। हम स्वयं भी सदा सावधान रहेंगे, और उत्तम कर्मों में लगे रहेंगे तभी इनसे बच सकेंगे। **शबलौ**=ये रंगबिरंगे हैं। नाना रूपों में ये प्रकट होते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि **साधुना पथा**=उत्तम मार्ग से इनको **अतिद्रव**=लाँघ जा। सदा उत्तम कर्मों में लगे रहना ही वह उपाय है जिससे कि हम काम-क्रोध को जीत पाते हैं। (३) **अथा**=और **सु-विद-त्रान्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले **पितॄन्**=पितरों के **उपेहि**=समीप आनेवाला हो। इनका सत्संग तुझे ज्ञान की रुचि वाला तथा उत्तम कर्मों को करनेवाला बनाएगा। (४) तू उन पितरों के समीप उपस्थित हो **ये**=जो कि **यमेन**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के **सधमादं मदन्ति**=साथ आनन्द का अनुभव करते हैं। इन प्रभु के उपासकों के सम्पर्क से तेरी भी वृत्ति प्रभु उपासना की होगी। 'सुविदत्रान्' शब्द ज्ञान का संकेत करता है, 'पितॄन्'=रक्षणात्मक कर्मों का, और 'यमेन सधमादं' उपासना का। एवं हमारा सम्पर्क ऐसे ही लोगों के साथ हो जो कि ज्ञानी-कर्मतत्पर व उपासक हैं। ये ही आदर्श पितर हैं। इनके सम्पर्क से ही हम काम-क्रोध रूप यम के श्वानों को लाँघ जायेंगे।

भावार्थ—हम उत्तम पितरों के सम्पर्क से ज्ञानी बनकर, सुपथ से चलते हुए, काम-क्रोध को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**श्वानौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपादेय 'काम-मन्यू' (स्वस्ति व अनमीव)

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि॥ ११ ॥

(१) हे **यम**=सर्वनियन्ता प्रभो! **यौ**=जो **ते**=आपके **श्वानौ**=(श्वि गतिवृद्धयोः) गति द्वारा वृद्धि के कारणभूत **रक्षितारौ**=हमारे जीवन की रक्षा करनेवाले, **चतुरक्षौ**=सदा सावधान, **पथिरक्षी**=मार्ग के रक्षक व **नृचक्षसौ**=(Look after=चक्ष्) मनुष्यों का पालन करनेवाले काम व क्रोध हैं, **ताभ्याम्**=उन देवों के लिये **एनम्**=इस पुरुष को **परिदेहि**=प्राप्त कराइये। **च**=और हे **राजन्**=संसार के शासक व व्यवस्थापक प्रभो! इन रक्षक काम व क्रोध के द्वारा **अस्मै**=इस पुरुष के लिये **स्वस्ति**=उत्तम स्थिति को, कल्याण को **च**=तथा **अनमीवम्**=नीरोगता को **धेहि**=धारण करिये। (२) 'काम-क्रोध' प्रबल हुए तो ये मनुष्य को समाप्त कर देनेवाले हैं। काम उसके शरीर को जीर्ण करता है तो क्रोध उसके मन को अशान्त बना देता है। ये ही 'काम-क्रोध' सीमा के अन्दर बद्ध होने पर मनुष्य के रक्षक व पालक (रक्षितारौ नृचक्षसौ) हो जाते हैं। काम उसे वेदाद्विगम (=ज्ञान प्राप्ति) व वैदिक कर्मयोग उत्तम कर्मों में लगाकर (काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः मनु) **स्वस्ति**=उत्तम स्थिति प्राप्त कराता है। और मर्यादित क्रोध ही मन्यु है (यह मन्यु उसे उपद्रवों से आक्रान्त नहीं होने देता) इस प्रकार ये काम व मन्यु उस 'यम राजा' के द्वारा हमारे कल्याण के लिये हमारे में स्थापित किये जाते हैं। चाहते हुए हम आगे बढ़ते हैं (काम्य) और जैसे फुँकार मारता हुआ साँप सब प्राणियों से किये जानेवाले उपद्रवों से जैसे बचा रहता है, उसी प्रकार हम भी उचित क्रोध को अपनाकर 'अनमीव' बने रहते हैं।

भावार्थ—सामान्यतः अतिमर्याद रूप में विनाशक काम-क्रोध हमारे लिये संयत रूप में होकर 'स्वस्ति व अनमीव' को सिद्ध करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**श्वानौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'भद्र असु'=उत्तम जीवन

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ १२ ॥

(१) गत मन्त्रों में वर्णित काम-क्रोध **उरूणसौ**=बड़ी नाक वाले हैं। सेवन से ये बढ़ते ही जाते हैं। **अ-सु-तृपौ**=ये कभी अच्छी तरह तृप्त हो जाएँ, सो बात नहीं है। 'भूय एवाभिवर्धते'=ये तो उत्तरोत्तर बढ़ते ही चलते हैं। **उदुम्बलौ (उद् बलौ)**=अत्यन्त प्रबल हैं। इनको जीतना सुगम नहीं है। और अपराजित हुए-हुए ये **यमस्य दूतौ**=यम के दूत हैं, हमें मृत्यु के समीप ले जाते हैं। ये दोनों दूत **जना अनु चरतः**=सदा मनुष्यों के पीछे चलते हैं। अर्थात् ये हमारे अन्दर स्वाभाविक रूप से रखे हुए हैं। (२) अब यदि ये प्रबल हो जाएँ तो ये हमें समाप्त कर देते हैं, और यदि हम प्रबल बनकर इनको अपने वश में रखें तो ये हमारे सेवक होते हैं और हमारा कल्याण करनेवाले बन जाते हैं। प्रबल जीवित रूप में ये हमें सोने की (gold) तरह समाप्त करनेवाले होते हैं। तथा भस्मीभूत हुए-हुए ये स्वर्णभस्म की तरह हमारे जीवन का कारण बनते हैं। सो हम इन्हें ज्ञानचक्षु से भस्मीभूत करनेवाले हों जिससे **तौ**=ये काम व क्रोध **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **पुनः**=फिर **अद्य**=आज **इह**=यहाँ **भद्रं असुम्**=शुभ जीवन को **दाताम्**=प्राप्त कराएँ और हम **दृशये सूर्याय**=

दीर्घकाल तक सूर्य दर्शन करनेवाले व दीर्घजीवी हो सकें। गत मन्त्र के अनुसार स्वस्ति व अनमीव को प्राप्त करके पूर्ण शतवर्ष के जीवन वाले हों।

भावार्थ—काम-क्रोध अत्यन्त प्रबल हैं, परन्तु हमारे लिये तो ये वशीभूत हुए-हुए भद्र जीवन को दें जिससे हम दीर्घकाल तक सूर्य दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

यम की प्राप्ति

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ १३॥

(१) **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं सुनुत**=सोम का अपने में उत्पादन करो। प्रभु 'यम' हैं, मनुष्य भी 'यम'=संयमी बनकर ही उस प्रभु का सच्चा उपासक बन पाता है। यह संयमी पुरुष सोम का सम्पादन करनेवाला होता है। (२) **यमाय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **हविः जुहुता**=हवि के देनेवाले बनो। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'=उस सुखस्वरूप देव का हवि के द्वारा ही तो हम पूजन करते हैं, यज्ञशेष का सेवन ही हवि का स्वीकार करना है। हम सदा पाँचों यज्ञों को करके यज्ञशेष को ग्रहण करें। (३) **यमम्**=उस सर्वनियन्ता प्रभु को **ह**=निश्चय से **यज्ञः**='देवपूजा-संगतिकरण व दान' इन धर्मों का पालन करनेवाला ही **गच्छति**=प्राप्त होता है। वह उस यम को प्राप्त होता है जो कि **अग्निदूतः**=उस अग्नि नामक प्रभु का दूत बनता है, संदेशवाहक बनता है। प्रभु से दिये गये ज्ञान को जो सर्वत्र प्रचारित करनेवाला होता है। और **अरंकृतः**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करता है, अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत किये बिना वह औरों में ज्ञान का प्रचार कर भी तो नहीं सकता।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) हम सोम का सम्पादन करें, (ख) ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनें, (ग) अपने जीवन को सद्गुणों से मण्डित करें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

घृतवत् हवि

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत। स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्र जीवसे॥ १४॥

(१) **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिये **घृतवत्**='मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति' वाली **हविः जुहोत**=हवि के देनेवाले बनो। अर्थात् प्रभु प्राप्ति के लिये मन में से राग-द्वेष आदि मलों को दूर करो, मस्तिष्क को, स्वाध्याय द्वारा ज्ञान से दीप्त करो तथा सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनो। (२) इस प्रकार मन की निर्मलता, मस्तिष्क की दीप्ति, तथा यज्ञशेष के सेवन रूप त्याग से प्रभु की प्राप्ति तो होती है। **च**=साथ ही, इस संसार में **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा को भी पावो। ये कर्म, विशेषतः दान हमारी प्रतिष्ठा का भी कारण बनता है। (३) **स**=वे प्रभु **नः**=हमें **देवेषु**=देवताओं में होनेवाले **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन को **आयमत्**=दें जिससे **प्रजीवसे**=हम जीवन को प्रकृष्ट व उत्तम बना पायें। साधना के लिये भी दीर्घ जीवन सहायक होता है। 'दीर्घ जीवन' देवताओं को प्राप्त होता है। वह दीर्घ जीवन हमें भी प्राप्त हो, और उस जीवन में हम देव बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) हम निर्द्वेष हों, (ख) दीप्त-ज्ञान वाले हों, (ग) त्याग की वृत्ति वाले हों। इस साधना के लिये हमें दीर्घ जीवन प्राप्त हो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ऋषि-नमस्कार

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन। इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ १५ ॥

(१) **यमाय**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियमन करनेवाले, **राज्ञे**=संसार को व्यवस्थित (regulated) करनेवाले उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **मधुमत्तमं हव्यम्**=अत्यन्त माधुर्य से युक्त हव्य को **जुहोतन**=अपने में आहुत करो। अर्थात् हम मधुरतम वाणी का ही प्रयोग करें, और सदा त्यागपूर्वक उपभोग करें, यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें। (२) इस प्रभु की प्राप्ति के लिये ही हम उन **ऋषिभ्यः**=प्रभु का साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानियों के लिये **इदं नमः**=इस नमस्कार को करते हैं जो ज्ञानी **पूर्वजेभ्यः**=हमारे पूर्वज हैं, आयुष्य में भी हमारे से बड़े हैं, **पूर्वेभ्यः**=अपना पूरण करनेवाले हैं, और **पथिकृद्भ्यः**=हमारे लिये मार्ग को बनानेवाले हैं। इन ऋषियों का अनुसरण करते हुए हम पथभ्रष्ट नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम (क) अत्यन्त मधुर बनें, (ख) हव्य का ही सेवन करें, (ग) मार्गदर्शक ज्ञानियों का सत्कार करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

त्रि-कद्रुक

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत्। त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥ १६ ॥

(१) मन्त्र का ऋषि 'वैवस्वत यम' अर्थात् ज्ञान की किरणों वाला संयमी पुरुष **त्रिकद्रुकेभिः**=(कदि आह्वाने) तीनों कालों में प्रभु के आह्वान के साथ **पतति**=चलता है, प्रातः, मध्याह्न व सायं तीनों समय प्रभु की प्रार्थना करता है। अथवा जीवन के प्रातःसवन में, प्रथम २४ वर्षों में, जीवन के माध्यान्दिन सवन में, मध्यम ४४ वर्षों में, और जीवन के सायन्तन सवन, अन्तिम ४८ वर्षों में यह प्रभु प्रार्थना से अपने को पृथक् नहीं करता। (२) 'ज्योतिः गौः आयुः' नामक तीन याग विशेष 'त्रिकद्रुक' कहलाते हैं। यह यम इन यागों को करता हुआ जीवन में चलता है। यह स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-ज्योति का सम्पादन करता है, प्राण-साधना द्वारा गौओं अर्थात् इन्द्रियों को बड़ा शुद्ध बनाता है और क्रियाशीलता के द्वारा दीर्घजीवन को प्राप्त करता है अथवा उत्तम आयुष्यवाला होता है। (३) इसके जीवन में **षड् ऊर्वीः**='द्यौश्च पृथिवी च आपश्च ओषधयश्च ऊर्क् च सूनृता च' द्युलोक अर्थात् ज्ञानदीप्त मस्तिष्क, पृथिवी अर्थात् विस्तृत शक्ति सम्पन्न शरीर, आपः=अर्थात् रेतस् (आपः रेतो भूत्वा), ओषधयः=अर्थात् दोषों का दहन करनेवाले सात्त्विक अन्न, ऊर्क्=बल और प्राणशक्ति और सूनृता=प्रिय सत्यभक्ति का वाणी, ये छः ऊर्वियाँ **आहिताः**=स्थापित होती हैं, (४) **एकम्**=शरीर में केन्द्र स्थान में स्थापित सब से महत्त्वपूर्ण साधन मन (हृदय) **इत्**=निश्चय से **बृहत्**=बड़ा व विशाल होता है, (५) और अन्त में **त्रिष्टुप्**=काम-क्रोध-लोभ तीनों को रोक देना, **गायत्री** (गयाः प्राणाः तान् तत्रे)=प्राणों का रक्षण, **छन्दांसि**=पापों का छादन अर्थात् बुरी वृतियों का दूरीकरण **ता सर्वा**=वे सब बातें **यमे**=इस संयमी पुरुष में **आहिता (वि)**=स्थापित होती हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु स्मरण के साथ चलें। हमारे शरीर व मस्तिष्क दोनों ही ठीक हों, जल व ओषधियों का हम प्रयोग करें, प्राणशक्ति व सूनृत वाणी वाले हों। हमारा मन विशाल हो। काम-क्रोध-लोभ को रोकें। प्राणों का रक्षण करें। पापों से अपने को दूर रखें।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि नियामक प्रभु का हम हवि के द्वारा उपासन करें,

(१) सदा प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर चलें, (२) हम स्वार्थ-त्याग वाले व आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले बनें, (३) हमारा शरीर प्रस्तर तुल्य हो, (४) सत्संगों व यज्ञों में हमारी स्थिति हो, (५) सत्संग से सुमति व सौमनस की हमें प्राप्ति हो, (६) हम संयमी व द्वेषशून्य बनें, (७) बुराई को छोड़कर अपने घर ब्रह्मलोक की ओर चलें, (८) प्रभु कृपा से हमारी यात्रा पूर्ण हो, (९) उत्तम मार्ग से चलते हुए हम काम-क्रोध को लाँघ जाएँ, (१०) काम-क्रोध को वशीभूत करके हम कल्याण व नीरोगता को प्राप्त करें, (११) वशीभूत काम-क्रोध से हमें उत्तम जीवन प्राप्त हो, (१२) प्रभु प्राप्ति के लिये हम जीवनों को सद्गुणालंकृत करें, (१३) निर्मल मन वाले, ज्ञानदीप्त मस्तिष्क वाले तथा त्याग पूर्वक उपभोग वाले बनें, (१४) मार्ग-दर्शक ऋषियों के लिये नतमस्तक हों, (१५) सदा प्रभु स्मरण के साथ जीवन में चलें, (१६) हमें पितरों का रक्षण प्राप्त हो।

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः** ॥ देवता—**पितरः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अवर-पर-मध्यम पितर

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ १॥

(१) इन मन्त्रों का ऋषि '**यामायनः**'=यम पुत्र अर्थात् अत्यन्त संयमी जीवनवाला '**शंखः**'=शान्त इन्द्रियों वाला है। यह प्रार्थना करता है कि हमारे जीवनों में **अवरे पितरः**=सब से प्रथम स्थान में प्राप्त होनेवाले माता-पिता रूप पितर **उदीरताम्**=उत्कृष्ट गति वाले हों। वे हमारे जीवनों में चरित्र व शिष्टाचार की स्थापना के लिये यत्नशील हों। (२) **उत्**=और **मध्यमाः**=मध्यम श्रेणी के पितर अर्थात् हमारे जीवनों के मध्यकाल में शिक्षा के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले आचार्य (उदीरताम्) ज्ञान प्रदान की क्रिया में सदा सचेष्ट हों। (३) **उत्**=और **परासः**=जीवन के परभाग में हमारे घरों में प्राप्त होनेवाले अतिथि रूप पर पितर सदा सत्प्रेरणा देते हुए (उदीरताम्) उत्कृष्ट गति वाले हों। (४) 'मातृ देवो भव-पितृ देवो भव-आचार्य देवो भव-अतिथि देवो भव' इन उपनिषद् के शब्दों में इन्हीं पितरों का उल्लेख है। ये सब के पितर **सोम्यासः**=अत्यन्त सोम्य स्वभाव के हों। स्वयं सोम्य होकर ही ये हमें सोम्य बना पाएँगे। (५) **ये**=जो पिता **असुं ईयुः**=प्राणशक्ति को प्राप्त हैं अर्थात् जीवित हैं, जीवनी शक्ति से परिपूर्ण हैं, और **अवृकाः**=लोभ से रहित हैं, **ऋतज्ञाः**=ऋत को जाननेवाले हैं, यज्ञशील हैं, **ते**=वे **पितरः**=पितर **हवेषु**=हमारी प्रार्थना व पुकार के होने पर **नः अवन्तु**=हमारा रक्षण करें। एवं पितरों के लक्षण ये हैं कि वे (क) प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं, (ख) लोभरहित हैं, (ग) ऋतज्ञ हैं, यज्ञशील हैं, (घ) सोम्य हैं।

भावार्थ—सोम्य, प्राणशक्ति-सम्पन्न, निर्लोभ व यज्ञशील पितर हमारे जीवनों में हमारा रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः** ॥ देवता—**पितरः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पितरों के लिये नमस्कार

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ २॥

(१) **अद्य**=आज **पितृभ्यः इदं नमः अस्तु**=पितरों के लिये यह नमस्कार हो। **ये**=जो पितर **पूर्वासः**=अपना पूरण करनेवाले हैं **ये उ**=और जो **परासः**=उत्कृष्ट जीवन वाले हैं। अथवा जो

हमारे जीवनों में **पूर्वासः**=पहले **ईयुः**=आते हैं **ये उ परासः**=और जो हमारे जीवनों के पिछले भागों में आते हैं। अर्थात् माता, पिता, आचार्य व अतिथि इन सबके लिये हम नमस्कार करते हैं। (२) उन पितरों के लिये हम नमस्कार करते हैं **ये**=जो कि **पार्थिवे रजसि**=इस पार्थिवलोक में **आनिषत्ताः**=सर्वथा उपविष्ट हैं अर्थात् इस शरीर पर जिनका पूर्ण प्रभुत्व है। (३) **ये वा**=और जो **नूनम्**=निश्चय से **सुवृजनासु**=उत्तमता से, पूर्णरूप से पाप का वर्जन करनेवाली प्रजाओं में हैं, जिनकी गिनती निष्पाप धार्मिक लोगों में होती है।

भावार्थ—शरीर पर पूर्ण प्रभुत्व वाले निष्पाप पितरों के लिये हमारा नमस्कार हो।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुविदत्र व बर्हियद् पितर

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ३॥

(१) **अहम्**=मैं **सुविदत्रान्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले **पितॄन्**=पितरों को **आ अवित्सि**=सर्वथा प्राप्त होऊँ। माता, पिता, आचार्य व अतिथि ये सब ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले हों। **च**=और परिणामतः मैं **न-पातम्**=न गिरने को, अर्थात् धर्ममार्ग में स्थिरता को प्राप्त करूँ। **च**=तथा **विष्णोः विक्रमणम्**=विष्णु के विक्रमण को भी मैं प्राप्त करूँ। 'स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व दीप्त मस्तिष्क' होऊँ। शरीर का स्वास्थ्य ही पृथिवीलोक का विजय है, मन की निर्मलता अन्तरिक्षलोक का विजय है और मस्तिष्क की दीप्ति द्युलोक का। यह त्रिविध विजय ही विष्णु के तीन विक्रमण हैं। (२) मैं उन पितरों को प्राप्त करूँ **ये**=जो **बर्हिषदः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले हैं और जो **स्व-धया**=आत्मतत्त्व के धारण के हेतु से **पित्वः**=अन्न के **सुतस्य**=परिणाम भूत सोम के वीर्य को **भजन्त**=भागी बनते हैं। वीर्य के रक्षण के उद्देश्य से प्रभु का उपासन करते हैं। अथवा आत्मतत्त्व के धारण के लिये वीर्य का रक्षण करते हैं। वीर्यरक्षण से ज्ञानाग्नि व बुद्धि दीप्त होकर प्रभु के साक्षात्कार का कारण बनती है। **ते**=वे पितर **इह**=इस जीवन में **आगमिष्ठाः**=हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हमें उन पितरों की प्राप्ति हो जो कि ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करें, यज्ञशील हों, प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से वीर्य का रक्षण करनेवाले हों। इनके सम्पर्क से हम भी मार्गभ्रष्ट न होते हुए शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति रूप तीन कदमों को रखनेवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शान्ति-निर्भयता व निर्दोषता

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात॥ ४॥

(१) **बर्हिषदः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले **पिताः**=रक्षक लोगो! **ऊती**=हमारे रक्षण के हेतु से **अर्वाक्**=आप हमें समीपता से प्राप्त होइये। **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों को हम **वः चकृमा**=आपके लिये संस्कृत करते हैं। **जुषध्वम्**=आप उन वस्तुओं का प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। वस्तुतः 'माता-पिता की सेवा करना, उनको खिलाकर ही खाना' यह पितृयज्ञ है और यही एक गृहस्थ का प्रत्यक्ष धर्म है। ये पितर अपने क्रियात्मक उदाहरण से हमारे जीवनों में यज्ञ को प्रेरित करते हैं। स्वयं यज्ञशील होते हुए वे हमें यज्ञशील बनाते हैं। (२) हे पितरो! **ते**=वे आप लोग

शन्तमेन=अत्यन्त शान्ति को देनेवाले **अवसा**=रक्षण से **आगत**=हमें प्राप्त होइये। **अथा**=और **नः**=हमारे लिये **शंयोः**=शान्ति को तथा भयों के यावन (पृथक् करण) को, और **अरपः**=निर्दोषता को **दधात**=धारण करिये।

भावार्थ—हमें पितरों का आदर करना चाहिए। ये यज्ञशील पितर हमारा रक्षण करते हुए हमें 'शान्ति-निर्भयता व निर्दोषता' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पितरों का आगमन

उप॑हूताः पि॒तर॑: सो॒म्यासो॑ ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑।
त आ ग॑मन्तु॒ त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ ते॑ऽवन्त्व॒स्मान्॥ ५॥

(१) हमारे से **सोम्यासः**=अत्यन्त विनीत स्वभाव वाले निरभिमान **पितरः**=पितर **उपहूताः**=पुकारे गये हैं। हमने प्रभु से प्रार्थना की है कि हमें सोम्य पितर प्राप्त हों। इन्हें हमने **बर्हिषि**=यज्ञ के निमित्त पुकारा है। स्वयं यज्ञशील होते हुए ये हमें भी यज्ञमय जीवनवाला बनाते हैं। हम इन यज्ञों के निमित्त इन्हें पुकारते हैं जो **एषु प्रियेषु निधिषु**=ये हमारे प्रिय निधि हैं। यज्ञ कोई घाटे का सौदा नहीं है, यह तो एक प्रिय धन का विनियोग है। 'देहि मे ददामि ते' हम अग्नि को देते हैं, अग्नि हमें देता है। 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षं' अग्निहोत्र तो स्वतः सिद्ध वर्षा है। अग्निहोत्र से वर्षा होकर खूब अन्न की उत्पत्ति होती है। अग्नि अन्नाद है तो आद्य अन्न को प्राप्त भी कराती है। एवं यज्ञ हमारे प्रिय निधि हैं। इन्हीं यज्ञों की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने के लिये हम उन पितरों को चाहते हैं जो कि यज्ञशील होते हुए अत्यन्त सोम्य व विनीत हैं। (२) **ते**=वे पितर **इह**=यहाँ हमारे घरों में **आगमन्तु**=आयें। **ते**=वे **इह**=यहाँ **श्रुवन्तु**=हमारी समस्याओं को सुनें और **ते**=वे **अस्मान्**=हमें **अधिब्रुवन्तु**=आधिक्येन उपदेश दें। इस अर्थ में स्पष्ट है कि पितर घरों में आते हैं और वे हमें उपदेश व परामर्श देकर हमारी समस्याओं को सुलझाने के लिये यत्नशील होते हैं। वैदिक मर्यादा के अनुसार पुत्र के सन्तान को देखकर पिता, जो लगभग ५१ साल के हैं, वानप्रस्थ बन जाते हैं। इनके भी पिता, जो लगभग ७६ वर्ष के हैं, वे भी वन में हैं, और इनके भी पिता, जो लगभग १०० वर्ष के हैं, वे भी सम्भवतः वन में अभी जीवित ही हैं। एवं ये 'पिता, पितामह और प्रपितामह' वनों में रहनेवाले पितर हैं। जब कभी इनके सन्तान किन्हीं घर की समस्याओं को सुलझाने के लिये इन्हें आमन्त्रित करते हैं तो ये आते हैं, सन्तानों की बात को सुनते हैं और उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिये उन्हें उचित उपदेश व आदेश देते हैं। यही 'पितरों का आना व सन्तानों द्वारा उनके उचित आदर का होना' वैदिक श्राद्ध है। यह जीवित पितरों के साथ ही सम्बद्ध है। इसीलिये प्रपितामह से ऊपर जो पितर हैं, जो समान्यतः १२६ वर्ष के होने चाहिएँ, उनका वेद में उल्लेख ही नहीं, उनके जीवित होने का सम्भव कम ही है।

भावार्थ—हम वनस्थ पिता, पितामह, प्रपितामह आदि को आमन्त्रित करें। वे आकर हमें उपदेश व परामर्श दें।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ का उपदेश

आच्या॒ जानु॑ दक्षिण॒तो नि॒षद्ये॒मं य॒ज्ञम॒भि गृ॑णीत॒ विश्वे॑।
मा हिंसिष्ट पितर॒: केन॑ चिन्नो॒ यद्व॒ आग॑: पुरु॒षता॒ करा॑म॥ ६॥

(१) पिछले मन्त्र के अनुसार पितर घरों पर आयें और **जानु आच्य**=घुटनों को संगत रूप में पृथ्वी पर स्थापित करके अर्थात् घुटने मिलाकर भूमि पर स्थित होकर, **दक्षिणतः निषद्य**=दक्षिण की ओर बैठकर अर्थात् हमारे दाहिने बैठकर, **विश्वे**=सब पितर **इमं यज्ञं अभिगृणीत**=इस यज्ञ का हमें उपदेश करें। घुटने मिलाकर भूमि पर बैठने से वात पीड़ायें सामान्यतः नहीं होती। ये होती प्रायः बड़ी ही उमर में हैं। सो पितरों के लिये यह आसन उपयुक्ततम है। आदर देने के लिये हम इन पितरों को दक्षिणपार्श्व में बिठाते हैं। ये पितर हमें यज्ञों का उपदेश करें। (२) घर पर आये हुए पितरों के विषय में कुछ हम गलती भी कर बैठें तो हम चाहते हैं कि वो पितर हमारे से अप्रसन्न न हो जाएँ। हे **पितरः**=मान्य पितरो! **पुरुषता**=एक अल्पज्ञ पुरुष के नाते **यत्**=जो भी **वः**=आपके विषय में **आगः**=अपराध **कराम**=कर बैठें उस **केनचित्**=किसी भी अपराध से **नः**=हमें **माहिंसिष्ट**=हिंसित मत करिये। आप हमारे से रुष्ट न हों, आप की कृपा हमारे पर बनी ही रहे।

भावार्थ—पितर आयें संगतजानुक होकर वे हमारे दाहिने बैठें और हमें कर्तव्य कर्मों का उपदेश दें।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पुत्रों को सत्परामर्श

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥ ७॥

(१) गत मन्त्र में वनस्थ 'पिता, पितामह व प्रपितामह' आदि पितरों के घर पर आने का संकेत था। ये पितर सन्तानों के आमन्त्रण पर उनकी समस्याओं को सुलझाने के उद्देश्य से घरों पर आते हैं। ये पितर **अरुणीनाम्**=(अरुणो गाव उषसाम्) उषाकालों की अरुण किरणों के प्रकाश के होने पर **उपस्थे आसीनासः**=उपासना में आसीन होते हैं। इस प्रकार प्रातः प्रभु उपासन में आसीन होनेवाले पितरो! **दाशुषे मर्त्याय**=अपना समर्पण करनेवाले मनुष्य के लिये **रयिं धत्त**=ऐश्वर्य को धारण करिये। यदि घर में भाई परस्पर संघर्ष में आ जायें और न्यायालय में एक दूसरे को अभियुक्त करने पर तुल जायें, तो घर की सम्पत्ति की इति श्री ही हो जाए। सन्तानों के पुकारने पर पितर आते हैं। पुत्र उनके प्रति अपना अर्पण कर देते हैं कि 'जो कुछ पिताजी निर्णय करेंगे वह ठीक है'। इस प्रकार प्रतिज्ञा-पत्र लिख देनेवाले सन्तान ही 'दाश्वान् मर्त्य' हैं। इन्होंने पिताजी पर सब कुछ छोड़ दिया है। (२) ऐसा होने पर हे **पितरः**=पितरो! आप **पुत्रेभ्यः**=सन्तानों के लिये **तस्य**=उस **वस्वः**=धन का **प्रयच्छत**=दान करो जो कि न्यायालयों में ही समाप्त हो जाना था। यदि ये पितर निर्णय न कर देते घर का सारा धन अभियोग में ही व्ययित हो जाता। (३) इस प्रकार पितरों के निर्देश से धन का अपव्यय होने से तो बचाव हुआ ही, साथ ही भाइयों के मेल बने रहने से घर की शक्ति भी बढ़ गई। सो कहते हैं कि **ते**=वे आप **इह**=इस घर में **ऊर्जम्**=बल व प्राण शक्ति को **दधात**=धारण करिये। एक और एक मिलकर ये भाई ग्यारह हो गये हैं। एवं पितरों ने घर को श्री व शक्ति सम्पन्न बना दिया है।

भावार्थ—पितर प्रातः ही प्रभु उपासन में बैठते हैं। ये सन्तानों के कलहों को समाप्त करके घर में 'वसु व ऊर्ज' की स्थापना करते हैं।

ऋषिः—शङ्खो यामायनः॥ देवता—पितरः॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

रमण व प्रतिकाम अदन

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ८॥

(१) **ये**=जो **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, गृहस्थ में रागादि के रूप में उत्पन्न हो गई कमियों को दूर करके संन्यास की तैयारी करनेवाले **पितरः**=हमारे पितर **सोम्यासः**=अत्यन्त सोम्य स्वभाव के हैं, **सोमपीथं अनूहिरे**=सोम के पान का धारण करनेवाले हैं। अर्थात् शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले हैं। **वसिष्ठाः**=काम-क्रोध को वशीभूत करके अत्यन्त उत्तम निवास वाले बने हैं। (२) **तेभि**=इन पितरों के साथ **यमः**=नियन्त्रण में रहनेवाला विद्यार्थी से **रराणः**=क्रीड़ा करता हुआ, क्रीड़ा-क्रीड़ा में ही सब कुछ सीखता हुआ, **हवींषि उशन्**=हवियों को चाहता हुआ, **उशद्भिः**=हित को चाहनेवाले आचार्यों के साथ **प्रतिकामम्**=जब-जब शरीर को इच्छा से, अर्थात् आवश्यकता का अनुभव हो, तब-तब **अत्तु**=भोजन को खाये। (३) यहाँ दो बातें स्पष्ट है—पहली तो यह कि पढ़ाने का प्रकार इतना रुचिकर हो कि विद्यार्थियों को पढ़ाई खेल-सी प्रतीत हो। दूसरी बात यह कि हम भोजन तभी करें जब कि शरीर को आवश्यकता हो। और वह भी त्यागपूर्वक। यज्ञ करके यज्ञशेष को खाने से 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस शास्त्र का प्रमाण हो जाता है। और साथ ही शरीर नीरोग बना रहता है।

भावार्थ—हमें पितर रोचकता से ज्ञान के देनेवाले हों। हम हवि की कामना करें। आवश्यकता के अनुसार ही हम खानेवाले बनें।

ऋषिः—शङ्खो यामायनः॥ देवता—पितरः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पितरों के लक्षण

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ९॥

(१) पितर वे हैं **ये**=जो कि **तातृषुः**=श्रमणमात्र के हित के लिये अत्यन्त पिपासित होते हैं, **देवत्रः जेहमानाः**=देवों में क्रमशः आनेवाले होते हैं, अर्थात् निरन्तर दैवी सम्पत्ति के अर्जन में लगे हैं। **होत्राविदः**=अग्निहोत्र को खूब समझनेवाले हैं। **अर्कैः**=मन्त्रों के द्वारा **स्तोमतष्टांसः**=प्रभु स्तोत्रों को करनेवाले हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तुम इन **सुविदत्रेभिः**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले, **सत्यैः**=सदा सत्य को अपनानेवाले, **कव्यैः**=(कवेर्यद स्वार्थे) क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी, **घर्मसद्भिः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले **पितृभिः**=पितरों के द्वारा **अर्वाङ्**=हमारे सम्मुख **आयाहि**=प्राप्त हो। अर्थात् इन पितरों के सम्पर्क में आकर ही आगे और आगे बढ़ता हुआ जीव प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—पितर वे ही हैं जो लोकहित के लिये प्रबल कामना वाले, यज्ञशील, प्रभुस्तवन, परायण, ज्ञानी, सत्यवादी, तत्त्वदर्शी हैं। इनके सम्पर्क में आनेवाला ही, पुरुष ज्ञानी बनकर प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—शङ्खो यामायनः॥ देवता—पितरः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देववन् घर्मसत् पितर

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ १०॥

(१) पितर वे हैं **ये**=जो **सत्यासः**=सदा सत्य को बोलनेवाले हैं। **हविरदः**=हवि को ही खानेवाले हैं, **हविष्पाः**=हवि का ही पान करनेवाले हैं। इनका खाना-पीना सदा हविरूप होता है। पवित्र भोजन वाले तो ये होते ही हैं, उस भोजन को भी ये यज्ञशेष के रूप में ही सेवन करते हैं। (२) ये पितर **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के साथ और **देवैः**=दिव्यगुणों के साथ **सरथं दधानाः**=समान ही रथ को धारण करते हैं। अर्थात् ये अपने इस शरीर रूप रथ में प्रभु को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं और दिव्य गुणों के धारण करनेवाले बनते हैं। (३) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **देववन्दैः**=देव का वन्दन करनेवाले अर्थात् प्रभु की उपासना करनेवाले, **परैः**=उत्कृष्ट जीवन वाले, **पूर्वैः**=अपना पूरण करनेवाले, न्यूनताओं को दूर करने के लिये यत्नशील, **घर्मसद्भिः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले **पितृभिः**=पितरों के सम्पर्क में रहता हुआ, उनके द्वारा **सहस्रम्**=(स-हस्) प्रसन्नतापूर्वक **आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु के उपासक-यज्ञशील पितरों के सम्पर्क में उन्नति करते हुए हम मनःप्रसाद को प्राप्त करें और प्रभु को पायें।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः** ॥ देवता—**पितरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अग्निष्वात्त पितर

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ११ ॥

(१) **अग्निषु आत्ताः**=अग्नियों के विषय में जिन्होंने खूब ज्ञान प्राप्त किया है, अग्नि आदि देवों का वैज्ञानिक अध्ययन किया है, ऐसे **पितरः**=पितरो! **इह**=हमें इस जीवन में **आगच्छत**=प्राप्त होइये! (२) **सदःसदः**=प्रत्येक सभा में **सदत**=आप आकर बैठिये। **सुप्रणीतयः**=उत्तम प्रकृष्ट मार्ग से आप हमें ले चलनेवाले हैं। आपके ही प्रणयन में हम मार्ग पर आगे बढ़ते हुए लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाले होंगे। (३) आप **बर्हिषि**=इन यज्ञों में **प्रयतानि**=पवित्र **हवींषि**=हवियों को **अत्त**=खानेवाले बनिये। आपका भोजन पवित्र हो और यज्ञशेष के रूप में हो। (४) **अथा**=और आप **रयिम्**=धनों को, जो कि धन **सर्ववीरम्**=सम्पूर्ण वीरता से युक्त है, **दधातन**=धारण करिये। धन के साथ सब अंगों का सबल होना भी आवश्यक है। पितर अपने सन्तानों को सत्परामर्श के द्वारा सब प्रकार के झगड़ों से बचाकर सशक्त व सधन बनाते हैं। इन पितरों के अभाव में पारस्परिक कलह से धन भी नष्ट होता है और शक्ति भी। सो पितरों का यह कर्तव्य होता है कि वे अपने सन्तानों को परस्पर मेल से चलने का पाठ पढ़ायें।

भावार्थ—अग्निष्वात्त पितरों से हमें अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त हो। सभाओं में इनके सदुपदेशों से हमारा मार्ग सुन्दर हो। हम भी इनकी तरह यज्ञों में तत्पर होकर पवित्र हवियों का रक्षण करनेवाले बनें। धन के साथ शक्ति का धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः** ॥ देवता—**पितरः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अग्नि' की दिनचर्या

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ १२ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वम्**=तू **ईळितः**=(ईडा संजाता अस्य इति, ईडा+इतच्)=उपासना वाला बनता है प्रातःकाल उठकर सबसे प्रथम तू प्रभु का उपासन करता है। वस्तुतः हमें जीवन

के प्रत्येक दिन को प्रभु के उपासन से ही प्रारम्भ करना चाहिये तथा दिन की समाप्ति व रात्रि का प्रारम्भ भी प्रभु उपासन से ही होना चाहिए। (२) उपासन के बाद तू नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा **जातवेदः**=(जातः वेदो यस्य) विकसित ज्ञानवाला बनता है। उपासना की तरह स्वाध्याय में भी हमें किसी प्रकार से भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। (३) स्वाध्याय के बाद तू **सुरभीणि**=सुगन्धित **हव्यानि**=हव्य पदार्थों को **कृत्वी**=सम्यक् बनाकर के **अवाट्**=अग्नि के लिये प्राप्त कराता है। अर्थात् शुद्ध सुगन्धित गोघृत व उत्तम सामग्री से तू नैत्यिक अग्निहोत्र को करता है। (४) अब अग्निहोत्र कर चुकने पर तू **पितृभ्यः प्रादाः**=अपने वृद्ध माता-पिता के लिये भोजन को देता है। और **ते**=वे पितर **स्वधया**=आत्म-धारण के हेतु से अर्थात् शरीर के धारण के लिये आवश्यक मात्रा में **अक्षन्**=उस भोजन को खाते हैं। (५) इस प्रकार पितृयज्ञ को करके हे **देव**=दिव्य गुणों से सम्पन्न अग्ने! **त्वम्**=तू भी **प्रयता**=पवित्र **हवींषि**=देवयज्ञ व पितृयज्ञ से अवशिष्ट हव्य पदार्थों को **अद्धि**=सेवन करनेवाला बन। यह यज्ञशेष तेरे लिये अमृत हो, अमृत का सेवन करता हुआ तू सचमुच 'देव' बन।

भावार्थ—एक आर्यपुरुष की दिनचर्या का क्रम 'उपासना, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ व स्वयं भी यज्ञशेष का सेवन' है। इस क्रम का अनुष्ठान करता हुआ वह देव बनता है।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पितृ-यज्ञ

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥ १३॥

(१) **ये**=जो **च**=और **पितरः**=पितर **इह**=यहाँ घर पर ही हैं, **ये च**=और जो वनस्थ हो जाने के कारण **इह न**=यहाँ घर पर नहीं हैं। **यान् च**=और जिनको **विद्म**=हम अच्छी प्रकार जानते हैं, क्योंकि उनसे हमने अध्ययन किया है सो वे आचार्य तो हमारे परिचित हैं ही। **यान् उ च**=और जिनको निश्चय से **न प्रविद्म**=हम नहीं जानते, अर्थात् जो 'यत्र सायं गृहमुनि' घूमते-घामते आज हमारे घर पर आ उपस्थित हुए हैं, जिनसे हमारा पूर्व परिचय नहीं है, सब अतिथियों का परिचय सम्भव भी तो नहीं। (२) परन्तु परिचित हों व अपरिचित, इस समय तो, हे **जातवेदः**=नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा विचारशील पुरुष **त्वं वेत्थ**=आप जानते ही हो कि **ते यति**=वे जितने हैं। उनकी संख्या को आप सम्यक् जानते ही हो। आप **स्वधाभिः**=अन्नों के द्वारा **सुकृतम्**=बड़ी सुन्दरता से समादित **यज्ञम्**=पितृयज्ञ का **जुषस्व**=सेवन करें। अर्थात् उन सब पितरों को बड़े आदर से आप भोजन कराएँ। यह पितृयज्ञ भी पंच महायज्ञों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसके होने पर घरों में सदाचार की प्रेरणा सदा प्राप्त होती रहती है और किसी प्रकार के पतन की आशंका नहीं रहती। (३) जो पितर वनस्थ भी होते हैं वे समय-समय पर सन्तानों से आमन्त्रित होने पर घरों पर आते हैं, और उन सन्तानों की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। आचार्यों को भी ये कभी-कभी आमन्त्रित करते ही हैं और संन्यासी तो घूमते-फिरते अतिथिरूपेण आ ही जाते हैं। इन सब पितरों को स्वधा के द्वारा तृप्त करना ही पितृयज्ञ है।

भावार्थ—घर में आये हुए पितरों का अन्न द्वारा सत्कार करना 'पितृयज्ञ' है। प्रत्येक गृहस्थ का यह आवश्यक कर्तव्य है।

ऋषिः—शङ्खो यामायनः॥ देवता—पितरः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'असुनीति' का अध्ययन

ये अ॒ग्नि॒द॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
तेभि॑: स्व॒राळसु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयस्व॥ १४॥

(१) **ये**=जो पितर **अग्निदग्धा**=अग्निदग्ध हैं, अर्थात् अग्निविद्या में परिपक्व ज्ञान वाले व निपुण हैं, जिन्होंने अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त किया है। **ये**=अथवा जो **अनग्निदग्धाः**=अग्निविद्या में निपुण नहीं भी हैं, अर्थात् जिन्होंने इन अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया। आत्मचिन्तन में व समाज-स्वभाव के अध्ययन में लगे रहकर जो विज्ञान की शिक्षा को बहुत महत्त्व नहीं दे पाये। ये सब पितर जो कि **दिवः मध्ये**=ज्ञान के प्रकाश में **स्वधया**=(स्व+धा) आत्मतत्त्व के धारण से **मादयन्ते**=अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हैं। **तेभिः**=उन पितरों से **स्वराट्**=आत्मशासन करनेवाला तू **एतां असुनीतिम्**=इस प्राण विद्या को **कल्पयस्व**=सिद्ध कर। प्राणविद्या को सिद्ध करके **यथावशम्**=इच्छा के अनुसार अर्थात् जैसा चाहिए वैसा **तन्वम्**=शरीर को कल्पयस्व=शक्तिशाली बना। (२) पितरों को यहाँ दो भागों में बाँटा है—(क) एक तो वे हैं जिन्होंने प्रकृतिविद्या का खूब अध्ययन किया है। उन्हें ही यहाँ 'अग्निदग्ध' कहा गया है, (ख) दूसरे वे हैं जिन्होंने समाजशास्त्र व अध्यात्मशास्त्र (sociology व metaphysics) पर प्रयत्न किया है। वे यहाँ 'अनग्निदग्ध' कहलाये हैं। ये सब के सब ज्ञान के प्रकाश में विचरण करते हैं, ज्ञान में ही उन्हें आनन्द का अनुभव होता है। (३) इन पितरों से प्राणविद्या को, जीवन की नीति को सीखने का हमें प्रयत्न करना चाहिए। इस असुनीति को सीख कर हम स्वराट्=आत्मशासन करनेवाले बनेंगे तो अपने शरीरों को उचित प्रकार से शक्तिशाली बना सकेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञानी पितरों से प्राणविद्या को सीखें, और अपने शरीरों को सुन्दर व शक्तिशाली बनायें।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि पितर 'प्राणविद्या को प्राप्त, हृत को जाननेवाले व निर्लोभ' हैं, (१) इन पितरों के लिये हमें नमस्कार करना चाहिए, (२) हमें ये 'ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले, यज्ञशील' पितर प्राप्त हों, (३) ये पितर हमें 'शान्ति निर्भयता व निर्दोषता' प्राप्त कराते हैं, (४) वे पितर हमारे आमन्त्रण को स्वीकार करते हुए अवश्य घरों पर आयें, (५) हमें यज्ञों का उपदेश दें, (६) अपने सत्परामर्श से ये हमारे में 'वसु व अर्क' का स्थापन करें, (७) पितरों के साथ आनन्द को अनुभव करते हुए हम आवश्यकतानुसार ही भोजन को करनेवाले बनें, (८) ये पितर लोकहित के लिये प्रबल कामना वाले होते हैं, (९) ये प्रभु के उपासक व यज्ञशील होते हैं, (१०) अग्नि आदि देवों का इन्होंने खूब ज्ञान प्राप्त किया है, (११) इनके सम्पर्क में हम भी 'उपासना, स्वाध्याय व अग्निहोत्र' को अपनानेवाले बनते हैं, (१२) जो भी पितर हमारे घरों पर आयें, हम उनका सत्कार करें, (१३) उनसे प्राणविद्या को सीखकर अपने शरीरों को सुन्दर बनायें, (१४) आचार्य उचित तप व दण्ड के द्वारा हमें ज्ञान परिपक्व करें—

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—दमनो यामायनः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

तप-दण्ड व समावर्तन

मैनम॑ग्ने॒ वि द॑हो॒ माभि शो॑चो॒ मास्य॒ त्वचं॑ चिक्षिपो॒ मा शरी॑रम्।
य॒दा शृ॒तं कृ॒णवो॑ जातवे॒दोऽथे॑मेनं॒ प्र हि॑णुतात्पि॒तृभ्य॑:॥ १॥

(१) गत सूक्त की समाप्ति पर 'असुनीति' के अध्ययन का उल्लेख था। ज्ञान के देनेवाले आचार्य भी पितर हैं। इन्हें 'अग्नि' भी कहते हैं, क्योंकि ये विद्यार्थी को ज्ञान के मार्ग पर आगे ले चलते हैं। माता-पिता बालक को आचार्य के समीप पहुँचा देते हैं, आचार्य के प्रति उसका अर्पण ही कर देते हैं। वह आचार्य विद्यार्थी को तपस्वी जीवनवाला बनाता है। बिना तप के विद्या के अध्ययन का सम्भव भी तो नहीं। परन्तु यह भी आवश्यक है कि आचार्य विद्यार्थी को इतने-अतिमात्र तप में न ले चले कि उसका शरीर अत्यन्त क्षीण व समाप्त ही हो जाए। सो मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्रेणी आचार्य! **एनम्**=इस आपके प्रति अर्पित शिष्य को **मा विदहः**=तपस्या की अग्नि में भस्म ही न कर दीजिये, तप वही तो ठीक है जो कि शरीर को पीड़ित न कर दे। इस अतिमात्र तप से तंग आकर इस विद्यार्थी का जीवन दुःखी न हो जाए। **मा अभिशोचः**=इसे शोकयुक्त न कर दीजिये। यह घर की ही न याद करता रहे। (२) तप के अतिरिक्त शिक्षा में दण्ड भी अनिवार्य हो जाता है। आदर्श तो यही है कि दण्ड का स्थान हो ही न। परन्तु मानव स्वभाव की कमी दण्ड को भी आवश्यक ही कर देती है। परन्तु आचार्य कहीं क्रोध में दण्ड की भी अधिकता न कर दें, सो मन्त्र में कहते हैं कि **अस्य त्वचं मा चिक्षिपः**=इस की त्वचा को ही क्षिप्त न कर देना, चमड़ी ही न उधेड़ देना। इस बात का पूरा ध्यान करना कि **मा शरीरम्**=इस का शरीर विक्षिप्त न हो जाए, अर्थात् इसका कोई अंग-भंग न हो जाए। संक्षेप में, न तप ही अतिमात्र हो और ना दण्ड। शरीर को अबाधित करनेवाला तप हो और अमृतमय हाथों से ही दण्ड दिया जाये। (३) इस प्रकार तप व दण्ड की उचित व्यवस्था से **यदा**=जब, हे **जातवेदः**=ज्ञानी आचार्य! आप **शृतं कृणवः**=इस विद्यार्थी को ज्ञान में परिपक्व कर चुकें, **अथा**=तो **ईम्**=अब **एनम्**=इस विद्यार्थी को **पितृभ्यः**=इसके जन्मदाता माता-पिता के लिये **प्रहिणुतात्**=आप भेजनेवाले हों। ज्ञान देने के बाद आचार्य विद्यार्थी को वापिस पितृगृह में भेजता है। यही बालक का समावर्तन होता है।

भावार्थ—आचार्य उचित तप व दण्ड व्यवस्था को रखते हुए विद्यार्थी को ज्ञान परिपक्व करते हैं, और इस अध्ययन की समाप्ति पर उसे वापिस पितृगृह में भेजते हैं।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवानां वशनीः

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात्पितृभ्यः।
यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति॥ २॥

(१) हे **जातवेदः**=विकसित ज्ञान वाले आचार्य! आप **यदा**=जब इस विद्यार्थी को **शृतं करसि**=ज्ञान परिपक्व कर देते हैं, **अथ**=तो **ईम्**=अब **एनम्**=इसको **पितृभ्यः**=अपने माता-पिता के लिये **परिदत्तात्**=वापिस देते हैं। जब तक यह विद्यार्थी ज्ञान परिपक्व नहीं होता तब तक आचार्यकुल में ही निवास करता है। ज्ञान को प्राप्त करके घर में लौटता है। (२) आचार्यकुल में रहता हुआ **यदा**=जब **एतां असुनीतिम्**=इस प्राणविद्या को, जीवन-नीति को **गच्छाति**=अच्छी प्रकार प्राप्त कर लेता है, **अथा**=तब यह ज्ञान को प्राप्त पुरुष **देवानाम्**=सब देवों का, इन्द्रियों को **वशनीः**=वश में प्राप्त करानेवाला **भवाति**=होता है। 'असुनीति' का अध्ययन करके यह सूर्यादि देवों का इस प्रकार उचित सम्पर्क बनाता है कि ये सब देव उसके अनुकूल ही अनुकूल होते हैं, मानो ये सब देव उसके वश में हों। इन देवों के साथ इसका किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता। ये देव ही शरीर में चक्षुरादि के रूप से रह रहे हैं। इन शरीरस्थ देवांशों का बाह्य देवों से किसी प्रकार के युद्ध का न होना ही 'स्वास्थ्य' कहलाता है। इसी का वर्णन अगले मन्त्र में कुछ विस्तार

से दिया है—

भावार्थ—आचार्यकुल में असुनीति का अध्ययन करके हम सूर्यादि देवों को वश में प्राप्त करानेवाले हों। इनसे हमारी प्रतिकूलता न हो और हम पूर्ण स्वस्थ हों।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवों के साथ लाड़ाई का न होना

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ ३॥

(१) कभी-कभी पिता पुत्र में भी संघर्ष हो जाता है, पुत्र अलग घर बना लेता है और उसका पितृगृह में आना जाना नहीं रहता। यहाँ 'सूर्य' पिता है तो शरीर में अक्षि में निवास करनेवाली चक्षु उसका पुत्र है। 'वात' पिता है, शरीरस्थ प्राण उसका पुत्र है। 'द्युलोक' पिता है, 'मस्तिष्क' पुत्र। 'पृथिवी' पिता है, 'शरीर' पुत्र। 'अन्तरिक्ष' पिता है, 'हृदय' पुत्र। इन में पिता पुत्रों का संघर्ष हो जाए तो सारा स्वास्थ्य ही समाप्त हो जाए। सो कहते हैं कि **चक्षुः**=तेरी आँख **सूर्यं गच्छतु**=सूर्य को जाये। सूर्य के यहां उसका आना-जाना बना रहे। सूर्य के साथ चक्षु का संघर्ष होते ही चक्षु विकृत हो जाती है, वैदिक संस्कृति में सूर्याभिमुख होकर ध्यान करने का विधान इस दृष्टिकोण से कितना महत्त्वपूर्ण है? हम प्रभु का ध्यान करते हैं, और 'सूर्य' आँख को शक्ति देता है। (२) **आत्मा**=(प्राणः सा०) तेरा प्राण **वातम्**=वायु के प्रति जानेवाला हो। शुद्ध वायु में प्राणायाम के द्वारा कौन-सा दोष दूर नहीं किया जा सकता? (३) इसी प्रकार **द्यां च गच्छ**=तू मस्तिष्क के दृष्टिकोण से द्युलोक को जा। तेरे मस्तिष्क व द्युलोक में अनुकूलता हो। द्युलोक के सूर्य व नक्षत्रों की तरह तेरे मस्तिष्क में भी ज्ञान-विज्ञान के सूर्य व नक्षत्र चमकें। (४) **पृथिवीं च**=तू शरीर से पृथिवी को जानेवाला बन। 'अखाड़े में लोटना-पोटना व शरीर पर भस्म रमाना' शारीरिक दोषों को दूर करता है। मट्टी की रोटी पेट पर रखने से ज्वर उतर जाता है। यही शरीर के विषों को खैंच लेती है। (५) **अपो वा गच्छ**=(आपः=अन्तरिक्ष) हृदय के दृष्टिकोण से तू अन्तरिक्ष को जानेवाला हो। जैसे 'अन्तरिक्ष' (अन्तरिक्ष) द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में है, इसी प्रकार तेरा हृदय सदा मध्यमार्ग का सेवन करनेवाला हो, वहाँ 'अकामता' न हो और 'कामात्मता' भी न हो जाए। (६) इस प्रकार सदा बना रहे। **धर्मणा**=शरीर के धारण के हेतु से यह आवश्यक है। जब देवों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, तब शरीर का धारण न होकर शरीर भी गिर जाता है। सो **यदि**=यदि **तत्र**=वहां देवों में **ते हितम्**=तेरा स्थापन (धा+क्त) होना है **शरीरैः**=इन स्थूल व सूक्ष्म शरीरों से तू **ओषधीषु प्रतितिष्ठा**=ओषधियों में प्रतिष्ठित हो। अर्थात् तू शरीरों के धारण के लिये ओषधियों, वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग कर।

भावार्थ—सूर्य आदि देवों के साथ हमारी अनुकूलता बनी रहे। हम इसके लिये वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग करें। देव वनस्पति का ही सेवन करते हैं।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवों द्वारा प्रभु का धारण

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ ४॥

(१) **अजः**=(अ+ज) कभी शरीर को न धारण करनेवाला, न पैदा होनेवाला, अथवा 'अज्

गतिक्षेपणयोः '=गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाला प्रभु ही **भागः**=तेरा उपास्य है (भज सेवायाम्) प्रभु का ही तूने उपासन करना है। **तं**=उस प्रभु को **तपसा**=तप के द्वारा **तपस्व**=तू दीप्त कर। सर्वव्यापकता के नाते अपने हृदयाकाश में वर्तमान उस प्रभु को तू तप से देखनेवाला हो। (२) **तम्**=उस प्रभु को **ते**=तेरी **शोचिः**=(शुच्) पवित्रता व ज्ञानदीप्ति **तपतु**=दीप्त करे, प्रकाशित करे। **तम्**=उस प्रभु को **ते**=तेरी **अर्चिः**=(अर्च पूजायाम्)=पूजा व उपासना दीप्त करे। प्रभु का दर्शन पवित्रता, ज्ञानदीप्ति व उपासना से ही सम्भव है। (३) हे **जातवेदः**=विकसित ज्ञान वाले 'दमन' **याः**=जो **ते**=तेरी **शिवाः तन्वः**=कल्याणमय व शुभ शरीर हैं **ताभिः**=उन से **एनम्**=इस प्रभु को **वह**=तू धारण करनेवाला बन, जो प्रभु **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशील लोगों के **लोकम्**=निवास-स्थान है। पुण्यशील लोग उस तृतीय धाम प्रभु में ही विचरण करते हैं। इस प्रभु को हम तभी धारण कर सकते हैं जब कि हम अपने शरीरों को निर्दोष बना पाते हैं। शरीरों की निर्दोषता के लिये 'तप, पवित्रता, ज्ञानदीप्ति व उपासना' साधन हैं। इन साधनों का ही उल्लेख मन्त्र के पूर्वार्ध में 'तपसा, शोचिः व अर्चिः' इन शब्दों से हुआ है।

भावार्थ—हम 'तप, पवित्रता, ज्ञानदीप्ति व उपासना' से शरीरों को निर्दोष बनाते हुए उस प्रभु को धारण करनेवाले बनें, जिन प्रभु में पुण्यशील लोग निवास करते हैं।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पुनः पितरों के प्रति अपना अर्पण परिव्राजित होने की तैयारी

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥ ५॥

(१) इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में माता-पिता ने सन्तानों को पितरों (=आचार्यों) के प्रति सौंपा था। आचार्यों ने उसे ज्ञान परिपक्क बनाकर घर वापिस भेजा था। यहाँ घरों में देवों के साथ अनुकूलता रखते हुए यह स्वस्थ शरीर बनाया और प्रभु की उपासना द्वारा हृदय में प्रभु का दर्शन करनेवाला बना। इस प्रकार गृहस्थ को सुन्दरता से समाप्त करके हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **पुनः**=फिर वनस्थ होने के समय **पितृभ्यः**=वनस्थ पितरों के लिये **अवसृज**=अपने को देनेवाला बन। उनके चरणों में अपना तू अर्पण कर। उनके समीप रहता हुआ ही तू फिर से साधना करके जीवन के अन्तिम प्रयाण के लिये तैयार हो सकेगा। (२) तू उस पितर के लिये अपने को अर्पित कर **यः**=जो **ते**=तेरे द्वारा **आहुतः**=आहुत हुआ-हुआ, अर्थात् जिसके प्रति तूने अपना अर्पण किया है, ऐसा वह **स्वधाभिः**=आत्मतत्त्व के धारण के हेतु से **चरति**=सब क्रियाएँ करता है। अर्थात् उन पितरों का प्रयत्न यह होता है कि तुझे आत्मदर्शन के मार्ग पर डाल दें। (३) अब आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त करके तू प्रव्रजित होता है और **आयुः**=उत्कृष्ट जीवन को, सशक्त व उत्तम जीवन को **वसानः**=धारण करता हुआ, **शेषः उपवेतु**=(शेषस्=अवशिष्ट) अवशिष्ट भोजन को ही तू प्राप्त करनेवाला हो। संन्यासी ने भिक्षा माँगनी है, परन्तु माँगनी तब है जब कि 'विद्धूमे सन्नमुसले'=रसोई में से धूआं निकलना बन्द हो चुका हो और मुसल व्यापार भी समाप्त हो चुका हो। इस समय तक सब घर के व्यक्ति खा-पी चुके होंगे और बची-खुची ही रोटी भिक्षा में प्राप्त होगी। यही 'शेषः' है। इसके लेने में किसी पर यह संन्यासी बोझ नहीं बनता। (४) इस प्रकार गृहस्थ्य पर कम से कम बोझ होता हुआ यह **जातवेदः**=विकसित ज्ञानवाला परिव्राजक **तन्वा**=विस्तृत शक्तियों वाले शरीर से **संगच्छताम्**=संगत हो। इसका शरीर क्षीणशक्ति न होकर बढ़ी हुई शक्तियों वाला हो। इसका जीवन परिपक्क फल की तरह अधिक सुन्दर प्रतीत हो।

भावार्थ—गृहस्थ के बाद वनस्थ होकर यह उन पितरों के सम्पर्क में आये जो कि इसे आत्मदर्शन के मार्ग पर ले चलें। संन्यास होकर यह बचे हुए अन्न का भिक्षा में प्राप्त करे, स्वस्थ सुन्दर शरीर वाला हो।

ऋषिः—**दमनो यामायनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्नि व सोम द्वारा चिकित्सा (विष-प्रतीकार)

यत्ते॑ कृ॒ष्णः श॑कु॒न आ॑तु॒तोद॑ पिपी॒लः स॒र्प उ॒त वा॒ श्वाप॑दः।
अ॒ग्निष्टद्वि॒श्वाद॑ग॒दं कृ॑णोतु॒ सोम॑श्च॒ यो ब्रा॑ह्म॒णाँ आ॑वि॒वेश॑ ॥ ६ ॥

(१) यहाँ नगरों में रहते हुए हम अनुभव करते हैं कि कुत्ते के काटने से कितने ही व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार वानप्रस्थ में, जहाँ कि मकानों व पलंगों का स्थान कुटिया व भूमि ही ले लेती है, कृमि कीट के दंश की अधिक आशंका हो सकती है। सो कहते हैं कि **यत्**=जब **कृष्णः शकुनः**=यह काला पक्षी कौआ अथवा द्रोणकाक (=काकोल) **ते**=तुझे **आतुतोद**=पीड़ित करता है, **पिपीलः**=कीड़ा-मकोड़ा तुझे काट खाता है, **सर्पः**=साँप डस लेता है, **उत वा**=अथवा **श्वापदः**=कोई हिंस्र-पशु तुझे घायल कर देता है, **तत्**=तो **विश्वात्**=(विश्व+अद्) सब विष आदि को भस्म कर देनेवाली **अग्निः**=आग **अगदं कृणोतु**=तुझे नीरोग करनेवाली हो। सर्पादि के दंश के होने पर उस विषाक्त स्थल को अग्नि के प्रयोग से जलाकर विष प्रभाव को समाप्त करना अभीष्ट हो सकता है। विद्युत् चिकित्सा में कुछ इसी प्रकार का प्रभाव डाला जाता है। (२) यह अग्नि प्रयोग तभी सफल हो पाता है यदि शरीर में रोग से संघर्ष करनेवाली वर्चःशक्ति (vitality) ठीक रूप में हो। इस वर्चस् शक्ति के न होने पर बाह्य उपचार असफल ही रहते हैं। इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सोमः च**=यह सोम भी, वीर्यशक्ति भी तुझे नीरोग करे, **यः**=जो सोमशक्ति **ब्राह्मणान्**=ज्ञानी पुरुषों में **आविवेश**=प्रवेश करती है। ज्ञानी लोग सोम के महत्त्व को समझकर उसे सुरक्षित रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न कहते हैं। नासमझी में ही इस सोम का अपव्यय हुआ करता है। शरीरस्थ यह सोम ही वस्तुतः सब विकारों के साथ संघर्ष करता है और उन्हें दूर करनेवाला होता है। औषधोपचारों का स्थान गौण है, वे इसके सहायक-मात्र होते हैं।

भावार्थ—पक्षी, कृमि, कीट, सर्प, हिंस्र-पशुओं से उत्पन्न किये गये विकारों को अग्नि के प्रयोग से तथा शरीर में सोम के संरक्षण से हम दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**दमनो यामायनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्म-संरक्षण प्रभुरूप कवच व भरा हुआ शरीर

अ॒ग्नेर्वर्म॒ परि॒ गोभि॑र्व्ययस्व॒ सं प्रोर्णु॑ष्व॒ पीव॑सा॒ मेद॑सा च।
नेत्त्वा॑ धृ॒ष्णुर्हर॑सा॒ जर्हृ॑षाणो द॒धृग्वि॑ध॒क्ष्यन्प॑र्य॒ङ्खया॑ते ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र में बाह्य कृमियों से होनेवाले विकारों की चिकित्सा का निर्देश था। प्रस्तुत मन्त्र अध्यात्म रोगों को चिकित्सा का उल्लेख करता है। इसके लिये कहते हैं कि **गोभिः**=वेद-वाणियों के द्वारा ज्ञान की वाणियों को सदा अपनाने के द्वारा **अग्नेः वर्म**=उस प्रभु के कवच को **परिव्ययस्व**=चारों ओर से ओढ़नेवाला बन। अपने को प्रभुरूप कवच से आच्छादित करले। (२) इसके अतिरिक्त तेरा शरीर अस्थिपंजर मात्र ही न हो। तू अपने शरीर को भी **पीवसा**=मज्जा के द्वारा **मेदसा च**=और मेदस् के द्वारा **सं प्रोर्णुस्व**=आच्छादित कर। तेरा शरीर, मज्जा व मेदस्

से भरा-सा प्रतीत हो, क्षीण न हो। पतला-दुबला आदमी कुछ चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। शरीर भरा हुआ हो और मनुष्य प्रभु स्मरण में चलता हो तो वासनाओं का आक्रमण नहीं होता। पतला-दुबला व्यक्ति भी वासनाओं का शिकार हो जाता है। प्रभु से दूर होने पर तो वासनाएँ हमारे पर आधिपत्य जमा ही लेती हैं। (३) तू प्रभु को कवच बना, तथा शरीर भी तेरा भरा हुआ हो। जिससे **त्वा**=तुझे यह काम **न इत् पर्यङ्ख्याते**=चारों ओर से चिपट नहीं जाता, तुझे यह अपने वशीभूत नहीं कर लेता। वह 'काम' जो कि **धृष्णुः**=धर्षण करनेवाला है, हमें कुचल डालनेवाला है। **हरसा जर्हृषाणः**=विषयों में हरण के द्वारा रोमाञ्चित करनेवाला है। **दधृक्**=पकड़ लेनेवाला है, अर्थात् इस काम के वशीभूत हो जाने पर इस से पीछा छूटना बड़ा कठिन है। **विधक्ष्यन्**=और अपने काबू करके यह काम हमें भस्म कर देनेवाला है।

भावार्थ—इस काम के आक्रमण से हम बच तभी सकते हैं यदि प्रभु स्मरण रूप कवच हमने धारण किया हुआ हो और हमारा शरीर अस्थिपंजर-सा न होकर भरा हुआ व सुदृढ़ हो।

ऋषिः-**दमनो यामायनः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

शरीर रूप चमस

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्।
एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ते॥ ८॥

(१) प्रगतिशील जीव को 'अग्नि' कहते हैं। यह अग्नि अपने इस शरीर को चमस=सोमपात्र बनाता है। इस शरीररूप चमस में वह सोम=वीर्य को सुरक्षित रखता है। जैसे घृत पूर्ण चम्मच कुछ टेढ़ा हो जाए तो घृत के गिरने की आशंका हो जाती है, उसी प्रकार इस शरीररूप चमस के भी टेढ़े होने से, इसमें कुटिलता के आने से सोम का नाश हो जाता है। इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **इमं चमसम्**=इस सोमपात्रभूत शरीर-चमस को **मा विजिह्वरः**=तू कुटिल मत होने दे। यदि यहाँ कुटिल वृत्तियाँ पनप उठी तो सोम के रक्षण का सम्भव न रहेगा। (२) सोम के रक्षण से ही तो यह शरीर **देवानाम्**=देवताओं का बनता है **उत**=और यह शरीर **सोम्यानाम्**=सोम्य-शान्त-पुरुषों का होता है। अर्थात् सोम के सुरक्षित होने पर हम देववृत्ति वाले व सोम स्वभाव के होते हैं। दिव्यगुणों को विकसित करने का तथा सोम्यता के सम्पादन का उपाय यही है कि हम इस शरीर को चमस=सोमपात्र बनाएँ। यह देवों व सोम्यों का चमस **प्रियः**=अत्यन्त प्रिय होता है, बड़ा प्यारा लगता है, कान्ति-सम्पन्न होता है। (३) **एषः**=यह **यः**=जो **चमसः**=सोमपात्र बना हुआ शरीर है, जो कि **देवपानः**=देवों के सोमपान का स्थान बनता है (पिबन्ति अस्मिन् इति पानः) **तस्मिन्**=उस शरीर में **देवाः**=देव लोग **अमृताः**=रोगरूप मृत्युओं से आक्रान्त न होते हुए तथा विषय-वासनाओं के पीछे न मरते हुए **मादयन्ते**=हर्षित होते हैं। इस शरीर में देव नीरोगता व निर्मलता के आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—कुटिल वृत्तियों से ऊपर उठकर हम शरीर में सोमरक्षण के द्वारा इस शरीर को देवों व सोम्य पुरुषों का प्रिय शरीर बनायें। हम नीरोग व निर्मल वृत्ति के बनकर आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः-**दमनो यामायनः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

क्रव्याद अग्नि का निर्वासन

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।

इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार शरीर को प्रिय व अमृत बनाने के लिये आवश्यक है कि हम आग्रेय भोजनों को न करके सोम्य भोजनों के ही करनेवाले हों। तामस भोजन को अपने जीवन में स्थान न देकर वानस्पतिक भोजनों के ही करनेवाले बनें। इसी भाव को वेद की काव्यमय भाषा में इस प्रकार कहा गया है कि '**क्रव्यादम्**'=मांस को खानेवाली **अग्निम्**=अग्नि को **दूरं प्रहिणोमि**=मैं दूर भेजता हूँ। हमारी जाठराग्नि में कभी भी मांस की आहुति न दी जाए। मांस 'हव्य' पदार्थ नहीं है। (२) यह क्रव्याद अग्नि तो **यमराज्ञः**=यमराजा का है, अर्थात् इस क्रव्याद अग्नि का सम्बन्ध मृत्यु की देवता से है। यह मांस भोजन मृत्यु का, रोगों का कारण बनता है। **रिप्रवाहः**=दोषों का दहन करनेवाला यह क्रव्याद अग्नि **गच्छतु**=हमारे से सुदूर प्रदेशों में जाये। हमारे से मांस भोजन दूर ही रहे। (३) **इतरः**=मांस भोजन से भिन्न वानस्पतिक भोजनों वाला **अयम्**=यह **जातवेदाः**=उत्पन्न प्रज्ञानों वाला अग्नि **एव**=ही **इह**=यहाँ हमारे जीवनों में हो। हम सदा सात्त्विक वानस्पतिक भोजनों को ही करनेवाले हों। यह भोजन ही हमें आहार शुद्धि के द्वारा सत्त्व-शुद्धि वाला बनायेगा। हमारे शुद्ध अन्तःकरणों में ज्ञान का प्रकाश होगा। (४) इसलिए **प्रजानन्**=एक समझदार पुरुष **देवेभ्यः**=दिव्यगुणों की उत्पत्ति के लिए **हव्यं वहतु**=हव्य पदार्थों को ही इस जाठराग्नि में प्राप्त करानेवाला हो। हम कभी भी मांस को भोजन न बनायें, यह अयज्ञिय है, हव्य नहीं है। मांस भोजन से क्रूरता व स्वार्थ आदि की भावनाओं का ही विकास होता है न कि दिव्यभावों का। दिव्यभावनाओं की उत्पत्ति के लिये हव्य पदार्थ ही हितकर हैं।

भावार्थ—हम मांस को सर्वथा छोड़कर यज्ञिय पवित्र वानस्पतिक भोजनों के ही करनेवाले बनें। मांस भोजन दोषों को पैदा करता है, हव्य पदार्थों का भक्षण सत्त्व-शुद्धि द्वारा ज्ञान व दिव्यगुणों की वृद्धि करनेवाला है।

ऋषिः—**दमनो यामायनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वानस्पतिक भोजन व यज्ञप्रवृत्ति

यो अ॒ग्निः क्र॒व्यात्प्र॑वि॒वेश॑ वो गृ॒हमि॒मं पश्य॒न्नित॑रं जा॒तवे॑दसम्।
तं ह॑रामि पितृय॒ज्ञाय॑ दे॒वं स घ॒र्मम्मि॑न्वात्पर॒मे स॒धस्थे॑॥ १०॥

(१) एक घर में जब तक शाक भोजन चलता है तब तक वह घर हव्याद् अग्नि वाला होता है। इन हव्य पदार्थों का प्रयोग करते हुए ये लोग अपनी बुद्धियों के विकास के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करते हैं। इसलिए यह हव्याद् अग्नि को **पश्यन्**=देखती हुई **यः**=जो **क्रव्यात् अग्निः**=मांस भोजन वाली अग्नि **वः गृहम्**=तुम्हारे घर में **प्रविवेश**=प्रवेश कर जाती है। **तं हरामि**=उसे घर से दूर करता हूँ (गृहान्निष्क्रमयामि सा०)। कई बार मनुष्य ठीक-ठीक सोचता ही नहीं, और ठीक न सोचने के कारण वह मांस भोजन में प्रवृत्त हो जाता है। वह मांस को भी अन्य भोजनों की तरह ही समझने लगता है। मछली को भी जलतोरी नाम देकर खाने लगता है। डाक्टर्स भी मांस को शरीर की पुष्टि के लिये आवश्यक बतलाते हैं और इस प्रकार क्रव्याद अग्नि घर में घुस जाती है। हमें चाहिए यह कि इस मांस भोजन को घर में न आने दें। (२) इस क्रव्याद अग्नि का घर में न आना इसलिए भी आवश्यक है कि 'पितृयज्ञाय'=पितरों का पूजन ठीक से चलता रहे। मांस भोजन के आते ही स्वभाव में क्रूरता बढ़ जाती है और मनुष्य कुछ स्वार्थी-सा हो जाता है। यह स्वभाव की अमधुरता व्यवहार में भी परिवर्तन ले आती है और एक युवक अपने बुजुर्गों का उचित आदर नहीं करता एवं इस क्रव्याद अग्नि वाले घर में से पितृयज्ञ उठ जाता है। (३) **स**=वह क्रव्याद अग्नि को घर से दूर करनेवाला व्यक्ति, **परमे सधस्थे**=उत्कृष्ट (सध=सह) आत्मा व परमात्मा के

मिलकर रहने के स्थान हृदय में **देवं**=उस प्रकाशमय प्रभु को **इन्वात्**=प्राप्त करे, उस प्रभु के दर्शन के लिये यत्नशील हो। तथा **परमे सधस्थे**=घर में सब के मिलकर बैठने के स्थान इस यज्ञवेदि में **घर्मम**=यज्ञ को **इन्वात्**=प्राप्त करे। अर्थात् हृदय में जहाँ प्रभु का ध्यान करे वहां यज्ञगृह में बैठकर घर के सब सभ्य अग्निहोत्र करें।

भावार्थ—यदि एक घर में मांसाहार को स्थान नहीं मिलता तो वहाँ पितृयज्ञ ठीक से चलता है, ब्रह्मयज्ञ (प्रभु का उपासन) तथा अग्निहोत्र भी वहाँ निरन्तर होते ही हैं।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

देवत्व व पितृत्व तथा शाकाहार

यो अग्निः क्रव्यवाहनः पितॄन्यक्षदृतावृधः। प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ॥ ११॥

(१) **यः**=जो यह **क्रव्यवाहनः**=मांस का वहन करनेवाला **अग्निः**=क्रव्याद अग्नि अर्थात् मांस भोजन **ऋतावृधः**=ऋत का वर्धन करनेवाले, यज्ञ (=ऋत) को अपने जीवन में बढ़ानेवाले **पितॄन्**=पितरों के साथ भी **यक्षत्**=संगत हो जाता है अर्थात् यज्ञशील पितरों में भी कभी-कभी मांस-भोजन की ओर झुकाव हो जाता है। सो वे प्रभु **देवेभ्यः**=देवताओं के लिये **च**=और **पितृभ्यः**=पितरों के लिये भी **इद् उ**=निश्चय से **हव्यानि**=हव्य पदार्थों का **प्रवोचति**=प्रकृष्ट उपदेश देते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार से, भिन्न-भिन्न शब्दों में प्रभु मांस भोजन की हीनता व त्याज्यता का प्रतिपादन करते हैं और शाक भोजन की उपादेयता को कहते हैं। अथर्व के ये शब्द प्रसिद्ध हैं कि 'व्रीहिमत्तं यवमत्तं माष भक्षो तिलम्'=जौ, चावल, उड़द व तिल आदि पदार्थों को ही तुमने भोजन के रूप में लेना है। (२) बारम्बार उपदेश की आवश्यकता को ही यहाँ यह कहकर व्यक्त किया गया है कि यह मांस भोजन बड़ों-बड़ों को भी लुब्ध कर लेता है। सो इससे बचने के लिये आवश्यक है कि हमें स्थान-स्थान पर प्रभु की ओर से हव्य पदार्थों के प्रयोग का उपदेश हो। यह उपदेश विशेषकर देववृत्ति व पितृवृत्ति वालों के लिये आवश्यक है, क्योंकि उनका अनुकरण ही सामान्य लोगों ने करना होता है।

भावार्थ—देव व पितर सदा हव्य पदार्थों को ही ग्रहण करनेवाले हों। वस्तुतः यह हव्य पदार्थों का स्वीकार ही उनके देवत्व व पितृत्व को कायम रखता है। मांस भोजन से वे देव व पितर नहीं रह जाते।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

उशन्=प्रभु प्राप्ति ही कामना वाला

उशन्तस्त्वा नी धीमह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आ वह पितॄन्हविषे अत्तवे॥ १२॥

(१) हे हव्याद अग्ने! **उशन्तः**=उस प्रभु प्राप्ति की कामना करते हुए हम **त्वा**=तुझे **निधीमहि**=अपने में स्थापित करते हैं वस्तुतः यदि हम हव्य पदार्थों का सेवन करेंगे तभी शुद्ध अन्तःकरण वाले बनकर प्रभु के दर्शन को भी कर सकेंगे। (२) **उशन्तः**=उस प्रभु की कामना करते हुए हम **समिधीमहि**=तुझ हव्याद अग्नि को समिद्ध करते हैं। जाठराग्नि मन्द हो जाने पर भी सब शक्तियों का ह्रास हो जाता है और प्रभु दर्शन का प्रसंग नहीं रहता। निर्बल के लिये प्रभु दर्शन का सम्भव नहीं। सो यह स्पष्ट है कि हमें इस अन्तःस्थित वैश्वानर अग्नि में हव्य पदार्थों को ही डालना है, और उन्हें भी इस प्रकार मात्रा में ही प्रयुक्त करना है कि यह अग्नि बुझ ही न जाए। 'मात्रा बलम्' में तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्द मात्रा के महत्त्व को उत्तमता से व्यक्त कर रहे हैं। (३) हे **उशन्**=हमारे हित की कामना करनेवाले अग्ने! **उशतः**=प्रभु प्राप्ति की कामना वाले

पितॄन्=पितरों को **हविषे अत्तवे**=हव्य पदार्थों को खाने के लिये **आवह**=समन्तात् प्राप्त करा। ये पितर सदा हव्य पदार्थों को ही स्वीकार करें। इन के ग्रहण से इन में दिव्यता का वर्धन होगा। इस दिव्यता के वर्धन से ये 'महादेव' को प्राप्त करने के योग्य बनेंगे।

भावार्थ—हम अपनी वैश्वानर अग्नि में हव्य पदार्थों को ही मात्रा में डालें। इस प्रकार समिद्ध होकर यह अग्नि हमें सशक्त बनायेगी और हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

कियाम्बु तथा पाकदूर्वा

यं त्वम॑ग्ने स॒मद॑ह॒स्तमु॒ निर्वा॑पया॒ पुन॑:। कि॒याम्ब्वत्र॑ रोहतु पाकदू॒र्वा व्य॑ल्कशा॥ १३॥

(१) भोजन दो भागों में बटे हुए हैं—(क) सौम्य तथा (ख) आग्नेय। आग्नेय भोजन उत्तेजित करनेवाले हैं, वे जलन को पैदा करते हैं—Acidity (ऐसिडिटि) को बढ़ानेवाले हैं। अम्लता के वर्धक होकर ये आयुष्य को क्षीण करते हैं। इसके विपरीत सौम्य भोजन शान्त स्वभाव को जन्म देते हैं। इसीलिए यहाँ मन्त्र में कहा है कि हे **अग्ने**=आग्नेय भोजन! अग्नितत्त्व की प्रधानता वाले भोजन! **त्वम्**=तूने **यम्**=जिसको **समदहः**=जला-सा दिया है, **तं उ**=अब उसको निश्चय से **पुनः**=फिर **निर्वापया**=बुझानेवाला हो। उत्तेजना को समाप्त करके उसमें शान्ति को स्थापित करनेवाला हो। (२) इस शान्ति-स्थापना के उद्देश्य से **अत्र**=यहाँ हमारे जीवन में **कियाम्बु**='कियत् प्रयाणमुदकम् (अम्बु) अस्मिन्' अत्यधिक जल के प्रमाण वाले ये व्रीहि (=चावल) आदि पदार्थ तथा **व्यल्कशा**=(विविधशाखायुक्ता नि०) पृथिवी पर अनेक शाखाओं से फैल जानेवाली यह **पाकदूर्वा**=परिपक्व दूर्वा अर्थात् पत्रशाक **रोहतु**=वृद्धि को प्राप्त करें। चावल तथा दूर्वा-प्रकार के शाक (=मांस भोजन से विपरीत घास भोजन) सौम्य भोजन हैं। ये हमारे में उत्तेजना को न पैदा करके शान्ति को देनेवाले हों।

भावार्थ—हम सदा सौम्य भोजनों को ही प्रधानता दें।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मण्डूकी

शीति॑के॒ शीति॑कावति॒ ह्लादि॑के॒ ह्लादि॑कावति। म॒ण्डू॒क्या॒३॒॑ सु सं ग॑म इ॒मं स्व१॒॑ग्निं ह॑र्षय॥ १४॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में **मण्डूकी**=मण्डूकपर्णी का उल्लेख है, यह कोश के अनुसार कई पौधों का नाम है (Name of sevaral plants)। ये सब पौधे शीतवीर्य व सुख प्रीति के बढ़ानेवाले हैं। शीतवीर्य होने से इन्हें मन्त्र में 'शीतिके' शब्द से सम्बोधित किया गया है तथा सुख-प्रीतिवर्धक होने से 'ह्लादिके' कहा गया है। हे **शीतिकावति**=शीतवीर्य वाली, शरीर में उत्तेजना को दूर करके शान्ति को जन्म देनेवाली **शीतिके**=शीतिका नाम वाली ओषधि, हे **ह्लादिकावति**=शरीर में उत्तम धातुओं को जन्म देकर आह्लाद को बढ़ानेवाली **ह्लादिके**=ह्लादिका नामवाली ओषधि; ऐ **ह्लादिकावति**=शरीर को उत्तम धातुओं से मण्डित करनेवाली है। तू **आ सु संगम**=सब प्रकार से उत्तमता से हमारे साथ संगत हो और **इमं**=इस **अग्निम्**=प्रगतिशील जीव की वैश्वानर अग्नि को **हर्षय**=हर्षित कर। इस की यह जाठराग्नि बुझ न जाए। यह दीप्त अग्नि इसके जीवन को भी दीप्त करनेवाली हो। दीप्त अग्नि ही शरीर में शान्ति व हर्ष के वर्धन का कारण बनती है।

भावार्थ—हमारे भोजन मण्डूकपर्णी ओषधि के समान शीतवीर्य व प्रीतिवर्धक हो।

सूक्त के प्रारम्भ में आचार्य विद्यार्थी को तेज व दण्ड की उचित व्यवस्था से ज्ञान परिपक्व करते हैं। (१) आचार्यकुल में विद्यार्थी असुनीति=प्राणविद्या का अध्ययन करता है और स्वास्थ्य की कला

को सीखता है, (२) सूर्यादि देवों के साथ यह अपनी अनुकूलता बनाता है, (३) तप पवित्रता व ज्ञानदीप्ति से यह प्रभु को धारण करता है, (४) गृहस्थ की समाप्ति पर फिर से पितरों के समीप वन में आता है, (५) विषादि को अग्नि प्रयोग से दूर करता है, (६) प्रभु स्मरण रूप कवच को धारण करता है, (७) अपने जीवन से कुटिलता को दूर करता है, (८) मांस भोजन को सर्वथा छोड़ता है, (९) वानस्पतिक भोजन द्वारा यज्ञिय वृत्ति वाला बनता है, (१०) शाकाहार से ही देवत्व तथा पितृत्व की वृद्धि होती है, (११) हम प्रभु की प्राप्ति की कामना वाले बनते हैं, (१२) हम कियाम्बु व पाकदूर्वा का प्रयोग करें, (१३) मण्डूकपर्णी जाति की ओषधियों को अपनायें जो कि शीतवीर्य व हर्षवर्धक हैं, (१४) ऐसा होने पर त्वष्टा की दुहिता सरण्यू से हमारा परिणय होगा।

द्वितीयोऽनुवाकः

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**सरण्यूः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्वष्टा की दुहिता का परिणय

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥ १॥

(१) 'त्वष्टा' परमात्मा का नाम है, वे प्रभु (त्वक्षतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः) सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले व संसार रूप फलक के बढ़ई हैं, तथा (त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः) वे प्रभु दीप्तिमय हैं, ज्ञानदीप्ति से परिपूर्ण हैं। (२) इस त्वष्टा की 'दुहिता'=(दुह प्रपूरणे) 'वेद' है जो कि अपने पाठक के जीवन का पूरण करनेवाली है। इसे ही द्वितीय मन्त्र में 'सरण्यू' नाम दिया गया है। यह 'सर'=गति (सृ गतौ) तथा 'ण'=ज्ञान, इन दोनों को (यु=मिश्रण) हमारे साथ जोड़नेवाली है। (३) इसका अध्ययन करना ही इसके साथ परिणीत होना है। इसके साथ परिणीत होनेवाला 'विवस्वान्'=ज्ञान की किरणों वाला है। ज्ञान की किरणों वाला ज्ञानी पुरुष 'विवस्वान्' है, तो प्रभु 'महान् विवस्वान्' हैं। जैसे आत्मा-परमात्मा ये शब्द जीव व ईश्वर के वाचक हैं, उसी प्रकार यहाँ विवस्वान् तथा महान् विवस्वान् शब्द हैं। यह वेद वाणी उस 'महान् विवस्वान्' प्रभु की जाया=प्रादुर्भाव करनेवाली है, 'सर्वेवेदाः यत् पदम् आमनन्ति'। उस प्रभु के प्रकाश को करती हुई यह अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देती है। (४) यह त्वष्टा की दुहिता (अश्विनौ) का भरण करती है, इसी से यह 'यम'=twins=युगल की माता कहलाती है यह युगल 'नासत्य व दस्र' हैं। वेदवाणी का परिणाम जीवन में यही होता है कि न+असत्य=असत्य का अंश नष्ट हो जाता है, 'दसु उपक्षये' और सारी बुराइयों व रोगों का विध्वंस हो जाता है। 'अश्विनौ' का अर्थ 'प्राणापान' भी है 'प्राण' असत्य को नष्ट करता है तो 'अपान' सब बुराइयों को दूर करता है। (५) त्वष्टा की इस दुहिता के विवाह के समय सम्पूर्ण भुवन उपस्थित होता है अर्थात् मनुष्य को सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान देनेवाली यह वेदवाणी होती है, 'वेद' सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ तो है ही। (६) मन्त्र में यह सब इन शब्दों में कहा गया है कि—**त्वष्टा**=प्रभु **दुहित्रे**=दुहिता के लिये **वहतुं**=विवाह को **कृणोति**=रचते हैं। **इति**=इस कारण **इदं विश्वं भुवनं समेति**=यह सम्पूर्ण भुवन एकत्र उपस्थित होता है। **यमस्य माता**=यह यम को, युगल को जन्म देनेवाली **पर्युह्यमाना**=जब परिणीत होती है तो वह **महो विवस्वतः जाया**=उस महान् विवस्वान् प्रभु का प्रादुर्भाव करनेवाली होती है। इस प्रादुर्भाव के होने पर **ननाश**=सब अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करें जिससे प्रभु दर्शन के अधिकारी हों और अपने

अज्ञानान्धकार को नष्ट कर सकें।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः** ॥ देवता—**सरण्यूः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सरण्यू के दो सन्तान

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला सब देवों के ज्ञान को प्राप्त करने के कारण 'देवश्रवाः' कहलाता है 'देवेषु श्रवे यस्य'। यह संयत जीवनवाला बनने से 'यामायन'=यम का पुत्र कहा गया है। यह 'देवश्रवा यामायन' ही प्रस्तुत सूक्त का ऋषि है। यह कहता है कि इस **अमृताम्**=कभी नष्ट न होनेवाली अथवा मृत्यु से बचानेवाली इस वेदवाणी को **मर्त्येभ्यः**=वासनाओं से आक्रान्त होकर विषयों के पीछे मरनेवाले मनुष्यों से **अपागूहन्**=दूर छिपाकर रखा जाता है। **अमताम्**=इसे प्राप्त नहीं कर सकता। निरुक्त के परिशिष्ट में हम पढ़ते हैं कि 'विद्या' ब्राह्मण के पास आई और कहा कि मुझे सुरक्षित करो, मैं तुम्हारा कोश हूँ। मुझे 'असूयक–अनृजु व अयति' (असंयमी) पुरुष के लिये न देना जिससे मैं वीर्यवती होऊँ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह अमृत वेदवाणी असंयत जीवन वाले पुरुष को प्राप्त नहीं होती। (२) इस वेदवाणी को **सवर्णाम् कृत्वी**=प्रभु वर्णन युक्त करके **विवस्वते**=ज्ञानी पुरुष के लिये **अददुः**=देते हैं। 'सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति' इन शब्दों के अनुसार यह वेदवाणी प्रभु के वर्णन से युक्त है। (३) **उत**=और यह वेदवाणी **अश्विनौ**=प्राणापान का **अभरत्**=पोषण करती है। 'असुनीति'=प्राणविद्या का प्रतिपादन करनेवाली यह वेदवाणी प्राणापान का पोषण क्यों न करेगी? (४) **यत्**=जो **तत्**=वह प्राणापान का पोषण करनेवाली अमृता वेदवाणी **आसीत्**=थी, अर्थात् जब इसने हमारे प्राणापान की शक्तियों का वर्धन किया तो **सरण्यूः**=ज्ञान व कर्म से हमारा मेल करनेवाली इस वेदवाणी ने **द्वा मिथुना**=दो युगलभूत 'नासत्य व दस्र' को **उ**=निश्चय से **अजहात्**=जन्म दिया। ज्ञान ही नासत्य है, कर्म ही दस्र है। ज्ञान से सत्य का दर्शन होता है और कर्म से सब बुराइयों का संहार (दसु उपक्षये) होता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा इस 'सरण्यू' नाम वाली वेदवाणी से सम्बन्ध हो और हमारे जीवन में सत्य व पवित्रता का संचार हो।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः** ॥ देवता—**पूषाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनष्टपशुः

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्रों के अनुसार 'महान् विवस्वान्'=परमात्मा **विवस्वान्**=आत्मा के लिये वेदवाणी को देते हैं और उसके द्वारा **पूषा**=हमारा सब प्रकार से पोषण करनेवाले प्रभु **त्वा**=तुझे **इतः**=इस संसार से **च्यावयतु**=मुक्त करें। वेदज्ञान के द्वारा मनुष्य विषयों में फँसने से बच जाता है। इधर से छूटता है और उधर (प्रभु से) इसका मेल होता है। (२) यह पूषा **'प्रविद्वान्'**=प्रकृष्ट ज्ञानी हैं, ये हमें ठीक ही मार्गदर्शन कराते हैं। जैसे एक ग्वाला अपनी गौवों को नष्ट नहीं होने देता, उसी प्रकार ये प्रभु भी **अनष्टपशुः**=अपने पशुओं को नष्ट नहीं होने देते। प्रभु ग्वाले हैं, हम उनकी गौवें। इस प्रकार वे प्रभु **भुवनस्य गोपाः**=सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। (३) वे प्रभु ही

इस संसार में पितरों के द्वारा हमारा पालन करते हैं। प्रभु पालक हैं, अपनी पालन क्रिया में पितरों को वे निमित्त बनाते हैं। **स अग्निः**=वे प्रभु **त्वा**=तुझे **एतेभ्यः पितृभ्यः**=इन पितरों के लिये, जो कि **देवेभ्यः**=देववृत्ति वाले हैं तथा **सुविदत्रियेभ्यः**=उत्तम ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले हैं, **परिददत्**=देते हैं। इन पितरों को निमित्त बनाकर वे हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु पूषा हैं। हमें उत्तम पितरों के द्वारा आगे ले चलते हैं और इस प्रकार वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। संसार में आसक्त होने से प्रभु ही हमें बचाते हैं।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**पूषाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पुण्यात्म पुरुषों का मार्ग

आयुर्विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥ ४॥

(१) **आयुः**=(एति) गतिशील, स्वाभाविक क्रिया वाला, **विश्वायुः**=सम्पूर्ण क्रिया वाला वह प्रभु **त्वा**=तेरी **परिपासति**=रक्षा करता है। (२) **पूषा**=यह पोषण करनेवाला परमात्मा **त्वा**=तुझे **प्रपथे**=प्रकृष्ट मार्ग में **पुरस्तात्**=आगे-आगे **पातु**=रक्षित करनेवाला हो। (३) **यत्र**=जहाँ **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **आसते**=विराजते हैं, **यत्र**=जिस मार्ग पर **ते**=वे पुण्यशाली लोग **ययुः**=चलते हैं, **तत्र**=उस मार्ग पर **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=सब का प्रेरक दिव्यगुणों का पुंज प्रभु **दधातु**=स्थापित करे। (४) सम्पूर्ण क्रिया के स्रोत वे प्रभु ही हैं। उनकी यह क्रियाशीलता ही जीव का पोषण करती है इसी से ये प्रभु पूषा कहलाते हैं। ये पूषा प्रभु हमारा रक्षण करें, हमें जीवन मार्ग में आगे ले चलें। इस पूषन देव की कृपा से हमारा मार्ग वही हो जो कि पुण्यशील पुरुषों का मार्ग होता है।

भावार्थ—हम उसी मार्ग से चलें जिस मार्ग से कि पुण्यात्मा लोग चला करते हैं।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**पूषाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अभयतम मार्ग

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन्॥ ५॥

(१) **पूषा**=पोषण करनेवाले प्रभु **इमाः सर्वाः आशाः**=इन सब दिशाओं को **अनुवेद**=ठीक-ठीक रूप में जानते हैं। प्रभु से कुछ अज्ञात नहीं है। **सः**=वे प्रभु **अस्मान्**=हमें **अभयतमेन**=अत्यन्त निर्भयता के मार्ग से **नेषत्**=ले चलें। हमारे लिये जो भी मार्ग कल्याणकर है, प्रभु पूर्ण प्रज्ञ होने के नाते, हमें उस मार्ग से ही ले चलें। (२) वे प्रभु **स्वस्तिदा**=कल्याण को देनेवाले हैं। मार्गस्थ को **अवसाद**=कष्ट नहीं प्राप्त होता। प्रभु हमें मार्ग से ले चलेंगे तो हमारा कल्याण तो होगा ही। **आघृणिः**=वे प्रभु सर्वतः ज्ञानरश्मियों से दीप्त हैं, **सर्ववीरः**=सम्पूर्ण शक्तियों वाले हैं। न तो प्रभु के ज्ञान में कमी है, ना ही उनकी शक्ति में। सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने के नाते वे प्रभु **अप्रयुच्छन्**=किञ्चिन्मात्र भी प्रमाद न करते हुए **प्रजानन्**=हमारी स्थिति को पूर्ण रूप से समझते हुए **पुरः एतु**=हमारे आगे चलें, अर्थात् हमारे मार्गदर्शक हों। हमें प्रभु कृपा प्राप्त हो, हम प्रभु से उपेक्षित न हों।

भावार्थ—वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु सब मार्गों को अच्छी प्रकार जानते हुए अभयतम मार्ग से हमें ले चलें।

ऋषिः—देवश्रवा यामायनः॥ देवता—पूषा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रियतम-सधस्थ

प्रप॑थे प॒थाम॑जनिष्ट पू॒षा प्रप॑थे दि॒वः प्रप॑थे पृथि॒व्याः।
उ॒भे अ॒भि प्रि॒यत॑मे स॒धस्थे॒ आ च॒ परा॑ च चरति प्रजा॒नन्॥ ६॥

(१) **पूषा**=वह सब का पोषक प्रभु **पथाम् प्रपथे**=मार्गों के प्रकृष्ट मार्ग में **अजनिष्ट**=प्रादुर्भूत होता है। मार्गों में प्रकृष्ट मार्ग मध्य मार्ग है। वस्तुतः यह मध्य मार्ग ही गत मन्त्र का 'अभयतम मार्ग' है। इसी मार्ग को अन्तारिक्ष मार्ग भी कहते हैं, क्योंकि यहाँ 'अन्तराक्षि'=बीच में रहता है। अतिजागरणशील व अतिस्वप्नशील को प्रभु का दर्शन नहीं होता, युक्ताहार-विहार वाला ही प्रभुदर्शन का अधिकारी होता है। (२) वे प्रभु **दिवः**=प्रकाश के **प्रपथे**=प्रकृष्ट मार्ग में प्रकट होते हैं और **पृथिव्याः**=विस्तृत शक्तियों वाले शरीर के **प्रपथे**=प्रकृष्ट मार्ग में प्रकट होते हैं। प्रभु का दर्शन उसी व्यक्ति को होता है जो मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न व शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाता है। (३) **प्रजानन्**=एक समझदार पुरुष **उभे**=दोनों **प्रियतमे**=अत्यन्त प्रिय **सधस्थे**=(सह+स्थ) मिलकर बैठने के स्थानों का **अभि**=लक्ष्य करके **आचरति**=धर्मकार्यों का आचरण करता है **च**=और **पराचरति**=अधर्म के कार्यों को अपने से दूर करता है प्रत्येक सद्गृहस्थ को चाहिए कि अपने घर में प्रातः-सायं दोनों समय मिलकर सब के बैठने की व्यवस्था हो। यह यज्ञ-स्थान 'सधस्थ' है 'अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरास्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत'। यह घर के प्रत्येक सभ्य को प्रियतम हो। इसमें स्थित होकर सब उत्तम कर्मों को करने का संकल्प करें, और निश्चय करें कि सब दुरितों को वे अपने से दूर करेंगे।

भावार्थ—हम मध्य मार्ग पर चलेंगे, 'अति' से बचते हुए ज्ञान को बढ़ायेंगे, शरीर को दृढ़ करेंगे। प्रातः-सायं यज्ञवेदि में सब एकत्रित होकर उत्तम कर्मों को करने व दुरितों से बचने का निश्चय करेंगे।

ऋषिः—देवश्रवा यामायनः॥ देवता—सरस्वती॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सरस्वती का आराधन

सर॑स्वतीं दे॒वय॑न्तो हवन्ते॒ सर॑स्वतीमध्व॒रे ता॒यमा॑ने।
सर॑स्वतीं सु॒कृतो॑ अह्वयन्त॒ सर॑स्वती दा॒शुषे॒ वार्यं॑ दात्॥ ७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'सधस्थ' अर्थात् यज्ञवेदि में एकत्रित होकर सब यज्ञ करते हैं, और उसके बाद स्वाध्याय के द्वारा **सरस्वती**=विद्या की सरस्वती देवी का आराधन प्रारम्भ होता है। **देवयन्तः**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामना करते हुए और दिव्यगुणों के द्वारा दिव्यता के पुंज प्रभु को प्राप्त करने की कामना करते हुए लोग **सरस्वतीम्**=विद्या की अधिदेवता को **हवन्ते**=पुकारते हैं। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है, इस ज्ञान से जीवन में पवित्रता का संचार होता है। (२) **अध्वरे तायमाने**=यज्ञों का विस्तार होने पर सरस्वतीं=सरस्वती को पुकारते हैं। यह सरस्वती ही यज्ञों को 'अ-ध्वर' बनाये रखती है। ज्ञान के कारण ही यज्ञों में भी पवित्रता बनी रहती है। ज्ञान की कमी के साथ यज्ञों में रूढ़ियों का महत्त्व अधिक हो जाता है मध्यकाल में तो स्वाध्याय की कमी के कारण यज्ञ 'अ-ध्वर' ही न रहे। इन अ-ध्वरों में अधिकाधिक हिंसा का प्रारम्भ हो गया। (३) इसलिए **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **सरस्वतीम्**=सरस्वती को **अह्वयन्त**=पुकारते हैं। वस्तुतः यह सरस्वती ही उन्हें 'सुकृत्' बनाती है। 'नहि ज्ञानेन सदृशं

पवित्रमिह विद्यते'=ज्ञान की मनुष्य को पवित्र बनाता है। (४) **सरस्वती**=यह ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **दाशुषे**=आत्मापर्ण करनेवाले के लिये **वार्यं दात्**=सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराती हैं। हमें चाहिए यह कि अपना सारा अवकाश स्वाध्याय के लिए अर्पित करें। यही सरस्वती के प्रति आत्मापर्ण होगा। यदि हम ऐसा करेंगे तो हमें सब आवश्यक वस्तुएँ अवश्य प्राप्त होंगी हमें किसी प्रकार की कमी न रहेगी।

भावार्थ—सरस्वती हमें देव बनाती है। हमारे यज्ञों को हिंसाशून्य बनाकर सचमुच 'अध्वर' कहलाने योग्य करती है। हमें पुण्यात्मा बनाती है और वरणीय वस्तुओं को देती है।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सरस्वती के साथ समान रथ में

सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आ धेह्यस्मे॥ ८॥

(१) हे **सरस्वति**=विद्या की अधिष्ठात्रि देवि! **या**=जो तू **सरथम्**=हमारे साथ एक ही रथ में (समानं रथं) **ययाथ**=गति करती हो। अर्थात् हमारा यह शरीर रूप रथ हमारा वाहन तो है ही। जब हम इसे सरस्वती का भी वाहन बनाते हैं, अर्थात् स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त होते हैं तो उस समय हम सरस्वती के साथ एक ही रथ में बैठे होते हैं। (२) हे **देवि**=प्रकाश की पुंज व हमारे जीवन को प्रकाशित करनेवाली सरस्वती तू **स्व-धाभिः**=आत्मतत्त्व के धारण की प्रक्रियाओं से अर्थात् प्रतिदिन के प्रातः-सायं ध्यान से तथा **पितृभिः**=ज्ञानप्रद आचार्यरूप पितरों के साथ **मदन्ती**=तू हर्ष का अनुभव करती हुई होती है। हमें स्वाध्याय के साथ आत्मतत्त्व का धारण=उपासना तथा आचार्यों का सत्संग अवश्य करना चाहिए। (३) हे सरस्वति! **अस्मिन् बर्हिषि**=हमारे इस वासनाशून्य हृदय में **आसद्य**=आसीन होकर **मादयस्व**=हमें आनन्दित कर। 'हम ज्ञान की रुचि वाले बनें' यही सरस्वती का हृदयों में आसीन होना है। जब कभी भी यह हो सका, हम एक विशिष्ट आनन्द का अनुभव करेंगे। (४) 'हम स्वाध्याय की रुचि वाले बनें' इसके लिये तू **अस्मे**=हमारे लिये **अनमीवा**=सब प्रकार के रोगों से रहित **इषः**=अन्नों को **आधेहि**=स्थापित कर। इन अन्नों का सेवन करते हुए हम सत्त्वशुद्धि के द्वारा, ज्ञान का वर्धन करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारा जीवन स्वाध्याय सम्पन्न हो। हम सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करें।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आराधना का फल

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार हम उस सरस्वती के साथ समान रथ में आरूढ़ हों **यां सरस्वतीम्**=जिस सरस्वती को **पितरः**=वे रक्षक लोग **हवन्ते**=पुकारते हैं जो **दक्षिणाः**=कर्मों में दक्ष व कुशल हैं, कुशलता के साथ कर्मों को करते हैं तथा **यज्ञम् अभिनक्षमाणाः**=सदा यज्ञों को व्यापन करते हैं। (२) कर्मों में कुशल व यज्ञशील पितर जिस सरस्वती की आराधना करते हैं वह सरस्वती **अत्र**=इस जीवन में **सहस्रार्घम्**=अनन्त मूल्य वाले अर्थात् जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी **इडः भागम्** वेदवाणी के भाग को **धेहि**=स्थापित करे और **यजमानेषु**=सरस्वती का सदा उपासन करनेवाले यज्ञशील पुरुषों में **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को स्थापित करे।

सरस्वती की आराधना से अमूल्य ज्ञाननिधि की प्राप्ति तो होती ही है, जीवन के लिये आवश्यक धनों का भी लाभ होता है। एवं सरस्वती की कृपा से श्रेय व प्रेय दोनों का साधन होता है, परलोक व इहलोक दोनों ही ठीक होते हैं।

भावार्थ—सरस्वती की आराधना से हमें अमूल्य ज्ञान तथा धन दोनों की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सरस्वती' के जल में स्नान

आपो॑ अ॒स्मान्मा॒तरः॑ शुन्धयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्व॑: पुनन्तु।
विश्वं॒ हि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदि॒दा॑भ्यः॒ शुचि॒रा पू॒त ए॑मि ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्रों में सरस्वती का उल्लेख था। यह ज्ञान की धारा व ज्ञान नदी गुरु-शिष्य परम्परा से आगे और आगे प्रवाहित होती है। 'इस ज्ञाननदी के जल हमारे जीवनों को पवित्र करें' यह प्रार्थना प्रस्तुत मन्त्र में की गई है। **मातरः**=मातृवत् हित को करनेवाले अथवा हमारे जीवन के स्वास्थ्य का निर्माण करनेवाले **आपः**=इस सरस्वती नदी के जल **अस्मान्**=हमें **शुन्धयन्तु**=शुद्ध कर डालें। ज्ञान के समान पवित्र करनेवाली अन्य वस्तु नहीं है। (२) **घृतप्वः**=(घृ=क्षरण-दीप्त्योः) मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति से ये जल पवित्र करनेवाले हैं। ये **घृतेन**=मलों के दूरीकरण के द्वारा **नः पुनन्तु**=हमें पवित्र करें। इन ज्ञान जलों से हमारे सब अंग पवित्र हो जाएँ। बाहर की पवित्रता जलों से होती है तो अन्तः पवित्रता इन ज्ञान जलों के बिना नहीं हो सकती। (३) **देवीः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले अथवा जीवन को प्रकाशमय करनेवाले ये ज्ञानजल **हि**=निश्चय से **विश्वं रिप्रम्**=सब मलों व दोषों को **प्रवहन्ति**=बहा ले जाते हैं। इन ज्ञान जलों से पापों के मल धुल जाते हैं। (४) इन ज्ञान जलों में गोता लगाने के बाद **शुचिः**=पवित्र हुआ-हुआ **आपूतः**=अंग-प्रत्यंग में शुद्ध हुआ-हुआ **आभ्यः**=इन से **उत् एमि**=ऊपर आता हूँ। वैदिक संस्कृति के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में हम इन ज्ञान जलों में स्नान करके, शुद्ध होकर, गृहस्थ में आते हैं, और इसी कारण हमारा गृहस्थ मलिन नहीं हो पाता। पुनः वानप्रस्थ में 'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'=नित्य स्वाध्याय में युक्त होकर ज्ञान जलों में स्नान चलता है और पवित्र होकर, सब मलासंगों से रहित होकर हम संन्यस्त होते हैं और प्राजापत्य यज्ञ में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह यज्ञ ही अन्ततः हमें प्रजापति की गोद में विलीन करनेवाला होता है।

भावार्थ—सरस्वती नदी के जल हमारे जीवन की पूर्ण पवित्रता को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः** ॥ देवता—**आपः सोमो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

सप्तर्षियों से सम्पादित यज्ञ

द्र॒प्सश्च॑स्कन्द प्रथ॒माँ अनु॒ द्यूनि॒मं च॒ योनि॒मनु॒ यश्च॒ पूर्वः॑।
स॒मा॒नं योनि॒मनु॑ सं॒चर॑न्तं द्र॒प्सं जु॑हो॒म्यनु॑ स॒प्त होत्राः॑ ॥ ११ ॥

(१) प्रस्तुत तीन मन्त्रों का देवता 'सोम' है। 'सरस्वती के जल का पान' इस सोम के रक्षण से ही सम्भव है। इस सोम के कण ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं और तभी हम ज्ञानग्रहण की क्षमता वाले होते हैं। इन सोमकणों को 'द्रप्सः' (drops) कहा गया है, ये सोमकण (दृप्=दर्पति Light, inflame, candel) ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं। जीवन के **प्रथमान् द्यून् अनु**=प्रथम दिनों का लक्ष्य करके अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में यह **द्रप्सः**=सोम **चस्कन्द**=(स्कन्द्=to ascend, go,

move to become dry) शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता है, और शरीर में गति करते हुए इसका शरीर में ही शोषण हो जाता है, अर्थात् शरीर में ही यह व्याप्त हो जाता है। (२) यह सोम **इमं च योनिम्**=इस अपने उत्पत्ति-स्थानभूत शरीर को और **यः च पूर्वः**=जो इस शरीर में सब से पूर्व स्थान है उस मस्तिष्क को **अनु**=लक्ष्य करके चस्कन्द=ऊर्ध्वगतिवाला व शरीर में ही व्याप्ति वाला होता है। यह सोम जहाँ शरीर को नीरोग बनाता है, वहाँ यह सोम मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करता है। (३) मैं इस सोम को, जो **समानं योनिम् अनु संचरन्तम्**=जहाँ यह उत्पन्न हुआ उस शरीर में ही अंग-प्रत्यंग में रुधिर के साथ संचरण करते रहा है, उस **द्रप्सम्**=ज्ञानाग्नि की दीप्ति के साधनभूत सोम को **सप्तहोत्राः अनु**=सात यज्ञों का लक्ष्य करके **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' प्रत्येक शरीर में सात ऋषि रखे गये हैं। 'कर्णाविमौ नासिक्ते चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख। इनसे शब्द, गन्ध, रूप व रसादि विषयों का ग्रहण होकर निरन्तर ज्ञानयज्ञ चल रहे हैं। इन ज्ञानयज्ञों के चलने का सम्भव इस सोम के रक्षण पर ही है। इसी ने इन सप्तर्षियों को सबल बनाना है। इसी से शक्ति-सम्पन्न होकर ये ऋषि इन सात ज्ञान यज्ञों को चलाते रहते हैं।

भावार्थ—हम ब्रह्मचर्याश्रम में सोम का रक्षण करें। यह सोम शरीर को सबल बनाये व मस्तिष्क को दीप्त करे। शरीर में ही व्याप्त होता हुआ यह शरीर सप्तर्षियों से सम्पादित ज्ञानयज्ञ में आहुत हो।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**आपः सोमो वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सोमरक्षण के लाभ

यस्ते द्रप्सः स्कन्दति यस्ते अंशुर्बाहुच्युतो धिषणाया उपस्थात्।
अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतम्॥ १२॥

(१) **य**=जो **ते**=तेरा **द्रप्सः**=ज्ञानाग्नि की दीप्ति का हेतुभूत सोम **स्कन्दति**=शरीर में ही ऊर्ध्वगतिवाला होता है। **यः**=जो यह **ते**=तेरा सोम **अंशुः**=(Ray of light) प्रकाश की किरण ही है। **बाहुच्युतः**=जो यह सोम तेरी बाहुओं को सिक्त करनेवाला है (to wet thoroughly, to moisten) अर्थात् तेरी भुजाओं में व्याप्त होकर उन्हें शक्ति-सम्पन्न बनानेवाला है। (२) **धिषणायाः**=बुद्धि की **उपस्थात्**=उपासना के हेतु से **वा**=तथा **अध्वर्योः**=हिंसाशून्य जीवन वाले पुरुष के **परिपवित्रात्**=सर्वतः पवित्र हृदय के हेतु से **तं**=उस सोम को **ते जुहोमि**=तेरे अन्दर ही आहुत करता हूँ। सोम के शरीर में ही आहुत होने के दो लाभ हैं। प्रथम तो यह कि बुद्धि तीव्र होती है और दूसरा यह कि हृदय में हिंसा-द्वेष आदि की भावनाएँ स्थान नहीं पातीं। बुद्धि की उपासना व हृदय की पवित्रता के दृष्टिकोण से इस सोम का रक्षण नितान्त आवश्यक है। (३) 'इस सोम की आहुति शरीर में ही किस प्रकार दी जाती है'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **मनसा वषट् कृतम्**=यह सोम मन के द्वारा शरीर में आहुत होता है। मन के विचार पवित्र होंगे तो सोम का रक्षण होगा। यदि ये विचार पवित्र न हुए और वासनाओं की प्रबलता हुई तब यह सोम शरीर में आहुत न हो पाएगा। उस समय भोगाग्नि में आहुत होकर यह हमें रोगाक्रान्त कर देगा। 'मनसा' शब्द में मननशीलता की भावना है। मननशील मनुष्य सोम का रक्षण कर पाता है। यह सोम उसको अधिक मनन के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होने पर भुजाओं को शक्तिशाली बनाता है, बुद्धि को तीव्र करता है और हृदय को पवित्र बनाता है। मन की पवित्रता के बिना इसके रक्षण का सम्भव भी नहीं।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः** ॥ देवता—**आपः सोमो वा** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीबृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

अपरा व पराविद्या की प्राप्ति

यस्ते॑ द्र॒प्सः स्क॒न्नो यस्ते॑ अं॒शुर॒वश्च॒ यः प॒रः स्रु॒चा।
अ॒यं दे॒वो बृ॒हस्पति॒: सं तं सि॑ञ्चतु॒ राध॑से॥ १३॥

(१) **यः**=जो **ते**=तेरा **द्रप्सः**=ज्ञानाग्नि की दीप्ति का साधनभूत सोम **स्कन्नः**=शरीर में ही ऊर्ध्वगतिवाला हुआ है। **यः**=जो सोम **ते**=तेरा **अंशुः**=ज्ञान की किरण के रूप में है। यह सोम **अवः च**=निचले क्षेत्र में, अपराविद्या के क्षेत्र में **परः च**=और परक्षेत्र में अर्थात् पराविद्या के क्षेत्र में **अंशुः**=ज्ञानार्थ किरण बनता है। इस सोम से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और मनुष्य प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या को अपना पाता है। अपनाने का प्रकार है—**स्रुचा**=चम्मच के द्वारा। जैसे चम्मच से अग्नि में घृतादि की आहुति दी जाती है, इसी प्रकार आचार्य से वाणी रूप चम्मच के द्वारा (वाग्वै स्रुचः श० ६।३।१।८) शिष्य में ज्ञान की आहुति दी जाती है। (२) **अयं देवः बृहस्पतिः**=यह प्रकाश का पुंज-वेदवाणी का पति प्रभु **तम्**=उस सोम को **राधसे**=सब प्रकार की सफलताओं के लिये **सं सिञ्चतु**=तेरे में संसिक्त करे। प्रभु कृपा से हम सोम को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले बनें और यह सोम हमें सभी क्षेत्रों में सफलता को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या के क्षेत्र में उन्नति करें। इस सोम के द्वारा हमें सर्वत्र सफलता मिले।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सात्त्विक भोजन व स्वाध्याय सादा खान, पानी पीना

पय॑स्वती॒रोष॑धय॒: पय॑स्वन्माम॒कं वच॑:। अ॒पां पय॑स्व॒दित्पय॒स्तेन॑ मा स॒ह शु॑न्धत॥ १४॥

(१) **ओषधयः**=सब ओषधियाँ **पयस्वतीः**=आप्यायन वाली हों। वस्तुतः यदि शरीर में सोम का रक्षण करना है तो उसके लिये सब से महत्त्वपूर्ण आवश्यक बात यही है कि हम वानस्पतिक भोजन को अपनाने का ध्यान करें। इनसे शरीर में सौम्य वीर्य की उत्पत्ति होकर उसके शरीर में रक्षण सम्भव होगा। उससे शारीरिक नीरोगता के साथ मानस स्वास्थ्य भी प्राप्त होगा और **मामकं वचः**=मेरा वचन **पयस्वत्**=आप्यायनवाला होगा। मेरी वाणी में भी वर्धन की शक्ति होगी। (२) **अपाम्**=इन सरस्वती के जलों का **पयः**=आप्यायन **इत्**=निश्चय से **पयस्वत्**=वर्धनवाला है, **तेन सह**=उस वर्धन के साथ **मा शुन्धत**=मुझे शुद्ध कर डालो। ज्ञान जल के पान के दो लाभ हैं—(क) सामान्यतः शारीरिक, वाचिक व मानस वर्धन होता है तथा (ख) जीवन की शुद्धि होती है।

भावार्थ—हम वानस्पतिक भोजन को अपनाएँ तथा सरस्वती विद्या के जलों के पान से, ज्ञानवर्धन से अपने जीवनों को उन्नत व शुद्ध करें।

सूचना—'ओषधयः और अपां' शब्द का प्रयोग 'सादे खाने व पानी पीने' का संकेत कर रहा है। जितना भोजन सादा होगा उतना ही जीवन का आप्यायन व शोधन सुगम होगा।

त्वष्टा की दुहिता के परिणय से सूक्त का प्रारम्भ होता है, (१) यह सरण्यू 'ज्ञान व कर्म' रूप दो सन्तानों को जन्म देती है, (२) प्रभु ग्वाले हैं और हम उनके पशु, (३) हम पुण्यात्माओं के मार्ग से चलें, (४) प्रभु, कृपया, हमें अभयतम मार्ग से ले चलें, (५) हम प्रातः-सायं यज्ञवेदि

में एकत्रित होकर उत्तम कर्मों के करने का निश्चय करें, (६) सरस्वती के आराधन बनें, (७-९) सरस्वती के जल में स्नान हमें शुद्ध व पवित्र करेगा, (१०) इस स्नान के लिये हम सोम (=वीर्य) का रक्षण करें, (११-१३) सोमरक्षण के उद्देश्य से हमारा खान-पान अत्यन्त सादा हो, (१४) ऐसा करने पर हम मृत्यु को अपने से दूर रख सकेंगे।

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः-**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता-**मृत्यु**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

मृत्यु का मार्ग

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ १॥

(१) हे **मृत्यो**=मृत्यु-देवते! तू **परं पन्थाम्**=सुदूर मार्ग को **अनु**=लक्ष्य करके **परेहि**=हमारे से दूर चलीजा। उस मार्ग पर जा **यः**=जो कि **ते**=तेरा **स्वः**=अपना है। **देवयानात् इतरः**=जो देवयान से भिन्न मार्ग है। देवताओं का मार्ग 'देवो दानात्' देने का है, देव देकर खाते हैं। इनसे विपरीत असुर हैं, जो कि सारे का सारा अपने मुख में डाल लेते हैं (स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेति सः) देवताओं का मार्ग 'देवो दीपनाद्वाद्योतनाद्वा' ज्ञान का मार्ग है, इस मार्ग में स्वाध्याय व प्रवचन को प्रमुखता प्राप्त है, असुरों के मार्ग में 'खाने-पीने व भोग' की प्रमुखता है। सो मृत्यु ने वहीं आना है जहाँ स्वार्थ है, जहाँ भोग का प्राधान्य है। (२) मृत्यु को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **चक्षुष्मते शृण्वते**=देखती व सुनती **ते**=तेरे लिये **ब्रवीमि**=मैं यह कहता हूँ कि तू **नः प्रजाम्**=हमारी प्रजा को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कर, **उत**=और **वीरान् मा**=हमारी वीर सन्तानों का तू अन्त करनेवाली न हो। हमारी सन्तानें हमारे सामने जीवन को समाप्त कर न चली जायें। पीछे आने से उन्हें पहले जाने का अधिकार ही नहीं है। उनका पहले जाना तो अँधेर ही है।

भावार्थ—हम देवयान मार्ग से चलें। स्वार्थ व भोग से ऊपर उठें। स्वार्थ व भोग का मार्ग ही मृत्यु का मार्ग है।

ऋषिः-**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता-**मृत्यु**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

मृत्यु-पद-योपन (शुद्ध-पूत-यज्ञिय)

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥ २॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित **मृत्योः पदम्**=मृत्यु के 'स्वार्थ व भोगमय' मार्ग को **योपयन्तः**=परे धकेलते हुए व अपने से दूर करते हुए **यदा एत**=जब चलते हैं तो **द्राघीयः**=अत्यन्त दीर्घ व **प्रतरं**=उत्कृष्ट **आयुः**=जीवन को **दधानाः**=धारण करते हुए होते हैं। दीर्घ व उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करने का मार्ग यही है कि हम देवयान से चलें, 'दान व ज्ञान' के मार्ग को अपनाएँ। (२) उत्कृष्ट जीवन का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि **प्रजया**=उत्तम सन्तान से तथा **धनेन**=धन से **आप्यायमानाः**=सब दिशाओं में उन्नति करते हुए **शुद्धाः**=शुद्ध अन्तःकरण वाले **पूताः**=यज्ञ व रोगों से शून्य शरीर वाले और **यज्ञियासः**=उत्तम कर्मों में प्रवृत्त **भवतः**=हो जाइये। सांसारिक जीवन में प्रजा व धन का स्थान स्पष्ट है धन के बिना संसार में एक कदम भी उठाना कठिन है। निर्धनता तो महान् पाप है, सन्तान की विहीनता होकर हमें अप्रतिष्ठा कराती है तो यह मरणान्तक कष्ट है।

भावार्थ—संसार में रहते हुए हम श्रेष्ठ सन्तान व शुद्ध पवित्र धन प्राप्त कर मृत्यु को दूर भगाते रहें।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**मृत्यु**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दीर्घ जीवन

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥ ३॥

इमे=ये **जीवाः**=जीवित मनुष्य **मृतैः**=मृत जनों से **वि आववृत्रन्**=घिरे हुये न रहें परन्तु **अद्य**=आज **नः**=हमें **भद्रा**=कल्याण-कारक **देवहूति**=विद्वानों का उपदेश **अभूत्**=चाहिये। जिससे हम **द्राघीय आयुः**=दीर्घ आयु को **प्रतरम्**=अच्छी प्रकार तर जाएँ, प्राप्त करें। दीर्घ जीवन **दधानाः**=धारण करते हुए **नृतये**=नृत्य के लिये **हसाय**=हँसने के लिए **प्राञ्चः**=आगे **अगाम**=पहुँचें।

भावार्थ—हम मृतकों की स्मृति में शोक में डूबे न रहें, अपितु नये उत्साह से अग्रिम कार्य को करने मन लगायें।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**मृत्यु**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शतायु जीवन

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ ४॥

(१) मैं परमेश्वर **जीवेभ्यः**=जीवित मनुष्यों के लिये **इमम्**=इस **परिधिम्**=सीमा को **दधामि**=धारण करता हूँ (व्यवस्थित करता हूँ) (२) **एषाम्**=इनमें से **अपर**=कोई भी **एतम्-अर्थम्**=इस मृत्यु मार्ग से **नु**=निश्चय से **मा गात्**=मत जावे। सभी जीवित मनुष्य **शतम्**=सौ **शरदः**=वर्षों तक **पुरूचीः**=सौ से भी अधिक वर्षों तक **जीवन्तु**=जीवें। बीच में उनकी उम्र ही खण्डित न हो जाए। (३) ये जीव **मृत्युम्**=मृत्यु को **पर्वतेन**=पर्वत से **अन्तर्दधताम्**=अन्तर्हित करनेवाले हों। यह पर्वत क्या है? (क) कोश में पर्वत का अर्थ (A kind of vegetable) 'एक प्रकार की वनस्पति' दिया है। वनस्पति विशेष के प्रयोग से दीर्घजीवन सम्भव है ही। आचार्य दयानन्द ने यजु० ३३।५० में पर्वत का अर्थ (ख) (पर्वाणि उत्सवा विद्यन्ते येषां ते) 'उत्साहमय जीवन' किया है। दीर्घजीवन के लिये सदा प्रसन्न रहने का महत्त्व सुव्यक्त है। (ग) ३५।१५ में 'ज्ञानेन ब्रह्मचार्यादिना' इन शब्दों में आचार्य पर्वत का अर्थ 'ज्ञान और ब्रह्मचर्य' करते हैं। दीर्घायुष्य के ये मुख्यतम साधन हैं। ब्रह्मचर्य का दीर्घजीवन से अत्यधिक सम्बन्ध है। 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्' इन शब्दों में 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है और उसका अभाव मृत्यु'। एवं ब्रह्मचर्य रूप पर्वत से मृत्यु को हमें अन्तर्हित करना है। (घ) यहाँ मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) भी शरीरस्थ मेरुपर्वत ही है। इसके सीधे रखने से भी दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है। झुककर न बैठना, सीधे बैठने का अभ्यास आवश्यक है।

भावार्थ—हम सौ वर्ष तक बड़ा क्रियाशील जीवन बितायें। ब्रह्मचर्य रूप पर्वत से मृत्यु को अपने से दूर रखें।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः** ॥ देवता—**धाता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अविच्छन्न व पूर्ण जीवन

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥ ५॥

(१) **यथा**=जिस प्रकार **अहानि**=दिन **अनुपूर्वम्**=अनुक्रम से **भवन्ति**=परिवृत्त होते रहते हैं, अर्थात् जैसे एक दिन के बाद दूसरा दिन आ जाता है और उससे लगा हुआ तीसरा दिन। और इस प्रकार यह दिनों का क्रम चलता ही जाता है, **एवा**=इसी प्रकार **धातः**=हे सब का धारण करनेवाले प्रभो! **एषाम्**=इन मन्त्र के ऋषि 'संकुसुक यामायन' लोगों के (कुस् to embrace) आपका आलिंगन करनेवाले संयमी पुरुषों के **आयूंषि**=जीवनों को **कल्पय**=बनाइये। इनका जीवन भी समय से पूर्व विच्छिन्न न हो जाए। (२) **यथा**=जैसे **ऋतवः**=ऋतुएँ **ऋतुभिः**=ऋतुओं के साथ **साधु यन्ति**=उत्तमता से चलती हैं, 'वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त व शिशिर' का क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता जाता है, इसी प्रकार हे विधातः! इन स्वभक्तों के जीवनों को भी आप मध्य में ही विच्छिन्न न होने दीजिये। ये अपने जीवन के प्रयाणों के चक्र को, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास को पूरा कर ही पायें। (३) **यथा**=जैसे **पूर्वम्**=पूर्व काल में उत्पन्न हुए पिता को **अपरः**=अर्वाक् काल में होनेवाला सन्तान **न जहाति**=नहीं छोड़ता है, अर्थात् पिता से पूर्व ही जीवन को समाप्त करके चला नहीं जाता है, इस प्रकार हे प्रभो! इन स्वभक्तों के जीवनों को बनाइये। पहले आनेवाला पहले ही जाए। कोई भी व्यक्ति यौवन में ही समाप्त-जीवनवाला न हो जाए। प्रभु की कृपा से प्रभु-भक्तों के जीवन अविच्छिन्न रूप से अन्ततक चलनेवाले हों और वे जीवन के चक्र को पूर्ण करके ही आयुष्य को समाप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारी जीवन यात्रा मध्य में ही विच्छिन्न न हो जाए। पुत्र कभी पिता से पूर्व ही चला न जाए।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः** ॥ देवता—**त्वष्टा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निरन्तर उद्योगशील

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति ष्ठ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः॥ ६॥

(१) एक घर में रहने वालों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **यतिष्ठ**=आप जितने भी हो वे **अनुपूर्वं**=क्रमशः **यतमानाः**=गृह की स्थिति को उत्तम बनाने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते हुए **आयुः आरोहत**=आयु में आगे और आगे बढ़नेवाले होवो। **जरसं वृणानाः**=आप जरावस्था का वरण करनेवाले बनो। यौवन में ही आपका जीवन समाप्त न हो जाए। पिता के बाद पुत्र आता है। पिता ने जैसे घर को अच्छा बनाने का यत्न किया था। पुत्र ने उस गृह-स्थिति में और उन्नति के लिये प्रयत्न करना है। पिता अपना कार्य करके चला जाता है, अब पुत्र ने भी अपने कार्य को यथाशक्ति सम्पन्न करते हुए जीवन में आगे बढ़ना है। घर में यह आना और जाना अनुपूर्व बना रहे। कभी पिता के सामने पुत्र की मृत्यु न हो। (२) **इह**=यहाँ संसार में **सुजनिमा**= उत्तम जन्मों को देनेवाला **सजोषाः**=सदा हमारे साथ हृदयों में प्रीतिपूर्वक निवास करनेवाला **त्वष्टा**=वह निर्माता देव! **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिये **वः**=आप सब की **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ आयु को **करति**=करते हैं। प्रभु कृपा से हमारा जीवन उत्तम बनता है, विशेषकर तब जब कि हम उस प्रभु को अपने

साथ संगत अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम अपने घरों में सदा उत्तम स्थिति के लिये प्रयत्न करते हुए, आगे बढ़ें। प्रभु से संगत हुए-हुए जीवन को उत्तम बनाएँ।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

घर में स्त्री का सर्वप्रमुख स्थान

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ ७॥

(१) गत मन्त्र में गृहस्थिति को उत्तम बनाने के लिये उद्योग का संकेत था। गृह की उत्तमता में सर्वप्रथम स्थान स्त्री का है। सो उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**इमाः नारीः**=ये गृह को आगे ले चलनेवाली नारियाँ (नृनये) **अविधवाः**=अविधवा हों। दीर्घजीवी पतियों को प्राप्त करके ये सदा अपने सौभाग्य को स्थिर रखनेवाली हों। साथ ही **सुपत्नीः**=(शोभनाः पत्योः यासाम्) ये उत्तम पतियों वाली हों। जहाँ ये स्वयं पातिव्रत्य धर्म का पालन करनेवाली हों, वहाँ इनके पति भी एक पत्नीव्रत के धर्म को सुन्दरता से निबाहनेवाले हों। (२) ये पत्नियाँ **आञ्जनेन**=शरीर को सर्वतः अलंकृत करनेवाले **सर्पिषा**=घृत के साथ **सं विशन्तु**=घरों में सम्यक् प्रवेश करनेवाली हों। अर्थात् जिस गोघृत के सेवन से शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दीप्त बने रहते हैं उस गोघृत की घर में इन्हें कमी न हो। घर में गौ होगी तो जीवन के लिये आवश्यक इन घृत आदि पदार्थों की कमी होगी ही क्यों कर? (३) इन्हें कभी दरिद्रता के कारण रोना न पड़े। **अनश्रवः**=ये अश्रु वाली न हों। घर में लक्ष्मी के निवास के कारण सदा उल्लास व प्रसन्नता बनी रहे। पति ने श्रम के द्वारा घर को लक्ष्मी का निवास-स्थान बना देना है। घर में नमक, तेल व ईंधन का ही रोना न होता रहे। (४) **अनमीवाः**=व्यवस्थित व संयत जीवन के कारण ये सदा नीरोग हों। नीरोग माताएँ ही नीरोग सन्तति को जन्म देती हैं। (५) **सुरत्नाः**=ये स्त्रियाँ उत्तम रमणीय पदार्थों वाली हों अथवा इन्हें उत्तम आभूषणों की कमी न हो। ये **जनयः**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली गृहिणियाँ **योनिम् अग्रे आरोहन्तु**=घर में सर्वमुख्य स्थान में स्थित हों। इनका घर में उचित आदर हो। वस्तुतः घर का निर्माण इन्होंने ही करना है। जितना अधिक इनका उत्तरदायित्व है उतना ही अधिक इनका मान भी है। मनु के शब्दों में एक माता सौ पिताओं के बराबर है।

भावार्थ—घरों में स्त्रियों का स्थान प्रमुख हो। इन्हें घर के निर्माण के लिये सब आवश्यक वस्तुएँ सुलभ हों। इनका अपना शरीर पूर्ण स्वस्थ हो।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यदि पति चले जाएँ तो

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ ८॥

(१) समान्यतः पति को दीर्घजीवी होना चाहिए। पत्नी 'अविधवा' रहे ऐसा गत मन्त्र में कहा था। परन्तु यदि अचानक पति का देहावसान हो जाए तो पत्नी श्मशान में ही न पड़ी रह जाए, मृत पति का ही सदा शोक न करती रहे, अपितु उत्साहयुक्त होकर अपने कर्तव्य कर्मों में लगे। अपने पति की सन्तानों का ध्यान करते हुए वह शोक-मोह को छोड़कर तत्परता से कार्यों में लगी रहे। मन्त्र में कहते हैं कि हे **नारि**=गृह की उन्नति की कारणभूत पत्नि! तू **उदीर्ष्व**=ऊपर उठ और

घर के कार्यों में लग (ईर गतौ), **जीवलोकम् अभि**=इस जीवित संसार का तू ध्यान कर। जो गये, वे तो गये ही। अब तू **गतासुम्**=गत प्राण **एतम्**=इस पति के **उपशेष**=समीप पड़ी है। इस प्रकार शोक का क्या लाभ? **एहि**=उठ और घर की ओर चल। घर की सब क्रियाओं को ठीक से करनेवाली हो। (२) **हस्तग्राभस्य**=अपने हाथ ग्रहण करनेवाले, **दिधिषोः**=धारण करनेवाले अथवा गर्भ में सन्तान को स्थापित करनेवाले **तव पत्युः**=अपने पति की **इदं जनित्वम्**=इस उत्पादित सन्तान को **अभि**=लक्ष्य करके **संबभूथ**=सम्यक्तया होनेवाली हो। अर्थात् तू अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान कर जिससे सन्तान के पालन व पोषण में किसी प्रकार से तू असमर्थ न हो जाए।

भावार्थ—यदि अकस्मात् पति गुजर जाएँ तो पत्नी, शोक न करती रहकर, पति के सन्तानों का ध्यान करती हुई, अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये यत्नशील हो।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सन्तानों का माता के प्रति कथन (पति के हाथ से धनुष को लेना)

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम॥ ९॥

(१) सन्तान माता से कहते हैं कि **मृतस्य हस्तात्**=मृत के हाथ से **धनुः आददाना उ**=निश्चय से धनुष को ग्रहण करती हुई, **अस्मे**=हमारे **क्षत्राय**=क्षतों से त्राण के लिये, **वर्चसे**=रोगों से संघर्ष करनेवाली व वीर्यशक्ति के लिये, **बलाय**=शत्रुओं से मुकाबिला कर सकनेवाली शारीरिक ताकत के लिये, **अत्र एव**=यहाँ इस लोक में ही, **इह**=इस घर में ही **त्वम्**=तू यत्नशील हो। वस्तुतः माता के अभाव में तो बालक निश्चित रूप से अनाथ हो ही जाएँगे। सो माता को चाहिए कि जिस जीवन-संग्राम को वह बच्चों के पिता के साथ मिलकर उत्तमता से चला रही थी, अब बच्चों के पिता श्री के चले जाने पर, उस संग्राम को वह स्वयं अकेली चलाने के लिये तैयारी करे। इसी भावना को यहाँ मन्त्र में 'उनके हाथ से धनुष को लेती हुई' इन शब्दों में कहा गया है। जीवन सचमुच एक संग्राम है। 'इसे उत्तमता से लड़ना, इसमें न घबराना' यह बच्चों की माता का अब मुख्य कर्तव्य हो जाता है। (२) माता ने अपना कर्तव्य ठीक निभाया तो सन्तानों की यह कामना अवश्य पूर्ण होगी कि **वयम्**=हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **विश्वाः**=सब **स्पृधाः**=स्पर्धा करनेवाले **अभिमातीः**=शत्रुओं को **जयेम**=जीत लें। शत्रुओं के विजय करनेवाले सन्तान जहाँ संसार में वास्तविक उन्नति कर पाते हैं, वहाँ वे उन्नत सन्तान अपनी माता की प्रसन्नता का कारण बनते हैं और अपने पिता जी के नाम को उज्ज्वल करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जीवन-संग्राम को लड़ने के लिये, पिता की मृत्यु पर, माता धनुष् को अपने हाथ में ले और अपने सन्तानों के जीवन को क्षत्र वर्चस् व बल से युक्त करके उन्हें शत्रुओं का विजेता बनाये।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ऊर्णम्रदा युवतिः

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात्॥ १०॥

(१) तू **एताम्**=इस **मातरम्**=माता की तरह सब का पोषण करनेवाली, **उरुव्यचसम्**=अत्यन्त

व्याप्ति वाली **पृथिवीम्**=विस्तृत **सुशेवाम्**=उत्तम कल्याण करनेवाली **भूमिं उपसर्प**=भूमि के समीप प्राप्त होनेवाली हो, इस भूमि पर गति करनेवाली हो। तू उदास होकर विषण्ण व गतिशून्य न हो जाए। (२) **दक्षिणावते**=अपने को तेरे प्रति दे डालनेवाली इस सन्तान के लिये तू **ऊर्णम्रदा**=(ऊर्णुञ् आच्छादने) आच्छादन करनेवाली, गोद में लेनेवाली व मृदुस्वभाव तथा **युवतिः**=दोषों को दूर व गुणों को समीप प्राप्त करानेवाली हो। (३) इतनी बात माता से कहकर कि तू (ख) इस पृथ्वी पर गतिशील हो और (ख) कोमलता से सन्तानों को सद्गुणी बना, अब सन्तान से कहते हैं कि **एषा**=यह माता **त्वा**=तुझे **निर्ऋतेः**=दुर्गति की **उपस्थात्**=गोद से **पातु**=बचाये। यह तेरी दुर्गति न होने दे। पिता के अभाव में, माता भी यदि शोकातुर हो सन्तानों का ध्यान न करे, तो उन सन्तानों की दुर्गति ही तो होगी।

भावार्थ—मृत पति का बच्चों की माता, उदासी को छोड़कर, क्रियाशील बने। बच्चों का रक्षण व कोमलता से पालन करे। उनको दुर्गति का शिकार न होने दे।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सूपायना सूपवञ्चना

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ११ ॥

(१) हे **पृथिवि**=अपनी व सन्तानों की शक्तियों का विस्तार करनेवाली मातः! **उत् सु अञ्चस्व**=तू उदासी को छोड़कर उत्तमता से गति करनेवाली हो। **मा निबाधथाः**=व्यर्थ के शोक व उपवासादि से अपने को पीड़ित मत कर। **अस्मै**=उस सन्तान के लिये **सूपायना भव**=सुगमता से समीप प्राप्त होनेवाली हो, **सु उप वञ्चना**=उत्तम परिचर्या करनेवाली बन। बच्चों का ठीक प्रकार से पालन कर। (२) हे **भूमे**=भूमि मातः! तू भी **एनम्**=इस साथी के चले जाने से दुःखी जन को **अभि ऊर्णुहि**=अभितः आच्छादित करनेवाली हो, इसे न तो खान-पान की कमी हो, न इसके मानस उत्साह में कमी आये। इसको तू इस प्रकार सुरक्षित कर **यथा**=जैसे **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **सिचा**=वस्त्रप्रान्त से ढककर सुरक्षित कर लेती है।

भावार्थ—माता शोक से अपने को पीड़ित न करती हुई बच्चों के पालन में आनन्द का अनुभव करे। वह बच्चों के लिये सूपायना व सूपवञ्चना हों।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

घृत की धाराओं वाले घर

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥ १२ ॥

(१) यह **उत् सु अञ्चमाना**=उत्साहयुक्त हुई-हुई उत्तमता से गति करती हुई **पृथिवी**=सब प्रकार से शक्तियों का विस्तार करनेवाली माता **सुतिष्ठतु**=उत्तमता से स्थित हो। यह उदास होकर खाट पकड़कर न बैठ जाए। (२) इस घर में **सहस्रं मितः**=सहस्र संख्याक धन **हि**=निश्चय से **उपश्रयन्ताम्**=आश्रय करें। (२) **ते**=तेरे **गृहासः**=गृह **घृतश्चुतः**=घृत का क्षरण करनेवाले हों। इन घरों में घृत की धाराएँ बहें। किसी प्रकार से घृत की कमी न हो। **विश्वाहा**=सदा **अत्र**=इस घर में **अस्मै**=इस अकले रह गये जन के लिये **शरणाः**=रक्षण **सन्तु**=हों। अर्थात् बच्चों के पिता चले भी गये हैं, तो भी अन्य मामा, चाचा, दादा आदि लोग सहायक बने रहें। वे अपनी जिम्मेदारी

को पहले से अधिक समझते हुए अपने कर्तव्य को उत्तमता से निभाये।

भावार्थ—माता के पुरुषार्थ से घर में धनों की कमी न हो, घर पूर्ववत् घृत के बाहुल्य वाले हों, और अन्य बान्धवजन अपना सहारा दिये रखें।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः** ॥ देवता—**पितृमेधः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घर

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥ १३ ॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में घर का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **ते पृथिवीम्**=तेरी भूमि को **उत् स्तभ्नामि**=ऊपर थामता हूँ, अर्थात् तेरे पाये को (Pedestal) कुछ ऊँचा रखता हूँ। वस्तुतः घर का पाया नीचा होने पर घर में कुछ सील का अंश बना रहता है जो स्वास्थ्य के लिये उतना हितकर नहीं होता। (२) और **त्वत् परि**=तेरे चारों ओर **इमम्**=इस **लोगम्**=पार्थिव ढेर को, मुंडेर को **निदधन्**=रखता हुआ **अहं**=मैं **मा उ रिषम्**=मत ही हिंसित होऊँ। घर के चारों ओर कुछ चारदिवारी सी हो जिससे कि अवाञ्छनीय पशु आदि का प्रवेश न होता रहे और आंगन ठीक से बना रहे। (३) **एतां स्थूणाम्**=घर के इस स्तम्भ को **ते पितरः**=तेरे पितर—मामा, चाचा, दादा आदि **धारयन्तु**=धारण करनेवाले हों। बच्चों की माता के इन बुजुर्ग बन्धुओं की यह नैतिक जिम्मेदारी हो जाती है कि वे बच्चों के पिता के चले जाने के बाद घर के बोझ को अपने कन्धों पर लें, घर का ध्यान करनेवाले बनें। (४) और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि **अत्रा**=इस घर में अब **यमः**=वह सर्वनियन्ता प्रभु **ते सादना**=तेरे बैठने-उठने के स्थानभूत कमरों को **मिनोतु**=(observer, perceiver) देखनेवाला हो। अर्थात् प्रभु की कृपादृष्टि इस घर पर सदा बनी रहे। अनाथों के सच्चे नाथ तो वे प्रभु ही हैं। प्रभु कृपा से सब बात ठीक हो जाती है।

भावार्थ—घर का पाया ऊँचा हो, नीरोगता के लिये यह आवश्यक है। चारदिवारी ठीक हो जिससे आंगन ठीक रहे। रिश्तेदार घर के बोझ को अपने कन्धों पर लें और सब से बड़ी बात यह कि घर पर प्रभु की कृपादृष्टि बनी रहे।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः** ॥ देवता—**पितृमेधः प्रजापतिर्वा** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

विधवा का मौलिक कर्तव्य

प्रतीचीने मामहनीष्वाः पर्णमिवा दधुः। प्रतीचीं जग्रभा वाचमश्वं रशनया यथा ॥ १४ ॥

(१) बच्चों की विधवा माता प्रभु से प्रार्थना करती है कि **माम्**=मुझे **प्रतीचीने**=(प्रति अञ्च्) एक-एक कार्य में लगे हुए **अहनि**=दिन में **इष्वाः पर्णम् इव**=बाण के पर्ण की तरह **आदधुः**=सब देव स्थापित करें। बाण में जो पर्ण लगाया जाता वह उसकी तीव्रगति का कारण होता है और लक्ष्य के वेधन में सहायक होता है। जैसे इषु में पर्ण के लगाने से पूर्व भी गति थी, इसी प्रकार यह माता पहले भी खूब क्रियामय जीवन वाली थी परन्तु पर्ण से गति में जैसे तीव्रता आ जाती है उसी प्रकार यह अब पहले से अधिक गति वाली हो गई है। अब यह अपने लक्ष्य की ओर पूर्वापेक्ष्या अधिक ध्यान से चल रही है। इसका दिन प्रतीचीने=प्रतिक्षण कार्य में लगा हुआ हो गया है। (२) इस विधवा के लिये सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि **वाचम्**=वाणी को **प्रतीचीम्**=**जग्रभा**=वापिस गतिवाला करके ग्रहण करे, उसी प्रकार ग्रहण करे **यथा**=जैसे **अश्वम्**=घोड़े को **रशनया**=लगाम से रोक लेते हैं। अर्थात् वाणी पर इसका पूरा control

(शासन) हो। यह व्यर्थ की बातों में समय को नष्ट न करे। मौन को ही वैधव्य का सर्वोत्तम आभूषण समझे। कम बोलनेवाला कार्य को अधिक सुन्दरता से कर भी सकता है।

भावार्थ—विधवा स्त्री का एक-एक क्षण कार्यमय हो। वह मौन को महत्त्व दे।

सूक्त के प्रथम चार मन्त्रों में दीर्घ-जीवन की प्रार्थना है इसके लिये हम स्वार्थ से ऊपर उठें, शुद्ध पवित्र जीवन वाले हों, हम रोगशून्य व उल्लासमय जीवन वाले हों, ब्रह्मचर्य रूप पर्वत से मृत्यु को अन्तर्हित करें। (१-४) हमारा जीवन अविच्छिन्न व पूर्ण हो, (५) निरन्तर उद्योगशील होकर आगे बढ़ते रहें, (६) हमारे घरों में स्त्रियों का स्थान प्रमुख हो, (७) यदि अकस्मात् पति का देहान्त हो जाए तो पत्नी बच्चों का पूरा ध्यान करे, (८) पति के कर्तव्यभार को भी अपने कन्धे पर उठाये, (९) बच्चों का रक्षण व कोमलता के साथ पालन करे, (१०) वह बच्चों का ठीक उपचरण करे, (११) घर को घृत के बाहुल्यवाला बना के रखे, (१२) ऐसे घर पर ही प्रभु की कृपादृष्टि होती है, (१३) मौन रहती हुई कार्य में लगी रहे, (१४) घरों में गौवें हों, इन्द्रियाँ हमारे वश में हों, हमारे जीवन में अग्नि व सोम दोनों तत्त्व हों तथा धन की कमी न हो।

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा; अग्नीषोमौ**॥
छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्नि व सोम

नि वर्तध्वं मानु गाताऽस्मान्त्सिषक्त रेवतीः। अग्नीषोमा पुनर्वसू अस्मे धारयतं रयिम्॥ १॥

(१) गत सूक्त की समाप्ति पर ये शब्द थे कि जीभ को इस प्रकार वश में करो जिस प्रकार घोड़े को लगाम से वश में करते हैं। मनु ने इसी बात को इस प्रकार कहा है कि 'यच्छेद् वाङ् मनसिज प्राज्ञः' प्राज्ञ व्यक्ति वाणी को मन में रोके। यहाँ वाणी अन्य इन्द्रियों का भी प्रतीक है। हमें सब इन्द्रियों को रोकने का प्रयत्न करना है। प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्रियो! **निवर्तध्वम्**=तुम इन विषयों में विचरण से वापिस आओ। **मा अनुगात**=इन विषयों के पीछे ही सदा मत भटकती फिरो। **रेवतीः**=ज्ञान धन से सम्पन्न हुई-हुई तुम **अस्मान् सिषक्त**=हमारा सेवन करो। अर्थात् तुम्हारे द्वारा हमें ज्ञान का दुग्ध पीने को मिले। ज्ञानेन्द्रियाँ गौवें हैं, ज्ञान उनका दुग्ध है। (२) इस ज्ञान के अनुसार आचरण करते से **अग्नीषोमा**=अग्नितत्त्व व सोम तत्त्व हमारे लिये **पुनर्वसू**=पुनः-पुनः अर्थात् प्रतिदिन उत्तम निवास को देनेवाले हों। अग्नितत्व 'शक्ति' का प्रतीक है तो सोमतत्त्व 'शान्ति' का। हम ज्ञानी बनकर अपने जीवनों में 'शक्ति व शान्ति' का समन्वय करनेवाले बनें। (३) ये 'शक्ति व शान्ति' के तत्त्व समन्वित होकर **अस्मे**=हमारे जीवनों में **रयिं धारयतम्**=रयि को धारण करनेवाले हों। हमारे जीवनों में शक्ति हो और शान्ति हो, इनके होने पर जीवन सचमुच विभूतिवाला 'श्रीमत् व ऊर्जित' प्रतीत होता है। ये सब उस प्रभु के तेजोंश के चिह्न होते हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ विषयों के पीछे न चली जाएँ। जिससे हमारा जीवन ज्ञानधनवाला, शक्ति व शान्ति से सम्पन्न-ऐश्वर्यमय हो।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

आत्मायत्तता

पुनरेना नि वर्तय पुनरेना न्या कुरु। इन्द्र एणा नि यच्छत्वग्निरेना उपाजतु॥ २॥

(१) इन्द्रियाँ क्योंकि उस-उस विषय का ग्रहण करने के स्वभाव वाली हैं, सो ये इन्द्रियाँ उन विषयों में जायेंगी तो सही परन्तु जीव से कहते हैं कि तू **पुनः**=फिर **एना**=इन को **निवर्तय**=लौटा। ये विषयों में जायें तो सही, फिर उनमें फँसकर वहीं न रह जाएँ। जैसे एक देश के युवक ज्ञान प्राप्ति के लिये विदेशों में जायें तो सही, परन्तु वे वहाँ की चमक (glase) से चुँधियाकर वहीं न रह जाएँ। (२) हे जीव! तू **पुनः**=फिर- **एना**=इन इन्द्रियों को **न्याकुरु**=निश्चय से आत्मायत्त (=अपने अधीन) करनेवाला हो। (३) **इन्द्रः**=इन्द्र वही है जो कि **एना**=इनको **नियच्छतु**=निश्चय से अपने वश में करे। इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही तो 'इन्द्र' कहलाता है। (४) **अग्निः**=(अग्रेणीः) अपने को अग्र-स्थान में प्राप्त करानेवाला वह है जो कि **एना**=इन इन्द्रियों को **उपाजतु**=प्रभु की उपासना के साथ गतिशील बनाता है (उप+अजतु)। प्रभु का स्मरण करता है और जीवन-संग्राम को जारी रखता है। प्रभु स्मरण पूर्वक क्रिया में लगे रहने से सब मलों का दूरीकरण (=क्षेपण) हो जाता है। यही 'उपाजन' कहलाता है।

भावार्थ—विषयगामिनी इन्द्रियों को हम विषयों से लौटाएँ, उन्हें आत्मायत्त करें। इन्द्रियों को आत्मायत्त करके अपने 'इन्द्र' नाम को सार्थक करें। प्रभु की समीपता (उप) में रहते हुए क्रियाशील हों (अज=गति) जिससे मलों का विक्षेपण होकर हम अग्रेणी व अग्नि बनें।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

ज्ञान धन का रक्षण

पुन॑रे॒ता नि व॑र्तन्ताम॒स्मिन्पु॑ष्यन्तु॒ गोप॑तौ। इ॒हैवाग्ने॒ नि धा॑रये॒ह ति॑ष्ठतु॒ या र॒यिः॥ ३॥

(१) **एताः**=ये ज्ञानेन्द्रिय रूप गोवें अपने-अपने विषयों में विचरण करके **पुनः**=फिर **निवर्तन्ताम्**=लौट आयें। और **अस्मिन् गोपतौ**=इस इन्द्रियरूप गौवों के स्वामी में **पुष्यन्तु**=पोषण को प्राप्त हों। विषयों में जाने से ही तो इनकी शक्तियाँ क्षीण होती हैं। ये सदा विषयों को ही न चरती रह जाएँ। विषयों में आसक्त हो जाने पर इनके पोषण का प्रसंग नहीं रहता। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **इह एव**=यहाँ अपने में ही **निधारय**=निश्चय से इनका धारण कर। मनरूपी लगाम के द्वारा हम इनको अपने वश में रखें। अपने वश में हुई-हुई इन्द्रियों से जब हम विषयों में जायेंगे तो उन विषयों से बद्ध न होंगे। (३) ऐसा करने पर इन इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला **या रयिः**=जो ज्ञानधन है वह **इह तिष्ठतु**=हमारे में ही स्थित होता है। हमारा ज्ञान ठीक बना रहता है। यही इन्द्रियों की खूबी है कि वशीभूत हुई-हुई ये हमारे ज्ञानधन का वर्धन करती हैं, और उच्छृंखल हुई-हुई ये हमारे संचित ज्ञानधन को भी नष्ट करनेवाली हो जाती हैं।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को उच्छृंखल न होने दें, अपितु स्व-वश में रखें।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

आवर्तन-निवर्तन

यन्नि॒यानं॒ न्यय॑नं सं॒ज्ञानं॒ यत्प॒राय॑णम्। आ॒वर्त॑नं नि॒वर्त॑नं॒ यो गो॒पा अपि॒ तं हु॑वे॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **यः गोपाः**=जो मैं इन्द्रियों का रक्षक बनता हूँ, इन्द्रियरूपी गौवों का पोषण करनेवाला 'गोपति' होता हूँ, वह मैं **तं अपिहुवे**=उस-उस चीज को समुचित रूप में प्रार्थित करता हूँ, इन सब चीजों को चाहता हूँ। किनको? (क) **यत् नियानं**=जो इन्द्रियरूप गौवों का नियमेन जाने का स्थान है, जिसे सामान्य भाषा में 'गोष्ठ' कहते हैं। यहाँ इन्द्रियरूप गौवों का

'गोष्ठ' यह हमारा अपना शरीर ही है। प्राणमयकोश का (प्राणाः वाव इन्द्रियाणि) आधार यह अन्नमयकोश ही है। एवं यह अन्नमयकोश बिलकुल ठीक हो जिससे इसमें इन्द्रियों का निवास ठीक प्रकार से हो सके। (ख) **न्ययनम्**=मैं न्ययन की भी प्रार्थना करता हूँ। इन इन्द्रियरूप गौवों का ज्ञातव्य विषय रूप चारागाहों में निश्चय से जाना ही न्ययन है। (ग) वहाँ जाकर **संज्ञानं**=विषयों को उत्तमता से, सम्यक्तया जानना ही संज्ञान है इस संज्ञान की भी मैं प्रार्थना करता हूँ। (घ) संज्ञान के बाद **यत्**=जो **परायणम्**=फिर वापिस आना है इसकी भी मैं प्रार्थना करता हूँ। (२) इस प्रकार संक्षेप में यह जो इन्द्रियों का **आवर्तनम्**=ज्ञान प्राप्ति के लिये विषयों में (turning round and round) सब ओर विचरना है, नाना तथ्यों का संग्रहण है, इसकी मैं प्रार्थना करता हूँ। और **निवर्तनम्**='विषयों में आसक्त न होकर, लौट आना है' उसकी मैं प्रार्थना करता हूँ। इन्द्रियाँ विषयों में जायें, उनका ज्ञान प्राप्त करें, परन्तु ये उनमें कभी उलझ न जायें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से मैं गोपा बनकर आत्मवश्य इन इन्द्रियों से विषयों में विचरता हुआ उनका तत्त्वज्ञान प्राप्त करूँ। मेरी इन्द्रियाँ विषयों में न फँस जाएँ।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मूलगृह में फिर लौटना

य उदानड् व्ययनं य उदानट् परायणम्। आवर्तनं निवर्तनमपि गोपा नि वर्तताम्॥ ५॥

(१) **यः गोपाः**=जो इन्द्रिय रूप गौवों का रखवाला **व्ययनम्**=इन्द्रियों के विविध विषयों में जाने को **उदानट्**=व्याप्त करता है, अर्थात् जब इन्द्रियाँ विषयों में जाती हैं, तो जो उन इन्द्रियों का रक्षक बनकर उनके साथ जाता है और **यः**=जो उनके **परायणम्**=विषयों से फिर वापिस आने को **उदानट्**=व्याप्त करता है, अर्थात् विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद, जो उन इन्द्रियों को उन विषयों में न फँसे रहने देकर उनकी व्यावृत्ति का कारण बनता है। (२) और इस प्रकार जो **आवर्तनम्**=सर्वत्र विषयों में वर्तन को और **निवर्तनम्**=उन विषयों से निवृत्ति को व्याप्त करता है, वह **गोपा निवर्तताम्**=विषय व्यावृत्त हो, और पुनः अपने घर ब्रह्मलोक में लौटनेवाला बने।

भावार्थ—हम विषयों के तत्त्वज्ञान के लिये आत्मवश्य इन्द्रियों के द्वारा उनमें विचरें और उनमें ही न फँसे रहकर फिर से अपने मूलगृह ब्रह्मलोक में लौटनेवाले बनें।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

जीवित इन्द्रियरूपी गौवें

आ निवर्त नि वर्तय पुनर्न इन्द्र गा देहि। जीवाभिर्भुनजामहै॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **आनिवर्त**=आप हमारी और लौटिये। आपकी कृपादृष्टि हमारे पर हो। और आप **निवर्तय**=हमारी इन इन्द्रियों को विषयों से लौटानेवाले होइये। और इस प्रकार हे प्रभो! आप **नः**=हमें **पुनः**=फिर **गाः**=इन इन्द्रियरूप गौओं को **देहि**=प्राप्त कराइये। (२) आपकी कृपा से हम **जीवाभिः**=जीवन से युक्त इन इन्द्रियों से **भुनजामहै**=अपना पालन करनेवाले बनें। ये इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाकर, उनका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके उनका उचित उपयोग करती हुई सशक्त बनती है और इन जीवित इन्द्रियों से हम जीवनयात्रा में आगे बढ़ते हुए अपना रक्षण करते हैं। परन्तु ये ही इन्द्रियाँ यदि विषयों में जाकर फिर वहाँ से लौटें नहीं, और उन विषयों से बद्ध होकर उनका शिकार हो जाये तो इन मृत इन्द्रियों से हमने क्या उन्नति करनी?

(३) जैसे गौवों का चारागाह में जाना आवश्यक होता है, इस वायुसेवन के बिना उनके दूध में गुण उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार इन इन्द्रियों का विषयों में जाना आवश्यक है, अन्यथा ये ज्ञान को कैसे प्राप्त करेंगी? गौवों का जैसे चारागाह से लौटना आवश्यक होता है उसी प्रकार इन इन्द्रियों का भी लौटना आवश्यक है। गौवों का अधिष्ठता ग्वाला अप्रमत्त होकर इस आने-जाने में उनका रक्षण करता है, इसी प्रकार यहाँ इन इन्द्रियरूप गौवों का गोप यह आत्मा है। आत्मा के क्षणिक प्रमाद से ये इन्द्रियरूप गौवें विषय सिंह से आक्रान्त हो जाती हैं। यही उनका मरण हो जाता है। हम तो प्रभु कृपा से जीवित इन्द्रियों के द्वारा अपना रक्षण करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारी इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण करती हुईं, उनका शिकार न हो जाएँ। ये जीवित इन्द्रियाँ हमारी यात्रा पूर्ति का साधन बनें।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अन्न-घृत-दुग्ध

परि वो विश्वतो दध ऊर्जा घृतेन पयसा। ये देवाः के च यज्ञियास्ते रय्या सं सृजन्तु नः॥ ७॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित **वः**=तुम इन्द्रियों को **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के वर्धक अन्नरस के द्वारा, **घृतेन**=मलों के क्षरण व जाठराग्नि को दीप्त करनेवाले घृत के द्वारा, **पयसा**=अप्यायन के साधनभूत दुग्ध के द्वारा **विश्वतः**=सब प्रकार से **परिदधे**=चारों ओर से धारण करता हूँ। अर्थात् सात्त्विक अन्न व गोघृत व गोदुग्ध आदि के प्रयोग से मैं इन इन्द्रियों को ज्ञान प्राप्ति व क्रियाशक्ति के योग्य बनाता हूँ। (२) इस प्रकार इन्द्रियों को सशक्त बनानेवाले **नः**=हमें, **ये के च**=जो कोई भी **यज्ञियाः देवाः**=पूजा के योग्य, संगतिकरण योग्य, ज्ञान का दान करनेवाले देव पुरुष हैं, वे **रय्या**=ज्ञानधन से **संसृजन्तु**=संसृष्ट करें। हमें चाहिये कि हम सात्त्विक अन्न, घृत व दुग्ध के प्रयोग से अपने को ज्ञान ग्रहण के योग्य बनायें और ज्ञानी पुरुष हमें ज्ञानधन से युक्त करें। हमारी योग्यता के अभाव में उन देवों से दिये गये ज्ञान को हम ग्रहण ही न कर पायेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्ति के योग्य बनें और देव हमें ज्ञान देनेवाले हों।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्रियों का निवर्तन

आ निवर्तन वर्तय नि निवर्तन वर्तय। भूम्याश्चतस्रः प्रदिशस्ताभ्य एना नि वर्तय॥ ८॥

(१) प्रभु जीव को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **निवर्तन**=जीवनयात्रा को उत्तमता से करनेवाले जीव! **आवर्तय**=तू अपनी इन इन्द्रियों को इन भूतों व लोकों और दिशा प्रदिशाओं में प्रवृत्त करनेवाला हो 'परीत्य भूतानि, परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च'। ये इन्द्रियाँ इनके प्रति जाकर इनको बारीकी से देखें और इनके ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हों। (२) हे **निवर्तन**=इस संसार में न उलझनेवाले जीव! तू **निवर्तय**=इन इन्द्रियों को संसार के इन विविध विषयों से तू निवृत्त करनेवाला हो। ये इन्द्रियाँ उन विषयों के अन्दर उलझ न जायें। (३) **भूम्याः**=इस भूमि को **चतस्रः प्रदिशः**=ये चार विस्तृत दिशायें हैं। **ताभ्यः**=उनसे **एना**=इनको **निवर्तय**=तू निवृत्त करनेवाला हो। विषयों से ये इन्द्रियाँ बद्ध न हो जाएँ, तभी हम जीवन यात्रा को पूर्ण करके अपने ब्रह्मलोकरूप घर में वापिस आ सकेंगे।

भावार्थ—इन्द्रियाँ विषयों के ज्ञान के लिये हैं, उनमें फँस जाने के लिये नहीं। इनको विषय

व्यावृत्त करना हमारा मौलिक कर्तव्य है।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि हम इन्द्रियों को विषयासक्त न होने देकर 'शक्ति व शान्ति' के तत्त्वों का धारण करते हुए ज्ञानधन को धारण करें। (१) इन्द्रियों को आत्मवश्य करने का प्रयत्न करें, (२) इन्द्रियों को वश में करके हम गोपति बनें, (३) गोपा यही चाहता है कि इन्द्रियाँ विषयों में जायें परन्तु उनमें फँसे नहीं, (१४) यह गोपा ही ब्रह्मलोक में लौटता है, (५) हमारी ये इन्द्रियाँ भोगासक्त होकर मृत न हो जाएँ, (६) अन्न, घृत व दुग्ध के सेवन से ये पुष्ट हों, (७) इनको हम भूमि की सब दिशाओं से लौटायें, (८) ऐसा करने पर ही हमारा मन भद्र की ओर प्रेरित होगा।

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आसुरी त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भद्राभिमुख मन

भ॒द्रं नो॒ अपि॑ वातय॒ मनः॑ ॥ १ ॥

(१) गत सूक्त का ऋषि 'मथितो यामायनः'=मन्थन करनेवाला, विचारशील, संयमी पुरुष था। इन्द्रियों का संयम करके ही वह ज्ञान मन्थन कर पाया था। ज्ञान परिपक्व होने के कारण उसका नाम 'भृगु' हुआ, यह द्वेष का निवारण करने से 'ऋषि' कहलाया। यह ज्ञान परिपक्व=मार्ग व अज्ञानान्धकार व पाप को दूर करने के कारण 'च्यवन' कहलाया। इस अज्ञानान्धकार को दूर करके ही यह प्रभुदर्शन करनेवाला 'ऐन्द्र' नाम वाला हुआ है, मदशून्य होने से यह 'विमद' है। लोकहित में लगे होने से 'प्राजापत्य' है। अपने निवास को उत्तम बनाने के कारण 'वसुकृत्' है, 'आहार से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदस् व मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य' इनका क्रमशः विनिमय करने से यह 'वासुक्र' कहलाया है। (२) यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे **मनः**=मन को **भद्रं अपिवातय**=कल्याण की ओर प्रेरित करिये। हमारा मन प्रभु कृपा से सदा शुभ की ओर ही प्रवृत्त हो। अशुभ से यह दूर हो। मन की प्रवृत्ति पुण्य प्रवाह वाली बने न कि पापमय प्रवाह वाली। (३) यह मन विविध इन्द्रिय द्वारों से विषयों की ओर भागता है। हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम इसे उधर-उधर से रोककर, आत्मा के वश में लाने का प्रयत्न करें। 'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्'। मन हमारे वश में होगा, तभी हम इसे कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा मन भद्र की ओर प्रवृत्त हो।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यज्ञशेष का सेवन

अ॒ग्निमी॑ळे भु॒जां यवि॑ष्ठं शा॒सा मि॒त्रं दु॒र्धरी॑तुम्। यस्य॒ धर्म॒न्त्स्व१॒॑रेनीः॑ सप॒र्यन्ति॑ मा॒तुरूधः॑ ॥ २ ॥

(१) मैं **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा का **ईडे**=उपासन करता हूँ जो कि **भुजाम्**=(भुज पालनाभ्यवहारयोः) केवल शरीर के रक्षण के लिये भोजन करने वालों को **यविष्ठम्**=बुराइयों से पृथक् व अच्छाइयों से संपृक्त करनेवाले हैं। वस्तुतः मनुष्य उतना ही भोजन करे जितना कि शरीररक्षण के लिये आवश्यक है तो इतना जिह्वा संयम होने से किसी प्रकार की बुराई के पैदा होने का सम्भव ही नहीं। (२) **शासा मित्रम्**=मैं उस प्रभु का उपासन करता हूँ जो कि अनुशासन

व उपदेश के द्वारा सब (प्रभीतेः त्रायते) पापों व मृत्युओं से बचानेवाले हैं। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में वह वेदज्ञान दिया है जो कि हमें सब पापों से बचाता है। वेद के गायत्री छन्द का तो अर्थ ही यह है कि 'गायन्तं त्रायते यतः'=यह गान करनेवाले का त्राण करता है। (३) **दुर्धरीतुम्**=ये प्रभु शत्रुओं से दुर्धर्षणीय हैं। कामादि शत्रुओं का हमारे लिये तो धर्षण करना कठिन हो जाता है। परन्तु जब हम उस प्रभु के साथ मिलकर इन कामादि से संघर्ष करते हैं तो ये कामादि सब भस्म हो जाते हैं (त्वया स्विद् युजा वयं) (४) **यस्यधर्मन्**=उस परमात्मा का उपासन करता हूँ जिसके धारण करने पर मनुष्य **स्वः एनीः**=स्वर्ग के प्रति ले जानेवाली आहुतियों का **सपर्यन्ति**=सेवन करते हैं, उसी प्रकार सेवन करते हैं जैसे कि बछड़े **मातुः ऊधः**=अपनी माता के ऊधस् (udder) का सेवन करते हैं। माता के ऊधस् से दुग्ध को प्राप्त करके बच्चे पोषण को प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार ये यज्ञ की आहुतियाँ हमारा इस लोक व पर लोक में कल्याण करती हैं।

भावार्थ—प्रभु के वेद में दिये गये आदेश के अनुसार यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हम सब पापों से बचें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

'कृप-नीड' प्रभु

यमासा कृपनीळं भासाकेतुं वर्धयन्ति। भ्राजते श्रेणिदन्॥ ३ ॥

(१) **यम्**=जिस प्रभु को भक्त लोक **आसा**=(आस्येन) मुख के द्वारा, स्तुतिवचनों के उच्चारण के द्वारा **वर्धयन्ति**=बढ़ाते हैं अर्थात् जिस प्रभु का गुणगान करते हैं वे प्रभु **कृपनीडम्**=(कृपू सामर्थ्ये) सम्पूर्ण सामर्थ्यों के आश्रयस्थल हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और **भासाकेतुं**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा (कित निवासे रोगापनयने च) हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले तथा हमारे सब रोगों को दूर करनेवाले हैं। (२) वे प्रभु **श्रोणिदन्**=उपासकों के लिये अभीष्ट फलों की श्रेणियों के देनेवाले हैं—(अभीष्ट फलसमूह प्रदः सा०) अथवा सब जीवों को कर्मानुसार विविध श्रेणियों के प्राप्त करानेवाले हैं। वे प्रभु हमारे कर्मानुसार 'पशु मनुष्य व देव' आदि श्रेणियों में जन्म देते हैं। ऐसे वे प्रभु **भ्राजते**=कण-कण में देदीप्यमान हो रहे हैं। उस प्रभु की महिमा सर्वत्र द्योतित होती है।

भावार्थ—प्रभु सम्पूर्ण सामर्थ्यों के आधार हैं, ज्ञान के द्वारा मार्ग का प्रकाशन करते हैं। हम प्रभु का स्तवन करेंगे तो हम भी शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके अभीष्ट फल समूह को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

अज्ञानान्धकार विमर्श

अर्यो विशां गातुरेति प्र यदानड् दिवो अन्तान्। कविरभ्रं दीद्यानः॥ ४ ॥

(१) वे प्रभु **अर्यः**=स्वामी हैं। वस्तुतः सब ब्रह्माण्ड के मालिक व पति प्रभु ही हैं 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' **विशाम्**=सब प्रजाओं के **गातुः**=मार्ग वे प्रभु ही हैं। वस्तुतः सब प्रजाओं ने उस प्रभु की ओर ही जाना है। भटक-भटकाकर अन्त में सब चलते उस प्रभु की ओर ही हैं। (२) **यत्**=क्योंकि वे प्रभु **दिवः अन्तान्**=ज्ञान के अन्तिम तत्त्वों को (उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वन-पोस्तत्त्वदर्शिभिः) **प्र आनट्**=प्रकर्षेण व्याप्त करते हैं, वे निरतिशय ज्ञान का आधार है, प्रभु में ही ज्ञान के तारतम्य की विश्रान्ति होती है, सो वे प्रभु **कविः**=सर्वज्ञ व क्रान्तदर्शी हैं और **अभ्रम्**=अज्ञान

के बादलों को **दीद्यानः**=छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं। हमारे हृदयों में स्थित होकर हृदयों को ज्ञान के प्रकाश से द्योतित करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ही अज्ञानान्धकार नष्ट होता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'यज्ञ-प्रिय' प्रभु

जुषद्धव्या मानुषस्योर्ध्वस्तस्थावृभ्वा यज्ञे। मिन्वन्त्सद्म पुर एति॥ ५॥

(१) वे प्रभु **मानुषस्य**=करुणापूर्ण मन वाले मनुष्य के (Humane=मानुष), मनुष्यों का हित चाहनेवाले व्यक्ति के **हव्या**=हव्य पदार्थों का **जुषत्**=सेवन करते हैं। अर्थात् लोकहित की भावना से जब मनुष्य त्यागपूर्वक उपभोग करता है तो वह प्रभु को प्रीणित करनेवाला है। (२) वस्तुतः मनुष्य यज्ञ करता है, तो वे प्रभु **ऊर्ध्वः तस्थौ**=ऊपर खड़े होते हैं, अर्थात् उन यज्ञों की रक्षा कर रहे होते हैं। प्रभुरक्षण से ही तो यज्ञ पूर्ण हो पाते हैं। (३) वे प्रभु **यज्ञे**=इन यज्ञों में ही **ऋभ्वा**=(उरु भाति) खूब देदीप्यमान होते हैं। वस्तुतः जहां यज्ञ, वहीं प्रभु का निवास। अयज्ञिय स्थलों में प्रभु का प्रकाश नहीं होता। (४) इन यज्ञशील पुरुषों के लिये वे प्रभु **सद्म मिन्वन्**=उत्तम देवगृहों का निर्माण करते हैं, अर्थात् इन को उत्तम लोकों में जन्म देते हैं और **पुरः एति**=इनके आगे आगे चलते हैं, अर्थात् इनके लिये मार्गदर्शन होते हैं। प्रभु के नेतृत्व में इन यज्ञशील पुरुषों का सदा कल्याण ही होता है।

भावार्थ—प्रभु के लिये यज्ञशील पुरुष ही प्रिय हैं, यज्ञों के रक्षक प्रभु ही हैं। इन यज्ञशील पुरुषों को उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वाशीमान्' अग्नि

स हि क्षेमो हविर्यज्ञः श्रुष्टीदस्य गातुरेति। अग्निं देवा वाशीमन्तम्॥ ६॥

(१) **स**=वे प्रभु **हि**=निश्चय से **क्षेमः**=आनन्दस्वरूप हैं और सब का कल्याण करनेवाले हैं। **हविः**=(हु दाने) वे इस ब्रह्माण्ड यज्ञ को करते हुए जीव को उसकी उन्नति के लिये सब आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। **यज्ञः**=वे पूजा के योग्य, संगतिकरण योग्य व समर्पणीय हैं। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके ही हम अपने पूर्ण कल्याण का साधन करते हैं। (२) **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **इत्**=निश्चय से **गातुः**=मार्ग पर चलानेवाला व्यक्ति **अस्य एति**=इसके प्रति प्राप्त होता है। वस्तुतः धर्म के मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति, एक दिन आगे और आगे बढ़ता हुआ, इस प्रभु को प्राप्त करता ही है। (३) उसी मार्ग का संकेत करते हुए कहते हैं कि **देवाः**=देववृत्ति के लोग, 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा' देकर बचे हुए को खानेवाले, स्वाध्याय से अपने मस्तिष्क को दीप्त करनेवाले तथा प्रवचन द्वारा औरों तक ज्ञान-ज्योति को पहुँचानेवाले लोग **अग्निम्**=उस अग्रेणी, **वाशीमन्तम्**=आवाज वाले, हृदयस्थ होकर सदा प्रेरणा देनेवाले प्रभु को प्राप्त होते हैं। एवं स्पष्ट है कि प्रभु प्राप्ति के लिये देव बनना आवश्यक है। उन्नति के मार्ग पर चलने के लिये प्रयत्न करनेवाला तथा हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुननेवाला व्यक्ति ही प्रभु को प्राप्त करता है। प्रभु 'अग्नि' हैं, सो उनका भक्त अग्नि बनने का प्रयत्न करता है। प्रभु 'वाशीमान्' हैं, प्रभु-भक्त उस **वाशी**=(voice) को सुनने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—मैं धर्म के मार्ग पर चलता हुआ, देव बनने का प्रयत्न करता हुआ, प्रभु को प्राप्त करूँ। वे प्रभु ही मुझे श्रेष्ठ आनन्द को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'यज्ञासाह' अग्नि

यज्ञासाहं दुव इषेऽग्निं पूर्वस्य शेवस्य। अद्रेः सूनुमायुमाहुः ॥ ७ ॥

(१) **यज्ञासाहम्**=यज्ञों के द्वारा समन्तात् शत्रुओं का पराभव करनेवाले, अर्थात् हमारे में यज्ञवृत्ति को उत्पन्न करके हमारे काम, क्रोध लोभादि को समाप्त करनेवाले, **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को लक्ष्य करके **दुवः**=परिचरणम्=उपासना को **इषे**=चाहता हूँ। मेरी कामना यह होती है कि मैं उस यज्ञ पुरुष का उपासक बनूँ जो कि यज्ञाग्नि में हमारे सब मलों को भस्मीभूत कर देते हैं। (२) उस प्रभु को **पूर्वस्य**=सर्वप्रथम व सर्वश्रेष्ठ **शेवस्य**=सुख व आनन्द का **सूनुम्**=प्रेरक **आहुः**=कहते हैं। वे प्रभु उस अवर्णनीय आनन्द को देनेवाले हैं जो आनन्द अन्य सब आनन्दों का अतिशायी है। उस प्रभु को **अद्रेः**=बड़ी कठिनता से विदारण के योग्य, पाँच पर्वों वाली अविद्यारूपी पर्वत का **आयुम्**=(इगतौ) हिला देनेवाला कहते हैं। उस प्रभु की कृपा से यह अत्यन्त दृढ़ अविद्या की चट्टान भी चकनाचूर हो जाती है। एवं प्रभु कृपा से हमारा अज्ञान नष्ट होकर हमें उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त होता है।

भावार्थ—यज्ञवृत्ति से सब पाप दूर होते हैं, तब प्रभु हमें अवर्णनीय आनन्द प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नर की वाम में स्थिति

नरो ये के चास्मदा विश्वेत्ते वाम आ स्युः। अग्निं हविषा वर्धन्तः ॥ ८ ॥

(१) **अस्मत्**=हमारे में से **ये के च**=जो कोई भी **नरः**=(नरम्) संसार के विषयों में न फँसनेवाले तथा (नृ नये) अपने को उन्नतिपथ पर आगे ले चलनेवाले व्यक्ति हों **विश्वा इत् ते**=वे सब निश्चय से **वामे**=उस सुन्दर-वननीय=उपासनीय प्रभु में **आस्युः**=सब प्रकार से हों। अर्थात् ब्रह्मस्थ व ब्रह्म का उपासक होने का उपाय यही है कि हम 'नर' बनें इस संसार में नर बनकर कार्य करें। (२) नर बनकर कार्य करनेवाला व्यक्ति आसक्त नहीं होता। इसका जीवन हविरूप होता है। हम इस **हविषा**=हवि के द्वारा-दानपूर्वक अदन के द्वारा सदा सदा यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **वर्धन्तः**=वर्धन करनेवाले हों। प्रभु की उपासना हवि के द्वारा ही होती है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। प्रभु के उपासक सदा 'वामे आस्युः'=सुन्दर सेवनीय पदार्थों में स्थित होते हैं। इन्हें इन पदार्थों की कमी नहीं हो जाती।

भावार्थ—दानपूर्वक अदन के द्वारा प्रभु का वर्धन करते हुए हम सदा नर बनें और ब्रह्मनिष्ठ व सब सुन्दर वस्तुओं को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

हिरण्यरूप

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान्। हिरण्यरूपं जनिता जजान ॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र का जो नर है **अस्य**=इसका **यामः**=मार्ग **कृष्णः श्वेतः**=काला व सफेद होता है। 'कृष्णः श्वेतः' यहाँ विरोधाभास अलंकार है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि कृष्णः=आकर्षक है, श्वेतः=शुद्ध व निर्मल है। इस पुरुष को देखकर औरों के मनों में भी इस मार्ग पर चलने की वृत्ति उत्पन्न होती है। **अरुषः**=इनका जीवन मार्ग (अ-रुष) क्रोध से शून्य है अथवा आरोचमान-प्रकाशमय है। **ब्रध्नः**=इनका मार्ग महान् होता है ये उदारवृत्ति को लेकर चलते हैं, इनके किसी भी विचार व कर्म में हृदय की संकीर्णता का प्रकटन नहीं होता है। **ऋज्रः**=इनका मार्ग ऋजु व सरल होता है, ये कुटिलता से दूर रहते हैं। **उत**=और इनका यह मार्ग **शोणः**=तेजस्विता के सूचक रक्तवर्ण वाला होता है, इनके प्रत्येक कर्म में तेजस्विता टपकती है। और इसीलिये इनका यह मार्ग **यशस्वान्**=यशोयुक्त होता है। (२) इस मार्ग पर चलनेवाले इन व्यक्तियों को **जनिता**=वह उत्पादक प्रभु **हिरण्यरूपम्**=ज्योतिर्मय रूप वाला **जजान**=बनाता है। अथवा हितरमणीयरूप वाला करता है। इन व्यक्तियों के चेहरे से ज्योति व निर्द्वेषता का आभास मिलता है।

भावार्थ—हमारा जीवन का मार्ग आकर्षक व शुद्ध हो, आरोचमान विशाल व ऋजु हो, तेजस्विता व यश से पूर्ण हो। हम हिरण्यरूप बनें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

विमद का सुन्दर जीवन

ए॒वा ते॑ अग्ने वि॒म॒दो म॑नी॒षामूर्जो॑ नपाद॒मृते॑भिः स॒जोषाः॑।
गिर॒ आ व॑क्षत्सुम॒तीरि॑या॒न इष॒मूर्जं॑ सुक्षि॒तिं विश्व॒माभाः॑ ॥ १० ॥

(१) हे **ऊर्जोनपात्**=बल के न नष्ट होने देनेवाले **अग्ने**=तेजस्विन् प्रभो! **एवा**=इस प्रकार **विमदः**=मदशून्य, मार्ग पर चलनेवाला ऋषि **ते**=आपकी **मनीषाम्**=वेदवाणी में दी गई बुद्धि को **अमृतेभिः**=विषयवासनाओं के पीछे न मरनेवाले विद्वानों के साथ **सजोषाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। ऐसे विद्वानों के सम्पर्क में आकर वेदज्ञान को प्राप्त करता है। (२) **गिरः आवक्षत्**=स्तुतिवाणियों का यह उच्चारण करता है और **सुमतीः इयानः**=कल्याणकर बुद्धियों को प्राप्त करने के स्वभाव वाला होता है। (३) इस प्रकार स्तुति-वाणियों व कल्याणकर बुद्धियों को धारण करके यह **इषम्**=उत्तम अन्न को **ऊर्जम्**=शक्तिप्रद रस को तथा **सुक्षितिम्**=उत्तम निवास को, संक्षेप में **विश्वम्**=इन सब वस्तुओं को **आभाः**=(भृ) धारण करता है। उत्तम अन्न-रस को सेवन करता हुआ यह उत्तम निवास वाला होता है। (४) 'इषमूर्जम्' की यह भावना भी यह संगत ही है कि इषम्=प्रेरणा को तथा ऊर्जम्=उस प्रेरणा को कार्यरूप में लाने की शक्ति को और इस प्रकार सुक्षितिम्=उत्तम जीवन को यह पुष्ट करता है। 'इस उत्तम जीवनवाला भी यह 'वि-मद' होता है' यही इसके जीवन का सौन्दर्य है।

भावार्थ—हम विद्वानों से वेदज्ञान को प्राप्त करें, स्तुति-वाणियों का उच्चारण करें, सुबुद्धि वाले हों, अन्न-रस का सेवन करते हुए पूर्ण स्वस्थ हों।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हमारा मन भद्र में प्रवृत्त हो। (१) हम यज्ञशेष का सेवन करें, (२) सम्पूर्ण सामर्थ्यों के आधार व ज्ञान प्रकाश से मार्गदर्शन प्रभु का स्तवन करें, (३) प्रभु कृपा से ही अज्ञानान्धकार नष्ट होता है, (४) उस प्रभु को यज्ञशील पुरुष ही प्रिय हैं, (५) वे प्रभु ही श्रेष्ठ आनन्द को प्राप्त कराते हैं, (६) यज्ञवृत्ति से सब पाप दूर होते हैं, (७)

नर वे ही हैं जो सदा दानपूर्वक अदन करते हैं, (८) इन्हें प्रभु 'हिरण्यरूप' बनाते हैं, (९) ये अन्नरस का सेवन करते हुए पूर्ण स्वस्थ होते हैं, (१०) ये विशिष्ट उन्नति के लिये उस प्रभु का ही वरण करते हैं।

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'मैं' को छोड़कर

आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे ॥ १ ॥

(१) **होतारम्**=इस सृष्टियज्ञ के होता—सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले **अग्निम्**=अग्रेणी **त्वा**=आपको **न**=(सं प्रति) अब **स्ववृक्तिभिः**='मैं' के वर्जन के द्वारा, अर्थात् 'मैं' से ऊपर उठकर **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण करते हैं। जहाँ 'मैं' और 'मेरा' होता है वहाँ प्रभु का निवास नहीं होता। 'मैं' गई और 'प्रभु' आये। मैं और प्रभु का साथ-साथ रहना नहीं सम्भव। दिव्यता की पराकाष्ठा निरभिमानता ही है। (२) प्रभु का वरण इसलिये करते हैं कि **यज्ञाय**=हमारे में यज्ञ की भावना की वृद्धि हो। '**स्तीर्णबर्हिषे**'='बिछाया है वासनाशून्य हृदय जिसने' ऐसा बनने के लिये। आये हुए अतिथि के लिये जैसे आसन देते हैं, उसी प्रकार प्रभु के आतिथ्य के लिये 'वासनाशून्य-हृदय' रूप आसन ही तो बिछाया जाता है। निर्वासन हृदय में ही प्रभु का निवास है। (३) उस प्रभु का वरण करते हैं जो कि **वः**=तुम्हारे **मदे**=आनन्द में **विशीरम्**=विशेषरूप से शयन व निवास करनेवाले हैं। अर्थात् प्रभु उसे ही प्राप्त होते हैं जो कि सुख-दुःख में सदा आनन्दित रहता है। खीझने की मनोवृत्ति वाले को प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। **पावकशोचिषम्**=वे प्रभु शोधकदीप्ति वाले हैं। हमें प्रभु प्राप्त होते हैं तो उन प्रभु के ज्ञान का प्रकाश हमारे सब पापों व मलों को धो डालता है। (४) **विवक्षसे**=हम प्रभु को विशिष्ट उन्नति के लिये प्राप्त करते हैं (वक्ष् To grow)। प्रभु प्राप्ति से सब दिशाओं में हम अधिकाधिक उन्नत होते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु का वरण 'मैं' के त्याग से होता है। प्रभु वरण करनेवाला निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपसेचनी-ऋजीति-आहुति

त्वामु ते स्वाभुवः शुम्भन्त्यश्वराधसः ।
वेति त्वामुपसेचनी वि वो मद ऋजीतिरग्न आहुतिर्विवक्षसे ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **उ**=निश्चय से **ते**=वे **स्वाभुवः**=(स्वयं आभवन्ति) सब प्रकार स्वाश्रित लोग, **अश्वराधसः**=व्याप्त धनों वाले लोग **शुम्भन्ति**=अपने जीवन में सुशोभित करते हैं। प्रभु को प्राप्त लोगों के दो चिह्न हैं एक तो यह कि वे पराश्रित नहीं होते, अपने पाँव पर खड़े होते हैं, और दूसरा यह कि वे अर्जित धनों का विनियोग केवल अपने लिये नहीं करते। लोकहित के लिये धनों का विनियोग करते हुए वे 'व्याप्त धनों वाले' कहलाते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **उपसेचनी**=लोकों को सुखों से सिक्त करने की क्रिया **वेति**=प्राप्त कराती है। अर्थात्

यदि एक व्यक्ति दुःखितों पर करुणार्द्रचित्त होकर उनके दुःखों को दूर करता है और उनको सुखों की वर्षा से सिक्त करता है तो यह व्यक्ति आपको प्राप्त होता है। (३) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **ऋजीतिः**=ऋजुता व सरलता आपको प्राप्त कराती है। सरलता प्रभु प्राप्ति का साधन बनती है। इसी प्रकार **आहुतिः**=त्याग व दान आपको प्राप्त कराता है। एवं प्रभु प्राप्ति के तीन साधन हैं—(क) लोगों को, दुःख दूर करके, सुखसिक्त करना, (ख) सरलता व (ग) त्याग। (४) यह प्रभु प्राप्ति **वः**=तुम सबके **मदे**=मद के निमित्त होती है, अर्थात् एक अद्भुत मस्ती वाले जीवन को जन्म देती है और **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होती है।

भावार्थ—'प्रभु-भक्त' अपराश्रित व व्याप्तधन होता है। प्रभु प्राप्ति के लिये करुणार्द्रता, ऋजुता व त्याग आवश्यक हैं। प्रभु प्राप्ति से आनन्द मिलता है और सर्वतोमुखी उन्नति होती है।

ऋषिः—**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कृष्ण व अर्जुन

त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव ।
कृष्णा रूपाण्यर्जुना वि वो मदे विश्वा अधि श्रियो धिषे विवक्षसे ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वे**=आप में **धर्माणः**='धर्मो धारयते प्रजाः' धारणात्मक कर्मों को करनेवाले लोग **आसते**=आसीत होते हैं। ये लोग **जुहूभिः**=चम्मचों से **सिञ्चतीः इव**=सदा अग्नि का सेचन-सा कर रहे होते हैं। जैसे चम्मच से अग्नि में घृत का सेचन होता है, इसी प्रकार ये लोग (हु=दान) स्वार्जित धनों के त्याग व दान से प्रजा पर सुखों का वर्षण करते हैं, प्रजाओं को सुख से सींचते से हैं। (२) इन लोगों के **रूपाणि**=रूप **कृष्णा**=आकर्षकत्व **अर्जुना**=श्वेत व शुद्ध होते हैं। (३) हे प्रभु को प्राप्त करनेवाले जीव! तू **वः मदे**=अपने आनन्द में **विश्वाः श्रियः**=सब शोभाओं को **अधिधिषे**=आधिक्येन धारण करनेवाला होता है और **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होता है। प्रभु प्राप्ति का परिणाम प्रभु-भक्त के जीवन में यह होता है कि वह सब शुभ-गुणों का धारण करनेवाला होता है और सब प्रकार की उन्नति उसके जीवन को सुन्दर बना देती है।

भावार्थ—प्रभु के सच्चे उपासक वे ही हैं जो लोकधारण में तत्पर रहते हैं।

ऋषिः—**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अमर्त्य-सहसावन्-अग्नि'

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमा भरा विवक्षसे ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी, **सहसावन्**=बल-सम्पन्न, **अमर्त्य**=किसी भी विषय के पीछे न मरनेवाले अमर प्रभो! **यम्**=जिस भी **रयिम्**=धन को आप **मन्यसे**=आदरणीय समझते हैं **तम्**=उस **यज्ञेषु**=यज्ञों में विनियुक्त होने पर **चित्रं**=(चित्-र) ज्ञान की वृद्धि के कारण भूत धन को **नः**=हमारे लिये **आभरा**=धारण कीजिये। प्रभु अग्नि हैं, अग्र-स्थान पर स्थित हैं, क्योंकि **सहसावन्**=बल-सम्पन्न हैं। बिना बल के अग्नित्व प्राप्त नहीं होता, प्रभु बल-सम्पन्न हैं, क्योंकि अमर्त्य हैं, प्रभु विषयप्रसक्त नहीं है। ये तीन सम्बोधन हमें भी प्रेरणा दे रहे हैं कि 'अमर्त्य' बनकर 'सहसावन्' बनो, तभी 'अग्नि' बन पाओगे। (२) हे प्रभो! इस रयि को इसलिये प्राप्त कराइये

कि हम **वः**=आपकी प्राप्ति के **वि-मदे**=प्रकृष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये हों। यह रयि यज्ञों में विनियुक्त होता हुआ हमारी विषयाशक्ति का कारण न बनकर सदा उन्नति का ही कारण हो और इस प्रकार यह धन **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये हो (वाज-शक्ति, साति-प्राप्ति)। (३) 'वाजसाति' शब्द संग्राम के लिये भी प्रयुक्त होता है। यह धन हमें काम, क्रोध, लोभादि के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्राम में सहायक हो। हमें इस धन के दास बनकर इस संग्राम में हार न जायें। यह धन हमें ह्रास की ओर न ले जाकर सदा उत्स्थान की ओर ले जानेवाला हो।

भावार्थ—'प्रभु' अग्नि सहसाधन व अमर्त्य हैं। प्रभु हमें भी वह रयि प्राप्त करायें जिससे कि हम भी ऐसे ही बन सकें।

ऋषिः—**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

विवस्वान् का दूत

अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या ।
भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र में प्रार्थना की गई थी कि हम अग्नि बन सकें। उसीका उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि **अथर्वणा**=(न थर्वति) डाँवाडोल न होने से तथा (अथ अर्वाङ्) सदा अपने अन्दर आत्मनिरीक्षण करने से **अग्निः**=अग्नि **जातः**=हो जाता है। अग्नि व अग्रेणी बनने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य अभ्यास व वैराग्य के द्वारा मन को स्थिर करे। चित्तवृत्तिनिरोध के बिना 'अग्नि' बनने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। इस अग्नि बनने के लिये प्रतिदिन आत्मनिरीक्षण भी नितान्त आवश्यक है। आत्मनिरीक्षण का अभ्यासी पुरुष ही कमियों को दूर करता हुआ आगे बढ़ पाता है। (२) यह अग्नि बननेवाला व्यक्ति **विश्वानि काव्या**=सम्पूर्ण ज्ञानों को **विदद्**=जाननेवाला होता है। वस्तुतः अन्तःस्थित उस महान् अग्नि (=प्रभु) के प्रकाश को देखने से यह सम्पूर्ण तत्त्वों के रहस्य को जानने में समर्थ होता है। इसे उस कवि के काव्य प्राप्त होते ही हैं। (३) इन काव्यों को प्राप्त करके यह **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणों वाले उस प्रभु का **दूतः भुवत्**=दूत होता है। उसके सन्देश को सर्वत्र फैलानेवाला बनता है। यही जीवन की अन्तिम मंजिल में 'प्राजापत्य यज्ञ' में आहुति देना है। (४) इस ज्ञान-सन्देश को फैलाने के कार्य में लगा हुआ यह व्यक्ति **यमस्य**=उस सर्वनियन्ता प्रभु का **प्रियः**=प्यारा होता है। यह सारी प्रजा का भी **काम्यः**=चाहने योग्य होता है। (५) इस की कामना यही होती है कि हे प्रभो! **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=उत्कृष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=सब प्रजायें विशिष्ट उन्नति के लिये हों। सारी प्रजाओं का झुकाव आपकी ओर हो और वे उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाली हों।

भावार्थ—हम स्थिरचित्तता व आत्मनिरीक्षण के द्वारा अग्नि बनें। प्रभु के सन्देशवाहक बनकर प्रभु के प्रिय हों। हमारी कामना यही हो कि सब प्रभु प्रवण होकर उन्नतिपथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन

त्वां यज्ञेष्वीळतेऽग्ने प्रयत्यध्वरे। त्वं वसूनि काम्या वि वो मदे विश्वा दधासि दाशुषे विवक्षसे ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **प्रयति**=प्रकर्षेण गति वाले **अध्वरे**=हिंसारहित जीवनयज्ञ में **यज्ञेषु**=इन 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' रूप श्रेष्ठतम कर्मों में **ईडते**=दाश्वान् पुरुष

उपासित करते हैं। दाश्वान् पुरुष वह है जो कि प्रभु से दिये जानेवाले धनों को सदा लोकहित के लिये देता है। यह अपने जीवन को क्रियाशील व हिंसारहित बनाता है एवं इसका जीवन निरन्तर चलनेवाला अध्वर ही होता है। इस जीवन में यह 'बड़ों का आदर, परस्पर प्रेम तथा दान' आदि यज्ञिय वृत्तियों को अपनाता है, ये वृत्तियाँ ही इसका प्रभु-उपासन हो जाती हैं। (२) **त्वम्**=हे प्रभो! आप भी **दाशुषे**=इस दाश्वान् पुरुष के लिये **विश्वा**=सब **काम्या**=कमनीय, चाहने योग्य **वसूनि**=धनों को **दधासि**=धारण करते हैं। (३) इन कमनीय धनों को प्राप्त करके यह दाश्वान् पुरुष **वः**=आपकी **विमदे**=प्राप्ति के आनन्द में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होता है। संसार में निवास के लिये आवश्यक, अतएव कमनीय धनों के बिना किसी प्रकार की उन्नति का सम्भव नहीं होता। इन धनों के द्वारा भौतिक-स्वास्थ्य का साधन करके एक भक्त ध्यान में प्रभु प्राप्ति के अद्भुत आनन्द का प्रातः-सायं अनुभव करता है और जीवन में विशिष्ट उन्नति के लिये समर्थ होता है।

भावार्थ—हम यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु कृपा से हम कमनीय वसुओं को प्राप्त करके भौतिक स्वास्थ्य का साधन करें और अध्यात्म-क्षेत्र में आगे बढ़ें।

ऋषिः—**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'शुक्र-चेतिष्ठ' प्रभु

त्वां यज्ञेष्वृत्विजं चारुमग्ने नि षेदिरे। घृतप्रतीकं मनुषो वि वो मदे शुक्रं चेतिष्ठमक्षभिर्विवक्षसे॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **यज्ञेषु**=यज्ञों में **ऋत्विजम्**=समय-समय पर उपासना के योग्य **चारुम्**=अत्यन्त रमणीय आपको **मनुषः**=विचार पूर्वक कर्म करनेवाले लोग **निषेदिरे**=स्थापित करते हैं। समझदार लोग यज्ञों द्वारा ही प्रभु का उपासन करते हैं। उस-उस समय के अनुसार होनेवाले लोकहितात्मक कर्मों से इनका प्रभु-पूजन चलता है। वे प्रभु 'चारु' हैं, सुन्दर ही सुन्दर हैं। प्रभु में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं। इनका जीवन भी न्यूनताओं से रहित होकर सुन्दरता को प्राप्त करनेवाला होता है। (२) उस प्रभु को ये विचारशील पुरुष अपने में स्थापित करते हैं जो कि **घृतप्रतीकम्**=(घृत=व्याप्तै तेजोभिः, प्रतीक=अतिशयेन ज्ञातारं) व्याप्त तेजस्विताओं के साथ अतिशयेन ज्ञाता हैं। ये उपासक भी अपने में तेजस्विता व ज्ञान का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। (३) वे उस प्रभु का उपासन करते हैं जो कि **शुक्रम्**=(शुक गतौ) अधिक से अधिक क्रियाशील हैं और **चेतिष्ठम्**=सर्वातिशायी चेतना व ज्ञान वाले हैं। एक उपासक भी क्रियाशील व ज्ञानी बनता है। यह ज्ञानी पुरुष कभी अकर्मण्य नहीं होता। (४) इस प्रकार ये उपासक **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=प्रकृष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक तेजस्वी व ज्ञानी होता है, यह अपने में क्रियाशीलता व ज्ञान का समन्वय करके चलता है।

ऋषिः—**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

क्रियाशील ज्ञानी भक्त

अग्ने शुक्रेण शोचिषोरु प्रथयसे बृहत्।
अभिक्रन्दन्वृषायसे वि वो मदे गर्भं दधासि जामिषु विवक्षसे॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **शुक्रेण शोचिषा**=(शुक गतौ) ज्ञानदीप्ति के

द्वारा **उरु**=हृदय की विशालता के साथ तथा **बृहत्**=अंग-प्रत्यंग की शक्ति की वृद्धि के साथ **प्रथयसे**=अपना विस्तार करनेवाला होता है। क्रिया व ज्ञान के समन्वय से इसकी भौतिक व अध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति होती है। 'उरु' अध्यात्म उन्नति का संकेत करता है तो बृहत्=भौतिक उन्नति का। एवं उन्नति में 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों का स्थान है। दोनों का समन्वय ही वास्तविक धर्म है 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। (२) हे अग्रेणी जीव! तू **अभिक्रन्दन्**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में, अर्थात् दोनों समय उस प्रभु का आह्वान करता हुआ **वृषायसे**=एक शक्तिशाली पुरुष की तरह आचरण करता है। प्रभु-स्मरण से प्रभु की समीपता में यह उसी प्रकार सशक्त बन जाता है जैसे कि माता के अंक में स्थित बालक शक्ति को अनुभव करता है और निर्भीक होता है। (३) हे प्रभो! **वः**=आपकी प्रति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द के निमित्त यह **गर्भं दधासि**=हिरण्यगर्भ नामक आपका धारण करता है। आप सभी को अपने में धारण करने से 'गर्भ' हैं, यह भक्त आपको धारण करने के लिये यत्नवान् होता है। और इसीलिए **जामिषु**=सब बन्धुओं में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होता है। वस्तुतः प्रभु का धारण व उपासन हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है और हमारी उन्नति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन ही सब उन्नतियों का मूल है। प्रभु का उपासक क्रियाशील व ज्ञानी होता है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि मैं को छोड़कर ही हम प्रभु का वरण कर पाते हैं। (१) प्रभु प्राप्ति के लिये 'करुणार्द्रता, सरलता व त्याग' आवश्यक हैं, (२) प्रभु के सच्चे उपासक लोक-धारण में तत्पर होते हैं, (३) प्रभु का उपासक 'अग्नि, सहसवान् व अमर्त्य' बनने का प्रयत्न करता है, (४) स्थिरचित्तता व आत्मनिरीक्षण के द्वारा हम अग्नि बनते हैं, (५) यज्ञों के द्वारा 'प्रभु उपासन' करके हम कमनीय वसुओं को प्राप्त करते हैं, (६) इन वसुओं को प्राप्त करके हम तेजस्वी व ज्ञानी बनते हैं, (७) क्रियाशील ज्ञानी पुरुष ही तो प्रभु का सच्चा उपासक होता है, (८) यह प्रभु ही हमारा उपास्य हो।

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ऋषियों के घरों में

कुह श्रुत इन्द्रः कस्मिन्नद्य जने मित्रो न श्रूयते। ऋषीणां वा यः क्षये गुहा वा चर्कृषे गिरा ॥ १ ॥

(१) **कुह**=कहाँ **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **श्रुतः**=सुना जाता है। अर्थात् प्रभु की आवाज को कौन-सी योनि में आत्मा सुन पाती है? **अद्य**=आज **कस्मिन् जने**=किस व्यक्ति में **मित्रो न**=मित्र के समान **श्रूयते**=वह प्रभु सुना जाता है। जैसे एक मित्र की वाणी को हम सुनते हैं उसी प्रकार उस महान् मित्र प्रभु की वाणी को कौन सुनता है? इस संसार में प्रायः एक मित्र दूसरे मित्र को सलाह देता हुआ झिझकता है, प्रायः दूसरा व्यक्ति अपने मित्र की ठीक सम्मति को सुनने को तैयार भी नहीं होता। प्रभु सलाह तो सदा देते ही हैं, पर प्रायः हम उस सलाह को सुनते नहीं हैं? (२) ये प्रभु वे हैं **यः वा**=जो कि या तो **ऋषीणां क्षये**=तत्त्वद्रष्टाओं के घरों में **वा**=अथवा **गुहा**=बुद्धि व हृदयदेश में **गिरा**=वाणियों के द्वारा **चर्कृषे**=सदा आकृष्ट किये जाते हैं। अर्थात् प्रभु की वाणी ऋषियों के घरों में सुन पाती है अथवा हृदयदेश में उस प्रभु का ध्यान करनेवाले लोग ही स्तुति द्वारा उस प्रभु को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी को विरल ही सुननेवाले होते हैं। ऋषियों के गृहों में प्रभु-स्तवन होता है और हृदयदेश में प्रभु ध्यान चलता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'वज्री-ऋचीषम' प्रभु

इह श्रुत इन्द्रौ अस्मे अद्य स्तवे वज्र्यृचीषमः। मित्रो न यो जनेष्वा यशश्चक्रे असाम्या ॥ २ ॥

(१) **इह**=इस मानव जीवन में **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **श्रुतः**=सुना जाता है। अर्थात् इस मानव योनि में ही हम उस प्रभु की वाणी को सुनने के लिये समर्थ होते हैं। पशु-पक्षियों को यह योग्यता प्राप्त नहीं। (२) **अस्मे**=हमारे से **अद्य**=आज **स्तवे**=उस प्रभु का स्तवन किया जाता है। जो प्रभु **वज्री**=क्रियाशीलता रूपी वज्र के द्वारा सब शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। **ऋचीषमः**='ऋचा समः' ऋचाओं में की गई गुणवर्णना के समान हैं। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' सब ऋचाएँ उस आकाशवत् व्यापक परम अविनाशी प्रभु में स्थित हैं। इन ऋचाओं में प्रभु की महिमा का ही वर्णन है। (३) यह 'वज्री-ऋचीषम-इन्द्र' वह है **यः**=जो कि **मित्रः न**=एक सच्चे मित्र की तरह अथवा सूर्य की तरह **जनेषु**=अपनी शक्तियों के प्रादुर्भाव के लिये पुरुषार्थ करनेवाले लोगों में **असामि**=पूर्ण **यशः**=प्रकाश व ज्ञान को **आचक्रे**=सब प्रकार से करते हैं। प्रभु हमें प्रकाश प्राप्त कराते हैं। इस प्रकाश में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। परन्तु यह प्रकाश प्राप्त उन्हीं को होता है जो कि अपने विकास के लिये यत्नशील होते हैं। वस्तुतः जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समरूप से फैलता है उसी प्रकार प्रभु का ज्ञान भी प्रत्येक हृदय में प्रकाशित होता है। उल्लू सूर्य के प्रकाश का लाभ नहीं उठा पाता, इसी प्रकार सांसारिक विषयों के पीछे उन्मत्त होनेवाले पुरुष उस प्रभु के प्रकाश को नहीं देख पाते। इन मोहमदिरा को पीकर उन्मत्त हुए-हुए पुरुषों के लिये उस प्रकाश की प्राप्ति नहीं होती।

भावार्थ—वे प्रभु पूर्ण प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। इस प्रकाश को प्राप्त वही करते हैं, जो कि अपनी शक्तियों के विकास के लिये यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'बल के स्वामी' प्रभु

महो यस्पतिः शवसो असाम्या महो नृम्णस्य तूतुजिः।
भर्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम् ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र में हमारे से स्तुति किये जानेवाले प्रभु वे हैं **यः**=जो कि **महः शवसः**=महान् बल के **पतिः**=स्वामी हैं। उस प्रभु की शक्ति अनन्त है, उसकी शक्ति महनीय है। (२) वे प्रभु **महो नृम्णस्य**=महान् धन के **असामि**=पूर्णरूपेण **आतूतुजिः**=सब प्रकार से हमारे में प्रेरक हैं। अर्थात् प्रभु कृपा से हमें वह महनीय धन प्राप्त होता है जो कि हमारे सब सुखों का साधन बनता है। (३) वे प्रभु **वज्रस्य**=(वज गतौ) गतिशील और अतएव **धृष्णोः**=कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले व्यक्ति का **भर्ता**=भरण करनेवाले हैं। **इव**=उसी प्रकार भरण करनेवाले हैं जैसे कि **पिता**=एक पिता **प्रियं पुत्रम्**=प्रिय पुत्र का भरण करता है। 'स्वास्थ्य, सदाचार व स्वाध्याय' आदि गुणों से पिता को प्रीणित करनेवाला पुत्र पिता के लिये सदा प्रिय होता है और पिता उसका अवश्य भरण करते हैं। इसी प्रकार क्रियाशील व काम-क्रोधादि के धर्षण में प्रवृत्त जीव प्रभु

का प्रिय होता है और प्रभु इसे महनीय शक्ति व धन प्राप्त कराते हैं। इन्हें प्राप्त करके यह उन्नतिपथ पर अग्रसर होता है।

भावार्थ—प्रभु अनन्त शक्ति के स्वामी हैं, वे हमारे में शक्ति व धन को प्रेरित करते हैं, जिससे उन्नत होकर हम प्रभु के प्रिय पुत्र बन पायें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु का प्रिय पुत्र कौन?

युजानो अश्वा वातस्य धुनी देवो देवस्य वज्रिवः। स्यन्ता पथा विरुक्मता सृजानः स्तोष्यध्वनः॥४॥

(१) **वातस्य धुनी**=वायु को भी प्रेरित करनेवाले अर्थात् वायु से भी तीव्र गति वाले **अश्वा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **युजानः**=शरीर रूप रथ में जोड़नेवाला यह होता है। इसका जीवन सतत क्रियामय होता है। इस क्रियामय जीवन के कारण ही **देवः**=यह देव बनता है। इसका जीवन दिव्यगुणों वाला व प्रकाशमय होता है। (२) इस **देवस्य**=प्रकाशमय जीवन वाले **वज्रिवः**=क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथों में धारण करनेवाले पुरुष के इन्द्रियाश्व **विरुक्मता**=विरोचमान, अर्थात् अमलिन पापशून्य पवित्र **पथा**=मार्ग से **स्यन्ता**=(स्यन्तौ गच्छन्तौ) चलनेवाले होते हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगी रहती हैं और कर्मेन्द्रियों से यह यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रहता है। इस प्रकार इसकी इन्द्रियों का मार्ग सदा देदीप्यमान व प्रशस्त होता है। (३) यह **अध्वनः सृजानः**=मार्ग से धनों का सर्जन करता है। उत्तम मार्ग से धनों को कमाता है 'अग्ने नय सुपथा राये'। यह इस बात को समझता है कि धन के बिना यह निधन के ही मार्ग पर जाएगा। धन ही उसे धन्य बनानेवाला है, बशर्ते कि वह धन का दास न बन जाए और धन का स्वामी ही बना रहे 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'। (४) धन का दास न बनने के लिये ही **स्तोषि**=तू प्रभु का स्तवन करता है। यह प्रभु स्तवन तुझे शक्ति देता है और तेरे समाने ये संसार के प्रलोभन अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं। वस्तुतः तभी तू प्रभु का प्रिय पुत्र बन पाता है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व क्रियामय हों, विरोचमान मार्ग से ये चलनेवाले हों, धर्म से धनार्जन करते हुए हमें प्रभु-स्तवन सदा मार्गभ्रष्ट होने से बचाये।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

इन्द्रियों की प्रबलता

त्वं त्या चिद्वातस्याश्वागा ऋज्रा त्मना वहध्यै। ययोर्देवो न मर्त्यो यन्ता नकिर्विदाय्यः॥५॥

(१) **त्वम्**=हे इन्द्र-इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **त्या**=उन **वातस्य**=वायु के **चित्**=भी **अश्वा**=घोड़ों को अर्थात् वायु के समान वेगवान् व बलवान् इन्द्रियाश्वों को **आगाः**=सर्वथा प्राप्त होता है। ये इन्द्रियाश्व तेरे अधिष्ठा-तृत्व में **ऋज्रा**=ऋजु मार्ग से चलनेवाले हैं। तू इन्हें **त्मना**=स्वयं **वहध्यै**=वहन के लिये प्राप्त होता है। तू इनका अधिष्ठाता बनता है, ये तुझे इधर-उधर भटकानेवाले नहीं होते। (२) तू उन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को लक्ष्य-स्थान की ओर ले चलता है, **ययोः**=जिनका **यन्ता**=काबू करनेवाला **न देवः**=न तो देव है, न=और ना ही **मर्त्यः**=मनुष्य। बड़े-बड़े विद्वान् भी इन इन्द्रियाश्वों को काबू नहीं कर पाते, मनुष्य की तो क्या शक्ति है कि इन्हें काबू कर सके? इन इन्द्रियाश्वों की शक्ति को **विदाय्यः**=जाननेवाला भी **नकिः**=कोई नहीं है। 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि'—इन शब्दों के अनुसार ये इन्द्रियाँ मनुष्य को कुचल देनेवाली हैं। इनका संयम

सुगम नहीं। इतनी प्रबल शक्ति वाली भी इन इन्द्रियों को वह जीव, जो कि प्रभु का प्रिय पुत्र बनने का प्रयत्न करता है, अपने वश में करके ऋजु मार्ग से जीवनयात्रा में आगे बढ़ता है।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में करना कठिन है। एक साधक ही इन इन्द्रियों को वश में करके जीवनयात्रा को सिद्ध करता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

इन्द्रियों का सन्नियमन

अध ग्मन्तोशना पृच्छते वां कदर्था न आ गृहम्। आ जग्मथुः पराकाद्दिवश्च ग्मश्च मर्त्यम्॥ ६॥

(१) **अध**=अब, साधना के लिये प्रयत्न करने के उपरान्त **उशनाः**=जीवनयात्रा को पूर्ण करके प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामना वाला यह साधक, **ग्मन्ता**=निरन्तर बाह्य विषयों में जाती हुई **वां**=तुम दोनों-ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से **पृच्छते**=पूछता है कि तुम **कदर्था**=क्यों (किमर्थम्) **दिवः ग्मः च**=द्युलोक के व पृथ्वीलोक के **पराकाद्**=दूर-दूर देशों से इस **मर्त्यम् गृहम्**=मनुष्य के घर में **न आजग्मथुः**=नहीं आते हो। (२) यह शरीर 'मर्त्य गृह' है। मरणधर्मा होने से 'मर्त्य' है, जीव का निवास-स्थान होने से 'गृह' है। इन्द्रियाँ सामान्यतः बाह्य विषयों में भटकती हैं। विषयों की चमक उनको सदा अपनी ओर खैंचती है। कोई एक आध वीर पुरुष ही इनको विषय-व्यावृत्त करके शरीर रूप गृह में ही स्थापित कर पाता है। जब ये अवस्थित हो जाती हैं तभी हम अपने स्वरूप में स्थित हो पाते हैं। यही उपनिषदों के शब्दों में 'परमागति' कहलाती है। द्युलोक व पृथ्वीलोक के दूर-दूर देशों में भटकनेवाली ये इन्द्रियाँ निरुद्ध होकर आत्मदर्शन के लिये सहायक होती हैं। तभी कैवल्य प्राप्त होता है, तभी हम प्रभु में विचरण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को दूर-दूर देशों से लौटाकर हम शरीर गृह में ही निरुद्ध करें, तभी हम आत्मदर्शन करते हुए प्रभु को पानेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मनुष्य बनना

आ न इन्द्र पृक्षसेऽस्माकं ब्रह्मोद्यतम्। तत्त्वा याचामहेऽवः शुष्णं यद्धन्नमानुषम्॥ ७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम इन्द्रियों का निरोध कर पाते हैं तो **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमारे से **आपृक्षसे**=संपृक्त होते हैं। इन्द्रियों का निरोध करके ही तो ब्रह्म-दर्शन का सम्भव होता है। (२) इस सम्पर्क के होने पर **अस्माकम्**=हमारा **ब्रह्म**=ज्ञान **उद्यतम्**=(raised, lifted up) उन्नत होता है। प्रभु के सम्पर्क में आकर हमारा जीवन प्रकाशमय हो उठता है। प्रभु प्रकाश के पुञ्ज हैं, उनके सम्पर्क में आनेवाला अन्धकार में रह ही कैसे सकता है? (३) इस प्रकाश को प्राप्त करके हम हे प्रभो! **त्वा**=आप से **तत्**=उस **अवः**=रक्षण व **शुष्णम्**=बल को **याचामहे**=माँगते हैं, **यत्**=जो बल **अमानुषम्**=अमनुष्योचित प्रत्येक बुराई को **हन्**=नष्ट कर देती है। प्रभु से 'प्रकाश, रक्षण व बल' को प्राप्त करके हम सब आसुर भावनाओं को दूर करने व दिव्य भावनाओं को अपनाने में समर्थ होते हैं। हमारे अमानुष भाव दूर होते हैं और हमारे में दिव्य भावों का विकास होता है। 'अमानुष' शब्द क्रूरता व स्वार्थ का संकेत करता है, ये सब क्रूर व स्वार्थमयी भावनायें प्रभु के प्रकाश से नष्ट हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम रक्षक बल प्राप्त करें जो कि हमारे सब अमानुष भावों

को दूर करके हमें सच्चा मनुष्य बनने की क्षमता प्राप्त कराये।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दास का दामन

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः। त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय॥ ८॥

(१) गत मन्त्र में 'अमानुष' के विनाशक बल की आराधना की गई थी। प्रस्तुत मन्त्र में उसी 'अमानुष' का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह **अकर्मा**=(अविद्यमानयागादि कर्मा सा०) यह यज्ञादि उत्तम कर्मों में कभी प्रवृत्त नहीं होता। (२) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होना तो दूर रहा, यह **दस्युः**=(उपक्षपयिता) औरों के विनाशकारी कर्मों में प्रवृत्त होता है, इसको दूसरों के कार्यों में विघ्न करना ही रुचिकर होता है। दूसरों की हानि में यह मजा लेता है। (३) यह **नः**=हमारा **अभि**=लक्ष्य करके **अमन्तुः**=न विचार करनेवाला है। जगत् को यह अनीश्वर मानता है। ईश्वर की सत्ता को न मानता हुआ, यह संसार को 'अपरस्पर संभूत कामहैतुक' मानता है। इसके प्रातः-सायं प्रभु के ध्यान करने का प्रश्न ही नहीं उठता। (४) **अन्यव्रतः**=श्रुति प्रतिपादित कर्मों को न करके अन्य कर्मों में ही यह व्यापृत रहता है। 'धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'='धर्म को जानने की इच्छा वालों के लिये श्रुति ही परम प्रमाण है' ये मनु के शब्द इनको इष्ट नहीं हैं। ये श्रुति विरुद्ध कर्मों में ही आनन्द लेने का प्रयत्न करते हैं। (५) **अमानुषः**=ये क्रूर स्वभाव के राक्षस होते हैं। इनमें मनुष्यता नहीं है। ये (Humane)=दयालु न होकर Inhumane=क्रूर व बर्बर होते हैं। (६) हे **अमित्रहन्**=हमारे शत्रुओं के नष्ट करनेवाले प्रभो! **त्वं**=आप ही **तस्य दासस्य**=उस औरों का नाश करनेवाले के **वधः**=मारनेवाले हो। इस दस्यु का नाश आप ही कर सकते हो। सो कृपया **दम्भय**=इस को आप नष्ट करिये। राष्ट्र में राजा प्रभु का ही प्रतिनिधि होता है। सो राजा का यह कर्तव्य है कि वह इन अमानुष लोगों को नष्ट करके प्रजा का उचित रक्षण करें। ऐसे लोगों से पीड़ित हुई-हुई प्रजायें उन्नति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ पाती। इन से आनेवाले कष्ट ही आधिभौतिक कष्ट कहलाते हैं।

भावार्थ—'अकर्मा, दस्यु, अमन्तु, अन्यव्रत, अमानुष' पुरुष ही दास हैं। इनसे भिन्न आर्य हैं। प्रभु कृपा से व राज-प्रयत्न से राष्ट्र में आर्यों का वर्धन व दासों का वध हो।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कामनाओं की पूर्ति

त्वं न इन्द्र शूर शूरैरुत त्वोतासो बर्हणा। पुरुत्रा ते वि पूर्तयो नवन्त क्षोणयो यथा॥ ९॥

(१) हे **शूर**=हमारे शत्रुओं का हिंसन करनेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं नः**=आप ही हमारे हो। **उत**=और **शूरैः**=अध्यात्म में सब आधि-व्याधियों को नष्ट करनेवाले मरुत् संज्ञक प्राणों के द्वारा **बर्हणा**=रोगों व दोषों के **उद्बर्हण**=विनाश से **त्वा**=आप द्वारा **ऊतासः**=रक्षित हुए-हुए हम होते हैं। प्रभु ने शरीर में प्राणों का स्थापन इस रूप में किया है कि यदि हम इनकी साधना करके प्राणशक्ति का वर्धन कर लें तो रोग ही नहीं, ईर्ष्या-द्वेष आदि मानस दोष भी नष्ट हो जाएँगे, और आधि-व्याधियों से शून्य यह जीवन अतिसुन्दर बन जायेगा। (२) हे प्रभो! **यथा**=जैसे **क्षोणयः**=मनुष्य **नवन्त**=आपके समीप आते हैं (नवतिर्गतिकर्मा) उसी प्रकार **ते**=आपकी **पुरुत्रा**=पालक, पूरक व रक्षक **विपूर्तयः**=विशिष्ट रूप से कामनाओं की पूर्तियाँ होती हैं। प्रभु हमारी गलत

इच्छाओं को तो पूर्ण नहीं करते, परन्तु 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' आदि में जिस भी पदार्थ की हम कामना करते हैं प्रभु हमें वे ही पदार्थ देते हैं। इन पदार्थों की आसक्ति से ऊपर उठने पर प्रभु हमें मोक्ष का भी पात्र बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही प्राणशक्ति के द्वारा हमारी नीरोगता की व्यवस्था करते हैं और हमारी सब उचित कामनाओं को वे प्रभु ही पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु द्वारा आलिंगन

त्वं तान्वृ॑त्रहत्ये॑ चोदयो॒ नॄन्का॑र्पा॒णे शू॑र वज्रिवः। गुहा॒ यदी॑ कवी॒नां वि॒शां नक्ष॑त्रशवसाम्॥ १०॥

(१) संस्कृत में 'कृपाण' शब्द तलवार के लिये प्रयुक्त होता है, क्योंकि यह (कृप् सामर्थ्ये) शक्ति को पैदा करती है और (आनयति) उत्साह का संचार करती है। इस तलवार से होनेवाले युद्ध को यहाँ 'कार्पाण' कहा गया है। हे **शूर**=हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले, **वज्रिवः**=क्रियाशीलता रूप वज्र युक्त हाथ वाले प्रभो! **त्वम्**=आप **तान्**=उन **नॄन्**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले लोगों को **वृत्रहत्ये**=ज्ञान पर आवरण रूप से आजानेवाली कामवासना के विनाश के निमित्त **चोदयः**=निरन्तर प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। इन वासनाओं के साथ चलनेवाला संग्राम ही सात्त्विक अध्यात्म संग्राम है। इस संग्राम में प्रभु हमारे उत्साह को बढ़ाते हैं। ठीक तो यह है कि प्रभु कृपा से ही हम इस संग्राम में विजयी होते हैं। (२) हे प्रभो! **यत्**=जब **ई**=निश्चय से उन **विशाम्**=प्रजाओं का जो कि **कवीनाम्**=योग व स्वाध्याय के द्वारा तत्त्वदर्शन का प्रयत्न करते हैं और **नक्षत्रशवसाम्**=(न क्षीयते शवः यासां) भोग-विलास की वृत्ति से बचे रहने के कारण जिन का बल क्षीण नहीं होता, उन प्रजाओं का **गुहा**=(गृह्=Huge, to embrace) आप आलिंगन करते हैं अथवा अपनी गोद में जब इन्हें संवृत कर लेते हैं (गुह् संवरणे) तभी नर व्यक्ति वृत्र का हनन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रेरणा को सुनकर वासना का हनन करते हैं तो तत्त्वज्ञानी व अक्षीणशक्ति बनते हैं और प्रभु के आलिंगन के पात्र होते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शुष्ण के कुल का दंभन

म॒क्षू ता त॑ इन्द्र दा॒नाप्न॑स आक्षा॒णे शू॑र वज्रिवः। यद्ध॒ शुष्ण॑स्य द॒म्भयो॑ जा॒तं विश्वं॑ स॒याव॑भिः॥ ११॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं का संहार करनेवाले! **वज्रिवः**=वज्रयुक्त हाथों वाले **इन्द्र**=सब शत्रुओं के द्रावक प्रभो! **ताः**=वे **दानाप्नसः**=दानरूप कर्म वाली प्रजाएँ **मक्षू**=शीघ्र ही **ते**=आपके **आक्षाणे**=व्यापन में स्थित होती हैं। (२)हे जीव! यह वह स्थिति होती है **यत् ह**=जिसमें कि तू **शुष्णस्य**=विरह संताप से शुष्क करनेवाले काम के **विश्वं जातम्**=सम्पूर्ण अपत्यों को, बीजमात्र को **सयावभिः**=साथ गति करनेवाले प्राणों के द्वारा **दम्भयः**=नष्ट कर देता है। (३) दानशील प्रजाएँ भोगासक्त न होकर प्रभु के व्यापन में स्थित होती हैं। ये प्रजाएँ प्राणसाधना के द्वारा वासना को जड़मूल से उखाड़ देती हैं।

भावार्थ—हम दानशील बनकर प्रभु के व्यापन में स्थित हों और काम को भस्म कर डालें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उत्तम इच्छाओं की पूर्ति

माक्रुध्र्यगिन्द्र शूर वस्वीरस्मे भूवन्नभिष्टयः। वयंवयं तं आसां सुम्ने स्याम वज्रिवः॥ १२॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के व्यापन में स्थित होने पर हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **शूर**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **अस्मे**=हमारी **वस्वीः**=निवास को उत्तम बनानेवाली **अभिष्टयः**=(यन्) यज्ञ क्रियाएँ वा (इष्) इच्छाएँ **मा क्रुध्यग् भूवन्**=कुत्सित गति वाली न हों अर्थात् व्यर्थ न हों। हमारी इच्छाएँ उत्तम हों, जीवन को उत्तम बनाने के दृष्टिकोण से हों और वे इच्छाएँ पूर्ण हों। इसी प्रकार हमारे यज्ञ हमारे निवास को उत्तम बनायें और सफल हों। (२) हे **वज्रिवः**=क्रियाशीलता रूप वज्र युक्त हाथ वाले प्रभो! **वयंवयम्**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाले हम, अर्थात् सदा क्रियाशील रहनेवाले हम **ते**=आपके हों और **आसाम्**=इन इच्छाओं के, पूर्ण होने के कारण, **सुम्ने**=सुख में **स्याम**=हों। क्रियाशील पुरुष की ही इच्छाएँ पूर्ण हुआ करती हैं। और उन 'वस्वी अभिष्टियों' के पूर्ण होने पर मनुष्य सुख का अनुभव करता है।

भावार्थ—हमारी इच्छाएँ उत्तम हों और वे पूर्ण हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सत्य व अहिंसा

अस्मे ता तं इन्द्र सन्तु सत्याहिंसन्तीरुपस्पृशः। विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ताः**=वे **ते**=तेरी **उपस्पृशः**=उपासनाएँ **अस्मे**=हमारे लिये **सत्याः अहिंसन्तीः**=सत्य व अहिंसा वाली हों। आपकी उपासना से मेरे जीवन में सत्य व अहिंसा का वर्धन हो। दूसरे शब्दों में, प्रभु का उपासक सत्य व अहिंसा के व्रतवाला होता है। उसके जीवन में असत्य व हिंसा के लिये स्थान नहीं रहता। सत्य व अहिंसा ही उसके साध्य होते हैं। सत्य व अहिंसा को छोड़कर वह संसार की बड़ी से बड़ी वस्तु को लेने का विचार नहीं करता। (२) ये उपासनाएँ वे हैं **यासाम्**=जिनके **भुजः**=पालनों को **विद्याम**=हम उसी प्रकार प्राप्त करें, हे **वज्रिवः**=वज्रयुक्त हाथों वाले प्रभो! **न**=जैसे **धेनूनाम्**=दुधार गौवों के भुजः=उपभोगों को हम प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—उपासना एक दुधार गौ के समान है, जिसका दूध हमारा उत्तम पालन करते हैं और हमारे जीवनों को सत्य व अहिंसा वाला बनाते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

भोग व अनासक्ति

अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम्। शुष्णं परि प्रदक्षिणिद्विश्वायवे नि शिश्नथः॥ १४॥

(१) **अहस्ता अपदी**=बिना हाथ-पैर वाली भी **क्षाः**=यह पृथिवी **वेद्यानाम्**=(वेद+य) उत्तम ज्ञानियों के **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक किये गये कर्मों से **यद् वर्धत**=जो बढ़ जाती है तो हे प्रभो! आप ही **परि**=चारों ओर व्याप्त होनेवाले 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी को अपना अधिष्ठान बनानेवाले, **प्रदक्षिण् इत्**=अत्यन्त चतुर **शुष्णम्**=इस सुखा देनेवाले काम को **निशिश्नथः**=निश्चय

से नष्ट किया करते हैं जिससे **विश्वायवे**=पूर्ण जीवन को हम प्राप्त कर सकें। (२) पृथ्वी के हाथ-पाँव नहीं है, 'वह स्वयं चलकर हमारे पास आयेगी, और हमें भोग्य वस्तुएँ प्राप्त करायेगी' ऐसी बात नहीं है। इस पृथ्वीरूप गौ को तो ज्ञानपूर्वक श्रम करके ही दोह सकते हैं। ज्ञानपूर्वक श्रम के होने पर यह पृथ्वी हमारे लिये भोग्य पदार्थों को खूब बढ़ानेवाली होगी। (३) उन भोग्य पदार्थों के बढ़ने पर यह बड़ा भारी खतरा उत्पन्न हो जाता है कि हम उन भोगों में फँस न जाएँ। यह भोगासक्ति ही काम्य पदार्थों के उपभोग से अधिकाधिक बढ़ती जाती है और यह हमारे लिये शुष्णासुर बन जाती है। यह कामदेव बड़ा कुशल है, (प्रदक्षिणं) फूलों के ही धनुष से और फूलों के ही बाणों से हमारी सब ज्ञानेन्द्रियों पर इकट्ठा ही आक्रमण करता है, इसी से इसका नाम 'पञ्चबाण' भी हो गया है। इस को तो प्रभु ही मारते हैं, हमारे लिये इसके मारने का सम्भव नहीं होता। (४) इस शुष्ण के समाप्त हो जाने पर ही हमारा जीवन पूर्ण बनता है। काम तो 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी को ही नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा हम इस पृथ्वी से अपने भोग्य पदार्थों को प्राप्त करें। प्रभु स्मरण करते हुए हम उन पदार्थों के प्रति आसक्त न हो जाएँ। और इस प्रकार अनासक्त भाव से चलते हुए हम पूर्ण जीवन को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

महनीय धनों से धनी

पिबापिबेदिन्द्र शूर सोमं मा रिषण्यो वसवान वसुः सन्।
उत त्रायस्व गृणतो मघोनो महश्च रायो रेवतस्कृधी नः ॥ १५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **शूर**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **सोमं**=सोम को **पिबा पिबा**=अवश्य हमारे शरीर में ही व्याप्त कीजिये। इस सोम=वीर्य के शरीर में व्याप्त होने पर ही हम पूर्ण जीवन वाले बन सकेंगे। **मा रिषण्यः**=हे प्रभो! हमें हिंसित मत करिये। सोम के शरीर में व्याप्त होने पर हिंसित होने का प्रश्न नहीं रहता। (२) हे **वसवान**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **वसुः सन्**=सब के निवासक होते हुए आप **गृणतः**=स्तुति करनेवाले **उत**=और **मघोनः**=(मघ व्रत:, मघ, मख)=यज्ञशील हम लोगों का **त्रायस्व**=रक्षण करिये। **च**= और **महः रायः**=महनीय धनों से **नः**=हमें **रेवतः**=रयि व धनों वाला **कृधी**=करिये। प्रभु के स्तवन का यह परिणाम होता है कि हम ऐश्वर्यशाली होकर उस ऐश्वर्य का विनियोग यज्ञों में करते हैं, उन धनों के कारण भोगासक्त नहीं हो जाते।

भावार्थ—सोमरक्षण हमारे जीवनों को देव-जीवन बना देता है।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि ऋषि लोग हृदयदेश में प्रभु का ध्यान करते हैं। (१) प्रभु 'वज्री व ऋचीषम' हैं, (२) वे बल के स्वामी हैं, (३) प्रभु के प्रिय वे ही होते हैं जो कि इन्द्रयाश्वों को विरोचमान मार्ग से ले चलते हैं, (४) यह ठीक है कि इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रबल हैं, (५) पर, इन का संयम करके ही हम प्रभु-दर्शन कर पायेंगे, (६) तभी अमानुषभावों को दूर करके मनुष्य बनेंगे, (७) हमें दास वृत्ति का दमन करना चाहिये, (८) सब कामनाओं के पूरक प्रभु ही हैं, (९) हम तत्त्वज्ञानी व अक्षीशक्ति बनकर ही प्रभु प्रिय होते हैं, (१०) दान की वृत्ति हमें प्रभु का प्रिय बनाती है, (११) प्रभु-भक्तों की इच्छाएँ उत्तम होती हैं, और अवश्य पूर्ण होती हैं, (१२) प्रभु उपासक सत्य व अहिंसा का व्रत लेता है, (१३) उसके भोग बढ़ते हैं, पर वह

उनमें फँसता नहीं, (१४) यह महनीय धनों से धनी होता है, (१५) सो हम उस प्रभु का यजन करें।

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

झटक कर झाड़ देना

यजा॑मह॒ इन्द्रं॒ वज्र॑दक्षिणं॒ हरी॑णां र॒थ्यं१॒ विव्र॑तानाम्।
प्र श्मश्रु॒ दोधु॑वदू॒र्ध्वथा॑ भूद्वि सेना॑भि॒र्दय॑मानो॒ वि राध॑सा ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यजामहे**=हम पूजते हैं अथवा अपने साथ संगत करते हैं अथवा उसके प्रति अपना अर्पण करते हैं (यज्, पूजा, संगतिकरण, दान) जो प्रभु **वज्रदक्षिणम्**=क्रियाशीलता में दक्षिण हैं, कुशलता से कार्यों को करनेवाले हैं। जो प्रभु **विव्रतानाम्**=विविध व्रतों वाले, भिन्न-भिन्न कार्यों को करनेवाले **हरीणाम्**=इन्द्रियाश्वों के **रथ्यम्**=शरीर रूप रथ में जोतने में उत्तम हैं। जिन्होंने इन विविध कार्यशक्ति सम्पन्न इन्द्रियाश्वों को इस शरीर रूप रथ में जोता है। (२) ये प्रभु ही **श्मश्रु**=(श्मनि शरीरे श्रितं) शरीर के आश्रय से रहनेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि को **प्रदोधुवत्**=प्रकर्षेण कम्पित करनेवाले हैं। झाड़कर उनकी मैल को दूर करनेवाले हैं **ऊर्ध्वथा भूत्**=सदा ऊपर विद्यमान हैं, अर्थात् हमारे रक्षण के लिये सावधानता से खड़े हैं। इस रक्षण कार्य में प्रभु कभी प्रमाद नहीं करते। (३) ये प्रभु **सेनाभिः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणों व पाँच अन्तरिन्द्रियों (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय) की सेनाओं से **वि-दयमानः**=(देङ् रक्षणे) हमारा विशेषरूप से रक्षण करते हैं। **वि राधसा**=सब संसारिक आवश्यकताओं को सिद्ध करनेवाले धन के द्वारा भी वे प्रभु हमें रक्षण प्राप्त कराते हैं। हमें उस धन की प्रभु कमी नहीं होने देते, जो कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक है।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु हमारे इन्द्रियादि के मल को दूर करते हैं, सदा हमारे रक्षण के लिये उद्यत हैं और हमें उन्नति के अध्यात्म साधनों को तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन को देते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वासना का समूल विनाश

हरी॒ न्व॑स्य॒ या वने॑ वि॒दे वस्विन्द्रो॑ म॒घैर्म॒घवा॑ वृत्र॒हा भु॑वत्।
ऋ॒भुर्वाज॑ ऋ॒भुक्षाः॑ पत्यते॒ शवो॑ऽव॑ क्ष्णौमि॒ दास॑स्य॒ नाम॑ चित् ॥ २ ॥

(१) ये मेरे **हरी**=इन्द्रियाश्व, **या**=जिनको कि मैं **वने**=(win) विजय करता हूँ, **नु**=अब **अस्य**=इस प्रभु के हैं, अर्थात् अब ये इन्द्रियाँ विषयाभिमुख न होकर प्रभु-प्रवण हो गयी हैं। वस्तुतः ऐसा होने पर ही मैं **वसु विदे**=वास्तविक धन को प्राप्त करता हूँ। (२) वह **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु जो कि **मघैः मघवा**=सब ऐश्वर्यों से ऐश्वर्य-सम्पन्न है, **वृत्रहा भुवत्**=वासना का नष्ट करनेवाला होता है। प्रभु प्रवणता से ही वासनाओं का विनाश होता है। (३) ये प्रभु **ऋभुः**=ऋत से दीप्त हैं, ये ही सृष्टि निर्माण कर रहा है। **वाजः**=वे

प्रभु शक्ति के पुञ्ज हैं। वस्तुतः ऋत में ही शक्ति है। जब प्रभु ऋत से चमकते हैं तो उन्हें शक्ति का पुञ्ज होना ही चाहिए। **ऋभुक्षाः**=वे प्रभु महान् हैं। अथवा ऋत से चमकने वालों में ही निवास करनेवाले हैं (ऋभु+क्षि)। जब हम अपने जीवन को नियमित बनाते हैं तो हम अपने को प्रभु का अधिष्ठान बनाते हैं। वे प्रभु **शवः पत्यते**=सब बलों के स्वामी हैं। सो जब भी हम अपने हृदयों में प्रभु को प्रतिष्ठित करेंगे तो हमारे में भी उस बल का संचार होगा। (४) इस प्रभु के बल से बल सम्पन्न होकर मैं **दासस्य**=इस विनाशक 'काम' नामक आसुरवृत्ति के **नाम चित्**=(नम्यते ऽनेन) शिरः सा=सिर को ही **अव क्ष्णौमि**=सुदूर हिंसित करता हूँ अथवा इस वृत्त के नाम को भी नष्ट कर डालता हूँ। इसको नामावशेष भी नहीं रहने देता।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को जीतकर प्रभु-प्रवण बनायें। यही जीवन को उत्तम बनाने का मार्ग है। इससे हम प्रभु शक्ति-सम्पन्न होकर वासना को समूल नष्ट कर देंगे।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

हिरण्य वज्र

यदा वज्रं हिरण्यमिदथा रथं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः।
आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः ॥ ३ ॥

(१) **यदा**=जब **वज्रम्**=हमारी क्रियाशीलता **हिरण्यम्**=स्वर्णीय होती है, हितरमणीय होती है, अथवा जब हमारी सब क्रियाएँ स्वर्णीय मध्य से (Golden means) होती हैं, अर्थात् हम सोने-जागने व खाने-पीने आदि सब क्रियाओं में मध्य मार्ग का अवलम्बन करते हैं, **अथा इत्**=तब ही **रथम्**=हमारे शरीर रूप रथ को **हरी**=ये इन्द्रियाश्व **यमस्य**=उस नियन्ता प्रभु की ओर **वहतः**=ले चलते हैं। (२) उस समय **मघवा**=ऐश्वर्यों व यज्ञों वाला होकर **सनश्रुतः**=सनातन वेदज्ञानवाला होता हुआ **वि सूरिभिः**=विशिष्ट ज्ञानियों के साथ **आतिष्ठति**=सर्वथा स्थित होता है। प्रभु-प्रवण व्यक्ति के ये लक्षण हैं—(क) ऐश्वर्य का यज्ञों में विनियोग (मघवा), (ख) ज्ञान (सनश्रुतः), (ग) सत्संग रुचि। (३) यही व्यक्ति **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय व ऐश्वर्य-सम्पन्न होता है, **वाजस्य**=बल का तथा **दीर्घश्रवसः**=तामस व राजस वासनाओं के विदारक ज्ञान का **पतिः**=स्वामी होता है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त हितरमणीय क्रियाओं वाला होता है, बल व ज्ञान का पति होता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

सुक्षयम् (उत्तम गृह)

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते।
अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा वनम् ॥ ४ ॥

(१) **स उ**=और वह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **चित् नु**=निश्चय से अब **वृष्टिः**=सब पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। यह प्रभु-भक्त सर्वभूत हितरत हो जाता है और **स्वा**=अपने **यूथ्या**=यूथ में, समूह में होनेवाले ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण व अन्तःकरण के पञ्चकों को **सचान्**=उस प्रभु से मेल वाला करता है (षच समवाये)। (२) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **श्मश्रूणि**=शरीर में आश्रित इन्द्रियों, मन व बुद्धि को **हरित**=मलों का हरण करनेवाले सोम

(वीर्य) कणों से **अभिप्रुष्णुते**=सींचता है। सोम के रक्षण से इसकी ऊर्ध्वगति होकर यह शरीर में व्याप्त होता है। शरीर को तो यह नीरोग बनाता है, मन को निर्मल तथा बुद्धि को यह तीव्र करता है। (३) इस प्रकार इस सोम के रक्षण व सोम के द्वारा 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' के सेचन से यह **सुक्षयम्**=उत्तम शरीररूप गृह को **अव वेति**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है। (४) **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **मधु**=यह सब भोजन के रूप में खायी हुई ओषधियों का सारभूत सोम **इत्**=निश्चय से **उत् धूनोति**=सब मलों को इस प्रकार कम्पित कर देता है **यथा**=जैसे **वातः**=वायु **वनम्**=वन को। वायु से पत्ते हिलते हैं और उनपर पड़ी हुई मट्टी कम्पित होकर दूर हो जाती है, इसी प्रकार सोम शरीर में व्याप्त होकर सब इन्द्रियों, मन व बुद्धि को निर्मल कर देता है।

भावार्थ—सोम शरीर में सुरक्षित होकर शरीर को निर्मल बनानेवाला होता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कर्मवीर न कि वाग्वीर

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः॥ ५॥

(१) **यः**=जो प्रभु **वाचा**=इस वेदवाणी के द्वारा **विवाचः**=विरुद्ध वाणी वाले अथवा बड़ा बोलनेवाले तथा **मृध्रवाचः**=हिंसायुक्त वाणी वाले, अर्थात् कटुभाषी **पुरू सहस्रा**=अनेक हजारों **अशिवा**=अकल्याणकर शत्रुओं को **जघान**=नष्ट करता है। वेदवाणी में उपदेश देकर प्रभु मनुष्य को 'बहुत बोलने से तथा कड़वा बोलने से' रोकते हैं। वस्तुतः इस प्रकार बहुत व कड़वा बोलनेवाले व्यक्ति संसार में कर्मवीर नहीं हुआ करते। (२) कर्मवीर बनने के लिये हम **अस्य**=इस वेदोपदेश देनेवाले प्रभु के **तत् तत्**=उस-उस **पौंस्यम्**=वीरतायुक्त कर्म का **इत्**=निश्चय से **गृणीमसि**=स्तवन करते हैं। प्रभु के इन वीरतायुक्त कर्मों का स्तवन हमें भी वीरतापूर्ण कर्मों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है। (३) जब हम इस प्रकार वीर बनकर के कर्म करने का संकल्प करते हैं तो वे प्रभु उस **पिता इव**=पिता की तरह होते हैं **यः**=जो कि **तविषीं**=(अपने पुत्रों के) बल को तथा बल के द्वारा **शवः**=क्रियाशीलता को **वावृधे**=बढ़ाते हैं। प्रभु कृपा से हमारी शक्ति में वृद्धि होती है और हम क्रियाशील बनते हैं।

भावार्थ—हम असंगत बहुत प्रलापों को तथा हिंसयुक्त वाणियों को छोड़कर वीरतापूर्ण कर्मों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

अद्भुत स्तवन

स्तोमं त इन्द्र विमदा अजीजनन्नपूर्व्यं पुरुतमं सुदानवे।
विद्मा ह्यस्य भोजनमिनस्य यदा पशुं न गोपाः करामहे॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=शक्तियुक्त कर्मों के करनेवाले प्रभो! **विमदाः**=मदशून्य व्यक्ति **सुदानवे**=उत्तम दानी व (दाप् लवने) पापों का खण्ड का खण्डन करनेवाले व (दैप शोधने) हमारे जीवनों को शुद्ध करनेवाले **ते**=तेरे लिये **अपूर्व्यं**=अद्भुत, इस स्वकर्म में निरत होने के द्वारा होनेवाले (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य) **पुरुतमम्**=अधिक से अधिक लोकों का पालन व पूरण करनेवाले **स्तोमम्**=स्तुति को

अजीजनन्=उत्पन्न करते हैं। अर्थात् कर्मों द्वारा आपकी अर्चन करते हैं। (२) इन कर्मों द्वारा होनेवाले स्तवन को यहाँ 'अपूर्व्य' कहा है। इस स्तवन में किसी शब्द का उच्चारण नहीं होता। बिना ही शब्दों के उच्चारण के चलनेवाला यह स्तवन प्रभु को अत्यन्त प्रिय है। इस स्तवन को 'विमद' ही कर पाते हैं। 'उत्तम कर्मों को करना और उन्हें परमेश्वरार्पण करते जाना' यह विमद का कार्यक्रम है। ये विमद प्रभु के आदेश के अनुसार यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहते हैं और प्रभु कृपा से इनका योगक्षेम ठीक प्रकार से चलता है। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि **अस्य इनस्य**=इस ब्रह्माण्ड के स्वामी के **भोजनम्**=भोजन को, प्रभु से दिये गये भोजन को **हि**=निश्चय से **विद्म**=जानते हैं। हमें यह तो निश्चय है कि हम कर्तव्यपालन करेंगे तो प्रभु भोजन अवश्य प्राप्त करायेंगे ही। यह होता तब है **यदा**=जब कि **पशुं न गोपाः**=पशु के लिये जैसे ग्वाला होता है, इसी प्रकार हम अपने लिये उस प्रभु को **करामहे**=करते हैं। हम भेड़े बनते हैं और प्रभु 'मेषपाल' हम बकरियाँ तो प्रभु 'अजपाल' हम गौवें तो प्रभु 'गोपाल'। प्रभु हमारे चरवाहे हैं, वे हमें चारा देते ही हैं।

भावार्थ—लोकहित के कार्यों में लगे हुए हम प्रभु के सच्चे स्तोता बनते हैं। प्रभु गोपाल हैं, तो हम उनकी गौवें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

(इन्द्र व विमद की) अटूट मित्रता

मार्किर्न एना सख्या वि यौषुस्तव चेन्द्र विमदस्य च ऋषेः।
विद्मा हि ते प्रमतिं देव जामिवदस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तव**=आपकी **च**=और **ऋषेः विमदस्य**=तत्त्वज्ञानी विमद की **एना**=ये **सख्या**=मित्रताएँ **नः**=हमारे लिये **माकिः वियौषुः**=मत नष्ट हों। ये मित्रताएँ हमारे लिये कल्याणकर हों। हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों और निरभिमान तत्त्वज्ञानियों के सम्पर्क में रहनेवाले हों। (२) हे **देव**=प्रकाशमान प्रभो! हम **हि**=निश्चय से **ते**=आपकी **प्रमतिम्**=प्रकृष्ट कल्याणी मति को **विद्म**=जानें। **जामिवत्**=जैसे एक बहिन भाई की प्रमति को प्राप्त करती है अथवा जैसे एक बन्धु अपने बड़े बन्धु की सुमति को प्राप्त करता है। (३) **अस्मे**=हमारे लिये **ते**=आपकी **सख्या**=मित्रताएँ **शिवानि**=कल्याणकर **सन्तु**=हों। आपकी मित्रता में हमारे अकल्याण का सम्भव ही कहाँ? वस्तुतः प्रभु की मित्रता अभिमानशून्य पुरुषों के साथ ही होती है। ये निरभिमानी सदा प्रभु के चरणों में अपने कर्मों का प्रणिधान करते हैं। यह प्रणिधान उन्हें अहंकार से दूर करता है। निरहंकारता उन्हें प्रभु जैसा बना देती है।

भावार्थ—हम विमद बनें, कर्मों द्वारा प्रभु का अर्चन करें। हमारी मित्रताएँ अनश्वर हों।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम क्रियाकुशल प्रभु का पूजन करते हैं। (१) हम इन्द्रियों को जीतकर प्रभु-प्रवण बनायें, (२) प्रभु-भक्त हितरमणीय क्रियाओं वाला होता है, (३) यह अपने शरीर में सोम को सुरक्षित करके इसे निर्मल बनाता है, (४) हम वाग्वीर न बनकर सदा कर्मवीर बनें, (५) प्रभु गोपाल हों तो हम उनकी गौवें, (६) प्रभु के साथ हमारी मित्रता कभी नष्ट न हो, (७) इस मित्र का मौलिक प्रेरण यही है कि सोम का पान करो।

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मधुमन्तं चमूसुतम्

इन्द्र सोममिमं पिब मधुमन्तं चमू सुतम्।
अस्मे रयिं नि धारय वि वो मदे सहस्त्रिणं पुरूवसो विवक्षसे॥ १॥

(१) प्रभु अपने मित्र जीव को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **इमं सोमं पिब**=इस सोम को तू शरीर में ही पीने का प्रयत्न कर। आहार से रस रुधिरादि क्रम से उत्पन्न हुआ-हुआ यह **सोम**=वीर्य तेरे शरीर में ही व्याप्त हो जाए। **मधुमन्तम्**=यह अत्यन्त माधुर्य वाला है। शरीर में नीरोगता को, मन में निर्द्वेषता को तथा बुद्धि में तीव्रता को जन्म देकर यह हमारे जीवनों को अतिशयेन मधुर बना देता है। **चमूसुतम्**=(चम्वोः द्यावापृथिव्योः=मस्तिष्क व शरीर) यह सोम चमुओं, द्यावापृथिवियों, मस्तिष्क व शरीर के निमित्त ही पैदा किया गया है। शरीर को यह सब रोगों से बचाता है, और मस्तिष्क की तीव्रता को सिद्ध करता है। (२) प्रभु कहते हैं **वः**=तुम्हारे **विमदे**=विशिष्ट आनन्द के निमित्त **अस्मे**=हमारे **सहस्त्रिणम्**=हजारों की संख्या वाले अथवा प्रसन्नता को जन्म देनेवाले (स+हस्) **रयिम्**=धन को **निधारय**=निश्चय से धारण कर अथवा नम्रता से धारण कर। तुझे यह धन तो प्राप्त हो, परन्तु यह धन तुझे गर्वित न कर दे। (३) **पुरूवसो**=हे पालन व पूरण के लिये वसु=धन को प्राप्त करनेवाले जीव! तू **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये हो (वक्ष To grow) धन को प्राप्त करके तू धन का विनियोग इस प्रकार से कर कि यह धन जहाँ तेरे शरीर का पालन करे, उसे रोगाक्रान्त न होने दे, वहाँ तेरे मन का यह पूरण करनेवाला हो, तेरे मन में किसी प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष आदि की अवाञ्छनीय भावनाएँ न उत्पन्न हो जाएँ।

भावार्थ—हम वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करें, यह हमारे जीवन को मधुर बनायेगा। हम धन को भी धारण करें, जो हमारे शरीर के पालन व पूरण का साधन बने।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्पङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'श्रेष्ठ वार्य' धन

त्वां यज्ञेभिरुक्थैरुप हव्येभिरीमहे।
शचीपते शचीनां वि वो मदे श्रेष्ठं नो धेहि वार्यं विवक्षसे॥ २॥

(१) गत मन्त्र में दी गई प्रभु प्रेरणा को सुनकर जीव प्रभु से कहता है कि हे प्रभो! **त्वाम्**=आप को **यज्ञेभिः**=देव-पूजनों से अर्थात् 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार माता, पिता, आचार्य व अतिथियों के आदर से ज्ञान प्राप्ति के द्वारा तथा **उक्थैः**=स्तुति-वचनों से स्तवन के द्वारा और **हव्येभिः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **उप ईमहे**=समीप प्राप्त होकर आराधना करते हैं। प्रभु का आराधन देव-पूजन, स्तवन व हव्य के सेवन से होता है। ये तीन ही बातें ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड व कर्मकाण्ड कहलाती हैं। (२) **शचीनां शचीपते**=प्रज्ञाओं (नि० ३।९) व शक्तियों के पति प्रभो! **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द के निमित्त **नः**=हमारे लिये **श्रेष्ठं वार्यं**=उत्तम

वरणीय धन को **धेहि**=धारण कीजिये जिससे **विवक्षसे**=हम विशिष्ट उन्नति को कर सकें। श्रेष्ठ वरणीय धन वही है जो हमारी उन्नतियों का कारण बनता है, हमें प्रज्ञा व शक्ति सम्पन्न बनाकर प्रभु के समीप ले चलनेवाला होता है।

भावार्थ—हम 'यज्ञों, उक्थों व हव्यों' से प्रभु का आराधन करें। शक्ति व प्रज्ञा को प्राप्त करें तथा उस श्रेष्ठ वरणीय धन को प्राप्त करें जो कि हमारी उन्नति व हर्ष का कारण बने।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शङ्कुमती पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्वेष व पाप से परे

यस्पतिर्वार्याणामसि रध्रस्य चोदिता ।
इन्द्र स्तोतॄणामविता वि वो मदे द्विषो नः पाह्यंहसो विवक्षसे ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! **यः**=जो आप **वार्याणाम्**=सब वरणीय वस्तुओं के **पतिः असि**=स्वामी हैं, **रध्रस्य**=आराधक व स्तोता को **चोदिता**=उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाले हैं, हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप ही **स्तोतॄणाम्**=अपने स्तोताओं के **अविता**=अपने दिव्यांश के पूरण के द्वारा (promote) उन्नत करनेवाले हैं। प्रभु अपने स्तोताओं को (क) वरणीय धन प्राप्त कराते हैं, (ख) उन धनों के उचित विनियोग की प्रेरणा देते हैं, (ग) और इस प्रकार उन्हें उन्नत करते हैं। (२) हे प्रभो! **वः**=आप के **विमदे**=प्राप्ति के आनन्द के निमित्त **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेषों से तथा **अंहसः**=पापों से **पाहि**=बचाइये। द्वेष व पाप से ऊपर उठकर ही तो हम आप को प्राप्त कर सकते हैं। **विवक्षसे**=आप ऐसी कृपा कीजिये कि हम विशिष्ट उन्नति वाले हो सकें। आपकी प्रेरणा को सुनकर निर्द्वेषता व निष्पापता के मार्ग पर चलेंगे तो हम सब प्रकार से उन्नति क्यों न करेंगे?

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें वरणीय धन प्राप्त हो। हम प्रभु की आराधना करें जिससे हमें प्रभु प्रेरणा प्राप्त हो। हम द्वेष व पाप से ऊपर उठकर प्रभु रक्षण के अधिकारी बनें। यह उन्नति का मार्ग ही हमारा मार्ग हो।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शक्ति, प्रज्ञा, सम्यक् कर्म व प्रभु-दर्शन

युवं शक्रा मायाविना समीची निरमन्थतम् । विमदेन यदीळिता नासत्या निरमन्थतम् ॥ ४ ॥

(१) प्राणापान 'अश्विनौ' कहलाते हैं क्योंकि 'न श्वः' ये आज हैं तो कल नहीं है, अस्थिरता के कारण इन्हें 'अश्विनौ' कहा गया है। अथवा 'अशू व्याप्तौ' ये कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं। कर्मों में व्याप्ति के कारण ये 'अश्विनौ' हैं। प्राणापान, शक्ति-सम्पन्न पुरुष ही आलस्य को परे फेंककर कार्यों में व्यावृत होता है। हे अश्विनौ! **युवम्**=आप दोनों **शक्रा**=शक्ति-सम्पन्न हो। शरीर में सारी शक्ति के कोश ये प्राणापान ही हैं। **मायाविना**=आप प्रज्ञा-सम्पन्न हो। प्राणसाधना से ही बुद्धि की सूक्ष्मता सिद्ध होती है। **समीची**=(सम्+अञ्च्) सम्यक् गति वाले आप हो। प्राणसाधना से सब मलों के दूर होने से कर्मों में भी पवित्रता आ जाती है। एवं प्राणसाधना के तीन लाभ यहाँ संकेतित हैं—(क) शक्ति की वृद्धि, (ख) प्रज्ञा-प्रसाद, (ग) कर्मों का सम्यक्त्व। (२) ऐसे प्राणापानो! आप **निरमन्थतम्**=जैसे दो अरणियों के मन्थन से अग्नि प्रकट होती है, इसी प्रकार आप उस प्रभुरूप अग्नि का हमारे हृदयों में प्रकाश करो। (३) **विमदेन**='शक्ति प्रज्ञा व उत्तम कर्मों' को सिद्ध करके भी मद=(गर्व) शून्य स्थिति वाले ऋषि से **यद्**=जब **ईळिता**=आप उपासित होते

हो तो हे **ना सत्या**=(नासा+त्य) नासिका में निवास करनेवाले (न+असत्या) सब असत्यों को नष्ट करके सत्य को दीप्त करनेवाले प्राणापानो! आप **निरमन्थतम्**=मेरे में प्रभु रूप अग्नि को अवश्य उद्बुद्ध करो। एवं प्राणसाधना का चौथा लाभ यह है कि असत्य को समाप्त करके ये सत्य प्रभु का दर्शन करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के द्वारा अपने में 'शक्ति-प्रज्ञा-कर्मपवित्रता' का सम्पादन करके प्रभु-दर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

देवों का शक्ति-सम्पन्न होना

विश्वे॑ दे॒वा अ॑कृपन्त समी॒च्योर्नि॒ष्पत॑न्त्योः। नास॑त्यावब्रुवन्दे॒वाः पुन॒रा व॑हता॒दिति॑॥ ५॥

(१) जब 'अश्विनौ' अर्थात् प्राणापान अन्दर आते हैं और बाहर जाते हैं तो **समीच्योः**=(सम्+अञ्च्) इन प्राणापानों के शरीर से संगत होने पर तथा **निष्पतन्त्योः**=बाहर जाने पर अर्थात् इन प्राणापान के विधारण व प्रच्छर्दन से **विश्वेदेवाः**=चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप में स्थित सब देव **अकृपन्त**=(कृपू सामर्थ्ये) शक्तिशाली बनते हैं। प्राणसाधना से सब इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। इसी में 'सु-ख' है। सब इन्द्रियों के स्वस्थ होने से जीवन का कार्यक्रम सुन्दरता से चलता है। (२) अब **देवाः**=ये देव **नासत्यौ**=इन प्राणापानों से **अब्रुवन्**=कहते हैं कि आप **पुनः**=फिर **आवहतात् इति**=हमें सब प्रकार से हमारे घर में प्राप्त करानेवाले होइये। अर्थात् आप की कृपा से हम फिर अपने मूल गृह 'ब्रह्मलोक' में पहुँच सकें। यह जीवन सुन्दरता से बीतेगा, तभी तो हम मोक्ष के भी अधिकारी समझे जाएँगे।

भावार्थ—प्राणापान के शरीर में आने-जाने की क्रिया से सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं। और ये प्राणापान ही अन्ततः हमें मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मोक्ष-प्रवण पुरु का जीवन

मधु॑मन्मे प॒राय॑णं॒ मधु॑म॒त्पुन॒राय॑नम्। ता नो॑ देवा दे॒वत॑या यु॒वं मधु॑मतस्कृतम्॥ ६॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो पुरुष प्राणसाधना से सब इन्द्रियों को सशक्त बनाकर मोक्ष मार्ग की ओर चलता है उस पुरुष के जीवन में माधुर्य होता है। इसकी कामना यह होती है कि **मे**=मेरा **परायणं**=बाहर जाना **मधुमत्**=माधुर्य को लिये हुए हो। **मे**=मेरा **पुनः**=फिर **आयनम्**=आना-लौटना **मधुमत्**=मिठास वाला हो। मेरा आना-जाना, इसी प्रकार उठना-बैठना, बोलना-चालना सभी कुछ मधुर ही हो। मेरी सब क्रियाएँ मिठास को लिये हुए हों। (२) हे **देवा**=दिव्यगुणों वाले प्राणापानो! **ता युवम्**=वे आप दोनों **नः**=हमें **देवतया**=उस देवता के हेतु से, अर्थात् प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से **मधुमतः**=माधुर्य वाला **कृतम्**=कर दीजिये। प्रभु को वही प्राप्त करता है जो कि अपने में माधुर्य को भरता है। यह माधुर्य प्राणसाधना से ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन मधुर बनता है। मधुर जीवन ही हमें प्रभु को प्राप्त कराता है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम सोम का रक्षण करें, यह हमारे जीवन को मधुर बनायेगा। (१) हम यज्ञों, उक्थों व हव्यों से प्रभु का आराधन करें, प्रभु हमें वार्य धन प्राप्त

करायेंगे, (२) हम द्वेष व पाप से ऊपर उठकर प्रभुरक्षण के पात्र बनें, (३) प्राणसाधना से हमें 'शक्ति, प्रज्ञा व कर्म-पवित्रता' प्राप्त होगी, (४) प्राणापान की गति से ही इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं, (५) इस प्राणसाधना से ही जीवन मधुर बनता है, (६) अब प्रभु कृपा से हमारा मन भद्र मार्ग का ही आक्रमण करता है।

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

भद्र-दक्ष-क्रतु

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम्।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन्गावो न यवसे विवक्षसे ॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **नः**=हमारे **मनः**=मन को **भद्रम्**=कल्याण की **अपि**=ओर **वातय**=प्रेरित कीजिये। हमारा मन सदा शुभ कर्मों में ही प्रवृत्त हो। दुरितों से दूर, भद्र के समीप हम सदा रहें। (२) **दक्षम्**=हमारे मन को **दक्ष**=उन्नति की ओर आप प्रेरित करिये। हमारा यह मन कभी अवनति की ओर न जाये। अथवा कार्यों को हम दक्षता से करनेवाले हों, हमारे कार्यों में अनाड़ीपन न टपके। कर्मों को कुशलता से करना ही तो योग है। हम इस योग को सिद्ध कर सकें। (३) **उत**=और **क्रतुम्**=हमारे मनों को आप यज्ञ की ओर प्रेरित करिये। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'=यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। हमारा मन सदा इन उत्तम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त रहे। एवं 'भद्र, दक्ष व क्रतु' ये हमारे ध्येय बन जायें। (४) **अधा**=अब मन की इस साधना के बाद **ते सख्ये**=आपकी मित्रता में तथा **अन्धसः**=आध्यानीय सोम (=वीर्य) के) **वि-मदे**=विशिष्ट मद (=हर्ष) में **वः रणन्**=हमारी इन्द्रियाँ आपके ही नामों का उच्चारण करें। इन इन्द्रियों का आपके स्तवन की ओर इस प्रकार रुझान हो कि **न गावः यवसे**=जिस प्रकार गौवें चारे की ओर झुकाव वाली होती हैं। गौवों का अपने हरे-भरे चारे की ओर झुकाव स्वाभाविक है, इसी प्रकार हमारी इन्द्रियाँ स्वभावतः आप की ओर झुकें। (५) यह सब हम इसलिये चाहते हैं कि **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति की साधना कर सकें। उन्नति का मार्ग यही है कि हम प्रकृति-प्रवण न होकर आप की ओर झुकाव वाले हों। यह आपके नामों का उच्चारण हमारे सामने हमारे जीवन के लक्ष्य को स्थापित करेगा और हम निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले होंगे।

भावार्थ—हमारा मन 'भद्रता, दक्षता व क्रतु' की ओर प्रेरित हो। हम प्रभु के मित्र हों, सोम का रक्षण करें और हमारी इन्द्रियाँ प्रभु नामों का उच्चारण करें जिससे हम उन्नत ही उन्नत होते चलें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

पर-वैराग्य

हृदिस्पृशस्त आसते विश्वेषु सोम धामसु।
अधा कामा इमे मम वि वो मदे वि तिष्ठन्ते वसूयवो विवक्षसे ॥ २ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त प्रभो! गत मन्त्र के अनुसार आपके मित्र बननेवाले तथा सोम का रक्षण करनेवाले लोग **ते**=आपके **हृदिस्पृशः**=हृदय को स्पर्श करनेवाले होते हैं, अर्थात् आपको अत्यन्त

प्रिय होते हैं। ते=वे आपके **विश्वेषु धामसु**=सब तेजों में **आसते**=स्थित होते हैं। आपके तेज के अंश से तेजस्वी बनते हैं, आपकी दिव्यता का उनमें अवतरण होता है। (२) इस दिव्यता के अवतरण के होने पर **अधा**=अब **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में **मम**=मेरे **इमे**=ये **वसूयवः**=धन प्राप्ति के साथ सम्बद्ध **कामाः**=काम **वितिष्ठन्ते**=रुक जाते हैं। 'तत्परं पुरुख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्' इस योगसूत्र के अनुसार प्रभु का आभास होने पर संसार की तृष्णा ही नहीं रह जाती और यही 'पर-वैराग्य' है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विमद' भी प्रभु की तेजस्विता का अनुभव करने पर इन सांसारिक कामनाओं से ऊपर उठ जाता है। (३) इनसे ऊपर उठकर ही वह **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिए समर्थ होता है। कामासक्ति उत्थान की प्रतिबन्धिका होती है, निष्कामता ही सब उत्थानों का मूल है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाला ही सच्चा प्रभु का प्रिय बनता है, प्रभु के तेज से तेजस्वी होता है और इसको सांसारिक वासनाएँ नहीं तृप्त करती।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीनिचृत्पङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

परमात्म-प्रेप्सा (प्राप्ति की कामना)

उत व्रतानि सोम ते प्राहं मिनामि पाक्या ।
अधा पितेव सूनवे वि वो मदे मृळा नो अभि चिद्वधाद्विवक्षसे ॥ ३ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त प्रभो! **अहम्**=मैं गत मन्त्र के अनुसार धन-सम्बन्धी कामनाओं से तो ऊपर उठता ही हूँ, **उत**=और **ते व्रतानि**=आपके व्रतों को, आपकी प्राप्ति के साधनभूत व्रतों को **पाक्या**=परिपक्व बुद्धि से **प्रमिनामि**=(प्रकर्षेण करोमीत्यर्थः सा०)=खूब ही सम्पादित करता हूँ मैं आपका ज्ञान भक्त बनता हूँ। बुद्धि की परिपक्वता से सृष्टि के एक-एक पदार्थ में आपकी महिमा को देखता हूँ, और प्रत्येक पदार्थ को आपका स्तवन करता हुआ अनुभव करता हूँ। (२) **अधा**=अब तो **इव पिता सुनवे**=जैसे पिता पुत्र के लिये उसी प्रकार **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में, **नः**=हमें **अभि चित्**=दोनों ओर ही, अर्थात् अन्दर और बाहर **वधात्**=वध से, अर्थात् आन्तर व बाह्य शत्रुओं के विनाश से **मृडा**=सुखी कीजिए। आपकी शक्ति से ही शत्रुओं का नाश होता है, विशेषतः इन कामादि अन्तःशत्रुओं का नाश मेरी ही शक्ति से नहीं होनेवाला। इन्हें तो आप ही मेरे लिये विजय करेंगे। जिससे **विवक्षसे**=मैं विशिष्ट उन्नति के लिये समर्थ हो सकूँ।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए साधनभूत व्रतों का आचरण करता हुआ मैं प्रभु को प्राप्त करूँ, प्रभु मेरे शत्रुओं का संहार कर मेरी उन्नति के साधक बनें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीनिचृत्पङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

परमात्म प्राप्ति व क्रतु-धारण

समु प्र यन्ति धीतयः सर्गासोऽवताँइव ।
क्रतुं नः सोम जीवसे वि वो मदे धारया चमसाँइव विवक्षसे ॥ ४ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त प्रभो! अब तो मेरी **धीतयः**=ध्यान वृत्तियाँ व स्तुतियाँ **उ**=निश्चय से **सं प्रयन्ति**=आपकी ओर ही आती हैं, उस प्रकार स्वभाविक रूप से तथा प्रबलता से आती हैं

इव=जिस प्रकार **सर्गासः**=खूटों से खोली गई गौवें (विसृज्यन्ते उदक पानार्थम् सा०) **अवतान्**=कूओं की ओर आती हैं। प्यास की प्रबलता के कारण उन्हें कूएँ की ओर जाने के सिवाय कुछ रुचता ही नहीं इसी प्रकार मेरी ध्यानवृत्तियाँ भी अब आपकी ओर ही लगी हैं, वे इधर-उधर नहीं जाती। (२) **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द के निमित्त तथा **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन के लिए **नः**=हमारे में **क्रतुं धारया**=क्रतु का धारण कीजिए हमारे मस्तिष्क में प्रज्ञा का स्थापन हो (क्रतु=प्रज्ञा), हृदय में संकल्प हो (क्रतु=संकल्प) तथा हमारे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत हों (क्रतु=यज्ञ)। हमारे में क्रतु का धारण इस प्रकार कीजिए **इव**=जिस प्रकार कि अन्तरिक्ष में **चमसान्**=(चमस=मेघ नि० १।१०) आप मेघों की स्थापना करते हैं। बाह्य अन्तरिक्ष में जो मेघ का स्थान है, मेरे हृदयान्तरिक्ष में वही क्रतु का स्थान हो। मेघ अन्न को उत्पन्न करता है, सन्ताप को दूर करता है। इसी प्रकार मेरा संकल्प भी यज्ञादि को उत्पन्न करे तथा लोक-सन्ताप को हरनेवाला हो। (३) यह सब आप **विवक्षसे**=मेरी विशिष्ट उन्नति के लिये करिये ही। उन्नति का यही मार्ग है। 'क्रतु' ही उन्नति का साधक है, सो आप इसे मेरे में स्थापित करिये। क्रतु शून्य हृदय तो वेग से शून्य घोड़े व दूध से रहित गौ के समान ही तो है।

भावार्थ—मेरी ध्यान-वृत्तियाँ प्रभु-प्रवण हों। प्रभु कृपा से मेरा हृदय क्रतु सम्पन्न हो।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीनिचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

बाड़ा, गौवें तथा घोड़े

तव त्ये सोम शक्तिभिर्निकामासो व्यृण्विरे ।
गृत्सस्य धीरास्तवसो वि वो मदे व्रजं गोमन्तमश्विनं विवक्षसे ॥ ५ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! **त्ये**=वे **निकामासः**=सांसारिक कामनाओं से ऊपर उठे हुए **धीराः**=धीर-ज्ञानी-पुरुष **गृत्सस्य**=मेधावी-सम्पूर्ण बुद्धि के स्रोत- **तवसः**=शक्ति के दृष्टिकोण से महान्-प्रवृद्ध **तव**=आपकी **शक्तिभिः**=शक्तियों से **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में **गोमन्तम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले तथा **अश्विनम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों वाले **व्रजम्**=शरीररूपी बाड़े को **वि-ऋण्विरे**=विशिष्टरूप से प्राप्त होते हैं और इस प्रकार **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होते हैं। (२) प्रभु को प्राप्त वे ही होते हैं जो निकामासः=कामनाशून्य होते हैं। सांसारिक वस्तुओं की कामना से ऊपर उठकर ही प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु मेधावी (गृत्स) व महान् (तवस्) हैं। प्रभु को प्राप्त करनेवाला भी मेधावी व महान् बनता है। यह धीर पुरुष प्रभु प्राप्ति के विशिष्ट आनन्द को अनुभव करता है। (३) प्रभु को प्राप्त करनेवाला, प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर इस शरीररूप बाड़े में उत्तम ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप गौवों व घोड़ोंवाला होता है। इसका शरीर व्रज है, ज्ञानेन्द्रियाँ गौवें हैं और कर्मेन्द्रियाँ घोड़े हैं। (४) इस प्रकार अपने शरीररूप बाड़े को उत्तम बनाकर, इस उत्तम इन्द्रियरूप गौवों व घोड़ों से यह निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है। यह सब प्रभु कृपा से होता है, प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही ऐसा होने का सम्भव होता है।

भावार्थ—हम काम से ऊपर उठकर प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु कृपा से हमारा शरीर एक उत्तम बाड़े की तरह हो। इसमें ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम गौवें हों तथा कर्मेन्द्रियाँ उत्तम घोड़े हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

'पशु' रक्षण व उत्तम जीवन

पशुं नः सोम रक्षसि पुरुत्रा विष्ठितं जगत् ।
समाकृणोषि जीवसे वि वो मदे विश्वा संपश्यन्भुवना विवक्षसे ॥ ६ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! आप **नः**=हमारे **पशुम्**=काम-क्रोधरूप पाशविक भाव को **रक्षसि**=उसी प्रकार कैद में, संयम में रखते हैं जैसे कि शेर को पिञ्जरे में रखा जाता है। (२) इस प्रकार 'कामः पशु, क्रोधः पशुः' काम-क्रोधरूप इन पशुओं को पूर्णरूप से वश में रखते हुए आप **पुरुत्रा**=नाना प्रकार की कामनाओं में **विष्ठितम्**=विशेषरूप से स्थित, अर्थात् इस काम-मय जगत् में विविध कामनाओं में विचरनेवाले **जगत्**=इन लोगों को **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिये **समाकृणोषि**=करते हैं। कामशून्य जीवन तो कोई जीवन ही नहीं, वह तो अचेतनावस्था है। पर काममय जीवन भी कोई सुन्दर जीवन नहीं, वह जीवन पतनोन्मुख होता है। 'कामातता न प्रशस्ता न चैषेहासयकामता'=मनु कहते हैं कि काममयता तो ठीक है ही नहीं, पर अकामता भी तो प्रशस्त नहीं। प्रभु हमारे काम-क्रोध को संयत करके हमारे जीवन को सुन्दर बना देते हैं। (३) हे प्रभो! इस प्रकार आप ही **विश्वा भुवना संपश्यन्**=सम्पूर्ण लोकों का ध्यान कर रहे हैं (Look after)। **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में ही लोग **विवक्षते**=विशिष्ट उन्नति के लिये होते हैं। वास्तविक उन्नति तभी प्रारम्भ होती है जब कि जीव प्रभु प्राप्ति के लिए प्रभु की उपासना में आनन्द लेने लगता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे काम-क्रोध संयत हों और इस प्रकार हमारा जीवन उत्तम बने। प्रभु ही हमारा पालन करनेवाले हैं, हम उनकी उपासना में चलते हुए निरन्तर उन्नत हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

अहिंसित ग्वाला

त्वं नः सोम विश्वतो गोपा अदाभ्यो भव ।
सेध राजन्नप स्त्रिधो वि वो मदे मा नो दुःशंस ईशता विवक्षसे ॥ ७ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **विश्वतः**=सब ओर से **अदाभ्यः**=न हिंसित होनेवाले **गोपाः**=रक्षक **भव**=होइये। जैसे एक ग्वाला गौवों का रक्षण अप्रमत्तता से करता है, उसी प्रकार प्रभु हमारा रक्षण करनेवाले हों। सांसारिक ग्वाले को कोई शत्रु मार भी सकता है और तब गौवों को हानि पहुँचा सकता है। पर प्रभु हमारे अहिंसित ग्वाले हैं। अहिंसित होते हुए वे प्रभु सब ओर से होनेवाले 'काम-क्रोध' आदि शत्रुओं के आक्रमणों से हमारी रक्षा करते हैं। (२) हे **राजन्**=हमारे जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले प्रभो! **स्त्रिधः**=इन शत्रुओं को **अपसेध**=हमारे से दूर भगाइये। इनका हमारे पर आक्रमण न हो सके। **नः**=हमें **दुःशंसः**=बुराइयों को शंसन करनेवाला, बुरी बातों को अच्छे रूप में चित्रित करनेवाली शक्ति—**मा ईशत**=मत दबा ले। हम उसकी बातों में आकर मृगया आदि व्यसनों में न फँस जाएँ। (क) मृगया तो बड़ा सुन्दर व्यायाम है, (ख) इसमें चल लक्ष्य के वेधन में कितनी एकाग्रता का अभ्यास होता है, (ग) खेती की रक्षा के लिए मृग आदि पशुओं की वृद्धि को रोकना आवश्यक भी तो है और (घ) इस प्रकार तो उन्हें एक ही योनि से शीघ्र मुक्ति भी मिल रही होती है। इस प्रकार की सुन्दर लगनेवाली

हम उसकी युक्तियों में फँस न जाएँ। हम तो **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिए हों। यह होगा तभी जब कि हम प्रभु द्वारा रक्षित होंगे, प्रभु का रक्षण ही हमें कामादि के आक्रमण से बचा सकेगा।

भावार्थ—हम गौवें हों, प्रभु हमारे ग्वाले। तभी यह सम्भव होगा कि हम काम-क्रोधादि हिंस्र पशुओं के आक्रमण से बचे रहें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

द्रोह व पाप से परे

त्वं नः सोम सुक्रतुर्वयोधेयाय जागृहि ।
क्षेत्रवित्तरो मनुषो वि वो मदे द्रुहो नः पाह्यंहसो विवक्षसे ॥ ८ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! **सुक्रतुः**=आप उत्तम संकल्पों, कर्मों व प्रज्ञानोंवाले हैं। **क्षेत्रवित्तरः**=हम सब के शरीररूप क्षेत्रों के उत्कृष्टता के साथ जाननेवाले हैं। सब क्षेत्रों में आप ही तो वस्तुतः क्षेत्रज्ञ हैं आप **वयोधेयाय**=हमारे में उत्कृष्ट जीवन के स्थापन के लिये सदा **जागृहि**=जागरित रहिये। आप ही हमारे अप्रमत्त रक्षक होंगे तभी तो हमारा जीवन शत्रुओं से आक्रान्त न होगा। (२) हे प्रभो! आप **मनुषः**=मनुष्य में स्वभावतः उत्पन्न हो जानेवाले **द्रुहः**=द्रोह के भाव से तथा **अंहसः**=पाप से **नः**=हमें **पाहि**=बचाइये। ज्ञान की अल्पता के कारण आ जानेवाली इन मलिनताओं से आप ही हमें बचायेंगे। (३) इस द्रोह व पाप से हमारा रक्षण आप अवश्य करें ही, जिससे **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=हम विशिष्ट उन्नति के लिये हों। द्रोह व पाप की भावनावाला कोई भी व्यक्ति प्रभु-भक्त नहीं हो सकता और प्रभु-भक्त में द्रोह व पाप नहीं रह सकते। यह एकत्व को देखता है, सो द्रोह से ऊपर उठ जाता है, सदा 'सर्वभूतहिते-रतः' होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों, जिससे हम द्रोह व पाप से ऊपर उठे रहें। द्रोह व पाप हमें प्रभु से दूर रखते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

वह 'शिव-सखा'

त्वं नो वृत्रहन्तमेन्द्रस्येन्दो शिवः सखा ।
यत्सीं हवन्ते समिथे वि वो मदे युध्यमानास्तोकसातौ विवक्षसे ॥ ९ ॥

(१) हे **वृत्रहन्तम**=हमारे ज्ञान पर आवरणरूप इस काम को सर्वाधिक नष्ट करनेवाले **इन्दो**=शक्तिशालिन् व ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **शिवः सखा**=कल्याणकर व 'शो तनूकरणे'=प्रज्ञान को क्षीण करनेवाले मित्र हैं। हमारे में से जो भी इन्द्रियों को जीतने का अभ्यास करता है, हे प्रभो! आप उसके मित्र होते हैं, आप इसके लिए वृत्र का विनाश करनेवाले होते हैं। इस वृत्र का विनाश करके ही तो आप उसके अज्ञान को क्षीण करते हैं। अज्ञान को दूर करनेवाले 'शिव सखा' आप ही हैं। संसार में भी वही सच्चा मित्र है जो सद्बुद्धि दे, नेक सलाह दे। हाँ में हाँ मिलानेवाले तो सच्चे मित्र नहीं होते। (२) 'आप ही शिव सखा हैं' यही कारण है कि **यत**=जो **तोकसातौ**=(तु=वृद्धि, पूर्ति, हिंसा) शत्रुओं की हिंसा

के द्वारा वृद्धि व पूर्ति की प्राप्ति के निमित्त **समिथे**=संग्राम में, काम-क्रोधादि शत्रुओं के साथ चलनेवाले अध्यात्म संग्राम में **युध्यमानाः**=कामादि शत्रुओं से युद्ध करते हुए पुरुष **सीम्**=सर्वतः **हवन्ते**=आपको ही पुकारते हैं। वस्तुतः आपने ही तो विजय करनी है, व्यक्तियों के लिए इस विजय का सम्भव नहीं। (३) आप इस विजय को करवाइये ही, जिससे **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=हम विशिष्ट उन्नति के लिये हों। बिना विजय के उन्नति नहीं और बिना आपकी कृपा के विजय नहीं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे शिव सखा हैं, ये ही हमें युद्ध में विजय प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

कक्षीवान् की बुद्धि का वर्धन

अयं घ स तुरो मद इन्द्रस्य वर्धत प्रियः ।
अयं कक्षीवतो महो वि वो मदे मतिं विप्रस्य वर्धयद्विवक्षसे ॥ १० ॥

(१) **अयं सः**=यह वह सोम ही **घ**=निश्चय से **तुरः**=(तुर्वी हिंसायाम्) सब शत्रुओं का संहार करनेवाला है **मदः**=स्वयं आनन्दस्वरूप होता हुआ, शत्रुओं के संहार के द्वारा हमारे आनन्द को बढ़ानेवाला है। यह प्रभु ही **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष को **प्रियः**=प्रीति को पैदा करनेवाला है। जितेन्द्रिय पुरुष प्रकृति-प्रवण न होकर सदा प्रभु-प्रवण होता है, उसे प्रभु-भजन में आनन्द का अनुभव होता है। यह प्रभु सदा **वर्धत**=अपने स्वरूप में बढ़े हुए हैं 'वर्धमानं स्वेदमे'। प्रभु में कभी कोई कमी न थी, वे सदा से प्रवृद्ध हैं। (२) **अयम्**=ये प्रभु **कक्षीवतः**=दृढ़ कक्ष्या (=कटिबन्ध) वाले, दृढ़ निश्चयी, लक्ष्य पर पहुँचने के लिए कटिबद्ध, **महः**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले और इस पूजा के द्वारा **विप्रस्य**=(वि-प्रा-पूरणे) विशिष्टरूप से अपना पूरण करनेवाले पुरुष की **मतिम्**=बुद्धि को **वर्धयत्**=बढ़ाते हैं। वस्तुतः इस प्रकार बुद्धि को बढ़ा करके ही वे इसकी वृद्धि को कारण बनते हैं। (३) हे प्रभो! आप जब बुद्धि को बढ़ाते हैं तभी **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में यह 'विमद' **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिए होता है। बुद्धि-वर्धन के बिना किसी भी प्रकार की उन्नति का सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमारी वासना को विनष्ट करके, बुद्धि को शुद्ध व वृद्ध कीजिए जिससे हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ सकें। हम भी 'कक्षीवान्, महस् व विप्र' बनकर बुद्धि-वर्धन के पात्र बनें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

अन्धत्व व पंगुत्व का तिरसन

अयं विप्राय दाशुषे वाजाँ इयर्ति गोमतः ।
अयं सप्तभ्य आ वरं वि वो मदे प्रान्धं श्रोणं च तारिषद्विवक्षसे ॥ ११ ॥

(१) **अयम्**=यह सोम प्रभु ही **दाशुषे**=देने की वृत्तिवाले अथवा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले **विप्राय**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले पुरुष के लिए **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **वाजान्**=बलों को **इयर्ति**=प्राप्त कराते हैं। हम प्रभु के प्रति अपने को सौंपते हैं तो प्रभु हमें वह शक्ति प्राप्त कराते हैं जो हमारी इन्द्रियों को उत्तम बनाती है। इसी शक्ति को 'यशस्वी बल' कहा

गया है। (२) इस प्रकार **अयम्**=यह प्रभु **सप्तभ्यः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' दो कान, दो नासिका, दो आँखें व मुख रूप सातों शरीरस्थ ऋषियों के लिए **आवरम्**=सब प्रकार से वरणीय धन को, शक्ति व प्रकाश को देते हैं। 'सब की सब इन्द्रियाँ सशक्त व प्रकाशमय बनें' इसके लिए आवश्यक है कि हम प्रभु का ध्यान करें, प्रभु के बनें। (३) जब हम प्रभु के बनते हैं तो वे प्रभु **अन्धम्**=अन्धे को व **श्रोणम्**=लंगड़े को भी **प्रतारिषत्**=उस अन्धत्व व पंगुत्व से तरा देते हैं। प्रभु कृपा से अन्धत्व से ऊपर उठकर हम दूरदृष्टि बनते हैं तथा पंगुत्व से ऊपर उठकर खूब गतिशील होते हैं। प्रभु कृपा हमारी ज्ञानेन्द्रियों को भी यशस्वी बनाती है और कर्मेन्द्रियों को भी शक्ति देती है। तभी **वः**=उस प्रभु की प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=हम विशिष्ट उन्नति के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा ज्ञानेन्द्रियों को प्रकाशमय बनाती है तो कर्मेन्द्रियों को सशक्त। अन्धत्व व पंगुत्व दूर होकर हमारी उन्नति ही उन्नति होती है।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रार्थना से हुआ है कि हमें 'भद्रता, दक्षता व क्रतु' प्राप्त हों। (१) सोमरक्षण से हम प्रभु के सच्चे भक्त बनें, (२) प्रभु प्राप्ति के लिए साधनभूत व्रतों का आचरण करें, (३) क्रतु के धारण करने पर ही जीवन उत्तम बनता है, (४) प्रभु कृपा से मेरा शरीर इन्द्रियरूप पशुओं के लिये उत्तम बाड़ा बने, (५) प्रभु हमारे काम-क्रोधरूप पशुओं को नियन्त्रण में रखें, (६) हम गौवें हों तो प्रभु हमारे अहिंसित ग्वाले, (७) वे हमें द्रोह व पाप से ऊपर उठायें, (८) प्रभु ही हमारे शिव सखा हैं, (९) वे हमारी बुद्धि का वर्धन करते हैं, (१०) और हमारे अन्धत्व व पंगुत्व को दूर करते हैं, (११) ये प्रभु ही हमें स्पृहणीय मनीषाएँ प्राप्त कराते हैं।

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥ स्वरः—**ऋषभः**॥

मनीषा-नियुत्-दस्रा

प्र ह्यच्छा॑ मनी॒षाः स्पा॒र्हा यन्ति॑ नि॒युतः॑। प्र द॒स्रा नि॒युद्र॑थः पू॒षा अ॑विष्टु माहि॑नः॥ १॥

(१) प्रस्तुत सूक्त में परमात्मा को 'पूषा' नाम से स्मरण किया गया है। उस पूषा के अनुग्रह से **हि**=निश्चयपूर्वक **स्पार्हाः**=स्पृहणीय, चाहने योग्य **मनीषाः**=बुद्धियाँ **अच्छा यन्ति**=हमारी ओर प्राप्त होती हैं, अर्थात् वे बुद्धियाँ जो निर्माणात्मक-लोकहितात्मक कार्यों को जन्म देती हैं, हमें प्राप्त हों। ऐसी ही बुद्धियाँ स्पृहणीय हैं। इन बुद्धियों के साथ **नियुतः**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व हमें प्राप्त होते हैं। उत्तम बुद्धियों के साथ उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करके हम अपनी जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ते हैं। (२) **नियुद्रथः**=हमारे शरीररूप रथ में 'नियुत्' नामक घोड़ों को जोतनेवाला **माहिनः**=महिमावाला, पूजनीय, **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला देव **दस्रा**=शरीर के सब रोगों को नष्ट करनेवाले प्राणापान को **प्र अविष्टु**=प्रकर्षेण रक्षित करनेवाला हो। उस पूषा के अनुग्रह से हमारी प्राणापान शक्ति अत्यन्त सुरक्षित हो। इसके सुरक्षित होने पर ही हमारी रक्षा निर्भर है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें स्पृहणीय बुद्धि, उत्तम इन्द्रियाश्व तथा सुरक्षित प्राणापान शक्ति प्राप्त हो।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराडनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

वायु व जल में प्रभु-दर्शन

यस्य त्यन्महित्वं वाताप्यमयं जनः। विप्र आ वंसद्धीतिभिश्चिकेत सुष्टुतीनाम्॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वह पूषा हमें स्पृहणीय बुद्धि, उत्तम इन्द्रियाश्व व प्राणापान को प्राप्त कराये **यस्य**=जिस प्रभु के **त्यत्**=उस प्रसिद्ध **वाताप्यम्**=(वात+अप+य) वायु व जल में प्रकट होनेवाले **महित्वम्**=महत्त्व को **अयम्**=यह **विप्रः**=मेधावी **जनः**=मनुष्य **आवंसत्**=संभजते=सम्यक् सेवन करता है और **धीतिभिः**=ध्यान के द्वारा अथवा यज्ञादि उत्तम कर्मों के द्वारा **सुष्टुतीनाम्**=उस पूषा की उत्तम स्तुतियों को **चिकेत**=जानता है। (२) प्रभु की महिमा इस पाञ्चभौतिक संसार के प्रत्येक भूत में प्रकट हो रही है, परन्तु जीव विशेषकर उस महिमा को जल व वायु में देख पाता है। एक मिनिट के लिए भी वायु बन्द हुई तो दम घुटने लगता है, जल के बिना भी एक दिन का बिताना कठिन हो जाता है। सो बहती हुई वायु में तथा बहते हुए इन जलों में प्रभु की महिमा झट दिख पाती है। संस्कृत साहित्य में वायु तो 'प्राण' ही है, जल भी 'जीवन' है। ये प्राणि जीवन के दो मूल-स्तम्भ हैं। (३) वस्तुतः यह मेधावी मनुष्य जितना-जितना ध्यान करता है, प्रकृति के पदार्थों का चिन्तन करता है, उतना-उतना ही उन पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन करता है। उसे हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथ्वी सभी प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते प्रतीत होते हैं। आकाश को आच्छादित करनेवाले तारे प्रभु की स्तुति करते दिखते हैं।

भावार्थ—उस पूषा की महिमा वायु व जल आदि सभी पदार्थों में सुव्यक्त है।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

शक्ति सेचन

स वेद सुष्टुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा। अभि प्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति॥ ३ ॥

(१) **स**=वह प्रभु **सुष्टुतीनाम्**=हमारे से की जानेवाली उत्तम स्तुतियों को **वेद**=जानता है। 'हम वस्तुतः हृदय से उस प्रभु का स्तवन कर रहे हैं या नहीं' इस बात को प्रभु सम्यक् समझते हैं। हम बनावटी स्तुतियों से प्रभु को धोखा नहीं दे सकते। (२) **इन्दुः न**=सोम की तरह वह प्रभु **पूषा**=हमारा पोषण करनेवाले हैं और **वृषा**=हमारे पर सुखों की वृष्टि करनेवाले हैं। जैसे शरीर में सुरक्षित सोम=वीर्य हमारी सब शक्तियों का पोषण करता है और हमारे जीवन को सुखी बनाता है उसी प्रकार वे प्रभु हमारे लिये 'पूषा और वृषा' होते हैं। (३) वे प्रभु **प्सुरः**=(प्सु=रूप रा=दाने) हमारा पोषण करके हमें उत्तम रूप को देनेवाले हैं। प्रभु कृपा से हमारा स्वाथ्य ठीक होता है और यह स्वास्थ्य हमारे सौन्दर्य का वर्धन करता है। ये 'प्सुर' प्रभु **अभिप्रुषायति**=हमारा लक्ष्य करके सब शक्तियों का सेचन करते हैं। वे **नः**=हमारे **व्रजम्**=इस शरीररूप बाड़े को **आप्रुषायति**=सब ओर से सिक्त कर डालते हैं। हमारा अंग-प्रत्यंग शक्ति से सिक्त होकर, पुष्ट होकर हमें आगे बढ़ने के योग्य बनाता है।

भावार्थ—वे प्रभु पूषा हैं, वे सचमुच हमारे सम्पूर्ण अंगों को शक्ति से सिक्त करके हमें पुष्ट करते हैं।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**आचीनिचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

प्रकाश व पोषण

मंसीमहिं त्वा वयमस्माकं देव पूषन्। मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्॥ ४॥

(१) हे **देव**=हमारे जीवन को प्रकाशित करनेवाले, ज्ञान की ज्योति से दीप्त करनेवाले तथा **पूषन्**=हमारे अंग-प्रत्यंग को शक्ति सेचन से पुष्ट करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **अस्माकं मतीनां साधनम्**=हमारी बुद्धियों के सिद्ध करनेवाले, देव के रूप में ज्ञान के द्वारा हमारी मतियों को प्रकाशमय करनेवाले **च**=और **विप्राणाम्**=इन मेधावी पुरुषों के **आधवम्**=सब प्रकार से कम्पित करके मलों के दूर करनेवाले, विप्रों के जीवन को निर्मल बनानेवाले **त्वा**=आपको **मंसीमहि**=हम स्तुत करते हैं। (२) हम प्रभु का स्तवन करते हैं, वे प्रभु हमारे मस्तिष्क को प्रकाशमय व शरीर को पुष्ट करनेवाले हैं। 'देव' होते हुए हमें द्योतित करते हैं और 'पूषन्' के रूप में हमारा पोषण करते हैं। प्रकाश की प्राप्ति के लिये ही हमें उत्तम बुद्धि देते हैं और शक्ति को प्राप्त कराके सब बुराइयों से बचाते हैं।

भावार्थ—वे देव हमें ज्ञान की ज्योति देते हैं और वे पूषा हमारे अंगों को पुष्ट करते हैं।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वह यावयत्सखा

प्रत्यर्धिर्यज्ञानामश्वहयो रथानाम्। ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हमारी बुद्धियों के सिद्ध करनेवाले तथा मलों को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु ही **यज्ञानां प्रत्यर्धिः**=(प्रति+ऋध्+इ) प्रत्येक यज्ञ का समर्धन करनेवाले हैं। एक-एक यज्ञ को वे ही समृद्ध करते हैं। प्रभु कृपा बिना कोई भी हमारा यज्ञ पूर्ण नहीं होता। (२) वे प्रभु ही **रथानाम्**=हमारे इन शरीररूप रथों के **अश्वहयः**=(हयं गतौ) इन्द्रियाश्वों के द्वारा आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। (३) **ऋषिः**=वे प्रभु ही तत्वद्रष्टा हैं। **स**=वे वे हैं **यः**=जो **मनुर्हितः**=मनुष्य का सच्चा हित करनेवाले हैं। **विप्रस्य**=अपना पूरण करनेवाले मेधावी पुरुष के वे **यावयत् सखः**=ऐसे मित्र हैं जो उसे पाप से पृथक् कर रहे हैं और हित से युक्त कर रहे हैं। मित्र का यही तो लक्षण है 'पापान्निवारयति योजयते हिताय'। वे प्रभु हमें सदा पाप से निवारित कर रहे हैं (यु=अमिश्रण) तथा हित से युक्त कर रहे हैं (यु=मिश्रण)। ऐसा सच्चा मित्र ही तो हमारा हित कर सकता है। सांसारिक मित्र तो ज्ञान की कमी के कारण कभी गलत भी सलाह दे सकता है, प्रभु तो ऋषि हैं, तत्त्वद्रष्टा हैं, वहाँ गलत प्रेरणा का प्रश्न ही नहीं उठता एवं ये प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं।

भावार्थ—हमारे सब यज्ञ प्रभु कृपा से पूर्ण होते हैं, यह शरीर-यन्त्र भी प्रभु कृपा से चलता है। वे प्रभु तत्वद्रष्टा व हितचिन्तक मित्र हैं सो हमें बुराई से दूर करके भलाई से जोड़ रहे हैं।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मार्जन (पत्नी-संतति व पति)

आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च। वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्॥ ६॥

(१) वे प्रभु एक घर में **आधीषमाणायाः**=(आत्मार्थं धीयमानायाः सा०) आत्म प्राप्ति के लिये अपना पूरण करनेवाली (धी=To accomplish) **च**=और अतएव **शुचायाः**=पवित्र जीवनवाली गृहिणी का **पतिः**=रक्षक है। **च**=और इसी प्रकार **शुचस्य**=पवित्र आचरणवाले गृहपति का वह रक्षक है। प्रस्तुत मन्त्र में 'आधीषमाणायाः' से पत्नी का, 'शुचायाः' से सन्तति का और 'शुचस्य' से पति का भी ग्रहण किया जा सकता है। पत्नी आत्म प्राप्ति के लिये अपने कर्तव्य कर्मों में सदा लगी रहती है। इन कर्मों से ही वह आत्म-दर्शन की अधिकारिणी बनती है। इसके कर्त्तव्यपालन से ही सन्तति, शुचि व पवित्र बनती है। इसका व्यवहार ही पति को भी 'शुच'=पवित्र बना देता है। जिन पत्नियों का व्यवहार सुन्दर नहीं होता, उनके पति कुञ्ज में आनन्द की तलाश करते फिरते हैं और एक विचित्र-सा अस्वाभाविक जीवन बिताने के लिये विवश होते हैं वहाँ पवित्रता की सम्भावना नहीं रहती। (२) और तो और वह तो **अवीनाम्**=भेड़ों के भी **वासोवायः**=बच्चों का विस्तार करनेवाला है, बुननेवाला है। भेड़ों के भी वस्त्रों का जो ध्यान करता है, वह प्रभु ही **वासांसि**=हमारे इन पञ्चकोश रूप वस्त्रों को **आमर्मृजत्**=पूर्ण शुद्ध बना देता है। अन्नमयकोश के रोगरूप मालिन्य को दूर करता है, तो प्राणमय के नैर्बल्य रूप मल को। मनोमयकोश से 'ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष' आदि को हटाता है और विज्ञानमयकोश की कुण्ठता को दूर भगाता है। ये प्रभु ही आनन्दमयकोश को निर्मल बनाकर उसे 'सहस्' से पूर्ण करते हैं एवं इस प्रभु की कृपा से ही हमारा जीवन शुद्ध होता है।

भावार्थ—पवित्र जीवनवाले पति-पत्नी ही प्रभु रक्षा के पात्र होते हैं। वे प्रभु भेड़ों का भी पालन करते हैं तो हमारा पालन क्यों न करेंगे?

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुकः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मलापहरण

इनो वाजा॑नां पति॑रि॒नः पु॒ष्टी॒नां सखा॑। प्र श्मश्रु॑ हर्य॒तो दू॑धो॒द्वि वृथा॒ यो अदा॑भ्यः ॥ ७ ॥

(१) वे प्रभु **इनः**=स्वामी हैं, **वाजानाम्**=सब अन्नों व शक्तियों के **पतिः**=पति हैं। (२) **इनः**=ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु **पुष्टीनाम्**=अपना पोषण करनेवालों के **सखा**=मित्र हैं। प्रभु निर्बलों के मित्र नहीं 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। विलासमय जीवन ही हमें 'क्षीणायु' बनाता है, यह विलासी पुरुष ही प्रभु की कृपा दृष्टि को प्राप्त नहीं करता। (३) वे **हर्यतः**=जाने योग्य व चाहने योग्य प्रभु **श्मश्रु**=(श्मनि श्रितं नि०) शरीर में आश्रित 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को **प्र दूधोद्**=प्रकर्षेण कम्पित करके निर्मल करनेवाले हैं। जैसे झाड़कर कपड़े के मल को दूर कर दिया जाता है, उसी प्रकार वे प्रभु हमारी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को भी झाड़कर निर्मल बना देते हैं। इन्द्रियों की निर्बलता दूर हो जाती है, मन की मैल भस्मीभूत (चकनाचूर) हो जाती है और बुद्धि उज्ज्वल हो उठती है। (४) 'इतने अनन्त जीवों के मलों को वे प्रभु कैसे दूर सकते होंगे'? इस शंका का करना व्यर्थ है, वे अनन्त शक्ति प्रभु इन अपने एक देश में होनेवाले जीवों को **वृथा**=अनायास ही वि दूधोद्=विशिष्टरूप से झाड़कर ठीक कर देते हैं। वे प्रभु तो वे हैं **यः**=जो **अदाभ्यः**=किसी से हिंसित होनेवाले नहीं।

भावार्थ—वे प्रभु सबके स्वामी हैं। वे प्रभु ही चाहनेवालों व प्रभु की ओर जानेवालों के मलों का अपहरण करते हैं।

ऋषि:—**विमद: ऐन्द्र: प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्र:** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्द:—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥
स्वर:—**गान्धार:** ॥

धुरा का आवर्तन

आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः। विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः॥ ८॥

(१) हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **ते रथस्य धुरम्**=आपके दिये हुए इस शरीररूप रथ की धुरा को **अजाः**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा मलों को दूर करनेवाले व्यक्ति ही **आववृत्युः**=आवर्तित करते हैं, अर्थात् धारण करके कार्य में व्यापृत करते हैं। 'अज' पुरुष ही इस जीवनरथ का वहन कर पाते हैं। (२) वे प्रभु **विश्वस्य**=सब **अर्थिनः**=प्रार्थना करनेवालों के **सखा**=मित्र हैं। प्रभु ही तो हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं। वे प्रभु **सनोजाः**=चिरजात हैं, सदा से प्रादुर्भूत हैं। किसी समय विशेष में उनका प्रादुर्भाव नहीं होता, सदा से हैं, सदा रहेंगे। **अनपच्युतः**=उन प्रभु को कोई मार्ग से हटा नहीं सकता, उनकी व्यवस्था का कोई भंग नहीं कर सकता। प्रभु के नियम अटल हैं।

भावार्थ—हम गतिशील बनकर इस शरीर-रथ का वहन करनेवाले बनें। प्रार्थना द्वारा प्रभु के मित्र बनें।

ऋषि:—**विमद: ऐन्द्र: प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्र:** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्द:—**आर्चीविराडनुष्टुप्** ॥
स्वर:—**गान्धार:** ॥

रथ का रक्षण

अस्माकमूर्जा रथं पूषा अविष्टु माहिनः। भुवद्वाजानां वृध इमं नः शृणवद्धवम्॥ ९॥

(१) इस जीवन-यात्रा में गत मन्त्र के अनुसार जब अज बनकर हम शरीर-रथ की धुरा का आवर्तन करें तो वे **पूषा**=सबका पोषण करनेवाले, **माहिनः**=महिमा सम्पन्न प्रभु **अस्माकं रथम्**=हमारे इस शरीर-रथ को **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के द्वारा **अविष्टु**=रक्षित करें। उस प्रभु के रक्षण में ही हमारे लिये किसी भी प्रकार की उन्नति का सम्भव होता है। (२) वे प्रभु **वाजानाम्**=हमारी शक्तियों के **वृधः**=वर्धन करनेवाले **भुवत्**=हों। शक्ति-वर्धन के द्वारा ही रक्षण होता है। शक्ति ह्रास ही विनाश का मार्ग है। (३) वे प्रभु **नः**=हमारी **इमं हवम्**=इस प्रार्थना को **शृणवत्**=अवश्य सुनें। हमारी प्रार्थना न सुनने योग्य, न समझी जाए। पुरुषार्थ से हम अपने को पात्र बनायें जिससे प्रभु हमारी प्रार्थना को अवश्य पूर्ण करें।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे शरीर-रथ के रक्षक हैं, वे ही हमारी शक्तियों का वर्धन करते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ स्पृहणीय बुद्धियों की प्राप्ति की कामना से होता है। (१) इन बुद्धियों से हम सर्वत्र जलवायु में उस प्रभु की महिमा का अनुभव करते हैं, (२) ये प्रभु ही हमारा पोषण व हमारे पर सुखों का वर्षण करते हैं, (३) हमारी बुद्धियों को सिद्ध करते हैं, (४) वे हमारे सच्चे मित्र हैं, (५) हमारा शोधन करते हैं, (६) मलों का अपहरण करते हैं, (७) इस प्रकार हमें शरीर-रथ की धुरा के वहन के योग्य बनाते हैं, (८) वे ही हमारी सब शक्तियों को बढ़ाते हैं, (९) वे प्रभु यजमान=यज्ञशील को ही शक्तिशाली बनाते हैं।

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सुन्वन् यजमान'

असत्सु मे जरितः साभिवेगो यत्सुन्वते यजमानाय शिक्षम्।
अनाशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृतं वृजिनायन्तमाभुम्॥ १॥

(१) प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'वसुक्र ऐन्द्रः' है। उत्तम पदार्थों को निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को 'वसु' कहते हैं, जो इन वसुओं का श्रवण करता है, वह 'वसुक्र' कहलाता है। यह 'ऐन्द्रः' इन्द्र की ओर चलनेवाला होता है। यदि हमारा झुकाव 'इन्द्र'=प्रभु की ओर न रहकर प्रकृति की ओर हो जाए तो हम 'वसुक्र' ही न रहें। प्रकृति में फँसना 'निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों के ह्रास' का कारण होता है। (२) इस वसुक्र से प्रभु कहते हैं कि हे **जरितः**=स्तोतः! **मे**=मेरा **स**=वह **सु**=शोभन **अभिवेग**=मन का प्रबल भाव **असत्**=है **यत्**=कि **सुन्वते**=अपने शरीर में सोम=वीर्य का सम्पादन करनेवाले तथा **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **शिक्षम्**=सब उत्तम वसुओं को दूँ। प्रभु ही सब वसुओं के स्वामी है। ये वसु उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो 'सुन्वन् व यजमान' बनते हैं। 'सुन्वन्' अपने अन्दर शक्ति का सम्पादन करनेवाला है, 'यजमान' लोकहित के लिये यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाला है। (३) जहाँ प्रभु 'सुन्वन् यजमान' को सब उत्तम वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं वहाँ वे प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **प्रहन्ता**=प्रकर्षेण मारनेवाला **अस्मि**=हूँ। किसको? (क) **अनाशीर्दाम्**=जो इच्छापूर्वक, दिलखोलकर दान नहीं करता। जिसकी देने की वृत्ति नहीं है, देव न होकर जो असुर है, देता नहीं, अपने मुँह में ही डालता है। (ख) **सत्यध्वृतम्**=जो सत्य की हिंसा करता है, अनृत भाषण करता है। (ग) **वृजिनायन्तम्**=(पापं कर्तुम् इच्छन्तम्) जो पाप करने की इच्छा करता है, जो पाप की वृत्तिवाला है, जिसका झुकाव धर्म की ओर न होकर अधर्म की ओर है और जो (घ) **आभुम्**=(आ-भवति) सब चीजों का मालिक होना चाहता है, 'ये भी मुझे मिल जाये, ये भी मुझे मिल जाये' यही जो सदा चाहता रहता है। जो सारी चीजों को व्याप्त करके जबर्दस्त परिग्रही बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु 'सुन्वन् यजमान' को सब कुछ देते हैं तथा 'अनाशीर्दा, सत्यध्वृत्, वृजिनायन्, आभु' को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

○ अदेवयु पुरुषों का नाश

यदीदहं युधये संनयान्यदेवयून्तन्वा३ शूशुजानान्।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं नि षिञ्चम्॥ २॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जो **अहम्**=मैं **इत्**=निश्चय से **अदेवयून्**=न देने की वृत्तिवाले पुरुषों को और अतएव आत्मादि होने के कारण **तन्वा शूशुजानान्**=शरीर से खूब फूले हुए हृष्ट-पुष्ट जनों को **युधये संनयानि**=युद्ध के लिये प्राप्त कराता हूँ। इन्हें स्वार्थ-प्रधान वृत्ति के कारण परस्पर लड़नेवाला बना देता हूँ और इन युद्धों में ये परस्पर एक दूसरे का संहार करनेवाले होते हैं। (२) इनके विपरीत जो तू **अमा**=मेरे साथ रहता है, 'ऐन्द्र' बनने का प्रयत्न करता है उस **ते**=तुझे **तुम्रम्**=(strong) बड़े शक्तिशाली व **वृषभम्**=अपनी शक्ति से औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले के रूप में **पचानि**=परिपक्व करता हूँ। तुझे इस प्रकार परिपक्व करता हूँ कि तू लोकहित के लिये

सुतं पञ्चदशम्=उत्पन्न किये हुए धन के पन्द्रहवें भाग को **तीव्रम्**=तीव्रता से, प्रबल इच्छा से **निषिञ्चम्**=सिक्त करनेवाला होता है (सिञ्चति इति)। एवं प्रभु-भक्त-प्रभु-प्रवण व्यक्ति बलवान्-बल से औरों को सुखी करनेवाला तथा लोकहित के लिये आय के पन्द्रहवें भाग को निश्चितरूप से देनेवाला होता है।

भावार्थ—'अदेवयु व तन्वाशूशुजान' आपस में लड़ मरते हैं। प्रभु-भक्त बलवान्, परोपकारी व दानी होते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भौतिकता व युद्ध

नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्त्समरणे जघन्वान्।
यदावाख्यत्समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति॥३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **तम्**=उस पुरुष को **न वेद**=नहीं जानता हूँ **यः**=जो **इति ब्रवीति**=यह कहता है कि वह प्रभु **अदेवयून्**=अदेव वृत्तिवाले, न देनेवाले, सारा स्वयं ही खा जानेवाले असुर पुरुषों को **समरणे**=संग्राम में **जघन्वान्**=मारते हैं। अर्थात् लोग समान्यतः इस बात को भूले रहते हैं और उन्मत्त-सी जीवन की अवस्था में खा-पीकर शरीरों को खूब ही पुष्ट करते हैं। (२) परन्तु **यदा**=जब कभी यह व्यक्ति **ऋघावत्**=हिंसावाले, भयङ्कर हिंसा के दृश्यों से युक्त **समरणम्**=युद्ध को **अवाख्यत्**=देखता है, तो भयभीत होकर घबरा उठता है और **आत् इत्**=इसके एकदम बाद **ह**=निश्चय से **मे**=मेरे **वृषभा**=शक्तिशाली कर्मों का **ब्रुवन्ति**=प्रवचन करते हैं, अर्थात् युद्ध के आ जाने पर इन्हें मेरा स्मरण होता है और उस समय ये मेरी स्तुति करते हैं, अपने रक्षण के लिये प्रार्थना करते हैं। यदि इन युद्धों के आ जाने से पहले ही वे मेरा स्मरण करें और अदेवयु पुरुषों की गति का ध्यान करें तो वे अपनी अदेवयु बनने की वृत्ति को दूर करके इन युद्धों से बचे ही रहें।

भावार्थ—हमें इस बात को भूलना न चाहिए कि अदेवयु पुरुषों का अन्त भयङ्कर हिंसा असुर युद्धों में हो जाया करता है।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मघवान् का रक्षण, आयु का परिचय

यदज्ञातेषु वृजनेष्वासं विश्वे सतो मघवानो म आसन्।
जिनामि वेत्क्षेम आ सन्तमाभुं प्र तं क्षिणां पर्वते पादगृह्य॥४॥

(१) **यद्**=जब **अज्ञातेषु वृजनेषु**=अज्ञात संग्रामों में 'किसका विजय होगा, किसका नहीं' इस बात का जिनमें पता नहीं, ऐसे युद्धों में **आसम्**=मैं होता हूँ, अर्थात् जब इन संग्रामों में युद्ध करते हुए ये लोग मेरा स्मरण करते हैं तो **विश्वे मघवानः**=सब ऐश्वर्यशाली यज्ञशील (मघ-मख) पुरुष **सतः मे**=सर्वत्र वर्तमान मेरे **आसन्**=होते हैं, अर्थात् जो अपने ऐश्वर्यों का विनियोग यज्ञों में करते हैं उनका मैं रक्षण करता हूँ (२) और **क्षेमे**=जगत् के कल्याण के निमित्त **आसन्तम्**=चारों ओर होनेवाले, अर्थात् सर्वत्र अपना पैर फैलानेवाले **आभुम्**=सारे चीजों को प्राप्त करने के प्रयत्नवाले परिग्रही **तम्**=उस पुरुष को **पादगृह्य**=पाओं से पकड़ के **पर्वते प्रक्षिणाम्**=पर्वत पर फेंक देता हूँ, पहुँचा देता हूँ, अर्थात् ऐसे पुरुष को मैं सुदूर विनष्ट कर देता हूँ। (३) युद्ध होता है, और युद्ध में अदेवयु के प्रभु विजयी करते हैं (अदेवयु) के पक्ष का विनाश होता

है। इसे प्रभु सुदूर फेंक-सा देते हैं।

भावार्थ—ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवालों का प्रभु रक्षण करते हैं और परिग्रही आसुरी वृत्तिवालों का विनाश। इस प्रकार ही प्रभु संसार का कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'अश्रुत' प्रभु

न वा उ मां वृजने वारयन्ते न पर्वतासो यदहं मनस्ये।
मम स्वनात्कृधुकर्णो भयात एवेदनु द्यून्किरणः समेजात्॥ ५॥

(१) **वृजने**=संग्राम में **माम्**=मुझे **वा उ**=निश्चय से **न वारयन्ते**=कोई भी रोक नहीं पाते। **न**=ना ही **पर्वतासः**=पर्वत मुझे प्रतिबद्ध कर सकते हैं, **यद्**=जब **अहम्**=मैं **मनस्ये**=निश्चय कर लेता हूँ। प्रभु की व्यवस्थाएँ अटल होती हैं, प्रभु के निर्णय रोके नहीं जा सकते। (२) **मम स्वनात्**=मेरे शब्द से **कृधुकर्णः**=अत्यन्त छोटे कानोंवाला, अर्थात् जो एकदम बहरे कानोंवाला है वह भी **भयात**=भयभीत हो उठता है और अपने कार्य में ठीक से लग जाता है। **एवा इत्**=इसी ही प्रकार **अनु द्यून्**=प्रतिदिन **किरणः**=प्रकाश को चारों ओर फेंकनेवाला यह सूर्य भी **समेजात्**=सम्यक् काँप उठता है और सम्यक् गति करता है एवं यह जड़ जगत् भी प्रभु के भय से पूर्ण व्यवस्था में चल रहा है। चेतन जगत् भी प्रभु-भय से व्यवस्था में चलता है तो कल्याण भागी होता है, व्यवस्था को तोड़ते ही उसे प्रभु की दण्डव्यवस्था में पिसना पड़ता है। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' यह उपनिषद् वाक्य इसी भाव को व्यक्त कर रहा है।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था को कोई रोक नहीं सकता। बहरे से बहरे को प्रभु की व्यवस्था सुननी होती है, सूर्यादि सब पिण्ड प्रभु भय से ही अपने मार्ग का आक्रमण कर रहे हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वज्रपतन

दर्शन्न्वत्र शृतपाँ अनिन्द्रान्बाहुक्षदः शरवे पत्यमानान्।
घृषुं वा ये निनिदुः सखायमध्यू न्वेषु पवयो ववृत्युः॥ ६॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **नु**=निश्चय से ही **अत्र**=यहाँ इस मानव जीवन में मैं **दर्शम्**=देखता हूँ। उन लोगों को जो **शृतपान्**=भट्ठियों में पकायी गयी शराब को पीनेवाले हैं (शृ पाके), **अनिन्द्रान्**=जो सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु के स्मरण से रहित हैं, **बाहुक्षदः**=अपनी भुजशक्ति से भले लोगों को टुकड़े-टुकड़े करने में लगे हुए हैं, **शरवे**=हिंसा के लिये **पत्यमानान्**=जो गति कर रहे हैं, जिनकी क्रियाएँ औरों के ध्वंस के लिये ही होती हैं। **वा**=या **ये**=जो **घृषुम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **सखायम्**=मित्रभूत मुझे **निनिदुः**=निन्दित करते हैं, उपासना के स्थान में जो मेरा निरादर करते हैं। (२) इस प्रकार के **एषु अधि**=इन लोगों के ऊपर **पवयः**=मेरे वज्ररूप अस्त्र **ववृत्युः**=पड़ते हैं। इनका उन वज्रों व अशनिपातों से संहार हो जाता है, यहाँ 'वज्रपतन' प्रतीक है आधिदैविक आपत्तियों का। इन पर आधिदैविक आपत्तियाँ आती हैं और आधिदैविक आपत्तियाँ आकर इनका अन्त कर देती हैं। (३) यहाँ नाशक्रम इस प्रकार संकलित हो रहा है—(क) शराब पीने लगना, (ख) प्रभु को भूल जाना, (ग) अपनी शक्ति का प्रयोग सज्जनों के पीड़ित करने में करना और (घ) हिंसा प्रधान गतिवाला होना। (ङ) अन्ततः प्रभु की निन्दा करने लगना।

भावार्थ—शराब मनुष्य को प्रभु से दूर ले जाती है और हिंसक वृत्ति का बना देती है।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रु-विदारक व्यापक प्रभु

अभूर्वौक्षीर्व्यु१ आयुरानड्दर्षन्नु पूर्वो अपरो नु दर्षत्।
द्वे पवस्ते परि तं न भूतो यो अस्य पारे रजसो विवेष ॥ ७ ॥

(१) 'वसुक्र' इन्द्र का स्तवन करता हुआ कहता है कि हे इन्द्र! **अभूः**=आप ही प्रादुर्भूत होते हो। कण-कण में आपकी ही महिमा दृष्टिगोचर होती है। **वा**=निश्चय से **औक्षीः**=आप ही सब पर सुखों का सेचन करते हो आप ही **आयुः**=गतिशील पुरुष को **वि आनट्**=व्याप्त करते हो, गतिशील पुरुष के हृदय में आपका प्रादुर्भाव होता है। (२) **पूर्वः**=आगे होनेवाले आप **नु**=शीघ्रता से **दर्षत्**=शत्रुओं का विदारण करते हैं और **अपरः**=पीछे होनेवाले आप भी **नु**=शीघ्र ही **दर्षत्**=शत्रुओं का विदारण करते हैं। (३) **द्वे**=ये दोनों **पवस्ते**=महत्त्व से सबके अभिभव के लिये जानेवाले, अर्थात् सब से अधिक महत्त्ववाले द्युलोक व पृथ्वीलोक **तं**=उस परमात्मा को **न परिभूतः**=घेर नहीं सकते। परमात्मा इनकी परिधि में नहीं आ सकते, ये द्युलोक व पृथ्वीलोक उस प्रभु के एकदेश में हैं, ये प्रभु को व्याप्त नहीं कर पाते। उस प्रभु को **यः**=जो **अस्य रजसः**=इस लोक रञ्जित आकाश से **पारे**=पार भी **विवेष**=व्याप्त हो रहे हैं। जहाँ तक लोक-लोकान्तर हैं वहाँ तक आकाश 'रजः' कहलाता है, उससे परे 'परं व्योम'। यह सब रजस् प्रभु के एकदेश में है, प्रभु परव्योम को भी व्याप्त किये हुए हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड तो उस प्रभु के एकदेश में ही है। 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गौवें ग्वाला व स्वामी

गावो यवं प्रयुता अर्यो अक्षन्ता अपश्यं सहगोपाश्चरन्तीः।
हवा इदर्यो अभितः समायन्कियदासु स्वपतिश्छन्दयाते ॥ ८ ॥

(१) **गावः**=इन्द्रियरूपी गौवें **प्रयुताः**=इस शरीररूप रथ में प्रकर्षेण युक्त हुई-हुई **यवम्**=विषयरूप यव को **अक्षन्**=(भक्षयन्ति) खाती हैं, विषयों का ग्रहण करती हैं। इन्द्रियाँ विषयों में जाती हैं, इसीलिए प्रभु ने इनका निर्माण किया है। (२) **ताः**=इन इन्द्रियरूप गौवों को **सहगोपाः**=ग्वाले सहित, मन ही इनका ग्वाला है, मन इनके साथ विविध विषयों में भटकता है, **चरन्तीः**=विषयों में विचरण करती हुई इन इन्द्रियों को **अर्यः**=इनका स्वामी मैं **अपश्यम्**=इन्हें देखता हूँ (दृश्=look after) इनका रक्षण करता हूँ। (३) मैं इन इन्द्रियों का स्वामी हूँ। इन्द्रियाँ गौवें हैं, तो मन ग्वाला और आत्मा स्वामी। यहाँ स्वामी ग्वाले सहित गौवों का ध्यान करता है। आत्मा मन सहित इन्द्रियों का निरीक्षण करता है, यही आत्मालोचन कहलाता है। ये इन्द्रियाँ **हवाः**=आह्वान के योग्य हैं। जैसे गौवों को दोहन के लिये बुलाया जाता है इसी प्रकार इन इन्द्रियों को ज्ञान प्राप्ति व कर्मसिद्धि के लिये आत्मा आहूत करता है और ये **इत्**=निश्चय से **अर्यः अभितः**=(अर्यम्) स्वामी के चारों ओर **समायन्**=उपस्थित होती हैं। (४) इन इन्द्रियरूप गौवों के समीप आ जाने पर **स्वपतिः**=अपना पूर्ण प्रभुत्व करनेवाला यह आत्मा **आसु**=इन गौवों में **कियत्**=कितने ही, अर्थात् बहुत अधिक ज्ञान व कर्मरूप दुग्ध को **छन्दयाते**=चाहता है। वह इन्हें खूब ही ज्ञान की प्राप्ति में व यज्ञादि की सिद्धि में व्यापृत रखता है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ गौवें हैं, मन ग्वाला व आत्मा स्वामी है। जब आत्मा इन्हें अपने वश में रखता है तो प्रचुर ज्ञान व कर्मरूप दुग्ध को ये देनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

योगी का विशाल परिवार

सं यद्वयं यवसादो जनानामहं यवाद उर्वज्रे अन्तः ।
अत्रा युक्तोऽवसातारमिच्छादथो अयुक्तं युनजद्ववन्वान् ॥ ९ ॥

(१) **जनानाम्**=लोगों में **अहम्**=मैं **यवादः**=यव का, जौ का अदन करनेवाला हूँ। यह जौ मेरी मनोवृत्ति को अशुभ से अमिश्रित व शुभ से मिश्रित करता है, इसी से तो इसका नाम 'यव' है 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। (२) इस प्रकार वृत्ति के शुभ होने से **वयम्**=हम उस **अज्रे अन्तः**=इस विशाल वसुधा के प्रांगण में **यद्**=जो **यवसादः**=घास को खानेवाले पशु हैं उनके भी **सम्**=(Together) साथ एक स्थान में एकत्रित हैं, अर्थात् वे भी मेरे परिवार में शामिल हो गये हैं और इस प्रकार मैं 'अहं' न रह कर 'वयं' हो गया हूँ। (३) **अत्रा**=इस प्रकार यहाँ मानव जीवन में **युक्तः**=योगयुक्त हुआ-हुआ पुरुष सबके साथ एक हुआ-हुआ पुरुष एकत्व का दर्शन करनेवाला पुरुष **अवसातारम्**=जन्म-मरण के चक्र के अन्त के करनेवाले को **इच्छात्**=चाहे। इसकी यह प्रबल कामना हो कि प्रभु मुझे जन्म-मरण चक्र से मुक्त करें। इस मुक्ति के लिये ही युक्त होना आवश्यक है। (४) **अथ उ**=और यह युक्त पुरुष निश्चय से **वन्वान्**=इन्द्रियों व मन का विजय (वन्=win) करता हुआ **अयुक्तम्**=अयोगयुक्त पुरुष को उपदेश व प्रेरणा के द्वारा **युनजत्**=योग से युक्त करें। योगयुक्त होने से ही मानव का कल्याण सिद्ध होता है। यह योगी अकेला ही योग व समाधि का आनन्द लेने की अपेक्षा अपने विशाल परिवार के अन्य व्यक्तियों को भी योगमार्ग पर जाने के लिये यत्न करता है।

भावार्थ—योगी वह है जिसने संसार को अपने साथ युक्त किया है। यह सभी को योगी बनाने का यत्न करता है।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

योग व भोग

अत्रेदु मे मंससे सत्यमुक्तं द्विपाच्च यच्चतुष्पात्संसृजानि ।
स्त्रीभिर्यो अत्र वृषणं पृतन्यादयुद्धो अस्य वि भजानि वेदः ॥ १० ॥

(१) **अत्र इत् उ**=यहाँ योग के जीवन में निश्चय से तू **मे उक्तम्**=मेरे इस कथन को **सत्यं मंससे**=सत्य मानता है **यत्**=कि **द्विपात् च चतुष्पात् च**=दो पाँववाले और चारपावों वाले सभी को **संसृजानि**=मैं ही पैदा करता हूँ। इस प्रकार ये सारे प्राणी तेरे दृष्टिकोण में एक प्रभु के पुत्र होने से एक ही परिवार के हैं। तू इनके साथ अपना एकत्व देखता है। (२) ऐसा न करके, अर्थात् योगमार्ग पर न चल करके **यः**=जो भोगमार्ग पर चलता है, वह **स्त्रीभिः**=स्त्रियों के हेतु से, अर्थात् सांसारिक विलास की खातिर **अत्र**=यहाँ मानव जीवन में **वृषणं**=उस शक्तिशाली प्रभु से **पृतन्यात्**=लड़ाई ठान लेता है, अर्थात् प्रभु का कभी भी ध्यान नहीं करता, उसे प्रभु ध्यान की प्रवृत्ति ही नहीं होती, वह प्रभु ध्यान के दो मुख्य समयों में प्रातःकाल तो निद्रा देवी की गोद में होता है और सायं किसी क्लब में। इस प्रकार उसे प्रभु ध्यान का अवसर ही नहीं होता। ऐसा लगता है कि ध्यान से इसकी लड़ाई ही हो। (३) यह व्यक्ति **अयुद्धः**=काम, क्रोध, लोभ आदि से

चलनेवाले सात्त्विक संग्राम को प्रारम्भ ही नहीं करता। इसके सुधार के लिये प्रभु कहते हैं कि मैं **अस्य**=इसके **वेदः**=धन को इससे **विभजामि**=विभक्त कर देता हूँ, पृथक् कर देता हूँ। धन के आधिक्य ने ही तो इसे भोगमार्ग का पथिक बना दिया था, धन से पृथक् करके प्रभु उस कारण को ही दूर करना आवश्यक समझते हैं जो इसे भोगासक्त किये हुए था।

भावार्थ—योगी संसार में एकत्व देखता है। भोगी प्रभु को भूल जाता है। प्रभु इसके धन को नष्ट करके इसे ठीक मार्ग पर आ जाने का अवसर प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रकृति वहन व प्रकृति परित्याग

यस्यानक्षा दुहिता जात्वास कस्तां विद्वाँ अभि मन्याते अन्धाम्।
कतरो मेनिं प्रति तं मुचाते य ईं वहाते य ईं वा वरेयात्॥ ११ ॥

(१) प्रकृति जड़ है, ज्ञानशून्य है। प्रस्तुत मन्त्र में इसीलिए इसे 'अनक्षा' कहा गया है, यह **अनक्षा**=जड़ प्रकृति **यस्य**=जिसकी **दुहिता**=पूरक (दुह प्रपूरणे) आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाली **जातु आस**=कभी थी और इसीलिए **कः**=आनन्दमय जीवनवाला **विद्वान्**=समझदार पुरुष **ताम्**=उस प्रकृति को **अन्धाम्**=भोजन (=पालन करनेवाली) **अभिमन्याते**=मानता है। वस्तुतः 'जब तक प्रकृति को हम शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन और उन साधनों को प्राप्त कराके अपना पालन करनेवाली समझेंगे तब तक' तो यह ठीक ही है यह हमें कुचलनेवाली तभी बनती है जब कि हम इसे भोग्य वस्तु समझकर, शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नहीं, अपितु मौज के लिए समझने लगते हैं। (२) यदि प्रकृति मेरे लिये दुहिता ही बनी रहती है तो **कतरः**=वह अत्यन्त आनन्दमय प्रभु **तं प्रति**=उस प्रकृति में न फँसनेवाले पुरुष के प्रति **मेनिम्**=वज्र को, क्रियाशीलता को **मुचाते**=प्राप्त कराता है अथवा मेनिम्=आदर को प्राप्त कराता है। उसके प्रति आदर को प्राप्त कराता है **यः**=जो **ईम्**=निश्चय से **वहाते**=इस प्रकृति का वहन करता है **वा**=परन्तु साथ ही **यः**=जो **ईम्**=निश्चय से **वरेयात्**=इसका निबारण करता है। प्रकृति का वहन करता, अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों का शरीर यन्त्र के चालन के लिये प्रयोग करना और प्रकृति का निवारण करना, अर्थात् इसके अन्दर फँस न जाना। इस प्रकार प्रकृति के अन्दर रहकर भी उसमें न फँसता हुआ व्यक्ति प्रभु से आदर को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्राकृतिक पदार्थों का प्रयोग करें और उनमें आसक्त होकर उनका अतिभोग न कर बैठें।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मित्र न कि योषा

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥ १२ ॥

(१) **मर्यतः**=प्रकृति के पीछे मरनेवाले, उसकी प्राप्ति के लिये अत्यन्त लालायित, **वधूयोः**=प्रकृति को अपनी वधू बनाने की कामनावाले के **वार्येण पन्यसा**=वरणीय सुन्दर स्तोत्र से यह प्रकृति **कियती परिप्रीता**=कितनी प्रसन्न हो सकती है? अर्थात् यदि हम इन प्राकृतिक भोगों के पीछे दौड़ते हैं तो ये प्राकृतिक भोग हमारा देर तक कल्याण नहीं कर सकते। प्रकृति के पीछे मरनेवाले को यह प्रकृति देर तक प्रसन्न नहीं कर सकती। (२) यह तो तभी **भद्रा**=कल्याणकर तथा

वधूः=(वहति कार्यधुरं) व हमारे कार्यों का वहन करनेवाली **भवति**=होती है **यत्**=जब कि **सुपेशाः**=सुन्दर आकृति को जन्म देनेवाली **सा**=वह प्रकृति **जने चित्**=लोगों में निश्चय से **स्वयम्**=अपने आप **मित्रं वनुते**=मित्र को सम्भक्त करती है, प्राप्त होती है। हम प्रकृति के पीछे न मरें, प्रकृति वरण के लिये लालायित न हों, प्रकृति ही हमारा वरण करे। जब प्रकृति हमारा वरण करती है तो यह हमारे कल्याण के लिये होती है और हमारे कार्यों की पूर्ति के लिये होती है, हमारे जीवनों को यह सुन्दर आकार देती है (भद्रा-वधू-सुपेशाः)।

भावार्थ—प्रकृति को हम अपना मित्र बनायें, इसे वधू बनाने के लिये लालायित न हों। यह देर तक हमें सन्तुष्ट न कर सकेगी।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नति से उन्नति (नम्रत्वेनोन्नमन्तः)

प॒त्तो ज॑गार प्र॒त्यञ्च॑मत्ति शी॒र्ष्णा शिरः॒ प्रति॑ दधौ॒ वरू॑थम्।
आसी॑न ऊ॒र्ध्वामु॒पसि॑ क्षिणाति॒ न्य॑ङ्ङुत्ता॒नामन्वे॑ति॒ भूमि॑म् ॥ १३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रकृति को मित्र बनानेवाला व्यक्ति **पत्तः**=(पद् गतौ) गति के दृष्टिकोण से, अर्थात् शरीर यात्रा चलती रहे इसीलिए **जगार**=भोजन करता है। (२) यह **प्रत्यञ्चम्**=प्रत्येक व्यक्ति की ओर जानेवाले भोजन को **अत्ति**=खाता है, अर्थात् यज्ञ में आहुति देकर और इस यज्ञ के द्वारा सभी को कुछ भोजनांश प्राप्त कराके ही भोजन को करता है। अकेला न खाकर सदा यज्ञशेष का सेवन करता है। (२) **वरूथम्**=अपने धन को (wealth) **शीर्ष्णा शिरः**=(per head) प्रति व्यक्ति के लिये **प्रतिदधौ**=धारण करता है। यह राजा को कर के रूप में धन देता है, राजा उस धन का विनियोग सारी प्रजा के हित के लिये करता है। (३) **उपसि आसीनः**=उपासना में स्थित हुआ-हुआ यह व्यक्ति **ऊर्ध्वाम्**=इस (get the upper hand) प्रबल हुई-हुई प्रकृति को **क्षिणाति**=(हिनस्ति) नष्ट करता है, अर्थात् उपासना के द्वारा यह इस प्रकृति को अपने पर प्रबल नहीं होने देता। (४) **न्यङ्**=(नि अञ्च्) सदा नम्रता से गति करता हुआ यह **उत्तानां भूमिं अन्वेति**=उन्नत प्रदेश को, उन्नत स्थिति को प्राप्त करता है। नम्रता से चलता हुआ यह सदा उन्नत होता जाता है। भर्तृहरि के शब्दों में 'नम्रत्वेनोन्नमन्तः' ये लोग नम्रता से उन्नत होते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशेष को खानेवाले बनें, शरीर यात्रा को चलाने के लिये हमारा भोजन हो, प्रकृति को हम अपने पर प्रबल न होने दें और नम्रता से चलते हुए उन्नति को प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उन्नति का स्वरूप

बृ॒हन्न॑च्छा॒यो अ॑पला॒शो अर्वा॑ त॒स्थौ मा॒ता विषि॑तो अत्ति॒ गर्भः॑।
अ॒न्यस्या॑ व॒त्सं रि॑हती मिमाय॒ कया॑ भु॒वा नि द॑धे धे॒नुरूधः॑ ॥ १४ ॥

(१) गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि 'उत्तान भूमि को प्राप्त करता है'=उन्नत स्थिति को प्राप्त करता है। उस उन्नत स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि—(क) **बृहन्**=(बृहि वृद्धौ) यह वृद्धि को प्राप्त होनेवाला होता है प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करता है, शरीर के अंग-प्रत्यंगों की शक्ति को बढ़ाता है, (ख) **अच्छायः**=(तमो वर्जितः सा०) अन्धकार से रहित जीवनवाला होता है अथवा 'छादेर्भेदने' भेदन की वृत्तिवाला नहीं होता, तोड़-फोड़ के ही काम नहीं करता

रहता, सदा आलोचक न बना रहकर स्वयं कार्य में प्रवृत्त होता है। (ग) **अपलाशः**=(अ+पलाश=unkind, cruel) यह क्रूर नहीं होता। सो यह 'अ+पल+आश' मांस भोजन में प्रवृत्त नहीं होता। अथवा 'अ+पर+आश'=दूसरों के भोजन को खानेवाला नहीं होता, परपिण्डोपजीवी नहीं होता। समाज में parasite बनकर समाज शरीर को हानि पहुँचानेवाला नहीं होता। (घ) **अर्वा**=(going, moving, running) गतिशील होता है, (अर्व् To kill) गतिशीलता के द्वारा बुराइयों का संहार करनेवाला होता है। (ङ) **माता**=निर्माण करनेवाला होकर **तस्थौ**=जीवन में स्थित होता है। सदा निर्माणात्मक कार्यों में रुचिवाला होता है। (च) **विषितः**=(अबद्धः) अनासक्त होकर, शरीर रक्षा के लिये ही **अत्ति**=सांसारिक भोग्य पदार्थों का ग्रहण करता है। कभी स्वाद के लिये नहीं खाता। (छ) **गर्भः**=(गिरति अनर्थान् नि० १०।२३) अनर्थों को नष्ट करनेवाला होता है, वस्तुतः अनासक्तभाव से संसार में चलने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि अवाञ्छनीय रोगादि उत्पन्न न हों। (२) **अन्यस्याः**=(strange) इस असाधारण वेदवाणी के (अन्या=Not drying up) कभी न सूखनेवाली सरस्वती नदी रूप इस वाणी के **वत्सं** (**वदति**)=उच्चारण करनेवाले को **रिहती**=चाटती हुई, जिस प्रकार गौ चाटकर बछड़े के शरीर को स्वच्छ कर देती है, इसी प्रकार यह वेदवाणी रूप गौ भी अपने वत्स को चाटकर शुद्ध बना देती है। **मिमाय**=यह वेदवाणी उसके जीवन का निर्माण करती है (निर्मिमीते)। (३) **धेनुः**=यह ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणीरूप गौ **कया भुवा**=बड़े आनन्दमय भाव से **ऊधः निदधे**=ज्ञानकोश को इस वत्स के लिये धारण करती है। ऊधस्=दुग्धकोश होता है, यहाँ वेदवाणीरूप गौ का ऊधस् उसका ज्ञानकोश है। यह वेदवाणी प्रेम से इसे अपने वत्स को प्राप्त कराती है। क्रुद्ध हुई-हुई माता बच्चे को दूध पिलाती है तो दूध उतना गुणकारी नहीं होता। सो यह वेदमाता तो आनन्दमय भाव से युक्त हुई-हुई ही अपने प्रिय को दूध पिलाती है। यह दूध उस 'वत्स' के जीवन का निर्माण करता है।

भावार्थ—वेदवाणी अपने ज्ञानदुग्ध के द्वारा हमारे जीवन का सुन्दरता से पोषण करे।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दशम दशक्त से पूर्व ही

सप्त वीरासो अधरादुदायन्नष्टोत्तरात्तात्समजग्मिरन्ते।
नव पश्चातास्थिविमन्त आयन्दश प्राक्सानु वि तिरन्त्यश्नः॥ १५॥

(१) **सप्त**=सात **वीरासः**=(वि+ईर) विशिष्टरूप से शत्रुओं को कम्पित करनेवाले मरुत्, अर्थात् प्राणा **अधरात्**=नीचे से लेकर **उत् आयन्**=ऊपर तक आते हैं, ये प्राण, प्राणायाम के द्वारा सिद्धि के होने पर शरीर को नीरोग बनाते हैं, जरा ऊपर आकर मन को निर्मल करते हैं, कुछ और ऊपर उठकर ये बुद्धि को बड़ा तीव्र बना देते हैं। इस प्रकार ये प्राण मनुष्य को भी ऊपर उठानेवाले होते हैं। इस प्राण साधना के द्वारा योगदर्शन के शब्दों में 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'=प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है। 'धारणासु च योग्यता मनसः' मन की धारणाओं में योग्यता उत्पन्न होती है, मन को देश-विशेष में बाँधना सुगम हो जाता है। (२) इस प्राण साधना को ही परिणाम होता है कि **ते अष्ट**=शरीर में मेरुदण्ड के मूल से शिखर तक रहनेवाले वे आठ चक्र **उत्तरातात्**=ऊपर **समजग्मिरन्**=संगत होते हैं। मेरुदण्ड के मूल में मूलाधार चक्र है, शिखर पर सहस्त्रार चक्र। मूलाधार चक्र में ही कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। यह प्राणों की उष्णता से कुण्डल को तोड़कर ऊपर उठती है और सुषुमणा नाड़ी में से होती हुई मेरुपर्वत के शिखर पर स्थित सहस्त्रार चक्र के स्थान तक पहुँचती है। (३) **नव**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ और वाणी व जिह्वा

के दोनों ओर होने से ये नौ की नौ इन्द्रियाँ, विषयों से व्यावृत्त होकर **स्थिविमन्तः**='स्थानमन्तः' विषयों में न भटकने से स्थित हुई-हुई **पश्चात्तात्**=पीछे **आयन्**=आ जाती हैं, यही इन्द्रियों का 'प्रत्याहार' कहलाता है। (४) इस प्रकार प्रत्याहार की साधना करके **दश-प्राक्**=दसवें दशक से पूर्व ही (दशभ्यः प्राक्), अर्थात् मरण से पूर्व ही 'प्राक् शरीर विमोक्षणात्' **अश्नः**=(अशनवत्) बड़ा खानेवाले, अर्थात् न रजनेवाले इस काम के **सानु**=शिखर को **वितिरन्ति**=नष्ट कर डालते हैं। शरीर मोक्ष से पूर्व ही काम के वेग को जीतना आवश्यक है। यदि हम इसे नहीं जीतते तो यह हमारा नाश कर देता है। इसका नाश हमारे जीवन का कारण बनता है। काम के सिर को कुचल देना ही, इसे दवा देना ही, वश में कर लेना ही इसके शिखर का नाश है।

भावार्थ—सप्त प्राण, अष्ट चक्र व नव द्वार हमारे स्वस्थ व स्वाधीन हों और हम मृत्यु से ही पूर्व ही काम-क्रोधोद्भव वेग को जीतनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जगतः पितरौ

दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय।
गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति॥ १६॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु पिता है, प्रकृति माता है। संसार में सब व्यक्ति **क्रतवे**=यज्ञों के लिये तथा **पार्याय**=कर्मों के पार जाने के लिये, अर्थात् उन यज्ञादि कर्मों में सफलता के लिये **तं हिन्वन्ति**=उस प्रभु को प्राप्त करते हैं जो कि **दशानाम्**=दसों इन्द्रियों के **एकम्**=अद्वितीय **कपिलम्**=(कवृवर्णे, कपिं लाति) रंग के भरनेवाले, अर्थात् उस-उस इन्द्रिय को अमुक-अमुक शक्ति प्राप्त करानेवाले अथवा (कम्प् गतौ) प्रत्येक इन्द्रिय को गतिशील बनानेवाले, अपने-अपने कार्य में समर्थ करनेवाले हैं और **सम् आनम्**=सम्यक्तया प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं। हृदयस्थ रूपेण प्रभु अपने पुत्र जीव को सदा उत्साह युक्त मनवाला करते हैं और उसे सोत्साह बनाकर प्रत्येक कर्म में सफल करते हैं। 'यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्' इत्यादि केनोपनिषद् के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि प्रभु ही इन्द्रियों को कार्य समर्थ बनाते हैं। (२) इस प्रभु से उत्साह व शक्ति को प्राप्त करके **गर्भम्**=(गिरति अनर्थम्) अनर्थों के समाप्त कर देनेवाले, विघ्न-बाधाओं से न घबराकर उन्हें पार कर जानेवाले और अतएव **वक्षणासु**=(वक्ष To grow) आर्थिक, शारीरिक, मानस व बौद्ध सभी प्रकार की उन्नतियों में **सुधितम्**=उत्तमता से स्थापित, ऐसा होते हुए भी **अवेनन्तम्**=इन सांसारिक वस्तुओं की कामना न करते हुए (अकामयमानम्) अथवा 'अ'=प्रभु की ही कामनावाले पुरुष का **माता**=यह निर्माण करनेवाली प्रकृति माता **तुषयन्ती**=जीव की उन्नति से अन्दर ही अन्दर सन्तोष का अनुभव करती हुई **बिभर्ति**=उसका भरण व पोषण करती है। प्रकृति उसे किसी आवश्यक वस्तु की कमी नहीं रहने देती। इन वस्तुओं के ठीक से प्राप्त होते रहने पर ही उन्नति स्थिर रहती है। प्रभु उत्साह देकर मन को उन्नत करते थे तो प्रकृति सब आवश्यक खान-पान का सामान प्राप्त कराके उसके शरीर को पुष्ट करती है और जीव को उन्नत होते हुए देखकर सन्तुष्ट होती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे पिता हैं, वे हमारे में उत्साह का संचार करते हैं। प्रकृति माता है, वह हमारे खान-पान का पूरा ध्यान करती है।

ऋषिः—वसुक्र ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पीवान् मेष का पचन

पीवानं मेषमपचन्त वीरा न्युप्ता अक्षा अनु दीव आसन् ।
द्वा धनुं बृहतीमप्स्व१न्तः पवित्रवन्ता चरतः पुनन्ता ॥ १७ ॥

(१) १५वें मन्त्र में वर्णित **वीरा**=सात प्राण मनुष्य को **पीवानम्**=(stout and strong) अत्यन्त सुदृढ़ शरीरवाला तथा **मेषम्**=(मिष्) औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला **अपचन्त**=बनाते हैं। प्राण इसके जीवन का परिपाक इस रूप में करते हैं कि यह सशक्त शरीरवाला बनता है और अपनी शक्ति के द्वारा औरों के कष्टों का निवारण करके उनपर सुखों की वर्षा करता है। (२) **न्युप्ताः**=(निक्षिप्ताः) विषयों से व्यावृत्त होकर मन में ही क्षिप्त हुई-हुई अतएव **अक्षाः**=स्थिर इन्द्रियाँ **दीवे**=द्योतन व प्रकाशन की क्रिया में **अनु आसन्**=अनुकूल होती हैं। जब तक इन्द्रियाँ विषयों में फँसी होती हैं तब तक अन्तःप्रकाश का सम्भव ही नहीं होता। विषयों से ये आवृत्त हुई और अन्दर स्थिर हुई और अन्तःप्रकाश चमक उठा। स्थिर इन्द्रियोंवाला पुरुष ही प्रभु के प्रकाश को देखता है। (३) **द्वा**=मस्तिष्क व हृदय ये दोनों मिलकर 'मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्', **अप्सु अन्तः**=सदा कर्मों में रहते हुए **पवित्रवन्ता**=मानस पवित्रतावाले तथा **पुनन्ता**=शरीर को रोगों से रहित व शुद्ध करते हुए **बृहतीं धनुम्**=वृद्धि के कारणभूत धनुष को **चरतः**=बनाते हैं। इस धनुष का एक सिरा मस्तिष्क है और दूसरा सिरा हृदय। धनुष् की इन दोनों कोटियों को परस्पर गुणित कर देने पर ही यह धनुष पूर्ण होता है और कार्य को करने में समर्थ होता है। विद्या व श्रद्धा रूप कोटियोंवाले इस धनुष से चलाया हुआ कर्मरूप तीर अत्यन्त शक्तिशाली होता है। ये कर्म मनुष्य की वृद्धि के कारण बनते हैं। धनुष शोभा के लिये ही नहीं है यह कर्मरूप तीर को चलाने के लिये हैं। ज्ञान व श्रद्धा को प्राप्त करके हमें कर्मशील बनना है। अकर्मण्यता से शरीर व मन के मैलों के फिर से आ जाने का खतरा है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर शक्ति-सम्पन्न व परहित-साधक बनाती है। स्थिर हुई-हुई इन्द्रियाँ अन्तःप्रकाश की अनुकूलता का कारण होती हैं। श्रद्धा व विद्या मिलकर उस धनुष को बनाते हैं जो हमारी वृद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—वसुक्र ऐन्द्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मामनुस्मर युध्य च (अमांसभोजन)

वि क्रोशनासो विष्वञ्च आयन्पचाति नेमो नहि पक्षदर्धः ।
अयं मे देवः सविता तदाह द्र्वन्न इद्वनवत्सर्पिरन्नः ॥ १८ ॥

(१) **वि क्रोशनासः**=विशिष्टरूप से उस प्रभु का आह्वान करनेवाले और **विष्वञ्चः**=विविध उत्तम कर्मों में गतिवाले व्यक्ति ही **आयन्**=प्रभु के समीप आते हैं। इस संसार में जीवन यात्रा को उत्तमता से चलाने का मार्ग यही है कि हम प्रभु का स्मरण करें (वि क्रोशानसः) और उत्तम कर्मों में लगे रहें (विश्वञ्चः)। प्रभु के स्मरणपूर्वक कार्यों को करना कर्मों की पवित्रता को बनाए रखता है। यह प्रभुस्मरण कर्म करने की शक्ति भी देता है। वस्तुतः अपने जीवन को परिपक्व करने के लिये यही प्रकार है कि 'प्रभुस्मरण पूर्वक कर्मों में लगे रहा जाये'। (२) संसार में उत्पन्न हुए-हुए व्यक्तियों में से **नेमः**=आधे ही **पचाति**=अपने जीवन को परिपक्व करते हैं। कुछ ही व्यक्तियों को जीवन के निर्माण का ध्यान आता है। संसार के विषय कुछ ऐसा विचित्र आकर्षण रखते हैं कि मनुष्य को अपने जीवन को [illegible] का ध्यान ही नहीं आता [illegible] में ही फँसा रह जाता

है। **अर्धः पक्षत्**=आधे लोग अपना परिपाक करते हैं। वे विषय-वासनाओं से अपने जीवन को सुरक्षित रखते हुए अपने परिपाक के लिये यत्नशील होते हैं। (३) इस जीवन में ठीक परिपाक करने के लिये **अयम्**=इस **सविता देवः**=प्रेरणा देनेवाले दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु ने **तत् आह**=यह बात कही है कि **द्रु-अन्नः**=(द्रु=tree) वानस्पतिक भोजनवाला अथवा **सर्पिरन्नः**=गोघृत आदि का भोजन करनेवाला ही **इत्**=निश्चय से **मे वनवत्**=मेरा उपासन करता है। मांसाहारी प्रभु का उपासक नहीं हो सकता, मांसाहारी अपने मांस के पोषण का ही ध्यान करता है, वह प्रभु की ओर झुकाववाला नहीं हो सकता। प्रभु-भक्त सभी प्राणियों को प्रभु पुत्र समझने के कारण भी उनमें बन्धुत्व का अनुभव करता है और उसके लिये मांस के खाने का सम्भव नहीं रहता। संक्षेप में, जीवन के ठीक परिपाक के लिये मांसाहार अनुकूल नहीं है।

भावार्थ—हम प्रभु स्मरण के साथ अपने विविध कर्त्तव्यों के पालन में लगे रहें। वानस्पति भोजन को अपनाकर अपने जीवन का ठीक से परिपाक करें।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सद्गृहस्थ का धारक प्रभु

अपश्यंग्रामं वहमानमारादचक्रया स्वधया वर्तमानम्।
सिषक्त्यर्यः प्रयुगा जनानां सद्यः शिश्ना प्रमिनानो नवीयान्॥ १९॥

(१) **ग्रामं वहमानम्**=प्राणि समूह को धारण करनेवाले व उन्नतिपथ पर आगे ले चलनेवाले प्रभु को **आरात्**=अपने समीप ही, अपने अन्दर ही **अपश्यम्**=देखता हूँ। वे प्रभु अपनी इस वहन क्रिया में **अचक्रया**=बिना किसी चक्रवाली **स्वधया**=अपनी धारण शक्ति से ही **वर्तमानम्**=प्रवृत्त हैं। प्रभु को किन्हीं सवारियों की आवश्यकता हो, सो बात नहीं है। (२) वह उत्पन्न जगत् का **अर्यः**=स्वामी प्रभु **जनानाम्**=लोगों के **युगा**=युगों को, अर्थात् पति-पत्नी रूप द्वन्द्व को **प्रसिषक्ति**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। जो भी लोग गृहस्थ के भार को पूर्ण कर्त्तव्यभावना के साथ उठाते हैं उन्हें प्रभु का साहाय्य सदा प्राप्त होता है। 'दुःखमित्येव यत्कर्मकायक्लेशभयात्त्यजेत्' इन शब्दों के अनुसार जो व्यक्ति 'कौन इतना बोझ उठायेगा' इस विचार से घबराकर गृहस्थ होने से भागते हैं, वे प्रभु के प्रिय नहीं होते। (३) वे प्रभु **शिश्ना**=भोग प्रधान जीवनवाले अथवा औरों की हिंसा करनेवाले लोगों को **सद्यः**=शीघ्र ही **प्रमिनानः**=हिंसित करते हैं। प्रभु की रक्षा के पात्र वे ही होते हैं जो भोग प्रधान जीवनवाले नहीं तथा जो औरों की हिंसा करनेवाले नहीं। (४) ये प्रभु **नवीयान्**=अतिशयेन स्तुति के योग्य हैं (नु स्तुतौ)। इनका स्तवन हमें जीवन मार्ग का प्रदर्शन कराता है।

भावार्थ—प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं। वे सद्गृहस्थों को प्राप्त होते हैं और विलासी पुरुषों की हिंसा करते हैं। इस प्रभु का स्तवन हमारे सामने एक लक्ष्य-दृष्टि पैदा करता है और हम ब्रह्म जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

समुद्र जल-सूर्य व मेघ में प्रभु-दर्शन

एतौ मे गावौ प्रमरस्य युक्तौ मो षु प्र सेधीर्मुहुरिन्ममन्धि।
आपश्चिदस्य वि नशन्त्यर्थं सूरश्च मर्क उपरो बभूवान्॥ २०॥

(१) **एतौ**=ये **मे**=मेरी **गावौ**=(गावः इन्द्रियाणि) ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप दो गौवें **प्रमरस्य**=शत्रुओं को प्रकर्षेण नष्ट करनेवाले इस प्रभु से **युक्तौ**=शरीर-शकट के अन्दर जोती गयी हैं। प्रभु

ने मेरे इस शरीर-शकट को सुचारुरूपेण चलाने के लिये इसमें ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप दो बैल (=गावौ) जोते हैं। प्रभु ने ये इन्द्रियाँ दी हैं जिससे हम जीवन-यात्रा में आगे और आगे चल सकें। (२) **मा उ सु प्रसेधीः**=हे प्रभो! आप इनको मेरे इस-रथ से (मा अपगमय) अलग न करिये। ये इसमें ठीक से जुती ही रहें। इनका कार्य ठीक प्रकार से चलता रहे। इन इन्द्रियों (ख) के ठीक (सु) होने को ही तो 'सुख' कहते हैं, इनका विकृत (दुः) होना ही दुःख है। इस प्रकार इन्हें मेरे से अपगत न करके **मुहुः**=और अधिक **उन्ममन्धि**=उत्कृष्ट हर्ष से युक्त करिये। (३) **अस्य**=इस स्तोता को **आपः चित्**=ये समुद्र के विस्तृत जल भी **अर्थम्**=उस गन्तव्य प्रभु को **विनशन्ति**=(attain, To reach) प्राप्त कराते हैं, अर्थात् इन समुद्र के विस्तृत जलों में उसे प्रभु की महिमा दिखती है। **च**=और **मर्कः**=शोधीयता अपने संतापयुक्त किरणों के द्वारा सब मलों को दग्ध करके शोधन का करनेवाला **सूरः**=सूर्य भी प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है। सूर्य में भी उसे प्रभु की महिमा दिखती है। यह **बभूवान्**=सब प्रकार के अन्नादि की उत्पत्ति का कारणभूत **उपरः**=मेघ भी उस प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ ठीक से कार्य करती रहें और हम समुद्र जलों में, सूर्य में तथा मेघों में प्रभु की विभूति को देखनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'कर्म ज्ञान व उपासना' का समन्वय

अयं यो वज्रः पुरुधा विवृत्तोऽवः सूर्यस्य बृहतः पुरीषात्।
श्रव इदेना परो अन्यदस्ति तदव्यथी जरिमाणस्तरन्ति॥ २१॥

(१) **सूर्यस्य**=सूर्य के **बृहतः**=विशाल **पुरीषात्**=उदक से **अवः**=नीचे, अर्थात् द्युलोक में सूर्य स्थित है, इस सूर्य की किरणों से अन्तरिक्ष में विशाल जल की मेघरूप में स्थापना होती है, उससे नीचे इस पृथ्वीलोक पर **अयम्**=यह **यः**=जो **वज्रः**=क्रियाशीलतारूप वज्र प्रभु ने दिया है। यह वज्र इन्द्र से **पुरुधा विवृत्तः**=नाना प्रकार से प्रवृत्त होता है। इस क्रियाशीलता से जीव नाना प्रकार के कर्म किया करता है। कर्मभेद से ही वह 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' कहलाने लगता है। इस प्रकार जीव प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके विविध कार्य करता है। यही उसका कर्मकाण्ड को अपनाना है। (२) **एना**=इस कर्मकाण्ड से **परः**=उत्कृष्ट **अन्यत्**=दूसरा **इत्**=निश्चय से **श्रवः**=ज्ञान **अस्ति**=है। ये व्यक्ति कर्म के साथ ज्ञान को अपनाते हैं। ज्ञान ही तो उनके कर्मों की पवित्रता का कारण होता है। (३) **तत्**=सो इस प्रकार कर्म व ज्ञान को अपनाकर **अव्यथी**=ये व्यथा से रहित होते हैं। कोई भी कर्मशील व्यक्ति भूखा नहीं मरता। यदि कर्म के साथ वह ज्ञान को भी अपनाता है और इस प्रकार अपने कर्मों को पवित्र कर लेता है, तब तो उसके पीड़ित होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। (४) इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **जरिमाणः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले ये लोग **तरन्ति**=भवसागर को तैर जाते हैं। सब पापों से परे होने के कारण इन्हें फिर इस जन्म-मरण चक्र में नहीं आना पड़ता।

भावार्थ—हम 'कर्म ज्ञान व स्तवन' को अपनाकर इस भवसागर को तैरनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृक्ष में बद्ध गौ

वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद्गौस्ततो वयः प्र पतान्पूरुषादः।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत्॥ २२॥

(१) **वृक्षे वृक्षे**=प्रत्येक शरीररूप वृक्ष में हृदयस्थ प्रभु से **गौः**=वेदवाणी **नियता**=बद्ध की गई है और वह **मीमयत्**=वेदवाणी रूप गौ शब्द करती है। यह ठीक है कि इस शब्द को सब कोई सुनता नहीं है। (२) **ततः**=इन वेदवाणी के शब्दों से **पूरुषादः**=(पुरुषात् अदन्ति=ब्रह्म चरन्ति)=उस प्रत्येक शरीर में वास करनेवाले प्रभु से ज्ञान प्राप्त करनेवाले **वयः**=(वय् गतौ way)=मार्ग पर चलनेवाले प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **प्रपतान्**=प्रकृष्ट मार्ग से जाते हैं, उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं। (३) **अथ**=अब **इदम्**=यह **विश्वम्**=सब **भुवनम्**=लोक **भयाते**=उस प्रभु से भय करता है। उसके भय से ही 'अग्नि तपती है, सूर्य चमकता है, मेघ, वायु व मृत्यु भी उस प्रभु के शासन में ही अपने-अपने कार्य को करते हैं'। (४) **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **सुन्वत्**=अपने शरीर में सात्त्विक आहार से सोम (=वीर्य) का अभिषव करता है। इस सोम के शरीर में पान करने से ही वह उस सोम 'परमात्मा' को पानेवाला बनता है **च**=और **ऋषये**=उस प्रभु के दर्शन के लिये, ऋषि बनने के लिये **शिक्षत्**=विद्या का उपादान करता है। यह विद्या ही तो उसे ब्रह्म का साक्षात्कार करानेवाली होती है 'परा (विद्या) यया तदक्षरमधिगम्यते'। प्रभु दर्शन इस प्रकार ऋषियों की तीव्र बुद्धि से ही हो सकता है 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'।

भावार्थ—हम हृदयस्थ प्रभु से उच्चारित वेदवाणी को सुनें। प्रभु के भय से सदा उत्कृष्ट मार्ग पर चलें। उस प्रभु के दर्शन के लिये सोम का रक्षण करें और शिक्षा का उपादान करते हुए ऋषि बनें।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान प्राप्ति में सर्वप्रथम

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥ २३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ऋषि बननेवाले लोग **देवानाम्**=पृथिवीस्थ ग्यारह, अन्तरिक्षस्थ ग्यारह और द्युलोकस्थ ग्यारह, इस प्रकार कुल तेंतीस देवों के **माने**=मापने में, ज्ञान प्राप्त करने में **प्रथमाः अतिष्ठन्**=प्रथम स्थान में स्थित होते हैं, अर्थात् ये लोग देवों का ऊँचे से ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हैं, इनके ज्ञान से ही तो इन्हें महादेव का ज्ञान प्राप्त होगा। (२) इस प्रकार ज्ञान के द्वारा **कृन्तत्रात्**=वासनाओं के काटने के द्वारा **एषाम्**=इनके **उपराः**=निचले प्रदेश (Lower regions) **उद् आयन्**=ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं। सबसे नीचे मूलाधार चक्र हैं, यहाँ स्थित कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगतिवाली होती हुई सर्वोत्कृष्ट देश में पहुँचती है। (३) अब **त्रयः अनूपाः**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ये तीनों शरीर में क्रम से प्रविष्ट होकर व्याप्त होनेवाले **पृथिवीम्**=शरीर को **तपन्ति**=खूब दीप्त करते हैं। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी ज्ञान की वृद्धि के द्वारा शरीर को प्रकाशमय बनाते हैं। (४) **द्वा**=प्राण और अपान ये दोनों **पुरीषम्**=शरीर का पालन व पोषण करनेवाले **बृबूकम्**=जल को, रेतःरूप में स्थित अप् तत्त्व को **वहतः**=धारण करनेवाले होते हैं। प्राणापान की साधना से रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है, इन रेतःकणों का शरीर में ही धारण होता है। शरीर में धारित रेतःकण सब प्रकार की उन्नति के कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम देवों का ज्ञान प्राप्त करें। चक्रों की ऊर्ध्वगति करते हुए शरीर को दीप्त करें, प्राणसाधना द्वारा रेतःकणों को शरीर में ही धारण करें।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवनौषध

सा ते॑ जी॒वातु॑रु॒त तस्य॑ विद्धि॒ मा स्मै॑ता॒दृगप॑ गूहः सम॒र्ये।
आ॒विः स्वः॑ कृ॒णु॒ते गूह॑ते बु॒सं स पा॒दुर॑स्य नि॒र्णिजो॒ न मु॑च्यते॥ २४॥

(१) **सा**=गत मन्त्र में वर्णित वीर्य की ऊर्ध्वगति ही **ते जीवातुः**=तेरी जीवनौषध है। **उत**=और **तस्य विद्धि**=उसको तू अच्छी तरह जान, अर्थात् वीर्य की ऊर्ध्वगति के महत्त्व को तू अच्छी तरह समझ ले। (२) **एतादृग्**=ऐसा तू वीर्य-रक्षा के महत्त्व को समझनेवाला तू **अर्ये**=उस संसार के स्वामी प्रभु में **मा स्म**=मत **सं अपगूहः**=अपने को संवृत कर (गुह् संवरणे), अर्थात् प्रभु से अपने को छिपाने की कोशिश मत कर। प्रभु के सदा सामने रह। (३) यह सदा प्रभु के सामने रहनेवाला व्यक्ति **स्वः**=आत्म-प्रकाश को, सुख को **आविः कृणुते**=प्रकट करता है। इसका जीवन प्रकाशमय व सुखमय होता है। यह **बुसं गूहते**=यह रेतस् के रूप में रहनेवाले अप् तत्त्व को अपने में संवृत व सुरक्षित करता है। (४) **अस्य निर्णिजः**=इस अपने जीवन को शुद्ध करनेवाले का **स पादुः**=वह आचरण (पद गतौ=चर गतौ) **न मुच्यते**=कभी इससे छूटता नहीं, यह सदा अपने जीवन में प्रभु का स्मरण करता है और वीर्यरक्षा पर बल देता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षा ही जीवनौषध है, इसके लिये प्रभु का अविस्मरण आवश्यक है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम सुन्वन् यजमान बनें। (१) अदेवयु पुरुष परस्पर लड़कर नष्ट हो जाते हैं, (२) भौतिकता के साथ युद्ध जुड़े हुए हैं, (३) ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवालों का प्रभु रक्षण करते हैं, (४) प्रभु की व्यवस्था को कोई रोक नहीं सकता, (५) शराबियों पर प्रभु का वज्रपात होता है, (६) वे सर्वव्यापक प्रभु हमारे शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं, (७) इन्द्रियाँ गौवें हैं और मन ग्वाला व आत्मा स्वामी है, (८) इस चित्त को काबू करनेवाला योगी सारे संसार को अपना परिवार समझता है, (९) योगी एकत्व को देखता है तो भोगी प्रभु को भूल जाता है, (१०) हम कभी प्राकृतिक पदार्थों का अतियोग न करें, (११) प्रकृति को हम अपना मित्र बनाएँ न कि पत्नी, (१२) इस बात को न भूलें कि नम्रता से ही उन्नति होती है, (१३) वेदवाणी अपने ज्ञानदुग्ध से हमारे जीवन का सुन्दर पोषण करती है, (१४) हमारा प्रयत्न यह हो कि हम दशम दशक से पूर्व ही काम के वेग को जीत लें, (१५) प्रभु व प्रकृति को अपना पिता व माता जानें, (१६) प्राणसाधना द्वारा शरीर आदि का ठीक परिपाक करें, (१७) प्रभु स्मरण पूर्वक कर्मों में लगे रहें, (१८) प्रभु सद्गृहस्थों को प्राप्त होते हैं, (१९) इस प्रभु की महिमा समुद्र जल, सूर्य व मेघ में होती है, (२०) कर्म ज्ञान व उपासना का समन्वय ही हमें तरायेगा, (२१) प्रत्येक शरीर में वेदवाणी रूप गौ बद्ध है, (२२) उसके द्वारा हम ज्ञान प्राप्ति में सर्वप्रथम हों, (२३) वीर्यरक्षा को ही जीवनौषध समझें, (२४) हमारा यही प्रयत्न हो कि हमारे जीवन में वासनाओं की प्रबलता न होकर प्रभु का आगमन हो।

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह श्वशुर

विश्वो॒ ह्य१॒॑न्यो अ॒रिरा॑ज॒गाम॒ ममेद॒ह श्वशु॑रो॒ ना ज॑गाम।
ज॒क्षी॒याद्धा॒ना उ॒त सोमं॑ पपी॒यात्स्वा॑शितः॒ पुन॒रस्तं॑ जगायात्॥ १ ॥

(१) **विश्वः**=सारे **हि**=ही **अन्यः**=दूसरे **अरिः**='काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर' आदि शत्रु तो **आजगाम**=मेरे जीवन में खूब ही आये हैं, पर **मम**=मेरे **श्व-शुरः**=सर्व प्रथम प्राप्त होनेवाला नायक प्रभु तो **इत्**=निश्चय से **अह**=ही **न आजगाम**=नहीं आये हैं। काम-क्रोध आदि का तो खूब जोर रहा, पर प्रभु का दर्शन नहीं हुआ। (२) जिस समय जीव इस प्रकार उपालम्भ भरे शब्दों में प्रभु के न आने की बात कहता है तो प्रभु कहते हैं कि जब जीव यह चाहता है कि वासनाएँ उसे न सताएँ और वह आत्मदर्शन करनेवाला बने तो उसे चाहिए कि—(क) **धाना**=भृष्ट यवों को, भुने जौ को **जक्षीयात्**=खाये। उन वनस्पति भोजनों को ही करे, क्योंकि वानस्पतिक भोजन मनुष्य की बुद्धि को सात्त्विक बनाते हैं। (ख) **उत**=और मनुष्य को चाहिए कि **सोमं पपीयात्**=सोम का पान करे। शरीर में **सोम**=वीर्य को सुरक्षित रखे अथवा ताजे गोदुग्ध का पान करे (सोमः पयः श० १२।७।३।१३)। (ग) इस प्रकार जौ व दूध आदि उत्तम भोजनों से **स्वाशितः**=उत्तम भोजनवाला व उत्तम तृप्तिवाला यह **पुनः**=फिर **अस्तं जागम्यात्**=अपने घर को आनेवाला हो, अर्थात् उन इधर-उधर भटकनेवाली चित्तवृत्तियों को काबू करके प्रातः-सायं अवश्य ध्यानावस्थित हों।

भावार्थ—जौ-दूध का प्रयोग तथा चित्तवृत्तिविरोध का अभ्यास ही हमें प्रभु-दर्शन करायेगा।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुतसोम का रक्षण

स रोरुवद् वृषभस्तिग्मशृङ्गो वर्ष्मन्तस्थौ वरिमन्ना पृथिव्याः।
विश्वेष्वेनं वृजनेषु पामि यो मे कुक्षी सुतसोमः पृणाति॥ २॥

(१) **स**=वह, गत मन्त्र के अनुसार जौ व गोदुग्ध का प्रयोग करनेवाला तथा चित्तवृत्ति के निरोध का अभ्यासी पुरुष, **रोरुवद्**=खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। इस नामोच्चारण से वह अपने में प्रभु की शक्ति के संचार को करता हुआ **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। **तिग्मशृंगः**=तीक्ष्ण ज्ञान की रश्मियोंवाला होता है, इसकी इन प्रचण्ड ज्ञानरश्मियों में सब मल भस्मीभूत हो जाते हैं। अब यह **पृथिव्याः**=अन्तरिक्ष के, हृदयान्तरिक्ष के **वर्ष्मन्**=वरिष्ठ उन्नत प्रदेश में, द्वेषादि मलों के विध्वंस से निर्मल बने हुए प्रदेश में तथा **वरिमन्**=विशाल प्रदेश में **आतस्थौ**=सर्वथा स्थित होता है। यह अपने हृदय को निर्मल व विशाल बनानेवाला होता है। इसका शरीर शक्तिशाली बना है (वृषभः), मस्तिष्क—ज्ञानरश्मियों से उज्ज्वल, हृदय उत्कृष्ट व विशाल। (२) प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार के जीवनवाला **यः**=जो कोई भी **सुतसोमः**=अपने अन्दर सोम=वीर्य को उत्पन्न करनेवाला **मे कुक्षी**=मेरी इन कोखों को **पृणाति**=पालित व सुरक्षित करता है, अर्थात् मेरे दिये हुए इस शरीर की कोखों में सोमरक्षण के द्वारा किसी प्रकार के रोग को उत्पन्न नहीं होने देता। **एनम्**=इसको **विश्वेषु**=सब **वृजनेषु**=संग्रामों में **पामि**=मैं सुरक्षित करता हूँ। काम-क्रोधादि शत्रुओं के साथ चलनेवाले संग्रामों में इसे हारने नहीं देता।

भावार्थ—प्रभु सुतसोम पुरुष का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृषभ-परिपाक

अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्त्सुन्वन्ति सोमान्पिबसि त्वमेषाम्।
पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन्हूयमानः॥ ३॥

(१) गत मन्त्र में प्रभु ने जीव को सुतसोम बनने के लिये कहा था। उसका उत्तर देते हुए

वह कहता है कि हे **इन्द्र**=सोम का पान करनेवाले प्रभो! **ते मन्दिनः**=तेरे स्तोता लोग **अद्रिणा**=(अद्रिर्वज्रः) क्रियाशीलता के द्वारा अथवा (न दीर्यते) धर्म मार्ग से न विदृत होने के द्वारा **तूयान्**=विलम्ब न करनेवाले, अर्थात् शीघ्रता से कार्यों को करने की शक्ति को देनेवाले **सोमान्**=सोमों को, शक्ति कणों को **सुन्वन्ति**=उत्पन्न करते हैं। **एषाम्**=इन सोमकणों का **त्वम्**=आप ही **पिबसि**=पान करते हो, अर्थात् इन सोमकणों की मेरे शरीर में ही रक्षा आपकी कृपा से होती है। आपका स्मरण मुझे वासना से ऊपर उठाता है और वासना से ऊपर उठने के कारण मैं सोम को सुरक्षित करने में समर्थ होता हूँ। (२) इस प्रकार **ते**=तेरे ये भक्त **वृषभान् पचन्ति**=अपना परिपाक शक्तिशाली पुरुष के रूप में करते हैं, शक्तिशाली बनकर ये औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले होते हैं। (३) हे प्रभो! आप **तेषाम्**=उनके मार्ग में आनेवाले विघ्नों का **अत्सि**=संहार करते हैं (अद्=to destroy)। परन्तु यह विघ्नों का संहार आप कब करते हैं? **यत्**=जब कि **पृक्षेण**=(पृची संपर्के) आपके साथ सम्पर्क से, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **हूयमानः**=पुकारे जाते हैं। ये भक्त प्रातः-सायं आपके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं और शक्तिशाली बनकर, विघ्नों को दूर करते हुए, आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता के द्वारा हम वासना से बचें। सोम के रक्षण से अपने को शक्तिशाली बनाएँ। प्रभु सम्पर्क से शक्तिशाली बनकर, विघ्नों को दूर करते हुए, हम आगे बढ़ें।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मूकं करोति वाचालम्

इ॒दं सु मे॑ जरित॒रा चि॑किद्धि प्रती॒पं शापं॑ न॒द्यो॑ वहन्ति।
लो॒पा॒शः सिं॒हं प्र॒त्यञ्च॑मत्साः क्रो॒ष्टा व॑रा॒हं निर॑तक्त कक्षा॑त्॥ ४॥

(१) हे **जरितः**=स्तोता! तू **मे**=मेरे विषय में **इदम्**=इस बात को **सु आचिकिद्धि**=अच्छी प्रकार पूरी तरह से समझ ले कि मेरी कृपा के होने पर अथवा एक व्यक्ति के जीवन में मेरा सम्पर्क होने पर **नद्यः**=नदियाँ **शापम्**=जल को **प्रतीपम्**=उलटा-स्रोत की ओर **वहन्ति**=ले जानेवाली होती हैं। (२) **लोपाशः**=लुप्यमान (लुप् छेदने) तृणों को खानेवाला मृग **प्रत्यञ्चं सिंहम्**=अपनी ओर आते हुए शेर पर भी **अत्साः**=आक्रमण करता है वही बात प्रभु-भक्त के जीवन में होती है कि वह हरिण से शेर बन जाता है। निर्बल 'शक्ति का पुञ्ज' बन जाता है। निर्बलता का स्थान शक्ति ले लेती है। (३) **क्रोष्टा**=गीदड़ **वराहम्**=सूकर को **कक्षात्**=उसके छिपने के स्थान से निरन्तर बाहर निकालता है। 'गीदड़' कायरता का प्रतीक है। यह अब कायर न रहकर वीर बनता है और इतना वीर कि सूकर को भी उसके गुफा में से निकाल लाता है। इस प्रकार प्रभु सम्पर्क हमारी भीरुता को दूर करके हमें वीर बनाता है। (४) संक्षेप में, प्रभु-भक्ति मनुष्य को—(क) असम्भव से असम्भव कार्यों को भी सम्भव कर देने के क्षम बनाती है। (ख) उसकी निर्बलता को नष्ट कर उसे शक्ति का पुञ्ज बनाती है। (ग) उसकी कायरता को दूर करके उसे वीर बना देती है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त के लिये कुछ असम्भव नहीं रहता, वह शक्ति का पुञ्ज व वीर बनता है।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का मैं 'पाक' हूँ प्र और उसका 'पाक'

क॒था त॑ ए॒तद॒हमा चि॑केतं गृत्स॑स्य पाक॑स्त॒वसो॑ मनी॒षाम्।
त्वं नो॑ वि॒द्वाँ ऋ॑तु॒था वि वो॑चो॒ यमर्धं॑ ते मघवन्क्षे॒म्या धूः॥ ५॥

(१) गत मन्त्र में प्रभु सम्पर्क से होनेवाले अद्भुत परिणाम का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में जीव

कहता है कि हे इन्द्र! **ते**=आपके **एतत्**=इस अद्भुत बल को **अहम्**=मैं **कथम्**=कैसे **आचिकेतम्**=ज्ञान पाऊँ, मैं कैसे इसे अपने जीवन में अनुभव कर पाऊँ? क्रियात्मक बात तो यही है कि मैं आपकी उस शक्ति को अपने जीवन में देखनेवाला बनूँ। (२) **गृत्सस्य**=मेधावी, गुरु, गुरुओं के भी गुरु, **तवसः**=शक्ति के दृष्टिकोण से अत्यन्त बढ़े हुए आपका मैं **पाकः**=बच्चा ही तो हूँ। आपके द्वारा ही मैं परिपक्तव्य प्रज्ञावाला हूँ। आपने ही मेरा परिपाक करना है। (३) हमारे परिपाक के लिये ही **त्वम्**=आप **विद्वान्**=हमारी शक्ति व स्थिति को जानते हुए **ऋतुथा**=समयानुसार **नः**=हमें **मनीषाम्**=बुद्धि को, बुद्धिगम्य ज्ञान को **विवोचः**=विशेषरूप से कहते हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही तो आपने हमारा परिपाक करना है। (४) आप तो ज्ञान देते हैं, परन्तु हम उस ज्ञान को पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर पाते, परन्तु हे **मघवन्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! हम **ते**=आपके **यं अर्धम्**=जिस आधे भी ज्ञान को ग्रहण करते हैं, वह ही हमारे लिये **क्षेम्या**=अत्यन्त कल्याणकर **धूः**=wealth=सम्पत्ति होता है। इस ज्ञान का थोड़ा भी अंश हमारा कल्याण करता है। जितना भी अधिक इसे हम अपनाएँगे, उतना ही यह हमारे लिये अधिकाधिक कल्याणकर होगा।

भावार्थ—हम प्रभु के पाक-सन्तान हैं। प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। उस ज्ञान को हम जितना अपनाएँगे उतने ही कल्याण को भी प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अ-शत्रु

एवा हि मां तवसं वर्धयन्ति दिवश्चिन्मे बृहत उत्तरा धूः।
पुरू सहस्रा नि शिशामि साकमशत्रुं हि मा जनिता जजान॥ ६॥

(१) **एवा**=इस प्रकार गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से बुद्धि के देने के द्वारा **हि**=निश्चय से **तवसम्**=वृद्धिशील मुझको **वर्धयन्ति**=प्रभु की प्रेरणाएँ बढ़ाती हैं और उस प्रेरणा के अनुसार चलने से **मे**=मेरा **धूः**=(wealth) धन **बृहतः दिवः चित्**=इस विशाल द्युलोक से भी **उत्तरा**=उत्कृष्ट होता है। सबसे नीचे इस पृथ्वीलोक=शरीर का धन है, यह धन है 'स्वास्थ्य'। इससे ऊपर अन्तरिक्ष-लोक हृदय का धन 'निर्मलता है, द्वेषादि का अभाव। इससे भी ऊपर द्युलोक=मस्तिष्क का धन है, अपरा विद्या व पराविद्या। प्रकृति विद्या के नक्षत्र व ब्रह्मविद्या का सूर्य मेरे मस्तिष्क रूप द्युलोक में चमकता है। इससे ऊपर मेरा धन 'एकत्वदर्शन' के रूप में होता है, मैं उस अद्वैत स्थिति में पहुँचता हूँ जिसके उपनिषद् में 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' कहा है। ज्ञान का यह परिणाम होना ही चाहिए। (२) इस स्थिति में पहुँचा हुआ मैं **साकम्**=एक साथ ही **पुरू सहस्रा**=अनेक हजारों वासनारूप शत्रुओं को **निशिशामि**=(हिनस्मि) हिंसित करता हूँ, अपने तीर का निशाना बनाता हूँ। वासनाओं का विनाश करता हूँ। (३) इस प्रकार **जनिता**=उस उत्पादक प्रभु ने **मा**=मुझे **हि**=निश्चय से **अशत्रुम्**=शत्रुरहित **जजान**=कर दिया है। वस्तुतः अन्तःशत्रुओं के नाश से बाह्य शत्रुओं का नाश अपने आप ही हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु के दिये हुए ज्ञान से मेरी वृद्धि होती है, मैं 'स्वास्थ्य नैर्मल्य व उज्ज्वलता' रूप धनों से भी उत्कृष्ट 'एकत्वदर्शन' रूप धन को प्राप्त कर पाता हूँ। वासनाओं को नष्ट करके 'अशत्रु' हो जाता हूँ।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

तवस-उग्र-वृषा

एवा हि मां तवसं जज्ञुरुग्रं कर्मन्कर्मन्वृषणमिन्द्र देवाः।
वधीं वृत्रं वज्रेण मन्दसानोऽप व्रजं महिना दाशुषे वम्॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एवा**=इस प्रकार **हि**=निश्चय से **देवाः**=सब प्राकृतिक शक्तियाँ तथा विद्वान् लोग **माम्**=मुझे **तवसम्**=बढ़ा हुआ **जज्ञुः**=बनाते हैं। सब प्राकृतिक पदार्थों के यथोचित प्रयोग से तथा विद्वानों के सत्संग से मैं अपनी सब शक्तियों को बढ़ानेवाला बनता हूँ। ये देव **उग्रम्**=मुझे तेजस्वी बनाते हैं तथा **कर्मन् कर्मन्**=प्रत्येक कर्म में **वृषणम्**=ये मुझे शक्तिशाली बनाते हैं। (२) शक्तिशाली बनकर मैं **वज्रेण**=क्रियाशीलता के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **वधीम्**=नष्ट करता हूँ। वासना को नष्ट करने का उपाय क्रिया में लगे रहना ही है। (३) **मन्दसानः**=वृत्र के विनाश से प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ मैं **दाशुषे**=उस सम्पूर्ण पदार्थों के देनेवाले प्रभु के लिये **महिना**=महिमा के द्वारा, अर्थात् उस प्रभु की अर्चना के द्वारा **व्रजम्**=इन्द्रियरूप गौवों के समूह को **अप वम्**=(अप अवृ) विषय वृत्तियों से दूर करके सुरक्षित करता हूँ। प्रभु के स्तवन से विषय-वासनाओं की निवृत्ति होती है, ये इन्द्रियों को बाँधनेवाली नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु उपासन से हम इन्द्रियरूप गौवों का रक्षण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

परशु से वन का व्रश्चन (वन-दहन)

देवास आयन्परशूँरबिभ्रन्वना वृश्चन्तो अभि विड्भिरायन्।
नि सुद्र्वं१ दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनु तद्दहन्ति॥ ८॥

(१) **देवासः**=देववृत्ति के लोग **आयन्**=(इ गतौ) गति करते हैं। देव अकर्मण्य नहीं होते। वस्तुतः अकर्मण्यता देवत्व को नष्ट कर देती है। (२) ये देव **परशून् अबिभ्रन्**=परशुओं को धारण करते हैं। 'परान् श्यति' इस व्युत्पत्ति से शत्रुरूप वैषयिक वृत्तियों को नष्ट करनेवाले ये परशु हैं। देव इन परशुओं का धारण करते हुए वासनाओं को नष्ट करते हैं। **वना**=वासनाओं के जंगलों को **वृश्चन्तः**=काटते हुए और इस प्रकार अपने जीवन को पवित्र बनाते हुए **विड्भिः**=प्रजाओं के साथ **अभि आयन्**=लौकिक व वैदिक उभयविध कर्मों में सम्मिलित होते हैं। (३) **सुद्र्वम्**=उत्तम (द्रु) गतिवाले अपने को **वक्षणासु**=सब प्रकार की उन्नतियों में **निदधतः**=स्थापन करते हुए ये देव उस शरीर में निवास करते हैं **यत्रा**=जहाँ कि **कृपीटं अनु**=जल=रेतःकणों के अनुसार **तद्**=उस वासना वन को **दहन्ति**=जला देते हैं। शरीर में रेतःकणों का रक्षण करते हैं और जितना-जितना इनका रक्षण कर पाते हैं उतना-उतना ही वासनाओं को भस्मीभूत करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—देव लोग गतिशील होते हैं, असंगरूप परशु को धारण करते हुए वासना वन को काटते हैं और रेतःरक्षण के अनुपात में इन वासनाओं को जला देते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शश से शेर बन जाना (वासना दहन से पूर्व और पीछे)

शशः क्षुरं प्रत्यञ्चं जगाराद्रिं लोगेन व्यभेदमारात्।
बृहन्तं चिदृहते रन्धयानि वयद्वत्सो वृषभं शूशुवानः॥ ९॥

(१) गत मन्त्र में वासना वन के दहन का उल्लेख था। इस दहन के होने पर **शशः**=एक खरगोश के तुल्य निर्बल व्यक्ति भी इतना शक्तिशाली बन जाता है कि **प्रत्यञ्चम्**=आक्रमण के लिये सामने आनेवाले, **क्षुरम्**=तीक्ष्ण नखोंवाले शेर इत्यादि को भी **जगाम्**=निगल जाता है। खरगोश क्या, वह तो शेर से भी अधिक शक्तिशाली बन जाता है। (२) इस वासना वन के दहन

पर मैं इतना शक्तिशाली बन जाता हूँ कि **आरात्**=दूर स्थित भी **आद्रिम्**=पर्वत को **लोगेन**=एक मट्टी के ढेले से **व्यभेदम्**=विदीर्ण कर देता हूँ। वासनाक्रान्त व्यक्ति एक मट्टी के ढेले की तरह था तो दग्धवासन पुरुष पर्वत से भी दृढ़ बन जाता है। (३) वासनाओं के नष्ट होने पर **ऋहते**=ह्रस्व-अल्पकाय पुरुष के लिये **बृहन्तं चित्**=अत्यन्त विशालकाय को भी **रन्धयानि**=वशीभूत कर देता हूँ अथवा (rend) विदीर्ण कर देता हूँ। वासना दहन से पहले हमारी स्थिति अल्प थी, इनके दहन को करके हम बड़ों को भी वशीभूत करनेवाले हो जाते हैं। (४) यह दग्धवासन व्यक्ति **शूशुवानः**=निरन्तर अपनी शक्ति को बढ़ाता हुआ **वत्सः**=बछड़े जैसा होता हुआ भी **वृषभम्**=एक शक्तिशाली वृषभ को **वयत्**=आक्रमण के लिये प्राप्त होता है। वत्स होता हुआ वृषभ को जीतनेवाला बनता है।

भावार्थ—वासना दहन से पूर्व जो शशधा वह दहन के बाद शेर बन जाता है, मट्टी का ढेला, पर्वत बन जाता है, ऋहत्-बृहत् हो जाता है और वत्स वृषभ में परिणत हो जाता है।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुपर्ण, सिंह, महिष, गोधा

सुपर्ण इत्था नखमा सिषायावरुद्धः परिपदं न सिंहः।
निरुद्धश्चिन्महिषस्तर्ष्यावान्गोधा तस्मा अयथं कर्षदेतत् ॥ १० ॥

(१) **इत्था**=इस प्रकार से **सुपर्णः**=अपना उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला व्यक्ति **नखम्**=(ख-दोष) निर्दोषता को **आसिषाय**=अपने साथ बाँधता है (आबबन्ध)। वासना दहन से जीवन निर्दोष तो बनता ही है। (२) इस समय **अवरुद्धः**=विषय-वासनाओं में जाने से रुका हुआ **सिंहः**=(हिनस्ति) अरुद्ध स्थिति में मनुष्य को नष्ट कर देनेवाला यह मन ('अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्') **न परिपदम्**=चारों ओर जानेवाला व भटकनेवाला नहीं होता। (३) **निरुद्धः चित्**=निरुद्ध वृत्तिवाला यह मन निश्चय से **महिषः**=उस प्रभु की पूजा करनेवाला होता है (मह पूजायाम्) **तर्ष्यावान्**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल पिपासावाला होता है। मन एक मात्र प्रभु-प्रवण हो जाता है। (४) अब **गोधाः**=वेदवाणियों का धारण करनेवाला प्रभु **तस्मै**=उसके लिये **एतत् अयथम्**=इस अयथा योग को **कर्षत्**=दूर कर देते हैं। यथायोग के स्थान में जो अयोग व अतियोग की वृत्ति आ जाती है, उस वृत्ति को प्रभु दूर करनेवाले होते हैं। मनुष्य प्रभु कृपा से सदा मध्यमार्ग को अपनानेवाला बनता है।

भावार्थ—सुपर्ण बनकर हम निर्दोष बनें, हमारा मन भटके नहीं, हमारा मन प्रभु प्राप्ति की प्रबल प्यासवाला हो। हम प्रभु कृपा से मध्यमार्ग को अपनाएँ।

सूचना—यहाँ मन्त्र में सुपर्णादि शब्दों का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य को बढ़ानेवाला है। उनका यौगिक अर्थ न होने पर अर्थ विचित्र-सा प्रतीत होने लगता है।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सात्त्विक अन्न

तेभ्यो गोधा अयथं कर्षदेतद्ये ब्रह्मणः प्रतिपीयन्त्यन्नैः।
सिम उक्ष्णोऽवसृष्टाँ अदन्ति स्वयं बलानि तन्वः शृणानाः ॥ ११ ॥

(१) **गोधाः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला प्रभु **तेभ्यः**=उनके लिये **एतत्**=इस **अयथम्**=अयथार्थता को अयथायोग को **कर्षत्**=खेंचकर बाहर कर देता है, दूर कर देता है, ये जो **ब्रह्मणः**=

ज्ञान के **अन्नैः**=अन्नों से **प्रतिपीयन्ति**=एक-एक बुराई को हिंसित करनेवाले होते हैं। 'ब्रह्म के अन्न' सात्त्विक अन्न हैं, इनके सेवन से सत्त्वशुद्धि के द्वारा मनुष्य अयोग व अतियोग से बचकर सदैव यथायोग करनेवाला बनता है। (२) ये अयथायोग से बचनेवाले व्यक्ति **सिमः**=(सर्वान्) सब **उक्ष्णः**=शक्तिशाली अथवा वीर्यवर्धक अन्नों का, **अवसृष्टान्**=(अनुज्ञातान्) इन अन्नों का जिनकी कि वेद में अनुज्ञा दी गई है, **अदन्ति**=भक्षण करते हैं, उन्हीं अन्नों का सेवन करते हैं जो सात्त्विक हैं। (३) इस प्रकार सात्त्विक अन्नों के सेवन से ये **तन्वः**=शरीर के **बलानि**=बलों का **शृणानाः**=(शृणानाः) परिपाक करते हैं। सात्त्विक अन्न के सेवन से इनकी शरीर की सब शक्तियाँ सुन्दर बनती हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम वस्तुओं का यथायोग करनेवाले होते हैं। ज्ञानवर्धक अन्नों का सेवन करते हैं, उन्हीं पौष्टिक अन्नों का जिनकी कि वेद में अनुज्ञा दी गई है। इस प्रकार ये अपने शरीर के बलों का ठीक परिपाक करते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञानी वीर

एते शमीभिः सुशमी अभूवन्ये हिन्विरे तन्वः सोम उक्थैः।
नृवद्वदन्नुप नो माहि वाजान्दिवि श्रवो दधिषे नाम वीरः॥ १२॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करनेवाले **एते**=ये व्यक्ति **शमीभिः**=शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मों से **सुशमीः**=उत्तम कर्मों वाले **अभूवन्**=होते हैं। वे व्यक्ति, **ये**=जो **उक्थैः**=प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **सोम**=सोम के सुरक्षित होने पर **तन्वः**=शरीरों को **हिन्विरे**=बढ़ाते हैं। प्रभुस्तवन से हमारा जीवन वासनामय नहीं होता और वासनाओं के अभाव में सोम का रक्षण होता है। यह सुरक्षित सोम=वीर्य शरीर के वर्धन का कारण बनता है। (२) हे प्रभो! **नृवत्**=एक नेता की तरह **वदन्**=उपदेश देते हुए आप **नः**=हमारे **वाजान्**=बलों को **उपमाहि**=समीपता से बनानेवाले होइये। एक नेता जैसे अपने अनुयायियों को ठीक मार्ग का उपदेश देता है, उसी प्रकार प्रभु हमें ठीक मार्ग का उपदेश देते हुए हमें कहते हैं कि तू **दिवि**=(मूर्ध्नो धीः) अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक में **श्रवः**=ज्ञान को **दधिषे**=धारण करता है और **वीरः नाम**=वीर नामवाला होता है, अर्थात् तेरा आदर्श यही होना चाहिए कि 'मस्तिष्क में ज्ञान और भुजाओं में वीरता'। 'ज्ञानी वीर' ही आदर्श मनुष्य है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्नों के सेवन से हम शान्तभाव से कर्मों को करनेवाले हों। प्रभु स्तवन से शरीर में सोम को सुरक्षित करें। हम प्रभु के उपदेश के अनुसार चलते हुए ज्ञानी वीर बनें।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि चित्तवृत्ति के निरोध के अभ्यास से हम प्रभुदर्शन करें। (१) प्रभु उसी का रक्षण करते हैं, जो सोम का रक्षण करता है, (२) सोमरक्षण से शक्तिशाली बनकर, विघ्नों को दूर करते हुए हम आगे बढ़ें, (३) प्रभु कृपा हमें मृग से मृगपति बना देती है, (४) हम प्रभु के ही तो पुत्र हैं, (५) प्रभुदत्त ज्ञान से वासनाओं को नष्ट करके हम 'अशत्रु' बन जाते हैं, (६) तवस उग्र व वृषा बनते हैं, (७) असंगरूप परशु से हम वासनावन को काटनेवाले होते हैं, (८) इससे हम शश से शेर बन जाते हैं, (९) प्रभु कृपा से हम सदा मध्यमार्ग से चलते हैं, (१०) सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हैं और (११) 'ज्ञानी वीर' बनते हैं, (१२) सात्त्विक अन्नों के सेवन करनेवालों का जीवन उत्तम होता है।

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्षपावान् (संयत भोजनवाला)

वने न वा यो न्यधायि चाकञ्छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान्॥ १ ॥

(१) **यः**=जो मनुष्य **चाकन्**=(कामयमानः) कामना करता हुआ, चाहता हुआ **वने न**=उपासनीय के समान उस प्रभु में **वा**=निश्चय से **न्यधायि**=स्थापित होता है। उस प्रभु को अपना आधार बनाता है, उसकी उपासना में आनन्द का अनुभव करता है। इसीलिए **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है। हम प्रभु से दूर होते हैं, तभी पाप की ओर झुकाववाले होते हैं। प्रभु की समीपता हमारे जीवनों को पवित्र बनाये रखती है। (२) इस पवित्रता व प्रभु के उपासन के लिये ही, हे **भुरणौ**=पालन करनेवाले अश्विनी देवो, प्राणापानो! **वाम्**=आपका **स्तोमः**=स्तवन **अजीगः**=इसको प्राप्त होता है। यह प्राणापान का स्तवन करता हुआ प्राणापान की महिमा को अनुभव करता है और प्राणसाधना में तत्पर होता है। (३) वह मनुष्य **यस्य**=जिसका **इन्द्रः**=परमात्मा **इत्**=ही **पुरुदिनेषु**=बहुसंख्यक दिनों में, उन दिनों में जिनमें कि वह रोगों से अपने शरीर को सुरक्षित करने व मन में किन्हीं भी न्यूनताओं को न आने देने का ध्यान करता है, **होता**=इस जीवनयज्ञ के चलानेवाले हैं। प्रभु कृपा से इस जीवन-यात्रा को पूर्ण होता हुआ देखता है। इसीलिए उसे किसी भी उत्कर्ष का व्यर्थ अभिमान नहीं होता। (४) ऐसा निरभिमानी मनुष्य **नृणां नर्यः**=मनुष्यों में अधिक से अधिक नरहितकारी कर्मों का करनेवाला होता है। **नृतमः**=अत्यन्त उत्तम मनुष्य होता है। ऐसा तब बन पाता जब वह **क्षपावान्**=(क्षप् to fast, to be an abstinent) भोजन में बड़ा संयमी होता है। सब 'शरीर, मन व बुद्धि' की उन्नतियों का मूल भोजन की सात्त्विकता है।

भावार्थ—जो भोजन में संयमवाला होता है वह उत्तम मनुष्य बनता है। प्राणसाधना करता हुआ प्रभु में स्थित होता है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ससवान्

प्र ते अस्या उषसः प्रापरस्या नृतौ स्याम नृतमस्य नृणाम्।
अनु त्रिशोकः शतमावहन्नॄन्कुत्सेन रथो यो असत्ससवान्॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपकी **अस्याः उषसः**=इस उषाकाल के तथा **अपरस्याः**=आनेवाली भी उषा के **प्रनृतौ**=प्रकृष्ट भवन में **प्रस्याम**=प्रकर्षेण हों। आप प्रत्येक उषःकाल में जिधर भी हमें ले चलनेवाले हों, उधर ही हम चलें। आप जो नाच नचायें, वही हमें रुचिकर हो। आप **नृणां नृतमस्य**=मनुष्यों के सर्वोत्तम नेता हैं। आपका नेतृत्व ही हमारा संचालक हो। (२) **अनु**=ऐसा होने पर ही, इसके बाद ही **कुत्सेन**=(कुथ हिंसायाम्) सब बुराइयों के संहार से **त्रिशोकः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों की दीप्ति **नॄन्**=मनुष्यों को **शतं आवहत्**=सौ वर्ष तक ले चलनेवाली होती है। जब हम प्रभु की इच्छा के अनुसार जीवन को चलाते हैं, तो तीनों दीप्तियों को प्राप्त करते हैं और ये तीनों दीप्तियाँ हमारे जीवनों को सौ वर्ष तक ले चलने का कारण बनती हैं। (३) **यः रथः**=(रथः अस्य अस्ति इति रथः) इस प्रकार जो भी उत्तम शरीररथवाला व्यक्ति **असत्**=होता है वह **ससवान्**=सस्य को ही खानेवाला होता है, यह वानस्पतिक भोजन को ही करता है।

वानस्पतिक भोजन सात्त्विक है, यही उपादेय है

भावार्थ—प्रभु की आज्ञा में चलें। सस्यभोजी बनें। इस प्रकार शरीर, मन व बुद्धि को दीप्त करनेवाले 'त्रिशोक' बनें।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्न व धन

कस्ते मद इन्द्र रन्त्यो भूद्दुरो गिरो अभ्युग्रो वि धाव।
कद्वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा शक्यामुपमं राधो अन्नैः ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते मदः**=आपकी प्राप्ति का मद **कः**=अनिर्वचनीय आनन्द का देनेवाला है और **रन्त्यः**=रमणीय **भूत्**=है। आपको प्राप्त करनेवाला व्यक्ति एक अवर्णनीय सुख का अनुभव करता है और उसे सारा संसार सुन्दर ही सुन्दर प्रतीत होता है। (२) **अभ्युग्रः**=आप अतिशयेन तेजस्वी हो। **दुरः**=मेरे इन्द्रिय द्वारों को तथा **गिरः**=वाणियों को **विधाव**=विशेषरूप से शुद्ध कर दीजिये। प्रभु की तेजस्विता मेरी सब मलिनताओं को नष्ट करनेवाली होती है। (३) हे प्रभो! **कद्**=कब आपकी कृपा होगी और मेरा **वाहः**=यह इधर-उधर मुझे भटकानेवाला मन (वरु=To carry away) **अर्वाक्**=अन्तर्मुख होगा। कब यह मेरा मन बाह्य विषयों से निवृत्त होकर अन्दर ही स्थित होनेवाला होगा? कद्=कब **मा**=मुझे **मनीषा**=बुद्धि **उप**=आपके समीप पहुँचानेवाली होगी? (४) हे प्रभो! आप 'इन्द्रिय शुद्धि, मन की अन्तर्मुखी वृत्ति तथा मनीषा की प्राप्ति' के द्वारा मुझे इस योग्य बनाइये कि **उपमम्**=अन्तिकतम-अत्यन्त समीप हृदय में ही निवास करनेवाले **त्वा**=आपको **आ-शक्याम्**=प्राप्त होने में समर्थ होऊँ और साथ ही **अन्नैः**=अन्नों के साथ **राधः**=संसार के कार्यों के साधक धन को भी प्राप्त कर सकूँ। जीवनयात्रा में प्रभु प्राप्ति हमें मार्गभ्रष्ट नहीं होने देती तो यह 'अन्न व धन' हमें आगे बढ़ने के योग्य बनाते हैं। यह ठीक है कि उतना ही धन वाञ्छनीय है, जितना कि 'राधः'=कार्यसिद्धि के लिये आवश्यक है। कार्यसिद्धि से अधिक धन सदा हानिकर हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति के लिये यत्नशील हों। प्रभु हमारी इन्द्रियों को शुद्ध करें, मन को अन्तर्मुख करें तथा बुद्धि को प्राप्त करायें। हम अन्न व धन को तो प्राप्त करें ही, साथ ही हमारा लक्ष्य प्रभु प्राप्ति हो।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु जैसे बनकर प्रभु को पाना

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन्कया धिया करसे कन्न आगन्।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **कद् उ**=कब निश्चय से **द्युम्नम्**=ज्योति को **करसे**=आप करते हैं। कब आपकी कृपा से मेरा जीवन ज्योतिर्मय होगा? और कब **कया**=आनन्द को देनेवाली **धिया**=ज्ञानपूर्विका क्रियाओं से **नॄन्**=हम मनुष्यों को **त्वावतः**=अपने जैसा (त्वत्सदृशान् सा०) **करसे**=करते हैं? अर्थात् कब वह समय मेरे जीवन में आयेगा जब कि मैं ज्ञानपूर्वक क्रियाओं में एक आनन्द का अनुभव करूँगा और इन क्रियाओं के द्वारा मैं आप जैसा बनने के लिये यत्नशील होऊँगा? प्रभु के समान दयालु व न्यायकारी बनता हुआ ही तो मैं प्रभु का सच्चा उपासक होता हूँ। **कत्**=कब **नः**=हम उपासकों को **आगन्**=आप प्राप्त होंगे? वस्तुतः आप जैसा बनकर ही तो

मैं आपको प्राप्त होने का अधिकारी होता हूँ। (२) हे **उरुगाय**=खूब ही स्तवन करने के योग्य प्रभो! आप **मित्रः न**=मित्र के समान हैं। हमारे साथ स्नेह करनेवाले (मिद् स्नेहने) तथा हमें 'प्रमीतेः जायते'=रोगों व पापों से बचानेवाले हैं। **सत्यः**=आप सत्यस्वरूप हैं। आप ही **भृत्ये**=हमारे भरण-पोषण के लिये होते हैं। आपने ही अन्नों के द्वारा हमारे भरण की व्यवस्था की है। (३) **यद्**=जो आपने यह भी अद्भुत व्यवस्था की है कि **समस्य**=सब की **मनीषाः**=बुद्धियाँ **अन्ने**=अन्न में **असन्**=हैं। जैसा अन्न कोई खाता है वैसा ही उसकी बुद्धि बन जाती है, 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः' आहार की शुद्धि पर ही अन्तःकरण की शुद्धि निर्भर करती है। इस बुद्धि के द्वारा आप हमारा रक्षण करते हैं। इस प्रकार प्रभु ने अन्न के द्वारा ही हमारे 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय' कोशों के निर्माण की व्यवस्था करके हमारे पालन का सुन्दर प्रबन्ध किया है।

भावार्थ—बुद्धि-वर्धक अन्नों का प्रयोग करते हुए हम ज्ञानपूर्वक कर्मों से प्रभु जैसा बनकर, प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भवसागर के पार

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधाइव ग्मन्।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः॥५॥

(१) हे प्रभो! आप **सूरः न**=सूर्य के समान हैं, 'आदित्यवर्णम्' शब्द से आपका स्मरण होता है। सूर्य की तरह ही आप हमारे हृदयाकाशों को प्रकाशित करनेवाले तथा कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं। आप **अर्थम्**=धर्म, अर्थ, काम व मोक्षरूप पुरुषार्थों को **प्रेरय**=प्रेरणा दीजिये तथा इन पुरुषार्थों के द्वारा **पारं** प्रेरय=इस भवसागर व अश्मन्वती नदी के पार प्राप्त कराइये। धर्मपूर्वक धन को कमाकर उचित आनन्दों का सेवन करते हुए ही हम मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। यही मार्ग है, इस भवसागर को तैरने का। (२) प्रभु उन व्यक्तियों को भवसागर से तैराते हैं **ये**=जो **अस्य**=इस प्रभु की **कामम्**=कामना को, इच्छा को, **जनिधा इव**=विकास को धारण करनेवाले की तरह **ग्मन्**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु की कामना के अनुसार कर्मों को करते हैं। प्रभु ने वेद में जिस प्रकार आदेश दिया है, उसी प्रकार जो अपना आचरण बनाते हैं वे ही व्यक्ति प्रभु के प्रिय होते हैं और इन्हें ही प्रभु भवसागर से तैरानेवाले होते हैं। ये व्यक्ति की **जनि**=विकास का **धा**=धारण करते हैं। 'जनिधा' का अर्थ पत्नी का धारण करनेवाला, अर्थात् पति भी है। यहाँ 'परीमे गाम् अनेषत' इन वेद शब्दों के अनुसार वेदवाणी से परिणय करनेवाले ये वेदवाणी के पति ही 'जनिधा' हैं। वेदोपदिष्ट कर्मों के करने से ये सचमुच 'जनिधा' होते हैं। (३) हे **तुविजात**=इस महान् ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले, **इन्द्र**=प्रभो! ये **च नरः**=और जो लोग **ते**=आपकी **पूर्वीः**=हमारे जीवनों का पूरण करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियों को **अन्नैः**=सात्त्विक अन्नों के सेवन के द्वारा, शुद्ध अन्तःकरणवाले होकर **प्रतिशिक्षन्ति**=एक-एक करके सीखते हैं, उन्हें आप पारं प्रेरय=भवसागर के पार प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से वेदवाणियों को शुद्ध अन्तःकरणों से समझें। वेदोपदिष्ट प्रभु की इच्छाओं के अनुसार कार्य करें। प्रभु हमें भवसागर से पार उतारेंगे।

ऋषिः—**वसुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'पूर्ण मदः पूर्ण मिदम्'

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन।

वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन्भवन्तु पीतये मधूनि॥६॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं—हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **मात्रे ते**=अपने जीवन का निर्माण करनेवाले तेरे लिये, **मज्मना**=(मज शुद्धौ) शोधक **काव्येन**=ज्ञान से, **द्यौः पृथिवी**=द्युलोक तथा पृथिवीलोक **नु**=निश्चय से **सुमिते**=बड़ी उत्तमता से बनाये गये हैं और **पूर्वी**=ये तेरा पूरण करनेवाले हैं। द्युलोक से लेकर पृथ्वीलोक तक सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की देदीप्यमान ज्योति से पूर्णता को लिये हुए बनाया गया है। यहाँ किसी भी प्रकार की कमी नहीं है 'पूर्णमदः पूर्णमिदं'। कमी उन्हीं को लगती है जो जीवन के निर्माण की रुचिवाले न होकर भोगमार्ग में बह जाते हैं। भोगवृत्तिवाले के लिये संसार में कमी ही कमी है, पर निर्माणरूपि व्रती पुरुष को संसार में कमी नहीं दिखती। (२) हे **स्वाद्मन्**=(सु आ अद्मन्) सदा उत्तम भोजन खानेवाले जीव! **वराय**=(वृणोति इति) ठीक चुनाव करनेवाले तेरे लिये भोग की उपेक्षा जीवन के निर्माण को पसन्द करनेवाले तेरे लिये, **सुतासः**=भोजन से उत्पन्न सोमकण **घृतवन्तः**=मलों के क्षरणवाले तथा ज्ञान की दीप्ति को बढ़ानेवाले **भवन्तु**=हों। सात्त्विक भोजन से उत्पन्न शीतवीर्य के कण शरीर में ही सुरक्षित रहकर शरीर को रोगक्रान्त नहीं होने देते और साथ ही मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ये ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं। (३) ये सोमकण **पीतये**=रक्षण के लिये हों। इनकी रक्षा से हम शरीर व मन के रोगों से ऊपर उठें। **मधूनि** भवन्तु=ये अत्यन्त मधुर हों। ये हमारे स्वभाव व जीवन में माधुर्य को लाने का कारण बनें। सोम रक्षा के अभाव में ही स्वभाव में चिड़चिड़ापन आता है और हम द्वेष, ईर्ष्या व क्रोध के वश हो जाते हैं। सोम के सुरक्षित होने पर द्वेष का स्थान प्रेम ले-लेगा, ईर्ष्या के स्थान को मुदिता ले-लेगी और क्रोध करुणा से आक्रान्त होकर नष्ट हो जाएगा।

भावार्थ—जीवन का निर्माण करनेवाले के लिये यह संसार पूर्ण है, भोगवादी इसमें अपूर्णता को देखता है। सुरक्षित सोम हमें क्षीणमल, दीप्तज्ञान व मधुर-स्वभाव बनाता है।

ऋषिः—**वसुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

क्रतु-पौंस्य

आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च॥ ७॥

(१) **अस्मा इन्द्राय**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिये इस **पूर्णं अमत्रम्**=सब प्रकार की कमियों से रहित शरीररूप पात्र को **मध्वः**=मुझ से, सोम से **असिचन्**=सिक्त करते हैं। शरीर 'अमत्र' है, (अम गतौ, त्रा=पालने) गति के द्वारा इसका पालन होता है। यह शरीर पूर्ण है, उन्नति के लिये सब आवश्यक साधन इसमें जुटाये हुए हैं इसमें प्रभु ने आहार से रसादि के क्रम से वीर्य की उत्पत्ति की व्यवस्था की है। यह वीर्य यहाँ 'मधु' कहा गया है, यह सुरक्षित होकर जीवन को मधुर बनाता है। इसका शरीर में ही सेचन होने पर शरीर नीरोग बनता है और बुद्धि तीव्र होती है और इस प्रकार स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन वाले बनकर हम प्रभु दर्शन के योग्य होते हैं। (२) इस प्रकार शरीररूप पात्र को मधु से सिक्त करनेवाला **सः**=वह **हि**=निश्चय से **सत्यराधाः**=सत्य को सिद्ध करनेवाला अथवा सत्य सम्पत्तिवाला होता है। **स**=वह **पृथिव्याः**= पृथिवी के **वरिमन्**=विस्तृत प्रदेश में **आवावृधे**=सब प्रकार से बढ़ता है। (३) यह **अभि**=दोनों ओर, अन्दर और बाहर, अन्दर तो **क्रत्वा**=प्रज्ञान से **च**=और बाहर **पौंस्यैः**=वीरता पूर्ण कर्मों से बढ़ा हुआ यह **नर्यः**=सदा नरहित करनेवाला होता है। अपने में ज्ञान और शक्ति का समन्वय करके यह लोकहित के कार्यों में व्यस्त रहता है।

भावार्थ—हम शरीर को सोम से सिक्त करें वीर्यरक्षण द्वारा इसे पूर्ण बनायें। ज्ञान व शक्ति सम्पन्न होकर लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रथी व सारथि

व्यानळिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः ।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयासे ॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **मधुः सोम**=वीर्य से शरीर को सिक्त करनेवाला **स्वोजाः**=उत्तम ओजवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पृतनाः**=शत्रु-सैन्यों को **व्यानट्**=विशेषरूप से घेरनेवाला, उन्हें पराभूत करनेवाला बनता है। (२) इस प्रकार काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराभूत करनेवाले **पूर्वीः**=अपना पूरण करनेवाले लोग **अस्मै सख्याय**=इस प्रभु की मित्रता के लिये **आयतन्ते**=सर्वथा प्रयत्न करते हैं। (३) प्रभु की मित्रता को प्राप्त करके प्रभु से यही चाहते हैं कि **न**=जैसे **पृतनासु**=संग्रामों में **रथम्**=रथ पर सारथि स्थित होता है उसी प्रकार हे प्रभो! आप भी **स्म**=निश्चय से **रथम्**=हमारे इस शरीर-रथ पर **आतिष्ठ**=आरूढ़ होइये। उस रथ पर **यम्**=जिसको कि **भद्रया सुमत्या**=कल्याणी सुमति से **चोदयासे**=प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु मेरे रथ के सारथि हों, मैं अपनी जीवनयात्रा की दिशा प्रभु के निर्देश से चुनूँ।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि मैं संयत भोजनवाला बनूँ। (१) सस्यभोजी होऊँ, (२) प्रभु मेरी वाणियों व इन्द्रिय द्वारों को शुद्ध कर दें, (३) प्रभु जैसा बनकर मैं प्रभु को पाऊँ, (४) प्रभु कृपा से भवसागर के पार हो जाऊँ, (५) निर्माता के लिये संसार में न्यूनता नहीं, (६) क्रतु और पौंस्य को सिद्ध कर मैं भी पूर्ण बनूँ, (७) प्रभु मेरे रथ के सारथि हों और मेरी यात्रा सुन्दरता से पूर्ण हो।

तृतीयोऽनुवाकः

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष एलूषः** ॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यात्रापूर्ति क्रम

प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्वपो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति ।
महीं मित्रस्य वरुणस्य धासिं पृथुज्रयसे रीरधा सुवृक्तिम् ॥ १ ॥

(१) प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'कवष ऐलूष' है। 'कवष' शब्द का अर्थ है 'ढाल'। जैसे एक योद्धा ढाल से अपने पर होनेवाले वार की रक्षा करता है इसी प्रकार यह अपने पर होनेवाले वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता है। ढाल का संकेत 'ऐलूष' शब्द में मिलता है। 'इडा' स्तुति को कहते हैं। स्तुति के द्वारा 'स्यति' अपने पापों का अन्त करता है, सो ऐडूष=ऐलूष कहलाता है। यह कवष ऐलूष **गातुः**=इस जीवन में यात्री बनता हुआ **ब्रह्मणे**=ब्रह्म की प्राप्ति के लिये **देवत्रा**=देवों में **प्र एतु**=प्रकर्षेण आये। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये यही तो चाहिये कि हम अपने में दैवी सम्पत्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें। जितना हम अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करेंगे उतना ही उस परमदेव के समीप पहुँचते जाएँगे। (२) इन दिव्यगुणों के वर्धन के लिये यह कवष ऐलूष **अपः**=रेतःकणों की **अच्छा**=और **प्र एतु**=प्रकर्षेण आये। शरीर में रेतःकणों की रक्षा के लिये पूर्ण प्रयत्न करे। इन रेतःकणों के रक्षण से ही इसका शरीर नीरोग होता है और मन वासनाओं से शून्य। (३) रेतःकणों की रक्षा के लिये आवश्यक है कि मन सांसारिक विषयों की ओर न जाये। इसी बात को मन्त्र में इस तरह कहते हैं कि **मनसो न प्रयुक्ति**=मन के किसी भी विषय में

प्रयुक्ति=आसक्त न होने के द्वारा। मन को विषयों से ऊपर उठाकर ही हम रेत:कणों के रक्षण में समर्थ होते हैं। ये सुरक्षित रेत:कण हमारे मनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं। (४) मन को विषयों में आसक्त न होने देने के लिये **मित्रस्य**=मित्र देवता के और **वरुणस्य**=वरुणदेव के**महीं धासिम्**=महनीय अन्न को (एतु) प्राप्त हो। हम उस अन्न का प्रयोग करें, जो हमें सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष के निवारण करनेवाला बनाये (मित्र-वरुण)। अन्न से ही तो मन का निर्माण होता है जैसा अन्न खायेंगे वैसा ही मन बनेगा। सात्त्विक अन्न के सेवन से मन सात्त्विक होगा। तभी हम वासनाओं से न आक्रान्त होने पर सोम का रक्षण कर पायेंगे। (५) इस सात्त्विक अन्न के सेवन के द्वारा मनो निरोध करते हुए 'कवष ऐलूष' को चाहिए कि वह **पृथुज्रयसे**=विशाल वेगवाले उस प्रभु के लिये, मन से भी अधिक वेगवान् उस प्रभु के लिये **सुवृक्तिम्**=उत्तमता से दोषवर्जनरूप स्तुति को **रीरधा**=सिद्ध करे। यह प्रभु स्तवन भी उसे लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाला होगा।

भावार्थ—इस प्रस्तुत मन्त्र में एक बड़ा सुन्दर कार्यकारणभाव का क्रम देखते हैं कि—(क) हम अपने को यात्री समझते हुए ब्रह्म को अपना लक्ष्य स्थान जानें, (२) इसके लिये अपने में दिव्य गुणों का वर्धन करें, (ख) दिव्यगुणों के वर्धन के लिये रेत:कणों का रक्षण करें, (ग) उसके लिये मन को विषयों में आसक्त न होने दें, (घ) इसके लिये सात्त्विक भोजन करें और उस प्रभु के लिये दोषवर्जनरूप स्तुति को सिद्ध करें।

ऋषि:—**कवष एलूष:**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

अध्वर्यु-हविष्मान्

अध्वर्यवो हुविष्मन्तो हि भूताऽच्छाप इंतोशुतीरुशन्त:।
अव याश्चष्टे अरुण: सुपर्णस्तमास्यध्वमूर्मिमुद्या सुहस्ता:॥ २॥

(१) उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **अध्वर्यव:**=(अ+ध्वर्+यु) अपने साथ हिंसा को न जोड़नेवाले और **हि**=निश्चय से **हविष्मन्त:**=हविवाले **भूत**=होइये। प्रभु की प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति हिंसा की वृत्ति से ऊपर उठता है और वह सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है। (२) **उशती**=हित को चाहनेवाले **अप:**=रेत:कणों की **अच्छा**=ओर **उशन्त:**=प्रबल इच्छावाले होते हुए **इत**=आओ, अर्थात् तुम्हारे अन्दर इन रेत:कणों के रक्षण की प्रबल भावना हो। इन रेत:कणों ने ही तो तुम्हारा रक्षण करना है। (३) ये सोमकण (=अप:) वे हैं **या:**=जिनको **सुपर्ण:**=अपना उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला **अरुण:**=तेजस्वी पुरुष **अवचष्टे**=(To observe) बड़े ध्यान से देखता है, अर्थात् इनके रक्षण का पूर्ण प्रयत्न करता है। (४) हे **सुहस्ता:**=उत्तम हाथोंवाले, कार्यों को कुशलता से करनेवाले अथवा (हन् हिंसागत्यो:=हस्त) उत्तमता से वासनाओं का हनन करनेवाले पुरुषो! **अद्या**=आज ही **तम्**=उस **ऊर्मिम्**=सोम संघात को, वीर्यकण समूह को **आस्यध्वम्**=अधिष्ठित करो, अर्थात् उनके शरीर में ही रक्षण के लिये यत्नशील होवो।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये हम—(क) हिंसा से ऊपर उठें, (ख) यज्ञशेष का सेवन करें और (ग) सोम का रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषि:—**कवष एलूष:**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

वह 'समुद्र व अपां नपात्'

अध्वर्यवोऽ प इंता समुद्रमपां नपातं हुविषा यजध्वम्।

स वो ददद्रूर्मिमुद्या सुपूतं तस्मै सोमं मधुमन्तं सुनोत॥ ३॥

(१) **अध्वर्यवः**=(अध्वर् यु) अपने साथ अहिंसा के सम्पृक्त करनेवालो! **अपः**=रेतःकणों के प्रति **इता**=जाओ, अर्थात् शरीर में इन रेतःकणों को सुरक्षित करनेवाले बनो। (२) रेतःकणों के रक्षण के लिये उस प्रभु के साथ **हविषा**=हवि के द्वारा, दानपूर्वक अदन के द्वारा **यजध्वम्**=अपना सम्पर्क बनाओ, जो प्रभु **समुद्रम्**=सदा मोद व हर्ष के साथ निवास करनेवाले हैं तथा **अपां नपातम्**=इन रेतःकणों का पतन न होने देनेवाले हैं। (३) **स**=वे प्रभु **वः**=तुम्हें **अद्य**=आज **सुपूतम्**=अत्यन्त पवित्रता के साधनभूत **ऊर्मिम्**=सोम-संघात को **ददत्**=दें। प्रभु कृपा से ही यह **सोमम्**=वीर्य प्राप्त होता है और यह हमारे जीवन को पवित्र बनाता है। (४) **तस्मै**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाले इस सोम का **सुनोत**=उत्पादन करो। उत्तम आहार के सेवन से शरीर में सोम की उत्पत्ति होती है, यह सोम हमारे जीवन को मधुर बनाता है और शरीर में सुरक्षित होकर, ज्ञानाग्नि को दीप्त करता हुआ, हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से, वासनाओं से बचने के द्वारा सोमरक्षण होता है और सोमरक्षण से बुद्धि सूक्ष्म होकर प्रभु दर्शन का साधन बनती है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अनिध्म अग्नि

यो अनिध्मो दीदयदप्स्व१न्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥४॥

(१) **यः**=जो प्रभु रूप अग्नि **अनिध्मः**=काष्ठों के बिना प्रज्वलित होनेवाली है और **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के हृदयों में (आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नर सूनवः) **दीदयत्**=देदीप्यमान है। **यम्**=जिसको **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले विद्वान् लोग **अध्वरेषु**=हिंसा रहित कर्मों में **ईडते**=उपासित करते हैं। वह **अपां नपात्**=हमारे रेतःकणों को न नष्ट होने देनेवाला है। (२) यह 'अपां न पात्' प्रभु **मधुमतीः**=हमारे जीवनों को मधुर बनानेवाले **अपः**=रेतःकणों को **दाः**=हमारे लिये देते हैं। वस्तुतः रेतःकणों के रक्षण से शरीर ही स्वस्थ बनता हो यह बात नहीं है, इनके रक्षण के परिणाम रूप मन भी स्वस्थ बनता है और मन में किसी प्रकार के राग-द्वेष की भावना उत्पन्न नहीं होती, हमारे मन बड़े मधुर बने रहते हैं। (३) ये रेतःकण वे हैं **याभिः**=जिनसे **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **वीर्याय**=शक्तिशाली कर्मों के करने के लिये **वावृधे**=बढ़ता है। वीर्य की स्थिरता ही मनुष्य के अन्दर उत्साह आदि गुणों का संचार करती है और उसे शक्तिशाली कर्मों को करने के लिये समर्थ करती है।

भावार्थ—प्रभु अग्नि हैं, इनके उपासन से वीर्य का रक्षण होकर हम आगे बढ़ने के योग्य होते हैं।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मोद व हर्ष

याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः।
ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात्॥५॥

(१) गत मन्त्र में 'आपः' शब्द से 'सोम-कणों' का उल्लेख है। ये सोमकण वे हैं **याभिः**=जिनसे **सोमः**=सोमकणों का रक्षण करनेवाला और अतएव सौम्य स्वभाव पुरुष अथवा (स उमा) उमा, अर्थात् ब्रह्मविद्या से युक्त पुरुष **मोदते**=एक पूर्ण स्वास्थ्य के मौदिक सुख को प्राप्त करता है **च**=और

हर्षते=अध्यात्म आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार अनुभव करता है **न**=जैसे कि **मर्यः**=एक मनुष्य **कल्याणीभिः युवतिभिः**=मंगल स्वभाववाली युवतियों से। यदि घर में पत्नी, बहिन, ननद व भतीजी आदि सभी युवतियाँ प्रसन्न स्वभाव की तथा मुस्कराते हुए चेहरेवाली हों तो युवक पुरुष को प्रसन्नता का अनुभव होता है। इसी प्रकार सोम के रक्षण से एक आन्तरिक आनन्द की प्राप्ति होती है। (२) हे **अध्वर्यो**=अपने साथ अहिंसात्मक कर्मों को जोड़नेवाले पुरुष! तू **ताः अपः**=उन रेत:कणों की **अच्छा**=ओर आनेवाला हो। सदा इन रेत:कणों का रक्षण कर। इस रक्षण के लिये ही **परा-इहि**=सदा विषयों से दूर होने का प्रयत्न कर। मन को विषयों में न लगने देना ही वह उपाय है जो कि मनुष्य को सोम के रक्षण के योग्य बनाता है। (३) **यदा**=जब **आसिञ्चा**=तू इन रेत:कण रूप जलों से शरीर को समन्तात् सींच डालता है तो **ओषधीभिः पुनीतात्**=रोगमात्र की ओषधियों से ही अपने को पवित्र कर लेता है। इन वीर्यकणों में वह शक्ति है जो सब रोगकृमियों का संहार कर देती है, **ओष**=दहन को **धि**=आहित करती है एवं हमारा जीवन नीरोग हो जाता है, न केवल शरीर के दृष्टि से ही हम नीरोग हो जाते हैं, अपितु मानसदृष्टि से भी। तभी तो वस्तुतः हमारे जीवन में मोद व हर्ष आ पाते हैं।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से हम शरीर व मन के दृष्टिकोण से स्वस्थ हों और यह स्वास्थ्य हमें मोद व हर्ष का अनुभव कराये।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मानस व बौद्धिक स्वास्थ्य

एवेद्यूने युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ।
सं जानते मनसा सं चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवीः॥ ६॥

(१) **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **उशतीः**=हित की कामनावाले, अर्थात् सदा अपने रक्षक का हित करनेवाले इन (आपः) रेत:कणों की **अच्छ**=ओर **उशन्**=चाहता हुआ युवक **एति**=प्राप्त होता है, तो **एवा इत्**=ऐसा होने पर ही **यूने**=उस युवक के लिये **युवतयः**=युवतियाँ **नमन्त**=आदरवाली होती हैं। रेत:कणों के रक्षण से युवक का शरीर इतना सुन्दर प्रतीत होता है कि सब युवतियाँ उसकी ओर आकृष्ट होती हैं, उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करती हैं, उनमें उसके प्रति आदर का भाव होता है। (२) **च**=और ये **देवीः**=सब रोगों के जीतने की कामनावाले **आपः**=रेत:कण **संजानते**=संज्ञानवाले होते हैं। अपने रक्षक में उत्तम ज्ञान को पैदा करनेवाले होते हैं और **मनसा**=मन के दृष्टिकोण से **संचिकित्रे**=इसकी उत्तम चिकित्सा करते हैं, अर्थात् इसके मन में किसी प्रकार के विकार को नहीं रहने देते एवं रेत:कणों के रक्षण से जहाँ बुद्धि में दीप्ति आकर ज्ञानवृद्धि होती है वहाँ मन में पवित्रता का संचार होता है। (३) इस प्रकार ये दिव्यगुणोंवाले रेत:कण **अध्वर्यवः**=अपने रक्षक के साथ 'अ+ध्वर+यु'=अहिंसा को जोड़नेवाले हैं और **धिषणा**=ये बुद्धि ही बुद्धि हैं, अर्थात् इनका रक्षण बुद्धि को तीव्र बनानेवाला है।

भावार्थ—रेत:कणों का रक्षण शरीर के स्वास्थ्य के साथ मन व बुद्धि के स्वास्थ्य को देनेवाला है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मधुमान् ऊर्मि

यो वो वृताभ्यो अकृणोदु लोकं यो वो मह्या अभिशस्तेरमुञ्चत्।

तस्मा इन्द्राय मधुमन्तमूर्मिं देवमादनं प्र हिणोतनापः॥ ७॥

(१) हे **आपः**=रेतःकणो! **यः**=जो भी युवक **वृताभ्यः**=वरण किये गये, स्वीकार किये गये **वः**=आपके लिये **लोकम्**=शरीर में स्थान को **अकृणोत्**=बनाता है, अर्थात् जो आपको शरीर में ही सुरक्षित करता है और **यः**=जो **वः**=आपको **मह्याः**=इस पृथिवी के **अभिशस्ते**=हिंसन से, अर्थात् पार्थिव भोगों में आसक्ति के कारण विनाश से **अमुञ्चत्**=मुक्त करता है, पार्थिव भोगों में फँसकर कभी तुम रेतःकणों का नाश नहीं होने देता। (२) **तस्मा**=(तस्मै) उस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाली **ऊर्मिम्**=तरंग को **प्रहिणोत**=प्रकर्षेण प्राप्त कराओ, अर्थात् इसके जीवन को उत्साह-सम्पन्न करो, परन्तु इस उत्साह से उसका जीवन माधुर्यमय हो। इसमें स्फूर्ति हो, स्फूर्ति के साथ मधुरता हो। यह माधुर्य व स्फूर्ति से युक्त होकर सब कार्यों को करनेवाला हो। यह ऊर्मि **देवामादनम्**=देवों को हर्षित करनेवाली हो, अर्थात् इसके इस मधुर उत्साह को देखकर इसके माता, पिता, आचार्य आदि सब देव प्रसन्न हों। **अनात**=इसकी यह मधुमान् ऊर्मि उस देवाधिदेव परमात्मा को भी प्रसन्न करनेवाली हो, इसके कारण यह प्रभु का भी प्रिय बने।

भावार्थ—जो रेतःकणों का रक्षण करता है वह रक्षित रेतःकणों के कारण मधुर व उत्साह सम्पन्न जीवनवाला होता है, इससे मधुर उत्साह सम्पन्न जीवन से यह सब देवों को प्रीणित करनेवाला होता है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्साह, ज्ञान व निर्मलता

प्रास्मै हिनोत मधुमन्तमूर्मिं गर्भो यो वः सिन्धवो मध्व उत्सः।
घृतपृष्ठमीड्यमध्वरेष्वापो रेवतीः शृणुता हवं मे॥८॥

(१) हे **सिन्धवः**=स्यन्दनशील रेतःकणो! **यः**=जो **वः**=आपका **गर्भः**=गर्भरूपेण मध्य में रहनेवाला **मध्वः उत्सः**=माधुर्य का चश्मा है, उस **मधुमन्तं ऊर्मिम्**=मधुर उत्साह तरंग को **अस्मै**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **प्रहिणोत**=प्रकर्षेण प्राप्त कराओ। आपके रक्षण से इसका जीवन माधुर्य का स्रोत ही बन जाए। उस माधुर्य में उत्साह तरंगित होता हो, अर्थात् आपका रक्षक स्फूर्ति-सम्पन्न माधुर्य को प्राप्त करे। (२) हे **आपः**=रेतःकणो! आप **रेवतीः**=सब प्रकार की रयि से सम्पन्न हो। आप से उत्पन्न ऊर्मि=उत्साह तरंग **घृतपृष्ठम्**=ज्ञान की दीप्ति व ईर्ष्यादि मानस मलों के क्षरण के पृष्ठ पर है और अतएव **ईड्यम्**=स्तुति के योग्य है। रेतःकणों से ज्ञान दीप्त होता है, मानस मल दूर होते हैं, जीवन को ये प्रशस्त बनाते हैं। (३) सो हे रेतःकणो! आप **अध्वरेषु**=इन जीवन के अहिंसात्मक यज्ञों में **मे**=मेरी **हवम्**=पुकार को **शृणुत**=सुनो, अर्थात् तुम मेरे अन्दर सुरक्षित रहते हुए मेरे जीवन में माधुर्य का संचार करो, मेरी ज्ञानदीप्ति व निर्मलता का आधार बनो, आपके रक्षण से मेरा जीवन सब आवश्यक रयि से सम्पन्न हो। यही मेरी प्रार्थना है। रेतःकणों के रक्षण से यह पूर्ण हो।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमें उत्साह सम्पन्न ज्ञानी व निर्मल वृत्ति बनाता है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रि-तन्तु

तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति।

मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम्॥९॥

(१) हे **सिन्धवः**=शरीर में रुधिर के साथ सर्वत्र स्यन्दनशील रेतःकणो! **तं ऊर्मिम्**=उस तरङ्ग को **प्रहेत**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त कराओ जो **मत्सरम्**=(मादयितारं) जीवन के अन्दर उल्लास को उत्पन्न करनेवाली है, **इन्द्रपानम्**=जितेन्द्रिय पुरुष का रक्षण करनेवाली है। (२) उस ऊर्मि को प्राप्त कराओ **यः**=जो **उभे**=शरीर व मस्तिष्क दोनों को गतिमय बनाती है। जिसके कारण शरीर में गतिशीलता बनी रहती है और मस्तिष्क कहीं कुण्ठित नहीं होता। (३) उस ऊर्मि को प्राप्त कराओ जो कि 'मदच्युतं' शब्द की यह भावना भी सुन्दर है कि 'अभिमान को हमारे से दूर करनेवाली है'। **मदच्युतम्**=हमारे जीवनों में मद व हर्ष को टपकानेवाली है, **औशानम्**=उस प्रभु की प्राप्ति की कामना को हमारे में उत्पन्न करनेवाली है, **नभोजाम्**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में प्रकाश के प्रादुर्भाव को करनेवाली है, **परि**=(सर्वतः) सब दृष्टिकोणों से **त्रितन्तुम्**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का विस्तार करनेवाली है, **विचरन्तम्**=विशेषरूप से जीवन को क्रियाशील बनानेवाली है, **उत्सम्**=उत्स्यन्दनं (=देवानां प्रति ऊर्ध्वं गन्तारं सा०) हमें उत्कृष्ट गतिवाला करके दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमें उन्नतवाला, सुन्दर शरीर व मस्तिष्कवाला निरभिमान प्रभु-प्रवण, क्रियाशील व ऊर्ध्व गतिवाला बनाता है।

ऋषिः—**कवष एलूषः** ॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपा-वन्दना

आव॑र्वृतती॒रध॒ नु द्वि॒धारा॒ गो॑षु॒युधो॒ न नि॑य॒वं चर॑न्तीः ।
ऋषे॒ जनि॑त्री॒र्भुव॑नस्य॒ पत्नी॑र॒पो व॑न्दस्व स॒वृधः॒ सयो॑नीः ॥ १० ॥

(१) प्रभु अपने पुत्र जीव से कहते हैं कि—हे **ऋषे**=तत्त्वद्रष्टः! तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की रुचिवाले! तू **अपः**=शरीर में रेतःकणों के रूप से रहनेवाले इन जलों का **वन्दस्व**=वन्दन कर। इनकी स्तुति करता हुआ तू इनके महत्त्व को समझ और इनकी रक्षा के लिये यत्नशील हो। ये रेतःकण **भुवनस्य जनित्रीः**=सब प्राणियों को जन्म देनेवाले हैं। इन्हीं से सब शरीरों का जन्म होता है। **पत्नीः**=ये उत्पन्न शरीरों का रक्षण करनेवाले हैं। ये ही उन्हें रोगादि से बचाकर सुरक्षित करते हैं। **संवृधः**=ये सदा वृद्धि के साथ होते हैं। इनके कारण ही सब प्रकार की उन्नतियाँ हुआ करती हैं। **सयोनीः**=(योनिः गृहम्) ये ही मनुष्य को पुनः अपने घर में प्राप्त करनेवाले हैं, इनके रक्षण से ही उन्नति करता हुआ जीव ब्रह्म को प्राप्त करता है। ब्रह्मलोक ही जीव का मूल निवास-स्थान है। वीर्यरक्षण हमें इस निवास-स्थान पर पहुँचने में सहायक होता है। (२) **आवर्वृतती**:=शरीर में ही समन्तात् होते हुए ये रेतःकण **अध**=अब **नु**=(ननु) निश्चय से **द्विधाराः**=शरीर व मस्तिष्क दोनों का धारण करनेवाले होते हैं अथवा इहलोक व परलोक दोनों का पोषण करनेवाले होते हैं। (३) **गोषुयुधः न**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के निमित्त युद्ध करनेवालों की तरह ये रेतःकण **नियवम्**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) दुरितों के अमिश्रण व भद्रों के मिश्रण को **चरन्तीः**=(चर गतौ) प्राप्त करनेवाले होते हैं। इन रेतःकणों के रक्षण के होने पर ये रेतःकण इन्द्रियों में आ जानेवाली कमियों को दूर करते हैं। इन्द्रियों को वैषयिकरण से ये ऊपर उठाते हैं। सब नैर्मल्य इन्हीं पर निर्भर करता है।

भावार्थ—रेतःकण इहलोक व परलोक दोनों को सुन्दर बनानेवाले हैं। इस लोक में वृद्धि का कारण होते हुए ये परलोक में हमें ब्रह्मरूप गृह में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् हमारे मोक्ष का साधन बनते हैं।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'सुखद' रेतःकण

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥ ११॥

(१) हे **आपः**=रेतःरूप में शरीरस्थ जलो! **नः**=हमारे जीवन में **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों को **हिनोता**=प्रेरित करिये। **देवयज्या**=देवों के संगतिकरण, विद्वानों के मेल को **हिनोत**=प्राप्त कराइये। देवों के सम्पर्क में आकर के ही हम तेजस्वी बनेंगे, इनके संग में रहते हुए हम हिंसादि अशुभ कर्मों में प्रवृत्त न होंगे। (२) **ब्रह्म**=ज्ञान को या स्तुति को हमारे में प्रेरित करिये। वीर्यरक्षण से हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त हो और हमारा मन प्रभु-स्तुति के प्रति झुकाववाला हो। (३) हे रेतःकणो! आप **धानानां सनये**=धनों की प्राप्ति के लिये हमें प्रेरित करिये, अर्थात् आपके रक्षण से हमारे जीवनों को धन्य बनानेवाले धनों को हम प्राप्त करनेवाले बनें। वीर्यरक्षण के अभाव में ही मनुष्य अन्याय मार्ग से धन कमाने लगता है। (४) **ऋतस्य योगे**=हमारे जीवनों में ऋत का योग होने पर, अर्थात् जब हम धनादि के कमाने के लिये कभी अनृत का प्रयोग न करें तो आप **ऊधः**=वेदवाणी रूप गौ के ऊधस् को, ज्ञानकोश को **विष्यध्वम्**=वियुक्त करो, खोलनेवाले बनो। हमारे लिये यह वेदवाणीरूप गौ खूब ही ज्ञानदुग्ध को देनेवाली हो। (५) हे **आपः**=रेतःकणो! इस प्रकार आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **श्रुष्टीवरीः**=(सुखवत्यः सा०) सुख को देनेवाले **भूतन**=होइये। रेतःकणों के रक्षण से हमारा जीवन सुख ही सुखवाला हो।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमें 'अध्वर, देवयज्या, ब्रह्म, धन प्राप्ति, ऋत, ज्ञान व सुख' की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भद्र क्रतु व अमृत

आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयो धात्॥ १२॥

(१) **आपः**=हे रेतःकणों के रूप से शरीर में स्थित जलो! आप **रेवतीः**=रयिवाले हो, अन्नमयादि सब कोशों की सम्पत्ति आपके अन्दर है। **हि**=निश्चय से **वस्वः**=निवास के लिये सब आवश्यक तत्त्वों का **क्षयथा**=(क्षि=निवास) अपने में धारण करते हो। जीवन के सब वसु आप में स्थित हैं। (२) **च**=और **भद्रम्**=कल्याणकारक व सुखजनक **क्रतुम्**=ज्ञान को व शक्ति को आप **बिभृथ**=धारण करते हो। ये रेतःकण ऊर्ध्व गतिवाले होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके हम अपने कल्याण व सुख को सिद्ध करनेवाले होते हैं। **अमृतं च**=ज्ञान के साथ आप अमरता को भी धारण करते हो 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। वीर्यकण सुरक्षित होकर रोगकृमियों का विध्वंस करते हैं और हमारा जीवन नीरोग बनता है। रोगरूप मृत्युओं के शिकार न होकर हम अमर बनते हैं। (३) हे रेतःकणो! आप **स्वपत्यस्य रायः च**=उत्तम सन्तानवाले धन के भी **पत्नीः**=रक्षक हो। आपके द्वारा जहाँ हम धन कमाने की योग्यता प्राप्त करते हैं, वहाँ हमारे सन्तान भी उत्तम होते हैं। रेतःकणों का रक्षण उत्तम सन्तान को तो प्राप्त कराता ही है, साथ ही हमारी शक्ति व बुद्धि में वृद्धि होकर हम धन भी कमानेवाले बनते हैं। (४) **सरस्वती**=अब ज्ञान स्वरूप परमात्मा **तद् गृणते**=उन रेतःकणों का स्तवन करनेवाले पुरुष के लिये

वयः=उत्कृष्ट जीवन को **धात्**=धारण करता है। रेत:कणों का स्तवन यही है कि हम उनका रक्षण करनेवाले बनें और इनका रक्षण करने पर हमारा ज्ञान व बल बढ़ता है, परिणामत: हमारा जीवन उत्तम बनता है। ज्ञान स्वरूप परमात्मा का अर्चन वीर्यरक्षण से ही होता है, क्योंकि ये सुरक्षित रेत:कण ही तो ज्ञानाग्नि के ईंधन हैं।

भावार्थ—सुरक्षित रेत:कण हमें 'श्रेयो ज्ञान' तथा अमरता (नीरोगता) प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'घृतं-पयांसि-मधूनि'

प्रति यदापो अदृश्रमायतीर्घृतं पयांसि बिभ्रतीर्मधूनि।
अध्वर्युभिर्मनसा संविदाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तीः॥ १३॥

(१) हे **आपः**=रेत:कणो! **यद्**=जब मैं आपको **आयतीः**=शरीर में सर्वत्र गति करते हुए, अर्थात् शरीर में रुधिर के साथ व्याप्त होते हुए **प्रति अदृश्रम्**=प्रतिदिन देखता हूँ, अर्थात् जब आपका अपव्यय न होकर शरीर में ही रक्षण होता है तो मैं देखता हूँ कि आप **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति व मलों के क्षरण को, बुद्धि की तीव्रता व मानस निर्मलता को, **पयांसि**=सब प्रकार के आप्यायन को, शरीर की शक्तियों के वर्धन को तथा **मधूनि**=मधुर वचनों व व्यवहारों को **बिभ्रतीः**=धारण करते हुए हो। वीर्यरक्षण से जहाँ (क) हमारी बुद्धि बढ़ती है, वहाँ (ख) मन निर्मल होता है, (ग) हमारे शरीर की सब शक्तियों का आप्यायन होता है और (घ) हमारे जीवन में माधुर्य की वृद्धि होती है। (२) हे रेत:कणो! आप **अध्वर्युभिः**=अध्वर-हिंसारहित यज्ञों को अपने साथ जोड़नेवाले पुरुषों के साथ **मनसा संविदानाः**=मन से संज्ञानवाले होवो। अध्वर्युओं के साथ आपका मेल हो। दूसरे शब्दों में जो भी व्यक्ति अध्वर्यु बनता है उसके साथ आपका मेल होता है। यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ पुरुष इनका रक्षण करनेवाला बनता है। ये आपः=रेत:कण **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **सुषुतं सोमम्**=इस उत्तमता से उत्पादित सोम को **भरन्तीः**=पुष्ट करनेवाले होते हैं। सोम शक्ति-सम्पन्न बनकर यह व्यक्ति सोम्य व शान्त स्वभाव का होता है। (३) यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध में रेत:कणों के रक्षण के लाभों का देना है। 'घृतं, पयांसि, मधूनि'=ये शब्द उन लाभों का वर्णन इस रूप में कर रहे हैं कि ज्ञान दीप्त होगा, मन निर्मल होगा, शरीर की शक्तियों का आप्यायन होगा तथा वचन व व्यवहार में मिठास आ जायेगी। उत्तरार्ध में रेत:कणों के रक्षण के उपाय 'अध्वर्युभिः' तथा 'इन्द्राय' शब्दों से सूचित किये गये हैं। 'यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहना' यह रेत:रक्षण के लिये आवश्यक है। दूसरा उपाय जितेन्द्रियता है, अजितेन्द्रिय के लिये वीर्यरक्षण का सम्भव नहीं। 'खाली न रहें, जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करें' यही रास्ता है जिस पर कि चलकर हम वीर्यरक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—वीर्यरक्षण के लाभ हैं—ज्ञानदीप्ति, मानस नैर्मल्य, शक्तियों का आप्यान व माधुर्य। वीर्यरक्षण का उपाय है—यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहना और जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रेवतीः आपः

एमा अग्मन्रेवतीर्जीवधन्या अध्वर्यवः सादयता सखायः।
नि बर्हिषि धत्तन सोम्यासोऽपां नप्त्रा संविदानास एनाः॥ १४॥

(१) **इमाः**=ये रेत:कणों के रूप में स्थित जल **आ अग्मन्**=हमें सर्वथा प्राप्त हुए हैं।

रेवतीः=ये रयिवाले हैं, शरीर के सब कोशों को ये सम्पत्ति से परिपूर्ण करनेवाले हैं। **जीवधन्याः**=ये हमारे जीवन को धन्य बनानेवाले हैं, सब कमियों को दूर करके ये प्रीणित करनेवाले हैं। (२) इस प्रकार रयिवाले तथा प्रीणित करनेवाले इन रेतःकणों को हे **अध्वर्यवः**=अपने साथ हिंसारहित कर्मों के जोड़नेवाले **सखायः**=प्रभु की मित्रता को धारण करनेवाले लोगो! **सादयता**=अपने शरीरों के अन्दर स्थापित करो। इन्हें नष्ट मत होने दो। (३) हे **सोम्यासः**=सोम का, वीर्य का सम्पादन करनेवालो! आप **अपांनप्त्रा**=इन रेतःकणों को नष्ट न होने देनेवाले उस प्रभु के साथ **संविदानासः**=संज्ञानवाले होते हुए, अर्थात् प्रातः-सायं उस प्रभु के चरणों में उपस्थित होनेवाले बनकर **एनाः**=इन रेतःकणों को **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय के होने पर **निधत्तन**=अन्दर शरीर में ही धारण करनेवाले बनो। रेतःकणों के रक्षण के लिये प्रभु का उपासन आवश्यक है। प्रभु के उपासन से हृदय वासनाशून्य बनता है और ऐसा होने पर ही रेतःकणों के रक्षण का सम्भव होता है।

भावार्थ—रेतःकण ही शरीर के सब कोशों को रयि से पूर्ण करते हैं। इनके रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम (क) यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें, (ख) प्रभु का उपासन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवयज्या

आग्मन्नाप उशतीर्बर्हिरेदं न्यध्वरे असदन्देवयन्तीः।
अध्वर्यवः सुनुतेन्द्राय सोममभूदु वः सुशका देवयज्या॥ १५॥

(१) **उशतीः**=हमारे हित की कामना करते हुए **आपः**=रेतःकण **इदं बर्हिः**=इस वासनाशून्य हृदय को **आ आग्मन्**=सर्वथा प्राप्त हुए हैं। (२) **देवयन्तीः**=हमारे रोगादि शत्रुओं को जीतने की कामना करते हुए ये रेतःकण **अध्वरे**=इस हिंसारहित जीवनयज्ञ में **वि असदन्**=निश्चय से शरीर के अन्दर स्थित हुए हैं। जब जीवन क्रूर भावों से शून्य होता है तो इन रेतःकणों का रक्षण सुगम होता है। सुरक्षित रेतःकण रोगकृमियों को नष्ट करते हैं और हमें स्वस्थ बनाते हैं। (३) इसलिए **अध्वर्यवः**=अध्वर-यज्ञ को अपने साथ जोड़नेवाले व्यक्तियों **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं सुनुत**=सोम का, इन रेतःकणों का अभिषव करो। इनको अपने शरीर में उत्पन्न करो। जिससे **वः**=तुम्हारे लिये **देवयज्या**=उस देव के साथ संगतिकरण, अर्थात् उस प्रभु की प्राप्ति **उ**=निश्चय से **सुशका अभूत्**=सुगमता से हो सकनेवाली हो। इस सोम के, वीर्य के रक्षण से उस सोम की, प्रभु की प्राप्ति सुगम हो ही जाती है।

भावार्थ—सुरक्षित रेतःकण रोगों को नष्ट करते हैं और हमारे लिये प्रभु प्राप्ति को सुगम कर देते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि 'हम यात्री हैं और ब्रह्म प्राप्ति हमारा लक्ष्य है' (१) प्रभु प्राप्ति के लिये हम हिंसा से ऊपर उठें और यज्ञशेष का सेवन करें, (२) प्रभु का उपासन हमें वीर्यरक्षण में समर्थ करता है, (३) इस वीर्यरक्षण से हमारा जीवन मधुर बनता है, (४) वीर्यरक्षण से हम शरीर व मन के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनते हैं, (५) रेतःकणों का रक्षण बुद्धि को तीव्र करता है, (६) जीवन को यह उत्साह सम्पन्न बनाता है, (७) इससे हम ज्ञानी व निर्मल वृत्तिवाले बनते हैं, (८) एवं वीर्यरक्षण 'त्रितन्तु' है, 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों की शक्तियों का विस्तार करता है, (९) यह वीर्यरक्षण इहलोक व परलोक दोनों को सुन्दर बनाता है, (१०) ये रेतःकण सुख के देनेवाले हैं, (११) ये 'ऋत' व 'अमृत' को प्राप्त करते हैं, (१२) ये घृत पयस् व मधु को अपने में लिये हुए हैं, (१३) रेवती हैं, (१४) इनके द्वारा प्रभु प्राप्ति सुगमता

से हो पाती है, (१५) हमें देवों से दिये जानेवाला ज्ञान प्राप्त हो।

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-मैत्री

आ नो॑ दे॒वाना॒मुप॑ वेतु॒ शंसो॒ विश्वे॑भिस्तु॒रैरव॑से॒ यज॑त्रः।
तेभि॑र्व॒यं सु॑ष॒खायो॑ भवेम॒ तर॑न्तो॒ विश्वा॑ दु॒रि॒ता स्या॑म॥ १ ॥

(१) **नः**=हमें **देवानां शंसः**=देवों का ज्ञान, अर्थात् देवों से दिये जानेवाला ज्ञान **उपवेतु**=समीपता से प्राप्त हो। हम देवों के समीप, ज्ञान-ज्योति से दीप्त गुरुओं के समीप उपस्थित हों। हम उन्हें पुकारें (उपहूतो वाचस्पतिः), वे वाचस्पति हमें समीप उपस्थित होने की स्वीकृति दें (उपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्) इन आचार्यों के चरणों में बैठकर हम ज्ञान को प्राप्त करें। (२) यह ज्ञान **विश्वेभिः**=सब **तुरैः**=बुराइयों के संहार के द्वारा **अवसे**=रक्षण के लिये **यजत्रः**=संगतिकरण योग्य है। इस ज्ञान को हमें इसलिये प्राप्त करना चाहिये कि यह सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला है। (३) सो **वयम्**=हम **तेभिः**=उन देवों के साथ **सुषखायः**=उत्तम मित्रतावाले **भवेम**=हों। इनके सम्पर्क में रहते हुए हम उत्तम ज्ञान को प्राप्त करें। (४) ज्ञान को प्राप्त करते हुए हम **विश्वा**=सब **दुरिता**=बुराइयों को **तरन्तः**=तैरते हुए **स्याम**=हों। सब बुराइयों के हम पार हो जायें। बुराइयों को छोड़कर अच्छाइयों को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क से ज्ञान प्राप्त करें। यह ज्ञान हमारी न्यूनताओं को दूर करे। ज्ञानियों की मित्रता से हम दुरितों को तैर जायें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञार्थ-धन

परि॑ चि॒न्मर्तो॒ द्रवि॑णं ममन्यादृ॒तस्य॑ प॒था नम॒सा विवा॑सेत्।
उ॒त स्वेन॒ क्रतु॑ना॒ सं व॑देत॒ श्रेयां॑सं॒ दक्षं॒ मन॑सा जगृभ्यात्॥ २ ॥

(१) **मर्तः**=मनुष्य **परिचित्**=सब ओर से ही, अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ से **द्रविणम्**=धन को **ममन्यात्**=(कामयेत्) चाहे। धन की कामना तो करे, परन्तु **ऋतस्य पथा**=ऋत के मार्ग से ही धन को कमाने की अभिलाषा करे। धन को कमाता हुआ **नमसा**=नमन के द्वारा **विवासेत्**=उस प्रभु की परिचर्या करे। यह प्रभु स्मरण उसे अन्याय मार्ग से धन कमाने से रोकेगा। 'अग्ने नय सुपथा राये, भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम'। (२) **उत**=और इस प्रकार प्रभु स्मरण के साथ न्याय्य मार्ग से धनों को कमाता हुआ यह व्यक्ति **स्वेन क्रतुना**=अपने यज्ञों के साथ **संवदेत**=संवादवाला हो। अपने जीवन को यह यज्ञमय बनाये। धनों का विनियोग यह यज्ञों में ही करे। (३) इन यज्ञों को करता हुआ यह **मनसा**=मन से **श्रेयांसम्**=अतिशयेन कल्याणकर **दक्षम्**=प्रवृद्ध उस प्रभु को **जगृभ्यात्**=ग्रहण करे। यज्ञों को करते हुए, मन से प्रभु स्मरण करना इसलिए आवश्यक है कि हम उन यज्ञों के अहंकारवाले न हो जाएँ। यह प्रभु स्मरण हमें कल्याण को प्राप्त करानेवाला होगा तथा सब प्रकार से हमारी वृद्धि का कारण बनेगा, श्रेयान्=(दक्ष)।

भावार्थ—हम धन कमायें। धनों का विनियोग यज्ञों में करें। उन यज्ञों को प्रभु कृपा से होता हुआ जानकर अहंकारवाले न हों।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ध्यान व स्वास्थ्य

अधायि धीतिरससृग्रमंशास्तीर्थे न दस्ममुप यन्त्यूमाः ।
अभ्यानश्म सुवितस्य शूषं नवेदसो अमृतानामभूम ॥ ३ ॥

(१) **धीतिः**=ध्यान **अधायि**=धारण किया गया, अर्थात् प्रभु ध्यान को हमने जीवन का एक नैत्यिक कार्य बना लिया। (२) और **तीर्थे**=तीर्थों में, पात्रों में **अंशाः**=अंश **अससृग्रम्**=बनाये गये, अर्थात् हमने उपार्जित धन में से पात्रों में, योग्य व्यक्तियों में धनांश को प्राप्त कराया। यही धनों का यज्ञों में विनियोग है। (३) इस प्रकार करने पर **ऊमाः**=(अवितारः) पात्रों में दिये गये ये धनांश हमारे रक्षक होते हैं। ये रक्षक धनांश **दस्मम्**=विनाश को **न उपयन्ति**=नहीं प्राप्त होते हैं, अर्थात् यह धनांशों का यज्ञों में विनियोग सदा चलता रहता है, इसमें कभी विच्छेद नहीं होता। (४) इसके परिणामरूप हम **सुवितस्य**=उत्तम आचरण के **शूषम्**=सुख को **अभ्यानश्म**=प्राप्त करनेवाले हों। यज्ञ की वृत्ति हमें दुष्टाचरण से बचाती है और परिणामतः दुःखों से छुड़ाती है। (५) सुवित के सुख को अनुभव करते हुए हम **अमृतानाम्**=नीरोगताओं के **नवेदसः**=(न वेत्तारः, वेत्तार एव) जाननेवाले **अभूम**=हों। हम जीवन में सदा स्वस्थ हों।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रभु ध्यान से समवेत हो, हम पात्रों में धनों के देनेवाले हों, ये धनांशों के दान सतत चलते रहें, सदाचरण के सुख का हम अनुभव करें और पूर्ण नीरोग हों।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मशासन

नित्यश्चाकन्यात्स्वपतिर्दमूना यस्मा उ देवः सविता जजान ।
भगो वा गोभिरर्यमेमनज्यात्सो अस्मै चारुश्छदयदुत स्यात् ॥ ४ ॥

(१) मनुष्य को चाहिये कि वह **नित्यः**=सदा **चाकन्यात्**=उस प्रभु की कामना करे। प्रभु प्राप्ति के लिये कामना ही सर्वोत्तम कामना है। इस कामना की पूर्ति के लिये **स्वपतिः**=वह अपना पति बने, अपना रक्षण करनेवाला हो। विषय-वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचायें। **दमूनाः**=(दान्तमनाः) अपने मन का दमन करनेवाला हो। दान्त मन ही हमारा बन्धु है, अजित मन तो हमारा नाश करनेवाला होता है। 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः येनात्मैवात्मना जितः, अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्'। (२) यह स्वपति व दमूना वह व्यक्ति होता है **यस्मै**=जिसके लिये **उ**=निश्चय से **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **जजान**=अपने को प्रकट करता है। **वा**=और **भगः**=ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवता **गोभिः**=गौ इत्यादि पशुओं से **एनम्**=इसको **अनज्यात्**=अलंकृत करता है, अर्थात् इसके पास गवादि धन की किसी प्रकार से कमी नहीं होती। **अर्यमा**=(अर्यमेति तमाहुर्योददाति) दान की अधिष्ठात्री देवता भी **ईम्**=निश्चय से **एनम्**=इसको **अनज्यात्**=अलंकृत करती है, अर्थात् यह धनों का खूब दान देनेवाला बनता है। (३) अब **सः**=वह **चारुः**=सुन्दर ही सुन्दर प्रभु **अस्मै**=इसके लिये **छदयत्**=शरण को देनेवाला **उत**=निश्चय से **स्यात्**=होता है।

भावार्थ—जब मनुष्य प्रभु की कामनावाला होकर आत्मशासन करता है तो प्रभु उसके लिये प्रकाशित होते हैं, इसे आवश्यक धन व दान की वृत्ति प्राप्त कराते हैं और अन्ततः यह उस सुन्दरतम प्रभु की शरण में होता है।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शान्तिकर शक्तियाँ

इयं सा भूया उषसामिव क्षा यद्ध क्षुमन्तः शवसा समायन्।
अस्य स्तुतिं जरितुर्भिक्षमाणा आ नः शग्मास उप यन्तु वाजाः ॥ ५ ॥

(१) **यद् ह**=जब निश्चय से **क्षुमन्तः**=भूखवाले, अर्थात् जिनकी जाठराग्नि बुझ नहीं गई और जाठराग्नि के ठीक होने के कारण ही **शवसा**=बल व शक्ति के साथ **समायन्**=गतिवाले होते हैं, तब **इयं सा क्षा**=यह वह प्रसिद्ध पृथिवी **उषसां इव**=उषःकालों की तरह **भूयाः**=हो, अर्थात् जिस प्रकार उषःकाल के द्वारा अन्धकार का नाश होकर उत्तरोत्तर प्रकाश की वृद्धि होती चलती है, उसी प्रकार हमारे जीवनों में उत्तरोत्तर ज्ञान का प्रकाश बढ़ता चले। इस प्रकार के जीवन को बनाने के लिये यह आवश्यक ही है कि हमारा शरीर का स्वास्थ्य ठीक हो, हम शक्ति-सम्पन्न हों और गतिशील क्रियामय जीवनवाले हों। (२) **अस्य**=इस क्रियात्मक जीवन से **जरितुः**=स्तुति करनेवाले की **स्तुतिं भिक्षमाणाः**=स्तुति की प्रार्थना करते हुए, अर्थात् इस प्रकार की स्तुति को सदा कर सकने की कामनावाले **शग्मासः**=अत्यन्त सुख को करनेवाले, 'peace, plenty and power' वाले **वाजाः**=बल व ज्ञान **नः**=हमें **उपयन्तु**=समीपता से प्राप्त हों, अर्थात् हम शान्तिकर सुखों से युक्त बलों को प्राप्त करें, परन्तु वे बल हमें प्रभु की क्रियात्मक स्तुति से सम्पन्न करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारी जाठराग्नि ठीक हो, शक्ति से युक्त होकर हम क्रियामय जीवनवाले हों। हमारे जीवन में उत्तरोत्तर प्रकाश की अभिवृद्धि हो। हमें सुखकर शक्तियों की प्राप्ति हो और हम प्रभु-स्तवन से कभी दूर न हों।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमति व भरण

अस्येदेषा सुमतिः पप्रथानाऽभवत्पूर्व्या भूमना गौः।
अस्य सनीळा असुरस्य योनौ समान आ भरणे बिभ्रमाणाः ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र में प्रतिपादित हुई **एषा**=यह **अस्य**=इस स्तोता की **सुमतिः**=कल्याणीमति **इत्**=निश्चय से **पप्रथाना**=निरन्तर विस्तृत होनेवाली हो। इस सुमति में कमी न आकर वृद्धि ही हो। (२) यह कल्याणीमति (क) **पूर्व्या**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हो। इस मति से शरीर रोगों से सुरक्षित रहे और मन में वासनाओं के कारण न्यूनता न आ जाये। यह सुमति (ख) **भूमना**='बहुत्वेन युक्त' हो, अर्थात् अपने परिवार को विस्तृत करनेवाली हो, वसुधा को ही अपना परिवार बनानेवाली हो। (ग) **गौः**=यह सुमति तत्त्वज्ञान को प्राप्त करानेवाली हो। तात्त्विक ज्ञान तो यही है कि हम सब उस प्रभु के पुत्र हैं और परस्पर भाई-भाई हैं, एक दूसरे के वर्धन में ही हमारी अभिवृद्धि है। (३) इस प्रकार एक परिवार के बनकर हम **अस्य असुरस्य**=इस प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले (असून् रातिं) प्रभु के **योनौ**=गृह में **सनीडः**=समान रूप से रहनेवाले हम हों, और इस **समाने**=सबके लिये साधारण अथवा सबको सोत्साहित करनेवाले (सं आनयति) **आभरणे**=सब दृष्टिकोणों से पोषित करनेवाले घर में **बिभ्रमाणाः**=सब शक्तियों का भरण व पोषण करनेवाले हम हों। प्रभु की शरण में रहते हुए हम 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की शक्तियों से युक्त हों। उस प्रभु रूप गृह में निवास करते हुए हमारा पोषण ही पोषण हो। हम सभी को उस प्रभु के पुत्र रूप में जानें और मिलकर परस्पर वर्धन करनेवाले हों।

भावार्थ—हम सदा प्रभु रूप गृह में निवास करें, यह निवास हमारी शक्तियों का पोषण करे।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'वन-वृक्ष'

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
संतस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त॥ ७॥

(१) प्रभु के नाम तीनों लिङ्गों में होते हैं। सो 'किम्' शब्द भी तीनों ही लिङ्गों में प्रभु का प्रतिपादक है। इसकी मूलभावना 'आनन्दमयता' की है। वे **किम्**=आनन्दमय प्रभु **स्विद्**=निश्चय से **वनम्**=उपासनीय हैं 'तद्धि तद्वनं नाम, तद्वनमित्युपासितात्यम्'। उपासनीय होने से प्रभु का नाम ही 'वनम्' हो गया है 'वन संभक्तौ'। **उ**=और **स**=वे **कः**=आनन्दमय प्रभु **वृक्षः**=(वृश्चति इति) हमारे भव-बन्धनों को काटनेवाले हैं। 'उपासना' कारण है, 'भव-बन्धनों का काटना' उसका कार्य है। इसी से उपासना का पहले तथा बन्धनच्छेद का उल्लेख पीछे हुआ है। (२) ये प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक, द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक तक सब लोक-लोकान्तर **निष्टतक्षुः**=बनाये गये हैं। ये दोनों लोक **संतस्थाने**=सम्यक्तया अपनी मर्यादा में स्थित हैं, ये डाँवाडोल हो जानेवाले व अमर्याद गतिवाले होकर नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले नहीं हैं। **अजरे**=कभी जीर्ण नहीं होते। 'पृथ्वी की उपजाऊँ शक्ति कम होती जा रही हो' ऐसी बात नहीं अथवा 'वायुमण्डल में अम्लजन की मात्रा कम होती जा रही हो' ऐसी बात भी नहीं। 'सूर्य क्षीण होता जा रहा हो' ऐसा कुछ नहीं है। सब चाक्रिक व्यवस्थाओं के कारण 'जो है' वह उतना ही बना रहता है। ये सब लोक जीर्ण होनेवाले नहीं। मनुष्य निर्मित चीजे जीर्ण होती हैं, प्रभु की सृष्टि अजीर्ण है। ये द्युलोक व पृथ्वीलोक **इत ऊती**=इस लोक से हमारा रक्षण करनेवाले हैं। यदि हम इनका ठीक प्रयोग करते हैं तो हमारा भौतिक संसार ठीक बना रहता है, शरीर स्वस्थ रहता है। (३) इस प्रकार स्वस्थ शरीरवाले बनकर ये ज्ञानी पुरुष **अहानि**=जीवन के प्रत्येक दिन **पूर्वीः उषसः**=उषाकाल के पूर्वभागों में (early in the morning) **जरन्त**=उस 'वन व वृक्ष' नामक प्रभु का स्तवन करते हैं। इस प्रभु ने ही तो इन द्युलोक व पृथिवीलोक को बनाया है जिनके कारण हमारी ऐहिक उन्नति बड़ी सुन्दरता से हो पाती है। इस प्रभु के स्तवन से अध्यात्म उन्नति होती है और हमारे बन्धनों का उच्छेद होता है। प्रकृति ऐहिक उन्नति में सहायक होती है तो प्रभु पारलौकिक व अध्यात्म उन्नति का कारण बनते हैं।

भावार्थ—प्रकृति के ठीक प्रयोग से हम इधर से अपना रक्षण करें और प्रभु-स्तवन से उधर के कल्याण को साधें। प्रभु का बनाया हुआ यह संसार हमें भौतिक स्वास्थ्य देगा और प्रभु-स्मरण अध्यात्म-स्वास्थ्य का कारण बनेगा।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्रियों की पवित्रता व पवित्र जीवन

नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति।
त्वचं पवित्रं कृणुत स्वधावान्यदीं सूर्यं न हरितो वहन्ति॥ ८॥

(१) मनुष्य अपनी अल्पज्ञता से कई बार इस संसार में ऐसा उलझ जाता है कि उसे परलोक का ध्यान ही नहीं रहता। उपनिषद् में इन्हीं के लिये कहा गया है कि 'अयं लोकोनास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे', 'यही लोक है, परलोक नहीं है' ऐसा माननेवाला फिर-फिर मृत्युचक्र

में पड़ता है। वेद कहता है कि यह उनकी धारणा गलत है **न एतावत्**=केवल यही लोक नहीं है। **एना**=(एनेभ्यः) इन दृश्यमान लोक-लोकान्तरों से **परः**=उत्कृष्ट **अन्यत्**=दूसरा आत्मतत्त्व **अस्ति**=है। **उक्षा**=वस्तुतः वह आत्मतत्त्व ही इस संसार-शकट का वहन करनेवाला है, सब पर सुखों का सेचन करनेवाला है और **सः**=वह ही **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथ्वीलोक को, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को **बिभर्ति**=धारण करता है। (२) आत्मतत्त्व को 'स्व' कहते हैं, इस आत्मतत्त्व का धारण 'स्वधा' है। **स्वधावान्**=इस आत्मतत्त्व के धारणवाला व्यक्ति **त्वचम्**= (Touch) इन्द्रियों के विषयों के साथ सम्पर्क को, मात्रा स्पर्शों को **पवित्रं कृणुत**=पवित्र कर लेता है, अर्थात् यह इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण जीवन की उन्नति के लिये ही करता है। यह उन सम्पर्कों में आसक्त नहीं हो जाता। (३) यह वह समय होता है **यद्**=जब कि **ईम्**=निश्चय से **हरितः**=ये इन्द्रियरूप अश्व इसके लिये **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को उसी प्रकार **वहन्ति**=प्राप्त कराते हैं **न**=जैसे कि हरितः=सूर्य-किरण रूप अश्व सूर्यम्=सूर्य को वहन्ति=इस पृथ्वी पर प्राप्त कराते हैं, अर्थात् विषयों में अनासक्त इन्द्रियाँ ज्ञानवृद्धि का कारण बनती हैं।

भावार्थ—इस भौतिक संसार से परे इसका संचालक आत्मतत्त्व भी है। इस आत्मतत्त्व का ज्ञान हमारे जीवनों को पवित्र करता है। इस जीवन में इन्द्रियाँ हमें ज्ञान के सूर्य को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आधिदैविक आपत्तियों का दूरीकरण

स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीं मिहं न वातो वि ह वाति भूम।
मित्रो यत्र वरुणो अज्यमानोऽग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम्॥ ९॥

(१) पिछले मन्त्र के अनुसार जीवन के पवित्र होने पर **स्तेगः**=सूर्यरश्मियों का **संघात क्षाम्**=इस निवास के योग्य **भूमिम्**=पृथ्वी को **न अति एति**=अतिशयेन प्राप्त नहीं होता, अर्थात् सूर्य की प्रचण्ड रश्मियों से अत्युष्णता होकर यह पृथ्वी निवास के अयोग्य नहीं हो जाती। अत्युष्णता व अतिशीत रूप आधिदैविक आपत्तियाँ मनुष्य को नहीं सताती। (२) **वातः**=वर्षा को लानेवाले वायु में **मिहम्**=वर्षा को **भूम**=इस पृथ्वी पर **ह**=निश्चय से **न विवाति**=अतिशयेन नहीं प्राप्त कराती। वर्षा, मर्यादितरूप में होकर, अन्नवृद्धि व रोगाभाव का कारण बनती है। अतिवृष्टि व अनावृष्टिरूप आधिदैविक आपत्तियों से हम बचे रहते हैं। (३) **अग्निः**=आग **वने**=वनों में **शोकम्**=अपनी दीप्ति को **न व्यसृष्ट**=नहीं विसृष्ट करती, अर्थात् वनों में आगें नहीं लगती रहतीं। वन राष्ट्र के महान् धन हैं, अग्नि इनका विनाश नहीं कर देती। (४) 'आगें लगना' स्वयं एक आधिदैविक आपत्ति है। यह आधिदैविक आपत्ति भी उस स्थान में नहीं आती **यत्र**=जहाँ कि **मित्रः**=स्नेह की देवता व **वरुणः**=निर्द्वेषता की देवता **अज्यमानः**=विशेषरूप से व्यक्त होती है। जहाँ लोग परस्पर प्रेम व द्वेष के अभाव के साथ वर्तते हैं।

भावार्थ—प्रेम व निर्द्वेषता का राज्य होने पर अत्युष्णता, अतिवृष्टि व अग्निदाह आदि आधिदैविक आपत्तियों का कष्ट नहीं होता।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

(sterile) का (fertile) हो जाना (वन्ध्यात्वविनाश)

स्तरीर्यत्सूत सद्यो अज्यमाना व्यथिरव्यथीः कृणुत स्वगोपा।
पुत्रो यत्पूर्वः पित्रोर्जनिष्ट शम्यां गौर्जगार यद्ध पृच्छान्॥ १०॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार मनुष्य जब राग-द्वेष से ऊपर उठकर वर्तते हैं तो **यत्**=जो **स्तरीः**=

वन्ध्या गौ होती है वह भी **अज्यमाना**=निषिच्यमानरेतस्का होने पर, रेतस् के आधान होने पर, **सद्यः**=शीघ्र ही **सूत**=बछड़े को जन्म देनेवाली होती है। पवित्राचरण के होने पर वन्ध्यात्व का विनाश हो जाता है। (२) **स्वगोपाः**=अपना गोपन-रक्षण करनेवाला व्यक्ति जब यह वासनाओं से अपने को आक्रान्त नहीं होने देता तो **व्यथिः अव्यथीः कृणुत**=दुःखियों को दुःखरहित कर देता है। आधिदैविक कष्टों के निवारण से सब का जीवन सुखी हो जाता है। (३) **यत्**=जब यह **स्वगोपाः**=आत्मरक्षक व्यक्ति **पित्रोः**=माता-पिता का **पूर्वः पुत्रः**=प्रथम स्थान में स्थित होनेवाला पुत्र **जनिष्ट**=होता है, अर्थात् जब यह उन्नततम जीवनवाला होता है तो **यत् ह**=जब भी निश्चय से **पृच्छान्**=इससे पूछते हैं तो **गौः**=इसकी वाणी **शम्याम्**=शान्ति को देनेवाले वचनों को ही **जगार**=उद्गिरण करती है। यह शान्त वचन ही बोलता है, कभी तेजी में कोई बात नहीं कहता एवं आधिदैविक आपत्तियाँ तभी दूर होती हैं जब कि हम जीवन को उन्नत बनाते हैं और शान्त मधुर ही शब्द बोलते हैं।

भावार्थ—हम आत्मरक्षण करें, माता-पिता के उत्तम पुत्र बनें, शान्त वाणी बोलें तो राष्ट्र में गौवें वन्ध्या न होंगी और सब कष्ट दूर हो जायेंगे।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नृषद् पुत्र 'कण्व'

उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहुरुत श्यावो धनमादत्त वाजी।
प्र कृष्णाय रुशदपिन्वतोधर्ऋतमत्र नकिरस्मा अपीपेत्॥ ११॥

(१) **उत**=और **कण्वम्**=कण-कण करके उत्तमता का संचय करनेवाले को, अतएव मेधावी को **नृषदः**=सब मनुष्यों में निवास करनेवाले प्रभु का **पुत्रम्**=पुत्र **आहुः**=कहते हैं। प्रभु 'नृषद्' हैं, यह मधुरवाणी बोलनेवाला, आत्मरक्षण करनेवाला व्यक्ति प्रभु का सच्चा पुत्र है। (२) **उत**=और **श्यावः**=(श्यैङ् गतौ) खूब क्रियामय जीवनवाला यह **वाजी**=शक्तिशाली बनता है और **धनम्**=धन को **आदत्त**=प्राप्त करता है। क्रियाशीलता धन प्राप्ति का साधन होती है और शरीर के अंगों को सबल बनाये रखती है। (३) **ऊधः**=ऊधस्, अर्थात् ऊधः स्थानीय दूध **कृष्णाय**=मन को विषयों से वापिस खैंच (आकृष्ट) करके, संसार के रंग में न रंगे जानेवाले के लिये **रुशत्**=देदीप्यमान रूप को **प्र अपिन्वत**=प्रकर्षेण सिक्त करता है। दूध का प्रयोग तथा विषयों में अनासक्ति मनुष्य को दीप्त रूप प्राप्त कराता है। (४) **अत्र**=इस जीवन में **ऋतम्**=ऋत, सत्य व यज्ञ **अस्मै**=इस व्यक्ति के लिये **नकिः अपीपेत्**=क्या वर्धन नहीं करता? ऋत के द्वारा इसके जीवन में सब आवश्यक वस्तुओं का आप्यायन होता है।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभु का सच्चा पुत्र होता है। गतिशीलता से यह धन व शक्ति का संग्रह करता है। दूध का प्रयोग इसे दीप्तरूप देता है। सत्य व यज्ञ इसे सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में प्रार्थना है कि हमें देवों की मैत्री प्राप्त हो। (१) यज्ञार्थ हम धनों का संग्रह करें, (२) हमारे जीवनों में ध्यान व स्वास्थ्य हो, (३) हम आत्मशासन करनेवाले हों, (४) हमें शान्तिकर शक्तियों की प्राप्ति हो, (५) सुमति बनी रहे, (६) प्रभु को हम उपास्य व भव-बन्धनों का काटनेवाला जानें, (७) हमारे जीवन पवित्र हों, (८) यह जीवन की पवित्रता 'अत्युष्णता, अतिवृष्टि, अग्निदाह' आदि आपत्तियों से बचायेगी, (९) मधुर जीवन के होने पर वन्ध्यात्व विनष्ट हो जाएगा, (१०) हम उस अन्तःस्थित प्रभु के सच्चे पुत्र होंगे, (११) अच्छे से अच्छे मार्ग की ओर हम बढ़ें।

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उत्तमोत्तम मार्ग की ओर

प्र सु ग्मन्ता धियसानस्य सक्षणि वरेभिर्वराँ अभि षु प्रसीदतः।
अस्माकमिन्द्र उभयं जुजोषति यत्सोम्यस्यान्धसो बुबोधति ॥ १ ॥

(१) पति पत्नी को सम्बोधन करके कहते हैं कि **धियसानस्य**=ध्यान करने के स्वभाववाले के **सक्षणि**=सेवन में, सम्पर्क में **प्र**=प्रकर्षेण **सुगमन्ता**=अच्छी तरह से आप जानेवाले होवो। आपका सम्पर्क ध्यान की वृत्तिवाले लोगों के साथ हो, भोग प्रधान वृत्तिवालों का सम्पर्क आपको भी भोग-प्रवण ही तो बना देगा। (२) इस प्रकार ध्यान-प्रवण लोगों के सम्पर्क में रहकर **वरेभिः वरान्**=अच्छे से भी अच्छे मार्गों के **अभि**=ओर **सु**=उत्तमता से **प्रसीदतः**=(proceed) आप आगे बढ़ो। प्रभु ध्यान करनेवाले लोगों का सम्पर्क हमें उत्तम मार्ग पर आगे बढ़ायेगा, जबकि भोग-प्रवण लोगों का सम्पर्क हमारे ह्रास का ही कारण बनेगा। (३) प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रः**=ध्यान वृत्ति के लोगों के सम्पर्क में रहनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **अस्माकम्**=हमारा **उभयम्**=दोनों सन्ध्या कालों में प्रातः-सायं निरन्तर **जुजोषति**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। इसकी भी रुचि ध्यान की बनती है और इस ध्यान में यह कभी भी विच्छेद नहीं होने देता। (४) यह कर ऐसा तभी पाता है **यत्**=जब कि **सोम्यस्य अन्धसः**=सोम के लिये, वीर्य शक्ति के लिये हितकर अन्धसः=अन्न को ही यह **बुबोधति**=जानता है। यह सोम्य अन्नों के सिवाय अन्य अन्नों का पदार्थों का यह कभी प्रयोग नहीं करता। इसीका परिणाम है कि इसकी मनोवृत्ति सुन्दर बनी रहती है।

भावार्थ—ध्यानवृत्ति पुरुषों के सम्पर्क से हम उत्तमोत्तम मार्गों का आक्रमण करनेवाले हैं। दोनों संधिवेलाओं में प्रभु का ध्यान करें। सोम्य अन्नों का ही सेवन करें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दिव्य-प्रकाश (Divine light)

वीन्द्र यासि दिव्यानि रोचना वि पार्थिवानि रजसा पुरुष्टुत।
ये त्वा वहन्ति मुहुरध्वराँ उप ते सु वन्वन्तु वग्वनाँ अराधसः ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **दिव्यानि रोचना**=दिव्य दीप्तियों को (Divine light) **वियासि**=विशेषरूपेण प्राप्त होता है। जितेन्द्रियता ही वस्तुतः दिव्य प्रकाश की प्राप्ति का साधन होती है। (२) हे इन्द्र! तू **पार्थिवानि (रोचना) वियासि**=पार्थिव दीप्तियों को भी विशेषरूप से प्राप्त होता है। स्वास्थ्य के कारण शरीर पर प्रकट होनेवाला सौन्दर्य ही 'पार्थिव रोचन' है। इसमें कमी आने पर चेहरा मुरझाया-सा प्रतीत होता है। (३) हे इन्द्र! तू **रजसा**=(रजः कर्मणि) कर्म के द्वारा अथवा 'रजः अन्तरिक्षम्' अपने हृदयान्तरिक्ष के द्वारा **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुत होता है। कर्मों के कारण व हृदयान्तरिक्ष की निर्मलता के कारण तेरी सब प्रशंसा करते हैं। (४) हे प्रभो **ये**=जो भी व्यक्ति **त्वा वहन्ति**=आपका धारण करते हैं और **मुहुः**=फिर **अध्वरान् उप**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के समीप निवास करते हैं, अर्थात् जो आपका स्मरण करते हैं और यज्ञों में लगे रहते हैं **ते**=वे **वग्वनान्**=केवल वाणी का सेवन करनेवाले (वच् वन), बात करनेवाले, परन्तु **अराधसः**=कार्यों को न सिद्ध करनेवाले पुरुषों को **सुवन्वन्तु**=उत्तमता से जीतनेवाले हों (वन् win)। 'बातें करना और कामों को न करना' यह अवनति का मार्ग है और इसके विपरीत 'प्रभु

का हृदय में स्मरण करना और यज्ञों में लगे रहना' ही उन्नति का मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक हम कर्मों में लगे रहें, इसी से हमें दिव्य प्रकाश प्राप्त होगा, स्वास्थ्य की दीप्ति मिलेगी और कर्मों की भावना व हृदय की पवित्रता से प्रशस्त जीवनवाले होंगे।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'भक्त', 'पुत्र', 'जाया' व 'भद्र पुरुष' का लक्षण

तदिन्मे छन्त्सद्वपुषो वपुष्टरं पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति।
जाया पतिं वहति वग्नुना सुमत्पुंस इद्भद्रो वहतुः परिष्कृतः ॥ ३ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **तत्**=वह **इत्**=ही **मे**=मेरा है, वही मेरा सच्चा भक्त अपत्य है, जो कि **वपुषः वपुष्टरम्**=अच्छे से अच्छे शरीर की **छन्त्सत्**=कामना करता है। प्रभु का सच्चा भक्त सन्तान वही है कि जो शरीर को अधिक से अधिक स्वस्थ रखने का ध्यान करता है। प्रभु ने परमार्थ-साधन के लिये यह शरीर दिया है, यदि इस शरीर को ही हम विकृत कर लेते हैं तो प्रभु के निर्देश का पालन न करते हुए हम उस प्रभु की अवज्ञा कर रहे होते हैं। (२) **पुत्रः**=पुत्र वही है **यत्**=जो **पित्रोः**=माता-पिता के **जानम्**=विकास को **अधीयति**=प्राप्त करता है। माता-पिता के गुण-कर्मों का अनुकरण करते हुए अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला ही सच्चा पुत्र होता है। (३) **जाया**=पत्नी वह है जो **सुमत्**=उत्तम विचारपूर्वक उच्चारण की गई **वग्नुना**=वाणी से **पतिम्**=पति को **वहति**=आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराती है। कभी कटु व अप्रीतिकर वचनों को नहीं बोलती। 'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्'=पत्नी पति के लिये माधुर्यवाली शान्ति को देनेवाली वाणी को बोले। (४) **पुंसः**=मानवजाति का **इत्**=निश्चय से **भद्रः**=भद्र पुरुष वही है जो इस बात का ध्यान करता है कि **वहतुः**=(Marriage) उसका विवाह सम्बन्ध **परिष्कृतः**=बड़ा परिष्कृत हो, वासनात्मक यह सम्बन्ध न हो। पति-पत्नी का परस्पर प्रेम हो और वह प्रेम पुनीत सन्तान को जन्म देनेवाला हो। 'प्रजायै गृहमेधिनम्'=सन्तान के लिये ही वे गृहस्थ में प्रविष्ट हुए हों और इस प्रकार गृहस्थाश्रम को वे यज्ञ का रूप दे दें।

भावार्थ—हम शरीर को उत्तम बनायें और प्रभु के सच्चे भक्त हों, माता-पिता से जीवन के विकास को सीखकर सच्चे पुत्र बनें, पत्नी के रूप में हों तो विचारपूर्वक मधुरवाणी से पति को प्राप्त हों। गृहस्थ को परिष्कृत बनाकर भद्र पुरुष बनें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'माता' व 'जन' का लक्षण

तदित्सधस्थमभि चारु दीधय गावो यच्छासन्वहतुं न धेनवः।
माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याभि वाणस्य सप्तधातुरिज्जनः ॥ ४ ॥

(१) हे प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **तत्**=उस **सधस्थम्**=आत्मा और परमात्मा के मिलकर बैठने के स्थान 'हृदय' को **चारु**=सुन्दरता से **अभि दीधय**=दीप्त करिये। इस प्रकार हमारे इस हृदय को ज्ञान से दीप्त करिये **यत्**=कि **धेनवः गावः**=विषयों के द्वारा प्रीणित करनेवाली इन्द्रियरूप गौवें **वहतुम्**=हमारे विवाह सम्बन्धों को **न शासन्**=न शासित करनेवाली हों, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषयों के भोग ही वैवाहिक जीवन में प्रधान स्थान न ले लें। हमारा हृदय दीप्त हो और इस प्रकार दीप्त हो कि हमारा वैवाहिक जीवन भी पवित्र बना रहे। (२) **माता**=माता वही है जो कि **मन्तुः**=आज्ञा को माननेवाले पुत्र का **यूथस्य पूर्व्या**=पालन व पूरण करनेवाले स्थान प्राप्त कराने में उत्तम

है। अचानक किन्हीं पूर्व संस्कारों के कारण बच्चा कहना ही न माननेवाला हो तो माता के लिये उसे उन्नत करना कठिन हो जाता है, परन्तु सामान्य स्थिति में माता का पूर्ण प्रयत्न यही होना चाहिए कि उसका सन्तान बाल समूह में अग्रणी हो। इसी निर्माण में माता का मातृत्व है। (३) **जनः**=विकासशील मनुष्य वही है जो **वाणस्य अभि**=स्तुति शब्दों का लक्ष्य करके **सप्तधातुः**=सात छन्दोंवाली वेदवाणी को धारण करता है (धार्यन्ते कर्माणि एभिः इति धातवः छन्दांसि) इन सात छन्दोंवाली वेदवाणी के द्वारा वह प्रभु का गुणगान करता हुआ अपने जीवन के लक्ष्य को ऊँचा बनाता है इसी प्रकार उसके जीवन की शक्तियों का विकास होता है और उसका जन यह नाम अन्यर्थक होता है। 'सप्तधातु' शब्द का अर्थ 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मेदस्, मज्जा, वीर्य' इन 'सात धातुओंवाला' भी है। विकास के लिये इन सातों धातुओं का ठीक होना आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदय को ऐसा दीप्त करें कि हमारा गृहस्थ जीवन भी बड़ा पवित्र हो। हम माता बनें तो निर्माण करनेवाली हों। जन हों तो 'सप्तधातु' बनकर जन नाम को अन्वर्थक करें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दुरित-विरेचन

प्र वोऽच्छा रिरिचे देवयुष्पदमेको रुद्रेभिर्याति तुर्वणिः।
जरा वा येष्वमृतेषु दावने परि व ऊमेभ्यः सिञ्चता मधु॥ ५ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **वः**=हे मनुष्यो! तुम्हारे में से **देवयुः**=देव के साथ अपने को जोड़ने की कामनावाला व्यक्ति, प्रभु प्राप्ति की प्रबल इच्छावाला व्यक्ति, **पदं अच्छा**='पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः' उस गन्तव्य स्थान, परागति प्रभु को लक्ष्य करके **प्ररिरिचे**=(रेचति=(To give up) बुराइयों को छोड़ता है, दुरितों को अपने से दूर करता है। दुरितों को दूर करके और भद्रों को अपनाकर ही तो हम उस प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होते हैं। (२) **एकः**=यह गतिशील (इ गतौ) अथवा औरों की पड़ताल न करता हुआ अपने आप **रुद्रेभिः**=प्राणों के साथ **याति**=उस प्रभु को प्राप्त करता है। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करता हुआ यह प्रभु का दर्शन करनेवाला बनता है और **तुर्वणिः**=शत्रुओं का संहार करनेवाला होता है 'तुर्व् हिंसायाम्' अथवा त्वरा से शत्रुओं का जीतनेवाला होता है (त्वर् वन्) (३) **येषु अमृतेषु**=जिन विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले व्यक्तियों में **जरा**=प्रभु का स्तवन **दावने**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाला होता है। मनुष्य विषयों से आक्रान्त न हो और प्रभु का स्मरण करनेवाला बने तो उसे योगक्षेम की किसी प्रकार से चिन्ता नहीं रहती। सब आवश्यक वस्तुएँ तो उसे प्राप्त हो ही जाती हैं। (४) प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हारी **ऊमेभ्यः**=रक्षा करनेवाले इन देवों के लिये, इन देवों की प्राप्ति के लिये **मधु**=सोम को, वीर्यशक्ति को **परि सिञ्चता**=शरीर में चारों ओर सिक्त करने का प्रयत्न करो। इस मधु के शरीर में सुरक्षित होने पर ही जीवन के सारे माधुर्य निर्भर हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम दुरितों से दूर हों। प्राणसाधना द्वारा कामादि शत्रुओं को वश में करे। प्रभु-स्तवन को अपनाएँ। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'देव व्रत पालन इन्द्र विद्वान्'

निधीयमानमपगूळ्हमप्सु प्र मे देवानां व्रतपा उवाच।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम्॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोम को शरीर में ही सिक्त करनेवाले **मे**=मुझे **देवानां व्रतपाः**=देवों के व्रत का पालन करनेवाला, सत्य के व्रत का पालन करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **उवाच**=उस प्रभु का प्रतिपादन करता है, जो **निधीयमानम्**=प्रत्येक प्राणी व वस्तु के अन्दर निहित=विद्यमान हैं तथा **अप्सु**=सब (आपो नारा इति प्रोक्ताः) मानव प्रजाओं में **अपगूढम्**=हृदयरूप गुहा में छिपकर बैठे हुए हैं। शिष्य की विशेषता यह है कि वह 'ब्रह्मचारी' हो, आचार्य की विशेषता यह कि वह 'सत्यवादी, जितेन्द्रिय व विद्वान्' हो, 'देवानां व्रतपाः, इन्द्र व विद्वान्' हो। ऐसा आचार्य ही शिष्य के लिये प्रभु का उपदेश कर पाता है। (२) हे प्रभो! **इन्द्र विद्वान्**=यह जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष **हि**=ही **त्वा**=आपको **अनुचचक्ष**=आत्मदर्शन के साथ देखता है। आपका दर्शन किये हुए होने के कारण ही यह औरों के लिये प्रभु का प्रतिपादन कर पाता है। (३) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तेन**=इस विद्वान् से **अनुशिष्टः**=अनुशासन व उपदेश किया हुआ **अहम्**=मैं **आगाम्**=आपके समीप आनेवाला बनूँ। अजितेन्द्रिय अन्ध पुरुष के पीछे चलता हुआ तो मैं गर्त में ही गिरूँगा। सो मेरा सम्पर्क सदा जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुषों के साथ ही हो।

भावार्थ—मुझे 'सत्यवादी जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुषों से प्रभु का उपदेश प्राप्त हो। इन प्रभु साक्षात्कार करनेवालों से उपदिष्ट हुआ-हुआ मैं प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ'।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मार्ग-ज्ञान

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्॥ ७॥

(१) 'क्षीयते गम्यतेऽनेन इति क्षेत्रं मार्गः' **अक्षेत्रवित्**=मार्ग को न जाननेवाला पुरुष **क्षेत्रविदम्**=मार्ग को जाननेवाले को **हि**=निश्चय से **अप्राट्**=पूछता है और **सः**=वह **क्षेत्रविदा**=मार्गज्ञ से **अनुशिष्टः**=उपदिष्ट हुआ-हुआ **प्रैति**=प्रकर्षेण अपने मार्ग पर चलता है। क्षेत्रवित् के न मिलने पर भटकने की आशंका बनी ही रहती है। (२) **एतद् वै**=यह ही **अनुशासनस्य**=उपदेश का **भद्रम्**=कल्याण है कि **अञ्जसीनाम्**=सरलता से जाने योग्य ऋजु कर्मों के **स्रुतिम्**=मार्ग को **विन्दति**=पा लेता है, अर्थात् क्षेत्रविदों से अनुशिष्ट हुआ-हुआ व्यक्ति अकल्याण के मार्ग का कभी आक्रमण नहीं करता।

भावार्थ—क्षेत्रवित् से उपदेश को प्राप्त करके मनुष्य भद्र मार्ग का ही आक्रमण करता है।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्तम जीवन या जीवन मार्ग

अद्येदु प्राणीदममन्निमाहापीवृतो अधयन्मातुरूधः।
एमेनमाप जरिमा युवानमहेळन्वसुः सुमना बभूव॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार क्षेत्रविदों से अनुशिष्ट होकर जब मनुष्य ऋजु मार्ग का आक्रमण करने लगा **अद्य इत् उ**=उस ही दिन निश्चय से **प्राणीत्**=इसने प्रकृष्ट जीवन पाया। इससे पूर्व कुटिल व भोग-प्रधान जीवन कोई जीवन थोड़े ही था! (२) अब यह **इमा अहा**=इन दिनों में निरन्तर, बिना विच्छेद के **अममन्**=(अमन्यत सा०) मनन करनेवाला हुआ। प्रत्येक कार्य को यह विचारपूर्वक करनेवाला बना और इस प्रकार अपने 'मनुष्य'=(मत्वा कर्माणि सीव्यति), 'विचारपूर्वक कर्म करता है' इस नाम को इसने चरितार्थ किया। (३) **अपीवृतः**=तेज से परिवृत हुए-हुए इसने

मातुः=वेदमाता के **ऊधः**=ज्ञान दुग्ध के स्रोत का **अधयत्**=पान किया। (स्तुता मया वरदा वेदमाता)। 'वेदवाणी को पढ़ना, उसके अन्दर निहित ज्ञान को अपनाना' यह इसका दैनिक कृत्य हो गया। (४) **एनम्**=इस **युवानम्**=दोषों के अभिक्षण व गुणों के मिश्रणवाले युवक को **ईम्**=निश्चय से **जरिमा**=स्तुति **आप**=प्राप्त हुई। यह प्रातः-सायं प्रभु का स्तवन करनेवाला बना। (५) और इस स्तुति का यह परिणाम हुआ कि यह **अहडन्**=घृणा न करनेवाला (हेड्=Hate) सब से प्रेमपूर्वक वर्तनेवाला, **वसुः**=(वसति, वासयति) स्वयं उत्तम निवासवाला और औरों के उत्तम निवास का कारण बननेवाला, **सुमनाः**=उत्तम मनवाला **बभूव**=हुआ। इस संसार में उत्तम व शान्त मनवाला व्यक्ति वही होता है जो कि 'Live and let live'=जीने और औरों के जीने में सहायक होने के सिद्धान्त को समझ लेता है।

भावार्थ—उत्तम जीवन यही है कि मनुष्य विचारपूर्वक कर्म करे, स्वाध्यायशील हो, स्तुति करनेवाला, घृणा से परे, सबका वासयिता व सुमना हो।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कलश-कुरुश्रवण

एतानि भद्रा कलश क्रियाम कुरुश्रवण ददतो मघानि।
दान इद्वो मघवानः सो अस्त्वयं च सोमो हृदि यं बिभर्मि॥ ९॥

(१) हे **कलश**=(कलाः शेरते अस्मिन्) 'प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम' रूप १६ कलाओं के आधारभूत! **कुरुश्रवण**=उस पिता प्रभु की वाणी को सुननेवाले व करनेवाले! प्रभु की वाणी को सुनते ही तदनुसार कार्य करनेवाले जीव! **मघानि ददतः**=ऐश्वर्यों के देनेवाले तेरे **एतानि भद्रा**=इन कल्याणों को **क्रियाम**=हमने किया है। गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से तेरे जीवन को उत्तम बनाया है। (२) हे **मघवानः**=ऐश्वर्य सम्पन्न पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **अयम्**=यह दान देना **इत्**=सचमुच **दानः**=दान ही **अस्तु**=हो 'दाप् लवने' यह तुम्हारी बुराइयों का लवन करनेवाला हो, उनको नष्ट करनेवाला हो और इस प्रकार बुराइयों को नष्ट करके 'दैप् शोधने' यह तुम्हारे जीवन का शोधन करनेवाला हो। **अयं च सोमः**=और यह **सोम**=वीर्यशक्ति भी तुम्हारे जीवन में रोगादि को दूर करके शोधन करनेवाली हो, **यम्**=जिस सोमशक्ति को **हृदि**=तुम्हारे हृदय में **बिभर्मि**=मैं धारण करता हूँ। तुम्हारे हृदय में सम्पूर्ण आहार-विहारों को करते समय यह भावना हो कि मेरे ये आहार-विहार सोम का रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु की वाणी को सुनें और तदनुसार क्रिया को करें। दान देनेवाले हों, इसी में हमारा कल्याण है। यह दान हमारी बुराइयों को नष्ट करके जीवन का शोधन करे। हमारे हृदय में सोम के रक्षण की भावना हो।

हम उत्तम से उत्तम मार्ग की ओर चलें। (१) दिव्य प्रकाश को प्राप्त करें, (२) 'भद्र पुरुष' बनें, (३) हमारे पर इन्द्रियों का शासन न हो, (४) दुरित का विरेचन हो, (५) विद्वानों से अनुशिष्ट होकर हम भद्र मार्ग पर चलें, (६) ज्ञानी से ही मार्ग का ज्ञान प्राप्त होता है, (७) मार्ग पर चलने से ही सुन्दर जीवन का प्रारम्भ होता है, (८) हमें चाहिए कि प्रभु की वाणी को सुनें और करें। प्रभु कह रहे हैं 'दान दो और सोम का रक्षण करनेवाले बनो, तभी देव हमारा रक्षण करेंगे'।

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**१ धैवतः** ॥

लोकहित के कार्यों में लगे रहना

प्र मा युयुज्रे प्रयुजो जनानां वहामि स्म पूषणमन्तरेण।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन्दुःशासुरागादिति घोष आसीत्॥ १॥

(१) **मा**=मुझे **जनानां प्रयुजः**=लोगों के कार्य (प्रयुज्=जिनमें लगा रहा जाता है) **प्रयुयुज्रे**=प्रकर्षेण कार्य में लगाये रहते हैं। गत मन्त्र के अनुसार लोकहित के लिये दान देनेवाले लोग यही चाहते हैं कि हमें लोकहित के कार्य सदा व्यस्त रखें। हमें नाममात्र भी अवकाश न हो, हमारा सारा समय कार्यों में लगा रहे और मैं **अन्तरेण**=हृदय मध्य में **पूषणं वहामि स्म**=उस पोषक परमात्मा को धारण करता हूँ। लोकहित के कार्यों में तो लगता हूँ, परन्तु उन सब कार्यों को उस हृदयस्थ प्रभु की शक्ति से ही होता हुआ जानता हूँ, उन कर्मों का मैं किसी प्रकार भी गर्व नहीं करता। सबका पोषण वे प्रभु ही करते हैं, मैंने क्या पोषण करना? (२) **अध**=इस प्रकार लोकहित के इन कार्यों का गर्व न करने पर **विश्वेदेवासः**=सब देव **मां अरक्षन्**=मुझे सुरक्षित करते हैं। वस्तुतः ये लोकहित के कार्य ही यज्ञ कहलाते हैं, यज्ञों से देववृत्ति का रक्षण होता है। (३) इस प्रकार देवरक्षण प्राप्त होने पर जब कभी अशुभवृत्ति हृदय में उठती है तो 'दुःशासुः आगात्'=यह कठिनता से शासन करने योग्य वृत्ति आई **इति**=इस प्रकार **घोषः**=अन्दर की वाणी **आसीत्**=होती है। अन्तःस्थित प्रभु से यह प्रेरणा मिलती है कि यह वृत्ति अशुभ है इससे बचने का पूर्ण प्रयत्न करो।

भावार्थ—हम लोकहित के कार्यों में लगें, इन कार्यों को प्रभु की ओर से होता हुआ जानें। देवों से होनेवाली रक्षा का पात्र बनें। समय-समय पर प्रभु से दी जानेवाली प्रेरणाओं को सुनें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

धृति की परीक्षा—'क्षुधा व नग्नता' का कष्ट

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः॥ २॥

(१) जिस समय गत मन्त्र के अनुसार मनुष्य लोकहित के कर्मों में, यज्ञात्मक कर्मों में ही लगा रहता है, उस समय एक समय वह भी आता है जिसमें कि मनुष्य सांसारिक दृष्टिकोण से अत्यन्त कष्टमय स्थिति में होता है। ये कष्ट वस्तुतः उसके धैर्य की परीक्षा के लिये आते हैं। यदि इनमें वह उत्तीर्ण हो जाता तो प्रभु की कृपा का पात्र बनता है। उन्हीं कष्टों का अनुभव करते हुए मन्त्र कहता है कि **मा**=मुझे **पर्शवः**=पार्श्व-स्थितियाँ—पसलियाँ अन्नभाव के कारण दुर्बलता से **अभितः**=दोनों ओर से **संतपन्ति**=पीड़ित करती हैं। इस प्रकार पीड़ित करती हैं, **इव**=जैसे कि **सपत्नीः**=सपत्नियाँ एक पुरुष को पीड़ित कर देती हैं। बहुविवाह के कारण जैसे एक पुरुष को सदा परेशानी ही परेशानी का सामना करना पड़ता है, उसी प्रकार इस धर्ममार्ग पर चलनेवाले पुरुष को भी एक समय गरीबी के कष्ट के कारण अन्न भी न मिल सकने से क्षुधा का कष्ट पीड़ित करता है, इसकी पसलियाँ ही दुर्बलता से दुःखने लगती हैं। (२) परेशानी इतनी अधिक हो जाती है कि **अमतिः निबाधते**=अचेतनता पीड़ित करने लगती है, होशोहवास के कायम न रहने की आशंका हो जाती है। वस्त्राभाव के कारण **नग्नता**=नग्नता के कष्ट का सामना करना पड़ता है। (३) ऐसी स्थिति में **मतिः**=बुद्धि **वेवीयते**=इस प्रकार डाँवाडोल हो जाती है **न**=जैसे कि **वेः**=पक्षी के होश **जसुः**=व्याधे से व्याधे के देखने पर नष्ट हो जाते हैं। मृत्यु चेहरे में झाँकती प्रतीत होती

है और सब समाप्ति ही समाप्ति दृष्टिगोचर होती है, इस भयंकर स्थिति में बुद्धि का डाँवाडोल हो जाना स्वाभाविक है। यदि हम विचलित हो गये तो धृति की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाएँगे और हमारा पतन हो जाएगा।

भावार्थ—धर्म के मार्ग पर चलनेवाले की परीक्षा होती है तो उसे 'क्षुधा व नग्नता' का कष्ट भी झेलना पड़ता है। कई बार तो ये कष्ट बुद्धि को विचलित कर देते हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥ स्वरः—**मध्यमः**॥

परीक्षार्थी की प्रार्थना

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव॥ ३॥

(१) गत मन्त्र का धर्म परीक्षा में बैठनेवाला परीक्षार्थी परीक्षक प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **ते स्तोतारं मा**=तेरे स्तोता मुझको **आध्यः**=मानस पीड़ाएँ-चिन्ताएँ इस प्रकार **व्यदन्ति**=खाये चली जा रही हैं **न**=जैसे कि **मूषः**=चूहा **शिश्ना**=मांड से स्नात सूत्र को कुतर देता है। (२) वस्तुतः प्रभु-भक्तों को कई बार ये सांसारिक कष्ट बड़ा ही व्याकुल करनेवाले होते हैं, इन कष्टों में न घबराना ही प्रभु-भक्त का कर्त्तव्य है। कई बार वह घबराकर इस प्रकार प्रार्थना करता है कि हे **मघवन्**=ऐश्वर्यों के स्वामिन्! **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **सकृत्**=एक बार तो **सु-मृळय**=उत्तमता से सुखी जीवनवाला कर दीजिये **अधा**=और **नः**=हमारे लिये **पिता इव भव**=पिता के समान होइये। पिता जैसे पुत्र को सुखी करता है उसी प्रकार आप हमें सुखी करिये। ये दारिद्र्यादि के कष्ट हमारी परेशानी का कारण न रहें। अब इनका सहन हमारे लिये बड़ा कठिन हो गया है। (३) इस प्रकार प्रार्थना करता हुआ भी यह यदि धर्मपथ को छोड़ता नहीं तो अवश्य ही प्रभु का प्रिय बनता है। यही भाव हम अगले मन्त्र में देखेंगे—

भावार्थ—प्रभु-भक्त कष्टों की व्याकुलता में कष्ट-निवारण के लिये याचना करता है, परन्तु वह मार्ग से विचलित होना नहीं चाहता।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**कुरुश्रवणस्य त्रासदस्यवस्य दानस्तुतिः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु किसका वरण करते हैं?

कुरुश्रवणमावृणि राजानं त्रासदस्यवम्। मंहिष्ठं वाघतामृषिः॥ ४॥

(१) गत मन्त्र में की गई कष्ट-पीड़ित भक्त की प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **ऋषिः**=तात्त्विक स्थिति का द्रष्टा मैं **आवृणिः**=वरता हूँ, उसको जो **कुरुश्रवणम्**=सुनता है और करता है। जो मेरे आदेश को सुनकर उसके अनुसार कार्य करता है। **राजनम्**=जो अपने जीवन को ज्ञान से दीप्त बनाता है अथवा अपने जीवन को (well regulated) व्यवस्थित करता है। **त्रासदस्यवम्**=जो दस्युओं को त्रास देनेवाला है, अशुभ भावनाएँ जिससे भयभीत होकर दूर भाग जाती हैं। **वाघताम्**=मेधावी ऋत्विजों को **मंहिष्ठम्**=अधिक से अधिक देनेवाला है। (२) प्रभु कहते हैं कि मैं भक्त के कष्टों को देखता हूँ। मुझे उनका ज्ञान न हो सो बात नहीं, परन्तु ये कष्ट तो उसकी परीक्षा के लिये उपस्थित किये गये हैं, सो मैं तो यही देखता हूँ कि यह भक्त कहाँ तक उन कष्टों को सहनेवाला बनता है। इन कष्टों की अग्नि में तपकर उसका जीवन अधिक निखर उठेगा।

भावार्थ—हम 'प्रभु के आदेशों को सुनें और करें, जीवन को व्यवस्थित बनायें, दास्यव वृत्तियों को दूर करें, पात्रों में देनेवाले बनें। तभी हम प्रभु के प्रिय बनेंगे'।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**कुरुश्रवणस्य त्रासदस्यवस्य दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दमन व दान

यस्य॑ मा ह॒रितो॒ रथे॑ ति॒स्रो वह॑न्ति साधु॒या। स्तवै॑ स॒हस्र॑दक्षिणे ॥ ५ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **रथे**=इस शरीररूप रथ में **यस्य**=जिसके **तिस्रः हरितः**=तीनों दुःखहरण के साधनभूत घोड़े, 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' **मा**=मुझे **साधुया**=बड़ी उत्तमता से **वहन्ति**=वहन करनेवाले होते हैं उस **सहस्रदक्षिणे**=शतशः दानों को देनेवाले के लिये **स्तवै**=मैं प्रशंसा करता हूँ। (२) जैसे एक उत्तम सन्तान पिता से प्रशंसात्मक शब्दों को सुनता है इसी प्रकार वह जीव भी प्रभु से प्रशंसनीय होता है जो कि अपनी—(क) इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपने वश में करके प्रभु-प्रवण करता है। इनके द्वारा प्रभु-दर्शन के लिये यत्नशील होता है तथा (ख) भोग-प्रवण वृत्ति के न होने के कारण सदा दान देनेवाला बनता है। दान देने में एक आनन्द का अनुभव करता है। (३) इस प्रकार ये 'दम' व 'दान' उसको प्रभु की प्राप्ति करानेवाले होते हैं। इन्द्रियों, मन व बुद्धि को विषयों से रोकना 'दमन' है, सहस्र-दक्षिण बनना 'दान' है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वही है जो दम व दान को अपनाता है। ये ही उसे प्रभु तक पहुँचानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्राः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मधुर-वाणी

यस्य॑ प्र॒स्वाद॑सो॒ गिर॑ उप॒मश्र॑वसः पि॒तुः। क्षेत्रं॒ न र॒ण्वमू॒चुषे॑ ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु उसका स्तवन करते हैं **यस्य**=जिसकी **गिरः**=वाणियाँ **प्रस्वादसः**=प्रकृष्ट स्वादवाली हैं। किसकी? **उपमश्रवसः**='उप' समीपता से 'म' मापता है **श्रवः**=ज्ञान को जो उस 'उपमश्रवा' की। प्रभु की उपासना से जो ज्ञान को प्राप्त करता है वह 'उपमश्रवा' कहलाता है। **पितुः**=रक्षक की। यह उपमश्रवाः सदा रक्षणात्मक कार्यों में ही लगता है। इसकी वाणियाँ सदा मधुर होती हैं। यह कभी कड़वी वाणी को नहीं बोलता। (२) इस **ऊचुषे**=मधुर वाणी को बोलनेवाले के लिये **न**=जैसे **क्षेत्रं रण्वम्**=सारा क्षेत्र 'शरीर' ही रमणीय होता है इसी प्रकार इसकी वाणी भी मधुर होती है। वस्तुतः मधुर शब्दों से इसके सारे जीवन में ही माधुर्य आ जाता है। यह मधुर जीवनवाला प्रभु से प्रशंसा को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम उपासना के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें, रक्षक हों, हमारी वाणी में माधुर्य हो, सारा शरीर ही रमणीयता को लिये हुवे हो।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्राः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'रक्षक' उपमश्रवा

अधि॑ पुत्रोपमश्रवो॒ नपा॑न्मित्रातिथेरिहि। पि॒तुष्टे॑ अस्मि वन्दि॒ता ॥ ७ ॥

(१) हे **पुत्र**=अपने जीवन को 'पुनाति त्रायते'=पवित्र व रक्षित करनेवाले! **उपमश्रवः**=समीपता से उपासना के द्वारा ज्ञान को मापनेवाले, अर्थात् प्रभु के उपासन से ज्ञान को प्राप्त करनेवाले, अतएव **मित्रातिथेः नपात्**=उस सनातन मित्र व अतिथि प्रभु के अपने हृदय से च्युत न होने

देनेवाले! **अधीहि**=तू अध्ययन करनेवाला बन। 'ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करना' यह तेरा लक्ष्य हो। 'वह प्रभु ही सनातन मित्र है' ऐसा तूने समझना। वही अतिथि है, सदा प्राप्त होनेवाला है, कष्ट के समय वही सहायकरूपेण प्राप्त होता है। इस ब्रह्म को तू जानने की कामनावाला हो। (२) इस प्रकार प्रभु के मार्ग पर चलनेवाला तू सदा सबका रक्षक होता है। गत मन्त्र के अनुसार मधुर ही वचन बोलता है। इस **ते पितुः**=तुझ रक्षक का मैं **वन्दिता अस्मि**=तारीफ करनेवाला हूँ, प्रशंसक हूँ। प्रभु की प्रशंसा का वस्तुतः वही पात्र बनता है जो सर्वत्र प्रभु-दर्शन करता हुआ सबका रक्षक बनने के लिये यत्नशील होता है। यही प्रभु का सच्चा पुत्र होता है।

भावार्थ—प्रभु के निर्देश के अनुसार हम सर्वत्र प्रभु-सत्ता को अनुभव करें और सबके रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्राः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चक्रवर्तिता व प्रभु-स्मरण

यदीशीयामृतानामुत वा मर्त्यानाम्। जीवेदिन्मघवा मम ॥ ८ ॥

(१) **यत्**=यदि **अमृतानाम्**=देवों का **उतवा**=अथवा **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों का मैं **ईशीय**=स्वामी हो जाऊँ तो भी **मम मघवा जीवेत् इत**=मेरे में उस ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु की भावना बनी ही रहे। प्रभु के स्मरण से मैं दूर न हो जाऊँ। (२) देवों व मनुष्यों का ईश बनने का भाव यह है कि मैं इस पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा बन जाऊँ अथवा देवलोक का राज्य भी प्राप्त कर लूँ। मैं अहंकार में आकर प्रभु को न भूल जाऊँ। यह सम्पत्ति का हिरण्मय पात्र मेरी आँख पर आवरण के रूप में न हो जाए। इस सम्पत्ति से गर्वित होकर 'मैं ही मैं' न हो जाऊँ प्रभु के स्मरण से सदा विनीत बना रहूँ और अनुभव करूँ कि यह सब सम्पत्ति उस प्रभु की ही है। यह लक्ष्मी मेरे लिये सहायक व पालक हो सकती है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ।

भावार्थ—सांसारिक ऐश्वर्य मेरी आँख पर पर्दा न डाल दे, मैं प्रभु को भूल न जाऊँ।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्राः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

घर की ओर लौटना

न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति। तथा युजा वि वावृते ॥ ९ ॥

(१) मनुष्य यदि मृत्यु का स्मरण करता है तो अहंकार को जीत लेता है, यह मृत्यु स्मरण उसे प्रभु से भी दूर नहीं होने देता। सो मनुष्य को यह स्मरण रखना चाहिये कि **शतात्मा चन**=शत वर्षपर्यन्त जीवनवाला यह व्यक्ति भी **देवानां व्रतम्**=देवों के नियम को **न अतिजीवति**=लाँघकर नहीं जीता है, अर्थात् मनुष्य मरणधर्मा है, मृत्यु तो अवश्य आनी ही है। इस मृत्यु को कोई लाँघ नहीं सकता। यदि मनुष्य इस मृत्यु को न भूलेगा तो विषयों में न फँसेगा। (२) उस समय **तथा**=विषयों में न फँसने पर **युजा**=अपने उस प्रभुरूप मित्र के साथ रहता हुआ **विवावृते**=यह इस पृथ्वीलोक के वास को समाप्त करके अपने घर में लौट जाता है। फिर से ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। यह ब्रह्मलोक प्राप्ति ही मोक्ष है। यहाँ पहुँचता वही है जो प्रकृति का मित्र न होता हुआ प्रभु का मित्र बनता है। प्रभु का मित्र वही बनता है जो मृत्यु को नहीं भूलता है।

भावार्थ—शरीर की नश्वरता का स्मरण करते हुए हम प्रभु के मित्र बनें और भोगों में न फँसकर अपने गृह ब्रह्मलोक की ओर लौटनेवाले बनें।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि हम लोकहित के कार्यों में लगे रहें। (१) इन कार्यों

में लगने पर क्षुधा, तृषा आदि शतशः कष्टों से हमारे धैर्य की परीक्षा होगी, (२) हम घबराकर प्रभु से कल्याण की प्रार्थना करेंगे, (३) प्रभु कहेंगे कि मुझे तो वही प्रिय है जो 'मेरी प्रेरणा को सुने और करे', (४) जो दमन व दान को अपनाये, (५) वाणी में माधुर्य को धारण करे, (६) प्रभु कहते हैं कि मैं उसकी प्रशंसा करता हूँ जो रक्षक बनता है, (७) जीव की प्रार्थना यही होनी चाहिए कि वह चक्रवर्ती भी बन जाए तो प्रभु को भूले नहीं, (८) न भूलेंगे तो घर की ओर लौटेंगे ही, (९) अन्यथा जूए आदि व्यसनों में फँसकर विचित्र-सा जीवन बिता रहे होंगे।

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अक्षों की मादकता

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥ १॥

(१) **बृहतः**=महान् विभीतक वृक्ष के विकारभूत अक्ष **प्रवातेजाः**=प्रवण (=निम्न) देश में उत्पन्न हुए हैं, पहाड़ की तराई में इनकी उत्पत्ति हुई है। अथवा प्रकृष्ट वायुवाले स्थान में इनका जन्म हुआ है, सम्भवतः इसीलिए ये हमारे मनों की भी चञ्चलता का कारण बनते हैं। **इरिणे वर्वृतानाः**=अक्ष-फलक पर इधर-उधर वर्तमान होते हुए ये पासे **प्रावेपाः**=मेरे प्रकृष्ट कम्प का कारण बनते हैं। 'जय होगी अथवा पराजय होगी' इस विचार से ये मुझे भयभीत करते हैं और **मा मादयन्ति**=मेरे में एक विचित्र-सा नशा पैदा कर देते हैं। (२) **मौजवतस्य**=मुञ्जवान् पर्वत पर होनेवाले **सोमस्य**=सोम का **भक्षः**=भोजन **इव**=जैसे एक अद्भुत मस्ती को देता है उसी प्रकार यह **जागृविः**=मुझे सदा चिन्ता के कारण जगानेवाला अथवा अत्यन्त सावधान रखनेवाला **विभीदकः**=विभीतक वृक्ष का विकारभूत यह अक्ष **मह्यं अच्छान्**=(मां अचच्छदत्-मादयति) मुझे मादित करता है। एक विचित्र से नशे को मेरे में ले आता है।

भावार्थ—द्यूत के साधनभूत अक्ष जुआरी के अन्दर एक विचित्र से मद को पैदा करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

जुए से घर का बिगाड़

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ २॥

(१) द्यूत का व्यसनी पुरुष कहता है कि **एषा**=यह मेरी पत्नी **मा न मिमेथ**=(wrangle, contradict) मेरा कभी विरोध न करती थी, मेरे साथ कभी इसकी लड़ाई न होती थी। **न जिहीडे**=(neglect) यह मेरी कभी उपेक्षा भी न करती थी। मेरे सुख का पूरा ध्यान करती थी। **सखिभ्यः**=मेरे मित्रों के लिये **उत मह्यम्**=और मेरे लिये यह **शिवा**=कल्याणकर **आसीत्**=थी। आये गये मेरे मित्रों का भी ध्यान करती थी। (२) परन्तु इस जूए ने एक विचित्र-सी परिस्थिति पैदा कर दी। मैंने उस **अनुव्रताम्**=अत्यन्त अनुकूल व्रतोंवाली **जायाम्**=मेरे सन्तानों को जन्म देनेवाली इस पत्नी को **एकपरस्य**=(एकः परः प्रधानं=यस्य) इक्का जिसमें प्रधान है उस **अक्षस्य**=पासों से खेले जानेवाले द्यूत के **हेतोः**=कारण से **अप अरोधम्**=अपने से दूर कर दिया। न मैं जुआ खेलता, ना मेरी पत्नी मेरे से दूर होती। जुए के कारण मुझे पत्नी को भी खोना पड़ा, उस पत्नी

को जो कि मेरे जीवन के सारे सुख का मूल थी।

भावार्थ—जुए से घर ही बिगड़ जाता है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

घर में निरादर

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ ३॥

(१) जुवारी अनुभव करता है कि **श्वश्रूः**=सास **द्वेष्टि**=द्वेष करती है, सास को मेरे से किसी प्रकार की प्रीति नहीं रही **जाया**=पत्नी भी **अपरुणद्धि**=मुझे अपने से दूर ही रोकती है, मुझे अपने समीप नहीं आने देती। **नाथितः**=याचना करता हुआ यह कितव (=जुवारी) **मर्डितारम्**=धन की सहायता से सुख देनेवाले को **न विन्दते**=नहीं प्राप्त करता है, अर्थात् अब कोई ऐसा मित्र भी नहीं जिससे कि मैं याचना करूँ और वह मेरी कुछ मदद कर दे। (२) मेरी स्थिति तो ऐसी हो गई है कि **इव**=जैसे **जरतः**=बूढ़े कार्य के लिये अनुपयुक्त **वस्न्यस्य**=मूल्यार्ह—मूल्य के योग्य, अर्थात् बेच देने योग्य **अश्वस्य**=घोड़े की हो। ऐसे घोड़े को जैसे चारा व दाना भी उपेक्षितरूप से दिया जाता है, इसी प्रकार **अहम्**=मैं **कितवस्य भोगम्**=जुवारी के धन को, भोग्य पदार्थ को **न विन्दामि**=नहीं प्राप्त करता हूँ, अर्थात् मुझे घर में खान-पान भी ठीक रूप में नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ—पराजित जुवारी को घर में किसी से भी प्रेम व आदर प्राप्त नहीं होता, इसके खान-पान का भी कोई ध्यान नहीं करता।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

पत्नी की भी दुर्गति

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्य१क्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्॥ ४॥

(१) यह जुवारी जुए में पत्नी को भी कई बार हार जाता है, तब **अन्ये**=दूसरे विरोधी लोग **अस्य जायाम्**=इसकी पत्नी को **परिमृशन्ति**=वस्त्रकेश अपकर्षण से छूनेवाले होते हैं। (२) यह **वाजी अक्षः**=प्रबल पासा, प्रबल इसलिए कि इसके प्रलोभन को जीतना बड़ा कठिन हो जाता है, **यस्य वेदने**=जिसके धन में **अगृधद्**=लालचवाला होता है, उसकी पूर्वोक्त प्रकार से पत्नी की दुर्गति होती है और **पिता माता भ्रातरः**=पिता, माता व भाई आदि सभी बन्धु उसके विरोधी जुवारियों के प्रति **आहुः**=कहते हैं कि **एनम्**=इसको **न जानीमः**=हम नहीं जानते, हमारा यह कुछ नहीं लगता **एतं बद्धं नयता**=(बेशक) इसे बाँधकर ले जाओ। हम इसके छुड़ाने के लिये यत्नशील न होंगे।

भावार्थ—जुवारी की पत्नी की भी दुर्गति होती है, इससे कोई सम्बन्ध रखना पसन्द नहीं करता।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

व्यसन की प्रबलता व दुरन्तता

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव॥ ५॥

(१) उपरोक्त प्रकार से जुए से होनेवाली दुर्गति को देखकर **यद्**=जब **आदीध्ये**=यह ध्यान करता हूँ कि **एभिः**=इनसे **न दविषाणि**=(देविष्यामि) अब जुवा न खेलूँगा, इस जुए के परिणामरूप मैं **परायद्भ्यः**=एक-एक करके दूर जाते हुए **सखिभ्यः**=मित्रों से **अवहीये**=मैं हीन होता जाता हूँ। (२) परन्तु, **च**=और जब **न्युप्ताः**=द्यूत-फलक पर डाले हुए **बभ्रवः**=बभ्रु (Brown) वर्णवाले ये पासे **वाचं अक्रत**=शब्द को करते हैं तो मैं **एषां निष्कृतम्**=इनके स्थान को द्यूत-व्यसन से अभिभूत हुआ-हुआ मैं सब सङ्कल्पों को छोड़कर **एमि इत्**=आता ही हूँ। मैं फिर द्यूत सभा में पहुँच जाता हूँ, उसी प्रकार पहुँच जाता हूँ **इव**=जैसे कि **जारिणी**=कोई स्वच्छन्द आचरणवाली स्त्री संकेत स्थान की ओर अग्रसर होती है।

भावार्थ—व्यसन दुरन्त हैं, इनका अन्त तो खराब है ही, पर इनका अन्त करना भी बड़ा कठिन है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

हार से इच्छा में और वृद्धि

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा३ शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि॥ ६॥

(१) **कितवः**=यह जुवारी **पृच्छमानः**=यह पूछता हुआ कि 'कौन-कौन आया है' **सभां एति**=द्यूत-सभा में आता है। वह उस समय **जेष्यामि इति**='जीत जाऊँगा' इस भावना के कारण **तन्वा शूशुजानः**=शरीर से खूब (दीप्यमानः) चमक रहा होता है, खूब खुशी में फूला हुआ होता है। (२) वहाँ **प्रतिदीव्ने**=विरोधी जुवारी के लिये **कृतानि**=पुरुषार्थ से सम्पादित धनों को **आदधतः**=धारण करते हुए **अस्य**=इस जुवारी के **कामम्**=जुए की अभिलाषा को **अक्षासः**=पासे **वितिरन्ति**=और अधिक बढ़ा देते हैं। जितना यह हारता है उतनी ही इसकी जुए की इच्छा और बढ़ती जाती है। यह बढ़-बढ़कर दाव लगाता है और सोचता है कि अब के तो अवश्य जीतूँगा। 'हार-जीत तो हुआ ही करती है, अब के हारा हूँ तो अगली बार जीतूँगा भी' इस प्रकार सोचता हुआ यह जुए की खेल में और अधिक फँस जाता है।

भावार्थ—हार इसकी खेलने की इच्छा को और अधिक बढ़ा देती है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**जगती**॥
स्वरः—**निषादः**॥

मधुर परन्तु विनाशकारी

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥ ७॥

(१) **अक्षासः**=ये जुए के पासे **इत्**=निश्चय से **अंकुशिनः**=अंकुशवाले हैं, जैसे अंकुश हाथी को आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है वैसे ही ये पासे जुवारी को द्यूत-सभा की ओर धकेलते हैं। **नितोदिनः**=जैसे एक चाबुक घोड़े को मार्ग पर तेजी से दौड़ने के लिये प्रेरित करता है, उसी प्रकार ये पासे जुवारी को सभास्थल की ओर तेजी से पग उठवाते हैं। (२) **निकृत्वानः**=वहाँ सभास्थल में हारने पर यह जुवारी का कर्तन करनेवाले हैं। **तपनाः**=उसके हृदय को संतप्त करनेवाले हैं। **तापयिष्णवः**=इन पासों का स्वभाव ऐसा है कि ये इसके परिवार के अन्य सदस्यों को भी सतत संतप्त करते हैं। (३) **कुमारदेष्णाः**=अन्ततः ये बड़ी बुरी मार को देनेवाले हैं। **जयतः**=जीतते हुए के **पुनः हणः**=फिर मारनेवाले हैं। एक दाव सीधा पड़ा और कुछ जीत हुई, परन्तु अगला ही दाव उलटा पड़ जाता है और फिर हार की हार हो जाती है, सब जीत हार में परिवर्तित हो जाती है। (३) **मध्वा संपृक्ताः**=ऊपर से मधु से सम्पृक्त हैं, बड़े मीठे प्रतीत होते हैं, परन्तु **कितवस्य बर्हणा**=ये पासे जुवारी की जड़ को ही उखाड़ डालनेवाले हैं (बर्हयति=destroy)। विजय की आशा से ये बड़े मीठे प्रतीत होते हैं, परन्तु पराजय के होने पर ये समूल विनाश कर डालते हैं।

भावार्थ—ये पासे ऊपर से मधुर हैं, परन्तु परिणाम में विनाशकारी हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रेपन पासे

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देवइव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति॥ ८॥

(१) **एषाम्**=इन पासों का **त्रिपञ्चाशः**=त्रेपन (५३) संख्या से गणित **व्रातः**=समूह **क्रीडति**=द्यूत-फलक पर इस प्रकार खेलता है **इव**=जैसे कि **सत्यधर्मा**=सत्य का धारण करनेवाला **सविता**=सबका प्रेरक **देवः**=दिव्यगुणोंवाला महान् खिलाड़ी (दिव्=क्रीडा) वह प्रभु इस भुवन-फलक पर जीवरूपी पासों से खेलता है। वस्तुतः ये पासों का समूह भी कितने ही व्यक्तियों को अपना शिकार बनाता है। (२) ये पासे **उग्रस्य**=बड़े तीव्र स्वभाववाले अथवा बड़े भारी (noble) धनी पुरुष के **मन्यवे चित्**=क्रोध के लिये भी **न**=नहीं **आनमन्ते**=जरा भी झुकते। बड़े-से-बड़ा धन-सम्पन्न पुरुष भी अपने क्रोध से इन पासों को वशीभूत नहीं कर सकता। **राजा चित्**=स्वयं राजा भी **एभ्यः**=इनके लिये **नमः इत्**=नमस्कार को ही **कृणोति**=करता है। राजा भी इनकी प्रबलता को स्वीकार करता है। व्यसनाभिभूत पुरुष इन पासों को देव तुल्य प्रणाम करता है।

भावार्थ—ये पासे कितने ही व्यक्तियों के जीवन के साथ खेल जाते हैं। इनकी प्रबलता उग्र-से-उग्र पुरुष व राजा भी स्वीकार करता है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नीचे होते हुए ऊपर

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥ ९॥

(१) जुए के ये पासे **नीचा वर्तन्ते**=नीचे द्यूत-फलक पर इधर-उधर वर्तमान होते हैं, पर **उपरि स्फुरन्ति**=पराजित होनेवालों के हृदय में ये दीप्तरूप से शासन करते हैं। इनके हृदयों में

खलबली मचाने के कारण बनते हैं। **अहस्तासः**=ये हाथवाले तो नहीं हैं, परन्तु **हस्तवन्तं सहन्ते**=हाथवाले का पराभव करते हैं। पासों के हाथ तो नहीं हैं, परन्तु इन हाथवाले जुवारियों के ये पराभूत करनेवाले होते हैं। (२) ये पासे तो **दिव्या अंगाराः**=जुए के खेलने के साधनभूत कुछ अलौकिक अंगारों के समान हैं। **इरिणे**=द्यूत-फलक पर **न्युप्ताः**=ये फेंके जाते हैं। **शीताः सन्तः**=स्पर्श में ठण्डे होते हुए भी **हृदयम्**=पराजित पुरुष के हृदय को **निर्दहन्ति**=जलानेवाले होते हैं, उनके हृदयों के सन्ताप का कारण बनते हैं। (३) प्रस्तुत मन्त्र में 'नीचाः-उपरि, अहस्तासः-हस्तवन्तं, शीताः-निर्दहन्ति' इन शब्द-युग्मों से विरोधाभास अलंकार का सुन्दर प्रतिपादन है।

भावार्थ—पासे दिव्य अंगारों के समान हैं, ये स्पर्श में ठण्डे होते हुए भी पराजित पुरुष के हृदय-दाह का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

ऋण व सौर्य-प्रवृत्ति

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥ १०॥

(१) **कितवस्य**=इस पराजित हुए-हुए जुवारी की **जाया**=पत्नी **हीना**=आर्थिक दृष्टि से बड़ी हीन स्थिति में हुई-हुई **तप्यते**=सन्ताप को अनुभव करती है। **क्वस्वित्**=कहीं इधर-उधर **चरतः**=भटकते हुए इस **कितव पुत्रस्य**=पुत्र की **माता**=माता भी परेशानी को महसूस करती है। (२) यह पराजित जुवारी **ऋणावा**=ऋणवान् हुआ-हुआ ऋण के बोझ के नीचे दबा हुआ, **बिभ्यत्**=भयभीत होता हुआ **नक्तम्**=रात्रि में चोरी से धन की प्राप्ति के लिये **अन्येषाम्**=दूसरों के **अस्तम्**=गृह को **उपैति**=प्राप्त होता है। (३) कर्ज को उतारने के लिये वह धन की परेशानी में होता है, कैद आदि में पहुँचने का उसे भय लगता है। इस भय की तुलना में वह रात में चोरी के द्वारा धनार्जन को कम भय जनक समझता है। सो इसका झुकाव चोरी की ओर होता है। चोरी के लिये रात में सेन्ध लगाकर किसी के घर में प्रवेश करता है।

भावार्थ—द्यूत में पराजित व्यक्ति अपने कर्ज को चुकाने के लिये चोरी से धन संग्रह की ओर झुकता है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

दरिद्रता की चरमसीमा

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद॥ ११॥

(१) चोरी के लिये जब उस घर में घुसता है तो **स्त्रियं दृष्ट्वाय**=स्त्री को देखकर भी **कितवम्**=इस कितव को **तताप**=सन्ताप अनुभव होता है। अपने कर्म में विघ्न होते समझ, वह घबरा उठता है **च**=और इसके अतिरिक्त **अन्येषां जायाम्**=दूसरों की पत्नी को देखकर वह सन्तप्त होता है। उसे अपनी पत्नी का स्मरण हो आता है और दोनों की स्थिति की तुलना करता हुआ, इस सारी स्थिति का अपने को कारण समझता हुआ घबरा जाता है। **सुकृतं योनिम्**=खूब परिष्कृत घर को देखकर भी वह सन्तप्त हो उठता है। इस घर की सुन्दरता और अपने घर की विपरीत

स्थिति उसे भयङ्करता से व्याकुल कर देती है। (२) यह **वृषलः**=द्यूत में फँसकर धर्म का लोप करनेवाला 'वृषो हि भगवान् धर्मः तस्य यः कुरुते ह्यलं, वृषलं ते विदुर्देवाः' व्यक्ति आज ही **पूर्वाह्णे**=दिन के पूर्व भाग में १२ बजे से पहले **बभ्रून्**=भूरे रंग के **अश्वान्**=घोड़ों को **हि**=निश्चय से **युयुजे**=अपने रथ में जोते हुए था, **सः**=वही इस समय, रात्रि के समय शीत से पीड़ित हुआ **अग्नेः अन्ते**=आग के समीप **पपाद**=आकर पड़ा हुआ है। अपनी सारी सम्पत्ति को जुए में गँवाकर इस प्रकार निर्धन स्थिति में हो गया है कि शीत निवारण के लिये कपड़ों से भी वञ्चित है।

भावार्थ—जुवारी की दुर्गति का स्वरूप यह है कि उसके पास सर्दी को दूर करने के लिये कपड़े भी नहीं रहे।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

जुए को सदा के लिये प्रणाम

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि॥ १२॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित कटु अनुभवों को लेने के बाद यह कितव जुए से अन्तिम बिदा लेते हुए कहता है कि हे पासो! **यः**=जो **वः**=आपके इस **महतः गणस्य**=बड़े भारी समूह का **सेनानीः**=सेनापति **बभूव**=है अथवा **व्रातस्य**=तुम्हारे मण्डल का **प्रथमः राजा**=सबसे प्रधान शासक बभूव=है **तस्मै**=उसके लिये **अहम्**=मैं **दश**=दोनों हाथों की इन १० अङ्गुलियों को **प्राचीः कृणोमि**=आगे आनेवाली करता हूँ, अर्थात् मैं उसे बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम करता हूँ, उसके आगे हाथ जोड़ता हूँ और स्पष्ट कहे देता हूँ कि आज के बाद मैं **धना**=अपने श्रमार्जित धनों को इस जुए के लिये **न रुणध्मि**=अपने से दूर रोकता नहीं हूँ, अर्थात् जुए में धन का व्यर्थ व्यय व नाश नहीं करता। **तद् ऋतं वदामि**=मैं यह बात सत्य कह रहा हूँ। ये मेरा दृढनिश्चय है कि अब मैं जुआ न खेला करूँगा। अपने धनों का रक्षण करूँगा और अपने घर की स्थिति को सुन्दर बनाऊँगा।

भावार्थ—जुए के न खेलना का निश्चय करना आवश्यक है। घर की उत्तम स्थिति इसी पर निर्भर करती है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कृषि, न कि जुआ

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥ १३॥

(१) **अयम्**=यह **अर्यः**=सबके स्वामी **सविता**=सबके प्रेरक प्रभु **मे**=मुझे **तत् विचष्टे**=उस बात को कहते हैं कि **अक्षैः**=पासों से **मा दीव्यः**=जुआ मत खेल। **इत्**=निश्चय से **कृषिं कृषस्व**=खेती को ही कर। कोई भी मार्ग, जिससे कि हम एक ही दिन में धनी होना चाहते हैं, ठीक नहीं है। ऐसे मार्गों का प्रतीक ही यहाँ जूआ है। इन मार्गों से न चलना ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है। कृषि प्रधान जीवन ही जीवन है। श्रम से धनार्जन के मार्गों का कृषि प्रतीक है। मनुष्य को पुरुषार्थ से ही धन कमाना चाहिए, यूँ ही धन प्राप्त की कामना हमें पौरुषशून्य बनाती है। (२) प्रभु कहते हैं कि कृषि से प्राप्त होनेवाले **वित्ते**=धन में ही **रमस्व**=तू रमण कर, आनन्द का अनुभव कर। उसी धन को **बहु मन्यमानः**=बहुत मानता हुआ तू चित्त में सन्तोष को धारण कर। **तत्र**=उस कृषि कर्म में **गावः**=गौ आदि पशुओं की कमी नहीं। वो तेरे जीवन के लिये

आवश्यक दूध आदि पदार्थों के प्राप्त करानेवाले होंगे। हे **कितव**=जुए में प्रसित व्यक्ति तू यह समझ ले कि **तत्र**=उस कृषि कर्म में ही **जाया**=तेरी पत्नी भी तेरे लिये उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली होती है, अर्थात् सब प्रकार से घर उत्तम बनाने के लिये आवश्यक है कि हम श्रम-प्रधान जीवन से धनार्जन की कामना करें।

भावार्थ—अक्षों और कृषि में कृषि ही श्रेयस्कर है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्यूत-बन्धन से दूर

मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु॥ १४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के निर्देश को सुनकर जुए से दूर रहने का निश्चय करता हुआ जुवारी प्रार्थना करता है कि हे अक्षो! **मित्रं कृणुध्वम्**=हमारे साथ तो स्नेह ही रखो। मित्र जानकर हमें तो आप परेशान मत करो, हमारे पर तो आप जरा मेहरबानी ही रखें। **नः**=हमें **खलु**=निश्चय से **मृळता**=सुखी करनेवाले होइये। **नः**=हमें **धृष्णु**=पराभव करनेवाले **घोरेण**=अपने भयङ्कर रूप से **मा अभिचरत्**=मत प्राप्त होइये, अर्थात् कृपा करके आप हमारे से दूर ही रहिये। हमें आपके कारण दुर्गति में न पड़ना पड़े। (२) **वः मन्युः**=आपका क्रोध अथवा आपके कारण उत्पन्न हुआ-हुआ शोक **नु**=निश्चय से **अरातिः**=हमारा शत्रु ही **निविशताम्**=भोगे-प्राप्त करे। **बभ्रूणाम्**=भूरे वर्णवाले आपके **प्रसितौ**=बन्धन में **नु**=निश्चय से **अन्यः**=हमारे से भिन्न और ही कोई व्यक्ति **अस्तु**=हो। हमें आपका बन्धन न प्राप्त हो। हम जुए से सदा बचे रहें। यह व्यसन तो शत्रुओं को ही लगे।

भावार्थ—ये जुए के पासे हमारे पर तो कृपा ही करें। हमारे शत्रुओं को ही अपने बन्धन में बाँधे।

इस सूक्त में 'द्यूत-व्यसन' का अत्यन्त उपयुक्त मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। ये जुए के पासे बड़े मादक हैं। (१) जुए से घर बिगड़ जाता है, (२) जुवारी का घरवाले भी आदर नहीं करते, (३) इसकी पत्नी भी दुर्गति को भोगती है, (४) यह जुआ एक दुरन्त व्यसन है, (५) हारने पर भी और इच्छा बढ़ती ही है, (६) ये पासे मधु-सम्पृक्त हैं, हैं विनाशकारी, (७) त्रेपन पासों से यह खेला जाता है, (८) ये पासे छूने में ठण्डे होते हुए भी अत्यन्त सन्तापकारी होते हैं, (९) जुवारी ऋणी बन जाता है और चोरी में प्रवृत्त होता है। (१०) यह दरिद्रता की चरमसीमा पर पहुँच जाता है, (११) कटु अनुभव लेकर यह जुए से बिदा लेने का निश्चय करता है, (१२) कहता है कि प्रभु मुझे यही तो कहते हैं कि 'जुए को छोड़ो और कृषि को अपनाओ', (१३) सो हे पासो! मेरे पर तो आप कृपा करो। मेरे शत्रु को ही आप प्राप्त होवो, (१४) इन द्यूत आदि व्यसनों के छोड़ने पर ही हम सब दिव्यताओं के स्वागत के लिये तैयार होंगे। दोनों सूक्तों का विषय 'विश्वेदेवाः' ही है। इन दिव्यगुणों से अपने को अलंकृत करने के कारण यह 'लुशः' (लुश् to adore) नामवाला हुआ है। ऐसा बना रहने के लिये यह 'धानाकः'=धान आदि अन्नों का ही सात्त्विक भोजन करता है।

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्रवान् अग्नियों का उद्बोधन

अबुध्रमु त्य इन्द्रवन्तो अग्नयो ज्योतिर्भरन्त उषसो व्युष्टिषु।
मही द्यावापृथिवी चेततामपोऽद्या देवानामव आ वृणीमहे॥ १ ॥

(१) **इन्द्रवन्तः**=प्रभु की उपासनावाली, अर्थात् प्रभु की उपासना से युक्त **त्ये**=वे **अग्नयः**=यज्ञाग्नियाँ **अबुध्रम्**=हमारे गृहों में उद्बुद्ध हों। हम इन्द्र का उपासन करें और घरों में अग्निहोत्र के करनेवाले हों। (२) हम **उषसः व्युष्टिषु**=उषःकालों के निकलने पर, जब उषाएँ अन्धकार को दूर करें, उस समय **ज्योतिः भरन्तः**=स्वाध्याय द्वारा अपने अन्दर ज्ञान की ज्योति को भरनेवाले हों। (३) **मही**='मह पूजायाम्' प्रभु की पूजा में लगे हुए **द्यावापृथिवी**=हमारे द्युलोक व पृथ्वीलोक, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर **अपः**=अपने कर्त्तव्य कर्मों को **चेतताम्**=जाननेवाले हों। हमारे मस्तिष्क में ज्ञान हो तथा शरीर में शक्ति हो। इस प्रकार हम समझदारी से अपने कर्त्तव्य कर्मों का पालन कर सकें। (४) इस प्रकार ज्ञान व शक्ति से अपने कर्त्तव्यों में पवित्र व सफल होते हुए हम **अद्य**=आज **देवानाम्**=देवों के **अवः**=रक्षण की **वृणीमहे**=याचना करते हैं। हम सब देवों से रक्षणीय हों। हम अपने जीवनों में दैवी सम्पत्ति के रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। हमारे घरों में अग्निहोत्र हो। स्वाध्याय के द्वारा हम अपने में ज्योति को भरनेवाले हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

द्यावापृथिवी का रक्षण

दिवस्पृथिव्योरव आ वृणीमहे मातॄन्त्सिन्धून्पर्वताञ्छर्यणावतः।
अनागास्त्वं सूर्यमुषासमीमहे भद्रं सोमः सुवानो अद्या कृणोतु नः॥ २ ॥

(१) **मातॄन् सिन्धून्**=हमारे जीवन में निर्माण का कार्य करनेवाले स्यन्दनशील रेतःकणों से **दिवः पृथिव्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के **अवः**=रक्षण का **आवृणीमहे**=हम वरण व याचन करते हैं। ये रेतःकण स्यन्दनशील हैं, बहने के स्वभाववाले हैं। इनका रक्षण न किया जाए तो ये स्वभावतः नीचे की ओर जानेवाले होते हैं और तब शरीर में नाना प्रकार के रोग व्याप्त हो जाते हैं तथा मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि बुझ जाती है। रेतःकण, सुरक्षित होने पर शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देते और मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को दीप्त रखते हैं। इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि हम इन रेतःकणों से शरीर व मस्तिष्क के रक्षण की याचना करते हैं। ये रेतःकण ही वस्तुतः हमारे शरीर में सब आवश्यक तत्त्वों का निर्माण करनेवाले हैं। (२) इन्हीं स्यन्दनशील रेतःकणों से हम **शर्यणावतः**=(शर्य=हिंसा) हिंसा व विनाश के कारणभूत **पर्वतान्**=अविद्या पर्वतों को (पञ्चपर्वा अविद्या को) आवृणीमहे=(keep away) अपने से दूर रखते हैं। एक रेतःकणों के रक्षण से (क) शरीर नीरोग बनता है, (ख) ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, (ग) विनाश के कारणभूत अविद्या के पर्वत उच्छिन्न हो जाते हैं। (३) अब अज्ञान को दूर करके **सूर्यं उषासम्**=सूर्य व उषा से हम **अनागास्त्वम्**=निष्पापता को **ईमहे**=चाहते हैं। 'सूर्य' 'निरन्तर गति' का प्रतीक है और उषा 'अन्धकार के दहन' का। हम निरन्तर गतिशील बनकर तथा अविद्यान्धकार का दहन करके निरपराध बनते हैं। (४) **सुवानः सोमः**=सात्त्विक अन्नों से उत्पन्न

किया जाता हुआ सोम (=वीर्य) **अद्य**=आज **नः**=हमारा **भद्रं कृणोतु**=कल्याण करे। सोम के रक्षण से हमारा सब प्रकार से कल्याण ही कल्याण हो। शरीर में व्याधियाँ न हों, मन में आधियाँ न हों तथा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि की दीप्ति सदा बनी रहे।

भावार्थ—शरीर में रेतःकण ही सब आवश्यक तत्त्वों का निर्माण करनेवाले हैं। इनके रक्षण से ही हमारा जीवन अविद्यान्धकार व पापों से शून्य बनेगा।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

निष्पापता

द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागसो मही त्रायेतां सुविताय मातरा।
उषा उच्छन्त्यप बाधतामघं स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ३॥

(१) **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **मही**=महनीय हैं, ये दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। **मातरा**=ये हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले हैं। शरीर व मस्तिष्क से ही मनुष्य बनता है, **अनागसो**=निष्पाप मनुष्य आदर्श मनुष्य वही है जो स्वस्थ व सशक्त शरीर के साथ दीप्त मस्तिष्कवाला है। ये दोनों मस्तिष्क व शरीर **अद्य**=आज **नः**=हमें **सुविताय**=उत्तम आचरण व उत्तम आचरण से जनित सुख के लिये **त्रायेताम्**=रक्षित करें। शरीर की शक्ति व मस्तिष्क का ज्ञान हमारे आचरण को सुन्दर बनायें, जिससे हम अपने जीवन में सुखी हो सकें। (२) **उच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **उषा**=प्रातःकाल की वेला **अघम्**=पाप को **अपबाधताम्**=हमारे से दूर करे। उषा होती है और अन्धकार दूर हो जाता है, इसी प्रकार यह उषा हमारे जीवन में भी हृदयान्धकार को दूर करनेवाली हो और परिणामतः हमारे जीवन में से पाप विनष्ट हो जाएँ। (३) इस उषाकाल में **समिधानम्**=दीप्त की जाती हुई **अग्निम्**=इस अग्निहोत्र की अग्नि से **स्वस्ति**=उत्तम जीवन को, कल्याण को **ईमहे**=हम माँगते हैं, हम उषःकाल में अग्निहोत्र की अग्नि को उद्बुद्ध करनेवाले हों। यह प्रतिदिन उद्बुद्ध की जाती हुई अग्नि हमारे सब ज्ञात-अज्ञात रोगों को दूर करती हुई, हमारा कल्याण करे।

भावार्थ—हमारा स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क हमें निष्पाप बनाये। उषा हमारे पाप को दूर करे। समिद्ध अग्नि हमें 'स्वस्ति' प्राप्त कराये।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ऐश्वर्य व अक्रोध

इयं न उस्रा प्रथमा सुदेव्यं रेवत्सनिभ्यो रेवती व्युच्छतु।
आरे मन्युं दुर्विदत्रस्य धीमहि स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ४॥

(१) उषा से ही प्रार्थना करते हैं कि **इयम्**=यह **रेवती**=उत्तम प्रकाशरूप धनवाली **उस्रा**=पापों का उत्स्रावण=दूरीकरण करनेवाली **प्रथमा**=हमारे जीवन में सर्वप्रथम स्थान रखनेवाली अथवा हमारे हृदयों का पवित्र भावनाओं के सञ्चार से विस्तार करनेवाली यह उषा **सनिभ्यः नः**=उत्तम संविभाग पूर्वक खानेवाले अथवा प्रभु-पूजन करनेवाले हमारे लिये **रेवत्**=ऐश्वर्य से युक्त **सुदेव्यम्**=उत्तम दिव्यगुणों के लिये हितकर रूप में **व्युच्छतु**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो। उषा हमें ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाये और ऐश्वर्य के साथ हमारे में दिव्यगुणों का सञ्चार करे। हम इस उषाकाल में प्रभु का पूजन करनेवाले हों हमारी वृत्ति सबके साथ बाँटकर खाने की हो। (२) **दुर्विदत्रस्य**=दुर्धन पुरुष के (विदत्र=धन) **मन्युम्**=क्रोध को **आरे**=अपने से दूर **धीमहि**=धारण करें। जिस प्रकार दुर्धन पुरुष क्रोध के वश हो जाते हैं, हम उस प्रकार दुर्धन न बनें। उषा हमें धन व ऐश्वर्य को

प्राप्त कराये, परन्तु हम उस धन के मद में भोग-प्रवण जीवनवाले होकर क्रोध न करते रहें। (३) इन धनों का विनियोग हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में करें। प्रतिदिन **समिधानं अग्निम्**=समिद्ध की जाती हुई अग्नि से हम **स्वस्ति**=उत्तम जीवन व कल्याण की **ईमहे**=याचना करते हैं। अग्निहोत्र से रोग दूर हों और सौमनस्य प्राप्त हो। स्वस्थ व सुमना बनकर हम स्वस्ति व उत्तम जीवनवाले हों।

भावार्थ—उषा हमें धन व दिव्यगुण प्राप्त कराये। हम धनी हों, परन्तु क्रोधादि से कभी अभिभूत न हों। धनों का विनियोग यज्ञों में करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ज्योति का भरण

प्र याः सिस्रते सूर्यस्य रश्मिभिर्ज्योतिर्भरन्तीरुषसो व्युष्टिषु।
भद्रा नो अद्य श्रवसे व्युच्छत स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ५॥

(१) **याः उषसः**=जो उषाकाल **सूर्यस्य**=सूर्य की **रश्मिभिः**=किरणों से **सिस्रते**=(संगच्छन्ते) संगत होती हैं और जो उषाएँ **व्युष्टिषु**=अन्धकारों के दूर करने पर **ज्योतिः भरन्तीः**=प्रकाश का भरण करनेवाली होती हैं, वे उषाएँ **अद्य**=आज **भद्राः**=कल्याणकर होती हुई **नः**=हमारे **श्रवसे**=ज्ञान-प्रकाश के लिये **व्युच्छत**=अन्धकार को दूर करें। (२) इन उषाकालों में हम **समिधानम्**=समिद्ध होती हुई **अग्निम्**=अग्नि से **स्वस्ति ईमहे**=कल्याण की याचना करते हैं। ये अग्निहोत्र में प्रज्वलित की गई अग्नियाँ हमें नीरोगता व सौमनस्य को देकर उत्तम जीवनवाला बनायें। (३) उषाकाल जिस प्रकार सूर्य की किरणों से सम्पृक्त होते हैं उसी प्रकार हम ज्ञान रश्मियों से संगत हों। उषाकाल अन्धकार को दूर करके प्रकाश का भरण करते हैं, हमारे मस्तिष्कों से भी अविद्यान्धकार का लोप होकर उनमें ज्ञान के प्रकाश का भरण हो।

भावार्थ—हम उषाकाल के समान अन्धकार को दूर करके अपने ज्ञान के प्रकाश का भरण करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

नीरोगतावाली उषाएँ

अनमीवा उषस आ चरन्तु न उदग्नयो जिहतां ज्योतिषा बृहत्।
आयुक्षातामश्विना तूतुजिं रथं स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ६॥

(१) **नः**=हमें **अनमीवाः उषसः**=रोगरहित उषाकाल **आचरन्तु**=सर्वथा प्राप्त हों। प्रत्येक उषाकाल में हम नीरोगता का अनुभव करें। उषाकाल का वायु ओजोन गैस के प्राचुर्यवाला होता है। इस समय का भ्रमण हमें आरोग्य का प्रदान करे। (२) इस समय **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **ज्योतिषा**=ज्ञान के प्रकाश के साथ **अग्नयः**=अग्निहोत्र में समिद्ध की जानेवाली अग्नियाँ **उज्जिहताम्**=उद्गत हों, अर्थात् घृत व सामग्री की आहुतियों से ये ऊँची-ऊँची लपटोंवाली हैं। हम अग्निहोत्र करें और स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान का वर्धन करें। (३) **अश्विना**=प्राणापान **तूतुजिं रथम्**=शीघ्रगामी शरीररूप रथ को **आयुक्षाताम्**=जोतें। इस शरीररूप रथ में इन्द्रियरूप घोड़े जुते हुए हों और हमारा यह रथ अकर्मण्य-सा न पड़ा रहे। कहने का अभिप्राय: यह कि हमारा जीवन बड़ा क्रियाशील हो। (४) प्रतिदिन प्रातः-सायं **समिधानं अग्निम्**=समिद्ध की जाती हुई इस अग्निहोत्र की अग्नि से **स्वस्ति**=कल्याण व उत्तम जीवन की **ईमहे**=हम याचना करते हैं। यह अग्नि हमारे जीवनों में नीरोगता व सौमनस्य को देनेवाली हो।

भावार्थ—हमें उषाकाल नीरोगता को देनेवाले हों हम प्रातः-सायं अग्निहोत्र अवश्य करें। प्राणसाधना से हमारे में क्रियाशीलता का विकास हो।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ज्ञान व धन का समन्वय

श्रेष्ठं नो अद्य सवितर्वरेण्यं भागमा सुव स हि रत्नधा असि।
रायो जनित्रीं धिषणामुप ब्रुवे स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ७॥

(१) हे **सवितः**=सबके प्रेरक प्रभो! **अद्य**=आज **नः**=हमारे लिये **श्रेष्ठम्**=प्रशस्यतम **वरेण्यम्**=वरणीय-चाहने योग्य **भागम्**=भजनीय-सेवनीय धन को **आसुव**=प्रेरित करिये। आपकी कृपा से हमें उत्तम चाहने योग्य धन प्राप्त हो। **स**=वे आप **हि**=निश्चय से **रत्नधाः असि**=रमणीय धनों के धारण करनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! मैं आप से **रायः जनित्रीम्**=ऐश्वर्य को जन्म देनेवाली **धिषणाम्**=बुद्धि को **उपब्रुवे**=भोगता हूँ। मैं उस बुद्धि को प्राप्त करूँ जो मुझे धन कमाने के भी योग्य बनाये। मेरे में 'ज्ञान व धन' दोनों का समन्वय हो। (३) **समिधानं अग्निम्**=अग्निहोत्र में समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति ईमहे**=हम कल्याण की **ईमहे**=याचना करते हैं।

भावार्थ—हमें वरणीय धन प्राप्त हो। हमारे जीवन में 'धन व ज्ञान' का समन्वय हो।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ऋत का प्रवाचन

पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनं देवानां यन्मनुष्या३ अमन्महि।
विश्वा इदुस्राः स्पळुदेति सूर्यः स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ८॥

(१) **यत्**=जब **मनुष्याः**=मननपूर्वक कर्मों को करनेवाले हम **देवानाम्**=सूर्य, चन्द्र आदि देवों का **अमन्महि**=ज्ञान प्राप्त करते हैं और इनकी गतियों में ऋत का दर्शन करते, अपनी इन्द्रियों से भी ऋतस्य **प्रवाचनम्**=ऋत का ही उच्चारण करवाते हैं, अर्थात् सब इन्द्रियों से सब कार्यों को बड़ी नियमितता से करते हैं, तो **तत्**=वह ऋत का प्रवाचन=सब कार्यों का समय पर करना **मा पिपर्तु**=मेरा पालन व पूरण करे। ऋत के पालन से मेरा शरीर रोगों से आक्रान्त न हो और मेरे मन में किसी प्रकार की न्यूनता न आ जाये। वस्तुतः 'स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्र-मसाविव'=सूर्य व चन्द्रमा की तरह हम बड़े नियम से अपने मार्ग का आक्रमण करें, इसी में कल्याण है। (२) इस ऋत के पालन के होने पर **विश्वाः**=सब **उस्राः**=प्रकाशों को **स्पट्**=स्पर्श करता हुआ **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य **इत् उदेति**=निश्चित ही हमारे जीवन के आकाश में उदित होता है। ऋत का पालन ज्ञान के प्रकाश की अभिवृद्धि का कारण हो जाता है। (३) हम प्रतिदिन **समिधानं अग्निम्**=समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति ईमहे**=कल्याम की याचना करते हैं।

भावार्थ—हम सूर्यादि देवों का मनन करते हुए अपने जीवन में ऋत का पालन करें। यह ऋत हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाये।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

आचार्यों का सम्पर्क

अद्वेषो अद्य बर्हिषः स्तरीमणि ग्राव्णां योगे मन्मनः साध ईमहे।
आदित्यानां शर्मणि स्था भुरण्यसि स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ९॥

(१) हे प्रभो! आपकी कृपा से **बर्हिषः**=वासनाशून्य हृदय के **स्तरीमणि**=बिछाने के निमित्त **अद्य**=आज **अद्वेषः**=हमारे किसी प्रकार का द्वेष न हो। हम सब प्रकार के ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि से ऊपर उठकर हृदय को निर्मल बना पायें। उस निर्मल हृदयासन पर हम आपको आमन्त्रित करनेवाले बनें। (२) हम **ग्राव्णाम्**=(गृ-गुरूणां) ज्ञान देनेवाले गुरुओं के **योगे**=सम्पर्क में **मन्मनः**=ज्ञान की **साधः**=साधना को **ईमहे**=माँगते हैं। ज्ञानी गुरुओं के सम्पर्क में आकर हमारे ज्ञान में निरन्तर वृद्धि हो। (साधनं साधः) (३) हे प्रभो! आप हमें निरन्तर यही तो प्रेरणा दे रहे हैं कि **आदित्यानाम्**=सब ज्ञानों का आदान करनेवाले गुरुओं के **शर्मणि**=(स्थान सा० shelter) शरण में **स्थाः**=तू स्थित हो और **भुरण्यसि**=ज्ञान से अपने को भरनेवाला बन तथा कर्त्तव्य कर्मों का धारण करनेवाला बन। (४) हम आपकी इस प्रेरणा को सुनते हुए ज्ञानियों से ज्ञान को प्राप्त करने के लिये यत्नशील हों तथा प्रतिदिन **समिधानं अग्निम्**=समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति**=कल्याण की **ईमहे**=याचना करें। यह अग्निहोत्र की अग्नि हमें नीरोग व सुमना बनाये और इस प्रकार हमें ज्ञान प्राप्ति के योग्य करे।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठकर हृदय को निर्मल बनायें। आचार्यों के सम्पर्क में आकर ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'इन्द्र-मित्र-वरुण-भग'

आ नो॑ ब॒र्हिः स॑ध॒मादे॑ बृ॒हद्दि॒वि दे॒वाँ ई॑ळे सा॒दया॑ स॒प्त होतॄ॑न्।
इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णं सा॒तये॒ भगं॑ स्व॒स्त्य१॒॑ग्निं समि॑धा॒नमी॑महे॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **नः**=हमें **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय **आसादया**=प्राप्त कराइये। इस **बृहद्दिवि**=बढ़ी हुई दीप्तिवाले **सधमादे**=प्रभु व जीव के मिलकर आनन्दित होने के स्थानभूत हृदय में **देवान् ईडे**=मैं देवों का, विद्वानों का पूजन करता हूँ। उनके प्रति श्रद्धा की भावना को धारण करता हूँ। इनके सम्पर्क से ही तो मुझे ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होगा। (२) हे प्रभो! आप **सप्त होतॄन्**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इस मन्त्र भाग में वर्णित सात ज्ञान यज्ञ के होतृभूत कानों, नासिका छिद्रों, आँखों व मुख को **आसादय**=हमें प्राप्त कराइये। इनके द्वारा ही तो हमारा यह ज्ञानयज्ञ सुचारुरूपेण चलेगा। (३) हम **सातये**=उत्तम कल्याण की प्राप्ति के लिये **इन्द्रम्**=इन्द्र को, जितेन्द्रियता की भावना को, **मित्रम्**=सबके प्रति स्नेह की भावना को, **वरुणम्**=द्वेष निवारण की भावना को और **भगम्**=ऐश्वर्य की अधिष्ठातृ देवता को **ईमहे**=प्राप्त करने के लिये चाहते हैं। 'जितेन्द्रियता, स्नेह, निर्द्वेषता व ऐश्वर्य' ये हमें कल्याण प्राप्त कराएँगे। (४) **समिधानं अग्निम्**=हम अग्निहोत्र में समिध्यमान अग्नि से **स्वस्ति**=कल्याण की **ईमहे**=याचना करते हैं।

भावार्थ—हमारा हृदय वासनाशून्य हो। उस हृदय में देवों के प्रति श्रद्धा की भावना हो। हम जितेन्द्रिय, स्नेहवाले, निर्द्वेष व ऐश्वर्यशाली हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'बृहस्पति-पूषा-अश्विनौ-भग'

त आ॑दि॒त्या आ ग॑ता स॒र्वता॑तये वृ॒धे नो॑ य॒ज्ञम॑वता सजोषसः।
बृह॒स्पतिं॑ पू॒षण॑म॒श्विना॒ भगं॑ स्व॒स्त्य१॒॑ग्निं समि॑धा॒नमी॑महे॥ ११॥

(१) हे **आदित्याः**=सब ज्ञानों व अच्छाइयों का आदान करनेवाले देवो! **ते**=वे आप

सर्वतातये=हमारे में सब गुणों के विकास के लिये **आगता**=आइये। देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देव बनते हैं, हमारे में सब दिव्य गुणों का विकास होता है। जैसों के साथ हमारा उठना-बैठना होता है वैसे ही हम बनते हैं। (२) हे देवो! आप **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिये **यज्ञं अवता**=हमारे से किये जाते हुए यज्ञों का रक्षण करिये। आपकी कृपा से हमारी यज्ञिय वृत्ति सदा बनी रहे। (३) हम **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के अधिष्ठातृदेव बृहस्पति से **पूषणम्**=पुष्टि के देवता पूषा से, **अश्विना**=प्राणापान से, **भगम्**=ऐश्वर्य के देवता भग से, **समिधानं अग्निम्**=अग्निहोत्र में समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति ईमहे**=कल्याण व उत्तम स्थिति की याचना करते हैं। वस्तुतः जीवन के उत्कर्ष के लिये आवश्यक है कि हम बृहस्पति आदि देवों की आराधना करें। 'ऊँचे से ऊँचा ज्ञान प्राप्त करें' यही बृहस्पति की आराधना है। इसी प्रकार शरीर के उचित पोषण से 'पूषा' की तथा प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा हम 'अश्विना' की आराधना करें। सुपथ से ऐश्वर्य की वृद्धि करते हुए 'भग' के उपासक हों और प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए अग्नि का पूजन करें। यही कल्याण प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम 'बृहस्पति, पूषा, अश्विनौ, भग' के उपासक बनें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'सुप्रवाचन-सुभर-नृपाय्य' घर

तन्नो॑ देवा यच्छत सुप्रवाच॒नं छ॒र्दिरा॑दित्याः सु॒भरं॑ नृ॒पाय्य॑म्।
पश्वे॑ तो॒काय॒ तन॑याय जी॒वसे॑ स्व॒स्त्य१॒॑ग्निं स॑मिधा॒नमी॑महे॥ १२॥

(१) हे **देवाः**=गत मन्त्रों में वर्णित देवो! **आदित्याः**=आप सब ज्ञानों व उत्तमताओं का आदान करनेवाले हो आप **नः**=हमें **तत् छर्दिः**=वह घर **यच्छता**=दीजिये। जो (क) **सुप्रवाचनम्**=प्रभु के गुणों के उत्तम प्रवचनवाला है। जिसमें प्रभु के गुणों का गान होता है अथवा जिसमें सदा शुभ ही शब्द बोले जाते हैं। (ख) **सुभरम्**=जो उत्तम भरण व पोषणवाला है, जो समृद्ध है, जिसमें खान-पान की किसी भी प्रकार से कमी नहीं है। (ग) **नृपाय्यम्**=जो घरों-नरों का रक्षण करनेवाला है, जिस घर में नरों का वास है, उनका जो (नृ नये) निरन्तर अपने को आगे ले-चल रहे हैं। (२) ऐसे घर में निवास करते हुए हम **पश्वे**=अपने गौ आदि पशुओं के लिये, **तोकाय**=अपने सन्तानों के लिये **तनयाय**=पौत्रों के लिये तथा **जीवसे**=उत्तम दीर्घ जीवन के लिये **समिधानं अग्निम्**=समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति ईमहे**=कल्याण की याचना करते हैं। 'सुप्रवाचन-सुभर-नृपाय्य' घर में हम नियमपूर्वक अग्निहोत्र करें। इस अग्निहोत्र से वायुमण्डल की शुद्धि होकर उस घर में सभी स्वस्थ हों। हमारे पशुओं की स्थिति भी उत्तम हो, हमारे पुत्र-पौत्र अच्छे हों और हमारा जीवन भी दीर्घ हो।

भावार्थ—देव कृपा से हम 'सुप्रवाचन-सुभर-नृपाय्य' घर को प्राप्त करें। उस घर में हम नियम से अग्निहोत्र करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्राणायाम व अग्निहोत्र

विश्वे॑ अ॒द्य म॒रुतो॒ विश्व॑ ऊ॒ती विश्वे॑ भवन्त्व॒ग्नयः॒ समि॑द्धाः।
विश्वे॑ नो दे॒वा अव॒सा ग॑मन्तु॒ विश्व॑मस्तु॒ द्रवि॑णं॒ वाजो॑ अ॒स्मे॥ १३॥

(१) **अद्य**=आज **विश्वे**=सब **मरुतः**=प्राण **समिद्धाः**=दीप्त **भवन्तु**=हों और **विश्वे**=ये

सब प्राण **ऊती**=रक्षण के लिये **भवन्तु**=हों। हमारे घरों में **विश्वे अग्नयः**=सब यज्ञों की अग्नियाँ **समिद्धाः भवन्तु**=समिद्ध हों। वे यज्ञाग्नियाँ कभी बुझे नहीं। हम प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना को करनेवाले हों और अग्निहोत्र के द्वारा घर के वायुमण्डल का शोधन करें। (२) ऐसा करने पर, अर्थात् प्राणायाम व अग्निहोत्र के अपनाने पर **विश्वे**=सब **देवः**=देव **नः**=हमें **अवसा**=रक्षण के हेतु से **गमन्तु**=प्राप्त हों। प्राणसाधना व अग्निहोत्र से सब आन्तर व बाह्य देवों का आनुकूल्य प्राप्त होता है और ये देव हमारा रक्षण करनेवाले होते हैं। (३) देवों के रक्षण के परिणामस्वरूप **विश्वं द्रविणम्**=सम्पूर्ण धन व **वाजः**=शक्ति व ज्ञान **अस्ये**=हमारे में **अस्तु**=हो। शक्ति व ज्ञान हमारी आन्तर सम्पत्ति हो और धन हमारी बाह्य समृद्धि का कारण बने। इस प्रकार हम प्राणायाम से शक्ति व ज्ञान की सम्पत्ति का लाभ प्राप्त करें तो अग्निहोत्र से उचित वर्षण के द्वारा अन्नादि की समृद्धिवाले हों।

भावार्थ—प्राणायाम हमें 'शक्ति व ज्ञान' रूप आन्तर सम्पत्ति को प्राप्त कराये तथा अग्निहोत्र हमें आद्य अन्नों को प्राप्त कराता हुआ समृद्ध करनेवाला हो।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अभय प्राप्ति

यं दे॑वा॒सोऽव॑थ॒ वाज॑सातौ॒ यं त्राय॑ध्वे॒ यं पि॑पृ॒थात्यंहः॑।
यो वो॑ गोपी॒थे न भ॒यस्य॒ वेद॒ ते स्या॑म दे॒ववी॑तये तु॒रासः॑॥ १४॥

(१) हे **देवासः**=देवो! **यम्**=जिसको आप **वाजसातौ**=इस जीवन में **अवथ**=रक्षित करते हो, **यं त्रायध्वे**=जिसको आप रोगादि के आक्रमण से बचाते हो और **यम्**=जिसे **अंहः अतिपिपृथ**=पाप से पार ले जाते हो इस प्रकार **यः**=जो **वः**=आपके **गोपीथे**=रक्षण में होता है वह **भयस्य न वेद**=किसी भय को प्राप्त नहीं होता। देवों के रक्षण में स्थित होने पर एक मनुष्य को निर्धनता जनित कष्ट परेशान नहीं करते, वह रोगों का शिकार नहीं होता और वह पापगर्त में नहीं फँसता। (२) हे देवो! आप ऐसी कृपा करो कि हम भी **ते स्याम**=वे ही हों जो आपके रक्षण में निर्भीक होकर विचरते हैं तथा **तुरासः**=त्वरावाले, शीघ्रता से कार्य करनेवाले अथवा शत्रुओं का संहार करनेवाले हम **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्याम**=हों। देवों के रक्षण में हम अपने अन्दर उत्तरोत्तर दिव्यगुणों का वर्धन कर पायें।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में देव हमारा रक्षण करें। हमें वे रोगों से बचाएँ तथा पापों के पार ले जायें। इस प्रकार हम अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाले बनें।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि स्वाध्याय के द्वारा हम अपने में ज्योति का भरण करें। (१) रेतःकणों के रक्षण से हम निष्पापता को प्राप्त करें, (२) उषा हमारे पापों को दग्ध करे, (३) हम धनी हों, पर कभी क्रोधाभिभूत न हों, (४) उषा से प्रेरित होकर हम ज्योति का भरण करें, (५) उषाएँ हमारे लिये नीरोगता को लानेवाली हों, (६) हमारे जीवन में धन व ज्ञान का समन्वय हो पाये, (७) ऋत का हम पालन करें, (८) आचार्यों के सम्पर्क में रहकर ज्ञान को बढ़ायें, (९) 'इन्द्र, मित्र, वरुण व भग' के उपासक बनें, (१०) बृहस्पति पूषा अश्विनौ भग का निरन्तर पूजन हो, (११) सुप्रवाचन, सुभर व नृपाय्य घर हमें प्राप्त हो, (१२) इस घर में हम 'प्राणायाम व अग्निहोत्र' को नियम से अपनायें, (१३) देव कृपा से हमें अभय प्राप्त हो, (१४) हम देवों का आराधन करनेवाले हों।

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—लुशो धानाकः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

देवाह्वान व स्वर्ग

उषासानक्ता बृहती सुपेशसा द्यावाक्षामा वरुणो मित्रो अर्यमा।
इन्द्रं हुवे मरुतः पर्वताँ अप आदित्यान्द्यावापृथिवी अपः स्वः॥ १॥

(१) मैं **उषासानक्ता**=उषा व रात्रि को **हुवे**=पुकारता हूँ। उषा जैसे अन्धकार का दहन कर प्रकाश को फैलाती है, मैं भी इसी प्रकार अज्ञानान्धकार को दूर करके ज्ञान के प्रकाश को फैलानेवाला बनूँ। नक्त=अर्थात् रात्रि जिस प्रकार उचित लज्जावाली होती हुई अपने को अन्धकार में छिपा लेती है उसी प्रकार मैं भी उचित लज्जाशीलतावाला व 'ह्री' के बलवाला बोता हुआ अपने को अप्रसिद्धि (obseurity) में ही रखनेवाला बनूँ। (२) **बृहती**=खूब बढ़ी हुई विशाल **सुपेशसा**=उत्तम रूपवाली **द्यावाक्षामा**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **हुवे**=मैं पुकारता हूँ। द्युलोक व पृथिवीलोक विशाल व सुरूप हैं। मैं भी अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को अत्यन्त विशाल बनाने का प्रयत्न करता हूँ, मैं अपने ज्ञान को खूब ही बढ़ाता हूँ। साथ ही मैं अपने पृथिवी के समान शरीर को सुरूप बनाता हूँ। स्वास्थ्य के साधन से मेरा शरीर सौन्दर्यवाला होता है। (३) **वरुणः मित्रः अर्यमा**='वरुण, मित्र व अर्यमा' ये तीनों देव मेरे से पुकारे जाते हैं। मैं द्वेष का निवारण करनेवाला 'वरुण' बनता हूँ, सब के साथ स्नेह करता हुआ 'मित्र' होता हूँ और सदा काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाला 'अर्यमा' बनता हूँ 'अरीन् यच्छति'। (४) इस प्रकार सब शत्रुओं का नियमन करके मैं **'इन्द्रं'**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता को **हुवे**=पुकारता हूँ। सब असुरों का संहार करनेवाला इन्द्र है मैं भी अपने में असुरवृत्तियों का संहार करके 'इन्द्र' बनता हूँ। (५) इन्द्र बनने के लिये ही मैं **'मरुता'**=प्राणों को **हुवे**=पुकारता हूँ। प्राणसाधना ही तो मुझे आसुर-वृत्तियों के संहार में समर्थ बनाती है। इसी से मरुत् इन्द्र के सैनिक कहलाते हैं। (६) **पर्वतान् हुवे**=मैं पर्वतों को पुकारता हूँ। आचार्य ने यजुर्वेद ३५,१५ में पर्वत का अर्थ ज्ञान व ब्रह्मचर्य किया है। 'अन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन'। इस मन्त्र भाग में ब्रह्मचर्य अर्थ ही सुसंगत प्रतीत होता है—'मृत्यु को ब्रह्मचर्य से अन्तर्हित करे'। मैं यही आराधना करता हूँ कि मेरे में ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित हो, उस ब्रह्मचर्य से मैं ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। (७) **अपः**=जलों को मैं पुकारता हूँ। शरीर में ये जल रेतःकणों के रूप में निवास करते हैं। इन्हें मैं अपने में धारण करता हूँ। (८) इन रेतःकणों के धारण से **आदित्यान्**=मैं आदित्यों को पुकारता हूँ। इन आदित्यों की तरह उत्तम गुणों का आदान करनेवाला बनता हूँ। ये आदित्य भी तो सारे समुद्र में से मधुर जल को ही लेते हैं। (९) इस प्रकार आदित्य बनकर मैं 'द्यावापृथिवी अपः' द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक सभी को ही सुन्दर बनाता हूँ। द्युलोक मेरा मस्तिष्क है, इसे मैं ज्ञानोज्वल करता हूँ। पृथिवीलोक मेरा शरीर है, इसे मैं दृढ़ बनाता हूँ। अन्तरिक्षलोक मेरा हृदय है, इसे मैं निर्मल रखने का प्रयत्न करता हूँ। (१०) इस प्रकार त्रिलोकी को सुन्दर बनाकर मैं **'स्वः'**=स्वर्गलोक को, प्रकाशमय लोक को पुकारता हूँ। त्रिलोकी का सौन्दर्य मुझे स्वर्ग में आसीन करता है। मुझे सुख ही सुख प्राप्त होता है, मेरे दुःखों व नरक का अन्त हो जाता है।

भावार्थ—मैं सब देवताओं का अनुकरण करता हुआ अपने जीवन को स्वर्ग-तुल्य बनाता हूँ।

ऋषिः—लुशो धानाकः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क

द्यौश्च नः पृथिवी च प्रचेतस ऋतावरी रक्षतामंहसो रिषः।
मा दुर्विदत्रा निर्ऋतिर्न ईशत तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ २॥

(१) **द्यौः च पृथिवी च**=द्युलोक और पृथिवीलोक **नः**=हमारे **प्रचेतसे**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिये हों। मस्तिष्करूप द्युलोक का तो ज्ञान प्राप्ति के लिये ठीक होना आवश्यक ही है, शरीररूपी पृथिवी की दृढ़ता भी ज्ञान प्राप्ति के लिये जरूरी है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का भी निवास होता है। (२) **ऋतावरी**=ऋत का रक्षण करनेवाले द्युलोक व पृथिवीलोक **अंहसः**=पाप से तथा **रिषः**=रोगादि के कारण होनेवाली हिंसा से **रक्षताम्**=हमें बचाएँ। हमारे मस्तिष्क में ऋत हो, सत्य हो। मस्तिष्क में होनेवाला ऋत हमारे विचारों की पवित्रता का कारण बनेगा। पवित्र विचार हमारे आचार को सत् व पवित्र बनाएँगे और इस प्रकार हम पापों से बचे रहेंगे। शरीर में ऋत 'नियमितता=regularity' के रूप में है और यह नियमितता हमें रोगों से होनेवाली हिंसा से बचाती है। समय पर सोने-जागने व खानेवाला व्यक्ति कभी रोगी नहीं होता। (३) इस प्रकार स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीरवाले **नः**=हमारा **दुर्विदत्रा**=दुष्ट धन से उत्पन्न होनेवाली **निर्ऋतिः**=दुर्गति **मा ईशत**=मत शासन करे। हम अन्याय मार्ग से धन कमानेवाले न हों। अन्याय मार्ग से अर्जित धन अन्ततः दुर्गति का कारण बनता है। वस्तुतः अनुचित मार्ग से धन कमाने की ओर उन्हीं का झुकाव होता है जो मस्तिष्क व शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ नहीं होते। (४) इस प्रकार सुपथ से ही धनार्जन करते हुए हम **अद्या**=आज **देवानाम्**=देवों के **तत् अवः**=उस रक्षण को **वृणीमहे**=वरते हैं। हम अपने अन्दर दिव्यता को धारण करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—सत्य से दीप्त मस्तिष्क हमें पापों से बचाये। नियमित क्रियाओंवाला शरीर रोगों का शिकार न हो। 'हम सुपथ से ही धनार्जन करें' यही स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क का लक्षण है।

ऋषिः—लुशो धानाकः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

लोलुपता शून्य ऐश्वर्य

विश्वस्मान्नो अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः।
स्वर्वज्ज्योतिरवृकं नशीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ३॥

(१) **रेवतः**=ऐश्वर्यवाले **मित्रस्य**=मित्र की **वरुणस्य**=और वरुण की **माता**=जननी **अदितिः**=अदीना देवमाता **नः**=हमें **विश्वस्मात् अंहसः**=सम्पूर्ण पापों से **पातु**=बचाये। 'मित्र' स्नेह की देवता है और 'वरुण'=निर्द्वेषता की। 'सब के प्रति स्नेह व द्वेष का अभाव' ये दो वृत्तियाँ मनुष्य को सांसारिक दृष्टिकोण से भी सम्पन्न बनाती हैं, इसी से यहाँ इनका विशेषण 'रेवतः' दिया गया है। मूल में 'अदिति' प्रभु हैं, वे हमें प्रेमवाला व निर्द्वेष बनाएँ, जिससे जहाँ हम पापों से बचे रहें वहाँ ऐश्वर्य-सम्पन्न भी बनें। (२) ऐश्वर्य को पाकर हम **अवृकम्**=लोभ से रहित **स्वर्वत्**=प्रकाशमय व सुखमय **ज्योतिः**=ज्ञान को **नशीमहि**=प्राप्त हों। हम धन सम्पन्न तो हों, परन्तु उस धन का हमें लालच न हो। 'धन तो हो, पर धन का लोभ न हो' तो ही वास्तव में सुखमय प्रकाश की प्राप्ति होती है। (३) इस प्रकार धन तथा निर्लोभता को प्राप्त करके हम **अद्या**=अब **तत् देवानाम् अवः**=उस देवताओं को रक्षण को **वृणीमहे**=वरते हैं। हम अपने अन्दर दिव्यवृत्तियों

के धारण के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम प्रेम व निर्द्वेषता को धारण करें। लोलुपताशून्य ऐश्वर्यवाले हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आचार्योपदेश से रक्षः निराकरण

ग्रावा वदन्नप रक्षांसि सेधतु दुष्ष्वप्न्यं निर्ऋतिं विश्वमत्रिणम्।
आदित्यं शर्म मरुतामशीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ४॥

(१) **ग्रावा**=ज्ञानी प्रभु-भक्त गुरु (गृ=शब्दे विद्वांसो हि ग्रावाणः श० ३।९।३।१४) **वदन्**=उपदेश देता हुआ **रक्षांसि**=राक्षसी वृत्तियों को **अपसेधतु**=दूर करे। यह आचार्य सदुपदेश द्वारा **दुष्ष्वप्न्यम्**=बुरे स्वप्नों की कारणभूत वृत्तियों को दूर करे। **निर्ऋतिम्**=दुराचरण को दूर करे और **विश्वम्**=सब **अत्रिणम्**=(अद्भक्षणे) स्वयं खा जाने की वृत्तियों को दूर करे। अपने मुँह में ही आहुति देनेवाले तो असुर होते हैं, आचार्य हम से इस आसुरवृत्ति को दूर विनष्ट करनेवाले हो। (२) आचार्य के उपदेश के प्रभाव से ही हम **मरुताम्**=प्राणों के **आदित्यम्**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले **शर्म**=सुख को **अशीमहि**=प्राप्त करें। 'आदित्य शर्म' वह है जो बुराइयों को छोड़ने व अच्छाइयों के ग्रहण करने से उत्पन्न होता है। आचार्य का उपदेश हमें दुरितों से दूर व सुवितों के समीप करके इस योग्य बनाता है कि जीवन में सुख को प्राप्त करनेवाले हों। प्राणसाधना से इस 'आदित्य शर्म' की प्राप्ति में सहायता मिलती है। वास्तविकता तो यह है कि प्राणसाधना से ही सब दोषों का दहन होता है। (३) इस प्रकार दोषों का दहन करके **अद्या**=आज हम **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **वृणीमहे**=वरते हैं, अर्थात् हम दिव्यता को अपने अन्दर धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—आचार्य का उपदेश हमारे जीवनों से अशुभवृत्तियों को दूर करे प्राणसाधना के द्वारा दोषदहन से अच्छाइयों का ग्रहण करते हुए हम सुखी हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान व भक्ति का समन्वय

एन्द्रो बर्हिः सीदतु पिन्वतामिळा बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्चतु।
सुप्रकेतं जीवसे मन्म धीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ५॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **बर्हिः**=हमारे वासनाशून्य हृदय में **आसीदतु**=आसीन हो। उस हृदयस्थ प्रभु के द्वारा प्रेरित **इडा**=वेदवाणी **पिन्वताम्**=हमें प्रीणित करनेवाली हो। वेदवाणी के ग्रहण से **बृहस्पतिः**=उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त हुआ **ऋक्वः**=स्तुति के मधुर शब्दों का उच्चारण करनेवाला पुरुष **सामभिः**=साम-मन्त्रों से **अर्चतु**=प्रभु की अर्चना करे अथवा ऋक्वः=ज्ञान में निपुण यह पुरुष सामभिः=उपासनाओं के द्वारा अर्चतु=चमक उठे (अर्च् to shine)। ज्ञान के साथ उपासना का समावेश इसे दीप्त करनेवाला हो। (२) हे प्रभो! आपकी कृपा से हम **सुप्रकेतम्**=उत्तम विज्ञानवाले **मन्म**=मननीय स्तोत्रों का **धीमहि**=धारण करें जिससे **जीवसे**=हम उत्कृष्ट जीवन के लिये हों। 'ज्ञान व स्तवन' का समन्वय ही तो हमें प्रशस्त जीवनवाला बनायेगा। (३) इस प्रकार ज्ञानी स्तोता बनकर हम **देवानां तद् अवः**=देवों के उस रक्षण को **अद्या**=आज **वृणीमहे**=वरते हैं। हम प्रयत्न करते हैं कि अपने अन्दर दिव्यता का रक्षण कर सकें।

भावार्थ—हम हृदय को वासना शून्य बनाकर प्रभु को उसमें आसीन करें और हृदयस्थ प्रभु

से वेदवाणी की प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले हों। इस प्रकार हमारे जीवनों में ज्ञान व भक्ति का समन्वय हो पायेगा।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञाग्नि व सूर्य-किरणें

दि॒वि॒स्पृशं॑ य॒ज्ञम॒स्माक॑मश्विना जी॒राध्व॑रं कृणुतं सु॒म्नमि॒ष्टये॑।
प्रा॒ची॒नर॑श्मि॒माहु॑तं घृ॒तेन॒ तद्दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे॥ ६॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अस्माकम्**=हमारे **दिविस्पृशम्**=द्युलोक में स्पर्श करनेवाले 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यन् आदित्यमुपतिष्ठते' **यज्ञम्**=यज्ञ को **जीराध्वरम्**=रोग-कृमियों के जीर्ण करनेवाला तथा हमारे जीवनों को अहिंसित करनेवाला और इस प्रकार **सुम्नम्**=सुख को देनेवाला **कृणुतम्**=करिये। यह यज्ञ **इष्टये**=हमारे इष्ट की प्राप्ति के लिये हो, अभिलषित सिद्धि के लिये हो। (२) हम अपने जीवनों में यज्ञों को करनेवाले हों। हमारी प्राणापान शक्ति यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही विनियुक्त हो। ये हमारे प्राणापान **घृतेन**=घृत से **आहुतम्**=आहुति दिये गये इस अग्नि को **प्राचीनरश्मिम्**=रश्मियों के अभिमुख जानेवाला करें। वस्तुतः सूर्योदय के समय किया गया यह अग्निहोत्र सम्पूर्ण वायुमण्डल के शोधन के लिये होता है। (३) इस प्रकार यज्ञों को करते हुए हम **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **अद्या**=आज **वृणीमहे**=वरते हैं। यज्ञों के द्वारा दिव्यता का अपने में वर्धन करते हैं।

भावार्थ—हमारी प्राणशक्ति यज्ञों में विनियुक्त हो। यज्ञ रोग-कृमियों के संहार व हमारे जीवनों की अहिंसा के लिये हों। यज्ञाग्नि व सूर्य-रश्मियाँ मिलकर वायुमण्डल के शोधक हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मारुतगण का आह्वान

उप॑ ह्वये सु॒हवं॒ मारु॑तं ग॒णं पा॑व॒कमृ॒ष्वं स॒ख्याय॑ शं॒भुव॑म्।
रा॒यस्पोषं॑ सौश्रव॒साय॑ धीमहि॒ तद्दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे॥ ७॥

(१) **मारुतं गणम्**=प्राणों के गण को **उपह्वये**=पुकारता हूँ, अर्थात् प्राणायामादि के द्वारा मैं इन प्राणों की साधना करता हूँ। जो प्राण **सुहवम्**=उत्तम पुकारवाले हैं, अर्थात् जिनका आराधन कल्याण ही कल्याण करनेवाला है। **पावकम्**=ये प्राण पवित्र करनेवाले हैं, प्राणायाम से दोषों का दहन होकर इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं। **ऋष्वम्**=यह मारुतगण दर्शनीय है व महान् है (great, high, noble) प्राणसाधना से शरीर स्वस्थ व सुन्दर बनता है और मनुष्य उन्नत होकर महान् बनता है। **शंभुवम्**=यह मारुतगण शान्ति को जन्म देता है, इस प्राणसाधना से मानस शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार यह मारुतगण **सख्याय**=उस प्रभु के साथ हमारी मित्रता के लिये साधन बनता है। (२) इस प्राणसाधना के द्वारा हम **रायस्पोषम्**=धनों के पोषण को भी **धीमहि**=धारण करते हैं और यह रायस्पोष हमारे **सौश्रवसाय**=उत्तम यश के लिये हो। प्राणसाधना से शक्ति की भी वृद्धि होती है और मानस पवित्रता भी प्राप्त होती है। शक्ति वृद्धि से हमारी धनार्जन की क्षमता बढ़ती है और मानस पवित्रता से हम उस धन का ठीक उपयोग व यज्ञ में विनियोग करते हैं। इसलिए यह धन हमारे यश का कारण बनता है। (३) इस प्रकार यज्ञों को करते हुए हम **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **अद्या**=आज **वृणीमहे**=वरते हैं। यज्ञों के द्वारा दिव्यता का अपने में वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवन को पवित्र व सशक्त बनाये। हम धनार्जन की क्षमतावाले बनें और उस धन का यज्ञों में विनियोग करके यशस्वी हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सोम का भरण व यमन

अपां पेरुं जीवधन्यं भरामहे देवाव्यं सुहवमध्वरश्रियम्।
सुरश्मिं सोममिन्द्रियं यमीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ८॥

(१) गत मन्त्र में प्राणसाधना का वर्णन था। प्राणसाधना हमारे जीवन को पवित्र व महान् बनाती है। वस्तुतः इस प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है और यह सुरक्षित सोम ही सब प्रकार की उन्नतियों का कारण बनता है। मन्त्र में कहते हैं कि **सोमम्**=इस सोम को **भरामहे**=अपने में धारण करते हैं और **यमीमहि**=इस सोम का संयम करते हैं, इस शरीर में सुरक्षित करते हैं। (२) भृत व रक्षित सोम **अपां पेरुम्**=हमारे सब कर्मों का पूरण करनेवाला है, इसकी शक्ति से ही हम सब कर्मों में सफल होते हैं। **जीवधन्यम्**=यह हमारे जीवन को धन्य बनानेवाला है, **देवाव्यम्**=हमारे जीवन में दिव्यगुणों का रक्षण करने में यह उत्तम है, सोम के रक्षण से दिव्यगुणों की वृद्धि होती है। **सुहवम्**=यह शोभन पुकारवाला है, इसकी आराधना से कल्याण ही कल्याण होता है। **अध्वरश्रियम्**=यह जीवनयज्ञ की शोभा का कारण बनता है (अध्वरस्य श्रीः यस्मात्) **सुरश्मिम्**=ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर यह उत्तम ज्ञान की किरणोंवाला होता है और साथ ही **इन्द्रियम्**=यह हमारी सब इन्द्रियों को सशक्त बनानेवाला है और इसीलिए इसे 'इन्द्रिय' यह नाम प्राप्त हो पाया है। (३) इस प्रकार सोम का रक्षण करते हुए हम **अद्य**=आज **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **वृणीमहे**=वरते हैं। हम सोमरक्षण के द्वारा अपने में दिव्यता का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—सोम का भरण व रक्षण हमें सफल जीवनवाला बनाये।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

संविभाग द्वारा उपासन

सनेम तत्सुसनिता सनित्वभिर्वयं जीवा जीवपुत्रा अनागसः।
ब्रह्मद्विषो विष्वगेनो भरेरत तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोम का भरण व रक्षण करनेवाले **वयम्**=हम **जीवाः**=उत्तम जीवनवाले **जीवपुत्राः**=दीर्घजीवी सन्तानोंवाले **अनागसः**=निष्पाप होते हुए **सनित्वभिः**=संभजन की वृत्तिवाले पुत्र-पौत्रादिकों के साथ **तत्**=उस दिव्यगुणों के समूह को **सुसनिता**=उत्तम संभजन से **सनेम**=उपासित करें। वस्तुतः संविभागपूर्वक धन का सेवन ही प्रभु का उपासन है, यही दिव्यगुणों की प्राप्ति का मार्ग है। 'हविषाविधेम'=हवि के द्वारा, दानपूर्वक अदन के द्वारा हम प्रभु का पूजन करें यह मन्त्र भाग कई बार पढ़ा गया है। 'यज्ञ' की मौलिक भावना भी यही है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'=देव यज्ञ के द्वारा ही उस यज्ञ (=पूज्य) की उपासना करते हैं। (२) **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान से प्रीति न करनेवाले लोग ही **विश्वग्**=विविध गतियोंवाले **एनः**=इस पाप को **भरेरत**=धारण करें। अज्ञानियों में ही पाप का वास हो। हम तो संविभागपूर्वक यज्ञियवृत्ति से वस्तुओं का उपभोग करते हुए ज्ञानी बनें और पाप को अपने से दूर ही रखें। (३) इस प्रकार **तद्**=उस **देवानां अवः**=देवताओं के रक्षण को **अद्या**=आज **वृणीमहे**=हम वरते हैं। अपने अन्दर दिव्यता को धारण करते हैं।

भावार्थ—हम संविभाग की वृत्ति से प्रभु का उपासन करनेवाले बनें, ज्ञानी बनकर निष्पाप जीवनवाले हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

जैत्र क्रतु

ये स्था मनोर्यज्ञियास्ते शृणोतन यद्वो देवा ईमहे तद्ददातन।
जैत्रं क्रतुं रयिमद्वीरवद्यशस्तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ १०॥

(१) **ये**=जो आप **मनोः**=ज्ञान के **यज्ञियाः**=संगतिकरण में उत्तम **स्थाः**=हो **ते**=वे आप **शृणोतन**=हमारी बात को सुनिये और **देवाः**=हे विद्वानो! **यद्**=जो **वः**=आपसे **ईमहे**=हम याचना करते हैं **तद् ददातन**=हमें दीजिये। वस्तुतः वे विद्वान् जो अपने साथ ज्ञान को निरन्तर संगत करने में लगे हैं, वे ही हमारे संगतिकरण योग्य होते हैं। हमें उनके सम्पर्क में आकर यह कामना करनी कि—(२) वे देव हमें **जैत्रम्**=विजयशील **क्रतुम्**=ज्ञान को प्राप्त करायें। उस ज्ञान को वे हमें देनेवाले हों जो ज्ञान हमें काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय करनेवाला बनाये। (३) इसके साथ ही वह ज्ञान हमें **रयिमत्**=उत्तम धन से युक्त **वीरवत्**=वीरतावाले **यशः**=यशस्वी जीवन को देनेवाला हो। देवों के सम्पर्क में आकर हमारा जीवन विजयशील ज्ञानवाला तथा धन व वीरता से युक्त यशवाला हो। (४) इस प्रकार हम **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **अद्या**=आज **वृणीमहे**=वरण करते हैं, अर्थात् ज्ञान व यश का सम्पादन करते हुए हम अपने में दिव्यता का अवतरण करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—देव हमें विजयी ज्ञान तथा धन व शक्ति से युक्त यश को प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

वीरजात वसु की प्राप्ति

महदद्य महतामा वृणीमहेऽवो देवानां बृहतामनर्वणाम्।
यथा वसु वीरजातं नशामहै तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ११॥

(१) **अद्य**=आज **महताम्**=महान्, पूजा के योग्य **बृहताम्**=शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से वृद्धि को प्राप्त **अनर्वणाम्**=हिंसा की वृत्ति से रहित **देवानाम्**=देवों के **महत् अवः**=महनीय रक्षण का **आवृणीमहे**=वरण करते हैं **यथा**=जिससे कि **वीरजातम्**=वीरों के जन्म देनेवाले **वसु**=धन को **नशामहै**=हम प्राप्त करें। (२) देवों के लक्षणों में प्रथम लक्षण है 'महतां', देव महान् होते हैं, विशाल हृदयवाले होते हैं। दूसरा लक्षण 'बृहतां' शब्द से सूचित हुआ है। ये 'बृहि वृद्धौ' शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से उन्नत होते हैं! तीसरा लक्षण 'अनर्वणाम्' शब्द से कहा गया है, ये हिंसा की वृत्ति से दूर होते हैं। (३) इन देवताओं के सम्पर्क में हमारा जीवन भी इसी प्रकार का बनेगा और इस प्रकार हम अपने जीवन में उस **वसु**=धन को प्राप्त करेंगे जो हमें वीर बनानेवाला होगा। (४) इस प्रकार वसु का सम्पादन करते हुए हम **अद्या**=आज **देवानाम्**=देवों **तद् अवः**=उस रक्षण का **वृणीमहे**=वरण करते हैं। हम अपने जीवनों में दिव्यता को सुरक्षित करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—देव 'महान् बृहत् व अनर्वा' हैं। हम इनका रक्षण प्राप्त हों।

ऋषिः—लुशो धानाकः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रभु की प्रेरणा में

महो अग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ १२॥

(१) **समिधानस्य**=अग्निकुण्ड में समिद्ध की जाती हुई **महः अग्नेः**=महनीय अग्नि की **शर्मणि**=शरण में हम हों अथवा इस अग्निहोत्र की अग्नि के शर्मणि=सुख में हम हों। यह अग्नि नीरोगता व सौमनस्य को देती है और इस प्रकार हमारे जीवन को सुखी बनाती है। (२) **मित्रे**=मित्र में तथा **वरुणे**=वरुण की शरण में हम **अनागाः**=निष्पाप हों। मित्र की शरण में होने का अभिप्राय यह है कि हम सदा परस्पर स्नेह करनेवाले हैं तथा वरुण की शरण का अभिप्राय 'द्वेष से ऊपर उठना' है। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवनों को निष्पाप बनाती हैं। इस प्रकार निष्पाप जीवनवाले हम **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये हों, हमारा जीवन उत्तम बने। (३) हम सदा **सवितुः**=उस प्रेरक प्रभु को **श्रेष्ठे सवीमनि**=प्रशस्यतम प्रेरणा में चलनेवाले **स्याम**=हों। यह प्रेरणा हमें कभी मार्गभ्रष्ट न होने देगी। (४) इस प्रेरणा में चलते हुए हम **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **अद्य**=आज **वृणीमहे**=वरते हैं। हम प्रभु प्रेरणा से चलते हुए अपने में दिव्यता का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—हम अग्निहोत्र करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाते हैं। प्रभु की प्रेरणा में चलते हुए अपने में दिव्यता का विकास करते हैं।

ऋषिः—लुशो धानाकः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

स्नेह व निर्द्वेषता

ये सवितुः सत्यसवस्य विश्वे मित्रस्य व्रते वरुणस्य देवाः।
ते सौभगं वीरवद्गोमदप्नो दधातन द्रविणं चित्रमस्मे॥ १३॥

(१) **ये**=जो **विश्वेदेवाः**=सब देव **सत्यसवस्य**=सत्य प्रेरणा देनेवाले **सवितुः**=प्रेरक के **मित्रस्य**=मित्र के तथा **वरुणस्य**=वरुण के **व्रते**=व्रत में स्थित हैं **ते**=वे **अस्मे**=हमारे लिये **सौभगम्**=सौभाग्य को और **वीरवत्**=वीरता से युक्त तथा **गोमत्**=उत्तम इन्द्रियों से युक्त **अप्नः**=कर्म को तथा **चित्रं द्रविणम्**=ज्ञान से युक्त अद्भुत धन को **दधातन**=धारण करें। (२) वस्तुतः देव वे ही हैं जो उस महान् देव के व्रतों में चलते हैं। वे महान् देव हृदयस्थरूपेण सदा सत्य प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। उस प्रेरणा के अनुसार जिनका जीवन चलता है वे देव बन जाते हैं। इस सविता देव की प्रेरणा में मुख्य बातें ये दो ही हैं कि 'सब के साथ स्नेह से चलो (मित्रस्य) और किसी से द्वेष न करो (वरुणस्य)'। देवताओं के ये ही मुख्य व्रत बनते हैं, वे सब के प्रति स्नेहवाले होते हैं और किसी के प्रति द्वेष नहीं करते। (३) इन देवताओं के सम्पर्क में चलने पर हमारा जीवन भी प्रशस्त बनता है, वह सौभाग्यवाला होता है, वीरता से युक्त होता है, प्रशस्त इन्द्रियोंवाला तथा क्रियामय होता है। इसके साथ हम उस अद्भुत धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं जो ज्ञान से युक्त होता है।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा से मित्रता व निर्द्वेषता के व्रत को ग्रहण करनेवाले देव कहलाते हैं इनके सम्पर्क में आकर हम भी अपने जीवन को 'सौभाग्य, वीरता, प्रशस्तेन्द्रियता व ज्ञानयुक्त धन' से अलंकृत करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सविता से सुत सर्वताति

सविता पश्चातात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥ १४ ॥

(१) गत मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हम सत्य प्रेरणा देनेवाले सविता की प्रेरणा में चलते हुए देव बनें और सौभाग्यशाली जीवनवाले हों। उसी प्रार्थना को परिवर्तित रूप में इस प्रकार करते हैं कि वह सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक **सविता**=सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाला प्रभु **पश्चातात्**=पीछे से वही **सविता**=प्रेरक प्रभु **पुरस्तात्**=सामने से वही **सविता**=सब उत्तमताओं को जन्म देनेवाला प्रभु **उत्तरात्तात्**=ऊपर उत्तर से तथा वही **सविता**=जन्मदाता प्रभु **अधरात्तात्**=नीचे से यह **सविता**=उत्पादक प्रभु **नः**=हमारे लिये **सर्वतातिम्**=सब शक्तियों के विस्तार को **सुवतु**=प्रेरित करे। सविता की कृपा से हमारे जीवनों में सब शक्तियों का विस्तार हो। (२) इस शक्ति के विस्तार के द्वारा **सविता**=यह प्रेरक प्रभु **नः**=हमें **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन **रासताम्**=दें शक्तियों के ह्रास से जीवन का ह्रास है, शक्तियों के विस्तार से जीवन का विस्तार है। शक्तियों का विस्तार करते हुए प्रभु हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—सविता की कृपा से हमारी सब शक्तियों का विस्तार हो और हमें दीर्घजीवन प्राप्त हो।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा गया है कि सब देवों का अनुकरण करते हुए मैं अपने जीवन को स्वर्गतुल्य बनाता हूँ। (१) मैं स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीरवाला बनूँ, (२) हम लोलुपता-शून्य ऐश्वर्यवाले हों, (३) आचार्यों का उपदेश हमारे जीवनों से अशुभवृत्तियों को दूर करे, (४) हमारे जीवन में ज्ञान व भक्ति का समन्वय हो, (५) यज्ञाग्नि व सूर्यरश्मियाँ मिलकर वायुमण्डल के शोधक हों, (६) प्राणसाधना हमारे जीवन को पवित्र व सशक्त बनाये, (७) सोम का भरण हमारे जीवन को सफल करे, (८) हम संविभाग की वृत्ति से प्रभु का उपासन करनेवाले बनें, (९) हम जैत्र क्रतु को प्राप्त करें, (१०) हम देवों की तरह 'महान्, बृहत् व अनर्वा' बनें, (११) प्रभु की प्रेरणा में चलें, (१२) स्नेह व निर्द्वेषतावाले हों, (१३) सविता से हमें सर्वताति प्राप्त हो और (१४) इस प्रकार हम 'सौर्य अभिलाषा' बन पायें।

॥ इति षट्त्रिंशं सूक्तम् समाप्तः ॥

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर इन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है ''हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।''

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२७२

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो॰ राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्मिलत है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियों द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढे और इन पशुओं की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(अथ दशमं मण्डलम्)

(३७-१९१ सूक्तम्)

[सप्तमो भागः]

भाष्यकार :

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

अनुष्ठानकर्त्ता :

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

हिण्डौन सिटी (राज०)–३२२ २३०

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
"अभ्युदय" भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०-९८८७४-५२९५९

संस्करण : स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती जन्म एवं स्मृति माह
जनवरी, २०११ ई०

मूल्य : ४००.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि-निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

शब्द-संयोजक : **आर्य लेज़र प्रिंट्स,** हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११० ०३१

अथ दशमं मण्डलम्

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋत के द्वारा प्रभु का पूजन

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तं स॑पर्यत।
दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शंसत॥ १ ॥

(१) सूर्य जिस समय दिन के साथ सम्बद्ध होता है तो 'मित्र' कहलाता है, अहरभिमानी देव 'मित्र' है। यही सूर्य रात्रि के समय 'वरुण' हो जाता है। इस समय सूर्य की ही एक किरण चन्द्रिमा को प्रकाशित करती हुई हमें प्रकाश पहुँचाती है 'अहर्वै मित्रः रात्रिर्वरुणः' (ऐ० ४।१०)। इस **मित्रस्य वरुणस्य**=दिन के अभिमानी देव मित्र के तथा रात्रि के अभिमानी देव वरुण के **चक्षसे**=प्रकाशक **महो देवाय**=उस महान् देव प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार करो, उस प्रभु के लिए नतमस्तक होवो। जब उस प्रभु के प्रति नमन करना है **तद्**=तो **ऋतं सपर्यत**=सत्य व यज्ञ का उपासन करो। सत्य के पालन व यज्ञ के अनुष्ठान से ही प्रभु का पूजन होता है। प्रभु सत्यस्वरूप हैं, सत्य का पालन प्रभु का उपासन है। प्रभु यज्ञरूप हैं, यज्ञानुष्ठान से प्रभु–पूजन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। (२) इस प्रभु की महिमा के दर्शन के लिये **सूर्याय शंसत**=सूर्य का शंसन करो, सूर्य का ज्ञान प्राप्त करो (शंस्=science)। हम सूर्य **दिवः पुत्राय**=प्रकाश के द्वारा हमारे शरीर को पवित्र करनेवाला तथा त्राण करनेवाला है। **केतवे**=संसार का प्रकाशक है। **देवजाताय**=उस महान् देव की महिमा को प्रकट करने के लिये जो प्रकट हुआ है। **दूरेदृशे**=सुदूर स्थान पर होता हुआ भी हम सबका ध्यान करनेवाला है (दृश् to look after)। इस सूर्य के वैज्ञानिक अध्ययन से प्रभु की महिमा का आभास मिलता है। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' आदि वाक्यों से स्पष्ट है कि ब्रह्म का आभास सूर्य के ज्ञान से अवश्य होगा ही एवं हम सूर्य में प्रभु की महिमा का दर्शन करें।

भावार्थ—प्रभु का पूजन 'सत्य व यज्ञ' से होता है। प्रभु की महिमा का आभास सूर्य के अध्ययन से मिलता है।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सत्योक्ति

सा मा॑ स॒त्योक्ति॒ः परि॑ पातु वि॒श्वतो॒ द्यावा॑ च॒ यत्र॑ त॒तन॒न्नहा॑नि च।
विश्व॑म॒न्यन्नि वि॑शते॒ यदेज॑ति वि॒श्वाहापो॑ वि॒श्वाहोदे॑ति॒ सूर्यः॑॥ २ ॥

(१) **सा**=वह **सत्योक्तिः**=सत्य का कथन **मा**=मुझे **विश्वतः**=सब ओर से **परिपातु**=रक्षित करे। यह अध्यात्म उन्नति में तो मेरे लिये सहायक होगी ही, लौकिक दृष्टिकोण से भी सत्य मेरे लिये अभ्युदय का उत्पादक होगा। यह सत्योक्ति तो वह है **यत्र**=जहाँ **द्यावा**=प्रकाशमय लोक

च=तथा **अहानि**=प्रकाशभाव दिन आदि काल **ततनन्**=विस्तृत किये जाते हैं। वस्तुतः स्थान व समय की प्रकाशमयता इस सत्योक्ति पर ही निर्भर है। सत्य के अभाव में सर्वत्र और सर्वथा अन्धकार ही अन्धकार होता है। (२) इस स्थान और समय के **अन्यत्**=अतिरिक्त **विश्वम्**=वह सारा संसार भी **यत्**=जो **एजति**=गतिशील है, अर्थात् सारा प्राणि जगत् भी इस सत्य में ही **निविशते**=निविष्ट है। सत्य ही सबका आधार है 'सत्येनोत्तभिताभूमिः' (अथर्व० १४।१।१) सत्य से ही तो सारा जगत् थमा हुआ है। (३) **विश्वाहा**=सदा **आपः**=जल इस सत्य के आधार से ही प्रवाहित होते हैं और **विश्वाहा**=सदा **सूर्यः**=सूर्य भी इस सत्य के आधार में ही **उदेति**=उदय होता है। 'ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति' (अथर्व० १४।१।१) आदित्य ऋत के आधार में ही स्थित हैं। सत्य के अभाव में जल भी अपनी मर्यादा को छोड़ जाते हैं और सूर्य भी मर्यादातीत तपनवाला होकर तपता है और अत्युष्णता व अतिशीतता के रूप में आधिदैविक आपत्तियाँ नहीं आती।

भावार्थ—सत्य ऐहिक व पारलौकिक उन्नति का कारण है। इससे सब समय व स्थान प्रकाशमय बनते हैं। यही आधिदैविक आपत्तियों से हमारा रक्षण करता है।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अद्भुत सूर्य ज्योति

न ते अदे॑वः प्रदिवो॒ नि वा॑सते॒ यदे॑त॒शेभिः॑ पत॒रै र॑थ॒र्यसि॑।
प्रा॒चीन॑म॒न्यदनु॑ वर्तते॒ रज॒ उद॒न्येन॒ ज्योति॑षा यासि सूर्य ॥ ३ ॥

(१) हे सूर्य! **यत्**=जब **पतरैः**=गमनशील **एतशेभिः**=सात रंगों से चित्रित किरणरूप अश्वों से **रथर्यसि**=तू अपने रथ को जोतने की कामना करता है तो **प्रदिवः ते**=प्रकृष्ट प्रकाशवाले तेरे उदय होने पर **अदेवः**=अप्रकाशित वस्तु **न निवासते**=नहीं रहती है। सूर्य निकला, तो अन्धेरे का क्या काम? सूर्य के किरणरूप अश्व 'एतश' हैं, चित्रविचित्र हैं। रंग-विरंगे होने से इनका नाम एतश है, इन्द्रधनुष में ये सातों रंग चित्रित होते हैं। (२) एक-एक किरण विविध प्राणशक्तियों को लिये हुए होती है। यह **प्राचीनम्**=पूर्व दिशा में उदय होनेवाले सूर्य का **अन्यत् रजः**=(रजतेर्ज्योतीरत्र उच्यते नि० ४।१९) यह विलक्षण प्रकाश **अनुवर्तते**=सबके अनुकूल होता है। सूर्य तो हिरण्यपाणि है, यह अपने किरणरूप हाथों में gold inyection को लिये हुए है। इन किरणों का अपने शरीर पर लेना सबके स्वास्थ्य के लिये हितकर है। (३) **उत**=और **सूर्य**=हे सूर्य! तू **अन्येन ज्योतिषा**=विलक्षण ज्योति के साथ ही तू **यासि**=अस्त होता है, पश्चिम दिशा में लोकान्तर में जाता है। अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में भी अद्भुत शक्ति होती है। 'उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः'=यह उदय व अस्त होता हुआ सूर्य किरणों से रोग-क्रिमियों का नाश करता है। इसकी ज्योति में यह अद्भुत शक्ति होती है। इसी का उल्लेख 'अन्यत्' शब्द से हुआ है। पूर्वा सन्ध्या व पश्चिमा सन्ध्या को सूर्याभिमुख होकर करने से हम शरीर के रोग-क्रिमियों को भी नष्ट कर रहे होते हैं।

भावार्थ—सूर्य सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर देता है और अद्भुत प्रकार से रोग-क्रिमियों का नाश करके नीरोगता प्रदान करता है।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सूर्य प्रकाश के चार लाभ

येन॑ सूर्य॒ ज्योति॑षा॒ बाध॑से॒ तमो॒ जग॑च्च॒ विश्व॑मुदि॒यर्षि॑ भा॒नुना॑।
तेना॒स्मद्विश्वा॒मनि॑रा॒मना॑हुति॒मपामी॑वा॒मप॑ दु॒ष्वप्न्यं॑ सुव ॥ ४ ॥

(१) **सूर्य**=हे सूर्य! **येन ज्योतिषा**=जिस ज्योति से **तमः बाधसे**=आप अन्धकार का विनाश करते हो, **च**=और **विश्वं जगत्**=इस सम्पूर्ण जगत् को **भानुना**=प्रकाश से **उदियर्षि**=उत्कृष्टता से प्राप्त होते हो **तेन**=उस प्रकाश के द्वारा **विश्वाम्**=सब **अनिराम्**=अन्न के अभाव को तथा परिणामतः **अनाहुतिम्**=यज्ञों के अभाव को, **अमीवाम्**=रोगों को तथा **दुःष्वप्न्यम्**=बुरे स्वप्नों के कारणभूत रोगमात्र को **अपसुव**=आप हमारे से दूर करिये। (२) सूर्य वर्षा के द्वारा अन्नोत्पत्ति का कारण बनता है। सूर्य की किरणों में पत्तों का क्लोरफिल कार्वन डायोक्साईड को फाड़कर कार्वन को अपने में रख लेता है और ऑक्सीजन को वायुमण्डल में भेज देता है। इस प्रकार सूर्य वृक्षों को भोजन प्राप्ति में सहायक होता है। अन्न की खूब उत्पत्ति होने पर यज्ञ भी उत्तमता से चलते हैं। (३) यह सूर्य रोगकृमियों की नाशक शक्ति के कारण हमारी नीरोगता को सिद्ध करता है। यह किरणों के द्वारा हमारे शरीरों में स्वर्ण के इंजक्शन्स करता है, इसी से यह 'हिरण्ययाणि' कहलाता है। हमें नीरोग बनाकर यह अशुभ स्वप्नों को भी दूर करता है। अस्वस्थ मनुष्य को ही अशुभ स्वप्न आते रहते हैं।

भावार्थ—सूर्य अपनी ज्योति से अन्नाभाव, यज्ञाभाव, रोग व अशुभ स्वप्नों को दूर करता है।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सूर्य की आराधना

विश्वस्य हि प्रेषितो रक्षसि व्रतमहेळयन्नुच्चरसि स्वधा अनु।
यदद्य त्वा सूर्योपब्रवामहै तं नो देवा अनु मंसीरत क्रतुम्॥ ५ ॥

(१) हे सूर्य! **प्रेषितः**=प्रभु से इस आकाश में प्रेषित हुआ-हुआ तू **विश्वस्य**=सबके **व्रतम्**=व्रत का **रक्षसि**=रक्षण करता है। तेरे प्रकाश में ही सब अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। **अहेडयन्**=किसी से भी घृणा न करता हुआ तू **स्वधा अनु**=आत्मतत्त्व के धारण का लक्ष्य करके (अनुर्लक्षणे) **रक्षसि**=उद्गत होता है सूर्य शरीर को नीरोग बनाता है और इस प्रकार इस शरीर में आत्मतत्त्व का धारण करता है। (२) **सूर्य**=हे सूर्य! **यद्**=जो **अद्य**=आज **त्वा उपब्रवामहै**=आपकी प्रार्थना करते हैं, **देवाः**=सब देव **नः**=हमारे **तं ऋतुम्**=उस सङ्कल्प को **अनुमंसीरत**=अनुमोदित करें। 'हम सूर्य का आराधन करनेवाले बनें' हमारे इस विचार को सब देव पुष्ट करें। सूर्य का आराधन यही है कि—(क) हम सूर्य की तरह निरन्तर गतिशील हों, (ख) किसी से भी घृणा न करते हुए सबके साथ समानरूप से वर्तनेवाले हों, (ग) सूर्य जैसे शुद्ध जल का ही उपादान करता है, इसी प्रकार हम सब जगह से गुणों का ही ग्रहण करनेवाले बनें। (घ) सूर्य जल की ऊर्ध्वगति का कारण होता है। इसी प्रकार हम शरीर में वीर्यशक्ति की ऊर्ध्वगति का साधन करें। (ङ) सूर्य रोग-कृमियों व अन्धकार का विनाशक है। हम भी शरीर में नीरोग बनें और मस्तिष्क में ज्ञान के प्रकाश से अज्ञानान्धकार को नष्ट करें। बस यही सूर्य की पञ्चविध उपासना है।

भावार्थ—हमारे शरीरस्थ सब देव हमें सूर्य का आराधक बनाएँ। इस आराधना से हम भी सूर्य की तरह चमकेंगे।

सूचना—प्रत्येक इन्द्रिय में एक-एक देव का वास है। मुख में 'अग्नि' का, अक्षिओं में 'सूर्य' का, कानों में दिशाओं का, मन में चन्द्रमा का। इसी प्रकार उस-उस इन्द्रिय में स्थित सब देव हमें सूर्योपासना की प्रेरणा दें। हम सूर्य-शिष्य बनते हुए चमकें।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पूर्ण परिपक्वावस्था की प्राप्ति

तं नो द्यावापृथिवी तन्न आप इन्द्रः शृण्वन्तु मरुतो हवं वचः।
मा शूने भूम सूर्यस्य संदृशि भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि ॥ ६ ॥

(१) **नः**=हमारे **तत्**=उस **हवं वचः**=स्तुति वचन को **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक सुनें, अर्थात् मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीरूप पृथिवी, गत मन्त्र में सूर्य के लिए किये गये स्तुति-वचन को तथा व्रत सङ्कल्प को **शृण्वन्तु**=सुनें। हम इनकी अनुकूलता से सूर्य की तरह गतिशील बन रहें। (२) **नः**=हमारे **तत्**=उस सङ्कल्प को **आपः**=जल सुनें, शरीर में जल रेतःकण हैं। ये रेतःकण हमारे व्रत के सङ्कल्प को पूर्ण करने में सहायक हों। (३) **इन्द्रः मरुतः**=इन्द्र और **मरुत्**=प्राण हमारे उस वचन को सुनें। जितेन्द्रियता तथा प्राणसाधना मुझे सूर्य के व्रत का पालन करने में समर्थ करें। मैं सूर्य की तरह गतिशील व उज्ज्वल बनूँ। इन्द्र सेनापति हैं, मरुत् उसके सैनिक हैं। अध्यात्म में इन्द्र 'जीव' है, प्राण उसके सैनिक हैं, मरुत् यहाँ ये प्राण ही हैं। इन प्राणों की साधना जीव को इस योग्य बनाती है कि वह सतत क्रियाशील होकर सूर्य की तरह चमकनेवाला बने। (४) हम द्यावापृथिवी, आपः, इन्द्र व मरुतों से यही प्रार्थना करते हैं कि हम **शूने**=(प्रवृद्धाय दुःखाय) बड़ी हुई दुःखमय स्थिति के लिये **मा भूम**=मत हों। हमारे दुःख न बढ़ते जायें। अपितु **सूर्यस्य संदृशि**=सूर्य के सन्दर्शन में **भद्रं जीवन्तः**=कल्याणमय जीवन को बिताते हुए **जरणाम्**=पूर्ण परिपक्वावस्था को **अशीमहि**=प्राप्त करें। 'सूर्य के सन्दर्शन में' ये शब्द स्पष्ट कर रहे हैं कि जीवन यथासम्भव खुले में (open में) बिताना ही ठीक है। जितना सूर्य-किरणों के सम्पर्क में होंगे, उतना ही अच्छा है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी आदि की अनुकूलता से हमारे दुःख दूर हों। सूर्य संदर्शन में भद्र जीवन बिताते हुए हम पूर्ण परिपक्वावस्था को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

नीरोग निष्पाप दीर्घ जीवन

विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवेदिवे ज्योग्जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ॥ ७ ॥

(१) हे **मित्रमहः**=(प्रमीतेः त्रायते, महस्=light, lustre) रोगों से बचानेवाली ज्योतिवाले **सूर्य**=सवितः! हम **विश्वाहा**=सदा **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **उद्यन्तं त्वा**=उदय होते हुए तुझको **प्रतिपश्येम**=प्रतिक्षण देखनेवाले बनें। (२) हम **त्वा**=तुझे देखनेवाले इसलिए हों कि तेरे दर्शन से, तेरी किरणों के सम्पर्क में आने से हम (क) **सुमनसः**=उत्तम मनोंवाले हों। वस्तुतः तेरी किरणों से उत्पन्न नीरोगता हमारे मनों को भी अच्छा बनानेवाली हो। (ख) **सुचक्षसः**=हम उत्तम दृष्टि-शक्तिवाले हों। सूर्य ही तो वस्तुतः चक्षु बनकर आँखों में रह रहा है। सो सूर्य सम्पर्क से दृष्टि-शक्ति बढ़ेगी ही। (ग) **प्रजावन्तः**=हम उत्तम प्रजाओंवाले हों। हमारे स्वस्थ होने पर हमारी सन्तानें स्वस्थ होंगी ही। (घ) **अनमीवाः**=हम सब प्रकार से नीरोग हों। सूर्य-किरणें रोग-कृमियों का ध्वंस करके हमें अनमीव बनाती हैं। (ङ) **अनागसः**=हमारे मन भी निष्पाप हों। शरीर नीरोग तथा मन निष्पाप। (च) इस प्रकार नीरोग व निष्पाप बनकर हम **ज्योग् जीवाः**=दीर्घकाल तक जीनेवाले हों। वस्तुतः सूर्य मित्र है, हमें सब रोगों व पाप-वृत्तियों से बचानेवाला है।

भावार्थ—हम सदा सूर्य-सम्पर्क में रहते हुए शरीर में नीरोग बनें, मनों में हम निष्पाप हों और इस प्रकार हम दीर्घजीवन को सिद्ध कर सकें।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

बुद्धि, मन व आँखें

महि ज्योतिर्बिभ्रतं त्वा विचक्षण भास्वन्तं चक्षुषेचक्षुषे मयः।
आरोहन्तं बृहतः पाजसस्परि वयं जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ॥ ८ ॥

(१) हे **विचक्षण**=सबका विशेषरूप से ध्यान करनेवाले **सूर्य**=सवितः! **वयं जीवाः**=हम जीवनधारी प्राणी **बृहतः पाजसः परि**=वृद्धि की कारणभूत शक्ति का लक्ष्य करके **आरोहन्तम्**=आकाश में आरोहण करते हुए **त्वा**=तुझे **प्रतिपश्येम**=प्रतिदिन देखनेवाले हों। उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों को नष्ट करता है और इस प्रकार हमें नीरोग बनाकर यह हमारी शक्ति का वर्धन करता है। यह 'हिरण्यपाणि' है, इसकी किरणरूप हाथों में स्वर्ण होता है, यह उस स्वर्ण को हमारे शरीरों में निक्षिप्त करके हमें शक्ति सम्पन्न करता है। (२) हे सूर्य! उस तुझको हम देखें जो **माहि ज्योतिः बिभ्रतम्**=महनीय ज्योति को धारण कर रहा है। **भास्वन्तम्**=दीप्तिवाला है। **चक्षुषेचक्षुषे मयः**=आँख मात्र के लिये हितकर है, दृष्टि-शक्ति को बढ़ानेवाला है। इस सूर्य की किरणों को अपने शरीरों पर लेते हुए हम भी अपनी बुद्धि में महनीय ज्योति को धारण करते हैं, हमारे हृदय प्रकाशमय हो उठते हैं और हमारी आँखें नीरोग होकर तीव्र दृष्टि-शक्तिवाली बनती हैं।

भावार्थ—सूर्य 'बुद्धि, मन व शरीर' सभी को स्वस्थ करनेवाला है। बुद्धि को ज्योति देता है, हृदय को प्रकाश तथा आँखों को नीरोगता।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अनागास्त्व व वसुमत्तरता

यस्य ते विश्वा भुवनानि केतुना प्र चेरते नि च विशन्ते अक्तुभिः।
अनागास्त्वेन हरिकेश सूर्याह्नाह्ना नो वस्यसावस्यसोदिहि ॥ ९ ॥

(१) हे **हरिकेश**=(हरयः केशाः यस्य) दुःखों के हरनेवाली किरणोंवाले **सूर्य**=सवितः! **यस्यते**=जिस तेरे **केतुना**=प्रकाश से **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणी **प्र ईरते**=प्रकर्षेण गति करते हैं **च**=और **अक्तुभिः**=तेरे प्रकाश की किरणों से ही **निविशन्ते**=अपने-अपने धर्म में दृढ़ता से लगते हैं (to be dwoted to), वह तू **अह्ना अह्ना**=दिनप्रतिदिन **अनागास्त्वेन**=निरपराधता से तथा **वस्यसा वस्यसा**=अधिकाधिक वसुमत्ता से **नः**=हमारे लिये **उदिहि**=उदित हो। (२) सूर्य की किरणें अपने अन्दर प्राणशक्ति को लेकर उदित होती हैं 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। इस प्राणशक्ति के संचार से ये सूर्य किरणें हमारे सब रोगरूप दुःखों का हरण करती हैं, सो सूर्य 'हरिकेश' कहलाता है। (३) सूर्य के प्रकाश में ही कुछ हिंस्र प्राणियों को छोड़कर सब प्राणी गतिशील होते हैं और धर्मात्मा लोग अपने-अपने धर्म कार्य में प्रवृत्त होते हैं (ईरते, निविशन्ते) अग्निहोत्रादि सब यज्ञ सूर्योदय पर ही प्रारम्भ होते हैं। (४) सूर्य हमें नीरोग ही नहीं बनाता, सर्वत्र प्रकाश को विस्तृत करके यह हमारी अपराध प्रवणता को भी कम करता है। रात्री में राक्षसों को प्रबल होने का यही भाव है कि अन्धकार में अपराध भी अधिक होते हैं एवं सूर्य 'अनागास्त्व' (=निरपराधता) का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त दिन में विविध कार्यों को करते हुए हम धनार्जन भी करनेवाले बनते हैं एवं यह सूर्य हमें 'वसुमत्तर' बनाता है (वसु=धन)।

भावार्थ—सूर्य हमें निरपराध जीवनवाला व वसुमत्तर बनाये।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चित्रं द्रविणं=अद्भुत बल

शं नो॑ भव॒ चक्ष॑सा॒ शं नो॒ अह्ना॒ शं भा॒नुना॒ शं हि॒मा शं घृ॒णेन॑।
यथा॒ शमध्व॒ञ्छमस॑द्दुरो॒णे तत्सू॑र्य॒ द्रवि॑णं धेहि चि॒त्रम्॥ १०॥

(१) हे **सूर्य**=सवितः! तू **नः**=हमारे लिये **चक्षसा**=दृष्टि-शक्ति के वर्धन के द्वारा **शं भव**=शान्ति को देनेवाला हो, (२) **नः**=हमारे लिए **अह्ना**=दिन में **शम्**=शान्ति को देनेवाला हो। **भानुना**=अपनी दीप्ति से तू **शम्**=शान्ति को देनेवाला हो। दिन में यह सूर्य का प्रकाश हमारे रोगादि को दूर करता हुआ हमें शान्ति को प्राप्त कराये। (२) हे सूर्य! तू **हिमा**=दक्षिणायन में होनेवाले शैत्य से **शम्**=हमें शान्ति को दे तथा **घृणेन**=उत्तरायण में होनेवाली उष्णता से **शम्**=हमें तू शान्ति को देनेवाला हो। ऋतुभेद से सर्दी-गर्मी की अधिकता शरीर की पुष्टि के लिये सहायक होती है। (३) हे सूर्य! तू **तत्**=उस **चित्रम्**=उद्भुत **द्रविणम्**=(strength, power, valonr, prowess) शक्ति को **धेहि**=धारण कर **यथा**=जिससे **अध्वन्**=मार्ग में, अर्थात् घर से बाहिर यात्रा में **शम्**=शान्ति हो तथा **दुरोणे**=घर पर भी **शं असत्**=हमें शान्ति प्राप्त हो। सूर्य प्रकाश में सब व्यवहार करने से शरीर स्वस्थ बना रहता है, शरीर शक्ति सम्पन्न होता है और वह विविध परिवर्तनों को सहनेवाला होता है। शरीर में इस सहनशक्ति के न होने पर शीघ्र विकार आ जाने की सम्भावना होती है।

भावार्थ—सूर्य से दृष्टि-शक्ति में वृद्धि होती है और वह अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है जो, क्या बाहर और क्या घर, सर्वत्र हमें स्वस्थ रखती है।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शान्ति-निर्भयता-निष्पापता

अ॒स्माकं॑ देवा उ॒भया॑य॒ जन्म॑ने॒ शर्म॑ यच्छत द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे।
अ॒दत्पिब॑दू॒र्जय॑मा॒न॒माशि॑तं॒ तद॒स्मे शं योर॑र॒पो द॑धातन॥ ११॥

(१) हे **देवाः**=सब प्राकृतिक (भौतिक) शक्तियो! **अस्माकम्**=हमारे **उभयाय जन्मने**=दोनों प्रकार के प्राणियों के लिये, **द्विपदे**=मनुष्यों के लिये (दो पाँववालों के लिये) तथा **चतुष्पदे**=गवादि पशुओं के लिये **शर्म**=कल्याण को **यच्छत**=दीजिये। देवों की अनुकूलता ही हमें स्वस्थ बनाती है। (२) इन देवों की अनुकूलता से हमारे सब व्यक्ति **अदत् पिबत्**=खाते हुए व पीते हुए, अर्थात् अपचन आदि रोगों से पीड़ित न हुए-हुए और अतएव **ऊर्जयमानम्**=(ऊर्जस्वन्तं इव आचरन्) सबल पुरुष की तरह आचरण करते हुए **आशितम्**=तृप्त हों। इन्हें खान-पान आदि की कमी न हो। (३) **तद्**=सो हे देवो! आप **अस्मे**=हमारे लिये **शम्**=शान्ति को **योः**=भयों के यावन-दूरीकरण को तथा **अरपः**=निर्दोषता को **दधातन**=धारण करिये। आपकी कृपा से हम 'शान्त, निर्भय व निष्पाप' बनें। वस्तुतः बाह्य देवों की अन्दर के देवों से अनुकूलता न होने पर ही सब अशान्ति व भय उत्पन्न होता है। शरीर का स्वास्थ्य बिगड़कर मानस-स्वास्थ्य भी बिगड़ता है और पाप प्रवृत्ति बढ़ती है।

भावार्थ—सब देवों की अनुकूलता से हम सुखी हों हमारी पाचन-शक्ति ठीक हो, हमारे जीवन में शान्ति, निर्भयता व निष्पापता हो।

ऋषिः—**अभितपाः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जिह्वाकृत व मनःकृत दोष

यद्वो देवाश्चकृम जिह्वया गुरु मनसो वा प्रयुती देवहेळनम्।
अरावा यो नो अभि दुच्छुनायते तस्मिन्तदेनो वसवो नि धेतन ॥ १२ ॥

(१) हे **देवाः**=सब प्राकृतिक देवो! **जिह्वया**=जिह्वा से **मनसः प्रयुती वा**=अथवा मन के उन इन्द्रियों से मिल जाने से, इन्द्रियों से मिलकर विषयों में भटकने से ('इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि') **यद्**=जो **वः**=आपका **गुरु**=महान् **देवहेडनम्**=देवों का निरादर **चकृम**=कर बैठते हैं, **तद् एनः**=उस पाप को, हे **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले देवो! **तस्मिन्**=उस पुरुष में **निधेतन**=धारण करो **यः**=जो **अरावा**=न दान देनेवाला है, भोगवृत्तिवाला होने से स्वयं सब कुछ खा जानेवाला है और **नः अभि**=हमारा लक्ष्य करके **दुच्छुनायते**=अशुभ का आचरण करता है, अर्थात् हमें हानि पहुँचाकर भी अपने भोग-साधनों को जुटाने के लिये यत्नशील होता है। (२) शरीर का निर्माण करनेवाले देवों के विषय में अपराध यही है कि हम जिह्वा के स्वादवश अधिक व अपथ्य को खा जाएँ तथा हमारा मन भी इन इन्द्रियों से मिलकर मजा लेने लग जाए। यह मार्ग निश्चितरूप से अस्वास्थ्य का मार्ग है। (३) यह अपराध तो उसी से हो जो (क) दान देने की वृत्तिवाला न होकर (अरावा) सब कुछ स्वयं उपभोग करनेवाला हो तथा (ख) जो अपने भोग के लिये अन्याय से भी अर्थ-संचय करता हुआ औरों का अशुभ करने की वृत्तिवाला हो। जो कोई भी इस अपराध को करेगा वह इन शरीरस्थ देवों का निरादर कर रहा होगा। यह निरादर उसकी आधि-व्याधियों को जन्म देनेवाला होगा।

भावार्थ—हम जिह्वा के व मन के संयम से सब देवों के अनुकूल वृत्तिवाले हों। दान देने की वृत्तिवाले होकर किसी का अमंगल न करें।

ऋत के द्वारा प्रभु के पूजन से यह सूक्त प्रारम्भ हुआ है। (१) ऋत व सत्य ही ऐहिक व पारलौकिक उन्नति का कारण है, (२) सूर्य की ज्योति अद्भुत है, (३) सूर्य अपनी ज्योति से 'अन्नाभाव, यज्ञाभाव, रोग व अशुभ स्वप्नों' को दूर कर देता है, (४) हमारे शरीरस्थ सब देव हमें सूर्य का आराधक बनाएँ, (५) सूर्य-संदर्शन में भद्र जीवन बिताते हुए हम पूर्ण परिपक्वावस्था को प्राप्त करें, (६) हम नीरोग, निष्पाप व दीर्घजीवन प्राप्त करें, (७) सूर्य 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी को स्वस्थ करे, (८) अनागास्त्व व वसुमत्तरता को हम प्राप्त करें, (९) यह सूर्य हमें अद्भुत बल देता है, (१०) शान्ति, निर्भयता व निष्पापता को प्राप्त कराता है, (११) स्वस्थ रहने के लिये हम जिह्वा व मन से देवों के विषय में कोई अपराध न करें। अपथ्य व अतिभोजन ही वह सर्वमहान् पाप है, (१२) हम देवों के विषय में अपराध नहीं करेंगे तो सुगठित शरीरवाले (मुष्कवान्) जितेन्द्रिय पुरुष बन पाएँगे (इन्द्रः)। यह 'मुष्कवान् इन्द्र' अगले सूक्त का ऋषि है।

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**इन्द्रो मुष्कवान्** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

संग्राम

अस्मिन्न इन्द्र पृत्सुतौ यशस्वति शिमीवति क्रन्दसि प्राव सातये।
यत्र गोषाता धृषितेषु खादिषु विष्वक्पतन्ति दिद्यवो नृषाह्ये ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्, सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **अस्मिन्**=इस

यशस्वति=उत्तम यश को देनेवाले, **शिमीवति**=उत्तम कर्मोंवाले, **क्रन्दसि**=आह्वान-प्रत्याह्वानवाले **पृत्सुतौ**=संग्राम में **नः**=हमें **सातये**=विजय की प्राप्ति के लिये **प्राव**=प्रकर्षेण रक्षित करिये। संग्राम में यशोंवाले कार्य होते ही हैं, इसमें दोनों सेनाएँ एक दूसरे को युद्ध के लिये ललकारती हैं, सो संग्राम के लिये यहाँ तीन विशेषण दिये गये हैं 'यशस्वति, शिमीवति, क्रन्दसि'। यहाँ अध्यात्म में कामादि शत्रुओं से हमारा यह संग्राम निरन्तर चलता है। इस संग्राम में प्रभु ही हमारे रक्षक होते हैं और हमें विजय प्राप्त कराते हैं। (२) ये संग्राम वे हैं **यत्र**=जिन **गोषाता**=गौ आदि पशुओं के प्राप्ति के कारणभूत **नृषाह्ये**=वीर पुरुषों से ही सहने योग्य संग्रामों में **धृषितेषु खादिषु**=उठकर मुकाविला करनेवाले, एक दूसरे को खा जानेवाले, समाप्त करनेवाले, सैनिकों पर **विष्वक्**=सब ओर से **दिद्यवः**=अस्त्र **पतन्ति**=गिरते हैं। संग्राम में चारों ओर मार-काट हो रही होती है। उस संग्राम के दृश्य को वीर पुरुष ही सहन कर सकते हैं। कायर तो धनुष् की टंकार सुनते ही भाग खड़े होते हैं। संग्राम में विजय हमें शत्रुओं के गवादिरूप धन का स्वामी बना देती है।

भावार्थ—संग्राम हमारे यश का कारण होता है, इसमें विजय हमें धन को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**इन्द्रो मुष्कवान्**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पर्याप्त व प्रशंसनीय धन

स नः क्षुमन्तं सदने व्यूर्णुहि गोअर्णसं रयिमिन्द्र श्रवाय्यम्।
स्याम ते जयतः शक्र मेदिनो यथा वयमुश्मसि तद्वसो कृधि॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं के संहार करनेवाले इन्द्र! **सः**=वह आप **नः**=हमारे **सदने**=घर में **रयिम्**=धन को **व्यूर्णुहि**=विविधरूप से आच्छादित करिये। अर्थात् हमारे घर को धन से भर दीजिये। उस धन से जो—(क) **क्षुमन्तम्**=अन्नवाला है, (ख) **गो अर्णसम्**=(गावः गोदुग्धानि अर्णः उदकमिव यस्मिन्) पानी की तरह सुलभ दूधवाला है तथा (ग) **श्रवाय्यम्**=श्रवणीय-कीर्ति से युक्त है। ऐसे उत्तम धनों से हमारा घर भरपूर हो। (२) हे **शक्त**=शत्रुओं को जीतने में समर्थ प्रभो! **जयतः ते**=हमारे शत्रुओं को जीतते हुए आपके हम **मेदिनः**=स्नेहवाले (ञिमिदा स्नेहने) अथवा मेदस्वाले, अर्थात् बलवान् **स्याम**=हों। आपके सम्पर्क से हमारे में भी आपकी शक्ति का संचार हो। (३) हे **वसो**=उत्तम निवास को देनेवाले प्रभो! **यथा**=जैसे **वयम्**=हम **उश्मसि**=चाहते हैं और चमक उठते हैं, (वश् to shine) **तद् कृधि**=आप वैसा ही करने की कृपा करिये। आपकी कृपा से हमारी कामनाएँ पूर्ण हों हम चमक उठें।

भावार्थ—हमें खाने-पीने के लिये पर्याप्त अन्न व दुग्ध को प्राप्त करानेवाला प्रशंसनीय धन प्राप्त हो। हम उस विजय को प्राप्त करानेवाले प्रभु के प्रिय हों। प्रभु कृपा से हमारी कामनाएँ पूर्ण होती है, प्रभु ही हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो मुष्कवान्**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विजय

यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुतादेव इन्द्र युधये चिकेतति।
अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान्वनुयाम संगमे॥ ३॥

(१) हे **पुरुष्टुत**=खूब ही स्तुत होनेवाले **इन्द्र**=सब बल के कार्यों को करनेवाले प्रभो! **यः**=जो कोई **दासः आर्यो वा**=शूद्र अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य **अदेवः**=अदिव्य वृत्तिवाला होता हुआ **नः**=हमें **युधये चिकेतति**=युद्ध के लिये जानता है, अर्थात् हमारे साथ युद्ध के लिये

उठ खड़ा होता है, **ते शत्रवः**=वे सब शत्रु **अस्माभिः**=हमारे से **सुषहाः सन्तु**=सुगमता से अभिभव करने योग्य हों। हम अपने शत्रुओं को जीत सकें, चाहे वे शत्रु दास हों और चाहे आर्य। यदि उनमें युद्ध की यह अदिव्य वृत्ति जाग उठी है और वे हमारे पर अन्याय से आक्रमण करते हैं, तो हम अपना रक्षणात्मक युद्ध करते हुए उनको पराजित करनेवाले हों। (२) हे प्रभो! **त्वया**=आपके साथ **वयम्**=हम **तान्**=उनको **संगमे**=युद्ध की टक्कर में **वनुयाम**=जीत सकें। प्रभु की सहायता के बिना विजय सम्भव नहीं होता। प्रभु का स्मरण करना चाहिये, यह स्मरण ही हमें विजयी बनायेगा।

भावार्थ—यदि कोई हमारे पर आक्रमण करे तो रक्षणात्मक युद्ध को करते हुए हम उन शत्रुओं को पराजित करनेवाले हों।

ऋषिः—**इन्द्रो मुष्कवान्**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सस्त्रि-श्रुत-नर'

यो द॒भ्रेभि॒र्हव्यो॒ यश्च॒ भूरि॑भि॒र्यो अ॒भीके॑ वरिवो॒वित्नृ॒षाह्ये॑।
तं वि॑खा॒दे सस्नि॑म॒द्य श्रु॒तं नर॑म॒र्वाञ्च॒मिन्द्र॒मव॑से करामहे ॥ ४ ॥

(१) **नृषाह्ये**=वीर पुरुषों से ही सहने योग्य, **विखादे**=कायरों को खा जानेवाले **अभीके**=संग्राम में हम **तम्**=उस **सस्निम्**=उपासकों के जीवनों को पवित्र बनानेवाले **श्रुतम्**=प्रसिद्ध **नरम्**=हमें आगे ले चलनेवाले प्रभु को **अद्य**=आज **अवसे**=रक्षण के लिये **अर्वाञ्चम्**=अपने अभिमुख **करामहे**=करते हैं, अर्थात् उसकी आराधना करते हैं, **यः**=जो **दभ्रेभिः**=अल्पसंख्यावालों से **हव्यः**=पुकारने योग्य होता है **यः च**=और जो **भूरिभिः**=बहुतों से भी पुकारा जाता है और **यः**=जो प्रभु **वरिवोवित्**=सब वरणीय धनों को प्राप्त करानेवाले हैं। (२) संग्राम में सब कोई प्रभु का आराधन करता है। प्रभु के आराधन से ही वह शक्ति प्राप्त होती है जो हमें संग्राम में विजयी बनाती है। यह संग्राम में वीरों के लिये सह्य होता है तो कायरों को तो खा ही जाता है, सो यह 'नृषाह्य व विखाद' है। प्रभु हमारे जीवनों व मनों को पवित्र करते हैं, वे 'सस्नि' हैं, यह पवित्रता ही विजय में सहायक होती है।

भावार्थ—संग्राम में हम प्रभु का स्मरण करें, वे हमें पवित्रता देकर अवश्य विजयी बनायेंगे।

ऋषिः—**इन्द्रो मुष्कवान्**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्र

स्व॒वृजं॒ हि त्वाम॒हमि॑न्द्र शु॒श्रवा॑नानु॒दं वृ॑षभ रध्र॒चोद॑नम्।
प्र मु॑ञ्चस्व॒ परि॑ कु॒त्सादि॒हा ग॑हि॒ किमु॒ त्वावा॑न्मु॒ष्कयो॒र्बद्ध आ॑सते ॥ ५ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले इन्द्र! **अहम्**=मैं **हि**=निश्चय से **त्वाम्**=तुझे **स्ववृजम्**=स्वयमेव शत्रुओं का वर्जन व छेदन करनेवाला **शुश्रवा**=सुनता हूँ। **अनानुदम्**=तुझे मैं अनपेक्षित बलानुप्रदान जानता हूँ। तुझे किसी दूसरे से शक्ति के प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं होती। (२) हे **वृषभ**=शक्तिशाली व सुखों का वर्षण करनेवाले इन्द्र! तुझे मैं **रध्रचोदनम्**=आराधक को प्रेरणा देनेवाले के रूप में सुनता हूँ (रध्र=worshi ppring) जो भी तेरी आराधना करता है उसे आप उत्तम प्रेरणा देते हो। (३) **परि कुत्सात्**=चारों ओर वर्तमान अशुभ व निन्दनीय कर्ममात्र से तू अपने को **प्रमुञ्चस्व**=छुड़ा और **इह**=यहाँ हमारे पास **आगहि**=आ। प्रभु के समीप पहुँचने का मार्ग यही है कि हम शक्तिशाली बनें, संग्राम में पराजित न हों। सब

अशुभों को छोड़नेवाले बनें। (४) प्रभु कहते हैं कि **किं उ**=और क्या **त्वावान्**=तेरे जैसा व्यक्ति **मुष्कयोः बद्धः आसते**=भोग-विलास में बद्ध हुआ-हुआ पड़ा रहता है। नहीं, इन्द्र को यह विलास शोभा नहीं देता। इन्द्र तो सब विलासों से ऊपर उठकर आसुर-वृत्तियों का संहार ही करता है।

भावार्थ—इन्द्र वह है जो अपनी शक्ति से शत्रुओं का छेदन करता है और जिसे कभी विलास अपने अधीन नहीं कर लेते।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि संग्राम हमारे यश का कारण होता है, (१) हम विजय को प्राप्त करानेवाले प्रभु के प्रिय हों, (२) हम आक्रान्ता शत्रुओं को पराजित करनेवाले हों, (३) संग्राम में प्रभु का स्मरण करें, (४) प्रभु कृपा से 'इन्द्र' बनें और विलास में न फँस जायें, (५) हम कामादि को युद्ध के लिये ललकारनेवाले हों और संग्राम के लिये कटिबद्ध हो जाएँ। युद्ध के लिये लकारनेवाली 'घोषा', बद्धकक्ष 'काक्षीवती' प्रस्तुत सूक्तों की ऋषिका है। वह कहती है—

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'परिज्मा सुवृत् रथ'

यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता।
शश्वत्तमासस्तमु वामिदं वयं पितुर्न नाम सुहवं हवामहे॥ १ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यः**=जो **वाम्**=आप दोनों का **परिज्मा**=सर्वतो गन्ता-विविध कार्यों में व्याप्त होनेवाला **सुवृत्**=शोभन रूप में चलनेवाला **रथः**=यह शरीर रूप रथ है, वह **दोषां उषासः**=दिन-रात, अर्थात् सदा **हविष्मता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले पुरुष से **हव्यः**=पुकारने के योग्य है, प्रार्थनीय है, चाहने योग्य है। हम त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बने इससे यह शरीर रूप रथ सदा शोभन-स्थिति में रहेगा (सुवृत्) और यह विविध कार्यों के करने के क्षम बना रहेगा (परिज्मा)। (२) हे अश्विनी देवो! **वाम्**=आपके **तं अस्तु**=उस इस शरीर को **शश्वत्तमासः** (शश् प्लुतगतौ)=अत्यन्त प्लुतगतिवाले, स्फूर्तिवाले आलस्य से शून्य **वयम्**=हम **हवामहे**=पुकारते हैं, ऐसे शरीर की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। उसी प्रकार पुकारते हैं **न**=जैसे **पितुः**=उस परमपिता परमात्मा के **सुहवंनाम**=सुगमता से पुकारने योग्य नाम को। प्रभु के नाम का जप करते हुए शरीर रूप सुन्दर रथ के लिये आराधना करते हैं। हमारा यह शरीर रूप रथ निरन्तर हमें जीवनयात्रा में आगे ले चले, हम क्रियाशील हों और प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारा शरीर रूप रथ परितो गन्ता व शोभन हो और हम प्रभु के नाम का सतत स्मरण करें।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उत्तम जीवन

चोदयतं सूनृताः पिन्वतं धिय उत्पुरन्धीरीरयतं तदुश्मसि।
यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम्॥ २ ॥

(१) हे **अश्विना**=अश्विनी देवो, प्राणापानो! **सूनृताः चोदयतम्**=सूनृत वाणियों को हमारे में प्रेरित करिये। इन प्राणों की साधना से हमारे में अशुभ बोलने की वृत्ति न रहे, हम जब बोलें

सूनृत वाणी ही बोलें। वह वाणी **सु**=उत्तम हो, **ऊन्**=दु:खों का परिहाण करनेवाली हो तथा **ऋत**=सत्य हो। (२) हे अश्विनी देवो! आप **धियः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों को **पिन्वतम्**=(पूरयतम्) हमारे में पूरित करिये। हम कर्मशील हों और हमारे कर्म समझदारी से किये जायें। **उत**=और इसी दृष्टिकोण से आप हमारे में **पुरन्धीः**=(बह्वीः प्रज्ञाः) पालक व पूरक बुद्धियों को **ईरयतम्**=उद्गत करिये। हमारी बुद्धि सदा पालनात्मक व पूरणात्मक दृष्टिकोण से सोचनेवाली हो। (३) **तद् उश्मसि**=सो हम यही चाहते हैं कि (क) हम सूनृत वाणी बोलें, (ख) ज्ञानपूर्वक कर्मों को करें और (ग) पालक व पूरक बुद्धियों से युक्त हों। इस सब को प्राप्त करने के लिये हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यशसं भागम्**=यशस्वी-यश के कारणभूत, भजनीय धन को **नः**=हमारे लिये **कृणुतम्**=करिये। भजनीय धन वही है जो कि (क) सुपथ से कमाया जाए तथा (ख) यज्ञों में विनियुक्त होकर यज्ञशेष के रूप में ही सेवित हो। (४) हे प्राणापानो! आप **नः**=हमारे **मघवत्सु**=ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले पुरुषों में **सोमं न**=सोम की तरह **चारुम्**=(चारुः चरतेः नि० ८।१५) क्रियाशीलता को **कृतम्**=उत्पन्न करिये। वे सोम (=वीर्य) का रक्षण करते हुए ओजस्वी बनें और क्रियाशील हों।

भावार्थ—'सूनृत वाणी, धी, पुरन्धी, यशस्वी धन, सोम=वीर्य, व क्रियाशीलता' ये चीजें मिलकर जीवन को उत्तम बनाती हैं।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राणसाधना व स्वास्थ्य

अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगोऽनाशोश्चिदवितारापमस्य चित्।
अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित्॥ ३ ॥

(१) **अमाजुरः**=शरीर रूप गृह में (अमा) जीर्ण होनेवाले के **चिद्**=भी **युवम्**=हे प्राणापानो! आप दोनों **भगः**=ऐश्वर्य **भवथः**=होते हैं। प्राणापान की शक्ति के अभाव में मनुष्य इस शरीर में जीर्ण हो जाता है, प्राणापान ही उसे स्वास्थ्य का ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। इस वाक्य का यह अर्थ भी ठीक ही है कि आपके अभाव में शक्ति के न होने से घर पर पड़े-पड़े ही जीर्ण हो जानेवाले पुरुष को भी आप इस योग्य बनाते हो कि वह देशदेशान्तर में जाकर ऐश्वर्य का कमानेवाला बने। (२) **अनाशोः चित्**=जो खा भी नहीं सकता था उसके भी आप **अवितारा**=रक्षक होते हो। **अपमस्य चित्**=उस व्यक्ति के भी आप रक्षक होते हो जो स्वास्थ्य की बड़ी हीन (अपम) अवस्था को प्राप्त हो गया है। (३) हे **नासत्या**=नासिका प्रदेश में निवास करनेवाले (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) अथवा (न असत्यौ) सब असत्यों व बुराइयों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **युवं इत्**=आपको ही **अन्धस्य चित्**=दृष्टिशक्ति से रहित का **कृशस्य चित्**=अत्यन्त दुर्बल अवस्था को प्राप्त हुए-हुए का तथा **रुतस्य चित्**=(brokem to pieces) युद्धादि में भग्नास्थि पुरुष का भी **भिषजा**=वैद्य **आहुः**=करते हैं। प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से दृष्टिशक्ति ठीक होती है, कृशता दूर होकर शरीर को उचित सौन्दर्य प्राप्त होता है और अस्थि आदि उत्पन्न भंग भी शीघ्र ठीक हो जाता है। बालक का अस्थिभंग वृद्ध के अस्थिभंग की अपेक्षा अतिशीघ्र ठीक हो जाता है।

भावार्थ—प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से ही पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है और मनुष्य ऐश्वर्य

सम्पन्न हो पाता है।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पुनर्युवा

युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः।
निष्टौग्र्यमूहथुरद्भ्यस्परि विश्वेत्ता वां सवनेषु प्रवाच्या॥ ४॥

(१) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **सनयम्**=पुराणभूत, बूढ़े से हुए-हुए **च्यवानम्**=च्युत-क्षरितवाले पुरुष को **पुनः**=फिर **यथारथम्**=(रथस्य योयाम्) अनुरूप (fit) शरीर रूप रथवाला **युवानम्**=नौजवान **तक्षथुः**=बना देते हो जिससे **चरथाय**=वह जीवनयात्रा में उत्तमता से चल सके। बूढ़ा-सा व्यक्ति भी प्राणापान की साधना से नौजवान हो जाता है। (२) प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। 'तुग्र्या' शब्द पानी व रेतःकणों के लिये आता है (तुग्र्या=water)। इन रेतःकणों की रक्षा करनेवाला 'तुग्रयासु साधुः' तौग्र्य कहलाता है। इस **तौग्र्यम्**=तौग्र्य को हे प्राणापानो! **अद्भ्यः**=(आपः रेतो भूत्वा) रेतःकणों के द्वारा **परि-निरूहथुः**=आप सब रोगों से पार कर देते हो। (३) इस प्रकार **वाम्**=हे अश्विनी देवो! आपके **विश्वा इत्ता**=सब वे कर्म निश्चय से **सवनेषु**=जीवनयज्ञ के २४ वर्ष तक के प्रातः सवन में, ४४ वर्ष के माध्यन्दिन सवन में और ४८ वर्ष के तृतीय सवन में **प्रवाच्या**=प्रकर्षेण कथन के योग्य होते हैं। इन प्राणापानों की कृपा से वृद्धावस्था दूर होती है और शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर मनुष्य रोग समुद्र में डूबता नहीं।

भावार्थ—प्राणापान मनुष्य को पुनर्युवा बना देते हैं और रोग-समुद्र में डूबने से बचाते हैं।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

श्रत् (=सत्य) का धारण

पुराणा वां वीर्या३ प्र ब्रवा जनेऽथो हासथुर्भिषजा मयोभुवा।
ता वां नु नव्याववसे करामहेऽयं नासत्या श्रदरिर्यथा दधत्॥ ५॥

(१) हे **नासत्या**=नासिका में रहनेवाले अथवा असत्य से रहित प्राणापानो! **अयम्**=यह मैं **वाम्**=आप दोनों के **पुराणा**=सनातन **वीर्या**=शक्तियों को **जने**=लोगों में **प्रब्रवा**=खूब ही कहता हूँ। **अथो**=और **ह**=निश्चय से आप दोनों **मयोभुवा**=कल्याण का भावन करनेवाले **भिषजा**=वैद्य **असथुः**=हो। इन प्राणापानों की साधना से सब रोग दूर होते हैं और कल्याण की प्राप्ति होती है। (२) **ता वाम्**=उन आप दोनों को **अवसे**=रक्षण के लिये **नव्या**=स्तुति के योग्य **करामहे**=करते हैं। हम प्राणापानों का स्तवन करते हैं और वे प्राणापान हमारा रक्षण करते हैं। (३) हे प्राणापानो! आप ऐसी ही कृपा करो **यथा**=जिससे **अयं अरिः**=यह आपका उपासक **श्रत् दधत्**=सत्य का धारण करनेवाला हो। इस उपासक का शरीर रोगों से रहित होकर नीरोग हो, इसका मन द्वेषादि से रहित होकर प्रेमपूर्ण हो, इसकी बुद्धि तीव्र व सात्त्विक हो। शरीर में रोग ही असत्य है, मन में द्वेष असत्य है और बुद्धि में मन्दता असत्य है। ये रोग द्वेष व मन्दता प्राणसाधना से दूर होती है और इन प्राणों का उपासक सत्य (श्रत्) को धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणापान कल्याण करनेवाले वैद्य हैं। इनका उपासक 'नीरोगता-निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता' रूप सत्य को धारण करता है।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राण-महत्त्व (प्राण ही सर्वस्व हैं)

इयं वामह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्।
अनापिरज्ञा असजात्यामतिः पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम्॥ ६ ॥

(१) इन मन्त्रों की ऋषिका 'घोषा' कहती है कि **इयम्**=यह मैं **वाम्**=आप दोनों को **अह्वे**=पुकारती हूँ। **मे शृणुतम्**=मेरी प्रार्थना को आप सुनिये। हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मह्यम्**=मेरे लिये उसी प्रकार **शिक्षतम्**=(धनं दत्तम् सा०) स्वास्थ्य आदि के धन को दीजिये **इव**=जैसे कि **पुत्राय**=पुत्र के लिये **पितरा**=माता-पिता धन देने की कामना करते हैं। (२) हे प्राणापानो! आपके बिना तो मैं **अनापिः**=बन्धु-शून्य हूँ। वस्तुतः हे प्राणापानो! आप ही मेरे बन्धु हो। **अज्ञा**=आप के अभाव में मैं ज्ञानशून्य हूँ। प्राणसाधना से ही ज्ञान की भी वृद्धि होती है। **असजात्या**=आपके अभाव में मेरा कोई सजात्य नहीं है। जीते के ही सब रिश्तेदार हैं, प्राणों के साथ ही बिरादरी है। प्राण गये, सब गये। **अमतिः**=आपके अभाव में मेरी मनन शक्ति भी तो समाप्त हो जाती है। प्राणसाधना से ही मति का प्रकर्ष प्राप्त होता है। (३) हे प्राणापानो! **तस्याः**=उस 'अनापित्व, अज्ञत्व, असजात्यत्व व अमतित्व' रूपी **अभिशस्तेः**=हानि (hurt, injury) से **पुरा**=पूर्व ही आप **अवस्पृतम्**=मुझे सब रोग आदि कष्टों से पार करो। रोगों से ऊपर उठकर, प्राण-सम्पन्न जीवन को बिताते हुए मैं मित्रों को भी प्राप्त करूँगी, मेरा ज्ञान उत्कृष्ट होगा, कितने ही मेरे सजात्य होंगे और मेरी मति भी खूब ठीक ही होगी।

भावार्थ—प्राणों के साथ ही मित्र हैं, ज्ञान है, रिश्तेदार हैं और मननशील मन है।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विमद का पुरुमित्र की योषणा से परिणय

युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्।
युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरन्धये॥ ७ ॥

(१) हे अश्विनी देवो! **युवम्**=आप दोनों **वि-मदाय**=मद व गर्वरहित पुरुष के लिये **रथेन**=इस शरीररूप रथ के द्वारा **पुरुमित्रस्य**=(सर्वमित्रस्य) प्राणिमात्र के मित्र उस प्रभु की **शुन्ध्युवम्**=शुद्ध करनेवाली, जीवन को शुद्ध बनानेवाली **योषणाम्**=(यु-मिश्रणामिश्रणयोः) अवगुणों से पृथक् करनेवाली व गुणों से युक्त करनेवाली वेदवाणि को **न्यूहथुः**=निश्चय से प्राप्त कराते हो। प्राणसाधना के होने पर बुद्धि तीव्र होती है और मनुष्य अपने इस मानव जीवन में ज्ञान की वाणियों का संग्रह करता है। ये वाणियाँ उसे उत्तम प्रेरणा देती हुई उसके जीवन को शुद्ध बनाती हैं। यह प्रभु की योषणा (शं० ३।२।१।२२ योषा वा इवं वाक्) विमद को प्राप्त होती है, यही विमद का पुरुमित्र की योषणा से विवाह है। अभिमानी ज्ञान को नहीं प्राप्त कर पाता। (२) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **वध्रिमत्याः**=अपनी इन्द्रियों को संयमयज्ञ द्वारा बन्धन में बाँधनेवाली के **हवं अगच्छतम्**=पुकार को सुनकर उसको प्राप्त होते हो। अर्थात् प्राणापान उसी को लाभ पहुँचा पाते हैं जो कि संयमी होकर युक्ताहार-विहारवाला बने। वस्तुतः प्राणसाधना स्वयं संयम की साधना में सहायक होती है। (३) युवम्=आप दोनों **पुरन्धये**=पालक व पूरक बुद्धिवाली के लिये **सुषुतिम्**=उत्तम ऐश्वर्य को **चक्रथुः**=करते हो। अर्थात् प्राणसाधना से मनुष्य उत्तम बुद्धि को सम्पादन करनेवाला होता है और बुद्धिपूर्वक व्यवहार से उत्तम ऐश्वर्य को सिद्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम निरभिमान व ज्ञानवान् बनते हैं। हमारा जीवन संयमवाला होता है और बुद्धियुक्त होकर हम ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कलि, वन्दन व विश्पला

युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः।
युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुर्युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथः॥ ८॥

(१) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **जरणां उपेयुषः**=वृद्धावस्था को प्राप्त हुए-हुए **विप्रस्य**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **कले**=(कल संख्याने=to think) विचारशील पुरुष के **पुनः**=फिर से **युवद्वयः**=यौवनावस्था को **अकृणुतम्**=करते हो, विचारशील व अपना पूरण करनेवाला पुरुष वृद्धावस्था में भी युवा ही बना रहता है। वह भोजन के संयम से शक्ति को जीर्ण नहीं होने देता और प्राणसाधना के द्वारा रोगों को अपने से दूर रखता है। परिणामतः युवा बना रहता है। (२) **युवम्**=आप दोनों **वन्दनम्**=स्तुति करनेवाले को, प्रभु के उपासक को, **ऋश्यदात्**=(ऋश्यं=killing द=देनेवाला) विनाश के कारणभूत व्यसनकूप से **उदूपथुः**=ऊपर उठाते हो। प्रभु का स्तोता प्राणसाधना के द्वारा व्यसनों का शिकार नहीं होता। प्राणसाधक स्तोता की वृत्ति सदा उत्तम बनी रहती है। (३) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **विश्पलाम्**=प्रजाओं का उत्तमता से पालन करनेवाली को **सद्यः**=शीघ्र ही **एतवे**=गति के लिये **कृथः**=करते हो। कोई भी गृहिणी जो कि सन्तानों का उत्तमता से पालन करना अपना कर्त्तव्य समझती है वह प्राणसाधना से आयसी जंघा (अनथक लोहे की टाँगें) प्राप्त करके क्रिया में लगी रहती है। प्राणापान की साधना से इसे थकावट नहीं आती और यह अनथक कार्य करती हुई सन्तानों का समुचित पालन कर पाती है और अपने 'विश्पला' नाम को सार्थक करती है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना के तीन लाभ हैं—(क) वार्धक्य का न आना, (ख) व्यसनों में न फँसना और (ग) अनथक क्रियाशीलता।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'रेभ' व 'सप्तवध्रि-अत्रि'

युवं ह रेभं वृषणा गुहा हितमुदैरयतं ममृवांसमश्विना।
युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वन्तं चक्रथुः सप्तवध्रये॥ ९॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ह**=निश्चय से **वृषणा**=शक्ति को देनेवाले हो और सब सुखों की वर्षा करनेवाले हो आप **रेभम्**=प्रभु के स्तवन करनेवाले को, **ममृवांसम्**=अब जो आसन्न मृत्यु है, पर **गुहा हितम्**=अन्तःकरण की गुहा में केन्द्रित ध्यान वृत्तिवाला है, उसे **उदैरयतम्**=उत्कृष्ट लोकों में प्राप्त कराते हो। इन्हीं के लिये 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्राणसाधना करनेवाला उपासक मृत्युशय्या पर ध्यानावस्थित हुआ-हुआ प्रभु का ही स्मरण करता है और इस शरीर को छोड़कर ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है। (२) हे प्राणापानो! आप **सप्तवध्रये**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख इन सातों को संयम के बन्धन में बाँधनेवाले **अत्रये**=(अ-त्रि) 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठे हुए पुरुष के लिये **तप्तं ऋबीसम्**=इस संतप्त अग्निकुण्ड (ऋबीसम्=Abyss) रूप संसार को **ओमन्वन्तम्**=(अन्नवान्) रक्षावाला **चक्रथुः**=करते हो। संयमी पुरुष के लिये यह संसार

शान्त सरोवर के तुल्य है। यही संसार असंयमी के लिये नरक की अग्नि के समान तपा हुआ हो जाता है। इस संयम के लिये प्राणसाधना कारण बनती है सो मन्त्र में इस भाव को कहा गया है कि प्राणापान इस संसाररूप तप्त अग्निकुण्ड को नाशक के स्थान में रक्षक बना देते हैं। प्राणसाधना ही हमें अत्रि बनाती है। अब 'काम' हमारे शरीर का ध्वंस नहीं करता, 'क्रोध' हमारे मन को क्षुब्ध नहीं करता और 'लोभ' हमारी बुद्धि को भ्रष्ट नहीं करता। इस प्रकार प्राणसाधना हमारा रक्षण करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) हम स्तोता बनकर मृत्युशय्या पर भी प्रभु-स्मरण करते हुए ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं और (ख) इस संसार में 'अत्रि' बनकर तप्त अग्निकुण्ड को शान्त सरोवर में परिवर्तित करनेवाले होते हैं। हमारे लिये यह संसार सुखमय ही रहता है।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पेदु का श्वेताश्व

युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम्।
चर्कृत्यं ददथुर्द्रावयत्सखं भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम्॥ १०॥

(१) जो व्यक्ति जीवनयात्रा में प्रभु की ओर चल रहा है उसे 'पेदु' कहते हैं 'पद्यते प्रभुम्'। हे प्राणापानो! **युवम्**=आप **अश्विना**=(अश्नुवाते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त होते हुए, **पेदवे**=प्रभु की ओर चलनेवाले पुरुष के लिये **श्वेतं अश्वम्**=शुद्ध, व्यसनरूप मल से रहित इन्द्रियरूप अश्व को **ददथुः**=देते हो। आपकी कृपा से पेदु 'श्वेताश्व' बनता है, शुद्ध इन्द्रिय रूप अश्वोंवाला होता है। (२) इसका यह श्वेत अश्व (क) **नवभिः नवती च**=निन्यानवे **वाजैः**=शक्तियों से **वाजिनम्**=शक्तिवाला होता है। अर्थात् ९९ वर्षपर्यन्त इसकी शक्ति में कमी नहीं आती। (ख) **चर्कृत्यम्**=यह अश्व अतिशयेन क्रियाशील है, अर्थात् यह इन्द्रियों को सदा स्वोचित कर्मों में लगाये रखता है। (ग) **द्रावयत् सखम्**=यह अश्व उसे अपने सखा प्रभु की ओर निरन्तर ले चलता है। (घ) **नृभ्यः**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों के लिये **भगं न**=यह अश्व ऐश्वर्य के समान है। वस्तुतः आत्म-प्रवण लोगों की सभी सम्पत्ति तो यह श्वेत इन्द्रियरूप अश्व ही है, यही उन्हें सब अध्यात्म सम्पत्ति प्राप्त करने में सहायक होता है। (ङ) **हव्यम्**=यह अश्व हव्य है, पुकारने के योग्य है। इसको प्राप्त करने के लिये ही हमें प्रभु से प्रार्थना करनी है। (च) **मयोभुवम्**=यह सब कल्याणों का भावन करनेवाला है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोषों का दहन हो जाता है। यह इन्द्रियरूप अश्व शुद्ध हो जाता है, इसे 'श्वेत अश्व' कहने लगते हैं। हम क्रियाशील बनें और इसे प्राप्त करें।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अंहः-दुरितम्-भयम्

न तं राजानावदिते कुतश्चन नांहो अश्नोति दुरितं नकिर्भयम्।
यमश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या सह॥ ११॥

(१) हे **अश्विनो**=प्राणापानो! आप **राजानौ**=(राज् दीप्तौ) शरीर को दीप्त बनानेवाले हो। **अदिते**=(अदीतौ सा०) इस शरीर को खण्डित न होने देनेवाले हो। **सुहवा**=उत्तमता से आराधना करने के योग्य हो और **रुद्रवर्तनी**=(रुद्र=driving away evil) सब बुराइयों को दूर करनेवाले मार्गवाले हो, आप पहुँचे और बुराई भागी। (२) हे प्राणापाणो! आप **यम्**=जिस भी व्यक्ति को

पत्न्या सह= पत्नी के साथ **पुरोरथं कृणुथः**=अग्रगामी रथवाला करते हो, अर्थात् जिसे भी आप उन्नतिपथ पर आगे ले चलते हो **तम्**=उस पुरुष को **कुतश्चन**=कहीं से भी **अंह**=पाप व कष्ट **न अश्नोति**= नहीं प्राप्त होता। **न दुरितम्**=न किसी प्रकार का दुराचरण प्राप्त होता है **नकिः भयम्**=और ना ही भय प्राप्त होता है। (३) घर में पति-पत्नी दोनों ही प्राणसाधना करनेवाले हों तो उस घर में उन्नति ही उन्नति होती है। वहाँ पाप-दुराचरण व किसी भय के लिये स्थान नहीं होता।

भावार्थ—प्राणसाधना से अंहः=दुरित-भय से सब भाग जाते हैं।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋभुओं से निर्मित रथ

आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना।
यस्य योगे दुहिता जायते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः॥ १२॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **तेन**=उस **मनसो जवीयसा**=मन से भी अधिक वेगवान रथ से **आयातम्**=प्राप्त होइये, **यम्**=जिस **वाम्**=आप दोनों के **रथम्**=शरीररूप रथ को **ऋभवः**=ऋभुओं ने **चक्रुः**=बनाया है। 'ऋभवः' तीन हैं 'ऋभु विभ्वन् और वाज'। इनमें **ऋभु**=ऋतेन भाति, उस भाति **वा**=सत्य-ज्ञान से दीप्त है। **विभ्वन्**=व्यापक व विशाल हृदय है। वाज शक्तिशाली है। एवं ऋभुओं से बनाये गये रथ का भाव यह हो जाता है कि वह शरीर जिसमें मस्तिष्क सत्य ज्ञान से पूर्ण है, मन विशाल है और अंग-प्रत्यंग शक्तिशाली हैं। (२) यह वह रथ है, **यस्य**=जिसके **योगे**=मेल के होने पर **दिवः दुहिता**=ज्ञान का पूरण करनेवाली वेदवाणी **जायते**=आविर्भूत होती है और **विवस्वतः**=सूर्य के अर्थात् सूर्य के कारण उत्पन्न हुए-हुए **उभे अहनी**=दोनों रात व दिन **सुदिने**=उत्तम होते हैं। शरीर रूप रथ के ठीक होने पर ज्ञान का प्रकाश तो होता ही है, रात और दिन दोनों बड़ी सुन्दरता से बीतते हैं।

भावार्थ—हमें सत्यज्ञान के प्रकाशवाला, विशाल हृदयवाला, सशक्त अंगोंवाला शरीर-रूप रथ प्राप्त हो। इस रथ के मिलने पर ज्ञान का हमारे में पूरण हो और हमारे दिन-रात सुन्दर बीतें।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वृक के मुख से वर्तिका-मोचन

ता वर्तिर्यातं जयुषा वि पर्वतमपिन्वतं शयवे धेनुमश्विना।
वृकस्य चिद्वर्तिकामन्तरास्याद्युवं शचीभिर्ग्रसितामंमुञ्चतम्॥ १३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **ता**=वे आप दोनों गतमन्त्र में वर्णित ऋभुओं से निर्मित **जयुषा**=सदा विजय करनेवाले रथ से **वर्तिः यातम्**=मार्ग पर चलो। प्राणसाधना से मनुष्य विषयों की ओर जाता ही नहीं, एवं वह मार्गभ्रष्ट नहीं होता। प्राणसाधक सदा सन्मार्ग से ही गति करता है। (२) हे प्राणापाणो! आप **पर्वतम्**=शरीर रथ में आधाय दण्ड के रूप में स्थित मेरुदण्ड व मेरुपर्वत (=रीढ़ की हड्डी) को **अपिन्वतम्**=(to animrte) प्रीणित करो। इसके स्वास्थ्य पर शरीर के स्वास्थ्य का निर्भर है, प्राणायाम के द्वारा इसमें स्थित 'इडा, पिंगला व सुषुम्णा' इन तीनों नाड़ियों का कार्य ठीक से होने लगता है। (३) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **शयवे**=(शी=trengnility) शान्त-स्वभाववाले के लिये **धेनुम्**=वेदवाणी रूप गौ को **अपिन्वतम्**=प्रीणित करते हैं। प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता होने से यह 'शयु' इस वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध का खूब ही पान कर

पाता है। (४) **युवम्**=आप दोनों **शचीभिः**=शक्तियों से **वृकस्य आस्यात् अन्तः**=भेड़िये के मुख में से **ग्रसितां चित् वर्तिकाम्**=निगली भी गई वर्तिका को **अमुञ्चतम्**=छुड़ा देते हो। यहाँ 'वृक' लोभ है, लोभ ही भेड़िये के रूप में चित्रित हुआ है। 'वर्तिका' (performamce prrctice) यज्ञादि कर्मों का करना है। लोभ रूप भेड़िया यज्ञादि कर्मरूप बटेर को निगल जाता है। लोभ के होने पर ये सब उत्तम कर्म नष्ट हो जाते हैं। प्राणसाधना लोभ को नष्ट करने के द्वारा इस वर्तिका को मुक्त कर देते हैं, फिर से हमारे जीवन में यज्ञादि कर्मों का प्रणयन होने लगता है। यह इन अश्विनी देवों की ही शक्ति है जो ऐसा कर पाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम (क) मार्ग पर चलते हुए विजयी होते हैं, (ख) मेरुदण्ड को ठीक कर पाते हैं, (ग) ज्ञानदुग्ध का खूब पान करनेवाले होते हैं, (घ) लोभ को जीतकर यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मर्त्य में अमृत का धारण

एतं वां स्तोममश्विनावकर्मातक्षाम भृगवो न रथम्।
न्यमृक्षाम योषणां न मर्ये नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः॥ १४॥

(१) हे **अश्विनौ**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों के **एतं स्तोमम्**=इस स्तवन को **अकर्म**=हम करते हैं कि **भृगवः न**=भृगुओं की तरह, (भ्रज् पाके) ज्ञान से अपने को परिपक्व करनेवालों के समान हम **रथं अतक्षाम**=इस शरीर रूप रथ का निर्माण करते हैं। भृगुओं का रथ निर्दोष होना ही चाहिये, ज्ञान से वहाँ सब दोष दग्ध हो जाते हैं। (२) **योषणां न**=पत्नी की तरह इस वेदवाणी रूप पत्नी को **न्यमृक्षाम**=पूर्ण शुद्ध करते हैं। वेदवाणी को योषणा इसलिए कहा है कि वह 'यु मिश्रण अमिश्रण' हमारे साथ गुणों का मिश्रण करती है, अवगुणों का अमिश्रण। इसका ज्ञान प्राप्त करना ही इसका शोधन है। (३) **मर्ये**=अपने इस मरणधर्मा शरीर में उस **तनयम्**=हमारी शक्तियों का विस्तार करनेवाले **नित्यं सूनुं न**=(षू प्रेरणे) उस सनातन प्रेरक के समान स्थित प्रभु को **दधानाः**=हम धारण करनेवाले होते हैं। प्राणसाधना से हृदय निर्मल होता है अन्तःस्थित प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है, उससे दी जानेवाली प्रेरणा को हम सुनते हैं।

भावार्थ—अश्विनी देवों का सच्ची स्तवन तो यही है कि हम शरीर रूप रथ को सुन्दर बनायें। बुद्धि को तीव्र बनाकर ज्ञान प्राप्त करें। हृदय को निर्मल बनाकर प्रभु की प्रेरणा को सुनें।

सूक्त का प्रारम्भ इस रूप में हुआ है कि हमारा शरीर रूप रथ 'परिज्या व सुवृत्' हो, (१) हमारा जीवन 'सुनृत वाणी, बुद्धि, धन, वीर्य व क्रियाशीलता' से युक्त हो, (२) प्राणापान की शक्ति की वृद्धि से ही पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है, (३) प्राणापान मनुष्य को पुनर्युवा बना देते हैं, (४) प्राणापान का उपासक 'नीरोगता, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता रूप सत्य को धारण करता है, (५) प्राणों के साथ ही सब कुछ है, (६) इनकी साधना से हम निरभिमान व ज्ञानवान् बनते हैं, (७) इनकी साधना से वार्धक्य नहीं आता, पुरुष वासनों में नहीं फँसता तथा अनथक क्रियाशील बना रहता है, (८) इनकी साधना से यह तप्त अग्निकुण्ड सम संसार 'शान्त सरोवर' बन जाता है, (९) इनकी साधना से इन्द्रियों के दोषों का दहन हो जाता है, (१०) पाप-दुरित व भय भाग जाते हैं, (११) इनकी साधना से दिन-रात सुन्दर बन जाते हैं, (१२) हम मार्ग पर चलते हुए विजयी होते हैं, (१३) प्राणों का सच्चा स्तवन यही है कि हम शरीर रूप रथ को सुन्दर बनाएँ, (१४)

इस प्रभु रूप रथ को हम भूषित करें—

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कश्चिद् धीरः अथवा प्रभुरूप रथ

रथं यान्तं कुह को ह वां नरा प्रति द्युमन्तं सुविताय भूषति।
प्रातर्यावाणं विभ्वं विशेविशे वस्तोर्वस्तोर्वहमानं धिया शमि॥ १॥

(१) वेद में 'रथं न वेद्यम्'=इन शब्दों में प्रभु को रथ के समान जानने के लिये कहा है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि ऐ **नरा**=हमें उन्नति-पथ पर आगे और आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! **कुह**=कहाँ **कः**=कौन **ह**=ही, कोई विरल पुरुष ही, **सुविताय**=उत्तम आचरण के लिये, उत्तम गति के लिये **वाम्**=आपके **रथम्**=इस प्रभु रूप रथ को **प्रति भूषति**=प्रतिदिन अलंकृत करता है। यह प्रभु रूप रथ अश्विनी देवों का इसलिए है कि इनकी साधना से ही प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु रथ इसलिए हैं कि प्रभु के आलम्बन से ही जीवनयात्रा पूरी होती है। (२) यह प्रभु रूप रथ **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय है। **यान्तम्**=यह निरन्तर गतिमय है। प्रभु की क्रिया व ज्ञान स्वाभाविक ही हैं। **प्रातर्यावाणम्**=यह प्रातः प्राप्त होनेवाला है। इसी से प्रातःकाल को 'ब्रह्म-मुहूर्त' यह नाम दिया गया है। यह **विशे-विशे विभ्वम्**=प्रत्येक प्रजा में व्यापनवाला है और **वस्तो-वस्तोः**=प्रतिदिन **धिया**=ज्ञानपूर्वक **शमि**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में **वहमानम्**=हमें प्राप्त कराता है। हृदय में स्थित उस प्रभु की प्रेरणा हमें उत्तम कर्मों में प्रेरित करती है। उस प्रेरणा के अनुसार चलने पर हम सदा ज्ञानपूर्वक यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये रथ के समान हैं। यह रथ हमें ज्ञानपूर्वक यज्ञादि कर्मों में ले चलता हुआ यात्रा पूर्ति में साधन बनता है।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जीवन यात्रा

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥ २॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **दोषा**=रात्रि में **कुह स्वित्**=कहाँ **अभिपित्वं करतः**=अभिप्राप्ति को करते हो। **कुह**=कहाँ **वस्तोः**=दिन में होते हो, **कुह**=कहाँ **ऊषतु**=आपका निवास होता है। जब कि सब इन्द्रियाँ सो जाती हैं उस समय भी ये प्राणापान जागते रहकर अपने कार्य में प्रवृत्त रहते हैं। वस्तुतः उस रात्रि के समय सारे शोधन के कार्य को ये करनेवाले होते हैं। (२) **कः**=कोई व्यक्ति ही **वाम्**=आप दोनों को **सधस्थे**=आत्मा और परमात्मा के सम्मिलित रूप से स्थित होने के स्थान हृदय में **आकृणुते**=अभिमुख करता है। प्राणसाधना का ध्यान विरल पुरुषों को ही होता है। इस साधना में प्राणों को हृदय में पूरित करके उन्हें इस प्रकार वेग से छोड़ा जाता है जैसे कि उनका प्रच्छर्दन (वमन) ही हो रहा है। इस 'प्रच्छर्दन व विधारण' रूप प्राणसाधन से रुधिर का शोधन होकर शरीर में सब उत्तमताओं का प्रापण होता है। (३) प्राणों को इस प्रकार अभिमुख करने का प्रयत्न करना चाहिये **इव**=जैसे कि **विधवा**=पति के चले जाने पर अपत्नीक स्त्री **देवरम्**=देवर को अभिमुख करती है और **न**=जैसे **योषा**=पत्नी **शयुत्रा**=शयन-स्थान में **मर्यम्**=पति को अभिमुख करती है। जैसे घर का कार्य केवल पत्नी नहीं चला सकती, वह पति

को अभिमुख करके ही कार्य कर पाती है, इसी प्रकार जीव प्राणों को अभिमुख करके ही घर के कार्य को चला पाता है। एक विधवा के लिये देवर की सहायता आवश्यक है, इसी प्रकार जीव के लिए प्राण का सहाय आवश्यक है।

भावार्थ—जीव प्राणों के सहाय से ही जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाता है।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दोषों को जीर्ण करनेवाले

प्रातर्जरेथे जरणेव कापया वस्तोर्वस्तोर्यजता गच्छथो गृहम्।
कस्य ध्वस्त्रा भवथः कस्य वा नरा राजपुत्रेव सवनाव गच्छथः ॥ ३ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **जरणा इव**=दोषों को जीर्ण करनेवालों के रूप में **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **कापया**=(कं आ पाति) सुख का समन्तात् रक्षण करनेवाली वेद-वाणी के द्वारा **जरेथे**=स्तुति किये जाते हो। (२) **वस्तोः वस्तोः**=प्रतिदिन **यजता**=यष्टव्य-उपासना के योग्य, अश्विनी देवो! आप **गृहं गच्छथः**=इस शरीर रूप घर को प्राप्त होते हो और **कस्य**=किसी एक दोषरूप अंश के **ध्वस्त्रा**=नाश करनेवाले **भवथः**=होते हो और **राजपुत्रा इव**=(राज्=दीप्तौ, पु=पुनाति, त्र=त्रायते) दीप्त करनेवाले, पवित्र करनेवाले तथा त्राण व रक्षण करनेवालों के समान **नरा**=आगे ले चलनेवाले आप **कस्य**=किसी एक के **सवना**=बाल्यकाल रूप प्रातः सवन, यौवनरूप माध्यन्दिन सवन तथा वार्धक्य रूप तृतीय सवन में **अवगच्छथः**=प्राप्त होते हो। इन तीनों सवनों में ये प्राणापान हमारे जीवन को दोषों के नाश के द्वारा दीप्त पवित्र व रक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रातःकाल के नैत्यिक कर्त्तव्यों में प्राणसाधना का प्रमुख स्थान होना चाहिए। ये शरीर के दोषों का नाश करनेवाले हैं, और शरीर को दीप्त बनानेवाले हैं।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मृगा-वारणा

युवां मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषा वस्तोर्हविषा नि ह्वयामहे।
युवं होत्रामृतुथा जुह्वते नरेषं जनाय वहथः शुभस्पती ॥ ४ ॥

(१) **युवम्**=आप दोनों **मृगा इव**=मृगों के समान हो 'मृग=to hurt, chese, pwrsue', दोषों का शिकार करनेवाले हो। **वारणा**=दोषों का निवारण करके शरीर को स्वस्थ बनाते हो। (२) **मृगण्यवः**='मृग अन्वेषणे'=आत्मतत्त्व का अन्वेषण करनेवाले हम **दोषा वस्तोः**=दिन-रात **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **निह्वयामहे**=आपको पुकारते हैं। प्राणापान की साधना के लिये युक्ताहारविहार होना आवश्यक है। त्यागपूर्वक अदन प्राणसाधना के लिये पथ्य के समान है। इस साधना से सब मलों का विनाश होकर प्रभु का दर्शन होता है। (३) हे प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ऋतुथा**=समय-समय पर **होत्राम्**=दानपूर्वक यज्ञशेषरूप भोजन को **जुह्वते**=शरीर की वैश्वानर अग्नि में आहुत करते हो। हे **नरा**=नेतृत्व करनेवाले प्राणापानो! आप **जनाय**=लोगों के लिये **इषम्**=अन्न को **वहथः**=प्राप्त कराते हो। प्राणापान से युक्त होकर ही वैश्वानर अग्नि अन्न का पाचन करती है एवं अन्न को प्राप्त कराके व उसका ठीक से पाचन करके, हे प्राणापानो! आप **शुभस्पती**=सब शुभ बातों के रक्षण करनेवाले हो। प्राणापान ही शरीर को शुभ बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान शरीर को निर्दोष बनाते हैं, प्रभु का दर्शन करते हैं, अन्न का ठीक से पाचन करते हैं और शरीर में सब शुभों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

घोषा-यती-राज्ञः दुहिता

युवां ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा।
भूतं मे अह्न उत भूतमक्तवेऽश्वावते रथिने शक्तमर्वते॥ ५॥

(१) हे **नरा**=जीवनयात्रा में हमारी उन्नति के कारणभूत **अश्विना**=अश्विनी देवो! प्राणापानो **युवाम्**=आप दोनों को **ह**=निश्चय से **राज्ञः दुहिता**=राजा की पुत्री, अर्थात् अपने जीवन को अत्यन्त दीप्त करनेवाली अथवा (राज्=to reqnlate) अपने जीवन को व्यवस्थित करनेवाली **यती**=क्रियाशील **घोषा**=स्तुति-वचनों का आघोष करनेवाली मैं **परि-ऊचे**=सदा कहती हूँ, आपके ही प्रशंसा-वचनों का उच्चारण करती हूँ और **वां पृच्छे**=आपसे ही यह प्रार्थना करती हूँ, पूछती हूँ कि आप **अह्ने**=दिन के लिये **मे भूतम्**=मेरे होइये **उत**=और **अक्तवे**=रात्रि के लिये भी (मे) **भूतम्**=मेरे होइये, अर्थात् आप दिन-रात मेरा कल्याण सिद्ध करनेवाले हों, वस्तुतः दिन में होनेवाले सारे कार्य इन प्राणापानों के द्वारा ही होते हों और रात को भी अन्य सब इन्द्रियों के सो जाने पर ये प्राणापान ही जागते रहते हैं और रक्षण का कार्य करते हैं। रात में ये सारे शरीर का शोधन करके नव शक्ति का सब अंगों में संचार करते हैं और उन्हें अत्यन्त दृढ़ बना देते हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **अश्वावते**=उत्तम इन्द्रिय रूप अश्वोंवाले **रथिने**=शरीररूप रथवाले **अर्वते**=(अर्व हिंसायाम्) विघ्नों का हिंसन करनेवाले मेरे लिये **शक्तम्**=शक्ति को देनेवाले होइये। वस्तुतः आपकी कृपा से ही मेरे इन्द्रियाश्व शक्तिशाली बनते हैं, मेरा शरीर रथ ठीक होता है और मैं मार्ग में आनेवाले काम-क्रोधादि, उन्नति के विघ्न-भूत, दोषों को जीतनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—प्राणापान की साधना की सफलता 'घोषा, यती व राज्ञः दुहिता' बनने से होती है, इस साधना के लिये 'प्रभु-स्तवन, क्रियाशीलता व नियम परायणता' आवश्यक है। इस साधना से दिन-रात उत्तम बीतते हैं, हमारा इन्द्रियाश्व व शरीर रथ दृढ़ होता है, विघ्नों को दूर करने में हम समर्थ होते हैं।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मधु-भरण

युवं कवी ष्ठः पर्यश्विना रथं विशो न कुत्सो जरितुर्नशायथः।
युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत निष्कृतं न योषणा॥ ६॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **कवी**=क्रान्तप्रज्ञ, अत्यन्त मेधावी **स्थः**=हो। आपकी साधना से ही तीव्र बुद्धि प्राप्त होती है। (२) **अश्विना**=प्राणापानो! आप ही **रथं परिस्थः**=इस शरीर रूप रथ को सब ओर से सुरक्षित करते हो। प्राणापान ही शरीर की रोगादि के आक्रमण से रक्षा करते हैं। उसी प्रकार रक्षा करते हैं, **न**=जैसे **कुत्सः**=(कुत्सयते इति कुत्स, बुराई की निन्दा करनेवाले **जरितुः** (जरते=to fraise)=स्तोता **विशः**=पुरुष की **परि** तस्थ) **नशायथः**=रक्षा के लिये सर्वतः प्राप्त होते हैं। प्राणसाधना के साथ यह आवश्यक है कि—(क) हम अशुभ को अशुभ समझें और उसे अपने से दूर करने के लिये यत्नशील हों (कुत्स्), (ख) तथा अशुभ को दूर करने के लिये ही प्रभु के स्तवन को अपनाएँ (जरिता)। (३) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मक्षा**=मक्खी **ह**=निश्चय से **युवोः**=आप दोनों के **आसा**=मुख से **मधु**=शहद को **परि-भरत**=धारण करती है। **न**=उसी प्रकार धारण करती है जैसे कि **योषणा**=एक स्त्री

निष्कृतम्=परिशुद्ध गृह को धारण करती है। इस उपमा से दो बातें स्पष्ट की गई है कि—(क) मधु कोई उच्छिष्ट वस्तु नहीं, वह तो **निष्कृत**=पूर्ण शुद्ध है। (ख) यह शहद दोषों को दूर करके उत्तमताओं का आधान करनेवाला है (योषणा-यु=मिश्रणा-अमिश्रण)। यह कहने से कि 'मक्खी आपके (प्राणापान के) मुख से शहद को बनाती है' भाव यह है कि शहद प्राणापान का वर्धन करनेवाला है।

भावार्थ—प्राणापान जहाँ बुद्धि का वर्धन करते हैं, वहाँ शरीररूप रथ को सुदृढ़ बनाते हैं। शहद प्राणापान का वर्धन करनेवाला है। सम्भवतः इसीलिए यह अश्विनी देवों का भोजन कहलाता है।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

भुज्यु-वश-शिञ्जार-उशमा-ररावा

युवं ह भुज्युं युवमश्विना वशं युवं शिञ्जारमुशनामुपारथुः।
युवो ररावा परि सख्यमासते युवोरहमवसा सुम्नमा चके॥ ७॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **ह**=निश्चय से **भुज्युम्**=(भुज्-यु) पालन के लिये भोजन करनेवाले को **उपारथुः**=प्राप्त होते हो। दूसरे शब्दों में शरीर-रक्षण के लिये ही भोजन करनेवाला 'प्राणयात्रिक मात्र' पुरुष प्राणापान की शक्ति को प्राप्त करता है। (२) **युवम्**=आप दोनों **वशम्**=अपनी इन्द्रियों को वश में करनेवाले को प्राप्त होते हो। जितेन्द्रिय पुरुष ही प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। (३) **युवम्**=आप दोनों **शिञ्जारम्**=भूषणों के शब्द की तरह मधुर शब्दों में प्रभु-उपासन करनेवाले को प्राप्त होते हो। प्रभु उपासना जितेन्द्रिय बनने में सहायक होती है, और जितेन्द्रिय पुरुष ही प्राणयात्रा के लिये ही, न कि स्वाद के लिये, भोजन करनेवाला होता है। (४) **उशनाम्**=(नि० ६।१४) सर्वहित की कामना करनेवाले को आप प्राप्त होते हो। द्वेषादि से प्राणापान की शक्ति की क्षीणता होती है। द्वेष से ऊपर उठकर हृदय में सब के भद्र का चिन्तन करने से प्राणापान की शक्ति का वर्धन होता है। सर्वहित की भावना 'शिञ्जार'=प्रभु-भक्त में ही उत्पन्न होती है। (५) **ररावा**=खूब देनेवाला, त्याग की वृत्तिवाला पुरुष, **युवोः**=आप दोनों के **सख्यम्**=मित्रता को **परि आसते**=सर्वथा प्राप्त करता है। स्वार्थ की भावना भी प्राणशक्ति का क्षय करती है। सो **अहम्**=मैं **युवोः अवसा**=आप दोनों के रक्षण से **सुम्नम्**=सुख की **आचके**=कामना करता हूँ। प्राणापान का रक्षण मिलने पर ही मनुष्य का जीवन सुखी होता है।

भावार्थ—प्राणापान की शक्ति 'भुज्यु-वश-शिञ्जार-उशना व ररावा' को प्राप्त होती है। 'भुज्यु' बनने के लिये, 'वश' होने की आवश्यकता है। 'वश' बनने के लिये 'शिञ्जार' बनना सहायक होता है। 'शिञ्जार' अवश्य 'उशना' बनता है और वह 'ररावा' होता है। एवं 'शिञ्जार' केन्द्रीभूत शब्द है। एक ओर वह हमें 'भुज्यु व वश' बनाता है, तो दूसरी ओर हम उससे 'उशना व ररावा' बनते हैं। एवं प्रभु-स्तवन का महत्त्व सुव्यक्त है।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सप्तास्य व्रज का अपवारण

युवं ह कृशं युवमश्विना शयुं युवं विधन्तं विधवामुरुष्यथः।
युवं सनिभ्यः स्तनयन्तमश्विनापं व्रजमूर्णुथः सप्तास्यम्॥ ८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवं ह**=आप ही **कृशम्**=दुर्बल को, दुर्बल को ही क्या! **युवम्**=आप तो **शयुम्**=जो रोगाक्रान्त होकर लेट ही गया है उस पुरुष को भी **उरुष्यथः**=रक्षित करते हो। प्राणापान की शक्ति के वर्धन से कृश फिर से मांसल (=बलवान्) हो जाता है और खाट पर पड़ा हुआ भी उठ बैठता है। (२) यह 'कृश' और 'शयु' आपसे रक्षित तभी होते हैं जब ये **विधन्तम्**=प्रभु का उपासन करनेवाले होते हैं। प्रभु की उपासना से इनका मन सबल बना रहता है और मन के सबल होने पर प्राणापानों के लिये शरीर के दोष दूर करने का उत्तम अवसर बना रहता है। प्रभु के उपासन से दूर होकर यदि मन विकल्पों से भर जाए तो फिर उस विकल्पग्रस्त पुरुष के लिये प्राणापान सहायक नहीं हो पाते। (३) **युवम्**=आप दोनों **सनिभ्यः**=संविभागपूर्वक खानेवालों के लिये और इस प्रकार हव्यवृत्ति से प्रभु का उपासन करनेवालों के लिये **स्तनयन्तम्**=गर्जना करते हुए, अर्थात् प्रबल होते हुए **सप्तास्यम्**=सात मुखोंवाले **व्रजम्**=व्यसन समूह को **अप ऊर्णुथः**=दूर ही रोक देते हो (उर्णुः अपवारणे) 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इस मन्त्र भाग में 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' ये सात ऋषि कहे गये हैं। क्योंकि ये ज्ञान प्राप्ति के साधनभूत हैं। परन्तु जब ये ज्ञान प्राप्ति के स्थान में विषयास्वाद में प्रसित हो जाते हैं तो ये ही 'सप्तास्य' बन जाते हैं। हमारा यह इन्द्रिय-समूह विषयों के भोगने में ही लग जाता है। यह 'सप्तास्य व्रज' प्रबल है, इसे जीत लेना सुगम नहीं। यही भाव 'स्तनयन्तं' शब्द से संकेतित हो रहा है। पर प्राणसाधना करने पर यह सप्तास्य व्रज हमारे से दूर रहता है और हम 'सप्तर्षियों' वाले ही बने रहते हैं।

भावार्थ—प्राणापान 'कृश व शयु' को भी प्राणशक्ति सम्पन्न बना देते हैं। ये हमारी इन्द्रियों को विषय-भोग-प्रवण नहीं होने देते।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पति, न कि दास

जनिष्ट योषा पतयत्कनीनको वि चारुहन्वीरुधो दंसना अनु।
आस्मै रीयन्ते निवनेव सिन्धवोऽस्मा अह्ने भवति तत्पतित्वनम्॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना के होने पर एक घर में पत्नी **योषा**=गुणों का अपने साथ मिश्रण करनेवाली व अवगुणों को अपने से दूर करनेवाली **जनिष्ट**=हो जाती है। और **पतयत्**=पति की तरह आचरण करनेवाला पुरुष (पतिरिवाचरति, आत्मानं पतिं करोति, णिच् प्रत्यये) **कनीनकः** (कन दीप्तौ)=दीप्त जीवनवाला होता है। **च**=और इन पति-पत्नी के **दंसना अनु**=कर्मों के अनुपात में ही **वीरुधः वि अरुहन्**=ओषधियाँ विशिष्ट रूप से उत्पन्न होती हैं। अर्थात् प्राणशक्ति सम्पन्न होकर ये पति-पत्नी क्रियाशील होते हैं और अन्नादि के उत्पादन की तरह विविध निर्माण के कार्यों को करनेवाले होते हैं। (२) सब सांसारिक **वसु**=ऐश्वर्य **अस्मै**=इस व्यक्ति के लिये **आरीयन्ते**=चारों ओर से प्राप्त होते हैं, **इव**=जैसे **निवना**=निम्न मार्ग से **सिन्धवः**=नदियाँ **रीयन्ते**=बहती हैं। प्राणसाधना से उत्पन्न क्रियाशीलता इसे सब वसुओं का आधार बनाती है। (३) **तत्**=तब **अस्मा**=इस **अह्ने**=एक-एक क्षण को न हिंसित करनेवाले सतत क्रियाशील पुरुष के लिये **पतित्वनम्**=स्वामित्व **भवति**=होता है। यह अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि का पति बनता है, न कि दास। यही जीव की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अवगुण दूर होकर गुणों की प्राप्ति होती है। प्राणसाधक चमकता है, यह वसुओं का आधार बनता है और अपनी इन्द्रियादि का पति बनता है न कि दास।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-स्मरण और यज्ञाभिनिवेश

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना से अपना पति बननेवाले लोग **जीवं रुदन्ति**=जब तक जीते हैं प्रभु का आह्वान करते हैं (रुद्=शब्द=cry aloud), ऊँचे-ऊँचे प्रभु के गुणों का उच्चारण करते हैं और **अध्वरे**=यज्ञों में **विमयन्ते**=विशेषरूप से जाते हैं, अर्थात् यज्ञशील जीवन बिताते हैं। संक्षेप में, प्रभु का स्मरण करते हैं और यज्ञों=श्रेष्ठ कर्मों में लगे रहते हैं। (२) इस प्रकार के **नरः**=प्रगतिशील व्यक्ति **दीर्घां प्रसितिम्**=महती व (दृ विदारणे) रजस्तमोगुण का विदारण करनेवाली व्रतों की असिति को, व्रत बन्धन को **अनु दीधियुः**=(अनु दधाति) धारण करते हैं। ये व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधते हैं और यह व्रतों का बन्धन इनके राजस-तामसभावों का विदारण करके इन्हें 'नित्य स्वस्थ' बनाता है। (३) उन **पितृभ्यः**=पितरों व रक्षकों के लिये **वामम्**=सब कुछ सुन्दर ही सुन्दर होता है **ये**=जो **इदम्**=इस उल्लिखित जीवन के कार्यक्रम को **समेरिरे**=अपने में प्रेरित करते हैं। जीवन का कार्यक्रम यही है—(क) प्रभु का स्मरण करना, (ख) उत्तम कर्मों में लगे रहना, (ग) और व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना। (४) इस जीवन के कार्यक्रम की स्थिति में जब **जनयः**=पत्नियाँ **पतिभ्यः**=पतियों के लिये **परिष्वजे**=आलिंगन के लिये होती हैं तो **मयः**=कल्याण ही कल्याम के लिये होती हैं, अर्थात् इनके सन्तान भी उत्तम होते हैं और ये पति-पत्नी स्वयं भी नीरोग बने रहते हैं।

भावार्थ—जीवन का कार्यक्रम यही ठीक है—(क) प्रभु स्मरण, (ख) यज्ञाभिनिवेश, (ग) व्रतबन्धन। ऐसा होने पर सब सुन्दर ही सुन्दर होता है। इस जीवन में पत्नी का पति के साथ सम्पर्क भी उत्तम सन्तान व नीरोगता का ही साधक होता है।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गृहिणी गृहमुच्यते—पति की योग्यताएँ

न तस्य विद्म तदु षु प्र वोचत युवा ह यद्युवत्याः क्षेति योनिषु।
प्रियोस्रियस्य वृषभस्य रेतिनो गृहं गमेमाश्विना तदुश्मसि ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र की अन्तिम पंक्ति से गृहस्थाश्रम का संकेत हुआ है। उसी का चित्रण करते हुए कहते हैं कि **यद्**=जब **युवा**=एक नौजवान 'अवगुणों को अपने से पृथक् करके गुणों को अपने साथ जोड़नेवाला पुरुष' **ह**=निश्चय से **युवत्याः**=एक युवति के **योनिसु**=गृहों में **क्षेति**=निवास करता है, तो **तस्य न विद्म**=उस गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य को हम पूरा-पूरा नहीं जानते, **तद्**=उस कर्त्तव्य को **उ**=निश्चय से **सु प्रवोचत**=उत्तमता से हमारे लिये बतलाओ। यहाँ वर्णनशैली से यह स्पष्ट है कि 'गृहिणी गृहमुच्यते'=पत्नी ही घर है। घर पत्नी ने बनाना है, उस घर में पति उत्तम निवासवाला होता है। (२) घर पत्नी का होता है, परन्तु प्रारम्भ में कन्या ही तो पितृगृह को छोड़कर पतिगृह में पहुँचती है। उस समय वह अश्विनी देवों से आराधना करती है कि **अश्विना**=हे प्राणापानो! **तद् उश्मसि**=हम यह चाहते हैं कि हम **गृहं गमेम**=उस पति के घर को प्राप्त हों जो कि **प्रियोस्रियस्य**=(प्रियाः उस्रियाः यस्मैः उस्रिया=गौ, रश्मि) गौवों का प्रिय हो, घर में गौ रखने का चाव रखता हो, अथवा ज्ञान की रश्मियाँ जिसे प्रिय हैं, जो अनपढ़ व गंवार नहीं

है, ज्ञान की रुचिवाला है। **वृषभस्य**=शक्तिशाली व गृहस्थ की गाड़ी को खेंचने में समर्थ है। **रेतिनः**=रेतस्वाला है, नपुंसक नहीं। वस्तुतः ऐसा व्यक्ति ही गृहस्थ में जाने का अधिकारी है। इससे भिन्न को गृहस्थ में जाने का अधिकार न होना चाहिए।

भावार्थ—घर का निर्माण पत्नी ने करना है। पति वही ठीक है जो कि अनपढ़ व कमजोर नहीं। अनपढ़ व कमजोर पति गृहस्थ को स्वर्ग नहीं बना सकता।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

काम-नियमन—न कामातुर न कृपण

आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अयंसत।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि॥ १२॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार पति-पत्नी घर को बनाकर अश्विनी देवों से प्रार्थना करते हैं कि हे **वाजिनीवसू**=अन्नरूप धनवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों की **सुमतिः**=कल्याणीमति **आ अगन्**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। प्राणापान को अन्न-धनवाले इसलिए कहा है कि इन्हीं से अन्न का पाचन होता है। वैश्वानर अग्नि (=जाठराग्नि) प्राणापान से युक्त होकर सब अन्नों का पाचन करती है। अन्न का ठीक पाचन होकर इस सात्त्विक अन्न से सात्त्विक ही बुद्धि भी प्राप्त होती है। (२) हे (अश्विना=) प्राणापानो! आपकी कृपा से **कामाः**=वासनाएँ **हृत्सु**=हृदयों में **नि अयंसत**= पूर्णरूपेण नियमित हों। कामवासना का नियमन ही गृहस्थ का सर्वमहान् कर्त्तव्य है। इसके नियमित होने पर सन्तान भी उत्तम होते हैं और पति-पत्नी की शक्ति भी स्थिर रहती है। इससे नीरोगता व दीर्घजीवन सिद्ध होते हैं। (३) हे प्राणापानो! आप **गोपा अभूतम्**=हमारी इन्द्रियों का रक्षण करनेवाले होइये। आप **मिथुना**=द्वन्द्व रूप में **शुभस्पती**=सब शुभों के पति हो। प्राणापान की साधना के होने पर जहाँ इन्द्रियों के दोष दग्ध होते हैं, वहाँ शरीर में सब शुभों का रक्षण होता है। (४) इस मन्त्र की समाप्ति पर पत्नी बननेवाली युवति कामना करती है कि **प्रियाः**=पति की प्रिय होती हुई हम प्रियरूपवाली होती हुई हम **अर्यम्णः**=(अदीन् यच्छति) कामादि को वश करनेवाले, नियमित वासनावाले तथा (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति), अकृपण पति के **दुर्यान्**=घरों को **अशीमहि**=हम प्राप्त करें। हमें ऐसा पति प्राप्त हो जो न तो कामातुर हो और नांही कृपण।

भावार्थ—गृहस्थ का मूल मन्त्र यही है कि वासना का नियन्त्रण हो पति न कामातुर हो, नांही कृपण।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

घर तीर्थ बन जाए

ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आ धत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे।
कृतं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथेष्ठामप दुर्मतिं हतम्॥ १३॥

(१) **ता**=वे **मन्दसाना**=हर्ष को पैदा करते हुए प्राणापानो! **मनुषः**=विचारपूर्वक कर्म करनेवाले के **सहवीरम्**=वीर पुत्रों से युक्त **रयिम्**=धन को **आधत्तम्**=सर्वथा धारण करो। मैं आपकी कृपा से धन को प्राप्त करूँ और उत्तम सन्तान को प्राप्त करूँ। (२) **शुभस्पती**=सब शुभों के रक्षण करनेवाले आप मेरे घर को **तीर्थं कृतम्**=तीर्थ बना दो। यह हमें 'तारयति'=तैरानेवाला हो, नकि डुबानेवाला हम पति-पत्नी एक दूसरे का हाथ पकड़कर पर्वतीय जलधाराओं की तरह सब अप्रिय वासनाओं को पारकर जाएँ। **सुप्रपाणं कृतम्**=इस घर को आप उत्तम प्रकृष्ट प्याऊ

बना दो। हम जल व दुग्ध आदि उत्तम पेयों का ही यहाँ प्रयोग करें। (३) आप इस घर में **स्थाणुम्**=परमात्मा को, जो सदा स्थिर है, सर्वव्यापकता के नाते जिसके हिलने का सम्भव नहीं, उस परमात्मा को इस घर में करो। इस घर में प्रातः-सायं प्रभु का ध्यान अवश्य हो। **पथेष्ठाम्**=ये प्रभु ही हमें मार्ग पर स्थित करनेवाले हैं। प्रभु-स्मरण हमें मार्गभ्रष्ट नहीं होने देता। हे प्राणापानो! आप **दुर्मतिम्**=दुर्मति को **अपहतम्**=हमारे से सदा दूर रखो। हम दुर्मति का शिकार न हों। प्राणसाधना से बुद्धि के दोष भी दूर होते हैं।

भावार्थ—हमारा घर पवित्र, अपेय पदार्थों से रहित और प्रभु-स्मरणवाला हो। हमें वीर सन्तान व धन प्राप्त हो।

ऋषिः—**घोषा काक्षीवती**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

उल्लास-पूरणता व यज्ञशीलता

क्व स्विद॒द्य क॑त॒मास्व॒श्विना॑ वि॒क्षु द॒स्रा मा॑दयेते शु॒भस्पती॑।
क ईं॒ नि ये॑मे कत॒मस्य॑ जग्मतु॒र्विप्र॑स्य वा॒ यज॑मानस्य वा गृ॒हम्॥ १४॥

(१) प्राणापान का आराधक प्राणसिद्धि को न देखकर आतुरता से कहता है कि हे **दस्रा**=सब दोषों का उपक्षय करनेवाले (दस्=उपक्षये) उपक्षय करनेवाले **शुभस्पती**=सब शुभों के रक्षक **अश्विना**=अश्विनी देवो-प्राणापानो! **अद्य**=आज आप **क्व स्वित्**=कहाँ हो! मैं तो आपको प्राप्त नहीं कर रहा। **कतमासु विक्षु**=किन प्रजाओं में **मादयेते**=आप आनन्द का अनुभव कर रहे हो। कौन प्रजाएँ आपकी साधना से आनन्द व तृप्ति का अनुभव कर रही हैं? **कः**=कौन **ईम्**=सचमुच **नियेमे**=आपका नियमन करता है। आपका नियमन करनेवाला वस्तुतः सुखी (कः) होता है। (२) आप **कतमस्य**=अत्यन्त आनन्दमय मनोवृत्तिवाले **विप्रस्य**= अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **वा**=तथा **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **गृहम्**=घर **जग्मतुः**=जाते हैं। अर्थात् प्राणापान की साधना वही कर पाता है जो कि (क) मन में आनन्द व उल्लास को रखे, (ख) अपनी कमियों को दूर करने की भावनावाला हो तथा (ग) यज्ञशील होता है। इसी प्रकार प्राणसाधना से 'उल्लास, पूरणता व यज्ञशीलता' प्राप्त होती है।

भावार्थ—मैं प्राणसाधना के लिये आतुर बनूँ। प्राणसाधना करके जीवन को उल्लासमय बनाऊँ, कमियों को दूर कर पाऊँ तथा यज्ञियवृत्तिवाला होऊँ।

सूक्त का प्रारम्भ प्रभु रूप रथ के वर्णन से होता है, (१) प्राणों के सहाय से ही यह जीवनयात्रा पूर्ण होती है, (२) प्राणापान शरीर के दोषों को जीर्ण करनेवाले हैं, (३) ये शरीर में सब शुभों का रक्षण करते हैं, (४) प्राणसाधना के लिये प्रभु-स्तवन, क्रियाशीलता व नियमपरायणता आवश्यक है, (५) ये शरीर रूप रथ को सुदृढ़ बनाते हैं, (६) प्राणापान की शक्ति 'भुज्यु, वश, शिञ्जार व उशना' को प्राप्त होती है, (७) ये हमारी इन्द्रियों को विषय-भोग-प्रवण नहीं होने देते, (८) हमें अपनी इन्द्रियों का पति बनना है नकि दास, (९) हम 'प्रभु-स्मरण, यज्ञरुचिता व व्रतबन्धन' को अपनाने का प्रयत्न करें, (१०) घर में पति वही ठीक है जो कि अनपढ़ नहीं और कमजोर नहीं, (११) पति न कामातुर हो न कृपण, (१२) हमारा घर तीर्थ बन जाये, (१३) हम उल्लास-पूरणता की प्रवृत्ति, तथा यज्ञशीलता को धारण करें, (१४) प्रातः प्रभु का स्मरण करें—

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**सुहस्त्यो घौषेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उत्तम शरीर-रथ

समानमु त्यं पुरुहूतमुक्थ्यं१ रथं त्रिचक्रं सवना गनिग्मतम्।
परिज्मानं विदथ्यं सुवृक्तिभिर्वयं व्युष्टा उषसो हवामहे॥ १॥

(१) गत सूक्तों की ऋषिका 'घोषा काक्षीवती' थी, प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाली तथा शत्रुसंहार के लिये कटिबद्ध। इस घोषा का पुत्र 'घौषेय' है। खूब ही प्रभु के नाम का उच्चारण करनेवाला। यह 'सुहस्त्य' है, उत्तम हाथोंवाला है, कार्यकुशल है। 'प्रभु-स्मरण करनेवाला कार्यकुशल' व्यक्ति उत्तम शरीर-रथ की कामना करता है। कहता है कि **वयम्**=हम **उषसो व्युष्टौ**=प्रातःकाल के होते ही **त्यं उ**=उस ही **रथम्**=रथ को **हवामहे**=पुकारते हैं, उस शरीररथ के लिये प्रार्थना करते हैं जो कि (क) **समानम्**=सार **आनयति**=हमें सम्यक् उत्साहयुक्त करता है, जीवन वही ठीक है जो कि उत्साह-सम्पन्न हो। (ख) **पुरुहूतम्**=जो बहुतों से पुकारा जाता है अथवा जिसका पुकारना, पालन व पूरण करनेवाला है। जिस शरीर को प्राप्त करके हम अपनी न्यूनताओं को दूर करके उन्नतिपथ पर आगे बढ़ सकें। (ग) **उक्थ्यम्**=जो रथ उक्थों में उत्तम है, स्तोत्रों में उत्तम है। जीवन वही उत्तम है कि जो प्रभु-स्तवन से युक्त हो। (घ) **त्रिचक्रम्**=जो रथ त्रिचक्र है, ज्ञान, कर्म व उपासना ही इस रथ के तीन चक्र हैं। अथवा 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप तीन चक्रोंवाला यह रथ है। (ङ) **सवना गनिग्मतम्**=जो रथ तीनों सवनों तक चलनेवाला है। प्रातः सवन २४ वर्ष तक है, माध्यन्दिन सवन अगले ४४ वर्षों का है और तृतीय सवन अन्तिम ४८ वर्षों का है। इस प्रकार यह रथ ११६ वर्षों तक चलनेवाला हो। (च) **परिज्मानम्**=उस रथ को हम पुकारते हैं जो कि 'परितोगन्तारम्', अपने दैनिक कर्त्तव्यों को उत्तमता से निभानेवाला है। (छ) **विथ्यम्**=(विदथः यज्ञ नाम नि० ३।१७, विदथानि वेदनानि नि० ६।७) यह रथ यज्ञों में उत्तम हो। हम जीवन में यज्ञों को करनेवाले हों। अथवा हम जीवन के लिये आवश्यक धनों को कमानेवाले हों। (२) 'ऐसे रथ को हम प्राप्त कैसे होंगे?' इसका उत्तर 'सुवृक्तिभिः' शब्द से दिया गया है। सुष्ठु दोषवर्जन से हम ऐसे रथ को प्राप्त करेंगे। दोषों को दूर करते जाना ही अपने जीवन को उत्तम बनाने का मार्ग है।

भावार्थ—हमारा यह शरीररूप रथ दोषवर्जन के द्वारा उत्तम बने।

ऋषिः—**सुहस्त्यो घौषेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'प्रातर्युज्-प्रातर्यावन्-मधुवाहन' रथ

प्रातर्युजं नासत्याधि तिष्ठथः प्रातर्यावाणं मधुवाहनं रथम्।
विशो येन गच्छथो यज्वरीर्नरा कीरेश्चिद्यज्ञं होतृमन्तमश्विना॥ २॥

(१) हे **नासत्या**=नासा में निवास करनेवाले अथवा सब असत्यों से दूर रहनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! आप उस **रथम्**=रथ पर **अधितिष्ठथः**=आरूढ़ होते हो, जो (क) **प्रातर्युजम्**=प्रातः-प्रातः ही उस प्रभु से मेल करनेवाला है, योग का अभ्यास करनेवाला है। हमें चाहिये यही कि प्रातः प्रबुद्ध होकर योगाभ्यास अवश्य करें। (ख) **प्रातर्यावाणम्**=हमारा यह रथ प्रातः से ही गतिशील हो, हम सारा दिन अपने कर्त्तव्य कर्मों में लगे रहें। (ग) यह रथ **मधुवाहनम्**=मधु का वाहन बने। शरीर में उत्पन्न होनेवाला सोम शक्ति ही मधु है, यह शरीर रूप रथ उस सोम

का वाहन बने। उत्पन्न हुआ-हुआ सोम इस शरीर में ही व्याप्त हो। (२) यह रथ वह है **येन**=जिस से **यज्वरीः विशः**=यज्ञशील प्रजाओं को **गच्छथः**=आप प्राप्त होते हो। यह उत्तम रथ यज्ञशील प्रजाओं को प्राप्त होता है, यज्ञिय वृत्तिवाले लोग इस प्रकार के उत्तम शरीर को प्राप्त करते हैं। हे **नरा**=हमें आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! इस रथ से आप **कीरेः चित्**=स्तोता के भी **होतृमन्तम्**=होतावाले, दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले, **यज्ञम्**=यज्ञ को जाते हो। अर्थात् यह उत्तम शरीर रूप रथ स्तवन करनेवाले, यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को प्राप्त होता है। शरीर को उत्तम बनाने के लिये आवश्यक है कि हम यज्ञशील व स्तोता बनें।

भावार्थ—हमारा यह शरीर 'प्रातर्युज्, प्रातर्यावन् व मधुवाहन' हो। हम प्रातः योगाभ्यास करें। प्रातः से ही क्रियाशील जीवनवाले हों और सोम का धारण करें।

ऋषिः—**सुहस्त्यो घौषेयः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विप्र के सवनों में अश्विनी देवों की प्राप्ति

अध्वर्युं वा मधुपाणिं सुहस्त्यमग्निधं वा धृतदक्षं दमूनसम्।
विप्रस्य वा यत्सवनानि गच्छथोऽत आ यातं मधुपेयमश्विना ॥ ३ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **वा**=निश्चय से **अध्वर्युम्**=(अ ध्वर) अहिंसात्मक कर्मों को अपने साथ जोड़नेवाले यज्ञशील पुरुष को **गच्छथः**=प्राप्त होते हो। **मधुपाणिम्**=जिसके हाथ में मधु (=माधुर्य) है उस माधुर्य-युक्त क्रियाओंवाले को प्राप्त होते हो। **सुहस्त्यम्**=उत्तम हाथोंवाले, अर्थात् कार्यकुशल पुरुष को प्राप्त होते हो। (२) **अग्निधं वा**=अथवा आप उस पुरुष को प्राप्त होते हो जो अग्नि का आधान करनेवाला है, अग्निहोत्र करनेवाला है। अथवा जो अपने अन्दर वैश्वानर अग्नि (=जाठराग्नि) को आहित करता है, और परिणामतः **धृतदक्षम्**=बल को धारण करनेवाला है। (दक्ष=बल) तथा **दमूनसम्**=(दमयन्ना वा दानमना वा दान्तमना वा नि० ४।४) दान्त मनवाला है, अथवा दान की वृत्तिवाला है। यहाँ 'धृतदक्षम्' शब्द 'अग्निधं व दमूनसम्' के बीच में रखा गया है बल की प्राप्ति के लिये दो ही मुख्य साधन हैं (क) जाठराग्नि का ठीक होना तथा (ख) मन का दमन। जाठराग्नि के ठीक होने से शक्ति की उत्पत्ति होती है और मन के दमन से उस उत्पन्न शक्ति का रक्षण होता है। वेदों में शब्द-विन्यास का यही सौन्दर्य है। (३) हे प्राणापानो! आप **विप्रस्य वा**=निश्चय से अपना विशिष्ट पूरण करनेवाले व्यक्ति के **यत्**=क्योंकि **सवनानि**=सवनों को **गच्छथः**=प्राप्त होते हो, **अतः**=इसलिए आप **मधुपेयम्**=सोम है पेय जिसका उस मुझ को **आयातम्**=प्राप्त होइये। मैं **सोम**=वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करके शरीर में आ जानेवाली कमियों को दूर करता हूँ। इस प्रकार 'वि-प्र' बननेवाले मुझे आप प्राप्त होइये। वस्तुतः इस मधु को भी तो मैंने आपके द्वारा ही पीना है, इस मधु को शरीर में व्याप्त करने के लिये प्राणसाधना आवश्यक है।

भावार्थ—हम 'अध्वर्यु, मधुपाणि, सुहस्त्य, धृतदक्ष व दमूनस् व विप्र' बनें। इसी उद्देश्य से प्राणसाधना करें। प्राणसाधना के द्वारा विप्र बनकर २४ वर्ष के प्रातः सवन ४४ वर्ष के मध्यन्दिन सवन ४८ वर्ष के तृतीय सवन को हम पूर्ण करनेवाले हों।

सूक्त का प्रारम्भ उत्तम शरीर रूप रथ की प्राप्ति के लिये प्रार्थना से हुआ है, (१) इस शरीर रथ को प्राप्त करके हम प्रातः-प्रातः योगाभ्यास करें, सतत क्रियाशील बनें और सोम को धारण करनेवाले बनें, (२) मधुपेय के द्वारा अपना विशेषरूप से पूरण करते हुए जीवन के तीनों सवनों को करते हुए पूरे ११६ वर्ष तक चलनेवाले हों। (३) इस प्रकार इस सूक्त का ऋषि 'सुहस्त्य'

सोमपान के द्वारा अपने में सब दैवी सम्पत्ति को आकृष्ट करनेवाला 'कृष्ण' बनता है, यह स्वभावतः 'आंगिरस'=शक्तिशाली होता है और सदा प्रभु का स्तवन करता है—

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

व्यसन-द्वयी

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन्भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम्॥ १॥

(१) **अस्ता इव**=शत्रुओं पर अस्त्र फेंकनेवाले पुरुष की तरह (असु क्षेपणे) **सुप्रतरम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध **लायम्**=लय-विनाश के कारणभूत अस्त्र को **अस्यन्**=फेंकता हुआ और इस प्रकार **भूषन् इव**=अपने को सद्गुणों से अलंकृत करता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु के लिये **स्तोमम्**=स्तुति को **प्रभरा**=भरण करनेवाला तू बन। अध्यात्म में काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हमने विनाश करना है, उसके लिये प्रभु-स्मरण ही एक अनुपम अस्त्र है। जहाँ प्रभु का नाम उच्चरित होता है वहाँ कामादि वासनाएँ आती ही नहीं। (२) हे **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले लोगो! **वाचा**=प्रभु की दी हुई ज्ञान की वाणियों से **तरत**=तुम उन्नति के विघ्नभूत कामादि शत्रुओं को तैर जाओ। ज्ञान कामादि का विध्वंस करनेवाला है। (३) **अर्यः**=(ऋ गतौ) सर्वव्यापक प्रभु-सर्वत्र गतिवाले प्रभु की **वाचम्**=वाणी को **निरामय**=अपने अन्दर रमा लो। इन ज्ञान की वाणियों का तुम्हें व्यसन लग जाये और हे **जरितः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले **सोम**=सौम्य-स्वभाव जीव तू **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को भी अपने में रमा ले। प्रभु के उपासन का भी तू व्यसनी बन जाए। यह तेरा स्वभाव बन जाए कि तू अवकाश के क्षण को स्वाध्याय में बिताये तथा स्वाध्याय से थकने पर प्रभु-स्मरण में तू तत्पर हो जाए। विद्याभ्यसन व प्रभु-स्मरण रूप व्यसन तुझे अन्य व्यसनों से बचानेवाले हों।

भावार्थ—शत्रुओं को शीर्ण करने का सर्वोत्तम प्रकार यही है कि हम जीवन में विद्याभ्यसन व प्रभु-स्मरण रूप व्यसनों को अपनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोदोहन व इन्द्रयबोधन

दोहेन गामुप शिक्षा सखायं प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम्।
कोशं न पूर्णं वसुना न्यृष्टमा च्यावय मघदेयाय शूरम्॥ २॥

(१) गत मन्त्र की भावना को अन्य शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि **गां दोहेन**=वेदवाणी रूप गौ को दोहन से, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के द्वारा तू **सखायम्**=उस सनातन मित्र प्रभु को **उपशिक्षा**=समीपता से जाननेवाला हो, ज्ञानी भक्त बनकर तू प्रभु की आत्मा ही बन जा 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। (२) इस ज्ञान के द्वारा **जरितः**=स्तवन करनेवाले जीव! तू **जारम्**=विषयवासनाओं के जीर्ण करनेवाले **इन्द्रम्**=उस असुरों के संहारक प्रभु को **प्रबोधय**=अपने हृदय में जागरित कर। इस प्रभुरूप के सूर्य उदय के साथ सब वासनान्धकार विलीन हो जाएगा। (३) ये प्रभु **कोशं न पूर्णम्**=एक पूर्ण कोश के समान हैं, प्रभु की प्राप्ति से तेरी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी। **वसुना**=निवास के लिये आवश्यक सब धनों से **न्यृष्टम्**=वे प्रभु निश्चय से युक्त हैं। सम्पूर्ण वसु उस प्रभु की ओर ही प्रवाहवाले हैं (ऋष् to flow)। प्रभु को प्राप्त कर लेने पर इनकी प्राप्ति तो

हो ही जाती है। इसलिए तू **शूरम्**=सब धनों के विजेता तथा सब बुराइयों के शीर्ण करनेवाले उस प्रभु को **मघदेयाय**=ऐश्वर्यों के देने के लिये **आच्यावय**=अपने अभिमुख कर। प्रभु की प्राप्ति में ही सब धनों की प्राप्ति है।

भावार्थ—हम ज्ञानधेनु का दोहन करें, प्रभु के प्रकाश को हृदय में प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शिशयं', नकि 'भोज'

किमङ्ग त्वा मघवन्भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि।
अप्रस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥ ३ ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अंग**=सर्वव्यापक प्रभो! सर्वत्र गतिशील प्रभो! **त्वा**=आपको **किम्**=क्यों **भोजम्**=सब भोजनों को प्राप्त कराके पालन करनेवाला **आहुः**=कहते हैं? मैं तो भोजनों की प्रार्थना न करके यही चाहता हूँ कि आप **मा**=मुझे **शिशीहि**=तीक्ष्णा बुद्धिवाला कर दें। मैं **त्वा**=आपको **शिशयम्**=बुद्धि के तीव्र करनेवाले के रूप में **शृणोमि**=सुनता हूँ। (२) साथ ही हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आपकी कृपा से **मम धीः**=मेरी यह बुद्धि **अप्रस्वती**=कर्मोंवाली **अस्तु**=हो। और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **वसुविदम्**=सब निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करनेवाले **भगम्**=भजनीय धन को **आभरः**=सर्वथा प्राप्त कराइये। वस्तुतः प्रभु बुद्धि देकर मुझे इस योग्य बना दें कि मैं निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को जुटाने में समर्थ हो जाऊँ। मैं बुद्धिवाला होऊँ और मेरी बुद्धि कर्म से युक्त हो।

भावार्थ—भोजन की प्रार्थना के स्थान में क्रियायुक्त बुद्धि की प्रार्थना उत्तम है। हम प्रभु को शिशय के रूप में स्मरण करें, नकि भोज के रूप में।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हविष्मान् का मित्र 'प्रभु'

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र सन्तस्थाना वि ह्वयन्ते समीके।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **समीके**=संग्राम में **सन्तस्थानाः**=सम्यक् स्थित हुए-हुए **जनाः**=लोग **मम सत्येषु**='मेरा पक्ष सत्य है, मेरा पक्ष सत्य है' इस प्रकार के विचारवाले संग्रामों में **त्वाम्**=आपको **विह्वयन्ते**=पुकारते हैं। दोनों ही पक्ष अपने को सत्य पर आरूढ़ समझ रहे होते हैं। दोनों में कोई भी अपने को गलती में नहीं समझता। (२) **अत्रा**=इस प्रकार के विचारवाले इन संग्रामों के उपस्थित होने पर **यः हविष्मान्**=जो हविवाला होता है, त्याग की वृत्तिवाला होता है, वही उस प्रभु को **यजुं कृणुते**=अपना साथी बना पाता है। **असुन्वता**= अयज्ञशील पुरुष के साथ **शूरः**=सब शत्रुओं के शीर्ण करनेवाले वे प्रभु **सख्यम्**=मित्रता को **न वष्टि**=नहीं चाहते हैं। त्याग की वृत्ति ही वस्तुतः मनुष्य को असत्य से ऊपर उठाकर सत्यपक्ष में स्थापित करती है और प्रभु इस सत्यपक्षवाले को ही विजयी बनाते हैं। संग्रामों में विजय उन्हीं की होती है जो हविष्मान् बनते हैं, जिस जाति में त्याग की भावना नहीं वह अवश्य पराजित हो जाती है।

भावार्थ—हम हविष्मान् बनें, प्रभु हमें विजयी बनायेंगे।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रयस्वान्

धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान्।
तस्मै शत्रून्त्सुतुकान्प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान्युवति हन्ति वृत्रम्॥ ५॥

(१) **यः**=जो भी पुरुष **प्रयस्वान्**=(प्रयस्=हवि=sacrifice) त्याग की वृत्तिवाला बनकर **अस्मै**=इस प्रभु के लिये, प्रभु की प्राप्ति के लिये **धनम्**=धन को जो **स्पन्द्रं न**=चञ्चल-सा है, अस्थिर है तथा **बहुलम्**=जीवन के लिये कृष्णपक्ष के समान है, जीवन को अन्धकारमय बना देता है, उस धन को **आसुनोति**=(to perform a shcrifice) यज्ञ के लिये विनियुक्त करता है। और जो **प्रयस्वान्**=(प्रयः=food) प्रशस्त (=सात्त्विक) भोजनवाला बनकर **तीव्रान्**=शक्तिशाली, रोगकृमियों व मन की मैल का संहार करनेवाले **सोमान्**=सोमकणों को **आसुनोति**=शरीर में उत्पन्न करता है। **तस्मै**=उस पुरुष के लिये वे प्रभु **अह्नः प्रातः**=दिन के प्रारम्भ होते ही **शत्रून्**=कामादि शत्रुओं को **सुतुकान्**=(सुप्रेरणान् सा०) पूरी तरह से भाग जानेवालों को करते हैं और **स्वष्ट्रान्**=(उत्तमायुधान्, अष्ट्रा good) उत्तम शस्त्रोंवाले इन शत्रुओं को **नि न्युवति**=निश्चय से इनसे पृथक् कर देता है और **वृत्रं हन्ति**=वासना को नष्ट कर देता है। (२) (क) त्यागवाले बनकर हम धन को यज्ञों में विनियुक्त करें। ये धन अस्थिर हैं, इनसे ममता क्या करनी! और ये धन हमारी अवनति का कारण बनते हैं, ये जीवन के कृष्णपक्ष के समान हैं। (ख) धन के त्याग के साथ हमारा दूसरा कर्त्तव्य यह है कि उत्तम अन्नों के सेवन से शरीर में सोम का उत्पादन करें। यह सोम हमारे शरीरों को नीरोग बनायेगा, मनों को निर्मल करेगा। (ग) ऐसा होने पर हमारे काम-क्रोधादि शत्रु भाग खड़े होंगे (take to one is heels)। कामादि के अस्त्र हमारे लिये कुण्ठित हो जायेंगे। हमारी वासनाओं का विनाश हो जाएगा।

भावार्थ—हम धन को यज्ञों में लगाएँ, सोम (=वीर्य) का उत्पादन करें, इसी से शत्रुओं का नाश होगा।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जन्य द्युम्न

यस्मिन्वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे।
आराच्चित्सन्भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम्॥ ६॥

(१) **यस्मिन् इन्द्रे**=जिस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **वयम्**=हम **शंसं दधिम**=स्तुति को धारण करते हैं और **यः मघवा**=जो ऐश्वर्यशाली प्रभु **अस्मे**=हमारे में **कामम्**=काम को **शिश्राय**=(श्रयति= to use, employ) हमारी उन्नति के लिये विनियुक्त करते हैं 'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः'=इस काम के द्वारा ही तो हमने वेद का स्वाध्याय करना है और इसी के द्वारा सारा वेद प्रतिपादित कर्मयोग क्रियान्वित होना है, सो **अस्य शत्रुः**=इस पुरुष का नाश करनेवाला यह काम **आराच्चित्**=दूर **चित्**=भी **सन्**=होता हुआ **भयताम्**=डरता ही रहे। इसके पास फटकने का तो इसे स्वप्न भी न हो और अब **अस्मै**=इस प्रभु के स्तोता के लिये **जन्या**=मनुष्य का हित साधनेवाले **द्युम्ना**=(द्युम्न=धन नि० २।१०) धन **नि नमन्ताम्**=निश्चय से प्रह्वीभूत हों। इसे इन जन्य धनों की प्राप्ति हो। (२) (क) जब हम प्रभु का स्तवन करते हैं तो इसका सर्वमहान् लाभ यह होता है कि हमारे जीवनों में काम शत्रु न बनकर मित्र की तरह कार्य करता है, प्रभु इस काम को हमारी

उन्नति के लिये विनियुक्त करते हैं। (ख) ऐसा होने पर शत्रुभूत काम हमारे पास भी नहीं फटकता, (ग) हम पुरुषार्थ करते हुए उन धनों को प्राप्त करते हैं जो जनहित के साधक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तवन से काम हमारा शत्रु न रहकर मित्र हो जाए। हम लोकहित साधक धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रमणीय शक्ति व बुद्धि

आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन।
अस्मे धेहि यवमद्गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम्॥ ७॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **यः**=जो आपका **उग्रः**=तीव्र **शम्बः**=वज्र है **तेन**=उस शत्रुओं को शान्त (=समाप्त) करनेवाले वज्र से **आरात् शत्रुम्**=इस समीप आनेवाले शत्रु को **दूरं अपबाधस्व**=सुदूर विनष्ट करनेवाले होइये। प्रभु ने हमें क्रियाशीलता रूप वज्र दिया हुआ है, इसी से हमने वासना को विनष्ट करना है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**= हमारे लिये आप **यवमत्**=जौवाले व **गोमत्**=गौवेंवाले, गोदुग्ध से युक्त अन्न को **धेहि**=धारण करिये। जौ इत्यादि अन्नों से हमारे में प्राणशक्ति का वर्धन होगा और गोदुग्ध से हमें सात्त्विक बुद्धि प्राप्त होगी। (३) हे प्रभो! **जरित्रे**=स्तोता के लिये **वाजरत्नाम्**=रमणीय शक्तियोंवाली **धियम्**=बुद्धि को **कृधी**=करिये आपका स्तोता जहाँ बुद्धि को प्राप्त करे वहाँ उसे रमणीय शक्तियाँ भी प्राप्त हों। शक्तियों की रमणीयता इसी में है कि वह रक्षा के कार्य में विनियुक्त होती है, ध्वंस के कार्य में नहीं।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा वासना को नष्ट करें। जौ व गोदुग्ध का प्रयोग करते हुए रमणीय शक्ति व बुद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बहुलान्त सोम

प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन्तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम्।
नाह दामानं मघवा नि यंसन्नि सुन्वते वहति भूरि वामम्॥ ८॥

(१) **यं इन्द्रम्**=जिस जितेन्द्रिय पुरुष को **तीव्राः**=रोमकृमिरूप शत्रुओं के लिये उग्र, **बहुलान्तासः**=मानव जीवन में कृष्णपक्ष का अन्त करनेवाले व उस जीवन में शुक्लपक्ष को लानेवाले **वृषसवासः**=शक्तिशाली पुरुष को जन्म देनेवाले **सोमाः**=सोमकण (=वीर्यकण) **अन्तः अग्मन्**=अन्दर प्राप्त होते हैं, अर्थात् ये सोमकण जिस जितेन्द्रिय पुरुष के शरीर में व्याप्त होते हैं, उस **दामानम्**=(दामन्=girdle) कटिबन्धनवाले, नियन्त्रित जीवनवाले पुरुष को **अह**=निश्चय से **मघवा**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **न नियंसत्**=कैद में नहीं डालते। अर्थात् यह पुरुष बारम्बार बन्धन में नहीं पड़ता। यह सोमरक्षण जहाँ उसे शक्तिशाली व नीरोग बनाता है, वहाँ उसे उज्ज्वल जीवनवाला भी बनाता है। शुक्लमार्ग से चलता हुआ यह व्यक्ति उस लोक को प्राप्त करता है जहाँ से कि इसे इस मानव आवर्त में फिर बन्धन में नहीं आना पड़ता। (२) **सुन्वते**=इस सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिये वे प्रभु **भूरि**=पालन-पोषण के लिये पर्याप्त **वामम्**=सुन्दर धन **निवहति**=निश्चय से प्राप्त कराते हैं। सोमरक्षण से इस लोक का अभ्युदय भी प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण 'अभ्युदय और निःश्रेयस' दोनों का साधक है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवकाम पुरुष

उत प्रहामतिदीव्या जयाति कृतं यच्छ्वघ्नी विचिनोति काले।
यो देवकामो न धना रुणद्धि समित्तं राया सृजति स्वधावान्॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र के सोमरक्षण के प्रसंग को उपस्थित करते हुए कहते हैं कि यह सोमरक्षक पुरुष **अतिदीव्य**=प्रभु की अतिशयेन स्तुति करता हुआ **प्रहाम्**=(प्रहन्तारं) प्रकर्षेण विनाश करनेवाली 'मार' नामवाली इस कामवासना को **जयाति**=जीत लेता है। प्रभु का स्तवन काम का संहार करनेवाला होता है। काम के संहार से यह क्रोध-लोभ आदि अन्य शत्रुओं से भी ऊपर उठ जाता है, (२) **उत**=और **यत्**=जैसे **श्वघ्नी**=कल की फिक्र न करनेवाला **कितव**=जुआरी पुरुष **काले**=मौके पर **कृतम्**=ऋतोपार्जित सम्पूर्ण धन को **विचिनोति**=बखेर देता है इसी प्रकार **यः**=जो **देवकामः**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाला अथवा देवयज्ञादि को करने की कामनावाला **धना**=धनों को **न रुणद्धि**=रोकता नहीं है। उदारतापूर्वक इन धनों का यज्ञों में विनियोग करता है। (२३) **तम्**=उस देवकाम पुरुष को **स्वधावान्**=सम्पूर्ण **'स्व='** धनों का धारण करनेवाला प्रभु **राया**=धन से **इत्**=निश्चियपूर्वक **सं सृजति**=संसृष्ट करता है। देवकाम पुरुष को यज्ञादि की पूर्ति के लिये धनों की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—हम स्तवन द्वारा काम को पराजित करें। उदारता से धनों का यज्ञों में विनियोग करें। प्रभु हमें सब आवश्यक धन प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोदुग्ध व यव

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'हम 'देवकाम' बने रहें' इसके लिये आवश्यक है कि **गोभिः**=गोदुग्ध के प्रयोग से **दुरेवाम्**=दुष्ट आचरणवाली **अमतिम्**=कुत्सितमति को हम **तरेम**=जीत लें। गोदुग्ध के प्रयोग से बुद्धि सात्त्विक बनती है और हम सब दुरितों से दूर होते हैं। (२) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जाने योग्य प्रभो! हम **विश्वाम्**=इस शरीर में प्रवेश करनेवाली **क्षुधम्**=भूख को **यवेन**=जौ इत्यादि सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से तैरें। भूख लगने पर जौ इत्यादि सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करें। (३) **अस्माकेन**=हमारे **वृजनेन**=पापवर्जन व पवित्रता के बल से **राजभिः**=राजाओं से **प्रथमा धनानि**=उत्कृष्ट धनों को **जयेम**=जीतनेवाले बनें। राजाओं के द्वारा पवित्रता के लिये पुरस्कार रूप में रखे गये मुख्य धनों को हम प्राप्त करनेवाले हों। (४) यहाँ पर संकेत स्पष्ट है कि राजाओं का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र में पवित्र जीवन को प्रोत्साहित करने के लिये विविध पुरस्कारों की उद्घोषणा करें। उन पुरस्कारों को प्राप्त करने के लिये हमारा उद्योग हो। जैसे जनक आदि राजा शास्त्रज्ञान के उत्कर्ष के लिये शतशः गौवों के पुरस्कार को देते थे, इसी प्रकार पवित्र जीवन के लिये पुरस्कार रखें जाएँ और राष्ट्र जीवन में पवित्रता के महत्त्व को प्रसारित किया जाए।

भावार्थ—गोदुग्ध व जौ के प्रयोग से हमारी बुद्धि सात्त्विक हो और हम पवित्रता के द्वारा उत्कृष्ट धनों के विजेता हों।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु विश्वास

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार पवित्र जीवन बितानेवाले व्यक्ति ने प्रभु पर पूर्ण विश्वास के साथ चलना है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **बृहस्पतिः**=आकाशादि विस्तृत लोकों का पति वह प्रभु (बृहतां पतिः) **नः**=हमें **पश्चात्**=पीछे से **उत**=और **पुरस्तात्**=सामने से (पूर्व व पश्चिम से) **परिपातु**=पूर्णरूप से रक्षित करे। **इन्द्रः**=वह सब शत्रुओं का संहार करनेवाला प्रभु **उत्तरस्मात्**=उत्तर से तथा **अधरात्**=दक्षिण से **अधायोः**=अघ व पाप की कामनावाले पुरुष से **नः**=हमें **परिपातु**=रक्षित करे। **उत**=और **मध्यतः**=मध्य में से भी वे प्रभु हमारा रक्षण करें। प्रभु के रक्षण में मैं निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाला बनूँ। (२) **सखा**=हम सबका वह सर्वमहान् मित्र **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिये **वरिवः**=धन को **कृणोतु**=करे। जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धन को वे प्रभु प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु ही हमें पापों से व निर्धनता से बचाते हैं।

इस सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम विद्या व प्रभु-स्मरण को अपना व्यसन बना लें तो अन्य व्यसनों से बचे रहेंगे, (१) हम ज्ञानधेनु का दोहन करें और प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करने का यत्न करें, (२) हम भोजन की प्रार्थनाएँ न करते रहकर उत्तम बुद्धि की प्रार्थना करें, (३) वे प्रभु हविष्मान्=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले के मित्र हैं, (४) हम 'धनों को यज्ञों में लगायें, शक्ति का उत्पादन करें' इसी से हम शत्रुओं का नाश कर सकेंगे, (५) हम लोकहित साधक धनों को ही प्राप्त करें, (६) गोदुग्ध व जौ के प्रयोग से रमणीय शक्ति व बुद्धि को प्राप्त करें, (७) सोमरक्षण हमारे जीवन के कृष्णपक्ष का अन्त करनेवाला हो, (८) हम देवकाम हों, (९) पवित्र जीवन से धनों को अपनी ओर आकृष्ट करें, (१०) प्रभु में पूर्ण विश्वास के साथ चलें, (११) हमारी बुद्धियाँ प्रभु-प्रवण हों—

चतुर्थोऽनुवाकः

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु का आलिंगन

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥ १ ॥

(१) गत सूक्त का ऋषि कृष्ण आंगिरस ही प्रार्थना करता है कि **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की **अच्छा**=ओर **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाली **मे**=मेरी **मतयः**=बुद्धियाँ प्रवृत्त हों। **सध्रीचीः**=उस प्रभु के साथ गति करनेवाली **विश्वाः**=प्रभु-स्तवन को ही व्याप्त करनेवाली **उशतीः**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाली ये मेरी बुद्धियाँ प्रभु को ही **अनूषत**=स्तुत करनेवाली हों। प्रभु-स्तवन में ही प्रकाश है। प्रभु से हम दूर होते हैं और अन्धकार में पहुँच जाते हैं। (२) **यथा न**=और जैसे (न=च) **जनयः**=पत्नियाँ **शुन्ध्युं मर्यं पतिम्**=शुद्ध जीवनवाले मनुष्य पति को **परिष्वजन्ते**=आलिंगन करती हैं उसी प्रकार मेरी बुद्धियाँ उस **मघवानम्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के

स्वामी प्रभु का **ऊतये**=रक्षण के लिये आलिंगन करनेवाली हों। अर्थात् मैं सदा प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँ, प्रभु-स्मरणपूर्वक ही इस जीवन-संग्राम में चलने का यत्न करूँ। मेरी बुद्धियाँ सदा प्रभु के साथ हों (सध्रीचीः), उसीके स्तवन का व्यापन करनेवाली हों (विश्वाः) प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाली हों (उशतीः)।

भावार्थ—मेरा ध्यान प्रभु की ओर हो। सांसारिक क्रियाओं को करता हुआ मैं प्रभु को भूल न जाऊँ।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-प्रवण-मन

न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रय।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते ॥ २ ॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **त्वद्रिग्**=(त्याग् अञ्चति) आपकी ओर जानेवाला **मे मनः**=मेरा मन **घा**=निश्चय से **न अपवेति**=दूर नहीं जाता है। एक बार मन प्रभु की ओर गया तो वह वहाँ उलझ ही जाता है, न उस प्रभु के ओर-छोर को वह मन देख पाता है और न वहाँ से हटता है। **ते इत्**=आप में ही **कामम्**=अपनी अभिलाषा को **शिश्रय**=मैं स्थापित करता हूँ। मुझे आपकी प्राप्ति की ही प्रबल कामना है। (२) **दस्म**=हे सब दुःखों के विनाशक प्रभो! आप **बर्हिषि**=मेरे वासनाशून्य हृदय में **राजा इव**=राजा की तरह **अधिनिषदः**=निषण्ण होइये। आपकी प्रेरणा के अनुसार ही मेरा जीवन चले, आप मेरे जीवन को शासित करनेवाले हों। आपके द्वारा ही मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया व्यवस्थित हो (राज् to regnlete)। आप ही हृदय में स्थित होकर उसे प्रकाश से दीप्त करनेवाले हों (राजृ दीप्तौ)। आपके प्रकाश में मैं अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ भटकूँ नहीं। (३) हे प्रभो! **अस्मिन्**=इस **सोमे**=शरीर में उत्पन्न सोम शक्ति के विषय में **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **अवपानं अस्तु**=पुनः शरीर में ही पी लेना, रुधिर में उसका फिर से व्याप्त कर देना हो। इस सोम को शरीर में ही व्याप्त कर देनेवाले बनें। शरीर में इसकी उत्पत्ति हुई है, यह फिर से वहीं व्याप्त हो जाए। इस प्रकार इसके व्यापन से ही मेरा शरीर स्वस्थ होगा, मन निर्मल होगा और बुद्धि तीव्र होकर आपके दर्शन योग्य बनेगी। आपकी प्राप्ति के लिये इस सोम का रक्षण आवश्यक है।

भावार्थ—मेरा मन प्रभु में लीन हो जाए, हृदयस्थ प्रभु मेरे राजा हों, सोमरक्षण के द्वारा सूक्ष्म बनी हुई-हुई बुद्धि प्रभु दर्शन का साधन बने।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सुमति, नकि अमति

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इन्द्रायो मघवा वस्व ईशते।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ॥ ३ ॥

(१) वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **अमतेः**=निन्दित बुद्धि का **विषूवृत्**=(विश्वग् वर्तकः) इधर उधर फेंक देनेवाला हो, हमारे से अमति को दूर करनेवाला हो। अमति नष्ट होकर, सुमति हमें प्राप्त हो। **उत**=और प्रभु हमारी **क्षुधः**=भूख के भी विषूवृत् हों, हमारी भूख का भी प्रतीकार करनेवाले हों। **स मघवा इत्**=वे सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाले प्रभु ही **वस्व रायः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले धन का **ईशते**=स्वामित्व करते हैं, प्रभु

ही सब धनों के मालिक हैं। इन धनों को देकर प्रभु ने ही हमारी क्षुधा का प्रतीकार करना है। (२) क्षुधा के प्रतीकार के लिये साधनभूत अन्नों का उत्पादन भी उस प्रभु की व्यवस्था से होता है। **वृषभस्य**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **शुष्मिणः**=शक्तिशाली **तस्य**=उस प्रभु के ही **प्रवणे**=(srefnission) प्रशासन में **इमे**=ये **सप्त**=सर्पणशील (सप्त-सृप्त) अथवा प्रभु के प्रशासन को माननेवाली (सप् to obey) **सिन्धवः**=नदियाँ **वयः**=अन्न को **वर्धन्ति**=बढ़ाती हैं। प्रभु ने सूर्य किरणों द्वारा जल के वाष्पी भवन, व ऊपर आकर शीत प्रदेश में घनी भवन की व्यवस्था से वृष्टि का प्रबन्ध किया है। उसी से नदियों का प्रवाह होता है। पूर्व से पश्चिम में व उत्तर से दक्षिण में, सब दिशाओं में ये नदियाँ प्रभु के प्रशासन में ही बह रही हैं और विविध भूभागों को खींचती हुई ये अन्न के उत्पादन का कारण बनती हैं। एवं प्रभु ने अन्नोत्पादन द्वारा हमारी क्षुधा का प्रतीकार किया है।

भावार्थ—प्रभु हमारी कुमति को दूर करते हैं, क्षुधा के प्रतीकार के लिये अन्नोत्पादन की व्यवस्था करते हैं।

सूचना—यहाँ 'सप्त' का अर्थ 'सात' समझकर पंजाब की भौगोलिक स्थिति का संकेत लेना ठीक नहीं। इसी से पाश्चात्यों को ऋग्वेद के पञ्जाब में ही बनाये जाने का भ्रम हो गया। 'सप्त' का वस्तुतः यहाँ अर्थ 'सर्पणशील' व 'प्रभु-प्रशासन को माननेवाली' ही है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आर्यं ज्योतिः

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद्विदत्स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम्॥ ४॥

(१) **न**=जैसे **वयः**=पक्षी **सुपलाशम्**=उत्तम पत्तोंवाले **वृक्षम्**=वृक्ष पर **आसदन्**=बैठते हैं, उसी प्रकार **मन्दिनः**=तृप्ति व हर्ष को करनेवाले **चमूषदः**=शरीररूप पात्र में स्थित होनेवाले ('अर्वाग् विलश्चमस ऊर्ध्वमूलः'=यहाँ शरीर को पात्र ही कहा गया है जो ऊपर मूल व नीचे मुखवाला है) **सोमासः**=सोमकण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष में स्थित होते हैं। 'सुपलाश वृक्ष' का संकेत यह है कि शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर यह शरीर वृक्ष भी 'सुपलाश' बनता है। इस शरीर का अंग-प्रत्यंग सुन्दर होकर शरीर शोभान्वित होता है। (२) **एषाम्**=इन सोमकणों का **अनीकम्**=(splendons brihimce) तेज **शवसा**=गति के द्वारा **प्रदविद्युतद्**=खूब ही चमकता है। सोमकणों के रक्षण से मनुष्य तेजस्वी बनता है और वह क्रियाशील होता है। (३) यह सोम **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **स्वः**=(nediamce) प्रकाश को अथवा स्वर्ग को, सुख को तथा **आर्यं ज्योतिः**=प्राप्त करने योग्य श्रेष्ठ ज्ञान की ज्योति को **विदत्**=प्राप्त कराता है। सोम रक्षण से बुद्धि तीव्र होती है और ज्ञान की ज्योति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'बल क्रियाशीलता, स्वर्गसुख व उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सूर्यलोक-विजय

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत्।
न तत्ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतनः॥ ५॥

(१) **न**=जैसे **श्वघ्नी**=कल की परवाह न करनेवाला जुवारी **देवने**=जुए की क्रीड़ा में **कृतम्**=उत्पन्न किये हुए धन को **विचिनोति**=बखेर देता है इसी प्रकार **यत्**=जब **मघवा**=ऐश्वर्य-सम्पन्न पुरुष **संवर्गम्**=(सम्यग् वर्जवित्वा) धनों का यज्ञों में सम्यक् विनियोग करके **सूर्य जयत्**=सूर्यलोक को जीतता है, अर्थात् 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा' इस वाक्य के अनुसार सूर्य-द्वार से ब्रह्मलोक में पहुँचता है, तो **ते**=तेरे **तत्वीर्यम्**=उस पराक्रम के कार्य को **अन्यः**=कोई दूसरा **न अनुशकत्**=करने में समर्थ नहीं होता। हे **मघवन्**=(मघ=ऐश्वर्य, मघ=मख) ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले पुरुष **न पुराणः न उत नूतनः**=न तो आजतक कोई पुराण व्यक्ति इस पराक्रम को कर सका नांही कोई भविष्य में नूतन पुरुष कर सकेगा। यह तेरा ब्रह्मलोक विजयरूपी कार्य अद्वितीय है। (२) यहाँ श्वघ्नी की उपमा हीनोपमा है, वह केवल उदारतापूर्वक धनों का यज्ञों में विनियोग करने का संकेत कर रही है। 'संवर्ग' शब्द धनों के यज्ञों में सम्यग् विनियोग का प्रतिपादन करता है। विलास में धन का व्यय 'संवर्ग' नहीं है। यह यज्ञ की क्रिया पुरुष को सूर्य-द्वार से ब्रह्मलोक में ले जानेवाली होती है। यह इस मघवा मनुष्य की अनुपम विजय होती है इसी बात को इस वाक्य-विन्यास से प्रकट करते हैं कि ऐसी विजय न तो किसी ने की और नांही कोई करेगा। यह ब्रह्मलोक की विजय अनुपम है।

भावार्थ—धनों का यज्ञों में विनियोग करते हुए हम सूर्यलोक का विजय करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शत्रु-मर्षण

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥ ६ ॥

(१) **मघवा**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु **विशं विशम्**=प्रत्येक प्रजा में **पर्यशायत**=निवास करता है। प्रभु में ही सारी प्रजाओं का निवास है और वे प्रभु ही सब प्रजाओं में वस रहे हैं। (२) **वृषा**=वे सब सुखों के वर्षण करनेवाले प्रभु **जनानाम्**=लोगों के साथ सम्बद्ध **धेनाः**=ज्ञान की वाणियों को **अवचाकशत्**=हृदयस्थ-रूपेण उपदिष्ट करते हैं। (कश गतिशासनयोः)। इन वाणियों के अनुसार कार्यों को व्यवस्थित करने पर ही हमारे कल्याण का निर्भर है। (३) **अह**=अब **शक्रः**=इन्द्र-सर्वशक्तिमान् प्रभु **यस्य**=जिस व्यक्ति के **सवनेषु**=यशों में **रण्यति**=आनन्द का अनुभव करते हैं **स**=वह **तीव्रैः**=प्रबल **सोमैः**=सोमकणों के द्वारा **पृतन्यतः**=आधि-व्याधियों के रूप में आक्रमण करनेवाली वासनाओं को **सहते**=पराभूत करता है, कुचल देता है। वासनाओं को जीतकर वह शरीर और मन में स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—प्रभु सब के हृदयों में निवास करते हैं, ज्ञान की वाणियों का उपदेश करते हैं। उनके अनुसार यज्ञशील होने पर हम सोम का रक्षण कर पाते हैं। इन तीव्र सोमकणों से हम रोगादि को जीत पाते हैं। शरीर व्याधिशून्य होता है तो मन आधियों से शून्य।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तेजस्विता-संवर्धन

आपो न सिन्धुमभि यत्समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्याइव ह्रदम्।
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ॥ ७ ॥

(१) **यत्**=जब **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के प्रति **सोमासः**=सोमकण उसी प्रकार पहुँचते हैं

न=जैसे कि **आपः**=जल **सिन्धुं अभि**=समुद्र की ओर **समक्षरन्**=संचालित होते हैं और **इव**=जैसे **कुल्याः**=जलधाराएँ **ह्रदम्**=एक सरोवर के समीप पहुँचती हैं, तो **अस्य**=इस सोम के **सादने**=शरीर में स्थापित करने पर **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले लोग **महः**=अपनी तेजस्विता को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। उसी प्रकार बढ़ाते हैं **न**=जैसे कि **वृष्टिः**=वर्षा **दिव्येन दानुना**=इस दिव्य, अन्तरिक्ष से होनेवाले जल के दान से **यवम्**=जौ को बढ़ाती है। वर्षा दिव्य जल से जौ को बढ़ाती है और विप्र लोग सोम के धारण से तेजस्विता को बढ़ाते हैं। (२) समुद्र जलों का आधार है इसी प्रकार हम इन्द्र बनकर सोम के आधार बनें। इस सोम के रक्षण से ही हम तेजस्वी बनेंगे। इस तेजस्विता से ही सब कमियों को दूर करके हम विप्र होंगे।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में प्रतिष्ठित करके तेजस्वी बनें और सब न्यूनताओं को दूर करके विप्र हों, अपना पूरण करनेवाले हों।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सुन्वत्-जीरदानु-मनु-हविष्मान्'

वृषा न क्रुद्धः पतयद्रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः।
स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥ ८ ॥

(१) **यः**=जो भी पुरुष **इमाः अपः**=इन सोमकणों का **अर्य-पत्नीः अकृणोत्**=जितेन्द्रिय-स्वामी-पुरुष की पत्नी के रूप में बनाता है, वह **क्रुद्धः वृषा न**=एक क्रुद्ध शक्तिशाली वृषभ की तरह **रजःसु**=इन लोकों में, अथवा हृदयान्तरिक्ष में **आपतयत्**=समन्तात् शत्रुओं का नाश करता है। 'आपः रेतो भूत्वा' इस वाक्य के अनुसार 'आपः' यहाँ रेतःकणों का वाचक है। ये रेतःकण जितेन्द्रिय पुरुष में सुरक्षित होते हैं और उसका पालन करते हैं। पत्नी जैसे पति की पूरक होती है, उसी प्रकार ये रेतःकण पुरुष के पूरक होते हैं, उसकी न्यूनताओं को दूर करते हैं। इन सोमकणों से शक्तिशाली बनकर यह वासनाओं को इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे क्रुद्ध वृषा विरोधी को नष्ट करनेवाला होता है। (२) ऐसा होने पर **स मघवा**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **सुन्वते**=इस सोम सम्पादन करनेवाले पुरुष के लिये, **जीरदानवे**=(जीरं-क्षिप्रं, दाप् लवने) शीघ्रता से शत्रुओं का लवना करनेवाले के लिये, **मनवे**=विचारशील व **हविष्मते**=हविवाले के लिये, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले के लिये **ज्योतिः अविन्दत्**=प्रकाश को प्राप्त कराते हैं। 'सुन्वन्-जीरदानु-मनु व हविष्मान्' को ही ज्योति प्राप्त होती है। इन सब बातों का मूल यही है कि हम जितेन्द्रिय बनकर सोमकणों को अपना पूरक बनाएँ। इन सोमकणों के रक्षण से शरीर के रोगों व मन की मलिनताओं को दूर करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, सोमरक्षण के द्वारा न्यूनताओं को दूर करें, सोम का सम्पादन व वासनाओं का विलयन करते हुए ज्योति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

(कैसा बनें ?)=सत्पतिः

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत्।
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करके यह पुरुष **ज्योतिषा सह**=ज्ञान की ज्योति के साथ **परशुः**=वासना वृक्ष के लिये कुठर के समान **उज्जायताम्**=हो जाए। इस पुरुष में ज्योति

हो और वासना को नष्ट करके यह शक्तिशाली हो। (२) यह **प्राणवत्**=अपने कुल में पूर्व पुरुषों की तरह **ऋतस्य**=ऋत का **सुदुघा**=उत्तम दोहन करनेवाला **भूयाः**=हो। 'ऋत' वेदवाणी है, जो सत्यज्ञान की प्रकाशिका है, उस ऋत का यह अपने में पूरण करनेवाला बने (दुह् प्रपूरणे)। यह बात कुलधर्म के रूप में इसके कुल में चलती चले। (३) इस प्रकार इस सत्य ज्ञान की वाणी का दोहन करते हुए यह **विरोचताम्**=विशेषरूप से चमके। **अ-रुषः**=क्रोध से तमतमानेवाला न हो। **भानुना शुचिः**=ज्ञान की दीप्ति के द्वारा यह पवित्र हो। **स्वः न**=उस देदीप्यमान सूर्य की तरह **शुक्रम्**=दीप्ति से **शुशुचीत्**=चमके और यह **सत्पतिः**=उत्तम कर्मों को उत्तम भावनाओं से और उत्तम प्रकार से करनेवाला हो कर्म भी उत्तम हो, भावना भी उत्तम हो और उस कर्म को करने का तरीका भी उत्तम हो। इस प्रकार इन तीनों के सत् होने पर यह 'सत्पति' कहाता है।

भावार्थ—वासनाओं को विनष्ट करने की शक्ति व ज्ञान को हम अपनाएँ, वेदज्ञान का दोहन करें, ज्ञान से दीप्त हों और सत्कर्मों को करनेवाले हों।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोदुग्ध व यव

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥ १०॥

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु विश्वास

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु॥ ११॥

प्रस्तुत दोनों मन्त्र ४२.१० तथा ४२.११ पर व्याख्यात हो चुके हैं। 'सत्पति' बनने के लिये गोदुग्ध व जौ का प्रयोग आवश्यक है और उस बृहस्पति प्रभु में विश्वास आवश्यक है।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि हमारी मतियाँ प्रभु का आलिंगन करनेवाली बनें, (१) हमारा मन प्रभु प्रवण हो, (२) हमारी सुमति हो, न कि कुमति, (३) हमें आर्य-ज्योति प्राप्त हो, (४) सूर्यलोक का विजय करके हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करें, (५) इस लोक में सोमरक्षण के द्वारा शत्रुओं का मर्षण करनेवाले हों, (६) इस सोमरक्षण से तेजस्विता का संवर्धन करें, (७) 'सुन्वन्, जीरदानु, मनु व हविष्मान्' बनकर ज्योति को प्राप्त करें, (८) सत्पति बनें, (९) सत्पति बनने के लिये आवश्यक है कि हम 'स्वपति' हों—

[४४] चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्व-पति

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान्।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **आयातु**=मेरे समीप आये। जैसे एक बच्चा पिता की गोद में बैठता है, उसी प्रकार यह जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु की गोद में बैठनेवाला हो। जो इन्द्र 'स्व-पति'=अपना स्वामी है, यह इन्द्रियों, मन व बुद्धि का दास न होकर इनका अधिष्ठाता

है। **मदाय**=यह स्वपति सदा हर्ष के लिये होता है, इसका जीवन उल्लासमय होता है। (२) मेरे समीप वह इन्द्र आये **यः**=जो **धर्मणा**=लोकधारण के हेतु से **तूतुजानः**=(त्वरमाण: नि० ६।२०) शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। इसका जीवन क्रियामय होता है और इसकी प्रत्येक क्रिया लोकधारण के उद्देश्य से होती है। (३) यह **तुविष्मान्**=(groweh streingth intellect) उन्नति, शक्ति व बुद्धिवाला होता है। सदा उन्नतिपथ पर चलता है, शक्ति को स्थिर रखता है और अपनी बुद्धि का परिमार्जन करने का प्रयत्न करता है। (४) **अपारेण महता**=बहुत अधिक **वृष्ण्येन**=बल के द्वारा **विश्वा सहांसि**=सब सहनशक्तियों को **अति प्रत्वक्षाणः**=बहुत ही सूक्ष्म करनेवाला होता है। यह अपने में सहनशक्ति को बढ़ाता है। सबल व्यक्ति ही सहनशील होता है। निर्बल कुछ चिड़चिड़ा-सा हो जाता है। यह चिड़चिड़े स्वभाववाला व्यक्ति प्रभु को पाने का अधिकारी नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम 'इन्द्र-स्वपति-धारणात्मक कर्मों को करनेवाले, उन्नतिशील तथा सबल बनकर सहनशील' बनें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुसुष्ठामा रथः

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ।
शीभं राजन्त्सुपथा याह्यर्वाङ्वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के 'स्वपति' से ही कहते हैं कि तेरा **रथः**=शरीररूप रथ **सुष्ठामा**=शोभनावस्थान हो, इसका एक-एक अंग सुबद्ध हो, अर्थात् यह शरीररूप रथ सुगठित हो। **ते**=तेरे **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय सब अश्व **सुयमा**=उत्तमता से नियमित हों, वश में हों। हे **नृपते**=आगे बढ़नेवालों के स्वामिन्-मुखिया **ते गभस्तौ**=तेरी बाहु में **वज्रः**=क्रियाशीलता रूप वज्र **मिम्यक्ष**=संहत हो। अर्थात् तू दृढ़तापूर्वक क्रियाशील बने, अकर्मण्य न हो। (२) हे **राजन्**=अपने जीवन को resnleted व्यवस्थित करनेवाले और अतएव अपने जीवन को दीप्त बनानेवाले जीव! तू **सुपथा**=उत्तम मार्ग से **शीभम्**=शीघ्र **अर्वाङ्**=हमारे सामने अथवा अन्दर हृदय के प्रदेश में **आयाहि**=आनेवाला हो। जीवन को व्यवस्थित बनाना ही प्रभु की ओर चलना है। (३) प्रभु कहते हैं कि **पपुषः**=सोम का पान करनेवाले **ते**=तेरे **वृष्ण्यानि**=बलों को **वर्धाम**=हम बढ़ाते हैं। सोमपान से ही शक्ति का वर्धन होता है। सशक्त होकर ही हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनते हैं।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ सुदृढ़ हो, इन्द्रियाश्व संयत हों, हाथों में क्रियाशीलता हो, सुपथ से प्रभु की ओर चलें और सोम के रक्षण के द्वारा शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्यशुष्म

एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम्।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु ॥ ३ ॥

(१) प्राण जीवात्मा के साथ रहते हैं, उपनिषद् के शब्दों में उसी प्रकार जैसे कि पुरुष के साथ छाया। छाया पुरुष का साथ नहीं छोड़ती, प्राण आत्मा का साथ नहीं छोड़ते। इसीलिए प्राणों को यहाँ 'सधमादः'='जीव के साथ आनन्दित होनेवाले' कहा गया है। ये प्राण जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु के प्रति ले चलनेवाले हैं, सो 'इन्द्रवाहः' हैं। शक्तिशाली होने से 'उग्रासः' हैं और अत्यन्त

बढ़े हुए होने से, सब उन्नतियों का कारण होने से 'तविषास:' कहे जाते हैं। (२) इन प्राणों से कहते हैं कि **सधमाद:**=जीव के साथ आनन्द को अनुभव करनेवाले, **इन्द्रवाह:**=जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले, **उग्रास:**=तेजस्वी **तविषास:**=प्रवृद्ध व बल-सम्पन्न प्राणो! आप **एनम्**=इस जीव को **ईम्**=निश्चय से **अस्मत्रा**=हमारे समीप **आवहन्तु**=ले आओ। उस जीव को जो (क) **नृपतिम्**=उन्नतिशील पुरुषों का प्रमुख है, (ख) **वज्रबाहुम्**=बाहु में क्रियाशीलता रूप वज्र को लिये हुए है, सदा क्रियाशील है, (ग) **उग्रम्**=जो तेजस्वी है, (घ) **प्रत्वक्षसम्**=अपने बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनानेवाला है, (ङ) **वृषभम्**=शक्तिशाली होता हुआ सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला है, (च) **सत्यशुष्मम्**=सत्य के बलवाला है। वस्तुत: प्राणसाधना से मनुष्य के जीवन में ये सब गुण उत्पन्न होते हैं और इन गुणों को उत्पन्न करके प्राण इसे प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीव शक्तिशाली व सत्य के बलवाला और सूक्ष्म बुद्धि से युक्त होता है। इन तीनों बातों का सम्पादन करके यह प्रभु के समीप पहुँचता है।

ऋषि:—**कृष्ण:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**विराड्जगती** ॥ स्वर:—**निषाद:** ॥

सोम-महिमा

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्ज: स्कम्भं धरुण आ वृषायसे।
ओज: कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे॥ ४॥

(१) हे **धरुण**=हमारा धारण करनेवाले प्रभो! **एवा**=(इ गतौ) गतिशीलता के द्वारा आप **आवृषायसे**=हमारे में उस सोम का वर्षण व सेचन करते हैं जो कि **पतिम्**=पालक है, रोगों से हमें बचानेवाला है, **द्रोणसाचम्**=इस शरीररूपी द्रोण (=सोमपात्र) में समवेत (=सम्बद्ध) होनेवाला है, **सचेतसम्**=जो चेतना से युक्त है, चेतना व ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है और **ऊर्ज: स्कम्भम्**=बल व प्राणशक्ति का धारक है। (२) हे प्रभो! इस सोम के सेचन से **ओज: कृष्व**=आप हमारे में ओजस्विता का सम्पादन करिये और **त्वे अपि संगृभाय**=हमें अपने में ग्रहण करने की कृपा करिये। हम आपकी गोद में उसी प्रकार आ सकें जैसे कि पुत्र पिता की गोद में आता है। (३) आप हमारे लिये उसी प्रकार होइये **यथा**=जैसे कि **इन:**=स्वामी होते हुए आप **केनिपानाम्**=मेधावियों के **वृधे**=वर्धन के लिये होते हैं। हम भी इस सोम के रक्षण के द्वारा मेधावी हों और आपके प्रिय होकर निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करें।

भावार्थ—सोम (=वीर्य) हमारा रोगों से रक्षण करता है, हमें चेतना-सम्पन्न व शक्तिशाली बनाता है। इसके द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। मेधावी बनकर वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

ऋषि:—**कृष्ण:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वर:—**निषाद:** ॥

अनाधृष्य-पात्र

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिन:।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा॥ ५॥

(१) हे प्रभो! गत मन्त्र के अनुसार जब मैं अपने इस शरीर को सोम का पात्र बनाता हूँ, शरीर में सोम का रक्षण करता हूँ तो **हि**=निश्चय से **अस्मे**=हमारे में **वसूनि**=जीवन को उत्तम बनानेवाले सब वासक तत्त्व **आगमन्**=प्राप्त होते हैं। और मैं **शंसिषम्**=आपका शंसन व स्तवन

करनेवाला बनता हूँ। मेरी मनोवृत्ति भोग-प्रवण न होकर प्रभु-प्रवण होती है। आप मुझ **सोमिनः**=सोम का रक्षण करनेवाले के **स्वाशिषम्**=उत्तम इच्छाओंवाले **भरम्**=भरणात्मक यज्ञ को **आयाहि**=आइये। वस्तुतः **त्वं ईशिषे**=आप ही तो इन सब यज्ञों के ईश हैं आपकी कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। (२) **स**=वे आप **अस्मिन्**=इस हमारे **बर्हिषि**=वासनाओं को जिसमें से उखाड़ दिया गया है और जिसमें यज्ञ की भावना को स्थापित किया गया है उस हृदय में **आसत्सि**=आकर विराजमान होते हैं। उन हृदंयस्थ आपकी प्रेरणा व शक्ति से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। (३) हे प्रभो! **तव**=आपकी **धर्मणा**=धारकशक्ति से ही **पात्राणि**=ये सोम के रक्षण के पात्रभूत हमारे शरीर **अनाधृष्या**=आधि-व्याधियों से धर्षण के योग्य नहीं होते। आपके हृदय में स्थित होने पर वहाँ 'काम' का प्रवेश नहीं होता। इसका प्रवेश न होने पर शरीर में सोम का रक्षण होता है। इस सोम के रक्षण के होने पर शरीर का धर्षण रोगों से नहीं किया जाता और वासनाएँ मन का धर्षण नहीं कर पातीं। शरीर व मन दोनों ही बड़े स्वस्थ बनते हैं। यह स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मनवाला पुरुष 'आदर्श-पुरुष' होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण होने पर हमारे हृदयों में प्रभु का वास होगा। उस समय हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त न होंगे, मन वासनाओं से मलिन न होंगे।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञिय नाव

पृथक्प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥ ६॥

(१) **प्रथमाः**=(प्रथ विस्तारे) अपना विस्तार करनेवाले व अपने हृदयों को विशाल बनानेवाले, **देवहूतयः**=देव को पुकारनेवाले प्रभु की प्रार्थना करनेवाले, अपने में दिव्यगुणों को स्थापित करने के लिये यत्न करनेवाले, गत मन्त्र के सोमी (=सोम रक्षक) पुरुष **पृथक्**=अनासक्त (detached) होकर, अलग रहते हुए, न फँसते हुए **प्रायन्**=प्रकृष्ट गति करनेवाले होते हैं। ये संसार में चलते हैं, सब कार्य करते हैं। पर उनमें फँसते नहीं 'कुर्याद् विद्वाँस्तथासक्तः'=ये असक्त होकर ही कार्यों को करते हैं। (२) आसक्ति कार्यों के सौन्दर्य को समाप्त कर देती है, तो अनासक्ति हमारे कार्यों की शोभा को बढ़ानेवाली होती है। अनासक्त भाव से कार्यों को करते हुए ये सोमी पुरुष **श्रवस्यानि**=उन श्रवणीय यशों को **अकृण्वत**=करनेवाले होते हैं जो यश **दुष्टरा**=दूसरों से दुस्तर होते हैं। इनके यश का अन्य लोग उल्लंघन नहीं कर पाते। (३) इनके विपरीत वे व्यक्ति **ये**=जो **यज्ञयां नावम्**=यज्ञमयी नाव पर **आरुहम्**=आरोहण करने के लिये **न शेकुः**=समर्थ नहीं होते, अर्थात् जो जीवन को शक्ति से ऊपर उठकर यज्ञिय कार्यों में नहीं लगा पाते **ते**=वे **केपयः**=कुत्सित कर्मा लोग **ईर्म एव**=(ऋ णेनैव) अपने पर चढ़े हुए 'ऋण' से ही **न्यविशन्त**=नीचे और नीचे प्रवेश करते हैं, इनको अधोगति प्राप्त होती है। यज्ञ ही वह नाव है जो कि भवसागर से तराकर हमें उत्तर शिव वाजों (शक्तियों व धनों) को प्राप्त कराती है। (४) हमारे पर 'पितृ ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण व भव ऋण' इस प्रकार चार ऋण हैं। इन ऋणों को हम विविध यज्ञिय कर्मों द्वारा अदा किये करते हैं। यदि उन यज्ञों को हम नहीं करते ऋणभार से दबे हुए हम अधोगति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम संसार में फल की आसक्ति को छोड़कर कर्त्तव्य कर्मों को करें, यही यज्ञिय नाव है जो हमें भवसागर से तराती है और अधोगति से बचाती है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राग् नकि प्रपाग्

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे।
इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ॥ ७ ॥

(१) **येषाम्**=जिन यज्ञ न करनेवालों के **दुर्युजः**=दुष्ट योजनावाले, अर्थात् अशुभ मार्ग की ओर जानेवाले **अश्वाः**=इन्द्रियरूप अश्व **आयुयुज्रे**=इस शरीर-रथ में जुतते हैं वे **दूढ्यः**=(दुर्धियः) दुष्ट बुद्धिवाले पुरुष **अपरे**=इस अपरा प्रकृति में फँसे हुए पुरुष **एवा**=अपनी गतियों (=क्रियाओं) के कारण ही **अपाग्**=अधोगतिवाले (अप अञ्च्) **सन्तु**=हों। भोग प्रवण मनोवृत्तिवाले पुरुष ही बुद्धियाँ सदा कुकामनाएँ करती हैं, 'अन्यायेन अर्थसंचयः' का विचार करती रहती हैं। इनकी अन्ततः अवनति ही होती है। (२) **उ**=और जो **परे**=दूसरे, परा प्रकृति (=आत्मस्वरूप) की ओर चलनेवाले होते हैं और **इत्था**=सचमुच **दावने सन्ति**=देने के कार्य में ही लगे रहते हैं, **प्राग् सन्ति**=(प्र अञ्च्) आगे बढ़नेवाले होते हैं। वे वहाँ पहुँचते हैं **यत्र**=जहाँ कि **पुरूणि**=पालन व पूरण करनेवाले अथवा पर्याप्त **वयुनानि**=ज्ञानयुक्त व कान्त (=चमकते हुए) **भोजना**=(पालन करनेवाले) धन हैं। इन भोगवृत्ति से ऊपर उठे हुए यज्ञशील पुरुषों पालन के लिये आवश्यक सब धन प्राप्त होते हैं, ये धन उन्हें मूढ बनानेवाले नहीं होते, प्रत्युत उनके ज्ञान को बढ़ाते हुए उन्हें आगे ले चलते हैं।

भावार्थ—भोग-प्रवण बनकर हम अधोगति को प्राप्त करनेवाले न बनें। यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए आगे बढ़ें और ज्ञानयुक्त धनोंवाले हों।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

समीचीने धिषणे

गिरीँरज्राञ्रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत्।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ॥ ८ ॥

(१) **वृष्णः**=शक्ति के देनेवाले सोम का **पीत्वा**=पान करके, सोम को शरीर में ही व्याप्त (imbife) करके **मदे**=उल्लास में **उक्थानि**=प्रभु के स्तोत्रों का **शंसति**=शंसन करता है। जिस समय मन्त्र का ऋषि 'गोतम' (=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष) सोम का विनाश न करके उसे शरीर में ही सुरक्षित करता है उस समय नीरोगता व निर्मलता के कारण उसे एक अनुपम उल्लास का अनुभव होता है। उस उल्लास में वह प्रभु की महिमा का गायन करता है। प्रभु की बनाई हुई उस सोमशक्ति में वह प्रभु की महिमा को देखता है। (२) इस सोम के रक्षण के द्वारा वह **समीचीने**=(सम् अञ्च्) उत्तम गतिवाले **धिषणे**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **विष्कभायति**=विशेषरूप से थमता है। मस्तिष्क व शरीर की शक्ति को क्षीण न होने देकर इनको वह बढ़ानेवाला होता है। सोम का रक्षण उसकी ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करता है और शरीर में आ जानेवाले रोगकृमियों का नाश करता है। मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाना व शरीर को नीरोग बनाना ही द्यावापृथिवी का धारण है। इस सोम रक्षक पुरुष के मस्तिष्क व शरीर दोनों समीचीन होते हैं। मस्तिष्क ज्ञान का ग्रहण करनेवाला होता है तो शरीर रोगशून्य होता है। (३) यह **अज्रान्**=अपनी गति के द्वारा विक्षिप्त करनेवाले **रेजमानान्**=अत्यन्त कम्पित करते हुए **गिरीन्**=अविद्या पर्वतों को **अधारयत्**=थामता है अविद्या पर्वतों के आक्रमण से अपने को बचाता है। इसका **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक **अक्रन्दत्**=प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है, अर्थात् वह अन्दर प्रभु के प्रकाश को देखता है और उसे

अपने रक्षण के लिये पुकारता है। यह **अन्तरिक्षाणि**=अपने हृदयान्तरिक्षों को **कोपयत्**=(कोपयति to shine) दीप्त करता है। प्रभु के प्रकाश से हृदय का दीप्त होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से हमारे मस्तिष्क व शरीर उत्तम हों।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञमय जीवन

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन्बोध्याभगः॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **इमम्**=इस **ते**=आपके **सुकृतम्**=पुण्य के कारणभूत **अंकुशम्**=स्तवन को **बिभर्मि**=मैं धारण करता हूँ। यहाँ स्तुति को 'अंकुश' इसलिए कहा है कि यह हमें मार्ग पर चलने के लिये प्रेरक होती है। अंकुश हाथी को मार्गभ्रष्ट नहीं होने देता इसी प्रकार स्तुति मनुष्य को मार्गभ्रष्ट होने से बचाती है। हे **मघवन्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! यह स्तुतिरूप अंकुश वह है **येन**=जिससे **शफारुजः**=(शफ=root of a tree) शरीर रूप वृक्ष के मूल पर आघात करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' को **आरुजासि**=आप छिन्न-भिन्न कर देते हो। 'काम' शरीर को क्षीण करके विलास का शिकार बना देता है, 'क्रोध' मन को अशान्त कर देता है और लोभ बुद्धि का विनाशक है। इन तीनों 'शफारुजों' को हम प्रभु-स्तवन के द्वारा विनष्ट करनेवाले बनते हैं। (२) इनको विनष्ट करके हम शरीर में सोम का (=वीर्यशक्ति का) सम्पादन करते हैं और चाहते हैं कि **अस्मिन् सवने सुते**=जीवन यज्ञ में सोम का (=वीर्यशक्ति का) सम्पादन पर **ओक्यं अस्तु**=प्रभु का यहाँ निवास हो। (३) हे **आभगः**=आभजनीय-सर्वदा स्तवन के योग्य प्रभो! **इष्टौ सुते**=इस जीवन को यज्ञरूप में चलाने पर **बोधि**=आप हमारा ध्यान करिये। आप से रक्षित होकर ही तो हम इस जीवन को यज्ञ का रूप दे सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमारे जीवनरूप हाथी को लिये अंकुश के समान हो। हम जीवन को यज्ञमय बना पायें, उस यज्ञमय जीवन में प्रभु का निवास हो।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोदुग्ध यव

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥ १०॥

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु विश्वास

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु॥ ११॥

इन दोनों मन्त्रों का व्याख्यान ४२.१० तथा ४२.११ पर द्रष्टव्य है। जीवन की यज्ञमयता के लिये जौ व गोदुध का आहार अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ यह बात भी प्रसंगवश ध्यान देने योग्य है कि ४२,४३ तथा ४४ तीनों सूक्त 'कृष्ण आंगिरस' ऋषि के हैं। तीनों ही सूक्त इन्हीं दो मन्त्रों पर समाप्त होते हैं। कृष्ण भगवान् के जीवन के साथ भी गौवों का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। वस्तुतः अपनी ओर गुणों को आकृष्ट करने के लिये (कृष्) तथा अंग-प्रत्यंग में रसमय व शक्तिशाली

बनने के लिये 'गोदुग्धं व जौ' का प्रयोग आवश्यक ही है। इस ४४ सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि हम 'स्व-पति' बनें, हमारा शरीररूप-रथ 'उत्तम स्थान व दृढ़ता' वाला हो, (२) हम सत्यशुष्म बनें, (३) सोम (=वीर्य) की महिमा को समझें (४) हमारा यह शरीररूप पात्र मलिनताओं से अनाधृष्य हो, (५) हम यज्ञिय नाव पर आरोहण करें, (६) हम पीछे न हटकर आगे ही आगे बढ़ें, (७) हमारे शरीर व मस्तिष्क समीचीन हों, (८) जीवन हमारा यज्ञमय हो, (९) गोदुग्ध व जौ के प्रयोग से हमारी वृत्ति सात्त्विक बने, (१०) प्रभु सर्वतः हमारे रक्षक हों, (११) हम अपने जीवनों में तीनों अग्नियों को प्रज्वलित करके प्रभु के प्रिय बनें। यह प्रभु का प्रिय बननेवाला 'वदति' प्रभु के गुणों का उच्चारण करता है और अपने कर्मों से 'प्रीणाति' प्रभु को प्रीणित करता है। यह अपने जीवन में 'भलं=वर्णत्रियं दनं=दानं यस्य' स्तुत्व दानवाला होता है। इस प्रकार यह 'वत्सप्री-भालन्दन' बनता है—

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन अग्नियाँ

दि॒वस्परि॑ प्रथ॒मं ज॑ज्ञे अ॒ग्निर॒स्मद् द्वि॒तीयं॒ परि॑ जा॒तवे॑दाः।
तृ॒तीय॑म॒प्सु नृ॒मणा॒ अज॑स्र॒मिन्धा॑न एनं जरते स्वा॒धीः॥ १॥

(१) **प्रथमम्**=सबसे पहले **दिवः**=मस्तिष्क रूप द्युलोक से **अग्निः**=ज्ञानाग्नि **परिजज्ञे**=प्रादुर्भूत होती है। यह ज्ञानाग्नि मस्तिष्क को उसी प्रकार उज्ज्वल करती है जैसे कि सूर्य द्युलोक को। इस अग्नि से हमारे जीवन में प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है, वहाँ अन्धकार का विनाश होकर, जीवन का मार्ग अत्यन्त स्पष्टतया दिखने लगता है। परिणामतः हम मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते और हमारे कर्म बड़े पवित्र होते हैं। ज्ञानाग्नि कर्मों के मल को उसी प्रकार दग्ध कर देती है जैसे कि स्वर्ण के मल को यह भौतिक अग्नि। इस प्रकार ज्ञानाग्नि कर्मों को पवित्र करती है। (२) **द्वितीयम्**=दूसरे स्थान में **अस्मत्**=हमारे हेतु से **जातवेदाः**=(जाते-जाते विद्यते) प्रत्येक उत्पन्न प्राणी में होनेवाली जाठराग्नि **परि (जज्ञे)**=उत्पन्न होती है। (३) **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में **'नृमणाः'** (नृषु मनो यस्य)=मनुष्यों में सत्यचित्तवाली लोकानुग्रह तत्पर 'नृमणा' नामवाली अग्नि है, जो **अप्सु**=हृदयान्तरिक्ष में निवास करती है। **स्वाधीः**=उत्तम बुद्धि व ध्यानवाला ज्ञानी पुरुष **एनम्**=इस तृतीय 'नृमणा' अग्नि को **अजस्त्रम्**=सतत (लगातार) **इन्धानः**=दीप्त करता हुआ और लोकानुग्रह में तत्पर हुआ-हुआ **जरते**=प्रभु का स्तवन करनेवाला होता है। प्रभु का सच्चा स्तवन 'सर्वभूतहितेरत' बनने से ही होता है। इस तृतीय अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये पहली दो अग्नियों का प्रज्वलन भी आवश्यक है। बिना ज्ञान के व बिना स्वास्थ्य के लोकहित के करने का सम्भव नहीं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करें, उदर में जाठराग्नि को और हृदय में लोकहित की भावनारूप अग्नि को। सच्ची प्रभु-भक्ति इसी में हैं।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीनों अग्नियों का स्रोत

वि॒द्मा ते॑ अग्ने त्रे॒धा त्र॒याणि॑ वि॒द्मा ते॒ धाम॒ विभृ॑ता पुरु॒त्रा।
वि॒द्मा ते॒ नाम॑ पर॒मं गुहा॒ यद्वि॒द्मा तमुत्सं॒ यत॑ आज॒गन्थ॑॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=त्रिलोकी में भिन्न-भिन्न रूपों में स्थित होनेवाली अग्नि! **ते**=तेरे **त्रेधा**=तीन प्रकार

के **त्रयाणि**=तीनों रूपों को **विद्म**=हम जानते हैं। मस्तिष्करूप द्युलोक में तू ज्ञानाग्नि के रूप से है, शरीर में जाठराग्नि के रूप से तथा हृदय में लोकानुग्रहात्मक अग्नि के रूप में। **पुरुत्रा**=बहुत प्रकार से **विभृता**=धारण किये गये **ते धाम**=(धामानि) तेरे तेजों को **विद्म**=हम जानते हैं। ज्ञानाग्नि के रूप में तेरा तेज कर्मदोष को दूर करता है, जाठराग्नि के रूप में यह रोग-दोष को दूर करनेवाला है और 'नृमणा' अग्नि के रूप में यह स्वार्थ-दोष को भस्म करता है। (२) हम **ते परमं नाम**=तेरे उत्कृष्ट यश को **यत्**=जो **गुहा**=सामान्य लोगों से छिपा हुआ है, उनकी अनुभूति का विषय नहीं है, उसे **विद्म**=जानते हैं। इन अग्नियों को धारण करने के कारण इनका लाभ जीवन में अनुभव होता है, उसी समय इनका यश हमारे सामने प्रकट होता है। (३) हम **तम्**=उस **उत्सम्**=स्रोत को भी **विद्म**=जानते हैं **यतः**=जहाँ से कि **आजगन्थ**=तुम प्रकट होते हो। वस्तुतः इन सब अग्नियों के प्रादुर्भाव का स्रोत वह प्रभु रूप महान् अग्नि ही है। सम्पूर्ण ज्ञान को सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु ही देते हैं, जाठराग्नि की स्थापना करनेवाले वे ही हैं, हृदय में 'नृमणा' अग्नि का उदय प्रभु की कृपा से ही होता है। प्रभु का उपासन ही हमें स्वार्थ से ऊपर उठाता है।

भावार्थ—ज्ञानाग्नि, जाठराग्नि व हृदयस्थ 'नृमणा' अग्नि प्रभु कृपा से ही प्रज्वलित होती हैं।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'नृमणाः, नृचक्षाः, महिषः'

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वऽन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्नि! **त्वा**=तुझे **समुद्रे**=(स मुद्) आनन्द की वृत्ति से युक्त **अप्सु अन्तः**=हृदयान्तरिक्ष के अन्दर **नृमणाः**=मनुष्यों के प्रति अनुग्रह युक्त मनवाला व्यक्ति **ईधे**=दीप्त करता है। लोकहित की वृत्तिवाला पुरुष 'नृमणाः' है, यह अपने हृदय में एक अद्भुत उत्साह की अग्नि को जगाता है, वह अग्नि भी 'नृमणाः' नामवाली से कही जाती है। (२) **नृचक्षाः**=मनुष्यों को ज्ञान का प्रकाश देनेवाला व्यक्ति **दिवः ऊधन्**=द्युलोक की छाती में, अर्थात् मस्तिष्क में ईधे=ज्ञानाग्नि को समिद्ध करता है। इसे समिद्ध करके ही तो वह औरों को प्रकाश देनेवाला होता है। (३) **तृतीये रजसि**=कर्मों की गोद में, अर्थात् क्रियामय जीवन बिताते हुए **महिषाः**=प्रभु के उपासक **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं। जाठराग्नि को ठीक रखने के लिये दोनों ही बातें आवश्यक हैं। क्रियाशीलता भी आवश्यक है, इससे शरीर के रुधिराभिसरण में न्यूनता नहीं आती। उपासना भी आवश्यक है, इससे वृत्ति-वैषयिक नहीं बनती और हम अतिभोजनादि में पड़कर जाठराग्नि को बुझा नहीं लेते।

भावार्थ—हम 'नृमणा' बनकर हृदय की अग्नि को प्रज्वलित करें, 'नृचक्षा' बनकर ज्ञानाग्नि को तथा 'महिष' उपासक बनकर जाठराग्नि को।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रकाशमय जीवन

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम त्रिलोकी की इन अग्नियों को अपने में प्रज्ज्वलित करते हैं तो वे महान् **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **अक्रन्दत्**=हमारे हृदयों में हमारे कर्मों की प्रतिपादिका वाणियों का उच्चारण करते हैं। हमारे कर्त्तव्य का ज्ञान देते हैं, स्वं प्रभु **स्तनयन् इव द्यौः**=गर्जना करते

हुए द्युलोक के समान होते हैं। वे प्रभु **क्षामा**=हमारे इस पृथिवीरूप शरीर को **रेरिहत्**=आस्वादयुक्त बना देते हैं। प्रभु कृपा से 'भूयासं मधु सन्दृशः' इस मन्त्र भाग को हम अपने जीवन में घटा हुआ देखते हैं। हमारे इस शरीर के द्वारा होनेवाली सब क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए होती हैं। (२) वे प्रभु **वीरुधः**=(वि-रुह) विशिष्ट रोहणों, उत्थानों व उन्नतियों को **समञ्जन्**=हमारे जीवन में व्यक्त करते हैं। **सद्यः**=शीघ्र ही **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होते हुए वे प्रभु **हि**=निश्चय से **इद्धः**=दीप्त हुए-हुए **वि अख्यद्**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनाते हैं। **अन्तः**=अन्तःस्थित हुए-हुए वे प्रभु **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **भानुना**=दीप्ति से **आभाति**=समन्तात् प्रकाशित करते हैं। हमारा मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से चमकने लगता है, तो यह शरीर स्वास्थ्य के तेज से दीप्त हो जाता है।

भावार्थ—अग्निरूप प्रभु की प्रेरणा को सुनने पर हमारा जीवन प्रकाशमय हो जाता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रभु प्रिय' का जीवन

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा वि भात्यग्र उषसामिधानः ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की दीप्ति से जीवन के दीप्त होने पर यह 'वत्सप्री' (मन्त्र का ऋषि) **श्रीणां उदारः**=धनों के विषय में उदारतावाला होता है। धन के विषय में कृपण नहीं होता। लोकहित के लिये उदारतापूर्वक दान देनेवाला होता है। वस्तुतः इस दानवृत्ति के कारण यह **रयीणां धरुणः**=धनों का धारक बनता है। 'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्'=दान से उसका यह धन सप्तगुणित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। (२) यह **मनीषाणां प्रार्पणः**=बुद्धियों का यह प्राप्त करानेवाला होता है। स्वयं अपनी बुद्धि को ठीक रखता हुआ यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनता है। धन के विषय में उदारता के कारण, लोभवृत्ति से ऊपर उठने के कारण इसकी बुद्धि अविकृत रहती है और यह ज्ञान का प्रसार करनेवाला बनता है। (३) इस बुद्धि की अविकृतता के लिये यह **सोमगोपाः**=सोम का रक्षक बनता है। यह रक्षित सोम ही इसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इस सोम के रक्षण से इसका स्वास्थ्य बिलकुल ठीक रहता है, यह **वसुः**=उत्तम निवासवाला होता है। **सहसः सूनुः**=बल का पुत्र (पुञ्ज) बनता है। यह शरीरधारी 'बल' ही हो जाता है। (४) सोम के रक्षण के परिणामरूप ही यह **अप्सु राजा**=कर्मों के विषय में बड़ा व्यवस्थित (regirlated) होता है। व्यवस्थित कर्मों के कारण यह चमक उठता है। **विभाति**=शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य की दीप्ति से यह विशेषरूप से दीप्त होता ही है। यह **उषसां अग्रे**=(early in the morning) बहुत ही सवेरे-सवेरे **इधानः**=उस प्रभु को अपने में दीप्त करनेवाला होता है। प्रभु-स्मरण के द्वारा प्रभु की भावना को अपने में जगाता है, प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—प्रभु प्रिय व्यक्ति धन-सम्पन्न होता हुआ उदार बनता है। सोम की रक्षा के द्वारा अपने जीवन को सुन्दर व सशक्त बनाता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सबका चिकित्सक

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः।
वीळुं चिदद्रिमभिनत्परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र का 'वत्सप्री' **विश्वस्य केतुः**=सबको ज्ञान देनेवाला होता है। 'कित निवासे रोगापनयने च'=सबको निवास देनेवाला बनता है और सबके रोगों को दूर करने के लिये यत्नशील होता है। ज्ञान देने के द्वारा निवास भी उत्तम होता है, रोग भी दूर होते हैं। **भुवनस्य गर्भः**=यह सारे भुवन का गर्भ बनता है, सबको अपने में धारण करनेवाला होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सारी वसुधा इसका परिवार बन जाती है। (२) **जायमानः**=अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ यह **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **आ अपृणात्**=सब प्रकार से पालित व पूरित करता है, यह उनमें न्यूनता को नहीं आने देता। **परा यन्**=विषय-वासनाओं से दूर होता हुआ यह **वीडुं चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **अभिनत्**=विदीर्ण करनेवाला होता है। विषय-वासनाएँ ही ज्ञान पर आवरण के रूप में होती हैं। उनसे दूर होकर यह अज्ञान को नष्ट कर डालता है। **यद्**=जब ऐसा होता है उस समय **अग्निम्**=इस प्रगतिशील जीव को **पञ्चजनाः**=पाँचों विकास, पाँचों कोशों की उन्नति से, **अयजन्त**=संगत होती हैं, प्राप्त होती हैं। इसके पाँचों ही कोश अपने-अपने विकसित गुणोंवाले होते हैं। इसका अन्नमयकोश तेज से, प्राणमयकोश वीर्य से, मनोमयकोश ओज व बल से, विज्ञानमयकोश मन्यु से तथा आनन्दमयकोश सहस् से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—हम वसुधा को ही अपना परिवार समझनेवाले, अज्ञान को दूर करके सब कोशों की शक्तियों को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हितचिन्तक व पावक

उशिक्पावको अरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।
इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्॥ ७॥

(१) **उशिक्**=(वष्टेः कान्तिकर्मणः) यह सबके भले की कामनावाला होता है, **पावकः**=अपने जीवन को पवित्र बनाकर औरों को भी पवित्र जीवनवाला बनाने का यत्न करता है। **अरतिः**=विषयों में रति व आसक्तिवाला नहीं होता। **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला व (मेध=यज्ञ) उत्तम यज्ञोंवाला होता है। (२) यह **अग्निः**=प्रगतिशील जीवनवाला **अमृतः**=विषयों के पीछे न मरनेवाला व्यक्ति **मर्तेषु**=विषयों के पीछे मरनेवाले, आसक्तिवाले पुरुषों में, **निधायि**=प्रभु के द्वारा ही स्थापित किया जाता है। यह उनमें रहता हुआ अपने क्रियात्मक जीवन से व ज्ञान-ज्योति से उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करता है। **इयर्ति**=इसी उद्देश्य से यह गतिवाला होता है, बड़ा क्रियाशील होता है। **धूमम्**=विषय-वासनाओं का कम्पित करके दूर करनेवाले **अरुषम्**=आरोचमान, समन्तात् दीप्त, ज्ञान को **भरिभ्रत्**=यह धारण करता है और **उत्**=विषयासक्ति से ऊपर उठकर **शुक्रेण शोचिषा**=दीप्त (शुच्) व क्रियामय (शुक् गतौ) ज्ञानदीप्ति से यह **द्यां इनक्षन्**=सारे द्युलोक को व्याप्त कर देता है। यह सर्वत्र इस ज्ञान को फैलानेवाला बनता है।

भावार्थ—हम स्वयं उच्च व दीप्त जीवनवाले बनकर ज्ञान-प्रसार द्वारा सबका हित करने की कामनावाले हों।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तत्त्वद्रष्टा का श्रीसम्पन्न जीवन

दृशानो रुक्म उर्विया व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौर्जनयत्सुरेताः॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार अपने जीवन को ज्ञानदीप्ति से दीप्त करने के कारण यह **दृशानः**=प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखनेवाला बनता है। वस्तुओं की आपात-रमणीयता से उनमें उलझ नहीं जाता। न उलझने के कारण यह **रुक्मः**=स्वर्ण के समान चमकनेवाला होता है, स्वास्थ्य की दीप्ति से दीप्त होता है। शारीरिक स्वास्थ्य के साथ **उर्विया**=हृदय की विशालता से यह **व्यद्यौत्**=चमकता है। इसका हृदय संकुचित नहीं होता, हृदय को विशाल बनाकर यह समाज में शोभा ही पाता है। **आयुः**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=शत्रुओं से मर्षण के योग्य नहीं होता, यह शत्रुओं के लिये दुराधर्ष होता है। काम-क्रोधादि के आक्रमण से यह आक्रान्त नहीं होता। **श्रिये रुचानः**=श्री के लिये यह रुचिवाला होता है, किसी भी कार्य को यह अशोभा से नहीं करना चाहता। इस श्री के लिये यह 'सत्य' को अपनाता है, सत्कार्यों से इसका 'यश' होता है, यह यश इसे श्री-सम्पन्न जीवनवाला करता है। (२) **अग्निः**=यह जीवनपथ में निरन्तर आगे बढ़ता है। **वयोभिः**=आयुष्य के स्थापक सात्त्विक अन्नों से यह **अमृतः**=रोगों से अनाक्रान्त स्वस्थ दीर्घ-जीवनवाला **अभवत्**=होता है। (३) यह इस प्रकार बन इसलिए पाता है **यत्**=क्योंकि **सुरेताः**=उत्तम रेतस्वाला, ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला **द्यौः**=ज्ञान-ज्योति से प्रकाशमय जीवनवाला आचार्य **एनम्**=इसको **जनयत्**=विकसित शक्तिवाला करता है। संयमी ज्ञानी आचार्य के नियन्त्रण में रहकर इसकी भी शक्तियों व ज्ञान का विकास समुचित रूप में हो जाता है और इसका जीवन सचमुच श्री-सम्पन्न होता है।

भावार्थ—संयमी ज्ञानी आचार्यों की कृपा से हमारा जीवन श्री-सम्पन्न बने। हम तत्त्वद्रष्टा बनकर संसार में उलझे नहीं।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घृतवाला अपूप

यस्ते॑ अ॒द्य कृ॒णव॑द्भद्रशोचेऽपू॒पं दे॑व घृ॒तव॑न्तमग्ने।
प्र तं न॑य प्रत॒रं वस्यो॒ अच्छा॒भि सु॒म्नं दे॒वभ॑क्तं यविष्ठ॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र में 'आचार्य ने विद्यार्थी को बनाना है' इस बात का संकेत था। उसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हे **भद्रशोचे**=कल्याणकर ज्ञान दीप्तिवाले, **देव**=दिव्यगुणों को अपनानेवाले **अग्ने**=आगे और आगे बढ़नेवाले ब्रह्मचारिन्! **यः**=जो आचार्य **ते**=तेरे लिये **घृतवन्तम्**=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति के कारणभूत (घृ=क्षरण-दीप्त्योः) **अपूपम्**=(न पूयते) न अपवित्र होनेवाले, अपितु पवित्रता के साधनभूत इस ज्ञान के ओदन को (=भोजन को) **कृणवत्**=करता है, **तं अच्छ**=उसकी ओर **प्रतरम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **वस्यः**=निवास के लिये उपयोगी **वसु**=धन को **प्रणय**=प्राप्त करा। ज्ञान देनेवाले आचार्य को उत्तम से उत्तम गुरु दक्षिणा देनी ही चाहिए। वह आचार्य विद्यार्थी के लिये ज्ञानरूप भोजन को पकाता है। अथर्व० ९।२।३७ में 'पचत पञ्च औदनान्' इन शब्दों में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के लिए पाँच ओदनों के, ज्ञान भोजनों के पचन का संकेत है। (२) इस प्रकार आचार्य से ज्ञान को प्राप्त करके हे **यविष्ठ**=बुराइयों को अपने से दूर करनेवाले और अच्छाइयों को अपने से संगत करनेवाले विद्यार्थिन्! तू **देवभक्तम्**=देवों से सेवित, देववृत्तिवाले पुरुषों से जीवन में लाये गये **सुम्नम्**=(hymen) प्रभु के स्तोत्रों की **अभि**=ओर **प्रणय**=अपने को ले चल। तेरा यह जीवन प्रभु के सम्पर्क में चले। प्रभु सम्पर्क ही जीवन को सशक्त व सुन्दर बनाये रखता है।

भावार्थ—हम आचार्यों से उस ज्ञान को, भोजन को प्राप्त करें जो कि सब प्रकार के मलों

को दूर करके हमें पवित्र जीवनवाला बनाता है। आचार्यों को गुरुदक्षिणा प्राप्त कराके हम उपासक बनकर संसार में चलें।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सौश्रवस-उक्थ

आ तं भंज सौश्रवसेष्वग्न उक्थउक्थ आ भंज शस्यमाने।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भंवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=आचार्यों से ज्ञान ज्योति को प्राप्त करनेवाले अग्नि! अब गृहस्थ में प्रवेश करने पर तू **तम्**=उस प्रभु को **सौश्रवसेषु**=उन उत्तम कर्मों में जो यश का कारण बनते हैं **आ-भज**=उपासित करनेवाला बन। इन यशस्वी कर्मों से ही (सु-श्रवस्) प्रभु की सच्ची आराधना होती है। (२) इसी प्रकार **शस्यमाने**=उच्चारण किये जाते हुए **उक्थे उक्थे**=प्रत्येक स्तोत्र में तू **आभज**=उस प्रभु का भजन कर। संक्षेप में, प्रभु को स्मरण कर और उन उत्तम कर्मों को अपनानेवाला बन जो तेरे यश का कारण होते हैं। (२) इस प्रकार जीवन को बनानेवाला गृहस्थ **सूर्ये**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान सूर्य के विषय में **प्रियः**=प्रिय होता है तथा **अग्नौ**=उदर में निवास करनेवाली वैश्वानर अग्नि के विषय में भी **प्रियः भवाति**=प्रिय होता है। इसकी ज्ञानाग्नि भी ठीक होती है तथा जाठराग्नि भी ठीक होती है। एक इसको ज्ञानोज्ज्वल बनाती है, तो दूसरी इसको स्वस्थ बनाकर सबल बनाती है। (३) यह **जातेन**=अपने हृदय के विकास से **उत् सभिनत्**=कामादि शत्रुओं का विदारण करनेवाला होता है और **जनित्वैः**=निर्माण के कार्यों से, उत्पादन से यह **उदभिनत्**=दास्यव वृत्ति को ध्वंस की वृत्ति को नष्ट करता है। इसका हृदय कभी किसी के बुरे की कामना नहीं करता। इसका हृदय 'नृमणा' अग्निवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम कर्मों व स्तोत्रों के द्वारा प्रभु का स्तवन होता है। इस प्रभु भक्त में ज्ञानाग्नि, जाठराग्नि व नृमणा अग्नियों का समावेश होता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के साथ धन (विष्णु-लक्ष्मी)

त्वामंग्ने यजंमाना अनु द्यून्विश्वा वसुं दधिरे वार्याणि।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वंव्रुः ॥ ११ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वाम्**=आपको **यजमानाः**=उपासित करते हुए व्यक्ति **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **विश्वा**=सब **वार्याणि**=वरणीय, चाहने योग्य **वसु**=धनों को **दधिरे**=धारण करते हैं। प्रभु का उपासक गत मन्त्र के अनुसार **सौश्रवसो**=उत्तम यशस्वी कर्मोंवाला होता है। इस प्रशस्त कर्मोंवाले पुरुष को वसुओं की कमी नहीं रहती। (२) हे प्रभो! **त्वया सह**=तेरे साथ **द्रविणम्**=धन को **इच्छमानाः**=चाहते हुए ये उपासक **शिजः**=आपकी कामना करनेवाले मेधावी पुरुष **गोमन्तं व्रजम्**=इस प्रशस्त इन्द्रियोंवाले शरीररूप बाड़े को **विवव्रुः**=(unfold) विशेषरूप से विकसित करते हैं। बिना प्रभु के धन मनुष्य को मद्य-मांसादि की ओर तथा नृत्य-गीत-वाद्य की ओर ले जाकर नष्ट कर देता है। प्रभु के साथ धन उसको सब साधनों की प्राप्ति में सहायक होकर धन्य बनानेवाला होता है। इस प्रकार प्रभु के साथ ही धन कल्याणकर है। विष्णु व लक्ष्मी का इकट्ठा आना ही ठीक है।

भावार्थ—प्रभु की भावना के साथ धन को प्राप्त करके हम इन्द्रियों व शरीर की शक्ति का विकास करने में समर्थ हों।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण व निर्द्वेषता

अस्ताव्यग्निर्नरां सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम्॥ १२॥

(१) **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा लोगों से मन्त्रों द्वारा (ऋषि=द्रष्टा, मन्त्र) **अस्तावि**=स्तवन किये जाते हैं। ये प्रभु **नराम्**=(नृ नये) अपने को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले पुरुषों का **सुशेवः**=उत्तम कल्याण करनेवाले हैं। **वैश्वानरः**=सभी मनुष्यों में इन प्रभु का वास है 'विश्वेषु नरेषु भवः'। **सोमगोपाः**=सोम का ये रक्षण करनेवाले हैं। प्रभु-स्मरण से वृत्ति सुन्दर बनती है, विलास से मनुष्य ऊपर उठता है और वीर्य को नष्ट होने से बचा पाता है। (२) इस प्रकार वीर्यरक्षण से शक्तिशाली बनकर हम **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सारे संसार को **अद्वेषे**=अद्वेष में **हुवेम**=पुकारते हैं। किसी के भी प्रति द्वेष की भावनावाले नहीं होते। (३) **देवाः**=हे देवो! इस प्रकार हमारे जीवनों को द्वेषशून्य बनाकर आप **अस्मे**=हमारे लिये **सुवीरं रयिम्**=उत्तम वीरतावाले धन को **धत्त**=धारण करो। हमें धन प्राप्त हो, धन के साथ वीरता प्राप्त हो। धन से विषयों की ओर जाकर हम अवीर न बन जायें।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण मनुष्य को वासनाओं से बचाकर सुरक्षित सोमवाला बनाता है, यह सोमी (वीर्यवान्) पुरुष निर्द्वेष होता है, वीरतायुक्त धन को प्राप्त करता है।

यह सूक्त 'ज्ञानाग्नि, जाठराग्नि व नृमणा' अग्नियों के वर्णन से प्रारम्भ होता है, (१) इन तीन अग्नियों का स्रोत प्रभुरूप महान् अग्नि हैं, (२) इन तीनों अग्नियों का हमें वर्धन करना चाहिए, (३) अग्नि रूप प्रभु की प्रेरणा के सुनने पर हमारा जीवन प्रकाशमय होगा, (४) प्रभु प्रिय व्यक्ति धन-सम्पन्न होता हुआ उदार होता है, (५) यह वसुधा को अपना परिवार समझता है, (६) सर्वहितचिन्तक व पावक होता है, (७) श्री-सम्पन्न बनकर यह तत्त्वद्रष्टा होने से उसमें आसक्त नहीं होता, (८) हम आचार्यों से ज्ञान को भोजन को प्राप्त करें, (९) उत्तम यशस्वी कर्मों व स्तोत्रों से प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें, (१०) हमारे जीवन में विष्णु व लक्ष्मी दोनों का स्थान हो, (११) प्रभु-स्तवन से सोम का रक्षण करते हुए निर्द्वेष जीवनवाले हों, (१२) प्रभु का पूजन वही करता है जो **वदति**=मुख से प्रभु के नामों का उच्चारण करता है और **प्रीणाति**=अपने उत्तम कर्मों से प्रभु को प्रीणित करता है। प्रभु-पूजन करता हुआ यह कहता है कि—

[४६] षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वमहान् होता

प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्वा सीददपामुपस्थे।
दधिर्यो धायि स ते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः॥ १॥

(१) वे प्रभु **महान् होता**=सर्वमहान् **होता प्रजातः**=हो गये हैं। प्रभु ने जीव के हित के लिये सब कुछ दे दिया है। संसार के व्यक्ति कुछ न कुछ अपनी आवश्यकताएँ भी रखते हैं, सो उनके लिये शत प्रतिशत होता बनना कठिन होता है। प्रभु ही पूर्णरूप से होता बनते हैं। वे प्रभु **नभोवित्**=इस सम्पूर्ण आकाश को जाननेवाले प्राप्त करनेवाले हैं, सर्वव्यापक हैं, आकाश ही हैं। **नृषद्वा**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगों के अन्दर वे आसीन होते हैं। **अपां उपस्थे**=कर्मों की गोद

में प्रभु **सीदत्**=बैठते हैं। अर्थात् कर्मशील व्यक्ति को ही प्रभु का दर्शन होता है, अकर्मण्य को नहीं। (२) **दधिः**=वे सबका धारण करनेवाले हैं, वे प्रभु **यः**=जो 'वत्सप्री' लोगों के द्वारा **धायि**=अपने हृदयों में धारण किये जाते हैं। (३) **स**=वे प्रभु ही **ते विधते**=तुझ उपासक के लिये **वयांसि**=आयुष्य वर्धक सात्त्विक अन्नों को तथा **वसूनि**=वसुओं को **यन्ता**=प्राप्त कराते हैं। निवास के लिये आवश्यक सब धनों को वे देनेवाले हैं। **तनूपाः**=हमारे शरीरों की रक्षा करनेवाले हैं। शरीर रक्षण के लिये आवश्यक सब वसु उस प्रभु से प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वमहान् होता हैं, वे कर्मशील पुरुषों में वास करते हैं। हमारे रक्षण के लिये अन्नों व धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का अन्वेषण

इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनु ग्मन्।
गुहा चतन्तमुशिजो नमोभिरिच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन्॥ २ ॥

(१) हृदय में जीवात्मा परमात्मा के साथ एक स्थान पर स्थित होता है एवं यह हृदय **अपाम्**=प्रजाओं का **सधस्थ**=प्रभु के साथ मिलकर बैठने का स्थान है इस **सधस्थे**=प्रभु के साथ मिलकर बैठने के स्थान में **इमम्**=इस प्रभु को **विधन्तः**=पूजते हुए 'वत्सप्री' लोग **पदैः**=वेद के शब्दों से, ज्ञान की वाणियों से अथवा 'वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ' (सबके हितकारी, तेजस्वी व बुद्धिमान्) बनने रूप तीन कदमों से **अनुग्मन्**=प्रभु को अनुक्रमेण प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार प्राप्त करते हैं **न**=जैसे कि **नष्टं पशुम्**=नष्ट हुए-हुए पशु को **पदैः**=चरणचिह्नों से **अनुग्मन्**=पीछा करते हुए प्राप्त करते हैं। (२) **गुहा चतन्त**=(चत्=to go) बुद्धि रूप गुहा में गये हुए उस प्रभु को **उशिजः**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले मेधावी लोग, **नमोभिः**=नमस्कारों द्वारा व नम्रता के द्वारा **इच्छन्तः**=चाहते हुए **धीराः**=ज्ञान में रमण करनेवाले **भृगवः**=तप की अग्नि में अपने को परिपक्व बनानेवाले व्यक्ति **अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का पूजन हृदय में होता है। यह पूजन 'उशिक्, नम्र, धीर व भृगु' बननेवाले ही करते हैं।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रित का प्रभु-दर्शन

इमं त्रितो भूर्यविन्ददिच्छन्वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः।
स शेवृधो जात आ हर्म्येषु नाभिर्युवा भवति रोचनस्य॥ ३ ॥

(१) **इमम्**=इस परमात्मा को **त्रितः**=(त्रीन् तनाति) ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों का विस्तार करनेवाला **भूरि**=खूब **अविन्दत्**=प्राप्त करता है अथवा (भृ=पोषण) पोषण करनेवाले के रूप में प्राप्त करता है। **इच्छन्**=प्राप्त तभी करता है जब कि वह प्रभु प्राप्ति की प्रबल इच्छावाला होता है। **वैभूवसः**=प्राप्त करनेवाला वही है जो वैभूवस है, विभूवस् का पुत्र है, अर्थात् (विभौ वसति) उस व्यापक प्रभु में वासवाला है। (२) यह उस प्रभु को **अघ्न्यायाः**=अहन्तव्य वेदवाणी के **मूर्धनि**=शिखर पर प्राप्त करता है। ऋग्वेद के द्वारा विज्ञान का अध्ययन करता हुआ यह इस सृष्टि में उस प्रभु की विभूति को देखता है। यजुर्वेद के द्वारा यज्ञमय जीवन बनाता हुआ अपने को पवित्र करने के लिये यत्नशील होता है और पवित्र बनकर साथ में प्रभु का उपासन करनेवाला बनता है

और अब अथर्व० में पहुँचकर अथ अर्वाङ्। अन्तः निरीक्षण करता है और (अ-थर्व) स्थितप्रज्ञ बनकर प्रभु का दर्शन करनेवाला होता है, यह अथर्व ही वेदवाणी का मूर्धा है। यहाँ यह वैभूवस प्रभु को पानेवाला होता है। (३) प्रभु का दर्शन करता हुआ यह देखता है कि **स**=वे प्रभु **शेवृधः**=सुख के वर्धयिता हैं। **हर्म्येषु**=इन शरीर रूप गृहों में **आजातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए **युवा**=सब बुराइयों के दूर करनेवाले और अच्छाइयों को इसके साथ जोड़नेवाले होते हैं और ये प्रभु **रोचनस्य**=देदीप्यमान ज्ञान ज्योति के **नाभिः**=(नह बन्धने) बाँधनेवाले **भवति**=हैं। प्रभु प्राप्ति का परिणाम 'सुख, भद्रता व ज्ञान' की प्राप्ति है।

भावार्थ—त्रित वैभूवस प्रभु का दर्शन करता है और सुख, भद्रता व ज्ञान का भागी होता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का प्रसादन

मन्द्रं होतारमुशिजो नमोभिः प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम्।
विशामकृण्वन्नरतिं पावकं हव्यवाहं दधतो मानुषेषु ॥ ४ ॥

(१) **उशिजः**=मेधावी, प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले लोग, **नमोभिः**=नमस्कार व नम्रता के द्वारा **अकृण्वन्**=प्रभु को प्रसन्न करते हैं अथवा प्रभु को अपना बनाते हैं। ये मेधावी लोग प्रभु को तभी अपना पाते हैं जब ये **मानुषेषु दधतः**=मनुष्यों में अपने को स्थापित करते हैं। मानवहित के लिये अपने को अर्पित करनेवाले लोग ही प्रभु के सच्चे भक्त होते हैं और प्रभु प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। (२) उस प्रभु को पाते हैं जो कि **मन्द्रम्**=आनन्दस्वरूप हैं तथा भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं। **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले हैं, सब आवश्यक वस्तुएं प्राप्त कराके ही तो वे हमारे जीवनों को आनन्दित करते हैं। **प्राञ्चम्**=(प्र अञ्च्) सब आवश्यक साधन प्राप्त कराके वे हमें आगे ले चलनेवाले हैं। **यज्ञम्**=पूजनीय हैं, संगतिकरण योग्य हैं तथा अर्पणीय हैं, प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके ही मनुष्य अपने कल्याण को सिद्ध करता है। **विशां अध्वराणां नेतारम्**=प्रजाओं के सब हिंसारहित यज्ञात्मक श्रेष्ठ कर्मों का वे प्रणयन करनेवाले हैं, प्रभु कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। **अरतिम्**=वे कहीं भी रति व रागवाले नहीं है। **पावकम्**=अपने भक्तों के जीवनों को पवित्र करनेवाले हैं। **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों के वे प्राप्त करानेवाले हैं। हमें कर्मानुसार सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले हैं। इस प्रभु को मेधावी पुरुष मानवहित में लगकर नम्रतापूर्वक चलते हुए धारण करते हैं। प्रभु-भक्त बनने के लिये 'सर्वभूतहितेरत' होना आवश्यक है।

भावार्थ—हम 'उशिक्' बनकर, मानवहित के कर्मों में अपने को स्थापित करते हुए, प्रभु को प्रसन्न करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वना'-धी (उपासनायुक्त बुद्धि व कर्म)

प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरा अमूरं पुरां दर्माणम्।
नयन्तो गर्भं वनां धियं धुर्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम् ॥ ५ ॥

(१) तृतीय मन्त्र में कहा था कि उस प्रभु को 'त्रित'=शरीर, मन व बुद्धि तीनों की शक्तियों का विकास करनेवाला व्यक्ति प्राप्त करता है प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि त्रित ही नहीं अपितु **मूराः**=अल्पज्ञ मूढ़ जीव भी, संसार में विविध अनुभवों को लेने के उपरान्त, **गर्भं नयन्तः**=अपने

हृदयदेश में प्रभु को प्राप्त कराने के हेतु से **वनां धियम्**=समजनवाली बुद्धि व कर्म को **धुः**=धारण करते हैं (वन संभक्तौ, धी=बुद्धि व कर्म) उपासना को अपनाते हैं, ज्ञानपूर्वक कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं। (२) इस उपासनामयी बुद्धि व कर्म के द्वारा वे उस प्रभु को प्राप्त करते हैं जो कि **भूः प्रजयन्तम्**=इस पृथ्वीलोक का प्रकृष्ट विजय करनेवाले हैं। यहाँ हमें जो भी विजय प्राप्त होती है वह मूल में उस प्रभु की ही विजय होती है। **महाम्**=(मह पूजायाम्) वे प्रभु ही वस्तुतः पूजा के योग्य हैं **विपोधाम्**=मेधावियों का वे धारण करनेवाले हैं। प्रभु धारण तो करते हैं, धारण के लिये ही उन्होंने 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' दी हैं। पर इनका समझदारी से प्रयोग करना ही मेधाविता है। हम नासमझी से चलेंगे तो ये ही साधन हमारे विनाश का भी कारण बन सकते हैं। **अमूरम्**=वे प्रभु अ-मूढ़ हैं, वे इस संसार में रतिवाले नहीं हो जाते। **पुरां दर्माणम्**=वे प्रभु उपासकों के इन शरीर रूप पुरों का विदारण करनेवाले हैं। 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीर ही तीन पुर हैं। इनके बन्धन से मुक्त होकर हम मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यह मोक्ष प्रभु की उपासना से ही मिलता है। वे प्रभु **हिरिश्मश्रुम्**=(श्म=शरीर) शरीर में आश्रय करनेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि रूप साधनों से हमारे कष्टों का हरण करनेवाले हैं। इनका ठीक उपयोग हमें उन्नत करता हुआ दुःखों से तरानेवाला होता है। **न अर्वाणम्**=वे प्रभु किसी भी प्रकार हमारी हिंसा नहीं करते, प्रभु से दिये गये दण्ड भी हमारे कल्याण के लिये ही होते हैं। **धनर्चम्**=(धनति ऋचः, धन् to sound) वे प्रभु ऋचाओं का, विज्ञान वाणियों का उच्चारण करनेवाले हैं अथवा (धन अर्च्) जीवन के लिये आवश्यक धनों को प्राप्त कराने से भक्त का अर्चन करनेवाले हैं। ज्ञान को प्राप्त करके हम इन धनों का सदुपयोग करते हुए कभी हिंसित नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु की रक्षा के पात्र हम तभी होते हैं जबकि मेधावी-समझदार बनें। उस प्रभु की प्राप्ति के लिये 'वना धी' का धारण आवश्यक है। यह 'वना धी' उपासनायुक्त बुद्धि व कर्म है। हमारे हृदय में उपासना की वृत्ति हो, मस्तिष्क में ज्ञान व हाथों में कर्म। तभी हम प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रित व त्रिदण्डी

नि पुस्त्यासु त्रितः स्तभूयन्परिवीतो योनौ सीददुन्तः।
अतः संगृभ्या विशां दमूना विधर्मणायन्त्रैरीयते नॄन्॥ ६॥

(१) **त्रितः**='त्रीन् तरति वा त्रीन् तनोति' काम-क्रोध-लोभ को जो तैर जाता है अथवा ज्ञान, कर्म व उपासना का जो विस्तार करता है अथवा शरीर, मन व बुद्धि का जो विकास करता है, **स्तभूयन्**=जो उत्पन्न सोमरूप शक्ति को शरीर में ही रोकने के लिये इच्छा करता है, **योनौ**=सब के मूल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **परिवीतः**=चारों ओर से व्याप्त हुआ है, प्रभु के गोद में ही मानो बैठा हुआ है, यह त्रित **पस्त्यासु अन्तः**=प्रजाओं के अन्दर **नि सीदत्**=निषपक्ष होता है। प्रजाओं के हित के लिये उन्हीं में विचरण करनेवाला होता है। (२) **अतः**=इस प्रभु से **संगृभ्या**=ज्ञान को ग्रहण करके, यह **दमूना**=दान्त मनवाला अथवा दान के मनवाला त्रित **विशाम्**=प्रजाओं के **विधर्मणा**=विशेषरूप से धारण के हेतु से **यन्त्रैः**=नियमनों के साथ, शरीर, वाणी व मन के दमन के साथ, अर्थात् इन तीनों का नियमन करता हुआ **नॄन्**=मनुष्यों को **ईयते**=प्राप्त होता है। उसका नियमित जीवन लोगों के लिये उत्तम उदाहरण को उपस्थित करता है। (३) यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिसने लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होना हो उसे (क) 'त्रित' होना चाहिए,

काम-क्रोध-लोभ से ऊपर तथा ज्ञान-कर्म-उपासना तीनों को अपनानेवाला, (ख) यह स्तभूयन् हो, शक्ति का शरीर में ही स्तम्भन करे। अशक्त शक्ति ने क्या लोकहित करना, (ग) योनौ परिवीतः=यह प्रभु के आश्रय से रहनेवाला हो। यह प्रभु का सान्निध्य उसे निर्भीक बनाता है। (घ) दमूनाः=यह दान्त मनवाला व दान की वृत्तिवाला हो। लोभ लोकहित का विरोधी है। (ङ) यन्त्रैः=यह शरीर, वाणी व मन तीनों का नियमन करे, त्रिदण्डी हो।

भावार्थ—हम हित बनकर लोकहित के कार्यों में व्यापृत हों।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गुणों का दशक

अस्याजरासो दमामरित्रा अर्चद्धूमासो अग्नयः पावकाः।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः॥ ७॥

(१) **अस्य**=इस प्रभु के व्यक्ति, अर्थात् जो प्रभु-प्रवण बने रहते हैं, प्रकृति में उलझते नहीं, वे **अजरासः**=अजीर्ण शक्तिवाले होते हैं ये 'वृद्ध' बनते हैं नकि 'जरन्'। इनकी शक्ति बढ़ती है, जीर्ण नहीं होती। (२) **दमाम्**=दमन करनेवाली वासनाओं के **अरि-त्राः**=प्रति ये 'ऋ गतौ' जानेवाले उनपर आक्रमण करनेवाले और अपना त्राण करनेवाले होते हैं। (३) **अर्चद्धूमासः**=ये प्रभु का अर्चन करते हैं और वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। प्रभु का अर्चन इनकी वासनाओं को दूर करता है। (४) वासनाओं को दूर करके ये **अग्नयः**=प्रगतिशील होते हैं और **पावकाः**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले होते हैं। (५) **श्वितीचयः**='श्वितिं चिन्वन्ति' शुद्ध कर्मों का ही ये सञ्चय करते हैं 'श्विति+अञ्च्' शुक्ल मार्ग से जानेवाले होते हैं। (६) **श्वात्रासः**=(श्वात्राः शिवाः श० ३।९।४।१६) ये शिव व कल्याण ही करनेवाले होते हैं। ('श्वात्रं धनम्' नि० २।१०) ये ज्ञानधनवाले होते हैं। (७) **भुरण्यवः**=ये सबका भरण करनेवाले होते हैं। (८) **वनर्षदः**=(वन=उपासना, सद्=बैठना) ये सदा उपासना में आसीन होनेवाले हैं, प्रभु का स्मरण करते हुए ही ये विविध कार्यों में व्यापृत रहते हैं। (९) **वायवः न**=ये वायुओं की तरह होते हैं, सतत क्रियाशील होते हैं, ये कभी अकर्मण्य नहीं होते। (१०) सदा उत्तम कर्मों में लगे हुए ये लोगों से आदर को प्राप्त करते हैं, परन्तु **सोमाः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाववाले होते हैं, शान्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्रवण लोगों का जीवन अजीर्ण शक्तियोंवाला व अत्यन्त शान्त व सौम्य होता है।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेप व अग्नि

प्र जिह्वया भरते वेपो अग्निः प्र वयुनानि चेतसा पृथिव्याः।
तमायवः शुचयन्तं पावकं मन्द्रं होतारं दधिरे यजिष्ठम्॥ ८॥

(१) 'धूञ् कम्पने' धातु से 'धूम' शब्द बनता है, शत्रुओं को कम्पित करनेवाला। उसी का पर्यायवाची 'वेप' शब्द है, यह 'वेपृ कम्पने' से बना है। यह **वेपः**=कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाला **अग्निः**=अग्रणी, प्रगतिशील पुरुष **जिह्वया**=अपनी जिह्वा से **प्रभरते**=प्रभु के नामों को धारण करता है। वस्तुतः प्रभु-स्तवन करता हुआ ही यह कामादि शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगाता है। (२) यह वेप **चेतसा**=चित्त से **वयुनानि** (वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा

नि० ५।१५) प्रज्ञानों को तथा **पृथिव्याः**=(पृथिवी शरीरम्) शरीर से स्वास्थ्यजनित कान्ति को **प्र** (भरते)=धारण करता है। कामादि शत्रुओं के दूर होने पर ज्ञान का आवरण नष्ट होता है और ज्ञान की दीप्ति तो चमक ही उठती है, शरीर के स्वास्थ्य की उन्नति से शरीर भी कान्तिमय हो जाता है। (३) **आयवः**=ये (इ=गतौ) प्रगतिशील पुरुष **तम्**=उस प्रभु को **दधिरे**=धारण करते हैं, जो प्रभु **शुचयन्तम्**=(शुच् दीप्तौ) अपने भक्तों को ज्ञान से दीप्त करते हैं, **पावकम्**=पवित्र करनेवाले हैं, **मन्द्रम्**=आनन्दस्वरूप व आनन्द को देनेवाले हैं, **होतारम्**=सब कुछ प्राप्त कराते हैं, (सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं) तथा **यजिष्ठम्**=अत्यन्त पूज्य हैं (यज्=पूजा)। यह प्रभु का पूजन ही वस्तुतः भक्त को 'वेप व अग्नि' बनने की क्षमता प्रदान करता है।

भावार्थ—हम प्रभु-भजन करते हुए, काम को कम्पित करके, उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्वष्टा व भृगु

द्यावा यमग्निं पृथिवी जनिष्टामापस्त्वष्टा भृगवो यं सहोभिः।
ईळेन्यं प्रथमं मातरिश्वा देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम्॥ ९॥

(१) **यम्**=जिस **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **जनिष्टाम्**=प्रादुर्भूत करते हैं, व्यक्त करते हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक में क्रमशः सूर्य, चन्द्र, तारे व सागर उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। ये प्रभु की विभूतियाँ हैं। **आपः**=ये जल भी उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। जल 'अम्लजन', जो ज्वलन की पोषक वायु है, 'उद्रजन', जो ज्वलनशील है, इन वायुओं में विद्युत् के प्रवेश से उत्पन्न होता है। इस प्रकार उष्ण अग्नि से यह अत्यन्त शान्त जल उत्पन्न हो जाता है। इसका विचार करते ही प्रभु की महिमा का स्मरण होने लगता है, इन जलों में वह प्रभु दिखने लगता है। (२) प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **त्वष्टा**='तूर्णमश्नुते नि० ८।१४' शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला व्यक्ति, 'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः' नि० ८।१४ सर्वतः विद्या से दीप्त पुरुष (द० ५।३१।४) 'त्वक्षतेर्वा स्यात् करोति कर्मणः ८।१४ नि०' अपनी बुद्धि को सूक्ष्म करनेवाला पुरुष तथा **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) तपस्या की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले पुरुष **सहोभिः**=अपने में **सहस्**=सहनशक्ति के रूप में प्रकट होनेवाले बल के द्वारा प्रकट करते हैं। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' निर्बलों के द्वारा वे प्रभु प्राप्य नहीं। (३) इस **ईडेन्यम्**=स्तुति के योग्य **प्रथमम्**='प्रथविस्तारे' सर्वव्यापक **यजत्रम्**=पूजनीय प्रभु को **मातरिश्वा**=वायु तथा **देवाः**=अन्य देव **मनवे**=ज्ञानशील पुरुष के लिये **ततक्षुः**=प्रकट करते हैं। मननशील विचारक लोग ही प्रभु का दर्शन करते हैं। इस दर्शन में वायु उनका सहायक होता है। यह वायु शरीर में 'प्राण' है। प्राणसाधना प्रभु-दर्शन का प्रमुख साधन है। यह चित्तवृत्ति का निरोध करके हमारी वृत्ति को पवित्र बनाती है। वस्तुतः सब दिव्यगुणों का विकास भी इस प्राणसाधना से ही होता है। ये दिव्यगुण ही देव हैं। देव हमें परमात्मा के समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक व जलों में ज्ञानी तपस्वी लोग प्रभु-महिमा का दर्शन करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा उत्पन्न दिव्यगुण इन्हें परमात्मा के समीप ले जाते हैं।

ऋषिः—**वत्सप्रिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव पुरुस्पृह् व मानुष

यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम्।
स यामन्नग्ने स्तुवते वयो धाः प्र देवयन्यशसः सं हि पूर्वीः॥ १०॥

(१) **यम्**=जिस **हव्यवाहम्**=हव्य (अत्तुमर्ह (द०) ६।१।१० ऋ) पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, शरीरधारणरूप यज्ञ में आहुति देने योग्य पदार्थों को देनेवाले, **यजत्रम्**=पूजनीय **त्वा**=आपको **देवाः**=दिव्यगुणों की वृत्तिवाले, **पुरुस्पृहः**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाले, **मानुषासः**=मननशील दयालु पुरुष **दधिरे**=धारण करनेवाले होते हैं। (२) **स**=वे **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **यामन्**=इस जीवनयात्रा में **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले के लिये **वयः**=उत्कृष्ट अन्न व जीवन को **धाः**=धारण करते हैं। आप अपने भक्त को उत्तम अन्न देते हैं, उस उत्तम अन्न से उसका जीवन उत्तम बनता है। (३) हे प्रभो! **प्रदेवयन्**=प्रकृष्ट दिव्यगुणों व दिव्यगुणों के पुञ्ज आपकी कामनावाला व्यक्ति **हि**=निश्चय से **पूर्वीः यशसः**=बहुत ही यशों को **सं** (दधे)=धारण करता है, यशस्वी जीवनवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु को 'देव, पुरुस्पृह व मानुष' धारण करते हैं। ये उत्तम जीवन व यशोंवाले होते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्रभु सर्वमहान् होता है, (१) इस प्रभु का पूजन हृदय में होता है, (२) त्रित—ज्ञान, कर्म व उपासना का विस्तार करनेवाला इस प्रभु का दर्शन करता है, (३) मानवहित में तत्पर त्रेधानी पुरुष प्रभु का प्रसादन करता है, (४) प्रभु की प्राप्ति के लिये उपासनायुक्त बुद्धि का धारण आवश्यक है, (५) हम त्रित बनकर लोकहित के कार्यों में व्यापृत हों, (६) प्रभु प्रवण लोगों का जीवन अजीर्ण शक्तिवाला होता है, (७) ये प्रभु भजन करते हुए, काम को कम्पित करके, उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हैं, (८) प्राणसाधना से उत्पन्न दिव्यगुण इन्हें परमात्मा के समीप ले जाते हैं, (९) इस प्रकार ये उत्तम व यशस्वी जीवनवाले होते हैं, (१०) इनकी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में उत्तमता से व्यापृत होती हैं। सो ये 'सप्तगु'=स्वर्णशील इन्द्रियोंवाले कहाते हैं और अजीर्ण शक्तिवाले होने से ये 'आंगिरस' हैं। यह 'सप्तगु आंगिरस' अग्रिम सूक्त का ऋषि है और प्रार्थना करता है कि—

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**सप्तगुः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वसुपति-गोपति

जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ १ ॥

(१) हे **वसूनां**=वसुओं के **वसुपते**=उत्तम धनों के स्वामिन्! **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वसूयवः**=वसुओं की कामनावाले हम **ते**=आपके **दक्षिणं हस्तम्**=दाहिने हाथ को **जगृभ्मा**=ग्रहण करते हैं। आपका ही आश्रय करते हैं, आपका आश्रय ही हमें सब वसुओं का देनेवाला होगा। ये वसु हमारे इस जीवन के निवास को उत्तम बनायेंगे। (२) हे **शूर**=सब हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! हम **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **गोनां गोपतिम्**=उत्तम गौवों के पति के रूप में **विद्मा**=जानते हैं। इन उत्तम गौवों को तो आप हमें प्राप्त कराते ही हैं। अध्यात्म में ये गौवें 'इन्द्रियाँ' हैं। आपकी कृपा से हमें निर्दोष इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। (३) इन निर्दोष इन्द्रियों को प्राप्त कराके आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिं दाः**=उस धन को दीजिये जो **चित्रम्**=(चित् र) हमें ज्ञान को देनेवाला है और **वृषणम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला है। धन हमारे ज्ञान व बल का वर्धन करनेवाला हो। ज्ञान व शक्ति के प्रतिकूल न हो। धन जब हमारी वैषयिक वृत्ति के बढ़ने में सहायक होता है तो यह हमारे ज्ञान व बल का ह्रास करनेवाला हो जाता है। यह हमें निधन

की ओर ले जा रहा होता है। ऐसा धन त्याज्य है, अर्थ न होकर अनर्थ है। ज्ञान व शक्ति का वर्धक धन हमारे जीवन को धन्य बना देता है। यही धन यह 'सप्तगु आंगिरस' चाहता है, वस्तुतः इस धन से ही वह 'सप्तगु आंगिरस'=ज्ञानी व सशक्त बनता है।

भावार्थ—वसुपति प्रभु हमें वह वसु दें जिससे कि हम ज्ञान व शक्ति का वर्धन करके 'सप्तगु आंगिरस' बन पायें।

ऋषिः—**सप्तगुः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**आचीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कैसी सन्तान?

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिम्**=(पुत्रास्यं रयिं) पुत्ररूप धन को **दाः**=दीजिये। जो पुत्र (क) **स्वायुधम्**=उत्तम आयुधोंवाला है। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि आयुध हैं, ये तीनों जिनके उत्तम हैं वे 'स्वायुध' हैं। (ख) **स्ववसं** (सु अवसम्)=जो उत्तमता से अपना रक्षण करता है। वस्तुतः रोगों व वासनाओं से अपने को न आक्रान्त होने देने के द्वारा ही वे 'स्वायुध' बने हैं। (ग) **सुनीथम्**=उत्तम मार्ग से चलनेवाले पुत्र को (घ) **चतुः समुद्रम्**=वेदज्ञान के समुद्र हैं (रायः समुद्राँश्चतुरः) जो चारों ज्ञान-समुद्रोंवाला है (चत्वारः समुद्राः यस्य) जो ऋग्वेद के द्वारा प्रकृति के ज्ञान को, यजु के द्वारा जीवन के कर्त्तव्यों के ज्ञान को तथा साम द्वारा प्रभु की उपासना के ज्ञान को प्राप्त करके अथर्व से आयुर्वेद व युद्धविद्या का भी ज्ञान प्राप्त करता है। (ङ) **रयीणां धरुणम्**=हमें उस सन्तान को दीजिये जो कि धनों का धारण करनेवाला है, जो संसार व्यवहार को चलाने के लिये धनार्जन की क्षमता रखता है। (च) **चर्कृत्यम्**=(कर्तव्येषु कार्येषु साधुम् द० १।६४।१४) जो कर्त्तव्य कर्मों को उत्तमता से करता है, (छ) **शंस्यम्**=जो प्रभु के शंसन व स्तवन में उत्तम है, (ज) **भूरिवारम्**=जो बहुतों से चाहने योग्य है, अर्थात् जो अपने स्वार्थ में ही फँसा न रहकर बहुतों का हित करता है और अतएव बहुतों से चाहने योग्य होता है। (झ) **चित्रम्**=ज्ञान का देनेवाला है और (ञ) **वृषणम्**=शक्तिशाली है।

भावार्थ—हमें मन्त्रोक्त दश गुणों से सम्पन्न सन्तान प्राप्त हों।

ऋषिः—**सप्तगुः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निरभिमान

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिं दाः**=पुत्र नामक धन को दीजिये। उस पुत्र को जो (क) **सुब्रह्माणम्**=उत्कृष्ट स्तोत्रोंवाला है उत्तम स्तोत्रों के द्वारा प्रभु का स्तवन करनेवाला है। (ख) **देववन्तम्**=उत्तम दिव्यगुणोंवाला है, (ग) **बृहन्तम्**=बढ़ी हुई शक्तियोंवाला है, (घ) **उरुम्**=विशाल हृदय है, (ङ) **गभीरम्**=गम्भीर प्रकृति का है, (च) **पृथुब्रध्नम्**=जो विस्तीर्ण मूलवाला है। धर्मार्थ काम मोक्षों का आरोग्य ही उत्तम मूल है, यह आरोग्य जिसका खूब विस्तृत है, अर्थात् जिसके सब अंग-प्रत्यंग स्वस्थ हैं। (छ) **श्रुतऋषिम्**=जो वेद मन्त्रों का श्रवण करनेवाला है (ऋषिः वेदः) ज्ञान की रुचिवाला है। (ज) **उग्रम्**=तेजस्वी है, (झ) **अभिमातिषाहम्**=अभिमान रूप शत्रु का पराभव करनेवाला है, निरभिमान है। (ञ) **चित्रम्**=ज्ञान

देनेवाला है और **वृषणम्**=शक्तिशाली है व औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाला है।

भावार्थ—हमारे सन्तान मन्त्र वर्णित ग्यारह विशेषणों से विशिष्ट हों।

ऋषिः—**सप्तगुः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्तिशाली व ज्ञानी

सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम्।
दस्युहनं पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिं दाः**=पुत्ररूप धन को दीजिये। उस पुत्र रूप धन को जो कि (क) **सनद्वाजम्**=शक्ति को प्राप्त करनेवाला है (वाज=शक्ति सन्=संभजन), (ख) **विप्रवीरम्**=विप्रों में वीर है, अत्यन्त मेधावी है, (ग) **तरुत्रम्**=विघ्नों को तैर जानेवाला है, (घ) **धनस्पृतम्**=धनों का पूरक व धनों का स्रष्टा है, (ङ) **शूशुवांसम्**=सदा वर्धमान है, अपनी शक्तियों का वर्धन करनेवाला है, (च) **सुदक्षम्**=उत्तम दक्षतावाला है, कार्यों को कुशलता से करनेवाला है अथवा उत्तम बलवाला है, (छ) **दस्युहनम्**=दस्युओं का नाश करनेवाला है, (ज) **पूर्भिदम्**=शरीररूपी नगरियों का विदारण करनेवाला है, मोक्ष के लिये प्रयत्नशील है, (झ) **सत्यम्**=सत्कर्मों में व्यापृत होनेवाला है अथवा सत्य का पालन करनेवाला है, (ञ) **चित्रम्**=ज्ञान का देनेवाला है तथा (२) **वृषणम्**=शक्तिशाली व दूसरों पर सुखों का वर्षण करनेवाला है।

भावार्थ—हमें शक्तिशाली व मेधावी पुत्र की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**सप्तगुः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम शरीर व इन्द्रियोंवाला

अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।
भद्रव्रातं विप्रवीरं स्वर्षामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिं दाः**=पुत्ररूप धन दीजिए। जो पुत्र (क) **अश्वावन्तम्**=इन्द्रियरूप उत्तम अश्वोंवाला है। (ख) **रथिनम्**=जिस का शरीर रूप रथ प्रशस्त है, (ग) **वीरवन्तम्**=जो प्रशस्त वीरतावाला है, (घ) **सहस्रिणम्**=(स-हस्) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला अथवा smiling face वाला है, हँसते हुए चेहरेवाला है (ईषत् हास्य युक्त है), (ङ) **शतिनम्**=सौ वर्ष तक के जीवन को प्राप्त करनेवाला है, (च) **वाजम्**=शक्ति का पुञ्ज है, (छ) **भद्रव्रातम्**=जिसके सभी गण भद्र हैं, शरीर के पञ्चभूत, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा अन्तःकरण पंचक ये सभी उत्तम हैं। (ज) **विश्ववीरम्**=विप्रों में वीर है, (झ) **स्वर्षाम्**=प्रकाश का सेवन करनेवाला है अथवा सब के साथ बाँटकर खानेवाला है। (ञ) **चित्रम्**=ज्ञान का देनेवाला है और (ट) **वृषणम्**=शक्तिशाली है व सुखों का वर्षण करनेवाला है।

भावार्थ—हमारे सन्तान उत्तम शरीर व इन्द्रियोंवाले हों।

ऋषिः—**सप्तगुः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमेध व विनीत

प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।
य आङ्गिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ६ ॥

(१) **मतिः**=मेरी बुद्धि या विचार **अच्छा**=उस सन्तान की ओर **प्रजिगाति**=जाता है जो कि (क) **सप्तगुम्**=(सर्प=सर्पणशील) सर्पणशील इन्द्रियोंवाला है, जिसकी इन्द्रियाँ ठीक कार्य करती हैं, जीर्ण नहीं हो जाती। (ख) **ऋतधीतिम्**=(सत्यकर्माणम्) जिसके कर्म सत्य व उत्तम हैं। (ग) **सुमेधाम्**=जो उत्तम बुद्धिवाला है, (घ) **बृहस्पतिम्**=जो विशाल हृदय का पति है, संकुचित हृदय नहीं है। (ङ) **यः आंगिरसः**=जो अंग-अंग में रसवाला है, जिसका शरीर शीर्ण-शक्ति होकर सूखे काठ की तरह नहीं हो गया, (च) **नमसा उपसद्यः**=जो नम्रता के साथ बड़ों के समीप प्राप्त होनेवाला है। (२) हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **चित्रम्**=ज्ञान के देनेवाले, ज्ञान को प्राप्त करके ज्ञान का प्रसार करनेवाले **वृषणम्**=शक्तिशाली व सुखों का वर्षण करनेवाले **रयिम्**=पुत्र नामक धन को **दाः**=दीजिये।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें सुमेध बुद्धि व विनीत सन्तान प्राप्त हो।

ऋषिः—**सप्तगुः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तवन का सन्तान पर प्रभाव

वनींवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ७ ॥

(१) **मम स्तोमाः**=मेरे स्तवन **इन्द्रं चरन्ति**=प्रभु को प्राप्त होते हैं। वे स्तवन जो कि (क) **वनीवानः**=सम्भजनवाले हैं, प्रभु का उपासन करनेवाले हैं, (ख) **दूतासः**=प्रभु के गुणों का उच्चारण करनेवाले हैं अथवा प्रभु के सन्देश को मेरे तक पहुँचानेवाले हैं तथा (ग) **सुमतीः**=कल्याणी मतियों को **इयानाः**=प्राप्त करानेवाले हैं। (घ) **हृदिस्पृशः**=हृदय स्पर्शी हैं, हृदय को प्रभावित करनेवाले हैं। (ङ) **मनसा वच्यमानाः**=मन से बोलने जा रहे हैं। ये स्तोत्र 'यान्त्रिक रूप में वाणी से उच्चारित होते जाते हों' ऐसी बात नहीं, अर्थ चिन्तन के साथ ये मन से बोले जा रहे हैं। ऐसा होने पर ही ये हृदय को प्रभावित करते हैं। (२) ऐसे स्तवनों के होने पर ही उत्तम सन्तान प्राप्त होती है और तभी हम इस प्रार्थना के अधिकारी होते हैं कि **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिं दाः**=उस पुत्राख्य धन को दीजिये जो कि **चित्रम्**=ज्ञानी बनकर ज्ञान का देनेवाला हो और **वृषणम्**=शक्तिशाली हो।

भावार्थ—जिस घर में प्रभु का स्तवन चलता है, वहाँ अवश्य सन्तान उत्तम होती है।

ऋषिः—**सप्तगुः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विशाल-हृदयता

यत्त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम्।
अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥ ८ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **त्वा यामि**=(याचामि) आप से हम प्रार्थना करते हैं **नः**=हमें **तत्**=वह **दद्धि**=दीजिये। हम चाहते हैं कि आप हमें **बृहन्तं क्षयम्**=एक विशाल निवास-स्थान दें, **जनानां असमम्**=ऐसा विशाल जिसके कि समान औरों का है ही नहीं, यहाँ भौतिक दृष्टिकोण से घर की विशालता का संकेत तो लगता ही है, पर वैदिक साहित्य में इस बाह्य दृष्टि से विशाल घर का इतना महत्त्व नहीं है जितना कि घर में रहनेवाले व्यक्तियों के हृदयों की विशालता का। छठे मन्त्र में 'बृहस्पतिम्' शब्द द्वारा उसका आभास दिया जा चुका है। जिस घर में उदार हृदय पुरुषों का वास है वह घर विशाल ही है। (२) इस प्रकार यह घर उदार हृदयवाले

व्यक्तियों से युक्त हो कि **तद्**=उसे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक सभी व्यक्ति **अभिगृणीताम्**=स्तुत करें, सभी उस घर की प्रशंसा करें। (३) इस प्रकार विशाल हृदयता को अपनानेवाले **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रयिं दाः**=उस पुत्राख्य धन को दीजिये जो कि **चित्रम्**=खूब ही ज्ञानी बनकर ज्ञान का देनेवाला बने तथा **वृषणम्**=शक्तिशाली हो।

भावार्थ—हमारे घर विशाल हृदयवाले पुरुषों से युक्त हों जिससे हमारे सन्तान भी उत्तम हों।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि वे प्रभु वसुपति व गोपति हैं, (१) वे हमें क्रियाशील-प्रभु-पूजक सन्तान दें, (२) वह सन्तान जो कि निरभिमान हो, (३) शक्तिशाली व ज्ञानी हो, (४) उत्तम शरीर व इन्द्रियोंवाला हो, (५) सुमेध व विनीत हो, (६) ऐसे सन्तानों की प्राप्ति के लिये हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें, (७) और विशाल हृदय हों, (८) ऐसा होने पर लोग बुद्धि के दृष्टिकोण से 'वैकुण्ठ' कुण्ठात्व शून्य बुद्धिवाले होंगे (विगता कुण्ठा यस्य) तीव्र बुद्धि होने के साथ वे **इन्द्र**=शक्तिशाली होंगे। यह 'वैकुण्ठ इन्द्र' ही अग्रिम सूक्त का ऋषि है तथा सर्वमहान् "वैकुण्ठ इन्द्र" प्रभु ही सूक्त के देवता हैं—

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

लक्ष्मी-पति 'विष्णु'

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्॥ १॥

(१) प्रभु अपने पुत्र 'वैकुण्ठ इन्द्र' से कहते हैं कि **अहम्**=मैं **वसुनः**=सम्पूर्ण धन का **पूर्व्यः पतिः**=मुख्य स्वामी **भुवम्**=हूँ। जीव अल्पज्ञता के कारण अपने को धनों का स्वामी मान बैठता है। प्रभु कहते हैं कि मैं ही **शश्वतः**=सनातन काल से **धनानि**=इन धनों का **संजयामि**=विजय करता हूँ। जीव को हम धनों के विजय का गर्व व्यर्थ ही में हो जाता है। विजेता प्रभु हैं। (२) प्रभु को लोग सामान्यतः उसी प्रकार भूले रहते हैं जैसे कि बच्चा माता-पिता को, खेल में मस्त होने के कारण भूला रहता है। पर भूख लगने पर उसे माँ का स्मरण होता है, वह माता की ओर दौड़ता है। इसी प्रकार **जन्तवः**=प्राणी **मां हवन्ते**=कष्ट आने पर मुझे पुकारते हैं **पितरं न**=जैसे पुत्र पिता को पुकारते हैं। इस प्रकार पुकारा गया **अहम्**=मैं ही **दाशुषे**=अपना मेरे प्रति अर्पण करनेवाले के लिये **भोजनम्**=भोजन को **विभजामि**=विभाग पूर्वक प्राप्त कराता हूँ। उसके लिये आवश्यक भोजन को उसे देता हूँ।

भावार्थ—धनों के स्वामी व विजेता प्रभु हैं। हम पुत्रों को प्रभु आवश्यक भोजन प्राप्त कराते ही हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु रोध हैं-वक्ष हैं

अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन्दधीचे मातरिश्वने॥ २॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **अहम्**=मैं **इन्द्रः**=सब असुरों का संहार करनेवाला हूँ। प्रभु हमारे हृदय में आसीन होते हैं, तो वहाँ आसुर वृत्तियों का उदय नहीं होता। परमात्मा कामदेव आसुर वृत्तियों (२) इस प्रकार को धारण करके ये प्रभु **रोधः**=हमारे शरीर में सोम (वीर्य) शक्ति का

निरोध करनेवाले हैं। वासना ही तो सोम की नाशक थी। (२) मैं **अथर्वणः**=(अ-थर्व) स्थिर बुद्धिवाले पुरुष या जिसकी बुद्धि वासनाओं से आन्दोलित नहीं होती उस (अथ अर्वाङ्) आत्मालोचन करनेवाले पुरुष की **वक्षः**=(wax) उन्नति करनेवाला हूँ, बढ़ानेवाला हूँ। (३) मैं ही **त्रताय**=काम-क्रोध-लोभ से तैरनेवाले अथवा 'धर्मार्थ काम' तीन पुरुषार्थों का समान रूप से विस्तार करनेवाले पुरुष के लिये **अहेः**=(आहन्ति) इन्द्रियों पर आक्रमण करनेवाले वृत्र से छुड़ाकर **गाः**=इन्द्रियों को **अधि अजनयम्**=आधिक्येन विकसित शक्तिवाला करता हूँ। वासना ने ही इन्द्रियों को जीर्ण-शक्ति किया हुआ था। यह वासना ही यहाँ 'अहि' कही गयी है। इससे मुक्त करके प्रभु हमारी इन्द्रियों को अजीर्ण शक्तिवाला करते हैं। (४) संसार में जो लोग वासना के वशीभूत होकर औरों को विनष्ट करके धनार्जन करते हैं, उन **दस्युभ्यः**=दस्युओं से **अहम्**=मैं (प्रभु) **नृम्णम्**=धन को **परि आददे**=छीन लेता हूँ। थोड़ी देर तक फल-फूलकर ये दस्यु लोग समूल विनष्ट हो जाते हैं। (५) प्रभु कहते हैं कि मैं ही **गोत्राः**=ज्ञान की वाणियों को **शिक्षन्**=सिखाता हूँ। उसे सिखाता हूँ जो कि **दधीचे**=(ध्यानं प्रत्यक्तः) ध्यानशील है तथा **मातरिश्वने**=(मातरिश्वा=वायु=प्राण) प्राणसाधना करनेवाला है अथवा (मातरि, श्वि) वेदमाता में गति व वृद्धिवाला है। ज्ञान-रुचि ध्यानी पुरुष को प्रभु ही ज्ञान की वाणियों का शिक्षण करते हैं। इनके शिक्षण से दास्यव वृत्ति का समूलोन्मूलन हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी वासनाओं को नष्ट करके हमें अजीर्ण शक्तिवाला करते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कर्म द्वारा प्रभु प्राप्ति

मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम्।
ममानीकं सूर्यस्येव दुष्टरं मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च॥ ३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **मह्यम्**=मेरे लिये, अर्थात् मेरी प्राप्ति के लिये **त्वष्टा**=(त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः नि०) ज्ञान से अपने को दीप्त करनेवाला भक्त **आयसं वज्रम्**=लोहे के बने हुए वज्र को **अतक्षत्**=बनाता है। 'वज्र' का अर्थ है क्रियाशीलता (वज गतौ) 'आयस' का अभिप्राय है अनथक क्रियाशीलता। 'इसकी टांगें तो मानो लोहे की बनी हुई हैं' इस वाक्य प्रयोग में यह भाव स्पष्ट है। प्रभु की प्राप्ति के लिये जहाँ ज्ञान आवश्यक है, वहाँ क्रियाशीलता नितान्त आवश्यक है। अकर्मण्य जीवनवाला प्रभु को कभी नहीं प्राप्त होता। (२) **मयि**=मेरे में **देवासः**=देववृत्ति के लोग **क्रतुम्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को **अवृजन्**=छोड़ते हैं। अर्थात् वे कर्म करते हैं और उन कर्मों को मेरे अर्पण करते चलते हैं, (३) **मम**=मेरा **अनीकम्**=तेज **सूर्यस्य इव**=सूर्य के तेज की तरह **दुष्टरम्**=दुस्तर है। जैसे सूर्य के तेज का रोग-कृमियों से पराभव नहीं होता, इसी प्रकार प्रभु के तेज को वासनाएँ आक्रान्त नहीं कर पातीं। जिस हृदय में प्रभु का वास है, वहाँ वासना का प्रदेश नहीं। प्रभु के तेज में वासनाएँ विदग्ध हो जाती हैं। (४) **माम्**=मुझे ये ज्ञानी भक्त **आर्यन्ति**=प्राप्त होते हैं, **कृतेन**=अब तक किये हुए कर्मों से **च**=और **कर्त्वेन**=आगे किये जानेवाले कर्मों से। कर्म से ही प्रभु का पूजन होता है। यह कर्मों के द्वारा प्रभु का पूजन ही हमें मोक्ष को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु का पूजन कर्मों से ही होता है। यही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है, 'कर्म करना, पर उसका गर्व न करना'।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सोमासः उक्थिनः (सौम्य स्तोता)

अहमेतं गव्ययमश्व्यं पशुं पुरीषिणं सायकेना हिरण्ययम्।
पुरू सहस्रा नि शिशामि दाशुषे यन्मा सोमास उक्थिनो अमन्दिषुः ॥ ४ ॥

(१) **अहम्**=मैं **एतम्**=इस **पशुम्**=प्राणी को, जो प्रारम्भ में पशुओं के समान ही है, इस पशु-तुल्य मनुष्य को **सायकेन**=(षोऽन्तकर्माणि) वासनाओं का अन्त करने के द्वारा **गव्ययम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला (गौः=ज्ञानेन्द्रिय), **अश्वयम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला, **पुरीषिणम्**=रेतस् के रूप से शरीर में रहनेवाले जलवाला, **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय-ज्ञान की ज्योतिवाला करता हूँ। प्रभु के उपासन से पूर्व पुरुष एक पशु की तरह ही होता है। उपासना उसकी (क) ज्ञानेन्द्रियों को उत्तम बनाती है, (ख) कर्मेन्द्रियों को सशक्त करती है, (ग) उसको शरीर में रेतस् की ऊर्ध्वगति के लिये समर्थ करती है और (घ) उसकी ज्ञान-ज्योति को बढ़ाती है। इस प्रकार यह पशु-स्थिति से ऊपर उठकर उत्तम मनुष्य बनता हुआ देव कोटि में प्रवेश करता है। (२) यह देव प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, इसी से यह 'दाश्वान्' कहलाता है। इस **दाशुषे**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये **पुरु सहस्रा**=शरीर का पालन व पूरण करनेवाले (पुरु=पृ) शतशः अवयवों को **निशिशामि**=तीव्र शक्तिवाला करता हूँ। इस प्रभु भक्त के सब अंग अपना-अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ होते हैं, इसका शरीर विकारों से रहित होता है। प्रत्येक अंग सुसंस्कृत होता है। (३) यह सब होना तभी है **यत्**=जब कि **सोमासः**=सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले **उक्थिनः**=स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले लोग **मा**=मुझे **अमन्दिषुः**=प्रसन्न करते हैं। वस्तुतः जैसे पुत्र वही है जो अपने सुचरितों से पिता को प्रीणित करे, इसी प्रकार प्रभु का प्रिय वही है जो (क) सोम शक्ति का रक्षण करके सौम्य स्वभाववाला बनता है तथा वाणी से प्रभु के स्तोत्रों का ही उच्चारण करता है। उसकी वाणी व्यर्थ के शब्दों का उच्चारण नहीं करती।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें पशु से देव बना देती है। इससे हमारा एक-एक अंग निर्विकार हो जाता है।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु मित्र, नकि धन मित्र

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥ ५ ॥

(१) **अहम्**=मैं **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हूँ। **इत्**=निश्चय से **धनम्**=अपने ऐश्वर्य को **न पराजिग्ये**=मैं पराभूत नहीं करवाता। मेरे ऐश्वर्य का कोई पराभव नहीं कर सकता। मैं **कदाचन**=कभी भी **मृत्यवे**=मृत्यु के लिये **न अवतस्थे**=स्थित नहीं होता। सामान्यतः ऐश्वर्य मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है और उसके विनाश का कारण बनता है। परन्तु यह ऐश्वर्य प्रभु के विनाश का कारण नहीं बनता। प्रभु-भक्त भी इस धन से निधन की ओर नहीं जाता। (२) हे **पूरवः**=मनुष्यो! **इत्**=निश्चय से **सोमं सुन्वन्तः**=अपने शरीर में सोम का सम्पादन करते हुए **मा**=मेरे से **वसु**=निवास के लिये आवश्यक धन की **याचता**=याचना करो। निवास के लिये आवश्यक धन ही 'धन' है। बाकी सब तो 'निधन' का कारण बनता है। धन का मित्र बनने की अपेक्षा हम प्रभु के मित्र बनें। हे **पूरवः**=मनुष्यो! **मे सख्ये**=मेरी मित्रता में **न रिषाथन**=तुम्हारी हिंसा नहीं होती। प्रभु-भक्त

वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—धन के पति प्रभु हैं, हम प्रभु से ही जीवन-निर्वाह के लिये पर्याप्त धन की याचना करें। हम धन-मित्र न बनकर प्रभु मित्र बनें।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

कामादि शत्रुओं का हनन

अहमेताञ्छाश्वसतो द्वाद्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत।
आह्वयमानाँ अव हन्मनाहनं दृळ्हा वदन्ननमस्युर्नमस्विनः॥ ६ ॥

(१) हमारे जीवन के महान् शत्रु 'काम-क्रोध, लोभ-मोह व मद-मत्सर' हैं। काम से क्रोध उत्पन्न होता है और इस प्रकार ये इकट्ठे चलते हैं। लोभ से मोह व वैचित्य (ज्ञान का नाश) होता है और ये दोनों मिलकर रहते हैं। मद व अभिमान के आने पर ही मात्सर्य (=ईर्ष्या) होने लगती है, यह इनका द्वन्द्व है। ये खूब फुँकार मारते हुए, बड़ी प्रबलता से हमारे पर आक्रमण करते हैं। उस समय प्रभु ही इनका नाश करनेवाले होते हैं। यही प्रभु-मित्रता का लाभ है। प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **एतान्**=इन **शाश्वसतः**=आक्रमण के समय प्रबल श्वास लेते हुए अथवा अत्यन्त प्रबल **द्वा द्वा**=दो-दो में चलानेवाले काम-क्रोध आदि को **अवाहनम्**=सुदूर विनष्ट कर देता हूँ। वस्तुतः हम इन कामादि को पराजित नहीं कर पाते, प्रभु ही इनका संहार करते हैं। कामदेव वेदज्ञान से ही भस्म किया जाता है। (२) ये शत्रु वे हैं **ये**=जो **वज्रम्**=(वज गतौ) गतिशीलता रूप वज्र को हाथ में लिये हुए **इन्द्रम्**=इन्द्र (आत्मा) को भी **युधये अकृण्वत्**=युद्ध के लिये करते हैं। उसके साथ भी युद्ध करना चाहते हैं। **आह्वयमानान्**=ये इन्द्र को युद्ध के लिये आह्वान देते लगते हैं। **दृढा**=ये अत्यन्त प्रबल हैं। (३) परन्तु कितने भी ये प्रबल हों, जीव के लिये ही इनकी प्रबलता है, परमात्मा के सामने इनकी क्या शक्ति? प्रभु कहते हैं कि **अनमस्युः**=इनके सामने न झुकनेवाला मैं **नमस्विनः**=मेरे तेज के सामने नतमस्तक इन कामादि को **हन्मना**=हनन के साधनभूत वज्र से नष्ट कर देता हूँ। कैसा मैं? **वदन्**=जीवात्मा के लिये ज्ञान का उपदेश देता हुआ। वस्तुतः प्रभु इन शत्रुओं का संहार इसी प्रकार करते हैं कि हृदय के अन्दर स्थित हुए-हुए प्रभु जीव को ज्ञान देते हैं, इस ज्ञानाग्नि में सब शत्रु भस्म हो जाते हैं। प्रभु-स्मरण सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला है।

भावार्थ—कामादि शत्रु प्रबल हैं। पर प्रभु-स्मरण के सामने ये निर्बल हो जाते हैं। प्रभु अपने भक्त को ज्ञान देकर उस ज्ञानाग्नि में इन शत्रुओं का दहन कर देते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काम-क्रोध व लोभ

अभी३दमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर के **इन्द्र**=जीवात्मा कहता है कि **एकम्**=इस शत्रुओं के मुखिया अकेले काम को तो **इत्**=निश्चय से **एकः**=अकेला ही मैं **अभि अस्मि**=(भवामि) अभिभूत कर लेता हूँ। **निष्षाट्**=मैं इसका पूर्णरूप से पराभव करनेवाला हूँ। (२) इस काम के साथ यदि क्रोध आ जाता है तो **द्वा**=इन दोनों को भी **अभी**=मैं अभिभूत

करता हूँ। **उ**=और ठीक बात तो यह है कि इन दो के साथ लोभ भी आ जाता है तो **त्रयः**=ये तीन भी **किं करन्ति**=मेरा क्या बिगाड़ पाते हैं। मैं इन तीनों का भी समाप्त करनेवाला होता हूँ और **भूरि प्रति हन्मि**=एक-एक को खूब ही मार डालता हूँ। उसी प्रकार इन्हें पीस डालता हूँ **न**=जैसे कि **खले**=अन्न को भूसे से पृथक् करनेवाले फर्श पर **पर्षान्**=अन्न को पूलियों को (पार्सल्स को)। उस फर्श पर अन्न की पूलियों को डालकर बैलों से उनका गाहना होता है। उन बैलों के पाँव तले वे सब पिस-पिसा जाती हैं, अन्न व भूसा अलग-अलग हो जाता है। इसी प्रकार इन काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को भी मैं पीस डालता हूँ। (३) ये **अनिन्द्राः**=(इन्द् to be fowerful) अशक्त **शत्रवः**=कामादि शत्रु **किं मां विन्दन्ति**=क्या मेरी निन्दा कर सकते हैं? प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बने हुए मुझे ये पराभूत नहीं कर सकते। इन नरक के द्वारभूत 'काम-क्रोध-लोभ' को समाप्त करके मैं अपने जीवन को स्वर्गोपम बना पाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर मैं कामादि का विनाश करनेवाला होता हूँ।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गुंगु द्वारा पर्णय करञ्ज व वृत्र का नाश

अहं गुङ्गुभ्यो अतिथिग्वमिष्कर॒मिषं न वृत्रतुरं विक्षु धारयम्।
यत्पर्णयघ्न उत वा करञ्जहे प्राहं महे वृत्रहत्ये अशुश्रवि ॥ ८ ॥

(१) **अहम्**=मैं **गुङ्गुभ्यः**=(गम् धातु से गंगा की तरह यह गुंगु शब्द बना है) निरन्तर गतिशील पुरुषों के लिये **अतिथिग्वम्**=(अतिथि गच्छति) उस महान् अतिथि प्रभु की ओर चलनेवाले, अर्थात् प्रभु के सतत उपासक, **इष्करम्**=प्रेरणा को देनेवाले **वृत्रतुरम्**=कामवासना को नष्ट करनेवाले पुरुष को **धारयम्**=धारण करता हूँ, प्राप्त करता हूँ। उसी प्रकार प्राप्त करता हूँ **न**=जैसे **विक्षु**=प्रजाओं में **इषम्**=अन्न को। अन्न प्रजाओं के पोषण के लिये होता है, इसी प्रकार इस व्यक्ति की प्रेरणा उन क्रियाशील पुरुषों को अध्यात्म भोजन प्राप्त कराती है। इससे प्रेरणा को प्राप्त करके वे भी प्रभु की ओर चलनेवाले व वासना को नष्ट करके ऊपर उठनेवाले होते हैं। (२) 'पर्णय' एक आसुरी वृत्ति है जो 'पर्णं याति' पंख को प्राप्त करती है, सदा उड़ती है और 'इतना तो है, इतना और हो जाएगा', इस प्रकार सोचनेवाली होती है, यही 'लोभ' है। 'क-रञ्ज'=(कं शिरः रञ्जयति reddens) 'क्रोध' है, यह शिरोभाग को, मुख को लाल-लाल कर देता है। 'वृत्र'=ज्ञान पर आवरण को डालता हुआ 'काम' है। **यत्**=जब गुंगु पुरुष अतिथिग्व की प्रेरणा को सुनकर इन पर्णय आदि का नाश करते हैं तब **पर्णयघ्ने**=लोभ के विनाशक संग्राम में **उत वा**=और **करञ्जहे**=क्रोध के हनन में और **महे वृत्रहत्ये**=इस महान् काम-विनाश रूप कार्य में **अहम्**=मैं **प्र अशुश्रवि**=खूब ही सुना जाता हूँ। प्रभु का स्मरण व नामोच्चारण करते हुए ही वे गुंगु इन नरक के द्वारभूत 'काम-क्रोध-लोभ' को समाप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशील पुरुषों को प्रभु के उपासक पुरुषों की प्रेरणा प्राप्त हो। उनसे प्रेरणा को प्राप्त करके हम प्रभु का स्मरण करते हुए 'काम, क्रोध व लोभ' का विनाश करनेवाले बनें।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

नमी-साप्य

प्र मे नमी साप्य इषे भुजे भूद्गवामेषे सख्या कृणुत द्विता।
दिद्युं यदस्य समिथेषु मंहयमादिदेनं शंस्यमुक्थ्यं करम् ॥ ९ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **नमी**=नमन व उपासन की वृत्तिवाला **साप्य:**=(सप्=to worship) प्रभु का आश्रय व सेवन करनेवाला **मे**=मेरे द्वारा **इषे**=प्रेरणा देने के लिये तथा **भुजे**=पालन के लिये **प्र भूद्**=प्रकर्षेण होता है। जो भी प्रभु का उपासन व आश्रय करता है प्रभु उसे प्रेरणा तो प्राप्त कराते ही हैं, उसके योगक्षेम का भी ध्यान करते हैं। उस प्रेरणा से उस उपासक की अध्यात्म उन्नति होती है और भोजन से भौतिक उन्नति। इस प्रकार यह उपासक अभ्युदय व नि:श्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाला होता है। (२) **गवाम्**=इन्द्रियों के **एषे**=समन्तात् प्रेरण में, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों को विविध ज्ञानों की प्राप्ति में तथा कर्मेन्द्रियों को यज्ञादि कर्मों में व्यापृत करने पर वह उपासक **सख्या**=उस मित्र प्रभु के साथ **द्विता कृणुत**=दोनों प्रकार से उन्नति करता है। अभ्युदय व नि:श्रेयस दोनों को यह प्राप्त करनेवाला होता है। अकर्मण्य मनुष्य को प्रभु की सहायता नहीं प्राप्त होती। (३) प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जब **अस्य**=इस पुरुष को **समिथेषु**=संग्रामों में **दिद्युम्**=ज्ञान-ज्योति रूप वज्र को **मंहयम्**=प्राप्त कराता हूँ (मंहतेर्दानकर्मण:) **आत् इत् एनम्**=तो इसे शीघ्र ही **शंस्यम्**=प्रशंसनीय जीवनवाला तथा **उक्थ्यम्**=स्तुति करनेवालों में उत्तम **करम्**=बनाता हूँ। प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करके उपासक प्रभु का स्मरण करता है और प्रभु-स्मरणपूर्वक उत्तम कर्मों को करनेवाला बनकर प्रशंसनीय होता है।

भावार्थ—हम नमन व प्रभु का आश्रयण करनेवाले बनें। प्रभु हमें उत्तम प्रेरणा देंगे, हमारे योगक्षेम को सिद्ध करेंगे। प्रभु से ज्ञान वज्र को प्राप्त करके हम प्रशंसनीय जीवनवाले स्तोता बनें।

ऋषि:—**इन्द्रो वैकुण्ठ:** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठ:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

जिनमें प्रभु हैं और जिनमें नहीं

प्र नेमस्मिन्ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति।
स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन्द्रुहस्तस्थौ बहुले बद्धो अन्त: ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो 'नमी साप्य' बनकर अपने जीवन को उत्तम बना पाते हैं उन **नेमस्मिन् अन्त:**=कुछ पुरुषों के अन्दर **सोम:**=वह सोम प्रभु **प्रददृशे**=देखे जाते हैं। इन इने-गिने व्यक्तियों में प्रभु का दर्शन होता है। **गोपा:**=इनकी इन्द्रियों का रक्षक वह प्रभु **नेम**=इन कुछ लोगों को **अस्था**=(असु क्षेपणे) वासनाओं के दूर फेंकने के द्वारा **आवि: कृणोति**=आविर्भूत शक्तिवाला करता है। इन की शक्तियों का विकास उस प्रभु के द्वारा होता है। (२) इसके विपरीत जिस व्यक्ति के जीवन में प्रभु नहीं दिखता **स द्रुह:**=वह प्रभु द्रोग्धा और परिणामत: राक्षसी वृत्तिवाला होने से अन्यों की हिंसा करनेवाला व्यक्ति **तिग्मशृङ्गम्**=तेज ज्ञानरूप सींगोंवाले **वृषभम्**=शक्तिशाली पुरुष को साथ **युयुत्सन्**=युद्ध करने की इच्छावाला होता हुआ **बहुले अन्त:**=अन्धकार में **बद्ध: तस्थौ**=बन्धा हुआ ठहरता है। प्रभु-भक्त **तिग्मशृंग**=तीव्र ज्ञान रूप सींगोंवाला होता है, इन शृंगों से ही वह वासना रूप शत्रुओं का नाश करता है। यह 'वृषभ'=शक्तिशाली होता है। इसका विरोध करनेवाला व्यक्ति अज्ञानान्धकार में ही पड़ा रहता है।

भावार्थ—जिनमें प्रभु स्थित होता है वे आविर्भूत शक्तिवाले, तीव्र ज्ञानवाले सबल होते हैं। इनके विरोधी अन्धकार में बन्धे पड़े रहते हैं।

ऋषि:—**इन्द्रो वैकुण्ठ:** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठ:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

अपराजित-अहिंसित-अनाभिभूत

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम।
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतमषाळ्हम् ॥ ११ ॥

(१) **देवानां देवः**=देवों का देव, देवाधिदेव प्रभु **आदित्यानाम्**=सब वेदों के विद्वान् आदित्य ब्रह्मचारियों के **वसूनाम्**=विज्ञानवेद के अध्ययन से उत्तम निवासवाले ब्रह्मचारियों के तथा **रुद्रियाणाम्**=ज्ञान प्राप्ति के द्वारा कामादि शत्रुओं के लिये भयंकर रुद्र ब्रह्मचारियों के **धाम**=तेज को **न मिनाति**=नष्ट नहीं करता। (२) प्रभु कहते हैं कि **ते**=वे 'आदित्य, वसु व रुद्र' **मा**=मुझे **भद्राय शवसे**=कल्याणकर शक्ति के लिये **ततक्षुः**=अपने अन्दर निर्मित करते हैं। जो मैं **अपराजितम्**=अपराजित हूँ **अस्तृतम्**=अहिंसित हूँ तथा **अषाढम्**=कामादि से अनभिभूत हूँ। अपने हृदयों में मेरा निर्माण करते हुए, अर्थात् मुझे स्थापित करते हुए ये लोग 'भद्र शवस्' को प्राप्त करते हैं, ये शक्तिशाली होते हैं (शवस्) परन्तु शक्ति का प्रयोग ये सदा दूसरों के कल्याण के लिये ही करते हैं। ये भी मेरी तरह 'अपराजित, अस्तृत व अषाढ' बनते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु को स्थापित करें, जिससे हम 'अपराजित, अहिंसित व वासनाओं से न दबे हुए' हो पायें।

सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि प्रभु ही धनपति हैं, (१) प्रभु ही हमें, वासनाओं को नष्ट करके, अजीर्ण शक्तिवाला बनाते हैं, (२) प्रभु का पूजन कर्मों से ही होता है, (३) प्रभु-पूजन हमें पशु से देव बना देता है, (४) हम प्रभु मित्र बनें, नकि धन मित्र, (५) प्रभु-स्मरण से कामादि शत्रुओं की प्रबलता समाप्त हो जाती है, (६) प्रभु-भक्त बनकर मैं कामादि को जीत लेता हूँ, (७) हम क्रियाशील हों और प्रभु उपासकों के संग में रहें, (८) हम प्रभु के प्रति नमन व प्रभु का आश्रयण करनेवाले हों, (९) जिनमें प्रभु स्थित होते हैं, वे आविर्भूत शक्तिवाले होते हैं, (१०) हम भी प्रभु की तरह 'अपराजित, अहिंसित व वासनाओं से अनभिभूत' होंगे, (११) प्रभु ही भक्तों को धन देते हैं—

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्रो वैकुठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिग्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उत्कृष्ट वसु की प्राप्ति

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहं भुवं यजमानस्य चोदितायज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं ही **गृणते**=स्तवन करनेवाले के लिए **पूर्व्यं वसु**=उत्कृष्ट धन को अथवा पालन व पूरण करनेवाले धन को **दाम्**=देता हूँ। प्रभु भक्त सदा क्रियाशील होता है। उसकी क्रिया केवल अपने हित के लिये न होकर लोकहित के दृष्टिकोण से होती है। इसे आवश्यक साधनों की प्रभु कमी नहीं होने देते। (२) मैं इस स्तोता के लिये **ब्रह्म**=उस ज्ञान को भी **कृणवम्**=करता हूँ, जो ज्ञान की **मह्यम्**=मेरे लिये ही **वर्धनम्**=वर्धन का कारण होता है। ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य प्रभु-भक्त बनता है और प्रभु का स्तवन करता हुआ प्रभु की महिमा को सर्वत्र फैलाता है। (३) **अहम्**=मैं ही **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुषों का **चोदिता भुवम्**=प्रेरक होता हूँ। इन्हें उत्तम कर्मों की प्रेरणा मेरे से ही प्राप्त होती है। इसी यज्ञशीलता की वृद्धि के लिये **विश्वस्मिन् भरे**=सम्पूर्ण संग्रामों में **अयज्वनः**=अयज्ञशील पुरुषों को **साक्षि**=मैं अभिभूत करता हूँ। अयज्ञशील पुरुष के उभयलोक विनष्ट होते हैं। यज्ञ से ही मनुष्य फलता-फूलता है। इस यज्ञ से ही सच्चा प्रभु-पूजन होता है।

भावार्थ—प्रभु भक्तों को उत्कृष्ट वसु प्राप्त कराते हैं व यज्ञ की प्रेरणा देते हैं।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का धारण

मां धुरिन्द्रं नाम॑ दे॒वता॑ दि॒वश्च॒ ग्मश्चा॒पां च॑ ज॒न्तवः॑ ।
अ॒हं हरी॒ वृष॑णा॒ विव्र॑ता र॒घू अ॒हं वज्रं॒ शव॑से धृ॒ष्ण्वा द॑दे ॥ २ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि—**इन्द्रं नाम**=परमैश्वर्यवाला व परम शक्तिमान् (इदि परमैश्वर्ये, इन्द्र to be powerful) होने से 'इन्द्र' नामवाले **माम्**=मुझको **देवताः धुः**=देवलोग धारण करते हैं। वस्तुतः मुझे धारण करने के कारण ही वे देव बनते हैं। देव तो प्रभु का सदा स्मरण करते ही हैं, देवों के अतिरिक्त **दिवः च**=द्युलोक के भी, **ग्मः च**=इस पृथ्वीलोक के भी **च**=तथा **अपाम्**=अन्तरिक्षलोक के **जन्तवः**=प्राणी भी मुझे धारण करते हैं। कष्ट आने पर सभी प्रभु का स्मरण करते हैं। (२) **अहम्**=मैं ही **हरी**=ज्ञान व कर्म के द्वारा दुःखों को दूर करने के कारणभूत (हरणात् हरेः) इन्द्रियाश्वों को, जो **वृषणा**=शक्तिशाली हैं, **विव्रता**=विविध व्रतोंवाले हैं, प्रत्येक इन्द्रिय का अपना अलग-अलग कार्य है, **रघू**=जो लघुगतिवाले हैं, तीव्रगति से अपना-अपना कार्य करनेवाले हैं, इस प्रकार के इन्द्रियाश्वों को **आददे**=स्वीकार करता हूँ। प्रभु ही हमें इस प्रकार के इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले हैं। (३) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं ही **धृष्णु**=कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **शवसे**=शक्ति के लिये **आददे**=स्वीकार करता हूँ। प्रभु हमें यह क्रियाशीलता रूप वज्र प्राप्त कराते हैं, इससे हम जहाँ शत्रुओं का धर्षण करने में समर्थ होते हैं वहाँ अपनी शक्ति का वर्धन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का धारण करके ही देव देव बने हैं। दुःख में सभी प्रभु का धारण करनेवाले बनते हैं। प्रभु ही हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं। और क्रियाशीलता के द्वारा वे हमारी शक्ति का वर्धन करते हैं और हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम कामादि शत्रुओं को कुचल सकें।

ऋषिः—इन्द्रो वैकुठः ॥ देवता—इन्द्रो वैकुण्ठः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

अत्क व शुष्ण का संहार

अ॒हमत्कं॑ क॒वये॑ शिश्नथं॒ हथै॑र॒हं कुत्स॑मावमा॒भिरू॒तिभिः॑ ।
अ॒हं शुष्ण॑स्य श्नथि॑ता व॒धर्य॑मं॒ न यो र॒र आर्यं॒ नाम॒ दस्य॑वे ॥ ३ ॥

(१) 'अत्क' शब्द का अर्थ 'आच्छादक' है। आच्छादकता के कारण ही 'वस्त्र व कवच' अत्क कहलाता है। 'लोभ' भी मनुष्य को ढक लेता है सो यह भी 'अत्क' है। जब यह मनुष्य को ढक लेता है तो बुद्धि पर परदा-सा पड़ जाता है और मनुष्य चीज़ को ठीक रूप में नहीं देखता। प्रभु **कवये**=कहते हैं कि **अहम्**=मैं **अत्कम्**=इस बुद्धि के आच्छादक लोभ को **हथैः**=हनन-साधनों से, हनन की साधनभूत क्रियाओं से **शिश्नथम्**=हिंसित करता हूँ। इसके हिंसित होने पर ही मनुष्य वस्तु को ठीक रूप में देखनेवाला होता है, यह ठीक रूप में देखनेवाला ही 'कवि' है। प्रभु कहते हैं कि मैं कवये=इस क्रान्तदर्शी पुरुष के लिये ही इस अत्कम्=आच्छादक लोभ को नष्ट करता हूँ। (२) और **आभिः ऊतिभिः**=इन लोभादि की विनाश रूप रक्षणात्मक क्रियाओं से **कुत्सम्**=(कुत्सयते=one who condemns) बुराइयों की निन्दा करनेवाले पुरुष को **आवम्**=सुरक्षित करता हूँ। बुराइयों की निन्दा करने के कारण यह उनके प्रति झुकाववाला नहीं होता। (३) **अहम्**=मैं ही **शुष्णस्य**=हृदय का शोषण करनेवाले कामासुर का **श्नथिता**=हिंसन करनेवाला होता हूँ और **वधः**=इसके नाश के साधनभूत वज्र को **यमम्**=(नियमितवान् अस्मि सा०) हाथ

में ग्रहण करता हूँ और इस प्रकार **यः**=जो भी **आर्यं नाम**=आर्य पुरुष है, उसको **दस्यवे**=दस्यु के लिये **न ररे**=नहीं दे देता। 'अत्क-शुष्ण' आदि असुर हैं। इनके वध के द्वारा प्रभु आर्य पुरुष का रक्षण करते हैं। राजा ने भी राष्ट्र में यही करना होता है कि वह दस्युओं के नाश के द्वारा आर्यों का रक्षण करे।

भावार्थ—प्रभु हमारे लोभ को नष्ट करके हमें कवि व ज्ञानी बनाते हैं। काम को नष्ट करके वे हमें आर्य बनाते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सन्तोष-शान्ति व प्रेम

अहं पितेव वेतसूँरभिष्टये तुग्रं कुत्साय स्मदिभं च रन्धयम्।
अहं भुवं यजमानस्य राजनि प्र यद्भरे तुजये न प्रियाधृषे॥ ४॥

(१) **अहम्**=मैं **पिता इव**=जैसे पिता पुत्र की इष्ट प्राप्ति के लिये यत्न करता है इसी प्रकार **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले के लिये **अभिष्टये**=इष्ट प्रापण के लिये **वेतसून् तुग्रं स्मदिभं च**=वेतसुओं को, तुग्र को तथा स्मदिभ को **रन्धयम्**=नष्ट करता हूँ, इनको वशीभूत करता हूँ। 'वेद-सू' शब्द का अर्थ है, 'कामना को जन्म देनेवाला' (वी=to dlsire वेत=wish सू=जन्म देना) हमारे में एक इच्छा उत्पन्न होती है, वह पूर्ण होती है तो नयी इच्छा उत्पन्न हो जाती है, यही लोभ है। लोभ में इच्छाओं का अन्त नहीं होता। 'तुग्रम्' शब्द 'तुज हिंसायाम्' से बनकर हिंसक वृत्ति व क्रोध को संकेत करता है। 'स्मदिभ' शब्द 'स्मत्=श्रेष्ठ के लिये इभ=हाथी के समान' इस अर्थ को कहता हुआ उस 'काम-वासना' का सूचक है, जो कि अच्छी से अच्छी वस्तु को खराब कर देती है। हाथी कदली-स्तम्भ को उखाड़ फेंकता है, इसी प्रकार 'काम' श्रेष्ठता को उखाड़नेवाला है। प्रभु इन 'वेतसू, तुग्र व स्मदिभ' को, लोभ, क्रोध व काम को नष्ट करके कुत्स के जीवन को इष्ट की प्राप्तिवाला व सुन्दर बनाते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **राजनि**=(राजनार्थम्) दीपन के निमित्त **भुवम्**=होता हूँ **यत्**=जब कि **तुजये न**=पुत्र के लिये पिता की तरह **धृषे**=शत्रुओं के धर्षण के लिये **प्रिया**=प्रिय वस्तुओं को लोभ के विपरीत 'सन्तोष' को, क्रोध के विपरीत 'शान्ति' को और काम के विपरीत 'प्रेम' को **प्रभरे**=उसे यजमान में भरता हूँ इस यजमान के जीवन को 'सन्तोष, शान्ति व प्रेम' सुन्दर बनानेवाले होते हैं। इन प्रिय गुणों से उस यजमान का जीवन दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे जीवन में लोभ का स्थान 'सन्तोष' ग्रहण करे, क्रोध के स्थान में 'शान्ति' हो और काम का स्थान 'प्रेम' ले ले।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मृगय-वेश व पड्गृभि का विनाश

अहं रन्धयं मृगयं श्रुतर्वणे यन्माजिहीत वयुना चनानुषक्।
अहं वेशं नम्रमायवेऽकरमहं सव्याय पड्गृभिमरन्धयम्॥ ५॥

(१) 'श्रुतर्वन्' उस व्यक्ति का नाम है जो कि **श्रुत**=ज्ञान के द्वारा मलिनताओं का **अर्वन्**=हिंसक बनता है। ज्ञान के द्वारा जीवन को पवित्र करनेवाला 'श्रुतर्वा' है। 'मृग अन्वेषणे' धातु से बना मृगय शब्द औरों के दोषों को खोजते रहनेवाला का वाचक है प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **श्रुतर्वणे**=इस श्रुतर्वा के लिये **मृगयम्**=परदोषान्वेषण की वृत्ति को **रन्धयम्**=नष्ट करता हूँ। ज्ञान मनुष्य की वृत्ति

को इस प्रकार पवित्र बनाता है कि वह औरों के दोषों को न देखते रहकर अपनी ही न्यूनताओं को देखता है और उन्हें दूर करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर व निर्दोष बनाता है। प्रभु कहते हैं कि श्रुतर्वा इसलिए परदोष निरीक्षण से ऊपर उठता है **यत्**=क्योंकि यह **वयुना**=प्रज्ञान के हेतु से **आनुषक् चन**=निरन्तर ही **मा**=मुझे **अजिहीत**=प्राप्त होता है। यह सदा मेरी ओर गतिवाला होता है और प्रभु की ओर जानेवाला होने से यह औरों के दोषों को नहीं देखता रहता। (२) विश धातु से बना '**वेश**' शब्द न चाहते हुए भी प्रत्येक में प्रविष्ट हो जानेवाले 'अहंकार' का सूचक है, यह उद्धतता-युक्त मद का प्रतीक है। प्रभु कहते हैं कि मैं **आयवे**=(एति इति आयुः) क्रियाशील पुरुष के लिये **वेशम्**=इस अभिमान को **नम्रम्**=नम्र **अकरम्**=कर देता हूँ। क्रियाशील पुरुष के जीवन में अभिमान का स्थान 'नम्रता' ले लेती है। (३) प्रभु ही कह रहे हैं कि मैं **सव्याय**=सव्य के लिये **पड्गृभिम्**=पड्गृभि को **अरन्धयम्**=नष्ट कर देता हूँ। सब में उत्तम 'सव्य' है 'सव' शब्द का अर्थ यज्ञ व प्रेरणा (षू प्रेरणे) है। सव्य वह व्यक्ति है जो प्रभु प्रेरणा को सुनता है और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है। 'पड्गृभि' पाँवों में पकड़ लेनेवाला, उन्नति को समाप्त कर देनेवाला 'मोह' है। यह मोह, वैचित्त्य व अज्ञान ही सम्पूर्ण उन्नतियों का विघातक होता है। हम प्रभु प्रेरणा को सुनते हैं और हमारा अज्ञान नष्ट होता है। अब हम उन्नति-पथ पर आगे बढ़ चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से 'परदोषान्वेषण की वृत्ति, उद्धततायुक्तमद व मोह' नष्ट हो जाते हैं और हम उन्नत जीवनवाले बन पाते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

नववास्त्व बृहद्रथ दास का हनन

अ॒हं स यो नव॑वास्त्वं बृ॒हद्र॑थं॒ सं वृ॒त्रेव॒ दासं॑ वृत्र॒हारु॑जम्।
यद्व॒र्धय॑न्तं प्र॒थय॑न्तमानु॒षग्दू॒रे पा॒रे रज॑सो रोच॒नाक॑रम्॥ ६॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **सः**=वह हूँ **यः**=जो **वृत्रहा**=वृत्र का नाश करनेवाला होता हुआ **वृत्रेव**=वृत्र की तरह ही **नववास्त्वम्**=नौ महलोंवाले (वास्तु=polace) **बृहद्रथम्**=बड़ी-बड़ी कारोंवाले **दासम्**=औरों का उपक्षय करनेवाले को **सं अरुजम्**=पूर्णतया नष्ट करता हूँ। आसुर वृत्तिवाले लोग अन्याय से अर्थ का संचय करके अपने आराम के लिये बड़ी-बड़ी कोठियाँ बना लेते हैं, बड़ी-बड़ी कारें रख लेते हैं, ये अपने सुख भोग के लिए औरों का क्षय करते हैं। इन दस्यु वृत्तिवाले लोगों को प्रभु नष्ट करते हैं। (२) **यद्**=जब यह दस्यु वृत्तिवाला व्यक्ति **आनुषक्**=निरन्तर **वर्धयन्तम्**=अपने धनों व सुख-साधनों को बढ़ाता चलता है, **प्रथयन्तम्**=अपने को फैलाता चलता है, तो मैं उसे **रोचना रजसः**=(रोचनस्य रजसः) चमकते हुए लोक के **दूरे पारे अकरम्**=दूर पार कर देता हूँ। देदीप्यमान लोकों से दूर करके इसे मैं 'असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः'=अन्धतमस से आवृत असुर्यलोकों को प्राप्त करानेवाला होता हूँ। (३) मनुष्य अन्धाधुन्ध धन तो अन्याय से ही कमा पाता है। यह अन्याय्य धन थोड़ी देर के लिये उसके जीवन में चहल-पहल को पैदा कर देता है। फिर प्रभु इसे समाप्त कर देते हैं और अन्धकारमय लोकों में जन्म देते हैं।

भावार्थ—न तो हम अन्याय से धन कमाएँ और नांही उस धन को विलास में व्ययित करें।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

(प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं) संसार वहन

अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक्कृषे दासं कृत्व्यं हथैः ॥ ७ ॥

(१) **अहम्**=मैं ही **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **वहमानः**=सम्पूर्ण संसार का धारण करता हुआ **सूर्यस्य**=सूर्य की **आशुभिः**=शीघ्रता से सर्वत्र व्याप्त होनेवाली **एतशेभिः**=रंग-विरंगे अश्व रूप किरणों से **प्र**=प्रकर्षेण **परियामि**=ब्रह्माण्ड में सर्वत्र गति करता हूँ। सूर्य की किरणें सात रंगों की हैं, ये ही सूर्य के सात अश्व कहलाते हैं। रंग-बिरंगे रंगों में शयन करने से ये एतश कहलाते हैं (एत-श) इनमें सब प्रकार के प्राणों का निवास है। इन प्राणशक्तियों के द्वारा सूर्य-किरणें सब रोगों का संहार करती हैं। सूर्यकिरणों के द्वारा यह कार्य प्रभु ही करते हैं, प्रभु का तेज ही सूर्य को तेजोमय करता है। सूर्य को ही नहीं, प्रत्येक तेजसी पदार्थ को प्रभु ही तेजस्वी बना रहे हैं। प्रभु के तेज से प्रत्येक देव देवत्व को प्राप्त करता है। (२) मानव जीवन में भी देवत्व को प्रभु ही उत्पन्न करते हैं, प्रभु कहते हैं कि मैं ही **कृत्व्यम्**=(कृती छेदने) छेदन के योग्य **दासम्**=औरों के ध्वंस की वृत्तिवाले पुरुष को **हथैः**=हनन साधनों से **ऋधक् कृषे**=पृथक् कर देता हूँ। यह मैं करता तभी हूँ **यत्**=जब कि **मा**=मुझे **मनुषः**=विचारशील पुरुष का **सावः**=यज्ञ **निर्णिजे**=इस शोधन के लिये **आह**=कहता है। अर्थात् जब हम यज्ञ की वृत्तिवाले बनते हैं और यदि उस समय एक दास वृत्ति का पुरुष हमारा ध्वंस करता है, तो प्रभु उसके हनन के द्वारा सामाजिक वातावरण को शुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार यज्ञशील पुरुषों के लिये प्रभु सहायक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु सूर्यादि देवों की दीप्ति के स्रोत हैं और दास के हनन के द्वारा यज्ञशील पुरुषों के सहायक होते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तुर्वश-यदु का सहस्रवाला जीवन

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम्।
अहं न्य१न्यं सहसा सहस्करं नव व्राधतो नवतिं च वक्षयम् ॥ ८ ॥

(१) **अहम्**=मैं **सप्त-हा**=सात असुरों का संहार करनेवाला हूँ। (क) इन्द्रियाँ सामान्यतः दस हैं। इनमें त्वचा को हाथों में समाविष्ट करके, क्योंकि हाथों से ही प्रायः स्पर्श किया जाता है, वाणी और जिह्वा को एक मानकर तथा मल-शोधक **पायु**=उपस्थ को एक में मिला देने से ये सात रह जाती हैं। इनको ठीक मार्ग पर ले चलनेवाले तो देव कहलाते हैं और इनको विचरीत मार्ग पर ले जानेवाले असुर होते हैं। इन सात असुरों को प्रभु उचित दण्ड के द्वारा आहत करते हैं। (ख) 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' इस मन्त्र में सात मर्यादाओं का उल्लेख है, इन मर्यादाओं का उल्लंघन करनेवाले सात असुर हैं। इनका पालन करनेवाले सप्तर्षि हैं। (ग) सात मर्यादाओं का पालन करनेवाले सात उत्तम लोकों को प्राप्त करनेवाले होते हैं, और इनके उल्लंघन करनेवाले सात असुर्य लोकों में जन्म लेते हैं 'असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः'। प्रभु इन सात आसुर वृत्तिवाले लोगों को नष्ट करते हैं। **नहुषः नहुष्टरः** (णह बन्धने)=प्रभु इन्हें दृढ़ता से बन्धन में डालनेवाले हैं। इनको इन बन्धनों में रखकर वे इनकी अशुभवृत्तियों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। (२) जो व्यक्ति **तुर्वशम्**=त्वरा से (=शीघ्रता से) इन इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाला होता है और

यदुम्=यत्नशील होता है, कभी अकर्मण्य नहीं होता उसे मैं **शवसा**=बल के दृष्टिकोण से **प्राश्रावयम्**=प्रकृष्ट यशवाला करता हूँ **अहम्**=मैं **कन्यम्**=असुरों से भिन्न इस दैवी वृत्तिवाले पुरुष को **सहसा**=सहनशक्ति के रूप में प्रकट होनेवाले बल से **सहः**=सहस् का पुञ्ज ही **निकरम्**=निश्चय से बना देता हूँ और **व्राधतः**=वृद्धि को प्राप्त होनेवाले (व्राध=broad) फैलते जानेवाले **नव नवतिं च**=निन्यानवे, अर्थात् अनेक आसुरभावों को **वक्षयम्** (अन्तशयम् सा०)=नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—आसुर वृत्तिवालों को प्रभु बन्धन में डालते हैं। दैवी वृत्तिवाले 'जितेन्द्रिय-यत्नशील' पुरुषों को वे सहस् का, बल का पुञ्ज बनाते हैं। इन पर आक्रमण करनेवाली अशुभ वृत्तियों को वे विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सप्त नाड़ी चक्र का स्वास्थ्य) शरीर व मानस स्वास्थ्य

अहं सप्त स्रवतो धारयं वृषा द्रवित्न्वः पृथिव्यां सीरा अधि।
अहमर्णांसि वि तिरामि सुक्रतुर्युधा विदं मनवे गातुमिष्टये॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार शक्ति को प्राप्त कराके प्रभु ही हमें स्वस्थ बनाते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में उस स्वास्थ्य का कुछ विस्तार से उल्लेख करते हैं। शरीर में नाड़ियों के अन्दर रुधिर-प्रवाह के ठीक से होने पर ही स्वास्थ्य का निर्भर है। वह शरीर में इन रुधिर-वाहिनी नाड़ियों का जाल-सा बिछा हुआ है। उन में सात नाड़ियाँ प्रमुख हैं। वे ही अन्यत्र 'गंगा-यमुना-सरस्वती' आदि नदियों के रूप में चित्रित हुई हैं। इन नाड़ियों के इन वैदिक नामों को ही देखकर बाह्य नदियों को भी प्रारम्भिक आर्यों ने ये नाम दे दिये। वेद में वस्तुतः इन बाह्य नदियों का वर्णन हो, सो बात नहीं है। प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं ही **वृषा**=सब प्रकार के सुखों का वर्षण करनेवाला **सप्त**=इन सात **स्रवतः**=रुधिर के बहाववाली **द्रवित्न्वः**=निरन्तर द्रवण करती हुई, **पृथिव्याम्**=इस शरीर रूप पृथिवी में **सीराः**=सरणशील इन नाड़ीरूप नदियों को **अधि-धारयम्**=अधिष्ठातृरूपेण धारण करता हूँ और **अहम्**=मैं ही **सुक्रतुः**=उत्तम क्रतुओंवाला, उत्तम क्रियाओंवाला होता हुआ इन नाड़ियों में **अर्णांसि**=रुधिररूप जलों को **वितिरामि**=देता हूँ। हृदय देश से इस रुधिर रूप जल का प्रसार होता है। शरीर में सर्वत्र विचरण करके यह फिर उसी हृदयदेश में पहुँचता है। उसी प्रकार, जैसे कि नदियों का जल समुद्र में जाकर, फिर से वाष्पीभूत होकर बादलों के रूप में आता है और पर्वतों पर वृष्टि होकर फिर से नदियों में प्रवाहित होने लगता है। प्रभु का यह अर्थ कितना महान् व अद्भुत है। इसी प्रकार नाड़ियों में रुधिर प्रवाह की बात है। इस रुधिर के ठीक अभिसरण से शरीर का स्वास्थ्य ठीक रहता है। (२) शरीर के स्वास्थ्य के साथ, मानस-स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिये, प्रभु कहते हैं कि मैं ही **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **इष्टये**=इष्ट व लक्ष्यभूत स्थान की प्राप्ति के लिये **युधा**=काम-क्रोधादि वासनाओं से युद्ध के द्वारा **गातुम्**=मार्ग को **विदम्**=प्राप्त कराता हूँ। काम-क्रोधादि ही तो हमें मार्ग-भ्रष्ट करके लक्ष्य प्राप्ति से वञ्चित कर देते हैं। इनके साथ युद्ध में प्रभु हमारे सारथि होते हैं। उस प्रभु के साहाय्य से ही हम इन्हें पराजित कर पाते हैं। इनके पराजित होने पर, मार्ग से विचलित न होते हुए हम लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु, नाड़ियों में रुधिर के ठीक प्रकार से अभिसरण की व्यवस्था करके हमें शारीरिक स्वास्थ्य देते हैं और काम-क्रोधादि को पराजित करके हमें मानस-स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाले बनकर हम मार्ग पर आगे बढ़ते हैं और लक्ष्य पर पहुँचनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गौवों में दूध, नदियों में जल

अहं तदासु धारयं यदासु न देवश्चन त्वष्टाधारयद्रुशत्।
स्पार्हं गवामूधःसु वक्षणास्वा मधोर्मधु श्वात्र्यं सोममाशिरम्॥ १० ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **आसु गवां ऊधः सु**=इन गौवों के ऊधस् में **तद्**=उस **रुशत्**=आरोचमान-चमकते हुए **स्पार्हम्**=स्पृहणीय, चाहने योग्य दूध को **धारयम्**=धारण करता हूँ **यत्**=जिसे **आसु**=इनमें **त्वष्टा**=यह चमकनेवाला **देवः चन**=सूर्य-देव भी **न अधारयत्**=नहीं धारण कर पाता। मनुष्य जब तक विज्ञान के क्षेत्र में नहीं चलता, तब तक वह श्रद्धा से यही धारण रखता है कि प्रभु इस संसार को चला रहे हैं, वही वर्षा करते हैं, वही गौवों में दूध को धारण करते हैं। परन्तु जब कुछ वैज्ञानिक उन्नति प्रारम्भ होती है, तो वह वैज्ञानिक देखता है कि सूर्य की किरणों से समुद्रजल वाष्पीभूत होता है, ऊपर जाकर ये वाष्प ठण्ड के कारण धनीभूत होते हैं, और बादल बनकर बरसते हैं एवं सूर्य ही तो इस वृष्टि को करता है। इस वृष्टि से उत्पन्न घास को खाकर और पानी को पीकर गौवें दूध देती हैं, सो इस दूध को भी तो उनमें सूर्य ही धारण कर रहा है। परन्तु अधिक अध्ययन के होने पर वह 'वेकन' के शब्दों में यह अनुभव करने लगता है कि इस कार्यकारणभाव की भी तो अन्तिम कड़ी उस Jnpiter (द्युपितर)=परमात्मा के सिंहासन से ही जुड़ी हुई है। प्रभु ही सूर्यादि देवों में उस-उस शक्ति को धारण करते हैं। सूर्यादि देवों के द्वारा यह सम्पूर्ण कार्य प्रभु ही कर रहे होते हैं। (२) प्रभु गौवों के ऊधस् में आरोचमान स्पृहणीय दूध को तो धारण करते ही हैं। वे प्रभु **वक्षणासु**=इन नदियों में **आमधोः**=चैत्र मास की समाप्ति तक **मधु**=माधुर्यवाले, शहद की तरह गुणवाले, **श्वात्र्यम्**=गतिशील व वृद्धि के कारणभूत **सोमम्**=शान्ति को देनेवाले व सोम शक्ति को पैदा करनेवाले, **आशिरम्**=शरीर में समन्तात् दोषों को शीर्ण करनेवाले जल को **अधारयत्**=धारण करते हैं। वर्षा में वरसा हुआ जल नदियों को भर देता है शरद् में कुछ मर्यादित होकर हेमन्त-शिशिर में यह कम हो जाता है, ग्रीष्म में कुछ सूखता है तो इनको फिर से भरने के लिये वर्षा ऋतु आ जाती है। यहाँ यह सारी बात 'आमधोः शब्द से संकेतित हो रही है। (३) प्रभु ने गौवों के ऊधस् में दूध को रखा है और नदियों में जल को। दूध पुष्टि देता है, जल नीरोगता। इस प्रकार इन दोनों पेय-पदार्थों से हमारा जीवन सुन्दर बनता है।

भावार्थ—प्रभु के द्वारा गौवों के ऊधस् में स्थापित दूध से हमारा मन स्वस्थ बनता है, नदियों के जल से हमारा शरीर नीरोग बनता है। इस दूध व जल को सूर्यादि देवों के द्वारा प्रभु ही स्थापित करनेवाले हैं। इनके प्रयोग से हमारी वृत्ति भी दैवी बनती है।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वाट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

च्यावक बल

एवा देवाँ इन्द्रो विव्ये नॄन्प्र च्यौत्नेन मघवा सत्यराधाः।
विश्वेत्ता ते हरिवः शचीवोऽभि तुरासः स्वयशो गृणन्ति॥ ११ ॥

(१) **एवा**=गत मन्त्र में वर्णित दूध व जल के उत्पादन के द्वारा **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् **मघवा**=ऐश्वर्यशाली **सत्यराधाः**=सदा सत्य को सफल बनानेवाले प्रभु **देवान् नॄन्**=देववृत्तिवाले मनुष्यों को **च्यौत्नेन**=शत्रुओं को स्वस्थान से च्युत करनेवाले बल से **प्र विव्ये**=प्रकर्षेण कान्तिमय करते हैं अथवा प्राप्त होते हैं (वी=गति-कान्ति)। प्रभु के बनाये हुए इन दूध व जल के प्रयोग

से हमें वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि हम आन्तर शत्रु कामादि का तो पराजय करते ही हैं, बाह्य शत्रुओं को भी हम जीत पाते हैं। 'दूध व जल' सोम हैं, ये हमें सौम्य स्वभाव का बनाते हैं। हम उत्तेजना से दूर होकर वासना से ऊपर उठते हैं। (२) हे **हरिवः**=दुःखों के हरण करनेवाले ज्ञान से युक्त प्रभो! **शचीवः**=शक्ति-सम्पन्न प्रभो! **ते**=आपके **त्वा विश्वा**=उन सब कर्मों को तथा **स्वयशः**=आपके यश को **तुरासः**=कर्मों में त्वरा से प्रवृत्त होनेवाले लोग (त्वर संभ्रमे) अथवा काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाले लोग (तुर्वी हिंसायाम्) **अभिगृणन्ति**=दोनों ओर, अर्थात् दिन के प्रारम्भ में भी तथा दिन की समाप्ति पर भी स्तुत करते हैं। आपकी सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता का तो वे गायन करते ही हैं, आपके यशस्वी कार्यों का भी स्तवन करते हुए वे वासनाओं से ऊपर उठते हैं।

भावार्थ—दूध व जल के प्रयोग से हमें वह च्यौत्न बल प्राप्त होता है जो कि हमें शत्रुओं के संहार के लिये समर्थ करता है।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभु उत्कृष्ट वसुओं को प्राप्त कराते हैं, (१) देव प्रभु का धारण करते हैं और इसी से देव बनते हैं, (२) प्रभु हमारे लोभ व काम को नष्ट करते हैं, (३) सन्तोष, शान्ति व प्रेम को देते हैं, (४) हमारी परदोषान्वेषण की वृत्ति को तथा मद-मोह को नष्ट कर देते हैं, (५) प्रभु-भक्त न अन्याय से धन कमाता है और न उसका विलास में व्यय करता है। (६) प्रभु ही सूर्यादि देवों की दीप्ति के स्रोत हैं, (७) प्रभु-भक्त इन्द्रियों को त्वरा से वश करता है, यत्नशील होता है और अतएव सहस्वाला बनता है, (८) प्रभु ही हमें नाड़ीचक्र में रुधिर के ठीक अभिसरण से शरीर व मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं, (९) जीव की उन्नति के लिये प्रभु ने गौवों के ऊधस् में स्पृहणीय दूध को धारण किया है और नदियों में जल को स्थापित किया है, (१०) इनके प्रयोग से हमें वह बल प्राप्त होता है जिससे कि हम अन्तः व बाह्य शत्रुओं को समाप्त कर पाते हैं, (११) इस बल की प्राप्ति के लिये हम इन्द्र का ही स्तवन करें—

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

बल, ज्ञान व ऐश्वर्य

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑माना॒यान्ध॒सोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑खं॒ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑ ॥ १ ॥

(१) **वः**=तुम्हारे **महे**=(मह पूजायाम्) पूजनीय, **अन्धसः**=सोम के द्वारा **मन्दमानाय**=आनन्दित करनेवाले के लिये, **विश्वानराय**=सबको उन्नतिपथ पर चलने के लिये प्रेरित करनेवाले के लिये और **विश्वाभुवे**=सर्वत्र चारों ओर वर्तमान उस प्रभु के लिये **प्र अर्चा**=प्रकर्षेण अर्चन व पूजन कर। उस प्रभु ने हमारे शरीरों में सोमशक्ति की स्थापना की है। यह सोमशक्ति सुरक्षित होकर हमें जीवनों में स्वर्गतुल्य सुख प्राप्त कराती है और अन्त में हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है। इस सोम के रक्षण से ही उस सोम प्रभु का दर्शन होता है। वे प्रभु हम सबके हृदयों में वर्तमान हैं (विश्वाभू) अन्तःस्थिररूपेण प्रेरणा देते हुए हमें आगे ले चल रहे हैं (विश्वानराय)। (२) हम उस प्रभु का अर्चन करनेवाले बनें **यस्य**=जिस **इन्द्रस्य**=सर्वशक्तिमान् व परमैश्वर्यशाली के **सुमखम्**=इस उत्तम सृष्टियज्ञ का **सहः**=बल का **महि श्रवः**=महान् यश व ज्ञान का **च**=और **नृम्णम्**=धन व ऐश्वर्य का **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी, सारे लोकों में स्थित प्राणी, **सपर्यतः**=पूजन करते हैं। प्रभु ने इस सृष्टि को जीव के हित के लिये बनाया है, सो यह उत्तम यज्ञ है। बल के व ज्ञान

के व ऐश्वर्य के दृष्टिकोण से वे इनकी अन्तिम सीमा हैं, उनमें ये सब निरतिशयरूप से वर्तमान हैं। प्रभु का बल ज्ञान व ऐश्वर्य अनन्त है। इस प्रभु का पूजन करते हुए हम भी 'बल-ज्ञान व ऐश्वर्य' को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करें। वे हमें बल, ज्ञान व ऐश्वर्य प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

नर्य प्रभु का स्तवन

सो चिन्नु सख्या नर्यं इनः स्तुतश्चर्कृत्य इन्द्रो मावते नरे।
विश्वासु धूर्षु वाजकृत्येषु सत्पते वृत्रे वाप्स्वभि शूर मन्दसे॥ २॥

(१) **स उ चित् नु**=वे प्रभु ही निश्चय से **सख्या**=सखित्व के कारण **नर्यः**=नरों का हित करनेवाले हैं। नर वह है जो कि उन्नतिपथ पर अपने को ले चलने के लिये यत्न करता है, प्रभु इन नरों का सदा हित करते हैं। प्रभु भी इनकी उन्नति में सहायक होते हैं। **इनः**=प्रभु ही तो स्वामी हैं। वे प्रभु ही **स्तुतः**=सदा स्तुति किये जाते हैं और **चर्कृत्यः**=(कर्तव्यैः पुनः-पुनः परिचरणीयः सा०) वे कर्त्तव्यपालन के द्वारा सदा पूजा के योग्य हैं। प्रभु का पूजन यही है कि हम अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रमाद न करें। (२) वे प्रभु **मा-वते नरे**=लक्ष्मीवाले मनुष्य के लिये **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं। अर्थात् वस्तुतः लक्ष्मी के देनेवाले प्रभु ही हैं। लक्ष्मी का विजय करनेवाले प्रभु ही हैं। जैसे बुद्धिमानों की बुद्धि प्रभु हैं, बलवानों के बल व तेजस्वियों के तेज प्रभु हैं उसी प्रकार लक्ष्मीवानों की लक्ष्मी भी प्रभु ही हैं। (३) हे **शूर**=सब विघ्नों व शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! आप **विश्वासु धूर्षु**=सब कार्यभारों में, **वाजकृत्येषु**=शक्तिशाली कर्मों में **वृत्रे**=ज्ञान को आवृत करनेवाले सर्वमहान् शत्रु काम के आक्रमण में **वा**=तथा **अप्सु**=रेतःकणों के रक्षण के प्रसंग में **अभिप्रमन्दसे**=(अभिष्टयसे) स्तुति किये जाते हो। आपका स्तवन करते हुए हम आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर उस-उस कार्यभार को उठा पाते हैं, शक्ति की अपेक्षा करनेवाले कार्यों में घबराते नहीं, वासना के आक्रमण को विफल कर पाते हैं और रेतःकणों के रक्षण में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के हम मित्र बनें, प्रभु हमारा कल्याण करेंगे। वे प्रभु कर्मों से स्तुत होते हैं। वे ही हमारे लिये लक्ष्मी का विजय करते हैं। उनका स्मरण ही हमें सब कार्यों की पूर्ति में, वासना के विध्वंस में तथा रेतःकणों के रक्षण में समर्थ करता है।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आनन्द में कौन?

के ते नर इन्द्र ये त इषे ये ते सुम्नं सधन्यमियक्षान्।
के ते वाजायासुर्याय हिन्विरे के अप्सु स्वासूर्वरासु पौंस्ये॥ ३॥

(१) **ते नरः**=वे मनुष्य **के**=आनन्द में विचरनेवाले हैं **ये**=जो हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते इषे**=आपकी प्रेरणा में चलते हैं। अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनकर कार्य करनेवाले लोग आनन्द में विचरण करते हैं। (२) आनन्द में वे हैं **ये**=जो हे प्रभो! **ते**=आपके **सुम्नम्**=स्तवन को (hymn), जो **सधन्यम्**=मनुष्य को प्रशस्त बनानेवाले धन से युक्त है, **इयक्षान्**=अपने साथ संगत करते हैं। प्रभु का स्तवन करनेवाले धन-सम्पन्न व्यक्ति आनन्दमय जीवनवाले होते हैं। प्रभु-

स्तवन से रहित धन ही निधन का कारण बनता है। (३) **ते**=वे **के**=आनन्द में हैं जो **असुर्याय**=असुरों के संहार के लिये साधनभूत **वाजाय**=शक्ति के लिये **हिन्वरे**=प्रेरित होते हैं। आसुरवृत्तियों को नष्ट करनेवाले बल से युक्त पुरुष ही आनन्दमय जीवनवाले होते हैं। (४) आनन्द में वे हैं जो **स्वासु उर्वरासु**=अपनी उपजाऊ भूमियों पर **पौंस्ये**=पुरुषार्थ में निवास करते हैं और **अप्सु**=सदा कर्मों में लगे रहते हैं। अर्थात् कृषि-प्रधान पौरुष-सम्पन्न क्रियाशील जीवन ही मनुष्य को आनन्दित करनेवाला होता है।

भावार्थ—आनन्द प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) हम प्रभु-प्रेरणा को सुनें, (ख) प्रभु का स्तवन करते हुए धनसम्पन्न हों, (ग) आसुरवृत्तियों की नाशक शक्ति से युक्त हों, (घ) कृषि-प्रधान श्रममय जीवन बिताएँ।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का स्तवन

भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान्भुवो विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः।
भुवो नॄँश्च्यौत्नो विश्वस्मिन्भरे ज्येष्ठश्च मन्त्रो विश्वचर्षणे ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=ज्ञान रूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **ब्रह्मणा**=ज्ञान के दृष्टिकोण से **महान्**=सबसे बड़े भुवः=हैं, आपका ज्ञान निरतिशय है, ज्ञान की आप चरमसीमा ही हैं। (२) **विश्वेषु सवनेषु**=सब यज्ञों के अन्दर आप ही **यज्ञियः**=पूजनीय होते हैं। आपकी कृपा से ही यज्ञ परिपूर्ण होते हैं। वस्तुतः आप ही सब यज्ञों के होता हैं। (३) **विश्वस्मिन् भरे**=सब संग्रामों में **नॄन्**=शत्रुओं के नेतृ पुरुषों को आप ही **च्यौत्नः**=स्वस्थन से विचलित करनेवाले बल से युक्त हैं। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम शत्रुओं का पराजय कर पाया करते हैं। (४) हे **विश्वचर्षणे**=सर्वद्रष्टः=सबका ध्यान करनेवाले प्रभो! **च**=और आप ही **ज्येष्ठ मन्त्रः**=सर्वश्रेष्ठ मन्त्र हैं। (क) कार्यों की सिद्धि के लिये अन्य मन्त्र तो पता नहीं कि सफलता प्राप्त कराते हैं या नहीं, यह प्रभु का स्मरण मनुष्य को अवश्य सफल बनाता है। (ख) अथवा आप ही सर्वश्रेष्ठ मननीय वस्तु हो। प्रकृति व जीव का ज्ञान भी आवश्यक है, परन्तु आपका मनन सर्वोपरि है। प्रकृति व जीव का ज्ञान हमें धन प्राप्त कराता है, तो आपका मनन हमें उस धन से धन्य बनाता है, अन्यथा यही धन हमारे निधन का कारण हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वज्ञ हैं, सब यज्ञों के होता हैं, संग्रामों में विजय प्राप्त करानेवाले हैं, सब सफलताओं के मन्त्र हैं। अथवा वे प्रभु सर्वोपरि मन्तव्य सत्ता हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वरक्षक प्रभु

अवा नु कं ज्यायान्यज्ञवनसो महीं त ओमात्रां कृष्टयो विदुः।
असो नु कमजरो वर्धाश्च विश्वेदेता सवना तूतुमा कृषे ॥ ५ ॥

(१) हे प्रभो! **नु**=अब **कम्**=सुखस्वरूप आप **ज्यायान्**=सर्वमहान् हैं और **यज्ञवनसः**=यज्ञों का सेवन करनेवालों को **अवा**=रक्षित करते हैं। यज्ञशील पुरुषों का रक्षण प्रभु ही करते हैं, वस्तुतः प्रभु से रक्षित होकर ही वे अपने यज्ञों का रक्षण कर पाते हैं। (२) **कृष्टयः**=कृष्टि करनेवाले श्रमशील व्यक्ति ही **ते**=आपकी **महीम्**=महनीय-आदरणीय व शक्ति-सम्पन्न **ओमात्राम्**=रक्षा को **विदुः**=प्राप्त करते हैं। श्रमशील पुरुषों का ही आप रक्षण करते हैं। (३) **नु**=अब **कम्**=आनन्दस्वरूप

आप **अजरः असः**=कभी जीर्ण न होनेवाले हैं **च**=और **वर्धाः**=(वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त हो, सदा वृद्ध हो। प्रभु कभी जीर्ण नहीं होते हैं और सदा बढ़े हुए रहते हैं। (४) हे प्रभो! आप ही **इत्**=सचमुच **विश्वा एता सवना**=इन सब यज्ञों को **तूतुमा**=(तूर्णानि) शीघ्रता से होनेवाला **कृषे**=करते हैं। आपकी कृपा से यज्ञ शीघ्रता से पूर्ण होते हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञों व यज्ञशील पुरुषों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शरीर व मन के स्वास्थ्य के द्वारा प्रभु का वरण

एता विश्वा सवना तूतुमा कृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे।
वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः॥ ६॥

(१) **एता विश्वा सवना**=इन सब यज्ञों को **तूतुमा**=शीघ्रता से पूर्ण होनेवाला **कृषे**=आप करते हैं। प्रभु कृपा से ही यज्ञ पूर्ण होते हैं। (२) हे **सहसः सूनो**=शक्ति के **पुत्र**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! ये यज्ञ वे हैं **यानि**=जिनको **स्वयम्**=आप स्वयं **दधिषे**=धारण करते हैं, प्रभु यज्ञों का धारण करनेवाले हैं, वे ही इन्हें शीघ्रता से पूर्ण करते हैं। (३) हे प्रभो! **ते वराय**=आपके वरण के लिये **पात्रम्**=रक्षण है। अर्थात् आपका वरण वही व्यक्ति कर पाता है जो अपना रक्षण करता है। जो शरीर को रोगों से बचाता है और मन को ईर्ष्या-द्वेष आदि से आक्रान्त नहीं होने देता। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मन हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाते हैं। (४) **धर्मणे**=धारण के लिये **तना**=धन है, **यज्ञः**=यज्ञ है, **मन्त्रः**=मन्त्र है और **ब्रह्मोद्यतं**=ब्रह्म से दिया हुआ (उद्यम्=to offer, give) **वचः**=वचन है। संसार में जीवनयात्रा को ठीक से चलाने के लिये तथा शरीर व मन के स्वास्थ्य के लिये धन की आवश्यकता तो होती ही है (तना), उन धनों का यज्ञों में विनियोग और यज्ञशेष का सेवन ही अमृतत्व का साधक है (यज्ञः)। यज्ञमय जीवन बनाने के लिये विचार व मनन आवश्यक है (मंत्रः) इस विचार व मनन के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दी गई वेदवाणी आधार बनती है (ब्रह्मोद्यतं वचः)। एवं ये 'धन, यज्ञ, मन्त्र व ब्रह्मोद्यत वाणी' सब हमारे धारण के साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, प्रभु हमारे यज्ञों का रक्षण करेंगे। प्रभु के वरण के लिये शरीर व मन का स्वस्थ बनाना आवश्यक है। इनके धारण के लिये धन तो आवश्यक है ही, पर उस धन का यज्ञों में विनियोग नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**इन्द्रो वैकुठः** ॥ देवता—**इन्द्रो वैकुण्ठः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-भक्त के लक्षण

ये ते विप्र ब्रह्मकृतः सुते सचा वसूनां च वसुनश्च दावने।
प्र ते सुम्नस्य मनसा पथा भुवन्मदे सुतस्य सोम्यस्यान्धसः॥ ७॥

(१) हे **विप्र**=((वि-प्रा पूरणे) विशेषरूप से सबका पूरण करनेवाले प्रभो! ये जो व्यक्ति **ते**=आपके हैं वे **सुते**=सोमयज्ञों के होने पर **सचा**=मिलकर **ब्रह्मकृतः**=मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले व ज्ञान का सम्पादन करनेवाले होते हैं। (२) इसके अतिरिक्त वे **वसूनां च**=सांसारिक धनों के, निवास के लिये आवश्यक अन्न-वस्त्र आदि वस्तुओं के **च**=और **वसुनः**=निवास को उत्तम बनाने के लिये आवश्यक ज्ञानरूप धन के **दावने**=(दानाय) दान के लिये होते हैं। प्रभु के भक्त जहाँ यज्ञमय जीवन बिताते हुए ज्ञान का साधन करते हैं, वहाँ वे भौतिक धनों के व ज्ञान

धन के देनेवाले होते हैं। (३) **ते**=आपके व्यक्ति **सुम्नस्य**=स्तोत्रों के **पथा**=मार्ग से **मनसा**=मनन के साथ **प्र भुवन्**=प्रकर्षेण होते हैं। प्रभु-प्रवण व्यक्ति सदा विचारपूर्वक प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं, ये प्रभु के नाम का जप करते हैं और उसके अर्थ का चिन्तन करते हैं। (४) ये प्रभु-भक्त लोग **सोम्यस्य अन्धसः**=सोम्य अन्न के तथा **सुतस्य**=उस अन्न से उत्पन्न सोम के (semen=वीर्य के) **मदे**=हर्ष में निवास करते हैं। ये लोग आग्नेय भोजनों को न करके सोम्य भोजनों को करनेवाले बनते हैं और उन भोजनों से उत्पन्न सोम शक्ति के रक्षण से उल्लासमय जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के व्यक्ति वे हैं जो—(क मिलकर यज्ञों में मन्त्रोच्चारण करते हैं, (ख) भौतिक धनों व ज्ञानधन के देनेवाले होते हैं, (ग) मनन के साथ प्रभु के नाम का जप करते हैं, (घ) सोम्य भोजनों से उत्पन्न शक्ति के रक्षण से उल्लासमय जीवनवाले होते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभु हमें 'ज्ञान, बल व ऐश्वर्य' प्राप्त कराते हैं, (१) वे हमारा सब प्रकार से हित करते हैं, (२) आनन्द में वे ही हैं जो प्रभु प्रेरणा को सुनते हैं, (३) प्रभु ही सर्वमहान् मन्त्र हैं, (४) वे ही सर्वरक्षक हैं, (५) प्रभु का वरण शरीर व मन के स्वास्थ्य के द्वारा होता है, (६) प्रभु-भक्त सोम्य भोजन ही करते हैं, (७) सोम्य भोजन से देववृत्ति का बनकर ही व्यक्ति प्रभु का दर्शन करता है—

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीक** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'योगमाया-समावृतः' (नाहं प्रकाशः सर्वस्य)

महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः ॥ १ ॥

(१) प्रभु संसार में सर्वत्र हैं, सब पदार्थों में व्याप्त हैं। परन्तु इस गुणमयी योगमाया (प्रकृति) से आवृत होने के कारण सामान्य मनुष्य के दर्शन का वे विषय नहीं बनते। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इस मन्त्र भाग में यही बात इस रूप में कही गई है कि हिरण्मय पात्र से सत्य का स्वरूप छिपा हुआ है। यह ठीक है कि विज्ञान प्रधान जीवन होने पर एक व्यक्ति को प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। वे प्रभु प्रत्येक पदार्थ से सूचित हो रहे हैं, इसलिए प्रभु को यहाँ 'सौचीको अग्निः' कहा है। प्रभु का दर्शन करनेवाले 'देवाः' हैं। इनके संवाद के रूप में प्रस्तुत सूक्तों में विषय का प्रतिपादन एक सुन्दर काव्यमय भाषा में हुआ है। देव कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रकाशमय! **जातवेदः**=(जाते जाते विद्यते) सर्वव्यापक प्रभो! **तत्**=वह **उल्बम्**=आवेष्टन (cover) **महत्**=महान् **तत् स्थविरम्**=वह बड़ा दृढ़ **आसीत्**=है, **येन**=जिससे **आविष्टितः**=संवृत हुए-हुए आप **अपः**=प्रजाओं में **प्रविवेशिथ**=प्रविष्ट हो रहे हैं। प्रभु सब पदार्थों में हैं, परन्तु इस माया रूप महान् स्थविर उल्ब (जरायु=आवेष्टन) से आवृत होने के कारण उनका हमें दर्शन नहीं हो पाता। (२) जो कोई विरल व्यक्ति इस माया की चमक से न चुंधयाई हुई आँखोंवाला होकर इस माया को तैर जाता है वह **एकः देवः**=एक आध विरल देव पुरुष ही हे **जातवेदः अग्ने**=सर्वव्यापक प्रकाशमय प्रभो! **ते**=आपके **बहुधा**=बहुत प्रकार के इन **विश्वाः**=सब **तन्वः**=शरीरों को **अपश्यत्**=देखता है। 'भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश मन, बुद्धि व अहंकार' ये आठ आपके शरीर ही तो हैं। इनमें आपकी ही शक्ति काम करती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकृति का अध्ययन करनेवाले देव पुरुष को प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की सत्ता दृष्टिगोचर

होती है। उसको इन पृथिवी, जल इत्यादि पदार्थों में उस महान् प्रभु की शक्ति कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है, मानो ये शरीर हों और प्रभु इनकी अन्तरात्मा हो। इस प्रकार इन सबको वह प्रभु के शरीरों के रूप में ही देखता है।

भावार्थ—योगमाया से आवृत उस पुरुष की महिमा को कोई विरल देव ही सब पदार्थों में देखता है।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणापान की साधना

को मा ददर्श कतमः स देवो यो मे तन्वो बहुधा पर्यपश्यत्।
क्वाह मित्रावरुणा क्षियन्त्यग्नेर्विश्वाः समिधो देवयानीः॥ २ ॥

(१) प्रभु देवों से कहते हैं कि **मा**=मुझे **ददर्श**=जो देखता है **सः**=वह **कः**=आनन्दमय होता है, वस्तुतः वह **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला, दैवीवृत्ति का पुरुष **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय होता है, **यः**=जो **मे तन्वः**=मेरे इन शरीरों को **बहुधा**=नाना प्रकार से **पर्यपश्यत्**=देखता है। 'पृथिवी, जल, तेज' आदि ये सब पदार्थ ही प्रभु के शरीर हैं, इनमें प्रभु की शक्ति ही कार्य कर रही है। (२) **क्व**=कहाँ, किस पुरुष में **अह**=निश्चय से **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **क्षियन्ति**=निवास करते हैं। वस्तुतः जिनमें मित्र और वरुण का निवास है, वे ही प्रभु का दर्शन करते हैं। मित्रावरुण प्राणापान हैं। प्राणापान ही साधना अशुद्धिक्षय के द्वारा ज्ञान को दीप्त करती है और हमें आत्मतत्त्व के दर्शन के योग्य बनाती हैं। ये 'मित्रावरुण' स्नेह व निर्द्वेषता की भी सूचना देते हैं, वही व्यक्ति प्रभु को देखता है जो सब के प्रति स्नेहवाला होता है और द्वेष से ऊपर उठता है। (३) **अग्नेः**=उस प्रकाशमय प्रभु की **विश्वाः समिधः**=सब दीप्तियाँ **देवयानीः**=देवयान की साधनभूत हैं। अर्थात् प्रभु का प्रकाश मनुष्य को देवयान का पथिक बनाता है। मनुष्य के अन्दर दैवी-सम्पत्ति अधिकाधिक बढ़ती है और वह मनुष्य से देव बन जाता है।

भावार्थ—आत्मदर्शन से जीवन आनन्दमय बनता है। प्राणापान की साधना मनुष्य को आत्मदर्शन के योग्य बनाती है। प्रभु का प्रकाश मनुष्य को देवयान का पथिक बनाता है।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीक** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संयमी का प्रभु-दर्शन

ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टमग्ने अप्स्वोषधीषु।
तं त्वा यमो अचिकेच्चित्रभानो दशान्तरुष्यादतिरोचमानम्॥ ३ ॥

(१) देव कहते हैं कि—हे **जातवेदः**=सर्वत्र विद्यमान **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **अप्सु**=जलों में व **ओषधीषु**=ओषधियों में **प्रविष्टम्**=प्रविष्ट हुए-हुए **त्वा**=आपको **बहुधा**=नाना प्रकार से **ऐच्छाम**=हमने प्राप्त करने की इच्छा की है। जलों व ओषधियों में आपकी महिमा को देखने का प्रयत्न किया है। जलों में रस रूप से आप ही तो निवास कर रहे हैं। ओषधियों में दोषदहन शक्ति को आप ही तो धारण करते हैं। (२) **तम्**=उन **त्वा**=आपको **यमः**=संयमी पुरुष ही **अचिकेत्**=जान पाता है। हे **चित्रभानो**=अद्भुत दीप्तिवाले प्रभो! संयमी बनकर ही तो एक देव पुरुष आपका दर्शन करता है। उन आपका दर्शन करता है, जो आप **दश**=दस संख्यावाले **अन्तरुष्यात्**=गूढ़ निवास-स्थान से **अतिरोचमानम्**=लाँघकर चमक रहे हैं। अग्नि नामक प्रभु के दस निवास-स्थान हैं— 'पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक' 'अग्नि, वायु, आदित्य' 'जल, ओषधि, वनस्पति' तथा 'प्राणिशरीर'।

इन सब में रहते हुए प्रभु ही इन्हें उस-उस दीप्ति को प्राप्त करा रहे हैं। अद्भुत दीप्तिवाले वे प्रभु हैं। एक देव पुरुष को पृथिवी आदि दसों निवास-स्थानों में प्रभु की दीप्ति ही दिखती है। वह उपनिषद् के इस वाक्य का कि 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'='उस प्रभु की दीप्ति से ही सब दीप्त हो रहा है', साक्षात् अनुभव करता है।

भावार्थ—संयमी पुरुष सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है। वह आदित्य आदि में प्रभु की दीप्ति को ही देखता है।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अकाम उपासकों का प्रभु-दर्शन

होत्रादहं वरुण बिभ्यदायं नेदेव मा युनजन्नत्र देवाः।
तस्य मे तन्वो बहुधा निविष्टा एतमर्थं न चिकेताहमग्निः ॥ ४ ॥

(१) अग्नि अपने छिपने के कारण पर प्रकाश डालता हुआ काव्यमय भाषा में कहता है कि हे **वरुण**=द्वेष का निवारण करनेवाले पुरुष! **अहम्**=मैं **होत्राद्**=हवि को प्राप्त कराने रूप कर्म से, प्रतिक्षण देने के कर्म से **बिभ्यत्**=डरता हुआ **आयम्**=यह छिपने के स्थान पर आ गया हूँ। मैंने योगमाया से अपने को आवृत कर लिया है। जैसे एक ४-५ साल का बालक पिताजी को देखता है और पैसे माँगता है, इसी प्रकार हम भी उस प्रभु का उपासन करते हैं और 'प्रजा-पशु-अन्नाद्य' आदि की याचना करने लग जाते हैं। प्रभु कहते हैं कि इस हर समय याचन की प्रथा से तो मैं भी तंग आ गया और मैंने अपने को छिपा लिया, जिससे **देवाः**=देव **मा**=मुझे **अत्र**=इस देने के काम में **न इत् एव**=नांही **युनजन्**=युक्त कर दें। इस सारे वर्णन का भाव इतना ही है कि उत्तम उपासना वही है जो अकाम होकर की जाए। (२) प्रभु कहते हैं कि **एतं अर्थम्**=इस बात को तो **अहं अग्निः**=मैं अग्नि **न चिकेत**=भूल ही गया कि **तस्य मे**=उस छिपने की कोशिष करनेवाले मेरे **तन्वः**=शरीर **बहुधा**=नाना प्रकार से **निविष्टाः**=निविष्ट हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक आदि सभी तो मेरे शरीर हैं, सो मेरे छिपने का सम्भव ही कैसे है? देववृत्ति के लोग तो एक-एक कण में मेरी महिमा को देखते हैं, सो ना तो मैं उन से छिप सकता हूँ और नांही उनकी याचनाओं को ठुकरा सकता हूँ?

भावार्थ—प्रभु अज्ञानियों से ही ओझल हैं, ज्ञानियों के लिये तो कण-कण में प्रत्यक्ष हो रहे हैं।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीक** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मनु-देवयु-यज्ञकाम'

एहि मनुर्देवयुर्यज्ञकामोऽरंकृत्या तमसि क्षेष्यग्ने।
सुगान्पथः कृणुहि देवयानान्वह हव्यानि सुमनस्यमानः ॥ ५ ॥

(१) देव अग्नि से कहते हैं कि **एहि**=आइये, आप हमें प्राप्त होइये। **मनुः**=आप ही ज्ञानी हैं, हमारे मस्तिष्क को ज्ञान के प्रकाश से द्योतित करते हैं। **देवयुः**=आप दिव्यगुणों का हमारे से (यु मिश्रणे) मिश्रण करते हैं, हमारे मनों को दिव्य भावनाओं से पूरित करते हैं। **यज्ञकामः**=आप यज्ञ-प्रिय हैं, हम पुत्रों को भी यज्ञों में प्रेरित करते हैं, आपकी कृपा से ही हमारे हाथ यज्ञात्मक पवित्र कर्मों में व्यापृत रहते हैं। (२) हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप ही **तमसि**=अन्धकार में, जब जीवन की उलझनों में पड़कर हमें अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता है उस समय

अरंकृत्य=हमारे मस्तिष्क को ज्ञान से, हृदय को दिव्य भावनाओं से और हाथों को यज्ञों से अलंकृत करके **आक्षेषि**=(क्षि नि सगत्योः) उत्तम निवास व गतिवाला करते हैं। (३) आप हमारे लिये **देवयानान् पथः**=देवयान मार्गों को **सुगान्**=सुगमता से चलने योग्य **कृणुहि**=करिये। यद्यपि 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति' यह धर्म का मार्ग छुरे की धार के समान बड़ा तीक्ष्ण है और इस पर चलना आसान नहीं है, तो भी हम आपकी कृपा से इस पर सुगमता से आक्रमण कर सकें। (२) और हे अग्ने! आप **सुमनस्यमानः**=हमारे कर्मों से प्रीणित होते हुए **हव्यानि वह**=हमें हव्य पदार्थों को प्राप्त कराइये। इन पवित्र पदार्थों को प्राप्त करके हम अपनी जीवनयात्रा को सुन्दरता से पूर्ण कर सकें।

भावार्थ—'मनु देवयु व यज्ञकाम' प्रभु ही हमें अन्धकार में प्रकाश को प्राप्त कराके उत्तम निवास व गतिवाला करते हैं। प्रभु कृपा से हम देवयान मार्ग पर सुगमता से आक्रमण करनेवाले हों और हव्य पदार्थों को प्राप्त करके जीवनयात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करें।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पूर्वे भ्रातरः

अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरीवुः।
तस्माद्भिया वरुण दूरमायं गौरो न क्षेप्नोरविजे ज्यायाः ॥ ६ ॥

(१) अग्नि देवों से कहता है कि हे देवो! तुम **अग्नेः**=मुझ अग्नि नामक प्रभु के **पूर्वे भ्रातरः**=(भृ=भरणे) पहले भरण करनेवाले होते हो। ये देव भी पहले प्रभु की प्राप्ति की भावना का ही हृदय में भरण करते हैं। परन्तु प्रभु ने दर्शन दिये, तो फिर **एतं अर्थम्**=इस धन का ही **अन्वावरीवुः**=वे वरण करते हैं, प्रभु से धन की ही याचना करते हैं। उसी प्रकार याचना करते हैं **इव**=जैसे कि **रथी**=एक रथ-स्वामी **अध्वानम्**=मार्ग का वरण करता है, जैसे वह यही कामना करता है कि मैं मार्ग का अतिक्रमण कर पाऊँ, इसी प्रकार ये देव भी जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये आवश्यक समझकर इस धन की याचना करते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि हे **वरुण**=प्राणापान की साधना करनेवाले (मित्रा वरुणा=ब्रुण 'पूर्वपद लेष) अथवा द्वेष का निवारण करनेवाले जीव? मैं **तस्माद् भिया**=इसी कारण इस भय से कि तू माँगेगा, **दूरं आयम्**=मैं यहाँ तेरे से दूर छिप गया हूँ, मैंने माया से अपने को आवृत कर लिया है। मैं तो **अविजे**=तेरे इस माँगने के भय से ऐसे डरता हूँ कि **न**=जैसे **क्षेप्नोः**=तीरों को फेंकनेवाले व्याधे की **ज्यायाः**=धनुष की डोरी से **गौरः**=गौर मृग डरता है। धन को जीव माँगता है और धन के मिल जाने पर उसी प्रभु को भूल जाता है, प्रभु का भय यही है कि कहीं यह जीव धन में ही आसक्त न हो जाए!

भावार्थ—मानव स्वभाव यह है कि प्रभु की आराधना करता है, प्रभु से धन माँगता है। धन मिल जाने पर प्रभु को भूल जाता है।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीक** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के इस जीवन को अजर बनाना

कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो रिष्याः।
अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात ॥ ७ ॥

(१) प्रभु की बात को सुनकर देव उत्तर देते हैं कि हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **यत् ते आयुः**=आपका जो यह जीवन है उसे **अजरम्**=न जीर्ण होनेवाला **कुर्मः**=करते हैं। अर्थात् धन

को प्राप्त करके हम भोग-विलास में फँसकर आयु को क्षीण न करेंगे, इस जीवन को तो हम आपका ही जीवन समझेंगे। हम अपना जीवन ऐसा बनायेंगे कि **यथा**=जिससे **युक्तः**=हमारे साथ युक्त हुए-हुए हे **जातवेदः**=सम्पूर्ण धनों के देनेवाले प्रभो (जातं वेदो धनं यस्मात्) आप **न रिष्याः**=हिंसित न हों। अर्थात् हम आपको कभी भूल न जाएँ। (२) **अथ**=अब तो आप **सुमनस्यमानः**=हमारे इस दृढ़ संकल्प से प्रीणित हुए-हुए **देवेभ्यः**=हम देवों के लिये **हविषः भागम्**=हविर्द्रव्यों के सेवनीय अंश को **आवहासि**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं। **सुजात**=हे प्रभो! आप ही तो हमारे सब उत्तम विकासों के कारणभूत हो (शोभनं जातं यस्मात्)। उस-उस आवश्यक सामग्री को प्राप्त कराके आप हमें शक्तियों के विकास के लिये समर्थ करते हो। वस्तुतः आपकी कृपा से ही हम उन साधनों का भी सदुपयोग कर पाते हैं। अन्यथा धन 'निधन' का भी तो कारण बन सकता है!

भावार्थ—प्रभु से धन को प्राप्त करके हम प्रभु को भूल न जाएँ जिससे धन का दुरुपयोग न कर बैठें।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्नि का दीर्घ जीवन

प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ॥ ८ ॥

(१) देवों के धनासक्त न होने के संकल्प को ही दृढ़ करने के लिये प्रभु कहते हैं कि गत मन्त्र की प्रार्थना के अनुसार मैं तुम्हें धन तो प्राप्त कराऊँगा, पर तुम उन धनों का यज्ञमय विनियोग करते हुए **प्रयाजान् मे**=प्रयाजों को मेरे लिये प्राप्त कराना **च**=तथा **अनुयाजान् केवलान्**=(मे) अनुयाजों को भी शुद्ध मेरे लिये ही रखना। यज्ञ के प्रारम्भ में दी जानेवाली आहुतियाँ प्रयाज हैं और मुख्य यज्ञ के हो जाने पर पीछे दी जानेवाली आहुतियाँ अनुयाज हैं। यहाँ जीवनयज्ञ में हमें वेतनादि के रूप में धन मिला तो हम प्रारम्भ में इस धन की यज्ञ में आहुतियाँ देकर बचे हुए धन को ही अपने लिये व्ययित करें। कुछ बच गया तो उससे कोई अन्य सुख-साधन जुटाने की अपेक्षा उसे भी लोकहित के रूप में दे डालें। पहले दिया गया धन प्रयाजरूप है, पीछे दिया गया अनुयाजरूप प्रभु कहते हैं कि तुम प्राप्त हुई-हुई **हविषः**=इस हवि के **ऊर्जस्वन्तं भागम्**=उत्कृष्ट भाग को मेरे लिये **दत्त**=दे डालो। लोकहित में इसका विनियोग ही मेरे लिये देना है। (२) **च**=और **अपां घृतम्**=जलों के सारभूत अथवा जलों से उत्पन्न इस घृत को **च**=और **ओषधीनाम्**=ओषधियों से उत्पन्न अन्नजनित वीर्य से बने इस पुरुष शरीर को भी मेरे लिये (दत्त) देनेवाले बनो। यहाँ प्रसंगवश प्रभु की महिमा का भी स्मरण करा दिया गया है, (क) किस प्रकार गौवें जल पीती हैं, वह अन्दर शरीर में जाकर, दुग्ध रूप में परिवर्तित होकर, घृत को देनेवाला बनता है, (ख) ओषधि जनित वीर्यकण से किस प्रकार यह अद्भुत शरीर बन जाता है। (३) हे **देवाः**=देवो! तुम्हारे जीवन में **अग्नेः**=इस यज्ञाग्नि का **आयुः च**=आयु भी **दीर्घं अस्तु**=दीर्घ हो। यह यज्ञाग्नि तुम्हारे जीवनों में विलुप्त न हो जाए। यदि यज्ञिय भावना बनी रही तो धन के कारण किसी प्रकार की हानि न होगी।

भावार्थ—हम धन को प्राप्त करके उसका यज्ञों में विनियोग करें। यज्ञशेष का ही सेवन करें।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीक** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के प्रति अर्पण

तव॑ प्रया॒जा अ॑नुया॒जाश्च॒ केव॑ल॒ ऊर्ज॑स्वन्तो ह॒विषः॑ सन्तु भा॒गाः ।
तवा॑ग्ने य॒ज्ञो॒३॑ऽयम॑स्तु॒ सर्व॑स्तु॒भ्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ ९ ॥

(१) देव कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप से हम हव्य पदार्थों को प्राप्त करेंगे तो हम यह प्रतिज्ञा करते हैं कि **तव**=आपके ही **प्रयाजाः**=प्रयाज होंगे। प्रथम हम आपके निमित्त ही आहुतियाँ देंगे। बचे हुए को ही जीवन के लिये व्ययित करेंगे। और हव्य द्रव्य के बच जाने पर **अनुयाजाः च केवले**=अनुयाज भी मुख्य रूप से आपके ही होंगे। बचे हुए धन को भी हम लोकहित में ही विनियुक्त करते हुए आपको ही दे डालेंगे। **हविषः**=उस हविर्द्रव्य के **ऊर्जस्वन्तः भागाः**=शक्तिशाली उत्कृष्ट भाग **सन्तु**=आपके ही होंगे। हम यज्ञशेष का ही जीवनयात्रा के लिये विनियोग करेंगे। (२) हे **अग्ने**=प्रभो! **अयं सर्वः यज्ञः तव अस्तु**=यह सारा जीवन ही यज्ञ होकर आपका हो जाए। हम इस पुरुष को परम पुरुष आपके लिये अर्पित कर दें। **चतस्त्रः प्रदिशः**=ये चारों विशाल दिशाएँ **तुभ्यं नमन्ताम्**=आपके लिए नमस्कार करें। सब कोई आपके प्रति नतमस्तक हो और इस प्रकार धन को प्राप्त करके भी धन का दुरुपयोग करनेवाला न हो। यही जीवन का सौन्दर्य है कि हम श्री सम्पन्न हैं पर उस श्री के दास नहीं। यह प्रभु नमन से ही सम्भव है।

भावार्थ—जीवन को यज्ञमय बनाकर प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले बनें।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि योगमाया से आवृत वे प्रभु सब किसी को दिखते नहीं, (१) प्राणापान की साधना मनुष्य को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है, (२) संयमी पुरुष ही उसे देख पाता है, (३) ज्ञानियों के लिये प्रभु की महिमा कण-कण में दृष्टिगोचर होती है, (४) वे प्रभु ही हमें जीवन के अन्धकार में प्रकाश को प्राप्त कराते हैं, (५) सामान्यतः मनुष्य भौतिक वस्तुओं की ही आराधना करता है, (६) हमारा कर्त्तव्य है कि धन को प्राप्त करके भी प्रभु को न भूलें, (७) धन का यज्ञों में विनियोग करें यज्ञशेष का ही सेवन करें, (८) जीवन को यज्ञमय बनाकर प्रभु के प्रति अर्पण कर दें, (९) इन यज्ञात्मक जीवनवाले देवों से प्रभु कहते हैं—

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का होतृरूपेण वरण

विश्वे॑ देवाः शा॒स्तन॑ मा॒ यथे॒ह होता॑ वृ॒तो म॒नवै॒ यन्नि॒षद्य॑ ।
प्र मे॑ ब्रूत भाग॒धेयं॒ यथा॑ वो॒ येन॑ प॒था ह॒व्यमा वो॒ वहा॑नि ॥ १ ॥

(१) गत मन्त्र में देवताओं ने यह निश्चय किया कि 'हम सारे जीवन को ही यज्ञ बनाकर प्रभु के प्रति अर्पण कर दें', तो उनके इस निश्चय को जानकर प्रभु कहते हैं कि हे **विश्वेदेवाः**=सब देवो! **मा शास्तन**=मुझे कहो (पुकारा करो) **यथा**=जिससे **इह**=यहाँ **होता**=देने के वाले के रूप में **वृतः**=वरण किया हुआ मैं **निषद्य**=तुम्हारे हृदयों में आसीन होकर **यत्**=जो **मनवै**=तुम्हारे लिये देने का विचार करूँ। (२) **मे ब्रूत**=मुझे अच्छी तरह बतलाओ **यथा वः**=जिस प्रकार तुम्हारा **भागधेयम्**=भाग व हिस्सा है। **येन पथा**=जिस मार्ग से **वः**=तुम्हारे लिये **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को **आवहानि**=प्राप्त कराऊँ। (३) जिस प्रकार पिता सन्तानों से प्रसन्न होकर कहता है कि 'अच्छा,

फिर कहो ना, किसे क्या-क्या चाहिये? तुम्हें क्या-क्या दूँ?' इसी प्रकार यहाँ प्रभु प्रसन्न होकर देवों से कहते हैं कि 'कहो, तुम्हें क्या-क्या चाहिए? तुम्हें किस-किस हव्यपदार्थ को किस-किस तरह मैं दूँ, किस रूप में तुम्हें वह धन चाहिए?'

भावार्थ—देव प्रभु का होतृरूपेण वरण करते हैं। प्रभु उन्हें उस-उस हव्य पदार्थ को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अश्विनी देवों का आध्वर्यव

अहं होता न्यसीदं यजीयान्विश्वे देवा मरुतो मा जुनन्ति।
अहरहरश्विनाध्वर्यवं वां ब्रह्मा समिद्भवति साहुतिर्वाम्॥ २॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **होता**=देनेवाला हूँ। **न्यसीदम्**=यहाँ सब के हृदय-देश में ही बैठा हूँ। **यजीयान्**=अधिक से अधिक संगतिकरण योग्य व देनेवाला हूँ। (२) **विश्वदेवाः**=सब देव तथा **मरुतः**=प्राण-प्राणसाधक पुरुष **मा**=मुझे **जुनन्ति**=प्रेरित करते हैं। अर्थात् देववृत्ति के प्राणसाधक पुरुषों को देने के लिये मेरी कामना होती है। 'इनको दिया गया धन ठीक ही विनियुक्त होगा' इस विचार से इन्हें धन देने की मैं इच्छा करता हूँ। (३) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों का ही **अहरहः**=यह प्रतिदिन का **आध्वर्यवम्**=यज्ञकार्य का प्रचलन होता है। अर्थात् जब मनुष्य प्राणसाधना करता है तब उसके मलों का नाश होकर चित्तवृत्ति का प्रसादन व नैर्मल्य सिद्ध होता है। चित्तवृत्ति के निर्मल होने पर मनुष्य भोग-प्रवण न होकर यज्ञात्मक वृत्तिवाला बनता है। इस प्रकार यह यज्ञ का प्रचलन प्राणापान की साधना पर ही निर्भर करता है। (४) इस प्राणसाधना से अन्त में विवेकख्याति होती है, आत्मदर्शन होता है। **ब्रह्मा**=चारों वेदों का ज्ञान देनेवाला प्रभु **समिद् भवति**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाला होता है (सं इन्ध्)। **सा आहुतिः**=यह देना भी **वाम्**=हे प्राणापानो! आपकी ही है। प्रभु-दर्शन के होने पर सांसारिक आनन्द तुच्छ हो जाते हैं, मनुष्य इन भोगों में न उलझकर यज्ञात्मक जीवन बितानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु देवों व प्राणसाधकों को अपना प्रिय भक्त समझते हैं।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'हव्यवाह' प्रभु

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः।
अहरहर्जायते मासिमास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ ३॥

(१) **अयम्**=यह **यः**=जो **होता**=सब पदार्थों को देनेवाला प्रभु है **सः**=वह **उ**=निश्चय से **यमस्य**=संयमी पुरुष का ही **किः**=(कॄ=to fill with) धनों से भरनेवाला है। **यत्**=जब **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **समञ्जन्ति**=अपने जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं तो ये होता प्रभु ही **कम्**=आनन्द को **अपि**=भी **ऊहे**=प्राप्त कराते हैं। देवों को, देववृत्तिवाले पुरुषों को, प्रभु कृपा से आनन्द की प्राप्ति होती है। (२) वह प्रभु **अहरहः**=प्रतिदिन **जायते**=प्रकट होते हैं, प्रतिदिन प्रादुर्भूत होनेवाले सूर्य में प्रभु की महिमा दिखती है। और **मासि मासि**=प्रत्येक मास में अथवा (मास् moon) चन्द्रमा में वे प्रभु प्रकट होते हैं। दिन का देवता सूर्य है, दिन का निर्माण इस सूर्य पर ही निर्भर करता है, इस सूर्य में तो वे प्रभु दिखते ही हैं। महीनों को बनानेवाले इस चन्द्रमा में भी वे प्रभु प्रकट होते हैं। **अथ**=इस प्रकार पूर्णरूप से **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **हव्यवाहम्**=हव्यों

को प्राप्त करानेवाले प्रभु को **दधिरे**=धारण करते हैं। प्रभु का हृदय में ध्यान करते हैं, दिन में सूर्य-दर्शन उन्हें प्रभु का स्मरण कराता है तो रात्रि में चन्द्रमा उन्हें प्रभु-प्रवण करनेवाला होता है। वे देव यही अनुभव करते हैं कि जो प्रभु सूर्य को दीप्ति देते हैं, जो चन्द्रमा को ज्योत्स्ना प्राप्त कराते हैं, वे ही प्रभु हमें भी सब हव्य पदार्थों व आनन्द को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु संयमी पुरुष को सब आवश्यक धन प्राप्त कराके उसके जीवन को आनन्दमय करते हैं।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण व यज्ञ-साधन

मां देवा दधिरे हव्यवाहमपम्लुक्तं बहु कृच्छ्रा चरन्तम्।
अग्निर्विद्वान्यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्॥ ४॥

(१) अग्नि प्रभु कहते हैं कि **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **हव्यावाहम्**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले **माम्**=मुझे **दधिरे**=धारण करते हैं। उस मुझे जो कि **अपम्लुक्तम्**=(अपक्रम्य आगतम्) प्रतिक्षण इस देने के काम से भयभीत होकर दूर आ गया हूँ 'होत्रादहं वरुण विभ्यदाय', अथवा अज्ञानियों की दृष्टि से ओझल हूँ। परन्तु फिर भी **कृच्छ्रा**=कष्टों में **बहु चरन्तम्**=खूब विचरण करता हूँ। लोग मुझे भूले रहते हैं, परन्तु कष्टों के आने पर मेरा खूब ही स्मरण करते हैं। feast (फ़ीस्ट) में मैं उन्हें भूला रहता हूँ पर fast (फ़ास्ट) में तो वे मेरा भरपूर स्मरण करते ही हैं। इस मुझको देव सदा स्मरण करते हैं। (२) मेरा स्मरण करता हुआ **अग्निः**=प्रगतिशील **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **नः**=हमारे, मेरे द्वारा वेदवाणी में प्रतिपादित **यज्ञम्**=यज्ञ को **कल्पयाति**=सिद्ध करता है। उस यज्ञ को सिद्ध करता है जो **पञ्चयामम्**=पाँच मार्गोंवाला है, 'ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ' इन पाँच रूपों में चलता है **त्रिवृतम्**=(त्रिषु वर्तते) २४ वर्ष के प्रातःसवन में, ४४ वर्ष के माध्यन्दिन सवन में तथा ४८ वर्ष के तृतीय सवन में सदा रहता है इसीलिए 'जरामर्य' कहलाता है 'जरया ह्येतस्मान्मुच्यते मृत्युनावा'=इस यज्ञ से तो तभी छुटकारा होता है यदि अत्यन्त जीर्णत, आजाय या मृत्यु ही हो जाए। **सप्ततन्तुम्**=यह यज्ञ वेद के सात छन्दों में विभक्त मन्त्रों से विस्तृत किया जाता है। यज्ञों में बोले जानेवाले मन्त्र सात छन्दों में हैं, सो वह यज्ञ भी 'सप्त तन्तु' है।

भावार्थ—देव हव्यवाह प्रभु का धारण करते हैं। अज्ञानियों से प्रभु दूर हैं, वे तो कष्ट पड़ने पर ही प्रभु का स्मरण करते हैं। ज्ञानी देव तो सदा प्रभु-प्रतिपादित यज्ञों को अपनाते हैं।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अमृतत्व-सुवीर-धन'

आ वो यक्ष्यमृतत्वं सुवीरं यथा वो देवा वरिवः कराणि।
आ बाह्वोर्वज्रमिन्द्रस्य धेयामथेमा विश्वाः पृतना जयाति॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **देवाः**=हे देवो! मैं **वः**=आपके साथ **अमृतत्वम्**=अमरता व नीरोगता का **आयक्षि**=सम्पर्क करता हूँ। **सुवीरम्**=उत्तम सन्तानों को संगत करता हूँ। उसी प्रकार नीरोगता व उत्तम सन्तानों को प्राप्त कराता हूँ **यथा**=जैसे **वः**=तुम्हें **वरिवः कराणि**=धन देता हूँ। गत मन्त्र के अनुसार ज्ञानी प्रभु से निर्दिष्ट यज्ञों को करनेवाले बनते हैं और प्रभु इन्हें नीरोगता, उत्तम सन्तान व धन प्राप्त कराते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि मैं **इन्द्रस्य**=देवों के सम्राट् इस जितेन्द्रिय पुरुष की **बाह्वोः**=भुजाओं में **वज्रम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **आधेयाम्**=स्थापित करता हूँ।

इस जितेन्द्रिय पुरुष के जीवन को मैं खूब ही क्रियाशील बनाता हूँ। **अथ**=अब इस क्रियाशीलता से यह इन्द्र **इमाः**=इन **विश्वाः**=सब **पृतनाः**=संग्रामों को **जयाति**=जीतता है। क्रियाशीलता के होने पर काम-क्रोधादि का आक्रमण होता ही नहीं। यही इनको क्रियाशीलता के द्वारा पराजित करता है।

भावार्थ—देव प्रभु प्रतिपादित यज्ञों को करते हैं। प्रभु इन्हें नीरोगता, उत्तम सन्तान व धन प्राप्त कराते हैं तथा इन्हें वह क्रियाशीलता प्राप्त कराते हैं जिससे कि ये काम-क्रोधाधि को संग्राम में पराजित करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों द्वारा प्रभु-पूजन

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥ ६ ॥

(१) **त्रीणि शता**=तीन सौ **त्री सहस्राणि**=तीन हजार **त्रिंशत् च**=और तीस **नव च**=और नौ, अर्थात् ३३३९ **देवाः**=देव **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **असपर्यन्**=पूजते हैं। ब्रह्माण्ड में जितने देव हैं वे सब के सब शरीर में भी छोटे रूप में रहते हैं 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'। सब देवों के निवास के कारण पुरुष 'देव' ही बन जाता है। इन देवों के अन्दर स्थित सब देव उस प्रभु का पूजन करनेवाले होते हैं। इनकी आँखें (=सूर्य) प्रकृति में प्रभु की महिमा को देखती हैं। कान (=दिशाएँ) पक्षियों के कलरवों में प्रभु की महिमा के गायन को सुनते हैं। वाणी (=अग्नि) प्रभु के गुणों का गान करती है। शरीर के अंग-प्रत्यंगों में स्थित सब देव प्रभु का पूजन करते हैं। (२) **घृतैः**=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति से वे देव **औक्षन्**=अपने को सिक्त करते हैं। **अस्मा**=इस प्रभु के लिये **बर्हिः**=वासनाओं का जिसमें से उद्बर्हण कर दिया गया है ऐसे हृदय के आसन को **अस्तृणन्**=बिछाते हैं और **आत् इत्**=इसके ठीक बाद **होतारम्**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले प्रभु को **न्यसादयन्त**=इस हृदय के आसन पर बिठाते हैं। प्रभु-पूजन के लिये आवश्यक है कि—(क) शरीर को निर्मल व नीरोग बनाया जाए (क्षरण), (ख) मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त किया जाए (दीप्ति), (ग) हृदय को वासना शून्य निर्मल किया जाए (बर्हिः) स्वस्थ शरीर कर्मकाण्ड को ठीक से करेगा, दीप्त मस्तिष्क ज्ञानकाण्ड का धारण करेगा व निर्मल हृदय उपासनामय होगा।

भावार्थ—प्रभु-पूजन के लिये शरीर मस्तिष्क व मन तीनों को ठीक करना होता है। वस्तुतः इस त्रिलोकी में स्थित सभी देव प्रभु का पूजन करते हैं (शरीर=पृथिवीलोक, हृदय=अन्तरिक्षलोक, मस्तिष्क=द्युलोक)। इन देवों से प्रभु-पूजन होने पर ही हम सच्चे देव बनते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि देव प्रभु का होतृरूपेण वरण करते हैं, (१) समाप्ति पर भी यही कहते हैं कि देव इस होता प्रभु को हृदय में आसीन करते हैं, (२) देव प्रभु को देखते हुए कहते हैं कि—

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीकः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु दर्शन

यमैच्छाम मनसा सो३ऽयमागाद्यज्ञस्य विद्वान्परुषश्चिकित्वान्।
स नो यक्षद्देवताता यजीयान्नि हि षत्सदन्तरः पूर्वो अस्मत्॥ १ ॥

(१) **यम्**=जिस अग्नि नामक प्रभु को हम **मनसा**=मन से अथवा मनन के द्वारा **ऐच्छाम**=प्राप्त करना चाहते थे **सः अयम्**=वह यह अग्नि **आगाद्**=आ गया है। प्रभु का हमें साक्षात्कार हुआ है। **यज्ञस्य विद्वान्**=वे प्रभु सब यज्ञों को जाननेवाले हैं। हृदय में स्थित हुए-हुए वे प्रभु हमें इन यज्ञों की प्रेरणा देते रहते हैं। **परुषः चिकित्वान्**=वे हमारे प्रत्येक पर्व को जानते हैं। सामान्य भाषा में कहें तो वे प्रभु हमारी रग-रग से वाकिफ़ हैं। हमें पूर्ण तरह से जानते हुए वे प्रभु हमें यथोचित प्रेरणा व शक्ति प्राप्त कराते रहते हैं। (२) **स**=वे प्रभु **नः**=हमें **देवताता**=यज्ञों में **यक्षत्**=प्राप्त होते हैं (यज संगतिकरणे)। जब हम यज्ञशील बनते हैं तो हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। यज्ञों से ही प्रभु का सच्चा उपासन होता है। **यजीयान्**=वे प्रभु सर्वाधिक पूजनीय हैं। (२) वे प्रभु तो **हि**=निश्चय से **निषत्**=हमारे अन्दर आसीन हैं, **सद् अन्तरः**=सत्यस्वरूप हैं और सबके अन्दर निवास करनेवाले हैं। वे **अस्मत् पूर्वः**=हम सब से पहले हैं। 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'=काल से अनवच्छिन्न होने के कारण प्राचीन गुरुओं के भी गुरु हैं, हम सबसे पहले होते हुए वे सर्वप्रथम वेदज्ञान देनेवाले हैं।

भावार्थ—सृष्टि से पूर्व होते हुए वे प्रभु हम सब के अन्दर विद्यमान हैं, हमें उत्तम कर्मों का ज्ञान देते हैं। इन यज्ञात्मक कर्मों से ही वे उपासनीय हैं।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीकः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आराधन

अराधि होता निषदा यजीयानभि प्रयांसि सुधितानि हि ख्यत्।
यजामहै यज्ञियान्हन्त देवाँ ईळामहा ईड्याँ आज्येन ॥ २ ॥

(१) वह **होता**=सब पदार्थों का देनेवाला प्रभु **अराधि**=हमारे से आराधना किया गया है। **यजीयान्**=सर्वाधिक पूजनीय वे प्रभु **निषदा**=हमारे अन्दर निषण्ण हैं। वे प्रभु **सुधितानि**=उत्तमता से धारण किये गये, स्थापित किये गये **प्रयांसि**=यज्ञों को (srerifice) **हि**=निश्चय से **अभिख्यत्**=(अभिचष्टे) देखते हैं। हमारे से किये जानेवाले यज्ञों का वे रक्षण करते हैं। 'प्रयस्' शब्द भोजन का भी वाचक है। वे प्रभु सुधित=उत्तमता से धारण किये गये भोजनों को देखते हैं, अर्थात् हमें प्रातः-सायं उत्तम भोजनों को प्राप्त कराते हैं, (२) प्रभु हमारा रक्षण करते हैं और हम **हन्त**=शीघ्र **यज्ञियान् देवान्**=संगतिकरण योग्य देवों का **यजामहै**=संग करते हैं। और **ईड्यान्**=स्तुति के योग्य देवों का **आज्येन**=घृत आदि पदार्थों से **ईडामहा**=स्तवन करते हैं। विद्वानों के सम्पर्क में आकर ज्ञान का व दिव्यगुणों का अपने में वर्धन करते हैं और अग्निहोत्र में घृतादि की आहुति के द्वारा स्तुति के योग्य वायु आदि देवों का स्तवन करते हैं। ये वायु आदि देव इस प्रकार यज्ञों से आराधित हुए-हुए हमारे स्वास्थ्य को सिद्ध करते हैं। (३) प्रस्तुत मन्त्र के पूर्वार्ध में हृदयस्थ सर्वाधिक-पूज्य प्रभु का आराधन है। तीसरे चरण में विद्वानों के संग का संकेत है और चतुर्थ चरण में वायु आदि देवों का यज्ञों में घृताहुति से उपासन है। प्रभु की आराधना से उत्तम प्रेरणा व ज्ञान प्राप्त होता है, विद्वानों के सम्पर्क से दिव्य गुणों का वर्धन होता हैं, वायु आदि का उपासन स्वास्थ्य का साधन बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु का, विद्वानों का व वायु आदि देवों का आराधन, संग व उपासन करते हैं।

ऋषिः—देवाः ॥ देवता—अग्निः सौचीकः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देववीति-देवहूति (दिव्यगुणों की प्राप्ति व यज्ञ)

साध्वीमकर्देववीतिं नो अद्य यज्ञस्य जिह्वामविदाम गुह्याम्।
स आयुरागात्सुरभिर्वसानो भद्रामकर्देवहूतिं नो अद्य॥ ३॥

(१) **अद्य**=आज इस प्रभु ने **नः**=हमारे लिये **साध्वीम्**=अत्यन्त उत्तम **देववीतिम्**=दिव्यगुणों की प्राप्ति को **अकः**=किया है। प्रभु की कृपा से हम दिव्यगुणों को प्राप्त कर पाये हैं। प्रभु ने हमें **यज्ञस्य जिह्वाम्**=उस उपासनीय यज्ञरूप प्रभु की वाणी को प्राप्त कराया है, अर्थात् हमें उस जिह्वा को प्राप्त कराया है जो प्रभु के ही नामों का उच्चारण करती है। हमने **गुह्याम्**=अत्यन्त रहस्यमय इस वेदवाणी को **अविदाम**=जाना है। 'गुहा' शब्द हृदयदेश के लिये भी प्रयुक्त होता है। हमने इस हृदय में जिसका प्रभु से ज्ञान दिया जाता है उस 'गुह्या' वेदवाणी को प्राप्त किया है। (२) वे प्रभु **अद्य**=आज **नः**=हमारी **भद्राम्**=कल्याणकारिणी **देवहूतिम्**=यज्ञक्रिया को (देवाः हूयन्ते यस्याम्) **अकः**=करते हैं, अर्थात् हमारे जीवन को वे प्रभु यज्ञमय बनाते हैं और **सुरभिः**=सुगन्धमय वे प्रभु **आयुः वसानः**=हमारे जीवनों को आच्छादित करते हुए **आगात्**=आते हैं, प्राप्त होते हैं। वस्तुतः यज्ञों की प्रेरणा देकर, हमारे से यज्ञों को कराते हुए वे प्रभु सारे वातावरण को सुगन्धमय बना देते हैं। इस से हमारा जीवन सुरक्षित होता है और हम रोगादि से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु हमें दिव्यगुणों को प्राप्त कराएँ। हमारी वाणी यज्ञरूप प्रभु का स्तवन करें। हम वेदज्ञान को प्राप्त करें। यज्ञमय जीवनवाले बनकर नीरोग व दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—अग्निः सौचीकः ॥ देवता—देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान व असुर-पराभव

तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्॥ ४॥

(१) गत मन्त्र में देवों की प्रार्थना को कि 'अविदाम गुह्याम्' 'साध्वीमकर्देववीतिं नो अद्य' 'भद्रामकर्देवहूतिं नो अद्य' सुनकर प्रभु कहते हैं कि **अद्य**=आज **तद् वाचः प्रथमम्**=उस वाणी के सर्वप्रथम वेदज्ञान को **मसीय**=हृदयस्थरूपेण उच्चारण करता हूँ। यह वेदज्ञान वह है **येन**=जिससे कि मैं **देवाः**=और देव **असुरान्**=आसुरवृत्तियों का **अभि असाम**=अभिभव करते हैं। ज्ञान ही जीवन को पवित्र बनाता है। इस प्रकार वेद ज्ञान से आसुर वृत्तियों का संहार होकर दैवी वृत्तियों का विकास होता है। (२) प्रभु कहते हैं कि **ऊर्जादः**=पौष्टिक ही अन्नों का सेवन करनेवाले **उत**=और **यज्ञियासः**=यज्ञशील **पञ्चजनाः**=लोगो! **मम होत्रम्**=मेरे द्वारा वेदों में प्रतिपादित इन यज्ञों का **जुषध्वम्**=तुम प्रीतिपूर्वक सेवन करो। यहाँ 'ऊर्जम्' शब्द 'पौष्टिक अन्न के सेवन' को कर्त्तव्य रूप से तो कह ही रहा है, पर साथ ही 'यज्ञियासः' शब्द इस बात का भी संकेत करता है कि यज्ञों के द्वारा ही शक्तिशाली अन्नों का उत्पादन हुआ करता है 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसंभवः'। यज्ञों से वृष्टि के द्वारा उत्पन्न होनेवाले अन्न-कणों के केन्द्र में घृतकण होते हैं। यही अन्न पौष्टिक होता है।

भावार्थ—प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान दिया है, उन वेदों में यज्ञों का प्रतिपादन किया है। इन यज्ञों को करते हुए हम आसुरवृत्तियों का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—**अग्निः सौचीकः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदज्ञान व यज्ञ

पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ ५ ॥

(१) **ये**=जो **गोजाताः**=(गवि जाताः) इस वेदवाणी में निपुण बने हैं **उत**=और **ये**=जो **यज्ञियासः**=यज्ञ की वृत्तिवाले हैं वे **पञ्च जनाः**=लोग **मम होत्रम्**=मेरे इस यज्ञ को, वेदवाणी में मेरे द्वारा उपदिष्ट यज्ञ को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। इसलिए वे यज्ञ का सेवन करें कि **पृथिवी**=यह भूमिमाता **पार्थिवात्**=पृथिवी सम्बन्धी **अंहसः**=कष्ट से **नः पातु**=हमें बचाए। पृथिवी सम्बन्धी कष्ट यही तो है कि अन्न का उत्पादन खूब हो और किसी प्रकार के अन्न की कमी न रहे तथा इसलिए भी यज्ञ करना कि **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **अस्मान्**=हमें **दिव्यात् अंहसः पातु**=अन्तरिक्षलोक से होनेवाले कष्ट से बचाये। अन्तरिक्षलोक का कष्ट यह है कि वायु दुर्गन्धित होकर रोगों का कारण बन जाती है। यज्ञों से रोगकृमियों का संहार होता है, वायु के दुर्गन्ध का नाश होता है। इस प्रकार रोगों का भय नहीं रहता। यज्ञों से सारा वायुमण्डल पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान में निपुण बनें और वेद प्रतिपादित यज्ञों का सेवन करते हुए अन्नाभाव व रोगों के कष्टों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीकः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कर्म-सूत्र

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् ।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥ ६ ॥

(१) प्रभु के आदेश को सुनकर देव एक दूसरे को सन्देश देते हुए कहते हैं कि—**तन्तुं तन्वन्**=कर्मतन्तु का विस्तार करता हुआ तू **रजसः**=हृदयान्तरिक्ष के **भानुम्**=प्रकाशक उस प्रभु के **अनु इहि**=प्रेरणा के अनुसार चल। गत मन्त्रों में प्रभु ने 'पंचजनाः' शब्द से सम्बोधन करते हुए यही प्रेरणा दी है कि (क) तुम 'पृथिवी, जल, तेज , वायु व आकाश' इन पाँच भूतों का ठीक से विकास करनेवाले होवो, (ख) पाँचों कर्मेन्द्रियों की शक्ति का विकास ठीक प्रकार हो, (ग) पाँचों ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान का विकास करें, (घ) पाँचों प्राण तुम्हारे में विकसित शक्तिवाले हों, (ङ) 'हृदय, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार' रूप अन्तःकरण पञ्चक की शक्ति का भी विकास करो। प्रभु इस प्रकार की प्रेरणाएँ हृदयस्थरूपेण सदा दे रहे हैं। हमें उस प्रेरणा को सुनना चाहिए और उसके अनुसार जीवन को बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रभु की प्रेरणा को सुनना ही उस प्रकाशक प्रभु के अनुकूल चलता है। (२) इस प्रकार प्रभु की प्रेरणा को सुनने के द्वारा **ज्योतिष्मतः पथः रक्ष**=ज्योतिर्मय मार्गों का, देवयान का रक्षण कर। इन प्रकाशमय मार्गों पर चलने से कभी कष्ट नहीं होता। ये प्रकाशमय मार्ग **धियाकृतान्**=बुद्धिपूर्वक कर्मों से सम्पादित होते हैं। इन मार्गों में ज्ञान व कर्म का समन्वय होता है। (३) **जोगुवां अपः**=स्तोताओं के कर्मों को **अनुल्बणम्**=(उल्बण=much lxessine) अति के बिना **वयत**=करो। प्रभु के स्तोता किसी भी कर्म में अति नहीं करते। ये आहार-विहार में, सब कर्मों में सोने व जागने में सदया नपी-तुली क्रियाओंवाले होते हैं। प्रभु का स्तोता सदा मध्यमार्ग पर चलता है, किसी भी पक्ष में (side) न झुकता हुआ

पक्षपातरहित न्याय्य क्रियाओंवाला होता है। (४) **मनुः भव**=तू सदा विचारशील हो। बिना विचारे क्रियाओं का करनेवाला न हो। अविवेक ही तो सब आपत्तियों का कारण होता है। इस प्रकार विचारपूर्वक कर्म करने के द्वारा तू **दैव्यं जनम्**=उस देव की ओर चलनेवाले व्यक्ति को **जनय**=उत्पन्न कर। तू अपने को देव के रूप में विकसित करनेवाला हो। मनुष्य से तू देव बन जाए। अविवेक से चलता हुआ तू पशु न बन जाये।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा के अनुसार कर्म को कर। देवयान मार्ग पर चल। स्तोताओं की तरह सदा अति से दूर रहते हुए कर्म को कर। विचारपूर्वक कर्म करने से देव बन।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीकः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उस प्रिय की ओर

अक्षानहो नह्यतनोत सोम्या इष्कृणुध्वं रशना ओत पिंशत।
अष्टावन्धुरं वहताभितो रथं येन देवासो अनयन्नभि प्रियम्॥ ७॥

(१) सब देव परस्पर प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि '**अक्षानहः**' (अक्षेषु नह्यान्)=शरीर रूप रथ के अक्षों में बाँधने व जोतने के योग्य इन इन्द्रियाश्वों को **नह्यतन**=बाँधो व जोतो। **उत**=और **सोम्याः**=सौम्य 'शान्त' मन से बनी हुई **रशनाः**=लगामों को **इष्कृणुध्वम्**=सुसंस्कृत करो। **उत**=और **आपिंशत**=बुद्धि रूप सारथि को ज्ञान के नक्षत्रों से अलंकृत करो। इन्द्रियाँ शरीर रूप रथ के वहन में लगी हुई हों, अर्थात् सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य उत्तमता से कर रही हों। मनरूपी लगाम सुसंस्कृत हो। मन का परिष्कृत होना ही लगाम की उत्तमता है। बुद्धि रूप सारथि का ज्ञान से भूषित होना आवश्यक है। (२) **अष्टाबन्धुरम्**=(बन्धुर=seat) 'भूमि-आपः-अनल, वायु-ख (आकाश) मन, बुद्धि व अहंकार' ये आठ ही इस शरीर रथ में बैठने के स्थान हैं अथवा यह शरीर-रथ इन आठ के बन्धनवाला है। इस **अष्टाबन्धुर रथम्**=रथ को **अभितः**=सांसारिक अभ्युदय की ओर तथा अध्यात्म निःश्रेयस की ओर इस प्रकार दोनों ओर **वहत**=ले चलो। इस प्रकार इस रथ का दोनों ओर ले चलना वह उपाय है **येन**=जिससे **देवासः**=देववृत्ति के लोग **प्रियं अभि**=उस प्रिय प्रभु की ओर **अनयन्**=अपने को ले जाते हैं व प्राप्त कराते हैं। प्रभु की आराधना इसी में है कि हम प्रभु से दिये गये इस रथ को ऐहिक व पारलौकिक कल्याण के लिये साधनरूप समझते हुए अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करें। धन व कर्म दोनों की ओर हमारा शरीर अग्रसर हो।

भावार्थ—हम इस शरीर रथ को धन व धर्म दोनों की ओर ले चलते हुए प्रिय प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीकः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संसार नदी (अश्मन्वती)

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥ ८॥

(१) यह संसार-नदी **अश्मन्वती**=पत्थरोंवाली है, इसमें तैरना सुगम नहीं। विविध प्रलोभन ही इसमें पत्थरों के समान हैं उनसे प्रतिक्षण टकराने का यहाँ भय है। **मह रीयते**=निरन्तर चल रही है। संसार में रुकने का काम नहीं, गति ही संसार है, यह संसार-नदी निरन्तर प्रवाह में है। (२) देव लोक परस्पर प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **संरभध्वम्**=परस्पर मिलकर तैयार हो जाओ

उत्तिष्ठत=उठ खड़े होवो, **सखायः**=मित्र बनकर, एक दूसरे का हाथ पकड़कर, **प्रतरता**=इसे तैर जाओ। इस संसार में अकेले में पतन का भय है, एक साथी को चुनकर हम इस नदी में फिसलने से सम्भल जाते हैं। (३) ये **अशेवाः असन्**=जो भी चीज़ें **अशेव**=असुखकर हैं उन्हें हम **अत्रा**=इसी किनारे **जहाम**=छोड़ दें, उनसे बोझल होकर तो हम इस नदी में डूब ही जाएँगे। **वयम्**=हम, इस प्रकार अशेष वस्तुओं के छोड़ने से हलके होकर **शिवान् वाजान् अभि**=कल्याणकर (धनों) की ओर **वाज**=wealth) **उत्तरेम**=तैरकर पहुँच जाएँ। यदि इस संसार-नदी को हम तैर गये तो फिर कल्याण ही कल्याण है। सारा अशिव इस पार ही है, परले पार तो शिव ही शिव है। नदी में डूबें नहीं। विषयों का बोझ लेकर तो इसे तैरने का सम्भव नहीं।

भावार्थ—यह संसार-नदी विषयरूप पाषाणों से पूर्ण है, दृढ़ निश्चय करके यदि हम इसे तैर गये तो फिर कल्याण ही कल्याण है।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीकः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्वायस परशु

त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शन्तमा।
शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः ॥ ९ ॥

(१) **त्वष्टा**=वह संसार का निर्माता प्रभु **मायाः**=(wisdom=ज्ञान) सब ज्ञानों को **वेद**=जानता है और **अपसां अपस्तमः**=सर्वाधिक क्रियाशील है। प्रभु के सब कर्म ज्ञानमूलक होने से निर्दोष हैं, प्रभु की सब कृतियाँ पूर्ण हैं। (२) वे प्रभु ही **पात्रा**=इन शरीर रूप पात्रों को **बिभ्रत्**=धारण करते हैं, जो पात्र **देवपानानि**=देवों के लिये सोमपान के साधन होते हैं। 'सोम' शरीर में उत्पन्न होनेवाली वीर्यशक्ति है, देव इस शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करते हैं। इस सोम के रक्षण से ही **शन्तमा**=ये शरीर रूप पात्र अत्यन्त शान्ति को लिये हुए होते हैं। इनमें आधि-व्याधियों की अशान्ति नहीं होती। (३) वे प्रभु ही **नूनम्**=निश्चय से **स्वायसम्**=उत्तम लोहे के बने हुए **परशुम्**=शत्रुओं को क्षीण करनेवाले (परान् श्यति) मन रूप कुल्हाड़े को **शिशीते**=तीव्र बनाते हैं। दृढ़ संकल्पयुक्त होना ही मन का लोहे से बना हुआ होना है। ऐसा व्यक्ति ही 'लोह-पुरुष' कहलाता है। यह दृढ़ संकल्पवाला मन सब वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला बनता है। (४) यह 'स्वायस परशु' वह है **येन**=जिससे **एतशः**=(एते शेते, एत=चित्र) विविध विज्ञानों में निवास करनेवाला **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष **वृश्चात्**=सब बुराइयों को छिन्न करता है। बुराइयों को छिन्न करके वह संसारवृक्ष को भी छिन्न करनेवाला बनता है और मोक्ष का लाभ प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानी व सर्वोत्तम क्रियाशील हैं। प्रभु ने हमें यह सुन्दर शरीर रूप पात्र दिया है, इसमें दृढ़ संकल्पवाला मन ही वह परशु है जिससे कि हम वासना को छिन्न करके मुक्त हो पाते हैं।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीकः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वेदज्ञान से अमृतत्व

सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः ॥ १० ॥

(१) हे **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्व तक पहुँचनेवाले पुरुषो! **नूनम्**=निश्चय से **सतः**=सत्य का ज्ञान देनेवाले वेद के उपदेशों को **संशिशीत**=अपने में तीव्र करो। इन उपदेशों को अपने में

मननपूर्वक स्थापित करने का प्रयत्न करो। ये वेद की वाणियाँ वे हैं **याभिः**=जिन **वाशीभिः**=वेदवाणियों से (वाशी=वाङ्नाम voice) तुम अपने को **अमृताय**=अमृतत्व के लिये **तक्षथ**=सम्पादित करते हो। इन वाणियों से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। (२) हे **विद्वांसः**=इन वाणियों का ज्ञान प्राप्त करनेवाले विद्वानो! **पदा**=इन प्रभु की प्राप्ति करानेवाले वेद शब्दों को **गुह्यानि**=हृदय रूप गुहा में स्थापित होनेवाला **कर्तन**=करो। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु ने अग्नि आदि ऋषियों की हृदय रूप गुहा में इनका स्थापन किया। इन पदों को हम भी हृदयस्थ करने का प्रयत्न करें। यह वह प्रयत्न है **येन**=जिससे **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अमृतत्वम्**=अमरता को **आनशुः**=प्राप्त होते हैं। वस्तुतः वेदज्ञान को हृदय में धारण करके उसके अनुसार जीवन को बिताते हुए हम 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' को प्राप्त करते ही हैं और इन चीज़ों की कामना से ऊपर उठने पर यह वेदज्ञान हमें ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कराता है। यही अमृतत्व की प्राप्ति है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करके, उसे हम हृदयस्थ करें और तदनुसार जीवन को बिताते हुए मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—**देवाः** ॥ देवता—**अग्निः सौचीकः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'प्रणवो धनुः०'

गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया।
स विश्वाहा सुमना योग्या अभि सिषासनिर्वनते कार इज्जितिम्॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के कवि-तत्त्वद्रष्टा लोग **गर्भे**=अपने हृदय देश में **योषाम्**=इन बुराइयों को दूर करनेवाली व अच्छाइयों से मेल करनेवाली वेदवाणी रूप योषा को **अदधुः**=स्थापित करते हैं। पिछले मन्त्र में यही भाव 'विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन' इन शब्दों से कहा गया था। (२) **वत्सम्**=इस वेदवाणी से प्रतिपादित होने के कारण इसके वत्स तुल्य 'अग्नि ई वै ब्रह्मणो वत्सः' (जै० उ० २।१३।१) उस अग्नि नामक प्रभु को **आसन्**=मुख में धारण करते हैं, अर्थात् मुख से उस प्रभु के ही नाम-स्मरण को करते हैं। 'वदति इति वत्सः' इस व्युत्पत्ति से वेदवाणी का सृष्टि प्रारम्भ में उच्चारण करनेवाले प्रभु ही वत्स हैं, उन प्रभु को ये लोग सदा स्मरण करते हैं। **अपीच्येन मनसा**=अन्तर्हित मन से, विषयों की ओर जाने से रोककर मन को हृदय में ही प्रतिष्ठित करने के द्वारा इस प्रभु का साक्षात्कार होता है, इसी अन्तर्निरुद्ध मन से ही प्रभु के नाम का मनन होता है। **उत**=और **जिह्वया**=जिह्वा से। ये लोग जिह्वा से प्रभु के नाम का जप करते हैं (तज्जपः) और निरुद्ध मन से उस नाम के अर्थ का चिन्तन करते हैं (तदर्थ भावनम्)। (३) **स**=इस प्रकार जप व भावन करने वाला वह व्यक्ति **विश्वाहा**=सदा **सुमनाः**=उत्तम मनवाला होता है प्रभु के स्मरण से सौमनस्य क्यों न प्राप्त होगा? यह **सिषासनिः**=प्रभु का सम्भजन करनेवाला व्यक्ति **योग्याः अभिवनते**=(योग्या=Exercise लक्ष्यवेध की काया में) लक्ष्यवेध के अभ्यासों में विजय को प्राप्त करता है (वनु win)। क्षत्रिय लोग जैसे शराभ्यास करते हुए लक्ष्यवेध का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार यह उपासक प्रणव को धनुष बनाकर तथा आत्मा को ही शर बनाकर ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेध करने का प्रयत्न करता है। अभ्यास के द्वारा इसमें विजयी बनता है और **इत्**=निश्चय से **जितिं कार**=विजय को करनेवाला होता है। इस लक्ष्यवेध में विजेता बनकर यह होता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदवाणी को हम हृदय में धारण करें। प्रभु के नाम का जप व उसके अर्थ का भावन करें। ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेध करें, विजयी बनें।

सूक्त के प्रारम्भ में यही कहा था कि 'यमैच्छाम मनसा सोऽयमागात्'=जिस प्रभु की हमने कामना की थी वे प्रभु आये हैं। (१) यहाँ समाप्ति पर उस प्रभु में ही मिल जाने का उल्लेख है, (२) एवं यह सूक्त प्रभु के उत्कृष्ट उपासन का प्रतिपादन कर रहा है। अब प्रभु को प्राप्त करनेवाला खूब ही उस प्रभु का स्तवन करता है सो 'बृहदुक्थ:' कहलाता है और सुन्दर दिव्यगुणोंवाला होने से 'वामदेव्य' बनता है। यह 'बृहदुक्थ वामदेव्य' प्रार्थना करता है कि—

[५४] चतु:पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषि:—**बृहदुक्थो वामदेव्य:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

दिव्यता का प्रादुर्भाव

तां सु ते कीर्तिं मघवन्महित्वा यत्त्वा भीते रोदसी अह्वयेताम्।
प्रावो देवाँ आतिरो दासमोज: प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र॥ १ ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपकी **तां सुकीर्तिम्**=उस उत्तम कीर्ति को मैं करता हूँ **यत्**=कि **महित्वा**=आपकी महिमा के कारण **भीते रोदसी**=भयभीत हुए-हुए द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वा अह्वयेताम्**=आपको पुकारते हैं। 'रोदसी' शब्द संसार के सब व्यक्तियों का यहाँ वाचक है। सब व्यक्ति प्रभु को चाहे भूले रहें, पर कष्ट आने पर विवशता में प्रभु का ही स्मरण करते हैं, सुख में सभी साथी होते हैं, पर दु:ख में आपके अतिरिक्त और कोई साथी नहीं होता। (२) जब लोग आपकी ओर झुकते हैं तो आप **देवान् प्राव:**=दिव्यगुणों का रक्षण करते हैं। **दासम्**=दस्युपन को, दास्यव वृत्ति को, आसुरी-भावनाओं को **आतिर:**=पराभूत करते हैं। (३) हे **इन्द्र**=सब आसुर भावनाओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **यत्**=जब **त्वस्यै**=किसी एक धीर **प्रजायै**=विकास की प्रवृत्तिवाले पुरुष के लिये **ओज:**=ओजस्विता व शक्ति को **अशिक्ष:**=(प्रायच्छ: सा०) देते हैं तो उसे दिव्यगुणों के वर्धन व आसुर-भावों के क्षयवाला बनाते हैं। बस, बात यह है कि विषयों की आपात रमणीयता मनुष्य को उलझाये रखती है, मनुष्य इन सांसारिक चहल-पहलों में प्रभु को भूले रहता है। इस स्थिति में उसमें दिव्यगुणों का ह्रास व आसुर वृत्तियों का प्राबल्य हो जाता है। एक समय वह आता है जब कि वह अपने को कष्टों में उलझा हुआ पाता है। अब वह प्रभु की ओर झुकता है। प्रभु इसमें दिव्यगुणों का विकास करते हैं, उसकी आसुर भावनाओं का क्षय करते हैं। उसे ओजस्वी बनाते हैं कि वह उन्नतिपथ पर आगे बढ़ सके।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में (क) दिव्यगुणों का वर्धन होता है, (ख) आसुर भावनाओं का क्षय होता है, (ग) और ओजस्विता प्राप्त होती है।

ऋषि:—**बृहदुक्थो वामदेव्य:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

प्रभु का युद्ध-वर्णन माया-मात्र है

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **तन्वा**=शरीर से **वावृधान:**=सब प्रकार से हमारा वर्धन करते हुए आप **अचर:**=गति करते हो। और **जनेषु**=लोगों में **बलानि**=शक्तियों को **प्रब्रुवाण:**=उपदिष्ट करते हुए चलते हैं। **सा**=वह सब **ते**=आपकी **इत्**=ही **माया**=माया है। माया=दया है (fity comprssion)। प्रभु ने हमें शरीर देकर तथा शक्तियों का उपदेश देकर हमारे पर सचमुच दया की है। (२) लोग जो नासमझी के कारण **ते**=आपके **यानि युद्धानि**=जिन

दस्युओं (satan) से होनेवाले युद्धों का **आहुः**=कहते हैं **सा**=वह **इत्**=भी माया=आपकी माया ही है, प्रतीति मात्र है, आपके साथ युद्ध किसने करना? आप **न अद्य**=न तो आज और **न नु पुरा**=नांही पहले भी निश्चय से **शत्रुम्**=शत्रु को **विवित्से**=प्राप्त करते हैं। आपका शत्रु बन ही कौन सकता है? आपकी कोई विरोधी शक्ति नहीं है। संसार में आपकी व्यवस्था से ही सब कार्य हो रहे हैं। शक्ति व बुद्धि को देकर जीव को स्वयं चलने की जो आपने स्वतन्त्रता दी है उसी के कारण वह गिरता है तो कष्ट भी उठाता है। स्वतन्त्रता देनी भी आवश्यक है, उसके अभाव में तो वह किसी भी प्रकार से उन्नति न कर पाता। संसार के दुःख ईश-विरोधी शक्ति शैतान के कारण नहीं है। नांही प्रभु के इन विरोधियों के साथ कोई युद्ध ही होते हैं?

भावार्थ—प्रभु हमें उन्नति के साधन प्राप्त कराते हैं। उन साधनों का स्वतन्त्रता से प्रयोग करते हुए हमें गलतियों के कारण कष्ट भी होते हैं। ईश के विरोधी के कारण ये कष्ट नहीं हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महिमा का आनन्त्य

क उ नु ते महिमानः समस्यास्मत्पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः।
यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपकी **समस्य**=सम्पूर्ण **महिमनः**=महिमा के **अन्तम्**=अन्त को **नु**=अब **अस्मात्**=हमारे में से **के**=कौन **पूर्वे**=अपने जीवन में पूर्ति को लाने का प्रयत्न करनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **उ**=निश्चय से **आपुः**=प्राप्त कर पाते हैं। अर्थात् बड़े-से-बड़े तत्त्वज्ञानी भी आपकी महिमा को पूर्णतया माप नहीं सकते। आपकी अनन्त महिमा के अन्त पाने का सम्भव हो ही कैसे सकता है? (२) **यत्**=जो आप **स्वायाः तन्वः**=अपने इस प्रकृति-रूप शरीर से **मातरं च पितरं च**=पृथिवी रूप माता को और द्युलोक रूप पिता को **साकम्**=साथ-साथ **अजनयथाः**=उत्पन्न करते हैं। मनु के शब्दों में प्रभु ने एक सूर्य के समान देदीप्यमान हैम अड को पैदा किया और 'स्वयमेवात्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोद् द्विधा। ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे' (१।१८) ध्यान के द्वारा उस अण्ड को दो भागों में बाँटकर द्युलोक व पृथ्वीलोक को बना दिया। प्रकृति उपादान है, तो प्रभु इस ब्रह्माण्ड जाल के निमित्तकारण हैं। इस ब्रह्माण्ड का एक-एक लोक प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करता है। पृथ्वी से किस प्रकार विविध गन्धों रूपों व रसों को लिये हुए फल-फूल उत्पन्न होते हैं? द्युलोक को किस प्रकार देदीप्यमान नक्षत्र शोभा से युक्त कर रहे हैं? इन सब में प्रभु की महिमा का स्मरण होता है।

भावार्थ—उस प्रभु की महिमा अनन्त है। प्रभु इस प्रकृति से भूमि व द्युलोक का अद्भुत निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति।
त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ ॥ ४ ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **महिषस्य**=(मह पूजायाम्) पूजा के योग्य **ते**=आपके **चत्वारि**=(चत्=नाशने terrify) आसुरवृत्तियों को नष्ट करनेवाले, **असुर्याणि**=आसुरवृत्तियों के दूर करने के लिये साधनभूत **अदाभ्यानि**=न हिंसित होनेवाले **नाम**=शत्रुओं को झुका देनेवाले बल

सन्ति=हैं। हे **अंग**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही **तानि विश्वानि**=उन सब बलों को **वित्से**=जानते हैं। ये वे बल हैं **येभिः**=जिनसे **कर्माणि**=सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति प्रलय व कर्मानुसार विविध योनियों में प्राणियों को जन्म देने रूप कर्मों को आप **चकर्थ**=करते हैं। (२) प्रभु की शक्तियाँ आसुर वृत्तियों को नष्ट करनेवाली हैं। मनुष्य स्वयं आसुर-भावनाओं को जीतने में समर्थ नहीं होता। प्रभु की शक्ति को धारण करने पर ही इनको हम नष्ट कर पाते हैं। इन शक्तियों के द्वारा ही हमने उत्तम कर्मों को करना है, इनके द्वारा ही लोक धारण में प्रवृत्त होना है। ये शक्तियाँ ही हमें आसुरभावों को नष्ट करने के योग्य बनायेंगी और इन्हीं से हम न्याय्य मार्ग पर चलते हुए किसी को उसके अधिकार से वञ्चित न करना चाहेंगे।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति हिंसित नहीं हो सकती। इन शक्तियों से अपने को शक्ति-सम्पन्न बनाकर हम आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वसु (धन)

त्वं विश्वा दधिषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि।
काममिन्मे मघवन्मा वि तारीस्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता॥ ५॥

(१) हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वा**=सम्पूर्ण **केवलानि**=जिनके कारण आनन्द में विचरण होता है (के वलते) अथवा जो असाधारण हैं, यानि **आविः**=जो प्रकट हैं या **च गुहा**=और जो गुहा निहित हैं, अप्रकट हैं, उन सब **वसूनि**=निवास के लिये उपयोगी ऐश्वर्यों व पदार्थों को **दधिषे**=धारण करते हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के निधान प्रभु हैं। चाहे वे ऐश्वर्य इस वसुन्धरा से उत्पन्न होकर प्रकट हो रहे हैं और चाहे इसके गर्भ में अप्रकट रूप से रखे हुए हैं। अन्न इत्यादि के रूप में प्रकट वसु हैं तथा आकरों में निहित स्वर्ण-रजत आदि अप्रकट वसु हैं। (२) हे मघवन्! आप **मे**=मेरी **कामम्**=अभिलाषा को **मा वितारीः**=मत हिंसित करिये, अर्थात् उसे अवश्य पूर्ण करिये। आपकी कृपा से मैं सब आवश्यक वसुओं को प्राप्त करनेवाला बनूँ। हे प्रभो! **त्वं आज्ञाता**=आप ही आज्ञा देनेवाला हैं, आपके निर्देश में ही सारा ब्रह्माण्ड गति करता है। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप ही **दाता असि**=सब धनों के देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब वसुओं के निधान हैं। वे ही सब वसुओं के आज्ञाता व दाता हैं। वे ही हमारी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्योति व माधुर्य

यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्तर्यो असृजन्मधुना सं मधूनि।
अध प्रियं शूषमिन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो बृहदुक्थादवाचि॥ ६॥

(१) **यः**=जो **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं वे **ज्योतिषि अन्तः**=ज्योतिर्मय आदित्य आदि देवों में **ज्योतिः**=प्रकाश को **अदधात्**=स्थापित करते हैं। सूर्यादि देव अपनी ज्योति से दीप्त नहीं हो रहे, इनमें प्रभु ही ज्योति को स्थापित करनेवाले हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। प्रभु से दीप्ति को पाकर ही ये देव देवत्व को प्राप्त होते हैं 'तेन देवाः देवतामग्र आयन्'। बुद्धिमानों को बुद्धि रूप ज्योति भी प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। (२) प्रभु वे हैं **यः**=जो **मधूनि**=जलों को **मधुना**=मधुर रस से **समसृजत्**=संसृष्ट करते हैं। जलों में रस प्रभु ही हैं। मानव स्वभाव को भी प्रभु-कृपा से

ही माधुर्य प्राप्त होता है। वे प्रभु ही हमारे ज्ञान को दीप्त करते हैं और हमारी वाणी को स्वादवाला, रसीला करते हैं। 'केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु'। (३) **अध**=अब इसी उद्देश्य से **ब्रह्मकृतः**=ज्ञान का सम्पादन करनेवाले **बृहदुक्थात्**=वृद्धि के कारणभूत स्तोत्रोंवाले व खूब स्तवन करनेवाले व्यक्ति से **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **प्रियम्**=प्रीति को देनेवाला **शूषम्**=बल वृद्धि का कारणभूत **मन्म**=स्तोत्र **अवाचि**=उच्चारित होता है। ज्ञानी स्तोता (ब्रह्मकृत् बृहदुक्थ) खूब ही प्रभु का स्तवन करता है इस स्तवन में वह प्रीति का अनुभव करता है और अपने में शक्ति के संचार को होता हुआ पाता है। प्रभु-भक्त का जीवन अन्दर ज्योतिर्मय होता है और बाहिर शान्त जल के प्रवाह की तरह रसीली वाणीवाला होता है। 'मस्तिष्क में ज्ञान की ज्योति तथा वाणी में रसमय जल की तरह शान्त शब्द' प्रभु-भक्त के जीवन को आदर्श बना देते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र ज्योति व माधुर्य को धारण करनेवाले हैं। हम उनका स्तवन करें, इससे आनन्द व शक्ति मिलेगी।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि प्रभु के उपासन से दिव्यता का वर्धन होता है। (१) साधनों का ठीक प्रयोग न होने पर कष्ट भी आते ही हैं, (२) उस प्रभु की महिमा अनन्त है, (३) उसकी शक्ति अहिंसित है, (४) सब वसुओं के वे निधान हैं, (५) ज्योति व माधुर्य के धारण करनेवाले हैं, (६) वे प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करते हैं—

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपनी शक्ति को पहचानो

दूरे तन्नाम गुह्यं पराचैर्यत्त्वा भीते अह्वयेतां वयोधै।
उदस्तभ्नाः पृथिवीं द्यामभीके भ्रातुः पुत्रान्मघवन्तित्विषाणः ॥ १ ॥

(१) हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यवन् प्रभो! आपका **गुह्यम्**=प्रत्येक व्यक्ति की हृदय रूप गुहा में निवास करनेवाला **तत् नाम**=वह प्रसिद्ध शत्रुओं को झुका देनेवाला बल **पराचैः**=(परा अञ्च्) बहिर्मुखी वृत्तिवाले पुरुषों से **दूरे**=दूर है। बहिर्मुखी वृत्तिवाले पुरुष आपको भूले रहते हैं और आपको भूल जाने से हृदयस्थ आपकी शक्ति का वे अनुभव नहीं कर पाते। परिणामतः काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं से वे सदा पीड़ित रहते हैं। (२) **यत्**=जो **भीते**=भयभीत हुए-हुए ये द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् सब प्राणी **त्वा**=आपको **अह्वयेताम्**=पुकारते हैं, तो वे **वयोधै**=अन्न के धारण के लिये ही। इन आर्तभक्तों की प्रार्थना आर्ति व पीड़ा को दूर करने के लिये ही होती है, वे सांसारिक चीजों की प्राप्ति की ही कामना व याचना करते हैं। (३) हे प्रभो! आप तो **पृथिवीं द्याम्**=पृथ्वीलोक और द्युलोक को **उद् अस्तभ्नाः**=बड़े उत्कृष्ट रूप में थामे हुए हैं। ये पृथ्वीलोक व द्युलोक आपकी व्यवस्था के अनुसार **अभीके**=(अभि-अञ्च्) एक दूसरे की ओर गतिवाले हैं, पृथ्वी का जल बाष्पीभूत होकर ऊपर जाता है और द्युलोकस्थ सूर्य की किरणें निरन्तर इस पृथ्वीलोक में प्रकाश व प्राण शक्ति का संचार कर रही हैं। इस प्रकार ये पृथ्वी व द्युलोक हमारे माता-पिता के समान होकर हमारा पालन करते हैं। माता व पिता जिस प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं उसी प्रकार पृथ्वी व द्युलोक भी एक दूसरे के पूरक हैं। (४) हे मघवन्! आप **भ्रातुः**=('भ्रातान्तरिक्षम्' अथर्व०) इस अन्तरिक्ष के **पुत्रान्**=(पुनाति त्रायते) पवित्र करनेवाले व रक्षण करनेवाले वायुओं को व विद्युतों को **तित्विषाणः**=दीप्त करनेवाले हैं। वायु तो अच्छिद्र-पवित्र है ही, विद्युत् भी दोषों को दग्ध करके हमारा त्राण करनेवाली है, विद्युत् चिकित्सा में विद्युत् के इसी गुण का लाभ

लिया गया है। ये वायु व विद्युत् अन्तरिक्ष रूप भ्राता के मानों पुत्र ही हैं। (५) सब अन्नों व ओषधियों को देनेवाली पृथ्वी '**माता**' हैं। सूर्य के प्रकाश व प्राणशक्ति के द्वारा रक्षण करनेवाला द्युलोक '**पिता**' है, वायुओं व विद्युत् के द्वारा हमारा भरण करनेवाला अन्तरिक्ष '**भ्राता**' है। इन सब में प्रभु की शक्ति को देखनेवाला 'बृहदुक्थ'=खूब स्तवन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—पराङ्मुखी वृत्तिवाला मनुष्य हृदयस्थ प्रभु के बल का अनुभव नहीं कर पाता।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पञ्च प्रियों का प्रभु में प्रवेश

महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग्येन भूतं जनयो येन भव्यम्।
प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्त पञ्च॥ २॥

(१) हे प्रभो! **तत्**=वह **प्रसि नाम**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को झुका देनेवाला आपका बल **गुह्यम्**=प्रत्येक व्यक्ति के हृदय रूप गुहा विद्यमान है, **महत्**=यह बल महनीय है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केवल यही बल है जो कि कामदेव को भस्म कर देता है। **पुरुस्पृः**=यह बल ऐसा कि (पुरु पथा स्यात् तथा स्पृशति) स्पर्श करता हुआ पालन व पूरण करता है। जिसके साथ इस बल का सम्पर्क होता है, वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता (पालन) उसके मन में लोभादि के कारण न्यूनताएँ नहीं आ जाती (पूरण)। (२) यही वह बल है **येन**=जिससे **तम्**=भूतकाल में सृष्टियों का आपने **जनयः**=निर्माण किया, **येन**=जिससे **भव्यम्**=भविष्य की सृष्टियों का भी आप निर्माण करेंगे। आपका भक्त भी इस बल से बलवाला होकर अपने भूत व भविष्य को उज्ज्वल बनानेवाला होता है। इस भक्त के हृदय में **यत्**=जो **अस्य**=इस प्रभु की **प्रत्नं ज्योतिः**=सनातन ज्योति वेदरूप है वह **जातम्**=प्रादुर्भूत होती है। (३) इस ज्योति के अनुसार कार्य करते हुए **पञ्च प्रियाः**='पची विस्तारे' अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले और अतएव प्रभु के प्रिय लोग **प्रियम्**=अपने प्रिय उस प्रभु में **समविशन्त**=प्रवेश करते हैं अथवा 'पञ्च प्रियाः'=पाँच शरीर के कारणरूप भूतों को, पाँचों प्राणों को, पाँचों कर्मेन्द्रियों को, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को तथा 'हृदय, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार' रूप अन्तःकरण पंचक को प्रीणित करनेवाले लोग उस प्रिय प्रभु में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के बल से बलवाले होकर ही हम भूत व भव्य का निर्माण करते हैं। अपनी शक्तियों का विस्तार करके प्रभु में प्रवेश के अधिकारी होते हैं।

नोट—'पंच प्रियाः' शब्द सिखों के पाँच प्यारों का वाचक यहाँ नहीं है।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्यरूप विभूति

आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन॥ ३॥

(१) प्रभु की विभूति यह सूर्य **रोदसी**=द्युलोक व पृथ्वीलोक को **आ अपृणात्**=समन्तात् प्रकाश से परिपूर्ण कर देता है, **उत**=और **मध्यं आ**=इस अन्तरिक्षलोक रूप मध्य लोक को भी यह प्रकाश से व्याप्त करता है। वस्तुतः सूर्य के रूप में प्रभु का प्रकाश ही इन सब लोकों को दीप्त करता है। (२) व सूर्य ही प्राणियों के शरीरों में रोगों को जीतने की कामना करनेवाले **पंच देवान्**=प्राण, अपान, व्यान, उदान व समान रूप पाँच प्राणों को **आ अपृणात्**=समन्तात् पूरित

करता है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'=सूर्य ही प्रजाओं का प्राण है। ये प्राण रोगों को जीतने के कारण देव कहलाते हैं 'दिव् विजिगीषा'। **क्रतुशः**=समय-समय पर यह सूर्य **सप्त**=सर्पणशील **सप्त**=अपनी सात रंगों की किरणों को सर्वत्र पूरित करता है। इनके द्वारा ही वह सब प्राणदायी तत्त्वों को वनस्पति आदि में धारण करता है। (३) **चतुस्त्रिंशता**=तेंतीस देवों के अधिष्ठातृरूप उस चौंतीसवें प्रभु के साथ यह सूर्य **पुरुधा**=नाना प्रकार से **विचष्टे**=प्राणियों का पालन करता है (विचक्ष्=to look after)। **सरूपेण ज्योतिषा**=समानरूपवाली अपनी ज्योति से, जो **विव्रतेन**=विविध व्रतोंवाली है, उस ज्योति से वह सूर्य सभी का पालन करता है। सूर्य की सात रंगों की किरणें भिन्न-भिन्न प्राणदायी तत्त्वों की (vitamins) स्थापना करती हुई 'वि-व्रत' हैं। सब मिलकर के एक श्वेत रूप अप्रकट हो रही हैं। एवं विव्रत होती हुई ये समान हैं। वस्तुतः इन में विविध प्राणशक्तियों को स्थापित करता हुआ प्रभु ही सबका पालन करता है। यह सूर्य प्रभु की अद्भुत विभूति है।

भावार्थ—सूर्य सर्वत्र प्रकाश को फैलाता है। अपनी किरणों द्वारा सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करता हुआ सबका पालन करता है।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषा

यदु॑ष औच्छः॑ प्रथ॒मा वि॒भाना॒मज॑नयो॒ येन॑ पु॒ष्टस्य॑ पु॒ष्टम्।
यत्ते॑ जामि॒त्वमव॑रं॒ पर॑स्या म॒हन्म॑ह॒त्या अ॑सुर॒त्वमेक॑म्॥ ४॥

(१) हे **उषः**=उषे **यत्**=जो तू **औच्छः**=अन्धकार को दूर करती है सो **विभानां प्रथमा**=ज्योतियों में सर्वप्रथम होती है। तू उस ज्योतिवाली है **येन**=जिससे **पुष्टस्य**=प्रत्येक पोषणयुक्त के **पुष्टम्**=पोषण को **अजनयः**=उत्पन्न करती है उषा की ज्योति वायुमण्डल में ओजोन गैस की उत्पत्ति का कारण होती है, उस गैस की उत्पत्ति से यह सबका पोषण करती है। उषाकाल में भ्रमण का इसीलिए महत्त्व है। (२) **परस्याः**=उत्कृष्ट होती हुई भी **ते**=तेरा **यत्**=जो **अवरम्**=यहाँ नीचे (अस्मदभिमुखम्) हमारे साथ **जामित्वम्**=सम्बन्ध है वह **महत्**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। **महत्या**=महनीय-आदरणीय तेरा **असुरत्वम्**=(असून् राति, तस्य भावः) प्राणशक्ति को देने का गुण **एकम्**=अद्वितीय ही है। इस उषा के साथ सम्बन्ध को स्थापित करनेवाले व्यक्ति देव बन जाते हैं 'उषर्बुधो हि देवाः'। देव ही क्या, देव बनकर ब्रह्म को प्राप्त करते हुए ये ब्रह्म जैसे बन जाते हैं, ब्रह्म के साथ इनका सम्बन्ध होता है, इसलिए ही इस उषा के समय को 'ब्राह्म-मुहूर्त' कहने की परिपाटी है।

भावार्थ—उषा की प्राणशक्तिदायकता का गुण अनुपम हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काल-चक्र (जन्म से मृत्यु तक)

वि॒धुं द॑द्रा॒णं सम॑ने बहू॒नां युवा॑नं॒ सन्तं॑ पलि॒तो ज॑गार।
दे॒वस्य॑ पश्य॒ काव्यं॑ महि॒त्वाद्या म॒मार॒ स ह्यः सम॑आन॥ ५॥

(१) **विधुम्**=चन्द्रमा के समान अपने सौन्दर्य से औरों के हृदयों को विद्ध करनेवाले बालक उत्पन्न होता है, उसका सुन्दर मुख सभी को अपनी ओर आकृष्ट करता है, सो बालक विधु है। (२) कुछ बड़ा होकर **दद्राणम्**=विविध गतियों से यह निरन्तर [illegible] होता है, इसके लिये

शान्त बैठ सकने का सम्भव नहीं होता। बालक शब्द का अर्थ ही 'बल संचलने', संचलनशील है। (३) **बहूनाम्**=बहुतों के समने (सम् अननात्, अन् प्राणने) यह सम्यक् प्राणित करने में होता है, इसको देखकर माता-पिता आदि जी से उठते हैं। (४) धीमे-धीमे बढ़ता हुआ यह युवा बनता है। इस युवावस्था में यह 'यु मिश्रणामिश्रणयो:'=खूब जोड़-तोड़ में लगा रहता है। कुछ अच्छी वृत्ति होने पर बुराइयों से अपना अमिश्रण व अच्छाइयों से अपना मिश्रण करता है। पर यह चहल-पहल का जीवन बहुत देर तक नहीं रहता। **युवानं सन्तम्**=नौजवान होते हुए इसको **पलितः**=बुढ़ापे के कारण होनेवाली बालों की सफेदी **जगार**=निगल लेती है। यह वृद्ध हो जाता है। यौवन की चहल-पहल व उमंगे समाप्त हो जाती हैं। (५) हे जीव! तू **देवस्य**=उस क्रीड़ा करनेवाले, संसार रूप क्रीड़ा के (खेत के) अधिष्ठाता उस प्रभु के **काव्यम्**=इस अद्भुत कर्म को, कविता (wisdom, प्रज्ञा) पूर्ण कर्म को **पश्य**=देख कि **महित्वा**=उसकी महिमा से **स**=वह व्यक्ति जो **ह्यः**=अभी कल ही **समान**=सम्यक् प्राणधारण कर रहा था, बिलकुल ठीक-ठाक था, वह **अद्या ममार**=आज मृत्यु का ग्रास हो गया है, वस्तुतः यह मृत्यु की घटना रहस्यमय होने से 'काव्य' ही है। यह मृत्यु रूप कर्म प्रज्ञा-पूर्ण भी है, क्योंकि इसके अभाव में यह संसार रहने योग्य न रहता, चलने-फिरने के लिये भी स्थान न होता। एक विद्वान् का यह वाक्य ठीक ही है कि 'Hed there been no death, manhwind world gave been foreed to intewt it'=मृत्यु न होती, तो इसका भी आविष्कार ही करना पड़ता। (६) इस प्रकार कालचक्र में एक दिन हम शरीरधारण करके जीवनयात्रा को प्रारम्भ करते हैं और उसमें आगे बढ़ते हुए एक दिन अन्तिम स्थान पर पहुँच जाते हैं। यह सारी ही चीज विचारने पर अद्भुत-सी लगती है।

भावार्थ—प्रभु के कालचक्र में हम एक दिन आते हैं और आगे और आगे चलते हुए एक दिन चले जाते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्य-ज्ञान व स्पृहणीय धन

शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीळः ।
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥ ६ ॥

(१) वे प्रभु **शाक्मना शाकः**=सब शक्तियों से शक्ति-सम्पन्न हैं। सर्वशक्तिमान् हैं। **अरुणः**=(आरोचनः नि० ५।२०) समन्तात् दीप्त हैं अपनी शक्तियों से वे प्रभु चमकते हैं। **सुपर्णः**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, शरीर में हमें रोगों से बचाते हैं तो हमारे मनों में न्यूनताओं को नहीं आने देते। (२) ये प्रभु **आ**=सब ओर से **महः**=महान् ही महान् हैं। ज्ञान के दृष्टिकोण से निरतिशय ज्ञानवाले हैं तो सर्वाधिक शक्तिवाले हैं 'नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'=हे प्रभो! आपके समान कोई नहीं, अधिक तो हो ही कैसे सकता है? अतएव ये प्रभु (मह पूजायाम्) पूजा के योग्य हैं। **शूरः**=(शृ हिंसायाम्) हमारे सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। **सनात्**=सदा से हैं प्रभु सनातन हैं। **अनीडः**=वे प्रभु बिना नीडवाले हैं, उनका कोई घर नहीं, वस्तुतः वे प्रभु ही सबके घर हैं। (३) वे प्रभु **यत्**=जो **चिकेत**=ज्ञान देते हैं **तत्**=वह ज्ञान **इत्**=निश्चय से **सत्यम्**=सत्य है, **न मोघम्**=वह ज्ञान व्यर्थ नहीं है। वेद में कोई भी शब्द अनावश्यक नहीं है। वेद का सम्पूर्ण ज्ञान सत्य व सार्थक है। (४) वे प्रभु जहाँ इस सत्य ज्ञान को हमें देते हैं, **उत**=और वहाँ **स्पार्हं वसु**=स्पृहणीय धन को **जेता**=जीतनेवाले होते हैं **उत**=और **दाता**=हमें देनेवाले हैं। सम्पूर्ण धनों का विजय प्रभु ही करते हैं। प्रभु कृपा से ही हमें

निवास के लिये आवश्यक धनों की प्राप्ति होती है। ज्ञान देते हैं और धन को देते हैं। धन के साथ ज्ञान के कारण धन का हम दुरुपयोग करने से बचते हैं।

भावार्थ—प्रभु शक्तिशाली हैं। वे हमें सत्य-ज्ञान व स्पृहणीय-धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'कुरु कर्म त्यजेति च'

ऐभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद्वृत्रहत्याय वज्री।
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋतेकर्ममुदजायन्त देवाः ॥ ७ ॥

(१) **एभिः**=गत मन्त्र में वर्णित सत्य ज्ञानों से व स्पृहणीय धनों के ठीक प्रयोग से मैं **पौंस्यानि**=पुमान् (=पुरुष) के लिये हितकर **वृष्ण्या**=बलों को **आददे**=ग्रहण करता हूँ। ज्ञान से वासनाओं का क्षय होता है, वासनाक्षय शक्तिवर्धन का कारण बनता है। (२) ये शक्तियाँ वे हैं **येभिः**=जिनसे **वज्री**=(वज गतौ) क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथों में धारण करनेवाला पुरुष **वृत्रहत्याय**=ज्ञान की आवरणभूत अतएव वृत्र नामवाली वासनाओं की हत्या के लिये **औक्षत्**=अपने को सिक्त करता है। क्रियाशीलता वासना को जीतने का साधन है और वासना विजय का परिणाम 'शक्तिवर्धन' है। (३) इस प्रकार **ये**=जो व्यक्ति कर्मशील होते हैं वे **क्रियमाणस्य कर्मणः मह्न**=इन किये जाते हुए कर्मों की महिमा से युक्त होते हैं और **ऋते कर्मम्**=कर्म के बिना होते हैं, अर्थात् कर्म करते हैं और उसे प्रभु के अर्पण करके बिना कर्मवाले हो जाते हैं, इस प्रकार जो व्यक्ति 'कुरु कर्म त्यजेति च' (कर्म करो और छोड़ दो) इन व्यास वचनों को जीवन में क्रियान्वित करते हैं वे **उत्**=इन कर्मों के अभिमान से ऊपर उठकर **देवाः**=देव **अजायन्त**=हो जाते हैं। देव वही है जो यज्ञात्मक उत्तम कर्मों को करता है और उन यज्ञों को भी संग व फल की इच्छा को छोड़कर ही करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्वक वसुओं का प्रयोग करते हुए शक्तिशाली बनें। कर्म करते हुए कर्म के अभिमान से ऊपर उठें, तभी हम देव बनेंगे।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दस्यु-निर्धमन

युजा कर्माणि जनयन्विश्वौजा अशस्तिहा विश्वमनास्तुराषाट्।
पीत्वी सोमस्य दिव आ वृधानः शूरो निर्युधाधमद्दस्यून् ॥ ८ ॥

(१) **युजा**=उस प्रभु रूप सदा साथ रहनेवाले मित्र के साथ **कर्माणि जनयन्**=कर्मों को पैदा करता हुआ यह होता है। कर्म करता है और उन कर्मों को प्रभु की शक्ति से होता हुआ अनुभव करता है, इसीलिए उन कर्मों का उसे अभिमान नहीं होता। कर्मों के करते रहने से ही यह '**विश्वौजाः**'=यह व्याप्त बलवाला बनता है, सम्पूर्ण जीवन में शक्तिशाली बना रहता है, जीर्ण नहीं होता। शक्तिशाली बने रहने से **अशस्ति-हा**=सब अप्रशस्त बातों को यह समाप्त करता है, इसके शरीर में रोग नहीं होते, मन में राग-द्वेष नहीं होते तथा बुद्धि में कुण्ठता नहीं रहती। **विश्वमनाः**=यह व्यापक व उदार मनवाला बनता है। इसके मन में उदारता के कारण किसी प्रकार की मलिनता नहीं रहती। **तुराषाट्**=यह शीघ्रता से शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। संकुचित हृदय में ही वासनाएँ पनपा करती हैं। विशाल हृदय में वासनाएँ नहीं रह पाती, वे विनष्ट हो जाती हैं। (२) इस प्रकार अपने जीवन को बनाने के लिये यह **सोमस्य**=शरीर में उत्पन्न सोम (=वीर्य)

शक्ति का पान करके **दिवः**=ज्ञानों को **आवृधानः**=सर्वथा बढ़ाता हुआ यह **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला बनता है और **युधा**=हृदय के रणक्षेत्र में चलनेवाले अध्यात्म युद्ध के द्वारा **दस्यून्**=ध्वंसक वृत्तियों को, इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट करनेवाले काम को, मन को नष्ट करनेवाले क्रोध को, बुद्धि को नष्ट करनेवाले लोभ को **निरधमत्**=सन्तप्त करके दूर कर देता है।

भावार्थ—कर्म से शक्ति बढ़ती है, बुराइयाँ नष्ट होती हैं। हम सोम को शरीर में सुरक्षित करके ज्ञान को बढ़ाते हैं और शूर बनकर 'काम-क्रोध-लोभ' को पराभूत करते हैं।

'पराङ्मुखी वृत्तिवालों से प्रभु दूर रहते हैं' इन शब्दों से सूक्त का प्रारम्भ होता है, (१) और सोमरक्षण के द्वारा ज्ञान को बढ़ाकर काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठने के साथ सूक्त का अन्त है, (२) काम-क्रोध व लोभ के नाश से 'शरीर, हृदय व मस्तिष्क' की ज्योतियों का उदय होता है—

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन ज्योतियाँ

इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशने तन्व१श्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥ १ ॥

(१) प्रभु अपने स्तोता 'बृहदुक्थ' से कहते हैं कि **इदम्**=यह **ते**=तेरी **एकम्**=प्रथम ज्योति है। शरीर में यह **'वैश्वानर'** अग्नि (जाठराग्नि) के रूप में रहती है, यह ठीक से प्रज्वलित रहकर शरीर के स्वास्थ्य का कारण बनती है। स्वास्थ्य के तेज से यह बृहदुक्थ चमक उठता है। (२) **उ**=और **ते**=तेरी **एकम्**=एक ज्योति **परः**=और अधिक उत्कृष्ट है। यह हृदय की निर्मलता का कारण बनती है। इस ज्योति के कारण राग-द्वेष के अन्धकार से ऊपर उठकर तू प्रकाशमय व उल्लासमय हृदयवाला होता है। तू सब के साथ एकत्व के अनुभव से तेजस्वी बन जाता है। (३) अब तू मस्तिष्क में निवास करनेवाली **तृतीयेन**=तीसरी ज्ञानरूप **ज्योतिषा**=ज्योति के साथ **संविशस्व**=जीवन को आनन्दमय बनानेवाला हो। प्राज्ञ बनकर तू उत्कृष्ट आनन्द का अनुभव कर। (४) इस प्रकार **तन्वः**=शरीर के **संवेशने**=इन तीन ज्योतियों से युक्त करने पर **चारुः एधि**=तू अत्यन्त सुन्दर जीवनवाला हो। वास्तव में इससे अधिक सुन्दर जीवन क्या हो सकता है कि शरीर स्वास्थ्य की ज्योति से चमकता हो, मन नैर्मल्य के कारण प्रसाद व उल्लासवाला हो और मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो। तू इस **परमे जनित्रे**=सर्वोत्कृष्ट विकास के होने पर **देवानाम्**=सब देवों का **प्रियः**=प्रिय हो। सब देव तेरे साथ अनुकूलतावाले हों। बाह्य देवों का अन्दर के देवों के साथ आनुकूल्य ही शान्ति है। इस शान्ति में ही सुख है।

भावार्थ—शरीर, मन व मस्तिष्क की ज्योतियों को सिद्ध करके हम परम विकास को सिद्ध करें और अपने जीवन को देवों की अनुकूलता में शान्त व सुखी बनाएँ।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मज्योति में प्रवेश

तनूष्टे वाजिन्तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धातु शर्म तुभ्यम्।
अह्रुतो महो धरुणाय देवान्दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयाः ॥ २ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि—हे **वाजिन्**=शक्ति-सम्पन्न जीव! **ते तनूः**=तेरा शरीर अपने को **तन्वम्**=(तनु विस्तारे) विस्तार को **नयन्ती**=प्राप्त कराता हुआ **वामम्**=उस सुन्दर शरीर को

अस्मभ्यम्=हमारे लिये **धातु**=(दधातु) धारण करे। हमें चाहिए कि हम (क) शक्तिशाली बनें, (ख) शरीर के सब अंगों की शक्तियों का विस्तार करें, (ग) इस शरीर को सर्वांग सुन्दर बनाकर प्रभु प्राप्ति के लिये यत्नशील हों। इस शरीर का मुख्य प्रयोजन प्रभु प्राप्ति ही है, अपवर्ग (मोक्ष) मुख्य उद्देश्य है, भोग प्रासंगिक वस्तु है। भोग को प्रासंगिक वस्तु रखने से ही शरीर 'स्वस्थ, सशक्त व सुन्दर' बनता है और हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है। इस प्रकार जीवन में स्वस्थ शरीर से अपवर्ग की ओर चलने पर प्रभु कहते हैं कि **तुभ्यं शर्म**=तेरे लिये कल्याण हो। (२) **अह्रुतः**=(अनवपतितः) तेरा जीवन पतित व कुटिल न हो। **महः**=प्रभु की तू पूजा करनेवाला बन। **देवान् धरुणाय**=दिव्य गुणों को धारण करने के लिये **स्वं ज्योतिः**=आत्मज्योति में **आमिमीयाः**=प्रवेश करनेवाला बन उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **दिवि**=द्युलोक में सूर्य-ज्योति है। द्युलोकस्थ सूर्य-ज्योति के समान तू आत्मज्योति में प्रवेश कर। इस आत्मज्योति के मार्ग पर चलने से उत्तरोत्तर तेरी दैवी सम्पत्ति वृद्धि को प्राप्त होती जाएगी।

भावार्थ—शरीर की शक्तियों का विस्तार करके शरीर को हम सुन्दर बनाएँ। इसे प्रभु प्राप्ति के लिये धारण करें। आत्मज्योति में प्रवेश करने पर हम दिव्यगुणों को धारण करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति व प्रेरणा की प्राप्ति

वाज्य॑सि वाजि॑नेना सु॒वेनी॑: सुवि॒तः स्तोमं॑ सुवि॒तो दिवं॒ गाः।
सु॒वि॒तो धर्मं॑ प्रथ॒मानु॑ स॒त्या सु॑वि॒तो दे॒वान्त्सु॑वि॒तोऽनु॒ पत्म॑ ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'आत्मज्योति में प्रवेश करने पर हम कैसे बनते हैं?' उसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि तू **वाजिनेन**=(वाज+इन)=सब शक्तियों के स्वामी उस प्रभु से **वाजी असि**=शक्तिशाली बनता है। प्रभु में प्रवेश करने पर हमारी शक्ति उसी प्रकार बढ़ती है जैसे कि लोहे की शलाका अग्नि में प्रविष्ट होकर अग्नि की शक्ति को प्राप्त करती है। इस शक्ति को प्राप्त करके तू **सुवेनीः**=(सुष्ठु कान्तः) 'उत्तम सुन्दर तेजस्वी' प्रतीत होता है। (२) प्रभु में प्रवेश करने पर यहाँ शक्ति प्राप्त होती है, वहाँ प्रभु से हमें उत्तम प्रेरणा भी प्राप्त होती है और **सुवितः**=उत्तम प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ तू **स्तोमम्**=स्तुति को **गाः**=प्राप्त होता है, तू प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। **सुवितः**=उत्तम प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ तू **दिवं गाः**=ज्ञान की ज्योति को प्राप्त होता है। **सुवितः**=उस उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला तू **प्रथमा सत्या धर्म**=मुख्य सत्य धर्मों को **अनुगाः**=पालन करनेवाला होता है। वेद में यज्ञ के अन्तर्गत 'देवपूजा-संगतिकरण व दान' इनको मुख्य धर्म कहा है। प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' आदि देवों का पूजन करता है, परस्पर प्रेम से मिलकर चलनेवाला होता है, छोटों को सदा देनेवाला, उसपर अनुग्रह की वृत्तिवाला होता है। **सुवितः**=उत्तम प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ यह **देवान्**=दिव्यगुणों को प्राप्त करनेवाला होता है और **सुवितः**=सदा सुप्रेरित हुआ-हुआ **पत्म**=मार्ग का **अनु (गाः)**=अनुसरण करता है। मार्ग का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में ही 'स्तोमं-दिवं-प्रथमा सत्या धर्म व देवान्' इन शब्दों द्वारा व्यक्त रूप से किया गया है। स्तुति, ज्ञान, देवपूजा, संगतिकरण, दान व दिव्यगुणों का अर्जन ही मार्ग है, इसी मार्ग पर हमें चलना है।

भावार्थ—आत्मज्योति की ओर चलने से शक्ति प्राप्त होगी तथा उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करके हम मार्ग का अनुसरण करेंगे। मार्ग यह है (क) प्रभुस्तवन, (ख) ज्ञान प्राप्ति, (ग) देवपूजा, संगतिकरण, दान, (घ) दैवी सम्पत्ति का अर्जन।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पितरः देवाः

महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम्।
समविव्यचुरुत यान्यत्विषुरैषां तनूषु नि विविशुः पुनः॥ ४॥

(१) जो व्यक्ति कर्मप्रधान जीवनवाले हैं वे 'पितर' कहलाते हैं, ये रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत रहते हैं। ज्ञानप्रधान जीवनवाले व्यक्ति 'देव' हैं, इनका समय 'अध्ययनाध्यापन' में बीतता है। इनमें **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए कर्मप्रधान जीवनवाले व्यक्ति **एषाम्**=गत मन्त्र में वर्णित प्रथम धर्मों की **महिम्नः**=महिमा से **चन**=निश्चयपूर्वक **ई शिरे**=ईश बनते हैं, अपने कार्यों के करने में समर्थ होते हैं, इनकी कर्मेन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं और 'देव-पूजा, संगतिकरण व दान' रूप कर्मों से पवित्र व सशक्त जीवनवाले होते हुए ये अपने कार्यों को सफलता से करनेवाले होते हैं। (२) **देवाः अपि**=ज्ञानी पुरुष भी **एषां महिम्नः**=इन्हीं 'देव-पूजा, संगतिकरण व दान' रूप धर्मों की महिमा से **देवेषु**=अपनी ज्ञानेन्द्रियों में **क्रतुम्**=प्रज्ञान को **अदधुः**=धारण करते हैं। इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति रूप कर्म में अधिक शक्त बनती हैं। (३) **समविव्यचुः**=ये जो कर्मेन्द्रियाँ इनके जीवन में विस्तृत शक्तिवाली होती हैं (व्यच्=विस्तारे) **उत**=और **यानि**=ये जो ज्ञानेन्द्रियाँ **अत्विषुः**=ज्ञान के प्रकाशवाली होती हैं ये **एषां तनूषु**=इन पितरों व देवों के शरीरों में **पुनः**=फिर से **आ**=सर्वथा **निविविशुः**=निश्चित रूप से प्रवेश करती है। विषयों में व्यर्थ न भटकती हुई ये अपने-अपने कार्यों में ठीक से लगी रहती हैं।

भावार्थ—हम देवपूजा आदि धर्मों के पालन से कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाकर रक्षणात्मक कार्यों में लगनेवाले 'पितर' बनें, ज्ञानेन्द्रियों को सशक्त बनाकर ज्ञान-ज्योति को फैलानेवाले देव हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सहनशीलता

सहोभिर्विश्वं परि चक्रमू रजः पूर्वा धामान्यमिता मिमानाः।
तनूषु विश्वा भुवना नि येमिरे प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के पितर व देव **सहोभिः**=शक्तियों के द्वारा **विश्वं रजः**=सम्पूर्ण लोक में **परिचक्रमुः**=विचरण करते हैं। 'शरीर' पृथिवीलोक है, 'हृदय' अन्तरिक्षलोक है और 'मस्तिष्क' द्युलोक है। पितर व देव अपनी त्रिलोकी को सशक्त बनाते हैं। शरीर की दृढ़ता, हृदय की विशालता, मस्तिष्क की उज्ज्वलता इन्हें अलंकृत जीवनवाला बना देती है। विशेषकर ये अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाते हैं, उसमें सहनशक्ति होती है। इनके हृदय में सभी के लिये स्थान होता है, सबका जिसमें प्रवेश है वही हृदय 'विश्वं रजः' कहलाता है। (२) ये लोग **पूर्वाधामानि**=पालन व पूरण करनेवाले तेजों को **अमिता**=अमितरूप में अत्यधिक **मिमानाः**=बनानेवाले होते हैं। ये तेज ही इनको विकृतियों से बचानेवाले होते हैं। इनके शरीर स्वस्थ रहते हैं, मन भी क्रोध, ईर्ष्या आदि से रहित बने रहते हैं और इनके मस्तिष्क सदा ज्ञानोज्ज्वल होते हैं। (३) ये अपने **तनूषु**=शरीरों में **विश्वाभुवनानि**=सब लोकों को **नियेमिरे**=नियम में करते हैं। इनकी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब संयत होते हैं। और परिणामतः **पुरुध**=बहुत प्रकार से **प्रजाः**=अपने जीवन की शक्तियों के विकासों को **अनु**=अनुक्रम से **प्रासारयन्त**=फैलानेवाले होते हैं। सहनशक्ति से तेजस्विताओं में वृद्धि

होती ही है, क्रोध शक्ति को भस्म कर देता है। सहनशक्ति की विपरीत वस्तुएँ 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' हैं। सहनशक्ति तेजस्विता का वर्धन करती है तो क्रोध उसका ह्रास करता है। सहनशक्ति से विकास होता है, क्रोध से संहार।

भावार्थ—सहनशीलता व संयम से हम तेजस्वी बनें और विकास को प्राप्त हों।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूनवः (सच्चे पुत्रों के लक्षण) 'प्राणशक्ति व प्रकाश'

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम्॥ ६॥

(१) **सूनवः**=प्रभु के सच्चे पुत्र अपने पिता उस प्रभु को **द्विधा**=दो प्रकार से **आस्थापयन्त**=अपने में स्थापित करते हैं, अपने हृदय देश में आसीन करते हैं। एक तो '**असुर**'=असुर के रूप में और दूसरा '**स्वर्विदम्**' स्वर्विद् के रूप में। (क) जब हम प्रभु को अपने में आसीन करते हैं तो वे प्रभु 'असून् राति'=हमें प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं, हमारे शरीर रोगों से संघर्ष करने की शक्ति से युक्त होने के कारण नीरोग 'स्वस्थ, सबल व सुन्दर' बने रहते हैं। (ख) शरीरों के स्वास्थ्य के साथ प्रभु हमें मानस व बौद्धिक स्वास्थ्य भी प्राप्त कराते हैं, वे 'स्वर्विद्' हैं, प्रकाश को प्राप्त करानेवाले। इस प्रकाश में चलते हुए हम मार्गभ्रष्ट नहीं होते। एवं प्रभु को दो प्रकार से स्थापन करने के कारण हम शरीर में प्राणशक्ति-सम्पन्न बनते हैं और मस्तिष्क में प्रकाशमय। (२) यह प्रभु का दो प्रकार से स्थापन '**तृतीयेन कर्मणा**' तृतीय कर्म से होता है। यह तृतीय कर्म यज्ञरूप मुख्य धर्मों में 'देव-पूजा व संगतिकरण' के बाद 'दान' है। दान से प्रभु की स्थापना हमारे हृदयों में होती है। (३) परमात्मा को अपने में स्थापित करने से यह '**स्वां प्रजां**'=अपने विकास को धारण करता है। शरीर में शक्ति-सम्पन्न व मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न बनकर यह अपने सब अंगों को विकसित कर पाता है, इसकी कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य को सुचारुरूपेण करनेवाली होती हैं। इस प्रकार अपना विकास करनेवाले ये लोग **पितरः**=अपना रक्षण करनेवाले होते हैं 'पा रक्षणे'। अपने जीवन में न्यूनताओं को नहीं आने देते। प्रभु से अपना सम्बन्ध बनाकर ये '**पित्र्यं सहः**'=उस पिता प्रभु से प्राप्त होनेवाले बल को अपने में धारण करते हैं। (४) ये इस बल को **अवरेषु**=अपनी अनन्तर सन्तानों (=पुत्रों) में भी **आदधुः**=स्थापित करनेवाले होते हैं। इस प्रकार अपनी सन्तानों को भी उत्तम बनाते हुए ये **तन्तुम्**=अपने इस प्रजातन्तु को **आततम्**=विस्तृत करते हैं। ये अविच्छिन्न, वंशवाले होते हैं।

भावार्थ—धन के त्याग से हम प्रभु के समीप होते हैं। प्रभु हमें प्राणशक्ति व प्रकाश देते हैं। हम प्रभु से प्राप्त बल को अपनी सन्तानों में भी स्थापित कर अविच्छिन्न वंशवाले बनते हैं।

ऋषिः—**बृहदुक्थो वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आचीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता के गुणों का पुत्र पौत्रों में संचार

नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेष्वदधादा परेषु॥ ७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु को अपने में स्थापित करनेवाला व्यक्ति **पृथिव्याः प्रदिशः**=पृथिवी की इन प्रकृष्ट दिशाओं को इसी प्रकार **अति**=अतिक्रान्त कर जाता है **न**=जैसे कि **क्षोदः**=पानी

को (=नदी को) **नावा**=नाव से पार कर लेते हैं। यह व्यक्ति **स्वस्तिभिः**=(सु अस्ति=) उत्तम जीवन से, जीवन के सब कार्यों को उत्तमता से करने के द्वारा **विश्वा दुर्गाणि अति**=सब कठिनताओं को पार कर जाता है। (२) प्रभु-स्मरण से उत्तम जीवन को बनाकर यह **स्वां प्रजाम्**=अपने विकास को सिद्ध करता है। प्रभु-स्मरण इसके लिये भवसागर को पार करने के लिये नाव के समान हो जाता है। यह **बृहदुक्थः**=प्रभु को खूब ही स्तुत करनेवाला व्यक्ति **महित्वा**=अपने महत्त्व से, अपनी 'मह पूजायाम्' इस प्रभु-पूजा की वृत्ति से **अपरेषु**=अपने सन्तानों में भी, पुत्रों में भी प्रभु पूजा के भाव को **अदधात्**=धारण करता है। पिता का स्वभाव पुत्र में संक्रान्त होना ही चाहिये। (३) पुत्र 'अवर' कहलाता है, अपने एकदम समीप होने से। पौत्र 'पर' कहलाता है, पुत्र से अन्तर्हित होकर यह हमारे से दूर (पर-far) ही हो जाता है। 'बृहदुक्थ' जहाँ अपने पुत्रों में अपने विकास को संचरित करता है, वहाँ वह इस विकास को पौत्रों में भी संचरित करनेवाला होता है। इसीलिए कहते कि **परेषु**=दूरभावी पौत्र आदि में भी **आ**=वह अपने विकास को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु का स्तोता 'बृहदुक्थ' अपने जीवन की शक्तियों का विकास करके उस विकास को पुत्र-पौत्रों में भी संचरित करनेवाला होता है।

तीन ज्योतियों को धारण करने के साथ इस सूक्त का प्रारम्भ होता है (१) और प्रभु सम्पर्क से शक्ति-सम्पन्न बनकर उन शक्तियों को पुत्र-पौत्रों में संचरित करने के साथ सूक्त की समाप्ति। इस प्रभु सम्पर्क के लिये मनोनिरोध आवश्यक है। मन को बाँधनेवाला 'बन्धु' ही अगले ४ सूक्तों का ऋषि है। यह उत्तमता से मन को बाँधने कारण 'सुबन्धु' है। ज्ञान प्राप्ति में, स्वाध्याय में मन को बाँधने से यह 'श्रुतबन्धु' है और अपना विशेषरूप से (वि) पूरण करने के लिये (प्रा) इस बन्धन क्रिया को करने के कारण यह 'विप्रबन्धु' है। मनोनिरोध से इन्द्रियों (गो) का उत्तमता से रक्षण करनेवाले ये 'बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु व विप्रबन्धु' गौपायन हैं। इनकी प्रार्थना है कि—

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्च गौपायनाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अ-भ्रंश

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः। मान्तः स्थुर्नो अरातयः॥ १॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के प्रकाश में चलते हुए **वयम्**=हम मनोनिरोध करनेवाले 'बन्धु-सुबन्धु' आदि **पथः**=मार्ग से **मा**=मत **प्रगाम**=दूर हों। मार्ग से भ्रष्ट न हों। मन वश में नहीं होता तभी इधर-उधर भटकना होता है। मन निरुद्ध हुआ तो भटकने का प्रश्न ही नहीं रहता। इन्द्रियाँ नव विषयों में जाती हैं तो यदि मन भी उनके साथ हो जाए तभी बुद्धि भ्रष्ट होती है। मन निरुद्ध रहे तो बुद्धि का भ्रंश नहीं होता। बुद्धि के ठीक रहने से हम मार्ग भ्रष्ट नहीं होते। (२) मार्ग क्या है? यज्ञ। सो कहते हैं कि हम हे **इन्द्र**=यज्ञप्रिय प्रभो! **यज्ञात् मा**=यज्ञ से पृथक् न हों। उस यज्ञ से जो **सोमिनः**=सोमी है। यज्ञ सोमवाला है। सोम का अभिप्राय शरीरस्थ वीर्यशक्ति है। यज्ञ से मनुष्य में वासनाएँ प्रबल नहीं होतीं। वासनाओं के न होने से शक्ति सुरक्षित रहती है। इसीलिए यज्ञ 'सोमी' कहा गया है। (३) इस प्रकार यज्ञों में लगे रहने पर **नः अन्तः**=हमारे अन्दर **अरातयः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु **मा अस्थुः**=मत स्थित हों। इन लोभादि शत्रुओं से आक्रान्त न होने के लिये यज्ञादि में लगे रहना ही ठीक है। उत्तम कर्मों में लगे हुए व्यक्ति को

वासनाएँ सता ही नहीं पाती।

भावार्थ—हम पथभ्रष्ट न हों, यज्ञों में लगे रहें जिससे लोभादि शत्रु हमारे हृदयों में स्थान न पा सकें।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबधुश्च गौपायनाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूत्रों का सूत्र

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतं नशीमहि ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र में मार्ग से भ्रष्ट न होने की प्रार्थना थी। मार्ग का स्वरूप भी 'यज्ञ' शब्द से व्यक्त कर दिया गया था। अब कहते यह हैं कि उन यज्ञों में लगे रहकर हम उन यज्ञों की सफलता को अपनी सफलता मानकर गर्वित न हो जाएँ। यह ध्यान रखें कि यज्ञों को सिद्ध करनेवाला कोई और है। **तम्**=उसको ही **नशीमहि**=हम प्राप्त करें (नशीमहि=व्याप्नुयाम सा०)। उस परमात्मा को जो **आ हुतम्**=(आ समन्तात् हुतं=दानं यस्य) समन्तात् देनेवाले हैं। हम अग्निहोत्र करते हैं। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने पर क्या देखते हैं कि घृत को डालने के लिये साधनभूत चम्मच (चमस) प्रभु की देन है, जिस धातु व काष्ठ से यह बना है, वह प्रभु की ही कृति है। **हवि**=घृत प्रभु की देन है। अग्नि प्रभु की बनाई है। आहुति डालनेवाले हमारे हाथ आदि अवयव प्रभु से दिये गये हैं। इसी प्रकार खेती करने पर क्या देखते हैं कि 'हल-बैल-पृथ्वी-जल-वायु-सूर्य' आदि उन सभी की रचना उस प्रभु ने की है जिनके द्वारा कि अन्न का उत्पादन व परिपाक होता है। प्रभु सचमुच 'आ-हुत' हैं। (२) उस प्रभु को हम प्राप्त करें **यः**=जो **यज्ञस्य प्रसाधनः**=सब यज्ञों के सिद्ध करनेवाले हैं। हम इस बात को भूलें नहीं कि छोटे से छोटा कार्य भी प्रभु-प्रदत्त शक्ति से हो रहा है। उसकी शक्ति के बिना मनुष्य के लिये कुछ भी कर सकने का संभव नहीं है। बुद्धिमानों की बुद्धि प्रभु हैं, बलवानों का बल प्रभु हैं, प्रभु ही 'जय' हैं। (३) वे प्रभु **तन्तुः**=सूत्र रूप हैं, सर्वत्र विस्तृत हैं, (तनु विस्तारे) इन लोक-लोकान्तरों का विस्तार करनेवाले हैं। सब लोकों में सूत्र रूप से विद्यमान हैं, उस प्रभु रूप सूत्र में ही ये सब लोक पिरोये हुए हैं। **देवेषु**=सूर्यादि सब देवों में **आततः**=वे प्रभु आतत हैं, वस्तुतः इन सब देवों को उस प्रभु से ही तो देवत्व प्राप्त हो रहा है। उस प्रभु की दीप्ति से ही ये सब देव दीप्त हो रहे हैं 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। इस प्रभु को प्राप्त करके हम भी उसकी दीप्ति से दीप्त होंगे, हमारा जीवन भी 'विभूति, श्री व ऊर्ज' वाला बनेगा।

भावार्थ—मन को बाँधकर हम प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें। सब यज्ञों को उस प्रभु से होता हुआ जानकर गर्वित न हों।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबधुश्च गौपायनाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोम और मन्म

मनो न्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन। पितृणां च मन्मभिः ॥ ३ ॥

(१) **नु**=अब हम **मन्म**=मन को **आहुवामहे**=सब ओर से पुकारते हैं। उस मन को, जो नाना विषयों के अन्दर भटकता है, हम उसे विषयों में भटकने से लौटाते हैं। (२) इसलिए लौटाते हैं कि **नाराशंसेन सोमेन**=मनुष्यों से **आशंसनीय**=(चाहने योग्य) सोम को हम अपने शरीर में सुरक्षित कर सकें। सोम शक्ति शरीर की मूलभूत शक्ति है। मन के संयम से इसका संयम होता

है, मन के विषयों में जाने से इसका अपव्यय होता है। **च**=और मन को इसलिए भी विषयों से हम लौटाते हैं कि **पितॄणाम्**=पितरों के **मन्मभिः**=ज्ञानपूर्व उच्चारण किये गये स्तोत्रों का हम भी उच्चारण करनेवाले बनें। मनोनिरोध के बिना पहले तो प्रभु स्तवन का सम्भव ही नहीं, पर यदि जैसे तैसे कुछ स्तोत्रों का हम उच्चारण करें भी तो मन अन्यत्र होने से वे स्तोत्र ज्ञानपूर्वक उच्चारित न हो रहे होंगे। एवं मन को विषयों से वापिस पुकारकर शरीर में ही निरुद्ध करने के दो लाभ हैं (क) शरीर में शक्ति का रक्षण, (ख) और ज्ञानपूर्वक प्रभु का स्तवन। (३) ज्ञानपूर्वक स्तोत्रों के उच्चारण से ही वस्तुतः पितर 'पितर' बनते हैं। इन स्तोत्रों का परिणाम 'जीवन की पवित्रता' होता है। स्तोत्र इन्हें आसुरवृत्तियों के आक्रमण से बचाते हैं (पा रक्षणे) एवं स्तोत्रों द्वारा अपना रक्षण करनेवाले ये पितर हैं।

भावार्थ—मन को हम विषयों से रोकें इससे शक्ति का रक्षण होगा और प्रभु का हम ज्ञानपूर्वक स्तवन कर पायेंगे।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबधुश्च गौपायनाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

क्रतु व दक्ष मनोनिरोध के लाभ

आ त॑ एतु॒ मनः॒ पुनः॒ क्रत्वे॒ दक्षा॑य जी॒वसे॑। ज्योक्च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ४ ॥

(१) प्रभु 'सुबन्धु' से कहते हैं कि **ते मनः**=तेरा मन **पुनः**=फिर **आ एतु**=विषयों से निवृत्त होकर हृदय देश में ही प्राप्त हो। इस मन के हृदय में निरुद्ध होने पर ही **क्रत्वे**=तू यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिये समर्थ होगा, **दक्षाय**=इन कर्मों के द्वारा अपने बल को बढ़ाने के लिये तू समर्थ होगा। निरुद्ध मन यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाला बनता है, इन कर्मों से शक्ति का वर्धन होता है। अथवा 'प्राणो वै दक्षः अपानः क्रतुः तै० सं० २.५२) मन के निरुद्ध होने पर प्राणापान की शक्ति बढ़ती है। (२) प्राणापान की शक्ति का वर्धन होकर **जीवसे**=तू जीवन के लिये होता है। तेरे में उत्साह व उल्लास होता है। तू मरा-सा प्रतीत नहीं होता। **च**=और उल्लासमय जीवनवाला होकर **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य के दर्शन के लिये होता है। अर्थात् मनोनिरोध का अन्तिम लाभ दीर्घजीवन है।

भावार्थ—मनोनिरोध से 'यज्ञशीलता-शक्ति की वृद्धि, उत्साह व उल्लास तथा दीर्घ-जीवन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबधुश्च गौपायनाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पितर व दैव्य जन

पुन॑र्नः पि॒तरो॒ मनो॒ ददा॑तु॒ दैव्यो॒ जनः॑। जी॒वं व्रातं॑ सचेमहि ॥ ५ ॥

(१) **पितरः**=ज्ञान प्रदान के द्वारा रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए पितर **नः**=हमें **पुनः**=फिर से **मनः**=मन को **ददातु**=दें। पितरों के सम्पर्क में आकर उनके जीवन के अनुसार अपने जीवन को बनाते हुए हम मन को भटकने से रोक सकें। **दैव्यः जनः**=देव की ओर चलनेवाले लोग भी हमें फिर से मन को प्राप्त कराएँ। उस देव (=प्रभु) की ओर चलना मन को निरुद्ध व उत्तम बनाने का सुन्दर साधन है। प्रभु के स्तोत्रों का जप मनोनिरोध का साधन बनता है। प्रकृति की ओर जाने से मन अधिकाधिक भटकता है और प्रभु की ओर चलने से यह शान्त होता है। (२) मन को निरुद्ध करके हम **जीवं व्रातम्**=जीवनभूत व्रतसमूह को **सचेमहि**=अपने साथ

संगत करें। व्रत में मन को लगाएँगे तो यह भटकने से रुकेगा ही। ये व्रत हमारे जीवन को सुन्दर भी बनानेवाले होंगे।

भावार्थ—पितरों व देव लोगों के अनुगमन से मन निरुद्ध होता है। इस मन को हम व्रतों में लगाएँ, ये व्रत जीवन को उत्तम बनाते हैं।

ऋषिः—**बन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धुर्विप्रबधुश्च गौपायनाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोम का व्रत

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ६ ॥

(१) पिछले मन्त्र में व्रतों में मन को लगाने का उल्लेख है। उन्हीं व्रतों में एक 'सोम' का भी व्रत है। शरीर में सोमशक्ति के रक्षण का निश्चय करना ही 'सोम का व्रत' है। इसे धारण करनेवाला अवश्य ही मनोनिरोध के लिये यत्नशील होता है। **वयम्**=हम हे **सोम**=सोमशक्ते! **तव व्रते**=तेरे व्रत में, अर्थात् तेरे रक्षण का निश्चय करने पर **मनः**=मन को **तनूषु**=शरीरों में ही **विभ्रतः**=धारण करते हुए, **प्रजावन्तः**=उत्कृष्ट विकासवाले होकर **सचेमहि**=प्रभु के साथ संगत हों। (२) जो भी सोम को शरीर में ही सुरक्षित करने का निश्चय करता है वह मन को विषयों में भटकने से रोकता ही है, मन को अपने अन्दर ही निरुद्ध करने के लिये यत्नशील होता है। (३) मन को निरुद्ध कर सकने पर हम विविध शक्तियों के विकासवाले होते हैं, शक्तियों का विकास हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण का व्रत मनोनिरोध से पूर्ण होता है। मनोनिरोध से शक्तियों का विकास होकर प्रभु की प्राप्ति होती है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम पथ-भ्रष्ट न हों, (१) इसके लिये सोम के रक्षण का व्रत धारण करें, यह व्रत मनोनिरोध से ही पूर्ण होगा, (२) इस दूर-दूर जानेवाले मन को हम लौटाकर उत्तम निवास व जीवनवाले बनें—

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'यम वैवस्वत' की ओर

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १ ॥

(१) **यत्**=जो **ते मनः**=तेरा मन **वैवस्वतम्**=विवस्वान् सम्बन्धी **यमम्**=मृत्यु के देव की ओर **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=वापिस लौटाते हैं। **इह क्षयाय**=यहाँ ही (क्षि निवासगत्योः) निवास व गति के लिये। इसलिए मन को लौटाते हैं कि वह यहीं रहे, जिस कार्य को कर रहे हैं उससे दूर न हो जिससे **जीवसे**=हमारा जीवन उत्तम व दीर्घ हो, दीर्घ जीवन के लिये मन को न भटकने देना आवश्यक है। भटकता हुआ मन शक्तियों की विकीर्णता का कारण बनता है और इस प्रकार जीवन का ह्रास हो जाता है। (२) यहाँ यम को, मृत्यु की देवता को वैवस्वत कहा है। विवस्वान् 'सूर्य' है, सूर्य की गति से दिन-रात बनते हैं और एक-एक करके आयुष्य के दिन घटते जाते हैं। इसी कारण यम को यहाँ वैवस्वत कहा गया है। कभी-कभी हमारा मन मृत्यु की ओर चला जाता है, कुछ मृत्यु का भय लगने लगता है। हमारी सारी क्रियाएँ उदासी के कारण समाप्त हो जाती हैं। हम मृत्यु का ही राग अलापने लगते

हैं, इससे जीवन का ह्रास हो जाता है। मृत्यु को भूलना नहीं चाहिये, परन्तु मृत्यु का ही राग अलापते रहना भी ठीक नहीं। हम अपने मन को इस 'यम' से वापिस लाते हैं। मृत्यु को न भूलना जहाँ हमें धर्म-प्रवण करता है वहाँ हर समय मौत का ही ध्यान करते रहना हमें निराश व अकर्मण्य बना देता है।

भावार्थ—मन में हर वक्त मौत का ही चिन्तन करते रहना ठीक नहीं।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

द्युलोक व पृथिवीलोक की ओर

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ २॥

(१) **यत्**=जो **ते मनः**=तेरा मन **दिवम्**=द्युलोक की ओर **दूरकं जगाम**=दूर जानेवाला होता है और **यत्**=जो **पृथिवीम्**=पृथिवी की ओर दूर-दूर जाता है, **ते**=तेरे उस मन को **आवर्तयामसि**=वापिस लौटाते हैं **इह क्षयाय**=यहां ही रहकर गति के लिये और **जीवसे**=दीर्घ व सुन्दर जीवन के लिये। (२) मन भी द्युलोक में भटकता है तो कभी पृथिवीलोक में। कभी इस सिरे पर और कभी उस सिरे पर। यह प्रत्येक कार्य को सुन्दरता से कर पाता है और जीवन की प्रशस्तता का कारण बनता है।

भावार्थ—हम द्युलोक व पृथ्वीलोक में भटकने से मन को रोकते हैं।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

चतुर्भृष्टि भूमि की ओर

यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ३॥

(१) **यत्**=जो **ते मनः**=तेरा मन **चतुर्भृष्टिम्**=(चतुर्दिक्षु भृष्टिः भ्रंशो यस्याः) गेंद की तरह गोल-सा होने के कारण चारों दिशाओं में झुकाववाली **भूमिम्**=भूमि की ओर **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है, **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं जिससे **इह क्षयाय**=यहां ही निवास व गति के लिये हो और हम **जीवसे**=जीवन को उत्तम व दीर्घ बना पायें। (२) जमीन गोल है, चारों दिशाओं में झुकाववाली है। कभी-कभी मन पृथ्वी पर एक कोने से दूसरे कोने तक भटका करता है इस मन को हम भटकने से रोकें और जो कार्य कर रहे हैं उसी में केन्द्रित करें। यही जीवन को सुन्दर व दीर्घ बनाने का उपाय है।

भावार्थ—पृथ्वी पर इधर-उधर भटकते हुए मन को रोककर हम प्रस्तुत कार्य में ही केन्द्रित करें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

जीवसे

यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ४॥

(१) **यत्**=जो **ते**=तेरा **मनः**=मन **चतस्रः प्रदिशः**=चारों विशाल दिशाओं में **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं जिससे **इह क्षयाय**=यह यहाँ ही निवास व गति के लिये हो और **जीवसे**=दीर्घ व उत्तम जीवन को हम सिद्ध कर सकें। (२) मन इधर-उधर इन अनन्त विस्तृत दिशाओं में भटकता है, इस भटकने से उसकी शक्ति बिखर जाती है। परिणामतः कोई भी कार्य सुन्दरता से नहीं हो पाता।

भावार्थ—चारों दिशाओं में भटकते हुए मन को रोकना ही ठीक है।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

जलोंवाले समुद्र की ओर

यत्त समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ५॥

(१) **यत्**=जो **ते मनः**=तेरा मन **अर्णवं समुद्रम्**=जलोंवाले समुद्र की ओर **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं जिससे **इह क्षयाय**=यह यहाँ ही निवास व गति के लिये हो और **जीवसे**=दीर्घ व उत्तम जीवन के लिये हो। (२) मन अपने अन्दर निहित संस्कारों के कारण कभी-कभी समुद्रों की सैर करने लगता है, समुद्रों में उठती हुई लहरों का ध्यान करता है, प्रस्तुत कार्य में स्थिर नहीं होता। वे कार्य ठीक से नहीं होते और जीवन में सफलता नहीं मिलती। सफल जीवन के लिये मन को न भटकने देना आवश्यक है।

भावार्थ—दूर-दूर समुद्रों में भटकते हुए मन को हम अपने अन्दर ही रोकने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सुदूर किरणों में

यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ६॥

(१) **यत्**=जो **ते मनः**=तेरा मन **प्रवतः**=अत्यन्त उच्च स्थान में स्थित **मरीचीः**=किरणों की ओर **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं जिससे वह **इह क्षयाय**=यहां ही रहे और **जीवसे**=दीर्घ व उत्तम जीवन के लिये हो। (२) यहाँ से सूर्य चौदह करोड़ किलो मीटर के करीब दूरी पर है, अन्य कई नक्षत्र इससे भी हजारों गुणा दूर हैं। इतनी दूरी से आती हुई इन किरणों की ओर हमारा ध्यान जाता है, किरणों के साथ मन भी खूब दूर पहुँच जाता है। उस समय अन्य मनस्कता से होता हुआ कार्य बिगड़ ही जाता है। कार्य की सिद्धि के लिये आवश्यक है कि मन किये जाते हुए कार्य में ही केन्द्रित रहे।

भावार्थ—मन सुदूर नक्षत्रों से आती हुई किरणों का ध्यान करने लगता है, यह भटकता हुआ मन किसी भी कार्य को सुन्दरता व सफलता से नहीं कर पाता।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

जलों व ओषधियों की ओर

यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ७॥

(१) **यत्**=जो **ते**=तेरा **मनः**=मन **अपः**=जलों की ओर व **यत्**=जो **ओषधीः**=ओषधियों की ओर **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं। यह निरुद्ध मन **इह क्षयाय**=यहाँ ही निवास व गति के लिये हो और इस प्रकार **जीवसे**=दीर्घ व उत्तम जीवन के लिये हो। (२) कई बार यह मन खान-पान की दुनियाँ में ही घूमता रहता है, उस समय जीवन के एकदम भौतिक प्रवृत्ति का बन जाने की आशंका हो जाती है। इन भौतिक विषयों में फँसकर यह जीवन की अवनति का ही कारण बनता है। इसे उधर से हटाकर हम अपने कर्त्तव्य कर्मों में केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—मन सदा खान-पान की चीजों में ही न भटकता रहे उसे हम कर्त्तव्य कर्मों में केन्द्रित करें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सूर्य व उषा की ओर

यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ८॥

(१) **यत्**=जो **ते मनः**=तेरा मन **सूर्यम्**=सूर्य की ओर, और **यत्**=जो **उषसम्**=उषा की ओर **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है कभी सूर्य का ध्यान करता है और कभी उषा का **तत्**=उस **ते**=तेरे मन को **इह**=यहाँ **क्षयाय आवर्तयामसि**=जीवन के प्रस्तुत कार्यों में निवास के लिये लौटाते हैं **जीवसे**=जिससे यह मन दीर्घ व उत्तम जीवन का कारण बने। (२) सूर्य व उषाकाल के सोचने का यहां भाव यह है कि मन इस रूप में सोचा करता है कि—'प्रातःकाल होगा, सूर्य निकलेगा और मैं वहाँ जाऊँगा, उससे मिलूँगा, यह आनन्द लूँगा और वह आनन्द प्राप्त करूँगा।' मन को इस प्रकार सोचते रहने से रोककर कर्त्तव्य कर्म में लगाना ही ठीक है।

भावार्थ—मन को 'सवेरा होगा, सूर्य निकलेगा, यह खायेंगे, वह पीयेंगे' इस प्रकार सोचते रहने से रोककर प्रस्तुत कर्म में लगाना ही ठीक है।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ऊँचे पर्वतों की ओर

यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ९॥

(१) **यत्**=जो **ते मनः**=तेरा मन **बृहतः पर्वतान्**=इन उच्च शृंगवाले बड़े-बड़े पर्वतों की ओर **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं जिससे **इह क्षयाय**=वह यहाँ अपने क्रियमाण कर्म में ही निवास करे और **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिये हो। (२) हमारा मन पहाड़ों में भटकता है, पहाड़ों की ऊँची चोटियों की ओर जाता है। इस मन को निरुद्ध करके अपने कर्त्तव्य कर्मों में ही स्थिर करना चाहिए।

भावार्थ—पर्वतों की ऊँची चोटियों में भटकनेवाले इस मन को हम निरुद्ध करें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

इस व्यापक संसार की ओर

यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ १०॥

(१) **यत्**=जो **ते**=तेरा **मनः**=मन **इदं विश्वं जगत्**=इस सम्पूर्ण संसार में **दूरकं जगाम**=दूर-दूर जाता है **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=हम लौटाते हैं, **इह क्षयाय**=जिससे यह यहाँ ही निवास व गति के लिये हो और **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिये हो। (२) भटकता हुआ मन किसी भी कार्य को सुन्दरता व सफलता से नहीं कर पाता। इसका निरुद्ध करना और कर्त्तव्य कर्म में लगाना आवश्यक है। एकाग्रता से ही उस दिव्यशक्ति का जन्म होता है, जो हमें जीवन में सफल करती है।

भावार्थ—भटकते हुए मन का निरोध ही सफलता की कुञ्जी है।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दूर से दूर

यत्ते पराः परावतो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ११॥

(१) **यत्**=जो **ते**=तेरा **मनः**=मन **पराः परावतः**=दूर से दूर प्रदेशों में भटकता हुआ **दूरकं**

जगाम=अनन्त दूर चला जाता है, **ते**=तेरे **तत्**=उस मन को **इह**=यहां ही **क्षयाय**=निवास व गति के लिये **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं जिससे **जीवसे**=यह मन दीर्घ व उत्तम जीवन का साधन बने। (२) मन स्वभावत: दूर-दूर भटकता है। इसका निरोध करके ही हम किसी भी कार्य में सफल हो पाते हैं। जीवन भी शक्तियों के केन्द्रित हो जाने से उत्तम व दीर्घ होता है।

भावार्थ—हम इस दूर-दूर जानेवाले मन का निरोध करें।

ऋषि:—**बन्ध्वादयो गौपायना:** ॥ देवता—**मन आवर्त्तनम्**॥ छन्द:—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वर:—**गान्धार:** ॥

सदा 'था' व 'गा' में

यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्। तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ १२ ॥

(१) **यत्**=जो **ते मन:**=तेरा मन **भूतं च**=भूतकाल में **जगाम**=जाता है, हर समय भूतकाल की ही बातें सोचा करता है, **च**=और **भव्यं दूरकं जगाम**=भविष्यत्काल में बड़ी दूर चला जाता है, भविष्यत् की ही बातें सोचने लगता है, **ते तत्**=तेरे उस मन को **इह क्षयाय**=यहाँ ही वर्तमानकाल में निवास व गति के लिये **आवर्तयामसि**=लौटाते हैं। जिससे **जीवसे**=हमारा जीवन दीर्घ व उत्तम हो। (२) कई लोग निराशावाद की वृत्ति के होते हैं, प्राय: ये वृद्ध लोग भूतकाल की ही बात किया करते हैं। इन्हें भूत बड़ा उज्ज्वल दिखता है, वर्तमान बड़ा अवनत प्रतीत होता है। ये सदा 'था' की ही बात करते हैं। इनके विपरीत जीवन को प्रारम्भ करनेवाले युवक लोग 'कोठी बनायेंगे, कार खरीदेंगे, सन्तान को प्राशासक बनायेंगे' इत्यादि सुख-स्वप्न लेते हुए सदा उज्ज्वल भविष्य की बातें करते रहते हैं। चाहिए यह कि 'भूत व भव्य' से मन को हटाकर वर्तमान में ही केन्द्रित करें। सफल जीवन का यही मार्ग है।

भावार्थ—हम भूत व भविष्य में न भटकते रहकर वर्तमान में रहनेवाले बनें।

इस सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से है कि हम मन में सदा मृत्यु के ही विचार न उठते रहने दें, (१) इस भटकते हुए मन को रोकें (२-११) और 'था' व 'गा' की भाषा में न बोलते हुए सदा 'है' की भाषा ही बोलें। यही उत्तम जीवन का मार्ग है, (१२) निरोध से ही जीवन नवीन व स्तुत्य बनेगा—

[५९] एकोनषष्टितमं सूक्तम्

ऋषि:—**बन्ध्वादयो गौपायना:** ॥ देवता—**निर्ऋति:** ॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

क्रतुमान् सारथि

प्र तार्यायु: प्रतरं नवीय: स्थातारेव क्रतुमता रथस्य।
अध च्यवान उत्तवीत्यर्थं परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्॥ १ ॥

(१) गत सूक्त के अनुसार मनोनिरोध के होने पर **आयु:**=जीवन **प्रतरम्**=(प्रवृद्धतरं) प्रवृद्धतर, दीर्घ व **नवीय:**=नवतर-यौवन से युक्त, न जीर्ण हुआ-हुआ स्तुति के योग्य (नु स्तुतौ) **प्रतारि**=बढ़ता है। हमारा जीवन दीर्घ व स्तुत्य (प्रशस्त) होता है। हम उसी प्रकार जीवन में बढ़ते हैं **इव**=जैसे कि **रथस्य स्थातार:**=रथ पर स्थित होनेवाले पति-पत्नी **क्रतुमता**=उत्तम प्रज्ञान व कर्मवाले सारथि से बढ़ते हैं। इस शरीर-रथ में आत्मा रथी है, पति, बुद्धि उसकी पत्नी है और प्रभु सारथि हैं, वे पूर्ण प्रज्ञा व कर्मवाले हैं। (२) **अध**=अब प्रभु को रथ का सारथि बनाने पर, **च्यवान:**=सब अशुभों से पृथक् होता हुआ **अर्थम्**=वाञ्छनीय धर्म, अर्थ, काम व मोक्षरूप पुरुषार्थों को **उत्तवीति**=बढ़ाता है। और इस प्रार्थना के योग्य होता है कि **निर्ऋति:**=दुर्गति

परातरम्=बहुत ही दूर **सुजिहीताम्**=पूर्णतया चली जाए। दुर्गति से हम दूर हों। प्रभु जब हमारे रथ के सारथि होते हैं तब दुर्गति का वस्तुतः प्रश्न ही नहीं रहता। अहंकार-वश जब हमें रथ के स्वयं संचालन का गर्व हो जाता है तो हम भटक जाते हैं और दुर्गति का शिकार होते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन दीर्घ व स्तुत्य हो। प्रभु हमारे रथ के सारथि हों और हम दुर्गति से दूर रहें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन-अन्न-ज्ञान व यश

सामन्नु राये निधिमन्न्वन्नं करामहे सु पुरुध श्रवांसि।
ता नो विश्वानि जरिता ममत्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्॥ २॥

(१) हे **पुरुध**=नाना प्रकार से धारण करनेवाले प्रभो! **नु**=अब हम **सामन्**=साम के होने पर, अर्थात् साम मन्त्रों से प्रभु के गुणों का गायन करने पर **राये**=धन के लिये **करामहे**=हम पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं। प्रभु के स्मरण के साथ धन प्राप्ति के लिये प्रयत्न के होने पर उन प्रयत्नों में पवित्रता बनी रहती है और हमें उन धनों के विजय का गर्व नहीं होता, उन धनों का विजेता हम प्रभु को ही मानते हैं। (२) हम **निधिमत् अन्नं करामहे**=निधिवाले, निधानवाले शरीर में ही स्थिर तत्त्वों को जन्म देनेवाले, रस रुधिर आदि उत्तम धातुओं को उत्पन्न करनेवाले अन्न को हम करते हैं। 'निधिमत् अन्न' स्थिर सात्त्विक अन्न है। (३) इस स्थिर सात्त्विक अन्न के सेवन से हम **सुश्रवांसि**=उत्तम ज्ञानों व यशों को करते हैं। सात्त्विक अन्न हमारी बुद्धि को सात्त्विक करके हमारे जीवन को यशस्वी बनाता है। (४) **नः जरिता**=हमारा स्तवन करनेवाला **ता विश्वानि**=उन सब चीजों को **ममत्तु**=आनन्दपूर्वक आस्वादित करे। वह 'धन, अन्न, ज्ञान व यश' से जीवन में आनन्द का अनुभव करे। और **निर्ऋतिः**=दुर्गति **परातरम्**=बहुत दूर **सुजिहीताम्**=पूर्णतया चली जाये।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हुए 'धन, अन्न, ज्ञान व यश' को प्राप्त करके दुर्गति से दूर हों और सुगति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति

अभी ष्व१र्यः पौंस्यैर्भवेम द्यौर्न भूमिं गिरयो नाज्रान्।
ता नो विश्वानि जरिता चिकेत परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्॥ ३॥

(१) हे प्रभो! हम आपके सम्पर्क से प्राप्त **पौंस्यैः**=बलों से **अर्यः**=शत्रुओं को **सु**=अच्छी प्रकार **अभिभवेम**=अभिभूत कर लें। इस प्रकार अभिभूत कर लें **न**=जैसे कि **द्यौः**=द्युलोक **भूमिम्**=अपने प्रकाश से भूमि को अभिभूत-सा कर लेता है। सारी पृथिवी द्युलोक से प्राप्त होनेवाले प्रकाश से व्याप्त हो जाती है और चमक उठती है। हम शत्रुओं को इस प्रकार अभिभूत कर लें **न**=जैसे कि **गिरयः** (cloud)=मेघ **अज्रान्** (field)=खेतों को वृष्टिजल से अभिभूत कर देता है। मेघ वृष्टिजल के द्वारा खेतों को प्राप्त होता है, इसी प्रकार हम शक्ति के द्वारा शत्रुओं को प्राप्त हों। वृष्टिजल खेत को अभिभूत-सा कर लेता है, हम शत्रुओं को शक्ति से अभिभूत कर लें। (२) प्रभु कहते हैं कि **नः**=हमारी **ता विश्वानि**=उन सब शक्तियों को **जरिता**=स्तोता **चिकेत**=जाने, अपने जीवन में अनूदित करे। और परिणामतः **निर्ऋतिः**=दुर्गति **सु**=खूब ही **परातरम्**=दूर **जिहीताम्**=चली जाये। शक्तियों के द्वारा शत्रुओं का पराभव करते हुए हम उत्तम स्थिति को प्राप्त करें।

भावार्थ—शक्ति से शत्रु को अभिभूत करके हम दुर्गति से बच पायें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः सोमश्च** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मृत्यु से ग्रस्त न होना

मो षु णः सोम मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्॥ ४॥

(१) हे **सोम**=शान्त प्रभो! आप **नः**=हमें **मृत्यवे**=मृत्यु के लिये **मा उ सु परादाः**=मत ही दे डालिये। आपकी कृपा से हम मृत्यु के शिकार न हों, दीर्घजीवनवाले बनें। इस दीर्घ जीवन के लिये **नु**=निश्चय से **उच्चरन्तम्**=ऊपर आकाश में गति करते हुए **सूर्यम्**=सूर्य को **पश्येम**=हम देखनेवाले बनें। यह 'सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठना और सूर्य-किरणों को छाती पर लेना' हमारे स्वास्थ्य का कारण बनेगा। 'हिरण्यपाणि' सूर्य हमारे शरीरों में स्वर्ण को सञ्चरित कर रहा होगा। (२) **द्युभिः**=दिनों से **हितः**=स्थापित किया हुआ **जरिमा**=बुढ़ापा **नः**=हमारे लिये **सु अस्तु**=उत्तम ही हो, यह जीर्णता का कारण न बने। हम वृद्ध (=बढ़े हुए) बनें, न कि जीर्ण। एक-एक दिन के बीतने के साथ आयुष्य तो काल के दृष्टिकोण से कम और कम होता ही है, परन्तु हमारी शक्तियाँ जीर्ण न हो जाएँ। **निर्ऋतिः**=दुर्गति **सु**=अच्छी प्रकार **परातरम्**=दूर और खूब ही दूर **जिहीताम्**=चली जाए। हमारी स्थिति अच्छी ही हो, यह होगी तभी जब कि हम जीर्ण न होंगे। सूर्य के सम्पर्क में स्वस्थ रहते हुए हम जीर्ण शक्ति न हों।

भावार्थ—सोम की कृपा से हम मृत्यु से दूर हों। सूर्य सम्पर्क हमें नीरोगता दे।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**असुनीतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असु-नीति

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः।
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥ ५॥

(१) हे **असुनीते**=प्राणों के धारण की नीति! तू **अस्मासु**=हमारे में **मनः**=मन को **धारय**=धारण कर। दीर्घ-जीवन के लिये पहला सिद्धान्त यह है कि हम मन को स्थिर करें। भटकता हुआ मन शक्तियों को विकीर्ण कर देता है और इससे कभी दीर्घ-जीवन नहीं प्राप्त हो सकता। विशेषकर मन में मृत्यु आदि का भय आ गया और मन को अस्थिर करनेवाला हुआ तब तो दीर्घ-जीवन का मतलब ही नहीं रहता। (२) **जीवातवे**=जीवन के लिये **नः आयुः**=हमारी आयु को **सु प्रतिरा**=खूब ही बढ़ा दीजिये। 'आयु' शब्द 'इ गतौ' से बना है। यह गतिशीलता का संकेत करता है। क्रियामय जीवन ही दीर्घजीवन होता है। आलस्य आयुष्य को अल्प कर देता है। (३) **नः**=हमें **सूर्यस्य**=सूर्य के **संदृशि**=संदर्शन में **रारन्धि**=सिद्ध करिये। हम अधिक से अधिक सूर्य के सम्पर्क में रहनेवाले बनें। यह उदय व अस्त होता हुआ सूर्य रोग क्रिमियों का नाशक होता है। (४) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **घृतेन**=घृत के द्वारा **तन्वम्**=हमारे शरीर को, शरीर की शक्तियों को **वर्धयस्व**=बढ़ाइये। घृत का प्रयोग दीर्घायुष्य का साधक है। 'घृतं आयुः'=घृत को आयु ही कहा गया है। पर इस घृत का प्रयोग 'आज्यं तौलस्य प्राशान'=तौलकर ही करना है। मात्रा में प्रयुक्त घृत मलों के क्षरण व जाठराग्नि की दीप्ति का कारण बनता है, परन्तु यही अतिमात्रा होने पर जाठराग्नि की मन्दता व यकृत् विकार का कारण हो जाता है। सो घृत का मात्रा में प्रयोग दीर्घजीवनीय है।

भावार्थ—दीर्घजीवन के चार साधन हैं—(क) मन की दृढ़ता व स्थिरता, (ख) क्रियाशीलता, (ग) सूर्य सम्पर्क, (घ) गोघृत का मात्रा में सेवन।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**असुनीतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'चक्षु-प्राण-धन-सूर्य-दर्शन व अनुमति'

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति॥ ६॥

(१) हे **असुनीते**=प्राणधारण के मार्ग! तू **अस्मासु**=हमारे में **पुनः**=फिर **चक्षुः**=दृष्टिशक्ति को **धेहि**=धारण कर, **पुनः**=फिर **प्राणम्**=प्राणशक्ति को दे। **इह**=इस जीवन में **नः**=हमारे लिये **भोगम्**=शरीर के पालन के लिये आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के साधनभूत धन को धारण करिये। एवं असुनीति यह है कि (क) हम चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण न होने दें। (ख) प्राणशक्ति को कायम रखें, (ग) उचित धन की मात्रावाले हों। निर्धनता हीन भोजन का कारण बनेगी और उससे चक्षु व प्राण दोनों में क्षीणता आयेगी। (२) हम **उच्चरन्तम्**=उदय होते हुए **सूर्यम्**=सूर्य को **ज्योक् पश्येम**=दीर्घकाल तक देखनेवाले हों। यह सूर्य-दर्शन व सूर्य-सम्पर्क में रहना ही तो मुख्य रूप से हमारे दीर्घायुष्य का कारण होता है। (३) हे **अनुमते**=अनुकूलमति! **मृडया**=तू सुखी कर। तेरी कृपा से **नः स्वस्ति**=हमारा कल्याण हो। 'हर वक्त मृत्यु का ध्यान आना व मृत्यु की चिन्ता करना' ही प्रतिकूलमति है। यह जीवन के ह्रास का महान् कारण होती है। अनुमति का स्वरूप तो यह है कि 'जीवेम शरदः शतम्'=हम सौ वर्ष तक अवश्य जीयेंगे ही।

भावार्थ—(क) इन्द्रियों को ठीक रखना, (ख) प्राणशक्ति में कमी न आने देना, (ग) निर्धनता का न होना, (घ) सूर्य सम्पर्क, (ङ) अनुकूल मति ये बातें दीर्घजीवन का कारण हैं।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शान्ति-सोमरक्षण-पथ्य-सेवन

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः॥ ७॥

(१) **नः**=हमें **पृथिवी**=पृथिवी **पुनः**=फिर **असुं ददातु**=प्राणशक्ति को दे। **देवी द्यौः**=देदीप्यमान द्युलोक भी **पुनः**=फिर प्राण को दे। **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष फिर प्राण को दे। पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक हमें प्राण को देनेवाले हों। अध्यात्म में पृथिवीलोक 'शरीर' है। अन्तरिक्षलोक 'हृदय' है। द्युलोक 'मस्तिष्क' है। बाहर की त्रिलोकी व अन्दर की त्रिलोकी की अनुकूलता होने पर मनुष्य स्वस्थ होता है। 'द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिः' इस प्रार्थना का यही अभिप्राय है। इन की परस्पर अनुकूलता के होने पर शरीर दृढ़ होता है, हृदय चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को लिये हुए होता है, मस्तिष्क दीप्त होता है। (२) **सोमः**=सोम-रसादि के क्रम से उत्पन्न हुआ-हुआ वीर्य **नः**=हमारे लिये **पुनः**=फिर **तन्वम्**=शक्तियों के विस्तारवाले शरीर को **ददातु**=दे। सोम के रक्षण से ही नीरोगता व अन्य शक्तियों की प्राप्ति होती है। उन्नतिमात्र का मूल सोमरक्षण है। 'ब्रह्मचर्यं परोधर्मः'=इसीलिए ब्रह्मचर्य को परधर्म कहा है। (३) **पूषा**=वह पोषण करनेवाला प्रभु **पुनः**=फिर **पथ्याम्**=पथ्य भोजन की वृत्ति को दे, **या**=जो पथ्य भोजन की वृत्ति 'अनुमति' की यह भावना भी महत्त्वपूर्ण है कि मन तो कहता है कि भोजन बड़ा स्वादिष्ट है थोड़ा-सा और खा लो, पर मति—बुद्धि प्रतिवाद करती हुई कहती है कि नहीं दीर्घ-जीवन के लिये ठीक

नहीं तो अधिक नहीं खाना। इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में मन की इच्छा पर, दीर्घ-जीवन के दृष्टिकोण से प्रतिबन्ध रखनेवाली मति ही 'अनुमति' है। यह हमारा निश्चय से कल्याण करनेवाली है। **स्वस्तिः**=वस्तुतः उत्तम अस्तित्व को देनेवाली है। पथ्य भोजन से रोग होते ही नहीं, अचानक आ गये रोग भी नष्ट हो जाते हैं। अपथ्य सब रोगों का मूल है। अपथ्य के होने पर अच्छे से अच्छे औषध भी रोगों को दूर नहीं कर पाते।

भावार्थ—'त्रिलोकी की अनुकूलता, सोम का रक्षण, पथ्य का सेवन' ये तीन बातें दीर्घायुष्य के लिये आवश्यक हैं।

सूचना—५-६ व ७ संख्या के मन्त्रों में दीर्घ-जीवन के क्रमशः निम्न उपाय निर्दिष्ट हुए हैं—(क) मन की दृढ़ता, (ख) क्रियाशील जीवन, (ग) सूर्य सम्पर्क, (घ) गोघृत का यथोचित सेवन, (ङ) ज्ञानेन्द्रियों का ठीक रखना, (च) प्राणशक्ति में कमी न आने देना, (छ) निर्धनता को दूर रखना, (ज) मन की इच्छाओं को बुद्धि से संयत करके दीर्घजीवन के अनुकूल सोचना व करना (अनुमति), (झ) बाह्य जगत् व अन्तर्जगत् में सामञ्जस्य (ञ) सोम (=वीर्य) रक्षण, (ट) पथ्य-भोजन। ये ११ बातें हमें अवश्य शतायु करेंगी।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सुबन्धु' का निर्दोष जीवन

शं रोदसी सुबन्धवे यह्वी ऋतस्य मातरा।
भरतामप यद्रपो द्यौः पृथिवि क्षमा रपो मो षु ते किं चनाममत्॥ ८॥

(१) **सुबन्धवे**=मन को उत्तमता से बाँधनेवाले तथा मन के द्वारा वीर्य को शरीर में सुरक्षित रखनेवाले मन्त्र के ऋषि सुबन्धु के लिये **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **शम्**=शान्ति को देनेवाले हों। ये द्युलोक व पृथिवीलोक **यह्वी**=महान् हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे जीवनों में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, पृथिवी की अनुकूलता से शरीर स्वस्थ रहता है, द्युलोक की अनुकूलता से मस्तिष्क दीप्त बनता है। ये अनुकूल पृथिवीलोक व द्युलोक **ऋतस्य मातरा**=ऋत का निर्माण करनेवाले होते हैं। जो भी चीज ठीक है उसे ये उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये शरीर को निर्दोष बना देते हैं। (२) **द्यौः**=द्युलोक **यद् रपः**=जो भी दोष है उसे **अपभरताम्**=दूर करे, **पृथिवि**=अन्तरिक्ष दोष को दूर करे, **क्षमा**=यह पृथिवी भी दोष को दूर करे। इस त्रिलोकी की अनुकूलता से हमारा जीवन शरीर, हृदय व मस्तिष्क तीनों ही अध्यात्मलोकों में निर्दोष बने। (३) **किंचन रपः**=कुछ रत्तीभर भी दोष **मा उ**=मत ही **ते**=तेरा **सु अममत्**=हिंसन करे। वस्तुतः बाह्यलोकों व अन्तर्लोकों की अनुकूलता के होने पर दोष उत्पन्न ही नहीं होते और यदि दोष का अंकुर उत्पन्न होने भी लगे तो उसका मूल में ही (प्रारम्भ में ही) उद्बर्हण हो जाता है। उस समय दोष का दूर करना कठिन नहीं होता। उसे आराम से उखाड़कर फेंक दिया जाता है। वृक्ष की तरह बद्धमूल हो जाने पर तो उसे काटने के लिये बड़े-बड़े औषध रूप कुल्हाड़ों की आवश्यकता पड़ेगी ही। सो बुराई को प्रारम्भ में ही समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये सम्पूर्ण वातावरण की अनुकूलता इष्ट है। 'प्रकृति के समीप रहना' ही प्राकृतिक शरीर को स्वस्थ रखता है। अस्वाभाविक खान-पान व रहन-सहन रोगों का जनक होता है।

भावार्थ—हम मन को भटकने से रोकें, शरीर में वीर्य को बाँधनेवाले हों। इससे द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे लिये ऋत (=ठीक) चीज का निर्माण करनेवाले होंगे और हमारे जीवन को निर्दोष करेंगे।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तीन औषध

अव॑ द्वके अव॑ त्रिका दि॒वश्च॑रन्ति भेष॒जा
क्ष॒मा च॑रि॒ष्ण्वे॑क॒कं भर॑ता॒मप॒ यद्रपो॒ द्यौः पृ॑थिवि क्ष॒मा रपो॒ मो षु ते किं च॒नाम॑मत् ॥ ९ ॥

(१) जीवन की निर्दोषता के लिए प्रस्तुत मन्त्र में तीन महत्त्वपूर्ण औषधों का संकेत है। **क्षमा**=इस पृथिवी पर **एककम्**=(एक+कं) एक सुख को देनेवाली **भेषजा**=औषध **चरिष्णु**=(चरति) विचरण करती है, विद्यमान है। यह 'मधु' के रूप में है। यह मधु क्षीणता व स्थूलता दोनों को ही दूर करके शरीर के यथेष्ठ स्थिति में लानेवाला है। स्वयं मधु भी अद्भुत औषध है, यह सब विषयों का चूषण कर लेती है और शरीर को नीरोग बनाने में अद्भुत चमत्कार को प्रकट करती है। (२) 'दिवः' शब्द यहाँ अन्तरिक्ष व द्युलोक दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। **दिवः**=इस अन्तरिक्ष से **द्वके**=दूसरी सुखप्रद औषध अब (चरन्ति) नीचे इस पृथ्वी पर गति करती है। यह 'मेघ-जल' के रूप में है। मेघ-जल के गुण इस शब्द से ही स्पष्ट हैं कि इसे 'अमर-वारुणी' कहा गया है, यह देवताओं की मद्य के समान है। (३) **दिवः**=द्युलोक से **त्रिका**=तीसरी सुखप्रद **भेषजा**=औषध **अव चरन्ति**=इस पृथ्वीलोक पर आती है। यह सूर्य-किरण के रूप में है। यह सूर्य-किरण शरीर में आनेवाले सब रोगकृमियों का संहार करके शरीर को नीरोग बनाती है। यह शरीर में स्वर्ण के इञ्जक्शन-सा कर देती है। शरीर में विटामीन डी की उत्पत्ति करके शरीर में कैल्सियम की ठीक खपत करानेवाली ये होती हैं। इस प्रकार ये सूर्य-किरणें शरीर के रोगों को नष्ट करती हैं। (४) **द्यौः**=द्युलोक **पृथिवी**=अन्तरिक्षलोक तथा **क्षमा**=पृथिवीलोक **यद् रपः**=जो भी दोष है उसे **अपभरताम्**=दूर करें। **किंचनरपः**=नाममात्र भी दोष **ते**=तुझे **मा उ सु अममत्**=मत ही हिंसित करें।

भावार्थ—पृथिवी का 'मधु', अन्तरिक्ष का वृष्टिजल तथा द्युलोक की सूर्य-किरणें शरीर को निर्दोष बना करके हमारे जीवनों को सुखी बनाते हैं।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्याविन्द्रश्च, द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उशीनराणी का रथ

समि॑न्द्रेरय॒ गाम॑न॒ड्वाहं॒ य आव॑हदुशी॒नरा॑ण्या॒ अनः॑ ।
भर॑ता॒मप॒ यद्रपो॒ द्यौः पृ॑थिवि क्ष॒मा रपो॒ मो षु ते किं च॒नाम॑मत् ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार शरीर को निर्दोष बनाकर हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **उशीनराण्याः अनः**=बुद्धि के इस रथ को **सं ईरय**=सम्यक् प्रेरित कर। बुद्धि को उशीनराणी कहा है, यह 'उशी' कामना करती है और 'नराणी' आगे ले चलती है उस **गाम्**=गौ को **अनड्वाहम्**=(बैल को) अनड्वाह को **सं ईरय**=प्रेरित कर **यः**=जो **आवहत्**=इस रथ का वहन करता है। 'गावः इन्द्रियाणि' गौएँ तो इन्द्रियाँ हैं, ये शरीर रूप रथ के घोड़े कहलाते हैं 'इन्द्रियाणि हयानाहुः'। मन लगाम है। वह जितना दृढ़ होता है उतना ही रथ की गति निर्विघ्न रहती है। वस्तुतः 'अनड्वाह' शब्द की मूल भावना ही 'रथ का वहन करनेवाला' यह है। मन इस शरीर रथ का वहन करनेवाला है। 'रथी' इन्द्र व जीवात्मा है, परन्तु इस रथ को बुद्धि का ही रथ कहा गया, क्योंकि सारथित्वेन बुद्धि ही इसे ठीक-ठाक रखती है। वह मनरूपी लगाम के द्वारा रथ का वहन

करती है, एवं मन का महत्त्व स्पष्ट है। इसके बिना बुद्धि भी अपना कार्य करने में समर्थ नहीं। (२) इन सब का (बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ) निर्दोष होना आवश्यक है। सो कहते हैं कि **द्यौः**=द्युलोक **पृथिवि**=अन्तरिक्षलोक तथा **क्षमा**=पृथिवीलोक **यद् रपः**=जो भी दोष है उसे **अपभरताम्**=दूर करें। **किंचन रपः**=कुछ भी दोष **ते**=तुझे **मा उ सु अमनत्**=मत ही हिंसित करे।

भावार्थ—हमारा यह शरीर-रथ निर्दोष व परिष्कृत हो, जिससे यात्रा निर्विघ्न पूर्ण हो जाए।

सूक्त के प्रथम चार मन्त्रों में दुर्गति के दूरीकरण के लिये प्रार्थना है, (१-४) फिर असुनीति का प्रतिपादन करते हुए दीर्घजीवन के साधनों पर प्रकाश डाला गया है, (५-७) अन्तिम तीन मन्त्रों में शरीर को निर्दोष बनाने का विधान है, (८-१०) हमें प्रयत्न करना है कि 'त्वेषसन्दृश' (=दीप्त-दर्शन) व 'उपस्तुत' बनें—

[६०] षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**असमाती राजा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दीप्त-दर्शन, स्तुतिवाला

आ जनं॑ त्वे॒षसं॑न्दृशं॒ माही॑नाना॒मुप॑स्तुतम्। अग॑न्म॒ बिभ्र॑तो॒ नमः॑ ॥ १ ॥

(१) **नमः बिभ्रतः**=नमस्कार को धारण करते हुए, बद्धाञ्जलि होकर अथवा आदर की भावना को धारण करते हुए हम **आ अगन्म**=सर्वथा प्राप्त हों। **जनम्**=उस मनुष्य को प्राप्त हों जो कि **त्वेषसन्दृशम्**=दीप्त-दर्शनवाला है, जिसका मुख तेजस्विता से दीप्त है तो मस्तिष्क ज्ञान की दीप्ति से उज्ज्वल है। इसके सम्पर्क में आकर हम भी इसी प्रकार बन पायेंगे। हमारा भी शरीर तेजस्वी होगा और मस्तिष्क ज्ञान की दीप्तिवाला बनेगा। (२) हम उस मनुष्य को प्राप्त होते हैं जो कि **माहीनानां उपस्तुतम्**=पूजा के योग्यों के लिये उपगत स्तुतिवाला है, पूजनीयों की पूजा करनेवाला है। वही पुरुष संगतिकरण योग्य है जो कि हृदय में प्रभु की पूजा की भावना से ओत-प्रोत है।

भावार्थ—हम उन लोगों को नमस्कृत करें जो तेजस्विता से दीप्त मुखवाले, ज्ञान से उज्ज्वल मस्तिष्कवाले तथा हृदय में पूज्यों की पूजा की वृत्तिवाले हैं। जिससे हमारा भी जीवन इसी प्रकार का बने।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**असमाती राजा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

किनका संग?

अस॑माति॒ नितो॑शनं त्वे॒षं नि॑य॒यिनं॒ रथ॑म्। भ॒जेर॑थस्य॒ सत्प॑तिम्॥ २ ॥

(१) **भजे**=मैं सेवन व उपासन करता हूँ उस पुरुष का जो कि (क) **असमातिम्**=असमान व अनुपम है, unpasselleded=अपने क्षेत्र में अपनी समतावाले को नहीं रखता। (ख) **नितोशनम्**=निश्चय से काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करनेवाला है, (ग) **त्वेषम्**=कामादि शत्रुओं के संहार के कारण दीप्त जीवनवाला है। इन वासनाओं ने ही तो ज्ञान पर परदा डाला हुआ था, इस आवरण के हट जाने पर उसका ज्ञान चमक उठता है, (घ) **निययिनम्**=गतिशील है, जिसका जीवन अकर्मण्य नहीं। (ङ) **रथम्**=जो तीव्र गतिवाला है, स्फूर्ति से सब कार्यों को करनेवाला है। क्रियाशील है और क्रियाओं को स्फूर्ति से करता है। (रंहतेर्रा स्माद् गतिकर्मणः) (च) **रथस्य सत्पतिम्**=शरीर रूप रथ का उत्तम रक्षक है। अर्थात् अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान करता है। यदि यह शरीर रूप रथ विकृत हो जाए तो अन्य सब बातें तो व्यर्थ ही हो जाती हैं।

(२) एवं हमारा सम्पर्क उल्लिखित ६ बातों से युक्त जीवनवाले पुरुष के साथ होगा तो हम भी अपने जीवन में अनुपम उन्नति करनेवाले, कामादि का पराभव करनेवाले, दीप्त, गतिशील, स्फूर्तिमय व स्वस्थ बनेंगे। यह संग ही तो हमारे जीवन को बनानेवाला होता है।

भावार्थ—उत्तम सम्पर्क से हम भी अपने जीवन को उत्तम बना पायें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**असमाती राजा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

युद्ध के द्वारा अग्र-स्थिति

यो जनान्महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान्। उतापवीरवान्युधा ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र में 'असमाति'=अनुपम जीवनवाले का उल्लेख था। यह असमाति वह है **यः**=जो **जनान्**=सब लोगों को **अतितस्थौ**=लाँघकर ठहरा है, उसी प्रकार सब से आगे बढ़कर यह स्थित हुआ है **इव**=जिस प्रकार कि वन में मृगेन्द्र (=शेर) सब **महिषान्**=बड़े-बड़े भैंसे आदि पशुओं को लाँघकर स्थित होता है। (२) 'यह 'असमाति' औरों से किस प्रकार लाँघ गया'? इसका उत्तर 'युधा' शब्द से दिया गया है। यह आगे बढ़ा है **युधा**=युद्ध के द्वारा। इसने 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रुओं के साथ हृदयरूप रणक्षेत्र में युद्ध किया है। इस अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करने के कारण ही यह सब से आगे बढ़ गया है। इसने जब इस युद्ध को किया है उस समय इसने यह नहीं देखा है कि **पवीरवान्**=वह वज्रवाला है **उत**=अथवा **अपवीरवान्**=वज्रवाला नहीं है। साधन जुटाने की प्रतीक्षा में ही यह खड़ा नहीं रह गया। आक्रमण करनेवाले कामादि शत्रुओं के साथ यह युद्ध में जुट गया और उसे यह श्रद्धा रही कि साधन तो प्रभु जुटा ही देंगे। ठीक कार्य में लगने पर प्रभु मदद करते ही हैं। जो व्यक्ति परिस्थितियों की अनुकूलता व प्रतिकूलता को ही देखते रहते हैं वे संसार संग्राम में विजयी नहीं हुआ करते। यह 'असमाति' पूर्ण उत्साह के साथ युद्ध में लग जाता है और विजयी बनकर सब से आगे स्थित होता है। हम भी इस असमाति के सम्पर्क में आते हैं, इसे आदर देते हैं और उसके पदचिह्नों पर चलने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं के साथ युद्ध के द्वारा ही मनुष्य उन्नत स्थिति में पहुँचता है।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**असमाती राजा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

इक्ष्वाकु

यस्यैक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान्मराय्येधते। दिवीव पञ्च कृष्टयः ॥ ४ ॥

(१) 'असमाति' वह है अनुपम जीवनवाला वह है, **यस्य**=जिसके **व्रते**=गत मन्त्र में वर्णित काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं के साथ सतत युद्ध रूप व्रत में, अर्थात् इस अध्यात्म युद्ध को स्वयं अपनानेवाला **इक्ष्वाकुः**=(इक्षु=इच्छा desire, आकुः=one who bends अञ्च्) इच्छाओं व कामनाओं को झुकानेवाला पुरुष **रेवान्**=उत्तम अध्यात्म सम्पत्तिवाला होता हुआ **मरायी**=शत्रुओं को मारनेवाला, काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को नष्ट करनेवाला **उपैधते**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त होता है। उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता है **इव**=जैसे **पञ्च कृष्टयः**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच भागों में विभक्त हुए-हुए मनुष्य **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में वृद्धि को प्राप्त करते हैं। ज्ञान मनुष्य के जीवन को पवित्र करता है। ज्ञान से हमारी न्यूनताएँ दूर होती हैं और हम पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं। (२) कामनाओं को दबानेवाला 'इक्ष्वाकु' अध्यात्म संग्राम में जुटकर के आगे बढ़ता है। वह अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करता हुआ वृद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम भी अध्यात्म-संग्राम का व्रत लें। इस संग्राम में कामादि शत्रुओं को मारकर आत्म-सम्पत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रथ-प्रोष्ठ 'असमाति'

इन्द्र॑ क्ष॒त्रास॑मातिषु॒ रथ॑प्रोष्ठेषु धारय। दि॒वीव॒ सूर्यं॑ दृ॒शे॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **रथप्रोष्ठेषु**=(प्रोष्ठ=ऋषभ=श्रेष्ठ) रंहणशील-गतिशील-स्फूर्तिमय पुरुषों में श्रेष्ठ **असमातिषु**=अनुपम जीवनवाले इन पुरुषों में **क्षत्रा**=बलों को **धारय**=धारण करिये। इस प्रकार धारण करिये, **इव**=जैसे कि **दिवि**=द्युलोक में **सूर्यम्**=आप सूर्य को धारण करते हैं, **दृशे**=जिससे सब लोग मार्ग को देख सकें। (२) 'रथ' शब्द 'रंहतेर्गतिकर्मणः' धातु से बनकर तीव्र गतिवाले, स्फूर्तिमय जीवनवाले पुरुष का वाचक है। उनमें भी श्रेष्ठ 'रथ-प्रोष्ठ' है। यह इस स्फूर्ति व गति के कारण ही 'असमाति' बना है, अनुपम जीवनवाला हुआ है। इसके जीवन में शक्ति का स्थापन होगा तो ये लोकहित के कार्यों को करने में अधिक क्षम होंगे, ये उसी प्रकार लोगों के मार्ग-दर्शन के लिये होंगे जिस प्रकार कि आकाश में उदित हुआ-हुआ सूर्य लोगों का मार्गदर्शन करता है।

भावार्थ—स्फूर्तिमय जीवनवाले, कामादि के विजेता अनुपम जीवनवाले पुरुष हमारे लिये मार्ग-दर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अगस्त्यस्य स्वसैषां माता** ॥ देवता—**असमाती राजा** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अगस्त्यस्य नद्भ्यः

अ॒गस्त्य॑स्य न॒द्भ्यः सप्ती॑ युनक्षि॒ रोहि॑ता। प॒णीन्न्य॑क्रमीर॒भि विश्वा॑न्राजन्नरा॒धसः॑॥ ६॥

(१) अगस्त्य की स्वसा (=बहिन) सुबन्धु की माता है। वही प्रस्तुत मन्त्रों की देवता है। अगं अचलं कूटस्थं प्रभुं स्त्यायति (**स्त्यै शब्दे**)=अचल प्रभु के नामों का जो उच्चारण करता है वह 'अगस्त्य' है। वह चित्तवृत्ति जो कि प्रभु-स्तवन की ओर झुकती है वही अगस्त्य की स्वसा है, 'सु अस्'=अगस्त्य की स्थिति को उत्तम बनानेवाली है। यह 'अगस्त्य स्वसा' सुबन्धु को जन्म देती है, सुबन्धु, अर्थात् उत्तमता से मन को बाँधनेवाला। हे प्रभो! आप इन **अगस्त्यस्य नद्भ्यः**=(नन्दपितृभ्य) अगस्त्य के आनन्दित करनेवाले, अगस्त्य के भगिनी पुत्रों, अर्थात् प्रभु-स्तवन की ओर चित्तवृत्ति को लगाकर चित्त के बाँधनेवालों के लिये **रोहिता**=तेजस्वी अथवा प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले **सप्ती**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **युनक्षि**=इस शरीर रूप रथ में जोतते हैं। अर्थात् मनोनिरोध करनेवाले व्यक्तियों को आप उत्तम इन्द्रियाश्वों की प्राप्ति कराते हैं। इन्द्रियों ने तो विषयों का ग्रहण करना ही है, परन्तु यदि वे आत्मवश्य होती हुई विषयों में जाती हैं तो पवित्रता बनी रहती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य की वृत्ति भौतिक नहीं बन जाती। (२) इसके विपरीत हे **राजन्**=संसार के शासक प्रभो! आप **विश्वान्**=सब **अराधसः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को न सिद्ध करनेवाले **पणीन्**=बणिये की मनोवृत्तिवाले व्यवहारी लोगों को **अभि**=इस लोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से **नि अक्रमीः**=नीचे कुचल देते हैं। धन का लोभ इन्हें यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होने से रोकता है, सो ये इहलोक से भी जाते हैं, परलोक से भी।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन की ओर चित्तवृत्ति को झुकायेंगे तो हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम होंगे। केवल व्यवहारी पुरुष बन जायेंगे तो कुचले जाएँगे।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**सुबन्धोर्जीविताह्वानम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आजा, निकल आ

अ॒यं मा॒ता॒यं पि॒ता॒यं जी॒वातु॒राग॑मत्। इ॒दं तव॑ प्र॒सर्प॑णं॒ सुब॑न्ध॒वेहि॒ निरि॑हि ॥ ७ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **सुबन्धो**=मन को बाँधनेवाले! मन को विषयों में न भटकने देनेवाले! **अयम्**=यह यज्ञ ही अथवा प्रभु ही **माता**=तेरी माता हैं, तेरे जीवन का निर्माण करनेवाले हैं, **अयं पिता**=यही तेरे पिता अथवा रक्षण करनेवाले हैं। **अयं जीवातुः**=यह जीवनौषध के रूप में **आगमत्**=तुझे प्राप्त हुए हैं। मन को निरुद्ध करके हम प्रभु में लगाने का प्रयत्न करें, यज्ञादि उत्तम कर्मों में इसे लगाये रखें। हम प्रभु को ही माता, पिता व जीवनोषध के रूप में जानें। (२) हे सुबन्धो! **इदम्**=यह प्रभु व यज्ञ की ओर चलना ही **तव प्रसर्पणम्**=तेरा प्रकृष्ट मार्ग है। **एहि**=तू इस मार्ग पर चलता हुआ मुझे (प्रभु को) प्राप्त करनेवाला बन। **निरिहि**=इस विषयपंक से तू बाहर निकल आ। विषयों में फँसे रहकर तेरा विनाश हो जाएगा। यज्ञ में ही तेरा कल्याण है, प्रभु की ओर झुकना ही जीवन है, उससे दूर होकर विषय-प्रवण होना ही मृत्यु है। प्रभु जीव से कहते हैं कि आ जा, विषयों के पंक से बाहिर निकल आ।

भावार्थ—हम प्रभु को ही माता, पिता व जीवन के रूप में जानें। प्रभु की ओर ही हम चलें। प्रभु को प्राप्त हो जाएँ, विषयों से दूर रहें।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**सुबन्धोर्जीविताह्वानम्** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मनो-बन्धन

यथा॑ यु॒गं व॑र॒त्रया॒ नह्य॑न्ति ध॒रुणा॑य॒ कम्।
ए॒वा दा॑धार ते॒ मनो॑ जी॒वात॑वे॒ न मृ॒त्यवेऽथो॑ अरि॒ष्टता॑तये ॥ ८ ॥

(१) **यथा**=जैसे **युगम्**=रथ के जुए को **धरुणाय**=धारण करने के लिये **वरत्रया**=रस्सी से **नह्यन्ति**=बाँध देते हैं, और परिणामतः **कम्**=वहाँ सुख होता है। न बाँधने पर सब तितर-बितर हो जाने से यात्रा का ही सम्भव न होता। **एवा**=इसी प्रकार **ते मनः**=तेरे मन को **दाधार**=धारण करते हैं। इसे यज्ञ में व उपासन में लगाते हैं। जिससे कि **जीवातवे**=जीवन बड़ी ठीक प्रकार से चले **न मृत्यवे**=मृत्यु न हो जाए। मन के भटकने में मृत्यु ही है। **अथ उ**=और अब **अरिष्टतातये**=अहिंसन व शुभ के विस्तार के लिये तेरे मन को धारण करते हैं। (२) स्थिर मन जीवन का कारण है, अस्थिर मन मृत्यु की ओर ले जानेवाला है। स्थिर मन शुभ का मूल होता है। मन की अस्थिरता में हिंसन ही हिंसन है। इसलिए जैसे जुए को रस्सी से दृढ़तापूर्वक बाँध देने से रथ का ठीक से धारण होता है, इसी प्रकार हम मन को यज्ञों में व प्रभु में बाँधकर जीवन को धारण करनेवाले बनते हैं, यही अरिष्ट मार्ग है।

भावार्थ—मन को स्थिर करके हम मृत्यु को छोड़कर जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**सुबन्धोर्जीविताह्वानम्** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मन को यज्ञों में बाँधना

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धारे॒मान्वन॒स्पती॑न्।
ए॒वा दा॑धार ते॒ मनो॑ जी॒वात॑वे॒ न मृ॒त्यवेऽथो॑ अरि॒ष्टता॑तये ॥ ९ ॥

(१) **यथा**=जैसे **इयं मही पृथिवी**=यह महनीय पृथ्वी **इमान् वनस्पतीन्**=इन वनस्पतियों को **दाधार**=धारण करती है। पृथ्वी में गड़े हुए (=दृढ़मूल) ये वनस्पति इधर उधर भटकते नहीं।

एवा=इसी प्रकार **ते मनः**=तेरे मन को भी **दाधार**=प्रभु में व यज्ञ में **दाधार**=धारण करते हैं। जिससे **जीवातवे**=तेरा जीवन सुन्दर बना रहे, **न मृत्यवे**=तू मृत्यु की ओर न चला जाए। **अथ उ**=और अब निश्चय से **अरिष्टतातये**=अहिंसन व शुभ का विस्तार हो सके। (२) हमारा मन यज्ञादि उत्तम कर्मों में इस प्रकार स्थिर बना रहे जैसे कि वृक्ष पृथ्वी में स्थिरता से बद्धमूल होते हैं। इसी में जीवन है, इसी में मृत्यु से बचाव है, यही शुभ के विस्तार का साधन है।

भावार्थ—हम मन को स्थिर करके दीर्घजीवी व शुभ जीवनवाले हों।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**सुबन्धोर्जीविताह्वानम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वैवस्वत यम से दूर

यमादहं वैवस्वतात्सुबन्धोर्मन आभरम्। जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये॥ १०॥

(१) मन को बड़ी उत्तमता से यज्ञादि कर्मों में बाँधनेवाला यह 'सुबन्धु' है। **अहम्**=मैं **सुबन्धोः**=इस सुबन्धु के मन को **वैवस्वतात्**=विवस्वान् (=सूर्य) के पुत्र **यमात्**=यम से, मृत्यु की देवता से **आभरम्**=(आहरम्) दूर लाता हूँ। 'विवस्वान्' सूर्य है। यह प्रकाश की किरणोंवाला है (विवस्-वान्) इसके कारण बने हुए दिन-रात हमारे जीवन को काटते चलते हैं, इसलिए यम को वैवस्वत कह दिया गया है। हमारा मन सदा मृत्यु का ही जप करता रहेगा तो आयुष्य अवश्य छोटा हो जाएगा। सो इस सुबन्धु के मन को हम मृत्यु से दूर करते हैं। जिससे **जीवातवे**=यह उत्तम जीवनवाला हो, **न मृत्यवे**=मृत्यु का शिकार न हो जाए और **अथ उ**=अब निश्चय से **अरिष्टतातये**=यह शुभ चीजों का विस्तार कर सके। (२) हमारा मन हर समय मृत्यु के विकल्प से ही अपहृत न रहे। हम इसे उस विकल्प से दूर करते हैं। जीवन के लिये ऐसा करना आवश्यक है। हर समय मृत्यु का राग मृत्यु की ही ओर ले जाता है। शुभ के विस्तार के लिये इस मृत्युराग से दूर होना आवश्यक है।

भावार्थ—हम मन को मृत्यु के राग अलापते रहने से दूर करें। यह मृत्यु का मार्ग है। जीवन के लिये इस राग को छोड़ना आवश्यक है।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**सुबन्धोर्जीविताह्वानम्** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वात-सूर्य-अघ्न्या

न्य१ग्वातोऽव वाति न्यक्तपति सूर्यः। नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः॥ ११॥

(१) **वातः**=वायु मृत्यु को तेरे से **न्यग्**=नीचे **अववाति**=सुदूर ले जाती है। शुद्ध वायु का सेवन मृत्यु को तेरे से दूर करता है और इस प्रकार तेरा जीवन दीर्घ होता है। शुद्ध वायु सब रोगों का औषध बनता है और तुझे नीरोग बनाता है, नीरोग बनाकर यह मन को भी शान्ति देनेवाला होता है। शान्त मन दीर्घायुष्य का सर्वमहान् साधन है। (२) **सूर्यः**=यह प्रतिदिन उदय होनेवाला सूर्य भी मृत्यु को **न्यक्**=तेरे से नीचे ले जानेवाला होकर **तपति**=दीप्त होता है। सूर्य-किरणों को छाती पर लेने से मृत्यु व रोग दूर होते हैं। (३) **अघ्न्या**=यह **अहन्तव्य गौ**=अपने दूध से हिंसा न होने देनेवाली गौ, **नीचीनम् दुहे**=मृत्यु को तेरे से नीचे ले जाती हुई **दुहे**=दुग्ध का हमारे पात्रों में पूरण करती है। यह गोदुग्ध का प्रयोग भी दीर्घायुष्य का प्रमुख साधन होता है। (४) इस प्रकार शुद्ध वायु के सेवन से, सूर्य-किरणों को अपने शरीर पर लेने से तथा गोदुग्ध के प्रयोग से हम मृत्यु से दूर होते हैं। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि इनके प्रयोग से **ते रपः**=तेरा दोष **न्यग् भवतु**=नीचे जानेवाला होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिये (क) शुद्ध वायु सेवन, (ख) सूर्य-किरणों में उठना-बैठना तथा (ग) गोदुग्ध का प्रयोग आवश्यक हैं।

ऋषिः—**बन्ध्वादयो गौपायनाः** ॥ देवता—**सुबन्धोर्जीविताह्वानम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मंगल-स्पर्शन

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ १२ ॥

(१) यदि एक व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है और उसके मन पर उस रोगमय का प्रभाव प्रकट होने लगता है तो एक उत्तम वैद्य उसके मन पर स्वास्थ्यकर प्रभाव डालने के लिये कहता है कि **मे**=मेरा **अयम्**=यह **हस्तः**=दायां हाथ **भगवान्**=भगवाला है, अद्भुत शक्तिवाला है (भग=stength) और **मे**=मेरा **अयम्**=यह वाम हस्त **भगवत्तरः**=और भी अधिक शक्तिशाली है। (२) यह मेरा हाथ क्या है। **मे अयम्**=मेरा यह हाथ तो **विश्वभेषजः**=सब औषधोंवाला है, **अयं शिवाभिमर्शनः**=यह मंगल स्पर्शवाला है, यह छूते ही कल्याण करता है। इस प्रकार प्रेरणा देता हुआ वैद्य रोगी के मन को शुभ प्रभाव से सम्पन्न करने का प्रयत्न करता है और उसे स्वस्थ बनाता है।

भावार्थ—रोगी को वैद्य में विश्वास हो जाए तो उसका रोग शीघ्र ही दूर हो जाता है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम ज्ञानी तेजस्वी स्तोता पुरुषों के सम्पर्क में चलते हुए उन जैसे ही बनें। (१) मन को काबू करके दीर्घजीवन व शुभ को प्राप्त करनेवाले हों, (८-१०) शुद्ध वायु, सूर्य-किरण सम्पर्क व गोदुग्ध हमें नीरोग बनायें। (११) वैद्य का हस्त-स्पर्श ही हमारे रोग को दूर भगा दे, (१२) हम सृष्टि के केन्द्रभूत यज्ञों के समीप हों, यज्ञशील बनें और अग्रिम सूक्त के ऋषि 'नाभानेदिष्ठ' बनें। (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) विचारशील होते हुए 'मानव' हों। यह मानव सात होताओं का पूरण करता है—

पञ्चमोऽनुवाकः

[६१] एकषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सप्त होताओं का पूरण

इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ ।
क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत्पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन् ॥ १ ॥

(१) **इत्था**=इस प्रकार **इदम्**=इस **रौद्रम्**=(सत्) रुद्र सम्बन्धी, सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान प्राप्त करानेवाले प्रभु के **ब्रह्म**=स्तोत्र को **क्रत्वा**=प्रज्ञान से **शच्यां अन्तः**=कर्मों के अन्दर **आजौ**=काम-क्रोधादि के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्राम में, **यद्**=जब **उपस्थ**=इस नाभानेदिष्ठ के **पितरा**=मातृ-पितृ-स्थानभूत पृथिवीलोक और द्युलोक, शरीर व मस्तिष्क **क्राणा**=(कुर्वाणा) करनेवाले होते हैं। तब यह **गूर्तवचाः**=उद्यत वचनोंवाला होता है, ज्ञान की वाणियों को मस्तिष्क में धारण करनेवाला होता है और **मंहनेष्ठाः**=सदा दान में स्थितिवाला होता है, त्यागमय जीवनवाला होता है। (२) प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिये (क्रत्वा), प्रभु का उपासक क्रियामय जीवनवाला होता है, कर्म के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है (शच्याम् अन्तः)। यह उपासक काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओं के साथ सतत युद्ध में प्रवृत्त रहता है। इस उपासक का शरीर व मस्तिष्क दोनों प्रभु के उपासक बनते हैं, अर्थात् शरीर सम्बन्धी सब क्रियाओं को यह 'ऋत' पूर्वक करता है। ये सब क्रियाएँ सूर्य और चन्द्रमा की गति की तरह ठीक समय पर होती हैं। मस्तिष्क में यह असत्य विचारों को नहीं आने देता। इस प्रकार ऋत और सत्य का अपने जीवन से प्रतिपादन करता हुआ यह ब्रह्म का सच्चा उपासक होता है। इस उपासना के परिणामस्वरूप इसका जीवन

ज्ञान व त्याग से परिपूर्ण होता है। (३) यह नाभानेदिष्ठ **पक्थे अहन्**=पक्तव्य दिन में **सप्त होतॄन्**=सात होताओं को **आपर्षत्**=(सर्वतः अपूरयत्) सब प्रकार से पूरित करता है। यह एक-एक दिन को इस योग्य समझता है कि उसने अपने शरीर, मन व बुद्धि का उनमें परिपाक करना है। एक-एक दिन 'अ-हन्'=न नष्ट करने योग्य है। प्रतिदिन अपना परिपाक करता हुआ यह 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख रूप सातों होताओं को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करता है, इनमें न्यूनताओं को नहीं आने देता।

भावार्थ—हम प्रज्ञानपूर्वक कर्मों को करते हुए, वासनाओं के साथ संग्राम को करते हुए प्रभु का सच्चा स्तवन करें। ज्ञान व त्याग को अपनाएँ। 'कान, नासिका, आँख व मुख' सभी को न्यूनताओं से रहित बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शरीर को यज्ञवेदि बना देना

स इद्दानाय दभ्याय वन्वञ्च्यवानः सूदैरमिमीत वेदिम्।
तूर्वयाणो गूर्तवचस्तमः क्षोदो न रेत इतऊति सिञ्चत्॥ २॥

(१) **स**=वह नाभानेदिष्ठ **इत्**=निश्चय से **दानाय**=दान के लिये तथा **दभ्याय**=लोभादि के हिंसन के लिये **वन्वन्**=(वन्=win) इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न करता है। जितेन्द्रिय बनकरके ही वह लोभादि का हिंसन करता है और त्याग को अपना पाता है। यह **सूदैः**=लोभादि के हिंसनों से **च्यवामः**=सब मलों को अपने से दूर करता हुआ **वेदिं अमिमीत**=वेदि को बनाता है, अर्थात् अपने शरीर को यज्ञस्थली के रूप में परिवर्तित कर देता है। इसका जीवन यज्ञमय बन जाता है, यह सचमुच नाभानेदिष्ट=यज्ञरूप केन्द्र के समीप रहनेवाला हो जाता है। (२) **तूर्वयाणः**=शीघ्रता से गमनवाला, स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला यह होता है। **गूर्तवचस्तमः**=अतिशयेन ज्ञान की वाणियों को उठाने व धारण करनेवाला बनता है। और 'तूर्वयाण व गूर्तवचस्तम' बनने के लिये ही **क्षोदो न**=उदक के समान **रेतः**=शरीर में स्थितिवाले इन रेतःकणों को यह **इत ऊति**=इस संसार की वासनाओं से व रोगों से अपने रक्षण के लिये **असिञ्चत्**=शरीर में ही सिक्त करता है। इन रेतःकणों को शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला करके यह ऊर्ध्वरेता बनता है। इन सुरक्षित रेतःकणों से यह रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर हम शरीर को यज्ञवेदी का रूप देनेवाले हों। रेतःकणों को शरीर में ही ऊर्ध्वगति के द्वारा व्याप्त करके हम अपना रक्षण करें, रोगों व वासनाओं का शिकार न हों।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मनोनिरोध व जीवन का परिपाक

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याश्रीणीतादिशं गभस्तौ॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! (यह शब्द ६१।४ से लिया गया है) **न द्रवन्ता**=स्थिर होते हुए आप **येषु हवनेषु**=जिन प्रभु की पुकारों में, प्रभु नाम-स्मरणों में **विपः**=ज्ञानी मेधावी पुरुष के **तिग्मं मनः**=इस तीव्र गतिवाले मन को **शच्या**=प्रज्ञानपूर्वक कर्मों से **वनुथः**=जीत लेते हो (वन्=win)। यहाँ मनोनिरोध के लिये (क) सर्वमुख्य साधन प्राणसाधना को कहा गया है। ये प्राण-स्थिर होते हैं (न द्रवन्ता) तो मन भी स्थिर हो जाता है। (ख) मनोनिरोध के लिये प्रभु

का आराधन आवश्यक है (हवनेषु), (ग) कर्मों में लगे रहना भी इसमें सहायक है (शच्या)। इन सभी साधनों को अपनाने पर ही यह तीव्र गतिवाला मन वश में होता है। (२) प्राणसाधना आदि के द्वारा मनोनिरोध करनेवाला मेधावी पुरुष वह है **यः**=जो **शर्याभिः**=(शॄ हिंसायाम्) वासनाओं के हिंसन के द्वारा **तुविनृम्णः**=(नृम्ण=strength) महान् शक्तिवाला होता है और यह मेधावी **अस्य**=इस प्रभु की **गभस्तौ**=ज्ञानरश्मियों में **आदिशम्**=उसके आदेश के अनुसार **आ अश्रीणीत**=सर्वथा अपना परिपाक करता है। शरीर, मन व बुद्धि सभी को बड़ा सुन्दर बनाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना, प्रभु के आराधन व कर्म में लगे रहने से हम मन को स्थिर करें और प्रभु के आदेश के अनुसार चलते हुए ठीक से अपना परिपाक करें।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अश्विनौ का आराधन काल

कृष्णा यद्गोष्वरुणीषु सीदद्दिवो नपाताश्विना हुवे वाम्।
वीतं मे यज्ञमा गतं मे अन्नं ववन्वांसा नेषमस्मृतध्रू॥ ४॥

(१) हे **दिवः नपाता**=ज्ञान के न नष्ट होने देनेवाले **अश्विना**=अश्विनी देवो! मैं **वाम्**=आपको उस समय **हुवे**=पुकारता हूँ **यद्**=जब कि **कृष्णा**=अन्धकारमयी रात्रि **अरुणीषु गोषु**=अरुण वर्णवाली किरणों में, अर्थात् उषःकाल के प्रारम्भिक प्रकाश में **सीदत्**=निषण्ण होती है। यही समय 'ब्राह्म-मुहूर्त' कहलाता है। इसी समय प्राणसाधना करते हुए, मनोनिरोधपूर्वक प्रभु का स्मरण करना होता है। (२) हे अश्विनी देवो! प्राणापानो! आप **मे**=मेरे **यज्ञम्**=प्रभु के साथ संगतिकरण व मेल को **वीतम्**=चाहो। आपकी कृपा से मैं प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ। **मे**=मेरे **अन्नं न**=इस अन्नमयकोश को **त्वरह इषम्**=इच्छा को **ववन्वांसा**=जीतने की कामना करते हुए **आगतम्**=आप आओ। आपकी आराधना से मैं अन्नमयकोष को जीत पाऊँ। इसमें किसी प्रकार का रोग न हो। मैं मन में उत्पन्न होनेवाली इच्छाओं को भी जीत पाऊँ। इस प्रकार मेरा शरीर व मन दोनों ही उत्तम हों। हे अश्विनी देवो! आप हमारे लिये **अ-स्मृत-ध्रू**=(अस्मृत द्रोहौ) किसी प्रकार के द्रोह का स्मरण न करनेवाले होवो। हम कभी भी आपके द्वारा हिंसित न हों।

भावार्थ—उषा के होते ही हम प्राणसाधना में आसीन हों। इससे हमारा शरीर व मन दोनों अहिंसित हों। शरीर रोगों से आक्रान्त न हो, मन इच्छाओं से आन्दोलित न हो।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्रपति (नर्यः-अनर्वा)

प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत्।
पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो व्यक्ति शरीर व मन को अधिक से अधिक स्वस्थ बनाता है वह राष्ट्रपति होने के योग्य होता है। इसका पहला कार्य विधान का निर्माण होता है। **यस्य**=जिस राष्ट्रपति का **वीरकर्मम्**=विधान निर्माण रूप वीरता का काम **प्रथिष्ट**=प्रथित-प्रसिद्ध होता है। यह कार्य ही वस्तुतः सब से अधिक आवश्यक व कठिन होता है। (२) यह विधान **अनुष्ठितम्**=क्रिया में अनूदित हुआ-हुआ **इष्णत्**=(to impel promote) राष्ट्र को उन्नत करनेवाला होता है, लोगों को उन्नति के पथ पर आगे ले चलता है। **नु**=अब विधान के बन जाने पर **नर्यः**=यह लोकहित कर्ता राष्ट्रपति **अपौहत्**=(उत्पन्न ... को दूर करता है) विधान के अनुसार

राष्ट्र का संचालन करता हुआ यह लोक-जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। राष्ट्र में 'सुख, शान्ति व समृद्धि' को बढ़ाना इसका उद्देश्य होता है। (३) इस विधान के अनुसार राष्ट्र संचालन के लिये यह **अनर्वा**=लोगों को हिंसित न करनेवाला राष्ट्रपति अपनी शक्ति को सभा व समिति में स्थापित करता है। ये सभा व समिति राष्ट्रपति की पूरिका होने से 'दुहिता' (दुह प्रपूरणे) कहलाती हैं, ये शक्ति को प्राप्त करके चमकती हैं सो 'कना' (कन् दीप्तौ) हैं। राष्ट्रपति के द्वारा बनायी जाने के कारण ये उसकी कन्याएँ ही हैं। **यत्**=जो शक्ति **कनायाः**=इस चमकनेवाली **दुहितुः**=राष्ट्रपति की पूरिका सभा व समिति में **अनुभृतम्**=स्थापित **आः**=(आसीत्) थी, **तत्**=उस शक्ति को यह **अनर्वा**=राष्ट्र की हिंसा न होने देनेवाला राष्ट्रपति ४ या ५ वर्ष के निश्चित समय के समाप्त होने पर **पुनः**=फिर **आवृहति**=(उपच्छति) उस सभा से ले लेता है। सभा की शक्ति को समाप्त करके सभाभंग कर देता है और नया चुनाव कराता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति 'नर्य व अनर्वा' होना चाहिये। यह विधान का निर्माण करके सभा व समिति द्वारा राष्ट्र का संचालन करता है। सभा को राष्ट्रपति की शक्ति प्राप्त हो जाती है। निश्चित अवधि के पूर्ण होने पर राष्ट्रपति सभा से शक्ति को वापिस लेकर नये चुनाव के लिये सभा भंग कर देता है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सभा-भंग व नये चुनाव के समय शक्ति कहाँ?

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम्।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ ॥ ६ ॥

(१) **यत्**=जो **कर्तं मध्या अभवत्**=अपने कार्य के बीच में ही होती है, अर्थात् सभी किन्हीं कानूनों पर विचार कर रही हो वह विचार पूर्ण न हुआ हो तो भी **अभीके**=(at the right time, just in time) ठीक समय पर, अर्थात् सभा के समय की अवधि के समाप्त होने पर **पितरि**=राष्ट्र के पिता (=रक्षक) राजा के **युवत्याम्**=उस युवति सभा में **कामं कृण्वाने**=अपनी सभाभंग रूप इच्छा को करने पर, ये **वियन्ता**=भंग होती हुई सभाएँ (सभा व समिति) **रेतः**=शक्ति को **मनानक्**=थोड़ा-सा थोड़ी देर के लिये **जहतुः**=छोड़ देती हैं। (२) इस चुनाव के काल में यह शक्ति **सानौ**=शिकर में, राष्ट्र के सर्वोच्च व्यक्ति राष्ट्रपति में **निषिक्तम्**=सिक्त होती है, जो राष्ट्रपति **सुकृतस्य योनौ**=सुकृत का योनि है, सदा उत्तम ही कार्यों का करनेवाला है, जिससे यही आशा की जाती है कि वह गलत कार्य कर ही नहीं सकता (a king can do no wrors) (३) सभा को यहां युवति कहा गया है। वस्तुतः प्रति चतुर्थ या पंचम वर्ष में फिर से चुनाव हो जाने के कारण सभा के वृद्ध हो जाने का प्रश्न ही नहीं होता। यह सदा युवति बनी रहती है। राष्ट्रपति चुनाव कराता है, सो वह इस युवति का पिता कहा गया है। इस युवति में ही वह पिता शक्ति का स्थापन कर देता है, सभा ही तो राष्ट्र का संचालन करती है। चुनाव के अल्पकाल में यह शक्ति फिर से उस पिता में, जो कि राष्ट्र रूप गृह में सर्वोच्च व्यक्ति है, और जिससे यह आशा की जाती है कि वह जो कुछ करेगा ठीक ही करेगा, स्थापित होती है। (४) यहाँ यह संकेत स्पष्ट है कि चुनाव सभा व मन्त्रिमण्डल नहीं कराते। उनका भंग होकर राष्ट्रपति ही चुनाव की व्यवस्था करता है।

भावार्थ—चुनाव ठीक समय पर हो ही जाने चाहिएँ। सभा का कोई कार्य अधूरा भी हो तो सभाभंग होकर नया चुनाव हो ही जाना चाहिए, नयी सभा उस कार्य को पूर्ण कर लेगी। चुनाव

के समय सारी शक्ति राष्ट्रपति में निहित होनी चाहिए।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्रपति सभा को चुनवाता है, सभा राष्ट्रपति को चुनती है

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन्क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्यो॑ऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥ ७॥

(१) **यत्**=जब **पिता**=राष्ट्र का रक्षक राष्ट्रपति **स्वां दुहितरम्**=अपनी पूरिका और अपनी कन्या के समान इस सभा को **अधिष्कन्**=अधिरूढ़ होता है (to ascend), अर्थात् सभा से शक्ति को लेकर सभा को भंग कर देता है। तो **क्ष्मया**=इस राष्ट्रभूमि से **संजग्मानः**=संगत होता हुआ, अर्थात् सारे राष्ट्रभार को अपने कन्धों पर लेता हुआ यह **रेतः**=सारी शक्ति को **निषिञ्चत्**=अपने में ही सिक्त करता है, सारी शक्ति को अपने में स्थापित करता है। इस प्रकार देश में चुनाव के लिये वातावरण को तैयार कर देता है। और चुनाव के हो जाने पर (२) **स्वाध्यः**=(सुध्यानाः सुकर्माणो वा सा०) उत्तम ध्यानवाले व उत्तम कर्मोंवाले **देवाः**=राष्ट्र व्यवहार के चलानेवाले देववृत्ति के चुने हुए सभ्य **ब्रह्म**=राष्ट्र के सबसे बड़े व्यक्ति को **अजनयन्**=उत्पन्न करते हैं। अर्थात् वे राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। इसे ये **वास्तोष्पतिम्**=राष्ट्रगृह का रक्षक व **व्रतपाम्**=(नियमः=व्रतम्) नियमों का पालन करानेवाला **निरतक्षन्**=निश्चय से बनाते हैं। राष्ट्रपति का कार्य यही है कि वह राष्ट्र की रक्षा करे, यह राष्ट्रपति ही अन्ततः सम्पूर्ण सैन्य का मुखिया होता है और राष्ट्र की शत्रुओं के आक्रमण से रक्षा के लिये उत्तरदायी होता है। इस बात का भी इसने ध्यान करना होता है कि इसके अमात्य किसी प्रकार से कानून के विरोध में कोई कार्य न कर दें।

भावार्थ—राष्ट्रपति सभाओं के सभ्यों का चुनाव कराता है। चुने जाने पर ये राष्ट्रपति को चुनते हैं। राष्ट्रपति के मुख्य कार्य राष्ट्र-रक्षण नियमों का पालन करवाना है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्रपति के तीन कर्त्तव्य

स ईं वृषा न फेनमस्यदाजौ स्मदा परैदप दभ्रचेताः।
सरत्पदा न दक्षिणा परावृङ् न ता नु मे पृशन्यो जगृभ्रे॥ ८॥

(१) गत मन्त्र में जिसे 'वास्तोष्पति व व्रतपा' कहा है **सः**=वह राष्ट्रगृह का रक्षक राष्ट्रपति **ईम्**=निश्चय से **वृषा**=शक्तिशाली होता है। परन्तु शक्तिशाली होता हुआ यह **आजौ**=संग्राम में **फेनम्**=बढ़े हुए धन को **न अस्यत्**=नहीं फेंकता है। यह धन का युद्धों में अपव्यय नहीं करता है। सेना को सुशिक्षित बनाकर यह राष्ट्र को शक्ति-सम्पन्न तो बनाता है, परन्तु यथासम्भव राष्ट्र को युद्ध में न झोंकने के लिये यत्नशील रहता है। 'फेन' शब्द बढ़े हुए धन के लिये तो प्रयुक्त होता ही है। इस शब्द का प्रसिद्ध अर्थ झाग है। 'इसे क्रोध में मुँह से झाग आने' लगे ऐसी बात नहीं है। क्रोधान्वित होकर यह युद्ध ही शुरु कर दे ऐसा नहीं होता। ऐसा **दभ्रचेताः**=अल्प चेतनावाला **स्मत्**=हमारे से **आ**=सर्वथा **अप परैत्**=दूर ही रहें। नासमझ राष्ट्रपति राष्ट्र को युद्धों में उलझाये रखेगा। (२) **दक्षिणा परावृङ्**=दान आदि का **परावर्जयिता**=राष्ट्रहित के लिये रुपये को न व्यय करनेवाला **पदा न सरत्**=कदमों को हमारी ओर रखनेवाला न हो। अर्थात् राष्ट्रपति ऐसा ही होना चाहिए जो कि राष्ट्रहित के कार्यों में उदारतापूर्वक धन का व्यय कर सके। 'कर' तो ले, पर उस धन का राष्ट्रहित में व्यय न करे ऐसा राष्ट्रपति तो व्यर्थ ही है, वह राष्ट्र की किसी भी प्रकार अभ्युत्थान

न कर सकेगा। (३) **पृशन्यः**=ज्ञान वाणियों के स्पर्श में कुशल यह राष्ट्रपति **मे**=मेरी **ता**=उन वाणियों को **नु**=निश्चय से **न जगृभ्रे**=पकड़ नहीं लेता। यह वाणी पर प्रतिबन्ध नहीं लगा देता, भाषण स्वातन्त्र्य पर यह रोक नहीं लगा देता।

भावार्थ—(क) राष्ट्रपति शक्ति को बढ़ा करके भी राष्ट्र को युद्धों में न झोंको रखे, (ख) राष्ट्रहित के कार्यों में उदारता से व्यय कर सके, (ग) भाषण स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध न लगा दे।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रजा का अपीड़क

मक्षू न वह्निः प्रजाया उपब्दिरग्निं न नग्न उप सीददूधः।
सनितेध्मं सनितोत वाजं स धर्ता जज्ञे सहसा यवीयुत्॥ ९॥

(१) यह राष्ट्रपति **मक्षू**=शीघ्र, स्फूर्ति से **वह्निः**=प्रजाओं के कार्यों का वहन करनेवाला होता है और कभी भी **प्रजायाः**=प्रजा का **उपब्दिः**=उपपीड़क **न**=नहीं होता (उपब्दि=rwise in geneue) यह कष्टों से प्रजाओं को रुलानेवाला नहीं होता। (२) दिनभर राजकार्यों में लगे रहने के कारण **ऊधः**=रात्रि में **अग्निं उपसीदत्**=उस अग्रेणी प्रभु की उपासना करता है, **न नग्नः**=यह कभी भी निर्लज्ज नहीं होता। प्रभु का उपासन इसे अधर्म के कार्यों से डरनेवाला बनाये रखता है। सोते समय प्रभु का स्मरण करते हुए सोने के कारण सारी रात्रि इसका प्रभु से सम्पर्क बने रहता है, उस प्रभु से इसे धर्मप्रवृत्त बने रहने के लिये प्रेरणा मिलती रहती है। (३) यह **इध्मं सनिता**= प्रजाओं में ज्ञानदीप्ति को देनेवाला होता है, शिक्षा की उचित व्यवस्था के द्वारा यह सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करता है, इसके राष्ट्र में कोई अशिक्षित नहीं रहता। **उत**=और यह **वाजं सनिता**=शक्ति को देनेवाला होता है। राष्ट्र में स्वास्थ्य के लिये उचित व्यवस्थाओं के द्वारा यह रोगों को नहीं आने देता और लोगों में शक्ति का वर्धन करता है। इस प्रकार **स**=वह राष्ट्रपति **धर्ता जज्ञे**=राष्ट्र का धारण करनेवाला होता है। प्रजाओं में ज्ञान व शक्ति के संचार से बढ़कर राष्ट्रधारण का और कार्य हो ही क्या सकता है? (४) यह राष्ट्रपति **सहसा**=बल के द्वारा **यवी-युत्**=(यु=मिश्रणामिश्रणे) सदा तोड़-फोड़ के कार्यों में लगे रहनेवाले राक्षसों से युद्ध करनेवाला होता है। राष्ट्र में इन चोर-डाकू आदि के आतंक को नहीं फैलने देता। इनको उचित शक्ति के प्रयोग के द्वारा दबाये रखता है।

भावार्थ—कार्यों को शीघ्रता से करता हुआ राष्ट्रपति प्रजा का पीड़क न हो। रात्रि में प्रभु का स्मरण करते हुए सो जाए। राष्ट्र में ज्ञान व शक्ति को फैलाये। चोर-डाकुओं के आतंक को दूर करे।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सभा के सभ्य

मक्षू कनायाः सख्यं नवग्वा ऋतं वदन्त ऋतयुक्तिमग्मन्।
द्विबर्हसो य उप गोपमागुरदक्षिणासो अच्युता दुदुक्षन्॥ १०॥

(१) **नवग्वा**=स्तुत्य (नु स्तुतौ) गतिवाला राष्ट्रपति **कनायाः**=(कन दीप्तौ) ज्ञान दीप्त सभ्योंवाली सभा को **सख्यम्**=मित्रता को **मक्षू**=शीघ्र प्राप्त होता है। राष्ट्रपति सभा के सम्पर्क में आता है। और वहाँ सभा के सभ्य **ऋतं वदन्तः**=जो ठीक बात है उसे ही कहते हुए **ऋतयुक्तिम्**=ऋत का अपने साथ मेल करनेवाले उस राष्ट्रपति को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। सभ्यों का यह मुख्य गुण है कि वे दबाव में या खुशामद के कारण कभी गलत बात को न कहें, वे जो ठीक समझते हैं

उसे ही कहें। राष्ट्रपति को भी चाहिए कि जो ऋत हो उसे अपनानेवाला बने। वह आलोचना को अपनी निन्दा न समझ बैठे। सभ्यों के कथन में जो सत्य है उसे वह ग्रहण करे ही। (२) **ये**=जो सभ्य **द्विबर्हसः**=शरीर व मस्तिष्क दोनों का वर्धन करनेवाले होते हैं, शक्ति व ज्ञान दोनों को बढ़ाते हैं वे **गोपम्**=राष्ट्ररक्षक के **उप आगुः**=समीप प्राप्त होते हैं। प्रजाओं से चुने जाकर राष्ट्र सभा के सभ्य होने के नाते राष्ट्रपति के सम्पर्क में आते हैं। ये **अदक्षिणासः**=किसी प्रकार की दक्षिणा को नहीं लेते, **अच्युताः**=धर्म के मार्ग से विचलित नहीं होते। और इन कारणों से **दुदुक्षन्**=राजा का उचित प्रकार से पूरण करते हैं। राष्ट्रपति के लिये राष्ट्र के संचालन कार्य में पूर्णरूप से सहायक होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र सभा के सभ्य निर्भीक होने से सत्य वक्ता हों, वेतन न लेनेवाले और इस प्रकार न्याय्य मार्ग से अडिग हों, ऐसे ही सभ्य राष्ट्र का पूरण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राधः-रेतः-ऋतम्

मक्षू कनायाः सख्यं नवीयो राधो न रेतं ऋतमित्तुरण्यन्।
शुचि यत्ते रेक्ण आयजन्त सबर्दुघायाः पय उस्त्रियायाः ॥ ११ ॥

(१) राष्ट्रपति **कनायाः**=ज्ञानदीप्त सभ्यों के कारण चमकनेवाली सभा की **नवीयः**=स्तुत्यतम **सख्यम्**=मित्रता को **मक्षू तुरण्यन्**=शीघ्रता से उत्पन्न करता है, अर्थात् प्रयत्न करता है कि उसका सभा से किसी प्रकार का विरोध न हो। इस सभा के साथ अविरोध के द्वारा वह राष्ट्रपति **राधः न**=सम्पत्ति व सफलता की तरह **रेतः**=शक्ति को और **इत्**=निश्चय से **ऋतम्**=न्याय्य व्यवस्था (=ठीक शासन) को **तुरण्यन्**=शीघ्रता से उत्पन्न करता है। जब राष्ट्र में राष्ट्रपति व सभा में मैत्री का भाव, अर्थात् अविरोध चलता है तो राष्ट्र की सम्पत्ति, शक्ति व न्याय्य व्यवस्था में वृद्धि ही वृद्धि होती है। (२) **ते**=वे सभा के सभ्य **यत्**=जब **शुचि रेक्ण**=पवित्र धन को ही **आयजन्त**=अपने साथ संगत करनेवाले होते हैं तो वह पवित्र धन **सबर्दुघायाः**=अमृत का दोहन करनेवाली **उस्त्रियायाः**=गौ के **पयः**=दूध के समान होता है। इन बड़े व्यक्तियों में यदि किसी भी प्रकार के अन्याय्य धन को कमाने की रुचि न हो राष्ट्र के कार्यकर्ताओं में रिश्वत आदि लेने की भावना का उच्छेद हो जाता है और राष्ट्रकोश उस धन से परिपूर्ण होता है, जो धन कि राष्ट्र के लिये अमृत के तुल्य प्रमाणित होता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति व सभा का अविरोध राष्ट्र की सम्पत्ति शक्ति व न्याय्य व्यवस्था के वर्धन का कारण बनता है। यदि सभ्य पवित्र धन का ही अर्जन करते हैं तो वह राष्ट्र के लिये अमृत तुल्य होता है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सभा' राष्ट्रपति के प्रभाव से दूर हो

पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्तेति ब्रवीति वक्तरी ररांणः।
वसोर्वसुत्वा कारवोऽनेहा विश्वं विवेष्टि द्रविणमुप क्षु ॥ १२ ॥

(१) राष्ट्र का निरीक्षण करने के कारण, राष्ट्र का ध्यान करने के कारण (look after) राष्ट्रपति यहाँ 'पश्यति इति' पशु शब्द से कहा गया है। यह सभा का प्रारम्भिक समारोह करके फिर सभा में प्रतिदिन आता नहीं, जिससे सभ्यों को सब प्रकार के दबाव से रहित होकर विचार का अवसर

मिले **वियुता**=इस राष्ट्र-निरीक्षक राष्ट्रपति से अलग हुए-हुए **पश्वा**=उसके पीछे, उसकी अनुपस्थिति में **यत्**=जो **बुधन्त**=ये सभ्य समझते हैं, राष्ट्रपति तो **इति ब्रवीति**=उस ही बात को कह देता है। सभ्यों से बनाये गये नियम को वह उद्घोषित कर देता है। वस्तुतः राष्ट्रपति अपनी सारी शक्ति को **वक्तरी**=वक्ताओंवाली सभा में **रराणः**=देनेवाला होता है, राष्ट्र संचालन के सारे अधिकार प्रायः सभा को प्राप्त होते हैं। राष्ट्रपति तो सभा में निश्चित किये गये कानून को प्रमाणित भर कर देता है। (२) **वसोः**=धन के द्वारा **वसुत्वा**=प्रजा के निवास को उत्तम बनानेवाली, अर्थात् प्रजा की आर्थिक स्थिति को ठीक करके उनके जीवन मापक को ऊँचा करनेवाला, **कारवः**=क्रियाशील **अनेहाः**=पाप से रहित राष्ट्रपति **विश्वं द्रविणम्**=सम्पूर्ण धन को **क्षु**=शीघ्रता से **उपविवेष्टि**=व्याप्त करनेवाला होता है। सम्पूर्ण कोश का स्वामी राष्ट्रपति ही होता है। वह इस बात का पूरा ध्यान करता है कि प्रजा से कर के रूप में प्राप्त धन का किसी भी प्रकार से दुरुपयोग न हो जाए। एवं यह राष्ट्रपति सभा पर इष्ट नियन्त्रण को रखनेवाला होता है। उसका यह कर्त्तव्य होता है कि कार्य करनेवाली सभा के कार्यों पर दृष्टि रखे उन कार्यों में गलती न होने दे।

भावार्थ—सभा के सभ्य कानून आदि का विचार करते समय राष्ट्रपति के दबाव में आकर कानून न बना बैठें। राष्ट्रपति भी सभा को अन्धाधुन्ध व्यय न करने दे।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शोषक संगठन का अन्त

तदिन्न्वस्य परिषद्वानो अग्मन्पुरू सदन्तो नार्षदं बिभित्सन्।
वि शुष्णस्य संग्रथितमनर्वा विदत्पुरुप्रजातस्य गुहा यत्॥ १३॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित **अस्य**=इस राष्ट्रपति के **तद्**=उस कोश को **नु**=अब **इत्**=निश्चय से **परिषद्वानः**=सभा के सभ्य **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। राष्ट्र कार्यों में व्यय के लिये यह कोश सभा को प्राप्त होता है, सभा ही तो बजट को पास करती है। **पुरु**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **सदन्तः**=सभा में आसीन होते हुए ये सभ्य **नार्षदम्**=(नृ सद् to kill) प्रजाओं को पीड़ित करनेवाले सभापति व किसी भी अन्य अधिकारी को **बिभित्सन्**=विदीर्ण करने की कामना करते हैं। सभ्यों का यह कर्त्तव्य होता है कि यदि राष्ट्रपति ही प्रजा के लिये अवाञ्छनीय हो जाए तो उसे वे राष्ट्रपति पद से हटा देते हैं, अन्य भी कोई अधिकारी प्रजा पीड़क हो तो उसे वे हटा ही देते हैं। (२) इसी प्रकार राष्ट्र में **शुष्णस्य**=शोषक के **संग्रथिम्**=प्रबल संगठन को भी **वि**=विशेष रूप से **बिभित्सन्**=विदीर्ण करने की कामना करते हैं। यदि राष्ट्र में कोई व्यक्ति धूर्तता व चालाकी से संगठन बनाकर प्रजा का शोषण करने में लगता है तो उस शुष्ण के संगठन को भी वे तोड़ने की प्रबल कामनावाले होते हैं। (३) **अनर्वा**=राष्ट्र की हिंसा न होने देनेवाला राष्ट्रपति **पुरु प्रजातस्य**=(बहु प्रादुर्भावस्य) नाना प्रान्तों में उत्पन्न हुई-हुई अपनी प्रजा के **यत्**=जो **गुहा**=हृदय में गुप्त बात है उसे भी **विदत्**=जानता है। विविध गुप्तचरों के द्वारा बहुविध प्रजा के मनोभावों को यह जानने का प्रयत्न करता है। इस ज्ञान से ही वह प्रजा की ठीक स्थिति को जानकर प्रजा की उन्नति के लिये यत्नशील होता है।

भावार्थ—कोश सभा को प्राप्त होता है, एक व्यक्ति (=राष्ट्रपति) को इसके व्यय का अधिकार नहीं होता। सभ्य प्रजा पीड़क राष्ट्रपति को भी अलग करने की कामनावाले होते हैं, राष्ट्र में किसी भी 'शोषक संगठन' को विकसित नहीं होने देते। राष्ट्रपति प्रजाओं के गुप्त विचारों को भी जानने का प्रयत्न करता है, उनके इन विचारों को जानकर राष्ट्रोन्नति के लिये यत्नशील होता है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'भर्ग-अग्नि-जातवेदाः'

भर्गो ह नामोत यस्य देवाः स्वर्ण ये त्रिषधस्थे निषेदुः ।
अग्निर्ह नामोत जातवेदाः श्रुधी नो होतर्ऋतस्य होताध्रुक् ॥ १४ ॥

(१) वह राष्ट्रपति **ह**=निश्चय से **भर्गः नाम**=भर्ग नामवाला है, राष्ट्र के दोषों को भून डालनेवाला है (भ्रस्ज्=पाके)। **उत**=और **यस्य**=जिसके **देवाः**=राष्ट्र-व्यवहार को सिद्ध करनेवाले **ये**=जो सभ्य हैं वे **स्वः न**=जिस प्रकार देव स्वर्गलोक में या प्रकाशमय लोक में आसीन होते हैं उसी प्रकार **त्रिषधस्थे**=वर्ष में तीन बार मिलकर बैठने के स्थान 'सभास्थल' में **निषेदुः**=निषण्ण होते हैं। अर्थात् वर्ष में तीन बार सभा का अधिवेशन होता है, उसमें एकत्रित होकर सभ्य राष्ट्र की स्थिति पर विचार करते हुए राष्ट्रोन्नति के लिये विचार करते हैं। (२) यह राष्ट्रपति **ह**=निश्चय से **अग्निः नाम**=अग्नि नामवाला होता है, यह राष्ट्र को आगे ले चलता है **उत**=और यह राष्ट्रपति **जातवेदाः**=(जातं जातं वेत्ति) राष्ट्र में होनेवाली प्रत्येक घटना से परिचित रहता है। इस परिचय के अभाव में आवश्यक कार्यों के होने का सम्भव ही नहीं होता, राष्ट्रोन्नति के लिये राष्ट्र को पूरी तरह से जानना आवश्यक है। (३) राष्ट्रपति राष्ट्रयज्ञ का होता है। इस होता से सभ्य कहते हैं कि आप **होता**=इस राष्ट्रयज्ञ के होता हो, **अध्रुक्**=द्रोह की भावना से रहित हो, आप किसी भी हिंसा की कामना को नहीं करते हो। हे **होतः**=राष्ट्र यज्ञ के करनेवाले राष्ट्रपते! **नः**=हमारे **ऋतस्य**=ऋत का, विचारपूर्वक बनाये हुए नियम का (=कानून का) **श्रुधि**=आप श्रवण कीजिये। राष्ट्रपति को यही चाहिए कि वह प्रजाओं का शासन सभा से बनाये गये कानून के अनुसार ही करे। आधुनिक युग में इसी बात को इस रूप में कहते हैं कि राष्ट्रपति तो 'defender of the constitution' है, विधान का रक्षक है। विधान के अनुसार उसका शासनक्रम चलता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति राष्ट्र के दोषों को भून डालने के कारण 'भर्ग' है, राष्ट्रोन्नति के कारण 'अग्नि' है, राष्ट्र की प्रत्येक घटना से परिचित रहने के कारण 'जातवेदाः' है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रौद्रौ अर्चिमन्तौ

उत त्या मे रौद्रावर्चिमन्ता नासत्याविन्द्र गूर्तये यजध्यै ।
मनुष्वद् वृक्तबर्हिषे रराणा मन्दू हितप्रयसा विक्षु यज्यू ॥ १५ ॥

(१) गत मन्त्रों में वर्णित राष्ट्रपति व सभा के सभ्यों ने प्रजा में से ही चुना जाना है, कहीं बाहर से तो इन्होंने आना नहीं। सो प्रत्येक प्रजावर्ग के सभ्य का उत्तम होना आवश्यक है। यह जीवन का उत्कर्ष प्राणसाधना से ही सम्भव है। ये प्राणापान 'नासत्या' हैं, (न असत्या) इनसे जीवन में असत्य नहीं रहता। सो प्रार्थना करते हैं कि हे **इन्द्र**=सब बुराई रूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **उत**=और **त्या**=वे **मे**=मेरे **नासत्या**=प्राणापान **रौद्रौ**=बुराइयों के लिये रुद्ररूप हों, सब बुराइयों का प्रलय करनेवाले हों और वासनाओं का विलय करके ये **अर्चिमन्तौ**=ज्ञान की ज्वालावाले हों। मेरे जीवन में ज्ञान की ज्योति को ये जमानेवाले हों। इस प्रकार ये प्राणापान **गूर्तये**=(गूर्तिः praise स्तुति) स्तुति के लिये हों और **यजध्यै**=यज्ञों के लिये हों। इनकी साधना से मेरा मन प्रभु के स्तवन में लगे तो मेरे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें। (२) **मनुष्वत्**=(मनुः=ज्ञानं) ज्ञानवाले और **वृक्तबर्हिषे**=शुद्धान्तःकरणवाले के लिये (वृक्तं बर्हिः येन,

तस्मै) **रराणा**=ज्ञान व पवित्रता को देते हुए ये प्राणापान **मन्दू**=आनन्दित करनेवाले हैं, **हित प्रयसा**=अन्नमयादि सब कोशों में धनों को निहित करनेवाले हैं, (प्रयस्) प्रत्येक कोश का जो भोजन है उसे ये प्राणापान देनेवाले हैं। **विक्षु**=प्रजाओं में ये प्राणापान ही **यज्यू**=यष्टव्य हैं, संगतिकरण योग्य हैं, ये प्राणापान ही पूज्य हैं, इन्हीं की आराधना करनी, ये ही सब कुछ देनेवाले हैं (यज्=देवपूजा, संगतिकरण दान)।

भावार्थ—प्राणापान ही जीवन का उत्तम निर्माण करनेवाले हैं, सो ये ही यष्टव्य हैं।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कक्षीवान् व अग्नि का दीपन

अयं स्तुतो राजा वन्दि वेधा अपश्च विप्रस्तरति स्वसेतुः।
स कक्षीवन्तं रेजयत्सो अग्निं नेमिं न चक्रमर्वतो रघुद्रु ॥ १६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणापान की साधना करनेवाला **अयम्**=यह व्यक्ति **स्तुतः**=(स्तुतं अस्य अस्ति) प्रभु-स्तवन की प्रवृत्तिवाला होता है। **राजा**=(regnlated) व्यवस्थित जीवनवाला होता है और अतएव (राज् दीप्तौ) दमकता है। यह **वन्दि**=लोगों से अभिवादित होता है। इसकी 'उपासनावृत्ति को, व्यवस्थित व दीप्त जीवन को' देखकर लोग इसका आदर करते हैं। यह **वेधाः**=(creetor or leerned wan) निर्माण के कार्यों को करनेवाला व ज्ञानी होता है। (२) **अपः च तरति**=सब कार्यों को तैरनेवाला, पार करनेवाला, अन्त तक पहुँचानेवाला होता है (पार कर्मसमाप्तौ)। यह **विप्रः**=अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाला **स्वसेतुः**=आत्मतत्त्व को अपना सेतु बनाता है, भवसागर को पार करने का साधन बनाता है (सेतु=bridge in genorel) (३) **सः**=वह साधक **कक्षीवन्तम्**=(कक्षः=hidig place) गुहा में निवास करनेवाले उस प्रभु को **रेजवत्**=अपने में दीप्त करता है **सः**=वह **अग्निम्**=अपने शरीर के अन्दर निवास करनेवाली वैश्वानर अग्निम् (=जाठराग्नि) को दीप्त करता है। प्राणसाधक जहाँ हृदय को पवित्र करके प्रभु का दर्शन करता है, वहाँ जाठराग्नि को भी दीप्त करता हुआ स्वास्थ्य का पूर्ण विकास करने के लिये यत्नशील होता है। (४) यह साधक **नेमिं न चक्रम्**=परिधि की तरह चक्र को भी दीप्त करता है। शरीर चक्र है, तो त्वचा उसकी नेमि है, शरीर को भी स्वस्थ बनाता है और त्वचा को भी दीप्त रखने का प्रयत्न करता है। **अर्वतः**=इन्द्रिय रूप अश्वों को **रघुद्रु**=लघुगामनवाला बनाता हुआ दीप्त करता है। इसकी इन्द्रियाँ शीघ्रता से अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन उपासनामय व व्यवस्थित बनता है। यह प्राणसाधक स्वस्थ शरीरवाला व प्रभुदर्शन करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्विबन्धु

स द्विबन्धुर्वैतरणो यष्टा सबर्धुं धेनुमस्वं दुहध्यै।
सं यन्मित्रावरुणा वृञ्ज उक्थैर्ज्येष्ठेभिरर्यमणं वरूथैः ॥ १७ ॥

(१) गत मन्त्र का **स**=वह प्राणसाधक **द्विबन्धुः**=दोनों को अपने साथ बाँधनेवाला होता है, शरीर के स्वास्थ्य को तथा मस्तिष्क के ज्ञान को। अथवा यह अपने जीवन में प्रकृति व परमात्मा दोनों के साथ सम्बद्ध होकर के चलता है। प्रकृति सम्बन्ध से यह अभ्युदय को सिद्ध करता है तो प्रभु सम्बन्ध से निःश्रेयस को। इहलोक व परलोक दोनों को यह समयुक्तया अपने जीवन से

सम्बद्ध करता है। **वैतरणः**=शक्ति व ज्ञान की साधना करके यह मार्ग में आनेवाले विघ्नों को तैर जाता है **यष्टा**=यज्ञशील होता है और **सबर्धुम्**=अमृतोपम ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौ को **अस्वम्**=जिसने अब सन्तान को जन्म देना छोड़ दिया था, अर्थात् जिसे अब स्वाध्याय के अभाव के कारण हम समझते न थे, उसके **दुहध्यै**=दोहन के लिये यह होता है। इसकी बुद्धि तीव्र होती है और वह वेदरूप धेनु से ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करनेवाला बनता है। (२) ऐसा यह बनता तब है **यत्**=जब कि यह **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण देवता का **संवृञ्जे**=सम्यक् स्तवन करता है। और **ज्येष्ठेभिः**=प्रशस्त **वरूथैः**=(armohr) कवचों व (shield) ढालों के द्वारा **अर्यमणम्**=अर्यमा देव का स्तवन करता है। 'मित्र' का भाव है सबके साथ स्नेह करना, 'वरुण' का भाव है द्वेष का निवारण। प्रभु-स्तवन करनेवाला व्यक्ति सब में प्रभु-सत्ता का अनुभव करता हुआ सब के प्रति स्नेह को धारण करता है, वह किसी से द्वेष नहीं करता। इस प्रभु को ही अपना कवच व ढाल बनानेवाला व्यक्ति वासनाओं का नियमन करनेवाला 'अर्यमा' बनता है (ब्रह्मवर्म ममान्तरम्)।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन से प्रेम व निर्द्वेषता को अपने में स्थापित करें। प्रभु को अपना कवच बनाकर काम-क्रोधादि का नियमन करें। ऐसा करने पर हम 'द्विबन्धु-वैतरण-यष्टा' बनेंगे और वेदधेनु के अमृतोपम दूध का पान करेंगे।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तद्बन्धु

तद्बन्धुः सूरिर्दिवि ते धियन्धा नाभानेदिष्ठो रपति प्र वेनन्।
सा नो नाभिः परमास्य वा घाहं तत्पश्चा कतिथश्चिदास ॥ १८ ॥

(१) वह प्राणसाधक **तद्बन्धुः**=(तस्य बन्धुः, स बन्धुर्यस्य इति वा) उस सर्वव्यापक प्रभु रूप बन्धुवाला होता है। 'तनु विस्तारे' से बना 'तद्' शब्द सर्वव्यापकता की सूचना देता है। इस सर्वव्यापक प्रभु को ही यह अपना बन्धु मानता है 'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता०'। **सूरिः**=यह उस प्रभु की स्तुति का प्रेरक होता है, सदा प्रभु का स्तवन करता है। **ते दिवि**=आपके (उस प्रभु के) ज्ञान के प्रकाश में **धियन्धाः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों का धारण करनेवाला होता है। (२) यह ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाला **नाभानेदिष्ठः**='अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' यज्ञ रूप भुवननाभि के समीप रहनेवाला होता है। यज्ञ को यह भुवनों का केन्द्र जानता है, 'यज्ञ में ही लोक प्रतिष्ठित है' ऐसा समझता हुआ यह यज्ञों से अपने को दूर नहीं करता। **प्रवेनन्**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामना करता हुआ यह **रपति**=प्रभु के नामों का जप करता है। (३) **सा**=वह यज्ञ ही **नः**=हमारी **परमा नाभिः**=सर्वोत्कृष्ट नाभि हो, यज्ञ ही हमारे जीवन का केन्द्र बनता है। **वा**=और इस यज्ञ के द्वारा **अहम्**=मैं **घा**=निश्चय से **अस्य**=इस परमात्मा का होता हूँ यज्ञ से ही तो प्रभु का पूजन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। **तत् पश्चाः**=यज्ञ के द्वारा प्रभु-पूजन करने के पीछे **कतिथः**=(advanced to a eertain degree) कुछ उन्नत **चित्**=निश्चय से **आस**=मैं हुआ हूँ। 'प्रभु को बन्धु बनाकर चलना, अपने में स्तुति को प्रेरित करना, प्रभु के प्रकाश में ज्ञानपूर्वक कर्मों को करना, यज्ञ को अपनाना, प्रभु नाम का जप' यही उन्नति का मार्ग है, इस पर चलने से ही हम कुछ उन्नत होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को बन्धु समझना, तदुपदिष्ट यज्ञों में प्रवृत्त होना ही उन्नति का मार्ग है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञवेदि

इयं मे नाभिरिह मे सधस्थमिमे मे देवा अयमस्मि सर्वः।
द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्येदं धेनुरदुहज्जायमाना ॥ १९ ॥

(१) **इयम्**=यह यज्ञवेदी ही **मे**=मेरी **नाभिः**=बन्धिका है, यह सारे परिवार के सभ्यों को अपने में बाँधनेवाली है। **इह**=इस यज्ञवेदि में **मे**=मेरा **सधस्थम्**=सारे परिवार के साथ मिलकर बैठना होता है। इस यज्ञवेदि पर बैठे हुए **इमे**=ये मेरे **देवाः**=देव हैं। छोटे-छोटे खेलनेवाले बालक (क्रीडन्ति), शिक्षणालय में स्पर्धा से एक दूसरे को जीतने की कामनावाले विद्यार्थी (विजिगीषा) काम में लगनेवाला युवक (व्यवहार) ज्ञानदीप्त प्रौढ व्यक्ति (द्युति) केवल स्तुति में रत वृद्ध (स्तुति) प्रसन्नता का संचार करनेवाली युवतियाँ (मोद) माद्यन्ती अवस्थावाली द्वितीयाश्रम में प्रवेश के लिये तैयार युवति (मद), गोद में सोया हुआ बच्चा (स्वप्न) नाना प्रकार की कामनाओंवाली किशोरी (कान्ति) और केवल चहल-पहल रखनेवाले सन्तान (गति) ये सब देव हैं। यज्ञवेदि पर इन सबने आसीन होना है। (२) इस प्रकार यज्ञ करता हुआ **अयम्**=यह मैं **सर्वः अस्मि**=पूर्ण होने का प्रयत्न करता हूँ। (सर्व=whole=स्वस्थ) यह यज्ञ मेरे शरीर को ही नहीं, मन व बुद्धि को भी स्वस्थ बनाता है। **द्विजाः**=(द्वौ जायेते यस्य) मैं शरीर व मस्तिष्क दोनों के विकासवाला बनता हूँ। **अह**=निश्चय से **ऋतस्य**=उस सत्यस्वरूप प्रभु की **प्रथमजा**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी गई **धेनुः**=वेदरूप गौ **जायमाना**=मेरे हृदय में प्रादुर्भूत होती हुई **इदं अदुहत्**=इस ज्ञान का दोहन व पूरण करती है। इस ज्ञान ने ही तो वस्तुतः मुझे 'सर्व' बनाना है।

भावार्थ—हम परिवार में सम्मिलित यज्ञ की प्रथा को अनिवार्य रूप से स्थापित करें। प्रभु की वेदवाणी का अध्ययन करें। यही **सर्व**=पूर्ण स्वस्थ बनने का मार्ग है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अरति-विभावा

अधासु मन्द्रो अरतिर्विभावाव स्यति द्विवर्तनिर्वनेषाट्।
ऊर्ध्वा यच्छ्रेणिर्न शिशुर्दन्मक्षू स्थिरं शेवृधं सूत माता ॥ २० ॥

(१) **अध**=अब **आसु**=इन वेदवाणियों में **मन्द्रः**=आनन्द का अनुभव करनेवाला यह व्यक्ति **अरतिः**=(अविद्यमाना रतिर्यस्य) विषयों के प्रति प्रेमवाला नहीं रहता। अथवा 'ऋ गतौ'=खूब क्रियाशील होता है। ज्ञान की वाणियों में आनन्द लेने के कारण क्रियाशील होने के कारण तथा विषयों के प्रति रुचि न होने के कारण **विभावा**=यह विशिष्ट दीप्तिवाला होता है। (२) **द्विवर्तनिः**=अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों में वर्तनेवाला, इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करनेवाला अथवा ज्ञान व शक्ति दोनों का सम्पादन करनेवाला यह **वनेषाट्**=उपासना में वासनारूप शत्रुओं का मर्षण करनेवाला होता है (वन=उपासना, षह मर्षणे) और यह उपासना के द्वारा **अव स्यति**=सब मलिनताओं व पापों को सुदूर विनष्ट करता है (अव=away, षोऽन्तकर्मणि) (३) **यत्**=जो **ऊर्ध्वाश्रेणिः न**=ऊपर स्थित योद्धाओं की पंक्ति की तरह **शिशुः**=शत्रुओं को तनूकृत करनेवाला **दन्**=यह शत्रुओं का दमन करता है। जिस सेना के योद्धा अपना मोर्चा ऊपर की भूमि में बना पाते हैं वे नीचे स्थित शत्रुओं को आसानी से समाप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार यह अपनी बुद्धि को तीव्र करनेवाला 'शिशु' वासनारूप शत्रुओं को कुचल डालता है। (४) इस शिशु को

माता=यह वेदमाता **मक्षू**=शीघ्र ही **स्थिरम्**=स्थिर तथा **शेवृधम्**=सुख का वर्धन करनेवाला **सूत**=बनाती है। यह वेदज्ञान को प्राप्त करता है और यह वेदज्ञान इसे स्थिर वृत्ति का तथा सुखी बनाता है (शेवृधं सुख नामम् नि० ३।६)।

भावार्थ—वेदज्ञान को अपनाने से जीवन में स्थिरता तथा सुख की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्वान्त-अश्वघ्न

अधा गाव उपमातिं कनाया अनु श्वान्तस्य कस्य चित्परेयुः।
श्रुधि त्वं सुद्रविणो नस्त्वं याळाश्वघ्नस्य वावृधे सूनृताभिः॥ २१॥

(१) **अधा**=अब **श्वान्तस्य**=(शिव गतिवृद्ध्योः) गति के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करनेवाले **कस्यचित्**=किसी विरल व्यक्ति की **गावः**=वाणियाँ **कनायाः**=दीप्त स्तुति के **उपमातिम्**=उपमानभूत प्रभु को **अनुपरेयुः**=अनुगत होती हैं। अर्थात् इस की वाणियाँ सदा प्रभु का स्तवन करती हैं, उस प्रभु का जो कि हमारे से की जानेवाली स्तुति से सदा अधिक ही हैं। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **श्रुधि**=हमारी प्रार्थना को सुनिये। **नः सुद्रविणः**=हमारे लिये आप उत्तम धनोंवाले हैं, **त्वम्**=आप **याट्**=सब धनों को हमारे लिये देनेवाले हैं (यज्=दान)। आप **आश्वघ्नस्य**=(आ+अश्व+हन्)समन्तात् इन्द्रियों की हिंसा करनेवाले, अर्थात् इन इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाले को **सूनृताभिः**=सूनृत वाणियों से **वावृधे**=बढ़ते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष की सूनृत वाणियाँ आपकी महिमा का वर्धन करती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का गुणगान पूर्णरूपेण करने में समर्थ नहीं। वे प्रभु ही हमें उत्तम धनों को प्राप्त कराते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष की सूनृत वाणियाँ प्रभु की महिमा को ही बढ़ाती हैं।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनेहस्

अध त्वमिन्द्र विद्ध्य१स्मान्महो राये नृपते वज्रबाहुः।
रक्षा च नो मघोनः पाहि सूरीननेहसस्ते हरिवो अभिष्टौ॥ २२॥

(१) हे **नृपते**=नरों के रक्षक **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अध**=अब **त्वम्**=आप **अस्मान्**=हमें **महोराये**=महान् धन के लिये **विद्धि**=जानिये। आपकी कृपा से हम महनीय धन को प्राप्त करनेवाले हों। धन को तो हम प्राप्त करें ही, पर वह धन उत्तम साधनों से ही सदा कमाया जाए। (२) हे प्रभो! आप **वज्रबाहुः**=वज्रयुक्त बाहुवाले हैं, दुष्टों को दण्ड देनेवाले हैं। **नः**=हमारे **मघोनः**=यज्ञशील **सूरीन्**=ज्ञानी पुरुषों को **रक्षा च**=अवश्य रक्षित करिये। आपकी रक्षा के पात्र वे ही होते हैं जो कि उत्तम साधनों से कमाये गये धनों का यज्ञात्मक कर्मों में ही विनियोग करते हैं और जो ज्ञान को महत्त्व देते हैं। (३) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रिय रूप अश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **ते**=आपकी **अभिष्टौ**=प्राप्ति में, अभिगमन में **अनेहसः**=हम पाप शून्य जीवनवाले हों आप हमें उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं, आपकी उपासना से वे इन्द्रियाँ उत्तम ही बनी रहती हैं, विषय पंक में वे इन्द्रियाँ फँसनेवाली नहीं होती। प्रभु की उपासना से बासनाएँ विनष्ट होती हैं और हमारा जीवन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें महान् धन प्राप्त हो। यज्ञशील ज्ञानी बनकर हम आपकी रक्षा के पात्र हों। आपकी उपासना से हमारा जीवन निष्पाप हो।

ऋषि:—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सरण्यु-जरण्यु

अध यद्राजाना गविष्टौ सरत्सरण्युः कारवे जरण्युः।
विप्रः प्रेष्ठः स ह्येषां बभूव परा च वक्षदुत पर्षदेनान्॥ २३॥

(१) **अध**=अब **यद्**=यदि **ना**=मनुष्य उन्नतिपथ पर चलनेवाला व्यक्ति (नृ=नये) **राजा**=बड़े व्यवस्थित जीवनवाला (regulated) और अतएव दीप्त जीवनवाला होता है (राज् दीप्तौ) तो यह **गविष्टौ**=उस आत्मतत्त्व के अन्वेषण में **सरत्**=गति करता है (in search of god) इसकी सब क्रियाएँ आत्मतत्त्व के अन्वेषण के लिये होती हैं। (२) यह **सरण्युः**=उत्कृष्ट गतिवाला पुरुष **कारवे**=उस कलापूर्ण कृतिवाले प्रभु के लिये **जरण्युः**=स्तोता होता है, उस प्रभु की विभूतियों का स्मरण करता हुआ उस प्रभु की भक्ति में मग्न हो जाता है। एक-एक पदार्थ में इसे प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। (३) **विप्रः**=प्रभु-भक्ति करता हुआ यह अपना विशेषरूप से पूरण करता है (वि-प्रा)। **एषां सः हि**=इन जीवों में अपना पूरण करनेवाला यह विप्र ही **प्रेष्ठः**=प्रभु का प्रियतम होता है। उन्नति करनेवाला पुत्र पिता को प्रिय होता ही है। **च**=और यह **परावक्षत्**=अपने को सब दुरितों से परे ले चलता है **उत**=और **एनान्**=अपने अन्य साथियों को भी **पर्षत्**=अवाञ्छनीय वस्तुओं से पार ले चलता है। अपने जीवन को अच्छा बनाकर दूसरों के जीवनों को भी उत्तम बनाता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा आत्मतत्त्व के अन्वेषण में चलता है यह प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की विभूति को देखता हुआ उत्तम जीवनवाला व प्रभु का प्रिय होता है। यह अपने को दुरितों से दूर ले चलता है, औरों के भी कल्याण करनेवाला होता है। यह सरण्यु व जरण्यु होता है, 'गतिशील प्रभु का स्तोता'।

ऋषि:—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनायास स्तवन

अधा न्वस्य जेन्यस्य पुष्टौ वृथा रेभन्त ईमहे तदू नु।
सरण्युरस्य सूनुरश्वो विप्रश्चासि श्रवसश्च सातौ॥ २४॥

(१) **अधा नु**=अब निश्चय से **अस्य जेन्यस्य**=इस विजयशील परमात्मा के **पुष्टौ**=पोषण में, प्रभु को अपने हृदय में धारण करने पर **वृथा**=अनायास ही **रेभन्ते**=ये प्रभु-भक्त उसका स्तवन कर उठते हैं। **तद् उ नु**=उस प्रभु की ओर ही निश्चय से **ईमहे**=(ई=to go) हम चलते हैं। (२) **सरण्युः**=यह अपनी प्रत्येक क्रिया से प्रभु की ओर चलनेवाला व्यक्ति **अस्य सूनुः**=इस प्रभु का सच्चा पुत्र होता है। **अश्वः**=(अश्नुते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला यह प्रभु-भक्त **विप्रः**=अपना पूरण करनेवाला होता है **च**=और **श्रवसः**=ज्ञान के **सातौ**=सम्भजन व प्राप्ति में **असि**=होता है। इसका पुरुषार्थ ज्ञान वृद्धि के लिये होता है। (३) 'रेभन्ते' शब्द स्तुति का उल्लेख करता है, 'सरण्यु व अश्व' शब्द क्रियाओं में लगे रहने का भाव देते हैं और 'श्रवसः साति' ज्ञान प्राप्ति का संकेत करते हैं। एवं इसके जीवन में 'स्तुति, कर्म व ज्ञान' का सुन्दर समन्वय होता है। इसका हृदय प्रभु का स्तवन करता है, हाथ कर्मों में व्याप्त करते हैं और यह मस्तिष्क को ज्ञान से दीप्त करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम सब विजयों को प्रभु की ओर से होता हुआ जानें। क्रियाशील व ज्ञानमय

जीवनवाले बनें। हम प्रभु के निष्काम आराधक हों।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूभृता वाणी के प्रति अर्पण

युवोर्यदि सख्यायास्मे शर्धाय स्तोमं जुजुषे नमस्वान्।
विश्वत्र यस्मिन्ना गिरः समीचीः पूर्वीव गातुर्दाशत्सूनृतायै॥ २५॥

(१) गत मन्त्र में 'अश्वः विप्रः च असि' इन शब्दों में कर्मों में व्याप्त होनेवाले को 'अश्व' कहा है और ज्ञान के द्वारा अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले को 'विप्र'। एक व्यक्ति **यदि**=यदि **युवोः**='क्रिया व ज्ञान' इन दोनों को **सख्याय**=मैत्री के लिये होता है तो ये क्रिया व ज्ञान **अस्मे शर्धाय**=हमारे बल के लिये होते हैं। यह पुरुष ही वस्तुतः **स्तोमं जुजुषे**=प्रभु के स्तोत्र का सेवन करता है। **नमस्वान्**=यह प्रभु के प्रति नमस्वाला होता है। इस प्रभु के प्रति नमन के कारण ही इसे उन क्रियाओं व ज्ञानों का गर्व नहीं होता। (२) यह वह व्यक्ति होता है **यस्मिन्**=जिसमें **विश्वत्र**=(सर्वत्र) सब प्रसंगों में **गिरः**=उस प्रभु की वाणियाँ **आः**=समन्तात् **समीचीः**=(सं अञ्च्) सम्यक् गतिवाली होती हैं। अर्थात् इसे प्रत्येक धर्म जिज्ञासा के प्रसंग में हृदयस्थ प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है। और यह वाणी ही इस व्यक्ति के लिये **पूर्वी गातुः इव**=पालन व पूरण करनेवाले, उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले मार्ग के समान होती है। यह इस वाणी के अनुसार ही जीवन में चलता है और यह इस **सूनृतायै**=(सु ऊन् ऋता) उत्तम दुःखों का परिहाण करनेवाली, सत्य वाणी के लिये **दाशत्**=अपने को दे डालता है। उस वाणी के अनुसार ही कार्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—क्रिया व ज्ञान का समन्वय हमारे बल को बढ़ाता है, यही प्रभु का सच्चा उपासन है। इस उपासक को प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है, यह सूनृत वाणी ही उसके जीवन का मार्ग बनती है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कर्म के द्वारा उपासन

स गृणानो अद्भिर्देववानिति सुबन्धुर्नमसा सूक्तैः।
वर्धदुक्थैर्वचोभिरा हि नूनं व्यध्वैति पयस उस्रियायाः॥ २६॥

(१) **स**=वह, गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की सूनृत वाणी के प्रति अपना अर्पण करनेवाला, **अद्भिः**=उस वाणी के अनुसार किये गये कर्मों के द्वारा **गृणानः**=प्रभु का स्तवन करनेवाला होता है। प्रभु की वास्तविक स्तुति तो कर्मसाध्य ही है। कर्मों के द्वारा होनेवाली भक्ति ही प्रभु का 'दृशीक स्तोम' हैं, दृश्य भक्ति है। इस भक्ति का करनेवाला **देवान्**=सब दिव्यगुणोंवाला होता है। **इति**=और दिव्यगुणोंवाला होने के कारण **सुबन्धुः**=यह अपने को परमात्मा से खूब अच्छी प्रकार बाँधनेवाला होता है। यह प्रभु के प्रति **नमसा**=नमन के द्वारा और **सूक्तैः**=प्रभु के गुणोच्चारण करनेवाले मधुर स्तुति-वचनों के द्वारा **वर्धत्**=बढ़ता है। (२) इन **उक्थैः वचोभिः**=स्तुति वचनों से इस उपासक को **नूनं हि**=निश्चय से ही **उस्रियायाः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेद-धेनु के **पयसः**=ज्ञानदुग्ध का **अध्वा**=मार्ग **आ वि एति**=सब प्रकार से विशिष्टरूप में प्राप्त होता है। जब मनुष्य प्रभु का सच्चा उपासक बनता है तो उसे वेद के द्वारा जीवन के मार्ग का ठीक रूप में दर्शन होता है और उस मार्ग से चलता हुआ यह कल्याण को प्राप्त करता है।

भावार्थ—स्वकर्म का पालन करनेवाला प्रभु का सच्चा उपासक होता है, यह दिव्यगुणोंवाला बनकर प्रभु को प्राप्त होता है। वेदवाणी इसे जीवन के मार्ग का दर्शन कराती है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रक्षक देव

त ऊ षु णो महो यजत्रा भूत देवास ऊतये सजोषाः।
ये वाजाँ अनयता वियन्तो ये स्था निचेतारो अमूराः ॥ २७ ॥

(१) **ते**=वे **यजत्राः**=यष्टव्य, पूज्य संगतिकरण योग्य व सब कुछ देनेवाले **देवासः**=देवो! आप **ऊ**=निश्चयपूर्वक **सु**=उत्तमता से **नः**=हमारे **महः** (**महते**)=महान् **ऊतये**=रक्षण के लिये **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाले **भूत**=होइये। सब देव ऐकमत्यवाले होकर हमारा रक्षण करनेवाले हों। सूर्य-चन्द्रादि देव हमारे अनुकूल होकर हमें स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं। तथा विद्वान् ज्ञानी पुरुष ज्ञान के द्वारा हमारा कल्याण करनेवाले होते हैं। सामान्यतः 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप सब देव एक निश्चय से चलते हैं तो एक बालक को एक 'सज्जन ज्ञानी' के रूप में बनानेवाले होते हैं। (२) ये सब देव वे हैं **ये**=जो **वियन्तः**=विविध गतियों को करते हुए, **वाजान्**=विविध शक्तियों को **अनयत**=हमें प्राप्त कराते हैं। माता 'चरित्र-बल' को प्राप्त कराती है, पिता 'आचार शक्ति' को। आचार्य 'ज्ञान के बल' को देते हैं तो अतिथि 'धर्म के मार्ग पर चलने की शक्ति' को देनेवाले होते हैं, ये हमें धर्म मार्ग से विचलित नहीं होने देते। इन देवों के अतिरिक्त प्राकृतिक देव अपनी अनुकूलता से हमें 'स्वास्थ्य का बल' प्राप्त कराते हैं। (३) ये 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' वे देव हैं **ये**=जो **निचेतारः स्थ**=निश्चय से ठीक मार्ग का चयन करनेवाले हैं, ये गलत मार्ग से हमें सदा बचाते हैं, यदि **अमूराः**=ये अमूढ़ होते हैं, किसी प्रकार के मोह में फँसे हुए नहीं होते। मोह में फँसकर माता-पिता से भी गलती हो सकती है। अमूढ़ माता-पिता बालक को ज्ञानी व सदाचारी बना ही पाते हैं।

भावार्थ—सब देव हमारे रक्षक हों, ये हमें विविध शक्तियों को प्राप्त करानेवाले हों।

सूक्त का प्रारम्भ 'आँख, कान, नासिका, मुख' आदि की न्यूनताओं को दूर करके उनके पूरण की प्रार्थना से हुआ है (६१.१) और समाप्ति पर सब देवों से विविध शक्तियों की प्राप्ति की प्रार्थना है (६१.२७) अब नाभानेदिष्ठ यह प्रार्थना करता है कि हम यज्ञ व दान वृत्ति से युक्त हों और अमृतत्व को प्राप्त करें—

[६२] द्विषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवा आङ्गिरसो वा** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

मानव धर्म (भद्र)

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ १ ॥

(१) **तेभ्यः वः**=उन तुम्हारे लिये, हे **अंगिरसः**=अंग-अंग में रसवालो! **भद्रं अस्तु**=कल्याण व सुख हो, **ये**=जो तुम **यज्ञेन**=यज्ञ से व **दक्षिणया**=दान की वृत्ति से **समक्ताः**=संगत व युक्त हो। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म हैं, ये कर्म लोकहित के कर्म हैं। इन कर्मों को व्यक्ति स्वार्थ की भावना से नहीं कर सकता है। इन यज्ञात्मक कर्मों में ही दक्षिणा भी एक

कर्म है। दान से ही मनुष्य लोकहित के कर्मों को कर पाता है। (२) ये यज्ञ व दक्षिणा से युक्त पुरुष धन के मित्र न बनकर के **इन्द्रस्य सख्यम्**=प्रभु की मित्रता को **आनश**=प्राप्त करते हैं। इस प्रभु की मित्रता का परिणाम होता है कि ये **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को, मोक्ष को, प्राप्त करते हैं। प्रकृति में फँसे रहने पर ही जन्म-मरण का चक्र चलता है प्रकृति से ऊपर उठते ही यह चक्र समाप्त हो जाता है। अमृतत्व प्राप्ति का भाव यह भी है कि प्रभु की मित्रता के होने पर मनुष्य उस अद्भुत आनन्द को प्राप्त करता है जिसकी कि तुलना में ये लौकिक आनन्द अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं। उस परमानन्द को प्राप्त व्यक्ति इन चीजों के प्रति रसवाला नहीं रहता। भोगासक्ति के न होने के कारण शरीर में जीर्णता भी नहीं आती, ये अंगिरस् बने रहते हैं। (३) इन अंगिरसों को अब अपने लिये कुछ नहीं करना होता। प्रभु की मित्रता व प्रभु की प्राप्ति के बाद और कुछ प्राप्तव्य ही नहीं रहता। 'ऐसी स्थिति में ये व्यक्ति अब कर्म क्यों करें?' इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे **सुमेधसः**=उत्तम बुद्धिवाले अंगिरसो! तुम **मानवं प्रति गृभ्णीत**=मानव धर्म का ग्रहण करो। तुम्हारा प्रत्येक कार्य मानवहित के लिये हो। लोकसंग्रह के उद्देश्य से तुम्हारे कर्म प्रवृत्त रहें। इन लोकहित के कर्मों को करने से ही नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है।

भावार्थ—मनुष्य यज्ञों व दान की वृत्ति को अपनाये, प्रभु की मित्रता को प्राप्त करे। अपने लिये कुछ करने को न होने पर भी मानवहित के लिये कर्म करे।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवा आङ्गिरसो वा** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

वल-विभेदन (वत्सर पर्यन्त ऋतपालन) (दीर्घायु)

य उदाजन्पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन्परिवत्सरे वलम्।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ २ ॥

(१) **ये**=जो **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों की प्रवृत्तिवाले लोग **गोमयं वसु**=ज्ञान की वाणियों से बने हुए धन को, अर्थात् ज्ञान रूप ऐश्वर्य को **उदाजन्**=उत्कृष्टता से अपने में प्रेरित करते हैं और जो **ऋतेन**=ऋत के पालन से, सब कार्यों को बड़े नियमित रूप से करने के द्वारा, **परिवत्सरे**=(the rerohution of full one year) पूर्ण वर्ष के उपरान्त **वलम्**=(veil) ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाले इस वल (=वृत्र) नामक असुर को **अभिन्दन्**=विदीर्ण करते हैं। ऋत का पालन इन्हें वासना को जीतने के लिये समर्थ करता है। कम से कम एक एक वर्ष ऋत का निरन्तर पालन इन्हें वासनाओं का विजेता बनाता है। इस आवरण के हटने से इनका ज्ञान दीप्त हो उठता है। (२) हे **अंगिरसः**=अंगों को रसमय बनानेवाले पुरुषो! **वः**=तुम्हारे लिये **दीर्घायुत्वं अस्तु**=दीर्घजीवन प्राप्त हो। वासना ही तो मनुष्य की शक्तियों को भी क्षीण करती है। शक्तियों को क्षीण करके यह हमें जीर्ण कर देती है और हम असमय ही में चले जाते हैं। वासना विजय जहाँ ज्ञानदीप्ति का कारण बनता है, वहाँ यह विजय हमारे दीर्घायुष्य को भी सिद्ध करता है। (३) वासना विजय कर लेने पर हे **सुमेधसः**=उत्तम बुद्धिवाले पुरुषो! **मानवम्**=मानव धर्म को तुम **प्रति गृभ्णीत**=ग्रहण करनेवाले बनो। जितेन्द्रिय पुरुष के कर्म लोकहित के लिये ही होते हैं।

भावार्थ—रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए हम ज्ञानधन का वर्धन करें। ऋत के पालन से वासना को जीतकर हम दीर्घायुष्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवा आङ्गिरसो वा** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

सुप्रजास्त्व

य ऋ॒तेन॒ सूर्य॒मारो॑हयन्दि॒व्यप्र॑थयन्पृथि॒वीं मा॒तरं॒ वि।
सु॒प्र॒जा॒स्त्वम॑ङ्गिरसो वो अस्तु॒ प्रति॑ गृभ्णीत मान॒वं सु॑मेधसः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र में कहा था कि ऋत के पालन से ज्ञान पर आ जानेवाले आवरण का नाश हो जाता है। इस आवरण के नष्ट होने से ज्ञान का सूर्य उसी प्रकार चमक उठता है जैसे कि मेघ के हटने पर आकाश में सूर्य चमक आता है। **ये**=जो **ऋतेन**=ऋत के पालन से **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यम्**=ज्ञान रूप सूर्य को **आरोहयन्**=आरूढ़ करते हैं और जो लोग **मातरम्**=भूमि माता के समान हितकर **पृथिवीम्**=इस शरीर रूप पृथिवी को **वि अप्रथयन्**=विस्तृत करते हैं, अर्थात् जो शरीर की शक्तियों को फैलाने का प्रयत्न करते हैं, **अंगिरसः**=हे रसमय अंगोंवाले पुरुषो! **वः**=उन आपके लिये **सुप्रजास्त्वम्**=उत्तम सन्तानोंवाला होना **अस्तु**=हो। अर्थात् मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न तथा शरीर में शक्ति सम्पन्न अंगिरस उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं। (२) सन्तानों की उत्तमता माता-पिता की उत्तमता पर निर्भर करती है। माता-पिता ज्ञान व शक्ति का सम्पादन करके, मस्तिष्क व शरीर दोनों को अच्छा बनाकर, उत्तम सन्तानों को ही प्राप्त करते हैं। सन्तान भी ज्ञान व शक्ति को लेकर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सन्तानों को अच्छा बनाकर हे **सुमेधसः**=उत्तम मेधावाले पुरुषो! आप **मानवम्**=मानव धर्म को **प्रति गृभ्णीत**=ग्रहण करनेवाले बनो। तुम्हारे सब कार्य अधिक से अधिक प्राणियों का हित करनेवाले हों।

भावार्थ—ऋत के द्वारा हमारा ज्ञान बढ़े और शरीर की शक्तियाँ सुसम्पन्न हों। परिणामतः हमारी सन्तानें भी उत्तम हों।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवा आङ्गिरसो वा** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

सुब्रह्मण्यम्

अ॒यं नाभा॑ वदति व॒ल्गु वो॑ गृ॒हे देव॑पुत्रा ऋषय॒स्तच्छृ॑णोतन।
सु॒ब्र॒ह्म॒ण्यम॑ङ्गिरसो वो अस्तु॒ प्रति॑ गृभ्णीत मान॒वं सु॑मेधसः ॥ ४ ॥

(१) **अयम्**=यह **नाभा**=नाभानेदिष्ठ (सूक्त का ऋषि), यज्ञों को केन्द्र बनाकर उनके समीप रहनेवाला, **वः**=तुम्हारे **गृहे**=घर में **वल्गु वदति**=शुभ व सुन्दर ही शब्द बोलता है। यहाँ सन्तानों को सम्बोधन करते हुए यह कहना कि '**वः**=तुम्हारे घर में', उन सन्तानों को प्रेरणा देता है कि 'घर हमारा है, इसे हमने अच्छा बनाना है।' (२) पिता पुत्रों को कहता है कि हे **देव पुत्राः**=देव पुत्रों, दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाले पुत्रो! **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियो! ज्ञान प्राप्त करनेवालो! **तत् शृणोतन**=उन शुभ शब्दों को सुनो। सन्तान 'देव पुत्र, ऋषि' आदि शुभ शब्दों को सुनेंगे तो वैसे ही बनेंगे। 'नालायक' आदि शब्दों को सुनकर वे नालायक ही बन जाएँगे। (३) इस प्रकार शुभ शब्दों के बोलनेवाले **अंगिरसः**=रसमय अंगोंवाले पुरुषो! **वः**=तुम्हारे लिये **सुब्रह्मण्यं अस्तु**=ज्ञाननैपुण्य हो, तुम वेदज्ञान में पूर्ण कुशलतावाले बनो। और **सुमेधसः**=उत्तम मेधावी बनकर **मानवम्**=मानवधर्म को **प्रति गृभ्णीत**=ग्रहण करो। मानवहित के कार्यों में सदा रत रहो।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष घर में सन्तानों को 'देव पुत्र व ऋषि' उत्तम शब्दों से ही सम्बोधित

करता है, इन उत्तम शब्दों से प्रेरणा को लेते हुए वे 'देव पुत्र व ऋषि' ही बनते हैं। मन उनके देवों के समान होते हों, मस्तिष्क ऋषियों के तुल्य। ये अंगिरस् होते हुए उत्तम ज्ञानवाले होते हैं।

सूचना—इन चार मन्त्रों में 'भद्र, दीर्घायुत्व, सुप्रजास्त्व व सुब्रह्मण्य' इन चार बातों का उल्लेख हुआ है, जहाँ भी ये चार बातें होंगी वहाँ लोग अगले मन्त्र के अनुसार 'विरूप'=विशिष्ट रूपवाले बनेंगे—

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवा आङ्गिरसो वा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

विरूप-ऋषि

विरू॑पास॒ इदृष॑य॒स्त इद्ग॑म्भी॒रवे॑पसः। ते अङ्गि॑रसः सू॒नव॒स्ते अ॒ग्नेः परि॑ जज्ञिरे॥ ५॥

(१) **विरूपासः**=गत मन्त्रों के अनुसार अपने जीवनों को बनानेवाले व्यक्ति विशिष्टरूपवाले होते हैं, ये औरों की तुलना में कहीं आगे बढ़े हुए होते हैं, ये तेजस्विता से दीप्त होते हुए चमकते हैं, **इत्**=निश्चय से **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा बनते हैं। शरीर में 'विरूप', मस्तिष्क में 'ऋषि' बनकर आदर्श पुरुष प्रतीत होते हैं। (२) **ते**=वे **इत्**=निश्चय से **गम्भीरवेपसः**=(गम्भीरकर्माणः) गम्भीर कर्मोंवाले होते हैं। ये प्रत्येक कर्म को उचित गम्भीरता के साथ करते हैं। (३) **ते**=वे **अंगिरसः सूनवः**=अंगिरस् के पुत्र कहलाते हैं। अर्थात् उत्कृष्ट अंगिरस होते हैं, इनके अंग-प्रत्यंग सब सशक्त बने रहते हैं, उसके अंगों में लोच-लचक बनी रहती है। (४) **ते**=वे **अग्नेः**=उस परमात्मा से **परिजज्ञिरे**=प्रादुर्भूत शक्तिवाले होते हैं, प्रभु की उपासना से इन्हें शक्ति प्राप्त होती है, इसकी शक्तियों के प्रादुर्भाव का रहस्य इनका प्रभु उपासन है।

भावार्थ—हम 'तेजस्वी-ज्ञानी-गम्भीरता से कर्मों को करनेवाले, सरस अंगोंवाले' बनें। ऐसा बनने के लिये प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवा आङ्गिरसो वा** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

नवग्व-दशग्व

ये अ॒ग्नेः परि॑ जज्ञि॒रे विरू॑पासो दि॒वस्परि॑।
नव॑ग्वो॒ नु दश॑ग्वो॒ अङ्गि॑रस्तमः॒ सचा॑ दे॒वेषु॒ मंहते॥ ६॥

(१) **ये**=जो **अग्नेः**=उस प्रभु से **परिजज्ञिरे**=शक्तियों के विकास को प्राप्त करते हैं, वे **विरूपासः**=विशिष्टरूपवाले तो होते ही हैं। ये **दिवः परि**=(परेर्वर्जने) द्युलोक से भी परे पहुँचते हैं। द्युलोक को छोड़कर द्युलोक से ऊपर उठते हैं। पृथ्वीलोक से ऊपर उठकर ये अन्तरिक्ष में आरुढ़ हुए, अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर द्युलोक में पहुँचे और द्युलोक से भी ऊपर उठकर इन्होंने स्वर्ज्योति को प्राप्त किया है 'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहं, अन्तरिक्षादिवमारुहं, दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'। शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति करके ये प्रभु को प्राप्त करनेवाले हुए हैं। (२) यह व्यक्ति **नवग्वः**=(नवग्व शब्द पर्यन्तं गच्छति) आयु के नौवें दशक तक जानेवाला होता है, **नु दशग्वः**=निश्चय से दशवें दशक तक पहुँचनेवाला होता है। अर्थात् ९० व १०० वर्ष तक आयुष्यवाला होता है। इस आयुष्य में भी यह **अंगिरस्तमः**=अधिक से अधिक सरस अंगोंवाला होता है। **सचा देवेषु**=यह सदा देवों में साथ रहनेवाला होता है। अर्थात् सूर्यादि देव इसके अक्षि आदि स्थानों में ठीक प्रकार निवास करते हैं 'सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्'=सूर्य चक्षु बनकर आँखों में रहता है तो चन्द्रमा मन बनकर हृदय में निवास करता है, वायु प्राण बनकर नासिका में, अग्नि वाणी बनकर मुख में, दिशाएँ श्रोत्र बनकर कानों में रहती हैं। इस प्रकार यह विरूप सब

देवों के साथ रहता है 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'। (२) इस प्रकार सब देवों के साथ रहता हुआ यह देवों की सब से बड़ी विशेषता को धारण करता है और **मंहते**=खूब देनेवाला होता है। यह त्याग इसके जीवन को उत्कृष्ट बनाये रखता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से हम द्युलोक से परे स्वर्ज्योति को प्राप्त करनेवाले बनें। नब्बे व सौ साल की उमर में भी सरस अंगोंवाले हों। देवों के साथ निवास करते हुए त्यागशील हों।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवा** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

गोमान् अश्ववान् व्रज

इन्द्रे॑ण यु॒जा निः सृ॑जन्त वा॒घतो॑ व्र॒जं गोम॑न्तम॒श्विन॑म्।
स॒हस्रं॑ मे॒ दद॑तो अष्टक॒र्ण्य१॒ः श्रवो॑ दे॒वेष्व॑क्रत॥ ७॥

(१) **वाघतः**=ज्ञान का वहन करनेवाले मेधावी ऋत्विज् **इन्द्रेण युजा**=उस प्रभु रूप मित्र के साथ **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों से बने **व्रजम्**=इस इन्द्रियसमूह को तथा **अश्विनम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियों से बने इस इन्द्रियसमूह को **निःसृजन्त**=विषयपंक से बाहिर निकाल लेते हैं। ये वाघत् लोग इन्द्रियों को विषयपंक में नहीं फँसने देते। इसके लिये वे प्रभु का स्मरण करते हैं, प्रभु की मित्रता का परिणाम होता है कि वे वासनाओं को जीत लेते हैं और इन्द्रियों को सुरक्षित कर पाते हैं। (२) ये **अष्टकर्ण्यः**=व्याप्त कर्णोंवाले, अर्थात् ज्ञान का खूब श्रवण करनेवाले **सहस्त्रम्**=(स+हस्) प्रसन्नतापूर्वक **मे**=मेरे प्रति अपने को देते हुए अथवा खूब दान करते हुए, **देवेषु**=दिव्यगुणों के विषय में **श्रवः**=अपनी कीर्ति को **अक्रत**=फैलाते हैं। ज्ञान को प्राप्त करते हैं, और त्यागशील बनते हैं। ये दोनों बातें मिलकर उनके अन्दर दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाली होती हैं। इन दिव्यगुणों के कारण उनका चारों ओर यश फैलता है।

भावार्थ—प्रभु को मित्र बनाकर ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों को सुरक्षित करते हैं। ये खूब ज्ञान प्राप्त करते हैं, त्यागशील होते हैं। और इस प्रकार अपने दिव्यगुणों के कारण कीर्तिवाले होते हैं।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**सावर्णेर्दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मनुष्य की सस्यांकुर के समान उत्पत्ति

प्र नू॒नं जा॑यताम॒यं मनु॒स्तोक्मे॑व रोहतु। यः स॒हस्रं॑ श॒ताश्वं॑ स॒द्यो दा॒नाय॒ मंह॑ते॥ ८॥

अयं मनुः=यह मनुष्य, **तोक्मं**=जल से भीगे बीज के समान **प्र जायताम्**=अच्छी प्रकार उत्पन्न होता **प्र रोहतु**=और उसी के समान उगता, बढ़ता और फलता फूलता है। यह वही है **यः**=जो **सहस्रं शताश्वं**=हजारों सैकड़ों पशुओं का **दानाय**=दान देकर **सद्यः**=शीघ्र ही **मंहते**=सत्कार योग्य हो जाता है।

भावार्थ—दानवृत्तिवाले का सम्मान होता है।

ऋषिः—**नाभानेदिष्ठो मानवः** ॥ देवता—**सावर्णेर्दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तेजस्वी का सूर्यवत् सर्वोच्च स्थान

न तम॑श्नोति॒ कश्च॒न दि॒वइ॑व॒ सान्वा॒रभ॑म्। सा॒व॒र्ण्यस्य॒ दक्षि॑णा॒ वि सिन्धु॑रिव पप्रथे॥ ९॥

दिवः इव सानुम्=आकाश में ऊँचे स्थान पर सूर्यवत् स्थित उसको **कः चन**=कोई भी **आरभम् न अश्नोति**=प्राप्त नहीं कर सकता। **सावर्ण्यस्य**=चारों वर्णों से समान रूप में वरण करने योग्य उसकी **दक्षिणा**=दानशक्ति **सिन्धुः इव**=समुद्र के समान **पप्रथे**=विस्तृत होती है।

भावार्थ—दानी पुरुष समुद्र के समान गम्भीर होते हैं।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—सावर्णेर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यदु और तुर्व

उत दासा परिविषे स्मद्दिष्टी गोपरीणसा। यदुस्तुर्वश्च मामहे॥ १०॥

(१) **उत**=और **दासा**=जो प्रभु के भक्त हैं, जो वासनाओं के उपदसन (दसु उपक्षये) क्षय में प्रवृत्त हैं, **स्मद्दिष्टी**=(कल्याण देशिनौ सा०) शुभ उपदेशवाले हैं, जो अन्तःस्थित प्रभु की कल्याणी प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले हैं, **गोपरीणसा**=इन्द्रियों को चारों ओर से बाँधनेवाले हैं, इधर-उधर विषयों में जाती हुई इन्द्रियों को रोकनेवाले हैं, ये ही **परिविषे**=(to surround to encouuter) शत्रुओं के घेरने के लिये और उनसे मुकाबिला करने के लिये होते हैं। वस्तुतः वासनाओं को जीतने के लिये सर्वोत्तम साधन यही है कि हम प्रभु के दास बनें, उसकी कल्याणी प्रेरणा को सुनें, इन्द्रियों को रोकने का प्रयत्न करें। (२) **यदुः**=(यतते) यत्नशील पुरुष **च**=और **तुर्वः**=(तुर्वी हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाला व्यक्ति **मामहे**=प्रभु का पूजन करता है। प्रभु की वस्तुतः पूजा यही है कि हम अकर्मण्य न हों और वासनाओं के शिकार न हों। इस प्रकार यदु और तुर्व बनकर हम प्रभु का पूजन करते हैं। आलसी प्रभु से दूर होता है, क्रियाशील समीप। वासनाओं को जीतनेवाला प्रभु का दर्शन करता है, वासनामय जीवनवाला इन वासनाओं से ही कुचला जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु-भक्त बनें, उसकी कल्याणी प्रेरणा को सुनें, इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकें, यत्नशील हों, वासनाओं का संहार करें। यही सच्चा प्रभु-पूजन है।

ऋषिः—नाभानेदिष्ठो मानवः ॥ देवता—सावर्णेर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अश्रान्ता असनाम वाजाम्'

सहस्रदा ग्रामणीर्मा रिषन्मनुः सूर्येणास्य यतमानैतु दक्षिणा।
सावर्णेर्देवाः प्र तिरन्त्वायुर्यस्मिन्नश्रान्ता असनाम वाजम्॥ ११॥

(१) **सहस्रदा**=(स+हस्+दा) आनन्दपूर्वक देनेवाला, देने में आनन्द को अनुभव करनेवाला अथवा खूब दान करनेवाला, हजारों के देनेवाला **ग्रामणीः**=इन्द्रिय समूह का प्रणयन करनेवाला **मनुः**=ज्ञानी पुरुष **मा रिषत्**=हिंसित न हो। हिंसित न होने का मार्ग यही है कि हम (क) दानशील हों, (ख) इन्द्रिय समूह को यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रखें, (ग) ज्ञानी विचारशील बनें। (२) **अस्य**=इस मनु की **दक्षिणा**=दानवृत्ति **सूर्येण**=सूर्योदय के साथ ही **यतमाना**=लोकहित के लिये उद्योग करती हुई **एतु**=गतिमय हो, प्रवृत्त हो। अर्थात् यह ज्ञानी पुरुष दिन के प्रारम्भ से ही दान की वृत्तिवाला बने, प्रातःकाल को दान से ही प्रारम्भ करे। इसका यह दान 'देशकालपात्र' का विचार करके दिया जाए जिससे वह सबके हितकारी कारण बने, अहित का नहीं। अपात्र में दिया गया दान उसके जीवन को और अधिक विकृत करनेवाला ही हो जाता है। (३) जो दान की वृत्ति के द्वारा अपने जीवन को उस सब कुछ देनेवाले प्रभु के समान ही बनाने के लिये बलशील होता है उस **सावर्णेः**=प्रभु के समान वर्णवाले की **आयुः**=आयु को **देवाः**=सब देव **प्रतिरन्तु**=बढ़ानेवाले हों। देवों की अनुकूलता से हम **वाजम्**=अन्न, बल का **असनाम**=उपभोग करें।

भावार्थ—दानी को अन्न, धन का अभाव नहीं हो सकता।

[६३] त्रिषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपदेष्टा लोगों के कर्त्तव्य

परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः।
ययातेर्ये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

ये=जो **मनु-प्रीतासः**=विचारवान् मनुष्यों को प्रेम करनेवाले होकर **परावतः**=दूर-दूर देश से आकर **आप्यम् दिधिषन्ते**=आप्तजनों के बीच दीक्षादि धारण करते हैं और जो **विवस्वतः**=धन सम्पन्न जनों वा विविध ब्रह्मचारियों के स्वामी गुरु से **जनिषं दिधिषन्ते**=उत्तम कोटि का विद्याजन्म, द्विजत्व धारण करते हैं और **ययातेः**=यत्नशील वा दुष्टों के दमन करनेवाले के **बर्हिषि**=वृद्धियुक्त आसन पर **आसते**=विराजते हैं, **ते देवाः**=वे विद्या, ज्ञान धनादि के दाता और तेजस्वी, ज्ञानप्रकाशक जन **नः अधि ब्रुवन्तु**=हमें उपदेश करें और हम पर शासन करें।

भावार्थ—हमें प्रबुद्ध जन ही उपदेश करें।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु के नाम 'नमस्य वन्द्य व यज्ञीय' हैं

विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥ २ ॥

(१) हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **वः**=आपके लिये **हि**=निश्चय से **विश्वानामानि**=प्रभु के सब नाम **नमस्यानि**=परिचर्या के योग्य हैं, उपासनीय हैं। ये नाम **वन्द्या**=स्तुत्य हैं, इनके द्वारा प्रभु का उत्तमता से स्तवन होता है **उत**=और ये नाम **वः**=आपके लिये **यज्ञिया**=संगतिकरण योग्य, हैं। इन नामों के द्वारा आप प्रभु की परिचर्या करते हैं। इनके द्वारा प्रभु का स्तवन होता है और आप इन नामों के अन्दर निहित भाव को प्रेरणा के रूप में लेकर अपने जीवन को प्रभु जैसा बनाने का प्रयत्न करते हैं। (२) **ये**=जो देव **अदितेः**=द्युलोक के दृष्टिकोण से (अदिति द्यौ०) **जाताः स्थ**=विकासवाले हुए हैं, इसी प्रकार **अद्भ्यः**=अन्तरिक्षलोक के दृष्टिकोण से **परिजाताः स्थ**=पूर्ण विकासवाले हुए हैं और **ये**=जो **पृथिव्याः**=पृथिवी के दृष्टिकोण से **जाताः स्थ**=विकसित हुए हैं **ते**=वे देव **मे हवम्**=मेरी प्रार्थना को **इह**=यहाँ **श्रुता**=सुनें। मस्तिष्क ही द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्ष है और पृथिवी शरीर है। मस्तिष्क हृदय व शरीर तीनों को दृष्टिकोण से जिन्होंने अपना विकास ठीक रूप में किया है वे देव हमारी प्रार्थना को सुनें और हमें उपदेश के देनेवाले हैं। उनके पगचिह्नों पर चलते हुए हम भी मस्तिष्क, हृदय व शरीर का विकास कर पायें।

भावार्थ—देव लोग प्रभु के सब नामों से उसका उपासन व स्तवन करते हुए उन नामों की भावना को अपने जीवन का अंग बनाने का प्रयत्न करते हैं। ये मस्तिष्क, हृदय व शरीर तीनों का विकास करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

माधुर्ययुक्त दुग्ध

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान्वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥ ३ ॥

(१) **तान्**=उन **आदित्यान्**=सब स्थानों से अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाले देवों के **अनु**=पीछे चलते हुए हम **मदा**=हर्ष का अनुभव करते हैं, जिससे **स्वस्तये**=(सु+अस्ति) हम जीवन की स्थिति को उत्तम बना सकें। आदित्यों का अनुगमन करते हुए हम भी गुणों के आदान की वृत्तिवाले बनेंगे, तो हमारी स्थिति उत्तम बनेगी ही। (२) उन आदित्यों का हम अनुगमन करते हैं **येभ्यः**=जिनके लिये **माता**=वेद-माता **मधुमत् पयः**=माधुर्य से पूर्ण ज्ञानदुग्ध को **पिन्वते**=प्राप्त कराती है। 'स्तुता मया वरदा वेदमाता०' इन वेद शब्दों में वेद को माता कहा ही है। माता जैसे दूध से बच्चे का पोषण करती है, इसी प्रकार यह वेदमाता ज्ञानदुग्ध से हमारा पोषण करती है। वेदमाता का यह ज्ञानदुग्ध माधुर्य से परिपूर्ण है। वेद में माधुर्य पर अत्यधिक बल दिया है। वेद का ज्ञान मनुष्य के जीवन को द्वेषादि से ऊपर उठाकर मधुर बनाता है। (३) हम उन देवों के सम्पर्क में आयें जिनके लिये **द्यौः**=द्युलोक, अर्थात् मस्तिष्क **पीयूषम्**=अमृत का वर्षण करता है। मस्तिष्कस्थ सहस्रार चक्र में जिस समय प्राणों का संयम होता है उस समय धर्ममेघ समाधि की स्थिति में अमृत बिन्दुवर्षण होता है जो कि योगी के अनिर्वचनीय आनन्द का कारण बनता है। **अदितिः**=हृदयान्तरिक्ष (अदितिरन्तरिक्षम्) **अद्रिबर्हाः**=अविदारणीय (अ+दृ) अथवा आदरणीय प्रभु का वर्धन करनेवाला होता है। इन देवों के हृदय में प्रभु की भावना का उत्कर्ष होता है, यह प्रभु-दर्शन ही वस्तुतः इन्हें पवित्र व शान्त जीवनवाला बनाता है। (४) हम उन देवों के सम्पर्क में आयें जो **उक्थशुष्मान्**=स्तोत्रों के बलवाले हैं, प्रभु के स्तवन से प्रभु के सम्पर्क में आकर जो प्रभु के बल से बलवाले होते हैं। **वृषभरान्**=जो अपने अन्दर धर्म की भावना को भरते हैं तथा **स्वप्नसः**=(अप्नस्-कर्म) उत्तम कर्मवाले हैं। इन देवों के सम्पर्क में आकर हम भी 'स्तुतिशील, धार्मिक व उत्तम यज्ञादि कर्मों के करनेवाले' बनेंगे।

भावार्थ—हम उन देवों के सम्पर्क में आयें जो कि 'स्तुतिशील धार्मिक व कर्मनिष्ठ' हैं तथा जो वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं, समाधि के अभ्यस्त हैं, प्रभु का हृदय में दर्शन करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अहीन-यज्ञ व निष्पाप

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥ ४॥

(१) **नृचक्षसः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले, केवल अपने स्वार्थ को न देखनेवाले, **अनिमिषन्तः**=प्रमाद व आलस्य न करनेवाले, **अर्हणा**=प्रभु अर्चना के द्वारा **बृहद् देवासः**=वर्धनशील देववृत्ति के पुरुष **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **आनशुः**=प्राप्त करते हैं। अमृतत्व की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि (क) हम केवल अपने लिये न जियें, (ख) प्रमाद व आलस्य से रहित हों, (ग) पूजा की वृत्ति को अपनाकर अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करें। (२) **ज्योतीरथाः**=ज्योतिर्मय रथवाले, जिनका यह शरीर-रथ ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। **अहि मायाः**=अहीन प्रज्ञावाले, जिनकी बुद्धि में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं। **अनागसः**=जिनका जीवन निष्पाप है। ऐसे ये व्यक्ति **दिवः वर्ष्माणम्**=द्युलोक के समुच्छ्रित प्रदेश में, अर्थात् ज्ञान के शिखर पर **वसते**=निवास करते हैं, ऊँचे से ऊँचे ज्ञानी होते हैं। ये ज्ञानी पुरुष **स्वस्तये**=उत्तम जीवन की स्थिति के लिये होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष केवल अपने लिये नहीं जीते। प्रभु-पूजन से दिव्यगुणों का वर्धन करके ये अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। ये प्रकाशमय अहीनप्रज्ञ व निष्पाप होते हैं।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आदित्यों व अदिति का पूजन

स॒म्राजो॒ ये सु॒वृधो॑ य॒ज्ञमा॑य॒युरप॑रिह्वृता दधि॒रे दि॒वि क्षय॑म्।
ताँ आ वि॑वास॒ नम॑सा सुवृ॒क्तिभि॑र्म॒हो आ॑दि॒त्याँ अदि॑तिं स्व॒स्तये॑॥ ५ ॥

(१) **तान्**=उन **आदित्यान्**=सब स्थानों से गुणों का ग्रहण करनेवाले **महः**=गुणों के आधिक्य से महनीय देवों को **नमसा**=नमन के द्वारा और **सुवृक्तिभिः**=सुष्ठु दोष वर्जन के द्वारा, प्रयत्नपूर्वक दोषों को दूर करने के द्वारा, **आविवास**=पूजित कर। बड़ों का आदर दो ही प्रकार से होता है, (क) उनके प्रति नम्रता के धारण से तथा (ख) अपने दोषों को दूर करने से। यदि हम नमस्ते तो करें, पर उनके कहने के अनुसार अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न न करें तो यह उनका निरादर ही है। (२) हम उन आदित्यों का आदर तो करें, साथ ही **अदितिम्**=(अखण्डन) स्वास्थ्य का भी आदर करें। स्वास्थ्य का भी पूरा ध्यान करें। **स्वस्तये**=(सु+अस्ति) उत्तम स्थिति के लिये आदित्यों व अदिति दोनों का पूजन आवश्यक है। (३) आदित्य वे हैं **ये**=जो (क) **सम्राजः**=दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाले हैं, जिनकी सब भौतिक क्रियाएं ठीक समय पर होती हैं (well regulated) और अतएव (ख) **सुवृधः**=उत्तम वर्धनवाले हैं। ठीक समय पर क्रियाओं के होने से उनके सब अंग-प्रत्यंगों की शक्ति का ठीक से विकास होता है। (ग) जो विकसित शक्तिवाले होकर **यज्ञं आययुः**=श्रेष्ठतम कर्मों को प्राप्त होते हैं। (घ) **अपरिह्वृताः**=जो सब प्रकार की कुटिलता से रहित हैं। श्रेष्ठतम कर्मों का कुटिलता से समन्वय सम्भव ही नहीं। (ङ) जो **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **क्षयम्**=निवास को **दधिरे**=धारण करते हैं। जिनका जीवन ज्ञान प्रधान होता है, वे ही आदित्य हैं। ये भावुकता में बहकर न्याय्य पथ को छोड़ नहीं देते। इनकी श्रद्धा भी ज्ञानोज्वल होती है। इन आदित्यों के सम्पर्क में तो हम आयें ही, साथ ही स्वास्थ्य का पूरा ध्यान करें। तभी हमारी स्थिति उत्तम होगी।

भावार्थ—आदित्यों व अदिति का पूजन हमारी स्थिति को उत्तम बनाये।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्तुतिमयता-यज्ञशीलता

को व॒: स्तोमं॑ राधति॒ यं जुजो॑षथ॒ विश्वे॑ देवासो मनुषो॒ यति॒ ष्ठन॑।
को वो॑ऽध्व॒रं तु॑विजाता॒ अरं॑ कर॒द्यो न॒: पर्ष॒दत्यंह॑: स्व॒स्तये॑॥ ६ ॥

(१) हे **विश्वेदेवासः**=सब देववृत्ति के पुरुषो! **मनुषः**=विचारशील लोगो! **यतिष्ठन**=आप जितने भी हो, **वः**=आपमें से **स्तोमं राधति**=जो स्तुति समूह को सिद्ध करता है, उस स्तुति-समूह को **यं जुजोषथ**=जिसको आप भी प्रीतिपूर्वक सेवन करते हो, जो स्तुति-समूह आपको भी बड़ा रुचिकर प्रतीत होता है, वह व्यक्ति ही **कः**=आनन्दमय जीवनवाला है। देववृत्ति का विचारशील पुरुष स्तुति में लीन होता है तो एक आनन्द का अनुभव करता है। (२) हे **तुवि-जाताः**=महान् विकासवाले पुरुषो! **वः**=तुम्हारे में से **यः**=जो **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को **अरं करद्**=अलंकृत करता है अथवा खूब ही करता है वही **कः**=आनन्दस्वरूप होता है और वह **नः**=हमें **अहः अतिपर्षत्**=पाप के पार ले जाता है, हमें पापों से बचाता है और इस प्रकार **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये होता है। हमें अपने क्रियात्मक जीवन से सद्गुणों का पाठ पढ़ाता हुआ वह पापों से बचानेवाला होता है और इस प्रकार हमारा जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ—आनन्द में वही है जिसका जीवन स्तुतिमय है व जो यज्ञशील है।

सूचना—पाँचवें व छठे मन्त्र का सार यह है कि जीवन का उत्कर्ष 'आदित्यों के सम्पर्क में ज्ञान की वृद्धि, स्तुतिमयता व यज्ञशीलता' में ही है। इनकी आधारभूत वस्तु स्वास्थ्य है। (क) स्वस्थ होता हुआ मनुष्य, (क) ज्ञान प्रधान जीवन बिताये, (ग) स्तुति में लीन व (घ) यज्ञशील हो। इसी में सुख है।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

होत्रा-मन तथा सप्त होता (वे आदित्य)

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥ ७॥

(१) **समिद्धाग्निः**=दीप्त ज्ञानाग्निवाले **मनुः**=ज्ञानपुञ्ज प्रभु **येभ्यः**=जिनके लिये **प्रथमां होत्राम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उच्चारण की जानेवाली ज्ञान की वाणी (नि० १.११) को **आयेजे**=संगत करते हैं। **मनसः**=मनन शक्ति के साथ तथा **सप्त होतृभिः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=कर्णादि सात होताओं के साथ प्रभु जिन्हें ज्ञान प्राप्त कराते हैं **ते**=वे **आदित्याः**=ज्ञान का आदान करनेवाले ज्ञानी मननशील ऋषि **अभयम्**=निर्भयता व **शर्म**=सुख को **यच्छत**=दें और **नः**=हमारे लिये **सुपथा**=उत्तम मार्गों को **सुगा**=सुगमता से जाने योग्य **कर्त**=करें। जिससे **स्वस्तये**=हमारी जीवन की स्थिति उत्तम हो। (२) प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' इन ऋषियों को वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। अब भी निर्मल हृदय होकर हम उस प्रकाश को देख सकते हैं। प्रभु जहाँ ज्ञान प्राप्त कराते हैं, वहाँ मनन साधन 'मन' को भी प्राप्त कराते हैं, उस मनन के लिये सामग्री को प्राप्त कराने के लिये 'दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो चक्षु व वाणी' रूप सप्त (ऋषियों) को भी प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार मन, इन्द्रियों व वेदवाणी द्वारा अपने ज्ञान का वर्धन करनेवाले ये व्यक्ति 'आदित्य' हैं। इन आदित्यों के सम्पर्क में हमें निर्भयता व सुख प्राप्त होता है। ये आदित्य हमें ज्ञान देकर सुपथ से चलने की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। इस सुपथ से चलते हुए हमारा जीवन 'स्वस्ति-मय' होता है।

भावार्थ—ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके हम सुपथ से चलें और स्वस्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देव का लक्षण (वे देव)

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के प्रसंग में ही कहते हैं कि **ते देवासः**=वे देव **नः**=हमें **एनसः**=पापों से **अद्या**=आज ही **पिपृता**=पार करें, अर्थात् पापरहित करें, **स्वस्तये**=जिससे हमारी जीवन स्थिति उत्तम हो। उन पापों से दूर करें जो आप **कृतात्**=क्रिया से निर्वृत्त हुए हैं, अर्थात् जिन पापों को हमने इस शरीर के अंगों से किया है और **अकृतात्**=जिन्हें शरीर के अंगों से तो अभी नहीं किया, अभी जो मन में ही विचार रूप में रह रहे हैं। **अकृतात्**=(करचरणादिभिरकृतात् मानसात् सा०) उन कायिक व तामस सभी पापों से ये देव हमें बचाएँ। (२) **ये**=जो **देव ईशिरे**=अपने ईश हैं, इन्द्रियों के स्वामी हैं, जितेन्द्रिय हैं। **भुवनस्य**=इस भुवन के, लोक के **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं, प्रकृति व जीव को जो जानते हैं। **विश्वस्य**=सम्पूर्ण **स्थातुः जगतः च**=स्थावर व जंगम

का जो **मन्तवः**=मनन करनेवाले हैं। जड़ व चेतन जगत् को समझनेवाले हैं। (३) इस जड़ व चेतन जगत् के ज्ञान से ही मार्ग का ज्ञान होता है। प्रकृति का ज्ञान शरीर स्वास्थ्य के मार्ग को बतलाता है, जीव का ज्ञान मानस स्वास्थ्य के मार्ग का प्रदर्शक होता है। इस प्रकार ये देव 'शरीर व मन' के दृष्टिकोण से ठीक मार्ग पर चलनेवाले होते हैं। ये हमें भी इस मार्ग का उपदेश देकर शरीर व मानस स्वास्थ्य को प्राप्त करायें। प्रभु का ज्ञान व स्मरण हमें इस मार्ग से भ्रष्ट होने से बचाता है।

भावार्थ—प्रकृति व जीव को समझनेवाले जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष हमें मार्ग का ज्ञान देकर शरीर व मानस पापों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अंहोमुक् प्रभु

भरे॑ष्विन्द्रं॑ सु॒हवं॑ हवामहें॒ऽहो॒मुचं॑ सु॒कृतं॒ दैव्यं॒ जन॑म्।
अ॒ग्निं मि॒त्रं वरु॑णं सा॒तये॒ भगं॒ द्यावा॑पृथि॒वी म॒रुतः॑ स्व॒स्तये॑॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम मार्ग पर चलते हैं तो संसार के प्रलोभन हमारे लिये इतने आकर्षक होते हैं कि वे हमें उस मार्ग से भटका देते हैं। इन प्रलोभनों के साथ हमारा संग्राम चलता है। उन **भरेषु**=अध्यात्म-संग्रामों में हम **सुहवम्**=शोभन आह्वानवाले उस **इन्द्रम्**=असुर वृत्तियों के संहार करनेवाले प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं जो **अंहोमुचम्**=हमें सब पापों से छुड़ानेवाले हैं। प्रभु का स्मरण हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है, प्रभु के स्मरण से हमें शक्ति मिलती है और हम प्रलोभनों को जीत पाते हैं। (२) हम प्रभु को पुकारने के साथ **सुकृतम्**=उत्तम कर्म करनेवाले **दैव्यम्**=देव के उस प्रभु के उपासक **जनम्**=लोगों को भी पुकारते हैं जो **अग्निम्**=उन्नतिपथ पर निरन्तर आगे ले चलनेवाले हैं, **मित्रम्**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व पाप से बचानेवाले हैं, **वरुणम्**=हमारे से द्वेष आदि का निवारण करनेवाले हैं। इन लोगों के सम्पर्क में आकर हम भी 'सुकृत्, अग्नि, मित्र व वरुण बनकर' प्रभु की ओर चलनेवाले होते हैं और प्राकृतिक भोगों में फँस नहीं जाते। (३) **सातये**=जीवन के लिये आवश्यक अन्नादि के लाभ के लिये **भगम्**=ऐश्वर्य की भी हम प्रार्थना करते हैं, हम चाहते हैं कि हमें उतना धन अवश्य प्राप्त हो जो कि जीवन यात्रा की पूर्ति के लिये पर्याप्त हो। (४) हम **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों के लिये प्रार्थना करते हैं। हमारा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त हो तो हमारा शरीर सुदृढ़ हो। इस उत्तम-स्थिति के लिये ही हम **मरुतः**=प्राणों को पुकारते हैं। प्राणसाधना के द्वारा ही तो बुद्धि सूक्ष्म होकर दीप्त ज्ञान की प्राप्ति होगी और इस साधना से ही शरीर पूर्ण नीरोग व सुदृढ़ बनेगा।

भावार्थ—प्रभु का आराधन हमें वासना संग्राम में विजयी बनायेगा। सज्जन संग हमें प्रभु की ओर ले चलेगा। आवश्यक धन को प्राप्त करके प्राणसाधना करते हुए हम दीप्त मस्तिष्क व सुदृढ़ शरीरवाले होंगे।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दैवी नाव

सु॒त्रामा॑णं पृथि॒वीं द्याम॑ने॒हसं॑ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम्।
दैवीं॒ नावं॑ स्वरि॒त्रामना॑गस॒मस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑॥ १० ॥

(१) हम **स्वस्तये**=कल्याण के लिये, इस भवसागर में न डूब जाने के लिये, इस **दैवी**

नावम्=प्रभु से दी गई शरीर रूप दिव्य नौका पर **आरुहेमा**=आरोहण करें। जो नौका कि **सुत्रामाणम्**=बहुत अच्छी प्रकार सुरक्षित हुई है, जिसे आधि-व्याधियों के आक्रमण से बचाया गया है। रोगों से इस शरीर रूप नाव की रक्षा करना आवश्यक है। यह नाव **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) ठीक विस्तारवाली है, इसका अंग-प्रत्यंग ठीक से विकसित हुआ है। **द्याम्**=यह ज्योतिर्मय है, बुद्धि के समुचित विकास से इसमें ज्ञान के प्रकाश की कमी नहीं। **अनेहसम्**=(सहस्=sin) यह निर्दोष है और इसी कारण **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख को देनेवाली है। **अदितिम्**=(दो अवखण्डने) यह खण्डन से रहित हैं, इसमें किसी प्रकार की अंग-विकृति नहीं है। (२) यह पूर्ण स्वस्थ शरीर रूप नाव **सुप्रणीतिम्**=उत्तम प्रणयन वाली है, बुद्धि के द्वारा इसका संचालन बड़ी उत्तमता से होता है। इस उत्तम संचालन का ही परिणाम है कि यह नाव हमें उस देव (=परमात्मा) तक पहुँचानेवाली होती है और अपने ''दैवीं नावं' इस नाम को सार्थक कर पाती है। **स्वरित्राम्**=यह उत्तम अरित्रों (=चप्पुओं) वाली है। कर्मेन्द्रियां व ज्ञानेन्द्रियाँ ही इसमें अरित्र (oar) हैं। यह नाव **अनागसम्**=एकदम निर्दोष है और **अस्रवन्तीम्**=(does not leak) यह स्वछिद्र न होने से सुरक्षित वीर्य रूप जलवाली होती है। इस अस्रवण के कारण ही इसका सब सौन्दर्य है। इसमें जो कुछ उत्तमता है उसका मूल यह अस्रवण ही है। इस नाव के द्वारा हम भवसागर को पार करें और प्रभु को प्राप्त करें।

भावार्थ—यह शरीररूप नाव प्रभु ने हमें भवसागर को पार करने के लिये दी है। इस पर आरूढ़ होकर हम अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचें।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'अवसे-स्वस्तये' (कुटिलता व हिंसा से दूर)

विश्वे॑ यजत्रा॒ अधि॑ वोचतो॒तये॒ त्राय॑ध्वं नो दु॒रेवा॑या अ॒भिह्रुतः॑।
स॒त्यया॑ वो दे॒वहू॑त्या हुवेम शृण्व॒तो दे॑वा॒ अव॑से स्व॒स्तये॑ ॥ ११ ॥

(१) **विश्वे**=सब **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य **देवाः**=देवो! आप **ऊतये**=रक्षण के लिये **अधिवोचत**=हमें अधिक्येन उपदेश दीजिये और **नः**=हमें **दुरेवायाः**=दुर्गति=दुराचरण से तथा **अभिह्रुतः**=कुटिलता से व हिंसा से **त्रायध्वम्**=बचाइये। हम दुरितों व हिंसा के मार्ग से बचकर ही चलें। हमारा जीवन आपके दिये गये ज्ञान से पवित्र बने और उस पवित्र जीवन में दुरितों व हिंसा का कोई स्थान न हो। इस प्रकार आपका दिया हुआ ज्ञान हमारे रक्षण के लिये हो जाता है। (२) हे **शृण्वतो देवाः**=हमारी प्रार्थना को सुननेवाले देवो! हम **वः**=आपको **सत्यया**=सत्य **देवहूत्या**=देवहूति से, देवों को पुकारने के ढंग से, **हुवेम**=पुकारें। देवों को पुकारने का सत्य प्रकार यही होता है कि हम नम्रता व जिज्ञासा की भावनावाले होकर उनके समीप जाएँ। इस प्रकार उनके समीप हम जाएँगे तो वे हमें वह सत्य ज्ञान प्राप्त करायेंगे जो हमारे **अवसे**=रक्षण के लिये होगा और **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये होगा। यह ज्ञान हमें वासनाओं से बचानेवाला होगा और नीरोगता व ऐश्वर्य के द्वारा हमारे जीवन की उत्तम स्थिति का कारण बनेगा।

भावार्थ—हम ज्ञानियों के समीप नम्रता से पहुँचे और उस ज्ञान को प्राप्त करें जो हमारे रक्षण व कल्याण के लिये हो।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

रोग व द्वेष से दूर

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये॥ १२॥

(१) हे देवो! आप अपने ज्ञानोपदेश के द्वारा **अमीवाम्**=रोगों को **अप**=हमारे से दूर करिये। हमारे शरीर रोगों से रहित हों। **विश्वाम्**=सब **अनाहुतिम्**=न यज्ञ करने की भावना को (हु) अथवा विद्वानों को न पुकारने की भावना को (ह्वा) हमारे से दूर करिये **अरातिम्**=(अ रा=दाने) न दान देने की भावना को **अप**=हमारे से दूर करिये। **अघायतः**=दूसरे के अघ व पाप (अशुभ) की कामनावाले पुरुष की **दुर्विदत्राम्**=दुर्बुद्धि को, दुष्टज्ञान को हमारे से दूर करिये। (२) हे **देवाः**=ज्ञान देनेवाले पुरुषो! **द्वेषः**=द्वेष को **अस्मत्**=हमारे से **आरे**=दूर **युयोतन**=पृथक् करिये। ईर्ष्या-द्वेष की भावनाएँ हमारे समीप न आएँ। और इस प्रकार ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठाकर **नः**=हमारे लिये **उरु शर्म**=विस्तृत सुख को **यच्छता**=प्राप्त कराइये जिससे **स्वस्तये**=हमारे जीवन की स्थिति उत्तम हो।

भावार्थ—हम देवों से ज्ञान को प्राप्त करें, यह ज्ञान हमें नीरोग, निर्लोभ व निर्द्वेष बनाये।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सम-विकास

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥ १३॥

(१) **स मर्तः**=वह मनुष्य **विश्वः**=सारे का सारा, अर्थात् पूर्णरूप से **अरिष्टः**=अहिंसित होता हुआ **एधते**=बढ़ता है, वृद्धि को प्राप्त करता है और **धर्मणः**=धर्म के द्वारा **प्रजाभिः**=अपने सन्तानों के साथ **परिप्रजायते**=सब प्रकार के विकास को प्राप्त करता है, **यम्**=जिस पुरुष को हे **आदित्यासः**=सब ज्ञानों व गुणों का आदान करनेवाले देवो! आप **सुनीतिभिः**=उत्तम मार्गों से हमें कल्याण के लिये **नयथा**=ले चलते हैं। (२) ये पाप हमारे न चाहते हुए भी हमारे में प्रविष्ट हो जाते हैं, अतः इन्हें 'विश्व' कहा गया है (विशन्ति)। आदित्यों का उपदेश हमें इस योग्य बनाता है कि हम इन पापों से बचे रहते हैं। धर्म के मार्ग पर चलते हुए हम अपने जीवनों को उत्तम बनाते हैं, साथ ही हमारे सन्तानों के जीवन भी सुन्दर बनते हैं। इस प्रकार **स्वस्तये**=हम उत्तम स्थिति के लिये होते हैं।

भावार्थ—आदित्यों का उपदेश हमें सदा सन्मार्ग के दिखानेवाला हो, उस पर चलते हुए हम दुरितों से दूर हों और स्वस्ति को सिद्ध करें।

सूचना—यहाँ 'विश्वः एधते'=इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि केवल शरीर, केवल मन व केवल मस्तिष्क का विकास वेद को अभीष्ट नहीं। वेद के दृष्टिकोण से 'शरीर, मन व मस्तिष्क' का सम्मिलित विकास ही विकास है। यही स्थानान्तर में 'त्रिविक्रम बनना' कहा गया है। तीनों कदमों का रखना ही ठीक है।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शरीर-रथ

यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **रथम्**=हम उस शरीर रथ पर **आरुहेम**=आरोहण करें जो **प्रातर्यावाणम्**=प्रातः से ही गतिमय है, अर्थात् इस शरीर-रथ पर आरूढ़ होकर हम सदा क्रियाशील जीवन बिताएँ। **सानसिम्**=जो सम्भजनशील हैं, जिस शरीररथ पर आरूढ़ होकर हम प्रातः-सायं उस प्रभु का सम्भजन करनेवाले होते हैं। इस प्रभु-सम्भजन से ही हम स्वस्थ शरीरवाले रहते हैं, **अरिष्यन्तम्**=जो शरीर-रथ हिंसित नहीं होता, विविध आधि-व्याधियों का शिकार नहीं होता। (२) एवं हम उस शरीर-रथ पर आरोहण करते हैं जो कि 'गतिमय, उपासनामय व नीरोगता' वाला है। इस शरीर-रथ पर आरोहण करके हम **स्वस्तये**=जीवन में उत्तम स्थितिवाले होते हैं। यह शरीर-रथ वह है **यम्**=जिसको **देवासः**=सब प्राकृतिक शक्तियाँ, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल आदि **वाजसातौ**=शक्ति प्राप्ति के निमित्त **अवथ**=रक्षित करते हैं। सूर्यादि की अनुकूलता के होने पर शरीर की शक्ति बढ़ती है। (२) यह शरीररथ वह है **यम्**=जिसको **मरुतः**=प्राण **शूरसातौ**=इस संसार संग्राम में **हितेधने**=हितकर धन की प्राप्ति के निमित्त **अवथ**=रक्षित करते हैं। प्राणसाधना से हमारे शरीर, मन व बुद्धि की शक्तियाँ बढ़ती हैं, हम संसार-संग्राम में विजयी होते हैं और हितकर धनों को प्राप्त करनेवाले होते हैं। प्रत्येक कोश का धन पृथक्-पृथक् है, वह धन हमें इस प्राणसाधना से प्राप्त होता है। यह धन वेद के शब्दों में 'अन्नमयकोश का तेज, प्राणमयकोश का वीर्य, मनोमयकोश का ओज व बल, विज्ञानमयकोश का मन्यु=ज्ञान तथा आनन्दमयकोश का सहस्' है। प्राणसाधना से यह सब धन प्राप्त होता है। इस प्रकार हमारे इस शरीर-रथ को सब देव सुरक्षित करते हैं और मरुत् इसे उत्कृष्ट धनों से परिपूर्ण करते हैं।

भावार्थ—हम इस शरीर को 'गतिमय, उपासनामय व स्वस्थ' बनायें। सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता से यह स्वस्थ हो तथा प्राणसाधना से यह हितकर धनों से परिपूर्ण हो।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती त्रिष्टुप् वा** ॥ स्वरः—**निषादो धैवतो वा** ॥

उत्तम घर

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन॥ १५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हमारा शरीर-रथ ठीक होगा तो **नः**=हमारे लिये **पथ्यासु**=पथ के योग्य समतल भूभागों में **स्वस्ति**=कल्याण हो। **धन्वसु**=मरु प्रदेशों में हमारे लिये कल्याण हो। तथा **अप्सु**=जलमय प्रदेशों में भी स्वस्ति=कल्याण हो। वस्तुतः प्राणसाधना के ठीक प्रकार से होने पर सब स्थानों का जलवायु हमारे अनुकूल होता है। पूर्ण स्वस्थता में हमें बल प्राप्त होता है, यह बल हमें सुखमय स्थिति में रखता है। **स्वर्वति**=स्वर्गवाले **वृजने**=शत्रुओं के पराभूत करनेवाले बल के होने पर हमारा कल्याण हो। (२) इस प्रकार स्वस्थ व सबल होकर हम घरों में कल्याणपूर्वक रहें। **नः**=हमारे **योनिषु**=उन घरों में, जिनमें कि **पुत्रकृथेषु**=पुत्रों का निर्माण होता है, **स्वस्ति**=कल्याण हो। मनुष्य गृहस्थ बनता है, सन्तान के लिये। सो घर में सर्वमहान् कर्त्तव्य यही होता है कि सन्तान का उत्तम निर्माण किया जाए। हे **मरुतः**=प्राणो! इन घरों में हमें **राये**=ऐश्वर्य के लिये **दधातन**=धारण

करो जिससे **स्वस्ति**=हमारा कल्याण हो। निर्धनता भी घर के लिये दुर्गति का कारण बनती है। प्राणसाधक पुरुष उचित मात्रा में धन का संग्रह कर ही पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के होने पर हमें सर्वत्र जलवायु की अनुकूलता रहती है। हमें शत्रुओं को पराभूत करनेवाली शक्ति प्राप्त होती है। हमारे सन्तान उत्तम होते हैं और निर्धनता हमारे से दूर रहती है।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वावेशा-देवगोपा (पृथिवी)

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥ १६ ॥

(१) हमारा शरीर पाँचभौतिक होते हुए भी पृथिवी की प्रधानता के कारण 'पार्थिव' कहलाता है। इस पृथिवी देवता से प्रार्थना करते हैं कि यह पृथिवी **प्रपथे**=हमारे प्रकृष्ट मार्ग में चलने पर **इत् हि**=निश्चय से **स्वस्ति**=कल्याण करनेवाली होती है। **श्रेष्ठा**=यह हमारे जीवन को प्रशस्यतम बनाती है। **रेक्णस्वती**=यह हमारे लिये उत्तम धनोंवाली होती है। हम उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हैं तो यह मातृभूत पृथिवी हमारे लिये सब आवश्यक तत्त्वों को उपस्थित करती है और हमारा जीवन जहाँ धार्मिक होता है वहाँ धन की दृष्टि से भी उसमें न्यूनता नहीं होती। 'श्रेष्ठा' शब्द 'धर्म' का संकेत करता है और 'रेक्णस्वती' 'धन' का। इस प्रकार यह पृथिवी **या**=जो **अभि**=धर्म व धन दोनों ओर हमें ले चलती है वह **स्वस्ति**=हमारे कल्याण के लिये होती है और **वामं एति**=उस सब प्रकार से सुन्दर प्रभु की ओर हमें ले चलती है। हमारे जीवनों में जब धर्म व धन का सुन्दर समन्वय होता है तभी हम प्रभु प्राप्ति के अधिकारी होते हैं। (२) **सा**=वह पृथिवी **नः**=हमें **अमा**=घर में **निपातु**=सुरक्षित करे **सा उ**=और वह ही हमें **अरणे**=घर से बाहर भी सुरक्षित करे। यह पृथिवी हमारे लिये **स्वावेशा**=(सु आ विश्) बड़ी उत्तमता से सब आवश्यक तत्त्वों का प्रवेश करानेवाली हो और इन सब आवश्यक तत्त्वों के प्रवेश कराने के साथ **देवगोपा**=हमारे में दिव्यगुणों का रक्षण करनेवाली **भवतु**=हो। शरीर के लिये आवश्यक सब तत्त्वों को प्राप्त कराने से यह हमें 'शारीरिक स्वास्थ्य' देती है और दिव्यगुणों के रक्षण से 'मानस स्वास्थ्य'। पृथिवी से उत्पन्न विविध वानस्पतिक पदार्थ शरीर के लिये सब आवश्यक तत्त्वों का पोषण तो करते ही हैं, ये वानस्पतिक पदार्थ उपयुक्त होने पर हमारी बुद्धि, मन को भी शुद्ध रखते हैं और इस प्रकार हमारे में दिव्यगुणों का विकास होता है।

भावार्थ—पृथिवी अनुकूल होकर हमारे जीवन को धर्म व धन से युक्त करती है, यह हमें शारीरिक व मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराती है और इस प्रकार प्रभु की ओर ले चलती है।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु से मेल में ईशानता

एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी।
ईशानासो नरो अमर्त्येनास्तावि जनो दिव्यो गयेन ॥ १७ ॥

(१) **एवा**=गत मन्त्रों में वर्णित प्रकार से **प्लतेः सूनुः**=प्लति का पुत्र, **विश्वे आदित्याः**=सब देवो! और **अदिते**=अदीने देवमातः! **वः**=आप सबका **अवीवृधत्**=वर्धन करता है। 'प्रा पूरणे' धातु से ति प्रत्यय करके, प्रा को ह्रस्व होने से प्रति शब्द बनता है, इस में र को ल होकर प्लति

हो गया है। यह शरीर व मन के दृष्टिकोण से अपना पूरण करनेवाला है। इसी भाव पर बल देने के लिये उसे यहां 'प्लति का सूनु' कहा है। अपना पूरण करनेवाला व्यक्ति देवों व देवमाता का स्तवन करता है और इस प्रकार उन देवों को अपने में धारण करने का प्रयत्न करता है। दिव्यगुणों को धारण करने के लिये ही वह अदीना देवमाता का भी स्तवन करता है। यह अपने जीवन में भौतिक पदार्थों के लिये लालायित नहीं होता और इसीलिये इसे इन पदार्थों की प्राप्ति के लिये कहीं दीनतापूर्वक गिड़गिड़ाना नहीं होता। यह आत्मसम्मान के साथ जीवन-यापन कर पाता है। वस्तुतः यही व्यक्ति **मनीषी**=मनीषा व बुद्धिवाला है। बुद्धि का मार्ग यही है कि मनुष्य दिव्यगुणों को धारण करने का प्रयत्न करे, भौतिक वस्तुओं को जीवन में प्रधानता न दे। इन्हीं की प्राप्ति के लिये मनुष्य को आत्मसम्मान खोना पड़ता है। (२) जब मनुष्य इन भौतिक वस्तुओं में नहीं उलझते तभी उस **अमर्त्येन**=अमरणधर्मा अविनाशी प्रभु के साथ चलते हुए **नरः**=उन्नतिपथ पर बढ़नेवाले ये मनुष्य **ईशानासः**=ईशान होते हैं। प्रभु के मेल से इन्हें शक्ति प्राप्त होती है। इस अमर्त्य प्रभु से मेल के लिये ही **गयेन**=(गयाः प्राणाः) प्राकृतिक वस्तुओं में न उलझने से प्राणशक्ति के पुंज बने हुए इस 'गय' से **दिव्यः जनः**=उस देव की ओर चलनेवाले लोग **अस्तावि**=स्तुत होते हैं। इन दिव्य जनों का स्तवन करके ये भी दिव्य बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—दिव्य जनों का स्तवन करते हुए हम भी दिव्य बनें। उस प्रभु से मेल होने पर हम भी ईशान बन सकेंगे।

सूक्त का प्रारम्भ देव पुरुष के तीन लक्षणों के प्रतिपादन से हुआ है, (१) समाप्ति पर प्रभु से मिलकर ईशान बनने का संकल्प वर्णित हुआ है, (१७) प्रभु से मेल के लिये ही 'गय प्लात' प्रभु के नाम का स्मरण करता है—

[६४] चतुःषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सुखी नीरोग सुरक्षित'

कुथा देवानां कतुमस्य यामनि सुमन्तु नाम शृण्वतां मनामहे।
को मृळाति कतुमो नो मयस्करत्कतुम ऊती अभ्या वंवर्तति ॥ १ ॥

(१) 'गय प्लात' हृदय में इस प्रकार की तीव्र कामना करता है कि **कथा**=किस प्रकार **यामनि**=इस जीवनयात्रा के मार्ग में **कतमस्य**=अत्यन्त आनन्दस्वरूप प्रभु के **सुमन्तु**=उत्तम मननीय **नाम**=नाम को **शृण्वताम्**=सुनते हुए **देवानाम्**=देवों के **मनामहे**=आदर करनेवाले हम हों। इन देवताओं का आदर करते हुए हम भी इनकी तरह ही प्रभु के नामों का स्मरण करेंगे, प्रभु का भजन करते हुए प्रभु में लीन होने का प्रयत्न करेंगे। (२) ऐसी स्थिति में वह **कः**=आनन्दस्वरूप प्रभु **मृडाति**=हमारे जीवन को सुखी करता है, **कतमः**=वह अत्यन्त आनन्दमय प्रभु **नः**=हमारे लिये **मयः करत्**=आरोग्य को करता है, और **कतमः**=वह अत्यन्त आनन्दमय प्रभु **ऊती**=रक्षण के द्वारा **अभि आववर्तति**=हमारी ओर आता है। हम प्रभु का स्मरण करते हैं और हमें प्रभु की ओर से 'सुख, आरोग्य व रक्षण' प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु नाम के स्मरण करनेवाले देव-पुरुषों के सम्पर्क में हम भी प्रभु का स्मरण करनेवाले होंगे। परिणामतः सुखी, नीरोग व सुरक्षित जीवनवाले होंगे, हमारे पर वासनाओं का आक्रमण न हो सकेगा।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

क्रतवो क्रतूयन्ति

क्रतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत ॥ २ ॥

(१) **क्रतवः**=हमारे कर्म संकल्प सदा **क्रतूयन्ति**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने-वाले होते हैं। हमारे में यज्ञादि कर्मों के संकल्प होते हैं और उन संकल्पों के अनुसार हमारे कर्म होते हैं। उन कर्मों को करते हुए **हृत्सु**=हमारे हृदयों में **धीतयः**=(धीति) भक्ति की भावना होती है। इस धीति के कारण हमें उन कर्मों का गर्व नहीं होता। इस प्रकार गर्व रहित होकर कर्म करते हुए **वेनाः**=(वेन्) ज्ञानी प्रभु-भक्त पुरुष **वेनन्ति**=उस प्रभु की ओर जाते हैं। **आदिशः**=प्रभु के आदेश ही **पतयन्ति**=इन्हें उन-उन कार्यों को करानेवाले होते हैं। प्रभु के आदेशों के अनुसार ही ये सारी क्रियाओं को करते हैं। (२) यह गय अनुभव करता है कि **एभ्यः**=उल्लिखित दिव्य वृत्तियों को छोड़कर **अन्यः**=अन्य कोई बात **मर्डिता**=हमारे जीवन को सुखी करनेवाली **न विद्यते**=नहीं है। सो 'गय' निश्चय करता है कि **मे**=मेरी **कामाः**=इच्छाएँ **देवेषु अधि**=देवों के विषय में ही, दिव्यवृत्तियों के विषय में ही **अयंसत**=नियमित होती हैं, अर्थात् मैं दिव्यगुणों को ही प्राप्त करने की कामना करता हूँ। इन दिव्यगुणों ने ही तो मेरे जीवन को सुखी बनाना है।

भावार्थ—कर्म-संकल्प हमें यज्ञों में प्रवृत्त करें, हृदय में प्रभु-भक्ति की भावना हो, मेधावी भक्त बनकर हम योगस्थ होकर कर्म करते हुए प्रभु की ओर चलें, प्रभु के आदेश ही हमें क्रियाओं में प्रेरित करनेवाले हों। ये दिव्य बातें ही हमारे जीवनों को सुखी करेंगे, सो हम इन्हीं को प्राप्त करने की कामना करें।

ऋषिः—गयः प्लातः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

महादेव व देवों का उपासन

नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा।
सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना ॥ ३ ॥

(१) गय प्लात से ही कहते हैं कि तू **गिरः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वा**=निश्चय से उस प्रभु का **अभ्यर्चसे**=स्तवन करता है जो प्रभु **नराशंसम्**=मनुष्यों से शंसन के योग्य हैं, जिनका शंसन मनुष्य को जीवन में प्रेरणा प्राप्त कराता है। **पूषणम्**=जो प्रभु पोषण करनेवाले हैं, प्रभु ही पोषण के सब साधनों को उत्पन्न करनेवाले हैं। **अगोह्यम्**=निराकार होते हुए भी जिनका छिपाना कठिन है, उस प्रभु की महिमा कण-कण में प्रकट होती है, प्रत्येक फूल व तारा प्रभु की महिमा का गायन कर रहा है। **अग्निम्**=वे प्रभु अग्रणी हैं, हमें उन्नतिपथ पर आगे और आगे ले चलते हैं। **देवेद्धम्**=वे देवों से अपने हृदयों में (=प्रकाशित) किये जाते हैं। इन प्रभु का स्तवन हमें जीवन में पथ-प्रदर्शक व सहायक होता है। (२) इन प्रभु का स्तवन करने के लिये ही **सूर्यामासा**=सूर्य की गति से बनाये जानेवाले बारह मासों का मैं स्तवन करता हूँ। इन मासों के स्तवन का स्वरूप यही है कि मैं इस संसार-वृक्ष की विशिष्ट शाखा बनूँगा (वि-शाखा) यह संकल्प मुझे ज्येष्ठता प्रदान करेगा (ज्येष्ठा) मैं काम-क्रोध-लोभ से पराभूत न होऊँगा (अ-षाढा) इस अपराभव में ज्ञान का श्रवण मेरा सहायक होगा (श्रवणा) यह श्रवण ही कल्याण का मार्ग है (भद्र-पदा) इस पर मैं आज से ही चलूँगा (अ-श्विनी) और शत्रुओं का कर्तन करने लगूँगा (कृत्तिका)

आत्मालोचन के द्वारा इन शत्रुओं के अन्वेषण करनेवालों का शिरोमणि बनूँगा (मृगशिरस्) बस यही मार्ग मेरा वास्तविक पोषण करेगा (पुष्य) मैं वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करूँगा (मघा) इस ऐश्वर्य की तुलना में मुझे सांसारिक ऐश्वर्य तुच्छ जचेगा (फल्गुनी) यही मेरे जीवन का आश्चर्यजनक कर्म (miracle) होगा (चित्रा)। (३) **चन्द्रमसा**=इन मासों का स्तवन मैं चन्द्रा के साथ करता हूँ। चन्द्रमा से 'चदि आह्लादे' सदा मन की प्रसन्नता का पाठ पढ़ता हूँ। इस मन:प्रसाद के होने पर **दिवियमम्**=प्रकाशमय रूप में स्थित उस नियन्ता प्रभु को याद करता हूँ। मन:प्रसाद के होने पर प्रभु का प्रकाश दिखता ही है। यह प्रकाश हमें जीवन के मार्ग में नियन्त्रित करनेवाला होता है। (४) इस प्रकाश की प्राप्ति के लिये ही हम **त्रितम्**=ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों में तीर्णतम (=अत्युच्च स्थिति में स्थित) पुरुष का आदर करते हैं, आदरपूर्वक उसके समीप उपस्थित होते हैं। इसका सम्पर्क हमारे जीवन को भी उच्च करेगा। (५) **वातम्**=मैं वायु का उपासन करता हूँ, **उषसम्**=उषा का उपासन करता हूँ और **अश्विना**=प्राणापानों का उपासन करता हूँ। वायु की तरह सतत क्रियाशील जीवनवाला बनता हूँ। उषा की तरह अज्ञानान्धकार का दहन करनेवाला होता हूँ। प्राणापान के द्वारा प्राणसाधना करता हुआ मैं उल्लिखित सब देवों व परमदेव का उपासक बन पाता हूँ। उपासना के लिये आवश्यक चित्तवृत्ति का निरोध प्राणसाधना से ही तो होना है।

भावार्थ—हम परमदेव के दर्शन के लिये सूर्य, चन्द्र, वायु व उषा आदि देवों का उपासन करते हैं, इनकी विशेषताओं को अपने जीवनों में धारण करते हैं।

ऋषि:—**गय: प्लात:** ॥ देवता—**विश्वे देवा:** ॥ छन्द:—**निचृज्जगती** ॥ स्वर:—**निषाद:** ॥

मैं कैसे प्रभु-स्तवन करूँ

कथा कविस्तुवीरवान्कया गिरा बृहस्पतिर्वावृधते सुवृक्तिभि:।
अज एकपात्सुहवेभिर्ऋक्वभिरहि: शृणोतु बुध्न्यो३ हवीमनि ॥ ४ ॥

(१) प्रभुस्तवन के लिये उत्कण्ठित हुआ-हुआ 'गय प्लात' कहता है कि **कथा**=किस प्रकार **कया गिरा**=अत्यन्त आन्तर को देनेवाली वाणी तथा **सुवृक्तिभि:**=अच्छी प्रकार दोषों के वर्जन से वह प्रभु **वृधते**=मेरे द्वारा बढ़ाये जाते हैं, मेरे द्वारा स्तुत होते हैं जो प्रभु **कवि:**=क्रान्तदर्शी हैं, सर्वज्ञ हैं। **तुवीरवान्**=(तुवि+ईर+वान्) खूब ही उत्तम प्रेरणा को देनेवाले हैं। **बृहस्पति:**=ज्ञानियों के भी ज्ञानी हैं 'स पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्' प्रभु के स्तवन से मैं भी प्रेरणा को प्राप्त करके ज्ञानी बनूँगा। (२) **सुहवेभि:**=उत्तम आह्वानों के द्वारा प्रार्थनाओं के द्वारा तथा **ऋक्वभि:**=स्तुति-वचनों के द्वारा मेरे से वह **अज:**=गति के द्वारा सब मलों का क्षेपण करनेवाला **एकपात्**=(एक=मुख्य) मुख्य गति देनेवाला (prime morer) प्रभु बढ़ाया जाता है, मेरे से उसकी महिमा का विस्तार किया जाता है। इस प्रभु की महिमा का स्मरण करता हुआ मैं भी गतिशील बनूँ और अपने जीवन को निर्मल बना पाऊँ। (३) **हवीमनि**=पुकारे जाने पर वह **अहि:**=(अह व्याप्तौ) सर्वव्यापक **बुध्न्य:**=मूल में होनेवाला, अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड का आधारभूत वह ब्रह्म **शृणोतु**=हमारे प्रार्थना-वचनों को सुने। हमारी प्रार्थना अनसुनी न हो जाए। सर्वव्यापक होने से ही वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड का आधार हैं। मुझे भी तो वे ही आधार देंगे।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें, उसकी तरह ही गतिशील हों, उसी को अपना आधार समझें।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अतूर्तपन्थाः

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-स्तवन के लिये उत्कण्ठित 'गय प्लात' से प्रभु कहते हैं कि **अदिते**=हे स्वास्थ्य के पुञ्ज। पूर्ण स्वस्थ पुरुष! **दक्षस्य जन्मनि**=शक्ति व उन्नति के जन्म के निमित्त **व्रते**=व्रत के धारण करने पर तू **राजाना**=दीप्त **मित्रावरुणा**=प्राणापानों को **विवाससि**=पूजित करता है। प्रभु के स्तवन के लिये पहली आवश्यक बात तो यह है कि (क) हम स्वस्थ बनें (अदिति), (ख) दूसरी बात यह कि हम शक्ति को उत्पन्न करने के लिये यत्नशील हों, (ग) तीसरे स्थान पर युक्तचेष्ट होने का व्रत लें और प्राणसाधना रूप योग का अभ्यास करें। (२) इस अभ्यास के परिणामरूप हम **अतूर्तपन्थाः**=अहिंसित मार्गवाले हों (तुर्वी हिंसायाम्), अर्थात् जीवन में कभी मार्गभ्रष्ट न हों। **पुरुरथः**=उस शरीर रूप रथवाले हों जिसका कि रोगों से रक्षण किया जाता है और जिसमें से वासनाओं के आक्रमण से आजानेवाली कमियों का पूरण किया जाता है। **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का नियमन करता है। इन **विषुरूपेषु जन्मसु**=विविध रूपोंवाले विकासों के निमित्त **सप्तहोता**='कान, नासिका, आँखें व मुख' रूप सात होताओंवाला बन। 'कर्णविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'। ये कान आदि इन्द्रियाँ जब ज्ञान की आहुति देनेवाली बनेंगी तभी तो हमारे जीवन में विविध शक्तियों का विकास होगा। विविध विकासों के लिये इन सातों होताओं का ठीक से कार्य करना नितान्त आवश्यक है।

भावार्थ—हम अपने इस जीवन में प्राणसाधना के द्वारा कान आदि इन्द्रियों को पवित्र व शक्ति-सम्पन्न बनाते हुए सब ('शरीर, मन व बुद्धि' के) विकासों के करनेवाले हों।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वाजिनः

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः।
सहस्रसा मेधसाताविव त्मना महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे॥ ६॥

(१) **ते**=वे **अर्वन्तः**=वासनाओं का संहार करनेवाले, **हवनश्रुतः**=हीन व आर्तजनों की पुकार को सुननेवाले, **वाजिनः**=शक्तिशाली, **मितद्रवः**=नपी-तुली गतिवाले, **सहस्रसाः**=सहस्र-संख्याक धनों को देनेवाले अथवा (स+हस्) प्रसन्नतापूर्वक देनेवाले **विश्वे**=सब देव **नः**=हमारी **हवम्**=पुकार को व प्रार्थना को **शृण्वन्तु**=सुनें। देव जनों के लक्षण यहाँ बड़ी सुन्दरता से कह दिये गये हैं। ये (क) वासनाओं से ऊपर उठते हैं, (ख) आर्तों के क्रन्दन को सुनते हैं, (२) शक्तिशाली बनते हैं, (घ) नपी-तुली गतिवाले होते हैं और (ङ) दानशील होते हैं। हम इनके सम्पर्क में आयें, इनके प्रिय हों, हमारी आवाज इनसे सुनी जाए। (२) उन देवों से हमारी बात सुनी जाए **ये**=जो **मेधसातौ इव**=यज्ञों की तरह **समिथेषु**=संग्रामों में भी **महः धनम्**=महत्त्वपूर्ण ऐश्वर्य को **त्मना**=स्वयं **जभ्रिरे**=प्राप्त करते हैं। ये देव यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। ये यज्ञ इन्हें इस लोक व परलोक दोनों लोकों में कल्याण को देनेवाले होते हैं। इसी प्रकार ये वासनाओं के साथ संग्राम में चलते हैं और यह वासनाओं के साथ होनेवाला संग्राम इनकी शक्ति की व ऐश्वर्य की वृद्धि का कारण बनता है। इन देवों के सम्पर्क में हम भी यज्ञों में व इन अध्यात्म-संग्रामों में चलते हुए उत्कृष्ट

ऐश्वर्य के भागी बनते हैं।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देव बनें। हम भी उनकी तरह 'वासनाओं का संहार करनेवाले, दीनजनों की पुकार को सुननेवाले, शक्तिशाली, युक्तचेष्ट व दानी बनें।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु की प्रेरणाएँ

प्र वो वायुं रथयुजं पुरंन्धिं स्तोमैः कृणुध्वं सख्याय पूषणम्।
ते हि देवस्य सवितुः सवीमनि क्रतुं सचन्ते सचितः सचेतसः ॥ ७ ॥

(१) हे जीवो! **वः वायुम्**=तुम्हारे गति देनेवाले, **रथ-युजम्**=शरीर रूप रथ को उत्तम इन्द्रियाश्वों से युक्त करनेवाले **पुरन्धिम्**=पूरक व पालक बुद्धि को देनेवाले **पूषणम्**=सब के पोषक उस प्रभु को **स्तोमैः**=स्तुतियों के द्वारा **सख्याय प्रकृणुध्वम्**=मित्रता के लिये उत्तमता से करो। स्तुति के द्वारा हम प्रभु को अपना मित्र बनायें। वे प्रभु ही हमें शक्ति देकर गतिशील बनाते हैं, सब इन्द्रिय-शक्तियाँ प्रभु से ही प्राप्त होती हैं, प्रभु ही हमें उत्तम बुद्धि देते हैं। (२) **ते**=वे प्रभु को मित्र बनानेवाले **सचितः**=ज्ञानी पुरुष **सचेतसः**=समानचित्तवाले होकर **हि**=निश्चय से **सवितुः देवस्य**=सब के प्रेरक दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु के **सवीमनि**=प्रेरण में **क्रतुं सचन्ते**=यज्ञों का सेवन करते हैं। प्रभु को ये मित्र बनाते हैं और उस मित्र की प्रेरणा के अनुसार उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। प्रभु ने जिन यज्ञों का उपदेश दिया है, उन यज्ञों में ये तत्पर रहते हैं।

भावार्थ—स्तवन के द्वारा हम प्रभु के मित्र बनते हैं, उस मित्र की प्रेरणा के अनुसार यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। हमारे यज्ञ ज्ञानपूर्वक होते हैं (सचितः) और अप्रमाद के साथ होते हैं (सचेतसः)।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

स्वास्थ्य तथा अभ्युदय व निःश्रेयस का साधन

त्रिः सप्त स्स्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन्पर्वताँ अग्निमूतये।
कृशानुमस्तॄन्तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे ॥ ८ ॥

(१) हमारे जीवनों में 'सरस्वती-सरयु-सिन्धु' इन तीन नदियों का प्रवाह निरन्तर चलता है। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो आँखें व मुख ये सात ऋषि व सात होता कहलाते हैं। इनके द्वारा उल्लिखित तीन नदियों का प्रवाह चला करता है। 'सरस्वती' ज्ञान की प्रतीक है, 'सरयु' (सृ गति, यु=मिश्रणे) उस गति का जो हमें प्रभु से मिलाती है, अर्थात् उपासना का सूचन करती है, और 'सिन्धु' (स्यन्दते)=जल के प्रवाह की तरह स्वाभाविक रूप से चलनेवाले कर्म-प्रवाह की द्योतक है। उल्लिखित सात ऋषियों से ये ज्ञान, उपासना व कर्म के प्रवाह चलाये जाते हैं। इन्हें ही यहाँ 'त्रिः सप्त'=इक्कीस प्रकार की **स्स्राः**=बहनेवाली **नद्यः**=नदियाँ कहा है। इनको हम **ऊतये**=रक्षण के लिये **हवामहे**=पुकारते हैं। ये सातों होता अपना कार्य ठीक से करते रहें तो हम स्वस्थ रहते हैं। (२) **महीः अपः**=महनीय जलों को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं। जल स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं, 'जलवायु की अनुकूलता' इस वाक्यांश विन्यास में जल का स्वास्थ्य के लिये महत्त्व स्पष्ट है। **वनस्पतीन्**=वनस्पतियों को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं। 'वन' शब्द घर का वाचक है, यहां यह घर शरीर के रूप में है। इस शरीर गृह के रक्षक ये 'वनस्पति' हैं। **पर्वतान्**=पर्वतों को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं। जीवनरक्षण में इनका स्थान भी महत्त्वपूर्ण है, कई रोगों में तो पर्वत के वायु का सेवन आवश्यक ही हो जाता है। (३)

अग्निम्=अग्नि को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं। अग्नि शान्त हो जाता है तो शरीर भी ठण्डा पड़कर मृत हो जाता है। इस अग्नि को ही 'कृशानुं' विशेषण से यहां स्मरण किया गया है, इस अग्नि को हम पुकारते हैं जो कि 'कृशं आनयति' कृश को फिर से प्राणशक्ति सम्पन्न कर देता है। **अतॄन्**=(स्तृ=to kill) उन सब तत्त्वों को हम रक्षण के लिये पुकारते हैं जो न हिंसा करनेवाले हैं। इस प्रकार हिंसा न होने देनेवाले इन तत्त्वों के द्वारा हमारे शरीर का रक्षण समुचित रूप में हो पाता है। (४) शरीर को स्वस्थ बनाकर **तिष्यम्**=हम तिष्य को पुकारते हैं। 'तिष्य' का पर्याय 'पुष्य' है, सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक धनों का पोषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है यही 'अभ्युदय' कहलाता है, इसी में स्वस्थ जीवनवाला व्यक्ति (तुष्यन्त्यस्मिन् इति तिष्यः) सन्तोष का अनुभव करता है। (५) सांसारिक उत्थान का संकेत करने के बाद अध्यात्म उत्थान के लिये कहते हैं कि हम **सधस्थे**=आत्मा व परमात्मा के मिलकर रहने के स्थान हृदय में हम **रुद्रम्**=उस (रुत्-र) सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञानोपदेश देनेवाले प्रभु को **आ हवामहे**=सब प्रकार से पुकारते हैं, जो प्रभु **रुद्रेषु रुद्रियम्**=रुद्रों में सर्वाधिक रुद्रिय हैं, रुद्र नाम के योग्य हैं। 'स पूर्वेषामपि गुरुः०' वे प्रभु गुरुओं के गुरु तो हैं ही। इस प्रभु को पुकारना मेरी अध्यात्म उन्नति का मूल बनता है, यह अन्ततः मेरे निःश्रेयस का साधक होता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के कार्यप्रवाह के ठीक होने से तथा जलादि तत्त्वों की अनुकूलता से हम स्वस्थ बनते हैं। और स्वस्थ शरीर से 'अभ्युदय व निःश्रेयस' रूप धर्म का साधन करते हैं।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सरस्वती-सरयु-सिन्धु'

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के वर्णन के अनुसार 'सरस्वती' ज्ञानवाहिनी नदी है, 'सरयु' भक्तिवाहिनी है और 'सिन्धु' कर्मवाहिनी। ये **सरस्वती सरयुः सिन्धुः**=सरस्वती, सरयु और सिन्धु तीनों ही **ऊर्मिभिः**=अपनी ज्ञान, भक्ति व कर्म की तरंगों से **महो महीः**=महान् से महान् हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये **वक्षणीः**=(वक्ष् to grow) हमारी उन्नति की कारणभूत नदियाँ **अवसा**=रक्षण के हेतु से **यन्तु**=हमें प्राप्त हों। हमारे मस्तिष्क में सरस्वती का प्रवाह हो, हृदय-स्थली में सरयु का तथा भुजाओं में सिन्धु प्रवाहित हो। (२) इन तीनों नदियों के **आपः**=जल **देवीः**=प्रकाश को करनेवाले हों (दिव्=द्युति), **मातरः**=हमारे जीवनों में सब अच्छाइयों का निर्माण करनेवाले हों तथा **सूदयित्न्वः**=शरीर से सब मलों को दूर करनेवाले हो। क्रियाशीलता के होने पर मलों का सम्भव ही नहीं रहता। मलों का उपाय अकर्मण्यता के होने पर ही होता है। (सूद् to eject, to throw away)। सरस्वती के जल 'देवी' हों, सरयु के 'मातरः' तथा सिन्धु के सूदयित्नु। (३) इन सब नदियों से प्रार्थना करते हैं कि **नः**=हमारे लिये अपने उस **पयः**=जल को **अर्चत**=(प्रयच्छत सा०) दो जो **घृतवत्**=दीप्तिवाला तथा मलों के क्षरणवाला है और **मधुमत्**=स्वास्थ्य प्रदान के द्वारा अत्यन्त माधुर्यवाला है। सरस्वती का जल ज्ञानदीप्ति को देता है, सरयु का जल मानस मलों का क्षरण करता है, तो सिन्धु का जल स्वास्थ्य के द्वारा जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—'सरस्वती' हमारे में ज्ञान का संचार करे, 'सरयु' हमें निर्मल मनवाला बनाकर प्रभु से मिलने के योग्य बनाये तथा 'सिन्धु' हमें कर्मशील बनाकर स्वाथ्य का माधुर्य प्राप्त कराये।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उत्तम जीवन

उत माता बृहद्दिवा शृणोतु नस्त्वष्टा देवेभिर्जनिभिः पिता वचः ।
ऋभुक्षा वाजो रथस्पतिर्भगो रण्वः शंसः शशमानस्य पातु नः ॥ १० ॥

(१) **उत**=और **बृहद् दिवा**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान के प्रकाशवाली **माता**=यह वेदमाता, हमारे जीवनों का निर्माण करनेवाला वेदज्ञान **नः शृणोतु**=हमारी प्रार्थना को सुने। हम इसके प्रिय हों। वस्तुतः इस ज्ञान ने ही हमारे जीवन का निर्माण करना है, यह ज्ञान ही **बृहत्**=हमारी वृद्धि का कारण है। (२) वेदज्ञान हमारी माता है तो वे प्रभु हमारे पिता हैं। वे त्वष्टा हैं, 'त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः'=वे प्रभु ज्ञान से दीप्त हैं 'त्वक्षतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः' और वे प्रभु ही सारी गति के आद्य स्रोत हैं। ये **पिता**=हमारा रक्षण करनेवाले **त्वष्टा**=ज्ञानदीप्त व गति के स्रोत प्रभु **जनिभिः**=सब विकासों के हेतु से तथा **देवेभिः**=दिव्यगुणों के उत्पादन के हेतु से **नः वचः**=हमारी प्रार्थना को सुनें। प्रभु कृपा से हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का विकास हो। (३) वे हमारे पिता प्रभु **नः**=हमारे में से **शशमानस्य**=(शश प्लुतगतौ) प्लुतगति से कर्म करनेवाले व्यक्ति का **पातु**=रक्षण करें। प्रभु से रक्षणीय वही होता है जो क्रियाशील है, अकर्मण्य व्यक्ति प्रभु रक्षा का पात्र नहीं होता। वे प्रभु 'ऋभुक्षाः' हैं, ऋभुओं में निवास करनेवाले हैं। 'ऋभुः' (ऋतेन भाति) वह है जो कि नियमित क्रिया से दीप्त होता है। सब कार्यों को नियम से करने के कारण यह स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकता है, 'ऋभु' बनता है। ऐसे व्यक्ति ही प्रभु के निवास-स्थान होते हैं। **वाजः**=वे प्रभु शक्ति के पुञ्ज हैं। यह व्यक्ति भी प्रभु का निवास-स्थान बनकर शक्ति को धारण करता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है वे प्रभु इस ऋभु में निवास करते हुए **रथस्पतिः**=इसके शरीररूप रथ के रक्षक होते हैं। **भगः**=ऐश्वर्य के पुञ्ज होते हुए वे प्रभु संसार यात्रा के लिये आवश्यक ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। **रण्वः**=वे प्रभु रमणीय हैं, अपने उपासक को भी रमणीय जीवनवाला बनाते हैं अथवा 'रण शब्दे' हृदयस्थरूपेण उसे कर्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान देते हैं। इस प्रकार वे प्रभु 'शंसः'=शंसनीय हैं, स्तुति के योग्य हैं। इस प्रभु का शंसन करते हुए हम भी उस प्रभु के गुणों को अपना लक्ष्य बनाकर उन्नतिपथ पर निरन्तर आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—वेद हमारी माता है, प्रभु पिता हैं, इनके रक्षण में हमारा जीवन अधिकाधिक उत्तम बनता है।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

गौवें व इडा से यशस्वी बनना

रण्वः सन्दृष्टौ पितुमाँइव क्षयो भद्रा रुद्राणां मरुतामुपस्तुतिः ।
गोभिः ष्याम यशसो जनेष्वा सदा देवास इळया सचेमहि ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र में पितृरूपेण वर्णित प्रभु **संदृष्टौ रण्वः**=संदर्शन में रमणीय हैं, अर्थात् योगमार्ग से चलता हुआ भक्त जब प्रभु का दर्शन करता है तो प्रभु को रमणीय ही रमणीय पाता है। प्रभु इस प्रकार रमणीय हैं **इव**=जैसे कि **पितुमान् क्षयः**=अन्न से परिपूर्ण घर रमणीय प्रतीत होता है। जिस घर में अन्नाभाव रूप दरिद्रता का निवास नहीं होता वह सुन्दर ही सुन्दर लगता है। प्रभु भी सुन्दर हैं, घर की सुन्दरता भौतिक दृष्टिकोण से भी तो प्रभु का सौन्दर्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लिये हुए है। और वस्तुतः प्रभु ही भक्त के लिये अन्नपूर्ण निवास-स्थान के समान

हैं। प्रभु भक्त को खान-पान की कमी नहीं रहती, इन नित्याभियुक्त व्यक्तियों के योगक्षेम को वे प्रभु चलाते ही हैं। (२) इन प्रभु भक्तों के जीवन में **रुद्राणाम्**=रोगों का द्रावण करनेवाले (रुत्=रोग द्रु=भगाना) **महताम्**=प्राणों का **उपस्तुतिः**=स्तवन **भद्रा**=कल्याणकर होता है। ये प्राणसाधना में चलते हैं। प्राणायाम करते हुए अपने शरीर को मलों से रहित करके नीरोग बनाते हैं। (२) इस प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य करने में सशक्त होती हैं। इन **गोभिः**=ज्ञान प्राप्ति में समर्थ इन्द्रियों से हम **जनेषु**=लोगों में **यशसः स्याम**=यशस्वी हों। और **देवासः**=हे देवो! हम **सदा**=हमेशा **इडया**=वेदवाणी से **आ सचेमहि**=सब प्रकार से संगत हों। हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष होने से दीप्त हों और इन ज्ञान की वाणियों को खूब ग्रहण करनेवाली हों। इन प्रशस्त इन्द्रियों के कारण और ज्ञान के कारण हमारा सर्वत्र यश हो।

भावार्थ—प्रभु के संदर्शन में आनन्द ही आनन्द है। प्राणसाधना हमारा कल्याण करती है। इसी से हमारी इन्द्रियाँ प्रशस्त होती हैं और ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बुद्धि व ज्ञानगिरायें (ज्ञान-वाणियाँ)

यां मे धियं मरुत इन्द्र देवा अददात वरुण मित्र यूयम्।
तां पीपयत पयसेव धेनुं कुविद्गिरो अधि रथे वहाथ॥ १२ ॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **इन्द्र**=परमात्मन्! **देवाः**=विद्वान् आचार्यो! **वरुण**=निर्द्वेषता की देवते! तथा **मित्र**=स्नेह की देवते! **यूयम्**=आप सबने **यां धियम्**=जिस बुद्धि को **मे**=मेरे लिये **अददात**=दिया है, **ताम्**=उस बुद्धि को **पीपयत**=खूब बढ़ाओ उसी प्रकार बढ़ाओ, **इव**=जिस प्रकार **धेनुम्**=गौ को **पयसा**=दूध से आप्यायित करते हो। प्राणसाधना से तो बुद्धि सूक्ष्म होती ही है (मरुतः) प्रभु का स्मरण बुद्धि को शुद्ध रखता है (इन्द्र) ज्ञानी आचार्यों का सम्पर्क ज्ञान बढ़ाने के लिये आवश्यक ही है (देवाः)। ज्ञानवृद्धि के लिये राग-द्वेष से ऊपर उठना भी जरूरी है (मित्र वरुण), इसीलिए वेद में विद्यार्थी के लिये कहते हैं कि '**प्रणीतिरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह**'=सब सहाध्यायियों के साथ प्रेम से वर्तो। (२) इस प्रकार हमारी बुद्धि 'मरुतों, इन्द्र, देवों तथा मित्र वरुण' की कृपा से आप्यायित होती है। और बुद्धि को आप्यायित करने के द्वारा हे मरुतो! आप **गिरः**=ज्ञान की वाणियों को **रथे**=इस शरीर-रथ में **कुवित्**=खूब ही **अधिवहाथ**=धारण करते हो। बुद्धि से ही इन ज्ञान की वाणियों को हम धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—'प्राणसाधना, प्रभु-स्मरण, आचार्योपासन व राग-द्वेषातीता' से हमारी बुद्धि तीव्र होती है, तीव्र बुद्धि से हम ज्ञानवाणियों को खूब समझने व धारण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राणसाधना व यज्ञियवृत्ति

कुविदङ्ग प्रति यथा चिदस्य नः सजात्यस्य मरुतो बुबोधथ।
नाभा यत्र प्रथमं संनसामहे तत्र जामित्वमदितिर्दधातु नः ॥ १३ ॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! आप **अंग**=शीघ्र ही **कुवित्**=खूब ही **यथा**=जैसे-जैसे **चित्**=निश्चय से **नः**=हमारे **अस्य**=इस **सजात्यस्य**=बन्धुत्व का **प्रतिबुबोधथ**=प्रतिदिन बोध करते हो, हमारे बन्धुत्व को अपने साथ समझते हो, तो यह बन्धुत्व ऐसा होता है कि **यत्र**=जिसमें **प्रथमम्**=सबसे पहले तो हम **नाभा**=(अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) यज्ञ में **संनसामहे**=संगत होते हैं। जितनी-

जितनी हम प्राणसाधना करते हैं उतनी-उतनी हमारी वृत्ति यज्ञ की ओर झुकती है। प्राणों के साथ हमारा सजात्य व बन्धुत्व यही है कि हम प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना में प्रवृत्त होते हैं और प्राणों के बल को बढ़ाते हैं। यह प्रवृद्ध प्राणशक्तिवाला पुरुष यज्ञों में प्रवृत्त होता है। (२) **तत्र**=वहाँ, उन यज्ञों में **अदितिः**=(अ+दिति) स्वास्थ्य का अखण्डन **नः**=हमारे **जामित्वम्**=बन्धुत्व को **दधातु**=धारण करे। हम स्वस्थ बने रहें और यज्ञात्मक कर्मों के करने में समर्थ रहें। वस्तुतः प्राणसाधना से जहाँ हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है, वहाँ हमारा स्वास्थ्य भी ठीक रहता है और हम उन यज्ञों के करने के योग्य बने रहते हैं।

भावार्थ—हम प्राणों के साथ अपना बन्धुत्व स्थापित करें, इस बन्धुत्व का परिणाम वह होगा कि हमारी वृत्ति यज्ञिय बनेगी और हम दीर्घायुष्य को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

द्यावापृथिवी

ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः।
उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरू रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः ॥ १४ ॥

(१) शरीर में मस्तिष्क 'द्युलोक' है तथा यह स्थूल शरीर 'पृथिवी' है। **ते**=वे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **हि**=निश्चय से **मातरा**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले हैं। मस्तिष्क 'ज्ञान' के द्वारा तथा शरीर 'शक्ति' के द्वारा हमारी जीवनयात्रा को पूर्ण करनेवाले हैं। अतएव **मही**=ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मस्तिष्क का महत्त्व है, तो 'शरीर का महत्त्व उससे कम हो' ऐसी बात नहीं है। ये दोनों **देवी**=हमारे जीवनों में दिव्यगुणों को उत्पन्न करनेवाले हैं। (२) ये **यज्ञिये**=याज्ञिक प्रवृत्ति के लिये हेतुभूत द्यावापृथिवी **देवान्**=देववृत्ति के पुरुषों को **जन्मना**=विकास के हेतु से **इतः**=प्राप्त होते हैं। ज्ञान व शक्ति मिलकर हमारे में यज्ञ के भाव को जन्म देते हैं। इन यज्ञों से हमारा विकास होता है। (३) **उभे**=ये दोनों द्यावापृथिवी **भरीमभिः**=भरण-पोषणों के द्वारा **उभयम्**=हमारे जीवनों में अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का **बिभृतः**=पोषण करते हैं। **च**=और ये द्यावापृथिवी **पितृभिः**=माता, पिता व आचार्य रूप पिताओं के द्वारा **रेतांसि**=शक्तियों का **पुरु**=खूब ही **सिञ्चतः**=अपने में सेचन करते हैं। माता चरित्र निर्माण के द्वारा, पिता शिष्टाचार के द्वारा, आचार्य ज्ञान के द्वारा हमारे जीवनों में विविध बलों का संचार करते हैं। चरित्र का बल, शिष्टाचार का बल व ज्ञान का बल हमें क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक का विजय करने में समर्थ करते हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क व शरीर दोनों मिलकर जीवन को सुन्दर बनाते हैं। दोनों शरीर में विविध शक्तियों का स्थापन करते हैं।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सा होत्रा (वह वेदवाणी)

वि षा होत्रा विश्वमश्नोति वार्यं बृहस्पतिरमतिः पनीयसी।
ग्रावा यत्र मधुषुदुच्यते बृहदवीवशन्त मतिभिर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

(१) **सा**=वह **होत्रा**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दी जानेवाली वेदवाणी **विश्वम्**=सब **वार्यम्**=वरणीय, चाहने योग्य, जीवन के लिये उपयोगी ज्ञान को **वि अश्नोति**=विशेषरूप से व्याप्त करती है। यह वाणी सब सत्य विद्याओं का कोश है। यह **बृहस्पतिः**=वृद्धियोंकी रक्षिका

है, इस वेदवाणी के द्वारा हमारी सब प्रकार की उन्नति का सम्भव होता है। **अ-रमतिः**=इसका अवसान व अन्त नहीं, अनन्त ज्ञान से यह परिपूर्ण है। जितना-जितना इसे हम पढ़ेंगे उतना-उतना हमें अपना ज्ञान बढ़ता हुआ प्रतीत होगा तथा कोई ऐसी जीवन की समस्या न होगी जिसका कि इसमें हमें हल न मिले। **पनीयसी**=यह अत्यन्त उत्तम व्यवहार की साधिका तथा स्तुति को प्राप्त करानेवाली है। 'केवल प्रभु-स्तवन का ही इसके द्वारा साधन हो' ऐसी बात नहीं है। प्रभु-स्तवन के साथ यह हमारे इस संसार के व्यवहार को भी सुन्दर बनाती है। इस प्रकार अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का साधन करती हुई यह हमारे जीवन को धर्मयुक्त करती है। (२) यह वेदवाणी वह है **यत्र**=जिसमें वह **बृहद् ग्रावा**=महान् गुरु **उच्यते**=प्रतिपादित होता है जो कि **मधुषुत्**=मधु को ही जन्म देनेवाला है। 'स पूर्वेषामपि गुरुः' प्रभु गुरुओं के भी गुरु हैं एवं महान् हैं। प्रभु जो भी उपदेश देते हैं, मधुरता से देते हैं। वे दण्ड देते हुए ज्ञान नहीं देते। हृदयस्थ होकर निरन्तर प्रेरणा के रूप में यह ज्ञान दिया जाता है। यह ज्ञान हमें माधुर्य का ही पाठ पढ़ाता है, हमारे जीवन को भी मधुर बनाता है। (३) **मनीषिणः**=बुद्धिमान् लोग **मतिभिः**=मनन के द्वारा **अवीवशन्त**=इस ज्ञान की निरन्तर कामना करते हैं। इस ज्ञान में ही अन्ततः उन्हें प्रभु-दर्शन होता है। इस प्रकृति से बने संसार का जितना-जितना ये बुद्धिमान् पुरुष विचार करते हैं उतना-उतना वे प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं, एक-एक पदार्थ में उन्हें प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

भावार्थ—वेदवाणी सब सत्य-विद्याओं का प्रतिपादन करती है, अन्ततः इसका प्रतिपाद्य विषय वे प्रभु होते हैं जिन्हें कि मनीषी लोग मनन के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्यता का विकास

एवा कविस्तुवीरवाँ ऋतज्ञा द्रविणस्युर्द्रविणसश्चकानः।
उक्थेभिरत्र मतिभिश्च विप्रोऽपीपयद्गयो दिव्यानि जन्म ॥ १६ ॥

(१) **एवा**=गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से **गयः**=प्राणों का रक्षक (गयाः प्राणाः) प्राणसाधना करनेवाला 'गय' **कविः**=कान्तप्रज्ञ बनता है, सृष्टि के पदार्थों के तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है। **तुवीरवान्**=(तुवि+ईर+वान्) हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को खूब ही सुनता है, बहुत प्रेरणावाला होता है। **ऋतज्ञाः**=ऋत को जाननेवाला, यज्ञों (ऋत=यज्ञ) को समझनेवाला अथवा बड़े नियमित कार्यक्रमवाला होता है। **द्रविणस्युः**=संसार-यात्रा के साधक द्रविणों को चाहनेवाला और उन द्रविणों के उत्तम उपयोग के द्वारा वह **द्रविणसः चकानः**=उन द्रविणों को दीप्त करनेवाला होता है (कन् दीप्तौ)। इन धनों से उसकी शोभा बढ़ती ही है। प्रभु-स्मरण के कारण व प्रभु-प्रेरणा को सुनने के कारण इन धनों से यह वासनामय जगत् में नहीं पहुँच जाता, वैषयिक वृत्ति का न बनकर इनको वह जीवनयात्रा की पूर्ति का साधन मात्र ही जानता है। (२) इस प्रकार **अत्र**=इस जीवन में **गयः**=यह प्राणसाधक पुरुष **उक्थेभिः**=प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **च**=और **मतिभिः**=मननों के द्वारा प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखने के द्वारा **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बनता है और **दिव्यानि जन्म**=दिव्य प्रादुर्भावों व विकासों का **अपीपयत्**=वर्धन करता है। अपने अन्दर दिव्यता का अधिकाधिक विकास करनेवाला होता है। प्रभु का स्तवन व मनन करता हुआ यह बहुत कुछ प्रभु जैसा ही बनता जाता है। प्रभु जैसा बनना ही तो जीवन का लक्ष्य है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन व मनन के द्वारा हम अपने जीवनों में दिव्यता का विकास करें।

ऋषिः—**गयः प्लातः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ईशानासः

एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी।
ईशानासो नरो अमर्त्येनास्तावि जनो दिव्यो गयेन॥ १७॥

१०.६३. १७ पर यह मन्त्र द्रष्टव्य है।

यह सूक्त 'प्रभु-स्मरण से हम सुखी, नीरोग व सुरक्षित जीवनवाले होंगे' इन शब्दों से प्रारम्भ होता है, (१) और इस प्रभु-स्मरण से हमारे जीवनों में दिव्यता का विकास होगा इन शब्दों के साथ समाप्त होता है, (१६) अपने में दिव्यता का विकास करनेवाला व्यक्ति जीवन को सब वसुओं से, निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों से व्याप्त करता है और 'वसुकर्ण' बनता है। यह वसुकर्ण वासुक्र प्रार्थना करता है कि—

[६५] पञ्चषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अग्नि आदि देवों का ओज

अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः॥ १॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र 'विश्वे देवाः' देवता का है। अग्नि आदि देवों का उल्लेख करके वसुकर्ण अग्रिम मन्त्र में प्रार्थना करता है कि 'अन्तरिक्षं महि आपयुः ओजसा'=ये सब देव मेरे प्रभु-पूजन के भाव से पूर्ण हृदयान्तरिक्ष को अपने-अपने ओज से आपूरित कर दें। **अग्निः**=अग्निदेव मेरे हृदय को प्रकाश से पूर्ण करे। अग्नि प्रकाश का प्रतीक है। **इन्द्रः**=इन्द्रदेव मेरे हृदय को बल से भर दे। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' सब बल के कर्मों का सम्बन्ध इन्द्र देवता से है। **वरुणः**=वरुण, द्वेष का निवारण करनेवाला हो, तो **मित्रः**=मित्र मेरे हृदय को सब के प्रति स्नेह की भावना से भरनेवाला हो। **अर्यमा**='अरीन् यच्छति' अर्यमा कामादि शत्रुओं का नियमन करनेवाला हो। **वायुः**='वा गतौ' वायु गतिशीलता के संकल्प से मेरे हृदय को भर दे, तो **पूषा**=शरीर के उचित पोषण को करनेवाला हो। इस पोषण के साथ **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ-देवता मुझे ज्ञान को देनेवाली हो। ये सब देव **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होकर मेरे हृदय को अपने-अपने ओज से भरनेवाले हों। (२) **आदित्याः**='आदानात् आदित्यः' आदित्य मुझे सब स्थानों से उत्तमता से ग्रहण का पाठ पढ़ायें। **विष्णुः**='विष्लृ व्याप्तौ' विष्णु मेरे हृदय को व्यापक व उदार बनाये। **मरुतः**=प्राण मुझे प्राण शक्ति सम्पन्न करके सब दोषों को समाप्त करनेवाला बनायें। **बृहत् स्वः**=वृद्धि का कारणभूत प्रकाश-आत्मज्ञान का प्रकाश (परा=बृहत्, स्वः=विद्या) मेरे हृदय को उज्ज्वल करे। **सोमः**=सौम्यता=विनीतता मेरे हृदय का अलंकार हो। **रुद्रः**=रोगों का द्रावण करनेवाली देवता मेरे सब रोगों का द्रावण करे। **अ-दितिः**=स्वास्थ्य का न टूटना मेरे हृदय को उत्साहयुक्त बनाये। और अन्त में **ब्रह्मणस्पतिः**=वेदज्ञान का पति मुझे ब्रह्मज्ञानवाला बनाये।

भावार्थ—अग्नि आदि देव मेरे हृदय को अपने-अपने ओज से भर दें।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्र व अग्नि

इ॒न्द्रा॒ग्नी वृ॑त्र॒हत्ये॑षु॒ सत्प॑ती मि॒थो हि॑न्वा॒ना त॒न्वा॒३॑ समो॑कसा।
अ॒न्तरि॑क्षं म॒ह्या प॑प्रु॒रोज॑सा॒ सोमो॑ घृत॒श्रीर्म॑हि॒मान॑मी॒रय॑न्॥ २॥

(१) **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि देव=शक्ति व प्रकाश के देवता **वृत्रहत्येषु**=वासनाओं के मारने पर **सत्पती**=उत्तमता के रक्षक होते हैं। शक्ति व प्रकाश मिलकर वासनाओं का नाश करते हैं। वासनाओं के नाश के परिणामस्वरूप उत्तमता का हमारे जीवन में रक्षण होता है। (२) ये इन्द्र और अग्नि **मिथः**=आपस में **तन्वा**=एक दूसरे के शरीर की, शरीरस्थ बल को **हिन्वाना**=बढ़ानेवाले होते हैं। 'शक्ति' प्रकाश का वर्धन करती है, 'प्रकाश' शक्ति का। इस प्रकार ये प्रकाश और शक्ति **समोकसा**=समान गृह (=ओकस्) वाले होते हैं, अर्थात् दोनों ही, हमारे शरीरों में निवास करते हैं। (३) ये इन्द्र और अग्नि तथा पूर्व मन्त्र वर्णित सब देव **महि**=प्रभु-पूजन के भाव से पूर्ण **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **ओजसा**=ओजस् के द्वारा **आपप्रुः**=सर्वथा भर देते हैं। इस अवसर पर **घृत-श्रीः**=मलों के क्षरण व दीप्ति का आश्रय करनेवाला **सोमः**=सोम (=वीर्य) **महिमानम्**=महिमा को **ईरयन्**=उद्गत करता है। वीर्य शक्ति के रक्षण से शरीर में मलों का संचय नहीं हो पाता और शरीर को एक अद्भुत दीप्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार यह सोम हमारे जीवन को महत्त्वपूर्ण कार्यों के करने में समर्थ करता है। वस्तुतः इस सोम के रक्षण पर ही इन्द्र और अग्नि तत्त्वों के विकास का भी आधार है।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के द्वारा अपने जीवन को महत्त्वपूर्ण बनायें। इन्द्र व अग्नि तत्त्वों का विकास हमारी वासनाओं का नाश करेगा।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अप्सव-अर्णव

तेषां॒ हि म॒ह्ना म॑ह॒ताम॑न॒र्वणां॒ स्तोमाँ॒ इय॑र्म्यृत॒ज्ञा ऋ॑ता॒वृधा॑म्।
ये अ॑प्स॒वम॑र्ण॒वं चि॒त्ररा॑धस॒स्ते नो॑ रासन्तां म॒हये॑ सुमि॒त्र्याः॥ ३॥

(१) **ऋतज्ञाः**=ऋत को जाननेवाला, ऋत, अर्थात् यज्ञ व नियमितता को अपने जीवन में अनूदित करनेवाला मैं **हि**=निश्चय से **तेषाम्**=उन देवों के **स्तोमान्**=स्तुतियों को **इयर्मि**=प्राप्त होता हूँ, उन देवों का स्तवन करता हूँ जो देव **मह्ना**=अपनी महिमा से **महताम्**=महान् हैं, **अनर्वणाम्**=हिंसा से रहित हैं और **ऋतावृधाम्**=ऋत का वर्धन करनेवाले हैं। देवों की यहां तीन विशेषताओं का उल्लेख है—(क) सर्वप्रथम वे महान् होते हैं, उनमें तुच्छता व अनुदारता नहीं होती, (ख) वे कभी किसी की हिंसा नहीं करते, उनके कर्म लोकहित के दृष्टिकोण से होते हैं और (ग) ये अपने अन्दर ऋत का वर्धन करते हैं, इनके सब कार्य बड़े नियमित व व्यवस्थित होते हैं। मैं भी इन देवों का स्तवन करता हुआ ऐसा ही बनने का प्रयत्न करता हूँ। (२) **ये**=जो देव **चित्राधसः**=अद्भुत ऐश्वर्यवाले हैं **ते**=वे **सुमित्र्याः**=उत्तम मित्र के कर्मोंवाले देव **महये**=महत्त्व को प्राप्त कराने के लिये **नः**=हमें **अप्सवम्**=उत्तम रूपवाले शरीर को (अप्स=रूप, व=वाला) तथा **अर्णवम्**=ज्ञानजलवाले मस्तिष्क को **रासन्ताम्**=प्राप्त करायें, हमारे लिये वे तेजस्वी रूपवाले स्वस्थ शरीर को तथा ज्ञानदीप्त मस्तिष्क को प्राप्त करायें।

भावार्थ—देवों का सम्पर्क हमें भी देव बनायेगा। हम महान्, अहिंसक व नियमित जीवनवाले

होंगे। हमें तेजस्वी शरीर व दीप्त मस्तिष्क प्राप्त होगा।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवों के लक्षण

स्वर्णरमन्तरिक्षाणि रोचना द्यावाभूमी पृथिवीं स्कम्भुरोजसा।
पृक्षाइव महयन्तः सुरातयो देवाः स्तवन्ते मनुषाय सूरयः॥ ४॥

(१) **देवाः**=देव **ओजसा**=ओज के हेतु से **स्वर्णरम्**=(स्व-स्व कर्मणि नेतारं सा०) प्रकाश के द्वारा सबको अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करनेवाले आदित्य को, **अन्तरिक्षाणि**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में होनेवाले **रोचना**=दीप्त नक्षत्रों को **द्यावाभूमी**=द्युलोक और पृथिवीलोक को तथा **पृथिवीम्**=अन्तरिक्षलोक को **स्कम्भुः**=धारण करते हैं। आदित्य को धारण करना 'ब्रह्मज्ञान के सूर्य' को धारण करना है। नक्षत्रों के धारण करने का भाव 'विज्ञान के नक्षत्रों' को धारण करना है। द्युलोक 'मस्तिष्क' है, भूमि यह 'शरीर' है और पृथिवी शब्द अन्तरिक्षवाची होता हुआ हृदयान्तरिक्ष की सूचना देता है। देव लोग इन तीनों का धारण करते हैं, इन्हें क्रमशः 'दीप्त, दृढ़ व पवित्र' बनाते हैं। (२) **पृक्षाः**=(पृच्=to give grant bountifully) **इव**=उदार पुरुषों के समान **महयन्तः**=(to behonowred) आदर को प्राप्त होते हुए **सुरातयः**=उत्तम दानोंवाले **देवाः**=देव **स्तवन्ते**=सब से स्तुति किये जाते हैं और **मनुषाय**=विचारशील पुरुष के लिये **सूरयः**=उत्तम ज्ञान को प्रेरित करनेवाले होते हैं। देवों की प्रथम विशेषता यह है कि वे उदार होते हैं, उदार होने के कारण ही वे आदृत होते हैं। ये देव जहाँ उत्तम धनों को देनेवाले हैं, वहाँ विचारशील पुरुष के लिये सदा ज्ञान की प्रेरणा को भी प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—देव ज्ञान-विज्ञान को धारण करते हुए मस्तिष्क, शरीर व हृदय को उत्तम बनाते हैं। ये उदारता के कारण आदृत होते हैं और धनों व ज्ञान की प्रेरणा को देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मित्र और वरुण

मित्राय शिक्ष वरुणाय दाशुषे या सम्राजा मनसा न प्रयुच्छतः।
ययोर्धाम धर्मणा रोचते बृहद्ययोरुभे रोदसी नाधसी वृतौ॥ ५॥

(१) हे जीव! तू **मित्राय**=मित्र देवता के लिये, अर्थात् स्नेह की भावना के लिये और **वरुणाय**=द्वेष के निवारण के लिये **शिक्ष**=समर्थ होने की इच्छा कर (शक्+सन्)। तू प्रयत्न कर कि सब के प्रति तेरी स्नेह की भावना हो और किसी से भी तू द्वेष को न करे। (२) ये मित्र और वरुण वे हैं **या**=जो **दाशुषे**=दाश्वान् के लिये, अपने को मित्र और वरुण के प्रति दे डालनेवाले के लिये **सम्राजा**=उत्तम दीप्ति को देनेवाले हैं। स्नेह व निर्द्वेषता के कारण जीवन दीप्तिमय बनता ही है। ये मित्र और वरुण अपने आराधक के हित करने के कार्य में **मनसा न प्रयुच्छतः**=मन से भी प्रमाद नहीं करते, क्रिया से प्रमाद करने का तो प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। अप्रमाद से ये अपने आराधक का कल्याण करते हैं। (३) ये मित्र और वरुण वे हैं **ययोः**=जिनका **धाम**=तेज **धर्मणा**=धारक शक्ति से **बृहत् रोचते**=खूब ही चमकता है। मित्र और वरुण हमारा धारण करते हैं और इनके विपरीत कटुता और क्रोध हमारी शक्तियों का नाश करते हैं। द्वेष से मनुष्य अन्दर ही अन्दर जल जाता है। (४) ये मित्र और वरुण वे हैं **ययोः**=जिनके **उभेरोदसी**= दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर **नाधसी**=ऐश्वर्य-सम्पन्न **वृतौ**=(वर्तमाने भवतः

सा०) होते हैं मित्र और वरुण के आराधन से मस्तिष्क ज्ञान-सम्पन्न होता है और शरीर शक्ति-सम्पन्न होता है। ईर्ष्या, द्वेष व क्रोध ज्ञान और शक्ति दोनों का ही क्षय करते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवन को दीप्त बनाते हैं, हमारे जीवन का धारण करते हैं और हमारे मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न व शरीर को शक्ति-सम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वेदवाणी

या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ ६ ॥

(१) **या**=जो **गौः**=वेदवाणी **निष्कृतम्**=संस्कृत **वर्तनिम्**=मार्ग का **पर्येति**=लक्ष्य करके चलती है, अर्थात् यह वेदवाणी हमारे लिये उस मार्ग का उपदेश करती है जो मार्ग बड़ा परिष्कृत होता है। यह वेदवाणी **पयः दुहाना**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करती है और **अवारतः**=बिना विघ्नों के या रुकावट के **व्रतनीः**=यह हमें व्रतों की ओर ले चलती है। वस्तुतः ज्ञान कर्मों में पवित्रता को लाता है और हमारे कर्म 'व्रत व नियम' का रूप धारण कर लेते हैं। (२) **सा**=वह वेदवाणी **वरुणाय**=द्वेष-निवारण के लिये **प्रब्रुवाणा**=उपदेश देती हुई **देवेभ्यः दाशुषे**=देवों के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये और **हविषा विवस्वते**=हवि के द्वारा प्रभु का उपासन करनेवाले के लिये **दाशत्**=सब आवश्यक सम्पत्तियों को प्राप्त कराती है। देवों के प्रति अपने को देने का अभिप्राय यह है कि पाँचवें वर्ष तक 'मातृ देवो भव' के अनुसार वह माता के प्रति अपने को देनेवाला बने। इसी प्रकार आठवें वर्ष तक 'पितृ देवो भव' पिता के प्रति अपना अर्पण करे और पच्चीसवें वर्ष तक 'आचार्य देवो भव' आचार्य के प्रति अपना अर्पण करनेवाला हो। इसके बाद ५० व ५१ वर्ष तक 'अतिथि देवो भव' विद्वान् अतिथि ही हमारे देव हों, हम उनके प्रति अर्पण करें। इसके बाद त्यागपूर्वक प्रभु का उपासन करते हुए प्रभु को ही हम अपना आराध्य देव बनायें। ऐसा होने पर यह वेदवाणी हमें सब आवश्यक चीजों को प्राप्त करानेवाली होती है।

भावार्थ—वेदवाणी हमारे मार्ग को परिष्कृत करती है, ज्ञानदुग्ध को देती है, हमारे जीवनों को सतत व्रतमय बनाती है। जीवन के लिये सब आवश्यक चीजों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दिव्य-जीवन

दिवक्षसो अग्निजिह्वा ऋतावृध ऋतस्य योनिं विमृशन्त आसते।
द्यां स्कभित्व्यप आ चक्रुरोजसा यज्ञं जनित्वी तन्वीइनि मामृजुः ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वेदवाणी को अपनानेवाले लोग **दिवक्षसः**=ज्ञान के प्रकाश में निवास करनेवाले होते हैं। **अग्निजिह्वाः**=अग्नि के समान प्रभावशालिनी जिह्वावाले होते हैं। इनके मुख से उच्चरित शब्द अपवित्रता व मलिनता को दग्ध करनेवाले होते हैं। **ऋतावृधः**=ये अपने जीवन में ऋत का वर्धन करनेवाले होते हैं। **ऋत**=यज्ञ का वर्धन तो ये करते ही हैं, साथ ही इनका जीवन बिलकुल ऋतवाला होता है, इनकी प्रत्येक क्रिया ठीक समय पर की जाती है। (२) ये देव **ऋतस्य योनिम्**=सब यज्ञों व सत्यों के उत्पत्ति-स्थान प्रभु को (ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत) **विमृशन्तः**=विचारते हुए **आसते**=आसीन होते हैं। ये प्रभु का चिन्तन करते हैं, प्रभु का चिन्तन 'ऋत के उत्पत्ति-स्थान' के रूप में करते हैं। इस चिन्तन करते हुए ये अपने

जीवन को ऋतमय बनाने का प्रयत्न करते हैं। (३) ऋतमय जीवनवाले ये देव **द्यां स्कभित्वी**=मस्तिष्क रूप द्युलोक को धारण करके, अर्थात् अपने ज्ञान को उत्तम बनाकर **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अपः आचक्रुः**=अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते हैं। इनके कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं, ज्ञानपूर्वक होने से ही इनके कर्म पवित्र होते हैं। इनके कर्म यज्ञात्मक बन जाते हैं। (४) **यज्ञं जनित्वी**=यज्ञों को जन्म देकर ये **तन्वि**=शरीर में **निमामृजुः**=निश्चय से शोधन करनेवाले होते हैं। यज्ञात्मक कर्मों से इनका सारा जीवन ही पवित्र हो जाता है। इन कर्मों के होने पर शरीर में रोग नहीं आते, मन में राग-द्वेष का मैल नहीं होता और बुद्धि में कुण्ठता नहीं आ जाती। शरीर-मन-बुद्धि में पूर्ण शोधनवाले ये सचमुच देव होते हैं।

भावार्थ—देव सदा प्रकाश में निवास करते हैं, इनके शब्द प्रभावशाली होते हैं, जीवन यज्ञमय होता है। यज्ञोपदेष्टा प्रभु का ये चिन्तन करते हैं। मस्तिष्क को ज्ञानपूर्ण करके ये शक्तिशाली कर्मों को करते हैं। यज्ञों के द्वारा जीवन को शुद्ध बनाते हैं।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

घृतवत् पयः

परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा।
द्यावापृथिवी वरुणाय सव्रते घृतवत्पयो महिषाय पिन्वतः ॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम अपने जीवन को उत्तम बनाते हैं तो **द्यावापृथिवी**=अर्थात् सम्पूर्ण जगत् हमारे लिये **आप्यायन**=वृद्धि का कारण बनता है। ये **परिक्षिता**=चारों ओर सबको निवास देनेवाले **पितरा**=द्युलोकरूप पिता तथा पृथिवीरूप माता **पूर्वजावरी**=सब से प्रथम होनेवाले (=इनके हो जाने पर ही सब वनस्पतियों व प्राणियों के उत्पादन का सम्भव होता है) **समोकसा**=समान निवास स्थानवाले (=दोनों का निवास प्रभु में है) **ऋतस्य योना**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान उस प्रभु में **क्षयतः**=निवास करते हैं। द्यावापृथिवी को भी आधार देनेवाले वे प्रभु हैं। प्रभु दोनों का ही समानरूप से निवास-स्थान हैं। ब्रह्माण्ड को जन्म देते समय प्रथम इन्हीं का निर्माण होता है (पूर्वजावरी)। द्युलोक वृष्टि के द्वारा पृथिवी में अन्नादि की उत्पत्ति का कारण है और इस प्रकार द्युलोक पिता है तो पृथिवी माता है। (२) ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **सव्रते**=समान व्रतवाले हैं। देखने में इनके कर्म अलग-अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके कर्म एक दूसरे के लिये पूरक होकर जीव के हित का साधन करनेवाले हैं। इस प्रकार जीवहित रूप समान व्रतवाले होते हुए ये **वरुणाय**=द्वेष का निवारण करनेवाले और अतएव श्रेष्ठ जीवनवाले के लिये तथा **महिषाय**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पूजन करनेवाले के लिये **घृतवत् पयः**=मलों के क्षरण व दीप्तिवाले आप्यायन को, वृद्धि को **पिन्वतः**=प्राप्त कराते हैं। घृतवाले पय से उसे सिक्त कर देते हैं। सब प्रकार के ओषधि वनस्पति उसे इस प्रकार का रस प्राप्त कराते हैं और पशु उसे दूध प्राप्त कराते हैं कि उसके शरीर में मलों का संचय न होकर मल-क्षरण का कार्य ठीक से होता रहता है और इस प्रकार जहाँ उसका शरीर स्वस्थ बनता है वहाँ उसका मस्तिष्क भी ज्ञानदीप्त बना रहता है।

भावार्थ—वरुण व महिष के लिये, द्वेष से ऊपर उठे हुए प्रभु के पुजारी के लिये द्युलोक व पृथिवीलोक शरीर व मस्तिष्क के स्वास्थ्य को प्राप्त कराते हैं। इसका शरीर निर्मल बनता है, मस्तिष्क दीप्त होता है।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

त्रिलोकी के देव

पर्जन्यावाता वृषभा पुरीषिणेन्द्रवायू वरुणो मित्रो अर्यमा।
देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये॥ ९॥

(१) हम **देवान्**=देवों को **हवामहे**=पुकारते हैं, जो देव **आदित्यान्**=उत्तमता का आदान करनेवाले हैं, **ये**=जो **पार्थिवासः**=पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं, **दिव्यासः**=द्युलोक के साथ सम्बद्ध हैं और **ये**=जो **अप्सु**=अन्तरिक्ष में हैं। पृथिवीलोक 'शरीर' है, द्युलोक 'मस्तिष्क' है और अन्तरिक्षलोक 'हृदय' है। शरीर, मस्तिष्क व हृदय सम्बन्धी सब दिव्यगुणों की हम कामना करते हैं। साथ ही **अदितिम्**=अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य की हम प्रार्थना करते हैं। स्वास्थ्य आधार बनता है, देव उसमें आधेय होते हैं। (२) **पर्जन्यावाता**=पर्जन्य (=बादल) तथा वात को पुकारते हैं, ये पर्जन्य और वात **वृषभा**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। बादल वृष्टि के द्वारा तृप्ति को पैदा करता है, वायु जीवन को देनेवाली है। हम इनको पुकारते हैं, हम भी पर्जन्य की तरह अन्नादि का उत्पादन करते हुए दूसरों की तृप्ति को पैदा करनेवाले हों। वायु की तरह जीवन के देनेवाले हों। (३) **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु को पुकारते हैं, जो **पुरीषिणा**=पालन व पूरण करनेवाले हैं। इन्द्र 'शक्ति' का प्रतीक है और वायु 'गति' का (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य, वा गतौ)। शक्ति और गति हमारा पालन व पूरण करनेवाले हों। शक्ति और गति शरीर व मन दोनों को स्वस्थ रखते हैं। (४) **वरुणा**=द्वेष निवारण की देवता, **मित्रः**=स्नेह की देवता तथा **अर्यमा** (=अरीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन, इन तीनों को हम पुकारते हैं। हमारा जीवन किसी व्यक्ति के प्रति द्वेषवाला न हो, हम सब के साथ स्नेह करनेवाले हों और काम-क्रोध आदि को पूर्णरूप से वश में करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारा जीवन दिव्यभावनाओं से परिपूर्ण हो। स्वस्थ शरीर इन दिव्य भावनाओं का आधार बने।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

त्वष्टा व बृहस्पति की प्राप्ति

त्वष्टारं वायुमृभवो य ओहते दैव्या होतारा उषसं स्वस्तये।
बृहस्पतिं वृत्रखादं सुमेधसमिन्द्रियं सोमं धनसा उ ईमहे॥ १०॥

(१) **धनसाः**=उचित धनों का संभजन करनेवाले हम **उ**=निश्चय से **सोमम्**=सोम से **त्वष्टारं वायुम्**=उस निर्माता गतिशील प्रभु को **ईमहे**=याचना करते हैं। शरीर में सोम (=वीर्य) के रक्षण के द्वारा हम सृष्टि निर्माता गतिशील प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रभु की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम भी निर्माता बनें, उस निर्माण के लिये गतिशील हों। (२) **ऋभवः**=ऋत से दीप्त होनेवाले हम अपने सब कार्यों को नियमितता से करनेवाले हम उस सोम से प्रार्थना करते हैं **यः**=जो **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिये **दैव्या होतारा**=दैव्य होताओं, अर्थात् जीवनयज्ञ के चलानेवाले प्राणापानों को तथा **उषसम्**=उषा को **ओहते**=प्राप्त कराता है। सोम के रक्षण से प्राणापान की शक्ति तो बढ़ती ही है, इससे हमारे जीवन में उषा का उदय होता है। उषा घोर अन्धकार का नाश करती हुई आती है, उसी प्रकार सोमरक्षण से हमारी बुद्धि का विकास होकर अज्ञानान्धकार का नाश होता है। एवं सोमरक्षण 'शक्ति व ज्ञान' दोनों का वर्धन करता है।

(३) हम इस सोम से **बृहस्पतिम्**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के पति **वृत्रखादम्**=वासना रूप वृत्र को नष्ट करनेवाले **सुमेधसम्**=(शोभना मेधा यस्मात्) उत्तम मेधा को देनेवाले प्रभु को माँगते हैं। वीर्यरक्षण हमें उस ज्ञान के पति प्रभु का दर्शन कराता है, परिणामतः हमारी वासनाएँ नष्ट होती हैं और हमें मेधा की प्राप्ति होती है। (४) मेधा के साथ **इन्द्रियम्**=इन्द्रिय शक्ति को हम माँगते हैं। सोमरक्षण से ही तो सब इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। 'इन्द्रियं वीर्यं बलम्' ये सब शब्द समानार्थक हैं। सोमरक्षण से सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में समर्थ बनी रहती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम निर्माता प्रभु की ओर झुकते हैं, प्राणापान की शक्ति को बढ़ाकर अज्ञानान्धकार को दूर कर पाते हैं, ज्ञानी प्रभु से मेधा को प्राप्त करते हैं और सब इन्द्रिय शक्तियों को स्थिर रखते हैं।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ब्रह्म गाम् अश्वम्

ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन्पृथिवीं पर्वताँ अपः।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि॥ ११॥

(१) **ब्रह्म**=ज्ञान को या प्रभु के स्तोत्रों को **जनयन्तः**=अपने में विकसित करते हुए **तथा गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों का तथा **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को **जनयन्त**=विकसित करते हुए श्रेष्ठ पुरुष होते हैं। श्रेष्ठता के मार्ग का पहला कदम यह है कि हम ज्ञान का वर्धन करें और ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों की शक्ति का विकास करें। (२) इसके लिये आवश्यक है कि हमारा अन्न भी सात्त्विक हो। सो दूसरा कदम यह है कि ये **ओषधीः वनस्पतीन्**=ओषधियों और वनस्पतियों को **पृथिवीं रोहयन्तः**=इस शरीर में आरूढ़ करनेवाले होते हैं। अर्थात् सदा वानस्पतिक भोजन को ही अपनाते हैं। फलपाकान्त गेंहूँ इत्यादि ओषधियाँ कहलाती हैं, तद्भिन्न आम, अनार आदि सब वनस्पति हैं। वानस्पतिक भोजन से बुद्धि शुद्ध रहती है और हमारे में ब्रह्म का विकास समुचित रूप में होता है। (३) इस सात्त्विक भोजन से उत्पन्न **अपः**=रेतःकणों को (आपः रेतो भूत्वा०) **पर्वतान् रोहयन्तः**=ये पर्वत पर आरूढ़ करते हैं। शरीर में मेरुदण्ड (=रीढ़ की हड्डी) ही मेरुपर्वत है। इसके मूल से वीर्य कणों की ऊर्ध्वगति होकर जब ये वीर्यकण इस पर्वत के शिखर पर पहुँचते हैं तो ये ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। इस प्रकार ज्ञानाग्नि चमक उठती है। (४) और ये श्रेष्ठ पुरुष **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **सूर्यं रोहयन्तः**=ज्ञानरूप सूर्य का आरोहण करते हैं। ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय को इनकी बुद्धि समझने लगती है। इस ज्ञान के द्वारा ये **सुदानवः**=(दाप् लवने) बुराई का पूरी तरह खण्डन करनेवाले बनते हैं। ज्ञान पवित्रता का संचार तो करता ही है। (५) स्वयं पवित्र बनकर ये लोग **अधिक्षमि**=इस पृथ्वी पर **आर्याव्रता**=श्रेष्ठ कर्मों का **विसृजन्तः**=प्रसारित करनेवाले होते हैं। इनके आचरण को देखकर अन्य लोग भी उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और इस प्रकार इस पृथ्वी पर शुभ का विस्तार होता है।

भावार्थ—हम अपने में ज्ञान का विकास करें, उसके लिये सात्त्विक अन्न को खायें और शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाले हों। इससे हमारे मस्तिष्करूप गगन में ज्ञान-सूर्य का उदय होगा और हम श्रेष्ठ कर्मों का प्रसार करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

चार कदम

भुज्युमंहसः पिपृथो निरश्विना श्यावं पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम्।
कमद्युवं विमदायोहथुर्युवं विष्णाप्वं विश्वकायाव सृजथः ॥ १२ ॥

(१) मनुष्य भोग-प्रवण होने पर 'भुज्यु' कहलाता है, भुज्=भोगों को यु=अपने साथ जोड़नेवाला। प्राणसाधना करने पर यह भोगवृत्ति दूर हो जाती है और मनुष्य विषय-वासनाओं के समुद्र में डूबने से बच जाता है। हे **अश्विना**=प्राणपानो! आप **भुज्युम्**=भोग-प्रवण व्यक्ति को **अंहसः**=पापों से **निःपिपृथः**=पार कर देते हो, पाप समुद्र में डूबने नहीं देते। (२) **वध्रिमत्या**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि का बन्धन व संयम करनेवाली (वध्री=रस्सी) गृहिणी के लिये आप **श्यावं पुत्रम्**=गतिशील सन्तान को **अजिन्वतम्**=देते हो। माता के संयम का पुत्रों के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। माता संयमवाली होती है, तो सन्तान भी संयम के द्वारा शक्ति व गतिवाली बनती है। (३) **युवम्**=आप दोनों **विमदाय**=मदशून्य विनीत व्यक्ति के लिये **कमद्युवम्**=कमनीयता व सौन्दर्य को द्योतित करनेवाली वेदवाणी को **ऊहथुः**=प्राप्त कराते हैं। वेदवाणी विमद की पत्नी बनती है और उसके जीवन को सौन्दर्य से परिपूर्ण कर देती है। (४) **विश्वकाय**=(विश्वस्य अनुकम्पकाय) सब पर अनुकम्पा करनेवाले इस विश्वक के लिये आप **विष्णाप्वम्**=व्यापक कर्म को **अवसृजथः**=उत्पन्न करते हो। स्वार्थवृत्ति से होनेवाले कर्म संकुचित होता है, स्वार्थ से जितना-जितना हम ऊपर उठते जाते हैं उतना-उतना हमारे कर्म व्यापकता को लिये हुए होते हैं। यही विश्वक के लिये विष्णाप्व की प्राप्ति है। विष्णाप्व विश्वक का पुत्र है, (पुनाति त्रायते) उसके जीवन को पवित्र बनानेवाला तथा उसका त्राण करनेवाला है।

भावार्थ—(क) प्राणसाधना से हम भोगवृत्ति से ऊपर उठते हैं, (ख) संयमी जीवन के होने पर हमारी सन्तानें उत्तम होती हैं, (ग) ये वि-मद सन्तानें वेदवाणी के द्वारा अपने जीवन को सौन्दर्य से द्योतित करती हैं और (घ) सब पर अनुकम्पावाली होकर ये व्यापक हित के कर्मों को करनेवाली बनती हैं।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में पहले चरण का परिणाम दूसरा चरण है, दूसरे का तीसरा तथा तीसरे का चौथा। एवं यह क्रम मन्त्र को बड़ा ही सुन्दर बना देता है।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पावीरवी तन्यतु

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः।
विश्वे देवासः शृणवन्वचांसि मे सरस्वती सहधीभिः पुरन्ध्या ॥ १३ ॥

(१) **पावीरवी तन्यतुः**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाली मेघगर्जना के समान हृदयस्थ प्रभु की वाणी (तिस्रो वाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत्) **मे वचांसि शृणवत्**=मेरी पुकार को सुने, अर्थात् मैं प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ, यह प्रेरणा मेरे जीवन को पवित्र करनेवाली है। (२) **एक-पाद् अजः**=(एक=मुख्य, पद गतौ) मुख्य गति देनेवाला (frime mover) गति के द्वारा मलों को सुदूर फेंकनेवाला प्रभु मेरी पुकार को सुने। मेरे शरीररूप रथ को प्रभु ही गति देनेवाले हों और गति के द्वारा मेरे सब मलों का क्षय करनेवाले हो। (३) **दिवः**=प्रकाश का **धर्ता**=धारण करनेवाला **सिन्धुः**=ज्ञान का समुद्र आचार्य मेरी पुकार को सुने। इन आचार्यों के सम्पर्क में मेरी

प्रवृत्ति भी ज्ञान की ओर हो। इस ज्ञान समुद्र आचार्य के समीप रहने पर **समुद्रियः आपः**=इस ज्ञान-समुद्र आचार्य के ज्ञान-जल मेरी पुकार को सुनें। ये मुझे प्राप्त हों और मेरे जीवन को शुद्ध करनेवाले हों। (३) **विश्वे देवासः**=सब देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **मे वचांसि शृणवन्**=मेरी प्रार्थना वाणी को सुनें। मुझे भी ये अपने समान ये देव बनाने की कृपा करें। (४) **धीभिः**=कर्मों के तथा **पुरन्ध्या**=पालक बुद्धि के **सह**=साथ **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता मेरी पुकार को सुने। मैं सरस्वती की आराधना से उत्तम कर्मोंवाला तथा खूब प्रज्ञानवाला होकर अपना हितसाधन कर सकूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु की प्रेरणा को सुनूँ, सरस्वती का आराधक बनूँ।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों के लक्षण

विश्वे देवाः सह धीभिः पुरन्ध्या मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
रातिषाचो अभिषाचः स्वर्विदः स्वर्गिरो ब्रह्म सूक्तं जुषेरत ॥ १४ ॥

(१) **विश्वे देवा**=सब देव **धीभिः**=उत्तम कर्मों तथा **पुरन्ध्या**=पालक बुद्धि के **सह**=साथ **स्वः**=प्रकाश का **गिरः**=ज्ञान की वाणियों का **ब्रह्म**=प्रभु का **सूक्तम्**=मधुर शब्दों का **जुषेरत**=सेवन करें। देव लोग सदा उत्तम कर्मों को करते हैं, उस बुद्धि का सम्पादन करते हैं जो कि सबका पालन करनेवाली होती है। इनको ये चार वस्तुएँ प्रिय होती हैं—प्रकाश, ज्ञान की वाणियों का अध्ययन, प्रभु का उपासन, मधुर शब्दों का ही उच्चारण। (२) ये देव **मनोः यजत्राः**=ज्ञान का अपने साथ संगतिकरण करनेवाले और ज्ञान-सम्पर्क द्वारा अपना त्राण करनेवाले होते हैं। ज्ञान प्राप्ति के कारण ही **अमृताः**=विषयों के पीछे मरनेवाले नहीं होते। इन सांसारिक विषयों में आसक्ति से ये सदा ऊपर होते हैं। **ऋत-ज्ञाः**=ऋत के जाननेवाले, अर्थात् प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाले होते हैं। **रातिषाचः**=दान का सेवन करनेवाले होते हैं, दान की वृत्तिवाले होते हैं। **अभिषाचः**=दोनों ओर का सेवन करनेवाले, अर्थात् अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। इहलोक व परलोक को मिलाकर चलते हैं। **स्वर्विदः**=अपने जीवन के व्यवहार से औरों को प्रकाश के प्राप्त करानेवाले होते हैं। इनका जीवन औरों के लिये मार्गदर्शक बनता है।

भावार्थ—देवों को 'प्रकाश-ज्ञान की वाणियाँ, प्रभु का उपासन व मधुर भाषण' प्रिय होता है।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुक्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-वन्दन

देवान्वसिष्ठो अमृतान्ववन्दे ये विश्वा भुवनाभि प्रतस्थुः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १५ ॥

(१) **वसिष्ठः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाला मैं **देवान् ववन्दे**=देवों का वन्दन करता हूँ, उनको आदर देता हूँ। उन देवों को जो **अ-मृतान्**=विषयों के पीछे मरते नहीं, जो संसार के प्रति आसक्त नहीं। **ये**=जो **विश्वा भुवना अभि**=सब लोगों की ओर **प्रतस्थुः**=जाते हैं। दुःखितों के दुःख को दूर करने के लिये स्वयं उनके समीप पहुँचते हैं, 'सर्वभूतहिते रत' बनते हैं। (२) **ते**=वे देव **नः**=हमें **अद्य**=आज **उरुगायम्**=जिसका खूब ही गायन किया जाता है उस प्रभु को **रासन्ताम्**=दें। ये देव हमें प्रभु का ज्ञान देनेवाले हों और उस प्रभु के उपासन की वृत्ति को भी

प्राप्त करायें। हे देवो! **यूयम्**=आप **नः**=हमें **स्वस्तिभिः**=उत्तम स्थिति के द्वारा **सदा पात**=सदा रक्षित करो। देवों की कृपा से हमारा जीवन मंगलमय हो।

भावार्थ—देवताओं का आदर करते हुए हम प्रभु का उपासन करनेवाले बनें और उन्हीं की तरह मंगल-मार्ग पर चलते हुए अपने कल्याण को सिद्ध कर सकें।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा था कि 'अग्नि आदि देव हमारे हृदयों को अपने ओज से भर दें'। (१) समाप्ति पर कहते हैं कि इनकी कृपा से हम प्रभु के उपासक बनें और मंगल मार्ग का आक्रमण करें, (१५) इन्हीं विश्वेदेवों से ही प्रार्थना है कि—

[६६] षट्षष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

(धनी परन्तु प्रभुभक्त) देवों के लक्षण

देवान्हुवे बृहच्छ्रवसः स्वस्तये ज्योतिष्कृतो अध्वरस्य प्रचेतसः।
ये वावृधुः प्रतरं विश्ववेदस इन्द्रज्येष्ठासो अमृता ऋतावृधः॥ १॥

(१) मैं **स्वस्तये**=जीवन में उत्तम स्थिति के लिये **देवान्**=देवों को **हुवे**=पुकारता हूँ, इन देवों के सान्निध्य से मेरा भी जीवन उन जैसा ही बनता है और मैं कल्याण को प्राप्त करनेवाला होता हूँ। देवों के सम्पर्क में देव ही बन जाता हूँ। किन देवों को? (क) **बृहत् श्रवसः**=खूब उत्कृष्ट ज्ञानवाले देवों को। इनके प्रति प्रणिपात-परिप्रश्न व सेवन से मैं भी उत्कृष्ट ज्ञानवाला क्यों न बनूँगा? (ख) **ज्योतिष्कृतः**=ज्ञान की ज्योति को चारों ओर फैलानेवालों को। ऐसे ही देवों से मैं ज्ञान-ज्योति को प्राप्त कर सकूँगा। (ग) **अध्वरस्य प्रचेतसः**=यज्ञों को खूब अच्छी प्रकार समझनेवालों को। इन से यज्ञों को समझकर मैं भी निर्दोष यज्ञों को करनेवाला बनूँगा। जिस समय मेरे यज्ञ में सेरों घृत की आहुतियाँ पड़ रही होती हैं, उस समय उस यज्ञभूमि के समीप ही एक व्यक्ति भूख से पीड़ित हुआ-हुआ अन्न को नहीं प्राप्त करता तो यह यज्ञ निर्दोष नहीं कहा जा सकता। (घ) **ये**=जो देव **प्रतरम्**=खूब ही **वावृधुः**=वृद्धि के मार्ग का आक्रमण करते हैं। इनका उपासक बन मैं भी वृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ूँगा ही। (ङ) **विश्ववेदसः**=जो सम्पूर्ण धनोंवाले हैं, परन्तु साथ ही **इन्द्रज्येष्ठासः**=जिनके जीवन में प्रभु की प्रधानता है। धनवाले होते हुए भी जो धन को ही प्रथम स्थान नहीं दे देते। **अमृताः**=इन धनों के लिये मरनेवाले नहीं है, इनका जीवन केवल धन के लिये ही नहीं हो जाता। ये **ऋतावृधः**=अपने जीवन में ऋत का वर्धन करनेवाले होते हैं। धनों का विनियोग यज्ञों में करते हैं। इस प्रकार के देवों को पुकारता हुआ मैं भी धनी-प्रभु-भक्त, विषयों में अनासक्त व यज्ञशील बनता हूँ।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में मैं भी दिव्य जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्रप्रसूत-वरुणप्रशिष्ट

इन्द्रप्रसूता वरुणप्रशिष्टा ये सूर्यस्य ज्योतिषो भागमानशुः।
मरुद्गणे वृजने मन्म धीमहि माघोने यज्ञं जनयन्त सूरयः॥ २॥

(१) गत मन्त्र के ही प्रकरण में कहते हैं कि मैं उन देवों को पुकारता हूँ जो देव **इन्द्रप्रसूताः**=परमात्मा से प्रेरणा को प्राप्त करते हैं। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' इन्द्र के सब कार्य शक्तिशाली होते हैं, ये देव इस शक्ति के पुञ्ज इन्द्र से ही प्रेरणा को लेते हैं।

वरुणप्रशिष्टाः=वरुण से ये शासित होते हैं। 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है, वरुण से शासित होकर ये निर्द्वेषता के मार्ग से गति करते हैं। (२) शक्ति और निर्द्वेषता को धारण करते हुए **ये**=जो देव **सूर्यस्य**=सूर्य की **ज्योतिषः**=ज्योति के **भागम्**=अंश को **आनशुः**=प्राप्त करते हैं। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'=ब्रह्म सूर्यसम ज्योति है। ये देव उसके एक अंश को प्राप्त करनेवाले होते हैं। ब्रह्म के समान सर्वज्ञ होने का तो सम्भव नहीं होता। परन्तु उसकी ज्योति के एक अंश को तो ये प्राप्त करते ही हैं, इस प्रकार उसी के छोटे रूप (=अंश) बन जाते हैं। (३) हम भी इस प्रकार बनने के लिये **वृजने**=शत्रुओं का छेदन करनेवाले **मरुद्गणे**=प्राणसमूह में **मन्म**=स्तोत्र को **धीमहि**=धारण करते हैं। प्राणों का स्तवन यही है कि हम प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना करनेवाले बनें। इस साधना से ही हमारे वासना रूप शत्रुओं का छेदन होगा। इस प्रकार **सूरयः**=ज्ञानी लोग **मघोने**=उस 'मघवान्'=ऐश्वर्यों के पुञ्ज (मघ=ऐश्वर्य) अथवा यज्ञमय (मघ=यज्ञ=मख) उस प्रभु की प्राप्ति के निमित्त **यज्ञं जनयन्त**=अपने जीवन में यज्ञों का विकास करते हैं। वासना के विनाश के होने पर ही यज्ञों का विकास होता है और तभी प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—शक्ति व निर्द्वेषता का धारण करनेवाले व्यक्ति ही प्रभु के ज्ञान के अंश को प्राप्त करते हैं। प्राणसाधना से वासना का विनाश करके, यज्ञों का विकास करते हुए ये प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्र-अदिति-रुद्र-त्वष्टा

इन्द्रो वसुभिः परि पातु नो गयमादित्यैर्नो अदितिः शर्म यच्छतु।
रुद्रो रुद्रेभिर्देवो मृळयाति नस्त्वष्टा नो ग्नाभिः सुवितायं जिन्वतु॥ ३॥

(१) **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान्, सब शक्ति के कार्यों को करनेवाला प्रभु **वसुभिः**=निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों के द्वारा **नः**=हमारे **गयम्**=शरीर गृह को **परिपातु**=रक्षित करे। हमें निवास के लिये सब आवश्यक तत्त्व प्राप्त रहें जिससे इस शरीर रूप घर में किसी प्रकार की कमी न आ जाये। (२) **अदितिः**=अदीना देवमाता **आदित्यैः**=सब देवों के साथ **नः**=हमारे लिये **शर्म**=सुख को **यच्छतु**=दे। हमारे जीवन में अदीनता हो और अदीनता के साथ सब दिव्यगुणों का निवास हो। वस्तुतः यही सुखमयी स्थिति है। (३) **रुद्रः**=(रोरूयमाणो द्रवति) गर्जना करता हुआ, वेदज्ञान का उपदेश देता हुआ (तिस्रो वाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत्) हमारी वासनाओं पर आक्रमण करता है इसलिए प्रभु 'रुद्र' कहलाते हैं। ये **रुद्र देवः**=प्रभु **रुद्रेभिः**=प्राणों के द्वारा **नः मृडयाति**=हमें सुखी करते हैं। 'प्राणों पर टकराकर वासनाएँ चकनाचूर हो जाती हैं' सो प्राण भी रुद्र कहलाते हैं। (४) इन वासनाओं के नष्ट हो जाने पर **त्वष्टा**=वे ज्ञान से दीप्त प्रभु **ग्नाभिः**=इन छन्दोरूप वेदवाणियों के द्वारा **नः**=हमें **सुविताय**=उत्तम मार्ग पर गति के लिये **जिन्वतु**=प्रेरित करें। हम वासना-विनाश के द्वारा प्रभु के प्रकाश को देखें और सदा उस प्रकाश में सन्मार्ग पर चलनेवाले हों।

भावार्थ—इन्द्र की कृपा से हमारा शरीर-गृह सुरक्षित हो, अदिति हमारा कल्याण करे, प्राणसाधना से हमारा जीवन सुखी हो, दीप्त प्रभु के प्रकाश में हम सुवित के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वसु-रुद्र-आदित्य

अदि॑तिर्द्यावा॑पृथि॒वी ऋ॒तं म॒हदिन्द्रा॒विष्णू॑ म॒रुतः॒ स्व॑र्बृ॒हत्।
दे॒वाँ आ॑दि॒त्याँ अव॑से हवामहे॒ वसू॑न्रु॒द्रान्त्स॑वि॒तारं॑ सु॒दंस॑सम्॥ ४॥

(१) **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता है (दो अवखण्डने से दिति, न+दिति), **द्यावापृथिवी**=ज्ञान से देदीप्यमान मस्तिष्करूप द्युलोक तथा दृढ़ शरीर रूप पृथिवीलोक, **ऋतं महत्**=महनीय ऋत, प्रत्येक कार्य का ठीक समय पर होना, अर्थात् जीवन की व्यवस्था जो अत्यन्त प्रशंसनीय है, **इन्द्राविष्णू**=शक्तिशाली कर्मों का प्रतीक 'इन्द्र' है तो व्यापक कर्मों का 'विष्णु'। **मरुतः**=प्राण तथा **बृहत् स्वः**=वृद्धि का कारणभूत प्रकाश। ये सब देव तो मेरे लिये सुख को करनेवाले हों ही। (२) हम **अवसे**=रक्षण के लिये **वसून्**=प्रकृति ज्ञान में निपुण वसु नामक विद्वानों को, **रुद्रान्**=जीव की प्राणविद्या को समझनेवाले रुद्रों को, **आदित्यान् देवान्**=प्रकृति, जीव परमात्म-ज्ञान में निपुण आदित्यों को, इन सब देवों को **हवामहे**=पुकारते हैं। इनके सम्पर्क में आकर प्रकृति, जीव व परमात्मा को समझते हुए हम शारीरिक, मानस व अध्यात्म उन्नति को करनेवाले होते हैं। (३) हम **सुदंससम्**=उत्तम कर्मोंवाले **सवितारम्**=सकल जगदुत्पादक व सकल जीव-प्रेरक प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। प्रभु का अनुकरण करते हुए हम भी उत्तम कर्मोंवाले बनते हैं।

भावार्थ—वसुओं, रुद्रों व आदित्यों के सम्पर्क में आकर, अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए हम प्रभु के अधिक समीप आ जाते हैं।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

त्रिवरूथ शर्म

सर॑स्वान्धी॒भिर्वरु॑णो धृ॒तव्र॑तः पू॒षा विष्णु॑र्महि॒मा वा॒युर॒श्विना॑।
ब्र॒ह्म॒कृतो॑ अ॒मृता॑ वि॒श्ववे॑दसः॒ शर्म॑ नो यंसन्त्रि॒वरू॑थ॒मंह॑सः॥ ५॥

(१) **धीभिः**=उत्तम बुद्धियों के साथ **सरस्वान्**=ज्ञान का अधिष्ठतृदेव-प्रभु, **धृतव्रतः**=सब उत्तम कर्मों का धारण करनेवाला **वरुणः**=निर्द्वेषता का अधिष्टातृदेव-प्रभु, **पूषा**=पोषण की देवता अथवा सब प्राणशक्तियों के संचार से पोषण करनेवाला सूर्य, **विष्णुः**=व्यापकता का अधिष्ठातृदेव-प्रभु, **महिमा**=(मह पूजायाम्) पूजा की भावना, **वायुः**=गति, **अश्विना**=प्राणापान ये सब **नः**=हमारे लिये **शर्म**=सुख को **यंसन्**=दें। (२) **ब्रह्मकृतः**=ज्ञान को औरों में उत्पन्न करनेवाले अथवा स्तोत्रों को करनेवाले, उपासना की वृत्तिवाले **अमृताः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनों व ज्ञानोंवाले देव **नः**=हमारे लिये **अंहसः**=पाप से **त्रिवरूथम्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि तीनों को रक्षित करनेवाले **शर्म**=शरण को **यंसन्**=दें। हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी सुरक्षित हों, ये पापाक्रान्त न हो पायें।

भावार्थ—ज्ञानियों का सम्पर्क हमें पापों से बचाये। हमारी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि अथवा काम-क्रोध व लोभ से अभिभूत न हो जाएँ।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञ व प्रभु-स्तवन

वृषा॑ य॒ज्ञो वृष॑णः सन्तु य॒ज्ञिया॒ वृष॑णो दे॒वा वृष॑णो ह॒विष्कृतः॑।
वृष॑णा॒ द्यावा॑पृथि॒वी ऋ॒ताव॑री॒ वृषा॑ प॒र्जन्यो॒ वृष॑णो वृष॒स्तुभः॑ ॥ ६ ॥

(१) **यज्ञः**=यज्ञ **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाला है। यज्ञ से इस लोक व परलोक दोनों में कल्याण होता है। इस यज्ञ को करनेवाले **यज्ञियाः**=यज्ञशील पुरुष **वृषणः**=शक्तिशाली **सन्तु**=हों। यज्ञ के अन्दर 'देव-पूजा'=बड़ों का आदर 'संगतिकरण' मिल करके चलना=परस्पर प्रेम से वर्तना तथा 'दान'=देने की वृत्तिवाला होना ये तीन भाव निहित हैं। **देवाः**='देवो दानाद्वा' ये देने की वृत्तिवाले पुरुष **वृषणः**=शक्तिशाली होते हैं, दान की वृत्ति इन्हें भोगवृत्तिवाला नहीं बनने देती और इस प्रकार इनकी शक्ति स्थिर रहती है। **हविष्कृतः**=ये हवि को करनेवाले, दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले व्यक्ति **वृषणः**=शक्तिशाली होते हैं। 'यज्ञिय, देव व हविष्कृत्' तीनों शब्दों में यज्ञ की भावना ओत-प्रोत है। यज्ञ इन्हें शक्तिशाली बनाता है। (२) **ऋतावरी**=ऋत का अवन व रक्षण करनेवाले, ऋत के अनुसार गतिवाले **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **पर्जन्यः**=अन्तरिक्षलोक में होनेवाला यह बादल **वृषा**=सुखों का वर्षण करनेवाला है। **वृषस्तुभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले शक्तिशाली प्रभु के स्तोता **वृषणः**=शक्तिशाली बनते हैं। प्रभु का स्तवन करनेवाले के लिये द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्ष में होनेवाला पर्जन्य ये सभी सुखों का वर्षण करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुषों का जीवन शक्ति-सम्पन्न बनता है। प्रभु-स्तवन से संसार के सब पदार्थ सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अग्नि व सोम का समन्वय

अ॒ग्नीषोमा॒ वृष॑णा॒ वाज॑सातये पुरुप्रश॒स्ता वृष॑णा॒ उप॑ ब्रुवे।
यावी॑जि॒रे वृष॑णो देवय॒ज्यया॒ ता नः॒ शर्म॑ त्रि॒वरू॑थं॒ वि यं॑सतः ॥ ७ ॥

(१) 'अग्नि' तेजस्विता का प्रतीक है और 'सोम' शान्ति का। इन दोनों का समन्वय 'अग्नीषोमा' इस समस्त शब्द से सूचित हो रहा है। केवल 'तेजस्विता' उग्रता में परिवर्तित हो जाती है और अकेला 'सोम' कायरता का आभास देता है। इन दोनों का समन्वय ही ठीक है। **अग्नीषोमा**=ये अग्नि और सोम तत्त्व **वृषणा**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **वाजसातये**=ये शक्ति की प्राप्ति के लिये होते हैं। **पुरुप्रशस्ता**=सम्मिलित हुए-हुए ये अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। **वृषणा**=शक्ति के वर्धन करनेवाले इन दोनों तत्त्वों को **उपब्रुवे**=मैं पुकारता हूँ। अपने जीवन में इन दोनों के समन्वय के लिये प्रार्थना करता हूँ। (२) **वृषणः**=शक्तिशाली पुरुष **देवयज्ञया**=देवयज्ञ के द्वारा, बड़ों के उपासन के द्वारा तथा अग्निहोत्र आदि के द्वारा **यौ**=जिन अग्नि और सोम का **ईजिरे**=यजन करते हैं, **ता**=वे अग्नि और सोम **नः**=हमारे लिये **त्रिवरूथम्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि तीनों को आच्छादित करनेवाला **शर्म**=रक्षण (protection or अथवा shelter) **वि यंसतः**=विशेषरूप से प्राप्त कराते हैं। अग्नि व सोम के समन्वय के होने पर इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब ठीक बने रहते हैं।

भावार्थ—हम अग्नि और सोम तत्त्वों के समन्वय से अपने जीवन को प्रशस्त बनायें और 'त्रिवरूथ शर्म' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रशस्त जीवन

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञानिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः ।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये ॥ ८ ॥

(१) प्रशस्त जीवनवाले व्यक्ति **धृतव्रताः**=व्रतों को धारण करनेवाले होते हैं। बिना व्रतों के जीवन कभी उत्तम बन ही नहीं सकता। व्रत जीवन में नियम को ले आते हैं। **क्षत्रियाः**=ये क्षतों से अपना त्राण करनेवाले होते हैं। व्रतमय जीवन का यह स्वाभाविक परिणाम है कि शरीर में रोगों का आक्रमण नहीं होता और मन वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है। (२) ये स्वस्थ व वासनाओं से ऊपर उठे हुए मनुष्य **यज्ञनिष्कृतः**=यज्ञों का निश्चय से सम्पादन करनेवाले होते हैं और **बृहद्दिवाः**=बड़े प्रकाशमय तेजस्वी जीवनवाले बनते हैं। (३) **अध्वराणाम्**=हिंसा शून्य कर्मों का **अभिश्रियः**=सेवन करते हुए ये इहलोक व परलोक दोनों की (अभि) श्रीवाले होते हैं। इन यज्ञात्मक कर्मों के परिणामरूप इनके दोनों लोक कल्याणमय बनते हैं। **अग्निहोतारः**=अग्नि का ये आह्वान करते हैं, उस अग्रेणी प्रभु का सदा आराधन करते हैं। इस प्रकार ये प्रभु का स्मरण करते हैं और अध्वरमय जीवन बिताते हैं। उन अध्वरों को प्रभु से होता हुआ पाते हैं। (४) **ऋतसापः**=प्रभु स्मरण करनेवाले ये ऋत को अपने साथ समवेत करते हैं, 'ऋतं वदिष्यामि' इस निश्चयवाले होते हैं। सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करते हैं और **अद्रुहः**=किसी का द्रोह नहीं करते। (५) द्रोह आदि अशुभ वृत्तियाँ वासनाओं के कारण ही जागरित होती हैं। इन **वृत्रतूर्ये**=वासनाओं के संहार के निमित्त (वृत्र=वासना, तुर्वी हिंसायाम्) ये लोग **ननु**=निश्चय से **अपः**=कर्मों को **असृजन्**=नियमित रूप से करनेवाले होते हैं। कर्मों में लगे रहने से ये वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं।

भावार्थ—प्रशस्त जीवन व्रती जीवन होता है, कर्ममय होता हुआ यह वासनाओं से अनाक्रान्त रहता है।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवताओं का संयमी जीवन

द्यावापृथिवी जनयन्नभि व्रताप ओषधीर्वनिनानि यज्ञिया ।
अन्तरिक्षं स्व१रा पप्रुरूतये वशं देवासस्तन्वी३ नि मामृजुः ॥ ९ ॥

(१) **देवासः**=देव वृत्ति के पुरुष **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क रूप द्युलोक को तथा शरीर रूप पृथिवीलोक को **जनयन्**=विकसित करते हैं। शरीर को दृढ़ बनाते हैं तथा मस्तिष्क को ज्योतिर्मय। (२) इस द्यावापृथिवी को **अभि**=लक्ष्य करके, अर्थात् दृढ़ शरीर व ज्योतिर्मय मस्तिष्क को बनाने का विचार करते हुए ही ये **व्रता**=अपने जीवन में व्रतों को **आ पप्रुः**=आपूरित करते हैं, इनका जीवन व्रतमय होता है। जीवन को व्रतमय रखने के लिये ही ये **आपः ओषधीः**=जलों व ओषधियों को तथा **यज्ञिया वनिनानि**=यज्ञ के योग्य पवित्र वनस्पतियों को ही अपने में आपूरित करते हैं। यज्ञ के अन्दर कभी अपवित्र पदार्थों को नहीं डाला जाता। इसी प्रकार ये भोजन को भी एक यज्ञ का ही रूप दे देते हैं और सात्त्विक ही पदार्थों का सेवन करते हैं। पीने के लिये शुद्ध जल और खाने के लिये वानस्पतिक पदार्थ। इन पदार्थों को ही अपने आपूरित करते हुए ये सात्त्विक जीवनवाले बनते हैं। (३) इस सात्त्विकता को स्थिर रखने के लिये ही **अन्तरिक्षम्**=

(अन्तराक्षि) सदा मध्यमार्ग को ये अपनाते हैं। इस मध्यमार्ग पर आक्रमण करने से ये **स्वः**=प्रकाश व सुख को अपने में आ पूरित करनेवाले होते हैं। (४) **ऊतये**=सब प्रकार से अपने रक्षण के लिये ये देव **वशम्**=(power, controe, mestsship, subjection) जितेन्द्रियता को, इन्द्रिय-संयम को अपने में आपूरित करते हैं। इस वश के अनुपात में ही वस्तुतः 'द्यावापृथिवी' का विकास हुआ करता है। (५) इस प्रकार जीवन को बनाते हुए **देवासः**=ये देव **तन्वि**=स्व शरीर में **निमामृजुः**=नितरां शोधन करते हैं। जीवन की शुद्धता ही देवत्व है, जीवन की मलिनता ही आसुरी संपद् है।

भावार्थ—देव शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को दीप्त बनाते हैं। ये व्रती व वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करनेवाले होते हैं। मध्य-मार्ग पर चलते हुए प्रकाशमय जीवनवाले होते हैं। संयमी व शुद्ध जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान-सत्य-कर्म

धर्तारो दिव ऋभवः सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतोः।
आप ओषधीः प्रतिरन्तु नो गिरो भगो रातिर्वाजिनो यन्तु मे हवम्॥ १०॥

(१) **दिवः धर्तारः**=ज्ञान के धारण करनेवाले, मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनानेवाले, **ऋभवः** **(ऋतेन भान्ति)**=सत्य से हृदयों को सुशोभित करनेवाले तथा **सुहस्ताः**=हाथों से सदा कुशलतापूर्वक उत्तम कर्मों को करनेवाले व्यक्ति **मे**=मेरे लिये **महिषस्य तन्यतोः**=महनीय गर्जना के अथवा उस-उस महनीय प्रभु की गर्जना के **वातापर्जन्या**=वायु व बादल हों। वायु उन बादलों को हमारे तक प्राप्त कराती है जो बादल कि गर्जना करनेवाले होते हैं। इसी प्रकार प्रभु गर्जना करते हैं ('तिस्रो वाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत्') और ये लोग इस गर्जना को सुन सकने के लिये प्रभु को हमारे समीप प्राप्त कराते हैं। ये स्वयं प्रभु की गर्जना को सुनते हैं और हमें सुनने के योग्य बनाते हैं। प्रभु की गर्जना के 'तिस्रो वाचः' तीन ही शब्द हैं—'ज्ञान, कर्म व उपासना'। ये इन तीनों को अपने में धारण किये हुए हैं, 'दिवो धर्तारः'=ज्ञान, 'ऋभवः'=सत्य के द्वारा प्रभु का उपासन, 'सुहस्ताः'=कर्म। (२) **आपः ओषधीः**=जल व ओषधियाँ **नः**=हमारे लिये **गिरः**=इन ज्ञानवाणियों को **प्रतिरन्तु**=बढ़ानेवाले हों, अर्थात् सात्त्विक खान-पान के कारण हमारी बुद्धि भी सात्त्विक हो और हम उन ज्ञानवाणियों को समझने के योग्य हों। (२) ऐसा होने पर **भगः**=ऐश्वर्य की देवता **मे हवम्**=मेरी पुकार के **प्रति यन्तु**=आयें, अर्थात् मैं ऐश्वर्यशालीन बनूँ। **एतिः**=दान मेरी पुकार के प्रति आये। मैं उस धन का दान करनेवाला बनूँ। **वाजिनः**=शक्तिशाली देवता 'अग्नि, वायु वा सूर्य' (तै० ब्रा० १।६।३) मेरी पुकार के प्रति आयें। मैं अग्नि के समान सब मलों का दग्ध करनेवाला, वायु के समान सतत क्रियाशील व सूर्य के समान प्रकाश को फैलानेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्ण मस्तिष्कवाले, सत्य से निर्मल मनवाले व हाथों से कुशलता से कर्मों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देव-सूरि

समुद्रः सिन्धू रजो अन्तरिक्षमज एकपात्तनयित्नुरर्णवः।
अहिर्बुध्न्यः शृणवद्वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम॥ ११॥

(१) **समुद्रः**=समुद्र **मे वचांसि शृणवत्**=मेरे वचनों को सुनें। इस समुद्र की तरह मैं भी ज्ञान का समुद्र बनूँ। (२) **सिन्धुः**=निरन्तर जल-प्रवाहवाली नदी (स्यन्दते) मेरे वचनों को सुने। इस नदी के प्रवाह की तरह ही मेरा कर्म-प्रवाह सतत चलता रहे। (२) **रजः अन्तरिक्षम्**=यह चन्द्र की ज्योत्स्ना से रञ्जन करनेवाला अन्तरिक्ष मेरे वचनों को सुने। एक ओर सन्तापवाले सूर्य से युक्त द्युलोक है, दूसरी ओर दाहक अग्निवाला पृथिवीलोक। इनके मध्य में शीतल ज्योत्स्ना से युक्त चन्द्रवाला अन्तरिक्ष लोक है। मैं भी सदा मध्य में चलनेवाला बनूँ, अति को छोड़कर यह मध्य-मार्ग को अपनाना मुझे भी चन्द्र की शीतल ज्योत्स्ना को प्राप्त करायेगा और यही मेरे जीवन को आनन्दित करेगा। (३) **अज एक पात्**=वह गति के द्वारा सब मलों का क्षेपण करनेवाला मुख्य (एक) गति देनेवाला (पद्) प्रभु मेरे वचन को सुने। मैं भी गति के द्वारा मलों को अपने से दूर फेंकूँ। गतिशीलता मेरे जीवन को निर्मल बनाये। **अर्णवः**=जल से युक्त **तनयित्नुः**=गर्जनेवाला मेघ मेरे वचन को सुने। मैं भी ज्ञानजल से उसी प्रकार औरों को शान्ति देनेवाला बनूँ जैसे कि मेघ सन्ताप को हरता है। **अहिर्बुध्न्यः**=अहिंसित मूलवाला अथवा अहीन मूलवाला देव मेरी प्रार्थना को सुने। मैं भी अहीन मूलवाला बनूँ। मेरे जीवन का आधार 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों पर हो। किसी एक की भी कमी मुझे हीन मूलवाला बना देगी। मूल में कमी होने पर उन्नति का भवन भी सुस्थिर न होगा। (४) इस प्रकार का जीवन बना सकने के लिये **विश्वेदेवासः**=सब देववृत्ति के पुरुष **उत**=तथा **सूरयः**=ज्ञानी लोग **मम**=मेरे हों। इनका सम्पर्क मुझे भी देव व सूरि बनाये।

भावार्थ—समुद्र आदि से शिक्षा को ग्रहण करते हुए हम देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आदित्यों-रुद्रों व वसुओं के सम्पर्क में

स्याम॑ वो॒ मन॑वो दे॒ववी॑तये॒ प्राञ्चं॑ नो य॒ज्ञं प्र ण॑यत साधु॒या।
आदि॑त्या॒ रुद्रा॒ वस॑व॒: सुदा॑नव इ॒मा ब्रह्म॑ श॒स्यमा॑नानि जिन्वत ॥ १२ ॥

(१) हे **आदित्याः**=प्रकृति, जीव व परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करनेवाले सूर्यवत् देदीप्यमान ज्ञानियो! **रुद्राः**=(रोरूयमाणो द्रवति) प्रकृति व जीव का ज्ञान प्राप्त करके, प्रभु का नामोच्चारण करते हुए, हृदयस्थ वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले चन्द्रवत् साह्लाद मनोवृत्तिवाले पुरुषो! **वसवः**=प्रकृति के पूर्णज्ञान से अपने निवास को उत्तम बनानेवाले वसुओ! आप **सुदानवः**=उत्तमता से बुराइयों का खण्डन करनेवाले हो। हम **मनवः**=विचारशील बनकर **वः**=आपके **स्याम**=हों। हम आपके सम्पर्क में आएँ और **देववीतये**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये हों। (२) आप **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञ को, श्रेष्ठतम कर्म को **साधुया**=उत्तम प्रकार से **प्रणयत**=प्रकर्षेण आगे ले चलनेवाले होओ। और **इमा**=इन **शस्यमानानि**=प्रशंसा किये जाते हुए **ब्रह्म**=स्तोत्रों को **जिन्वत**=हमारे में प्रीणित करो। हम उत्तम स्तोत्रों को करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम आदित्यों, रुद्रों व वसुओं के सम्पर्क में आकर विचारशील बनें, दिव्यगुणों को प्राप्त करें। हमारी वृत्ति यज्ञिय हो, हम प्रभु स्तोत्रों का उच्चारण करें।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु व देवों का आराधन

दैव्या होतारा प्रथमा पुरोहित ऋतस्य पन्थामन्वेमि साधुया।
क्षेत्रस्य पतिं प्रतिवेशमीमहे विश्वान्देवाँ अमृताँ अप्रयुच्छतः ॥ १३ ॥

(१) **दैव्या होतारा**=अग्नि और आदित्य दैव्य होता हैं, ये हमें उस देव के प्राप्त करानेवाले हैं (हु=दाने)। **प्रथमा**=हमारी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हैं। **पुरोहिता**=ये हमारे सामने आदर्श के रूप से रखे गये हैं। आदित्य की तरह हमने सब स्थानों से अच्छाई को ग्रहण करना है और अग्नि की तरह निरन्तर आगे बढ़ते चलना है (अग्निः=अग्रणीः)। (२) मैं आदित्य व अग्नि का शिष्य बनकर **साधुया**=उत्तमता से **ऋतस्य पन्थां अनुएभि**=ऋत के मार्ग का अनुसरण करता हूँ ऋत, अर्थात् यज्ञ को अपनाता हूँ और ऋत, अर्थात् प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करनेवाला बनता हूँ। (३) हम **क्षेत्रस्य पतिम्**=इस शरीर रूप क्षेत्र के स्वामी **प्रतिवेशम्**=समीप वर्तमान (पड़ोसी) उस प्रभु को **ईमहे**=प्रार्थित करते हैं और साथ ही **विश्वान् देवान्**=सब ज्ञानी पुरुषों के भी जो **अमृतान्**=विषयों के पीछे मरनेवाले नहीं तथा **अप्रयुच्छतः**=धर्म सत्य व स्वाध्यायादि में प्रमाद करनेवाले नहीं उनका आराधन करते हैं। इन देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देववृत्ति का बनने का प्रयत्न करते हैं। इनसे हम दैवी सम्पत्ति की याचना करते हैं।

भावार्थ—हम आदित्य व अग्नि को अपना आदर्श बनाते हैं। प्रभु की प्रार्थना करते हैं। देवों के सम्पर्क से दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पितृवत्-ऋषिवत्

वसिष्ठासः पितृवद्वाचमक्रत देवाँ ईळाना ऋषिवत्स्वस्तये।
प्रीताइव ज्ञातयः काममेत्यास्मे देवासोऽव धूनुता वसु॥ १४॥

(१) **वसिष्ठासः**=अपने निवास को अत्यन्त उत्तम बनानेवाले ज्ञानी पुरुष **पितृवत्**=पिता की तरह **वाचं अक्रत**=ज्ञान की वाणियों का उपदेश करनेवाले होते हैं। जैसे पिता पुत्र के लिये प्रेम से प्रेरणा को प्राप्त कराता है, इसी प्रकार ये वसिष्ठ हमारे लिये प्रेम से ज्ञानोपदेश को करनेवाले होते हैं। (२) **देवान् ईडाना**=देवों का स्तवन करते हुए, अर्थात् देवों से देवत्व को प्राप्त करते हुए ये **ऋषिवत्**=तत्त्वद्रष्टा की तरह ज्ञान को देते हैं जिससे **स्वस्तये**=हमारा कल्याण हो। इनका उपदेश एक पिता की तरह प्रेम से दिया जाता है और ऋषि की तरह तात्त्विकता को लिये हुए होता है। इस प्रकार प्रेम से दिया हुआ तत्त्वज्ञान का उपदेश हमारा कल्याण करता है। (२) हे **देवासः**=देवो! **प्रीताः ज्ञातयः इव**=प्रसन्न हुए-हुए बन्धुओं की तरह **कामं एत्य**=प्रसन्नतापूर्वक आकर **अस्मे**=हमारे लिये **वसु**=धन को **अवधूनुत**=प्रेरित करो। जैसे बन्धु किसी उत्सव में सम्मिलित होने पर कुछ धन स्वेच्छा से देनेवाले होते हैं, इसी प्रकार देव हमें दैवी सम्पत्ति रूप धन को देनेवाले हों।

भावार्थ—स्वयं उत्तम निवासवाले लोग प्रेम से हमें तत्त्वद्रष्टा पुरुष की भान्ति उपदेश करें। देव हमें दैवी सम्पत्ति के देनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुकर्णो वासुक्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-वन्दन

देवान्वसिष्ठो अमृतान्ववन्दे ये विश्वा भुवनाभि प्रतस्थुः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १५ ॥

देखो १०.६५.१५।

सूक्त का प्रारम्भ 'देवों के सम्पर्क में मैं भी दिव्य जीवनवाला बनूँ' इस भावना से होता है, (१) और समाप्ति पर उन्हीं देवों से दैवी सम्पत्ति की याचना है, (१४) अगले सूक्त में 'धी' की प्रार्थना है—

[६७] सप्तषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तुरीयावस्था

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत् ।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥ १ ॥

(१) सूक्त का ऋषि **अयास्य**='प्राणो वा अयास्यः'=न थकनेवाला प्राणशक्ति का पुञ्ज है और वह **आंगिरस**=अंग-प्रत्यंग में रसवाला है। यह प्रार्थना करता है कि—**इमां धियम्**=इस (कर्मणां धात्रीम्) कर्मों व बुद्धि का धारण करनेवाली हमारे कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाली तथा ज्ञान को बढ़ानेवाली **सप्तशीर्ष्णीम्**=गायत्री आदि सात छन्दों रूप सिरोंवाली **ऋतप्रजाताम्**=ऋत के लिये प्रादुर्भूत हुई-हुई यज्ञादि उत्तम कर्मों के प्रतिपादन के लिये उत्पन्न हुई **बृहतम्**=वृद्धि की कारणभूत इस वेदवाणी को **पिता**=हम सबके पिता प्रभु ने **नः**=हमारे लिये **अविन्दत्**=(=अवेदयत्) प्राप्त कराया। यह वेद-ज्ञान गायत्री आदि सात छन्दोरूप वाणी में बँधा है, ऋत का इसमें प्रतिपादन है, कर्मों का धारण करता हुआ और ज्ञान देता हुआ यह हमारे वर्धन का कारण बनता है। (२) इस वेदज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य **विश्वजन्यः**=सब लोगों के हित को करनेवाला होता है, 'सर्वभूतहितेरत' बनता है। **अयास्यः**=कर्म करने में थकता नहीं, अनथक श्रमवाला होता है। **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **उक्थम्**=स्तोत्रों का **शंसन्**=उच्चारण करनेवाला होता है। इस प्रकार जीवन को उत्तम बनाता हुआ **स्वित्**=निश्चय से **तुरीयम्**=तुरीयावस्था को **जायत्**=अपने में विकसित करता है। यह तुरीयावस्था जागरित-स्वप्न-सुषुप्ति से परे समाधिजन्य अवस्था है, इसमें यह उपासक 'वैश्वानर-तैजस व प्राज्ञ' बनकर 'शान्त-शिव-अद्वैत' स्थिति में पहुँचता है। इसमें वह सब के साथ एकत्व को अनुभव करता है। सबके साथ एक होने से ही आनन्दमय होता है।

भावार्थ—हम प्रभु से दी गई वेदवाणी को प्राप्त करें, इसके अनुसार लोकहित में प्रवृत्त हों, अनथक रूप से कार्य करें, प्रभु का स्तवन करें और समाधि की स्थिति तक पहुँचने को अपना लक्ष्य बनायें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुरस्य वीराः (प्रभु के पुत्र)

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र की समाप्ति पर समाधिजन्य तुरीयावस्था का संकेत है। इस स्थिति की ओर चलनेवाले लोग **ऋतं शंसन्तः**=ऋतका ही सदा शंसन करते हैं, इनके जीवन से अनृत का उच्चारण नहीं होता। **ऋजु दीध्यानाः**=ये सदा सरलता से कल्याण का ही ध्यान करनेवाले होते हैं, ये कभी किसी के अमंगल का विचार नहीं करते। **दिवः**=ज्ञान के द्वारा ये **पुत्रासः**=(पुंनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र बनाते हैं और आधि-व्याधियों के आक्रमण से अपना रक्षण करते हैं। **असुरस्य वीराः**=ये उस (असून् राति) प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु के वीर सन्तान बनते हैं, प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके सब बुराइयों को विनष्ट करनेवाले होते हैं। (२) **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले ये वीर पुरुष **विप्रं पदम्**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले (वि+प्रा) सर्वोच्च स्थान को **दधानाः**=धारण करने के हेतु से **यज्ञस्य**=उस यज्ञरूप प्रभु के **प्रथमं धाम**=सर्वोत्कृष्ट तेज का **मनन्त**=मनन करते हैं। इस प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बना करके ये भी अपने जीवन को यज्ञमय बनाते हैं और उन्नति को प्राप्त करते हुए 'विप्र पद' को धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—ऋत का शंसन करते हुए, प्रभु के तेज का स्मरण करते हुए हम उन्नत होते चलें। शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय व क्षत्रिय से विप्र बननेवाले हों।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पाषाणमय बन्धन-भंजन'

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद्गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत्॥ ३॥

(१) **बृहस्पतिः**=(ब्रह्मणस्पतिः) वेदज्ञान का पति बननेवाला ज्ञानी पुरुष **अश्मन्मयानि**=पत्थरों से बने हुए अर्थात् पाषाणतुल्य दृढ़ **नहना**=बन्धनों को **व्यस्यन्**=दूर फेंकने के हेतु से **वावदद्भिः**=खूब ही प्रभु-स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाला **हंसैः इव सखिभिः**=हंस तुल्य मित्रों के साथ **गाः**=इन वेदवाणियों का **अभिकनिक्रदत्**=प्रातः-सायं उच्चारण करता है। काम-क्रोध-लोभ रूप आसुर वृत्तियाँ क्रमशः इन्द्रियों, मन व बुद्धि में अपने दृढ़ अधिष्ठानों को बनाती हैं। ये ही असुरों की तीन पुरियाँ कहलाती हैं। बड़ी दृढ़ होने के कारण ये पुरियाँ यहाँ 'अश्मन्मयी' कही गई हैं। इनका तोड़ना सुगम नहीं। ज्ञान के प्रकाश में ही इनका विलय हुआ करता है, ज्ञानाग्नि ही इनके भस्म करने का साधन है। सो बृहस्पति अपने मित्रों के साथ इन ज्ञानवाणियों का उच्चारण करता है और ज्ञान के प्रकाश में इन असुरों की शक्ति को क्षीण करके अपने जीवन को पवित्र बनाता है। (२) यहाँ प्रसंगवश मित्रों की मुख्य विशेषता का भी संकेत हुआ है। मित्र हंसों के तुल्य होने चाहिएँ। (क) हंस शुभ का ही ग्रहण करता है, कौवे की तरह मल की रुचिवाला नहीं होता। (ख) वह जीवन में एक सरल चाल से चलता है, कौए की तरह विविध कुटिल गतियोंवाला नहीं होता। (ग) हंस निरभिमान है, कौए का घमण्ड उसमें नहीं। इस प्रकार के हंसतुल्य मित्र ही हमारे जीवनों में उपयोगी होते हैं इनका संग ही हमें उत्थान की ओर ले जाता है। (घ) यह बृहस्पति असुर-पुरियों के विध्वंस के उद्देश्य से ही **प्रास्तौत्**=प्रकर्षेण प्रभु का स्तवन करता है **उत**=और **विद्वान्**=ज्ञानी बनकर **उदगायत् च**=प्रभु के गुणों का गायन करता है। यह प्रभु के गुणों का गायन उसे भी उन गुणों के धारण के लिये प्रेरित करता है। इन गुणों को धारण करता हुआ यह अवगुणों से दूर होता ही है। यही असुर-पुरियों का विध्वंस है।

भावार्थ—हम मित्रों के साथ ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए और प्रभु गुणगान करते हुए काम-क्रोध व लोभ को परास्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एक-दो व तीन

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥ ४॥

(१) **बृहस्पतिः**=ज्ञान का पति यह विद्वान् **द्वाभ्यां अव उ**=काम-क्रोध (=(राग-द्वेष) रूप शत्रुओं से दूर होता है। ज्ञान के होने पर काम-क्रोध का नाश होता ही है। काम-क्रोध से दूर होकर **एकया**=इस अद्वितीय वेदवाणी से यह **परः**=उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है। (२) ज्ञान प्राप्ति से पूर्व **गुहा तिष्ठन्तीः**=अज्ञानान्धकार रूप गुफा में ठहरी हुई और अतएव **अनृतस्य**=अनृत के **सेतौ**=बन्धन में पड़ी हुई **गाः**=इन्द्रियों को **उद् आकः**=अज्ञानान्धकार से बाहिर करता है। अब इसकी इन्द्रियाँ विषयों में ही नहीं फँसी रहतीं। (३) **बृहस्पतिः**=यह ज्ञान की वाणी का पति बनता है। **तमसि**=इस संसार के विषयान्धकार में **ज्योतिः इच्छन्**=यह फिर आत्मप्रकाश की प्राप्ति की इच्छा करता है। इसी उद्देश्य से **उस्राः**=ज्ञान किरणों को **उद् आकः**=अपने जीवन में प्रमुख-स्थान प्राप्त कराता है। ज्ञान विरोधी किसी भी व्यवहार को यह नहीं करता। और इस प्रकार **हि**=निश्चय से **तिस्रः**=तीनों ज्योतियों को **वि आवः**=विशेषरूप से प्रकट करता है। इन तीन ज्योतियों का ही उल्लेख 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' इस मन्त्रभाग में है। बाह्य जगत् में ये 'अग्नि-चन्द्र व सूर्य' हैं। शरीर में ये 'तेजस्विता (अग्नि) आह्लाद (चन्द्र) व ज्ञान (सूर्य)' के रूप में हैं। यह बृहस्पति शरीर में तेजस्वितावाला होता है, मन में सदा आह्लादमय तथा मस्तिष्क में ज्ञानरूप सूर्यवाला होता है।

भावार्थ—हम काम-क्रोध से दूर हों, वेदवाणी के द्वारा उत्कृष्ट जीवनवाला बनें तथा 'तेजस्विता, आह्लाद व ज्ञान' रूप ज्योतियों को अपने में जगाएँ।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उदधेः साकम् त्रीणि

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत्।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥ ५॥

(१) इन्द्रियों, मन व बुद्धि में असुर अपनी नगरियाँ बना लेते हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ काम से, मन क्रोध से व बुद्धि लोभ से आक्रान्त हो जाती है। ये नगरियाँ यहाँ 'अपाची' कहलायी हैं 'अप् अञ्च्'=बाहर की ओर ले जानेवाली अथवा प्रभु से दूर ले जानेवाली। आसुर वृत्तियों के कारण हम संसार के विषयों में फँस जाते हैं और प्रभु को भूल जाते हैं। यदि हम इन्द्रियों को शान्त कर पाते हैं तो इन आसुर-पुरियों के विदारण में भी समर्थ हो जाते हैं। **शयथा**=(शी=tranguility=शान्ति)=शान्ति के द्वारा अथवा हृदय में शयन व निवास के द्वारा **अपाचीम्**=प्रभु से हमें दूर ले जाने वाली **पुरम्**=इस वासनात्मक असुर पुरी का **ईं विभिद्या**=निश्चय से विदारण करके, यह विदारण करनेवाला पुरुष **उदधेः साकम्**=(कामो हि समुद्रः) अनन्त विषयरूप जलवाले काम के साथ **त्रीणि**='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को **निः अकृन्तत्**=निश्चय से काट डालता है। सामान्यतः पुरुष 'काम-क्रोध-लोभ' में ही भटकता रहता है, और प्रभु को भूल जाता है। हृदय में ध्यान करने से अथवा वृत्ति को शान्त बनाने के द्वारा हम 'काम-क्रोध-लोभ' को जीत लेते हैं और प्रभु प्रवण वृत्तिवाले बनते हैं। (२) यह **बृहस्पतिः**=शान्त वृत्तिवाला और अतएव ज्ञानी पुरुष

उषसम्=उषा को **सूर्यम्**=सूर्य को **गाम्**=गौ को **अर्कम्**=अर्क को **विवेद**=विशेष रूप से प्राप्त करता है। 'उषस्'=शब्द 'उष दाहे' धातु से बनकर दोष-दहन का प्रतीक है, 'सूर्य' 'सृ गतौ' से बनकर निरन्तर गति व क्रियाशीलता का संकेत करता है, गौ शब्द 'गमयति अर्थम्' इस व्युत्पति से अर्थों का ज्ञान देनेवाली वाणी का वाचक है, 'अकर्म' शब्द 'अर्च' धातु से बनकर पूजा का प्रतिपादक है। बृहस्पति के जीवन में ये चारों चीजें बड़ी सुन्दरता से उपस्थित होती हैं। यह दोषों का दहन करनेवाला होता है, निरन्तर क्रियाशील बनता है, वेदवाणी के अध्ययन से ज्ञान को बढ़ाता है और प्रभु के पूजन की वृत्तिवाला होता है। (३) ऐसा बनकर यह **स्तनयन् इव द्यौः**=गर्जना करते हुए द्युलोक के समान होता है। द्युलोकस्थ सूर्य की तरह सर्वत्र प्रकाश को फैलाता है, परन्तु गर्जते हुए मेघों के कारण जैसे सूर्य सन्तापकारी नहीं होता उसी प्रकार यह बृहस्पति भी गर्जते हुए मेघ के समान ज्ञान जल का वर्षण करता है और लोगों के सन्ताप को हरनेवाला ही बनता है। यह ज्ञान के प्रसार को बड़े माधुर्य से करता है।

भावार्थ—असुर-पुरियों का विदारण करके हम प्रभु-प्रवण वृत्तिवाले बनें। ज्ञान प्रसार के कार्य को अहिंसा व माधुर्य के साथ करनेवाला हों।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

करेण-रवेण

इन्द्रो॑ व॒लं र॑क्षि॒तारं॒ दुघा॑नां क॒रेणे॑व॒ वि च॑कर्ता॒ रवे॑ण।
स्वेदा॑ञ्जिभिरा॒शिर॑मि॒च्छमा॒नोऽरो॑दयत्प॒णिमा गा अ॑मुष्णात्॥ ६ ॥

(१) 'वल' वृत्र का ही दूसरा नाम है, यह ज्ञान पर परदे के रूप में (वल=veil) आया रहता है। इस **वृत्र**=काम के प्रबल होने पर ज्ञानेन्द्रियाँ अपना कार्य ठीक से नहीं करती। मानो यह वृत्र उन्हें चुरा ले जाता है और कहीं गुफा में छिपा रखता है। यहाँ इसी भाव को 'दुधानां रक्षितारम्' इन शब्दों से कहा गया है। ज्ञान का दोहन करनेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ 'दुघ' हैं, 'वल' उनको छिपा रखता है, सो इनका रक्षिता कहलाया है। 'इन्द्र'=जितेन्द्रिय पुरुष वल को नष्ट करके इन इन्द्रियरूप गौओं को फिर वापिस ले आता है। वल के नष्ट करने का साधन 'करेण+रवेण' है, कर्मशील बनना और प्रभु के नामों का उच्चारण करना। क्रियाशीलता के अभाव में अशुभ-वृत्तियाँ पनपती हैं और प्रभु विस्मरण से उन कर्मों का गर्व हो जाने का भय बना रहता है। अहंकार भी 'वल' का ही दूसरा रूप है यह भी ज्ञान को नष्ट करनेवाला है। **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **दुघानाम्**=ज्ञानरूप दुग्ध का दोहन करनेवाली इन्द्रियरूप गौवें के **रक्षितारम्**=चुराकर कहीं गुफा में रखनेवाले **वलम्**=वृत्रासुर को **करेण इव रवेण**=जैसे हाथ से उसी प्रकार रव से **विचकर्त**=काट डालता है। 'कर' का भाव क्रियाशीलता है, रव का नामोच्चारण क्रियाशील बनकर प्रभु नाम-स्मरण करता हुआ यह वासना को विनष्ट करता है और इस प्रकार इन्द्रियों का रक्षण करनेवाला बनता है। (२) यह **स्वेदाञ्जिभिः**=(अञ्जि=आभरण) पसीने रूप आभूषणों से **आशिरम्**=(श्रियं=आश्रयणं) श्री को **इच्छमानः**=चाहता हुआ **पणिम्**=लोभवृत्ति को (वणिये की वृत्ति को) **अरोदयत्**=रुलाता है और **गाः**=ज्ञानेन्द्रिय रूप गौवों को **अयुष्णात्**=(आजहार सा०) फिर वापिस ले आता है। लोभवृत्ति में मनुष्य कम से कम श्रम से अधिक से अधिक धन को लेना चाहता है, इस लोभ से उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है इसीलिए यहाँ मन्त्र का ऋषि 'अयास्य' गहरे पसीने की कमाई को ही चाहता है, स्वेद उसका आभूषण ही बन जाता है। इस प्रकार यह लोभवृत्ति को नष्ट कर देता है, मानो उसे रुलाता है। श्रम से ही धन की कामना करता हुआ यह अपनी इन्द्रियों को स्वस्थ रखता है।

भावार्थ—वासना हमारी इन्द्रियरूप गौवों को चुरा लेती है। श्रम से ही धनार्जन की इच्छा करते हुए हम ज्ञानेन्द्रियों को स्वस्थ रखते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कैसे मित्र ?

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ ७ ॥

(१) **स**=वह **ईम्**=सचमुच **सत्येभिः**=सत्य का पालन करनेवाले, **शुचद्भिः**=अपने मनों को पवित्र बनानेवाले, **धनसैः**=धनों का संविभाग करनेवाले, अर्थात् सारे का सारा स्वयं न खा जानेवाले **सखिभिः**=मित्रों के साथ **गोधायसम्**=हमारी इन्द्रियरूप गौओं को चुराकर कहीं अज्ञानान्धकार में छुपाकर रखनेवाले वलः वृत्र=वासनात्मक शत्रु को **वि अदर्षः**=विदीर्ण करता है। संसार में मित्रों का संग ही हमें बनाता व बिगाड़ता है। अच्छे मित्रों के साथ हम बन जाते हैं, बुरों के साथ बिगड़ जाते हैं। यहाँ हमारे मित्र 'सत्य, शुचि व धनों का संविभाग करनेवाले' हैं। इससे उत्तम मित्र हो ही क्या सकते हैं? (२) यह उत्तम मित्रों के साथ 'वल' का विदारण करनेवाला **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनता है और **वृषभिः**=पुण्यों से पुण्यात्मक कर्मों से **वराहैः**=(वरम् आहन्ति=गच्छति) शुभ उपायों के अवलम्बन से तथा **घर्मस्वेदेभिः**=(घृ=क्षरणे) स्वेद के क्षरण से, पसीना बहाने के द्वारा, **द्रविणम्**=धन को **व्यानट्**=प्राप्त करता है। ज्ञानी बनकर यह धन को पुण्यात्मक कर्मों से शुभ उपायों से तथा खूब मेहनत से (=पसीना बहाकर ही) कमाता है।

भावार्थ—हमारे मित्र सत्यवादी, पवित्र व निःस्वार्थी हों। हम पुण्य व शुभ कामयुक्त उपायों से धनार्जन करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रियों का परस्पर रक्षण

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः।
बृहस्पतिर्मिथोअवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥ ८ ॥

(१) **ते**=वे **सत्येन मनसा**=सच्चे दिल से **गोपतिम्**=सब इन्द्रियों के स्वामी प्रभु को तथा **गाः**=इन्द्रियों को **इयानासः**=प्राप्त करने के लिये जाते हुए (अभिगच्छन्तः) **धीभिः**=ज्ञानयुक्त कर्मों से **इषणयन्त**=उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। जब हमारे में किसी पदार्थ के प्राप्त करने की सच्ची कामना होती है तभी हम उसे प्राप्त कर पाया करते हैं। ज्ञानयुक्त कर्मों से हम जहाँ इन इन्द्रियों को प्राप्त करते हैं, वहाँ इन्द्रियों के स्वामी प्रभु को भी प्राप्त करनेवाले होते हैं। (२) **बृहस्पतिः**=आत्मतत्त्व से मेल करानेवाली ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से **उस्त्रियाः**=प्रकाश की किरणों को **उत्**=उत्कर्षेण **असृजत**=उत्पन्न करता है। (३) कर्मेन्द्रियाँ कर्म द्वारा ज्ञान प्राप्ति में सहायक होती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान द्वारा कर्मों को पवित्र करती हैं। इस प्रकार ये एक दूसरे को अपवित्रता से बचाये रखती हैं। अपवित्रता से अपने को बचाकर ये आत्मा के साथ हमारा मेल करनेवाली होती हैं, इन इन्द्रियों से ही प्रकाश की किरणों की सृष्टि होती है।

भावार्थ—हमारे में प्रभु प्राप्ति व इन्द्रिय विजय की सच्ची कामना हो हम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को सुरक्षित करते हुए प्रकाशमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान+शक्ति=विजय

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम्॥ ९॥

(१) **शिवाभिः**=कल्याणी **मतिभिः**=मतियों से हम **तम्**=उस प्रभु का **वर्धयन्तः**=वर्धन करते हुए **अनुमदेम**=उसकी अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करें। हम अपनी मति को सदा शुभ बनाये रखें, वस्तुतः मति का शुभ बनाये रखना ही प्रभु का सर्वोत्तम आराधन है, संसार में किसी के अशुभ का विचार न करना। (२) उस प्रभु का हम वर्धन करें जो कि **सधस्थे**=जीवात्मा और परमात्मा के साथ-साथ ठहरने के स्थान 'हृदय' में **सिंहं इव**=शेर की तरह **नानदतम्**=गर्जन कर रहे हैं। हृदयस्थरूपेण प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं, 'कनिक्रदत'=वे गर्जना कर रहे हैं। सिंह गर्जना को सुनकर जैसे खरगोश मृग आदि पशु भाग खड़े होते हैं, इसी प्रकार प्रभु के नाम को सुनकर वासनारूप पशु भाग जाते हैं। (३) **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी **वृषणम्**=शक्तिशाली प्रभु को, **शूरसातौ**=शूरों से सेवनीय **भरेभरे**=प्रत्येक संग्राम में **जिष्णुम्**=जो विजय को करनेवाले हैं, उस प्रभु के **अनुमदेम**=अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करें। प्रभु ज्ञानी हैं और शक्तिशाली हैं, इसी से वे विजयशील हैं। हमारे संग्रामों में भी हमें विजय प्रभु के कारण ही प्राप्त होती है। ऐसा समझने पर हमें अहंकार नहीं होता और वास्तविक हर्ष प्राप्त होता है।

भावार्थ—शुभ मति के द्वारा हम प्रभु का वर्धन करें। वे प्रभु हमें निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। प्रभु ज्ञानी व शक्तिशाली हैं, इसीसे विजयी हैं, हम प्रभु की अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उत्तर सद्म' का आरोहण

यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा॥ १०॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की अनुकूलता में **यदा**=जब **विश्वरूपम्**='तेज, वीर्य, ओजस्, बल, मन्यु व सहस्' इन सब रूपोंवाले **वाजम्**=बल को **असनत्**=प्राप्त करता है। प्रभु की अनुकूलता में होंगे तो ये सब शक्तियाँ हमें प्राप्त होंगी ही। तब वह व्यक्ति **द्यां अरुक्षत्**=प्रकाशमय लोक का आरोहण करता है, **उत्तराणि सद्म**=उत्कृष्ट गृहों का आरोहण करता है। पृथिवीलोक से ऊपर उठकर अन्तरिक्षलोक में पहुँचता है, अन्तरिक्षलोक से द्युलोक में। सब से निचला घर असूर्यलोक में होता है, उससे ऊपर इस मर्त्यलोक में, इससे ऊपर चन्द्रलोक, उससे भी ऊपर सूर्यलोक और सूर्यलोक से भी ऊपर ब्रह्मलोक में हम पहुँचते हैं। बस, यह 'ब्रह्मलोक' सर्वोत्कृष्ट गृह है। (२) इस समय हम **बृहस्पतिम्**=ज्ञान, **वृषणम्**=बल **वर्धयन्तः**=बढ़ाते हुये **नाना सन्तः**=अनेक प्रकार से **ज्योतिषा**=प्रकाश से **बिभ्रतः**=प्रकाशित होवें।

भावार्थ—हम उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विद्वान् पुरुषों के कर्त्तव्य

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः ।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद्रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥ ११ ॥

हे विद्वान् पुरुषो! आप लोग **वयोधैः**=दीर्घ जीवन धारण करने के लिये **सत्याम् आशिषं**=सत्य-सत्य आशीर्वाद और सत्य आशा को सफल करो और **स्वेभिः एवैः**=अपने-अपने ज्ञानों और उद्योगों से **कीरिम् चित्**=उपदेष्टा, ज्ञानप्रद वा प्रार्थी पुरुष की **अवथ**=रक्षा करो। **मृधः**=हिंसक दुःखदायी सब आपत्तियें **पश्चा**=पीछे रह जावें, **अप भवन्तु**=और हमसे पृथक् हो जावें। हे **विश्वमिन्वे**=सबको प्रसन्न एवं पुष्ट करनेवाले स्त्री-पुरुषो! हे **रोदसी**=दुष्टों के रुलानेवाले वा रोग दूर करनेवाले सेनापति तथा वैद्य लोगो! आप **शृणुतम्**=सुनो और तदनुसार कर्त्तव्य पालन करो।

भावार्थ—विज्ञजनों के आशीर्वाद से हम दुःखों से तर कर आनन्द को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राजा-प्रजावर्गों का कर्त्तव्य

इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य ।
अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धून्देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥ १२ ॥

राष्ट्र में राजा और प्रजावर्ग की सम्मिलित शक्तियाँ सब प्रजाओं की रक्षा करती हैं। वह महान् राजा, हिंसक शत्रु के महान् सैन्य के शिरोनायक का नाश करता है, **अहिम्**=सन्मुख आये शत्रु पर प्रहार करता और परसैन्यों को भगा देता है। **सप्त सिन्धून**=नदीवेग से आगे बढ़नेवाले शत्रुसैन्यों को पराजित करता है। आकाश और भूमि के समान आश्रय रूप और रक्षकरूप राजा और उसकी राज्यशासनव्यवस्था हमारी रक्षा करें।

भावार्थ—राजा और प्रजा मिलकर राष्ट्र को शत्रु रहित व शक्तिशाली बनायें।

[६८] अष्टषष्टितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हंसवत् भक्तों के कर्त्तव्य

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः ।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्य१र्का अनावन् ॥ १ ॥

मदन्तः=अति प्रसन्न **अर्काः**=स्तुति करनेवाले भक्त जन, **बृहस्पतिम्**=महान् ब्रह्माण्डों के पालक परमेश्वर की ऐसे **अनावन्**=उत्साहपूर्वक स्तुति करते हैं, **उद् प्रुतः-वयः न**=जिस प्रकार जल पर तैरनेवाले पक्षी कलकल करते हैं, जैसे खेत की रक्षा करनेवाले **रक्षमाणाः**=समय-समय पर उच्च स्वर से हाँका करते हैं, जैसे **वावदतः न**=परस्पर बातचीत करते हुए स्नेह के प्रवाह में बात करते ही रहते हैं, जैसे **अभ्रियस्य घोषाः न**=मेघ के गर्जन होते रहते हैं, जैसे **गिरिभ्रजः ऊर्मयः न**=मेघ से गिरनेवाली जलधाराएँ वा पर्वत से झरनेवाले झरने अनवरत प्रवाह से बहते हैं।

भावार्थ—गतिशीलता ही जीवन है, अतः हम गतिशील बनकर उन्नति करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कर्मफल दाता प्रभु

सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भगइवेदर्यमणं निनाय।
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥ २ ॥

आंगिरसः=अंगारों में अग्नि जिस प्रकार **नक्षमाणः**=फैलता हुआ **गोभिः सं निनाय**=अपनी किरणों से मनुष्य को अन्धकार में भी सन्मार्ग पर ले जाता है, उसी प्रकार **आंगिरसः**=ज्ञानवान् पुरुषों में प्रमुख विद्वान् **नक्षमाणः**=विद्या-क्षेत्र में अधिक व्यापक ज्ञान रखता हुआ **गोभिः**=वाणियों के द्वारा **सं निनाय**=शिष्य को सन्मार्ग पर ले चले और **भग इव इत् अर्यमणम्**=ऐश्वर्यवान् प्रभु जिस प्रकार **गोभिः**=आज्ञावाणियों द्वारा उपासक को, उसी प्रकार वह प्रमुख विद्वान् **गोभिः सं निनाय**=वेदवाणियों द्वारा सन्मार्ग पर लाता है। **जने**=जनसमूह में जिस प्रकार **मित्रः दम्पती अनक्ति**=स्नेही पुरोहित वर-वधू को **सम्**=परस्पर स्नेह करने की प्रेरणा करता है उसी प्रकार वह प्रमुख विद्वान् प्रभु और मुझमें स्नेह उत्पन्न करे। **आजौ**=संग्राम में जिस प्रकार वीर सेनापति **आशून्**=वेगवान् अश्वों को **वाजयति**=वेग से चलाता है उसी प्रकार **बृहस्पतिः**=वेदवाणी का पालक विद्वान् गुरु **आजौ**=जगत् रूप विजय के क्षेत्र में **आशून्**=कर्मफल के भोक्ता हम जीवों को **वाजय**=शक्ति प्रदान करे।

भावार्थ—परमात्मा हमारी बुद्धियों में स्नेह उत्पन्न करे जिससे हम सदा विजयी बनें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का सृष्टिवपन

साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥ ३ ॥

जिस प्रकार कृषक **पर्वतेभ्यः**=पर्वतों से **गाः**=जलधाराओं को **वि-तूर्य**=विविध प्रकार से काटता है और **यवम् निः ऊपे**=जौ आदि धान्य बोता है, और जिस प्रकार सूर्य वा विद्युत् **पर्वतेभ्यः**=मेघों से **गाः**=जलधाराओं को **वि-तूर्य**=विशेष रूप से निकाल कर भूमियों पर डालता है, मानो भूमियों पर जौ छिटकाता है, उसी प्रकार **बृहस्पतिः**=वह बड़ी-बड़ी शक्तियों का स्वामी परमेश्वर **स्थिविभ्यः**=स्थिर, **पर्वतेभ्यः**=और पालक शक्तियोंवाले सूर्यादि पदार्थों से जीवनशक्ति के तत्त्वों को **गाः निरूपे**=अनेक भूमियों के प्रति ऐसे फेंकाता है जैसे भूमियों पर जौ छिटकाता हो। ये भूमियाँ **साधु-अर्याः**=जो कि उत्तम स्वामियों और वैश्यजनों से युक्त हैं, विद्वान् अतिथि जिनमें नेता का कार्य हैं, जो कि अन्न से भरपूर हैं **स्पार्हाः**=चाहने योग्य, **सु-वर्णाः**=उत्तम वर्णवाली, **अनवद्य-रूपाः**=तथा अनिन्दनीय रूपवाली हैं।

भावार्थ—कृषक परिश्रम पूर्वक अन्नोत्पादन करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परमेश्वर ज्ञानदाता

आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥

बृहस्पतिः=वेदवाणी का विद्वान् सत्पात्र को **मधुना**=ज्ञानमय मधु से **आ-प्रुषायन्**=इस प्रकार पूर्ण करता है जैसे मेघ **ऋतस्य योनिम्**=जलाशय को **मधुना**=जल से पूर्ण करता है। वह **अर्कः**=स्तुतियोग्य उपदेष्टा सत्पात्र को ज्ञान का प्रकाश इस प्रकार देता है जैसे **अर्कः द्यौः उल्काम् अवक्षिपन् इव**=विद्युत् आकाश से चमकती धाराओं को नीचे डालती हैं। वह विद्वान् **अश्मनः**=सर्वव्यापक प्रभु की **गाः**=वेदवाणियों को इस प्रकार **उत् हरन्**=उदारता से प्रदान करता है जैसे **अश्मनः गाः**=विशाल पर्वत से जल की धाराओं को वा मेघ से आती जलधाराओं को बड़ी उदारता से प्राप्त किया जाता है। जिस प्रकार **उद्ना**=जलधारा के निमित्त **भूम्याः**=भूमि के **त्वचम्**=ऊपर के आवरण-पृष्ठ को कोई इंजिनियर पाटता है और नहर बना लेता है उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी **भूम्याः**=ज्ञानधारण के योग्य उत्तम भूमिरूप शिष्य के **त्वचम्**=अज्ञानावरण को **मधुना**=ज्ञान से **वि बिभेद**=विविध प्रकारों से दूर करे।

भावार्थ—विज्ञजन विद्यार्थियों को प्रेम से विद्यादान करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अज्ञान के नाश का उपदेश

अप॒ ज्योति॑षा॒ तमो॑ अ॒न्तरि॑क्षादु॒द्नः शीपा॑लमिव॒ वात॑ आजत्।
बृह॒स्पति॑रनु॒मृश्या॑ व॒लस्या॒भ्रमि॑व॒ वात॒ आ च॑क्र॒ आ गाः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार सूर्य **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से **ज्योतिषा**=प्रकाश द्वारा **तमः**=अन्धकार को **अप आजत्**=दूर करता है और जिस प्रकार **वातः**=तीव्र वायु **उद्नः**=जल के पृष्ठ पर से **शीपालम् इव**=सेवार या काई के आवरण को दूर करता है और जिस प्रकार **वातः**=वेगवाला वायु **अभ्रम् इव अप**=मेघ को दूर करता है, उसी प्रकार गुरु **ज्योतिषा**=ज्ञान के प्रकाश से **अन्तरिक्षात्**=अपने शासन में स्थित शिष्य से **तमः**=अज्ञानान्धकार को **अप आजत्**=दूर करता है और **बृहस्पतिः**=ज्ञानवाणी का पालक गुरु बलस्य आवरणकारी अज्ञान की मात्रा का **अनु-मृश्य**=बलाबल विचार कर तदनुसार **आ चक्रे**=वेदवाणियों का उपदेश करता है।

भावार्थ—गुरु शिष्य के अज्ञानावरण को हटाकर ज्ञान से प्रकाशित करता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान प्राप्ति का उपदेश

य॒दा व॒लस्य॒ पीय॑तो॒ जसुं॒ भेद्॒ बृह॒स्पति॑रग्नि॒तपो॑भिर॒र्कैः।
द॒द्भिर्न॑ जि॒ह्वा परि॑विष्ट॒माद॑दा॒विर्नि॒धीँर॑कृणोदु॒स्रिया॑णाम् ॥ ६ ॥

वेदवाणी का पालक ज्ञानी पुरुष नाशकारी अज्ञान के विनाशक प्रभाव को छिन्न-भिन्न कर, अग्नि के तुल्य प्रकाशवाले **अर्कैः**=अर्चनायोग्य वेद मन्त्रों द्वारा ही **परि-विष्टम्**=सर्वव्यापक प्रभु का **आदत्**=ग्रहण करे, उसका ज्ञान प्राप्त करे, और **उस्रियाणां निधीन्**=वाणियों के परमविधि रूप **अकृणोत्**=नाना शिष्यों को वेदनिधि बनावे।

भावार्थ—आचार्य शिष्यों को वेदवित् बनावे।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणियों से गुह्य ज्ञान करने का उपाय

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्त्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्॥ ७॥

बृहस्पतिः=वेदवाणियों का पालक विद्वान् **स्वरीणां**=स्वरपूर्वक शब्दोच्चारण से गाने योग्य **आसां**=इन वेदवाणियों के **त्यत् नाम अमत**=उस स्वरूप को भी जान लेता है, **यत् गुहा**=जो कि गुहा अर्थात् बुद्धि के भीतर चिन्तनीय रूप से होता है। **यत्**=जिस प्रकार **शकुनस्य आण्डा इव भित्वा**=पक्षी के अण्डों को फोड़कर गर्भरूप बच्चा प्रकट होता है उसी प्रकार **बृहस्पतिः**=वेद का विद्वान् **त्मना**=अपने आत्मसामर्थ्य से **शकुनस्य**=शक्तिशाली प्रभु के **आण्डा भित्त्वा**=अनेक ब्रह्माण्डों का अवयवशः ज्ञान करके, **पर्वतस्य**=सबके पालक प्रभु के **गर्भम्**=जगत् के ग्रहण करने के सामर्थ्य को जाने और **उस्त्रिया**=जलधाराओं के तुल्य वा गौओं के तुल्य ज्ञान-रसधारा प्रदान करनेवाली वाणियों को **उत् आजत्**=प्राप्त करे।

भावार्थ—वेदज्ञ रहस्यमयी विद्या को बुद्धि से जाने।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान द्वारा मुक्त होने का उपदेश

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥ ८॥

दीने उदनि=अल्प जल में **क्षियन्तं मत्स्यं न**=रहते हुए मत्स्य के समान व्याकुल **मधु**=उस मधुर रसवान् आत्मा को, ज्ञानी पुरुष **अश्ना अपिनाद्धम्**=सुख दुःखों के भोगप्रद देह के साथ बंधा हुआ **परि अपश्यत्**=देखता है। **वृक्षात् चमसं न**=वृक्ष से खाने योग्य फल के समान **तत्**=उसको वह **विरवेण**=विशेष शब्दमय ज्ञानभण्डार वेद वा ओंकार-नाद से **वि-कृत्य**=विशेष साधना करके बंधे बन्धन को काट कर अपने को **निर्जभार**=मुक्त कर ले।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष वेद से योग से संसार बन्ध से मुक्त हों।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्म-विवेचन का उपदेश

सोषामविन्दत्स स्वऽः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार॥ ९॥

सः=वह साधक **उषाम्**=अपने साधनामार्ग में, प्रभातवेला के तुल्य पापमल को भस्म कर देनेवाली ऋतम्भरा, ज्योतिष्मती, विशोका प्रज्ञा को **अविन्दत्**=प्राप्त करे। **सः स्वः**=वह सूर्यवत् तेजोमय आत्मा को प्राप्त करे। **सः अग्निम्**=वह अग्नि के तुल्य स्वयं प्रकाश रूप आत्मा को प्राप्त करे। **सः**=वह **अर्केण**=मन्त्ररूप ज्ञान के प्रकाश से अन्धकार के तुल्य **तमांसि वि बबाधे**=अनेक अन्धकारों को विनष्ट करे। **बृहस्पतिः**=बड़े भारी व्रत वा शक्ति का पालन करनेवाला विद्वान् **गो वपुषः**=इन्द्रियों के सहित देहरूप में बने **वलस्य**=आत्मा को आवरण करनेवाले इस काय-बन्धन के **पर्वणः**=एक-एक पोरु में से अपने बद्ध आत्मा को **मज्जानं न निः जभार**=ऐसे अलग करे जैसे पोरु-पोरु में से मज्जा धातु को वा **वलस्य पर्वणः**=फल को घेरनेवाली गाँठ वा गुठली वा

अखरोट में से मींगी को निकाल लेते हैं।

भावार्थ—साधक योग से जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अननुकृत्यम्

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः॥ १०॥

हिमा इव पर्णा=हेमन्त काल जिस प्रकार वृक्ष के पत्तों को झाड़ देता है उसी प्रकार **बृहस्पतिना**=उस महान् शक्ति से **वनानि मुषिता**=नाना भोगबन्धन वा वनों के समान उच्छेद्य बन्धन दूर किये जायें। **वलः**=आवरणकारी यह देह-बन्धन उस समय **गाः**=आत्मा की शक्तियों और इन्द्रियसामर्थ्यों को भी **अकृपयत्**=त्याग देता है। साधक ऐसी साधना करे कि वह **अपुनः अननुकृत्यम्**=पुनः जन्म-मरण में न फँसे और फिर दूसरी बार उसे बन्धन काटने का उद्योग न करना पड़े। **यात्**=जब तक भी **सूर्यमासाः मिथः उत् चरातः**=सूर्य और चन्द्र, दिन और रात्रि उदय हों, अर्थात् यावच्चन्द्रदिवाकरौ पुनः फिर-फिर यत्न न करना पड़े।

भावार्थ—आत्मज्ञानी पुरुष योगाभ्यास द्वारा अपनी आत्मा को शक्तिशाली बनायें और अपने जीवन में सूर्य व चन्द्र का साथ-साथ उदय करनेवाले हों, मस्तिष्क में 'ज्ञानसूर्य' का, मन में 'प्रसाद चन्द्र' का।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अभि अपिंशन्

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ ११॥

(१) **पितरः**=रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले लोग **द्याम्**=अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक को **नक्षत्रेभिः**=विज्ञान के नक्षत्रों से **अभि अपिंशन्**=सर्वतः दीप्त करते हैं, सुशोभित करते हैं, **न**=उसी प्रकार जैसे कि **श्यावम्**=गतिशील, खूब तीव्र गतिवाले **अश्वम्**=घोड़े को **कृशनेभिः**=सुवर्ण के बने आभूषणों से अलंकृत करते हैं, इसकी काठी आदि को स्वर्ण से मण्डित करके इसकी शोभा को बढ़ाते हैं। (२) ये पितर अपने जीवनों में **रात्र्याम्**=रात्रि के साथ ही **तमः**=तमोगुण व अन्धकार को **अदधुः**=धारण करते हैं, उस समय ये सुषुप्ति में होते हैं और तमोगुण की प्रधानता के कारण गाढ़निद्रा का अनुभव करते हैं। **अहन्**=दिन में ये **ज्योतिः**=प्रकाश को धारण करते हैं। इस समय सत्त्वगुण की प्राधनता के कारण इनके सब कर्म सात्त्विक होते हैं। और ये सारे दिन को पूर्ण चेतनता के साथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में बिताते हैं। इस प्रकार ये रात्रि को अपने लिये रमयित्री तथा दिन को **अहन्**=एक भी क्षण जिसका नष्ट नहीं किया गया (अ+हन्) ऐसा बनाते हैं। (३) **बृहस्पतिः**=उल्लिखित प्रकार से जीवन को बनाता हुआ बृहस्पति **अद्रिम्**=वासना पर्वत को **भिनद्**=विदीर्ण करता है और **गाः**=द्युलोक को विज्ञान क्षेत्रों से दीप्त करें।

भावार्थ—हम रात्रि में सुषुप्ति का आनन्द लें, दिन में ज्योति का। वासना को नष्ट करके इन्द्रियों को सशक्त बनायें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गो-अश्व-वीर-नर

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्॥ १२ ॥

(१) **अभ्रियाय**=(अभ्रेषु भवाय) द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में होनेवाले बादलों के स्थान में होनेवाले, अर्थात् सदा अन्तरिक्ष में, मध्यमार्ग में चलनेवाले बृहस्पति के लिये **इदं नमः अकर्म**=इस नमस्कार को करते हैं। ऐसे व्यक्ति का, जो अति को छोड़कर सदा मध्यमार्ग को अपनाता है, हम सत्कार करते हैं। **यः**=जो बृहस्पति **पूर्वीः**=जीवन का पूरण करनेवाले ऋचाओं को **अनु आनोनवीति**=प्रतिदिन खूब ही उच्चारण करता है। इन ऋचाओं का उच्चारण करता हुआ उनके अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करता है। (२) **स बृहस्पतिः**=वह ज्ञान का रक्षक व्यक्ति **नः**=हमारे में से **हि**=निश्चयपूर्वक **गोभिः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों के साथ **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **धात्**=धारण करता है। **सः**=वह **अश्वैः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों के साथ उत्तम जीवनवाला होता है। **स**=वह **वीरेभिः**=वीर-सन्तानों के साथ सुन्दर जीवनवाला होता है। **स नृभिः**=वह उत्तम नर मनुष्यों के साथ, उत्तम मनुष्यों की मित्रता में प्रशस्त जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम मध्यमार्ग में चलें, ऋचाओं का उच्चारण करते हुए तदनुकूल जीवनवाले हों। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्रशस्त हों। सन्तान वीर हों, साथी प्रगतिशील हों।

सूक्त का प्रारम्भ बृहस्पति की इस आराधना से हुआ था कि (क) शक्ति वृद्धि रक्षण के द्वारा हमारे आयुष्य की वृद्धि हो, (ख) हमारी इन्द्रियाँ सशक्त बनी रहें, (ग) जीवन उल्लासमय हो, (१) समाप्ति पर यही भाव है कि बृहस्पति सदा मध्यमार्ग में चलता हुआ प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होता है, वीर सन्तानों को प्राप्त करता है, इसके साथी भी प्रगतिशील होते हैं, (१५) इस प्रकार यह 'सुमित्र'=उत्तम मित्रोंवाला व उत्तमता से रोगों व पापों से अपने को बचानेवाला होता है (प्रमीतेः त्रायते) तथा 'वाध्र्यश्व'=संयम रज्जु से बद्ध इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। यह 'सुमित्र वाध्र्यश्व' निम्न प्रकार से जीवन को बिताता है—

षष्ठोऽनुवाकः

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वध्र्यश्व (संयम रज्जुवाला)

भद्रा अग्नेर्वध्र्यश्वस्य सन्दृशो वामी प्रणीतिः सुरणा उपेतयः।
यदीं सुमित्रा विशो अग्र इन्धते घृतेनाहुतो जरते दविद्युतत्॥ १ ॥

(१) **अग्नेः**=प्रगतिशील **वध्र्यश्वस्य**=संयम रज्जु से बद्ध इन्द्रियाश्ववाले पुरुष की **संदृशः**=दृष्टियाँ **भद्राः**=भद्र होती हैं। इसका दृष्टिकोण ठीक व कल्याण कर ही होता है। दृष्टिकोण की भद्रता का ही परिणाम है कि **प्रणीतिः**=इसका कार्यों के प्रणयन का मार्ग **वामी**=सुन्दर ही सुन्दर होता है। यह प्रत्येक कार्य को सुचारुरूपेण करता है। इसके **उपेतयः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के प्रति उपगमन **सुरणाः**=(शोभनरमणाः सा०) उत्तम आनन्द को लिये हुए होते हैं, अर्थात् यह यज्ञादि कर्मों में आनन्दपूर्वक प्रवृत्त होता है। (२) **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सुमित्राः विशः**=अपने को पापों व रोगों से बचानेवाली प्रजाएँ **अग्रे**=सबसे पूर्व **इन्धते**=प्रभु रूप अग्नि का अपने में समिन्धन

करती हैं, तो **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति के द्वारा (घृ क्षरणदीप्त्योः) **आहुतः**=आत्मार्पण किया गया वह प्रभु **दविद्युतत्**=खूब दीप्त होता हुआ, हृदय में प्रकाश के रूप से चमकता हुआ, **जरते**=स्तुत होता है। 'सुमित्र' अपने पापों व रोगों को नष्ट करके, निर्मलता व ज्ञानदीप्ति का सम्पादन करके, प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करता है। इसके हृदय में प्रभु का खूब ही प्रकाश होता है और सुमित्र प्रभु का सतत स्तवन करता है।

भावार्थ—संयमी पुरुष का दृष्टिकोण उत्तम होता है, कार्य करने का तरीका सुन्दर होता है, यज्ञादि में प्रसन्नता से यह प्रवृत्त होता है। यह संयमी निर्मलता व ज्ञानदीप्ति के द्वारा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, प्रभु के प्रकाश को देखता है और उसका सतत स्तवन करता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'घृतम् आयुः'

घृतमग्नेर्वध्र्यश्वस्य वर्धनं घृतमन्नं घृतम्वस्य मेदनम्।
घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्यइव रोचते सर्पिरासुतिः ॥ २ ॥

(१) **वध्र्यश्वस्य**=संयम रूप रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले **अग्नेः**=प्रगतिशील पुरुष का **घृतम्**=घृत **वर्धनम्**=वृद्धि का कारण होता है। 'घृतम् आयुः'='घृत जीवन है' इस तत्त्व को समझता हुआ यह वध्र्यस्व घृत को महत्त्व देता है, और घृत के उचित मात्रा में प्रयोग से यह अपना वर्धन करता है। 'घृत क्षरणदीप्त्योः' इस धातु के अनुसार यह घृत इसके मलों का क्षरण करनेवाला व इसकी बुद्धि को ज्ञानदीप्त करनेवाला होता है। **घृतं अन्नम्**=यह घृत ही इसका अन्न, इसका भक्षणीय हो जाता है। **उ**=और **घृतम्**=घृत ही **अस्य मेदनम्**=इसके शरीर में उचित मेदस् तत्त्व को लानेवाला बनता है। (२) यह वध्र्यश्व भोजन को भी एक यज्ञ का रूप देता है, जिसमें कि इसकी उदरस्थ वैश्वानराग्नि में घृत की आहुति पड़ती है। **घृतेन**=घृत से **आहुतः**=आहुत हुआ-हुआ यह **उर्विया विपप्रथे**=खूब ही विस्तृत होता है, इसकी शक्तियों का ठीक विस्तार होता है। यह **सर्पिरासुतिः**=जिसके लिये घृत का आसवन (=उत्पादन) किया जाता है वह वध्र्यश्व **सूर्य इव**=सूर्य के समान **रोचते**=चमकता है। पूर्ण स्वस्थ होने से इसका इस प्रकार चमकना स्वाभाविक ही है।

भावार्थ—वध्र्यश्व अपने भोजन में घृत की मात्रा के महत्त्व को समझता हुआ उसका ठीक प्रयोग करता है और सूर्य के समान चमकता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमित्र का स्तुत्यतर कार्य

यत्ते मनुर्यदनीकं सुमित्रः समीधे अग्ने तदिदं नवीयः।
स रेवच्छोच स गिरो जुषस्व स वाजं दर्षि स इह श्रवो धाः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **सुमित्रः**=यह पापों व रोगों से अपने को अच्छी तरह बचानेवाला पुरुष **यत्**=जो **ते**=तेरा **मनुः**=मनन करनेवाला बनता है और **यत्**=जो, इस मनन के द्वारा **अनीकम्**=बल को व रश्मिसंघ को **समीधे**=अपने में दीप्त करता है **तद् इदम्**=यह प्रभु के मनन के द्वारा अपने में बल व प्रकाश को दीप्त करना **नवीयः**=अत्यन्त प्रशंसनीय कर्म है। प्रभु का मनन करनेवाला प्रभु के बल व प्रकाश से युक्त होता ही है। (२) प्रभु इस सुमित्र से कहते हैं कि (क) **स**=वह तू **रेवत् शोच**=धनयुक्त होकर दीप्त होनेवाला हो। जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धन

की तुझे कमी न हो और तू दीप्त जीवनवाला बने। (ख) **स**=वह तू **गिरः जुषस्व**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाला बन वेदवाणियाँ तेरे ज्ञान को निरन्तर बढ़ायें तथा इनके द्वारा तू प्रभु का स्तवन करनेवाला बने। (ग) **स**=वह तू **वाजम्**=शत्रु के बल का **दर्षि**=विदारण कर, काम-क्रोधादि शत्रुओं के बल को जीतनेवाला हो। (घ) **स**=वह तू **इह**=यहाँ इस जीवन में **श्रवः**=यश को **धाः**=धारण कर। बड़ा मर्यादित जीवन बिताता हुआ तू यशस्वी जीवनवाला हो।

भावार्थ—'सुमित्र' प्रभु का मनन करता है, प्रभु के तेज से तेजस्वी बनता है। धनयुक्त दीप्त जीवनवाला, वेदवाणियों का मनन करनेवाला, कामादि शत्रुओं के बल का विदारण करनेवाला व यशस्वी होता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तिपाः तनूपाः

यं त्वा पूर्वमीळितो वध्र्यश्वः समीधे अग्ने स इदं जुषस्व।
स नः स्तिपा उत भवा तनूपा दात्रं रक्षस्व यदिदं ते अस्मे ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यं त्वा**=जिन आपको **ईडितः**=स्तुति करनेवाला (ईडितम् अस्य अस्ति) **वध्र्यश्वः**=संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाला पुरुष **पूर्वं समीधे**=सब से प्रथम, दिन के प्रारम्भ में ही अपने हृदयाकाश में समिद्ध करने का प्रयत्न करता है **स**=वे आप **इदम्**=इस मेरे स्तोत्र को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवित करिये यह मेरा स्तोत्र आपके लिये प्रिय हो। (२) **स**=वे आप **नः**=हमारे **स्तिपाः**=(पस्त्यरक्षकः) गृहों के रक्षक **भवा**=होइये। **उत**=और **तनूपाः**=हमारे शरीरों का भी रक्षण करिये। साथ ही **दात्रम्**=हमारे में दानवृत्ति को भी **रक्षस्व**=रखिये। हम सदा इस विचार को स्थिर रूप से धारण करें कि **यद् इदम्**=यह जो कुछ **अस्मे**=हमारे में है, वह **ते**=आपका ही है। आपके दिये हुए इस धन को हम सदा यज्ञात्मक कार्यों में देनेवाले हों। (३) आपकी कृपा से हमारे घरों का रक्षण हो, उनमें किसी प्रकार की अशुभवृत्तियों का प्रसार न हो जाए। हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त न हो जायें। तथा हमारे में दान की वृत्ति बनी रहे। यह वृत्ति ही तो लोभ को नष्ट करके पाप के मूल को ही उन्मूलित कर देती है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे घरों को अशुभ से बचाते हैं। हमें नीरोगता प्रदान करते हैं और हमारी दानवृत्ति को बनाये रखते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युम्नी गोपा

भवा द्युम्नी वाध्र्यश्वोत गोपा मा त्वा तारीदभिमातिर्जनानाम्।
शूरइव धृष्णुश्च्यवनः सुमित्रः प्र नु वोचं वाध्र्यश्वस्य नाम ॥ ५ ॥

(१) **वाध्र्यश्व**=हे संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले पुरुष! **द्युम्नी भवा**=तू ज्योतिर्मय हो। इन्द्रियों के संयम से तेरी ज्ञान की ज्योति चमके। **उत**=और **गोपाः**=इन्द्रियों व वेदवाणियों का तू रक्षक हो। इन्द्रियों को स्वस्थ बनाकर तू ज्ञानवाणियों का रक्षण करनेवाला बन। ऐसा बन जाने पर **जनानाम्**=सामन्यतः सब लोगों के अन्दर आ जानेवाली **अभिमातिः**=अभिमान की वृत्ति **त्वा मा तारीत्**=तुझे हिंसित करनेवाली न हो। द्युम्नी व गोपा बन जाने का तुझे अभिमान न हो जाए। (२) **शूरः इव**=जैसे एक शूर पुरुष संग्राम में शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है, इसी प्रकार तू **धृष्णुः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का धर्षक हो। **च्यवनः**=(च्यु to couse to go

away) कामादि शत्रुओं का दूर भगानेवाला तू **सुमित्रः**=बड़ी उत्तमता से रोगों व पापों से अपने को बचानेवाला हो। (३) सुमित्र बन करके यह निश्चय कर कि मैं **वाध्र्यश्वस्य**=संयमी पुरुष को प्राप्त होनेवाले प्रभु के (वध्र्यश्वस्य अयं वाध्र्यश्वः) **नाम**=नाम को **नु**=निश्चय से **प्रवोचम्**=प्रकर्षेण उच्चारित करूँ, मैं प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला बनूँ, प्रभु को ही अपने संयम आदि गुणों का कारण समझूँ। तभी तो मैं उनके अभिमान से बच सकूँगा।

भावार्थ—हम ज्योतिवाले व जितेन्द्रिय बनें। पर इन उत्तमताओं को प्रभु कृपा से होता हुआ जावें, और इनका गर्व न करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अज्र्या पर्वत्या वसूनि

समज्र्या पर्वत्या३ वसूनि दासा वृत्राण्यार्या जिगेथ।
शूरइव धृष्णुश्च्यवनो जनानां त्वमग्ने पृतायूँरभि ष्याः ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अज्र्या**=कृषि से उत्पन्न होनेवाले (अज्र्य=agriculture से होनेवाले) तथा **पर्वत्या**=पर्वतों से उत्पन्न होनेवाले, पर्वतस्थ वनों, पत्थरों व कानों (mines) से उत्पन्न होनेवाले **वसूनि**=निवास के लिये आवश्यक धनों को **संजिगेथ**=सम्यक् विजय करता है तथा **दासा आर्या**=दासों व आर्यों किन्हीं से भी उत्पादित **वृत्राणि**=उपद्रवों को भी जीतनेवाला होता है। किसी से भी किये गये विघ्न को दूर करके तू वसुओं का विजय करता है। इन वसुओं के द्वारा तू अपने जीवन को सुन्दर बनाता है। इन वसुओं का विजय तू कृषि आदि श्रम साध्य कर्मों से ही करता है। (२) **शूर इव धृष्णुः**=एक शूर पुरुष की तरह उन्नति में विघ्नभूत काम-क्रोधादि का तू धर्षण करता है **च्यवनः**=इन शत्रुओं को दूर भगानेवाला होता है। **जनानाम्**=लोगों में जो भी पुरुष **पृतनायून्**=सेना बनकर आक्रमण करनेवाले हैं उनको, हे अग्ने! **त्वम्**=तू **अभिष्याः**=अभिभूत कर, पराजित करनेवाला हो। आन्तर शत्रुओं का विजय करनेवाला बाह्य शत्रुओं को अवश्य अभिभूत कर पाता है।

भावार्थ—हम श्रम से वसुओं का अर्जन करें। काम-क्रोधादि को जीतकर बाह्य शत्रुओं को भी पराजित करनेवाले हों।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युमत्सु द्युमान्

दीर्घतन्तुर्बृहदुक्षायमग्निः सहस्रस्तरीः शतनीथ ऋभ्वा।
द्युमान्द्युमत्सु नृभिर्मृज्यमानः सुमित्रेषु दीदयो देवयत्सु ॥ ७ ॥

(१) **अयं अग्निः**=यह प्रगतिशील जीव **दीर्घतन्तुः**=विस्तृत यज्ञरूप कर्मतन्तुवाला होता है, अर्थात् इसके यज्ञों का तार कभी टूटता नहीं। **बृहद् उक्षा**=यह बड़ा सेचन करनेवाला बनता है। शरीर में भोजन से उत्पन्न सोमशक्ति को शरीर में ही सिक्त करता है, इसे नष्ट नहीं होने देता। शरीर में सिक्त हुई-हुई यह शक्ति शरीर की वृद्धि का कारण बनती है। (२) बढ़ी हुई शक्तिवाला यह **अग्निं सहस्रस्तरीः**=हजारों को आच्छादित करनेवाला होता है, शतशः पुरुषों का रक्षण करनेवाला होता है। **शतनीतः**=सौ के सौ वर्ष तक सदा इस उत्तम मार्ग से अपने को ले चलता है और इस प्रकार **ऋभ्वा**=महान् बनता है अथवा 'उरुभाति' खूब देदीप्यमान होता है। **द्युमत्सु**=ज्योतिर्मय पुरुषों में भी **द्युमान्**=खूब प्रशस्त ज्योतिवाला होता है। (३) इसके ज्योतिर्मय बनने का

रहस्य इस बात में है कि यह **नृभिः**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले 'माता, पिता, आचार्य' आदि से **मृज्यमानः**=खूब शुद्ध किया जाता है। माता इसे चरित्रवान् बनाती है, तो पिता इसे शिष्टाचार की शिक्षा देते हैं और आचार्य इसे ज्ञान-ज्योति से परिपूर्ण करने के लिये यत्नशील होते हैं। इस प्रकार इन सब से शुद्ध जीवनवाला बनाया जाता हुआ यह **सुमित्रेषु**=अपने को रोगों व पापों से बचानेवाले **देवयत्सु**=उस महान् देव प्रभु को प्राप्त करने की कामनावालों में भी यह **दीदयः**=विशिष्ट रूप से दीप्त होता है। 'सुमित्र' व 'देवयन्' पुरुषों में भी इसका स्थान विशिष्ट होता है।

भावार्थ—माता, पिता व आचार्य से शुद्ध किये गये जीवनवाले हम, 'चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान' से सम्पन्न होकर, श्रेष्ठ पुरुषों में भी श्रेष्ठ बनें, हमारा जीवन चमक उठे।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुदुघा धेनु

त्वे धेनुः सुदुघा जातवेदोऽसश्चतेव समना सबर्धुक्।
त्वं नृभिर्दक्षिणावद्भिरग्ने सुमित्रेभिरिध्यसे देवयद्भिः ॥ ८ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **त्वम्**=आप **सुदुघा धेनुः**=उत्तमता से दोहन योग्य गौ के समान हैं। जैसे सुखदोह्य गौ दूध को प्राप्त कराती है, इसी प्रकार आप ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करानेवाले हैं। **असश्चतास्व**=(सश्च=to eling) अनासक्तरूप से आप **समना**=सम्यक् प्राणित व चेष्टित करनेवाले हैं, **सबर्धुक्**=ज्ञानदुग्ध का पूरण करनेवाले हैं। प्रभु प्रेरणा देकर क्रिया में प्रवृत्त तो करते हैं कि 'यह करो', परन्तु हम नहीं करते तो क्रोध में आकर 'तुमने यह क्यों नहीं किया?' इस प्रकार झिड़कने नहीं लगते। 'यह करो' इस रूप में प्रेरणा ही करते रहते हैं। (२) **अग्ने त्वम्**=हे प्रभो! आप **नृभिः**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवालों से, **दक्षिणावद्भिः**=त्याग की वृत्तिवालों से **सुमित्रेभिः**=अच्छी प्रकार अपने को पापों व रोगों से बचानेवालों से तथा **देवयद्भिः**=अपने को दिव्यगुणों से युक्त करने की कामनावालों से **इध्यसे**=दीप्त किये जाते हो। आपको 'नर, दक्षिणावान्, सुमित्र व देवयन्' पुरुष ही प्राप्त करते हैं। आपकी ज्योति को ये ही अपने हृदयों में देख पाते हैं। इन्हीं को आपकी प्रेरणा ठीक प्रकार से सुनाई पड़ती है।

भावार्थ—प्रभु सुदुधा धेनु के समान ज्ञानदुग्ध को देनेवाले हैं। उन्हें 'सुमित्र' ही हृदयों के अन्दर देख पाते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की महिमा का उच्चारण

देवाश्चित्ते अमृता जातवेदो महिमानं वाध्र्यश्व प्र वोचन्।
यत्सम्पृच्छं मानुषीर्विश आयन्त्वं नृभिरजयस्त्वावृधेभिः ॥ ९ ॥

(१) हे **वाध्र्यश्व**=संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले पुरुष के हित करनेवाले (वध्र्यश्वाय हितः=वाध्र्यश्वः) **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ते चित् देवाः**=वे निश्चय से देव बनते हैं जो कि **महिमानं प्रवोचन्**=आपकी महिमा का प्रकर्षेण उच्चारण करते हैं। प्रभु का स्मरण करनेवाले व्यक्ति ही, मार्गभ्रष्ट होने से बचकर, लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए उस परमदेव के सदृश देव बन पाते हैं। (२) **यत्**=जब **मानुषीः विशः**=ये मननशील प्रजायें **संपृच्छम्**=(संप्रश्नम्) सम्यक्तया जिज्ञास्य आपको **आयन्**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् आपके विषय में ही परस्पर चर्चा करती हुई जीवनयात्रा में चलती हैं तो **त्वम्**=आप ही इन **त्वावृधेभिः**=आपका वर्धन करनेवाली, आपकी

महिमा का स्तवन करनेवाली **नृभिः**=प्रजाओं के साथ **अजयः**=इनके काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराजित करते हैं। प्रभु का स्तवन व वर्धन करनेवाली प्रजायें काम-क्रोधादि शत्रुओं से कभी आक्रान्त नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु की महिमा का गायन करते हुए लोग देव बनते हैं, जहाँ प्रभु की चर्चा चलती है वहां वासनाएँ नहीं फटकती।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता प्रभु की गोद में

पितेव पुत्रमबिभरुपस्थे त्वामग्ने वध्र्यश्वः सपर्यन्।
जुषाणो अस्य समिधं यविष्ठोत पूर्वां अवनोर्व्राधतश्चित्॥ १०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप संयमी पुरुष को (वध्र्यश्व को) इस प्रकार **उपस्थे**=गोद में **अविभः**=धारण करते हैं, **इव**=जैसे **पिता पुत्रम्**=पिता पुत्र को। संयमी पुरुष उस पिता प्रभु का प्रिय पुत्र होता है। और यह **वध्रयश्वः**=संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाला पुरुष, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वाम्**=आपको **सपर्यन्**=पूजता हुआ होता है। वस्तुतः आपके पूजन के द्वारा ही यह इन्द्रियों का संयम कर पाता है। (२) हे **यविष्ठ**=बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को हमारे साथ संपृक्त करनेवाले प्रभो! **अस्य**=इस संयमी पुरुष की **समिधम्**=ज्ञानदीप्ति को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए, अर्थात् ज्ञान के कारण इस से प्रसन्न होते हुए आप **उतपूर्वान्**=अत्यन्त पुराणे भी, अर्थात् जो दृढ़मूल से हो गये हैं ऐसे भी **व्राधतः चित्**=उन्नति के मार्ग में बाधक बनते हुए शत्रुओं को **अवनोः**=आप नष्ट करते हैं (अवधीः=सा०)। संयम से ज्ञान की वृद्धि होती है, ज्ञानवृद्धि से हम प्रभु के प्रिय बनते हैं और हमारे कामादि शत्रुओं का संहार होता है।

भावार्थ—संयमी पुरुष प्रभु का सच्चा पुत्र है। यह प्रभु का प्रिय होता है, प्रभु इसके काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुतसोमवान् नरों का सम्पर्क

शश्वदग्निर्वध्र्यश्वस्य शत्रून्नृभिर्जिगाय सुतसोमवद्भिः।
समनं चिददहश्चित्रभानोऽव व्राधन्तमभिनद् वृधश्चित्॥ ११॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **शश्वत्**=सदा **वध्रयश्वस्य**=संयम रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले पुरुष के **शत्रून्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को **सुतसोमवद्भिः**=प्रशस्त उत्पन्न सोमवाले, अर्थात् शरीर में आहार से रस-रुधिरादि क्रम में उत्पन्न सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखनेवाले **नृभिः**=माता, पिता व आचार्य आदि उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले पुरुषों से **जिगाय**=पराजित करता है। प्रभु कृपा से इस वध्र्यश्व को उत्तम संयत जीवनवाले माता, पिता व आचार्य का सम्पर्क प्राप्त होता है। इनके सम्पर्क में इस वध्र्यश्व को भी संयमी जीवनवाला बनने में सहायता मिलती है। (२) हे चित्रभानो! अद्भुत दीप्तिवाले प्रभो! आप **समनं चित्**=(सं अनम्) अत्यन्त चेष्टायुक्त, अर्थात् अत्यन्त प्रबल भी क्रोधादि के **अदहः**=भस्मसात् कर देते हैं। **वृधः**=अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हुए-हुए आप **व्राधन्तं चित्**=बाधक शत्रुओं को **अवाभिनत्**=सुदूर विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें जितेन्द्रिय माता, पिता व आचार्य प्राप्त होते हैं। उनके शिक्षण

से हम भी संयमी जीवनवाले होते हैं और प्रबल भी काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विदारण करने में समर्थ होते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नमसा उपवाक्यः

अयमग्निर्वध्र्यश्वस्य वृत्रहा सनकात्प्रेद्धो नमसोपवाक्यः।
स नो अजामीँरुत वा विजामीनभि तिष्ठ शर्धतो वाध्र्यश्व ॥ १२ ॥

(१) **अयं अग्निः**=यह अग्रेणी प्रभु **वध्र्यश्वस्य**=संयम रज्जु से अपने को बाँधनेवाले पुरुष के **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत (=वृत्र) वासना का विनाश करनेवाला होता है (हा)। **प्रेद्धः**=हृदयदेश में चिन्तन के द्वारा समिद्ध किया हुआ यह प्रभु **सनकात्**=सनातन काल से **नमसा उपवाक्यः**=नमन के द्वारा समीपता से स्तुति के योग्य होता है संयमी पुरुष हृदय में प्रभु का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है, उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है, उसका स्तवन करता है। प्रभु इस संयमी पुरुष के वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं। (२) हे **वाध्र्यश्व**=संयमी पुरुष को अपना ही रूप समझनेवाले प्रभो! **स**=वे आप **नः**=हमारे **अजामीन्**=शत्रुभूत कामादि को **उत वा**=तथा **शर्धतः**=हमारा हिंसन करनेवाले **विजामीन्**=विविध बन्धुओं को भी **अभितिष्ठ**=अभिभूत करनेवाले होइये। हमें पराये व अपने किसी से भी हिंसित न होने दीजिये।

भावार्थ—संयमी पुरुष प्रभु का स्तवन करता है, प्रभु इसके कामादि शत्रुओं का विनाश करते हैं। यह संयमी पुरुष प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय होता है और प्रभु इसके पराये व अपने सभी हिंसकों को अभिभूत करते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि संयमी पुरुष का दृष्टिकोण उत्तम होता है, (१) अन्त में कहते हैं कि यह सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला होता है, (१२) अगले सूक्त में भी सुमित्र यही कहता है कि, 'मेरी ज्ञानदीप्ति मुझे आपका प्रिय बनाये'—

[७०] सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वेदज्ञान व देवयज्ञ

इमां मे अग्ने समिधं जुषस्वेळस्पदे प्रति हर्या घृताचीम्।
वर्ष्मन्पृथिव्याः सुदिनत्वे अह्नामूर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या ॥ १ ॥

(१) प्रभु सुमित्र से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **मे**=मेरी **इमाम्**=इस **समिधम्**=वेदज्ञान के रूप में दी गई ज्ञानदीप्ति को **जुषस्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला बन। इस **घृताचीम्**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति की साधनभूत वेदवाणी को **इडस्पदे**=इस वाणी के स्थान में **प्रति हर्या**=प्रतिदिन प्राप्त करने की कामना कर। वाणी से इसका उच्चारण करता हुआ इसे अपनानेवाला बन। इस ज्ञान को अपनाने से तू सचमुच अपने मलों को दूर करके दीप्त हो उठेगा। उस समय 'अग्नि' यह तेरा नाम सार्थक हो जाएगा, तू सचमुच अपने को आगे प्राप्त करा रहा होगा। (२) **पृथिव्याः वर्षान्**=इस पृथिवी के पृष्ठ पर (वर्षान्=surface) **अह्नां सुदिनत्वे**=दिनों के शुभ बनाने के निमित्त **ऊर्ध्वो भव**=तू उठ खड़ा हो। सोया न रह जा। हे **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञा व उत्तम कर्मोंवाले जीव! तू **देवयज्या**=देवयज्ञ आदि के हेतु से पुरुषार्थवाला हो। इन देवयज्ञ आदि उत्तम कर्मों से ही तो तू अपने दिन को शुभ बना पायेगा। तू पुरुषार्थवाला हो, तेरे पुरुषार्थ यज्ञ

आदि उत्तम कर्मों में प्रकट हो।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि (क) ज्ञान को प्राप्त करो और (ख) यज्ञादि उत्तम कर्मों में जीवन को व्याप्त करो।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-स्तवन

आ देवानामग्रयावेह यातु नराशंसो विश्वरूपेभिरश्वैः।
ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत् ॥ २ ॥

(१) सुमित्र प्रार्थना करता है कि **देवानां अग्रयावा**=देवों के अग्र स्थान में गति करनेवाला, अर्थात् देवों का अधिपति प्रभु **इह**=इस हमारे हृदय में **आयातु**=आये। वह प्रभु जो कि **नराशंसः**= मनुष्यों से शंसनीय व स्तुति करने योग्य है। जीवन में उन्नति का मार्ग यही है कि हम प्रातः उठने पर हृदय में प्रभु का ध्यान करें। प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के गुणों को धारण करने का प्रयत्न करें। (२) (क) **विश्वरूपेभिः**=सम्पूर्ण विश्व का निरूपण करनेवाली, इस ब्रह्माण्ड में 'आदित्य-समुद्र-पर्वत' आदि विभूतियों का विचार करनेवाली, **अश्वै**=इन्द्रियों से वे प्रभु **मियेधः**=संगतिकरण योग्य हैं। जब इन्द्रियों से इस ब्रह्माण्ड में हम प्रभु की महिमा को देखेंगे तभी प्रभु के आभास को प्राप्त करके उस प्रभु से मिलनेवाले होंगे। (ख) **ऋतस्य पथा**=ऋत के मार्ग से वे प्रभु (मियेधः=) मिलने योग्य हैं। प्रभु से हमारा मेल तभी होगा जब कि हम ऋत के मार्ग का अनुसरण करेंगे। सब कार्यों को ठीक समय पर करते हुए हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। (ग) **नमसा**=नमन के द्वारा प्रभु (मियेधः) मिलने योग्य हैं। प्रातः-सायं प्रभु के चरणों में नतमस्तक होते हुए हम प्रभु के अधिकाधिक समीप आते चलते हैं। (३) ये प्रभु **देवतमः**=सर्वमहान् देव हैं, 'देवानामग्रयावा' हैं। ये **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों के लिये **सुषूदत्**=सब प्रकार के मलों का क्षरण करनेवाले होते हैं। शरीर से मलों का क्षरण करके ये हमें स्वास्थ्य प्रदान करते हैं, मनों के मल का क्षरण करके हमें राग-द्वेषातीत निर्मल मन प्राप्त कराते हैं और बुद्धि को निर्मल करके हमें तत्त्वदर्शन के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रातः हृदयों में प्रभु का ध्यान करें। ये प्रभु ब्रह्माण्ड में प्रभु की विभूतियों का निरूपण करनेवाली इन्द्रियों से, ऋत के पालन से तथा नमन से प्राप्त होते हैं। हमारे मलों को दूर करके हमें 'देव' बनाते हैं।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का सन्देश

शश्वत्तममीळते दूत्याय हविष्मन्तो मनुष्यासो अग्निम्।
वहिष्ठैरश्वैः सुवृता रथेना देवान्वक्षि नि षदेह होता ॥ ३ ॥

(१) **हविष्मन्तः**=प्रशस्त हविवाले, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले, यज्ञ शेष का सेवन करनेवाले, **मनुष्यासः**=विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले मनुष्य (मत्वा कर्माणि सीव्यति) **शश्वत्तमम्**= उस सनातन **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **दूत्याय**=दूत कर्म के लिये, उससे ज्ञान सन्देश को प्राप्त करने के लिये, **ईडते**=उपासित करते हैं। प्रभु के उपासना 'हविष्मान् मनुष्य' बनने से ही होती है, 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'=उस आनन्दमय देव का हवि के द्वारा उपासन करें। (२) वे उपासित प्रभु हमें ज्ञान का सन्देश प्राप्त कराते हुए कहते हैं कि (क) **वहिष्ठैः**=अधिक से अधिक कर्त्तव्यों का

वहन करनेवाले **अश्वैः**=इन्द्रियाश्वों से तथा **सुवृता रथेन**=जिसमें प्रत्येक अंग शोभन है 'शोभनं वर्तते' उस शरीररूप रथ से तू **देवान् आवक्षि**=देवों को अपने में प्राप्त करानेवाला हो। तेरे हृदय में दिव्य भावों का निवास हो, ऐसा होने के लिये तू सदा कर्त्तव्य कर्मों में लगा रह तथा शरीर को स्वस्थ, सुन्दर व सबल बनाने का ध्यान कर। (ख) **इह**=इस जीवन में **होता**=होता बनकर **निषद**=आसीन हो। दानभाव तेरे में सदा बने रहे। देकर ही यज्ञशेष को खानेवाला बन।

भावार्थ—जब हम प्रभु का उपासन करते हैं तो प्रभु हमें यही ज्ञान का सन्देश देते हैं कि इन्द्रियों को कर्त्तव्य-कर्मों में व्याप्त रखो और संसार में होता बनकर चलो, यज्ञशेष का ही सेवन करो।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुरभि-जीवन

वि प्रथतां देवजुष्टं तिरश्चा दीर्घं द्राघ्मा सुरभि भूत्वस्मे।
अहेळता मनसा देव बर्हिरिन्द्रज्येष्ठाँ उशतो यक्षि देवान्॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम हृदयों में देवों को आसीन करते हैं तो यह **देवजुष्टम्**=देवों से, दिव्य भावनाओं से सेवित हृदय **तिरश्चा**=(तिरः अञ्चति) तिरोहितरूपेण रहकर सब गति करते हुए उस प्रभु से **विप्रथताम्**=विशिष्ट विस्तारवाला हो। जब हृदय में प्रभु का हम स्मरण करते हैं तो हृदय विशाल बनता ही है, 'हम सब उस एक प्रभु के पुत्र हैं' यह भावना हमें एक दूसरे के समीप लानेवाली होती है। (२) इस प्रकार हृदय के विशाल बनने पर **दीर्घं द्राघ्मा**=यह लम्बा जीवन का विस्तार **अस्मे**=हमारे लिये **सुरभि भूतु**=सुगन्धित हो। हम कभी इस जीवन में अपशब्दों को न बोलें। वस्तुतः अपशब्दों के प्रयोग का अभाव स्वयं दीर्घायुष्य का कारण बनता है 'सुरभि नो मुखा करत् प्रण आयूंषि तारिषत्'। (३) इस प्रकार प्रार्थना करनेवाले सुमित्र से प्रभु कहते हैं कि हे **देव**=दिव्यगुणों के अधिष्ठानभूत हृदयवाले! तू **अहेडता मनसा**=किसी से भी घृणा न करते हुए हृदय से **इन्द्रज्येष्ठान्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु जिनमें ज्येष्ठ हैं उन **उशतः**=हित की कामनावाले **देवान्**=सब देवों को **बर्हिः**=अपने वासनाशून्य हृदय में **यक्षि**=संगत कर। हम हृदय से घृणा व द्वेष को दूर करें, तभी यह हृदय 'बर्हिः' कहलायेगा, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है। इस मन में ही सब देवों के साथ परमदेव प्रभु अधिष्ठित होते हैं।

भावार्थ—हमारा हृदय प्रभु-स्मरण से विशाल बने। जीवन सुगन्धित हों तथा प्रभु व देवों को हम हृदय में आसीन करें।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्वारः=इन्द्रियाणिं

दिवो वा सानु स्पृशता वरीयः पृथिव्या वा मात्रया वि श्रयध्वम्।
उशतीर्द्वारो महिना महद्भिर्देवं रथं रथयुर्धारयध्वम्॥ ५॥

(१) 'अष्टचक्रा नवद्वारा०' आदि मन्त्रभागों में द्वार् शब्द इन्द्रियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इन इन्द्रियों के दो मुख्य विभाग हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों के लिये प्रार्थना करते हैं कि हे ज्ञानेन्द्रियरूप द्वारो! **दिवः**=ज्ञान के **वरीयः**=विशाल व उत्कृष्ट **सानु**=शिखर को **स्पृशता**=तुम छूनेवाले बनो। अर्थात् ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले होओ। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्कृष्ट ज्ञान

प्राप्ति का साधन बनें। (२) **वा**=और हे कर्मेन्द्रिय रूप द्वारो! तुम **पृथिव्याः मात्रया**=पृथिवी की मात्रा से, अर्थात् पृथिवी को इकाई बनाकर, सारी पृथिवी को ही अपना कुटुम्ब समझकर, **वि श्रयध्वम्**=विशेषरूप से लोकहितात्मक कर्मों का सेवन करनेवाले बनो। अर्थात् तुम्हारे सब कार्य हृदय की विशाल वृत्ति से किये जाएँ, स्वार्थ से ऊपर उठकर ही सब कार्य हों। (३) **उशतीः**=हित की कामनावाले **द्वारः**=इन्द्रिय द्वारो! **महिना महद्भिः**=महिमा से महान् देवों से अधिष्ठित और अतएव **देवं रथम्**=इस प्रकाशमय रथ को **रथयुः**=रथ की कामनावाले होकर **धारयध्वम्**=धारण करो। इस शरीर-रथ में सब देव आरुढ़ हैं, 'सर्वाह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'। सूर्य यहाँ आँखों में स्थित है, तो दिशाएँ कानों में, वायु नासिका में, अग्नि मुख में, चन्द्रमा मन में, पृथिवी पाँवों में और इसी प्रकार अन्यान्य देवता अन्यान्य स्थानों में स्थित हैं। सब देवों का अधिष्ठान होने से यह शरीर-रथ 'देवरथ' है। इस देवरथ को ये सब इन्द्रिय द्वार उत्तमता से धारण करते हैं। सब इन्द्रिय द्वारों (ख) का उत्तम होना (सु) ही 'सुख' है। इनकी विकृति (दुः) ही 'दुःख' है। शरीर के ये सब द्वार ठीक होंगे तभी ज्ञान के शिखर पर भी हम पहुँचेंगे और तभी व्यापक लोकहित के कार्यों को कर सकेंगे।

भावार्थ—हमारे सब इन्द्रिय द्वार ठीक हों। ज्ञानेन्द्रियाँ हमें ज्ञानशिखर पर पहुँचाएँ और कर्मेन्द्रियाँ व्यापक यज्ञात्मक कर्मों में व्यापृत रहें।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषासानक्ता

देवी दिवो दुहितरा सुशिल्पे उषासानक्ता सदतां न योनौ।
आ वां देवास उशती उशन्त उरौ सीदन्तु सुभगे उपस्थे॥ ६॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सब इन्द्रियों के ठीक होने पर **उषासानक्ता**=ये दिन और रात **देवी**=हमारे सब व्यवहारों के साधक हों (दिव्=व्यवहार) इनमें हमारा दैनिक कार्यक्रम बड़ी सुन्दरता से चले। किसी कर्म के करने में हम प्रमाद न करें। **दिवः दुहितरा**=ये ज्ञान प्रकाश का प्रपूरण करनेवाले हों, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करनेवाले हों। तथा **सुशिल्पे**=उत्तम शिल्पवाले हों। इन दिन व रात में प्रत्येक कार्य बड़े कलापूर्ण तरीके से किया जाये। कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य को सुन्दरता से करनेवाली हों। (२) इस प्रकार के ये दिन-रात, जिनमें ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के पूरण में लगी हैं और कर्मेन्द्रियाँ कलापूर्ण तरीके से कार्यों में व्यापृत हैं, **योनौ**=उस मूल-स्थान प्रभु में **निसदताम्**=निश्चय से स्थित हों। अर्थात् दिन-रात प्रभु का स्मरण चले। हमारा प्रत्येक कार्य प्रभु-स्मरण पूर्वक हो। (३) हे उषासानक्ता! **उशती**=आप हमारे हित की कामनावाले हो। और **उशन्तः**=हमारे हित को चाहते हुए **देवासः**=सब देव **वाम्**=आपकी **उरौ**=विशाल व **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्यवाली **उपस्थे**=गोद में **आसीदन्तु**=आसीन हों। दिन-रात्रि की गोद के उरु व सुभग होने का भाव यह है कि हमारा हृदय सदा विशाल व श्री सम्पन्न बना रहे। उस विशाल श्री-सम्पन्न हृदय में सब दिव्यभावनाओं का निवास हो। पूर्वार्ध में कहा था कि हम सदा प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें, उत्तरार्ध में कहते हैं कि हमारे हृदयों में दिव्यगुणों का विकास हो। प्रभु स्मरण से दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है। प्रभु-स्मरण कारण है, दिव्यगुणों का विकास उसका कार्य।

भावार्थ—हम दिन-रात प्रभु-स्मरण करते हुए, प्रभु-स्मरणपूर्वक सब कार्यों को करते हुए, अपने जीवन में दिव्यता का अवतरण करें।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्र्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जीवन यज्ञ के पुरोहित 'प्राणापान'

ऊर्ध्वो ग्रावा बृहद॒ग्निः समि॑द्धः प्रि॒या धामा॒न्यदि॑तेरु॒पस्थे॑।
पुरोहि॑तावृत्विजा य॒ज्ञे अ॒स्मिन्वि॒दुष्ट॑रा॒ द्रवि॑ण॒मा य॑जेथाम् ॥ ७ ॥

(१) वेद में 'अश्मा भवतु नस्तनूः' इत्यादि मन्त्रभागों में शरीर को 'अश्मा' बनाने के लिये कहा गया है। यह **ग्रावा अश्मा**=पत्थर के समान दृढ़ शरीर **ऊर्ध्वः**=उन्नत हो। हमारे शरीर की शक्तियों का विकास ठीक प्रकार से हो। (२) शारीरिक उन्नति के साथ **अग्निः**=ज्ञानाग्नि भी **बृहत्**=खूब **समिद्धः**=दीप्त हो। मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से चमक उठे। इस ज्ञानाग्नि ने ही तो हमारे सब कर्मों को पवित्र करता है 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'। (३) शरीर को उन्नत व मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाने के बाद हम चाहते हैं कि **अदितेः**=उस अविनाशी प्रभु के **उपस्थे**=उपस्थान में, उपासना में उसकी गोद में बैठने पर **प्रिया धामानि**=हमें प्रिय तेज प्राप्त हों। प्रभु के उपासन से हम प्रभु के समान तेजस्वी बनें और ये तेज, किसी की हानि न करते हुए, रक्षणात्मक कार्यों में ही विनियुक्त हों, और इस प्रकार ये तेज प्रिय हों। (४) 'शरीर की दृढ़ता व उन्नति, मस्तिष्क की ज्ञानदीप्ति तथा हृदय में प्रभु के उपासन की वृत्ति' ये सब बातें प्राणसाधना की अपेक्षा करती हैं। प्राणापान को यहाँ 'पुरोहितौ' कहा है। ये सब इन्द्रियों के प्रमुख स्थान में रखे गये हैं, ये ही ज्येष्ठ व वसिष्ठ हैं। जीवन यज्ञ के ये प्रमुख संचालक हैं, 'तत्र जागृतः अस्वप्नगौ सत्रसदौ च देवौ'। अन्य इन्द्रियाँ सो जाती हैं, पर ये प्राणापान जागते ही रहते हैं। ये **सत्र सदौ**=ऋत्विजा=प्रत्येक ऋतु में इस जीवन-यज्ञ को चलानेवाले हैं। **विदुष्टरा**=(विद् लाभे) जीवन यज्ञ के लिये आवश्यक सब सामग्री को प्राप्त करानेवाले हैं। ये **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **द्रविणम्**=आवश्यक सम्पत्ति को **आयजेशाम्**=सब प्रकार से हमारे साथ संगत करनेवाले हैं। वस्तुतः ये प्राणापान ही शरीर, मस्तिष्क व हृदय को उन्नत करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा जीवन के लिये आवश्यक सामग्री को जुटाएँ।

ऋषिः—सुमित्रो वाध्र्यश्वः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इडा-सरस्वती-मही

तिस्रो॑ दे॒वीर्ब॒र्हिरि॒दं वरी॑य॒ आ सी॑दत च॒कृमा॑ वः स्यो॒नम्।
म॒नु॒ष्वद्य॒ज्ञं सुधि॑ता ह॒वींषीळा॑ दे॒वी घृ॒तप॑दी जुषन्त ॥ ८ ॥

(१) वैदिक साहित्य में 'इडा-सरस्वती-मही' इन तीन देवियों का साथ-साथ उल्लेख मिलता है। 'तिस्रो देवीः' ये शब्द इन्हीं के लिये प्रयुक्त होते हैं। यहाँ 'इडा' का स्पष्ट उल्लेख है। सरस्वती का उल्लेख 'देवी' शब्द से हुआ है। यह शिक्षा के उस अंश को सूचित करता है जो कि 'शिष्टाचार' व सभ्यता कहलाता है, यह शिष्टाचार प्रवाह से सीखा जाता है, पिता के बर्ताव से पुत्र सीखता है। प्रवाह से सीखा जाने के कारण ही इसे सरस्वती कहा गया है। मही को यहाँ 'घृतपदी' कहा है, जिसका एक-एक पद दीप्त है, ज्ञान दीप्ति ही सब से अधिक महत्त्वपूर्ण होने से 'मही' है। इन तीनों से कहते हैं कि हे **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियो! आप **इदम्**=इस **वरीयः**=उत्तर-विशाल अथवा उत्कृष्ट **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसीदत**=आसीन होवो। हम **वः**=आपके द्वारा **स्योनम्**=सुख ही सुख को **चकृमा**=उत्पन्न करते हैं। इन देवियों के अपनाने से जीवन सुखी बनता है। तीनों देवियों का कार्यक्षेत्र अलग-अलग है। 'इडा' शरीर सम्बद्ध है, वस्तुतः इडा का अर्थ

'law'=कानून है। शरीर सम्बन्धी सब कार्यों को बड़ा नियम से करना होता है 'सूर्याचन्द्रमसाविव'। सरस्वती का स्थान हृदय हैं, यही विनीतता आदि भावनाएँ पनपती हैं। मही का स्थान मस्तिष्क है। सबका कार्यक्षेत्र अलग-अलग होते हुए भी इन सब का निवास स्थान हृदय ही है। अपने जीवन को इन तीनों देवियों का अधिष्ठान बनाकर ही हम सुखी बना पाते हैं। (२) ये **इडा**=शरीर सम्बन्धी क्रियाओं की कानून भूत देवी, **देवी**=सब व्यवहारों में शिष्टाचार को जन्म देनेवाली सरस्वती तथा **घृतपदी**=मही व भारती ये तीनों ही देवियाँ **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्म का **जुषन्त**=सेवन करें। उस श्रेष्ठतम कर्म का जो **मनुष्वत्**=उस ज्ञान के पुञ्ज प्रभुवाला है। जिस यज्ञ में प्रभु का स्मरण ठीक से चलता है, प्रभु को भुला नहीं दिया गया। प्रभु को न भुलाने के कारण ही तो हम उन यज्ञों की सफलता के गर्व से मुक्त रहते हैं। ये देवियाँ **सुधिता**=उत्तमता से स्थापित की गई **हवींषि**=हवियों का सेवन करें। सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाली हों।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'इडा, सरस्वती व मही' तीनों देवियाँ का निवास हो ये जीवन में प्रभु-स्मरणपूर्वक यज्ञों में प्रवृत्त रहें, यज्ञशेष का सेवन करनेवाली हों।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु अंगिरसों के मित्र हैं

देव॑ त्वष्ट॒र्यद्ध॑ चारु॒त्वमान॒ड्यदङ्गि॑रसा॒मभ॑वः सचा॒भूः।
स दे॒वानां॒ पाथ॒ उप॒ प्र वि॒द्वानु॒शन्य॑क्षि द्रविणोदः सु॒रत्नः॑ ॥ ९ ॥

(१) हे **देव**=दिव्यगुणों के पुञ्ज! **त्वष्टः**=(त्विषेर्वा स्याद्दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर्वा गतिकर्मणः नि०) दीप्त व सारे संसार के निर्माता प्रभो! **यद् ह**=जो निश्चय से आप **चारुत्वम्**=सौन्दर्य को **आनट्**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण सौन्दर्य के स्वामी हैं तथा **यद्**=जो आप **अंगिरसाम्**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले, अर्थात् सबल शरीरवालों के **सचाभूः अभवः**=साथ होनेवाले हैं। **स**=वे आप **प्रविद्वान्**=हमारी स्थिति के प्रकर्षेण जानते हुए **उशन्**=हमारे हित को चाहते हुए **देवानाम्**=देवों के **पाथः**=सात्त्विक अन्न को (food) **उपयक्षि**=हमारे साथ संगत करिये। देवों से खाने योग्य सात्त्विक अन्न के प्रयोग से ही हमारी वृत्ति भी देववृत्ति बनेगी। सब जीवन का सौन्दर्य इस सात्त्विक अन्न पर ही निर्भर करता है। इसी अन्न ने हमें अंग-प्रत्यंग में रसवाला सात्त्विक शक्ति सम्पन्न बनाना है। (२) हे प्रभो! आप ही **द्रविणोदः**=सब द्रविणों के देनेवाले हैं और **सुरत्नः**=सुन्दर रमणीय रत्नोंवाले हैं। आपका मित्र बनकर मैं इन द्रविणों व रत्नों को क्यों न प्राप्त करूँगा?

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में ही जीवन का सौन्दर्य है। देवताओं का सात्त्विक अन्न ही हमें सात्त्विक बनाकर सशक्त बनायेगा और हम प्रभु की मित्रता के अधिकारी होंगे।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्यागपूर्वक उपभोग में आनन्द

वन॑स्पते रश॒नया॑ नि॒यूया॑ दे॒वानां॒ पाथ॒ उप॑ वक्षि वि॒द्वान्।
स्वदा॑ति दे॒वः कृ॒णवद्ध॒वींष्यव॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी हवं॑ मे ॥ १० ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का मित्र सौन्दर्य को प्राप्त करता है। इसे सम्बोधन करके कहते हैं कि हे वनस्पते (वनस्=loveliness, glory) सौन्दर्य की अपने में रक्षा करनेवाले जीव! इस सौन्दर्य रक्षा के लिये **रशनया नियूयः**=अपनी सब इन्द्रियों व मन को संयम-रज्जु से बाँधकर, **विद्वान्**=समझदार ज्ञानी होता हुआ तू **देवानां पाथः**=देवों के सात्त्विक अन्न को ही **उपवक्षि**=समीपता

से प्राप्त करानेवाला बन। सात्त्विक अन्न का ही सेवन कर। इसके लिये जीवन को संयमी बना, इन्द्रियाश्वों को संयम-रज्जु से बाँधनेवाला बन। इसी से तू जीवन में सौन्दर्य को रक्षित करनेवाला होगा। सुन्दर जीवनवाला तू देव बन जाएगा। (२) **देवः**=यह देव **स्वदाति**=प्रभु की बनाई हुई इन सब वस्तुओं का स्वाद लेता है, परन्तु **हवींषि कृणवत्**=सदा दानपूर्वक ही अदन को करनेवाला बनता है (हु दानादनयोः)। यह यज्ञशेष का सेवन उसके लिये अमृत का सेवन हो जाता है। यह चाहता है कि **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक, द्युलोक से लेकर पृथ्वीलोक तक सारा संसार **मे हवम्**=मेरी पुकार को **अवताम्**=(to faronr, promote, amimate) प्रीणित करे। मेरी यही कामना हो कि मैं सदा हवियों का सेवन करनेवाला बनूँ। संसार का आनन्द लूँ, पर यह न भूल जाऊँ कि सच्चा आनन्द त्यागपूर्वक उपभोग में ही है। संसार में इन इन्द्रियों के द्वारा विचरो तो सही, परन्तु इन्हें आत्मवश्य करके ही विचरूँ।

भावार्थ—संयमी बनकर मैं सात्त्विक अन्न को ही लूँ। त्यागपूर्वक उपभोग में ही आनन्द का अनुभव करूँ। सारा संसार मेरी इस कामना के लिये अनुकूल वातावरण उपस्थित करे।

ऋषिः—**सुमित्रो वाध्र्यश्वः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-प्राणायाम व मध्यमार्ग

आग्ने वह वरुणामिष्टये न इन्द्रं दिवो मरुतो अन्तरिक्षात्।
सीदन्तु बर्हिर्विश्व आ यजत्राः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्॥ ११ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **नः**=हमारी **इषये**=पूजा के लिये व प्राप्ति के लिये **वरुणम्**=द्वेष-निवारण की वृत्ति को **आवह**=सर्वथा प्राप्त करनेवाला बन। अपने में तू निर्द्वेषता को धारण कर। राग-द्वेष से पूर्ण हृदय में प्रभु का निवास नहीं हो सकता। प्रभु प्राप्ति के लिये तू **इन्द्रम्**=जितेन्द्रियता को **आवह**=सर्वथा प्राप्त करनेवाला हो। इन्द्र वही है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। (२) इस निर्द्वेषता व जितेन्द्रियता को तू (क) **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश से प्राप्त कर। जितना-जितना ज्ञान बढ़ेगा तू उतना-उतना ही तू निर्द्वेष व जितेन्द्रिय हो पायेगा। (ख) निर्द्वेषता व जितेन्द्रियता को तू **मरुतः**=प्राणों के द्वारा प्राप्त कर। प्राणसाधना तेरे लिये इन्हें सुगमता से प्राप्त होने योग्य करेगी। (ग) **अन्तरिक्षात्**=मध्यमार्ग में (अन्तराक्षि) चलने से भी तू जितेन्द्रिय व निर्द्वेष बन पायेगा। (३) ज्ञान-प्राणसाधना व मध्यमार्ग में चलने से **विश्वे**=सब **यजत्राः**=यष्टव्य=पूजा के योग्य दिव्य भावना में **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसीदन्तु**=आसीन हों। दिव्य भावनाएँ यजत्र हैं, इनकी प्राप्ति के लिये ज्ञान (स्वाध्याय) प्राणायाम व मध्यमार्ग में चलना आवश्यक है। (३) इन दिव्य भावनाओं को प्राप्त करके **देवाः**=देववृत्तिवाले लोग **स्वाहा**=स्व का त्याग करनेवाले हों, त्यागपूर्वक ही सदा संसार के सब पदार्थों का उपभोग करें। इस त्यागपूर्वक उपभोग व यज्ञशेष के सेवन से ही ये **अमृताः**=नीरोग होते हैं, ये नीरोग देव **मादयन्ताम्**=जीवन में निरन्तर आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—हम स्वाध्याय, प्राणायाम व मध्यमार्ग को अपनाकर निर्द्वेष व जितेन्द्रिय बनें। यही सच्ची प्रभु-पूजा है। देव त्यागपूर्वक उपभोग करते हैं, अतएव अमर व नीरोग होते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ वेद ज्ञान को अपनाने के आदेश से होता है, (१) समाप्ति पर उसके परिणामरूप निर्द्वेष व जितेन्द्रिय बनने का उल्लेख है, (११) अब इस वेदज्ञान का सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जाने का उल्लेख करते हैं—

[७१] एकसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सृष्टि के प्रारम्भ में

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒ यत्प्रैर॑त नाम॒धेयं॒ दधा॑नाः।
यदे॑षां॒ श्रेष्ठं॒ यद॑रि॒प्रमासी॑त्प्रे॒णा तदे॑षां॒ निहि॑तं॒ गुहा॒विः ॥ १ ॥

(१) **बृहस्पते (बृहस्पतेः)**=उस ज्ञान के स्वामी प्रभु का **प्रथमम्**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तारवाला **वाचः अग्रम्**=वाणी के अग्र-स्थान में होनेवाला यह वेदज्ञान है। 'प्रथम' तो इसलिए कि इसमें सब सत्यविद्याओं का प्रकाश हुआ है और 'वाचः अग्रं' इसलिए कि सबसे पूर्व इन्हीं शब्दों का उच्चारण हुआ 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्' प्रभु ने मानस पुत्रों को जन्म दिया और उनमें से श्रेष्ठतम चार जो 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' उनके हृदयों में इस वेदज्ञान का प्रकाश किया। इस प्रकार सबसे प्रथम इसी वाणी का उच्चारण हुआ। (२) (क) अब **नामधेयं दधानाः**= प्रभु के नाम का हृदयों में धारण करते हुए अन्य ऋषियों व विचारशील व्यक्तियों ने भी **यत्**=यह जो वेदज्ञान था उसे **प्रैरत**=अपने में प्रेरित किया। अग्नि आदि से इन्होंने वेदज्ञान को प्राप्त किया और इस वेदज्ञान को प्राप्त करते हुए ये सदा उस प्रभु के नाम का मानस जप करने में व्यस्त रहे। (ख) इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि संसार में भिन्न-भिन्न संस्थाओं (आकृतियों) का नाम रखते समय इन्होंने उस वेदवाणी को ही अपने में प्रेरित किया, उसका ध्यान करके उसी में से नदियों के सिन्धु आदि पर्वतों के हिमालयादि नाम रखे 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'। (३) **एषाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए-हुए इन व्यक्तियों में **यत्**=जो **श्रेष्ठम्**=सर्वोत्तम थे **यत्**=जो **अरिशम्**=बिल्कुल निर्दोष थे, जिनकी बुद्धि व मन सर्वाधिक पवित्र **आसीत्**=थे **तत्**=सो **एषाम्**=इनके श्रेष्ठ व अरिप्र लोगों के **गुहा**=हृदय रूप गुहा में **प्रेणा**=(प्रेम्णा) प्रभु प्रेम के कारण **निहितम्**=यह वेदज्ञान स्थापित हुआ और **आविः**=प्रकट हुआ। प्रारम्भिक मानसी सृष्टि में जो सर्वाग्रणी थे उनके पवित्रतम हृदयों में यह वेदज्ञान प्रकट किया गया। इनके द्वारा यह वेदज्ञान औरों तक पहुँचा।

भावार्थ—प्रभु से दी गई वेदवाणी ही इस सृष्टि के प्रारम्भिक शब्द थे। सर्वश्रेष्ठ हृदयों में इसका प्रकाश हुआ और उनके द्वारा इसका विस्तार हुआ।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—ज्ञानम् ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणी का विचार

सक्तु॑मिव॒ तित॑उना पु॒नन्तो॒ यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा॒ वाच॒मक्र॑त।
अत्रा॒ सखा॑यः स॒ख्यानि॑ जानते भ॒द्रैषां॑ ल॒क्ष्मीर्निहि॒ताधि॑ वा॒चि ॥ २ ॥

(१) **इव**=जैसे **सक्तुम्**=सत्तु को **तितउना**=छाननी से **पुनन्तः**=पवित्र करते हैं, उसी प्रकार **यत्र**=जहाँ **धीराः**=ज्ञान में रमण करनेवाले धीर पुरुष **मनसा**=मन से, मन में मनन व चिन्तन के द्वारा, **वाचम्**=इस वेदवाणी को **अक्रत**=प्रकृति प्रत्यय के विचार से प्रकटार्थ करते हैं **अत्रा**=यहाँ **सखायः**=(सह ख्यानं येषां) मिलकर ज्ञान की चर्चा करनेवाले ये लोग **सख्यानि**=वास्तविक मित्रता को **जानते**=अनुभव करते हैं। इस संसार में वास्तविक मैत्री तो प्रभु के ही साथ है, उस मैत्री का अनुभव ये ज्ञान की चर्चा करनेवाले ही कर पाते हैं। (२) **एषां वाचि**=इनकी वाणी में **भद्रा लक्ष्मीः**=कल्याणी लक्ष्मी **अधि निहिता**=आधिक्येन निहित होती है। इनकी वाणी पवित्र

होती है, ये सब के लिये शुभ ही शब्दों को बोलती है, सदा प्रभु के नाम का स्मरण करने से यह लक्ष्मी सम्पन्न बनी रहती है। जब लक्ष्मीवान् वे प्रभु हैं, इनकी वाणी में लक्ष्मी क्यों न हो! वास्तव में तो इनकी वाणी में ऐसी शक्ति आ जाती है कि ये जो कुछ बोलते हैं वैसा ही हो जाता है।

भावार्थ—वेदवाणी की मिलकर चर्चा करने से वाणी में भद्रा लक्ष्मी का निवास होता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**ज्ञानम्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सप्तरेभा वेदवाणी का ऋषियों में प्रवेश

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥

(१) **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा उस उपास्य प्रभु के द्वारा ('यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः') **वाचः**=वाणी के **पदवीयम्**=मार्ग को **आयन्**=प्राप्त हुए। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के द्वारा अग्नि आदि को इस वेदवाणी का ज्ञान हुआ और **ऋषिषु प्रविष्टाम्**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट हुई-हुई **ताम्**=उस वेदवाणी को **अन्वविन्दन्**=पीछे अन्य ऋषियों ने प्राप्त किया। प्रभु ने अग्नि आदि को ज्ञान दिया। अग्नि आदि से अन्य ऋषियों ने इसे पाया। (२) **तां आभृत्या**=उस वेदवाणी को उत्तमता से धारण करके उन्होंने **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **व्यदधुः**=इसे स्थापित किया। इसका मनुओं में, विचारशील पुरुषों में प्रचार किया, **ताम्**=उस वेदवाणी को **सप्त रेभाः**=सात गायत्री आदि छन्द **अभिसंनवन्ते**=प्राप्त होते हैं। यह वेदवाणी गायत्री आदि सात छन्दों में प्रवृत्त होती है। अथवा 'सप्तरेभाः' को समस्त पद लेकर यह अर्थ किया जा सकता है कि उस वेदवाणी को 'कानों, नासिकाओं, आँखों व मुख' से इन सातों से प्रभु-स्तवन करनेवाले लोग **अभितः**=प्राप्त होते हैं।

सूचना—प्रारम्भिक चरण का अर्थ यह भी है कि 'यज्ञ से, श्रेष्ठतम कर्मों से वाणी के मार्ग को प्राप्त करते हैं'। यज्ञिय वृत्ति हृदय का शोधन करके हमें वेदज्ञान के मार्ग का पथिक बना देती है।

भावार्थ—प्रभु अग्नि आदि को वेदज्ञान देते हैं, इनसे अन्य यज्ञिय वृत्तिवाले ऋषियों को यह प्राप्त होती है। उसे ये ऋषि मानवसमाज में प्रचरित करते हैं। यह वेदवाणी सात छन्दों से युक्त है, अथवा 'कान-२, नाक-२, आँख-२, मुख-१' ये सात स्तोता बनकर इसे प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**ज्ञानम्** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानी व अज्ञानी (वह वेदज्ञान किसी को होता है, किसी को नहीं)

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ४ ॥

(१) **त्वः**=कोई एक **पश्यन् उत**=देखता हुआ भी **वाचं न ददर्श**=इस वेदवाणी को देखता नहीं, **त्वः**=कोई एक **शृण्वन् उत**=सुनता हुआ भी **एनां न शृणोति**=इस वेदवाणी को नहीं सुनता है। इस वेदवाणी को देखता और सुनता हुआ यदि वह एक तोते की तरह उसका उच्चारण कर लेता है पर उसके अर्थ को नहीं समझता, तो वस्तुतः वह देखते हुए भी नहीं देख रहा, सुनते हुए भी नहीं सुन रहा। केवल बोलना व उच्चारण करना किसी लाभ को न देने के कारण व्यर्थ-सा हो जाता है। 'व्यर्थ' का भाव ही अर्थ से रहित है। अर्थ से रहित पढ़ना व्यर्थ तो हो ही जाता है। (२) सो एक समझदार पुरुष इस वेदवाणी के अर्थ को समझने का प्रयत्न करता है। वेद का

पढ़ना-पढ़ाना उसका परम धर्म हो जाता है, वह इसे पढ़ता है और इसे समझने का प्रयत्न करता है, केवल पढ़कर वह चन्दनवाही खर ही नहीं बना रहता। **उत उ**=और निश्चय से **त्वस्मै**=इस वेदवाणी को समझनेवाले पुरुष के लिये यह वेदवाणी उसी प्रकार **तन्वं विसस्रे**=अपने स्वरूप को प्रकट करती है **इव**=जैसे **उशती**=हित की कामना करती हुई **सुवासाः**=उत्तम वस्त्रोंवाली **जाया**=पत्नी **पत्ये**=पति के लिये अपने रूप को प्रकट करती है। अर्थज्ञ पुरुष ही वेदवाणी के रूप को ठीक प्रकार देख पाता है। यही उससे उचित आनन्दों को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणी के अर्थ को न समझनेवाला पुरुष वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देख रहा होता। यह वेदवाणी के सुन्दर रूप का दर्शन नहीं कर पाता।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**ज्ञानम्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अफला अपुष्पा वेदवाणी-बांझ गौ

उ॒त त्वं॑ स॒ख्ये स्थि॒रपी॑तमाहु॒र्नैनं॑ हिन्व॒न्त्यपि॒ वाजि॑नेषु।
अधे॑न्वा चरति मा॒ययै॒ष वाचं॑ शुश्रु॒वाँ अ॑फ॒लाम॑पु॒ष्पाम्॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जिसके प्रति वेदवाणी रूप पत्नी अपने रूप को प्रकट करती है **त्वं उत**=उसको ही **सख्ये**=मिलकर के होनेवाली ज्ञानचर्चाओं के प्रसंग में (सह चक्षते अस्मिन्) **स्थिरपीतम्**=स्थिरता से किये हुए ज्ञान के पानवाला **आहुः**=कहते हैं। **एनम्**=इस स्थिरपीत व्यक्ति को **वाजिनेषु**=(वाक् इना येषां) वाक् से ज्ञेय अर्थों में **न हिन्वन्ति अपि**=नहीं ही प्राप्त होते। यह जितनी सुन्दर वाग् शेष अर्थों का प्रतिपादन करता है, उतना अन्य लोग नहीं कर पाते, शास्त्रार्थ में इससे जीत नहीं पाते। एवं वेदवाणी के अर्थ का 'मनन, निदिध्यासन व साक्षात्कार' भी अत्यन्त आवश्यक है। (२) मननादि को न करके श्रवण तक ही अपने को सीमित करनेवाला **एषः**=यह व्यक्ति **वाचं शुश्रुवान्**=वाणी का सुननेवाला तो हुवा है, परन्तु **अफलां अपुष्पाम्**=इसने फल पुष्प रहित ही वाणी को सुना है। वाणी के पुष्प व फल उसके अर्थ ही है। अर्थ को नहीं जाना तो वह वाणी अफलता अपुष्पा तो हो ही गई। 'यज्ञविषयक ज्ञान' इस वाणी का पुष्प है और 'देवता (प्रभु) विषयक ज्ञान' इसका फल है। जिसने वेदवाणी को सुनकर यज्ञों व देवों को नहीं जाना, यज्ञ में प्रवृत्त नहीं हुआ तथा प्रभु के उपासन में नहीं लगा तो उसके लिये यह वेदवाणी 'अफला व अपुष्पा' ही रही। (३) वह वेदवाणी के अर्थ को न समझनेवाला पुरुष तो **अधेन्वा**=एक अप्रशस्त धेनु के साथ **मायया**=माया व भ्रान्ति को पैदा करता हुआ **चरति**=विचरण करता है। जैसे बांझ और शरीर में हृष्ट-पुष्ट गौ को लिये हुए एक पुरुष इधर-उधर घूमता है तो लोगों को यही भ्रम होता है कि मनभर तो दूध देती ही होगी, इसी प्रकार इस वेदोच्चारण करनेवाले पुरुष के लिये लोगों के हृदय में उसके लिये महती भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, वे उसे बड़ा वेदज्ञ समझने लगते हैं, जब कि वास्तव में वह कोरे का कोरा ही है।

भावार्थ—वेदार्थ को समझनेवाला ही वेद से कल्याण को प्राप्त करता है। दूसरे के लिये तो यह वेदवाणी वन्ध्या गौ के ही समान है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**ज्ञानम्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सखा का अत्याग

यस्ति॒त्याज॑ सचि॒विदं॒ सखा॑यं॒ न तस्य॑ वा॒च्यपि॑ भा॒गो अ॑स्ति।
यदीं॑ शृ॒णोत्यल॑कं शृणोति न॒हि प्र॒वेद॑ सुकृ॒तस्य॒ पन्था॑म्॥ ६ ॥

(१) **यः**=जो **सचिविदं (सचा विद्यते)**=सदा साथ रहनेवाले अथवा (शंची विन्दति 'अन्तर्भावितण्यर्थ')=शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त करानेवाले **सखायम्**=मित्र प्रभु को **तित्याज**=छोड़ देता है, **तस्य**=उसका **वाचि**=वेदवाणी में **भागः अपि**=कुछ भी अंश **न अस्ति**=नहीं होता प्रभु का विस्मरण करनेवाला वेदवाणी को ग्रहण नहीं कर पाता। (२) वेदवाणी को छोड़कर यह संसार में **ईम्**=निश्चय से **यत् शृणोति**=जो अन्य बातें सुनता है **अलकं शृणोति**=वह सब असत्य ही सुनता है। उस सब श्रवण से यह **सुकृतस्य**=पुण्य के **पन्थाम्**=मार्ग को **नहि प्रवेद**=निश्चय से नहीं जान पाता। वेदों को छोड़कर अन्य बातों को सुनते रहना हमारे लिये धर्मज्ञान में सहायक नहीं होता। वेद व वेद के व्याख्यान ग्रन्थ ही हमें धर्म की प्रेरणा देते हैं। अन्य ज्ञान वस्तुतः ज्ञान ही नहीं होता, वह हमें धर्म की ओर झुकाववाला नहीं करता।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से शक्ति व प्रज्ञा में वृद्धि होती है, हम वेद को समझने योग्य बनते हैं और धर्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**ज्ञानम्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान में विषमता

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदाइव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ७ ॥

(१) **अक्षण्वन्तः**=आँखोंवाले तथा **कर्णवन्तः**=कानोंवाले **सखाया**=एक ही श्रेणी में ज्ञान को प्राप्त करनेवाले (समानं ख्यानं येषां) युवक होते हैं। इनकी आँखें बाह्य पदार्थों को ठीक से देखती हैं, कान बाह्य शब्दों को ठीक से सुनते हैं एक ही गुरु से ये ज्ञान प्राप्त कर रहे होते हैं। ऐसा होते हुए भी **मनोजवेषु**=मन के वेगों में **असमा बभूवुः**=ये समान नहीं होते। इनका मन दिये जाते हुए ज्ञान को समानरूप से ग्रहण नहीं करता। (२) ज्ञान को यदि जल से उपमित करें, तो इनमें से कई **आदध्नासः**=आस्य प्रमाण उदकवाले होते हैं, कइयों के ज्ञान सरोवर में मुख तक आनेवाला ज्ञान जल भरा होता है। **उ**=और **त्वे**=कई **उपकक्षासः**=बाहुमूलपर्यन्त आनेवाले ज्ञान जलवाले होते हैं। **उ**=और **त्वे**=कई तो **स्नात्वाः ह्रदाः इव**=स्नानीय तालाबों के समान परिपूर्ण जलवाले, डुबाऊ जलवाले **ददृश्रे**=दिखाई पड़ते हैं।

भावार्थ—बाह्य वातावरण की समानता होते हुए भी मनोजवों की विषमता के कारण एक ही श्रेणी के विद्यार्थियों में ज्ञान की विषमता हो जाती है। 'स्नात्वाः ह्रदाः इव' प्रथम विभाग के हैं, 'आदध्नासः' द्वितीय विभाग के तथा 'उपकक्षासः' तृतीयविभाग के।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**ज्ञानम्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदज्ञ व अवेदज्ञ

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ ८ ॥

(१) **यद्**=जब **हृदा**=हृदय की श्रद्धा से **तष्टेषु**=तीव्र किये हुए (तक्ष=तनूकरणे) **मनसः जवेषु**=मन के वेगों में, मन से प्राप्त करने योग्य ज्ञानों के निमित्त **ब्राह्मणाः**=ब्रह्म के विचारक पुरुष **सखायः**=परस्पर ज्ञान की मैत्रीवाले होकर **संयजन्ते**=एकत्रित होते हैं। एकत्रित होकर जब ये ज्ञानी पुरुष ज्ञानयज्ञ को प्रारम्भ करते हैं तो **अत्र**=यहाँ ज्ञानयज्ञों में **अह**=निश्चय से **त्वम्**=किसी एक को **वेद्याभिः**=वेद्य वस्तुओं से **विजहुः**=छोड़ देते हैं। अर्थात् समझ की कमी के कारण उसे

शास्त्रीय चर्चाओं में सम्मिलित नहीं करते। **उ त्वे**=और कई इन नासमझ पुरुषों से भिन्न **ओहब्रह्माणः**=ऊह्य है ब्रह्म जिनके लिये, अर्थात् तर्क-वितर्क द्वारा ब्रह्म के अस्तित्व का स्थापन करनेवाले व्यक्ति उन ज्ञानयज्ञों में **विचरन्ति**=विशिष्ट शोभा के साथ विचरण करते हैं। ज्ञान उनकी शोभा वृद्धि का कारण बनता है। (२) ज्ञान यज्ञों में कई हृदय व मन के विकास के कारण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाले होते हैं तो दूसरे अविकसित हृदय व मनवाले अलग ही बैठे रह जाते हैं।

भावार्थ—हृदय व मन की पवित्रता ब्रह्मज्ञान के लिये आवश्यक है। इसके बिना हम 'ओहब्रह्म' नहीं बन पाते।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**ज्ञानम्** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञानी-यज्ञशील

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥ ९ ॥

(१) **इमे**=ये **ये**=जो **न**=न तो **अर्वाङ्**=यहाँ नीचे लौकिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के साथ ज्ञानचर्चा करते हुए **चरन्ति**=विचरते हैं और **न**=नां ही **परः**=उत्कृष्ट अध्यात्मक्षेत्र में देवचिन्तन करते हुए देवों के साथ विचरते हैं, वे **न ब्राह्मणासः**=न ज्ञानी बनते हैं और **न**=नां ही **सुतेकरासः**=यज्ञादि को करनेवाले होते हैं। ब्राह्मणों के साथ **विचरते, तो** उनके साथ ज्ञानचर्या करते हुए ज्ञानी बन जाते। यदि देवों का चिन्तन करते, तो इन सब **पदार्थों** को देवों से दिया हुआ जानकर, सदा देवों के लिये देकर यज्ञशेष का ही सेवन करते। परन्तु अब ये न तो ज्ञानी बने, न यज्ञशील। (२) **ते एते**=वे ये **अप्रजज्ञयः**=अविद्वान् लोग **वाचम्**=लौकिकी वाणी को ही, 'कहाँ और कब क्या-क्या दुर्घटनाएं हुई' इस प्रकार की व्यर्थ की वाणी को **अभिपद्य**=प्राप्त होकर **पापया**=उस पाप की ओर झुकाव को करनेवाली वाणी से युक्त हुए-हुए **सिरीः**=(सीरिणो भूत्वा सा०) हलोंवाले होकर **तन्त्रम्**=कृषि लक्षण तन्त्र का ही **तन्वते**=विस्तार करते हैं। अर्थात् ये हल ही चलाते रह जाते हैं, अर्थात् खान-पान की दुनियाँ से ऊपर नहीं उठ पाते।

सूचना—यहां कृषि की निन्दा अभिप्रेत नहीं। परन्तु खान-पान की दुनियाँ से ऊपर उठना अभिप्रेत है। केवल इस दुनियाँ की ही चर्चा न करते रहकर, कुछ अध्यात्मचर्चा भी करनी ही चाहिए।

भावार्थ—हम ब्राह्मणों के सम्पर्क से ज्ञानी बनें, देवों के सम्पर्क से यज्ञशील। केवल लौकिक बातों के ज्ञान में उलझकर खाने-पीने की दुनियाँ में ही न समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**ज्ञानम्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रौढ़ ज्ञानी

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥ १० ॥

(१) जो व्यक्ति ब्राह्मणों व देवों के सम्पर्क में विचरता है वह खूब ऊँचा ज्ञानी बनता है। जब कभी यह सभाओं में आता है, तो इसके आने पर सभी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। इस **यशसा**=यशस्वी **सभासाहेन**=सम्पूर्ण सभा का अपने ज्ञान से अभिभव करनेवाले **आगतेन**=आये हुए **सख्या**=ज्ञान संगी से **सर्वे सखायः**=सारे ज्ञान संगी **नन्दन्ति**=हर्ष का अनुभव करते हैं। (२) सभा में उपस्थित होकर यह जो ज्ञानचर्चा करता है, उस ज्ञानचर्चा से यह **किल्विषस्पृत्**=पापों

का नष्ट करनेवाला होता है **पितुषणिः**=अन्न का सम्भजन करानेवाला होता है। इसकी ज्ञानचर्चा परा व अपरा दोनों विद्याओं के क्षेत्र में चलती है। पराविद्या से यह पापों को दूर करता है तो अपरा से यह अन्न प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कराता है। इसका दिया हुआ ज्ञान अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करता है। (३) इस प्रकार यह विद्वान् **एषाम्**=इन सब सभ्यों के **वाजिनाय**=शक्ति-सम्पादन के लिये **अरम्**=पर्याप्त रूप से **हितः**=हितकर **भवति**=होता है। इनके लिये ज्ञान को देकर वह शारीरिक व अध्यात्म शक्तियों से इन्हें सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान वही ठीक है जो कि पाप को नष्ट करनेवाला है और अन्न प्राप्ति की क्षमता देता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**ज्ञानम्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चार ऋत्विज

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्रों में वर्णित ज्ञानियों में चार ज्ञानी ऋत्विज ही सब यज्ञादि कार्यों को सम्पन्न कराते हैं। उनमें से **त्वः**=एक 'होता' **ऋचां पोषं पुपुष्वान्**=ऋचाओं के यथाविधि कर्मों में प्रयोग का पोषण करता हुआ **आस्ते**=यज्ञवेदि में आसीन होता है। (२) **त्वः**=एक उद्गाता **शक्वरीषु**=प्रभु के सम्पर्क के द्वारा शक्ति को उत्पन्न करनेवाली 'शक्वरी' नामक ऋचाओं में **गायत्रम्**=प्राणों का रक्षण करनेवाले 'गायत्र' नामक साम का **गायति**=गायन करता है। साम के द्वारा प्रभु के गुणों का गायन होता है, प्रभु के इस उपासन से उपासक के जीवन में शक्ति का संचार होता है। (३) **त्वः**=एक **ब्रह्मा**=सर्ववेदवेत्ता-विशेषतः अथर्व के द्वारा दोषों को दूर करनेवाला **जातविद्यां वदति**=(जातेरवेदयित्रीं) उस-उस उत्पन्न कर्म में दोष दूरीकरण की विधि की ज्ञापक वाणी को बोलता है। (४) **उ**=और **त्वः**=एक अध्वर्यु, यजुर्वेद का विशेष ज्ञाता बनकर **यज्ञस्य मात्राम्**=यज्ञ की मात्रा को **विमिमीते**=मापता है। आहुति के परिमाणादि का निर्णय करता है। इस प्रकार 'होता' ऋग्वेद से, 'उद्गाता' सामवेद से, 'ब्रह्मा' अथर्व से और 'अध्वर्यु' यजुर्वेद से कार्य करता है। और ये चारों मिलकर यज्ञ को पूर्ण करते हैं।

भावार्थ—हम वेदों को पढ़ें, वेदज्ञान को यज्ञों में विनियुक्त करते हुए यज्ञशील हों।

इस सूक्त में 'बृहस्पति' वेदज्ञानी बनकर किस प्रकार जीवन को सुन्दर बनाता है, इस बात का प्रतिपादन हुआ है। अगले सूक्त में 'बृहस्पति' सृष्ट्युत्पत्ति का प्रतिपादन करेगा तो उसका नाम ही 'लौक्य बृहस्पति' हो गया है। वह कहता है—

[७२] द्विसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

सृष्ट्युत्पत्ति

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया। उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे ॥ १ ॥

(१) **वयम्**=हम **नु**=अब **विपन्यया**=(विस्पष्टया वाचा)=वेदवाणी रूप प्रशस्त वाणी से **देवानाम्**=सूर्य, चन्द्र, तारे और पृथिवी आदि देवों के **जाना**=जन्मों को **प्रवोचाम**=प्रतिपादित करते हैं। वेद-मन्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति का विषय वर्णित हुआ है। (२) इसलिए **उक्थेषु**

शस्यमानेषु=इन वेद-मन्त्रों के, स्तोत्रों के उच्चरित होने पर **यः**=जो उपस्थित होता है वह **उत्तरे युगे**=आनेवाले युगों में **पश्यात्**=इस सृष्टि की उत्पत्ति को देखता है। वेद मन्त्रों में वर्णित इस सृष्ट्युत्पत्ति को समझनेवाला वह बनता है। वेद-मन्त्रों में प्रभु के द्वारा इस सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन पढ़नेवाले के हृदय में प्रभु-भक्ति की भावना को जगाता है, ये वर्णन ही प्रभु के स्तवन बन जाते हैं। इनका शंसन हमें प्रभु-प्रवण बनाता है।

भावार्थ—वेद-मन्त्रों में वर्णित सृष्ट्युत्पत्ति को हम समझें और प्रभु की महिमा का अनुभव करें।

ऋषिः—**बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'असत्' का 'सत्' रूप में आना (देव युग)

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥ २॥

(१) **ब्रह्मणः पतिः**=ज्ञान का पति प्रभु **कर्मार इव**=एक लोहार की तरह **एता**=इन सूर्यादि देवों की आकृतियों को **अधमत्**=प्रकृति पिण्ड को संतप्त करके ढालता था। प्रकृति के द्वारा प्रभु ने सूर्यादि को बनाया। एक लोहार लोहपिण्ड को संतप्त कर के आहत करता है और विविध आकृतियों में उसे परिणत करता है, इसी प्रकार प्रभु ने प्रकृति पिण्ड को संतप्त करके सूर्यादि देवों की आकृति में परिणत किया। (२) **देवानां पूर्व्ये युगे**=इस देवों के निर्माणवाले प्रथम युग में **असतः**=आकृतिशून्य अव्यक्त, असत् प्राय-प्रकृति से **सत्**=यह आकृतिवाला व्यक्त जगत् **अजायत**=प्रादुर्भूत हो गया। सृष्ट्युत्पत्ति का प्रथम युग वही है जिसमें कि 'असत् प्रकृति' 'सत् सृष्टि' का रूप लेती है, इसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों का निर्माण हो जाता है और यह 'देव-युग' कहलाता है। इन देवों का निर्माण ज्ञान के पति प्रभु से हुआ है, सो उसके ज्ञान की पूर्णता के कारण इनके निर्माण में भी किसी प्रकार की कमी नहीं। 'पूर्णमदः पूर्णमिदं'=प्रभु पूर्ण हैं, सो सृष्टि भी पूर्ण है।

भावार्थ—प्रभु ने अव्यक्त प्रकृति को व्यक्त सृष्टि का रूप दिया। प्रभु पूर्ण ज्ञानी हैं सो उनकी रचना में भी न्यूनता नहीं है।

ऋषिः—**बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वानस्पतिक युग

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥ ३॥

(१) **देवानां युगे प्रथमे**=देवों के निर्माण के इस प्रथम युग में **असतः**=अव्यक्त होने से असत् प्राय प्रकृति से **सत्**=यह आकृतिवाला व्यक्त जगत् **अजायत**=प्रादुर्भूत हो गया। अव्यक्त प्रकृति ने इन व्यक्त सूर्यादि देवों का रूप धारण किया। (२) **तद् अनु**=उसके बाद, अर्थात् इन लोकों के बन जाने के बाद **आशाः**=दिशाएँ **अजायन्त**=प्रादुर्भूत हुई। इन लोकों के बनने से पहले दिशाओं के व्यवहार का सम्भव ही नहीं। इन लोकों में ही यह 'भू'=पृथ्वी भी है। इस पर रहनेवाले प्राणी सूर्योदय आदि को देखकर 'प्राची-प्रतीची-उदीची व अवाची' आदि दिशाओं का व्यवहार करते हैं। (३) **तत् परि**=उसके पीछे इस पृथ्वी पर **उत्तानपदः (उत्तानाः पद्यन्ते-गच्छन्ति)**= ऊर्ध्वगतिवाले ये वृक्ष वनस्पति प्रादुर्भूत हुए। यही वस्तुतः देवों के युग के बाद का 'वनस्पति युग' है। इस वनस्पति युग में आगे होनेवाले जीवन के धारण के लिये विविध वानस्पतिक रचनाओं का निर्माण हुआ।

भावार्थ—देवयुग के बाद वानस्पतिक युग आया और पृथ्वी पर विविध वनस्पतियों का प्रादुर्भाव हुआ।

ऋषिः—**बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अदिति व दक्ष (प्रकृति परमात्मा)

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त। अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥ ४॥

(१) 'उत्तानपद्' शब्द का अर्थ वृक्ष भी है और परमात्मा भी है (supreme spirit)। प्रस्तुत मन्त्र में 'परमात्मा' अर्थ ही अभीष्ट है। (क) **उत्तानपदः**=उस परमात्मा से **भूः जज्ञे**=यह पृथ्वी प्रादुर्भूत की गई। (ख) 'उत्तानपद्' शब्द का वृक्ष ही अर्थ लें तो अर्थ इस प्रकार होगा कि वृक्षों के हेतु से यह पृथ्वी पैदा की गई। **भुवः**=इस पृथ्वी से ही **आशाः अजायन्त**=दिशाओं का प्रादुर्भाव हुआ। पृथ्वी पर रहनेवाली प्राणियों से ही पूर्वादि का व्यवहार किया जाता है। दिशा कोई स्थूल वस्तु न होकर व्यावहारिक वस्तु है और व्यवहार इन चेतन प्राणियों ने ही करना होता है। (२) इस प्रकार **दक्षः**=इस संसार का वर्धन करनेवाले प्रभु **अदितेः**=अविनाशी प्रकृति से (अ+दिति=खण्डन) **अजायत (अजनयत्)**=इस संसार को जन्म देते हैं। **उ**=और ऐसा भी कह सकते हैं कि **दक्षात्**=उस प्रजापति से यह **अदितिः**=प्रकृति **परि अजायत**=चारों ओर वर्तमान संसार के रूप में हो जाती है। 'दक्ष अदिति से संसार को जन्म देता है' अथवा 'दक्ष से अदिति संसार को जन्म देती है' इन दोनों वाक्यों का अन्तिम भाव समान ही है। 'पिता माता द्वारा पुत्र को जन्म देता है', 'अथवा माता पिता द्वारा पुत्र को जन्म देती है' इन दोनों वाक्यों में जन्म तो माता ही देती है, इसी प्रकार प्रकृति ही संसार को उत्पन्न करती है।

भावार्थ—पृथ्वी हुई और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं तथा दिशाओं का व्यवहार प्रसिद्ध हुआ। दक्ष की अध्यक्षता में अदिति ने सृष्टि को जन्म दिया।

ऋषिः—**बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'भद्र व अमृतबन्धु' देव

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः॥ ५॥

(१) हे **दक्ष**=संसार का वर्धन करनेवाले प्रभो! **हि**=निश्चय से यह **अदितिः**=अविनाशी प्रकृति, या जो कि **तव**=आपकी **दुहिता**=प्रपूरक है (दुह प्रपूरणे), वह **अजनिष्ट**=इस संसार को जन्म देती है। एक कुशल कुम्हार घड़े बनाने में जैसे किसी अन्य चेतन की सहायता की अपेक्षा न करके स्वयं ही मट्टी से घड़े बनाता है, उसी प्रकार वे सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ प्रभु भी इस अदिति से इस ब्रह्माण्ड के सब लोक-लोकान्तरों का निर्माण करते हैं। लोक-लोकान्तरों का उपादानकारण तो यह प्रकृति ही है, यही विकृत होकर इस चराचर के रूप में आती है। परमात्मा ही विकृत होकर इन लोकों का रूप नहीं धारण कर लेते, प्रभु तो निर्विकार हैं, वे उपादानकारण नहीं है। प्रभु तो इस सृष्टि के निमित्तकारण ही हैं। वे अपने इस कार्य में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते, इसी से वे सर्वशक्तिमान् हैं। (२) **तां अनु**=सत्त्व, रजस्, तमो गुणात्मिका इस अदिति के अनुसार ही **देवाः**=इस ब्रह्माण्ड के सब देव, सब लोक-लोकान्तर, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि भी **अजायन्त**=सत्त्व, रजस् व तमस् को लेकर ही उत्पन्न हुए हैं। ये सब लोक व दिव्य पिण्ड **भद्राः**=हमारा कल्याण व सुख करनेवाले हैं और **अमृतबन्धवः**=(अ+मृत+बन्धु) हमारे साथ

नीरोगता का सम्बन्ध करनेवाले हैं। जितना-जितना हम इन सूर्यादि देवों के सम्पर्क में जीवन बितायेंगे उतना-उतना ही दीर्घजीवी बनेंगे। पशु हमारी अपेक्षा अधिक प्राकृतिक जीवन बिताते हैं और परिणामतः नीरोग होते हैं। यह प्रकृति हमें भी नीरोग बनाती है यदि हम इसकी गोद में बैठने का ध्यान करते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति के द्वारा इस संसार को बनाते हैं, सब पिण्ड प्रकृति के अनुसार सत्त्व, रजस् व तमस् को लिये हुए हैं। कोई भी पदार्थ इन गुणों से रहित नहीं, ये हमें सुखी व नीरोग बनाते हैं।

ऋषिः—**बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सुसंरब्ध' देव तथा उल्कापात

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥ ६ ॥

(१) **यद्**=जो **देवाः**=प्रकृति से उत्पन्न हुए-हुए ये दिव्य लोक-लोकान्तर हैं, वे सब **अदः सलिले**=उस महान् अन्तरिक्ष में (सलिले=अन्तरिक्षे ७।४९।१ द०) **सुसंरब्धाः**=बहुत अच्छी प्रकार आपस में जुड़े हुए (cloudly joined) न असम्बद्ध रूप में **अतिष्ठत**=अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित हैं। जैसे फूल अलग-अलग होते हुए भी एक माला में पिरोये हुए होते हैं, उसी प्रकार ये लोक-लोकान्तर अलग-अलग होते हुए भी प्रभु रूप सूत्र में पिरोये हुए हैं। ब्रह्माण्ड के अवयवभूत ये लोक-लोकान्तर अलग-अलग होते हुए भी मिलकर एक ब्रह्माण्ड की इकाई को बनाते हैं। सब पिण्ड अव्यवस्थित न होकर एक व्यवस्था में चल रहे हैं, इसी से ये कहीं टकराते नहीं। अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित हुए-हुए अपने मार्ग का आक्रमण कर रहे हैं। (२) **अत्रा**=इस विशाल अन्तरिक्ष में **नृत्यतां इव**=नृत्य-सा करते हुए **वः**=इन सब पिण्डों का **तीव्रः रेणुः**=अन्य सारे पिण्ड की अपेक्षा कुछ तीव्र गति में हुआ हुआ शिथिल भाग (रेणु) **अप अयत**=उस पिण्ड से दूर किसी ओर पिण्ड की ओर चला जाता है। इसे ही व्यवहार में उल्कापात कहते हैं। आकाश में तारे नृत्य-सा करते हुए प्रतीत होते हैं, उनका टिमटिमाना ऐसा ही लगता है। इन तारों का पृथ्वी की धूल की तरह जो शिथिल भाग होता है, वह कभी-कभी समीप से गति करते हुए किसी और पिण्ड की ओर चला जाता है। साधारण लोग इसे 'तारा टूटना' कह देते हैं। इन उल्कापातों से अन्य पिण्डों की रचना का ज्ञान होने में बहुत कुछ सहायता मिलती है।

भावार्थ—आकाश में वर्तमान ये सब पिण्ड अलग-अलग होते हुए भी परस्पर व्यवस्था में सम्बद्ध हैं। कभी-कभी इनका कोई शिथिल भाग तीव्र-गति होकर दूसरे पिण्ड की ओर चला जाता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आकाश में सूर्य का स्थापन

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन॥ ७ ॥

(१) **यद्**=जब **देवाः**=सब देव-प्रकृति से उत्पन्न हुए-हुए लोक-लोकान्तर **भुवनानि**=इस मर्त्यलोकस्थ प्राणियों को उसी प्रकार **अपिन्वत**=प्रीणित करते हैं **यथा**=जैसे कि **यतयः**=मेघ (जलं नियमयन्ति इति यतयः सा०), उस समय **अत्रा समुद्रे**=इस अन्तरिक्ष में **सूर्यम्**=सूर्य को **आ-अजभर्तन**=धारण करते हैं, उस सूर्य को जो **गूढम्**=प्रकृति में संवृत रूप में विद्यमान था।

(२) मेघ अपने वृष्टिजल से उन सब प्राणियों को शान्ति प्राप्त कराते हैं जो गर्मी के सन्ताप से व्याकुल हो रहे थे। तथा ये मेघ ही वृष्टि द्वारा पृथिवी में अन्नों को उत्पन्न करके प्राणियों की शान्ति का कारण बनते हैं। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड के सभी लोक-लोकान्तर इन प्राणियों की अपनी विविध देनों के द्वारा प्रीणित करनेवाले होते हैं। इन देवों में सब से महत्त्वपूर्ण स्थान इस सूर्य का है जो प्रजाओं के प्राण के ही रूप में उदित होता है। यह सूर्य भी अन्य लोकों की तरह प्रकृति में छिपा हुआ था। इसे प्रकट करके आकाश में स्थापित किया गया, जिससे यह प्रकाश के द्वारा अन्धकार को दूर करता हुआ सब प्राणियों के अन्दर प्राणशक्ति का संचार करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रकृति से बने सभी प्रकाशमान पिण्ड प्राणियों को अपनी-अपनी देन से प्रीणित करते हैं, सूर्य का आकाश में धारण प्राणियों में प्राणशक्ति के संचार के लिये ही तो हुआ है।

ऋषिः—**बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रकृति के आठ पुत्र

अ॒ष्टौ पु॒त्रासो॒ अदि॑ते॒र्ये जा॒तास्त॒न्व१॒स्परि॑। दे॒वाँ उप॒ प्रैत्स॒प्तभिः॒ परा॑ मार्ता॒ण्डमा॑स्यत्॥ ८ ॥

(१) **अदितेः**=अविनाशी प्रकृति के **अष्टौ पुत्रासः**=आठ पुत्र हैं, **ये**=जो **तन्वः**=उस प्रकृति के शरीर से **परिजाताः**=चारों ओर उत्पन्न हुए। अदिति के ये आठ पुत्र 'मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग और विवस्वान्' इन सात पुत्रों द्वारा यह **देवान्**=देवों को **उप प्रैत्**=समीपता से प्राप्त होती है और आठवें **मार्ताण्डम्**=इस आदित्य को **परा**=देवलोकों से दूर इस मर्त्यलोक के समीप **आस्यत्**=फेंकती है, स्थापित करती है। (३) सम्भवतः यह ब्रह्माण्ड ८ सौर लोकों से बना है। इन आठ में मित्र, वरुण आदि सूर्यों को केन्द्र बनाकर विद्यमान लोक 'देवलोक' कहलाते हैं और आदित्य को केन्द्र में स्थापित करके चलनेवाला यह लोक मर्त्यलोक है। सबसे प्रथम देवलोक 'मित्रलोक' है, दूसरा 'वरुणलोक', तीसरा 'धातृ लोक', चौथा अर्यम-लोक, पाँचवाँ 'अंशलोक', छठा 'भग लोक', सातवाँ 'विवस्वत् लोक' है। इन देवलोकों की समाप्ति पर आठवाँ यह मर्त्यलोक से जिसका सूर्य 'आदित्य' है अथवा जिसे मार्ताण्ड भी कहते हैं क्योंकि इसकी गति दिन-रात को बनाती हुई प्राणियों की मृत्यु का कारण बनती है। (४) जो व्यक्ति गुणों की आदान की वृत्तिवाला बनता है और आदित्य की तरह खारे पानी में से भी शुद्ध जल को ही लेनेवाले सूर्य की तरह अच्छाइयों को ही ग्रहण करता है वह आदित्य लोक का विजय करके विवस्वान् के लोक में जन्म लेता है, यहां यह 'विवासयति' ज्ञान-किरणों से अन्धकार को दूर करनेवाला होता है। इस प्रकार से स्वाध्याय से ज्ञान प्रकाश को बढ़ाता हुआ यह इस विवस्वान् के लोक को जीतकर 'भग लोक' में जन्म लेता है। वहाँ प्रभु का भजन उपासन करनेवाला बनकर 'अंशलोक' में पहुँचता है और यहाँ अपनी सम्पत्तियों का अंशापन करता हुआ, सारे का सारा स्वयं न खाकर सदा बाँटता हुआ 'अर्यमा लोक' में पहुँचता है। यहां 'अरीन् यच्छति' काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का नियमन करता हुआ 'धातृलोक' में जन्म लेता है। यहाँ सबके धारण की वृत्तिवाला बनकर 'वरुण लोक' में पहुँचता है। यहाँ द्वेष-ईर्ष्या आदि का पूर्णतया निवारण करनेवाला बनकर 'मित्र लोक' में आता है। यह अन्तिम लोक है, यहाँ सबके साथ स्नेह से चलता हुआ यह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है और जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है, प्रकृति से ऊपर उठकर परमेश्वर को पा लेता है।

भावार्थ—प्रकृति से आठ लोक बने हैं। सात देवलोक हैं, आठवाँ यह मर्त्यलोक। हमें इनका उत्तरोत्तर विजय करते हुए ब्रह्मलोक में पहुँचना है।

सूचना—सात देववृत्तियाँ हैं—(क) **विवस्वान्**=स्वाध्याय द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर करना,

(ख) **भग**=प्रभु-भजन करते हुए मन को शुद्ध बनाना, भजनीय ऐश्वर्य को ही कमाना, (ग) **अंश**=अर्जित ऐश्वर्य को विभक्त करके खाने की वृत्तिवाला होना, (घ) **अर्यमा**=लोभादि शत्रुओं को जीतना, (ङ) **धाता**=सबका धारण करनेवाला बना, (च) **वरुण**=किसी से द्वेष न करना और (छ) **मित्र**=सबके साथ स्नेह से चलना। इन दिव्यगुणों को अपनानेवाला ही प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिर्बृहस्पतिर्वा लौक्य अदितिर्वा दाक्षायणी** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सात देवलोक, आठवाँ मर्त्यलोक

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम्। प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्॥ ९॥

(१) **अदितिः**=अविनाशी प्रकृति **सप्तभिः पुत्रैः**='मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग और विवस्वान्' नामक सात पुत्रों से **पूर्व्यं युगम्**=देवलोकों के प्रथम युग को **उप प्रैत्**=समीपता से प्राप्त हुई। अर्थात् पहले प्रकृति से मित्र-वरुण आदि नामवाले सात देव (सौर) लोकों का जन्म हुआ। (२) **पुनः**=फिर **त्वत्**=इस एक आठवें **मार्ताण्डम्**=सूर्य को **प्रजायै**=जन्म के लिये व **मृत्यवे**=मृत्यु के लिये **आभरत्**=आकाश में स्थापित किया। इस मर्त्यलोक के सूर्य की गति से ही दिन-रात का निर्माण होता है, ये दिन और रात हमारे जीवन को एक-एक दिन करके काटते चलते हैं और इस प्रकार मृत्यु का कारण बनते हैं। (३) यहाँ भी यह स्पष्ट है कि सम्भवतः ब्रह्माण्ड ८ सौर लोकों से बना हुआ है इनमें सात सौर लोक तो देवलोक हैं और 'यद् देवेषु आयुषम्'='जो देवों में ३०० वर्ष का आयुष्य है' इस मन्त्र-वाक्य के अनुसार इनमें प्राणियों का आयुष्य ३०० वर्ष का है। इस आठवें सौ वर्ष के आयुष्यवाले लोक को उनकी तुलना में मर्त्यलोक नाम दिया गया है।

भावार्थ—पहले सात देवलोक बने, तदुपरान्त आठवाँ मर्त्यलोक। 'लौक्य बृहस्पति' से दृष्ट इस सूक्त में सृष्ट्युत्पत्ति का सुन्दर वर्णन हुआ है। इस सृष्टि में आठवें मार्ताण्डवाले इस मर्त्यलोक में मनुष्य को चाहिये कि वह 'गौरिवीति शाक्त्य' बने। गौरी (=speech वेदवाणी) वेदवाणी ही है **वीति**=भोजन जिसका, ऐसा शक्ति का पुत्र। 'ज्ञान-सम्पन्न और सबल' ही पुरुष आदर्श है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है। इसका चित्रण करते हुए प्रभु कहते हैं कि—

[७३] त्रिसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बहुलाभिमानः

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः।
अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **उग्रः**=तेजस्वी होकर **सहसे**=आन्तरिक शत्रुओं के पराभव के लिये तथा **तुराय**=बाह्य शत्रुओं के हिंसन के लिये **जनिष्ठाः**=समर्थ होता है। इन शत्रुओं के नाश से **मन्द्रः**=अत्यन्त आनन्दमय जीवनवाला, **ओजिष्ठः**=खूब ही ओजस्वी तू होता है। ओजस्वी होने से तू **बहुलाभिमानः**=बहुत आत्मसम्मान की भावनावाला होता है, आत्मसम्मान को खोकर तू संसार में अशुभ कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता। यह आत्मसम्मान की भावना ही तुझे खुशामदरूप आत्महनन से बचानेवाली होती है। (२) इस प्रकार के जीवनवाले **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष

को **अत्र**=यहाँ संसार में **मरुतः**=माता, पिता, आचार्य व अतिथि (मितराविणः, महद् द्रवन्ति इति वा नि० ११।१३) रूपेण परिमित बोलनेवाले व खूब क्रियाओं में गतिवाले मनुष्य **अवर्धन्**=सब प्रकार से बढ़ाते हैं। माता इसके चरित्र का निर्माण करती है, पिता इसे शिष्टाचार सिखाते हैं और आचार्य इसे ज्ञान से भरने का प्रयत्न करते हैं। अतिथि इसके लिये मार्गदर्शन कराते हुए इसे मार्ग भ्रष्ट होने से बचाते हैं। (३) यह सब वर्धन होता तभी है **यद्**=जब कि **माता**=माता **वीरं दधनत्**=इस वीर को धारण करती है, वही **धनिष्ठा**=धारण करनेवालों में सर्वोत्तम है। माता का कार्य तो भवन की नींव के रूप में है, उस नींव पर ही बाकी सब ने इसके जीवन के भवन का निर्माण करना होता है। इसी दृष्टि से माता का स्थान सबसे ऊँचा माना गया है, माता का आदर सब से अधिक है। माता सन्तान में आत्मसम्मान की भावना को भर के उसे क्षुद्र कार्यों से एकदम पराङ्मुख कर देती है।

भावार्थ—हमें 'उग्र-मन्द्र-ओजिष्ठ व बहुलाभिमान' बनना है। इस जीवन की नीव माता रखती है और उस नीव पर 'पिता, आचार्य, अतिथि' जीवन-भवन का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पञ्चायतन

द्रुहो निषत्ता पृशनी चिदेवैः पुरू शंसेन वावृधुष्ट इन्द्रम्।
अभीवृतेव ता महापदेन ध्वान्तात्प्रपित्वादुदरन्त गर्भाः॥ २॥

(१) गत मन्त्र का माता से प्राप्त कराये गये चरित्रवाला वीर **द्रुहः निषत्ता**=काम, क्रोध, लोभ आदि आन्तरिक जिघांसु शत्रुओं का नाश करनेवाला होता है (सद्=to kill)। यह **चित्**=निश्चय से **एवैः**=अपनी क्रियाओं के द्वारा **पृशनी**=उस प्रभु से सम्पर्क=पृशनवाला होता है। **ते**=गत मन्त्र में वर्णन किये गये वे मरुत् **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **पुरुशंसेन**=पालनात्मक व पूरणात्मक उपदेश के द्वारा **वावृधुः**=खूब ही बढ़ाते हैं। (पुरु=पृ पालनपूरणयोः)। (२) **ता**=वे अपत्य (=सन्तान) **इव**=मानो **महापदेन**=उस महान् गन्तव्य प्रभु से (पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः) **अभीवृता**=परिवृत से होते हैं। वस्तुतः माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि को निमित्त बनाकर प्रभु ही उनका रक्षण करते हैं। ये व्यक्ति **प्रपित्वात्**=समीप प्राप्त **ध्वान्तात्**=अन्धकार से **उद् अरन्त**=ऊपर उठते हैं, इसलिए ऊपर उठते हैं कि **गर्भाः**=ये माता आदि के गर्भ बनते हैं। ५ वर्ष तक माता की दृष्टि में रहते हुए ये चरित्रवान् बनते हैं। फिर ८ वर्ष तक पितृगर्भ में रहते हुए ये शिष्टाचार की शिक्षा को प्राप्त करते हैं। फिर आचार्य इन्हें गर्भ में करके ज्ञान से परिपूर्ण करता है 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'। अन्ततः अतिथियों के गर्भ में रहता हुआ गृहस्थ कभी मार्ग भ्रष्ट नहीं होता। अपने जीवन में यह प्रभु के गर्भ में रहने का तो प्रयत्न करता ही है। इसी कारण यह अन्धकार से ऊपर उठ पाता है।

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य, अतिथि व महापद (प्रभु) के गर्भ में रहते हुए हम अन्धकार से सदा ऊपर उठें।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सालावृक-संहार

ऋष्वा ते पादा प्र यज्जिगास्यवर्धन्वाजा उत ये चिदत्र।
त्वमिन्द्र सालावृकान्त्सहस्रमासन्दधिषे अश्विना ववृत्याः॥ ३॥

(१) **यत्**=जब **प्रजिगासि**=तू प्रकृष्ट गतिवाला होता है, अर्थात् उत्तम मार्ग पर चलता है अथवा प्रभु की ओर चलता है (प्रकृति की ओर जाना ही नीचे की ओर जाना है, प्रभु की ओर जाना ही उत्कृष्ट मार्ग पर जाना है) तो **ते**=तेरे **पादा**=पाँचों **ऋष्वा**=(great, high, noble) महान् व उत्कृष्ट होते हैं। पाँवों की क्या, ये **चित्**=जो भी **अत्र**=यहां शरीर में **वाजाः**=शक्तियाँ हैं **उत**=और वे भी **अवर्धन्**=वृद्धि को प्राप्त होती हैं। प्रभु की ओर चलने से शक्तियों में वृद्धि होती है, प्रकृति में फँसना ही शक्तियों को जीर्ण करता है। (२) प्रभु की ओर चलता हुआ **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **सहस्राम्**=शतशः **सालावृकान्**=(dog, wolf, deer, jaekal cat, monkey) कुत्ते, भेड़िये, हरिण, बिल्ली, गीदड़ व बन्दर आदि की वृत्तियों को **आसन् दधिषे**=जबड़े में धारण करता है, अर्थात् इनको कुचल डालता है। 'उलूकयातुं शुशुलूकयातुं०' मन्त्र में उलूक आदि की वृत्ति को छोड़ने का उपदेश है। यहाँ 'सालावृक' इस एक शब्द से ही इन सब अशुभ वृत्तियों के त्याग का संकेत हुआ है। कुत्ते की तरह हमें परस्पर वैरी नहीं बनना, भेड़िये की तरह पेटू नहीं बनना, हरिण की तरह श्रवणव्यसनी नहीं होना, बिल्ली की तरह निर्बलों पर अत्याचार में आनन्द नहीं लेना, गीदड़ की तरह छलछिद्रवाला नहीं होना और बन्दर की तरह चञ्चल नहीं बनना। (३) इन वृत्तियों को दूर करने के लिये ही तू **अश्विना**=प्राणापान का **ववृत्याः**=आवर्तन करता है। प्राणायाम के द्वारा तूने इन सब वृत्तियों को दूर करना है। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध करके तू अपने को इन अशुभ वृत्तियों से बचा सकेगा।

भावार्थ—उत्कृष्ट मार्ग पर चलने से शक्तियों का वर्धन होता है। प्रभु-प्रवण व्यक्ति अशुभवृत्तियों का शिकार नहीं होता। इस कार्य में प्राणसाधना इसके लिये सहायक होती है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संग्राम द्वारा प्रभु का उपासन

समना तूर्णिरुप यासि यज्ञमा नासत्या सख्याय वक्षि।
वसाव्यामिन्द्र धारयः सहस्राश्विना शूर ददतुर्मघानि॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना के द्वारा **समना**=संग्राम में **तूर्णिः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करता हुआ **शूर**=हे वीर पुरुष! तू **यज्ञाम्**=उस उपास्य प्रभु को **उपयासि**=समीपता से प्राप्त होता है। इस संग्राम में विजय के लिये ही तू **नासत्या**=प्राणापान को **सख्याय**=मित्रता के लिये **आवक्षि**=सर्वथा धारण करता है। प्राणायाम के द्वारा प्राणापान की साधना ही तो चित्तवृत्ति के निरोध के लिये हमें क्षम बनाती है। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू इस प्राणसाधना से **सहस्रा**=अनेकों **वसाव्यम्**=वसु समूहों को **धारयः**=धारण करता है। निवास को उत्तम बनाने के लिये आवश्यक तत्त्व वसु हैं। यह प्राणसाधक इन वसुओं को प्राप्त करता है। (३) हे शूर! **अश्विना**=ये प्राणापान **मघानि**=सब ऐश्वर्यों को **ददतुः**=देते हैं। शरीर को ये 'स्वास्थ्य' प्रदान करते हैं, मन को 'नैर्मल्य' प्राप्त कराते हैं और बुद्धि में 'तीव्रता' का आधान करते हैं। ये तीन ही महत्त्वपूर्ण ऐश्वर्य हैं, ये ही हमें ईश्वर का रूप बनाते हैं।

भावार्थ—संग्राम में कामादि का पराभव करके ही हम प्रभु को उपासित करते हैं। प्राणसाधना हमें उन सब वसुओं को प्राप्त कराती है जिनसे कि जीवन सुन्दर बनता है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋत का पालन और प्राणायाम

मन्दमान ऋतादधि प्रजायै सखिभिरिन्द्र इषिरेभिरर्थम्।
आभिर्हि माया उप दस्युमागान्मिहः प्र तम्रा अवपत्तमांसि ॥ ५ ॥

(१) **इन्द्रः**= परमैश्वर्यशाली प्रभु **ऋतात्**=हमारे दैनिक कार्यक्रम को ठीक समय पर करने से अथवा यज्ञों से **अधि-मन्दमानः**=खूब प्रसन्न होते हुए, **इषिरेभिः**=निरन्तर गतिशील **सखिभिः**= मरुत् (=प्राण) रूप मित्रों के द्वारा **प्रजायै**=हम प्रजाओं के लिये **अर्थम्**=वाञ्छनीय वस्तुओं को **अवपत्**=देते हैं। जिस समय हम (क) सब क्रियाओं को ठीक समय व स्थान पर करते हैं, (ख) जब हमारा जीवन यज्ञमय होता है, (ग) जब हम प्राणसाधना करनेवाले होते हैं, तब प्रभु हमें सब वाञ्छनीय वस्तुएँ देते हैं। वस्तुतः वाञ्छनीय वस्तुएँ तीन ही हैं, शरीर का स्वास्थ्य, मन का नैर्मल्य और बुद्धि की तीव्रता। ये तीनों ही इन मरुतों व प्राणों की साधना से प्राप्त होती हैं। (२) **आभिः**=इन प्रजाओं के हेतु से **हि**=ही प्रभु (क) **मायाः**=असुरों की मायाओं पर तथा **दस्युम्**= (दस्=destroy) उपक्षीण करनेवाली इन काम-क्रोधाति दास्यव वृत्तियों पर **उप आगत्**=आक्रमण करते हैं। जीव के हित के लिये प्रभु इन वृत्तियों को नष्ट करते हैं। (ख) **तमांसि**=अज्ञानान्धकारों को **अवपत्**=नष्ट करते हैं। 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'=इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के पोषण के होने पर अज्ञानान्धकार का नामोनिशान नहीं रहता। (ग) **तम्राः**=(तम्=to wish, desire) वाञ्छनीय **मिहः**=धर्ममेघ समाधि में होनेवाली आनन्द की वृष्टियों को **अवपत्**=करते हैं।

भावार्थ—ऋत के पालन व प्राणायाम के होने पर (क) सब वाञ्छनीय वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, (ख) अन्दर ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रकाश होता है, (ग) समाधिजन्य आनन्द की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण व प्राणायाम

सनामाना चिद् ध्वसयो न्यस्मा अवाहन्निन्द्र उषसो यथानः।
ऋष्वैरगच्छः सखिभिर्निकामैः साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघन्थ ॥ ६ ॥

(१) **यथा**=जैसे **इन्द्रः**=सूर्य **उषसः अनः**=उषा के शकट को **अवाहन्**=नष्ट कर देता है, सूर्योदय होता है और उषा की समाप्ति हो जाती है, इसी प्रकार **अस्मा**=गत मन्त्र में वर्णित ऋत के पालन करनेवाले के लिये **सनामाना चित्**=समान नामवाले भी ('काम' यह वासना व प्रभु दोनों का नाम है, इसी प्रकार 'प्रद्युम्न' 'असुर' आदि शब्द भी वासना व प्रभु दोनों के ही वाचक हैं) इन आसुरभावों को **निध्वसयः**=निश्चय से नष्ट करते हैं। (२) इनके नाम के लिये **ऋष्वैः**=गतिशील **निकामैः**=निश्चय से कामना को पूर्ण करनेवाले **सखिभिः**=मरुत् (=प्राण) रूप मित्रों के साथ **अगच्छः**=इन पर आप आक्रमण करते हैं। प्राणसाधना के द्वारा ही तो इनका विनाश होता है। हे प्रभो! **साकम्**=इस प्राणसाधना के द्वारा आप **हृदि प्रतिष्ठा**=हृदय में दृढ़मूल हुए-हुए इन कामादि को **आजघन्थ**=सर्वतो विनष्ट कर देते हैं। काम-क्रोध-लोभ के किलों को तोड़कर आप हमारे जीवन में नैर्मल्य व प्रसाद का स्थापन करते हैं। (३) कामादि का ध्वंस प्रभु-स्मरण के द्वारा हमारे जीवनों में इस प्रकार होता है जैसे कि सूर्योदय के होने पर उषा का। सूर्योदय हुआ और उषा का नामोनिशान समाप्त हो जाता है, इसी प्रकार प्रभु का स्मरण हुआ और काम का ध्वंस हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण व प्राणायाम कामादि आसुर वृत्तियों के संहार के साधन हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नम्रता व सरलता

त्वं जघन्थ नमुचिं मखस्युं दासं कृण्वान ऋषये विमायम्।
त्वं चकर्थ मनवे स्योनान्पथो देवत्राञ्जसेव यानान्॥ ७॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **नमुचिम्**=(न+मुच्) अन्त तक पीछा न छोड़नेवाली अभिमानवृत्ति को **जघन्थ**=नष्ट करते हैं। प्रभु-स्मरण से मनुष्य को सब यज्ञों के कर्तृत्व का अहंकार नहीं होता, सब यज्ञ प्रभु-शक्ति से पूर्ण होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। प्रभुभक्त सब यज्ञों को प्रभु के अर्पण करता है, स्वयं कर्तृत्व के अहंकार से रहित हो जाता है। एवं प्रभु-स्मरण अहंकार को नष्ट करनेवाला है। (२) हे प्रभो! आप उस नमुचि को नष्ट कर डालते हो जो **मखस्युम्**=सब यज्ञों का अन्त करनेवाला है (षोऽन्तकर्मणि)। अहंकार से यज्ञ का यज्ञत्व नष्ट हो जाता है, वह यज्ञ असुरों का 'नामयज्ञ' ही रह जाता है 'यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्'। हे प्रभो! आप **ऋषये**=तत्त्वद्रष्टा के लिये **दासम्**=(दसु उपक्षये) इस उपक्षय के कारणभूत अहंकार को **विमायम्**=माया व शक्ति से रहित **कृण्वानः**=करते हैं। प्रभु की कृपा से अहंकार की माया को समाप्त करके यह तत्त्वद्रष्टा पुरुष निरभिमान बनता है। (३) हे प्रभो! आप ही **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **पथः**=मार्गों को **स्योनान्**=सुखकर **चकर्थ**=करते हैं। **देवत्रा**=देवों में **अञ्जसा इव**=सब प्रकार की कुटिलता से रहित ही **यानान्**=मार्गों को आप बनाते हैं। देववृत्ति के पुरुषों को अकुटिल व सरल मार्ग से आप ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त सब उत्तम कर्मों को अहंकार रहित होकर करते हैं, ये कभी कुटिल मार्ग से नहीं चलते। 'नम्रता व सरलता' इनके जीवन को भूषित करती हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपरि-बुध्न

त्वमेतानि पप्रिषे वि नामेशान इन्द्र दधिषे गभस्तौ।
अनु त्वा देवाः शवसा मदन्त्युपरिबुध्नान्वनिनश्चकर्थ॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार तत्त्वद्रष्टा प्रभु सब यज्ञों को प्रभु से होता हुआ समझते हैं, इसीलिए उन्हें उन यज्ञों का गर्व नहीं होता। यह गर्व का न होना ही उन्हें विनीत बनाये रखता है। **एतानि विनामा**=इन विविध नामों का उच्चारण करनेवाले प्रभु-भक्तों को हे **ईशान**=सर्वैश्वर्यवाले **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप ही **पप्रिषे**=पूर्ण बनाते हैं, इनकी न्यूनताओं को आप ही दूर करते हैं। इनकी न्यूनताओं को दूर करने के लिये आप इन्हें **गभस्तौ**=ज्ञान-रश्मियों में **दधिषे**=धारण करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में ये मार्ग-भ्रष्ट नहीं होते और मार्ग पर चलते हुए देववृत्ति के बनते हैं, आपके समीप और समीप पहुँचते जाते हैं। (२) **त्वा अनु**=आपकी अनुकूलता में चलते हुए **देवाः**=ये देव पुरुष **शवसा**=शक्ति से **मदन्ति**=हर्ष का अनुभव करते हैं। उपासक उपास्य की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है। उपासना का मुख्य लाभ ही यह है कि उस प्रभु की शक्ति को हम अपने में भरनेवाले होते हैं। (३) हे प्रभो! आप **वनिनः**=इन उपासकों को (वन संभक्तौ) **उपरिबुध्नान्**=ऊपर मूलवाला **चकर्थ**=करते हैं। ये अपने जीवन का मूल व आधार प्रकृति को न बनाकर प्रभु को बनाते हैं। इनकी क्रियाएँ प्राकृतिक भोगों को दृष्टिकोण में न रखकर प्रभु प्राप्ति के दृष्टिकोण से होती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें। प्रभु हमारा पूरण करेंगे, ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करायेंगे। हम

प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होते हुए प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से ही सब क्रियाओं को करेंगे।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घर-दूध-अन्न

चक्रं यद॑स्याप्स्वा निष॑त्तमुतो तद॑स्मै मध्विच्च॑च्छद्यात्।
पृथिव्याम॑तिषितं यदूधः॒ पयो॒ गोष्वद॑धा ओष॑धीषु॥ ९॥

(१) **यत्**=जब **अस्य**=गत मन्त्र में वर्णित इस प्रभु-भक्त का **अप्सु**=कर्मों के विषय में **चक्रम्**=नियमित गति से चलनेवाला क्रम, अर्थात् दैनिक कार्यक्रम का चक्र **आ-निषत्तम्**=सम्यक्तया (सद्गति) गतिमय होता है, अर्थात् जब यह प्रभु-भक्त (क) स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्यों को करके, (ख) अध्यात्म उन्नति के लिये ध्यान व स्वाध्याय को करता है। (ग) इसके बाद संसार यात्रा के लिये जीविका प्राप्ति के लिये किसी उत्तम कर्म में प्रवृत्त होता है, (घ) और अन्त में प्रभु-स्मरण के साथ लोकहित के लिये यथाशक्ति कार्य को करता हुआ दिन के कार्यचक्र को पूर्ण करता है **तद्**=तब **उत उ**=अवश्य ही वे प्रभु **अस्मै**=इस कर्त्तव्यचक्र को पूर्ण करनेवाले पुरुष के लिये **मधुरत्**=माधुर्य ही माधुर्य **चच्छद्यात्**=चाहते हैं (छन्द्=wish, desere) प्रभु इसके जीवन को अत्यन्त मधुर बनाते हैं। (२) इसके जीवन को मधुर बनाने के लिये वे (क) **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर **यत् अतिषितम्**=जो अत्यन्त सुबद्ध है उस **ऊधः**=शत्रुओं से अप्राप्य सुरक्षित गृह को **अदधाः**=धारण करते हैं (an apartment to wlrich only friends are inkited)। इस छोटे, परन्तु शान्त गृह में वे शान्तिपूर्वक अपने जीवन का यापन करते हैं। (ख) इनके लिये इस घर में वे प्रभु **गोषु पयः**=गौवों में दूध का स्थापन करते हैं। इनके लिये घर में गोदुग्ध सुप्राप होता है। यह दूध इनके शरीर, मन व बुद्धि सभी को स्वस्थ बनाता है। (ग) इस दूध के साथ प्रभु **ओषधीषु**=ओषधियों में 'ओषधयः फलपाकान्ताः' फलपाक से ही जिनका अन्त हो जाता है उन गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्नों में **पयः**=आप्यायन व वर्धन को धारण करते हैं। अर्थात् अन्नादि वानस्पतिक पदार्थ ही इनके आप्यायन का कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम अपने दैनिक कार्यक्रम का उत्तमता से पालन करेंगे तो प्रभु हमें सुबद्ध गृह-दूध व अन्न प्राप्त कराके हमारे जीवन को अत्यन्त मधुर बना देंगे।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति व ज्ञान का पुत्र

अश्वा॒दिया॒येति॒ यद्वद॑न्त्योज॑सो जा॒तमु॒त म॑न्य एनम्।
म॒न्योरि॑याय ह॒र्म्येषु॑ तस्थौ॒ यतः॑ प्रजज्ञ इन्द्रो॑ अस्य वेद॥ १०॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो व्यक्ति दैनिक कर्त्तव्यों को बड़ी नियमित गति से करता है और जिसके लिये प्रभु सुन्दर गृह दूध व वानस्पतिक भोजनों को प्राप्त कराते हैं वह अत्यन्त तेजस्वी बनता है। उसे देखकर लोग **इति**=ऐसा **यद् वदन्ति**=जो कहने लगते हैं कि **अश्वाद्**=आदित्य से ही, द्युलोक के मार्ग का आक्रमण करनेवाले इस सूर्य से ही **इयाय**=आया है, उत्पन्न हुआ है। **उत**=और मैं **एनम्**=इसको **ओजसः**=ओज से ही **जातम्**=पैदा हुए-हुए को **मन्ये**=मानता हूँ। वस्तुतः यह इतना तेजस्वी होता है कि वह सूर्य का पुत्र अथवा ओजस्विता का ही **पुत्र**=पुतला प्रतीत होने लगता है। तेज का यह पुञ्ज बन जाता है। (२) तेज का पुंज ही नहीं, यह **मन्योः**= (मन्=अवबोध) ज्ञान से **इमाय**=उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, ज्ञान का पुतला होता है, खूब ज्ञानी

बनता है। इस प्रकार तेजस्वी व ज्ञानी बनकर **हर्म्येषु**=(हृ=हर्म्य) उन गृहों में **तस्थौ**=निवास करता है जिनसे रोगों व दोषों का हरण हो गया है। ऐसा सुन्दर इसका जीवन होता है कि **यतः प्रजज्ञे**=जहाँ से, जिन कर्मों के फलस्वरूप, इसका ऐसा विकास हो गया **अस्य**=इस बात को **इन्द्रः वेद**=प्रभु ही जानते हैं। सामान्य मनुष्य के लिये उसकी उस उन्नत-स्थिति के मूल को समझना कठिन हो जाता है।

भावार्थ—कर्त्तव्यपालक तेजस्वी व ज्ञानी बनता है, उत्तम घर में निवास करता है। इस पर प्रभु कृपा सदा बनी रहती है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुन्दर जीवन

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य१स्मान्निधयेव बद्धान्॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के तेजस्वी व ज्ञानी पुरुष **वयः**=मार्ग पर चलनेवाले होते हैं, कभी कर्त्तव्यमार्ग से भ्रष्ट नहीं होते **सुपर्णाः**=कर्त्तव्यमार्ग पर चलते हुए ये अपना उत्तमता से पालन व पूरण करते हैं। शरीर को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते, साथ ही मन में न्यूनताओं को नहीं आने देते। इस पालन व पूरण के लिये ही ये **इन्द्रं उपसेदुः**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु का उपासन करते हैं। वस्तुतः प्रभु ने ही तो पालन व पूरण करना होता है। (२) ये व्यक्ति **प्रियमेधाः**=बुद्धि प्रिय होते हैं। इन्हें प्रचिकेता की तरह सांसारिक भोगों की रुचि न होकर ज्ञान प्राप्ति की ही कामना होती है। इस कामना के कारण ही ये **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा बनते हैं। और **नाधमानाः**=सदा प्रभु से प्रार्थना करते हुए होते हैं कि हे प्रभो! **ध्वान्तम्**=अज्ञानान्धकार को **अप ऊर्णुहि**=हमारे से दूर करिये, **चक्षुः पूर्धि**=प्रकाश का हमारे में पूरण करिये और अज्ञानान्धकार के कारण **निधया इव**=विषयों के जाल समूह से **बद्धान्**=बन्धे हुए हम लोगों को **मुमुग्धि**=मुक्त करिये। ज्ञान के प्रकाश में विषयों का अन्धकार लुप्त हो जाए और हमारा जीवन पवित्र होकर आपकी उपासना के योग्य बने।

भावार्थ—हम मार्ग पर चलते हुए जीवन को सुन्दर बनाएँ। हमारी यही कामना हो कि प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करके हमारे में प्रकाश का पूरण करें जिससे हम विषयजालबन्धन से सदा मुक्त रहें।

सम्पूर्ण सूक्त जीवन को सुन्दर बनाने पर बल देता है। प्रारम्भ में कहा है कि मनुष्य 'उग्र, मन्द्र, ओजिष्ठ व बहुलाभिमान' बने। (१) अशुभवृत्तियों का संहार करे, (३) अभिमानशून्य हो, (७) भौतिक प्रवृत्ति का न होकर अध्यात्मवृत्तिवाला हो, (८) दूध व अन्नरस को ही अपना आहार बनाये, (९) शक्ति व ज्ञान का पुञ्ज बने, (१०) प्रभु से यही आराधना करे कि 'अज्ञानान्धकार को दूर करिये। प्रकाश का हमारे में पूरण करिये'। (११) हम शत्रुओं का संहार करनेवाले व ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाले हों—

[७४] चतुः-सप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति-धन व ज्ञान

वसूनां वा चर्कृष इयक्षन्धिया वा यज्ञैर्वा रोदस्योः।
अर्वन्तो वा ये रयिमन्तः सातौ वनुं वा ये सुश्रुणं सुश्रुतो धुः॥ १ ॥

(१) **वनुम्**=शत्रुओं के हिंसन करनेवाले अथवा (win) जीतनेवाले **वा**=तथा **सुश्रुणम्**=उत्तम ज्ञानवाले उस परमात्मा को **धुः**=धारण करते हैं। कौन? **वसूनाम्**=निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों के **चर्कृषे**=आकर्षण के लिये **धिया वा**=बुद्धि व ज्ञान के द्वारा **यज्ञैः वा**=या यज्ञों के द्वारा **रोदस्योः**=द्यावपृथिवी का **इयक्षन्**=अपने से संगतिकरण (=मेल) चाहता हुआ। जो व्यक्ति द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर का अपने से मेल चाहता है, इस मेल के लिये ही वह बुद्धि व यज्ञों को साधन बनाता है। बुद्धि का व्यापार ठीक से होते रहने पर मस्तिष्क ठीक बना रहता है तथा हाथों के यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत रहने पर शरीर ठीक रहता है। मस्तिष्क की शक्ति को कायम रखने के लिये बुद्धि साधन बनती है और शरीर को ठीक रखने के लिये यज्ञ साधन बनते हैं। इन मस्तिष्क और शरीर दोनों के स्वास्थ्य के लिये वसुओं का, निवासक तत्त्वों का वर्धन अभीष्ट है। इन वसुओं का विनाश वासनाओं के कारण होता है। प्रभु स्मरण इन वासनाओं का विनाश करता है, इस प्रकार प्रभु का धारण वसुओं के वर्धन के लिये आवश्यक हो जाता है। (२) फिर प्रभु का धारण कौन करते हैं? **ये**=जो **रयिमन्तः**=धन को महत्त्व देनेवाले ऐश्वर्य-सम्पन्न लोग **सातौ**=धन की प्राप्ति के निमित्त **अर्वन्तः**=गतिशील होते हैं। ये धन की कामनावाले, धन प्राप्ति के लिये ही गति करनेवाले लोग भी प्रभु का धारण करते हैं। (३) वे भी प्रभु का धारण करते हैं, **ये**=जो कि **सुश्रुतः**=उत्तम ज्ञानवाले हैं। ज्ञान का स्रोत तो हैं ही प्रभु। प्रभु का उपासन ही प्रकाश को प्राप्त कराता है। इस प्रकार प्रभु का धारण तीन व्यक्ति करते हैं—(क) जो मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखना चाहते हैं, (ख) जो धन प्राप्त करना चाहते हैं, (ग) जो ज्ञान के प्रकाश के इच्छुक हैं। शक्ति, धन व ज्ञान सभी के देनेवाले वे प्रभु हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का धारण करते हैं। परिणामतः शक्ति, धन व ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ठीक चुनाव व चमक

हवं एषामसुरो नक्षत द्यां श्रवस्यता मनसा निंसत क्षाम्।
चक्षाणा यत्र सुवितार्य देवा द्यौर्न वारेभिः कृणवन्त स्वैः ॥ २ ॥

(१) **एषाम्**=गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का धारण करनेवाले इन भक्तों की **हवः**=पुकार, अर्थात् प्रार्थना **असुरः**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाली है (असून् राति)। इस प्रार्थना से ही यह भक्त **द्यां नक्षत**=द्युलोक को प्राप्त करता है, प्रार्थना इसे प्रकाशमय लोक में प्राप्त कराती है। एवं प्रार्थना के दो मुख्य लाभ हैं—(क) प्राणशक्ति का संचार, और (ख) प्रकाश की प्राप्ति। (२) यह भक्त **श्रवस्यता मनसा**=ज्ञान प्राप्ति की कामनावाले मन से **क्षां निंसत**=पृथ्वी का चुम्बन करता है, अर्थात् अत्यन्त नम्र होता है। घमण्डी के लिये ऐसा मुहाविरा प्रयुक्त होता है कि 'न जाने इसका दिमाग कहाँ चढ़ गया है?' इसके विपरीत नम्रता का सूचन इन शब्दों से हुआ है कि यह पृथ्वी का चुम्बन करता है जितनी नम्रता उतना ही ज्ञान। नम्रता से ही ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञानी अधिकाधिक नम्र होता चलता है। 'सोमवार' सौम्यता के वरण का ही तो उपदेश देता है। यह सौम्यता का वरण ही हमारा 'मंगल' करता है और हमें 'बुध' (=ज्ञानी) बनाता है। 'बुध' ही क्या, ज्ञानियों का भी ज्ञानी 'बृहस्पति' बनाता है। (२) **यत्र**=यह सौम्यता का मार्ग वह है जहाँ **चक्षाणा**=मार्ग को देखते हुए **देवाः**=ज्ञानी लोग **सुविताय**=सदा उत्तम मार्ग के लिये होते हैं। ये देव लोग **स्वैः**=अपने **वारेभिः**=ठीक चुनावों के द्वारा अपने जीवन को **द्यौः न**=प्रकाशमय द्युलोक की तरह **कृणवन्त**=कर लेते हैं। जिस प्रकार द्युलोक सूर्य के प्रकाश से चमकता है, इसी

प्रकार इनका जीवन भी ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो उठता है, इनके जीवन-गगन में कहीं भी अन्धकार नहीं रहता। 'बृहस्पति' ज्ञानियों के ज्ञानी बनकर ये अत्यन्त शुचि कर्मोंवाले 'शुक्र' बनते हैं। जीवन में शान्तिपूर्वक मार्ग का आक्रमण करते हुए ये 'शनैश्चर' होते हैं और ज्ञान से अज्ञानान्धकार को दूर करते हुए ज्ञान-सूर्यवाले ये लोग अपने जीवन में 'रवि' वार को लानेवाले होते हैं। इनका जीवन देदीप्यमान द्युलोक की तरह बन जाता है।

भावार्थ—प्रार्थना हमें शरीर में प्राणशक्ति-सम्पन्न व मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न बनाये। नम्रता से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़े। हम सुमार्ग पर चलें और जीवन में ठीक चुनाव करते हुए चमकें।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बुद्धि व यज्ञ

इयमेषाममृतानां गीः सर्वताता ये कृपणन्त रत्नम्।
धियं च यज्ञं च साधन्तस्ते नो धान्तु वसव्यमसामि॥ ३॥

(१) **एषां अमृतानाम्**=गत मन्त्र में वर्णित इन अमृत-विषय वासनाओं के पीछे न मरनेवाले, देवों की **इयं गीः**=यह वेदवाणी होती है। वे इस वेदवाणी को अपनाते हैं। **ये**=जो देव इस वेदवाणी को अपनाते हैं वे **सर्वताता**=यज्ञों के अन्दर **रत्नम्**=अपने रमणीय धनों को **कृपणन्त**=(कृपू सामर्थ्ये) शक्तिशाली बनाते हैं। वेदवाणी में दिये गये प्रभु के आदेश के अनुसार वे धनों का यज्ञों में विनियोग करते हैं और इस प्रकार इनके धन और अधिक पुष्ट होते हैं। (२) **ते**=वे देव **धियं च यज्ञं च**=बुद्धियों को तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों को **साधन्तः**=सिद्ध करते हुए, अपने जीवन में ज्ञान व उत्तम कर्मों का सम्पादन करते हुए **नः**=हमारे लिये **असामि**=पूर्णरूप से (सामि=आधा) **वसव्यम्**=निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों के समूह को **धान्तु**=धारण करें। वस्तुतः मनुष्य ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्यापृत रहता है तो उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ तो ठीक बनी ही रहती हैं, उसके ज्ञान व शक्ति में क्षीणता नहीं आती। इसी को इस रूप में कह सकते हैं कि इसके 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास होकर उसके शोभा की वृद्धि होती है।

भावार्थ—देव (क) वेदवाणी को अपनाते हैं, (ख) धनों का यज्ञों में विनियोग करते हैं, (ग) बुद्धि व यज्ञ का साधन करते हैं, (घ) निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को पूर्णरूप से धारण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जितेन्द्रिय बनकर वेदवाणी रूप गौ का दोहन

आ तत्त इन्द्रायवः पनन्ताभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्।
सकृत्स्वं१ ये पुरुपुत्रां महीं सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते आयवः**=वे मनुष्य **तत् आपनन्त**=वह आपका स्तवन करते हैं, **ये**=जो **गोमन्तम्**=इन्द्रियों से बने हुए **ऊर्वम्**=समूह को **तितृत्सान्**=मारने की कामना करते हैं। 'इन्द्रियों को मारना', अर्थात् 'इन्द्रियों को वश में करना' यही वस्तुतः प्रभु का सच्चा पूजन होता है। जितेन्द्रिय पुरुष प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठता है और प्रभु की सच्ची उपासन करनेवाला होता है। (२) ये उपासक वे होते हैं **ये**=जो **महतीम्**=इस अत्यन्त आदर के योग्य वेदवाणी को **दुदुक्षन्**=दोहन करने की कामना करते हैं। यह वेदवाणी (क) **महीम्**=अत्यन्त महनीय है, अर्थ के गौरव से पूर्ण है। (ख) **सहस्रधाराम्**=शतशः ज्ञानधाराओं से हमारे जीवनों

को पवित्र करनेवाली है अथवा नाना प्रकार से हमारा धारण करनेवाली है, (ग) तथा यह वेदवाणीरूप गौ **सकृत्स्वम्**=एक बार जनती है, पर **पुरुपुत्राम्**=बहुत पुत्रोंवाली है। इस वाक्य में विरोधाभास अलंकार का सुन्दर उदाहरण है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि एक बार ही इसके अध्ययन का अवसर प्राप्त होता है, ब्रह्मचर्याश्रम में इसे पढ़ लिया तो पढ़ लिया। फिर गृहस्थ में फँसे–पढ़ने का अवसर गया। परन्तु यह **पुरु**=पालन व पूरण करनेवाली है (पृ पालनं-पूरणयोः) शरीर को नीरोग बनानेवाली है, मन की न्यूनताओं को दूर करनेवाली है, साथ ही **पुत्राम्**=(पुनाति त्रायते) यह हमारे जीवनों को पवित्र करती है और हमारा त्राण–रक्षण करती है। एवं प्रभु का उपासक जितेन्द्रिय बनकर वेदवाणी रूप गौ का दोहन करता है। इस दोहन से वह अपने जीवन को पवित्र बनाता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक वह है जो इन्द्रिय समूह को मार लेता है, इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में कर लेता है। यह उपासक वेदवाणी रूप गौ का दोहन करता हुआ अपने जीवन को आप्यायित करता है।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'नर्य वज्र' का धारण

शचीव इन्द्रमवसे कृणुध्वमनानतं दमयन्तं पृतन्यून्।
ऋभुक्षणं मघवानं सुवृक्तिं भर्ता यो वज्रं नर्यं पुरुक्षुः॥ ५॥

(१) **शचीवः**=हे प्रज्ञा व कर्म सम्पन्न भक्त पुरुषो! **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिये **कृणुध्वम्**=करो, अपना रक्षक जानो जो कि **अनानतम्**=कभी किसी से दबनेवाले नहीं हैं, **पृतन्यून् दमयन्तम्**=सेना से आक्रमण करनेवालों का दमन करनेवाले हैं, **ऋभुक्षणम्**=महान् हैं, **मघवानम्**=ऐश्वर्यवान् हैं और **सुवृक्तिम्**=दोषों को अच्छी प्रकार दूर करनेवाले हैं। इस प्रकार प्रभु जब रक्षक होते हैं तो किसी प्रकार का भय नहीं रहता। प्रभु रक्षण में काम–क्रोधादि के आक्रमण का तो सम्भव ही नहीं, लोभ जनित दोषों से हम बचे रहते हैं और सांसारिक दृष्टिकोण से भी हम असफल जीवनवाले नहीं होते। (२) हम प्रज्ञाकर्म सम्पन्न बनकर उस प्रभु को अपना रक्षक बनायें **यः**=जो कि **पुरुक्षुः**=(क्षु=शब्दे) पालक व पूरक प्रेरणात्मक शब्दोंवाले होते हुए **नर्य**=नर हितकारी **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **भर्ता**=भरण करनेवाले हैं। हृदयस्थित होते हुए वे प्रभु सदा प्रेरणा देते हैं, वह प्रेरणा हमें शरीर में रोगों से बचाती है तो मन में न्यूनताओं को नहीं आने देती। प्रभु इस प्रेरणा के द्वारा वज्र को हमारे हाथों में देते हैं, 'क्रियाशीलता' ही यह वज्र है। यह वज्र 'नर्य' है, नर हितकारी है। सदा क्रियाशील होने पर हम वासनाओं के शिकार नहीं होते। वस्तुतः क्रियाशील व्यक्ति शक्ति–सम्पन्न बनता है, यह किसी से दबता नहीं (अनानत) बाह्य शत्रुओं का भी तेजस्विता से मुकाबिला करनेवाला होता है, अपने जीवन में महान् बनता है, दोषों को सदा दूर रख पाता है। इस प्रकार यह अपने उपास्य प्रभु का ही छोटारूप बन जाता है।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथों में लेकर हम शत्रुओं पर विजय पायें और अपने उपास्य प्रभु जैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गौरिवीतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भक्त की भावना का भरण करनेवाले प्रभु

यद्वावान पुरुतमं पुराषाळा वृत्रहेन्द्रो नामान्यप्राः ।
अचेति प्रासहस्पतिस्तुविष्मान्यदीमुश्मसि कर्तवे करत्तत् ॥ ६ ॥

(१) **यद्**=जब **पुरुतमम्**=उस सर्वमहान् पालन व पूरण करनेवाले प्रभु को **वावान**=खूब ही उपासित करता है तब ये प्रभु **पुराषाट्**=असुरों की तीनों पुरियों का विध्वंस करनेवाले होते हैं, कामादि असुर 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में अपना अधिष्ठान बनाते हैं, उपासित होने पर प्रभु इन अधिष्ठानों का विध्वंस कर देते हैं और इस प्रकार **वृत्र-हा**=वे प्रभु ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाले 'वृत्र' को नष्ट कर डालते हैं। मन्मथ (=ज्ञान के नाशक) के विध्वंस से प्रभु हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाते हैं। (२) प्रकाशमय जीवनवाला यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरु **नामानि**=प्रभु के नामों को **आ अप्राः**=अपने में पूरित करता है, अर्थात् प्रभु के नामों का जप करता है और उनके अर्थ का भावन करता हुआ उन बातों को अपने जीवन का अंग बनाता है। यही नामों का अपने में भरना है। (३) इस भक्त से वे प्रभु **अचेति**=इस रूप में जाने जाते हैं कि—(क) **प्रासहः**=ये शत्रुओं का प्रकर्षेण पराभव करनेवाले हैं, हमारे काम-क्रोधादि को कुचलनेवाले हैं। (ख) **पतिः**=इस प्रकार हमारा रक्षण करनेवाले हैं। शत्रुओं के नाश के द्वारा हमें शत्रुओं से नष्ट किये जाने से बचाते हैं। (ग) **तुविष्मान्**=वे प्रभु अनन्त धन-धान्यवान् हैं (तुवि=बहुत)। उस प्रभु के उपासक को किसी प्रकार की कमी नहीं रहती। इसका योगक्षेम बखूवी चलता है। (४) इस प्रभु की उपासना करते हुए हम **यद्**=जो कुछ **ईम्**=निश्चय से **कर्तवे**=करने के लिये **उश्मसि**=चाहते हैं **तत् करत्**=प्रभु उसको पूर्ण कर देते हैं। उपासक चाहता है, प्रभु सब साधन जुटा देते हैं और वह चीज पूर्ण हो ही जाती है। वस्तुतः सब करनेवाले तो वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त की सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। वह जो चाहता है प्रभु उसे पूर्ण कर देते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि हम प्रभु को धारण करते हैं प्रभु हमें शक्ति, धन व ज्ञान देते हैं। (१) इन चीजों को देकर वे प्रभु भक्त के सब कार्यों का पूरण करते हैं, (४) यह भक्त प्रभु के आदेश के अनुसार रेतःकणों का स्वामी बनता है, 'सिन्धुक्षित्' (सिन्धुः आपः=रेतः, क्षि)। इनके रक्षण से ही तो वह शरीर में शक्तिशाली बनेगा और मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न। यह रेतःकणों के रक्षण से बुद्धि को दीप्त करता है, 'प्रियमेध' होता है। यह इन 'आपः' की स्तुति करता हुआ कहता है कि—

[७५] पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

रेतःकणों की उत्तम महिमा

प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः ।
प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा ॥ १ ॥

(१) हे **आपः**=रेतःकणो! (आपः रेतो भूत्वा०) **वः**=आपकी **उत्तमं महिमानम्**=उत्कृष्ट महिमा को **कारुः**=कुशलता से कार्यों को करनेवाला स्तोता **प्र सु वोचाति**=प्रकर्षेण उत्तमता से कहता है। ये रेतःकण **विवस्वतः सदने**=उस प्रकाशमय प्रभु के इस शरीररूप गृह में **हि**=निश्चय

से **त्रेधा**=तीन प्रकार से **सप्त सप्त**=सात-सात रूपों में होकर **प्रचक्रमुः**=गति करते हैं। 'त्रेधा' का भाव 'भूमि, अन्तरिक्ष व आकाश में' है। अध्यात्म में भूमि 'शरीर' है, अन्तरिक्ष 'हृदय' है तथा आकाश 'मस्तिष्क' है। शरीर में ये आपः=सात धातुओं के रूप में रहते हैं, हृदय देश में पाँच मुख्य प्राणों व मन और बुद्धि के रूप में इनका निवास है तथा मस्तिष्क रूप द्युलोक में 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों के रूप में इनका कार्य चलता है। (२) वस्तुतः ये **सिन्धुः**=(आपः) रेतःकण **सृत्वरीणाम्**=बहनेवाली चीजों में **ओजसा**=ओज के दृष्टिकोण से **अति**=(अतीत्य वर्तते) लाँघ करके हैं। सबसे अधिक ओजस्वितावाले हैं, ओजस्वितावाले क्या, ये तो ओज ही ओज हैं। इनके ठीक होने पर शरीर के सब धारक तत्त्व (धातुएँ) ठीक बने रहते हैं, प्राण, मन व बुद्धि का कार्य ठीक से चलता है तथा कर्ण आदि सात ऋषि अपने कार्य को शक्ति के साथ करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—यह आपः व रेतः कणों का ही माहात्म्य है कि शरीर, मन व मस्तिष्क पूर्ण स्वस्थ बने रहते हैं। तभी यह शरीर सचमुच विवस्वान् (=प्रकाशमय प्रभु) का सदन होता है।

ऋषिः—**सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वरुणः

प्र तेऽरदद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजाँ अभ्यद्रवस्त्वम्।
भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यदेषामग्रं जगतामिरज्यसि॥ २॥

(१) **वरुणः**=सब अशुभों का निवारण करनेवाला प्रभु **ते यातवे**=हे सिन्धो (=आपः) तेरी गति के लिये **पथः**=मार्गों को **अरदत्**=बनाता है। गत मन्त्र के अनुसार यह शरीर उस विवस्वान् (=प्रकाशमय) प्रभु का ही है। उस प्रभु से जीव को यह कर्मरूप भाटक (किराये) के अनुसार दिया जाता है। उस परमात्मा ने इस सिन्धु की गति के लिये शरीर में मार्गों को बनाया है। ये मार्ग ही ऊपर की ओर जानेवाले 'उत्तरायण' व नीचे की ओर जानेवाले 'दक्षिणायन' के नाम से कहलाते हैं। (२) हे सिन्धो! हे रेतः! **त्वम्**=तू ही **यद्**=जब **अद्रवः**=इन मार्गों से गति करता है तो **वाजान्**=अंग-प्रत्यंगों की शक्तियों को **अभि**=लक्ष्य बनाकर ही गति करता है। इस गति में तू **भूम्याः अधि**=इस शरीर रूप पृथिवी से ऊपर **सानुना प्रवता**=समुच्छ्रित मार्ग से **यासि**=आता है। मस्तिष्क की ओर जानेवाला मार्ग ही समुच्छ्रित मार्ग है। **यद्**=जब तू इस मार्ग से चलता है तो **एषां जगताम्**=इन गतिशील मनुष्यों के **अग्रम्**=सर्वोत्कृष्ट प्रदेश इस मस्तिष्क को, शरीर के अन्दर के इस द्युलोक को **इरज्यसि**=तू ऐश्वर्ययुक्त करता है। इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होने पर मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि समुचित ईंधन को प्राप्त करके चमक उठती है। (३) दक्षिणायन से गति करने पर ये **आपः**=रेतःकण उत्तम प्रजाओं को जन्म देनेवाले होते हैं और उत्तरायण से गति करने पर ज्ञानसूर्य के उदय का कारण बनते हैं। रुधिर के साथ व्याप्त हुए-हुए ये रेतःकण विविध नाड़ी रूप नदियों से सम्पूर्ण शरीर में प्रवाहित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने शरीरस्थ रेतःरूप जलों के प्रवाह के लिये नाड़ीरूप नदियों का निर्माण किया है। इन मार्गों से ये नीचे ऊपर सर्वत्र विचरते हैं। सर्वोत्कृष्ट स्थान मस्तिष्क को ये ही प्रकाशरूप ऐश्वर्य से युक्त करते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान-आनन्द-शक्ति

दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।
अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्॥ ३ ॥

(१) **यत्**=जब **सिन्धुः**=यह बहने के स्वभाववाला रेतस् **वृषभः न**=एक शक्तिशाली बैल के समान **रोरुवत्**=गर्जना करता हुआ रोगों व वासनाओं के प्रति आक्रमण करता है, (रोरूयमाणोद्रवति) तो **भूम्या उपरि**=शरीर के ऊपर **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **स्वनः**=प्रभु की वाणी **यतते**=(stirshp) प्रेरित हो उठती है। प्रभु की प्रेरणात्मक वाणी (voice of conscience) सुन पड़ती है। शक्तिशाली बैल के समाने कोई खड़ा होने का साहस नहीं करता, सभी भाग खड़े होते हैं। इसी प्रकार इन रेत:कणों के सामने रोग व शत्रु टिके नहीं रह सकते। (२) इस प्रकार इस रेत:रक्षण से **भानुना**=ज्ञान की दीप्ति के साथ **अनन्तं शुष्मम्**=अनन्त शक्ति **उदियर्ति**=उद्गत होती है। रेत:रक्षण के दो परिणाम होते हैं—(क) मस्तिष्क में ज्ञान का प्रकाश और (ख) शरीर में शत्रु-शोषक शक्ति का उदय। (३) इस रेत:रक्षण का तीसरा परिणाम यह होता है कि **इव**=जिस प्रकार **अभ्रात्**=बादल से **वृष्टयः प्र स्तनयन्ति**=गर्जनापूर्वक वृष्टिजल भूमि पर आते हैं, इसी प्रकार शक्ति की ऊर्ध्वगति होने पर धर्ममेघ समाधि में आनन्द के वृष्टिजल बरसने लगते हैं। इन्हीं का वर्णन 'ऊर्ध्वादिक्' के प्रसंग में 'वर्षं इषवः' इन शब्दों से हुआ है। एवं रेत:कणों की ऊर्ध्वगति शरीर में तीन परिणामों को उत्पन्न करती है—(क) (भानुना०) मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का उदय, (ख) (वृष्टयः) हृदयान्तरिक्ष में आनन्दजल का वर्षण, (ग) (शुष्मम्) शरीर रूप पृथिवी में अनन्त शक्ति।

भावार्थ—रेत:कणों की ऊर्ध्वगतिवाला ऊर्ध्वरेताः पुरुष 'ज्ञान, आनन्द व शक्ति' का स्वामी बनता है।

ऋषिः—**सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दोनों प्रान्तों का प्राशस्त्य

अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित्सिचौ यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि॥ ४ ॥

(१) **न**=जिस प्रकार **वाश्राः**=शब्द करनेवाली **धेनवः**=दूध को पिलानेवाली **मातरः**=गौवें **पयसा**=दूध के साथ **इत्**=निश्चय से **शिशुं इव**=बछड़े को ही **अर्षन्ति**=प्राप्त होती हैं (इव=एव), उसी प्रकार सब प्रजाएँ हे **सिन्धो**=रेत:कणो! **त्वा अभि**=तेरा ही लक्ष्य करके गतिवाली होती हैं। जैसे गौ की सब क्रियाएँ नवोत्पन्न बछड़े के उद्देश्य से ही होती हैं, जैसे माता की सब क्रियाएँ बच्चे के हित के लिये होती हैं, उसी प्रकार प्रजाओं की सब क्रियाएँ इस **सिन्धुः आपः**=रेत:कणों के रक्षण के लिये ही होती हैं। (२) **यद्**=जब **त्वम्**=तू **आसाम्**=इन **अग्रं प्रवताम्**=आगे गति करती हुई इन प्रजाओं को **इनक्षसि**=व्याप्त करता है अथवा प्राप्त होता है तो **युध्वा राजा इव**=एक युद्ध करनेवाले राजा की तरह **इत्**=निश्चय से **सिचौ नयसि**=प्रान्तों को प्राप्त कराता है, एक प्रान्त पृथिवीरूप शरीर है तो दूसरा प्रान्त द्युलोकरूप मस्तिष्क है। तू शरीर व मस्तिष्क दोनों की ही उन्नति करनेवाला होता है। शरीर को तू शक्ति प्राप्त कराता है, तो मस्तिष्क को ज्ञान

की दीप्ति।

भावार्थ—हमारी सब क्रियाएँ रेत:रक्षण के उद्देश्य से होनी चाहिएँ। ये रक्षित रेत:कण हमारे शरीर को दृढ़ बनायेंगे और मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त।

ऋषि:—**सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्द:—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वर:—**निषादः** ॥

गंगा से सुषोमा तक

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ ५॥

(१) सोम के शरीर में रक्षण होने पर मनुष्य प्रभु-प्रवण वृत्तिवाला बनकर प्रभु का स्तवन करता है और कहता है कि **इमं मे स्तोमम्**=इस मेरे स्तवन के साथ **सचता**=हे गंगा आदि वृत्तियो! तुम भी समवेत होवो (सच समवाये) मैं प्रभु का स्तवन करूँ और गंगादि शब्दों से सूचित वृत्तियों को धारण करनेवाला बनूँ। 'गंगे यमुने सरस्वति' इन तीन सम्बोधन शब्दों से 'गति, संयम व ज्ञान' का प्रतिपादन है। गंगा शब्द 'गम्' से और यमुना शब्द 'यम्' से बना है। गंगा, अर्थात् गति, क्रियाशीलता। अपनी तीव्र गति के कारण ही गंगा नदी का जल पवित्र है, क्रियाशीलता हमें भी पवित्र बनाती है। हमारे शरीर सदा क्रियाशील हों, तो मन संयम की भावना से ओत-प्रोत हो। यमुना, अर्थात् यमन, संयम। हम मन को निरुद्ध करनेवाले हों। सरस्वती तो ज्ञान की अधिष्ठात्री है ही। हमारा मस्तिष्क ज्ञानान्वित हो। (२) हे **शुतुद्रि**=शुतुद्री! तू **परुष्ण्या**=परुष्णी के साथ हमारे स्तोम के साथ समवेत हो। 'शु-तुद्री' शीघ्रता से (शु) वासनाओं को व्यथित करके (तुद् व्यथने) दूर भगाने की वृत्ति को सूचित कर रही है। अशुभ वासनाओं को दूर भगाकर, शुभ भावनाओं के भरने का भाव 'परुष्णी' शब्द से व्यक्त होता है (पर्व पूरणे)। हम अशुभवृत्तियों को दूर करें और शुभवृत्तियों का अपने में पूरण करें (दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव)। (३) हे **मरुद् वृधे**=(मरुत:=प्राणा:) प्राणवर्धन की भावना! तू **असिक्न्या**=असिक्नी के साथ **वितस्तया**=और वितस्ता के साथ हमारे स्तोम के साथ समवेत हो। हम प्रभु-स्तवन करें तो हमें मरुद्वृधा 'असिक्नी' और वितस्ता के साथ प्राप्त हो। 'मरुद्वृधा' का भाव प्राणों का वर्धन है, प्राणायाम के द्वारा हम प्राणशक्ति का वर्धन करते हैं। इस प्राणसाधना से हम चित्तवृत्ति का निरोध करके उसे विषयों से अबद्ध 'असिक्नी' (षिञ् बन्धने) करते हैं, और विषय वासनाओं को **वि**=विशेषरूप से उपक्षीण करनेवाले होते हैं (तसु उपक्षये)। (४) हे **आर्जीकीये**=(ऋज to be healthy or strong) स्वस्थता व सबलता की स्थिति! तू **सुषोमया**=सुषोमा के साथ **अशृणुहि**=इस हमारे स्तोम को सुननेवाली हो। हम स्वस्थ व सबल बनें और साथ ही उत्तम सौम्यतावाले हों। हमें उन बल आदि गुणों का अभिमान न हो।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्तवन करूँ और निम्न १० बातें से युक्त जीववाला बनूँ—(क) क्रियाशीलता, (ख) संयम, (ग) ज्ञान, (घ) वासना-विद्रावण, (ङ) शुभ भावनाओं का पूरण, (च) विषयों से अबद्धता, (छ) प्राणशक्ति, (ज) रोग व राग-द्वेषादि अशुभ:क्षय, (झ) स्वस्थता व सबलता, (ञ) और विनीतता।

ऋषि:—**सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्द:—**आर्चीभुरिग्जगती** ॥ स्वर:—**निषादः** ॥

तृष्टामा से मेहत्नु तक

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥ ६॥

(१) हे **सिन्धो**=(आपः) स्पन्दनशील रेतःकण! **त्व**=तू **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **यातवे**=जीवन यात्रा की पूर्ति के लिये **तृष्टामया**=(तृष्टं=harsh, pungent, rugged, hoarse) तृष्टामा के साथ, कटुता व अभद्रता पर आक्रमण Attaek करने की वृत्ति के साथ **सजूः**=संगत हो। संसार में हम भद्र बनकर चलें। (२) तू **सुसर्त्वा**=(सु+सृ गतौ) उत्तम गति के साथ संगत हो, **रसया**=रसा-रसवती वाणी के साथ संगत हो तथा **त्या श्वेत्या**=उन शुभ कलंकशून्य चित्तवृत्तियों के साथ संगत हो। (३) तू **कु-भया**=कुभा के साथ **गोमतीं क्रुमुम्**=गोमती क्रुमु को अपने साथ संगत कर। **कु**=पृथिवी, अर्थात् शरीर, **भा**=दीप्ति। शरीर की दीप्ति, अर्थात् तेजस्विता के साथ उत्तम ज्ञान की वाणीवाली (गौ=वाणी) गति (क्रम्) को प्राप्त हो। तेरा शरीर तेजस्वी हो, वाणी प्रशस्त हो और जीवन क्रियामय हो। (४) तू **मेहत्वा (मिह सेचने)**=लोगों पर सुखों के वर्षण की भावना से संगत हो। ये 'तृष्टामा' आदि वृत्तियाँ वे हैं **याभिः**=जिनके साथ **सरथम्**=इस समान शरीर-रथ पर **ईयसे**=आरुढ़ होकर गतिवाला होता है।

भावार्थ—(क) शरीर में वीर्य के रक्षण होने पर हमें (ख) भद्रता प्राप्त होती है, हमारे कार्यों में कठोरता नहीं होती, (ग) हमारी क्रियाएँ उत्तम होती हैं, (घ) वाणी रसवती और (ङ) चरित्र अकलंक हमें शरीर की तेजस्विता प्राप्त होती है, (छ) प्रशस्त ज्ञानवाणीवाले हम होते हैं, (ज) इस ज्ञानवाणी के अनुसार क्रियाओं को करते हैं, (झ) हमारी ये क्रियाएँ सभी पर सुखों का वर्षण करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋजीती-रुशती

ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परि ज्रयांसि भरते रजांसि।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता ॥ ७ ॥

(१) **ऋजीती**=(ऋजुना अतति) सरल मार्ग से चलने की वृत्ति जो **एनी**=श्वेतवर्णवाली है, जिसमें कहीं भी कलंक का चिह्न नहीं है, **रुशती**=जो कि अन्तः ज्ञानदीप्ति से देदीप्यमान है वह **महित्वा**=अपनी महिमा से हमारे अन्दर **ज्रयांसि**=वेगवाले **रजांसि**=कर्मों को **परिभरते**=सब ओर से भरती है। ऋजीती का भाव सरल मार्ग से चलता है। इस सरल मार्ग से चलने में कहीं भी मलिनता नहीं आ पाती। यह मार्ग शुद्ध व श्वेत बना रहता है, कलंकित नहीं होता। इस मार्ग से चलने पर ही अन्ततः अन्तर्दर्शन दीप्ति की प्राप्ति होती है। इस ज्ञानदीप्ति से हमारे कार्य जहाँ पवित्र होते हैं वहाँ सबल व वेगवान् होते हैं। (२) इस प्रकार यह **सिन्धुः**=रेतःकण **अपसां अपसामा**=क्रियाशीलों में अत्यन्त क्रियाशील हैं। ये हमें शक्ति सम्पन्न करके अकर्मण्यता से ऊपर उठाते हैं। **अदब्धा**=ये कभी हिंसित नहीं होते, रोगादि का इन पर आक्रमण नहीं हो पाता। ये रोगों को आक्रान्त करके हमारी इस तनू (शरीर) को **अश्वा न चित्रा**=एक घोड़े की तरह अद्भुत शक्तिवाला बनाते हैं और **वपुषी इव**=एक उत्तम-उत्तम शरीरवाली युवति के समान **दर्शता**=सचमुच सौन्दर्य के कारण दर्शनीय हमारा शरीर होता है। ये सिन्धु दर्शनीय है, अर्थात् रेतःकण इस दर्शनीयता का जनक है।

भावार्थ—रेतःकणों के रक्षण का परिणाम यह है कि हम (क) सरल शुद्ध मार्ग से सब गतियों को करनेवाले होते हैं और हमें (ख) अन्तर्ज्ञान की शुभ्र-ज्योति प्राप्त होती है। इस प्रकार यह सिन्धु 'ऋजीती' है, 'रुशती' है।

ऋषिः—**सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सिन्धुः

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्॥ ८॥

(१) 'सिन्धु' शब्द इस सूक्त में स्यन्दनात्मक होने से वीर्यशक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह वीर्यशक्ति शरीर में सुरक्षित होने पर **स्वश्वा**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाली है, इन्द्रियों की शक्ति इससे बढ़ी रहती है। यह **सुरथा**=उत्तम शरीर रूप रथवाली है, इससे शरीर रूप रथ में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। **सुवासाः**=यह उत्तमता से आच्छादित करनेवाली है, यह रोगों से बचाती है, उसी प्रकार जैसे कि वस्त्र सर्दी-गर्मी से बचाते हैं। **हिरण्ययी**=ज्योतिर्मय है, यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञान-ज्योति को दीप्त करती है। **सुकृता**=उत्तम कर्मोंवाली है। वीर्य का रक्षण होने पर अशुभ कर्मों की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। यह शक्ति **वाजिनीवती**=शरीर व मन को सबल बनानेवाली है। (२) **ऊर्णावती**=(ऊर्णु आच्छादने) मन में अशुभ वासनाओं का प्रवेश नहीं होने देती। **युवतिः**=अशुभ को दूर करके शुभ से यह हमें युक्त करनेवाली है। **सील-मा-वती**=(सीर) यह हल व लक्ष्मीवाली है, अर्थात् वीर्य शक्ति के रक्षण के होने पर मनुष्य की वृत्ति श्रमपूर्वक ही धनार्जन की होती है। सील व सीर शब्द 'हल' का वाचक होकर श्रम का संकेत करता है (अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व)। (३) इस प्रकार हमारे जीवन को सुन्दर बनानेवाली यह वीर्यशक्ति 'सुभगा' है, हमारे जीवन में श्री का वर्धन करनेवाली है यह सुभगा वीर्यशक्ति श्री का वर्धन तो करती ही है, **उत**=और **मधुवृधम्**=मधु का वर्धन करनेवाले प्रभु को **अधिवस्ते**=आधिक्येन धारण करती है। प्रभु को अपना आच्छादक वस्त्र बनाती है, इससे हमारे जीवन में माधुर्य का वर्धन होता है।

भावार्थ—वीर्यशक्ति के रक्षण से शरीर व मन का पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होता है, ज्ञान-ज्योति दीप्त होती है। श्री की वृद्धि होकर हम माधुर्य का वर्धन करनेवाले प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अदब्ध-स्वयशाः-विरप्शी

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः॥ ९॥

(१) 'सिन्धु' शब्द से कहा गया है। यह 'सिन्धुः'=वीर्यशक्ति का पुत्र भूत पुरुष **रथम्**=शरीर रूप रथ को **युयुजे**=जोतता है। यह रथ 'सुखं'=उत्तम शोभन द्वारोंवाला है, **अश्विनम्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला है। **तेन**=इस उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले रथ से **अस्मिन् आजौ**=इस जीवन संग्राम में यह **वाजं सनिषद्**=शक्ति व ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। (२) **अस्य**=इस शक्ति पुञ्ज पुरुष की महान् **महिमा**=बड़ी महिमा **हि**=निश्चय से **पनस्यते**=सब से प्रशंसित होती है, सब कोई इसके रथ की उत्तमता, शक्ति व ऐश्वर्य का प्रशंसन करता है। यह पुरुष **अदब्धस्य**=अदब्ध होता है अहिंसित होता है, यह दबता नहीं **स्वयशसः**=अपने उत्तम कर्मों के कारण यशस्वी होता है, **विरप्शिनः**=महान् बनता है (विरप्शिनः=महतः नि०) अथवा विशेष रूप से प्रभु के गुणों का उच्चारण करनेवाला होता है (वि-रप्)।

भावार्थ—वीर्य का संयम करने पर यह संयमी पुरुष 'अदब्ध, स्वयशाः विरप्शी' बनता है।

इस सूक्त में वीर्यशक्ति के महत्त्व को बहुत ही उत्तमता से व्यक्ति किया गया है। यह संयमी पुरुष अब 'सर्प'=गतिशील, 'ऐरावत'=(इरा वेदवाणी) वेदवाणी का ज्ञाता (ज्ञानी) व 'जरत् कर्ण'=स्तुति के शब्दों को ही सदा सुननेवाला, उत्तम स्तोता बनता है। प्रार्थना है कि—

[७६] षट्सप्ततिमं सूक्तम्

ऋषिः—**जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'इन्द्र-मरुत व रोदसी' का अलंकरण

आ व॑ ऋञ्जस ऊ॒र्जां व्यु॑ष्टि॒ष्विन्द्रं॑ म॒रुतो॒ रोद॑सी अनक्तन।
उ॒भे यथा॑ नो॒ अह॑नी सचा॒भुवा॒ सद॑:सदो वरि॒वस्या॒त उ॒द्भिदा॑ ॥ १ ॥

(१) श० १४।२, २।३३ में 'प्राणा वै ग्रावाणः' इन शब्दों में प्राणों को 'ग्रावा' कहा है। प्राणशक्ति का मूल 'वीर्य'=सोम है। (१) जराकर्ण इन ग्रावों-सोमों को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **ऊर्जां व्युष्टिषु**=बलों के उदय के निमित्त सब अंग-प्रत्यंगों को शक्ति प्राप्त कराने के निमित्त मैं **वः**=आपको **आ ऋञ्जसे**=सर्वथा प्रसाधित करता हूँ। तुम सिद्ध होकर **इन्द्रम्**=आत्मा को, **मरुतः**=प्राणों को, **रोदसी**=द्यावापृथिवी को मस्तिष्क व शरीर को **अनक्तन**=कान्त व शोभित बनाओ। रक्षित हुए-हुए तुम्हारे द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास हो, प्राणों की शक्ति का विकास हो, मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल हो और शरीर स्वास्थ्य की दीप्तिवाला। (२) रक्षित हुए-हुए तुम ऐसी कृपा करो कि **यथा**=जिससे **नः**=हमारे **उभे अहनी**=दोनों दिन व रात **सचाभुवा**=सदा उस प्रभु के साथ बीतनेवाले हों। हम जागरित अवस्था में व स्वप्नावस्था में प्रभु का स्मरण करते हुए अपने कार्यों को करनेवाले हों। ये दोनों दिन-रात **उद्भिदा**=हमारी उन्नति का कारण हों तथा **सदः सदः**=प्रत्येक सभा में **वरिवस्यातः**=उस प्रभु का पूजन करनेवाले हों। जब कभी सभाओं में हम एकत्रित हों तो प्रभु के गुणों का ही कीर्तन करें।

भावार्थ—हम शरीर में सोमकणों का प्रसाधन करें। सारे कार्यों को करते हुए प्रभु को न भूलें।

ऋषिः—**जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

श्रेष्ठ सवन

तदु॒ श्रेष्ठं॒ सव॑नं सुनोत॒नात्यो॒ न हस्त॑यतो॒ अद्रि॑: सो॒तरि॑।
विद॒द्ध्य१॒॑र्यो अ॒भिभू॑ति॒ पौंस्यं॑ म॒हो रा॒ये चि॑त्तरु॒ते यदर्व॑तः ॥ २ ॥

(१) हे प्राणो! **उ**=निश्चय से **तद्**=उस **श्रेष्ठं सवनम्**=सर्वोत्तम सवन को **सुनोतन**=करनेवाले बनो। श्रेष्ठ सवन 'सोम' का सवन है। आहार से रस रुधिरादि के क्रम से सोम को उत्पन्न करना ही 'श्रेष्ठ सवन' है। यह सोम **हस्तयतः**=ग्रहण करनेवाला का **अद्रिः**=न विदारण करनेवाला है, **सोतरि**=अपने उत्पन्न करनेवाले में यह **अतयः न**=सतत अतन (=गमन) शील अश्व के समान है, अर्थात् यह सोम अपने रक्षक पुरुष को सतत क्रियाशील बनाता है। (२) **अर्यः**=(स्वामी) जितेन्द्रिय पुरुष इस सोमरक्षण के द्वारा **हि**=निश्चय से **अभिभूति**=शत्रुओं के पराभूत करनेवाले **पौंस्यम्**=बल को **विदत्**=प्राप्त करता है। **यत्**=जब यह सोम **महो राये**=महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **चित्**=ही **अर्वतः**=इन इन्द्रियरूप अश्वों को **तरुते**=(प्रयच्छति) देता है। सोमरक्षण से

ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को करने में सशक्त बनती हैं, उस समय ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानरूप ऐश्वर्य को प्राप्त कराती हैं और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों के साधन से पुण्यैश्वर्य को सिद्ध करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—श्रेष्ठतम सवन 'सोम का सवन' है। जितेन्द्रिय पुरुष के लिये यह सोम शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल को प्राप्त कराता है। उस समय ज्ञानेन्द्रियाँ हमें ज्ञानैश्वर्य को तथा कर्मेन्द्रियाँ सुकृतैश्वर्य को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

क्रियाशीलता व अभ्रंश

तदिद्ध्यस्य सवनं विवेरपो यथा पुरा मनवे गातुमश्रेत्।
गोअर्णसि त्वाष्ट्रे अश्वनिर्णिजि प्रेमध्वरेष्वध्वराँ अशिश्रयुः ॥ ३ ॥

(१) **तत्**=वह **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस सोम का **सवनम्**=उत्पादन **अपः**=कर्मों को **विवेः**=व्याप्त करता है। शरीर में सोम के रक्षण से मनुष्य का जीवन क्रियाशील बनता है। यह सोम **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिये **यथा**=ठीक-ठीक (जैसे चाहिए उस प्रकार) **पुरा**=(पॄ पालन पूरणयोः) पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **गातुम्**=मार्ग का **अश्रेत्**=सेवन करता है। सोम के रक्षण के होने पर मनुष्य गलत मार्ग पर नहीं जाता, ठीक मार्ग पर चलने से उसका पालन व पोषण उचित प्रकार से होता है। (२) ये सोम का सवन व रक्षण करनेवाले लोग **गो अर्णसि**=वेदवाणी से प्राप्य ज्ञानजलों **त्वाष्ट्रे**=(त्वष्टुः इदम्) निर्माण सम्बन्धी कार्यों के निमित्त तथा **अश्वनिर्णिजि**=इन्द्रियों के शोधन के निमित्त (णिजिर् शौचपोषणयोः), **ईम्**=और निश्चय से **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के निमित्त **अध्वरान्**=हिंसा व कुटिलता से रहित कर्मों को **प्र अशिश्रयुः**=प्रकर्षेण सेवन करते हैं। सोम के रक्षण के ये परिणाम हैं—(क) ज्ञान प्राप्ति, (ख) निर्माणात्मक कार्यों में रुचि, (ग) इन्द्रियों की शुचिता, (घ) यज्ञशीलता।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें क्रियाशील बनाता है और मार्ग से भ्रष्ट होने से बचाता है।

ऋषिः—**जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

राक्षसी वृत्तियों को संहार

अप हत रक्षसो भङ्गुरावतः स्कभायत निर्ऋतिं सेधतामतिम्।
आ नो रयिं सर्ववीरं सुनोतन देवाव्यं भरत श्लोकमद्रयः ॥ ४ ॥

(१) प्रभु उपासकों से कहते हैं कि—हे **अद्रयः**=(thrse who adone) उपासको! **भंगुरावतः**=भंजन व तोड़-फोड़ के कर्मों में प्रवृत्त होनेवाली **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों को **अपहत**=अपने से सुदूर विनष्ट करो, **निर्ऋतिम्**=दुर्गति-दुराचरण-रूप पापदेवता को **स्कभायत**=दूर ही रोक दो, **अमतिम्**=अप्रशस्त बुद्धि को **सेधत**=अपने समीप आने से निषिद्ध कर दो वस्तुतः प्रभु का उपासक राक्षसीवृत्तियों से, पाप से अप्रशस्त विचारों से अपने को दूर ही रखता है। (२) हे उपासको! **नः**=हमारे इस **सर्ववीरम्**=सारे कोशों को वीरता से पूर्ण करनेवाले **रयिम्**=सोमात्मक धन को **सुनोतन**=अपने में अभिषुत करो। इस सोम के रक्षण से ही तुम राक्षसी वृत्तियों को, निर्ऋति व अमति को दूर रख पाओगे। इस सोम के रक्षण के लिये ही **देवाव्यम्**=दिव्यगुणों के प्रीणित करनेवाले **श्लोकम्**=प्रभु के यशोगान को **भरत**=धारण करनेवाले बनो। प्रभु का यह स्तवन

वासनाओं से बचाकर सोमरक्षण के लिये सहायक होगा और हमारे में दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम उपासक बनकर सोम का रक्षण करें। यह सोमरक्षण हमें अशुभ वृत्तियों से बचायेगा और शुभ की ओर ले चलेगा।

ऋषिः—**जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**आसुरीस्वराडार्ची निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सूर्य, विद्युत-वायु, तथा अग्नि' से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सोम

दिवश्चिदा वोऽमवत्तरेभ्यो विभ्वना चिदाश्वपस्तरेभ्यः।
वायोश्चिदा सोमरभस्तरेभ्योऽग्नेश्चिदर्च पितुकृत्तरेभ्यः ॥ ५ ॥

(१) हे जीव! **अर्च**=इन सोम कणों की अर्चना कर, इनको पूजनेवाला बन! इसकी पूजा यही है कि इन के महत्त्व को समझकर इनका तू रक्षण करनेवाला हो। ये सोमकण **वा**=तुम्हारे लिये **दिवः चित्**=द्युलोकस्थ सूर्य देवता से भी **अमवत्तरेभ्यः**=अधिक प्राणशक्तिवाले हैं। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'=यह सूर्य भी प्रजाओं का प्राण ही उदित होता है। पर सोमकण तो सूर्य से भी अधिक प्राणशक्ति को देनेवाले हैं। (२) ये सोमकण **विभ्वना चित्**=(विभु=ether=सर्वत्र व्याप्त विद्युत्तत्व, etheric to light up) आकाश में सर्वत्र व्याप्त विद्युत्तत्व से भी **आशु अपस्तरेभ्यः**= शीघ्रता से कार्य करनेवाले हैं। विद्युत् कार्यों को अत्यन्त शीघ्रता से करनेवाली है, पर ये सोमकण मनुष्य को इससे भी अधिक स्फूर्ति के देनेवाले हैं। (३) **वायोः चित्**=आकाश में निरन्तर गतिशील वायु से भी **सोमरभस्तरेभ्यः**=अधिक सौम्यता से युक्त वेगशक्ति को देनेवाले हैं। वायु में वेग है, सोमकणों में उससे भी अधिक वेगशक्ति है। ये सोमकण इस वेगशक्ति को प्राप्त कराते हुए अपने साधक को सौम्य भी बनाते हैं। (४) **अग्नेः चित्**=पृथिवी के मुख्य देवता अग्नि से भी **पितुकृत्तरेभ्यः**=अधिक रक्षण को करनेवाले हैं। अग्नि तत्त्व शरीर का रक्षक है यह बात इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि 'ठण्डा पड़ गया, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया'। अग्नि तत्त्व है, तभी तक जीवन है। सोम इस अग्नितत्त्व का साधक होने से अग्नि से भी अधिक महत्त्व रखता ही है। जब तक सोम सुरक्षित रहता है, तब तक शरीर में अग्नितत्त्व बना रहता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'सूर्य, विद्युत्, वायु तथा अग्नि' से भी जीवन के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ऋषिः—**जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान के तीन परिणाम

भुरन्तु नो यशसः सोत्वन्धसो ग्रावाणो वाचा दिविता दिवित्मता।
नरो यत्र दुहते काम्यं मध्वाघोषयन्तो अभितो मिथस्तुरः ॥ ६ ॥

(१) **यशसः**=यशस्वी **ग्रावाणः**=ज्ञानोपदेष्टा आचार्य (ग्रावाणः विद्वांसः श० ३।९।३।१४) **नः**=हमें **अन्धसः**=सोम के **सोतु**=उत्पादन के द्वारा **भरन्तु**=पोषित करनेवाले हों। इनका उपदेश हमें सोमरक्षण के लिये प्रेरित करके इन्हीं की तरह यशस्वी व ज्ञानी बनाये। सोमरक्षण का परिणाम इनके जीवन में ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान के पोषण के रूप में हुआ और कर्मेन्द्रियों के द्वारा यशस्वी कार्यों को सिद्ध करने के रूप में। इसी प्रकार हम भी सोमरक्षण से ज्ञान व यश को प्राप्त करनेवाले हों। (२) ये ज्ञानोपदेष्टा आचार्य **दिवित्मता**=दीप्तिमती, ज्ञान की दीप्तिवाली, **वाचा**=वाणी से **दिविता**=दीप्तिमाता में ज्ञान के प्रकाश में हमारा धारण करें। इनकी वाणियाँ हमें ज्ञान देनेवाली

हों। ये हमें उस ज्ञान के प्रकाश में स्थापित करें, (क) **यत्र**=जहाँ कि **नरः**=प्रगतिशील व्यक्ति **काम्यम्**=चाहने योग्य **मधु**=माधुर्य का **दुहते**=अपने में पूरण करते हैं। ज्ञान से मनुष्य का जीवन मधुर बनता है, उनके जीवन में किसी प्रकार की कटुता नहीं रहती। (ख) इस ज्ञान में स्थापित करें, जिसमें कि नर **अभितः**=दिन के दोनों ओर, अर्थात् प्रातः-सायं **आघोषयन्तः**=प्रभु के गुणों का, स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवाले होते हैं। ज्ञान मनुष्य के अन्दर विशिष्ट भक्ति को पैदा करनेवाला होता है 'ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते'। (ग) उस ज्ञान में स्थापित करें जिस ज्ञान से **मिथस्तुरः**=परस्पर मिल करके शीघ्रता से कार्य करनेवाले होते हैं (मिथः त्वरमाणाः सा०) ज्ञानी लोग मिलकर अपने-अपने कार्यभाग को सुचारुरूपेण करते हुए कार्यों को शीघ्रता से सिद्ध करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से वह ज्ञान प्राप्त होता है जो कि हमारे जीवनों को माधुर्य से पूर्ण बनाता है, हमें प्रभु-प्रवण करता है और मिलकर शीघ्रता से कार्यों को सिद्ध करनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जिह्वा का संयम

सुन्वन्ति सोमं रथिरासो अद्रयो निरस्य रसं गविषो दुहन्ति ते।
दुहन्त्यूधरुपसेचनाय कं नरो हव्या न मर्जयन्त आसभिः ॥ ७ ॥

(१) जो भी व्यक्ति **सोमं सुन्वन्ति**=सोम का सवन करते हैं, अर्थात् सोम को अपने शरीर में सुरक्षित करते हैं वे **रथिरासः**=उत्तम शरीररूप रथवाले बनते हैं तथा **अद्रयः**=परमेश्वर के उपासक होते हैं। **ते**=वे **गविषः**=(गो+इष) वेदवाणियों की इच्छा करते हुए **अस्य रसम्**=इस सोम के रस को **निःदुहन्ति**=पूर्णरूप से अपने में पूरित करते हैं। (दुह प्रपूरणे)। सोम का अपने शरीर में ही पूरण करने से मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती है, उससे उसे ज्ञान की वाणियाँ सुगमता से बुद्धिगम्य होती हैं। इस सोम के रक्षण से शरीर भी स्वस्थ रहता है और मानसवृत्ति भी उत्तम होकर प्रभु की ओर झुकाववाली बनती है। (२) इसी विचार से **नरः**=प्रगतिशील व्यक्ति **ऊधः दुहन्ति**=वेदवाणी रूप गौ के ऊधस् का दोहन करते हैं, इस ज्ञान प्राप्ति के कार्य में लगे रहने से वे **उपसेचनाय**=शरीर में ही सोम के सेचन के लिये होते हैं। ज्ञान प्राप्ति का व्यसन इन्हें अन्य व्यसनों से बचा देता है और ये वासनाओं का शिकार न होने से सोम का रक्षण कर पाते हैं। शरीर में सोम के सेचन से **कम्**=इन्हें सुख की प्राप्ति होती है। (३) **न**=(च) और सोमरक्षण के उद्देश्य से ये नर **आसभिः**=(असनं आसः) स्वाद आदि की आसक्ति को परे फेंकने से **हव्या वर्जयन्त**=अपनी जाठराग्नि में आहुति देने योग्य पदार्थों को शुद्ध कर डालते हैं। शुद्ध सात्त्विक पदार्थों का ही ये सेवन करते हैं। इन पदार्थों के सेवन से उत्पन्न शीतवीर्य को ये शरीर में सुगमता से स्थापित कर पाते हैं।

भावार्थ—सोम के शरीर में रक्षण से)क) शरीर उत्तम बनता है, (ख) मन प्रभु-प्रवण होता है, (ग) बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान की वाणियों का दोहन करनेवाली होती है। इसके रक्षण के लिये यह आवश्यक है कि हम जिह्वा का संयम करें।

ऋषिः—**जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दिव्य तेज

एते नरः स्वपसो अभूतन य इन्द्राय सुनुथ सोममद्रयः।
वामंवामं नो दिव्याय धाम्ने वसुवसु वः पार्थिवाय सुन्वते ॥ ८ ॥

(१) **एते**=ये **नरः**=प्रगतिशील मनुष्य **स्वपसः**=उत्तम कर्मोंवाले **अभूतन**=होते हैं, **ये**=जो **अद्रयः**=प्रभु के उपासक **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं सुनुथ**=सोम का अभिषव करते हैं। 'अपने अन्दर सोम को उत्पन्न करना, उसे शरीर में सुरक्षित करना' यह हमें, (क) उत्तम कर्मोंवाला बनाता है, अशुभ कर्मों में हमारी प्रवृत्ति ही नहीं रहती। (ख) हम प्रभु प्रवण बनते हैं, प्रभु के उपासक होते हैं, (ग) और अन्ततः प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं। (२) **दिव्याय धाम्ने**=दिव्य तेज (divine power) की प्राप्ति के लिये **वः**=तुम्हारा **वामं धाम**=प्रत्येक कार्य बड़ा सुन्दर हो। **वः**=तुम्हारे में से **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले, सोम का सम्पादन करनेवाले, **पार्थिवाय**=इस शरीररूप पृथिवी के अधिपति के लिए **वसुवसु**=निवास के लिये प्रत्येक आवश्यक तत्त्व प्राप्त हो। सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहने से दिव्य तेज की प्राप्ति होती है, और शरीर में सोम का सम्पादन करते हुए शरीर का अधिपति बनने से सब वसुओं का हम अधिष्ठान बनते हैं।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, ये प्रभु के उपासक बनते हैं और दिव्य तेज को प्राप्त करते हैं।

गत सूक्त की तरह यह सूक्त भी सोम-रक्षण के महत्त्व को बतला रहा है। इस सोम का रक्षण करता हुआ यह अब उन ज्ञान की रश्मियों को प्राप्त करता है जो उसके सुख व आनन्द का कारण बनती हैं, (स्यूम=heppiness, रश्मि=rey of light) इससे इसका नाम 'स्यूमरश्मि' हो जाता है। यह भार्गव है, भृगुपुत्र है, अत्यन्त तपस्वी है। तपस्वी बने बिना 'स्यूमरश्मि' बनने का सम्भव भी तो नहीं। यह स्यूमरश्मि सोमरक्षण के उद्देश्य से प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है और प्राणों (=मरुतों) की स्तुति करता हुआ कहता है—

[७७] सप्तसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना से भी योग्यता व शोभा की प्राप्ति

अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु हविष्मन्तो न यज्ञा विजानुषः।
सुमारुतं न ब्रह्माणमर्हसे गणमस्तोष्येषां न शोभसे॥ १॥

(१) **अभ्रप्रुषः न**=(प्रुष सिंचने) जैसे आधिदैविक क्षेत्र में मरुत् (मौनसून विण्ड्स) बादलों से सम्पूर्ण क्षेत्रों को (भूमियों को सिक्त करनेवाले हैं, उसी प्रकार अध्यात्म क्षेत्र में ये **मरुत्**=प्राण **वाचा प्रुषाः**=वेदवाणी के द्वारा हमें ज्ञान से परिपूर्ण करनेवाले हैं। (प्रुष, पूरणेः)। प्राणसाधना से सोम शक्ति का रक्षण होता है, यह ज्ञानाग्नि को दीप्त करती है और हम वेदज्ञान से अपने को भर पाते हैं। (२) **हविष्मन्तः यज्ञाः न**=जिन में उत्तम हव्य पदार्थ डाले गये हैं उन यज्ञों के समान ये मरुत् **वसु**=धनों को **विजानुषः**=विविध रूपों में उत्पन्न करते हैं। यज्ञों से पर्जन्य (बादल) होता है बादल से अन्न। यह अन्न ही सर्वमुख्य वसु है। शरीर में प्राण भी इसी प्रकार वसुओं को जन्म देनेवाले होते हैं। निवास के लिये आवश्यक तत्त्व इन वसुओं से ही प्राप्त होते हैं। एवं प्राणसाधना से जहाँ ज्ञान बढ़ता है, वहाँ निवास के लिये आवश्यक सब वसुओं का, तत्त्वों का उत्पादन भी होता है। (३) यह सचमुच ही मेरे दौर्भाग्य की बात है कि **अर्हसे**=योग्यता के सम्पादन के लिये **ब्रह्माणम्**=वृद्धि के कारणभूत **सुमारुतं गणम्**=मरुतों के इस शुभ गण को **न अस्तोषि**=मैंने आज तक स्तुत नहीं किया। **एषाम्**=इन मरुतों के गण की **शोभसे**=शोभा की प्राप्ति के लिये **न**=मैं स्तुति नहीं कर पाया। इनकी स्तुति के द्वारा ही तो मुझे योग्यता व शोभा प्राप्त होनी थी। सो मैं इन की स्तुति में प्रवृत्त होऊँ जिससे अपनी योग्यता व शोभा की वृद्धि का करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राण साधना ही तो प्राणों का स्तवन है, प्राणायाम मेरे दैनिक जीवन को कार्यक्रम का मुख्य अंग हो।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अकृत्रिम शोभा

श्रिये मर्यासो अञ्जीँरकृण्वत सुमारुतं न पूर्वीरति क्षपः।
दिवस्पुत्रास एता न येतिर आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधुः ॥ २ ॥

(१) **मर्यासः**=मनुष्य **श्रिये**=शोभा की प्राप्ति के लिये **अञ्जीन् अकृण्वत**=आभरणों को करते हैं। आभरणों से शरीर की शोभा को बढ़ाने के लिये यत्नशील होते हैं। परन्तु **सुमारुतम्**=इस उत्तम मरुतों के (=प्राणों के) गण को **पूर्वीः क्षपः**=बहुत भी नाशक शत्रु **न अति (क्रम्य वर्तन्ते)**=नहीं लाँघ पाते हैं। इन मरुतों के गण के सामने हमारे इन शत्रुओं की शक्ति शान्त हो जाती है। इन शत्रुओं के शान्त हो जाने पर न शरीर में रोग आते हैं, नांही मन में राग आ पाते हैं। इस प्रकार शरीर को स्वस्थ बनाकर तथा मन को निर्मल बनाकर ये मरुत् हमारी शोभा को बढ़ानेवाले होते हैं। आभरणों द्वारा प्राप्त शोभा कृत्रिम थी, यह मरुतों से प्राप्त करायी गयी शोभा वास्तविक है, इसे ही प्राप्त करना बुद्धिमत्ता है। (२) इन मरुतों की साधना करनेवाले लोग **दिवस्पुत्रासः**=ज्ञान के पुतले (पुञ्ज) बनते हुए **एताः न**=गतिशील व्यक्तियों की तरह **येतिरे**=सदा शोभा को प्राप्त करने के लिये यत्नशील होते हैं। **आदित्यासः ते**=सदा सद्गुणों का आदान करनेवाले वे प्राणसाधक **अक्राः न**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले वीरों के समान **वावृधुः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। शत्रुओं को परास्त करते हुए, सद्गुणों का आदान करते हुए ये सचमुच अपनी शोभा को बढ़ा पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से प्राप्त होनेवाली शोभा ही वास्तविक शोभा है, आभरणों से वह शोभा अप्राप्य है।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधक की शोभा का अतिरेक

प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्यः।
पाजस्वन्तो न वीराः पनस्यवो रिशादसो न मर्या अभिद्यवः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना से शोभा को प्राप्त करनेवाले ये साधक (=मरुत्) वे हैं **ये**=जो कि **दिवः**=द्युलोक के दृष्टिकोण से **पृथिव्याः न**=(न=च सा०) और पृथिवी के दृष्टिकोण से **बर्हणा**=वृद्धि के कारण **त्मना**=स्वयं इस प्रकार **प्ररिरिच्रे**=खूब बढ़े हुए होते हैं **न**=जैसे कि **अभ्रात् सूर्यः**=बादल से सूर्य बढ़ा हुआ होता है। बादल कुछ देर के लिये सूर्य को एक देश में आवृत कर ले, परन्तु सदा सर्वत्र ऐसा कर सकना बादल के लिये सम्भव नहीं। इसी प्रकार प्राणसाधक को वासनारूप वृत्र हमेशा आवृत नहीं रख सकता। प्राणसाधक की वासनाएँ नष्ट होती ही हैं। वासना-विनाश से यह अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य से चमकता है। उसकी यह चमक बाह्य द्युलोक की चमक से भी अधिक होती है। और पृथिवीरूप शरीर इसका इस पृथिवी से भी अधिक दृढ़ बनता है। (२) **पाजस्वन्तः**=शक्तिशाली **वीराः न**=वीरों के समान ये प्राणसाधक **पनस्यवः**=स्तुति की कामनावाले होते हैं। इनका व्यवहार कायर पुरुषों के

समान नहीं होता। (३) **रिशादसः**=शत्रुओं को खा जानेवाले **मर्याः न**=मनुष्यों के समान ये **अभिद्यवः**=अभिगत दीप्तिवाले होते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर ये दीप्त जीवनवाले बनते हैं। अथवा दोनों ओर ये दीप्तिवाले होते हैं। दोनों ओर, अर्थात् प्रकृतिविद्या में भी और आत्मविद्या में भी ये निपुण होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से मनुष्य वासना से ऊपर उठकर मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व दृढ़ बनाता है।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अरोगता-अक्षीणता

युष्माकं बुध्ने अपां यामनि विथुर्यति न मही श्रथर्यति।
विश्वप्सुर्यज्ञो अर्वागयं सु वः प्रयस्वन्तो न सत्राच आ गत ॥ ४ ॥

(१) हे (मरुतः) प्राणो! **युष्माकं बुध्ने**=तुम्हारे आधार में, **अपां यामनि**=रेत:कणों के रूप में जलों के शरीर में गति करने पर **मही**=यह पृथिवी रूप शरीर **न विथुर्यति**=(व्यथते) रोगों से पीड़ित नहीं होता और **न श्रथर्यति**=नांही क्षीणशक्तिवाला होता है। प्राणसाधना से सोमकणों की (वीर्यकणों का) शरीर में ऊर्ध्वगति होती है। इस सोमशक्ति के शरीर में व्यापन से शरीर रोगाक्रान्त नहीं होता और शरीर की शक्ति क्षीण नहीं होती। (२) हे मरुतो! **अयम्**=यह **अर्वाग्**=शरीर के अन्दर चलनेवाला **विश्वप्सुः**=विश्वरूप **सु यज्ञः**=उत्तम यज्ञ **वः**=आपका ही है। शरीर के अन्दर होनेवाली सब क्रियाएँ इन मरुतों की कृपा से ही होती हैं। भोजन का ग्रहण पाचन तथा धातुओं का सर्वत्र नयन आदि सब क्रियाएँ इन प्राणों के ही अधीन हैं। इसलिए हे **सत्राचः**=मिलकर शरीर में गति करनेवाले मरुतो! **प्रयस्वन्तः**=उत्तम हविरूप अन्नवाले होते हुए आप **नः आगत**=हमें प्राप्त होवो। प्राणशक्ति के वर्धन के लिये हम उत्तम सात्त्विक अन्नों का ही प्रयोग करें। इन अन्नों से बढ़ी हुई शक्तिवाले प्राण हमारे जीवन को भी सात्त्विक बनायेंगे। उसी समय हमारा जीवन यज्ञमय हो पायेगा।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण होकर शरीर न रोगाक्रान्त होता है, न क्षीणशक्ति। उस समय हमारा जीवन यज्ञमय हो जाता है। शरीर के अन्दर चलनेवाली क्रियाएँ सब यज्ञ का रूप धारण कर लेती है।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

लक्ष्य की ओर

यूयं धूर्षु प्रयुजो न रश्मिभिर्ज्योतिष्मन्तो न भासा व्युष्टिषु।
श्येनासो न स्वयशसो रिशादसः प्रवासो न प्रसितासः परिप्रुषः ॥ ५ ॥

(१) हे (मरुतः=) प्राणसाधक पुरुषो! **यूयम्**=आप **रश्मिभिः**=प्रग्रहों, लगामों के कारण **धूर्षु**=रथ के जुए में जुते हुए **प्रयुजः न**=प्रकृष्ट घोड़ों के समान हो। जैसे रश्मियों से युक्त घोड़े इष्ट-स्थान पर ले जानेवाले होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों पर नियन्त्रणवाले ये प्राणसाधक पुरुष अपने को लक्ष्य पर प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) ये **भासा**=दीप्ति से **व्युष्टिषु**=उषाओं के होने पर **ज्योतिष्मन्तः न**=ज्योतिवाले सूर्यादि के समान होते हैं। प्राणसाधना से ज्ञान-ज्योति इस प्रकार दीप्त होती है, जैसे उषाकाल में सूर्य चमकता है। (३) **श्येनासः न**=बाज पक्षी के समान **रिशादसः**=(रिश अदस्) शत्रुओं के समाप्त करनेवाले **स्वयशसः**=अपने कर्मों से यशस्वी होते हैं प्राणसाधना से काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार होता है और यह साधक उत्तम कर्मोंवाला होकर यशस्वी

जीवनवाला बनता है। (४) ये साधक **प्रवासः न**=प्रवासी पुरुषों की तरह, पथिकों की तरह **प्रसितासः**=(intention, longing for, craering after) लक्ष्य पर पहुँचने के लिये प्रबल उत्सुकतावाले और अतएव **परिप्रुषः**=(परितो गन्तारः) खूब गतिवाले होते हैं। लक्ष्य मार्ग की ओर ये निरन्तर बढ़ रहे होते हैं, इनकी सब क्रियाएँ लक्ष्य प्राप्ति के लिये होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुष संयत-जीवनवाले, ज्योतिष्मान्, यशस्वी कर्मोंवाले तथा निरन्तर गतिशील होते हैं।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मदर्शन व निर्द्वेषता

प्र यद्वहध्वे मरुतः पराकाद्यूयं महः संवरणस्य वस्वः।
विदानासो वसवो राध्यस्याराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोत ॥ ६ ॥

(१) हे **मरुतः**=प्राणो! **यूयम्**=तुम **यद्**=जब **पराकाद्**=दूर देश से **वहध्वे**=इन्द्रियों व मन को पुनः वापिस लाते हो, भटकते हुए इनको निरुद्ध करके अन्दर ही स्थापित करते हो तो आप **महः**=महनीय, प्रशंसनीय, **संवरणस्य**=वरणीय, चाहने योग्य **वस्वः**=आत्म-धन के **विदानासः**=प्राप्त करानेवाले होते हो, उस आत्मधन के जो **राध्यस्य**=सिद्ध करने योग्य है, सचमुच प्राप्त करने योग्य है। इस आत्मधन के अभाव में अन्य धनों को तो कोई महत्त्व है ही नहीं। प्राणसाधना के होने पर चित्तवृत्ति-निरोध सम्भव होता है, उस समय आत्मदर्शन से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। यह आत्मदर्शन ही राध्य व साध्य है। (२) **वसवः**=आत्मदर्शन के द्वारा उत्तम निवास को प्राप्त करानेवाले **वसुओ**! आप **सनुतः**=अन्तर्हित **द्वेषः**=द्वेष की भानाओं को (द्वेषः=द्वेष्टॄन् सा०) **आरात् चित्**=सुदूर ही **युयोत**=हमारे से पृथक् करो। आत्मदर्शन के होने पर द्वेष की भावनाओं के रहने का सम्भव ही नहीं रहता। ये अवाञ्छनीय भावनाएँ हमारे हृदयों में छिपे रूप से विद्यमान होती हैं, इन्हें नष्ट करना आवश्यक ही है। इनके नाश के लिये यह प्राणसाधना साधन बनती है।

भावार्थ—प्राणायाम से चित्तवृत्ति का निरोध होकर आत्मदर्शन रूप महनीय धन प्राप्त होता है, उस समय मन में द्वेष की भावनाओं का अभाव हो जाता है।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञशीलता व प्राणायाम

य उदृचि यज्ञे अध्वरेष्ठा मरुद्भ्यो न मानुषो ददाशत्।
रेवत्स वयो दधते सुवीरं स देवानामपि गोपीथे अस्तु ॥ ७ ॥

(१) **यः**=जो व्यक्ति **उदृचि**=उद्गत ऋचाओंवाले, जिसमें ऋचाओं का, मन्त्रों का उच्चारण हो रहा है ऐसे **यज्ञे**=यज्ञ में **अध्वरेष्ठाः**=हिंसारहित कर्मों में स्थित होनेवाला बनता है, अर्थात् जो यज्ञों में प्रवृत्त रहता है **न**=और (न इति चार्थे) **मानुषः**=विचारशील बनकर **मरुद्भ्यः**=प्राणों के लिये **ददाशत्**=अपने को दे डालता है, अर्थात् प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है, **स**=वह **वयः**=उत्तम आयुष्य को **दधते**=धारण करता है। उस आयुष्य को जो **रेवत्**=उत्तम ज्ञान के धनवाला है और **सुवीरम्**=उत्तम वीरता से सम्पन्न है। (२) **स**=वह यज्ञशील प्राणसाधक पुरुष **देवानाम्**=देवों के **गोपीथे**=(गोपीथ protection) रक्षण में **अपि**=भी **अस्तु**=हो। सब देव इसके अनुकूल होते हैं और यह उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ दिव्यता का अपने में वर्धन करता है।

भावार्थ—यज्ञशीलता व प्राणसाधना मनुष्य को ज्ञानधन, वीरता व दिव्यता प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मनीषा-महः (बुद्धि व तेज)

ते हि य॒ज्ञेषु॑ य॒ज्ञिया॑स॒ ऊमा॑ आदि॒त्येन॒ नाम्ना॒ शंभ॑विष्ठाः।
ते नो॑ऽवन्तु रथ॒तूर्म॑नी॒षां म॒हश्च॒ याम॑न्नध्व॒रे च॑का॒नाः ॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार यज्ञों व प्राणसाधना को अपनानेवाले **ते**=वे लोग **हि**=निश्चय से **यज्ञेषु यज्ञियासः**=यज्ञों में यज्ञशील होते हैं, **ऊमाः**=इन यज्ञों के द्वारा इस लोक व परलोक का रक्षण करनेवाले बनते हैं। **आदित्येन**=सब स्थानों से अच्छाई को ग्रहण करने की वृत्ति से तथा **नाम्ना**=प्रभु नाम-स्मरण से अथवा नम्रता से **शंभविष्ठाः**=शान्ति को उत्पन्न करनेवाले हैं। (२) **ते**=वे आदित्य की वृत्तिवाले तथा प्रभु का स्मरण करनेवाले लोग **रथतूः**=(रथतुरः) शरीररूप रथ को त्वरा से मार्ग पर लक्ष्य की ओर ले चलनेवाले होते हैं। ये **नः**=हमारा भी **अवन्तु**=रक्षण करें। अपने जीवन के उदाहरण से हमारा मार्गदर्शन करते हुए ये हमें कल्याण-पथ का पथिक बनाते हैं। (३) ये व्यक्ति **अध्वरे**=यज्ञमय **यामन्**=जीवनमार्ग में **मनीषाम्**=बुद्धि को **महः च**=और तेजस्विता को **चकानाः**=चाहनेवाले होते हैं। इनकी कामना यही होती है कि इनका शरीर तेजस्वी हो तथा विज्ञानमय कोश सूक्ष्म बुद्धि से विभूषित हो।

भावार्थ—प्राणसाधक पुरुषों की मूल कामना यही होती है कि वे 'बुद्धि व तेज' को प्राप्त करनेवाले बनें।

सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त का भी विषय यही है—

[७८] अष्टसप्ततितमं सूक्तम्

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**आर्चीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मर्या अरेपस

विप्रा॑सो॒ न मन्म॑भिः स्वा॒ध्यो॑ देवा॒व्यो॒३॑ न य॒ज्ञैः स्वप्न॑सः।
राजा॑नो॒ न चि॒त्राः सु॑सं॒दृशः॑ क्षिती॒नां न मर्या॑ अरे॒पसः॑ ॥ १ ॥

(१) प्राणसाधक पुरुष **विप्रासः न**=ज्ञानी पुरुषों के समान **मन्मभिः**=विचारपूर्वक किये गये, स्तवनों से **स्वाध्यः**=शोभन-ध्यानवाले होते हैं। यह ध्यान ही उन्हीं **वि-प्र**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बनाता है। (२) **देवाव्यः न**=दिव्य गुणों को अपने में सुरक्षित करनेवालों के समान ये साधक **यज्ञैः**=यज्ञों से **स्वप्नसः**=सदा उत्तम कर्मोंवाले होते हैं। वस्तुतः इन यज्ञादि कर्मों में लगे रहने के कारण ही ये अपने में दिव्यगुणों का रक्षण करते हैं। (२) **राजानः न**=राजाओं के समान दीप्तजीवाले पुरुषों के समान ये **चित्राः**=चायनीय-पूजनीय होते हैं और **सुसन्दृशः**=देखने में बड़े उत्तम लगते हैं, आकृतिवाले बनते हैं। सब कार्यों में नियमितता regularily ही इन्हें सौन्दर्य प्रदान करती है और लोगों का पूज्य बनाती है। (४) **क्षितीनां न**=उत्तम निवास व गतिवालों के समान ये **मर्याः**=मनुष्य **अरेपसः**=निर्दोष जीवनवाले होते हैं। वस्तुतः प्रतिक्षण इस बात का ध्यान रहने पर कि 'हमें इस पृथ्वी पर अपने निवास को उत्तम बनाना है और गतिशील रहना है' मनुष्य अपने जीवन को बहुत कुछ निर्दोष बना पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'स्वाध्य, स्वप्नस्, सुसंदृश् व अरेपस्' बनाती है, उत्तम ध्यानवाला, उत्तम कर्मोंवाला, उत्तम आकृति व दृष्टिवाला, निर्दोष।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दीप्त व क्रियाशील

अ॒ग्निर्न ये भ्राज॑सा रु॒क्मव॑क्षसो॒ वाता॑सो॒ न स्व॒युजः॑ स॒द्यऊ॑तयः ।
प्र॒ज्ञा॒तारो॒ न ज्येष्ठाः॑ सुनी॒तयः॑ सु॒शर्मा॑णो॒ न सोमा॑ ऋ॒तं य॒ते ॥ २ ॥

(१) **ये**=जो प्राणसाधक पुरुष हैं वे **भ्राजसा**=दीप्ति की दृष्टि से **अग्निः न**=अग्नि के समान हैं, **रुक्मवक्षसः**=ये देदीप्यमान वक्षःस्थलोंवाले होते हैं। प्राणसाधना इनको खूब चौड़ी दीप्त छातीवाला बनाती है। (२) **वातसः न**=वायुयों के समान ये **स्वयुजः**=स्वयं कार्यों में सदा लगे हुए तथा **सद्यऊतयः**=शीघ्र रक्षणवाले होते हैं। प्राणसाधना से जीवन में सदा स्फूर्ति बनी रहती है तथा यह प्राणसाधक अपना रक्षण कर पाता है। वायु की तरह सदा स्फूर्तिवाला तथा वायु की तरह जीवन का रक्षक होता है। (३) **प्रज्ञातारः न**=प्रकृष्ट ज्ञानियों के समान **ज्येष्ठाः**=ये प्रशस्त जीवनवाले होते हैं तथा **सुनीतयः**=सदा उत्तम नीति मार्ग का अवलम्बन करते हैं। (४) ये प्राण **ऋतं यते**=ऋत के मार्ग पर चलनेवाले के लिये **सुशर्माणः न**=जैसे उत्तम सुख को देनेवाले होते हैं, उसी प्रकार **सोमाः**=उसको सौम्य व शान्त स्वभाववाला बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से दीप्ति व क्रियाशीलता प्राप्त होती है। प्राणसाधक उत्तम नीतिमार्ग से चलता है और सौम्य होता है।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रुकम्पक शूर

वाता॑सो॒ न ये धुन॑यो जिग॒त्नवो॑ऽग्नी॒नां न जि॒ह्वा वि॑रो॒किणः॑ ।
वर्म॑ण्वन्तो॒ न यो॒धाः शिमी॑वन्तः पितॄ॒णां न शंसाः॑ सुरा॒तयः॑ ॥ ३ ॥

(१) प्राणसाधक पुरुष वे हैं **ये**=जो कि **वातासः न**=वायुओं के समान **धुनयः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले तथा **जिगत्नवः**=निरन्तर गतिशील होते हैं। (२) **अग्नीनां जिह्वाः न**=अग्नियों की लपटों के समान **विरोकिणः**=ये विशेषरूप से चमकनेवाले होते हैं। (३) **वर्मण्वन्तः योधाः न**=कवचधारी योद्धाओं के समान **शिमीवन्तः**=ये शौर्ययुक्त कर्मोंवाले होते हैं। (४) **पितॄणां शं साः न**=पितरों के उपदेशों की तरह **सुरातवः**=उत्तम ज्ञान के दानवाले होते हैं। जैसे पिता सदा कल्याणकर वाणी का ही उच्चारण करते हैं, उसी प्रकार ये प्राणसाधक सदा शुभ ही सलाह को देनेवाले होते हैं, ये सदा उत्तम ज्ञान को ही देते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक वायु के समान शत्रुओं को कम्पित करता हुआ गति करता है, अग्नि ज्वाला के समान चमकता है, शत्रुओं से मुकाबिला करनेवाले वीर योद्धा के समान होता है और पितरों की तरह हितकर ज्ञान को देनेवाला होता है।

ऋषिः—स्यूमरश्मिर्भार्गवः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मिलकर कार्य करनेवाले

रथा॑नां॒ न ये॒३॑ऽराः सना॑भयो जिगी॒वांसो॒ न शूरा॑ अ॒भिद्य॑वः ।
व॒रे॒यवो॒ न मर्या॑ घृत॒प्रुषो॑ऽभिस्व॒र्तारो॑ अ॒र्कं न सु॒ष्टुभः॑ ॥ ४ ॥

(१) प्राणसाधक व्यक्ति वे हैं **ये**=जो **रथानां अराः न**=रथों के अरों के समान **सनाभयः**=समान नाभि व बन्धनवाले होते हैं। जैसे रथचक्र के ओर एक नाभि में ही केन्द्रित होते हैं, उसी प्रकार

ये प्राणसाधक पुरुष एक ही कार्य में अपने को केन्द्रित करके चलते हैं 'सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा'। एक परिवार में पति-पत्नी दोनों प्राणसाधक होते हैं तो घर को मिलकर बड़ा सुन्दर बना पाते हैं। इसी प्रकार प्राणसाधकों का समाज सदा श्रेष्ठ समाज बनता है। राष्ट्र का शासकवर्ग भी इस प्राणसाधना को अपनाने से राष्ट्र को बड़ी उन्नत स्थिति में प्राप्त करानेवाला होता है। (२) ये प्राणसाधक पुरुष **जिगीवांसः सूराः न**=सदा जीतनेवाले शूरों के समान **अभिद्यवः**=अभिगत दीप्तिवाले होते हैं। इनके शरीर तेजस्विता से चमकते हैं तो इनके मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से दीप्त होते हैं। (३) ये प्राणसाधक **वरेयवः**=वरणीय उत्तम वस्तुओं को ही अपने साथ जोड़नेवाले **मर्याः न**=मनुष्यों के समान **घृत-प्रुषः**=मलों के क्षरण व दीप्ति को अपने में पूरित करते हैं (प्रुष पूरणे) मलों के क्षरण से इनका शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है और ज्ञान की दीप्ति से इनका मस्तिष्क जगमगा उठता है। (४) **अर्कं अभिस्वर्तारः न**=पूजनीय प्रभु का स्तवन करनेवालों के समान ये साधक **सुष्टुभः**=सदा उत्तम शब्दोंवाले होते हैं। ये सदा स्तुत्यात्मक शब्दों का ही उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक मिलकर कार्य करनेवाले, शूर, स्वस्थ व दीप्त जीवनवाले होते हैं तथा स्तुत्यात्मक शब्दों का ही उच्चारण करते हैं।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

संसार को सुन्दर बनानेवाले

अश्वा॑सो॒ न ये ज्येष्ठा॑स आ॒शवो॑ दिधि॒षवो॒ न र॒थ्यः॑ सुदान॑वः।
आपो॒ न नि॒म्नैरु॒दभि॑र्जिग॒त्नवो॑ वि॒श्वरू॑पा॒ अङ्गि॑रसो॒ न साम॑भिः ॥ ५ ॥

(१) प्राणसाधक पुरुष वे होते हैं **ये**=जो **अश्वासः न**=मार्ग का व्यापन करनेवाले घोड़ों के समान **आशवः**=शीघ्रता से कार्य करनेवाले और अतएव **ज्येष्ठासः**=प्रशस्त जीवनवाले बनते हैं। प्राणसाधना स्फूर्ति को देकर हमारे जीवनों को प्रशस्त बनाती है। (२) ये साधक **दिधिषवः न**=वसुओं के जीवन के धारक तत्त्वों को धारण करनेवालों के समान **रथ्यः**=उत्तम शरीररूप रथवाले तथा **सुदानवः**=(दाप् लवने) शरीर में आ जानेवाली कमियों का खण्डन करनेवाले होते हैं। कमियों को दूर करके ये इस रथ को सदा यात्रा के लिये उपयुक्त बनाये रखते हैं। (३) **आपः निम्नैः न**=जल जैसे निम्न मार्गों से गति करते हैं, उसी प्रकार ये साधक **निम्नैः उदभिः जिगत्नवः**=नम्रता की भावना को जगानेवाले रेतःकणों के साथ गतिशील होते हैं। ये अपने में रेतःकणों का रक्षण करते हैं और रक्षित रेतःकण इन्हें नम्र जीवनवाला बनाते हैं। (४) ये साधक **सामभिः**=उपासनाओं के द्वारा **अंगिरसः न**=अंगिरसों के समान, अंगारों की तरह देदीप्यमान पुरुषों के समान, **विश्वरूपाः**=(विश्वं रूपयन्ति) इस विश्व को उत्तम रूप देनेवाले हैं। उपासना से इन्हें शक्ति प्राप्त होती है, ये अग्निरूप प्रभु के समान ही चमक उठते हैं और संसार को उत्तम बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक 'शीघ्रता से कार्य करनेवाले, बुराइयों का खण्डन करनेवाले, नम्रतापूर्वक गतिशील तथा उपासना से संसार को उत्तम रूप देनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

क्रीड़क व उत्तम निर्माता

ग्रावा॑णो॒ न सू॒रयः॒ सिन्धु॑मातर आदर्दि॒रासो॒ अद्र॑यो॒ न वि॒श्वहा॑।
शि॒शूला॒ न क्री॒ळयः॑ सु॒मा॒तरो॑ महाग्रा॒मो न याम॑न्नु॒त त्वि॒षा ॥ ६ ॥

(१) प्राणसाधक पुरुष **ग्रावाणः न**=(विद्वांसो हि ग्रावाण: श० ३।९।३।१४) ज्ञानी पुरुषों के समान **सूरयः**=सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाले, **सिन्धुमातरः**=अपने जीवन में (सिन्धु=आप:=रेत:) रेत:कणों का निर्माण करनेवाले होते हैं। इन रेत:कणों के रक्षण से ही ये प्रेरणात्मक कार्यों को करने में समर्थ होता है। (२) **अद्रयः न**=(adore) प्रभु के उपासकों के समान ये **विश्वहा**=सदा **आदर्दिरासः**=वासनाओं का विदारण करनेवाले होते हैं। वासनाओं का विदारण ही इन्हें सोमरक्षण में समर्थ करता है। वासनाओं को नष्ट करके ही तो ये ऊर्ध्वरेता बनेंगे। (३) **शिशूलाः न**=छोटे बच्चों के समान ये सदा **क्रीडयः**=खेलनेवाले होते हैं। छोटे बच्चे खेल में कभी लड़ भी पड़ते हैं तो थोड़ी ही देर में सब लड़ाई को भूलकर फिर खेलने लगते हैं। इसी प्रकार प्राणसाधक भी संसार की सब घटनाओं को खेल समझता है। इसीलिए परेशान नहीं होता, राग-द्वेष में नहीं फँस जाता। इसी कारण **सुमातरः**=ये उत्तम निर्माण करनेवाले बनते हैं। खीझनेवाला व्यक्ति, राग-द्वेष से भरे हुए मनवाला व्यक्ति कभी उत्तम निर्माण नहीं कर पाता। (४) **उत**=और ये **त्विषा**=अपनी दीप्ति से **यामन्**=इस जीवनयात्रा में अकेले होते हुए भी **महाग्रामः न**=महान् जनसंघ के समान प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक ज्ञानियों के समान प्रेरणा देनेवाला, वासना विनाशक, उत्तम निर्माता व तेजस्वी होता है।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अनथक क्रियाशील

उषसां न केतवोऽध्वरश्रियः शुभंयवो नाञ्जिभिर्व्यश्वितन्।
सिन्धवो न ययियो भ्राजदृष्टयः परावतो न योजनानि ममिरे॥ ७॥

(१) **उषसां केतवः न**=उषाकाल की रश्मियों की तरह ये प्राणसाधक भी ज्ञान की दीप्तिवाले होते हैं और **अध्वरश्रियः**=यज्ञों का सेवन करनेवाले होते हैं (श्रि सेवायाम्)। प्राणसाधना इन्हें ज्ञानदीप्त यज्ञसेवी बनाती है। (२) **शुभंयवः न**=शुभ को अपने साथ मिश्रित करने की कामनावालों के समान **अञ्जिभिः**=उत्तम गुणरूपी आभरणों से **व्यश्वितन्**=ये दीप्त होते हैं। सदा शुभंयु होते हुए ये गुणों का संचय कर ही पाते हैं। (३) **सिन्धवः न**=नदियों के समान **ययियः**=निरन्तर गतिवाले और गति के कारण ही **भ्राजद् ऋष्टयः**=दीप्त 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधोंवाले ये होते हैं। (४) **परावतः न**=(दूराध्वनीना: वडवा इव सा०) सुदूर मार्ग का आक्रमण करनेवाली घोड़ियों के समान **योजनानि ममिरे**=कितने ही योजनों का, लम्बे मार्गों का परिच्छेदन करनेवाले होते हैं, अर्थात् लम्बे मार्गों को तय करने में थक नहीं जाते।

भावार्थ—प्राणसाधक 'ज्ञानदीप्त यज्ञसेवी' बनते हैं, गुणों के आभरणों से अपने को विभूषित करते हैं, गतिशील व दीप्त इन्द्रियादिवाले होते हैं, मार्गों के आक्रमण में थक नहीं जाते।

ऋषिः—**स्यूमरश्मिर्भार्गवः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुभाग-सुरत्न

सुभागान्नो देवाः कृणुता सुरत्नानस्मान्त्स्तोतॄन्मरुतो वावृधानाः।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गात सनाद्धि वो रत्नधेयानि सन्ति॥ ८॥

(१) हे **देवाः**=प्राणसाधना से उत्पन्न सब दिव्य गुणो! **नः**=हमें **सुभागान्**=उत्तम सेवनीय धनोंवाला तथा **सुरत्वान्**=उत्तम शरीरस्थ 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा, मेदस् व वीर्य' रूप

सप्त रत्नोंवाला **कृणुता**=करिये। (२) हे **वावृधानाः**=वृद्धि को प्राप्त होते हुए **मरुतः**=प्राणो! **अस्मान् स्तोतॄन् कृणुता**=हमें आप स्तुति की वृत्तिवाला बनाइये। (२) हे मरुतो! आप **स्तोत्रस्य**=हमारे से किये जाते हुए स्तोत्रों को तथा **सख्यस्य**=मित्रता को **अधिगात**=प्राप्त होवो। हम प्राणों का स्तवन करें और प्राणों की मित्रता को प्राप्त करें। हे प्राणो! **वः**=आपके **रत्नधेयानि**=हमारे शरीरों में रत्नों की स्थापना रूप कार्य **सनात् हि**=चिरकाल से निश्चयपूर्वक **सन्ति**=हैं। सदा से आप हमारे में रस आदि रत्नों की स्थापना करते हो। आपकी ही कृपा से हमारे जीवनों में इन रत्नों का स्थापन होता है और हम 'सुभाग व सुरत्न' बन पाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें सुभाग व सुरत्न बनाती है।

गत सूक्त की तरह यह सूक्त भी प्राणसाधना के महत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है। अब प्राणसाधना के द्वारा यह 'सौचीक अग्नि वैश्वानर' बनता है, 'सूची शिल्पं अस्य' सूई जिस तरह सी देती है उसी प्रकार मिलानेवाला न कि फाड़नेवाला, प्रगतिशील, विश्वनर हितकारी। 'वैश्वानर' बनने के लिये ही यह 'सप्तिवाजम्भर' बनता है, उपासक (सप् to honour) व उपासना द्वारा अपने में शक्ति को भरनेवाला। यह सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है—

[७९] एकोनाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जबड़ों की अद्भुत रचना

अप॑श्यमस्य म॒ह॒तो म॑हि॒त्वमम॑र्त्यस्य॒ मर्त्या॑सु वि॒क्षु।
नाना॒ हनू॒ विभृ॑ते॒ सं भ॑रेते॒ असि॑न्वती॒ बप्स॑ती॒ भूर्य॑त्तः॥ १॥

(१) **अस्य**=इस **अमर्त्यस्य**=कभी न मरनेवाले **महतः**=महान् प्रभु की **महित्वम्**=महिमा को **मर्त्यासु विक्षु**=इन मर्त्य प्रजाओं के अन्दर **अपश्यम्**=देखता हूँ। इन मरणधर्मा शरीरों में क्या अद्भुत ही रचना है। ये **नाना**=अलग-अलग **हनू**=जबड़े **विभृते**=ऊपर और नीचे विभिन्न स्थितियों में धारण किये गये हैं। ये **संभरेते**=विभृत होते हुए भी मिलकर पुरुष का भरण करते हैं। इन्हीं से भोजन का चूर्णन व चर्वण होता है, इस चूर्णन व चर्वण के अभाव में भोजन का पाचन ही नहीं हो पाता। ३२ दाँतों की संख्या से यही संकेत हो रहा है कि कम से कम प्रत्येक ग्रास ३२ बार अवश्य चबाया जाए। (२) **असिन्वती बप्सती**=(असिन्व imsetiable) अतृप्तिपूर्वक खाते हुए (प्सा भक्षणे) ये जबड़े **भूरि अत्तः**=(भृः धारणपोषणयोः) धारण व पोषण के दृष्टिकोण से ही खाते हैं। ये कभी अति भोजन नहीं खाते, कभी ऐसा नहीं होता कि ये कहा जाए कि 'अरे! पेट बड़ा भर गया'। वस्तुतः खूब चबाने का अभ्यस्त पुरुष अति-भोजन से बचा ही रहता है। भोजन को इतना चबाया जाए कि वह द्रव बन जाए। इस प्रकार हम इस उक्ति को क्रियान्वित करनेवाले बने कि 'drink your food'।

भावार्थ—शरीर की रचना में यह जबड़ों की रचना बड़ी ही अद्भुत है, ये भोजन को शरीर के पालन व पोषण के योग्य बना देते हैं। इनमें द्रष्टा को प्रभु की महिमा दिखती है।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सिर, आँखें व जिह्वा

गुहा शिरो निहितमृधगक्षी असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि।
अत्राण्यस्मै पड्भिः सं भरन्त्युत्तानहस्ता नमसाधि विक्षु ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित जबड़ों की अद्भुत रचना के साथ प्रभु ने **शिरः**=सर्वमुख्य अंग मस्तिष्क को **गुहा निहितम्**=एक हड्डियों से बनी हुई गुफा-सी में रख दिया है। वहाँ उस गुफा में यह कितना सुरक्षित विद्यमान है। उस गुफा पर केश रूप घास-फूस के उगने की व्यवस्था से उसका रक्षण और भी सुन्दर हो जाता है। (२) प्रभु ने **ऋधक् अक्षी**=अलग-अलग दो आँखों को रखा है। दो होती हुई भी ये पदार्थों को दो न दिखाकर एक रूप में ही दिखाती हैं। यह भी एक अद्भुत ही रचना की कुशलता है। (३) सिर व आँखों के अतिरिक्त यह जिह्वा भी अद्भुत है। **जिह्वया**=इस जिह्वा से **असिन्वन्**=कभी अतितृप्ति को न अनुभव करता हुआ यह 'सौचीक अग्नि' **वनानि अत्ति**=वानस्पतिक पदार्थों को खाता है। जिह्वा से उनमें एक इस प्रकार का स्राव मिल जाता है जिससे कि उनका पाचन ठीक से हुआ करता है यहाँ कुछ stareh निशास्ता खाण्ड में परिवर्तित हो जाता है। (४) **अस्मै**=इसके लिये **अत्राणि**=भोज्य पदार्थों को **पड्भिः**=श्रमों के द्वारा, गति के द्वारा **संभरन्ति**=संभृत करते हैं। वस्तुतः पुरुषार्थ से प्राप्त भोजन ही भोजन है। बिना पुरुषार्थ के प्राप्त भोजन अन्ततः विध्वंस का कारण बनता है। **विक्षु**=प्रजाओं में **उत्तानहस्ताः**=ऊपर उठाये हुए हाथोंवाले, अर्थात् पुरुषार्थ में रत पुरुष **नमसा**=नमन के द्वारा, प्रभु के प्रति नम्रभाव को धारण करते हुए इन भोजनों को प्राप्त करते हैं। इन भोजनों में भी ये प्रभु की महिमा को देखते हैं और प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क, आँखों व जिह्वा की रचना में भी उस रचयिता की महिमा स्पष्ट है। जिह्वा से हम पुरुषार्थ से प्राप्त वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करें।

ऋषिः—अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कन्द-शाक-अन्न-फल

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन्कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ॥ ३ ॥

(१) **स**=यह **मातुः**=इस पृथ्वी माता की **गुह्यम्**=गुहा में स्थित कन्द आदि पदार्थों को **प्रतरम्**=प्रकृष्टतया **इच्छन्**=चाहता हुआ **कुमारः न**=सब कुत्सित प्रवृत्तियों को मारते हुए के समान **उर्वीः वीरुधः**=इन फैलनेवाले पौधों की ओर **सर्पत्**=गति करता है, इन पर लगनेवाले शाक फलों को भोज्य पदार्थों के रूप में स्वीकार करता है। (२) सबसे उत्कृष्ट भोज्य पदार्थ तो पृथ्वी माता के गर्भ में उत्पन्न होनेवाले कन्द हैं जो कि मुनियों के मुख्य भोजन बनते हैं। इन के सेवन से राजस व तामस प्रवृत्तियाँ उत्पन्न ही नहीं होती। इनके बाद इन पौधों पर होनेवाले शाकों का क्रम आता है। ये भी हमारी शक्तियों का विस्तार करनेवाले होते हैं। (२) **न**=जैसे यह 'सौचीक अग्नि' **पक्वम्**=पके हुए अतएव **शुचन्तम्**=चमकते हुए **ससम्**=यव आदि सस्यों को **अविदत्**=प्राप्त करता है, उसी प्रकार **रिपः**=पृथिवी की **उपस्थे अन्तः**=गोद के अन्दर **रिरिह्वांसम्**=मूलों से,

जड़ों से रस का आस्वादन लेते हुए इन वृक्षों को (अविदत्) प्राप्त करता है। इन वृक्षों के फलों को यह स्वीकार करता है। यहाँ पृथ्वी को 'रिप्' कहा है, इसकी गोद को विदीर्ण करके वृक्ष बाहर आ जाते हैं (rip=रिप्) आकाश में इनकी शाखाएँ शयन करती हैं एवं इनका मूल माता के उत्संग में होता है, शिखर द्युलोक रूप पिता की गोद में। एक प्रभु-भक्त इन वृक्षों के फलों का सेवन करता है और उनके अन्दर प्रभु की रचना के महत्त्व को देखता है।

भावार्थ—प्रभु-भक्तों के भोजन 'कन्द, शाक, फल व अन्न' ही होते हैं।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की अचिन्त्य महिमा

तद्वामृतं रोदसी प्र ब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति।
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेताग्निरङ्ग विचेताः स प्रचेताः॥ ४॥

(१) हे **रोदसी**=द्यावापृथिवी में **वाम्**=आपके **तद् ऋतम्**=उस ऋत को **प्रब्रवीमि**=प्रकर्षेण उच्चारण करता हूँ। आपके अन्दर होनेवाली प्रत्येक क्रिया बड़े ऋत के साथ हो रही है। ऋत का अभिप्राय है प्रत्येक क्रिया का ठीक समय पर व ठीक स्थान पर होना। प्रत्येक नक्षत्र एकदम नियमित गति से चल रहा है। इस सृष्टि के किसी भी पिण्ड में नाममात्र भी अनृत का स्थान नहीं है। यह ऋत भी उस प्रभु की महिमा को व्यक्त कर रहा है। (२) यह भी एक अद्भुत ही बात है कि **जायमानः गर्भः**=विकसित होता हुआ गर्भ **मातरा**=अपने जन्म देनेवाले माता-पिता को ही **अत्ति**=खा जाता है। एक बालक का शरीर माता-पिता की शक्ति के व्यय से ही बनता है। बालक बढ़ता है, माता-पिता क्षीण होते हैं। यह भी वस्तुतः एक विचत्र ही व्यवस्था है। (३) इस सारी व्यवस्था का विचार करता हुआ **अहं मर्त्यः**=मैं मरणधर्मा तो **देवस्य**=उस देव की महिमा को **न चिकेत**=पूरा-पूरा नहीं समझ पाता हूँ। हे **अंग**=हे प्रिय! **अग्निः**=वह सबका अग्रेणी प्रभु ही **विचेताः**=विविध ज्ञानोंवाला है, इन सब विविध व्यवस्थाओं के मर्म को वही जानता है **स प्रचेताः**=वही प्रकृष्ट ज्ञानी है। प्रभु ही अपनी महिमा को पूर्णरूपेण जानते हैं।

भावार्थ—इस द्युलोक व पृथ्वीलोक में कार्य करता हुआ 'ऋत' प्रभु की महिमा को प्रकट करता है, यह भी एक विचित्र बात है कि जायमान गर्भ अपने ही माता-पिता को क्षीण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परस्पर भावन

यो अस्मा अन्नं तृष्वा३ दधात्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति।
तस्मै सहस्रमक्षभिर्वि चक्षेऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसि त्वम्॥ ५॥

(१) प्रभु ने यह भी एक विचित्र व्यवस्था की है मनुष्य अग्नि के लिये अन्न व घृत आदि की आहुति देता है और अग्नि पर्जन्य (=बादल) आदि के द्वारा वृष्टि कराता हुआ फिर से मनुष्य को अन्न प्राप्त कराता है और उसका पोषण करता है। इस प्रकार यह देवों व मनुष्यों का परस्पर भावन चलता है। **यः**=जो **अस्मै**=इस अग्नि के लिये **अन्नम्**=अन्न को **तृषु**=शीघ्र **आदधाति**=स्थापित

करता है और **घृतैः आज्यैः**=(घृ दीप्तौ) दीप्त घृतों से **जुहोति**=आहुत करता है अग्नि उसका **पुष्यति**=पोषण करता है, **तस्मै**=उसके लिये **सहस्रं अक्षभिः**=हजारों आँखों से **विचक्षे**=(विपश्यति looks after) ध्यान करता है, अर्थात् उसके रक्षण के लिये सदा अप्रमत्त रहता है। (२) इस प्रकार उस प्रभु ने मनुष्य के पालन के लिये यह अद्भुत ही व्यवस्था की है। यही क्या, वास्तव में जिधर ही देखें उसी तरफ प्रभु की इस प्रकार की व्यवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं कि सर्वत्र उसकी महिमा दिखने लगती है। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **विश्वतः**=सब ओर **प्रत्यङ्**=(प्रत्यगचनः) अभिमुख गति करते हुए **असि**=हैं, सब ओर हमारी अनुकूलता से आप प्रवर्तमान हो रहे हैं। जिधर दृष्टि जाती है उधर ही आपकी महिमा दिखती है।

भावार्थ—प्रभु ने यह भी विचित्र व्यवस्था की है कि मनुष्य यज्ञादि में अग्नि में अन्न व घृत को आहुत करता है और अग्नि, बादल वृष्टि व अन्नादि की उत्पत्ति के क्रम से मनुष्य का पोषण करता है।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥
छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रकृति का विचित्र स्वभाव

किं देवेषु त्यज एनश्चकर्थाग्ने पृच्छामि नु त्वामविद्वान्।
अक्रीळन्क्रीळन्हरिरत्तवेऽदन्वि पर्वशश्चकर्त गामिवासिः ॥ ६ ॥

(१) हम प्रकृति में देखते हैं कि नाममात्र भी प्रकृति के विषय में हम अपराध करते हैं और प्रकृति एकदम उसका हमें दण्ड देती है। यह अपराध दो प्रकार का है। एक तो यह कि जिन चीजों का प्रयोग करना चाहिए उनका प्रयोग न करें और दूसरा यह कि जिनका प्रयोग नहीं करना चाहिए उनका प्रयोग कर बैठें। पहले अपराध 'त्यज्य' हैं, दूसरे 'एनस्' पहले sins of omission, तथा दूसरे sins of eonamision। ये सब अपराध हमारी अल्पज्ञता व मूर्खता के कारण ही हुआ करते हैं। सो कहते हैं कि हे **अग्ने**=परमात्मन् **अविद्वान्**=अल्पज्ञ होता हुआ मैं **नु**=सब **त्वाम्**=आप से **पृच्छामि**=पूछता हूँ कि मनुष्य **देवेषु**=शरीरस्थ देवों के विषय में **किं** क्या **त्यजः**=करने योग्य के न करने का पाप तथा **एनः**=न करने योग्य के करने का पाप **चकर्थ**=करता है कि प्रकृति उसे **पर्वशाविचकर्त**=एक-एक पर्व काटती हुई पीड़ा पहुँचाती है, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **असिः गाम्**=तलवार किसी को काटती है। मैं प्रकृति के विषय में गलती कर बैठता हूँ और उस गलती के कारण रोग के रूप में कष्ट को प्राप्त करता हूँ। (२) यह गलतियाँ सामान्यतः चार भागों में बाँटी जा सकती है—(क) **अक्रीडन्**=व्यायाम को बिलकुल न करता हुआ। व्यायाम का बिलकुल न करना पहली गलती है, (ख) **क्रीडन**=हर समय खेलता हुआ। यह व्यायाम की अति है। यह अति व्यायाम भी विविध व्याधियों का कारण बनता है। (ग) **हरिः**=मैं कभी-कभी अन्याय से धन का हरण करनेवाला बनता हूँ (हरणात्)। इस के परिणामरूप मानस अशान्ति को भोगता हूँ और (घ) **अत्तवे अदन्**=खाने के लिये खाने लगता हूँ। खाने के लिये ही खाने लगना सबसे बड़ा दोष है, यह सब प्रकार की अवनतियों का कारण होता है। (३) शरीर में अग्नि का निवास मुख में है, वायु का नासिका में, सूर्य का आँखों में, दिशाओं का कानों में, चन्द्रमा का हृदय में और इस प्रकार सारे देवता इस शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों में रह रहे हैं। इनके विषय में हमारे यही मुख्य रूप से अपराध हैं कि हम (क) व्यायाम बिलकुल नहीं करते, (ख) अतिव्यायाम कर बैठते हैं, (ग) चोरी करके धन जुटाते हैं, (घ) भोगों में फँस जाते हैं। इन अपराधों से देवताओं

का हम निरादर करते हैं और यह देवताओं का निरादर हमारे कष्टों का कारण बनता है। उपर्युक्त बातों को छोड़कर इन देवताओं की पूजा ही हमें सुखी बनायेगी।

भावार्थ—हम अव्यायाम, अतिव्यायाम, धनदासता व स्वाद रूप दोषों से ऊपर उठकर शरीरस्थ देवों के विषय में कोई अपराध न करें जिससे हम स्वस्थ बने रहें।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा, सप्तिर्वा वाजम्भरः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अद्भुत इन्द्रियाश्व

विषूचो अश्वान्युयुजे वनेजा ऋजीतिभी रशनाभिर्गृभीतान्।
चक्षदे मित्रो वसुभिः सुजातः समानृधे पर्वभिर्वावृधानः ॥ ७ ॥

(१) **वनेजा**=(वंने संभजने जातः) उपासना में ही निवास करनेवाला उपासक **ऋजीतिभिः**=(ऋजु+अत्) सरल मार्ग से गतिरूप **रशनाभिः**=लगामों के द्वारा **गृभीतान्**=ग्रहण किये हुए, वश में किये हुए **विषूचः**=(वि सु अच्) विविध दिशाओं में जानेवाले **अश्वान्**=इन्द्रिय रूप अश्वों को **युयुजे**=अपने इस शरीर रूप रथ में जोतता है। जब हम अपने जीवन का सूत्र 'ऋजुता' को बना लेते हैं तभी इन्द्रियों को वश में कर पाते हैं। ऋजुता-सरलता ही ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है, कुटिलता मृत्यु का मार्ग है। (२) इस ऋजुता के मार्ग से चलता हुआ, इन्द्रियों को वश में करनेवाला पुरुष **वसुभिः**=निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों से **सुजातः**=उत्तम प्रादुर्भाववाला और अतएव **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) अपने को रोगों व मृत्यु से बचानेवाला **चक्षदे**=(शकली करोति) वासनाओं को टुकड़े-टुकड़े कर देता है। वासनाओं को विनष्ट करके, **पर्वभिः**=अपने में सद्गुणों के पूरण से (पर्व पूरणे) **वावृधानः**=खूब वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **समावृधे**=सम्यक् जीवनयात्रा को पूर्ण करता है (ऋध्=to aeeomplish)। (३) वस्तुतः उस प्रभु ने ये इन्द्रियरूप अश्व भी अद्भुत ही प्राप्त कराये हैं। अवशीभूत होने पर ये हमारे महान् पतन का कारण बनते हैं (इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्)। इन्हीं को वश में कर लेने पर ये हमें सिद्धि व सफलता तक ले चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जीवन का सूत्र 'सरलता' को बनाकर हम इन्द्रियाश्वों को वश में करते हैं। वशीभूत इन्द्रियाँ हमें जीवनयात्रा को सफलता से पूर्ण करने में समर्थ करती हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि शरीर में जबड़ों का कार्य प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहा है। (१) मस्तिष्क, आँखें व जिह्वा भी उसकी महिमा को व्यक्त करती हैं, (२) जिह्वा जिन 'कन्द, शाक, अन्न व फलों' को खाती है उन सब में अद्भुत रचना चातुरी का दर्शन होता है, (३) यह भी एक विचित्र व्यवस्था है कि आनेवाला सन्तान माता-पिता की क्षीणता का कारण होता है, (४) 'मनुष्य अग्नि को खिलाता है, अग्नि मनुष्य को' इस प्रकार यह व्यवस्था भी अद्भुत है, (५) प्रकृति के विषय में जरा-सी गलती होती है और कष्ट आता है, (६) इन गलतियों से अपने को बचाकर ही हम जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाते हैं, (७) इस लोक में भी हम उत्तम बनते हैं—

[८०] अशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वीर-श्रुत्य-कर्मनिष्ठ' सन्तान

अग्निः सप्तिं वाजंभरं ददात्यग्निर्वीरं श्रुत्यं कर्मनिःष्ठाम्।
अग्नी रोदसी वि चरत्समञ्जन्नग्निर्नारीं वीरकुक्षिं पुरन्धिम्॥ १ ॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रेणी परमात्मा **सप्तिम्**=(सप् to worship) बड़ों का आदर करनेवाले (to obey, to do, to perfome) बड़ों के कहने के अनुसार कर्म करनेवाले **वाजम्भरम्**=अपने में शक्ति को धारण करनेवाले सन्तान को **ददाति**=देता है। **अग्निः**=वे प्रभु **वीरम्**=वीर **श्रुत्यम्**=ज्ञानश्रवण में उत्तम **कर्मनिष्ठाम्**=(कर्मणि निश्चयेन तिष्ठति) यज्ञादि उत्तम कर्मों में निष्ठावाले सन्तान को देता है। हम प्रभु का उपासन करते हैं, गतसूक्त के अनुसार सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखते हैं तो प्रभु हमारे सन्तानों को भी उत्तम बनाते हैं। (२) **अग्निः**=वे प्रभु **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, हमारे मस्तिष्क व शरीर को **समञ्जन्**=अलंकृत करते हुए **विचरत्**=गति करते हैं। प्रभु कृपा से ही हमारा मस्तिष्क उग्र व ज्ञानदीप्त बनता है और शरीर दृढ़ होता है। **अग्निः**=ये प्रभु ही **नारीम्**=गृहिणी को **वीरकुक्षिम्**=वीर सन्तानों को कोख में धारण करनेवाली व **पुरन्धिम्**=पालक व पूरक बुद्धिवाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को देखनेवालों व स्तवन करनेवालों के सन्तान 'आज्ञापालक, सशक्त, ज्ञानी व यज्ञादि कर्मों में निष्ठावान' होते हैं। इनके अपने मस्तिष्क व शरीर उत्तम होते हैं। इनकी गृहिणियाँ वीर प्रसविनी व बुद्धिमती होती हैं।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बाह्य व अन्तःसंग्रामों में विजय

अग्नेरप्नसः समिदस्तु भद्राग्निर्मही रोदसी आ विवेश।
अग्निरेकं चोदयत्समत्स्वग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि॥ २॥

(१) **अप्नसः**=सब कर्मों को करनेवाले (कर्मवतः सा०) **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु की **समिद्**=दीप्त-हृदय में प्रकाश, **भद्रा अस्तु**=हमारा कल्याण व सुख करनेवाला हो। अर्थात् हमारे हृदयों में उस प्रभु का प्रकाश हो। इस प्रभु की शक्ति से ही होते हुए सब कर्मों को हम जानें। हमें उन कर्मों का गर्व न हो। हम यह अनुभव करने का प्रयत्न करें कि वह **अग्निः**=परमात्मा ही **मही रोदसी**=इन महान् द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पिण्डों में **अविवेश**=प्रविष्ट हो रहे हैं। उस-उस लोक में प्रभु के अंश से ही 'विभूति श्री व ऊर्ज्' का दर्शन होता है। इस अग्नि में तेज वे प्रभु ही हैं, सूर्य व चन्द्र की कान्ति भी वे ही हैं। (२) **अग्निः**=वे प्रभु ही **एकम्**=एक स्वभक्त क्षत्रिय को **समत्सु**=संग्रामों में **चोदयत्**=प्रेरणा देते हैं, उसके सहायक बनकर उसे संग्राम में विजीय करते हैं। **अग्निः**=ये प्रभु ही **पुरूणि**=बहुत संख्यावाले **वृत्राणि**=ज्ञान पर आवरण के रूप आ जानेवाले वासनारूप शत्रुओं को **दयते**=हिंसित करते हैं। बाह्य संग्रामों में भी विजय प्रभु ही प्राप्त कराते हैं, अन्तः संग्रामों में भी। इन विजयों के द्वारा ही वे हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—हृदयों में प्रभु का ध्यान हमें शक्ति देता है और बाह्य व अन्तःसंग्रामों में विजयी बनाता है।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की रक्षा का पात्र

अग्निर्ह त्यं जरतः कर्णमावाग्निरद्भ्यो निरदहुज्जरूथम्।
अग्निरत्रिं घर्म उरुष्यदुन्तरग्निर्नृमेधं प्रजयासृजत्सम्॥ ३॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **त्यम्**=उस **जरतः कर्णम्**=(जरते to invoke, praise) स्तुति करनेवाले को जो सुनता है, अर्थात् जो अपने कानों में यथासम्भव स्तुति के शब्दों को ही आने

देता है, उसको **आव**=रक्षित करता है। हम जब खाली हों प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करने लगें तो इस प्रकार प्रभु की स्तुति के शब्द ही हमारे कानों में पड़ेंगे। तब 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' यह प्रार्थना हमारे जीवनों में अनूदित हो रही होगी और तब हम प्रभु से रक्षणीय होंगे। (२) **अग्निः**=वे प्रभु **अद्भ्यः**=शरीरस्थ रेतःकणों के द्वारा **जरूथम्**=(speaking harohly) क्रूरता से बोलनेवाले को **निरदहत्**=भस्म कर देता है। शरीर में इन रेतःकणों के रक्षण से कड़वा बोलने की वृत्ति ही नहीं रहती। असंयमी और अतएव क्षीण शक्ति पुरुषों के जीवनों में ही कड़वाहट आ जाती है। (३) **अग्निः**=वे प्रभु ही **घर्मे अन्तः**=इस वासनाओं की गर्मी से परिपूर्ण संसार में **अत्रिम्**=(अविद्यमानाः त्रयो यस्मिन्, अथवा अतति इति) काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले निरन्तर क्रियाशील पुरुष को **उरुष्यत्**=रक्षित करता है। प्रभु ही इन वासनाओं का शिकार होने से हमें बचाते हैं। (४) **अग्निः**=वे प्रभु ही **नृमेधम्**=(नृ-मेध) मनुष्यों के साथ अपना सम्पर्क रखनेवाले को, केवल स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन न बितानेवाले को **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **सं असृजत्**=संसृष्ट करते हैं। वस्तुतः हम प्रभु की प्रजा का ध्यान करते हैं तो प्रभु हमारे सन्तानों को अच्छा बनाते हैं।

भावार्थ—जरत्कर्ण बनकर हम प्रभु से रक्षणीय हों। संयम के द्वारा कर्कशता से ऊपर उठें। इस वासनामय जगत् में क्रियाशील बनकर उलझे नहीं, 'नृमेध' बनकर उत्तम सन्तानोंवाले हों।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'वीरपेशा अग्नि'

अ॒ग्निर्दा॑द् द्रवि॑णं वी॒रपे॑शा अ॒ग्निरृषिं॒ यः स॒हस्रा॑ स॒नोति॑।
अ॒ग्निर्दि॒वि ह॒व्यमा त॑ताना॒ग्नेर्धामा॑नि॒ विभृ॑ता पु॒रु॒त्रा॥ ४॥

(१) **वीरपेशाः**=उपासकों को वीर बनानेवाला (पेशस्=form) **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **द्रविणं दात्**=उपासकों के लिये जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धन को देता है और **यः**=जो **सहस्रा सनोति**=इन सहस्र संख्याक धनों का दान करता है उसे **अग्निः**=वे प्रभु **ऋषिम्**=ऋषि व तत्त्वद्रष्टा बनाते हैं। प्रभु धन देते हैं, देते वे इसलिए हैं कि इस धन से हम लोकहित के कार्य कर सकें। इन धनों का विनियोग हमें अपने महलों को खड़ा करने में नहीं करना है। इस धन को न देकर जो इसे स्वयं लादे रखता है वह अल्पज्ञ है। धन पर हम आरूढ़ हों, यह हमारे पर आरूढ़ न हो जाए। (२) **अग्निः**=वे प्रभु **हव्यम्**=हमारे से दिये गये हव्य पदार्थों को **दिवि**=सम्पूर्ण द्युलोक में **अततान**=विस्तृत कर देते हैं। यह भी प्रभु की अद्भुत महिमा है कि उन्होंने इस भौतिक अग्नि में वह छेदक-भेदक शक्ति रखी है कि इसमें डाले गये हव्य पदार्थों को वह अत्यन्त सूक्ष्म अदृश्य से कणों में विभक्त करके सारे वायुमण्डल में फैला देता है। (३) **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु के **धामानि**=तेज **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **विभृता**=विविधरूपों में भृत हुए हैं। सूर्य-चन्द्रमा में ये 'प्रभा' के रूप से हैं, अग्नि में ज्योति के रूप में हैं। वायु में गति रूप में हैं तो पृथिवी में दृढ़ता के रूप में हैं। तेजस्वियों में ये तेजरूप से हैं, बलवानों में बल के रूप में तथा बुद्धिमानों में बुद्धि के रूप में ये विद्यमान हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों को देते हैं। अग्नि आदि में प्रभु ने ही अद्भुत भेदक शक्ति को रखा है और सर्वत्र प्रभु के तेज ही पिण्डों को विभूतिमय बना रहे हैं।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानी-भक्त व आर्त-भक्त

अग्निमुक्थैर्ऋषयो वि ह्वयन्तेऽग्निं नरो यामनि बाधितासः।
अग्निं वयो अन्तरिक्षे पतन्तोऽग्निः सहस्रा परि याति गोनाम्॥ ५॥

(१) **ऋषयः**=तत्त्वज्ञानी पुरुष **उक्थैः**=स्तोत्रों से **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **विह्वयन्ते**=विशेषरूप से पुकारते हैं। तत्त्वद्रष्टा पुरुष सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है और प्रभु का स्तवन करता है। **नरः**=अन्य मनुष्य भी **अग्निम्**=प्रभु का उपासन करते हैं। परन्तु प्रायः करते तभी हैं जब कि **यामनि**=जीवनयात्रा के मार्ग में **बाधितासः**=पीड़ित होते हैं। ऋषि प्रभु के ज्ञानी भक्त बनते हैं, तो सामान्य मनुष्य प्रभु के आर्त-भक्त होते हैं। (२) **अन्तरिक्षे पतन्तः**=अन्तरिक्ष में उड़ान करते हुए **वयः**=पक्षी भी **अग्निम्**=उस परमात्मा को ही स्तुत कर रहे हैं, इनकी उड़ान में भी तत्त्वद्रष्टा को प्रभु की महिमा दिखती है। 'किस प्रकार चील निःशब्द होकर पंखों को न हिलाती हुई-सी आकाश में फिसलती-सी चली जाती है' यह देखकर किसे आश्चर्य नहीं होता! (३) **अग्निः**=वह प्रभु ही **गोनां सहस्रा**=इन इन्द्रियों की हजारों वृत्तियों के **परियाति**=चारों ओर प्राप्त होते हैं, अर्थात् इन्द्रियवृत्तियों को प्रभु ही एक देश में बाँधनेवाले होते हैं। यदि हम चाहते हैं कि हमारी इन्द्रियवृत्तियाँ भटकें नहीं तो सर्वोत्तम साधन यही है कि हम प्रभु-चरण सेवा में उपस्थित हों। प्रभु चरण सेवा का व्यसन लगने पर अन्य व्यसन स्वयमेव समाप्त हो जाएगा। उड़ते हुए पक्षियों की उड़ान में भी प्रभु महिमा को देखनेवाला व्यक्ति इन्द्रियवृत्तियों को भटकने से बचाने में क्यों न समर्थ होगा?

भावार्थ—हम पीड़ा के ही समय प्रभु का स्मरण न करें, प्रभु के ज्ञानी भक्त बनें। प्रभु हमारी इन्द्रियवृत्तियों को भटकने से रोकेंगे।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सत्य ज्ञान प्रकाशिका' वेदवाणी

अग्निं विश ईळते मानुषीर्या अग्निं मनुषो नहुषो वि जाताः।
अग्निर्गान्धर्वीं पथ्यामृतस्याग्नेर्गव्यूतिर्घृत आ निषत्ता॥ ६॥

(१) **याः**=जो **मानुषीः विशः**=विचारशील प्रजाएँ हैं वे **अग्निं ईडते**=उस प्रभु का उपासन करती हैं। इन्हें सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक घटनाचक्र में प्रभु की महिमा दिखती है। हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र वा यह पृथिवी सब इन्हें प्रभु का स्तवन करते प्रतीत होते हैं। (२) उस **नहुषः**=सबको एक सूत्र में बाँधनेवाले (नह् बन्धने) प्रभु से **विजाताः**=विविधरूपों को लेकर उत्पन्न हुए-हुए **मनुषाः**=विचारशील पुरुष **अग्निम्**=उस परमात्मा को ही उपासित करते हैं। उन्हें उस प्रभु का पितृत्व स्मरण होता है। इससे जहाँ वे परस्पर भ्रातृत्व को अनुभव करते हुए प्रेम से चलते हैं, वहाँ विविध रूपों के निर्माण करनेवाले प्रभु के रचना वैचित्र्य को देखकर उसके प्रति नतमस्तक होते हैं। प्रभु को पिता जानकर सब आवश्यक चीजों को उसी से माँगते हैं। (३) **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु भी **गान्धर्वीम्**=सब ज्ञानवाणियों का धारण करनेवाली **ऋतस्य**=सत्य के **पथ्याम्**=मार्ग में हितकर वेदवाणी को देते हैं। इस वेदवाणी से हमें ज्ञान प्राप्त होता है इसका अध्ययन हमें ऋत के मार्ग में ले चलता है। यह **अग्नेः**=उस अग्रेणी प्रभु का **गव्यूतिः**=मार्ग **घृते**=ज्ञानदीप्ति में **आनिषत्ता**=सर्वथा स्थापित है। प्रभु के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति अधिकाधिक

प्रकाश में पहुँचता जाता है।

भावार्थ—सब विचारशील व्यक्ति प्रभु का उपासन करते हैं। प्रभु उन्हें ज्ञान देते हैं। ज्ञान ही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तवन व रक्षण

अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षुरग्निं महामवोचामा सुवृक्तिम्।
अग्ने प्राव जरितारं यविष्ठाग्ने महि द्रविणमा यजस्व॥ ७॥

(१) **ऋभवः (ऋतेन भाति)**=ऋत से देदीप्यमान होनेवाले मेधावी पुरुष **अग्नये**=उस प्रभु के लिये **ब्रह्म ततक्षुः**=स्तोत्र को करते हैं। वस्तुतः प्रभु-स्तवन से ही वे 'ऋभु' बन पाते हैं। हम भी उस **महां अग्निम्**=उस महनीय अग्नि के लिये **सुवृक्तिम्**=दोषवर्जनरूप उत्तम स्तुति को **अवोचाम**=उच्चारण करते हैं। (२) हे **यविष्ठ**=हमारे दोषों को पृथक् करनेवाले तथा गुणों से हमें संपृक्त करनेवाले **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **जरितारम्**=अपने स्तोता को **प्राव**=आप प्रकर्षेण रक्षित करिये। हम आपका स्तवन करते हैं, आप हमें दोषों के आक्रमण से बचाते हैं। दोषों के आक्रमण से बचाने के लिये ही **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! आप **महि द्रविणम्**=महनीय धन को **आयजस्व**=हमारे साथ संगत करिये। हम उत्तम मार्ग से धन को कमाते हुए जीवनयात्रा को निर्दोष रूप से पूर्ण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, प्रभु हमारा रक्षण करें। इस रक्षण के लिये ही प्रभु हमें महनीय धन को प्राप्त करायें।

सूक्त के प्रारम्भ में कहते हैं कि उपासित प्रभु हमें 'वीर-श्रुत्य-कर्मनिष्ठ' सन्तान प्राप्त कराते हैं। (१) प्रभु ही हमें बाह्य व अन्तः संग्रामों में विजयी बनाते हैं, (२) क्रियाशीलता के द्वारा हम वासनाओं में फँसने से बचें, (३) प्रभु हमें सब ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं, (४) उस प्रभु के हम ज्ञानी भक्त बनने का प्रयत्न करें, (५) प्रभु हमारे कल्याण के लिये हमें ज्ञान देते हैं, (६) हम प्रभु का स्तवन करेंगे, प्रभु हमारा रक्षण करेंगे, (७) वे प्रभु ही 'विश्वकर्मा' हैं, सृष्टिरूप कर्मवाले हैं। इसके उपासक हम भी 'विश्वकर्मा' बनें, सदा क्रियाशील हों और भुवन का हित करनेवाले 'भौवन' बनें। ये 'विष्वकर्मा भौवन' ही अगले दो सूक्तों के ऋषि हैं—

[८१] एकाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रलय में व सृष्टि के प्रारम्भ में

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥ १ ॥

(१) प्रलयकाल में प्रभु इस सारे ब्रह्माण्ड की मानो अपने में आहुति दे डालते हैं। सारे पदार्थ प्रकृतिरूप हो जाते हैं वह प्रकृति प्रभु के सामर्थ्य के रूप में, प्रभु में ही रहती है। इस प्रकार उस समय एक प्रभु ही प्रभु प्रतीत होते हैं 'आनीदवातं संवधया तदेकम्। तस्माद्धान्यान्न परः किञ्चनास' (१०।१२९।२)। जीव भी सब सुषुप्त-सी अवस्था में होते हैं। इसी से उपनिषद् कहती है कि

'नान्यत् किंचन मिषत्'=और कुछ गतिमय न था। उस समय **यः**=जो **नः पिता**=हम सबके पिता (=रक्षक) प्रभु हैं वे **इमा विश्वा भुवनानि**=इन सब लोक-लोकान्तरों को **जुह्वत्**=अपने में आहुत करते हुए **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **होता**=सारे पिण्डों की अपने में आहुति देनेवाले के रूप में **न्यसीदत्**=अपने स्वरूप में स्थित होते हैं। (२) अब प्रलयकाल की समाप्ति पर **सः**=वे प्रभु **आशिषा**='बहुस्यां प्रजायेय'='मैं बहुत हो जाऊँ (=बहुतों से जाना जाऊँ) इस संसार को उत्पन्न कर दूँ' इस इच्छा से **द्रविणम्**=('सृ गतौ से संसार, गम् गतौ से जगत्, द्रुगतौ से द्रविणा')=संसार को **इच्छमानः**=चाहता हुआ **प्रथमच्छद्**=उन प्रथम उत्पन्न होनेवालों को अपने में आवृत करते हुए (प्रथमान् छादयति), जैसे अब बालक मातृ गर्भ में आवृत होता है उसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के मानस पुत्र प्रभु से आवृत थे। **अवरान्**=पीछे होनेवाले सब प्राणियों के अन्दर भी **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहे हैं। हम सब के अन्दर प्रभु विद्यमान हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले ये सब परमात्मा के गर्भ में थे।

भावार्थ—प्रलयकाल में सारे भुवन परमात्मा में आहुत हो जाते हैं, उस समय केवल प्रभु ही विद्यमान प्रतीत होते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में अपने मानस पुत्रों को प्रभु गर्भ में धारण करते हैं और पीछे होनेवाली इनकी प्रजाओं में वे प्रविष्ट हो रहे हैं।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अधिष्ठान व आरम्भण?

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ २ ॥

(१) जब सृष्टि का प्रारम्भ हुआ तो उस समय **अधिष्ठानम्**=बैठने का स्थान, अर्थात् आधार **किंस्वित् आसीत्**=क्या था? एक कारीगर किसी स्थान पर बैठकर ही तो अपने कार्य को करता है। उस 'विश्वकर्मा' ने भी किसी स्थान पर बैठकर ही तो इस विश्व को बनाया होगा। प्रश्न यह है कि यह अधिष्ठान क्या था? (२) इसी प्रकार एक बढ़ई लकड़ी को लेकर ही मेज आदि को बनाने में प्रवृत्त होता है। ये लकड़ी आदि पदार्थ 'आरम्भण' कहलाते हैं, इनके द्वारा मेज आदि का आरम्भ किया जाता है। यह **आरम्भणम्**=सृष्टि का उपादानकारण **कतमत् स्वित्**=भला कौन-सा था? **कथा आसीत्**=और वह कैसा था? (३) वह आरम्भण, **यतः**=जिससे कि **भूमिं जनयन्**=इस भूमि को जन्म देता हुआ **विश्वकर्मा**=संसार का निर्माता तथा **विश्वचक्षाः**=सर्वद्रष्टा प्रभु **महिना**=अपनी महिमा से **द्याम्**=इस द्युलोक को **वि और्णोत्**=प्रकट करता है। इस भूमि व द्युलोक का आरम्भण कौन-सा था?

भावार्थ—प्रभु ने जब सृष्टि को बनाया तो उसका अधिष्ठान कौन-सा था तथा किस 'आरम्भण' को लेकर उसने इन द्यावा भूमि को बनाया?

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह सर्वव्यापक प्रभु स्वयं अधिष्ठान हैं

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के 'अधिष्ठान' के विषय में किये गये प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे प्रभु **विश्वतः चक्षुः**=सब ओर आँखोंवाले हैं, **उत**=और **विश्वतोमुखः**=सब ओर मुखोंवाले

हैं। **विश्वतः बाहुः**=सब ओर भुजाओंवाले हैं, **उत**=और **विश्वतस्पात्**=सब ओर पाँवोंवाले हैं। (२) वे प्रभु **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से **संधमति**=द्युलोक को सम्यक् प्रेरित करते हैं और **पत्रैः**=पतनशील इन पाँवों से पृथिवी को **सम्**=(धमति) प्रेरित कर रहे हैं। इस प्रकार वे **एकः देवः**=किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा न करते हुए अकेले प्रभु **द्यावाभूमी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **जनयन्**=उत्पन्न कर रहे हैं। (३) ये प्रभु सर्वव्यापक हैं। इनमें सर्वत्र देखनेवाले ग्रहण करने व चलने की शक्ति है। सब इन्द्रियों के गुणों की इनमें सर्वत्र प्रतीति है। परन्तु इन्द्रियों से ये रहित हैं। निराकार होने से ये बाह्य अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखते। ये स्वयं सब के अधिष्ठान हैं, इनका कोई अधिष्ठान नहीं। इन से बाह्य कोई वस्तु ही नहीं जो इनका अधिष्ठान बने।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक प्रभु सर्वत्र सब इन्द्रियों के गुणों के आभासवाले हैं। सर्वव्यापक व निराकार होने से उनके बाह्य अधिष्ठान का न सम्भव है न आवश्यकता।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आरम्भण की अज्ञेयता

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥ ४॥

(१) जैसे वर्तमान में एक बढ़ई किसी वन में किसी वृक्ष से लकड़ी को लेकर मेज आदि बनाने में प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार **किं स्विद् वनम्**=वह वन कौन-सा था? **उ**=और **स वृक्षः**=वह वृक्ष **कः आस**=कौन-सा था, **यतः**=जिससे **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **निष्टतक्षुः**=बनाये गये। (२) वह वन या उस वन का वह वृक्ष ही इस सृष्टि का उपादानकारण होगा, परन्तु उसके स्वरूप को हमारे लिये पूरा-पूरा जानने का सम्भव तो नहीं। उसे कैसे जाने! इसके लिये कहते हैं कि **मनीषिणः**=हे बुद्धिमान् पुरुषो! **मनसा इत् उ**=मन से ही, अर्थात् मन को एकाग्र करके **तत्**=उससे **पृच्छत**=पूछो, **यत्**=जो **भुवनानि धारयन्**=इन सब भुवनों को धारण करता हुआ **अध्यतिष्ठत्**=अधिष्ठातृरूपेण वर्तमान है। इस आरम्भण भूत 'प्रकृति' का ज्ञान प्रभु ही ठीक-ठीक दे सकते हैं। प्रभु के अतिरिक्त इसके स्वरूप को कौन जानता है!

भावार्थ—सृष्टि के उपादानकारणभूत प्रकृति का रूप प्रभु से ही ठीक-ठीक प्रतिपादित होता है।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'परम अवम व मध्यम' धाम

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥ ५॥

(१) हे **विश्वकर्मन्**=सृष्टि रूप कर्मवाले प्रभो! **या**=जो **ते**=आपके **परमाणि धामानि**=उत्कृष्ट तेज हैं, द्युलोक सम्बन्धी तेज हैं, शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है और इसका तेज 'बुद्धि' है। उन तेजों को हे **स्वधावः**=स्वयं अपना धारण करनेवाले प्रभो! **सखिभ्यः**=हम सखाओं के लिये **हविषि**=हवि के होने पर, त्यागपूर्वक अदन के होने पर **शिक्षा**=दीजिये। आपकी कृपा से हमारा मस्तिष्क रूप द्युलोक बुद्धि के तेज से चमके। इसे चमकाने के लिये हम सदा हवि का सेवन करनेवाले बनें। (२) इसी प्रकार **या अवमा**=जो आपके तेज हैं **अवम**=सब से निचले

लोक, पृथ्वीलोक के साथ सम्बद्ध हैं, उन्हें आप हमें दीजिये। शरीर ही पृथ्वीलोक है। इसका धाम 'तेजस्' कहलाता है। प्रभु-कृपा से हमारा शरीर तेजस्वी हो। इस तेजस्विता की प्राप्ति के लिये भी हम त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनें। (३) **उत**=और **इमा**=ये **या**=जो **मध्यमा**=आपके मध्यम लोक, अन्तरिक्षलोक सम्बन्धी तेज हैं, उन्हें भी आप हमें प्राप्त कराइये। शरीर में हृदय ही अन्तरिक्ष व मध्यमलोक है। पवित्रता व निर्द्वेषता ही इसकी शक्ति है। हमें हवि का सेवन करने पर यह पवित्रता व निर्द्वेषता भी प्राप्त हो। प्रभु की कृपा से हम मस्तिष्क में बुद्धि के प्रकाशवाले हों, हृदय में निर्मलता व निर्द्वेषतावाले हों और शरीर में तेजस्विता का सम्पादन कर सकें। (४) हे प्रभो! आप **तन्वं वृधानः**=हमारे शरीरों को विकसित-शक्तिवाला करने के हेतु से **स्वयं यजस्व**=हमें स्वयं ही प्राप्त हो जाइये। आपकी प्राप्ति से आपकी सब शक्तियाँ हमें स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगी (यज संगतिकरणे)। आपका हमारे साथ मेल हुआ और आपकी शक्तियाँ हमें प्राप्त हुईं।

भावार्थ—त्यागपूर्वक अदन करते हुए हम त्रिलोकी की शक्तियों को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मघवा-सूरि

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र में जीव ने त्रिलोकी की शक्तियों के लिये आराधना की थी। प्रभु उसे प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **विश्वकर्मन्**=अपने सब कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले जीव! तू **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन से **वावृधानः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **स्वयम्**=अपने आप **पृथिवीं उत द्याम्**=पृथिवीलोक और द्युलोक को=शरीर की शक्ति को व मस्तिष्क की दीप्ति को **यजस्व**=अपने साथ संगत कर। इनके प्राप्त करने के लिये तू यत्नशील होगा तो तुझे ये 'शक्ति व दीप्ति' क्यों न मिलेंगी? ये तुझे अवश्य प्राप्त होंगी ही। (२) प्रभु कहते हैं कि **अभितः**=चारों ओर होनेवाले **अन्ये जनासः**=अन्य लोग, अर्थात् सामान्य पुरुष **मुह्यन्तु**=चाहे मूढ़ बनें। वे हवि का सेवन करनेवाले न बनकर, अत्यन्त स्वार्थमय जीवन बिताते हुए, आसुरवृत्तिवाले बन जाएँ, पर **इह**=इस जीवन में **अस्माकम्**=हमारा यह भक्त तो **मघवा**=(मघ=मख) यज्ञशील व **सूरिः**=विद्वान्-समझदार **अस्तु**=हो। 'प्रभु का भक्त हो और अयज्ञिय व मूर्ख हो' ये तो परस्पर विरोधी बातें हैं। यज्ञशील व सूरि बनकर यह प्रभु-भक्त अपने शरीर को पृथिवी की तरह दृढ़ बनाता है और मस्तिष्क को द्युलोक के समान ज्ञान-ज्योति से चमकता हुआ बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा के अनुसार यज्ञशील व ज्ञानी बनते हुए शरीर व मस्तिष्क को बड़ा सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विश्वशम्भूः साधुकर्मा

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥ ७ ॥

(१) जीव अपने साथियों के साथ मिलकर प्रार्थना करता है कि **वाचस्पतिम्**=उस ज्ञान के पति **विश्वकर्माणम्**=सब कर्मों को करनेवाले **मनोजुवम्**=मन को प्रेरणा देनेवाले, हृदयस्थरूपेण सन्मार्ग का दर्शन करानेवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिये **वाजे**=शक्ति प्राप्ति के निमित्त **अद्या हुवेम**=आज ही पुकारते हैं। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारी **विश्वानि हवनानि**=सब पुकारों को

जोषत्=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। अर्थात् प्रभु की आराधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। (२) वे प्रभु **विश्वशंभूः**=सब शान्तियों के उत्पत्ति-स्थान हैं। **अवसे**=हमारे रक्षण के लिये **साधुकर्मा**=सब उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं। हमारे सब कर्मों को वे प्रभु ही सिद्ध करते हैं। (साध्नोति कर्माणि)।

भावार्थ—प्रभु का आराधन करते हुए हम भी 'वाचस्पति'=ज्ञानी व 'विश्वकर्मा'=क्रियाशील बनेंगे। शान्ति को प्राप्त करेंगे और सदा उत्तम कर्मोंवाले होंगे।

इस सूक्त की तह अगले सूक्त में भी 'विश्वकर्मा-भौवन' का ही वर्णन करते हैं—

[८२] द्व्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्यावापृथिवी की दृढ़ता

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम्॥ १ ॥

(१) **चक्षुषः पिता**=चक्षु आदि इन्द्रियों का यह रक्षक होता है, **मनसा**=मन के दृष्टिकोण से **हि**=निश्चयपूर्वक **धीरः**=धैर्यवाला अथवा (धियि रमते) ज्ञान में रमण करनेवाला होता है। इस प्रकार इन्द्रियों को विषयों में प्रसक्त न होने देने के द्वारा तथा मन में धैर्य व ज्ञानवाला होता हुआ यह विश्वकर्मा **एने**=इन **नम्नमाने**=नमन व विनीततावाले मस्तिष्क व शरीर रूप द्यावापृथिवी को **घृतं अजनत्**=ज्ञान से दीप्त तथा मलक्षरण द्वारा स्वस्थ बनाता है। (२) **पूर्वे**=अपने पूरण करनेवाले लोग **यदा इत्**=जब निश्चय से **अन्ता**=इन शरीर व मस्तिष्क रूप अन्तों को (एक अन्त पृथिवीलोक व शरीर है, दूसरा अन्त द्युलोक व मस्तिष्क है) **अददृहन्त**=दृढ़ बनाते हैं **आत् इत्**=तब ही **द्यावापृथिवी**=ये मस्तिष्क व शरीर **अप्रथेताम्**=विस्तृत होते हैं। शरीर व मस्तिष्क की शक्तियों के विकास के लिये आवश्यक है कि ये दृढ़ हों। दृढ़ता जीवन है, इनकी अन्य शक्तियों के विस्तार का भवन इस दृढ़तारूप नींव पर ही बनता है। इनकी दृढ़ता का साधन जितेन्द्रियता व विचारशीलता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय धीर बनकर द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व स्वस्थ बनाएँ। ये दृढ़ होंगे तभी इनकी शक्तियों का ठीक विकास होगा।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'विश्वकर्मा-विमना-विहायाः'

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र का जितेन्द्रिय पुरुष **विश्वकर्मा**=अपने सब कर्त्तव्यों का पालन करनेवाला होता है, **विमनाः**=यह विशिष्ट मनवाला, अर्थात् उत्कृष्ट चिन्तनवाला होता है, **आद्**=अब, अर्थात् विश्वकर्मा व विमना होता हुआ **विहायाः**=महान् होता है। इसका हृदय विशाल होता है, उदार दिलवाला होता हुआ यह सभी को अपनी में समाविष्ट करता है। **धाता**=यह सबका धारण करनेवाला बनता है, **विधाता**=विशिष्ट रूप से धारण करता है, **उत**=और **परम सन्दृक्**=(look after) सब से अधिक ध्यान करनेवाला होता है। जैसे माता-पिता बच्चे का ध्यान करते हैं, इसी प्रकार यह विश्वकर्मा सभी का ध्यान करने का प्रयत्न करता है। (२) **तेषाम्**=ऊपर वर्णन किये

गये लोगों को ही **इष्टानि**=इष्ट लोकों की प्राप्ति होती है। ये **इषा**=उस प्रभु की प्रेरणा से **संमदन्ति**=सम्यक् हर्ष का अनुभव करते हैं। ये **यत्रा**=जहाँ, जिस स्थिति में पहुँचकर **सप्त ऋषीन्**=कानों, नासिका, आँखों व मुख को **परे**=उस पर परमात्मा में ही धारण करते हैं, उस समय ये लोग **एकं आहुः**=उस अद्वितीय प्रभु का ही शंसन करते हैं। चित्तवृत्ति को एकाग्र करके, जितेन्द्रिय बनकर, प्रभु का शंसन करना ही जीवन का परम सौभाग्य है।

भावार्थ—हम कर्त्तव्यों को करनेवाले, चिन्तनशील व उदार बनकर औरों का भी धारण करनेवाले बनें। जब इन्द्रियवृत्तियों का निरोध करके हम उस प्रभु का शंसन करेंगे तभी इष्ट लोकों को प्राप्त कर पायेंगे।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'संप्रश्न' प्रभु

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ३ ॥

(१) **यः**=जो **नः पिता**=हम सब के रक्षक हैं, **जनिता**=हम सबको जन्म देनेवाले हैं अथवा हम सबकी शक्तियों के विकास का कारण होते हैं, **यः विधाता**=जो विशिष्ट रूप से हमारा धारण करनेवाले हैं, जो **विश्वा**=सब **धामानि**=तेजों को व **भुवनानि**=लोकों को **वेद**=जानते हैं, हमारे कर्मों के अनुसार इन तेजों व लोकों को वे प्रभु हमें प्राप्त कराते हैं। (२) **यः**=जो एक **एव**=अकेले ही **देवाना नामधः**=सब देवों के नाम को धारण करनेवाले हैं, अर्थात् इन सब देवों को देवत्व प्राप्त कराने के कारण इन सब के नामों से मुख्य रूप से प्रभु का ही प्रतिपादन होता है। वे प्रभु ही 'अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः व प्रजापति' हैं। **तं संप्रश्नम्**=उस (asylum refuge, आश्रयम्) उस शरण को ही **अन्या भुवना**=अन्य सब प्राणी **यन्ति**=जाते हैं। अर्थात् वे प्रभु ही सूर्यादि को दीप्ति प्राप्त कराके 'देव' शब्द से कहलाने योग्य बनाते हैं और प्राणिमात्र की वे प्रभु ही शरण हैं। अचेतन चेतन सभी के रक्षक वे ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे 'पिता, जनिता व विधाता' हैं। सूर्यादि देवों को वे देवत्व प्राप्त कराते हैं, तो सब प्राणियों को शरण देते हैं।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समाज व विशाल परिवार

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ ४ ॥

(१) **ते**=वे गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को 'संप्रश्न' (आश्रय) जाननेवाले **पूर्वे ऋषयः**=अपना पूरण करनेवाले तत्त्वज्ञानी लोग **द्रविणम्**=धन को **समस्मा**=सबके लिये **आयजन्त**=दान करते हैं (यज=दाने), अर्थात् वे धन का विनियोग केवल अपने लिये न करके सम्पूर्ण समाज के हित के लिये करते हैं। **न**=और (न=च) **भूना (भूम्ना)**=अपने इस बाहुल्य के कारण, बहुतों को अपने परिवार में सम्मिलित करने के कारण, **जरितारः**=ये प्रभु के सच्चे स्तोता होते हैं। प्रभु-भक्त कभी अकेला नहीं खाता। यह अपने में सभी को समाविष्ट कर लेता है और सदा यज्ञ करके यज्ञशेष का ही सेवन करता है। (२) ये ऋषि वे होते हैं **ये**=जो **असूर्ते**=अचर व **सूर्ते**=चर **रजसि**=लोक में **निषत्ते**=निषण्ण-स्थित उस प्रभु में **इमानि भूतानि**=इन सब प्राणियों को **समकृण्वन्**=(think,

regard) सोचते हैं। जो प्रभु में स्थित इन प्राणियों को देखते हैं, वे सब के साथ एक बन्धुत्व का अनुभव करते हैं और इस बन्धुत्व के अनुभव करने के कारण वे धन को समाज के लिये देनेवाले होते हैं। इनके लिये अकेले खाने का सम्भव ही नहीं रहता।

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा, सब प्राणियों को प्रभु में स्थित देखता हुआ सब को बन्धु समझता है। सो वह सब के साथ बाँट करके खाता है।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वव्यापक-सर्वाच्छादक

प॒रो दि॒वा प॒र ए॒ना पृ॑थि॒व्या प॒रो दे॒वेभि॒रसु॑रै॒र्यदस्ति॑।
कं स्वि॒द्गर्भं॑ प्रथ॒मं द॑ध्र॒ आपो॒ यत्र॑ दे॒वाः स॒मप॑श्यन्त॒ विश्वे॑॥५॥

(१) वे प्रभु **दिवा परः**=इस द्युलोक से पर हैं, **एना पृथिव्या परः**=इस पृथिवी से भी पर हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक उस प्रभु को अपने में सीमित नहीं कर पाते। ये तो स्वयं उसके एक देश में हैं। (२) वे प्रभु वे हैं **यद्**=जो **देवेभिः**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त व्यक्तियों से **परः**=उत्कृष्ट हैं। ज्ञान के दृष्टिकोण से वे प्रभु ज्ञान की पराकाष्ठा होने से देवों के भी देव हैं, सभी को ज्ञान देनेवाले वे ही हैं। वे प्रभु निरतिशय ज्ञानवाले हैं। **असुरैः**=प्राणशक्ति में रमण करनेवाले (असुषु रमन्ते) अत्यन्त शक्तिशाली पुरुषों से भी वे **परः**=पर हैं। वे प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, शक्ति के दृष्टिकोण से भी सभी को लाँघकर वे स्थित हैं। (३) **आपः**=सब प्रजाएँ उसके **स्वित्**=आनन्दमय **प्रथमम्**=(प्रथ विस्तारे) सर्वव्यापक प्रभु को ही **गर्भं दध्रे**=अपने अन्दर धारण करती हैं। सब के अन्दर प्रभु का वास है और उस प्रभु के कारण ही बुद्धि, बल व तेज आदि से वे प्रजाएँ युक्त होती हैं। उस प्रभु को ये प्रजाएँ अपने अन्दर धारण करती हैं, **यत्र**=जिसमें **विश्वे देवाः**=सब सूर्यादि देव **समपश्यन्त**=स्थित हुए-हुए देखे जाते हैं। इन सूर्यादि देवों को भी तो ये प्रभु ही देवत्व प्राप्त कराते हैं। एवं सारा चराचर जगत् उस प्रभु के अंश से ही विभूतिमय हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु को ये द्यावापृथिवी सीमित नहीं कर पाते। वे प्रभु ही ज्ञान व शक्ति से सर्वोच्च हैं। सब प्राणियों के गर्भ में हैं, सब देवों को गर्भ में धारण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह सूत्रों का सूत्र

तमिद्गर्भं॑ प्रथ॒मं द॑ध्र॒ आपो॒ यत्र॑ दे॒वाः स॒मग॑च्छन्त॒ विश्वे॑।
अ॒जस्य॒ नाभा॒वध्येक॒मर्पि॑तं॒ यस्मि॒न्विश्वा॑नि॒ भुव॑नानि त॒स्थुः ॥६॥

(१) **तं इत्**=उस आनन्दमय **प्रथमम्**=अनन्त विस्तारवाले प्रभु को ही **आपः**=सब प्रजाएँ **गर्भं दध्रे**=गर्भरूप से धारण करती हैं, **यत्र**=जिस प्रभु में **विश्वे देवाः**=सब देव **समगच्छन्त**=संगत होते हैं। प्रभु सब प्राणियों के हृदयों में हैं और ये सूर्यादि सब देव उस प्रभु में स्थित हैं। हृदयस्थरूपेण सब प्राणियों को प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं और अपने में स्थित इन सूर्यादि को दीप्ति प्राप्त करा रहे हैं। (२) **अजस्य**=उस अजन्मा प्रभु के **नाभौ अधि**=बन्धनशक्ति में **एकम्**=वह अद्वितीय सूत्र **अर्पितम्**=अर्पित हुआ-हुआ है, **यस्मिन्**=जिस सूत्र में **विश्वानि भुवनानि तस्थुः**=सारे लोक-लोकान्तर स्थित हैं। वह सूत्र सचमुच अद्वितीय तो है ही जो कि सारे लोकों को मणियों की तरह अपने में पिरोये हुए है। लोक अलग-अलग हैं, परन्तु एक सूत्र में पिरोये जाकर ये एक हार की

तरह प्रतीत होते हैं और अपने-अपने स्थान में गतिशील होते हुए इस ब्रह्माण्ड की शोभा का कारण बनते हैं।

भावार्थ—सारे लोक प्रभु में इसी प्रकार प्रोत हैं जैसे कि मणिगण सूत्र में प्रोत होते हैं।

ऋषिः—**विश्वकर्मा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु से दूर क्यों?

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥ ७॥

(१) गत मन्त्रों के अनुसार प्रभु सब प्रजाओं के गर्भ में स्थित हैं, वे सब सूर्यादि देवों को धारण किये हुए हैं। अन्दर होते हुए भी **तम्**=उस प्रभु को **न विदाथ**=तुम जानते नहीं। प्रभु वे हैं **यः**=जो **इमा जजान**=इन सब लोक-लोकान्तरों व शरीरों को उत्पन्न करते हैं। **अन्यत्**=शरीरों में रहनेवाले भी शरीर दुःखों से न दुःखी होनेवाले वे प्रभु विलक्षण हैं। **युष्माकं सन्तरं बभूव**=तुम्हारे अन्दर ही तो रह रहे हैं। (२) इतने समीप भी उस प्रभु को न जानने का कारण यह है कि सामान्यतः लोग **नीहारेण प्रावृताः**=अज्ञान के कुहरे से आच्छादित अन्तःकरणवाले हैं। अज्ञान के आवरण के कारण उस हृदयस्थ प्रभु की दीप्ति को हम देख नहीं पाते। **जल्प्याः**=प्रायः लोक प्रवृत्ति गपशप मारते रहने की है, हम व्यर्थ की बातें बहुत करते हैं। यह प्रवृत्ति भी हमें अन्तर्मुख नहीं होने देती। अन्तर्मुख हुए बिना उस प्रभु के दर्शन सम्भव नहीं। **च**=और इसलिए भी हम प्रभु दर्शन नहीं कर पाते कि **असु-तृपः**=हम प्राण-पोषण ही में लगे रह जाते हैं, हमारी दुनियाँ खान--पान की ही बनी रहती है और उससे ऊपर न उठ सकने के कारण हम प्रभु-दर्शन से वञ्चित ही रह जाते हैं। अगली बात यह है कि लोग **उक्थशासः चरन्तिः**=स्तोत्रों का उच्चारण करते हुए ही विचरण करते हैं। यह कीर्तन भी पूरी तरह अन्तर्मुखी वृत्तिवाला नहीं होने देता। 'ताल ठीक हुई या नहीं' उधर ही ध्यान चला जाता है और प्रभु-दर्शन की हमारी तैयारी नहीं हो पाती।

भावार्थ—अज्ञान के कुहरे को दूर करेंगे, गपशप से पराङ्मुख होंगे, खान-पान की दुनियाँ से ऊपर उठेंगे और कीर्तन भी हमारे ध्यान को भंग करनेवाला न होगा तभी हम प्रभु-दर्शन कर पायेंगे।

सूक्त का विषय यही है कि जितेन्द्रिय बनकर विश्वकर्मा भौवन बनते हुए ही हम उस 'विश्वकर्मा' प्रभु का दर्शन कर सकेंगे। यह 'विश्वकर्मा भौवन' अब 'मन्यु तापस' बनता है, ज्ञानी तपस्वी। अज्ञान के कुहरे को दूर करके ही तो प्रभु-दर्शन का सम्भव है—

[८३] त्र्यशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान के द्वारा शत्रु विध्वंस

यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥ १॥

(१) इस सूक्त में ज्ञान को 'मन्यु' इस नाम से स्मरण किया है 'मनु अवबोधे'। यह ज्ञान हमें गतिशील बनाता है, सो 'वज्र' कहलाता है 'वज गतौ'। यह हमें कर्मों के अन्त तक पहुँचाता है तो सायक है 'षोऽन्तकर्मणि' अथवा बाण की तरह कामादि शत्रुओं का अन्त करनेवाला होने

से यह 'सायक' है। हे **वज्र**=हमें गतिशील बनानेवाले, **सायक**=कामादि शत्रुओं का अन्त करनेवाले **मन्यो**=ज्ञान! **यः**=जो **ते अविधत्**=तेरी उपासना करता है, वह व्यक्ति **विश्वम्**=सम्पूर्ण **सह ओजः**=साथ ही उत्पन्न होनेवाले नैसर्गिक ओज को **आनुषक्**=निरन्तर **पुष्यति**=अपने में धारण करता है। इस ज्ञानी का अन्नमयकोष, गतिशीलता व कामविजय के कारण, तेजस्वी होता है और प्राणमयकोष वीर्यवान् बनता है। मनोमयकोष में यह बल व ओजवाला होता है और विज्ञानमयकोष में ज्ञान को धारण करता हुआ आनन्दमयकोष में सहस्‌वाला होता है। इस प्रकार सब कोशों के स्वाभाविक बल को यह धारण करनेवाला बनता है। (२) हे ज्ञान **त्वया युजा**=तुझ मित्र के साथ **वयम्**=हम **दासम्**=उपक्षय के करनेवाले **आर्यम्**=(ऋ गतौ) हमारे पर आक्रमण करनेवाले शत्रु को **साह्याम**=पराभूत करें। उस तेरे साथ, जो तू **सहस्कृतेन**=सहस् के उद्देश्य से उत्पन्न किया गया है। ज्ञान के होने पर मनुष्य में सहस् की उत्पत्ति होती है। **सहसा**=सहस् से। ज्ञान तो है ही 'सहस्' यह शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। **सहस्वता**=सहस्‌वाला है, यह अवश्य ही कामादि शत्रुओं का मर्षण करेगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें। ज्ञान के द्वारा कामादि शत्रुओं का पराभव करें।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'इन्द्र-देव-वरुण-जातवेदाः'

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः।
मन्युं विश ईळते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः॥ २॥

(१) यह **मन्युः**=ज्ञान ही **इन्द्रः**=इन्द्र है। ज्ञान ही हमें इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने की प्रेरणा देता है। इस ज्ञान से ही हम आसुरवृत्तियों के संहार करनेवाले वृत्रहन्ता 'इन्द्र' बनते हैं। (२) **मन्युः एव**=यह ज्ञान ही **देवः आस**=देव है। यही हमें दिव्यवृत्तियोंवाला बनाता है। ज्ञानी पुरुष ही संसार की सब क्रियाओं को एक क्रीडक की मनोवृत्ति से करता हुआ सच्चा देव बनता है 'दिव् क्रीडा'। (३) **मन्युः**=ज्ञान ही **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला, यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होता है। ज्ञानी कभी अकेला नहीं खाता, सबके साथ बाँटकर ही खाता है। यह मन्यु ही **वरुणः**=हमारे से द्वेष का निवारण करनेवाला है और **जातवेदाः**=आवश्यक धनों (वेदस्=walth) को उत्पन्न करनेवाला है। ज्ञान से मनुष्य में आवश्यक धन को प्राप्त कर सकने की योग्यता आ जाती है। (४) **याः मानुषीः विशः**=ये विचारशील प्रजाएँ हैं वे **मन्युं ईडते**=ज्ञान का उपासन करती हैं, अपने जीवन में ज्ञानसाधना में प्रवृत्त होती हैं। हे **मन्यो**=ज्ञान! **तपसा सजोषाः**=तप के साथ हमारे लिये समान प्रीतिवाला होता हुआ **नः पाहि**=तू हमारा रक्षण कर। तपस्या के साथ ही ज्ञान का निवास है। तप के अभाव में ज्ञान भी क्षरित हो जाता है। तपस्या से उत्पन्न हुआ-हुआ ज्ञान हमें वासनाओं का शिकार हो जाने से बचाता है।

भावार्थ—ज्ञान से हम जितेन्द्रिय, दिव्यगुणोंवाले, दाता, निर्द्वेष तथा धनार्जन की क्षमतावाले होते हैं। यह ज्ञान ही हमारा रक्षण करता है।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रुनाश व वसु प्राप्ति

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः॥ ३॥

(१) हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **अभि इहि**=हमारी ओर आनेवाला हो, हमें प्राप्त हो। तू **तवसः तवीयान्**=बलवान् से भी बलवान् है। ज्ञान सर्वाधिक शक्तिवाला है। **तपसा युजा**=हे ज्ञान! तप रूप साथी के साथ तू **शत्रून् विजहि**=हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट कर दे। तप से ज्ञान उत्पन्न होता है और यह ज्ञान कामादि शत्रुओं का विध्वंस करनेवाला होता है। (२) हे मन्यो! तू **अमित्रहा**=हमारे शत्रुओं का नाश करनेवाला है, **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करता है। **च**=और तू **दस्युहा**=दास्यव वृत्ति को समाप्त करनेवाला है, हमारे से नाशक वृत्तियों को यह ज्ञान दूर करता है। (३) हे ज्ञान! **त्वे**=तू **नः**=हमारे लिये **विश्वा वसूनि**=सब निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को **आभरा**=प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञान एक प्रबल शक्ति है। यह हमारे सब शत्रुओं को समाप्त करती है और हमें वसुओं को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-रूप 'शक्ति'

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहावानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

(१) हे **मन्यो**=ज्ञान! **त्वं हि**=तू ही **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं को पराभूत करनेवाले ओजवाला है। तेरे द्वारा कामादि शत्रुओं का पराभव होता है। यह ज्ञान **स्वयम्भूः**=स्वयं होनेवाला है। हृदय के अन्दर प्रभु के द्वारा स्थापित किया गया है। ईर्ष्या-द्वेष आदि के आवरण के कारण हमारा वह ज्ञान आवृत्त-सा हुआ रहता है। यह ज्ञान **भामः**=तेज है। ज्ञान हमें तेजस्वी बनाता है। **अभिमातिषाहः**=अभिमान का यह पराभव करनेवाला है। ज्ञानी पुरुष सदा विनीत होता है, (२) यह ज्ञान **विश्वचर्षणिः**=सर्वद्रष्टा है, अर्थात् यह केवल अपने हित को न देकर सभी के हित का ध्यान करता है। **सहुरिः**=सहनशील होता है। यह ज्ञानी 'तुल्यनिन्दास्तुतिः' व 'समः मानापमानयोः' होता हुआ दूसरों से किये गये अपमान से उत्तेजित नहीं हो जाता। **सहावान्**=यह बलवाला होता है। इस बल के कारण ही यह सहनशील होता है। (३) हे ज्ञान! तू **पृतनासु**=काम-क्रोध आदि के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्रामों में तू **अस्मासु**=हमारे में **ओजः धेहि**=ओजस्विता का आधान कर। तेरे से ओजस्वी बनकर हम इन अध्यात्म-संग्रामों में कभी पराजित न हों।

भावार्थ—ज्ञान वह शक्ति है, जिसके द्वारा हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दौर्भाग्य!

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळाहं स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ॥ ५ ॥

(१) हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट ज्ञान! **अ-भागः सन्**=कुछ अल्पभाग्यवाला होता हुआ मैं, बदकिस्मत होता हुआ मैं **तविषस्य**=महान् व शक्तिशाली **तव**=तेरे **क्रत्वा**=कर्म से, अर्थात् ज्ञानसाधक कर्मों से, **अप परेतः अस्मि**=दूर होता हुआ मार्ग से भटक गया हूँ, परे चला गया हूँ। यह मेरे सौभाग्य की कमी है कि मैं ज्ञान प्राप्ति के कर्मों में नहीं लगा रह सका। हे **मन्यो**=ज्ञान! **तं त्वा**=उस तुझ को **अक्रतुः**=अकर्मण्य होता हुआ मैं **जिहीड**=घृणा करता रहा हूँ। आलस्य के कारण मुझे ज्ञान

रुचिकर नहीं हुआ। (२) पर अब मैं समझता हूँ कि आलस्य व अकर्मण्यता से दूर होकर सतत प्रयत्न से ज्ञानोपार्जन करना नितान्त आवश्यक है। सो हे ज्ञान! **स्वा तनूः**=(मम शरीरभूतः त्वम् सा०) अब मेरा शरीर ही बना हुआ तू **बलदेयाय**=बल को देने के लिये **मा इहि**=मुझे प्राप्त हो। ज्ञान मेरा शरीर ही बन जाए, अर्थात् मैं सदा ज्ञान में निवास करनेवाला बनूँ। इसी से मुझे इस संघर्षमय संसार में आनेवाले विघ्नों को सहन करने की शक्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—सब से बड़ा दौर्भाग्य यह है कि हम ज्ञान प्राप्ति के साधक कर्मों से दूर हो जाते हैं। ज्ञान में ही निवास करने पर वह शक्ति प्राप्त होती है जो कि हमें संसार में आगे बढ़ने में समर्थ करती है।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सौभाग्य

अयं ते अस्म्युप मेह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वधायः।
मन्यो वज्रिन्नभि मामा ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥

(१) ज्ञान में रुचिवाला बनकर 'मन्यु तापस' कहता है कि **अयं ते अस्मि**=यह मैं तेरा हूँ। अर्थात् अब मैं ज्ञान का भक्त बन गया हूँ। हे ज्ञान! **उप मा अर्वाङ् इहि**=समीपता से मुझे अभिमुख होता हुआ प्राप्त हो। **प्रतीचीनः**=मेरे शत्रुओं के प्रति गति करता हुआ, उन पर आक्रमण करता हुआ, तू मुझे प्राप्त हो। मेरे अनुकूल (अर्वाङ्) होता हुआ तू मेरे शत्रुओं के प्रतिकूल हो (प्रतीचीनः) **सहुरे**=हे शत्रुओं का पराभव करनेवाले ज्ञान **विश्वधायः**=तू सबका धारण करनेवाला है। (२) हे **वज्रिन्**=क्रियाशील **मन्यो**=ज्ञान! तू **मां अभि आववृत्स्व**=मेरी ओर आनेवाला हो। मुझे तू सदा प्राप्त हो। **दस्यून् हनाव**=तू और मैं मिलकर काम-क्रोधादि दास्यव वृत्तियों का हनन करें। **उत**=और हे ज्ञान! तू **आपेः**=अपने मित्र मेरा **बोधि**=(बुध्यस्व) ध्यान करना, मेरी भी सुधबुध लेना, मेरा पूरा ध्यान करना। तूने ही तो शत्रुओं के संहार के द्वारा मेरा रक्षण करना है।

भावार्थ—जिस दिन हम ज्ञान के आराधक बनते हैं वह दिन हमारे सौभाग्यवाला होता है। इस ज्ञान के साथ मिलकर हम दास्यव वृत्तियों का संहार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान का समादर

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभा उपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

(१) **अभि प्रेहि**=हे ज्ञान! तू मुझे आभिमुख्येन प्राप्त हो। **मे**=मेरे **दक्षिणतः भवा**=दक्षिण की ओर तू हो। अर्थात् मैं तेरा आदर करनेवाला बनूँ। जिसको आदर देते हैं, उसे दाहिनी ओर ही बिठाते हैं। **अधा**=अब हम दोनों **वृत्राणि**=वासनारूप वृत्रों को **भूरि**=खूब ही **जंघनाव**=नष्ट करें। (२) **ते**=तेरे उद्देश्य से, तेरी प्राप्ति के लिये ही **धरुणम्**=शरीर की शक्तियों के धारण करनेवाले **मध्वः अग्रम्**=मधुर वस्तुओं के सर्वश्रेष्ठ इस सोम को **जुहोमि**=अपने अन्दर आहुत करता हूँ। सोम के रक्षण से ही बुद्धि तीव्र होकर ज्ञान में वृद्धि होती है। हे ज्ञान! तू और मैं **उभा**=दोनों मिलकर **उपांशु**=चुपचाप, मौनपूर्वक ध्यानावस्था को अपनाकर **प्रथमा पिबाव**=सबसे प्रथम इसका पान करते हैं। इसका पान ही हमारी सब उन्नतियों का मूल है। इसके शरीर में ही व्याप्त करने के लिये 'ज्ञान प्राप्ति व ध्यान' भी साधन बनते हैं। इसके शरीर में व्याप्त होने पर ज्ञान प्राप्ति

व हमारी ध्यान की क्षमता बढ़ती है। इस प्रकार ये परस्पर सहायक होते हैं। 'ज्ञान व ध्यान से सोमपान तथा सोमपान से ज्ञान व ध्यान' यह इनका परस्पर भावन चलता है। एवं यह सोमपान हमें मन्त्र के ऋषि 'मन्यु तापस' बनने में सहायक होता है।

भावार्थ—हम ज्ञान के साथ वृत्रादि शत्रुओं का हनन करें। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये सोम का पान करें, वीर्यरक्षण करें, ब्रह्मचारी हों।

सारे सूक्त में ज्ञान की महिमा का वर्णन है। अगला सूक्त भी इसी विषय को कहता है—

[८४] चतुरशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्निरूप नरों का अभिप्रयण

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणासो धृषि॒ता म॑रुत्वः।
ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना अ॒भि प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः ॥ १ ॥

(१) हे **मन्यो**=ज्ञान! **त्वया**=तेरे साथ **सरथम्**=समान रथ पर आरूढ़ हुए-हुए **आरुजन्तः**=समन्तात् शत्रुओं को नष्ट करते हुए, **हर्षमाणासः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **धृषिताः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले **नरः**=मनुष्य **अभिप्रयन्तु**=अभ्युदय व निःश्रेयस सम्बन्धी क्रियाओं के प्रति (अभि) गतिवाले हों। (२) **मरुत्वः**=हे प्राणोंवाले (मन्यो) ज्ञान! (प्राणसाधना से ही बुद्धि ही तीव्रता होकर ज्ञान की वृद्धि होती है) **तिग्मेषवः**=तीव्र प्रेरणाओं (इषु) वाले, अर्थात् जो प्रभु की प्रेरणा को ठीक से सुनते हैं, **आयुधा संशिशानाः**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप आयुधों को (औजारों को) तेज करते हुए **अग्निरूपाः**=अग्नि के समान तेजस्वी अथवा उस अग्नि नामक प्रभु के ही छोटे रूप बने हुए ये लोग **अभिप्रयन्तु**=ऐहिक व आमुष्मिक क्रियाओं को करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञान से हम वासना रूप शत्रुओं का नाश करके इहलोक व परलोक की साधक क्रियाओं को ठीक रूप से कर पाते हैं।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान का सेनापतित्व

अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि।
ह॒त्वाय॒ शत्रू॒न्वि भ॑जस्व॒ वेद॒ ओजो॒ मिमा॑नो॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ २ ॥

(१) हे **मन्यो**=ज्ञान! **अग्निः इव**=अग्नि के समान **त्विषितः**=दीप्तिवाला होता हुआ तू **सहस्व**=हमारे शत्रुओं का पराभव कर। हे **सहुरे**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले ज्ञान! **हूतः**=पुकारा गया तू **नः**=हमारा **सेनानीः**=सेनापति **एधि**=हो। ज्ञान ही वस्तुतः उन सब साधनों में मुख्य है जो कि वासनाओं को नाश करनेवाले हैं। (२) **शत्रून्**=काम-क्रोध आदि सब शत्रुओं को **हत्वाय**=नष्ट करके **वेदः**=जीवन-धन को **विभजस्व**=विशेषरूप से हमें प्राप्त करा। काम-क्रोध से भरा जीवन तो जीवन ही नहीं प्रतीत होता। ज्ञान इन काम-क्रोध आदि के मालिन्य को नष्ट करता है और उत्कृष्ट जीवन-धन को प्राप्त कराता है। (३) **ओजः मिमानः**=हमारे जीवनों में ओजस्विता का निर्माण करते हुए **मृधः**=हिंसक शत्रुओं को **विनुदस्व**=विशेषरूप से दूर धकेल दे। ज्ञान से वह ओजस्विता प्राप्त होती है जो हमें काम-क्रोध आदि हिंसक शत्रुओं को हिंसित करने में समर्थ करती है।

भावार्थ—ज्ञान हमारा सेनापति बनता है और हमारे सब शत्रुओं को नष्ट कर डालता है।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अभिमान नासक 'मन्यु'

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयस एकज त्वम्॥ ३॥

(१) हे **मन्योः**=ज्ञान! तू **अस्मे**=हमारे **अभिमातिम्**=अभिमानरूप शत्रु को **सहस्व**=कुचल डाल। **शत्रून्**=इन कामादि शत्रुओं को **रुजन्**=भग्न करते हुए **मृणन्**=कुचलते हुए और **प्रमृणन्**=एकदम मसलते हुए **प्रेहि**=प्रकर्षेण आगे बढ़नेवाला हो। (२) **ते पाजः**=तेरी शक्ति **उग्रम्**=अत्यन्त तेजोमय है। यह **नु**=अब **न आरुरुध्रे**=रोकी नहीं जा सकती। इस शक्ति का पराभव किसी के लिये सम्भव नहीं। (३) **त्वम्**=तू **एकजम्**=अकेला ही **वशी**=सब शत्रुओं से परास्त न होता हुआ **वशं नयसे**=उन सब शत्रुओं को वशीभूत करता है। ज्ञान के होने पर अन्य आवश्यक साधन जुट ही जाते हैं और कामादि शत्रुओं का पराभव उतना कठिन नहीं रह जाता।

भावार्थ—हम ज्ञानोपार्जन करके अभिमान को दूर करें। इस ज्ञान के द्वारा सब शत्रुओं को भस्म कर पायें।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विजय

एको बहूनामसि मन्यवीळितो विशंविशं युधये सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्महे॥ ४॥

(१) हे **मन्यो**=ज्ञान! **ईडितः**=उपासित हुआ-हुआ **एकः**=अकेला ही **बहूनाम्**=काम-क्रोधादि बहुत से शत्रुओं का **असि**=पराभव करने में समर्थ है। वस्तुतः तू **विशंविशम्**=प्रत्येक प्रजा को **युधये**=इन कामादि शत्रुओं से युद्ध के लिए **सं शिशाधि**=सम्यक् तीक्ष्ण करता है। जब तक मनुष्य ज्ञानोपासना में नहीं चलता तब तक वह काम-क्रोध आदि को शत्रु के रूप में पहिचानता ही नहीं, उन्हें जीतने का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता। ज्ञान की आराधना के प्रारम्भ होते ही उसके ज्ञाननेत्र खुलते हैं और वह इन काम-क्रोधादि को शत्रुरूप में देखने लगता है। अब वह इनके साथ युद्ध की तैयारी करता है। (२) यह ज्ञान **अकृत्तरुक्**=अच्छिन्न कान्तिवाला है। हे निरन्तर दीप्तिवाले ज्ञान! **त्वया युजा**=तुझ साथी के साथ **वयम्**=हम **विजयाय**=विजय के लिये **द्युमन्तं घोषम्**=ज्योतिर्मय स्तोत्रोच्चारणों को **कृण्महे**=करते हैं। जब हमारा स्तवन ज्ञानपूर्वक होता है तो यह स्तवन हमें कामादि पर विजय करने में समर्थ बनाता है।

भावार्थ—ज्ञान ही हमें कामादि शत्रुओं के उच्छेद के लिये समर्थ करता है। इस विजय के लिये हम ज्ञानपूर्वक स्तवन में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ज्ञान का उद्गम-स्थान' प्रभु

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ॥ ५॥

(१) हे ज्ञान! तू **विजेषकृत्**=विजय को करनेवाला है। तू काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित करता है। **इन्द्र इव**=जितेन्द्रिय पुरुष की तरह **अनवब्रवः**=हुंकार द्वारा पराजित करके भगाया नहीं

जा सकता। काम-क्रोधादि की हुंकार तुझे उसी प्रकार भयभीत नहीं कर पाती जैसे कि एक जितेन्द्रिय पुरुष को आसुरवृत्तियाँ पराजित नहीं कर पाती। हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **इह**=इस जीवनयज्ञ में **अस्माकम्**=हमारा **अधियाः**=रक्षक **भव**=हो। (२) हे **सहुरे**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले ज्ञान! हम **ते**=तेरे **प्रियम्**=प्रिय **नाम गृणीमसि**=स्तोत्र का उच्चारण करते हैं, अर्थात् ज्ञान की महिमा को हृदय में अङ्कित करने के लिये उसका स्तवन करते हैं और ज्ञान के महत्त्व को समझते हुए **तं उत्सम्**=उस स्रोत को भी **विद्म**=जानते हैं **यतः आबभूथ**=जहाँ से कि यह ज्ञान उत्पन्न होता है। गंगा के महत्त्व को माननेवाला जैसे गंगा के उद्गम-स्थान गंगोत्री को देखने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार ज्ञानभक्त पुरुष ज्ञान के स्रोत प्रभु को जानने के लिए यत्नशील होता है। इस प्रभु का ज्ञान ही ज्ञान की चरमसीमा है। यहाँ पहुँचने पर सब पापों का ध्वंस हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञान कामादि का संहार व पराभव करता है, यही हमारा रक्षक है। ज्ञान के स्रोत प्रभु का दर्शन ही ज्ञान की चरमसीमा है।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ऐश्वर्य के साथ उत्पन्न होनेवाला' ज्ञान

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्ष्यभिभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥

(१) **आ-भूत्या**=सब कोशों में व्याप्त होनेवाली भूति, अर्थात् ऐश्वर्य के **सहजाः**=साथ उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से अन्नमयकोश तेजःपूर्ण बनता है, प्राणमय वीर्य-पूर्ण होता है, मनोमय ओज व बल से भर जाता है, विज्ञानमय तो मन्यु युक्त होता ही है, आनन्दमय सहस् से परिपूर्ण बनता है। **वज्र**=(वजगतौ) गति को उत्पन्न करनेवाले, ज्ञान से जीवन गतिमय होता है, ज्ञानी पुरुष कभी अकर्मण्य नहीं होता **सायक**='षोऽन्तकर्मणि' सब बुराइयों का अन्त करनेवाले, ज्ञान से सब मलिनताएँ नष्ट होती ही हैं। **अभिभूते**=कामादि शत्रुओं का अभिभव करनेवाले ज्ञान! तू **उत्तरम्**=उत्कृष्ट **सहः**=बल को **बिभर्ष्य**=धारण करता है। ज्ञान से मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि वह सब काम-क्रोधादि शत्रुओं का पराभव करता है। (२) हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **क्रत्वा सह**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के साथ **नः मेदी एधि**=हमारे साथ स्नेह करनेवाला हो। हम ज्ञान को प्राप्त करके यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले बनें। हे **पुरुहूत**=(पुरुहूतं यस्य) पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे ज्ञान! तू **महाधनस्य**=उत्कृष्ट ऐश्वर्य के **संसृजि**=निर्माण में हमारा (मेदी एधि) स्नेह करनेवाला हो। तुझे मित्र के रूप में पाकर हम उत्कृष्ट ऐश्वर्य का उत्पादन करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञान ही सब ऐश्वर्यों का मूल है, यह उत्कृष्ट बल को देता है, हमें क्रियाशील बनाकर हमारा सच्चा मित्र होता है।

ऋषिः—**मन्युस्तापसः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शत्रुओं का सुदूर पलायन

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः।
भियं दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

(१) **मन्युः**=ज्ञान **च**=तथा **वरुणः**=ज्ञान के द्वारा सब दुरितों का निवारण करनेवाले प्रभु **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **उभयम्**=ज्ञान व श्रद्धारूप द्विविध धन को, **समाकृतम्**=सम्यक् उत्पन्न

किये हुए को तथा **संसृष्टम्**=परस्पर मिले हुए को **दत्ताम्**=दें। प्रभु कृपा से ज्ञान को प्राप्त करते हुए हम अपने जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा का समन्वय करके चलें। इन दोनों को उत्पादन हमारे में सम्यक्तया हो और ये हमारे जीवन में संसृष्ट हों, परस्पर मिले हुए हों। 'ठीक ज्ञान' श्रद्धा को पैदा करता है और 'श्रद्धा' ज्ञान को पैदा करती है। (२) इस प्रकार हमारे मस्तिष्क व हृदय के परस्पर संगत हो जाने पर **शत्रवः**=सब काम-क्रोधादि शत्रु **हृदयेषु भियं दधानाः**=अपने हृदयों में भय का धारण करते हुए **पराजितासः**=पराजित हुए-हुए **अपनिलयन्ताम्**=कहीं सुदूर निलीन हो जाएँ। हमारे से दूर जा छिपें। हम कामादि से आक्रान्त न हों।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा प्रभु-दर्शन होने पर हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा के धन का वह समन्वय होता है कि सब कामादि शत्रु सुदूर विनष्ट हो जाते हैं।

इस सम्पूर्ण सूक्त में ज्ञान की ही महिमा का उल्लेख है। (१) यह ज्ञान हमें ओजस्वी बनाता है, कामादि शत्रुओं को पराभूत करता है, (२) यह सब कोशों के ऐश्वर्य को देनेवाला है, (३) वास्तविक ज्ञान हमें प्रभु के प्रति श्रद्धान्वित करके हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय को करता है, (४) अब अगले सूक्त में इस 'मन्यु तापस' के गृहस्थ में प्रवेश का उल्लेख है। यह ब्रह्मचर्याश्रम में शक्ति का रक्षण करके, सोम (वीर्य) का पान करके 'सोम' शब्द से ही कहलाता है। यह चाहता है कि सूर्य के समान प्रकाशमय हृदयवाली पत्नी ही इसे प्राप्त हो। इसीलिए उसे 'सूर्या' शब्द से स्मरण किया गया है। मानो यह सविता की ही पुत्री है। यह 'सावित्री सूक्त' ही प्रस्तुत सूक्त की ऋषिका है। गृहस्थ में प्रवेश का मुख्य उद्देश्य सन्तान प्राप्ति है। उसके साधनभूत सोम (वीर्य) के वर्णन से ही सूक्त का प्रारम्भ है।

सप्तमोऽनुवाकः

[८५] पञ्चाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

'सत्य-सूर्य-ऋत-सोम'

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥ १॥

(१) 'सूर्या सावित्री' कहती है कि **सत्येन**=सत्य से **भूमिः**=यह पृथिवी **उत्तभिता**=थामी गयी है, अर्थात् पृथ्वी सत्य पर ही आश्रित है। संसार असत्य के आधार पर स्थित नहीं हो सकता। विशेषतः घर में पति-पत्नी का परस्पर सत्य व्यवहार ही उनके गृहस्थ जीवन को सुखी बना सकता है। असत्य से वे परस्पर आशंकित मनोवृत्तिवाले होंगे और गृहस्थ के मूलतत्त्व 'प्रेम' को खो बैठेंगे। (२) **सूर्येण**=सूर्य से **द्यौः**=द्युलोक **उत्तभिता**=थामा गया है। द्युलोक का द्युलोकत्व इस देदीप्यमान सूर्य के कारण ही है। सूर्य न हो तो द्युलोक भी इस पृथ्वीलोक की तरह ही हो जाएगा वहाँ प्रकाश न होगा। घर में प्रथम स्थान 'सत्य' का था, तो दूसरा स्थान 'ज्ञान' का है। इसके बिना घर का मापक ऊँचा नहीं उठ सकता। ज्ञान के अभाव में मनुष्य 'मनुष्य' ही नहीं रह जाता। उस घर का जीवन पशु तुल्य हो जाता है। (३) **आदित्याः**=अदिति के, अदीना देवमाता के पुत्र, अर्थात् देव **ऋतेन**=ऋत से, regnlerity (नियमितता) व यज्ञ से **तिष्ठन्ति**=आधारवाले होते हैं। जहाँ ऋत होता है, वहाँ घर के व्यक्ति देव बनते हैं। घर का तीसरा सूत्र 'ऋत' है। सब कार्यों को व्यवस्था

से करना, ठीक समय व ठीक स्थान पर करना आवश्यक ही है। साथ ही घर में यज्ञों का होना भी उतना ही आवश्यक है। घर के सब व्यक्तियों की मनोवृत्ति यज्ञिय बने, तो घर पनपता है। (४) **सोमः**=सोम (=वीर्य) **दिवि**=ज्ञान में **अधिश्रितः**=आश्रित है, अर्थात् सोम के रक्षण के लिये स्वाध्याय की वृत्ति आवश्यक है। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और इस प्रकार शरीर में ही उपयुक्त होकर व्यर्थ में व्ययित नहीं होता। सोम का रक्षण करनेवाले पति-पत्नी ही उत्तम सन्तानों को जन्म दे पाते हैं।

भावार्थ—उत्तम घर वह है जहाँ—(क) सत्य है, (ख) ज्ञान-प्रवणता है (सूर्य), (ग) ऋत का पालन होता है और (घ) सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

देवत्व, शक्ति व विज्ञान

सोमे॑नादि॒त्या ब॒लिनः॒ सोमे॑न पृथि॒वी म॒ही।
अथो॒ नक्ष॑त्राणामे॒षामु॒पस्थे॒ सोम॒ आहि॑तः॥ २॥

(१) **सोमेन**=गत मन्त्र की समाप्ति पर कहे गये सोम के रक्षण से **आदित्याः**=अदीना देवमाता के पुत्र, अर्थात् देवता **बलिनः**=बलवाले होते हैं। वस्तुतः सोमरक्षण से ही वे देव बनते हैं। देवताओं का सोमपान प्रसिद्ध है। यह कोई बाह्य रस नहीं है। शरीर में उत्पन्न होनेवाला ओषधियों का सारभूत सोम यह वीर्य ही है। इसका रक्षण देवों को शक्ति देता है। (२) **सोमेन**=सोम से ही **पृथिवी**=यह शरीररूप पृथिवी **मही**=महनीय व महत्त्वपूर्ण बनती है। शरीर में सब वसुओं-निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों का स्थापन इस सोम के द्वारा ही होता है (३) **उ**=और **अथ**=अब **एषां नक्षत्राणां उपस्थे**=इन विविध विज्ञान के नक्षत्रों की उपासना के निमित्त **सोमः**=यह सोम (=वीर्य) **आहितः**=शरीर में स्थापित किया गया है। इस सोम के द्वारा ज्ञानाग्नि तीव्र होती है और मनुष्य अपने मस्तिष्क रूप गगन में ज्ञान के नक्षत्रों का उदय कर पाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के तीन लाभ हैं—(क) हृदय में देववृत्ति का उदय, (ख) शरीर में शक्ति का स्थापन, (ग) मस्तिष्क में विज्ञान नक्षत्रों का उदय।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**निचृदअनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वास्तविक सोमपान

सोमं॑ मन्यते पपि॒वान्यत्सं॑पिं॒षन्त्योष॑धिम्।
सोमं॒ यं ब्र॒ह्माणो॑ वि॒दुर्न तस्या॑श्नाति॒ कश्च॒न॥ ३॥

(१) 'सोम ओषधीनामधिराजः' गो० उ० १।१७, 'सोम वीरुधां पते' तै० ३।११।४।१, 'गिरिषु हि सोमः' श० ३।३।४।७ इन ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि सोम एक लता है जो पर्वतों पर उत्पन्न होती है, यह अत्यन्त गुणकारी है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में सोम का भाव इस वानस्पतिक ओषधि से नहीं है। यहाँ तो 'रेतः सोमः' कौ० १३।७ के अनुसार वीर्यशक्ति ही सोम है। मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=जो **ओषधिम्**=ओषधि को **संपिंषन्ति**=सम्यक् पीसते हैं और उसका रस निकालकर **मन्यते**=मानते हैं कि **सोमं पपिवान्**=हमने सोम पी-लिया है, यह उनकी धारणा ठीक नहीं। (२) **यं सोमम्**=जिस सोम को **ब्रह्माणः**=ज्ञानी पुरुष ही **विदुः**=जानते हैं **तस्य**=उस सोम का **कश्चन**=इन ओषधि रस पीनेवालों में से कोई भी **अश्नाति**=ग्रहण नहीं करता है। सोम तो शरीर में उत्पन्न होनेवाला वीर्य है। उसका रक्षण ज्ञानी

पुरुष ही करते हैं, यही सच्चा सोमपान है। ज्ञान संचय में प्रवृत्त पुरुष इस सोम को अपनी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाता है और इसकी ऊर्ध्वगति के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के योग्य बनता है।

भावार्थ—सोमलता के रस का पान सोमपान नहीं है। वीर्य का रक्षण ही सोमपान है। इस सोमपान को भौतिक प्रवृत्तिवाला पुरुष नहीं कर पाता। इस सोमपान को करनेवाला ज्ञानी ही होता है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सोम का रक्षण

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः॥४॥

(१) **आच्छद्विधानैः**=समन्तात् अपवारण के तरीकों से, अर्थात् हमारे पर सब ओर से जो वासनाएँ आक्रमण कर रही हैं, उनको दूर रखने के उपायों से **गुपितः**=यह सोम रक्षित होता है। यदि वासनाओं का आक्रमण चलता रहे, तो सोम के रक्षण का सम्भव नहीं होता। (२) **सोमः**=यह सोम (=वीर्य) **बार्हतैः**=वासनाओं के उद्बर्हण के द्वारा **रक्षितः**=रक्षित होता है। जैसे खेत में से एक किसान घास-फूस का उद्बर्हण कर देता है, इसी प्रकार जो व्यक्ति हृदयक्षेत्र में से वासनारूप घास का उद्बर्हण करता है, वही शरीर में सोम का रक्षण करनेवाला होता है। (३) हे सोम! तू **इत्**=निश्चय से **ग्राव्णाम्**=ज्ञानी स्तोताओं की ज्ञान चर्चाओं को **शृण्वन्**=सुनता हुआ **तिष्ठति**=शरीर में स्थित होता है। जो मनुष्य ज्ञानप्रधान जीवन बिताता है, यह सोम उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इस प्रकार उपयुक्त हुआ-हुआ सोम नष्ट नहीं होता। (४) **पार्थिवः**=पार्थिव भोगों में फँसा हुआ व्यक्ति **ते न अश्नाति**=तेरा सेवन नहीं करता। भोगासक्ति सोम के रक्षण की विरोधिनी है। ये पार्थिव वृत्तिवाले व्यक्ति तो सोमलता के रस के पान को ही सोम-पान समझते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिये वासनाओं को दूर करना आवश्यक है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आप्यायन व दीर्घ-जीवन

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥ ५॥

(१) **देव**=दिव्य प्रकाश को प्राप्त करानेवाले सोम! **यत्**=जब **त्वा**=तुझे **प्रपिबन्ति**=अपने अन्दर ही प्रकर्षेण पीते हैं, शरीर के अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करते हैं, **ततः**=तब **पुनः**=फिर से **अप्यायसे**=तू सब अंग-प्रत्यंगों की शक्ति का आप्यायन करता है। सोम के रक्षण से सब इन्द्रियाँ सबल बनती हैं। यह सोम मन को भी दिव्य वृत्तिवाला बनाता है। सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष का मन शुभ भावनाओं से भरा हुआ होता है। इसका मस्तिष्क भी ज्ञानदीप्त बनता है। (२) इस शरीर में **सोमस्य रक्षिता**=सोम का रक्षण करनेवाला **वायुः**=वायु है। वायु शरीर में प्राण के रूप में रहता है। इन प्राणों की साधना ही शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति का कारण बनती है। इस ऊर्ध्वगति से **मासः**=(मस्यते परिमीयते सोमः सा०) शरीर की आकृति को परिवर्तित कर देनेवाला, क्षीण अंगों को फिर से आप्यायित कर देनेवाला, यह सोम **समानाम्**=वर्षों का **अकृतिः**=अकर्ता बनानेवाला होता है, अर्थात् सोमरक्षण से दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है अथवा यह सोम **समानाम्**=

समताओं का **आकृतिः**=बनानेवाला है, अर्थात् सोम यथासम्भव हमारी मानस क्षमता को नष्ट नहीं होने देता। मानस सन्तुलन को वे ही व्यक्ति खो बैठते हैं जो सोम को अपव्यय से सुरक्षित नहीं करते।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा सोम की ऊर्ध्वगति होती है। यह रक्षित सोम अंगों का आप्यायन करनेवाला तथा दीर्घजीवन को प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सूर्याविवाहः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सूर्या का चरित्र

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्॥ ६॥

(१) अब प्रथम पाँच मन्त्रों में सोम के महत्त्व के प्रतिपादन के बाद इस सोम के रक्षण करनेवाले पुरुष के साथ सूर्या के विवाह का उल्लेख ६ से १६ मन्त्रों तक किया गया है इस विवाह के समय **रैभी**=जिसके द्वारा प्रभु का स्तवन होता है वह ऋचा 'रैभी' कहलाती है यह रैभी ऋचा ही **अनुदेयी आसीत्**=दहेज थी, अर्थात् पिता कन्या को ऋचाओं के द्वारा प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली बना देता है। यह स्तुति वृत्तिवाली बना देना ही सर्वोत्तम दहेज देना है। (२) **नाराशंसी**=नर समूह के शंसन की वृत्ति सबकी अच्छाइयों का ही कथन करने और कमियों को न कहने की वृत्ति ही इसकी **न्योचनी**=इसको ठीक आनेवाली इसकी कमीज होती है। स्तवन, न किं विन्दन, की वृत्ति ही उसके उचित वस्त्र हैं। अथवा **नाराशंसी**=वीर पुरुषों के चरित्रों का शंसन इनके इतिवृत्त का ज्ञान ही इसका समुचितवसन है। (३) **भद्रम्**=इसकी भद्रता (शराफत) **इत्**=ही **वासः**=ओढ़ने का कपड़ा है जो **गाथया परिष्कृतम्**=गाथा से परिष्कृत हुआ-हुआ **एति**=इसे प्राप्त होता है। जैसे वस्त्रा किनारी आदि से सुभूषित होता है उसी प्रकार इसकी भद्रता का यह वस्त्र प्रभु गुणगान से सुभूषित है। संक्षेप में यह कन्या भद्र व्यवहारवाली है और प्रभु के गुणों के गायन की वृत्तिवाली है।

भावार्थ—कन्या को स्तुति वृत्तिवाला बना देना ही सच्चा दहेज है। स्तवन, न कि निन्दन ही इसकी कमीज है। भद्रता ही वस्त्र है जो प्रभु गुणगायन से परिष्कृत है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सूर्याविवाहः**॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

वास्तविक सम्पत्ति

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्। द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम्॥ ७॥

(१) **चित्तिः**=समझदारी ही इसका **उपबर्हणं आः**=तकिया है। जैसे तकिया सहारा देता है, उसी प्रकार इस कन्या की समझदारी से आनेवाली मुसीबतों में सहारा देती है। **चक्षुः अभ्यञ्जनं आः**=इसका ठीक दृष्टिकोण ही इसका सुरमा था। सुरमा आँख के सौन्दर्य को बढ़ाने का साधन होता है। इसका ठीक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को देखना ही इसे सुशोभित करता है। (२) **द्यौ भूमिः**=मस्तिष्क व शरीर इसके **कोशः**=कोश **आसीत्**=था। ज्ञानोज्वल मस्तिष्क व दृढ़ शरीर ही इसका वास्तविक धन था। उस समय **यत्**=जब कि **सूर्या**=सविता की पुत्री, उज्ज्वल ज्ञानवाली **सूर्या पतिम्**=अपने पति को **अयात्**=प्राप्त हुई। पतिगृह में जाते हुए यह मस्तिष्क के ज्ञान व शरीर की दृढ़ता रूप सम्पत्ति को ही लेकर गयी।

भावार्थ—कन्या समझदार हो, इसका दृष्टिकोण ठीक हो। मस्तिष्क में ज्ञानरूप सम्पत्ति को तथा शरीर में दृढ़ता को प्राप्त करके ही यह पतिगृह को प्राप्त हो।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

साथी का ढूँढ़ना

स्तोमा॑ आसन्प्रति॒धयः॑ कु॒रीरं॒ छन्द॑ ओप॒शः । सू॒र्याया॑ अ॒श्विना॑ व॒राग्निरा॑सीत्पुरोग॒वः ॥ ८ ॥

(१) **स्तोमाः**=प्रभु के स्तोत्र ही **प्रतिधयः**=(प्रतिधि=food) भोजन **आसन्**=थे। जिस प्रकार अन्न का भोजन शरीर की पुष्टि का कारण बनता है, उसी प्रकार प्रभु के स्तोत्र इसकी अध्यात्म पुष्टि का कारण बनते हैं। **छन्दः**=वासनाओं से बचानेवाले (छद् अपवारणे) वेद-मन्त्र ही इसके **कुरीरम्**=शिरोवस्त्र व **ओपशः**=शिरोभूषण थे। इनके द्वारा ही उसके मस्तिष्क की शोभा थी। (२) इस **सूर्यायाः**=सूर्या के **अश्विना**=माता-पिता **वरा**=इसके साथी का वरण (चुनाव) करनेवाले थे। उन्होंने सूर्या के जीवनसंगी के ढूँढ़ने का काम प्रारम्भ किया। इनके इस कार्य में **अग्निः**=ज्ञानी ब्राह्मण ही **पुरोगवः**=इनका अगुआ, पथप्रदर्शक **आसीत्**=था। इनका कुलपुरोहित इनको इस कार्य में मदद करनेवाला हुआ। वस्तुतः इनके लड़कियों के आचार्य ही अग्नि हैं। वे इनके शिक्षक होने के कारण इनके गुण-कर्म-स्वभाव से परिचित होने से ठीक चुनाव कर पाते हैं। वे आचार्य परामर्श देते हैं। उस परामर्श के अनुसार माता-पिता देखभाल करते हैं और अन्त में सन्तानों की स्वीकृति होने पर ये सम्बन्ध परिपक्व हो जाते हैं।

भावार्थ—स्तोत्र ही सूर्या के भोजन बने। वेद-मन्त्र 'शिरोवस्त्र व शिरोभूषण' हुए। अब माता-पिता ने ज्ञानी आचार्य की सहायता से इस सूर्या के जीवन-साथी को ढूँढना प्रारम्भ किया।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सूर्या' का 'सोम' के साथ विवाह

सोमो॑ वधू॒युर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा । सू॒र्यां यत्पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ताद॑दात् ॥ ९ ॥

(१) पत्नी को 'सूर्या' बनना चाहिए तो पति को 'सोम' बनने का प्रयत्न करना चाहिए। पति सोम का रक्षण करता हुआ सोमशक्ति का पुत्र हो, इस सोमशक्ति के रक्षण से वह सौम्य स्वभाव का भी हो। यह **सोमः**=सोमशक्ति का रक्षक सौम्य स्वभाव का युवक **वधूयुः अभवत्**=वधू की कामनावाला हुआ। जब यह वधू की कामनावाला हुआ तो **उभा अश्विना**=दोनों माता-पिता **वरा**=उसके साथी का चुनाव करनेवाले **आस्ताम्**= हुए। (२) सूर्या के माता-पिता युवक की तलाश में थे, सोम के माता-पिता भी योग्य युवति की खोज कर रहे थे। **अग्नि**=ज्ञानी आचार्य ने उनका पथप्रदर्शन किया। उसके सुझाव पर **यत्**=जब **सूर्या यत्ये शंसन्तीम्**=पति का शंसन (इच्छा) करनेवाली हुई तब **सूर्याम्**=उस सूर्या को **सविता**=सूर्यतुल्य इसके पिता ने इसे **मनसा**=पूरे दिल से सोम के लिये **अददात्**=दे दिया। इस प्रकार सूर्या का सोम के साथ विवाह सम्पन्न हो गया।

भावार्थ—'युवक पत्नी की कामनावाला हो, युवति पति की कामनावाली' तो उनके माता पिता को उनके विवाह सम्बन्ध का आयोजन कर देना चाहिए।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वरण में मन व मस्तिष्क का स्थान

मनो॑ अ॒स्या अन॑ आसी॒द् द्यौरा॑सीदु॒त च्छ॒दिः । शु॒क्राव॑न॒ड्वाहा॑वास्तां॒ यदया॑त्सू॒र्या गृ॒हम् ॥ १० ॥

(१) **अस्याः**=इस सूर्या का, **यद्**=जब कि यह **सूर्या**=सावित्री **गृहम्**=अपने घर को, उस

घर को जिसका कि उसने निर्माण करना है **अयात्**=गई, उस समय **मनः**=मन ही **अनः**=रथ **आसीत्**=था। अपने मनोरथ पर आरूढ़ होकर यह पतिगृह को गई। अर्थात् पतिगृह को इच्छापूर्वक प्रसन्नता से गई। माता-पिता ने इससे बिना स्वीकृति लिये इसका सम्बन्ध नहीं कर दिया। (२) उस समय मन तो रथ था, **उत**=और **द्यौः**=मस्तिष्क (मूर्ध्नो द्यौः) **छदिः आसीत्**=छत थी। उस रथ का रक्षक मस्तिष्क था। केवल हृदय की भावुकता के कारण यह सम्बन्ध न हो गया था, यह सम्बन्ध मस्तिष्क से, अर्थात् सब बातें सोच-विचार कर ही किया गया था। हृदय के ऊपर मस्तिष्क की स्थिति इस बात को सुव्यक्त कर रही है कि हमें भावना से बुद्धि को अधिक महत्त्व देना है। (३) इस मनोमय रथ की छत मस्तिष्क बना तो **शुक्रौ**=गतिशील व दीप्त (शुक् गतौ, शुच् दीप्तौ) कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ इस रथ के **अनड्वाहौ**=वृषभ **आस्ताम्**=थे। इसकी कर्मेन्द्रियाँ कर्म-निपुण होती हुई इसे सशक्त बना रही थी और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में कुशल होती हुई, इसे ज्ञानदीप्त कर रही थी।

भावार्थ—पति के चुनाव में सूर्या भी सहमत थी। यह सम्बन्ध, भावुकता के कारण न होकर, सोच समझकर किया गया था। सूर्या की इन्द्रियों की शक्ति का समुचित विकास हो चुका था।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्ञान व श्रद्धा का समन्वय

ऋ॒क्सा॒माभ्या॑म॒भिहि॑तौ॒ गावौ॑ ते सा॒मना॑वितः। श्रोत्रं॑ ते च॒क्रे आ॑स्तां दि॒वि पन्था॑श्चराच॒रः ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के मनोमय रथ में जुते हुए **ते गावौ**=वे ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप वृषभ **ऋक्सामाभ्याम्**=विज्ञान व उपासना से **अभिहितौ**=प्रेरित हुए-हुए थे, अर्थात् इन्द्रियों के सब व्यवहारों में विज्ञान व उपासना का समन्वय था। इसका प्रत्येक कार्य 'ज्ञान व श्रद्धा' के मेल से हो रहा था। इसीलिए ये इन्द्रिय रूप वृषभ **सामनौ**=बड़ी शान्तिवाले होकर **इतः**=गति कर रहे थे। भाव यह है कि सूर्या ज्ञान व श्रद्धा से सम्पन्न होकर शान्तभाव से सब कार्यों को करती थी। (२) **श्रोत्रम्**=कान ही **ते चक्रे**=रथ के वे चक्र **आस्ताम्**=थे। 'चक्र' गति का प्रतीक है, 'श्रोत्र' सुनने का। सूर्या सुनती थी और उसके अनुसार करती थी और उसका यह **चराचरः**=खूब क्रियाशील (भृशंचरति) **पन्थाः**=जीवन का मार्ग **दिवि**=ज्ञान में आश्रित था। अर्थात् सूर्या की सब क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होती थीं। वह किसी प्रकार के रूढ़िवाद में फँसी हुई न थी।

भावार्थ—'सूर्या' ज्ञान व श्रद्धा से युक्त होकर शान्तभाव से ज्ञानपूर्वक निरन्तर क्रियामय जीवनवाली है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'प्राण-अपान-व्यान' की ठीक स्थिति

शुची॑ ते च॒क्रे या॒त्या व्या॒नो अक्ष॒ आह॑तः। अनो॑ मन॒स्मयं॑ सू॒र्यारो॑हत्प्रय॒ती पति॑म् ॥ १२ ॥

(१) **पतिं प्रयती**=पतिगृह की ओर जाती हुई **सूर्या मनस्मयं अनः**=सूर्या मन से बने रथ पर, मनोरथ पर **आरोहत्**=आरूढ़ हुई। तो उस समय **यात्याः**=जाती हुई सूर्या के रथ के **ते चक्रे**=वे चक्र **शुची**=वे पवित्र प्राणापान ही थे, और उन प्राणापान रूप चक्रों में **व्यानः**=व्यान **अक्षः**=अक्ष (axle) के रूप में **आहतः**=लगा हुआ था। 'प्राणापानौ पवित्रे' तै० ३।३, ४।४। प्राणापान ही शुचि व पवित्र हैं। ये यदि रथ के पहिये हैं तो कान उन चक्रों का अक्ष है। ''भूः' इति प्राणः, 'भुवः' इति अपानः, 'स्वः' इति व्यानः' इन ब्राह्मण ग्रन्थों के शब्दों में 'भूः भुवः स्वः' ही प्राण अपान व्यान हैं। यही त्रिलोकी है। अध्यात्म में 'भूः' शरीर है, 'भुवः' हृदयान्तरिक्ष है,

'स्वः' मस्तिष्करूप द्युलोक है। सूर्या के ये तीनों ही लोक बड़े ठीक हैं। इनको ठीक बना करके वह मनोमय रथ पर आरूढ़ हुई है और पतिगृह की ओर चली है।

भावार्थ—सूर्या के 'प्राण-अपान-व्यान' ठीक कार्य करनेवाले हैं, अतएव वह पूर्ण स्वस्थ व उल्लासमय मनवाली है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सूर्याविवाहः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

गोदान

सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्। अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥ १३॥

(१) **सूर्यायाः**=सूर्या का **वहतुः**=दहेज (गौ के रूप में दिये जानेवाला सगण) **प्रागात्**=आज गया है, **सविता**=सूर्या के पिता ने **यम्**=जिसको **अवासृजत्**=दिया है। **अघासु**=मघा-नक्षत्र में **गावः**=ये दी जानेवाली गौवें **हन्यन्ते**=(हन् गतौ) भेजी जाती हैं और **अर्जुन्योः**=फल्गुनी नक्षत्र में **पर्युह्यते**=कन्या का विवाह कर दिया जाता है। (२) मघा-नक्षत्रवाली पूर्णिमा माघी कहलाती है और फल्गुनी नक्षत्रवाली पूर्णिमा फाल्गुनी। माघी पूर्णिमावाला मास माघ मास है और फाल्गुनी पूर्णिमावाला फाल्गुन। सो विवाह से पूर्व एक मास पूर्व यह गोदान विधि सम्पन्न हो जाती है। यह गौ इसलिए दी जाती है कि गुरुकुल में तपःकृश युवक अब दूध इत्यादि का प्रयोग करके आप्यायित शरीरवाला हो जाए।

भावार्थ—विवाह अर्थात् कन्यादान से एक मास पूर्व गोदान विधि सम्पन्न कर दी जाए।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सूर्याविवाहः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

युवक द्वारा नये माता-पिता का वरण

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरावृणीत पूषा॥ १४॥

(१) **यत्**=जिस समय **अश्विना**=लड़के के माता-पिता (पति-पत्नी) **सूर्यायाः**=सूर्या के **वहतुम्**=विवाह के दहेज को **पृच्छमानौ**=चाहते हुए (पूछते हुए=ask for) **त्रिचक्रेण**=तीन चक्रों (चक्करों) से **अयातम्**=आते हैं। उस समय **वाम्**=आप दोनों के **तत्**=उस कार्य की **विश्वे देवाः**=सब देव=समझदार लोग, साथ आये हुए अनुभवी वृद्ध सज्जन **अनु अजानन्**=अनुज्ञा दें। अर्थात् यह कार्य सुचारुरूपेण सम्पन्न हो जाए, किसी प्रकार का पारस्परिक लेन-देन का झगड़ा न हो। (२) और उस समय यह **पूषा**=अपना पोषण करनेवाला **पुत्रः**=वृत युवक **पितरौ अवृणीत**=कन्या के माता-पिता को माता-पिता के रूप में वरे। अर्थात् अपने माता-पिता की उपस्थिति में आज से वह इन वधू के माता-पिता को भी अपने माता-पिता के रूप में देखे। (३) विवाह कार्य में वरपक्ष के माता-पिता सामान्यतः तीन चक्कर लगाते हैं। पहले चक्कर में तो वे कन्यापक्ष के लोगों के विषय में व कन्या के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए किसी परिचित मित्र के यहाँ चुपके से आते हैं। उस समय अन्य कोई व्यक्ति उनके साथ नहीं होता। ये गुप्तरूप से बातों को जानकर लौट जाते हैं। अब सम्बन्ध ठीक हो जाने पर 'वस्तु' के लिये दूसरा चक्कर लगता है। इस समय बिरादरी के व नगर के अन्य सज्जन भी साथ होते हैं। तीसरा चक्कर विवाह कार्य के लिये होगा। मन्त्र में 'त्रिचक्रेण' शब्द से इन चक्करों का संकेत हुआ है।

भावार्थ—जब वर के माता-पिता बहुत को लेने के लिये आते हैं तो उनके साथ अन्य व्यवहार कुशल व्यक्ति (देव) भी होते हैं। वे सारे कार्य को सुन्दरता से पूर्ण करा देते हैं। इस समय युवक अपने भावी श्वश्रूश्वशुर को माता-पिता के रूप में वरता है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सम्बन्ध पक्का करानेवाले 'मूल पुरुष'

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप। क्वैकं चक्रं वामासीत्क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥ १५ ॥

(१) **यद्**=जब **शुभस्पती**=सब शुभ कर्मों का रक्षण करनेवाले युवक के माता-पिता **सूर्या वरेयम्**=सूर्या के वरण के लिये **उप अयातम्**=यहाँ समीप प्राप्त हुए तो **वाम्**=आप दोनों का **एकं चक्रम्**=यह पहला चक्र (चक्कर) **क्व**=कहाँ हुआ था? आप पहले यहाँ आकर कहाँ ठहरे थे। **देष्ट्राय**=सूर्या के विषय में विविध निर्देशों को पाने के लिये **क्व तस्थथुः**=आप किनके यहां ठहरे। (२) यह प्रश्न विवाह में उपस्थित सब देव (=सज्जन) वर के माता-पिता से पूछते हैं। उन्हें उत्कण्ठा होती है कि इस सम्बन्ध को करवाने में किन सज्जन का मुख्य स्थान है! इन्होंने किन से आकर सूर्या के विषय में विविध जानकारी प्राप्त की? कोई न कोई व्यक्ति इस प्रकार माध्यम बनता ही है। सूर्या के ग्राम का कोई ऐसा व्यक्ति जो वरपक्ष के माता-पिता का भी परिचित होता है, वही इस कार्य को ठीक से सम्पन्न कर पाता है। सब से पूर्व वर के माता-पिता आकर इन्हीं के पास ठहरते हैं। इनके आने का उस समय सामान्यतः औरों को पता नहीं लगता। यह पूछताछ का कार्य गुप्तरूप से ही कर लेना ठीक समझा जाता है। इसके बाद में होनेवाले चक्र (चक्कर) तो सब के ज्ञान का विषय बनेंगे ही। जब विवाह के समय बरात में सब देव (सज्जन) आते हैं, तो उनकी यह जानने की इच्छा स्वाभाविक होती है कि 'पहले-पहले आपको किनसे सब बातों की जानकारी हुई'? बस यही प्रश्न प्रस्तुत मन्त्र का विषय है।

भावार्थ—विवाह में उपस्थित होने पर सब देव उन सज्जन के विषय में वर के माता-पिता से पूछते हैं कि 'आप पहले पहल आकर कहाँ ठहरे। किनसे आपको सब बातों का ज्ञान हुआ'?

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रथम चक्र व पिछले दो चक्र

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः। अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद्विदुः ॥ १६ ॥

(१) हे सूर्ये! **ते**=तेरे विषय में **द्वे चक्रे**=लगनेवाले दो चक्रों (चक्करों) को तो **ब्रह्माणः**=सर्वज्ञानी पुरुष **ऋतुथा**=उस-उस समय के अनुसार **विदुः**=जानते ही हैं। दहेज (बहुत) के लेने के लिये आनेवाला चक्र और विवाह के लिये आनेवाला चक्र तो सबको पता लगता ही है। (२) **अथ**=परन्तु **एकं चक्रम्**=पहला चक्र, जब कि वरपक्षवाले पूछताछ के लिये अपने किसी मित्र के यहाँ आकर ठहरे, **यद् गुहा**=जो चक्र संवृत-सा है (गुह संवरणे) **तद्**=उस चक्र को तो **अद्धातयः**=उस चक्र के ज्ञाता **इत्**=ही, अर्थात् उस चक्र में हिस्सा लेनेवाले ही **विदुः**=जानते हैं। उस समय वर के माता-पिता व उनके वे मित्र, जिनके कि यहाँ आकर प्रथम चक्र में वे ठहरे, वे ही इस चक्र के विषय में जानते हैं।

भावार्थ—विवाह प्रसंग में सर्वप्रथम जानकारी के लिये लगाया गया चक्र गुप्त ही होता है। दहेज व विवाह के लिये लगनेवाले चक्र तो सब कोई जानते ही हैं।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्याविवाहः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वरपक्षवालों के लिये प्रस्थान काल में 'नमस्कार'

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च। ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नमः ॥ १७ ॥

(१) अब विवाह सम्पन्न हो जाने पर जब सूर्या पतिगृह की ओर जाने के लिये रथ पर आरूढ़ हो जाती है तो विदा देते हुए कन्या पक्षवाले सब व्यक्ति सर्वप्रथम **'सूर्यायै'**=सूर्या के लिये **नमः**

अकरम्=नमस्कार करते हैं। सूर्या को यही प्रेरणा देते हैं कि तूने इस कुल व उस कुल की लाज रखने के लिये शुभ व्यवहार ही करना है। तेरा व्यवहार ही हमारे मानापमान का कारण बनेगा, सो बड़ा ध्यान करना। नमस्करणीय बने रहना। (२) **देवेभ्यः**=अब बरात के साथ आये देवों के लिये **नमः प्रकरम्**=हम नमस्कार करते हैं। आपने इस सब प्रसंग की शोभा बढ़ाकर हमें कृतकृत्य किया। (३) **मित्राय वरुणाय च**=वर के माता-पिता के लिये, जो कि स्नेह व निर्द्वेषता की भावना से ओतप्रोत हैं, उनके लिये तो हम नमस्कार करते ही हैं। वे तो हमारे लिये सदा नमस्करणीय होंगे ही। इन नव दम्पती में वे स्नेह व अद्वेष को भरने का ध्यान करेंगे। (४) इनके अतिरिक्त ये **भूतस्य प्रचेतसः**=जो प्राणियों के प्रकृष्ट ध्यान करनेवाले देव हैं **तेभ्यः**=उन सब देवों के लिये **इदं नमः अकरम्**=इस नमस्कार को करते हैं। सब देव इन नव दम्पती का भी रक्षण करें। सब देवों का अनुग्रह इनकी समृद्धि का कारण बने।

भावार्थ—कन्या पक्षवाले 'सूर्या' के प्रस्थान के समय सूर्या को नमस्कार करते हुए सबको नमस्कार पूर्वक विदा देते हैं।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सौमार्कौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

नव दम्पती का कार्य विभाग

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः॥ १८॥

(१) घर में पहुँचकर **एतौ**=ये दोनों **शिशू**=अपनी बुद्धि को स्वाध्याय के द्वारा तीव्र बनानेवाले युवक और युवति **मायया**=अपने प्रज्ञान के द्वारा **पूर्वापरं चरतः**=(पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रं) ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश करते हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञान का सम्पादन करके अब ये गृहस्थ में प्रवेश करते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम समुद्र था। उसे तैरकर ये द्वितीय समुद्र में आते हैं। (२) इस **अध्वरम्**=गृहस्थयज्ञ में ये **क्रीडन्तौ**=क्रीड़क की मनोवृत्ति बनाकर **परिभातः**=सब गतियाँ करते हैं। क्रीड़क की मनोवृत्ति के होने पर कष्ट नहीं होते। कष्टों को ये हँसते हुए सहन कर लेते हैं। इस वृत्ति के अभाव में मुसीबत ही मुसीबत लगने लगती है। गृहस्थ को 'अध्वर' इसलिए कहा है कि इसमें यथासंभव अहिंसा व पवित्रता को बनाये रखना है। (३) इन पति-पत्नी में **अन्यः**=एक पति तो **विश्वानि भुवना**=घर में रहनेवाले सब प्राणियों का **अभिचष्टे**=ध्यान करता है (looks after)। पति का कार्य रक्षण है। घर में सबकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने का कर्त्तव्य पति का होता है। (४) **अन्यः**=गृह नाटक का दूसरा मुख्य-पात्र पत्नी **ऋतून् विदधत्**=ऋतुओं को (a period fouonrable for conception) गर्भाधान के लिये उचित समयों को धारण करती हुई **पुनः जायते**=फिर पुत्र के रूप में जन्म लेती है। पत्नी का कार्य उत्कृष्ट सन्तान को जन्म देना है। पति ने उस सन्तान के रक्षण की पूर्ण व्यवस्था करनी है।

भावार्थ—समझदार पति-पत्नी क्रीड़क की मनोवृत्ति से गृहस्थ को सुन्दरता से निभाते हैं। पत्नी उत्तम सन्तान को जन्म देती है तो पति उसके रक्षण का उत्तरदायित्व लेता है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पति

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥ १९॥

(१) मानव स्वभाव कुछ इस प्रकार का है कि वह एक चीज से कुछ देर बाद ऊब जाता है। 'गृहस्थ में पति-पत्नी परस्पर ऊब न जाएँ' इस दृष्टिकोण से **जायमानः**=अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ पति **नवः नवः भवति**=सदा नवीन बना रहता है, उसका जीवन पुराणा-सा हुआ नहीं प्रतीत होता। उसका ज्ञान प्रतिदिन बढ़ता चलता है, स्वभाव को वह अधिकाधिक परिष्कृत बनाता है। कार्यक्षेत्र को कुछ व्यापक बनाने का प्रयत्न करता है। (२) यह **अह्नां केतुः**=दिनों का प्रकाशक होता है। अर्थात् दिनों को प्रकाशमय बनाता है। अधिक से अधिक स्वाध्याय के द्वारा प्रकाशमय जीवनवाला होता है। (३) **उषसां अग्रं एति**=उषाओं के अग्रभाग में आता है, अर्थात् बहुत सवेरे उठकर क्रियामय जीवनवाला बनता है। और **आयन्**=गतिशील होता हुआ **देवेभ्यः**=देवों के लिये **भागम्**=हिस्से को **विदधाति**=विशेषरूप से धारण करनेवाला होता है। अर्थात् यज्ञों को करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होता है। (५) **चन्द्रमाः**=आह्लादमय मनोवृत्तिवाला होता हुआ **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन को **प्रतिरते**=खूब विस्तृत करता है। मन की प्रसन्नता उसे दीर्घ जीवनवाला बनाती है।

भावार्थ—स्व-शक्तियों का विकास करता हुआ अपनी नवीनता बनाए रखता है, (ख) स्वाध्याय द्वारा अपने दिनों का प्रकाशमय बनाता है, (ग) बहुत सवेरे उठकर क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाता है, (घ) यज्ञों को करके यज्ञशेष का ही सेवन करता है, (ङ) प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होता हुआ दीर्घजीवनवाला होता है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

पत्नी

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥ २०॥

(१) पत्नी इस गृहस्थरूप रथ में आरूढ़ हो। 'इस रथ को वह कैसा बनाये' इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे **सूर्ये**=सविता की पुत्रि! तू **आरोह**=इस गृहस्थ-रथ में आरूढ़ हो। जो रथ **सुकिंशुकम्**=उत्तम प्रकाशवाला है। अर्थात् पत्नी ने भी स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान के प्रकाश को उत्तरोत्तर बढ़ाना है। **शल्मलिम्**=(शल्=to agitate) जिस रथ से कम्पित करके मल को अलग कर दिया गया है। ज्ञान से राग-द्वेषरूप मल दूर होते ही हैं। **विश्वरूपम्**=उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का जो विरूपण करनेवाला है। अर्थात् सदा प्रभु के ध्यान की वृत्तिवाला पत्नी ने होना है। **हिरण्यवर्णम्**= देदीप्यमान वर्णवाला हो। स्वास्थ्य के कारण यह चमकता हो। **सुवृतम्**=उत्तम वर्जनवाला है। पत्नी ने सदा कर्मों को उत्तम ढंग से करना है। **सुचक्रम्**=यह गृहस्थ रथ उत्तम चक्रवाला है। पत्नी ने इस गृहस्थ में सदा उत्तम कर्मों को करना है। (२) इस प्रकार के गृहस्थ रथ पर आरोहण करती हुई पत्नी से कहते हैं कि तू इस **वहतुम्**=गृहस्थ रथ को **पत्ये**=पति के लिये **अमृतस्य लोकम्**=नीरोगता का स्थान व **स्योनम्**=सुखकर **कृणुष्व**=बना। पत्नी के व्यवहार पर ही इस बात का निर्भर करता है कि घर में नीरोगता व सुख बना रहे। अधिक भोग-प्रवणता का न होना मौलिक बात है और उसके साथ भोजनाच्छादन की व्यवस्था के ठीक होने पर सुख ही सुख बना रहता है।

भावार्थ—पत्नी घर को अमृतता व कल्याण का स्थान बनाये। इसके लिये वह ज्ञान-प्रवण-वासनाओं को दूर फेंकनेवाली, प्रभु-स्मरण की वृत्तिवाली स्वस्थ-सद्व्यवहारवाली व उत्तम कर्मों में लगी हुई हो।

ऋषि:—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**नृणां विवाहमन्त्रा आशी:प्राया** ॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥
स्वर:—**धैवत:** ॥

पति व पिता का कर्त्तव्य-विभाग

उदी॒र्ष्वात॑: पति॑वती॒ ह्ये॒३॑षा वि॒श्वाव॑सुं॒ नम॑सा गी॒र्भिरी॑ळे।
अ॒न्यामि॑च्छ पितृ॒षदं॒ व्य॑क्तां॒ स ते॑ भा॒गो ज॒नुषा॒ तस्य॑ विद्धि ॥ २१ ॥

(१) जब कन्या विवाहित होकर चली जाती है तो कन्या के पिता के लिये कहते हैं कि अब **अत:**=इस कन्या की ओर से **उत् ईर्ष्व**=बाहर (out=उत्) गतिवाले होइये, अर्थात् इस कन्या के विषय में बहुत न सोचते रहिये। **एषा**=यह **हि**=निश्चय से **पतिवती**=अब प्रशस्त पतिवाली है। वह पति ही इसकी रक्षा आदि के लिये उत्तरदायी है। (२) पिता तो सदा यही निश्चय करें कि **विश्वावसुम्**=उस सबके बसानेवाले प्रभु को **नमसा**=नम्रतापूर्वक **गीर्भि:**=स्तुति-वाणियों से **ईडे**=स्तुति करता हूँ। प्रभु को सबका बसानेवाला समझें, प्रभु इस कन्या के निवास को भी उत्तम बनाएँगे। (३) पिता के लिये कहते हैं कि अब आप **अन्याम्**=दूसरी कन्या के **इच्छ**=रक्षणादि की इच्छा करिये। जो कन्या **पितृषदम्**=पितृकुल में ही विराजमान है, पर **व्यक्ताम्**=प्रादुर्भूत यौवन के चिह्नोंवाली है। (४) **जनुषा**=आपके यहाँ जन्म लेने के कारण **स**=वह **ते भाग:**=आपका कर्त्तव्य भाग है। विवाहित कन्या का रक्षण तो पति करेगा। इस अविवाहित का रक्षण आपने करना है। **तस्य विद्धि**=उस अपने कर्त्तव्य भाग को समझिये।

भावार्थ—विवाहित कन्या का हर समय ध्यान न करके पिता को उसकी दूसरी बहिन का ही ध्यान करना चाहिए। विवाहित कन्या के लिये प्रभु से प्रार्थना करनी ही उचित है कि वे उसके जीवन को सुन्दर बनाये।

ऋषि:—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**नृणां विवाहमन्त्रा आशी:प्राया** ॥ छन्द:—**पादनिचृदनुटुप्** ॥
स्वर:—**गान्धार:** ॥

विवाहित के लिये प्रार्थना, अविवाहित का ध्यान

उदी॒र्ष्वातो॑ विश्वावसो॒ नम॑सेळामहे त्वा। अ॒न्यामि॑च्छ प्रफ॒र्व्यं१॒ सं जा॒यां पत्या॑ सृज ॥ २२ ॥

(१) **अत:**=इस विवाहित कन्या की चिन्ता से **उत् ईर्ष्व**=तू ऊपर उठ। तू तो यही प्रार्थना कर कि हे **विश्वावसो**=सबके बसानेवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **नमसा**=नम्रता के साथ **ईडामहे**=स्तुत करते हैं। (२) अब इस विवाहित कन्या के भार को पति की सुबुद्धि पर छोड़कर आप **अन्याम्**=दूसरी **प्रफर्व्यम्**=(प्रफर्वी=a woman having excellent hips or going in a graceful wey) बृहन्नितम्ब-हंसवारणगामिनी युवति कन्या को **इच्छ**=रक्षित करने की इच्छा करिये और उसे **जायाम्**=पत्नी के रूप में **पत्ये**=पति के लिये **सं सृज**=संसृष्ट करिए, पिता को चाहिए कि विवाहित कन्या के विषय में बहुत दखल न देते रहें, प्रभु पर विश्वास रखें कि वे उसके पति को सुबुद्धि देंगे और सब कार्य ठीक से चलेगा। पिता अधिक हस्ताक्षेप करते रहें तो पतिगृहवालों को यह ठीक नहीं लगता और वह युवति भी वस्तु-स्थिति को न समझती हुई छोटी-छोटी बातों से रुष्ट हो पितृमुखापेक्षी बनी रहती है। पति-पत्नी के प्रेम में कमी आ जाती है।

भावार्थ—'विवाहित कन्या के लिये केवल प्रार्थना करना और अविवाहित की पूरी चिन्ता करना' यह माता-पिता का कर्त्तव्य है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विवाहिता के लिये प्रार्थना का स्वरूप

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
समर्यमा सं भगो नो निनीयात्सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ॥ २३ ॥

(१) गत मन्त्र में कहा था कि विवाहिता कन्या के लिये पिता प्रभु से प्रार्थना करें। उस प्रार्थना को स्वरूप यह हो कि हमारी कन्या **अनृक्षराः**=कण्टकरहित कुटिलता से शून्य **पन्थाः**=मार्ग से चलनेवाली हो। **येभिः**=जिनके कारण **सखायः**=उसके पति के अन्य मित्र भी **वरेयम्**=हमारी अन्य कन्या के वरण के लिये **नः**=हमारे समीप **यन्ति**=गति करते हैं। हमारी विवाहिता कन्या के उत्तम व्यवहार को देखकर दूसरों की भी इच्छा इस रूप में होगी कि हमें भी इसी कुल की कन्या मिल सके तो ठीक है। (२) हम भी यह चाहते हैं कि हमारी कन्या को **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) जितेन्द्रिय **सं भगः**=उत्तम ऐश्वर्यशाली पुरुष **सं भिनीयात्**=सम्यक् शास्त्रविधि के अनुसार ले जानेवाला हो और हे **देवाः**=सब देवो! इन युवक-युवति का **जास्पत्यम्**=पति-पत्नी भाव **सं सुयमम्**=मिलकर उत्तम शासन व नियमवाला हो। हमारा **जास्पति**=(son-in-lew) धर्मपुत्र अपने जास्पत्य को, धर्मपुत्रत्व को अच्छे प्रकार से निभाये।

भावार्थ—विवाहित कन्या का व्यवहार इतना उत्तम हो कि अन्य लोग भी हमारे कुल की कन्या को चाहे उन्हें भी हमारे कुल से कन्या के वरण की कामना हो। हमें हमारी कन्याओं के लिये जितेन्द्रिय ऐश्वर्यशाली पति प्राप्त हों।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संस्कार समाप्ति पर नव विवाहित पति का पत्नी के प्रति कथन

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥ २४ ॥

(१) वर वधू से कहता है कि **त्वा**=तुझे **वरुणस्य**=वरुण के **पाशात्**=जाल से, बन्धन से **प्रमुञ्चामि**=प्रकर्षेण छुड़ाता हूँ। पिता वरुण हैं। वरुण 'पाशी' है। पिता भी सन्तानों को नियम पाश में बाँध करके रखते हैं। सन्तान को श्रेष्ठ बनाने के लिये यह आवश्यक ही है। इस वरुण के पाश से वर ही आकर उसे छुड़ाता है **येन**=जिस पाश से **सुशेवः**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **सविता**=प्रेरक पिता ने **त्वा अबध्नात्**=तुझे बाँधा हुआ था। पिता का यह कर्त्तव्य ही है कि वह सन्तानों को नियमपाश में बाँधकर चलें। कन्याओं को सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक ही होता है। (२) पिता कहते हैं कि अब इधर पाश से छुड़ाकर मैं तुझे **ऋतस्य योनौ**=ऋत के गृह में अर्थात् जिस घर में सब चीजें ऋतपूर्वक होती हैं, **सुकृतस्य लोके**=पुण्य के लोक में अर्थात् जहाँ सब कार्य शुभ ही होते हैं उस घर में **पत्या सह दधामि**=पति के साथ धारण कराता हूँ। तू अपने पति के साथ घर में प्रेम से रहना, वहाँ ऋत और सुकृत का पालन करना। अपने घर में सब कार्यों को ऋत के साथ करना, ठीक समय व ठीक स्थान पर करना तथा तेरे सब कार्य पुण्य हों।

भावार्थ—पति कन्या को पितृगृह के सब बन्धनों से छुड़ाकर अपने घर में ले जाता है। वहाँ इसने पिता के उपदेश के अनुसार सब कार्य ऋतपूर्वक सुकृतमय करने हैं।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सुपुत्रा-सुभगा

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रा सुभगासति ॥ २५ ॥

(१) वर कन्यापक्षवालों से कहता है कि मैं आपकी इस कन्या को **इतः**=इधर से **प्रमुञ्चामि**=प्रकर्षेण मुक्त कर रहा हूँ **न अमुतः**=उधर से नहीं। **अमुतः**=उस तरफ तो **सुबद्धां करम्**=मैं इसे सुबद्ध कर रहा हूँ। अर्थात् इस घर से मैं इसे ले जा रहा हूँ। यह अब उस घर में सुबद्ध होकर उसे उत्तम बनाने का ध्यान करेगी। (२) कन्या के पिता वर से कहते हैं कि—हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय **मीढ्वः**=सब सुखों का सेचन करनेवाले युवक बस ऐसा करना कि **यथा इयम्**=जिस से यह **सुपुत्रा**=उत्तम पुत्रोंवाली तथा **सुभगा**=उत्तम ऐश्वर्यवाली **असति**=हो। इसे पुत्र के अभाव में असफलता अनुभव होती रहेगी और धन के अभाव में चिन्ता बनी रहेगी। ऐसा जीवन तो बड़ा दुःखी हो जाएगा। तूने इन्द्र बनना, जितेन्द्रिय बनना। इस से तुम्हारी शक्तियाँ ठीक बनी रहेंगी। इस अपनी पत्नी पर सुखों की वर्षा करना तेरा कर्त्तव्य है। इसमें तूने प्रमाद न करना।

भावार्थ—पति जितेन्द्रिय व पत्नी को सुखी रखनेवाला हो। उसे वह सुपुत्रा व सुभगा बनाये।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता का उपदेश

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ २६ ॥

(१) पतिगृह को जाते समय पिता कन्या को अन्तिम उपदेश देता है कि **पूषा**=पोषण करनेवाला यह पति **हस्तगृह्य**=पाणिग्रहण करके, यथाविधि तेरे हाथ का ग्रहण करके **त्वा**=तुझे **इतः नयतु**=यहाँ से अपने घर ले जाये। इस समय **अश्विना**=तेरे धर्मपिता व धर्ममाता **त्वा**=तुझे **रथेन**=रथ के द्वारा **प्रवहताम्**=घर की ओर ले जानेवाले हों। (२) तू **गृहान् गच्छ**=पतिगृह की ओर जानेवाली हो, **यथा**=जिससे तू **गृहपत्नी असः**=वहाँ जाकर गृहपत्नी बन पाये। तूने गृह की पत्नी बनना है, सारे गृह के रक्षण के उत्तरदायित्व को अपने कन्धे पर लेना है। घर के सारे प्रबन्ध का भार उठाना है। इसके लिये आवश्यक है कि **वशिनी**=अपनी सब इन्द्रियों को वश में करनेवाली **त्वम्**=तू **विदथम्**=ज्ञानपूर्वक समझदारी से **आवदासि**=सब बात करनेवाली हो। तेरी सब बातें बड़े सोच-विचार के साथ हों। तेरी प्रत्येक बात का घर पर प्रभाव पड़ना है। सो अपना नियन्त्रण करती हुई, समझदारी से सब बात करती हुई सच्चे अर्थों में गृहपत्नी बनना।

भावार्थ—गृहपत्नी के लिये आवश्यक है कि—(क) सब इन्द्रियों को वश में करके चले तथा (ख) सब बातें समझदारी से करे।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम सन्तान व गार्हपत्य

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥ २७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वशिनी बनने पर **इह**=इस जीवन में **प्रजया**=उत्तम सन्तान के द्वारा **ते**=तेरा **प्रियम्**=आनन्द **समृध्यताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो और **अस्मिन् गृहे**=इस घर में

गार्हपत्याय=घर के रक्षणात्मक कार्य के लिये **जागृहि**=तू सदा जागरित रह। पत्नी की सफलता के दो ही मूल सूत्र हैं—(क) एक तो वह उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली हो। सन्तान के बिना घर वीरान-सा लगता है और पति-पत्नी के परस्पर प्रेम में भी कमी आ जाती है। (ख) दूसरी बात यह है कि वह सदा सावधान व जागरित हो। घर का किसी प्रकार से नुकसान न होने दे। अपने गार्हपत्य रूप कार्य को पूर्ण सावधानी से करनेवाली हो। तभी घर समृद्ध होता है। (२) इस गृहस्थ में **एना पत्या**=इस पति के साथ **तन्वं सं सृजस्व**=तू अपने शरीर व रूप को एक करके, तू उसकी अर्धाङ्गिनी ही बन जा। तुम दोनों अब दो न रहकर एक हो जाओ। और इस प्रकार परस्पर मेल से सुन्दर गृहस्थ को बिताकर **अधा**=अब **जिव्री**=जरावस्था को प्राप्त करने पर **विदथम्**=ज्ञान को **आवदाथः**=उच्चारित करनेवाले होवो। अर्थात् तुम्हारा सारा गृहस्थ सुन्दरता से बीते। बड़ी उमर में पहुँचकर तुम ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनो। गृहस्थ के साथ ही तुम्हारा जीवन समाप्त न हो जाये।

भावार्थ—एक युवति गृहपत्नी बनने पर उत्तम सन्तान की प्राप्ति के आनन्द को अनुभव करे और घर के कार्यों में सदा जागरूक रहे।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**नृणां विवाहमन्त्रा आशीःप्राया**॥ छन्दः—**निचृदनष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अनुराग तथा क्रियाशीलता

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते। एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते॥ २८॥

(१) (पूर्वं नीलंपश्चात् लोहितं इति नील लोहितं) ब्रह्मचर्याश्रम में जो हृदय सांसारिक रंगों में न रंगा जाकर बिल्कुल नीरंग (=कृष्ण)-सा था अब गृहस्थ में आने पर वह **लोहित**=प्रेम की कुछ लालिमावाला **भवति**=होता है। 'अनुराग' शब्द कुछ लालिमा के भाव को व्यक्त कर रहा है। इस युवति का हृदय अब बिल्कुल प्रेमशून्य, ठण्डा-ही-ठण्डा नहीं है। ऐसा होने पर तो यह पति के जीवन को बड़ी उदासवाला बना देती। यह पति के प्रेम की पूर्ण प्रतिक्रियावाली होती है। (२) इसके जीवन में **कृत्यासक्तिः**=कर्मों के प्रति रुचि **व्यज्यते**=प्रकट होती है। यह कर्मों में बड़ी दिलचस्पी लेती है, अकर्मण्यतावाला इसका जीवन नहीं। (३) इन दो बातों के होने पर, अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय तथा कर्मों में रुचिवाली जब यह युवति होती है तो **अस्याः**=इसके **ज्ञातयः**=सब रिश्तेदार-सम्बन्धी **राधन्ते**=बढ़ते हैं, अर्थात् सबको बड़ी प्रसन्नता होती है और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह कि **पतिः**=इसके पति **बन्धेषु बध्यते**=स्नेहपाशों से इसके साथ बद्ध हो जाते हैं। अर्थात् पति को पत्नी पर पूर्ण प्रेम होता है।

भावार्थ—वधू प्रेममय हृदय से तथा अपनी क्रियाशीलता से सभी को अपनानेवाली होती है और पति के पूर्ण प्रेम को प्राप्त कर पाती है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**वधूवासः संस्पर्शनिन्दा**॥ छन्दः—**विराड्नुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

गृहपत्नी के चार गुण

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु। कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम्॥ २९॥

(१) नव विवाहित वधू से कहते हैं कि तू **शामुल्यम्**=(शम, उल्दाहे) ऐसी बातों को जो शान्ति का दहन कर देती हैं **परादेहि**=दूर कर दे। कभी ऐसा वाक्य न बोल जो घर में अशान्ति का कारण बने। (२) तू 'व्यये चामुक्तहस्तया' इस मनु वाक्य के अनुसार व्यय में अमुक्त-हस्ता होती हुई भी **ब्रह्मभ्यः**=ज्ञानी ब्राह्मणों के लिये **वसु विभजा**=धन को देनेवाली हो, अर्थात् घर

में दान की वृत्ति को नष्ट न होने देना। (३) **एषा**=ऐसी गृहपत्नी ही **कृत्या**=बड़ी क्रियाशील होती हुई **पद्वती**=उत्कृष्ट पाँवोंवाली होती हुई, अर्थात् लेटे न रहनेवाली **भूत्वी**=होकर **जाया**=उत्कृष्ट सन्तान को जन्म देनेवाली **पतिं आविशते**=पति के हृदय में प्रवेश करती है, अर्थात् पति के हृदय में इसके लिये प्रेम उत्पन्न होता है।

भावार्थ—पत्नी का पहला गुण यह है कि शान्तिभंग का कोई कार्य न करें। दूसरा यह कि दानवृत्तिवाली हो। तीसरे क्रियाशील हो। चौथे उत्कृष्ट सन्तान को जन्म देनेवाली बने।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**वधूवासः संस्पर्शनिन्दा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पति ने घर में ही नहीं बैठे रहना

अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया। पतिर्यद्वध्वो३ वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते॥ ३०॥

(१) एक युवक जिसका कि **तनूः**=शरीर **रुशती**=देदीप्यमान होता है, वह **यत्**=यदि **पतिः**=गृहस्थ में प्रवेश करने पर, पति बनने पर **वध्वः वाससा**=वधू के वस्त्रों से **स्वं अंगम्**=अपने अङ्गों को **अभिधित्सते**=आच्छादित करना चाहता है, अर्थात् पत्नी के वस्त्र पहनकर घर पर ही बैठा रहता है। पत्नी के साथ गपशप ही मारता रहता है तो उसका शरीर **अमुया पापया**=उस पापवृत्ति से **अश्रीरा भवति**=बिना श्री के हो जाता है, शोभाशून्य हो जाता है। (२) वधू के वस्त्रों को पहनकर घर में ही बैठे रहने का भाव प्रेमासक्त होकर अकर्मण्य बन जाने से है। विवाहित होने पर भी एक युवक हृदय-प्रधान होकर अपने कर्त्तव्यों को उपेक्षित न कर दे। पत्नी के प्रति आसक्ति उसे कर्त्तव्य विमुख न बना दे। ऐसा होने पर भोग-प्रधान होकर नष्ट-श्रीवाला हो जाता है।

भावार्थ—नव विवाहित युवक को चाहिये कि भोग-प्रधान जीवनवाला न बन जाये। हर समय घर में ही न बैठा रहे।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशिनी दम्पत्योः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

नीरोगता

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु। पुनस्तान्यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥ ३१॥

(१) गत मन्त्र में उल्लेख था कि पति पत्नी के प्रति आसक्त होकर भोग-प्रधान जीवनवाला न बन जाये। भोग-प्रधान जीवन से रोगों के आ जाने की आशंका है। सो कहते हैं कि **वध्वः**=इस वधू के **चन्द्रं वहतुम्**=इस आह्लादमय वैवाहिक जीवन में ये **यक्ष्माः**=जो रोग **जनात्**=इस पति से **अनुयन्ति**=अनुक्रमेण आ जाते हैं, **यज्ञियाः देवाः**=आदर के योग्य, घरों में समय-समय पर आनेवाले अतिथि **तान्**=उन बातों को **पुनः**=फिर **नयन्तु**=दूर ले जायें **यतः आगताः**=जिन कारणों से ये रोग आये थे। (२) विद्वान् अतिथि आकर उन व्यवहारों को ज्ञानोपदेश से दूर करने का प्रयत्न करें, जिन कारणों से कि रोग आ जाते हैं।

भावार्थ—विद्वान् अतिथि ही यज्ञिय देव हैं। ये समय-समय पर घरों में आकर ज्ञानोपदेश से हमारे जीवनों को नीरोग बनाते हैं।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

चोर आदि के भय का न होना

मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः॥ ३२॥

(१) **ये**=जो **परिपन्थिनः**=चोर आदि विरोधी व्यक्ति **दम्पती**=इन पति-पत्नी को

आसीदन्ति=समीपता से प्राप्त होते हैं वे **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। मार्ग में या घर पर चोर आदि का भय न हो। (२) **सुगेभिः**=सुखकर गमनों से **दुर्गम्**=कठिनता से गन्तव्य प्रदेशों को **अतीताम्**=लाँघ जाएँ और **अरातयः**=शत्रु **अपद्रान्तु**=दूर ही रहें, दूर भाग जाएँ।

भावार्थ—मार्ग में या घर पर इन पति-पत्नी को शत्रुओं का भय न हो।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वधू का स्वागत

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं वि परेतन ॥ ३३ ॥

(१) जब बरात लौटती है और घर पर पहुँचती है, उस समय सभी परिचित पड़ोसी वधू दर्शन के लिये उपस्थित होते हैं और वर सब से कहता है कि **इयं वधूः**=यह वधू **सुमंगलीः**=उत्तम मंगल स्वभावोंवाली है **समेत**=आप सब इकट्ठे होवें और **पश्यत**=इसे देखें। (२) आकर **अस्यै**=इसके लिये **सौभाग्यं दत्वाय**=सौभाग्य के आशीर्वाद को देकर **अथ**=अब **अस्तम्**=अपने-अपने घरों को **विपरेतन**=वापिस जाइये। आपका आशीर्वाद इसके सौभाग्य के वर्धन को करनेवाला हो।

भावार्थ—सब परिचित बन्धु पड़ोसी आकर नव वधू को सौभाग्य का आशीर्वाद दें।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

पत्नी रसवती kitchen को संभाले

तृष्टमेतत् कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे। सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति ॥ ३४ ॥

(१) घर में आने पर वधू का सर्वमहान् कर्तव्य घर को सम्हालना है, घर में भी रसोई का प्रबन्ध सुन्दरता से करना है। रसोई के प्रबन्ध पर ही घर के सब व्यक्तियों के स्वास्थ्य का निर्भर है। वह अन्नों के विषय में यह पूरा ध्यान करे कि—(क) **एतत् तृष्टम्**=यह गर्भ होने के कारण अत्यन्त प्यास को पैदा करनेवाला है, (ख) **एतत् कटुकम्**=यह कटु है, काटनेवाला है, (ग) **एतत् अपाष्ठवत्**=यह फोकवाला है, (घ) **विषवत्**=यह विषैले प्रभाव को पैदा करनेवाला है, सो **एतत् न अत्तवे**=यह खाने के लिये ठीक नहीं है। इस प्रकार यह वधू भोजन का पूरा ध्यान करे। (२) पति को भी चाहिए कि कुछ विशाल हृदयवाला हो, पत्नी की मनोवृत्ति को पूरी तरह समझे। समझकर इस प्रकार से बर्ते कि पत्नी का जी दुःखी न हो। इस **सूर्याम्**=ज्ञानदीप्त क्रियाशील वधू को **यः**=जो **ब्रह्मा**=बड़े हृदयवाला ज्ञानी पुरुष **विद्यात्**=ठीक प्रकार से समझे **सः इत्**=वह ही **वाधूयं अर्हति**=इस वधू प्राप्ति के कर्म के योग्य है। नासमझ पति-पत्नी को कभी प्रसन्न नहीं रख सकता।

भावार्थ—वधू पाक-स्थान की अध्यक्षता करती हुई न खाने योग्य अन्नों को घर से दूर रखे। पति भी पत्नी को समझता हुआ अपने व्यवहार से उसे सदा प्रसन्न रखे।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'आशसन-विशसन-विकर्तन'

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्। सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति ॥ ३५ ॥

(१) (क) **आशसनम्**=घर में चारों ओर शासन, अर्थात् घर के सब व्यक्तियों से कार्यों को ठीक ढंग से कराना, (ख) **विशसनम्**=विशिष्ट इच्छाओंवाला होना, अर्थात् घर में उत्कृष्ट इच्छाओं से घर को उन्नत करने का ध्यान करना **अथो**=और (ग) **अधिविकर्तनम्**=कपड़ों को

विविधरूपों में काटने आदि का काम करना, **सूर्यायाः**=सूर्या के **रूपाणि**=इन रूपों को **पश्य**=देखिये। अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार जैसे सूर्या भोजन की व्यवस्था को अपने अधीन रखती है, उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार सूर्या घर का समुचित शासन करती है, उत्कृष्ट इच्छाओंवाली होती हुई घर को उन्नत करती है तथा कपड़ों के सीने आदि के काम को भी स्वयं करती है। (२) **ब्रह्मा**=घर के निर्माण करनेवाला समझदार पति **तु**=तो **तानि**=सूर्या के उन कार्यों को **शुन्धति**=शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। अर्थात् उनमें जो थोड़ी बहुत कमी हो उसे उचित परामर्श देकर ठीक करने के लिये यत्नशील होता है।

भावार्थ—गृहपत्नी (क) घर का शासन करती है, (ख) नये-नये initiatives को लेकर घर को उन्नत करती है, (ग) वस्त्रों के काटने सीने आदि के काम को स्वयं करती है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सूर्या**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'भग-अर्यमा-सविता-पुरन्धि-देवाः'

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ ३६॥

(१) पति पत्नी से कहता है कि मैं **सौभगत्वाय**=सौभाग्य के लिये, गृह को सुभग सम्पन्न बनाने के लिये **ते हस्तं गृह्णामि**=तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ। तेरे साथ मिलकर मेरे द्वारा यह घर सौभाग्यवाला हो। **यथा**=जिससे **मयापत्या**=मुझ पति के साथ इस घर को सौभाग्य सम्पन्न बनाती हुई तू **जरदष्टिः असः**=जरावस्था का व्यापन करनेवाली हो। इस सुभग गृह में उत्तम जीवनवाले हम दीर्घजीवन को प्राप्त करें। (२) **भगः, अर्यमा, सविता, पुरन्धिः, देवाः**=भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि और देवों ने **त्वा**=तुझे **गार्हपत्याय**=गृहपतित्व के लिये, गृह के कार्य को सम्यक् चलाने के लिये **मह्यम्**=मेरे लिये **अदुः**=दिया है। अर्थात् तेरे माता-पिता ने यह देखकर कि—(क) मैं धन को उचित रूप में कमानेवाला हूँ (भगः), (ख) काम-क्रोधादि शत्रुओं का शिकार नहीं होता (अर्यमा), (ग) निर्माणात्मक कार्यों में अभिरुचिवाला हूँ (सविता), (घ) पालक बुद्धि से युक्त हूँ (पुरन्धिः), (ङ) उत्तम गुणों को अपनाये हुए हूँ (देवाः)। यह सब कुछ देखकर ही उन्होंने तेरे हाथ को मेरे हाथ में दिया है।

भावार्थ—पति को ऐश्वर्य कमानेवाला, कामादि को वश में करनेवाला, निर्माणरुचि, पालक बुद्धिवाला व दिव्य गुणों को धारण करनेवाला होना चाहिए।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सूर्या**॥ छन्दः—**चृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'उत्तम सन्तान की कामनावाले' पति-पत्नी

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्॥ ३७॥

(१) हे **पूषन्**=अपनी शक्तियों का उचित पोषण करनेवाले तथा परिवार का समुचित पोषण करनेवाले युवन्! तू **तां शिवतमाम्**=उस अत्यन्त मंगलमय स्वभाववाली पत्नी को **एरयस्व**=प्रेरित करनेवाला हो। पति में उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिये कामना हो और पत्नी में उस भावना की कुछ कमी हो तो सन्तान कभी सुन्दर व स्वस्थ नहीं उत्पन्न होते। इसलिए पति को चाहिए कि पत्नी को भी प्रेरणा दे और पत्नी में भी उस भावना के उदय होने पर ही पति-पत्नी सन्तान प्राप्ति के लिए यत्नशील हों। उस पत्नी को तू प्रेरणा देनेवाला हो **यस्याम्**=जिसमें **मनुष्याः**=विचारशील

पति **बीजम्**=शक्ति को **वपन्ति**=स्थापित करते हैं। यह पत्नी में शक्ति का स्थापन भूमि में बीज को बोने के समान है। (२) पत्नी वही ठीक है **या**=जो **उशती**=उत्तम सन्तान की कामनावाली होती हुई **नः**=हमारे लिये **उरु विश्रयाते**=उरुओं को खोलनेवाली होती है। भोग की वृत्ति से इन क्रियाओं के होने पर 'धर्मपत्नीत्व' नष्ट हो जाता है। **यस्याम्**=जिसमें हम भी **उशन्तः**=उत्तम सन्तान की कामनावाले होते हुए ही **शेपं प्रहराम**=जननेन्द्रिय को प्राप्त कराते हैं। सन्तान की कामना से यह बीजवपन 'वीर्य-दान' कहलाता है। भोग के होने पर यही 'वीर्य-विनाश' हो जाता है।

भावार्थ—पति 'पूषा' हो, पत्नी 'शिवतमा'। दोनों उत्तम सन्तान की कामनावाले होकर ही परस्पर सम्बद्ध हों। यह सम्बन्ध शक्तिक्षय का कारण न बनेगा।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अग्नि के द्वारा 'सम्बन्ध'

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥ ३८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सूर्याम्**=इस सूर्या को इसके माता-पिता **वहतुना सह**=सम्पूर्ण दहेज के साथ **अग्रे**=पहले **तुभ्यम्**=तेरे लिये **पर्यवहन्**=प्राप्त कराते हैं। माता-पिता को अपनी कन्या को दूसरे घर में भेजते हुए मन में कुछ आशंका का होना स्वाभाविक ही है। वे प्रभु से कहते हैं कि हम तो इसे आपको ही सौंप रहे हैं, आपने ऐसी कृपा करना कि यह ठीक स्थान पर ही जाए। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! हमने इस कन्या को आपको सौंप दिया है। **पुनः**=फिर आप ही अब इन कन्याओं को **पतिभ्यः**=योग्य पतियों के लिये **जायां दाः**=पत्नी के रूप में दीजिये और ऐसी कृपा करिये कि यह **प्रजया सह**=प्रजा के साथ हो, उत्तम सन्ततिवाली हो। (३) यहाँ 'अग्ने' शब्द आचार्यों के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। माता-पिता अपने सन्तानों के आचार्यों पर इस उत्तरदायित्व को डालते हैं कि 'हमने तो आपको सौंप दिया है। आप ही अब योग्य पतियों को सौंपने की व्यवस्था कीजिये'। इस व्यवस्था में आचार्य उन सन्तानों के गुण-दोषों को अधिक अच्छी तरह जानने के कारण अधिक ठीक सम्बन्ध करा पाते हैं।

भावार्थ—कन्याओं के विवाह सम्बन्ध आचार्यों के माध्यम से होने पर सम्बन्ध के अनौचित्य की आशंका नितान्त कम हो जाती है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सम्बन्ध के ठीक होने पर 'दीर्घजीवन'

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा। दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥ ३९॥

(१) **अग्निः**=आचार्य, जिसे कि कन्या के माता-पिता ने कन्या के सम्बन्ध का कार्यभार सौंपा था, **पुनः**=फिर **पत्नीम्**=पत्नी को पति के लिये **अदात्**=देता है। वह उस पत्नी को **आयुषा वर्चसा सह**=आयुष्य और वर्चस (=शक्ति) के साथ पति के लिये प्राप्त कराता है। पत्नी दीर्घायुष्य व वर्चस्वाली बनती है। (२) **अस्याः**=इस पत्नी का **यः पतिः**=जो पति है वह भी **दीर्घायुः**=दीर्घजीवनवाला होता है और **शतं शरदः**=सौ वर्ष **जीवाति**=जीनेवाला होता है। आचार्य ठीक सम्बन्ध कराके इन पति-पत्नी के दीर्घजीवन का कारण बनता है।

भावार्थ—पति-पत्नी के ठीक सम्बन्ध पर इनके दीर्घजीवन का निर्भर है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सोम-गन्धर्व-अग्नि-मनुष्यजा'

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ४०॥

(१) सब से **प्रथमः**=पहले **सोमः**=सोम **विविदे**=इस कन्या को प्राप्त करता है। अर्थात् कन्या के माता-पिता सब से पहली बात तो यह देखते हैं कि पति 'सोम' है या नहीं। पति का स्वभाव सौम्य है या नहीं। (२) फिर इस कन्या को **गन्धर्वः**='गां वेदवाचं धारयति' ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला पति प्राप्त करता है। यह **उत्तरः**=अधिक उत्कृष्ट होता है। 'सौम्यता' यदि पति का पहला गुण है तो 'ज्ञान की वाणियों को धारण करना' उसका दूसरा गुण है। (३) **तृतीयः**=तीसरे स्थान पर **अग्निः**=प्रगतिशील मनोवृत्तिवाला **ते पतिः**=तेरा पति है। अर्थात् तेरा पति वह है जो आगे बढ़ने की वृत्तिवाला है। जिसमें कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं उसने क्या उन्नति करनी? (४) **तुरीयः**=चौथा **ते पतिः**=तेरा पति वह है जो कि **मनुष्यजाः**=मनुष्य की सन्तान है, अर्थात् जिसमें मानवता है। जिसका स्वभाव दयालुतावाला है, क्रूरतावाला नहीं।

भावार्थ—पति में निम्न विशेषताएँ आवश्यक हैं—(क) सौम्यता, (ख) ज्ञान, (ग) प्रगतिशीलता, (घ) मानवता।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पत्नी के साथ मिलकर धन व पुत्रों की प्राप्ति

सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये। रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥ ४१॥

(१) **सोमः**=सोम, जिसके लिये कन्या के माता-पिता ने अपनी कन्या को देने का निश्चय किया हुआ था, **गन्धर्वाय**=गन्धर्व के लिये **ददत्**=देनेवाला होता है। अर्थात् यदि सौम्यता के साथ ज्ञानयुक्त पति प्राप्त हो जाता है तो फिर सोम के साथ सम्बन्ध न करके इसी गन्धर्व के साथ सम्बन्ध करते हैं। गतमन्त्र के शब्दों में यह 'उत्तर' होता है। (२) **गन्धर्वः**=यह ज्ञानी **अग्नये**=प्रगतिशील मनोवृत्तिवाले के लिये **ददत्**=देनेवाला होता है। अर्थात् यदि सौम्यता और ज्ञान के साथ 'प्रगतिशीलता' का गुण भी मिल जाये तो वह पति 'उत्तम' होता है। यह **अग्निः**=प्रगतिशीलता के गुणवाला व्यक्ति भी **अथो**=अब **इमाम्**=इसको **मह्यं अदात्**=मुझ मानव के लिये देनेवाला होता है और वह मेरे लिये **रयिं च**=धन को प्राप्त कराता है **च**=और इस पत्नी के द्वारा **पुत्रान**=पुत्रों को वह मुझे प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—'सौम्य' पति ठीक है, सौम्य से अधिक उत्कृष्ट 'ज्ञानी' है, उससे भी उत्कृष्ट 'प्रगतिशील स्वभाववाला' है। इसमें मानवता-दयालुता हो तो वह इसकी शोभा को और अधिक बढ़ा देती है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**विराड्नुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गृह में ही आनन्द का अनुभव

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ ४२॥

(१) पति-पत्नी को आशीर्वाद देते हुए प्रभु कहते हैं कि **इह एव स्तम्**=तुम दोनों इस घर में ही निवास करनेवाले बनो। **मा वियौष्टम्**=तुम वियुक्त मत हो जाओ। तुम्हारा परस्पर का प्रेम सदा बना रहे। **विश्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **व्यश्नुतम्**=तुम प्राप्त करो। (२) **पुत्रैः**=पुत्रों के साथ **नप्तृभिः**=पौत्रों के साथ **क्रीडन्तौ**=खेलते हुए तुम **स्वे गृहे**=अपने घर में **मोदमानौ**=आनन्दपूर्वक निवास करो। क्रीड़क की मनोवृत्ति बनाकर वर्तने से मनुष्य उलझता तो नहीं पर आनन्द में कमी नहीं आती। इससे विपरीत अवस्था में उलझ जाता है और अपने आनन्द को खो बैठता है। (३) यह भी सम्भव है कि एक व्यक्ति परिस्थितिवश वानप्रस्थ बनने की क्षमता नहीं रखता। वह घर में ही रहे। पर घर में पुत्र-पौत्रों में रहता हुआ उनके साथ क्रीडन करनेवाला हो, आसक्तिवाला

नहीं।

भावार्थ—पति-पत्नी का सम्बन्ध अटूट है। ये सदा मिलकर चलें, इनका वियोग न हो। पुत्र-पौत्रों के साथ खेलते हुए ये उनमें उलझें नहीं।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सूर्या**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'पति' पत्नी से कहता है—

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ४३॥

(१) **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक प्रभु **नः प्रजां आजनयतु**=हमारी सन्तान को उत्पन्न करे। प्रजापति की कृपा से हमें उत्तम सन्तान प्राप्त हो। **अर्यमा**=हमारे सब शत्रुओं का नियमन करनेवाला प्रभु **आजरसाय**=वृद्धावस्था पर्यन्त **समनक्तु**=हमें संगत करनेवाला हो। 'अर्यमा' शब्द का बोध यहाँ इस रूप में है कि कामादि शत्रुओं का नियमन करते हुए हम दीर्घजीवनवाले हों और हमारा साथ दीर्घकाल तक बना रहे। (२) **अदुर्मंगलीः**=सब अमंगलों से रहित हुई-हुई तू **पतिलोकं आविश**=इस पतिलोक में प्रवेश कर। तेरे आने से इस घर का मंगल सदा बढ़े ही, किसी प्रकार से घर का अमंगल न हो। तू **नः**=हमारे **द्विपदे**=दो पाँववाले सब मनुष्यों के लिये **शं भव**=शान्ति को देनेवाली हो और **चतुष्पदे**=चार पाँववाले गवादि पशुओं के लिये भी तू **शम्**=शान्ति को करनेवाली हो।

भावार्थ—पत्नी वही ठीक है जो कि उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली हो और जिसके कारण घर में मंगल की वृद्धि हो।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री**॥ देवता—**सूर्या**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पति की कामना

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ४४॥

(१) गत मन्त्र के प्रसंग में ही पति कहता है कि हे पत्नि! तू **अघोरचक्षुः**=कभी भी आँख में क्रोधवाली न हो और इस प्रकार **अ-पति-घ्नी एधि**=पति को न मारनेवाली हो। पत्नी सदा क्रोधी स्वभाव की हो और उसकी आँख से क्रोध ही टपकता रहे तो पति के आयुष्य में बड़ी कमी आ जाती है। संसार संघर्ष से परेशान पति घर में आता है और प्रसन्नवदना पत्नी से स्वागत को प्राप्त करता है तो उसका सारा कष्ट समाप्त हो जाता है। पर यदि पत्नी भी क्रोध में आगबबूला हुई बैठी हो तो फिर पति का कल्याण नहीं। (२) हे पत्नि! तू घर में **पशुभ्यः शिवा**=गवादि पशुओं के लिये भी **शिवा**=कल्याण करनेवाली हो। **सुमनाः**=सदा उत्तम मनवाली और परिणामतः **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस्वाली हो। मन विलासमय होने पर वर्चस्विता का सम्भव नहीं होता। (३) उत्तम मनवाली व वर्चस्विनी होती हुई तू **वीरसूः**=वीर सन्तानों को जन्म दे। वीर सन्तानों को जन्म वही दे पाती है जिसके कि मन में किसी प्रकार का अशुभ विचार न हो, वासना के अभाव में जो वर्चस्विनी हो। (४) **देवकामा**=वासनाओं से ऊपर उठने के लिये तू सदा उस देव की कामनावाली हो। प्रभु प्राप्ति का विचार मनुष्य को वासनाओं का शिकार होने से बचाता है। **स्योना**=तू सभी के लिये सुख को देनेवाली हो। **नः**=हमारे **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिये

तो तू **शं भव**=शान्ति को देनेवाली हो ही, **चतुष्पदे शम्**=गवादि पशुओं के लिये भी शान्ति को देनेवाली हो।

भावार्थ—पत्नी (क) क्रोधशून्य हो, (ख) उत्तम मनवाली व वर्चस्विनी हो, (ग) वीर सन्तानों को जन्म दे, (घ) प्रभु प्राप्ति की कामनावाली हो, (ङ) सबके लिये शान्ति का कारण बने।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वर के प्रति माता-पिता का कथन

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥ ४५॥

(१) हे **इन्द्र**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! **मीढ्वः**=हे सब सुखों के सेचन करनेवाले पुरुष! **त्वम्**=तू **इमाम्**=इसको **सुपुत्राम्**=उत्तम पुत्रोंवाली और उनके द्वारा **सुभगम्**=उत्तम भाग्यवाली **कृणु**=कर। सामान्यतः अपुत्रा को अभाग्यवाली ही कहा जाता है। पत्नी का सौभाग्य माता बनने में ही है। सन्तान सफलता का प्रतीक है, सन्तान का अभाव असफलता का। (२) **अस्याम्**=इस पत्नी में तू **दश**=दस **पुत्रान्**=पुत्रों को **आधेहि**=स्थापित कर और **पतिम्**=पति को अर्थात् अपने को **एकादशं कृधि**=ग्यारहवाँ कर। दस पुत्र, ग्यारहवाँ पति एवं वैदिक मर्यादा में अधिक से अधिक दस सन्तानों का विधान है।

भावार्थ—पति को इन्द्र=जितेन्द्रिय होना चाहिए। वह पत्नी पर सुखों का वर्षण करता हुआ उसे सुपुत्रा-सुभगा बनाए।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सम्राज्ञी

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ ४६॥

(१) पत्नी को घर में आकर घर का समुचित प्रबन्ध करना है। उससे कहते हैं कि यहाँ तू परायापन अनुभव न करना। परायेपन की बात तो दूर रही तू **श्वशुरे**=श्वशुर में **सम्राज्ञी भव**=सम्राज्ञी बन। उनके सब कार्यों के नियमित रूप से चलने की व्यवस्था कर। (सम्=सम्यक्, राज्=to regrlete)। इसी प्रकार **श्वश्र्वाम्**=श्वश्रू के विषय में **सम्राज्ञी भव**=सम्राज्ञी हो। (२) **ननान्दरि**=ननद के विषय में **सम्राज्ञी भव**=सम्राज्ञी हो और **अधिदेवृषु**=सब देवरों में भी **सम्राज्ञी**=तू सम्राजी हो। यहाँ शासन या हुकूमत की भावना उतनी नहीं है जितना उनके कार्यों की व्यवस्था की उत्तमता से उनके रञ्जन का भाव है।

भावार्थ—पत्नी ने घर में सबके कार्यों की समुचित व्यवस्था करके सभी का रञ्जन करना है।

ऋषिः—**सूर्या सावित्री** ॥ देवता—**सूर्या** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पति-पत्नी के हृदयों की एकता

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ ४७॥

(१) **विश्वे देवाः**=सब देव **नौ**=हमारे **हृदयानि**=हृदयों को **समञ्जन्तु**=संगत करें। दिव्य गुणों की वृद्धि पारस्परिक प्रेम को बढ़ाने का प्रथम साधन है। **आपः**=जल **सम्**=(अञ्जन्तु)=हमारे

हृदयों को संगत करें। हृदयैक्यता के लिये आवश्यक है कि पति-पत्नी पानी की तरह शान्त मस्तिष्कवाले तथा मधुरस्वभाववाले हों। पानी स्वभावतः शीतल है, ये भी ठण्डे मिजाज के हों। पानी मधुर है, ये भी मधुर स्वभाववाले बनें। (२) **मातरिश्वा**=वायु-शरीरस्थ प्राण, **सम्**=इनके हृदयों को मिलानेवाला हो। प्राणसाधना के द्वारा प्रेम का अभिवर्धन होता है। **धाता**=सबका धारण करनेवाला प्रभु **सम्**=इनको परस्पर एक करे। प्रभु-स्मरण की वृत्ति पवित्रता के संचार के द्वारा प्रेम को बढ़ाती है। (३) **देष्ट्री**=जीवन के कर्त्तव्यों का निर्देश करनेवाली वेदवाणी **उ**=भी **नौ**=हमारे **संदधातु**=हृदयों का सन्धान करनेवाली हो। वेदवाणी के अनुसार कर्त्तव्यों का पालन करने पर परस्पर प्रेम में कभी कमी नहीं आती।

भावार्थ—पति पत्नी के हृदयों की एकता के लिये आवश्यक है कि—(क) वे दिव्यगुणों को अपने में बढ़ाएँ, (ख) जल की तरह शान्त व मधुर बने, (ग) प्राणसाधना करें, (घ) प्रभु-स्मरण की वृत्तिवाले हों, (ङ) वेदवाणी के अनुसार जीवन को बनाएँ।

यह सारा सूक्त गृहस्थ के सब पहलुओं पर बड़ी सुन्दरता से प्रकाश डालता है। अगले सूक्त के ऋषि 'इन्द्र, इन्द्राणी, व वृषाकपि' हैं, 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं, इनका उपासन करनेवाला ऋषि भी 'इन्द्र' है। 'इन्द्राणी' प्रकृति व प्रभु का सामर्थ्य है, उसकी ओर झुकनेवाली ऋषिका भी 'इन्द्राणी' है। इनके सन्तान के तुल्य जीव 'वृषाकपि' है, जो शक्तिशाली है और वासनाओं को कम्पित करके दूर भगानेवाला है, वस्तुतः वासनाओं को कम्पित करके दूर भगाने के कारण ही वह शक्तिशाली बना है 'वृषाकपि' हुआ है। सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है—

[८६] षडशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु मित्रता में आनन्द

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १ ॥

(१) **हि**=निश्चय से **सोतोः**=ज्ञान के उत्पन्न करने के हेतु से **वि असृक्षत**=विशेषरूप से इन इन्द्रियों का निर्माण हुआ है। परन्तु सामान्यतः ये तत्त्व ज्ञान की ओर न झुककर विषयों की ओर भागती हैं। **देवं इन्द्रम्**=उस प्रकाशमय प्रभु का **न अमंसत**=मनन नहीं करती। 'पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'। (२) ये इन्द्रदेव व प्रभु वे हैं **यत्र**=जिनमें स्थित हुआ-हुआ **वृषाकपिः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला (कपि) शक्तिशाली (वृषा) पुरुष **अमदत्**=आनन्द का अनुभव करता है। यह वृषाकपि **अर्यः**=स्वामी बनता है, इन्द्रियों का दास नहीं होता। **पुष्टेषु**=अंग-प्रत्यंग की शक्तियों का पोषण करने पर **मत्सखा**=(माद्यति इति मत्) उस आनन्दमय प्रभु रूप मित्रवाला होता है। (३) यह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं। एक ओर सारा संसार हो, दूसरी ओर प्रभु, तो ऐसी स्थिति में ये प्रभु ही वरने के योग्य हैं? 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' आत्म प्राप्ति के लिये सारी पृथिवी को त्यागना ही ठीक है। नचिकेता ने बड़े-से-बड़े ऐश्वर्यों के प्रलोभन को आत्म प्राप्ति के लिये छोड़ दिया। प्रभु मिल गये तो सब कुछ प्राप्त हो ही जाता है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए दी गई हैं। इनके द्वारा तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हुए हमें वृषाकपि बनकर प्रभु मित्रता में आनन्द का अनुभव करना चाहिए।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्पङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभु प्राप्ति के लिये आतुरता

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः ।
नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २ ॥

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **हि**=निश्चय से जब **परा-धावसि**=दूर होते हैं, अर्थात् जब वृषाकपि को आपका दर्शन नहीं होता तो आप **वृषाकपेः**=इस वृषाकपि के **अतिव्यथिः**=अति व्यथित करनेवाले होते हैं। प्रभु-दर्शन के अभाव में वृषाकपि आतुरता का अनुभव करता है। उसे प्रभु-दर्शन के बिना शान्ति कहाँ? (२) प्रभु संकेत करते हुए कहते हैं कि **सोमपीतये**=तू सोम के रक्षण के लिये यत्नशील हो। यही प्रभुदर्शन का साधन है। **अन्यत्र**=अन्य चीजों में, अर्थात् सोमपान=वीर्यरक्षण न करके अन्य चीजों में लगे रहने से **अह**=निश्चयपूर्वक तू **नो प्रविन्दसि**=उस प्रभु को नहीं प्राप्त कर पाता है। प्रभु प्राप्ति का एक ही मार्ग है—'वीर्य-रक्षण'। इस वीर्य की ऊर्ध्वगति से मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और उस समय सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा प्रभु का दर्शन होता है। ये **इन्द्रः**=प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं। इन्हीं को प्राप्त करने में आत्मकामता है।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिये हमें आतुरता हो और हम सोमपान=वीर्यरक्षण करते हुए अपने को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

हरितो मृगः

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः ।
यस्मा इरस्यसीदु न्व१र्यो वा पुष्टिमद्वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! **अयं वृषाकपिः**=यह वृषाकपि **त्वाम्**=आपकी प्राप्ति का लक्ष्य करके **किं चकार**=क्या करता है? यही तो करता है कि **हरितः**=यह इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाला बनता है। विषयों में जानेवाली इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकता है और **मृगः**=(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाला बनता है, आत्मनिरीक्षण करता हुआ अपने दोषों को देखता है। (२) यह आत्मनिरीक्षण करनेवाला और विषयों से अपनी इन्द्रियों को प्रत्याहृत करनेवाला वृषाकपि वह है **यस्या**=जिसके लिये आप **अर्यः**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी होते हुए **वा उ**=निश्चय से **नु**=अब **पुष्टिमत् वसु**=पुष्टिवाले धन को अथवा पोषण के लिये पर्याप्त धन को **इरस्यसि इत्**=देते ही हैं। वे प्रभु **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं, **विश्वस्मात् उत्तरः**=सब से उत्कृष्ट हैं। 'इस प्रभु की शरण में आने पर पोषक धन की प्राप्ति न हो' यह सम्भव ही नहीं।

भावार्थ—हम आत्मनिरीक्षण करें, इन्द्रियों के विषयों से प्रत्याहृत करें। प्रभु हमें पोषक धन प्राप्त कराएँगे ही।

ऋषि:—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुण:** ॥ छन्द:—**विराट्पङ्क्ति:** ॥
स्वर:—**पञ्चम:** ॥

'वराह' से मेल (वराहावतार-दर्शन)

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि ।
श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तर: ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यम्**=जिस **इमम्**=इस **प्रियम्**=अपने कर्मों से आपको प्रीणित करनेवाले अपने हरितत्व और मृगत्व के द्वारा यह प्रभु का प्रिय बनता है। **वृषाकपिम्**=वृषाकपि को **त्वम्**=आप **अभिरक्षसि**=शरीर में रोगों से तथा मन में राग-द्वेष से बचाते हो, **नु**=अब ऐसा होने पर **श्वा**=(मातरिश्वा) वायु, अर्थात् प्राण **अस्य**=इसके **जम्भिषत्**=सब दोषों को खा जाता है। प्राणसाधना से इसके सब दोष दूर हो जाते हैं। 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'=प्राणायामों से दोषों को दग्ध कर दे। जैसे 'सत्य-भामा' को 'भामा' कहने लगते हैं इसी प्रकार यहाँ 'मातरिश्वा' को 'श्वा' कहा गया है। मातरिश्वा वायु है, अध्यात्म में यह प्राण है। प्राणसाधना से दोष दूर होते ही हैं, मानो प्राण सब दोषों को खा जाते हैं। (२) इतना ही नहीं, **कर्णे**=(कृ विक्षेपे) चित्तवृत्ति के विक्षेप के होने पर यह प्राण **वराहयु: अपि**=(वरंवरं आहन्ति=प्रापयति) उस श्रेष्ठता को प्राप्त करानेवाले प्रभु से मेल करानेवाले भी हैं। चित्तवृत्ति जब विक्षिप्त हो जाती है उस समय प्राणायाम से इस विक्षेप को दूर करके मन का निरोध होता है और इस प्रकार प्राण हमें उस प्रभु से मिलाते हैं, जो कि 'वराह' हैं, सब वर पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। ये **इन्द्र:**= प्रभु **विश्वस्मात् उत्तर:**=सब से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षण प्राप्त होने पर प्राणसाधना से हम सब दोषों को दूर करके प्रभु से मेलवाले होते हैं।

ऋषि:—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुण:** ॥ छन्द:—**पादनिचृत्पङ्क्ति:** ॥
स्वर:—**पञ्चम:** ॥

विषयदोष-दर्शन

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत् ।
शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तर: ॥ ५ ॥

(१) प्रकृति कहती है कि **मे**=मेरे से **तष्टानि**=बनाये गये **व्यक्ता**=(adorned, decorated) अलंकृत **प्रिया**=देखने में बड़े प्रिय लगनेवाले इन विषयों को **कपि:**=यह 'वृषा-कपि' **व्यदूदुषत्**=दूषित करता है, इन विषयों के दोषों को देखता हुआ इनमें फँसता नहीं। (२) प्राकृत मनुष्य इन विषयों के दोषों को न देखता हुआ इनमें आसक्त हो जाता है, **नु**=उस समय प्रकृति **अस्य शिर:**=इसके सिर को **राविषम्**=तोड़-फोड़ देती है। यह प्रकृति कभी भी **दुष्कृते**=अशुभ कर्म करनेवाले के लिये **न सुगं भुवम्**=सुखकर गमनवाली नहीं होती। वस्तुत: प्रकृति-प्रवण हो जाना ही गलती है। **इन्द्र:**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात्**=सबसे **उत्तर:**=उत्कृष्ट हैं। उन्हीं की ओर चलना श्रेष्ठ है। प्रकृति के भोग तो प्रारम्भ में रमणीय लगते हुए भी परिणाम में विषतुल्य हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक विषय-दोष दर्शन करता हुआ उनमें फँसता नहीं। दूसरा व्यक्ति इनमें फँसकर अशुभ मार्ग पर चलता है, उसके लिये प्रकृति ही अन्त में घातक हो जाती है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रकृति का आकर्षण

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार विषयदोष-दर्शन करनेवाले वृषाकपि से इन्द्राणी (=प्रकृति) कहती है कि **मत्**=मेरे से **सु-भसत्-तरा**=अधिक उत्तम दीप्तिवाली **स्त्री न**=स्त्री नहीं है और **न**=ना ही **सु-याशुतरा**=(या+आशु) अधिक उत्तमता से प्राप्त होनेवाली व भोगों को प्राप्त करानेवाली है **भुवत्**=है। **न**=ना ही **मत्**=मेरे से अधिक **प्रतिच्यवीयसी**=प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनेवाली है और **न**=ना ही **सक्थि**=आसक्तिपर्वक **उद्यमीयसी**=स्थिति को उन्नत करनेवाली है। 'सक्थि' शब्द सच् धातु से बनकर आसक्ति व प्रेम के भाव को प्रकट कर रहा है। प्रकृति चमकती है 'सुभसत्', विविध भोगों को प्राप्त कराती है (सु-याशु), सबकी ओर आती है (प्रतिच्यवीयसी) और सांसारिक स्थिति को ऊँचा कर देती है (सक्थि उद्यमीयसी) (२) मेरा पति **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान् प्रभु भी तो **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है। सो इस वृषाकपि का मेरे में दोष देखना तो ठीक नहीं। मेरे प्रति उसका आकर्षण होना ही चाहिए।

भावार्थ—प्रकृति चमकती है। उसकी ओर आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'माता', न कि 'स्त्री'

उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति ।
भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ७ ॥

(१) वृषाकपि उत्तर देता हुआ कहता है कि **उवे अम्ब**=हे मातः! हे **सुलाभिके**=सब उत्तम लाभों को प्राप्त करानेवाली! **अङ्ग**=प्रिय मातः! **यथा इव भविष्यति**=जैसा आप कहती हो वैसा ही होगा। अर्थात् आप 'सुभसत्तरा, सुयाशुत्तरा-प्रतिच्यवीयसी-सक्थि उद्यमीयसी' ही हैं। आपके पुत्र के नाते **मे**=मेरी **भसत्**=दीप्ति, **मे सक्थि**=मेरा माता-पिता के प्रति प्रेम (आसक्ति) अथवा अन्यों के प्रति स्नेह तथा **मे शिरः**=मेरा उन्नति के शिखर पर पहुँचना **विहृष्यति इव**=विशिष्ट प्रसन्नता-सा वाला होता है। (२) यह तो आप ठीक ही कहती हो कि **इन्द्रः**=वे प्रभु **विश्वस्मात्**=सबसे **उत्तरः**=अधिक उत्कृष्ट हैं। मुझे भी उस प्रभु को पाने के लिये सब कुछ छोड़ना स्वीकार है। (३) यहाँ वृषाकपि प्रकृति को '**अम्ब**'=इस रूप में सम्बोधन करता हुआ यही संकेत करता है कि प्रकृति मेरी स्त्री नहीं अपितु माता है, उपभोग्य न होकर आदरणीय है, मैंने उससे आवश्यक सहायता प्राप्त करनी है। इस भावना के होने पर ही प्रकृति 'सुलाभिका' होती है और प्रकृति को इस रूप में देखनेवाला ही दीप्ति व प्रेम को प्राप्त करके उन्नति के शिखर पर पहुँचता है।

भावार्थ—प्रकृति को हम माता समझकर चलें, नकि स्त्री।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वृषाकपि की प्रशस्यता

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने ।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ८ ॥

(१) इन्द्र इन्द्राणी से कहता है कि हे **सुबाहो**=उत्तम बाहुओंवाली, **स्वङ्गुरे**=उत्तम अंगुलियोंवाली, **पृथुष्टो**=विशाल केश-समूहवाली **पृथुजाघने**=विशाल जघनोंवाली तुम **किम्**=वृषाकपि के प्रति क्यों रुष्ट होती हो। **नः**=मुझ **शूरपत्नि**=शूर की पत्नी होती हुई **त्वम्**=तू **किम्**=क्यों **वृषाकपिम्**=वृषाकपि के प्रति **अभ्यमीषि**=क्रोध करती है? (२) तू सुन्दर है, आकर्षक है, तेरा अंग-प्रत्यंग मनोहर है। ऐसा होने पर भी तेरा पुत्र वृषाकपि तेरे प्रति मातृभावना रखता हुआ तेरा समुचित आदर करता है। इस से बढ़कर प्रशंसनीय क्या बात हो सकती है कि हमारा पुत्र वृषाकपि कितनी उत्कृष्ट वृत्तिवाला है। (३) इतना तो तूने भी कहा है कि मेरा पति **इन्द्रः**=इन्द्र **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है। सो तुझे इसी बात पर गर्व होना चाहिए कि हमारा लड़का सचमुच 'वृषाकपि' है, वासनाओं को कम्पित करके शक्तिशाली बननेवाला है।

भावार्थ—प्रकृति रूप स्त्री अत्यन्त आकर्षक है, पर वह प्रभु की पत्नी है। जीव की तो वह माता ही है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रकृति अवीरा नहीं

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ९ ॥

(१) 'प्रकृति इतनी आकर्षक है और फिर भी वृषाकपि उससे आकृष्ट नहीं हुआ' यह देखकर प्रकृति क्रुध-सी होती है और कहती है कि **अयं शरारुः**=यह सब वासनाओं का संहार करनेवाला (प्रकृति की दृष्टि में शरारती) **माम्**=मुझे **अवीरां इव अभिमन्यते**=अवीर-सा मानता है। मैं अवीर थोड़े ही हूँ **उत अहम्**=निश्चय से मैं तो **वीरिणी अस्मि**=उत्कृष्ट वीर पुत्रवाली हूँ। **इन्द्रपत्नी**=इन्द्र की पत्नी हूँ, **मरुत् सखा**=ये मरुत्=प्राण मेरे मित्र हैं और यह तो सब कोई जानता ही है कि मेरा पति **इन्द्रः**=इन्द्र **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं। 'ऐसी स्थिति में यह वृषाकपि मेरा निरादर करे' यह कैसे सहन हो सकता है? (२) यहाँ 'इन्द्रपत्नी' कहकर प्रकृति स्वयं अपने पक्ष को शिथिल कर लेती है। वृषाकपि उसे इन्द्रपत्नी जानकर ही तो अपनी माता के रूप में देखता है। 'मरुत् सखा' शब्द भी बड़ा महत्त्व रखता है। इन मरुतों=प्राणों ने ही उसे वासनात्मक जगत् से ऊपर उठाकर इस आकर्षण में फँसने से बचाया है। एवं इन्द्राणी के मित्र ही वृषाकपि को वृषाकपि बनाते हैं। प्रकृति वीरिणी है, प्रकृति का पुत्र वृषाकपि भी वीर बनता है और प्रलोभन में फँसने से बचता है।

भावार्थ—प्रकृति वीर है। उसका पुत्र वृषाकपि वीर बनकर प्रकृति का सच्चा आदर करता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

युद्धों में व यज्ञों में

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १० ॥

(१) **पुरा**=पहले उत्कृष्ट युग में, धर्म का ह्रास होने से पूर्व **नारी**=पत्नी **होत्रम्**=यज्ञ के प्रति **सं गच्छति स्म**=पति के साथ मिलकर जाती थी **समनं वाव**=अथवा युद्ध के प्रति जाती थी। पत्नी 'धर्मपत्नी' थी, वह पति के साथ यज्ञों व युद्धों में सहायक होती थी, 'इत्थं युद्धैश्च यज्ञैश्च भजामो

विवमीश्वरम्' इस प्रकार युद्धों और यज्ञों से वे दोनों उस सर्वव्यापक ईश को भजते थे। (२) यह पत्नी घर में **ऋतस्य वेधाः**=सब सब ठीक कार्यों का विधान करती थी, यज्ञादि को किया करती थी। परिणामतः **वीरिणी**=वीर सन्तानोंवाली होती थी। यही **इन्द्रपत्नी**=जितेन्द्रिय पुरुष की पत्नी **महीयते**=महिमा को प्राप्त करती है। ऐसी ही नारियों का आदर होता है। इनकी दृष्टि में **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट होते हैं ये इस इन्द्र का ही पूजन करती हैं। (३) स्त्री अपने को आकर्षक बनाने की अपेक्षा धार्मिक व वीर बनाने का ध्यान करे। उसकी वृत्ति वैषयिक न हो।

भावार्थ—वही धर्मपत्नी है जो कि यज्ञों व युद्धों में पति की सहायिका बनती है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रकृति का अजर सौभाग्य

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्　　।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ११ ॥

(१) **इन्द्राणीम्**=इन्द्राणी को **आसु नारिषु**=इन नारियों में **अहम्**=मैं **सुभगाम्**=सबसे अधिक सौभाग्यवाली **अश्रवम्**=सुनता हूँ। क्योंकि **अस्याः**=इसका **पतिः**=स्वामी 'इन्द्र' **अपरं चन**=अन्य पतियों के समान **जरसा**=बुढ़ापे से **हि**=निश्चय पूर्वक **न मरते**=मृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाता। इन्द्र अजरामर हैं, सो इनकी पत्नी 'इन्द्राणी' का सौभाग्य भी अजरामर बना रहता है। **विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः**=इस अजरामरता के कारण प्रभु सबसे उत्कृष्ट हैं। (२) प्रभु 'इन्द्र' हैं, 'इन्द्राणी' प्रकृति है, यह प्रभु की पत्नी के समान है। प्रकृति का यह कितना सौभाग्य है कि जहाँ अन्य व्यक्तियों के जरा से समाप्त हो जाने के कारण अन्य नारियों का सौभाग्य सामयिक ही होता है, वहाँ प्रकृति का सौभाग्य 'अक्षुण' बना रहता है। इस प्रकृति को अपने इस सौभाग्य का गौरव अनुभव करना चाहिए।

भावार्थ—'प्रकृति' का सौभाग्य पति प्रभु के अजर होने से सदा अजर बना रहता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सृष्टि निर्माण जीव के लिये

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते　　।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १२ ॥

(१) प्रभु प्रकृति से कहते हैं कि **इन्द्राणि**=हे प्रकृति! **अहम्**=मैं **सख्युः**=इस मित्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०' **वृषाकपेः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले और अतएव शक्तिशाली इस वृषाकपि के **ऋते**=बिना **न रारणे**=इस सृष्टिरूप क्रीड़ा को नहीं करता हूँ। यह सृष्टिरूप क्रीड़ा इस मित्र जीव के लिये ही तो है। आप्तकाम होने से मुझे इसकी आवश्यकता नहीं, जड़ता के कारण तुझे (प्रकृति को) इसकी जरूरत नहीं। जीव इसमें साधन-सम्पन्न होकर उन्नत होता हुआ मोक्ष तक पहुँचता है। (२) वह जीव **यस्य**=जिसकी **इदम्**=यह **अप्यं हविः**=रेतःकण सम्बन्धी हवि **प्रियम्**=इसे प्रीणित करनेवाली होती है और इसके शरीर को कान्ति प्रदान करती है तथा **देवेषु गच्छति**=सब इन्द्रियरूप देवों में जाती है। रेतःकणों का रक्षण करना ही शरीर में इस 'अप्य हवि' को आहुत करना है। यह हवि शरीर को कान्त बनाती है और सब इन्द्रियों को सशक्त बनाती है। (२) इस अप्य हवि के द्वारा सब शक्तियों का वर्धन करके यह जीव अनुभव

करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सब से अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—प्रभु इस सृष्टि का निर्माण जीव के लिये करते हैं। भोगों में न फँसकर जब यह शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करता है, तो प्रभु को पहचान पाता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

आत्मा की पत्नी बुद्धि

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे ।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १३ ॥

(१) हे प्रकृति! तू **वृषाकपायि**=इस वृषाकपि की माता है। वृषाकपि का उत्कर्ष इसी में है कि वह माता को माता के रूप में देखे और इससे सहायता लेता हुआ इसके भोगों में आसक्त न हो। **रेवति**=हे प्रकृति तू तो ऐश्वर्य-सम्पन्न है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य का स्रोत तू है, तू ऐश्वर्य ही है। **सुपुत्रे**=यह वृषाकपि तेरा उत्तम पुत्र है। **आद् उ**=और अब **सुस्नुषे**=हे प्रकृति! तू उत्तम स्नुषावाली है। वृषाकपि तेरा पुत्र है और उस वृषाकपि की पत्नी 'बुद्धि' है। यह बुद्धि तेरी स्नुषा हुई। इस बुद्धि के द्वारा चलता हुआ वृषाकपि ही तो अपने जीवन को उत्तम बना पाता है। (२) यह वृषाकपि उन्नत होता हुआ अपने पिता के अनुरूप बनकर 'इन्द्र' ही बन जाता है। यह **इन्द्रः**=इन्द्र **ते**=तेरे प्राकृतिक आहार से उत्पन्न हुए-हुए, **उक्षणः**=(उक्ष सेचने) शरीर को शक्ति से सिक्त करनेवाले वीर्यकणों को **घसत्**=खाता है, इन्हें अपने शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह उसके लिये **प्रियम्**=प्रीणित करनेवाली **काचित् करम्**=निश्चय से सुख को देनेवाली **हविः**=हवि होती है, इसकी वह शरीर यज्ञ में आहुति देता है। यही वीर्य का भक्षण है। इस हवि के सेवन से वह अत्यन्त तीव्र बुद्धि होकर उस प्रभु का दर्शन करता है जो **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट है।

भावार्थ—वीर्यरूप हवि की शरीराग्नि में ही आहुति देना सच्चा जीवनयज्ञ है इस यज्ञ को करनेवाला प्रभु को 'पुरुषोत्तम' रूप में देखता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

परिपाक

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १४ ॥

(१) **उक्षणः**=शरीर में शक्ति का सेचन करनेवाले वीर्यकणों को **हि**=निश्चय से **मे**=मेरे **पञ्चदश**=पन्द्रह-दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण **साकम्**=साथ-साथ **पचन्ति**=परिपक्व करते हैं। विषय व्यावृत्त इन्द्रियों तथा प्राणायाम द्वारा सिद्ध किये हुए प्राण वीर्यकणों को शरीर में ही परिपक्व करने होते हैं। वीर्यकणों के परिपाक के द्वारा ये **विंशतिम्**=माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार एकोनविंशति मुखोंवाले बीसवें इस आत्मा को भी परिपक्व करते हैं आत्मिक शक्ति के विकास का आधार भी ये इन्द्रियाँ व प्राण बनते हैं। (२) **उत**=और **अहम्**=मैं **अद्मि**=इन वीर्यकणों को शरीर में खाने का प्रयत्न करता हूँ। **इत्**=निश्चय से **पीवः**=मैं हृष्ट-पुष्ट बनता हूँ ये सुरक्षित वीर्यकण **मे**=मेरी **उभाकुक्षी**=दोनों कुक्षियों को **पृणन्ति**=(protect) सुरक्षित करते हैं। इन कणों के रक्षण से गुर्दे इत्यादि की बीमारियाँ नहीं होती। (३) इस स्वस्थ अवस्था में मैं उस प्रभु का स्मरण कराता हूँ जो **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली होते हुए **विश्वस्मात् उत्तरः**=सब से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—विषय-व्यावृत्त इन्द्रियों व प्राणसाधना से वीर्य का परिपाक होकर आत्मिक शक्ति का विकास होता है, प्रसंगवश यह वीर्य का परिपाक गुर्दे आदि के कष्टों से भी हमें बचाता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तिग्मशृंग वृषभ

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत् ।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १५ ॥

(१) वे प्रभु **तिग्मशृंगः वृषभः न**=तेज सींगोंवाले वृषभ के समान हैं। जैसे वृषभ एक मार्ग-विघातक को अपने तेज सींगों के द्वारा दूर कर देता है, उसी प्रकार प्रभु हमारे शत्रुओं को दूर करनेवाले हैं। स्थानान्तर में प्रभु को 'अश्वं न त्वा वारवनं'=बालोंवाले घोड़े से उपमित किया है। घोड़ा पूँछ से जैसे मखियों को दूर हटा देता है, उसी प्रकार प्रभु हमारी वासनाओं को दूर करते हैं। ये वृषभ के समान प्रभु **यूथेषु अन्तः**=जीव समूह के अन्दर **रोरुवत्**=खूब गर्जना कर रहे हैं। हृदयस्थरूपेण प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं। उस प्रेरणा के अनुसार चलने पर हम वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं। (२) हे **इन्द्र**=प्रभो! **ते**=आपका **मन्थः**=मन्थन-चिन्तन **हृदे शम्**=हृदय के लिये शान्ति का देनेवाला होता है। **यम्**=जिस **ते**=तेरे मन्थन व विचार को **भावयुः**=भक्तिभाव से युक्त उपासक **सुनोति**=अपने में उत्पन्न करता है। और सदा इस रूप में सोचता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सब से उत्कृष्ट हैं। प्रभु को सर्वोत्कृष्ट रूप में देखनेवाला ही प्रभु का उपासक बनता है। उस समय प्रभु उसे सदा प्रेरणा देते हैं और उसके शत्रुओं को दूर करते हैं।

भावार्थ—उपासक के लिये प्रभु तिग्मशृंग वृषभ के समान रक्षक होते हैं।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ध्यान व ज्ञान

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत् ।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु से रक्षित होकर जो व्यक्ति प्रभु के ध्यान में लगता है और **यस्य**=जिसका **सक्थि**=(सच समवाये) प्रभु से मेलवाला और अतएव **कपृत्**=अपने में आनन्द का पूरण करनेवाला मन **अन्तरा**=अन्दर ही **आरम्बते**=स्थिर होता है, आशय करता है, **न स ईशे**=वह ही ईश नहीं है। अपितु **स इत् ईशे**=वह भी ईश है **निषेदुषः**=नम्रता से आचार्य चरणों में बैठनेवाले **यस्य**=जिसका **रोमशम्**=(रोमशि शेते, 'सामानि यस्य लोमानि') साम मन्त्रों में निवास करनेवाला मन **विजृम्भते**=विकसित होता है, अर्थात् जिसका मन ऋचाओं व यजुषों का अध्ययन करके साम मन्त्रों में आकर निवास करता है, दूसरे शब्दों में जिसका मन सम्पूर्ण ज्ञान में अवस्थित होता है। (२) जैसे ध्यान महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार ज्ञान भी महत्त्वपूर्ण है। 'ध्यानी ही ईश बनता है' ऐसी बात नहीं। ज्ञानी भी उतना ही ईश बनता है। 'विद्याभ्यसनं व्यसनं, विद्याभ्यास उत्तम व्यसन है। यह मनुष्य को संस्कार के विषयों से बचानेवाला है। ध्यान में मनुष्य मन में एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है तो ज्ञान में भी मानव मन को पवित्र बनाकर आनन्दित करने की शक्ति है। यह ज्ञानी यह अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—जहाँ ध्यानी मन का ईश बनता है, वहाँ ज्ञानी भी मन का ईश हो जाता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञान व ध्यान

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते ।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १७ ॥

(१) गत मन्त्र की भावना को ही क्रम बदलकर कहते हैं कि **न स ईशे**=वह ही ईश नहीं है, **निषेदुषः**=आचार्य चरणों में नम्रता से बैठनेवाले **यस्य**=जिसका **रोमशम्**=(सामानि यस्य लोमानि) साम मन्त्रों में निवास करनेवाला मन **विजृम्भते**=ज्ञान के दृष्टिकोण से अधिकाधिक विकसित होता चलता है। **स इत्**=वह भी **ईशे**=ईश है **यस्य**=जिसका **सक्थि**=प्रभु से मेलवाला **कपृत्**=परिणामतः अपने में आनन्द को भरनेवाला मन **अन्तरा**=अन्दर ही **आरम्बते**=स्थिर होता है, अन्तःस्थित हुआ-हुआ मन प्रभु का आश्रय करता है और अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=ये प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं। (२) ज्ञान से वासनाओं को विदग्ध करके तो मनुष्य बनता ही है, ईश बनने के लिये ध्यान भी उतना ही सहायक है। ध्यान से मनुष्य मन को वशीभूत करके सम्पूर्ण संसार के आनन्दों को उस प्रभु प्राप्ति के आनन्द की तुलना में तुच्छ समझने लगता है।

भावार्थ—जहाँ ज्ञान मनुष्य को विषयों के सात्त्विक रूप का दर्शन कराके उनसे ऊपर उठाता है, वहाँ ध्यान भी प्रभु प्राप्ति के आनन्द को देकर वैषयिक आनन्द को तुच्छ कर देता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अपराधीनता

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत् ।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान अचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १८ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आपका **अयम्**=यह पुत्र **वृषाकपिः**=वासनाओं को कम्पित करनेवाला और अतएव शक्तिशाली सन्तान **परस्वन्तम्**=पराधीन को, इन्द्रियों के अधीन हुए-हुए पुरुष को **हतं विदत्**=(विद् ज्ञाने) मृत जानता है। इन्द्रियों की अधीनता मृत्यु का ही कारण बनती है। इन्द्रियों को जीतकर ही हम आनन्दमय जीवन को बिता सकते हैं। (२) यह जितेन्द्रिय पुरुष **असिम्**=(असु क्षेपणे) वासनाओं को दूर फेंकने को, **सूनाम्**=(षू प्रेरणे) प्रभु ही प्रेरणा को, इस प्रेरणा से ही तो वह निरन्तर वासनाओं को दूर करने के लिये यत्नशील होता है, **नवं चरुम्**=(नु स्तुतौ, चर भक्षणे) वासनाओं को न उत्पन्न होने देने के लिये ही स्तुत्य भोजन को, राजस व तामस भोजनों को छोड़कर सात्त्विक आहारों को और **आत्**=इनके बाद **एधस्य**=ज्ञानदीप्ति के **आचितम्**=समन्तात् व्याप्तिवाले **अनः**=शरीर-रथ को **विदत्**=प्राप्त करता है (विद् लाभे)। (३) ऐसे व्यक्ति ही अनुभव करते हैं कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों की पराधीनता नाश का मार्ग है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दास व आर्य का विवेक

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १९ ॥

(१) वृषाकपि कहता है कि **अयम्**=यह मैं **विचाकशत्**=(कश् to sound) प्रभु के नामों का उच्चारण (जप) करता हुआ **एमि**=आता हूँ, अपने कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ। मैं अपने जीवन में **दासम्**=(दसु उपक्षये) नाशक वृत्ति को तथा **आर्यम्**=श्रेष्ठ वृत्ति को **विचिन्वन्**=विविक्त करता हुआ गति करता हूँ। दास वृत्तियों को छोड़ता हुआ आर्य वृत्तियों को अपनाता हूँ। (२) **पाकसुत्वनः**=जीवन के परिपाक के लिये उत्पन्न किये गये सोम का (पाकाय सुतस्य) **पिबामि**=मैं पान करता हूँ। इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करने से सब शक्तियों का सुन्दर परिपाक होता है। इस परिपाक से मैं **धीरम्**=उस ज्ञान देनेवाले प्रभु को **अभि अचाकशम्**=प्रातः-सायं स्तुत करता हूँ कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सारे संसार से अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—सोम का शरीर में पान होने पर जीवन की शक्तियों का उत्तम परिपाक होता है। यह व्यक्ति ही प्रभु का स्तवन व दर्शन करता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

संसार-मरीचिका

धन्व च यत्कृन्तत्रं च कति स्वित्ता वि योजना।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २० ॥

(१) यह संसार एक मृगतृष्णा के दृश्य के समान है। **धन्व च**=यह मरुस्थल तो है ही, जैसे मरुस्थल में एक मृग पानी की कल्पना करके प्यास बुझाने के लिये उधर भागता है, परन्तु उस स्थान पर पहुँचने पर वहां पानी को न पाकर रेत को ही पाता है और दूरी पर फिर पानी के दृश्य को देखता है और ऊधर भागता है। इस प्रकार यह मरीचिका उसकी शक्ति को छिन्न-भिन्न करती चलती है, **यत् कृन्तत्रं च**=यह कोटनेवाली तो है ही और फिर **ता**=वे मरीचिका के दृश्य **कतिस्वित्**=कितने ही **योजना**=योजनों तक **वि**=(वि तत) विस्तृत हैं। इन योजनों में भागता-भागता वह मृग जैसे मर जाता है, इसी प्रकार मनुष्य के लिये संसार के विषय **धन्व च**=मरुस्थल के समान हैं **च**=और **यत्**=जो **कृन्तत्रम्**=उसकी शक्तियों को छिन्न करनेवाले हैं और **ता**=ये विषय जीवनयात्रा में न जाने **कति स्वित् योजना**=कितने ही योजन चलते-चलते हैं। अन्त में ये मनुष्य को भ्रान्त करके समाप्त कर देते हैं। (२) हे **वृषाकपे**=शक्तिशाली और वासनाओं को कम्पित करनेवाले जीव! तू इन विषय-मरीचिकाओं में न उलझकर **नेदीयसः**=अपने अत्यन्त समीप निवास करनेवाले प्रभु के **अस्तम्**=गृह को **एहि**=आ। हृदय ही प्रभु का गृह है विषय व्यावृत्त होकर हम अन्तर्मुख यात्रा करते हुए उस हृदय में स्थित होने के लिये यत्नशील हों। **गृहान् उप**=इन प्रभु गृहों के हम समीप रहनेवाले बनें और यह अनुभव करें कि **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—संसार की मरीचिका में कोसों भटकते रहने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि हम हृदयरूप गृह में प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्वप्न-नंशनः (नींद से उठ बैठना)

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २१ ॥

(१) हे **वृषाकपे**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले वृषाकपि! तू **पुनः**=फिर **एहि**=घर में प्राप्त हो। इधर-उधर भटकने की अपेक्षा तू मन को निरुद्ध करके हृदय में आत्मदर्शन करनेवाला हो। प्रभु कहते हैं कि मैं और तू मिलकर **सुविता**=उत्तम कर्मों को **कल्पयावहै**=करनेवाले हों। जीव प्रभु की शक्ति का माध्यम बनें, जीव के माध्यम से प्रभु शक्ति उत्तम कर्मों को सिद्ध करनेवाली हो। (२) जीव इस दुनिया की चमक में अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है और अपने लक्ष्य को वह भूला-सा रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह सो सा गया हो। अब **स्वप्ननंशनः**=इस नींद को समाप्त करनेवाला तू अपने लक्ष्य का स्मरण करता है और **अस्तं एषि**=फिर से घर में आता है। **पुनः**=फिर **पथा**=ठीक मार्ग से चलता हुआ हृदयरूप गृह में प्रभु का दर्शन करता है और अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ—इस संसार में हमें सोये नहीं रह जाना। जागकर लक्ष्य की ओर बढ़ना है। प्रभु की शक्ति का माध्यम बनकर सदा उत्तम कर्मों को करना है।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'उदङ्', नकि 'पुल्वघ-मृग-जनयोपन'

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।
क्व१ स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २२ ॥

(१) हे **वृषाकपे**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले शक्तिशाली जीव! **यद्**=जब **उदञ्चः**=(उत अञ्च्) लोग उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले होते हैं तभी वे **गृहं अजगन्तन**=घर को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मलोक ही वस्तुतः इस जीव का घर है। उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति इस गृह को प्राप्त करते हैं। (२) परन्तु हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **स्यः**=वह **पुल्वघ**=बहुत पापोंवाला **मृगः**=सदा विलास की वस्तुओं को खोजनेवाला (मृग अन्वेषणे) मौज की तलाश में रहनेवाला व्यक्ति **क्व**=कहाँ इस ब्रह्मलोक रूप गृह में आ पाता है? **जनयोपनः**=लोगों को पीड़ित (युप्) करनेवाला **कं अगन्**=किसको प्राप्त करता है? अर्थात् यह **जनयोपन**=अपनी मौज के लिये औरों को मिटानेवाला पुरुष इस ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं करता। उन्नति के मार्ग पर चलनेवाला पुरुष ही जान पाता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—हम 'उदङ्' बनें। 'पुल्वघ-मृग-जनयोपन' न बनें।

ऋषिः—**वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मानवी की महिमा

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् ।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हमें 'उदङ्' बनना है, 'पुल्वघ' नहीं। यह तभी हो सकता है जब कि हमारी बुद्धि स्थिर रहे। यह बुद्धि मानो मनु की सन्तान है, इसका इसीलिए 'मानवी' यह नाम

हो गया है। यह 'मानवी' ही मानव की पत्नी है, उसकी शक्ति है और उसका कल्याण करनेवाली है। यह **ह**=निश्चय से **पर्शुः नाम**=पर्शु इस नामवाली है, यह वासनाओं के लिये सचमुच कुल्हाड़े के समान है (an axe, hetehet) बुद्धि के ठीक कार्य करने पर मनुष्य वासनाओं में नहीं फँसता। (२) यह बुद्धि मनुष्य को वासनाओं से ऊपर उठाकर सभी इन्द्रियों व सभी प्राणों को ठीक रखती है। दसों इन्द्रियों व दसों प्राणों को (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय) विकसित शक्तिवाला करने के कारण यह बुद्धि इन बीस सन्तानोंवाली हैं, **साकम्**=साथ-साथ **विंशतिम्**=इन बीस को यह **ससूव**=उत्पन्न करती है। (३) हे **भल**=सर्वद्रष्टः प्रभो! (भल् to see) **त्यस्याः**=उस बुद्धि का **भद्रं अभूत्**=भला हो **यस्याः**=जिसका, हमारी इन वासनाओं के कारण होती हुई दुर्गति को देखकर **उदरं आमयत्**=पेट पीड़ावाला हुआ, अर्थात् जिसको हमारी दुर्गति अखरी। हमारी दुर्गति को देखकर जिसने अच्छा नहीं महसूस किया और हमारी सहायता के लिये सन्नद्ध होकर इन वासनाओं का विनाश किया और अनुभव कराया कि **इन्द्रः**=प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सर्वोत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—अन्ततः बुद्धि ही कल्याण करती है, यही मानवी है। यह मानव की पत्नी है और उसकी वासनाओं को दूर करके उसे प्रभु की महिमा का दर्शन कराती है।

यह सारा सूक्त एक ही भावना को हमारे हृदयों पर अंकित करता है कि प्रभु सर्वोत्कृष्ट हैं। प्रभु प्रवणता ही बुद्धिमत्ता है। इन्द्राणी व प्रकृति को माता समझना नकि पत्नी। ऐसा समझनेवाला ही वृषाकपि बनता है। यह मानवी (बुद्धि) का सखा बनकर वासनाओं से अपना रक्षण करता है। यह रक्षण करनेवाला 'पायु' ही अगले सूक्त का ऋषि है। अपने में शक्ति को भर सकने के कारण यह 'भारद्वाज' है। राक्षसी वृत्तियों को दूर करनेवाला 'रक्षोहा' प्रगतिशील 'अग्नि' इस अग्रिम सूक्त का विषय व देवता है। यह प्रार्थना करता है कि—

[८७] सप्ताशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'रक्षोहा' प्रभु

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्॥ १ ॥

(१) **रक्षोहणम्**=हमारी राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाले, **वाजिनम्**=शक्तिशाली, **मित्रम्**=हमें मृत्यु व पापों से बचानेवाले, **प्रथिष्ठम्**=अत्यन्त विस्तारवाले प्रभु को **आजिघर्मि**=मैं अपने में दीप्त करता हूँ। प्रभु को अपने हृदय में देखने का प्रयत्न करता हूँ और **शर्म उपयामि**=आनन्द को प्राप्त होता हूँ। प्रभु का आभास भी आनन्द का अनुभव कराता है। जितना-जितना हम प्रभु के समीप पहुँचते जाते हैं उतना-उतना हमारा जीवन आनन्दमय होता जाता है। (२) **शिशानः**=हमारी बुद्धियों को सूक्ष्म करते हुए **अग्निः**=वे प्रभु अग्रेणी हैं, हमें निरन्तर आगे ले चल रहे हैं। **क्रतुभिः**=संकल्पों व यज्ञादि उत्तम कर्मों के द्वारा **समिद्धः**=वे प्रभु हमारे में दीप्त होते हैं। प्रभु दर्शन के लिये संकल्प आवश्यक है और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होना आवश्यक है। **स**=वे प्रभु **नः**=हमें **दिवा**=दिन में और **स**=वे प्रभु **नक्तम्**=रात्रि में **रिषः**=हिंसा से **पातु**=बचाएँ। प्रभु हमारा रक्षण करनेवाले हों। प्रभु ही 'रक्षोहा' हैं, वे ही हमें इन राक्षसी वृत्तियों का शिकार होने से बचाएँगे।

भावार्थ—वे प्रभु 'रक्षोहा' हैं, हमारी बुद्धियों को तीव्र करके, ज्ञान के द्वारा वे हमें अशुभ वृत्तियों का शिकार होने से बचाते हैं।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानाग्नि में पाप का भस्म होना

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्यपि धत्स्वासन्॥ २॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **समिद्धः**=गत मन्त्र के अनुसार क्रतुओं द्वारा दीप्त होने पर **अयोदंष्ट्रः**=तीक्ष्ण दंष्ट्राओंवाले आप **अर्चिषा**=अपनी ज्ञान ज्वाला से **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाली इन राक्षसी वृत्तियों को **उपस्पृश**=समीपता से स्पर्श करते हुए भस्म कर देते हैं। आपके द्वारा सब अशुभ वृत्तियाँ दूर की जाती हैं। (२) आप **मूरदेवान्**=(दिव्=व्यवहारे) मूढ़तापूर्ण व्यवहारवालों को **जिह्वया**=ज्ञान ज्वाला के द्वारा (flame) **आरभस्व**=(to form) उत्तम जीवनवाला बनाइये। **क्रव्यादः**=मांस-भक्षण करनेवालों को **वृक्त्वी**=इन अशुभ कर्मों से पृथक् करके **आसन्**=अपने मुख में, उपासना में **अपिधत्स्व**=धारण करिये। ज्ञान को प्राप्त करके हमारी वृत्ति अशुभ कर्मों से, मांस-भक्षणादि से हटें और हम शुभ कर्मों में प्रवृत्त हों। उन कर्मों को हम कभी न करें जिनसे औरों की हानि करके अपनी मौज को प्राप्त करने की भावना हो।

भावार्थ—ज्ञान ज्वाला से अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। उपासना के द्वारा जीवन की पवित्रता होती है।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्म व क्षत्र के द्वारा काम-क्रोध का विनाश

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रा हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याहि राजञ्जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान्॥ ३॥

(१) हे **उभयाविन्**=ब्रह्म और क्षत्र-ज्ञान व शक्ति दोनों से सम्पन्न प्रभो! हे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमन् प्रभो! **उभा**=हमारे दोनों शत्रुओं को, काम-क्रोध को (तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ) **दंष्ट्रा उपधेहि**=अपनी दाढ़ों में धारण करिये, अर्थात् ज्ञान को देकर हमारी कामवासना को समाप्त करिये और हमें शक्ति-सम्पन्न करके क्रोध से ऊपर उठाइये। ज्ञानाग्नि काम को दग्ध करती है और शक्ति मनुष्य को क्रोध से ऊपर उठाती है। हे प्रभो! आप **शिशानः**=हमारी बुद्धि को तीव्र करते हुए **अवरं परं च**=इस काम को और कामोत्पन्न क्रोध को (कामात् क्रोधोऽभिजायते) **हिंस्रः**=नष्ट करनेवाले होते हैं। काम को यहाँ अवर कहा है। यह हीनता का कारण होता है, क्रोध को 'पर' कहने का कारण यही है कि यह काम से उत्पन्न होता है, पीछे होने के कारण यह 'पर' है। (२) हे **राजन्**=हमारे जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले ज्ञानदीप्त प्रभो! **उत**=और आप **अन्तरिक्षे**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में **परियाहि**=परितः गति करनेवाले होइये। आपका निवास हमारे हृदय में हो और वहाँ **यातुधानान्**=हमें पीड़ित करनेवाली वासनाओं को **जम्भैः**=अपनी दंष्ट्राओं से **अभिसन्धेहि**=युक्त करिये। अर्थात् इन सब वासनाओं को आप नष्ट करिये।

भावार्थ—प्रभु 'ब्रह्म और क्षत्र' की चरमसीमा हैं। वे ज्ञान के द्वारा हमारे 'काम' को तथा शक्ति के द्वारा 'क्रोध' को नष्ट करें।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रेरणा व ज्ञान का प्राप्त कराना

यज्ञैरिषूः संनमंमानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो बाहून्प्रति भङ्ध्येषाम्॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! अथवा राष्ट्र की अग्रगति को करनेवाले राजन्! आप **यज्ञैः**=उत्तम कर्मों से **इषूः**=प्रेरणाओं को **संनममानः**=प्रेरित कराते हुए और **अशनिभिः**=(a mester) आचार्यों के द्वारा **वाचा**=ज्ञान की वाणियों से **शल्यान्**=(any caure of heart rendive griey) हृदयवेधी भावनाओं को **दिहानः**=बढ़ाते हुए, **ताभिः**=उन प्रेरणाओं से तथा ज्ञान-वाणियों से **यातुधानान्**=प्रजा पीड़कों को **हृदये विध्य**=हृदय में विद्ध करिये। इनके हृदयों में ही इनके अपने काम चुभने लगे। इन्हें औरों के उत्तम कर्मों से ऐसी प्रेरणा मिले कि ये यातुधानत्व को छोड़कर पवित्र कर्मों की ओर झुक जाएँ और ज्ञान की वाणियाँ इनके हृदयों में इस प्रकार की तीव्र वेदना को उत्पन्न करें कि इनका हृदय तीव्र प्रायश्चित की भावनावाला हो उठे। (२) इस प्रकार इन्हें पापों के प्रति तीव्र वेदनावाला करके **एषाम्**=इनकी **प्रतीचः बाहून्**=पापकर्म में प्रवृत्त (turned away=धर्ममार्ग से दूर गई हुई) बाहुओं को **भङ्ग्धि**=तोड़ दें। पाप कर्म करने की इनमें हिम्मत ही न रहे।

भावार्थ—राजा उत्तम कर्मों के द्वारा तथा ज्ञान प्रसाद के द्वारा यातुधानों के हृदय में ऐसी शुभ पैदा करे कि वे पापकर्म से घृणा करनेवाले बनकर, उनके लिये प्रायश्चित करके, पवित्र हो जाएँ।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यातुधान का परिवर्तन

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोतु वृक्णम्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=राष्ट्र की उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले राजन्! **यातुधानस्य**=इस प्रजापीड़क के **त्वचम्**=सम्पर्क को **भिन्धि**=तोड़ दे। इसे अपने साथियों से अलग कर दे। अलग होने पर यह अपने जीवन के मर्म के विषय में ठीक सोच सकता है। (२) **हिंस्राशनिः**=(हिंस्रः चासौ अशनिः=master) अज्ञान को नष्ट करनेवाला अध्यापक **हरसा**=वासनाओं को विनष्ट करने की शक्ति से **एनं हन्तु**=इस यातुधान को प्राप्त हो (हन् गतौ)। वह ज्ञान देकर इसे अधर्म मार्ग से हटानेवाला हो। (३) हे **जातवेदः**=ज्ञानी पुरुष! तू **पर्वाणि**=(knots) इसकी वासना ग्रन्थियों को **प्रशृणीहि**=प्रकर्षेण नष्ट करनेवाला बन। ज्ञान के द्वारा तू इसे वासनामय जगत् से ऊपर उठा। तू उसे इस प्रकार का ज्ञान दे कि यह **क्रविष्णुः**=औरों के मांस की इच्छावाला **क्रव्यात्**=मांस-भक्षक पुरुष औरों के नाश में लगा हुआ पुरुष **वृक्णम्**=छेदों व दोषों को **विचिनोतु**=अपने से पृथक् करनेवाला हो। यह औरों के विनाश पर अपने आमोद के भवन को न खड़ा करे।

भावार्थ—यातुधान को राजा उसके साथियों से अलग करे। ज्ञानी उसे ज्ञान देने के लिये प्राप्त हो और ज्ञान देकर उसकी वासना ग्रन्थियों को विनष्ट करे।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान द्वारा वासना विनाश

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्।
यद्वान्तरिक्षे पथिभिः पतन्तं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ६ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **इदानीम्**=अब **यत्र**=जहाँ भी **तिष्ठन्तम्**=ठहरे हुए, प्रसुप्त अवस्था में पड़े हुए हिंसक विचार को (यातुधान को) **उत वा**=अथवा **चरन्तम्**=गति करते हुए, अर्थात् जागरित अवस्था में कार्य करते हुए अशुभ विचार को **पश्यसि**=देखते हैं आप **तम्**=उसको **विध्य**=नष्ट करिये। हमारे जागरित व प्रसुप्त सभी अशुभ विचार विनष्ट हो जाएँ। (२) **यद् वा**=अथवा **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **पथिभिः पतन्तम्**=नाना मार्गों से गति करते हुए, विविधरूपों में प्रकट होते हुए **तम्**=इस यातुधान को **अस्ता**=सुदूर फेंकनेवाले आप **शिशानः**=हमारी बुद्धियों को तीव्र करते हुए **शर्वा**=नाशक शक्ति के द्वारा **विध्य**=बींध डालिये। आपकी कृपा से विविध रूपों में हृदय के अन्दर उठनेवाला अशुभ भाव विनष्ट हो जाए।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े और अशुभ भाव विनष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अपरिपक्वता को दूर करनेवाली ज्ञान की वाणियाँ

उतालब्धं स्पृणुहि जातवेद आलेभानादृष्टिभिर्यातुधानात्।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! गत मन्त्र के अनुसार आप मेरी बुद्धि को तीव्र करिये **उत**=और **आलेभानात्**=पकड़ लेनेवाले **यातुधानात्**=पीड़ा के कारणभूत राक्षसी भाव से **आलब्धम्**=पकड़े हुए मुझे आप **ऋष्टिभिः**=(ऋष गतौ, ऋषि दर्शनात्) क्रियाशीलता व ज्ञानरूप अस्त्रों के द्वारा **स्पृणुहि**=रक्षित करिये। मैं ज्ञान प्राप्ति में लगा हुआ होकर तथा क्रियाशील बनकर अपने को वासनाओं का शिकार होने से बचाऊँ। (२) **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **शोशुचानः**=ज्ञान से दीप्त होते हुए आप मुझे भी इस ज्ञान दीप्ति को प्राप्त कराने के द्वारा **पूर्वः**=(पॄ पालनपूरणयोः) मेरा पालन व पूरण करनेवाले होते हुए **निजहि**=इन राक्षसी भावों को नष्ट कर दीजिये। (३) **आमादः**=(आम अद्) कच्चेपन को समाप्त कर देनेवाली **एनीः**=उज्ज्वल-शुभ्र **क्ष्विङ्काः**=ज्ञान की वाणियाँ **तम्**=उस राक्षसी भाव को **अदन्तु**=खा जाएँ।

भावार्थ—हमारे अशुभ भाव दूर होकर हमारे जीवनों में शुद्ध भावों का वर्धन हो। ये ज्ञान की वाणियाँ हमारी अपरिपक्वता को दूर कर दें। परिपक्व विचारों के बनकर हम इन अशुभ वासनाओं में न फँस जाएँ।

ऋषिः—पायुः ॥ देवता—अग्नी रक्षोहा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान के द्वारा उत्कृष्ट जीवन का निर्माण

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यो यातुधानो य इदं कृणोति।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः यातुधानः**=जो औरों को पीड़ा पहुँचानेवाला है, **यः इदं कृणोति**=जो इस जगत् की हानि पहुँचाता है या इस लोक के प्राणियों की हिंसा करता है, **सः**

यतमः=वह जो भी है **तम्**=उसको **इह**=यहाँ **प्र ब्रूहि**=प्रकर्षेण उपदेश दीजिये। (२) हे **यविष्ठ**=अधिक से अधिक बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! **तम्**=उसे **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति के द्वारा **आरभस्व**=(to form) श्रेष्ठ बल दीजिये। **एनम्**=इसको **नृचक्षसः**=(नॄन् चष्टे=looks after men) प्रजा का पालन करनेवाले राजा की **चक्षुषे**=आँख के लिये **रन्धय**=(ar make subject to) वशीभूत करिये। राष्ट्र में राजा इन मनुष्यों पर दृष्टि रखे और इन्हें प्रजा विध्वंस के कार्यों से रोक कर, धीमे-धीमे ज्ञान प्रदान के द्वारा इनके सुधार का प्रयत्न करे।

भावार्थ—प्रभु यातुधानों को प्रेरणा देकर परिवर्तित जीवनवाला बनाते हैं। इन्हें राजा के वशीभूत करके इनका सुधार करते हैं।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राज कर्त्तव्य

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! तू **तीक्ष्णेन चक्षुषा**=बड़ी तीव्र दृष्टि से **यज्ञं रक्ष**=यज्ञ की रक्षा कर। इस राष्ट्रयज्ञ को यातुधानों के द्वारा किये जानेवाले विध्वंस से बचा। (२) हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले राजन्! **वसुभ्यः**=उत्तम निवासवालों के लिये, जीवन को उत्तमता से बितानेवालों के लिये तू इस राष्ट्रयज्ञ को **प्राञ्चं प्रणय**=सदा अग्रगतिवाला कर। यह राष्ट्र निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाला हो और यातुधानों से विपरीत वसुओं के लिये स्वयं उत्तम जीवन बितानेवालों तथा औरों को उत्तम जीवन बिताने देने वालों के लिये इस राष्ट्र को तू उन्नत कर। वसुओं को यहाँ उन्नति के सब साधन प्राप्त हों। (३) हे **नृचक्षः**=प्रजाओं का ध्यान करनेवाले राजा **रक्षांसि हिंस्रम्**=राक्षसी वृत्तियों को समाप्त करने के स्वभाववाले, **अभिशोशुचानम्**=बाहर व अन्दर दीप्तिवाले, बाहर स्वास्थ्य के तेज से सम्पन्न और अन्दर ज्ञान ज्योति से दीप्त **त्वा**=तुझको **यातुधाना**=ये प्रजा-पीड़क **मा दभन्**=हिंसित करनेवाले न हों। तुझे ये अपने दबाव में न ला सकें।

भावार्थ—राजा का मूल कर्तव्य यही है कि वह राष्ट्रयज्ञ के विघ्न का ही यातुधानों को दूर करे। यातुधानों को दूर करके वसुओं के लिये उन्नति के साधनों को प्राप्त कराये।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिविध दण्ड

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥ १० ॥

(१) हे राजन्! **नृचक्षाः**=प्रजाओं का पालन करनेवाला तू **विक्षु**=प्रजाओं में **रक्षः**=राक्षसी वृत्तिवाले के **परिपश्य**=सब ओर देखनेवाला हो। राष्ट्र में जहाँ भी कोई राक्षसी वृत्तिवाला व्यक्ति हो, वह तेरी आँख से ओझल न हो जाएँ। **तस्य**=उस राक्षस के **त्रीणि**=तीन **अग्रा**=प्रमुख दोषों को **प्रतिशृणीहि**=तू एक-एक करके समाप्त करनेवाला हो। राष्ट्र में सब अपराधों के मूल में 'काम, क्रोध तथा लोभ' ही होते हैं। इन तीनों मूल कारणों को तू समाप्त करनेवाला बन। ज्ञान को देकर तू इन्हें काम आदि से ऊपर उठानेवाला हो। (२) हे **अग्ने**=राष्ट्र की अग्रगति के साधक राजन्! **तस्य**=उसके **पृष्टीः**=आधारभूत (baching वाली) स्थानों लोगों को तू **हरसा**=अपनी तेजस्विता के द्वारा **शृणीहि**=नष्ट कर डाल। तेरे राष्ट्र में कोई व्यक्ति इन राष्ट्र के अपराधियों के सहायक (पृष्ठ)

न बनें। अपने घरों पर इन्हें ठहरने का अवसर न दें। (३) हे राजन्! तू **यातुधानस्य**=इस प्रजा-पीड़क के **मूलम्**=मूल को, पाप कर्म की आधारभूत वृत्ति को **त्रेधा**=तीन प्रकार से **वृश्च**=काट डाल। सबसे प्रथम 'वाग् दण्ड' के द्वारा, 'फिर ऐसा न करना' इस प्रकार समझाने के द्वारा इसकी वृत्ति को दूर करने का प्रयत्न करे। ऐसा न होने पर 'धिग् दण्ड' का करे, 'इतने कुलीन होकर ऐसा करते हो' इत्यादि वाक्यों से इसका संतक्षण करके इसे पाप से रोके। अन्त में अर्थदण्ड (जुरमाना) व वध दण्ड को देकर इसकी अशुभ वृत्ति को समाप्त करे।

भावार्थ—राजा यातुधानों को ज्ञान देकर 'काम-क्रोध-लोभ' का शिकार होने से बचाये। इसको पनाह देनेवालों को भी ताड़ित करे। यातुधान को क्रमशः 'वाग् दण्ड, धिग् दण्ड, अर्थदण्ड और वध दण्ड' के द्वारा पाप कर्म से निवृत्त करने के लिये यत्नशील हो।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अध्यापन व उपदेश द्वारा परिवर्तन

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि वृङ्धि ॥ ११ ॥

(१) हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रेणी राजन्! **यः**=जो **यातुधानः**=प्रजा-पीड़क व्यक्ति **अनृतेन**=अनृत से **ऋतं हन्ति**=ऋत को नष्ट करता है, वह **त्रिः**=तीन बार **ते**=तेरे **प्रसितिम्**=बन्धन में **एतु**=प्राप्त हो। प्रथम बार उसे 'वाग्दण्ड' देकर छोड़ दिया जाए। दूसरी बार उसके लिये 'धिग्दण्ड' का प्रयोग हो। फिर तीसरी बार 'अर्थदण्ड व वधदण्ड' के योग्य उसे समझा जाये। (२) हे **जातवेदः**=राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करनेवाले राजन्! **तम्**=उस यातुधान को **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्वाला से **स्फूर्जयन्**=दीप्त करते हुए (स्फुर्ज्=to sline) **गृणते समक्षम्**=स्तोता व उपदेष्टा के सामने **एनम्**=इसको **निवृङ्धि**=निश्चय से पवित्र करने का प्रयत्न कर (वृणक्ति to purify)। इस मन्त्र भाग से यह स्पष्ट है कि राजा ने जेल में इन अपराधियों के सुधार का पूर्ण प्रयत्न करना है और इस प्रयत्न में मुख्य बात यह है कि जेल में उनके ज्ञान के मापक को ऊँचा करने का प्रयत्न किया जाये और वहाँ उपदेष्टा की व्यवस्था करके इनके जीवन को पवित्र करने का प्रबन्ध हो। 'अध्यापन व उपदेश' अपराधी की मनोवृत्ति को परिवर्तित करने में बड़े सहायक होंगे।

भावार्थ—कैदियों के लिये अध्यापन व उपदेश की व्यवस्था करके उनके जीवन को परिवर्तित करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्य ज्योति से यातुधानत्व का दहन

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजं येन पश्यसि यातुधानम्।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥ १२ ॥

(१) हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रेणी राजन्! तू **तद् चक्षुः**=उस आँख को **रेभे**=(talker) बहुत बोलनेवाले पर भी **प्रतिधेहि**=रख, **येन**=जिस आँख से तू **शफारुजम्**=राष्ट्र वृक्ष के मूल पर कुठाराघात करनेवाले (शफ=root of a tree) **यातुधानम्**=प्रजापीड़क को **पश्यसि**=देखता है। राजा को यातुधानों पर तो दृष्टि रखनी ही चाहिए, इनके अतिरिक्त बहुत बोलनेवालों पर भी उसे दृष्टि रखनी है। ये रेभ प्रजा के बहकाने में समर्थ हो जाते हैं और उन्हें मार्ग से भटका देते हैं। (२) हे राजन्! तू **अथर्ववत्**=एक अडिग पुरुष की तरह (न थर्वति) **दैव्येन**=दिव्यगुणों की

उत्पत्ति के लिये हितकर **ज्योतिषा**=ज्ञान से इस **सत्यं धूर्वन्तम्**=सत्य की हिंसा करते हुए **अचितम्**=नासमझ यातुधान को **न्योष**=(नि ओष) नितरां दग्ध करनेवाला हो (उष दाहे)। ज्ञान के द्वारा इसके यातुधानत्व को समाप्त करके इसे पवित्र जीवनवाला बना दीजिये।

भावार्थ—राजा ज्ञान प्रसार के द्वारा यातुधानों के यातुधानत्व को समाप्त करके उन्हें दैवी वृत्तिवाला बनाये।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पति-पत्नी व मित्रों को कटु शब्दों के लिये वाग्दण्ड

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=राजन्! **यद्**=जो **अद्य**=आज **मिथुना**=पति-पत्नी परस्पर **शपातः**=एक दूसरे को आकृष्ट करनेवाले होते हैं, परस्पर अपशब्द बोल बैठते हैं और क्रोध में आकर राजाधिकरण में (न्यायालय में) आते हैं। (२) **यत्**=जो **रेभाः**=बहुत बोलने के स्वभाववाले मित्र **वाचः**=वाणी के **तृष्टम्**=(hoarse, rugged, harsh, pungent) कटुता को **जनयन्त**=उत्पन्न करते हैं, अर्थात् बात-बात में तेजी में आ बैठते हैं और कड़वे शब्दवाले बैठते हैं और राजाधिकरण में आते हैं। (३) इन **यातुधानान्**=एक दूसरे को पीड़ित करनेवालों को **तया**=उस वाणी से **हृदये विध्य**=हृदय में विद्ध कर **या**=जो वाणी **मन्योः**=कुछ भी विचारशील पुरुष के **मनसः**=मन के लिये **शरव्या जायते**=वाण समूह बन जाती है। अर्थात् इन व्यक्तियों के हृदय में वे शब्द चुभते हैं और उनके अन्दर कुछ आत्मग्लानि पैदा करते हैं और उन्हें अपने कर्म के लिये पश्चात्तापयुक्त करते हैं। (४) पति-पत्नी परस्पर कुछ कटु बोल बैठें और यदि मित्र आपस में लड़ पड़ें तो राजा को उन्हें वाग्दण्ड देकर उस बात के लिये कुछ शर्मिन्दा कर देना ही ठीक है। उन्हें इस प्रकार धिक्कृत कर देना कि वे कुछ अपने दिलों में हो गई गलती को महसूस करे और आगे से वैसी गलती न करने का सङ्कल्प करें।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर कटु शब्द बोल बैठें या मित्र परस्पर तेजी में अशुभ शब्द बोल जाएँ तो राजा उन्हें वाग्दण्ड द्वारा भविष्य में वैसा न करने के लिये प्रेरित करे।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'तप, तेज व ज्योति' से पाप का दूर करना

परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपो अभि शोशुचानः॥ १४॥

(१) **तपसा**=तप के द्वारा **यातुधानान्**=पीड़ा के देनेवालों को **पराशृणीहि**=सुदूर विनष्ट कर। जिस समय जीवन में तप की कमी आती है, भोगवृत्ति बढ़ती है, उसी समय मनुष्य औरों को पीड़ित करनेवाला बनता है। यदि प्रजा में तपस्या की भावना बनी रहे, तो उनके जीवनों में 'यातुधानत्व' आता ही नहीं। (२) हे **अग्ने**=राजन्! **हरसा**=(ज्वालितेन तेजसा द० १३।४१) तेजस्विता के द्वारा **रक्षः**=राक्षसी वृत्तिवालों को **पराशृणीहि**=सुदूर विशीर्ण करनेवाले होइये। तेजस्विता अशुभ वृत्तियों को विनष्ट करनेवाली है। तेजस्वी पुरुष रमण व मौज की वृत्ति से ही ऊपर उठ जाता है, सो उसे औरों के क्षय करने का विचार ही नहीं उठता। (३) **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्वाला से **मूरदेवान्**=मूर्खतापूर्ण व्यवहार करनेवालों को **पराशृणीहि**=नष्ट करिये। ज्ञान के

प्रसार के द्वारा मूर्खता के नष्ट होने पर सब व्यवहार विवेक व सभ्यता के साथ होने लगते हैं। (४) हे राजन्! **अभि शोशुचानः**=आन्तरिक व बाह्य पवित्रता को करता हुआ अथवा प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या दोनों की दीप्ति को करता हुआ तू **असुतृपः**=केवल अपने प्राणों के तृप्त करने में लगे हुए लोगों को **परा**=दूर कर। आत्मविद्या इन्हें केवल निजू प्राणतृप्ति से ऊपर उठाये। ये जीवन का लक्ष्य 'आत्म-प्राप्ति' को बनाकर केवल प्राणपोषण की प्रवृत्ति से ऊपर उठनेवाले हों। यद्यपि ये 'असुतृप' समाज को इतनी हानि नहीं पहुँचाते जितनी कि 'यातुधान, रक्षस् व मूरदेव' पहुँचाते हैं, तथापि सम्पूर्ण राष्ट्र की उन्नति के लिये ऐसे लोगों का न होना आवश्यक ही है।

भावार्थ—तप के द्वारा यातुधानत्व का विनाश हो, तेजस्विता से राक्षसीवृत्ति का विलोप हो और ज्ञान-प्रसार से मूरदेवत्व का मरण हो। प्रकृतिविद्या के साथ आत्मविद्या के उपदेश से मनुष्य असुतृप ही बने रहने से ऊपर उठें।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हम 'वाचास्तेन' न बनें

परा॒द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु तृ॒ष्टाः।
वा॒चास्ते॑नं॒ शर॑व ऋच्छन्तु॒ मर्म॒न्विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं यातु॒धानः॑ ॥ १५ ॥

(१) **अद्य**=आज **देवाः**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले विद्वान् **वृजिनम्**=पाप को **पराशृणन्तु**=दूर शीर्ण करें। ज्ञान की प्राप्ति से पापवृत्ति दूर हो। राष्ट्र में राजा ज्ञान-प्रसार का पूर्ण ध्यान करे। इस ज्ञान-प्रसार से ही पापवृत्ति विनष्ट होगी। (२) **तृष्टाः**=अत्यन्त कटु **शपथाः**=(शप आक्रोशे) अभिशाप **एनम्**=इस कटु शब्द बोलनेवाले को ही **प्रत्यग् यन्तु**=वापिस प्राप्त हों। समझदार मनुष्य गालियों का उत्तर गालियों में नहीं देता और इस प्रकार अपशब्द बोलनेवाले के पास ही उसके अपशब्द लौट जाते हैं। और वस्तुतः **वाचास्तेनम्**=(अनृत वचनं सा०) वाणी की चोरी करनेवाले, अर्थात् अनृत व कटु शब्द बोलनेवाले इस व्यक्ति को उसके वचन ही **शरवः**=शरतुल्य होकर **मर्मन् ऋच्छन्तु**=मर्मस्थलों में प्राप्त हों। (३) इस वाचास्तेन को जहाँ अपने शब्द ही पीड़ाकर हों, वहाँ यह **यातुधानः**=औरों को पीड़ित करनेवाला व्यक्ति **विश्वस्य**=उस सर्वव्यापक प्रभु के (विशति सर्वत्र) **प्रसितिं एतु**=बन्धन को प्राप्त हो। वेद में अन्यत्र कहा है कि 'ये ते पाशा वरुण सप्त-सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विष्पिता रुशन्तः। ... सर्वे अनृतं वरुणम्' वरुण के पाश अनृतभाषण करनेवाले को बाँधनेवाले हों। यह वाचास्तेन पशु-पक्षियों की योनियों में भटकता हुआ, देर में फिर कभी मनुष्य योनि को प्राप्त करता है। अपने जीवनकाल में भी अपने वचनों से स्वयं कष्ट को प्राप्त करता है।

भावार्थ—ज्ञान से पाप दूर होता है। ज्ञानी अपशब्दों को न लेकर बोलनेवाले के प्रति ही उनको लौटा देता है।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रूरता को रोकना

यः पौरु॑षेयेण क्र॒विषा॑ सम॒ङ्क्ते यो अश्व्ये॑न प॒शुना॑ यातु॒धानः॑।
यो अ॒घ्न्याया॒ भर॑ति क्षी॒रम॑ग्ने॒ तेषां॑ शी॒र्षाणि॒ हर॒साऽपि॑ वृश्च ॥ १६ ॥

(१) हे **अग्ने**=राजन्! **तेषाम्**=उनके **शीर्षाणि**=सिरों को **हरसा**=अपने ज्वलित तेज से **वृश्च**=तू छिन्न करनेवाला हो। अर्थात् इनको उचित दण्ड देकर उनके अपवित्र कार्यों से उन्हें रोक। सबसे प्रथम उसको रोक **यः**=जो **पौरुषेयेण**=पुरुष सम्बन्धी **क्रविषा**=मांस से **समङ्क्ते**=अपने

को संगत करता है। नर-मांस के वर्धन की कामना करता है। (२) **यः**=जो **अश्व्येन**=घोड़े के मांस से अपने को संगत करता है घोड़े के मांस को खाता है अथवा घोड़े को दिन-रात जोते रखकर अपने भोग बढ़ाने का यत्न करता है। **यः यातुधानः**=जो औरों को पीड़ित करनेवाला **पशुना**=अन्य पशुओं से, अन्य पशुओं को पीड़ित करके अपने धन को बढ़ाना चाहता है, गधे आदि पर अधिक बोझ लादकर अपनी अतिरिक्त आजीविका सिद्ध करने के लिये यत्नशील होता है। (३) और **यः**=जो **अघ्न्यायाः**=अहन्तव्य गौ के **क्षीरम्**=दूध को **भरति**=दोहने की बजाय पीड़ित करके हरना चाहता है (हरति-भरति)। बछड़े को भी उचित मात्रा में दूध न देकर जो सारे दूध को ले लेने की कामना करता है उसे राजा दण्ड देकर इस अपराध से रोके। मनुष्यों पर, घोड़ों पर, अन्य पशुओं पर तथा गौवों पर होनेवाली क्रूरता को दूर करना यह राज कर्त्तव्य है।

भावार्थ—राजनियम ऐसा हो कि कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्यों पर, घोड़े व अन्य पशुओं पर व गौवों पर क्रूरता न कर सके।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोपीड़क को दण्ड

संवत्सरीणं पय उस्त्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्षः।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात्तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मन्॥ १७॥

(१) हे **नृचक्षः**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाले प्रजापालक राजन्! **यातुधानः**=गौ को पीड़ित करके उसके दूध को छीननेवाला यातुधान **उस्त्रियायाः**=गौ का जो **संवत्सरीणं पयः**=वर्षभर में मिलनेवाला दूध है **तस्य मा आशीत्**=उसका भोजन न करे। उस यातुधान को वर्षभर गौ का दूध पीने को न मिले। वह गौ की सेवा करे, पर उसे गौ के दूध से वञ्चित रखा जाये। क्रूरता से दुग्धहरण का यही समुचित दण्ड है। (२) **यतमः**=जो भी यातुधान **अग्ने**=हे राजन्! **पीयूषम्**=अभिनव पय को शुरू-शुरू में स्तनों से बाहर आनेवाले दूध को जो वस्तुतः बछड़े का भाग है, उस दूध को **तितृप्सात्**=अपनी तृप्ति का साधन बनाने की इच्छा करता है **तम्**=उस **प्रत्यञ्चम्**=प्रतिकूल मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति को **अर्चिषा**=ज्ञान ज्वाला से **मर्मन्**=मर्मस्थल में **विध्य**=तू विद्ध करनेवाला बन। उसे तू इस प्रकार के शब्दों में समझाने का प्रयत्न कर कि 'बच्चे भूखे बैठे हों और मात-पिता मजे से खा रहे हों', तो क्या यह दृश्य माता-पिता की मानवता का सूचक है! इसी प्रकार गौ का बछड़ा तरसता रह जाये और तुम गौ के अधस् से एक-एक बूंद दूध को निकालने का प्रयत्न करो तो यह कहाँ तक ठीक है? इस प्रकार उसे ज्ञान दिया जाए कि यह उसके हृदय में घर कर जाये। उसे अपना अपराध मर्मविद्ध करने लगे।

भावार्थ—पीड़ा देकर गोदुग्ध हरण करनेवाले को वर्षभर दूध न मिल सकने का दण्ड दिया जाये।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विष नकि दूध

विषं गवां यातुधानाः पिबन्त्वा वृश्च्यन्तामादितये दुरेवाः।
परैनान्देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम्॥ १८॥

(१) **यातुधानाः**=गत मन्त्र में वर्णित पीड़ित करके गौवों के दूध को निकालनेवाले यातुधान लोग **गवाम्**=गौवों के **विषम्**=विष को **पिबन्तु**=पीयें। वस्तुतः जब गौवों को पीड़ित किया जाता

है तो उनके दूध आदि में विष की उत्पत्ति हो ही जाती है। सो इस विषैले दूध को पीनेवाले लोग, दूध क्या पीते हैं, विष को ही पीते हैं। **अदितये**=अदिति शरीर के अखण्डन व स्वास्थ्य के लिये दूध आदि का अतिमात्र प्रयोग करनेवाले ये यातुधान **दुरेवाः**=गलत मार्ग पर चलते हुए **आवृश्च्यन्ताम्**=छिन्न स्वास्थ्यवाले किये जायें। इन्होंने अपने गलत कर्मों के कारण दूध न पीकर विष ही पिया है। (२) **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **एनान्**=इन लोगों को **परराददातु**=स्वास्थ्यभंग आदि अनुभवों को प्राप्त कराके इन अपकर्मों से पृथक् करे। ये लोग दूध के साथ **ओषधीनां भागम्**=ओषधियों के सेवनीय अंश को **पराजयन्ताम्**=(लभन्ताम्) प्राप्त करनेवाले हों। 'पयः पशूनाम्, रसमोषधीनाम्' इस मन्त्र भाग के अनुसार दूध व ओषधिरस दोनों का ही प्रयोग हितकर है। इस अवस्था में दूध को अनुचित प्रकार से प्राप्त करने की आवश्यकता भी न रहेगी।

भावार्थ—गौ को पीड़ित करके प्राप्त किया गया दूध विषमय हो जाता है। उसका प्रयोग ठीक नहीं।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-प्रसार व यातुधानत्व का अन्त

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
अनु दह सहमूरान्क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १९ ॥

(१) हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! तू **सनात्**=चिरकाल से **यातुधानान्**=इन प्रजा व पशुओं के पीड़कों को **मृणसि**=पीड़ित करता है। **त्वा**=तुझे **पृतनासु**=संग्रामों में **रक्षांसि**=ये राक्षसी वृत्ति के लोग **न**=नहीं **जिग्युः**=जीत पाते। (२) तू **क्रव्यादः**=इन मांस-भक्षकों को **सहमूरान्**=जड़ समेत **अनुदह**=भस्म कर दे। इनको जड़ समेत भस्म करने का भाव यह है कि 'ये न तो मांस खायें और ना ही इनकी मांस खाने की रुचि रह जाए। विषय जायें, तो विषयरस भी जाये। **ते**=आपके **दैव्यायाः हेत्याः**=दिव्य वज्र से, प्रकाशमय वज्र से **मा मुक्षत**=कोई भी यातुधान मुक्त न रह जाए। ज्ञान प्रकाश के फैलने से उनका यातुधानत्व व क्रव्यादपना ही समाप्त हो जाए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ज्ञान प्रसार के द्वारा यातुधानत्व को समाप्त करे।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अघशंस-दहन

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तात्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात्।
प्रति ते ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥ २० ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **अधरात्**=नीचे से **उदक्तात्**=ऊपर से अर्थात् दक्षिण से तथा उत्तर से, **त्वम्**=आप **पश्चात्**=पीछे से **उत**=और **पुरस्तात्**=सामने से अर्थात् पश्चिम से और पूर्व से **रक्षा**=रक्षित करिये। (२) **शोशुचतः**=सर्वत्र पवित्रता का व दीप्ति का संचार करनेवाले **ते**=आपके **ते**=वे **अजरासः**=कभी जीर्ण न होनेवाले **तपिष्ठाः**=अत्यन्त सन्तापक दण्ड **अघशंसम्**=पाप का शंसन करनेवाले को **दहन्तु**=भस्म कर दें। आपकी फैलाई हुई ज्ञानरश्मियों से इनकी अघशंसन की वृत्ति समाप्त हो जाए। ये ठीक मार्ग को देखकर अशुभ मार्ग से विमुख हो जाएँ। राजा को भी यही चाहिए कि राष्ट्र में सत्य ज्ञान के प्रसार की ऐसी व्यवस्था करे कि लोग अशुभ बातों का शंसन न करते रहें।

भावार्थ—प्रभु हमें सब ओर से रक्षित करें। प्रभु का प्रकाश व प्रभु से दिये जानेवाले दण्ड

अशुभ के शंसन की वृत्ति को समाप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रक्षण व पूर्ण-जीवन

पश्चात्पुरस्तादधरादुदक्तात्कविः काव्येन परि पाहि राजन्।
सखे सखायमजरो जरिम्णेऽग्ने मर्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः॥ २१ ॥

(१) हे **राजन्**=ज्ञानदीप्त प्रभो! अथवा ब्रह्माण्ड के नियमित (reguleted) करनेवाले प्रभो! आप **कविः**=क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी हैं। आप **काव्येन**=इस वेदरूप अजरामर काव्य के द्वारा (पश्यदेवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति) पश्चात् **पुरस्तात्**=पीछे व आगे से, पश्चिम व पूर्व से **अधरात् उदक्तात्**=नीचे व ऊपर से, दक्षिण व उत्तर से हमें **परिपाहि**=रक्षित करिये। आपके इस काव्य की प्रेरणा के अनुसार चलते हुए हम सदा सुरक्षित जीवन बिता पायें। (२) हे **सखे**=मित्र प्रभो! आप **सखायम्**=अपने सखा मुझको रक्षित करिये। 'मित्र' मित्र का रक्षण करता ही है, मित्र का मित्रत्व है ही यह कि वह रक्षण करता है 'प्रमीतेः त्रायते'। (३) हे **अग्ने**=सब रोगों व पापों से बचाकर आगे ले चलते हुए **त्वम्**=आप **न**=हमें **अजरः**=अजर-जरारहित होते हुए **जरिम्णे**=पूर्ण जरावस्थावाले दीर्घजीवन के लिये प्राप्त कराइये। **अमर्त्यः**=आप अमर्त्य हैं। हम **मर्तान्**=मरणधर्मा अपने मित्रों को आप पूर्ण जीवनरूप अमरता को प्राप्त करानेवाले हों। आपके मित्र बनकर हम पूरे सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें वेदरूप काव्य के द्वारा पाप से बचाकर पूर्ण जीवन प्राप्त करायें।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु का धारण

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि। धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावताम्॥ २२ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सहस्य**=शत्रुओं का मर्षण करनेवालों में उत्तम प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने में धारण करते हैं, जो आप **पुरम्**=(पृ पालनपूरणयोः) हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। हमारे शरीर आपकी कृपा से ही रोगों से आक्रान्त नहीं होते और हमारे मन न्यूनताओं से रहित रहते हैं। **विप्रम्**=ज्ञान को देकर आप हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। ज्ञान से सब वासनाएँ दग्ध हो जाती हैं और इस प्रकार हमारे मन निर्मल हो जाते हैं। **धृषद्वर्णम्**=आपके गुणों का वर्णन व नामों का उच्चारण ही हमारे शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है, (२) हे प्रभो! आपको हम **दिवे दिवे**=प्रतिदिन धारण करते हैं। उन आपको जो **भङ्गुरावताम्**=हमारा भंग करनेवाली राक्षसी वृत्तियों के **हन्तारम्**=नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण हमारी अशुभवृत्तियों को नष्ट करता है।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

व्यापक ज्ञान व सूर्यवत् गति

विषेण भङ्गुरावतः प्रति ष्म रक्षसो दह। अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिर्ऋष्टिभिः॥ २३ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप **विषेण**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक ज्ञान के द्वारा **भङ्गुरावतः**=हमारी शक्तियों का भंग करनेवाली **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तियों को **प्रति दह स्म**=निश्चय से एक-एक करके भस्म कर दीजिये। ज्ञानाग्नि से वासनाएँ जल जाती हैं। (२) **तिग्मेन शोचिषा**=तीव्र ज्ञान की ज्योति से तथा **तपुः अग्राभिः**=(तपुः=the sun) सूर्य है अग्रभाग में

जिनके ऐसी **ऋष्टिभिः**=(ऋष् गतौ) गतियों से हमारी राक्षसी वृत्तियों का दहन करिये। सूर्य को सन्मुख रख के अर्थात् सूर्य को आदर्श मानकर की जानेवाली गतियाँ 'तपुरग्रा ऋष्टियाँ' हैं। 'सूर्याचन्द्रमसाविव'=सूर्य और चन्द्रमा की तरह नियमित गतियों से अशुभवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—व्यापक व दीप्त ज्ञान से तथा सूर्य की तरह नियमित गति से हम अशुभवृत्तियों का दहन करनेवाले हों।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तीव्र बुद्धि व नाम-स्मरण

प्रत्यग्ने मिथुना दह यातुधाना किमीदिना। सं त्वा शिशामि जागृह्यदब्धं विप्र मन्मभिः ॥ २४ ॥

(१) हमारे जीवनों में 'काम-क्रोध' प्रायः साथ-साथ चलते हैं, 'कामात् क्रोधोऽभिजायते', क्रोध तो पैदा ही काम से होता है। इसी प्रकार 'लोभ मोह' का द्वन्द्व है। जिस भी वस्तु का लोभ होता है, उसी के प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है। 'मद मत्सर' भी द्वन्द्वात्मक हैं, जब मद होता है तभी मत्सर भी आता है। हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! इन **मिथुना**=द्वन्द्वभूत **किमीदिना**='किम् इदानीम् अद्मः' 'अब क्या खायें और अब क्या खायें' इस वृत्तिवाले **यातुधाना**=औरों को पीड़ित करनेवाले राक्षसी भावों को **प्रतिदह**=भस्म कर दीजिये। (२) जीव की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि मैं **त्वा**=तुझे **संशिशामि**=तीव्र बुद्धिवाला करता हूँ, **जागृहि**=तू जाग और इन वासनाओं को आक्रमण का अवसर ही न दे। उनके आक्रमण होने पर भी इस तीव्र बुद्धि से उनको भस्म करनेवाला बन। हे **विप्र**=अपना पूरण करनेवाले जीव! मैं तुझे **मन्मभिः**=ज्ञानपूर्वक किये गये इन स्तवनों के द्वारा **अदब्धम्**=अहिंसित बनाता हूँ। जो भी प्रभु का नामस्मरण करता है, उसके अर्थ का चिन्तन करता है, वह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—तीव्र बुद्धि से, सदा सावधान रहने से तथा समझ के साथ प्रभु नामस्मरण से हम वासनाओं का विनाश करें।

ऋषिः—**पायुः** ॥ देवता—**अग्नी रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

हृदय में प्रभु-स्थापन द्वारा रिक्तता का न होने देना

प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि विश्वतः प्रति। यातुधानस्य रक्षसो बलं वि रुज वीर्यम् ॥ २५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **रक्षसः हरः बलम्**=राक्षसीभावों के हरणात्मक तेज को **हरसा**=अपने तेज से **विश्वतः प्रति**=सब ओर से **प्रति शृणीहि**=नष्ट करिये। काम आदि आसुरभाव अत्यन्त प्रबल हैं, परन्तु प्रभु के तेज के सामने इनका तेज तुच्छ हो जाता है। (२) इस **यातुधानस्य**=पीड़ा का आधान करनेवाले **रक्षसः**=राक्षसीभाव के **वीर्यम्**=सामर्थ्य को **विरुज**=विशेषरूप से भग्न कर दीजिये। आपके तेज को धारण करके हम आसुरभावों के तेज को नष्ट करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का हृदयों में धारण करें। परिणामतः हमारे हृदय रिक्त न होंगे और उनमें आसुरभावों के लिये स्थान ही न होगा।

सारे सूक्त में भिन्न-भिन्न प्रकार से यही कहा गया है कि हम प्रभु का धारण करेंगे तो हमारे राक्षसीभाव स्वतः नष्ट हो जाएँगे। इन राक्षसीभावों को नष्ट करके मनुष्य उत्कृष्ट मूर्धावाला ज्ञानी अथवा उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ 'मूर्धन्वान्' बनता है। यह अंग-प्रत्यंगों में रसवाला होने के कारण 'आंगिरस' होता है। तथा सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनकर 'वामदेव्य' कहलाता है। यही अगले सूक्त का 'ऋषि' है। यह प्रार्थना करता है कि—

[८८] अष्टाशीतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम का धारण

हुविष्पान्तमुजरं स्वुर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमुग्नौ।
तस्यु भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वुधया पप्रथन्त ॥ १ ॥

(१) शरीर में प्रभु वैश्वानर अग्नि के रूप से रहते हैं। इस वैश्वानर अग्नि में, शरीर में उत्पन्न होनेवाले 'सोम' की आहुति दी जाती है, तो सोम का शरीर में ही रक्षण हो जाता है। इस रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम (क) प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हों, (ख) ज्ञान की वृद्धि में सदा लगे रहें और (ग) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हों। इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **स्वर्विदि**=(स्वृ शब्दे) स्तुति शब्दों को (विद लाभे) प्राप्त करनेवाले, अर्थात् प्रभु का स्तवन करनेवाले, **दिविस्पृशि**=प्रकाश में स्पर्श करनेवाले, अर्थात् प्रकाशमय जीवनवाले, **अग्नौ**=गतिशील (अगि गतौ) पुरुष में **आहुतम्**=जिसकी आहुति दी जाती है और **जुष्टम्**=जो प्रीतिपूर्वक सेवन किया जाता है, वह **हविः**=यह सोमरूप हवि **पान्तम्**=शरीर का रक्षण करनेवाली है, **अजरम्**=कभी भी जीर्ण न होने देनेवाली है (न जरा यस्मात्)। सोम के शरीर में ही आहुत करने के द्वारा हम शरीर का रोगों से बचाव कर पाते हैं और इस शरीर में जीर्णता को नहीं आने देते। (२) **तस्य**=उस सोमरूप हवि के **भर्मणे**=भरण के लिये, **भुवनाय**=उत्पादन के लिये तथा **धर्मणे**=धारण के लिये **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **स्वधया**=आत्मतत्त्व के धारण के द्वारा **कम्**=सुख को **पप्रथन्त**=विस्तृत करते हैं। सोम के रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम (क) प्रभु का स्मरण करें। यह प्रभु-स्मरण हमें विलास के मार्ग पर जाने से बचाता है। प्रभु-स्मरण के अभाव में विलास की वृत्ति बढ़कर विनाश ही विनाश हो जाता है। (ख) साथ ही प्रसन्न रहना भी आवश्यक है। शोक, क्रोध, ईर्ष्यादि वृत्तियाँ भी सोम के विनाश का कारण बनती हैं। इसीलिए ब्रह्मचारी के लिए क्रोध, शोक आदि का त्याग आवश्यक है।

भावार्थ—शरीर में सोम का रक्षण ही उसे नीरोग व अजर बनाता है। इसके रक्षण के लिए आवश्यक है कि (क) प्रभु का स्मरण करें, (ख) ज्ञान प्राप्ति में लगे रहें, (ग) सदा क्रियाशील बने रहें।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्ग का प्रारम्भ

गीर्णं भुवनं तमुसापगूळ्हमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ।
तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरणयन्नोषधीः सुख्ये अस्य ॥ २ ॥

(१) सृष्टिकाल की समाप्ति पर **गीर्णम्**=निगल लिया गया, अर्थात् कारणरूप में चला गया यह **भुवनम्**=सारा जगत् **तमसा अपगूढम्**=अन्धकार से आवृत हो जाता है, 'तमस्' नामवाली प्रकृति में छिप जाता है। फिर प्रलयकाल की समाप्ति पर **अग्नौ जाते**=प्रभु की तप रूप अग्नि के प्रकट होने पर **स्वः**=(इदं सर्वम् सा०) यह सम्पूर्ण संसार **आविः अभवत्**=प्रादुर्भूत हो जाता है। 'ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'। प्रलयकाल समाप्त होता है और अग्नि नामवाले प्रभु अपनी तप की अग्नि से इस सारे ब्रह्माण्ड को उस प्रकृति में से प्रादुर्भूत कर देते हैं। (२) **तस्य अस्य**=उस अग्नि नामक इस प्रभु की **सख्ये**=मित्रता में **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अरणयन्**=आनन्द

का अनुभव करते हैं। **पृथिवी**=यह पृथिवीलोक, **द्यौः**=द्युलोक **उत**=तथा **आपः**=अन्तरिक्षलोक और **ओषधीः**=पृथिवी में उत्पन्न होनेवाली ये ओषधियाँ **अरणयन्**=(प्रीतिं कृतवन्तः) प्रीति को उत्पन्न करनेवाली होती हैं। देववृत्तिवाले लोग प्रभु के सान्निध्य में आनन्द का अनुभव करते हैं और इन देवों को सब लोक व ओषधियाँ आनन्दित करती हैं। प्रभु-भक्त के लिये प्रभु का बनाया हुआ यह संसार सुन्दर ही सुन्दर है। इस में सब चीजों का मर्यादित प्रयोग करता हुआ यह भक्त स्वस्थ, सबल व सुन्दर जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—प्रकृति गर्भ में गया हुआ संसार, सर्ग के आदि में प्रभु की तप की अग्नि से फिर प्रादुर्भूत हो जाता है। देववृत्ति के पुरुष प्रभु-उपासन में आनन्द का अनुभव करते हुए संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में आनन्द को पाते हैं।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का उपासन

देवेभिर्न्विषितो यज्ञियेभिरग्निं स्तोषाण्यजरं बृहन्तम्।
यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्॥ ३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार उत्पन्न हुई-हुई इस सुन्दर सृष्टि में देववृत्ति का पुरुष चाहता है कि **यज्ञियेभिः**=आदर के योग्य (यज=पूजा) **देवेभिः**='मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव' उत्तम माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों से **नु**=निश्चयपूर्वक **इषितः**=प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ मैं **अग्निम्**=इस अग्रणी प्रभु को **स्तोषाणि**=स्तुति करनेवाला बनूँ जो अग्नि **अजरम्**=कभी जीर्ण होनेवाला नहीं, **बृहन्तम्**=जो सदा वर्धमान है। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करूँ **यः**=जो **भानुना**=अपनी ज्ञानदीप्ति से, अपने तप से 'यस्य ज्ञानमयं तपः' **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=प्रकाशमय द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवी को **आततान**=विस्तृत करते हैं। उस प्रभु का मैं स्तवन करूँ जो **रोदसी**=इन द्यावापृथिवी को तथा **अन्तरिक्षम्**=इनके बीच में स्थित इस अन्तरिक्षलोक को **भानुना**=दीप्ति से **आततान**=व्याप्त करता है। यहाँ अर्थ में 'भानुना' और 'आततान' शब्दों की पुनरावृत्ति करनी होती है। प्रभु इन लोकों को अपने तप व ज्ञान से बनाते हैं और इन्हें प्रकाश से परिपूर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—देवताओं से उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करते हुए हम सृष्टि निर्माता प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रथम-होता

यो होतासीत्प्रथमो देवजुष्टो यं समाञ्जन्नाज्येना वृणानाः।
स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार देवों से प्रेरणा को प्राप्त करके मैं उस प्रभु का उपासन करता हूँ **यः**=जो **प्रथमः होता**=सर्वमहान् होता **आसीत्**=हैं। उस प्रभु ने ही इस सृष्टि यज्ञ को विस्तृत किया है। इस सृष्टियज्ञ को करके वे प्रभु ही हमें सब पदार्थों व उन्नति के लिये आवश्यक साधनों के देनेवाले हैं। ये प्रभु **देवजुष्टः**=देवों से प्रीतिपूर्वक उपासित होते हैं। (२) प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **आवृणानाः**=वरण करते हुए लोग **आज्येन**=ज्ञान की दीप्ति से **समाञ्जन्**=अपने को सम्यक् अलंकृत करते हैं। आज्य=घृत व दीप्ति के पर्यायवाची शब्द हैं। अञ्ज् धातु कान्तिवाचक

है, उससे बना 'आज्य' शब्द यहाँ ज्ञान की कान्ति व दीप्ति का संकेत कर रहा है। ज्ञान के द्वारा ही प्रभु प्राप्य हैं, सूक्ष्म बुद्धि से ही प्रभु दर्शन होता है। (३) **स**=वह **जातवेदाः**=सर्वज्ञ **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु ही **अकृणोत्**=इस सारे संसार को बनाते हैं, **यत्**=जो **पतत्रि**=उड़नेवाला है, अर्थात् पक्षी, **इत्वरम्**=जो ज़मीन पर गतिवाला है, अर्थात् सर्प आदि, **स्थाः**=जो स्थावर है, अर्थात् वृक्ष आदि और जो **जगत्**=जंगम मनुष्य आदि प्राणी हैं इन सबको वे प्रभु बनाते हैं। (४) **श्वात्रम्**=(शीघ्रम् सा०) प्रभु इस सम्पूर्ण संसार को शीघ्र ही बना डालते हैं (in no time)। समय तो उसको लगता है जिसके ज्ञान व जिसकी शक्ति में कुछ अल्पता हो। श्वात्रं शब्द का अर्थ 'श्विगतौ' से यह भी है यह सारा संसार बड़ी तीव्रगति में है, यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं। यह संसार है, जगत् है (सृ गतौ, गम् गतौ) जरान है (ओहाङ् गतौ), world (वर्ल्ड) है, यहाँ सब कुछ whirling motion (ह्वर्लिङ मोशन) में है, चक्राकार गति में है।

भावार्थ—प्रभु ने इस गतिमय संसार को बनाया है, हम ज्ञान की ज्योति को बढ़ाकर इस प्रभु का ही वरण करें।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मनन, स्वाध्याय व स्तवन

यज्जातवेदो भुवनस्य मूर्धन्नतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन।
तं त्वाहेम मतिभिर्गीर्भिरुक्थैः स यज्ञियो अभवो रोदसिप्राः ॥ ५ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ! **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **यत्**=जो आप **रोचनेन सह**=ज्ञान की दीप्ति के साथ **भुवनस्य मूर्धन्**=इस ब्रह्माण्ड के शिखर पर **अतिष्ठः**=स्थित होते हैं। अर्थात् सारे ब्रह्माण्ड के शिरोमणि हैं, इसके शासक हैं और सभी को ज्ञान दे रहे हैं। **तं त्वा**=उन आपको **मतिभिः**=मननों के द्वारा, **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा, अर्थात् हृदय में चिन्तन, मस्तिष्क में ज्ञान व वाणी में स्तुतिवचनों के धारण के द्वारा **अहेम**=प्राप्त होती हैं। प्रभु ब्रह्माण्ड में सर्वश्रेष्ठ हैं, उनको प्राप्त करने के लिये मनन (मतिभिः) स्वाध्याय (गीर्भिः) तथा स्तवन (उक्थैः) आवश्यक है। (२) **स**=वे आप **यज्ञियः**=पूजा के योग्य **अभवः**=हैं। **रोदसिप्राः**=द्यावापृथिवी का पूरण करनेवाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, कण-कण में आपकी सत्ता है।

भावार्थ—संसार के संचालक प्रभु की प्राप्ति 'मनन, स्वाध्याय व स्तवन' से होती है। वे प्रभु ही पूजा के योग्य हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सब क्रियाओं के प्रवर्तक' प्रभु

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥ ६ ॥

(१) **भुवः मूर्धा**=इस उत्पन्न जगत् का शिरोमणि **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **नक्तम्**=(न अक्तम्=न व्यक्तम्) अव्यक्त है, इन बाह्य इन्द्रियों का वह विषय नहीं बनता। (२) यह **प्रातः उद्यन्**=प्रातः उदय होता हुआ **सूर्यः**=सूर्य **ततः जायते**=उसी से होता है। उस प्रभु की ज्योति से ही सूर्यादि सब पिण्ड ज्योतिर्मय होते हैं 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। (३) वे प्रभु 'सूर्यादि को ही ज्योति प्राप्त कराते हों' ऐसी बात नहीं, सब बुद्धिमान् व्यक्तियों को बुद्धि के देनेवाले भी वे ही हैं। वह **तूर्णिः**=त्वरा से सब कार्यों को करनेवाले, **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु ही **यज्ञियानाम्**=प्रभु

से संगतिकरण में उत्तम पुरुषों (यज संगतिकरण) की **एताम्**=इस **मायाम्**=प्रज्ञा को **उ तु**=निश्चय से ही **चरति**=करते हैं, अर्थात् अपने सम्पर्क में आनेवाले यज्ञिय पुरुषों को प्रभु ही प्रज्ञा प्राप्त कराते हैं। (४) 'ज्ञानियों को ज्ञान ही प्रभु दे रहे हों' सो बात नहीं, अन्य सब **यत्**=जो **अपः**=कार्य हैं, उनको भी प्रभु ही **चरति**=करते हैं। वैश्वानर अग्नि के रूप में प्राणियों के शरीर में स्थित होकर भोजन का पाचन भी तो वे ही करते हैं।

भावार्थ—वे अव्यक्त प्रभु संसार के संचालक हैं। वे ही सूर्य को उदित करते हैं, उपासकों को प्रज्ञा प्राप्त कराते हैं, अन्य सब ब्रह्माण्ड में होनेवाली क्रियाओं को वे ही करते हैं।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मधुर शब्द तथा यज्ञशेष का सेवन

दृशेन्यो यो महिना समिद्धोऽ रोचत दिवियोनिर्विभावा।
तस्मिन्नग्नौ सूक्तवाकेन देवा हविर्विश्व आजुहवुस्तनूपाः ॥ ७ ॥

(१) वे प्रभु **दृशेन्यः**=दर्शनीय हैं, सुन्दर ही सुन्दर होने से दर्शन के योग्य तो हैं ही, इसलिए भी वे दर्शन के योग्य हैं कि उनके दर्शन होने पर ही यह 'जन्म-मरण-चक्र' समाप्त होता है। वे प्रभु दर्शनीय हैं **यः**=जो **महिना समिद्धः**=अपनी महिमा से दीप्त हैं, उस प्रभु की महिमा प्रत्येक पदार्थ में प्रकट हो रही है। वे **दिवियोनिः**=सदा ज्ञान में निवास करनेवाले **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु **अरोचत**=सदा देदीप्यमान हैं, सहस्रों सूर्यों की दीप्ति भी प्रभु की दीप्ति को उपमित नहीं कर सकती। (२) **तस्मिन् अग्नौ**=उस प्रभु की प्राप्ति के निमित्त **विश्वे**=सब **तनूपाः**=अपने शरीरों का रक्षण करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **सूक्तवाकेन**=मधुर शब्दों के उच्चारण के साथ **हविः**=यज्ञशेष को **आजुहवुः**=अपने में आहुत करते हैं, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) शरीर को स्वस्थ रखा जाए, (ख) वृत्ति को दिव्य बनाया जाए, (ग) मधुर ही शब्दों का प्रयोग हो और (घ) हम सदा त्यागपूर्वक अदन की वृत्तिवाले बनें। इस हवि के सेवन से ही तो प्रभु का सच्चा उपासन होता है।

भावार्थ—मानव जीवन का उद्देश्य यही है कि प्रभु का दर्शन करके मोक्ष प्राप्त किया जाए। मोक्ष प्राप्ति के लिये साधन ये हैं—(क) शरीर को नीरोग रखना, (ख) दैवी सम्पत्ति का अर्जन, (ग) मधुर शब्दों का ही उच्चारण और (घ) हवि का स्वीकार=त्यागपूर्वक अदन।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'यज्ञ' शरीर का रक्षक है

सूक्तवाकं प्रथममादिदग्निमादिद्धविरजनयन्त देवाः।
स एषां यज्ञो अभवत्तनूपास्तं द्यौर्वेद तं पृथिवी तमापः ॥ ८ ॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **प्रथमम्**=सबसे पहले **सूक्तवाकम्**=मधुर शब्दों के प्रयोग को **अजनयन्त**=अपने में प्रकट करते हैं, सदा मधुर शब्दों को ही बोलते हैं। (२) **आत् इत्**=अब इसके बाद **अग्निं अजनयन्त**=अग्निहोत्र के लिए अग्नि को समिद्ध करते हैं। **आत् इत्**=और अब यज्ञ करके यज्ञशेष के रूप में **हविः**=दानपूर्वक अदन को **अजनयन्त**=अपने में विकसित करते हैं। इस प्रकार इस हवि के सेवन से ये प्रभु का उपासन करते हैं 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। (३) **एषाम्**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों का **स यज्ञः**=वह यज्ञ **तनूपाः अभवत्**=इनके शरीरों का रक्षण करनेवाला होता है। यज्ञ से इनके शरीर नीरोग बने रहते हैं। यज्ञ से वायुशुद्धि होकर नीरोगता

प्राप्त होती ही है और यज्ञशेष का सेवन स्वयं अपने में अमृत होता है। यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति से मनुष्य कभी अतिमुक्त नहीं होता। (४) **तम्**=उस यज्ञ को इन्हें **द्यौः**=द्युलोक **वेद**=प्राप्त कराता है **तम्**=उस यज्ञ को **पृथिवी**=पृथिवी प्राप्त कराती है और **तम्**=उस यज्ञ को **आपः**=अन्तरिक्षलोक प्राप्त कराता है। अध्यात्म में **द्यौः**=मस्तिष्क है, **पृथिवी**=शरीर है तथा **अन्तरिक्ष**=हृदय व मन है। एवं इनका मस्तिष्क, इनका शरीर व इनका हृदय इन्हें इस यज्ञ में रुचिवाला करता है। ये ज्ञान, शक्ति व संकल्प से यज्ञ में प्रवृत्त हो जाते हैं।

भावार्थ—मधुर शब्दों के प्रयोग, यज्ञ के करने व हवि के सेवन की वृत्ति से देव प्रभु का दर्शन करते हैं। ये ज्ञान, शक्ति व संकल्प पूर्वक यज्ञों को करते हैं और यह यज्ञ इनको नीरोग बनाता है।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'निर्माता व प्रकाशक' प्रभु

यं देवासोऽजनयन्ताग्निं यस्मिन्नाजुहवुर्भुवनानि विश्वा।
सो अर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा॥ ९॥

(१) **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **यं अग्निम्**=जिस अग्रेणी प्रभु को **अजनयन्त**=अपने हृदयों में आविर्भूत करते हैं, दिव्यवृत्ति को बनाकर जिस प्रभु का हृदय-मन्दिर में दर्शन करते हैं। **यस्मिन्**=जिस प्रभु प्राप्ति के निमित्त **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **आजुहवुः**=सर्वथा हवि का सेवन करते हैं, हवि सेवन के द्वारा ही प्रभु का अर्चन होता है और यह अर्चक ही प्रभु का दर्शन कर पाता है। (२) **सः**=वे प्रभु ही **अर्चिषा**=अपनी ज्ञानदीप्ति से **ऋजूयमानः**=सरलता से सब कार्यों को करते हुए **पृथिवीम्**=अन्तरिक्ष को **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवी को **महित्वा**=अपनी महिमा से **अतपत्**=दीप्त करते हैं। प्रभु ही इन सब लोक-लोकान्तरों को बनाते हैं, वे ही इन्हें प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन देवों को होता है। ये देव सदा हवि का सेवन करते हैं। ये प्रभु ही सब लोकों को बनाते व प्रकाशित करते हैं।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान व उपासना का समन्वय

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभि रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वन्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥ १०॥

(१) **देवासः**=देववृत्ति को अपनानेवाले पुरुष **हि**=निश्चय से **दिवि**=प्रकाश में स्थित हुए-हुए **स्तोमेन**=स्तुतियों के द्वारा **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **अजीजनन्**=अपने हृदयों में आविर्भूत करते हैं। ज्ञान व उपासना के समन्वय से ही देवों को प्रभु दर्शन होता है। उस प्रभु का ये दर्शन करते हैं जो प्रभु **शक्तिभिः**=शक्तियों के द्वारा **रोदसिप्राम्**=द्युलोक व पृथिवीलोक का पूरण व व्यापन कर रहे हैं, जिस प्रभु की शक्ति द्युलोक व पृथ्वीलोक में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। (२) **तं उ**=उस प्रभु को ही ज्ञानी लोग **त्रेधा**=तीन प्रकार से, पृथ्वी में अग्नि रूप से, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप से तथा द्युलोक में आदित्य रूप से **अकृण्वन्**=करते हैं। इसे अग्नि विद्युत् व आदित्य में देव प्रभु की शक्ति को ही कार्य करता हुआ देखते हैं। (३) वे प्रभु ही **कं भुवे**=आनन्द की उत्पत्ति के लिये सब प्राणियों की प्रसन्नता के लिये **विश्वरूपाः**=विविध रूपोंवाली **ओषधीः**=ओषधियों

को **पचति**=परिपक्क करते हैं। यदि हम इन ओषधियों के गुणों का ज्ञान प्राप्त करके इनका ठीक प्रयोग करते रहें तो शरीर में कभी भी दोषों की उत्पत्ति न हो, और हमारा जीवन सदा सुखमय बना रहे। हम अज्ञानवश इन वानस्पतिक पदार्थों का ठीक उपयोग नहीं करते और कष्ट में पड़ जाते हैं।

भावार्थ—ज्ञान व उपासना के समन्वय से हम प्रभु का दर्शन करें। उस प्रभु की शक्ति ही सर्वत्र कार्य कर रही है, क्या अग्नि में, क्या विद्युत् में और क्या सूर्य में। वे प्रभु ही हमारे सुख के लिये विविध ओषधियों को परिपक्क करते हैं।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञिय देवों को प्रभु-दर्शन

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा॥ ११ ॥

(१) **यदा**=जब **इत्**=निश्चय से **एनम्**=इस **सूर्यम्**=सबको कर्मों की प्रेरणा देनेवाले, **आदितेयम्**=अदिति के पुत्र को, अर्थात् **अदिति**=स्वास्थ्य (अ+खण्डन) के द्वारा दर्शनीय अथवा अदीनता व दिव्यगुणों के द्वारा दर्शनीय प्रभु को **यज्ञियासः**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे हुए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश के होने पर **अदधुः**=धारण करते हैं। (२) यहाँ प्रभु को अदिति का पुत्र इसलिए कहा है कि जैसे पुत्र की उत्पत्ति पिता से होती है इसी प्रकार प्रभु का दर्शन अदिति से होता है। अदिति का अर्थ है—(क) स्वास्थ्य तथा (ख) अदीना देवमाता। प्रभु के दर्शन के लिये स्वास्थ्य का ठीक रखना आवश्यक है, साथ ही अदीनतापूर्वक दिव्यगुणों को धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रभु का दर्शन यज्ञिय देवों को होता है। उत्तम कर्मों को करना ही यज्ञिय बनना है तथा दैवी सम्पत्ति के वर्धन से हम देव बनते हैं। ये यज्ञिय देव ज्ञान के प्रकाश के होने पर प्रभु-दर्शन कर पाते हैं। एवं हाथों में यज्ञ हों, मन में दैवी वृत्ति हो, मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो, तो मनुष्य प्रभु का धारण करनेवाला बनता है। (३) **यदा**=जब **मिथुनौ**=घर में पति-पत्नी शिक्षणालय में शिष्य और आचार्य, राष्ट्र में राजा प्रजा ये दोनों **चरिष्णू**=खूब क्रियाशील होते हैं, आलस्य से शून्य होते हैं, **आत् इत्**=तब ही **विश्वा भुवनानि**=सब लोग **प्रापश्यन्**=उस प्रभु को प्रकर्षेण देखनेवाले बनते हैं। प्रभु-दर्शन की सब से बड़ी योग्यता 'आलस्यशून्यता' ही है। जब सब मिलकर राष्ट्र को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं, शिक्षणालय व घर को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं, तभी प्रभु-दर्शन होता है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्मोंवाले, देववृत्तिवाले व ज्ञान को प्रकाश को प्राप्त करनेवाले बनकर प्रभु-दर्शन के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अन्धकार के निवारक' प्रभु

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन्॥ १२ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के द्वारा प्रभु-दर्शन करनेवाले **देवाः**=दिव्य वृत्तिवाले विद्वान् पुरुष **विश्वस्मा भुवनाय**=सब लोकों के लिये **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु का **अकृण्वन्**=उपदेश करते हैं, जो प्रभु **वैश्वानरम्**=सब प्राणियों का हित करनेवाले हैं और

अह्वाम्=(अ-हन्) आत्महनन न करनेवालों के **केतुम्**=प्रज्ञपक हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के अनुसार आत्महनन न करनेवाले व्यक्ति वे हैं जो कि—(क) प्रभु की सर्वव्यापकता का विचार करते हैं (ईशा वास्यमिदं सर्वम्), (ख) त्यागपूर्वक उपभोग करते हैं (त्यक्तेन भुञ्जीथाः), (ग) लालच नहीं करते (मा गृधः), (घ) धन किसका है? इस प्रश्न को बारम्बार अपने में पैदा करते हैं (कस्य स्विद्धनम्), (ङ) सदा क्रियाशील होते हैं (कुर्वन्नेवेह कर्माणि)। इन लोगों के लिये वे प्रभु आत्मज्ञान प्राप्त कराते हैं। (२) देव लोग उस आत्मतत्त्व का उपदेश करते हैं **यः**=जो **विभातीः उषसः**=इन देदीप्यमान उषाकालों को **आततान**=विस्तृत करते हैं और **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्वालाओं (प्रकाशों) के साथ **यन्**=गति करते हुए **तमः**=अन्धकार को **उ**=निश्चयपूर्वक **अप ऊर्णोति**=दूर करते हैं। जिस प्रकार उषा प्रकाश को लाती है और अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु का प्रकाश होते ही सम्पूर्ण अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। इस प्रभु का ज्ञान ही हितकर है। इस प्रभु की विश्वव्यापकता का स्मरण हमें मार्ग-भ्रष्ट होने से बचाता है।

भावार्थ—उस प्रभु का हमें देवों से ज्ञान प्राप्त हो जो प्रभु की 'अग्नि' हैं, 'वैश्वानर' हैं, अन्धकार को दूर करनेवाले हैं।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'कवि-यज्ञिय-देव'

वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नममिनच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम्॥ १३॥

(१) **कवयः**=कान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी, **यज्ञियासः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले, **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष उस **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु को **अजनयन्**=अपने में प्रादुर्भूत करते हैं, हृदय देश में उसके दर्शन करते हैं। उस प्रभु का दर्शन करते हैं जो **वैश्वानरम्**=सब नरों का हित करनेवाले हैं। **अजुर्यम्**=कभी जीर्ण होनेवाले नहीं अजर व अमर हैं। **नक्षत्रम्**=(नक्ष् to go, to corre near) गतिशील हैं व सबको समीपता से प्राप्त हैं, सर्वव्यापक हैं। **प्रत्नम्**=सनातन हैं, **अमिनत्**=न हिंसा करनेवाले व न हिंसित होनेवाले हैं। **चरिष्णु**=प्रलयकाल के समय सबको चर जानेवाले, अपने में निगीर्ण कर लेनेवाले हैं। (२) **यक्षस्य**=आत्मा को इन्द्रियों के साथ जोड़नेवाले इस मन के अध्यक्ष हैं। मन संसार की किसी भी वस्तु में स्थिर नहीं हो पाता, परन्तु यदि कभी इस परमात्मा की ओर आता है तो इस प्रकार इसमें उलझता है कि अपनी तीव्र गति से चलता हुआ भी इसके ओर छोर को नहीं पा पाता और उससे फिर निकल नहीं पाता ऐसी स्थिति में ही इसका विषयों में भटकना रुकता है। **तविषम्**=ये प्रभु महान् हैं, **बृहन्तम्**=वर्धमान हैं। प्रभु अपनी विशालता से सारे ब्रह्माण्ड को व्याप्त किया हुआ है और वे प्रभु सब गुणों से बढ़े हुए हैं, वस्तुतः सब गुणों की चरमसीमा हैं, सब गुण उनमें निरतिशयरूप में हैं। इस प्रभु का ही देव हृदय में साक्षात्कार करते हैं।

भावार्थ—हम कवि यज्ञिय व देव बनकर प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

समीप से समीप, दूर से दूर

वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः।
यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात्॥ १४॥

(१) हम वैश्वानरम्=सब मनुष्यों के हित करनेवाले, **विश्वहा दीदिवांसम्**=सदा ज्ञान से दीप्त, **अग्निम्**=अग्रेणी, **कविम्**=क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ प्रभु को **अच्छा**=लक्ष्य करके **मन्त्रैः**=मन्त्रों के द्वारा **वदामः**=स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हैं, इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी सब मनुष्यों के हित में प्रवृत्त होते हैं (वैश्वानर), ज्ञान से दीप्त बनने का प्रयत्न करते हैं (विश्वहा दीदिवांसम्), आगे बढ़ने के लिये यत्नशील होती हैं (अग्नि), तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं (कवि), (२) उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं **यः**=जो **महिम्ना**=अपनी महिमा से **उर्वी**=इन विशाल द्युलोक व पृथिवीलोक को **परिबभूव**=to surround) आच्छादित किये हुए हैं, (to teke core of) इन लोकों का रक्षण करते हैं और (to govern) इनका शासन करते हैं। वे **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **उत अवस्तात्**=क्या तो समीप, **उत परस्तात्**=और क्या दूर, सर्वत्र विद्यमान हैं 'तद्दूरे तद्वन्तिके' 'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च'।

भावार्थ—हम उन प्रभु का ही स्तवन करते हैं, जिन्होंने इन विशाल द्युलोक व पृथिवीलोक को आच्छादित किया हुआ है।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दो मार्ग (देवों का, मर्त्यों का)

द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥ १५॥

(१) **अहम्**=मैं **पितृणाम्**=(पा रक्षणे) धर्म का रक्षण करनेवालों के **द्वे स्रुती**=दो मार्गों को **अशृणवम्**=सुनता हूँ, एक मार्ग तो **देवानाम्**=देवों का है, **उत**=और दूसरा मार्ग **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों का है। शास्त्रविहित कर्मों को सामान्य मनुष्य विविध कामनाओं से प्रेरित होकर करते हैं। वेदों के अर्थवाद उन्हें उन-उन यज्ञों के प्रति रुचिवाला बनाते हैं। इन सकाम कर्मों को करते हुए वे स्वर्ग को अवश्य प्राप्त करते हैं। परन्तु 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' वे सकाम कर्मों में रत पुरुष विशाल स्वर्गलोक का उपभोग करके फिर से मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार ये नाना कामनाओं से आन्दोलित होनेवाले मर्त्य 'गतागतं कामकामा लभन्ते'=आने और जाने के चक्र में फँसे रहते हैं। (२) इन सामान्य मनुष्यों से भिन्न वे देववृत्ति के पुरुष हैं, जो ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करके, इन सांसारिक कामनाओं में न उलझते हुए अपने नियत कर्मों को कर्त्तव्य भावना से करते हैं। अपने कर्त्तव्य पर ही बल देते हैं, फल पर नहीं। ये देववृत्ति के पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले होते हैं। (३) इस प्रकार **इदं विश्वम्**=यह सब **यत्**=जो **पितरं मातरं च अन्तरा**=द्युलोक व पृथ्वीलोक के मध्य में होनेवाले मनुष्य हैं, भिन्न-भिन्न लोकों में जन्म लेनेवाले मनुष्य हैं, वे सबके सब **एजत्**=गति करते हुए **ताभ्याम्**=उन दो मार्गों से ही **स्येति**=गति करते हैं। एक सकाम कर्म मार्ग है, दूसरा निष्काम कर्म मार्ग। निचली श्रेणी के धर्मात्माओं का मार्ग सकाम है, उपरलों का निष्काम।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि मर्त्यों के 'सकाम कर्म मार्ग' से ऊपर उठकर देवों के निष्काम कर्म मार्ग से गतिवाले हों।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शीर्षतो जातं, मनसा विमृष्टम्

द्वे स॒मी॒ची बि॑भृत॒श्चर॑न्तं शी॒र्ष॒तो जा॒तं मन॑सा॒ विमृ॑ष्टम्।
स प्र॒त्यङ्विश्वा॒ भुव॑नानि तस्थाव॒प्रयु॑च्छन्त॒रणि॒र्भ्राज॑मानः ॥ १६ ॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित 'पितरं मातरं च'=द्युलोक व पृथ्वीलोक **द्वे**=दोनों **समीची**=(सं अञ्च्) मिलकर उत्तम गतिवाले हैं। ये दोनों लोक एक दूसरे की पूर्ति करते हैं। पृथ्वीलोक का पानी वाष्पीभूत होकर द्युलोक को भरता है और द्युलोक से वृष्टि होकर पृथ्वीलोक का पूरण होता है। इस प्रकार ये दोनों सम्यक् उत्तम गतिवाले होते हुए **बिभृतः**=उस प्रभु को धारण करते हैं। जो प्रभु **चरन्तम्**=निरन्तर क्रियाशील हैं, **शीर्षतः जातम्**=मस्तिष्क से जिनका प्रादुर्भाव होता है, सूक्ष्म बुद्धि से ही तो प्रभु का दर्शन होता है 'बुद्धि' युक्ति के द्वारा इस संसार रूप कार्य के कर्त्ता के रूप में प्रभु को देखती है। वे प्रभु **मनसा विमृष्टम्**=मन से विमृष्ट होते हैं 'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'। इस द्युलोक व पृथ्वीलोक के अन्तर्गत एक-एक वस्तु में उस प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। (२) **स**=वे प्रभु **विश्वा भुवनानि**=सब लोगों के **प्रत्यङ्**=(imher imterior) अन्दर **तस्थौ**=स्थित हैं। पृथ्वी आदि सब लोकों के अन्दर भी वे उनकी गतियों का नियमन करते हुए स्थित हैं। (३) सब प्राणियों के हृदय में स्थित हुए-हुए वे प्रभु **अप्रयुच्छन्**=कभी भी प्रमाद नहीं करते। हृदयस्थरूपेण वे प्रभु हमें सदा प्रेरणा देते रहते हैं। **तरणिः**=वे ही हमें वासनाओं से तराते हैं, प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके ही वासनाओं को जीत पाते हैं। **भ्राजमानः**=वे प्रभु दीप्त हैं, ज्ञान से दीप्त वे प्रभु अपने उपासकों के लिये भी इस दीप्ति को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथ्वीलोक में सर्वत्र प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है, मन से ही प्रभु का विमर्श होता है सब प्राणियों के अन्दर स्थित हुए-हुए वे प्रभु सभी का नियमन कर रहे हैं।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु द्वारा यज्ञ की प्रेरणा

यत्रा॒ वदे॑ते॒ अव॑रः॒ पर॑श्च यज्ञ॒न्योः᳚ कत॒रो नौ॒ वि वे॑द।
आ शे॑कु॒रित्स॑ध॒मादं॒ सखा॑यो॒ नक्ष॑न्त य॒ज्ञं क इ॒दं वि वो॑चत् ॥ १७ ॥

आचार्य व शिष्य मिलकर यज्ञ करते हैं तो उस समय **यत्रा**=जब **अवरः**=वह ज्ञान के दृष्टिकोण से अवर शिष्य **परः च**=और ज्ञान के दृष्टिकोण से यह आचार्य परस्पर **वदेते**=बातचीत करते हैं कि **यज्ञन्योः**=यज्ञ का प्रणयन करनेवाले **नौ**=हम दोनों को **कतरः**=कौन **विवेद**=इस यज्ञ को प्राप्त कराता है। यज्ञ का ज्ञान देनेवाला कौन है? (२) उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि **कः**=वे आनन्दमय प्रभु **इदं विवोचत्**=यह कहते हैं कि **यज्ञं नक्षन्तः**=यज्ञ को प्राप्त होते हुए **सखायः**=मेरे सखा जीव **इत्**=निश्चय से **सधमादम्**=मेरे साथ स्थिति के आनन्द को **आशेकुः**=प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञ की प्रेरणा देते हैं इस यज्ञ से ही प्रभु प्राप्ति का आनन्द उपलब्ध होता है।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सृष्टि विषयक प्रश्न

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्॥ १८॥

(१) गत मन्त्र में यज्ञ की प्रेरणा का उल्लेख था। उस यज्ञ के साथ सम्बद्ध अग्नि आदि के विषय में शिष्य आचार्य से प्रश्न करता है कि **कति अग्नयः**=अग्नियाँ कितनी हैं? इसी प्रकार **सूर्यासः कति**=सूर्य कितने हैं? क्या यही एक सूर्य है या इसी प्रकार अन्य भी सूर्य हैं? **उषासः कति**=उषाकाल कितने हैं? **उ**=और **आपः**=अन्तरिक्ष लोक व जल कितने हैं? (२) ये सारे प्रश्न ब्रह्माण्ड की रचना से सम्बद्ध हैं। इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन ही है। 'को अद्धावेद, क इह प्रवोचत्, कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः'=यह विविध सृष्टि कैसे हो गई! कौन इसे साक्षात् जानता है और कौन इसका प्रतिपादन कर सकता है? ये सब प्रश्न तो मनुष्य के ज्ञान से परे की चीजें हैं। सो विद्यार्थी कहता है कि हे **पितरः**=ज्ञान देनेवाले आचार्यो! मैं **वः**=आपके प्रति **उपस्पिजम्**=स्पर्धायुक्त होकर **न वदामि**=इन प्रश्नों को नहीं कह रहा हूँ। मैं तो हे **कवयः**=क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी आचार्यो! **विद्मने**=ज्ञान प्राप्ति के लिये ही **वः पृच्छामि**=आपसे इस प्रकार के प्रश्न कर रहा हूँ। जिससे इन प्रश्नों के तत्त्वज्ञान से **कम्**=सुख का विस्तार हो सके। (३) हमें परस्पर इसी प्रकार के प्रश्नोत्तरों से ज्ञान को बढ़ाकर जीवन को सुखी बनाना चाहिए। प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर इससे पूर्व ८।५८।२ में इस प्रकार उपलब्ध होता है—'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकैवेषाः सर्वमिदं वियात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'। वस्तुतः एक ही अग्नि है जो नाना प्रकार से समिद्ध होती है। एक ही सूर्य है, जो सम्पूर्ण विश्व में प्रभाववाला हो रहा है। एक ही उषा इस सारे जगत् को दीप्त करती है। निश्चय से एक परमात्मा ही इस सब में व्याप्त हो रहा है। एक ही अग्नि स्थानभेद व कार्यभेद से मिलकर नामोंवाली हो जाती है। एक ही सूर्य महीनों के भेद से व सौर लोकों के भेद से भिन्न-भिन्न नामवाला होता है। उषा भी एक ही होती हुई भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होती है। (४) इस प्रकार के प्रश्नों को विद्यार्थी जिज्ञासा के भाव से करता है और ज्ञान प्राप्त करके प्रभु की महिमा के स्मरण से प्रभु के अधिक समीप होता हुआ अपने जीवन को पवित्र व आनन्दमय बना पाता है।

भावार्थ—अग्नि, सूर्य, उषा आदि का ज्ञान प्राप्त करके हम प्रभु के अधिक समीप प्राप्त हों। इस प्रकार अपने जीवनों को पवित्र व सुखी बना पायें।

ऋषिः—**मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामेदेव्यो वा** ॥ देवता—**सूर्यवैश्वानरौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सन्ध्या-हवन

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्योः वसते मातरिश्वः।
तावद्दधात्युप यज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन्॥ १९॥

(१) हे **मातरिश्वः**=मातृ गर्भ में बढ़नेवाले जीव! (मातरि श्वयति) अथवा सृष्टि-निर्माता प्रभु में स्थित होकर गति करनेवाले जीव! **सुपर्ण्यः**=रात्रियाँ **यावत् मात्रम्**=ज्यूँ ही **उषसः**=उषा के **प्रतीकम्**=मुख को **न वसते**=आच्छादित नहीं करती, अर्थात् ज्यूँ ही रात्रि का अन्धकार समाप्त होता है और उषा का प्रादुर्भाव होता है, **तावत्**=ज्यूँ ही **ब्राह्मणः**=ज्ञानी पुरुष **होतुः**=इस सृष्टियज्ञ

के होता प्रभु के **अवरः**=नीचे **निषीदन्**=नम्रता से बैठता हुआ, अर्थात् प्रभु का ध्यान करता हुआ और इस प्रकार **उप आयन्**=प्रभु के समीप आता हुआ **यज्ञं दधाति**=यज्ञ को धारण करता है। (२) ज्ञानी पुरुष उषा के होते ही नम्रतापूर्वक प्रभु का स्मरण करता है और प्रभु स्मरण के अनन्तर यज्ञ में प्रवृत्त होता है। यह यज्ञ श्रेष्ठतम कर्मों का प्रतीक है। एवं संक्षेप में यह प्रभु को याद करता है और उत्तम कर्मों में लगा रहता है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष वही है जो प्रभु स्मरण पूर्वक उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहे।

सारे सूक्त में यही भाव ओतप्रेत है कि मनुष्य उत्तम कर्मों में व्याप्त रहे। यह उत्तम कर्मों को करनेवाला 'रेणु'=बनता है (री गतौ) इस गति के द्वारा ही यह प्रभु का आलिंगन करनेवाला होता है (री श्लेषणे)। यही अगले सूक्त का ऋषि है। इसकी यही कामना है कि मैं प्रभु का स्तवन करूँ, उस प्रभु का जो मुझे सदा उत्तम कर्मों में प्राप्त कराते हैं।

[८९] एकोननवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नृतम-प्रकाशमय-अनन्त महिम

इन्द्रं स्तवा नृतमं यस्य मह्ना विबबाधे रोचना वि ज्मो अन्तान्।
आ यः पप्रौ चर्षणीधृद्वरोभिः प्र सिन्धुभ्यो रिरिचानो महित्वा ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **स्तवा**=मैं स्तुत करता हूँ। जो प्रभु **नृतमम्**=सर्वोत्तम नेता हैं, हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देते हुए सदा सन्मार्ग का दर्शन कराते हैं। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ **यस्य**=जिसकी **मह्ना**=महिमा से **रोचना**=(परेषां तेजांसि सा०) काम-क्रोधादि शत्रुओं के तेज को **विबबाधे**=एक उपासक बाधित कर पाता है। प्रभु का स्मरण ही उपासक को इतना शक्तिशाली बनाता है कि वह काम-क्रोधादि को जीतने में समर्थ हो जाता है। (३) उस प्रभु की उपासना करता हूँ **यः**=जो **वरोभिः**=अन्धकार के निवारक तेजों से **ज्मः**=पृथिवी के **अन्तान्**=प्रान्तभागों को भी **आपप्रौ**=पूरण करनेवाले हैं। प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाले हैं। इस प्रकाश के द्वारा ही वे **चर्षणीधृत्**=सब कामशील मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं। वे प्रभु **महित्वा**=अपनी महिमा से **सिन्धुभ्यः प्रररिचानः**=समुद्रों से भी अतिरिक्त हैं। सब समुद्र प्रभु की महिमा को सीमित नहीं कर पाते।

भावार्थ—वे प्रभु सर्वोत्तम नेता हैं, प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं, अनन्त महिमावाले हैं।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीत्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्यों के सूर्य प्रभु

स सूर्यः पर्युरू वरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा।
अतिष्ठन्तमपस्यं न सर्गं कृष्णा तमांसि त्विष्या जघान ॥ २ ॥

(१) **स**=वे प्रभु **सूर्यः**=(सुवति) सबको प्रेरित करनेवाले हैं। ये प्रभु ही **इन्द्रः**=सब शक्ति के कर्मों को करनेवाले हैं (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य नि०)। ये **उरु**=अनन्त **वरांसि**=अन्धकार निवारक तेजों को तेजोमय सूर्यादि पिण्डों को **परि आववृत्यात्**=चारों ओर गति दे रहे हैं, उसी प्रकार गति दे रहे हैं **इव**=जैसे **रथ्या चक्रा**=एक रथ के चक्रों को गति दी जाती है। (२) वे प्रभु सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्डों को तो गति दे ही रहे हैं, इसी प्रकार वे **अतिष्ठन्तम्**=इस कभी न रुकनेवाले **अपस्यं न**=सदा कर्ममय के समान, अर्थात् सतत क्रियाशील **सर्गम्**=सृष्टि प्रवाह को

भी वे प्रभु चक्राकार गति दे रहे हैं। इस सृष्टि में वे **कृष्णा तमांसि**=अत्यन्त काले अन्धकारों को **त्विष्या**=दीप्ति से **जघान**=नष्ट करनेवाले हैं। हृदयों में प्रभु का प्रकाश होते ही वासनाओं से जनित घना अन्धेरा समाप्त हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु विशाल ज्योतिर्मय पिण्डों को रथ-चक्रों के समान गति दे रहे हैं। सृष्टिचक्र को भी वे ही चला रहे हैं और हमारे हृदयों के वासनाजनित अन्धकार को भी वे ही अपनी दीप्ति से नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अविच्छिन्न उपासना

समानमस्मा अनपावृदर्च क्ष्मया दिवो असमं ब्रह्म नव्यम्।
वि यः पृष्ठेव जनिमान्यर्य इन्द्रश्चिकाय न सखायमीषे ॥ ३ ॥

(१) **अस्मा**=इस प्रभु के लिये **अनपावृत्**=(अपगतिरहितं सा०) अपगति से रहित रूप में, अर्थात् बीच में विच्छेद न हो जानेवाले रूप में **समानम्**=सदा समानरूप से **अर्च**=अर्चना करनेवाला हो। उस प्रभु की अर्चना करनेवाला हो, जो प्रभु **क्ष्मया दिवः असमम्**=पृथ्वी व द्युलोक के समान नहीं हैं, अर्थात् पृथ्वी व द्युलोक से अत्यन्त महान् हैं। **ब्रह्म**=(बृहि वृद्धौ) सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए हैं, सब गुणों की चरमसीमा हैं। प्रत्येक गुण उस प्रभु में निरतिशय रूप से है। इसीलिए वे प्रभु **नव्यम्**=अत्यन्त स्तुति के योग्य हैं। (नु स्तुतौ) (२) वे प्रभु **अर्यः**=स्वामी हैं, सारे ब्रह्माण्ड के अधिपति हैं, सब जीवों का भी नियन्त्रण करनेवाले हैं। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली **यः**=जो प्रभु हैं वे **जनिमानि**=सब मनुष्यों को **पृष्ठा इव**=अपनी पीठों के समान (backbone) **चिकाय**=जानते हैं। जीव न हों तो प्रभु को जाने ही कौन? जैसे राजा का आधार प्रजा पर है, प्रजा न हो तो राजा क्या? इसी प्रकार जीवों के अभाव में प्रभु की स्थिति है। जीव ही प्रभु को जानते हैं और उसकी महिमा का प्रतिपादन करते हैं। जीव ही प्रभु के पृष्ठ-पोषक हैं। वे प्रभु भी **सखायम्**=अपने मित्रभूत इस जीव को **न ईषे**=(ईष् to kill) नष्ट नहीं होने देते। जो जीव प्रभु का उपासक बनता है, वह प्रभु ज्ञान का प्रसार करता है और प्रभु इस उपासक को काम-क्रोधादि से हिंसित होने से बचाते हैं।

भावार्थ—हमें सदा प्रभु का उपासन करना चाहिए। उपासना में विच्छेद न हो। प्रभु हमें नष्ट होने से बचाएँगे।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अधिकाधिक स्तवन

इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥ ४ ॥

(१) मैं **सगरस्य बुध्नात्**=(सगर=अन्तरिक्ष नाम नि० १।३) हृदयान्तरिक्ष के मूल से, हृदय के अन्तस्तल से **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिये **अनिशितसर्गाः**=(अतनूकृत विसर्गाः सा०) न शिथिल हुई-हुई **गिरः**=स्तुति वाणियों को तथा **अपः**=कर्मों को **प्रेरयम्**=प्रेरित करता हूँ। अर्थात् मेरी वाणी अधिकाधिक प्रभु का स्तवन करनेवाली होती है और मैं जो कर्म करता हूँ सब प्रभु के अर्पण करनेवाला होता हूँ। (२) उस प्रभु का मैं अधिकाधिक स्तवन करता हूँ **यः**=जो **अक्षेणेव चक्रिया इव**=धुरे axle से पहियों की तरह **विष्वक्** **शचीभिः**=सर्वत्र व्याप्त होनेवाले

प्रज्ञानों व कर्मों से **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **तस्तम्भ**=थामते हैं, इनका धारण करते हैं। प्रभु उपासक के भी मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा शरीर रूप पृथिवी को धारण करनेवाले हैं। सम्पूर्ण ज्ञान व शक्ति के स्रोत प्रभु ही हैं, वे ही हमारे मस्तिष्क को ज्योतिर्मय तथा शरीर को शक्ति-सम्पन्न करते हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्तवन करता हूँ। सब कर्मों को प्रभु के प्रति अर्पित करता हूँ। प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करते हैं।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रुओं से आक्रान्त न होना

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जीवन बनाने के लिये सोमरक्षण ही साधन है। सो सोम के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि **सोमः**=यह सोम **आपान्तमन्युः**=(आ-पान्त-मन्युः) सर्वतः ज्ञान का रक्षण करनेवाला है। रक्षित हुआ-हुआ सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, ज्ञानाग्नि को दीप्त करने के कारण यह सोम 'आपान्तमन्यु' है। (२) **तृपलप्रभर्मा**=तृप्ति के कारणभूत पोषणवाला है। शरीर में रक्षित सोम सब अंग-प्रत्यंगों का पोषण करता है और इस प्रकार तृप्ति व प्रसन्नता के अनुभव का कारण होता है। सब पोषणों को प्राप्त कराके यह **धुनिः**=रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाला होता है। **शिमीवान्**=शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मोंवाला है, नीरोग व सशक्त बनाकर यह सोम हमें शान्त व सक्रिय बनाता है। **शरुमान्**=यह काम-क्रोधादि वासनाओं शीर्ण करनेवाला है। **ऋजीषी**=(driving away) सब अवाञ्छनीय तत्त्वों को दूर करनेवाला है। (२) **सोमः**=उल्लिखित गुणोंवाला यह सोम **विश्वानि वनानि**=सब उपासकों को **अतसाः**=(अत सातत्यगमने, सन् संभक्तौ) प्राप्त होनेवाला व सेवित करनेवाला होता है। प्रभु की उपासना से मनुष्य सोम का रक्षण कर पाता है। उपासना वासना को नष्ट करती है। वासना के नाश से सोम का रक्षण होता है। (३) इस प्रकार सोम का पान करनेवाले **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **अर्वाग्**=(within) इस शरीर व हृदय के अन्दर **प्रतिमानानि**=(An advessary) शत्रु **न देभुः**=हिंसित नहीं कर पाते। इसके शरीर पर रोग आधिपत्य नहीं कर पाते और इसके हृदय को वासनाएँ मलिन नहीं कर पाती।

भावार्थ—उपासना के द्वारा हम सोम का रक्षण करें। यह सोम हमें रोगों व वासनारूप शत्रुओं से बचाएगा।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दृढ़ शत्रुओं का भी नाश

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः।
यदस्य मन्युरधिनीयमानः शृणाति वीळु रुजति स्थिराणि ॥ ६ ॥

(१) **यस्य सोमः अक्षाः**=(अश् to pervnde) जिसके जीवन में सोम, न नष्ट होकर, शरीर में ही व्याप्त होनेवाला होता है, उसे **न द्यावापृथिवी**=न द्युलोक, ना ही पृथिवीलोक, **न धन्व**=न मरुस्थल, **न अन्तरिक्षम्**=न यह जलवाष्पों से पूर्ण अन्तरिक्ष और **न अद्रयः**=न पर्वत (देभुः) हिंसित करते हैं। ('देभुः' क्रिया उपरले मन्त्र से आवृत्त होती है)। अर्थात् सोम का रक्षण होने पर सर्वत्र स्वास्थ्य ठीक रहता है। इसे मरुस्थल में गरमी नहीं लगती और पर्वतों पर ठण्डक

नहीं सताती। आकाश में इसका दिल धड़कने नहीं लगता और पृथ्वी पर इसे भारीपन नहीं महसूस होता। सुरक्षित सोम इसे सर्वत्र स्वस्थ रखता है। (२) **यत्**=जब **अस्य**=इसके रक्षण से उत्पन्न होनेवाला **मन्युः**=ज्ञान **अधिनिधीयमानः**=आधिक्येन स्थापित होता है तो यह सोम रक्षक पुरुष **वीडु**=दृढ़-अत्यन्त प्रबल भी वासनारूप शत्रुओं को **शृणाति**=शीर्ण करनेवाला होता है और **स्थिराणि**=शरीर में दृढ़ मूल हुए-हुए भी रोगों का **रुजति**=भंग करनेवाला होता है। यह सोम ही वह 'मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र' है जो सब अवाञ्छनीय तत्त्वों को दूर भगा देता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से सर्वत्र स्वास्थ्य ठीक रहता है। वासनाएँ भी दूर होती हैं, रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काम-विध्वंस

जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून्।
बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला पुरुष **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को इस प्रकार **जघान**=नष्ट करता है, **इव**=जैसे कि **स्वधितिः**=कुल्हाड़ा **वना**=वनों को नष्ट कर डालता है। (२) इसी प्रकार यह सोमरक्षक पुरुष **पुरः रुरोज**=शत्रुओं की पुरियों का भंग करता है, **न**=उसी प्रकार जैसे कि एक राजा पृथ्वी का विदारण करके **सिन्धून् अरदत्**=नहरों को बना डालता है। पृथ्वी का विलेखन करके जैसे नदी प्रवाह चलता है इसी प्रकार यह असुर पुरियों का विदारण करके ही तो देवगृहों को अपने में स्थापन करता है। काम अपना अधिष्ठान इन्द्रियों में बनाता है, क्रोध मन में तथा लोभ बुद्धि में। असुरों के ये तीन अधिष्ठान ही उनकी तीन पुरियाँ हैं। इनका विदारण यह सोमी करता है। (३) **गिरिम्**=यह सोमी अविद्या पर्वत को (पाँच पर्वोंवाली होने से अविद्या पर्वत है) **विभेद**=विनष्ट करता है, उसी प्रकार आसानी से **इव**=जैसे कि **इत्**=निश्चय से **नवं कुम्भम्**=अभी ताजे बने घड़े को। जो घड़ा अभी बना ही है, न सूखा है, न पका है, उसका तोड़ना जैसे कुछ कठिन नहीं, इसी प्रकार सोमी के लिये अविद्या पर्वत को तोड़ना कठिन नहीं। (४) इस अविद्या पर्वत को विदीर्ण करके **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **स्वयुग्भिः**=आत्मतत्त्व से मेलवाली प्रत्याहार द्वारा विषय व्यावृत्त इन्द्रियों से **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **आ अकृणोत**=अपने में समन्तात् करनेवाला होता है, अर्थात् खूब ही ज्ञान का अपने में वर्धन कर पाता है।

भावार्थ—सोम का रक्षक वृत्र को (वासना को) नष्ट करता है, काम-क्रोध-लोभ के किलों को तोड़ देता है, अविद्या पर्वत को गिरा देता है और विषयव्यावृत्त इन्द्रियों से खूब ही ज्ञान का वर्धन करता है।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्नेह-निर्द्वेषता व प्रभु मित्रता

त्वं ह त्यदृणया इन्द्र धीरोऽसिर्न पर्व वृजिना शृणासि।
प्र ये मित्रस्य वरुणस्य धाम युजं न जना मिनन्ति मित्रम् ॥ ८ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस **ऋणयाः**=(ऋणः जलः रेतस्) रेतस् को प्राप्त होनेवाला है अतएव **धीरः**=ज्ञान में रमण करनेवाला है (धियि रमते)। इस

ज्ञान में रमण के कारण ही तू **वृजिना**=पापों को इस प्रकार **शृणासि**=शीर्ण करता है **इव**=जिस प्रकार **असिः**=तलवार **पर्व**=जोड़ों को चीर डालती है। सोमरक्षण से ज्ञान बढ़ता है, ज्ञान से पापवृत्ति समाप्त होती है। (२) ये सोमरक्षक वे **जनाः**=व्यक्ति होते हैं **ये**=जो **मित्रस्य**=मित्र के, **वरुणस्य**=वरुण के **धाम**=तेज को **न प्रमिनन्ति**=हिंसित नहीं करते। ये सबके साथ स्नेह करनेवाले होते हैं, (मित्र) ये किसी के साथ द्वेष को नहीं करते (वरुण)। इस स्नेह व निर्द्वेषता के परिणामरूप ये तेजस्वी बनते हैं। द्वेष की भावना मनुष्य को निस्तेज बनानेवाली है। ये व्यक्ति **युजं मित्रम्**=उस सदा साथ रहनेवाले मित्र प्रभु को (न प्रमिनन्ति) हिंसित नहीं करते। अर्थात् ये सदा उस प्रभु का स्तवन करते हैं। उस प्रभु को मित्र के रूप में देखते हैं। इस प्रभु रूप मित्र के कारण ही इनकी शक्ति सदा बनी रहती है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। सब के साथ स्नेह व निर्द्वेषता से चलें। सोम का रक्षण करते हुए अशुभ वृत्तियों को अपने से दूर रखें।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुरेव पुरुषों का नाश

प्र ये मि॒त्रं प्रार्य॒मणं॑ दु॒रेवाः॒ प्र सं॒गिरः॒ प्र वरु॑णं मि॒नन्ति॑।
न्य१॒॑मित्रे॑षु व॒धमि॑न्द्र॒ तुम्रं॒ वृष॒न्वृषा॑णमरु॒षं शि॑शीहि ॥ ९ ॥

(१) **ये**=जो **दुरेवाः**=दुष्ट गमनों (=आचरणों) वाले **मित्रम्**=मित्र द्वेषता को **प्रमिनन्ति**=हिंसित करते हैं, अर्थात् मित्रता (=स्नेह की भावना) का विलोप करते हैं। इसी प्रकार जो **अर्यमणम्**=अर्यमा देव को **प्र (मिनन्ति)**=नष्ट करते हैं, (अरीन् यच्छति) कामादि शत्रुओं के जीतने के भाव को नष्ट करते हैं। **संगिरः**=उत्तम ज्ञानप्रद वाणियों व स्तुति वाणियों का **प्र (मिनन्ति)**=नाश करते हैं, अर्थात् जो स्वाध्याय व स्तवन को छोड़ देते हैं, **वरुणम्**=वरुण देवता को **प्र (मिनन्ति)**=नष्ट करते हैं, अर्थात् निर्द्वेषता के भाव से दूर होकर द्वेषमय जीवनवाले हो जाते हैं। उन **अमित्रेषु**=अमित्रों पर, स्नेहरहित जनों पर अपने को पाप व मृत्यु से न बचानेवालों पर, **हे इन्द्र**=सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले प्रभो! **वृषन्**=शक्तिशाली प्रभो! **वधम्**=उस नाशक अस्त्र को, वज्र को **शिशीहि**=तीक्ष्ण करिये जो **तुम्रम्**=गतिशील है (Impelling) **वृषाणम्**=धर्म की ओर प्रेरित करनेवाला है व शक्तिशाली बनानेवाला है और **अरुषम्**=आरोचमान-प्रकाशमय है। इस प्रकार का यह वज्र 'ज्ञान' ही है। इनके ज्ञान को बढ़ाकर इन की अशुभ वृत्तियों को दूर करिये। राजा को भी राष्ट्र में इस ज्ञानवज्र के द्वारा दुष्टता को दूर करने का सदा प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञानरूप वज्र के द्वारा दुष्ट आचरणवाले पुरुषों की दुष्टता को दूर किया जाये।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चराचर के ईश प्रभु

इन्द्रो॑ दि॒व इन्द्र॑ ईशे पृथि॒व्या इन्द्रो॑ अ॒पामिन्द्र॒ इत्पर्व॑तानाम्।
इन्द्रो॑ वृ॒धामिन्द्र॒ इन्मेधि॑राणा॒मिन्द्रः॒ क्षेमे॒ योगे॒ हव्य॒ इन्द्रः॑ ॥ १० ॥

(१) वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **दिवः**=द्युलोक के **ईशे**=ईश हैं, **इन्द्रः**=ये परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **ईशे**=ईश हैं। **इन्द्रः**=ये इन्द्र ही **अपाम्**=जलों के और **इन्द्रः**=इन्द्र ही **इत्**=निश्चय से **पर्वतानाम्**=पर्वतों के ईश हैं। (२) इस प्रकार वे प्रभु सम्पूर्ण जगत् के तो ईश हैं ही। वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **वृधाम्**=शारीरिक शक्तियों का विकास करनेवाले

जीवों के ईश हैं। और **इन्द्रः**=ये इन्द्र **इत्**=निश्चय से **मेधिराणाम्**=मेधा बुद्धि से सम्पन्न लोगों के भी ईश हैं। एवं जड़-चेतन दोनों के प्रभु ही ईश हैं। (३) **इन्द्रः**=ये परमैश्वर्यशाली प्रभु **क्षेमे**=प्राप्त वस्तुओं के रक्षण के निमित्त **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। प्रभु ही हमारी व हमारी वस्तुओं की रक्षा करनेवाले हैं। वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **योगे**=अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। प्रभु ही योगक्षेम के साधक हैं।

भावार्थ—जड़-जगत् के ईश प्रभु हैं, चेतन जगत् के भी वे ही ईश हैं। योगक्षेम को प्राप्त करानेवाले वे ही हैं।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिक्कालाघनवच्छिन्न प्रभु (काल व देश से असीमित)

प्राक्तुभ्य इन्द्रः वृधो अहंभ्यः प्रान्तरिक्षात्प्र समुद्रस्य धासेः।
प्र वातस्य प्रथसः प्र ज्मो अन्तात्प्र सिन्धुभ्यो रिरिचे प्र क्षितिभ्यः ॥ ११ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **अक्तुभ्यः**=रात्रियों से **प्रवृधः**=अत्यन्त बढ़े हुए हैं और **अहभ्यः**=दिनों से भी **प्र (वृधः)**=बढ़े हुए हैं। ये सनातन काल से चले आ रहे दिन और रात प्रभु को सीमित नहीं कर पाते। (२) काल की तरह देश भी प्रभु को सीमित करने में समर्थ नहीं। **अन्तरिक्षात् प्र (वृधः)**=वे प्रभु अन्तरिक्ष से बढ़े हुए हैं। अन्तरिक्ष उन्हें अपने में सीमित नहीं कर सकता। **समुद्रस्य धासेः**=समुद्र के धारक स्थान से भी **प्र**=वे प्रभु बढ़े हुए हैं। **वातस्य प्रथसः**=वायु के विस्तार से भी वे **प्र (वृधः)**=बढ़े हुए हैं। **ज्मः अन्तात्**=पृथिवी के अन्तों से भी **प्र (वृधः)**=वे प्रभु बढ़े हुए हैं। **सिन्धुभ्यः**=इन बहनेवाली नदियों से **प्र**=वे बढ़े हुए हैं और **क्षितिभ्यः**=इन लोकों में निवास करनेवाली सब प्रजाओं से भी वे **प्र (वृधः)**=बढ़े हुए हैं।

भावार्थ—यह काल व देश प्रभु को सीमित नहीं कर पाते। वे दिक्काल से अवच्छिन्न नहीं हैं।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान प्रकाश रूप वज्र

प्र शोशुचत्या उषसो न केतुरसिन्वा ते वर्ततामिन्द्र हेतिः।
अश्मेव विध्य दिव आ सृजानस्तपिष्ठेन हेषसा द्रोघमित्रान् ॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब आसुर वृत्तियों के संहार करनेवाले प्रभो! तेरी **केतुः**=ज्ञानरश्मियाँ **शोशुचत्या उषसः**=वे चारों ओर दीप्ति को फैलाती हुई उषा के समान हैं। उषा के होते ही जैसे अन्धकार समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार हे प्रभो! आपकी प्रेरणा हृदयान्धकार को नष्ट करनेवाली होती है। **ते हेतिः**=तेरा यह ज्ञानवज्र **असिन्**=भेदनरहित होकर **प्रवर्तताम्**=प्रवृत्त हो। इस ज्ञानवज्र का प्रभाव अवश्य होता ही है। (२) **दिवः**=ज्ञान के प्रकाशों को **आसृजानः**=समन्तात् पैदा करता हुआ तू **अश्मा इव**=पत्थर की तरह **विध्य**=इन दुरेव पुरुषों को अशुभ आचरणवाले व्यक्तियों को **विध्य**=विद्ध करनेवाला हो। जैसे पत्थर से एक दुष्ट पुरुष का नाश कर दिया जाता है (stoned to death), इसी प्रकार ज्ञान के द्वारा उसकी दुष्टता को समाप्त करके भी दुष्ट पुरुष का अन्त कर दिया जाता है। (३) **तपिष्ठेन**=अत्यन्त दीप्त **हेषसा (हेत्या)**=शब्दमय वज्र से ज्ञानात्मक वज्र से **द्रोघमित्रान्**=मित्र द्रोहियों को भी तू बींधनेवाला हो। ज्ञान के द्वारा उनकी मित्रद्रोह की अशुभ भावनाओं को तू विनष्ट कर।

भावार्थ—दुष्ट को पत्थर से मारकर नष्ट करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि ज्ञान प्रसार द्वारा उसकी दुष्टता को दूर कर दिया जाए।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर

अन्वह मासा अन्विद्वनान्यन्वोषधीरनु पर्वतासः।
अन्विन्द्रं रोदसी वावशाने अन्वापो अजिहत जायमानम्॥ १३॥

(१) **अह**=निश्चय से **मासाः**=ये संवत्सर के बारह महीने **इन्द्रं अनु अजिहत**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को अनुकूलता में गति करते हैं। सम्पूर्ण कालचक्र प्रभु की शक्ति से प्रेरित हो रहा है। (२) **इत्**=निश्चय से **वनानि**=ये सब वन उस प्रभु के **अनु**=पीछे गति कर रहे हैं। **ओषधीः अनु**=सब ओषधियाँ उसके ही पीछे गति कर रही है। **पर्वतासः अनु**=ये पर्वत भी उस प्रभु के पीछे गतिवाले हैं। (३) **वावशाने**=प्राणिमात्र का हित चाहनेवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी **इन्द्रं अनु**=उस प्रभु के पीछे गतिवाले होते हैं। और (४) **जायमानम्**=कण-कण में अपनी महिमा के रूप में प्रादुर्भूत हुए-हुए उस प्रभु को **आपः**=सब प्रजाएँ **अनु अजिहत**=अनुगमन करती हैं।

भावार्थ—काल-जड़ जगत् व चेतन प्राणी सब प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर प्रभु का अनुगमन करते हैं।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पापी का अन्त

कर्हि स्वित्सा त इन्द्र चेत्यासदघस्य यद्भिनदो रक्ष एषत्।
मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः पृथिव्या आपृगमुया शयन्ते॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**=सब आसुरवृत्तियों को समाप्त करनेवाले प्रभो! **ते**=आपकी **सा**=वह **चेत्या**=ज्ञान देनेवाली, चेतानेवाली शक्ति **कर्हिस्वित्**=कब **असत्**=प्रकट होगी? **यद्**=जो **अघस्य**=पाप का **भिनदः**=विदारण कर देती है, जो **एषत्**=(आ ईषत्, ईष् to kill) चारों ओर घात-पात करते हुए **रक्षः**=राक्षसी वृत्तिवाले पुरुष को नष्ट कर देती है। (२) हे प्रभो! आपकी उस शक्ति से आहत हुए-हुए **यत्**=जो **मित्रक्रुवः**=(मित्राणां क्रूरस्य कर्मणः कर्तारः सा०) मित्रों के साथ क्रूरता से वर्तनेवाले लोग **अमुया पृथिव्या**=उस पृथिवी से **आपृक्**=संपृक्त होकर **शयन्ते**=उसी प्रकार शयन करते हैं **न**=जिस प्रकार **शसने**=वध्यस्थल में **गावः**=पशु। वध्यशाला में वध को प्राप्त पशु जैसे भूमि का आलिंगन करके शयन करते हैं, उसी प्रकार मित्रद्रोही विनष्ट हो जाते हैं। प्रभु का ज्ञानरूप वज्र इनकी मित्रद्रोह की भावना को समाप्त कर देता है। उस भावना की समाप्ति के साथ मित्रद्रोही पुरुष मित्रद्रोही नहीं रह जाता। मित्रद्रोही का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञानवज्र पाप को, नाशक राक्षसों को तथा मित्रद्रोहियों को समाप्त कर देता है।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुधार के लिए पृथक्करण व ज्ञान देना

शत्रूयन्तो अभि ये नस्ततस्रे महि व्राधन्त ओगणास इन्द्र।
अन्धेनामित्रास्तमसा सचन्तां सुज्योतिषो अक्तवस्ताँ अभि ष्युः॥ १५॥

(१) ये जो **शत्रूयन्तः**=शत्रु के समान आचरण करते हुए **नः**=हमें **अभिततस्त्रे**=इधर-उधर उत्शिप्त करते हैं, **महि व्राधन्तः**=हमें महान् पीड़ा पहुँचाते हैं, हमारी बहुत बाधाओं का कारण बनते हैं, **ओगणासः**=संघ (gang) बनाकर अपना पीड़ा पहुँचाने का कार्य करते हैं। हे **इन्द्र**=प्रभो! वे **अमित्राः**=सबका अहित चाहनेवाले लोग **अन्धेन तमसा सचन्ताम्**=अन्धतमस् से, घने अन्धेरे से युक्त हों। अर्थात् उन्हें समाज से पृथक् करके कारागार में अलग कमरे में रखा जाये। और वहाँ उनके **अभि**=दोनों और **सुज्योतिषः अक्तवः**=उत्तम ज्योतिवाली ज्ञान की रश्मियाँ **स्युः**=हों। अर्थात् उन्हें प्रातः-सायं दोनों समय उत्तम ज्ञान प्राप्त कराया जाए। इस ज्ञान के द्वारा उनकी वृत्ति को ठीक करने का प्रयत्न किया जाए। (२) सुधार के लिये आवश्यक है कि उसकी पहले वातावरण से अलग किया जाए। इसी दृष्टिकोण से यहाँ कहा गया है कि वे अन्धतमस् से युक्त हों। एकदम उन्हें अलग करके रखा जाए, उनका संसार परिवर्तित ही हो जाए। इसके बाद उन्हें प्रातः-सायं ज्ञान देने का प्रयत्न किया जाए। दिन में विविध कार्यों में व्यापृत रखा जाए। ज्ञान के द्वारा उनके जीवन में पवित्रता के संचार का यत्न हो।

भावार्थ—औरों को हिंसित व विघ्नित करनेवाले लोगों को समाज से पृथक् करके सुधारने के लिए यत्न हो। उन्हें प्रतिदिन ज्ञान को देने की व्यवस्था की जाए ताकि उनकी प्रवृत्तियाँ परिवर्तित हो जाएँ।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ, स्तवन व सम्मिलित-प्रार्थना

पुरूणि हि त्वा सवना जनानां ब्रह्माणि मन्दन्गृणतामृषीणाम्।
इमामाघोषन्नवसा सहूतिं तिरो विश्वाँ अर्चतो याह्यर्वाङ् ॥ १६ ॥

(१) गत मन्त्रों के अनुसार शान्त सामाजिक वातावरण में **हि**=निश्चय से **जनानाम्**=लोगों के **पुरूणि सवना**=पालन व पूरण करनेवाले यज्ञ **त्वा**=हे प्रभो! आपको **मन्दन्**=हर्षित करते हैं। इसी प्रकार **गृणताम्**=स्तवन करते हुए **ऋषीणाम्**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के **ब्रह्माणि**=स्तोत्र भी आपको आनन्दित करते हैं। अर्थात् शान्त वातावरण में लोग यज्ञों व प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। इन अपने कार्यों से वे प्रभु के प्रिय बनते हैं। (२) इस समय ये लोग **अवसा**=रक्षण के हेतु से **इमाम्**=इस **सूहितम्**=(congregetional preyes) सामूहिक प्रार्थना को, मिलकर की जानेवाली प्रार्थना को **आघोषन्**=उच्चारण करते हैं। इस सम्मिलित प्रार्थना से वे अपने वातावरण को पवित्र बनाते हैं। (३) आप इन **विश्वान् अर्चतः**=सब उपासकों को **तिरः**=गुप्तरूप में **अर्वाङ्**=हृदयाकाश के भीतर **याहि**=प्राप्त होइये। ये उपासक अपने हृदयों में आपके प्रकाश को देख पायें।

भावार्थ—'यज्ञ, स्तवन व सम्मिलित प्रार्थनाएँ' हमें प्रभु के प्रकाश को देखने योग्य बनाती हैं।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विश्वामित्र ही प्रभु-भक्त है

एवा ते वयमिन्द्र भुञ्जतीनां विद्याम सुमतीनां नवानाम्।
विद्याम वस्तोरवसा गृणन्तो विश्वामित्रा उत त इन्द्र नूनम् ॥ १७ ॥

(१) **एवा**=इस प्रकार अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार 'यज्ञ-स्तुति व सम्मिलित प्रार्थना' को अपनाते हुए **वयम्**=हम हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते**=आपकी **भुञ्जतीनाम्**=हमारा पालन

करनेवाली **नवानाम्**=(नु स्तुतौ) स्तुति के योग्य-प्रशंसनीय **सुमतीनां विद्याम**=सुमतियों को जानें। अर्थात् हमें वह उत्तम बुद्धि प्राप्त हो जो उत्तमता से पालन करनेवाली हो। (२) **अवसा**=रक्षण के हेतु से **गृणन्तः**=आपका स्तवन करते हुए हम **वस्तोः**=(propesty possession wealth) निवास के लिये आवश्यक धन को **विद्याम**=प्राप्त करें। (३) **उत**=और **विश्वामित्राः**=सबके साथ स्नेह से वर्तते हुए हम **नूनम्**=निश्चय से हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **ते**=आपके ही हों। प्रभु-भक्त व प्रभु प्रिय वही होता है जो किसी से द्वेष नहीं करता 'सर्वभूत हिते रताः'।

भावार्थ—हमें प्रभु से सुबुद्धि प्राप्त हो, धन प्राप्त हो और हम सबके प्रति स्नेहवाले होकर प्रभु के हो जाएँ।

ऋषिः—**रेणुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रुसंहार व धन प्राप्ति

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ १८ ॥

(१) **शुनम्**=उस आनन्दस्वरूप प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं जो **मघवानम्**=सब ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाले हैं **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यवाले हैं। **अस्मिन् भरे**=इस जीवन संग्राम में **नृतमम्**=हमारा उत्तम नेतृत्व करनेवाले हैं। **वाजसातौ**=शक्ति प्राप्ति के निमित्त की जानेवाली हमारी प्रार्थनाओं को **शृण्वन्तम्**=जो सुनते हैं। (२) उस परमात्मा को जो **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **उग्रम्**=हमारे शत्रुओं के लिए उग्र हैं, अत्यन्त तेजस्वी हैं। और **समत्सु**=संग्रामों में **वृत्राणि घ्नन्तम्**=ज्ञान के आवरणभूत काम आदि शत्रुओं को नष्ट कर रहे हैं। तथा जो हमारे लिये इन शत्रुओं को नष्ट करके **धनानाम्**=धनों के **सञ्जितम्**=सम्यक् विजेता हैं। इन धनों के द्वारा हम उत्तम जीवन को बितानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के नेतृत्व में हम शत्रुओं को जीतकर उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

इस सूक्त के प्रारम्भ में भी प्रभु को 'नृतम' शब्द से स्मरण किया है। (१) अन्तिम मन्त्र में भी इसी 'नृतम' शब्द का प्रयोग हुआ है। (२) इस प्रभु के नेतृत्व में चलने के कारण ही तो इसका ऋषि 'रेणु' कहलाया है (री गतौ) प्रभु के नेतृत्व में चलता हुआ यह प्रभु का आलिंगन करता है। (री श्लेषणे) यह प्रभु की तरह ही 'नारायण' बन जाता है, यही 'नारायण' अगले सूक्त का ऋषि है। प्रभु की तरह ही यह 'सर्वभूतहिते रत' होता है, नर-समूह का अयन (शरण-स्थान) बनता है। यह प्रभु का स्मरण करता हुआ कहता है—

[९०] नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सहस्रशीर्षा पुरुष

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १ ॥

(१) वह प्रभु **पुरुषः**='पुरि वसति' ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करते हैं। 'पुरिशेते'=इस ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन करते हैं। 'पुनाति-रुणद्धि-स्यति' इस ब्रह्माण्डरूप नगरी को वे पवित्र करते हैं, इसे वे नष्ट होने से बचाने के लिये आवृत किये रहते हैं और अन्त में इसका प्रलय करते हैं (षोऽन्तकर्मणि)। (२) वे पुरुष **सहस्रशीर्षा**=अनन्त सिरोंवाले हैं, **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखोंवाले हैं, **सहस्रपात्**=अनन्त पाँववाले हैं। सब ओर उनके सिर आँखें व पाँव हैं। इन इन्द्रियों से रहित

होते हुए भी इन इन्द्रियों की शक्ति उनमें सर्वत्र है। (३) **स**=वे प्रभु **भूमिम्**=इस 'भवन्ति भूतानि यस्यां' प्राणियों के निवास-स्थानभूत ब्रह्माण्ड को **सर्वतः वृत्वा**=सब ओर से आच्छादित करके अपने एक देश में इस सारे ब्रह्माण्ड को धारण करके **दशाङ्गुलम्**=इस दशांगुल-परिमाण जगत् को **अति अतिष्ठत्**=लांघ करके ठहरे हुए हैं। अनन्त-सा प्रतीत होनेवाला भी यह ब्रह्माण्ड उस अनन्त प्रभु की तुलना में एकदम सान्त ही है। उस प्रभु की तुलना में यह सारा ब्रह्माण्ड एक तरबूज के समान ही है (दशांगुल=watermelen)। (४) 'दशांगुल' शब्द हृदयदेश के लिए भी प्रयुक्त होता है। वे प्रभु सबके हृदयों में निवास करते हुए उन सब हृदयों से ऊपर उठे हुए हैं। (५) यह ब्रह्माण्ड पञ्चसूक्ष्मभूत व पञ्चस्थूलभूतों से बना हुआ होने से भी 'दशांगुल' कहलाता है। प्रभु इस ब्रह्माण्ड को लाँघकर रह रहे हैं।

भावार्थ—वे पुरुष विशेष प्रभु 'अनन्त सिरों, आँखों व पाँव' वाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड को आवृत करके इसको लाँघकर रह रहे हैं। प्रभु की तुलना में यह ब्रह्माण्ड दशांगुल-मात्र ही है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'भूत-भाव्य-अमृत' के ईशान

पुरु॑ष ए॒वेदं सर्वं॒ यद्भू॒तं यच्च॒ भव्य॑म्। उ॒ताम॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥ २ ॥

(१) **पुरुषः**=इस ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन व निवास करनेवाले प्रभु **एव**=ही **इदं सर्वम्**=इन सारे प्राणियों के **ईशानः**=शासित करनेवाले हैं। उन प्राणियों के **यद्**=जो **भूतम्**=कर्मानुसार जन्म को ग्रहण कर चुके हैं। **यत् च**=और जो **भव्यम्**=समीप भविष्य में ही जन्म ग्रहण करेंगे। इन प्राणियों के भी वे प्रभु ईश हैं। (२) इन भूत भाव्य प्राणियों के तो वे प्रभु ईश हैं ही, **उत**=और **अमृतत्वस्य ईशानः**=वासनाओं के क्षय से अमरपद को प्राप्त प्राणियों के भी वे ईश हैं। इन्हें भी परामुक्ति के काल की समाप्ति पर प्रभु की व्यवस्था के अनुसार जन्म धारण करना होता है। ये अमृत पुरुष वे हैं **यत्**=जो **अन्नेन**=उस अन्न नामक प्रभु से अन्न नामक प्रभु का आश्रय करने से, **अतिरोहति**=जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाते हैं। प्रभु अन्न हैं 'अद्यतेऽन्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते'। इस प्रभु को अन्न इसलिए भी कहते हैं कि 'आ-नम्' अन्ततः सब इनकी ओर झुकते हैं। इस अन्न का आश्रय करके जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जानेवाले व्यक्ति भी प्रभु के शासन से ऊपर नहीं हो पाते।

भावार्थ—वे प्रभु 'भूत-भाव्य व अमृत' सभी के ईशान हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यह ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा है

ए॒तावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः। पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥ ३ ॥

(१) **अस्य**=इस पुरुष की **एतावान् महिमा**=इतनी महिमा है। सारा ब्रह्माण्ड उनके एकदेश में है और सब 'भूत-भाव्य-अमृत' प्राणियों के वे ईश हैं। इस सारे ब्रह्माण्ड में तथा सब प्राणियों में प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है, सूर्यादि पिण्डों को वे ही ज्योति दे रहे हैं, तो बुद्धिमानों की बुद्धि भी वे ही हैं, और तेजस्वियों का तेज भी वे ही हैं। (२) वे **पुरुषः**=ब्रह्माण्डनगरी में निवास करनेवाले प्रभु अतः **ज्यायान् च**=इस ब्रह्माण्ड से बड़े हैं, यह सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एकदेश में ही स्थित है। प्रभु की तुलना में यह विशाल ब्रह्माण्ड दशांगुल मात्र है। **विश्वाभूतानि**=ये सारे प्राणी **अस्य पादः**=इस प्रभु के चतुर्थांश में ही हैं। यह सारा जन्म-मरण चक्र इस चतुर्थांश में ही चल रहा है। **अस्य त्रिपाद्**=इस प्रभु के तीन अंश तो **दिवि**=अपने द्योतनात्मक रूप में

अमृतम्=अमृत हैं। उन तीन अंशों में यह जीवों के जन्म ग्रहण व शरीर को छोड़नेरूप मृत्यु का व्यवहार नहीं होता, सो उस त्रिपात् को यहाँ 'अमृत' कहा गया है।

भावार्थ—सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड से बहुत बड़े हैं। यह ब्रह्माण्ड तो प्रभु के एकदेश में ही है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'गति का आदि स्रोत प्रभु'

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

(१) **त्रिपात् पुरुषः**=त्रिपात् पुरुष **ऊर्ध्वः उदैत्**=इस चराचर जगत् से ऊपर उठा हुआ है। **अस्य**=इस पुरुष का **पादः**=एक अंश ही **पुनः**=तो **इह अभवत्**=यहाँ इस ब्रह्माण्ड में होता है। सम्पूर्ण संसार का व्यवहार इस एक अंश में ही चल रहा है, प्रभु के तीन अंश तो इस व्यावहारिक संसार से ऊपर ही हैं। (२) इस **साशनानशने**=अशन सहित और अशनरहित संसार दो भागों में बँटा हुआ है, यही चराचर कहलाता है। इस चराचर संसार में **ततः**=उस प्रभु से ही **विष्वङ्**=(विषु अञ्च्) विविध दिशाओं में गति करनेवाला या विविध योनियों में प्रविष्ट होकर गति करनेवाला यह सारा संसार **व्यक्रामत्**=विविध गतियोंवाला होता है। सम्पूर्ण संसार की गति के स्रोत वे प्रभु ही हैं। (३) **अभि**=ये सारे प्राणी अन्ततः उस प्रभु की ओर ही चल रहे हैं। सबका अन्तिम लक्ष्य वह प्रभु ही है। वहाँ पहुँचकर ही यात्रा का अन्त होता है।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसार की गति के स्रोत वे प्रभु ही हैं। यह ब्रह्माण्ड उस प्रभु की ओर ही चल रहा है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

विराट् की उत्पत्ति

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

(१) **ततः**=उस निमित्त कारणभूत पुरुष से **विराट् अजायत**=एक देदीप्यमान पिण्ड आविर्भूत किया गया। इसी पिण्ड को मनु ने 'हैम अण्ड' नाम दिया है। यही सांख्य में 'महत्' शब्द से कहा गया है। (२) **विराजः अधि पूरुषः**=उस विराट् पिण्ड का अधिष्ठातृरूपेण वह पुरुष था। प्रभु की अध्यक्षता में ही प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। (३) **सः**=वह विराट् पिण्ड **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **अत्यरिच्यत**=संसार के किसी भी पदार्थ से अधिक दीप्तिवाला हुआ। मनु ने इसे 'सहस्रांशु सम प्रभ'=सूर्य के समान प्रभावाला कहा है। (४) **पश्चात्**=अब विराट् की उत्पत्ति के बाद **भूमिम्**=प्राणियों के निवास-स्थानभूत लोकों को उस अध्यक्ष ने बनाया। प्राणियों के सशरीर होने से पहले इन लोकों का बनना आवश्यक ही है। (५) **अथ उ**=और अब, इन लोकों के बन जाने के पश्चात् **पुरः**=शरीर बनाये गये। शरीरों को 'पुरः' नाम इसलिए देते हैं कि 'पूर्यन्ते सप्त धातुभिः'=ये सप्त धातुओं से पूर्ण हैं।

भावार्थ—पहले 'विराट्' की उत्पत्ति होती है। इस विराट् से लोक-लोकान्तर बनते हैं और फिर प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति होती है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु-भक्त व ऋतुओं का पाठ

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

(१) **यत्**=जब **हविषा**=(हु दाने) हविरूप-त्याग के पुञ्ज **पुरुषेण**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले प्रभु से **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **यज्ञम्**=संगतिकरण व सम्बन्ध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं, तो **अस्य**=इस प्रभु से मेलवाले व्यक्ति के लिये **वसन्तः आज्यम्**=वसन्त ऋतु आज्य **आसीत्**=हो जाती है, **ग्रीष्मः**=ग्रीष्म ऋतु **इध्मः**=इध्म होती है और **शरत् हविः**=शरद् ऋतु हवि हो जाती है। (२) वसन्त ऋतु इस व्यक्ति के लिये प्रभु की महिमा को व्यक्त करनेवाली बन जाती है (आज्य-अञ्ज्=व्यक्त करना)। चारों ओर वनस्पतियों के नवपल्लव पुष्प व फल इसके लिए प्रभु-दर्शन के द्वार बन जाते हैं। (३) ग्रीष्म ऋतु इसके लिए इध्म व दीप्ति का प्रतीक हो जाती है। जैसे ग्रीष्म में सूर्य प्रचण्डरूप में चमक रहा होता है, उसी प्रकार यह उपासक प्रभु की अत्यन्त ज्योतिर्मय ज्ञानदीप्ति की कल्पना करता है। (४) इस प्रभु-भक्त के लिए सब पत्तों व पुष्पों को शीर्ण करती हुई शरद् भी हवि का संकेत बन जाती है। शरद् से यह हविरूप बनना सीखता है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त के लिए वसन्त प्रभु महिमा को दर्शाती है, ग्रीष्म प्रभु की ज्ञानदीप्ति का संकेत करती है और शरत् इसे त्याग का पाठ पढ़ाती है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

देव-साध्य व ऋषि

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ ७॥

(१) **तम्**=उस **यज्ञम्**=उपासनीय संगतिकरण योग्य व समर्पणीय प्रभु को **बर्हिषि**=वासनाओं का जिसमें से उद्बर्हण कर दिया गया है ऐसे हृदय में **प्रौक्षन्**=प्रकर्षेण सिक्त करते हैं। हृदयरूप क्षेत्र को प्रभु-चिन्तनरूप जल से सिक्त करते हैं। (२) उस प्रभु को जो **पुरुषम्**=इस ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले हैं। और जो **अग्रतः जातम्**=पहले से ही विद्यमान हैं। 'उन प्रभु को किसी ने बनाया हो, ऐसी बात नहीं है,' वे तो अनादि व स्वयम्भू हैं। (३) **तेन**=उस प्रभु से **अयजन्त**=वे व्यक्ति अपना मेल करते हैं **ये**=जो **देवाः**=देववृत्ति के हैं, जिनके मन दिव्यगुणों की सम्पत्तिवाले हैं। **साध्याः (साध्नुवन्ति परकार्याणि)**=जो सदा औरों के कार्यों को सिद्ध ही करते हैं, बिगाड़ते नहीं। **च**=और जो **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा हैं।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति देवों को, साध्यों को व वृषियों को होती है, उन्हें जो 'उपासना, कर्म व ज्ञान' तीनों का अपने में समन्वय करते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

दूध, अन्न व पशु

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये॥ ८॥

(१) **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=संगतिकरण योग्य, **सर्वहुतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभु से **पृषदाज्यम्**=('अन्नं वै पृषदाज्यम्' 'पयः पृषदाज्यम्' श० ३।८।४।८। 'पशवो वै पृषदाज्यम्' तै० १।६।३।२) अन्न, दूध व पशु **सम्भृतम्**=इन सबका सम्भरण किया गया। प्रभु ने हमारे जीवन के लिए गौ आदि पशुओं को बनाया जिनके द्वारा हमें दूध प्राप्त हुआ तथा कृषि आदि के द्वारा अन्न के मिलने का सम्भव हुआ। (२) प्रभु ने **तान्**=उन सब **पशून् चक्रे**=पशुओं का निर्माण किया, **वायव्यान्**=जो वायु में उड़नेवाले थे, **आरण्यान्**=वनों में रहनेवाले थे **च**=और **ये**=जो **ग्राम्याः**=ग्राम में पालतू पशुओं के रूप में रहनेवाले थे। (३) यहाँ मनुष्यों से भिन्न सभी प्राणियों को 'पशु' शब्द से स्मरण किया है, ये 'पश्यन्ति' केवल देखते हैं, मनुष्य की तरह मनन नहीं कर पाते। ये सब मनुष्य के जीवन में किसी न किसी रूप में सहायक होते हैं। सर्प विष का भी

औषधरूपेण प्रयोग होता है, मस्तिष्क का बल भी वमन विरोध में काम आता है। ज्ञानवृद्धि के साथ हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि ये सब पशु हमारे लिए सहायक हैं। प्रभु की कृपा का अन्त नहीं। वे सर्वहुत् हैं, सब कुछ देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवन के धारण के लिए दूध, अन्न, व पशुओं को प्राप्त कराया है। ये पशु दूध आदि देकर व कृषि आदि कार्यों में सहायक होकर, हमारे लिए उपयोगी होते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ऋक्-साम-अथर्व-यजु

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

(१) **तस्माद्**=उस **यज्ञात्**=पूज्य **सर्वहुतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभु से **ऋचः**=ऋचाएँ **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत हुईं। 'ऋच् स्तुतौ' धातु के अनुसार ये वे मन्त्र हैं जिनमें कि सब पदार्थों के गुणधर्मों का वर्णन है। सब प्रकृति सम्बद्ध विद्याएँ इन ऋचाओं का विषय हैं। (२) उस प्रभु से **सामानि**=साम मन्त्र प्रादुर्भूत हुए। ये वे मन्त्र हैं जो आत्मा की उपासना के साथ सम्बद्ध हैं। इसी से सामवेद का नाम ही उपासना वेद हो गया है। (३) **तस्मात्**=उस प्रभु से **छन्दांसि**=छन्द, अथर्व के मन्त्र प्रादुर्भूत हुए। इन्हें 'छन्द' इसलिए कहा गया है कि ये मुख्यरूप से 'छद अपवारणे' रोगों व युद्धों का अपवारण करते हैं। (४) **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **यजुः**=यज्ञों के प्रतिपादक यजुर्वेद के मन्त्र भी प्रादुर्भूत हुए। इन यज्ञों के द्वारा ही जीव ने इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस्य को सिद्ध करना है।

भावार्थ—प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में 'ऋग्, यजु, साम व अथर्व' का प्रकाश किया। इनके द्वारा क्रमशः प्रकृतिविद्या, कर्मविज्ञान, उपासना व रोगचिकित्सा युद्धविद्या का उपदेश दिया।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गौ-घोड़ा-मनुष्य-अजा अवि

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥

(१) **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **अश्वाः**=घोड़ों को **अजायन्त**=जन्म दिया गया। **ये के च**=जो कोई भी **उभयादतः**=दोनों ओर दाँतोंवाले पशु थे उन्हें प्रभु ने उत्पन्न किया। **गावः**=गौवें भी **ह**=निश्चय से **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **जज्ञिरे**=उत्पन्न हुईं। (२) **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **अजावयः**=अजा और **अवि**=बकरी व भेड़ **ज्वाताः**=उत्पन्न की गईं। गौवें और घोड़े मनुष्य के दक्षिण हस्त थे तो ये भेड़ व बकरी उसके वामहस्त बने। इस प्रकार मनुष्य केन्द्र में है। उसके एक ओर गौ और घोड़ा तथा दूसरी ओर भेड़ व बकरी हैं। 'तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः-पुरुषो-ऽजावयः'। (३) गौ दूध देकर मनुष्य का पोषण करती हुई उसके बुद्धि विकास का भी कारण बनती है। घोड़ा उसके 'क्षत्रियत्व' के विकास में सहायक होता है। अजा व अवि पशम व ऊन प्राप्त कराके उसके वाणिज्य में सहयोग देती हैं। इस प्रकार मानव-जीवन के साथ बहुत समीपता से सम्बद्ध हैं।

भावार्थ—प्रभु ने घोड़ा, गौ, अजा, अवि आदि उपकारक पशुओं को जन्म दिया।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु धारण से क्या लाभ?

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

(१) **यत्**=जब **पुरुषम्**=संसार नगरी में निवास शयन, करनेवाले प्रभु को 'देव-साध्य व

ऋषि' **व्यदधुः**=अपने में विशेषरूप से धारण करते हैं तो वे **कतिधा**=कितने प्रकार से **व्यकल्पयन्**=(विक्लृप्)=अपने को विशिष्ट परामर्शवाला बनाते हैं। प्रभु के धारण करनेवाले में अन्य पुरुषों से क्या विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है? (२) **अस्य मुखं किम्**=इसका मुख्य क्या हो जाता है? क्या यह अन्य पुरुषों की तरह ही बोलचालवाला नहीं होता? **कौ बाहू**=इसके बाहु क्या हो जाते हैं? इसके बाहु क्या सामान्य लोगों की तरह कार्य करनेवाले नहीं होते? **का ऊरू**=इसकी जाँघें क्या हो जाती हैं? अथर्व के अनुसार इसका मध्यभाग-पेट क्या हो जाता है? **पादा (का) उच्येते**=इसके पाँव क्या कहाते हैं? इसकी चाल-ढाल और लोगों से किस दिशा में भिन्न होती है?

भावार्थ—यदि प्रभु के धारण के बाद भी हमारे जीवनों में कोई विशेषता न आये, तो प्रभु धारण की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती। इसी कारण यह प्रश्न है कि प्रभु धारण से क्या परिवर्तन होता है? अगले मन्त्रों में इसी प्रश्न का विस्तृत उत्तर है—

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ १२॥

(१) गत मन्त्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अस्य**=इस प्रभु को धारण करनेवाले का **मुखम्**=मुख **ब्राह्मणः आसीत्**=ब्राह्मण हो जाता है, इसका मुख ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान का प्रवचन करनेवाला बन जाता है यह मुख से ज्ञान का प्रसार करता है, अपशब्दों के बोलने का वहाँ प्रसंग ही कहाँ? (२) इस प्रभु को धारण करनेवाले की **बाहू**=भुजाएँ **राजन्यः कृतः**=क्षत्रिय बन जाती हैं। लोक-रञ्जनात्मक कर्मों को करती हुई वे राजन्य हो जाती हैं 'सो ऽरज्यत ततो राजन्यो ऽजायत'। यह बाहुओं से औरों का रक्षण ही करता है नकि नाश। (३) **यत्**=जो **अस्य**=इसकी **ऊरू**=जाँघे हैं **तत्**=वे **वैश्यः**=वैश्य **अजायत**=हो जाती हैं। यहाँ ऊरू 'मध्य भाग' का प्रतीक हैं। जैसे यह पेट रुधिरादि को उत्पन्न करके अंग-प्रत्यंग का पालन करता है इसी प्रकार यह धनार्जन करके सभी के हित में उसका विनियोग करता है। (४) **पद्भ्याम्**=पाँवों से यह **शूद्रः**=शूद्र **अजायत**=हो जाता है। 'शु+उत्+र' यह शीघ्रता से उत्कृष्ट गतिवाला होता है। इसके सब कार्य शूद्र की तरह सेवात्मक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को धारण करनेवाला मुख से एक सच्चे ब्राह्मण की तरह ज्ञान देनेवाला होता है। बाहुओं से एक क्षत्रिय की तरह रक्षण करनेवाला बनता है। मध्य भाग से एक वैश्य की तरह धनार्जन करके सभी का पालन करता है। पाँवों से इसकी सब गतियाँ एक सच्चे शूद्र की तरह सेवात्मक होती हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'चन्द्र, सूर्य, इन्द्र-अग्नि, वायु'

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥ १३॥

(१) **मनसः**=मन के दृष्टिकोण से यह प्रभु को धारण करनेवाला **चन्द्रमाः जातः**=चन्द्रमा हो जाता है। 'चदि आह्लादे' से चन्द्र शब्द बनता है। यह प्रभु-भक्त सदा आह्लादमय मनवाला होता है। 'मनः प्रसाद' से सदा यह स्मितवदन दिखता है। (२) **चक्षोः**=चक्षु से **सूर्यः अजायत**=यह सूर्य बन जाता है। सूर्य जैसे अन्धकार को दूर करनेवाला है, इसी प्रकार इसकी चक्षु इसके अज्ञानान्धकार को सदा दूर करनेवाली बनती है। यह आँख सब पदार्थों को सूक्ष्मता से देखती हुई

इसके तत्त्वज्ञान का साधन बनती है। (३) **मुखात्**=मुख से यह **इन्द्रः च अग्निः च**=इन्द्र और अग्नि बनता है। मुख के दो कार्य हैं 'खाना और बोलना' पहले कार्य के दृष्टिकोण से यह जितेन्द्रिय बनता है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही इन्द्र है। जितेन्द्रिय होता हुआ यह स्वाद के लिए न खाकर केवल शरीरधारण के लिए खाता है। दूसरे कार्य के दृष्टिकोण से यह अग्नि बनता है, इसके मुख से निकले हुए शब्द अग्नि होते हैं, आगे ले चलनेवाले होते हैं, सबको उत्साहित करनेवाले होते हैं। (४) **प्राणाद्**=प्राण के दृष्टिकोण से, जीवन के दृष्टिकोण से यह **वायुः अजायत**=वायु हो जाता है। 'वा गतौ' वायु चलती है, इसका जीवन भी बड़ा क्रियाशील होता है।

भावार्थ—प्रभु को धारण करनेवाले के जीवन में ये बातें होती हैं—(क) मनः प्रसाद, (ख) प्रकाशमय दृष्टि, (ग) जितेन्द्रियता व उत्साहमय वाणी, (घ) क्रियाशीलता।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'अन्तरिक्ष-द्यौः-भूमिः-दिशः'

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥ १४॥

(१) **नाभ्याः**=नाभि शरीर का केन्द्र है, इस नाभि के दृष्टिकोण से **अन्तरिक्षं आसीत्**=यह अन्तरिक्ष होता है 'द्युलोक' एक सीमा है, 'पृथिवी' दूसरी सीमा है। 'अन्तरिक्ष' इनके (अन्तराक्षि) बीच में है। यह प्रभु-भक्त सीमाओं पर न जाता हुआ सदा मध्य में रहता है। यह मध्य मार्ग ही इसके शरीर के केन्द्र को ठीक रखकर इसे पूर्ण स्वस्थ बनाता है। (२) **शीर्ष्णः**=सिर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह **द्यौः**=आकाश **समवर्तत**=हो जाता है जैसे द्युलोक नक्षत्रों से चमकता है, इसी प्रकार इसका मस्तिष्क विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता है। जैसे द्युलोक सूर्य ज्योति से देदीप्यमान है, इसी प्रकार इसका मस्तिष्क आत्मज्ञान के सूर्य से चमकता है। (३) यह **पद्भ्याम्**=पाँवों के दृष्टिकोण से **भूमिः**=भूमि बनता है। 'भवन्ति भूतानि यस्यां' इस व्युत्पत्ति से भूमि सभी को निवास देनेवाली है। इसकी 'पद गतौ' पाँव से होनेवाली सारी गति औरों के निवास का ही कारण बनती है। (४) यह **श्रोत्रात्**=श्रोत्र के दृष्टिकोण से 'दिशः'=दिशाएँ ही हो जाता है। 'प्राची-प्रतीची-अवाची-उदीची' ये चार दिशाएँ हैं। यह कानों से इनके उपदेश को सुनता है और 'प्राची' के उपदेश को सुनकर (प्र अञ्च्) आगे बढ़ता है, 'प्रतीची' से (प्रति अञ्च्) इन्द्रियों के प्रत्याहरण का पाठ पढ़ता है, अवाची (अव अञ्च्) से नम्रता का पाठ पढ़ता है और उदीची से (उद् अञ्च्) सदा उन्नति का उपदेश लेता है। ये प्रभु-भक्त **तथा**=मन्त्र वर्णित प्रकार से आचरण करते हुए **लोकान्**=शरीर के अंग-प्रत्यंगों को **अकल्पयन्**=शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त मध्य मार्ग में चलते हैं, मस्तिष्क को प्रकाशमय बनाते हैं। इनकी गति औरों के निवास का कारण बनती है तथा ये दिशाओं से उपदेश को ग्रहण करके आगे बढ़ते हैं, इन्द्रियों को प्रत्याहृत करते हैं, नम्रता को धारण करते हैं और सदा उन्नति के मार्ग पर चलते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सात मर्यादों का पालन

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥ १५॥

(१) **यद्**=जब **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यज्ञम्**=प्रभु के साथ मेल को (यजः संगतिकरण) **तन्वानाः**=विस्तृत करते हुए बढ़ाते हुए, **पुरुषम्**=जबर्दस्त पौरुषवाले **पशुम्**=काम-क्रोधरूप पशु

को **अबध्नन्**=बाँध लेते हैं, पूरी तरह से वश में कर लेते हैं, तो **अस्य**=इस यज्ञविस्तारक-पशुबन्धक पुरुष के **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'='दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' रूप सातों ऋषि **परिधयः आसन्**=परिधि हो जाते हैं। परिधि हो जाने का भाव यह है कि वे सब मर्यादा में चलनेवाले होते हैं। वेद में सात ही मर्यादाओं का उल्लेख है 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः०'। इन सातों मर्यादाओं का यह पालन करता है। (२) सातों मर्यादाओं के पालन का ही यह परिणाम होता है कि इसके जीवन में **त्रिः सप्त**=त्रिगुणित सात अर्थात् इक्कीस **समिधः**=दीप्तियाँ **कृताः**=उत्पन्न हो जाती हैं (are ereated)। इसके शरीर की इक्कीस शक्तियाँ दीप्त हो उठती हैं।

भावार्थ—प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़नेवाला व्यक्ति सातों मर्यादाओं का पालन करता है और अपनी सब शक्तियों को दीप्त करनेवाला होता है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ से यज्ञ का यजन

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

(१) प्रभु यज्ञ हैं, पूज्य हैं, संगतिकरण योग्य हैं और समर्पणीय हैं। 'बड़ों का आदर करना, बराबरवालों से मिलकर प्रेम से चलना तथा देना' यह त्रिविध कर्म यज्ञ है। **यज्ञेन**=इस 'बड़ों के आदर, परस्पर प्रेम व दान' रूप यज्ञात्मक कर्म से **यज्ञ**=उस उपास्य प्रभु को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अयजन्त**=उपासित करते हैं। प्रभु की उपासना यज्ञान्तर्गत इन्हीं तीन कर्मों से होती है। वस्तुतः **तानि**=वे तीन कर्म ही **प्रथमानि धर्माणि आसन्**=मनुष्य के प्रमुख कर्त्तव्य (first and foremost duties) थे। (२) इन कर्मों के द्वारा **महिमानः**=(मह पूजायाम्) प्रभु-पूजन करनेवाले **नाकम्**=उस सुखमय मोक्ष लोक का **सचन्त**=सेवन करते हैं, **यत्र**=जहाँ-जिस मोक्षलोक में वे व्यक्ति **सन्ति**=निवास करते हैं जो **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले हैं, **साध्याः**=(साधयन्ति परकार्याणि) दूसरों के कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं, तथा **देवाः**=सदा काम-क्रोधादि को जीतने की कामना करते हैं (विजिगीषा=दिव्) और ज्योतिर्मय जीवन बिताते हैं (द्युति=दिव्)।

भावार्थ—प्रभु का उपासन यज्ञ से होता है, यज्ञ ही प्रमुख कर्त्तव्य है, प्रभु-पूजक मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष को प्राप्त करके 'नारायण' सा ही हो जाता है।

इस पुरुष सूक्त का निचोड़ यही है कि प्रभु अनन्त ज्ञानवाले हैं उस ज्ञान से वे इस सुन्दर सृष्टि का निर्माण करते हैं। हम प्रभु को धारण करते हुए एक-एक अंग को शक्तिशाली बनाएँ। सदा यज्ञों द्वारा उस प्रभु का उपासन करते हुए हम भी प्रभु जैसे बन जाएँ। यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करनेवाला यह 'वीतं हव्यं येन'=यज्ञशेष का सेवन करनेवाला 'वैतहव्य' बनता है तथा **अरुणः**=तेजस्विता की लालिमावाला होता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु को याद करता है—

अष्टमोऽनुवाकः

[९१] एकनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जागते हुओं से स्तूयमान 'प्रभु'

सं जागृवद्भिर्जरमाण इध्यते दमे दमूना इषयन्निळस्पदे।
विश्वस्य होता हविषो वरेण्यो विभुर्विभावा सुषखा सखीयते॥ १॥

(१) **जागृवद्भिः**=जागनेवालों से जो अपने कर्त्तव्यों को अप्रमत्त होकर कर रहे हैं और सो नहीं गये, उनसे **जरमाणः**=स्तुति किया जाता हुआ यह प्रभु **समिध्यते**=सम्यक् दीप्त होता है। ये प्रभु अप्रमत्तभाव से कर्त्तव्य कर्मों को करने के द्वारा अर्चन करनेवालों के हृदयों में दीप्त होते हैं। (२) वे प्रभु **दमे**=इस शरीर रूप गृह में **दमूनाः**=(fire) अग्नि के समान हैं। वे प्रभु **इडः पदे**=वाणी के स्थान में, अर्थात् वेदवाणी में **इषयन्**=प्रेरणा को प्राप्त करा रहे हैं। वेदवाणी में हमारे कर्त्तव्य मात्र की प्रेरणा दे दी गयी है हम प्रभु की उस वाणी को पढ़ते हैं और वह वाणी हमारे कर्मों की हमें प्रेरणा देती हैं। (३) **विश्वस्य हविषः होता**=सम्पूर्ण हवि के, हव्य पदार्थों के वे देनेवाले हैं (हु दाने)। प्रत्येक उत्तम पदार्थ उस प्रभु ने ही प्राप्त कराया है। आकाश में शब्द को, वायु में मधुर स्पर्श को, अग्नि में तेज को, जल में रस को तथा पृथिवी में पुण्य गन्ध को स्थापित करनेवाले वे ही हैं। (४) **वरेण्यः**=ये प्रभु ही वरणीय हैं। प्रभु के वरण से सब योगक्षेम तो स्वयं प्राप्त हो ही जाता है। (५) ये प्रभु **विभुः**=सर्वव्यापक हैं, **विभावा**=विशिष्ट सामर्थ्यवाले हैं तथा **सखीयते**=सखित्व को चाहनेवाले जीव के लिए **सुषखा**=उत्तम मित्र हैं। पूर्ण निस्वार्थ मित्र प्रभु ही हैं। सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने से वे अपने मित्रों के सब हितों को सिद्ध कर पाते हैं।

भावार्थ—अप्रमत्तभाव से कर्तव्यपालन करते हुए हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु ही सच्चे मित्र हैं, वे ही वरणीय हैं।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दर्शतश्रीः 'प्रभु'

स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव।
जनंजनं जन्यो नाति मन्यते विश आ क्षेति विश्योऽविशंविशम्॥ २॥

(१) **स**=वे प्रभु **दर्शतश्रीः**=दर्शनीय शोभावाले हैं, हिमाच्छादित पर्वतों में, समुद्रों में, पृथिवी में सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। वे प्रभु **गृहे गृहे**=प्रत्येक घर में **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर आनेवाले हैं। यह हमारा ही दोष है कि हम उस प्रभु का स्वागत करने को तैयार नहीं होते। (२) (तक्वन्=rushing forwald, श्री गतौ) वे प्रभु **तक्वीः इव**=तीव्रगति से आनेवाले की तरह **वने वने**=(वन=संभक्तौ) प्रत्येक उपासक में **शिश्रिये**=आश्रय करते हैं, प्रत्येक उपासक में प्रभु का निवास है। (३) **जन्यः**=सब लोगों का हित करनेवाला वह प्रभु **जनं जनम्**=किसी भी मनुष्य को **न अतिमन्यते**=(विसृज्य न गच्छति सा०) छोड़ नहीं जाता। उस प्रभु की कृपादृष्टि सब पर रहती है। (४) **विश्यः**=सब प्रजाओं का हित करनेवाला वह प्रभु **विशः आक्षेति**=समन्तात् सब प्रजाओं में निवास करता है। वे प्रभु **विशं विशं**=(आक्षेति) प्रत्येक प्रजावर्ग को शासित करते हैं। प्रभु के शासन का उल्लंघन न कर सकने से सब प्रजाएँ कर्मानुसार

दिये दण्ड को भोगती हुई विविध योनियों में जन्म लेती हैं।

भावार्थ—संसार में सर्वत्र प्रभु की महिमा दिखती है। वे प्रभु सब प्राणियों में निवास करते हैं, सबका शासन करते हैं।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सुदक्ष-सुक्रतु-कवि'

सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुरग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित्।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **दक्षैः**=बलों से **सुदक्षः**=आप उत्तम बलवाले हो। तथा **क्रतुना**=प्रज्ञान व बुद्धि से **सुक्रतुः**=उत्तम प्रज्ञान व बुद्धिवाले **असि**=हैं। तथा **काव्येन**=इस वेदरूप अजरामर काव्य से (पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति) **कविः**=क्रान्तदर्शी व क्रान्तप्रज्ञ **असि**=हैं, **विश्ववित्**=सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान देनेवाले हैं। (२) **वसुः**=आप सर्वत्र वसनेवाले व सबको वसानेवाले हैं। **वसूनाम्**=निवास के लिये आवश्यक सब साधनों के व धनों के **त्वं एकः इत्**=आप अकेले ही **क्षयसि**=मालिक हैं (to be master of)। उन वसुओं के आप मालिक हैं **यानि**=जिन वसुओं का **द्यावा च पृथिवी च**=द्युलोक और पृथिवीलोक **पुष्यतः**=पोषण करते हैं। संसार के अन्तर्गत सब वसुओं के मालिक वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ही बलवान् व बुद्धिमान् हैं। वे ही सब ज्ञानों के देनेवाले हैं। तथा वे प्रभु ही सब वसुओं का पोषण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु का निवास कहाँ?

प्रजानन्नग्ने तव योनिमृत्वियमिळायास्पदे घृतवन्तमासदः।
आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः ॥ ४ ॥

(१) **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **प्रजानन्**=प्रकृष्टरूप से ज्ञानवाले होते हुए आप **तव योनिम्**=अपने निवासभूत (योनि=गृह) **ऋत्वियम्**=(ऋतु=light, splendine) प्रकाशमय और **इडायाः पदे**=वेदवाणी के आधार में **घृतवन्तम्**=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्तिवाले हृदयदेश में **आसदः**=आसीन होते हो। एक उपासक का निर्मल हृदय ही आपका निवास-स्थान है। वह हृदय जो प्रकाशमय है और वेदवाणी को अध्ययन से निर्मल व ज्ञानदीप्त बना है। (२) हे प्रभो! **ते**=आपकी **एतयः**=प्राप्तियाँ (एतिः=arrinal) **उषसां इव**=उषाओं के आगमनों की तरह **आचिकित्रे**=जानी जाती हैं। जिस प्रकार उषा के आने पर सदा अन्धकार दग्ध हो जाता है (उष दाहे) इसी प्रकार हृदय में प्रभु के आसीन होने पर वासनाओं का सब अन्धकार समाप्त हो जाता है। (३) हे प्रभो! आपके आगमन **अरेपसः**=सब दोषों को दूर करनेवाली **सूर्यस्य रश्मयः इव**=सूर्य की किरणों के समान हैं। जैसे सूर्य की किरणें सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करती हैं उसी प्रकार हृदय में प्रभु की प्राप्ति से शक्ति का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु का वास निर्मल व ज्ञानदीप्त हृदयों में होता है। यह प्रभु का वास सब वासनान्धकार को विनष्ट कर देता है और हमारे जीवनों में प्राणशक्ति का संचार करता है।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सात्त्विक आहार

तव॒ श्रियो॑ व॒र्ष्य॑स्येव वि॒द्युत॑श्चि॒त्राश्चि॑कित्र उ॒षसां॒ न के॒तवः॑ ।
यदोष॑धीर॒भिसृ॑ष्टो॒ वना॑नि च॒ परि॑ स्व॒यं चि॑नु॒षे अन्न॑मा॒स्ये॑ ॥ ५ ॥

(१) हे अग्ने! **तव**=आपकी **श्रियः**=शोभाएँ **वर्ष्यस्य**=वृष्टि करनेवाले मेघ की **विद्युतः इव**=विद्युतों के समान **चित्राः**=अद्भुत **चिकित्रे**=जानी जाती हैं। आपकी शोभाएँ **उषसां केतवः न**=उषा की रश्मियों के समान हैं। जैसे विद्युत् में छेदन-भेदन शक्ति है इसी प्रकार प्रभु की उपस्थिति सब वासनाओं को छिन्न कर देती है। जैसे उषा के प्रकाश की किरणें अन्धकार को दूर कर देती हैं, उसी प्रकार प्रभु की उपस्थिति अज्ञानान्धकार को भगा देती है। (२) इस प्रभु की उपस्थिति हमारे हृदयों में होती कब है? **यद्**=जब, हे उपासक! तू **ओषधीः अभि**=ओषधियों की ओर **सृष्टः**=प्रेरित (send forth) होता है, अर्थात् ओषधियाँ ही तेरा भक्ष्य होती हैं, **च**=और **वनानि** (अभिसृष्टः)=(वनं=water) पानी की ओर प्रेरित होता है, पानी ही तेरा पेय बनता है। तू **स्वयं**=आप ही **आस्ये**=मुख में **अन्नं परिचिनुषे**=अन्न का ही परिचय प्राप्त करता है, अन्न को ही खाता है, उसी को स्वाद को जानता है। वस्तुतः प्रभु प्राप्ति के लिये 'सादे वानस्पतिक भोजन व पानी का ही ग्रहण' करना आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु दर्शन के लिए सात्त्विक आहार के द्वारा बुद्धि का सात्त्विक बनाना आवश्यक है।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ओषधि-आपः

तमोष॑धीर्दधिरे॒ गर्भ॑मृ॒त्वियं॒ तमापो॑ अ॒ग्निं ज॑नयन्त मा॒तरः॑ ।
तमित्स॑मा॒नं व॒निन॑श्च वी॒रुधो॒ऽन्तर्व॑तीश्च॒ सुव॑ते च वि॒श्वहा॑ ॥ ६ ॥

(१) प्रभु को यहाँ 'गर्भं ऋत्वियम्' (ऋतु=light, splendous) 'प्रकाशमय गर्भ' कहा है, यही भाव 'हिरण्यगर्भ' शब्द से भी व्यक्त होता है। सब ज्योतिर्मय पदार्थ उस प्रभु के गर्भ में हैं, सो प्रभु 'ऋत्विय-प्रकाशमय-गर्भ' है। **तम्**=उस **ऋत्वियं गर्भम्**=प्रकाशमय गर्भ को, उस हिरण्यगर्भ को **ओषधीः**=ओषधियाँ **दधिरे**=धारण करती हैं। अर्थात् ओषधियों वनस्पतियों के भोजन से सात्त्विक बुद्धिवाला पुरुष ही हृदय में प्रभु को धारण करनेवाला बनता है। (२) **तम् अग्निं**=उस अग्रणी प्रभु को **मातरः आपः**=मातृवत् हित करनेवाले जल **जनयन्त**=प्रादुर्भूत करते हैं। इन जलों के प्रयोग से निर्मल व शुद्ध हृदय में प्रभु का सक्षात्कार होता है। 'सादा खाना, पानी पीना' यह सात्विकता का कारण बनता है और इस सात्विकता के कारण हम प्रभु का दर्शन करते हैं। (३) **तम्**=उस **समानम्**=(सम्यक् आनयति) सम्यक् प्राणित करनेवाले प्रभु को **वनिनः**=वन में होनेवाली **वीरुधः**=ये लताएँ **इत्**=ही **सुवते**=जन्म देती हैं, प्रादुर्भूत करती हैं। **च**=और **विश्वहा**=सदा **अन्तर्वतीः**=फल-बीजों को धारण करनेवाली लताएँ (सुवते)=उस प्रभु को हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत करती हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिये वानस्पतिक भोजन व जल का ही प्रयोग आवश्यक है।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अजीर्णशक्तिता

वातोपधूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदन्ना वेविषद्वितिष्ठसे।
आ ते यतन्ते रथ्यो३ यथा पृथक्शर्धांस्यग्ने अजराणि धक्षतः॥ ७॥

(१) **वातोपधूतः**=(वात=प्राण) प्राणायाम के द्वारा जिसने वासनाओं को कम्पित करके दूर कर दिया है और अपने वासनाशून्य हृदय में **इषितः**=जिसने प्रभु प्रेरणा को प्राप्त किया है। इस प्रेरणा को प्राप्त करके **यत्**=जो **वशान् अनु**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुसार **तृषु**=शीघ्र **अन्ना**=अन्नों का **वेविषद्**=व्यापन करता हुआ, अर्थात् सात्त्विक अन्नों को ही खाता हुआ, **वितिष्ठसे**=विशेषरूप से स्थित होता है। (२) ऐसा होने पर **ते**=तेरे **रथ्यः**=ये शरीररूप रथ में जुतनेवाले इन्द्रियाश्व **यथा-पृथक्**=जिस-जिस कार्य के लिए वे उद्दिष्ट हैं, उस-उस कार्य में **आयतन्ते**=सब प्रकार से यत्नशील होते हैं। कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को ठीक से करती हैं, और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त रहती हैं। (३) इस प्रकार इन्द्रियों को ठीक से स्वकार्य में प्रवृत्त रहने पर, हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **धक्षतः**=वासनाओं का दहन करनेवाले तेरी **शर्धांसि**=शक्तियाँ **अजराणि**=जीर्ण होनेवाली नहीं होती।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारामलों को दूर कर के प्रभु प्रेरणा को सुनें। सात्त्विक अन्न खाएँ, इन्द्रियों को स्वकार्य में प्रवृत्त रखें और इस प्रकार अजीर्ण शक्तिवाले बनें।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

बुद्धि व ज्ञान के दाता प्रभु

मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम्।
तमिदर्भे हविष्या समानमित्तमिन्महे वृणते नान्यं त्वत्॥ ८॥

(१) **तं इत्**=उस प्रभु को ही **वृणते**=उपासक वरते हैं। जो प्रभु **मेधाकारम्**=हमारे में मेधा का सम्पादन करनेवाले हैं, **विदथस्य**=ज्ञान को **प्रसाधनम्**=सिद्ध करनेवाले हैं। इस प्रकार बुद्धि और ज्ञान के द्वारा **अग्निम्**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं, **होतारम्**=उन्नति के लिए सब आवश्यक साधनों को देनेवाले हैं। मार्ग में आनेवाले विघ्नों को **परिभूतमम्**=अधिक से अधिक परिभूत करनेवाले हैं। (२) **तं मतिम्**=उस ज्ञानस्वरूप प्रभु को **इत्**=ही **अर्भे**=छोटे **हविषि**=यज्ञ में और उसे ही **महे**=महान् यज्ञ में (वृणते) वरण करते हैं। उस प्रभु से ही इन यज्ञों के साधन के लिए हम प्रार्थना करते हैं। **सं आनम्**=सम्यक् **आनित**=प्रणित करनेवाले प्रभु की ही प्रार्थना करते हैं, **त्वत् अन्यं न**=तेरे से भिन्न की नहीं। आपकी प्रार्थना करते हुए हम इन यज्ञों को आपसे ही होता हुआ जानते हैं, हमें इनके करने का गर्व नहीं होता।

भावार्थ—सब यज्ञ उस प्रभु से ही हो रहे हैं, वे ही हमें बुद्धि व ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

हविष्मान्-मनु-वृक्तवर्हिष्

त्वामिदत्र वृणते त्वायवो होतारमग्ने विदथेषु वेधसः।
यद्देवयन्तो दधति प्रयांसि ते हविष्मन्तो मनवो वृक्तबर्हिषः॥ ९॥

(१) **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष **अत्र**=यहाँ **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वां**

इत्=आपको ही **वृणते**=वरते हैं, प्रार्थना करते हैं। **त्वायवः**=आपको ही प्राप्त करने की कामना करते हैं। **होतारम्**=आपको ही वे सब आवश्यक चीजों का देनेवाला मानते हैं। (२) **यत्**=क्योंकि **देवयन्तः**=देव जो आप उन्हें अपनाना चाहते हुए वे **प्रयांसि**=उत्तम सात्त्विक अन्नों को व त्यागवृत्ति को **दधति**=धारण करते हैं, सो **ते**=वे **हविष्मन्तः**=उत्तम हविवाले बनते हैं, त्यागपूर्वक अदन करनेवाले होते हैं, **मनवः**=सदा विचारशील होते हैं और **वृक्तबर्हिषः**=वासनारूप घास-फूस को उखाड़ देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ही वरण करें। त्याग की भावना को धारण करते हुए 'हविष्मान्-मनु व वृक्तबर्हिष्' बनें।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सप्त-होतृक यज्ञ का प्रणेता

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥१०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ऋतायतः**=यज्ञ को अपनाने की कामनावाले का **होत्रम्**=होतृ कार्य **तव**=आपका ही है यज्ञ करनेवाले के यज्ञ में होता का कार्य आप ही करते हो। यज्ञ में उपस्थित होता आप से ही शक्ति को प्राप्त करके अपना कार्य करता है। **पोत्रं तव**=पोता का भी कार्य आपका ही है। **नेष्ट्रं तव**=नेष्टा का भी कार्य आपका ही है **त्वं इत्**=आप ही **अग्नित्**=अग्नीध्र होते हो। **प्रशास्त्रं तव**=प्रशास्ता का कार्य भी आपकी ही शक्ति से होता है। **त्वं अध्वरीयसि**=अध्वर्यु का काम भी तो आप ही करते हैं। **च ब्रह्मा असि**=और ब्रह्मा भी आप ही हैं, **च**=और **नः दमे**=हमारे घर में **गृहपतिः**=गृहपति यजमान भी आप ही हो। (२) यजमान 'होता, पोता, नेष्टा, अग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु व ब्रह्मा' इन सात होताओं से यज्ञ को प्रारम्भ करता है। इन सब में प्रभु शक्ति ही काम करती है और इस प्रकार यजमान का यह सप्तहोतृक यज्ञ निर्विघ्न होकर पूर्ण होता है। प्रभु शक्ति को ही काम करता हुआ जानकर यजमान गर्ववाला नहीं होता। एवं यह यज्ञ अहंकार शून्य होकर पूर्ण पवित्र व अबन्धनकारक हो जाता है।

भावार्थ—हम अपने घरों में होनेवाले यज्ञों का प्रणेता प्रभु को ही जानें।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'ज्ञान व धन' का दाता

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय मर्त्यः समिधा दाशदुत वा हविष्कृति।
तस्य होता भवसि यासि दूत्यमुप ब्रूषे यजस्यध्वरीयसि॥ ११ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **यः मर्त्यः**=जो मनुष्य **तुभ्यं अमृताय**=तुझ अमृत के लिए **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **दाशत्**=अपना अर्पण करता है, **उत वा**=अथवा **हविष्कृति**=हवि के करने में, यज्ञादि उत्तम कार्यों में आपके प्रति अपना अर्पण करता है, **तस्य**=उसके **होता भवसि**=आप यज्ञसाधक द्रव्यों के देनेवाले होते हैं यह उक्ति प्रसिद्ध है—'spend and god will send'=यज्ञार्थ धनों के विनियुक्त करने पर प्रभु धन देते ही हैं। इस व्यक्ति के लिए प्रभु **दूत्यं यासि**=दूत कर्म को करते हैं, इसे प्रभु ज्ञान का सन्देश सुनाते हैं। (२) हे प्रभो! आप इसके प्रति **उपब्रूषे**=ज्ञान का प्रवचन करते हैं और **यजसि**=आवश्यक धनों को इसके लिए देते हैं (यज=दाने) (२) इस प्रकार ज्ञान और धन देकर हे प्रभो! आप ही **अध्वरीयसि**=इसके जीवनयज्ञ में अध्वर्यु

की तरह आचरण करते हैं। अर्थात् इसके जीवनयज्ञ को आप ही चलानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा उपासक वही है जो ज्ञान को प्राप्त करता है और हवि का, दानपूर्वक अदन का यज्ञशेष के सेवन का स्वीकार करता है। प्रभु इसे खूब ज्ञान देते हैं, खूब ही धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जप से 'ज्ञान शक्ति व प्रभु प्रियता' ही प्राप्ति

इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदाँ ऋचो गिरः सुष्टुतयः समग्मत।
वसूयवो वसवे जातवेदसे वृद्धासु चिद्वर्धनो यासु चाकनत्॥ १२॥

(१) **अस्मत्**=हमारे से **इमाः**=ये **मतयः**=मनन व विचार से युक्त **वाचः**=स्तुति वाणियाँ **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **समग्मत**=संगत होती हैं, अर्थात् हम उस प्रभु के नाम का जप करते हैं (वाचः) और उस नाम के अर्थ का भावन-चिन्तन करते हैं। 'तज्जपः, तदर्थभावनम्'। (२) इस प्रकार उस प्रभु का स्तवन करने पर **ऋचः**=प्रकृति का ज्ञान देनेवाली ऋचाएँ, **गिरः**=जीव के कर्त्तव्यों का उपदेश देनेवाली यजूरूप वाणियाँ तथा **सुष्टुतयः**=उपासनात्मक साम मन्त्र **आ समग्मतः**=सब प्रकार से हमारे साथ संगत होते हैं। हम 'ऋग्, यजु, साम' रूप त्रयी विद्या को प्राप्त करते हैं। (३) **वसूयवः**=वसुओं को अपने साथ मिलाने की कामनावाले हम **वसवे**=(वासयति इति वसुः) सबके वसानेवाले **जातवेदसे**=उस सर्वज्ञ प्रभु के लिए उन स्तुतियों को करते हैं, **यासु वृद्धासु चित्**=जिन स्तुतियों के बढ़े हुए होने पर निश्चय से वे प्रभु **वर्धनः**=हमारा वर्धन करनेवाले हैं और **चाकनत्**=(कामयते) हमारे पर प्रेम करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु तो सदा हमारा हित चाहते ही हैं, हमें उस हित को प्राप्त करने का पात्र बनने की आवश्यकता है।

भावार्थ—हम प्रभु के नाम का अर्थभावनपूर्वक जप करते हैं। इस जप से (क) हमारा ज्ञान बढ़ता है, (ख) हमारी शक्तियों का वर्धन होता है, (ग) हम प्रभु के प्रिय बनते हैं।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अन्तस्तल से की जाती हुई स्तुति और प्रभु-सम्पर्क

इमां प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयमस्मा उशते शृणोतु नः।
भूया अन्तरा हृद्यस्य निस्पृशे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ १३॥

(१) **अस्मा उशते**=इस हमारे हित की कामना करनेवाले **प्रत्नाय**=सनातन पुरुष रूप प्रभु के लिए **इमाम्**=इस **नवीयसीम्**=अत्यन्त स्तुत्य **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **वोचेयम्**=मैं कहूँ। वे प्रभु **नः**=हमारी इस स्तुति को **शृणोतु**=सुनें। (२) यह स्तुति **अन्तरा हृदि**=हृदय के अन्तस्तल में होती हुई, अर्थात् दिल से की जाती हुई **अस्य निस्पृशे**=इस प्रभु के सम्पर्क के लिए **भूयाः**=(भूयात्) हो, **इव**=उसी प्रकार जैसे कि **उशती**=सदा हित की कामना करती हुई **सुवासः**=उत्तम वस्त्रोंवाली **जाया**=पत्नी पति के हृदय में स्पर्श करनेवाली होती है।

भावार्थ—हम दिल से प्रभु का स्तवन करें। यह स्तुति प्रभु के लिए प्रिय हो। हमारा प्रभु से यह सम्पर्क करानेवाली है।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु प्राप्ति किनको ?

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः ।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये ॥ १४ ॥

(१) मैं **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिए **हृदा**=श्रद्धा से **चारुं मतिम्**=ज्ञान का खूब ही वरण करनेवाली बुद्धि को **जनये**=उत्पन्न करता हूँ। इस सूक्ष्म बुद्धि से ही तो प्रभु का दर्शन होता है। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए श्रद्धापूर्वक आचार्यों के समीप रहकर स्वाध्याय करते हुए बुद्धि को सूक्ष्म बनाना ही मार्ग है। (२) उस प्रभु की प्राप्ति के लिए मैं मति को उत्पन्न करता हूँ जो **वेधसे**=सृष्टि के विधाता हैं। **कीलालपे**=हमारे शरीर में **कीलाल**=आपः-रेतःकणों का रक्षण करनेवाले हैं। प्रभु स्मरण से वासना विनष्ट होती है और वासना-विनाश से शरीर में इस रेतःशक्ति का रक्षण होता है। इस रेतःशक्ति को 'कीलाल' (कील+अल) इसलिए कहा है कि यह शरीर में (कील बन्धने) बद्ध होकर (अल=वारण) रोगों का वारण करती है। **सोमपृष्ठाय**=वे प्रभु 'सोम पृष्ठ' हैं, सौम्यता के आधार व पोषक हैं। जो व्यक्ति जितना-जितना प्रभु के समीप होता जाता है उतना-उतना सौम्य बनता जाता है 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'। एवं प्रभु के उपासन से मैं शक्ति का रक्षण करके नीरोग बनूँगा, सौम्य बनूँगा और निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हो पाऊँगा। (३) उस प्रभु की प्राप्ति के लिये मैं बुद्धि को सूक्ष्म बनाता हूँ **यस्मिन्**=जिसमें **अश्वासः**=(अशू व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाले लोग, **ऋषभासः**=शक्ति का सम्पादन करके आन्तर शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले (ऋष=to kill) **उक्षणः**=अपने को सुरक्षित वीर्य से सिक्त करनेवाले, **वशाः**=अपने को वश में करनेवाले तथा **मेषाः**=(to rival to contend) स्पर्धापूर्वक आगे बढ़नेवाले लोग **अव-सृष्टासः**=विषय-व्यावृत्त होकर (अव=away) भेजे हुए (seud forth) होते हैं, अर्थात् ये लोग विषयों में न फँसकर प्रभु की ओर चलनेवाले होते हैं। और अन्ततोगत्वा **आहुताः**=उस प्रभु के प्रति अर्पित होते हैं (हुदाने)। ये अपना प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम 'अश्व, ऋषभ, उक्षा, वशा व मेष' बनकर प्रभु के प्रति चलें, उसके प्रति अपना अर्पण करें। वे प्रभु हमारी शक्ति का रक्षण करनेवाले, हमें सौम्यता को प्राप्त करानेवाले व हमारी सब शक्तियों का निर्माण करनेवाले हैं। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए हम श्रद्धा से ज्ञानोत्पादिनी बुद्धि को अपने में उत्पन्न करते हैं।

ऋषिः—**अरुणो वैतहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एषणा-त्रय-प्राप्ति

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः ।
वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥ १५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **आस्ये**=मुख में **हविः**=हवि **अहावि**=आहुत की जाती है। मैं आपकी पूजा के लिए सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता हूँ (हुदाने) 'कस्मै देवा हविषा विधेम'। मुख में हवि को मैं इस प्रकार डालता हूँ **इवः**=जैसे कि **स्रुचि**=चमच में **घृतम्**=घृत को **इव**=और जैसे **चम्वि**=चमूपात्र में **सोमः**=सोम को। ये दोनों उपमाएँ यज्ञियक्षेत्र की हैं। भोजन को भी मैं यज्ञ का रूप देता हूँ। चम्मच में घृत को लेकर अग्नि में आहुत करते हैं, इसी प्रकार मुख में हविरूप भोजन को लेकर वैश्वानर अग्नि में भेजते हैं। सोम

को चमू द्वारा अग्नि में आहुत करते हैं, इसी प्रकार शरीर में भी सोम को (=वीर्य को) धारण करके ज्ञानाग्नि में आहुत करते हैं। (२) हे प्रभो! इस प्रकार हविरूप भोजन से आपका पूजन करने पर आप **अस्मे**=हमारे लिये निम्न तीन चीजों को **धेहि**=धारण कीजिये—(क) **वाजसनिं रयिम्**=उस धन को जो हमारे लिए अन्नों को प्राप्त करानेवाला है। भोजनाच्छादन के लिए आवश्यक धन की इच्छा ही उचित 'वित्तैषणा' है। इस एषणा को आप पूर्ण कीजिये। (ख) **प्रशस्तं सुवीरम्**=अपने कर्मों व योग्यताओं से प्रशंसनीय उत्तम पुत्र को प्राप्त कराइये। आपकी कृपा से हमारी सन्तान उत्तम व प्रशंसनीय हो। इस प्रकार हमारी पुत्रैषणा को आप पूर्ण करें। (ग) **बृहन्तम्**=सदा वृद्धि को प्राप्त करते हुए **यशसम्**=यश को हमें प्राप्त कराइये। हमारी उचित लोकैषणा भी पूर्ण हो।

भावार्थ—हम हवि के द्वारा प्रभु-पूजन करें। प्रभु हमें आवश्यक धन, प्रशस्त सन्तान व बढ़ता हुआ यश प्राप्त कराएँ।

यह सम्पूर्ण सूक्त प्रभु के स्तवन व प्रभु प्राप्ति के लिए हवि के स्वीकार को प्रतिपादित कर रहा है। हवि का सेवन करनेवाला, ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला 'अरुण वैतहव्य' इसका ऋषि था। यह 'अरुण' अब 'मानव' विचारशील बन जाता है और 'शार्यात'=(शॄ हिंसायाम्, या प्रापणे) सब वासनाओं का हिंसन करता हुआ प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। इसका कथन है कि—

[९२] द्विनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदजगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वासनाओं का शोषण

यज्ञस्य वो रथ्यं विश्पतिं विशां होतारमक्तोरतिथिं विभावसुम्।
शोचञ्छुष्कासु हरिणीषु जर्भुरद् वृषा केतुर्यजतो द्यामशायत॥ १॥

(१) **हरिणीषु**=चित्त का हरण करनेवाली इन्द्रिय वृत्तियों के **शुष्कासु**=शुष्क होने पर **शोचन्**=दीप्त होता हुआ पुरुष **जर्भुरत्**=उस प्रभु को धारण करता है। जो प्रभु **वः**=तुम्हारे **यज्ञस्य रथ्यम्**=जीवनरथ के वाहक हैं, जिस प्रभु से शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके जीवन की गाड़ी चलती है। **विशां विश्पतिम्**=जो सब प्रजाओं के पति हैं। **अक्तोः**=ज्ञान की किरणों के **होतारम्**=प्राप्त करानेवाले हैं। **अतिथिम्**=निरन्तर गतिशील व हमें प्राप्त होनेवाले हैं, हमारे अतिथि हैं। **विभावसुम्**=ज्ञानदीप्ति रूप धनवाले हैं। (२) इस प्रभु का धारण तभी होता है जब कि इन्द्रियों की विषयों से पराङ्मुखता को हम सिद्ध कर पाते हैं। इसको सिद्ध करनेवाला व्यक्ति **वृषा**=शक्तिशाली बनता है, **केतुः**=(कित निवासे रोगापनयने च) उत्तम निवासवाला व नीरोग बनता है। **यजतः**=प्रभु का पूजक, प्रभु से मेलवाला व यज्ञशील होता है। **द्यां अशायत**=(प्रतिशेते सा०) सदा प्रकाश में निवास करता है।

भावार्थ—चित्तवृत्तियों के निरोध से ही प्रभु का दर्शन होता है।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सर्व-रक्षक प्रभु

इममञ्जस्पामुभये अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम्।
अक्तुं न यह्वमुषसः पुरोहितं तनूनपातमरुषस्य निंसते॥ २॥

(१) **इमम्**=इस **अञ्जस्पाम्**=(अञ्जसापाति) ठीक-ठीक रक्षण करनेवाले प्रभु को **उभये**=देव और मनुष्य दोनों ही, सकाम कर्म करनेवाले मर्त्य और निष्काम कर्म करनेवाले देव, **अकृण्वत**=अपने हृदयों में स्थापित करते हैं। उस प्रभु को जो **धर्माणम्**=धारण करनेवाले हैं, **अग्रिम्**=आगे और आगे ले चलनेवाले हैं, **विदथस्य साधनम्**=ज्ञान को सिद्ध करनेवाले हैं। (२) जो प्रभु **उषसः अक्तुं न**=उषाकाल की प्रकाश की किरण के समान हैं। उस प्रभु के आविर्भूत होते ही हृदय प्रकाश से चमक उठता है। **यह्वम्**=जो महान् हैं, अथवा 'यातश्च हूतश्च'=जो गाये जाते हैं और पुकारे जाते हैं. अन्ततोगत्वा सब उस प्रभु की ही शरण में जाते हैं। **पुरोहितम्**=जो प्रभु हमारे सामने (पुरः) आदर्श के रूप से स्थापित हैं (हितम्), अथवा जो सृष्टि से पहले ही विद्यमान हैं। **अरुषस्य**=(अ-रुष) क्रोधशून्य व्यक्ति के **तनू-न-पातम्**=शरीर को जो नहीं गिरने देनेवाले, उस प्रभु को सब देव व मनुष्य **निंसते**=(चुम्बयन्ति आश्रयन्ते सा०) आश्रय करते हैं।

भावार्थ—वह प्रभु सबका रक्षक, सबके हृदय में निवास करता है, उसकी शरण में रहना चाहिये।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-स्तवन व सात्त्विक अन्न सेवन

बळस्य नीथा वि पणेश्च मन्महे वया अस्य प्रहुता आसुरत्तवे।
यदा घोरासो अमृतत्वमाशतादिज्जनस्य दैव्यस्य चर्किरन्॥ ३॥

(१) **अस्य विपणेः**=इस अतिशयेन स्तुति के योग्य प्रभु के **नीथाः**=प्रणयन **बट्**=सत्य हैं, सो हम इस प्रभु का ही **मन्महे**=हम मनन व चिन्तन करते हैं। प्रभु के स्वरूप का चिन्तन ही वस्तुतः मार्गदर्शन कराता है। हमें प्रभु के अनुरूप ही 'दयालु व न्यायकारी' बनना है। (२) इस ठीक मार्ग पर चलाने के लिए आवश्यक है कि **अस्य**=इस प्रभु के **वयाः**=अन्न ही **प्रहुताः**=यज्ञों में विनियुक्त होने के बाद यज्ञशेष के रूप में **अत्तवे आसुः**=खाने के लिए हों। सात्त्विक अन्नों का ही हम प्रयोग करें और वह भी यज्ञशेष के रूप में। (३) इस प्रकार 'प्रभु के मनन व प्रभुदत्त अन्नों के सेवन' से **यदा**=जब **घोरासः**=(उग्रः घोर=noble) उत्कृष्ट चरित्रवाले **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **आशत**=प्राप्त करते हैं, जब ये सांसारिक विषयों के पीछे नहीं मरते तो **आत् इत्**=तब शीघ्र ही **दैव्यस्य जनस्य**=उस देव के मार्ग पर चलानेवाले लोगों के गुणों को **चर्किरन्**=(कृ=क्षिप्=प्रेरणे) अपने में प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु चिन्तन करते हुए प्रभु के अनुरूप बनने का प्रयत्न करें, इसी को मार्ग समझें। सात्त्विक अन्नों को ही यज्ञशेष के रूप में खाएँ। विषयों की आसक्ति से ऊपर उठकर अपने में दिव्य गुणों को प्रेरित करें।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

चराचर का शासक प्रभु

ऋतस्य हि प्रसितिर्द्यौरुरु व्यचो नमो मह्य१रमतिः पनीयसी।
इन्द्रो मित्रो वरुणः सं चिकित्रिरेऽथो भगः सविता पूतदक्षसः॥ ४॥

(१) **प्रसितिः**=सूर्य व नक्षत्रों को प्रकर्षेण अपने में बाँधनेवाला द्युलोक, **उरु व्यचः**=विस्तृत

व्यापक अन्तरिक्ष तथा **अरमतिः**=पर्यन्तरहित जिसका कोई सिरा नहीं वह वृत्ताकार **पनीयसी**=प्रशंसनीय व सब व्यवहारों की साधिका (पन स्तुतौ व्यवहारे) यह पृथिवी **हि**=निश्चय से **ऋतस्य**=उस ऋत के प्रवर्तक ऋतस्वरूप प्रभु के प्रति **नमः**=नत होते हैं, ये सब उस प्रभु के शासन में चलते हैं। यह सारा ब्रह्माण्डचक्र उस प्रभु से ही चलाया जा रहा है। (२) इस ब्रह्माण्ड में निवास करनेवाले **पूतदक्षसः**=पवित्र बलोंवाले लोग भी **संचिकित्रिरे**=उस प्रभु को सम्यक्तया इस रूप में जानते हैं कि वह प्रभु **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली है, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला है, सभी को रोगों व पापों से बचानेवाला है। **वरुणः**=श्रेष्ठ है, वरणीय है, द्वेषनिवारक है और निश्चय से **भगः**=वह प्रभु भजनीय व सेवनीय है। **सविता**=सबका उत्पन्न करनेवाला व प्रेरक है।

भावार्थ—यह सारा चराचर संसार उस प्रभु के शासन में ही चल रहा है।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

नदियाँ, वायु व मेघ

प्र रुद्रेण यथिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।
येभिः परिज्मा परियन्नुरु ज्रयो वि रोरुवज्जठरे विश्वमुक्षते ॥ ५ ॥

(१) **यथिना**=सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले **रुद्रेण**=संसार के शासक प्रभु के भय से **सिन्धवः**=नदियाँ **तिरः**=टेढ़े-मेढ़े मार्ग से **प्रयन्ति**=प्रकर्षेण गति कर रही हैं। ये नदियाँ **अरमतिम्**=इस पर्यन्तरहित **महीम्**=पृथ्वी को **दधन्विरे**=धारण कर रही हैं। खेतों की सिंचाई का साधन बनकर ये नदियाँ ही अन्नोत्पत्ति का कारण बनती हैं और इस प्रकार पृथ्वीस्थ प्राणियों का धारण करती हैं। (२) **परिज्मा**=चारों ओर गतिवाला प्रभु **येभिः**=जिन मरुतों (=वायुवों) के द्वारा **परियन्**=चारों ओर गति करता हुआ **उरुज्रयः**=महान् वेगवाला **जठरे**=इस त्रिलोकी के मध्यभाग अन्तरिक्ष में **रोरुवत्**=मेघों के रूप में खूब गर्जना करता है और **विश्वम्**=इस संसार को **उक्षते**=वृष्टिजल से सिक्त करता है।

भावार्थ—प्रभु के शासन में नदियाँ चल रही हैं। प्रभु ही वायुवों व मेघों द्वारा अन्तरिक्ष में गर्जना कर रहे हैं। वे प्रभु ही वृष्टि द्वारा भूमियों को सिक्त करके अन्नोत्पादन योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्राण व प्राणों द्वारा प्रभु-दर्शन

क्राणा रुद्रा मरुतो विश्वकृष्टयो दिवः श्येनासो असुरस्य नीळयः।
तेभिश्चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमेन्द्रो देवेभिरर्वशेभिरर्वशः ॥ ६ ॥

(१) **मरुतः**=प्राण **क्राणाः**=शरीर में सब कर्मों को (कुर्वाणाः) कर रहे हैं। ये **रुद्राः**=रोगों का विद्रावण करनेवाले हैं **विश्वकृष्टयः**=मनुष्य को पूर्ण बनानेवाले हैं (विश्वः कृष्टिः यैः) इनकी साधना से ही शरीर, मन व बुद्धि स्वस्थ होते हैं। **दिवः श्येनासः**=ये प्रकाश के द्वारा गति करनेवाले हैं। इनकी साधना से ज्ञान की दीप्ति होती है, उस ज्ञान के प्रकाश में सब क्रियाएँ बड़े ठीक ढंग से होती हैं। इस प्रकार ये प्राण **असुरस्य**=उस प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु के निवास-स्थान बनते हैं। (२) **तेभिः**=उन प्राणों से ही इनकी साधना से ही, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला व (प्रमीतेः त्रायते) रोगों व पापों से ऊपर उठनेवाला, **अर्यमा**=दानशील अथवा (अदीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **चष्टे**=उस प्रभु का दर्शन करता है। (३) **देवेभिः**=उत्तम (दिव्य) गुणोंवाले **अर्वशेभिः**=

इन्द्रियाश्वोंवाले प्राणों से **अर्वशः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं। ये इन्द्रियाश्व उत्तम बनते हैं, गतिशील होते हैं और आत्मा के वश में होते हैं (अर वश)।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'वरुण, मित्र, अर्यमा व इन्द्र' बनकर प्रभु-दर्शन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सूरो दृशीके, वृषणश्च पौंस्ये

इन्द्रे भुजं शशमानास आशत सूरो दृशीके वृषणश्च पौंस्ये।
प्र ये न्वस्यार्हणा ततक्षिरे युजं वज्रं नृषदनेषु कारवः ॥ ७ ॥

(१) **शशमानासः**=शशक (=खरगोश) के समान सदा प्लुतगतिवाले लोग, कर्मशील व्यक्ति **इन्द्रे**=उस परमात्मा में प्रभु के आधार में **भुजम्**=सब भोगों को **आशत**=प्राप्त करते हैं। अपने कर्मों में सदा लगे हुए व्यक्तियों का खान-पान प्रभु कृपा से चलता है वे प्रभु **दृशीके**=दर्शन में **सूरः**=सूर्य के समान हैं, 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' 'आदित्यवर्णम्'। **च**=और **पौंस्ये**=बल में **वृषणः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। प्रभु की शक्ति कल्याण को ही करनेवाली है। (२) **ये**=जो **नु**=अब **अस्य अर्हणा**=इस प्रभु की पूजा के द्वारा इस प्रभु को **युजम्**=अपना साथी तथा **वज्रम्**=शत्रुसंहारक अस्त्र **प्रततक्षिरे**=बनाते हैं वे **नृषदनेषु**=(नरः कर्तृत्येन सीदन्ति येषु तेषु यज्ञेषु सा०) 'विश्वेदेवाः यजमानश्च सीदत' यज्ञों व यज्ञों की साधन भूतयज्ञवेदियों में **कारवः**=कुशलता से कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—श्रमशील का योगक्षेम प्रभु चलाते हैं। वे प्रभु सूर्य की तरह दीप्त व शक्तिशाली हैं। इसकी पूजा से जीव शत्रुओं को जीतता है और यज्ञों को सिद्ध करता है।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सूर्य व मेघ

सूरश्चिदा हरितो अस्य रीरमदिन्द्रादा कश्चिद्भयते तवीयसः।
भीमस्य वृष्णो जठरादभिश्वसो दिवेदिवे सहुरिः स्तन्नबाधितः ॥ ८ ॥

(१) **सूरः चित्**=सूर्य भी **अस्य**=इस प्रभु की ही **हरितः**=इन किरणरूप अश्वों को **आरीरमत्**=चारों ओर क्रीड़ा कराता है। अर्थात् सूर्य की किरणें क्या हैं, ये तो प्रभु के प्रकाश की ही किरणें हैं। प्रभु के प्रकाश से ही तो ये प्रकाशित हो रही हैं। **इन्द्रात्**=उस परमैश्वर्यशाली **तवीयसः**=प्रवृद्ध शक्तिवाले प्रभु से ही **कश्चित्**=जो भी कोई है वह **आभयते**=समन्तात् भयभीत होता है 'भयादस्याग्निस्तपति, भयात्तपति सूर्यः, भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'। प्रभु के भय से ही 'अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु व मृत्यु' अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। (२) **भीमस्य**=उस अपनी तेजस्विता से भयंकर **वृष्णः**=शक्तिशाली, **अभिश्वसः**=चारों ओर जीवन का संचार करनेवाले प्रभु के **जठरात्**=विराट् शरीर के जठरभूत अन्तरिक्ष से **अबाधितः**=प्रबल वायु आदि से बाधित न हुआ-हुआ छिन्न-भिन्न न किया गया, **सहुरिः**=अन्न आदि के उत्पादन से कष्टों का मर्षण व पराभव करनेवाला मेघ **दिवेदिवे**=समय-समय पर **स्तन्**=गर्जना करता है। 'दिवे-दिवे' का शब्दार्थ 'अनुदिन-सदा' होता है, यहाँ 'समय-समय पर' यह भाव व्यक्त किया गया है। जब-जब आवश्यकता होती है, तब-तब यह बरसता है और प्रजाओं के भूख के कष्ट को दूर करने का साधन बनता है।

भावार्थ—सूर्य में प्रभु के ही प्रकाश की किरणें हैं और मेघ में वृष्टि द्वारा अन्नोत्पत्ति से जीवन का संचार करने की शक्ति प्रभु ही स्थापित करते हैं।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'रुद्र शिक्कस् क्षयद्वीर' प्रभु

स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः ॥ ९ ॥

(१) **वः**=तुम्हारे **स्तोमम्**=स्तुति समूह को **अद्य**=आज **नमसा**=नमन के साथ **रुद्राय**=सब रोगों के द्रावण करनेवाले **शिक्कसे**=सर्वशक्तिमान्, **क्षयद्वीराय**=वीरों में निवास करनेवाले (क्षि=निवासे) प्रभु के लिए **दिदिष्टन**=अतिसृष्ट करो। नम्रतापूर्वक उस प्रभु का ही स्तवन करो। (२) जो **शिवः**=कल्याण को करनेवाला **स्ववान्**=अपनी शक्तिवाला, **स्वयशाः**=अपने कर्मों से यशस्वी प्रभु **येभिः**=जिन **एवयावभिः**=ऐसे ही गति करनेवाले **निकामभिः**=नितरां प्रिय ज्ञानियों के द्वारा **दिवः सिषक्ति**=ज्ञान से हमारा सेवन करता है, ज्ञान को प्राप्त कराके प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। ये ज्ञानी पुरुष 'एवयावा' होते हैं, बिना किसी अपने स्वार्थ के ऐसे ही गति करनेवाले होते हैं। वे केवल लोक-संग्रह के लिए गति करते हैं, प्रभु के ये दूत के समान होते हैं। ऐसे लोगों के द्वारा ही प्रभु हमारे में ज्ञान का स्थापन करते हैं। ये लोग प्रभु के ज्ञानी भक्त कहलाते हैं। ये बड़े प्रेम से ज्ञान का प्रसार करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु ही अपने ज्ञानी भक्तों के द्वारा हमारे ज्ञान का वर्धन करते हुए कल्याण करते हैं। वे प्रभु सब रोगों का द्रावण करनेवाले, सर्वशक्तिमान् व वीरों में निवास करनेवाले हैं।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य

ते हि प्रजाया अभरन्त वि श्रवो बृहस्पतिर्वृषभः सोमजामयः।
यज्ञैरथर्वा प्रथमो वि धारयद्देवा दक्षैर्भृगवः सं चिकित्रिरे ॥ १० ॥

(१) गत मन्त्र में 'येभिः' शब्द से जिनका संकेत हुआ था **ते**=वे **हि**=निश्चय से **प्रजायाः**=प्रजा के हित के दृष्टिकोण से **श्रवः**=ज्ञान, यश व अन्न को **वि अभरन्त**=विशेषरूप से धारित व पोषित करते हैं। **बृहस्पतिः**=ज्ञान का अधिपति ब्राह्मण प्रजा में **श्रवः**=ज्ञान को धारण करने का प्रयत्न करता है। **वृषभः**=शक्तिशाली क्षत्रिय प्रजा के हित के लिए **श्रवः**=यशस्वी कर्मों का धारण करता है। शत्रुओं से प्रजा का रक्षण करता हुआ कीर्ति को प्राप्त करता है। 'सोम' ओषधियों का राजा है, इन ओषधियों को जन्म देनेवाले **सोमजामयः**=कृषि द्वारा सोम आदि के उत्पादक वैश्य प्रजा के हित के दृष्टिकोण से **श्रवः**=अन्न का भरण करते हैं। (२) **प्रथमः**=प्रजाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान में स्थित **अथर्वा**=(अ+थर्व्) धर्ममार्ग से अविचलित पुरुष **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा **विधारयत्**=प्रजाओं का विशेषरूप से धारण करता है। अथर्वा प्रजाओं में यज्ञों की भावना को जन्म देता है। ये यज्ञ प्रजाओं की समृद्धि का कारण बनते हैं। (३) **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) अपने जीवन का उचित परिपाक करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **दक्षैः**=अपनी शक्तियों के विकासों (to grow), वासनारूप शत्रुओं के संहार (to kill), संज्ञानपूर्वक परस्पर मिलकर कार्य करना (to aet wnyomably to and ther), योग्यता (to be competent) व गतिशीलता (to go, to move)

से **संचिकित्रिरे**=जाने जाते हैं। इस प्रकार के देव ही राष्ट्र में 'बृहस्पति' बनकर ज्ञान देते हैं, 'वृषभ' बनकर राष्ट्ररक्षा के कार्य में जुटते हैं और 'सोमजामि' बनकर कृषि द्वारा विविध ओषधि वनस्पतियों को उत्पन्न करते हैं। इन देवों में मुख्य पुरुष ही 'अथर्वा' बनकर यज्ञों से प्रजाओं का धारण करते हैं।

भावार्थ—'बृहस्पति' प्रजा का ज्ञान से 'वृषभ' शक्ति से 'सोमजामि' अन्न से, 'अथर्वा' यज्ञों से भरण करता है।

ऋषिः—**शार्याती मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

चराचर का व प्रभु का आदर

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः।
देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे॥ ११ ॥

(१) **ते**=वे **हि**=निश्चय से **भूरिरेतसा**=बहुत शक्तिवाले **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **प्र अर्हिरे**=प्रकर्षेण पूजा के योग्य हैं। 'रेतस्' उदक को भी कहते हैं, तब 'भूरिरेतसा' का अर्थ है 'पालक जलवाले' (भूरि=भृ=धारण-पोषणयोः)। पृथ्वी का जल सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत होकर ऊपर जाता है और मेघरूप में होकर वृष्टि के द्वारा अन्नोत्पादन का हेतु होता है और इस प्रकार प्रजाओं का पालन करता है। इसी कारण 'द्यावापृथिवी' =पिता व माता कहलाते हैं। इनका आदर करना यही है कि इसका उपयोग ठीक प्रकार से किया जाये। (२) **नराशंसः**=(नरश्चासौ आशंसः च) आगे ले चलनेवाला और ज्ञान को देनेवाला ज्ञानी ब्राह्मण, जो **चतुरंगः**=चारों अंगोंवाला है, अर्थात् जिसने ऋग्वेद से प्रकृति विज्ञान को, यजुर्वेद से जीव कर्त्तव्य ज्ञान को, साम से आत्मोपासना को तथा अथर्व से युद्ध विज्ञान व रोगविज्ञान को प्राप्त किया है, वह अग्नितुल्य (नराशंस) ब्राह्मण आदर के योग्य है। (३) ब्राह्मणों के बाद राष्ट्र में क्षत्रिय का स्थान है। **यमः**=राष्ट्र का नियमन करनेवाला और इस प्रकार **अदितिः**=(=अविद्यमाना दितिर्यस्यात्) राष्ट्र का खण्डन व नाश न होने देनेवाला यह क्षत्रिय राजा भी आदर के योग्य हैं। (४) **देवः**=राष्ट्र में सब व्यवहारों का साधक (दिव्=व्यवहार) **त्वष्टा**=विविध उपयोगी वस्तुओं का निर्माता (त्वक्ष्)। व्यवहार व निर्माण के द्वारा अर्जित **द्रविणोदाः**=धनों का दान करनेवाला, दान के कारण **ऋभुक्षणः**=महान् (महाजन) वैश्य भी आदर के योग्य है। (५) इन वैश्यों के बाद **रोदसी मरुतः**=इन द्यावापृथिवी के प्राणभूत ये श्रमिक भी आदर के ही योग्य हैं। इन शूद्रों से ही ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्य अपने अपने कर्मों को सम्यक्तया कर पाते हैं, यह श्रमिक वर्ग उनके कार्यों में सहायक होता है। (६) अन्त में **विष्णु**=वह व्यापक प्रभु, जिसकी शक्ति ही चराचर में कार्य कर रही है, पूजा के योग्य है। प्रभु ही द्यावापृथिवी को, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व श्रमिक वर्ग को शक्ति के देनेवाले हैं।

भावार्थ—देव, त्वष्टा, द्रविणोदा, ऋभुक्षण, मरुत, विष्णु हमें शक्ति के देनेवाले हैं।

ऋषिः—**शार्याती मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनें

उत स्य न उशिजामुर्विया कविरहिः शृणोतु बुध्न्योऽ हवीमनि।
सूर्यामासा विचरन्ता दिविक्षिता धिया शमीनहुषी अस्य बोधतम्॥ १२ ॥

(१) **उत**=और **स्यः**=वह **कवि**=क्रान्तदर्शी-सर्वज्ञ प्रभु, **अहिः**=कभी भी हीन न होनेवाला, **बुध्न्यः**=सबके मूल में विद्यमान-सर्वाश्रय प्रभु **नः**=हम **उशिजाम्**=मेधावियों की **हवीमनि**=पुकार के होने पर **उर्विया**=खूब ही **शृणोतु**=सुने। हम मेधावी बनकर प्रभु का आराधन करें, जिससे हमारी आराधना उस सर्वज्ञ, अहीन, सर्वाश्रय प्रभु के द्वारा अवश्य सुनी जाए। प्रभु सर्वज्ञ होने से हमारी आवश्यकता को हमारी अपेक्षा अधिक ठीक ही जानते हैं। 'अहीन' होने से वे हमारी प्रार्थना को पूर्ण करने की क्षमता रखते हैं। सर्वाश्रय होने से आधार देने योग्य को वे आधार देते ही हैं। (२) **दिविक्षिता**=द्युलोक में निवास करनेवाले, **विचरन्ता**=विभिन्न मार्गों में गति करते हुए **सूर्यामासा**=सूर्य और चन्द्र (चन्द्रमाः=माः) तथा **शमीनहुषी**=(शमी=कर्म) सब कर्मों की आधारभूत यह पृथिवी तथा (नह बन्धने) लोक-लोकान्तरों को अपने में बाँधनेवाला यह द्युलोक **धिया**=बुद्धि के द्वारा **अस्य**=हमारी इस प्रार्थना को **बोधतम्**=जानें। अर्थात् सूर्य, चन्द्र, द्युलोक तथा पृथ्वीलोक सभी हमारे अनुकूल होकर हमारी बुद्धि को बढ़ानेवाले हों, जिस बुद्धि से हम अभीष्ट पुरुषार्थों को सिद्ध कर पायें।

भावार्थ—हम समझदार बनकर प्रभु का आराधन करें, प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनें। सूर्य, चन्द्र, द्युलोक व पृथ्वीलोक हमारी बुद्धि को बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आत्मा, वसुओं व वात की ओर

प्र नः पूषा चरथं विश्वदेव्योऽपां नपादवतु वायुरिष्टये।
आत्मानं वस्यो अभि वातमर्चत तदश्विना सुहवा यामनि श्रुतम्॥ १३ ॥

(१) **विश्वदेव्यः**=सब देवों में उत्तम (विश्वेषु देवेषु साधुः) **पूषा**=पोषण करनेवाला यह सूर्य **नः**=हमारे **चरथम्**=इस शरीर रूप रथ को (chasiot) **प्र अवतु**=प्रकर्षेण रक्षित करे। यह सूर्य तो प्रजाओं का प्राण ही है 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' (२) **अपां न पात्**=प्रजाओं का पतन न होने देनेवाला **वायुः**=यह गति के द्वारा सब अशुभ का हिंसन करनेवाला वायु **इष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिये अथवा **इष्टि**=यज्ञमय जीवन बिताने के लिए (अवतु=) रक्षण करे। (३) **आत्मानं अभि अर्चत**=हे मेरे प्राणापानो! (अश्विना) आत्मा का लक्ष्य करके तुम पूजा करनेवाले बनो। **वस्यः (अभि अर्चत)**=निवास के लिए आवश्यक जो भी श्रेष्ठ तत्त्व है उसका अर्चन करनेवाले बनो। **वातम् (अभि अर्चत)**=गति के द्वारा अशुभ के संहार की अर्चना करनेवाले बनो। (४) हे **सुहवा**=शोभन आह्वान व प्रभु के आराधनवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **यामनि**=इस जीवनयात्रा में **श्रुतम्**=हमारी प्रार्थना को सुनो। हम प्राणापानों से प्रभु का आराधन करें और इस प्रकार प्रकृति की ओर न झुककर आत्मतत्त्व की ओर झुकाववाले हों, विलास की वस्तुओं की ओर न झुककर वसुओं की ओर झुकें तथा अकर्मण्यता को छोड़कर वायु की तरह क्रियाशील हों।

भावार्थ—सूर्य व वायु हमारे शरीर-रथ का रक्षण करें। प्राणसाधना हमें आत्मप्रवण करे, वसुओं की प्राप्ति कराये तथा गतिशील बनाये।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवस्तवन द्वारा प्रभु स्तवन

विशामासामभयानामधिक्षितं गीर्भिरु स्वयशसं गृणीमसि।
ग्नाभिर्विश्वाभिरदितिमनर्वणमक्तोर्युवानं नृमणा अधा पतिम्॥ १४ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार आत्मा की ओर चलनेवाली, अतएव **आसाम्**=इन **अभयानाम्**=निर्भय दैवी सम्पत्ति का प्रारम्भ 'अभय' से ही होता है। दैवी सम्पत्ति को अपने में बढ़ाकर ही तो हम प्रभु को अपने में आमन्त्रित करपाते हैं। **विशाम्**=प्रजाओं के **अधिक्षितम्**=अन्दर निवास करनेवाले, **उ**=और **स्वयशसम्**=अपने सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति आदि कर्मों से यशस्वी प्रभु को **गीर्भिः**=इन वेदवाणियों से **गृणीमसि**=स्तुत करते हैं। सब से पूर्व हम प्रभु का ही आराधन करते हैं। प्रभु की आराधना ही मनुष्य को निर्भय बनाती है। (२) इसके बाद, **विश्वभिः**=सब **ग्राभिः**=देव-पत्नियों के साथ **अदितिम्**=उस प्रकृतिरूप अदीना देवमाता को हम (गृणीमसि) स्तुत करते हैं। प्रकृति से बननेवाले ये सूर्य, जल, पृथिवी, वायु आदि सब देव अपनी-अपनी शक्ति से युक्त हैं। ये शक्तियाँ ही उन देवों की 'पत्नी' कहलाती हैं। इन सबके साथ हम इस प्रकृति का स्तवन करते हैं। इनके गुणों का ज्ञान ही इन देवों का स्तवन होता है। (३) **अनर्वणम्**=इस ओषधियों में रस सञ्चार के द्वारा हमें हिंसित न होने देनेवाले **अक्तोः युवानम्**=रात्रि के साथ अपना मेल करनेवाले चन्द्रमा को हम स्तुत करते हैं। इस चन्द्रमा में प्रभु की महिमा को देखते हैं **नृमणाः**=(नृषु अनुग्राहकं मन्ते यस्य) मनुष्यों पर अनुग्राहक मनवाला जो आदित्य है उस आदित्य का हम स्तवन करते हैं। किस प्रकार उदय होकर यह सब में प्राणों का संचार करता है? (४) **अधा**=और अब इन सब देवों के स्तवन के साथ **पतिम्**=इन सब देवों के स्वामी प्रभु का स्तवन करते हैं। इन देवों के स्तवन से वस्तुतः प्रभु का ही स्तवन होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का, प्रभु की पत्नीरूप इस प्रकृति का, सब देवों का व देवों द्वारा फिर से प्रभु का स्तवन करते हैं।

ऋषिः—**शार्यातो मानवः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान के अनुसार मार्ग पर चलना (आगमदीपदृष्ट पथ में प्रवृत्ति)

रेभदत्र जनुषा पूर्वो अङ्गिरा ग्रावाण ऊर्ध्वा अभि चक्षुरध्वरम्।
येभिर्विहाया अभवद्विचक्षणः पाथः सुमेकं स्वधितिर्वनन्वति ॥ १५ ॥

(१) प्रभु अंगिरा हैं 'अगि गतौ'=सम्पूर्ण गति का स्रोत हैं। ये प्रभु सृष्टि से पूर्व होने के कारण 'पूर्वः अंगिराः' कहे गये हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में ये 'अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिराः' आदि मानस पुत्रों को जन्म देते हैं और उन्हें वेद के द्वारा सब पदार्थों का ठीक से ज्ञान दे देते हैं। **अत्र**=इस सृष्टि में **पूर्वः अंगिराः**=सृष्टि से पहले ही विद्यमान गति के स्रोत प्रभु **जनुषा**=जन्म से ही, जन्म के साथ ही **रेभत्**=वेद के शब्दों द्वारा सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कराते हैं ज्ञान के बिना इन पदार्थों के ठीक प्रयोग का संभव ही नहीं है। (२) **ऊर्ध्वाः**=ज्ञान के दृष्टिकोण से उच्च स्थिति में पहुँचनेवाले **ग्रावाणः**=स्तोता लोग **अध्वरम्**=उस हिंसा से ऊपर उठे हुए यज्ञरूप प्रभु को **अभिचक्षुः**=देखनेवाले होते हैं। ये स्तोता वे हैं **येभिः**=जिनसे **विचक्षणः**=वे सर्वद्रष्टा प्रभु **विहायाः**=आकाशवत् व्यापक व महान् **अभवत्**=होते हैं। जितना प्रभु की महिमा का गायन होता है, उतना ही प्रभु विस्तृत और विस्तृत होते जाते हैं। (३) यह प्रभु का स्तवन करनेवाला 'स्व-दितिः'=आत्मतत्त्व का धारण करनेवाला ज्ञानी **सुमेकं पाथः**=जिन जीवन का शोभन रूप में निर्माण करनेवाले मार्ग का **वनन्वति**=सेवन करता है, शुभ मार्ग पर चलता हुआ जीवन को उत्तम बनाता है।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में ही सब पदार्थों का ज्ञान देते हैं। उस ज्ञान के अनुसार शुभ मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति सदा कल्याण को सिद्ध करता है।

सम्पूर्ण सूक्त का मुख्य भाव यही है कि विचारशील बनकर वासनाओं का संहार करते हुए शुभ मार्ग पर ही चलना है। ऐसा ही व्यक्ति **तान्वः**=(तनु विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है, इसी कारण वह 'पार्थ्यः' कहलाता है (प्रथविस्तारे) पृथा का पुत्र। यह 'तान्व पार्थ्य' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह कहता है कि—

[९३] त्रिनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तेभिः-एभिः

महि द्यावापृथिवी भूतमुर्वी नारी यह्वी न रोदसी सदं नः।
तेभिर्नः पातं सह्यस एभिर्नः पातं शूषणि ॥ १ ॥

(१) हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! तुम हमारे लिये **महि उर्वी**=खूब विस्तीर्ण होवो। द्युलोक 'मस्तिष्क' है, पृथिवीलोक 'शरीर'। हमारा मस्तिष्क विस्तृत ज्ञान से उज्ज्वल हो, और हमारा शरीर प्रचण्ड तेजस्विता से देदीप्यमान हो। हे **रोदसी**=द्यावापृथिवी! आन **नः**=हमारे लिये **सदम्**=सदा **यह्वी नारी न**=अपने गुणों के कारण महत्त्वपूर्ण स्त्री के समान होवो। जैसे पत्नी पति का पूरण करनेवाली बनती है, उसी प्रकार ये द्यावापृथिवी हमारा पूरण करनेवाले हों। द्युलोक ज्ञान की कमी को न रहने दे तथा पृथिवीलोक शक्ति व दृढ़ता का पूरण करनेवाला हो। (२) हे द्यावापृथिवी! आप **तेभिः**=उन मस्तिष्क की ज्ञानदीप्तियों से **नः**=हमें **सह्यसः**=कुचल डालनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओं से **पातम्**=सुरक्षित करो। ज्ञानाग्नि में काम भस्म हो जाए तथा **एभिः**=इन शरीर की शक्तियों से **नः**=हमें **शूषणि**=बाह्य शत्रुओं के शोषण में **पातम्**=सुरक्षित करिये। हम इन पार्थिव शक्तियों से शत्रुओं का शोषण कर सकें। अध्यात्म शत्रुओं का नाश मस्तिष्क के ज्ञान द्वारा तथा बाह्य शत्रुओं का नाश शारीरिक शक्तियों के द्वारा हम करनेवाले बनें। अध्यात्म शत्रुओं के नाश से परलोक उत्तम होता है। बाह्य शत्रुओं के नाश से इहलोक अच्छा बनता है।

भावार्थ—ज्ञान से कामादि का तथा तेज से बाह्य शत्रुओं का हम विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यज्ञ-स्तवन-स्वाध्याय

यज्ञेयज्ञे स मर्त्यो देवान्त्सपर्यति। यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासात्येनान्॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार कामादि शत्रुओं का तथा बाह्य शत्रुओं का पराभव करनेवाला **स मर्त्यः**=वह मनुष्य **यज्ञे यज्ञे**=प्रत्येक उत्तम कर्म में **देवान्**=देवों का **सपर्यति**=पूजन करता है। देवों का पूजन उत्तम कर्मों से ही होता है। प्रभु महादेव हैं, उनका पूजन तो यज्ञ से होता ही है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। वाय्वादि देवों के पूजन के लिए यह 'देवयज्ञ' (=अग्निहोत्र) किया जाता है। माता, पिता, आचार्यादि देवों का पूजन भी उत्तम कर्मों से ही होता है, हमारे उत्तम कर्मों से उन्हें प्रसन्नता होती है। (२) **यः**=जो व्यक्ति **सुम्नैः**=स्तोत्रों के साथ (सुम्न=hymn) **दीर्घश्रुत्तमः**=अधिक से अधिक (तम) अन्धकार निवारक (दीर्घ-दृ विदारणे) ज्ञानवाला बनता है, अर्थात् जो भी निरन्तर स्तवन व स्वाध्याय में प्रवृत्त होता है, वही **एनान्**=इन देवों की **आविवासाति**=परिचर्या करता है। देवों का पूजन यही है कि हम स्तवन व स्वाध्याय को अपनाएँ।

भावार्थ—देव-पूजन 'यज्ञों' से तथा स्तवन व स्वाध्याय से होता है। वही सच्चा उपासक है जिसके हाथ यज्ञों में प्रवृत्त हैं, हृदय में सुम्न (स्तोत्र) हैं तथा मस्तिष्क स्वाध्याय से दीप्त है।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

देवों के लक्षण

विश्वे॑षामिरज्यवो दे॒वानां॒ वार्म॒हः । विश्वे॒ हि वि॒श्वम॑हसो॒ विश्वे॑ य॒ज्ञेषु॑ य॒ज्ञियाः॑ ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार देवों का पूजन करनेवाला भी देव बनता है। सो देवों के लक्षण प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं। ये देव **विश्वेषाम्**=शरीर में साधनरूप से प्राप्त करायी गयी इन्द्रियों के, मन के व बुद्धि के इन शरीर में प्रविष्ट सब साधनों के ये **इरज्यवः**=स्वामी होते हैं, इनके वशीकरण से ही तो सब साध्यों को ये सिद्ध कर पाते हैं। (२) इन साधनों के ठीक प्रयोग करने से ही **देवानाम्**=इन देवों का **महः वाः**=महान् वरणीय धन होता है। ये उचित साधनों से खूब ही ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। (३) **विश्वे हि**=ये सब देव निश्चय से **विश्वमहसः**=सम्पूर्ण तेजोंवाले होते हैं। (४) **विश्वे**=ये सब **यज्ञेषु यज्ञियाः**=सदा उत्तम यज्ञों में प्रवृत्त रहनेवाले होते हैं। उत्तम कर्मों में सदा व्यापृत रहते हैं।

भावार्थ—देवों के लक्षण ये हैं—(क) इन्द्रियों, मन व बुद्धि के ये स्वामी होते हैं (हृषीकेश), (ख) महान् वरणीय धन का अर्जन करते हैं, (ग) तेजस्वी होते हैं, (घ) यज्ञों में लगे रहते हैं, लोक संग्रहात्मक कर्म ही इनके यज्ञ बन जाते हैं।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अमृत के राजा

ते घा॒ राजा॑नो अ॒मृत॑स्य म॒न्द्रा अ॑र्य॒मा मि॒त्रो वरु॑णः॒ परि॑ज्मा ।
कद्रु॒द्रो नृ॒णां स्तु॒तो म॒रुतः॑ पू॒षणो॒ भगः॑ ॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र के विषय को ही प्रस्तुत मन्त्र में पूर्ण करते हुए कहते हैं कि **घा**=निश्चय से **ते**=वे देव **अमृतस्य**=अमरता के, रोगों द्वारा मृत्यु का ग्रास न होने के **राजानः**=(to be the feist, at the head) प्रथम अधिपति होते हैं। ये कभी रोगों का शिकार नहीं होते, 'अमरा निर्जरा देवाः'=ये देव जीर्ण नहीं होते और अतएव असमय की मृत्यु के शिकार नहीं होते। **मन्द्राः**=सदा प्रसन्न रहते हैं (cheerful) (२) **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोधादि शत्रुओं को वश में करते हैं। **मित्रः**=(मित्र स्नेह ने) सबके साथ स्नेह से वर्तते हैं। **वरुणः**=द्वेष का निवारण करते हैं। **परिज्मा**= वायु की तरह अपने कर्त्तव्यों में सदा गतिशील बने रहते हैं। **कद्रुद्रः**=(कु=कत्) कुत्सित भावों को प्रभु नाम-स्मरण से दूर भगाते हैं (रोरूयमाणः द्रावयति)। कुत्सित भावों को रुलानेवाले होते हैं (रोदयति) उन्हें अपने हृदय से निर्वासित करके बेघर कर देते हैं और इस प्रकार उन भावों के भाग्य में रोना ही रह जाता है। (३) इस प्रकार बनने के कारण ये लोग **नृणां स्तुतः**=मनुष्यों से स्तुति किये जाते हैं, लोगों में ये यशस्वी होते हैं। **मरुतः**=ऐसा बनने के लिए ये प्राणसाधना करनेवाले होते हैं। **पूषणः**=पोषण करनेवाले व **भगः**=ऐश्वर्यशाली होते हैं। वस्तुतः ये ऐश्वर्य के द्वारा भोगों में न फँसकर औरों का पोषण ही करते हैं।

भावार्थ—हम देव बनकर अमृतत्व के अधिपति हैं और सदा प्रसन्नता का अनुभव करें।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूर्य व चन्द्र (उग्रता व शान्ति)=तेज व क्षमा

उ॒त नो॒ नक्त॑म॒पां वृ॑षण्वसू सू॒र्या॒मासा॒ सद॑नाय सध॒न्या॑ ।
सचा॒ यत्साद्ये॑षा॒महि॑र्बु॒ध्नेषु॑ बु॒ध्न्यः॑ ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र में देवों के लक्षण दिये गये हैं। देवों की यह भी विशेषता होती है कि वे अपने में 'तेजस्विता व क्षमा' इन दोनों ही तत्त्वों का समन्वय करते हैं। सूर्य से वे उग्रता व तेजस्विता का पाठ पढ़ते हैं, तो चन्द्रमा से वे शान्ति व क्षमा को सीखते हैं। दोनों ही आवश्यक हैं। 'कोई कम और कोई अधिक आवश्यक हो' ऐसी बात नहीं है। ये **सधन्या**=समान धन हैं। यहाँ मन्त्र में 'दिवा नक्तं' के स्थान में केवल 'नक्तं' का पाठ है, जैसे 'सत्यभामा' 'भामा' है। **उत**=और **नः**=हमारे में **नक्तम्**=दिन-रात **अपां वृषण्वसू**=प्रजाओं के लिए धन का वर्षण करनेवाले **सूर्यामासा**=सूर्य प्रकाश और चन्द्र आह्लाद **सधन्या**=समान धनवाले होते हुए, अर्थात् एक समान मनुष्य को धन्य बनानेवाले, इतना ही नहीं, परस्पर मिलकर मनुष्य को धन्य बनानेवाले **सदनाय**=निवास के लिए हों। हमारे में जैसे सूर्य का निवास हो, उसी प्रकार चन्द्रमा का। हम तेजस्विता व क्षमा दोनों को धारण करें। हम केवल उग्र ही उग्र न हों, केवल शान्त ही शान्त न हों। उग्रता व शान्ति का अपने में समन्वय करें। (२) **यत् एषाम्**=जब इन दोनों के जीवनों में **सचा**=इन सूर्य और चन्द्र का मेल होता है तो **अहिर्बुध्नेषु**=अहीन आधारवाले, न नष्ट होनेवाले, प्रकृति जीव व परमात्मा में **बुध्न्यः**=सर्वोत्तम आधारभूत प्रभु **सादि**=स्थित होते हैं। हम अपने जीवनों में सूर्य व चन्द्र का मेल करें, तो हमें अवश्य प्रभु की प्राप्ति होगी, यहाँ 'नित्यो नित्यानां' की तरह ही 'अहिर्बुध्नेषु बुध्न्यः' ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वे प्रभु अक्षरों में भी अक्षर अथवा 'परम अक्षर' हैं। (३) सूर्य हमारे में 'चक्षु' रूप से रहता है और चन्द्रमा 'मन' के रूप में हम चक्षु आदि इन्द्रियों को सशक्त व निर्मल बनाएँ और मन को सदा प्रसादयुक्त रखने का प्रयत्न करें। यही प्रभु प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम सूर्य की तरह तेजस्वी हों, चन्द्रमा की तरह शान्त व आह्लादमय तभी हमें प्रभु का आधार प्राप्त होगा।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रेगिस्तान के पार

उत नो देवावश्विना शुभस्पती धामभिर्मित्रावरुणा उरुष्यताम्।
महः स राय एषतेऽति धन्वेव दुरिता ॥ ६ ॥

(१) **उत**=और **नः**=हमारे लिए **अश्विनौ देवौ**=प्राणापान हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतने की कामनावाले हों (दिव्=विजिगीषा)। हम प्राणसाधना के द्वारा इन सब शत्रुओं को नष्ट कर सकें। वस्तुतः ये प्राणापान इस प्रकार हमारे दोषों को दग्ध करके **शुभस्पती**=शुभ के रक्षक हैं। अशुभ को ये दूर करते हैं और शुभ का रक्षण करते हैं। (२) काम-क्रोधादि को जीतकर हम राग-द्वेषादि से ऊपर उठते हैं। इनसे ऊपर उठकर हम सबके प्रति स्नेह करनेवाले 'मित्र' तथा किसी से द्वेष न करनेवाले 'वरुण' बनते हैं। ये **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **धामभिः**=तेजस्विताओं के द्वारा **उरुष्यताम्**=हमारा रक्षण करें। द्वेष से मनुष्य अन्दर ही अन्दर जलता रहता है और उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। (३) इस प्रकार शक्ति का रक्षण करके **स**=वह प्राणसाधक पुरुष **महः रायः**=महत्त्वपूर्ण ऐश्वर्य को **आ ईषते**=सर्वथा प्राप्त होता है और **दुरिता अति**=सब दुरितों व दुर्गतियों को इस प्रकार पार कर जाता है **इव**=जैसे **धन्वा**=कोई पथिक रेगिस्तान को पार कर जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अशुभ वृत्तियाँ का नाश होकर शुभवृत्तियों का विकास होता है। ईर्ष्या-द्वेषादि से ऊपर उठकर मनुष्य तेजस्वी बनता है। शुभ ऐश्वर्यों को प्राप्त करके दुर्गतियों को

पार कर जाता है। इस साधक के लिए सांसारिक विषय मरुस्थल के समान हो जाते हैं।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नीरोगता व दिव्यभाव

उत नो रुद्रा चिन्मृळतामश्विना विश्वे देवासो रथस्पतिर्भगः।
ऋभुर्वाज ऋभुक्षणः परिज्मा विश्ववेदसः ॥७॥

(१) **उत**=और **रुद्रा**=सब रोगों का द्रावण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान **नः**=हमारे लिए **चित्**=निश्चय से **मृडताम्**=सुख को देनेवाले हों। इसी प्रकार **विश्वेदेवासः**=सब दिव्यगुण हमें सुखी करनेवाले हों। 'शरीर व मन' दोनों का स्वास्थ्य हमें सुख का देनेवाला हो। शरीर में रोग न हों, मन में ईर्ष्या आदि अदिव्य भाव न हों। (२) **रथस्पतिः**=शरीररूप रथ का रक्षक, इस शरीर का अधिष्ठातृदेव हमें सुखी करे। **भगः**=सेवनीय ऐश्वर्य हमारी आवश्यकताओं को पूर्ण करके हमें सुखी करे। (३) **ऋभुः**=(ऋतेन भाति) सत्य ज्ञान से चमकनेवाला व यज्ञों से दीप्त होनेवाला ज्ञानी ब्राह्मण ज्ञान को देकर हमारे सुख की वृद्धि का कारण बने। **वाजः**=शक्ति का पुञ्ज क्षत्रिय भी रक्षण के द्वारा हमारा कल्याण करे। **ऋभुक्षणः**=(उरुक्षणः नि०) बड़े-बड़े निवास-स्थानोंवाले **परिज्मा नः**=(परिज्मानः) चारों ओर गति करनेवाले, व्यापार के लिए इधर-उधर जानेवाले **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनों का अर्जन करनेवाले वैश्य लोग भी हमारा कल्याण करें।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम शरीर में नीरोग व मन में दिव्य भावोंवाले बनें। शरीर का ध्यान करें, इसके लिए आवश्यक धन का अर्जन करें। राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सब उत्तम हों।

सूचना—'ऋभुक्षणः' के साथ 'परिज्मा' शब्द सम्भवतः 'चारों ओर गति करनेवाले' शूद्र के लिए हो। वैश्य और शूद्र मिलकर ही धनार्जन करते हैं। ठीक-ठीक तो यह है कि वैश्याधिष्ठित शूद्र धनार्जन करता है (laboxr=लभ्)।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपासक का अतिमानव रूप

ऋभुर्ऋभुक्षा ऋभुर्विधतो मद आ ते हरी जूजुवानस्य वाजिना।
दुष्टरं यस्य साम चिदृधग्यज्ञो न मानुषः ॥८॥

(१) **ऋभुक्षाः**=वे महान् प्रभु **ऋभुः**=(ऋतेन भाति) अपने सत्यस्वरूप से देदीप्यमान हैं। **विधतः**=इस प्रभु को उपासक का **मदः**=हर्ष **ऋभुः**=यज्ञों से दीप्त होता है, अर्थात् प्रभु का उपासक आनन्द का अनुभव करता है और उसे यज्ञों में ही आनन्द मिलता है। (२) हे प्रभो! **जूजुवानस्य**=निरन्तर गति देनेवाले **ते**=आपके दिये हुए ये **हरी**=इन्द्रियरूप अश्व **आवाजिना**=सब प्रकार से शक्तिशाली होते हैं। एक व्यक्ति आपकी प्रेरणा में चलता है तो उसकी ये इन्द्रियाँ क्षीणशक्ति न होकर सबल ही बनी रहती हैं। (३) हे प्रभो! आप तो वे हैं **यस्य**=जिनकी **साम**=उपासना **चित्**=भी **दुष्टरम्**=शत्रुओं से अभिभूत नहीं हो पाती। आपके उपासक को काम-क्रोधादि शत्रु दबा नहीं सकते। (४) आपके उपासक का **यज्ञः**=यज्ञ भी **ऋधक्**=पृथक् ही होता है, **न मानुषः**=सामान्य मनुष्यों से किये जानेवाले यज्ञ की तरह वह नहीं होता, उपासक का यज्ञ असाधारण व अलौकिक होता है। वस्तुतः इस उपासक में प्रभु की ही शक्ति काम कर रही होती है। उस शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर वह अतिमानव प्रतीत होता है।

भावार्थ—महान् प्रभु अपने सत्यस्वरूप में देदीप्यमान हैं। प्रभु का उपासक भी कामादि से

अभिभूत न होता हुआ अतिमानव यज्ञों को करने में समर्थ होता है।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अक्षरपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

न लज्जित होने योग्य जीवन

कृधी नो अह्रयो देव सवितः स च स्तुषे मघोनाम्।
सहो न इन्द्रो वह्निभिर्न्येषां चर्षणीनां चक्रं रश्मिं न योयुवे ॥ ९ ॥

(१) हे **सवितः देव**=प्रेरक प्रकाशमय प्रभो! **नः**=हमें **अह्रयः**=लज्जा से न झुके हुए मुखवाला करिये। आपकी प्रेरणा से प्रकाश को प्राप्त करके सदा मार्ग पर ही चलते हुए हमें अशुभ कर्मों के कारण लज्जित न होना पड़े। हे प्रभो! आप ही **मघोनां स्तुषे**=ऐश्वर्यशालियों में स्तुत होते हैं। सर्वमहान् ऐश्वर्य आपका ही है। वस्तुतः आपसे ही सब ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। (२) **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **वह्निभिः**=शरीर के सब कार्यों के वाहक इन मरुतों के द्वारा **एषां चर्षणीनां नः**=इन श्रमशील हम मनुष्यों के साथ **सहः**=शत्रुधर्षक बल को **नियोयुवे**=निश्चय से मिश्रित करता है। उसी प्रकार मिश्रित करता है, **न**=जैसे कि **चक्रम्**=इस शरीरचक्र को तथा **रश्मिम्**=मनरूप लगाम को, प्रभु शरीररूप रथ को देते हैं। इस रथ में इन्द्रियाश्वों के नियमन के लिए मनरूप लगाम को देते हैं। इस मनरूप लगाम के द्वारा ही बुद्धि रूप सारथि इन्द्रियाश्वों को नियंत्रित करता है। इस नियन्त्रण के अनुपात में ही हमारे अन्दर 'सहस्' का विकास होता है। इस सहस् से कामादि शत्रुओं का पराभव करके हम शुभ मार्ग का ही आक्रमण करते हैं, हमें अपने कार्यों के कारण कभी लज्जित नहीं होना पड़ता।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपकी प्रेरणा में चलते हुए ऐसा जीवन बिताएँ जो हमारी यशोवृद्धि का कारण हो।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

धन व सात्त्विक अन्न

ऐषु द्यावापृथिवी धातं महदस्मे वीरेषु विश्वचर्षणि श्रवः।
पृक्षं वाजस्य सातये पृक्षं रायोत तुर्वणे ॥ १० ॥

(१) हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप **अस्मे**=हमारे **एषु**=इन **वीरेषु**=वीर सन्तानों में **महत्**=महान् आदरणीय (मह पूजायाम्) **विश्वचर्षणि**=सम्पूर्ण संसार के पदार्थों के तत्त्वज्ञान को दिखलानेवाले **श्रवः**=ज्ञान को **आधातम्**=स्थापित करिये। सारा संसार हमारे सन्तानों के लिए ज्ञान प्राप्ति की अनुकूलता को प्राप्त कराये। 'द्युलोक' शरीर में मस्तिष्क हैं और 'पृथिवीलोक' शरीर। मस्तिष्क की दीप्ति व शरीर का स्वास्थ्य तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक ही हैं। (२) **वाजस्य सातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **पृक्षम्**=अन्न को **आधातम्**=स्थापित करें। हमें वह अन्न प्राप्त हो जो शक्ति का वर्धन करनेवाला हो। **उत**=और **राया**=धन के साथ **पृक्षम्**=उस अन्न को प्राप्त कराइये जो **तुर्वणे**=शीघ्रता से शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला हो। धन के कारण हम व्यसनों में न फँस जाएँ। धन के साथ हम सात्त्विक अन्नों का ही प्रयोग करें जिससे सात्त्विक वृत्तिवाले बने रहकर हम कामादि शत्रुओं का सदा पराभव करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें सब पदार्थों के तत्त्वज्ञान को देनेवाला ज्ञान प्राप्त हो। हम सात्त्विक अन्नों व धनों से युक्त होकर कामादि शत्रुओं को पराभूत करें।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—न्याङ्कुसारिणीबृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्रभु से ज्ञान की प्राप्ति

एतं शंसमिन्द्रास्मयुष्ट्वं कूचित्सन्तं सहसावन्नभिष्टये सदा पाह्यभिष्टये। मेदतां वेदता वसो॥ ११॥

(१) हे **सहसावन् इन्द्र**=शक्ति के पुञ्ज परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मयुः**=हमारे हित की कामनावाले **त्वम्**=आप **कूचित् सन्तम्**=कहीं ही होनेवाले, अर्थात् एक आध व्यक्ति को ही प्राप्त होनेवाले **एतम्**=इस **शंशम्**=ज्ञान को **अभिष्टये**=हमारे इष्ट की सिद्धि के लिए **सदा पाहि**=हमेशा सुरक्षित करिये। सामान्यतः संसार में सभी अज्ञानी ही बने रहते हैं। कोई व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त करता है। इस ज्ञान को प्राप्त करके ही हम अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच पाते हैं। यह ज्ञान ही वस्तुतः हमें वह शक्ति प्राप्त कराता है जिससे कि हम वासनाओं का संहार कर पाते हैं। हम 'सहसावान्' बनते हैं। यह ज्ञान ही परमैश्वर्य है, हमें यह 'इन्द्र' बनाता है। (२) हे **वसो**=ज्ञान को देकर हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **अभिष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिए **मेदताम्**=स्नेह करनेवालों का **वेदता**=आप ध्यान करिये। आपकी कृपा दृष्टि हम स्नेह करनेवालों पर सदा बनी रहे। आपकी कृपा से ही हमारे सब अभीष्ट पूर्ण होंगे।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त कराएँ जिससे हम भी प्रभु की तरह 'सहसावान् व इन्द्र' बन पाएँ। सबके प्रति स्नेह करते हुए हम प्रभु की कृपा के पात्र हों।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीपङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दीप्तगमन का साधन 'स्तोम'

एतं मे स्तोमं तना न सूर्ये द्युतद्यामानं वावृधन्त नृणाम्। संवननं नाश्व्यं तष्टेवानपच्युतम्॥ १२॥

(१) **एतम्**=इस **मे**=मेरे से किये जानेवाले **स्तोमम्**=स्तुति समूह को सब देव **वावृधन्त**=बढ़ानेवाले हों। उस प्रकार बढ़ानेवाले हों **न**=जैसे कि **सूर्ये**=सूर्य में **तना**=रश्मिजाल को सूर्य में जैसे रश्मियाँ विस्तृत हो रही हैं इसी प्रकार मेरे जीवन में प्रभु के स्तोत्र विस्तृत हों, मैं निरन्तर प्रभु का स्तवन करनेवाला बनूँ। यह स्तोम **द्युतद्यामानम्**=दीप्तगमनवाला हो, इसके द्वारा मुझे मार्ग भली-भाँति दिखे। मेरे जीवनमार्ग को यह रोशन करनेवाला हो। प्रभु को सर्वज्ञ रूप में स्मरण करता हुआ मैं भी ज्ञान में रुचिवाला बनूँ। प्रभु को दयालु रूप में देखता हुआ मैं भी दया करनेवाला बनूँ। (२) यह स्तोम **नृणां संवननम्**=मनुष्यों का सम्यक् सेवनीय है (वन संभक्तौ) अथवा यह मनुष्यों को विजयी बनानेवाला है (वन्=win) विजय का यह साधन है। यह स्तोम क्या है, यह तो विजय के साधन के समान है। (३) **इव**=जैसे **तष्टा**=बढ़ई **अनपच्युतम्**=अपच्युत न होनेवाले दृढ तथा **अश्वम्**=अश्वों के लिए उत्तम रथ को बनाता है इसी प्रकार हम स्तोम को बनानेवाले हों। यह हमारा स्तोम भी च्युतिरहित हो, स्तुति विच्छिन्न न हो जाए तथा यह स्तुति हमारे इन्द्रिय रूप अश्वों को उत्तम बनानेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन मुझे अन्तः शत्रुओं से संघर्ष में विजयी बनाता है।

ऋषिः—तान्वः पार्थ्यः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—आर्चीभुरिगनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः ॥

स्तुति-धन-ज्ञान

वावर्त येषां राया युक्तैषां हिरण्ययीं। नेमधिता न पौंस्या वृथेव विष्टान्ता॥ १३॥

(१) **येषाम्**=जिन उपासकों की स्तुति **वावर्त**=विशेषरूप से प्रवृत्त होती है, **एषाम्**=इनकी वह स्तुति **राया युक्त**=धन से युक्त होती हुई **हिरण्ययी**=ज्योतिर्मयी होती है, हित रमणीय होती

है। स्तुति के साथ धन का मेल होने पर मस्तिष्क में किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती और इस प्रकार इन उपासकों को ज्ञान की दीप्ति प्राप्त होती है, यह ज्ञान दीप्ति हितकर होती हुई रमणीय है। 'धन' शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है, तो 'स्तुति' मानस भोजन बनती है तथा 'ज्ञान' (हिरण्य) मस्तिष्क को उज्ज्वल करता है। (२) **न**=जैसे **नेमधिता**=संग्राम में **पौंस्या**=बल **विष्टान्ता**=(विष् व्याप्तौ) व्याप्तावसान होते हैं, अन्त तक पहुँचानेवाले होते हैं, हमें विजयी बनाते हैं। इसी प्रकार यह धन व हिरण्य से युक्त स्तुति भी **वृथा इव**=अनायास ही बिना किसी अन्य परिश्रम के विष्टान्त होती है, हमें जीवन के लक्ष्य के अन्त तक पहुँचाती है। (३) धन से पृथ्वीलोक का विजय करते हैं, धन के ठीक प्रयोग से शरीर के स्वास्थ्य को सिद्ध करते हैं। स्तुति के द्वारा हृदयान्तरिक्ष के वैर्मत्य को सिद्ध करते हैं, स्तुति के द्वारा हृदयान्तरिक्ष में उमड़नेवाले वासना मेघों को छिन्न-भिन्न कर पाते हैं। ज्ञान के द्वारा मस्तिष्क रूप द्युलोक को दीप्त करके हम ब्रह्मलोक में पहुँचनेवाले बनते हैं। इस प्रकार धन व ज्ञान से युक्त स्तुति हमारे लिए विष्टान्त बनती है।

भावार्थ—हमारी स्तुति धन से युक्त होकर हमारे ज्ञान के वर्धन का कारण बने और इस प्रकार हम जीवन के लक्ष्य के अन्त तक पहुँचनेवाले हों।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'दुःशीम-पृथवान-वने-राम-असुर-मघवान्'

प्र तद्दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम्॥ १४॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **तद्**=उस गतमन्त्र के **हिरण्य**=हितरमणीय ज्ञान को **दुःशीमे**=सब बुराइयों को शान्त करनेवाले में, सब वासनाओं को जीतनेवाले में **पृथवाने**=वासनाओं को जीतकर शक्तियों का विस्तार करनेवाले में और इस प्रकार **वेने**=अपने जीवन को कान्त व सुन्दर बनानेवाले में **प्रवोचम्**=कहता हूँ। (२) इस ज्ञान का मैं **रामे**=भक्ति में रमण करनेवाले में अथवा संसार की सब क्रियाओं को एक क्रीड़क की मनोवृत्ति से करनेवाले में (रम् क्रीडायाम्), **असुरे**=प्राणशक्ति में रमण करनेवाले में (असुषु रमते)=प्राणायामादि द्वारा प्राणशक्ति को बढ़ानेवाले में तथा **मघवत्सु**=(मघ=ऐश्वर्य तथा यज्ञ 'मख') ऐश्वर्यशाली तथा अपने ऐश्वर्य का यज्ञों में विनियोग करनेवालों में **प्र अवोचम्**=प्रवचन करता हूँ। (३) इस ज्ञान को प्राप्त करके इस ज्ञान के अनुसार **ये**=जो **पञ्च**=पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण पंचक को (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार-हृदय) **शता**=सौ के सौ वर्ष तक **युक्त्वाय**=शरीररूप रथ में ठीक प्रकार से जोतकर **पथा**=मार्ग से चलते हुए **अस्मयु**=हमारी प्राप्ति की कामनावाले होते हैं, **एषाम्**=इनका **विश्रावि**=श्रव (=यश) चारों ओर फैलता है।

भावार्थ—हम 'दुःशीम, पृथवान, वने, राम, असुर व मघवान्' बनें जिससे प्रभु के ज्ञान का हमारे लिये प्रवचन हो।

ऋषिः—**तान्वः पार्थ्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तान्वः-पार्थ्यः-मायवः

अधीन्न्वत्र सप्ततिं च सप्त च ।
सद्यो दिदिष्ट तान्वः सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यः सद्यो दिदिष्ट मायवः॥ १५॥

(१) **नु**=अब गतमन्त्र के अनुसार दुःशीम आदि बनकर प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करनेवाला,

अत्र=इस जीवन में **तान्वः**=शरीर की शक्तियों का विस्तार करनेवाला **इत्**=निश्चय से **सप्तः**=शीघ्र ही **सप्त च सप्ततिं च**=सात और सत्तर, अर्थात् सतहत्तर नाड़ीचक्रों के केन्द्रों को **अधिदिदिष्ट**=याचित करता है। इन केन्द्रों के ठीक रहने पर ही वस्तुतः शरीर के स्वास्थ्य का निर्भर है। (२) **पार्थ्यः**=मानस शक्तियों का विस्तार करनेवाला भी इन्हीं को ही **सद्यः**=शीघ्र (अधि) **दिदिष्ट**=आधिक्येन याचित करता है। इन केन्द्रों के विकृत होने पर मनुष्य अस्थिर मनवाला हो जाता है। (३) **मायवः**=अपने साथ ज्ञान का सम्पर्क करनेवाला पुरुष भी **सद्यः**=शीघ्र ही इन सतहत्तर केन्द्रों के स्वास्थ्य की (अधि) **दिदिष्ट**=याचना करता है। इनके विकृत होते ही मस्तिष्क विकृत हो जाता है और मनुष्य पागल बन जाता है।

भावार्थ—शरीर में सतहत्तर नाड़ीचक्र केन्द्रों के ठीक होने के द्वारा हम 'तान्व-पार्थ्य व मायव' बनें। शरीर, मन व बुद्धि तीनों के स्वास्थ को प्राप्त करने के लिए इन केन्द्रों का ठीक होना आवश्यक है।

सम्पूर्ण सूक्त 'तान्व, पार्थ्य व मायव' बनने के साधनों पर सुन्दरता से प्रकाश डाल रहा है। अगला सूक्त 'अर्बुद-काद्रवेय-सर्प' ऋषि का है—'अर्बुद' (अर्व हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाला है। वासनाओं के संहार के लिये यह 'काद्रवेय' (कदि आह्वाने) प्रभु का आह्वान करनेवाला बनता है, प्रभु का प्रातः-सायं आराधन करता है और 'सर्पः'=(सृ गतौ) गतिशील बना रहता है। यह कहता है कि—

[९४] चतुर्नवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अद्रि-पर्वत-आशु व सोमी

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः।
यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः ॥ १ ॥

(१) **एते**=ये मन्त्र के देवता 'ग्रावाणः'=उपदेष्टा लोग (गृशब्दे) **प्रवदन्तु**=प्रकर्षेण ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें और उनके पीछे **वयम्**=हम भी **प्रवदाम**=उन वाणियों का प्रकर्षेण उच्चारण करें। ज्ञान प्राप्ति का वस्तुतः यही तो ठीक क्रम है कि गुरु बोलें और उनके पीछे विद्यार्थी उसी प्रकार उच्चारण करें। **वदद्भ्यः**=उच्चारण करते हुए **ग्रावभ्यः**=गुरुओं के लिए **वाचं वदता**=वाणी को बोलो। गुरु पढ़ाएँ, विद्यार्थी सुनाएँ। शिक्षा में यह प्रतिदिन के पाठ का सुनना अत्यन्त आवश्यक है। (२) एवं जहाँ हम आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें, वहाँ **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **श्लोकं घोषम्**=(श्लोकः यशसि) यशोगानात्मक शब्दों का **भरथा**=भरण करें। प्रभु के यशोगान के करनेवाले हों। यह यशोगान तभी होता है **यत्**=जब **अद्रयः**=हम आदरणीय बनते हैं, ऐसे ही कर्म करते हैं जो हमें आदर का पात्र बनाते हैं। **पर्वताः**=(पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवाले बनते हैं, न्यूनताओं को दूर करके अच्छाइयों को अपने में भरते हैं। **साकं आशवः**=मिलकर कर्मों में व्याप्त होनेवाले होते हैं (अश् व्याप्तौ), देवों की तरह परस्पर मिलकर एक लक्ष्य से प्रेरित होकर अपने-अपने कार्यभाग को सुन्दरता से करते हैं। **सोमिनः**=अपने में सोम (वीर्य) शक्ति का रक्षण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु का सच्चा यशोगान व स्तवन यही है कि हम 'अद्रि, पर्वत, आशु व सोमी' बनें।

भावार्थ—आचार्यों से उच्चारित शब्दों का उच्चारण करते हुए हम ज्ञान को प्राप्त करें तथा 'अद्रि, पर्वत, आशु व सोमी' बनकर प्रभु का यशोगान करें।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आचार्यों के चार गुण

एते वंदन्ति शतवंत्सहस्त्रंवदभि क्रन्दन्ति हरिंतेभिरासभिः ।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुंश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत ॥ २ ॥

(१) **एते**=ये **ग्रावाणः**=उपदेष्टा लोग **शतवत् सहस्त्रवत्**=सैंकड़ों व सहस्रों शिष्योंवाले होते हुए **वदन्ति**=ज्ञानोपदेश को कहते हैं और **हरितेभिः**=हरित-अशुष्क-सरस **आसभिः**=मुखों से **अभिक्रन्दन्ति**=प्रातः-सायं (क्रदि आह्वाने) प्रभु का आह्वान करते हैं, प्रभु से प्रार्थना करते हैं। आचार्य ज्ञान देते हैं और प्रभु का आराधन करते हैं। (२) **विष्ट्वी**=(कर्मनाम नि० २।१, कृत्वा नि० ११।१६) कर्मों को करके **ग्रावाणः**=स्तुति करनेवाले वे लोग कर्मों द्वारा प्रभु की अर्चना करनेवाले ये आचार्य **सुकृत्यया**=उत्तम कर्मों के द्वारा **सुकृतः**=पुण्यशील होते हुए **पूर्वे**=उन्नतिपथ पर सब से आगे बढ़नेवाले अथवा अपना पूरण करनेवाले बनकर (पृ पूरणे) **चित्**=निश्चय से **होतुः**=उस सब पदार्थों के देनेवाले प्रभु के **अद्यं हविः**=खाने योग्य यज्ञशेषरूप पदार्थों का ही **आशतः**=सेवन करते हैं। अपने कर्त्तव्य पालन के द्वारा प्रभु-स्तवन करते हैं और यज्ञशेष को ही खाते हैं।

भावार्थ—आचार्य (क) ज्ञान देते हैं, (ख) रस वाणी से प्रभु का स्तवन करते हैं, (ग) कर्मों को करते हुए प्रभु के सच्चे स्तोता बनते हैं, (घ) यज्ञशेष का सेवन करते हैं।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अति सात्त्विक भोजन व माधुर्य

एते वंदन्त्यविंदन्नना मधु न्यूङ्खयन्ते अधिं पक्व आमिषि ।
वृक्षस्य शाखांमरुणस्य बप्सतस्ते सूभंर्वा वृषभाः प्रेमंराविषुः ॥ ३ ॥

(१) **एते**=ये आचार्य **वदन्ति**=ज्ञानोपदेश करते हैं और ज्ञानोपदेश करते हुए **अना**=मुख से **मधु अविदन्**=मधु को प्राप्त करते हैं। मधुर शब्दों में ही ज्ञान देते हैं। कभी क्रोध से कटु शब्द नहीं बोलते। (२) **अधिपक्वे आमिषि**=(the fleshy past of a fruit) पूर्ण परिपक्व फलों के गूदे का भोजन होने पर ये आचार्य **न्यूङ्खयन्ते**=(make beantiful ckeruering purpes or right) अपने जीवन को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। वानप्रस्थ होने के कारण इनका भोजन वन्य कन्द फल मूल ही होते हैं। इस सात्त्विक भोजन से इनका जीवन भी सात्त्विक ही बनता है। (३) **अरुणस्य**=आरोचमान फलों से चमकते हुए, **वृक्षस्य**=वृक्ष की **शाखाम्**=शाखा को, शाखा पर लगनेवाले फलों को **बप्सतः**=खाते हुए **ते**=वे आचार्य **सूभर्वाः**=उत्तम भोजनों से अपना भरण करनेवाले और अतएव **वृषभाः**=शक्तिशाली होते हुए **ईम्**=निश्चय से **प्र अराविषुः**=खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—आचार्य लोग मधुर शब्दों में ज्ञान देते हैं। इनके माधुर्य का रहस्य इस बात में है कि ये सात्त्विक भोजन करते हैं और प्रभु का स्तवन करते हैं।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु स्तवन से पृथ्वी को गुञ्जित करना

बृहद्वदन्ति मदिरेण मन्दिनेन्द्रं क्रोशन्तोऽविदन्ना मधु।
संरभ्या धीराः स्वसृभिरनर्तिषुराघोषयन्तः पृथिवीमुपब्दिभिः ॥ ४ ॥

(१) ये लोग **बृहद् वदन्ति**=खूब ही ज्ञानोपदेश करते हैं। **मदिरेण**=हर्ष से परिपूर्ण-उल्लासमय **मन्दिना**=(shihing) दीप्त शब्दों से **इन्द्रं क्रोशन्तः**=परमैश्वर्यवाले प्रभु को पुकारते हुए **अना**=मुख से **मधु अविदन्**=मधु को प्राप्त करते हैं सदा मधुर ही शब्दों को बोलते हैं। प्रभु का स्तवन करनेवाला सभी को प्रभु पुत्र जानता हुआ कड़वा बोल ही नहीं सकता। (२) ये **धीराः**=ज्ञानी पुरुष **संरभ्या**=प्रभु का आश्रय करके **स्व-सृभिः**=आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाली गतियों से **अनर्तिषुः**=जीवन के नृत्य को करते हैं। प्रभु की प्रेरणाओं के अनुसार ही चलते हैं। (३) प्रभु प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए ये **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **उपब्दिभिः**=प्रभु के स्तवन के शब्दों से **आघोषयन्तः**=आघोषित करनेवाले होते हैं। इनके आश्रम प्रभु के गुणगान के शब्दों से गूँज उठते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष मधुर शब्दों में प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु गुणगान से पृथ्वी को गुँजा देते हैं। इनके सारे काम इन्हें प्रभु की ओर ले जानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सुपर्ण-कृष्ण-इषिर-सूर्यश्वित्'

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
न्यङ्नि यन्त्युपरस्य निष्कृतं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्वितः ॥ ५ ॥

(१) **सुपर्णाः**=उत्तमता से अपना पालन व पूरण करनेवाले, शरीर को रोगों से बचानेवाले तथा मन की न्यूनताओं को दूर करके उसका पूरण करनेवाले, ज्ञानी पुरुष **वाचं अक्रत**=इस ज्ञान की वाणी को अपना करने का प्रयत्न करते हैं, स्वाध्याय के द्वारा इसे समझने के लिये यत्नशील होते हैं। इसी दृष्टिकोण से ये **द्यवि उप**=उस प्रकाशमय प्रभु की उपासना करते हैं। **आ-खरे**=समन्तात् आकाश की तरह व्यापक होकर गति देनेवाले (री गतौ) प्रभु में ये **कृष्णाः**=अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींच लेनेवाले, प्रत्याहृत करनेवाले **इषिराः**=गतिशील लोग **अनर्तिषुः**=इस जीवन के नृत्य को करते हैं। इनकी सब क्रियाएँ प्रभु में स्थित होकर होती हैं। इनके जीवन-नाटक का सूत्रधार प्रभु होता है। (२) **न्यङ् नियन्ति**=नीचे नम्र होकर ये निश्चय से चलते हैं। इनकी सब क्रियाएँ नम्रता के साथ होती हैं। **उपरस्य**=मेघ के **निष्कृतम्**=निश्चित कार्य को ये (नियन्ति) प्राप्त होते हैं। जैसे मेघ ऊपर जल को धारण करनेवाला होता है इसी प्रकार ये भी शक्ति का ऊपर धारण करनेवाले बनते हैं, ऊर्ध्वरेता बनते हैं। (३) इस प्रकार मेघ का अनुकरण करते हुए ये **पुरुरेतः**=पालक व पूरक शक्ति को **दधिरे**=अपने में धारण करते हैं। इस शक्ति के धारण से ये लोग **सूर्यश्वितः**=सूर्य के समान प्रकाश से श्वेत व उज्ज्वल हो उठते हैं। सुरक्षित रेत:शक्ति ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और ये लोग ज्ञान ज्योति से चमकनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक 'सुपर्ण, कृष्ण, इषिर व सूर्यश्वित्' होते हैं।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सतत-स्मरण

उ॒ग्राइ॑व प्र॒वह॑न्तः स॒माय॑मुः सा॒कं यु॒क्ता वृष॑णो॒ बिभ्र॑तो॒ धुरः॑ ।
यच्छ्व॒सन्तो॑ जग्रसा॒ना अरा॑विषुः शृ॒ण्व ए॑षां प्रो॒थथो॒ अर्व॑तामिव ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के सुपर्ण **उग्राः इव**=अत्यन्त तेजस्वियों के समान होते हैं। **प्रवहन्तः**=अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए **सं आयमुः**=सम्यक्तया अपना नियमन करते हैं। **साकं युक्ताः**=मिलकर एक लक्ष्य से कार्य में जुटे हुए ये लोग **वृषणः**=शक्तिशाली होते हैं और **धुरः बिभ्रतः**=कार्य धुराओं को धारण करनेवाले कार्य धुरन्धर बनते हैं। (२) **यत्**=क्योंकि ये **श्वसन्तः**=श्वास प्रश्वास लेते हुए तथा **जग्रसानाः**=खाते पीते हुए **अराविषुः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं सो **एषां प्रोथथः**=इनके मुखों से उसी प्रकार ये प्रभु के नाम **शृण्वे**=सुने जाते हैं **इव**=जैसे कि **अर्वताम्**=घोड़ों के मुख से हिनहिनाने का शब्द सुनाई पड़ता है। शक्तिशाली घोड़ा खूब तीव्रगति से चलता है और रुकने पर हिनहिनाता है। ये सुपर्ण भी खूब उग्र बनकर कार्य करते हैं। बीच-बीच में कार्य विश्रामों के समय प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं। खाते, पीते व श्वासप्रश्वास लेते हुए ये प्रभु का स्मरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु भक्त तेजस्वी, संयमी व मिलकर कार्य करनेवाले होते हैं। ये खाते, पीते व श्वास लेते हुए भी प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं, सदा प्रभु स्मरणवाले होते हैं।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दस

दशा॑वनिभ्यो॒ दश॑कक्ष्येभ्यो॒ दश॑योक्त्रेभ्यो॒ दश॑योजनेभ्यः ।
दशा॑भीशुभ्यो अर्चता॒जरे॑भ्यो॒ दश॒ धुरो॒ दश॑ यु॒क्ता वह॑द्भ्यः ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो सतत प्रभु स्मरण करते हैं वे अपनी दसों इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करके इन्द्रियों का रक्षण करनेवाले बनते हैं। इनके लिये हमें चाहिए कि **अर्चत**=पूजा करनेवाले बनें। इनकी अर्चना करते हुए हमें भी इन जैसा बनने की प्रेरणा प्राप्त होगी और हम भी जितेन्द्रिय बनकर प्रभु के सच्चे उपासक हो सकेंगे। (२) किनके लिये पूजा करें? **दशावनिभ्यः**=(अव रक्षणे) जो दसों इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। **दशकक्ष्येभ्यः**=(कक्ष्या= उदरबन्धनरज्जु) जो दसों इन्द्रियों रूप अश्वों को उदरबन्धनरज्जु से बाँधनेवाले हैं, अर्थात् जो सब इन्द्रियों को संयम में रखनेवाले हैं। **दशयोक्त्रेभ्यः**=दस जोतोंवाले हैं। प्रत्येक इन्द्रिय को बाँधने के लिए रस्सी से युक्त हैं। **दश योजनेभ्यः**=दस योजनोंवाले हैं, प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने उद्दिष्ट कार्य में लगानेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान प्राप्ति में लगाते हैं तो कर्मेन्द्रियों को उत्तम यज्ञादि कर्मों में व्यापृत रखते हैं। (३) इन दस इन्द्रियाश्वों को काबू रखने के लिये जो **दश अभीशुभ्यः**=दस ही लगामोंवाले हैं। यद्यपि मनरूप लगाम एक है, तथापि प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध रूप में दस लगामों की यहाँ कल्पना है। इन दस लगामोंवाले **अजरेभ्यः**=कभी जीर्ण न होनेवाले व्यक्तियों के लिये अर्चन करो। इन्द्रियों को काबू न करने पर विषयों में फँसने से ही तो जीर्णता आती है। उनके लिये तुम अर्चना करो जो **दश धुरः**=दस धुराओं को तथा **दश युक्ताः**=इन शरीर-रथ में जुते हुए दस घोड़ों को **वहद्भ्यः**=वहन कर रहे हैं। शरीर में जुते दश इन्द्रियाश्वों को ठीक प्रकार से चलाते हुए ये व्यक्ति दस कार्यभारों का वहन करते हैं। इस कार्यभारों को ठीक प्रकार

से वहन करने के द्वारा ही ये प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्जगती** ॥ **स्वरः—निषादः** ॥

पीयूष-सेवन

ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधानं पर्येति हर्यतम्।
त ऊं सुतस्य सोम्यस्यान्धसोंऽशोः पीयूषं प्रथमस्य भेजिरे॥ ८॥

(१) **ते**=गत मन्त्र के वे अर्चनीय 'दशावनि' पुरुष **अद्रयः**=आदरणीय होते हैं। **दशयन्त्रासः**=दसों इन्द्रियों का ठीक प्रकार से नियमन करते हैं। इस नियमन के कारण ही तो वे आदरणीय होते हैं और इस नियमन के लिए वे **आशवः**=शीघ्रता से कार्यों में व्यापनवाले होते हैं। सदा कार्यों में लगे रहते हैं। यह कार्यतत्परता ही उन्हें विषयों में फँसने से बचाती है। **तेषाम्**=इन पुरुषों का **हर्यतम्**=अत्यन्त कान्त, सुन्दर व चाहने योग्य **आधानम्**=आधार **पर्येति**=सब ओर गया हुआ है, अर्थात् सर्वव्यापक वह कान्त प्रभु ही इनका आधार होता है। उस प्रभु में स्थित हुए-हुए ये अपने कार्यों में लगे रहते हैं। (२) **ते**=वे नियतकर्मों में नित्यतत्पर पुरुष **उ**=निश्चय से **सुतस्य**=शरीर में रस रुधिरादि क्रम से उत्पन्न हुए-हुए **सोम्यस्य**=सोम (=वीर्य) सम्बन्धी **प्रथमस्य**=सर्वोत्कृष्ट **अंशोः**=प्रकाश की किरणभूत **अन्धसः**=भोजन के **पीयूषम्**=अमृत का **भेजिरे**=सेवन करते हैं। वीर्य का रक्षण ही इनका अमृत भोजन हो जाता है। यह इनके अन्दर ज्ञान की किरणों के प्रकाश का हेतु बनता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों का नियमन करके आदरणीय जीवनवाले बनें। प्रभु ही हमारे आधार हों। सोम को अमृत जानकर हम उसे रक्षित करनेवाले हों।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वर्धते-प्रथते-वृषायते

ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेंऽशुं दुहन्तो अध्यासते गवि।
तेभिर्दुग्धं पपिवान्त्सोम्यं मध्विन्द्रो वर्धते प्रथते वृषायते॥ ९॥

(१) **ते**=वे गत मन्त्र के अनुसार सोम को अमृत जानकर सेवित करनेवाले **सोमादः**=सदा सोम्य भोजनों को खानेवाले और अतएव इन भोजनों से उत्पन्न सोम शक्ति (=वीर्य शक्ति) को अपने अन्दर ग्रहण करनेवाले ये व्यक्ति **इन्द्रस्य हरी**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के इन्द्रियाश्वों को **निंसते**=चुम्बित करनेवाले होते हैं। अर्थात् ये इन्द्रियरूप अश्वों को अपने वश में कर पाते हैं। (२) इस जितेन्द्रियता के कारण **अंशुं दुहन्तः**=सोम का दोहन (=अपने में पूरण) करते हुए ये व्यक्ति **गवि अध्यासते**=ज्ञान की वाणी में अधिष्ठित होते हैं। सोम के रक्षण से ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं और वेद को समझनेवाले उसके अधिपति (master) बनते हैं। (३) **तेभिः**=इन जितेन्द्रिय पुरुषों से **दुग्धम्**=अपने में पूरित किये गये **सोम्यं मधु**=सोमरूप सारभूत वस्तु को **पपिवान्**=पीनेवाला, अपने अन्दर ही व्याप्त करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष, सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला पुरुष **वर्धते**=बढ़ता है, इसका ज्ञान उत्तरोत्तर विकसित होता है। **प्रथते**=यह विस्तारवाला होता है, इसका मन उदार होता है। **वृषायते**=यह शक्तिशाली की तरह आचरण करता है (वृषा इव आचरति) अथवा निर्बलता को परे फेंककर शक्ति-सम्पन्न हो जाता है (अवृषः वृषो भवति)।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। ज्ञानी बनता है, उदार मनवाला होता है और सशक्त शरीर को धारण करता है।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अहिंसित व चारु जीवन

वृषा वो अंशुर्न किला रिषाथनेळावन्तः सदमित्स्थनाशिताः ।
रैवत्येव महसा चारवः स्थन यस्य ग्रावाणो अजुषध्वमध्वरम् ॥ १० ॥

(१) **यस्य**=जिसके तुम **ग्रावाणः**=(स्तोतारः) स्तुति करनेवाले होते हो वह **अंशुः**=सोम **वः**=तुम्हारा **वृषा**=शक्ति का देनेवाला होता है। सोम के गुणों का स्मरण करनेवाले लोग सोम का धारण करते हैं। धारित हुआ-हुआ यह सोम उन्हें शक्तिशाली बनाता है। इस सोम का धारण करने से **किल**=निश्चयपूर्वक तुम **न रिषाथन**=हिंसित नहीं होते हो। तुम्हारे पर रोग आक्रमण नहीं कर पाते। (२) शरीर में स्वस्थ होते हुए तुम **इडावन्तः**=प्रशस्त वेदवाणीवाले बनकर, अर्थात् उत्तम ज्ञान को प्राप्त करके **सदं इत्**=सदा ही **आशिताः**=तृप्त **स्थन**=होते हो। ज्ञानतृप्त हुए-हुए आप लोग विषयों की आकांक्षावाले नहीं होते। (२) **रैवत्याः इव**=धन से सम्पन्न से हुए-हुए आप **महसा**=तेजस्विता से **चारवः**=सुन्दर जीवनवाले **स्थन**=हो। ये लोग धन में उलझते तो नहीं, परन्तु निर्धन भी नहीं होते। अनिर्धनता इन्हें घृतलवणतण्डुलेन्धन चिन्ता से मुक्त रखती है और धन का अतिशय इन्हें धन के रक्षणादि में ही लोग ये रखकर गुलाम नहीं बना लेता। इस धन के द्वारा तुम **अध्वरं अजुषध्वम्**=यज्ञ का सेवन करनेवाले होते हो।

भावार्थ—सोम का रक्षक शरीर में सशक्त व सदा ज्ञानतृप्त रहता है। उचित धन के साथ तेजस्वी होता हुआ यह धन के द्वारा यज्ञों का सेवन करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कुचलनेवाला-न कुचला जाता हुआ 'चारवः' की व्याख्या

तृदिला अतृदिलासो अद्रयोऽश्रमणा अशृथिता अमृत्यवः ।
अनातुरा अजराः स्थामविष्णवः सुपीवसो अतृषिता अतृष्णजः ॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के सोमरक्षक पुरुष **चारवः**=सुन्दर जीवनवाले होते हैं। उस सुन्दर जीवन ही की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि ये **तृदिला**=(tread upon, trample upon) कामादि शत्रुओं को कुचलनेवाले होते हैं, **अतृदिलासः**=उन शत्रुओं से ये कुचले नहीं जाते। इसी कारण **अद्रयः**=आदरणीय जीवनवाले होते हैं **अश्रमणाः**=ये कार्य करते हुए थक नहीं जाते, कार्यों में ये आनन्द का अनुभव करते हैं। **अशृथिताः**=कभी शिथिल नहीं होते, शतशः विघ्न भी इन्हें ढीला नहीं कर पाते। **अमृत्यवः**=ये रोगादि के कारण असमय में मृत्यु का शिकार नहीं होते। **अनातुराः**=मन में किसी प्रकार की आतुरता-व्याकुलता से रहित होते हैं, **अजराः स्थ**=सदा अजीर्ण शक्ति होते हैं। (२) अजीर्ण शक्ति होते हुए ये **अमविष्णवः**=(अमगतौ, विष्=व्याप्तौ) व्यापक कर्मोंवाले होते हैं, सदा कर्मों में व्याप्त रहते हैं। कर्मों में व्याप्त रहने के कारण **सुपीवसः**=खूब हृष्ट-पुष्ट होते हैं। (३) **अतृषिताः**=सांसारिक विषयों की तृषा से ये ऊपर उठ जाते हैं, इन विषयों की इन्हें प्यास नहीं रहती। **अतृष्णजः**=सब सांसारिक ऐश्वर्यों की स्पृहा से भी ये दूर होते हैं। धनवाले होते हुए भी ये धन के भाँति लालचवाले नहीं होते।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुषों का जीवन मन्त्र वर्णित प्रकार से अत्यन्त सुन्दर बनता है।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पितरः

ध्रुवा एव वः पितरो युगेयुगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते।
अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः ॥ १२ ॥

(१) **वः**=तुम्हारे में **पितरः**=सोमरक्षण के द्वारा पितृपद को प्राप्त हुए-हुए लोग **ध्रुवाः एव**=ध्रुव वृत्ति के ही होते हैं। ये अपनी मर्यादाओं व व्रतों को कभी नहीं तोड़ते। **क्षेमकामासः**=सब प्रजाओं के क्षेम की कामनावाले होते हुए ये लोग **युगे युगे**=समय-समय पर **सदसः न**=सभाओं की तरह **युञ्जते**=इकट्ठे होते हैं। जैसे सभाओं में लोग एकत्रित होते हैं, इसी प्रकार ये प्रजाहित की बातों को सोचने के लिए परस्पर मिलकर बैठते हैं। (२) इस प्रकार उत्तम कार्यों में लगे हुए ये लोग **अजुर्यासः**=कभी जीर्ण नहीं होते। कर्म से इनकी शक्ति बनी रहती है। इन कर्मों को करते हुए ये **हरिषाचः**=प्रभु से मेलवाले होते हैं। मेलवाले ही क्या? **हरिद्रवः**=निरन्तर उस प्रभु की ओर चलनेवाले होते हैं। वस्तुतः इन लोकहित के कर्मों को करते हुए ये व्यक्ति प्रभु की सच्ची उपासना को करते हैं। (३) इन कर्मों के साथ ये प्रभु के नामों के उच्चारण से **द्यां पृथिवीम्**=द्युलोक व पृथ्वीलोक **आशुश्रवुः**=शब्दायमान कर देते हैं। ये पितर सदा प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं। यह प्रभु नामोच्चारण उनके सामने लक्ष्य दृष्टि को उपस्थित करता है और उन्हें अशुभ वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाली ढाल बन जाता है।

भावार्थ—पितर वे हैं जो धर्ममार्ग पर स्थित हुए-हुए लोकहित की कामना से परस्पर मिलकर विचार करते हैं और प्रभु नाम स्मरण करते हुए निरन्तर प्रभु की ओर बहते हैं।

ऋषिः—**अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'न मिनन्ति बप्सतः'

तदिद्वदन्त्यद्रयो विमोचने यामन्नञ्जस्पाइव घेदुपब्दिभिः।
वपन्तो बीजमिव धान्याकृतः पृञ्चन्ति सोमं न मिनन्ति बप्सतः ॥ १३ ॥

(१) **अद्रयः**=(these who adore) उपासक लोग **इत्**=निश्चय से **तद् वदन्ति**=उस प्रभु के नामों का ही उच्चारण करते हैं। यह नामोच्चारण ही उनके **विमोचने**=विषयों से विमोचन में निमित्त बनता है। इस नामोच्चारण के कारण ही वे विषयों में फँसने से बचे रहते हैं। **उपब्दिभिः**=इन प्रभु के नामोंच्चारणों से **इत् घा**=ही निश्चय से ये व्यक्ति **यामन्**=इस जीवन मार्ग में **अञ्जस्पा इव**=अपने को ठीक-ठीक रक्षित करनेवाले होते हैं। (अञ्जसापान्ति) (२) **इव**=जैसे **धान्याकृतः**=धान्य आदि को उत्पन्न करनेवाले **बीज वपन्तः**=बीज का वपन (=बोना) करते हैं, इसी प्रकार ये प्रभु नाम-स्मरण करनेवाले लोग गुणों के बीजों को अपने हृदयक्षेत्र में बोते हैं और इस गुणवर्धन के द्वारा हृदयक्षेत्र को सुन्दर बनाते हुए ये लोग **सोमं पृञ्चन्ति**=उस सोम का, शान्त प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हैं। (३) ये **बप्सतः**=भोजनों को करते हुए **न मिनन्ति**=कभी हिंसा नहीं करते। हिंसालभ्य, मांसादि भोजनों से ये दूर रहते हैं। ये अपने दाँतों को अथर्व के शब्दों में यही प्रेरणा देते हैं कि चावल, जौ, उड़द व तिल का सेवन करो, यही तुम्हारा रमणीयता के लिए भाग नियत है। तुमने हिंसा नहीं करनी, हिंसालभ्य भोजन से दूर ही रहना है।

भावार्थ—उपासक प्रभु का स्मरण करते हैं, यह स्मरण उन्हें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है। अपने में गुणों के बीजों को बोते हुए प्रभु से सम्पर्कवाले होते हैं।

ऋषि:—अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ॥ देवता—ग्रावाणः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अद्रयः चायमानाः'

सुते अध्वरे अधि वाचमक्रता क्रीळयो न मातरं तुदन्तः ।
वि षू मुञ्चा सुषुवुषो मनीषां वि वर्तन्तामद्रयश्चायमानाः ॥ १४ ॥

(१) **सुते**=(सुतं=सवः-यागः) यज्ञों में तथा **अध्वरे**=हिंसारहित निर्माण के कार्यों में **वाचम्**=प्रभु की स्तुति वाणी को **अधि अक्रता**=आधिक्येन करनेवाले होते हैं। प्रभु का खूब ही स्मरण करते हैं, यह प्रभुस्मरण ही इन्हें इन यज्ञों व हिंसारहित कर्मों में सफलता के लिए शक्ति प्राप्त कराता है। (२) ये इन कार्यों को करते हुए **क्रीडयः**=क्रीड़ा करनेवाले होते हैं। सब कार्यों को क्रीड़क की मनोवृत्ति से करते हैं (sportsman like spisit)। यही तो दैवत्य है ('दिव् क्रीडायाम्')। ये अपने व्यवहारों से **मातरम्**=वेदमाता को **न तुदन्तः**=पीड़ित नहीं करते। वेद के निर्देशों के अनुसार ही सब कार्यों को करनेवाले होते हैं। (३) इनकी आत्मप्रेरणा यही होती है कि **सुषुवुषः**=उस संसार को जन्म देनेवाले प्रभु की **मनीषाम्**=बुद्धि को **वि**=विशेषरूप से **सुमुञ्च**=(मुंच् put on) अच्छी प्रकार धारण कर। प्रभु की दी हुई इस वेदवाणी के द्वारा ये अपनी बुद्धि का परिष्कार करते हैं। ऐसे ये **अद्रयः**=उपासक **चायमानाः**=(observe, see, discesn) संसार को तात्विक दृष्टि से देखते हुए, इसकी आपातरम्यता में न उलझकर इसकी असलीयत को देखते हुए **वि वर्तन्ताम्**=विविध व्यवहारों में प्रवृत्त होते हैं। इनके सब व्यवहार आसक्ति से ऊपर उठकर होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण करें, क्रीड़क की मनोवृत्ति को अपनाकर वेदानुसार क्रियाओं में प्रवृत्त हों। प्रभु की बुद्धि को धारण करें। संसार को तात्विक दृष्टि से देखते हुए कार्यों को करें।

सम्पूर्ण सूक्त 'प्रभु-स्मरण के साथ क्रियाओं को करने' की भावना से ओतप्रोत है। इसी प्रकार हम वासनाओं का संहार करनेवाले 'अर्बुद' बनते हैं, प्रभु को पुकारनेवाले 'काद्रवेय' होते हुए, निरन्तर क्रियाशील 'सर्प' होते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति ही गृहस्थ होने पर 'पुरुरवा ऐड' व 'उर्वशी' होते हैं। **पुरुरवाः**=खूब ही प्रभु के स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवाला, **ऐड**=(इडायाः अयम्)=वेदवाणी को अपनानेवाला अथवा (इडा=अन्न) अन्न को जुटानेवाला। पति को अन्न जुटानेवाला होना ही चाहिए। पत्नी 'उर्वशी' है 'उरु वशोयस्याः'=अपने पर खूब काबू पानेवाली और अतएव घर पर पूर्ण नियन्त्रण रखनेवाली। इसीलिए तो पत्नी 'साम्राज्ञी' है। अगला सूक्त इन्हीं का है। पहले 'पुरुरवा' कहते हैं—

अथाष्टमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः

[९५] पञ्चनवतितमं सूक्तम्

ऋषि:—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पति की कामना

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन् ॥ १ ॥

(१) **हये**=(हयति to worship) हे उपासना की वृत्तिवाली, **जाये**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली, **घोरे**=उदात्त चरित्रवाली तू **मनसा तिष्ठ**=पूरे दिल से इस घर में रहनेवाली हो। पत्नी की तीन विशेषताएँ 'हये-जाये-घोरे' इन सम्बोधनों से सुव्यक्त हो रही हैं। इसने अब माता-पिता

का स्मरण न करते हुए इस पतिगृह में पूरे दिल से स्थित होना है। यही तो इसका वास्तविक घर है, पहला घर तो इसकी माता का घर था। उस घर को माताजी ने बनाया था, इसे अब यह स्वयं बनाएगी। (२) **नु**=अब हम **वचांसि**=परस्पर की बातों को **मिश्रा कृणवावहै**=एक दूसरे से मिश्रित करनेवाले हों। घर के विषय में सब बातें सोच लें। भोजनादि की व्यवस्था को सलाह करके ठीक-ठाक कर लें, यह बातचीत थोड़े बहुत विनोद (relaxation) का भी साधन बनती ही है। (३) **नौ**=हमारे **एते मंत्राः**=ये प्रभु की स्तुति के साधनभूत मन्त्र **अनुदितासः न**=अनुच्चरित न हों। हम मिलकर प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करें। ये मन्त्र **परतरे चन अहन्**=जीवन के पिछले दिनों में भी, वृद्धावस्था में भी, प्रारम्भ के रोमान्स के वर्षों के बीत जाने पर भी **मयः करन्**=हमारा कल्याण करनेवाले हों। ये मन्त्र हमारे लिये मार्गदर्शक हों, यह स्तवन हमारे में शक्ति व उत्साह का संचार करनेवाला हो।

भावार्थ—पति चाहता है कि पत्नी (क) उपासना की वृत्तिवाली, (ख) उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली तथा (ग) उदात्त स्वभाववाली हो। पति-पत्नी घर के विषय में सलाह करके चलें। प्रातः-सायं प्रभु-स्मरण अवश्य करें।

ऋषिः—उर्वशी॥ देवता—पुरूरवा एळ ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥**

पत्नी की कामना

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वातइवाहमस्मि॥ २॥

(१) पत्नी उत्तर देती हुई कहती है कि **तव एता वाचा**=आपकी इस घर के प्रबन्ध के विषय की बातों से **अहं किं कृणवा**=मैं क्या करूँगी? मैं अनपढ़ थोड़े ही हूँ? ऋतु के अनुसार भोजनादि की व्यवस्था को मैं स्वयं समझती हूँ। **उषसाम्**=उषाकालों के भी **अग्रिया इव**=आगे चलनेवाली-सी मैं **प्राक्रमिषम्**=प्रकृष्ट पुरुषार्थ में लग जाती हूँ। बातों का मुझे अवकाश भी कहाँ है? (२) **पुरुरवः**=खूब ही प्रभु का स्मरण करनेवाले आप घर के बाहर की व्यवस्था को सम्भालनेवाले होइये। घर के संचालन के लिए धनार्जन आपने करना है, सो घर पर बैठकर क्या भोजन बनाना है और क्या नहीं ऐसी बातें आपको शोभा भी तो नहीं देती। हाँ, अपना कार्य करने के बाद **पुनः**=फिर **अस्तं परेहि**=घर में आप वापिस आनेवाले होइये। वहाँ से इधर-उधर क्लब आदि में जाने का कार्यक्रम न रखिये। (३) अपनी अनुपस्थिति में मेरी रक्षा की भी आपने चिन्ता नहीं करनी। **अहम्**=मैं तो **वात इव**=वायु की तरह **दुरापना अस्मि**=किसी भी अशुभाचरण पुरुष से कठिनता से प्राप्त करने योग्य हूँ। कोई भी मेरा धर्षण नहीं कर सकता। मैं नाजुक न होकर 'उताहमस्मि संजया'=वीर हूँ, सदा जीतनेवाली हूँ। मैं अपनी रक्षा ठीक से कर सकूँगी। इधर से निश्चिन्त होकर आपने अपना कार्य ठीक से करनेवाला बनना।

भावार्थ—पत्नी प्रातः से ही घर के कार्यों में व्यस्त हो जाए। वह गृहकार्यों के लिए इतनी समझ रखती हो कि पति को कुछ कहने की आवश्यकता न हो। वह वीर हो स्वयं अपनी रक्षा कर सके। पति अवकाश मिलते ही घर पर आएँ, क्लब आदि में मनोरञ्जन को न ढूँढें।

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः॥ देवता—उर्वशी॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पत्नी के द्वारा प्रेम पूर्ण स्वागत का महत्त्व

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः॥ ३॥

(१) उर्वशी ने यह तो कह दिया कि 'कार्य समाप्ति पर एकदम घर ही आना'। पर साथ ही यह जो संकेत किया कि कार्य संलग्न होने से बातचीत की उसे फुर्सत नहीं। सो पति घर पर आकर करे भी क्या? दिनभर के कार्यभार से थका-मादा वह घर पर पहुँचे, वहाँ उसके साथ मधुर शब्दों में कोई बात भी न करे तो उसका जीवन स्वभावतः नीरस (dull and dreary) हो जाता है। वह कहता है कि इस स्थिति को प्राप्त एक क्षत्रिय नवयुवक के **इषुधेः**=तर्कस से **इषुः**=बाण **श्रिये**=शत्रुविजय रूप श्री की प्राप्ति के लिए **असना न**=(असु क्षेपणे) फेंकने के लिए नहीं होता। अर्थात् वह पत्नी के शीत स्वागत (cold reception) से उत्पन्न उस मानस विक्षोभ के कारण शत्रुओं पर बाणवर्षा नहीं कर पाता। (२) इसी प्रकार यदि वह वैश्य युवा होता है तो **रंहिः**=पहले अत्यन्त वेगवान् होता हुआ भी अब शैथिल्य के कारण **गोषाः**=गवादि धनों को प्राप्त करनेवाला अथवा **शतसाः**=सैकड़ों धनों को प्राप्त करनेवाला **न**=नहीं होता। उसे धन कमाने में उत्साह नहीं रहता। पत्नी का प्रेमपूर्ण व्यवहार ही उसके उत्साह को कायम रख सकता है। (३) यदि ऐसा युवक ब्राह्मण होता है तो कहता है कि **अ-वीरे**=(यज्ञाग्नि=वीर) यज्ञाग्नि से रहित **क्रतौ**=यज्ञों में **न विदविद्युतन्**=यज्ञाग्नियाँ दीप्त नहीं होती। अर्थात् उसका 'यजन-याजन' का उत्साह मन्द पड़ जाता है। (४) इस प्रकार के शूद्र युवक भी **धुनयः**=आलस्य को कम्पित करके अपने से दूर करनेवाले होते हुए भी **उरा**=इस विस्तृत कार्यक्षेत्र में **मायुम्**=स्वामी से दी जाती हुई आज्ञा के शब्द को **न चितयन्त**=नहीं जान पाते। विक्षिप्त मनवाला होने के कारण उन्हें आवाज ही नहीं सुनाई पड़ती। सारे कार्य को वे अनमनेपन से ही करते हैं। (५) इस सबका भाव स्पष्ट है कि पत्नी को घर पर वापिस आये पति का पूर्ण प्रेम से स्वागत करना चाहिए। उनके कार्यों के विषय में बातचीत के द्वारा पूरी रुचि दिखानी चाहिए। कठिनताओं का हल सुझाते हुए उन्हें उत्साहित करना चाहिए। पति को यह अनुभव हो कि वह संसार में अकेला नहीं, कोई उसका साथी है। उसके सुख-दुःख में हिस्सा बटानेवाला उसका कोई अभिन्न मित्र भी है।

भावार्थ—घर पर पत्नी से प्राप्त कराया गया प्रेमपूर्ण स्वागत पति के जीवन में उत्साह का संचार करता है। पति को इस स्वागत से अपना अकेलापन नहीं खलता।

ऋषिः—**उर्वशी**॥ देवता—**पुरूरवा ऐळः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उर्वशी का 'स्वागतम्' विचार

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो यदि वष्ट्यन्तिगृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन॥ ४॥

(१) 'पुरुरवा' की गत मन्त्र की बात को सुनकर उर्वशी अपने मन में उषा को सम्बोधन करती हुई इस प्रकार से कहती है कि मुझे केवल पति का ही तो ध्यान नहीं करना, सास-ससुर के सुख को भी तो देखना है। वस्तुतः इन सास-ससुर के तो खान-पान का भी तो बहुत ध्यान करना पड़ता है। वे एक बार तो रजकर खा ही नहीं पाते, उन्हें तो थोड़ा-थोड़ा भोजन कई बार देना होता है और वह भी गरम। ठण्डे का तो उनके लिए चबाना व पचाना ही कठिन हो जाए। उर्वशी कहती है कि हे **उषः**=उषे! तेरे आते ही **सा**=वह मैं **श्वशुराय**=सास व ससुर के लिए (श्वश्रूश्व श्वशुरश्व=श्वशुरौ) **वसुवयः**=निवास के लिए जीवन धारण के लिए उत्तम अन्न को **दधती**=धारण करती हुई होती हूँ। उनके लिए मुझे भोजनादि की व्यवस्था करनी होती है। सो उनके कमरे में ही मेरा बहुत-सा समय बीत जाता है। (२) ऐसा होते हुए भी **यदि**=अगर ये पतिदेव **वष्टि**=चाहते हैं तो मैं **अन्तिगृहात्**=उस समीप के कमरे से (antiehambes) **अस्तम्**=उनकी

गृह कक्षा को **ननक्षे**=जाती हूँ, **यस्मिन् चाकन्**=जिसमें कि वे मुझे चाहते हैं। परन्तु होता तो यही है कि मैं **दिवानक्तम्**=दिन-रात **वैतसेन**=(cane, stiek) दण्ड से **श्नथिता**=ताड़ित होती रहती हूँ। कभी ये किसी बात से झाड़ देते हैं, कभी किसी बात से। संसार संघर्षजनित क्रोध को भी ये मेरे पर ही निकालने की करते हैं। इन्हें यह अच्छी तरह पता तो है कि मैं हर समय इनके पास नहीं बैठ सकती, इन वृद्धों की भी तो सेवा करनी ही है।

भावार्थ—उर्वशी अपने मन में सोचती है कि मुझे पति के पास बैठकर बात करने का अवकाश ही कहाँ है। मुझे अन्तिगृह में स्थित सास-ससुर का भी तो ध्यान करना है। ये तो व्यर्थ में ही दिन-रात खीझकर मेरे पीछे डण्डा लेकर पड़े रहते हैं।

ऋषिः—**उर्वशी** ॥ देवता—**पुरूरवा एळ** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उर्वशी का (प्रकाशम्) प्रकट उत्तर

त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।
पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्व१स्तदासीः॥ ५॥

(१) हे **पुरुरवः**=खूब प्रभु का स्तवन करनेवाले पतिदेव! क्या आप ही **अह्नः त्रिः**=दिन में कम से कम तीन बार **मा**=मुझे **वैतसेन**=वेत्रदण्ड से **श्नथयः स्म**=ताड़ित ही करते हो, **उत स्म**=या निश्चय से **अव्यत्यै मे**=(अवि अती, अत सातत्यगमने) कभी भी इधर-उधर न जानेवाली मेरे लिए घर पर रहकर ठीक से कार्यों में लगी रहनेवाली के लिए **पृणासि**=कुछ मधुर शब्दों से सुख को देनेवाले भी होते हो। (२) उठते ही 'यह करो, यह लाओ' इन शब्दों से आफत-सी कर देना, ऑफिस आदि जाते समय भी 'ये चीज यहाँ क्यों पड़ी है? क्या मुफ्त में आयी है?' आदि शब्दों से झाड़ना, फिर वापिस आने पर 'झटपट करो न' आदि शब्दों से मुझे भी उतावली-सा कर देना, यही यहाँ 'तीन बार ताड़ना' शब्द से संकेतित हुआ है। पति को पत्नी के बोझ का ध्यान करते हुए उसके कार्यों की आलोचना न करना ही ठीक है। (३) उर्वशी कहती है कि हे पुरुरवः! मैं तो **ते केतं अनु**=आपके ज्ञान की बात को सुनने के बाद **आयम्**=आपकी संगिनी बनकर इस घर में आयी। **वीर**=हे वीर पुरुषोचित कर्मों के करनेवाले पुरुरवः! **तदा**=तब, जब कि मैंने आपके ज्ञान की चर्चा सुनी, तो **मे तन्वः**=मेरे शरीर के **राजा आसीः**=आप राजा हो गये थे। मैंने मन से अपने को आपके प्रति सौंप दिया था। मुझे आपके इस प्रकार क्रुद्ध हो जाने का ज्ञान न था। प्रभु स्तवन करनेवाला वीर पुरुष क्रोध कर भी कैसे सकता है? (४) उर्वशी के इस प्रकार कहने का पुरुरवा पर सुन्दर प्रभाव पड़ता है और पुरुरवा कहते हैं—

भावार्थ—उर्वशी पति से कहती है कि आप तो यूँही क्रोध करने लगते हो। मैं क्या इधर-उधर कभी व्यर्थ में जाती हूँ? काम में ही तो लगी रहती हूँ। मैंने जरा बात नहीं की तो क्या प्रलय आ गयी? आप 'पुरुरवः' हैं, 'वीर' हैं, सो क्यों क्रोध करना?

ऋषिः—**पुरूरवा ऐळः** ॥ देवता—**उर्वशी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पत्नी की विशेषताएँ

या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिर्ह्रदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः।
ता अञ्जयोऽरुणयो न सस्रुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्त॥ ६॥

(१) उर्वशी के क्रोध को शान्त करते हुए पुरूरवा कहते हैं कि हे उर्वशि! तुम तो मेरे लिये वह हो **या**=जो (क) **सुजूर्णिः**=(सुजवा सा०) उत्तम वेगवाली, अर्थात् शीघ्रता से कार्यों को

कर देनीवाली है अथवा पूर्ण जरावस्था तक साथ देनेवाली है। (ख) **श्रेणिः**=(श्रि-सेवायाम्) सदा मेरी सेवा में तत्पर है, मेरे वृद्ध माता-पिता की सेवा भी तो मेरी ही सेवा है। (ग) **सुम्ने आपिः**=मेरे स्तोत्रों में तुम मेरा साथ देनेवाली मित्र हो। तुम भी तो मेरे साथ मिलकर प्रभु-स्तवन करती हो, सो तुम्हें भी अपना मानस स्वास्थ्य ठीक रखना है, क्रोध नहीं करना। (घ) **ह्रदे चक्षुः न**=(deep watess) अचानक मेरे गहरे पानी में पड़ जाने पर, मुसीबत आ जाने पर तुम आँख के समान हो। उस कष्ट से निकलने के लिए मार्ग को सुझानेवाली हो। और ऐसी होवो भी क्यों ना? तुम तो **ग्रन्थिनी चरण्युः**=मेरे साथ ग्रन्थि-बन्धनवाली होकर निरन्तर चलनेवाली हो। और इस प्रकार मेरे सुख को अपना सुख व मेरे दुःख को अपना दुःख समझनेवाली हो। (२) **ताः**=उल्लिखित प्रकार से वर्णित गुणोंवाली गृहिणियाँ ही **अञ्जयः**=गृह की भूषण होती हैं **अरुणयः**=ये तेजस्विनी होती है और **न स्तुतः**=मार्ग से कभी विचलित नहीं होतीं। मार्ग से विचलित न होने के कारण ही, **धेनवः गावः न**=दुधार गौवों के समान **श्रिये**=घर की भी वृद्धि के लिए होती है। जैसे दुधार गौवों से घर की शोभा बढ़ती है, इसी प्रकार इन गृहिणियों से भी शोभा की वृद्धि होती है। ऐसा बने रहने के लिए ये **अनवन्त**=सदा प्रभु का स्तवन करनेवाली होती हैं (नु स्तुतौ) और गतिशील होती हैं (नव गतौ)।

भावार्थ—पुरुरवा आदर्श पत्नी के गुणों का चित्रण करते हुए उर्वशी के क्रोध को शान्त करते हैं।

ऋषिः—**उर्वशी** ॥ देवता—**पुरूरवा एळ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ग्नाः-नद्यः-स्वगूर्ताः

सम॑स्मि॒ञ्जाय॑मान आसत॒ ग्ना उ॒तेम॑वर्धन्न॒द्य१॒ः स्वगू॑र्ताः।
म॒हे यत्त्वा॑ पुरूरवो॒ रणा॒याव॑र्धयन्दस्यु॒हत्या॑य दे॒वाः ॥ ७ ॥

(१) उर्वशी कहती हैं कि हे **पुरूरवः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले पतिदेव! **यत्**=जब **त्वा**=आपको **देवाः**=सब देव **महे रणाय**=महत्त्वपूर्ण इस अध्यात्म संग्राम के लिए, काम-क्रोधादि से चलनेवाले संग्राम के लिए **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं और **दस्युहत्याय**=दास्यव वृत्तियों के नाश के लिए समर्थ करते हैं तो उस समय इस प्रकार **अस्मिन्**=इस पति के **संजायमाने**=सम्यक् विकास-वाला होने पर **आसत**=पत्नियाँ भी ठीक से घर में बैठती हैं, अर्थात् घर में स्थिर होकर रहती हैं। पति के क्रोधादि के वशीभूत होने पर पत्नी का घर पर रहना कुछ कठिन-सा हो जाता है। (२) इस प्रकार शान्त वातावरण में रहती हुई ये पत्नियाँ **ग्नाः**=देवपत्नियाँ होती हैं, इनका ज्ञान प्राप्ति की ओर झुकाव होता है व्यर्थ की गपशप में न पड़कर ये खाली समय को स्वाध्याय में बिताती हैं। यह स्वाध्याय उनमें दिव्यता की वृद्धि का कारण बनता है। पति देव बनेगा, तो पत्नी देवपत्नी होगी ही। **उत**=और इस प्रकार की पत्नियाँ **ईम्**=निश्चय से **अवर्धन्**=पति की भी वृद्धि का कारण बनती हैं। **नद्यः**=(नदिः=स्तोता) ये प्रभु स्तवन की वृत्तिवाली होती हैं और **स्वगूर्ताः**=अपने कार्यों में उद्यमनवाली बनती हैं, अपने सब कार्यों को श्रम से करती हुई उन कार्यों में ही आनन्द का अनुभव लेती हैं।

भावार्थ—पति क्रोधी न हों तो पत्नी 'स्वाध्यायशील-स्तवन की वृत्तिवाली व स्वकर्मनिपुण' बनती है। इससे घर सुन्दर बनता है, यह बढ़ता चलता है।

ऋषिः—**पुरूरवा ऐळः** ॥ देवता—**उर्वशी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रियाशीलता को न छोड़ना

सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे।
अप स्म मत्तरसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन्रथस्पृशो नाश्वाः ॥ ८ ॥

(१) पुरुरवा कहते हैं कि स्त्री को भी अपना सौम्य मानुषरूप छोड़ना नहीं चाहिए। इसके छोड़ने पर पुरुष उसको कितनी भी अनुकूलता का सम्पादन करने का प्रयत्न करे, वो पुरुष से दूर ही हटती जाती हैं (उससे बिदक-सी जाती हैं। **यदा**=जब **आसु**=इन स्त्रियों के **आकम्**=(आ सातत्पगमने) निरन्तर क्रियाशीलता के स्वभाव को **जहतीषु**=छोड़ते हुए होने पर और इस प्रकार आराम व विषयों में फँस जाने पर **अमानुषीषु**=अमानुष व क्रूर स्वभाववाला हो जाने पर **मानुषः**=एक मनुष्य **सचा**=इनके साथ रहनेवाला होकर, इनका जीवन सखा बनकर **सिषेवे**=सब प्रकार से इनकी सेवा करता है, तो भी यह स्त्री **भुज्युः**=तृण चरती हुई **तरसन्ती न**=मृगी के समान **मत्**=मेरे से **अप स्म**=डरकर दूर भागती है। **ताः**=वे तो इस प्रकार **अत्रसन्**=उद्विग्न होकर दूर हटने की करती हैं **न**=जैसे कि **रथस्पृशः अश्वाः**=रथ का स्पर्श करनेवाले **अश्वाः**=घोड़े। रथ में जोते जाते हुए घोड़े बिदक उठते हैं। इसी प्रकार ये स्त्रियाँ कार्य के उपस्थित होने पर उद्विग्न हो उठती हैं। वे कार्य न करके आराम में रहती हैं, क्रोध के स्वभाववाली होकर पुरुष के लिए परेशानी का कारण बनती हैं।

भावार्थ—स्त्री क्रियाशील बनी रहकर क्रोध आदि से ऊपर उठी रहे। तभी वह पति के साथ अनुकूलता से चल पाती है।

ऋषिः—**पुरूरवा ऐळः** ॥ देवता—**उर्वशी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पति का प्रेम' व 'पत्नी का उत्साह'

यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक्सं क्षोणीभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते।
ता आतयो न तन्वः शुम्भत स्वा अश्वासो न क्रीळयो दन्दशानाः ॥ ९ ॥

(१) उर्वशी कहती है कि **यदा**=जब **मर्तः**=मनुष्य **अमृतासु**=वैषयिक वस्तुओं के पीछे न मरकर केवल पति के प्रेम को चाहनेवाली **आसु**=इन पत्नियों में **निस्पृक्**=निःशेषेण (adhese) सम्पर्कवाला होता है, जब वह **क्षोणीभिः**=(क्षु शके)=(वाग्भिः सा०) वाणियों से, **न**=इसी प्रकार **क्रतुभिः**=कर्मों से या संकल्पों से **संपृक्ते**=पत्नी के साथ ही सम्पर्कवाला होता है, अर्थात् 'मनसा वाचा कर्मणा' वह पत्नी का ही हो जाता है, और जब उसका प्रेम किसी अन्य स्त्री के लिए नहीं होता, तब **ताः**=वे पत्नियाँ **आतयः न**=आति नामक सुन्दर पंखोंवाले पक्षी के समान **स्वाः तन्वः शुम्भत**=अपने शरीरों को शोभित करती हैं। वे प्रसन्न मनोवृत्तिवाली होती हैं और वह प्रसन्नता उनकी वेशभूषा में प्रकट होती है। 'आतयः' शब्द में क्रियाशीलता की भी भावना है। उनका जीवन खूब उत्साहपूर्वक कर्मों में लगा हुआ होता है। पति का प्रेम उनके जीवन में स्फूर्ति का संचार करता है। (२) ये **दन्दशानाः**=जिह्वा से ओष्ठप्रान्तों को काटते से हुए **अश्वासः न**=शक्तिशाली घोड़ों के समान **क्रीडयः**=सारे कार्यों को क्रीड़क की मनोवृत्ति से करनेवाली होती हैं। शक्तिशाली घोड़ा आलस्यमय स्थिति में खड़ा नहीं रह सकता। ये गृहिणियाँ भी उस प्रेम के वातावरण में शक्ति व स्फूर्ति का अनुभव करती हैं और पूर्ण उत्साह से गृहकार्यों में व्यापृत रहती हैं।

भावार्थ—पति का पूर्ण प्रेम प्राप्त करने पर पत्नी का हृदय उत्साह से पूर्ण होता है और स्फूर्ति-

सम्पन्न होकर ये गृह कार्यों में व्याप्त होती हैं।

ऋषिः—**पुरूरवा ऐळः** ॥ देवता—**उर्वशी** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम पुत्र व माता का दीर्घ-जीवन

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥ १० ॥

(१) पुरुरवा कहते हैं पति का प्रेम पूर्णतया पत्नी के लिए होना चाहिए। पत्नी को भी चाहिए कि वह पति के लिए काम्य (=इष्ट) कर्मों को करती हुई पति के लिए प्रिय बने। दोनों के पारस्परिक प्रेम के होने पर ही इष्ट सन्तान की उत्पत्ति होगी, यही पत्नी के दीर्घजीवन का भी मार्ग है। प्रेम के अभाव में प्रसूति कष्ट से माता के जीवन का भी खतरा उत्पन्न हो सकता है। **या**=जो उर्वशी **विद्युत् न**=बिजली की तरह **पतन्ती**=शीघ्रता से गति करती हुई **मे**=मेरे लिए **काम्यानि अप्या**=वाञ्छनीय कर्मसाध्य पदार्थों को **भरन्ती**=प्राप्त कराती हुई है, वह **उ**=निश्चय से उस सन्तान को **जनिष्ट**=जन्म देती है जो **अपः**=कर्मशील है, **नर्यः**=लोकहितकारी होता है अथवा नरों में उत्तम बनता है और **सुजातः**=उत्तम विकासवाला होता है। (२) ऐसे उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली **उर्वशी**=अपने पर पूर्ण संयमवाली (उरु वशो यस्याः) बालक की माता भी **दीर्घ आयुः**=दीर्घ जीवन को **प्रतिरत**=विस्तृत करनेवाली होती है।

भावार्थ—पति पत्नी के लिए पूर्ण प्रेम के होने पर सन्तान उत्तम होती है, माता को भी दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—**उर्वशी** ॥ देवता—**पुरूरवा एळः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पत्नी की बातों को उपेक्षित न करना

जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत्पुरूरवो म ओजः।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभुग्वदासि ॥ ११ ॥

(१) उर्वशी अपने दोहद काल के समय (pregnancy) अपने मातृकुल में चली जाती है। स्पष्ट है कि पुरुरवा से वह प्रसन्न नहीं। पुरुरवा उसे लिवा लाने के लिए आते हैं। तो उर्वशी उपालम्भ देती हुई कहती है कि मैं **विदुषी**=गर्भिणी अवस्था की सब बातों को खूब समझती हुई **समस्मिन् अहन्**=सब दिनों **त्वा**=आपको **अशासम्**=आवश्यक बातें कहती रही, आवश्यक चीजों को जुटाने का संकेत करती रही। (२) मैं यह समय-समय पर कहती ही रही कि आप **इत्था**=इस प्रकार वर्तने से **हि**=निश्चयपूर्वक **गोपीथ्याय**=(गो=भूमि) भूमिरूप स्त्री की रक्षा के लिए (पीथं=रक्षणम्), जिस भूमि में मनुष्य बीज का वपन करते हैं, उसकी रक्षा के लिए, **जज्ञिषे**=होते हैं। हे पुरुरवः! यह भी मैंने आपको कहा कि इस प्रकार आप **तत् मे ओजः**=मेरे उस ओज को, शक्ति को **दधाथ**=स्थिरता से धारण करनेवाले होते हैं। (३) मैंने यह सब कुछ कहा, परन्तु आपने **मे न अशृणोः**=मेरी बात को नहीं सुना। आपने मेरी बातों को मूर्खतापूर्ण समझा और ध्यान नहीं दिया। सो अब **अभुक्**=न पालन करनेवाले **किं वदासि**=क्या व्यर्थ में कहते हैं! ये सब बातें व्यर्थ हैं, अब मेरा विचार यहीं रहने का है।

भावार्थ—दोहदकाल में पत्नी की इच्छाओं का विशेषरूप से पूरण आवश्यक है। सामान्यतः 'पत्नी को गृह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कभी परेशानी न उठानी पड़े' यह पति का आवश्यक कर्त्तव्य है।

ऋषिः—पुरूरवा ऐळः ॥ देवता—उर्वशी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सन्तानों का पितृगृह में ही जन्म लेना

कदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रु वर्तयद्विजानन्।
को दम्पती समनसा वि यूयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत्॥ १२॥

(१) पुरुरवा कहते हैं कि **कदा**=कब **सूनुः**=पुत्र **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **पितरं इच्छात्**=पिता को चाहता है? वस्तुतः यह बात स्वाभाविक है कि वह पितृकुल में उत्पन्न होगा तो पिता के प्रति स्नेहवाला होगा। पर मातृकुल में उत्पन्न होने पर उसका स्नेह कुछ 'नाना नानी' से अधिक हो जाएगा। (२) यह सन्तान **विजानन्**=कुछ ज्ञानवाला होने पर, अपने माता-पिता के कुछ फटाव को अनुभव करता हुआ, **चक्रन्**=दिल ही दिल में क्रन्दन करता हुआ यह **अश्रु न वर्तयत्**=यह आँसू ही न बहाता रहे। इस सब बात का ध्यान करते हुए उर्वशी को पतिगृह में चले ही आना चाहिए। (३) **अध**=अब **यदद्यदि अग्निः श्वशुरेषु दीदयत्**=मेरे पुत्र के संस्कारों के समय दीप्त होनेवाली अग्नि मेरे श्वशुर कुलों में ही दीप्त हो, तो यह **कः**=आनन्द वृद्धि का कारणभूत पुत्र भी **समनसा**=समान व संगत मनवाले भी **दम्पती**=पति पत्नी को **वियूयोत्**=पृथक् कर देनेवाला हो जाएगा। सो यही ठीक है कि तुम मेरे साथ चली चलो। और अपने ही घर में यह हमारा सन्तान हो।

भावार्थ—यदि सन्तान बच्चे के पिता के श्वशुर कुल में जन्म लेंगे तो उनका प्रेम नाना-नानी की ओर ही रहेगा।

ऋषिः—उर्वशी ॥ देवता—पुरूरवा ऐळः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सन्तान पर अधिकार पिता का

प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन्न क्रन्ददाध्ये शिवायै।
प्र तत्ते हिनवा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूर मापः॥ १३॥

(१) गत मन्त्र की बात सुनकर उर्वशी कहती है कि **प्रति ब्रवाणि**=मैं आपकी बात का उत्तर इन शब्दों में देती हूँ कि यह आपका पुत्र **चक्रन्**=क्रन्दन करता हुआ **अश्रु न वर्तयते**=आँसू नहीं बहायेगा। यदि रोयेगा तो **आध्ये शिवायै**=किसी आध्यात शिव वस्तु के लिए ही तो रोयेगा। उस वस्तु की इसे यहाँ कमी न रहेगी और यह रोयेगा क्यों? (२) और यह भी है कि **यत्**=जो **ते**=आपका **अस्मे**=हमारे पास ऋण के रूप में है **तत्**=उसे **ते**=तेरे प्रति **प्रहिनवा**=मैं अवश्य भेज दूँगी। आपका पुत्र आपके पास पहुँच जाएगा। **अस्तं परेहि**=आप घर को लौट जाइये। हे **मूर**=नासमझी की बात करनेवाले! आप अब **मा**=मुझे **नहि आपः**=नहीं प्राप्त कर सकते।

भावार्थ—यदि पति पत्नी जुदा ही हो जाते हैं, तो सन्तान पिता की ही है।

ऋषिः—उर्वशी ॥ देवता—पुरूरवा ऐळः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुरुरवा की शपथें (नारी का समादर)

सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा उ।
अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः॥ १४॥

(१) उर्वशी की गत मन्त्रोक्त अन्तिम बात को सुनकर पुरुरवा शपथ खाकर अपनी निर्दोषता को प्रमाणित करता है। उसका अभिप्राय यह है कि व्यर्थ में कुछ भ्रान्ति (गलतफहमी) हो गई

है। वास्तव में कोई ऐसी बात ही नहीं। वह कहता है कि यदि मैंने तुम्हारी बातों पर जानबूझकर ध्यान न दिया हो तो **अद्य**=आज **सुदेवः**=तुम्हारे साथ उत्तम क्रीड़ा करनेवाला भी **अनावृत्**=आवरण से रहित हुआ-हुआ, सिर छुपाने के स्थानभूत गृह से रहित हुआ-हुआ **प्रपतेत्**=भटकनेवाला है। मेरे भाग्य में भटकना ही भटकना लिखा हो। (२) **उ**=और **परमां परावतं गन्तवा**=(दूरादपि दूरदेशं गन्तुं=महाप्रस्थानयात्रां कर्तुं) वह व्यक्ति दूर से दूर देश में जानेवाला हो अर्थात् महाप्रस्थान यात्रा को करनेवाला बने। (३) **अधा**=अब यह व्यक्ति **निर्ऋतेः उपस्थे**=दुर्गति की गोद में **शयीत**=सोनेवाला हो। अधिक से अधिक दुर्गति को प्राप्त हो। (४) **अध**=और **एनम्**=इसे **रभसासः**=बड़े जबर्दस्त, खूँखार **वृकाः**=भेड़िये **अद्युः**=खा जाएँ। जानबूझकर तुम्हारा यदि मैंने अपमान किया हो तो मुझे भूखे भेड़िये अपना भोजन बना डालें। इस प्रकार शपथपूर्वक अपनी निर्दोषता को कहता हुआ पुरुरवा उर्वशी को अनुनीत करना चाहता है।

भावार्थ—पत्नी का तिरस्कार करनेवाला (क) भटकता है, (ख) मृत्यु को प्राप्त होता है, (ग) दुर्गति को भोगता है, (घ) भूखे भेड़ियों का भोजन बनता है।

ऋषिः—**पुरूरवा ऐळः** ॥ देवता—**उर्वशी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उर्वशी का उपालम्भ

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥ १५ ॥

(१) पुरुरवा की शपथें सुनकर उर्वशी कहती है कि हे **पुरुरवाः**=बहुत बात करनेवाले (रु शब्दे) **मा मृथाः**=आप मरिये नहीं। **मा प्रपप्तः**=दुर्गति में भी न गिरिये। **उ**=और **त्वा**=आपको **अशिवासः**=अकल्याणकारी **वृकासः**=भेड़िये **माक्षन्**=मत खायें। आपको ऐसी आपत्तियाँ क्यों आयें? (२) कुछ उपालाम्भ के स्वर में उर्वशी कहती है कि **स्त्रैणानि सख्यानि**=स्त्रियों की मित्रताएँ तो **वै**=निश्चय से **न सन्ति**=होती ही नहीं। '**एता**=ये तो **हृदयानि**=हृदय **सालावृकाणाम्**=बन्दरों के हैं, अर्थात् अत्यन्त चंचल हैं' ये शब्द उर्वशी अपने हृदय की ओर इशारा करती हुई कहती है। (३) वस्तुतः उर्वशी को कहीं से ऐसा सुन पड़ा कि पुरुरवा ऐसा कहते थे कि 'स्त्रियों की क्या मित्रता, ये तो बड़े चञ्चल हृदय की होती हैं'। बस तभी से उर्वशी का मन फट गया। अन्य घटनाएँ भी उसे इसी विचार की पोषक प्रतीत हुईं और वह अपने मातृगृह को चली गई।

भावार्थ—'पत्नी के विषय में किसी अन्य व्यक्ति से आलोचनात्मक शब्द कहना' वैमनस्य का सबसे बड़ा कारण होता है।

ऋषिः—**पुरूरवा ऐळः** ॥ देवता—**उर्वशी** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भोजनाच्छादन की कमी

यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि ॥ १६ ॥

(१) मूलभूत बात को कहने के बाद उर्वशी अन्य बातों को भी कह डालती है। **यद्**=यद्यपि **मर्त्येषु**=मनुष्यों के एकत्रित होने के स्थलों में (=उत्सवों में) मैं कपड़ों के ठीक न होने से **विरूपा**=हीनरूपवाली होती हुई, भद्दी प्रतीत होती हुई **अचरम्**=विचरती रही, तो भी मैं **चतस्रः शरदः रात्रीः अवसम्**=पूरे चार वर्षों के दिनों वहाँ पतिगृह में रहती रही। (२) **घृतस्य स्तोकम्**=घी का थोड़ा-सा अंश और वह भी **अह्नः सकृत्**=दिन में एक बार **आश्नाम्**=मैं खाती

रही। **तात् एव**=(तेन एव) उतने से ही **तातृपाणा**=तृप्त-सी हुई-हुई **इदं चरामि**=मैं इस घर में विचरती रही इन सब बातों को तो मैंने सहा। परन्तु बदनामी को सहना कठिन हुआ, सो यहाँ चली आई।

भावार्थ—पति को पत्नी के लिए भोजनाच्छादन की समुचित व्यवस्था का तो व्रतरूप में पालन करना चाहिए।

ऋषिः—**पुरूरवा ऐळः** ॥ देवता—**उर्वशी** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पुरुरवा का उत्तर

अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे ॥ १७ ॥

(१) पूरुरवा उर्वशी की बातों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि मैं **वसिष्ठः**=वाणी पर पूर्ण प्रभुत्व को रखनेवाला मुँह से व्यर्थ की बातों को न निकालनेवाला, **उर्वशीम्**=तुझ उर्वशी को, अपने पर नियन्त्रण रखनेवाली को **उप शिक्षामि**=अपने समीप कर सकने की कामना करता हूँ (शक्तिः सन्नन्तः)। तू तो **अन्तरिक्ष-प्राम्**=मेरे हृदयान्तरिक्ष का पूरण करनेवाली है, मेरे हृदय तेरे सिवाय किसी और के लिए स्थान नहीं। **रजसः विमानीम्**=तू मेरे रञ्जन व अनुराग का विशेषरूप से निर्माण करनेवाली है। तेरे विषय में मैं कुछ अशुभ शब्द कहूँ यह सम्भव ही कैसे हो सकता है? तुझे ऐसी बातों पर विश्वास न करना चाहिए। (२) **त्वा**=तुझे **सुकृतस्य**=उत्तम मार्ग से कमाये हुए धन का **रातिः**=देनेवाला यह पुरुरवा **उपतिष्ठात्**=उपस्थित हो। अर्थात् खान-पान-भोजनाच्छादन की समस्या तो इस स्थिति में पैदा ही नहीं हो सकती। मैं तो कमानेवाला ही हूँगा, जोड़ना खर्चना तो होगा ही तुम्हारा काम। सो **निवर्तस्व**=अब लौट चलो। **मे हृदयं तप्यते**=मैं सचमुच दिल में बड़ा सन्तप्त हूँ। इस सारी बात का ध्यान करके तुम्हें लौट ही चलना चाहिए।

भावार्थ—पति को पत्नी ही प्रिय हो। वह कमाने और पत्नी खर्चे व जोड़े। इस प्रकार दोनों घर को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**उर्वशी** ॥ देवता—**पुरूरवा ऐळः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घर को स्वर्ग बनाना

इति त्वा देवा इम आहुरैळ यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धुः।
प्रजा ते देवान्हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे ॥ १८ ॥

(१) हे **ऐड**=इडा अर्थात् वेदवाणी को अपनानेवाले पुरुरवः! **इमे देवाः**=ये मेरे माता-पिता आदि देव **त्वा**=आपको **इति आहुः**=यह ही तो कहते हैं कि 'व्यर्थ की बदनामी न की जाये और खान-पान आदि की परेशानी न हो'। आपने वही ध्यान रखना कि **यथा**=जिससे **ईम्**=निश्चयपूर्वक **एतद् भवसि**=आप ऐसे ही होते हो। अर्थात् आप जैसा इस समय कह रहे हैं, उन बातों को आप फिर भूल न जाएँ। यह भी स्मरण ही रखना चाहिए कि **मृत्युबन्धुः**=(भवसि) आप मृत्यु को बान्धनेवाले होते हो। अर्थात् उचित व्यवस्था के द्वारा रोगादि को घर से दूर रखते हो। परस्पर वैमनस्य के होने पर तो चिन्ता के कारण ही शरीर रोगी रहने लगता है। (२) पति-पत्नी परस्पर प्रेमवाले होते हुए नीरोग जीवनवाले होते हैं और तब उनके सन्तानों पर भी उत्तम प्रभाव पड़ता है उर्वशी कहती है कि **ते प्रजा**=आपकी सन्तान **देवान्**=देवों का **हविषा यजाति**=हवि के द्वारा उपासन करती है। देवयज्ञ की वृत्तिवाली बनकर घर के वातावरण को बड़ा पवित्र बनाती है।

उ=और उस समय **त्वं अपि**=आप भी **स्वर्गे**=स्वर्ग में **मादयासे**=आनन्द का अनुभव करते हैं। घर स्वर्ग-सा बन जाता है और वहाँ सुख ही सुख होता है।

भावार्थ—पति-पत्नी के जीवन में सामञ्जस्य के होने पर ही सन्तान यज्ञिय वृत्तिवाली होती है और घर स्वर्गतुल्य बना रहता है।

इस सम्पूर्ण सूक्त में 'पति-पत्नी का कैसे समन्वय हो सकता है, किन बातों से परस्पर वैमनस्य हो जाता है, पति का क्या कर्त्तव्य है' इत्यादि बातों का जीवित जागरित रूप में सुन्दर वर्णन हुआ है। यदि हम जीवन को सुन्दर बना पाएँगे, तो प्रभु का वरण करनेवाले 'बरु' बनेंगे। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह सबके दुःखों का निवारण करनेवाला बनने से 'सर्व हरि' है, इन्द्र का सच्चा उपासक होने से 'ऐन्द्र' है। यह प्रभु का आराधन करता हुआ कहता है—

[९६] षण्णवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु से दिये गये 'इन्द्रियाश्व'

प्र ते॑ म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म्।
घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिरः॑ ॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! मैं **महे विदथे**=इस महान् ज्ञानयज्ञ में **ते**=आपके इन मेरे लिए दिये हुए **हरी**=कर्मेन्द्रिय-पञ्चक व ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकरूप अश्वों को **प्रशंसिषम्**=प्रशंसित करता हूँ। ये अश्व सचमुच इस शरीर-रथ को खैंचकर लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाने में अद्भुत क्षमता रखते हैं। एक-एक इन्द्रियाश्व की रचना अद्भुत ही है। (२) मैं **वनुषः**=मेरे कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले **ते**=आप से **हर्यतम्**=अत्यन्त कमनीय **मदम्**=मद व हर्ष को **प्रवन्वे**=प्रकर्षेण माँगता हूँ। मुझे आपकी प्राप्ति का अवर्णनीय आनन्द अनुभव करने का अवसर प्राप्त हो। (३) **यः**=जो आप **घृतं न**=घृत के समान **हरिभिः**=इस इन्द्रियाश्वों के द्वारा **चारु**=सौन्दर्य को **सेचते**=हमारे में सिक्त करते हैं। घृत शरीर में आंतों की शुष्कता को दूर करके कोष्ठबद्धता को नष्ट करता है तथा जाठराग्नि को दीप्त करता है, इसी प्रकार प्रभु ज्ञानाग्नि के द्वारा वासना के मलों को दग्ध कर देते हैं और मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञान-सूर्य से दीप्त करते हैं। उस **हरिवर्पसम्**=सूर्यसम ज्योतिर्मय **त्वा**=आपको **गिरः आविशन्तु**=हमारी स्तुति-वाणियाँ प्राप्त हों। हम वेदवाणियों द्वारा आपका स्तवन करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु ने हमें अद्भुत इन्द्रियरूप अश्व प्राप्त कराये हैं। इनके द्वारा हमारा जीवन सुन्दर बनता है। उस प्रभु का ही हम स्तवन करें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रकाशयुक्त बल

हरिं॒ हि योनि॑म॒भि ये स॒मस्व॑रन्हि॒न्वन्तो॒ हरी॑ दि॒व्यं यथा॒ सदः॑।
आ यं पृ॒णन्ति॒ हरि॑भि॒र्न धे॒नव॒ इन्द्रा॑य शू॒षं हरि॑वन्तमर्चत ॥ २ ॥

(१) **ये**=जो भी उपासक **हि**=निश्चय से उस **योनिम्**=सबके मूल उत्पति-स्थान **हरिम्**=सबके दुःखों को हरण करनेवाले प्रभु के **समस्वरन्**=नामों का उच्चारण करते हैं, वे इस प्रकार **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **हिन्वन्तः**=प्रेरित करते हैं **यथा**=जिससे **दिव्यं सदः**=उस प्रकाशमय प्रभु के स्थान को (Divere seat) प्राप्त होते हैं। उस दिशा में ही इनके इन्द्रियाश्व प्रेरित होते हैं, जिस

दिशा में चलते हुए वे इस प्रकाशमय स्थान को प्राप्त करानेवाले बनते हैं। (२) **नः च**=और **यम्**=जिसको (न इति चार्थे) **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणियाँ **हरिभिः**=ज्ञान की रश्मियों से **पृणन्ति**=(delight) प्रसन्न करती हैं, अर्थात् जो वेदवाणियों का अध्ययन करता है और उन वाणियों से ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके आनन्द का अनुभव करता है। उस **इन्द्राय**=(इन्द्रस्य सा०) जितेन्द्रिय पुरुष के **हरिवन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानरश्मियोंवाले **शूषम्**=शत्रु शोषक बल को **अर्चत**=सत्कृत करो। इसके प्रकाशमय बल के अर्चन से हमारे में भी इसके मार्ग पर चलने की वृत्ति उत्पन्न होगी और उस मार्ग पर चलते हुए हम भी प्रकाशयुक्त बल को प्राप्त करनेवाले होंगे।

भावार्थ—हम उन व्यक्तियों के प्रकाशमय बल का अर्चन करें जो (क) प्रभु को 'हरि योनि' नाम से स्मरण करते हैं, (ख) अपने इन्द्रियाश्वों को प्रभु के दिव्य-स्थान की ओर प्रेरित करते हैं, (ग) ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणियों की ज्ञानरश्मियों में आनन्द अनुभव करते हैं। वस्तुतः इन वाणियों में आनन्द अनुभव करने के कारण ही वे ज्ञान व बल को प्राप्त कर सकते हैं।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

हरिमन्युसायक

सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः ।
द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे ॥ ३ ॥

(१) **सः**=वह **अस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **यः**=जो **वज्रः**=क्रियाशीलतारूप वज्र है, वह **हरितः**=सूर्य-किरणों के समान इसे उज्ज्वल बनानेवाला है (हरित्=a horse of the sun), **आयसः**=लोहे के समान दृढ़ शरीरवाला करता है। (२) इस क्रियामय जीवन में **हरिः**=सब दुःखों का हरण करनेवाला प्रभु ही **निकामः**=इसके लिए नितरां चाहने योग्य होता है। ये कर्त्तव्य बुद्धि से कर्मों को करता है, सब सांसारिक फलों की कामना से ऊपर उठा हुआ 'अ-क्रतु' बनता है, एक मात्र प्रभु प्राप्ति के संकल्पवाला होता है। परिणामतः इसके लिए वे **हरिः**=दुःखों का हरण करनेवाला प्रभु **आगभस्त्योः**=हाथों में ही होते हैं, हस्तामलकवत् हो जाते हैं, प्रत्यक्ष होते हैं। (२) यह व्यक्ति **द्युम्नी**=ज्योतिर्मय जीवनवाला बनता है, **सुशिप्रः**=(शिप्रो हनू नासिके वा नि०) उत्तम जबड़ों व नासिकावाला होता है। खूब चबाकर खाता है तथा प्राणायाम को नियम से करता है। परिणामतः पूर्ण स्वस्थ जीवनवाला बनता है। (३) **हरिमन्यु**=हरि का, प्रभु का, **मन्यु**=ज्ञान ही इसका शत्रुओं का अन्त करनेवाला **सायक**=बाण बनता है। इस **इन्द्रे**=जितेन्द्रिय पुरुष में **हरितारूपा**=सब तेजस्वीरूप **निमिमिक्षिरे**=निश्चय से सिक्त होते हैं। यह सूर्य-किरणों के समान चमकता है। इसके सब अंग-प्रत्यंग दीप्त व ज्योतिर्मय बने रहते हैं।

भावार्थ—क्रियाशील पुरुष तेजस्वी दृढ़ शरीर व अन्ततः प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। प्रभु का ज्ञान ही इसका शत्रु-संहारक बाण बनता है।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

हरिम्भरः

दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद्वज्रो हरितो न रंह्या ।
तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिंभरः ॥ ४ ॥

(१) **दिवि केतुः न**=द्युलोक में सूर्य की किरणों के समान (केतु=a ray of light) **दिवि**=इस उपासक के मस्तिष्करूप द्युलोक में **हर्यतः**=कमनीय **केतुः**=(antellect) बुद्धि व

प्रज्ञान **अधि धायि**=आधिक्येन धारण होता है। (२) **वज्रः**=इसकी क्रियाशीलता **विव्यचत्**=विस्तृत होती है, जो क्रियाशीलता **रंह्या**=वेग के दृष्टिकोण से **हरितः न**=सूर्याश्वों के समान होती है। सूर्य के अश्व जैसे अत्यन्त वेगवाले हैं, इसी प्रकार यह सब क्रियाओं को स्फूर्ति से करनेवाला होता है। (३) **अहिं तुदत्**=जैसे सूर्य अहि, अर्थात् मेघ को **तुदत्**=छिन्न-भिन्न करता है, इसी प्रकार यह वासना को (आहन्ति) नष्ट करता है। **हरिशिप्रः**=इसके हनू व नासिका इसके दुःखों का हरण करनेवाले होते हैं हितकर भोजनों को यह चबाकर खाता है और प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। इससे यह वह बनता है **यः**=जो **आयसः**=लोहे का हो, अत्यन्त दृढ़ शरीरवाला होता है तथा **हरिम्भरः**=दुःखनाशक प्रभु का अपने हृदयक्षेत्र में पोषण करनेवाला यह **सहस्रशोकाः अभवत्**=शतशः दीप्तियोंवाला होता है। इसका जीवन बड़ा दीप्त बनता है।

भावार्थ—मस्तिष्क में ज्ञान को तथा हाथों में क्रियाशीलता को धारण करके हम प्रभु का अपने में पोषण करनेवाले होते हैं। प्रभु पोषण से जीवन दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अनन्त ऐश्वर्यवाले प्रभु

त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्य१ मसामि राधो हरिजात हर्यतम्॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **हरिकेशः**=दुःखहरण की साधनभूत प्रकाशमय किरणोंवाले प्रभो! **पूर्वेभिः**=अपना पूरण करनेवाले, मानस न्यूनताओं को दूर करनेवाले **यज्वभिः**=यज्ञशील पुरुषों से **उपस्तुतः**=स्तुति किये जाने पर **त्वं त्वम्**=आप और आप ही **अहर्यथाः**=उन उपासकों को प्राप्त होते हो। **त्वं हर्यसि**=आप ही उनके हित की कामना करते हो। (२) हे **हरिजात**=प्रकाश की किरणों से प्रादुर्भूत होनेवाले प्रभो! **तव**=आपका ही यह **विश्वम्**=सम्पूर्ण **उक्थ्यम्**=प्रशंसनीय **हर्यतम्**=कमनीय **असामि**=पूर्ण (न अधूरा) **राधः**=ऐश्वर्य है। आपके ऐश्वर्य से ही ऐश्वर्य-सम्पन्न होकर हम अपने कार्यों को सिद्ध कर पाते हैं (राध संसिद्धौ)।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं। प्रभु का ऐश्वर्य पूर्ण है।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञशीलता व सोमधारण

ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी।
पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे॥ ६ ॥

(१) **ता**=वे प्रभु से दिये गये **हर्यता**=गतिशील **हरी**=इन्द्रियाश्व **मदे**=आनन्द प्राप्ति के निमित्त **रथे**=इस शरीर-रथ में **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **वहतः**=धारण कराते हैं, जो **वज्रिणम्**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले हैं **मन्दिने**=आनन्दमय हैं तथा **स्तोभ्यम्**=स्तुति के योग्य हैं। वस्तुतः जब हमारी कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ हमें प्रभु की ओर ले चलती हैं तो हमारा जीवन क्रियामय बनता है, हमें आनन्द व हर्ष की प्राप्ति होती है और हम स्तुत्व जीवनवाले होते हैं। (२) **अस्मै**=इस **हर्यते**=कान्त व गतिशील **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **पुरूणि सवनाति**=पालनात्मक व पूरणात्मक यज्ञ होते हैं। यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है, ये यज्ञ ही हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाले हैं। (३) इस **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए ही **हरयः**=सब रोगों का हरण करनेवाले **सोमाः**=सोमकण **दधन्विरे**=धारण किये जाते हैं। इन

सोमकणों के धारण से ही हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञशील हों और सोमकणों का शरीर में ही रक्षण करें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

हरिवान् प्रभु की प्राप्ति

अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन्हरयो हरी तुरा।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे ॥ ७ ॥

(१) **कामाय**=काम्य प्रभु की प्राप्ति के लिए **हरयः (सोमाः)**=सब रोगों का हरण करनेवाले सोम (वीर्यकण) **अरं दधन्विरे**=खूब ही धारण किए जाते हैं। ये **हरयः**=दुःख हरणकारी सोमकण **तुरा हरी**=त्वरा से युक्त इन इन्द्रियाश्वों को **स्थिराय**=उस स्थिर-कूटस्थ प्रभु के लिए **हिन्वन्**=प्रेरित करते हैं। सोमकणों के धारण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, दीप्त ज्ञानाग्नि से प्रभु का दर्शन होता है। (२) **यः**=जो व्यक्ति **अर्वद्भिः**=विघ्नों को विनष्ट करके आगे बढ़नेवाले **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक उपासन को **ईयते**=प्राप्त होता है **सः**=वह **अस्य कामम्**=इसके चाहने योग्य **हरिवन्तम्**=प्रकाश की किरणोंवाले उस प्रभु को **आनशे**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करें। शक्तिशाली इन्द्रियों को प्रभु की उपासना में प्रवृत्त करें। तो हम अवश्य उस कमनीय प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दुरितों से दूर

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥ ८ ॥

(१) **तुरस्पेये**=(तूर्णं पातव्ये) शीघ्रता से अन्दर ही पीने के योग्य इस सोम के पीने पर **यः**=जो यह **हरिपाः**=(प्राणो वै हरिः कौ० १७।१) प्राणशक्ति का रक्षण करनेवाला पुरुष है, वह **हरिश्मशारुः**=(श्मनि श्रितम्) सब मलों का हरण करनेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धिवाला होता है। इसकी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब निर्मल होती हैं। **हरिकेशः**=यह दीप्त ज्ञान की रश्मियोंवाला होता है। **आयसः**=शरीर में लोहवत् दृढ़ होता है। (२) **यः**=जो **अर्वद्भिः**=सब विघ्नों के समाप्त करके आगे बढ़नेवाले **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **वाजिनीवसुः**=(food) अन्नरूप धनवाला होता है, निवास के लिए आवश्यक अन्न का ही प्रयोग करता है यह व्यक्ति अपने इन **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **विश्वादुरिता**=सब दुरितों के **अतिपारिषत्**=पार ले जानेवाला होता है। इसकी इन्द्रियाँ दुरितों से दूर होकर सुवितों को ही अपनानेवाली होती हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों से निवास के लिए आवश्यक अन्नों का ही ग्रहण करें, तो दुरितों से दूर होकर, हम सोम का पान करनेवाले होंगे और 'हरिश्मशारु, हरिकेश व आयस' बनेंगे।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्रियों का मार्जन

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः।
प्र यत्कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः ॥ ९ ॥

(१) **यस्य**=जिसके **हरिणी**=(ऋक् सामे वा इन्द्रस्य हरी श० १।१) ऋक् और साम—विज्ञान व भक्ति **स्रुवा इव**=दो स्रुवों के समान, यज्ञपात्रों के समान **विपेततुः**=विशिष्ट गतिवाले होते हैं, अर्थात् जिसके जीवन में विज्ञान व भक्ति का समन्वय होता है। (२) **यस्य**=जिसके **शिप्रे**=हनू और नासिका **वाजाय**=शक्ति वृद्धि के लिए होते हुए **हरिणी**=रोगों व वासनाओं का हरण करनेवाले होकर **दविध्वतः**=रोगों व वासनाओं को कम्पित करते हैं। 'हनू' भोजन का ठीक चर्वण करते हुए, ठीक पाचन के द्वारा, शक्ति वृद्धि का कारण होते हैं। इस प्रकार इनके ठीक कार्य करने से सामान्यतः रोग नहीं आते। नासिका के ठीक कार्य करने पर प्राणायाम के द्वारा वासनाओं का विनाश होता है। इससे चित्तवृत्ति का निरोध होकर मन आधिशून्य बना रहता है। (३) इस वासनाशून्य मन के होने पर **हर्यतस्य**=अत्यन्त कान्त, कमनीय, **मदस्य**=आनन्द के कारणभूत **अन्धसः**=सोम का **पीत्वा**=पान करके, सोम को शरीर में ही व्याप्त करके इस **कृते चमसे**=संस्कृत शरीर में (शरीर को 'तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' कहा है) **यद्**=जो **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व हैं उनको **मर्मृजत्**=शुद्ध कर डालता है। सोम के शरीर में रक्षण से इन्द्रियों की भक्ति दीप्त हो उठती है।

भावार्थ—दो यज्ञपात्रों की तरह हमारे जीवनयज्ञ में विज्ञान व भक्ति का मेल हो। हमारे इन्द्रियाँ हमारी नीरोगता के साधन हों। हमारी नासिका निर्वासनता की साधक बनें (प्राणायाम द्वारा) सोमपान द्वारा, इस संस्कृत शरीर में हमारी इन्द्रियाँ दीप्तशक्तिवाली हों।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मही-धिषणा-ओजः

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्यो३रत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत्।
मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद्वयो दधिषे हर्यतश्चिदा ॥ १० ॥

(१) **उत**=और **हरिवान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष **हर्यतस्य**=गतिशील-कान्त (हर्य गतिकान्त्योः) प्रभु के **पस्त्योः**=द्यावापृथिवी सम्बन्धी **सद्म**=घर को इस प्रकार **अचिक्रदत् स्म**=निश्चय से प्राप्त होता है, **न**=जैसे **अत्यः**=निरन्तर गतिशील अश्व **वाजम्**=संग्राम को प्राप्त होता है। इस शरीर में द्युलोक मस्तिष्क है तथा स्वस्थ शरीर ही पृथ्वी है। प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष इस शरीर में आकर जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। (२) इसकी **मही चित्**=(मह पूजायाम्) निश्चय से उपासना की मनोवृत्तिवाली **धिषणा**=बुद्धि **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **हर्यत् हि**=उस प्रभु की ओर ही चलनेवाली होती है। इसका हृदय उपासनावाला, मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाशवाला, तथा शरीर ओजस्वी होता है। इस प्रकार इन तीनों उन्नतियों को करनेवाला यह पुरुष प्रभु की ओर गतिवाला होता है। (२) इस **हर्यतः**=प्रभु की ओर गतिवाले पुरुष के **वयः**=आयुष्य को **चित्**=निश्चय से **बृहद् आदधिषे**=खूब ही आप धारण करते हैं।

भावार्थ—जीवन को हम संग्राम समझें। 'पूजा, बुद्धि व ओजस्विता' के सम्पादन के द्वारा हम प्रभु की ओर चलें। प्रभु हमारे आयुष्य का धारण करेंगे।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वेदवाणी के घर का प्रादुर्भाव

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम्।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥ ११ ॥

(१) हे प्रभो! आप अपनी **महित्वा**=महिमा से **रोदसी**=इस द्यावापृथिवी में **आहर्यमाणः**=सर्वत्र गतिवाले हैं। एक-एक पदार्थ में आपकी महिमा का दर्शन होता है। (२) इस द्यावापृथिवी व लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके **नु**=अब आप **नव्यं नव्यम्**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) कर्म का उपदेश देनेवाले (नव गतौ) **मन्म**=ज्ञान को **हर्यसि**=प्राप्त कराते हैं। यह ज्ञान **प्रियम्**=तृप्ति व प्रीति का कारण बनता है। (३) हे **असुर**=ज्ञान को देकर वासनाओं को सुदूर क्षिप्त करनेवाले प्रभो! (अस्यति) आप **हरये**=प्रकाश की किरणोंवाले **सूर्याय**=निरन्तर गतिशील पुरुष के लिए **गोः**=इस वेदवाणी के **हर्यतम्**=कान्त, चाहने योग्य **पस्त्यम्**=गृह को **प्र आविष्कृधि**=प्रकर्षेण आविर्भूत करते हैं। जो भी व्यक्ति 'हरि व सूर्य' बनता है, प्रभु उसके लिए इस वेदवाणी के घर को प्रकाशित कर देते हैं।

भावार्थ—हम स्वाध्यायशील व क्रियाशील होंगे तो वेद के तत्त्वार्थ को समझनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दशोणि यज्ञ का स्वीकार

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन्यज्ञं सधमादे दशोणिम्॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **हरिशिप्रम्**=हरणशील हैं हनू व नासिका जिसकी जबड़े तो भोजन का खूब चर्वण करके रोगों को दूर करनेवाले हैं तथा नासिका प्राणायाम के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करनेवाली है। इस प्रकार ये हनू व नासिका दोनों ही 'हरि' हैं। **त्वा**=इस तुझ हरिशिप्र को, **हर्यन्तम्**=प्रभु प्राप्ति की कामनावाले को **जनानाम्**=लोगों की **प्रयुजः**=प्रकृष्ट योगवृत्तियाँ **रथे**=इस शरीर रथ पर **आवहन्तु**=धारण करनेवाली हों। इन प्रयुजों से ही तू प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनेगा। (२) इन योगवृत्तियों को तू अवश्य धारण कर, **यथा**=जिससे तू **प्रतिभृतस्य**=प्रतिदिन तेरे में पोषित होनेवाले **मध्वः**=सोम का, सब भोजनों के सारभूत मधुतुल्य सोम का **पिबा**=पान करनेवाला हो। (३) तू **सधमादे**=प्रभु प्राप्ति के द्वारा प्रभु के साथ (सह) मिलकर आनन्द अनुभव करने के निमित्त **दशोणिम्**=(ओणि=protection) दसों इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले अथवा (ओणि=removing) दसों इन्द्रियों को विषयों से अपनीत करनेवाले **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्म की **हर्यन्**=कामना करनेवाला हो, श्रेष्ठतम कर्म की ओर तू चलनेवाला हो। (हर्य गतिकान्त्योः)।

भावार्थ—मनुष्य योगवृत्तिवाला बने, सोम का धारण करे, प्रभु प्राप्ति के आनन्द के लिए दसों इन्द्रियों के रक्षक यज्ञ को करनेवाला हो, अर्थात् सदा उत्तम कर्मों में लगा रहे।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः** ॥ देवता—**हरिस्तुतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम का पान

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते।
ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषञ्जठर आ वृषस्व॥ १३॥

(१) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तूने **पूर्वेषाम्**=इन पालन व पूरण करनेवाले **सुतानाम्**=उत्पादित सोमों का **अपाः**=पान किया है। **अथ उ**=और निश्चय से **इदं सवनम्**=यह सोम का उत्पादन **केवलं ते**=शुद्ध तेरे ही उत्कर्ष के लिए है। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मधुमन्तं सोमम्**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले इस सोम को **ममद्धि**=(पिब आस्वादय सा०) पीनेवाला बन। हे **वृषन्**=शक्तिशालिन्! तू **सत्रा**=सदा **जठरे**=अपने अन्दर **आवृषस्व**=इस

सोम का सेचन करनेवाला बन। यही मार्ग है, सब प्रकार के उत्कर्ष का। इसी सोम के पान से उन्नति करते-करते अन्त में प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—हम सोम का पान करें। इसी से अन्त में हम प्रभु-दर्शन करनेवाले बनेंगे।

सूक्त का भाव यह है कि हम सोम का पान करके सब रोगों व अन्य कष्टों का निवारण करनेवाले बनें। 'यह सोम ओषधि वनस्पतियों का ही सारभूत होना चाहिए' इस संकेत को करता हुआ अगला सूक्त 'ओषधयः' देवता का है। इन ओषधियों वनस्पतियों के द्वारा उत्पन्न सोम के रक्षण से शरीर में सब रोगों का निराकरण करनेवाला 'भिषक्' प्रस्तुत सूक्त का ऋषि है। यह 'आथर्वण' है, चित्तवृत्ति को न डाँवाडोल होने देनेवाला है, यह आथर्वण ही तो सोम का रक्षण कर पाता है। यह कहता है कि—

[९७] सप्तनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ओषधियों के १०७ धाम

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ १॥

(१) **याः**=जो **ओषधीः**=ओषधियाँ **पूर्वाः**=शरीर का पालन करनेवाली व न्यूनताओं को दूर करके पूरणता को पैदा करनेवाली, **त्रियुगम्**=(त्रिषु युगेषु सा०) वसन्त, ग्रीष्म व शरद् में **पुरा**=इस शरीररूप पुर् के हेतु से **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **जाताः**=उत्पन्न हुई हैं। **अहम्**=मैं **नु**=निश्चय से **बभ्रूणाम्**=तेजों को, शक्तियों को **मनै**=विचार का विषय बनाता हूँ। (२) देव ओषधि वनस्पति का सेवन करते हैं, ओषधियों का परिपाक का समय सामान्यतः 'वसन्त, ग्रीष्म व शरद्' ही है। प्रभु ने इन ओषधियों में शरीर के पोषक सभी तत्त्वों की स्थापना की है। इन ओषधियों के तेज यहाँ १०७ भागों में विभक्त हुए हैं। मनुष्य के शरीर में मर्मस्थलों की संख्या भी यही है। ये ओषधियाँ सब मर्मस्थलों को नीरोग रखनेवाली हैं। इनके ठीक प्रयोग से सामान्यतः मनुष्य को १०७ वर्ष का जीवन प्राप्त करना ही चाहिए।

भावार्थ—ओषधियाँ देव शरीरों को सब प्रकार से स्वस्थ रखनेवाली है।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मातृतुल्य ओषधियाँ

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः। अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥ २॥

(१) हे **अम्ब**=मातृवत् हितकारिणी ओषधियो! **वः**=तुम्हारे **धामानि**=तेज **शतम्**=सैंकड़ों हैं। **उत**=और **वः**=तुम्हारे **रुहः**=प्रादुर्भाव-विकास **सहस्रम्**=हजारों ही हैं। **अधा**=अब **शतक्रत्वः**=सैंकड़ों शक्तियोंवाली **यूयम्**=तुम **मे**=मेरे **इमम्**=इस शरीर को **अगदम्**=रोगशून्य **कृत**=करो। (२) हजारों प्रकार की ओषधियाँ हैं। सबके अन्दर अद्भुत शक्तिदायक तत्त्व निहित हैं। इनके ठीक सेवन से शरीर नीरोग बना रहता है। वस्तुतः ये ओषधियाँ वनस्पतियाँ मातृवत् हितकारिणी हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ अपने तेजों से हमारे शरीरों को नीरोग करती हैं।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

रोग-विनाश

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः। अश्वाइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः॥ ३॥

(१) **ओषधीः**=हे ओषधियो! **प्रति मोदध्वम्**=तुम खूब विकसित होवो, **पुष्पवतीः**=फूलोंवाली होवो तथा **प्रसूवरीः**=फलोंवाली होवो। (२) **इव**=जिस प्रकार **अश्वाः**=घोड़े संग्राम में विजयी होते हैं, इसी प्रकार **वीरुधः**=ये फैलनेवाली लताएँ **सजित्वरीः**=सदा रोगों को जीतनेवाली **पारयिष्णवः**=तथा सब रोगों से पार करनेवाली हैं। घोड़े संग्राम में विजयी होते हैं, इसी प्रकार ये ओषधियाँ रोगों से संग्राम में विजय प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—ओषधियों के फल-फूल सभी रोगों को नष्ट करने में सहायक होते हैं। 'ओषधीः' शब्द का अर्थ ही रोगदहन करनेवाली है।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उत्कर्ष की प्राप्ति

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे। सनेयमश्वं गां वासं आत्मानं तव पूरुष ॥ ४ ॥

(१) **'ओषधीः इति'**=ये जो ओषधियाँ हैं, वे **मातरः**=मातृतुल्य हैं। माता जैसे बालक का हित करनेवाली है, उसी प्रकार ये ओषधियाँ हित करनेवाली हैं। वस्तुतः ये हमारे जीवन का निर्माण करनेवाली हैं। **तद्**=सो **वः**=तुम्हें **देवीः**=दिव्यगुणों को पैदा करनेवाली तथा सब रोगों को जीतने की कामना करनेवाली (विजिगीषा), इस प्रकार **उपब्रुवे**=कहता हूँ। (२) हे **पूरुष**=इस ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करनेवाले प्रभो! मैं **तव**=आपकी इन ओषधियों के प्रयोग से **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों को, **वासः**=इस शरीररूप वस्त्र को तथा **आत्मनम्**=मन को **सनेयम्**=प्राप्त करनेवाला बनूँ। (३) वानस्पतिक भोजनों का समुचित प्रयोग हमारी इन्द्रियों, शरीर व मन को अवश्य उत्कृष्ट बनाएगा।

भावार्थ—ये वनस्पतियाँ 'माताएँ' व 'देवियाँ' हैं। इनका प्रयोग हमारे उत्कर्ष का कारण बनता है।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वानस्पतिक भोजन+गोदुग्ध

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता। गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ५ ॥

(१) हे ओषधियो! **वः**=आपका **अश्वत्थे**=(न श्वः तिष्ठति) इस अस्थिर शरीर में निवास होता है, अर्थात् इस शरीर के निमित्त ही वस्तुतः आपका निर्माण हुआ है। **वः**=आपका यह **वसतिः**=शरीर में निवास **पर्णे**=पालन व पूरण के निमित्त **कृता**=किया गया है। मुख्य रूप से इस शरीर को नीरोग रखने के लिए ही इनका प्रयोग होता है। (२) **यत्**=जब **किल**=निश्चय से **गोभाजः इत्**=गोदुग्ध का सेवन करनेवाली ही **असथ**=होती हो तो **पूरुषम्**=इस ब्रह्माण्ड पुरी में निवास करनेवाले प्रभु का **सनवथ**=सम्भजन करनेवाली होती हो। यदि एक व्यक्ति इन ओषधि वनस्पतियों के साथ गोदुग्ध का सेवन करनेवाला होता है, तो उसकी चित्तवृत्ति शान्त बनकर प्रभु की ओर झुकावंवाली होती है।

भावार्थ—हम ओषधि वनस्पतियों व गोदुग्ध का ही सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

भिषक्

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ६ ॥

(१) **यत्र**=जिस पुरुष में **ओषधीः**=ओषधियाँ **समग्मत**=इस प्रकार संगत होती हैं, **इव**=जैसे

कि **राजानः समितौ**=राजा लोग किसी समिति में एकत्रित होते हैं, **स विप्रः**=वह रोगी के शरीर का ओषधि प्रयोग से विशेष रूप से पूरण करनेवाला (वि+प्र) **भिषग्**=वैद्य **उच्यते**=कहलाता है। (२) यह वैद्य इन ओषधियों का ज्ञान रखने के कारण, इनके ठीक प्रयोग से **रक्षोहा**=रोगकृमियों का विध्वंस करता है तथा **अमीवचातनः**=रोगों को नष्ट कर डालता है। समिति में एकत्रित हुए-हुए राजा जैसे किसी उत्पन्न हुई-हुई समस्या को दूर करने का विचार करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी वैद्य उत्पन्न-उत्पन्न हुए रोग को दूर करने के लिए विविध ओषधियों का विचार करता है।

भावार्थ—विविध ओषधियों के गुण दोषों को जाननेवाला ज्ञानी पुरुष ही वैद्य कहलाता है। यह 'रक्षोहा-अमीवचातन' होता है।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'अश्वावती-सोमावती-ऊर्जयन्ती-उदोजस्'

अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्। आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये॥ ७॥

(१) गत मन्त्र का वैद्य इस रूप में सोचता है कि मैं उस ओषधि को **आवित्सि**=सर्वथा प्राप्त करता हूँ (विद् लाभे) जो **अश्वावतीम्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाली है, इन्द्रियों की शक्ति को जो ठीक बनाये रखती हैं। **सोमावतीम्**=जो शरीर में सौम्यशक्ति को पैदा करनेवाली है। आग्नेय शक्ति को पैदा करनेवाले पदार्थ शरीर में कुछ क्षोभ को पैदा करते हैं, उनकी प्रतिक्रिया कभी ठीक नहीं होती। मैं उस ओषधि को प्राप्त करता हूँ जो **ऊर्जयन्तीम्**=बल व प्राणशक्ति का संचार करनेवाली है। तथा **उदोजसम्**=उत्कृष्ट ओजस्विता को प्राप्त कराती है। 'ओजस्' वह तत्त्व है, जो शरीर की शक्तियों के उत्कर्ष का कारण बनता है। (२) **सर्वाः ओषधीः (आवित्सि)**=मैं उन सब ओषधियों को प्राप्त करता हूँ, जो **अस्मै अरिष्टतातये**=इस रोगी के लिए अहिंसा का विस्तार करनेवाली होती हैं। ये ओषधियाँ इसे नीरोग बनाकर पूर्ण आयुष्य में पहले शरीर से पृथक् नहीं होने देती। 'मा पुरा जातो मृथाः'=यह पुरुष पूर्ण आयुष्य को भोग करके ही जाता है।

भावार्थ—ओषधियाँ 'अश्वावती, सोमावती, ऊर्जयन्ती व उदोजस्' हैं।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अध्यात्म सम्पत्ति

उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते। धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष॥ ८॥

(१) **इव**=जिस प्रकार **गावः**=गौवें **गोष्ठात्**=गोष्ठ से **उदीरते**=बाहर आती हैं, इसी प्रकार **ओषधीनाम्**=ओषधियों के **शुष्माः**=शत्रुशोषक बल **उदीरते**=उद्‌गत होते हैं। इन ओषधि वनस्पतियों में वह शक्ति है जो हमारे शत्रुभूत रोगकृमियों को समाप्त कर देती है। (२) हे **पुरुष**=प्रभो! हमारे में उन ओषधियों के शुष्म उद्गत हों जो **तव**=आपके **आत्मानं धनम्**=अपने धन को **सनिष्यन्तीनाम्**=देनेवाली हैं। अर्थात् जो आत्मतत्त्वरूप धन को प्राप्त कराती हैं। पाँचवें मन्त्र में कहा था कि इनके सेवन से चित्तवृत्ति प्रभु-प्रवण होती है, चित्तवृत्ति को प्रभु-प्रवण करके ये आत्मतत्त्व रूप धन को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ रोगकृमिनाशक बल से तो युक्त हैं ही। ये चित्तवृत्ति को प्रभु-प्रवण करके आत्मिक धन का भी लाभ कराती हैं।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

इष्कृति से निष्कृति का जन्म

इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयं स्थ निष्कृतीः। सीराः पतत्रिणी स्थन यदामयति निष्कृथ॥ ९॥

(१) हे ओषधियो! **वः माता**=आपको जन्म देनेवाली यह भूमि माता **इष्कृतिः नाम**='इष्कृति' नामवाली है। यह सब **इष्**=वाञ्छनीय अन्नों को **कृति**=उत्पन्न करनेवाली है। इन इष्ट अन्नों को उत्पन्न करने के कारण ही इसका नाम 'इष्कृति' है। (२) **अथ उ यूयम्**=पर आप तो हे ओषधियो! **निष्कृतीः स्थ**=रोगों को शरीर से बाहर करनेवाली हो। माता 'इष्कृति', उसकी सन्तान 'निष्कृति'। इस प्रकार यहाँ विरोधाभास अलंकार है। 'वस्तुतः यहाँ विरोध हो' ऐसी बात तो है ही नहीं। 'इष्कृति' का अर्थ है 'वाञ्छनीय अन्नों को उत्पन्न करनेवाली' और 'निष्कृति' का भाव है 'रोगों को बाहर निकालनेवाली'। (३) हे ओषधियो! **यदा**=जब आप **आमयति**=(आमयत् का सप्तमी एक वचन) रोगयुक्त पुरुष में **सीराः** (नदी=नाड़ी नि० ४।१९।८)=नाड़ियों में **पतत्रिणीः**=गति करनेवाली **स्थन**=होती है। तब **निष्कृथ**=रोग को बाहर कर देती हो। नाड़ियों में गति करने का भाव यही है कि रुधिर में पहुँच जाना। यही आधुनिक युग में इञ्जक्शन्स का भाव होता है।

भावार्थ—'इष्कृति' से उत्पन्न होती हुई भी ये ओषधियाँ 'निष्कृति' हैं।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

रोग-मोषण

अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेनइव व्रजमक्रमुः। ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो३ रपः॥ १०॥

(१) **विश्वः**=ये शरीर में प्रवेश करनेवाली और रुधिर के साथ मिलकर **परिष्ठाः**=शरीर में चारों ओर स्थित होनेवाली ओषधियाँ **व्रजम्**=रोगसमूह पर **अति अक्रमुः**=अतिशयेन आक्रमण करती हैं, रोगों पर पादक्षेप (लात मारना) करती हैं (trarmple upon tham)। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **स्तेनः**=चोर **व्रजम्**=गोष्ठ पर (cow pen) आक्रमण करता है। वह चोर गौवों को चुरा ले जाता है, ये ओषधियाँ रोगों को चुरा ले जाती हैं। (२) वस्तुतः **ओषधीः**=ये ओषधियाँ, **यत् किञ्च**=जो कुछ **तन्वः रपः**=शरीर का दोष होता है उसे **प्राचुच्यवुः**=प्रच्युत कर देती हैं, शरीर से दोषों को निकाल देती हैं। शरीर के दोषों का दहन करने के कारण ही तो इनका नाम 'ओषधि' है (उष दाहे)।

भावार्थ—ओषधियाँ शरीर से दोषों को क्षरित कर देती हैं। ये ओषधियाँ मानो रोगों को चुरा लेती हैं।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यक्ष्म की आत्मा का नाश

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे। आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा॥ ११॥

(१) **यद्**=जो **वाजयन्**=(रुग्णं बलिनं कुर्वन् सा०) रोगी के अन्दर शक्ति का संचार करता हुआ मैं **इमाः**=इन **ओषधीः**=ओषधियों को **हस्ते**=हाथ में **आदधे**=धारण करता हूँ, तो **यक्ष्मस्य**=रोग का **आत्मा**=आत्मा **नश्यति**=नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार नष्ट हो जाता है **यथा**=जैसे **जीवगृभः**=(जीवानां ग्राहकात्) व्याध के **पुरा**=सामने जीव नष्ट हो जाता है। (२) वस्तुतः ज्ञानी वैद्य ओषधि को हाथ में लेता है, त्यूँ ही रोगी का आधा रोग भाग जाता है, रोग की आत्मा चली जाती है, रोग मर-सा जाता है। (३) रोगी को ठीक करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शक्ति को कायम रखा जाए। शक्ति गयी, तो ठीक होने का प्रश्न ही नहीं रहता।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य के हाथ में ओषधि लेते ही रोग मृत-सा हो जाता है। यह वैद्य रोगी के अन्दर वाज (बल) का संचार करके उसे जीवित कर देता है।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यक्ष्म विबाधन

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥ १२ ॥

(१) हे **ओषधीः**=ओषधियो! **यस्य**=जिस पुरुष के **अङ्गं अङ्गम्**=अंग-अंग में तथा **परुः परुः**=पर्व-पर्व में **प्रसर्पथ**=तुम गति करती हो, **ततः**=वहाँ-वहाँ से **यक्ष्मम्**=रोग को **विबाधध्वे**=बाधित करके दूर करती हो। ओषधि का ओषधित्व है ही यह कि यह दोष का दहन कर देती है। (२) ये इस प्रकार दोषों का दहन कर देती हैं, **इव**=जैसे कि **उग्रः**=तेजस्वी **मध्यमशीः**=राष्ट्ररूपी शरीर के मध्य में स्थित होनेवाला राजा राष्ट्र शरीर के उस-उस अंग व पर्व में होनेवाले दोषों को दूर करता है।

भावार्थ—शरीर में पहुँचकर ओषधियाँ दोषों का दहन करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

त्रिविध-दोष-विनाश

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना। साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥ १३ ॥

(१) शरीर में रोग 'वात, पित्त व कफ' के विकार के कारण होते हैं। वातिक विकार से उत्पन्न रोगों का निर्देश प्रस्तुत मन्त्र में 'वातस्य ध्राज्या' इन शब्दों से हो रहा है। श्लेष्यजन्य रोगों का संकेत 'किकिदीविना' शब्द से हुआ है। श्लेष्मावरुद्ध कण्ठजन्य ध्वनि का अनुकरण 'किकि' शब्द है, उस ध्वनि के साथ दीप्त होनेवाला यह श्लेष्यजन्य रोग है। 'चण भक्षणे' से बना हुआ 'चाण' शब्द भस्मक आदि पैत्रिक रोगों का वाचक है। इन रोगों में अति पीड़ा के होने पर मनुष्य 'हा मरा' इस प्रकार चीख पड़ता है। उस पीड़ा का वाचक 'निहाका' शब्द है। (२) हे **यक्ष्म**=रोग! तू **चाषेण**=पित्त विकार से होनेवाले राक्षसी भूखवाले भस्मकादि रोगों के **साकम्**=साथ **प्रपत**=इस शरीर से दूर हो जा। **किकिदीविना**=कफजन्य रोग के साथ तू यहाँ से नष्ट हो जा। **वातस्य ध्राज्या**=वात की गति व व्याप्ति जनित रोगों के **साकम्**=साथ तू इस शरीर से दूर हो। तथा **निहाकया**=प्रबल पीड़ा के **साकम्**=साथ **नश्य**=तू इस शरीर से अदृष्ट हो जा।

भावार्थ—औषध प्रयोग से पित्त, कफ व वात जनित सब विकार दूर हों। रोगजनित प्रबल पीड़ा भी दूर हो।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ओषधियों का परस्पर मेल

अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत। ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ १४ ॥

(१) हे ओषधियो! **वः**=तुम्हारे में से **अन्या**=एक **अन्याम्**=दूसरी को **अवतु**=रक्षित करनेवाली हो। अर्थात् एक ओषधि से होनेवाले अनिष्ट प्रभाव को दूसरी ओषधि दूर करे। **अन्या**=एक **अन्यस्याः उप**=दूसरी के समीप होती हुई **अवत**=रक्षा को करे। अर्थात् एक दूसरे से मिलकर वे अधिक गुणकारी हो जाएँ। सम्भवतः एक ओषधि का पान होता है, तो यह सहायक ओषधि अनुपान के रूप में होती है। (२) **ताः सर्वाः**=वे सब ओषधियाँ **संविदानाः**=परस्पर संज्ञान (=मेल) वाली होती हुई **मे**=मेरे **इदं वचः**=इस वचन को **प्रावता**=प्रकर्षेण रक्षित करनेवाली हों। 'ये ओषधियाँ गुणकारी हैं' इस वचन का ओषधियाँ रक्षण करें, अर्थात् सचमुच रोग को दूर करके वे उक्त वचन की तथ्यता को ही प्रमाणित करें। इन ओषधियों का वाञ्छनीय

प्रभाव न हो' ऐसी बात न हो।

भावार्थ—ओषधियाँ परस्पर मिलकर एक दूसरे के अवाञ्छनीय प्रभाव को दूर करती हुई, रोग का उन्मूलन करनेवाली हों।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

बृहस्पति-प्रसूत ओषधियाँ

याः फ॒लिनी॒र्या अ॑फ॒ला अ॑पु॒ष्पा याश्च॑ पु॒ष्पिणीः। बृह॒स्पति॑प्रसूता॒स्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १५ ॥

(१) **याः**=जो ओषधियाँ **फलिनीः**=फलवाली हैं, **याः अफलाः**=जो नहीं फलवाली हैं, जिन पर फल नहीं लगते, **अपुष्पाः**=जो बिना फूलवाली हैं, **याः च**=और जो **पुष्पिणीः**=फूलवाली हैं। इस प्रकार सामान्यतः ये चार भागों में विभक्त हुई-हुई हैं। (२) **बृहस्पति-प्रसूताः**=प्रभु से उत्पन्न की गईं, तथा उत्कृष्ट ज्ञानी वैद्य से प्रेरित की गई **ताः**=वे ओषधियाँ **नः**=हमें **अंहसः**=कष्ट से **मुञ्चनु**=मुक्त करें। ज्ञानी वैद्य से प्रयुक्त की गई ये ओषधियाँ हमें नीरोग करनेवाली हों। 'नीम हकीम खतरे जान' इस लोकोक्ति से स्पष्ट है कि ज्ञानी वैद्य से ही इनके प्रयोग को जानना चाहिए। अन्यथा इनका अवाञ्छनीय प्रभाव हो जाने की आशंका रहेगी।

भावार्थ—चतुर्विध ओषधियों का प्रयोग ज्ञानी वैद्य की प्रेरणा से ही करना चाहिए।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शपथ्य, वरुण्य, यम व पड्वीश

मु॒ञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒३॒॑दथो॑ वरु॒ण्या॑दु॒त। अथो॑ य॒मस्य॒ पड्वी॑शा॒त्सर्व॑स्माद्देवकिल्बि॒षात् ॥ १६ ॥

(१) ये ओषधियाँ **मा**=मुझे **शपथ्यात्**=(शप आक्रोशे) आक्रोश के जनक रोगों से, उन पैत्तिक विकारों से जिनसे कि पीड़ित हुआ-हुआ मनुष्य उटपटांग बोलता है, **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। इन ओषधियों के समुचित प्रयोग से मेरे पैत्तिक विकार शान्त हो। (२) **अथ उ**=और अब **वरुण्यात् उत**=वरुण्य रोग से भी ये मुझे मुक्त करें। वरुण जलाधिष्ठातृदेव है। एवं वरुण्य रोग कफजनित रोग हैं। वस्तुतः जलों के अनिष्ट प्रयोग से ही प्रायः इनकी उत्पत्ति होती है। (३) **अथ उ**=अब निश्चय से **यमस्य पड्वीशात्**=(अयं वै यमः योऽयंपवते) इस सबका नियन्त्रण करनेवाली वायु के पादबन्धन से भी ये ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। वात विकार होने पर पाँव आदि जकड़े से जाते हैं। गठिया आदि रोगों में मनुष्य के पैरों में बेड़ी-सी पड़ जाती है। इस पादबन्धन से ये ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। (४) **सर्वस्मात्**=सब **देवकिल्विषात्**=आँख, कान, नाक, मुख आदि देवों में होनेवाले दोषों से ये ओषधियाँ हमें छुड़ायें। ये सब इन्द्रियाँ देव हैं, नेत्र 'सूर्य' है, श्रोत्र 'दिशाएँ' हैं, वाणी 'अग्नि' है।

भावार्थ—इस प्रकार इन सब देवों में उत्पन्न हो जानेवाली न्यूनताओं को ये औषध दूर करें।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

द्युलोक से ओषधियों का पतन

अ॒व॒पत॑न्तीरवदन्दि॒व ओष॑धय॒स्परि॑। यं जी॒वम॒श्नवा॑महै॒ न स रि॑ष्याति॒ पूरु॑षः ॥ १७ ॥

(१) **ओषधयः**=ये ओषधियाँ **दिवः**=द्युलोक (आकाश) से **अवपतन्तीः**=वृष्टिजल के साथ नीचे गिरती हुई **परि अवदन्**=चारों ओर परस्पर बात करती हैं कि **यं जीवं अश्नवामहै**=जिस जीव को हम प्राप्त होती हैं, जिस जीव के शरीर में हमारा व्यापन होता है, **स पूरुषः**=वह पुरुष **न रिष्याति**=रोगों से हिंसित नहीं होता। (२) वृष्टिजल के साथ ओषधियाँ मानो आकाश से ही

भूमि पर पहुँचती हैं। 'पर्जन्यादन्न संभवः'=पर्जन्य से ही तो सब अन्नों का सम्भव होता है। ये ओषधियाँ सब दोषों का दहन करके हमें रोगों से असमय मरने नहीं देती।

भावार्थ—द्युलोक से आकर ओषधियाँ हमें रोगों से हिंसित नहीं होने देती।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

हृदय की शान्ति

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। तासां त्वमस्युत्तमारं कामाय शं हृदे॥ १८ ॥

(१) **याः**=जो **ओषधीः**=ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**='सोम' नामक राजावाली हैं (सोम ओषधीनामधिराजः गो० उ० १।१७), **बह्वीः**=(बंह्) शक्ति को देनेवाली हैं तथा **शतविचक्षणाः**=शतवर्षपर्यन्त हमारा ध्यान करनेवाली हैं, अथवा सैंकड़ों प्रकार से हमारा पालन करनेवाली हैं (चक्ष्) **तासाम्**=उन ओषधियों में **त्वम्**=तू हे सोम! **उत्तमा असि**=सर्वश्रेष्ठ है। **कामाय अरम्**=इस प्रस्तुत रोग को दूर करने की हमारी कामना को पूर्ण करने के लिए समर्थ है और इस प्रकार रोग को दूर करके **हृदे शम्**=हृदय के लिए शान्ति को देनेवाली है। (२) ओषधियाँ उस-उस रोग को दूर करके शान्ति का विस्तार करनेवाली हैं। ओषधियों का राजा सोम है। सोमलता के अतिरिक्त 'सोम' का अर्थ चन्द्र भी लिया जा सकता है। चन्द्र को भी 'ओषधीश' कहते ही हैं, यह चन्द्र ही सब ओषधियों में रस का सञ्चार करता है।

भावार्थ—ओषधियाँ रोग को दूर करती हैं, हृदय के लिए शान्तिकर होती हैं।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शक्ति का संपादन

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु। बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम्॥ १९ ॥

(१) **याः**=जो **ओषधीः**=ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=सोमलता नामक राजा वाली हैं, वे **पृथिवीं अनुविष्ठिताः**=इस पृथिवी पर, पृथ्वी से शक्ति व गुणों को प्राप्त करके विशेषरूप से स्थित हैं। पृथिवी के भेद से भी ओषधियों के गुणों में अन्तर आ ही जाता है। (२) हे ओषधियो! आप **बृहस्पति-प्रसूताः**=ज्ञानी वैद्य से प्रेरित की जाकर **अस्यै**=इस रुग्णशरीर के लिए **वीर्यं संदत्त**=शक्ति को देनेवाली होवो। ओषधियाँ शरीर में शक्ति को पैदा करके रोगों को नष्ट करनेवाली हों।

भावार्थ—ओषधियाँ शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अनातुरता

मा वो रिषत्खनिता यस्मै चाहं खनामि वः। द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम्॥ २० ॥

(१) ओषधियाँ पर्वत-प्रदेशों में प्रायः उत्पन्न होती हैं। कई ओषधियाँ इस प्रकार की भी हैं कि उनका रस व दूध खोदनेवाले की त्वचा पर पड़कर कुछ अशान्ति का कारण बन सकता है। सो इनके खोदने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। इसलिए कहते हैं कि हे ओषधियो! **वः खनिता**=तुम्हारा खोदनेवाला **मा रिषत्**=हिंसित न हो। **च**=और **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **वः**=आपको **खनामि**=खोदता हूँ वह भी हिंसित न हो। (२) इस ओषधि के प्रयोग से **अस्माकम्**=हमारे **द्विपद्**=दो पाँववाले मनुष्यादि तथा **चतुष्पद्**=चार पाँववाले पशु **सर्वम्**=सब **अनातुरं अस्तु**=रोगों की व्याकुलता से रहित हों।

भावार्थ—ओषधियों के समुचित प्रयोग से हम सब अनातुर=नीरोग हों।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

समीपस्थ व दूरस्थ ओषधियाँ

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः। सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै सं दत्त वीर्यम् ॥ २१ ॥

(१) **याः च**=जो ओषधियाँ **इदम्**=हमारे इस ओषधि स्तवन को **उपशृण्वन्ति**=समीपता से सुनती हैं, अर्थात् जो समीप प्रदेश में ही उपलभ्य हैं, **याः च**=और जो **दूरं परागताः**=दूर प्रदेशों में प्राप्य हैं। **सर्वाः**=वे सब **वीरुधः**=ओषधियाँ **संगत्य**=एक दूसरे से मिलकर, एक दूसरे के अवाञ्छनीय प्रभाव को दूर करके अधिक गुणकारी होती हुई **अस्यै**=इस रुग्ण शरीर के लिए **वीर्यम्**=शक्ति को **संदत्त**=दें। (२) ओषधियाँ परस्पर मिलकर अधिक गुणकारी हो जाती हैं। एक की तीव्रता को दूसरी कुछ मन्द करनेवाली हो जाती है, और इस प्रकार रुग्ण शरीर के लिए सह्य बन जाती है। ये ओषधियाँ शक्ति को उत्पन्न करके मनुष्य को नीरोग बनाती हैं।

भावार्थ—समीप में व दूर स्थान में प्राप्त होनेवाली सब ओषधियाँ हमारे लिए मिलकर शक्ति का संपादन करनेवाली हों।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ज्ञानी के परामर्श से ओषधि-प्रयोग

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन्पारयामसि ॥ २२ ॥

(१) ओषधियों का राजा सोम है। १८ तथा १९ मन्त्र संख्या पर इन्हें 'सोमराज्ञीः' कहा गया है। ये **ओषधयः**=ओषधियाँ मानो **राज्ञा सोमेन सह**=इस अपने राजा सोम के साथ **संवदन्ते**=संवाद करती हुई कहती हैं कि **राजन्**=हे सोमलते! **यस्मै**=जिसकी रोगी के लिए **ब्राह्मणः**=एक ज्ञानी वैद्य **कृणोति**=हमें करता है **तम्**=उस रोगी को **पारयामसि**=हम रोग से पार करनेवाली होती हैं। (२) औषध के ठीक प्रभाव के लिए आवश्यक है कि इनका प्रयोग एक ज्ञानी वैद्य द्वारा ही करवाया जाए। ज्ञान की कमी के होने पर इनका समुचित प्रयोग न होकर हानि की भी संभावना है ही।

भावार्थ—ओषधियों का प्रयोग ज्ञानी पुरुष के परामर्श से ही होना चाहिए।

ऋषिः—**भिषगाथर्वणः** ॥ देवता—**ओषधीस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

रोगों को पादाक्रान्त करना

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः। उपस्तिरस्तु सोऽ३स्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ २३ ॥

(१) हे **ओषधे**=सोमलते! **त्वं उत्तमा असि**=तू ओषधियों में सर्वोत्तम है, **वृक्षाः**=अन्य सब वनस्पतियाँ **तव**=मेरी **उपस्तयः**=(attendamts, followors) अनुगामिनी हैं, सायण के शब्दों में अधःशायी हैं। तू मुख्य है, अन्य सब तेरे से नीचे हैं। (२) तेरे समुचित प्रयोग का हमारे जीवनों पर यह परिणाम हो कि **यः**=जो **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=अपने अधीन करना चाहता है, **सः**=वह **अस्माकम्**=हमारे **उपस्तिः**=अधःशायी **अस्तु**=हो। जो रोग हमारे पर प्रबल होना चाहता है, वह हमारे से पादाक्रान्त किया जा सके।

भावार्थ—सोम सब ओषधियों में उत्तम है, सब ओषधियाँ उसके नीचे हैं। इसके प्रयोग से हम रोगों को नीचे कर सकें।

यह सूक्त ओषधि वनस्पतियों को समुचित प्रयोग से पूर्ण स्वस्थ बनने का उपदेश कर रहा है। इन ओषधियों का उत्पादन पर्जन्य से वृष्टि होकर ही होता है 'पर्जन्यादन्न संभवः'। सो अगले

सूक्त में वृष्टि की कामना की गई है। यह 'वृष्टिकाम' देवापि है, दिव्य गुणों के साथ मित्रता को करनेवाला है 'देवाः आपयो यस्य'। यह वासनारूप शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए शिव संकल्पों के सैन्य को प्रेरित करता है सो 'आर्ष्टिषेण' कहलाता है (ऋष् गतौ)। इस 'आर्ष्टिषेण देवापि' को प्रभु निर्देश करते हैं कि—

[९८] अष्टनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'देवापि' बनना

बृह॑स्पते॒ प्रति॑ मे दे॒वता॑मिहि मि॒त्रो वा॒ यद्वरु॑णो॒ वासि॑ पू॒षा।
आ॒दि॒त्यैर्वा॒ यद्वसु॑भिर्म॒रुत्वा॒न्त्स प॒र्जन्यं॒ शन्त॑नवे वृषाय ॥ १ ॥

(१) हे **बृहस्पते**=इस बृहती वेदवाणी का स्वाध्याय के द्वारा रक्षण करनेवाले देवापि! तू **मे**=मेरे **देवताम्**=देवताओं के प्रति **इहिम्**=प्रति जानेवाला हो। तू इन देवताओं से अपने अन्दर दिव्य भावों का वर्धन करनेवाला बन। (२) तू इस बात का ध्यान कर कि **मित्रः वा असि**=तू निश्चय से सबके साथ स्नेह करनेवाला बनता है। **यद्**=जब तू **वरुणः वा असि**=निश्चय से द्वेष का निवारण करनेवाला होता है। इस प्रकार स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाकर **पूषा**=तू अपना सच्चा पोषण करता है। (३) **यत्**=जब तू **आदित्यै वा**=(आदानात् आदित्यः) निश्चय से आदान की वृत्तियों के हेतु से तथा **वसुभिः**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों के हेतु से **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला होता है, प्राणसाधना को करता है। इस प्राणसाधना से तू आदित्यों व वसुओंवाला तो होता ही है, पर उन्नति करते-करते तू धर्ममेघ समाधि की स्थिति तक पहुँचता है। इस स्थिति में पहुँचा हुआ **स**=वह तू **शंतनवे**=शान्ति के विस्तार के लिए **पर्जन्यं वृषाय**=पर्जन्य को (वर्षय) वृष्टि करनेवाला बना। (४) ऊँची से ऊँची स्थिति में पहुँचनेवाला यह ऊर्ध्वादिक् का अधिपति 'बृहस्पति' है। धर्ममेघ समाधि में होनेवाले 'वर्षं इषवः' आनन्द वृष्टि के बिन्दु ही इस मार्ग पर इसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरक होते हैं। वस्तुतः राष्ट्र में इस प्रकार की वृत्तिवाले पुरुषों की स्थिति ही वृष्टि के भी ठीक से होने का कारण बनती है। 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु' यह प्रार्थना तभी पूर्ण होती है। (५) इस ऊँची स्थिति में पहुँचने का रहस्य 'मरुत्वान्' बनने में है। प्राणसाधना से हमारी वृत्ति सदा सद्गुणों व ज्ञान के ग्रहण की बनती है, हम 'आदित्य' बनते हैं 'आदान करनेवाले' सूर्य जैसे सब जगह से शुद्ध जल का ही अपनी किरणों द्वारा ग्रहण करता है, इसी प्रकार हम अच्छाइयों को ही लेते हैं बुराइयों को नहीं। प्राणसाधना का दूसरा परिणाम यह है कि हमारे शरीर में स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्त्वों का उत्पादन होता है, हम वसुओंवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम वेदवाणी को अपनानेवाले बृहस्पति बनकर मित्रता-निर्द्वेषता-पुष्टि-गुणादानवृत्ति तथा वसुमत्ता को अपनाने के हेतु से प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। धर्ममेघ समाधि की स्थिति तक पहुँचकर आनन्द की वर्षा का अनुभव करते हुए शान्ति को प्राप्त हों।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की ओर

आ दे॒वो दू॒तो अ॑जि॒रश्चि॑कि॒त्वान्त्वद्दे॑वापे अ॒भि माम॑गच्छत्।
प्र॒ती॒चीनः॑ प्र॒तिः मामा व॑वृत्स्व दधा॑मि ते द्यु॒मतीं॒ वाच॑मा॒सन् ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'मरुत्वान्' बनने पर हमारा जीवन बड़ा उत्तम बनता है। प्रभु कहते

हैं कि हे **देवापे**=देवों को अपना मित्र बनानेवाले देवापि! तू **देवः**=(दिव् क्रीडा) संसार के सब व्यवहारों को क्रीड़क की मनोवृत्ति से करनेवाला बना है। **दूतः**=तूने अपने को तपस्या की अग्नि में संतप्त किया है। **अजिरः**=(agile) बड़े क्रियाशील जीवनवाला तू हुआ है। **चिकित्वान्**=ज्ञानी बना है। अब **त्वद्**=तेरे से **मां अभि**=मेरी ओर **आ अगच्छत्**=सर्वथा स्तुतिवचन प्राप्त होनेवाले हों, अर्थात् तू निरन्तर प्रभु का स्तवन करनेवाला बन। तू अपनी इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि को मेरे में लगानेवाला बन, विषय-प्रवण न होकर तू आत्म-प्रवण हो। (२) **प्रतीचीनः**=इस प्रकार इन्द्रियों को प्रत्याहृत करनेवाला (प्रति अञ्च्=प्रति आहर) **मां प्रति**=मेरी ओर **आववृत्स्व**=आनेवाला हो। (३) जब हम प्रभु की ओर चलते हैं तो प्रभु कहते हैं कि मैं **ते आसन्**=तेरे मुख में **द्युमती**=ज्योतिर्मयी **वाचम्**=वाणी को **दधामि**=धारण करता हूँ। हम इन्द्रियों को प्रत्याहृत करके प्रभु की ओर चलते हैं और जितना-जितना हम प्रभु के समीप होते हैं उतना-उतना प्रभु के ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर चलते हैं, प्रभु हमें ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मधुर प्रकाशमय जीवन

अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन्बृहस्पते अनमीवामिषिराम्।
यया वृष्टिं शन्तनवे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमाँ आ विवेश ॥ ३ ॥

(१) देवापि प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **बृहस्पते**=वेदवाणी के पति प्रभो! आप **अस्मे आसन्**=हमारे मुखों में **द्युमतीं वाचम्**=इस ज्योतिर्मयी वाणी को **धेहि**=धारण कीजिए। जो वाणी **अनमीवाम्**=सब प्रकार के रोगों को दूर करनेवाली है तथा **इषिराम्**=सदा उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाली है। (२) उस वाणी को हमारे में धारण कीजिए **यया**=जिससे कि हम गृह का निर्माण करनेवाले पति-पत्नी भी **शन्तनवे**=शान्ति के विस्तार के लिए **वृष्टिम्**=आनन्द की वर्षा को **वनाव**=प्राप्त करनेवाले हों। वेदवाणी से उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करके संयमी जीवनवाले बनकर योगमार्ग में प्रगति करते हुए धर्ममेघ समाधि की स्थिति तक पहुँच पाएँ। (३) यह **द्रप्सः**=(drsps) सोमकण जो **दिवः**=ज्ञान की ज्योति का साधनभूत है तथा **मधुमान्**=जीवन को अत्यन्त माधुर्ययुक्त बनानेवाला है, यह **आविवेश**=हमारे शरीर में ही चारों ओर प्रविष्ट होनेवाला हो। शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर यह हृदय को माधुर्य से तथा मस्तिष्क को दीप्ति से भर दे।

भावार्थ—हमारे मुख में ज्योतिर्मयी वाणी हो, हम योगमार्ग में आगे बढ़ते हुए धर्ममेघ समाधि तक पहुँचें। सोमरक्षण के द्वारा मधुर व प्रकाशमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऐश्वर्य की प्राप्ति

आ नो द्रप्सा मधुमन्तो विशन्त्विन्द्र देह्यधिरथं सहस्रम्।
नि षीद होत्रमृतुथा यजस्व देवान्देवापे हविषा सपर्य ॥ ४ ॥

(१) देवापि प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारे में **मधुमन्तः**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले **द्रप्साः**=सोमकण **आविशन्तु**=हमारे शरीरों में ही चारों ओर प्रविष्ट होनेवाले हों। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप हमें **अधिरथम्**=इस शरीर-रथ में **सहस्रं देहि**=शतशः धनों को प्राप्त कराइये। (२) देवापि की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु उसे इसकी प्राप्ति के लिए साधनभूत

बातों का निर्देश करते हुए कहते हैं कि—(क) **होत्रं निषीद**=स्तुति (होत्र=....) में तू आसीन होनेवाला हो, सदा उपासना तुझे प्रिय हो। (ख) **ऋतुथा यजस्व**=ऋतुओं के अनुसार तू यज्ञों को करनेवाला बन। (ग) तथा **देवापे**=हे देवों को अपना मित्र बनानेवाले जीव! तू **देवान्**=देवों का **हविषा**=दानपूर्वक अदन करने के द्वारा, यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **सपर्य**=पूजन करनेवाला हो। यज्ञों (पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ) के द्वारा देवों को तृप्त करके ही तू सदा खानेवाला बन। इन प्रसन्न हुए-हुए देवों से ही तुझे वाञ्छनीय ज्ञान की प्राप्ति होगी।

भावार्थ—जीवन में वास्तविक ऐश्वर्य को पाने के लिए आवश्यक है कि हम—प्रभु-स्तवन करें, (२) यज्ञशील हों, (३) यज्ञशेष के सेवन की वृत्तिवाले बनकर देवों को आदृत करनेवाले बनें।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तर समुद्र से अधर समुद्र की ओर दिव्य जलों का प्रवाह

आ॒र्ष्टि॒षे॒णो हो॒त्रमृषि॑र्नि॒षीद॑न्दे॒वापि॑र्देवसुम॒तिं चि॑कि॒त्वान्।
स उत्त॑रस्मा॒दध॑रं समु॒द्रम॒पो दि॒व्या अ॑सृजद्व॒र्ष्या॑ अ॒भि ॥ ५ ॥

(१) 'ऋष' धातु 'नष्ट करना' इस अर्थ की वाचक है। 'वासनाओं को नष्ट करनेवाली है इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप सेना जिसकी' वह व्यक्ति 'आर्ष्टिषेण' है। यह **आर्ष्टिषेणः**= आर्ष्टिण **ऋषिः**=वासनाओं का संहार करनेवाला बनकर **होत्रं निषीदन्**=(होत्रम्) स्तवन में व यज्ञों में आसीन होता है। इस स्तवन व यज्ञशीलता से **देवापिः**=(देवा: आपयो यस्य) देवों का मित्र बनकर **देवसुमतिं चिकित्वान्**=देवों की कल्याणी मति को जाननेवाला होता है। देवों के सम्पर्क में आकर उत्तम ज्ञान को प्राप्त करता है। माता, पिता व आचार्य आदि देव उसके ज्ञान को बढ़ानेवाले होते हैं। (२) **सः**=वह आर्ष्टिषेण देवापि **उत्तरस्मात् (समुद्रात्)**=उत्कृष्ट ज्ञान समुद्रभूत आचार्यों से **अधरं समुद्रं अभि**=इस निचले समुद्र की ओर, अर्थात् अपनी ओर **दिव्याः अपः**=इन प्रकाशरूप अलौकिक ज्ञान जलों को **असृजत्**=प्रवाहित करता है। ये ज्ञानजल **वर्ष्याः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं, ज्ञानजलों के आधार होने के दृष्टिकोण से आचार्य 'उत्तर समुद्र' है और विद्यार्थी 'अधर समुद्र'। आचार्य से विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त होता है, यही उत्तर समुद्र से अधर समुद्र की ओर जल का बरसना है। ये ज्ञानजल दिव्य हैं, प्रकाशमय होने से अलौकिक हैं और सुखों का वर्षण करनेवाले होने से 'वर्ष्य' हैं।

भावार्थ—हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को वासनाओं के संहार के लिए प्रेरित करें। आचार्यों के सम्पर्क में आकर ज्ञानजलों के समुद्र बनने का यत्न करें।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान व दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु

अ॒स्मिन्त्स॑मु॒द्रे अध्युत्त॑रस्मि॒न्नापो॑ दे॒वेभि॒र्निवृ॑ता अतिष्ठन्।
ता अ॑द्रवन्नार्ष्टिषे॒णेन॑ सृ॒ष्टा दे॒वापि॑ना॒ प्रेषि॑ता मृ॒क्षिणी॑षु ॥ ६ ॥

(१) **अस्मिन्**=इस उत्तर स्मिन् **समुद्रे अधि**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञान समुद्र प्रभु में **देवेभिः**=सब दिव्यगुणों से **निवृताः**=निरुद्ध (surrounded enelased) **आपः**=ज्ञानजल **अतिष्ठन्**=स्थित हैं। प्रभु ज्ञान के पुञ्ज तो हैं ही, साथ ही वे दिव्यगुणों के आधार हैं। (२) **ताः**=वे ज्ञानजल **आर्ष्टिषेणेन**='इन्द्रियों, मन व बुद्धि के द्वारा वासनाओं का संहार करनेवाले से **सृष्टाः**=उत्पन्न

किये हुए **अद्रवन्**=गतिवाले होते हैं, अर्थात् इसे खूब क्रियाशील बनाते हैं। ये ज्ञानजल **देवापिना**=देव हैं मित्र जिसके उस देवापि से **मृक्षिणीषु**=(मज् शुद्धौ) परिशुद्ध हृदय-स्थलियों में **प्रेषिताः**=प्रेषित (=प्रेरित) होते हैं। देवापि योगांगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय करके अपने हृदय को दीप्त करता है। इस दीप्त हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है। यही उत्कृष्ट ज्ञान-समुद्र से ज्ञानजलों का प्रवाह कहलाता है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान व दिव्यगुणों के पुञ्ज हैं। देवापि अपने हृदय को पवित्र बनाकर इन ज्ञानजलों को अपनी ओर प्रवाहित करता है।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दया से दीप्त

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत्॥ ७॥

(१) **यत्**=जब **देवापिः**=देवों को अपना मित्र बनानेवाला यह 'देवापि' (क) **शन्तनवे**=शान्ति के विस्तार के लिए **पुरोहितः**=सब से अग्र-स्थान में स्थित होता है, शान्ति विस्तार के कर्म में सर्वप्रमुख होता है। (ख) **होत्राय वृतः**=यह स्तवन व यज्ञ के लिए ही वरण किया गया होता है। सदा यज्ञों व स्तवनों में ही प्रवृत्त रहता है। (ग) **कृपयन्**=(to pity) सब पर दया करता हुआ **अदीधेत्**=(दीधी tto sluire) दीप्त हो उठता है। (२) इस प्रकार के जीवनवाले **अस्मा**=इस देवापि के लिए **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी परमात्मा **वृष्टिवनिम्**=आनन्द की वृष्टि को प्राप्त करानेवाले **देवश्रुतम्**=सब देवों के ज्ञान को देनेवाली **वाचम्**=वाणी को **अयच्छत्**=देता है। वेदवाणी के अन्दर सूर्यादि सब देवों का ज्ञान उपलब्ध होता है। यह ज्ञान इन सब पदार्थों के ठीक प्रयोग के द्वारा हमारे लिए सुखों का वर्षण करनेवाला है। प्रभु देवापि के लिए इस ज्ञान को देते हैं।

भावार्थ—हम शान्ति विस्तार के कर्मों में प्रमुख हों, यज्ञों व स्तवनों में प्रवृत्त रहें, सब पर दया करते हुए दीप्त हों। प्रभु हमें वह ज्ञान दें जो हमारे लिए सुखों का वर्षण करनेवाला होगा।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुशुचान

यं त्वा देवापिः शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे।
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम्॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यं त्वा**=जिन आपको **देवापिः**=देवों को मित्र बनानेवाला, **शुशुचानः**=अपने को पवित्र करनेवाला, **आर्ष्टिषेणः**='इन्द्रियों, मन व बुद्धि' की सेना को वासनारूप शत्रुओं के संहार के लिए भेजनेवाला **मनुष्यः**=विचारशील पुरुष **समीधे**=समिद्ध करता है। (२) **सः**=वे आप **विश्वेभिः देवैः**=सब देवों से **अनुमद्यमानः**=प्रसन्न किये जाते हुए **वृष्टिमन्तं पर्जन्यम्**=आनन्द की वर्षा करनेवाले समाधि स्थिति के मेघ को **ईरया**=प्रेरित करिये। उस मेघ से आनन्द की वृष्टि को कराइये। (३) जब मनुष्य 'उत्तम माता, पिता व आचार्य' आदि देवों के सम्पर्क में आता है तो उसका ज्ञान बढ़ता है और उसका जीवन पवित्र होता है। यह वासनाओं का संहार करता हुआ, प्रभु-दर्शन के योग्य बनता है। इन देववृत्ति के पुरुषों से स्तुति किये जाते हुए प्रभु इन्हें आनन्द की वृष्टि का अनुभव कराते हैं।

भावार्थ—देवापि बनकर अपने जीवनों को पवित्र करते हुए हम आनन्द की वृष्टि का अनुभव करें।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवन-यज्ञ

त्वां पूर्व ऋषयो गीर्भिरायन्त्वामध्वरेषु पुरुहूत विश्वे।
सहस्राण्यधिरथान्यस्मे आ नो यज्ञं रोहिदश्वोप याहि॥ ९॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! (पुरु=बहुत) पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे प्रभो! (पृपालनपूरणयोः) **त्वाम्**=आपको **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **ऋषयः**=ज्ञानी पुरुष **गीर्भिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **आयन्**=प्राप्त होते हैं। **विश्वे**=इस संसार में प्रविष्ट होनेवाले व्यक्ति **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के होने पर **त्वाम्**=आपको प्राप्त होते हैं। (२) हे प्रभो! आपको प्राप्त होने पर **अस्मे**=हमें **अधिरथानि**=इस शरीररूप रथ में **सहस्राणि**=हजारों ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। इसलिए हे **रोहिदश्व**=तेजस्वी वृद्धिशील इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **नः यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ में **उप आयाहि**=समीपता से प्राप्त होइये। आपकी कृपा से ही तो हमारा यह जीवनयज्ञ पूर्ण होना है। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात होताओं से ही तो यह जीवनयज्ञ चलता है। इन सातों को आपने ही तेजस्विता प्राप्त करानी है।

भावार्थ—ज्ञान व यज्ञ प्रभु प्राप्ति के साधन हैं। प्रभु के प्राप्त होने पर ही हमारा जीवनयज्ञ निर्विघ्नता से पूर्ण होना है।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानवृष्टि

एतान्यग्ने नवतिर्नव त्वे आहुतान्यधिरथा सहस्रा।
तेभिर्वर्धस्व तन्वः शूर पूर्वीर्दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीहि॥ १०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **एतानि नवतिः नव**=ये जीवन के ९९ वर्ष **त्वे आहुतानि**=आप में अर्पित हुए हैं। **अधिरथा**=इस शरीररूप रथ में **सहस्रा**=जो शतशः ऐश्वर्य हैं, वे भी आपके प्रति अर्पित हैं। वस्तुतः वे सब आपके ही दिये हुए हैं, सो आपके ही हैं। (२) हे **शूर**=हमारे वासनारूप शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **तेभिः**=उन ऐश्वर्यों के द्वारा **पूर्वीः तन्वः**=जिनका पालन व पूरण किया गया है, ऐसे इन शरीरों को **वर्धस्व**=आप बढ़ाइये। वासनाओं के विनष्ट होने पर शरीर की शक्तियों का वर्धन होता ही है। (३) **इषितः**=प्रार्थना किये हुए आप **नः**=हमारे लिए **दिवः वृष्टिम्**=ज्ञान की वर्षा को **रिरीहि**=प्रदान कीजिए। इस ज्ञान के द्वारा ही हमारे कर्म पवित्र होंगे। और हम इन पवित्र कर्मों से निरन्तर उन्नति को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन व सब शरीरस्थ ऐश्वर्य प्रभु के लिए अर्पित हों। वासनाओं का विनाश करने के द्वारा प्रभु हमारा वर्धन करें तथा हमारे लिए ज्ञान का वर्षण करें।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवयान मार्ग तथा देवों का आश्रय

एतान्यग्ने नवतिं सहस्रा सं प्र यच्छ वृष्ण इन्द्राय भागम्।
विद्वान्पथ ऋतुशो देवयानानप्यौलानं दिवि देवेषु धेहि॥ ११॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **एतानि**=इन **नवतिम्**=नब्बे जीवन के वर्षों को तथा **सहस्रा**=हजारों ऐश्वर्यों को **वृष्णे**=इस शक्तिशाली **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **भागम्**=सेवनीय अंश के रूप में **संप्रयच्छ**=दीजिए। (२) **विद्वान्**=सर्वज्ञ होते हुए आप **ऋतुशः**=ऋतुओं के अनुसार **देवयानान् पथः**=देवयान मार्गों को **धेहि**=हमारे लिए स्थापित करिये। हम आपकी प्रेरणा को प्राप्त करके सदा देवयान मार्गों पर चलनेवाले हों। और **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश के निमित्त **देवेषु**=उत्तम माता, पिता, आचार्य आदि देवों में **औलानम्**=(suppost) आश्रय को **अपि**=भी **धेहि**=धारण करिये। उत्तम माता, पिता व आचार्य आदि देवों के आश्रय को पाकर हम ज्ञान के प्रकाश को पानेवाले हों। माता हमें प्रारम्भिक ज्ञान को देनेवाली हों, हमारी रुचि को ज्ञान-प्रवण करनेवाली हो। पिता से हमें लौकिक इतिहासादि का ज्ञान प्राप्त हो तथा आचार्यों से हम विज्ञान को प्राप्त करके प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखनेवाले हों।

भावार्थ—हमें दीर्घजीवन व जीवन के लिए आवश्यक ऐश्वर्य प्राप्त हों। हम देवयान मार्ग पर चलनेवाले हों। उत्तम माता, पिता व आचार्य के आश्रय में रहकर उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करें।

सूचना—वेद में सामान्यतः १०० वर्ष के जीवन की प्रार्थना है। ९०, १० वर्ष यह १०० वर्ष सामान्य है। 'भूयश्च शरदः शतात्' सौ से अधिक वर्ष जीवें।

ऋषिः—**देवापिरार्ष्टिषेणः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रोगों व वासनाओं का विनाश

अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहापामीवामप रक्षांसि सेध।
अस्मात्समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह ॥ १२ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मृधः**=हमारा हिंसन करनेवाली वासनाओं को **बाधस्व**=आप बाधित करिये। **दुर्गहा**=दुःखेन गाहितव्य (=आलोडनीय) शत्रु पुरों को **वि**=(बाधस्व) बाधित करिये। 'काम, क्रोध व लोभ' से 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में बनाए गये इन असुरों के नगरों को आप विध्वस्त करिये। **अमीवाम्**=रोगों को **अपसेध**=हमारे से दूर करिये तथा **रक्षांसि अप (सेध)**=रोगकृमियों का निषेध करिये। (२) इस प्रकार हमें शरीर व मन से स्वस्थ करके **अस्मात्**=इस **दिवः**=ज्ञान के **बृहतः समुद्रात्**=विशाल समुद्र से **अपाम्**=ज्ञानजलों के **भूमानम्**=बाहुल्य को **नः**=हमारे लिये **इह**=यहाँ इस जीवन में **उपसृज**=समीपस्थ होते हुए उत्पन्न करिये। आपकी कृपा से हम स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को खूब बढ़ा सकें।

भावार्थ—हम वासनाओं व रोगों से अपना रक्षण कर सकें। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करें।

सूक्त का विषय यही है कि हम ज्ञान को बढ़ाकर जीवन को पवित्र बनाते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों। अगले सूक्त का ऋषि वासनाओं का उद्गिरण करनेवाला 'वम्र' है, यह वासनाओं को विशेषरूप से खोदनेवाला 'वैखानस' है। यह कहता है कि—

[९९] नवनवतितमं सूक्तम्

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अद्भुत आनन्दप्रद ज्ञान की प्राप्ति

कं नश्चित्रमिषण्यसि चिकित्वान्पृथुग्मानं वाश्रं वावृधध्यै।

कत्तस्य दातु शवसो व्युष्टौ तक्षद्वज्रं वृत्रतुरमपिन्वत् ॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **चिकित्वान्**=ज्ञानी होते हुए आप **नः**=हमारे लिए **कम्**=आनन्द को देनेवाले **चित्रम्**=चेतानेवाले ज्ञान को **इषण्यसि**=आप प्रेरित करते हैं। जो ज्ञान **पृथुग्मानम्**=(पृथुभावं प्राप्नुवन्तं) पृथुभाव को विस्तार को प्राप्त करनेवाला है, जिस ज्ञान को प्राप्त करके हम संकुचित व अनुदार नहीं रहते, जो ज्ञान हमें विशाल बनानेवाला है। **वाश्रम्**=जो स्तुति के योग्य व प्रशंसनीय है। **वावृधध्यै**=जो ज्ञान वर्धन के लिये होता है, जिस ज्ञान को प्राप्त करके हम उन्नत ही उन्नत होते चलते हैं। (२) **तस्य**=उस प्रभु का **दातु**=दान **कम्**=आनन्दप्रद है। **शवसः व्युष्टौ**=बल के उदय होने (व्युष्टि=dawn=उषा) के निमित्त अथवा (व्युष्टि=prospesity) बल के ऐश्वर्य के निमित्त वे प्रभु **वज्रं तक्षत्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को बनाते हैं और इस वज्र के द्वारा **वृत्रतुरम्**=वासनारूप शत्रु को हिंसित करनेवाले को **अपिन्वत्**=प्रीणित करते हैं अथवा आनन्द से सींचते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। शक्ति के ऐश्वर्य को प्राप्त कराने के लिए क्रियाशीलता रूप वज्र को प्राप्त कराते हैं। इस वज्र से वासना का संहार होने पर ही तो शक्ति मिलती है।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ज्ञान-विज्ञान' से युक्त होकर 'उपासना'

स हि द्युता विद्युता वेति साम पृथुं योनिमसुरत्वा ससाद।
स सनीळेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर्न ऋते सप्तथस्य मायाः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **सः**=वह 'वृत्रतूः' व्यक्ति **हि**=निश्चय से **द्युता विद्युता**=ज्ञान-विज्ञान के साथ **साम वेति**=उपासनात्मक मन्त्रों व स्तोत्रों को प्राप्त होता है। ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करता है और स्तवन को करनेवाला होता है। (२) **असुरत्वा**=(असु क्षेपणे) वासनारूप शत्रुओं के दूर फेंकने के द्वारा यह **पृथुं योनिम्**=उस विशाल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **ससाद**=आसीन होता है। वस्तुतः प्रभु में आसीन होने से ही यह पूर्णरूपेण वासनाओं का पराभव कर पाता है। (३) **स**=वह **सनीडेभिः**=अपने साथ समान नीडवाले इन प्राणों के द्वारा **प्र सहानः**=शत्रुओं का पूर्णरूप से मर्षण करता है। प्राणसाधना इसे इस योग्य बनाती है कि यह कामादि का पराभव कर सके। प्राणों से टकराकर ये वासनाएँ इस प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे कि पत्थर से टकराकर मट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है। (४) **अस्य सप्तथस्य**=इस पाँच ज्ञानेन्द्रियों व मन का अपने साथ वर्षण करने करनेवाले (मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति) सातवें जीवन के **ऋते**=व्यवस्थित जीवन के होने पर, अनृत से दूर होकर ऋत में चलने पर **मायाः**=प्रज्ञान **भ्रातुः न**=अपने बड़े भाइ प्रभु की तरह होते हैं, (द्वा सुपर्णा समुजा सखाया०) प्रभु की तरह यह भी ज्ञान से चमक उठता है। 'भ्रातुः' शब्द का अर्थ 'संसार का भरण करनेवाला प्रभु' भी किया जा सकता है। इस प्रभु की तरह यह वासनाओं का पराभव करनेवाला व्यक्ति भी ज्ञान-सम्पन्न होता है।

भावार्थ—हम ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करके प्रभु के उपासक बनें। प्रभु में आधीन होने पर हम वासनाओं का विनाश कर पाएँगे। उस समय ही वस्तुतः ऋतमय जीवनवाले बनकर हम ज्ञान से चमकेंगे।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सन्मार्ग का आक्रमण

स वाजं यातापदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परि षदत्सनिष्यन्।
अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत् ॥ ३ ॥

(१) **सः**=वह गत मन्त्र का उपासक **अप-दुष्पदा**=दुष्टाचार से रहित (अप) पुण्यमार्ग से **यन्**=गति करता हुआ **वाजं याता**=शक्ति को प्राप्त करता है। **स्वर्षाता**=प्रकाश की प्राप्ति के निमित्त **सनिष्यन्**=संभजन करता हुआ **परिषदत्**=आसीन होता है। यह प्रभु-भजन उसके हृदय को प्रकाश प्राप्त कराता है। (२) **अनर्वा**=वासनाओं से हिंसित न होता हुआ **यत्**=जब यह **शतदुरस्य**=सैंकड़ों द्वारोंवाले इस असुर सम्राट् 'वृत्र' के **वेदः**=धन व ऐश्वर्य को **घ्नन्**=नष्ट करता है तो **शिश्नदेवान्**=अ-ब्रह्मचर्य से चलनेवालों को **वर्पसा अभिभूत्**=(आवरकेण बलेन) अभिभूत कर लेनेवाले बल से पराजित करता है। जितेन्द्रिय अजितेन्द्रियों को पराजित करनेवाला होता है।

भावार्थ—सन्मार्ग से चलते हुए हम शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आसुरीस्वराडार्चीनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दीप्ति व दिव्य पदार्थों की ओर

स यह्व्यो३ऽवनीर्गोष्वर्वा जुहोति प्रधन्यासु सस्त्रिः।
अपादो यत्र युज्यासोऽरथा द्रोण्यश्वास ईरते घृतं वाः ॥ ४ ॥

(१) **सः**=वह **गोषु अर्वा**=ज्ञान की वाणियों में गति करनेवाला **यह्व्यः**=(महतीः) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **अवनी**=रक्षा के साधनभूत (आपः सा०) रेतःकणों को (आपः=रेतः=वीर्यम्) **आजुहोति**=अपनी ज्ञानाग्नि में आहुत करता है। इन रेतःकणों के रक्षण से ही बुद्धि सूक्ष्म होती है और सूक्ष्मता के अनुपात में ही यह बुद्धि तत्त्वदर्शन करनेवाली होती है। (२) इन रेतःकणों को अपने अन्दर सुरक्षित करके यह व्यक्ति **प्रधन्यासु**=अपने जीवन को प्रकृष्ट धन्यता प्राप्त करानेवाली क्रियाओं में **सस्त्रिः**=निरन्तर गतिशील होता है। **यत्र**=जिन क्रियाओं में **द्रोण्यश्वासः**=(द्रुत व्यापनाः सा०) द्रुत गति से व्याप्त होनेवाले ये इन्द्रियाश्व **अपादः**=बिना पाँवोंवाले होते हुए भी **अरथाः**=रथ से रहित होते हुए भी **युज्यासः**=अपने-अपने कार्यों में उत्तमता से लगे हुए **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति तथा **वाः**=वरणीय पदार्थों के प्रति **ईरते**=गतिवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त कराती हैं, तो कर्मेन्द्रियाँ उत्कृष्ट यज्ञादि कर्मों में लगकर स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करानेवाली बनती हैं।

भावार्थ—हम महत्त्वपूर्ण सोमरूप जलों को शरीर में ही सुरक्षित करके दीप्ति व दिव्य पदार्थों को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अप्रशस्तता से दूर

स रुद्रेभिरशस्तवार ऋभ्वा हित्वी गयमारेअवद्य आगात्।
वम्रस्य मन्ये मिथुना विवव्री अन्नमभीत्यारोदयन्मुषायन् ॥ ५ ॥

(१) **सः**=वह '**वम्र**'=वासनाओं का उद्गिरण करनेवाला मन्त्र का ऋषि **रुद्रेभिः**=प्राणों के द्वारा, प्राणसाधना के द्वारा **अशस्त-वारः**=सब अशुभों का निवारण करनेवाला होता है। अशुभों का निवारण करके यह '**ऋभ्वा**'=(ऋतेन भाति) ऋत से दीप्त होता है। अनृत से यह दूर होकर ऋत से चमक उठता है। (२) **गयम्**=इस शरीररूप गृह को **हित्वी**=धारण करके **आरे अवद्यः**=सब निन्द्य कर्मों से दूर होता हुआ यह **आगात्**=सम्पूर्ण गति को करनेवाला होता है। 'गयम्' का अर्थ (honsehold) 'गृहस्थ' भी होता है। अपने गृहस्थ को सम्यक् धारण करता हुआ यह निन्द्य कर्मों से ऊपर उठकर प्रभु की ओर जानेवाला होता है। (३) इस **वम्रस्य**=वम्र के

मिथुना=दोनों द्यावापृथिवी, मस्तिष्क तथा शरीर **विवव्री**=विशिष्टरूपवाले होते हैं, ऐसा **मन्ये**=मैं मानता हूँ। गत मन्त्र के अनुसार इसका मस्तिष्क 'घृतं'=ज्ञानदीप्ति को लिए हुए होता है और शरीर 'वा:'=सब वरणीय शक्तियों से सम्पन्न होता है। (४) वह वम्र **अन्नं अभि इत्य**=अन्न की ही ओर जाकर, अर्थात् अन्न का ही सेवन करता हुआ, **मुषायन्**=(to hust, inywe kill) सब वासनाओं का संहार करता हुआ इन आसुरभावों को **अरोदयत्**=रुलाता है। देर तक एक स्थान में रहकर आज उन्हें यहाँ से जाना पड़ रहा है।

भावार्थ—हम आसुरताओं से दूर होकर गृहस्थ को सुन्दरता से निभाएँ। वानस्पतिक पदार्थों को सेवन करते हुए वासनाओं से दूर रहें'।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'षडक्ष त्रिशीर्षा' दास का वध

स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन्षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत्।
अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयोअग्रया हन्॥ ६ ॥

(१) **सः**=गत मन्त्र में वर्णित 'वम्र' **इत्**=निश्चय से **पतिः**=अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि का स्वामी होता हुआ **तुवीरवम्**=बढ़-चढ़कर बोलनेवाले मेरे समान कौन है 'ईश्वरोहम्' मैं ही तो ईश्वर हूँ इस प्रकार शेखी बघारनेवाले **दासम्**=आसुरभाव का **दन्**=दमन करता हुआ **षडक्षम्**='पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व छठा मन' इन छह आँखोंवाले **त्रिशीर्षाणम्**='काम, क्रोध, लोभ' रूप तीन सिरोंवाले इस दास को **दमन्यत्**=कुचलनेवाला होता है। (२) **नु**=अब **त्रितः**='काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को तैर जानेवाला **अस्य**=इस प्रभु के **ओजसा वृधानः**=ओज से बढ़ता हुआ, **अयो अग्रया**=लोह सूचिकावत् तीक्ष्ण अग्रभागवाली **विपा**=बुद्धि से **वराहम्**=उस सब श्रेष्ठ पदार्थों के प्राप्त करानेवाले प्रभु को **हन्**=प्राप्त होता है (हन् गतौ)। 'काम-क्रोध-लोभ' के कारण 'शरीर, मन व बुद्धि' की दुर्गति हो जाती है। इन कामादि को तैरनेवाला शरीर, मन व बुद्धि को शक्ति-सम्पन्न बनाता है और तीव्र बुद्धि से प्रभु-दर्शन कर पाता है।

भावार्थ—हम 'षडक्ष त्रिशीर्ष' दास का दमन करके तीव्र बुद्धि के द्वारा प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुर-पुर-विध्वंस

स द्रुह्वणे मनुष ऊर्ध्वसान आ साविषदर्शसानाय शरुम्।
स नृतमो नहुषोऽस्मत्सुजातः पुरोऽभिनदर्हन्दस्युहत्ये॥ ७ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु **द्रुह्वणे**=(द्रुह जिघांसायाम्) हमें मारने की कामना करनेवाले काम-क्रोधादि को (वन्=win) पराजित करनेवाले **मनुषे**=विचारशील पुरुष के लिए **ऊर्ध्वसानः**=उत्कृष्ट प्रदेश को प्राप्त करानेवाले हैं। **अर्शसानाय**=इन काम-क्रोधादि शत्रुओं की हिंसा करनेवाले के लिए वे प्रभु ही **शरुम्**=शत्रुओं के शीर्ण करनेवाले वज्र को **आसाविषत्**=सर्वथा उत्पन्न करते हैं। इस विचारशील पुरुष को वे वह वज्र प्राप्त कराते हैं, जिससे कि वह इन सब शत्रुओं का संहार कर पाता है। (२) **सः**=वे प्रभु ही **नृतमः**=हमारे सर्वोत्तम नेता हैं, **नहुषः**=हम सबको एक दूसरे के साथ बाँधनेवाले हैं। हम सबके पिता होते हुए वे हमें परस्पर भ्रातृ-बन्धन में बाँधते हैं। (३) **अस्मान् सुजातः**=हमारे हृदयों में उत्तमता से प्रादुर्भूत हुए-हुए वे प्रभु, **अर्हन्**=हमारे से पूज्य होते हुए **दस्युहत्ये**=काम-क्रोधादि दास्यव वृत्तियों के साथ चलनेवाले संग्राम में **पुरः अभिनत्**=इन

शत्रु-पुरियों का विध्वंस करते हैं। काम ने इन्द्रियों में, क्रोध ने मन में तथा लोभ ने बुद्धि में जो अपना किला बनाया है, प्रभु उन सबको विध्वस्त कर देते हैं। इन तीनों पुरियों के विध्वंस को करनेवाले वे प्रभु 'त्रिपुरारि' हैं। इनको विध्वस्त करके वे प्रभु हमारे उन्नति मार्ग को निर्विघ्न कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वह वज्र प्राप्त कराते हैं जिससे कि हम काम-क्रोधादि शत्रुओं का पराजय कर सकें। वे असुर-पुरियों का विध्वंस करके हमें उन्नतिपथ पर आगे ले चलते हैं।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्दु का उपासन

सो अभ्रियो न यवस उदन्यन्क्षयाय गातुं विदन्नो अस्मे।
उप यत्सीददिन्दुं शरीरैः श्येनोऽयोपाष्टिर्हन्ति दस्यून्॥ ८॥

(१) **सः**=वे प्रभु, **न**=जिस प्रकार **अभ्रियः**=मेघसमूह **यवसे**=भूमि में घास आदि की उत्पत्ति के लिए **उदन्यन्**=जल को देने की कामनावाला होता है उसी प्रकार, **नः क्षयाय**=हमारे उत्तम निवास व गति के लिए **अस्मे**=हमारे लिये **गातुं विदत्**=मार्ग को **विदत्**=प्राप्त कराते हैं। इस मार्ग पर चलकर हम अपने निवास को उत्तम बना पाते हैं। (२) **यत्**=जिस समय एक उपासक **शरीरैः**=अपने 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' नामक सब शरीरों से **इन्दुम्**=उस शक्तिशाली प्रभु का **उपसीदत्**=उपासन करता है, अर्थात् इन सब शरीरों की क्रियाओं को प्रभु स्मरणपूर्वक करता है तो वह **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला होता है तथा **अयः अपाष्टिः**=लोहे की एडीवाला होता हुआ, अर्थात् दृढ़ शरीरवाला होता हुआ **दस्यून्**=इन दस्युओं को **हन्ति**=नष्ट कर देता है। दास्यव वृत्तियों को अपने से दूर भगा देता है। लोहे की एडीवाला इन शब्दों का प्रयोग ऐसा संकेत करता है कि वह इन दस्युओं को ठोकर मारकर दूर कर देता है (kicks than away)।

भावार्थ—प्रभु हमें मार्गदर्शन कराते हैं, जिस पर कि चलकर हम उत्तम निवासवाले बन पाएँ। प्रभु की उपासना से हमें वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि हम दास्यव वृत्तियों को नष्ट करनेवाले होते हैं।

सूचना—प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य करना, इन कार्यों को प्रभु की शक्ति से होता हुआ ही प्रभु की उपासना है।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रु विध्वंस व लक्ष्य-प्राप्ति

स व्राधतः शवसानेभिरस्य कुत्साय शुष्णं कृपणे परादात्।
अयं कविमनयच्छस्यमानमत्कं यो अस्य सनितोत नृणाम्॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **सः**=वे आप **व्राधतः**=(महतः) बड़े शक्तिशाली भी शत्रुओं को **शवसानेभिः**=शक्तिशाली आयुधों से (बलयाचरद्भिः आयुधैः सा०) **अस्य**=(असु क्षेपणे) परे फेंकिये। 'शवसानं' शब्द श्मशान के लिए भी आता है। इन शत्रुओं को आप श्मशान के हेतु से फेंकिये, अर्थात् इनका दहन ही कर दीजिए। (२) वे प्रभु **कुत्साय**=वासनाओं का संहार करनेवाले **कृपणे**=(to prty) सब भूतों पर दया करनेवाले व्यक्ति के लिए **शुष्णम्**=हमारा शोषण करनेवाले 'काम' नामक असुर को **परादात्**=(पराभूय खण्डितवान् सा०, दाप् लवने) खण्डित करके सुदूर विनष्ट करते हैं। (३) **अयम्**=ये प्रभु **शस्यमानम्**=स्तुति करते हुए **कविम्**=तत्त्वद्रष्टा पुरुष को **अनयत्**=सुमार्ग पर ले

चलते हैं। **उत**=और **नृणाम्**=मनुष्यों में **यः**=जो **अस्य**=इस प्रभु के **अत्कम्**=कवच को **सनिता**=उपासित करता है व प्राप्त करता है उसे प्रभु लक्ष्य स्थान पर पहुँचाते हैं। (अत्कं=armous) प्रभु को कवच बना करके चलनेवाला आसुरवृत्तियों से पराजित नहीं होता। यह आगे बढ़ता हुआ लक्ष्य को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं और हमें लक्ष्य पर पहुँचाते हैं।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पुरुष-पशु

अयं दशस्यन्नर्येभिरस्य दस्मो देवेभिर्वरुणो न मायी।
अयं कनीन ऋतुपा अवेद्यमिमीताररुं यश्चतुष्पात्॥ १०॥

(१) **अयम्**=यह प्रभु **दशस्यन्**=हम स्तोताओं के लिए सब उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने के हेतु से **नर्येभिः**=नर हितकारी इन प्राणों (मरुतों) के द्वारा **अस्य**=(अस्यति) सब वासनाओं को परे फेंकते हैं। इन वासनाओं के विनष्ट होने पर ही तो हमें ज्ञानादि का वास्तविक ऐश्वर्य प्राप्त होता है। (२) **दस्मः**=सब वासनाओं का उपक्षय करनेवाले वे प्रभु **देवेभिः**=माता, पिता व आचार्य आदि देवों के द्वारा **वरुणो न**=हमारे लिए तमो निवारक आदित्य के समान होते हैं। आदित्य अन्धकार को दूर करता है, इसी प्रकार प्रभु उत्तम माता आदि देवों के द्वारा हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करते हैं। (३) **अयम्**=यह **मायी**=प्रज्ञावान् प्रभु **कनीनः**=अत्यन्त दीप्त हैं (कन दीप्तौ)। हमारे जीवनों में ये प्रभु **ऋतुपाः अवेदि**=नियमित गति का रक्षण करनेवाले जाने जाते हैं। प्रभु के स्मरण के होने पर हमारे जीवन की गतियाँ बड़ी नियमित बनी रहती हैं। 'ऋतु' शब्द यहाँ नियमित गति का वाचक है। ऋतुएँ जैसे नियम से आती हैं, इसी प्रकार नियम से चलना भी 'ऋतु' है। प्रभु इसका हमारे में रक्षण करते हैं। (४) प्रभु **अररुम्**=उस न दान देनेवाले केवलादी पुरुष को **अमिमीत**=हिंसित करते हैं, **यः**=जो केवलादी पुरुष **चतुष्पात्**=पशु तुल्य है, 'द्विपात्' मनुष्य न होकर 'चतुष्पाद्' पशु ही है। केवल अपने लिए पशु ही जीते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम वासनाओं को दूर करें। माता, पिता व आचार्यों से ज्ञान को प्राप्त करके अन्धकार से दूर हों। प्रभु की रक्षा में हम खूब दानशील हों। केवलादी पुरुष पशु न बन जाएँ।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिप्रु व्रज विदारण

अस्य स्तोमेभिरौशिज ऋजिश्वा व्रजं दरयद् वृषभेण पिप्रोः।
सुत्वा यद्यजतो दीदयद्गीः पुर इयानो अभि वर्पसा भूत्॥ ११॥

(१) **अयम्**=यह उपासक **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **औशिजः**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामनावाला अथवा मेधावी (नि० ३।१५) होता है। स्तुति से अशुभ वृत्तियाँ नष्ट होती हैं। ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं के दूर होने पर ज्ञान दीप्त हो उठता है। **ऋजिश्वा**=यह व्यक्ति ऋजुमार्ग से आगे बढ़नेवाला (श्वि गतिवृद्ध्योः) होता है। उस **वृषभेण**=शक्तिशाली प्रभु के द्वारा यह **पिप्रोः**=पिप्रु के **व्रजम्**=व्रज व बाड़े को **दरयत्**=विदीर्ण करता है 'पिप्रु' वह आसुरवृत्ति है जिसके कारण यह अपने ही खजाने को भरने का ध्यान करता है, टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से धन को ही जुटाने में लगा रहता है (प्रा पूरणे)। यही लोभ है। यह लोभ बुद्धि में अपना अधिष्ठान (व्रज)

बनाकर बुद्धि पर परदा डाल देता है। प्रभु की उपासना से यह 'पिप्रु का व्रज' विदीर्ण होता है और बुद्धि चमक उठती है। (२) यह व्यक्ति **सुत्वा**=यज्ञशील होता है, हाथों से सदा यज्ञादि उत्तम कर्म करता रहता है। और **यद्**=जब यह **यजतः**=उस प्रभु का पूजन करनेवाला बनता है तो अपनी बुद्धि में **गीः**=ज्ञान की वाणियों को **दीदयत्**=दीप्त करता है। 'हाथों में यज्ञ, हृदय में प्रभु पूजा तथा बुद्धि में ज्ञान की वाणियाँ' इस पुरुष को दीप्त जीवनवाला बना देती हैं। यह **पुरः**=शत्रु-पुरियों के प्रति **इयानः**=जाता हुआ उनपर आक्रमण करता हुआ, **वर्पसा**=अपने तेजस्वी रूप से **अभिभूत्**=उनका अभिभव करनेवाला होता है शत्रु-पुरियों का विध्वंस करके अपने जीवन को यह दीप्त व सुखी बनाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम आसुर भावनाओं को दूर करके मेधावी, सरल गति, यज्ञशील, उपासक व ज्ञानी बनें।

ऋषिः—**वम्रो वैखानसः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

योगक्षेमावहो हरिः

एवा महो असुर वक्षथाय वम्रकः पड्भिरुप सर्पदिन्द्रम्।
स इयानः करति स्वस्तिमस्मा इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः ॥ १२ ॥

(१) हे **असुर**=हमारी वासनाओं को सुदूर फेंकनेवाले (असु क्षेपणे) प्रभो! **एवा**=इस प्रकार **महः**=(महतः स्वर्गादेः) उत्कृष्ट स्वर्गादि लोकों की **वक्षथाय**=प्राप्ति के लिए (वह प्रापणे) **वम्रकः**=अपनी वासनाओं का उद्गिरण करनेवाला यह उपासक **पड्भिः**='वैश्वानरः प्रथमः पादः, तैजसः द्वितीयः पादः, प्राज्ञ स्तृतीयः पादः' इन शब्दों में वर्णित 'वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ' रूप कदमों के द्वारा **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के समीप **उपसर्पत्**=समीपता से प्राप्त होता है। हम वासनाओं को नष्ट करके सबके हित साधन की वृत्तिवाले बनते हैं, तेजस्वी होते हैं और ज्ञान का वर्धन करके प्रभु प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। (२) **सः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु इस वम्रक से 'वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ' रूप पादों से **इयानः**=जाये जाते हुए **अस्मै**=इस वम्रक के लिए **स्वस्तिम्**=कल्याण को **करति**=करते हैं। **इषं ऊर्जम्**=इसके लिए अन्न व रस को प्राप्त कराते हैं। इस अन्न-रस के द्वारा **सुक्षितिम्**=इसे उत्तम निवास प्राप्त कराते हैं और **विश्वम्**=सब आवश्यक चीजों को **आभाः (आ अभाः=अहाः)** प्राप्त कराते हैं (आहरतु)।

भावार्थ—हम वासनाओं को विनष्ट करनेवाले वम्रक बनें। प्रभु हमें अन्न, रस व उत्तम निवास देंगे, सब आवश्यक चीजें प्राप्त करायेंगे।

सूक्त का मूल भाव वासनाओं को विनष्ट करनेवाला 'वम्रक' बनना ही है। यह वम्रक 'दुवस्यु' होता है, प्रभु का भक्त (dwotee) बनता है। प्रभु के अभिवादन व स्तवन में आनन्द लेने से यह 'वान्दनः' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है कि—

अथ नवमोऽनुवाकः

[१००] शततमं सूक्तम्

ऋषिः—**दुवस्युर्वान्दनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दृढ़ता

इन्द्र दृह्य मघवन्त्वावदिद्भुज इह स्तुतः सुतपा बोधि नो वृधे।
देवेभिर्नः सविता प्रावतु श्रुतमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **त्वावद्**=अपने समान ही **दृह्य**=मुझे दृढ़ करिये। (२) **इह**=इस जीवन में **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **भुजे**=हमारे पालन के लिए होइये, **सुतपाः**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का रक्षण करनेवाले आप **नः वृधे**=हमारी वृद्धि के लिए **बोधि**=(बुध्यस्व=भव सा०) ध्यान करिये। आपकी कृपा से हम सोम का रक्षण करनेवाले बनकर अपना रक्षण कर पाएँ। (३) **सविता**=वह सबका प्रेरक प्रभु **देवेभिः**=माता, पिता व आचार्य आदि देवों के द्वारा **नः**=हमारे **श्रुतम्**=ज्ञान का **प्रावतु**=रक्षण करें, प्रभु कृपा से हमें उत्तम माता, पिता व आचार्य प्राप्त हों। इनके द्वारा हमारा ज्ञान उत्तरोतर बढ़ता जाए। (४) हे प्रभो! हम **सर्वतातिम्**=सब गुणों का विस्तार करनेवाली, सब उत्तमताओं की आधारभूत, **अदितिम्**=स्वास्थ्य की देवता का **आवृणीमहे**=सब प्रकार से वरण करते हैं। स्वास्थ्य पर ही अन्य सब बातें आधारित हैं। सब उत्कर्षों का मूल यह स्वास्थ्य ही है। इसके अभाव में किसी भी प्रकार के उत्कर्ष का सम्भव नहीं। सो हम इस अदिति का ही आराधन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें दृढ़ बनाएँ। हमारे सोम का रक्षण हो। देवों के सम्पर्क में हम ज्ञान को प्राप्त करें। स्वस्थ हों।

सूचना—'आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे' यह मन्त्रभाग ग्यारह मन्त्रों तक आवृत्त होगा। दस बाह्यकरणों तथा एक अन्तःकरण को मिलाकर कुल ग्यारह करण हैं। इन सबके स्वास्थ्य का संकेत इस ग्यारह संख्या से हो रहा है। इसी में 'सुख' है, इन्द्रियों का ठीक होना। (ख=इन्द्रिय)

ऋषिः—**दुवस्युर्वान्दनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'भर-वायु-शुचिपा-क्रन्ददिष्टि'

भराय सु भरत भागमृत्वियं प्र वायवे शुचिपे क्रन्ददिष्टये।
गौरस्य यः पयसः पीतिमानश आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र में प्रार्थना थी कि वह सविता देवों के द्वारा हमारे ज्ञान का रक्षण करे। उन देवों से प्रार्थना करते हैं कि हे देवो! आप **भराय**=अपना ठीक से पोषण करनेवाले, **वायवे**=गतिशील के लिए, **शुचिपे**=शुद्ध सोम का पान करनेवाले के लिए, वीर्य को अपने अन्दर ही सुरक्षित करनेवाले के लिए, **क्रन्दद् इष्टये**=यज्ञादि उत्तम कर्मों की प्रार्थना करनेवाले के लिए **ऋत्वियं भागम्**=उस-उस ऋतु व समय के अनुकूल भजनीय अंश का **सु प्रभरत**=अच्छी प्रकार खूब ही भरण कीजिए। मातृ-देवता से हमारे जीवन के प्रारम्भ में उत्तम चरित्र का भरण किया जाए। अब पितृदेव शिष्टाचार का हमारे में भरण करें और तब आचार्य अधिक से अधिक ज्ञान का हमें भक्षण कराएँ। इस प्रकार चरित्र आचार व ज्ञान को प्राप्त करके हम अपने जीवनों को सुन्दर बना पाएँ। (२) उस मेरे लिए ये देव ऋत्विय भाग का भरण करनेवाले हों **यः**=जो मैं **गौरस्य पयसः**=शुद्ध दूध के **पीतिम्**=पान को **आनशे**=अपने जीवन में व्याप्त करता हूँ। अर्थात् जो मैं शुद्ध दूध का पीनेवाला बनता हूँ। दूध आदि सात्त्विक पदार्थों का सेवन जीवन में उन्नति के लिए आवश्यक है। इस दूध का सेवन करते हुए हम **सर्वतातिम्**=सब उत्तमताओं का विस्तार करनेवाली **अदितिम्**=स्वास्थ्य की देवता का **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण करते हैं।

भावार्थ—देवता हमें ऋत्वियभाग तभी प्राप्त करा पाते हैं जब कि हम 'भर, वायु, शुचिपा व क्रन्ददिष्टि' हों तथा शुद्ध दूध आदि सात्त्विक पदार्थों का ही सेवन करें।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'ऋजूयन्-यजमान-सुन्वन्

आ नो देवः सविता साविषद्वय ऋजूयते यजमानाय सुन्वते।
यथा देवान्प्रतिभूषेम पाकवदा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ३ ॥

(१) **नः**=हमारे लिए **देवः सविता**=दिव्यगुणों का पुञ्ज, प्रेरक (सू प्रेरणे) व उत्पादक (सु अभिषवे) प्रभु **वयः**=उत्कृष्ट अन्न को **आसाविषत्**=उत्पन्न करे। **ऋजूयते**=ऋजु-सरल-मार्ग से चलनेवाले, **यजमानाय**=यज्ञशील, **सुन्वते**=सोम का अपने में अभिषव (उत्पादन) करनेवाले के लिए सोमशक्ति (वीर्य-शक्ति) को अपने में सुरक्षित करनेवाले के लिए प्रभु **पाकवत्**=अत्यन्त प्रशंसनीय (praiseworthy) **वयः**=अन्न को दें, **यथा**=जिससे **देवान्**=दिव्यगुणों को **प्रतिभूषेम**=अपने में हम सुशोभित कर पायें। (२) अन्न की सात्त्विकता वृत्ति की सात्त्विकता का कारण बनती है। सात्त्विक अन्न के सेवन से हमारे में दिव्यगुणों का विकास होता है और हम इन दिव्यगुणों से अपने जीवन को सुशोभित कर पाते हैं। इस सात्त्विक अन्न के सेवन से हम **सर्वतातिम्**=सब दिव्यगुणों का विस्तार करनेवाले **अदितिम्**=स्वास्थ्य को **आवृणीमहे**=वरते हैं। स्वस्थ बनकर सभी उत्तम चीजों के प्राप्त करने के योग्य होते हैं।

भावार्थ—ऋजुमार्ग से चलते हुए, यज्ञशील बनकर, सोम के सम्पादन के द्वारा हम उत्कृष्ट अन्न का सेवन करते हुए अपने जीवन को दिव्यगुणों से अलंकृत करते हैं।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभु का अनुग्रह

इन्द्रो अस्मे सुमना अस्तु विश्वहा राजा सोमः सुवितस्याध्येतुनः।
यथायथा मित्रधितानि सन्दधुरा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ४ ॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **अस्मे**=हमारे लिए **विश्वहा**=सदा **सुमनाः अस्तु**=उत्तम मनवाले, अनुग्रहयुक्त चित्तवाले हों। प्रभु का अनुग्रह हमारे पर सदा बना रहे। वे **राजा**=सम्पूर्ण विश्व का शासन करनेवाले **सोमः**=शान्त प्रभु **नः**=हमारे **सुवितस्य**=उत्तम आचरण **अध्येतु**=स्मरण करें (to long, case for) ध्यान करें, अर्थात् प्रभु की हमारे पर ऐसी कृपा हो कि हम सदा उत्तम ही आचरण करनेवाले बनें। (२) **यथायथा**=जिस-जिस प्रकार **मित्रधितानि**=उस सबके मित्र प्रभु के द्वारा स्थापित गुणों को **सन्दधुः**=हम अपने में संहित करते हैं, उसी प्रकार हम **सर्वतातिम्**=सब गुणों का विस्तार करनेवाली **अदितिम्**=स्वास्थ्य की देवता को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम सदा सन्मार्ग से चलें। गुणों को धारण करते हुए हम स्वास्थ्य का वरण करें।

ऋषिः—दुवस्युर्वान्दनः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मन में स्तवन, शरीर में शक्ति

इन्द्र उक्थेन शवसा परुर्दधे बृहस्पते प्रतरीतास्यायुषः।
यज्ञो मनुः प्रमतिर्नः पिता हि कमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ५ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **उक्थेन**=स्तोत्रों के हेतु से तथा **शवसा**=बल के हेतु से **परुः**=पालन व पूरण करनेवाले अन्न के द्वारा हमारे अंगों को **दधुः**=धारण करते हैं। (परुः=अन्न

ज्य०, परु:=limb)। **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **आयुषः**=जीवन के **प्रतरीता असि**=दीर्घ करनेवाले हैं। प्रभु हमारी वृत्ति को ऐसा बनाते हैं कि हम शरीर में शक्ति को धारण करनेवाले बनें और मन में स्तवन की वृत्ति को। इस प्रकार शरीर में व्याधियों से हम आक्रान्त नहीं होते तथा मन में आधियों के आक्रमण से बचे रहते हैं। यही दीर्घजीवन का मार्ग है। (२) वे प्रभु **यज्ञः**=पूजा के योग्य हैं, हमें सब कुछ देनेवाले हैं। **मनुः**=ज्ञान-विज्ञान के पुञ्ज हैं। **प्रमतिः**=हमें प्रकृष्ट बुद्धि के देनेवाले हैं। **नः पिता**=हमारे रक्षक हैं, **हि कम्**=निश्चय से सुखस्वरूप हैं। इनसे हम **अदितिम्**=उस स्वास्थ्य का **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण करते हैं जो **सर्वतातिम्**=सब गुणों का विस्तार करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु हमारा धारण करते हैं, हमारे मनों में स्तवन की वृत्ति को तथा शरीर में शक्ति को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार हमारे दीर्घायुष्य को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**दुवस्युर्वान्दनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दैव्यं सहः

इन्द्रस्य नु सुकृतं दैव्यं सहोऽग्निर्गृहे जरिता मेधिरः कविः।
यज्ञश्च भूद्विदथे चारुरन्तम आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे॥ ६॥

(१) **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **सहः**=बल **नु**=निश्चय से **सुकृतम्**=उत्तम कर्मों को करनेवाला तथा **दैव्यम्**=दिव्यगुणों का उत्पादक है। प्रभु की उपासना से हमें वह बल प्राप्त होता है, जिससे कि हम उत्तम ही कर्म करते हैं और अपने में दैवी सम्पत्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। (२) **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **गृहे**=इस शरीररूप गृह में **जरिता**=(जरिता=गरिता नि० १।७) ज्ञान का उपदेश करनेवाले हैं। **मेधिरः**=बुद्धि को देनेवाले हैं। **कविः**='कौति सर्वाः विद्याः' सब सत्य विद्याओं का उपदेश देनेवाले हैं। सर्वज्ञ होते हुए सब ज्ञानों को देते हैं। (२) **च**=और **यज्ञः**=वे सब कुछ देनेवाले प्रभु **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **चारुः**=(चारयति) हमें सब ज्ञानों का भक्षण करानेवाले हैं और **अन्तमः**=हमारे अन्तिकतम हैं। हमारे हृदयों में ही निवास करते हुए वे प्रभु हमारे लिए ज्ञानों को देनेवाले हैं। हृदयस्थरूपेण ही वे ज्ञान का प्रकाश करते हैं। इनसे हम **सर्वतातिम्**=सब गुणों का विस्तार करनेवाले **अदितिम्**=स्वास्थ्य को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। स्वास्थ्य ही 'धर्मार्थकाममोक्ष' सभी का आधार बनता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**दुवस्युर्वान्दनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रच्छन्न व प्रकट दुष्टकृत से दूर

न वो गुहा चकृम भूरि दुष्कृतं नाविष्ट्यं वसवो देवहेळनम्।
माकिर्नो देवा अनृतस्य वर्पस आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे॥ ७॥

(१) हे **वसवः**=वसुओ! निवास के लिए आवश्यक तत्त्वो! हम **गुहा**=प्रच्छन्न देश में, अर्थात् हृदय में **वः**=आपका **भूरि दुष्कृतम्**=बहुत पाप व अपराध **न चकृम**=न करें। और **न**=ना ही **आविष्ट्यम्**=प्रकटरूप में होनेवाले **देवहेडनम्**=देवों के निरादर को करें। मन में (गुहा में) वसुओं के प्रति होनेवाला अपराध यही है कि वहाँ 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' आदि घातक तत्त्वों को स्थान देना। प्रकट रूप में देवों का तिरस्कार यह है कि सूर्यादि के सम्पर्क में जीवन को न बिताना। 'ऐसे मकान में रहना जहाँ कि सूर्य-किरणों व वायु का प्रवेश ठीक से न हो' यह देवों का तिरस्कार

है। न तो हम मन में वसुओं के विनाशक ईर्ष्यादि भावों को स्थान दे और ना ही सूर्यादि से असंपृक्त जीवन को बिताएँ, सदा खुले में रहने का ध्यान करें। (२) हे **देवाः**=देवो! इस प्रकार आपके विषय में प्रच्छन्न व प्रकट पापों से ऊपर उठने पर **नः**=हमें **अनृतस्य वर्पसः**=अनृतरूप की **माकिः**=प्राप्ति न हो। हमारा रूप सत्य व तेजस्वी हो। मन के दृष्टिकोण से ईर्ष्यादि से रहित तथा शरीर के दृष्टिकोण से तेजस्वीरूप ही सत्य रूप है। हम **सर्वतातिम्**=सब अच्छाइयों का विस्तार करनेवाले **अदितिम्**=स्वास्थ्य को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं।

भावार्थ—मन में ईर्ष्यादि से ऊपर उठकर तथा खुले में जीवन बिताते हुए हम सत्यस्वरूपवाले हों।

ऋषिः—**दुवस्युर्वान्दनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सूर्य व पर्वत

अपामीवां सविता साविषन्य१ग्वरीय इदप सेधन्त्वद्रयः।
ग्रावा यत्र मधुषुदुच्यते बृहदा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ८ ॥

(१) **सविता**=वह (सर्वोत्पादक प्रभु) प्राणशक्ति को उत्पन्न करनेवाला सूर्य **अमीवाम्**=रोग को **अपसाविषत्**=हमारे से दूर करे। गत मन्त्र की प्रेरणा के अनुसार जब हम सूर्यादि देवों का तिरस्कार नहीं करते और अधिक से अधिक समय सूर्य-किरणों के सम्पर्क में बिताते हैं तो सूर्य अपनी किरणों से हमारे में प्राण-शक्ति का संचार करता है और हमारे रोगों को दूर करता है। **अद्रयः**=ये पर्वत भी **वरीयः इत्**=(उरुतरं सा०) बहुत बढ़े हुए भी रोग को **न्यक्**=(नीचीनं 'यथा स्यात् तथा' सा०) अभिभूत करके **अपसेधन्तु**=दूर कर दें। पर्वतों की वायु में ओजोन का अंश अधिक होने से वह रोगनाशक होती है। (२) इस प्रकार हम **सर्वतातिम्**=सब गुणों का विस्तार करनेवाले **अदितिम्**=स्वास्थ्य का **आवृणीमहे**=वरण करते हैं। उस स्वास्थ्य का, **यत्र**=जिसमें कि वह **मधुषुत्**=हमारे में सोम को जन्म देनेवाला **ग्रावा**=उपदेष्टा प्रभु **बृहत् उच्यते**=खूब ही स्तुति किया जाता है। प्रभु की उपासना से शरीर में सोम का (=वीर्य का) रक्षण होता है। इस सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हमारे ज्ञान की खूब ही वृद्धि होती है। वस्तुतः यह प्रभु का स्तवन स्वास्थ्य की स्थिरता का साधन बन जाता है। प्रभु-स्तवन के अभाव में वृत्ति वैषयिक हो जाती है और हम स्वास्थ्य को खो बैठते हैं।

भावार्थ—सूर्य नीरोगता को दे, पर्वतों की वायु रोग को दूर भगाये। हम स्वस्थ होकर प्रभुस्तवन करें।

ऋषिः—**दुवस्युर्वान्दनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु-स्मरण व निर्द्वेषता

ऊर्ध्वो ग्रावा वसवोऽस्तु सोतरि विश्वा द्वेषांसि सनुतर्युयोत।
स नो देवः सविता पायुरीड्य आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ९ ॥

(१) हे **वसवः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले वसुओ! **सोतरि**=अपने में सोम का (=वीर्यशक्ति) अभिषव करनेवाले मेरे में **ग्रावा**=वे उपदेष्टा प्रभु **ऊर्ध्वः अस्तु**=सर्वोत्कृष्ट हों। मैं सोम का अपने में रक्षण करूँ और सोम के रक्षण के द्वारा उस प्रभु को प्राप्त करनेवाला होऊँ। मेरे में प्रभु-स्मरण की भावना प्रमुख हो। (२) हे वसुओ! आप प्रभु-भावना को मेरे में सर्वोच्च स्थान देकर **विश्वा द्वेषांसि**=सब द्वेषों को, चाहे वे कितने ही **सनुतः**=अन्तर्हित हों, सूक्ष्मरूप से मेरे

मन में घर किये हुए हों, उन्हें **युयोत**=मेरे से पृथक् करो। सबको प्रभु का सन्तान जानते हुए मैं किसी से द्वेष करूँगा ही क्यों? (३) **सः**=वह **सविता देवः**=प्रेरक दिव्यगुणों का पुञ्ज प्रभु ही **पायुः**=हमारा रक्षक है और **ईड्यः**=स्तुति के योग्य है। उस प्रभु से हम **सर्वतातिम्**=सब गुणों का विस्तार करनेवाली **अदितिम्**=स्वास्थ्य की देवता को **आवृणीमहे**=सब प्रकार से वरते हैं। उस स्वास्थ्य को हम चाहते हैं, जो हमें सब दिव्यगुणों के देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-प्रवण होकर द्वेष से ऊपर उठें। प्रभु का ही स्मरण करें और पूर्ण स्वस्थ बनें।

ऋषिः—**दुवस्युर्वान्दनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पयः पशूनाम्, रसमोषधीनाम्

ऊर्जं गावो यवसे पीवो अत्तन ऋतस्य याः सदने कोशे अङ्ग्ध्वे।
तनूरेव तन्वो अस्तु भेषजमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ १० ॥

(१) **गावः**=हे मेरी इन्द्रियो! आप **यवसे**=अपने से दोषों को दूर करने व शुभ को जोड़ने के लिए **पीवः**=शक्ति के देनेवाले (stout and strong बनानेवाले) **ऊर्जम्**=अन्न के रस को **अत्तन**=खाओ, ग्रहण करो। वो आप **याः**=जो **ऋतस्य सदने**=ऋत के निवास-स्थान में तथा **ऋतस्य कोशे**=ऋत के कोश में, अर्थात् प्रभु में (प्रभु ही सम्पूर्ण ऋत के आधार हैं, ऋत के कोश हैं) **अङ्ग्ध्वे**=(to go, to shine) जाती हैं और निर्मलता से चमक उठती हैं। सात्त्विक ओषधियों के रस को लेने पर वृत्ति भी सात्त्विक बनती है और इन्द्रियाँ विषय प्रवण न होकर प्रभु-प्रवण बनती हैं। प्रभु में स्थित होनेवाली ये इन्द्रियाँ चमक उठती हैं, इनमें किसी प्रकार की मलिनता नहीं रहती। (२) **तनूः एव**=गौ आदि पशुओं का दूध ही (जन्ये जनकशब्दः सा०, क्षीरमेव) **तन्वः**=हमारे शरीर का **भेषजं अस्तु**=औषध हो, अर्थात् हम गोदुग्ध के प्रयोग से सब रोगों का निवारण करनेवाले हों। इस प्रकार हम अन्न-रस व गोदुग्ध के प्रयोग से **सर्वतातिम्**=सब गुणों का विस्तार करनेवाली **आदितिम्**=स्वास्थ्य की देवता का **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण करते हैं। स्वस्थ होकर ही तो हम 'धर्म, अर्थ, काम' को सिद्ध कर सकेंगे।

भावार्थ—हम ओषधियों के रस व गोदुग्ध के प्रयोग से वृत्ति को सात्त्विक बनाकर सब इन्द्रियों को प्रभु-प्रवण करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**दुवस्युर्वान्दनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दिव्य ऊधस् की परिपूर्णता

क्रतुप्रावा जरिता शश्वतामव इन्द्र इद्भद्रा प्रमतिः सुतावताम्।
पूर्णमूधर्दिव्यं यस्य सिक्तय आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ ११ ॥

(१) **इन्द्रः इत्**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **क्रतुप्रावा**=(प्रा पूरणे) हमारे सब यज्ञात्मक कर्मों के पूरण करनेवाले हैं। **जरिता**=(गरिता) सब उत्तम कर्मों का उपदेश देनेवाले हैं। **शश्वताम्**=(शश् प्लुतगतौ) स्फूर्ति के साथ कार्यों के करनेवालों के **अवः**=वे रक्षक हैं। (२) **सुतावताम्**=(सोमवताम् सा०) सोम का, वीर्यशक्ति का सम्पादन करनेवालों की **प्रमतिः**=प्रकृष्ट बुद्धि सदा **भद्रा**=कल्याणकारिणी होती है। इनकी बुद्धि नाश की दिशा में न सोचकर सदा निर्माण की दिशा में ही सोचती है। (३) इन सोम के रक्षण करनेवालों का **दिव्यं ऊधः**=दिव्य **ऊधस् पूर्णम्**=पूर्ण होता है। गौ के दुग्धाधिकरण को सामान्यतः ऊधस् कहते हैं। यहाँ यह ऊधस् दिव्य है, प्रकाश

का अधिकरण है। सोमरक्षण से बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों के ग्रहण के योग्य बन जाती है इस प्रमति (=सूक्ष्म बुद्धि) से इनका ज्ञान बढ़ता है और इनका यह विज्ञानमयकोश ज्ञानदुग्ध से परिपूर्ण हो जाता है। **यस्य**=जिस विज्ञानमयकोश के **सिक्तये**=ज्ञान द्वारा सेचन के लिए **सर्वतातिम्**=सब दिव्यताओं के विस्तार की कारणभूत **अदितिम्**=स्वास्थ्य की देवता को **आवृणीमहे**=हम सर्वथा वरते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे यज्ञों को पूर्ण करते हैं, हमें यज्ञों का उपदेश देते हैं। सोमरक्षण से बुद्धि तीव्र होती है, ज्ञान का कोश परिपूर्ण होता है। इस ज्ञानकोश को ज्ञान से सिक्त करने के लिए हम स्वास्थ्य का वरण करते हैं।

ऋषिः—**दुवस्युर्वान्दनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान के शिखर पर

चित्रस्ते भानुः क्रतुप्रा अभिष्टिः सन्ति स्पृधो जरणिप्रा अधृष्टाः।
रजिष्ठया रज्या पश्व आ गोस्तूतूर्षति पर्यग्रं दुवस्युः ॥ १२ ॥

(१) हे प्रभो! **ते भानुः**=आपका प्रकाश **चित्रः**=अद्भुत है अथवा चायनीय-पूजनीय है। **क्रतुप्राः**=यह ज्ञान हमारे सब यज्ञात्मक कर्मों का पूरक है, अतएव **अभिष्टिः**=यह ज्ञान अभ्येषणीय-चाहने योग्य है। (२) आपके **स्पृधः**=(स्पृध् संग्रामनाम नि० २।१७) संग्राम **सन्ति**=हैं, जो **जरणिप्राः**=स्तोताओं का पूरण करनेवाले हैं और **अधृष्टाः**=शत्रुओं से धर्षण के योग्य नहीं है। हृदयस्थली में काम, क्रोध, लोभ आदि के साथ चलनेवाले संग्राम अध्यात्म संग्राम हैं। एक स्तोता प्रभु-स्मरण के द्वारा प्रभु को ही इन से लड़ने के लिए आगे करता है। सो ये संग्राम प्रभु के संग्राम हो जाते हैं। प्रभु की शक्ति से कामादि शत्रुओं का धर्षण होता है। ये काम, क्रोधादि शत्रु प्रभु के स्तोता का धर्षण नहीं कर पाते। (३) यह **दुवस्युः**=प्रभु की परिचर्या करनेवाला **रजिष्ठया**=(ऋजुतम नि० ८।१९) अत्यन्त सरलता से युक्त **रज्या**=(रंज् to worship) उपासना के द्वारा **पश्वः**=उस सर्वद्रष्टा प्रभु की **गोः**=सर्वार्थ प्रतिपादि का ज्ञान की अधिष्ठानभूता वेदवाणी के (गमयति अर्थान्) **अग्रम्**=अग्रभाग तक, शिखर तक **परि आ तुतूर्षति**=सर्वथा त्वरा से पहुँचनेवाला होता है। प्रभु की उपासना से निर्मल जीवनवाला होकर, कामरूप आवरण को दूर करके दीप्त ज्ञानवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश अद्भुत है। उपासक प्रभु की उपासना से कामरूप आवरण को विनष्ट करके इस प्रकाश को प्राप्त करता है यह उपासक ज्ञान की वाणी के शिखर (अग्रभाग) तक पहुँचता है।

इस सूक्त की केन्द्रीभूत भावना यही है कि प्रभु की उपासना से काम को जीतकर हम सोम का रक्षण करें। इससे तीव्र बुद्धि बनकर हम ज्ञान के शिखर पर पहुँचनेवाले हों। यह ज्ञान के शिखर पहुँचनेवाला ही 'बुध' सोम का रक्षण करके ही यह बुध बन पाया है सो 'सौम्य' है। अगले सूक्त का ऋषि 'बुधः सौम्यः' ही है। ज्ञान प्राप्ति के कारण यह सौम्य व विनीत है। इसकी प्रार्थना का स्वरूप निम्न है—

[१०१] एकोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अग्नि, उषा व इन्द्र' का आराधन

उद् बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीळाः।
दधिक्रामग्निमुषसं च देवीमिन्द्रावतोऽवसे नि ह्वये वः॥ १॥

(१) **सखायः**=परस्पर सखा बनकर, मित्रभाववाले होकर **समनसः**=समान मनवाले होते हुए, विरोधी भावनाओं से रहित हुए-हुए **उद् बुध्यध्वम्**=उत्कृष्ट ज्ञानवाले बनो। परस्पर का विरोध सारी शक्ति को एक दूसरे को हानि पहुँचाने में ही नष्ट कर देता है। परस्पर मैत्रीभाववाले होने पर हम शक्ति को ज्ञान प्राप्ति में लगाते हैं। (२) तुम **बहवः**=बहुत से व्यक्ति **सनीडाः**=समान नीडवाले, एक घर में रहनेवाले **अग्निम्**=अग्नि को **सं इन्ध्वम्**=अग्निकुण्ड में दीप्त करो। अर्थात् मिल करके अग्निहोत्र करो। प्रातः का अग्निहोत्र सायं तक और सायं का अग्निहोत्र प्रातः तक तुम्हें सौमनस्य को प्राप्त करायेगा। यह उत्तम मन ज्ञान प्राप्ति के लिए अनुकूल होगा। (३) इस **दधिक्रां अग्निम्**=(दधत् क्रामति) धारण के हेतु से रोगकृमियों पर आक्रमण करनेवाली इस अग्नि को **च**=तथा **देवीम्**=प्रकाशमयी **उषसम्**=उषा को **अवसे**=रक्षण के लिए **निह्वये**=मैं पुकारता हूँ। **इन्द्रावतः**=इन्द्रवाले **वः**=तुम सब देवों को भी रक्षण के लिए पुकारता हूँ। प्रकृति के सब सूर्यादि पिण्ड तेंतीस भागों में विभक्त हुए-हुए तेंतीस देव कहलाते हैं। चौंतीसवें 'महादेव' हैं, ये ही **देवराज्**=इन्द्र हैं। इन्द्र के साथ इन सब देवों को मैं रक्षण के लिए पुकारता हूँ। अग्निहोत्र के द्वारा अग्नि की उपासना करता हूँ, प्रातः प्रबुद्ध होकर उषा के स्वागत के द्वारा उषा की उपासना करता हूँ तथा प्रभु के स्तवन के द्वारा प्रभु का प्रिय होता हूँ। ये अग्नि उषा व प्रभु, अन्य देवों के द्वारा, मेरा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम परस्पर विरोध से ऊपर उठकर ज्ञान प्राप्ति में लगें। घरों में मिलकर अग्निहोत्र करें। बहुत सवेरे जागकर उषा का स्वागत करनेवाले हों। प्रभु का आराधन करें।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तवन व यजन

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्र णयता सखायः॥ २॥

(१) **मन्द्रा**=आनन्द को प्राप्त करानेवाले स्तोत्रों को तुम **कृणुध्वम्**=करो। प्रभु-स्तवन में आनन्द का अनुभव करो। (२) **धियः**=प्रज्ञानों व कर्मों का **आतनुध्वम्**=विस्तार करो। वस्तुतः प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि ज्ञानपूर्वक कर्मों में हम व्यापृत रहें। (३) **नावम्**=इस शरीररूप नाव को **अरित्रपरणीम्**=ज्ञान व कर्मरूप आयुओं के द्वारा भवसागर से पार करनेवाली **कृणुध्वम्**=करो। शरीर को 'सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं०' इस मन्त्र में नाव से उपमित किया है, इस नाव के ज्ञान और कर्म ये ही दो चप्पू हैं। (४) **इष् कृणुध्वम्**=प्रेरणा को अपने अन्दर उत्पन्न करो। अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनो। **आयुधा अरं कृणुध्वम्**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि रूप उपकरणों को अलंकृत करो। (५) इन सुसंस्कृत उपकरणों के द्वारा **सखायः**=परस्पर मित्रभाव से वर्तते हुए तुम **यज्ञं प्राञ्चं प्रणयता**=यज्ञ को आगे-आगे ले चलो। यज्ञ की वृत्ति तुम्हारी बढ़ती चले। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि से हम यज्ञ को ही सिद्ध करनेवाले हों, श्रेष्ठतम कर्म

ही इनके साध्य हों।

भावार्थ—प्रभु स्तवन से हम अपनी बुद्धियों को संस्कृत करें। शरीर को नाव बनाएँ, ज्ञान व कर्म इसके चप्पू हों। प्रभु प्रेरणा को सुनें। इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अलंकृत करें। इनके द्वारा यज्ञात्मक कर्मों को सिद्ध करें।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

योगांगों का अनुष्ठान

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥ ३ ॥

(१) (सीरा नदी नाम नि० ४।१९।८ सीराः नाडीः १।१७४।९ द०) **सीराः युनक्त**=नाड़ियों को निरुद्ध प्राणों से युक्त करो। प्राणायाम करते हुए प्राणों को उस-उस नाड़ी में रोकने का प्रयत्न करो। **युगा वितनुध्वम्**=योग के अंगों को अपने जीवन में विशेषरूप से विस्तृत करो। (२) इन योगांगों के अनुष्ठान से **कृते**=संस्कृत किये हुए **इह योनौ**=इस शरीररूप क्षेत्र में **बीजं**=सब भूतों के बीजभूत प्रभु को **वपत**=स्थापित करो। (३) ऐसा करने पर **गिरा**=वेदवाणी के द्वारा **नः**=हमारे लिए **सभराः**=भरण-पोषण से युक्त **श्रुष्टिः**=(hearing) ज्ञान का श्रवण **असत्**=हो। इस हृदय में प्रभु को स्थापित करें, प्रभु हमें हृदयस्थरूपेण वेदज्ञान को प्राप्त कराएँगे। (४) इस प्रकार **सृण्यः**=यह गतिशील जीव **इत्**=निश्चय से **पक्वं नेदीयः**=उस पूर्ण परिपक्व प्रभु के समीप **एयात्**=(आ इयात्) सर्वथा प्राप्त हो।

भावार्थ—(क) प्राणायाम के अभ्यासी होकर इडा आदि नाड़ियों में हम प्राण-निरोध करें, (ख) योगांगों का अनुष्ठान करें, (ग) संस्कृत क्षेत्र (शरीर) में प्रभु का दर्शन करने के लिए यत्नशील हों, (घ) वेदज्ञान को प्राप्त करें, (ङ) गतिशील होकर प्रभु के समीप हों।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धीरत्व की प्राप्ति

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया॥ ४ ॥

(१) **कवयः**=ज्ञानी पुरुष **सीराः युञ्जन्ति**=नाड़ियों को निरुद्ध प्राणों से युक्त करते हैं। भिन्न-भिन्न नाड़ियों में प्राणों का निरोध करते हैं। **युगा**=योगांगों को **पृथक्**=एक-एक करके **वितन्वते**=विशेषरूप से विस्तृत करते हैं। (२) इस प्रकार योग का अभ्यास करते हुए ये **देवेषु**=देवों के विषय में **सुम्नया**=स्तुति के द्वारा (praise) **धीराः**=ज्ञान में रमण करनेवाले होते हैं। सुम्न का अर्थ fowone व protection भी है, कृपा तथा रक्षण। देवों की कृपा व देवरक्षण से ये ज्ञानी बन जाते हैं।

भावार्थ—हम विविध नाड़ियों में प्राणनिरोध करें। योगांगों के अनुष्ठान में तत्पर हों। देव-स्तवन के द्वारा ज्ञानी बनें।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु-स्मरण व व्रत-धारण

निराहावान्कृणोतन सं वरत्रा दधातन। सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम्॥ ५ ॥

(१) **आहावान्**=प्रभु की पुकारों को, आराधनाओं को **निः कृणोतन**=निश्चय से करनेवाले बनो। **वरत्रा**=व्रत की रज्जुओं को **संदधातन**=धारण करो, अर्थात् व्रतों के बन्धनों में अपने को

बाँधो। (क) प्रभु का स्मरण करें, (ख) जीवन को व्रती बनाएँ। (२) **वयम्**=हम उस प्रभु को **सिञ्चामहा**=अपने में सिक्त करें, जो **अवतम्**=हम सबके रक्षक हैं, **उद्रिणम्**=ज्ञान जल से परिपूर्ण हैं, **सुषेकम्**=हमें आनन्द से सिक्त करनेवाले हैं, **अनुपक्षितम्**=कभी क्षीण व नष्ट होनेवाले नहीं है।

भावार्थ—जीवन का आनन्द इसी में है कि हम प्रभु-स्मरणपूर्वक व्रतों का पालन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अक्षीण-जीवन

इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्॥ ६॥

(१) मैं अपने अन्दर प्रभु को **सिञ्चे**=सिक्त करता हूँ। प्रभु की भावना से अपने को ओत-प्रोत करने का प्रयत्न करता हूँ। उस प्रभु को जो **इष्कृताहावम्**=जिसकी पुकार हमारे में प्रेरणा को करनेवाली है। जब प्रभु को दयातु इस रूप में मैं पुकारता हूँ तो मुझे भी दयालु बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। **अवतम्**=जो प्रभु मेरा रक्षण करनेवाले हैं, मुझे वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते। **सुवरत्रम्**=(शोभना वरत्रयस्य) जिनका स्मरण मुझे उत्तम व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला है, प्रभु-स्मरण से जीवन व्रती बना रहता है। **सुषेचनम्**=जीवन को व्रती बनाकर वे मेरे जीवन को आनन्द से सिक्त करते हैं, (२) वे प्रभु **उद्रिणम्**=ज्ञान के जलवाले हैं और **अक्षितम्**=ज्ञानजल से सिक्त करके मुझे नष्ट नहीं होने देते (अविद्यमानं क्षितं यस्मात्)। इन प्रभु को मैं अपने हृदयक्षेत्र में सिक्त करता हूँ। इनका यह स्मरण मुझे प्रेरणा देता है, इस प्रेरणा से मेरा रक्षण होता है, मेरा जीवन व्रती बनता है और आनन्द सिक्त होता है। इस हृदयस्थ प्रभु से ज्ञानजल को पाकर मैं अक्षीण जीवनवाला बनता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु-स्मरण करता हूँ, यह प्रभु-स्मरण मुझे अक्षीण जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वस्तिवाट्-रथ

प्रीणीताश्वान्हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम्॥ ७॥

(१) **अश्वान् प्रीणीत**=इन्द्रियाश्वों को प्रीणित करो। नैर्मल्य के द्वारा इन्हें प्रसन्नतायुक्त करो। **हितं जयाथ**=इन प्रसन्न इन्द्रियों के द्वारा हितकर वस्तु का विजय करो। **रथम्**=इस शरीर-रथ को **इत्**=निश्चय से **स्वस्तिवाहम्**=कल्याण की ओर ले जानेवाला **कृणुध्वम्**=करो। इन्द्रियाँ निर्मल व सबल हों, शरीर स्वस्थ हो। स्वस्थ इन्द्रियों व स्वस्थ शरीर से हम हित व कल्याण को सिद्ध करें। (२) हे उपासको! तुम उस प्रभु को **सिञ्चता**=अपने हृदयक्षेत्र में सिक्त करो जो प्रभु **द्रोणाहावम्**=प्रेरणा (द्रु गतौ) देनेवाली पुकारवाले हैं, जिनके नामों का स्मरण हमें अपने कर्त्तव्यों का स्मरण कराता है। **अवतम्**=जो रक्षण करनेवाले हैं। वस्तुतः निरन्तर कर्त्तव्यों का स्मरण कराते हुए वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। (२) **अश्मचक्रम्**=प्रभु-स्मरण से हमारा यह शरीर-चक्र पत्थर के समान दृढ़ बनता है। **अंसत्र कोशम्**=(अंसत्राणां कोशा) वे प्रभु कवचों के कोश हैं। अर्थात् प्रभु प्रत्येक प्राणी के लिए कवच बनते हैं और उसे रक्षित करनेवाले होते हैं। **नृपाणम्**=इस प्रकार वे प्रभु नरों के रक्षक हैं, आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष प्रभु से रक्षणीय होते हैं। आलसियों को प्रभु-रक्षण नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को शक्तिशाली बनाएँ, शरीर-रथ को कल्याण के मार्ग पर ले चलें। प्रभु को हृदयक्षेत्र में सिक्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आयसी पूः

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्॥ ८ ॥

(१) **व्रजं कृणुध्वम्**=बाड़े को बनाओ। जैसे बाड़े में गौवों को निरुद्ध करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियरूप गौवों को इस बाड़े में निरुद्ध करने का प्रयत्न करो। प्रभु नाम-स्मरण से हृदय वह 'व्रज' बन जाता है जिसमें कि मन व इन्द्रियें निरुद्ध रहती हैं। **सः**=वह व्रज **हि**=ही **वः**=तुम **नृपाणः**=प्रणतिशील व्यक्तियों का रक्षक है। (२) **बहुला**=अनेक **पृथूनि**=विस्तीर्ण **वर्म**=कवचों को **सीव्यध्वम्**=सींओ। ये कवच तुम्हारा रक्षण करनेवाले हों। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'=वस्तुतः ब्रह्म ही हमारा आन्तर **वर्म**=कवच है। ये कवच हमारे सब कोशों का रक्षण करते हैं। इन कवचों से रक्षित होकर हमारे ये कोश 'तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु व सहस्' से परिपूर्ण होते हैं। (३) इस प्रकार कवचों से अपने को सुरक्षित करके **पुरः**=इन शरीररूप पुरियों को **आयसीः**=लोहमयी, अर्थात् दृढ और **अधृष्टाः**=रोगादि से अधर्षणीय **कृणुध्वम्**=करो। **वः**=तुम्हारा सोम का, वीर्य का **चमसा**=आधारभूत यह शरीररूप पात्र **मा सुस्रोत्**=चूनेवाला न हो। सोम इसके अन्दर सुरक्षित रहे। **तम्**=उस पात्र को **दृंहता**=दृढ़ बनाओ। वीर्य-रक्षण से ही तो इसने दृढ़ बनना है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को निरुद्ध करें। प्रभु नामस्मरण को अपना कवच बनाएँ। हमारे शरीर लोहवत् दृढ़ हों। सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

यज्ञिया धीः

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह।
सा नो दुहीयद्यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः॥ ९ ॥

(१) हे **देवाः**=विद्वानो! मैं **वः**=आपकी **यज्ञियाम्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित होनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **आवर्ते**=अपने में आवृत्त करता हूँ। उस बुद्धि को जो **यजताम्**=आदरणीय है और **इह**=इस जीवन में **यज्ञियाम्**=हमें यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाली है, **देवीम्**=प्रकाशमय है। इस बुद्धि के द्वारा हमारा जीवन प्रकाशमय होता है और हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। (२) **सा**=वह बुद्धि **नः**=हमें **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **दुहीयत्**=उसी प्रकार हमें पूर्ण करे, **इव**=जैसे **यवसा गत्वी**=घास के लिए जाकर **सहस्रधारा**=शतशः पुरुषों का धारण करनेवाली **मही**=महनीय व पूजनीय **गौः**=गौ **पयसा**=दूध से हमारा पूरण करती है।

भावार्थ—हमें देवों की पवित्र बुद्धि प्राप्त हो जो हमें ज्ञानदुग्ध से पूर्ण करनेवाली हो।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दश व्रत बन्धनरूप रज्जुएँ

आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः।
परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त॥ १० ॥

(१) सब दुःखों के हरण करने के कारण प्रभु 'हरि' कहलाते हैं। **हरिम्**=दुःखहर्ता प्रभु को **तु**=निश्चय से **आसिञ्च**=अपने में सिक्त करने का प्रयत्न कर। **ईम्**=निश्चय से **अश्मन्मयीभिः**=(अश् व्याप्तौ) उस सर्वव्यापक प्रभु के प्राचुर्यवाली **वाशीभिः**=वाणियों से **द्रोः उपस्थे**=इस गतिशील मन के मध्य में **तक्षत**=उस प्रभु की भावना को निर्मित करो, अर्थात् हृदय में प्रभु का ही चिन्तन करो। चित्तवृत्ति का निरोध करके प्रभु का चिन्तन करने का प्रयत्न करो। (२) **दश कक्ष्याभिः**=दस संख्यावाली रज्जुओं से, अर्थात् दस इन्द्रियों से सम्बद्ध दस व्रतरूप बन्धनों से **परिष्वजध्वम्**=प्रभु का आलिंगन करनेवाले बनो। **उभे धुरौ**=दोनों ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **वह्निं प्रति**=उस संसार शकट के वहन करनेवाले प्रभु के प्रति **युनक्त**=युक्त करो। सब इन्द्रियाँ अपने व्यवहारों से तुम्हें प्रभु के समीप ले जानेवाली हों। इन्द्रिय रूप अश्व व्रतबन्धन रूप रज्जुओं से बद्ध होने पर प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर ही चलते हैं।

भावार्थ—हृदय में हम प्रभु का स्मरण करें। मन में ज्ञान की वाणियों को स्थापित करने का प्रयत्न करें। इन्द्रियों को व्रतबन्धन में बाँधकर प्रभु से आलिंगन करनेवाले हों।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्स-खनन

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।
वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम्॥ ११ ॥

(१) **उभे धुरौ**=दोनों धुराओं का **वह्निः**=वहन करनेवाला, इहलोक व परलोक के अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को प्राप्त करनेवाला, **आपिब्दमानः**=(पिब्दनाः पेष्टुमर्हाणि शत्रमैनानि द० ६।४६।६ पर) वासनारूप शत्रुओं का पेषण करता हुआ **द्विजानिः**=सरस्वती व लक्ष्मीरूप दो पत्नियोंवाला (श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ०) अथवा ब्रह्म व क्षत्र-ज्ञान और बल दोनों का विकास करनेवाला **अन्तःयोना इव**=उस सबके उत्पत्ति-स्थान ब्रह्म में घर की तरह **चरति**=विचरण करता है। (२) **वनस्पतिम्**=(वनस्=loreliness, glory, wealth) सब सौन्दर्यों यशों व धनों के स्वामी उस प्रभु को **वने**=उपासना के होने पर **आस्थापयध्वम्**=अपने हृदय मन्दिर में स्थापित करो, **नि सुदधिध्वम्**=निश्चय से उस प्रभु को अपने में धारित करो। प्रभु के भावन को हृदय में सदा धारण करो। ऐसा करनेवाले ही **उत्सम् अखनन्त**=अपने अन्दर आनन्द के स्रोत को खोदनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक ही अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है।

ऋषिः—**बुधः सोम्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवा ऋत्विजो वा** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आत्मक्रीड (आत्मरति)

कपृन्नरः कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत वाजसातये।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये॥ १२ ॥

(१) हे **नरः**=मनुष्यो! वे प्रभु **कपृत्**=तुम्हारे जीवन में सुख का पूरण करनेवाले हैं। उस **कपृथम्**=आनन्द के पूरक प्रभु को ही **उद्दधातन**=उत्कर्षेण धारण करो। **चोदयत**=उस प्रभु को ही अपने हृदयों में प्रेरित करो। सर्वभावेन उस प्रभु का ही भावन करो। **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **खुदत**=उसी में क्रीडा करो आत्मक्रीड व आत्मरति बनो। (२) 'अदिति' स्वास्थ्य की देवता है (अ+दिति=खण्डन) 'निष्टि' अर्थात् अदिति (अदिति की शत्रु) है। उस निष्टि

को 'गिरति' निगल जाने के कारण अदिति ही 'निष्टिग्री' है प्रभु को इसका पुत्र कहा है जैसे बल के पुञ्ज प्रभु के लिए 'सहसः पुत्रम्' का प्रयोग होता है। उस **निष्टिग्रयः पुत्रम्**=अदिति के पुत्र, अदिति के पुतले-मूर्त्तिमान् अदिति प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए **आच्यावय**=सब प्रकार से प्राप्त कर। प्रभु के धारण से मनुष्य पूर्ण स्वस्थ बनता है, उसे न केवल शारीरिक अपितु मानस स्वास्थ्य भी प्राप्त होता है। (३) **इह**=इस जीवन में **सोमपीतये**=शरीर में सोमशक्ति के रक्षण के लिए हे **सबाधः**=वासनारूप शत्रुओं के बाधन के साथ विचरनेवाले लोगों **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को (आच्यावय) प्राप्त करो। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही तो तुम इन शत्रुओं का बाधन कर सकोगे।

भावार्थ—प्रभु का हम धारण करें, भावन करें। प्रभु में ही क्रीड़ा करनेवाले हों। उस प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम वासनारूप शत्रुओं का विदारण कर पाएँगे।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की ओर चलने का वर्णन कर रहा है। योगांगों के अनुष्ठान से हम शरीर को स्वस्थ व मन को निर्मल बनाकर प्रभु की ओर चलें। अन्ततः आत्मक्रीड हों। ऐसा बनने के लिए हम 'मुद्गलः' (ओषधयो वै मुदः श० ९।४।१।७) ओषधि वनस्पतियों का ही सेवन करनेवाले हों और अपने इन्द्रियाश्वों को 'मर्म' तेजस्विता से पूर्ण बनाकर 'भार्म्यश्वः' बनें। यह 'मुद्गल भार्म्यश्व' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रभु से निवेदन करता है कि—

[१०२] द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शरीर रथ का रक्षण

प्र ते रथं मिथूकृतमिन्द्रोऽवतु धृष्णुया। अस्मिन्नाजौ पुरुहूत श्रवाय्ये धनभक्षेषु नोऽव॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके इस **मिथूकृतम्**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों से युक्त किये हुए **रथम्**=शरीर रथ को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण के द्वारा **प्र अवतु**=प्रकर्षेण रक्षित करे। वासनाओं के आक्रमण से ही यह रथ जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। वासनाओं को नष्ट करके इन्द्र प्रभु से दिये गये इस रथ का रक्षण करनेवाला होता है। (२) **अस्मिन्**=इस **श्रवाय्ये**=प्रशंसनीय, हमारे जीवन को यशस्वी बनानेवाले **आजौ**=वासनाओं के साथ चलनेवाले संग्राम में हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! आप **धनभक्षेषु**=धनों के सेवनों में **नः**=हमारा **अव**=रक्षण कीजिए। इस वासनामय संसार में धन आवश्यक भी है, साथ ही भयों का कारण भी है। इन धनों के सेवन में हम गलती कर बैठते हैं। यह धन ही वासनाओं का मूल बन जाता है। वासनाओं को जीतकर हम धन के स्वामी बने रहें, दास न बन जाएँ।

भावार्थ—वासनाओं के धर्षण के द्वारा हम शरीर रथ का रक्षण करनेवाले हों। प्रभु-स्मरण के द्वारा वासना-संग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मुद्गलानी द्वारा रथ-संचालन

उत्स्म वातो वहति वासो अस्या अधिरथं यदजयत्सहस्रम्।
रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना॥ २ ॥

(१) जीव 'मुद्गल' है, तो उसकी पत्नीरूप बुद्धि 'मुद्गलानी' है। आत्मा शरीर रथ का स्वामी है, तो बुद्धि इस रथ की सारथि है। **यत्**=जब यह बुद्धि **अधिरथम्**=इस रथ में स्थित होकर

सहस्त्रम्=शतश: वासनाओं को **अजयत्**=जीतती है तो **वातः**=प्राण **अस्याः**=इसके **वासः**=आच्छादन व आवरणभूत वासनारूप वस्त्र को **उद्वहति स्म**=दूर करता है। प्राणसाधना से काम का विनाश होता है। यह काम ही बुद्धि पर परदा-सा पड़ा हुआ होता है। इस परदे के हट जाने से ज्ञान चमक उठता है। (२) इस ज्ञान की दीप्ति में ही प्रभु का आभास मिलता है। सो **गविष्टौ**=उस प्रभु के गवेषण में **मुद्गलानी**=ओषधि वनस्पतियों का सेवन करनेवाले जीव की पत्नी रूप बुद्धि **रथीः**=शरीर रथ की संचालिका **अभूत्**=होती है। (३) जब बुद्धि प्रभु के अन्वेषण के लिए प्रवृत्त होती है तो **इन्द्रसेना**=इस जितेन्द्रिय पुरुष की **सेना**=अर्थात् इन्द्रियाँ प्राण, मन व बुद्धि **भरे**=इस अध्यात्म-संग्राम में **कृतं व्यचेत्**=सफलता से प्राप्त होनेवाले फल का चयन करे, अर्थात् विजयी बने।

भावार्थ—बुद्धि प्रभु-दर्शन में प्रवृत्त होती है, तो हमारी इन्द्रियाँ, मन व प्राण वासनाओं का पराजय करनेवाले होते हैं।

ऋषि:—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

त्रिगुणातीत

अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासतः। दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम्॥ ३॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् **इन्द्र**=शत्रु विनाशक प्रभो! **जिघांसतः**=हमारे हनन की कामना करते हुए **अभिदासतः**=(दसु उपक्षये) हमारा **उपक्षय**=विनाश करनेवाले वासनारूप शत्रु के **वज्रम्**=वज्र को **अन्तः यच्छ**=बीच में ही रोकनेवाले होइये। इस शत्रु का हमारे पर आक्रमण न हो पाये। (२) **दासस्य वा**=चाहे हमें नष्ट करनेवाले दास का **वधम्**=हनन साधन आयुध हो **वा**=अथवा **आर्यस्य**=श्रेष्ठ का **सनुतः**=अन्तर्हित रूप में प्रयुज्यमान आयुध हो उसे **यवय**=हमारे से पृथक् करिये। 'तमस् व रजस्' यदि दास हैं तो 'सत्त्व' आर्य है। 'तमस्' प्रमाद, आलस्य व निद्रा के द्वारा आक्रमण करता है और रजस्, लोभ व तृष्णा के द्वारा आक्रमण करता है। सत्त्वगुण भी ज्ञान व सुख के द्वारा हमें बाँधता है। प्रभु की कृपा से हम इन सब बन्धनों से ऊपर उठें, त्रिगुणातीत बनें। रजस् व तमस् से ऊपर उठने के लिए सत्त्व को अपनाएँ और इस प्रकार नित्य सत्त्वस्थ होकर अन्ततः सत्त्वगुण से भी ऊपर उठें।

भावार्थ—हम दासरूप तमस् व रजस् के तथा आर्यरूप सत्व के बन्धन से ऊपर उठें।

ऋषि:—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उदक-हृद का पान

उद्नो ह्रदमपिबज्जर्हृषाणः कूटं स्म तृंहदभिमातिमेति।
प्र मुष्कभारः श्रव इच्छमानोऽजिरं बाहू अभरत्सिषासन्॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार तामस व राजस बन्धनों से ऊपर उठने पर यह साधक **उद्नः**=उदक की **ह्रदम्**=झील को **अपिबत्**=अपने अन्दर पीनेवाला होता है। रेतःकण ही शरीर में उदक बिन्दु हैं (आपः रेतो भूत्वा०)। 'वीर्य कोश' ही उदकहृद है। उसके पान का अभिप्राय है 'उसकी ऊर्ध्वगति करना'। प्राणायाम के द्वारा जब यह ऊर्ध्वरेता बनता है तो इस वीर्य के रुधिर में व्याप्त हो जाने पर यह उस उदकहृद को अपने अन्दर पी लेता है। ऐसा करने पर **जर्हृषाणः**=यह बड़ी प्रसन्नतावाला होता है। शरीर व मन के स्वस्थ होने से यह आह्लादमय होता है। अपने जीवन में से **कूटम्**=छल छिद्र को **तृंहत् स्म**=निश्चय से विनष्ट कर देता है। **अभिमातिम्**=अभिमान आदि शत्रुओं पर **एति**=आक्रमण करता है। (२) **प्र मुष्कभारः**=(मुष्क=muscle) बड़े सुगठित शरीर

को (museular body) धारण करनेवाला होता है (मुष्कं विभर्ति)। **श्रवः इच्छमानः**=ज्ञान को चाहनेवाला होता है, ज्ञान रूचि बनता है। **सिषासन्**=(संभक्तुमिच्छन्) प्रभु के सम्भजन की कामना करता हुआ यह साधक **अजिरम्**=शीघ्र ही (क्षिप्रं सा०) **बाहू**=(बाह् प्रयत्ने) दोनों प्रयत्नों का **अभरत्**=धारण करनेवाला होता है। यहाँ दोनों प्रयत्नों का संकेत 'मुष्कभारः व श्रवइच्छमानः' शब्दों से हुआ है शरीर में बल व मस्तिष्क में ज्ञान का सम्पादन ही उभयविध प्रयत्न है। यही ब्रह्म व क्षत्र का अपने में समन्वय करना है। एक स्वस्थ ज्ञानी पुरुष ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें। इससे शरीर को सबल व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएँ। यही प्रभु का उपासन है।

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासना से शक्ति-सम्पन्नता

न्य॑क्रन्दयन्नुपयन्त॑ एनममे॑हयन्वृष॒भं मध्य॑ आ॒जेः।
तेन॒ सूभ॑र्वं श॒तव॑त्स॒हस्रं॒ गवां॒ मुद्ग॑लः प्र॒धने॑ जिगाय ॥ ५ ॥

(१) **एनम्**=इस **वृषभम्**=शक्तिशाली व सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु को **उपयन्तः**= समीपता से प्राप्त होते हुए, अर्थात् प्रभु का उपासन करते हुए **नि अक्रन्दयन्**=खूब ही उस प्रभु का आह्वान करते हैं। **आजेः मध्ये**=इस जीवन संग्राम के मध्य में प्रभु (को) **अमेहयन्**=शक्ति का वर्षण कराते हैं। उपासना से उपासक अपने को प्रभु की शक्ति से सिक्त करता है। इसी शक्ति से ही तो वह संग्राम में विजय को प्राप्त करेगा। (२) **तेन**=अपने में उस प्रभु शक्ति के सेचन के द्वारा **मुद्गलः**=यह ओषधि वनस्पतियों का सेवन करनेवाला **प्रधने**=संग्राम में उत्कृष्ट ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्तभूत संग्राम में **गवां जिगाय**=इन्द्रियरूप गौवों का विजय करता है। इस प्रकार विजय करता है जिससे कि **सूभर्वम्**=(भर्वति अत्तिकर्मा नि० २।८) ये इन्द्रियाँ उत्तम ही भोजनवाली होती हैं, इनका भरण उत्तमता से होता है। **शतवत्**=ये सौ वर्षोंवाली होती हैं, अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त इनकी शक्ति जीर्ण नहीं होती। **सहस्रम्**=(सहस्) ये प्रसन्नता से परिपूर्ण होती हैं अथवा सहस्रों कार्यों को सम्पन्न करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति से हम अन्तः शत्रुओं का पराजय करके जितेन्द्रिय बनते हैं। उससे इन्द्रियाँ उत्तम विषयों में विचरती हैं (सु+भर्व्), शतवर्षपर्यन्त शक्तिशाली बनी रहती हैं और हम उत्साह व उल्लास सम्पन्न बने रहते हैं।

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मुद्गलानी की प्राप्ति

क॒कर्दवे॑ वृष॒भो यु॒क्त आ॑सी॒दवा॑वची॒त्सार॑थिरस्य के॒शी।
दु॒धेर्यु॒क्तस्य॑ द्र॒वतः॑ स॒हान॑स ऋ॒च्छन्ति॑ ष्मा नि॒ष्पदो॑ मुद्ग॒लानी॑म् ॥ ६ ॥

(१) **वृषभः**=वह शक्तिशाली प्रभु **ककर्दवे**=अन्तःशत्रुओं के हिंसन के लिए **युक्तः आसीत्**=योग के द्वारा संबद्ध किया हुआ था। योगांगों के अनुष्ठान से उस प्रभु का हमने उपासन किया। उस समय **केशी**=ज्ञानरश्मियोंवाला **अस्य सारथिः**=जीव के शरीर रथ का संचालक वह प्रभु **अवावचीत्**=खूब ही उसे सन्मार्ग के उपदेश का देनेवाला हुआ। योगयुक्त होने पर वह प्रभु हृदयस्थरूपेण हमें ज्ञानोपदेश देते ही हैं। (२) इस ज्ञानोपदेश के होने पर **दुधेः**=इस दुर्धर-कठिनता से धारण करने योग्य, **द्रवतः**=इधर-उधर दौड़ते हुए, **अनसा सह**=इस शरीररथ के साथ

युक्तस्य=युक्त हुए-हुए मन के **निष्पदः**=(पद् गतौ) गतिशून्य करनेवाले, स्थिर करनेवाले अभ्यासी लोग **मुद्गलानीम्**='मुद्गल' जीव की पत्नीरूप इस बुद्धि को **ऋच्छन्ति स्म**=अवश्य प्राप्त होते हैं। मन के स्थिर होने पर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' प्राप्त होती है। मानस स्थिरता बुद्धि प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु के साथ सम्पर्क होने पर सब वासनाओं का संहार हो जाता है। मानस स्थिरता के होने पर बुद्धि का विकास होता है।

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान शक्ति व जितेन्द्रियता

उत प्रधिमुदहन्नस्य विद्वानुपायुनग्वंसगमत्र शिक्षन्।
इन्द्र उदावत्पतिमघ्न्यानामरंहत पद्याभिः ककुद्मान्॥ ७॥

(१) **उत**=और **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **अस्य प्रधिम्**=इस ब्रह्माण्ड के प्रकृष्ट धारक अथवा प्रधिभूत प्रभु को **उद् अहन्**=(हन् गतौ) उत्कर्षेण प्राप्त होता है। चक्र जिस प्रकार प्रधि के द्वारा सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड प्रभु के द्वारा सुरक्षित है। इस प्रभु की प्राप्ति के लिए ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है। (२) **अत्र**=इस जीवन में **शिक्षन्**=(शक्-सन्) अपने को शक्तिशाली बनाने की कामनावाला **वंसगम्**=वननीय (=सुन्दर) गतिवाले प्रभु को **उपायुनक्**=अपने साथ समीपता से जोड़ता है। प्रभु की प्राप्ति सबल को होती है, 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'=निर्बल से ये प्रभु प्राप्त होने योग्य नहीं। प्रभु प्राप्ति के लिए जहाँ ज्ञान की आवश्यकता है, वहाँ शक्ति का भी उतना ही महत्त्व है। 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास हमें प्रभु प्राप्ति के योग्य बनाता है (३) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अघ्न्यानां अहन्तव्य**=न नष्ट करने योग्य, सदा अध्ययन के योग्य ज्ञान की वाणियों के **पतिम्**=स्वामी प्रभु को **उद् आवत्**=उत्कर्षेण प्राप्त होता है (अव् गतौ)। प्रभु प्राप्ति के लिए जहाँ ज्ञान व शक्ति का सम्पादन आवश्यक है, वहाँ जितेन्द्रियता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः जितेन्द्रियता ही ज्ञान व शक्ति का मूल है। ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना जितेन्द्रियता का साधन हो जाता है। (४) इस प्रकार **पद्याभिः**=ज्ञान, शक्ति व जितेन्द्रियता के मार्गों से चलता हुआ **ककुद्मान्**=शिखरवाला, अर्थात् उन्नति पर्वत के शिखर पर पहुँचनेवाला व्यक्ति **अरंहत**=तीव्र गति से प्रभु की ओर बढ़ता है। मस्तिष्क का विकास करता हुआ यह ज्ञानशिखर पर पहुँचता है। मन का विकास करता हुआ जितेन्द्रियों का अग्रणी बनता है। शरीर का विकास करता हुआ शक्ति का पुञ्ज बनता है। इस प्रकार इसका उन्नति पर्वत ज्ञान, शक्ति व जितेन्द्रियतारूप तीन शिखरोंवाला होता है। यही व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी, जितेन्द्रिय व शक्ति-सम्पन्न बनकर प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-भक्त के लक्षण

शुनमष्ट्राव्यचरत्कपर्दी वरत्रायां दार्वानह्यमानः।
नृम्णानि कृण्वन्बहवे जनाय गाः पस्पशानस्तविषीरधत्त ॥ ८ ॥

(१) **अष्ट्रावी**=चाबुकवाला, व्रतरूप प्रतोद से इन्द्रियरूप गौवों को हाँकनेवाला, **कपर्दी**=(क-पर्+द) सुख की पूर्ति को देनेवाला, अर्थात् अधिक से अधिक औरों के जीवनों को सुखी बनानेवाला व्यक्ति **शुनम्**=उस सुखस्वरूप प्रभु की ओर **व्यचरत्** विशेषरूप से जानेवाला होता है। प्रभु को

प्राप्त करनेवाला (क) इन्द्रियों को व्रतों के बन्धन में बाँधना है तथा (ख) औरों के लिए सुख को प्राप्त कराने का प्रयत्न करता है। (२) (ग) यह **दारु**=इस अन्ततः विदीर्ण करने योग्य शरीर को **दारु**='दॄ', शरीर=शॄ) **वरत्रायाम्**=व्रतरज्जु में **आनह्यमानः**=समन्तात् बाँधनेवाला होता है। इन व्रतों के बन्धनों के बिना उच्छृंखल क्रियाओंवाला यह शरीर उन्नति का साधन नहीं होता। (३) (घ) यह प्रभु-भक्त **बहवे जनाय**=बहुत लोगों के लिए **नृम्णानि कृण्वन्**=धनों व सुखों को करनेवाला होता है। धनों का उपभोग स्वयं अकेले में नहीं कर लेता, यह औरों के साथ बाँट करके ही धनों का उपभोग करता है। यह इस बात को अच्छी तरह समझता है कि 'केवलाघो भवति केवलादी'। (४) (ङ) **गाः पस्पशानः**=यह ज्ञान की वाणियो का देखनेवाला होता है और **तविषीः**=बलों को **अधत्त**=धारण करता है। ज्ञान और बल का अपने जीवन में समन्वय करके चलता है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त के लक्षण निम्न हैं—(क) जितेन्द्रियता, (ख) औरों को सुखी करने का प्रयत्न, (ग) शरीर को व्रत बन्धनों में बाँधना, (घ) सबके साथ बाँट करके खाना, (ङ) स्वाध्यायशीलता, (च) शक्ति-सम्पन्न।

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्तिशाली को प्राप्त होनेवाले प्रभु

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु॥ ९॥

(१) **इमम्**=इस **तम्**=उस प्रसिद्ध प्रभु को **पश्य**=देख। जो प्रभु **वृषभस्य युञ्जम्**=शक्तिशाली को अपने साथ जोड़नेवाले हैं, जो शक्तिशाली को प्राप्त होते हैं। **काष्ठायाः**=दिशाओं के **मध्ये**=मध्य में **शयानम्**=निवास करनेवाले **द्रुघणम्**=संसार वृक्ष को नष्ट करनेवाले प्रभु को (पश्यः) देख। वे प्रभु सब दिशाओं में सर्वत्र व्याप्त हैं, इन प्रभु की उपासना से मनुष्य इस संसार वृक्ष को काट पाता है। प्रभु संसार वृक्ष को छिन्न करके हमारी मुक्ति का साधन बनते हैं। (२) उस प्रभु को देख **येन**=जिससे **पृतनाज्येषु**=संग्रामों में **मुद्गलः**=ओषधि वनस्पतियों का सेवन करनेवाला प्रभु-भक्त **शतवत्**=सौ वर्ष तक ठीक चलनेवाली **सहस्रम्**=प्रसन्नता से युक्त **गवाम्**=इन्द्रियों को **जिगाय**=जीतता है। प्रभु-भक्ति से इन्द्रियों की शक्ति सौ वर्ष तक ठीक बनी रहती है, इन्द्रियाँ प्रसन्न व निर्मल बनी रहती हैं।

भावार्थ—प्रभु शक्तिशाली को अपने साथ जोड़ते हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर संसार वृक्ष के छेदन से हमारे मोक्ष का कारण बनते हैं। इस प्रभु के उपासन से हम इन्द्रियों का विजय कर पाते हैं।

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपापविद्ध प्रभु

आरे अघा को न्वि१त्था ददर्श यं युञ्जन्ति तम्वा स्थापयन्ति।
नास्मै तृणं नोदकमा भरन्त्युत्तरो धुरो वहति प्रदेदिशत्॥ १०॥

(१) **अघा आरे**=वे प्रभु पापों से दूर हैं, शुद्ध व अपापविद्ध हैं। **कः**=कौन **नु**=अब **इत्था**=इस प्रकार **ददर्श**=उस प्रभु को देखता है, **यम्**=जिसको कि **युञ्जन्ति**=चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा मन से युक्त करते हैं **तं उ**=और उसको ही **आस्थापयन्ति**=अपने हृदय मन्दिरों में स्थापित करते हैं। इस प्रकार विरले योगी ही उस पूर्ण पवित्र प्रभु का दर्शन करते हैं। पवित्र बने बिना उस

पवित्र प्रभु के दर्शन का सम्भव भी तो नहीं। (२) **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **न तृणं आभरन्ति**=न तो तृण को प्राप्त कराते हैं, **न उदकम्**=और ना ही उदक को। प्रभु के उपासन के लिए किन्हीं भी अर्घ्य द्रव्यों की आवश्यकता नहीं है। विशेषतः प्रभु-पूजन के लिए धन अपेक्षित नहीं, पत्र पुष्पादि से ही प्रभु प्रीणित किये जा सकते हैं। अपेक्षित वस्तु तो पवित्रता है। वे प्रभु **उत्तरः**=इस भवसागर से तरानेवाले हैं। **प्रदेदिशत्**=हमारे लिए निरन्तर कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए वे प्रभु **धुरः वहति**=सब लोक-लोकान्तरों की धुराओं का वहन करते हैं। सम्पूर्ण गति का स्रोत प्रभु ही हैं।

भावार्थ—वे प्रभु अपापविद्ध हैं। कोई विरल पवित्र व्यक्ति ही प्रभु का दर्शन करता है।

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मदर्शन

परिवृक्तेव पतिविद्यमानट् पीप्याना कूचक्रेणेव सिञ्चन्।
एषैष्या चिद्रथ्या जयेम सुमङ्गलं सिनवदस्तु सातम्॥ ११॥

(१) 'बुद्धि' (मुद्गल) पत्नी है और 'आत्मा' पति है। जिस समय बुद्धि **परिवृक्ता इव**=(cleaned, eleared, purified) वासना के आवरण से रहित होकर पवित्र-सी हो जाती है, उस समय यह **पतिविद्यम्**=अपने पतिरूप आत्मतत्त्व के ज्ञान को **आनट्**=व्याप्त करनेवाली होती है। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'=सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही आत्मा का दर्शन होता है। **पीप्याना**=उस समय यह बुद्धि सब दृष्टिकोणों से आप्यायन (वर्धन) वाली होती है। (२) आत्मा भी उस समय प्राणसाधनादि के द्वारा **कूचक्रेण सिंचन् इव**=(कु=पृथिवी) इस पृथिवी रूप शरीर के मूलाधार चक्र से, इस स्थान पर स्थित वीर्यकोश के जल से सम्पूर्ण शरीर को खींचता हुआ-सा होता है। वीर्य को सारे शरीर में व्याप्त करता है। इन रेतःकणों की ऊर्ध्वगति से सारे रुधिर में इन्हें व्याप्त करना ही सेचन है। (२) **एषा**=यह बुद्धि **एष्या**=सर्वथा चाहने योग्य होती है। **चिद्**=निश्चय से **रथ्या**=यह शरीर रथ का उत्तमता से संचालन करनेवाली बनती है 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'। इसके द्वारा हम **सुमंगलं जयेम**=उत्तम मंगलों का विजय करनेवाले हों। **सातम्**=(pleasuse, delight) हमारा आनन्द **सिनवत्**=(सिनं body) उत्तम शरीरवाला **अस्तु**=हो। अर्थात् हमें पूर्ण स्वस्थ शरीर का आनन्द प्राप्त हो। वस्तुतः शरीर को रेतःकणों से सिक्त करने का प्रथम परिणाम यह है कि—(क) बुद्धि सूक्ष्म होती है। इससे (ख) शरीर का संचालन उत्तम होता है, (ग) सब मंगल ही मंगल होता है, (घ) आनन्द का अनुभव होता है और (ङ) स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—शुद्ध बुद्धि से आत्मा का दर्शन होता है। इस स्थिति में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। बुद्धि परिष्कृत होकर शरीर का उत्तम संचालन होता है। आनन्द का अनुभव होता है। पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**मुद्गलो भार्म्यश्वः** ॥ देवता—**द्रुघण इन्द्रो वा** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

चक्षुषः चक्षुः

त्वं विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुषः।
वृषा यदाजिं वृषणा सिषाससि चोदयन्वध्रिणा युजा॥ १२॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार आत्मदर्शन करनेवाली बुद्धि आत्मदर्शन करती हुई कहती है कि

हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वस्य जगतः**=सम्पूर्ण जगत् की **चक्षुषः**=आँख की **चक्षुः असि**=आँख हो। वे 'सूर्यः चक्षुर्भूत्वा०' सूर्य ही चक्षु का रूप धारण करके सब प्राणियों की आँखों में रह रहा है, सो सूर्य सम्पूर्ण जगत् की चक्षु है। इस चक्षु का भी चक्षु वे प्रभु हैं। सूर्य को भी दीप्ति देनेवाले प्रभु ही तो हैं। (२) यह बुद्धि प्रभु को जगत् की चक्षु के भी चक्षु के रूप में देखती है तो अपने पति आत्मा को कहती है कि **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ तू **यत्**=जब **वध्रिणा**=(वध्री=वरत्रा=रज्जु) व्रतबन्धन में बद्ध **युजा**=इस अपने साथी मन के द्वारा **वृषणा**=शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **चोदयन्**=प्रेरित करता है, तो **आजिं सिषाससि**=इस संसार-संग्राम को प्राप्त करने की कामनावाला होता है (सन्=to oblain) इस संसार-संग्राम में मन को वश में करके जब हम मनरूप लगाम से इन इन्द्रियाश्वों को चलाते हैं तो अवश्य विजयी होते हैं।

भावार्थ—बुद्धि से हम प्रभु को सब संसार को दीप्ति देनेवाले के रूप में देखते हैं, और आत्मा को मन के द्वारा इन्द्रियाश्वों को प्रेरित कर युद्ध विजेता के रूप में।

सम्पूर्ण सूक्त आत्मदर्शन के भाव को प्रकट कर रहा है। आत्मदर्शन करनेवाला इस संसार-संग्राम में विजेता बनता है। यह विजेता 'अद्वितीय विजेता' है, अनुपम योद्धा है (matchless wnslior) यह युद्ध विजयी बनकर पिता प्रभु का दर्शन करता है, प्रभु का हो जाता है। सो यह 'ऐन्द्रः' (इन्द्रस्यायम्) कहलाने लगता है। 'अप्रतिरथ ऐन्द्र' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[१०३] त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एक आदर्श उपासक का जीवन

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः ॥ १ ॥

उपासक के लक्षण कहते हैं—

(क) **आशुः**=यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है, इसमें ढील नहीं होती। इसका जीवन स्फूर्तिमय होता है।

(ख) **शिशानः**=(शो तनूकरणे) यह निरन्तर अपनी बुद्धि को तीव्र करने में लगा है। इस तीव्र बुद्धि ने ही तो इसे प्रभु-दर्शन कराना है। **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**।

(ख) **वृषभः**=यह वृषभ के समान शक्तिशाली होता है। परमात्मा के सम्पर्क में आकर क्या यह निर्बल रहेगा?

(घ) **न भीमः**=भयंकर नहीं होता। शक्ति है, परन्तु सौम्यता। इसकी शक्ति परपीड़न के लिए थोड़े ही है।

(ङ) **घनाघनः**=यह कामादि शत्रुओं का बुरी तरह से हनन करने में लगा है।

(च) **चर्षणीनां क्षोभणः**=मनुष्यों में क्रान्तिकारी विचार देकर—इसने उथल-पुथल मचा दी है।

(छ) **संक्रन्दनः**=(क्रदि आह्वाने) सदा प्रभु का आह्वान कर रहा है। जहाँ प्रभु का नाम घोषित होता है, वहाँ काम थोड़े ही आता है?

(ज) **अनिमिषः**=एक पलक भी नहीं मारता—ज़रा भी नहीं सोता, सदा सावधान alert है, सोएगा तो वासनाओं का आक्रमण न हो जाएगा? पुष्पधन्वा, पुष्पसायक, पञ्चबाण (काम) अपने पाँच बाणों से पाँचों इन्द्रियों को मुग्ध करने का प्रयत्न करता है। यही उसका क्लोरोफार्म सुँघाना है, जिसने सूँघ लिया वह काम का शिकार हो गया। यह उपासक तो जागरूक है।

(झ) **एकवीरः**=यह अद्वितीय वीर है तभी तो इसने इन प्रबल वासनाओं से संग्राम किया है—मोर्चा लिया है।

(ञ) **इन्द्रः**=यह सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता है और

(ट) **शतं सेना साकम् अजयत्**=वासनाओं की सैकड़ों सेनाओं को एकसाथ ही जीत लेता है अथवा उस प्रभु को साथी बनाकर इन वासनाओं की सेना को जीतता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हममें उपासक के ये ग्यारह लक्षण घट जाएँ।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

युधिष्ठिर

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥ २॥

वासनाओं को जीतना सुगम तो क्या असम्भव-सा प्रतीत होता है। इनके साथ युद्ध करनेवाला मनुष्य 'युधः' है। यह अपने को निरन्तर आगे प्राप्त कराने के कारण नरः=(नृ नये) है। यह अपने आत्मा, अर्थात् अपने को एक आदर्श उपासक के रूप में ढालता है और उस आत्मा से वासनाओं का पराभव करता है।

कैसी आत्मा से? (क) **संक्रन्दनेन**=सदा प्रभु का आह्वान करनेवाली आत्मा से। प्रभु के आह्वान ने ही तो इसे सबल बनाना है और वासनाओं को भयभीत करना है। (ख) **अनिमिषेण**=कभी पलक न मारनेवाले से। यह सदा अप्रमत्त रहता है। नाममात्र भी प्रमाद हुआ और वासनाओं का आक्रमण हुआ (ग) **जिष्णुना**=विजय के स्वभाववाले से। यह प्रभु का आह्वान करनेवाला अप्रमत्त जीतेगा नहीं तो क्या हारेगा? (घ) **युत्कारेण**=युद्ध करनेवाले से और (ङ) **दुश्च्यवनेन**=युद्ध से पराङ्मुख न किये जानेवाले से। यह इसलिए भी विजयी होता है कि यह युद्ध से कभी पराङ्मुख नहीं होता। (च) **धृष्णुना**=पराङ्मुख न होने के कारण शत्रुओं का धर्षण करनेवाले से। जो युधिष्ठिर (युधि+स्थिर) युद्ध में स्थिर रहनेवाला होता है वह अनन्त विजय को तो प्राप्त करता ही है। (छ) **इषुहस्तेन**=(इषु—प्रेरणा) प्रभु-प्रेरणा जिसने हाथ में ली हुई है, उससे। यह प्रभु की प्रेरणा को सुनता है और उसके अनुसार हाथों से कार्य करता है, इसलिए यह 'इषुहस्त' कहलाता है। (ज) **वृष्णा**=शक्तिशाली से। प्रभु के उपासक की आत्मा शक्ति-सम्पन्न तो होती ही है।

ऐसे इन्द्र से—आत्मा से ही नर जीता करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **तदिन्द्रेण**=इस इन्द्र से **जयत**=शत्रुओं को जीत लो और **तत् सहध्वम्**=इस वासनाओं के समूह को पराभूत कर दो।

भावार्थ—हम अपने में युद्ध में स्थिर रहने की भावना को भरें और विजयी बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु प्रेरणा

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥ ३॥

सः=वह उपासक **इषुहस्तैः**=प्रेरणारूप हाथों से और **सः**=वह **निषङ्गिभिः**=असङ्ग नामक शस्त्रों से (न=अ, नहीं, सङ्ग=आसक्ति) अनासक्ति से उपलक्षित=मुक्त हुआ-हुआ **वशी**=इन्द्रियों को वश में करनेवाला **गणेन संस्रष्टा**=समाज के साथ मेल करनेवाला—एकाकी जीवन न बितानेवाला **सः**=वह **युधः**=वासनाओं से युद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता उपासक **संसृष्टजित्**=सब संसर्गों को, विषय-सम्पर्कों को जीतनेवाला होता है। विषय-सम्पर्क को जीतकर ही यह **सोमपा**=सोम का पान करनेवाला होता है। **बाहुशर्धी**=सोमपान के कारण यह अपनी बाहुओं से पराक्रम करनेवाला होता है। इन्द्र ने इस सोम का पान करके ही तो कहा था कि 'भूमि को यहाँ रख दूँ या वहाँ रख दूँ।' सोम semen=शक्ति का पान—अपने अन्दर खपाना है। **उग्रधन्वा**=('प्रणवो धनुः') ओम् या प्रणव ही इसका धनुष है, इससे **उग्र**=उदात्त धनुष हो ही क्या सकता है? इस प्रणव के जप से ही इसने वासनाओं को विद्ध करना है।

यह **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला है (असु क्षेपण), परन्तु यह शत्रुओं को परे फेंकने की क्रिया '**प्रतिहिताभिः**'=प्रत्याहृताभिः=इन्द्रियों के वापस आहरण के द्वारा होती है। सामान्यतः शस्त्रों को फेंककर शत्रुओं को भगाया जाता है, परन्तु यहाँ इन्द्रियों को वापस लाकर शत्रुओं को परे फेंका जाता है। 'वापस करना और परे फेंकना' यह काव्य का विरोधाभास अलङ्कार है। उपासक का जीवन भी इस वर्णन के अनुसार काव्यमय है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम अनासक्ति के द्वारा इस संसारवृक्ष का छेदन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानी बनो

बृह॑स्पते॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हामित्राँ॑ अप॒बाध॑मानः।
प्र॒भ॒ञ्जन्त्सेनाः॑ प्रमृ॒णो यु॒धा जय॑न्न॒स्माक॑मेध्यवि॒ता रथा॑नाम्॥ ४॥

प्रभु जीव से कहते हैं **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन्! तू **रथेन**=इस शरीररूप रथ के द्वारा **परिदीया**=चमकनेवाला बन (दी=to shine) और आकाश में उड़नेवाला बन, अर्थात् उन्नति की ओर चल। जीव ने उन्नत होने के लिए ज्ञानी बनना है, बिना ज्ञान के किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। यह बृहस्पति उन्नति करते-करते ऊर्ध्वादिक् का अधिपति बनता है। यह अपने शरीररूप रथ के द्वारा ऊर्ध्वगति करनेवाला बनता है (दी=to soar)। यह उन्नति की ओर चलता हुआ '**रक्षोहा**'=रमण के द्वारा (र) क्षय (क्ष) करनेवाली वृत्तियों का संहार करता है। इनका संहार करके ही यह अपनी ऊर्ध्वगति को स्थिर रख पाएगा। यह अपनी यात्रा में आगे बढ़ता है—**अमित्रान्**=द्वेष की भावनाओं को **अपबाधमानः**=दूर करता हुआ। ईर्ष्या-द्वेष से मन मृत हो जाता है—मन के मृत हो जाने पर उन्नति सम्भव कहाँ? हे बृहस्पते! तू **सेनाः**=इन वासनाओं के सैन्य को **प्रभञ्जन्**=प्रकर्षेण पराजित करता हुआ (रणे भङ्गः पराजयः) **प्रमृणः**=कुचल डाल। इस प्रकार **युधा**=इन वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा **जयन्**=विजयी बनता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारे दिये हुए इन **रथानाम्**=रथों का **अविता**=रक्षक **एधि**=हो। इस रथ को तू इन राक्षसों, अमित्रों और वासना-सैन्यों का शिकार न होने दे। इसी प्रकार तू इस रथ के द्वारा 'ऊर्ध्वा दिक्' का अधिपति 'बृहस्पति' बन सकेगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनकर इस रथ से यात्रा को ठीक रूप में पूर्ण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जैत्र रथ—विजयी रथ

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित् ॥ ५ ॥

'प्रजापति', अर्थात् नेता को कैसा बनना चाहिए, यह इस मन्त्र में इन शब्दों में बतलाते हैं—

१. **बलविज्ञायः**=तू बल के कारण प्रसिद्ध—known for shis vigour तथा

२. **गोवित्**=(गावः=वेदवाचः) वेदवाणियों को जानने व प्राप्त करनेवाला बनकर **जैत्रं रथमातिष्ठ**=विजयशील रथ पर आरूढ़ हो। शरीर ही रथ है जो जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए दिया गया है। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए बल व ज्ञान दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं। बल रजोगुण का प्रतीक है और ज्ञान सत्त्वगुण का। केवल सत्त्व व केवल रज से नहीं, अपितु दोनों के समन्वय से ही सफलता मिलनी है। इसी बात को मन्त्र में ३.-४. **अभिवीरः अभिसत्वा**=इन शब्दों से पुनः कहा है, वीरता की ओर चलनेवाला और सत्त्व की ओर चलनेवाला। सत्त्व का लक्षण ज्ञान है। एवं, वीरता व ज्ञान का अपने में समन्वय करनेवाला ही विजयी बनता है। प्रारम्भ 'बलविज्ञायः'=शक्ति से है और समाप्ति 'गोवित्'=ज्ञान से है। बल और ज्ञान=क्षत्र और ब्रह्म मिलकर हमें विजयी बनाएँगे। वीरता की ओर चलो—सत्त्वगुण की ओर चलो तथा

५. **स्थविरः**=स्थिर मति का बनना। डाँवाँडोल व्यक्ति कभी विजयी नहीं होता। ६. **प्रवीरः**=प्रकृष्ट वीर बनना, कायर नहीं। क्या कायर कभी जीतता है? ७. **सहस्वान्**=सहनशील= Tolerant बनें। छोटी-छोटी बातों से क्षुब्ध हो गये तो सफल न हो पाएँगे। ८.-९. **सहमानः उग्रः**=हम शत्रुओं का पराभव करनेवाले बनें, परन्तु उग्र=उदात्त बने रहें—कमीनेपन पर कभी न उतर आएँ और सबसे बड़ी बात यह कि १०. **सहौजाः**=हम एकता के बलवाले हों—हम परस्पर मिलकर चलें। सारा विज्ञान हमारा कल्याण तभी करेगा जब हम संज्ञानवाले होंगे। 'संघ में शक्ति है', इस तत्त्व को हम कभी भूल न जाएँ। घर में पति-पत्नी का मेल होता है तो वहाँ अवश्य सफलता उपस्थित होती है। ११. **वाजी**='Sacrifice'=त्यागवाला। त्याग के बिना विजय सम्भव नहीं—मेल भी सम्भव नहीं।

एवं, प्रस्तुत मन्त्र में विजय प्राप्ति के ११ तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। इनको अपनाकर हम सच्चे प्रजापति बनें।

भावार्थ—हमारे जीवन का एक सिरा शक्ति हो और दूसरा ज्ञान। इनके द्वारा हम यथार्थ प्रजापति बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र बनो

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।
इमं सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ॥ ६ ॥

प्रभु कहते हैं—हे **सजाताः**=समान जन्मवाले जीवो! **इयम्**=इस इन्द्र के **अनुवीरयध्वम्**=अनुसार तुम भी वीरतापूर्ण कर्म करो। इस इन्द्र के जो १. **गोत्रभिदम्**=(गोत्र=wealth) धन का विदारण करनेवाला है, अर्थात् हिरण्मय पात्र द्वारा डाले जानेवाले आवरण को सुदूर नष्ट करनेवाला है। २. **गोविदम्**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाला है। धन के लोभ को दूर करके ही ज्ञान प्राप्त होता

है। ३. **वज्रबाहुम्**=जिसकी बाहु में वज्र है, 'वज गतौ' से वज्र बनता है, 'बाहृ प्रयत्ने' से बाहु। वज्रबाहु की भावना यही है कि गतिशील होने के कारण जो सदा प्रयत्नशील है। ४. **अज्म जयन्तम्**=युद्ध को जीतनेवाला है। निरन्तर क्रियाशीलता ने ही इसे वासना-संग्राम में विजयी बनाया है। ५. **ओजसा प्रमृणन्तम्**=जो (क्रियाशीलता से उत्पन्न) ओज के द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं को कुचल रहा है। वस्तुतः इन पाँच विशेषताओंवाला व्यक्ति ही इन्द्र है और इस इन्द्र के समान जन्म लेनेवाले सभी को चाहिए कि वे भी इन्द्र के समान ही वीर बनें और संग्राम में शत्रुओं को कुचल डालें। प्रभु कहते हैं कि हे **सखायः**=इन्द्र के समान ख्यानवाले जीवो! **इन्द्रम् अनु**=इस इन्द्र के अनुसार **संरभध्वम्**=दृढाङ्ग Robust बनो, बहादुरी का परिचय दो। इन्द्र असुरों का संहार करता है तुम भी उसके **सजात**=समान जन्मवाले **सखा**=समान ख्यान-(नाम)-वाले होते हुए क्या ऐसा न करोगे? इन्द्र के कर्म सदा बलवाले हैं। क्या तुम निर्बलता प्रकट करोगे? नहीं, तुम भी उसके अनुसार वीर बनो। जो इन्द्र ने किया है वह तुम भी कर सकते हो। तुम भी तो इन्द्र हो—तभी तो महेन्द्र (परमात्मा) के उपासक बने हो। प्रभु का उपासक कायर नहीं होता, अतः वीर बनो, बहादुरी का परिचय दो और वासनारूप शत्रुओं को कुचल डालो।

भावार्थ—हम इन्द्र हैं—हम असुरों का संहार करनेवाले हैं। धन के आकर्षण से हम ऊपर उठेंगे और ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करेंगे।

नोट—यह इन्द्र भी तुम्हारे-जैसा ही एक मनुष्य है, **सजाताः**=तुम इसके समान जन्मवाले हो **सखायः**=तुम इसके समान ख्यानवाले हो। एक ही योनि में तुमने जन्म लिया है, एक ही शिक्षणालय में तुमने शिक्षा पाई है, वह विजेता बना है—उसने धन के complex को जीत लिया है। तुम भी धन से तो नहीं, परन्तु धन के लोभ से ऊपर उठकर वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनो।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कमाएँ पर जोड़े नहीं

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाळयुध्योऽ३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु॥ ७॥

इन्द्रः=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **गोत्राणि**=धनों को **सहसा**=प्रसन्नतापूर्वक (with a smiling face) **अभिगाहमानः**=सर्वतः अवगाहन करता हुआ, अर्थात् सब सुपथों से प्राप्त करता हुआ **अदयः**=(देङ् रक्षणे) उन्हें अपने पास सुरक्षित रखनेवाला नहीं होता। क्या पेट, जो रुधिर बनता है, उस रुधिर को अपने पास रख लेता है? अपने पास न रखने से ही वह वस्तुतः स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार यह इन्द्र धनों को कमाता है, उनमें अवगाहन करता है=rolls in wealth, परन्तु उन्हें जोड़कर अपने पास नहीं रख लेता, इसीलिए तो वह प्रसन्न भी रहता है। **वीरः**=यह दानवीर बनता है। धन के प्रति आसक्ति न होने से यह कमाता है और देता है **शतमन्युः**=यह सैकड़ों क्रतुओं व प्रज्ञानोंवाला होता है। धनों का यह यज्ञों व ज्ञानप्राप्ति में विनियोग करता है।

दुश्च्यवनः=यह अपने इस यज्ञ-मार्ग से सुगमता से हटाया नहीं जा सकता। धन का लोभ इसे अयज्ञिय नहीं बना पाता यह **पृतनाषाट्**=काम-क्रोधादि शत्रु-सेनाओं का पराभव करनेवाला होता है **अयुध्यः**=काम-क्रोधादि इसे कभी युद्ध में पराजित नहीं कर पाते।

यह इन्द्र **प्रयुत्सु**=इन उत्कृष्ट आध्यात्मिक संग्रामों में **अस्माकं सेना**=हमारी दिव्य गुणों की सेनाओं को **अवतु**=सुरक्षित करे। काम-क्रोधादि का पराजय हो, प्रेम व मित्रता की भावना की विजय हो।

भावार्थ—हम धन कमाएँ, परन्तु उसे जोड़ें नहीं, जिससे हमारे दिव्य गुण उसमें नष्ट न हो जाएँ।

ऋषि:—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवसेनाएँ और उनका सेनापति

इन्द्र॑ आसां ने॒ता बृह॒स्पति॒र्दक्षि॑णा य॒ज्ञः पु॒र ए॑तु॒ सोम॑:।
दे॒व॒से॒ना॒नाम॑भिभञ्जती॒नां जय॑न्तीनां म॒रुतो॑ य॒न्त्वग्र॑म्॥ ८॥

देवसेनाएँ—दिव्य और आसुर गुणों को वेद में 'देवसेना' व 'असुरसेना' कहा गया है। ये देवसेनाएँ प्रबल होकर असुरों का पराजय करती हैं। क्रोध पर दया विजय पाती है, लोभ पर सन्तोष व दान, और काम प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है। **देवसेनानाम्**=इन देवसेनाओं के, **अभिभञ्जतीनाम्**=जो चारों ओर आसुर भावनाओं का विदारण व भङ्ग कर रही हैं और **जयन्तीनाम्**=आसुरी वृत्तियों पर विजय पाती चलती हैं, **अग्रम्**=आगे **मरुतः यन्तु**=मरुत्—प्राणों की साधना करनेवाले मनुष्य चलें, अर्थात् ये देवसेनाएँ प्राण-साधना करनेवालों के पीछे चला करती हैं। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष क्षीण होते हैं, मन का मैल नष्ट होता है और गन्दगी में उत्पन्न होनेवाले मच्छरों की भाँति अपवित्रता से जन्म लेनेवाली आसुर वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। एवं, स्पष्ट है कि मरुतों की प्राण-साधना देव-सेनाओं के विजय के लिए आवश्यक है।

आसाम्=इन विजयशील देव-सेनाओं का **नेता**=सेनापति **इन्द्रः**=इन्द्र है। इन्द्र है 'इन्द्रियों का अधिष्ठाता', जो इन्द्रियों का दास न होकर 'हृषीकेश' है। हृषीक=इन्द्रिय, ईश=स्वामी। देवराट् यह इन्द्र ही है। यदि जीभ ने चाहा और हमने खाया, आँख ने चाहा है और हमने देखा, कान ने चाहा और हमने सुना तब तो हम इन इन्द्रियों के दास बन जाएँगे, हम इन्द्र न रहेंगे।

देवसेना के प्रमुख व्यक्ति—इस देव सेना के **पुरः**=प्रथम स्थान में—अग्रस्थान में **एतु**=चलें। कौन?

१. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति=ज्ञान का स्वामी, देवताओं का गुरु, ज्ञानियों का भी ज्ञानी। दिव्य गुणों में ज्ञान का सर्वोच्च स्थान है। वास्तविकता तो यह है कि ज्ञान के अभाव में ही तो कामादि वासनाएँ पनपती हैं। ज्ञानाग्नि इन्हें भस्म कर देती है। कामादि को भस्म करके ज्ञान मनुष्य को पवित्र बनाता है। यह बृहस्पति ही ऊर्ध्वादिक् का अधिपति है। ज्ञान से ही मनुष्य अध्यात्म उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचता है। देव तो स्वयं दीप्त हैं औरों को ज्ञान-दीप्ति से द्योतित करते हैं। **'देवो दीपनाद्वा द्योतनाद्वा'**।

२. **दक्षिणा**=दिव्य गुणों की सेना में प्रथम स्थान ज्ञान का है और द्वितीय दान का तो तृतीय स्थान यज्ञ का है। यज्ञ की मौलिक भावना निःस्वार्थ कर्म है। देव यज्ञशील होते हैं, वे तो हैं ही 'हविर्भुक्'।

४. **सोमः**=सौम्यता चौथा देव है। सौम्यता यह चौथा होता हुआ भी सर्वाधिक महत्त्व रखता है। सारे दिव्य गुणों के होने पर भी यदि यह सौम्यता न हो तो वे सब दिव्य गुण अखरने लगते हैं।

सोम का दूसरा अर्थ semen=भी है। मनुष्य ने शक्ति का संयम करके ही दिव्य गुणों को विकसित करना है। यही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म को प्राप्त करने का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्राण-साधना करें, जिससे हममें दिव्य गुण उत्पन्न हों। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें, जिससे देवसेनाओं के सेनापति बनें। ज्ञान, दान, निःस्वार्थता व सौम्यता इन चार दिव्य गुणों को न भूलें।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों के तीन महारथी

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥ ९ ॥

देवताओं का जयघोष उठे—गत मन्त्र में प्राण-साधना तथा इन्द्रियों के वशीकरण के द्वारा देवसेनाओं की उत्पत्ति, उद्गति व प्रगति का उल्लेख हुआ था। वे असुरों पर विजय पाती हुई आगे बढ़ रही थीं। प्रस्तुत मन्त्र में विजय पानेवाली उन्हीं देवसेनाओं के जयघोष का वर्णन हैं—

१. **वृष्णः इन्द्रस्य**=शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले, जितेन्द्रिय—इन्द्रियों के अधिष्ठाता इन्द्र का तथा २. **राज्ञः वरुणस्य**=(well regulated) अति नियमित जीवनवाले वरुण का, जिसने सब बुराइयों का वारण किया है तथा ३. **आदित्यानां मरुताम्**=अपने अन्दर निरन्तर उत्तमता का ग्रहण करनेवाले (आदानात् आदित्यः) प्राण-साधक मरुतों का (मरुतः प्राणाः) **शर्धः**=बल **उग्रम्**=बड़ा उदात्त व तीव्र होता है।

इन्द्र का विशेषण वृषन् है—जो भी जितेन्द्रिय बनेगा वह अवश्य शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होगा।

वरुण श्रेष्ठ का विशेषण 'राज्ञः' है—उत्तम प्रकार से नियमित जीवनवाला। वस्तुतः नियमित जीवन ही हमें उत्तम बनाता है।

मरुत्—प्राण-साधना करनेवाले आदित्य हैं—अपने अन्दर निरन्तर दिव्यता का आदान कर रहे हैं। आदित्य अदिति-पुत्र हैं—'अदीना देवमाता' के पुत्र हैं। देवमाता इन दिव्य गुणरूप आदित्यों को जन्म देती है।

इन्द्र, वरुण व मरुतों का, जो देवताओं के तीन महारथी हैं, बल (शर्धः) बड़ा उदात्त (उग्रम्) होता है, इन महारथियों का अनुगमन करनेवाले **महामनसाम्**=विशाल मनवाले **भुवनच्यवानाम्**=भुवनों का भी त्याग कर देनेवाले, अर्थात् लोकहित के लिए अधिक-से-अधिक त्याग करने के लिए उद्यत **देवानाम्**=देवताओं का **जयताम्**=जो सदा जय प्राप्त करनेवाले हैं, उनका **घोषः**=विजयघोष **उदस्थात्**=मेरे जीवन में सदा उठे, अर्थात् मेरे जीवन में सदा देवों का विजय हो और असुरों का पराजय।

यहाँ प्रसङ्गवश देवों की दो विशेषताओं का उल्लेख हुआ है एक तो वे 'विशाल मनवाले' होते हैं और दूसरा वे 'अधिक-से-अधिक त्याग के लिए उद्यत' होते हैं। विशाल हृदयता व त्याग के बिना कोई देव नहीं बन पाता।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूँ, वरुण बनूँ, मरुत् होऊँ। हृदय को विशाल बनाऊँ, सदा त्याग के लिए उद्यत रहूँ।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आयुधों का उद्धर्षण

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद् वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥ १० ॥

आयुधों का तेज करना—प्रभु ने जीव को इस जीवन-संग्राम में विजयी बनाने के लिए मुख्यरूप से 'शरीररूप रथ, इन्द्रियरूप घोड़े तथा मन जिसमें बुद्धि भी सम्मिलित है' ये आयुध

प्राप्त कराये हैं। इन शस्त्रों के सदा तीक्ष्ण व कार्यक्षम रहने पर ही विजय-प्राप्ति सम्भव है। जिस योद्धा के अस्त्र जङ्ग खा जाते हैं वह कभी विजय प्राप्त नहीं किया करता। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु जीव को 'मघवन्' विजय व ऐश्वर्य=उच्च ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाला तथा 'वृत्रहन्'=वृत्रों ज्ञान पर पर्दा डालनेवाले शत्रुओं को मारनेवाला—इन दो शब्दों से सम्बोधन करते हुए संकेत करते हैं कि यदि तूने सचमुच ऐश्वर्य प्राप्त करना है तो इन वृत्रों का विनाश कर। इनके विनाश के लिए अपने सभी आयुधों को चमकाये रख—इन्हें मलिन न होने दे। प्रभु कहते हैं कि हे **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले इन्द्र! तू **आयुधानि**=इन शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि आयुधों को **उद्धर्षय**=खूब दीप्त कर। **मामकानाम्**=मेरे भक्त बनकर रहनेवाले, प्रकृति में न उलझनेवाले **सत्वनाम्**=सत्त्वगुणवाले मेरे भक्तों के **मनांसि**=मन (मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार=गौरव की भावना) **उत्**=उत्कृष्ट बनें—दीप्त हों। वस्तुतः मन व अन्तःकरण के अच्छा बने रहने का उपाय ही है कि मनुष्य प्रभु-भक्त बनने का प्रयत्न करे। प्रभुभक्ति से सत्त्वगुण की प्रबलता रहती है और सत्त्वगुण का उत्कर्ष मन को मलिन नहीं होने देता।

इन्द्रियाँ—प्रभु कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=काम का ध्वंस करनेवाले! **वाजिनाम्**=तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों के **वाजिनानि**=वेग **उत्**=उत्कृष्ट हों। काम ही तो सर्वमहान् रुकावट है—'वृत्र' है। इसके दूर हो जाने पर इन्द्रियरूप घोड़ों की शक्ति व वेग चमक उठता है।

शरीर—शरीर रथ है। यदि यह कभी रोगाक्रान्त नहीं होता, तो यह अवश्य अपनी जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ता चलता है। प्रभु कहते हैं कि चाहिए तो यही कि **जयताम्**=विजयशील होते हुए **रथानाम्**=शरीररूप रथों के **घोषाः**=विजयघोष **उद्यन्तु**=ऊपर उठें—आकाश को गुँजा दें।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में विजय-प्राप्ति के लिए हमारे मन, इन्द्रिय व शरीररूप आयुध खूब दीप्त हों।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आस्तिक मनोवृत्ति व विजय

अ॒स्माक॒मिन्द्रः॒ समृ॑तेषु ध्व॒जेष्व॒स्माकं॒ या इष॑व॒स्ता ज॑यन्तु।
अ॒स्माकं॑ वी॒रा उत्त॑रे भवन्त्व॒स्माँ उ॑ देवा अवता॒ हवे॑षु॥ ११ ॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में चार बातें कही गयी हैं। पहली बात तो यह कि **ध्वजेषु समृतेषु**=ध्वजाओं व पताकाओं को ठीक प्रकार से प्राप्त कर लेने पर **अस्माकम्**=हम आस्तिक बुद्धिवालों का **इन्द्रः**=परमात्मा हो, अर्थात् हम प्रभु को ही अपना आश्रय मानकर चलें। 'ध्वजा' एक लक्ष्य का प्रतीक है। जब हम एक लक्ष्य बना लें तब प्रभु को अपना आश्रय बनाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाएँ। वस्तुतः संसार में प्रभु का आश्रय मनुष्य को कभी निरुत्साहित नहीं होने देता। आस्तिक मनुष्य प्रभु को सदा अपनाता है और किसी प्रकार से निरुत्साहित न हो अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है।

२. प्रभु से दूसरी प्रार्थना यह है कि **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों की **याः**=जो **इषवः**=प्रेरणाएँ हैं—अन्तःस्थित प्रभु से दिये जा रहे निर्देश हैं **ताः**=वे निर्देश और प्रेरणाएँ ही **जयन्तु**=जीतें। प्रभु की प्रेरणा होती है कि 'उषाकाल हो गया, उठ बैठ। क्यों सो रहा है?' उसी समय एक इच्छा पैदा होती है कि कितनी मधुर वायु चल रही है, रात को नींद भी तो पूरी नहीं आई, दिन में सुस्ताते रहोगे, थोड़ा और सो ही लो। सामान्यतः यह इच्छा उस प्रेरणा को दबा

देती है और व्यक्ति सोया रह जाता है। इसी को हम वैदिक शब्दों में इस रूप में भी कहते हैं कि दैवी प्रेरणा को आसुर कामना दबा लेती है। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हमारी प्रेरणाएँ ही विजयी हों—इच्छाएँ नहीं।

३. तीसरी प्रार्थना यह है कि **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवाले में **वीराः**=वीरता की भावनाएँ न कि कायरता की प्रवृत्ति **उत्तरे भवन्तु**=उत्कृष्ट हों—प्रबल हों। हम कायरता से कोई कार्य न करें। दबकर कार्य करना मनुष्यत्व से गिरना है। हमारे कार्य वीरता का परिचय दें।

४. हे **देवाः**=देवो! **अस्मान्**=हम आस्तिकों को **आहवेषु**=इन संग्रामों में **उ**=निश्चय से **अवत**=रक्षित करो। देव हमारे रक्षक हों। जब हम प्रभु में पूर्ण आस्था से चलेंगे, जब हम सदा अन्तःस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे, जब हम सदा वीरता के कार्य ही करेंगे तो क्यों देवताओं की रक्षा के पात्र न होंगे। जब मनुष्य अपनी वृत्ति को अच्छा बनाता है और पुरुषार्थ में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देता तब वह देवों की रक्षा का पात्र होता है।

भावार्थ—१. जीवन-लक्ष्य को ओझल न होने देते हुए हम प्रभु को अपना आश्रय समझें, २. हममें प्रेरणा की विजय हो न कि इच्छा की, ३. हम सदा वीरतापूर्ण कार्य करें और ४. हम सदा अध्यात्म-संग्रामों में देवों की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**अप्वा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

लोभ (Desire of attainment) का परिणाम

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ १२॥

लोभ की प्रवृत्ति बड़ी विचित्र है। १. यह कम-से-कम प्रयत्न से अधिक-से-अधिक लेना चाहती है। २. यह प्रवृत्ति आवश्यकता को नहीं देखती। इसमें धन के प्रति लोभ (लुभ=Love)—एक प्रेम-सा होता है, जिसके कारण एक लोभी किसी अन्य बन्धु-बान्धव या प्राणी से प्रेम नहीं कर पाता। ३. इतना ही नहीं यह किसी अन्य की सम्पत्ति को देखकर जलता है—'इसके हृदय में उनके प्रति स्नेह न रहे', यही नहीं; यह उनके प्रति 'दुर्हृद्=अमित्र' हो जाता है और उनको नष्ट करने का प्रयत्न करता है, या स्वयं ही उस ईर्ष्याग्नि में जलता रहता है। एवं, लोभ ईर्ष्याजनक होता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अप्वे**=हे (आप्=प्राप्त करना) अधिक और अधिक धन को प्राप्त करने की इच्छा! तू **अमीषाम्**=इन तेरे शिकार बने हुए लोगों के **चित्तम्**=चित्त को **प्रतिलोभयन्ती**=प्रत्येक ऐश्वर्य के प्रति लुब्ध करती हुई **अङ्गानि गृहाण**=इनके अङ्गों को जकड़ ले—इनको अपने वश में कर ले। लोभाविष्ट हुआ-हुआ मनुष्य इस प्रकार धन का दास बन जाता है कि उसको धन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता। वह धन के लिए अपने आराम को समाप्त कर देता है—वह धन के लिए अपने बन्धुत्व की बलि दे देता है—आत्मा-परमात्मा के स्मरण का तो प्रश्न ही नहीं रहता। एक ही शब्द उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सुनाई पड़ता है—धन-धन और धन। **परा इहि**=हे अप्वे! तू हमसे परे जा—हमारा पीछा छोड़। जो **अमित्राः**=किसी से स्नेह न करनेवाले लोग हैं उनका **अभि-प्र-इहि**=लक्ष्य करके तू खूब गतिशील हो, अर्थात् उन्हें तू प्राप्त कर। उन्हें ही तू **हृत्सु**=हृदयों में **शोकैः**=शोकाग्नियों से **निर्दह**=नितरां जलानेवाली बन। लोभी व ईर्ष्यालु पुरुषों के ही मन जलते रहें। हमपर तो तू कृपा कर, हमसे दूर रह और हमें जलानेवाली न हो।

ये **अमित्राः**=प्राणियों के प्रति स्नेहशून्य हृदयवाले लोग ही **अन्धेन तमसा**=इस अन्धी इच्छा

से (तमस्=Desire) **सचताम्**=संयुक्त हों। यह इच्छा अन्धी तो है ही। साध्य व साधन Ends व means का विचार न करती हुई यह साधन को ही साध्य समझ लेती है और परिणामत: धन की ही उपासक हो जाती है। धन की देवता भग तो अन्धी है—ये भी धन के पीछे अन्धे हो जाते हैं। अच्छा यही है कि इस अन्धी इच्छा से मुक्त होकर हम 'चक्षुष्मान्' बने रहें—अपने लक्ष्य को पहचानें और उसे प्राप्त करने के लिए अग्रसर हों। हे अप्वे! धनाहरणाभिलाषे! तू **परेहि**=कृपया हमसे परे ही रह।

भावार्थ—हम लोभ की भावना से ऊपर उठें, जिससे हृदयों में शोकाग्नि से सन्तप्त न होते रहें।

ऋषि:—**अप्रतिरथ ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उत्कृष्ट प्रयत्न=प्रशंसनीय श्रम

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु। उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥ १३॥

'नर' शब्द की भावना 'न-रम्'=इस संसार में ही न रम जाने की है। संसार में रहते हुए भी इसमें न फँसना—आवश्यकता से अधिक धन की भावना को अपने में दृढ़मूल न होने देनेवाला मनुष्य ही 'नर' है। ये लोग ही संसार में आकर आध्यात्ममार्ग में भी आगे बढ़ा करते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि **नरः**=अपने को आगे और आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! (नृ नये) **प्रेत**=आगे बढ़ो, यह धन तुम्हारे जीवन-यात्रा के मार्ग में रुकावट बनकर न खड़ा हो जाए। **जयत**=इस विघ्न को जीत लो, बस यही तो सबसे बड़ा विघ्न है। इसका मोहक स्वरूप यह है कि "इसके बिना तुम्हारी संसार-यात्रा नहीं चलेगी, नमक भी तो न मिल सकेगा। कोई बन्धु-बान्धव तुम्हें पूछेगा नहीं, समाज में तुम्हारी प्रतिष्ठा न होगी", परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। धन सीमितरूप में सहायक है, लोभ को जन्म देकर यह महान् विघ्न बन जाता है। वेद कहता है कि **इन्द्रः**=वह सब ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु **वः**=तुम्हें **शर्म यच्छतु**=शरण दे। धन ने क्या शरण देनी। धनों के स्वामी के चरणों की शरण प्राप्त हो जाने पर इस तुच्छ धन का महत्त्व ही क्या रह जाता है?

जब मनुष्य धन का दास नहीं रहता, तब उसे कभी भी टेढ़े-मेढ़े साधनों से नहीं कमाता। वेद का यही आदेश है कि **वः**=तुम्हारे **बाहवः**=प्रयत्न (बाहृ प्रयत्ने) **उग्राः सन्तु**=उत्कृष्ट हों। वस्तुतः धन का दास न रहने पर मनुष्य कभी भी अन्याय्य मार्ग से इसका सञ्चय नहीं करता। वेद कहता है कि प्रभु की शरण पकड़ो—उत्कृष्ट श्रम करो **यथा**=जिससे तुम **अनाधृष्याः**=लोभादि से न कुचले जानेवाले **असथ**=हो जाओ। मनुष्य का यही ध्येय होना चाहिए कि वह कभी अन्याय से अर्थ का संचय करना न चाहे। यही उन्नति का मार्ग है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ें, लोभ को जीतें, प्रभु की शरण ग्रहण करें, उत्कृष्ट श्रम करते हुए ही धनार्जन करें।

[१०४] चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम का उत्पादन व रक्षण

असावि सोमः पुरुहूत तुभ्यं हरिभ्यां यज्ञमुप याहि तूयम्।
तुभ्यं गिरो विप्रवीरा इयाना दधन्विर इन्द्र पिबा सुतस्य॥ १॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **सोमः**=सोम

असावि=उत्पन्न किया गया है। इस सोम के रक्षण से ज्ञानाग्नि की दीप्ति के द्वारा आपका दर्शन होता है। वस्तुतः सोमरक्षण का सब से बड़ा लाभ यही है कि यह प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है। (२) हे प्रभो! आप **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के साथ **यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ को **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त होइये। हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हों। इनके द्वारा ही तो हम इस जीवनयज्ञ को पूर्ण कर सकेंगे। (३) **तुभ्यम्**=आपके प्राप्ति के लिए ही **विप्रवीराः**=(विप्राः वीराः विशेषेण ईरयितारः या सा) ज्ञानी पुरुषों से विशेषरूप से प्रेरित की जानेवाली **इयानाः**=गमनशील क्रियाओं से युक्त **गिरः**=स्तुति वाणियाँ **दधन्विरे**=धारण की जाती हैं। ज्ञानी पुरुष प्रभु का स्तवन करते हैं, उन स्तुति वाणियों के अनुसार क्रियाशील होते हैं। यह क्रियामय स्तुति ही प्रभु प्राप्ति का साधन बनती है। (४) **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम का **पिबा**=पान करिये। आपके स्तवन से ही वासनाओं का विनाश होता है और तभी सोम के रक्षण का सम्भव होता है।

भावार्थ—शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति के रक्षण से प्रभु प्राप्ति का सम्भव होता है। यह रक्षण भी प्रभु-स्तवन के द्वारा ही होता है। इसके रक्षण से इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होता है और जीवन-यज्ञ सुन्दरता से पूर्ण होता है।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रियामय स्तुतिशील जीवन

अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः ॥ २ ॥

(१) हे **हरिवः**=हे प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **इह**=इस हमारे जीवन-यज्ञ में **नृभिः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **सुतस्य**=उत्पन्न किये गये, **अप्सु धूतस्य**=कर्मों में पवित्र किये गये (धू=shake off कम्पने-कम्पित करके जिससे मल को दूर कर दिया गया है), कर्मों में लगे रहने से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और इस प्रकार सोम पवित्र बना रहता है, इस पवित्र सोम का **पिब**=पान कर। **जठरं पृणस्व**=इस सोम के द्वारा हमारे आभ्यन्तर को पूरित कर। हमारा शरीर सोम से व्याप्त हो। (२) हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **यम्**=जिस सोमकणों को **अद्रयः**=(अद्रयः आदरणीयाः-those who adore) उपासक लोग **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए अपने जठर में **मिमिक्षुः**=सिक्त करते हैं, **तेभिः**=उनके द्वारा **उक्थवाहः**=स्तोत्रों के धारण करनेवाले के **मदम्**=हर्ष को **वर्धस्व**=आप बढ़ाइये। इस सोमरक्षण से सब अंगों की शक्ति का वर्धन होता है और परिणामतः पूर्ण स्वास्थ्य के आनन्द की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम कर्मों में लगे रहें (अप्सु धूतस्य) प्रभु के उपासक बनें (अद्रयः) उक्थों व स्तोत्रों के धारण करनेवाले हों (उक्थवाहः)।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उदात्त सत्य जीवन

प्रोग्रां पीतिं वृष्णं इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥ ३ ॥

(१) हे **हर्यश्व**=(हरि=ray of light) प्रकाशमय इन्द्रियरूप अश्वोंवाले प्रभो! (प्रकाशमय इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले) **वृष्णे**=सब सुखों के वर्षक **तुभ्यम्**=आपके प्रति **प्रयै**=प्रगमन के

लिए **सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम की **उग्राम्**=हमारे जीवनों को उदात्त बनानेवाली तथा **सत्याम्**=हमारे जीवनों को सत्यमय बनानेवाली **पीतिम्**=पीति को, पान को **प्र इयर्मि**=प्रकर्षेण प्राप्त होता हूँ। मैं सोम का पान करता हूँ। यह सोमपान मुझे उदात्त व सत्य जीवनवाला बनाता है और अन्ततः प्रभु की प्राप्ति का साधन बनता है। (२) हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **धेनाभिः**=ज्ञान की वाणियों से **इह**=इस जीवन में **मादयस्व**=हमें आनन्दित करिये। (३) आप **विश्वाभिः धीभिः**=सम्पूर्ण प्रज्ञानों से तथा **शच्या**=शक्ति से **गृणानः**=स्तूपमान हैं। सम्पूर्ण प्रज्ञान व शक्ति आपकी ही है। आपके तेज के अंश से ही जहाँ तहाँ प्रज्ञान व शक्ति का दर्शन होता है। बुद्धिमानों की बुद्धि आप हैं और बलवानों के बल भी आप ही हैं। आपने ही हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त करानी है। इस ज्ञान व शक्ति की प्राप्ति का द्वार यह सोमपान होता है।

भावार्थ—मैं सोमपान द्वारा अपने जीवन को उदात्त व सत्य बनाऊँ। प्रभु की उपासना से ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उशिक् व ऋतज्ञ

ऊ॒ती श॑चीव॒स्तव॑ वी॒र्ये॑ण॒ वयो॒ दधा॑ना उ॒शिज॑ ऋत॒ज्ञाः।
प्र॒जाव॑दिन्द्र॒ मनु॑षो दुरो॒णे त॒स्थुर्गृ॒णन्तः॑ सध॒माद्या॑सः ॥ ४ ॥

(१) हे **शचीवः**=सर्वशक्तिमन् **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **उशिजः**=मेधावी **ऋतज्ञाः**=ऋत के जाननेवाले, अपने जीवन में ऋत के अनुसार कार्य करनेवाले **मनुषः**=विचारशील लोग **तव**=आपकी **ऊती**=रक्षा के द्वारा आप से रक्षण को प्राप्त करके तथा **वीर्येण**=आपकी शक्ति से, अर्थात् आपसे शक्ति को प्राप्त करके **प्रजावत्**=सब शक्तियों के विकासवाले (प्रजन्=प्रादुर्भाव) **वयः**=जीवन को **दधानाः**=धारण करते हुए होते हैं। हम मेधावी बनने का प्रयत्न करें, ऋत के अनुसार कार्यों को करनेवाले हों। इससे हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त होगा, प्रभु हमारे जीवन को शक्तिशाली बनाएँगे। इस रक्षण व शक्ति से हमारे जीवन का उत्तम विकास होगा। (२) इस उत्तम विकास को प्राप्त करनेवाले उपासक **गृणन्तः**=प्रभु का स्तवन करते हुए **सधमाद्यासः**=प्रभु के साथ आनन्द का अनुभव करते हुए **दुरोणे**=इस शरीर-गृह में, जिसमें से कि सब बुराइयों का (दुर्) अपनयन (ओण्) हुआ है, **तस्थुः**=स्थित होते हैं। शरीर में स्थित होने का भाव यह है कि इनकी चित्तवृत्ति इधर-उधर भटकती नहीं, ये सदा औरों को ही नहीं देखते रहते। मनोनिरोध के द्वारा अन्दर ही स्थित होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण व शक्तिदान से हमारा जीवन उत्कृष्ट बनता है। हम मेधावी व ऋत के पालन करनेवाले बनकर इस शरीर-गृह में स्तवन करते हुए व प्रभु के साथ आनन्द को अनुभव करते हुए स्थित होते हैं।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रणीतिभिः-सूनृताभिः

प्रणी॑तिभिष्टे हर्यश्व सु॒ष्टोः सु॑षु॒म्नस्य॑ पुरु॒रुचो॒ जना॑सः।
मंहि॑ष्ठामू॒तिं वि॒तिरे॒ दधा॑नाः स्तो॒तार॑ इन्द्र॒ तव॑ सू॒नृता॑भिः ॥ ५ ॥

(१) **हर्यश्व**=प्रकाशमय इन्द्रियाश्वोंवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुष्टोः**=सुष्ठ, स्तूयमान **सुषुम्नस्य**=उत्तम आनन्द व उत्तम धनवाले **पुरुरुचः**=अतिशयित (बहुत अधिक) ज्ञानदीप्तिवाले **ते**=आपके **प्रणीतिभिः**=प्रणयनों से, हृदयस्थ आपकी प्रेरणा के अनुसार चलने से तब **सूनृताभिः**=

आपकी इन वेद प्रतिपादित सूनृत वाणियों से **स्तोतारः जनासः**=स्तुति करनेवाले लोग **मंहिष्ठाम्**=(दातृतमां) अधिक से अधिक धनों के देनेवाली **ऊतिम्**=(Aid, assistamce, help) धनादि की सहायता को **वितिरे**=अर्थियों में, याचकों में वितरण के लिए **दधानाः**=धारण करते हुए होते हैं। (२) प्रभु का स्तवन दो प्रकार से होता है। एक तो प्रभु प्रेरणाओं के अनुसार चलने से (प्रणीतिभिः), दूसरे वेद की सूनृत वाणियों को अपनाने से। प्रभु सुषुम्न हैं, पुरुरुच् हैं। उपासक को भी आनन्दमयी मनोवृत्तिवाला बनने का प्रयत्न करना चाहिए तथा अधिक से अधिक ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। (३) प्रभु जो भी धन हमें प्राप्त कराएँ, हम उस धन को वितरण व दान में विनियुक्त करें। धन का उद्देश्य अपने भोग-विलास के साधनों का बढ़ाना नहीं है।

भावार्थ—उस आनन्दमय ज्ञानदीप्त प्रभु की प्रेरणाओं के अनुसार चलें तथा सूनृत वाणियों का प्रयोग करें। प्रभु से प्राप्त कराये गये धन का दान में विनियोग करें।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान प्राप्ति व यज्ञों में लगे रहना

उप ब्रह्माणि हरिवो हरिभ्यां सोमस्य याहि पीतये सुतस्य।
इन्द्र त्वा यज्ञः क्षममाणमानड् दाश्वाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतः॥ ६॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले! तू **सुतस्य सोमस्य पीतये**=शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति के रक्षण के लिए, अपने अन्दर ही इसके पान के लिए **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों से **ब्रह्माणि**=ज्ञान की वाणियों के **उपयाहि**=समीप आनेवाला हो। ज्ञान प्राप्ति के लिए उपयुक्त कर्मों में लगने पर ही सोम के रक्षण का सम्भव होता है। अन्यथा मन विलास की ओर जाता है और सोम का विनाश होता है। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **क्षममाणं त्वा**=(क्षमूष् सहने, सह मर्षणे) काम-क्रोधादि शत्रुओं को कुचल देनेवाले तुझको **यज्ञः आनट्**=यज्ञ व्याप्त करनेवाला हो। वासनाओं को जीतकर तू यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत रहे। **दाश्वान् असि**=तू खूब देनेवाला, त्याग की वृत्तिवाला है। **अध्वरस्य**=हिंसारहित कर्मों का तू **प्रकेतः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। इन अध्वरों में सदा प्रवृत्त होनेवाला है।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए ज्ञान प्राप्ति के कर्मों में व्यापृत रहना आवश्यक है। उत्तम कर्मों में लगे रहने से ही हम वासनाओं को कुचल पाते हैं।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्तवन से शक्ति की प्राप्ति

सहस्रवाजमभिमातिषाहं सुतेरणं मघवानं सुवृक्तिम्।
उप भूषन्ति गिरो अप्रतीतमिन्द्रं नमस्या जरितुः पनन्त॥ ७॥

(१) **गिरः**=स्तुति वाणियाँ **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यवान् प्रभु को **उपभूषन्ति**=अलंकृत करती हैं, जो प्रभु **सहस्रवाजम्**=अपरिमित बलवाले हैं, **अभिमातिषाहम्**=काम-क्रोधादि हिंसक शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं, **सुते-रणम्**=इस उत्पन्न जगत् में सर्वत्र रममाण हैं अथवा सोम के उत्पादन के होने पर हमारे में रमण करनेवाले हैं, **सुवृक्तिम्**=शोभन स्तुतिवाले व अच्छी प्रकार हमारे पापों का वर्जन करनेवाले हैं, **अप्रतीतम्**=किन्हीं भी शत्रुओं से आक्रान्त न होनेवाले हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी अत्यधिक बलवाले होकर शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते। (२) इसी

कारण **जरितुः**=स्तोता की **पनस्याः**=स्तुतियाँ **पनन्त**=उस प्रभु का स्तवन करती है। इन स्तवनों से ही स्तोता को शक्ति प्राप्त होती है और वह कामादि शत्रुओं का पराभव करता हुआ प्रभु का अधिकाधिक प्रिय होता जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। यह स्तवन हमें शक्ति देगा और हम शत्रुओं को पराभूत करके पवित्र व शान्त जीवन बितानेवाले होंगे।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवत्व-मनुष्यत्व

स॒प्तापो॑ दे॒वीः सु॒रणा॒ अमृ॑क्ता॒ याभिः॒ सिन्धु॒मत॑र इन्द्र पू॒र्भित्।
न॒व॒तिं स्रो॒त्या नव॑ च॒ स्रव॑न्तीर्दे॒वेभ्यो॑ गा॒तुं मनु॑षे च वि॒न्दः ॥ ८ ॥

(१) **सप्त**=(सर्पणस्वभावाः सा०) गतिशील सर्पण के स्वभाववाले, **आपः**=रेतःकण **देवीः**=शरीर में रोगों के जीतने की कामनावाले हैं (विजिगीषा)। वीर्यकण रोगकृमियों को आक्रान्त करके नष्ट करते हैं। **सुरणाः**=ये शरीर में सुष्ठु रममाण होते हैं, शरीर की शोभा के कारण बनते हैं अथवा (रणशब्दे) उत्तम शब्द शक्ति का कारण होते हैं। इन सोमकणों के रक्षण से वाणी की शक्ति बड़ी ठीक बनी रहती है। **अमृक्ताः**=ये अहिंसित हैं, रोगकृमि इन्हें आक्रान्त नहीं कर पाते। (२) **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! ये सोमकण वे हैं, **याभिः**=जिनसे **सिन्धुं अतरः**=भवसागर को तू तैरनेवाला होता है। **पूर्भित्**=इस शरीररूप पुरी का भेदन करके, जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ के तू कैवल्य को प्राप्त करता है। (३) तू इन रेतःकण रूप **नवतिं नव च**=९९ वर्ष पर्यन्त **स्रवन्ती स्रोत्याः**=बहनेवाली नदियों को **देवेभ्यः**=देवों के लिए, **मनुषे च**=और विचार पुरुष के लिए **गातुम्**=जाने के लिए **विन्दः**=प्राप्त करता है। इन रेतःकणों के द्वारा तू देव व मनुष्य बनता है। हृदय में दिव्य गुणों के विकास के द्वारा तू देव बनता है और मस्तिष्क में विचारशीलता के द्वारा तू मनुष्य कहलाता है। इस देवत्व व मनुष्यत्व की ओर जाने के लिए ये रेतःकण साधन बनते हैं।

भावार्थ—शरीर में रक्षित हुए-हुए रेतःकण शरीर को शोभा वाला तथा रोगों से अहिंसित बनाते हैं। इनके रक्षण से हम दिव्यगुणोंवाले व विचारशील बनते हैं।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रेतःकणों के रक्षण में अप्रमाद

अ॒पो म॒हीर॒भिश॑स्तेरमु॒ञ्चोऽजा॑गरा॒स्वधि॑ दे॒व एकः॑।
इन्द्र॒ यास्त्वं वृ॑त्र॒तूर्ये॑ च॒कर्थ॒ ताभि॑र्वि॒श्वायु॑स्त॒न्वं॑ पुपुष्याः ॥ ९ ॥

(१) **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **महीः**=इन महत्त्वपूर्ण **अपः**=रेतःकणों को **अभिशस्तेः**=(अभिशंस्=to attack) वासनाओं के आक्रमण से **अमुञ्चः**=मुक्त कर। **आसु अधि अजागः**=इनके विषय में तू खूब ही जाग, अप्रमत्त हो। तू इनके रक्षण से **देवः**=देव बनेगा, **एकः**=अद्वितीय होगा। गत मन्त्र के अनुसार सुरक्षित हुए-हुए ये रेतःकण हमें देव व मनुष् बनाते हैं, हमारे दिव्यगुणों को बढ़ाते हैं और हमें विचारशील बनाते हैं। (२) हे इन्द्र! **वृत्रतूर्ये**=वासना के संहार के होने पर **त्वम्**=तू **याः**=जिन रेतःकणों को **चकर्थ**=अपने अन्दर सुरक्षित करता है **ताभिः**=उनसे **विश्वायुः**=पूर्ण जीवनवाला होता हुआ तू **तन्वम्**=अपने शरीर को **पुपुष्याः**=पुष्ट करनेवाला हो, इन रेतःकणों से ही शरीर का अंग-प्रत्यंग सशक्त बना रहता है।

भावार्थ—वासनाओं के आक्रमण से अपने को मुक्त करके जब हम रेतःकणों के विषय में अप्रमत्त होते हैं तो हम देवत्व को प्राप्त करके जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं, पूर्ण जीवनवाले बनकर

शरीर को पुष्ट करते हैं।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नीरोग

वीरेण्यः क्रतुरिन्द्रः सुशस्तिरुतापि धेना पुरुहूतमीट्टे।
आर्दयद् वृत्रमकृणोदु लोकं ससाहे शक्रः पृतना अभिष्टिः ॥१०॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार रेतःकणों के रक्षण के विषय में अप्रमत्त होने पर यह **वीरेण्यः**=अतिशयेन वीर बनता है। **क्रतुः**=शक्तिमान् व कर्मवान् होता है, शक्ति के कारण अकर्मण्यता से ऊपर उठता है। **इन्द्रः**=उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला होता है। **सुशस्तिः**=शोभन स्तुतिवाला होता है, प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनता है। **उत अपि**=और निश्चय से **धेना**=इसकी वाणी **पुरुहूतम्**=उस बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभु को **ईट्टे**=उपासित करती है। (२) यह **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **आर्दयत्**=हिंसित करता है। **उ**=और **लोकं**=ज्ञान के प्रकाश को **अकृणोत्**=करता है। आवरण के हटने से इसका ज्ञान चमक उठता है। यह **शक्रः**=शक्तिशाली बनकर **अभिष्टिः**=शत्रुओं पर आक्रमणवाला होता हुआ (शत्रूणां अभिगन्ता सा०) **पृतनाः**=शत्रु-सैन्यों को **ससाहे**=अभिभूत करता है। शत्रु-सैन्यों को पराजय करके यह प्रभु का प्रिय होता है। यह विजय ही सदाचार है, पराजय अनाचार है।

भावार्थ—वासनारूप वृत्र का वध करके हम वीर व प्रकाशमय जीवनवाले बनें। यही प्रभु के प्रिय होने का मार्ग है।

ऋषिः—**अष्टको वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भरे नृतमम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ११ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'वीरेण्य' बनकर हम **शुनम्**=उस आनन्दस्वरूप प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं। जो प्रभु **मघवानम्**=ऐश्वर्यवाले हैं, **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् हैं। **अस्मिन् भरे**=इस जीवन-संग्राम में **नृतमम्**=हमारे सर्वोत्तम नेता हैं। इस प्रभु को हम **वाजसातौ**=शक्ति प्राप्ति के निमित्त पुकारते हैं। (२) उन प्रभु को, जो **शृण्वन्तम्**=हमारी प्रार्थना को सुनते हैं। **उग्रम्**=तेजस्वी हैं। **ऊतये**=हम अपने रक्षण के लिए इन्हें पुकारते हैं। जो प्रभु **समत्सु**=संग्रामों में **वृत्राणि घ्नन्तम्**=वासनाओं का संहार कर रहे हैं और **धनानां सञ्जितम्**=हमारे लिए विविध धनों को जीतनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु को ही पुकारें। वे हमें युद्ध में विजयी बनाकर ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त का केन्द्रीभूत विचार यही है कि मनोनिरोध से हम प्रभु की ओर झुकें, वासनाओं को नष्ट करके सोम का रक्षण करें। यह सोम ही हमें 'वीरेण्य' बनायेगा। इस सोम के रक्षण से रोगकृमियों का संहार करनेवाला 'कौत्स' है 'कुथ हिंसायाम्'। यह 'दुष्टात् प्रमीतेः जायते'=अपने को दुष्ट मृत्यु से बचानेवाला 'दुर्मित्र' है सभी के साथ उत्तमता से स्नेह करने के कारण 'सुमित्र' है (शोभनं मेद्यति)। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है कि—

[१०५] पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्योष्णिकः** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

सोम (वीर्य) रक्षण से सोम (प्रभु) दर्शन

कुदा वसो स्तोत्रं हर्यत आव श्मशा रुधद्वाः। दीर्घं सुतं वाताप्याय॥ १ ॥

(१) हे **वसो**=हम सबके बसानेवाले प्रभो! **हर्यते**=(हर्य गतिकान्त्योः) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की गति के मूलस्रोत कान्तिमान् आपके लिए **कदा**=कब **स्तोत्रम्**=स्तोत्र को **आ**=सब प्रकार से **अवरुधत्**=अपने में निरुद्ध व स्थापित करनेवाला होता है? जब भी इन स्तोत्रों को अपने में निरुद्ध करनेवाला होता है तो **श्मशाः**=(श्मनि शेते=शरीर में शयन करनेवाला) यह जीव **वाः**=जलरूप वीर्यकणों को **अवरुधत्**=अपने शरीर में ही निरुद्ध करता है। प्रभु की उपासना से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता। इस प्रकार यह वीर्य को अपने में निरुद्ध कर पाता है। (२) यह **दीर्घम्**=दीर्घकाल तक चलनेवाला, जीवन के तीनों सवनों में चलनेवाला (प्रातःसवन=प्रथम २४ वर्ष, माध्यन्दिन सवन=अगले ४४ वर्ष, तृतीय सवन=अन्तिम ४८ वर्ष) **सुतम्**=सोम का सम्पादन **वाताप्याय**=(वातेन आप्यते इति वाताप्यः=प्राणनिरोध के द्वारा प्राप्त होनेवाला प्रभु) प्रभु प्राप्ति के लिए होता है। उपासना से सोम का रक्षण होता है, रक्षित सोम प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन द्वारा वासनाओं से बचकर, सोम का रक्षण करें। सोम-रक्षण के द्वारा हम प्रभु का दर्शन करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेरर्वन्तानु शेपा। उभा रजी न केशिना पतिर्दन्॥ २ ॥

(१) **यस्य**=जिस प्रभु के **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **सुयुजौ**=उत्तमता से इस शरीररथ में जोते गये हैं, **विव्रता**=जो अश्व विविध व्रतोंवाले हैं, **अर्वन्ता**=जो गतिशील हैं, **अनुशेपा**=जो अनुकूल तत्त्वों को निर्माण करनेवाले हैं (शेप्=पेशस् form)। **उभा रजी न**=दोनों अश्व रञ्जक सूर्य व चन्द्र के समान **केशिना**=प्रकाशमय रश्मियोंवाले हैं। (२) 'अनुशेपा' का अर्थ सायणाचार्य के अनुसार प्रशस्त शक्तिवाले है। इन इन्द्रियाश्वों की निर्बलता के होने पर जीवन-यात्रा की पूर्ति का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ये इन्द्रियाश्व शक्तिशाली हों और अपने-अपने कार्यों को उत्तमता से करनेवाले हों। (३) **पतिः**=ऐसे इन्द्रियाश्वों का स्वामी वह प्रभु **दन्**=हमारे लिए इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराता हुआ (दन्=प्रयच्छन्) **वेः**=(to pervade or shine) सर्वत्र व्याप्त हो रहा है व दीप्त हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु हमें उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराएँ जो उत्तमता से कार्यों में लगनेवाले व सूर्य और चन्द्र के समान दीप्त हों।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'इन्द्र' का लक्षण

अप योरिन्द्रः पापज आ मर्तो न शश्रमाणो बिभीवान्। शुभे यद्युयुजे तविषीवान्॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **पापजे**=पाप से उत्पन्न धन के विषय में **अपयोः**=(अपयोजिता) अपने को पृथक् करनेवाला होता है। यह **मर्तः न**=युद्ध में प्राणों को त्यागनेवाले पुरुष के समान **आ शश्रमाणः**=खूब ही श्रम करनेवाला होता है। **बिभीवान्**=पापकर्म से सदा

डरनेवाला होता है। अथवा प्रभु के भय वाला होता है। (२) **यत्**=क्योंकि **शुभे**=शुभ कर्मों में ही **युयुजे**=युक्त होता है, इसलिए **तविषीवान्**=बलवाला होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष (क) पापज धन से अपने को पृथक् रखता है, (ख) श्रमशील होता है, (ग) प्रभु के भय में चलता है, (घ) शुभ कर्मों में व्यापृत होता है, (ङ) शक्तिशाली बनता है।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

'इन्द्र' कौन है?

सचायोरिन्द्रश्चर्कृष आँ उपानसः सपर्यन्। नदयोर्विव्रतयोः शूर इन्द्रः ॥ ४ ॥

(१) **आयोः सचा**=मनुष्य का सहायभूत औरों के साथ मिलकर चलनेवाला, **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **आचर्कृषे**=सब कार्यों का करनेवाला होता है। इसके कार्य औरों के विरोध में नहीं होते। **उपानसः**=(अनः उपगतवान्) यह आरुढ़स्थ होता है, शरीररूप रथ का अधिष्ठाता बनता है। **सपर्यन्**=प्रभु की पूजा करनेवाला होता है। वस्तुतः औरों के अविरोध से सतत कार्यों में लगे रहने से ही यह प्रभु का उपासन करता है। (२) **विव्रतयोः**=विविध व्रतोंवाले, भिन्न-भिन्न कार्यों को करनेवाले **नदयोः**=कार्यों के द्वारा प्रभु का स्तवन करनेवाले इन्द्रियाश्वों के **शूरः**=(शृ हिंसायाम्) सब दोषों को नष्ट करनेवाला यह **इन्द्रः**=सचमुच इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है।

भावार्थ—इन्द्र वह है (क) जो औरों से मिलकर चलता है, (ख) कर्मों में लगा रहता है, (ग) शरीर रथ का अधिष्ठाता होता है, (घ) प्रभु की पूजा करता है, (ङ) इन्द्रिय दोषों को दूर करता है, इसके इन्द्रियाश्व अपने-अपने कार्यों के द्वारा प्रभु-स्तवन करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

केशवन्ता-व्यचस्वन्ता

अधि यस्तस्थौ केशवन्ता व्यचस्वन्ता न पुष्ट्यै। वनोति शिप्राभ्यां शिप्रिणीवान् ॥ ५ ॥

(१) **वनोति**=वह शत्रुओं को हिंसित करता है (शत्रून् हिनस्ति) **यः**=जो **पुष्ट्यै**=शक्तियों के उचित पोषण के लिए **केशवन्ता**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **न**=(=च) और **वाचस्वन्ता**=कर्मों के विस्तारवाले इन्द्रियाश्वों को **अधितस्थौ**=अपने द्वारा अधिष्ठित करता है। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाश की रश्मियोंवाली हैं तो कर्मेन्द्रियाँ कर्मों के विस्तारवाली हैं। जो भी इन्द्रियों को अपने वश में करता है वह इनकी शक्तियों का उचित पोषण कर पाता है। (२) शत्रुओं को वह हिंसित करता है जो **शिप्राभ्याम्**=हनुओं व नासिका द्वारा **शिप्रिणीवान्**=प्रशस्त शिप्रोंवाला होता है। जबड़ों (हनु) के प्रशस्त होने का अभिप्राय यह है कि यह सात्त्विक अन्नों का ही मात्रा में सेवन करता है। नासिका के प्रशस्त होने का अभिप्राय यह है कि यह प्राणायाम का अभ्यासी बनता है। इस प्रकार 'शिप्रिणीवान्' बनकर यह सब काम-क्रोधादि अन्तःशत्रुओं का पराजय कर पाता है।

भावार्थ—काम-क्रोधादि शत्रुओं का पराजय वह कर पाता है, जो (१) इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है, (२) सात्त्विक अन्नों का मात्रा में सेवन करता है, (३) प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ऋष्वौजाः

प्रास्तौदृष्वौजा ऋष्वेभिस्ततक्ष शूरः शवसा। ऋभुर्न क्रतुभिर्मातरिश्वा ॥ ६ ॥

(१) **ऋष्वौजाः**=दर्शनीय बलवाला अथवा व्याप्त बलवाला **ऋष्वेभिः**=दर्शनीय व व्यापक (=उदारतावाले) कर्मों से **प्रास्तौत्**=प्रभु का स्तवन करता है। प्रभु की उपासना वस्तुतः उन्हीं कर्मों से होती है जो सुन्दर हैं, उदारता को लिए हुए हैं। (२) **शूरः**=यह काम-क्रोधादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाला **शवसा**=शक्ति के द्वारा **ततक्ष**=निर्माणात्मक कार्यों को करता है। यह **मातरिश्वा**=मातृगर्भ में बढ़नेवाला जीव **क्रतुभिः**=अपने कर्मों व प्रज्ञानों के द्वारा **ऋभुः न**=(उरु भाति) खूब देदीप्यमान प्रभु की तरह हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन सुन्दर व्यापक कर्मों के द्वारा होता है।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

हिरीमशः-हिरीमान्

वज्रं यश्चक्रे सुहनाय दस्यवे हिरीमशो हिरीमान्। अरुतहनुरद्भुतं न रजः ॥ ७ ॥

(१) **यः**=जो **सुहनाय**=(सुष्ठु हननीयाय) खूब ही हनन के योग्य **दस्यवे**=(दसु उपक्षये) नाश करनेवाली काम-क्रोधादि वृत्तियों के लिए, इन वृत्तियों को दूर करने के लिए, **वज्रम्**=(वज गतौ) क्रियाशीलतारूप वज्र को **चक्रे**=करता है। क्रियाशीलता के द्वारा इन अशुभ वृत्तियों को अपने से दूर रखता है। वह **हिरीमशः**=(हिरीमनि शेते) तेजस्विता व कान्ति में निवास करनेवाला होता है। **हिरीमान्**=वेगवाला होता है। वासनाओं के विनष्ट होने पर ज्ञानेन्द्रियाँ चमक उठती हैं और यह ज्ञान की दीप्ति के कारण तेजस्वी व कान्त प्रतीत होता है। कर्मेन्द्रियों के शुद्ध होने पर यह वेगवाला होता है। (२) **अरुतहनुः**=(रुत=disease) नीरोग हनुवाला यह होता है, इसके हनु (=जबड़े) इस प्रकार मात्रा में भोजन करते हैं कि रोग का वहाँ प्रश्न ही नहीं पैदा होता। **न च**=और इसका **रजः**=रजोगुण **अद्भुतम्**=अद्भुत होता है। सत्त्वगुण के सम्मिश्रण के कारण इसका रजोगुण इसके अपकर्म का कारण नहीं होता। रजोगुण इसमें क्रियाशीलता को पैदा करता है, पर इसके जीवन को वासनामय नहीं बनाता।

भावार्थ—क्रियाशील पुरुष क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करके ज्योतिर्मय व वेगवाला होता है।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

अब्रह्मा (स्तुतिरहित) यज्ञ की हीनता

अव नो वृजिना शिशीह्यृचा वनेमानृचः। नाब्रह्मा यज्ञ ऋधग्जोषति त्वे ॥ ८ ॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **वृजना**=पापों को **अवशिशीहि**=हमारे से दूर करिये। ऋचा=स्तुति के द्वारा **अनृचः**=अस्तुत्य कर्मों को **वनेम**=पराजित करें। स्तुति करते हुए हम ऐसे कर्मों से दूर रहें जो स्तुति के योग्य नहीं हैं। (२) **अब्रह्मा**=(ब्रह्म=परिवृढं स्तोत्रं) स्तुतिरहित **यज्ञः**=यज्ञ **ऋधक्**=सचमुच **त्वे न जोषति**=तुझे प्रीणित करनेवाला नहीं होता। स्तुतिरहित यज्ञ में यज्ञकर्ता को गर्व हो जाने की आशंका है। ऐसा यज्ञ संगरहित न होने से सात्त्विक नहीं रहता। यज्ञ का अभिमान यज्ञ के उत्कर्ष को समाप्त कर देता है। यज्ञ के साथ स्तुति के होने पर उस यज्ञ को हम प्रभु से होता हुआ अनुभव करते हैं और इस प्रकार हमें यज्ञ का गर्व नहीं होता।

भावार्थ—स्तुति का फल यह है कि हमें उत्तम कर्मों का गर्व नहीं हो जाता, पाप हमारे से दूर रहता है।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

यज्ञाग्नि का उद्बोधन

ऊर्ध्वा यत्ते त्रेतिनी भूद्यज्ञस्य धूर्षु सद्मन्। सजूर्नावं स्वयंशसं सचायोः ॥ ९ ॥

(१) **यत्**=जब **ते**=तेरी **त्रेतिनी**=यज्ञ की तीनों अग्नियाँ (गार्हपत्य, आहवनीय व दक्षिणाग्नि) **यज्ञस्य**=यज्ञ के **सद्मन्**=गृह में **धूर्षु**=(धुर्=wealth) ऐश्वर्यों के निमित्त **ऊर्ध्वा भूत्**=ऊपर होती हैं, अग्निकुण्ड में समिद्ध होकर उद्गत ज्वालावाली होती हैं, तो उस समय **आयोः सचा**=गतिशील व्यक्तियों का सहायभूत तू औरों के साथ मिलकर चलनेवाला तू **स्वयशसम्**=आत्मा के यशोगानवाली **नावम्**=इस शरीररूप नाव को **सजूः**=प्रभु के साथ प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। प्रभु का स्मरण करता है और इस शरीर को भवसागर से पार करने की साधनभूत नाव समझता है। (२) जो व्यक्ति इस शरीर को भवसागर के तरण के लिए साधनभूत नाव समझता है, वह यज्ञमय जीवनवाला होता है। यज्ञों को ही यह सब ऐश्वर्यों की प्राप्ति का साधन समझता है। 'यज्ञ इस लोक व परलोक दोनों के लिए हितकर हैं' ऐसा जानकर यह यज्ञों के द्वारा ही प्रभु का उपासन करता है। इस नाव पर प्रभु के साथ बैठने का भाव यह है कि यह उस यज्ञ नाव को प्रभु से ही चलाया जाता हुआ अनुभव करता है और उन यज्ञों का गर्व नहीं करता।

भावार्थ—यज्ञरूप नाव सब अशिवों से पार ले जाकर हमें शिव स्थान पर पहुँचानेवाली है।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

सोम का पात्र में सेचन

श्रिये ते पृश्निरुपसेचनी भूच्छ्रिये दर्विरेपाः। यया स्वे पात्रे सिञ्चस उत् ॥ १० ॥

(१) हमारे शरीर में जो सोमशक्ति उत्पन्न होती है, वह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करती है। इस प्रकार ज्ञानाग्नि के दीपन में उपयुक्त होकर यह शक्ति नष्ट नहीं होती। इसलिए यहाँ मन्त्र में 'पृश्नि' (ray of light) ज्ञानरश्मि को उपसेचनी=शरीर में सोम का सेचन करनेवाली कहा है। यह **उपसेचनी पृश्निः**=सोम का शरीर में ही सेचन करनेवाली ज्ञान की रश्मि **ते**=तेरी **श्रिये**=श्री के लिए **भूत्**=हो। सोम के शरीर में ही रक्षण से शरीर की शोभा का बढ़ना स्वाभाविक है। (२) **अरेपाः**=दोषशून्य **दर्विः**=कड़छी **श्रिये**=श्री के लिए हो। 'दोषशून्य कड़छी' का भाव यहाँ शुद्ध सात्त्विक भोजन से है। शुद्ध सात्त्विक भोजन ही शरीर में सोमरक्षण का साधन बनता है। राजस भोजन उत्तेजक होकर सोमरक्षण की अनुकूलता नहीं रखते। इसीलिए करते हैं कि वह निर्दोष कड़छी **यया**=जिससे **स्वे पात्रे**=अपने इस शरीररूप पात्र में **उत् सिञ्चसे**=तू सोम का उत्सेचन करता है। यह सात्त्विक भोजन सौम्य कहलाता है, यह सोमरक्षण की अनुकूलता को लिए हुए है। ऐसे भोजनों से शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति होती है। यह सोम शरीर की शोभा की वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वाध्यायशील बनें तथा सौम्य भोजनों को ही करनेवाले हों। ऐसा करने से सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होकर शरीर की कान्ति बढ़ेगी।

ऋषिः—**कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमित्र व दुर्मित्र

शतं वा यदसुर्य प्रति त्वा सुमित्र इत्थास्तौद्दुर्मित्र इत्थास्तौत्।
आवो यद्दस्युहत्ये कुत्सपुत्रं प्रावो यद्दस्युहत्ये कुत्सवत्सम्॥ ११ ॥

(१) हे **असुर्य**=प्राणशक्ति का संचार करनेवालों में उत्तम प्रभो! **त्वा प्रति**=आपका लक्ष्य करके **सुमित्रः**=उत्तमता से स्नेह करनेवाला (शोभनं मेद्यति) सुमित्र **शतम्**=सौ वर्ष पर्यन्त **वा**= निश्चय से **इत्था**=सचमुच **अस्तौत्**=स्तवन करता है, आपके स्तवन से ही वस्तुतः वह प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर सुमित्र बन पाया है। **दुर्मित्रः**=(दुष्टात् प्रमीतेः त्रायते) अशुभ पापों से अपने को बचानेवाला **इत्था**=सचमुच **अस्तौत्**=आपका स्तवन करनेवाला हुआ है। आपके स्तवन के द्वारा ही तो वह पापों से बच पाया है। (२) हे प्रभो! आप **यद्**=क्योंकि **दस्युहत्ये**=इन दास्यव वृत्तियों के संहार में **कुत्सपुत्रम्**=(कुथ हिंसायाम्) कामादि के अतिशयेन हिंसन करनेवाले कुत्स के पुत्र को, मूर्त्तिमान् कुत्स को **आवः**=रक्षित करते हैं। **यत्**=क्योंकि आप **दस्युहत्ये**=इस दस्युहननरूप कार्य में **कुत्सवत्सम्**=इस कुत्स के पुत्र को **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। वस्तुतः आपके रक्षण से ही यह 'कुत्स' बन पाया है। आपके रक्षण के बिना इसके लिए वासनाओं के संहार का सम्भव नहीं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से वासना का संहार होकर सोमरक्षण का सम्भव होता है।

सम्पूर्ण सूक्त का मूल भाव यही है कि हम प्रभु-स्मरण करते हुए वासनाओं को विनष्ट करें और सोमरक्षण से जीवन को श्री सम्पन्न बनाएँ। ऐसा करनेवाले लोग **काश्ययः**=(पश्यकः) ज्ञानी होते हैं और 'भूताशः' (भूत=प्राप्त, अंश्=विभक्त करना) प्राप्त धन का विभाग करनेवाले होते हैं। अगले सूक्त का ऋषि 'भूतांश काश्यप' ही है। इस प्रकार के जीवनवाले पति-पत्नी का 'अश्विनौ' नाम से सूक्त में इस प्रकार वर्णन है—

[१०६] षडुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सध्रीचीना

उभा उ नूनं तदिदर्थयेथे वि तन्वाथे धियो वस्त्रापसेव।
सध्रीचीना यातवे प्रेमजीगः सुदिनेव पृक्ष आ तंसयेथे॥ १ ॥

(१) **उभा**=दोनों पति-पत्नी **उ नूनम्**=निश्चय से अब **तद् इत्**=(ओंतत् सत् इति निर्देशः ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः) उस प्रभु को ही **अर्थयेथे**=चाहते हैं। और **धियः**=ज्ञानों व कर्मों का इस प्रकार **वि तन्वाथे**=विशेषरूप से विस्तार करते हैं, **इव**=जैसे कि **अपसा**=(अपस्विनौ कुविन्दौ सा०) कर्मशील जुलाहे **वस्त्रा**=वस्त्रों को विस्तृत करते हैं। जुलाहे वस्त्र का ताना तानते हैं, ये पति-पत्नी ज्ञान व कर्म का ताना तानते हैं। (२) **सध्रीचीना**=ये सदा मिलकर चलनेवाले होते हैं। सत्संग आदि में साथ-साथ मिलकर आनेवाले होते हैं। इनमें से प्रत्येक **यातवे**=प्रभु प्राप्ति के लिए (या प्रापणे) **ईम्**=निश्चय से **प्र अजीगः**=खूब ही स्तुतियों का उच्चारण करनेवाला होता है। (३) इस प्रकार स्तवन की वृत्तिवाले ये पति-पत्नी **सुदिना इव**=उत्तम दिन-रात्रि के समान **पृक्षः**=परस्पर स्नेह सम्पर्क को **आतं सयेथे**=सर्वथा अलंकृत करते हैं। जैसे दिन और रात्रि परस्पर सम्बद्ध है, इसी प्रकार ये पति-पत्नी भी परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं,

इनमें भेद नहीं रहता।

भावार्थ—पति-पत्नी मिलकर प्रभु की प्रार्थना करें, ज्ञान व कर्म का विस्तार करें, मिलकर प्रभु-स्तवन करें दोनों एक हों। पति-पत्नी की शोभा सध्रीचीन बनने में ही है।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

(अवपान से दूर न होना) उष्टारा

उष्टारे॑व॒ फर्व॑रेषु श्रयेथे प्रायो॒गेव॑ श्वात्र्या॒ शासु॒रेथः॑।
दू॒तेव॒ हि ष्ठो य॒शसा॒ जने॑षु॒ माप॑ स्थातं महि॒षेवा॑व॒पाना॑त्॥ २॥

(१) **उष्टारा इव**=एक दूसरे की कामना करनेवालों के समान (वश्) **फर्वरेषु**=पूर्ण करने योग्य कार्यों में (पूरयितृषु सा०) **श्रयेथे**=परस्पर आश्रय करते हो। पति-पत्नी परस्पर प्रेमभाववाले हों, मिलकर पूर्ण करने योग्य कार्यों को करनेवाले हों। (२) **प्रायोगेव**=युद्ध के लिए प्रयोक्तव्य अश्वों के समान **श्वात्र्या**=(श्वात्रं=धनम्) धन के साधक होते हुए **शासुः**=वेदज्ञान का संशन करनेवाले प्रभु के प्रति **एथः**=(आगच्छथः) आते हैं। पति-पत्नी संसार-संग्राम में मिलकर जुटे रहते हैं, जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन को जुटाते हुए प्रभु का उपासन करते हैं। वस्तुतः यह प्रभु का उपासन ही उन्हें शक्ति देता है और मार्ग भ्रष्ट नहीं होने देता। (३) **जनेषु**=लोगों में **यशसा**=अपने यशस्वी कार्यों से **हि**=निश्चयपूर्वक **दूता इव स्थः**=आप प्रभु के दूत से होते हो। आपके जीवन से लोगों को सत्कार्यों की प्रेरणा मिलती है। (४) इस प्रकार के दूत बन सकने के लिए आवश्यक है कि **महिषा इव**=(मह पूजायाम्) प्रभु के पूजक होते हुए आप **अवपानात्**=सोम के (=वीर्य के) शरीर में ही रक्षण करने से **मा अपस्थातम्**=दूर मत होवो। सदा शरीर में ही सोम का रक्षण करनेवाले बनो। यह सोमरक्षण ही आपके जीवन को यशस्वी बनाएगा।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर प्रेम से मिलकर चलते हुए कर्त्तव्य कर्मों का पूरण करें। उचित धन कमाते हुए प्रभु का स्तवन करें। अपने जीवन के द्वारा प्रभु का दूत बनें। ऐसा बनने के लिए सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

साकं युजा

सा॒कं॑यु॒जा श॒कु॒नस्ये॑व प॒क्षा प॒श्वेव॑ चि॒त्रा यजु॒रा ग॑मिष्टम्।
अ॒ग्निरि॑व देव॒योर्दी॑दि॒वांसा॒ परि॑ज्मानेव यजथः पुरु॒त्रा॥ ३॥

(१) **शकुनस्य पक्षा इव**=पक्षी के दोनों पंखों की तरह आप **साकं युजा**=साथ-साथ मिलकर होनेवाले हो। पक्षी के दाएँ और बाएँ पंख अलग-अलग होते हुए भी मिलकर कार्य करते हैं। इसी प्रकार पति-पत्नी अलग-अलग होते हुए भी मिलकर गृहस्थ में उन्नत होते हैं। एक पंख से आकाश में उड़ने का सम्भव नहीं, इसी प्रकार अकेले के लिए गृहस्थ को उन्नत करने का सम्भव नहीं। (२) **चित्रा पश्वा इव**=चायनीय, ज्ञानयुक्त प्राणियों की तरह **यजुः**=यज्ञ को **आगमिष्टम्**=प्राप्त होवो। जैसे दो पशु मिलकर गाड़ी को खैंचते हुए गन्तव्य देश के प्रति जाते हैं इसी प्रकार पति-पत्नी ज्ञानयुक्त पशुओं की तरह होते हुए यज्ञादि कर्मों के प्रति आनेवाले हों। (३) **देवयोः**=दिव्यगुणों को अपनाने की इच्छावाले यजमान की **अग्निः इव**=अग्नि के समान **दीदिवांसा**=ये पति-पत्नी चमकनेवाले हों। जैसे अग्नि चमकती है, इस प्रकार पति-पत्नी भी तेजस्वी हों। इसके लिए 'देवयोः' शब्द सुन्दर संकेत कर रहा है कि वे दिव्य गुणों को अपनाने की कामनावाले बनें।

(४) **परिज्मना इव**=(परितः अजतः) सब कर्त्तव्य कर्मों की ओर जानेवाले ये पति-पत्नी **पुरुत्रा यजथः**=शतशः स्थानों में मिलकर यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी मिलकर यज्ञात्मक कार्यों को करते हुए तेजस्विता को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आपी

आपी वो अस्मे पितरेव पुत्रोग्रेव रुचा नृपतीव तुर्यै।
इर्येव पुष्ट्यै किरणेव भुज्यै श्रुष्टीवानेव हवमा गमिष्टम् ॥ ४ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे पति-पत्नी! **वः**=(युवां सा०) आप दोनों **अस्मे**=हमारे **आपी**=बन्धु होवो **इव**=जैसे **पुत्रा**=पुत्र **पितरा**=माता-पिता के प्रति बन्धुभूत होते हैं। (२) आप दोनों **उग्रा इव**=अपने तेज से उदूर्ण अग्नि और आदित्य के समान **रुचा**=(रोचमानौ) दीप्त होवो। **नृपती इव**=जैसे (नृणां पालयितारौ) मनुष्यों के रक्षक राजा संग्रामयुक्त सेना के लिए रक्षक होते हैं, उसी प्रकार **तुर्यै** (कर्मार्थं त्वरमाणायै)=कर्मों के लिए त्वरा करती हुई जनता के लिए आप भी रक्षक होवो। **इर्या इव** (इरा अन्नं तत् भवौ अन्नवन्तौ आढ्यौ)=अन्नवाले धनी पुरुषों की तरह **पुष्ट्यै**=अन्नादि के दान से औरों के पोषण के लिए होवो। **किरणा इव**=जैसे आग्नेय व आदित्य किरणें प्रकाश व उष्णता को देती हुई **युज्यै**=पालन के लिए होती हैं उसी प्रकार पति-पत्नी सन्तानों के पालन के लिए हों। (३) **श्रुष्टीवाना इव**=शीघ्रता से युक्त अश्वों के समान तुम दोनों **हवम्**=मेरे आह्वान के प्रति **आगमिष्टम्**=आनेवाले होवो। अर्थात् अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनते हुए पति-पत्नी शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हो।

भावार्थ—पति-पत्नी प्रभु को अपना बन्धु समझें, प्रभु की प्रेरणा को सुनकर तदनुसार कार्य करनेवाले हों।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वंसगा इव पूषर्या

वंसगेव पूषर्या शिम्बाता मित्रेव ऋता शतरा शातपन्ता।
वाजेवोच्चा वयसा घर्म्येष्ठा मेषेवेषा सपर्या३ पुरीषा ॥ ५ ॥

(१) आदर्श पति-पत्नी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**वंसगा इव**=वननीय, सुन्दर गतिवाले वृषभों की तरह **पूषर्या**=पुष्ट अवयवोंवाले, स्फीत अंग-प्रत्यंगोंवाले। **शिम्बाता**=(शिम्बेन दुःखानां तनूकरणेन हेतुना अततः) इनकी सब क्रियाएँ लोगों के दुःखों के दूर करने के हेतु से होती हैं। **मित्रा इव**=मित्रों की तरह **ऋता**=ऋतपूर्वक व्यवहारवाले **शतरा**=(शत+रा) शतशः धनों का दान करनेवाले, **शातपन्ता**=(शात=निशित, तीक्ष्णस्तुतिकौ) प्रभु की खूब स्तुति करनेवाले। (२) **वाजा इव**=शक्ति के पुञ्ज घोड़ों के समान **वयसा उच्चा**=आयुष्य के दृष्टिकोण से उत्कृष्ट, अर्थात् उचित पुष्टि को प्राप्त। **घर्म्येष्ठा**=तप में स्थित अथवा (घर्मं दीप्तमन्तरिक्षं) दीप्त हृदयान्तरिक्ष में स्थित, दीप्त हृदयवाले। **मेषा इव**=दो मेढ़ों के समान पुष्ट व गतिशील, **इषा सपर्या**=अन्न से परिचर्या करनेवाले, अर्थात् अन्न का यज्ञों में विनियोग करनेवाले और यज्ञशेष से **पुरीषा**=अपना पालन व पूरण करनेवाले।

भावार्थ—पति-पत्नी दृढ़ शरीरवाले, परदुःखहरण की क्रियाओंवाले, स्तुति की प्रवृत्तिवाले व यज्ञशेष से शरीर को पुष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जर्भरी तुर्फरीतू

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥ ६॥

(१) **सृण्या इव**=(द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च हन्ता च वि० १३।५) अंकुश दो कार्य करता है, एक मत्तगज को अवस्थापित करने का दूसरा अनिष्ट गतियों को रोकने का। इसी प्रकार ये पति-पत्नी **जर्भरी**=भरण करनेवाले होते हैं और **तुर्फरीतू**=शत्रुओं के हन्ता होते हैं, वाञ्छनीय तत्त्वों का पोषण करनेवाले और अवाञ्छनीयों को विनष्ट करनेवाले होते हैं। (२) **नैतोशा इव**=(नितोशयति हन्ति) काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करनेवालों के समान **तुर्फरी**=(क्षिप्रहन्तारौ) शीघ्रता से शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले तथा **पर्फरीका**=(शत्रूणां विदारयितारौ) शत्रुओं के विदीर्ण करनेवाले हैं। अथवा पात्र व्यक्तियों को धन से पूर्ण करनेवाले हैं। (धनेन पूरयितारौ) (३) **उदन्यजा इव**=(उदकजे इव रत्ने सामुद्रे नि० १३।५) समुद्रोत्पन्न कान्तियुक्त निर्मल रत्नों के समान **जेमना**=जयशील व **मदेरू**=सदा हर्षयुक्त। (४) ऐसे पति-पत्नी जब माता-पिता बनते हैं तो **ता**=वे **मे**=मेरे **जरायु**=उस जरा से जीर्ण होनेवाले **मरायु**=मरणशील शरीर को **अजरम्**=अजीर्ण बनाते हैं। अर्थात् माता-पिता पूर्णरूपेण स्वस्थ शरीरवाले होते हैं तो सन्तान का भी शरीर शीघ्र जीर्ण व मृत हो जानेवाला नहीं होता।

भावार्थ—पति-पत्नी बड़े नियन्त्रित जीवनवाले होकर सदा विजयशील व प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हों, ऐसे पति-पत्नी अजीर्ण शक्ति सन्तान को जन्म देते हैं।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पज्रा-उग्रा

पज्रेव चर्चरं जारं मरायु क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा।
ऋभू नापत्खरमज्रा खरज्रुर्वायुर्न पर्फरत्क्षयद्रयीणाम्॥ ७॥

(१) **उग्रा**=तेजस्वी पति-पत्नी **पज्रा इव**=(प्रार्जित बलौ सा०) खूब सञ्चित बलवाले वीरों के समान (पादाभ्यां अभिभवन्तौ) पाँवों से शत्रुओं को कुचलते हुए, **चर्चरम्**=इस ढीले जोड़ोंवाले अतएव चरचर करते हुए **जारं**=जीर्ण **मरायु**=मरणयुक्त शरीर को **अर्थेषु**=गन्तव्य विषयों के निमित्त **क्षद्म इव**=उदक की तरह **तर्तरीथः**=(तारयथः) तरानेवाले होते हो। जैसे नाव द्वारा पानी को तैरकर मनुष्य प्राप्तव्य परले तट पर पहुँचता है इसी प्रकार ये **पज्र**=शक्ति-सम्पन्न पति-पत्नी इस शरीर को नाव बनाकर संसार सागर को तैरते हैं और धर्मार्थ काम-मोक्षरूप अर्थों को सिद्ध करते हैं। (२) **ऋभू न**=जैसे ऋभुओं को, देव-शिल्पियों को स्वनिर्मित रथ प्राप्त होता है उसी प्रकार ऋत से देदीप्यमान इन पति-पत्नी को, जो **खरमज्रा**=(खटं मञ्जयितारौ) अत्यन्त शुद्ध हृदयवाले हैं इन पति-पत्नी को वह शरीर-रथ **आपत्**=प्राप्त होता है जो **खरज्रुः**=तीक्ष्ण गति, अतिशयेन वेगवान् है, **वायु न**=यह रथ वायु के समान **पर्फरत्**=शक्तियों का अपने में पूरण करनेवाला है और **रयीणाम्**=सब ऐश्वर्यों का **क्षयत्**=निवास होता है (क्षि=निवासे)।

भावार्थ—शक्ति का संचय करनेवाले पति-पत्नी इस शरीर को नाव के समान बनाकर भवसागर को तैरते हैं और सब पुरुषार्थों को सिद्ध करते हैं। अपने को शुद्ध करनेवाले ये पति-पत्नी इस शरीर-रथ को शक्तियों से पूर्ण करते हैं और ऐश्वर्यों को निवास-स्थान बनाते हैं।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मनन्या-जग्मी

घर्मेव मधु जठरे सनेरू भगेविता तुर्फरी फारिवारम्।
पतरेव चचरा चन्द्रनिर्णिङ् मनऋङ्गा मनन्या३ न जग्मी॥ ८ ॥

(१) **घर्मा इव**=शक्ति के पुञ्ज बने हुए (घर्म=शक्ति की उष्णता) ये पति-पत्नी **जठरे**=अपने उदरों में **मधु सनेरू**=माधुर्ययुक्त हृदय सात्त्विक भोजनों का ही सेवन करनेवाले होते हैं। **भगे अविता**=ऐश्वर्य में स्थित हुए-हुए अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। **अरं तुर्फरी**=(अरं=अलम्) खूब ही शत्रुओं का हिंसन करनेवाले होते हैं। **फारिवा**=(फारिः आयुधम्, स्फुर् to kill) उत्तम आयुधोंवाले हैं, अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को उत्तम बनाते हैं। (२) ये पति-पत्नी **पतरा इव**=पतनशील पक्षियों की तरह **चचरा**=संचरणशील हैं, इनका जीवन खूब क्रियाशील होता है। **चन्द्रनिर्णिङ्**=(निर्णिक्=रूपम्) आह्लादक रूपवाले हैं, सदा प्रसन्न मुख होते हैं। मन **ऋंगा**=मन के द्वारा अपना प्रसाधन करनेवाले होते हैं, अर्थात् विचारपूर्वक कार्यों को करते हुए ये अपने जीवन को सद्गुणों से सुशोभित करते हैं **मनन्या न जग्मी**=जैसे ये मनन में, विचारशीलता में उत्तम होते हैं, उसी प्रकार यज्ञादि उत्तम कर्मों के प्रति जानेवाले होते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी को चाहिए कि शुद्ध सात्त्विक भोजन करें। विचारशील व क्रियाशील हों। सदा प्रसन्नमुख हों।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कर्णा-अंशा

बृहन्तेव गम्भरेषु प्रतिष्ठां पादेव गाधं तरते विदाथः।
कर्णेव शासुरनु हि स्मराथोऽशेव नो भजतं चित्रमप्रः॥ ९ ॥

(१) **बृहन्ता इव**=बड़े अर्थात् उन्नत कदवाले पुरुषों की तरह **गम्भरेषु**=गम्भीर स्थानों में भी **प्रतिष्ठाम्**=प्रतिष्ठा को **विदाथः**=आप प्राप्त करते हो। बड़े कदवाले पुरुष गहरे जल में आधार को पा लेते हैं, आप भी दुष्प्रवेश स्थानों में भी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। संकट कालों में आप व्याकुल नहीं हो जाते हो। (२) **तरते**=तैरनेवाले के लिए **इव**=जैसे **पादा**=पाँव **गाधम्**=जल की गाधता को **विदाथः**=जनाते हैं, इसी प्रकार आप प्रत्येक कार्य की वस्तु-स्थिति को जाननेवाले होते हो। (३) **कर्णा इव**=जैसे कान उक्त शब्द को सुननेवाले होते हैं, उसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुननेवाले आप **हि**=निश्चय से **शासुः**=उस शासक प्रभु का **स्मराथः**=स्मरण करते हो। (४) **अंशा इव**=(अंश to divide) धनों का उचित संविभाग करनेवालों के समान **नः**=हमारे **चित्रं अप्रः**=अद्भुत कर्म का **भजतः**=आप आश्रय करते हो। प्रभु सदा देते हैं, ये प्रभु स्मरण करनेवाले व्यक्ति भी देनेवाले बनते हैं। प्रभु का सर्वाद्भुत आदरणीय कार्य यही है कि वे सब कुछ देते हैं। ये पति-पत्नी भी देनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी को चाहिए कि संकट में घबरायें नहीं। प्रत्येक कार्य की वस्तुस्थिति को समझें। प्रभु की वाणी को सुनें। सदा देनेवाले बनें।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आरंगरा-कीनारा

आरङ्गरेव मध्वेरयेथे सारघेव गवि नीचीनबारे।
कीनारेव स्वेदमासिष्विदाना क्षामेवोर्जा सूयवसात्सचेथे॥ १०॥

(१) **अरं गरा इव**=(अरं=शक्ति) शरीर में शक्ति के उत्पादन के लिए खानेवालों के समान **मधु आ एरयेथे**=माधुर्ययुक्त हृद्य भोजनों को ही आप अपने में प्रेरित करते हो। (२) **सारघा इव**=आप दोनों मधुमक्षिका के समान **गवि**=ज्ञान की वाणियों में सार को ग्रहण करनेवाले हो और **नीचीनबारे**=न्यग्भूत इन्द्रिय द्वारोंवाले हो। 'ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्यति'=ज्ञान से मनुष्य सदा नीचे देखता है, नम्र होता है। (३) **कीनारा इव**=दो किसानों की तरह **स्वेदं आसिष्विदाना**=पसीने को प्रक्षरित करनेवाले आप हो। अर्थात् आप काम के द्वारा आजीविका का उपार्जन करनेवाले हो। (४) **क्षामा इव**=(emancipated) क्षीणकाय भी आप, जिनपर बहुत मांस नहीं चढ़ गया ऐसे भी आप **सूयवस्यत्**=उत्तम भोजन से **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति से **सचेथे**=संगत होते हो। श्रम के कारण इनका शरीर बहुत चर्बीवाला नहीं, परन्तु उत्तम भोजन के कारण यह शक्तिशाली है। ये उत्तम भोजनवाले हैं, श्रम करते हैं, इस प्रकार इनका शरीर सबल है।

भावार्थ—पति-पत्नी सात्त्विक भोजन करें सारभूत ज्ञान को प्राप्त करके नम्र हों, गहरे पसीने की कमाईवाले हों, हलके परन्तु शक्तिशाली शरीरोंवाले हों।

ऋषिः—**भूतांशः काश्यपः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तोम से वाज की प्राप्ति

ऋध्याम स्तोमं सनुयाम वाजमा नो मन्त्रं सरथेहोप यातम्।
यशो न पक्वं मधु गोष्वन्तरा भूतांशो अश्विनोः काममप्राः॥ ११॥

(१) **स्तोमं ऋध्याम**=हम सब स्तोम का वर्धन करें। खूब स्तुति करनेवाले हों। और इस स्तुति के द्वारा **वाजम्**=शक्ति को **सनुयाम**=प्राप्त करें। (२) इस प्रकार प्रार्थना करनेवाले पति-पत्नी से प्रभु कहते हैं कि तुम **इह**=इस जीवन में **सरथा**=समान रथवाले होकर, परस्पर अभिन्न होकर **नः मंत्रम्**=हमारे से दिये गये इस वेद-ज्ञान को **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होवो। न (न इति चार्थे)=और **गोषु अन्तः पक्वम्**=गौवों के अन्दर उनके ऊधस् में ही परिपक्व **यक्षः**=(food) भोजन को, दुग्धरूप पूर्ण भोजन को **आ (गच्छतम्)**=प्राप्त होवो। (३) **भूतांशः**=इस उत्पन्न जगत् को जीवों के लिए विभक्त करनेवाला (भूत+अंश) वह प्रभु **अश्विनौ**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले इन पति-पत्नी के **कामम्**=अभिलाषा का **अप्राः**=पूरण करता है।

भावार्थ—हम स्तुतिमय जीवनवाले होकर शक्ति का संवर्धन करें। मधुर गोदुग्ध का सेवन करनेवाले बनें।

सूक्त के प्रारम्भ में पति-पत्नी को 'सध्रीचीना'=सदा मिलकर चलनेवाला कहा है। (१) समाप्ति पर भी 'सरथा'=समान रथवाला बनने का उपदेश दिया है। ऐसे पति-पत्नी 'भूतांश'=प्राप्त धन को बाँटनेवाले हैं। इस संविभाग से ये दिव्य वृत्तिवाले व शक्तिशाली शरीरोंवाले 'दिव्य आंगिरस' बनते हैं। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं। दक्षिणा ही देवता, अर्थात् सूक्त का विषय है—

[१०७] सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

महान् ऐश्वर्य का आविर्भाव (दक्षिणा का विशाल मार्ग)

आविर्भून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥ १॥

(१) **दक्षिणायाः**=दक्षिणा का, दानवृत्ति का **उरुः पन्थाः**=विशाल मार्ग **अदर्शि**=देखा जाता है। दान का मार्ग मनुष्य का कल्याण ही कल्याण करनेवाला है। सब से प्रथम तो **एषाम्**=इन दान की वृत्तिवाले पुरुषों का **महि**=महनीय **माघोनम्**=ऐश्वर्य **अविः अभूत्**=प्रकट होता है। दान से कभी ऐश्वर्य घटता नहीं, बढ़ता ही है। (२) दक्षिणा का दूसरा लाभ यह है कि **विश्वं जीवम्**=सब जीव, घर में प्रवेश करनेवाले सब प्राणी **तमसः**=अज्ञानान्धकार से **निरमोचि**=मुक्त हो जाते हैं। जहाँ दान की परिपाटी होती है, वहाँ लोभ की वृत्ति के न होने से दिमाग सुलझा हुआ रहता है। दान से मनोवृत्ति तामसी नहीं रहती। (३) इस दक्षिणा के मार्ग पर चलने से **पितृभिः**=माता, पिता, आचार्य आदि से **दत्तम्**=दी हुई **महि ज्योतिः**=महनीय ज्ञान की ज्योति **आगात्**=प्राप्त होती है। अर्थ में न फँसे हुओं को ही ज्ञान प्राप्त होता है। अर्थासक्त पुरुष प्रकाश को नहीं देख पाता।

भावार्थ—दान का मार्ग विशाल है। इस मार्ग पर चलनेवालों को ऐश्वर्य भी प्राप्त होता है और ज्ञान भी।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'अश्व, हिरण्य व वस्त्र' का दान

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः॥ २॥

(१) **दक्षिणावन्तः**=दान देनेवाले **दिवि**=द्युलोक में **उच्चा अस्थुः**=उच्च स्थान में स्थित होते हैं। इन्हें उत्कृष्ट लोक में जन्म प्राप्त होता है अथवा उत्कृष्ट ज्ञान के प्रकाश में स्थित होते हैं। (२) ये **अश्वदाः**=जो घोड़ों का दान करते हैं **ते**=वे **सूर्येण सह**=सूर्य के साथ होते हैं, इनका सूर्यलोक में जन्म होता है। **हिरण्यदाः**=स्वर्ण का दान करनेवाले **अमृतत्वम्**=अमृतत्व का **भजन्ते**=सेवन करते हैं, रोगों से इनकी असमय में ही मृत्यु नहीं हो जाती। (३) हे **सोम**=सौम्य स्वभाववाले पुरुष! तू यह स्मरण रख कि **वासोदाः**=उत्तम वस्त्रों के देनेवाले लोग **आयुः प्रतिरन्ते**=आयुष्य को बढ़ानेवाले होते हैं। वस्त्रादान मनुष्य को दीर्घजीवी बनाता है।

भावार्थ—अश्व, हिरण्य, वस्त्र आदि का दान मनुष्य को प्रकाशमय नीरोग व दीर्घजीवी बनाता है।

ऋषिः—**दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या** ॥ देवता—**दक्षिणा तद्दातारो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

दान=दैवीपूर्ति

दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या न कवारिभ्यो नहि ते पृणन्ति ।
अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति ॥ ३ ॥

(१) **दक्षिणा**=दान **दैवी पूर्तिः**=देव-सम्बन्धिनी पूर्ति है। जितना-जितना हम दान करते हैं, उतना-उतना उस देव का अपने में पूरण करते हैं। यह दान **देवयज्या**=उस देव का पूजन है अथवा उसके साथ संगतिकरण है। यह देवयज्या **कवारिभ्यः न**=(कु, ऋ गतौ) कुत्सित गतिवालों के लिए नहीं है। ये कुत्सित गतिवाले पुरुष न दान देते हैं और ना ही प्रभु की भावना को अपने में भर पाते हैं। **ते**=वे कवारि पुरुष **नहि पृणन्ति**=प्रभु को प्रीणित नहीं कर पाते (delight, please)। प्रभु की प्रसन्नता इसी में है कि प्रभु से दिये गये धन को हम प्रभु के प्राणियों के हित में प्रयुक्त करें। (२) **अथा**=सो अब **बहवः**=बहुत से वे **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले पुरुष **प्रयत-दक्षिणासः**=पवित्र दान की वृत्तिवाले होते हैं। **अवद्यभिया**=पाप के भय से वे देते ही हैं। उन्हें यह विश्वास होता है कि धन का दान न करेंगे तो धनासक्त होकर पाप में फँस जाएँगे। इसलिए दान देते हुए ये लोग **पृणन्ति**=उस प्रभु को प्रीणित करते हैं।

भावार्थ—दानवृत्ति हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। अदानवृत्ति प्रभु से दूर ले जाती है।

ऋषिः—**दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या** ॥ देवता—**दक्षिणा तद्दातारो वा** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

शतधार हवि

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते हविः ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति संगमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम् ॥ ४ ॥

(१) **नृचक्षसः**=(चक्ष् to look after) मनुष्यों का पालन करनेवाले **ते**=वे विद्वान् **हविः**=दानपूर्वक अदन को (हु दानादनयोः हविः) त्याग करके यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति को **शतधारम्**=सैंकड़ों का धारण करनेवाली **वायुम्**=वायु की तरह प्राणशक्ति को देनेवाली **अर्कम्**=उपासना की साधनभूत **स्वर्विदम्**=प्रकाश व स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली **अभिचक्षते**=कहते हैं। त्यागपूर्वक अदन की वृत्ति से हम अपना ही पेट न भरते हुए सैंकड़ों का धारण करते हैं, यह त्यागपूर्वक अदन हमारे लिए वायु की तरह जीवनप्रद होता है, इससे हम प्रभु का आराधन करते हैं और यह हमें स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला है। (२) **ये**=जो भी व्यक्ति **पृणन्ति**=इस प्रकार दानवृत्ति से प्रभु को प्रीणित करते हैं, **च**=और **संगमे**=सबके एकत्रित होने के स्थानभूत यज्ञों में **प्रयच्छन्ति**=खूब दान देते हैं, **ते**=वे **दक्षिणाम्**=इस दान को **सप्तमातरम्**=सात से मापकर, अर्थात् सप्तगुणित रूप में **दुहते**=अपने में पूरित करते हैं। जितना देते हैं, वह सप्तगुणित होकर उन्हें प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दान से धन बढ़ता ही है, कम नहीं होता।

भावार्थ—दान 'शतधार, वायु, अर्क व स्वर्विद्' है।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

दान व सर्वप्रथम स्थान

दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय॥ ५ ॥

(१) **दक्षिणावान्**=देने की वृत्तिवाला पुरुष **प्रथमः हूतः**=सबसे प्रथम पुकारा जाकर **एति**=सर्वमुख होकर गति करता है। अर्थात् इस दानी पुरुष को सभा आदि में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त होता है। यह **दक्षिणावान्**=दानवाला पुरुष **ग्रामणीः**=ग्राम का नेता बनकर (=कौन्सिलर आदि बनकर) **अग्रम् एति**=सबके आगे-आगे चलता है। (२) **यः**=जो **प्रथमः**=सबसे पूर्व **दक्षिणाम्**=दानवृत्ति को **आविवाय**=(वी=प्रजनन) अपने में उत्पन्न व विकसित करता है **तं एव**=उसको ही **जनानाम्**=लोगों का **नृपतिं मन्ये**=राजा मानता हूँ। वस्तुतः ही वह इस दानवृत्ति से **नृ-पति**=मनुष्यों का पालन करनेवाला होता है।

भावार्थ—दान हमें सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कराता है। दानी पुरुष सच्चे अर्थों में नृपति=प्रजा का रक्षक है।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

दान से यज्ञों का साधन

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध॥ ६ ॥

(१) **यः**=जो **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) अपने हृदय को अत्यन्त विशाल बनाता हुआ **दक्षिणया**=दानवृत्ति से **रराध**=सिद्धि को प्राप्त करता है, दान के द्वारा सब अशुभों को दूर करके शुभों को सिद्ध करता है। **तं एव**=उसको ही **ऋषिं आहुः**=ऋषि कहते हैं 'ऋष गतौ' सब कार्यों का करनेवाला जानते हैं। (२) यज्ञ में सब ऋत्विजों के कार्य इसकी दानवृत्ति से ही परिपूर्ण होते हैं। सो **तं उ**=उस दानी पुरुष को ही **ब्रह्माणम्**=ब्रह्मा कहते हैं, उसी को **यज्ञन्यम्**=यज्ञ का चलानेवाला 'अध्वर्यु' कहते हैं, **सामगाम्**=उसी को साम का गायन करनेवाला 'उद्गाता' जानते हैं और उसी को **उक्थशासम्**=उक्थों का (शस्त्रों का) शंसन करनेवाला 'होता' कहते हैं। यह दानी ही 'ब्रह्मा, अध्वर्यु, उद्गाता व होता' है। (३) **सः**=वह दानी **शुक्रस्य**=उस ज्योतिर्मय प्रभु की **तिस्रः तन्वः वेद**=तीनों शरीरों को जानता है। प्रभु कृपा से इसके शरीर रूप पृथिवीलोक में तेजस्विता के रूप में अग्नितत्त्व होता है। इसके हृदयान्तरिक्ष में प्रसन्नता के रूप में चन्द्र का निवास होता है और इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-सूर्य का उदय होता है।

भावार्थ—दानी ही सब यज्ञों को सिद्ध करता है। यह प्रभु कृपा से शरीर में अग्नि को, हृदय में चन्द्र को व मस्तिष्क में सूर्य को प्राप्त करता है।

ऋषिः—दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या ॥ देवता—दक्षिणा तद्दातारो वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

दक्षिणा से अभ्युदय

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।

दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥ ७ ॥

(१) **दक्षिणा**=दान की वृत्ति हमारे लिए **अश्वं ददाति**=घोड़ों को देती हैं। **दक्षिणा**=यह दान की वृत्ति **गां ददाति**=गौवों को देती है। **दक्षिणा**=यह दान हमें **चन्द्रम्**=चाँदी को देता है, **उत**=और **यत् हिरण्यम्**=जो स्वर्ण है अथवा हित-रमणीय है उस सबको देता है। (२) **दक्षिणा**=दान **अन्नं वनुते**=हमारे लिए अन्न का विजय करता है। इसलिए **यः**=जो **नः**=हम सबका **आत्मा**=आत्मा है, अर्थात् 'सर्वभूतान्तरात्मा' प्रभु है वह **विजानन्**=विशिष्ट ज्ञानवाला होता हुआ **दक्षिणाम्**=इस दानवृत्ति को **वर्म कृणुते**=हमारे लिए कवच के रूप में करता है। इस कवच से रक्षित हुए-हुए हम वासना के तीरों से घायल नहीं होते।

भावार्थ—दान अभ्युदय का कारण है और हमारे लिए कवच का काम देता है, यह हमें वासनाशरों से विद्ध नहीं होने देता।

ऋषिः—**दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या**॥ देवता—**दक्षिणा तद्दातारो वा**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

दान व उभयलोक कल्याण

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत्सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति॥ ८॥

(१) **भोजाः**=(भुज पालने) दान के द्वारा औरों का पालन करनेवाले लोग **न मम्रुः**=रोगादि से पीड़ित होकर असमय में मरते नहीं। यह दानवृत्ति इन्हें विषय विलास में फँसने से बचाती है और ये शरीर धारण के लिए ही भोजन करते हुए रोगाक्रान्त नहीं होते। अपने यशः शरीर से तो ये जीवित रहते ही हैं। ये भोज **न्यर्थम्**=निकृष्ट गति को (ऋ गतौ: अर्थ) **न ईयुः**=नहीं प्राप्त होते। **ह**=निश्चय से **भोजाः**=ये पालन करनेवाले लोग **न रिष्यन्ति**=हिंसित नहीं होते, वासनाएँ इन्हें अपना शिकार नहीं बना पाती और **न व्यथन्ते**=ये रोगों व अन्य भयों से पीड़ित नहीं होते। (२) यह **दक्षिणा**=दानवृत्ति **एभ्यः**=इन दान देनेवालों के लिए **एतत् सर्वम्**=यह सब कुछ **ददाति**=देती है, **इदम्**=यह **यत्**=जो **विश्वं भुवनम्**=सब लोक है **च**=और जो **स्वः**=स्वर्गलोक है। अर्थात् दक्षिणा से इनका इहलोक व परलोक दोनों ही सुन्दर बनते हैं।

भावार्थ—दान से दोनों लोकों में कल्याण प्राप्त होता है।

ऋषिः—**दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या**॥ देवता—**दक्षिणा तद्दातारो वा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

दान से गृह का सौन्दर्य

भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं१ या सुवासाः।
भोजा जिग्युरन्तः पेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति॥ ९॥

(१) **अग्रे**=सब से आगे तो **भोजाः**=दानवृत्ति से औरों का पालन करनेवाले पुरुष **सुरभिं योनिम्**=बड़े सुगन्धिवाले घर को **जिग्युः**=जीतते हैं (सुरभि=shining, good, gistuous, wise) ये ऐसे घर को प्राप्त करते हैं जिसमें कि सब लोग स्वास्थ्य की दीप्तिवाले, उत्तम वृत्तिवाले व बुद्धिमान् होते हैं। (२) **भोजाः**=ये औरों का पालन करनेवाले पुरुष उस **वध्वं जिग्युः**=वधू को प्राप्त करते हैं **या**=जो **सुवासाः**=जो आर्यवेश (सु+वासस्) वाली होती हुई घर में सब के उत्तम निवास का कारण बनती है (सुष्ठु वासयति)। (३) **भोजाः**=ये भोज पुरुष **सुरायाः**=ऐश्वर्य के **अन्तःपेयम्**=घर के अन्दर पान को **जिग्युः**=जीतते हैं। इनके घर में ऐश्वर्य की कमी नहीं होती। परन्तु इस ऐश्वर्य

को यह अन्तःपेय बनाते हैं, क्लव आदि में उसका अपव्यय नहीं करते। (४) और अन्त में **भोजाः**=ये पुरुष उनको **जिग्युः**=जीत लेते हैं, युद्ध में पराजित करनेवाले होते हैं **ये**=जो **अहूताः**=बिना युद्ध के लिए ललकारे गये हुए भी **प्रयन्ति**=धावा बोल देते हैं। अर्थात् आक्रमणात्मक युद्ध करनेवालों के ये पराजित करनेवाले होते हैं। जिस देश के व्यक्तियों में यह त्यागवृत्ति होगी वह देश कभी शत्रुओं का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—दान से घर अच्छा बनता है, देश स्वतन्त्र रहता है।

ऋषिः—**दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या** ॥ देवता—**दक्षिणा तद्दातारो वा** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दान से यश व ऐश्वर्य

भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्याः शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥ १० ॥

(१) **भोजाय**=दान द्वारा औरों का पालन करनेवाले के लिए **आशुं अश्वम्**=शीघ्रगामी घोड़े को **संमृजन्ति**=परिचारक लोग सम्यक् अलंकृत करते हैं। अर्थात् इनके आने-जाने के लिए सवारी सदा तैयार रहती है। **भोगाय**=इस औरों का पालन करनेवाले पुरुष के लिए **शुम्भमाना**=शरीरावयवों से शोभमान तथा उत्तम वस्त्रादि से अलंकृत **कन्या**=युवति **आस्ते**=सेवा के लिए उपस्थित रहती है। अर्थात् इसके घर में परिचारिकाओं की कभी नहीं रहती। (२) **भोजस्य**=इस पालन करनेवाले का **इदम्**=यह **वेश्म**=घर **पुष्करिणी इव**=कमलों से अलंकृत सरसी के समान **परिष्कृतम्**=सुसज्जित होता है। यह इसका घर **देवमाना इव**=देवताओं से मापकर बनाए गये घर के समान **चित्रम्**=अद्भुत होता है।

भावार्थ—दानशील पुरुष को उत्तम सवारियाँ सेविकाएँ व सुसंस्कृत (अलंकृत) गृह प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**दिव्यो दक्षिणा वा प्राजापत्या** ॥ देवता—**दक्षिणा तद्दातारो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सम्पत्ति व विजय

भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः।
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता॥ ११ ॥

(१) **भोजम्**=दान द्वारा औरों का पालन करनेवाले को **सुष्ठुवाहः**=उत्तमता से वहन करनेवाले **अश्वाः**=घोड़े **वहन्ति**=वहन करते हैं। **दक्षिणायाः**=दान का **रथः**=रथ **सुवृत् वर्तते**=(सुष्ठु चक्रादि वर्तनं यस्य) उत्तम चक्र आदि से युक्त होता है। अर्थात् दानी पुरुष का उत्तम रथ, उत्तम घोड़ों से जुता हुआ होता है। (२) **देवासः**=हे देवो! आप **भोजम्**=इस दानशील पुरुष को **भरेषु**=संग्रामों में **अवता**=रक्षित करते हो, आप से रक्षित हुआ-हुआ यह **भोजः**=दानशील पुरुष **समनीकेषु**=संग्रामों में **शत्रून् जेता**=शत्रुओं को जीतनेवाला होता है।

भावार्थ—दानशील पुरुष को सम्पत्ति व विजय प्राप्त होती है।

यह सूक्त दानकी महिमा को बहुत अच्छी प्रकार प्रतिपादित कर रहा है। दान से ऐश्वर्य बढ़ता है, विजय प्राप्त होती है, वासनाओं का विनाश होकर प्रभु की प्राप्ति होती है। धन का लोभ हो जाने पर इस दानवृत्ति में कमी आ जाती है। मनुष्य 'पणि'-सा बन जाता है, पणियाँ। 'पण व्यवहारे'

से बना यह पणि शब्द कह रहा है कि यह शुद्ध व्यवहारी पुरुष बन जाता है, अपने प्राणपोषण में ही फँसा हुआ यह 'असुर' कहलाता है (असुषु रमते)। इन्हें **देवशुनी**=देवताओं में वृद्धि को प्राप्त होनेवाली (श्वि=वृद्धौ) **सरमा**=गतिशील बुद्धि दान आदि के लिए प्रेरित करती है। अगले सूक्त में इन पणियों व सरमा का ही संवाद है—

[१०८] अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**पण्योऽसुराः** ॥ देवता—**सरमा** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पणियों का प्रश्न

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः ।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥ १ ॥

(१) पणि कहते हैं कि **किं इच्छन्ती**=क्या चाहती हुई **सरमा**=यह सरणशीला बुद्धि **इदम्**=इस हमारे स्थान को **प्र आनट्**=प्रकर्षेण व्याप्त करनेवाली हुई है। इस सरमा का **अध्वा**=मार्ग **हि**=निश्चय से **दूरे**=सुदूर है, बड़ा लम्बा है और यह मार्ग **पराचैः**=(परा अञ्च्) विषयों से पराङ्मुख होनेवालों से ही **जगुरिः**=गन्तव्य है, जाने योग्य है। इस बुद्धि के मार्ग पर विषयों से निवृत्त हुए-हुए पुरुष ही चल सकते हैं। (२) हे सरमे! **अस्मे**=हम पणियों में, व्यवहारी पुरुषों में **का हितिः**=तेरा क्या प्रयोजन निहित है? **का परितक्म्या आसीत्**=किस प्रकार तेरा चारों ओर गमन हुआ (तक् गतौ)। **कथम्**=कैसे **रसायाः**=इस रसमयी पृथिवी के **पयांसि**=विषयरूप जलों को **अतरः**=तू तैरी? बुद्धि पणियों में क्या परिवर्तन करना चाहती है? किस प्रकार वह उन्हें सांसारिक विषयों से ऊपर उठाकर प्रभु-प्रवण करने के लिए यत्नशील होती है?

भावार्थ—पणिक् वृत्ति में बुद्धि ही परिवर्तन को ला पाती है। यह बुद्धि का मार्ग लम्बा व विषय पराङ्मुख लोगों से ही गन्तव्य है।

ऋषिः—**सरमा देवशुनी** ॥ देवता—**पणयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बुद्धि द्वारा दिया जानेवाला 'सन्देश'

इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्वः ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि ॥ २ ॥

(१) सरमा उत्तर देती है कि मैं **इन्द्रस्य दूतीः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की सन्देशवाहिका हूँ। **इषिता**=उसी से प्रेरित हुई-हुई मैं **चरामि**=गति करती हूँ। हे **पणयः**=पणिक् वृत्तिवाले पुरुषो! मैं **वः**=तुम्हारे लिए **महः**=अधिक महत्त्वपूर्ण **निधीन्**=कोशों को **इच्छन्ती**=चाहती हुई हूँ। बाह्य समृद्धियों की अपेक्षा आन्तर ज्ञान की सम्पत्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैं तुम्हारे लिए उसी आन्तर ज्ञान सम्पत्ति को देने के लिए आई हूँ। (२) **तत्**=वह ज्ञानधन **नः**=हमें **अतिष्कदः**=अति तीव्र आक्रमण के करनेवाले **वृत्र** (=कामवासना) के **भियसा**=भय से **आवत्**=बचाता है। **तथा**=उस प्रकार से ही, अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही मैं **रसायाः**=इस रसमयी पृथिवी के **पयांसि**=विषय जलों को **अतरम्**=तैरे गई हूँ। ज्ञान ही मनुष्य को विषयों में फँसने से बचाता है। बाह्य धन विषयों में फँसाने का कारण बनता है तो यह आन्तर धन हमें उन विषयों से बचाता है। बुद्धि पणियों को यही प्रभु का सन्देश देना चाहती है कि ज्ञान धन को महत्त्व दो, नकि इस बाह्य धन को।

भावार्थ—बुद्धि हमें यही सन्देश देती है कि 'ज्ञानधन को अपनाओ और विषयों से बचो'।

ऋषिः—**पण्योऽसुराः** ॥ देवता—**सरमा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु रूप मित्र का धारण

कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति ॥ ३ ॥

(१) व्यवहारी पुरुष बुद्धि से प्रश्न करते हैं कि हे **सरमे**=सरणशील बुद्धि! वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाला प्रभु **कीदृङ्**=कैसा है! **का दृशीका**=कैसा उसका स्वरूप है, वह कैसा दिखता है? अथवा उसकी दृष्टि कैसी है? हमारे लिए उसका दृष्टिकोण क्या है? उस परमात्मा का, **यस्य**=जिसकी **दूतीः**=सन्देशवाहिका बनी हुई तू **पराकात्**=सुदूर देश से **इदम्**=इस हमारे स्थान को **असरः**=प्राप्त हुई है। (२) **च**=और यदि वह इन्द्र **आगच्छात्**=हमें प्राप्त हो तो **एना मित्रं दधाम**=इस प्रभु को मित्र रूप से हम धारण करें। **अथा**=प्रभु को धारण करने पर वह **नः गवाम्**=हमारी इन्द्रियों को **गोपतिः**=उत्तम स्वामी व रक्षक **भवाति**=होता है। वस्तुतः बुद्धि का सबसे बड़ा उपयोग यही है कि वह हमें प्रभु को प्राप्त कराती है। ये प्रभु हमारी इन्द्रियों के स्वामी बनते हैं और हम इन्द्रियों को विषयों को शिकार होते हुए नहीं देखते।

भावार्थ—बुद्धि के सम्पर्क में हमारे में यह प्रश्न उठता है कि वे प्रभु कैसे हैं? हमें प्रतीत होता है कि वे प्रभु हमें प्राप्त हों, तो वे मित्रभूत प्रभु हमारी इन्द्रियों के रक्षक होंगे।

ऋषिः—**सरमा देवशुनी** ॥ देवता—**पणयः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अहिंस्य 'हिंसक'

नाहं तं वेद दभ्यं दभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥ ४ ॥

(१) बुद्धि कहती है कि **अहम्**=मैं **तम्**=उस प्रभु को **दभ्यं न वेद**=हिंसनीय व दबाये जाने योग्य **न वेद**=नहीं जानती। उस प्रभु को प्रबल से प्रबल असुरभाव रूप शत्रु भी नष्ट नहीं कर सकता। **सः दभत्**=वे प्रभु इन सब असुरों का संहार करते हैं। वे प्रभु, **यस्य**=जिनकी कि **दूतीः**=सन्देशवाहिका मैं **पराकात्**=सुदूर देश से **इदम्**=यहाँ तुम्हारे स्थान पर **असरम्**=जाती हूँ। (२) **तम्**=उस प्रभु को **स्रवतः**=बहते हुए **गभीराः**=अत्यन्त गहरे ये सांसारिक विषयों के जल **न गूहन्ति**=आवृत नहीं कर पाते। इन विषयों का आक्रमण अल्पज्ञ जीव पर ही होता है, उस सर्वज्ञ प्रभु को ये विषय आच्छादित नहीं कर पाते। (३) हे **पणयः**=व्यवहारी पुरुषो! तुम तो **इन्द्रेण हताः**=उस प्रभु से नष्ट हुए-हुए, अर्थात् प्रभु की कृपा को न प्राप्त हुए-हुए **शयध्वे**=सो रहे हो। तुम्हें अपने हिताहित का ध्यान नहीं। प्रभु कृपा होने पर ही तुम जागोगे और वास्तविक कल्याण को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होवोगे।

भावार्थ—प्रभु अहिंस्य हैं। वे ही वासनाओं का हिंसन करते हैं।

ऋषिः—**पण्योऽसुराः** ॥ देवता—**सरमा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विषयों से युद्ध करके इन्द्रयरूप गौवों को मुक्त करना

इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान्त्सुभगे पतन्ती।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्ति तिग्मा ॥ ५ ॥

(१) पणि सरमा से कहते हैं कि—हे **सुभगे**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली **सरमे**=सरणशील बुद्धि, **दिवः अन्तान्**=ज्ञान के अन्त भागों को **परिपतन्ती**=सब ओर से प्राप्त करती हुई, ज्ञान की चरमसीमा पर पहुँचने की इच्छा करती हुई, **याः ऐच्छः**=जिनको तूने चाहा है वे **गावः इमाः**= इन्द्रियाँ ये हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा ही मनुष्य अपने ज्ञान को बढ़ाता हुआ एक दिन ज्ञान के शिखर पर जा पहुँचता है। परन्तु यदि ये इन्द्रियाँ पणियों से चुरी ली जाएँ, अर्थात् यदि सारे समय सांसारिक व्यवहारों में ही पड़ी रहें और सांसारिक सम्पत्ति व भोगों का परिग्रह ही इनका उद्देश्य बन जाए तो फिर ज्ञान समाप्त हो जाता है। (२) पणि कहते हैं कि **ते एनाः**=तेरी इन इन्द्रियरूप गौवों को **कः**=कौन **अयुध्वी**=वासनाओं से युद्ध न करनेवाला पुरुष **अवसृजात्**=सांसारिक विषयों के बन्धन से छुड़ा सकता है। ये इन्द्रियाँ वस्तुतः बुद्धि की होनी चाहिएँ, परन्तु जब एक मनुष्य सांसारिक विषय वासनाओं से युद्ध नहीं करता तो ये इन्द्रियाँ विषयों में फँस जाती हैं। (३) और यह भी बात है कि 'यह युद्ध कोई आसानी से जीता जा सके' ऐसी बात नहीं है। पणि कहते हैं कि **उत**=और **अस्माकम्**=हमारे अर्थात् हमारे पर पड़नेवाले भाषा में हम इस प्रकार का प्रयोग देखते हैं कि 'मेरा रोग बड़ा भयङ्कर है' इस वाक्य में मेरा का भाव है 'मेरे पर जिसका आक्रमण हुआ है' वह रोग बड़ा भयङ्कर है। इसी प्रकार यहाँ **अस्माकम्**=हमारे अर्थात् हमारे पर पड़नेवाले **आयुधा**=आयुध **तिग्मा सन्ति**=बड़े तेज हैं। कामदेव के धनुष व बाण फूलों के बेशक बने हैं, पर उनके आक्रमण से बचने का सम्भव किसी विरल व्यक्ति के लिए ही होता है। जो युद्ध में इनको जीत पाता है वही इन्द्रियरूप गौवों को 'पञ्चपर्वा अविद्यारूप पर्वत' की गुहा से मुक्त कर पाता है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करना है तो आवश्यक है कि इन्द्रियरूप गौवों को अविद्यापर्वत की गुहा से मुक्त करें। इसके लिए विषय वासनाओं से युद्ध करके उन्हें पराजित करना होगा।

ऋषिः—**सरमा देवशुनी** ॥ देवता—**पणयः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु प्रेरणा के अभाव में पाप

असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः ।
अधृष्टो व एतवा अस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात् ॥ ६ ॥

(१) सरमा पणियों से कहती है कि हे **पणयः**=व्यवहारी लोगो! **वः वचांसि**=तुम्हारे ये वचन कि 'हमारे पर जिनका आघात होता है वे अस्त्र-शस्त्र बड़े तेज हैं' **असेन्याः**=ये सेना के योग्य नहीं हैं। प्रभु हमारे सेनापति हैं, हम तो प्रभु की सेना हैं, हमें प्रभु पर विश्वास रखते हुए अपने शत्रुओं से युद्ध करना है। हम इस युद्ध में हारेंगे क्यों? जो **अनिषव्याः**=(इषु+य=इषव्य) इषुओं के, प्रभु प्रेरणाओं के योग्य नहीं होते वे ही **तन्वः**=शरीर **पापीः सन्तु**=पापमय होते हैं। जो प्रभु प्रेरणाओं को सुननेवाले हैं, उनके पास तो ये प्रभु प्रेरणाएँ इषुओं=बाणों के रूप में होती हैं, इन बाणों से वे शत्रुओं का संहार कर पाते हैं। (२) इस प्रकार प्रभु प्रेरणारूप बाणों से सन्नद्ध होने पर **वः पन्थः**=तुम्हारा मार्ग **अधृष्टः**=शत्रुओं से धर्षित न हुए-हुए **एतवै अस्तु**=लक्ष्य स्थान की ओर चलने के लिए हो। क्या **बृहस्पतिः**=सम्पूर्ण ज्ञानों के स्वामी वे प्रभु **वः**=तुम्हारी **उभया**=दोनों ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को **न मृळात्**=सुखी नहीं करते? बृहस्पति की कृपा के होने पर ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ वासनाओं का शिकार नहीं होतीं और हम ठीक मार्ग पर आगे बढ़ पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की कृपा के होने पर हम वासनारूप शत्रु-सैन्य को क्यों न जीत पाएँगे?

ऋषिः—**पण्योऽसुराः** ॥ देवता—**सरमा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आन्तर धन 'गौवों-अश्वों व वसुओं' से बना है

अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिन्यृष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ॥ ७॥

(१) पणि कहते हैं कि हे **सरमे**=सरणशील बुद्धि! **अयं निधिः**=यह आन्तर धन **अद्रिबुध्नः**= (अद्रिः पर्वतः बन्धको यस्य सा०) अविद्यारूप पर्वत से बद्ध-सा हुआ पड़ा है। अर्थात् अविद्या के कारण यह हमारे उत्स्थान का साधन नहीं बन रहा। यह **निधि गोभिः**=अर्थ की गमक ज्ञानेन्द्रियों से **अश्वेभिः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों से तथा **वसुभिः**=निवास के कारणभूत प्राणों से **न्यृष्टः**=नितरां व्याप्त है। इस आन्तर निधि में 'ज्ञानेद्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राण' तीन मुख्य अंश हैं। (२) **तम्**=उस निधि को वे ही **पणयः**=व्यवहारी लोभ **रक्षन्ति**=रक्षित करनेवाले होते हैं **ये**=जो **सुगोपाः**=उत्तम गोप रक्षक प्रभुवाले होते हैं। वस्तुतः सब व्यक्ति गौवें के रूप में हैं तो प्रभु उनके गोप (=वाले) हैं। गोप से रक्षित व्यक्ति ही अपने धन की रक्षा करनेवाले होते हैं। अन्यथा वे स्वयं इस निधि के चोरों से अपने को बचा नहीं सकते। (३) पणि बुद्धि से कहते हैं कि हे बुद्धि! तू भी **रेकु पदम्**=इस प्रतिक्षण शत्रु के आक्रमण के भय की आशंकावाले स्थान पर **अलकम्**=व्यर्थ ही **आजगन्थ**=आ गई है। तेरे पर भी इन वासनारूप शत्रुओं का आक्रमण हुआ तो तेरा भी सुरक्षित रहना कठिन होगा। वासनाएँ तुझे भी भ्रष्ट कर डालेंगी।

भावार्थ—आन्तर धन 'ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय व प्राणों' से बना है। अविद्या इसे नष्ट करनेवाली है। प्रभु से रक्षित व्यक्ति ही इस धन की रक्षा कर पाते हैं।

ऋषिः—**सरमा देवशुनी** ॥ देवता—**पणयः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आन्तर धन के रक्षक 'ऋषि'

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित्॥ ८॥

(१) सरमा पणियों को उत्तर देती हुई कहती है कि **इह**=इस आन्तर ज्ञान निधि के रक्षण के मार्ग पर **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **आगमन्**=गति करते हैं। वे तत्त्वद्रष्टा जो **सोमशिताः**=सोम के द्वारा तीव्र किये गये हैं। सोम, अर्थात् वीर्य के रक्षण से जिनकी बुद्धि तीव्र बनी है। **अयास्यः**=जो अनथक है, (अ+यस्), **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाला है और **नवग्वाः**=स्तुत्य गतिवाले हैं (नु स्तुतौ)। ये लोग आन्तर निधि के रक्षण के मार्ग पर प्रवृत्त होते हैं। (२) **ते**=वे **एतम्**=इस **गोनां ऊर्वम्**=इन्द्रियरूप गौवें के समूह को **विभजन्त**=अविद्या पर्वत की गुहा से विभक्त (=पृथक्) करते हैं। सो **पणयः**=व्यवहारी लोगो! **अथ**=अब तुम **एतद् वचः**=इस वचन को कि 'रेकु पदमलकमाजगन्थ' 'हे बुद्धि! तू भी व्यर्थ ही इस शंकास्पद स्थान को आयी है' **इत्**=निश्चय से **वमन्**=उद्गीर्ण ही कर दें। अर्थात् भय की कोई बात नहीं। 'ऋषि, सोमशित्, अयास्य, अंगिरस् व नवग्व' वासनाओं को जीतकर आन्तर निधि का रक्षण करते हैं। वासनारूप शत्रु प्रबल हैं, परन्तु बुद्धि को प्रधानता देनेवाले व्यक्ति इनको जीतकर आन्तर धन का रक्षण करते हैं, अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणों को ठीक रखने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियरूप गौवों का रक्षण 'ऋषि, सोमशित्, अयास्य, अंगिरस् व नवग्व' करते हैं।

ऋषिः—**पण्योऽसुराः** ॥ देवता—**सरमा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बुद्धि का दूर न चले जाना

एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम॥ ९॥

(१) हे **सरमे**=बुद्धि! **त्वम्**=तू **एवा**=इस प्रकार **दैव्येन सहसा**=देव के, प्रभु के सहस् से (giolence) प्रबल पीड़ा से **प्रबाधिता**=पीड़ित हुई-हुई **आजगन्थ च**=आई ही है। जब कभी जीवन में कोई प्रबल धक्का लगता है, तो उस समय बुद्धि विषयों से पराङ्मुख होकर प्रभु की ओर लौटने की करती है। (२) जो लोग आजतक सांसारिक व्यवहारों के अन्दर ही उलझे हुए थे, अब वे पणि भी कुछ आत्म-प्रवण होते हैं। वे बुद्धि से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **स्वसारम्**=(स्वं सारयति) आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाला **कृणवै**=करते हैं। अब **पुनः**=फिर **मा गाः**=हमारे से दूर जानेवाली न हो। तू हमारे में स्थिर बनी रहे। हे **सुभगे**=ज्ञानरूप ऐश्वर्यवाली बुद्धि! अब **अप**=इन इन्द्रियों को अविद्याजनित विषय-वासनाओं से दूर करके **ते**=तेरे साथ **गवाम्**=इन इन्द्रियों का **भजाम**=सेवन करते हैं। अर्थात् सांसारिक विषयों में न फँसकर ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानार्जन को और कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि कर्मों को हम करनेवाले बनते हैं। हमारी इन्द्रियों से होनेवाली सब क्रियाएँ बुद्धिपूर्वक होती हैं।

भावार्थ—हमारे से बुद्धि दूर न चली जाये। हमारी सब क्रियाएं बुद्धिपूर्वक हों। यह बुद्धि हमें आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाली हो।

ऋषिः—**सरमा देवशुनी** ॥ देवता—**पणयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र व घोर अंगिरस्

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः॥ १०॥

(१) गत मन्त्र में पणियों ने बुद्धि से कहा था कि तुझे हम अपनी 'स्वसा' बनाते हैं, तू हमें आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाली होगी (स्वं स्वरति सारयति)। बुद्धि उत्तर देती हुई कहती है कि **अहम्**=मैं **भ्रातृत्वम्**=(भृ) आत्मतत्त्व के भरण करने के भाव को **न वेद**=नहीं जानती। अर्थात् 'मैं अकेली तुम्हारे में आत्मतत्त्व के भाव का भरण कर सकूँगी' ऐसा मैं नहीं समझती। **न**=ना ही **स्वसृत्वम्**=आत्मतत्त्व की ओर ले चलने की शक्ति को (वेद) अनुभव करती हूँ। मुझे ऐसा नहीं लगता कि मैं तुम्हें आत्मतत्त्व की ओर ले चल सकूँगी। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुनाश्रुतेन'=केवल मेधा से आत्मा लभ्य नहीं है। (२) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **च**=और **घोराः**=उत्कृष्ट वृत्ति के **अंगिरसः**=अंगों को रसमय बनानेवाले स्वस्थ पुरुष ही इस भ्रातृत्व व स्वसृत्व को **विदुः**=जानते हैं। अर्थात् आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए जितेन्द्रियत्व व शरीर को स्वस्थ रखने की भावना आवश्यक है। केवल बुद्धि हमें आत्मतत्त्व तक न ले जा सकेगी। 'घोराः' शब्द भयंकर इसी अर्थ में प्रयुक्त समझा जाए तो अर्थ यह होगा कि वे अंगिरस् जो काम-क्रोध आदि शत्रुओं के लिए भयंकर हैं वे आत्मतत्त्व की ओर जानेवाले होते हैं। (३) बुद्धि कहती है कि मैं भी **यदा**=जब **आयम्**=इस आत्मतत्त्व की ओर आती हूँ तो ये 'इन्द्र' और 'घोर अंगिरस्' ही **मे**=मेरे लिए

गोकामाः=इन प्रशस्त इन्द्रियों की कामनावाले होते हुए **अच्छदयन्**=मुझे आच्छादित करते हैं, सुरक्षित करते हैं। जितेन्द्रिय तथा काम-क्रोधादि को जीतकर स्वस्थ रहनेवाला पुरुष ही बुद्धि को भी सुरक्षित करनेवाला होता है। सो हे **पणयः**=व्यवहारी पुरुषो! **अतः**=इस विषयों के मार्ग से **अप**=दूर **वरीयः**=उरुतर-विशाल आत्म प्राप्ति के मार्ग पर ही **इत**=चलो। यह वैषयिक मार्ग स्वार्थ पूर्ण व संकुचित है, आत्म प्राप्ति का मार्ग स्वार्थ से परे व विशाल है। आत्म प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति 'सर्वभूतहिते रत' बनता है।

भावार्थ—आत्म प्राप्ति केवल बुद्धि से नहीं होती। उसके लिए 'जितेन्द्रियता' तथा 'काम-क्रोधादि' का विजय करके स्वस्थ बनना भी आवश्यक है।

ऋषिः—**सरमा देवशुनी** ॥ देवता—**पणयः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'बृहस्पति-विप्रः'

दूरमि॑त पणयो॒ वरी॑य॒ उद्गावो॑ यन्तु मि॒नती॑र्ऋ॒तेन॑।
बृह॒स्पति॒र्या अवि॑न्द॒न्निगू॑ळ्हाः॒ सोमो॒ ग्रावा॑ण॒ ऋष॑यश्च॒ विप्राः॑ ॥ ११ ॥

(१) हे **पणयः**=व्यवहारी लोगो! **दूरम्**=इस विषय-वासनाओं के मार्ग से दूर **वरीयः**=विशाल आत्म मार्ग की ओर **इत**=चलो। **गावः**=तुम्हारी ये इन्द्रियाँ **ऋतेन**=सत्य के द्वारा तथा यज्ञों में प्रवृत्त होने के द्वारा (ऋत, सत्य, यज्ञ) **मिनतीः**=सब अशुभों का हिंसन करती हुई **उद् यन्तु**=विषयों से बाहर होकर उत्कर्ष की ओर चलनेवाली हों। (२) वे इन्द्रियाँ उत्कर्ष की ओर चलनेवाली हों, **निगूढाः**=अविद्या पर्वत से आच्छादित हुई-हुई **याः**=जिनको **बृहस्पतिः**=ज्ञान का पति ऊर्ध्वादिक् का अधिपति **अविन्दत्**=प्राप्त करता है। **सोमः**=सोम का, वीर्यशक्ति का रक्षण करके सोम का पुञ्ज बननेवाला इन्हें प्राप्त करता है। **ग्रावाणः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले लोग इन्हें प्राप्त करते हैं। **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा बनकर गतिशील रहनेवाले लोग इन्हें प्राप्त करते हैं, **च**=और **विप्राः**=(वि+प्रा) विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग इन्हें प्राप्त करते हैं। (३) इन इन्द्रियों को अपने अधीन रखनेवाले लोग ही जीवन-यात्रा को ठीक प्रकार से पूरा कर पाते हैं।

भावार्थ—हम 'बृहस्पति, सोम, ग्रावा, ऋषि व विप्र' बनकर इन्द्रियों को स्वाधीन करें, और सफलता से जीवन-यात्रा को पूर्ण करनेवाले हों।

मनुष्य संसार के व्यवहारों में ऐसा उलझता है कि प्रभु को भूल जाता है। विषयों का परिग्रह ही उसका जीवनोद्देश्य हो जाता है। उसकी इन्द्रियरूप गौवें अविद्या पर्वत की गुहा में कैद-सी हो जाती हैं। कभी कोई धक्का लगता है, चेतना आती है, और बुद्धि सोचने लगती है तो मनुष्य विषयों के मार्ग से हटकर आत्ममार्ग पर चलता है। यह अब 'ब्रह्म' बनता है, ब्रह्म का बनता है। इसकी क्रियाओं का केन्द्र विषय नहीं रहते। यह 'ऊर्ध्वनाभा'=उत्कृष्ट केन्द्रवाला बनता है। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला 'जुहूः' होता है। ब्रह्म को अपने में प्रादुर्भूत करनेवाला 'ब्रह्मजाया' कहलाता है अथवा ब्रह्म, अर्थात् वेदवाणी को यह अपनी जाया बनाता है 'परीमे गामनेषत'। इसकी क्रियाओं के केन्द्र सांसारिक विषय न होकर ज्ञान व प्रभु-दर्शन बनते हैं सो यह 'ऊर्ध्वनाभा' हो जाता है 'उत्कृष्ट केन्द्रवाला'। इसे 'सूर्य, जल, वायु' सभी प्रभु की महिमा का दर्शन कराते हैं—

[१०९] नवोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

अकूपारः सलिलो मातरिश्वा

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीळुहरास्तप उग्रो मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन ॥ १ ॥

(१) जिस समय विषयों में क्रीड़ा करता हुआ पुरुष ब्रह्म को भूल जाता है, तो यह ब्रह्म विषयक किल्विष व 'ब्रह्म किल्विष' कहलाता है। इस **ब्रह्मकिल्विषे**=ब्रह्म विषयक पाप के होने पर **ते**=वे **प्रथमाः**=देवताओं में प्रमुख स्थान रखनेवाले **अकूपारः**=(अकुत्सितपारः दूरपारः महागतिः) आदित्य, **सलिलः**=जल तथा **मातरिश्वा**=वायु **अवदन्**=उस ब्रह्म का उपदेश देते हैं। इन्हें देखकर उस विषय-प्रवण मनुष्य को भी प्रभु का स्मरण हो आता है, सूर्य-समुद्रों के जल व अन्तरिक्ष संचारी वायु इसे प्रभु की महिमा को करते प्रतीत होते हैं। द्युलोक का सूर्य-पृथ्वी के जल तथा अन्तरिक्ष का वायु तीनों ही उसे ब्रह्म का उपदेश करते हैं। (२) **ऋतेन प्रथमजाः**=प्रभु के तप से उत्पन्न ऋत से (ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत:) **प्रथमजाः**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले **उग्रः तपः**=अत्यन्त तेजस्वी दीप्त सूर्य, **मयोभूः**=कल्याण को देनेवाली वायु (वात आवातु भेषजं, शम्भु मयोभु नो हृदे १०।१८६।१) तथा **देवीः आपः**=दिव्य गुणोंवाले जल ये सब **वीडुहराः**=प्रबल तेजवाले हैं। (वीडु=strong)। इनके अन्दर उस-उस तेज को स्थापित करनेवाले वे प्रभु ही तो हैं। ये सब सूर्यादि प्रभु के तेज के अंश से ही तेजस्वी हो रहे हैं।

भावार्थ—सूर्य, जल व वायु ये सब प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं।

ऋषिः—**जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु ज्ञान व आश्रय देकर हमें आगे ले चलते हैं

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥ २ ॥

(१) जीव यद्यपि प्रभु को भूल जाता है तो भी प्रभु उसपर **अहृणीयमानः**=क्रोध नहीं करते (हृणीयते to be angey) प्रभु **राजा**=शासक हैं, परन्तु **सोमः**=अत्यन्त सौम्य हैं, शान्त हैं। ये **प्रथमः**=अधिक से अधिक विस्तारवाले सर्वव्यापक प्रभु इस व्यक्ति के लिए **ब्रह्मजायाम्**=इस वेदवाणीरूप पत्नी को **पुनः प्रायच्छत्**=फिर से प्राप्त कराते हैं। हृदयस्थरूपेण बारम्बार प्रेरणा के द्वारा ज्ञान को देते हैं। (२) वे प्रभु जो कि **वरुणः**=सब बुराइयों से निवारित करनेवाले, दूर करनेवाले **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु पाप से बचानेवाले हैं, **अन्वर्तिता**=रक्षा के लिए पीछे-पीछे आनेवाले **आसीत्**=हैं। जैसे एक चलने के प्रयत्न में कदम रखनेवाले छोटे बालक के साथ-साथ माता होती है जिससे यदि वह गिरने लगे तो वह उसे बचानेवाली हो, इसी प्रकार वे वरुण और मित्र प्रभु इसके साथ-साथ होते हैं और इसे गिरने से बचाते हैं। (३) वे **होता**=सब साधनों को देनेवाले **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **हस्तगृह्या**=हाथ में पकड़कर **निनाय**=मार्ग पर ले चलते हैं। माता बालक को अंगुली पकड़ाकर चलाती है, उसी प्रकार प्रभु इसे आश्रय देकर आगे ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु शासक होते हुए भी क्रोध नहीं करते। वे प्रेरणा व आश्रय देकर हमें आगे ले चलते हैं।

ऋषिः—**जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वाध्याय से कष्ट निवारण

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥ ३॥

(१) जिस समय लोग परमात्मा-सी दी गई इस वेदवाणी को **इयं ब्रह्मजाया**='यह ब्रह्म का प्रादुर्भाव व प्रकाश करनेवाली है' **इति**=इस प्रकार **चेत्**=यदि **अवोचन्**=उच्चारित करते हैं तो **अस्याः**=इस ब्रह्मजाया के **हस्तेन**=हाथ से, आश्रय से ही **आधिः**=सब दुःख (bane, eurse, misery) **ग्राह्यः**=वश में करने योग्य होता है। हमने इस ब्रह्मजाया का हाथ पकड़ा और हमारे सब कष्ट दूर हुए। (२) **एषा**=यह ब्रह्मजाया **प्रह्ये**=(प्रहिताया) भेजे हुए **दूताय**=दूत के लिए **न तस्थे**=स्थित नहीं होती। अर्थात् इसे स्वयं न पढ़कर किसी और से इसका पाठ कराते रहने से ही पुण्य नहीं प्राप्त हो जाता। **क्षत्रियस्य**=एक क्षत्रिय का **राष्ट्रम्**=राष्ट्र भी तो **तथा**=उसी प्रकार **गुपितम्**=रक्षित होता है। राष्ट्र की रक्षा भी राजा स्वयं सावधान व जागरित होकर ही कर पाता है दूसरों को शासन सौंपकर भोग-विलास में पड़े रहनेवाला राजा कभी राष्ट्र को रक्षित नहीं कर पाता। इसी प्रकार वेदवाणी को स्वयं पढ़नेवाला ही वेद से लाभान्वित होता है। स्वयं अध्ययन ही जीवन को उन्नत करता है।

भावार्थ—स्वाध्याय मनुष्य ने स्वयं करना है। यह स्वाध्याय उसके सब कष्टों को दूर करेगा।

ऋषिः—**जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों तथा ऋषियों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥ ४॥

(१) **पूर्वे देवाः**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले 'पूर्वे चत्वारः' अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा नामक देव तथा **सप्त ऋषयः**=सात ऋषि (महर्षयः सप्त) **एतस्याम्**=इस ब्रह्मजाया के विषय में, वेदवाणी के विषय में **अवदन्त**=परस्पर वार्ता करते हैं, आपस में मिलकर ज्ञान की ही चर्चा करते हैं। वे ऋषि **ये**=जो **तपसे**=तप के लिए **निषेदुः**=निश्चय से आसीन होते हैं, अर्थात् जो अपना जीवन तपस्यामय बिताते हैं। तपस्या के बिना ज्ञान प्राप्ति का सम्भव ही नहीं। (२) **ब्राह्मणस्य**=उस ज्ञान पुञ्ज प्रभु की **जाया**=यह वेदवाणीरूप पत्नी **उपनीता**=समीप प्राप्त करायी जाने पर **भीमा**=शत्रुओं के लिए भयंकर होती है। जब हम इसकी आराधना के द्वारा हृदय को प्रकाशमय करते हैं तो यह काम-क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंस करनेवाली होती है। उसके शत्रुओं के लिए यह भयंकर होती है जो **दुर्धाम्**=कठिनता से, तीव्र तप के द्वारा धारण करने योग्य इसको **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **दधाति**=धारण करता है। हम हृदयों में इसे धारित करते हैं तो यह हमारे शत्रुओं का विध्वस कर देती है।

भावार्थ—देव तथा ऋषि तपस्या के द्वारा वेदवाणी को प्राप्त करते हैं। यह उनके शत्रुओं का विध्वंस करती है। वस्तुतः इसके धारण से ही देवत्व व ऋषित्व प्राप्त होता है।

ऋषिः—जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्मचारी व गृहस्थ

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं१ न देवाः ॥ ५ ॥

(१) **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला, ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करनेवाला, **विषः**=व्यापक विज्ञानों को (विष व्याप्तौ) **वेविषत्**=व्याप्त करता हुआ **चरति**=गति करता है। इस आश्रम में वह अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस ज्ञान प्राप्ति के लिए ही **सः**=वह **देवानाम्**=देवों का **एकं अंगम्**=एक अंग **भवति**=हो जाता है। देव अंगी हैं, तो यह उनका अंग होता है। उनके प्रति अपने को गौण कर देता है, उनके कहने के अनुसार चलता है। 'मातृदेवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव'=माता, पिता व आचार्य उसके देव होते हैं। उनके आज्ञापालन में चलता हुआ यह उत्कृष्ट ज्ञानी बनता है। (२) **तेन**=उस देवताओं के अंग बनने से यह **जायाम्**=ब्रह्मजाया को, वेदवाणी को **अन्वविन्दत्**=प्राप्त करता है। वेदवाणी को प्राप्त करने के कारण ही यह 'बृहस्पतिः' (बृहत्याः पतिः)=बृहती वेदवाणी का पति बनता है। (३) यह उस ब्रह्मजाया को प्राप्त करता है, जो **सोमेन नीताम्**=(स+उमा=ब्रह्मविद्या) ब्रह्मविद्या से युक्त सौम्य स्वभाववाले आचार्य से प्राप्त करायी गयी है। उस प्रकार प्राप्त करायी गई है, **न**=जैसे **देवाः**=देव **जुह्वम्**=जुहू, अर्थात् यज्ञ-चमस को प्राप्त कराते हैं। देव यज्ञों की प्रेरणा को देते हुए जैसे हाथों में चम्मच का ग्रहण करते हैं, अर्थात् कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि उत्तम कर्मों को कराते हैं, उसी प्रकार सोम ब्रह्मजाया को प्राप्त कराके ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्रवण करते हैं। (४) प्रस्तुत मन्त्र में प्रसंगवश ब्रह्मचर्याश्रम व गृहस्थाश्रम का सुन्दर संकेत हुआ है। ब्रह्मचारी माता आदि देवों की अधीनता में चलता हुआ ऊँचे से ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करके बृहस्पति बनकर यह गृहस्थ बनता है और वेद के स्वाध्याय को न छोड़ता हुआ यज्ञशील बनता है।

भावार्थ—हम ब्रह्मचर्याश्रम में खूब ज्ञान प्राप्त करें और गृहस्थ में यज्ञशील हों।

ऋषिः—जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥
स्वरः—गान्धारः ॥

वानप्रस्थ

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत। राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ ६ ॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष, गृहस्थ की समाप्ति पर **वै**=निश्चय से **पुनः**=फिर **अददुः**=इस ब्रह्मजाया को औरों के लिए देनेवाले होते हैं। इस प्रकार वानप्रस्थ अपने पाठनरूप नियत कर्म को करता है। **उत**=और **मनुष्याः**=ये विचारशील पुरुष **पुनः**=फिर इस वेदवाणी को देते हैं। 'मत्वाकर्माणि सीव्यति' विचार करके ही कर्मों को करनेवाले ये लोग गृहस्थ से ऊपर उठते हैं और वनस्थ होकर स्वयं स्वाध्याय करते हुए औरों को ज्ञान देते हैं। (२) **राजानः**=बड़े व्यवस्थित (=regulated) जीवनवाले ये लोग **सत्यम्**=सत्य को **कृण्वानाः**=करते हुए, अर्थात् अपने जीवनों में सत्याचरणवाले होते हुए और सत्य प्रभु को प्रकट करते हुए **ब्रह्मजायाम्**=इस वेदवाणी को **पुनः ददुः**=फिर से औरों के लिए देने लगते हैं।

भावार्थ—वानप्रस्थ का मुख्य कार्य इस ज्ञान को औरों के लिए देना है। इस कार्य के लिए इन्हें 'देव, मनुष्य व राजा' बनना है। देववृत्ति का बनकर ये अपने को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करते हैं। मनुष्य बनकर विचारपूर्वक कर्म करते हैं और राजा बनकर ये अपने जीवन को बड़ा नियन्त्रित करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**जुहूर्ब्रह्मजाया, ऊर्ध्वनाभा वा ब्राह्मः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

संन्यस्त

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम्। ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते ॥ ७ ॥

(१) वानप्रस्थ में, गत मन्त्र के अनुसार **ब्रह्मजायां पुनः दाय**=ब्रह्मजाया, अर्थात् वेदवाणी को फिर से औरों के लिए देकर तथा **देवैः**=दिव्य गुणों के धारण से **निकिल्बिषं कृत्वी**=अपने जीवन को पापरहित करके और **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर को **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **भक्त्वाय**=सेवन करके **उरुगायम्**=खूब ही गायन के योग्य प्रभु को **उपासते**=ये उपासन करते हैं। (२) संन्यासी के लिए आवश्यक है कि (क) वह अपने जीवन को दिव्य बनाए, पापशून्य उसका जीवन हो। इसके जीवन का ही तो औरों ने अनुकरण करना है। (ख) इसका शरीर स्वस्थ व सबल हो। बिना स्वास्थ्य व सबलता के यह भ्रमण क्या कर पाएगा? परिव्राजकत्व की सिद्धि के लिए शक्ति आवश्यक है, (ग) इस शक्ति को बनाये रखने के लिए ही यह निरन्तर उस 'उरुगाय' प्रभु का गायन करता है।

भावार्थ—शुद्ध तथा सशक्त जीवनवाले बनकर हम संन्यस्त हों। उस उरुगाय प्रभु का गायन करते हुए उसी की ओर लोगों को अभिमुख करें।

प्रस्तुत सूक्त में सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखते हुए ब्रह्मजाया के (वेदवाणी के) आराधन का उल्लेख है प्रसंगवश 'ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यासी' के मौलिक कर्त्तव्यों का प्रतिपादन हुआ है। यह 'जमदग्नि' बनता है, खानेवाली जाठराग्निवाला, अर्थात् ठीक पाचनशक्तिवाला, नीरोग तथा 'राम' होता है, रमण करनेवाला, क्रीड़ा की मनोवृत्ति से व्यवहारों को करनेवाला। यह निम्न प्रकार से आराधना करता है—

[११०] दशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दूत-कवि-प्रचेता

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ १ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अद्य**=आज **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **दुरोणे**=(दुर् ओण्) गृह में **समिद्धः**=दीप्त हुए-हुए आप **देवः**=प्रकाशमय होते हैं। उस मनुष् के शरीररूप इस गृह को आप द्योतित कर देते हैं। **देवान् यजसि**=उसके साथ दिव्यगुणों का सम्पर्क करते हैं। (२) **च**=और **चिकित्वान्**=ज्ञानी अथवा (कित निवासे रोगापनयने च) सब रोगों का अपनयन करके निवास को उत्तम बनानेवाले आप हैं। आप **मित्रमहः**=(प्रमीतेः त्रायतेः महस्=light, lurtre) सब रोगों व पापों से बचानेवाले तेज को, प्रकाश को **आवह**=प्राप्त कराइये। **त्वं दूतः**=आप ही

ज्ञान के सन्देश को देनेवाले हैं। **कविः असि**=क्रान्तदर्शी-सर्वज्ञ हैं। **प्रचेताः**=प्रकृष्ट चेतना को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवन को द्योतित कर दें। वे हमें ज्ञान का सन्देश देते हुए प्रकृष्ट चेतना को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का उपदेश

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥ २॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार आराधना करनेवाले 'राम' को प्रभु कहते हैं कि **तनूनपात्**=तू शरीर को न गिरने देनेवाला हो, तेरा स्वास्थ्य गिर न जाए। **ऋतस्य यानान्**=ऋत के, यज्ञ के व प्रभु के प्राप्त करानेवाले **पथः**=मार्गों को **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करता हुआ, इन्हीं ऋत के प्राप्ति हेतुभूत मार्गों पर चलता हुआ, हे **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले राम! तू **स्वदया**=जीवन को आनन्दमय बनानेवाला हो। (२) **च**=और **धीभिः**=उत्तम बुद्धियों व कर्मों के साथ **मन्मानि**=स्तोत्रों को **उत**=और **यज्ञम्**=यज्ञों को **ऋन्धन्**=समृद्ध करता हुआ **नः**=हमारे इस **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्म को **देवत्रा**=देवों की प्राप्ति के निमित्त **कृणुहि**=कर। अध्वरों के द्वारा तू अपने में दिव्य गुणों को बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—हम स्वस्थ, ऋत प्राप्ति के हेतुभूत मार्गों पर चलनेवाले, मधुर, स्तवनशील, यज्ञों को अपनानेवाले तथा दिव्यगुणों की प्राप्ति के हेतुभूत हिंसारहित कर्मों को करनेवाले हों।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आजुह्वान-यजीयान्

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥ ३॥

(१) **आजुह्वानः**=समन्तात् सब आवश्यक पदार्थों को देते हुए, हे प्रभो! आप **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हो, **वन्द्यः च**=और वन्दना के योग्य हो। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **वसुभिः**=अपने इस शरीर में निवास को उत्तम बनानेवालों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए आप **आयाहि**=हमें प्राप्त होइये। आपकी कृपा से हम 'वसु' बनें, आपके प्रिय हों, आपको प्राप्त हों। (३) **त्वम्**=आप **देवानाम्**=सब देवों में **यह्वः**=महान् हैं, **होता असि**=सब पदार्थों के देनेवाले व सब यज्ञों के सिद्ध करनेवाले हैं। (४) **सः**=वे आप **इषितः**=प्रार्थित हुए-हुए **एनान् यक्षि**=इन दिव्य गुणों को हमारे साथ संगत करिये। आप **यजीयान्**=यष्टृतम हैं, सर्वाधिक पूज्य हैं। आपकी पूजा ही हमारे जीवनों को सुन्दर बनाती है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपके उपासक हों, आप हमें दिव्यगुणों से संगत करें।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विशाल-हृदय

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम्॥ ४॥

(१) **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय वही है जो **प्रदिशा**=प्रकृष्ट दिशा से **प्राचीनम्**=आगे और आगे चल रहा है (प्राग् अञ्च्)। वेद में दिये गये प्रभु के आदेशों के अनुसार चलनेवाला हृदय ही 'बर्हिः' है। **अस्याः पृथिव्याः**=इस पार्थिव शरीर के **वस्तोः**=उत्तम निवास के लिए यह हृदय **अह्नाम् अग्रे**=बहुत सवेरे-सवेरे **वृज्यते**=पापों से पृथक् किया जाता है। उषाकाल में प्रबुद्ध होकर प्रभु के आराधन से यह हृदय पवित्र बनाया जाता है। (२) यह **वरीयः**=उरुतर-विशाल हृदय **उ**=निश्चय से **वि तरम्**=खूब ही **वि प्रथते**=फैलता है, विशाल होता है। यह विशाल हृदय **देवेभ्यः**=सब दिव्यगुणों के लिए होता है, विशालता के साथ दिव्यगुण पनपते हैं। यह विशाल हृदय **अदितये**=स्वास्थ्य के लिए (अ+दिति, दो अवखण्डने) शरीर की शक्तियों के न खण्डित होने के लिए होता हुआ **स्योनम्**=सुखकर होता है। हृदय के विशाल होने पर शरीर भी स्वस्थ बना रहता है और इस प्रकार यह विशाल हृदय में दिव्यगुणों के विकास का कारण बनता है तो शरीर में यह स्वास्थ्य को देता है। इस प्रकार आधि-व्याधियों से ऊपर उठाकर यह हमें सुखी करता है।

भावार्थ—विशाल हृदयता दिव्यगुणों व स्वास्थ्य को विकसित करके हमें सुखी करती है।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रिय द्वार

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥

(१) **न**=जिस प्रकार **जनयः**=पत्नियाँ **शुम्भमानाः**=उत्तम वस्त्रादि से शोभित हुई-हुई **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **विश्रयन्ताम्**=विशेषरूप से सेवा करनेवाली होती हैं इसी प्रकार **देवीः द्वारः**=दिव्य गुणोंवाले इन्द्रिय-द्वार **उर्विया**=विस्तार के द्वारा, अपनी-अपनी शक्तियों के विस्तार से शोभित हुए-हुए **व्यचस्वतीः**=व्यापनवाले होकर, ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का व्यापन करती हुई और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों का व्यापन करती हुई **विश्रयन्ताम्**=आत्मा का सेवन करनेवाली हों। (२) ये दिव्य इन्द्रिय द्वार **बृहतीः**=वृद्धिवाले हों। **विश्वं इन्वाः**=ये इन्द्रिय द्वारा सब शक्तियों का व्यापन करते हुए **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के लिए **सुप्रायणाः भवत**=उत्तम प्रकृष्ट गमनवाले हों। अपने-अपने कार्यों को अच्छी प्रकार करती हुई इन्द्रियाँ मनुष्य को देव बनानेवाली होती हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को विकसित शक्तिवाला व उत्तम मार्ग पर चलनेवाला बनाकर हम देव बनें।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषासानक्ता

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ६ ॥

(१) **उषासानक्ता**=दिन और रात **सुष्वयन्ती**=(सुष्ठु सु अयन्ती) उत्तम गतिवाले होते हुए, **यजते**=देव-पूजनादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हुए, **उपाके**=(उप अञ्च्) प्रभु की उपासनावाले होकर **योनौ**=उस मूल उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **अनिसदताम्**=सर्वथा नम्रतापूर्वक आसीन हों। दिन-रात का प्रभु में आसीन होने का भाव यह है कि हम सदा प्रभु का स्मरण करें, प्रभु को कभी भूलें नहीं। इनमें हम सदा उत्तम गतिवाले हों, यज्ञों में प्रवृत्त हों, उपासनामय जीवनवाले हों। (२)

ये दिन-रात हमारे लिए **दिव्ये**=प्रकाशमय हों। **योषणे**=हमें बुराइयों से पृथक् करनेवाले हों। **बृहती**=हमारी वृद्धि के कारण बनें **सुरुक्मे**=उत्तम तेजःकान्तिवाले हों। **शुक्रपिशम्**=वीर्य है निर्माण करनेवाला जिसका उस **श्रियम्**=श्री को **अधिदधाने**=आधिक्येन धारण करनेवाले हों।

भावार्थ—दिन-रात हमारी वृद्धि का ही कारण बनें। इनमें उत्तम कार्यों को करते हुए हम वीर्यरक्षण के द्वारा श्री-वृद्धि को करनेवाले हों।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दैव्या होतारा-प्राणापान

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥

(१) ये प्राणापान **दैव्या**=उस देव द्वारा शरीर में स्थापित किये गये **होतारा**=होता हैं, ये ही वस्तुतः इस जीवनयज्ञ को चला रहे हैं। **प्रथमा**=शरीरस्थ देवों में इनका स्थान सर्वोपरि है। इनकी क्रिया की समाप्ति के साथ जीवनयज्ञ समाप्त हो जाता है। **सुवाचा**=ये उत्तम वाणीवाले हैं। प्राणापान की शक्ति पर ही वाणी की शक्ति निर्भर करती है। प्राणापान की क्षीणता से वाणी क्षीण हो जाती है। (२) ये प्राणापान **मनुषः यजध्यै**=विचारशील पुरुष के उस प्रभु के साथ मेल के लिए होते हैं (यज्=संगतिकरण)। (३) **यज्ञं मिमाना**=ये निरन्तर यज्ञों का निर्माण करनेवाले हैं। **विदथेषु प्रचोदयन्ता**=ज्ञानयज्ञों में प्रेरित करनेवाले हैं। प्राणापान की साधना से शक्ति व पवित्रता का सम्पादन होकर कर्मेन्द्रियों द्वारा सदा उत्तम यज्ञात्मक कर्म होते रहते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ सदा ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त रहती हैं। (४) **कारू**=प्राणापान कलापूर्ण ढंग से सब कार्यों को करनेवाले हैं। इनकी शक्ति से सब कार्य सुन्दरता से होते हैं। ये प्राणापान **प्रदिशा**=प्रकृष्ट दिशा से, उत्तम मार्ग से **प्राचीनं ज्योतिः**=(प्राग् अञ्चनं) उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले सनातन ज्ञान को **दिशन्ता**=हमें प्राप्त कराते हैं, हमारे लिए उस ज्ञान का उपदेश करते हैं। प्राणसाधना से अशुद्धिक्षय होकर अन्तर्ज्योति का प्रादुर्भाव होता है।

भावार्थ—प्राणापान हमें पवित्र कर्मोंवाला तथा उत्कृष्ट ज्ञानवाला बनाकर प्रभु से मिलाते हैं।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भारती-इडा-सरस्वती

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥ ८ ॥

(१) **नः यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ में **भारती**=(भरत आदित्यः) आदित्य के समान देदीप्यमान ज्ञान-ज्योति **तूयं एतु**=शीघ्रता से प्राप्त हो। हमारा जीवनयज्ञ ज्ञानसूर्य की ज्योति से दीप्त हो। (२) **मनुष्वत्**=एक ज्ञानी पुरुष को जैसा चाहिए, उस प्रकार **इह**=इस जीवनयज्ञ में **चेतयन्ती**=चेतना-संज्ञान को प्राप्त कराती हुई **इडा**=श्रद्धा भी हमें शीघ्रता से प्राप्त हो। 'ज्ञान' श्रद्धा को दीप्त करे, और 'श्रद्धा' ज्ञान को सौम्य बनाए। श्रद्धा के अभाव में जीवनयज्ञ की पवित्रता समाप्त हो जाती है। प्रकृति का ज्ञान भोगसाधनों को बढ़ाने में ही लगा रहता है। (३) भारती व इडा के साथ **'सरस्वती'**=सरस्वती भी हमें प्राप्त हो। 'सरस्वती' शब्द यहाँ प्रवाह (सरस्) से चलनेवाली संस्कृति व सभ्यता के लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्य भाषा में यह 'शिष्टाचार' का प्रतिपादन कर

रही है। ये **तिस्रः देवीः**=तीनों ही देवताएँ **स्वपसः**=(सु अपस्) उत्तम कर्मोंवाली होती हुई **इदम्**=इस **स्योनम्**=सुखमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में 'आसदन्तु' आसीन हों। 'भारती' हमारे मस्तिष्क को उज्ज्वल करती है, तो 'इडा' मन को पवित्र बनाती है और 'सरस्वती' हमारे हाथों से होनेवाले कर्मों को उत्तम व सभ्यतापूर्ण बनानेवाली है, हमारे जीवनों में तीनों देवताओं का स्थान हो। ये हमें उज्ज्वलता, पवित्रता व उत्तमता को प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—'भारती, इडा व सरस्वती' हमारे जीवन-जगत् की तीन ज्योतियाँ हों।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्वष्टा का उपासन

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ ९॥

(१) **यः**=जो (त्वष्टा) संसार का निर्माता दीप्तिमान् प्रभु (त्विक्षतेर्वा निषतेर्वा) **इमे**=इन **विश्वा भुवनानि जनित्री**=सब लोकों को अपने में प्रादुर्भूत करनेवाली **द्यावापृथिवी**=द्यावापृथिवी को, द्युलोक व पृथिवीलोक को **रूपैः**=रूपों से **अपिंशत्**=अलंकृत करता है, सुन्दर बनाता है। हे ज्ञानिन्! **तं देवं त्वष्टारम्**=उस देदीप्यमान निर्माता दीप्तिमान् प्रभु को **अद्य**=आज **इह**=इस जीवन में **यक्षि**=संगत कर, उसका पूजन करनेवाला बन। (२) हे **होतः**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले जीव! **इषितः**=उस प्रभु से प्रेरित हुआ तू **यजीयान्**=अधिक से अधिक प्राणियों से मेल करनेवाला, यज्ञशील व **विद्वान्**=ज्ञानी बनेगा। वे प्रभु सब लोकों को सुरूप करते हैं, तेरे जीवन को भी उत्तम रूप से अलंकृत करेंगे। प्रभु की दीप्ति से तेरा जीवन भी दीप्त हो उठेगा।

भावार्थ—हम त्वष्टा के उपासक बनें। वे हमारे जीवन को दीप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मधु-घृत-हव्य'

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥ १०॥

(१) हे जीव! तू **त्मन्या**=स्वयं **देवानां पाथे**=देवताओं के मार्ग पर **समञ्जन्**=सम्यक् चलता हुआ (अञ्ज्=गतौ) **ऋतुथा**=समय के अनुसार **हवींषि**=हव्य पदार्थों को, यज्ञशेष रूप अमृत को ही **उप अवसृज**=प्रभु की उपासना के साथ अपने उदर में डालनेवाला हो। वस्तुतः इन हव्य पदार्थों के सेवन से ही वृत्ति सात्त्विक बनती है और हम देवों के मार्ग पर चलते हैं। (२) इन हव्य पदार्थों के सेवन से जीव **वनस्पतिः**=ज्ञान की रश्मियों का पति बनता है, **शमिता**=बड़े शान्त स्वभाव का होता है, **देवः**=देववृत्ति का बनता है, **अग्निः**=प्रगतिशील होता है। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि वे **मधुना-घृतेन**=मधु (शहद) व घृत के साथ **हव्यं स्वदन्तु**=हव्य पदार्थों को ही खानेवाले हों। सात्त्विक भोजन से ही जीवन सात्त्विक बनेगा।

भावार्थ—हम 'मधु, घृत व हव्य' पदार्थों का सेवन करते हुए सात्त्विक वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**जमदग्नी रामो वा** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञमय जीवन-यज्ञशेष का सेवन

स॒द्यो जा॒तो व्य॑मिमीत य॒ज्ञम॒ग्निर्दे॒वाना॑मभवत्पु॒रोगाः॑।
अ॒स्य होतुः॑ प्र॒दिश्यृ॒तस्य॑ वा॒चि स्वाहा॑कृतं ह॒विर॑दन्तु दे॒वाः॥ ११ ॥

(१) आचार्यकुल से जिस दिन समावृत्त होकर विद्यार्थी पुनः घर आता है उस दिन यह उसका द्वितीय जन्म कहलाता है। **जातः**=आचार्य गर्भ से आज द्वितीय जन्म को प्राप्त करनेवाला यह समावृत्त हुआ-हुआ युवक **सद्यः**=शीघ्र ही **यज्ञं व्यमिमीत**=गृहस्थ यज्ञ को निर्मित करता है, गृहस्थ बनकर पञ्च महायज्ञों का करनेवाला होता है। **अग्निः**=यह प्रगतिशील होता है। आगे और आगे बढ़ता हुआ **देवानाम्**=देवों का **पुरोगाः**=अग्रगामी **अभवत्**=होता है। (२) ये **देवाः**= देववृत्तिवाले गृहस्थ पुरुष **अस्य होतुः**=इस सब पदार्थों के देनेवाले प्रभु की **प्रदिशि**=प्रकृष्ट प्रेरणा में, **ऋतस्य वाचि**=सत्यज्ञान की वाणी में, अर्थात् वेद के कथनानुसार **स्वाहाकृतम्**=यज्ञों में आहुत की गई **हविः**=हवि को **अदन्तु**=खाएँ। अर्थात् यज्ञ करके यज्ञावशिष्ट भोजन को ही करनेवाले हों। यह यज्ञशेष ही तो इन्हें अमर बनाएगा, रोगी न होने देगा। प्रभु ने वेद में जिन पदार्थों के ग्रहण करने का निर्देश किया है, हम उन्हीं पदार्थों को ग्रहण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारा गृहस्थ जीवन यज्ञमय हो। यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले हम अमरता (नीरोगता) का लाभ प्राप्त करें।

सूक्त की मूल भावना यही है कि हम प्रभु का उपासन करें, यज्ञमय जीवन बिताएँ, यज्ञशेष का सेवन करते हुए अमर (नीरोग) बनें। ऐसा होने पर ही यह सम्भव है कि हम 'पञ्चभूत तथा मन, बुद्धि व अहंकार' इन आठों को दीप्त व निर्मल करके 'अष्टादंष्ट्र'=बने (दंश् to shine)। ऐसा बनेंगे तो हम निश्चय से अत्यन्त विशिष्ट रूपवाले 'वैरूप' होंगे। अगला सूक्त इस ऋषि 'अष्टादंष्ट्र वैरूप' का ही है—

[१११] एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मनीषा का प्रभरण

मनी॑षिणः॒ प्र भ॑रध्वं मनी॒षां यथा॑यथा म॒तयः॒ सन्ति॑ नृ॒णाम्।
इन्द्रं॑ स॒त्यैरेर॑यामा कृ॒तेभि॒: स हि वी॒रो गि॑र्व॒ण॒स्युर्विदा॑नः॥ १ ॥

(१) हे **मनीषिणः**=बुद्धिमान् पुरुषो! **मनीषां प्रभरध्वम्**=मन को वश में करनेवाली (मनसः ईशित्रीम्) बुद्धि का **प्रभरध्वम्**=खूब ही भरण करो। इस प्रकार बुद्धि का भरण करो **यथा यथा**=जिससे कि उत्तरोत्तर **नृणाम्**=मनुष्यों के **मतयः**=ज्ञान **सन्ति**=प्रादुर्भूत होते चलें। बुद्धि के बिना ज्ञानवृद्धि का सम्भव कहाँ? (२) इस प्रकार बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर ज्ञानवृद्धि को करते हुए हम **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सत्यैः कृतेभिः**=सत्य कर्मों के द्वारा **एरयाम**=अपने अन्दर प्रेरित करनेवाले हों। वस्तुतः उत्तमता से किये गये कर्मों के द्वारा ही प्रभु का उपासन होता है। **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **वीरः**=विशिष्टरूप से हमारे काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं। **गिर्वणस्युः**=स्तोताओं को हित को चाहनेवाले हैं तथा **विदानः**=ज्ञानस्वरूप हैं, उपासकों के जीवन को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम बुद्धि को सूक्ष्म बनाते हुए ज्ञान का सम्पादन करें। सत्यकर्मों द्वारा प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु हमारे शत्रुओं को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नियामक व धारक प्रभु

ऋतस्य हि सदसो धीतिरद्यौत्सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिरानट्।
उदतिष्ठत्तविषेणा रवेण महान्ति चित्सं विव्याचा रजांसि॥ २॥

(१) **ऋतस्य**=ऋत का, सब प्राकृतिक नियमों का तथा **सदसः**=सारे ब्रह्माण्ड के अधिष्ठानभूत आकाश का **धीतिः**=धारक वह प्रभु **अद्यौत्**=सूर्य के समान देदीप्यमान है। प्रभु नियामक हैं व धारक हैं। (२) वे प्रभु **गार्ष्टेयः**=सकृत् प्रसूत होनेवाली इस प्रकृतिरूप गौ के स्वामी हैं। प्रकृति प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में एक सन्तत प्रयत्न में ही इस विकृतिरूप सृष्टि को जन्म दे देती है। इस संसार के पदार्थों के द्वारा वे प्रभु **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। ये प्रभु **गोभिः**=ज्ञानरश्मियों के साथ **सं आनट्**=सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। **तविषेण रवेण**=प्रभु के महान् शब्द से **उद् अतिष्ठत्**=यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उठ खड़ा होता है। प्रभु शब्द करते हैं और प्रकृति इस विकृति के रूप में आ जाती है। यही शब्द द्वारा सृष्टि का निर्माण है। (३) वे प्रभु इन **महान्ति चित्**=अत्यन्त महान्, विशाल भी **रजांसि**=लोकों को **संविव्याच**=व्याप्त कर रहे हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, सबके अन्दर व्याप्त होकर वे उन लोकों का नियमन कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति के नियमों के व आधारभूत आकाश के धारक हैं। प्रभु के शक्तिशाली शब्दों से इन लोकों का निर्माण होता है। इन सब में वे व्याप्त हैं।

ऋषिः—**अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जिष्णुः-अच्युतः

इन्द्रः किल श्रुत्या अस्य वेद स हि जिष्णुः पथिकृत्सूर्याय।
आन्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवद्गोः पतिर्दिवः सनजा अप्रतीतः॥ ३॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **किल**=निश्चय से **अस्य श्रुत्यै**=इसकी प्रार्थना को सुनने के लिए **वेद**=जानते हैं। अर्थात् 'प्रभु हमारी प्रार्थना को न सुनें' यह बात नहीं है। परन्तु मूर्खतावश की गई प्रार्थना को वह अनसुना कर देते हैं। उनको पूरा करके उन्हें हमारा विनाश थोड़े ही करना है? **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **जिष्णुः**=विजयशील हैं। हमें जो भी विजय प्राप्त होती है, वह प्रभु ही कराते हैं। **सूर्याय पथिकृत्**=इन सूर्य आदि पिण्डों के लिए वे ही मार्ग को बनाते हैं। चराचर सभी को प्रभु ही नियम में चला रहे हैं। (२) **आत्**=सृष्टि को बनाने के बाद एकदम ही वे प्रभु **मेनाम्**=इस ज्ञान देनेवाली मननीय वेदवाणी को **कृण्वन्**='अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि ऋषियों के हृदय में स्थापित करते हैं। **अच्युतः**=वे प्रभु किसी भी अधिक शक्तिशाली के द्वारा अपनी नियम व्यवस्था से च्युत नहीं किये जाते। वे प्रभु ही **गोः**=इस पृथिवी के तथा **दिवः**=द्युलोक के **पतिः**=स्वामी हैं। **सनजाः**=सदा से विद्यमान हैं। **अप्रतीतः**=किसी भी शत्रु से गन्तव्य नहीं है, अद्वितीय शक्तिशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे लिए विजय को करते हैं। वे ही द्यावापृथिवी के स्वामी हैं। अनुपम शक्ति से चराचर का नियमन कर रहे हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

महान् अर्णव का शोषण (काम-विनाश)

इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य व्रतामिनादङ्गिरोभिर्गृणानः।
पुरूणि चिन्नि तताना रजांसि दाधार यो धरुणं सत्यताता॥ ४॥

(१) **अंगिरोभिः**=(अगि गतौ) गतिशील-क्रियामय जीवनवाले पुरुषों से **गृणानः**=स्तुति किया जाता हुआ **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाला प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से **महतः अर्णवस्य**=इस विशाल समुद्र तुल्य काम (कामो हि समुद्रः) के **व्रता**=व्रतों को **अमिनात्**=हिंसित करता है। काम का व्रत 'मदनो मन्मथो भारः' इन नामों से ध्वनित हो रहा है। यह मनुष्य को (क) नशे में ले जाता है, (ख) उसकी चेतना को नष्ट करता है और (ग) उसे समाप्त कर देता है। (२) वे प्रभु **चित्**=निश्चय से **पुरूणि**=पालित व पूरित **रजांसि**=लोकों को **नितताना**=निश्चय से विस्तृत करते हैं। शरीर के अंग-प्रत्यंग ही यहाँ लोक हैं। काम के विनाश के द्वारा प्रभु इन सब लोकों को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। इन लोकों में रोग व मलिनताओं का वास नहीं होता। (३३) इस प्रकार प्रभु वे हैं **यः**=जो **सत्यताता**=सत्य का विस्तार होने पर **धरणम्**=धारक बल को **दाधार**=हमारे में धारण करते हैं। इस धरुण को प्राप्त करके हम सुन्दर दीर्घ जीवनवाले बन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु काम समुद्र का शोषण करके हमारी शक्तियों का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

निर्माता व धारक प्रभु

इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम्।
मही चिद् द्यामातनोत्सूर्येण चास्कम्भ चित्कम्भनेन स्कभीयान्॥ ५॥

(१) **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु **दिवः**=द्युलोक का तथा **पृथिव्याः**=पृथिवीलोक का **प्रतिमानम्**=प्रतिमान है, बनानेवाला है। **विश्वा सवना**=सब लोकों को ये **वेद**=जानते हैं। प्रभु के ज्ञान से कुछ भी तिरोहित नहीं। ये प्रभु ही **शुष्णम्**=हमारा शोषण करनेवाले इस काम को **हन्ति**=नष्ट करते हैं। (२) काम को नष्ट करके, ज्ञान के आवरणभूत वृत्र को समाप्त करके, प्रभु **चित्**=निश्चय से **महीं द्याम्**=इस महनीय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क रूप द्युलोक को **सूर्येण**=ज्ञानरूप सूर्य से **आतनोत्**=प्रकाशयुक्त करके विस्तृत करते हैं। प्रभु वासनारूप आवरण को दूर करते हैं और ज्ञानरूप सूर्य के प्रकाश को सर्वत्र विस्तृत करते हैं। (३) **स्कभीयान्**=वे धारण करनेवालों में उत्तम प्रभु **स्कम्भनेन**=अपनी धारक शक्ति से **चास्कम्भ**=इस ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु ही सबके आधार हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ब्रह्माण्ड के निर्माण व धारण करनेवाले हों। वे ही वासनावृत्र को विनष्ट करके हमारे जीवनों में ज्ञान-सूर्य का उदय करते हैं।

ऋषिः—अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

वृत्र-माया-विनाश

वज्रेण हि वृत्रहा वृत्रमस्तरदेवस्य शूशुवानस्य मायाः।
वि धृष्णो अत्र धृषता जघन्थाथाभवो मघवन्बाह्वोजाः॥ ६॥

(१) **वृत्रहा**=वासनारूप शत्रु का नष्ट करनेवाला प्रभु **हि**=निश्चय से **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **वृत्रम्**=वासनारूप शत्रु को **अस्तः** (अस्तृणाः)=परे फेंकते हैं। वे प्रभु **अत्र**=इस हमारे जीवन में **अदेवस्य**=अन्धकार को उत्पन्न करनेवाले (दिव्) **शूशुवानस्य**=निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए **धृष्णः**=हमारा धर्षण करनेवाले कामासुर की **मायाः**=प्रतारक गतियों को **धृषता**=ज्ञान की धर्षक शक्ति द्वारा **वि जघन्थ**=नष्ट करते हैं। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अथ**=अब वृत्र विनाश के बाद आप **बाह्वोजाः**=बाहुओं में ओजवाले **अभवः**=होते हैं। वासना विनाश से शक्ति का रक्षण होता है, हम ओजस्वी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान का वर्धन करके हमारी वासना को विनष्ट करते हैं। इस प्रकार वे प्रभु हमें शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उषा का सूर्य से मेल

सचन्त यदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवो रामविन्दन्।
आ यन्नक्षत्रं ददृशे दिवो न पुनर्यतो नकिरद्धा नु वेद॥ ७॥

(१) अपने दोषों के दहन की वृत्तिवाले पुरुष 'उषस्' कहलाते हैं 'उष दाहे'। **यद्**=जब **उषसः**=ये दोष-दहन की वृत्तिवाले पुरुष **सूर्येण**=उस प्रेरक प्रभु के साथ **सचन्त**=संगत होते हैं, उस 'सूर्य' के समान देदीप्यमान ज्योतिवाले प्रभु का उपासन करते हैं, तो **अस्य**=इस प्रभु की **केतवः**=ज्ञान रश्मियाँ **चित्रां राम्**=अद्भुत रयि को, अद्भुत ज्ञानैश्वर्य को **अविन्दन्**=प्राप्त कराती हैं। उपासक का ज्ञान भी अद्भुत दीप्तिवाला हो जाता है। (२) **न**=जैसे द्युलोक के सब नक्षत्र दिखते हैं, इसी प्रकार जब इस उपासक के जीवन में **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के कारण **आ**=चारों ओर **यत्**=जो **नक्षत्रम्**=विज्ञान के नक्षत्र हैं वे **ददृशे**=प्रकट होते हैं। इस उपासक का जीवन ज्ञान के नक्षत्रों से दीप्त होता है। इस प्रकार का जीवन बनाकर **पुनः यतः**=फिर अपने ब्रह्मलोक रूप गृह के प्रति लौटते हुए इस उपासक के विषय में **अद्धा**=सचमुच साक्षात् रूप से **नकिः नु वेद**=कोई भी नहीं जानता है। मुक्त होकर यह ब्रह्म में किस प्रकार विचरता है? क्या करता है? इन बातों का किसी को ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता।

भावार्थ—दोष-दग्ध करने की वृत्तिवाला पुरुष प्रभु से मिलने पर ज्ञान-ज्योति से चमक उठता है और लौटकर ब्रह्मलोक रूप गृह में निवास करता है।

ऋषिः—**अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रेतःकणों का शरीर में व्यापन

दूरं किल प्रथमा जग्मुरासामिन्द्रस्य याः प्रसवे सस्रुरापः।
क्व स्विदग्रं क्व बुध्न आसामापो मध्यं क्व वो नूनमन्तः॥ ८॥

(१) **याः**=जो **आपः**=रेतःकणरूप जल **इन्द्रस्य**=उस शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में **सस्रुः**=शरीर के अन्दर ही गति करते हैं, **आसाम्**=इन रेतःकणों के **प्रथमाः**=सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाले कण **किल**=निश्चय से **दूरं जग्मुः**=शरीर में दूर-दूर पहुँचनेवाले होते हैं। रुधिर में व्याप्त होकर ये शरीर में सर्वत्र पहुँचते हैं। (२) **आसाम्**=इन रेतःकणों का **अग्रं क्व स्वित्**=भला अग्रभाग कहाँ है? इनका **बुध्नः**=मूल **क्व**=कहाँ है? हे **आपः**=रेतःकणो! **वः मध्यं**

क्व=तुम्हारा मध्य कहाँ है ? सर्वत्र व्याप्त होने से इनका आदि, मध्य व मूल नहीं कहा जा सकता। बस इतना ही कह सकते हैं कि **नूनम्**=निश्चय से ये **अन्तः**=शरीर के अन्दर हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से रेत:कणों का शरीर में ही रक्षण होता है और वे शरीर में सर्वत्र व्याप्त होकर शरीर को नीरोग निर्मल व दीप्त बनाते हैं।

ऋषिः—**अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अहिग्रसन से (छुटकारा) मुक्ति

सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानाँ आदिदेताः प्र विविज्रे जवेन।
मुमुक्षमाणा उत या मुमुच्रेऽधेदेताः न रमन्ते नितिक्ताः ॥ ९ ॥

(१) कामवासना 'वृत्र' कहलाती है, यह ज्ञान पर आवरण रूप होती है। यह हमारा विनाश करने के कारण 'अहि' (आहन्ति) कही जाती है। यह शरीर में प्रवाहित होनेवाले (स्पन्दने) रेत:कणों को विनष्ट करती है मानो उन्हें ग्रस लेती है। हम प्रभु का उपासन करते हैं तो प्रभु इस अहि से इन सिन्धुओं को मुक्त करता है, तब ये शरीर में व्याप्त होनेवाले होते हैं। **अहिना**=वासनारूप सर्प से **जग्रसानान्**=निरन्तर ग्रसे जाते हुए **सिन्धून्**=इन शरीर में प्रवाहित होनेवाले रेत:कणों को, हे प्रभो! आप ही **सृजः**=मुक्त करते हैं। वासना रूप अहि से मुक्त होने पर **एताः**=ये रेत:कण **आत् इत्**=शीघ्र ही **जवेन**=वेग से **प्रविविज्रे**=शरीर में सर्वत्र गतिवाले होते हैं (विज्=चलने)। (२) **मुमुक्षमाणाः**=उस प्रभु के द्वारा वासनारूप अहि से मुक्त किये जाने के लिए चाहे जाते हुए हैं **उत**=और **याः**=जो **मुमुच्रे**=मुक्त किये गये हैं, **एताः**=ये सब रेत:कण **अध इत्**=इस वासना से मुक्ति के बाद **नितिक्ताः**=नितरां तीव्र गतिवाले हुए-हुए **न रमन्ते**=विषय क्रीड़ा में नहीं ठहरते। विषय क्रीडा से ऊपर उठकर ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से रेत:कण वासनाओं से ग्रस्त न होकर, हमें तीव्र गति से प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर ले चलते हैं।

ऋषिः—**अष्ट्रादंष्ट्रो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जारः-आरितः-पूर्भिद्

सध्रीचीः सिन्धुमुशतीरिवायन्त्सनाज्जार आरितः पूर्भिदासाम्।
अस्तमा ते पार्थिवा वसून्यस्मे जग्मुः सूनृता इन्द्र पूर्वीः ॥ १० ॥

(१) **सध्रीचीः**=(सह अञ्च्) प्रभु के साथ मिलकर चलनेवाली **उशतीः इव**=पति प्राप्ति की कामनावाली पत्नियों की तरह प्रभु प्राप्ति की कामनावाली प्रजाएँ **सिन्धुं आयन्**=इस प्रवहणशील रेत:कणरूप सोमशक्ति को **आयन्**=प्राप्त होती हैं। **सनात्**=सनातन काल से **जारः**=शत्रुओं को जीर्ण करनेवाला वह **आरितः**=हृदय में जाया गया, अर्थात् जिसका हृदय में ध्यान किया गया है, ऐसा वह प्रभु **आसाम्**=इन प्रजाओं की **पूर्भित्**=शत्रु पुरियों का विदारण करनेवाला होता है। इनके विदारण से ही वस्तुतः सोम का शरीर में रक्षण हुआ करता है। (२) हे प्रभो! इन शत्रु पुरियों के विनाश के होने पर **ते**=आपके **पार्थिवा वसूनि**=पार्थिव धन तो **अस्मे**=हमारे **अस्तं आ जग्मुः**=घर में प्राप्त हों तथा **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली अथवा सृष्टि के आरम्भ में दी गई **सूनृताः**=प्रिय सत्य वेदवाणियाँ भी हमें प्राप्त हो। इनमें दिये गये निर्देशों के अनुसार पार्थिव धनों का प्रयोग करते हुए हम सुखी जीवन बिता पाएँगे।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करके हमारे जीवन को ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाएँगे।

सूक्त की मुख्य भावना यह है कि प्रभु हमें बुद्धि देते हैं। इसके द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हम वासना को विनष्ट करके चमक उठते हैं। ज्ञान 'सूर्य' है, तो वासना उसके प्रकाश पर आवरणरूप से आ जानेवाले बादल के समान है। इस बादल को, नभस् को नष्ट करनेवाला 'नभः प्रभेदनः' अगले सूक्त का ऋषि है। यह विशिष्टरूपवाला होने से 'वैरूप' है। यह आत्म-प्रेरणा देता हुआ कहता है कि—

[११२] द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र का प्रातःसवन में सोमपान

इन्द्र पिब प्रतिकामं सुतस्य प्रातःसावस्तव हि पूर्वपीतिः।
हर्षस्व हन्तवे शूर शत्रूनुक्थेभिष्टे वीर्या॑ प्र ब्रवाम॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **प्रतिकामम्**=प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिए **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम का, वीर्य का **पिब**=शरीर में ही पीनेवाला, व्याप्त करने का प्रयत्न कर। यह इस सोम का **प्रातःसावः**=जीवन के प्रातःकाल, अर्थात् बाल्य में सवन व उत्पादन है। यह **हि**=निश्चय से **तव**=तेरी **पूर्वपीतिः**=तेरा पालन व पूरण करनेवाला पान है। इसके पान से तेरा शरीर रोगों से आक्रान्त न होगा और मन राग-द्वेष से पूर्ण न होगा। (२) हे **शूर**=कामादि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले! तू **शत्रून्**=इन शत्रुओं को **हन्तवे**=मारने के लिए **हर्षस्व**=प्रसन्नता का अनुभव कर। **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा अपने में उत्पन्न किये गये **ते**=तेरे **वीर्या**=वीर्यों का **प्रब्रवाम**=हम शंसन करते हैं। प्रभु-स्तवन से तेरे में शक्ति उत्पन्न होती है और उस शक्ति के द्वारा तू कामादि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला होता है। इनके विनाश से सोम का रक्षण करके तू अपनी सब कामनाओं को पूर्ण कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से वासनाओं को विनष्ट करके हम सोम का रक्षण करें। रक्षित हुआ-हुआ सोम हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो।

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से सशक्तता व प्रसन्नता

यस्ते रथो मनसो जवीयानेन्द्र तेन सोमपेयाय याहि।
तूयमा ते हरयः प्र द्रवन्तु येभिर्यासि वृषभिर्मन्दमानः॥ २॥

(१) प्रभु अपने सखा जीव को प्रेरणा देते हैं कि **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **यः**=जो **ते**=तेरा **रथः**=यह शरीररूप रथ है, जो रथ **मनसः जवीयान्**=मन से भी अधिक वेगवान् है, अर्थात् खूब शक्ति-सम्पन्न है, **तेन**=उस रथ के हेतु से, उस रथ की शक्ति को स्थिर बनाए रखने के लिए **सोमपेयाय**=सोम के शरीर में ही पान करने के लिए **याहि**=तू गतिशील हो। तेरा सारा प्रयत्न सोम को शरीर में सुरक्षित करने के लिए हो। (२) **ते हरयः**=तेरे ये इन्द्रियाश्व **तूयम्**=शीघ्रता से **आप्रद्रवन्तु**=समन्तात् अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त हों। वस्तुतः इनके स्वकार्य में प्रवृत्त होने से ही हम वासनाओं से बचते हैं और सोम का रक्षण कर पाते हैं। उन इन्द्रियाश्वों से तू कार्यों में प्रवृत्त हो **येभिः वृषभिः**=जिन शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों से **मन्दसानः**=हर्ष का अनुभव करता हुआ

तू **यासि**=गति करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से शरीर-रथ ठीक सशक्त बना रहता है। इस सोमरक्षण से ही इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनकर स्वकार्यों में प्रवृत्त होती हुई हमारे जीवनों को सुखी बनाती हैं।

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वर्चस्-श्रेष्ठ रूप व आनन्द

हरित्वता वर्चसा सूर्यस्य श्रेष्ठै रूपैस्तन्वं स्पर्शयस्व।
अस्माभिरिन्द्र सखिभिर्हुवानः सध्रीचीनो मादयस्वा निषद्य॥ ३॥

(१) **सूर्यस्य**=सूर्य के **हरित्वता**=सब रोगों का हरण करनेवाले, अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी **वर्चसा**=वर्चस् से, शक्ति से तथा **श्रेष्ठैः रूपैः**=सब अंगों के उत्तम रूपों से **तन्वम्**=अपने शरीर को **स्पर्शयस्व**=स्पृष्ट करा। गत मन्त्र के अनुसार सोमरक्षण का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हम सूर्य के समान वर्चस्वी बनें तथा हमारे सब अँग श्रेष्ठ रूपोंवाले हों। (२) हे **इन्द्र**=पैरमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्माभिः सखिभिः**=हम मित्रों के द्वारा **हुवानः**=पुकारे जाते हुए आप **सध्रीचीनः**=सदा हमारे साथ गति करते हुए, अर्थात् सदा हमें कर्मों के लिए शक्ति देते हुए **निषद्य**=हमारे हृदयों में आसीन होकर **मादयस्व**=हमारे जीवन को आनन्द से युक्त कीजिए। आपकी सत्ता को अपने में अनुभव करते हुए हम आनन्द को प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु का सम्पर्क हमें तेजस्वी-श्रेष्ठ रूपोंवाला व आनन्दयुक्त करे।

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-शक्ति तथा भक्ति

यस्य त्यत्ते महिमानं मदेष्विमे मही रोदसी नाविविक्ताम्।
तदोक आ हरिभिरिन्द्र युक्तैः प्रियेभिर्याहि प्रियमन्नमच्छ॥ ४॥

(१) **यस्य**=जिस **ते**=तेरी **त्यत्**=प्रसिद्ध **महिमानम्**=महिमा को, **इमे**=ये **मही रोदसी**=महत्त्वपूर्ण-उत्कर्ष को प्राप्त हुए-हुए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मदेषु**=मदों में **न अविविक्ताम्**=पृथक् नहीं करते हैं। **तद् ओकः**=वस्तुतः वही घर है। यहाँ द्यावापृथिवी से अभिप्राय मस्तिष्क व शरीर है। महिमा का भाव 'मह पूजायाम्' से 'पूजा की वृत्ति' है। मस्तिष्क को ज्ञान का गर्व हो जाता है जबकि मनुष्य प्रभु को भूल जाता है। इसी प्रकार प्रभु की विस्मृति में शरीर को शक्ति का गर्व हो जाता है। परन्तु यदि 'ज्ञान व शक्ति' प्रभु की पूजा को अपने से पृथक् न करें और ये तीनों ही चीजें एकत्रित हो जाएँ तो शरीर रूप गृह बड़ा सुन्दर बन जाता है। 'मस्तिष्क में ज्ञान, शरीर में शक्ति, हृदय में प्रभु की महिमा (=पूजा की भावना)' बस और क्या चाहिए? ऐसा होने पर यह शरीर गृह सुन्दरतम प्रतीत होने लगता है। गृह तो वही गृह है 'तद् ओकः'। (२) प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! ऐसे शरीर-गृह को प्राप्त करने के लिए **युक्तैः**=अपने-अपने कार्य में जुटे हुए **प्रियेभिः**=अत्यन्त प्रीणनकारी (कान्त व सुन्दर) **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों से **प्रियम्**=तृप्तिजनक व चाहने योग्य **अन्नम्**=सात्त्विक अन्न को **अच्छ**=लक्ष्य करके **आयाहि**=तू समन्तात् प्राप्त हो। शरीर-गृह को सुन्दर बनाने के लिए आवश्यक है कि (क) पुरुष जितेन्द्रिय हो (इन्द्र), (ख) इन्द्रियों को कार्य व्यापृत व प्रिय बनाया जाए (युक्तैः प्रियेभि), (ग) अकर्मण्यता न हो (आयाहि), (घ) सात्त्विक अन्न का ही सेवन किया जाए (प्रियमन्नम् अच्छ)।

भावार्थ—शरीर रूप गृह का सौन्दर्य इस बात में है कि मस्तिष्क में गर्वरहित ज्ञान हो शरीर में इसी प्रकार शक्ति तथा हृदय में भक्ति।

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पुरन्धि-तविषी

यस्य शश्वत्पपिवाँ इन्द्र शत्रूननानुकृत्या रण्या चकर्थ।
स ते पुरन्धिं तविषीमियर्ति स ते मदाय सुत इन्द्र सोमः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यस्य**=जिसका **शश्वत्**=सदा-निरन्तर **पपिवान्**=पान करनेवाला तू **शत्रून्**=शत्रुओं को **अनानुकृत्या रण्या**=अनुपम रणकार्य से **चकर्थ**=(कृ विक्षेपे) हिंसन करता है **स सोमः**=वह सोम (वीर्यशक्ति) **सुतः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **ते**=तेरी **पुरन्धिम्**=पालक व पूरक बुद्धि को तथा **तविषीम्**=बल को **इयर्ति**=प्रेरित करता है। सोम के शरीर में रक्षित होने पर मस्तिष्क 'पुरन्धि' से व्याप्त होता है, शरीर 'तविषी' से। इन से युक्त होकर यह 'सोमी' पुरुष सब अन्तःशत्रुओं का विनाश करता है। वास्तविकता तो यह है कि यह अक्रोध से बाह्य शत्रुओं के क्रोध पर भी विजय प्राप्त करता है और इस प्रकार इस अनुपम रणकर्म से सब शत्रुओं को समाप्त करनेवाला होता है। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले आत्मन्! **स सोमः**=वह सोम **ते मदाय**=तेरे हर्ष के लिए हो। इसके सुरक्षण से अन्तःशत्रुओं व बाह्य शत्रुओं को जीतकर तू शरीर में शक्ति (तविषी) तथा मस्तिष्क में पुरन्धि से युक्त होकर आनन्दमय जीवनवाला बन।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। पुरन्धि व तविषी का सम्पादन करें। यही जीवन को आनन्दमय बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मदिर मधु से परिपूर्ण 'आहाव'

इदं ते पात्रं सनवित्तमिन्द्र पिबा सोममेना शतक्रतो।
पूर्ण आहावो मदिरस्य मध्वो यं विश्व इदभिहर्यन्ति देवाः॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इदम्**=गत मन्त्र में वर्णित यह **ते**=तेरा **पात्रम्**=शरीररूप पात्र **सनवित्तम्**=सनातन धनवाला हो। 'सोम' ही इसका सनातन धन है। शरीर का रक्षण धारण वर्धन सब इस सोम पर ही निर्भर करता है। हे शतक्रतो! शतवर्ष पर्यन्त ज्ञान व शक्तिवाले जीव! तू **एना**=इस शरीररूप पात्र से **सोमं पिबा**=सोम का पान कर। यह सोम ही तो तेरा वास्तविक धन है। (२) तेरा यह शरीर **आहावः**=निपान हो (tough), वह द्रोण पात्र हो जो **मदिरस्य**=आनन्द के जनक **मध्वः**=अत्यन्त मधुर इस सोम से **पूर्णः**=भरा हुआ हो। यही मदिर मधु से परिपूर्ण आहाव वह है **यं अभि**=जिसकी ओर **इत्**=निश्चय से **विश्वे देवाः**=सब देव **अभिहर्यन्ति**=आने की कामना करता है। शरीर को हम सोम से परिपूर्ण आहाव बनाएँ तो हमें सब दिव्यगुण अवश्य प्राप्त होंगे। हमारा यह शरीर देवों का निवास-स्थान बन जाएगा।

भावार्थ—सोम (वीर्य) ही इस शरीर का सनातन धन है। शरीर में सोम का रक्षण होने पर यहाँ सब दिव्यगुणों का वास होता है। यह शरीर हमारा वह आहाव (द्रोण पात्र) हो जो मदिर मधु से परिपूर्ण हो, जिसका पान करने के लिए सब देव यहाँ आएँ।

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

संभृत हविष्कता=प्रभु-पूजन

वि हि त्वामिन्द्र पुरुधा जनासो हितप्रयसो वृषभ ह्वयन्ते।
अस्माकं ते मधुमत्तमानीमा भुवन्त्सवना तेषु हर्य॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **वृषभ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **हित प्रयसः**=धारण किया है (हितः निहितः धा=हि) हवीरूप अन्न को जिन्होंने ऐसे **जनासः**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोग **त्वां हि**=आपको ही **पुरुधा**=नाना प्रकार से **विह्वयन्ते**=विशेषरूप से पुकारते हैं। प्रभु का पूजन वस्तुतः हवि के द्वारा ही होता है। 'त्यागपूर्वक अदन' ही हवि है, इसी से प्रभु का पूजन होता है। (२) प्रभु जीव से कहते हैं कि **इमा**=ये **अस्माकम्**=हमारे **सवना**=सोम के सवन (=उत्पादन) **ते**=तेरे लिए **मधुमत्तमानि**=अतिशयेन माधुर्य को देनेवाले हों। इनके द्वारा तेरा जीवन अतिशयेन मधुर बने। **तेषु हर्य**=उनमें तू कामनावाला हो तथा उनकी प्राप्ति के लिए तू गतिवाला हो। सोमपान की तेरे में प्रबल इच्छा हो। यह रक्षित सोम ही तेरा रक्षण करेगा।

भावार्थ—प्रभु का पूजन संभृत हविष्क (हवि का धारण करनेवाले लोग) ही करते हैं। इन प्रभु-पूजकों के जीवन को सोम मधुमत्तम बनाता है।

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सतीनमन्युः

प्र ते इन्द्र पूर्व्याणि प्र नूनं वीर्या वोचं प्रथमा कृतानि।
सतीनमन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **पूर्व्याणि**=पालक व पूरक **वीर्या**=सामर्थ्यों का **नूनम्**=निश्चय से **प्रवोचम्**=शंसन करूँ तथा आपके **प्रथमा**=अत्यन्त विस्तारवाले व सर्वश्रेष्ठ **कृतानि**=कर्मों का **प्र वोचम्**=प्रतिपादन करूँ। आपके वीर्यों व कर्मों का प्रवचन करते हुए आपकी महिमा को हृदय में धारण करूँ। (२) आप **सतीन मन्युः**=(सतीनम्=उदकम्) उदक के समान शान्त ज्ञानवाले हैं। आपका ही ज्ञान-जल उपासकों के हृदयों में प्रवाहित होकर उन्हें शान्त व पवित्र बनाता है। आप ही हमारे **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **अश्रथायः**=ढीला करते हैं, इसका हिंसन आप ही करते हैं। आप **ब्रह्मणे**=ज्ञानी पुरुष के लिए **गाम्**=इस अर्थों की प्रतिपादिका ज्ञान वाणी को **सुवेदनाम्**=सुगमता से **ज्ञेय अकृणोः**=करते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में देवों के मुख्य ब्रह्मा को भी अग्नि आदि के द्वारा प्रभु ही ज्ञान प्राप्त कराते हैं 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेताश्वतर ६।१८)। यह ज्ञानजल ही गुरु-शिष्य परम्परा से प्रवाहित होता हुआ हमें भी प्राप्त होता है। यही हमारे जीवनों को पवित्र करता है।

भावार्थ—प्रभु के सामर्थ्य व कर्म अद्भुत हैं। वे ही हमें ज्ञान को प्राप्त कराते हैं और हमारे अविद्यान्धकार को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विघ्नहर्ता 'गणेश'

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत्क्रियते किं चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥ ९॥

(१) हे **गणपते**=गणों के स्वामिन्! शरीर जिन पञ्चभूतों से बना है यह भूतपंचक प्रथम गण है। इसमें 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान' नामक पाँच प्राणों का गण है। पाँच कर्मेन्द्रियों का तृतीय गण है, पाँच ज्ञानेन्द्रियों का चौथा। 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा हृदय' यह अन्तःकरण पंचक पाँचवा गण है। इन सब गणों के पति वे प्रभु 'गणपति' हैं। इन से प्रार्थना करते हैं कि आप **गणेषु**=हमारे इन गणों में **सुनिसीद**=अच्छी प्रकार आसीन होइये। **त्वाम्**=आपको ही **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शी ज्ञानियों का **विप्रतमम्**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी **आहुः**=करते हैं। ज्ञानियों को ज्ञान देनेवाले वे प्रभु ही हैं। यह ज्ञान उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने गणों में गणपति को आसीन करते हैं। गणपति के आसीन होने पर आसुर वृत्तियों के आक्रमणरूप विघ्न हो ही नहीं पाते और हमारा जीवनयज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होता है। (२) हे प्रभो! **त्वत् ऋते**=आपके बिना **आरे** (आराद् दूर समीपयोः)=दूर व पास कहीं भी **किञ्चन**=कुछ भी **न क्रियते**=नहीं किया जाता। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम सब काम कर पाते हैं। हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! आप **महाम्**=अत्यन्त महनीय **अर्कम्**=ज्ञान की रश्मि रूप वेदवाणी को **चित्रम्**=अद्भुत रूप से **अर्च**=दीप्त करिये (अर्च to shire)। इस ज्ञान के द्वारा ही तो आप हमें कर्म करने योग्य बनाते हैं। ज्ञान के द्वारा ही हम निर्विघ्नरूप से कर्मों को कर पाते हैं।

भावार्थ—गणपति का हम आराधन करें। वे ही हमें ज्ञान देंगे और कर्मों को सिद्ध करने की शक्ति प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**नभःप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'रणकृत्' प्रभु

अभिख्या नो मघवन्नाधमानान्त्सखे बोधि वसुपते सखीनाम्।
रणं कृधि रणकृत्सत्यशुष्माभक्ते चिदा भजा राये अस्मान्॥ १०॥

(१) हे **मघवन्**=सम्पूर्ण ज्ञान रूप ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! **नाधमानान्**=याचना व कामना करते हुए **नः**=हमें **अभिख्या** (अभिख्यापनेन सा०)=अपरा व पराविद्या के द्वारा (अभि=दोनों) **बोधि**=ज्ञानयुक्त करिये। हे **वसुपते**=सब वसुओं (=निवास के लिए आवश्यक धनों) के स्वामिन्! **सखे**=मित्र प्रभो! **सखीनाम्**=हम मित्रों का **बोधि**=आप ही ध्यान करिये। हमारे पर आपकी कृपादृष्टि सदा बनी रहे, हम आपकी आँख से ओझल न हों। (२)हे **रणकृत्**=हमारे लिए सब संग्रामों के करनेवाले प्रभो! **रणं कृधि**=हमारे लिए आप इन हमारे अन्तःशत्रुओं के साथ युद्ध को करिये। आप ही **सत्यशुष्म**=सत्य बलवाले हैं। शत्रुओं का शोषक बल आपके पास ही है। आप हमारे शत्रुओं का शोषण करके **अभक्तेचित्**=निश्चय से अखण्ड **राये**=धन में **अस्मान्**=हमें **आभजा**=भागी करिये (राये=रायि)। आपकी कृपा से हम शत्रुओं का शोषण कर पायें और अविच्छिन्न अध्यात्मसंपत् को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही हमें ज्ञान देते हैं, आप ही हमारे शत्रुओं का शोषण करके अविच्छिन्न ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त सोमरक्षण द्वारा जीवन को सुन्दर बनाने का उपदेश कर रहा है। ऐसा करनेवाला व्यक्ति शतशः अशुभ वृत्तियों का भेदन करके 'शत-प्रभेदन' बनता है। यह विशिष्टरूपवाला होने से 'वैरूप' होता है। 'शतप्रभेदन वैरूप' प्रार्थना करता है कि—

दशमोऽनुवाकः

[११३] त्रयोदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**शतप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सचेतसा द्यावापृथिवी

तमस्य द्यावापृथिवी सचेतसा विश्वेभिर्देवैरनु शुष्ममावताम्।
यदैत्कृण्वानो महिमानमिन्द्रियं पीत्वी सोमस्य क्रतुमाँ अवर्धत॥ १ ॥

(१) **अस्य**=इस 'शतप्रभेदन' के (=शतशः अशुभ वृत्तियों का भेदन करनेवाले के) **सचेतसा**=समानरूप से चेत जानेवाले, जाग जानेवाले, विकसित शक्ति होनेवाले, **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **विश्वेभिः देवैः**=सब दिव्यगुणों के साथ **तम्**=उस **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को **अनु आवताम्**=अनुकूलता से रक्षित करनेवाले होते हैं। इसका मस्तिष्क रूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य के उदय से जाग-सा उठता है, शरीर भी शक्ति से चेतन हो जाता है, स्फूर्ति-सम्पन्न हो जाता है। ऐसा होने पर इसके हृदय में भी दिव्य भावनाओं का जागरण होता है। द्युलोक व पृथिवीलोक के ठीक होने से इसका अन्तरिक्षलोक भी ठीक हो जाता है। (२) यह सब होता तब है **यद्**=जब कि यह **महिमानम्**=(मह पूजायाम्) परमेश्वर की पूजा को **कृण्वानः**=करता हुआ **ऐत्**=गति करता है। इस प्रभु-पूजन के द्वारा यह **इन्द्रियम्**=वीर्य व बल को सम्पादित करता हुआ गति करता है। इस प्रकार प्रभु-पूजन से वासनाओं को विनष्ट करके यह **सोमस्य पीत्वी**=सोम का पान करके वीर्य का रक्षण करके **क्रतुमान्**=शक्ति व प्रज्ञावाला होता हुआ **अवर्धत**=निरन्तर बढ़ता है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करते हुए क्रतुमान् बनें। हृदय में हमारे प्रभु-पूजन का भाव हो, शरीर शक्ति सम्पन्न होकर कर्मव्यापृत हो।

ऋषिः—**शतप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

महिमा-ओजस्-अंशु

तमस्य विष्णुर्महिमानमोजसांशुं दधन्वान्मधुनो वि रप्शते।
देवेभिरिन्द्रो मघवा सयावभिर्वृत्रं जघन्वाँ अभवद्वरेण्यः॥ २ ॥

(१) **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु **अस्य**=गत मन्त्र के अनुसार इस सोमपान करनेवाले के **महिमानम्**=पूजन के भाव को तथा **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अंशुम्**=प्रकाश की किरणों को **दधन्वान्**=धारण करता हुआ **मधुनः**=अत्यन्त माधुर्य से **विरप्शते**=ज्ञान का प्रतिपादन करता है। जब एक व्यक्ति सोम का रक्षण करता है तो उसके हृदय में पूजा का भाव होता है, शरीर में शक्ति तथा मस्तिष्क में ज्ञान की किरणें। हृदयस्थ प्रभु इसके लिए अत्यन्त मधुरता से ज्ञान का उपदेश करते हैं। (२) **इन्द्रः**=वे शक्तिशाली प्रभु, **मघवा**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु **सयावभिः**=साथ-साथ प्राप्त होनेवाले **देवेभिः**=दिव्यगुणों के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **जघन्वान्**=नष्ट करते हैं और अतएव **वरेण्यः**=वरने योग्य **अभवत्**=होते हैं। हम प्रभु का वरण व सम्भजन करते हैं तो प्रभु हमारे लिए वृत्र को विनष्ट करके सब दिव्यगुणों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों में पूजाभाव को, शरीर में शक्ति को व मस्तिष्क में प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**शतप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

युद्ध-सज्जा

वृत्रेण यदहिना बिभ्रदायुधा समस्थिथा युधये शंसमाविदे।
विश्वे ते अत्र मरुतः सह त्मनावर्धन्नुग्र महिमानमिन्द्रियम्॥ ३॥

(१) हे **उग्र**=तेजस्विन् जीव! **यद्**=जब **अहिना**=साँप की तरह डसनेवाले (आहन्ति) **वृत्रेण**=ज्ञान के आवरणभूत काम से, **आयुधा**=इन्द्रियों, मन व बुद्धिरूप आयुधों को धारण करता हुआ तू **युधये**=युद्ध के लिए **सं अस्थिथाः**=उपस्थित होता है। उस समय **आविदे**=सब ज्ञानों की प्राप्ति के लिए तू **शंसम्**=प्रभु के गुणों के शंसन व उपासना में स्थित होता है। (२) ऐसा करने पर **अत्र**=इस जीवन में **विश्वे मरुतः**=सब प्राण **त्मना सह**=आत्मा के साथ **ते**=तेरी **महिमानम्**=पूजा की वृत्ति को तथा **इन्द्रियम्**=बल को **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं। यदि हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आश्रित करके कामादि शत्रुओं के साथ युद्ध में जुट जाएँ और प्रभु के गुणगान में प्रवृत्त रहें तो प्राणसाधना करते हुए हम जहाँ शक्ति को प्राप्त करेंगे वहाँ अपनी महिमा को भी बढ़ा पाएँगे।

भावार्थ—मनुष्य का कर्त्तव्य है कि (क) कामादि शत्रुओं से युद्ध में प्रवृत्त रहे, (ख) प्रभु के गुणों का शंसन करे, (ग) प्राणसाधना को अवश्य करे। ऐसा करने पर उसे महिमा व शक्ति प्राप्त होगी।

ऋषिः—**शतप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

घर को स्वर्ग बनाना

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभि पौंस्यं रणम्।
अवृश्चदद्रिमव सस्यदः सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्॥ ४॥

(१) जिस दिन आचार्यकुल से विद्यार्थी शिक्षा पूरी करके समावृत्त होकर घर पर आता है तो **जज्ञानः एव**=आचार्यकुल से द्वितीय जन्म लेता हुआ ही **स्पृधः**=शत्रुओं को **व्यबाधत**=पीड़ित करता है, अपने से दूर रखता है। कामादि शत्रुओं को वह अपने समीप नहीं आने देता। **वीरः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला यह वीर **रणं अभि**=युद्ध का लक्ष्य करके **पौंस्यं प्रापश्यत्**=अपने बल का पूरा ध्यान करता है, शक्ति को स्थिर रखने के लिए यत्नशील होता है, गृहस्थ में प्रवेश करने पर वह इस बात का पूरा ध्यान करता है कि कामादि शत्रुओं का शिकार न हो जाए, अपनी शक्ति को न खो बैठे। (२) यह **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **अवृश्चत्**=काटनेवाला होता है और **स-स्यदः**=साथ-साथ प्रवाहित होनेवाले ज्ञान-प्रवाहों को **अवसृजत्**=पुनः प्रवाहयुक्त करता है। वासना के कारण ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति कुण्ठित हो गई थी। वासना विनाश से ज्ञानेन्द्रियों का कार्य सुचारुरूपेण होने लगता है और सब ज्ञान-प्रवाह ठीक से चलने लगते हैं। (३) इस प्रकार **स्वपस्यया**=उत्तम कर्मों की ही कामना से यह **पृथुं नाकम्**=विस्तृत स्वर्गलोक को **अस्तभ्नात्**=थामनेवाला होता है। वस्तुतः यह अपने घर को स्वर्ग ही बना डालता है।

भावार्थ—गृहस्थ में हम काम आदि शत्रुओं का बाधन करें। शक्ति का रक्षण करें। अज्ञान को नष्ट करके उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों तभी घर स्वर्ग बनेगा।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मित्र-वरुण-दाश्वान्

आदिन्द्रः स॒त्रा तवि॑षीरपत्यत॒ वरी॑यो॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑बाधत।
अवा॑भरद् धृषि॒तो वज्र॑मायसं॒ शेवं॑ मि॒त्राय॒ वरु॑णाय दा॒शुषे॑॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जीवन को बनाने पर **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **आत्**=शीघ्र ही **सत्रा**=साथ-साथ **तविषीः**=सब इन्द्रियों की शक्तियों का **अपत्यत**=स्वामी बनता है। इसकी सब इन्द्रियाँ विकसित शक्तिवाली बनती हैं। यह **वरीयः**=खूब ही **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **अबाधत**=वशीभूत करता है (subdue, congner) शरीर व मस्तिष्क दोनों इसके शासन में होते हैं। (२) यह **धृषितः**=शत्रु धर्षण के बल से युक्त हुआ-हुआ **आयसं वज्रम्**=लोहे के बने हुए वज्र को **अवाभरत्**=धारण करता है। अर्थात् इसके हाथ लोहे के बने हुए लगते हैं, यह क्रियाओं को करता हुआ थकता नहीं। (३) क्रियाशीलता के कारण इस **मित्राय**=काम-वासना से ऊपर उठकर सबके प्रति स्नेह करनेवाले के लिए, **वरुणाय**=क्रोध से ऊपर उठकर द्वेषादि का निवारण करनेवाले के लिए तथा **दाशुषे**=लोभ से ऊपर उठकर सदा दानशील के लिए **शेवम्**=सुख ही सुख होता है।

भावार्थ—हमारी सब इन्द्रियाँ सशक्त हों। मस्तिष्क व शरीर पर हमारा आधिपत्य हो। हम निरन्तर क्रियाशील हों, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठकर सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वृत्र-प्रश्नन

इन्द्र॑स्या॒त्र तवि॑षीभ्यो विर॒प्शिन॑ ऋघाय॒तो अ॑रंहयन्त म॒न्यवे॑।
वृ॒त्रं यदु॒ग्रो व्यवृ॑श्च॒दोज॑सा॒पो बिभ्र॑तं॒ तम॑सा॒ परी॑वृतम्॥ ६ ॥

(१) **अत्र**=यहाँ इस मानव जीवन में **विरप्शिनः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले **ऋघायतः**=काम आदि शत्रुओं का हिंसन करते हुए **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **तविषीभ्यः**=बलों से इसकी इन्द्रियाँ **मन्यवे**=ज्ञान प्राप्ति के लिए **अरंहयन्त**=वेगवाली होती हैं। जब हम जितेन्द्रिय बनते हैं, प्रभु का स्मरण करते हैं और काम आदि का संहार करने के लिए यत्नशील होते हैं तो हमारी इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में प्रवृत्त होती हैं। (२) यह होता तभी है **यद्**=जब कि **उग्रः**=एक तेजस्वी पुरुष **ओजसा**=ओजस्विता से **वृत्रम्**=वासना को **व्यवृश्चत्**=काट डालता है, छिन्न-भिन्न कर देता है। उस वासना को, जो कि **अपः बिभ्रतम्**=(भृ=take away) हमारे रेतःकणों को हमारे से दूर ले जाती है तथा **तमसा परीवृतम्**=अन्धकार से आवृत है। वासना के कारण शक्ति नष्ट होती है, अज्ञानान्धकार बढ़ता है। इस ज्ञान की आवरणभूत वृत्र नामक वासना को जब हम नष्ट करते हैं तो हमारी इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति के लिए वेग से आगे बढ़ती हैं।

भावार्थ—हम वासना का विनाश करके ज्ञान प्राप्ति के लिए अग्रसर हों।

ऋषिः—शतप्रभेदनो वैरूपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उदारता पूर्वक कर्म करना

या वी॒र्या॑णि प्रथ॒मानि॒ कर्त्वा॑ महि॒त्वेभि॒र्यत॑मानौ स॒मीय॑तुः।
ध्वा॒न्तं तमो॒ऽव॑ दध्वसे ह॒त इन्द्रो॑ म॒ह्ना पू॒र्वहू॑ता॒वप॑त्यत॥ ७ ॥

(१) **या**=जिन **प्रथमानि**=सर्वोत्कृष्ट **वीर्या**=शक्तिशाली कर्मों को **कर्त्वा**=करने के लिए **महित्वेभिः**=पूजा की वृत्ति के साथ **यतमानौ**=यत्न करते हुए **समीयतुः**=सम्यक् गतिवाले होते हैं, तो उस समय **ध्वान्तं तमः**=घना अन्धेरा, तीव्र अज्ञानान्धकार **अवदध्वसे**=विनष्ट होता है। यदि घर में पति-पत्नी अपने प्रथम कर्त्तव्यों को पालन करने के लिए प्रभु-स्मरणपूर्वक यत्नशील रहते हैं तो वे अज्ञानान्धकार को दूर करने में समर्थ होते हैं और प्रकाशमय जीवन को बिता पाते हैं। (२) **हते**=इस प्रकार अज्ञानान्धकार के विनष्ट होने पर **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पूर्वहूतौ**=प्रभु की प्रथम पुकार के होने पर, अर्थात् सर्वप्रथम प्रभु का स्मरण करके **मह्ना**=महिमा के साथ **अपत्यत**=गतिशील होता है। दिल को विशाल बनाकर सब कार्यों को करनेवाला होता है। तंगदिली से कार्यों को नहीं करता।

भावार्थ—पति-पत्नी मिलकर कर्त्तव्यपालन में प्रवृत्त होते हैं तो उनका जीवन प्रकाशमय बनता है। ऐसा होने पर एक जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु-स्मरण पूर्वक उत्कृष्ट मार्ग पर गति करता है।

ऋषिः—**शतप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सर्वदेवानुकूलता

विश्वे॑ दे॒वासो॒ अध॒ वृष्ण्या॑नि॒ तेऽव॑र्धय॒न्त्सोम॑वत्या व॒चस्य॑या।
र॒द्धं वृ॒त्रमहि॒मिन्द्र॑स्य॒ हन्म॑ना॒ग्निर्न ज॒म्भैस्तृ॒ष्वन्न॒मावयत्॥ ८ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार उदारता-पूर्वक मार्ग पर आक्रमण करने से **अध**=अब **विश्वे देवासः**=सब 'सूर्य, चन्द्र, पर्जन्य, अग्नि, वायु' आदि देव **ते**=तेरे **वृष्ण्यानि**=बलों को **अवर्धयन्**=बढ़ाते हैं। सब देव अनुकूल हों तो शक्ति का वर्धन होता ही है। **सोमवत्या वचस्यया**=सोमवाली वाणी के साथ सब देव इसकी शक्ति को बढ़ाते हैं। इसके अन्दर सोम का रक्षण होता है, इसकी वाणी उत्तम होती है। (२) यह **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **हन्मना**=हनन साधन वज्र से, क्रियाशीलतारूप वज्र से **रद्धम्**=हिंसित **अहिं वृत्रम्**=हनन करनेवाली (आहन्ति) वासना को **तृषु**=शीघ्र ही **आवयत्**=(वी=असन) अपने से सुदूर फेंकता है, **न**=जैसे कि **अग्निः**=आग **जम्भैः**=अपने ज्वालारूप दाँतों से **अन्नम्**=अन्न को **आवयत्**=(वी=खादन) खा जाता है। वस्तुतः कर्म में लगे रहने से वासना दूर ही रहती है। वासनाक्षय का ही परिणाम है कि वह शक्तिशाली बन पाता है।

भावार्थ—वासना का नाश होने पर (क) शक्ति बढ़ती है, (ख) वाणी उत्तम होती है। इसलिए 'इन्द्र' एक जितेन्द्रिय पुरुष वासना को अपने से दूर रखता है।

ऋषिः—**शतप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु के मित्र के लक्षण

भूरि॒ दक्षे॑भिर्वच॒नेभि॒र्ऋक्व॑भिः स॒ख्येभिः॑ स॒ख्यानि॒ प्र वो॑चत।
इन्द्रो॒ धुनिं॑ च॒ चुमु॑रिं च द॒म्भय॑ञ्छ्र॒द्धाम॑नस्या शृणुते द॒भीत॑ये॥ ९ ॥

(१) 'एक मनुष्य प्रभु का मित्र है' यह बात उसके व्यवहारों से प्रकट होती है। यहाँ उन व्यवहारों का संकेत 'भूरि दक्षेभिः वचनेभिः' 'ऋक्कभिः' 'सख्येभिः' इन शब्दों से हुआ है। **भूरि**=खूब **दक्षेभिः**=उन्नति के साधक **वचनेभिः**=वचनों से **सख्यानि**=प्रभु के साथ अपनी मित्रताओं का **प्रवोचत**=प्रतिपादन करो। प्रभु का मित्र सदा ऐसे शब्दों को बोलता है जो कि औरों की उन्नति में साधक होते हैं। उत्साहवर्धक शब्दों का ही यह प्रयोग करता है। **ऋक्कभिः**=(ऋच् स्तुतौ)

स्तुत्यात्मक शब्दों से यह कभी निन्दा के शब्दों का प्रयोग नहीं करता। **सख्येभिः**=मित्रताओं से। यह सब के साथ स्नेह व मित्रता से चलता है। कभी द्वेष की वृत्ति को अपने में नहीं आने देता। (२) **इन्द्रः**=यह प्रभु का मित्र जितेन्द्रिय पुरुष **धुनिं च**=शरीर को कम्पित करनेवाले क्रोध रूप शत्रु को **च**=तथा **चुमुरिम्**=शरीर की शक्तियों को पी जानेवाले कामरूप शत्रु को **दम्भयन्**=हिंसित करता हुआ **दभीतये**=अन्य सब शत्रुओं के भी हिंसन के लिए **श्रद्धामनस्या**=श्रद्धायुक्त मन की इच्छा से **शृणुते**=ज्ञान की वाणियों का श्रवण करता है। ज्ञान की वाणियों का श्रवण करता हुआ वह अशुभ भावों से सदा दूर रहता है।

भावार्थ—प्रभु का मित्र (क) सदा उत्साहवर्धक शब्द बोलता है, (ख) निन्दात्मक शब्द नहीं बोलता, (ग) सबके साथ मित्रता से चलता है, (घ) काम-क्रोध को जीतता है, (ङ) श्रद्धायुक्त मन संकल्प से ज्ञान की वाणियों का श्रवण करता है।

ऋषिः—**शतप्रभेदनो वैरूपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

त्वं पुरूण्या भरा स्वश्व्या येभिर्मंसै निवचनानि शंसन्।
सुगेभिर्विश्वा दुरिता तरेम विदो षु ण उर्विया गाधमद्य ॥ १० ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **पुरूणि**=पालक व पूरक **स्वश्व्या**=उत्तम इन्द्रियाश्वों की शक्तियों को **आभरा**=हमारे में धारण कीजिए। सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक होने पर ही अग्रगति का सम्भव है। आप उन इन्द्रिय शक्तियों को हमें प्राप्त कराइये **येभिः**=जिनसे **निवचनानि**=ज्ञान की वाणियों का **शंसन्**=उच्चारण करता हुआ मैं **मंसै**=मननशील बनूँ। (२) ज्ञान को प्राप्त करके **सुगेभिः**=उत्तम मार्गों पर चलने के द्वारा **विश्वा दुरिता**=सब दुरितों को **तरेम**=हम तैर जाएँ। हमारे जीवन में पाप न होकर पुण्य का वर्धन हो। **उ**=और आप **अद्य**=आज **नः**=हमें **उर्विया**=खूब विशालता के साथ **गाधम्**=प्रतिष्ठा को, आधार को **सुविदो**=अच्छी प्रकार प्राप्त कराइये। हमारे प्रत्येक कर्म का आधार विशाल हो। विशाल हृदयता से हम सब कार्यों को करें। हमारा कोई भी कार्य संकुचित हृदय बनकर न किया जाए।

भावार्थ—हमें उत्तम इन्द्रिय शक्तियाँ प्राप्त हों। उनसे ज्ञान को प्राप्त करते हुए हम दुरितों को तैर जाएँ। हमें विशाल हृदय प्राप्त हो।

'हम काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतकर इन्द्रिय शक्तियों का वर्धन करते हुए विशिष्ट रूपवाले बनें' यह सम्पूर्ण सूक्त का भाव है। ऐसा व्यक्ति प्रभु के साथ मित्रतावाला होकर व्यवहार करता है सो 'सध्रि' है (सह), विशिष्टरूपवाला होने से 'वैरूप' है। शक्ति की रक्षा करने के कारण यह 'घर्मः' है, तपस्वी जीवनवाला 'तापसः' है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

[११४] चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिवृत् जीवन

घर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम।
दिवस्पयो दिधिषाणा अवेषन्विदुर्देवाः सहसामानमर्कम् ॥ १ ॥

(१) घर में पति-पत्नी ही जो मुख्य स्थान हैं। ये दोनों (घर्मौ) तेजस्विता से दीप्त होते हुए, शक्ति की उष्णतावाले होते हुए, **समन्ता**=(अति बन्धने) सम्यक् व्रतों के बन्धनवाले

होते हुए **त्रिवृते**=(त्रिषु वर्तते) 'धर्म, अर्थ व काम' अथवा 'भक्ति, कर्म व ज्ञान' तीनों में प्रवृत्त होनेवाले जीवन को **व्यापतुः**=व्याप्त करते हैं। 'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः' इस निर्देश के अनुसार इनके जीवन में धर्म, अर्थ व काम तीनों बड़ी सुन्दरता से समन्वित होते हैं। ये 'ज्ञान कर्म व भक्ति' तीनों का पोषण करने का प्रयत्न करते हैं, (२) **मातरिश्वा**=वायु, अर्थात् शरीरस्थ प्राण **तयोः**=इन पति-पत्नी की **जुष्टिम्**=प्रीतिपूर्वक सेवा को **जगाम**=प्राप्त होता है। ये प्रेम से प्राण की उपासना करते हैं। प्राणायाम के महत्त्व को समझते हुए ये प्राणसाधना को कभी उपेक्षित नहीं करते। (३) **दिवः पयः**=ज्ञान के दुग्ध को **दिधिषाणाः**=धारण करते हुए **अवेषत्**=साम व उपासना से युक्त **अर्कम्**=(ऋच्) विज्ञान को **विदुः**=जानते हैं। इनके जीवन में प्रकृति के विज्ञान व प्रभु के उपासन का मेल होता है। प्रकृति के विज्ञान से ये ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं तो प्रभु के उपासन से ये उस ऐश्वर्य से अभिभूत व पराजित नहीं हो जाते। यह ऐश्वर्य उनके विलास में फँसने का कारण नहीं बन जाता।

भावार्थ—धर्मार्थ काम तीनों के समन्वयवाला जीवन ही जीवन है। इसके लिए प्राणसाधना आवश्यक है। ज्ञानपूर्वक हमारे कर्म हों। प्रकृति के विज्ञान व प्रभु के उपासन को हम अपने जीवन में जोड़ दें।

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिविधा वेदवाणी

तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतीरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः।
तासां नि चिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु॥ २ ॥

(१) **देष्ट्राय**=कर्त्तव्य ज्ञान के उपदेश के लिए **दीर्घश्रुतः**=दीर्घकाल तक आचार्य मुख से ज्ञान का श्रवण करनेवाले ज्ञानी पुरुष **तिस्रः**=तीनों **निर्ऋतीः**=निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्ति की मार्गभूत वेदवाणियों को **उपासते**=उपासित करते हैं। ऋचाओं, यजु व साम तीनों के ज्ञान का **वह्नयः**=धारण करनेवाले ये व्यक्ति **हि**=ही **विजानन्ति**=विशिष्ट ज्ञानवाले होते हैं। ऋचाओं से प्रकृति का, यजु से जीव के कर्त्तव्यों का तथा साम से प्रभु की उपासना का ज्ञान प्राप्त करके ये अपने जीवन में 'ज्ञान कर्म व भक्ति' का सुन्दर मेल कर पाते हैं। (२) **तासाम्**=उल्लिखित तीनों निर्ऋतियों के, निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति की मार्गभूत वेदवाणियों के **निदानम्**=मूल कारण प्रभु को ये **कवयः**=क्रान्तदर्शी लोग **निचिक्युः**=जानते हैं, मनन द्वारा हृदयों में उसका निश्चय करते हैं। उन वेदवाणियों के कारणभूत परमात्मा को जानते हैं **याः**=जो **परेषु**=उत्कृष्ट **गुह्येषु**=संवरणीय **व्रतेषु**=व्रतों में स्थित हैं। इन वेदवाणियों में उत्कृष्ट व्रतों का प्रतिपादन है। 'ऋचा विज्ञान' का व्रत धारण कराती है, तो यजु 'कर्म' का तथा साम 'भक्ति' का। एवं ये वेदवाणियाँ हमारे मस्तिष्कों, हाथों व हृदयों को सुन्दर बनाती हैं।

भावार्थ—'ऋचा, यजु व साम' रूप त्रिविधा वेदवाणी का हम ज्ञान प्राप्त करें। इनके उत्पत्ति-स्थान प्रभु का भी हृदयों में मनन करें। इनसे उपदिष्ट व्रतों को धारण करें।

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चतुष्कपर्दा युवति

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥ ३ ॥

(१) **चतुष्कपर्दा**=यह वेदवाणी चार वेणियोंवाली है, चार इसकी शाखाएँ हो गयी हैं। प्रकृति का ज्ञान देनेवाली 'ऋचाएँ' हैं, जीव के कर्त्तव्यों का ज्ञान देनेवाली 'यजुः' हैं तथा उपासना की प्रतिपादिका 'साम' वाणियाँ हैं। इनके साथ रोगों व युद्धों का प्रतिपादन करनेवाली अथर्वरूप वाणियाँ हैं। यह वेदवाणी **युवतिः**=हमारे साथ अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाली तथा बुराइयों को हमारे से दूर करनेवाली है। और इस प्रकार **सुपेशाः**=हमें सुन्दर रूप प्राप्त करानेवाली है। **घृतप्रतीका**=तेजस्वी व दीप्त अंगोंवाली यह वेदवाणी **वयुनानि**=सब प्रज्ञानों व कर्मों को **वस्ते**=आच्छादित करती है, धारण करती है। इसमें सब ज्ञानों व कर्मों का उपदेश है। (२) **तस्याम्**=उस वेदवाणी में **सुपर्णा**=उत्तम पालनादि कर्मों को करनेवाले पति-पत्नी **वृषणा**=शक्तिशाली होते हुए **निषेदतुः**= निषण्ण होते हैं। अपने जीवन को उस वेदवाणी के अनुसार बनाते हैं। यह वेदवाणी वह है **यत्र**=जिसमें कि **देवाः**=सब देव—सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि त्रिलोकस्थ देवताएँ **भागधेयं दधिरे**=भाग को धारण करती हैं। अर्थात् इस वेदवाणी में सब देवों का प्रतिपादन है। प्रभु का मुख्य रूप से प्रतिपादन करती हुई यह वेदवाणी सब सूर्यादि देवों का ज्ञान देती है। इनके ज्ञान के द्वारा ही यह हमारे जीवन को सुन्दर बनानेवाली है। इसलिए गृहस्थ होकर भी पति-पत्नी ने इसके अध्ययन में अप्रमत्त होना है 'स्वाध्यायान् मा प्रमदः'।

भावार्थ—सब कर्मों व ज्ञानों का उपदेश करती हुई यह वेदवाणी हमारे जीवन को सुन्दर बनाती है।

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पवित्र हृदय में प्रभु-दर्शन

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्॥ ४॥

(१) प्रभु **एकः**=अद्वितीय **सुपर्णः**=पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु की एक-एक रचना पालन व पूरण करनेवाली है। **सः**=वे प्रभु **स-मुद्रम्**=आनन्दयुक्त, प्रसादमय, हृदय में **आविवेश**=प्रवेश करते हैं। जिस हृदय में क्रोध व राग-द्वेष का कूड़ा-करकट भरा होता है वहाँ प्रभु का निवास नहीं होता। इसी दृष्टिकोण से **मनः**=प्रसाद का महत्त्व है, यह मनःप्रसाद सर्वोत्कृष्ट तप है। **सः**=वे प्रभु **इदं विश्वं भुवनम्**=इस सम्पूर्ण लोक को **विचष्टे**=देखते हैं व पालते हैं (look after)। प्रभु की सब क्रियाएँ हमारे पालन व पूरण के लिये तो हैं ही। (२) **तम्**=उस परमात्मा को **पाकेन मनसा**=पवित्र मन से **अन्तितः**=अपने समीप ही **अपश्यम्**=मैं देखता हूँ। हृदय के पवित्र होने पर प्रभु हृदय में ही स्थित दिखते हैं। इस दर्शन के होने पर **माता**=यह **प्रमाता**=ज्ञान का निर्माण करनेवाला **तं रेढि**=उस प्रभु का आस्वाद लेता है, प्रभु-दर्शन से अद्वितीय आनन्द का अनुभव करता है। **उ**=और **सः**=वे प्रभु भी **मातरम्**=इस ज्ञान के निर्माता का **रेढि**=आनन्द लेता है ज्ञानी प्रभु-दर्शन से आनन्द को प्राप्त करता है तो प्रभु भी ज्ञानी से प्रीणित होता है।

भावार्थ—प्रभु अद्वितीय पालनकर्ता हैं। पवित्र हृदयों में प्रभु का वास होता है। उसी हृदय में प्रभु-दर्शन होता है। ज्ञानी प्रभु प्राप्ति का आनन्द लेता है और प्रभु को ज्ञानी प्रिय होता है।

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बारह सोमपात्र

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश॥ ५॥

(१) **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **कवयः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोग **सुपर्णम्**=उस उत्तम पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मोंवाले प्रभु को **एकं सन्तम्**=एक होते हुए को भी **वचोभिः**=वेदवाणियों से **बहुधा**=अनेक प्रकार से **कल्पयन्ति**=कल्पित करते हैं। सृष्टि के उत्पादक के रूप में वे उसे 'ब्रह्मा' कहते हैं, तो धारण करनेवाले को 'विष्णु' तथा प्रलयकर्ता के रूप में वे उसे 'रुद्र व शिव' कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गुणों व कर्मों के कारण वे उसे भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण करते हैं। (२) **च**=और प्रभु स्मरण के साथ **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों में **छन्दांसि**=वेद-मन्त्रों को **दधतः**=धारण करते हुए ये लोग मन्त्रोच्चारण पूर्वक यज्ञों को करते हुए, इन मन्त्रों को अपना पाप से बचानेवाला बनाते हुए (छन्दांसि छादनात्), **द्वादश**='दस इन्द्रियों, मन व बुद्धि' इन बारह को **सोमस्य ग्रहान्**=सोम का, वीर्यशक्ति का ग्रहण करनेवाला **मिमते**=बनाते हैं। सोमयज्ञों में बारह सोमपात्रों की तरह ये 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' भी बारह सोमपात्र बनते हैं। सोमशक्ति इनमें सुरक्षित रहती है। सोम से ये शक्तिशाली बनते हैं।

भावार्थ—एक प्रभु के अनेक नाम हैं। इनका स्मरण करते हुए हम यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण करें और जीवन को पवित्र बनाते हुए सोम को शरीर में ही व्याप्त करते हुए 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को बारह सोमपात्रों के तुल्य बनाएँ।

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋक्-साम से रथ प्रवर्तन

षट्त्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम्।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति॥ ६॥

(१) 'आचत्वारिंशतः संपूर्णता' इस सुश्रुत वाक्य के अनुसार ४०वें वर्ष में शरीर के निर्माण की पूर्णता हो जाती है। इन चालीस वर्षों में भी यहाँ मन्त्र में 'षट् त्रिंशान् च चतुरः'='३६ और ४' इस विभाग से यह प्रतीत होता है कि छत्तीस तक पूर्णता हो जाती है और अन्तिम चार वर्ष तो finishing toxehes दिये जाते रहते हैं। इसी प्रकार चालीसवें में जीवन का पूरा निर्माण हो जाता है। **षट् त्रिंशान् चतुरः च**=छत्तीस और चार, अर्थात् चालीस वर्ष तक **कल्पयन्तः**=अपने अंगों को सामर्थ्यवान् बनाते हुए **च**=और **आद्वादशम्**=बारह वर्ष की उमर तक **छन्दांसि**=सब वेदमन्त्रों को **दधतः**=धारण करते हुए 'आठवें वर्ष में आचार्यकुल में प्रविष्ट होने पर बारहवें वर्ष तक सब वेद सामान्यतः याद करा दिये जाते थे'। इस पाठ्य-प्रणाली का यहाँ संकेत मिलता है। **कवयः**=ज्ञानी लोग **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **यज्ञं विमाय**=यज्ञों को विशेषरूप से करके **ऋक्सामाभ्याम्**=विज्ञान और उपासना से, विद्या व श्रद्धा से **रथम्**=अपने जीवनरथ को **प्रवर्तयन्ति**=निरन्तर कार्यों में प्रवृत्त करते हैं। (२) यहाँ मन्त्र में इन बातों का संकेत सुस्पष्ट है कि—(क) शरीर की पूर्णता चालीसवें वर्ष में आकर होती है। तब तक परिवर्तन का सम्भव होता है। चालीसवें वर्ष में आकर सब अंगों का निर्माण हो चुकता है, (ख) शिक्षा-प्रणाली में प्रारम्भिक पाठ्यक्रम सब मन्त्रों का याद करना है, यह बारहवें वर्ष में पूर्ण हो जाता है, (ग) जीवन यथासम्भव बुद्धिपूर्वक यज्ञों के करने में बीतना ही ठीक है, (घ) सब कार्य विद्या व श्रद्धा के समन्वय से किये जाने चाहिएँ।

भावार्थ—विद्या व श्रद्धा से कार्यों को करते हुए हम जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'ये सब लोक प्रभु की महिमा के व्यञ्जक हैं'

चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्र णयन्ति सप्त।
आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य॥ ७॥

(१) सब लोकों से पुनरावृत्त होना पड़ता है। ये सात 'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्' उत्तम लोक हैं और इसी प्रकार सात 'असुर्यानाम ते लोकाः अन्धेनतमसावृताः'=अन्धतमस से आवृत असुर्यलोक हैं—'तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल'। **अन्ये**=दूसरे **चतुर्दश**=उल्लिखित चौदह लोक **अस्य महिमानः**=इस प्रभु की महिमा हैं। ये सब लोक प्रभु की महिमा को व्यक्त कर रहे हैं। **तम्**=उस प्रभु को **सप्त धीराः**=(धियं रान्ति) सात ज्ञान के देनेवाले व (धियिरमते) ज्ञान में रमण करनेवाले धीर पुरुष **वाचा**=स्तुति वाणियों के द्वारा **प्रणयन्ति**=प्राप्त कराते हैं। 'महर्षया सप्त पूर्वे चत्वारः मनवस्तथा' इस वाक्य के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के मानस-पुत्रों में ये सात महर्षि हैं—'मरीचि, अत्रि, अंगिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ'। ये सात 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' से ज्ञान प्राप्त करके अन्य मनुष्यों के लिए ज्ञान को देनेवाले होते हैं। (२) **इह**=यहाँ इस सृष्टि में **कः**=वे आनन्दस्वरूप प्रभु ही अथवा अनिरुक्त प्रजापति ही **आप्रानम्**=प्रभु प्राप्ति के साधनभूत **तीर्थम्**=(means) उपाय को **प्रवोचत्**=वेद में प्रतिपादित करते हैं **येन पथा**=जिस मार्ग से **सुतस्य**=शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम का **प्रपिबन्ते**=पान करते हैं। वस्तुतः सोमपान के होने पर ही प्रभु की प्राप्ति का सम्भव होता है। वेद इस सोम के पान के लिए उपाय व मार्ग का संकेत करता है। इस मार्ग से चलकर मनुष्य प्रभु का दर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेद में उस मार्ग का प्रभु ने प्रतिपादन किया है जिससे चलकर मनुष्य सोम का पान करनेवाला बनता है। इस सोमपान से तीव्रबुद्धि होकर मनुष्य सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है।

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पंचदशानि उक्था

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥ ८ ॥

(१) प्राणिदेहों में **पञ्चदशानि**='पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियां व पाँच कर्मेन्द्रियाँ' ये पन्द्रह अंग **सहस्रधा**=हजारों प्रकारों से **उक्था**=स्तुति के योग्य हैं, प्रशंसनीय हैं। इन अंगों का जितना-जितना विचार करते हैं उतना-उतना ही इनका उत्कर्ष व्यक्त होता है। वस्तुतः **यावद् द्यावापृथिवी**=जहाँ तक यह द्युलोक व पृथिवीलोक का विस्तार है **तावत् इत् तत्**=उतना ही उस प्रभु की महिमा का प्राशस्त्य है 'एतावानस्य महिमा'। (२) **सहस्रधा महिमानः**=हजारों प्रकार से इस प्रभु की महिमा इस ब्रह्माण्ड में विस्तृत है। **सहस्रम्**=हजारों प्रकार से **यावत्**=जहाँ तक **ब्रह्म**=वे प्रभु **विष्ठितम्**=विशेषरूप से इस ब्रह्माण्ड में स्थित हैं **तावती वाक्**=उतनी ही वाणी है। अर्थात् एक-एक वस्तु प्रभु की महिमा से परिपूर्ण है, उन-उन वस्तुओं के नाम प्रभु की महिमा का ही द्योतन करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणिदेहों में प्राण व इन्द्रियों की रचना अतिशयेन स्तुत्य है।

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-प्रदाता प्रभु

कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद।
कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित्॥ ९ ॥

(१) **कः**=वे आनन्दमय **धीरः**=ज्ञान में रमण करनेवाले प्रभु ही सृष्टि के प्रारम्भ में **छन्दसाम्**=इन पाप-निवारक वेदवाणियों के **योगम्**=सम्पर्क को **आवेद**=प्राप्त कराते हैं। 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' के हृदयों में प्रभु ही इस वेदवाणी का प्रकाश करते हैं। (२) **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **धिष्ण्यां वाचम्**=(धिषणया कृतां, 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे') बुद्धिपूर्वक वाक्य रचनावाली इस वेदवाणी को **प्रतिपपाद**=प्रतिपादित करते हैं। (३) मानव शरीरों में मन के द्वारा चलाए जानेवाले सप्त होताओंवाले यज्ञ में ('येन यज्ञस्तायते सप्त होता', सात होता। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को ही **ऋत्विजाम्**=ऋत्विजों में **अष्टमम्**=आठवाँ **शूरम्**=शूरवीर **आहुः**=कहते हैं। वस्तुतः ये प्रभु ही आठवें ऋत्विज् के रूप में यज्ञ का रक्षण करते हैं। (४) **कः स्वित्**=वे आनन्दमय प्रभु ही **इन्द्रस्य**=इन इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **निचिकाय**=निश्चय से बनाते हैं (चि=चिनना=बनाना)। वस्तुतः ये इन्द्रियाश्व कितनी ही अद्भुत रचनावाले हैं। अपनी अद्भुत रचना से ये अश्व उस प्रभु की महिमा को व्यक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान देते हैं, वेदवाणी का उपदेश करते हैं। यज्ञों के पालक भी वे प्रभु हैं, प्रभु ही हमें इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सध्रिर्वैरूपो घर्मो वा तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवन-यात्रा

भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः॥ १०॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु से ज्ञान व इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करके **एके**=कई जीवन के चतुर्थ प्रयाण में विचरनेवाले संन्यासी **भूम्याः अन्तम्**=इस पृथिवी के अन्त भाग तक **परिचरन्ति**=चारों ओर विचरण करते हैं परिव्राजक बनकर ये आगे और आगे बढ़ते हुए, जहाँ रात हुई वहीं बसेरा करके और प्रचार करके अगले दिन आगे चलते हुए भूमि के अन्त भागों तक पहुँचते हैं। (२) इस संन्यासाश्रम से पहले वानप्रस्थ में ये लोग **रथस्य धूर्षु**=शरीर-रथ को धुराओं में **युक्तासः**=जुते हुए अश्वोंवाले **अस्थुः**=स्थित होते हैं। एक वानप्रस्थ क्रियामय जीवनवाला होता है। इन्द्रियाश्वों को अपने-अपने कार्य में स्थिर बनाने के लिए यह यत्नशील होता है। इसी को इस प्रकार कह सकते हैं कि योग का अभ्यास करने के द्वारा साम्यबुद्धि से युक्त होने का प्रयत्न करता है। (३) इस वानप्रस्थ से पूर्व गृहस्थ में ये लोग **श्रमस्य दायम्**=श्रम के देन को, श्रम से प्राप्त धन को **एभ्यः**=इन वानप्रस्थ व संन्यासियों के लिए **विभजन्ति**=बाँटकर देनेवाले होते हैं। गृहस्थ श्रम से धन को कमाते हैं और उस धन को वानप्रस्थों व संन्यासियों के लिए देनेवाले होते हैं। स्वयं तो गृहस्थ यज्ञशेष का ही सेवन करता है। (४) यह सब कुछ होता तभी है **यदा**=जब कि **हर्म्ये**=घर में **यमः**=नियन्त्रण करनेवाला आचार्य **हितः भवति**=स्थापित होता है। आचार्य जिस घर के बच्चों को सुशिक्षित व ज्ञानी बनाता है, वे ही बच्चे सद्गृहस्थ बनते हैं, वे ही वानप्रस्थ को उत्तम साधना से पूर्ण करके संन्यस्त हुआ करते हैं और सारे संसार में भ्रमण करते हुए ज्ञान का प्रसार करते हैं। इसी प्रकार प्रभु से दिये गये इन इन्द्रियाश्वों की महत्ता होती है।

भावार्थ—हम प्रथमाश्रम में आचार्याधीन रहकर ज्ञान व शिक्षा को प्राप्त करें। अब गृहस्थ में श्रम से कमाकर बाँटकर खाना है। वानप्रस्थ में इन्द्रियों को कार्यव्यापृतता के द्वारा योगयुक्त करने का प्रयत्न करता है। और तब संन्यस्त होकर सर्वत्र प्रचार करता हुआ भूमि के एक सिरे से दूसरे

सिरे तक पहुँचता है।

सूक्त का विषय यही है कि प्रभु से दिये गये साधनों का सदुपयोग करते हुए हम जीवन का यापन सुन्दरता से करें। उत्तम जीवन यही है कि हम प्रभु का स्तवन करनेवाले 'उपस्तुत' बनें। तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हुए हव्य के द्वारा वृष्टि को लानेवाले (यज्ञाद्भवति पर्जन्यः) वृष्टि हव्य के पुत्र 'वार्ष्टिहव्य' हों। यह 'वार्ष्टिहव्य उपस्तुत' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[११५] पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अद्भुत विकास

चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावप्येति धातवे।
अनूधा यदि जीजनदधा च नु ववक्ष सद्यो महि दूत्यं१ चरन्॥ १॥

(१) मानव जीवन का क्रमिक विकास दर्शाते हुए कहते हैं कि जीवन के प्रथमाश्रम में **इत्**=निश्चय से **इच्छिशोः**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले तथा **तरुणस्य**=वासनाओं को तैरनेवाले विद्यार्थी का **वक्षथ**=(growth) विकास **चित्रः**=अद्भुत है। वस्तुतः जीवन के इस प्रथमाश्रम में दो ही महत्त्वपूर्ण बाते हैं—(क) विद्यार्थी को चाहिए कि वह विद्या पढ़ने के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की कामना न करे, विद्यारुचि होता हुआ वह अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनाए। (ख) तथा किसी भी वासना का शिकार न हो। विद्याव्यसन के अतिरिक्त उसे कोई भी व्यसन लगा तो वह विद्यार्थी ही न रहेगा। इस प्रकार शिशु और तरुण बनकर यह अपने जीवन का अद्भुत विकास कर पाता है। (२) अब गृहस्थ में प्रवेश करने पर यह इस प्रकार चलता है कि **या**=जो **धातवे**=अपने परिवार के धारण के लिए **मातरौ**=माता व सास की **अपि**=ओर **न एति**=नहीं जाता है। अपने पुरुषार्थ से कमानेवाला बनता है, अपने लिए औरों पर निर्भर नहीं करता। विशेषतः अपनी सास से कभी कुछ नहीं चाहता। (३) अब गृहस्थ के बाद **यदि**=यदि यह **अनूधाः**=(ऊधस् inuer apastment) अन्दर के कमरे से रहित **जीजनत्**=हो जाता है। अर्थात् वानप्रस्थ बन जाता है और इसका घर 'आश्रम' में परिवर्तित हो जाता है। (४) वानप्रस्थ में साधना करके **अधा**=अब **च नु**=निश्चय से **ववक्ष**=आगे बढ़ता है, **सद्यः**=शीघ्र ही **महि दूत्यं चरन्**=महान् दूत कर्म को करता हुआ वह चलता है। प्रभु के सन्देश को सुनाता हुआ यह आगे और आगे बढ़ता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या पढ़ता है, वासनाओं को तैरता है। गृहस्थ में श्रम से परिवार का पालन करता है। घर को आश्रम में परिवर्तित करके वानप्रस्थ की साधना करता है। अब प्रभु का दूत बनकर ज्ञान के सन्देश को फैलाता हुआ आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दानशील-क्रियाशील

अग्निर्ह नाम धायि दन्नपस्तमः सं यो वना युवते भस्मना दता।
अभिप्रमुरा जुह्वा स्वध्वर इनो न प्रोथमानो यवसे वृषा॥ २॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **ह**=निश्चय से **नाम**=(नाम्ना) नम्रता के द्वारा **धायि**=धारण किया जाता है। नम्र व्यक्ति ही प्रभु को धारण कर पाता है। वे प्रभु **हन्**=सब कुछ देनेवाले हैं, प्रभु भक्त भी देनेवाला बनता है। **अपस्तमः**=अधिक से अधिक क्रियाशील होता है। **भस्मना**=कामदेव को भस्म करने के द्वारा **यः**=जो **वना**=ज्ञान की रश्मियों को **संयुवते**=अपने साथ संयुक्त करता

है। तथा **दता**=दाँतों से **वना**=वानस्पतिक पदार्थों को ही (संयुते) अपने साथ जोड़नेवाला होता है। इन वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से ही इसकी बुद्धि सात्त्विक बनी रहती है और यह अधिकाधिक प्रकाश को प्राप्त करता है। (२) यह **अभि**=दिन के प्रारम्भ में व दिन के अन्त में दोनों ओर **प्रमुरा**=प्रकर्षेण समुद्यत (मुर्छा-समुच्छ्राये) **जुह्वा**=चम्मच से **स्वध्वरः**=उत्तम यज्ञोंवाला होता है। **इनः न**=एक स्वामी की तरह **प्रोथमानः**=सब इन्द्रियादिकों को अपने वश में करता हुआ होता है और **वृषा**=शक्तिशाली बनकर यह **यवसे**=बुराइयों को अपने से पृथक् करने के लिए और अच्छाइयों को अपने से सम्पृक्त करने के लिए होता है।

भावार्थ—नम्रता के द्वारा हम हृदयों में प्रभु का धारण करें। वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करते हुए वासनाओं को जीतकर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें। यज्ञशील हों। जितेन्द्रिय बनकर बुराइयों को अपने से दूर करें और अच्छाइयों का अपने से मेल करें।

ऋषिः—**उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मार्गदर्शक प्रभु

तं वो विं न द्रुषदं देवमन्धस इन्दुं प्रोथन्तं प्रवपन्तमर्णवम्।
आसा वह्निं न शोचिषा विरप्शिनं महिव्रतं न सरजन्तमध्वनः ॥ ३ ॥

(१) **तम्**=उस प्रभु को उपासित करो जो **वः**=तुम्हारे **विं न**=पक्षी के समान **द्रुषदम्**=शरीररूप वृक्ष पर आसीन होनेवाले हैं। **देवम्**=प्रकाशमय है, **अन्धसः इन्दुम्**=सोम के द्वारा हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। **प्रोथन्तम्**=हमारे सब अन्तःशत्रुओं को जो पराभूत करनेवाले हैं (to sabdne)। वासनाओं को पराभूत करके **प्रवपन्तम्**=जो सद्गुणों के बीजों को बोनेवाले हैं। **अर्णवम्**=ज्ञान के समुद्र हैं। (२) उस प्रभु का उपासन करो जो प्रभु **आसा वह्निं न**=मुख से अग्नि के समान हैं, अत्यन्त तेजस्वी हैं। **शोचिषा**=अपनी ज्ञानदीप्ति से **विरप्शिनम्**=महान् हैं। और **महिव्रतं न**=इस महान् व्रतवाले सूर्य की तरह **अध्वनः**=मार्गों को **स-रजन्तम्**=(सह रंजयन्तम्) एक साथ दीप्त करते हुए हैं। सूर्य अन्धकार को दूर करके बाह्य मार्गों को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार हृदयस्थ प्रभु अज्ञानान्धकार को दूर करके हमारे कर्त्तव्य मार्गों को प्रदर्शित करते हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु का उपासन करें जो हमारे हृदयों में आसीन हैं, प्रकाशमय हैं, हमारी बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों के बीज को हमारे में बोनेवाले हैं, और सूर्य के समान मार्गदर्शक हैं।

ऋषिः—**उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'अपरिभूत वेगवाले' प्रभु

वि यस्य ते ज्रयसानस्याजर धक्षोर्न वाताः परि सन्त्यच्युताः।
आ रण्वासो युयुधयो न सत्वनं त्रितं नशन्त प्र शिषन्त इष्टये॥ ४॥

(१) हे **अजर**=जीर्ण न होनेवाले प्रभो! **यस्य**=जिन **ज्रयसानस्य**=वेगवान् **ते**=आपके **वाताः**=गमन या वायु के समान वेग **धक्षोः न**=अग्नि के समान **अच्युताः**=शत्रुओं से अच्यवनीय होते हुए **परि वि सन्ति**=चारों ओर विद्यमान हैं। (२) उन **सत्वनम्**=बलशाली **त्रितम्**=त्रिलोकी का विस्तार करनेवाले (त्रीन् तनोति) आपके **रण्वासः**=रणप्रिय, युद्ध में गर्जना करनेवाले **युयुधयो न**=योद्धाओं के समान **आनशन्त**=सर्वथा प्राप्त होते हैं। ये **इष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिए व यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिए **प्रशिषन्तः**=ये सदा आपका विवेक करनेवाले बनते हैं (to diseriminate

from others)। प्रभु का ध्यान करने से चित्तवृत्ति अच्छी बनती है और हमारा झुकाव यज्ञादि उत्तम कर्मों की ओर होता है।

भावार्थ—प्रभु की गति किसी-से च्यवनीय नहीं। योद्धा प्रभु को ही पुकारते हैं। प्रभु का विवेक ही हमें यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करता है।

ऋषिः—**उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आचीभुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कण्वतमः-कण्वसखा

स इद॒ग्निः कण्व॑तमः॒ कण्व॑सखा॒र्यः प॒रस्या॒न्त॑रस्य॒ तरु॑षः।
अ॒ग्निः पा॑तु गृण॒तो अ॒ग्निः सू॒रीन॒ग्निर्द॑दातु॒ तेषा॒मवो॒ नः॑ ॥ ५ ॥

(१) **सः**=वह **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **इत्**=ही **कण्वतमः**=अत्यन्त मेधावी हैं, **कण्वसखा**= मेधावियों के मित्र हैं, मेधावी मित्रोंवाले हैं। मेधावी पुरुष ही वस्तुतः प्रभु का मित्र है। **अर्यः**=वे प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। **परस्य**=बाह्य तथा **अन्तरस्य**=अन्दर के शत्रुओं से वे प्रभु **तरुषः**=तरानेवाले हैं। (२) **अग्निः**=ये अग्रेणी प्रभु **गृणतः पातु**=स्तुति करनेवालों का रक्षण करते हैं। **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **सूरीम्**=विद्वानों का रक्षण करते हैं। **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **तेषाम्**=उन स्तोताओं व ज्ञानियों के **अवः**=रक्षण को **नः**=हमारे लिए **ददातु**=देनेवाले हों। हम भी स्तोता व ज्ञानी बनकर प्रभु के रक्षण के पात्र हों। अथवा ये प्रभु इन स्तोताओं व ज्ञानियों के द्वारा हमारा रक्षण करें। प्रभु इन स्तोताओं व ज्ञानियों का रक्षण करते हैं। इन स्तोताओं व ज्ञानियों के द्वारा वे अन्यों का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—मेधावी बनकर मैं प्रभु का प्रिय बनूँ। वे प्रभु हमारे बाह्य व आन्तर शत्रुओं से हमारा रक्षण करते हैं। स्तोता व सूरि प्रभु रक्षण के पात्र होते हैं। इनके द्वारा प्रभु अन्य लोगों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वासना-विजय व प्रभु सामीप्य

वा॒जिन्त॑माय॒ सह्य॑से सुपित्र्य तृ॒षु च्यवा॑नो॒ अनु॑ जा॒तवे॑दसे।
अ॒नु॒द्रे चि॒द्यो धृ॑ष॒ता वरं॑ स॒ते म॒हिन्त॑माय॒ धन्व॒नेद॑विष्य॒ते ॥ ६ ॥

(१) हे **सुपित्र्य**=उत्तम माता-पितावाले जीव! 'प्रभु' ही तेरे पिता हैं, 'वेद' तेरी माता है। इन माता-पिता से तू उत्तम माता-पितावाला है। सो तू उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **तृषु**=शीघ्र ही **अनुच्यवानः**=क्रमशः वासनाओं को अपने से पृथक् करनेवाला बन। जितना-जितना तू वासनाओं से ऊपर उठेगा उतना-उतना प्रभु को प्राप्त करनेवाला होगा। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए तू वासनाओं को क्षीण कर, जो **वाजिन्तमाय**=सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न हैं, **सह्यसे**=तेरे शत्रुओं का मर्षण करनेवाले हैं। **जातवेदसे**=जो सर्वज्ञ हैं व सर्वत्र विद्यमान हैं। (२) उस प्रभु के प्राप्ति के लिए तू काम-क्रोध-लोभ को अपने से च्युत करनेवाला हो, **यः**=जो **अनुद्रे चित्**=उदकरहित स्थल में भी, रेगिस्तान में भी **धृषता**=अपने धर्षक बल से **वरम्**=श्रेष्ठ पदार्थों को **सते**=सत् (=विद्यमान) करनेवाले हैं। **महिन्तमाय**=अत्यन्त महान् व पूज्य हैं और **इत्**=निश्चय से **धन्वनेद्**='प्रणव' रूप धनुष के द्वारा **अविष्यते**=हमारे रक्षण की कामनावाले हैं। प्रभु हमें 'प्रणव' (ओ३म्) रूप धनुष प्राप्त कराते हैं, इस धनुष के द्वारा हम सब वासनाओं को विद्ध करके विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—जितना-जितना हम वासनाओं को जीत पाते हैं उतना-उतना प्रभु के समीप होते

जाते हैं।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

मित्रासः न, द्यावः न (सूर्य की तरह तेजस्वी व ज्ञानदीप्त)

एवाग्निर्मर्तैः सह सूरिभिर्वसुः ष्टवे सहसः सूनरो नृभिः।
मित्रासो न ये सुधिता ऋतायवो न द्युम्नैरभि सन्ति मानुषान्॥ ७॥

(१) वे प्रभु **अग्निः**=अग्रेणी हैं, हमें उन्नति के मार्ग पर आगे ले चलनेवाले हैं। **वसुः**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। **सहसः सूनरः**=बल के उत्तमता से प्राप्त करानेवाले हैं। उन्नतिपथ पर ले चलकर वे हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं, इस निवास को उत्तम बनाने के लिए वे हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं। ये प्रभु **सूरिभिः**=ज्ञानी **मर्तैः सह**=मनुष्यों के साथ **नृभिः**=उन्नतिपथ का आक्रमण करनेवाले मनुष्यों से **स्तवे**=स्तवन किये जाते हैं। उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले मनुष्य, ज्ञानियों के सम्पर्क में रहते हुए, प्रभु की स्तुति करनेवाले होते हैं। (२) **एवा**=इस प्रकार **ये**=जो प्रभु स्तवन करनेवाले होते हैं वे **मित्रासः न**=(प्रमीतेः त्रायते) रोगों से बचानेवाले सूर्यों के समान होते हैं। नीरोग होते हुए ये सूर्य के समान तेजस्वी होते हैं। **सुधिताः**=ये सदा तृप्त होते हैं (सुधित=सुहित=तृप्त) इन्हीं के लिए 'आत्मतृप्तः' शब्द का प्रयोग होता है। **ऋतायवः**=ये सदा ऋत की कामनावाले होते हैं, इनके जीवन में अनृत के लिए स्थान नहीं होता। **द्युम्नैः**=ज्ञान-ज्योतियों से **द्यावः न**=ये सूर्यों के समान होते हैं। सूर्य जैसे सब अन्धकारों को विनष्ट कर देता है, इसी प्रकार इनके जीवन में ज्ञान-ज्योति वासनाओं के अन्धकार को विनष्ट कर देती है। ये सूर्यसम दीप्तिवाले लोग **मानुषान्**=प्राकृत मनुष्यों में होनेवाले काम, क्रोध, लोभ आदि भावों को **अभिसन्ति**=अभिभूत कर लेते हैं। इन इतरजनों की भावनाओं को जीतकर ये दैवी वृत्तिवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासक सूर्य के समान तेजस्वी होते हुए नीरोग होते हैं। सूर्य के ही समान ज्ञान दीप्त होते हुए वासनान्धकार को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊर्जोनपात्-सहसावन्

ऊर्जो नपात्सहसावन्निति त्वोपस्तुतस्य वन्दते वृषा वाक्।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥ ८॥

(१) **उपस्तुतस्य**=उपासना करते हुए स्तुति करनेवाले की **वृषावाक्**=सब पर सुखों का वर्षण करनेवाली वाणी **त्वा**=आपको 'ऊर्जोनपात्' तथा 'सहसावन्' इन नामों से **वन्दते**=वन्दित करती है। यह उपस्तुत आपको इस रूप में याद करता है कि आप 'ऊर्जोनपात्' हैं, बल और प्राणशक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। आप 'सहसावन्' हैं, शत्रुओं को कुचल देनेवाली शक्तिवाले हैं। आपसे शक्ति को प्राप्त करके ही उपासक काम-क्रोध आदि को कुचलनेवाला बनता है। (२) **त्वां स्तोषाम**=हे प्रभो! हम आपका ही स्तवन करें। **त्वया सुवीराः**=आपके सम्पर्क से हम उत्तम वीर बनें। और **द्राघीयः आयुः**=दीर्घ जीवन को **प्रतरं प्रकृष्टतरम्**=खूब अच्छी प्रकार **दधानाः**=धारण करते हुए हों। 'ऊर्ज्' के द्वारा हम शरीरस्थ रोगों को जीतकर नीरोग व दीर्घजीवी हों। तथा 'सहस्' के द्वारा काम-क्रोध को कुचलकर स्वस्थ व निर्मल मनवाले होते हुए हम प्रकृष्टतर जीवनवाले हैं। गत मन्त्र के शब्दों में हम ऊर्ज् के द्वारा 'मित्रासः न' नीरोग व सूर्यसम तेजस्वी

हों। सहस् के द्वारा 'द्यावः न' सूर्यसम ज्ञानदीप्त हों।

भावार्थ—प्रभु 'ऊर्जोनपात्' व 'सहसावन्' हैं। इस प्रकार स्तवन करता हुआ मैं भी ऊर्जस्वी व सहसावन् बनूँ। ऊर्जस्वी होकर नीरोग और सहस्वी होकर निर्मल मनवाला होऊँ।

ऋषिः—**उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृच्छक्वरी** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृष्टिहव्य-उपस्तुत व ऋषि पुरुषों की ऊर्ध्वगति

इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन् ।
ताँश्च पाहि गृणतश्च सूरीन्वषड्वषळित्यूर्ध्वासो अनक्षन्नमो नम इत्यूर्ध्वासो अनक्षन्॥ ९ ॥

(१) जो व्यक्ति हव्य पदार्थों की वृष्टि करनेवाले, अर्थात् अग्नि में हव्य पदार्थों को डालनेवाले हैं वे यज्ञशील हैं। ये वृष्टिहव्य कहलाते हैं। इसी भाव को प्रबलरूप में कहने के लिए '**वृष्टि हव्यस्य पुत्राः**'=वृष्टिहव्य के पुत्र इस शब्द का प्रयोग हुआ है। **उपस्तुतासः**=उपासना में बैठकर प्रभु का स्तवन करनेवाले तथा **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी लोग हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा**=आपको **इति**=उपरोक्त मन्त्र के 'ऊर्जोनपात् व सहसावन्' इन शब्दों में **अवोचन्**=पुकारते हैं। **तान् च**=उन वृष्टिहव्य के पुत्रों को, यज्ञशील व्यक्तियों को **गृणतः च**=स्तवन करनेवाले उपस्तुतों को **सूरीन्**=ज्ञानी ऋषियों को **पाहि**=हे प्रभो! आप रक्षित करिये। हाथों में यज्ञशील, हृदय में स्तवन की वृत्तिवाले तथा मस्तिष्क में ज्ञानवाले व्यक्तियों का आप रक्षण करिये। (२) **वषट् वषट् इति**=सदा यज्ञों में 'स्वाहा'=(स्व-हा) स्वार्थत्याग को करते हुए ये यज्ञशील पुरुष **उर्ध्वासः अनक्षन्**=ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं। **नमः नमः इति**=सदा प्रातः समय आपके प्रति नमन को करते हुए **ऊर्ध्वासः अनक्षन्**=ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं। यज्ञशील व उपासक पुरुष उत्कृष्ट लोक को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील, स्तोता, ज्ञानी पुरुष प्रभु से रक्षणीय होते हैं, ये ऊर्ध्वलोकों को प्राप्त करते हैं।

सूक्त का सार इस अन्तिम मन्त्र में सम्यक्तया संकेतित हो गया है। ऐसा बनने वाला पुरुष 'अग्नियुतः स्थौरः'=प्रभु से युक्त शक्तिशाली होता है, प्रभु की उपासना करता है और प्रभु की शक्ति का प्रवाह उसमें चलता है। अथवा यह 'अग्नियूपः स्थौरः'=यज्ञाग्नि के स्तम्भोंवाला, यज्ञशील व शक्तिशाली होता है यज्ञिय वृत्ति होने से भोगों से ऊपर उठा रहता है और अपनी शक्ति को स्थिर रख पाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह इन्द्र बनकर सोम का पान करता है, जितेन्द्रियता द्वारा वीर्य का रक्षण करता है। यह वीर्यरक्षण ही इसकी सब उन्नतियों का साधन होता है—

[११६] षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अग्नियुतः स्थौरोऽग्नियूपो वा स्थौरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमपान व महतीशक्ति

पिबा सोमं महत इन्द्रियाय पिबा वृत्राय हन्तवे शविष्ठ।
पिब राये शवसे हूयमानः पिब मध्वस्तृपदिन्द्रा वृषस्व॥ १ ॥

(१) **महते इन्द्रियाय**=महान् बल के लिए **सोमं पिबा**=तू सोम का पान कर। सोम के शरीर में रक्षण से तेरी एक-एक इन्द्रिय की शक्ति बड़ी ठीक रहेगी। हे **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन्! तू **वृत्राय हन्तवे**=इस ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के लिए **पिबा**=इस सोम का पान कर। इसके पान से शक्तिशाली बनकर ही तू वासना का विनाश कर पाएगा। निर्बल पुरुष वासनाओं से अधिक प्रतारित होता है। (२) **हूयमानः**=(कर्मखाः प्रयोगः कर्तरि) प्रभु को

पुकारता हुआ तू **राये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए तथा **शवसे**=बल के लिए **पिब**=इस सोम का पान कर। **मध्वः**=इस जीवन को मधुर बनानेवाले सोम का **तृपत्**=तृप्ति को अनुभव करता हुआ **पिब**=पान कर। और हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **आवृषस्व**=खूब शक्तिशाली बन।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, सोम का रक्षण करें। यही मार्ग है 'शक्तिशाली बनने का'। यह सोम ही हमें ऐश्वर्य प्राप्ति के व शक्ति-सम्पादन के योग्य करता है।

ऋषिः—**अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमपान से 'समृद्धि व सौभाग्य'

अस्य पिब क्षुमतः प्रस्थितस्येन्द्र सोमस्य वरमा सुतस्य।
स्वस्तिदा मनसा मादयस्वार्वाचीनो रेवते सौभगाय॥ २॥

(१) **अस्य**=इस **क्षुमतः**=(क्षु=food) हविरूप अन्नवाले, अर्थात् जिसका उत्पादन दानपूर्वक अदन से ही हुआ है (हु दानाद नयोः), उस **प्रस्थितस्य**=शरीर में विशिष्टरूप से स्थित **सोमस्य**=सोम का, वीर्यशक्ति का हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **पिब**=तू पान कर। **आ सुतस्य**=जो सोम सब ओर उत्पन्न किया जाता है उस सोम के **वरम्**=वरणीय भाग को तू पीनेवाला बन। यह सोम तो सचमुच वरणीय ही वरणीय है। (२) इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करने से **स्वस्तिदाः**=यह कल्याण का देनेवाला होता है। इसका पान करके तू मनसा **मादयस्व**=मन से आनन्द का अनुभव कर। सोमरक्षण से जीवन उल्लासमय बनता है। **अर्वाचीनः**=(अर्वाङ् अञ्चति) शरीर के अन्दर ही गति करनेवाला यह सोम **रेवते**=ऐश्वर्योंवाले **सौभगाय**=सौभाग्य के लिए होता है। अर्थात् सोमरक्षण मनुष्य को ऐश्वर्य प्राप्ति के योग्य तथा सौभाग्यशाली बनाता है, इस सोमपान करनेवाले का जीवन (place, planty of prospeity) समृद्धि व सौभाग्यवाला होता है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। यह हमें कल्याण को प्राप्त करायेगा और हमारे जीवन की समृद्धि, सौभाग्य-सम्पन्न बनाएगा।

ऋषिः—**अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उल्लास का कारणभूत 'सोम'

ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र ममत्तु यः सूयते पार्थिवेषु।
ममत्तु येन वरिवश्चकर्थ ममत्तु येन निरिणासि शत्रून्॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **सोमः**=यह शरीर में उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **ममत्तु**=आनन्दित करे। वह सोम जो **दिव्यः**=तुझे दिव्यता प्रदान करनेवाला है। इस सोम के रक्षण से तेरी ज्ञानाग्नि दीप्त होगी और तेरा जीवन प्रकाशमय होगा। (२) **ममत्तु**=वह सोम तुझे उल्लासमय करे **यः**=जो **पार्थिवेषु**=इस पृथिवीरूप शरीर के अधिष्ठाताओं में **सूयते**=उत्पन्न होता है। हम शरीर को वशीभूत करनेवाले, शरीर के अधिष्ठाता बनते हैं तो यह सोम हमारे में सुरक्षित होता है और हमारे उल्लास का कारण बनता है। (३) वह सोम **ममत्तु**=तुझे प्रसन्नतायुक्त करे **येन**=जिसके द्वारा तू **वरिवः**=धन को **चकर्थ**=सम्पादित करता है। सोमरक्षण से शक्ति-सम्पन्न होकर मनुष्य वरणीय धन को प्राप्त कर पाता है। (४) वह सोम तुझे **ममत्तु**=आनन्दित करे **येन**=जिससे तू **शत्रून्**=शत्रुओं को **निरिणासि**=अपने से निर्गत करता है। सोम के रक्षण के होने पर शरीर में रोगरूप शत्रु नहीं रहते और मन में 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध' रूप शत्रुओं का वास नहीं होता।

भावार्थ—शरीर में रक्षित हुआ-हुआ सोम प्रकाश को प्राप्त कराता है, जीवन को उल्लासमय

बनाता है, धन कमाने के योग्य करता है तथा रोग व वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करता है।

ऋषिः—**अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्विबर्हाः अमिनः

आ द्विबर्हा अमिनो यात्विन्द्रो वृषा हरिभ्यां परिषिक्तमन्धः।
गव्या सुतस्य प्रभृतस्य मध्वः सत्रा खेदामरुशहा वृषस्व ॥ ४॥

(१) **द्विबर्हाः**=विद्या व श्रद्धा दोनों से बढ़ा हुआ, **अमिनः**=गतिशील, विद्या व श्रद्धा से युक्त होकर कर्म करता हुआ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ **आयातु**=प्रभु को प्राप्त हो। इसके जीवन में **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के उद्देश्य से **अन्धः**=सोम (=वीर्य) **परिषिक्तम्**=अंग-प्रत्यंग में चारों ओर सिक्त हुआ है। इस सोम सेचन से इसका शरीर सबल बना है और सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों के करने में समर्थ हुई हैं। (२) हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **गव्या**=इन्द्रिय समूह के दृष्टिकोण से **सुतस्य**=उत्पन्न किये गये **प्रभृतस्य**=शरीर में धारण किये गये **मध्वः**=सोम से तू **सत्रा**=सदा खेद के कारणभूत **अरुशहा**=शत्रुओं का हनन करनेवाला होता हुआ **आवृषस्व**=शक्तिशाली पुरुष की तरह आचरण कर (अरुशाः=शजवः सा०)। (३) जब मनुष्य श्रद्धा व ज्ञान का विकास करके गतिशील होता है तो वह सोमरक्षण के द्वारा सब इन्द्रियों को सशक्त बनाता है, सब वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करता है, अन्त में प्रभु को पानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में सोम का उत्पादन इसीलिए किया है कि हम सब इन्द्रियों को सशक्त बना पाएँ अन्त में वासनाओं के संहार के द्वारा प्रभु को पानेवाले बनें।

ऋषिः—**अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आयुध-दीपन व शत्रु-व्रश्चन

नि तिग्मानि भ्राशयन्भ्राश्यान्यव स्थिरा तनुहि यातुजूनाम्।
उग्राय ते सहो बलं ददामि प्रतीत्या शत्रून्विगदेषु वृश्च ॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोमरक्षण के द्वारा **तिग्मानि**=खूब तेजस्वितावाले **भ्राश्यानि**=दीप्त आयुधों को 'इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप' साधनों को **निभ्राशयन्**=खूब चमकाता हुआ, दीप्त करता हुआ तू **यातुजूनाम्**=पीड़ा देनेवाले काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं के **स्थिरा**=बड़े दृढ़ दुर्गों को **अवतनुहि**=क्षीण कर दे (to loosen, undo)। काम इन्द्रियों में कितना ही दृढ़ दुर्ग बनाया हुआ है। क्रोध ने मन में और लोभ ने बुद्धि में अपना किला बनाया है। सोमपान करनेवाला उपासक अपने आयुधों को तीव्र व दीप्त करके इन किलों को तोड़ डालता है। (२) इस सोमपान करनेवाले उपासक से प्रभु कहते हैं कि **उग्राय ते**=तुझ उदात्तवृत्तिवाले के लिए **सहः बलम्**=शत्रुओं के कुचल देनेवाले बल को **ददामि**=देता हूँ। तू **विगदेषु**=विशिष्ट आह्वान प्रत्याह्वान के शब्दोंवाले युद्धों में **शत्रून् प्रतीत्या**=शत्रुओं के प्रति जाकर **वृश्च**=शत्रुओं का छेदन करनेवाला बन।

भावार्थ—हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि को तीव्र व दीप्त बनाएँ, अध्यात्म संग्रामों में शत्रुओं का व्रश्चन करनेवाले बनें।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान, ओज व बल

व्य१र्य इन्द्र तनुहि श्रवांस्योजः स्थिरेव धन्वनोऽभिमातीः।
अस्मद्र्यग्वावृधानः सहोभिरनिभृष्टस्तन्वं वावृधस्व॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अर्यः**=स्वामी होते हुए आप **श्रवांसि**=हमारे ज्ञानों को **वितनुहि**=विशेषरूप से विस्तृत करिये। हमारी **ओजः**=शक्ति को भी बढ़ाइये। आप **अभिमानीः**= हमारे शत्रुओं के प्रति **स्थिरा इव धन्वनः**=बढ़े दृढ़ ही धनुषों को **वितनुहि**=तानिये। इन धनुषों द्वारा उनका विनाश करिये। (२) **अस्मद्र्यग्**=आप हमें प्राप्त होनेवाले होइये। 'अस्मान् अञ्चति'। **सहोभिः**=शत्रु-मर्षण शक्तियों से **वावृधानः**=खूब ही हमारा वर्धन करते हुए **अनिभृष्टः**=शत्रुओं से अपरभवनीय होते हुए आप **तन्वं वावृधस्व**=हमारे शरीरों का वर्धन करिये। हमारे अंग-प्रत्यंग की शक्ति को आप बढ़ाइये।

भावार्थ—प्रभु हमारे ज्ञान, ओज व बल को बढ़ायें। हमें शत्रु-मर्षण-सामर्थ्य प्राप्त हो।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दानपूर्वक अदन-सोम का रक्षण

इदं हविर्मघवन्तुभ्यं रातं प्रति सम्राळहृणानो गृभाय।
तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यं पक्वो३ऽद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य॥ ७॥

(१) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **इदं हविः**=यह हवि **तुभ्यं रातम्**=आपकी प्राप्ति के लिए दी गई है, हवि के द्वारा ही प्रभु का पूजन होता है। हे प्रभो! **सम्राट्**=आप ही शासक हो। **अहृणानः**=किसी भी प्रकार हमारे पर क्रुद्ध न होते हुए **प्रति गृभाय**=इस हवि को ग्रहण करिये। वस्तुतः हवि के द्वारा प्रभु-पूजन करनेवाला प्रभु का प्रिय होता है, प्रभु इसपर कभी अप्रसन्न नहीं होते। 'दानपूर्वक अदन'='यज्ञशेष का सेवन'-'हवि' ही मार्ग है, प्रभु के आराधन का। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **तुभ्यं सुतः**=आपकी प्राप्ति के लिए ही शरीर में इस सोम का उत्पादन हुआ है। **तुभ्यं पक्वः**=आपकी प्राप्ति के लिए ही संयमाग्नि में इसका ठीक प्रकार से परिपाक किया गया है। (३) प्रभु जीव से कहते हैं कि **इन्द्र**=है जितेन्द्रिय पुरुष! तू **प्रस्थितस्य**=प्रकर्षेण स्थित इस सोम का **अद्धि**=भक्षण करनेवाला हो, शरीर की शक्तियों के विकास में ही तू इसे (to consuere) व्ययित करनेवाला हो। **च**=और **पिब**=तू शरीर में ही इसका पान कर, इसे शरीर में ही व्याप्त करने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए दो साधन हैं—(ख) दानपूर्वक अदन, (ख) सोम का रक्षण।

ऋषिः—अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्य कामनाएँ

अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्।
प्रयस्वन्तः प्रति हर्यामसि त्वा सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥ ८॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इमा प्रस्थिता**=इन प्रकृष्ट स्थितिवाली **हवींषि**=हवियों को **इत्**=ही **अद्धि**=खा। हवि, अर्थात् दानपूर्वक अदन मनुष्य को प्रकृष्ट स्थिति प्राप्त कराता है इस हवि के द्वारा ही तो वस्तुतः प्रभु का पूजन होता है। इस प्रकार

यह हवि हमारी सर्वोच्च स्थिति का कारण बनती है। (२) प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू **चनः दधिष्व**=अन्न को ही धारण कर। अन्न का ही सेवन करनेवाला बन। **उत**=और **सोमम्**=सोम को **पचत**=अपने में परिपक्व करो। (३) प्रभु के आदेश को सुनकर जीव कहता है कि **प्रयस्वन्तः**=उत्तम अन्नोंवाले होते हुए हम **त्वा प्रतिहर्यामसि**=आपके प्रति आते हैं। **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष की **कामाः**=कामनाएँ **सत्याः सन्तु**=सदा सत्य हों। यह कभी असत्य कामनाओं को करनेवाला न हो। मैं यज्ञशील होता हुआ अनृत कामनाओं से ऊपर उठूँ। मेरी कामना यही हो 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय'।

भावार्थ—प्रभु के तीन आदेश हैं—(क) दानपूर्वक अदनवाले बनो, (ख) अन्नों का सेवन करो, (ग) शरीर में सोम को परिपक्व करो। इन आदेशों को सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि अन्नों का सेवन करते हुए हम आपकी ओर आएँ तथा सदा सत्य कामनाओंवाले हों।

ऋषिः—**अग्नियुतः स्थौरोग्नियूपो वा स्थौरः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र व अग्नितत्त्व का विकास

प्रेन्द्राग्निभ्यां सुवचस्यामियर्मि सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कैः ।
अयाइव परि चरन्ति देवा ये अस्मभ्यं धनदा उद्भिदश्च ॥ ९ ॥

(१) मैं **इन्द्राग्निभ्याम्**=इन्द्र और अग्निदेव के लिए, बल व प्रकाश की प्राप्ति के लिए (सर्वाणि बल कर्माणि इन्द्रस्य, अग्नि=प्रकाश) **अर्कैः**=वेद-मन्त्रों के द्वारा **सुवचस्याम्**=उत्तम उच्चारण करने योग्य स्तुति को इस प्रकार **प्र इयर्मि**=प्रेरित करता हूँ **इव**=जैसे कि **सिन्धौ**=समुद्र में **नावम्**=नौका को। मेरी प्रभु से यही आराधना होती है कि मुझे शक्ति प्राप्त हो और मैं प्रकाश को प्राप्त करनेवाला होऊँ। मेरा मस्तिष्क प्रकाशमय हो और शरीर शक्ति-सम्पन्न। नौका समुद्र से पार लगाती है, यह स्तुति निर्बलता व अन्धकार को दूर करती है। (२) ऐसा होने पर **देवाः**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सब देव **अयाः**=कर्मकरों की **इव**=तरह **परिचरन्ति**=हमारी सेवा करते हैं, **ये**=जो देव **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **धनदाः**=धनों के देनेवाले हैं **उद्भिदः च**=और हमारे शत्रुओं का उद्भेदन करनेवाले हैं। शत्रुओं के विदारण के द्वारा ये देव हमारी उन्नति का कारण होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें प्रकाश व बल प्राप्त कराएँ सूर्यादि सब देव हमें आवश्यक धन प्राप्त कराएँ और हमारी उन्नति का कारण बनें।

सूक्त का विषय सोमपान के द्वारा जीवन को प्रशस्त करने का है। इस सोमपान के द्वारा ही हमारे जीवन में अग्नि व इन्द्र तत्त्व का विकास होता है, हम प्रकाश व शक्ति को प्राप्त करते हैं। इन दोनों तत्त्वों का विकास हमें अत्यन्त उत्कृष्ट जीवनवाला बनाता है। जीवन के उत्कर्ष के लिए यह भी आवश्यक है कि हम देनेवाले बनें। धन के मोह से ऊपर उठनेवाला, सर्वस्व त्यागी 'भिक्षु' अगले सूक्त का ऋषि है—

[११७] सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**भिक्षुः** ॥ देवता—**धनान्नदानप्रशंसा** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

क्षुधार्त व अतियुक्त

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥ १ ॥

(१) **देवाः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव **क्षुधं इत्**=भूख को ही (underfed को ही)

वधम्=वध **न वा उ**=नहीं **ददुः**=देते हैं, **उत**=अपितु **आशितम्**=(overfed) खूब तृप्तिपूर्वक खानेवाले को भी **मृत्यवः**=रोग व मृत्यु **उपगच्छन्ति**=प्राप्त होते ही हैं। इसलिए 'आशित' होने की अपेक्षा यही अच्छा है कि कुछ भोजन क्षुधार्त को दे दिया जाए जिससे क्षुधार्त भूखा मरने से बच जाए और आशित अतिभोजन से बचकर मृत्यु से बच जाए। (२) **उत**=और **उ**=निश्चय से **पृणतः**=दान देनेवाले का **रयिः**=धन **न उपदस्यति**=नष्ट नहीं होता है। सो 'दान देने से धन में कमी आ जाएगी' ऐसा न समझना चाहिए। (३) **उत**=और **अपृणन्**=दान न देनेवाला **मर्डितारम्**=उस सुख देनेवाले प्रभु को **न विन्दते**=नहीं प्राप्त करता। धन का लोभ प्रभु प्राप्ति में बाधक बन जाता है। धन मनुष्य को इस संसार से बद्ध कर देता है और इस प्रकार प्रभु से दूर रखता है।

भावार्थ—दान देने से—(क) क्षुधार्त का मृत्यु से बचाव होता है और अतियुक्त भी मरने से बच जाता है, (ख) दान देने से धन बढ़ता ही है, (ग) धनासक्ति न रहने से प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**भिक्षुः** ॥ देवता—**धनान्नदानप्रशंसा** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

क्रूरता की पराकाष्ठा

य आ॒ध्राय॑ चकमा॒नाय॑ पि॒त्वोऽन्न॑वा॒न्त्सन्र॑फि॒तायो॑पज॒ग्मुषे॑।
स्थि॒रं मनः॑ कृणु॒ते सेव॑ते पु॒रोतो चि॒त्स म॑र्डि॒तारं॒ न वि॑न्दते ॥ २ ॥

(१) **यः**=जो **अन्नवान् सन्**=खूब अन्नवाला होता हुआ भी **आध्राय**=आधार देने योग्य, अर्थात् अपाहिज के लिए, **पित्वः चकमानाय**=अन्न की याचना करनेवाले के लिए, **रफिताय**=भूखे मर रहे (हिंसित) के लिए, **उपजग्मुषे**=अन्न मिलने की आशा से समीप आये हुए के लिए **मनः स्थिरं कृणुते**=मन को बड़ा पक्का करता है, उसमें नैसर्गिक करुणा को भी मारने का प्रयत्न करके न देने का निश्चय करता है। **उत उ**=और मन को केवल दृढ़ करके ही रुक जाए ऐसा न करके **पुरा चित् सेवते**=उसके सामने ही अन्नों का (मजे से) सेवन करता है **सः**=वह **मर्डितारम्**=उस सुख देनेवाले प्रभु को **न विन्दते**=कभी प्राप्त नहीं करता। (२) आधार देने योग्य अपाहिज को, अन्न की याचना करनेवाले को, भूख से मरे जाते हुए को तथा अन्न की आशा से समीप आये हुए को अन्न देना ही चाहिए। 'इनकार कर देना' उन याचकों के दिल को तोड़ देता है उनके सामने खाने का मजा लेने लगना तो क्रूरता की पराकाष्ठा ही है। मनुष्यता के साथ इतनी दिल की क्रूरता का विरोध है। इस क्रूर-हृदय ने प्रभु को क्या पाना? उस भूखे के रूप में प्रभु ने ही उसे सेवा का मौका दिया, पर इस नासमझ ने उस अवसर से लाभ न लिया।

भावार्थ—भूखे को रोटी न देकर, उसके सामने स्वाद से खाते जाना मानवता नहीं है।

ऋषिः—**भिक्षुः** ॥ देवता—**धनान्नदानप्रशंसा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'भोज' (का लक्षण)

स इद्भो॒जो यो गृ॒हवे॑ द॒दात्यन्न॑कामाय॒ चर॑ते कृ॒शाय॑।
अर॑मस्मै भवति॒ याम॑हूता उ॒ताप॒रीषु॑ कृणु॒ते सखा॑यम् ॥ ३ ॥

(१) **सः इत्**=वह ही **भोजः**=अपना पालन करनेवाला है, **यः**=जो **गृहवे**=भिक्षा को ग्रहण करनेवाले, **अन्नकामाय**=अन्न की कामनावाले, **चरते**=यत्र-तत्र विचरण करते हुए **कृशाय**=(enuneiated) दुर्बल के लिए **ददाति**=अन्न को देता है। वस्तुतः इस प्रकार औरों के लिए देकर बचे हुए को खानेवाला ही प्रभु का प्रिय होता है, यह विषय-वासनाओं का शिकार न होकर वस्तुतः

अपना पालन करनेवाला होता है। (२) **अस्मै**=इसके लिए **यामहूतौ**=(यामा: गन्तारो देवा: हूयन्ते यत्र) यज्ञों में, (याम=प्रहर) उस-उस समय की पुकार में उस-उस समय की आवश्यकता की पूर्ति के लिए **अरं भवति**=पर्याप्त होता है, अर्थात् इसे किसी कार्य के लिए धन की कमी नहीं रहती। (३) **उत**=और **अपरीषु**=परायों में भी, शत्रु प्रजाओं में भी **सखायं कृणुते**=मित्र को करता है। शत्रु प्रजाएँ भी इसके लिए सहायक होती हैं। शत्रु भी इसके मित्र बन जाते हैं।

भावार्थ—अन्न की कामना से विचरण करनेवाले के लिए जो अन्न को देता है, वही वस्तुत: अपना भी वस्तुत: पालन करता है। किसी भी आवश्यक कार्य के लिए इसे धन की कमी नहीं होती। शत्रु भी इसके मित्र बन जाते हैं।

ऋषि:—**भिक्षुः**॥ देवता—**धनान्नदानप्रशंसा**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवतः**॥

सखा कौन?

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ ४॥

(१) **स सखा न**=वह मित्र नहीं है, **यः**=जो **सख्ये**=अपने मित्र के लिए, **सचाभुवे**=सदा साथ होनेवाले के लिए, सुख-दु:ख में हाथ बटानेवाले के लिए, **सचमानाय**=सेवा करनेवाले के लिए **पित्वः न ददाति**=अन्न को नहीं देता है। जब तक हमें आवश्यकता थी उस हमारे मित्र ने हमारी मदद की, कभी हमारा साथ नहीं छोड़ा। पर आज अचानक उसे अन्न की आवश्यकता हो गई और हमने उससे मुख मोड़ लिया, उसे अन्न नहीं दिया और उसे भूखे ही मरने दिया तो यह क्या कोई मित्रता है? इससे बढ़कर शत्रुता व कृतघ्नता हो ही क्या सकती है? (२) वेद कहता है कि **अस्मात्**=इससे **अप प्रेयात्**=दूर ही चला जाए। **तत् ओकः न अस्ति**=यह घर नहीं है। **पृणन्तम्**=अन्नादि के देनेवाले **अन्यम्**=दूसरे **अरणं चित्**=पराये को भी **इच्छेत्**=चाहे भूखे को अन्न देनेवाला पराया घर भी अपना हो जाता है। अन्न को न देनेवाला अपना घर भी पराया हो जाता है।

भावार्थ—भूखे को अन्न न देनेवाला अपना घर भी पराया हो जाता है। अन्न देनेवाला पराया भी घर अपना हो जाता है।

ऋषि:—**भिक्षुः**॥ देवता—**धनान्नदानप्रशंसा**॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवतः**॥

रथचक्र की तरह चलायमान 'धन'

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥ ५॥

(१) **तव्यान्**=धनों के दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ पुरुष **नाधमानाय**=माँगनेवाले के लिए **पृणीयात् इत्**=दे ही जिस समय कोई माँगनेवाला आये, तो इनकार करने की अपेक्षा **द्राघीयांसं पन्थाम्**=इस लम्बे मार्ग को **अनुपश्येत**=देखे। इस अतिविस्तृत समय में पता नहीं किसी का कब कैसा समय आ जाए? (२) ये **रायः**=धन तो **रथ्या चक्रा इव**=रथ के पहियों की तरह **हि उ**=निश्चय से **आवर्तन्ते**=आवृत हो रहे हैं। **अन्यं अन्यं**=दूसरे-दूसरे के पास **उपतिष्ठन्ते**=ये धन उपस्थित होते हैं। जैसे रथ के पहिये का एक भाग जो ऊपर है, वह थोड़ी देर के बाद नीचे हो जाता है उसी प्रकार आज एक व्यक्ति धन के दृष्टिकोण से खुद उन्नत है, जितना चाहे दे सकता

है। कल वही निर्धन अवस्था में होकर माँगनेवालों में भी शामिल हो सकता है। इसलिए सामर्थ्य के होने पर देना ही चाहिए।

भावार्थ—धन अस्थिर हैं। कल हमारे पास भी सम्भवतः न रहें। सो शक्ति के होने पर माँगनेवाले के लिए देना ही चाहिए।

ऋषिः—**भिक्षुः** ॥ देवता—**धनान्नदानप्रशंसा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

केवलाघः=केवलादी

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥

(१) **अप्रचेताः**=गत मन्त्र में वर्णित तत्त्व को न समझनेवाला, धनों की अस्थिरता का विचार न करनेवाला **अन्नं मोघं विन्दते**=अन्न को व्यर्थ ही प्राप्त करता है। प्रभु कहते हैं कि **सत्यं ब्रवीमि**=मैं यह सत्य ही कहता हूँ कि **स**=वह अन्न व धन **तस्य**=उसका **इत्**=निश्चय से **वधः**=वध का कारण होता है। यह अदत्त अन्न व धन उसकी विलास वृद्धि का हेतु होकर उसका विनाश कर देता है। (२) यह **अप्रचेताः**=नासमझ व्यक्ति **न**=न तो **अर्यमणम्**=(अरीन् यच्छति) राष्ट्र के शत्रुओं का नियमन करनेवाले राजा को **पुष्यति**=पुष्ट करता है, **नो**=और ना ही **सखायम्**=मित्र को। यह कृपण व्यक्ति राष्ट्र रक्षा के लिए राजा को भी धन नहीं देता और ना ही इस धन से मित्रों की मदद करता है। (३) यह दान न देकर **केवलादी**=अकेला खानेवाला व्यक्ति **केवलाघः भवति**=शुद्ध पाप ही पाप हो जाता है। यज्ञों को न करनेवाला यह **मलिम्लुच**=चोर ही कहलाता है। अदानशील पुरुष भौतिक वृत्तिवाला बनकर भोगों का शिकार हो जाता है। लोभ के बढ़ जाने से पापवृत्तिवाला हो जाता है।

भावार्थ—दान न देनेवाला धनी पुरुष भोगासक्त होकर अपना ही विनाश कर बैठता है और उसकी पापवृत्ति बढ़ती जाती है।

ऋषिः—**भिक्षुः** ॥ देवता—**धनान्नदानप्रशंसा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अदान-नदान

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान्पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥ ७ ॥

(१) **कृषन् इत्**=भूमि को जोतता हुआ ही **फालः**=फल का-हल का अग्रभाग **आशितम्**=(आ अशितं) समन्तात् भोजन को **कृणोति**=करता है। अलमारी में पड़े हुए फाल से यह 'कृषन् फाल' सदा उत्कृष्ट है। (२) **यन्**=गति करता हुआ पुरुष **चरित्रैः**=कदमों से **अध्वानम्**=मार्ग को **अपवृङ्क्ते**=(finish) समाप्त कर लेता है, रास्ते को काट लेता है, तय कर लेता है। इसीलिए बैठे हुए या लेटे हुए पुरुष से यह चलनेवाला पुरुष श्रेष्ठ है। (३) **वदन्**=ज्ञानोपदेश देता हुआ **ब्रह्मा**=ज्ञानी **अवदतः**=ज्ञानोपदेश न देनेवाले से **वनीयान्**=अधिक सम्भजनीय, उपासनीय है। (४) ठीक इसी प्रकार **पृणन् आपिः**=सदा देता हुआ मित्र **अपृणन्तम्**=न देते हुए को **अभिष्यात्**=अभिभूत कर लेता है। अर्थात् देनेवाला, न देनेवाले से अच्छा ही है।

भावार्थ—न देने से देना सदा अच्छा है। दान प्रेम को स्थिर करनेवाला है।

ऋषिः—**भिक्षुः** ॥ देवता—**धनान्नदानप्रशंसा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दान धन के अनुपात में नहीं

एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥ ८ ॥

(१) दान धन की न्यूनाधिकता पर निर्भर नहीं है, यह तो मन की उदारता व संकुचितता के साथ सम्बद्ध है। उदार मनवाला **एकपाद्**='एक भाग' धनवाला पुरुष **द्विपदः**=संकुचित मनवाले 'द्विभाग धन' वाले पुरुष से **भूयः विचक्रमे**=अधिक पराक्रम करनेवाला होता है। एक भाग धनवाला द्विभाग धनवाले से अधिक दान दे देता है। (२) **द्विपात्**=द्विभाग धनवाला पुरुष **त्रिपादम्**=त्रिभाग धनवाले **पश्चात्**=पुरुष के पीछे-पीछे **अभ्येति**=आनेवाला होता है। अर्थात् जैसे कई बार पच्चीस रुपयेवाला पचास रुपयेवाले से अधिक दान दे देता है, इसी प्रकार पचास रुपयेवाला, उदारता के होने पर, पचहत्तर रुपयेवाले के बराबर दान देनेवाला बनता है। (३) **चतुष्पाद्**=चार भाग धनवाला, अर्थात् सौ रुपयेवाला **द्विपदाम्**=दो भाग धनवालों के पचास रुपयेवालों के **अभिस्वरे**=नामोच्चारण में **एति**=आता है, अर्थात् जितना द्विपदों का दान सुनाया जाता है उतना ही इस चतुष्पात् का दान होता है। यह चतुष्पात् उन द्विपदों को **संपश्यन्**=देखता हुआ **पंक्ती उपतिष्ठमानः**=उनकी पंक्तियों का उपस्थान करता है, उनके समीप उपस्थित हुआ-हुआ दिल में उनका आदर ही करता है कि 'मेरे से आधी सम्पत्तिवाले होते हुए भी ये मेरे बराबर देनेवाले हुए हैं'। इस प्रकार दान की न्यूनाधिकता धन पर आश्रित न होकर हृदय की विशालता पर आश्रित है।

भावार्थ—हम विशाल हृदय होंगे तो अधिक दान देनेवाले होंगे। अधिक दान देने से हृदय को विशाल व पवित्र बना पाएँगे।

ऋषिः—**भिक्षुः** ॥ देवता—**धनान्नदानप्रशंसा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दानवृत्ति का वैषम्य

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥ ९ ॥

(१) **समौ चित् हस्तौ**=दो हाथ एक ही शरीर में होते हुए भी **समम्**=समानरूप से **न विविष्टः**=कार्यों में व्याप्त नहीं होते। दाहिना हाथ अधिक कार्य करता है, सामान्यतः बाँया कम। (२) इसी प्रकार **सम्मातरा चित्**=एक ही गाय से उत्पन्न हुई-हुई बछियाएँ बड़ी होकर **समं न दुहाते**=समान दूध नहीं देती। एक दस सेर दूध देनेवाली बन जाती है, तो दूसरी पाँच ही सेर देनेवाली होती है। (३) **यमयोः चित्**=जुड़वाँ (twins) उत्पन्न हुए-हुए बच्चों के भी **वीर्याणि समा न**=शक्तियाँ समान नहीं होती। एक स्वस्थ व सशक्त होता है, तो दूसरा अस्वस्थ व निर्बल ही रह जाता है। (४) इसी प्रकार **ज्ञाती चित् सन्तौ**=समीप के रिश्तेदार होते हुए भी **सं न पृणीतः**=बराबर दान देनेवाले नहीं होते। एक अत्यन्त उदार होता है तो कई बार दूसरा बड़ा कृपण प्रमाणित होता है।

भावार्थ—दानवृत्ति सर्वत्र समान नहीं होती। अन्य बातों की तरह इस वृत्ति में भी पुरुषों का वैषम्य है। जितना देंगे उतना ऊँचा उठेंगे।

सारा सूक्त धन व अन्न दान की प्रशंसा कर रहा है। दान 'धन के अधिक होने पर ही होगा'

ऐसी बात नहीं है। यह तो हृदय की उदारता पर निर्भर करता है। भौतिक वृत्तिवाला दान नहीं दे पाता। सो अगला सूक्त 'अमहीयु' के सन्तान 'आमहीयव' का है, अ-मही-यु=न भौतिक वृत्तिवाला। यह उरुक्षय:=विस्तृत गतिवाला बनता है (क्षि=गतौ)। इसका घर विशाल होता है, उसमें आये गये के लिए सदा स्थान होता है। लोकहित के उद्देश्य से यह अग्निहोत्र की वृत्तिवाला होता है। यह अग्नि इसके रोगकृमियों का भी संहार करनेवाला होता है। 'रक्षोहा अग्नि' ही सूक्त का देवता है—

[११८] अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**उरुक्षय आमहीयवः** ॥ देवता—**अग्नि रक्षोहा** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शुचिव्रतता

अग्ने हंसि न्यश्त्रिणं दीद्यन्मर्त्येष्वा। स्वे क्षये शुचिव्रत॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! जैसे अग्निहोत्र का अग्नि (मर्त्येषु स्वे क्षये:) मनुष्यों के अपने घरों में चमकता हुआ (दीद्यन्) रोगकृमियों को (अत्रिणं) विनष्ट करता है इसी प्रकार आप **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **दीद्यन्**=प्रकाशित होते हुए, उपासना से हृदयों में आपका प्रकाश होने पर, **अत्रिणम्**=इस महाशन काम को **निहंसि**=निश्चय से नष्ट करते हैं। (२) **शुचिव्रत**=पवित्र व्रतोंवाले प्रभो! **स्वे क्षये**=आप अपने घर में इस काम को विनष्ट करते हैं। उपासक का हृदय आपका निवास-स्थान बन जाता है। वहाँ आप काम का प्रवेश नहीं होने देते। काम के विनष्ट हो जाने से यह उपासक अपने उपास्य प्रभु की तरह पवित्र व्रतोंवाला हो जाता है।

भावार्थ—उपासक का हृदय प्रभु का निवास-स्थान बनता है। प्रभु वहाँ से 'काम' को विनष्ट कर देते हैं और इस प्रकार उपासक को पवित्र व्रतोंवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**उरुक्षय आमहीयवः** ॥ देवता—**अग्नि रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्वस्थ-दीप्त-यज्ञशील

उत्तिष्ठसि स्वाहुतो घृतानि प्रति मोदसे। यत्त्वा स्रुचः समस्थिरन्॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप **सु आहुतः**=अच्छी तरह अर्पित हुए-हुए, जिनके प्रति उपासक ने अपना सम्यक् अर्पण किया है, **उत्तिष्ठसि**=उठ खड़े होते हैं। उपासक के रक्षण के लिए आप सदा उद्यत रहते हैं। (२) **घृतानि प्रति**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तियों के अनुसार **मोदसे**=आप प्रसन्न होते हैं। जैसे एक पिता अपने पुत्र को स्वस्थ व ज्ञानदीप्त देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार प्रभु उपासक को निर्मल व दीप्त देखकर प्रसन्न होते हैं। **यत्**=जब **त्वा**=तुझे **स्रुचः**=(यजमानः स्रुचः तै ३।३।६।३) यज्ञशील पुरुष **समस्थिरन्**=अपने में संस्थित करते हैं। (३) यहाँ मन्त्र में 'घृतानि' शब्द शरीरों के मलों के दूरीकरण के द्वारा स्वास्थ्य तथा ज्ञानदीप्ति का संकेत करता है और 'स्रुचः' शब्द यज्ञशीलता का। शरीर स्वस्थ हो, मस्तिष्क दीप्त हो तथा हृदय यज्ञिय-वृत्तियों से पूर्ण हो तो प्रभु क्यों न प्रसन्न होंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, प्रभु हमारा रक्षण करें। हम स्वस्थ-दीप्त-यज्ञशील बनें, प्रभु हमारे से प्रसन्न होंगे।

ऋषिः—**उरुक्षय आमहीयवः** ॥ देवता—**अग्नि रक्षोहा** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान द्वारा प्रभु की अर्चना

स आहुतो वि रोचतेऽग्निरीळेन्यो गिरा। स्रुचा प्रतीकमज्यते॥ ३॥

(१) **आहुतः सः**=आहुत हुए-हुए वे प्रभु **विरोचते**=चमकते हैं। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें तो प्रभु हमारे हृदयों में अवश्य प्रकाशित होंगे। **अग्निः**=ये अग्रेणी प्रभु **गिरा ईडेन्यः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा स्तुति को योग्य हैं। जितना-जितना हम ज्ञान की वाणियों को अपनाते हैं उतना-उतना प्रभु के हम उपासक बनते हैं। (२) **स्रुचा**=(यजमानः स्रुचः तै० ३।३।६।३) यज्ञशील पुरुष से **प्रतीकम्**=अंग-प्रत्यंग **अज्यते**=अलंकृत किया जाता है। यज्ञशीलता हमें विलास से दूर ले जाती है, 'विलास से दूर रहना' हमें विनाश से बचाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। ज्ञान-वाणियों के द्वारा उसका स्तवन करें। यज्ञशील बनकर अलंकृत अंगोंवाले हों।

ऋषिः—**उरुक्षय आमहीयवः** ॥ देवता—**अग्नि रक्षोहा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'मधु प्रतीक' प्रभु

घृतेनाग्निः समज्यते मधुप्रतीक आहुतः। रोचमानो विभावसुः॥ ४॥

(१) **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञान के दीपन से **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **समज्यते**=जाने जाते हैं। (अगि गतौ) प्रभु प्राप्ति का उपाय यह है कि—हम शरीर से मलों का क्षरण करके शरीर को स्वस्थ रखने का ध्यान करें और स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान को दीप्त करें। (२) वे प्रभु **मधु प्रतीकः**=अत्यन्त मधुर मुखवाले हैं, अत्यन्त प्रेममय शब्दों में उत्साह की प्रेरणा देनेवाले हैं। **आ-हुतः**=(आ हुतं यस्य) समन्तात् दानवाले हैं। **रोचमानः**=तेजस्विता व ज्ञान से दीप्त हैं। **विभावसुः**=ज्ञानरूप धनवाले हैं। उपासक को भी प्रभु यह ज्ञानरूप धन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए हम मलों को अपने से दूर करें तथा ज्ञान को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। प्रभु हमें अत्यन्त मधुर शब्दों में प्रेरणा देते हैं।

ऋषिः—**उरुक्षय आमहीयवः** ॥ देवता—**अग्नि रक्षोहा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'हव्यवाहन' प्रभु

जरमाणः समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन। तं त्वा हवन्त मर्त्याः॥ ५॥

(१) हे **हव्यवाहन**=हव्य-पवित्र पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **जरमाणः**=स्तुति किये जाते हुए **देवेभ्यः**=देवों के लिए **समिध्यसे**=दीप्त होते हो। देववृत्ति के पुरुषों के हृदय में, स्तवन के होने पर, प्रभु प्रकट होते हैं। (२) हे प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **मर्त्याः हवन्त**=सब मनुष्य पुकारते हैं। सब व्यक्ति कष्ट के आने पर प्रभु का ही स्मरण करते हैं। कष्ट निवारण के लिए प्रभु का ही आराधन करते हैं। देव तो सदा प्रभु का स्मरण करते ही हैं, वस्तुतः उनके देवत्व का रहस्य इस प्रभु-स्मरण में ही है। मर्त्य भी प्रभु को ही पुकारते हैं। वे प्रभु ही सब हव्यपदार्थों को प्राप्त कराके हमारे कष्टों को दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु देववृत्ति के पुरुषों के हृदयों में प्रकट होते हैं।

ऋषिः—**उरुक्षय आमहीयवः** ॥ देवता—**अग्नि रक्षोहा** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अदाभ्य-गृहपति

तं मर्ता अमर्त्यं घृतेनाग्निं सपर्यत। अदाभ्यं गृहपतिम्॥ ६॥

(१) हे **मर्ताः**=मनुष्यो! **तम्**=उस **अमर्त्यम्**=अविनाशी **अग्निम्**=प्रभु को **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति तथा मलों के क्षरण से **सपर्यत**=पूजित करो। वे प्रभु **अदाभ्यम्**=हिंसित होने योग्य नहीं। **गृहपतिम्**=इस शरीररूप गृह के वे रक्षक हैं। (२) जब तक मनुष्य प्रभु के उपासन से दूर रहते हैं तब तक संसार के इन तुच्छ विषयों में ही फँसे रह जाते हैं। इन विषयों के लिए अत्यन्त लालायित होने से इनके पीछे मरते रहने से ही वे 'मर्त' कहलाते हैं। प्रभु अमर्त्य हैं, प्रभु का उपासक भी अमर्त्य बनता है। प्रभु प्राप्ति के आनन्द की तुलना में विषयरस समाप्त हो जाता है। विषयों से हमें ऊपर उठाकर प्रभु हमारे इन शरीरों को जीर्ण होने से बचाते हैं, इसी से प्रभु 'गृहपति' कहलाते हैं। वे प्रभु हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। हमें ये शत्रु हिंसित कर ले, पर प्रभु 'अदाभ्य' हैं, प्रभु हमारे लिये इनका संहार करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करते हैं, प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करके हमारे शरीर-गृह का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**उरुक्षय आमहीयवः** ॥ देवता—**अग्नि रक्षोहा** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋतस्य गोपाः

अदाभ्येन शोचिषाग्ने रक्षस्त्वं दह। गोपा ऋतस्य दीदिहि॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अदाभ्येन शोचिषा**=अपनी कभी हिंसित न होनेवाली ज्ञानदीप्ति से **रक्षः**=राक्षसी भावों का **दह**=दहन कीजिए। आपकी उपासना से मेरे में भी वह ज्ञान की ज्योति जगे, जिसमें कि सभी राक्षसी भावों का दहन हो जाए। (२) हे प्रभो! **ऋतस्य**=ऋत के **गोपाः**=रक्षक आप **दीदिहि**=मेरे हृदय में दीप्त होइये। हृदय में आपकी ज्योति जगने पर मेरा जीवन ऋत से परिपूर्ण हो उठता है। आप 'ऋत' स्वरूप हैं, आपकी उपस्थिति में मेरा हृदय भी अनृत का निवास-स्थान नहीं बन पाता। ऋत का अर्थ यज्ञ भी है। प्रभु के प्रकाश के होने पर मेरा जीवन यज्ञमय हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की ज्योति से मेरे राक्षसी भावों का दहन हो जाए। मेरा जीवन ऋतमय हो। मैं यज्ञों में ही आनन्द लेनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**उरुक्षय आमहीयवः** ॥ देवता—**अग्नि रक्षोहा** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यातुधानों का ओषण

स त्वमग्ने प्रतीकेन प्रत्योष यातुधान्यः। उरुक्षयेषु दीद्यत्॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **स त्वम्**=वे आप **प्रतीकेन**=अपने अंगभूत तेज से **यातुधान्यः**=पीड़ा का आदान करनेवाली आसुरीवृत्तियों को **प्रत्योष**=एक-एक करके जला दीजिये। उपासक जब प्रभु के तेज से तेजस्वी बनता है तो ये सब अशुभवृत्तियाँ उस तेज में भस्म हो जाती हैं। (२) सब अशुभवृत्तियों के नष्ट हो जाने पर हे प्रभो! आप **उरुक्षयेषु**=इन विशाल हृदय रूप निवास-स्थानों में **दीद्यत्**=दीप्यमान होइये। वासनाएँ ही हृदय को संकुचित बनाती हैं। वासनाओं का विनाश होने पर हृदय विशाल हो जाता है और प्रभु का निवास-स्थान बनता है।

भावार्थ—प्रभु के तेजसे मेरी वासनाएँ दग्ध हो जाएँ और मेरे विशाल हृदय में प्रभु की दीप्ति दीप्त हो उठे।

ऋषिः—**उरुक्षय आमहीयवः** ॥ देवता—**अग्नि रक्षोहा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मानुषे जने

तं त्वा गीर्भिरुरुक्षया हव्यवाहं समीधिरे। यजिष्ठं मानुषे जने॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले **तं त्वा**=उन आपको **उरुक्षयाः**=विशाल हृदयरूप गृहवाले व्यक्ति ही **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **समीधिरे**=समिद्ध करते हैं। आप वस्तुतः सब पवित्र पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। आपको ज्ञान की वाणियों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। (२) आप **मानुषे**=विचारशील, मनन करनेवाले, **जने**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले इस व्यक्ति में **यजिष्ठम्**=यजिष्ठ हैं, अधिक से अधिक संगतिकरणवाले होते हैं, प्राप्तिवाले होते हैं। आप 'मनुष जन' को ही प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का उपाय ज्ञानाग्नि को दीप्त करना है। इन विचारशील पुरुषों को ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

सूक्त का सार—प्रभु ज्ञान दीप्ति व मलों के क्षरण से प्राप्त होते हैं। प्रभु हमें ज्ञानरूप धन को प्राप्त करानेवाले हैं। इस ज्ञानरूप धन को प्राप्त करके यह प्रभु का अनन्य भक्त बनता है, सो 'ऐन्द्रः' कहलाता है। संसार वृक्ष का छेदन करनेवाला होने से यह 'लवः' है। अथवा सदा प्रभु के नामों का जप करनेवाला यह 'लबः' (लप् व्यक्तायां वाचि) कहलाता है। यह प्रभु-स्मरण द्वारा वासनाओं का विनाश करता हुआ सोम का शरीर में रक्षण करता है और कहता है कि—

[११९] एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सशक्त इन्द्रियाँ

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति। कुवित्सोमस्यापामिति॥ १॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान व रक्षण किया है **इति**=इस कारण इति **वा**=निश्चय से **इति मे मनः**=इस प्रकार मेरा मन है कि **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों को **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को **सनुयां इति**=प्राप्त करूँ। (२) सोम के रक्षण से ज्ञानेन्द्रियाँ भी उत्तम बनती हैं और कर्मेन्द्रियाँ भी सशक्त होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थों का ज्ञान प्राप्त कराने के कारण 'गो' शब्द से कही गई हैं (गमयन्ति अर्थान्), तथा कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में व्याप्त होने से 'अश्व' हैं। सोमरक्षण से सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहती है।

भावार्थ—मैं सोम का शरीर में रक्षण करूँ और परिणामतः मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ सशक्त हों।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्फूर्ति व उद्यम

प्र वाता इव दोधत उन्मा पीता अयंसत। कुवित्सोमस्यापामिति॥ २॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपां इति**=मैंने पान व रक्षण किया है, सो **पीताः**=अपने शरीर में ही व्याप्त किये हुए ये सोम मुझे **दोधतः**=वृक्षादिकों को कम्पित करते हुए **प्र वाताः इव**=प्रबल वायुओं की तरह **मा**=मुझे **उद् अयंसत**=उद्यमवाला करते हैं। (२) प्रबल वायु मार्ग में आनेवाले वृक्षों को कम्पित करता हुआ आगे बढ़ता है, इसी प्रकार सोमपान (=वीर्यरक्षण) करनेवाला व्यक्ति सब विघ्नों को जीतकर उद्योगवाला होता है।

भावार्थ—सोमपान से शरीर में स्फूर्ति व उद्यम का संचार होता है।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उन्नति के मार्ग पर

उन्मा पीता अयंसत रथमश्वाइवाशवः। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ३॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है **इति**=इस कारण **पीताः**=ये शरीर में ही व्याप्त किये हुए (=पिये हुए) सोम **मा**=मुझे, **आशवः**=शीघ्रगामी **अश्वाः**=घोड़े **रथं इव**=जिस प्रकार रथ को तीव्र गति से ले चलते हैं, उसी प्रकार **उत् अयंसत**=उन्नति के मार्ग पर ले चलते हैं। (२) सोम के पान से, वीर्यरक्षण से मनुष्य उन्नति के मार्ग पर इस प्रकार आगे बढ़ता है जैसे कि तीव्रगामी अश्व रथ को लेकर आगे बढ़ते हैं। आगे बढ़ता हुआ यह मनुष्य अधिक और अधिक उन्नत होता चलता है उन्नति का मार्ग सोमरक्षणामूलक ही है। मैं सोम का रक्षण करता हूँ। रक्षित सोम मुझे उन्नत करता है।

भावार्थ—उन्नति के मार्ग का आक्रमण सोमरक्षण पर ही निर्भर करता है।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

बुद्धि की तीव्रता

उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम्। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ४॥

(१) **वाश्रा**=शब्दायमाना-रम्भाती हुई, धेनु **इव**=जैसे **प्रियं पुत्रम्**=अपने प्रिय वत्स (बछड़े) को प्राप्त होती है, अथवा **वाश्रा**=उत्साहवर्धक शब्द बोलती हुई जैसे माता प्रिय पुत्र के समीप आती है, उसी प्रकार **मा**=मुझे **मतिः**=बुद्धि **उप अस्थित**=प्राप्त हो। **इति**=इसी कारण, इसी उद्देश्य से ही तो **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य अपाम्**=मैंने सोम का पान किया है। सोमरक्षण से ही मुझे उत्कृष्ट बुद्धि प्राप्त हुई है। (२) रक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है, ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला ईंधन यह सोम ही है। इस प्रकार सोमरक्षण से मैं तीव्र बुद्धि को प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारी बुद्धि तीव्र होती है।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

श्रद्धा-बुद्धि

अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ५॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है **इति**=इस कारण **अहम्**=मैं **हृदा**=हृदय से, श्रद्धा से **मतिम्**=बुद्धि को **पर्यचामि**=(परि अञ्च्) प्राप्त करता हूँ। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **तष्टा**=शिल्पी **वन्धुरम्**=(diadem) मुकुट को बनाता है। (२) सोम के रक्षण से मनुष्य श्रद्धा के साथ बुद्धि का अपने में विकास करनेवाला बनता है। वीर्य को अपव्ययित न होने देकर, शरीर में ही व्याप्त करने से श्रद्धा और बुद्धि दोनों का विकास होता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से शरीर में हृदय के साथ मति का विकास होता है। मनुष्य श्रद्धा और विद्या दोनों को प्राप्त करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विषय विमुखता

नहि मे अक्षिपच्चनाच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ६॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है **इति**=इस कारण **पञ्च**=पाँचों **कृष्टयः**=हमें अपनी ओर खेंचनेवाले विषय **मे**=मेरे **अक्षिपत् चन**=आँख के पतन को भी **नहि**=नहीं **अच्छान्त्सुः**=अपवृत कर सकते, अर्थात् विषयों की ओर मेरी आँख नहीं जाती। (२) विषय आकर्षक हैं। इनकी आपातरमणीयता सभी को लुभा लेती है। पर सोमरक्षण के कारण मुझे वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि मैं अपनी इन्द्रियों को इन विषयों की ओर जाने से रोक पाता हूँ। ये विषय मेरी आँख को अपनी ओर नहीं खैंच पाते।

भावार्थ—सोमपान के द्वारा मैं अपने मन को वशीभूत करके इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोक पाता हूँ।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अद्भुत-शक्ति

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ७ ॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है **इति**=इस कारण **उभे रोदसी**=ये दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक **मे**=मेरे **अन्यं पक्षं चन**=एक पासे के भी **प्रति**=मुकाबिले में **नहि**=नहीं होते हैं। (२) सोमपान से अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और मनुष्य सारे संसार का भी मुकाबिला करने में समर्थ हो जाता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि सारा संसार उसके एक पासे के भी तो बराबर नहीं। इस प्रकार सोमपान से वह इस अलौकिक शक्ति का अनुभव करता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण से दिव्य-शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

द्युलोक और पृथिवीलोक का विजय

अभि द्यां महिना भुवमभीइमां पृथिवीं महीम्। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ८ ॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है, **इति**=इस कारण **महिना**=अपनी महिमा से **द्यां अभिभुवम्**=मैंने द्युलोक का अभिभव किया है और **इमाम्**=इस **महीं पृथिवीम्**=विशाल पृथिवी को भी मैंने अभिभूत किया है। (२) सोमपान से वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे हम द्युलोक व पृथिवीलोक का विजय कर पाते हैं। ज्ञान की प्राप्ति ही द्युलोक का विजय है और शक्ति की प्राप्ति पृथिवीलोक का।

भावार्थ—सोम के रक्षण से मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बनता है और शरीर-शक्ति सम्पन्न होता है।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यहाँ रख दूँ या वहाँ?

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा। कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ९ ॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है **इति**=इस कारण **हन्त**=पूर्ण सम्भव है कि **अहम्**=मैं **इमां पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **इह निदधानि**=यहाँ रख दूँ **वा**=अथवा **इह वा**=इस दूसरे स्थान में उसे स्थापित कर दूँ। अन्तरिक्षलोक में स्थापित कर दूँ अथवा द्युलोक में स्थापित कर दूँ। (२) सोमपान से, वीर्यरक्षण से मनुष्य अपने अन्दर इतनी शक्ति का अनुभव करता है कि पृथिवी को भी स्थानान्तरित करने का सामर्थ्य है। सारी स्थिति को

ही परिवर्तित करने का सामर्थ्य अपने में देखता है। सारा संसार एक ओर हो और यह दूसरी ओर तो भी यह पराजय का स्वप्न नहीं देखता।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से मनुष्य सारे संसार को भी परिवर्तित कर देने का सामर्थ्य अपने में अनुभव करता है।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पृथ्वी पर सूर्य

ओषमित्पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा। कुवित्सोमस्यापामिति॥ १०॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है, **इति**=इस कारण **इत्**=निश्चय से **ओषम्**=अपने तेज से तपानेवाले आदित्य को **अहम्**=मैं **इह वा इह वा**=इस स्थान में व उस स्थान में, यथेष्ट स्थान में **पृथिवीं जङ्घनानि**=पृथिवी पर प्राप्त करा दूँ। (२) सोमरक्षण-वाला, वीर्यरक्षणवाला पुरुष जहाँ चाहे वहाँ पृथिवी पर सूर्य को प्राप्त करा सकता है। योगसिद्धियों में भी इस प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वीर्यरक्षण से पुरुष सम्पूर्ण पृथिवी को सूर्य की तरह प्रकाशमय करनेवाला होता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण होने पर इस पृथ्वीरूप शरीर में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

एक पक्ष द्युलोक, दूसरा पक्ष पृथ्वीलोक

दिवि मे अन्यः पक्षो३ऽधो अन्यमचीकृषम्। कुवित्सोमस्यापामिति॥ ११॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है **इति**=इस कारण **मे अन्यः पक्षः**=मेरा एक पक्ष **दिवि**=द्युलोक में है तो **अन्यम्**=दूसरे पक्ष को मैंने **अधः**=नीचे **अचीकृषम्**=(आस्थापयम् सा०) स्थापित किया है। (२) वीर्यरक्षण के द्वारा मैंने मस्तिष्क को ज्ञान से खूब दीप्त किया है तो मैंने इस शरीर रूप पृथिवी को भी बड़ा दृढ़ बनाया है। द्युलोक मेरा एक पक्ष है तो पृथिवीलोक दूसरा। इन दोनों पक्षों से मैंने अपने उत्त्थान का साधन किया है।

भावार्थ—सोमरक्षण से द्युलोक मेरा एक पासा बनता है, तो पृथिवीलोक दूसरा। मेरा ज्ञान चमकता है और शरीर दृढ़ बनता है।

ऋषिः—**लब ऐन्द्रः** ॥ देवता—**आत्मस्तुतिः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्यसम तेजस्वी

अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः। कुवित्सोमस्यापामिति॥ १२॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का **अपाम्**=मैंने पान किया है, वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित किया है **इति**=इस कारण **अहम्**=मैं **महामहः**=महान् तेजवाला **अस्मि**=हुआ हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि **अभिनभ्यम्**=नाभि में, केन्द्र में होनेवाले अन्तरिक्षलोक में **उदीषितः**=उद्गत सूर्य ही होऊँ। जैसे सूर्य तेजस्वी है, उसी प्रकार मैं तेजस्वी हो गया हूँ। (२) सोम का, वीर्य का रक्षण मनुष्य को सूर्य के समान तेजस्वी बनाता है। वस्तुतः इस पिण्ड में वीर्यकण की वही स्थिति है जो ब्रह्माण्ड में सूर्य की। सुरक्षित हुआ-हुआ सोमकण मुझे सूर्यसम दीप्तिवाला करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मैं सूर्य की तरह चमक उठता हूँ।

ऋषिः—लब ऐन्द्रः ॥ देवता—आत्मस्तुतिः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सद्गुणालंकृत-यज्ञशील

गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः। कुवित्सोमस्यापामिति॥ १३॥

(१) **कुवित्**=खूब ही **सोमस्य**=सोम का, वीर्य का **अपाम्**=मैंने पान व रक्षण किया है, **इति**=इस कारण **गृहः**=सब गुणों का ग्रहण करनेवाला, **अरंकृतः**=स्वास्थ्य निर्मलता व विद्या इत्यादि गुणों से अलंकृत हुआ-हुआ तथा **देवेभ्यः**=वायु आदि देवों के लिए **हव्यवाहनः**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाला, अर्थात् अग्निहोत्र करनेवाला बनकर **यामि**=जीवनयात्रा में गति करता हूँ। (२) वीर्यरक्षण से मनुष्य 'गृह' 'अरंकृत' व 'देवेभ्यः हव्यवाहन' बनता है। सदा अच्छाइयों को अपने में लेता है, अपने जीवन को शुभ गुणों से अलंकृत करता है तथा सदा यज्ञों का करनेवाला होता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण हमें सद्गुणालंकृत व यज्ञशील बनाता है।

यह सूक्त सोमपान, वीर्यरक्षण की महिमा का काव्यमय वर्णन करता है। अतिशयोक्ति अलंकार से काव्यमय भाषा का सौन्दर्य और भी बढ़ गया है। यह सोम का रक्षण करनेवाला 'आथर्वण' बनता है, 'अथर्व्'=न डाँवाडोल। 'बृहद्दिवः'=खूब ज्ञान के प्रकाशवाला। यह प्रभु-दर्शन करता हुआ कहता है कि—

[१२०] विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्येष्ठ ब्रह्म

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः॥ १॥

(१) **तद्**=ब्रह्म **इत्**=ही **भुवनेषु**=सब भुवनों में, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में **ज्येष्ठं आस**=सर्वश्रेष्ठ हैं। **यतः**=जिन ब्रह्म से **उग्रः**=तेजस्वी **त्वेषनृम्णः**=दीप्त बलवाला यह आदित्य **जज्ञे**=उत्पन्न हुआ है। प्रभु इस द्युलोक में देदीप्यमान सूर्य को उदित करते हैं, इसी प्रकार हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान का सूर्य प्रभु द्वारा उदित किया जाता है। (२) यह सूर्य **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होता हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **शत्रून्**=शत्रुभूत अन्धकारों को **निरिणाति**=नष्ट करता है। मस्तिष्क में उदित होनेवाला ज्ञान सूर्य अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला होता है। अज्ञानान्धकार के नाश के द्वारा **विश्वे ऊमाः**=सब अपना रक्षण करनेवाले प्राणी **यम्**=जिसके **अनु मदन्ति**=पीछे उल्लास का अनुभव करते हैं। जितना-जितना प्रभु का उपासन करते हैं, उतना-उतना एक अवर्णनीय रस का अनुभव लेते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से ज्ञान सूर्य का उदय होता है, वासनान्धकार का विनाश होता है और प्रभु प्राप्ति के आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—बृहद्दिव आथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति-पुञ्ज प्रभु

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु॥ २॥

(१) वे प्रभु **शवसा वावृधानः**=बल से खूब बढ़े हुए हैं। **भूरि ओजाः**=अतिशयित ओजवाले हैं। **शत्रुः**=हमारी वासनाओं का शातन करनेवाले हैं। **दासाय**=(दसु उपक्षये) हमारी शक्तियों को क्षीण करनेवाले काम-क्रोध के लिए **भियसं दधाति**=भय को धारण करते हैं। (२) वे प्रभु **अव्यनत्**=प्राण न लेनेवाले स्थावर पदार्थों को **च**=तथा **व्यनत्**=विशेषरूप से प्राण धारण करनेवाले जंगम प्राणियों को **सस्नि**=शुद्ध करनेवाले हैं। सब प्रकार के मलों को दूर करके वे प्रभु सर्वत्र पवित्रता का संचार करनेवाले हैं। हे प्रभो! **ते**=आपके **मदेषु**=आनन्दों में **प्रभृता**=धारण किये हुए सब प्राणी **संनवन्त**=सम्यक् स्तवन करते हैं (नु स्तुतौ) अथवा आपकी ओर गतिवाले होते हैं (नव गतौ)।

भावार्थ—प्रभु अनन्त शक्तिवाले हैं। हमारे शत्रुओं को भयभीत करके हमारे से दूर करते हैं। सबका शोधन करते हैं। उपासक प्रभु प्राप्ति के आनन्द में निरन्तर प्रभु का स्तवन करते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु में जीवन का शोधन

त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ३ ॥

(१) **विश्वे**=सब उपासक **त्वे**=आप में ही, आप की उपासना के द्वारा ही **क्रतुम्**=कर्मों व संकल्पों को **अपिवृञ्जन्ति**=(purify) पवित्र करते हैं। (२) **एते**=ये **ऊमाः**=आप में अपने मलों का प्रक्षालन करके अपना रक्षण करनेवाले लोग **यद्**=जब **द्विः भवन्ति**=दो बार होते हैं, अर्थात् प्रातः-सायं आपके ध्यान में बैठते हैं अथवा **त्रिः भवन्ति**=तीन बार आपकी उपासना में स्थित होते हैं, तो **स्वादोः स्वादीयः**=स्वादु से भी स्वादु, अर्थात् मधुरतम आप इस उपासक के जीवन को **स्वादुना**=माधुर्य से **सृजा**=संसृष्ट करते हैं। (३) **अदः**=उस उपासक के **सु मधु**=उत्तम मधुर जीवन को **मधुना**=और अधिक माधुर्य से **सं अभियोधीः**=वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा संगत करते हैं। वासनाओं को विनष्ट करके इस उपासक के जीवन को आप अधिक मधुर बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के द्वारा हम अपने कर्मों व संकल्पों को पवित्र करें। दो बार व तीन बार प्रभु के चरणों में बैठने का नियम बनाएँ। प्रभु हमारे जीवन को मधुर बनाएँगे।

सूचना—तीन बार प्रभु के चरणों में बैठने का भाव इस रूप में लेना चाहिए कि हम बाल्य, यौवन व वार्धक्य तीनों सवनों में (बाल्य=प्रातः सवन, यौवन=माध्यान्दिन सवन, वार्धक्य=तृतीय सवन) प्रभु चरणों में बैठनेवाले बनें। केवल वार्धक्य को ही उपासना काल न समझें।

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन के साथ प्रभु-स्मरण

इति चिद्धि त्वा धना जयन्तं मदेमदे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयो धृष्णो स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्यातुधाना दुरेवाः ॥ ४ ॥

(१) **इति चित् हि**=इस प्रकार निश्चय से **धना जयन्तं त्वा**=सब धनों का विजय करनेवाले आपको **विप्राः**=ये ज्ञानी पुरुष **मदे मदे**=प्रत्येक हर्ष के अवसर **अनुमदन्ति**=(स्तुवन्ति सा०) अनुकूलता से स्तुत करते हैं। ज्ञानी पुरुष सब धनों की विजय को आपकी ही विजय समझते हैं और इन विजयों में प्रसन्नता के प्राप्त होने पर आपका ही स्तवन करते हैं, जिससे इन विजयों के हर्ष में वास्तविकता को भूलकर वे अहंकार व ममता का शिकार न हो जाएँ। २) हे **धृष्णो**=शत्रुओं

का धर्षण करनेवाले प्रभो! **ओजीयः**=ओजस्वितावाले **स्थिरम्**=स्थिर धन को **आतनुष्व**=हमारे लिए विस्तृत करिये। हमें धन प्राप्त हो, वह धन हमारी ओजस्विता को बढ़ानेवाला हो और हमारी चित्तवृत्ति को अस्थिर करनेवाला न हो। उस धन के कारण हम व्यर्थ के विषयों में भटकनेवाले न बन जाएँ। इन धनों के कारण हमारे जीवनों में **दुरेवाः**=दुर्ग मनवाले **यातुधानाः**=पीड़ा को आहित करनेवाले आसुरभाव **त्वा मा दभन्**=आपके स्मरण को हमारे हृदयों से हिंसित न कर दें। धनों में व्यासक्त हो हम आपको भूल न जाएँ। 'धन हों, धनों के साथ प्रभु का स्मरण हो' वही जीवन धन्य है।

भावार्थ—हमें धन प्राप्त हों। ये धन हमारी ओजस्विता व चित्तवृत्ति की स्थिरता को नष्ट करनेवाले न हों। धनों में आसक्त होकर हम प्रभु को न भूल जाएँ।

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की उपासना द्वारा शत्रु विजय

त्वया॑ व॒यं शा॑शद्म॒हे रणे॑षु प्र॒पश्य॑न्तो यु॒धेन्या॑नि॒ भूरि॑।
चो॒दया॑मि त॒ आयु॑धा॒ वचो॑भिः॒ सं ते॑ शिशामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वयां॑सि॥ ५॥

(१) हे प्रभो! **रणेषु**=संग्रामों में **वयम्**=हम **त्वया**=आपके साथ **प्रपश्यन्तः**=अच्छी प्रकार से देखते हुए, ज्ञान को प्राप्त करते हुए **युधेन्यानि**=युद्ध करने योग्य, 'काम, क्रोध, लोभ' आदि असुरों को **भूरि**=खूब ही **शाशद् महे**=नष्ट करनेवाले हों। हमारे अन्दर छिपकर रहनेवाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं को हम अवश्य विनष्ट करनेवाले हों। (२) **ते**=आप से दिये हुए **आयुधा**=इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप अस्त्रों को **वचोभिः**=आपके वेद में दिये गये निर्देशों के अनुसार **चोदयामि**=प्रेरित करता हूँ। **ते ब्रह्मणा**=आपके इस वेदज्ञान से व स्तवन से **वयांसि**=मैं अपने जीवनों को **सं शिशामि**=(शो तनूकरणे) तीव्र करता हूँ। मेरा जीवन तीव्र बुद्धिवाला बनता है, और इस प्रकार मैं वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर हम वासनारूप शत्रुओं को युद्ध में पराजित करें। इन्द्रिय, मन व बुद्धि रूप अस्त्रों को तीव्र करें।

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋषि आश्रय, नकि दानव-गृह

स्तु॒षेय्यं॑ पुरु॒वर्प॑समृभ्व॑मि॒नत॑ममा॒प्त्यमा॒प्त्याना॑म्।
आ द॑र्षते॒ शव॑सा स॒प्त दा॒नून्प्र सा॑क्षते प्रति॒माना॑नि॒ भूरि॑॥ ६॥

(१) मैं उस इन्द्र का स्तवन करता हूँ जो **स्तुषेय्यम्**=(स्तोतव्यम्) स्तुति के योग्य हैं, **ऋभ्वम्**=(उरु भासमाने) खूब दीप्त हैं, **पुरुवर्पसप्**=नानारूपोंवाले हैं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। **इनतमम्**=श्री सर्वमहान् इश्वर हैं, **आप्त्यानां आप्त्यम्**=आप्त्यों में आप्त्य हैं, विश्वसनीयों में विश्वसनीय हैं। (२) स्तुति किये गये ये प्रभु **शवसा**=शक्ति के द्वारा **सप्त दानून्**=सप्त ऋषियों के विपरीत सप्त दानवृत्तियों को **आदर्षते**=विदीर्ण करते हैं। और **प्रतिमानानि**=इनके प्रत्येक निवास-स्थान को **भूरि प्रसाक्षते**=खूब ही विनष्ट करते हैं। (प्रतिमानानि=असुराणां स्थानानि)। (३) 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' शरीर में सात ऋषियों की स्थापना हुई है। ये सात उत्तम भावनाएँ विकृत होती हैं, तो ये सात दानव बन जाते हैं। प्रभु इन दानवों के किलों का विनाश

करते हैं हमारा जीवन प्रभु कृपा से विषयास्वाद् (लक् आस्वादने) से ऊपर उठकर फिर से अजेय हो जाता है, हमें वासनाएँ पराजित नहीं कर पाती।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हमारा जीवन दानव-गृह नहीं, अपितु ऋषियों का आश्रय बनता है।

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अवर व पर धन का स्थापन

नि तद्दधिषेऽवरं परं च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।
आ मातरा स्थापयसे जिगत्नू अत इनोषि कर्वरा पुरूणि॥ ७॥

(१) हे प्रभो! **यस्मिन् दुरोणे**=जिस यज्ञशील पुरुष के इस शरीर रूप गृह में **अवसा**=(protection, food, wealth) रक्षण के द्वारा, उत्तम भोजन के द्वारा व धनों के द्वारा **आविथ**=आप रक्षण करते हो, उस गृह में **तत्**=उस प्रसिद्ध **अवरम्**=इस निचले पार्थिव धन को **परं च**=और उत्कृष्ट दिव्य धन को **नि दधिषे**=निश्चय से स्थापित करते हो। आप संसार यात्रा के लिए पार्थिव धनों को प्राप्त कराते हो, तो अध्यात्म उत्कर्ष के लिए दिव्य धन को देते हो। अथवा आप शक्ति व ज्ञान की स्थापना करते हो—क्षत्र और ब्रह्म की। (२) आप **जिगत्नू**=गतिशील **मातरा**=जीवन का निर्माण करनेवाली पार्थिव व दिव्यशक्तियों की **आस्थापयसे**=स्थापना करते हैं। हमारा शरीर व मस्तिष्क (पृथिवीलोक व द्युलोक) दोनों ही बड़े गतिशील होते हैं। और **अतः**=इससे क्षत्र व ब्रह्म के प्रायण से आप **पुरुणि कर्वरा**=पालक व पूरक कर्मों को (कर्वर=work) **इनोषि**=व्याप्त करते हैं। हम प्रभु से शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके उन कर्मों को करनेवाले बनते हैं जो हमारा पालन व पूरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे में अवर और पर धन की स्थापना करते हैं। हमें शक्ति व ज्ञान देते हैं, जिनसे कि हम पालक व पूरक कर्म कर पाते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रिय शक्तियों का विकास=सुख

इमा ब्रह्म बृहद्दिवो विवक्तीन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजो दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जिसके जीवन में प्रभु द्वारा अवर व पर धन की स्थापना की गई है वह **बृहद्दिवः**=उत्कृष्ट ज्ञान-धनवाला व्यक्ति **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **इमा ब्रह्म**=इन स्तोत्रों का **विवक्ति**=उच्चारण करता है। (२) इस स्तवन से **अग्रियः**=जीवन मार्ग में आगे बढ़नेवाला **स्वर्षाः**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाला यह 'बृहद्दिव' **शूषम्**=शत्रु-शोषक बल को (नि० ३।९) व सुख को (नि० ३।६) **क्षयति**=(क्षि गतौ) प्राप्त होता है और **महः गोत्रस्य**=इस तेजस्वी इन्द्रिय-समूह का **क्षयति**=ईश्वर होता है (क्षि)। (३) यह **स्वराजः**=अपना शासन करनेवाला व्यक्ति **विश्वाः**=सब **स्वाः**=अपने **दुरः**=इन्द्रिय द्वारों को **अप अवृणोत्**=खोलनेवाला होता है, निवृत करनेवाला होता है। इसकी इन्द्रिय शक्तियों का विकास हो जाता है। यह इन्द्रिय शक्तियों का विकास ही वास्तविक 'सुख' है (सु=उत्तम, ख=इन्द्रियाँ)।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करता हुआ ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों का स्वामी बनता है, उनकी शक्तियों का विकास करता है और वास्तविक सुख को पाता है।

ऋषिः—**बृहद्दिव आथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मैं 'इन्द्र' ही तो हूँ (यदि वा द्या स्यामहं त्वम्)

एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्व१मिन्द्रमेव।
स्वसारो मातरिभ्वरीररिप्रा हिन्वन्ति च शवसा वर्धयन्ति च॥ १॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **महान्**=पूजा की वृत्तिवाला (मह पूजायाम्) **बृहद्दिवः**=उत्कृष्ट ज्ञान-धनवाला **अथर्वा**=न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष **स्वां तन्वम्**=अपने शरीर को **इन्द्रं एव अवोचत्**=परमेश्वर ही कहता है। अन्तःस्थित प्रभु के कारण उसे प्रभु ही समझता है। शीशी में शहद हो, तो शीशी की ओर संकेत करके यही तो कहा जाता है कि 'यह शहद है'। इसी प्रकार आनन्द स्थित प्रभु को देखता हुआ यह अपने शरीर की ओर निर्देश करता हुआ यही कहता है कि 'यह प्रभु ही है'। (२) इस प्रकार ये **स्वसारः**=उस आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले, **मातरिभ्वरीः**=सदा वेदवाणीरूप माता में होनेवाले, अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त होनेवाले **अरिप्राः**=निर्दोष पुरुष **हिन्वन्ति च**=उस प्रभु की ओर जाते हैं **च**=और **शवसा**=शक्ति के द्वारा **वर्धयन्ति**=अपने को बढ़ाते हैं। जितना-जितना हम प्रभु के समीप होते जाते हैं, उतनी-उतनी हमारी शक्ति बढ़ती जाती है।

भावार्थ—ज्ञानी देखता है कि प्रभु की व्याप्ति के कारण वह प्रभु ही तो है। वह प्रभु की ओर चलनेवाला बनता है, सदा ज्ञान में निवास करता है और इस प्रकार अपनी शक्ति को बढ़ाता है।

सूक्त का सार यह है कि ज्येष्ठ ब्रह्म का स्तवन करता हुआ यह 'बृहद्दिव' 'इन्द्र' ही हो जाता है। यह अब उस ज्योतिर्मय प्रभु को अपने अन्दर देखने के कारण 'हिरण्यगर्भ' हो जाता है और प्रजाओं के रक्षण में लगा हुआ 'प्राजापत्य' होता है। प्रभु का 'हिरण्यगर्भ' नाम से स्तवन करता हुआ कहता है कि—

[१२१] एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सृष्टि का निर्माण व धारण

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

(१) 'हिरण्यं वै ज्योतिः, तद् गर्भे यस्य' **हिरण्यगर्भः**=ज्योतिर्मय गर्भवाला वह प्रभु **अग्रे समवर्तत**=सृष्टि के बनने से पूर्व ही था, वह कभी बना नहीं—'स्वयम्भू' है। **जातः**=सदा से प्रादुर्भूत हुआ-हुआ यह प्रभु **भूतस्य**=पृथिवी आदि का तथा प्राणिमात्र का **एकः पतिः**=अद्वितीय रक्षक **आसीत्**=सदा से है। प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं, अपनी सर्वज्ञता से वे इसे पूर्ण ही बनाते हैं। सृष्टि का निर्माण करके वे इसमें सब प्राणियों का रक्षण करते हैं। (२) **सः**=वे प्रभु **पृथिवीम्**=पृथिवी को, विस्तृत अन्तरिक्ष को **दाधार**=धारण करते हैं। **द्यां**=द्युलोक को धारण करते हैं, **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवी को धारण करते हैं। धारण करने के कारण ही **कस्मै**=उस आनन्दमय **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करते हैं। प्रभु सब कुछ देनेवाले हैं, प्रभु का उपासक भी देनेवाला बनता है। उस जैसा बनकर ही तो उसकी उपासना हो सकती है।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि का अपनी सर्वज्ञता से निर्माण करते हैं और इसका धारण करते हैं। हम भी निर्माणात्मक व धारणात्मक कर्मों में लगकर प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बल के द्वारा शोधन

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

(१) **यः**=जो प्रभु **आत्मदा**=(दैप् शोधने) हम आत्माओं का शोधन करनेवाले हैं। इस शोधन के लिए ही **बलदा**=हमें बलों के देनेवाले हैं। निर्बलता में ही पाप व मलिनता आती है। (२) **यस्य**=जिस प्रभु की **विश्वे**=सब **उपासते**=उपासना करते हैं। और समय प्रभु का न भी स्मरण करें, आपत्ति आने पर तो उसे याद करते ही हैं। पर **देवाः**=देव लोग **यस्य**=जिसकी **प्रशिषम्**=आज्ञा को उपासित करते हैं। प्रभु के गुणगान ही न करते रहकर प्रभु के आदेशों का पालन करने का प्रयत्न करते हैं। सामान्य लोग प्रभु की, पर ज्ञानी प्रभु की आज्ञा की उपासना करते हैं। (३) **यस्य**=जिस प्रभु का **छाया**=किया हुआ छेदन-भेदन, दिया हुआ दण्ड **अमृतम्**=हमारी अमरता के लिए हैं। अर्थात् प्रभु का दण्ड कभी बदले की भावना से न होकर हमारे सुधार के लिए ही होता है। **यस्य मृत्युः**=प्रभु की, प्रभु से प्राप्त करायी गयी, तो **मृत्युः**=मृत्यु भी हमारी अमरता के लिए है। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा को करें।

भावार्थ—प्रभु शक्ति को देकर हमारा शोधन करते हैं। हम प्रभु के आदेशों का पालन करके प्रभु के सच्चे पुजारी होते हैं। प्रभु से दिया गया दण्ड भी हमारा कल्याण करनेवाला है।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह अद्वितीय 'ईश'

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

(१) **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=श्वासोच्छ्वास लेनेवाले प्राणियों तथा **निमिषतः**=आँखों की पलक सदा बन्द किये हुए वनस्पतियों, इस द्विविध **जगतः**=जगत् का **महित्वा**=अपनी महिमा के कारण **एकः इत्**=अकेले ही **राजा बभूव**=शासक हैं। प्रभु सम्पूर्ण चराचर जगत् का, स्थावरजंगम संसार का शासन कर रहे हैं। (२) **यः**=जो **अस्य**=इन **द्विपदः चतुष्पदः**=दो पाँवोंवाले पक्षियों के तथा चार पाँववाले पशुओं के **ईशे**=ईश हैं। इनके अन्दर उस-उस नैपुण्य को स्थापित करनेवाले हैं। मधुमक्षिकाओं को शहद के निर्माण का नैपुण्य प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। चील का शान्त परों से उड़ना प्रभु की ही महिमा का द्योतक है। सिंह को अद्भुत तैरने का सामर्थ्य प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=देव के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। इस पूजा के द्वारा हम भी उन्नतिपथ पर आगे बढ़ सकेंगे।

भावार्थ—चराचर जगत् के स्वामी प्रभु ने ही पशु-पक्षियों में अद्भुत नैपुण्यों को स्थापित किया है। उसका पूजन ही हमें भी जीवन-मार्ग में उन्नत करता है।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पर्वत-पृथ्वी-नदी' सब प्रभु की विभूति हैं

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

(१) **इमे हिमवन्तः**=ये हिमाच्छादित पर्वत **यस्य**=जिसकी **महित्वा**=महिमा को **आहुः**=प्रकट कर रहे हैं। और **रसया सह**=इस पृथ्वी के साथ **समुद्रम्**=समुद्र **यस्य**=जिसकी महिमा को प्रकट कर रहा है। हिमाच्छादित पर्वतों में, समुद्र में, पृथिवी में सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। (२) **इमाः प्रदिशः**=ये प्रकृष्ट दिशाएँ **यस्य**=जिसकी महिमा को प्रकट करती हैं और वस्तुतः ये सब दिशाएँ **यस्य बाहू**=जिसकी बाहुएँ ही है। 'बाह् प्रयत्ने' इन सब दिशाओं में प्रभु की कृतियों का ही दर्शन होता है। उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=प्रकाशमय या सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा करें।

भावार्थ—यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभु की ही विभूति है, ये सब पर्वत-पृथिवी-समुद्र प्रभु की ही महिमा का गायन करते हैं। इन सब में प्रभु की महिमा को देखते हुए हम प्रभु का ही स्तवन करें।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'तेजस्वी द्युलोक' व 'दृढ पृथिवी'

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

(१) **येन**=जिस प्रभु ने **द्यौः उग्रा**=द्युलोक को बड़ा तेजस्वी बनाया है, **च**=और **पृथिवी**=पृथिवी को **दृढा**=दृढ़ किया है। द्युलोक सूर्य व सितारों से देदीप्यमान है, और पृथिवी आकाश से गिरनेवाले ओलों को किस प्रकार अविचल भाव से सहन करती है। **येन**=जिस प्रभु ने **स्वः**=इस देदीप्यमान सूर्य को अथवा स्वर्गलोक को **स्तभितम्**=थामा है, तथा **येन**=जिसने **नाकः**=मोक्षलोक का धारण किया है। (२) **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस अन्तरिक्ष लोक में **रजसः**=जल का **विमानः**=एक विशिष्ट व्यवस्था के द्वारा निर्माण करनेवाले हैं। सूर्य की उष्णता से वाष्पीभूत होकर जल ऊपर उठता है, ये वाष्प ऊपर जाकर ठण्डे प्रदेश में पहुँचने पर फिर से घनीभूत होकर बादल के रूप में होते हैं। इस प्रकार अन्तरिक्ष लोक में जल का निर्माण होता है। इस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें।

भावार्थ—द्युलोक, पृथ्वीलोक, स्वर्ग व मोक्ष सभी का धारण करनेवाले प्रभु हैं। ये प्रभु ही एक विशिष्ट व्यवस्था द्वारा अन्तरिक्ष में जलों का निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रन्दसी-रेजमाने

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६॥

(१) **यम्**=जिस प्रभु को **क्रन्दसी**=परस्पर आह्वान-सा करते हुए, एक दूसरे को ललकारते से हुए, **अवसा**=प्रभु के रक्षण से **तस्तभाने**=थामे जाते हुए **रेजमाने**=देदीप्यमान द्यावापृथिवी

मनसा अभ्यैक्षेताम्=मन से देखते हैं। सारा ब्रह्माण्ड उस-उस विभूति के लिए परमेश्वर की ओर ही देखता है। सूर्य चन्द्र को प्रभा के देनेवाले वे प्रभु ही हैं, जल में रस का स्थापन तथा पृथिवी में पुण्यगन्ध का स्थापन प्रभु ही करते हैं। (२) **यत्र**=जिस प्रभु के आधार में **उदितः**=उदय हुआ-हुआ **सूरः**=सूर्य **अधि विभाति**=आधिक्येन चमकता है। उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा को करते हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथ्वीलोक उस प्रभु से ही महिमान्वित हो रहे हैं। सूर्य को द्युलोक में प्रभु ही स्थापन करते हैं। इस प्रभु का दानपूर्वक अदन से हम अर्चन करें।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बृहतीः आपः

आपो॑ ह॒ यद् बृ॑ह॒तीर्विश्व॒माय॒न्गर्भं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम्।
ततो॑ दे॒वानां॒ सम॑वर्त॒तासु॒रेकः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ७ ॥

(१) सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति का पहला परिणाम 'महत् तत्त्व' कहलाता है। यह सारा संसार इस महत् तत्त्व के गर्भ में होता है। यह एक homogeneons=सम अवस्था में स्थित **नभ**=बादल के समान होता है। यहाँ इसे व्यापक-सा होने के कारण 'आपः' (आप् व्याप्तौ) नाम दिया गया है। **यद्**=जब **ह**=निश्चय से **विश्वं गर्भं दधानाः**=सम्पूर्ण संसार को अपने अन्दर धारण करते हुए **अग्निं जयन्तीः**=अग्नि आदि तत्त्वों को जन्म देनेवाले **बृहतीः आपः**=ये विशाल **आपः**=अथवा महत्तत्त्व **आयन्**=गतिवाले होते हैं **ततः**=तब **देवानाम्**=उत्पन्न होनेवाले सूर्यादि देवों का वह प्रभु ही **एकः असुः समवर्तत**=अद्वितीय प्राण होता है। प्रभु ही सब देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। सूर्य में प्रभा को वे ही स्थापित करते हैं, जलों में रस को तथा पृथिवी में गन्ध को स्थापित करनेवाले वे ही हैं। (२) इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब कुछ देनेवाले परमात्मा के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले हों। ये प्रभु ही सब देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। इन्हीं से मुझे भी देवत्व की प्राप्ति होगी। जितना-जितना मैं त्याग करूँगा, उतना-उतना ही प्रभु के समीप होता जाऊँगा। जितना-जितना प्रभु के समीप हूँगा, उतना-उतना चमकता चलूँगा।

भावार्थ—'महद् ब्रह्म' उस प्रभु की योनि है। प्रभी की अध्यक्षता में इस महद् ब्रह्म से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है। इन सबको देवत्व प्रभु ही प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अधिदेव

यश्चि॒दापो॑ महि॒ना प॒र्यप॑श्य॒द्दक्षं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर्य॒ज्ञम्।
यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व एक॒ आसी॒त्कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ८ ॥

(१) **यः**=जो **चित्**=निश्चय से **महिनः**=अपनी महिमा से **दक्षं दधानाः**=सम्पूर्ण (growth) विकास व उन्नति को धारण करते हुए, **यज्ञं जनयन्तीः**=इस सृष्टियज्ञ को जन्म देते हुए (यज=संगतिकरण) 'सत्त्व, रज, तम' के संगतिकरण रूप संसार को जन्म देते हुए **आपः**=व्यापक महत् तत्त्व को **पर्यपश्यत्**=सम्यक्तया देखता है, इसका अधिष्ठातृत्व करता है। अर्थात् जिसकी अध्यक्षता में ही यह महत् तत्त्व सब भूतों को जन्म देता है। (२) **यः**=जो **देवेषु**=सूर्य आदि सब देवों में **एकः**=अद्वितीय **अधि देवः**=अधिष्ठातृदेव **आसीत्**=है, जो इन सूर्यादि देवों को देवत्व प्राप्त करा रहा है। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन

द्वारा **विधेम**=पूजा को करें।

भावार्थ—प्रभु के अधिष्ठातृत्व में ही महत्तत्त्व सब भूतों को जन्म देता है। वे प्रभु ही सूर्यादि देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रक्षण

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ९ ॥

(१) **यः**=जो **पृथिव्याः**=इस प्राणियों के निवास-स्थानभूत पृथ्वी का **जनिता**=उत्पादक है, वह **नः**=हमें **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे। **वा**=अथवा वह **सत्यधर्मा**=सत्य का धारण करनेवाला प्रभु **यः**=जो **दिवं जजान**=द्युलोक को उत्पन्न करता है, वह हमें हिंसित न करे। वस्तुतः वह प्रभु पृथ्वीलोक व द्युलोक को उत्पन्न करके प्राणियों की रक्षा की व्यवस्था करता है। पृथिवी हमारी मातृ-स्थानापन्न होती है और द्युलोक हमारा पितृतुल्य होता है। 'द्यौ पिता, पृथिवी माता'। जैसे 'माता-पिता' सन्तानों का रक्षण करते हैं, उसी प्रकार प्रभु इन द्युलोक व पृथ्वीलोक के द्वारा हमारा रक्षण करते हैं। (२) और **यः**=जो प्रभु इन **चन्द्राः**=सब आह्लादों को जन्म देनेवाले **बृहतीः आपः**=महान् व्यापक महत्तत्त्व को **जजान**=पैदा करता है। प्रकृति से प्रभु ही इस महत्तत्त्व को पैदा करते हैं। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। प्रकृति का पहला परिणाम 'महत्तत्त्व' है, यही समष्टि बुद्धि भी कहलाता है। इस 'समष्टि बुद्धि' के रूप में यह वस्तुतः 'चन्द्राः' सब आह्लादों का कारण है।

भावार्थ—द्युलोके, पृथ्वीलोके व महत्तत्त्व के जन्म देनेवाले प्रभु हमें हिंसित होने से बचाएँ।

ऋषिः—**हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**कः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण व न्याय्य मार्ग से धनार्जन

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १० ॥

(१) हे **प्रजापते**=गत मन्त्र के अनुसार द्युलोके व पृथ्वीलोके का निर्माण करके सब प्रजाओं का रक्षण करनेवाले प्रभो! **त्वत् अन्यः**=आप से भिन्न और कोई **एतानि**=इन समीपस्थ व **ता**=उन दूरस्थ **विश्वाः**=सब **जातानि**=उत्पन्न हुए-हुए लोक-लोकान्तरों को **न परि बभूव**=व्याप्त नहीं कर रहा है। आप ही सब में व्याप्त हैं, आप ही उस-उस पदार्थ में वर्तमान उत्कर्ष का आधान कर रहे हैं। वायु में वेग को, अग्नि में तेज को, जल में रस को, पृथ्वी में पुण्यगन्ध को स्थापित करनेवाले आप ही हैं। आकाश में शब्द आप हैं, बुद्धिमानों में बुद्धि, बलवानों में बल व तेजस्वियों में तेज आप ही हैं। (२) **यत्कामाः**=जिस कामनावाले होते हुए **ते जुहुमः**=आपकी आराधना करते हैं, **तत् नः अस्तु**=वह हमें प्राप्त हो। और सब से बड़ी बात तो यह है कि **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=स्वामी हों। कभी भी धन के गुलाम न हो जाएँ। धन के दास बनकर अन्याय मार्ग से धन संग्रह में प्रवृत्त न हो जाएँ। इस कमी के न आने पर हमारा जीवन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—प्रभु की व्यापकता का स्मरण करें और अन्याय से धन न कमाएँ।

इस सूक्त में आनन्दमय देव की उपासना है। उसकी उपासना त्यागपूर्वक अदन से होता है।

त्यागपूर्वक अदन तब होता है जब कि मनुष्य निर्लोभ हो और धन का दास न बन जाए। यही अन्तिम मन्त्र में प्रार्थना है। धन का दास न बनकर यह प्रभु को प्राप्त करता है और अद्भुत तेजवाला होता है 'चित्रमहाः' (महस्=तेज)। यह अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है—'वासिष्ठः'। यह इस प्रकार उपासना करता है—

[१२२] द्वाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**चित्रमहा वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु रूप धन

वसुं न चित्रमहसं गृणीषे वामं शेवमतिथिमद्विषेण्यम्।
स रासते शुरुधो विश्वधायसोऽग्निर्होता गृहपतिः सुवीर्यम्॥ १ ॥

(१) **चित्रमहसम्**=उस अद्भुत-तेजवाले प्रभु को **वसुं न**=वसु के समान-जीवनोपयोगी धन के समान मैं **गृणीषे**=स्तुत करता हूँ। जो प्रभु **वामम्**=सुन्दर ही सुन्दर हैं। **शेवम्**=सुख को करनेवाले हैं। **अतिथिम्**=जीव के हित के लिए निरन्तर गतिशील हैं अथवा अतिथिवत् पूज्य हैं। **अद्विषेण्यम्**=किसी से द्वेष न करनेवाले हैं। (२) **सः**=वे प्रभु **शुरुधः**=(शुग् रुधः) हमारे शोकों को दूर करनेवाली, **विश्वधायसः**=सबका धारणवाली ज्ञानवाणियों को **रासते**=देते हैं। तथा **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु, **होता**=सब कुछ देने वाले हैं, **गृहपतिः**=हमारे शरीररूप घरों के रक्षक हैं। वे प्रभु हमारे लिये **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को देते हैं। ज्ञान की वाणियों को देते हैं, साथ ही शक्ति को देते हैं। 'ज्ञान की वाणियाँ' हमें मार्ग दिखलाती हैं और शक्ति उस मार्ग पर चलने में समर्थ कराती है।

भावार्थ—अद्भुत तेजवाले प्रभु ही हमारे वास्तविक धन हैं। वे हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**चित्रमहा वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु के अनुरूप

जुषाणो अग्ने प्रति हर्य मे वचो विश्वानि विद्वान्वयुनानि सुक्रतो।
घृतनिर्णिग्ब्रह्मणे गातुमेरय तव देवा अजनयन्ननु व्रतम्॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए आप **मे वचः**=मेरे स्तुति-वचन की **प्रतिहर्य**=कामना कीजिए। मेरे स्तुति-वचन आपको प्रीणित करनेवाले हों। (२) हे **सुक्रतो**=शोभन प्रज्ञावाले प्रभो! आप **विश्वानि वयुनानि**=सब प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। और सर्वज्ञ होने के कारण ही **घृतनिर्णिक्**=इस ज्ञानदीप्ति के द्वारा शोधन को करनेवाले हैं। आप **ब्रह्मणे**=इस ज्ञान को प्राप्त करनेवाले के लिए **गातुम्**=मार्ग को **एरय**=प्रेरित करिये। आप से ज्ञान को प्राप्त करके यह ज्ञानी मार्ग पर चलनेवाला हो। (३) वस्तुतः, हे अग्ने! **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **तव अनु**=आपके अनुसार ही **व्रतम्**=(नियमः पुण्यकं व्रतम्) पुण्य कर्मों को **अजनयन्**=उत्पन्न करते हैं। आपके गुण कर्मों के अनुसार अपने गुण कर्मों को बनाते हुए ये आप जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं। आप दयालु हैं, ये भी दया को अपनाते हैं। आप न्यायकारी हैं, ये भी न्यायवृत्ति से चलने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः इसीलिए ये आपका स्तवन करते हैं कि उन गुणों को अपने में भी धारण करने का यत्न करें। वस्तुतः ऐसा करने से ही यह स्तुति 'काव्य' न रहकर 'दृश्य' हो जाती है। यह दृश्य भक्ति ही प्रभु को प्रिय है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, प्रभु हमारा मार्गदर्शन करें। प्रभु के गुण-कर्मानुसार हम अपने गुण-कर्म साधने का यत्न करें।

ऋषिः—**चित्रमहा वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

धन व ज्ञान की प्राप्ति

स॒प्त धामा॑नि परि॒यन्नम॑र्त्यो॒ दाश॑द्दा॒शुषे॑ सु॒कृते॑ मामहस्व।
सु॒वीरे॑ण र॒यिणा॑ग्ने स्वा॒भुवा॒ यस्त॒ आन॑ट् स॒मिधा॒ तं जु॑षस्व॥ ३॥

(१) **सप्त**=सातों **धामानि**=लोकों के **परियन्**=चारों ओर प्राप्ति करता हुआ—'भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं' इन सातों लोकों को अपने में धारण करता हुआ, **अमर्त्यः**=वह अविनाशी प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, दान की वृत्तिवाले के लिए, **दाशत्**=देता है। सम्पूर्ण लोकों का स्वामी वह प्रभु है, वह दानशीलों को सब आवश्यक धन देता है। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **सुकृते**=पुण्यशील व्यक्ति के लिए, यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले के लिए **सुवीरेण**=उत्तम वीरतावाले **रयिणा**=धन से **मामहस्व**=सत्कार करिये। अर्थात् इस पुण्यकर्मा को आप वह धन प्राप्त कराइये जो उसे वीर बनानेवाला हो। विषयासक्ति का कारण बननेवाला धन मनुष्य को निर्बल बना देता है। इसके लिए धन विषयासक्ति का कारण न बने और यह उस धन को लोकहित के कार्यों में उपयुक्त करता हुआ सदा वीर बना रहे। उस धन से इसे सत्कृत करिये जो **स्वाभुवा**=(सु आ भू) इसकी स्थिति को सब प्रकार से अच्छा करनेवाला हो। इसके शरीर, मन व बुद्धि को जहाँ यह सुन्दर बनाए, वहाँ इसकी सामाजिक स्थिति भी ठीक हो। (३) हे परमात्मन्! **यः**=जो **ते आनट्**=आप को प्राप्त करता है, उपासना द्वारा आपका व्यापन करता है, **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति द्वारा **तं जुषस्व**=उसके प्रति कृपान्वित होइये (show onesely favourable to wards)।

भावार्थ—प्रभु दानशील को धन प्राप्त कराते हैं। पुण्यशील को वह धन प्राप्त होता है जो उसे वीर बनाता है और सब प्रकार से अच्छी स्थिति में प्राप्त कराता है। उपासक को प्रभु ज्ञान देने का अनुग्रह करते हैं।

ऋषिः—**चित्रमहा वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सब अंगों द्वारा प्रभु-उपासन

य॒ज्ञस्य॑ के॒तुं प्र॑थ॒मं पु॒रोहि॑तं ह॒विष्म॑न्त ईळते स॒प्त वा॒जिन॑म्।
शृ॒ण्वन्त॑म॒ग्निं घृ॒तपृ॑ष्ठमु॒क्षणं॑ पृ॒णन्तं॑ दे॒वं पृ॑ण॒ते सु॒वीर्य॑म्॥ ४॥

(१) **सप्त**=सात **हविष्मन्तः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले शरीरस्थ सात ऋषि (कर्णा विमौ नासिके चक्षणी मुखम्) **ईडते**=उस परमात्मा की उपासना करते हैं, जो प्रभु **यज्ञस्य केतुम्**=सब यज्ञों के प्रकाश हैं, यज्ञों का ज्ञान देनेवाले हैं। **प्रथमम्**=(प्रथ विस्तारे) सर्वत्र विस्तृत हैं, सर्वव्यापक हैं। अथवा देवों में सर्वप्रथम, देवाधिदेव—परमदेव हैं। **पुरोहितम्**=जो सृष्टि से पहले से ही विद्यमान हैं। अथवा जो हमारे सामने (पुरः) आदर्शरूप से स्थित हैं (हित)। (२) **वाजिनम्**=जो शक्तिशाली हैं। **शृण्वन्तम्**=हमारी प्रार्थना को सुननेवाले हैं। **अग्निम्**=अग्रेणी हैं। **घृतपृष्ठम्**=दीप्त पृष्ठवाले हैं, ज्ञानदीप्ति से चमक रहे हैं। सम्पूर्ण ज्ञान का आधार हैं। **उक्षणम्**=हमारे पर सुखों का सेचन करनेवाले हैं या हमें शक्ति से सींचनेवाले हैं। **देवम्**=सब कुछ देनेवाले हैं और **पृणते**=देनेवाले के लिए **सुवीर्यम्**=उत्कृष्ट शक्ति को **पृणन्तम्**=देते हुए को।

भावार्थ—मेरे कान, नाक, मुख आदि सब अंग प्रभु का मन्त्र-वर्णित प्रकार से उपासन करें।

ऋषिः—**चित्रमहा वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अमृतत्व की याचना

त्वं दूतः प्रथमो वरेण्यः स हूयमानो अमृताय मत्स्व।
त्वां मर्जयन्मरुतो दाशुषो गृहे त्वां स्तोमेभिर्भृगवो वि रुरुचुः ॥ ५ ॥

(१) **त्वम्**=हे प्रभो! आप **दूतः**=मुझे ज्ञान का सन्देश प्राप्त करानेवाले हैं। **प्रथमः**=सर्वमुख्य व सर्वव्यापक हैं। **वरेण्यः**=वरण करने के योग्य हैं, आपका वरण करनेवाला ही जीवन में सुखी होता है। **सः**=वे **अमृताय**=अमृतत्व की प्राप्ति के लिए **हूयमानः**=पुकारे जाते हुए आप **मत्स्व**=(to satisfy) हमें तृप्त व आनन्दित कीजिए। हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए आप हमारे हर्ष का कारण होइये। (२) **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले पुरुष ही **त्वाम्**=आपको **मर्जयन्**=अपने अन्दर शोधित करते हैं। वासनाओं का आवरण हमारे अन्दर प्रभु के प्रकाश को आवृत किये रहता है। इस आवरण को हटाना ही 'प्रभु के प्रकाश का शोधन' है। यह आवरण का हटाना प्राणसाधना के द्वारा ही सम्भव है। (३) **दाशुषः गृहे**=दान की वृत्तिवाले के गृह में **भृगवः**=ज्ञानी लोग, ज्ञान द्वारा अपना परिपाक करनेवाले लोग, **त्वाम्**=आपको **स्तोमेभिः**=स्तुतियों के द्वारा **वि रुरुचुः**=दीप्त करते हैं। जो भोग-प्रवण व्यक्ति नहीं, उस व्यक्ति के घर में सत्संग के लिए लोग एकत्रित होते हैं। वहाँ ज्ञानी पुरुष प्रभु का गायन करते हैं। सारा वातावरण प्रभु की भावना से ओत-प्रोत हो उठता है, सभी के हृदयों में प्रभु का स्मरण होता है। यही प्रभु का दीपन है।

भावार्थ—हम प्रभु से अमृतत्व के लिए प्रार्थना करें। वासनाओं के आवरण को दूर करके प्रभु के प्रकाश को देखें। घरों में एकत्रित होकर प्रभु का गायन करें।

ऋषिः—**चित्रमहा वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

त्रिः ऋतानि दीद्यत्

इषं दुहन्त्सुदुघां विश्वधायसं यज्ञप्रिये यजमानाय सुक्रतो।
अग्ने घृतस्नुस्त्रिर्ऋतानि दीद्यद्वर्तिर्यज्ञं परियन्त्सुक्रतूयसे ॥ ६ ॥

(१) **सुक्रतो**=हे उत्तम ज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! आप **यज्ञप्रिये**=यज्ञों के द्वारा आपको प्रीणित करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **सुदुघाम्**=उत्तम ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली **विश्वधायसम्**=सबका धारण करनेवाली **इषम्**=प्रेरणा को **दुहन्**=(दुह प्रपूरणे) पूरित करनेवाले हैं। आप यज्ञशील को वह प्रेरणा प्राप्त कराते हैं जो उसके ज्ञान का वर्धन करती है तथा सबका धारण करती है। (२) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **घृतस्नुः**=आप दीप्ति के शिखर हैं (सु=सानु) ऊँचे से ऊँचे ज्ञानवाले हैं। **त्रिः**=तीन प्रकार से **ऋतानि दीद्यत्**=ऋतों को दीप्त करते हुए, हमारे जीवन में 'ऋग्, यजु, साम' रूप से सत्य ज्ञान का प्रकाश करते हुए अथवा शरीर में स्वास्थ्य रूप ऋत को, मन में नैर्मल्य रूप ऋत को तथा बुद्धि में सूक्ष्मता व तीव्रता रूप ऋत को उत्पन्न करते हुए, **वर्तिः**=हमारे इन शरीर रूप गृहों तथा **यज्ञं**=उनके द्वारा चलनेवाले यज्ञों का **परियन्**=परिक्रमण करते हुए, रक्षण करते हुए **सुक्रतूयसे**=हमें उत्तम-उत्तम ज्ञान व शक्तिवाला बनाने की कामना करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। हमारे स्वास्थ्य-मन के नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता को करते हुए हमें ज्ञान व शक्ति से सम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—**चित्रमहा वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सन्ध्या-हवन

त्वामिदस्या उषसो व्युष्टिषु दूतं कृण्वाना अयजन्त मानुषाः।
त्वां देवा महयाय्याय वावृधुराज्यमग्ने निमृजन्तो अध्वरे॥ ७॥

(१) हे प्रभो! **मानुषाः**=विचारशील पुरुष **अस्याः उषसः व्युष्टिषु**=इन उषाकालों के निकलने पर **त्वां इत्**=निश्चय से आपको ही **दूतं कृण्वानाः**=ज्ञान सन्देश देनेवाला करते हुए, आपसे ज्ञान सन्देश को सुनते हुए **अयजन्त**=आपकी उपासना करते हैं। एक अध्यापक का विद्यार्थी द्वारा आदर यही है कि वह उसके पाठ को ध्यान से सुनता है। इसी प्रकार हम प्रभु का आदर इसी प्रकार कर पाते हैं कि प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान सन्देश को एकाग्रता से सुनें। (२) **देवाः**=देववृत्ति के लोग **महयाय्याय**=महत्त्व की प्राप्ति के लिए हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वां वावृधुः**=आपका वर्धन करते हैं। निरन्तर आपका स्मरण करते हुए आपकी भावना को अपने में उदित रखते हैं। ये लोग **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञों में **आज्यं निमृजन्तः**=घृतों का प्रक्षेपण करते हैं (प्रक्षिप्तवन्तः सा०) अथवा यज्ञ के निमित्त घृत का शोधन करते हैं। इस प्रकार ये देववृत्ति के लोग प्रभु का स्मरण करते हैं और यज्ञों को करते हैं, सन्ध्या व हवन को अपनाते हैं।

भावार्थ—विचारशील पुरुष व देववृत्ति के व्यक्ति ध्यान व यज्ञ को अपनाकर जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं।

ऋषिः—**चित्रमहा वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वसिष्ठों का प्रभु-स्मरण

नि त्वा वसिष्ठा अह्वन्त वाजिनं गृणन्तो अग्ने विदथेषु वेधसः।
रायस्पोषं यजमानेषु धारय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ८॥

(१) **वसिष्ठाः**=गत मन्त्र के अनुसार ध्यान व यज्ञ से जीवन को उत्कृष्ट बनानेवाले लोग उत्तम निवासवाले **वाजिनं त्वा**=शक्तिशाली आपको **नि अह्वन्त**=निश्चय से पुकारते हैं। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **वेधसः**=ये ज्ञानी पुरुष **विदथेषु**=ज्ञान यज्ञों में **गृणन्तः**=आपका स्तवन करते हैं। (२) हे प्रभो! आप इन **यजमानेषु**=यज्ञशील, उपासना व पूजा की वृत्तिवाले लोगों में **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **धारय**=धारण करिये। इन्हें जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन की कभी कमी न हो। **यूयम्**=आप **सदा**=हमेशा **नः**=हमें **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **पात**=रक्षित करिये। हम सदा आपसे रक्षित हुए-हुए कल्याण को प्राप्त करें।

भावार्थ—अपने जीवन को उत्तम बनानेवाले लोग शक्तिशाली प्रभु का स्मरण करते हैं। प्रभु इन्हें धन व कल्याण प्राप्त कराते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु के स्मरण से ही जीवन उत्तम बनता है। वे प्रभु अद्भुत तेजस्वितावाले हैं, उपासक को भी तेजस्वी बनाते हैं। इसलिए मेधावी पुरुष प्रभु का ही अर्चन करता है। यह मेधावी=वेन ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रभु की ही कामना करता है (वेणृ=चिन्तने) उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही गतिशील होता है (वेणृ गतौ) उसी का ज्ञान प्राप्त करता है (वेणृ=ज्ञाने)। यह ज्ञान की वाणियों को अपने अन्दर प्रेरित करता है।

[१२३] त्रयोविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**वेनः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आपः-सूर्य

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥ १॥

(१) **अयं वेनः**=यह मेधावी पुरुष **रजसः**=रजोगुण के **विमाने**=विशिष्ट मानपूर्वक धारण करने पर **पृश्निगर्भाः**=सात उज्ज्वल वर्णवाली ज्ञानरश्मियाँ जिसके गर्भ में है उन वेद-ज्ञानों को **चोदयत्**=अपने में प्रेरित करता है वेदवाणियाँ सात छन्दोंवाले मन्त्रों में हैं। सूर्य की किरणें भी सात रंगों की हैं। वेद-ज्ञान सूर्य है, तो सात छन्दोंवाले मन्त्र उसकी सात उज्ज्वल किरणें हैं। वेन इन्हें अपने में धारण करता है। इन्हें धारण करने के लिए ही वह रजोगुण को विशिष्ट मानपूर्वक अपने में धारण करता है। रजोगुण के नितान्त अभाव में तो किसी भी क्रिया का सम्भव ही नहीं रहता। इस प्रकार इन पृश्निगर्भा वेदवाणियों को अपने में प्रेरित करता हुआ यह **ज्योतिर्जरायुः**=ज्योतिर्मय वेष्टनवाला होता है, अपने को ज्ञान से आच्छादित करता है। (२) **अपाम्**=रेतःकणों के तथा **सूर्यस्य**=ज्ञान के सूर्य के **संगमे**=मेल के होने पर, अर्थात् जिस समय रेतःकणों का रक्षण होता है और ज्ञान के सूर्य का उदय होता है तो उस समय **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **मतिभिः**=इन मननशील बुद्धियों के द्वारा **इयम्**=इस प्रभु का **रिहन्ति**=आस्वाद लेते हैं। प्रभु का मनन करते हुए ये लोग अपने हृदयों में आनन्द का अनुभव करते हैं। उसी प्रकार इसके मनन में आस्वाद को अनुभव करते हैं **न**=जैसे कि गौवें **शिशुम्**=अपने बछड़े को चाटती हुई आनन्द का अनुभव करती हैं।

भावार्थ—संयत रजोगुण के द्वारा वेन ज्ञान को प्राप्त करता है। रेतःकणों का रक्षण करता हुआ तथा ज्ञान के सूर्य के उदय को करता हुआ यह मनन के द्वारा प्रभु प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**वेनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तारों में प्रभु का प्रकाश

समुद्रादूर्मिमुदियर्ति वेनो नभोजाः पृष्ठं हर्यतस्य दर्शि।
ऋतस्य सानावधि विष्टपि भ्राट् समानं योनिमभ्यनूषत व्राः॥ २॥

(१) **वेनः**=मेधावी पुरुष **समुद्रात्**=ज्ञान के समुद्र इस वेद से (रायः समुद्राँश्चतुरः०) **ऊर्मिं उदियर्ति**=(ऊर्मि=light) ज्ञान के प्रकाश को अपने में उद्गत करता है। **नभोजाः**=(नभ आदित्यः नेताभासां नि० २।१४) ज्ञान सूर्य में निवास करनेवाला यह वेन **हर्यतस्य**=उस कान्त, सब से जाने योग्य (हर्य गतिकान्त्योः) प्रभु के **पृष्ठम्**=पृष्ठ को **दर्शि**=देखता है। 'पृष्ठं दर्शि' शब्दों से यह स्पष्ट है कि ज्ञानी भी प्रभु को इस रूप में देखता है कि 'वह है'। उस प्रभु का पूरा-पूरा जान लेना तो सम्भव ही नहीं वस्तुतः प्रभु की सत्ता का ज्ञान ही मनुष्य के जीवन के निर्मलीकरण के लिए पर्याप्त है। (२) अब यह वेन देखता है कि वे प्रभु **ऋतस्य सानौ**=ऋत के शिखर पर **अधिविष्टपि**=सम्पूर्ण भुवन के ऊपर **भ्राट्**=देदीप्यमान हैं। इस प्राकृतिक संसार का एक-एक पिण्ड बड़ी नियमित गति से चल रहा है, 'ऋत' का पालन कर रहा है, सूर्य-चन्द्र-तारे बड़े ठीक (ऋत=right) समय पर उदय होते हैं इस 'ऋत' का जन्मदाता वह प्रभु ही है। प्रभु के भय से ही सब कार्य ऋतपूर्वक हो रहा है। सारे ब्रह्माण्ड के अध्यक्ष वे प्रभु ही हैं। (३) साथ ही वेन

को ऐसा प्रतीत होता है कि **व्राः**=आकाश को आच्छादित करनेवाले ये तारे उस **समानं योनिम्**=सारे लोक-लोकान्तरों के समानरूप से निवास-स्थानभूत उस ब्रह्म को (यस्मिन् भवत्येकनीडम्) **अभ्यनूषत**=स्तुत कर रहे हैं। चमकते हुए इन तारों में भी तो उस प्रभु की ही महिमा दिखती है।

भावार्थ—मेधावी पुरुष वेद से प्रकाश को प्राप्त करता है, प्रभु की सत्ता का अनुभव करता है। उसे सब पिण्डों की नियमित गति में (ऋत में) प्रभु का दर्शन होता है, तारे उसे प्रभु का स्तवन करते प्रतीत होते हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**वेनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मधुरता-अमृतता

समानं पूर्वीरभि वावशानास्तिष्ठन्वत्सस्य मातरः सनीळाः।
ऋतस्य सानावधि चक्रमाणा रिहन्ति मध्वो अमृतस्य वाणीः ॥ ३ ॥

(१) **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाली प्रजाएँ **समानम्**=(सम्यग् आनयति) उस प्राणित करनेवाले प्रभु को **अभिवावशानाः**=लक्ष्य करके स्तुति-वचनों का उच्चारण करती हुई, **वत्सस्य**=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का उच्चारण करनेवाले (वदति इति) प्रभु का **मातरः**=अपने हृदयों में ज्ञान प्राप्त करनेवाले (=निर्माण करनेवाले) **सनीडाः**=उस समान प्रभु रूप नीड (गृह) में निवास करनेवाले ये स्तोता **ऋतस्य सानौ**=ऋत के शिखर पर **अधि चक्रमाणाः**=गति करते हुए, अर्थात् अपने सब कार्यों को ऋतपूर्वक करते हुए **मध्वः अमृतस्य**=अत्यन्त मधुर अमृत की **वाणीः**=वाणियों को **रिहन्ति**=आस्वादित करते हैं। (२) वेदवाणियाँ-ज्ञान की वाणियाँ जीवन को मधुर बनानेवाली हैं, ये नीरोगता को देनेवाली हैं। इनमें उपदिष्ट मार्ग पर आक्रमण करने से जीवन मधुर व नीरोग बनता है। जो मेधावी पुरुष होते हैं वे (क) प्रभु का स्तवन करते हैं, (ख) हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील होते हैं, (ग) प्रभु को सब प्राणियों के निवास-स्थान के रूप में देखते हुए परस्पर बन्धुत्व को अनुभव करते हैं, (घ) इनके सब कार्य नियमित गति से होते हैं, (ङ) ये ज्ञान की वाणियों में आनन्द का अनुभव करते हैं। ये वाणियाँ इनके जीवन को मधुर व नीरोग बनाती हैं।

भावार्थ—मेधावी पुरुषों का जीवन प्रभु-स्मरण व ज्ञानग्रहण में प्रवृत्त रहता है, वे मधुर व नीरोग जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**वेनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के अनुरूप बनना

जानन्तो रूपमकृपन्त विप्रा मृगस्य घोषं महिषस्य हि ग्मन्।
ऋतेन यन्तो अधि सिन्धुमस्थुर्विदद्गन्धर्वो अमृतानि नाम ॥ ४ ॥

(१) **विप्राः**=ज्ञानी लोग, ज्ञान के द्वारा अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले लोग **रूपं जानन्तः**=प्रभु के रूप को जानते हुए **अकृपन्त**=(to havemercy for) दया के स्वभाववाले बनते हैं। प्रभु दयालु हैं, ये भी दया को अपनाते हैं। (२) **हि**=निश्चय से **मृगस्य**=(मार्ष्टेः नि० १।२०) मानव-जीवनों को शुद्ध करनेवाले **महिषस्य**=पूज्य (मह पूजायाम्) प्रभु की **घोषम्**=अन्तःप्रेरणा को **ग्मन्**=प्राप्त होते हैं। प्रभु की वाणियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। (३) इन वाणियों से प्रेरणा को लेकर **ऋतेन यन्तः**=ऋत से गति करते हुए, अर्थात् सब कार्यों

को नियम से करते हुए **सिन्धुं अधि अस्थुः**=उस ज्ञान समुद्र प्रभु में स्थित होते हैं। प्रभु-स्मरणपूर्वक सब कार्यों को करनेवाले होते हैं। (३) **गन्धर्वः**=यह ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला **अमृतानि**=अमृतत्वों को **नाम**=निश्चय से **वि दत्**=प्राप्त करता है। (नाम इति वाक्यालंकारे)। 'नाम' शब्द का अर्थ नमनशील उदक भी है। यह गन्धर्व अमृतत्वों को प्राप्त करता है। और अमृतत्व के लिए ही इन रेतःकणरूप उदकों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु के जानते हुए हम अपने जीवनों को शुद्ध बनायें। ज्ञान की वाणियों को धारण करते हुए अमृतत्व को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**वेनः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अप्सरा का स्मित

अप्सरा जारमुपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन्।
चरत्प्रियस्य योनिषु प्रियः सन्त्सीदत्पक्षे हिरण्यये स वेनः ॥ ५ ॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में वेदवाणी को 'अप्सराः' कहा है यह 'अप्सु सारयति'=कर्मों में प्रेरित करती है। यह 'योषा' है गुणों के साथ हमारा सम्पर्क करती है, अवगुणों से हमें पृथक् करती है। 'जार' वह व्यक्ति है जो कि अपने दोषों को प्रभु-स्तवन द्वारा जीर्ण करने का प्रयत्न करता है। यह **अप्सराः**=कर्मों में प्रेरित करनेवाली **योषा**=गुणों से सम्पृक्त व अवगुणों से असम्पृक्त करनेवाली वेदवाणी **जारम्**=स्तोता के **उप**=समीप **सिष्मियाणा**=मुस्कराती हुई, अर्थात् उसके प्रति अपने स्वरूप को व्यक्त करती हुई उसे **परमे व्योमन्**=सर्वोत्कृष्ट आकाशवत् व्यापक ब्रह्म में **बिभर्ति**=धारण करती है। उस ब्रह्म में धारण करती है जो 'व्योमन्'=वी+ओम्+अन्=रक्षक होते हुए एक ओर प्रकृति (वी) को धारण किए हुए हैं तो दूसरी ओर जीव (अन्) को। (२) यह व्यक्ति **प्रियः सन्**=प्रभु का प्रिय होता हुआ **प्रियस्य योनिषु**=(योनि=any place of birth) उस प्रिय प्रभु के उत्पत्ति-स्थानों में **चरत्**=विचरता है। ऐसे स्थानों में विचरण करता है जहाँ कि उसे प्रभु की विभूति दिखे और प्रभु का स्मरण हो। (३) **सः वेनः**=वह मेधावी पुरुष **हिरण्यये पक्षे**=ज्योतिर्मय पक्ष में **सीदत्**=आसीन होता है। देवों का एक पक्ष है, असुरों का दूसरा। देवों का पक्ष ज्योतिर्मय है, असुरों का अन्धकारमय। यह देव-पक्ष को स्वीकार करता है। श्रेय और प्रेय में से श्रेय का वरण करता है।

भावार्थ—स्तोता को वेदवाणी का प्रकाश मिलता है। यह सर्वत्र प्रभु की विभूति को देखता हुआ देवों के ज्योतिर्मय पक्ष को स्वीकार करता है, देव बनने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**वेनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्योतिर्मय

नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ ६ ॥

(१) हे परमात्मन्! **नाके**=मोक्ष सुख में **सुपर्णम्**=बड़ी उत्तमता से पालन करनेवाले, **उप**=समीप **पतन्तम्**=प्राप्त होते हुए **त्वा**=आपको **यत्**=जब **हृदावेनन्तः**=हृदय से कामना करते हुए ये उपासक लोग **अभ्यचक्षत**=देखते हैं, तो इस रूप में देखते हैं कि आप **हिरण्यपक्षम्**=ज्योति का ग्रहण करनेवाले हैं (पक्ष परिग्रहे) ज्योतिर्मय स्वरूपवाले हैं। **वरुणस्य दूतम्**=पाप निवारण का सन्देश देनेवाले हैं। **यमस्य योनौ**=संयम के स्थान में **शकुनम्**=शक्तिशाली बनानेवाले हैं।

भुरण्युम्=सबका भरण-पोषण करनेवाले हैं। (२) उपासक क्या देखता है कि प्रभु (क) ज्योतिर्मय हैं, (ख) प्रतिक्षण पाप से बचने की प्रेरणा दे रहे हैं, (ग) संयम के द्वारा हमें शक्तिशाली बनाते हैं, (घ) हमारा भरण व पोषण कर रहे हैं, (ङ) सदा हमारे समीप हैं (उपसत्तर्न) और (च) अन्ततः मोक्षसुख में हमारा उत्तम पालन करते हैं।

भावार्थ—अनन्य भक्ति के द्वारा प्रभु का दर्शन करते हुए उसके ज्योतिर्मय रूप को हम देखते हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**वेनः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्म रूप कवच का धारण

ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ्चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि।
वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्वर्ण नाम जनत प्रियाणि॥ ७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का दर्शन करनेवाला **ऊर्ध्वः**=ऊपर उठता है, विषयों में कभी फँसता नहीं। **गन्धर्वः**=यह ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाला होता है। **नाके अधि अस्थात्**=मोक्ष सुख में स्थित होता है, शरीर छूटने से पूर्व भी जीवन्मुक्त अवस्था में होता है। (२) यह जीवन्मुक्त **प्रत्यङ्**=अपने अन्दर **अस्य**=इस प्रभु के, प्रभु से दिये हुए **चित्रा आयुधानि**=अद्भुत आयुधों को, इन्द्रिय, मन व बुद्धि को **बिभ्रत्**=धारण करता है। (३) **अत्कम्**=प्रभु रूप कवच को (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्) **वसानः**=यह धारण करता है। यह कवच **सुरभिम्**=शोभन व सुन्दर है अथवा (सु-रभ) हमें सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त करनेवाला है। यह अन्ततः उस **कम्**=आनन्दमय प्रभु के **दृशे**=दर्शन के लिए होता है। (४) इस प्रभु रूप कवच को धारण करके यह व्यक्ति **स्वः न**=सूर्य की तरह **प्रियाणि नाम जनत**=प्रिय कर्मों को ही प्रकट करता है। सूर्य सदा प्रकाश को करता है, यह भी प्रकाशमय उत्कृष्ट कर्मों को ही करता है। ब्रह्मरूप कवच को धारण करने पर इसके जीवन से अशुभ कर्म होते ही नहीं।

भावार्थ—ब्रह्मरूप कवच को धारण करके हम सदा शुभ कर्मों को ही करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**वेनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्रप्सः समुद्रम्

द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन्गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन्।
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जीवन को बनानेवाला बहुत कुछ प्रभु जैसा बनता है। प्रभु समुद्र हैं, तो यह उस समुद्र का जलकण होता है। **द्रप्सः**=प्रभु रूप समुद्र का जलकण बना हुआ **यत्**=जब **समुद्रं अभि**=(स-मुद्) उस आनन्द के सागर प्रभु की ओर **जिगाति**=जाता है, तो **गृध्रस्य चक्षसा**=गीध की दृष्टि से, अति तीव्र दृष्टि से **विधर्मन्**=उस विशेषरूप से धारण करनेवाले प्रभु में **पश्यन्**=अपने को देखता है। अपने चारों ओर यह उस प्रभु का अनुभव करता है। (२) **भानुः**=ज्ञान से दीप्त हुआ-हुआ यह **शुक्रेण शोचिषा**=दीप्त शुचिता से पवित्रता से **चकानः**=चमकता हुआ **तृतीये रजसि**=तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर तृतीय सत्त्वगुण में अवस्थित हुआ-हुआ अथवा प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर परमात्मा में स्थित हुआ-हुआ **प्रियाणि चक्रे**=सदा प्रभु के प्रिय कर्मों को ही करता है। प्रभु को धारणात्मक कर्म प्रिय हैं। यह भी धारणात्मक कर्मों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—दीप्त व पवित्र जीवनवाले बनते हुए, सदा सत्त्वगुण में अवस्थित होकर प्रभु के प्रिय कर्मों को ही करनेवाले हों।

सूक्त का भाव यही है कि **वेन**=मेधावी पुरुष वही है जो प्रभु की ओर चलता है, प्रकृति में फँस नहीं जाता। प्रकृति में न फँसने के कारण ही यह **अग्नि**=आगे बढ़नेवाला बनता है। इस उन्नतिपथ में आनेवाले विघ्नों का निवारण करनेवाला 'वरुण' बनता है। उन्नत होकर भी 'सोम'=विनीत बना रहता है। 'अग्नि वरुण सोम' का पुकारनेवाला (निहव) 'अग्निवरुणसोमानां निहवः' ही अगले सूक्त का ऋषि है। प्रार्थना है कि—

[१२४] चतुर्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अग्निवरुणसोमानां निहवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पञ्चयाम जीवनयज्ञ

इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।
असो हव्यवाळुत नः पुरोगा ज्योगेव दीर्घं तम आशयिष्ठाः ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस जीवनयज्ञ को **उप एहि**=समीपता से प्राप्त होइये। यह जीवनयज्ञ **पञ्चयामम्**=पाँच प्राणों, पाँच कर्मेन्द्रियों व पाँच ज्ञानेन्द्रियों के यमन (=संयम) वाला है। इस यज्ञ में इन पाँच का संयम करना होता है। **त्रिवृतम्**=यह जीवनयज्ञ 'ज्ञान कर्म उपासना' तीनों में प्रवृत्त है। अथवा 'धर्मार्थ काम' तीनों पुरुषार्थों का समरूप से सेवन करनेवाला है। 'वात, पित्त, कफ' के अवैषम्य पर इसका निर्भर है। **सप्ततन्तुम्**=सात छन्दोंवाली वेदवाणी से इस जीवन यज्ञ का विस्तार हो रहा है। अथवा 'रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य' नामक सात धातुएँ इसको विस्तृत करती हैं। अथवा 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' ये सात ऋषि इस जीवनयज्ञ को चला रहे हैं 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता'। (२) हे प्रभो! आप **हव्यवाड् असः**=हमारे लिए सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होइये। **उत**=और **नः**=हमारे **पुरोगाः**=अग्रगामी मार्गदर्शक बनिये। आप **ज्योक् एव**=चिर काल से ही वर्तमान इस **दीर्घं तमः**=घने अन्धकार को **आशयिष्ठाः**=सुला दीजिए। अन्धकार को समाप्त करके हमें प्रकाश को प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ही हमारा जीवनयज्ञ चलता है। प्रभु ही हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। वे ही हमारे मार्गदर्शक हैं और हमारे अज्ञानान्धकार को समाप्त करते हैं।

ऋषिः—**अग्निः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अमृतत्व व बन्धन

अदेवाद्देवः प्रचता गुहा यन्प्रपश्यमानो अमृतत्वमेमि।
शिवं यत्सन्तमशिवो जहामि स्वात्सख्यादरणीं नाभिमेमि ॥ २ ॥

(१) **अदेवात्**=अदेव वृत्ति को छोड़कर **देवः**=देववृत्ति का बना हुआ मैं **प्रचता**=(चत् ask, beg, request) प्रभु से याचना के द्वारा **गुहा यन्**=बुद्धि रूप गुहा की ओर जाता हुआ 'यच्छेद् वाङ् मनसि प्राज्ञः, तद्यच्छेन् ज्ञान आत्मनि (बुद्धि में)' **प्रपश्यमानः**=आत्मतत्त्व को देखता हुआ **अमृतत्वं एमि**=अमृतत्व को, मोक्ष को प्राप्त होता हूँ। (२) **यत्**=जब **शिवम्**=उस कल्याण करनेवाले **सन्तम्**=अपने अन्दर ही विद्यमान प्रभु को **अशिवः**=अशुभ वृत्तिवाला मैं **जहामि**=छोड़ता हूँ। अर्थात् प्रभु का विस्मरण करके संसार के विषयों के ध्यान में रहता हूँ तो **स्वात् सख्यात्**=उस

अपनी आत्मतत्त्व की मित्रता को छोड़कर **अरणीम्**=(stinginess) कृपणता को और **नाभिम्**=(नह बन्धने) बन्धन को **एमि**=प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—देववृत्ति का बनकर मैं आत्मतत्त्व का दर्शन करता हूँ। परन्तु प्रभु से दूर होकर कृपणता व बन्धन को प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—**अग्निः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य शिष्यता

पश्यन्नन्यस्या अतिथिं वयाया ऋतस्य धाम वि मिमे पुरूणि।
शंसामि पित्रे असुराय शेवमयज्ञियाद्यज्ञियं भागमेमि॥ ३॥

(१) हम इस पृथिवी पर रहते हैं। यह पृथिवी भी संसार वृक्ष की एक शाखा है। दूसरी शाखा द्युलोक है। इस द्युलोक रूप शाखा में निरन्तर गति करनेवाला अतिथि सूर्य है। उस सूर्य से मनुष्य गति का पाठ पढ़ता है, क्रियाशील बनकर सूर्य की तरह ही चमकता है। **अन्यस्याः वयायाः**=दूसरी द्युलोक रूप शाखा के **अतिथिम्**=अतिथिवत् सूर्य को, निरन्तर गतिवाले सूर्य को (अत सातत्यगमने) **पश्यन्**=देखता हुआ एक उपासक **ऋतस्य**=ऋत के (ऋ गतौ) नियमपूर्वक गति के **पुरूणि**=पालक व पूरक **धाम**=तेजों को **विमिमे**=अपने अन्दर निर्मित करता है। सब कार्यों को सूर्य की तरह निरन्तर व नियमित गति से करने से मनुष्य सूर्य की तरह ही तेजस्वी बनता है। (२) मैं **असुराय**=प्राणशक्ति को देनेवाले (असून् राति) **पित्रे**=उस रक्षक पिता के लिए, उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **शेवं शंसामि**=आनन्द व मनःप्रसाद की याचना करता हूँ। मनः प्रसाद रूप तप से ही तो मैं उस प्रभु को पानेवाला बनूँगा। **अयज्ञियात्**=अयज्ञिय कर्मों को छोड़कर स्वार्थमय कर्मों से ऊपर उठकर **यज्ञियं भागम्**=पवित्र कर्मों के सेवन को **एमि**=प्राप्त होता हूँ। अपने जीवन को यज्ञिय बनाता हूँ। इस यज्ञ के द्वारा ही तो मैं उस पिता का आराधन कर सकूँगा। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'।

भावार्थ—मैं सूर्य को देखता हुआ सूर्य की तरह निरन्तर नियमित गतिवाला होकर तेजस्वी बनूँ। प्रभु प्राप्ति के लिए मनःप्रसाद रूप तप का साधन करूँ। यज्ञशील बनूँ।

ऋषिः—**अग्निः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पिता इन्द्र का वरण

बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं वृणानः पितरं जहामि।
अग्निः सोमो वरुणस्ते च्यवन्ते पर्यावर्द्राष्ट्रं तदवाम्यायन्॥ ४॥

(१) जीव सोचता है कि **बह्वीः समाः**=बहुत वर्षों तक **अस्मिन् अन्तः**=इस शरीर में **अकरम्**=मैंने निवास किया है। अब मैं **पितरम्**=उस रक्षक पिता **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **वृणानः**=वरता हुआ **जहामि**=इस शरीर को छोड़ता हूँ। जब तक मनुष्य प्रभु से दूर रहता है, तब तक उसे शरीर में बद्ध होना ही पड़ता है। विषयों से ऊपर उठकर प्रभु का वरण करता है तो शरीर बन्धन से मुक्ति को प्राप्त करता है। (२) जब तक प्रभु से दूर होता है और संसार के विषयों में भटकता है तब तक **अग्निः**=आगे बढ़ने की वृत्ति, **वरुणः**=विघ्न निवारण का भाव तथा **सोमः**=सौम्यता, **ते**=वे सब बातें **च्यवन्ते**=मेरे से दूर होती हैं। **राष्ट्रं पर्यावत्**=यह शरीर रूप राष्ट्र सब अस्त-व्यस्त हो जाता है। यह ऋषियों का आश्रय न रहकर असुरों का महल बन जाता है। यह देव-मन्दिर न रहकर असुरों की पानगोष्ठी बन जाती है। आज मैं **तद्**=उस राष्ट्र को **आ**-

यन्=समन्तात् गतिवाला होता हुआ, खूब क्रियाशील जीवनवाला होता हुआ, **अवामि**=रक्षित करता हूँ। मेरा यह शरीर राष्ट्र फिर से ठीक हो जाता है।

भावार्थ—क्रियाशील जीवन से जीवन को पवित्र बनाते हुए हम प्रभु का वरण करें न कि प्राकृतिक भोगों का। तभी हम शरीर-बन्धन से ऊपर उठ पायेंगे।

ऋषिः—**अग्निवरुणसोमानां निहवः** ॥ देवता—**यथानिपातम्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के शासन में

निर्मा॑या उ॒ त्ये असु॑रा अभूव॒न्त्वं च॑ मा वरुण का॒मया॑से।
ऋ॒तेन॑ राजन्न॒नृ॑तं वि॒विञ्च॒न्मम॑ रा॒ष्ट्रस्याधि॑पत्य॒मेहि॑ ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब मैं प्रभु का वरण करता हुआ गति करता हूँ, उस समय **त्ये**=वे **असुरा**=आसुरभाव **उ**=निश्चय से **निर्मायाः**=माया से रहित **अभूवन्**=हो जाते हैं, इनकी माया का प्रभाव मेरे पर नहीं होता **च**=और हे **वरुण**=सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **मा कामयासे**=मुझे चाहते हैं, मैं आपका प्रिय होता हूँ। जब आसुरभावों से हम ऊपर उठ जाते हैं तो प्रभु के प्रिय तो बनते ही हैं। (२) हे राजन्! मेरे जीवन राज्य के अधिपति प्रभो! **ऋतेन अनृतं विविञ्चन्**=ऋत से अनृत को पृथक् करते हुए आप **मम**=मेरे **राष्ट्रस्य**=राष्ट्र के **अधिपत्यम्**=स्वामित्व को **एहि**=प्राप्त होइये। मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया आपके आदेश से हो। इस जीवन में अनृत का प्रवेश न हो, ऋत ही ऋत का समावेश हो।

भावार्थ—मैं प्रभु का वरण करूँ। आसुरभाव मायाशून्य हो जाएँ। मेरे जीवन-राज्य का अधिपति प्रभु हो।

ऋषिः—**अग्निवरुणसोमानां निहवः** ॥ देवता—**यथानिपातम्** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रकाशमय जीवन

इ॒दं स्व॑रि॒दमिदा॑स वा॒मम॒यं प्र॑का॒श उ॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षम्।
हना॑व वृ॒त्रं नि॒रेहि॑ सोम ह॒विष्ट्वा॒ सन्तं॑ ह॒विषा॑ यजाम ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हमारे जीवन-राष्ट्र के अधिपति प्रभु होते हैं तो **इदम्**=यह प्रभु का साम्राज्य ही **स्वः**=स्वर्ग होता है अथवा प्रकाशमय होता है। **इदं इत्**=यह ही निश्चय से **वामम्**=सुन्दर **आस**=होता है। **अयं प्रकाशः**=यह प्रकाश ही प्रकाश होता है, वहाँ किसी प्रकार का अन्धकार नहीं होता **उरु अन्तरिक्षम्**=यह प्रभु का राष्ट्र बना हुआ मेरा जीवन विशाल अन्तरिक्ष के समान होता है। इसमें सभी के लिए स्थान होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'=सारी पृथ्वी इस व्यक्ति का परिवार बन जाती है। (२) इसकी प्रार्थना का स्वरूप यह होता है कि हे **सोम**=शान्त प्रभो! **निः एहि**=आप मुझे निश्चय से प्राप्त होइये। मैं आपसे मिलकर, अर्थात् हम दोनों **वृत्रं हनाव**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का हनन करें। **हविः सन्तं त्वा**=हवीरूप आपका हवि के द्वारा हम उपासन करें। हम त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनें और त्यागस्वरूप आपको प्राप्त करनेवाले हों। यज्ञरूप आपका यज्ञ के द्वारा ही तो उपासन हो सकता है।

भावार्थ—प्रभु का राज्य बना हुआ जीवन ही स्वर्गतुल्य, सुन्दर, प्रकाशमय व विशाल अन्तरिक्ष के समान है। प्रभु से मिलकर हम वासना का विनाश करें। हवीरूप प्रभु का हवि के द्वारा उपासन करें।

ऋषिः—**अग्निवरुणसोमानां निहवः** ॥ देवता—**यथानिपातम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥
स्वरः—**निषादः** ॥

द्युलोक में सूर्य का स्थापन

कविः कवित्वा दिवि रूपमासजदप्रभूती वरुणो निरपः सृजत्।
क्षेमं कृण्वाना जनयो न सिन्धवस्ता अस्य वर्णं शुचयो भरिभ्रति ॥ ७ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार उपासना के होने पर **कविः**=क्रान्तदर्शी प्रभु **कवित्वा**=अपनी सर्वज्ञता से **दिवि**=उपासक के मस्तिष्करूप द्युलोक में **रूपम्**=सब पदार्थों के निरूपण को, अर्थात् सब पदार्थों के ज्ञान को **आसजत्**=आसक्त करता है, अर्थात् इस उपासक के मस्तिष्क में ज्ञान के सूर्य को उदित करते हैं। (२) इसी उद्देश्य से **वरुणः**=पाप का निवारण करनेवाले प्रभु **अप्रभूती**=(अल्पेनैव यत्नेन सा०) अनायास ही वासनारूप वृत्र से अवरुद्ध **अपः**=रेतःकणों को **निः असृजत्**=वासना के बन्धन से मुक्त करते हैं। प्रभु के स्मरण से ही वासना का विनाश होता है और रेतःकण शरीर में सुरक्षित रहते हैं। ये सुरक्षित रेतःकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। (३) ये **सिन्धवः**=(स्यन्दन्ते) बहने के स्वभाववाले रेतःकण, **जनयः न**=घर में पत्नियों के समान, **क्षेमं कृण्वानाः**=इस शरीर में क्षेम को करते हुए **शुचयः**=जीवन को पवित्र बनानेवाले होते हैं और **ताः**=वे रेतःकण **अस्य वर्णं भरिभ्रति**=इसके अन्दर तेजस्विता को धारण करते हैं। इसके अन्दर वर्ण को, शकल को, रूप को, तेजस्विता को धारण करते हैं। बीमार व्यक्ति स्वस्थ होता है तो कहते हैं कि अब तो जरा इसकी शकल निकल आयी। एवं 'वर्ण' स्वास्थ्य का प्रतीक है।

भावार्थ—प्रभु उपासक के मस्तिष्क में ज्ञान सूर्य का उदय करते हैं। रेतःकणों को वासनाओं का शिकार नहीं होने देते। सुरक्षित रेतःकण कल्याण करते हैं और हमें तेजस्वी बनाते हैं।

ऋषिः—**अग्निवरुणसोमानां निहवः** ॥ देवता—**यथानिपातम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वृत्र से दूर (अप वृत्रादतिष्ठन्)

ता अस्य ज्येष्ठमिन्द्रियं सचन्ते ता ईमा क्षेति स्वधया मदन्तीः।
ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सुवो अप वृत्रादतिष्ठन् ॥ ८ ॥

(१) **ताः**=गत मन्त्र में वर्णित वे **आपः**=रेतःकण **अस्य**=इस पुरुष के **ज्येष्ठं इन्द्रम्**=उत्कृष्ट शक्ति को **सचन्ते**=समवेत करते हैं। अर्थात् इस पुरुष को ये रेतःकण उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त कराते हैं। **ताः**=उन **स्वधया**=आत्मधारण शक्ति से **मदन्तीः**=आनन्दित करते हुए रेतःकणों को **ईम्**=निश्चय से **आक्षेति**=सब प्रकार से अपने अन्दर निवास कराता है (क्षि=निवासे)। इन्हें अपने अन्दर सुरक्षित करता हुआ यह उत्तम निवास व गतिवाला बनता है। (२) **न**=जैसे **विशः**=प्रजाएँ **राजानं वृणानाः**=राजा का वरण करती हैं, उसी प्रकार **ईम्**=निश्चय से **ताः वृणानाः**=उन रेतःकणों का वरण करनेवाले **बीभत्सुवः**=इन्हें अपने में बाँधने की कामनावाले **वृत्रात्**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना से **अप अतिष्ठन्**=दूर ही रहते हैं। प्रजाएँ अपने रक्षण के लिए जैसे राजा का वरण करती हैं, उसी प्रकार हमें अपने रक्षण के लिए इन रेतःकणों का वरण करना चाहिए। इन्हें अपने अन्दर सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए वासना से दूर रहना ही एकमात्र उपाय है।

भावार्थ—सुरक्षित रेतःकण शक्ति को प्राप्त कराते हैं। इनके रक्षण के लिए वासना से ऊपर उठना आवश्यक है।

ऋषिः—**अग्निवरुणसोमानां निहवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा ॥ ९ ॥

(१) **बीभत्सूनाम्**=रेतःकणों को अपने में बाँधने की कामनावाले के **हंसम्**=सब पापों का विध्वंस करनेवाले (हन हिंसा) गतिशील (हन गतौ) प्रभु को **सयुजम्**=साथ रहनेवाला मित्र आहुः=कहते हैं। प्रभु उसी के साथी हैं, जो वासना से ऊपर उठकर रेतःकणों को अपने में सुरक्षित रखता है। उस प्रभु को **दिव्यानां अपाम्**=दिव्य रेतःकणों की **सख्ये**=मित्रता में **चरन्तम्**=विचरण करनेवाला कहते हैं। दिव्य रेतःकण वे हैं जो वासना के कारण मलिन होकर विनाशोन्मुख नहीं होते। शरीर में सुरक्षित रहते हुए ये दिव्य गुणों की वृद्धि का कारण बनते हैं। इन दिव्य रेतःकणों के साथ प्रभु का विचरण है। (२) वे प्रभु **अनुष्टुभम्**=प्रतिदिन स्तोतव्य हैं। **अनु चर्चूर्यमाणम्**=पीछे निरन्तर गति करनेवाले हैं। जब हम तेज आदि को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करते हैं तो प्रभु भी हमारी सहायता करते हैं (अनु चर्)। हम पुरुषार्थ न करें, तो प्रभु ही हमारे लिए सब कुछ नहीं कर देते। इस **इन्द्रम्**=हमारे सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभु को **कवयः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **निचिक्युः**=जानते हैं। 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'।

भावार्थ—प्रभु रेतःकणों का रक्षण करनेवाले के मित्र हैं। पुरुषार्थी के सहायक हैं। उस प्रभु को क्रान्तदर्शी लोग सूक्ष्म बुद्धि से देखते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि हम जीवन को यज्ञ बनाएँ। अमृतत्व को प्राप्त करने की कामना करें। रेतःकणों को वासना से मलिन न होने दें। अवश्य हमें प्रभु प्राप्त होंगे, हम सूक्ष्म बुद्धि से उनका दर्शन कर सकेंगे। 'हमें प्रभु प्राप्त होंगे, तो सब देव तो प्राप्त होंगे ही'। इस महान् उद्घोषणा को अगला सूक्त कर रहा है। उस सूक्त का ऋषि व देवता 'वाग् आम्भृणी'=(अम्भृण महन्नाम नि० ३।३) है, 'महत्त्वपूर्ण वाणी व उद्घोषणा'। उसमें कहते हैं—

[१२५] पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**वागाम्भृणी** ॥ देवता—**वागाम्भृणी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तैंतीस देवों के साथ महादेव

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **रुद्रेभिः वसुभिः चरामि**=रुद्रों और वसुओं के साथ गति करता हूँ। **अहम्**=मैं **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **उत**=और **विश्वदेवैः**=सब देवों के साथ गति करता हूँ। जब कोई उपासक मुझे प्राप्त करता है तो इन सब देवों को भी प्राप्त करता है। अथवा जो इन देवों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वही मुझे प्राप्त करता है। देवों को प्राप्त करनेवाला ही तो परमदेव की प्राप्ति का अधिकारी होता है। (२) **अहम्**=मैं **मित्रावरुणा उभा**=मित्र और वरुण इन दोनों को **बिभर्मि**=धारण करता हूँ। **अहम्**=मैं **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि को धारण करता हूँ। **अहम्**=मैं **उभा अश्विना**=दोनों अश्विनी देवों को धारण करता हूँ। 'मित्र और वरुण'=स्नेह और निर्द्वेषता की देवता हैं। इन्द्र और अग्नि=शक्ति व प्रकाश के प्रतीक हैं। 'अश्विनौ'=प्राणापान हैं। इस प्रकार ११ रुद्र, ८ वसु और १२ आदित्यों के साथ दो मित्रावरुण

अथवा इन्द्राग्नी वा अश्विनौ मिलकर ३३ देव प्रभु द्वारा हमारे अन्दर स्थापित होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं, प्रभु हमारे में तेंतीस देवों के साथ उपस्थित होते हैं। प्रभु की उपासना में सब देवों का उपासन हो जाता है।

ऋषिः—**वागाम्भृणी** ॥ देवता—**वागाम्भृणी** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु के धन के पात्र

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्येे यजमानाय सुन्वते॥ २॥

(१) **अहम्**=मैं **सोमम्**=उस सोम को **बिभर्मि**=धारण करता हूँ, जो **आहनसम्**=शरीर के सब रोगों का हनन करनेवाला है। **अहम्**=मैं **त्वष्टारम्**=निर्माण की देवता को **उत**=और **पूषणं भगम्**=पोषण के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को धारण करता हूँ। अर्थात् मैं उपासक को उस सोम शक्ति से (=वीर्य शक्ति से) युक्त करता हूँ, जो उसके शरीर में रोगों को नहीं आने देती। मैं उस उपासक को निर्माण की वृत्तिवाला बनाता हूँ तथा पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कराता हूँ। (२) **अहम्**=मैं **हविष्मते**=हविष्मान् के लिए, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले के लिए **द्रविणं दधामि**=धन का पोषण करता हूँ। उसे लोकहित के कार्यों के लिए धन की कभी कमी नहीं रहती **सुप्राव्ये**=(सु+प्र+अव्) उत्तमता से उत्कृष्ट रक्षण करनेवाले के लिए मैं धन का धारण करता हूँ। **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए मैं धन का धारण करता हूँ तथा **सुन्वते**=सोमयज्ञों को करनेवाले के लिए मैं धन को देता हूँ। राष्ट्र रक्षा के लिए निर्माणात्मक सब कर्म सब कर्म 'सोमयज्ञ' कहलाते हैं। इन सोम यज्ञों को करनेवालों के लिए प्रभु धन की कमी नहीं होने देते।

भावार्थ—प्रभु वीर्य शक्ति को प्राप्त करा के उपासक को नीरोग बनाते हैं। निर्माणात्मक कार्यों में उसे प्रवृत्त करके पोषण के लिए पर्याप्त धन देते हैं। दानपूर्वक अदन करनेवाला (हविष्मान्) उत्तम रक्षण में प्रवृत्त (सुप्रावी) यज्ञशील (यजमान) निर्माण के कार्य में लगा हुआ व्यक्ति (सुन्वन्) प्रभु के धन का पात्र होता है।

ऋषिः—**वागाम्भृणी** ॥ देवता—**वागाम्भृणी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वशासक-सर्वाधार

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३॥

(१) **अहम्**=मैं ही **राष्ट्री**=सम्पूर्ण जगत् की शासिका ईश्वरी हूँ। **वसूनाम्**=सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक धनों को **संगमनी**=प्राप्त करानेवाली हूँ। **चिकितुषी**=ज्ञानवाली मैं ही हूँ। अतएव **यज्ञियानां प्रथमा**=उपास्यों में प्रथम मैं ही हूँ। (२) **ताम्**=उस **मा**=मुझको **देवाः**=देववृत्ति के लोग **पुरुत्रा**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **व्यदधुः**=धारण करते हैं। जो मैं **भूरिस्थात्राम्**=पालक व पोषक रूप में सर्वत्र स्थित हूँ तथा **भूरि-आवेशयन्तीम्**=पालक व पोषक तत्त्वों को सब जीवों में प्रवेश करानेवाला हूँ। (३) प्रभु सारे चराचर ब्रह्माण्ड के शासन करनेवाले हैं (राष्ट्री)। सूर्यादि सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं (संगमनी वसूनां) सूर्य में अपनी शक्ति नहीं। यह प्रभु की ही शक्ति सूर्य में काम कर रही है। प्रभु ही इनमें पालक व पोषक रूप में स्थित हैं (भूरिस्थात्राम्)। इसी प्रकार सब प्राणियों को चेतना देनेवाले प्रभु ही हैं (चिकितुषी) प्रभु ही इनमें सब पोषक तत्त्वों का प्रवेश कराते हैं (भूरि आवेशयन्तीम्)। वस्तुतः जड़ जगत् के द्वारा चेतन जगत्

का धारण करनेवाले ये प्रभु हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सबके शासक हैं, प्रभु ही सबके आधार हैं।

ऋषिः—**वागाम्भृणी** ॥ देवता—**वागाम्भृणी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वपालक प्रभु

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

(१) **मया**=मेरे से ही **सः**=वह **अन्नं अत्ति**=अन्न को खाता है **यः**=जो **विपश्यति**=विशिष्टरूप से देखता है, देखते हैं, परन्तु कुछ समझते नहीं, वे अत्यन्त स्थिर-सी अवस्था में पड़े हुए क्षुद्र जन्तु मेरे से ही भोजन को खाते हैं। इसी प्रकार **यः प्राणिति**=जो श्वासोच्छ्वास लेते हुए जीवन को बिता रहे हैं, वे भी मेरे से ही अन्न को प्राप्त करते हैं। केवल देखनेवालों से ये कुछ उत्कृष्ट हैं। इन से भी उत्कृष्ट वे हैं **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **उक्तं शृणोति**=कहे हुए को सुनते हैं। इस प्रकार श्रवण से ज्ञान की वृद्धिवाले मनुष्य भी मेरे से ही अन्न को खाते हैं। (२) **ते अमन्तवः**=वे मनन व विचार से शून्य होने के कारण मुझे न माननेवाले भोग प्रधान वृत्तिवाले व्यक्ति भी **मां उपक्षियन्ति**=मेरे आधार से ही निवास करते हैं। मेरे आधार से जीते हुए भी वे माया से मोहित हुए-हुए मुझे नहीं देखते। (३) परन्तु प्रभु का प्रिय पुत्र तो वही है जो मायामूढ न बनकर प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। हे **श्रुत**=अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले जीव! **श्रुधि**=सुन। **श्रद्धिवम्**=(श्रद्धिः श्रद्धा तया युक्तं श्रद्धा यत्वेन तथ्यं ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु सा०) श्रद्धा से लभ्य आत्मज्ञान को **ते वदामि**=तेरे लिए मैं कहता हूँ। इस प्रभु की वाणी को सुननेवाला श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान को प्राप्त करता है।

भावार्थ—देखनेवाले केवल श्वासोच्छ्वास लेनेवाले, सुननेवाले सभी प्रभु से ही अन्न को प्राप्त करते हैं। मनन रहित भोग प्रधान पुरुषों को भी प्रभु ही भोजन देते हैं और सुननेवालों को प्रभु ही ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**वागाम्भृणी** ॥ देवता—**वागाम्भृणी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु प्रिय व्यक्ति का जीवन

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि श्रद्धा-लभ्य ज्ञान मैं ही प्राप्त कराता हूँ। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **अहं एव**=मैं ही **स्वयम्**=अपने आप **इदम्**=इस ज्ञान को **वदामि**=उच्चरित करता हूँ, जो ज्ञान **देवेभिः जुष्टम्**=देवताओं से प्रीतिपूर्वक सेवित होता है, **उत**=और **मानुषेभिः**=विचारशील पुरुषों से वह ज्ञान सेवित होता है। प्रभु से दिये जाते हुए इस अन्तर्ज्ञान को देव और मनुष्य ही सुनते हैं। इन्हीं का इस ज्ञान की ओर झुकाव होता है। सामान्य मनुष्य इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित नहीं होता। (२) इस प्रकार मनुष्यों के सामान्यतया दो विभाग हो जाते हैं। एक वे जो देववृत्ति के बनकर ज्ञान की ओर झुकाववाले होते हैं। और दूसरे वे जो भोग प्रधान जीवनवाले बनकर ईश्वर से विमुख रहते हैं। स्पष्ट है कि देव प्रभु के प्रिय होते हैं। **यम्**=जिनको **कामये**=मैं चाहता हूँ, जो मेरे प्रिय बनते हैं **तं तम्**=उन-उनको मैं **उग्रं कृणोमि**=तेजस्वी बनाता हूँ, **तं ब्रह्माणम्**=उनको मैं ज्ञानी बनाता हूँ, **तं ऋषिम्**=उनको

द्रष्टा व गतिशील बनाता हूँ **तं सुमेधाम्**=उनको उत्तम मेधावाला बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु प्रिय व्यक्ति तेजस्वी ज्ञानी व ऋषि तुल्य और सुमेधा बनता है। आसुरवृत्तिवाले लोग भोग प्रधान जीवन को बिताने से निस्तेज व ज्ञानविमुख गलत दृष्टिकोणवाले दुर्बुद्धि हो जाते हैं।

ऋषिः—**वागाम्भृणी**॥ देवता—**वागाम्भृणी**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अन्तःसंग्राम व बहि संग्राम के करनेवाले प्रभु

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ६॥

(१) राष्ट्र में प्रजाओं के कष्टों का निवारण करनेवाला राजा रुद्र है (रुत् कष्टं द्रावयति)। यह अपने धनुष् से प्रजा पीड़कों का संहार करता है। इसके लिए इन धनुष् आदि साधनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **अहम्**=मैं ही **रुद्राय**=इस प्रजा कष्ट विद्रावक राजा के लिए **धनुः**=धनुष को **आतनोमि**=ज्या इत्यादि से युक्त करता हूँ। जिससे वह राजा **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान के साथ प्रीति न रखनेवाले **शरवे**=हिंसक पुरुष के **हन्तवा उ**=निश्चय से हनन के लिए समर्थ हो सके। इस प्रकार राजा राष्ट्र की उन्नति में विघ्नभूत लोगों को उचित दण्ड देने का सामर्थ्य उस प्रभु से ही प्राप्त करता है। (२) लोगों का जो अपने अन्तःशत्रु काम-क्रोधादि से युद्ध चलता है उस युद्ध में भी प्रभु ही विजय प्राप्त कराते हैं। **अहम्**=मैं ही **जनाय**=लोगों के लिए **समदम्**=(समत्=संग्राम) संग्राम को **कृणोमि**=करता हूँ। प्रभु ही इन कामादि शत्रुओं का संहार करते हैं। **अहम्**=मैं ही **द्यावापृथिवी आविवेश**=सम्पूर्ण द्युलोक व पृथिवी लोक में व्याप्त हो रहा हूँ। सर्वत्र मेरी शक्ति ही काम कर रही है।

भावार्थ—राजा को राष्ट्रपालन की शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। एक मनुष्य को काम-क्रोधादि को जीतने की शक्ति भी प्रभु ही देते हैं।

ऋषिः—**वागाम्भृणी**॥ देवता—**वागाम्भृणी**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सूर्य व जलों के निर्माता प्रभु

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥ ७॥

(१) **अहम्**=मैं **अस्य**=इस जगत् के **मूर्धन्**=मूर्धभूत (मस्तकरूप) आकाश में, द्युलोक में **पितरम्**=इस पालक सूर्य को **सुवे**=उत्पन्न करता हूँ। द्युलोकस्थ सूर्य सारी प्रजाओं का पालक है, यह सबका पिता है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'=सब प्रजाओं का प्राण यही है। प्रभु लोकरक्षण के लिए इसे द्युलोक में स्थापित करते हैं। (२) **मम योनिः**=मेरा गृह **अप्सु अन्तः**=इन जलों के अन्दर है, **समुद्रे**=समुद्र में है। जलों में व समुद्रों में भी मेरा ही वास है। मेरे कारण ही उनमें रस है। (३) **ततः**=इस प्रकार सूर्य व जलों का निर्माण करके **विश्वा भुवना अनुवितिष्ठे**=सब भुवनों में मैं स्थित हो रहा हूँ। **वर्ष्मणा**=मैं अपने शरीर प्रमाण से **अमूं द्याम्**=उस सुदूरस्थ द्युलोक को **उपस्पृशामि**=छूता हूँ। वस्तुतः यह द्युलोक मेरे विराट् शरीर का मूर्धा ही तो है।

भावार्थ—प्रभु सूर्य को द्युलोक में स्थापित करते हैं, जलों का निर्माण करते हैं। सब लोकों में व्याप्त हैं।

ऋषिः—**वागाम्भृणी** ॥ देवता—**वागाम्भृणी** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'एतावानस्य महिमा' 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'

अहमेव वातंइव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव॥ ८॥

(१) **अहं एव**=मैं ही **विश्वा भुवनानि आरभमाणा**=सब भुवनों को बनाती हुई **वातः इव**=वायु की तरह **प्रवामि**=गतिवाली होती हूँ। जिस प्रकार वायु निरन्तर चल रही है, उसी प्रकार प्रभु की क्रिया भी स्वाभाविक है। वे अपनी इस क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। इस निर्माण कार्य में उन्हें किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं। (२) वे प्रभु **दिवा परः**=इस द्युलोक से परे भी हैं, और **एना पृथिव्याः परः**=इस पृथ्वी से परे भी हैं। ये द्युलोक व पृथ्वीलोक प्रभु को अपने में समा नहीं लेते। हाँ, **महिना**=अपनी महिमा से वह प्रभु शक्ति **एतावती**=इतनी **संबभूव**=है। अर्थात् प्रभु की महिमा इस ब्रह्माण्ड के अन्दर ही दिखती है। ब्रह्माण्ड से परे तो प्रभु का अचिन्त्य निर्विकार निराकार रूप ही है। इस ब्रह्माण्ड में ही वे साकार दिखते हैं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। 'एतावानस्य महिमा', यह संसार ही प्रभु की महिमा है। परन्तु वे प्रभु इस संसार में ही समाप्त नहीं हो जाते 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'।

भावार्थ—प्रभु अपनी स्वाभाविकी क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। यह ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा है। प्रभु इसमें सीमित नहीं हो जाते, वे इससे परे भी हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की महिमा का गायन कर रहा है। यह गायन करनेवाला अपने को प्रभु से खेले जानेवाले इस संसार नाटक का एक पात्र जानता है 'शैलूषि'। इस प्रकार अनासक्ति व प्रभु-स्मरण के कारण यह पाप का (कुल्मल) उखाड़नेवाला (बर्हिषः) 'कुल्मल-बर्हिष' कहलाता है। यह सुन्दर दिव्यगुणोंवाला 'वामदेव' बनता है, पापों व कुटिलताओं को छोड़ने के कारण 'अंहोमुक्' है। यह प्रार्थना करता है कि—

[१२६] षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥
छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

न अंहः, न दुरितम्

न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्। सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयन्ति वरुणो अति द्विषः॥ १॥

(१) हे **देवासः**=देवो! **तं मर्त्यम्**=इस मनुष्य को **अंहः**=कुटिलता **न अष्ट**=व्याप्त नहीं होती। **न दुरितम्**=ना ही कोई दुर्गति व्याप्त होती है। न तो वह कुटिल होता है ना ही किसी दुराचरण में फँसता है। **यम्**=जिस को **अर्यमा मित्रः वरुणः**=अर्यमा, मित्र और वरुण **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले हुए-हुए **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अतिनयन्ति**=पार ले जाते हैं। (२) **अर्यमा**='अरीन् यच्छति'=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को काबू करता है। **मित्रः**='प्रमीतेः त्रायते' पाप व मृत्यु से बचाता है। **वरुणः**='पापान्निवारयति' पाप को हमारे से दूर करता है। 'मित्र' में 'मेद्यते स्निह्यति' स्नेह की भावना भी है। तथा 'वरुणः' में द्वेष निवारण की। ये तीनों ही देव हमारे जीवनों में समानरूप से प्रीतिवाले होते हैं तो हम द्वेष की भावनाओं से सदा ऊपर उठे रहते हैं। उस समय न हम कुटिलता के शिकार होते हैं और न दुराचरण के।

भावार्थ—हम 'अर्यमा, मित्र व वरुण' की आराधना करते हुए द्वेष से ऊपर उठें, कुटिलता व दुराचरण में न पड़ें।

ऋषिः—**कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

काम-क्रोध-लोभ से दूर

तद्धि वयं वृणीमहे वरुण मित्रार्यमन्। येना निरंहसो यूयं पाथ नेथा च मर्त्यमति द्विषः॥ २॥

(१) हे **वरुण-मित्र-अर्यमन्**=द्वेष का निवारण करनेवाले, स्नेहवाले, काम आदि का नियमन करनेवाले देवो! **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **तद् वृणीमहे**=वही चाहते हैं **येन**=जिससे **यूयम्**=आप **मर्त्यम्**=मुझ मनुष्य को **अंहसः**=पाप व कुटिलता से **निःपाथ**=पार करके रक्षित करते हो, **च**=और **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अतिनेथ**=पार ले जाते हो। (२) 'मित्र' हमें सबके साथ स्नेह कराता हुआ 'काम' से ऊपर उठाता है। 'वरुण' हमें द्वेष से दूर करता हुआ क्रोध से रहित करता है। **अर्यमा**=हमें दानवृत्तिवाला बनाता हुआ लोभ से दूर करता है। इस प्रकार हम 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—'मित्र, वरुण व अर्यमा' हमें 'काम-क्रोध-लोभ' से दूर करें।

ऋषिः—**कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

अकर्त्तव्य से दूर, कर्त्तव्य के समीप

ते नूनं नोऽयमूतये वरुणो मित्रो अर्यमा। नयिष्ठा उ नो नेषणि पर्षिष्ठा उ नः पर्षण्यति द्विषः॥ ३॥

(१) **अयं वरुणः**=यह वरुण पाप-निवारण की देवता, **अयं मित्रः**=यह प्रमीति से, रोगों व पापों से त्राण करनेवाली, बचानेवाली देवता, **अयं अर्यमा**=यह 'अरीन् यच्छति' काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करनेवाली देवता **ते**=वे सब आप **नूनम्**=निश्चय से **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए होते हो। **उ**=निश्चय से **नः**=हमें **नेषणि**=नेतव्य विषय में **नयिष्ठाः**=ले चलो। अर्थात् 'वरुण, मित्र, अर्यमा' की कृपा से हम उन्हीं मार्गों पर चलें, जिन पर कि हमें चलना चाहिए। (२) हे वरुणादि देवो! **उ**=और **नः**=हमें **पर्षणि**=पारयितव्य विषय में **पर्षिष्ठाः**=पार करो। **द्विषः अति** (पर्षिष्ठाः)=सब द्वेषों से तो हमें पार करो ही। हम किसी भी पाप के गर्त में न गिरें, द्वेष में तो कभी भी न पड़ें।

भावार्थ—'वरुण-मित्र-अर्यमा' की आराधना से हम करने योग्य चीजों को करें, न करने योग्य चीजों को न करें, द्वेष से अवश्य दूर रहें।

ऋषिः—**कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

उत्तम भावनाओं से प्रेरित होकर (चलें)

यूयं विश्वं परि पाथ वरुणो मित्रो अर्यमा।
युष्माकं शर्मणि प्रिये स्याम सुप्रणीतयोऽति द्विषः॥ ४॥

(१) **वरुणः मित्र अर्यमा**=वरुण, मित्र और अर्यमा **यूयम्**=आप **विश्वम्**=सम्पूर्ण जगत् को **परिपाथ**=समन्तात् रक्षित करते हो। 'वरुण' हमें क्रोध से बचाता है, 'मित्र' काम के आक्रमण से हमारा रक्षण करता है और 'अर्यमा' हमें लोभ में नहीं फँसने देता। (२) हे वरुण, मित्र और अर्यमा! हम **युष्माकम्**=आपकी **प्रिये**=प्रिय **शर्मणि**=शरण में प्राप्त होनेवाले सुख में **स्याम**=हों। **सु प्रणीतयः**=हम उत्तम प्रणयनोंवाले हों। हमें आप सदा उत्तम मार्गों से ले चलिये। **द्विषः**

अति=हमें ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध की भावनाओं से पार ही करिये।

भावार्थ—क्रोध, काम व लोभ से दूर रहते हुए हम सुरक्षित हों। हम कामादि से दूर होकर उत्तम भावनाओं से ही कार्यों में प्रवृत्त हों। द्वेषों से सदा दूर रहें।

ऋषिः—**कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्राणायाम-प्रभु-स्तवन, बल-प्रकाश

आ॒दि॒त्यासो॒ अति॒ स्रिधो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा।
उ॒ग्रं म॒रुद्भी॑ रु॒द्रं हु॑वे॒मेन्द्र॑म॒ग्निं स्व॒स्तयेऽ ति॒ द्विषः॑ ॥ ५ ॥

(१) हे **आदित्यासः**=अदिति के पुत्रो! 'अदिति' अर्थात् स्वास्थ्य, अखण्डन। पूर्ण स्वास्थ्य में जो उत्तम दिव्य भावनाएँ उत्पन्न होती हैं वे आदित्य हैं। हे आदित्यो! हमें **स्रिधः अति**=हिंसक वृत्तियों से ऊपर उठाओ **वरुणः**=वरुण हमें क्रोध से ऊपर उठाये (निवारयति इति वरुणः)। **मित्र) (प्रमीतेः त्रायते)**=मित्र हमें कामपरता से उत्पन्न होनेवाले रोगों व पापों से बचाए। **अर्यमा**=हमारे शत्रुओं का नियमन करता हुआ पापों के मूल लोभ से हमें दूर करे। (२) **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ, प्राणसाधना करते हुए हम **उग्रम्**=उस तेजस्वी **रुद्रम्**=शत्रुओं को रुलानेवाले प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं। **इन्द्रम्**=बल की देवता को तथा **अग्निम्**=प्रकाश की देवता को हम पुकारते हैं। ये **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिए हों। **द्विषः अति**=ये हमें द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठाएँ। हमारे जीवनों में प्राणसाधना व प्रभु-स्तवन का मेल हो (मरुत्+रुद्र) बल व प्रकाश का समन्वय हो (इन्द्र+अग्नि)। यही कल्याण का साधन है। इसी प्रकार हम द्वेषों से ऊपर उठ सकते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में काम-क्रोध-लोभ न हो। प्राणसाधना व प्रभु-स्तवन करनेवाले हम हों। बल व प्रकाश का अपने जीवन में हम समन्वय करें।

ऋषिः—**कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

अति विश्वानि दुरिता

ने॒तार॑ ऊ॒ षु ण॑स्ति॒रो वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा।
अति॒ विश्वा॑नि दु॒रि॒ता राजा॑नश्चर्षणी॒नामति॒ द्विषः॑ ॥ ६ ॥

(१) **वरुणः**=द्वेष निवारण की देवता, **मित्रः**=स्नेह की देवता तथा **अर्यमा**=(अदीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि को पराजित करने की देवता, ये सब **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **नः**=हमें **तिरः नेतारः**=(तिरः aeross, beyond, oner) पार ले जानेवाले हैं। (२) ये **विश्वानि दुरिता**=सब दुरितों से **अति**=अतिक्रान्त करके हमें सुवितों में प्राप्त करानेवाले हैं। **चर्षणीनां राजानः**=श्रमशील व्यक्तियों के जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले ये 'वरुण-मित्र-अर्यमा' **द्विषः अति**=हमें शत्रुओं से पार ले जानेवाले हैं।

भावार्थ—वरुण-मित्र-अर्यमा हमें दुरितों से दूर करके सुन्दर जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

'शान्त उदार' जीवन

शुनम॒स्मभ्य॑मू॒तये॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा।
शर्म॑ यच्छन्तु स॒प्रथ॑ आदि॒त्यासो॒ यदीम॑हे अति॒ द्विषः॑ ॥ ७ ॥

(१) **वरुणः मित्रः अर्यमा**=वरुण, मित्र और अर्यमा 'निर्द्वेषता, स्नेह व निर्लोभता' की देवता **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शुनम्**=(सुखं यथा स्यात् तथा) सुखपूर्वक **ऊतये**=रक्षण के लिए हों। इन से रक्षित होकर हम सुखमय जीवनवाले हो पाएँ। (२) **आदित्यासः**=अदिति के पुत्र, अर्थात् स्वास्थ्य में विकसित होनेवाले दिव्यगुण **सप्रथः**=विस्तार से युक्त **शर्म**=शरण व सुख को **यच्छन्तु**=दें **यत् ईमहे**=जिसकी हम याचना करते हैं। **द्विषः अति**=ये देव हमें द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठाएँ। द्वेष से ऊपर उठकर ही शान्त सुखी जीवन बिताया जा सकता है।

भावार्थ—देवों के अनुग्रह से हम द्वेष से ऊपर उठकर शान्त व उदार (सप्रथः) जीवन बिता पाएँ।

ऋषिः—**कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रतरं प्रतारि

यथा॑ ह॒ त्यद्व॑सवो गौ॒र्यं॑ चित्प॒दि षि॒ताममु॑ञ्चता यजत्राः।
ए॒वो ष्व१॒स्मन्मु॑ञ्चता॒ व्यंहः॒ प्र ता॑र्यग्ने प्रत॒रं न॒ आयुः॑ ॥ ८ ॥

(१) हे **यजत्राः**=पूजनीय अथवा संगतिकरण के द्वारा त्राण करनेवाले **वसवः**=वसुओं, हमारे जीवनों को उत्तम बनानेवाले देवो! **यथा**=जैसे **ह**=निश्चय से **त्यद्**=उस **गौर्यम्**=गौरवर्णा गाय को **चित्**=भी यदि **षितां (सितां)**=पाँवों में बँधी हुई को **अमुञ्चत**=मुक्त करते हो। **एवा उ**=इसी प्रकार ही **सु**=अच्छी प्रकार **अस्मत्**=हमारे से **अंहः**=पाप व कुटिलता को **विमुञ्चत**=पृथक् करो। इस कुटिलता ने ही तो हमारी वास्तविक उन्नति को रोका हुआ है। यह हमारे पाँवों में बेड़ी के रूप में पड़ी हुई है। इससे मुक्त होने पर ही हम आगे बढ़ पाएँगे। (२) हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! इस प्रकार कुटिलता को दूर करके आप **नः आयुः**=हमारे जीवन को **प्रतरं प्रतारि**=(खूब ही बढ़ाइये। पाप से आयुष्य कम हो जाता है, पुण्य से आयुष्य में वृद्धि होती है।

भावार्थ—कुटिलता के बन्धन से मुक्त करके प्रभु हमारे जीवनों को दीर्घ बनाएँ।

इस सूक्त के प्रथम सात मन्त्रों में अन्तिम शब्द 'अति द्विषः' हैं। द्वेष से मार्गभ्रष्ट होकर हम जीवन की मर्यादाओं को तोड़ बैठते हैं। सात बार द्वेष से ऊपर उठने की प्रार्थना करके हम जीवन में सातों मर्यादाओं का पालन करने का संकल्प करते हैं। आठवें मन्त्र में कहा गया है कि कुटिलता से ऊपर उठकर ही मनुष्य दीर्घजीवी बनता है। इन सब द्वेषों व कुटिलताओं को भुलाने में रात्रि सहायक होती है। नींद में चलने जाने पर हम द्वेष को भूल जाते हैं। प्रातः उठते हैं तो कलवाला क्रोध शान्त हो चुका होता है। सो अगला सूक्त रात्रि का स्तवन करता है। सूक्त का ऋषि ही 'रात्रिः भारद्वाजी' है, रात्रि शक्ति का भरण करनेवाली तो है ही। इस रात्रि में निद्रा में रमण करनेवाला व्यक्ति ही प्रातः फिर से हल जोत पाता है सो 'कुशिकः' (to plough, share वाला) है अथवा कौशेते=पृथिवी पर शयन करनेवाला यह कुशिक उत्तमता से अपने में शक्ति को भरनेवाला 'सौभरः'

है। यह रात्रि-स्तवन करता हुआ कहता है कि—

[१२७] सप्तविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी** ॥ देवता—**रात्रिस्तवः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

श्री-धारण

रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्य१क्षभिः। विश्वा अधि श्रियोऽधित ॥ १ ॥

(१) यह **रात्रीः**=हमारी रमयित्री है। **पुरुत्रा**=पालन व पूरण करनेवाली व त्राण करनेवाली है। **देवी**=(दिव=स्वप्न) यह हमारे स्वाप का हेतु, हमें सुलानेवाली है। यह **आयती**=आती हुई **अक्षभिः व्यख्यत**=नक्षत्र रूप नेत्रों से हमें देखती है। जैसे एक माता बच्चे का ध्यान करती है उसी प्रकार यह हमारा ध्यान करती है। नक्षत्र ही इसके नेत्र हैं, उन नेत्रों से हमारा पालन करती है (looks after)। (२) यह रात्री हमें सुलाकर **विश्वाः श्रियः**=सब श्रियों को **अधि अधित**=हमारे में आधिक्येन धारण करती है। रात्रि में जब हम सोते हैं तो सारे शरीर में फिर से तरो-ताजगी आ जाती है। थका हुआ शरीर फिर से शक्ति से भर जाता है। इस प्रकार रात्रि वस्तुतः हमारे लिए 'पुरुत्रा'=पालक, पूरक व त्राण करनेवाली बनती है। थका हुआ व्यक्ति सोकर उठता है, अपने को नवीकृत-सा अनुभव करता है।

भावार्थ—रात्रि में हम सोते हैं, वह शयन हमें फिर से श्री सम्पन्न करता है। जीवन का यान कुसुम फिर से खिल-सा उठता है।

ऋषिः—**कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी** ॥ देवता—**रात्रिस्तवः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अमर्त्या रात्रिः

ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्यु१द्वतः। ज्योतिषा बाधते तमः ॥ २ ॥

(१) यह रात्रि **अमर्त्या**=न नष्ट होनेवाली है। जाती है, दिन की समाप्ति पर फिर आ जाती है। रात्रि भी मानो दिन में सो जाती है, दिन की समाप्ति पर फिर से जाग उठती है। यह नष्ट नहीं हो जाती। यह **देवी**=सब के स्वाप का हेतु है (दिव्-स्वप्ने)। यह जब आती है तो **निवतः**=पृथ्वी के निम्न स्थानों को तथा **उद्वतः**=उत्कृष्ट स्थानों को गुफाओं को, गड्ढों को व पर्वत शिखरों को **आ**=चारों ओर **उरु**=विशाल फैले हुए अन्तरिक्ष को यह रात्री **अप्राः**=(प्रा पूरणे) पूरण कर लेती है, भर लेती है। चारों ओर रात्रि का अन्धकार व्याप जाता है। (२) यह रात्रि अब **ज्योतिषा**=नक्षत्रों की ज्योति से **तमः**=अन्धकार को **बाधते**=कुछ पीड़ित करनेवाली होती है। नक्षत्रों की ज्योति से वह अन्धकार उतना भयंकर नहीं रह जाता।

भावार्थ—रात्रि आती है, सारा संसार अन्धकार से व्याप्त हो जाता है। इस अन्धकार को नक्षत्रों की ज्योति जरा पीड़ित करनेवाली होती है।

सूचना—यहाँ रात्रि को 'अमर्त्या' कहा है। इसका यह भी भाव है कि यह फिर से शक्ति-सम्पन्न करके हमें मरने से बचाती है। रात्रि की व्यवस्था न होती, तो हम काम करते-करते थककर समाप्त ही हो जाते।

ऋषिः—**कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी** ॥ देवता—**रात्रिस्तवः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अन्धकार विनाश

निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती। अपेदु हासते तमः॥ ३॥

(१) यह **देवी**=हमारे स्वाप का हेतुभूत रात्री (दिव् स्वप्ने) **आयती**=समन्तात् गति करती हुई, आगे और आगे बढ़ती हुई, **स्वसारं उषसम्**=अपनी बहिन के तुल्य उषा का लक्ष्य करके **उ**=निश्चय से **निः अस्कृत**=स्थान को खाली कर देती है। रात्रि समाप्त होती है और उषा आती है। (२) इस उषा के आने पर **इत् उ**=निश्चय से **तमः अवहासते**=अन्धकार विनष्ट हो जाता है। वस्तुतः जीवन में भ्रान्ति के कारण जो उत्साह का अभाव हो गया था, वह रात्रि में सोकर शक्ति प्राप्ति के द्वारा, फिर से प्राप्त हो जाता है। प्रातः हम उठते हैं और अपने में फिर से उस उत्साह का अनुभव करते हैं। यही अन्धकार विनाश का भाव है।

भावार्थ—रात्रि धीमे-धीमे आगे बढ़ती हुई उषा के लिए स्थान खाली करती है, अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इसी प्रकार हमारे जीवनों में अनुत्साह का अन्धकार समाप्त होता है और उत्साह का प्रकाश फिर से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी** ॥ देवता—**रात्रिस्तवः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

घरों में

सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि। वृक्षे न वसतिं वयः॥ ४॥

(१) हे रात्रि! **सा**=वह तू **अद्य**=आज **नः**=हमारी हो, **यस्याः ते**=जिस तेरे **यामन्**=आने पर **वयम्**=हम **नि अविक्ष्महि**=निश्चय से अपने घरों में प्रवेश करनेवाले होते हैं। उसी प्रकार प्रवेश करनेवाले होते हैं, **न**=जैसे कि **वयः**=पक्षी **वृक्षे**=वृक्षों पर **वसतिम्**=अपने घोंसलों में प्रवेशवाले होते हैं। (२) रात्रि आती है, और हमें कार्य से विश्राम मिलता है। अचानक रात्रि की व्यवस्था न होती तो हम कर्म करते-करते ही थककर समाप्त हो जाते। एवं रात्रि वस्तुतः हमारे लिए रमयित्री है।

भावार्थ—रात्रि आती है और विश्राम देकर हमें फिर से शक्ति-सम्पन्न करनेवाली होती है।

ऋषिः—**कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी** ॥ देवता—**रात्रिस्तवः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

विश्राम काल

नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः। नि श्येनासश्चिदर्थिनः॥ ५॥

(१) रात्रि आती है और **ग्रामासः नि अविक्षत**=ग्राम के ग्राम अपने घरों में प्रवेश करते हैं और सोने की तैयारी करते हैं। **पद्वन्तः**=सब पाँववाले द्विपात् मनुष्य व चतुष्पाद् पशु **नि**=सोने के लिए अपने-अपने स्थान में प्रवेश करते हैं। **पक्षिणः**=पक्षी भी **नि**=अपने घोंसलों में प्रवेश करते हैं। (२) **श्येनासः**=अत्यन्त तीव्र गतिवाले, इधर-उधर भागते हुए, एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते हुए **अर्थिनः**=धन के चाहनेवाले ये व्यापारी **चित्**=भी अपने-अपने स्थान में पहुँचकर सोने के लिए तैयार होते हैं।

भावार्थ—रात्रि सब के विश्राम का कारण बनती है। रात्रि विश्राम काल है, जैसे दिन कार्य काल।

ऋषिः—**कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी** ॥ देवता—**रात्रिस्तवः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निर्भय-निद्रा

यावया वृक्यं वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये। अथा नः सुतरा भव ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार रात्रि विश्राम काल तो है, परन्तु यदि उस समय हिंस्र पशुओं का भय बना हुआ हो अथवा चोरों का भय हो तो नींद सम्भव नहीं। सो कहते हैं कि—हे **ऊर्म्ये**=रात्रि! सारे संसार को अन्धकार से आच्छादित करनेवाली रात्रि! (ऊर्णुञ् आच्छादने) **वृक्यं वृकम्**=वृकी और वृक-भेड़ियों को **यावया**=हमारे से दूर करो। राजा इस प्रकार व्यवस्था करे कि बस्तियों के समीप इन हिंसक पशुओं के आने का सम्भव न हो। इसी प्रकार **स्तेनम्**=चोर को **यवय**=हमारे से पृथक् करो। रात्रि में रक्षा-पुरुषों की ठीक व्यवस्था के कारण चोरों का भी भय न हो। (२) इस प्रकार हिंस्र पशुओं व चोरों के भय से रहित होकर उत्तम नींद को देती हुई तू **नः**=हमारे लिए **सुतराभव**=शरीरों के रोगों व मानस ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध आदि विकारों से ठीक प्रकार से तरानेवाली, दूर करनेवाली हो। रोगी सो जाए तो उसका आधा रोग ही दूर हो जाता है और क्रोध से तमतमाता हुआ पुरुष सो जाए तो अगले दिन बिलकुल क्रोध से शून्य होता है। एवं यह रात्रि हमें आधि-व्याधियों से तरानेवाली है।

भावार्थ—हिंसक-पशुओं व चोरों के भय से रहित होकर हम ठीक नींद को प्राप्त करें और आधि-व्याधियों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी** ॥ देवता—**रात्रिस्तवः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

घना अन्धकार

उप मा पेपिशत्तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित। उष ऋणेव यातय ॥ ७ ॥

(१) रात्रि में सोकर उषाकाल के समय उठनेवाला व्यक्ति उषा से कहता है कि यह **पेपिशत्**=मुझे टुकड़े-टुकड़े करता हुआ, मुझे पीस-सा डालता हुआ **कृष्णाम्**=अत्यन्त काला **व्यक्तम्**=यह चारों ओर प्रकट होनेवाला **तमः**=अन्धकार **मा उप अस्थित**=मुझे समीपता से प्राप्त हुआ है। इस अन्धकार ने तो मेरे पर पूर्ण प्रभुत्व-सा पा लिया है। (२) हे **उषः**=उषो देवि! तू इस अन्धकार को इस प्रकार **यातय**=मेरे से पृथक् कर दे, **इव**=जैसे कि **ऋण**=ऋणों को अदा करते हैं। उषाकाल में उठकर मनुष्य बड़े को प्रणाम आदि द्वारा पूजन प्राप्त कराता हुआ पितृ-ऋण से उऋण होता है। देवयज्ञ द्वारा देव-ऋण से तथा स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण से। एवं उषा हमें सब ऋणों से मुक्त करती है। कहते हैं कि इसी प्रकार तू हमें इस रात्रि के अन्धकार से भी मुक्त कर।

भावार्थ—जैसे उषा 'बड़ों को प्रणाम, देवयज्ञ तथा स्वाध्याय' द्वारा हमें ऋणों से मुक्त करती है, उसी प्रकार रात्रि के अन्धकार से भी मुक्त करे।

ऋषिः—**कुशिकः सौभरो रात्रिर्वा भारद्वाजी** ॥ देवता—**रात्रिस्तवः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्वाध्याय व स्तवन

उप ते गाइवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः। रात्रि स्तोमं न जिग्युषे ॥ ८ ॥

(१) हे **रात्रि**=मेरी रमयित्रि! **ते उप**=तेरे समीप प्राप्त होकर **गाः इव**=इन रश्मियों की तरह (गाः) **अकरम्**=ज्ञान की वाणियों को अपने अन्दर प्राप्त करता हूँ। रात्रि का अन्तिम सिरा उषाकाल

है। इस उषाकाल में जैसे प्रकाश की किरणों का प्रारम्भ होता है, इसी प्रकार मैं भी इस समय नींद को समाप्त करके ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करनेवाला होता हूँ। (२) हे **दिवः दुहितः**=(दुह प्रपूरणे) प्रकाश का पूरण करनेवाली! हम तेरे लिए **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह का उच्चारण करते हैं। उसी तरह उच्चारण करते हैं **न**=जैसे कि **जिग्युषे**=एक विजयशील पुरुष के लिए स्तोम को कहते हैं। तू **वृणीष्व**=उस स्तोम का सम्भजन करनेवाली हो। इस प्रातः के समय हम स्तुति-वचनों का उच्चारण करें।

भावार्थ—रात्रि की समाप्ति पर, प्रबुद्ध होकर, हम स्तवन को करनेवाले हों और ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करें।

सूक्त का भाव यह है कि दिनभर की थकावट के बाद यदि हम घरों में निर्भय निद्रा के सुख का अनुभव कर सकें तो सब इन्द्रियों को फिर से शक्ति सम्पन्न करके हम प्रातः प्रबुद्ध होकर स्वाध्याय व स्तवन से दिन को प्रारम्भ कर सकेंगे। यदि हमारा दिन इसी प्रकार प्रारम्भ होगा तो हम 'विहव्य' होंगे, विशिष्ट आराधनावाले, विशिष्ट पुकारवाले, इस 'विहव्य' का ही अगला सूक्त है। यह विहव्य प्रार्थना करता है कि—

[१२८] अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

चतुर्दिग्-विजय

ममा॑ग्ने॒ वर्चो॑ विह॒वेष्व॑स्तु व॒यं त्वेन्धा॑नास्त॒न्वं॑ पुषेम।
मह्यं॑ नमन्तां प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒स्त्वयाध्य॑क्षेण॒ पृत॑ना जयेम॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विहवेषु**=इन जीवन-संग्रामों में **मम वर्चः अस्तु**=मेरे में वर्चस् शक्ति हो। इस वर्चस् के द्वारा मैं शत्रुओं को जीतनेवाला बनूँ। **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **इन्धानाः**=दीप्त करते हुए अपने हृदयों में आपका प्रकाश करते हुए, **तन्वं पुषेम**=इस शरीर का उचित पोषण करें। (२) मेरी शक्ति इतनी बढ़े कि **चतस्रः प्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ **मह्यं नमन्ताम्**=मेरे लिए नत हो जाएँ। चारों दिशाओं का मैं विजय करनेवाला बनूँ। प्राची दिशा का अधिपति 'इन्द्र' बनूँ। जितेन्द्रिय बनकर निरन्तर आगे बढ़नेवाला होऊँ। दक्षिणा दिक् का अधिपति 'यम' बनूँ। संयमी जीवनवाला बनकर सरल व उदार बनूँ (दक्षिणे सरलोदारौ)। प्रतीची दिक् का अधिपति 'वरुण' बनूँ। अपने को पाप आदि से निवृत्त करता हुआ (पापात् निवारयति) प्रत्याहार का पाठ पढ़ूँ। इन्द्रियों को विषय व्यावृत्त करनेवाला होऊँ। उदीची दिक् का अधिपति कुबेर बनूँ। सब धनों का अध्यक्ष होता हुआ उन्नतिपथ पर बढ़ता चलूँ (उद् अञ्च्)। (३) हे प्रभो! **त्वया अध्यक्षेण**=आप अध्यक्ष के द्वारा **पृतनाः**=हम सब संग्रामों को **जयेम**=जीतनेवाले हों। सब पृतनाओं को, शत्रु-सैन्यों को जीतकर हम संग्राम में विजयी हों। 'इन्द्र' बनकर काम को जीतूँ। 'यम' बनकर क्रोध को पराजित करनेवाला बनूँ। 'वरुण' बनकर लोभ से ऊपर उठूँ। तथा 'कुबेर' होकर मोह से ऊपर रहूँ।

भावार्थ—संग्रामों में मैं शक्तिशाली बनूँ, सब दिशाओं का, प्रभु की अध्यक्षता में विजय करूँ।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'उरुलोक अन्तरिक्ष'

मम॑ दे॒वा वि॑ह॒वे स॑न्तु॒ सर्व॒ इन्द्र॑वन्तो म॒रुतो॒ विष्णु॑र॒ग्निः।
ममा॒न्तरि॑क्षमु॒रुलो॑कमस्तु॒ मह्यं॒ वातः॑ पवतां॒ कामे॑ अ॒स्मिन्॥ २ ॥

(१) **मम विहवे**=मेरी पुकार के होने पर **सर्वे देवाः सन्तु**=सब देव मेरे हों। आराधना को करता हुआ सब देवों को मैं अपने में प्रतिष्ठित कर पाऊँ। कौन देव? **इन्द्रवन्तः**=इन्द्रवाले। 'इन्द्र' जिनका अध्यक्ष है, जिनमें इन्द्र की ही शक्ति काम कर रही है, वे सब देव मुझे प्राप्त हों। **मरुतः**=प्राण मुझे प्राप्त हों। **विष्णुः**=(विष् व्याप्तौ) व्यापकता-उदारता-विशालता की देवता मुझे प्राप्त हो। **अग्निः**=मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो, 'अग्रेणीत्व' हो। मैं प्राणशक्ति सम्पन्न बनूँ, उदार बनूँ, अग्रगति की भावनावाला बनूँ। (२) **मम**=मेरा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष **उरुलोकम्**=विस्तृत प्रकाशवाला व बहुत जगहवाला हो। मेरा हृदय अन्धकार से रहित हो और उसमें सभी के लिए स्थान हो। **अस्मिन् कामे**=इस हृदय के **उरुलोकत्व**=प्रकाशमय व विशाल होने की कामना में **वातः मह्यं पवताम्**=वायु मेरे लिए अनुकूल होकर बहे। सारा वातावरण ऐसा हो कि मैं अपने हृदय को विशाल बना पाऊँ।

भावार्थ—मेरा जीवन प्रभु के स्मरण के साथ प्राण-शक्ति-सम्पन्न, विशाल हृदयतावाला प्रगतिशील हो। मैं कभी अनुदार व अन्धकारमय जीवनवाला न हो जाऊँ। बस, यही मेरी आराधना हो। प्रभु सारे वातावरण को मेरी इस कामना के अनुकूल बनाएँ।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव द्रविणों की प्राप्ति

मयि॑ दे॒वा द्रवि॑ण॒मा य॑जन्तां॒ मय्या॒शीर॑स्तु॒ मयि॑ दे॒वहू॑तिः।
दैव्या॒ होता॑रो वनुषन्त॒ पूर्वेऽरि॑ष्टाः स्याम त॒न्वा॑ सु॒वीराः॑ ॥ ३ ॥

(१) **देवाः**=सब सूर्य आदि देव **मयि**=मेरे में **द्रविणं आयजन्ताम्**=अपने-अपने ऐश्वर्य का संगमन करें। सूर्य से मुझे चक्षुशक्ति प्राप्त हो तो चन्द्रमा से मुझे मानस आह्लाद की प्राप्ति हो। **मयि आशीः अस्तु**=मेरे में सदा इन देव द्रविणों को प्राप्त करने की कामना हो और **मयि देवहूतिः**=मेरे में देवों का पुकारना व देवों का आराधन रहे। मैं उस देवाधिदेव प्रभु को सदा पुकारनेवाला होऊँ। (२) मेरी सब इन्द्रियाँ **दैव्याः**=उस देव की ओर चलनेवाली **होतारः**=जीवन-यज्ञ के चलानेवाली व दानपूर्वक अदनवाली हों। ये सब **पूर्वे**=पालन व पूरण करनेवाली होती हुई **वनुषन्त**=उस प्रभु का सम्भजन करनेवाली हों। अथवा देव द्रविणों का विजय करनेवाली बनें। (३) हम **तन्वा**=अपने इस शरीर से **अरिष्टाः**=अहिंसित हों, रोगों से आक्रान्त न हों। और **सुवीराः**=उत्तम वीर बनें। वस्तुतः रोगों से अनतिक्रान्त वीर पुरुष प्रभु का सच्चा आराधक है, इसने प्रभु से दिये शरीर का समुचित समादर किया है।

भावार्थ—मैं सूर्यादि देवों से दृष्टि-शक्ति आदि द्रविणों को प्राप्त करूँ। शरीर को अहिंसित व वीर बनाता हुआ प्रभु का पूजन करूँ।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्या आकूति (सत्य अभिप्राय)

मह्यं॑ यजन्तु॒ मम॒ यानि॑ ह॒व्याकू॑तिः स॒त्या मन॑सो मे अस्तु।
एनो॒ मा नि गां क॑त॒मच्च॒नाहं विश्वे॑ देवासो॒ अधि॑ वोचता नः ॥ ४ ॥

(१) **मम यानि हव्या**=मेरी जो पुकारने योग्य चीजें हैं, जो आराधनीय वस्तुएँ हैं, वे **मह्यं यजन्तु**=मेरे लिए प्राप्त हों। सब देव उन्हें मेरे लिए देनेवाले हों। **मे मनसः**=मेरे मन की **आकूतिः**=कामना व संकल्प **सत्या अस्तु**=सत्य हो। मैं कभी अशुभ कामना करनेवाला न होऊँ।

(२) इस प्रकार अशुभ कामनाओं से ऊपर उठकर **अहम्**=मैं **कतमच्चन**=किसी भी **एनः**=पाप को **मा निगाम्**=मत प्राप्त होऊँ। अशुभ का मजा ही अशुभ को पैदा करता है, शुभकामनाओंवाला होकर मैं शुभ को ही प्राप्त करूँ। **विश्वे देवासः**=सब देव व विद्वान् **नः**=हमें **अधिवोचत**=आधिक्येन उपदेश देनेवाले हों। उनके उपदेशों से सत्प्रेरणा को प्राप्त करता हुआ मैं कभी भी पाप की ओर न झुकूँ।

भावार्थ—हम प्रार्थित वस्तुओं को प्राप्त करें। हमारे संकल्प सत्य हों। हम निष्पाप हों। देवों से सत्प्रेरणा को सदा प्राप्त करें।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

षड् उर्वीः देवीः

देवीः षळुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह वीरयध्वम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन्॥ ५ ॥

(१) हे **षड्**=छह **उर्वीः देवीः**=विशाल प्रकाशमय प्रभु शक्तियो! द्युलोक व पृथिवी लोक, दिन व रात तथा जल व ओषधियो! आप **नः**=हमारे लिए **उरु**=विस्तीर्ण धन को **कृणोत**=करनेवाली होवो। द्युलोक व पृथिवीलोक हमें उत्तम ज्ञान व उत्तम शरीर प्राप्त कराएँ। दिन व रात हमें उद्योगशीलता व अचञ्चलता को प्राप्त कराएँ तथा जल व ओषधियाँ हमें स्वास्थ्य को देनेवाली हों। (२) हे **विश्वे देवासः**=सब देवो! आप **इह**=यहाँ हमारे शरीर में **वीरयध्वम्**=वीरतापूर्वक आचरण करो। सूर्य हमारी आँख को दूर-दृष्टिवाली बनाए, चन्द्रमा हमारे मन को आह्लादयुक्त करे, अग्नि हमारी वाणी को शक्तिशाली बनाए। इस प्रकार सभी देव हमारे शरीरों में उस-उस शक्ति को स्थापित करें। (३) इन सब देवों के कार्य के ठीक होने से हम **प्रजया**=प्रजा से **मा हास्महि**=मत विरहित हों, **मा तनूभिः**=और अपने शरीरों से भी रोगादि के कारण छूट न जाएँ। स्वस्थ शरीरों में दीर्घायुष्यवाले हों। (४) हे **सोम राजन्**=शान्त व हमारे शरीरों के शासक प्रभो! हम **द्विषते मा रधाम**=शत्रुओं के लिये न सिद्ध हों। वे प्रभु सोम राजा हैं ही। यहाँ इन शब्दों का प्रयोग सोम शक्ति का भी संकेत करता है। यह सोम शक्ति सुरक्षित हुई-हुई हमारे शरीर की सब संस्थाओं को व्यवस्थित करती है। इस शक्ति का विनाश शरीर को विकृत कर देता है।

भावार्थ—हमारे लिए द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन-रात व जल ओषधियाँ विशाल धनों को प्राप्त कराएँ। इनके धनों को प्राप्त करके हम सुन्दर स्वस्थ जीवनवाले हों।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रुरहित्य

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषामदब्धो गोपाः परि पाहि नस्त्वम्।
प्रत्यञ्चो यन्तु निगुतः पुनस्ते३मैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत्॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **परेषाम्**=शत्रुओं के **मन्युम्**=क्रोध को **प्रतिनुदन्**=वापिस धकेलते हुए **त्वम्**=आप **नः**=हमें **पाहि**=सुरक्षित करिये। आप सदा **अदब्धः**=अहिंसित हैं, **गोपाः**=रक्षक हैं। आप से रक्षित हुए-हुए हम शत्रुओं के क्रोध के शिकार न हों। शत्रु हमारे पर प्रबल न हो सकें। (२) **ते**=वे सब शत्रु **निगुतः**=पीड़ा के कारण अव्यक्त शब्द करते हुए **प्रत्यञ्चः**=प्रतिनिवृत्त होते हुए **पुनः यन्तु**=फिर लौट जाएँ। राष्ट्र में राजा भी इस प्रकार रक्षण व्यवस्था करे कि शत्रु पीड़ित होकर वापिस ही लौट जाए। (३) **प्रबुधाम्**=जागनेवाले **एषाम्**=इन शत्रुओं का **चित्तम्**=चित्त

अमा=साथ-साथ ही **विनेशत्**=नष्ट हो जाए। ये शत्रु जागें और जागते ही इनका चित्त काम न करे, इनका चित्त विनष्ट हो जाए। इस प्रकार ये हमें हानि न पहुँचा पाएँ। अथवा जागने पर इनका शत्रुत्व की भावनावाला चित्त विनष्ट हो जाए। इनका हृदय हमारे प्रति शत्रुतावाला रहे ही नहीं।

भावार्थ—हम शत्रुओं के ही क्रोध पात्र न होते रहें। हमारी सारी शक्ति उनके साथ युद्धों में ही न लगी रहे। हम शान्ति में आगे बढ़ सकें।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्तवन से 'हीनता का विनाश'

धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम्।
इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात् ॥ ७॥

(१) मैं उसका स्तवन करता हूँ जो कि **धातॄणां धाता**=धाताओं का भी धाता है, धारकों का भी धारक है। **यः भुवनस्य पतिः**=जो सारे ब्रह्माण्ड का रक्षक है। **देवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को, **त्रातारम्**=जो मेरा त्राण व रक्षण करनेवाले हैं, **अभिमातिषाहम्**=जो मेरे अभिमान आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले हैं, उन प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ। (२) उस प्रभु की कृपा से **इमं यज्ञम्**=मेरे इस जीवन यज्ञ को **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान, **बृहस्पतिः**=ज्ञानियों के भी ज्ञानी प्रभु स्वयं तथा **देवाः**=सब विद्वान् व सूर्यादि देव **पान्तु**=रक्षित करें। इनकी कृपा से मेरा जीवनयज्ञ ठीक प्रकार से चले। ये सब **यजमानम्**=यज्ञशील पुरुषों को **न्यर्थात्**=निकृष्ट अर्थों से पाप से अथवा निरुद्देश्यता से बचाएँ। यह यज्ञशील पुरुष निकृष्ट बातों की ओर न झुके, पापों में प्रवृत्त न हो और इसका जीवन सोद्देश्य हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों। हमारा जीवनयज्ञ सुन्दरता से चले। हमारा जीवन निरुद्देश्य न हो।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु से रक्षित व अत्यक्त

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यंसदस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षुः।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृळयेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८॥

(१) **उरुव्यचाः**=वेद अनन्त विस्तारवाले, **महिषः**=पूजनीय प्रभु **नः**=हमारे लिए **शर्म यंसत्**=सुख व शरण को दें। **अस्मिन् हवे**=इस जीवन-संग्राम में **पुरुहूतः**=वही खूब पुकारे जाने योग्य हैं, वही **पुरुक्षुः**=खूब स्तुति के योग्य हैं (क्षु शब्दे)। (२) **सः**=वे **हर्यश्व**=(हरी अश्वौ यस्य) जिन आपके दिये हुए ये इन्द्रियाश्व हमें लक्ष्य-स्थान पर ले जानेवाले हैं, ऐसे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमारी **प्रजायै**=प्रजा के लिए **मृडय**=सुखी करिये। **नः**=हमें **मा रीरिषः**=मत हिंसित करिये। और **मा परा दाः**=हमें शत्रुओं के लिए मत दे डालिए।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम संग्राम में विजयी हों। हम कभी हिंसित न हों। प्रभु से हम कभी त्यक्त न हों।

ऋषि:—**विहव्य:** ॥ देवता—**विश्वे देवा:** ॥ छन्द:—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वर:—**निषाद:** ॥

अधिराट्

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्॥ ९ ॥

(१) शरीर में 'रोग' हमारे सपत्न हैं, मन में 'वासनाएँ'। **ये**=जो भी **न**=हमारे **सपत्ना:**=शत्रु हैं, **ते**=वे **अपभवन्तु**=हमारे से दूर हों। **इन्द्राग्निभ्याम्**=बल व प्रकाश के द्वारा ('इन्द्र' बल का प्रतीक है, 'अग्नि' प्रकाश का) हम उन सब सपत्नों को **अवबाधामहे**=अपने से दूर करते हैं। इन्द्र के द्वारा रोगों को तथा अग्नि के द्वारा वासनाओं को हम पराजित करते हैं। जितेन्द्रिय के समीप रोग नहीं आते, ज्ञान के प्रकाशवाला वासनाओं से बचा रहता है, इस ज्ञानाग्नि में वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। (२) **वसव:**=शरीर में अपने निवास को उत्तम बनानेवाले, प्रकृति के पूर्ण ज्ञानी विद्वान्, **रुद्रा:**=वासनाओं को आक्रान्त करनेवाले (रोरूयमाण (द्रवति) जीव के रहस्य को समझनेवाले विद्वान् तथा **आदित्या:**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले सूर्यसम ज्योति ब्रह्म के ज्ञाता पुरुष **मा**=मुझे **अक्रन्**=बनाएँ कैसा? (क) **उपरिस्पृशम्**=ऊपर और ऊपर स्पर्श करनेवाला, हीन भावनाओं से ऊपर उठनेवाला, (ख) **उग्रम्**=तेजस्वी-शत्रुओं के लिए भयंकर, (ग) **चेत्तारम्**=चेतनावाला तथा (घ) **अधिराजम्**=मन, बुद्धि व इन्द्रियों का शासक। ऐसा बनकर ही तो मैं आदर्श मानव हो सकूँगा।

भावार्थ—हम इन्द्र व अग्नि तत्त्व का अपने में विकास करें। उत्कृष्ट, तेजस्वी, ज्ञानी व आत्मशासक बनें।

सूक्त का प्रारम्भ 'चतुर्दिग् विजय' से होता है (१) और समाप्ति पर 'अधिराट्' बनने का उल्लेख है (२) यह अधिराट् 'परमेष्ठी' सर्वोच्च स्थान में स्थित होता है, यह 'प्रजापति' प्रजा को रक्षण के कार्यों में तत्पर होता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। 'परमेष्ठी प्रजापति' प्रभु हैं, इनको जाननेवाला भी इसी नाम से कहलाता है। यह प्रभु के द्वारा होनेवाली इस सृष्टि का ध्यान करते हुए कहते है—

[१२९] एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—**प्रजापति: परमेष्ठी** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

सत् और असत्

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ १ ॥

तदानीम्=इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व **न असत् आसीत्**=न असत् था **नो सत् आसीत्**=और न सत् था। **न रजः आसीत्**=उस समय नाना लोक भी न थे। **नो व्योम**=न आकाश था। **यत् परः**=जो उससे भी परे है वह भी न था। उस समय **किम् आ अवरीवः**=क्या पदार्थ सबको चारों ओर से घेर सकता था? **कुह**=यह सब फिर कहाँ था और **कस्य शर्मन्**=किसके आश्रय में था। तो फिर **किम्**=क्या **गहनं गभीरं अम्भः आसीत्**=गहन और गम्भीर का समुद्री जल तो कहाँ ही था?

भावार्थ—सृष्टि उत्पत्ति से क्या था? इस प्रश्न को विविध प्रकार से पूछा है उस समय सत नहीं था, असत् भी नहीं था।

ऋषिः—**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता—**भाववृत्तम्**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

परमशक्तित

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥ २॥

मृत्युः न आसीत्=उस समय मृत्यु न थी, **तर्हि न अमृतम्**=और उस समय न अमृतत्व था। अर्थात् जीव की सत्ता, जीवन का लोप दोनों नहीं थे। **नः रात्र्याः प्रकेतः आसीत्**=न रात्रि का ज्ञान था और **न अह्नः प्रकेतः आसीत्**=न दिन का ज्ञान था। उस तत्त्व का स्वरूप **आनीत्**=प्राणशक्ति रूप था, परन्तु **अवातम्**=स्थूल वायु न थी। **तत् एकम्**=वह एक **स्वधया**=अपने ही बल से समस्त जगत् को धारण करनेवाला अपनी शक्ति से युक्त था। **तस्मात् अन्यत्**=उससे दूसरा पदार्थ **किंचन**=कुछ भी **परः न आस**=उससे अधिक सूक्ष्म न था।

भावार्थ—उस समय मृत्यु-जीवन नहीं था, दिन-रात्रि नहीं थे। प्राण शक्ति थी।

ऋषिः—**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता—**भाववृत्तम्**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

तमस्तत्त्व का वर्णन

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥ ३॥

अग्रे=सृष्टि से पूर्व **तमः आसीत्**='तमस्' था। यह सब **तमसा गूढम्**=तमस से व्याप्त था। वह **अप्र-केतम्**=कुछ भी विशेष ज्ञानयोग्य न था। वह **सलिलम्**=एक व्यापक गतिमत् तत्त्व था, जो **सर्वम् इदम् आ**=इस समस्त को व्यापे हुए था। उस समय **यत्**=जो था भी वह **तुच्छ्येन**=सूक्ष्म रूप से **आभू-अपिहितम्**=चारों ओर से ढका हुआ था। **तत्**=वह **तपसः महिना**=तपस् के महान् सामर्थ्य से **एकम्**=एक **अजायत**=प्रकट हुआ।

भावार्थ—उस समय गहन तम=मूल प्रकृति से सब आच्छादित था।

ऋषिः—**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता—**भाववृत्तम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

संकल्प रूप

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ४॥

अग्रे=सृष्टि के पूर्व **तत्**=वह **मनसः अधि**=मन से उत्पन्न होनेवाली **कामः**=इच्छा के समान एक कामना ही **सम् अवर्तत**=सर्वत्र विद्यमान थी, **यत् प्रथमम् रेतः आसीत्**=जो सबसे प्रथम इस जगत् का प्रारम्भिक बीजवत् थी। **कवयः**=क्रान्तदर्शी पुरुष **हृदि प्रति इष्य**=हृदय में पुनः-पुनः विचार कर **असति**=अप्रकट तत्त्व में ही **सतः बन्धुम्**=सत् रूप प्रकट तत्त्व को बाँधनेवाला बल **निर् अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सृष्टि से पूर्व मनोकामना ही थी।

ऋषिः—**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता—**भाववृत्तम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु की स्वधा शक्ति

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥ ५॥

एषाम्=इन पूर्वोक्त तत्त्वों की रश्मि **रश्मिः**=सूर्यरश्मि के समान **तिरः चित् विततः**=बहुत दूर-दूर तक व्याप्त हुई, **अधः स्वित् आसीत्**=नीचे भी और **उपरिस्वित् आसीत्**=ऊपर भी **रेतः-धाः आसन्**='रेतस' को धारण करनेवाले तत्त्व भी थे। **महिमानः आसन्**=वे महान् सामर्थ्यवाले थे। **अवस्तात् स्वधा**='स्वधा' अर्थात् प्रकृति नीची बनाई गई है और **परस्तात् प्रयतिः**=उससे ऊँची शक्ति प्रयत्नवाला आत्मा है।

भावार्थ—एक आत्मतत्त्व विद्यमान था।

ऋषिः—**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता—**भाववृत्तम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

जगत् का मूल कारण अज्ञेय

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥ ६॥

अद्धा कः वेद=ठीक-ठीक कौन जान सकता है? **इह कः प्रवोचत्**=इस विषय में कौन उत्तम रीति से प्रवचन या उपदेश कर सकता है? **कुतः आ जाता**=कि यह सृष्टि कहाँ से प्रकट हुई? **इयं विसृष्टिः**=यह विविध प्रकार का सर्ग **कुतः**=किस मूल कारण से और क्यों हुआ? **देवः**=विद्वान् लोग भी **अस्य वि-सर्जनेन**=इस जगत् को विविध प्रकार से रचनेवाले मूलकारण के **अर्वाक्**=पश्चात् ही हुए हैं। **अथ कः वेद**=तो फिर कौन उस तत्त्व को जानता है **यतः**=जिससे यह **आ बभूव**=चारों ओर प्रकट हुआ?

भावार्थ—जब कोई नहीं था तो उस समय की वास्तविक स्थिति को कौन बता सकता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता—**भाववृत्तम्**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मूल तत्त्व को जानने वाला एकमात्र परमेश्वर

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ ७॥

इयं विसृष्टिः=यह विविध प्रकार की सृष्टि **यतः आ बभूव**=जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई है, **यदि वा दधे**=जो इस जगत् को धारण कर रहा है, या यदि कोई **यदि वा न**=इसे नहीं भी धारण कर रहा। **यः अस्य अध्यक्षः**=जो इसका अध्यक्ष **परमे व्योमन्**=परम पद में विद्यमान है, **सः अङ्ग वेद**=हे विद्वन्! वह सब तत्त्व जानता है। **यदि वा न वेद**=चाहे और कोई भले ही न जाने।

भावार्थ—जो इस सृष्टि का संचालक है जो धारण कर रहा है वही सब तत्त्व को जानता है।

[१३०] त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**यज्ञः प्राजापत्यः**॥ देवता—**भाववृत्तम्**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सौ वर्षों के दीर्घ-यज्ञ का पट रूप में वयन

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते॥ १॥

जगत्मय महान् यज्ञ है जो **विश्वतः तन्तुभिः**=सब ओर प्रकृति के बने विस्तृत तत्त्वों से बना है। वह **देव कर्मेभिः**=जल, भूमि, तेज, आकाश, वायु इन पञ्चभूतों के कर्मों से **एक-**

शतम् आ-यतः=बाह्य १०१ वर्षों प्रमाण तक विस्तृत रहता है। **पितरः**=पिताओं के तुल्य विश्व के स्रष्टा नाना प्रजापति जो एक के बाद एक मनु के समान वर्ष, ऋतु आदि रूप में आते हैं वे इस जगत् सर्ग को **वपन्ति**=बुनते हैं। वे **तत्**=इस विस्तृत जगत्-सर्ग रूप पट में **प्र-वय अप-वयं**=ऊपर को बुनो, नीचे को बुनो, इस प्रकार प्रेरणा करते हैं। इस प्रकार से वे संवत्सर ऋतु आदि उस **तते**=विस्तृत काल-पट में विराजते हैं।

भावार्थ—पञ्चभूतों से यह सृष्टि विस्तृत हुई है।

ऋषिः—**यज्ञः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परमपरुष ही यज्ञ-पट तनता है

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥ २ ॥

पुमान् एनं तनुते=वह परम पुरुष भी उस संसार यज्ञ का विस्तार करता है, और **पुमान् उत् कृणत्ति**=वह परम पुरुष ही उस संसार यज्ञ को समाप्त करता है। वह **नाके अधि वितते**= महान् आकाश में जगत्-सर्ग रूप यज्ञ को करता है और **इमे**=ये **मयूखाः उ**=सूर्यकिरण **सदः**=यज्ञ भवन में ऋत्विजों के समान **सदः**=आश्रयभूत आकाश में तथा नाना लोकों में **उप सेदुः**=उपस्थित होते हैं और **ओतवे**=बुनने के लिये **तसराणि**=तिरछे तन्तुओं के समान **सामानि**=सामों अर्थात् परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया की समता का विस्तार करते हैं।

भावार्थ—वह परम पुरुष संसार को विस्तार करता है वही संसार यज्ञ को समाप्त करता है।

ऋषिः—**यज्ञः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवयज्ञ के स्वरूप की जिज्ञासा

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ३ ॥

यत्=जब **विश्वे देवाः**=समस्त देवगण **देवम् अयजन्त**=परमेश्वर की पूजा करते हैं, उसका यज्ञ करते हैं, तब **का प्रमा आसीत्**='प्रमा' अर्थात् 'परिमाण' क्या रहा, और **प्रतिमा का आसीत्**=मापने का साधन क्या था? **किं निदानम्**=इष्ट ध्येय फल क्या था? **आज्यम् किम् आसीत्**=यज्ञ में घृत के सदृश उस परम फल तक पहुँचने का साधन क्या था? **परिधिः कः आसीत्**=यज्ञ में परिधि रूप तीन समिधाएँ रक्खी जाती हैं उसी प्रकार उस देव भाग में क्या परिधि थी और **छन्दः किम्**=गायत्री आदि छन्दवत् कौन-सा छन्द था? **प्रउगम् उक्थम्**=यज्ञ में प्रउग आदि अर्थशंसिनी ऋचाओं के स्थान पर देवयाग में क्या पदार्थ था?

भावार्थ—जब देव यज्ञ करते थे तो उस समय आज्य समिधा, मन्त्र, छन्द कौन-सा था?

ऋषिः—**यज्ञः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

छन्दोनुरूप देवगणों का विभाग

अग्नेर्गायत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥ ४ ॥

अग्नेः सयुग्वा=अग्नि की सहयोगिनी **गायत्री अभवत्**=गायत्री हुई। **उष्णिहया सविता सं बभूव**=सविता उष्णिहा से युक्त हुआ **अनुष्टभा**=अनुष्टुभ् से और **उक्थैः**=स्तुति मन्त्रों से

सोमः महस्वान्=सोम महान् गुणवाला हुआ। **बृहस्पतेः वाचम्**=बृहस्पति की वाणी को **बृहती**=बृहती **आवत्**=प्राप्त हुई।

भावार्थ—अग्नि, सविता, सोम तथा बृहस्पति के क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती सहयोगिनी बनीं।

ऋषिः—**यज्ञः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋषियों का छन्दोबल

विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान्देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः॥ ५॥

मित्रावरुणयोः विराट् अभि-श्रीः=मित्र और वरुण इन दोनों को विराट् आश्रित हुई। **इन्द्रस्य त्रिष्टुप्**=इन्द्र की त्रिष्टुप् और **इह अह्नः भागः**=यह दिन का अंश **विश्वान् देवान्**=विश्व के सब देवों को **जगती आविवेश**=जगती प्राप्त हुई। **तेन**=उनसे **ऋषयः**=तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष और **मनुष्याः**=मननशील जन **चाक्लृषे**=सामर्थ्यवान् हुए।

भावार्थ—मित्र, वरुण, इन्द्र विश्वे देवों को विराट्, त्रिष्टुप्, जगती प्राप्त हुई। उनसे ऋषि समर्थ हुए।

ऋषिः—**यज्ञः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ से ऋषि-मनुष्यादि का प्रादुर्भाव

चाक्लृपे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥ ६॥

उस **पुराणे**=प्राचीन **यज्ञे जाते**=यज्ञ के उत्पन्न होने पर **तेन**=उससे ही **ऋषयः मनुष्याः**=तत्त्वज्ञानी ऋषिजन और मननशील मनुष्य और **नः पितरः**=हमारे पालक माता-पिता **चाक्लृपे**=समर्थ हुए। **पूर्वे**=पूर्व के **ये इमं यज्ञम्**=जो इस यज्ञ को **अयजन्त**=करते थे। **तान्**=उनको मैं **मनसा**=मन रूप **चक्षसा**=चक्षु से **पश्यन्**=देखता हुआ **मन्ये**=जानता हूँ।

भावार्थ—यज्ञ से परमात्म पूजन होता था।

ऋषिः—**यज्ञः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अध्यात्म में—प्राणगण सात ऋषि

सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो३ न रश्मीन्॥ ७॥

सह-स्तोमाः=ऋचा-समूहों सहित **सह-छन्दसः**=छन्दों सहित, **सह प्रमाः**=परिमाणों सहित, **आवृतः**=विद्यमान **सप्त दैव्याः ऋषयः**=सात ज्ञान द्रष्टा **धीराः**=बुद्धिमान् ऋषिगण **पूर्वेषां पन्थाम् अनुदृश्य**=पूर्व विद्यमानों के मार्ग को देखकर और उसका **अनु आलेभिरे**=अवलम्ब लेकर निरन्तर यज्ञ करते हैं जैसे कि लगाम का अवलम्ब लेकर अश्वों को चलाया जाता है।

सात दैव्य ऋषि अध्यात्म में सात शीर्षण्य प्राण हैं। आत्मा प्रजापति है। वह १०० वर्षों तक यज्ञ करता है।

भावार्थ—उन पूर्व पुरुषों के मार्ग का अवलम्बन कर हम मन्त्र समूह का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

[१३१] एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सुकीर्तिः काक्षीवतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रु-विजय

अप प्राचं इन्द्र विश्वाँ अमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व।
अपोदीचो अप शूराधराचं उरौ यथा तव शर्मन्मदेम॥ १॥

(१) **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **विश्वान्**=सब **प्राचः अमित्रान्**=सामने से आनेवाले शत्रुओं को **अपनुदस्व**=परे धकेल दीजिये। इसी प्रकार **अभिभूते**=हे शत्रुओं का अभिभव करनेवाले प्रभो! **अपाचः**=दाहिनी ओर से आनेवाले शत्रुओं को भी **अप**=दूर करिये। **उदीचः**=उत्तर की ओर से आनेवाले शत्रुओं को **अप**=दूर करिये। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अधराचः**=पश्चिम से (सूर्य जिस दिशा में नीचे जाता प्रतीत होता है, अधर) आते हुए शत्रुओं को भी **अप**=दूर करिये। सब दिशाओं से आक्रमण करनेवाले इन शत्रुओं को हमारे से पृथक् करिये। (२) इन सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-मत्सर आदि शत्रुओं से अपराजित हुए-हुए हम **यथा**=जिस प्रकार **तव**=आपकी **उरौ**=विशाल **शर्मन्**=शरण में **मदेम**=आनन्द से रहें, ऐसी आप कृपा कीजिये।

भावार्थ—चारों दिशाओं से होनेवाले शत्रुओं के आक्रमण से हम बचें। सदा प्रभु की शरण में सानन्द रहें।

सूचना—राजा को भी राष्ट्र की चारों दिशाओं से रक्षा करनी है। सारी प्रजाएँ राजा से रक्षित हुई-हुई आनन्द से वृद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सुकीर्तिः काक्षीवतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासनाशून्य हृदय में प्रभु के प्रति नमन

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूर्य।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः॥ २॥

(१) हे **अंग**=प्रिय! **यथा**=जैसे **यवमन्तः**=जौवाले, जौ की कृषि करनेवाले, **चित्**=निश्चय से **यवम्**=जौ को **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=पृथक्-पृथक् करके **कुवित्**=खूब ही **दान्ति**=काट डालते हैं। इसी प्रकार **ये**=जो व्यक्ति अपने हृदयक्षेत्र से वासनाओं को उखाड़ डालते हैं और इस वासनाशून्य **बर्हिषः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, उस हृदय में **नमः वृक्तिम्**=नमस्कार के वर्जन को **न जग्मुः**=नहीं प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो अपने हृदयों को वासनाशून्य बनाते हैं और उन हृदयों में सदा प्रभु के प्रति नमन की भावना को धारण करते हैं, **एषाम्**=इन व्यक्तियों के **इह इह**=इस इस स्थान पर, अर्थात् जब-जब आवश्यकता पड़े **भोजनानि**=पालन के साधनभूत भोग्य पदार्थों को प्राप्त कराइये। (२) मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि एक-एक करके वासना को विनष्ट करनेवाला हो। निर्वासन हृदय में प्रभु का नमन करे। प्रभु इसके योगक्षेम को प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—मनुष्य वासनाओं का उद्बर्हण करके वासनाशून्य हृदय में प्रभु के प्रति नमनवाला होता है, तो प्रभु उसके योगक्षेम की स्वयं व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—**सुकीर्तिः काक्षीवतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की मित्रता में

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥ ३ ॥

(१) (एकेन धुर्येण युक्तमनः स्थूरीत्युच्यते) **स्थूरि** (अनः)=एक बैल से युक्त शकट **ऋतुथा**=समय पर **यातम्**=उद्दिष्ट स्थान पर प्राप्त **नहि अस्ति**=नहीं होता है। गाड़ी में दोनों बैलों का होना आवश्यक है। एक बैल का न होना गाड़ी को निकम्मा कर देता है। इसी प्रकार उस प्रभु के बिना अकेला जीव अपने शरीर-रथ को उद्दिष्ट-स्थल पर नहीं ले जा सकता। सम्पूर्ण सफलता प्रभु से प्राप्त शक्ति पर ही निर्भर करती है। (२) यह प्रभु को विस्मृत करनेवाला व्यक्ति **संगमेषु**=सभाओं में उपस्थित होकर **श्रवः**=ज्ञान को **न विविदे**=नहीं प्राप्त करता है। प्रभु विस्मरण से प्रकृत्ति ज्ञानगोष्ठियों में एकत्रित होने की न होकर पानगोष्ठियों में एकत्रित होने की हो जाती है। एवं ज्ञान वृद्धि न होकर भोगवृद्धि के मार्ग पर वह बढ़ता है और उन भोगों में ही डूब जाता है। (३) इसलिए **गव्यन्तः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामना करते हुए, **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों की कामना करते हुए, **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही **सख्याय**=मित्रता के लिए चाहते हैं। प्रभु की मित्रता में ही मनुष्य लक्ष्य की ओर अपने शरीर-रथ को ले चलता है, भटकता नहीं। भोगमार्ग पर न जाने से उसकी शक्ति स्थिर रहती है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ क्षीण नहीं होतीं।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में मनुष्य मार्गभ्रष्ट न होकर अपने ज्ञान व शक्ति का वर्धन करता हुआ लक्ष्यस्थान पर पहुँचता है।

ऋषिः—**सुकीर्तिः काक्षीवतः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सुरामं विपिपाना

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ४ ॥

(१) 'अश्विना' शरीर में प्राणापान हैं। इनकी साधना से शरीर में सोमशक्ति (वीर्य) की ऊर्ध्वगति होती है। इस सोम-शक्ति को प्रस्तुत मन्त्र में 'सुराम' नाम दिया है। इसके द्वारा जीव उत्तम रमणवाला होता है 'सुष्ठु रमते अनेन'। सोम के रक्षण के होने पर ही सब आनन्द का निर्भर है। इसी से मनुष्य सौम्य स्वभाव का बनता है और अन्ततः प्रभु को पानेवाला बनता है। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **सुरामम्**=उत्तम रमण के साधनभूत सोम का **विपिपाना**=विशेषरूप से पान करते हुए, **शुभस्पती**=सब शुभ कर्मों के रक्षक होते हो। **सचा**=परस्पर मिलकर, प्राण-अपान से और अपान प्राण से मिलकर **आसुरे**=असुरों के अधिपति **नमुचौ**=(न मुच्) अत्यन्त कठिनता से पीछा छोड़नेवाले इस अहंकार के हनन करनेवाले होते हो। इस असुरेश्वर के मारने के निमित्त ही आपका मेल है। प्राणसाधना से सब मलों का क्षय होते-होते इस आसुर अहंकार वृत्ति का भी ध्वंस हो जाता है। (३) इस आसुर वृत्ति का संहार करके आप **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **कर्मसु**=कर्मों में **आवतम्**=रक्षित करते हो। कर्मों में लगा रहकर यह साधक वासनाओं की ओर नहीं झुकता और पवित्र बना रहकर प्रभु को पानेवाला होता है।

भावार्थ—प्राण-साधना से सोम का रक्षण होकर मनुष्य निरहंकार होता है। कर्मशील बना रहकर पवित्र बना रहता है, प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**सुकीर्तिः काक्षीवतः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

काव्य-दंसना (या सरस्वती का आराधन)

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः ।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ५ ॥

(१) **इव**=जैसे **पितरौ**=माता-पिता **पुत्रम्**=पुत्र को रक्षित करते हैं, उसी प्रकार हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **उभा अश्विना**=ये दोनों प्राणापान **काव्यैः**=उत्तम ज्ञानों द्वारा तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा **अवथुः**=तेरा रक्षण करते हैं। प्राणापान तो हमारे लिए माता-पिता के समान हैं। इनके रक्षण से हमारा ज्ञान बढ़ता है और हमारी प्रवृत्ति उत्तम कर्मों में होती है। (२) यह सब कब होता है? **यत्**=जब कि हे इन्द्र! तू **सुरामम्**=इस उत्तम रमण के साधनभूत सोम को **व्यपिबः**=विशेषरूप से पीनेवाला होता है प्राणसाधना के द्वारा ही तो इस सोम का पान होता है। ऐसा होने पर **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ-देवता सरस्वती **शचीभिः**=प्रज्ञाओं के द्वारा (नि० ३।९) तथा उत्तम कर्मों के द्वारा (नि० २।१) **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्**=(भिष्णज् सेवायाम्) सेवित करती है। सोम के पान से ज्ञान बढ़ती है और उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण होता है। सोमरक्षण से ज्ञानवृद्धि व उत्तम कर्मों में अभिरुचि होती है।

ऋषिः—**सुकीर्तिः काक्षीवतः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निर्द्वेषता-निर्भयता-सुवीरता

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृळीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ६ ॥

(१) **इन्द्रः**=सब शत्रुओं को विद्रावण करनेवाला प्रभु **द्वेषः बाधताम्**=द्वेष की भावना को हमारे से दूर करे। गत मन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाला व्यक्ति द्वेष की भावना से ऊपर उठ जाता है। (२) **सुत्रामा**=वह उत्तम रक्षण करनेवाला **स्ववान्**=सब धनोंवाला व आत्मिक शक्तिवाला प्रभु **अवोभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा हमारे लिए **अभयं कृणोतु**=निर्भयता को करे। हम अपने को प्रभु की गोद में समझें। वे ही सब ओर से हमारा रक्षण कर रहे हैं। आत्मिक शक्ति को देकर वे ही हमें निर्भय बनाते हैं। (३) वे **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनोंवाले प्रभु **सुमृडीकः भवतु**=आवश्यक धनों को प्राप्त कराके हमारे लिए उत्तम सुखों के देनेवाले हों। व्यर्थ के भोगों में न फँसकर हम **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के **पतयः**=अपने में रक्षण करनेवाले, शक्ति के स्वामी **स्याम**=हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम निर्द्वेष, निर्भय व सुवीर बनें।

ऋषिः—**सुकीर्तिः काक्षीवतः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमति-सौमनस

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ॥ ७ ॥

(१) प्रभु यज्ञिय हैं, पूज्य हैं, संगतिकरण योग्य हैं तथा समर्पणीय हैं। **तस्य यज्ञियस्य**=उस यज्ञिय प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **वयं स्याम**=हम हों। **अपि**=और **भद्रे सौमनसे**=(स्याम)

उस उत्तम मन में हम स्थित हों जो कि सबका भद्र व कल्याण ही सोचता है। (२) **सः**=वह **सुत्रामा**=उत्तम त्राण करनेवाला **स्ववान्**=आत्मिक शक्ति को देनेवाला **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु **अस्मे**=हमारे से **द्वेषः**=द्वेष को **आरात् चित्**=निश्चय से बहुत दूर **सनुतः**=अन्तर्हित करके **युयोतु**=पृथक् कर दे 'द्वेष हमें फिर देख भी न सके' इस रूप में प्रभु द्वेष को हमारे से दूर कर दें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें सुमति व सौमनस प्राप्त हो। द्वेष हमारे से दूर हो।

यह सूक्त शत्रु-विजय से प्रारम्भ होता है, सुमति व सौमनस की प्राप्ति पर समाप्त होता है। साधना यही है कि हम अन्तः शत्रुओं को जीतकर उत्तम बुद्धि व मनवाले बनें। ऐसा बनने पर हम '**शकपूतः**'=शक्ति के द्वारा पवित्र जीवनवाले होंगे। तथा **नार्मेधः**=नृमेध यज्ञ करनेवाले, लोकहित की प्रवृत्तिवाले बनेंगे। यह 'शकपूत नार्मेध' ही अग्रिम सूक्त का ऋषि है। यह इस प्रकार मन्त्र जप करता है—

[१३२] द्वात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**शकपूतो नार्मेधः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

यज्ञशीलता व सुखी जीवन

ई॒जा॒नमिद् द्यौर्गू॒र्तावसुरीजा॒नं भूमि॑र॒भि प्र॑भू॒षणि॑। ई॒जा॒नं दे॒वाव॒श्विना॑व॒भि सु॒म्नैर॑वर्धताम्॥ १ ॥

(१) **ईजानम्**=यज्ञशील पुरुष को **इत्**=ही **द्यौः**=यह द्युलोक **गूर्तावसुः**=उद्यत धनवाला होता है। अर्थात् यज्ञशील पुरुष के लिए ही द्युलोक सदा आवश्यक वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। **ईजानं अभि**=यज्ञशील पुरुष का लक्ष्य करके ही **भूमिः**=यह पृथिवी **प्रभूषणि**=(prosperity) ऐश्वर्य का निमित्त बनती है। द्युलोक व पृथिवीलोक पिता व माता के समान माने जाते हैं। यज्ञशील पुरुष के लिए ये सब वसुओं व अभ्युदयों को प्राप्त कराते हैं। (२) **ईजानम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **अश्विनौ देवौ**=(दिव् द्युति) जीवन को दीप्त बनानेवाले प्राणापान **सुम्नैः**=सुखों से **अभि अवर्धताम्**=इस लोक व परलोक के दृष्टिकोण से बढ़ानेवाले होते हैं। शरीर को नीरोग बनाकर ये प्राणापान ऐहलौकिक सुखों का वर्धन करते हैं और मन को निर्मल बनाकर ये परलोक के सुख को सिद्ध करते हैं। भौतिक व आध्यात्मिक दोनों उन्नतियों का ये कारण बनते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष के लिए द्युलोक, पृथिवीलोक तथा प्राणापान सभी अनुकूलता के लिए हुए होते हैं।

ऋषिः—**शकपूतो नार्मेधः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

नीरोगता व निष्पापता

ता वां॑ मि॒त्रावरुणा धार॒यत्क्षि॑ती सुषु॒म्नेषि॑त॒त्वता॑ यजामसि।
यु॒वोः क्रा॒णाय॑ स॒ख्यैर॒भि ष्या॑म र॒क्षसः॑॥ २ ॥

(१) हे **मित्रावरुणा**='प्रमीतेः त्रायते' इस व्युत्पत्ति से मृत्यु से त्राण करनेवाली देवता 'मित्र' है, 'पापात् निवारयति'=पाप से बचानेवाली देवता 'वरुण' है। हे मित्र वरुण! **ता वाम्**=उन आप दोनों को **यजामसि**=हम अपने साथ संगत करते हैं। आप **धारयत् क्षिती**=(क्षितयो मनुष्याः) मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं 'मित्र' सूर्य का भी नाम है, यह दिन का अभिमानी देव है। यह हमारे में प्राणशक्ति का संचार करके हमें मृत्यु से बचाता है। 'वरुण' रात्रि का अभिमानी देव है, यही चन्द्र है। यह हमें अपनी ज्योत्स्ना से शीतलता का उपदेश देता हुआ हमें क्रूरताजन्य पाप कर्मों

से बचाता है। ये दोनों मित्र और वरुण हमारे शरीर को नीरोग तथा मन को निष्पाप बनाते हुए **सुषुम्ना**=हमारे उत्तम सुख का कारण बनते हैं। इसलिए **इषितत्वता**=चाहने योग्य होने के कारण प्रासव्य होने के कारण हम इन दोनों को अपने साथ संगत करते हैं। (२) **युवोः**=आप दोनों के **सख्यैः**=मित्रताओं से अर्थात् मित्र और वरुण के साहाय्य से **क्राणाय**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के करनेवाले के लिए **रक्षसः अभिस्याम**=राक्षसी वृत्तियों को अभिभूत करें। अर्थात् मित्र और वरुण का साथी बनकर, नीरोग व निष्पाप बनकर यज्ञादि कर्मों को करना ही मार्ग है जिससे कि हम सब राक्षसी वृत्तियों के आक्रमण से बच सकते हैं। संक्षेप में उत्तम कर्मों में लगे रहना ही मनुष्य अशुभ मार्ग से बचानेवाला होता है।

भावार्थ—हम 'मित्र और वरुण' का आराधन करें। यह आराधना ही हमें अशुभ कर्मों से बचाएगी।

ऋषिः—**शकपूतो नार्मेधः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दान व ऐश्वर्य वृद्धि

अधा॑ चि॒न्नु यद्दिधि॑षामहे वा॒म॒भि प्रि॒यं रेक्ण॒: पत्य॑मानाः ।
द॒द्वाँ वा॒ यत्पुष्य॑ति॒ रेक्ण॒: सम्वा॑र॒न्नकि॑रस्य म॒घानि॑ ॥ ३ ॥

(१) हे मित्रा वरुणौ! **अधा**=अब **चित् नु**=निश्चय से **यत्**=जब **वाम्**=आपका **दिधिषामहे**=धारण करते हैं व स्तवन करते हैं तो हम **प्रियं रेक्णः**=प्रिय ऐश्वर्य को **अभि-पत्यमानाः**=उभयतः प्राप्त करते हुए होते हैं। इस लोक के ऐश्वर्य 'अभ्युदय' को हम प्राप्त करते हैं तो परलोक के निःश्रेयस को भी प्राप्त करनेवाले होते हैं। 'मित्र' की आराधना हमें नीरोग बनाकर अभ्युदय की प्राप्ति के योग्य बनाती है और 'वरुण' की आराधना निष्पाप बनाकर निःश्रेयस को देनेवाली होती है। (२) **च**=और **दद्वान्**=दानशील पुरुष **यत्**=जिस **रेक्णः**=धन का **पुष्यति**=पोषण करता है, **अस्य मघानि**=इसके धन **नकि**=सभी **रन्**=अपगत नहीं होते। दान से धन बढ़ता ही है, दान से धन कम नहीं होता। दानशील पुरुष इस लोक में अभ्युदय की वृद्धि को करता हुआ परलोक में निःश्रेयस को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम मित्र-वरुण की आराधना से अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त करें। सदा दानशील बनें, जिससे धन हमारे से अपगत न हों।

ऋषिः—**शकपूतो नार्मेधः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अन्तक-ध्रुक्

अ॒साव॒न्यो अ॑सुर सूयत॒ द्यौस्त्वं विश्वे॑षां वरुणासि॒ राजा॑ ।
मू॒र्धा रथ॑स्य चाक॒न्नैताव॒तैन॑सान्तक॒ध्रुक् ॥ ४ ॥

(१) हे **असुर**=(असून् राति) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले अथवा अन्धकार को नष्ट करनेवाले (असु क्षेपणे) **मित्र**=सूर्य! **असौ**=वह तू **अन्यः**=विलक्षण ही है। **द्यौः सूयत**=द्युलोक तुझे जन्म देता है। और हे **वरुण**=चन्द्र! **त्वम्**=तू **विश्वेषाम्**=सबके राजा **असि**=जीवन को दीप्त करनेवाला है। मस्तिष्क ही द्युलोक है। उसमें ज्ञानरूप सूर्य का उदय होता है। यह ज्ञान विलासमय जीवन के अन्धकार को नष्ट करता है और इस प्रकार हमारे जीवनों में प्राणशक्ति को संचरित करता है। 'वरुण' चन्द्र है। यह मानस आह्लाद का प्रतीक है। मानस आह्लाद ही पाप का निवारण करके हमें वस्तुतः दीप्त जीवनवाला बनाता है। (२) इस प्रकार मित्र और वरुण के द्वारा

स्वस्थ व दीप्त जीवनवाला बनकर यह व्यक्ति **मूर्धा**=शिखर बनता है, बड़े उन्नत जीवनवाला होता है। **रथस्य चाकन्**=रथ के दीप्त करनेवाला बनता है। **न एतावता एनसा**=थोड़े से भी पाप से संयुक्त नहीं होता। **अन्तक-ध्रुक्**=(अस्यो अन्तः अन्तकः) पाप के नाममात्र अन्त को भी यह नष्ट करनेवाला होता है, इसका जीवन पापशून्य होता है।

भावार्थ—मित्र और वरुण की आराधना से हमारा जीवन स्वस्थ दीप्त व पापशून्य बनता है।

ऋषिः—**शकपूतो नार्मेधः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'पाप' पापी का नाशक है

अस्मिन्त्स्वे३ तच्छकपूत एनो हिते मित्रे निगतान्हन्ति वीरान्।
अवोर्वा यद्धात्तनूष्ववः प्रियासु यज्ञियास्वर्वा ॥ ५ ॥

(१) **अस्मिन्**=इस गत मन्त्र के अनुसार पाप के लेश को भी नष्ट करनेवाले, **स्वे**=आत्मीय, अर्थात् आत्मा की ओर चलनेवाले, **हिते**=सबका हित करनेवाले **मित्रे**=अपने जीवन को नीरोग बनानेवाले (प्रमीतेः त्रायते) **शक पूते**=शक्ति से अपने को पवित्र करनेवाले के विषय में **तत् एनः**=वह पाप, अर्थात् शकपूत के विषय में किसी के द्वारा किया जानेवाला पाप कर्म **निगतान् वीरान्**=उन निम्न गतिवाले अथवा निहन्तव्य वीरम्मन्य पुरुषों को **हन्ति**=नष्ट करता है। इन निगत वीरों से किये जानेवाला पाप इनको ही नष्ट करनेवाला होता है। ये शकपूत को कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। (२) ये इसलिए इस शकपूत को हानि नहीं पहुँचा सकते **यत्**=क्योंकि **अर्वा**=वह सर्वत्र गतिवाला व्यापक प्रभु इस **अवोः**=(अवितुः) रक्षक के (प्रमीतेः त्रायते) प्रमीति से अपने को बचानेवाले शकपूत के **प्रियासु यज्ञियासु**=(प्रीञ् कान्तौ) कान्त व पवित्र **तनूषु**=शरीरों में **अवः**=रक्षण का **धात्**=धारण करता है। प्रभु इनका रक्षक होता है। उस प्रभु के रक्षकरूपेण होने पर इन्हें हानि पहुँचा ही कौन सकता है? पाप, पाप करनेवाला का ही नाश कर देता है। इस शकपूत को हानि नहीं पहुँचा सकता।

भावार्थ—शक्ति के द्वारा जीवन को पवित्र करनेवाला का रक्षण प्रभु करते हैं। इसके विषय में पाप की कामनावाला उस पाप से स्वयं नष्ट हो जाता है।

ऋषिः—**शकपूतो नार्मेधः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

निर्माणात्मक कार्य का महत्त्व

युवोर्हि मातादितिर्विचेतसा द्यौर्न भूमिः पयसा पुपूतनि।
अव प्रिया दिदिष्टन सूरो निनिक्त रश्मिभिः ॥ ६ ॥

(१) हे **विचेतसा**=विशिष्ट ज्ञान के कारणभूत मित्र व वरुण=नीरोगता (प्रमीतेः त्रायते) व निष्पापता! (पापात् निवारयति) **युवोः**=तुम दोनों की **हि**=ही **माता**=निर्माण करनेवाली **अदितिः**= अदिति है। अदिति, मित्र और वरुण को जन्म देती है। सब देवों की माता अदिति है। इसी से देव 'आदित्य' कहलाते हैं। 'अदिति' अदीना देवमाता है। **अदिति**=अखण्डन, तोड़-फोड़ की वृत्ति का न होना, निर्माण की भावना। इस निर्माण की भावना से ही हम 'मित्र और वरुण' बन पाते हैं। उस समय **द्यौः न**=द्युलोक की तरह **भूमिः**=यह पृथिवी भी **पयसा**=अपनी आप्यायन शक्ति से **पुपूतनि**=पवित्रीकरण का हेतु बनती है। द्युलोकस्थ सूर्य अपने प्रकाश से मार्गदर्शन करता हुआ हमें पाप से बचाता है तथा पृथिवी अपनी ओषधियों से रोगों का दहन करती हुई हमें नीरोग बनाती है। (२) हे मित्र और वरुण! आप **प्रिया**=प्रिय धनों को **अवदिदिष्टन**=हमारे लिए देनेवाले

होवो। **सूरः**=सूर्य **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से **निनिक्त**=हमारे जीवनों का शोधन व पोषण करनेवाला हो। प्रकाश के द्वारा यदि वह हमारे शरीर का शोधन करे तो प्राणशक्ति के संचार से वह हमारा पोषण करनेवाला हो। एवं मित्र और वरुण की आराधना हमारे जीवन को बड़ा तृप्त व कान्त (प्रिय) बनानेवाली हो।

भावार्थ—निर्माण की वृत्ति नीरोगता व निष्पापता को जन्म देती है। इससे हमारे जीवन प्रिय बनते हैं। जीवन के शोधन व पोषण के लिए आवश्यक है कि निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहें।

ऋषिः—**शकपूतो नार्मेधः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**महासतोबृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

उपासना व ज्ञानरश्मियाँ

युवं ह्यप्न॒राजा॒वसी॑दतं॒ तिष्ठ॒द्रथं॒ न धू॒र्षदं॒ व॑न॒र्षद॑म्।
ता नः॑ कणूक॒यन्ती॑र्नृ॒मेध॑स्त॒त्रे अंह॑सः सु॒मेध॑स्त॒त्रे अंह॑सः॥ ७॥

(१) हे मित्र व वरुण! **युवम्**=आप दोनों **हि**=निश्चय से **अप्नराजौ**=कर्म से दीप्त हो। वस्तुतः कर्म के अभाव में न नीरोगता है न निष्पापता। इन दोनों का मूल कर्मव्यापृतता ही है। आप दोनों **रथम्**=इस शरीर-रथ पर **असीदतम्**=आसीन होइये। जो रथ **तिष्ठत्**=स्थिर है, शीघ्रता से टूटने-फूटनेवाला नहीं। **धूर्षदम्**=जो धुराओं में स्थित है, इसकी धुरा का एक सिरा ज्ञान है तो दूसरी सिरा श्रद्धा है। **वर्णदम्**=(वन=उपासना या ज्ञानरश्मि) यह रथ उपासना व ज्ञानरश्मियों पर आधारित है। रथ के हृदयदेश में उपासना है तो मस्तिष्क प्रदेश में ज्ञानरश्मियाँ। (२) आप इस शरीररूप रथ पर इसलिए अधिष्ठित होते हो कि **ताः**=उन **नः**=हमें **कणूकयन्तीः**=आक्रुष्ट करती हुई शात्रवी सेनाओं को अभिभूत कर सको। इनको अभिभूत करके ही आप हमारा रक्षण करते हो। **नृमेधः**=लोकहित में तत्पर होनेवाला 'नृमेध' आपके द्वारा **अंहसः तत्रे**=पाप से बचाया जाता है। **सुमेधः**=उत्तम मेधावाला **अंहसः तत्रे**=पाप से बचाया जाता है। **सुमेधः**=उत्तम मेधावाल **अंहसः तत्रे**=पाप से बचाया जाता है। जब हम उत्तम बुद्धिवाले बनकर लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं तो पाप से बचे रहते हैं।

भावार्थ—हमारा शरीररूप-रथ स्थिर तथा ज्ञान व श्रद्धा की धुरावाला हो। हम मित्र और वरुण की आराधना से नीरोग व निष्पाप बनते हुए लोकहित में प्रवृत्त हों और उत्तम मेधावाले बनें।

सम्पूर्ण सूक्त नीरोग व निष्पाप बनने पर बल देता है, ऐसा बननेवाला सुदाः=खूब देनेवाला अथवा खूब शत्रुओं का लवन करनेवाला (दाप् लवने) व पैजवनः=खूब वेगयुक्त क्रियाशील होता है। क्रियाशीलता ही तो उसे नीरोग बनाती है और दानशीलता व शत्रुलवन निष्पापता को पैदा करता है। यह 'सुदाः पैजवनः' अगले सूक्त का ऋषि है। यह इन्द्र की आराधना करता हुआ कहता है कि—

[१३३] त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सुदाः पैजवनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरी** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्रगामी-रथ और शत्रु-शोषक बल

प्रो ष्व॑स्मै पु॒रोर॒थमिन्द्रा॑य शू॒षम॑र्चत ।
अ॒भीके॑ चिदु लोक॒कृत्सं॒गे स॒मत्सु॑ वृत्र॒हास्माकं॑ बोधि चोदि॒ता
नभ॑न्तामन्य॒केषां॑ ज्या॒का अधि॒ धन्व॑सु ॥ १ ॥

(१) राष्ट्र में शत्रुओं के संहार के लिए राजा सेनापति के रूप में 'इन्द्र' कहलाता है। **अस्मै**

इन्द्राय=इस शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापति के लिए **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **पुरोरथम्**=अग्रगतिवाले रथ को तथा **शूषम्**=शत्रु-शोषक बल को **प्र अर्चत**=सम्यक् आदर दो। उस सेनापति को उचित आदर प्राप्त हो जिसका रथ आगे ही आगे बढ़ता है और कभी रणाङ्गण से पराङ्मुख नहीं होता। उस सेनापति को आदर दो जिसका कि बल शत्रुओं का शोषण करनेवाला है। (२) यह इन्द्र **अभीके**=संग्राम में **चित् उ**=निश्चय से **लोककृत्**=अपने स्थान को बनानेवाला है। **समत्सु**=संग्रामों में **संगे**=शत्रुओं के साथ मुठभेड़ होने पर यह **वृत्रहा**=वृत्र का हनन करनेवाला है, राष्ट्र के घेरनेवाले शत्रुओं को समाप्त करनेवाला है (वृ=घेरना)। (३) हे इन्द्र! इस प्रकार शत्रुहनन करता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारा **चोदिता**=प्रेरक **बोधि**=अपने को जान प्रजाओं के अन्दर उत्साह का संचार करनेवाला तू हो। तेरी वीरता के सामने **अन्यकेषाम्**=(कुत्सिते कन्) इन अधर्म के पक्षवाले कुत्सित शत्रुओं को **ज्याकाः**=धनुष की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ। उनका उत्साह मन्द पड़ जाएँ, उनके अस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति का रथ आगे ही आगे बढ़नेवाला हो, उसका बल शत्रुओं का शोषण कर दे। सेनापति शत्रुहनन करता हुआ प्रजाओं के उत्साह को बढ़ाये और शत्रुओं के अस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

ऋषिः—**सुदाः पैजवनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरी** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रक्तधाराओं का बहना

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम्।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥२॥

(१) **अहिम्**=(आहन्ति) चारों ओर मार-काट करनेवाले शत्रु को **त्वम्**=तू **अहन्**=नष्ट करता है और **अधराचः**=नीचे की ओर बहनेवाली **सिन्धून्**=रक्त नदियों को तू **अवासृजः**=उत्पन्न कर देता है। शत्रु-संहार से रक्त की धाराएँ बह उठती हैं। इस प्रकार शत्रुओं को समाप्त करके हे **इन्द्र**=सेनापते! तू **अशत्रुः जज्ञिये**=शत्रुरहित हो जाता है। तेरी शक्ति के कारण कोई भी तेरा विरोधी नहीं रहता। (३) इस प्रकार शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करके तू **विश्वं वार्यम्**=सब वरणीय वस्तुओं का **पुष्यसि**=पोषण करता है। **तं त्वा**=उस तुझको हम **परिष्वजामहे**=आलिंगित करते हैं, तेरा उचित अभिनन्दन करते हैं। शत्रु विजय से लौटे हुए सेनापति का उचित आदर होना ही चाहिए। इसके बल के सामने **अन्यकेषाम्**=कुत्सित वृत्तिवाले इन शत्रुओं की **ज्याकाः**=डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—घातपात करनेवाले शत्रुओं को मारकर रक्तधाराओं को ही सेनापति बहा दे। राष्ट्र को अशत्रु करके वरणीय वस्तुओं का पोषण करे। राष्ट्रोत्थान का यही तो मार्ग है, बाह्य भय का न होना तथा वरणीय तत्त्वों का वर्धन।

ऋषिः—**सुदाः पैजवनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरी** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वज्र-प्रहार व धन-प्रहार

वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु
नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥३॥

(१) **विश्वाः**=सब **अरातयः**=न देने की वृत्तिवाले, कृपण वृत्तिवाले, **अर्यः**=शत्रु **सु**=अच्छी प्रकार **विनशन्त**=नष्ट हो जाएँ। **नः**=हमें **धियः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्म (धी=कर्म-ज्ञान) **नशन्त**=प्राप्त हों। शत्रुभय में मस्तिष्क भी कार्य ठीक से नहीं करता। शत्रु भय के न होने पर हमारे सब कार्य बुद्धिपूर्वक हों। (२) हे **इन्द्र**=सेनापते! **यः**=जो **नः**=हमें **जिघांसति**=मारना चाहता है, उस **शत्रवे**=शत्रु के लिए तू **वधम्**=वज्र को **अस्तासि**=फेंकनेवाला है। और समय-समय पर **या**=जो **ते**=तेरी **रातिः**=दानशीलता है, उसे भी तू शत्रु के लिए फेंकनेवाला होता है। अर्थात् धन को देकर भी तू शत्रुओं पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। कई बार जो कार्य तोपों के गोलों से नहीं होता वह सोने के एक भार से हो जाता है। इसलिए आवश्यकता होने पर तू **वसु ददिः**=धन को देनेवाला होता है। इस प्रकार **अन्यकेषां ज्याकाः**=शत्रुओं की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—शत्रु-भय के अभाव में हमारे सब कार्य बुद्धिपूर्वक हों। सेनापति शस्त्रों से व धनों से शत्रु विजय के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—**सुदाः पैजवनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वृकायु-विनाश

यो न॑ इन्द्राभितो जनो॑ वृकायुरादिदेशति ।
अधस्पदं तमीं कृधि विबाधो असि सासहिर्नभन्तामन्यकेषां
ज्याका अधि धन्वसु ॥४॥

(१) हे **इन्द्र**=सेनापते! **यः जनः**=जो मनुष्य **वृकायुः**=(वृक इव आचरन्) भेड़िये की तरह आचरण करता हुआ **नः अभितः**=हमारे चारों ओर **आदिदेशति**=लक्ष्य करके बाण आदि को छोड़ता है (दिश अतिसर्जने), **तम्**=उसको **ईम्**=निश्चय से **अधस्पदं कृधि**=पादाक्रान्त कर दो। (२) हे सेनापते! आप **विबाधः**=विशेषरूप से शत्रुओं को पीड़ित करनेवाले तथा **सासहिः**=शत्रुओं को कुचल डालनेवाले **असि**=हैं। आपकी शक्ति के समाने **अन्यकेषां ज्याकाः**=इन कुत्सित वृत्तिवाले शत्रुओं की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ। इनके अस्त्र इस प्रकार कुण्ठित हो जाएँ कि ये हमारे पर आक्रमण कर ही न सकें।

भावार्थ—भेड़िये की वृत्तिवाले शत्रुओं को कुचल दिया जाए।

ऋषिः—**सुदाः पैजवनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सनाभि व निष्ट्य शत्रु

यो न॑ इन्द्राभिदास॑ति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अव॒ तस्य॒ बलं॑ तिर म॒हीव॒ द्यौरध॒ त्मना॑ नभन्तामन्य॒केषां॑
ज्याका अधि धन्वसु ॥५॥

(१) हे **इन्द्र**=सेनापते! **यः सनाभिः**=जो समानजन्यवाला, अपनी बिरादरी का **यः च**=और जो **निष्ट्यः**=निकृष्टजन्यवाला अथवा अपनी बिरादरी से बाहर का शत्रु **नः**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करना चाहता है (दसु उपक्षये) **तस्य बलम्**=उसके बल को **अवतिरः**=नष्ट कर दे (जहि)। (२) इस शत्रु-सैन्य को नष्ट करके **अध**=अब **त्मना**=स्वयं **मही द्यौः इव**=इस विशाल द्युलोक की तरह तू हो। जैसे द्युलोक सूर्य व नक्षत्रों से दीप्त है इसी प्रकार तू ज्ञान व सम्पत्तियों

से श्री सम्पन्न हो। तेरी श्री के सामने **अन्यकेषां ज्याकाः**=कुत्सित वृत्ति के इन शत्रुओं की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=हिंसित हो जाएँ। शत्रुओं के सब अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

भावार्थ—अन्दर के व बाहर के सब शत्रु नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**सुदाः पैजवनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रजाप्रिय राजा

वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमा रभामहे ।
ऋतस्य नः पथा नयाति विश्वानि दुरिता नभन्तामन्यकेषां
ज्याका अधि धन्वसु ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावण करनेवाले शासक! **वयम्**=हम **त्वायवः**=आपकी ही कामनावाले हैं। प्रजाओं को राजा बड़ा प्रिय होना चाहिए। राजा का जीवन प्रजाओं को उसके प्रति अनुरागवाला हो **सखित्वम्**=हम मित्रता को **आरभामहे**=प्रारम्भ करते हैं, अर्थात् परस्पर मित्रभाव से चलते हैं। राष्ट्र के नागरिकों में परस्पर सखित्व होने पर राष्ट्र की शक्ति बढ़ती है। (२) हे इन्द्र! **नः**=हमें **ऋतस्य पथा नय**=ऋत के मार्ग से ले चलिये। शासक को यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसकी प्रजाएँ बड़े व्यवस्थित जीवनवाली हों। उनके सब कार्य समय पर व ठीक स्थान पर होनेवाले हों। इस प्रकार ऋत के मार्ग से ले चल करके हमें **विश्वानि दुरिता अति**=(नय) सब दुरितों से दूर ले चलिये। हम पाप से बचकर दुर्गतियों से भी बचे रहें। (३) इस प्रकार सब प्रजाओं के जीवनों के व्यवस्थित होने पर **अन्यकेषां ज्याकाः**=कुत्सित वृत्तिवाले लोगों की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ। प्रजाओं के चरित्र के ऊँचे होने पर शत्रु आक्रमण करने से घबराता है।

भावार्थ—राजा प्रजा से आदृत हो। राजा प्रजाओं को ठीक मार्ग पर ले चलता हुआ दुर्गति से बचाए।

ऋषिः—**सुदाः पैजवनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी का व्यापक प्रचार

अस्मभ्यं सु त्वमिन्द्र तां शिक्ष या दोहते प्रति वरं जरित्रे ।
अच्छिद्रोध्नी पीपयद्यथा नः सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=राजन्! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **त्वम्**=आप **ताम्**=उस गौ को **सु शिक्ष**=अच्छी प्रकार प्राप्त कराइये। **या**=जो गौ **जरित्रे**=स्तोता के लिए **वरम्**=वरणीय वस्तुओं को **प्रतिदोहते**=प्रतिदिन पूरित करती है। यह गौ वेदवाणी है। और यह हमारे लिए 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' आदि सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराती है। (२) यह **अच्छिद्रोध्नी**=निर्दोष ऊधस्वाली है। यह पवित्र ज्ञानदुग्ध का ही दोहन करती है। हे राजन्! ऐसी व्यवस्था करिये **यथा**=जिससे यह **मही गौः**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वेदवाणी रूप गौ **नः**=हमें **सहस्रधारा**=शतशः धारणशक्तियोंवाली होती हुई **पयसा**=अपने ज्ञानदुग्ध से **पीपयत्**=आप्यायित करे।

भावार्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र में सभी को वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त कराये। यह वेदवाणी उनका सब प्रकार से वर्धन करेगी।

इस सूक्त में राजा का यह मौलिक कर्त्तव्य उल्लिखित हुआ है कि यह शत्रुओं से राष्ट्र का रक्षण करके प्रजाओं को ठीक मार्ग से ले चलता हुआ दुर्गति से बचाये। सभी को वेदवाणी के ज्ञान से युक्त करे। इस वेदवाणी का धारण करनेवाला 'मान्धाता' कहलाता है, क्योंकि यह प्रभु का धारण करता है (मां धाता)। यह 'यौवनाश्व' है, इसके इन्द्रियरूप अश्व अशुभ से पृथक् व शुभ से युक्त होते हैं। वह वेदवाणी का धारण करने से 'गो-धा' भी कहलाता है। अग्रिम सूक्त का ऋषि यह 'मान्धाता यौवनाश्व' है। सूक्त के अन्तिम मन्त्र का ऋषि 'गोधा' है। यह कहता है कि—

[१३४] चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**मान्धाता यौवनाश्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

निर्माता व शासक प्रभु

उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषाइव।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनां
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब **उभे रोदसी**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को आप **आपप्राथ**=चारों ओर विस्तृत करते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **उषाः**=उषाकाल इन्हें विस्तृत करता है। उषा के होते ही, रात्रि में अत्यन्त संकुचित-सा हुआ-हुआ यह ब्रह्माण्ड, फिर से अनन्त से विस्तारवाला हो जाता है। इसी प्रकार प्रभु वस्तुतः इस सारे ब्रह्माण्ड को विस्तृत करते हैं। (२) इस विस्तृत द्युलोक व पृथिवीलोक को बनाकर प्रभु ही इसका शासन करते हैं। **महीनाम्**=इन महनीय भूमियों के तथा **चर्षणीनाम्**=इन भूमियों पर निवास करनेवाले प्राणियों के **महान्तं सम्राजम्**=महान् सम्राट्, व्यवस्थापक **त्वा**=आपको **देवी**=यह सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली **जनित्री**=चराचर को जन्म देनेवाली प्रकृति **अजीजनत्**=प्रकट करती है। यह **भद्रा**=कल्याण को करनेवाली व सब सुखों की साधनभूत **जनित्री**=जन्मदात्री प्रकृति **अजीजनत्**=आपकी महिमा का प्रादुर्भाव करती है। प्रकृति से बने इन सब पिण्डों में प्रभु की रचना का कौशल व्यक्त हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु इस द्युलोक व पृथिवीलोक को विस्तृत करते हैं। इन लोकों का वे शासन करते हैं। इन लोकों की रचना में प्रभु की रचना चातुरी व्यक्त हो रही है।

ऋषिः—**मान्धाता यौवनाश्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शत्रु-शातन प्रभु

अव स्म दुर्हणायतो मर्तस्य तनुहि स्थिरम्।
अधस्पदं तमीं कृधि यो अस्माँ आदिदेशति
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ २॥

(१) **दुर्हणायतः**=बुरी तरह से घातपात करनेवाले **मर्तस्य**=मनुष्य के **स्थिरम्**=स्थिर शक्ति को **अवतनुहि स्म**=निश्चय से तितर-बितर कर दीजिये। **तम्**=उस शत्रु को **ईम्**=निश्चय से **अधस्पदं कृधि**=पादाक्रान्त करिये **यः**=जो **अस्मान्**=हमें **आदिदेशति**=(जिघांसति) नष्ट करना चाहता है, हमें लक्ष्य करके घातक अस्त्रों का अतिसर्जन करता है। (२) इस प्रकार प्रभु आस्तिक व्यक्तियों का रक्षण करते हैं, और इन घातपात की वृत्तिवालों का विनाश करते हैं। यह देवी

जनित्री=व्यवहार साधिका जन्मदात्री प्रकृति प्रभु की महिमा को **अजीजनत्**=प्रकट करती हैं। **भद्रा**=यह कल्याण व सुख को प्राप्त करानेवाली **जनित्री**=उत्पादक प्रकृति **अजीजनत्**=एक-एक पदार्थ में प्रभु की महिमा को व्यक्त कर रही है। 'सम्पूर्ण संसार में किस प्रकार अत्याचार करनेवाला स्वयं उन अत्याचारों का शिकार हो जाता है' यह देखकर उस प्रभु की महिमा विचित्र ही प्रतीत होती है।

भावार्थ—अत्याचारियों का विनाश प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—**मान्धाता यौवनाश्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

रक्षक प्रभु

अव त्या बृहतीरिषो विश्वश्चन्द्रा अमित्रहन्।
शचीभिः शक्र धूनुहीन्द्र विश्वाभिरूतिभिर्देवी
जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ ३॥

(१) हे **अमित्रहन्**=गत मन्त्र के अनुसार अमित्रों के विनाशक, **शक्र**=सर्वशक्तिमन् **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप **त्याः**=उन **बृहतीः**=हमारी बुद्धि की कारणभूत **विश्वश्चन्द्रा**=सब तरह से आह्लाद को प्राप्त करानेवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **शचीभिः**=प्रज्ञानों व शक्तियों के साथ **अवधूनुहि**=हमारी ओर प्राप्त कराइये। हम प्रभु की प्रेरणाओं को प्राप्त करके तदनुसार चलेंगे तो ये प्रेरणाएँ हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करनेवाली होंगी, हमें शक्तिशाली व आह्लादयुक्त बनाएँगी। (२) **विश्वाभिः ऊतिभिः**=व्यापक रक्षणों के द्वारा यह देवी **जनित्री**=व्यवहार-साधिका प्रकृति माता **अजीजनत्**=उस प्रभु की महिमा को व्यक्त करती है। सूर्यादि देवों के द्वारा, विविध फल-पुष्पों के द्वारा प्रभु ने अद्भुत प्रकार से रक्षण की व्यवस्था की है। उन सब व्यवस्थाओं को देखनेवाला यही कहता है कि **भद्रा**=यह कल्याण व सुख को करनेवाली **जनित्री**=उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**=एक-एक रचना में प्रभु की महिमा को प्रकट करती है।

भावार्थ—प्रेरणाओं शक्तियों व रक्षण व्यवस्थाओं से सर्वत्र प्रभु की महिमा व्यक्त है।

ऋषिः—**मान्धाता यौवनाश्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

दाता प्रभु

अव यत्त्वं शतक्रतविन्द्र विश्वानि धूनुषे।
रयिं न सुन्वते सचा सहस्त्रिणीभिरूतिभिर्देवी
जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ ४॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **यत्**=जब **त्वम्**=आप **विश्वानि**=हमारे न चाहते हुए भी हमारे अन्दर आ जानेवाली इन (दुरितानि) बुराइयों को **अवधूनुषे**=कम्पित करके दूर करते हैं। **नः च**=और **सुन्वते**=यज्ञशील पुरुष के लिए **सहस्त्रिणीभिः ऊतिभिः**=हजारों रक्षणों के **सचा**=साथ **रयिम्**=धन को प्राप्त कराते हैं। (२) तो उन सब बुराइयों को दूर करने के कार्यों में रक्षण व्यवस्थाओं में, धनों के दान में यह **देवी**=व्यवहार-साधिका **जनित्री**=उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**=आपकी महिमा को प्रकट करती है। **भद्रा**=यह कल्याण करनेवाली **जनित्री**=उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**=आपकी महिमा को व्यक्त करती है।

भावार्थ—प्रभु शत्रु-विद्रावक हैं, रक्षक हैं, सब धनों के दाता हैं।

ऋषिः—**मान्धाता यौवनाश्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सुमति से दर्शनीय प्रभु

अव॒ स्वेदा॑इवा॒भितो॒ विष्व॑क्पतन्तु दि॒द्यवः॑ ।
दूर्वा॑याइव॒ तन्त॑वो॒ व्य१॒॑स्मदे॑तु दु॒र्मति॒र्दे॑वी
जनि॑त्र्यजीजनद्भ॒द्रा जनि॑त्र्यजीजनत् ॥ ५ ॥

(१) **इव**=जैसे **स्वेदाः**=स्वेदकण **अभितः**=चारों ओर **अव** (पतन्ति)=दूर गिर जाते हैं इसी प्रकार **दिद्यवः**=प्रभु के खण्डन करनेवाले अस्त्र हमारे से **विश्वक्**=चारों ओर (अव) **पतन्तु**=दूर ही गिरें। इन अस्त्रों का हमारे पर प्रहार न हो, अर्थात् हम दण्डभागी न बनें। (२) इस दण्ड के भागी न बनने के लिए ही **दूर्वायाः तन्तवः इव**=दूर्वा के तन्तुओं की तरह **अस्मत्**=हमारे से **दुर्मतिः**=दुष्ट बुद्धि **वि एतु**=दूर हो। दुष्ट बुद्धि के न होने पर आचरण भी पवित्र होगा। पवित्राचरण के होने पर हम दण्डभागी न होंगे। (३) इस पवित्राचरण के होने पर **देवी**=सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली यह **जनित्री**=लोक-लोकान्तरों को जन्म देनेवाली प्रकृति **अजीजनत्**=प्रभु की महिमा को प्रकट करती है। **भद्रा**=यह कल्याण करनेवाली **जनित्री**=उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**=प्रभु का प्रादुर्भाव करती है। उत्तम बुद्धिवाले, प्रकृति के भोगों में न फँसे पुरुष को इन सब प्राकृतिक रचनाओं में प्रभु की रचना चातुरी का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु के अस्त्र हमारे से इस तरह दूर हों जैसे स्वेद बिन्दु। दुर्मति इस प्रकार दूर हो जैसे घास का तन्तु। इस प्रकार पवित्राचरण होने पर हमें सर्वत्र प्रभु महिमा का दर्शन होगा।

ऋषिः—**मान्धाता यौवनाश्वः, गोधा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

संयम के अनुपात में शक्ति

दी॒र्घं ह्य॑ङ्कुशं य॑था॒ शक्तिं॒ बिभ॑र्षि मन्तुमः ।
पूर्वे॑ण मघवन्प॒दाजो व॒यां यथा॑ य॒मो दे॒वी
जनि॑त्र्यजीजनद्भ॒द्रा जनि॑त्र्यजीजनत् ॥ ६ ॥

(१) हे **मन्तुमः**=विचारशील पुरुष! तू **यथा**=जैसे **हि**=ही **दीर्घं अङ्कुशम्**=दीर्घ अंकुश होता है, उसी अनुपात में शक्ति **बिभर्षि**=शक्ति को धारण करता है। अंकुश हाथी का नियामक है। सो अंकुश शब्द यहाँ नियमन के भाव का सूचक है। जितना नियमन, उतना शक्ति का धारण। इन्द्रियों को वश में करके ही तो शक्ति का रक्षण होता है। (२) हे **मघवन्**=पाप से ऊपर उठने के कारण (मा-अघ) ऐश्वर्यवान्! **यथा**=जैसे **पूर्वेण पदा**=अगले पाँव से **अजः**=बकरा **वयाम्**=शाखा को पकड़ता है तू भी **पूर्वेण पदा**=प्रथम कदम के हेतु से, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य के हेतु से ही **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला **वयाम्**=संसारवृक्ष की शाखा को ग्रहण करता है। जीव ने तीन कदम रखने होते हैं। प्रथम कदम में वह पृथिवी लोक (=शक्ति) को मापता है, दूसरे में अन्तरिक्ष (=हृदय) को तथा तीसरे में द्युलोक (=मस्तिष्क) को। इन कदमों को रखकर ही यह त्रिविक्रम बनता है। संसारवृक्ष की शाखा के फलों को यह पहले कदम के रखने के हेतु से ग्रहण करता है, अर्थात् स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से ही खाता है। इस प्रकार तू **यमः**=अपना नियन्ता बनता है, अपनी इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि का नियमन करता है। इस नियमन करनेवाले तेरे लिए

देवी **जनित्री**=यह व्यवहार साधिका उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**=प्रभु की महिमा को प्रकट करती है। **भद्रा**=यह कल्याण करनेवाली **जनित्री**=उत्पादिका प्रकृति **अजीजनत्**=प्रभु की महिमा का प्रार्दुभाव करती है।

भावार्थ—संयम के अनुपात में हमें शक्ति प्राप्त होती है। संसार का हम उतना ग्रहण करें जितना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हो। इस प्रकार **यम**=नियन्ता बनने पर हमें सर्वत्र प्रभु की महिमा दिखेगी।

ऋषिः—**गोधा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे ॥७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **यम**=नियन्ता बनकर **देवाः**=हे देवो! हम **नकिः मिनीमसि**=नाममात्र भी कर्तव्य को हिंसित नहीं करते हैं। **नकिः**=ना ही **आयोपयामसि**=(obliterate, blot out) प्रमादवश किसी कर्त्तव्य को विस्मृत करते हैं। **मन्त्रश्रुत्यम्**=मन्त्रों में सुने गये अपने कर्त्तव्यों का **चरामसि**=पालन करते हैं। (२) **पक्षेभिः**=ज्ञानों के परिग्रहों से, अधिक से अधिक ज्ञान के ग्रहण के द्वारा **अपिकक्षेभिः**=कटिबद्धताओं के द्वारा, कर्त्तव्यों को करने के लिए कमर को कसने के द्वारा **अत्र**=यहाँ जीवन में **अभिसंरभामहे**=हम अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों के दृष्टिकोणों से (अभि) कार्यों का प्रारम्भ करते हैं। ज्ञान व दृढ़ निश्चय से किये गये कार्य अवश्य सफल होते ही हैं।

भावार्थ—अपना नियमन करते हुए हम कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। श्रुति के प्रतिकूल हमारा आचरण नहीं होता। ज्ञान व दृढ़निश्चय के साथ हम ऐहिक व आमुष्मिक धर्म का पालन करते हैं।

सूक्त की संक्षेप में भावना यह है कि यदि हम अपने आचरण को अच्छा बनायेंगे तो प्रकृति का एक-एक पिण्ड हमारे लिए उस प्रभु की महिमा को व्यक्त करेगा। सो हमें यम, यम ही क्या 'यामायन' (यमस्य अपत्यम्) बनना चाहिए। यह यामायन 'कुमार' होता है। सब बुराइयों को मारनेवाला बनता है। यह 'यामायन कुमार' ही अगले सूक्त का ऋषि है। इस यम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

[१३५] पञ्चत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कुमारो यामायनः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

इस सुपलाश वृक्ष पर

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥ १ ॥

(१) यह संसार एक वृक्ष है, इसका एक-एक पत्ता चमकता है, यह हमें अपनी ओर आकृष्ट करता है। हमें इस संसारवृक्ष में उलझना नहीं। इसके फलों के खाने में ही स्वाद नहीं लेने लग जाना। **यस्मिन्**=जिस **सुपलाशे**=उत्तम पत्तोंवाले **वृक्षे**=इस संसार वृक्ष में **यमः**=अपने जीवन को नियम में चलानेवाला व्यक्ति **देवैः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के हेतु से **सम्पिबते**=सोम का पान करता है, वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित रखता है। वस्तुतः सोम का शरीर में सुरक्षित रखना ही शरीर को ठीक बना के रखने का साधन है। सोम के रक्षण के होने पर शरीर बड़ी उमरवाला होता हुआ

भी (पुरा अपि नवः=पुराणः) नवीन-सा बना रहता है। यह व्यक्ति 'सनत् कुमार' बना रहता है। (२) **अत्रा**=ऐसा होने पर **नः**=हमारा **विश्पतिः**=प्रजाओं का स्वामी पिता रक्षक प्रभु **पुराणान्**='पुरापि नवीन्' इन बड़ी उमर के भी नवीन, अजीर्ण-शीर्ण शरीरवालों को **अनुवेनति**=चाहते हैं। ये व्यक्ति प्रभु के प्रिय होते हैं। यह स्वाभाविक बात है, हमने प्रभु के दिये हुए शरीर को बड़ा ठीक रख करके प्रभु का वास्तविक पूजन किया है। सो हम प्रभु के प्रिय क्यों न होंगे?

भावार्थ—भोगमार्ग पर न जाकर यदि हम सोम का रक्षण करें तो शरीर जीर्ण नहीं होता और हम प्रभु के प्रिय होंगे।

ऋषिः—**कुमारो यामायनः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

विषय-दोष-दर्शन

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः ॥ २ ॥

(१) 'पुराण' शब्द का अर्थ गत मन्त्र में हो चुका है। **पुराणान्**=इन बड़ी उमर में भी अजीर्णशीर्ण शरीरवालों को **अनुवेनन्तम्**=चाहते हुए उस प्रभु को **अभ्यचाकशम्**=मैंने देखा है। परन्तु कब? **अमुया पापया**=उस पापवृत्ति ले **चरन्तम्**=चलते हुए को अथवा विषयों को चरते हुए को **असूयन्**=दोषदृष्टि से देखते हुए मैंने प्रभु को देखा है। जब मैं विषयों के चरने को दोष समझने लगा तब मैंने उस प्रभु को देखा। संसार में दो ही मार्ग हैं, एक प्रकृति की ओर जाने का, दूसरा प्रभु की ओर लौटने का। सामान्यतः मनुष्य प्रथम मार्ग से ही जाता है। उस मार्ग के दोषों को देखने पर, उससे विरक्त होकर यह प्रभु की ओर लौटता है। (२) विषयों के दोषों को देखने पर **तस्मा**=उस प्रभु के लिए **पुनः अस्पृहयम्**=मैंने कामना की है। इस कामना के होने पर ही हमारा जीवन का मार्ग परिष्कृत होता है और विषयासक्त न होकर प्रभु की ओर बढ़ते चलते हैं।

भावार्थ—विषय-दोष-दर्शन हमें प्रभु की ओर चलने की प्रेरणा देता है।

ऋषिः—**कुमारो यामायनः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

एकाग्रवृत्ति से रथ पर आरूढ़ होना

यं कुमार नवं रथचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि ॥ ३ ॥

(१) हे **कुमार**=कुत्सितता का विनाश करनेवाले! **यम्**=जिस **नवम्**=इन्द्रियरूपी नौ द्वारोंवाले, स्तुत्य (नु स्तुतौ) व गतिशील (नव गतौ) **रथम्**=शरीररूप रथ को, **अचक्रम्**=जिसमें अन्य रथों की तरह चक्र नहीं लगे हुए, अथवा 'अष्ट चक्रा'=अचक्रा, जैसे 'याचामि'=यामि। यह अष्टचक्रोंवाला है (अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या) **मनसा**=मन के साथ **अकृणोः**=करता है, अर्थात् जब तू बुद्धि को इस रथ का सारथि बनाता है। (२) तो उस समय इस **एक ईषम्**=एक प्राणरूप ईषावाले, अग्रदण्डवाले **विश्वतः प्राञ्चम्**=सब ओर आगे बढ़नेवाले इस रथ पर तू **अपश्यन्**=इधर-उधर न देखता हुआ, इधर-उधर के सौन्दर्य से आकृष्ट न होता हुआ **अधितिष्ठसि**=अधिष्ठित होता है। इधर-उधर ध्यान गया तो रथ का दुर्घटनाग्रस्त हो जाना सम्भावित ही है। यह शरीर-रथ तो हमें लक्ष्य-स्थान पर तभी पहुँचायेगा जब कि हम विषयाकृष्ट न होते हुए एकाग्रवृत्ति से इस पर आरूढ़ होंगे।

भावार्थ—यह शरीर-रथ अद्भुत रथ है। यह 'नव, अचक्र, एकेष व विश्वतः प्राङ्' है। इसका

अधिष्ठाता तो वही बनता है जो इधर-उधर न झाँकता रहे।

ऋषिः—**कुमारो यामायनः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

नाव में आहित रथ

यं कुमार॒ प्राव॑र्तयो॒ रथं॑ विप्रे॒भ्य॒स्परि॑।
तं सामानु॒ प्राव॑र्तत॒ समि॒तो ना॒व्याहि॑तम्॥ ४॥

(१) हे **कुमार**=क्रीड़क की मनोवृत्ति से चलनेवाले पुरुष! **यं रथम्**=जिस शरीर-रथ को **विप्रेभ्यः समित**=विशेषरूप से तेरा पूरण करनेवाले (वि-प्रा) माता, पिता व आचार्य आदि से संगत हुए-हुए तूने **परि**=चारों ओर **प्रावर्तयः**=तूने गतिमय किया है। माता-पिता व आचार्य के सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति ही अपनी कमियों को दूर करके शरीर-रथ को अच्छी प्रकार मार्ग पर ले चलता है। (२) **तम्**=उस **नावि आहितम्**=प्रभु रूप नाव में स्थापित किये हुए रथ को **साम अनु प्रावर्तत**=शान्ति अनुकूलता से प्राप्त होती है। यह रथ प्रभु रूप नाव में आहित होने के कारण इस भवसागर में डूब नहीं जाता। प्रभु नाव बनती है जो इसे विषय जल में डूबने नहीं देती। भाव यह है कि हमारे रथ के संचालक प्रभु हों। इसकी बागडोर प्रभु के हाथ में हो।

भावार्थ—इस शरीर-रथ के संचालन की शिक्षा माता, पिता व आचार्य से प्राप्त होती है। भवसागर से पार करने के लिए इसे प्रभु रूप नाव का सहारा होता है। इस सहारे से ही जीवन की गाड़ी शान्ति से चलती है।

ऋषिः—**कुमारो यामायनः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कुमार का रथ से मोक्षण

कः कु॑मा॒रम॑जनय॒द्रथं॒ को निर॑वर्तयत्। कः स्वि॒त्तद॒द्य नो॑ ब्रूयादनु॒देयी॒ यथाभ॑वत्॥ ५॥

(१) **कः**=वे अनिर्वचनीय, आनन्दमय प्रभु ही **कुमारम्**=वासनाओं को पूर्णरूप से नष्ट करनेवाले पुरुष को **अजनयत्**=उत्पन्न करते हैं। प्रभु कृपा से ही हम कुमार बन पाते हैं। **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **रथम्**=इस शरीर-रथ को **निरवर्तयत्**=बनाते हैं। रथ का निर्माण करनेवाले प्रभु ही हैं। (२) **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **स्वित्**=निश्चय से **नः**=हमारे लिए **अद्य**=आज **तत्**=उस उपाय को **ब्रूयात्**=बतलाते हैं, **यथा**=जिससे कि **अनुदेयी**=इस रथ का पुनः वापिस करना (restoration) **आवत्**=हुआ करता है। अर्थात् प्रभु हमें उस उत्कृष्ट ज्ञान को देते हैं, जिसके अनुसार चलने पर हमें इस शरीर-रथ की पुनः आवश्यकता नहीं रह जाती। इससे हमारा मोक्ष हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें 'कुमार' बनाते हैं। हमें शरीर-रथ देते हैं। इस शरीर-रथ के पुनः वापिस करने का उपाय भी बतलाते हैं।

ऋषिः—**कुमारो यामायनः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मूल कर्त्तव्यों का पालन व मोक्ष (निरयण)

यथाभ॑वदनु॒देयी॒ ततो॒ अग्र॑मजायत। पु॒रस्ता॑द् बु॒ध्न आत॑तः प॒श्चान्नि॒रय॑णं कृ॒तम्॥ ६॥

(१) गत मन्त्र में 'अनुदेयी कैसे होगी' यह प्रश्न था। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **यथा**=जिस प्रकार **अनुदेयी**=इस रथ का (restoration) पुनः प्रत्यर्पण **अभवत्**=होता है **ततः**=उसके दृष्टिकोण से यह वेदज्ञान **अग्रं अजायत**=सृष्टि के प्रारम्भ में ही आविर्भूत होगा।

प्रभु ने वेदज्ञान पहले ही दे दिया। (२) इस वेदज्ञान का सार यह है कि **पुरस्तात्**=पहले **बुध्नः**=मूल **आततः**=विस्तृत होता है, अर्थात् जीव अपने मौलिक कर्त्तव्यों का (fist and foremost duties) पालन करता है, **पश्चात्**=इन कर्त्तव्यों का पालन करने के बाद **निरयणम्**=संसार से ऊपर उठकर (निः) प्रभु की प्राप्ति (अयनं) होती है। मनुष्य शरीर को स्वस्थ रखे, मन को निर्मल व बुद्धि को दीप्त करे। ये ही उसके मूल कर्त्तव्य हैं। इनका पालन करने पर पुनः शरीर लेने की आवश्यकता नहीं रहती। यही 'निरयण' है।

भावार्थ—प्रभु ने वेद में जो हमारे मौलिक कर्त्तव्य प्रतिपादित किये हैं, उनका पालन हमारे मोक्ष का कारण होता है।

ऋषिः—**कुमारो यामायनः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

देवमानम्

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते। इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥ ७ ॥

(१) **इदम्**=यह शरीर वस्तुतः **यमस्य**=संयमी पुरुष का **सादनम्**=बैठने का स्थान है। प्रभु ने संयमी को ही निवास-स्थान के रूप में प्राप्त कराया है। इसमें रहकर हमें संयम से ही चलना चाहिए। इसे भोग-विलास का साधन न बना देना चाहिए। यह वह 'सादन' है **यत्**=जो **'देवमानं'**=देवमान इस नाम से **उच्यते**=कहा जाता है। यह देवताओं के निर्माण का स्थान है। 'सर्वा ह्यस्मिन् देवताः गावो गोष्ठ इवासते' सब देव तो इसमें रहते हैं। इन देवों के निवास के लिए ही इसका निर्माण हुआ है। (२) संयमी पुरुषों के द्वारा **अस्य**=इस देवमान नामक शरीर-गृह की **इयं नाडीः**=यह नाड़ी **धम्यते**=प्राणाग्नि के सम्पर्कवाली की जाती है। अर्थात् इस शरीर में रहकर अभ्यासी लोग प्राणसाधना करते हुए उस-उस नाड़ी में प्राणों के निरोध के लिए यत्नशील होते हैं। इस प्रकार उस-उस नाड़ी को प्राणाग्नि के सम्पर्कवाला करते हैं। प्राणाग्नि के सम्पर्क से उसका पूर्ण शोधन हो जाता है। (३) **अयम्**=यह 'देवमान' नामक गृह में रहनेवाला व्यक्ति **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से व स्तुति-वचनों से **परिष्कृतः**=परिष्कृत व सुन्दर जीवनवाला बनता है। ज्ञान व ध्यान उसके जीवन को चमका देते हैं।

भावार्थ—इस शरीर में हमें संयमपूर्वक निवास करना है। इसे दिव्यगुणों की उत्पत्ति का स्थान बनाना है। इसकी नाड़ियों को प्राणाग्नि के द्वारा संतप्त करके शुद्ध करना है। ज्ञान व ध्यान से जीवन को परिष्कृत करना है।

यह सूक्त इस बात पर बल देता है कि हम शरीर को 'पुरा अपि नवः' सदा नवीन बनाए रखें। इसको एक रथ के रूप में देखें जिसकी बागडोर प्रभु के हाथ में है। इसे हम प्रभु को ठीक रूप में वापिस करनेवाले हों। और अन्त में इस शरीर को 'देवमान' समझकर चलें। इसे देवमान बनाने के लिए इसकी नाड़ियों को प्राणाग्नि से संयोग करें, अर्थात् प्राणायाम के अभ्यासी हों, अगले सूक्त के ऋषि ये प्राणायाम की अभ्यासी 'वातरशनाः मुनयः' हैं, वात को, प्राण को ही अपनी मेखला बनानेवाले, मौनवृत्ति से चलनेवाले। ये बोलते कम हैं, क्रियामय जीवन को बिताते हैं। क्रियाशील होने से 'जूति', वायु की तरह निरन्तर क्रियाशील होने से 'वातजूति', ज्ञानपूर्वक क्रिया करने के कारण 'वि प्रजूति' तथा (वृष-अन) सुखवर्षक जीवनवाला बनने से यह 'वृषाणक' कहलाता है। निरन्तर क्रियाशीलता के कारण ही 'करिक्रतः' है। क्रियाशीलता के कारण ही यह 'एतश' चमकता हुआ होता है (shining)। यह बुराइयों का संहार करने के कारण 'ऋष्यशृङ्ग' कहलाता है (ऋष् to kill), इसका ज्ञान इसकी बुराइयों का विध्वंस करता है। 'यह अपने जीवन में क्या करता है'?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

[१३६] षट्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**मुनयो वातरशनाः । जूतिः** ॥ देवता—**केशिनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

केशी का जीवन

केश्यृ१ग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी । केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ १ ॥

(१) **केशी**=(काशनाद्वा, प्रकाशनाद्वा) ज्ञान के प्रकाशवाला यह व्यक्ति **अग्निं बिभर्ति**=शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि को (=जाठराग्नि को) धारण करता है। जाठराग्नि को अतिभोजनादि से मन्द नहीं होने देता। इस अग्नि के ठीक रहने से यह कभी रोगाक्रान्त नहीं होता। (२) **केशी**=यह ज्ञान के प्रकाशवाला व्यक्ति **विषम्**=(जल=रेत:कण) रेत:कणों को शरीर में धारण करता है। प्राणायामादि के द्वारा इनका शरीर में ही व्यापन करता है (विष् व्याप्तौ)। वस्तुतः शरीर में व्याप्त करने के लिए ही प्रभु ने इन्हें उत्पन्न किया है। इनके शरीर में व्यापन से शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है। (३) यह **केशी**=ज्ञान के प्रकाशवाला व्यक्ति **रोदसी बिभर्ति**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को धारण करता है। जाठराग्नि के ठीक रहने से रेत:कणों का निर्माण ठीक रूप होता है। इन रेत:कणों के रक्षण से शरीर नीरोग व मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल बनता है। **केशी**=यह ज्ञानरश्मियोंवाला व्यक्ति **विश्वं स्वः**=सब प्रकाश व ज्ञान को प्राप्त करता है जिससे **दृशे**=तत्त्व का दर्शन कर सके। सब पदार्थों के तत्त्वदर्शन के लिए ज्ञान आवश्यक है। इस तत्त्वदर्शन से ही चीजों का ठीक प्रयोग करता हुआ इनमें आसक्त नहीं होता और जीवन-यात्रा को पूर्ण कर पाता है। **केशी**=यह प्रकाशमय जीवनवाला व्यक्ति 'इदं ज्योतिः' यह प्रकाश ही **उच्यते**=कहा जाता है। अर्थात् यह प्रकाश का पुञ्ज व प्रकाश ही हो जाता है। इसके जीवन का मुख्य गुण यह प्रकाश ही होता है।

भावार्थ—समझदार व्यक्ति जाठराग्नि को ठीक रखता है, उत्पन्न हुए-हुए वीर्य का शरीर में ही व्यापन करता है, रेत:रक्षण के द्वारा शरीर को नीरोग व मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाता है। सब विज्ञान को प्राप्त करके वस्तु तत्त्व का दर्शन करता है। उनका ठीक प्रयोग करता हुआ प्रकाशमय जीवनवाला हो जाता है।

ऋषिः—**मुनयो वातरशनाः । वातजूतिः** ॥ देवता—**केशिनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु में प्रवेश

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला । वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के **मुनयः**=मौन रहते हुए मननशील होते हैं, **वातरशनाः**=वायुरूप मेखलावाले होते हैं, अर्थात् (वात=प्राण) प्राणायाम के अभ्यासी बनते हैं। **पिशंगाः**=(पिश=free from sin) पापशून्यता की अवस्था की ओर जानेवाले होते हैं। प्राणायाम से दोषों को जलाकर निर्दोष व तेजस्वी बनते हैं (प्राणायामैर्दहेद् दोषान्)। ये मुनि **मला**=मलिन कर्मों का **वसते**=अपवरण करते हैं (वस्=छादने=अपवारणे)। मलिन कर्मों को अपने से दूर करके शुद्ध जीवनवाले बनते हैं। (२) **वातस्य**=प्राणों के **ध्राजिम्**=वेग व गति के **अनु**=अनुसार **यन्ति**=ये प्रभु के मार्ग पर जाते हैं। जितना-जितना प्राणसाधना में आगे बढ़ते हैं, उतना-उतना प्रभु की समीप होते जाते हैं। **यद्**=जब इस प्राणसाधना के द्वारा अशुभ वृत्तियों को विनष्ट करके ये **देवासः**=देव बन जाते हैं तब **अविक्षत**=ये उस प्रभु में प्रवेश करते हैं 'ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च'। मनन से प्रभु का ज्ञान हुआ, प्राणसाधना से दर्शन हुआ और देव बनने पर प्रवेश का प्रसंग आया।

भावार्थ—हम मौनपूर्वक मनन में प्रवृत्त हों, प्राणसाधना करें, निर्मलता को प्राप्त करके देववृत्तिवाले बनकर, प्रभु में प्रवेश करें।

ऋषिः—**मुनयो वातरशनाः । विप्रजूतिः** ॥ देवता—**केशिनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्राणाधिष्ठानता

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम् । शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ॥ ३ ॥

(१) 'मुनेर्भावः मौनेयम्' **मौनेयेन**=मौन साधना व मनन के द्वारा **उन्मदिताः**=उत्कृष्ट हर्ष को प्राप्त हुए-हुए **वयम्**=हम **वातान्**=प्राणों के **आतस्थिम**=अधिष्ठाता बनते हैं। प्राणसाधना के द्वारा प्राणों को वश में करना ही प्राणों का अधिष्ठाता बनना है। प्राणों के अधिष्ठाता बनकर ये व्यक्ति निर्दोष बनते हुए देव बनकर प्रभु में प्रवेश करनेवाले होते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि हे **मर्तासः**=सामान्य मनुष्यो! तुम तो **अस्माकम्**=हमारे **शरीरा इत्**=इन शरीरों को ही **अभिपश्यथ**=देखते हो। तुम इन शरीरों से ऊपर नहीं उठ पाते। अन्नमयकोश तक ही तुम्हारी दौड़ रहती है, तुम प्राणमय में नहीं आ पाते। बस, अन्नमय से ऊपर उठेंगे तभी देववृत्ति का प्रारम्भ होगा। असुर लोग अन्नमय में ही रमे रह जाते हैं। वे इन शरीरों का ही पोषण करते-करते समाप्त हो जाते हैं। देव लोग शरीर को स्वस्थ रखते हुए आगे बढ़ते हैं, वे प्राणमयकोश को उत्तम बनाने का ध्यान करते हैं। इस प्राणसाधना से उनका मन निष्पाप बनता है, बुद्धि तीव्र होती है और वे प्रभु में प्रवेश करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम मर्त न बने रहकर देव बनें। प्राणों के अधिष्ठाता बनकर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**मुनयो वातरशनाः । वृषाणकः** ॥ देवता—**केशिनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

मध्यमार्ग से चलना

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् । मुनिर्देवस्यदेवस्य सौकृत्याय सखा हितः ॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र का प्राणसाधक **अन्तरिक्षेण पतति**=सदा मध्य मार्ग से चलता है। 'युक्ताहार विहार' बनता है। प्राणायाम का लाभ इस युक्तचेष्ट पुरुष को ही होता है। यह **विश्वारूपा अवचाकशत्**=सब पदार्थों को सूक्ष्मता से देखता है, उनके तत्त्व को जानता हुआ उनका ठीक ही प्रयोग करता है। (२) **मुनिः**=यह मौन के साथ मनन करनेवाला होता है। इस चिन्तन का ही परिणाम है कि यह **देवस्य-देवस्य**=प्रत्येक इन्द्रिय के **सौकृत्याय**=उत्तम कृत्य के लिए होता है। इसकी सब इन्द्रियाँ शुभ ही कर्मों को करनेवाली होती हैं। यह सबका **सखा**=मित्र होता है और **हितः**=सबके हित की कामना व करणीवाला होता है। यह कभी दूसरों के अहित के दृष्टिकोण से कार्यों को नहीं करता।

भावार्थ—प्राणसाधक सदा मध्यमार्ग से चलता है। विचारशील होता है, सदा सबका हित करने की वृत्तिवाला होता है।

ऋषिः—**मुनयो वातरशनाः । करिक्रतः** ॥ देवता—**केशिनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वायु-भक्षण

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः । उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥ ५ ॥

(१) यह साधक **वातस्य**=वायु का, प्राणों का **अश्वः**=(अश भोजने) खानेवाला होता है। 'अभक्षः, वायुभक्षः' इस वाक्य में पतञ्जलि ने 'वातस्याश्वः' का भाव व्यक्त कर ही दिया है। 'प्रातःकाल हवा खाने-जाना' यह वाक्य बोलचाल में प्रयुक्त होता ही है। प्राणायाम का अभ्यास

ही 'वातस्य अश्वः' बनना है। इस अभ्यास से यह **वायोः सखा**=उस गति के द्वारा सब बुराइयों के गन्ध (हिंसन) को करनेवाले प्रभु का मित्र होता है। प्राणसाधना इसके हृदय को निर्मल करती है, उस निर्मल हृदय में यह प्रभु का दर्शन करता है। (२) **अध**=अब, इस प्रभु-दर्शन के होने पर यह **देवेषितः**=उस देव से प्रेरित होता है, प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। **मुनिः**=विचारशील बनता है। इस प्रभु की प्रेरणा को सुनकर और विचारशील बनकर यह **उभौ समुद्रौ**=दोनों समुद्रों में **आक्षेति**=निवास करता है **यः च पूर्वः**=जो पहला समुद्र है **उत**=और **अपरः**=जो पिछला समुद्र है। 'स सद्य एति पूर्वस्यादुत्तरं समुद्रम्' इस मन्त्र भाग के अनुसार यहां दो समुद्रों का अभिप्राय 'ब्रह्मचर्य और गृहस्थ' से है। ब्रह्मचर्याश्रम के बाद यह गृहस्थ में प्रवेश करता है। गृहस्थ में भी संयम से चलता हुआ यह ब्रह्मचारी ही होता है। इस प्रकार यह गृहस्थ को ब्रह्मचर्य से मिला देता है। यहाँ दोनों समुद्रों का भाव 'ज्ञान-विज्ञान' भी लिया जा सकता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम प्रभु के मित्र बनें। प्रभु प्रेरणा को सुनते हुए जीवन को ठीक प्रकार से बिताएँ।

ऋषिः—**मुनयो वातरशनाः। एतशः** ॥ देवता—**केशिनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

चरणे चरन्

अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्। केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तमः ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र का साधक **अप्सरसाम्**=(अप्=कर्म) कर्मों में विचरनेवाले यज्ञशील पुरुषों के, **गन्धर्वाणाम्**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुषों के तथा **मृगाणाम्**=(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाले उपासकों के **चरणे चरन्**=मार्ग पर चलता हुआ **केशी**=यह प्रकाशमय जीवनवाला पुरुष **केतस्य विद्वान्**=प्रभु के संकेत को समझता है। इस संकेत के अनुसार ही यह अपने जीवन को बनाता है। इस प्रकार जीवन को बनाता हुआ यह सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहता है, ज्ञान की वाणियों को धारण करता है और सदा उपासना में स्थित होकर आत्मालोचन करता है। (२) इस आत्मालोचन से अपने दोषों को देखकर यह उन्हें दूर करता है और अपने पवित्र हृदय में प्रभु का साक्षात्कार करता हुआ **सखा**=प्रभु का मित्र बनता है। यह प्रभु मित्रता प्राणिमात्र के प्रति स्नेह के रूप में प्रकट होती है। **स्वादुः**=यह मधुर ही मधुर बनता हैं, किसी से कड़वा व्यवहार नहीं करता। **मदिन्तमः**=अत्यन्त आनन्दमय जीवनवाला होता है। कटुता में आनन्द नहीं, मधुरता में ही आनन्द का निवास है।

भावार्थ—हम अपने जीवनमार्ग को यज्ञशील ज्ञानी उपासकों के जीवन से सीखकर निर्धारित करें। प्रभु के संकेतों को समझते हुए सब के मित्र हों। मधुर व आनन्दमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**मुनयो वातरशनाः। ऋष्यशृङ्गः** ॥ देवता—**केशिनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

रुद्र के साथ विषपान

वायुरस्मा उपामन्थत्पिनष्टि स्मा कुनन्नमा। केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिबत्सह ॥ ७ ॥

(१) **अस्मै**=इस ठीक मार्ग पर चलनेवाले पुरुष के लिए **वायुः**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला प्रभु **उपामन्थत्**=समीपता से ज्ञान का मन्थन करनेवाला होता है। अर्थात् हृदयस्थ प्रभु इसे ज्ञान के देनेवाले होते हैं। **कुनन्नमा**=(कुत्सितं भृशं नमयति) सब बुराइयों को बुरी तरह से पीस डालनेवाली यह वेदवाणी **पिनष्टि स्मा**=इसकी सब बुराइयों को पीस डालती है। (२) **यद्**=जब **केशी**=प्रभु से प्राप्त ज्ञान के प्रकाशवाला व्यक्ति **रुद्रेण सह**=रुद्र के साथ,

उस प्रभु के साथ **पात्रेण**=शरीर-रक्षण के हेतु से **विषस्य**=जल का, शरीरस्थ रेतःकणों का **अपिबत्**=पान करता है। रुद्र के साथ पान करने का अभिप्राय यह है कि प्रभु-स्मरण से वासना विनष्ट होती है और वासना विनाश इस विष के पान का साधन बन जाता है। यह विष शरीर में व्यापन के योग्य है, इसकी व्याप्ति के होने पर शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं आ पाता।

भावार्थ—प्रभु उपासक को वेदज्ञान देते हैं। वेद इसकी वासनाओं को पीस डालता है। वासना विनाश के होने पर प्रभु-स्मरण करता हुआ व्यक्ति शरीर में रेतःकणों का रक्षण कर पाता है।

सम्पूर्ण सूक्त शरीर में रेतःकणों के पान के द्वारा जीवन को पवित्र करते हुए प्रभु प्राप्ति का उल्लेख कर रहा है। अगला सूक्त भी सप्त ऋषियों का है। गत सूक्त में एक-एक मन्त्र का एक-एक ऋषि था। प्रस्तुत सूक्त में सब मन्त्रों के सब ऋषि है। सो 'सप्त ऋषयः एकर्चाः' लिखा गया है। ये सप्त ऋषि हैं, 'भरद्वाज'=शक्ति को अपने में भरना। 'कश्यप'=ज्ञानी बनना, 'गोतम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होना। 'अत्रि'=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठना। 'विश्वामित्र'=सब के साथ स्नेह से चलना। 'जमदग्नि' जाठराग्नि का ठीक होना। 'वसिष्ठः'=अपने निवास को उत्तम बनाना। ये सब बातें स्वास्थ्य के साथ कार्यकारणरूप से सम्बद्ध हैं। एक वाक्य में कहा जाये तो यही कहेंगे कि 'पूर्ण स्वस्थ बनना'। इसी का उल्लेख इस रूप में प्रारम्भ करते हैं—

[१३७] सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सप्त ऋषय एकर्चाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पुनर्जीवन

उत दे॑वा॒ अव॑हितं॒ देवा॒ उन्न॑यथा॒ पुनः॑। उ॒तागः॑श्च॒क्रुषं॑ देवा॒ देवा॑ जी॒वय॑था॒ पुनः॑ ॥ १ ॥

(१) शरीर में सब देवताओं का वास है। सूर्य इसमें चक्षुरूप से तो वायु प्राणों के रूप से तथा अग्नि वाणी के रूप से रह रही है। इसी प्रकार अन्य देव भी भिन्न-भिन्न रूपों में यहाँ रहते हैं। इन बाह्य देवों का अन्तर्देवों से मेल बना रहे तो मनुष्य स्वस्थ होता है, अन्यथा अस्वस्थ। चन्द्रमा मन रूप से रहता है। इनकी अनुकूलता के न रहने पर मन विकृत हो जाता है और उसमें अशुभ वृत्तियाँ पनपने लगती हैं। सो देवों से कहते हैं कि हे **देवाः**=देवो! **उत अवहितम्**=जो रुग्ण होकर नीचे खाट पर पड़ गया है उसे भी **पुनः उन्नयथा**=फिर से उठा दो। (२) और **देवाः**=हे देवो! आप **आगः चक्रुषम् उत**=अपराध को कर चुके हुए इस व्यक्ति को भी **उन्नयथा**=उठाओ। इसकी इन अशुभ वृत्तियों को दूर कर दो, (२) हे **देवाः देवाः**=सब देवो! आप इसे **पुनः**=फिर से **जीवयथा**=जिला दो। व्याधियों ने इसे शारीरिक दृष्टि से तथा आधियों ने मानस दृष्टि से गिरा रखा था, आप कृपा करके इसे आधि-व्याधि से ऊपर उठाकर फिर से नया जीवन प्रदान करनेवाले होवो।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देवों की अनुकूलता से हमें पुनर्जीवन प्राप्त हो।

ऋषिः—**सप्त ऋषय एकर्चाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

बल प्राप्ति व दोष-क्षय

द्वावि॒मौ वातौ॑ वात॒ आ सिन्धो॒रा प॑रा॒वतः॑। दक्षं॑ ते अ॒न्य आ वा॑तु॒ परा॒न्यो वा॑तु॒ यद्रपः॑ ॥ २ ॥

(१) शरीर में **इमौ**=ये **द्वौ वातौ**=दो वायुवें, प्राण और अपान **वातः**=चलती हैं, गति करती हैं। एक बाहर से अन्दर की ओर **आसिन्धोः**=हृदय सिन्धु तक, फेफड़ों तक जाती है। प्राणायाम

में इसके द्वारा हम फेफड़ों को खूब भरने का प्रयत्न करते हैं। और दूसरी अन्दर से बाहर फेंकने जानेवाली **आ परावतः**=खूब दूर देश तक जाती है। जितनी दूर से दूर तक यह फेंकी जा सके, उतना ही अच्छा है। (२) इनमें बाहर से अन्दर आनेवाली **अन्यः**=एक वायु **ते**=तेरे लिए **दक्षम्**=शक्ति व बल को **आवातु**=सब प्रकार से प्राप्त कराये। वायुमण्डल की अम्लजन अन्दर आती है और स्वास्थ्य व बल को देनेवाली बनती है। **अन्यः**=दूसरी अन्दर से बाहिर फेंके जानेवाली, **यद्**=जो भी **रपः**=शरीर में दोष हो उसे **परावातु**=दूर कर दे। अन्दर से बाहर आनेवाली या Co^2 कार्बन द्वि ओषजिद् वायु शरीर के दोषों को बाहर कर रही होती है। 'अम्लजन' अन्दर जाती है और 'कार्बन द्वि ओषजिद्' बाहर आती है, इस प्रकार यह प्राणायाम (क) बल देता है और (ख) शरीर के दोषों को दूर करता है।

भावार्थ—हमें प्राणायाम द्वारा यह अन्दर व बाहर जानेवाली वायु बल दे और तथा दोषों को शरीर से दूर करे।

ऋषिः—**सप्त ऋषय एकर्चाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

भेषज प्रापक 'वात'

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः। त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥ ३॥

(१) **वात**=प्राणायाम के द्वारा अन्दर प्राप्त कराये जानेवाली वायु! तू **भेषजं आवाहि**=रोगों के औषध को हमें प्राप्त करा। और हे **वात**=बाहर फेंके जानेवाली वायु! तू **यद्रपः**=जो भी दोष है, उसे **वि वाहि**=बाहर ले-जा। (२) हे वायो! **त्वम्**=तू **हि**=ही **भेषजः**=सब रोगों की औषध है। वस्तुतः **देवानां दूतः**=सब देवों का दूत बनकर हे वायो! तू **ईयसे**=गति करती है। वायु सब देवों की अधिष्ठान को ठीक बना देती है और अधिष्ठानों के ठीक होने से देवों का वहाँ उपस्थान होता है। इस प्रकार यह वायु देवों का दूत बनती है। वह आती है, सब स्थानों को ठीक कर देती है और सब देव ठीक से अपने-अपने स्थान पर आकर सुशोभित होते हैं। यही पूर्ण स्वास्थ्य है।

भावार्थ—वायु प्राणायाम के द्वारा शरीर में कार्य करती हुई उसे निर्दोष बनाती है।

ऋषिः—**सप्त ऋषय एकर्चाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वैद्य का प्राक्कथन

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः। दक्षं ते भद्रमाभार्षं परा यक्ष्मं सुवामि ते॥ ४॥

(१) वैद्य रोगी के पास आता है और कहता है कि **त्वा आगमम्**=मैं तेरे समीप आया हूँ। **शन्तातिभिः**=इन रोग की शान्तिकारक औषधों के साथ **अव्य उ**=और निश्चय से **अरिष्टतातिभिः**=अहिंसा का विस्तार करनेवाली औषधों के साथ। (२) बस, मैं आ गया हूँ और **ते**=तेरे लिए **भद्रम्**=कल्याण व सुख के देनेवाले **दक्षम्**=बल को **आभार्षम्**=प्राप्त कराता हूँ और **ते**=तेरे **यक्ष्मम्**=रोग को **परासुवामि**=दूर करता हूँ। इस प्रकार वैद्य रोगी को उत्साह की प्रेरणा देकर उत्साहित करता है। उसे स्वस्थ मन का बनाकर नीरोग बनाने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—वैद्य रोगी को इस प्रकार प्रेरणा देता है कि वह उस प्रेरणा से ही उत्साह सम्पन्न होकर रोगभय से ऊपर उठ जाता है।

ऋषिः—**सप्त ऋषय एकर्चाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वैद्य की प्रार्थना

त्राय॑न्तामि॒ह दे॒वास्त्राय॑तां म॒रुतां॑ ग॒णः। त्राय॑न्तां॒ विश्वा॑ भू॒तानि॒ यथा॒यम॑र॒पा अस॑त्॥ ५॥

(१) वैद्य रोगी के लिए यही प्रार्थना करता है कि **इह**=इस स्थिति में **देवाः**=सब अग्नि आदि देव **त्रायन्ताम्**=इसका रक्षण करें। उनकी अनुकूलता से यह स्वास्थ्य लाभ करे। **मरुतां गणः**=प्राणों का गण इसे **त्रायताम्**=रक्षित करे। अर्थात् गहरा श्वास लेता हुआ यह अपने में शक्ति को भरे और अन्दर की वायु को सुदूर फेंकता हुआ यह दोषों को दूर करे। (२) **विश्वा भूतानि**=पृथिवी आदि सब भूत **त्रायन्ताम्**=इसका रक्षण करें। सब पञ्चभूत इसके अनुकूल हों और यह स्वास्थ्य का लाभ करे। **यथा**=जिससे **अयम्**=यह **अरपाः**=दोषरहित शरीरवाला **असत्**=हो।

भावार्थ—सूर्यादि सब देवों व प्राणों तथा पञ्चभूतों की अनुकूलता से शरीर निर्दोष हो।

ऋषिः—**सप्त ऋषय एकर्चाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सर्वदोष हर 'आपः' (जल)

आप॒ इद्वा उ॑ भेष॒जीरापो॑ अमीव॒चात॑नीः। आपः॒ सर्व॑स्य भेष॒जीस्तास्ते॑ कृण्वन्तु भेष॒जम्॥ ६॥

(१) **आपः**=जल **इद वा उ**=निश्चय से **भेषजीः**=औषध हैं। ये **आपः**=जल **अमीवचातनीः**=रोगों का विनाश करनेवाले हैं। **आपः**=जल **सर्वस्य भेषजीः**=सब रोगों के औषध हैं। **ता**=वे जल **ते**=तेरे लिए **भेषजं कृण्वन्तु**=औषध को करें। (२) जल को उबालने से सोलह ग्राम जल का पन्द्रह ग्राम रह जाए तो इस उबले हुए जल में शक्ति द्विगुणित हो जाती है। चौदह ग्राम रह जाने पर यह शक्ति चौगुणी हो जाती है और तेरह ग्राम रह गया जल नवगुण शक्तिवाला हो जाता है। वस्तुतः वह जल (जल घातने) सब रोगों का घात करनेवाला है।

भावार्थ—जल के अन्दर सब औषध हैं। ये जल मनुष्य को नीरोग बनाते हैं।

सूचना—(क) प्रातःकाल का जलपान, (ख) भोजन में बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा पानी पीना, (ग) पीने के लिए गरम (विशेषतः सर्दी में) स्नान के लिए ठण्डा पानी लेना (सादा), (घ) जब भी पीना धीमे-धीमे पीना। ये बातें बड़ी उपयोगी सिद्ध होंगी।

ऋषिः—**सप्त ऋषय एकर्चाः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वैद्य का अन्तिम कथन (हस्तस्पर्श व प्रेरणा)

हस्ता॑भ्यां॒ दश॑शाखाभ्यां जि॒ह्वा वा॒चः पु॑रोग॒वी।
अ॒ना॒म॒यि॒त्नुभ्यां॑ त्वा॒ ताभ्यां॒ त्वोप॑ स्पृशामसि॥ ७॥

(१) वैद्य रोगी से अन्त में कहता है कि यह **जिह्वा**=वाणी **वाचः**=उत्साह के शब्दों के द्वारा **पुरोगवी**=आगे ले चलनेवाली होती है। अर्थात् मेरे शब्द तेरे में उत्साह का संचार करें। तुझे इन शब्दों से शीघ्र नीरोग हो जाने का पूर्ण विश्वास हो। (२) और इन **दशशाखाभ्याम्**=दस अंगुली रूप शाखाओंवाले **हस्ताभ्याम्**=हाथों जो कि **अनामयित्नुभ्याम्**=नीरोग करनेवाले हैं, **ताभ्याम्**=उन हाथों से **त्वा**=तुझे **त्वा**=निश्चय से तुझे **उपस्पृशामसि**=हम समीपता से छूते हैं और तेरे इस रोग को दूर करते हैं। इस प्रकार वैद्य उत्साह की वाणी व विशिष्ट स्पर्श से रोगी के रोग को दूर करने का वातावरण उपस्थित करता है।

भावार्थ—वैद्य रोगी में उत्साह का संचार करता हुआ अपने हस्त-स्पर्श से उसके रोग के दूर भगाने का निश्चय करता है।

वायु आदि देवों की अनुकूलता, जल का ठीक प्रयोग, प्राणायाम व योग्य वैद्य की प्रेरणा ये सब बातें हमें नीरोग बनाती हैं और पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करती हैं। स्वस्थ बनकर हम क्रियाशील होते हैं। अस्वस्थ होने पर पड़े रहने की तबीयत होती है। यह स्वस्थ पुरुष 'अंग:' (अगि गतौ) गतिशील होता है और 'औरव:' (उरो: अपत्यम्:=खूब विशाल हृदयवाला होता है। स्वास्थ्य के साथ उदारता का सम्बन्ध है, अस्वास्थ्य के साथ संकुचित हृदयता का। इन 'अङ्ग औरवों' का चित्रण करते हुए कहते हैं कि—

[१३८] अष्टात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—**अङ्ग औरव:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वर:—**निषाद:** ॥

प्रभु की मित्रता में

तव त्य इन्द्र सख्येषु वह्नय ऋतं मन्वाना व्यदर्दिरुर्वलम्।
यत्रा दशस्यन्नुषसो रिणन्नपः कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्ये**=वे स्वस्थ पुरुष **तव सख्येषु**=तेरी मित्रताओं में **वह्नय:**=कर्त्तव्य कर्मों का वहन करनेवाले होते हैं। आपका स्मरण करते हैं और अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते हैं। (२) ये व्यक्ति **ऋतं मन्वाना:**=ऋत (=सत्यज्ञान) का मनन करते हुए **वलम्**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली (veil) वासना को, वृत्र को **व्यदर्दिरु:**=विशेषरूप से विदीर्ण कर देते हैं। (२) यह होता तब है **यत्रा**=जब कि (क) आप **उषस:**=दोष दहन की शक्तियों को **दशस्यन्**=देते हैं। (ख) **अप: रिणन्**=कर्मों के प्रेरित करते हैं, हमें कर्मशील बनाते हैं। (ग) **च**=और **कुत्साय**=इस दोषहिंसन करनेवाले के लिए **मन्मन्**=ज्ञान व स्तुति के होने पर **अह्य:**=(आहन्ति) इस नाश करनेवाली वासना को **दंसय:**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें दोषदहनशक्ति प्राप्त होती है, हम कर्मशील बनते हैं और वासना को नष्ट कर पाते हैं। परिणामत: प्रभु मित्रता में हम कर्त्तव्यपथ पर निरन्तर आगे बढ़ते चलते हैं।

ऋषि:—**अङ्ग औरव:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**निचृज्जगती** ॥ स्वर:—**निषाद:** ॥

सूर्य की तरह चमकना

अवासृजः प्रस्वः श्वञ्चयो गिरीनुदाज उस्रा अपिबो मधु प्रियम्।
अवर्धयो वनिनो अस्य दंससा शुशोच सूर्य ऋतजातया गिरा॥ २॥

(१) हे प्रभो! आप **प्रस्व:**=उत्पादन शक्तियों को **अवासृज:**=इनके लिए देते हो अथवा उत्पादन शक्तियों के आधारभूत जलों को, रेत:कणों को इन्हें प्राप्त कराते हो। **गिरीन्**=इनके अविद्या पर्वतों का **श्वञ्चय:**=विदारण करते हो इनके अज्ञान को आप नष्ट करते हो। **उस्रा:**=ज्ञान रश्मियों को **उदाज:**=उद्गत करते हो। और **प्रियम्**=शरीर को प्रीणित करनेवाले **मधु**=सारभूत इस सोम (=वीर्य) को **अपिब:**=आप पीते हो। शरीर में ही इसे सुरक्षित करते हो। और इस प्रकार **वनिन:**=इन उपासकों को **अवर्धय:**=बढ़ाते हो। उन्नति के लिए आवश्यक बातें ये ही तो हैं कि (क) उत्पादन शक्ति की प्राप्ति हो, हम निर्माण की शक्ति रखते हों। (ख) अविद्या छिन्न-भिन्न हो, (ग) ज्ञानरश्मियों की प्राप्ति हो, (घ) शरीर में वीर्य का रक्षण हो। (२) **अस्य दंससा**=प्रभु के इस कर्म से **सूर्य:**=ज्ञान से सूर्य की तरह चमकनेवाला यह पुरुष **ऋतजातया**=सब सत्य विद्याओं के प्रादुर्भाववाली **गिरा**=वाणी से **शुशोच**=दीप्त होता है। प्रभु की इस वाणी को प्राप्त करके यह चमक उठता है।

भावार्थ—प्रभु निर्माण की शक्ति देते हैं, अविद्या को दूर करते हैं, ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराते हैं, रेत:कणों का रक्षण करते हैं और इस प्रकार हमारे जीवन को सूर्य की तरह चमका देते हैं।

ऋषि:—**अङ्ग औरवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

द्युलोक के मध्य में 'सूर्य रथ विमोचन'

वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः।
दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना ॥ ३ ॥

(१) **सूर्यः**=ज्ञान से सूर्य की तरह चमकनेवाला यह पुरुष **दिवः मध्ये**=प्रकाश के मध्य में **रथम्**=अपने इस शरीर-रथ को **वि अमुचत्**=खोल देता है। अर्थात् ज्ञान में स्थिर हो जाता है। स्वाध्याय के लिए बैठता है तो सब इन्द्रियों की गतियों को इधर-उधर से रोककर पूर्ण एकाग्रता के साथ वहाँ स्थिर होकर अध्ययन में प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार स्वाध्याय में प्रवृत्त **आर्यः**=यह श्रेष्ठ व्यक्ति **दासाय**=अपने नाश करनेवाले वासनारूप शत्रु 'वृत्र' के लिए **प्रतिमानं विदत्**=मुकाबिला करनेवाले योद्धा को प्राप्त करता है ज्ञान की प्रचण्ड रश्मियाँ वृत्र का दहन कर देती हैं। (२) यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पिप्रोः**=अपना ही निरन्तर पूरण करनेवाले, कभी न रजनेवाले (महाशनः) **असुरस्य**=अपने ही मुख में निरन्तर आहुति देनेवाले **मायिनः**=अत्यन्त मायावी, आकर्षक रूपवाले वासनारूप शत्रु के **दृढानि**=दृढ़भी किलों को **व्यास्यत्**=(असु क्षेपणे) सुदूर फेंक देता है, विनष्ट कर देता है। इन आसुरभावों को समाप्त करके यह **ऋजिश्वना चकृवान्**=(ऋजुश्वि) ऋजु मार्ग से गतिवाले के साथ ही अपनी मैत्री करता है, अर्थात् यह स्वयं भी अत्यन्त सरल मार्ग से सदा चलनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम निरन्तर स्वाध्याय से ज्ञान को बढ़ाकर वासना को विनष्ट करें। सदा सरल मार्ग से चलें।

ऋषि:—**अङ्ग औरवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

अदेव निधि-निधन (हिंसन)

अनाधृष्टानि धृषितो व्यास्यन्निधीँरदेवाँ अमृणदयास्यः।
मासेव सूर्यो वसु पुर्यमा ददे गृणानः शत्रूँरशृणाद्विरुक्मता ॥ ४ ॥

(१) **धृषितः**=गत मन्त्र का ज्ञानाग्नि द्वारा शत्रु धर्षण शक्ति से युक्त पुरुष **अनाधृष्टानि**=जिनका धर्षण करना बड़ा कठिन है, उन काम-क्रोधादि शत्रुओं को **व्यास्यत्**=इस ज्ञानाग्नि के द्वारा परे फेंकता है ज्ञान से मनुष्य को वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि वह काम-क्रोध आदि का शिकार नहीं होता। (२) यह **अयास्यः**=(चालयितुमशक्यः सा०) मार्ग से विचलित न किया जा सकनेवाला यह व्यक्ति **अदेवान् निधीन्**=आसुरी सम्पत्तियों को **अमृणत्**=हिंसित करता है। सब आसुरभावों को विनष्ट करके दिव्यगुणों का धारण करता है और अपने जीवन में दैवी सम्पत्ति को बढ़ानेवाला होता है। (३) यह अपने जीवन में दैवी सम्पत्ति का वर्धन करनेवाला व्यक्ति **पुर्यं वसु**=शरीररूप नगरी के लिए हितकर सब वसुओं का (धनों का) **आददे**=ग्रहण करता है, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **सूर्यः**=सूर्य **मासा**=महीनों का (मासं=a month)। एक-एक दिन करके सूर्य महीनों को मापता चलता है, इसी प्रकार वह उपासक वसुओं को प्राप्त करता है। (४) इस उपासक से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए प्रभु ही **विरुक्मता**=देदीप्यमान ज्ञान से **शत्रून्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को **अशृणात्**=शीर्ण करते हैं। मैं प्रभु का उपासन करता हूँ, प्रभु मेरे शत्रुओं को नष्ट करते

हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासन से ज्ञान का वर्धन करके कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अङ्ग औरवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शुन्ध्यु व उषा बनना

अयुद्धसेनो विभ्वा विभिन्दता दाशद् वृत्रहा तुज्यानि तेजते।
इन्द्रस्य वज्रादबिभेदभिश्नथः प्राक्रामच्छुन्ध्यूरजहादुषा अनः ॥ ५ ॥

(१) **अयुद्धसेनः**=जिसकी सेना युद्ध नहीं करती, अर्थात् जो स्वयं अकेला ही शत्रुओं पर आक्रमण करता है वह इन्द्र अपने **विश्वा**=व्यापक **विभिन्दता**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले बल से **वृत्रहा**=वृत्र का विनाश करनेवाला होता हुआ **दाशत्**=हमें उन्नति के लिये सब आवश्यक साधनों को प्राप्त कराता है। यह इन्द्र **तुज्यानि**=हिंसित करने योग्य शत्रुओं को **तेजते**=हिंसित करता है। (२) वस्तुतः **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **अभिश्नथः**=चारों ओर वासनाओं को हिंसित करनेवाले **वज्रात्**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **अबिभेत्**=सब शत्रु भयभीत होते हैं। इस प्रकार क्रियाशीलतारूप वज्र से वासनाओं का संहार करके **शुन्ध्युः**=जीवन को शुद्ध बनानेवाला वह व्यक्ति यह **प्राक्रामत्**=प्रकृष्ट गतिवाला होता है, उन्नति के मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है। यह **उषाः**=(उष दाहे) दोषों का दहन करनेवाला बनकर **अनः**=(birth) जन्म को **अजहात्**=छोड़ता है, अर्थात् यह जन्म-मरण-चक्र से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—वासनाओं का संहार करके हम शुद्ध जीवनवाले बनकर आगे बढ़ें। दोषों का दहन करके जन्म-मरण-चक्र से ऊपर उठें।

ऋषिः—**अङ्ग औरवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु के तीन महत्त्वपूर्ण कार्य

एता त्या ते श्रुत्यानि केवला यदेक एकमकृणोरयज्ञम्।
मासां विधानमदधा अधि द्यवि त्वया विभिन्नं भरति प्रधिं पिता ॥ ६ ॥

(१) हे प्रभो! **एता**=ये **त्या**=वे **ते**=आपके **श्रुत्यानि**=अत्यन्त प्रसिद्ध कर्म हैं। **केवला**=ये कर्म आपके ही हैं, दूसरे की शक्ति से होनेवाले ये कर्म नहीं। प्रथम तो यह **यत्**=कि **एकः**=अकेले ही आप **एकम्**=इस अद्वितीय शक्तिशाली **अयज्ञम्**=यज्ञ की भावना से शून्य आसुरभाव को (=वासना को) **अकृणोः**=हिंसित करते हैं। प्रभु कृपा से ही कामवासना नष्ट होती है, वह कामवासना जो कि अत्यन्त प्रबल है तथा यज्ञादि सब उत्तम कर्मों को नष्ट करनेवाली है (महाशनः महापाप्मा)। (२) आप **अधिद्यवि**=हमारे मस्तिष्क रूप द्युलोक में उस ज्ञान सूर्य को **अदधाः**=स्थापित करते हैं जो कि **मासाम्**=ameesheenents का, माप-तोल का **विधानम्**=करनेवाला है। अर्थात् आप उस ज्ञान को देते हैं जिससे कि हम सब कार्यों को माप-तोलकर करनेवाले होते हैं। (३) **त्वया**=आपकी सहायता से **विभिन्नम्**=टूटी हुई **प्रधिम्**=परिधि व मर्यादा को **पिता**=रक्षण की वृत्तिवाला पुरुष **भरति**=फिर से ठीक कर लेता है। प्रभु का उपासक टूटी हुई मर्यादाओं का पुनः दृढ़ता से पालन करने का ध्यान करता है।

भावार्थ—प्रभु के तीन महत्त्वपूर्ण कार्य हैं—(क) प्रबल वासना को दग्ध करना, (ख) ज्ञान को देना जिससे कि हम युक्तचेष्ट बनें, (ग) टूटी हुई मर्यादाओं को फिर से ठीक पालन करने

की शक्ति देना।

इस प्रकार 'वासनाओं को दग्ध करनेवाला, युक्तचेष्ट, मर्यादित जीवनवाला पुरुष' 'विश्वावसु' बनते हैं, सब तरह से उत्कृष्ट जीवनवाला। यह 'देवगन्धर्व' होता है, दिव्यवृत्तिवाला ज्ञानी। इसका चित्रण करते हुए कहते हैं कि—

[१३९] एकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**विश्वावसुर्देवगन्धर्वः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः॥ १ ॥

(१) **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाला, **हरिकेशः**=दुःख के हरण करनेवाली ज्ञानरश्मियोंवाला (हरणात्, केश=ray of light) **सविता**=निर्माण के कार्यों में लगा हुआ, **ज्योतिः**=प्रकाशमय जीवनवाला **अजस्रम्**=निरन्तर **पुरस्तात्**=आगे और आगे **उत् अयात्**=उत्कृष्ट गतिवाला होता है। (२) यह **पूषा**=अपनी शक्तियों का पोषण करनेवाला **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **तस्य प्रसवे**=उस परमात्मा की अनुज्ञा में **याति**=गति करता है। प्रभु के आदेशों के अनुसार क्रियावाला होता है। यह **विश्वा भुवनानि संपश्यन्**=सब प्राणियों को देखता हुआ गति करता है, अर्थात् सबके भले का ध्यान करता हुआ चलता है, केवल अपने ही स्वार्थ को नहीं देखता। **गोपाः**=यह अपनी इन्द्रियों का रक्षण करनेवाला होता है। जितेन्द्रिय बनकर ही तो यह ठीक मार्ग पर चल पाता है।

भावार्थ—हम ज्ञान की वृद्धि करते हुए, शक्तियों को स्थिर रखते हुए, लोकहित का ध्यान करते हुए, प्रभु के आदेशों के अनुसार क्रिया में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**विश्वावसुर्देवगन्धर्वः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपरा और पराविद्या

नृचक्षा एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान्रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाला यह उपासक **दिवः मध्ये**=ज्ञान के मध्य में **आस्ते**=निवास करता है, अर्थात् सतत स्वाध्याय में लगा हुआ यह ज्ञान प्रधान जीवन बिताता है। यह **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को तथा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **आपप्रिवान्**=पूरित करनेवाला होता है। यह मस्तिष्क को ज्ञान से, शरीर को शक्ति से तथा हृदय को श्रद्धा व भक्ति से भरने का प्रयत्न करता है। (२) **सः**=वह **विश्वाचीः**=(अञ्च्=गति=ज्ञान) विश्व का ज्ञान देनेवाली प्रकृति विद्या को तथा **घृताचीः**=(घृत=ज्ञानदीप्त आत्मा) ज्ञानपुञ्ज देदीप्यमान प्रभु का ज्ञान देनेवाली आत्मविद्या को **अभिचष्टे**=सम्यक्तया देखता है। इस प्रकार यह **पूर्वं केतुम्**=उत्कृष्ट आत्मज्ञान के तथा **अपरं च केतुम्**=अपर प्रकृति ज्ञान के **अन्तरा**=बीच में रहता है। अपराविद्या तथा पराविद्या दोनों का ज्ञान प्राप्त करता है।

भावार्थ—लोकहित की प्रवृत्तिवाला व्यक्ति अपराविद्या के ज्ञान से सांसारिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है और पराविद्या के द्वारा यह उस ऐश्वर्य में न फँसकर उसका लोकहित के लिए ही विनियोग करता है।

ऋषिः—**विश्वावसुर्देवगन्धर्वः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धन हमारे हों, नकि हम धनों के

रायो बुध्नः संगमनो वसूनां विश्वा रूपाभि चष्टे शचीभिः ।
देवइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र का 'नृचक्षाः' **रायः बुध्नः**=ऐश्वर्य का आधार बनता है। इसे प्रभु की ओर से सब आवश्यक ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। **वसूनां संगमनः**=यह सब वसुओं के एकत्रित होने का स्थान बनता है। इसे सब वसु प्राप्त होते हैं। यह **शचीभिः**=अपने प्रज्ञानों से **विश्वारूपा**=सब रूपों का, रूपवान् पदार्थों का **अभिचष्टे**=निरीक्षण करता है। उन चीजों के तत्त्व को समझकर उन पदार्थों का ठीक प्रयोग करता है। इस उचित प्रयोग से यह स्वस्थ रहता है और उन चीजों के अन्दर कभी उलझना नहीं। 'तत्त्वज्ञान' ठीक प्रयोग तथा अनासक्ति के भाव को जगाता है। (२) यह व्यक्ति **देव इव**=उस प्रकाशमय प्रभु की तरह ही **सविता**=निर्माण को करनेवाला होता है। **सत्यधर्मा**=यह सत्य को धारण करता है और **इन्द्रः न**=जितेन्द्रिय के समान **धनानां समरे तस्थौ**=धनों के युद्ध में स्थित होता है। istruggle के द्वारा धनों का विजय करता है, परन्तु उन धनों में कभी भी फँसता नहीं। धनों का ही नहीं हो जाता, धनों का गुलाम नहीं बनता।

भावार्थ—तत्त्वदर्शन से हम संसार के पदार्थों में फँसने से बचे रहते हैं। देव की तरह निर्माण करनेवाले व सत्य का धारण करनेवाले होते हैं और इन्द्र की तरह धनों का विजय करते हैं। धन हमारे होते हैं, हम धनों के नहीं हो जाते।

ऋषिः—**विश्वावसुर्देवगन्धर्वः** ॥ देवता—**विश्वावसुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋत के मार्ग से चलना

विश्वावसुं सोम गन्धर्वमापो ददृशुषीस्तदृतेना व्यायन् ।
तदन्ववैदिन्द्रो रारहाण आसां परि सूर्यस्य परिधीँरपश्यत् ॥ ४ ॥

(१) **आपः**=प्रजाएँ जब **विश्वावसुम्**=सब वसुओंवाले, सब वसुओं के स्वामी **सोम गन्धर्वम्**=सोम (वीर्य) शक्ति तथा (गां धारयति) वेदवाणी के धारण करनेवाले प्रभु को **ददृशुषीः**=देखनेवाली होती हैं **तद्**=तब **ऋतेन**=ऋत से, सत्य से **व्यायन्**=विविध गतियोंवाली होती है। प्रभु-दर्शन करनेवाली प्रजाएँ अनृत से गति कर ही कैसे सकती हैं? ये प्रजाएँ प्रभु को सब वसुओं (धनों) के स्वामी के रूप में देखती हैं। और ये समझती हैं कि प्रभु ही हमारे में सोम शक्ति व वेदज्ञान को स्थापित करते हैं। एवं प्रभु ही हमें वीर्यवान् (शक्तिशाली) व ज्ञानी बनाते हैं। (२) **आसाम्**=इन प्रजाओं में **तद्**=उस प्रभु को **रारहाणः**=खूब ही त्याग करता हुआ **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अनु अवैत्**=त्याग व जितेन्द्रियता के अनुपात में जान पाता है। प्रभु के ज्ञान के लिये संसार की वस्तुओं का त्याग आवश्यक है, त्याग के लिए जितेन्द्रियता की आवश्यकता है। यह त्यागी जितेन्द्रिय पुरुष **सूर्यस्य परिधीन्**=ज्ञानसूर्य की परिधियों को **पर्यपश्यत्**=देखता है, अर्थात् इसका ज्ञान चरमसीमा तक पहुँच जाता है, अधिक से अधिक ज्ञानवाला यह होता है।

भावार्थ—प्रभु को सब धनों के स्वामी तथा शक्ति व ज्ञान के स्थापक के रूप में देखता हुआ ज्ञानी ऋत के मार्ग से ही चलता है। प्रभु ज्ञान के लिए त्याग व जितेन्द्रियता आवश्यक हैं। यह त्यागी जितेन्द्रिय पुरुष ऊँचा ज्ञानी बनता है।

ऋषिः—**विश्वावसुर्देवगन्धर्वः** ॥ देवता—**विश्वावसुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्य परन्तु अज्ञेय

विश्वावसुरभि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः ।
यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म धियो हिन्वानो धिय इन्नो अव्याः ॥ ५ ॥

(१) **विश्वावसुः**=सम्पूर्ण वसुओं के स्वामी प्रभु **नः**=हमारे लिए **तत्**=उस ज्ञान को **अभिगृणातु**=पर व अपर दोनों रूप में उपदिष्ट करें, हमारे लिये अपरा व परा दोनों विद्याओं का ही ज्ञान दें। प्रभु कृपा से हमें प्रकृति के ज्ञान के साथ आत्मज्ञान भी प्राप्त हो। वे प्रभु जो कि **दिव्यः**=सदा अपने प्रकाशमय स्वरूप में होनेवाले हैं। **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले हैं। **रजसः विमानः**=रजोगुण का विशेषरूप से हमारे में निर्माण करनेवाले हैं, जिस रजोगुण के विशिष्ट निर्माण से हम अकाम भी नहीं होते और कामात्मा भी नहीं बन जाते। (२) **यद् वा घा**=जो प्रभु निश्चय से **सत्यम्**=सत्य हैं, त्रिकालाबाधित सत्तावाले हैं, **उत**=परन्तु **यत् न विद्म**=जिन्हें हम जानते नहीं, जो पूर्णरूप से हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते, वे प्रभु **धियः हिन्वानः**=हमारी बुद्धियों को प्रेरित करते हैं। हे प्रभो! आप **नः धियः**=हमारी बुद्धियों का **इत् अव्याः**=निश्चय से रक्षण करिये। इन बुद्धियों के रक्षित होने पर ही हमारे कर्म भी उत्तम हो सकेंगे।

भावार्थ—वे सत्य व अज्ञेय प्रभु हमें ज्ञान दें। वे प्रभु हमारी बुद्धियों का रक्षण करें।

ऋषिः—**विश्वावसुर्देवगन्धर्वः** ॥ देवता—**विश्वावसुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वह शोधक प्रभु

सस्निमविन्दच्चरणे नदीनामपावृणोद्दुरो अश्मव्रजानाम् ।
प्रासां गन्धर्वो अमृतानि वोचदिन्द्रो दक्षं परि जानादहीनाम् ॥ ६ ॥

(१) **नदीनाम्**=(नदिः=स्तोता) स्तोताओं के **चरणे**=चरण में **सस्निम्**=उस शुद्ध करनेवाले प्रभु को **अविन्दत्**=प्राप्त करता है। स्तोताओं के समीप विनीतता से बैठकर, प्रभु की चर्चा करने पर हम भी प्रभु का कुछ आभास पानेवाले बनते हैं। इस प्रभु की ओर झुकाव के कारण हमारे जीवन शुद्ध होते हैं। वे प्रभु 'सस्नि' हैं, हमारे जीवनों को स्नात कर देते हैं। जैसे स्नान से सब स्वेदमल दूर हो जाता है, इसी प्रकार प्रभु ध्यान में स्नान करने से वासनारूप मल धुल जाते हैं। (२) यह **अश्मव्रजानाम्**=(अश्मा भवतु न स्तनूः) पाषाणतुल्य दृढ़ शरीररूप बाड़ेवाली, अर्थात् इधर-उधर न भटककर शरीर में स्थित होनेवाली इन्द्रियों के **दुरः**=द्वारों को **अपावृणोत्**=अपावृत करता है। उनको अपने वश में करता हुआ उन्हें अपने-अपने कार्यों में सुचारुरूपेण प्रवृत्त करता है। कर्मेन्द्रियों के द्वारा इसमें शक्ति का वर्धन होता है, तो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा यह ज्ञान का वर्धन करनेवाला बनता है। (३) यह व्यक्ति **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाला बनता हुआ **आसाम्**=इन वेदवाणियों के **अमृतानि**=अमृत वचनों का **प्रवोचत्**=प्रकर्षेण उच्चारण करता है। यह इस उच्चारण को इसलिए करता है कि यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अहीनाम्**=(आहन्ति) इन आक्रमण करनेवाली वासनाओं के **दक्षम्**=बल को **परिजानात्**=अच्छी प्रकार जानता है। इनके प्रबल आक्रमण से बचने के लिए ज्ञान की वाणियों का उच्चारण आवश्यक ही है।

भावार्थ—हमें उपासकों का सम्पर्क प्राप्त हो। इन्द्रियों को अपने वश में करके इनको हम स्वकार्यरत रखें। वेदवाणियों का उच्चारण करें और वासनाओं के आक्रमण से बचें।

सूक्त का मूलभाव यही है कि हम शक्ति व ज्ञान का संचय करते हुए इस संसार में आसक्त

न हों। प्रभु का उपासन करते हुए अपने जीवनों को पवित्र बनाएँ। यह अपने को पवित्र बनानेवाला ही 'पावकः' है, उन्नतिपथ पर चलने के कारण 'अग्निः' है। इसकी प्रार्थना का स्वरूप यह है—

[१४०] चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अग्निः पावकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

श्रव-वय-अर्चि (ज्ञान-शक्ति-दीप्ति)

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं१ दधासि दाशुषे कवे॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विभावसो**=ज्ञान प्रकाशरूप धनवाले प्रभो! **तव**=आपका **श्रवः**=ज्ञान **वयः**=(onegy, sltength) शक्ति तथा **अर्चयः**=दीप्तियाँ **महि भ्राजन्ते**=खूब ही दीप्त होती हैं। आपकी उपासना करता हुआ मैं ज्ञान शक्ति व दीप्ति को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ। (२) हे **बृहद्भानो**=महान् दीप्तिवाले **कवे**=क्रान्तदर्शिन् सर्वज्ञ प्रभो! आप **दाशुषे**=आत्मार्पण करनेवाले के लिए **शवसा**=बल के साथ **उक्थ्यम्**=उत्तम स्तुतिवाले **वाजम्**=ज्ञानैश्वर्य को **दधासि**=धारण करते हैं। यहाँ 'शवस्' बल को कहता है, तो 'उक्थ्यं' स्तुति का संकेत कर रहा है और 'वाज' शब्द ज्ञानैश्वर्य का प्रतिपादक है। प्रभु उपासक को 'बल, स्तुति की प्रवृत्ति व ज्ञान' तीनों ही चीजें प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने उपासक को शरीर में शक्ति सम्पन्न मन में स्तुत्य वृत्तिवाला व मस्तिष्क में ज्ञानोज्ज्वल बनाते हैं।

ऋषिः—**अग्निः पावकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'पावक शुक्र-अनून' (पवित्र दीप्त स्वस्थ)

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे॥ २॥

(१) गत मन्त्र के उपासक के लिए कहते हैं कि तू **पावकवर्चाः**=पवित्र करनेवाले वर्चस्वाला होता है। तुझे वह **वर्चस्**=दीप्ति व शक्ति प्राप्त होती है जो कि तेरे मानस को पवित्र कर देती है। **शुक्रवर्चाः**=तू उस वर्चस्वाला होता है जो कि तेरे मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल करनेवाला होता है। इसी प्रकार **अनूनवर्चाः**=तू उस वर्चस् को प्राप्त करता है, जो कि तेरे शरीर में किसी न्यूनता को नहीं आने देता। ऐसा बना हुआ तू **भानुना उदियर्षि**=ज्ञान दीप्ति से उद्गत हो उठता है। (२) तू **पुत्रः**=(पुनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र करनेवाला तथा वासनाओं से अपने को बचानेवाला होता हुआ **मातरा**=द्यावापृथिवी को **विचरन्**=विशेषरूप से प्राप्त करता हुआ **उपावसि**=समीपता से रक्षित करता है। 'द्यावापृथिवी'=मस्तिषक और शरीर हैं। इनको ठीक बनाने के लिए यह गतिशील होता है और प्रभु की उपासना करता हुआ इनका रक्षण करता है। तू **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **पृणक्षि**=पूरित करता है। इनकी न्यूनताओं को दूर करता है।

भावार्थ—उपासक उस वर्चस् को प्राप्त करता है जो उसे मन में पवित्र, मस्तिष्क में दीप्त तथा शरीर में न्यूनताओंवाला बनाता है। इस प्रकार शरीर व मस्तिष्क दोनों को सुन्दर बनाता हुआ यह चमक उठता है।

ऋषिः—**अग्निः पावकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

स्तुति-रक्षण-विकास

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।
त्वे इषः सं दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः॥ ३॥

(१) हे **ऊर्जो न पात्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले, **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **सुशस्तिभिः**=उत्तम शंसनों व स्तुतियों के द्वारा तथा **धीतिभिः**=ध्यानों के द्वारा **हितः**=हृदयदेश में स्थापित हुए-हुए आप **मन्दस्व**=हमारे जीवनों को आनन्दमय करिये। स्तवन व ध्यान के द्वारा प्रभु का प्रकाश हृदयों में व्यक्त होता है। इस प्रकार व्यक्त हुए-हुए प्रभु हमारे जीवन को उल्लास व आनन्द से युक्त करते हैं। उस समय मनुष्य विलास के मार्ग से दूर हुआ-हुआ अपनी शक्तियों का रक्षण कर पाता है और अपने ज्ञान को दीप्त करनेवाला होता है। वस्तुतः शरीर शक्ति-सम्पन्न होता है और मस्तिष्क ज्ञानोज्ज्वल होता है तो जीवन आनन्दमय होता है। (२) ये उपासक **त्वे**=आप में **इषः**=प्रेरणाओं को **संदधुः**=धारण करते हैं। उपासना के द्वारा आप में स्थित हुए-हुए ये व्यक्ति प्रेरणाओं को प्राप्त करते हैं। इन प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए ये **भूरिवर्पसः**=(वर्पस्=praise) खूब स्तुतिवाले, **चित्र ऊतयः**=अद्भुत रक्षणोंवाले तथा **वामजाताः**=सुन्दर विकासवाले होते हैं (वामं जातं येषां)। प्रभु स्तवन ही इन्हें वासनाओं से बचाता है और इनके अन्दर उत्तम दिव्य गुणों का विकास करता है।

भावार्थ—स्तुति व ध्यान के द्वारा हम प्रभु को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें शक्ति देंगे, ज्ञान देंगे। प्रभु स्तवन से हमारी वृत्ति उत्तम बनेगी और हमारे में दिव्य गुणों का विकास होगा।

ऋषिः—**अग्निः पावकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

धन-सौन्दर्य-शक्ति

इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य।
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम्॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन् **अमर्त्य**=कभी नष्ट न होनेवाले प्रभो! आप **इरज्यन्**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी होते हुए **अस्मे**=हमारे लिये **जन्तुभिः**=गौ इत्यादि पशुओं के द्वारा **रायः**=धनों का **प्रथयस्व**=विस्तार कीजिये। इन गवादि पशुओं से कृषि गोरक्षा वाणिज्य आदि को करते हुए हम अपने धनों को बढ़ानेवाले हों। अथवा 'जन्तुभिः' का भाव यह भी हो सकता है कि **हमारे पोषणीय प्राणियों** के अनुसार हमें धन दीजिये। हमें अधिक प्राणियों का पोषण करना है तो अधिक धन, कम का पोषण करना है तो कम धन। व्यर्थ का धन होना, आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी न पड़े। अतिरिक्त धन तो विलास का ही कारण बना करता है। इस धन से हम उन्नत हों (अग्नि) असमय की मृत्यु से बचें (अमर्त्य)। (२) हे प्रभो! आप **दर्शतस्य**=दर्शनीय **वपुषः**=सौन्दर्य के व सुन्दर शरीर के **विराजसि**=राजा हैं। आप हमें उचित धनों को प्राप्त कराके इस योग्य बनायें कि हम शरीर को स्वस्थ व सुन्दर बना सकें। आप हमारे में **सानसिं क्रतुम्**=सम्भजनीय यज्ञों का व शक्ति का **पृणक्षि**=पूरण करते हैं। क्रतु शब्द यज्ञ का वाचक है, साथ ही शक्ति का भी प्रतिपादन करता है। सम्भजनीय शक्ति वह है जो कि रक्षण में विनियुक्त होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें पर्याप्त धन दें। सुन्दर शरीर व सम्भजनीय शक्ति को प्राप्त करायें। यह शक्ति

व धन यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही व्ययित हो।

ऋषिः—**अग्निः पावकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कैसा धन ?

इ॒ष्क॒र्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्तं॒ राध॑सो म॒हः।
रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॑ दधा॑सि सान॒सिं र॒यिम्॥ ५॥

(१) हे प्रभो! आप **रयिं दधासि**=धन को धारण करते हैं, हमारे लिये धन को देते हैं। जो धन (क) **सानसिम्**=सम्भजनीय होता है, बाँटकर सेवन के योग्य होता है। (ख) **अध्वरस्य इष्कर्तारम्**=(निष्कर्तारं) जो यज्ञ का साधक होता है, जिस धन के द्वारा हम यज्ञों को सिद्ध कर पाते हैं। (ग) **महः राधसः क्षयन्तम्**=जो महान् सफलता का निवास-स्थान बनता है, जिस धन के द्वारा हम अपने कार्यों में सफलता को प्राप्त कर पाते हैं। (२) इस धन के साथ आप हमारे में **वामस्य**=इस उत्तम साधनों से कमाये गये सुन्दर धन की **सुभगां रातिम्**=उत्तम ऐश्वर्य की कारणभूत राति (दान) को धारण करते हैं। हम इस धन का लोकहित के कार्यों के लिए दान देनेवाले बनते हैं। यह दान हमारे ऐश्वर्य के और बढ़ानेवाला होता है। (३) आप धन तथा दानवृत्ति के साथ **महीं इषम्**=महनीय प्रेरणा को प्राप्त कराते हैं। इस प्रेरणा से ही हमारा जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमें धन, दान की वृत्ति तथा महनीय प्रेरणा को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अग्निः पावकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्मरण व सुख प्राप्ति

ऋ॒तावा॑नं महि॒षं वि॒श्वद॑र्शतम॒ग्निं सु॒म्नाय॑ दधिरे पु॒रो जनाः॑।
श्रुत्क॑र्णं स॒प्रथ॑स्तमं त्वा गि॒रा दैव्यं॒ मानु॑षा यु॒गा॥ ६॥

(१) **जनाः**=मनुष्य **सुम्नाय**=सुख प्राप्ति के लिए **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु को **पुरः दधिरे**=सामने धारण करते हैं। उसका स्तवन करते हुए उसके गुणों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः सुख प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम प्रभु का स्मरण करें, प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करें। जो प्रभु **ऋतावानम्**=ऋतवाले हैं, यज्ञवाले हैं, जिनके सब कर्म ऋत (=ठीक) हैं। (ख) **महिषम्**=महान् हैं, पूजनीय हैं। (ग) **विश्वदर्शतम्**=सम्पूर्ण विश्व को देखनेवाले हैं। इस प्रकार प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी ऋत का पालन करें, महान् बनें औरों का ध्यान करके कर्म करें, हमारे कर्म स्वार्थ को लिए हुए न हों। (२) हे प्रभो! **त्वा**=आप को **गिरा**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **मानुषा युगा**=मनुष्यों के युग (जोड़े) अर्थात् पति-पत्नी स्मरण करते हैं। जो आप **श्रुत्कर्णम्**=ज्ञान का विस्तार करनेवाले हैं (कृ विक्षेपे), **सप्रथस्तमम्**=अत्यन्त विस्तारवाले हैं, सारे ब्रह्माण्ड को ही आप अपने एक देश में लिए हुए हैं। **दैव्यम्**=जो आप देववृत्ति के लोगों को प्राप्त होनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हुए प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करें। यही सुख प्राप्ति का मार्ग है।

सम्पूर्ण सूक्त का भाव भी यही है कि हम प्रभु-स्मरण से पवित्र बनते हैं। हमें धन प्राप्त होता है, पर उस धन का विनियोग हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में करते हैं। हमें शक्ति प्राप्त होती है, उसका प्रयोग हम रक्षण में करते हैं। हमारा जीवन भोगमार्ग पर न जाकर योगमार्ग पर चलनेवाला होता है। हम तपस्वी होते हैं, आगे बढ़ते चलते हैं। यह 'अग्निः तापसः' ही अगले सूक्त का ऋषि है।

यह प्रभु की अनुकूलता की प्रार्थना करता हुआ कहता है—

[१४१] एकचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अग्निस्तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'उत्तम मन' व 'धन'

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र नो यच्छ विशस्पते धनदा असि नस्त्वम्॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **नः अच्छा**=हमारे प्रति **इह**=इस हृदयदेश में **वद**=धर्म का, हमारे कर्त्तव्यों का हमें उपदेश दीजिये। प्रभु शुद्ध हृदय में स्थित हुए-हुए सुन्दर प्रेरणा प्राप्त कराते रहते हैं। हमें भी वह प्रेरणा सदा प्राप्त हो। **नः**=हमारे लिये **प्रत्यङ्**=अन्दर प्राप्त होनेवाले आप **सुमना भव**=उत्तम मनवाले होइये। अर्थात् आप हमें उत्तम मन प्राप्त कराइये। (२) हे **विशस्पते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **नः**=हमारे लिए **प्रयच्छ**=आवश्यक धनों को दीजिये। हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **नः**=हमारे लिये **धनदाः असि**=धनों के देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम मन प्राप्त करायें तथा आवश्यक धनों को प्राप्त करायें।

ऋषिः—अग्निस्तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सत्य से धनार्जन

प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।
प्र देवाः प्रोत सूनृता रायो देवी ददातु नः॥ २॥

(१) **नः**=हमारे लिये **अर्यमा**=देनेवाला प्रभु **रायः**=धनों को **प्रयच्छतु**=प्रकर्षेण देनेवाला हो (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति)। **भगः**=ऐश्वर्य का स्वामी प्रभु **प्र**=धनों को दे। **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **प्र**=धनों को दे। **देवाः**=देव **प्र**=धनों को दें। **उत**=और **सूनृता देवी**=प्रिय सत्यासत्य की वाणी **नः**=हमारे लिये **रायः**=धनों को **प्र ददातु**=प्रकर्षेण देनेवाला हो। (२) अर्यमा आदि नामों से प्रभु को स्मरण करते हुए धन को माँगने का भाव यह है कि हम भी अर्यमा आदि बनें। हम धनों को देनेवाले हों (अर्यमा), धनों के स्वामी हों (भगः), ज्ञानी बनकर धनों में आसक्त न हों (बृहस्पति), देववृत्तिवाले बनें (देवाः), कभी अनृत मार्ग से, असत्य से धन को कमानेवाले न हों (सूनृता देवी)।

भावार्थ—हम धनों को प्राप्त करें। परन्तु इन धनों में आसक्त न होकर इन्हें देनेवाले हों, ज्ञान को महत्त्व दें। सदा सत्यमार्ग से धन को कमाते हुए देववृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—अग्निस्तापसः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सोम से बृहस्पति तक

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे। आदित्यान्विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥ ३॥

(१) हम **अवसे**=रक्षण के लिये **गीर्भिः**=इन स्तुति वाणियों के द्वारा **सोमम्**=सोम को **हवामहे**=पुकारते हैं। **रजानम्**=राजा को पुकारते हैं। इसी प्रकार **अग्निम्**=अग्नि को पुकारते हैं। हम चाहते हैं कि हम प्रभु कृपा से 'सोम-राजा व अग्नि' बनें। 'सोम' बनने का भाव यह है कि हम शरीर में उत्पन्न सोम शक्ति (=वीर्यशक्ति) का रक्षण करते हुए सौम्य बनें। 'राजा' बनने का भाव यह है कि हम भी राजा बनें, आत्मशासक बनें। अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित (regulated)

बनायें। 'अग्नि' बनने का भाव यह है कि हम गतिशील हों, सदा अग्रगतिवाले हों। सोम का रक्षण करते हुए, व्यवस्थित जीवनवाले बनकर प्रगतिशील हों। (२) **आदित्यान्**=हम आदित्यों को पुकारते हैं। **विष्णुम्**=विष्णु को पुकारते हैं। **सूर्यम्**=सूर्य को पुकारते हैं। **च**=और **ब्रह्माणम्**=ब्रह्मा को तथा **बृहस्पतिम्**=बृहस्पति को पुकारते हैं। 'आदित्यों' को पुकारने का भाव है 'आदित्यवृत्तिवाला बनना'। सदा आदान करनेवाला बनना 'आदानात् आदित्यः'। समाज में जिसके भी सम्पर्क में आना, उसके गुणों को ग्रहण करनेवाला बनना। 'विष्णु' को पुकारने का भाव है 'विष् व्याप्तौ' व्यापक वृत्तिवाला बनना। उदार होना, संकुचित नहीं। सूर्य बनने का भाव है 'सरति इति' निरन्तर गतिशील होते हुए सर्वत्र सूर्य की तरह प्रकाश को फैलाना। 'ब्रह्मा' बनने का भाव है 'निर्माण करना'। सदा निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहना। अन्त में बृहस्पति बनने का भाव है, 'उर्ध्वादिक् का अधिपति होना'। सर्वोत्कृष्ट दिशा का अधिपति बनना, ऊँची से ऊँची स्थित में पहुँचना।

भावार्थ—हम प्रभु से यह प्रार्थना करें कि प्रभु हमें सोमशक्ति का रक्षण करनेवाला व्यवस्थित जीवनवाला, प्रगतिशील, गुणों का आदान करनेवाला, उदार, क्रियाशील, निर्माण करनेवाला और खूब उन्नत बनायें।

ऋषिः—**अग्निस्तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शक्ति-गति व ज्ञान

इन्द्रवायू बृहस्पतिं सुहवेह हवामहे। यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असत्॥ ४॥

(१) **सुहवा**=शोभन आह्वानवाले, जिनकी आराधना उत्तम है, उन **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु को, शक्ति व गति के देवों को **इह**=इस जीवन में **हवामहे**=पुकारते हैं। **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के अधिष्ठातृदेव को भी हम पुकारते हैं। हम 'शक्ति-गति व ज्ञान' की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। (२) हम यह चाहते हैं कि इस प्रकार का हमारा वातावरण बने कि **यथा**=जिससे **नः**=हमारे **सर्वः**=सब **इत्**=ही **जनः**=लोग **संगत्याम्**=सम्यक् गति के होने पर **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **असत्**=हों।

भावार्थ—हम शक्ति, गति व ज्ञान की आराधना करें। हमारे सभी व्यक्ति सम्यक् गतिवाले होते हुए उत्तम मनोंवाले हों।

ऋषिः—**अग्निस्तापसः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अर्यमा से सविता तक

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय। वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम्॥ ५॥

(१) **अर्यमणम्**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' सब कुछ देनेवाले को, **बृहस्पतिम्**=सब वृद्धियों के स्वामी को, **इन्द्रम्**=शक्तिशाली प्रभु को **दानाय चोदय**=दान के लिए प्रेरित कर। अर्थात् इन देवों का तू इस प्रकार आराधन कर कि ये अपनी इन दिव्यताओं को तुझे प्राप्त करायें। तू भी दानशील, वृद्धियों का स्वामी व शक्तिशाली बन पाये। (२) इसी प्रकार **वातम्**=निरन्तर गतिशील को, **विष्णुम्**=व्यापक को, **सरस्वतीम्**=ज्ञानाधिष्ठातृदेवता को, **च**=और **वाजिनम्**=सब शक्तियोंवाले **सवितारम्**=उत्पादक प्रभु को दान के लिये प्रेरित कर। तू भी 'वात' की कृपा से निरन्तर क्रियाशील हो। 'विष्णु' तुझे व्यापकता प्रदान करे। 'सरस्वती' से तेरा जीवन शिक्षित व परिष्कृत हो। और 'सविता' से बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करके तू निर्माण के कार्यों में लगनेवाले हों।

भावार्थ—हम दानशील, बुद्धिशील, शक्तिशाली, क्रियामय जीवनवाले, उदार, शिक्षित व शक्ति का सम्पादन करके निर्माण के कार्यों में लगनेवाले हों।

ऋषि:—**अग्निस्तापस:** ॥ देवता—**विश्वे देवा:** ॥ छन्द:—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वर:—**गान्धार:** ॥

ब्रह्म-यज्ञ (ज्ञान-कर्म)

त्वं नो॑ अग्ने अ॒ग्निभि॒र्ब्रह्म॑ य॒ज्ञं च॑ वर्धय। त्वं नो॑ दे॒वता॑तये रा॒यो दाना॑य चोदय॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अग्निभि:**=मातारूपी दक्षिणाग्नि से, पितारूप गार्हपत्य अग्नि से तथा आचार्यरूपी आवहनीय अग्नि से 'पिता वै गार्हपत्योऽग्नि:, माताग्निर्दक्षिण: स्मृत:। गुरुराहवनीयस्तु स्वाग्नित्रेता गरीयसी॥' (मनु) **न:**=हमारे **ब्रह्म**=ज्ञान को **यज्ञं च**=और यज्ञ को **वर्धय**=बढ़ाइये। उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके हमारा ज्ञान बढ़े तथा हमारी प्रवृत्ति यज्ञात्मक कर्मों के करने की हो। (२) **त्वम्**=आप **न:**=हमारे लिये **देवतातये**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिये तथा **दानाय**=लोकहित के कार्यों में देने के लिये **राय:**=धनों को **चोदय**=प्रेरित करिये। हमें धन प्राप्त हों। इन धनों से यज्ञादि उत्तम कर्मों को करने में समर्थ होते हुए तथा ज्ञान के साधनों को जुटाते हुए हम अपने में 'यज्ञ व ब्रह्म' का विस्तार कर सकें और इस प्रकार देव बन सकें। तथा साथ ही हम सदा इन धनों का विनियोग लोकहित के कार्यों में दान देने में करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके हमारे में 'ज्ञान व यज्ञ' का वर्धन हो। हमें प्रभु धन प्राप्त करायें। इन धनों का हम दान में विनियोग करें।

इस सूक्त में धन की प्रार्थना है, उस धन की जो कि हमारे ज्ञान व यज्ञों का वर्धन करे, दान में विनियुक्त हो। निर्धनता के कारण यह व्यक्ति तपस्वी नहीं दिख रहा। धनी होते हुए धन का भोग-विलास में व्यय न करने के कारण यह 'तापस' है। यह धन का मित्र न बनकर प्रभु का मित्र बनता है। इसलिए यह 'जरिता' प्रभु का स्तोता बनता है। यह 'द्रोण' (द्रु अभिगतौ) क्रियाशीलता से वासनाओं पर आक्रमण करनेवाला बनता है। 'सारिसृक्व' गति के द्वारा (सृ) वासनाओं को छोड़नेवाला होता है (सृज्)। 'तिष्ठति इति स्तम्ब:' यह प्रभु का स्थिर मित्र बनने का प्रयत्न करने के कारण 'स्तम्बमित्र' कहलाता है। वासनाओं को शीर्ण करने के कारण 'शार्ङ्ग' कहलाता है, इस वासनाओं को शीर्ण करके यह 'शृंग' अर्थात् शिखर पर पहुँचता है। यह प्रभु की आराधना करता हुआ कहता है—

[१४२] द्विचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—**शार्ङ्गा=जरिता** ॥ देवता—**अग्नि:** ॥ छन्द:—**निचृज्जगती** ॥ स्वर:—**निषाद:** ॥

प्रभु ही सच्चे बन्धु हैं

अ॒यम॑ग्ने जरि॒ता त्वे अ॑भू॒दपि॒ सह॑स: सूनो न॒ह्य१॒॑न्यदस्त्याप्य॑म्।
भ॒द्रं हि शर्म॑ त्रि॒वरू॑थ॒मस्ति॑ त आ॒रे हिंसा॑ना॒मप॑ दि॒द्युमा कृ॑धि॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **अयं जरिता**=यह स्तोता **त्वे अभूत्**=आप में ही होता है। यह सर्वदा आपकी ही शरण को प्राप्त करता है। **अपि**=और हे **सहस: सूनो**=बल के पुत्र, बल के पुञ्ज प्रभो! **अन्यत्**=आप से भिन्न **आप्यम्**=बन्धुत्व **नहि अस्ति**=नहीं है। वस्तुत: आप ही तो बन्धु हैं। अन्य बन्धुत्व तो सब स्वार्थ को लिये हुए हैं। (२) **हि**=निश्चय से **ते शर्म**=आपका रक्षण (शर्म protection) **भद्रम्**=कल्याण व सुख को देनेवाला है तथा **त्रिवरूथं अस्ति**=अध्यात्म, अधिदेव व अधिभूत सम्बन्धी सभी कष्टों का निवारण करनेवाला है। हे प्रभो! आप **हिंसानाम्**=हिंसक वृत्तिवाले पुरुषों के **दिद्युम्**=वज्र को **आरे**=दूर **अपकृधि**=हमारे से पृथक् करिये। हम इनके वज्र

का शिकार न हों। काम, क्रोध, लोभ आदि असुरों के शस्त्रों से हम घायल न किये जायें।

भावार्थ—हम प्रभु में मग्न रहें। प्रभु को ही अपना बन्धु जानें। प्रभु का रक्षण हमें सब आपत्तियों से बचाता है। प्रभु कृपा से असुरों के अस्त्र हमारे पर प्रहार न करें।

ऋषिः—**शाङ्गी=जरिता** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासक का उत्कृष्ट विकास

प्रवत्ते अग्ने जनिमा पितूयतः साचीव विश्वा भुवना न्यृञ्जसे।
प्र सप्तयः प्र सनिषन्त नो धियः पुरश्चरन्ति पशुपाइव त्मना॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते**=तेरे **पितूयतः**=अन्न की कामनावाले इस उपासक का **जनिमा**=विकास **प्रवत्**=उत्कृष्ट होता है। संसार में जो व्यक्ति प्रभु का उपासक बनता है और अन्न का ही सेवन करता है उसका विकास उत्तम होता है। (२) हे परमात्मन्! आप **साची इव**=सर्वत्र समवेत हुए-हुए **विश्वा भुवना**=सब लोकों को **नि ऋञ्जसे**=निश्चय से प्रसाधित करते हैं। पृथिवी आदि सब लोकों में आप समवेत हैं और सब का नियमन कर रहे हैं। (३) **सप्तयः**=हमारे ये इन्द्रियाश्व **प्र सनिषन्त**=आपका सम्भजन करते हैं, तथा **नः धियः**=हमारी ये बुद्धियाँ भी **प्रसनिषन्त**=आपका ही उपासन करती हैं। आँख यदि तारों में प्रभु की व्यवस्था को देखती हैं, नासिका यदि फूलों की गन्ध में प्रभु की महिमा का अनुभव करती है, जिह्वा यदि फलों के रस को आस्वादित करती हुई प्रभु का स्मरण करती है, तो यह सब इन्द्रियों द्वारा प्रभु का सम्भजन हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों व बुद्धियों से प्रभु का सम्भजन करनेवाले लोग **पशुपाः इव**=ग्वालों के समान, जैसे ग्वाले गौओं को चराते हुए उनके साथ-साथ आगे बढ़ते हैं, उसी प्रकार ये प्रभु के उपासक भी **त्मना**=स्वयं **पुरः चरन्ति**=आगे और आगे चलते हैं।

भावार्थ—उपासक के जीवन का उत्कृष्ट विकास होता है। यह इन्द्रियों का रक्षण करता हुआ इन्द्रियों के साथ आगे और आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**द्रोणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपजाऊ को ऊसर न बनाना

उत वा उ परि वृणक्षि बप्सद्बहोरग्न उलपस्य स्वधावः।
उत खिल्या उर्वराणां भवन्ति मा ते हेतिं तविषीं चुक्रुधाम॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील **स्वधावः**=आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले जीव! तू **बहोः उलपस्य**=इन विस्मृत विषयरूप तृणों का **बप्सत्**=भक्षण करता हुआ **उत वा उ**=निश्चय से **परिवृणक्षि**=अपने आत्म प्राप्ति के मार्ग को छोड़ देता है। विषयों में फँसा और आत्म प्राप्ति के मार्ग से विचलित हुआ। (२) **उत**=और इस विषय-सेवन के परिणामस्वरूप **उर्वराणाम्**=उपजाऊ भूमियों की **खिल्याः**=ऊसर भूमियाँ **भवन्ति**=हो जाती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सब क्षीणशक्ति हो जाती हैं। इन्द्रियों में अपने-अपने कार्य को करने की शक्ति नहीं रह जाती। मन अतृप्त व अशान्त हो जाता है, बुद्धि की गम्भीरता विनष्ट हो जाती है। (३) हे प्रभो! हम इस प्रकार विषय-सेवन से इस सम्पूर्ण क्षेत्र (=शरीर) को ऊसर बनाकर **ते**=आपके **तविषीम्**=प्रबल **हेतिम्**=वज्र को **मा चुक्रुधाम**=कोपित न कर लें। आपके हम क्रोधपात्र कभी न हों। विषयों से दूर रहकर, शरीर क्षेत्र को खूब उर्वर बनाते हुए हम आपके प्रिय बनें।

भावार्थ—विषयों में फँसने से हम आत्म प्राप्ति के मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। हमारी शक्तियाँ

क्षीण हो जाती हैं और हम प्रभु के प्रिय नहीं रहते।

ऋषिः—**द्रोणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बालों की तरह वासनाओं को काटना

यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत्पृथगेषि प्रगर्धिनीव सेना।
यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम ॥ ४ ॥

(१) **यद्**=जब **बप्सत्**=विषयों का चरण करता हुआ तू **उद्वतः निवतः**=ऊँचे व नीचे लोकों में **यासि**=गति करता है, भिन्न-भिन्न लोकों में जन्म लेता है तो तू **पृथग् एषि**=प्रभु से अलग होकर गति करता है। उसी तरह अलग होकर गति करता है **इव**=जैसे कि **प्रगर्धिनी सेना**=लूटने के लालचवाली फौज सेनापति से अलग होकर लूटने में प्रवृत्त होती है। मनुष्य भी प्रभु से दूर होकर विषयों का भोग करने लगता है। (२) **यदा**=जब **ते**=तेरी **वातः**=(वा गतौ) गति **शोचिः अनुवाति**=ज्ञानदीप्ति के अनुसार होती है, जब तेरी क्रियाएँ ज्ञान के अनुसार होने लगती हैं तो तू इन वासनाओं को **भूम**=इस शरीर भूमि में से **प्रवपसि**=इस प्रकार प्रकर्षेण काट डालता है **इव**=जैसे कि **वप्ता**=नापित **श्मश्रु**=बालों को काटता है।

भावार्थ—प्रभु से दूर होकर इन विषयों में फँसकर ऊँचे-नीचे लोकों में जन्म लेनेवाले बनते हैं। ज्ञानपूर्वक क्रियाओं के होने पर हम वासनाओं को विनष्ट कर पाते हैं।

ऋषिः—**सारिसृक्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नीचे से ऊपर

प्रत्यस्य श्रेणयो ददृश्र एकं नियानं बहवो रथासः।
बाहू यदग्ने अनुमर्मृजानो न्यङ्ङुत्तानामन्वेषि भूमिम् ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वासनाओं को काटकर हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **यद्**=जब **बाहू**=(बाह्य प्रयत्ने) इहलोक व परलोक सम्बन्धी प्रयत्नों को **अनुमर्मृजानः**=क्रमशः शुद्ध करता हुआ **न्यङ्**=नीचे से **उत्तानाम्**=उत्कृष्ट **भूमिम्**=भूमि को **अन्वेषि**=तू प्राप्त होता है। जितना-जितना प्रयत्नों का शोधन, उतना-उतना उत्तम भूमि का आक्रमण (उतना-उतना उत्थान)। (२) उस समय इस व्यक्ति के **बहवः रथासः**=ये स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर रूप रथ **एकं नियानम्**=उस अद्भुत (cowpen) बाड़े में, प्रभु में स्थित होते हैं और **अस्य**=इसकी **श्रेणयः**=भूतपञ्चक, प्राणपञ्चक, कर्मेन्द्रियपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक व अन्तःकरणपञ्चक (हृदय, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) आदि श्रेणियाँ **प्रति ददृशे**=एक-एक करके देखी जाती हैं। ये प्रत्येक श्रेणि का ध्यान करता हुआ उन्हें मलिन व क्षीण शक्ति नहीं होने देता।

भावार्थ—अपने कर्मों या शोधन करते हुए हम ऊपर और ऊपर उठें। हम अपने रथों का बाड़ा प्रभु को ही बनायें, अर्थात् इन शरीरों को प्रभु में स्थापित करने का प्रयत्न करें। अन्तःकरण आदि एक-एक अंग का ध्यान करें। उन्हें मलिन न होने दें।

ऋषिः—**सारिसृक्वः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्थान का स्वरूप

उत्ते शुष्मा जिहतामुत्ते अर्चिरुत्ते अग्ने शशमानस्य वाजाः।
उच्छ्वञ्चस्व नि नम वर्धमान आ त्वाद्य विश्वे वसवः सदन्तु ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र में उत्थान का उल्लेख था। उसी उत्थान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **ते शुष्माः**=तेरे शत्रु-शोषक बल **उत् जिहताम्**=उद्गत हों। तू काम, क्रोध व लोभ को परास्त कर सके। **ते अर्चिः उत्**=तेरी ज्ञान ज्वाला उद्गत हो, अर्थात् तेरा ज्ञान निरन्तर बढ़ता चले। हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **शशमानस्य**=स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले (शश प्लुतगतौ) अथवा स्तुति करनेवाले (शंसमानस्य नि०) **ते**=तेरे **वाजाः**=बल **उत्**=उत्कृष्ट हों। इस प्रकार शरीरस्थ वाज (बल) तुझे नीरोग बनाएँ। ज्ञान तेरे मस्तिष्क को उज्ज्वल करे और मानस बल 'काम-क्रोध-लोभ' पर विजय को पानेवाला हो। 'शुष्म, अर्चि व वाज' को प्राप्त करके तू **उत् श्वञ्चस्व**=ऊर्ध्व गतिवाला हो, उन्नतिपथ पर आरूढ़ होनेवाला हो। परन्तु **वर्धमानः**=सब दृष्टिकोणों से बढ़ता हुआ तू **नि नम**=नम्र बन। जितना-जितना उन्नत, उतना-उतना नम्र। नम्रता ही उन्नति का निशान है। इस प्रकार उन्नत हुए-हुए **त्वा**=तुझे **विश्वे वसवः**=सब वसु **आसदन्तु**=प्राप्त हों। निवास को उत्तम बनानेवाले तत्त्व ही 'वसु' हैं। ये सब वसु तेरे में स्थित हों। इन वसुओं को प्राप्त करके तेरा जीवन सुन्दरतम बन जाये।

भावार्थ—हमें शत्रु-शोषक शक्ति (शुष्म), ज्ञानदीप्ति (अर्चि) तथा बल (वाज) प्राप्त हो। उन्नत होकर हम नम्र बने रहें। सब वसुओं को प्राप्त करके सुन्दर जीवनवाले हों।

ऋषिः—**स्तम्बमित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रेय मार्ग को छोड़कर, श्रेयो मार्ग का आक्रमण

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
अन्यं कृणुष्वेतः पन्थां तेन याहि वशाँ अनु॥ ७॥

(१) **इदम्**=हमारा यह शरीररूप गृह **अपाम्**=कर्मों का **न्ययनम्**=निश्चितरूप से निवास-स्थान हो। हम सदा क्रियाशील हों। **समुद्रस्य**=(स+मुद्) आनन्दमय प्रभु का यह **निवेशनम्**=गृह बने। जहाँ क्रियाशीलता होती है, वहीं प्रभु का वास होता है। (२) **इतः**=यहाँ से **अन्यं पन्थाम्**=भिन्न मार्ग को **कृणुष्व**=तू बना। इस संसार का मार्ग 'प्रेय मार्ग' कहलाता है। उस मार्ग में 'शतायु पुत्र पौत्र, पशु-हिरण्य-भूमि, नृत्यगीतवाद्य, व दीर्घजीवन' हैं। वहाँ आनन्द ही आनन्द प्रतीत होता है। परन्तु इसमें न फँसकर हम श्रेय मार्ग को अपनानेवाले हों। इसी मार्ग में परमात्मदर्शन होता है, और वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है। **तेन**=उस मार्ग से **वशान् अनु**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुसार तू **याहि**=चल। इन्द्रियों को वश में करके तू श्रेय मार्ग पर चल और परमात्मदर्शन करनेवाला बन।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनकर अपने इस शरीर को प्रभु का बनायें। प्रेय मार्ग को छोड़कर श्रेयो मार्ग को अपनायें। जितेन्द्रिय बनकर श्रेयो मार्ग पर ही चलें।

ऋषिः—**स्तम्बमित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'सौन्दर्य शान्ति व लक्ष्मी' के साथ 'प्रभु'

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः। ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे॥ ८॥

(१) **ते**=तेरे **आयने**=अन्दर आने के मार्ग पर तथा **परायणे**=बाहर जाने के मार्ग पर **पुष्पिणीः**=फूलोंवाली, खूब खिली हुई **दूर्वाः**=दूब **रोहन्तु**=उगें। अर्थात् तेरे हर्म्य में सौन्दर्य की कमी न हो। यहाँ दूर्वावाले भूमिभाग घर के सौन्दर्य का चित्रण करते हैं। **च**=और वहाँ **ह्रदाः**=जलाशय हों। ये जलाशय **शान्ति** के प्रतीक हैं। **पुण्डरीकाणि**=इस घर में कमल हों। ये कमल **लक्ष्मी**

के प्रतीक हैं। (२) इस प्रकार सौन्दर्य शान्ति व लक्ष्मी के निवास-स्थान होते हुए **इमे**=ये **गृहाः**=घर **समुद्रस्य**=(स+मुद्) उस आनन्दमय प्रभु के बने रहें। इन घरों में लक्ष्मी हो, पर उस लक्ष्मी में हम आसक्त न हो जाएँ। लक्ष्मी में स्थित हों, लक्ष्मी के दास न बन जाएँ।

भावार्थ—हमारे घर 'सौन्दर्य, शान्ति व लक्ष्मी' के निवास हों, परन्तु इनमें हम प्रभु के उपासक बने रहें। लक्ष्मी में फँस न जाएँ।

सम्पूर्ण सूक्त की मूल भावना यही है कि इस वासनामय जगत् में, लक्ष्मी में रहते हुए भी हम लक्ष्मी में न फँस जाएँ। यह लक्ष्मी में न फँसनेवाला व्यक्ति 'अत्रि' बनता है 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों से ऊपर। विचारशील होने से यह 'सांख्य' है। यह प्राणापान की साधना करता हुआ कहता है कि—

१४३. [त्रिचत्वारशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अत्रिः साङ्ख्यः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अत्रि का 'शरीर'

त्यं चिदत्रिमृतजुरमर्थमश्वं न यातवे। कक्षीवन्तं यदी पुना रथं न कृणुथो नवम्॥ १ ॥

(१) प्रस्तुत सूक्त के देवता 'अश्विनौ'=प्राणापान हैं। ये प्राणापान **यत् ई**=निश्चय से **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **पुनः**=फिर से **नवं न**=नया-सा **कृणुथः**=करते हैं। प्रातः से सायं तक कार्य करता हुआ मनुष्य थक-सा जाता है। सो जाता है, और प्राणापान इस शरीर-रथ को फिर से नया (तरो ताजा) कर देते हैं। 'किस के लिये इस रथ को नया करते हैं?' **त्यं चित् अत्रम्**=निश्चय से उस अत्रि के लिये, 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठे हुए के लिये। **ऋतजुरम्**=ऋत के द्वारा, प्रत्येक कार्य को ठीक रूप में करने के द्वारा वासनाओं को जीर्ण करनेवाले के लिये। **अर्थम्**=(ऋ गतौ) गतिशील के लिये। इस 'अत्रि-ऋतजुर-अर्थ' के लिये अश्विनीदेव शरीर-रथ को तरोताजा करते हैं। (२) अश्विनीदेव अत्रि के लिये इस शरीर-रथ को फिर-फिर नया इसलिए करते हैं कि यह **यातवे**=लक्ष्य-स्थान पर जाने के लिये उसी प्रकार समर्थ हो **न**=जैसे कि **अश्वम्**=घोड़ा। घोड़े को घास आदि खिलाकर सबल बनाते हैं जिससे लक्ष्य-स्थान पर पहुँच सके, इसी प्रकार अश्विनीदेव शरीर-रथ को नया-नया करते हैं जिससे यह भी निरन्तर आगे बढ़ता हुआ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाला हो। यह शरीर-रथ उसी का ठीक बनता है जो कि **कक्षीवन्तम्**=प्रशस्त कक्ष्या (कटिबन्ध रज्जु) वाला है जो लक्ष्य पर पहुँचने के लिये कटिबद्ध है।

भावार्थ—हम 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठकर 'अत्रि' बनें। सब कार्यों को ठीक समय व स्थान पर करते हुए हम वासनाओं को जीर्ण करनेवाले 'ऋतजुर' हों। गतिशील बनकर 'अश्व' हों। लक्ष्य-स्थान पर पहुँचने के लिये कटिबद्ध 'कक्षीवान्' हों। ऐसे हमारे लिये प्राणापान शरीर-रथ को दिन प्रतिदिन नया कर देते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः साङ्ख्यः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अत्रि का सत्वस्थ मन

त्यं चिदश्वं न वाजिनमरेणवो यमत्नत। दृळ्हं ग्रन्थिं न वि ष्यतमत्रिं यविष्ठमा रजः॥ २ ॥

(१) **यम्**=जिस **त्यम्**=उस **अत्रिम्**=अत्रि को, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठनेवाले को **अरेणवः**=रेणु, धूल व मलिनता को दूर करनेवाले प्राण **अश्वं न**=घोड़े के समान **वाजिनम्**=शक्तिशाली **अत्नत**=बनाते हैं। उस अत्रि की **दृढ**=बड़ी पक्की **ग्रन्थिं न**=गाँठ के समान जो वासना

है उसे **विष्यतम्**=समाप्त करते हैं (सोऽन्तकर्मणि) (२) प्राणापान अत्रि को घोड़े के समान शक्तिशाली बनाते हैं और उसकी हृदयग्रन्थियों का अन्त कर देते हैं **यविष्ठम्**=इस अत्रि को ये बुराइयों को छोड़नेवाला व अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाला बनाते हैं। इस प्रकार क्रमशः **आ रजः**=रजोगुण तक इस की सब ग्रन्थियों का ये विनाश करते हैं। 'तमस्' से ऊपर उठाते हैं, प्रमाद आलस्य व निद्रा से दूर करते हैं। और फिर 'रजस्' से भी इसे दूर करते हैं, तृष्णा व अर्थलोभ से ऊपर उठानेवाले होते हैं। इस प्रकार प्राणापान इसे नित्य सत्वस्थ बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणापान अत्रि को शक्तिशाली बनाते हुए उसकी तामस व राजस भावनाओं को विनष्ट करते हैं। इसे वे नित्य सत्वस्थ बनाते हैं।

ऋषिः—**अत्रिः साङ्ख्यः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शुभ्र बुद्धि

नरा दंसिष्ठावत्रये शुभ्रा सिषासतं धियः। अथा हि वां दिवो नरा पुनः स्तोमो न विशसे॥ ३॥

(१) हे **नरा**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले, **दंसिष्ठा**=दर्शनीयतम व उत्तम कर्मोंवाले, **शुभ्रा**=उज्ज्वल प्राणापानो! आप **अत्रये**=काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठे व्यक्ति के लिये **धियः सिषासतम्**=बुद्धियों को दीजिये। प्राणसाधना से अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञानदीप्ति व बुद्धि की सूक्ष्मता प्राप्त होती ही है। (२) **नः च**=और **अथा**=अब **हि**=निश्चय से **दिवः नरा**=ज्ञान के नेतृतम प्राणापानो! **वाम्**=आप के प्रति **स्तोमः**=यह मेरा स्तवन **पुनः**=फिर **विशसे**=विशेषरूप से शंसन के लिये होता है। आपका स्तवन करता हुआ मैं उत्तम बुद्धियों व ज्ञान को प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारी बुद्धि सूक्ष्म होती है और ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—**अत्रिः साङ्ख्यः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आ-पूरण

चिते तद्वां सुराधसा रातिः सुमतिरश्विना। आ यन्नः सदने पृथौ समने पर्षथो नरा॥ ४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **सुराधसा**=आप उत्तम सिद्धि के प्राप्त करानेवाले हो। इस जीवनयज्ञ की सफलता आप पर ही निर्भर करती है। **वाम्**=आपकी **तद्**=वह **रातिः**=देन व **सुमतिः**=उत्तम बुद्धि **चिते**=उत्कृष्ट ज्ञान के लिये होती है। प्राणायाम के द्वारा सब अशुद्धियों का क्षय होकर ज्ञान की दीप्ति होती है। (२) हे **नरा**=हमें जीवनपथ में आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जो आप **नः**=हमें **सं अने**=उत्तम प्राणशक्तिवाले, **पृथौ**=शक्तियों के विस्तारवाले **सदने**=इस शरीर गृह में **आपर्षथः**=सब दृष्टिकोणों से (आपूरयथः सा०) पूरण करते हो। शरीर में शक्ति-मन में निर्मलता व बुद्धि में तीव्रता का आप संचार करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से सुमति प्राप्त होती है और शरीर में सब दृष्टिकोणों से पूरण होता है।

ऋषिः—**अत्रिः साङ्ख्यः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

(भवसागर के पार) भोगों से ऊपर

युवं भुज्युं समुद्र आ रजसः पार ईङ्खितम्। यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम्॥ ५॥

(१) हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! (न-असत्यौ) **युवम्**=आप **भुज्युम्**=भोगवृत्तिवाले, भोग-प्रवण इस मनुष्य को जो **रजसः समुद्रे**=रजोगुण के समुद्र में **आ ईङ्खितम्**=चारों ओर डाँवाडोल हो रहा है उसे **अच्छायातम्**=आभिमुख्येन प्राप्त होइये। जैसे एक

वैद्य रोगी के अभिमुख जाता है और उसे उचित औषधोपचार से नीरोग करता है, इसी प्रकार आप इस रजोगुण के समुद्र में गोता खाते हुए, तृष्णा से पीड़ित मनुष्य को प्राप्त होवो। आपने ही इसे निर्दोष बनाना है। (२) हे प्राणापानो! आप **पतत्रिभिः**=इस तृष्णा-समुद्र के पार जाने के साधनाभूत यज्ञादि क्रियारूप नौ विशेषों से (पत गतौ) **पारे कृतम्**=इस समुद्र से पार करिये और इस प्रकार **सातये**=वास्तविक आनन्द की प्राप्ति के लिये होइये। प्राणसाधना से तृष्णा नष्ट होती है और हम रज:समुद्र के पार होकर वास्तविक आनन्द को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना भोगवृत्ति को नष्ट करती है और वास्तविक आनन्द को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**अत्रिः साङ्ख्यः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

नीरोगता का आनन्द

आ वां सुम्नैः शंयूइव मंहिष्ठा विश्ववेदसा। समस्मे भूषतं नरोत्सं न पिप्युषीरिषः॥ ६॥

(१) हे प्राणापानो! **वाम्**=आप **सुम्नैः**=सुखों से **शंयू इव**=हमारे साथ शान्ति को युक्त करनेवाले हो। आप **मंहिष्ठा**=हमारे लिये दातृतम हो। अधिक से अधिक शक्तियों के देनेवाले हो। **विश्ववेदसा**=सम्पूर्ण धनोंवाले हो। प्राणापान सब कोशों को ऐश्वर्य-सम्पन्न करते हैं। (२) **नरा**=हमारा नेतृत्व करनेवाले, हमें आगे ले चलनेवाले प्राणापानो! **अस्मे**=हमारे लिये **उत्सं न**=स्रोत के समान **पिप्युषीः इषः**=आप्यायित करनेवाले अन्नों को **सं भूषतम्**=सम्यक् अलंकृत करो। जैसे स्रोत से, चश्मे से उत्तम जलधारा का प्रवाह होता है इसी प्रकार प्राणापान के द्वारा अन्नों का ठीक प्रकार पाचन होकर रस-रुधिर आदि धातुओं का उचित प्रवाह होता है। वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान से युक्त होकर भोजन का ठीक पाचन करती है। तभी उस मुक्त अन्न से रस आदि का ठीक प्रवाह होता है।

भावार्थ—प्राणापान भोजन का ठीक परिपाक करके हमें सुख व शान्ति प्राप्त कराते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्राणापान की साधना के महत्त्व को प्रतिपादित कर रहा है। इससे शरीर, मन व बुद्धि तीनों ही ठीक बनते हैं। इन तीनों का ठीक बनानेवाला 'सुपर्ण' कहलाता है, उत्तमता से पालन करनेवाला। यह गतिशील होने से 'तार्क्ष्य' कहलाता है। संयमी होने से 'यामायन' है तथा वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाला 'ऊर्ध्वकृशन' (ऊर्ध्वरेता) बनता है। यह 'वीर्य' के महत्त्व को प्रतिपादित करता हुआ कहता है—

[१४४] चतुश्चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जीवन की पूर्णता का साधन 'सोम'

अयं हि ते अमर्त्य इन्दुरत्यो न पत्यते। दक्षो विश्वायुर्वेधसे॥ १॥

(१) **अयम्**=यह **इन्दुः**=सोम का विन्दु, शक्ति को उत्पन्न करनेवाले सोमकण (इन्द्=to be powerful) **हि**=निश्चय से **ते**=तेरे लिये **अमर्त्यः**=तुझे मृत्यु से ऊपर उठानेवाले हैं। यह **अत्यः न**=सततगामी अश्व के समान **पत्यते**=गतिवाला होता है। अर्थात् सोमकणों के रक्षण से मनुष्य में शक्ति व क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। (२) यह सोम **दक्षः**=(दक्ष् to grow) सब प्रकार की उन्नति का कारण बनता है। और **वेधसे**=निर्माण के कार्यों में लगे हुए पुरुष के लिये यह सोम

विश्वायुः=पूर्ण जीवन को देनेवाला होता है। इससे दीर्घजीवन भी प्राप्त होता है। तथा शरीर, मन व बुद्धि तीनों के उत्कर्ष का साधक होता हुआ यह सोम पूर्ण जीवन को देता है।

भावार्थ—शरीर में रक्षित हुआ-हुआ सोम शरीर का रक्षण करता है। शरीर को नष्ट नहीं होने देता, जीवन को पूर्ण बनाता है।

ऋषिः—**सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सोमरक्षण के लाभ

अयमस्मासु काव्य ऋभुर्वज्रो दास्वते। अयं बिभर्त्यूर्ध्वकृशनं मदमृभुर्न कृत्व्यं मदम्॥ २॥

(१) **अयम्**=यह सोम **अस्मासु**=हमारे में **काव्यः**=क्रान्तदर्शित्व व तत्त्वज्ञान को पैदा करनेवाला है। सोम के रक्षण से बुद्धि तीव्र होती है और हम तत्त्वज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। **ऋभुः**=यह खूब दीप्त होनेवाला है, दीप्ति व तेजस्विता का साधक होता है। **दास्वते**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये यह **वज्रः**='शत्रूणां वर्जकः' शत्रुओं का वर्जक होता है। यह शरीर में रोगों को नहीं आने देता तो मन में वासनाओं को नहीं आने देता। (२) **अयम्**=यह सोम **ऊर्ध्वकृशनम्**=(कृशनं=रूपनाम नि०) उत्कृष्ट रूपवाले **मदम्**=आनन्दमय स्वभाववाले व्यक्ति का **बिभर्ति**=धारण करता है। वस्तुतः सोम का धारण ही उस पुरुष को उत्कृष्ट रूपवाला व प्रसन्न मनोवृत्तिवाला बनाता है। **ऋभुः न**=यह सोम खूब दीप्त होनेवाले के समान होता हुआ **कृत्व्यम्**=कर्त्तव्यपालन में उत्तम **मदम्**=आनन्दमय स्वभावाले पुरुष का धारण करता है। अर्थात् सोम का रक्षण हमें कर्त्तव्यपालन की वृत्तिवाला तथा प्रसन्नचित्त बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से क्रान्तदर्शित्व, दीप्ति, शत्रुवर्जनशक्ति, उत्कृष्टरूप, प्रसन्नता तथा कर्त्तव्यपालन की वृत्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण-शक्ति-गति-दीप्ति

घृषुः श्येनाय कृत्वन आसु स्वासु वंसगः। अव दीधेदहीशुवः॥ ३॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित सोम **श्येनाय**=(श्यैङ् गतौ) गतिशील पुरुष के लिये **कृत्वने**=अपने कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले के लिये **धृषुः**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है। शत्रुओं का नाश हो जाने पर **आसु**=इन **स्वासु**=अपनी प्रजाओं में **वंसगः**=यह सोम वननीय (सुन्दर) गतिवाला होता है। जीवन की सब गतियों में यह सौन्दर्य को लानेवाला होता है। (२) **अहीशुवः**=इन अहीन गतिवालों को यह सोम **अवदीधेत्**=दीप्त कर देता है। सोमरक्षण से मनुष्य शक्ति-सम्पन्न क्रियाशील होता है और यह क्रियाशीलता इसे दीप्त बना देती है। सूर्य क्रियाशीलता के कारण ही तो चमकता है। एवं क्रम यह है—(क) सोम का रक्षण, (ख) शक्ति की उत्पत्ति, (ग) क्रियाशीलता, (घ) दीप्ति।

भावार्थ—सोमरक्षण से शक्ति प्राप्त होती है। शक्ति से जीवन सुन्दर गतिवाला होता है। इस सुन्दर गति से जीवन चमक उठता है।

ऋषि:—**सुपर्णस्ताक्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायन:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**भुरिग्गायत्री** ॥
स्वर:—**षड्ज:** ॥

'सुपर्णः, श्येनस्य पुत्रः'

यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्। शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः ॥ ४ ॥

(१) **यम्**=जिस सोम को **सुपर्णः**=उत्तमता से अपना पालन व पूरण करनेवाला, **श्येनस्य पुत्रः**=(श्यैङ् गतौ) गतिशील का पुत्र, अर्थात् खूब क्रियाशील जीवनवाला व्यक्ति **परावतः**=सुदूर देश से **आभरत्**=शरीर में चारों ओर धारण करता है। यह सोम अन्न में निवास करता है। उस अन्न को जब हम खाते हैं, तो पहले रस उत्पन्न होता है। रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदस्, मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा तथा मज्जा से इस वीर्य शक्ति की उत्पत्ति होती है। एवं सुदूर देश से सातवीं मंजिल में इसका लाभ होता है। (२) यह सोम सुरक्षित होने पर **शतचक्रम्**=सौ वर्ष के आयुष्य को करनेवाला है तथा यह वह है **यः**=जो कि **अह्यः**=(अहेः=आहन्तुः=सर्पस्य= कुटिलतायाः) कुटिलता का **वर्जनिः**=मुख मोड़ देनेवाला है, अर्थात् कुटिलता की वृत्ति को हमारे से दूर करनेवाला है।

भावार्थ—सोम का रक्षण क्रियाशील पुरुष ही कर पाता है। सुरक्षित सोम सौ वर्ष के आयुष्य को देनेवाला व कुटिल वृत्ति को दूर करनेवाला है।

ऋषि:—**सुपर्णस्ताक्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायन:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**सतोबृहती** ॥ स्वर:—**मध्यम:** ॥

दीर्घ उत्कृष्ट जीवन व बन्धुत्व की भावना

यं ते श्येनश्चारुमवृकं पदाभरदरुणं मानमन्धसः।
एना वयो वि तार्यायुर्जीवस एना जागार बन्धुता ॥ ५ ॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके बनाये हुए **यम्**=जिस सोम को **श्येनः**=गतिशील पुरुष **पदा**=गतिशीलता के द्वारा (पद गतौ) **अभरत्**=अपने शरीर में धारण करता है। उस सोम को जो कि **चारुम्**=सुन्दर है, जीवन की सब गतियों में सौन्दर्य को उत्पन्न करता है। **अवृकम्**=लोभादि की वृत्ति से रहित है, अर्थात् जो रक्षित होने पर लोभवृत्ति को नष्ट करता है, **अरुणम्**=आरोचमान है तथा **अन्धसः मानम्**=अन्न का उचित निर्माण करनेवाला है। अर्थात् सोम के रक्षण से जाठराग्नि ठीक रहती है और अन्न का ठीक परिपाक होकर सब वस्तुएँ ठीक बनी रहती हैं। यही अन्न का ठीक निर्माण है। (२) **एना**=इस प्रकार इस सोम के द्वारा (क) **वयः वितारि**=आयुष्य दीर्घ किया जाता है, (ख) **आयुः जीवसे**=ये आयुष्य उत्कृष्ट जीवन के लिये होता है, (ग) **एना**=इस उत्कृष्ट जीवन से **बन्धुता**=प्रभु के साथ बन्धुत्व का भाव **जागार**=जाग उठता है। यह सोमरक्षक 'सोम'=परमात्मा को ही अपना बन्धु जानता है।

भावार्थ—रक्षित सोम जीवन को सुन्दर व लोभ से रहित बनाता है। जीवन दीर्घ होता है, सुन्दर होता है और हम प्रभु के बन्धुत्व को अनुभव करते हैं।

ऋषिः—सुपर्णस्ताक्ष्यपुत्र ऊर्ध्वकृशनो वा यामायनः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥
स्वरः—पञ्चमः ॥

शक्ति व प्रभु प्राप्ति

एवा तदिन्द्र इन्दुना देवेषु चिद्धारयाते महि त्यजः।
क्रत्वा वयो वि तार्यायुः सुक्रतो क्रत्वायमस्मदा सुतः ॥ ६ ॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इन्दुना**=इस सोम के द्वारा **चित्**=निश्चय से **तत्**=उस **महिम्न** अहान् **त्यजः**=दुःखों के वर्जक तेज को **देवेषु**=सब इन्द्रियों में **धारयाते**=धारण करता है। सोम की ही शक्ति सब इन्द्रियों में कार्य करती है और सब इन्द्रियों को बलवान् बनाती है। सोम के रक्षण से इन्द्रियों में दोष नहीं उत्पन्न होते। (२) **क्रत्वा**=सोमरक्षण के दृढ़ संकल्प से **वयः**=शक्ति व स्वास्थ्य **वितारि**=बढ़ाया जाता है। **आयुः**=इसी से दीर्घ जीवन प्राप्त किया जाता है। (३) हे **सुक्रतो**=शोभन प्रज्ञान व कर्मवाले जीव! **क्रत्वा**=इस दृढ़ संकल्प से ही **अयम्**=यह **अस्मदा सुतः**=हमारे लिये उत्पन्न किया जाता है। यह सोम रक्षित होकर अन्ततः प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है। एवं सोमरक्षण के लिये मनुष्य को दृढ़ संकल्प होना ही चाहिये।

भावार्थ—रक्षित सोम इन्द्रियों को सशक्त बनाता है। इससे स्वास्थ्य व शक्ति प्राप्त होती है, अन्ततः यह प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

सम्पूर्ण सूक्त सोम रक्षण के महत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है। इसी में इन्द्र की शक्ति का निवास है। यह इन्द्र की शक्ति ही इन्द्र पत्नी व 'इन्द्राणी' कहलाती है। यही अगले सूक्त की ऋषिका है। यह उत्तम ओषधियों के द्वारा सोम के उत्पादन का प्रयत्न करती है। 'ओषधि' आचार्य का भी नाम है। उस आचार्य से ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है—

[१४५] पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्राणी ॥ देवता—उपनिषत्सपत्नीबाधनम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ओषधि-खनन

इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

(१) 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष है। इसकी पत्नी व शक्ति 'इन्द्राणी' है। यही वस्तुतः 'आत्मविद्या व ब्रह्मविद्या' है इसकी विरोधिनी व सपत्नी 'भोगवृत्ति' है। इस सूक्त में इस भोगवृत्ति के बाधन का उपदेश है। भोगवृत्ति से मनुष्य प्रभु से दूर और दूर होता जाता है। आत्मविद्या उसे फिर परमात्मा के समीप ले आती है। सो इन्द्राणी कहती है कि **इमाम्**=इस **ओषधिम्**=दोषों का दहन करनेवाले आचार्य से प्राप्त होनेवाली आत्मविद्या को **खनामि**=खोदती हूँ। जैसे वसुन्धरा के खनन से वसुओं को प्राप्त किया जाता है इसी प्रकार आचार्य से मैं आत्मविद्या को प्राप्त करती हूँ। यह आत्मविद्या **वीरुधम्**=मेरा विशेष प्रकार से रोहण व प्रादुर्भाव (विकास) करनेवाली है, **बलवत्तमाम्**=मुझे अत्यन्त सबल बनानेवाली है। (२) यह आत्मविद्या वह है **यया**=जिससे **सपत्नीं बाधते**=आत्मविद्या की सपत्नी रूप भोगवृत्ति को पीड़ित करता है। भोगवृत्ति से दूर होकर **यया**=जिसके द्वारा **पतिम्**=उस सर्वरक्षक प्रभु को **संविन्दते**=पाता है। आत्मविद्या का परिणाम यही है कि मनुष्य भोगवृत्ति से दूर होकर योगवृत्ति को अपनाता है और प्रभु के समीप और समीप होता चलता है।

भावार्थ—आचार्य से हम उस आत्मविद्या को प्राप्त करते हैं जिससे कि भोगवृत्ति को विनष्ट करके हम योगवृत्ति द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**इन्द्राणी**॥ देवता—**उपनिषत्सपत्नीबाधनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

आत्मविद्या

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु॥ २॥

(१) हे आत्मविद्ये! जो तू **उत्तानपर्णे**=ऊर्ध्वमुखपर्णोंवाली है, अर्थात् हमें सदा उन्नति की ओर ले चलनेवाली व हमारा पालन व पूरण करनेवाली है। **सुभगे**=उत्तम ज्ञान व अनासक्ति की भावना को उत्पन्न करनेवाली है (भगः ज्ञान, वैराग्य)। **देवजूते**=देवों-विद्वानों के द्वारा हमारे में प्रेरित होती है, अर्थात् विद्वानों से ही जिसका ज्ञान दिया जाता है। **सहस्वति**=शत्रुमर्षक बलवाली, जो हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल देती है। ऐसी आत्मविद्ये! तू **मे**=मेरी **सपत्नीम्**=सपत्नीभूत भोगवृत्ति को **पराधम**=सन्तप्त करके दूर कर दे। (२) आत्मविद्या से भोगवृत्ति क्षीण होती है, मनुष्य प्रभु-प्रवण बनता है। वह यही प्रार्थना करता है कि **केवलम्**=उस आनन्द में विचरनेवाले **पतिम्**=सर्वरक्षक प्रभु को **मे कृधि**=मेरा कर। मैं प्रभु प्राप्ति की ही कामनावाला बनूँ। सांसारिक कामनाओं से ऊपर उठूँ।

भावार्थ—आत्मविद्या हमें ऊपर ही ऊपर ले चलती है। यह हमारे में शत्रुओं के मर्षण करनेवाले बल को पैदा करती है।

ऋषिः—**इन्द्राणी**॥ देवता—**उपनिषत्सपत्नीबाधनम्**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

एक उत्तरा, दूसरी अधरा

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः। अथा सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः॥ ३॥

(१) 'इन्द्राणी' आत्मविद्या को सम्बोधन करती हुई कहती है कि **उत्तरे**=हे जीवन को उत्कृष्ट बनानेवाली आत्मविद्ये! **अहं उत्तरा**=मैं उत्कृष्ट जीवनवाली होती हूँ। **उत्तराभ्यः इत् उत्तरा**=उत्कृष्ट जीवनवालों से भी उत्कृष्ट जीवनवाली होती हूँ। (२) **अथा**=अब **या मम सपत्नी**=ये जो भोगवृत्तिरूप मेरी सपत्नी है, मेरी शत्रु है, **सा**=वह **अधराभ्यः अधरा**=नीचे से भी नीचे होती है। ये तो जीवन को बड़ा निकृष्ट बना डालती है, इसे मैं कुचल ही डालती हूँ, पाँवों तले दबा देती हूँ।

भावार्थ—योगवृत्ति बढ़े और भोगवृत्ति क्षीण हो। भोगवृत्ति की अधरता में ही योगवृत्ति की उत्तरता है।

ऋषिः—**इन्द्राणी**॥ देवता—**उपनिषत्सपत्नीबाधनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

भोगवृत्ति का नाम भी न लेना

नह्यस्या नाम गृभ्णामि नो अस्मिन्रमते जने। परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि॥ ४॥

(१) **अस्याः**=इस भोगवृत्ति का **नाम**=नाम भी **नहि गृभ्णामि**=नहीं ग्रहण करता हूँ। **अस्मिन् जने**=इस मनुष्य में **नो**=नहीं **रमते**=रमण करती। यह भोगवृत्ति इस प्रभु के उपासक में अपनी क्रीड़ा नहीं करती यह भोगवृत्ति से दूर ही रहता है। (२) **पराम्**=शत्रुभूत इस **सपत्नीम्**=इन्द्राणी

की सपत्नीरूप भोगवृत्ति को **परावतं गमयामसि**=बहुत दूर भेजते हैं। आत्मविद्या की प्राप्ति इस भोगवृत्ति को हमारे से सुतरां दूर कर देती है।

भावार्थ—आत्मविद्या की ओर झुकाव के होने पर भोगवृत्ति का नामोनिशान भी हमारे में नहीं रहता।

ऋषिः—**इन्द्राणी**॥ देवता—**उपनिषत्सपत्नीबाधनम्**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्र-इन्द्राणी

अहमस्मि सहमानाथ त्वमसि सासहिः। उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नीं मे सहावहै॥ ५॥

(१) **इन्द्राणी**=जितेन्द्रिय पुरुष की शक्ति इस जितेन्द्रिय पुरुष से कहती है कि **अहम्**=मैं **सहमाना अस्मि**=काम, क्रोध, लोभ आदि का पराभव करनेवाली हूँ। **अथ**=और **त्वम्**=तू **सासहिः**=इन शत्रुओं का खूब ही मर्षण करनेवाला है। इन्द्र व इन्द्राणी मिलकर शत्रुओं का निश्चित पराभव करनेवाले होते हैं। **उभे**=हम दोनों **सहस्वती भूत्वी**=शत्रु मर्षण की शक्तिवाले होकर **मे**=मेरी **सपत्नीम्**=शत्रुभूत इस भोगवृत्ति को **सहावहै**=पराभूत करते हैं। हमें यही चाहिये कि हम आत्मिकशक्ति से सम्पन्न होकर भोगवृत्ति को विनष्ट करनेवाले बनें।

भावार्थ—इन्द्र व इन्द्राणी का मेल होने पर भोगवृत्ति रूप सपत्नी का विनाश निश्चित है।

ऋषिः—**इन्द्राणी**॥ देवता—**उपनिषत्सपत्नीबाधनम्**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वत्सं गौः इव

उप तेऽधां सहमानामभि त्वाधां सहीयसा।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु॥ ६॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं **सहमानाम्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का मर्षण करनेवाली इस आत्मशक्ति को **ते उप अधाम्**=तेरे समीप स्थापित करता हूँ। और इस प्रकार **सहीयसा**=शत्रुओं को प्रबलता से कुचलनेवाले इस बल से **त्वा**=तुझे **अभि अधाम्**=सब ओर से धारण करता हूँ। जिधर से भी शत्रु का आक्रमण हो, यह तेरी आत्मिकशक्ति उसका पराभव करती है। (२) इन शत्रुओं के पराभव के होने पर **मां अनु**=मुझे लक्ष्य करके **ते मनः**=तेरा मन **प्रधावतु**=इस प्रकार दौड़े, **इव**=जैसे कि **वत्सम्**=बछड़े का लक्ष्य करके **गौः**=गौ दौड़ती है। गौ को बछड़ा जिस प्रकार प्रिय होता है, इसी प्रकार जीव को प्रभु प्रिय हो। **इव**=जैसे **वाः**=पानी **पथा**=निम्न मार्ग से दौड़ता है इसी प्रकार आत्मविद्या के उपासक का मन प्रभु की ओर चले। पानी स्वभावतः निम्न मार्ग की ओर बहता है, इसी प्रकार हमारी वृत्ति स्वभावतः प्रभु की ओर चलनेवाली हो।

भावार्थ—हम आत्मशक्ति-सम्पन्न होकर प्रभु की ओर बढ़ चलें।

यह सूक्त भोगवृत्ति को नष्ट करके आत्मविद्या की ओर चलने का प्रतिपादन करता है। इस बात के लिये साधनामय जीवन को बितानेवाला 'देवमुनि' अगले सूक्त का ऋषि है। आत्मविद्या के प्रकाश से यह 'देव' है। वाक्संयम रखते हुए विचार करने के कारण यह मुनि है। यह 'इरम्मद' है, गतिशीलता में आनन्द को लेनेवाला है (इर् to go) यह कर्मवीर है नकि वाग्वीर। इसकी साधना एकान्त में चलती है। इस एकान्त की ही प्रतीक 'अरण्यानी' अगले सूक्त की देवता है। अरण्यानी से देवमुनि कहता है—

[१४६] षट्चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**देवमुनिरैरम्मदः** ॥ देवता—**अरण्यानी** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वनस्थ का ग्राम को भूल जाना

अर॑ण्या॒न्यर॑ण्यान्य॒सौ य प्रेव॒ नश्य॑सि। क॒था ग्राम॑ं न पृ॑च्छसि॒ न त्वा॒ भीरि॑व विन्दती३ँ॥ १॥

(१) 'अरण्यानी' शब्द में 'अर' गति का वाचक है, ण=ज्ञान तथा 'य' प्रत्यय उत्तम अर्थ में आया है। एवं अरण्यानी का भाव है 'गति व ज्ञान में उत्तम'। **अरण्यानि**=गति व ज्ञान की साधना में प्रवृत्त महिले! **अरण्यानि**=वन का आश्रय करनेवाली, गृहस्थ से ऊपर उठकर वनस्थ होनेवाली महिले! **या**=जो तू **प्र नश्यसि इव**=हमारे लिये अदृष्ट-सी हो गई है। घर पर होने की अवस्था में तो सदा मिलना-जुलना होता ही रहता था, पर अब तो दर्शन दुर्लभ ही हो गया है। **कथा ग्रामं न पृच्छसि**=कैसे तू ग्राम के विषय में कुछ पूछती ही नहीं। क्या तुझे घरवालों की, पड़ोस की, अपने ग्रामवासियों की स्मृति तंग नहीं करती? उन सबको भूलना तेरे लिये कैसे सम्भव हुआ? **त्वा भीः न विन्दति इव**=तुझे यहाँ वन में भय-सा नहीं लगता क्या? हिंस्र पशुओं का, वहाँ ग्राम से दूर स्थान में भय तो होता ही होगा! सो वहाँ तू निर्भयता से कैसे रह रही है। (२) इस मन्त्रार्थ में तीन बातें स्पष्ट हैं—वानप्रस्थाश्रम में जाकर हम (क) एकान्त साधना करें (प्रनश्यसि इव) बहुत मिलना-जुलना साधना में बाधक होता है। (ख) वनस्थ होकर फिर नगर के समाचारों को जानने की हमारे में उत्सुकता न बनी रहे। फिर घरवालों के सुख-दुःख में ही हम शामिल न होते रहें। अन्यथा पुत्र-पौत्रों का मोह मन को घर में रखेगा। (ग) एकान्त वन में आश्रम बनाकर साधना में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—गृहस्थ से ऊपर उठकर हम वनस्थ हों, वहाँ हमारा जीवन क्रियाशील हो, हम स्वाध्याय में सतत प्रवृत्त रहें। घरों को भूलने की करें।

सूचना—स्त्रीलिङ्ग का 'अरण्यानी' शब्द स्पष्ट कर रहा है कि स्त्रियों ने भी वनस्थ होना है 'वनं गच्छेत् सहैव वा' (मनु) पति-पत्नी दोनों वनस्थ होकर पति-पत्नी नहीं रहते, साधना में साथी होते हैं।

ऋषिः—**देवमुनिरैरम्मदः** ॥ देवता—**अरण्यानी** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु की वाणियों में जीवन का शोधन

वृ॒षा॒र॒वाय॒ वद॑ते॒ यदु॒पाव॑ति चिच्चि॒कः। आ॒घा॒टिभि॑रिव धा॒वय॑न्नरण्या॒निर्म॑हीयते॥ २॥

(१) **यत्**=जब **चित् चिकः**=ज्ञान का संचय करनेवाला **अरण्यानिः**=यह गति व ज्ञान में उत्तम वनस्थ पुरुष **वृषारवाय**=उस ज्ञान के वर्षक शब्दोंवाले **वदते**=ज्ञानोपदेश देनेवाले, ऋग्, यजु, सामरूप तीन वाणियों का उच्चारण करनेवाले, प्रभु के लिये **उप अवति**=समीप प्राप्त होता है, तो **आघाटिभिः इव**=मानो वीणा की तन्त्रियों के शब्दों से ही **धावयन्**=अपने जीवन को शुद्ध करता हुआ **महीयते**=महिमा को अनुभव करता है। (२) वानप्रस्थ का मूल कर्त्तव्य प्रभु का उपासन है। जब यह प्रभु की उपासना करता है तो हृदयस्थ प्रभु की ज्ञानवाणियों से इसकी हृत्तन्त्री बज उठती है। उस हृत्तन्त्री के स्वरों में यह उपासक स्नात हो उठता है। जैसे एक उत्कृष्ट वाद्य के स्वर में लीन हुआ-हुआ पुरुष चित्तवृत्ति को एकाग्र कर पाता है, इसी प्रकार यह उपासक प्रभु में लीन हुआ-हुआ चित्तवृत्ति को विषयों में भटकने से बचा पाता है। इस प्रकार यह उन हृत्तन्त्री के स्वरों में स्नान करता हुआ शुद्ध जीवनवाला बन जाता है।

भावार्थ—वनस्थ होकर हम प्रभु के उपासन में लीन हो जायें। प्रभु की वाणियों में अपने जीवन को शुद्ध कर डालें।

ऋषिः—**देवमुनिरैरम्मदः** ॥ देवता—**अरण्यानी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सादगी व शून्यावस्था का अभ्यास

उत गावइवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते। उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति॥ ३॥

(१) **उत**=और **गावः इव**=गौवों की तरह **अदन्ति**=वनस्थ पुरुष खाते हैं। ये ग्राम्य भोजनों को छोड़कर वन के फल-मूलादिकों को ही खानेवाले बनते हैं। यथासम्भव अग्निपक्व आहार का यह त्याग कर देते हैं। (२) **उत**=और इन्हें यह वन ही **वेश्म इव**=घर की तरह **दृश्यते**=दिखता है। यह कुटिया को ही महल समझते हैं। **उत उ**=और निश्चय से **अरण्यानिः**=यह वनस्थ पुरुष **सायम्**=सायंकाल **शकटीः इव**=गाड़ियों की तरह **सर्जति**=सब हृदयस्थ भावों को विसृष्ट करता है। जैसे वन से सब लकड़ी आदि को लेने के लिये आयी हुई गाड़ियाँ लौट जाती हैं, इसी प्रकार यह वनस्थ पुरुष दिन की समाप्ति पर सब भावों को दूर करके शून्यावस्था को लाने का अभ्यास करता है। संसार से उपरत होने का प्रतिदिन अभ्यास करता हुआ यह प्रभु के अधिक समीप होता चलता है।

भावार्थ—वनस्थ पुरुष का खान-पान-रहनसहन अधिक से अधिक प्रकृति के समीप होता है। यह प्रतिदिन शून्यावस्था को प्राप्त करने का अभ्यास करता है।

ऋषिः—**देवमुनिरैरम्मदः** ॥ देवता—**अरण्यानी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गौ का आह्वान

गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्। वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते॥ ४॥

(१) **एषः**=यह वनस्थ पुरुष **अंग**=शीघ्र ही ('अंग' क्षिप्रे च) **गाम्**=इस ज्ञान की वाणीरूप गौ का **आह्वयति**=आह्वान करता है। यह सदा वेदवाणी का अध्ययन करता है और **एवः**=यह **अंग**=शीघ्र ही **दारु**=शक्तियों को विदीर्ण करनेवाली वासनाओं को **अपावधीत्**=सुदूर विनष्ट करता है। वानप्रस्थ का मूल कर्त्तव्य यही है कि ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करे, वासनाओं को विनष्ट करे। (२) **अरण्यान्यां वसन्**=वन में निवास करता हुआ अथवा उत्तम गति व ज्ञान की स्थिति में निवास करता हुआ यह **इति मन्यते**=यह मानता है कि पुरुष साधना के लिये **सायम्**=सायंकाल **अक्रुक्षत्**=अवश्य प्रभु का आह्वान करे। सायंकाल अन्धकार का प्रारम्भ होता है, उस समय आसुरभाव प्रबल होने लगते हैं। उनके विनाश के लिये सन्नद्ध होकर प्रभु का उपासन करने लगना यह आवश्यक है। इस प्रभु ध्यान में ही शून्यावस्था को लाने का प्रतिदिन अभ्यास निहित है। इसी स्थिति में निहित हो जाने से अशुभ स्वप्न न होकर स्वप्नावस्था में प्रभु-दर्शन का सम्भव होता है।

भावार्थ—वानप्रस्थ के तीन कर्त्तव्य हैं—(क) स्वाध्याय, (ख) वासना परिहार, (ग) प्रभु का आराधन।

ऋषिः—**देवमुनिरैरम्मदः** ॥ देवता—**अरण्यानी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अहिंसा

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति। स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते॥ ५॥

(१) **अरण्यानिः**=गति व ज्ञान में उत्तम यह वनस्थ पुरुष **वा**=निश्चय से **न हन्ति**=हिंसा

नहीं करता है, **चेत्**=यदि **अन्यः**=दूसरे हिंस्र पशु **न अधिगच्छति**=इस पर आक्रमण नहीं करते। यह शिकार आदि के शौक से इन पशुओं का कभी हिंसन नहीं करता। यदि अचानक कोई हिंस्र पशु आश्रम में उपद्रव ही कर दे, तब तो उससे रक्षण आवश्यक होता ही है। (२) यह वनस्थ पुरुष **स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय**=वन के स्वादिष्ट फलों को खाकर **यथाकामम्**=प्रभु की कामना के अनुसार **निपद्येत**=(पद् गतौ) निश्चय से कार्यों में प्रवृत्त रहता है। 'सादा खाना, सतत कार्यों में प्रवृत्त रहना' यह इसका जीवनसूत्र बन जाता है।

भावार्थ—वनस्थ पुरुष अहिंसा की वृत्ति से चलता है। यह सादा भोजन करता हुआ सतत कार्य प्रवृत्त रहता है।

ऋषिः—**देवमुनिरैरम्मदः** ॥ देवता—**अरण्यानी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आत्मनिरीक्षण

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्॥ ६ ॥

(१) **अहम्**=मैं **अरण्यानिम्**=इस वनस्थ वृत्ति का **प्र अशंसिषम्**=प्रकर्षेण शंसन करता हूँ जो वनस्थ वृत्ति **आञ्जनगन्धिम्**=(अञ्जनम्=right) अज्ञानान्धकार की रात्रि को विनष्ट करनेवाली है। **सुरभिम्**=(wise, learued, good, virtuous) ज्ञान को बढ़ानेवाली व दिव्यता को विकसित करनेवाली है। **बहु अन्नाम्**='शान्तिर्वा अन्नं' (ऐ० ५।७) बहुत शान्तिवाली है। वनस्थ वृत्ति में पुरुष हबड़-दबड़ (भागदौड़) को छोड़कर शान्त वृत्ति को धारण करने का प्रयत्न करता है। **अकृषीवलाम्**=(अ-कृषी-वल) चीर-फाड़ (कृष: to tear) के आवरणों से रहित हो। वनस्थ वृत्ति में दूसरों को कष्ट में डालने की प्रवृत्ति ही नहीं रहती। (२) **मृगाणां मातरम्**=यह वनस्थ वृत्ति (मृग अन्वेषणे) आत्मनिरीक्षण करनेवालों का निर्माण करनेवाली है। इस वानप्रस्थ ने मुख्यरूप से आत्मनिरीक्षण करते हुए, अपने जीवन को पवित्र बनाकर, प्रभु का दर्शन करना है।

भावार्थ—गृहस्थोपरान्त हम वनस्थ वृत्ति को अपनाएँ। सब अज्ञानों को दूर करते हुए, आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने को पवित्र बनाएँ और प्रभु-दर्शन का प्रयत्न करें।

इस सूक्त में वानप्रस्थ का सुन्दर चित्रण हुआ है यह ग्राम को भूलने का प्रयत्न करता है। (१) प्रभु की वाणियों में जीवन के शोधन का प्रयत्न करता है। (२) सादा जीवन बिताते हुए शून्यावस्था को जाने का अभ्यास करता है। (३) 'स्वाध्याय, वासनाविदारण, प्रभु-स्मरण' इसके मुख्य कार्यक्रम हैं। (४) अहिंसा की वृत्ति को अपनाता हुआ क्रियाशील बनता है। (५) आत्मनिरीक्षण करता हुआ प्रभु-दर्शन के लिए यत्नशील होता है। (६) निरन्तर स्वाध्याय आदि के द्वारा यह 'सुवेदाः' उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाला बनता है। ज्ञान द्वारा वासनाओं को शीर्ण करनेवाला 'शैरीषि' होता है। यह प्रभु प्रार्थना करता हुआ कहता है—

[१४७] सप्तचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सुवेदाः शैरीषिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रथम मन्यु के लिये श्रद्धा

श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद् वृत्रं नर्यं विवेरपः।
उभे यत्त्वा भवतो रोदसी अनु रेजते शुष्मात्पृथिवी चिदद्रिवः॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! मैं **ते**=आपके **प्रथमाय**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले **मन्यवे**=इस वेदरूप ज्ञान के लिये **श्रद् दधामि**=श्रद्धा को धारण करता हूँ। श्रद्धापूर्वक इसका अध्ययन करता हूँ। **यत्**=क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा आप **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का **अहन्**=विनाश करते हैं। और **नर्यं अपः**=नर हितकारी कर्मों को **विवेः**=प्राप्त कराते हैं (आगमः)। मनुष्य ज्ञान की प्राप्ति में प्रवृत्त होता है तो उसके जीवन में दो परिणाम होते हैं। एक तो वह वासनाओं से अपने को बचा पाता है और दूसरे लोकहित के कार्यों में सतत प्रवृत्त रहता है। (२) हे **अद्रिवः**=वज्रहस्त प्रभो! (अद्रिः वज्रः) **यत्**=जब **उभे रोदसी**=ये दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वा अनुभवतः**=आपके अनुकूल होते हैं। आपके **शुष्मात्**=बल से **पृथिवी चित्**=यह विस्तृत अन्तरिक्ष भी **रेजते**=कम्पित हो उठता है। सो जब एक उपासक वेदज्ञान की साधना करता हुआ वासनाओं से ऊपर उठता है और लोकहित के कर्मों में प्रवृत्त होता है तो ये द्युलोक, पृथिवी लोक व अन्तरिक्ष लोक उसके भी अनुकूल होते हैं। उसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त होता है, उसका यह शरीररूप पृथिवी लोक दृढ़ होता है। तथा उसका यह हृदयान्तरिक्ष वासनाओं के तूफानों से आन्दोलित नहीं होता रहता। इसके हृदयान्तरिक्ष में चन्द्र की निर्मल ज्योत्स्ना छिटक जाती है और यह मनःप्रसाद का अनुभव करता है।

भावार्थ—ज्ञान को श्रद्धापूर्वक प्राप्त करने का प्रयत्न करने पर मनुष्य वासना से ऊपर उठता है, लोकहित के कर्मों में प्रवृत्त होता है और मस्तिष्क, शरीर व हृदय को क्रमशः दीप्त दृढ़ तथा दिव्य व दयार्द्र बना पाता है।

ऋषिः—**सुवेदाः शैरीषिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु का वरण

त्वं मायाभिरनवद्य मायिनं श्रवस्यता मनसा वृत्रमर्दयः।
त्वामिन्नरो वृणते गविष्टिषु त्वां विश्वासु हव्यास्विष्टिषु॥ २॥

(२) हे **अनवद्य**=सब अप्रशस्तों से रहित, पूर्ण शुद्ध परमात्मन्! **त्वम्**=आप **मायाभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा **मायिनं वृत्रम्**=इस प्रबल माया (अवञ्चन) वाले कामदेव को, ज्ञान की आवरणभूत वासना को **श्रवस्यता मनसा**=ज्ञान की कामनावाले मन के द्वारा **अर्दयः**=पीड़ित करते हैं। प्रभु हमें 'ज्ञान की कामनावाला मन' देते हैं तथा वेद के शब्दों में ज्ञानों को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार प्रभु हमारी वासना का विनाश करते हैं। धर्म के दस लक्षणों में 'श्रवस्यन् मन' 'धी' शब्द से कहा गया है और 'माया' के लिये वहाँ ज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। इस धी और ज्ञान का मेल होने पर वासना का विनाश निश्चित है। (२) **नरः**=वासना को विनष्ट करके आगे बढ़नेवाले ये लोग **इत्**=निश्चय से **गविष्टिषु**=ज्ञानयज्ञों में **त्वां वृणते**=आपका वरण करते हैं। **विश्वासु**=सब **हव्यासु इष्टिषु**=आहूत्य प्रार्थनीय याग-क्रियाओं में **त्वाम्**=आपका ही वरण करते हैं। ज्ञानयज्ञों में तथा अग्निहोत्रादि देवयज्ञों में लगनेवाले पुरुष प्रभु प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। प्रकृति का वरण करनेवाले पुरुषों के लिये ये ज्ञानयज्ञ व देवयज्ञ रुचिकर नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि व विद्या प्राप्त कराके वासना से दूर करते हैं। ज्ञान यज्ञों व देव यज्ञों में प्रवृत्त होकर हम प्रभु का वरण करते हैं, प्रकृति में नहीं फँसते।

ऋषिः—**सुवेदाः शैरीषिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासना का फल

ऐषु चाकन्धि पुरुहूत सूरिषु वृधासो ये मघवन्नानशुर्मघम्।
अर्चन्ति तोके तनये परिष्टिषु मेधसाता वाजिनमह्रये धने॥ ३॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले परमात्मन्! आप **एषु**=इन **सूरिषु**=ज्ञानी पुरुषों में **आचाकन्धि**=विशेषरूप से दीप्त होइये। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप उन ज्ञानियों में दीप्त होइये **ये**=जो **वृधासः**=वृद्धि को प्राप्त होते हुए **मघं आनशुः**=धन को व्याप्त करते हैं। वस्तुतः जहाँ धन के साथ ज्ञान तथा दिव्यगुणों के वर्धन का भाव हो वहीं प्रभु का प्रकाश होता है। (२) ये ज्ञानी पुरुष **वाजिनम्**=शक्तिशाली आपको (प्रभु को) **अर्चन्ति**=पूजते हैं। इसलिए पूजते हैं कि—(क) **तोके तनये**=उत्तम पुत्र-पौत्रों को वे प्राप्त करनेवाले हों। तोकों व तनयों के निमित्त वे प्रभु का पूजन करते हैं। वस्तुतः जिस घर में प्रभु-पूजन चलता है, वहाँ सन्तान उत्तम बनते ही हैं। (ख) **परिष्टिषु**=परितः इष्यमाण अन्य फलों के निमित्त वे प्रभु का पूजन करते हैं। 'पति-पत्नी का परस्पर प्रेम, मित्रों का सच्चा मित्र प्रमाणित होना' इत्यादि ऐसी बातें हैं जो जीवन को सुखी व उन्नत बनाने के लिये आवश्यक ही हैं। (ग) **मेधसाता**=यज्ञों के निमित्त वे प्रभु का पूजन करते हैं। इसलिए प्रभु-पूजन करते हैं कि उनकी प्रवृत्ति यज्ञविषयक बनी रहे। (घ) **अह्रये धने**=अलज्जाकर धन के निमित्त ये प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु-पूजक पवित्र साधनों से धन का अर्जन कर पाता है और संसार यात्रा को ठीक प्रकार से चलानेवाला होता है।

भावार्थ—'ज्ञान, दिव्यगुणवर्धन व धन' का जहाँ मेल होता है वहाँ प्रभु का प्रकाश होता है। प्रभु का उपासक 'उत्तम सन्तानों, अन्य वाञ्छनीय बातों, यज्ञों व पवित्र धनों' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**सुवेदाः शैरीषिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'मित्र, शक्ति, धन'

स इन्नु रायः सुभृतस्य चाकनन्मदं यो अस्य रंह्यं चिकेतति।
त्वावृधो मघवन्दाश्वध्वरो मक्षू स वाजं भरते धना नृभिः॥ ४॥

(१) **यः**=जो **अस्य**=इस प्रभु के **रंह्यम्**=वेग से युक्त, अर्थात् स्फूर्तियुक्त क्रियाओंवाले **मदम्**=हर्ष को **चिकेतति**=जानता है, **सः**=वह उपासक **इत् नु**=निश्चय से **सुभृतस्य रायः**=उत्तम उपायों से जिसका भरण किया गया है, उस धन की **चाकन्**=कामना करता है। जिस उपासक को उपासना में कुछ आनन्द का अनुभव होने लगता है, उसका जीवन क्रियाशील तो होता ही है, साथ ही वह उत्तम उपायों से ही धन को कमाने की कामना करता है। (२) **त्वावृधः**=आपकी भावना को अपने में बढ़ानेवाला, **दाश्वध्वरः**=दानयुक्त यज्ञोंवाला, अर्थात् यज्ञों में खूब दान देनेवाला **सः**=वह उपासक, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवान् प्रभो! **मक्षू**=शीघ्र ही **नृभिः**=मनुष्यों के साथ **वाजम्**=शक्ति को तथा **धना**=धनों को **भरते**=सम्पादित करता है इसको मित्रों की भी प्राप्ति होती है तथा यह शक्ति व धन का भी अर्जन करनेवाला बनता है। इस प्रकार इसका सांसारिक जीवन भी बड़ा उत्तम बन जाता है।

भावार्थ—उपासक सुपथ से ही धन कमाता है। ध्यान व यज्ञों को अपनाता हुआ यह (=सन्ध्या-हवन करता हुआ) 'मित्रों-शक्ति व धनों' को प्राप्त करके सुखी व शान्त जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**सुवेदाः शैरीषिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति-धन-अन्न

त्वं शर्धाय महिना गृणान उरु कृधि मघवञ्छग्धि रायः।
त्वं नो मित्रो वरुणो न मायी पित्वो न दस्म दयसे विभक्ता ॥ ५ ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवन् प्रभो! **महिना गृणानः त्वम्**=खूब ही स्तुति किये जाते हुए आप **शर्धाय**=बल के लिये हमें **उरु**=खूब **कृधि**=करिये। अर्थात् हम खूब ही आपका स्तवन करें और खूब ही शक्ति को प्राप्त करें। आप **रायः शग्धि**=हमारे लिये धनों को भी दीजिये। (२) हे **दस्म**=हमारे सब कष्टों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **मित्रः वरुणः न**=मित्र और वरुम के समान होते हुए, अर्थात् हमें मृत्यु व रोगों से बचाते हुए (प्रमीतेः त्रायते इति मित्रः) तथा हमारे से द्वेषादि को दूर करते हुए (वारयति इति वरुणः), **मायी**=सम्पूर्ण माया के स्वामी होते हुए, **न**=(संप्रति सा०) अब **विभक्ता**=सब धनों का उचित विभाग करनेवाले होते हुए **पित्वः दयसे**=पालक अन्न को देते हैं। आपकी कृपा से हमें उन अन्नों की प्राप्ति होती है, जो कि हमारे रक्षण के लिये आवश्यक हैं।

भावार्थ—उपासित प्रभु हमें शक्ति देते हैं, धन देते हैं तथा शरीर रक्षा के लिये आवश्यक अन्नों को प्राप्त कराते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त इस भावना पर बल देता है कि हम श्रद्धापूर्वक प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें सब आवश्यक चीजें प्राप्त करायेंगे। प्रभु की उपासना से अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला यह 'पृथु' बनता है (प्रथ विस्तारे)। गतिशील, विचारशील व उपासना की वृत्तिवाला होने से 'वैन्य' कहलाता है (वेन् to go, to reflect, to worship)। यह कहता है—

[१४८] अष्टचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**पृथुर्वैन्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण व शक्ति का भरण

सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा ससवांसश्च तुविनृम्ण वाजम्।
आ नो भर सुवितं यस्य चाकन्त्मना तना सनुयाम त्वोताः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुष्वाणासः**=सोम का (=वीर्य का) उत्तमता से सवन (=उत्पादन) करते हुए हम **त्वा स्तुमसि**=आपका स्तवन करते हैं। **च**=और हे **तुविनृम्ण**=महान् शक्तिवाले प्रभो! **वाजं ससवांसः**=शक्ति का सम्भजन (=उपासन) करते हुए हम आपका स्तवन करते हैं। वस्तुतः प्रभु का उपासक सोम का रक्षण करता है और इस प्रकार अपने को शक्तिशाली बनाता है। (२) प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **सुवितम्**=उस उत्तम गति का, 'दुरित' से विपरीत 'सुवित' का **आभरः**=भरण करिये **यस्य चाकन्**=जिसकी आप हमारे लिये कामना करते हैं। प्रभु हमें सदा दुरितों से दूर व सुवितों के समीप देखना चाहते हैं। इन सुवितों को भी तो प्रभु ने

ही प्राप्त कराना है। (३) हे प्रभो! **त्वोताः**=आप से रक्षित हुए-हुए हम **त्मना**=स्वयं दूसरों पर आश्रित न होते हुए, **तना**=धनों को **सनुयाम**=प्राप्त करें। हम स्वयं पुरुषार्थ से धनों का विजय करनेवाले बनें।

भावार्थ—सोम के रक्षण के द्वारा शक्तिशाली बनकर हम प्रभु के उपासक बनें। प्रभु कृपा से हम सन्मार्ग पर चलते हुए, अपने श्रम से धनार्जन करनेवाले हों।

ऋषिः—**पृथुर्वैन्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऊर्ध्वरेता को प्रभु-दर्शन

ऋ॒ष्वस्त्वमि॑न्द्र शूर जा॒तो दासी॒र्विश॒: सूर्ये॑ण सह्याः।
गुहा॑ हि॒तं गुह्यं॑ गू॒ळ्हम॒प्सु बि॑भृ॒मसि॑ प्र॒स्रव॑णे॒ न सोम॑म्॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **ऋत्वा**=दर्शनीय व महान् (ऋष्वः=महान् दर्शनीयो वा सा०) **जातः**=प्रसिद्ध हैं, आपका मेरे में प्रादुर्भाव हुआ है। मैंने आज आपका दर्शन किया है। आप इन **दासीः**=मेरा उपक्षय करनेवाली **विशः**=मेरे न चाहते हुए भी मेरे में घुस आनेवाली अशुभ काम आदि वृत्तियों को **सूर्येण**=ज्ञान सूर्य के उदय से **सह्याः**=पराभूत करिये आपकी कृपा से मेरे मस्तिष्क गगन में ज्ञान सूर्य का उदय हो और इन वासनान्धकारों का विनाश हो जाये। (२) **गुहा हितम्**=बुद्धिरूप गुहा में स्थापित **गुह्यम्**=अत्यन्त रहस्यमय, दुर्ज्ञेय **अप्सु गूढम्**=सब प्रजाओं में अन्तर्हित रूप से वर्तमान आपको हम **बिभृमसि**=धारण करते हैं, अपने हृदयदेश में देखने का प्रयत्न करते हैं, **न**=जिस प्रकार **प्रस्रवणे**=प्रकृष्ट गति में, ऊर्ध्वगति में **सोमम्**=सोम को धारण करते हैं। जितना-जितना हम सोम का ऊर्ध्वगमन कर पाते हैं उतना-उतना ही हम आपको धारण करनेवाले बनते हैं। इस सोम (=वीर्य) के धारण से ही उस सोम (=प्रभु) का धारण होता है।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश होते ही वासनान्धकार विनष्ट हो जाता है। हृदयस्थ प्रभु का दर्शन ऊर्ध्वरेता बनने पर ही होता है।

ऋषिः—**पृथुर्वैन्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण व सात्त्विक भोजन

अ॒र्यो वा॒ गिरो॑ अ॒भ्य॑र्च वि॒द्वानृषी॑णां॒ विप्रः॑ सुम॒तिं च॑का॒नः।
ते स्या॑म॒ ये र॒णय॑न्त॒ सोमै॑रे॒नोत तुभ्यं॑ रथोळ्ह भ॒क्षैः॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **अर्यः**=स्वामी तथा **विद्वान्**=ज्ञानी आप **ऋषीणाम्**=(ऋष् गतौ) गतिशील पुरुषों के **विप्रः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। इस पूरण के लिये ही **सुमतिं चकानः**=उनकी सुमति की आप कामना करते हैं। आप उन ऋषियों को सुमति प्राप्त कराते हैं। आप **वा**=निश्चय से **गिरः**=इनकी ज्ञान की वाणियों को **अभ्यर्च**=(अर्च् to shire) दीप्त कीजिये। इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा ही तो ये अपने जीवन की न्यूनताओं को दूर कर पायेंगे। (२) वे इन **ते स्याम**=आपके हों, हमारा झुकाव आपकी ओर हो, हम प्रकृति में फँस न जायें। **ये**=जो हम **सोमैः** **रणयन्त**=सोमरक्षण के द्वारा आपको अपने जीवन में रममाण करते हैं। जितना-जितना हम सोम का रक्षण करते हैं, उतना-उतना ही हम प्रभु के प्रिय बनते हैं। हे **रथोढ**=शरीररूप रथ के द्वारा वहन किये जानेवाले प्रभो! हम इन शरीर रथों के आपकी ओर ही आनेवाले बनते हैं। **एना**=इस सोम के द्वारा **उत**=और **भक्षैः**=सात्त्विक भोजनों के द्वारा **तुभ्यम्**=हम आपके लिये ही गतिवाले

होते हैं। भोजनों को भी हम इस दृष्टिकोण से खाते हैं कि हम सात्त्विक बुद्धिवाले बनकर आपकी ओर गतिवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमें सुमति देते हैं, हमारी ज्ञानवाणियों को दीप्त करते हैं। सोम का रक्षण करते हुए व सात्त्विक भोजनों का सेवन करते हुए हम आपकी ओर बढ़ें, आपके प्रिय हों।

ऋषिः—**पृथुर्वैन्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु-स्तवन व बल प्राप्ति

इमा ब्रह्मेन्द्र तुभ्यं शंसि दा नृभ्यो नृणां शूर शवः।
तेभिर्भव सक्रतुर्येषु चाकन्नुत त्रायस्व गृणत उत स्तीन्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **इमा ब्रह्म**=इन स्तोत्रों का **तुभ्यं शंसि**=आपके लिये शंसन किया जाता है। हम इन स्तोत्रों के द्वारा आपका स्तवन करते हैं। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **नृणां नृभ्यः**=उन्नतिपथ पर चलनेवालों में भी श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये (नरों में नरों के लिये) **शवः**=बल को **दाः**=दीजिये। (२) हे प्रभो! आप **येषु**=जिन स्तोताओं में **चाकन्**=इन बल आदि की स्थापना की कामना करते हैं, **तेभिः**=उन स्तोताओं के साथ **सक्रतुः**=समान कर्मा **भव**=होइये। वे स्तोता भी आपके समान कर्मोंवाले हों, अथवा उन स्तोताओं में स्थित हुए-हुए आप ही उन्हें शक्ति-सम्पन्न बनाकर कार्य करानेवाले हों। **उत**=और **गृणतः**=इन स्तोताओं का **त्रायस्व**=आप रक्षण करिये, **उत**=और **स्तीन्**=मिलकर (संघीभूय सा०) यज्ञादि कार्यों को करनेवाले इन यज्ञशील पुरुषों को आप रक्षित करिये। स्तोता व यजमान आपके रक्षणीय हों।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें बल देते हैं। स्तोताओं व यजमानों का प्रभु ही रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**पृथुर्वैन्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पृथी व वेन्य

श्रुधी हवमिन्द्र शूर पृथ्या उत स्तवसे वेन्यस्यार्कैः।
आ यस्ते योनिं घृतवन्तमस्वारूर्मिर्न निम्नैर्द्रवयन्त वक्वाः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **पृथ्याः**=पृथी के अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले के **हवंश्रुधि**=पुकार को सुनते हैं। **उत**=और **वेन्यस्य**=चिन्तनशील-क्रियामय जीवन वाले उपासक के (वेन्=to go, to reflect, to worship) **अर्कैः**=स्तोत्रों से **स्तवसे**=आप स्तुति किये जाते हैं। प्रभु का सच्चा स्तोता 'पृथी' है और 'वेन्य' है। (२) **यः**=जो **ते**=आपके **घृतवन्तं योनिम्**=दीप्तिवाले निवास-स्थान (परम पद) का **आ अस्वाः**=सर्वथा शंसन करता है, अर्थात् मोक्षलोक व ब्रह्मलोक के सौन्दर्य का ध्यान करता है, इस प्रकार के **वक्वाः**=ब्रह्मलोक के सौन्दर्य का कथन व चर्चण करनेवाले लोग आपकी ओर उसी प्रकार **द्रवयन्त**=गतिवाले होते हैं, **न**=जैसे कि **निम्नैः**=निम्न मार्गों से **ऊर्मिः**=जलसंघ गतिवाला होता है। जलसंघ की गति जिस प्रकार शान्त व नम्रता को लिये हुए होती है, इसी प्रकार यह स्तोता शान्ति से नम्रतापूर्वक आपकी ओर बढ़ता है।

भावार्थ—शक्तियों का विस्तार करते हुए, गतिशील बनकर हम प्रभु के उपासक हों। ब्रह्मलोक का स्मरण करते हुए, शान्त नम्रभाव से उसकी ओर बढ़ें।

सम्पूर्ण सूक्त इस भाव को व्यक्त कर रहा है कि सोमरक्षण के द्वारा 'शक्तिशाली, शान्त व नम्र' बनकर प्रभु के हम उपासक हों, प्रभु की ओर गतिवाले हों, प्रभु को प्राप्त हों। यह प्रभु का पूजन करनेवाला 'अर्चन्' अपने शरीर में शक्ति (हिरण्य) की ऊर्ध्वगतिवाला (स्तूप) बनता है। इसका नाम 'अर्चन् हैरण्यस्तूपः' हो जाता है। अगले सूक्त में यह प्रभु को 'सविता' नाम से उपासित करता है—

[१४९] एकोनपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अर्चन्हैरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नियामक सविता

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥ १ ॥

(१) **सविता**=सबका उत्पादक प्रभु **यन्त्रैः**=अपने नियन्त्रण (नियमन) के साधनों से **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **अरम्णात्**=(अरमयत् सा०) सुख से स्वस्थान में स्थापित करता है। वह **सविता**=उत्पादक प्रभु ही **अस्कम्भने**=स्वकाम आदि आधारों से रहित स्थल में **द्याम्**=इस द्युलोक को **अदृंहत्**=दृढ़ करता है अथवा **द्याम्**=सूर्य को दृढ़ करता है। (२) **अश्वं इव धुनिम्**=घोड़े की तरह कम्पायितव्य इस **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष से **अतूर्ते**=किसी से भी अहिंसित स्थान में **बद्धम्**=बन्धे हुए **समुद्रम्**=जल समुद्र को **अधुक्षत्**=दोहता है। घोड़ा जैसे अपने शरीर को कम्पित करता है, इसी प्रकार अन्तरिक्ष वायु आदि की गति से कम्पित-सा होता रहता है। इस अन्तरिक्ष में मेघ जल समुद्र के रूप में बन्धा हुआ है, इस स्थान पर यह जल समुद्र किसी से भी हिंसनीय नहीं। प्रभु इसका दोहन करते हैं, और इस भूलोक को उस जल समुद्र से सिक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के नियमन साधनों से पृथिवी व द्युलोक अपने-अपने स्थान में थामे गये हैं। प्रभु ही अन्तरिक्ष को वायु आदि से कम्पित करते हैं और मेघरूप जल समुद्र का दोहन करते हैं।

सूचना—यहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध में 'गां पयो दोग्धि' की तरह द्विकर्मकता है। प्रथम कर्म का अर्थ पञ्चमी का करना होता है। जैसे 'गौ से दूध दोहता है'।

ऋषिः—**अर्चन्हैरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिलोकी के निर्माता 'प्रभु'

यत्रा समुद्रः स्कभितो व्यौनदपां नपात्सविता तस्य वेद।
अतो भूरत आ उत्थितं रजोऽतो द्यावापृथिवी अप्रथेताम्॥ २ ॥

(१) **यत्रा**=जहाँ **स्कभितः**=अन्तरिक्ष में थमा हुआ **समुद्रः**=यह अन्तरिक्षस्थ समुद्र, अर्थात् मेघ **व्यौनत्**=विशेषरूप से भूमि को क्लिन्न करता है, **अपांनपात्**=जलों का न गिरने देनेवाला **सविता**=यह उत्पादक प्रभु **तस्य वेद**=उस अन्तरिक्षलोक के निर्माण को जानता है। प्रभु ही इस अन्तरिक्ष लोक का निर्माण करते हैं जहाँ स्थित हुआ-हुआ मेघ भूमि को क्लिन्न करता है। (२) **अतः**=इस प्रभु से ही **भूः**=पृथिवी का निर्माण होता है, **अतः**=इस प्रभु से ही **आ**=चारों ओर **रजः**=ये लोक-लोकान्तर **उत्थितम्**=उठ खड़े हुए हैं, बनाये गये हैं। **अतः**=इस प्रभु से ही **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवी लोक **अप्रथेताम्**=विस्तृत किये गये हैं।

भावार्थ—प्रभु ही अन्तरिक्ष लोक व अन्तरिक्षस्थ मेघों का निर्माण करते हैं। वे ही द्यावापृथिवी को भी विस्तृत करते हैं।

ऋषिः—**अर्चन्हैरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

परस्पर गुथे हुए लोक

पश्चेदमन्यदभवद्यजत्रममर्त्यस्य भुवनस्य भूना।
सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान्पूर्वो जातः स उ अस्यानु धर्म॥ ३ ॥

(१) **पश्चा**=गत मन्त्र के अनुसार लोकत्रयी के निर्माण के पश्चात् **अमर्त्यस्य**=उस नष्ट न होनेवाले **भुवनस्य**=लोक-लोकान्तरों को जन्म देनेवाले प्रभु के **भूना**=(भूम्ना) महान् ऐश्वर्य से (भूमन्=wealth) **इदम्**=यह **अन्यत्**=सब दिखनेवाला लोकसमूह **यजत्रम्**=परस्पर संगतिकरणवाला **अभवत्**=हुआ। ये अनन्त लोक-लोकान्तर उत्पन्न हो गये और ये सब परस्पर सम्बद्ध थे। एकहार में पिराये हुए फूलों के समान इनकी स्थिति थी। (२) **सवितुः**=उस उत्पादक प्रभु से **अंग**=शीघ्र ही **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला **गरुत्मान्**=लोक-लोकान्तरों के महान् भार को लेकर आकाश में गति करनेवाला, अपनी आकर्षण शक्ति से पृथिवी आदि लोकों को अपने साथ लेकर चलनेवाला सूर्य **पूर्वः जातः**=सब से प्रथम हुआ। **सः**=वह सूर्य **उ**=निश्चय से **अस्य**=इस परमात्मा के **धर्म**=धारण सामर्थ्य को **अनु**=अनुसरण करके ही प्रवृत्त होता है। सब देवों में मुख्य सूर्य है। यह सूर्य भी प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु ही इस लोक-लोकान्तरों का निर्माण करते हैं। प्रभु की महिमा से ही सूर्य अपने धारणात्मक कर्मों को कर रहा है।

ऋषिः—**अर्चन्हैरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की प्राप्ति

गावइव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः॥ ४ ॥

(१) **नः अभि**=हमारी ओर **नि एतु**=निश्चय से प्राप्त हो। वह **दिवः धर्ता**=द्युलोक व सूर्य का धारण करनेवाला, **सविता**=सबका उत्पादक, **विश्ववारः**=सब से वरण के योग्य प्रभु हमें इस प्रकार प्राप्त हो, **इव**=जैसे कि **गावः**=गौवें **ग्रामम्**=ग्राम को प्राप्त होती हैं। हम कभी भी प्रभु की आँख से ओझल न हों। (२) हमें प्रभु इस प्रकार प्राप्त हों, **इव**=जैसे कि **यूयुधिः**=एक योद्धा **अश्वान्**=अश्वों को प्राप्त होता है। एक योद्धा से अधिष्ठित अश्व विजय को प्राप्त होता है, इसी प्रकार प्रभु से अधिष्ठित हम विजयी हों। (३) इस प्रकार हमें प्रभु प्राप्त हों **इव**=जैसे कि **वाश्रा**=शब्द करती हुई **सुमनाः**=उत्तम मनवाली **दुहानाः**=दूध देनेवाली गौ **वत्सम्**=बछड़े को प्राप्त होती है। हमें प्रभु ज्ञानोपदेश दें, हम प्रभु के लिये वत्स तुल्य प्रिय हों। (४) इस प्रकार प्रभु हमें प्राप्त हों **इव**=जैसे कि **पतिः जायाम्**=पति-पत्नी को प्राप्त होता है। पति पत्नी का रक्षण करता है, हम प्रभु से रक्षणीय हों।

भावार्थ—वह विश्ववरणीय प्रभु हमें प्राप्त हों। उस प्रकार प्राप्त हों जैसे गौवें ग्राम को, योद्धा अश्वों को, रम्भाती हुई गौ बछड़े को तथा पति-पत्नी को प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अर्चन्हैरण्यस्तूपः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उपासना में अप्रमाद

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्॥ ५ ॥

(१) हे **सवितः**=सर्वोत्पादक प्रभो! **यथा**=जैसे **अस्मिन् वाजे**=इस जीवन-संग्राम में **हिरण्यस्तूपः**=वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाला **आंगिरसः**=अंग-अंग में रसवाला उपासक **त्वा**=आपको **जुह्वे**=पुकारता है। **एवा**=इसी प्रकार **त्वा**=आपको **अर्चन्**=पूजता हुआ अतएव 'अर्चन्' नामवाला उपासक मैं **अवसे**=रक्षण के लिये **वन्दमानः**=स्तुति करता हूँ। आपका वन्दन करता हुआ मैं रक्षण के लिये प्रार्थना करता हूँ। (२) **अहम्**=मैं आपकी उपासना के **प्रति जागर**=विषय में इस प्रकार जागरित व सावधान रहूँ **इव**=जैसे कि **सोमस्य अंशुम्**=सोम के अंशु के प्रति जागरित होता हूँ। 'सोम' वीर्यशक्ति है, इसका 'अंशु' इससे उत्पन्न प्रकाश की किरण है। सोमरक्षण से बुद्धि सूक्ष्म बनती है और उस सूक्ष्म बुद्धि से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। इस सोम के अंशु के प्रति जिस प्रकार सावधान रहना आवश्यक है, इसी प्रकार प्रभु के उपासन के प्रति भी सावधान रहना जरूरी है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासन के प्रति सदा सावधान रहें। इस उपासना में कभी प्रमाद न करें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु को सविता के रूप में उपासित करता है। यह उपासक ही जीवन को सुखी बना पाता है। औरों को सुखी करनेवाला यह 'मृडीक' कहलाता है। उत्तम निवासवाला व वसियों में श्रेष्ठ होने से 'वासिष्ठ' है। यह प्रार्थना करता है कि—

[१५०] पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**मृळीको वासिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु-दर्शन व आनन्द प्राप्ति

समिद्धश्चित्समिध्यसे देवेभ्यो हव्यवाहन।
आदित्यै रुद्रैर्वसुभिर्न आ गहि मृळीकाय न आ गहि॥ १ ॥

(१) **समिद्धः**=ज्ञान से दीप्त आप **चित्**=निश्चय से **समिध्यसे**=उपासकों से हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। वे उपासक हृदयों में आपके दर्शन का प्रयत्न करते हैं। उस समय इन **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों के लिये **हव्यवाहन**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **आदित्यैः**='ऋग्, यजु, साम' के ज्ञाता विद्वानों के साथ, **रुद्रैः**='ऋग्, यजु' के ज्ञाता विद्वानों के साथ तथा **वसुभिः**=ऋचाओं के ज्ञाता विद्वानों के साथ **नः आगहि**=हमें प्राप्त होइये। आपकी कृपा से हमें 'आदित्यों, रुद्रों व वसुओं' का सम्पर्क प्राप्त हो। उनके सम्पर्क में आकर हम भी ऋचाओं से प्रकृति विज्ञान को, यजुओं से जीवविज्ञान को, साम से परमात्मज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। (२) हे प्रभो! इसी प्रकार **मृडीकाय**=सुख प्राप्ति के लिये **नः आगहि**=आप हमें प्राप्त होइये। आपके सम्पर्क में हम वास्तविक आनन्द को प्राप्त करनेवाले बनें। आदित्यों, रुद्रों व वसुओं का सम्पर्क हमें भी आदित्य, रुद्र व वसु बनायेगा। ऐसा बनने पर हम आपको प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। आपकी प्राप्ति में ही मृडीक (=सुख) छिपा है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा सर्वत्र दीप्त है। जब उपासना द्वारा प्रभु को हम हृदय में दीप्त करते

हैं, तो प्रभु (क) सब हव्यपदार्थों को हमें प्राप्त कराते हैं, (ख) हमारा सम्पर्क आदित्यों, रुद्रों व वसुओं के साथ होता है, (ग) हमें वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**मृळीको वासिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

यज्ञ व स्तुतिवचन

इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि।
मर्तासस्त्वा समिधान हवामहे मृळीकाय हवामहे॥ २॥

(१) हे प्रभो! **इमं यज्ञम्**=हमारे से किये जानेवाले इस यज्ञ को, **इदं वचः**=इन स्तुतिवचनों को **जुजुषाणः**=प्रेमपूर्वक सेवन करते हुए **उपागहि**=हमें प्राप्त होइये। हम आपका ध्यान करें, आप से उपदिष्ट यज्ञों को करें और इस प्रकार आपके प्रिय बनें। (२) हे **समिधान**=तेज व ज्ञान से दीप्त प्रभो! **मर्तासः**=हम मरणधर्मा प्राणी **त्वा हवामहे**=आपको पुकारते हैं। **मृडीकाय**=सुख प्राप्ति के लिये हम **हवामहे**=आपको पुकारते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों व ध्यान को करते हुए प्रभु के प्रिय बनें प्रभु को हम पुकारें, प्रभु हमें सुखी करें।

ऋषिः—**मृळीको वासिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु-स्तवन

त्वामु जातवेदसं विश्ववारं गृणे धिया।
अग्ने देवाँ आ वह नः प्रियव्रतान्मृळीकाय प्रियव्रतान्॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ **त्वां उ**=आपको ही **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **गृणे**=स्तुत करता हूँ। जो आप **विश्ववारम्**=सब से वरणीय हैं, उन आपको मैं भी ज्ञानपूर्वक कर्म करता हुआ वरता हूँ। (२) हे परमात्मन्! इन ज्ञानपूर्वक कर्मों से वृत्त हुए-हुए आप **नः**=हमारे लिये **देवान्**=उन देवों को **आवह**=प्राप्त कराइये, जो कि **प्रियव्रतान्**=प्रिय व्रतोंवाले हैं। जिन देवों का जीवन व्रतमय है, जिन्हें व्रत रुचिकर हैं। इन **प्रियव्रतान्**=प्रिय व्रत देवों को प्राप्त कराइये। जिससे **मृडीकाय**=हमारा जीवन सुखी हो। व्रतप्रिय देवों के सम्पर्क में हम भी व्रतों की रुचिवाले होंगे और इस प्रकार व्रती जीवन की पवित्रता में पवित्र आनन्द का अनुभव कर पायेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारा सम्पर्क प्रियव्रत देवों से करते हैं। यह सम्पर्क हमारे लिये सुखद होता है।

ऋषिः—**मृळीको वासिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्नाम जगती वा** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवों का पुरोहित

अग्निर्देवो देवानामभवत्पुरोहितोऽग्निं मनुष्या३ ऋषयः समीधिरे।
अग्निं महो धनसातावहं हुवे मृळीकं धनसातये॥ ४॥

(१) **अग्निः**=वे प्रभु अग्रेणी हैं, **देवः**=प्रकाशमय हैं। **देवानाम्**=देववृत्तिवाले पुरुषों के **पुरोहितः अभवत्**=पुरोहित हैं। देवों के सामने (पुरः) आदर्शरूप से निहित हैं। प्रभु को आदर्श बनाकर जीवन मार्ग पर आक्रमण करने से ही वस्तुतः वे देव बने हैं। (२) **अग्निम्**=इस प्रभु को ही **ऋषयः मनुष्याः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी लोग **समीधिरे**=अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। **अहम्**=मैं भी इस **महः**=तेजःपुञ्ज **अग्निम्**=अग्नि नामक प्रभु को **धनसातौ**=धन की प्राप्ति के निमित्त

हुवे=पुकारता हूँ। **मृडीकम्**=सुखस्वरूप प्रभु को **धनसातये**=धन की प्राप्ति के लिये मैं पुकारता हूँ। वस्तुतः आनन्द की प्राप्ति के लिये तेजस्विता व धन दोनों की ही आवश्यकता है। धन से आवश्यक चीजों के संग्रह का सम्भव होता है और तेजस्विता से उनका ठीक प्रयोग हो पाता है। तेजस्विता व धन के अतिरिक्त 'ज्ञान' भी आवश्यक होता है। ज्ञान से पवित्रता बनी रहती है। धन से चीजें, तेजस्विता से चीजों का प्रयोग तथा ज्ञान से प्रयोग की पवित्रता होकर आनन्द ही आनन्द हो जाता है। ज्ञान का उल्लेख पूर्वार्ध में 'देव' शब्द से हुआ है।

भावार्थ—आनन्द प्राप्ति के लिये 'धन, तेजस्विता, ज्ञान' तीनों की ही आवश्यकता है।

ऋषिः—**मृळीको वासिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योति** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'अत्रि-भरद्वाज-गविष्ठिर-कण्व-त्रसदस्यु'

अ॒ग्निरत्रिं॑ भ॒रद्वा॑जं॒ गवि॑ष्ठिरं॒ प्राव॑न्नः॒ कण्वं॑ त्र॒सद॑स्युमाह॒वे।
अ॒ग्निं वसि॑ष्ठो हवते पु॒रोहि॑तो मृळी॒काय॑ पु॒रोहि॑तः ॥ ५ ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रेणी प्रभु **नः**=हमारे में से **अत्रिम्**=(अविद्यमानाः त्रयो यस्य) काम-क्रोध-लोभ के अभाववाले पुरुष को **आहवे**=इस संसार संग्राम में **प्रावत्**=रक्षित करते हैं। इस जीवन संग्राम में प्रभु का साहाय्य उसे प्राप्त होता है, जो कि काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। इन से ऊपर उठने का प्रयत्न करता हुआ जो '**भरद्वाजं**'=अपने में शक्ति को भरता है। इस शक्ति को भरने के लिये ही **गविष्ठिरम्**=इन्द्रियों पर स्थिरता से आरूढ़ होता है (गावः इन्द्रियाणि)। जितेन्द्रिय बनकर जो **कण्वम्**=मेधावी बनता है और **त्रसदस्युम्**=(त्रस्यन्ति दस्यवो यस्मात्) जिससे दास्यव वृत्तियाँ, आसुर वृत्तियाँ, भयभीत होती हैं। इस आसुर वृत्तियों से दूर रहनेवाले को प्रभु का रक्षण प्राप्त होता है। (२) **वसिष्ठः**=अपने इस जीवन में निवास को उत्तम बनानेवाला, **पुरोहितः**=सदा प्रभु को अपने सामने रखनेवाला, प्रभु के गुणों को धारण करनेवाला, यह **अग्निं हवते**=उस प्रभु को पुकारता है। यह **पुरोहितः**=लोगों के लिये अपने जीवन को आदर्श के रूप में उपस्थित करनेवाला (पुरः हितः) वसिष्ठ **मृडीकाय**=आनन्द प्राप्ति के लिये प्रभु को पुकारते हैं।

भावार्थ—हम 'अत्रि, भरद्वाज, गविष्ठिर, कण्व व त्रसदस्यु' बनकर प्रभु से रक्षणीय हों। वसिष्ठ बनकर प्रभु का आराधन करें।

सारा सूक्त 'प्रभु-दर्शन से आनन्द प्राप्ति' का प्रतिपादन कर रहा है। इस प्रभु-दर्शन की ओर झुकाव श्रद्धा से ही सम्भव है। सो अगला सूक्त श्रद्धा का ही प्रतिपादन करता है। 'श्रद्धा' ही सूक्त ऋषि का है। श्रद्धा द्वारा सब कामनाओं को प्राप्त करनेवाली यह 'कामायनी' है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'=जो जिस श्रद्धावाला है वह वही बन जाता है। इस श्रद्धा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

[१५१] एकपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**श्रद्धा कामायनी** ॥ देवता—**श्रद्धा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

श्रद्धा से यज्ञ का होना

श्र॒द्धया॒ग्निः समि॑ध्यते श्र॒द्धया॑ हूयते ह॒विः। श्र॒द्धां भग॑स्य मू॒र्धनि॒ वच॒सा वे॑दयामसि ॥ १ ॥

(१) **श्रद्धया**=श्रद्धा से ही **अग्निः समिध्यते**=अग्निकुण्ड में अग्नि समिद्ध की जाती है और **श्रद्धया**=श्रद्धा से ही **हविः हूयते**=हव्य पदार्थों की उसमें आहुति दी जाती है। अग्निहोत्र का लाभ एकदम आँखों से प्रत्यक्ष नहीं दिख पड़ता। देखने में तो उतना ही व अन्य पदार्थ व्यर्थ में नष्ट होता प्रतीत होता है। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' अथवा 'अग्नेर्होत्रेण प्रणुदा सपत्नान्' 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्' आदि शास्त्रीय वाक्यों पर तो श्रद्धा ही करनी होती है। एवं अग्निहोत्र श्रद्धा के होने पर ही होता है। (२) हम **वचसा**=वेद के वचनों से ही **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **भगस्य**=ऐश्वर्य के **मूर्धनि**=शिखर पर **वेदयामसि**=जानते हैं। शास्त्र कहता है कि श्रद्धा मनुष्य को ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचानेवाली है। श्रद्धा मनुष्य को उन्नत करती है और ऊँचा उठता हुआ मनुष्य शिखर पर पहुँचता है।

भावार्थ—अग्निहोत्रादि कार्य श्रद्धा के होने पर ही होते हैं।

ऋषिः—**श्रद्धा कामायनी**॥ देवता—**श्रद्धा**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

श्रद्धा से दान का सम्भव

प्रि॒यं श्र॑द्धे॒ दद॑तः प्रि॒यं श्र॑द्धे॒ दिदा॑सतः। प्रि॒यं भो॒जेषु॒ यज्व॒स्विदं म॑ उदि॒तं कृ॑धि॥ २॥

(१) हे **श्रद्धे**=दृढ़ आस्था के रूप में हृदय में निवास करनेवाली श्रद्धे! **ददतः**=देनेवाले का **प्रियम्**=प्रिय होता है। **श्रद्धे**=हे श्रद्धे! **दिदासतः**=दान की कामनेवाले का भी **प्रियम्**=प्रिय होता है। वस्तुतः दान श्रद्धापूर्वक ही दिया जाता है। देखने में तो उतना रुपया नष्ट होता लगता है। पर शास्त्र यही कहते हैं कि 'यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः'=दिल खोलकर देनेवाले पति-पत्नी सुन्दर सन्तान को प्राप्त करते हैं। 'दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्'=दान से सप्तगुणित धन को प्राप्त करते हैं। अर्थात् दान से 'पुत्रैषणा' 'वित्तैषणा' व 'लोकैषणा' सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं। इन वाक्यों में श्रद्धा के होने पर ही दान दिया जाता है। (२) **भोजेषु**=अतिथियज्ञ में अतिथियों को भोजन करानेवाले व्यक्तियों में तथा **यज्वसु**=यज्ञशील पुरुषों में **मे**=मेरे **इदं उदितम्**=इस कथन को **प्रियं कृधि**=प्रिय करिये। 'दान देनेवाले का कल्याण होता है' यह वाक्य उन्हें प्रिय हो। इस वाक्य में श्रद्धा रखते हुए वे भोज व यज्वा बनें, अतिथियज्ञ व देवयज्ञ आदि को करनेवाले बनें।

भावार्थ—श्रद्धा ही मनुष्य को दानशील बनाती है।

ऋषिः—**श्रद्धा कामायनी**॥ देवता—**श्रद्धा**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

श्रद्धा से शत्रु विजय

यथा॑ दे॒वा असु॑रेषु श्र॒द्धामु॒ग्रेषु॑ चक्रि॒रे। ए॒वं भो॒जेषु॒ यज्व॑स्व॒स्माक॑मुदि॒तं कृ॑धि॥ ३॥

(१) **यथा**=जैसे **देवाः**=देव **उग्रेषु**=अत्यन्त प्रबल **असुरेषु**=असुरों के विषय में, 'इन असुरों को हम अवश्य पराजित कर पायेंगे' इस प्रकार **श्रद्धां चक्रिरे**=श्रद्धा को करते हैं। अर्थात् इस पूर्ण विश्वास के साथ चलते हैं कि हम असुरों को पराजित करनेवाले होंगे। यह पूर्ण विश्वास ही उन्हें असुरों को पराभूत करने में समर्थ करता है। (२) **एवम्**=इस प्रकार **भोजेषु**=अतिथि यज्ञ में अतिथियों को भोजन करानेवालों में, **यज्वसु**=यज्ञशील पुरुषों में **अस्माकं उदिते**=हमारे इस श्रद्धा के महत्त्व प्रतिपादक कथन को **कृधि**=श्रद्धेय करिये। अर्थात् ये भोज व यज्वा पुरुष श्रद्धा के महत्त्व को समझते हुए भोज व यज्वा बने ही रहें। इन यज्ञों से ये पराङ्मुख न हो जाएँ।

भावार्थ—हमें श्रद्धा ही शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ करेगी।

ऋषि:—श्रद्धा कामायनी ॥ देवता—श्रद्धा ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

श्रद्धा से देवत्व व वसुओं की प्राप्ति

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ ४॥

(१) **देवा:**=देववृत्ति के पुरुष **श्रद्धां उपासते**=श्रद्धा का उपासन करते हैं। वस्तुत: श्रद्धा के कारण ही वे देव बन पाते हैं। **यजमाना:**=यज्ञशील पुरुष श्रद्धा की उपासना करते हैं। श्रद्धा के कारण ही वस्तुत: वे यज्ञशील बनते हैं। **वायुगोपा:**=वायु का रक्षण करनेवाले, अर्थात् प्राणायाम के अभ्यासी प्राणसाधक योगी पुरुष भी श्रद्धा की उपासना करते हैं। यह योग तो दीर्घकाल तक निरन्तर आदर से सेवित होकर ही दृढ़ भूमि होता है। एक दिन में योग का फल नहीं दिखने लगता। श्रद्धावाला ही अनिर्विण्ण भाव से साधना में लगा रहता है। (२) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **हृदय्यया आकूत्या**=हृदय के दृढ़ संकल्प से मनुष्य अपनाता है। ढिल-मिल पुरुष कभी श्रद्धावाला नहीं हो पाता। **श्रद्धया**=श्रद्धा से ही **वसु**=सब वसुओं को, धनों को **विन्दते**=पाता है। श्रद्धा ही सब वसुओं की जननी है।

भावार्थ—श्रद्धा से ही हम देव यज्ञशील व योगाभ्यासी बन पाते हैं। श्रद्धा हमें सब वसुओं को प्राप्त कराती हैं।

ऋषि:—श्रद्धा कामायनी ॥ देवता—श्रद्धा ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

श्रद्धामय जीवन

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह न: ॥ ५ ॥

(१) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **प्रात:**=प्रात:काल हम **हवामहे**=पुकारते हैं। हमारा जीवन का प्रात:काल प्रथम २४ वर्ष श्रद्धावाला हो। इस समय हम माता, पिता व आचार्यों के प्रति श्रद्धावाले होकर उनकी आज्ञानुसार वर्तें। (२) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **मध्यन्दिनं परि**=जीवन के मध्याह्न में भी पुकारते हैं। जीवन के अगले ४४ वर्ष भी श्रद्धामय हो। श्रद्धावाले होने पर ही हम इस गृहस्थकाल में पाँचों महायज्ञों को करनेवाले होते हैं। (२) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **सूर्यस्य निम्रुचि**=सूर्य के अस्तकाल में भी हम पुकारते हैं। जीवन के अन्तिम ४८ वर्षों में भी हम श्रद्धावान् बने रहें। **श्रद्धम्**=हे श्रद्धे! **न:**=हमें **इह**=इस जीवन में तू **श्रद्धापय**=श्रद्धायुक्त कर। श्रद्धावाले होकर ही हम इस समय 'क्रियावान् ब्रह्मनिष्ठ' पुरुष के जीवन को बिता पायेंगे।

भावार्थ—हमारा सारा जीवन श्रद्धामय हो।

सारा सूक्त श्रद्धा के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। यह श्रद्धावाला पुरुष ही सब कामनाओं को पूर्ण करके अपने पर पूर्ण शासन करनेवाला 'शास:' बनता है। इस पूर्ण शासन से ही 'भरद्वाज:'=अपने में शक्ति को भरनेवाला होता है। इसी का अगला सूक्त है—

द्वादशोऽनुवाक: ॥

[१५२] द्विपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषि:—शासो भारद्वाज: ॥ देवता—इन्द्र: ॥ छन्द:—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वर:—गान्धार: ॥

शासक

शास इत्था महाँ अस्यमित्रखादो अद्भुत:। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ १ ॥

(१) हे जीव! तू **शास:**=अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर शासन करनेवाला होता है।

इत्था=इस प्रकार शासन करनेवाला बनकर तू **महान् असि**=महान् होता है, आदरणीय बनता है, तू बड़ा होता है। **अमित्रखादः**=शत्रुओं को खा जानेवाला, अर्थात् काम-क्रोध आदि को समाप्त करनेवाला होता है और **अद्भुतः**=शत्रुओं को समाप्त करके आश्चर्यभूत जीवनवाला होता है। सुन्दरतम जीवन यही तो है, जिसमें कि हम काम-क्रोध-लोभ को समाप्त करके स्वस्थ शरीर, मन व बुद्धिवाले बनते हैं। (२) इन काम-क्रोध-लोभ आदि से पराजित वही मनुष्य होता है, जो कि अपने सच्चे मित्र प्रभु से अलग हो जाता है। प्रभु को भूल जाना ही हमारे लिये प्रभु का समाप्त हो जाना है। **यस्य सखा न हन्यते**=जिसका यह प्रभुरूप मित्र समाप्त नहीं होता वह व्यक्ति **कदाचन**=कभी भी **न जीयते**=पराजित नहीं होता। उसे काम-क्रोध आदि कभी अभिभूत नहीं कर पाते।

भावार्थ—हम शासक बनें, इन्द्रियों को वश में रखते हुए काम आदि को समाप्त करनेवाले हों। प्रभुरूप मित्र से कभी अलग न हों। इसके सम्पर्क में रहने पर हम कभी पराजित न होंगे।

ऋषिः—**शासो भारद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्वस्ति-दाः

स्वस्तिदा विशस्पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित, हमारे सच्चे मित्र प्रभु ही **स्वस्तिदाः**=कल्याण को देनेवाले हैं। **विशस्पतिः**=प्रजाओं के रक्षक हैं। **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को (=वृत्र) विनष्ट करनेवाले हैं। वस्तुतः इसके विनाश से ही वे हमारा रक्षण करते हैं। **विमृधः**=वे ही संग्राम को करनेवाले हैं। हमने काम-क्रोध को क्या जीतना होता है, प्रभु ही हमारे लिये इन वासनाओं को जीतते हैं। **वशी**=वे सबको वश में करनेवाले हैं। **वृषा**=शक्तिशाली है। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं। हमारे लिये भी शक्ति व ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। (२) शक्ति को प्राप्त कराने के लिये ही **सोमपाः**=हमारे सोम का रक्षण करते हैं। प्रभु का स्मरण हमें वासनाओं से बचाता है। वासना का शिकार न होने से सोम का रक्षण होता है। सोमरक्षण से शक्ति व बुद्धि का वर्धन होता है। इस प्रकार ये प्रभु **अभयंकरः**=हमारे लिये निर्भयता को करनेवाले होते हैं। ये अभयंकर प्रभु **नः पुरः एतु**=हमारे आगे गतिवाले हैं। प्रभु के नेतृत्व में हम चलें। प्रभु के हम अनुयायी हों। वस्तुतः यही कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु ही वस्तुतः कल्याण करनेवाले हैं। प्रभु के अनुगामित्व में ही सब कल्याण निहित है।

ऋषिः—**शासो भारद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वृत्र (विनाश) दंष्ट्रा भंग

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज। वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले, **वृत्र-हन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाले प्रभो! आप **रक्षः**=अपने रमण के हेतु औरों के विनाश का कारण बननेवाली लोभवृत्ति को **विजहि**=विनष्ट करिये। **मृधः**=अग्नि के रूप से हमारा हिंसन करनेवाली इस क्रोधाग्नि को आप **वि (जहि)**=विनष्ट करिये। तथा **वृत्रस्य**=कामवासना के भी **हनू**=दंष्ट्राओं को **विरुज**=भग्न कर दीजिये। यह कामवासनारूप शेरनी हमें अपने दंष्ट्राओं से विदीर्ण न कर दे। (२) हे इन्द्र! **अभिदासतः**=हमें अपना दास बनानेवाले व हमारा उपक्षय करनेवाले **अमित्रस्य**=हमारी मृत्यु का

कारण बननेवाले इन काम आदि शत्रुओं के **मन्युम्**=क्रोध को व उग्रता को **वि (जहि)**=विनष्ट करिये। ये काम-क्रोध आदि शत्रु अपनी उग्रता को हमारे सामने खो बैठें। ये पूर्णरूप से हमारे वश में हों। हम इनके दास न हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम लोभ, क्रोध व काम की उग्रता को विनष्ट करके इनपर प्रभुत्व को पा सकें।

ऋषिः—**शासो भारद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शत्रुओं को अन्धकारमय लोक में प्राप्त कराना

वि न॑ इन्द्र॒ मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः। यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तमः॑ ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **मृधः**=कतल (murder) करनेवाले इन 'काम-क्रोध-लोभ' को **विजहि**=विनष्ट करिये। **पृतन्यतः**=सेनाओं के द्वारा हमारे पर आक्रमण करनेवालों को **नीचायच्छ**=नीचे नियमन में करिये (trample upon)। इन्हें पाँव तले कुचल दीजिये, ये अशुभवृत्तियाँ फौज की फौज के रूप में हमारे पर आक्रमण करती हैं, इन्हें आपने ही पराजित करना है, (२) **यः**=जो भी **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=दास बनाता है, हमारा उपक्षय करना चाहता है, आप उसे **अधरं तमः गमय**=निकृष्ट अन्धकार में प्राप्त कराइये। औरों को दास बनानेवाले लोग भी उन असुर्यलोकों को प्राप्त करें जो कि अन्धतमस से आवृत हैं। ये काम-क्रोध-लोभ आदि वृत्तियाँ भी घने अन्धकार में पहुँच जायें। हमारे तक ये न पहुँच पायें।

भावार्थ—प्रभु हमें कतल करनेवालों, फौजों के रूप में आक्रमण करनेवालों तथा दास बनानेवालों को अन्धकारमय लोकों में ले जायें।

ऋषिः—**शासो भारद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अद्वेष-अक्रोध

अपे॑न्द्र द्विष॒तो मनोऽप॒ जिज्या॑सतो व॒धम्। वि म॒न्योः शर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यवया व॒धम् ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **द्विषतः**=हमें प्रीति न करनेवाले द्वेषी पुरुष के **मनः**=मन को **अप** (यवया)=हमारे से पृथक् करिये। उसका द्वेष हमारे तक न पहुँचे। **जिज्यासतः**=हमारी वयोहानि को चाहते हुए पुरुष के **वधम्**=हनन साधन आयुधों को **अप**=हमारे से दूर करिये। (२) **मन्योः**=क्रोध से **वि**=हमें पृथक् रखिये। हम कभी क्रोधाभिभूत न हों। इस पर क्रोध से दूर करके **वरीयः**=उरुतर, अत्यन्त विशाल **शर्म**=सुख को **यच्छ**=हमें प्राप्त कराइये। **वधम्**=हननसाधन आयुधों को **यवया**=हमारे से पृथक् करिये। शत्रुओं के अस्त्र हमारे पर न गिरें।

भावार्थ—हम द्वेष करनेवालों व आयुष्य की हानि करनेवालों से बच सकें। क्रोध से दूर होकर उत्कृष्ट सुख का अनुभव करें।

सम्पूर्ण सूक्त अन्तः व बाह्य शत्रुओं के विजय की प्रेरणा दे रहा है। इन अन्तः व बाह्य शत्रुओं को जीतने की प्रेरणा माताओं ने ही देनी होती है। वे बालकों को लोरियों में ही इस प्रकार की प्रेरणायें देकर अपने बच्चों को देव बनाती हैं, सो 'देवजामयः' कहलाती हैं। इन्होंने बच्चों को इन्द्रियों का शासक 'इन्द्र' बनाता है, सो ये 'इन्द्रमातरः' है। ये 'देवजामयः इन्द्रमातरः' ही अगले सूक्त की ऋषिका है—

[१५३] त्रिपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'स्तुति-क्रिया-संयम'

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते। भेजानासः सुवीर्यम्॥ १ ॥

(१) **ईङ्खयन्तीः**=स्तुति द्वारा प्रभु की ओर गति करनेवाली, **अपस्युवः**=अपने साथ कर्म को जोड़नेवाली माताएँ **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए **इन्द्रम्**=इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले बालक को **उपासते**=उपासित करती हैं। सदा इसका ध्यान करती हैं, इसे अपनी आँखों से ओझल नहीं करती। (२) इसका निर्माण करनेवाली ये माताएँ **सुवीर्यं भेजानासः**=उत्तम वीर्य व शक्ति का सेवन करनेवाली होती हैं। स्वयं संयमी जीवन बिताती हुईं ये शक्ति का रक्षण करती हैं। इनका अपना जीवन संयमवाला न हो, तो इन्होंने बच्चों का क्या निर्माण करना?

भावार्थ—बालक को वही माता 'इन्द्र' बना पाती है जो कि—(क) प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाली हो, (ख) क्रियाशील जीवनवाली हो, (ग) संयम द्वारा उत्तम शक्ति का सेवन करनेवाली हो।

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

बालक को माता की प्रेरणा

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं वृषन्वृषेदसि॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले प्रिय! **त्वम्**=तू **बलात्**=बल से, **सहसः**=सहस् से, सहनशक्तिवाले बल से तथा **ओजसः**=ओज से **अधि जातः असि**=आधिक्येन प्रसिद्ध हुआ है। तेरा मनोमयकोश 'बल व ओज' से सम्पन्न है तथा आनन्दमयकोश 'सहस्' वाला हुआ है। (२) हे **वृषन्**=शक्तिशाली इन्द्र! **त्वम्**=तू **इत्**=निश्चय से **वृष**=शक्तिशाली **असि**=है। तूने अपने को शक्ति से सिक्त करना है।

भावार्थ—माता प्रारम्भ से बालक को यही प्रेरणा देती है कि तूने 'बलवान्, ओजस्वी व सहस्वी' बनना है। तू शक्तिशाली है।

ऋषिः—इन्द्रमातरो देवजामयः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उदार हृदय-उत्कृष्ट मस्तिष्क

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्य१न्तरिक्षमतिरः। उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वं वृत्राहा असि**=तू ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाला है। **अन्तरिक्षं वि अतिरः**=तू इन ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करके हृदयान्तरिक्ष को विशेषरूप से बढ़ानेवाला है। तू अपने हृदय को विशाल बनाता है। (२) तथा **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **उत् अस्तभ्नाः**=उत्कृष्ट स्थान में थामता है। मस्तिष्क को उत्कृष्ट ज्ञान सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—माता बालक को प्रेरणा देती है कि—(क) तूने वासनाओं को विनष्ट करनेवाला बनना है, (ख) हृदय को विशाल बनाना है, (ग) तथा ओजस्विता के साथ मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करना है।

ऋषिः—**इन्द्रमातरो देवजामयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तुत्य तेज

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः। वज्रं शिशान ओजसा॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले जीव! **त्वम्**=तू **बाह्वोः**=अपनी भुजाओं में **सजोषसम्**=जोश व उत्साह से युक्त **अर्कम्**=(अर्च्) स्तुत्य सूर्यसम तेज को **बिभर्षि**=धारण करता है (प्राणो वा अर्कः श० १०।४।१।२३)। तेरे में शक्ति है तथा उत्साह है। (२) तू **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **वज्रम्**=अपने वज्र को **शिशानः**=तीक्ष्ण करनेवाला है। 'वज्र गतौ' से बना हुआ वज्र शब्द क्रियाशीलता का वाचक है, ओजस्विता के कारण तेरा जीवन बड़ा क्रियाशील है।

भावार्थ—बालक को माता ने उत्साहयुक्त तेजवाला तथा ओजस्विता से युक्त क्रियाशीलतावाला बनाना है।

ऋषिः—**इन्द्रमातरो देवजामयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अभिभूति द्वारा आभूति की प्राप्ति

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा। स विश्वा भुव आभवः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले बालक! **त्वम्**=तू **विश्वाजातानि**=सब उत्पन्न हुए-हुए इन वासनारूप शत्रुओं को **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **अभिभूः असि**=पराभूत करनेवाला है। काम-क्रोध-लोभ से तू आक्रान्त नहीं होता। (२) **सः**=वह तू **विश्वाः**=सब **भुवः**=भूमियों को, 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' कोशों को **आभवः**=आभूतिवाला करता है। इन सब कोशों को तू ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता है। अन्नमयकोश को 'तेज' से, प्राणमय को 'वीर्य' से, मनोमय को 'बल व ओज' से, विज्ञानमय को 'मन्यु' से, आनन्दमय को 'सहस्' तू परिपूर्ण करता है।

भावार्थ—माता बालक को यह प्रेरणा देती है कि—(क) तूने काम-क्रोध आदि शत्रुओं को अभिभूत करना है, (ख) तथा अन्नमयादि सब कोशों को 'आभूति' (=ऐश्वर्य) वाला बनाना है।

सम्पूर्ण सूक्त बालक के सुन्दर निर्माण का उल्लेख कर रहा है। इस निर्माण को करनेवाली, अत्यन्त संयत जीवनवाली, सन्तानों को भी नियन्त्रण में चलानेवाली 'यमी' अगले सूक्त की ऋषिका है। कठोपनिषद् के अनुसार 'यम' आचार्य है, 'यमी' आचार्य पत्नी। आचार्य पत्नी कुल में प्रविष्ट हुए-हुए बालक के लिये आचार्य से कहती है कि इसे हम ऐसा बनायें कि यह ऊँचे ब्राह्मणों, क्षत्रिय व वैश्यों में जानेवाला हो। 'वह कैसे सन्तानों को बनाती है' इसका वर्णन इस सूक्त द्वारा करते हैं—

[१५४] चतुःपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**यमी** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सौम्य-दीप्त-मधुर

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते। येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥ १॥

(१) **एकेभ्यः**=कइयों के लिये **सोमः**=सोम (=वीर्य) **पवते**=पवित्र करनेवाला होता है। वीर्य के रक्षण से उनका जीवन शरीर में नीरोग, मन में निर्मल व बुद्धि में तीव्र बनता है। **एके**=कई **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति की **उपासते**=उपासना करते हैं। ज्ञान को महत्त्व देते हुए वे ज्ञान से चमक उठते

हैं। कई ऐसे होते हैं, **येभ्यः**=जिनसे कि **मधु प्रधावति**=मधु ही प्रवाहित होता है, जिनके मुख से शहद के समान मधुर शब्द ही निकलते हैं। (२) यह हमारे समीप आया हुआ बालक **चित्**=निश्चय से **तान् एव**=उन लोगों को ही **अपि-गच्छतात्**=समीपता से प्राप्त होनेवाला हो। अर्थात् इसकी भी गिनती उनमें हो, जो सोम का रक्षण करते हैं, ज्ञान से दीप्त होते हैं और मधुर ही शब्दों को बोलते हैं। शरीर में सोमरक्षण से यह बिलकुल नीरोग हो, मस्तिष्क में ज्ञान से परिपूर्ण हो और व्यवहार में अत्यन्त मधुर हो।

भावार्थ—हमारे सन्तान 'सौम्य, दीप्त व मधुर स्वभाव' के हों।

ऋषिः—**यमी** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तपस्वी

तप॑सा॒ ये अ॑नाधृ॒ष्यास्तप॑सा॒ ये स्व॑र्य॒युः। तपो॒ ये च॑क्रि॒रे मह॒स्ताँश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥ २ ॥

(१) **ये**=जो **तपसा**=तप के द्वारा **अनाधृष्याः**=न धर्षण के योग्य बनते हैं, तपस्या के कारण जो वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते हैं। **ये**=जो **तपसा**=तप के द्वारा **स्वः ययुः**=प्रकाशमय व सुखमय लोक को प्राप्त करते हैं, जिन्हें तप सुखी व ज्ञानदीप्त बनाता है। **ये**=जो **महः तपः**=महान् तप को **चक्रिरे**=करते हैं। (२) यह हमारे समीप आया हुआ बालक **चित्**=निश्चय से **तान् एव**=उन लोगों के ही **अपि गच्छतात्**=समीप प्राप्त होनेवाला हो। अर्थात् ये भी तप के द्वारा वासनाओं को कुचलनेवाला बने। तप के कारण प्रकाशमय लोक को प्राप्त करे, दीप्त बुद्धिवाला हो। खूब ही तपस्वी हो।

भावार्थ—हम अपने सन्तानों को तपस्वी बनायें। जिससे वे वासनामय जीवन से दूर रहते हुए प्रकाशमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**यमी** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वीर व दानवीर

ये यु॒ध्यन्ते॑ प्र॒धने॑षु॒ शूरा॑सो॒ ये त॑नू॒त्यजः॑। ये वा॑ स॒हस्र॑दक्षिणा॒स्ताँश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥ ३ ॥

(१) **ये**=जो **प्रधनेषु**=संग्रामों में **युध्यन्ते**=युद्ध करते हैं। **शूरासः**=शूरवीर होते हुए **ये**=जो **तनूत्यजः**=अपने शरीरों को छोड़ने के लिये तैयार हैं, जिनको जीवन की समता ने कायर नहीं बना दिया। **वा**=अथवा **ये**=जो **सहस्रदक्षिणाः**=हजारों के ही दान देनेवाले हैं 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर'=खूब कमाते हैं और खूब ही देते हैं। (२) यह हमारे समीप आया हुआ बालक **चित्**=निश्चय से **तान् एव**=उन लोगों की ही **अपिगच्छतात्**=ओर जानेवाला हो। यह भी वीर क्षत्रिय बने, युद्ध से पराङ्मुख होनेवाला न हो। तथा यह भी दानवीर बने। यह धन के प्रति आसक्तिवाला न बन जाये।

भावार्थ—हमारे सन्तान वीर क्षत्रिय बनें। अथवा वे दानवीर वैश्य बन पायें।

ऋषिः—**यमी** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ऋतमय-तपस्वी-पितर

ये चि॒त्पूर्व॑ ऋत॒साप॑ ऋ॒तावा॑न ऋता॒वृधः॑। पि॒तॄन्तप॑स्वतो यम॒ ताँश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात्॥ ४ ॥

(१) **ये**=जो **चित्**=निश्चय से **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले हैं। शरीर को रोगों से बचाते हैं, मन में वासनाओं के कारण आ जानेवाली न्यूनताओं को दूर करते हैं। **ऋत-सापः**=(ऋत=यज्ञ व सत्य) यज्ञ व सत्य के साथ ही अपना सम्पर्क बनानेवाले (सपः=स्पर्श),

ऋतावानः=ऋत का रक्षण करनेवाले व **ऋतावृधः**=ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले हैं। उन **पितॄन्**=पालक वृत्तिवाले **तपस्वतः**=तपस्वियों को ही यह प्राप्त हो। (२) हे **यम**=सब बालकों को नियम में रखनेवाले आचार्य! **तान्**=उन ऋतमय जीवनवाले तपस्वी रक्षक वृत्तिवाले लोगों को **एव**=ही **चित्**=निश्चय से यह **अपिगच्छतात्**=प्राप्त हो। इसके गिनती भी उन ऋतमय तपस्वी पितरों में हो।

भावार्थ—हमारे सन्तान ऋतमय, तपस्वी व पितृ कोटि के (रक्षणात्मक वृत्तिवाले) हों।

ऋषिः—**यमी** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तपस्वी ऋषि

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्। ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥ ५ ॥

(१) (नीथः=पथप्रदर्शन glsiding) **सहस्रणीथाः**=शतशः पुरुषों को मार्गदर्शन करानेवाले **कवयः**=ज्ञानी पुरुष, **ये**=जो **सूर्यं गोपायन्ति**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान सूर्य का रक्षण करते हैं, उन **ऋषीन्**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी पुरुषों को जो **तपस्वतः**=तपस्यामय जीवनवाले हैं, उन **तपोजान्**=तप से जिन्होंने अपनी शक्तियों का विकास किया है उन पुरुषों को हे **यम**=आचार्य! यह बालक **अपिगच्छतात्**=प्राप्त होनेवाला हो। (२) इस बालक का इस प्रकार का शिक्षण हो कि यह अपने जीवन को तपस्या के द्वारा उत्तम परिपाकवाला करके औरों के लिये मार्गदर्शन का कार्य करे।

भावार्थ—सन्तानों को हम तपस्वी ऋषि तुल्य जीवनवाला बनायें।

यह सूक्त सन्तानों के आदर्श निर्माण को हमारे सामने उपस्थित करता है। जिनका इस प्रकार निर्माण होता है वे भारद्वाजः=अपने में सदा त्याग को स्थापित करनेवाले (वाज=saerifice) 'शिरिम्बिठ'=(विठम् अन्तरिक्षम्, इत हिंसायाम्) हृदयान्तरिक्ष में वासना को विनष्ट करनेवाले बनते हैं। ये सदा दान की वृत्तिवाले होते हुए कहते हैं कि—

[१५५] पञ्चपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**शिरिम्बिठो भारद्वाजः** ॥ देवता—**अलक्ष्मीघ्नम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अदानवृत्ति की भयंकरता

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे। शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥ १ ॥

(१) **अरायि**=हे न दान देने की वृत्ति! **काणे**=तू काणी हैं। एक ही ओर देखनेवाली है। तू अपने व्यक्तित्व को ही देखती है, समाज को नहीं देखती। समाज की उपेक्षा में अन्ततः व्यक्ति के रक्षण का सम्भव नहीं। समाज ही तो व्यक्ति का रक्षण करती है। परन्तु यह अदानवृत्ति केवल अपना पेट भरना जानती है, समाज को कार्यों के संचालन के लिये यह कुछ नहीं दे पाती। अन्त में यह **विकटे**=भयंकर स्थिति को पैदा करनेवाली है। परस्पर असम्बद्ध व्यक्ति मात्स्य न्याय से एक दूसरे को खा-पीकर समाप्त कर देते हैं। **सदान्वे**=इस प्रकार यह अदानवृत्ति सदा आक्रोश को करानेवाली होती है। समाज के असंगति होने पर चोरियाँ, डाके व कतल ही होते रहते हैं और चीखना-चिल्लाना मचा रहता है। सो हे अदानवृत्ति! तू **गिरिं गच्छ**=पहाड़ पर जा, मनुष्यों से न वसने योग्य स्थान पर जा। अर्थात् हमारे से दूर हो। (२) **शिरिम्बिठस्य**=हृदयान्तरिक्ष में वासनाओं को विनष्ट करनेवाले के **तेभिः सत्वभिः**=उन आन्तरिक शक्तियों से (strength, cowrage) **त्वा चातयामसि**=तुझे हम विनष्ट करते हैं। वासनामय जीवन में दानवृत्ति नहीं

पनपती। वासनाओं के विनष्ट होने पर इस शिरिम्बिठ में वह सात्त्विकभाव जागता है जिससे यह दान दे पाता है।

भावार्थ—अदान की वृत्ति केवल व्यक्ति को देखने के कारण अन्ततः भयंकर परिणामों को पैदा करनेवाली है। हम वासनाओं से ऊपर उठकर सात्त्विकभाव के जागरण से अदान की वृत्ति को दूर भगानेवाले हों।

ऋषिः—**शिरिम्बिठो भारद्वाजः** ॥ देवता—**ब्रह्मस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उभयलोक विनाशिनी अदानवृत्ति

चत्तो इतश्चत्तामुतः सर्वा भ्रूणान्यारुषी। अराय्यं ब्रह्मणस्पते तीक्ष्णशृङ्गोदृषन्निहि॥ २॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार यह अदानवृत्ति **इतः**=इस लोक के दृष्टिकोण से **चत्ता उ**=निश्चय से विनाशकारिणी है। **अमुतः**=परलोक के दृष्टिकोण से भी **चत्ता**=विनाश करनेवाली है। दानवृत्ति ही यज्ञियभावना है (यज्=दाने) अयज्ञिय भावनावाले का न इस लोक में कल्याम है, न उस लोक में। बिना इस यज्ञिय भावना के समाज का संगठन असम्भव है। उसके बिना ऐहिक कल्याण नहीं। दान के बिना परलोक में भी उत्तम गति नहीं। स्वार्थी पुरुष पशु-पक्षियों की योनि में ही जन्म लेते हैं। जितना स्वार्थ, उतना जीवन भोग-प्रधान। जितना-जितना भोग-प्रधान जीवन, उतना-उतना निकृष्ट पशुओं की योनि में जन्म। (२) यह अदान की वृत्ति **सर्वा भ्रूणानि**=सब गर्भस्थ बालकों को भी **आरुषी**=हिंसित करनेवाली है। माता की कृपणता की वृत्ति गर्भस्थ बालक पर भी अनुचित प्रभाव पैदा करती है। गर्भस्थ बालक भी इसी वृत्ति का बनता है और इस प्रकार वह गर्भावस्था में ही अवनति के मार्ग पर चलना आरम्भ करता है। (३) इसलिए कहते हैं कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के रक्षक! **तीक्ष्णशृंग**=तीक्ष्ण तेजवाले! तू **अराय्यम्**=इस अदानवृत्ति को **उदृषन्**=(उद्गमयन्) अपने जीवन से बाहिर (out=उद्) करता हुआ **इहि**=गति कर। अर्थात् हमारे सब व्यवहारों के अन्दर कृपणता को स्थान न हो, हमारे हृदयों में उदारता हो, नकि अदानवृत्ति।

भावार्थ—अदानवृत्ति उभयलोक विनाशिनी है, यह गर्भस्थ बालकों पर भी अनुचित प्रभाव पैदा करती है। हम अपने व्यवहारों में इस कृपणता को न आने दें।

ऋषिः—**शिरिम्बिठो भारद्वाजः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु रूप नाव

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्। तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥ ३॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को दारु=काष्ठमयी नाव के रूप में चित्रित किया है। यह नाव अपूरुष=अलौकिक है, किसी मनुष्य से नहीं बनायी गई। इस नाव के द्वारा ही हम भवसागर को तैर पाते हैं। **अदः**=वह **यत्**=जो **अपूरुषम्**=अलौकिक **दारु**=नाव **सिन्धोः पारे**=भवसागर को पार करने के निमित्त **प्लवते**=गतिवाली होती है, **तद्**=उस नाव को **आरभस्व**=तू आश्रय बना। उस नाव को तू पकड़, उसका सहारा ले। (२) **दुर्हणः**=हे सब बुराइयों के हनन करनेवाले जीव! **तेन**=उस नाव से **परस्तरम्**=तू उत्कृष्ट परले पार को **गच्छ**=जानेवाला हो। प्रभु रूप नाव ही तुझे भवसागर के पार करेगी। यह संसार-नदी विषयों की चट्टानों से बड़ी बीहड़ है, इसे तू इस प्रभु रूप नाव से ही पार कर पायेगा। प्रभु का आश्रय ले विषयों से ऊपर उठकर तू दानवृत्तिवाला बनेगा।

भावार्थ—संसार एक विषयों के ग्राहों से भयंकर बने हुए समुद्र के समान है। इसे प्रभु रूप नाव के द्वारा ही पार किया जा सकता है।

ऋषिः—**शिरिम्बिठो भारद्वाजः** ॥ देवता—**अलक्ष्मीघ्नम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कामादि शत्रुओं का विनाश

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः। हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का आश्रय करके **यद्**=जब **ह**=निश्चय से **प्राचीः अजगन्त**= प्रकृष्ट गतिवाले होकर लोग चलते हैं, तो **उरः**=(उर्वी हिंसायाम्) वासनाओं का हिंसन करनेवाले होते हैं, **मण्डूरधाणिकीः**=(मन्दनस्य धनस्य धारयित्यः) आनन्दप्रद धनों का धारण करनेवाले होते हैं। प्रभु का भक्त कभी अनुचित उपायों से धनार्जन नहीं करता। (२) **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के **शत्रवः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रु **हताः**=विनष्ट होते हैं। ये **सर्वे**=सब शत्रु **बुद्बुदयाशवः**= (यान्ति, अश्नुवते) बुलबुलों की तरह नष्ट हो जानेवाले होते हैं और व्यापक रूप को धारण करते हैं। बुलबुला फटा और पानी में मिलकर उसी में फैल गया (=विलीन हो गया)। इसी प्रकार 'काम' फटकर प्रेम का रूप धारण कर लेता है, क्रोध फटकर करुणा के रूप में हो जाता है और लोभ विनष्ट होकर त्याग का रूप धारण कर लेता है।

भावार्थ—हम कामादि शत्रुओं को नष्ट करके आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**शिरिम्बिठो भारद्वाजः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वेदवाणी के साथ परिणय

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत। देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति॥ ५॥

(१) **इमे**=गत मन्त्र में वर्णित जितेन्द्रिय पुरुष **गां परि अनेषत**=वेदवाणी रूप गौ के साथ अपना परिणय करते हैं। ज्ञान की वाणियों को अपनाते हैं। **अग्निं परि अहृषत**=यज्ञों के लिये अग्नि को चारों ओर स्थापित करते हैं (अहरन् स्थापितवन्तः)। यज्ञों को अपनाते हैं। (२) ये लोग **देवेषु**=माता, पिता, आचार्य आदि देवों के चरणों में आसीन (स्थित) होकर **श्रवः अक्रत**=ज्ञान का सम्पादन करते हैं अथवा **देवेषु**=दिव्य गुणों के विषय में **श्रवः अक्रत**=यश को प्राप्त करते हैं। अर्थात् दिव्यगुणों का धारण करते हैं। **कः**=कौन **इमान्**=इनको **आदधर्षति**=कुचल सकता है। अर्थात् इस प्रकार जीवन को बनाने पर ये काम-क्रोध-लोभ आदि से कुचले नहीं जाते।

भावार्थ—हम वेदवाणी को अपनाकर ज्ञानी बनें। यज्ञों को सिद्ध कर कर्मकाण्डी हों। दिव्य गुणों का सम्पादन करते हुए पवित्र हृदय व प्रभु के उपासक हों। वासनाओं से बचने का यही मार्ग है। इस सूक्त में अदानवृत्ति की हेयता का प्रतिपादन करके उसके उन्मूलन के लिये उपायों का संकेत है। अदानवृत्ति से ऊपर उठकर मनुष्य उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है, 'आग्नेय' होता है। यह लोभ से ऊपर उठ जाने के कारण ज्ञानी बनता है 'केतु'। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

[१५६] षट्पञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**केतुराग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धनों का विजय

अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु। तेन जेष्म धनंधनम्॥ १॥

(१) **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियाँ अपने अन्दर **अग्निं हिन्वन्तु**=उस प्रभु को प्रेरित करें व उस प्रभु की भावना का वर्धन करें। अर्थात् हम अपने हृदयों में प्रभु का चिन्तन करें। जो प्रभु

आजिषु=संग्रामों में **आशुं सप्तिं इव**=(अशू व्याप्तौ) शीघ्र गतिवाले अश्व के समान हैं। जैसे अश्व से संग्राम में विजय प्राप्त होती है, इसी प्रकार प्रभु के द्वारा हम अध्यात्म-संग्रामों में विजय को प्राप्त करते हैं। (२) **तेन**=उस प्रभु के द्वारा हम **धनं धनम्**=प्रत्येक जीवन को धन्य बनानेवाले धन को **जेष्म**=जीतनेवाले हों। प्रभु ही भगवान् हैं, वे ही आवश्यक भगों-ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का हृदयों में चिन्तन करते हुए हम काम-क्रोध आदि को पराजित कर पायें और सब धनों का विजय करें।

ऋषिः—**केतुराग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

गो-रक्षण

यया गा आकरामहे सेनयाग्ने तवोत्या। तां नो हिन्व मघत्तये॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यया**=जिस **सेनया**=(इनेन सह) स्वामी के साथ वर्तमान आपकी **उत्या**=रक्षण शक्ति से हम **गाः**=इन सब इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियों का **आकरामहे**=सम्पादन करते हैं, **ताम्**=उस रक्षण को **मघत्तये**=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **नः**=हमें **हिन्व**=प्राप्त कराइये। (२) प्रभु के रक्षण से ही सब ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। प्रभु का रक्षण हमें प्राप्त हो, हम प्रभु को कभी भूले नहीं। यही रक्षण का 'स्वामी के साथ' होना है। यह रक्षण ही हमें इन्द्रियों को विषयों का शिकार होने से बचाने में समर्थ करता है। इन्द्रियों को सुरक्षित रखकर ही हम वास्तविक ऐश्वर्य का सम्पादन कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में हम इन्द्रियों को सुरक्षित रखते हुए ज्ञानैश्वर्य का सम्पादन करनेवाले हों।

ऋषिः—**केतुराग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कितना धन?

आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम्। अङ्धि खं वर्तया पणिम्॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **रयिं आभर**=हमें ऐश्वर्य से परिपूर्ण करिये। जो ऐश्वर्य **स्थूरम्**=(स्थूलं) प्रवृद्ध (बढ़ा हुआ) है, **पृथुम्**=विस्तृत है, **गोमन्तम्**=उत्तम गौवोंवाला है तथा **अश्विनम्**=प्रशस्त अश्वोंवाला है। गौवें दूध से बुद्धि की सात्त्विकता के द्वारा ज्ञानवृद्धि का कारण होती हैं, घोड़े शक्ति की वृद्धि का। इतना धन प्रभु हमें दें कि हम उत्तम गौवों व अश्वोंवाले बन पायें। (२) **खं अङ्धि**=आप हमारी इन्द्रियों को कान्तिवाला व गतिवाला करिये। नमक तेल ईंधन की परेशानी के न होने पर वे सब इन्द्रियाँ अपना कार्य ठीक प्रकार से करनेवाली हों तथा चमकनेवाली हों, सशक्त बनी रहें। इस धन के द्वारा आप **पणिम्**=हमारे सब व्यवहार को **वर्तया**=ठीक से प्रवृत्त कराइये, अर्थात् इतना धन दीजिये कि हमारे सब व्यवहार ठीक प्रकार चलते जायें।

भावार्थ—प्रभु हमें इतना धन दें जिससे कि हम उत्तम गौवों व घोड़ोंवाले होते हुए सब इन्द्रियों को दीप्त व सशक्त बना सकें और हमारे सब व्यवहार ठीक प्रकार से सिद्ध हों।

ऋषिः—**केतुराग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अजर नक्षत्र

अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि। दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः॥ ४॥

(१) **अग्ने**=हे परमात्मन्! आप **जनेभ्यः**=लोगों के लिये **ज्योतिः दधत्**=प्रकाश को प्राप्त

करने के हेतु से **दिवि**=द्युलोक में **सूर्यम्**=सूर्य को **आरोहयः**=आरूढ़ करते हैं, जो सूर्य **अजरं नक्षत्रम्**=न जीर्ण होनेवाला नक्षत्र है। (२) 'सूर्य कभी जीर्ण होकर समाप्त हो जाएगा' ऐसी बात नहीं है। प्रभु का प्रत्येक रचना चाक्रिक क्रम से गति करती हुई सदा पूर्ण बनी रहती है। नदियों का जल बहता चला जा रहा है। समुद्र में पहुँचकर यह वाष्पीभूत होकर, मेघ बनकर फिर पर्वत-शिखरों पर वृष्टि के रूप में बरसता है। और फिर वहाँ से प्रवाहित होकर नदियों को सदा परिपूर्ण किये रहता है। इसी प्रकार सूर्य के प्रकाश की बात है। सूर्य कभी समाप्त न हो जाएगा। 'नक्षत्र' शब्द इसी भावना को व्यक्त कर रहा है, 'नभीयते त्रायते'=अक्षीण होता हुआ यह सदा रक्षण कार्य में लगा रहता है। इस अजर नक्षत्र के द्वारा प्रभु हम सब में प्राणशक्ति का संचार करते हैं और प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने सूर्य की स्थापना के द्वारा हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाने की व्यवस्था की है।

ऋषिः—**केतुराग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रेष्ठ-श्रेष्ठ

अग्ने॑ के॒तुर्वि॒शाम॑सि॒ प्रेष्ठः॒ श्रेष्ठ॑ उपस्थ॒सत्। बोधा॑ स्तो॒त्रे वयो॒ दध॑त्॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **विशाम्**=सब प्रजाओं के **केतुः**=प्रज्ञान को देनेवाले **असि**=हैं। आप ही ज्ञान को प्राप्त करानेवाले हैं। **प्रेष्ठः**=प्रियतम हैं। **श्रेष्ठः**=प्रशस्यतम हैं। **उपस्थसत्**=सबके समीप विद्यमान हैं। (२) **बोधा**=आप ही सबको जानते हैं। सबके रक्षण का आप ही ध्यान करते हैं। **स्तोत्रे**=स्तुतिकर्ता के लिये **वयः**=उत्कृष्ट जीवन को **दधत्**=धारण करते हैं। स्तोता का जीवन, आपके गुणों के धारण से सुन्दर बनता है।

भावार्थ—प्रभु ही प्रियतम हैं, प्रशस्यतम हैं। वे ही हमें उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराते हैं।

सूक्त का विषय ही है कि प्रभु का अवलम्बन करके हम सब धनों को प्राप्त करते हैं। सब शत्रुओं को पराजित करके उत्कृष्ट जीवनवाले बनते हैं। यह शरीरस्थ तीनों भुवनों को, 'पृथिवीरूप शरीर, अन्तरिक्षरूप हृदय तथा द्युलोकरूप मस्तिष्क' को वशीभूत करने से 'भुवनः' कहलाता है (भुवनानि अस्य सन्ति इति) यही प्रभु को प्राप्त करनेवालों में उत्तम होने से 'आप्त्य' है। प्रभु प्राप्ति की साधनावाले होने से 'साधनः' है तथा लोकहित में प्रवृत्त होने से 'भौवना' कहलाता है। यह यही आराधना करता है कि—

[१५७] सप्तपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**द्विपदात्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

त्रिलोकी का आधिपत्य

इ॒मा नु कं॒ भुव॑ना सीषधा॒मेन्द्र॑श्च॒ विश्वे॑ च दे॒वाः॥ १ ॥

(१) हम **नु**=अब **इमा**=इन **भुवना**=शरीर, मन व मस्तिष्क रूप लोकों को **सीषधाम्**=साधित करें, इन्हें अपने वश में करें। शरीर, मन व मस्तिष्क पर हमारा आधिपत्य हो। (२) इस वशीकरण प्रक्रिया के होने पर **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=और **विश्वेदेवाः**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि सब देव **कम्**=सुख को (सीषधाम=साधयत सा०) सिद्ध करें।

भावार्थ—हमारा अपनी शरीर, मन, मस्तिष्क रूप त्रिलोकी पर आधिपत्य हो। सूर्य आदि सब देवों के द्वारा प्रभु हमें सुखी करें।

ऋषिः—**भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**द्विपदात्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञ-शरीर-प्रजा

यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥ २ ॥

(१) 'अदिति' अविनाशिनी प्रकृति है। इस से उत्पन्न सूर्य आदि सब पिण्ड 'आदित्य' हैं। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **आदित्यैः सह**=इन अदिति पुत्रों, सूर्य आदियों के साथ **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञ को **च**=और **तन्वम्**=शरीर को **च**=और **प्रजाम्**=प्रजा को **चीक्लृपाति**=समर्थ करते हैं, शक्तिशाली बनाते हैं। (२) जब गत मन्त्र के अनुसार हम शरीर, मन व मस्तिष्क को साधित करते हैं तो प्रभु हमारे अन्दर यज्ञ की प्रवृत्ति को बढ़ाते हैं, हमारे शरीरों को दृढ़ करते हैं तथा हमारी प्रजाओं को भी उत्तम बनाते हैं। मस्तिष्क के वशीकरण से विचारों की उत्तमता होकर यज्ञ प्रवृत्ति बढ़ती है। मन के वशीकरण से वासनाओं के अभाव में शक्ति का रक्षण होकर शरीर उत्तम बनता है। शरीर पर आधिपत्य होने से उत्तम सन्तानों का जन्म होता है।

भावार्थ—हम मस्तिष्क, मन व शरीर पर संयमवाले होकर अपने में 'यज्ञ, शरीर की शक्ति व प्रजा' का वर्धन करें।

ऋषिः—**भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**द्विपदात्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

सर्वदेवानुकूल्य व स्वास्थ्य

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ॥ ३ ॥

(१) प्रभु हमारे जीवनों में पञ्चभूतों के प्रथम गण का स्थापन करते हैं 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' 'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान' नाम का प्राण पञ्चक है। तीसरा कर्मेन्द्रिय पञ्चक, चौथा ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक और पाँचवाँ अन्तकरण पञ्चक 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और हृदय'। वह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सगणः**=इन गणों के साथ तथा **आदित्यैः**=अदिति के पुत्रों सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि के साथ तथा **मरुद्भिः**=(मरुतः प्राणाः) प्राणों के साथ **अस्माकम्**=हमारे **तनूनाम्**=शरीरों के **अविता भूतु**=रक्षक हों। (२) वस्तुतः प्रभु प्राणपञ्चक आदि गणों के द्वारा हमारे शरीरों का कल्याण करते हैं। इस प्राणसाधना के साथ सूर्यादि सब देवों की भी हमें अनुकूलता प्राप्त होती है। इस अनुकूलता में ही स्वास्थ्य है।

भावार्थ—सर्वदेवानुकूल्य के प्राप्त करके हम स्वस्थ शरीर बनें।

ऋषिः—**भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**द्विपदात्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

देवत्व रक्षण

हत्वाय देवा असुरान्यदायन्देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥ ४ ॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के लोग **असुरान्**=आसुरवृत्तियों को **हत्वाय**=नष्ट करके **यदा**=जब **आयन्**=जीवन में गति करते हैं तो ये **देवाः**=देव **देवत्वं अभिरक्षमाणाः**=अपने देवत्व का रक्षण करनेवाले होते हैं। (२) देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाली बात यही है कि वे आसुरवृत्तियों

के आक्रमण से अपना बचाव करते हैं। काम से अपने को दूर रखते हुए वे शरीर को अक्षीण शक्ति बनाये रखते हैं। क्रोध से ऊपर उठकर वे अपने मन को शान्त रखते हैं तथा लोभ में न फँसने से उनकी बुद्धि स्थिर रहती है। वस्तुतः देव का लक्षण यही है 'स्वस्थ शरीर, शान्त मन, स्थिर बुद्धि'।

भावार्थ—हम आसुरवृत्तियों को नष्ट करके अपने जीवन में देवत्व का रक्षण करें।

ऋषिः—**भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**द्विपदात्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

इषिरा 'स्वधा'

प्रत्यञ्चमर्कमनयञ्छचीभिरादित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के देव **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों के द्वारा **प्रत्यञ्चम्**=उस अन्तःस्थित **अर्कम्**=उपास्य प्रभु को **अनयन्**=अपने प्रति प्राप्त कराते हैं। प्रज्ञापूर्वक कर्मों से ही प्रभु का सच्चा उपासन होता है। इन कर्मों से ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। (२) **आत् इत्**=प्रभु को प्राप्त करने के बाद एकदम ये देव अपने अन्दर **इषिराम्**=(एषति to go, move) गतिशील **स्वधाम्**=आत्मधारण शक्ति को **पर्यपश्यन्**=देखते हैं। प्रभु को अपने हृदयों में स्थापित करने से इन्हें वह आत्मधारण शक्ति प्राप्त होती है, जो कि इन्हें सब प्राणियों के हितसाधन में निरन्तर प्रवृत्त रखती है 'सर्वभूत हिते रताः'।

भावार्थ—प्रज्ञापूर्वक कर्मों से प्रभु का उपासन होता है। प्रभु को हृदय में स्थापित करने से क्रियामय आत्मधारण शक्ति प्राप्त होती है।

सम्पूर्ण सूक्त का भाव भी यही है कि शरीर, मन व मस्तिष्क को स्वस्थ रखते हुए हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों में प्रवृत्त रहें। इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हुए हम अपने अन्दर शक्ति का अनुभव करें और सदा लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहें इन लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहने के लिये चक्षु आदि इन्द्रियों का सशक्त बने रहना आवश्यक है। चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति को स्थिरता के लिये सूर्यादि देवों की अनुकूलता आवश्यक होती है। इस अनुकूलता को सिद्ध करनेवाला 'चक्षुः सौर्यः' अगले सूक्त का ऋषि है। उसकी प्रार्थना इस प्रकार है—

[१५८] अष्टपञ्चाशदुत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**चक्षुः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य-वायु-अग्नि

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः॥ १॥

(१) द्युलोक का मुख्य देव 'सूर्य' है, अन्तरिक्ष का 'वायु' और पृथिवी का 'अग्नि'। सो इन से इस रूप में प्रार्थना करते हैं कि **सूर्यः**=सूर्य **नः**=हमें **दिवः पातु**=द्युलोक से रक्षित करे। द्युलोक से हो सकनेवाले उपद्रवों से सूर्य हमें बचाये। अर्थात् द्युलोकस्थ सूर्यादि देवों से किसी प्रकार का हमारा प्रातिकूल्य न हो और इस प्रकार हमारा मस्तिष्क पूर्ण स्वस्थ बना रहे। (२) **वातः**=वायु हमें **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से रक्षित करे, अन्तरिक्ष से हो सकनेवाले उपद्रवों से वायु हमारा रक्षण करे। अन्तरिक्षस्थ इन वायु आदि देवों से हमारी अनुकूलता हो और इस प्रकार हमारा मन वासनाओं के तूफानों से अशान्त न हो। (३) **अग्निः**=अग्नित्व हमें **पार्थिवेभ्यः**=पृथिवी से सम्भावित उपद्रवों

से बचानेवाली हो। अग्नि आदि देवों की अनुकूलता से यह हमारा पार्थिव शरीर स्वस्थ बना रहे।

भावार्थ—सूर्य की अनुकूलता हमारे मस्तिष्क को ठीक रखे। वायु की अनुकूलता मन को तथा अग्नि की अनुकूलता हमारे शरीर को स्वस्थ रखे।

ऋषिः—**चक्षुः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**स्वराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शतवार्षिक यज्ञ-जीवन

जोषा॑ सवितुर्यस्य॑ ते हरः॑ शतं स॒वाँ अर्ह॑ति। पा॒हि नो॑ दि॒द्युतः॒ पत॑न्त्याः ॥ २ ॥

(१) हे **सवितः**=हमारे में प्राणशक्ति को प्रेरित करनेवाले सूर्य! **जोषा**=तू हमारा प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। हम सूर्य के प्रिय हों, अधिक से अधिक सूर्य-किरणों के सम्पर्क में जीवन को बिताने का प्रयत्न करें। तेरे लिये हम प्रिय हों **यस्य ते**=जिस तेरा **हरः**=सब रोगों का हरण करनेवाला तेज **शतं सवान्**=सौ यज्ञों के **अर्हति**=योग्य होता है। जीवन का एक-एक वर्ष ही एक-एक यज्ञ है। सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आते हुए हम सौ वर्ष तक जीवन यज्ञ को चलानेवाले हों। (२) हे सवितः! तू **नः**=हमें **पतन्त्याः**=हमारे पर विचरनेवाले **दिद्युतः**=(दो अवखण्डने) घातक रोग से **पाहि**=बचाये। रोगरूप विद्युत् के पतन से यह सूर्य हमारा रक्षण करता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों के सम्पर्क में निवास हमें रोगों से बचाकर दीर्घ जीवन प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**चक्षुः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चक्षु

चक्षु॑र्नो दे॒वः स॑वि॒ता चक्षु॑र्न उ॒त पर्व॑तः। चक्षु॑र्धा॒ता द॑धातु नः ॥ ३ ॥

(१) यह **सविता**=सबको कार्यों में प्रवृत्त करनेवाला **देवः**=प्रकाशमय सूर्य **नः**=हमारे लिये **चक्षुः दधातु**=दृष्टिशक्ति का धारण करनेवाला है। सूर्य ही तो वस्तुतः चक्षु के रूप में (आँखों अक्षि गोलको) में रह रहा है। **उत**=और **नः**=हमारे लिये **पर्वतः**=(A tree) वृक्ष **चक्षुः**=दृष्टिशक्ति को दे। वृक्षों की हरियावल आँखों के लिये अत्यन्त हितकर होती है। (२) **धाता**=सबका निर्माण व धारण करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे लिये **चक्षु**=दृष्टिशक्ति को **दधातु**=धारित करे। प्रभु के स्मरण से भी दृष्टिशक्ति ठीक बनी रहती है। वस्तुतः प्रभु स्मरण अंग-प्रत्यंग को ठीक रखने के लिये आवश्यक है। अंगरिस् के साथ अथर्ववेद (ब्रह्मवेद) का सम्बन्ध इस बात का संकेत करता है कि हम ब्रह्म का स्मरण करते हैं और सरस अंगोंवाले बनते हैं। (३) जो देवों में सूर्य का स्थान है वही स्थान इन्द्रियों में चक्षु का है। इसका ठीक होना यहाँ सब इन्द्रियों की सशक्तता का प्रतीक है।

भावार्थ—सूर्य, वृक्ष व धाता हमारी चक्षु की शक्ति को बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—**चक्षुः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सन्दर्शन-विदर्शन

चक्षु॑र्नो धेहि॒ चक्षु॑षे॒ चक्षु॑र्वि॒ख्यै त॒नूभ्यः॑। सं चे॒दं वि च॑ पश्येम ॥ ४ ॥

(१) **नः**=हमारी **चक्षुषे**=आँख के लिये **चक्षुः धेहि**=प्रकाशक तेज को धारण कीजिये। **विख्यै**=विशेषरूप से प्रकाशन के लिये और **तनूभ्यः**=हमारे शरीरों की शक्ति के विस्तार के लिये **चक्षुः**=प्रकाशक तेज को धारण करिये। (२) हमें वह दृष्टिशक्ति दीजिये जिससे हम **इदम्**=इस

जगत् को **संपश्येम**=समुदित रूप में देख सकें, **च**=और **विपश्येम**=इसके अंगों को अलग-अलग भी अच्छी प्रकार देख सकें। हमारा 'सन्दर्शन व विदर्शन' बड़ा ठीक प्रकार से चले।

भावार्थ—हम प्रकाशक तेज को प्राप्त करके अपनी आँखों से इस संसार को समष्टि व व्यष्टि के रूप में सम्यक् देखनेवाले हों। हम समाज व व्यक्ति दोनों का ध्यान करनेवाले हों। जहाँ लोकहित में प्रवृत्त हों वहां अपना धारण भी ठीक प्रकार से करें।

ऋषिः—**चक्षुः सौर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु-भक्ति व सर्वहित

सुसन्दृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य। वि पश्येम नृचक्षसः ॥ ५ ॥

(१) हे **सूर्य**=सबको कर्मों में प्रवृत्त करानेवाले प्रभो! **सुसंदृशम्**=उत्तम दर्शनयोग्य **त्वा**=आपको **वयम्**=हम **प्रतिपश्येम**=प्रतिदिन देखनेवाले बनें, हम प्रतिदिन आपका ध्यान करें। अथवा प्रत्येक पदार्थ में हम आपकी महिमा को देखनेवाले बनें। (२) **नृचक्षसः**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाले हम लोकहित के कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए **विपश्येम**=प्रत्येक व्यक्ति को देखनेवाले हों, सभी का ध्यान करें। परिवार में, समाज में, राष्ट्र में, विश्व में सभी का हित करना हमारा उद्देश्य हो। वस्तुतः प्रभु-भक्त सब प्राणियों के हित में प्रवृत्त होता ही है। हम आपका उपासन करते हुए 'सर्वभूतहिते रताः' बनें।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन की कामनावाले हम सबके हित में प्रवृत्त हों।

सम्पूर्ण सूक्त दृष्टि शक्ति के ठीक करने के लिये उपायों का संकेत करता है। ठीक दर्शन यही है कि हम केवल अपना ध्यान न करें। व्यक्तियों के ध्यान के साथ समाज का भी ध्यान करें।

इस वृत्ति के सन्तानों को जन्म देनेवाली माता 'शची' है, प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करनेवाली है। यह 'पौलोमी' बनती है, (पुल्=to belothy) उच्च विचारोंवाली होती है तथा (to be collectad togilts) समाहित वृत्तिवाली बनती है। यह 'शची पौलोमी' 'जयन्त' सन्तान को जन्म देती है, इसके सन्तान शत्रुओं को जीतनेवाले होते हैं। यह कहती है—

[१५९] एकोनषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**शची पौलोमी** ॥ देवता—**शची पौलोमी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

भग का उदय

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः। अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः ॥ १ ॥

(१) **असौ सूर्यः**=वह सूर्य **उद् अगात्**=उदित हुआ है। इसी प्रकार **मामकः**=मेरा **अयं भगः**=यह भग (ऐश्वर्य) भी **उद्**=उदित हुआ है। सूर्योदय के साथ मेरे भग का उदय होता है। सूर्य की तरह मेरा ज्ञान का ऐश्वर्य भी चमक उठता है। (२) **तत्**=तब (then) **अहम्**=मैं **पतिं विद्वला**=उस प्रभु रूप पति को जानती हुई **अभ्यसाक्षि**=शत्रुओं का पराभव करती हूँ। मैं इस प्रकार **विषासहिः**=विशेषरूप से शत्रुओं का मर्षण करनेवाली होती हूँ। काम-क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं का पराभव किये बिना प्रभु की प्राप्ति का व ज्ञानैश्वर्य के उदय का सम्भव नहीं है। इस ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाली माता ही 'शची' है। यही 'जयन्त' सन्तानों को जन्म दे पाती है।

भावार्थ—ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाली माता ही प्रभु का दर्शन करती है और काम-क्रोध आदि का मर्षण करती है।

ऋषिः—**शची पौलोमी** ॥ देवता—**शची पौलोमी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

आदर्श माता

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी। ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥ २ ॥

(१) माता कहती है कि **अहं केतुः**=मैं ज्ञानवाली बनती हूँ। **अहं मूर्धा**=मैं अपने क्षेत्र में शिखर (top most) घर पहुँचने का प्रयत्न करती हूँ। **अहं उग्रा**=मैं तेजस्विनी बनती हूँ। **विवाचनी**=प्रभु के नामों का विशेषरूप से उच्चारण करनेवाली होती हूँ। मस्तिष्क में ज्ञान, मन में शिखर पर पहुँचने की भावनावाली तथा शरीर में तेजवाली, प्रभु के नाम का सदा जप करनेवाली माता ही आदर्श है। (२) **सेहानायाः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाली **मम**=मेरे **क्रतुं अनु**=संकल्प के अनुसार **इत्**=ही **पतिः**=मेरे पति **उपाचरेत्**=कार्यों को करनेवाले हों। पत्नी तेजस्विनी व शान्त स्वभाववाली हो, क्रोध आदि से सदा दूर हो। इसके विचारों के अनुसार ही पति कार्यों को करते हैं। इस प्रकार पति-पत्नी का समन्वय होने पर ही उत्तम सन्तान हुआ करते हैं।

भावार्थ—आदर्श माता में 'ज्ञान-शिखर पर पहुँचने की भावना, तेज व प्रभु-स्मरण की वृत्ति' होनी चाहिये। इस पत्नी को पति की अनुकूलता प्राप्त होती है और ये उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**शची पौलोमी** ॥ देवता—**शची पौलोमी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वीर पुत्र

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्। उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र की आदर्श माता यह कह पाती है कि **मम पुत्राः**=मेरे पुत्र **शत्रुहणः**=शत्रुओं को मारनेवाले हैं, ये कभी शत्रुओं से अभिभूत नहीं होते। **अथ उ**=और निश्चय से **मे दुहिता**=मेरी पुत्री **विराट्**=विशिष्टरूप से तेजस्विनी होती है। (२) **उत**=और **अहम्**=मैं **सञ्जया**=सम्यक् शत्रुओं को जीतनेवाली होती हूँ। **मे पत्यौ**=मेरे पति में **उत्तमः श्लोकः**=उत्कृष्ट यश होता है। मेरे पति भी वीरता के कारण यशस्वी होते हैं। माता-पिता की वीरता के होने पर ही सन्तानों में भी वीरता आती है। माता-पिता का जीवन यशस्वी न हो तो सन्तानों का जीवन कभी यशस्वी नहीं हो सकता।

भावार्थ—वीर माता-पिता ही वीर व यशस्वी सन्तानों को जन्म देते हैं।

ऋषिः—**शची पौलोमी** ॥ देवता—**शची पौलोमी** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कृत्वी-द्युम्नी-उत्तमः

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः। इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम् ॥ ४ ॥

(१) हे **देवाः**=सूर्य आदि देवो! अथवा समय-समय पर घरों पर पधारनेवाले विद्वानो! **इदम्**=यह **तत्**=वह काम **अक्रि**=किया जाये **येन**=जिससे मेरे पति **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय **अभवत्**=हों। **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा वे **कृत्वी**=सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले, **द्युम्नी**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त जीवनवाले, **उत्तमः**=मन में दिव्य उत्कृष्ट वृत्तियोंवाले हों। (२) बालकों की माता कहती है कि मैं भी **किल**=निश्चय से **असपत्ना**=सपत्नों से रहित **अभुवम्**=हो जाऊँ। शरीर में रोग ही हमारे सपत्न हैं, और मन में वासनाएँ सपत्न के रूप से रहती हैं। मैं इन रोगों व वासनाओं से ऊपर उठकर 'असपत्ना' होऊँ।

भावार्थ—देवों की कृपा से पति 'कृत्वी, द्युम्नी व उत्तम' हों तथा पत्नी असपत्न हो।

ऋषिः—**शची पौलोमी** ॥ देवता—**शची पौलोमी** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सपत्न हनन

असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी। आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव ॥ ५ ॥

(१) **अ-सपत्ना**=मैं रोगरूप सपत्नों से, शत्रुओं से रहित होती हूँ। **सपत्नघ्नी**=इन रोगों व वासनारूप शत्रुओं का हनन करनेवाली बनती हूँ। **जयन्ती**=सदा विजयशील तथा **अभिभूवरी**=वासनारूप शत्रुओं को अभिभूत करनेवाली होती हूँ। (२) इन **अन्यासाम्**=मेरे से भिन्न, मेरी शत्रुभूत वासनाओं के **वर्चः**=तेज को **आवृक्षम्**=मैं काटनेवाली होती हूँ। उसी प्रकार इनके तेज को मैं विनष्ट करती हूँ **इव**=जैसे कि **अस्थेयसाम् राधा**=अस्थिर वृत्तिवालों के ऐश्वर्य को। 'राधः' शब्द का व्यापक अर्थ सफलता है। उस अर्थ को लेने पर भाव यह होगा कि जैसे अस्थिर वृत्तिवालों की सफलता विनष्ट होती है, इसी प्रकार इन वासनाओं की शक्ति को मैं विनष्ट करती हूँ। स्थिर वृत्तिवाली बनकर मैं अपने इस शत्रु संहार रूप कार्य में भी सफलता को प्राप्त करती हूँ।

भावार्थ—एक आदर्श माता रोग व वासना रूप शत्रुओं को अभिभूत करके, स्थिर वृत्तिवाली बनकर अपने सन्तान निर्माणरूप कार्य में सफल होती है।

ऋषिः—**शची पौलोमी** ॥ देवता—**शची पौलोमी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

विजय

सम॑जैषमि॒मा अ॒हं स॒पत्नी॑रभि॒भूव॑री। यथा॒हम॒स्य वी॒रस्य॑ वि॒राजा॑नि॒ जन॑स्य च ॥ ६ ॥

(१) **अहम्**=मैं **इमाः**=इन वासनाओं को **सं अजैषम्**=पूर्णरूप से पराजित करनेवाली बनूँ। मैं **सपत्नीः**=इन वासनारूप शत्रुओं को **अभिभूवरी**=अभिभूत करनेवाली होऊँ। (२) इन वासनाओं को मैं इसलिए अभिभूत करूँ **यथा**=जिससे कि **अहम्**=मैं **अस्य वीरस्य जनस्य**=इस वीर जन को **विराजानि**=विशिष्ट शोभावाली होऊँ। मेरे सन्तान वीर हों, शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों। उन वीर सन्तानों से मैं शोभावाली बनूँ।

भावार्थ—वासनाओं का विजय करनेवाली माता वीर सन्तानों से शोभा को पाता है।

सम्पूर्ण सूक्त आदर्श माता का चित्रण करता है। मुख्य बात वासनाओं के विजय की है। 'वासना विजय' ही माता को वीर सन्तानों की शोभा को प्राप्त कराती है।

वासनाओं को पराजित करनेवाला व्यक्ति ही अपनी न्यूनताओं को दूर करके अपना पूरण करता है, सो 'पूरणः' नामवाला होता है। यह सबके साथ स्नेह से वर्तनेवाला 'वैश्वामित्रः' होता है। इसकी प्रार्थना है कि—

[१६०] षष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**पूरणो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मुख्य कर्त्तव्य 'सोमरक्षण'

ती॒व्रस्या॒भिव॑यसो अ॒स्य पा॑हि सर्व॒रथा॒ वि हरी॑ इ॒ह मु॑ञ्च।
इन्द्र॒ मा त्वा॒ यज॑मानासो अ॒न्ये नि री॑रम॒न्तुभ्य॑मि॒मे सु॒तासः॑ ॥ १ ॥

(१) **तीव्रस्य**=शत्रुओं के लिये, रोगकृमि आदि के लिये अत्यन्त तीक्ष्ण **अभिवयसः**=(अभिगतं वयो येन) जिसके द्वारा उत्कृष्ट जीवन प्राप्त होता है उस **अस्य**=इस सोम का **पाहि**=तू अपने में

रक्षण कर। सोम को शरीर में ही सुरक्षित रख। यह तुझे रोगों से मुक्त करेगा और दीर्घजीवन प्राप्त करायेगा। (२) **इह**=इस जीवन में **सर्वरथा**=(सर्वः रथः याभ्याम्) जिनके द्वारा यह शरीररथ पूर्ण बनता है, उन **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **विमुञ्च**=विषय-वासनारूप तृणों में चरते रहने से पृथक् कर। तेरी इन्द्रियाँ विषयों में ही लिप्त न रह जायें, इन्हें तू विषयमुक्त करके शरीर-रथ को आगे ले चलनेवाला बना। (३) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **अन्ये यजमानासः**=अन्य विविध कामनाओं से यज्ञों में व्यापृत लोग **निरीरमन्**=मत आनन्दित करें। अर्थात् तू भी उनकी तरह सकाम होकर इन यज्ञ-यागादि में ही न उलझे रह जाना। **तुभ्यम्**=तेरे लिये तो **इमे**=ये सोम **सुतासः**=उत्पन्न किये गये हैं। तेरा मुख्य कार्य इनका रक्षण है। इनके रक्षण से ही सब प्रकार की उन्नति होगी।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करके सोमरक्षण को ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझें।

ऋषिः—**पूरणो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी का आह्वान

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति।
इन्द्रेदमद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम्॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्यं सुताः**=तेरे लिये इन सोमों का उत्पादन हुआ है **उ तुभ्यम्**=और तेरे लिये ही **सोत्वासः**=उत्पन्न किये जायेंगे। ये **श्वात्र्याः**=(शु अतन्ति) शीघ्रता से गतिवाली, अर्थात् कर्मों में प्रेरित करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियाँ **त्वां आह्वयन्ति**=तुझे पुकारती हैं। तूने इनका अध्ययन करना है और इनमें निर्दिष्ट कर्मों में प्रवृत्त होना है। (२) हे जितेन्द्रिय पुरुष **अद्य**=आज **इदं सवनम्**=इस जीवनयज्ञ को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **विश्वस्य विद्वान्**=अपने सब कर्त्तव्य कर्मों को जानता हुआ **सोमम्**=सोम को (वीर्य को) **इह**=इस शरीर में **पाहि**=सुरक्षित कर। इस सोमरक्षण से ही तू सब कर्त्तव्य कर्मों को पूर्ण कर पायेगा। सोमरक्षण ही तुझे तीव्र बुद्धि बना करके वेद को समझने के योग्य बनायेगा।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें, वेदवाणी को पढ़ें। वेदवाणी को समझते हुए हम तदुपदिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करें।

ऋषिः—**पूरणो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रशस्त व सुन्दर जीवन

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति।
न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति॥ ३॥

(१) **यः**=जो **उशता मनसा**=कामयमान मन से, चाहते हुए मन से **सर्वहृदा**=पूरे दिल से **देवकामः**=उस महान् देव प्रभु की कामनावाला होता हुआ, **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं सुनोति**=सोम को अपने में उत्पन्न करता है। **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **तस्य**=उसकी **गाः**=इन्द्रियरूप गौवों को **न पराददाति**=कभी उससे दूर नहीं कर देता, उन्हें विषयों का शिकार नहीं होने देता। एवं सोमरक्षण का प्रथम परिणाम यही होता है कि मनुष्य प्रभु-प्रवण बनता है, उसकी इन्द्रियाँ विषयों से व्यावृत्त रहकर ठीक बनी रहती हैं। (२) इस प्रकार वे प्रभु **अस्मै**=इस सोमरक्षण करनेवाले के लिये **इत्**=निश्चय से **प्रशस्तम्**=प्रशंसनीय व **चारुम्**=सुन्दर जीवन को

कृणोति=करते हैं। इसका जीवन प्रशस्त व सुन्दर बनता है। 'प्रभु की ओर झुकाव हो, इन्द्रियाँ सशक्त हों' बस यही प्रशस्त व सुन्दर जीवन है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमारी इन्द्रियाँ सशक्त रहेंगी और हमारा जीवन प्रशस्त व सुन्दर बनेगा।

ऋषिः—**पूरणो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विलास का परिणाम

अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान्न सुनोति सोमम्।
निरंरत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो **रेवान्**=धनवान् होता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु प्राप्ति के लिये **सोमं न सुनोति**=सोम का अभिषव नहीं करता, सोम का सम्पादन न करता हुआ जो विलासमय जीवन को बिताता हुआ सोम का (वीर्य का) विनाश करता है, **एषः**=यह व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु की **अनुस्पष्टः भवति**=दृष्टि में स्थापित होता है। (स्पश=to see) प्रभु की इस पर नजर होती है। उसी प्रकार जैसे कि एक अशुभ आचरणवाला व्यक्ति राजपुरुषों की नजरों में होता है। (२) यदि यह अधिक विलास में चलता है, तो **तम्**=उस विलासमय जीवनवाले धनी पुरुष को **मघवा**=यह ऐश्वर्यशाली प्रभु **अरत्नौ**=मुट्ठी में **निः दधाति**=निश्चय से धारण करता है, अर्थात् उसे कैद-सी में डालता है। और भी अधिक विकृति के होने पर इन **ब्रह्मद्विषः**=वेद के शत्रुओं को, ज्ञान से विपरीत मार्ग पर चलनेवालों को वे प्रभु **हन्ति**=विनष्ट करते हैं। **अनानुदिष्टः**=ये प्रभु कभी अनुदिष्ट नहीं हो पाते। प्रभु तक कोई सिफारिश नहीं पहुँचाई जा सकती। (३) धन के कारण विलासमय जीवनवाला व्यक्ति इस प्रकार प्रभु से 'अनुस्पष्ट, धृत व दण्डित' होता है। हमें चाहिये यह कि हम विलास के मार्ग पर न जाकर तप के मार्ग पर ही चलें।

भावार्थ—विलासी पुरुष प्रभु के दण्ड का पात्र होता है।

सूचना—यहाँ दण्डक्रम बड़ा स्पष्ट है। प्रभु सर्वप्रथम चेतावनी-सी देते हैं, पुनः किसी प्रकार रोगादि के द्वारा उसे बद्ध कर देते हैं। विवशता में समाप्त कर देते हैं। मृत्यु भी अशुभ वृत्ति के भुलाने में सहायक होती है।

ऋषिः—**पूरणो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तपस्वी जीवन

अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उ।
आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित विलासमय जीवन से विपरीत जीवन का चित्रण करते हुए कहते हैं कि **अश्वायन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए हम **उपगन्तवा उ**=आपके (प्रभु के) समीप प्राप्त होने के लिये **त्वा हवामहे**=आपको पुकारते हैं। प्रभु की आराधना से जीवन का मार्ग विलास का नहीं होता और परिणामतः कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ सशक्त बनी रहती हैं। शरीर की शक्ति का विनाश नहीं होता। (२) हे प्रभो! इस प्रकार **ते**=आपकी **नवायाम्**=अत्यन्त स्तुत्य **सुमतौ**=कल्याणीमति में **आभूषन्तः**=सदा वर्तमान होते हुए **वयम्**=हम, हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **शुनम्**=आनन्दस्वरूप **त्वा**=आपको **हुवेम**=पुकारते हैं। आपकी आराधना में चलते हुए ही हम आपकी कल्याणीमति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व शक्ति का सम्पादन करते हुए हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें शुभ बुद्धि को प्राप्त कराते हैं।

सूक्त का मुख्य विषय यही है कि सोम के रक्षण के द्वारा जीवन को उत्तम बनायें। इसका परिणाम यह होगा कि हमारे सब रोग विनष्ट हो जायेंगे। हम 'यक्ष्मनाशनः' होंगे। नीरोग बनकर यज्ञात्मक कर्मों से लोकहित में प्रवृत्त होने से हम 'प्राजापत्यः' होंगे। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

[१६१] एकषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**राजयक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रोग-मुक्ति

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥ १॥

(१) **त्वा**=तुझे **हविषा**=हवि के द्वारा, अग्निहोत्र में डाली गयी आहुतियों के द्वारा **अज्ञातयक्ष्मात्**=अज्ञात रोगों से, न पहिचाने जानेवाले रोगों से **उत**=और **राजयक्ष्मात्**=राजयक्ष्मा से क्षयरोग से **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ **जीवनाय**=जिससे तू उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कर सके तथा **कम्**=सुखमय तेरा जीवन हो। (२) **यदि वा**=अथवा **एनम्**=इसको **एतत्**=(एतस्मिन् काले सा०) अब **ग्राहि**=अंगों को पकड़-सा लेनेवाला वातरोग **जग्राह**=जकड़ लेता है तो **एनम्**=इसको **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि **तस्याः**=उस ग्राहि नामक रोग से **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करें। अग्निरोग के अन्दर दीप्त होता हुआ अग्नि हविर्द्रव्यों को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके सूर्यलोक तक पहुँचाता है 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'। सूर्य (=इन्द्र) जलों को वाष्पीभूत करके इन सूक्ष्मकणों के चारों ओर प्राप्त कराता है। इस प्रकार वृष्टि के बिन्दु (बून्दे) इन हविर्द्रव्यों के केन्द्रों में लिये हुए होते हैं। उनके वर्षण से उत्पन्न अन्नकण भी उन्हीं हविर्द्रव्यों के गुणों से युक्त हुए-हुए रोगों के निवारक बनते हैं। इस प्रकार सूर्य (इन्द्र) और अग्नि हमें रोग मुक्त करके दीर्घजीवन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र में डाले गये (स्वाहुत) हविर्द्रव्यों से हम रोग मुक्त हो पाते हैं। सब अज्ञात रोग, राज्यक्ष्मा व ग्राहि नामक रोग सूर्य व अग्नि के द्वारा दूर किये जाते हैं।

ऋषिः—**यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**राजयक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निर्ऋति की गोद से बाहिर

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय॥ २॥

(१) **यदि**=यदि **क्षितायुः**=यह रुग्ण पुरुष क्षीण आयुष्यवाला हो गया है। यदि **वा**=अथवा **परेतः**=(परा इतः) रोग में बहुत दूर पहुँच गया है। **यदि**=अगर **मृत्योः**=मृत्यु के **अन्तिकम्**=समीप **एव**=ही **नीतः**=प्राप्त कराया गया है, तो भी **तम्**=उसको **निर्ऋतेः**=दुर्गति की **उपस्थात्**=गोद से **आहरामि**=बाहर ले आता हूँ। वस्तुतः गतमन्त्र में वर्णित अग्निहोत्र के द्वारा मैं इसे तीव्रतम रोगों से भी मुक्त करता हूँ। (२) इस प्रकार रोगमुक्त करके **एनम्**=इसको **शतशारदाय**=पूरे शतवर्ष के जीवन के लिये **अस्पार्षम्**=(स्पृ) बलयुक्त करता हूँ। अग्निहोत्र के द्वारा इसे (क) रोगों से मुक्त करता हूँ और (ख) बल से युक्त करता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र के द्वारा तीव्रतम रोगों से भी मुक्ति सम्भव है।

ऋषिः—**यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**राजयक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सहस्राक्ष हवि

स॒ह॒स्रा॒क्षेण॑ श॒तशा॑रदेन श॒तायु॑षा ह॒विषाहा॑र्षमेनम्।
श॒तं यथे॒मं श॒रदो॒ नया॒तीन्द्रो॒ विश्व॑स्य दुरि॒तस्य॒ पा॒रम्॥ ३॥

(१) मैं **एनम्**=इस रुग्ण पुरुष को **हविषा**=हवि के द्वारा **आहार्षम्**=रोग से बाहिर ले आता हूँ। उस हवि के द्वारा जो कि **सहस्राक्षेण**=हजारों आँखोंवाली है, हजारों पुरुषों का ध्यान करती है, हजारों को रोग-मुक्त करती है। **शतशारदेन**=यह हवि हमें शतवर्ष पर्यन्त ले चलती है। **शतायुषा**=इस हवि के द्वारा हमारा शतवर्ष का आयुष्य क्रियामय बना रहता है (एति इति आयुः)। (२) मैं इसको हवि के द्वारा रोग से बाहिर लाता हूँ और इस प्रकार व्यवस्था करता हूँ **यथा**=जिससे **इमम्**=इस पुरुष को **इन्द्रः**=सूर्य **विश्वस्य दुरितस्य**=सब दुर्गतियों के **पारं नयाति**=पार ले जाता है। अग्नि और इन्द्र (सूर्य) मिलकर मनुष्य को सब कष्टों से दूर कर देते हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र में डाले गये हविर्द्रव्यों से हजारों पुरुषों का कल्याण होता है, ये उन्हें सौ वर्षों तक जीनेवाला बनाते हैं, उनके जीवन को क्रियामय रखते हैं।

ऋषिः—**यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**राजयक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शतशारद जीवन

श॒तं जीव॑ श॒रदो॒ वर्ध॑मानः श॒तं हे॑म॒न्ताञ्छ॒तमु॑ वस॒न्तान्।
श॒तमि॑न्द्रा॒ग्नी स॑वि॒ता बृह॒स्पतिः॑ श॒तायु॑षा ह॒विषे॒मं पुन॑र्दुः ॥ ४॥

(१) हे मनुष्य! तू **वर्धमानः**=सब शक्तियों की दृष्टि से वृद्धि को प्राप्त करता हुआ **शतं शरदः जीव**=सौ शरद् ऋतुओं तक जीनेवाला हो। **शतं हेमन्तान्**=सौ हेमन्त ऋतुओं तक जीनेवाला हो। **उ**=और **शतं वसन्तान्**=सौ वसन्त ऋतुओं तक जीनेवाला हो। (२) **इन्द्राग्नी**=सूर्य और अग्नि तथा **सविता बृहस्पतिः**=उत्पादक वीर्यशक्ति तथा उत्कृष्ट ज्ञान **शतायुषा हविषा**=शतवर्ष के जीवनवाली इस हवि के द्वारा **इमम्**=इस पुरुष को **शतं पुनः दुः**=सौ वर्ष का जीवन फिर से प्राप्त कराते हैं। शरीर में वीर्यशक्ति ही यहाँ 'सविता' कही गई है, यह उत्पादक है। 'बृहस्पति' शब्द ज्ञान का प्रतीक है। ये सब दीर्घजीवन के साधक होते हैं।

भावार्थ—इन्द्र, अग्नि, सविता व बृहस्पति हमें शतशारद जीवन को प्राप्त करायें। 'सूर्य, अग्नि, वीर्यशक्ति व ज्ञान' ये सब दीर्घजीवन के लिये सहायक होते हैं।

ऋषिः—**यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः** ॥ देवता—**राजयक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सर्वाङ्ग (पूर्ण स्वस्थ)

आहा॑र्षं॒ त्वावि॑दं त्वा॒ पुन॒रागाः॑ पुनर्नव। सर्वा॑ङ्ग॒ सर्वं॑ ते॒ चक्षुः॒ सर्व॒मायु॑श्च तेऽविदम्॥ ५॥

(१) रोगी को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **त्वा आहार्षम्**=तुझे रोग से बाहिर ले आता हूँ और इस प्रकार **त्वा अविदम्**=तुझे प्राप्त करता हूँ। **पुनः आगाः**=तू फिर से हमें प्राप्त हो। (२) हे **पुनर्नव**=फिर से स्वस्थ होकर नवीन जीवन को प्राप्त हुए-हुए पुरुष! **सर्वाङ्ग**=हे सम्पूर्ण अंगोंवाले पुरुष! **ते**=तेरे लिये **सर्वं चक्षुः**=पूर्ण स्वस्थ दृष्टि **च**=और **ते**=तेरे लिये **सर्वं आयुः**=पूर्ण

जीवन **अविदम्**=मैंने प्राप्त कराया है।

भावार्थ—हम नीरोग होकर ठीक दृष्टि को व स्वस्थ अविकृत अंगों को प्राप्त करते हुए पूर्ण जीवन को प्राप्त करें।

अग्निहोत्र में आहुत हविर्द्रव्यों के द्वारा नीरोगता प्राप्ति का सूक्त में वर्णन है। वे रोगकृमि अपने रमण के लिये हमारा क्षय करने से 'रक्षस्' हैं। इनको नष्ट करनेवाला 'रक्षोहा' अगले सूक्त का ऋषि है। यह सब रोगों व राक्षसीभावों से ऊपर उठने के कारण ब्रह्म को प्राप्त होता है, सो 'ब्राह्मः' कहलाता है। इसकी प्रार्थना है—

[१६२] द्विषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**रक्षोहा ब्राह्मः** ॥ देवता—**गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गर्भस्थ व योनिस्थ दोष का निराकरण

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः। अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥ १॥

(१) **अग्निः**=वह ज्ञानाग्नि से दीप्त कुशल वैद्य **रक्षोहा**=रोगकृमियों का नाश करनेवाला है। यह **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **संविदानः**=खूब ज्ञानी बनता हुआ **इतः**=यहाँ तेरे शरीर से उस रोग को **बाधताम्**=रोककर दूर करनेवाला हो **यः**=जो **अमीवा**=रोग **ते**=तेरे **गर्भं आशये**=गर्भ-स्थान में निवास करता है। (२) **यः**=जो **दुर्णामा**=अशुभ नामवाला अर्शस् (बवासीर) नामक रोग **ते**=तेरी **योनिम्**=रेतस् के आधान स्थान को अपना आधार बनाता है, उसे भी यह दूर करे।

भावार्थ—कुशल वैद्य गर्भ-स्थान में व योनि में होनेवाले दोष को दूर करे।

ऋषिः—**रक्षोहा ब्राह्मः** ॥ देवता—**गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

क्रव्याद्-क्रिमि-संहार

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये। अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥ २॥

(१) **यः**=जो **अमीवा**=रोग **ते**=तेरे **गर्भम्**=गर्भ-स्थान में **आशये**=निवास करता है और जो **दुर्णामा**=अशुभ नामवाला अर्शस् नामक रोग (बवासीर) **योनिम्**=रेतस् के आधान स्थान में निवास करता है **तम्**=उसको **अग्निः**=यह कुशल ज्ञानी वैद्य **निः अनीनशत्**=बाहर करके नष्ट कर दे। (२) यह ज्ञानी वैद्य **ब्रह्मणा सह**=ज्ञान के साथ रोग को पूरी तरह समझकर नष्ट करनेवाला हो। **क्रव्यादम्**=इस मांस को खानेवाले (मांसाशिनं सा०) क्रिमि को यह वैद्य नष्ट कर दे। इन क्रव्याद क्रिमियों को नष्ट करने से ही रोग का उन्मूलन होता है।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य मांस को खा जानेवाले क्रिमियों को नष्ट करके गर्भगत व योनिगत विकारों को नष्ट करता है।

ऋषिः—**रक्षोहा ब्राह्मः** ॥ देवता—**गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गर्भाधान से जातकर्म तक

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्। जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ ३॥

(१) गर्भाधान काल में **पतयन्तम्**=गर्भ में जाते हुए **ते**=तेरे वीर्यांश को **यः**=जो **हन्ति**=नष्ट करता है। अब **निषत्स्नुम्**=गर्भ में निषण्ण होते हुए जीव को जो नष्ट करता है। **यः**=जो तीन मास के बाद **सरीसृपम्**=सर्पणशील उस गर्भस्थ बालक को नष्ट करता है, **तम्**=उस रोगकृमि

को **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम नष्ट करते हैं। (२) **यः**=जो रोग **ते**=तेरे **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए बालक को **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, उस रोग को भी हम नष्ट करते हैं। प्रथम व द्वितीय मन्त्र के अनुसार गर्भ व योनिगत दोषों को दूर करने के बाद गर्भाधानकालीन दोषों को भी दूर करते हैं और फिर गर्भावस्था में समय-समय पर आ जानेवाले रोगों से बचाते हैं। अन्ततः उत्पन्न हुए-हुए बालक का भी रोगों से रक्षण करते हैं।

भावार्थ—गर्भस्थ बालक के जीवन को प्रारम्भ से अन्त तक रोगों से बचाने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**रक्षोहा ब्राह्मः** ॥ देवता—**गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पति-पत्नी का नीरोग शरीर

यस्त॑ ऊ॒रू वि॒हर॑त्यन्त॒रा दम्प॑ती॒ शये॑। योनिं॒ यो अ॒न्तरा॒रेळ्हि॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो **ते**=तेरी, हे स्त्रि! **ऊरू विहरति**=जाँघों में विहार करता है, जो भी रोगकृमि तेरी जाँघों में आक्रमण करता है, **तम्**=उसको **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम नष्ट करते हैं। (२) जो भी रोग दम्पती पति-पत्नी के **अन्तरा**=देह के मध्य में गुप्तरूप से है, उसको भी नष्ट करते हैं। (३) और **यः**=जो तेरी **योनिं अन्तः आरेढि**=योनि के अन्दर प्रविष्ट होकर आहित वीर्य को ही चाट जाता है उस कृमि को भी हम विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी के शरीर दोषों को दूर करते हैं जिससे सन्तान नीरोग हो।

ऋषिः—**रक्षोहा ब्राह्मः** ॥ देवता—**गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गर्भस्थ बालक के होने पर संयम का महत्त्व

यस्त्वा॒ भ्राता॒ पति॑र्भू॒त्वा जा॒रो भू॒त्वा नि॒पद्य॑ते। प्र॒जां यस्ते॒ जिघां॑सति॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥ ५ ॥

(१) **यः**=जो **भ्राता**=भरण करनेवाला **पतिः भूत्वा**=पति बनकर **त्वा**=गर्भस्थ बालकवाली तुझे **निपद्यते**=भोग के लिये प्राप्त होता है अथवा **जारः**=तेरी शक्तियों को जीर्ण करनेवाला ही **भूत्वा**=बनकर तुझे प्राप्त होता है और इस प्रकार **यः**=जो **ते**=तेरी **प्रजाम्**=उस गर्भस्थ सन्तति को **जिघांसति**=मारने की ही कामनावाला होता है, **तम्**=उसको **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम नष्ट (दूर) करते हैं। अर्थात् ऐसी व्यवस्था करते हैं कि तुझ गर्भिणी के साथ भोगवृत्ति से कोई वर्ताव करनेवाला न हो। (२) गर्भिणी स्त्री के पति का भी यह कर्त्तव्य है कि बच्चे के गर्भस्थ होने के समय में वह भ्राता ही बना रहे। उस समय भोग का परिणाम स्त्री की शक्तियों को जीर्ण करना ही होगा और परिणामतः बालक के निर्माण में अवश्य कमी रह जायेगी। इस सारी बात को समझता हुआ भी पति यदि भोग की ओर झुकता है तो वह पति क्या? वह तो जार ही है।

भावार्थ—बालक के गर्भस्थ होने पर पति भी भाई की तरह वर्ते। उस समय पति के रूप में वर्तना 'जार वृत्ति' है।

ऋषिः—**रक्षोहा ब्राह्मः** ॥ देवता—**गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अचेतनावस्था में भोग निषेध

यस्त्वा॒ स्वप्ने॑न॒ तम॑सा मोहयि॒त्वा नि॒पद्य॑ते। प्र॒जां यस्ते॒ जिघां॑सति॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥ ६ ॥

(१) **यः**=जो **त्वा**=तुझे **स्वप्नेन तमसा**=स्वप्नावस्था में ले जाने वाले तमोगुणी पदार्थों के प्रयोग से **मोहयित्वा**=मूढ व अचेतन बनाकर **निपद्यते**=भोग के लिये प्राप्त होता है और इस प्रकार

यः=जो **ते**=तेरी **प्रजाम्**=प्रजा को, गर्भस्थ सन्तान को **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, **तम्**=उसको **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम दूर करते हैं। (२) गर्भिणी को अचेतनावस्था में ले जाकर भोग-प्रवृत्त होना गर्भस्थ बालक के उन्माद या विनाश का कारण हो सकता है। सो वह सर्वथा हेय है।

भावार्थ—पत्नी को अचेतनावस्था में उपयुक्त करना गर्भस्थ बालक के लिये अत्यन्त घातक होता है।

सम्पूर्ण सूक्त उत्तम सन्तति को प्राप्त करने के लिये आवश्यक बातों का निर्देश करता है। अगले सूक्त में अंग-प्रत्यंग से रोगों के उद्बर्हण करनेवाले का उल्लेख है। रोगों के उद्बर्हण को करनेवाला यह 'विवृहा' है। ज्ञानी होने से यह 'काश्यप' है। यह कहता है कि—

[१६३] त्रिषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**विवृहा काश्यपः** ॥ देवता—**यक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सिर से रोग का निराकरण (शीर्षण्य दोष निराकरण)

अ॒क्षीभ्यां॑ ते॒ नासि॑काभ्यां॒ कर्णा॑भ्यां॒ छुबु॑का॒दधि॑।
यक्ष्मं॑ शीर्ष॒ण्यं॑ म॒स्तिष्का॑ज्जि॒ह्वाया॒ वि वृ॑हामि ते॥ १॥

(१) हे रुग्ण पुरुष! मैं 'विवृहा काश्यप' **ते**=तेरी **अक्षीभ्याम्**=आँखों से, **नासिकाभ्याम्**=नासिका छिद्रों से, **कर्णाभ्याम्**=कानों से **छुबुकाद् अधि**=ठोड़ी से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=उखाड़ फेंकता हूँ, रोग का समूलोन्मूलन किये देता हूँ। (२) **शीर्षण्यम्**=सिर में बैठे रोग को दूर करता हूँ। **मस्तिष्कात्**=शिर के अन्तःस्थित मांस विशेष से तथा **जिह्वायाः**=जिह्वा से **ते**=तेरे इस रोग को विनष्ट करता हूँ। इस प्रकार तेरे शिरोभाग को निर्दोष बनाता हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य सिर के सब रोगों का निराकरण करता है।

ऋषिः—**विवृहा काश्यपः** ॥ देवता—**यक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

भुजाओं से रोग का निराकरण (दोषण्य दोष निराकरण)

ग्री॒वाभ्य॑स्त उ॒ष्णिहा॑भ्यः॒ कीक॑साभ्यो अनू॒क्या॑त्।
यक्ष्मं॑ दोष॒ण्य१॒॑मंसा॑भ्यां बा॒हुभ्यां॒ वि वृ॑हामि ते॥ २॥

(१) हे व्याधिगृहीत पुरुष! मैं **ते**=तेरी **ग्रीवाभ्यः**=गले में विद्यमान नाड़ियों से, **उष्णिहाभ्यः**=ऊपर की ओर जानेवाली धमनियों से, **कीकसाभ्यः**=अस्थियों से, **अनूक्यात्**=अस्थिसंधियों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ। (२) **दोषण्यम्**=भुजाओं में होनेवाले **यक्ष्मम्**=रोग को दूर करता हूँ। और **अंसाभ्याम्**=हाथों के उर्ध्वभाग, अर्थात् कन्धों से तथा **बाहुभ्याम्**=हाथों के अधोभाग रूप भुजाओं से **ते**=तेरे रोगों को दूर करता हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य भुजाओं के सब रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—**विवृहा काश्यपः** ॥ देवता—**यक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उदर से रोग का निराकरण

आ॒न्त्रेभ्य॑स्ते॒ गुदा॑भ्यो वनि॒ष्ठोर्हृद॑या॒दधि॑। यक्ष्मं॑ मत॒स्ना॑भ्यां य॒क्नः प्ला॒शिभ्यो॒ वि वृ॑हामि ते॥ ३॥

(१) **ते**=तेरी **आन्त्रेभ्यः**=आँतों से, **गुदाभ्यः**=गुदा की नाड़ियों से, **वनिष्ठोः**=स्थूल आँतों

से, **हृदयात् अधि**=हृदय से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=उन्मूलित करता हूँ। (२) **ते मतस्नाभ्याम्**=तेरे दोनों गुर्दों से, **यक्नः**=यकृत् (जिगर) से **प्लाशिभ्यः**=क्लोम प्लीहा आदि अन्य उदरस्थ मांस पिण्डों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—मैं तेरे उदर को बिलकुल नीरोग करता हूँ।

ऋषिः—**विवृहा काश्यपः** ॥ देवता—**यक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

जंघादि दोष निवारण

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भंससो वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

(१) हे यक्ष्मगृहीत! **ते ऊरुभ्याम्**=तेरी जंघाओं से, **अष्ठीवद्भ्याम्**=घुटनों से, **पार्ष्णिभ्याम्**=एड़ियों से **प्रपदाभ्याम्**=पञ्जों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=उन्मूलित करता हूँ। (२) **ते**=तेरे **श्रोणिभ्याम्**=नितम्ब भागों से (hips) **भासदात्**=कटि भाग से **भंससः**=गुदा के प्रदेश से रोग को उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—उदर के निचले प्रदेशों से मैं तेरे रोगों को दूर करता हूँ।

ऋषिः—**विवृहा काश्यपः** ॥ देवता—**यक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'लोम नख दोष' दूरीकरण

मेहनाद्वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः। यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

(१) हे यक्ष्मगृहीत पुरुष! मैं **ते**=तेरे **वनंकरणात्**=जल को उत्पन्न करनेवाले (to make water) **मेहनात्**=शुक्र सेचक मूल इन्द्रिय से, **लोमभ्यः**=लोमों से तथा **नखेभ्यः**=नखों से **यक्ष्मम्**=रोग को उखाड़ फेंकता हूँ। (२) **ते**=तेरे **सर्वस्माद् आत्मनः**=सारे शरीर से **तं इदम्**=(यक्ष्मं) उस इस रोग को **विवृहामि**=विनष्ट करता हूँ।

भावार्थ—मूलेन्द्रिय, लोम व नख आदि से रोग का निराकरण करता हूँ।

ऋषिः—**विवृहा काश्यपः** ॥ देवता—**यक्ष्मघ्नम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सर्वांग दोष निरास

अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नो जातं पर्वणिपर्वणि। यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

(१) **अंगात् अंगात्**=मैं तेरे प्रत्येक अंग से **यक्ष्मं विवृहामि**=रोग को दूर करता हूँ। **लोम्नः लोम्नः**=लोम, लोम से **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस रोग को हटाता हूँ। (२) **पर्वणि पर्वणि**=एक-एक पर्व में, जोड़ में हो गये इस रोग को दूर करता हूँ। (३) मैं **ते**=तेरे **तं इदम्**=उस इस रोग को **सर्वस्मात् आत्मनः**=सारे देह से दूर करता हूँ।

भावार्थ—मैं तेरे सारे अंगों को नीरोग करता हूँ।

अगं-प्रत्यंग को नीरोग बनाने की भावना से सारा सूक्त भरा है। अगले सूक्त में मन को निर्मल बनाने का प्रयत्न करते हैं। मन की निर्मलता से कभी दुःस्वप्न नहीं आते। सो यह 'दुःस्वप्नघ्न' सूक्त कहलाता है। इसका ऋषि 'प्रचेताः'=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। यह पाप संकल्प को सम्बोधन करता हुआ कहता है—

[१६४] चतुःषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—प्रचेताः ॥ देवता—दुःस्वप्नघ्नम् ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

पाप संकल्प का अपक्रमण

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ १ ॥

(१) हे **मनसः पते**=मन के पति बन जानेवाले पाप संकल्प! यह पाप संकल्प उत्पन्न हुआ और यह मन को पूर्णरूप से वशीभूत-सा कर लेता है। इस पाप संकल्प को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **अप इहि**=तू हमारे से दूर जा। **अप क्राम**=तेरा पादविक्षेप हमारे से दूरदेश में ही हो। **परः चर**=तू दूर होकर गतिवाला हो। (२) **निर्ऋत्यै**=इस निर्ऋति, दुर्गति, दुराचार के लिये **परः**=हमारे से दूर होकर **आचक्ष्व**=कथन कर। अर्थात् तू हमें पाप के लिये प्रेरित मत कर। **जीवतः मनः**=प्राणशक्ति को धारण करनेवाले मेरा मन **बहुधा**=बहुत चीजों का धारण करनेवाला है। घर के कितने ही कार्यों, गौ आदि की सेवा व वेदवाणी के अध्ययन में मेरा मन व्यापृत है। सो हे पाप संकल्प! तू मेरे से दूर जा, मुझे अवकाश नहीं कि मैं तेरे कथनों को सुनूँ।

भावार्थ—हम मन पर प्रभुत्व पा लेनेवाले पाप संकल्प को दूर भगायें।

ऋषिः—प्रचेताः ॥ देवता—दुःस्वप्नघ्नम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

भद्र वर वस्तुओं में व्यापृति

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्। भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥ २ ॥

(१) सब लोग **वै**=निश्चय से **भद्रम्**=कल्याण व सुख को पैदा करनेवाली **वरम्**=वरणीय श्रेष्ठ बात को ही **वृणते**=वरते हैं, चाहते हैं। सामान्यतः **दक्षिणम्**=इस अत्यन्त कुशल मन को **भद्रं युञ्जन्ति**=शुभ बातों में ही लगाते हैं। (२) **वैवस्वते**=उस ज्ञान के पुञ्ज (विवस्वान् के पुत्र) अन्धकार का विवसन (दूरीकरण) करनेवाले प्रभु के विषय में **चक्षुः**=व्यापृत आँख **भद्रम्**=मेरा कल्याण व सुख करनेवाली है। अर्थात् मैं सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता हुआ भद्र कार्यों में ही व्यापृत होता हूँ। **जीवतः मनः**=जीवन धारण करनेवाले मेरा मन **बहुत्रा**=अनेक विषयों में है, मुझे अपने नाना कर्त्तव्यों का पालन करना है। सो हे पाप संकल्प! तू मुझे तो आक्रान्त न कर। मेरे से दूर ही रह।

भावार्थ—हम वरणीय भद्र वस्तुओं को चाहें। मन को भद्र बातों में लगाये रखें। आँख से सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें। पाप संकल्प से बचने का यही मार्ग है।

ऋषिः—प्रचेताः ॥ देवता—दुःस्वप्नघ्नम् ॥ छन्दः—आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पापों से दूर

यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु ॥ ३ ॥

(१) **यत्**=जो **आशसा**=किसी अभिलाषा से अथवा **निःशसा**=बिना अभिलाषा के अनिच्छा से **अभिशसा**=(अभिशंस्=to praise, lxtol) झूठी प्रशंसा को प्राप्त करने के लिये **उपारिम**=गलती कर जाते हैं। **जाग्रतः**=जागते हुए हम जो गलती कर जाते हैं, या **यत्**=जो **स्वपन्तः**=सोते हुए हम गलती करते हैं (स्वप्न में किसी के लिये बुरा चिन्तन आदि करते हैं), **अग्निः**=परमात्मा उन **विश्वानि**=सब **अजुष्टानि**=आर्यपुरुषों से असेवित **दुष्कृतानि**=पापों को **अस्मत्**=हमारे

आरे=दूर **अपधातु**=स्थापित करे। प्रभु कृपा से हम सब असेवनीय पापों से दूर हों। (२) धन आदि भौतिक वस्तुओं की कामना से होनेवाले पापों के लिये 'आशसा' शब्द का प्रयोग है। न चाहते हुए किसी दबाव से हो जानेवाले पापों के लिये 'निःशसा' शब्द है तथा झूठे यश की (वाहवाही की) कामना से होनेवाले पापों के लिये 'अभिशसा' शब्द आया है। प्रभु हमें इन सब पापों से बचायें।

भावार्थ—हम धन की इच्छा से दबाव में पड़कर या वाहवाही की खातिर पापों को न कर बैठें।

ऋषिः—**प्रचेताः** ॥ देवता—**दुःस्वप्नघ्नम्** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रचेता आंगिरस

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽभिद्रोहं चरामसि। प्रचेता न आङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान्, शत्रुओं के विद्रावण को करनेवाले प्रभो! हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामि! **यत्**=जो भी **अभिद्रोहम्**=आपके विषय में हम द्रोह **चरामसि**=करते हैं। इन्द्र व ब्रह्मणस्पति के विषय में द्रोह का स्वरूप यही है कि—(क) जितेन्द्रियता को छोड़कर शक्ति को क्षीण कर लेना तथा (ख) स्वाध्याय के व्रत का पालन न करते हुए ज्ञान को न प्राप्त करना। **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला **आंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाला प्रभु **द्विषताम्**=द्वेष करनेवाले के **अंहसः**=पाप से **नः**=हमें **पातु**=बचाये। (२) 'प्रचेताः' बनकर हम ब्रह्मणस्पति के प्रति द्रोह से दूर होते हैं तथा 'आंगिरस' बनकर हम 'इन्द्र' के प्रति द्रोह नहीं करते। वस्तुतः आदर्श मनुष्य बनने के लिये इन्हीं दो बातों की आवश्यकता है कि हम 'ज्ञानी बनें, शक्तिशाली बनें'। इन दोनों ही बातों के लिये आवश्यक है कि हम द्वेष करनेवाले न हों। द्वेष से शरीर भी विकृत होता है, मस्तिष्क भी मलिन होता है।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठकर 'प्रचेता आंगिरस' बनें। यही 'ब्रह्मणस्पति व इन्द्र' का पूजन है।

ऋषिः—**प्रचेताः** ॥ देवता—**दुःस्वप्नघ्नम्** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'विजय-प्रभु-भजन-निष्पापता'

अजैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम् ।
जाग्रत्स्वप्नः सङ्कल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु ॥ ५ ॥

(१) **अद्य**=आज **अजैष्म**=हम विजयी बने हैं, द्वेष आदि अशुभ वृत्तियों पर हमने विजय पायी है। **च**=और **असनाम**=हमने प्रभु का भजन किया है। अशुभ वृत्तियों से ऊपर उठना ही प्रभु का सच्चा सम्भजन है। इस प्रभु-भजन से **वयम्**=हम **अनागसः**=निष्पाप **अभूम**=हुए हैं। (२) **जाग्रत्**=जागती हुई अवस्था में होनेवाला **सः पापः संकल्पः**=वह पाप संकल्प तथा **स्वप्नः**=स्वप्नावस्था में होनेवाला पाप संकल्प **तम्**=उसको **ऋच्छतु**=प्राप्त हो **यं द्विष्मः**=जिसके साथ हम प्रीति नहीं कर पाते। **यः**=जो **नः**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **तम्**=उसको यह पाप संकल्प **ऋच्छतु**=प्राप्त हो। वस्तुतः द्वेष करनेवालों को ही अशुभ वृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। जो भी एक व्यक्ति सारे समाज से द्वेष करने के कारण समाज का प्रिय नहीं रहता, उसी में इन पाप संकल्पों का वास हो। हम द्वेष से ऊपर उठकर पाप संकल्प से दूर हों।

भावार्थ—हम 'विजय, प्रभु-भजन व निष्पापता' को अपनायें। पाप संकल्प का परित्याग करें।

सारा सूक्त पाप संकल्प से दूर होने का ही वर्णन कर रहा है। इसको दूर करनेवाला 'नैर्ऋतः' कहलाता है, 'निर्ऋति (दुराचरण) का हन्ता'। यह उस आनन्दमय प्रभु को (ऋ) अपना पोत (boat) बनाता है जिसके द्वारा यह भवसागर को तैरनेवाला होता है। इसी 'नैर्ऋत कपोत' का अग्रिम सूक्त में चित्रण है—

[१६५] पञ्चषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**कपोतो नैर्ऋतः** ॥ देवता—**कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम्** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्मनिष्ठ पुरुष का समादर

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ १॥

(१) 'क-पोत' वह व्यक्ति है जो कि ब्रह्म को अपना आधार बनाकर चलता है, यही उपनिषदों में 'ब्रह्मनिष्ठ' कहा गया है। प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला यह 'इषित' कहा गया है। **देवाः**=हे देवो, देववृत्ति के पुरुषो! **कपोतः**=यह ब्रह्मनिष्ठ, **इषितः**=अन्तःस्थित प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला **यत्**=जब **इच्छन्**=हमारे लिये प्रकाश को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ, **निर्ऋत्याः**=निर्ऋति का, दुराचरण का **दूतः**=संतप्त करनेवाला, अपने प्रचार से अशुभ वृत्तियों को विनष्ट करनेवाला **इदम्**=इस स्थान में **आजगाम**=आया है। (२) **तस्मा**=उसके लिये **अर्चाम**=हम अर्चन (पूजन) को करें, उसका उचित आदर करें। **निष्कृतिम्**=पापाचरण के बहिष्कार को **कृणवाम**=करें। वस्तुतः 'तदुपदिष्ट मार्ग से चलते हुए, पापों को न करना' ही उसका उचित समादर है। ऐसा करने से **नः**=हमारे **द्विपदे**=सब मनुष्यों के लिये **शम्**=शान्ति **अस्तु**=हो और **चतुष्पदे**=हमारे चार पाँवोंवाले पशुओं के लिये भी शान्ति हो। निष्पापता के होने पर सारा वातावरण शान्त होता है, सब पशु-पक्षियों का कल्याण होता है।

भावार्थ—हमें समय-समय पर ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष प्राप्त हों। उनकी प्रेरणा से निष्पाप होकर हम अपने वातावरण को शान्त बना पायें।

ऋषिः—**कपोतो नैर्ऋतः** ॥ देवता—**कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निष्पापता व शक्ति संचार

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहेषु।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु॥ २॥

(१) **शिवः**=(श्यति पापम्, अथवा शिवु कल्याणे) अपने उपदेशों के द्वारा पापवृत्तियों को विनष्ट करनेवाला व कल्याण करनेवाला, **कपोतः**=ब्रह्मरूप पोतवाला ब्रह्मनिष्ठ, **इषितः**=प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ **नः**=हमारे लिये **अनागाः**=निष्पाप **अस्तु**=हो। हमारे जीवनों को यह निष्पाप बनानेवाला हो। हे **देवाः**=देवो! इस प्रकार यह **गृहेषु**=हमारे घरों में **शकुनः**=शक्ति का संचार करनेवाला हो। (२) यह **अग्निः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाला **विप्रः**=ज्ञानी ब्राह्मण **हि**=निश्चय से **नः हविः**=हमारे से दी गई फल, पत्र, पुष्प के रूप में दी गई तुच्छ भेंट को **जुषताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे। इस अग्नि के उपदेशों से **पक्षिणी हेतिः**=किसी एक

पक्ष में चले जानेरूप नाशक अस्त्र **नः**=हमें **परिवृणक्तु**=छोड़ दे। हम किसी पक्ष में न गिरें, पक्षपात रहित न्यायाचरण से अपने कल्याण को सिद्ध करें। 'avoid extremes' 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का ध्यान करते हुए युक्ताहार-विहारवाले बनें। तथा समाज में भी किसी पक्ष के साथ न जुड़ जायें, पार्टीबाजी में न पड़ जायें। सामाजिक उन्नति में सब से महान् विघ्न यही होता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों का उपदेश हमें निष्पाप व शक्तिशाली बनाये। इनके उपदेशों से हम अति से व पार्टीबाजी से बचे रहें।

ऋषिः—**कपोतो नैर्ऋतः** ॥ देवता—**कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम्** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

'अति' से बचना

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने।
शं नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसीदिह देवाः कपोतः ॥ ३ ॥

(१) **पक्षिणी हेतिः**=किसी एक पक्ष में चले जानेरूप नाशक अस्त्र **अस्मान्**=हमें **न दभाति**=हिंसित नहीं करता। किसी भी अति (extreme) में न पड़कर हम सदा मध्यमार्ग में चलते हैं और इस प्रकार अपने जीवन में हिंसित नहीं होते। अति ही हमारे रोग आदि का कारण बनती है। यह अति से बचनेवाला पुरुष **आष्ट्र्याम्**=(अशू व्याप्तौ) व्यापक मनोवृत्ति में तथा **अग्निधाने**=यज्ञों के लिये अग्नि के स्थापित करने आदि कार्यों में **पदं कृणुते**=गति को करता है, अर्थात् मनोवृत्ति को व्यापक बनाता है और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होता है। (२) इस प्रकार (क) मध्यमार्ग में चलने, (ख) मनोवृत्ति को व्यापक बनाने (ग) तथा यज्ञों के करने पर **नः**=हमारे **गोभ्यः**=गवादि पशुओं के लिये **च**=और **पुरुषेभ्यः**=पुरुषों के लिये **शं अस्तु**=शान्ति हो। वस्तुतः हमारे कर्मों के उत्तम होने पर आधिदैविक आपत्तियों का भी निवारण हो जाता है, सारा वातावरण उत्तम बन जाता है। **देवाः**=हे देवो! **इह**=इस जीवन में **कपोतः**=यह ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति **नः**=हमें **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे। अपने सदुपदेशों से हमारा कल्याण ही करनेवाला हो।

भावार्थ—हम अति में न जायें। मनोवृत्ति को व्यापक बनायें। अग्निहोत्रादि यज्ञों को करें। इस प्रकार हमारे पशुओं व मनुष्यों के लिये शान्ति हो।

ऋषिः—**कपोतो नैर्ऋतः** ॥ देवता—**कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम्** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

उलूक व कपोत

यदुलूको वदति मोघमेतद्यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति।
यस्य दूतः प्रहित एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ४॥

(१) **उलूकः**=(उरूकः) खूब ही धन आदि का सम्पादन करनेवाला, लक्ष्मी का वाहनभूत यह उलूक **यद् वदति**=जो बात करता है, **एतत्**=यह **मोघम्**=व्यर्थ है। हमेशा धन को अधिकाधिक प्राप्त करने की तरकीबों का ही यह कथन करता रहता है। वस्तुतः इन बातों का हमारे जीवन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। (२) **यत्**=जो **कपोतः**=ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति आनन्दमय प्रभु को (क) अपना पोत (boat) बनानेवाला व्यक्ति **अग्नौ**=उस सर्वाग्रणी, सबको आगे ले चलनेवाले प्रभु में **पदं कृणोति**=स्थान को बनाता है, ब्रह्म में ही स्थित होता है। यह धन को ही सारे समय दिमाग में नहीं रखे रहता। (३) **एषः**=यह ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति **यस्य दूतः**=जिस प्रभु का सन्देशवाहक बना

हुआ **प्रहितः**=हमारे समीप भेजा जाता है, **तस्मै**=उस **यमाय**=सर्वनियन्ता **मृत्यवे**=सारे संसार को अन्ततः समाप्त करनेवाले अथवा हमारी बुराइयों के लिये मृत्युभूत प्रभु के लिये **एतत् नमः अस्तु**=यह नमस्कार हो। हम प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं। प्रभु कृपा से ही हमें ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त होता है और उनके द्वारा हम प्रभु के सन्देश को सुन पाते हैं। संसारी पुरुष तो धन की ही बातें करते रहते हैं। वस्तुतः सदा धन में उलझे रहनेवाले ये 'उलूक' हैं। हम इनकी बातों में न फँस जायें।

भावार्थ—धन के वाहनभूत उलूकों की बातों को न सुनकर हम ब्रह्मनिष्ठ (कपोत) के द्वारा ब्रह्म के सन्देश को सुने।

ऋषिः—**कपोतो नैर्ऋतः** ॥ देवता—**कपोतापहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गो-परिणय

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयध्वम्।
संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हित्वा न ऊर्जं प्र पतात्पतिष्ठः ॥ ५ ॥

(१) **प्रणोदम्**=प्रकृष्ट प्रेरणा को देनेवाले **कपोतम्**=आनन्दमय प्रभु को अपनी नाव बनानेवाले ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति को **ऋचा**=ऋचाओं के हेतु से, विज्ञान के हेतु से (ऋग्वेद=विज्ञानवेद) **नुदत**=प्रेरित करे। नम्रतापूर्वक इस व्यक्ति से प्रार्थना करो कि वह तुम्हें पदार्थों का विज्ञान प्राप्त कराये। **इषं मदन्तः**=उससे दी गई प्रेरणा में आनन्द का अनुभव करते हुए **गां परिनयध्वम्**=इन ज्ञानवाणियों के साथ वरिणयवाले बनो। इस वेदवाणी के साथ तुम्हारा अटूट सम्बन्ध बने, यह तुम्हारी पत्नी के समान हो। (२) अब **विश्वा दुरितानि**=सब बुराइयों को **संयोपयन्तः**=अपने से दूर (अदृश्य) करते हुए सब बुराइयों को तुम अपने से दूर करो। (३) इन बुराइयों से हम दूर रहें, इसके लिये हम चाहते हैं कि **पतिष्ठः**=गति में सर्वोत्तम यह ब्रह्मनिष्ठ परिव्राजक **ऊर्जं हित्वा**=बल व प्राणशक्ति को धारण करके **नः प्रपतात्**=हमें समीपता से प्राप्त हो। इस ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति के प्रेरणात्मक उपदेशों से ही हमारा जीवन उत्तम बनेगा।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति के लिये हम ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति के समीप नम्रता से पहुँचे। उसकी प्रेरणाओं से ज्ञान की वाणियों के साथ हमारा परिणय हो और पापों को हम अपने से दूर करें।

इस सूक्त में ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के सम्पर्क से ज्ञान प्राप्ति व पापवर्जन का सुन्दर चित्रण है। यह निष्पाप व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है 'ऋषभः', विशिष्ट दीप्तिवाला बनता है 'वैराजः', यह शक्ति-सम्पन्न होकर 'शाक्वरः' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। इसकी प्रार्थना है—

[१६६] षट्षष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा** ॥ देवता—**सपत्नघ्नम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

गवां गोपति

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **मा**=मुझे **समानानाम्**=अपने समान लोगों में, एक श्रेणी में, स्थित व्यक्तियों में **ऋषभम्**=श्रेष्ठ **कृधि**=करिये। मैं समान लोगों में आगे बढ़ जानेवाला बनूँ। इसी दृष्टिकोण से मुझे **सपत्नानाम्**=मेरे शरीर के पति बनने की कामनावाले इन मेरे सपत्नभूत काम-क्रोध आदि का **विषासहिम्**=विशेषरूप से पराभव करनेवाला करिये। तथा **शत्रूणाम्**=शरीर को विनष्ट करनेवाले

विविध रोगरूप शत्रुओं का **हन्तारम्**=मारनेवाला करिये, हम रोगों से कभी आक्रान्त न हों। जब हम शरीर में नीरोग होते हैं और मन में वासनाओं से ऊपर उठ जाते हैं तभी उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हुए समान लोगों में श्रेष्ठ बन पाते हैं। (२) रोगों व वासनाओं से ऊपर उठाकर मुझे **विराजम्**=विशिष्ट दीप्तिवाला **कृधि**=करिये। मेरा शरीर तेजस्विता से दीप्त हो तथा मेरा मन निर्मलता से चमक उठे। मुझे **गवां गोपतिम्**=इन्द्रियरूप गौओं का **पति**=स्वामी बनाइये। इन्द्रियों को मैं वश में करनेवाला होऊँ। जितेन्द्रियता ही वस्तुतः सब उन्नतियों का आधार है। अजितेन्द्रिय न रोगों से बच पाता है, न वासनाओं से। यह विराट् तो क्या, एकदम निस्तेज होकर मृत्यु की ओर अग्रसर होता है।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय बनूँ। विशिष्ट दीप्तिवाला बनकर वासनाओं को विनष्ट करूँ और नीरोग बनूँ। इस प्रकार मैं अपने समान लोगों में श्रेष्ठ होऊँ।

ऋषिः—**ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा**॥ देवता—**सपत्नघ्नम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अरिष्ट-अक्षत

अहमस्मि सपत्नहेन्द्रइवारिष्टो अक्षतः। अधः सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिताः॥ २॥

(१) **अहम्**=मैं **सपत्नहा**=सपत्नभूत काम-क्रोध आदि का विनष्ट करनेवाला **अस्मि**=हूँ। **इन्द्रः इव**=एक जितेन्द्रिय पुरुष की तरह **अरिष्टः**=वासनाओं से तो मैं हिंसित न होऊँ। तथा **अक्षतः**=शरीर में रोगों से किसी प्रकार की क्षतिवाला न होऊँ। (२) **इमे सर्वे**=ये सारे **अभिष्ठिताः**=चारों ओर ठहरे हुए **सपत्नाः**=शत्रु **मे पदोः अधः**=मेरे पाँवों के नीचे हों। मैं इन काम-क्रोध आदि सब ओर से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को पादाक्रान्त करनेवाला बनूँ। इनको कुचलकर ही मैं अरिष्ट व अक्षत हो सकता हूँ।

भावार्थ—मैं सपत्नों को नष्ट करके 'अहिंसित व अक्षत' होऊँ।

ऋषिः—**ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा**॥ देवता—**सपत्नघ्नम्**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सपत्न-बन्धन

अत्रैव वोऽपि नह्याम्युभे आर्त्नीइव ज्यया। वाचस्पते नि षेधेमान्यथा मदधरं वदान्॥ ३॥

(१) **इव**=जैसे **उभे आर्त्नी**=धनुष की दोनों कोटियों को **ज्यया**=ज्या (डोरी) से बाँध देते हैं, इसी प्रकार से काम-क्रोध आदि शत्रुओं में **वः**=तुम्हें **अत्र एव**=यहाँ शरीर में ही **अपिनह्यामि**=बाँधनेवाला होता हूँ। काम-क्रोध को पूर्णरूप से वश में कर लें तो ये शत्रु न होकर मित्र हो जाते हैं। इसी को व्यापक शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि वशीभूत मन मित्र है, अवशीभूत मन ही शत्रु है। (२) **वाचस्पते**=हे वाणी के पति! **इमान् निषेध**=इन शत्रुओं को निषिद्ध कर। वस्तुतः इस जिह्वा को वशीभूत कर लेने से रसास्वाद से ऊपर उठकर मनुष्य नीरोग बनता है और व्यर्थ के शब्दों से ऊपर उठकर लड़ाई-झगड़ों से बचा रहता है। वाचस्पति मेरे शत्रुओं को इस प्रकार दूर करे कि **यथा**=जिससे **मद् अधरम्**=मेरे नीचे होकर ये **वदान्**=बात करें, अर्थात् सदा मेरी अधीनता में रहें। इनकी बात मुख्य न हो, ये मेरी बात को ही कहें।

भावार्थ—काम-क्रोध को हम पूर्ण रूप से वश करनेवाले हों।

ऋषिः—**ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा**॥ देवता—**सपत्नघ्नम्**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अभिभूः

अभिभूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना। आ वश्चित्तमा वो व्रतमा वोऽहं समितिं ददे॥ ४॥

(१) **अहम्**=मैं **विश्वकर्मेण धाम्ना**=सब कर्मों को करनेवाले तेज से **अभिभूः**=सब शत्रुओं को अभिभूतवाला बनकर **आगमम्**=आया हूँ। वस्तुतः तेजस्विता से मैं सब शत्रुओं को निस्तेज बनानेवाला हुआ हूँ। (२) यह तेजस्वी पुरुष जब सभा में आता है तो सबके चित्तों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। **वः**=तुम्हारे सब सभ्यों के **चित्तम्**=चित्त को **आददे**=अपनी ओर आकृष्ट करता हूँ। इसके बाद **वः**=तुम्हारे **व्रतम्**=कर्मों को **आददे**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् समिति के कार्यों में दिलचस्पी लेने लगता हूँ और अन्ततः **अहम्**=मैं **वः**=आपकी **समितिम्**=इस समिति को **आददे**=ग्रहण करनेवाला होता हूँ। समिति का मुखिया हो जाता हूँ।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष ही सभाओं का संचालन कर पाता है।

ऋषिः—**ऋषभो वैराजः शाक्वरो वा** ॥ देवता—**सपत्नघ्नम्** ॥ छन्दः—**महापङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

राष्ट्रपति के दो कर्त्तव्य

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूकाइवोदकान्मण्डूका उदकादिव ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार समिति का प्रधान बन जानेवाला वह व्यक्ति राष्ट्रपति बनकर कहता है कि **वः**=तुम सबके लिये **योगक्षेमम्**=योगक्षेम को, जीवन की आवश्यक चीजों को **आदाय**=लेकर **अहम्**=मैं **उत्तमः भूयासम्**=उत्तम बनूँ। राष्ट्र में सर्वोत्तम स्थिति में पहुँचनेवाले का मौलिक कर्त्तव्य तो यही है कि राष्ट्र ही सब प्रजाओं के योगक्षेम की व्यवस्था अवश्य करे, 'नास्यविषये क्षुधावसीदेत्'=इसके राष्ट्र में कोई भी भूखा न मरे। वस्तुतः इस प्रकार की व्यवस्था करनेवाला यह व्यक्ति ही कह सकता है कि मैं **वः**=आप सबके **मूर्धानम्**=मूर्धा पर **अक्रमीम्**=गति करनेवाला हुआ हूँ। आपका मूर्धन्य बना हूँ। सब से श्रेष्ठ बनकर मैं इस पद पर स्थित हुआ हूँ। (२) अन्य राज्याधिकारी तो इस राष्ट्रपति की अधीनता में ही शासन व्यवस्था में सहयोग देते हैं। यह राष्ट्रपति कहता है कि **मे**=मेरे **अधस्पदात्**=नीचे स्थित हुए-हुए आप **उद्वदत**=राजाज्ञाओं व राजनियमों का उद्घोषण करो। इस प्रकार उद्घोषण करो **इव**=जैसे कि **मण्डूकाः उदकात्**=मेंढक पानी से शब्द को करते हैं, उसी प्रकार तुम राजाज्ञाओं की घोषणा करो। इन राजाज्ञाओं से सब प्रजाजनों को सुपरिचित करना यह निचले अधिकारियों का कर्त्तव्य होता है। (वर्तमान में यह कार्य बहुत कुछ समाचार-पत्रों से कर दिया जाता है)।

भावार्थ—राजा को चाहिये कि राष्ट्र में सबके योगक्षेम की ठीक व्यवस्था करे, समय-समय पर राजाज्ञाओं की ठीक प्रकार से उद्घोषणा कराता रहे।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात का प्रतिपादन करता है राष्ट्रपति वही चुना जाये जो जितेन्द्रिय व तेजस्वी होकर सर्वश्रेष्ठ बने। यह विश्वामित्र=सबके साथ स्नेह करनेवाला होता है और 'जमदग्नि' होने से (जमत् अग्नि) स्वस्थ व तेजस्वी बना रहता है, इसकी जाठराग्नि कभी मन्द नहीं होती। जितेन्द्रियता का यह स्वाभाविक परिणाम है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। इसके लिये कहते हैं—

[१६७] सप्तषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**विश्वामित्रजमदग्नी** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

तप द्वारा प्रकाश की प्राप्ति

तुभ्येदामिन्द्र परि षिच्यते मधु त्वं सुतस्य कलशस्य राजसि।
त्वं रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि त्वं तपः परितप्याजयः स्वः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्य**=तेरे लिये, तेरे जीवन के सुन्दर निर्माण के लिये, **इदं मधु**=यह मधु-भोजन का सारभूत सोम **परिषिच्यते**=शरीर में सर्वत्र सींचा जाता है। सोम-वीर्य ही मधु है। जीवन को यह मधुर बनानेवाला है। **त्वम्**=तू **सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए-हुए **कलशस्य**='कला: शेरतेऽस्मिन्' सब प्राण आदि कलाओं के आधारभूत सोम का **राजसि**=राजा होता है। इस सोम का तू मालिक बनता है। (२) **त्वम्**=तू **नः**=हमारी प्राप्ति के लिये, प्रभु प्राप्ति के लिये **रयिम्**=धन को **उ**=निश्चय से **पुरुवीराम्**=पालक व पूरक वीरतावाला **कृधि**=कर। यदि मनुष्य धन में आसक्त हो जाता है तो यह धन उसके विलास व विनाश का कारण बनता है। अनासक्ति के साथ धन शरीर में रोगों को नहीं आने देता, मन में न्यूनताओं को नहीं आने देता। (३) **त्वम्**=तू **तपः परितप्य**=तप को करके **स्वः अजयः**=प्रकाश को जीतनेवाला बन। तपस्या से मलिनता का विनाश होकर बुद्धि का दीपन होता है। इस दीप्त बुद्धि से हमारा ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है।

भावार्थ—हम सोम के रक्षण के द्वारा जीवन को मधुर बनायें। शरीर में सब कलाओं का पूरण करें। धन में आसक्त न होकर तपस्वी बनते हुए हम प्रकाश को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रजमदग्नी** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रकाश द्वारा आसुर-वृत्तियों का विनाश

स्वर्जितं महि मन्दानमन्धसो हवामहे परि शक्रं सुताँ उप।
इमं नो यज्ञमिह बोध्या गहि स्पृधो जयन्तं मघवानमीमहे॥ २॥

(१) हम **स्वर्जितम्**=हमारे लिये प्रकाश का विजय करनेवाले, **महि**=महान्, **मन्दानम्**=आनन्दस्वरूप **शक्रम्**=शक्तिशाली परमात्मा को **अन्धसः सुतान् परि**=सोम के सवनों का लक्ष्य करके **उपहवामहे**=समीपता से पुकारते हैं। प्रभु के स्मरण से शरीर में सोम का सम्यक् रक्षण होता है। इस सोम के रक्षण से हम भी प्रकाश का विजय करनेवाले, महान्, आनन्दमय व शक्तिशाली बन पाते हैं। (२) हे प्रभो! आप **नः**=जो **इमं यज्ञम्**=इस जीवनयज्ञ को **इह**=यहाँ **बोधि**=जानिये, इसका ध्यान करिये। **आगहि**=आप हमें प्राप्त होइये। हम **स्पृधः जयन्तम्**=हमारे सब शत्रुओं का पराभव करनेवाले, **मघवानम्**=ऐश्वर्यशाली प्रभु को **ईमहे**=याचना करते हैं। प्रभु से हम यही याचना करते हैं कि प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि सब शत्रुओं का पराभव करें।

भावार्थ—हम प्रभु से यही याचना करते हैं कि वे हमें प्रकाश प्राप्त करायें। इस प्रकाश से हमारे आसुरभाव विनष्ट हों। आसुरभावों के विनाश से हम सोम का रक्षण करें। सोमरक्षण से हम वास्तविक आनन्द को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रजमदग्नी** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

कलश-भक्षण

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम्॥ ३॥

(१) शरीर में आहार से उत्पन्न होनेवाली अन्तिम धातु वीर्य है। इसी में शरीरस्थ सब कलाओं का निवास है। 'कला: शेरतेऽस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से इस वीर्य को 'कलश' कहा गया है। इन **कलशान्**=वीर्यकणों का **अभक्षयम्**=मैं भक्षण करता हूँ, इन्हें अपने शरीर में ही सुरक्षित करने

का प्रयत्न करता हूँ। (२) इस वीर्य को मैं कब धारण करता हूँ? (क) जब कि **सोमस्य राज्ञः वरुणस्य धर्मणि**=सोम राजा के व वरुण के धर्म में चलता हूँ। उदीची (उत्तर) दिक् का अधिपति 'सोम' है। इस सोमरक्षण का कर्म 'विनीतता' है। विनीतता के कारण ही इसकी उन्नति बनी रहती है। वरुण का धर्म प्रत्याहार है, यह 'प्रतीची' दिक् का अधिपति है। प्रत्याहार से, इन्द्रियों को विषयों से, प्रत्याहृत करने से मनुष्य पाप से बचा रहता है। एवं 'विनीतता व प्रत्याहार' वीर्यरक्षण के प्रथम साधन हैं। (ख) **उ**=और **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के और **अनुमत्याः**=अनुमति के **शर्मणि**=शरण में मैं वीर्यरक्षण करनेवाला बनता हूँ। 'बृहस्पति' ऊर्ध्वा दिक् का अधिपति है। सर्वोत्कृष्ट ज्ञान शिखर पर यह पहुँचनेवाला है। ज्ञान-शिखर पर पहुँचने में लगा हुआ मैं सोम का रक्षण कर पाता हूँ। अनुकूल मति भी सोमरक्षण में सहायक होती है, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि के भाव वीर्यरक्षण के अनुकूल नहीं है। (३) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **विधातः**=सब सृष्टि का निर्माण करनेवाले व **धातः**=धारण करनेवाले प्रभो! **अहम्**=मैं **अद्य**=आज **तव**=तेरी **उपस्तुतौ**=स्तुति में व उपासना में इन वीर्यकणों का रक्षण करता हूँ। प्रभु का स्मरण मुझे वासनाओं से बचाता है और वीर्यरक्षण के योग्य बनाता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण के साधन ये हैं—(क) विनीत बनना, (ख) पापवृत्ति से दूर होना, इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकना, (ग) ऊँचे से ऊँचे ज्ञान की प्राप्ति में लगे रहना, (घ) ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध में न फँसना, (ङ) प्रभु का स्मरण (निर्माण व धारण के कर्मों में लगे रहना)।

ऋषिः—**विश्वामित्रजमदग्नी** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासक

प्रसूतो भक्षमकरं चरावपि स्तोमं चेमं प्रथमः सूरिरुन्मृजे।
सुते सातेन यद्यागमं वां प्रति विश्वामित्रजमदग्नी दमे॥ ४॥

(१) **चरौ अपि प्रसूतः**=हवि में भी प्रेरित हुवा-हुआ मैं **भक्षं अकरम्**=भोजन को करता हूँ। यज्ञ करता हूँ, और यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करता हूँ। इस हवि के द्वारा ही तो वस्तुतः प्रभु का सच्चा पूजन होता है। यज्ञशेष अमृत कहलाता है। यज्ञशेष के सेवन से मनुष्य नीरोग बना रहता है। (२) **च**=और **इमं स्तोमम्**=इस प्रभु के स्तोत्र को **प्रथमः**=विस्तृत हृदयवाला **सूरिः**=ज्ञानी बनकर **उन्मृजे**=परिशुद्ध करता हूँ। विशाल हृदय बनकर प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता हूँ। (२) प्रभु कहते हैं कि **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सातेन**=सम्भजन के द्वारा **यदि**=अगर हे **विश्वामित्र जमदग्नी**=विश्वामित्र व जमदग्नि! **वां प्रति**=आपके प्रति **आगमम्**=आता हूँ तो **दमे**=इन्द्रियों के दमन के होने पर ही आता हूँ। प्रभु उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो कि हृदय में सब के प्रति स्नेहवाले हैं, जो शरीर में दीप्त जाठराग्नि के कारण नीरोग हैं। प्रभु उन्हें ही प्राप्त होते हैं जो कि इन्द्रियदमन में प्रवृत्त होते हैं। प्रभु प्राप्ति के अधिकारी वे ही होते हैं जो सम्भजन को अपनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का पूजन यज्ञशेष के सेवन से होता है।

सारा सूक्त तप द्वारा प्रकाश को प्राप्त करने व प्रभु का सच्चा उपासक होने का उल्लेख करता है। प्रभु का उपासक अभौतिक वृत्ति का होता है, सो 'अनिलः' कहलाता है (न+इला)। ऐसा बनने के लिये यह प्राणों की शरण में जाता है, प्राणसाधना करता है, सो 'वातायन' हो जाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। प्राणों के महत्त्व का प्रतिपादन करता हुआ यह कहता है—

[१६८] अष्टषष्ट्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अनिलो वातायनः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना का महत्त्व

वात॑स्य॒ नु म॑हि॒मानं॒ रथ॑स्य रु॒जन्ने॑ति स्त॒नय॑न्नस्य॒ घोषः॑ ।
दि॒वि॒स्पृग्या॑त्यरु॒णानि॑ कृ॒ण्वन्नु॒तो ए॑ति पृथि॒व्या रे॒णुमस्य॑न् ॥ १ ॥

(१) **रथस्य**=शरीर-रथ की **वातस्य**=वायु की, अर्थात् प्राण की **नु**=अब **महिमानम्**=महिमा को देखो। (क) **रुजन् एति**=यह प्राण रोगों का भंग करता हुआ गति करता है। अर्थात् प्राण रोगकृमियों के विनाश के द्वारा रोगों को समाप्त करता है। (ख) **अस्य घोषः स्तनयन्**=इस प्राण का घोष बादल की गर्जना के समान होता है। प्राणशक्ति के होने पर स्वर में भी उच्चता होती है। (ग) यह प्राण **अरुणानि कृण्वन्**=तेजस्विताओं को उत्पन्न करता हुआ **दिविस्पृक्**=द्युलोक, अर्थात् मस्तिष्क को स्पृष्ट करनेवाला होता है। अर्थात् ये प्राण शरीर को तेजस्वी बनाते हैं और मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करते हैं। (घ) **उत उ**=और निश्चय से यह प्राण **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूप शरीर से **रेणुं अस्यन्**=धूल, अर्थात् मल को परे फेंकता है। मल शोधन का कार्य इस अपान का है। प्राण शक्ति का संचार करता है तो अपान मलों को दूर करता है। (२) प्राण के उल्लिखित लाभों का ध्यान करते हुए यह आवश्यक है कि प्राणसाधना के द्वारा हम नीरोग बनें, वाणी की शक्ति को प्राप्त करें, तेजस्वी हों, दीप्त मस्तिष्क बनें तथा शरीर से मलों का दूरीकरण करें।

भावार्थ—प्राणों की महिमा का ध्यान करते हुए हम प्राणसाधना को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अनिलो वातायनः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अन्य प्राणों के साथ 'मुख्य प्राण'

सं प्रेर॑ते॒ अनु॒ वात॑स्य वि॒ष्ठा ऐनं॑ गच्छन्ति॒ सम॑नं॒ न योषाः॑ ।
ताभिः॑ स॒युक्स॒रथं॑ दे॒व ई॑यते॒ऽस्य विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ राजा॑ ॥ २ ॥

(१) यह प्राण शरीर में ४९ भागों में विभक्त होकर स्थित होता है। ये ४९ प्रकार के **मरुत्**=प्राण **विष्ठाः**=विविध स्थानों में स्थित हैं। ये सब **वातस्य अनु संप्रेरते**=उस मुख्य प्राण के अनुसार गतिवाले होते हैं। मुख्य प्राण की गति ही इन सब की गतियों को नियमित करती है। **एनम्**=इस प्राण को ही ये सब अन्य मरुत् **आगच्छन्ति**=इस प्रकार सब ओर से प्राप्त होते हैं, **न**=जैसे कि **योषाः**=स्त्रियें **समनम्**=(सं अन) उत्तम प्राणशक्तिवाले पुरुष को प्राप्त होती हैं। (२) यह **देवः**=सब रोगों को जीतने की कामनावाला प्राण **ताभिः**=उन योषा तुल्य अन्य मरुतों के **सयुक्**=साथ मिला हुआ **सरथम्**=इस समान ही शरीररूप रथ पर **ईयते**=गति करता है। वस्तुतः यह प्राण ही **अस्य**=इस **विश्वस्य**=सब **भुवनस्य**=प्राणियों का **राजा**=दीपन करनेवाला है। प्राणसाधना से शरीर की सब शक्तियाँ चमक उठती हैं।

भावार्थ—शरीर में प्राण भिन्न-भिन्न रूपों में विविध स्थानों में स्थित होकर कार्य कर रहा है। वे सब प्राण इस मुख्य प्राण के साथ कार्य करते हुए शरीर की शक्तियों को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—**अनिलो वातायनः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रहस्यमय प्राण

अ॒न्तरि॑क्षे प॒थिभि॒रीय॑मानो॒ न नि वि॑शते कत॒मच्च॒नाहः॑ ।
अ॒पां सखा॑ प्रथम॒जा ऋ॒तावा॒ क्व॑ स्वि॒ज्जा॒तः कुत॒ आ ब॑भूव ॥ ३ ॥

(१) द्युलोक शरीर में मस्तिष्क है, पृथिवी यह स्थूल शरीर है। इनके बीच में हृदयान्तरिक्ष है। इस **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **पथिभिः**=विविध नाड़ी रूप मार्गों से **ईयमानः**=गति करता हुआ यह प्राण **कतमच्चन अहः**=किसी भी दिन **न निविशते**=गति से उपराम नहीं होता। यह सदा चलता ही है। अन्य इन्द्रियाँ श्रान्त हो जाती हैं, पर यह कभी श्रान्त नहीं होता। (२) **अपां सखा**=(आपः रेतो भूत्वा) यह रेतःकणरूप जलों का मित्र है, रेतःकणों की ऊर्ध्वगति इस प्राण के ही कारण होती है। **प्रथमजाः**=यह सब से प्रथम उत्पन्न होता है, 'स प्राणमसृजत्' इन प्रश्नोपनिषद् के शब्दों में सब से प्रथम कला प्राण ही है। **ऋतावा**=यह ऋत का अवन (रक्षण) करनेवाला है, सब ठीक चीजें प्राण के ही कारण होती हैं। प्राणशक्ति की कमी शरीर में सब विकृतियों का कारण बनती है। (३) यह प्राण **क्वस्वित् जातः**=कहाँ प्रादुर्भूत हो गया व **कुतः आबभूव**=कहाँ से प्रकट हो गया? इसे सामान्यतः कोई जानता नहीं। 'यह शरीर में है' बस इतना ही स्पष्ट है। इस प्राण की महिमा दुर्ज्ञेय ही है।

भावार्थ—प्राण सतत गतिवाला है। रेतःकणों की ऊर्ध्वगति का साधक है शरीर में सब व्यवस्थाओं को ठीक रखता है। है रहस्यमय।

ऋषिः—**अनिलो वातायनः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मा देवानाम्

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥ ४॥

(१) यह प्राण **देवानां आत्मा**=सब इन्द्रियों का आत्मा है। सब इन्द्रियों में इस प्राण की ही शक्ति कार्य कर रही है **भुवनस्य गर्भः**=प्राणिमात्र का यह गर्भ है, सब के अन्दर होनेवाला है। इसके बिना किसी प्राणी के जीवन का सम्भव नहीं। **एषः देवः**=यह प्रकाशमय प्राण **यथावशं चरति**=वश के अनुसार चलता है, जितना-जितना इसे काबू कर पाते हैं उतना-उतना यह दीर्घकाल तक चलनेवाला होता है। (२) **अस्य**=इस प्राण के **घोषाः इत्**=शब्द ही **शृण्विरे**=सुनाई पड़ते हैं, **रूपं न**=इस प्राण का रूप दिखाई नहीं पड़ता। **तस्मै वाताय**=इस प्राण के लिये हम **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा करते हैं। प्राणसाधक के लिये मिताहार अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—सब इन्द्रियों को प्राण से ही शक्ति प्राप्त होती है। इस प्राणसाधना के लिये मिताहार आवश्यक है।

सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व को सुव्यक्त कर रहा है। इस प्राणसाधक के लिये गो दुग्ध के महत्त्व को अगले सूक्त में कहते हैं। इन गौवों को खुली वायु में चरानेवाला वनविहारी 'शबर' अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रतिक्षण कमर कसे तैयार होने से 'काक्षीवत' है। इसकी प्रार्थना इस प्रकार है—

[१६९] एकोनसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**शबरः काक्षीवतः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गौवों के लिये खुली हवा-पौष्टिक चारा

मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ॥ १॥

(१) **मयोभूः**=कल्याण को उत्पन्न करनेवाला **वातः**=वायु **उस्राः**=गौवों के **अभिवातु**=सब ओर बहनेवाला हो। अर्थात् गौवों को वायु-सम्पर्क सम्यक् प्राप्त हो 'वायुर्येषां सहचारं जुजोष'। बन्द स्थानों में, जहाँ न तो खुली हवा है, न सूर्य किरणों का सम्पर्क, वहाँ रहनेवाली गौवों का दूध उतना स्वास्थ्यजनक नहीं होता, गौवों का खुली हवा में जाना, चारागाहों में चरने के लिये जाना आवश्यक है। (२) ये गौवें उन **ओषधीः**=ओषधियों को **आरिशन्ताम्**=खानेवाली हों, आस्वादित करनेवाली हों, जो कि **ऊर्जस्वतीः**=बल व प्राणशक्ति को देनेवाली हैं। (३) वे ही गौवें ठीक हैं जो कि **पीवस्वतीः**=हृष्ट-पुष्ट हों। दुर्बल मरियल गौवों का दूध भी उतना पौष्टिक नहीं हो सकता। ये गौवें **जीवधन्याः**=जीवों को प्रीणित करनेवाले जलों को **पिबन्तु**=पीयें। उत्तम ही जलों को पीनेवाली गौवों सात्त्विक दूध को देती हैं। (३) हे **रुद्र**=रोगों के द्रावण करनेवाले प्रभो! आप इस **पद्वते**=पाँवोंवाले **अवसाय**=भोजन के लिये, भोजन को प्राप्त करनेवाली गौ के लिये **मृड**=सुख को करिये गौ वस्तुतः पाँवोंवाला भोजन है। इसके द्वारा हमें पूर्ण भोजन प्राप्त होता है।

भावार्थ—गौवें खुली वायु में संचार करें, पौष्टिक चारे को चरें, तृप्तिकारक जलों के पीयें। ऐसी गौवें ही हमें पूर्ण भोजन प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**शबरः काक्षीवतः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोदुग्ध-तपस्या से अंगिरस् बनना

याः सरू॑पा विरू॑पा एक॑रूपा यासा॑मग्निरिष्ट्या नामा॑नि वेद॑।
या अङ्गि॑रसस्तप॑सेह च॒क्रुस्ताभ्यः॑ पर्जन्य॒ महि॒ शर्म॑ यच्छ ॥ २ ॥

(१) **याः**=जो गौएँ **सरूपाः**=समानरूपवाली हैं अथवा **विरूपाः**=विविध रूपोंवाली हैं, और जो **एकरूपाः**=एक रूपवाली हैं, जिनका सारा शरीर एक रंगवाला है, **यासाम्**=जिनके **नामानि**=नामों को **अग्निः**=अग्निहोत्र करनेवाला पुरुष **इष्ट्या**=यज्ञ के हेतु से **वेद**=जानता है। वैदिक संस्कृति में घर में गौ इस उद्देश्य से भी रखी जाती है कि उसके घृत से अग्निहोत्र करने का सम्भव होगा। इस गौ का नाम ही 'अग्निहोत्री' होता था। इस प्रकार अग्निहोत्र करनेवाला व्यक्ति यहाँ 'अग्नि' कहा गया है। वह गौओं के अघ्न्या आदि नामों को जानता है और उन नामों द्वारा सूचित होनेवाले गौवों के महत्त्व को समझता है। (२) ये गौवें हैं **याः**=जो **इह**=इस संसार में **तपसा**=तप के साथ, अर्थात् तपस्या के होने पर इन तपस्वियों को **अंगिरसः चक्रुः**=अंगिरस बना देती हैं, अंग-प्रत्यंग में इनका दूध रस का संचार करनेवाला होता है। परन्तु यह आवश्यक है कि इन गोदुग्ध सेवन करनेवाले में तपस्या अवश्य हो। बिना तप के केवल गोदुग्ध हमें अंगिरस् नहीं बना सकता। हे **पर्जन्य**=बादल **ताभ्यः**=उन गौवों के लिये **महि शर्म यच्छ**=महान् सुख को प्राप्त करा। वृष्टि से चारों ओर चारा पर्याप्त मात्रा में हो जाता है और इन पशुओं के भूखे मरने का प्रसंग नहीं होता। वृष्टि क्या होती है, पशुओं के लिये पर्याप्त भोजन ही बरसता है।

भावार्थ—गोदुग्ध सेवन के साथ तप के होने पर मनुष्य 'अंगिरस्' बनता है।

ऋषिः—**शबरः काक्षीवतः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोदुग्ध से शक्ति विस्तार

या दे॒वेषु॑ त॒न्व१॒मैर॑यन्त॒ यासां॒ सोमो॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॒ वेद॑।
ता अ॒स्मभ्यं॒ पय॑सा॒ पिन्व॑मानाः प्र॒जाव॑तीरिन्द्र गो॒ष्ठे रि॑रीहि ॥ ३ ॥

(१) **याः**=जो गौवें **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **तन्वम्**=(तन् विस्तारे) शक्ति के विस्तार

को **ऐरयन्त**=प्रेरित करती हैं। देव गोदुग्ध का प्रयोग करते हैं और इस प्रयोग से उनकी शक्तियों का विस्तार होता है। (२) **सोमः**=सौम्य वृत्ति का मनुष्य **यासाम्**=जिनके **विश्वा रूपाणि**=सब निरूपणीय पदार्थों को **वेद**=जानता है। 'गो दुग्ध, दही, छाछ, मखन' ये गौ के सात्त्विक पदार्थ हैं। खोया, मिठाइयाँ, पनीर आदि राजस पदार्थ हैं। खट्टी लस्सी आदि तामस पदार्थ हैं। एक सौम्य पुरुष इन सबको जानता है और सात्त्विक पदार्थों का प्रयोग करता है। (३) **ताः**=वे गौवें **पयसा पिन्वमानाः**=अपने दुग्ध से हमें प्रीणित करती हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **प्रजावतीः**=उत्कृष्ट बछड़ोंवाली इन गौवों को **गोष्ठे**=हमारी गोशाला में **रिरीहि**=दीजिये। हमारी गोशाला गौवों से पूरी भरी हो, हमें किसी प्रकार भी दूध की कमी न हो।

भावार्थ—गोदुग्ध के सेवन से हमें सब शक्तियों का विस्तार प्राप्त हो।

ऋषिः—**शबरः काक्षीवतः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-पितर

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम॥ ४॥

(१) **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिये **एताः**=इन गौवों को **रराणः**=देता है। इन गौवों के द्वारा **विश्वैः देवैः**=सब देवों से तथा **पितृभिः**=पितरों से **संविदानः**=(विद् लाभे) हमें सम्यक् युक्त करता है। अर्थात् इन गोदुग्धों के सेवन से हमारे अन्दर देववृत्ति व पितृवृत्ति का उदय होता है, हम प्रायेण ज्ञान-प्रधान जीवन बिताते हैं और रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। (२) इन **शिवाः सतीः**=कल्याणकर होती हुई गौवों को **नः**=हमारे **गोष्ठं उप आकः**=गोष्ठ में प्राप्त कराइये। **वयम्**=हम **तासाम्**=उन गौवों के **प्रजया**=प्रजाओं के साथ **सं सदेम**=सम्यक्तया अपने घरों में विराजमान हों। इन गौवों से हमारा घर नीरोगता, निर्मलता व तीव्र बुद्धि को प्राप्त करता हुआ चमक उठे। हमारा जीवन अधिकाधिक सुन्दर बने।

भावार्थ—गोदुग्ध के सेवन से देववृत्ति व पितृवृत्ति का उदय होता है। घर सब तरह से उत्तम बनता है।

सम्पूर्ण सूक्त गोदुग्ध के सेवन के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। इस गोदुग्ध का सेवन हमारे जीवन को दीप्त बनाता है, सूर्य की तरह हम चमकते हैं। यह सूर्य की तरह चमकनेवाला 'विभ्राट् सौर्यः' अगले सूक्त का ऋषि है। इसके लिये प्रभु निर्देश करते हैं—

[१७०] सप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**विभ्राट् सूर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु में जीवन का अर्पण

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति॥ १॥

(१) **विभ्राट्**=विशेषरूप से चमकनेवाला यह पुरुष **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **सोम्यं मधु**=सोम सम्बन्धी ओषधियों की सारभूत वस्तु को **पिबतु**=अपने अन्दर ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें। 'सोम' वानस्पतिक भोजन का अन्तिम सार है। शरीर में रस रुधिर आदि के क्रम से सातवें स्थान में इसकी उत्पत्ति होती है, इसलिए सारभूत होने से इसे 'मधु' यह नाम दिया गया है। इसका हमें पान करने का प्रयत्न करना है, यही सब वृद्धियों का मूल है। (२) यह विभ्राट् अपने

अविह्रुतम्=कुटिलता से रहित **आयुः**=जीवन को **यज्ञपतौ**=यज्ञों के रक्षक प्रभु में **दधत्**=स्थापित करता है। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होकर अपने जीवन को बिताता है। (३) **वातजूतः**=प्राणों से प्रेरित हुआ-हुआ **यः**=जो विभ्राट् **त्मना**=स्वयं **अभिरक्षति**=अपना रक्षण करता है, अर्थात् प्राणायाम के द्वारा जो अपनी शक्तियों का रक्षण करता है, वह **प्रजाः पुपोष**=सन्तानों का उत्तम पोषण करता है और **पुरुधा**=अनेक प्रकार से शोभा को प्राप्त करता है। प्राणायाम के द्वारा शक्ति का रक्षण करता हुआ यह उत्तम सन्तानोंवाला बनता है और अपना भी 'शरीर, मन व बुद्धि' के द्वारा विकास करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम जीवन को यज्ञमय बनाते हुए इस जीवनयज्ञ को प्रभु में स्थापित करें और उपासना व प्राणायाम शक्ति का रक्षण करते हुए अपने 'शरीर, मन व बुद्धि' का विकास करें।

ऋषिः—**विभ्राट् सूर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'अमित्र, वृत्र, असुर व सपत्नों' का विनाशक

विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मन्दिवो धरुणे सत्यमर्पितम्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहंतमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा॥ २॥

(१) **विभ्राट्**=यह देदीप्यमान जीवनवाला पुरुष **ज्योतिः जज्ञे**=अपने में उस ज्योति का प्रादुर्भाव करता है, जो कि **बृहत्**=वृद्धि का कारण बनती है, **सुभृतं**=(शोभनं भृतं यस्मात्) जिसके कारण हमारा उत्तम भरण होता है, **वाजसातमम्**=जो अधिक से अधिक शक्ति को देनेवाली है। जो ज्योति **सत्यम्**=सत्य है और **दिवः धर्मन्**=ज्ञान के धारक **धरुणे**=सर्वाधार प्रभु में **अर्पितम्**=अर्पित है, विद्यमान है। इस प्रभु की ज्योति को यह विभ्राट् प्राप्त करता है। (२) यह ज्योति उसके लिये **दस्युहन्तमम्**=दास्य वृत्तियों की अधिक से अधिक नाश करनेवाली होती है। इन विनाशक वृत्तियों को नष्ट करके यह पुरुष **अमित्रहा**=हमारे साथ न स्नेह करनेवाली क्रोध आदि की वृत्तियों को नष्ट करनेवाला होता है। **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना को विनष्ट करता है। **असुरहा**=(स्वेषु अस्येषु जुह्वति) स्वार्थमयी आसुरी वृत्ति को दूर करता है और **सपत्नहा**=शरीर के पति बनने की कामनावाले रोगों को विनष्ट करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु की ज्योति को जगायें और क्रोध, काम, स्वार्थ व रोगों को विनष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**विभ्राट् सूर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

सहस्वी-ओजस्वी

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत्।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम्॥ ३॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित उस सर्वाधार प्रभु में अर्पित **इदं ज्योतिः**=यह ज्योति **श्रेष्ठम्**=श्रेष्ठ है, प्रशस्यतम है। **ज्योतिषां उत्तमम्**=सब ज्योतियों में उत्तम हैं। यह **विश्वजित्**=हमारे लिये विश्व का विजय करनेवाली है, **धनजित्**=सब धनों को जीतनेवाली है। यह ज्योति **बृहत् उच्यते**=वृद्धि का कारण कही जाती है। (२) इस ज्योति को प्राप्त करनेवाला 'विभ्राट्' **विश्वभ्राट्**=संसार में चमकता है **महि भ्राजः**=यह महनीय भ्राज व तेज होता है। **सूर्यः**

दृशे=यह देखने के लिये सूर्य ही होता है। सूर्य के समान दिखता है। यह अपने अन्दर **अच्युतम्**=न नष्ट होनेवाले **सहः**=शत्रुमर्षक बल को तथा **ओजः**=शरीर की शक्तियों को विस्तृत करनेवाले बल को **उरु पप्रथे**=खूब ही विस्तृत करता है।

भावार्थ—प्रभु की ज्योति को प्राप्त करके हम सहस्वी व ओजस्वी बनते हैं।

ऋषिः—**विभ्राट्सूर्यः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

देवलोक में जन्म

विभ्राज॒ञ्ज्योति॑षा॒ स्व१॒॑रग॑च्छो रोच॒नं दि॒वः।
येने॒मा विश्वा॒ भुव॑ना॒न्याभृ॑ता वि॒श्वक॑र्मणा वि॒श्वदे॑व्यावता ॥ ४ ॥

(१) हे विभ्राट्! तू **ज्योतिषा विभ्राजन्**=प्रभु की ज्योति से दीप्त होता हुआ **स्वः अगच्छः**=प्रकाशमय लोक को प्राप्त करता है, जो प्रकाशमय लोक **दिवः रोचनम्**=द्युलोक का दीप्त स्थान है। अर्थात् इस व्यक्ति को अगला जन्म इस मर्त्यलोक में न प्राप्त होकर द्युलोक में मिलता है, यह देवलोक में जन्म लेता है। (२) यह ज्योति वह है **येन**=जिससे **इमा**=ये **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **आभृता**=भरण किये गये हैं। **विश्वकर्मणा**=जो ज्योति हमारे सब कर्मों का साधन बनती है और **विश्वदेव्यावता**=सब दिव्य गुणोंवाली है। इस ज्योति को प्राप्त करके हम सबका उत्तम भरण करते हैं, सदा कर्मशील बने रहते हैं और दिव्यगुणों का धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—ज्योति से जीवन को दीप्त करके हम देवलोक में जन्म के पात्र बनें।

यह सूक्त ज्योति को प्राप्त करके ज्योतिर्मय जीवनवाले 'विभ्राट्' का वर्णन करता है। यह विभ्राट् 'इट'=गतिशील होता है और जीवन को ज्ञान से परिपक्व करनेवाला 'भार्गव' बनता है। इस 'इट भार्गव' का ही अगला सूक्त है—

[१७१] एकसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**इटो भार्गवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सुतावान् 'इट'

त्वं त्यमि॒टतो॒ रथ॒मिन्द्र॒ प्राव॑: सु॒ताव॑तः। अशृ॑णोः सो॒मिनो॒ हव॑म् ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! **त्वम्**=आप **सुतावतः**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करनेवाले **इटतः**=गतिशील, क्रियामय जीवनवाले पुरुष के **त्यं रथम्**=उस शरीररूप रथ को **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। (२) हे प्रभो! इस **सोमिनः**=क्रियाशीलता के द्वारा वासना को विनष्ट करके सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष की **हवम्**=पुकार को **अशृणोः**=आप सुनते हैं। प्रार्थना उसी की पूर्ण होती है, जो सोम का रक्षण करता है। वस्तुतः जीवन में सब उन्नतियों का मूल यह सोमरक्षण ही है। इसके लिये वासना का विनाश आवश्यक है। और वासना विनाश के लिये क्रियाशील बनने की आवश्यकता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता द्वारा सोम का रक्षण करें और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**इटो भार्गवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञ-ध्वंसक का विनाश

त्वं म॒खस्य॒ दोध॑तः॒ शिरोऽव॑ त्व॒चो भ॑रः। अग॑च्छः सो॒मिनो॑ गृ॒हम् ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **मखस्य दोधतः**=यज्ञ को कम्पित करनेवाले पुरुष के, यज्ञ-विध्वंसक के **शिरः**=सिर को **त्वचः**=त्वचा से, इस त्वचा से आवृत शरीर से **अवभरः**=अलग कर देते हैं। जो व्यक्ति यज्ञशील न बनकर औरों से किये जानेवाले यज्ञों में भी विघ्न करनेवाला होता है, प्रभु उसे विनष्ट करते हैं। (२) यज्ञादि में प्रवृत्त रहकर **सोमिनः**=सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष के **गृहं अगच्छः**=घर में प्रभु जाते हैं। यज्ञशील पुरुष के गृह में प्रभु का वास होता है। इस प्रभु के वास से उसके जीवन में वासनाएँ नहीं पनपती और वह सोम का (=वीर्य का) रक्षण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर प्रभु को अपने गृह में आमन्त्रित करें।

ऋषिः—**इटो भार्गवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'आत्मबुध्न-मनस्यु'

त्वं त्यमिन्द्र मर्त्यमास्त्रबुध्नाय वेन्यम्। मुहुः श्रथ्ना मनुस्यवे॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवन् प्रभो! **त्वम्**=आप **त्यम्**=उस **वेन्यं मर्त्यम्**=(वेन्=चिन्तायाम्) निरन्तर विषयों की चिन्ता व कामना करनेवाले 'कामकामी' पुरुष को, विषयों के पीछे मरनेवाले व्यक्ति को **आस्त्रबुध्नाय**=(प्रणवो धनुः) प्रणव-ओंकार-रूप अस्त्र को अपना आधार बनानेवाले **मनस्यवे**=विचारशील पुरुष के लिये **मुहुः श्रथ्ना**=निरन्तर विनष्ट करते हो (मुहुस्=constantly)। (२) प्रभु का उपासन हमें वेन्य से 'आस्त्रबुध्न मनस्यु' बनाता है। उपासना के होने पर हमारी वृत्ति विषयों से विमुख होकर प्रभु-प्रवण होती है। हम प्रभु के 'ओ३म्' नाम को अपना धनुष बनाते हैं। यही हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला होता है। ऐसी स्थिति में हम विचारशील बनते हैं। अब हम संसार के पदार्थों की कामना से ऊपर उठ जाते हैं। आस्त्रबुध्न बनकर वेन्य नहीं रहते।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना आधार बनायें, तभी हम संसार की कामनाओं से ऊपर उठ पायेंगे।

ऋषिः—**इटो भार्गवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अस्तंगत सूर्य का पुनः उदय

त्वं त्यमिन्द्र सूर्यं पुश्चा सन्तं पुरस्कृधि। देवानां चित्तिरो वशम्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **त्यम्**=उस **पश्चा सन्तम्**=पश्चिम में अस्त हुए **सूर्यम्**=सूर्य को **पुरः कृधि**=फिर पूर्व में उदित करिये। (२) **देवानाम्**=देवों के देववृत्तिवाले पुरुषों के **चित्**=भी **तिरः**=तिरोहित हुए-हुए **वशम्**=कमनीय-कान्त-ज्ञान सूर्य को भी आवरण के विनाश के द्वारा प्रकट करिये।

भावार्थ—हे प्रभो! जैसे आप अस्तंगत सूर्य को पुनः उदित करते हैं, इसी प्रकार आप देववृत्तिवाले पुरुषों के ज्ञानसूर्य को भी उदित करिये।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात का वर्णन करता है कि गतिशील उपासक अपने जीवन को प्रकाशमय बना पाता है। अपने जीवन का सुन्दर परिवर्तन करनेवाला यह 'संवर्त' है, वासनारहित होने से यह शक्तिशाली अंगोंवाला 'आंगिरस' बनता है। यह उषा का ध्यान करता हुआ अपने जीवन को अगले सूक्त में वर्णित प्रकार से साधता है—

[१७२] द्विसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**संवर्तः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**द्विपदा विराट्** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उपासना व स्वाध्याय

आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥ १ ॥

(१) 'संवर्त आंगिरस' उषा से प्रार्थना करता है कि हे उषः! तू **वनसा सह**=उस प्रभु के यशोगान के साथ **आयाहि**=हमें प्राप्त हो। उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम प्रभु का उपासन करनेवाले बनें। (२) इसलिए हम उपासन करें **यत्**=क्योंकि **वर्तनिम्**=हमारे से किये गये इन स्तोत्रों को **ऊधभिः**=ज्ञानदुग्ध के आधारोंवाली **गावः**=वेदवाणी रूप गौवें **सचन्त**=समवेत करनेवाली होती हैं। उपासना से हमें पवित्र हृदयता प्राप्त होती है। इस पवित्र हृदय से वेदवाणियों का स्वाध्याय करते हुए हम उनसे ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर उपासना व स्वाध्याय में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**संवर्तः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**द्विपदा विराट्** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम बुद्धि व यज्ञ

आ याहि वस्व्या धिया मंहिष्ठो जारयन्मखः सुदानुभिः ॥ २ ॥

(१) हे उषः! तू **वस्व्या**=प्रशस्त वसुओं को प्राप्त करनेवाली **धिया**=बुद्धि के साथ **आ याहि**=हमें प्राप्त हो। स्वाध्याय के द्वारा हमारी बुद्धि इस प्रकार शुद्ध हो कि हम अपने जीवन में निवासक तत्त्वों को धारण करनेवाले हों। (२) यह उषा में प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति **सुदानुभिः**=उत्तम दानवृत्तियों के द्वारा **मंहिष्ठः**=दातृतम बनता है और **जारयन्मखः**=यज्ञों को पूर्णता तक पहुँचानेवाला होता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में स्वाध्याय के द्वारा उत्तम निवासवाले हों। दानवृत्तिवाले बनकर यज्ञशील हों।

ऋषिः—**संवर्तः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**द्विपदा विराट्** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दान व उत्तम सन्तान

पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः प्रति दध्मो यजामसि ॥ ३ ॥

(१) **पितृभृतः न**=उत्तम अन्नों का भरण करनेवाले पुरुषों के समान **सुदानवः**=उत्तम दानशील होते हुए हम **इत्**=निश्चय से **तन्तुम्**=(प्रजातन्तुम्) प्रजातन्तु को **प्रतिदध्मः**=धारण करते हैं। इस दान की वृत्ति से हमारे सन्तान उत्तम बनते हैं 'श्रदस्मै वचसे नरो दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः'। (२) हे उषः! हम **यजामसि**=यज्ञशील बनते हैं। बड़ों के पूजन, बराबरवालों से प्रेमपूर्वक संगतिकरण व सदा दान की वृत्तिवाले बनते हैं 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'।

भावार्थ—दानवृत्तिवाले बनकर हम सन्तान को उत्तम बनाते हैं।

ऋषिः—**संवर्तः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**द्विपदा विराट्** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान व उत्तम विकास

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥ ४ ॥

(१) **उषा**=उषाकाल **स्वसुः**=अपनी भगिनी के तुल्य रात्रि के **तमः**=अन्धकार को **अपवर्तयति**=दूर करती है। इसी प्रकार यह **उषा स्व-सुः**=(स्व+'सृ' गतौ) आत्मतत्त्व की ओर

चलनेवाले पुरुष के **तमः**=अज्ञानान्धकार के विनष्ट करती है। यह आत्मतत्त्व की ओर चलने की वृत्तिवाला पुरुष उषाकाल में स्वाध्याय को करता है और इस प्रकार ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता है। (२) यह उषा **सुजातता**=शक्तियों के उत्तम विकास के द्वारा **वर्तनिम्**=हमारे जीवनमार्ग को **संवर्तयति**=सम्यक् परिवर्तित करनेवाली होती है। हमारा जीवन का मार्ग अशुभ को समाप्त करके शुभ का ग्रहण करनेवाला होता है।

भावार्थ—उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम स्वाध्याय के द्वारा अज्ञानान्धकार को विनष्ट करें तथा शक्तियों के उत्तम विकास के साथ शुभ का ग्रहण करें।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात को कह रहा है कि उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम उपासना, स्वाध्याय व यज्ञों में प्रवृत्त हों। ऐसी वृत्तिवाले बनने पर हम जीवन में विषयों से आकृष्ट न होकर 'ध्रुव' वृत्तिवाले होंगे। यह ध्रुव वृत्तिवाला व्यक्ति, विषयों से आन्दोलित न होने के कारण 'आंगिरस' तो होता ही है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। ऐसी वृत्तिवाला व्यक्ति ही राष्ट्र का अधिपति होने के योग्य है। इसी बात का वर्णन अगले सूक्त में है—

[१७३] त्रिसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**ध्रुवः** ॥ देवता—**राज्ञःस्तुति** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रजाओं से वरण किया गया 'राजा'

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥ १॥

(१) प्रजा से चुने गये राजा का राज्याभिषेक करते हुए पुरोहित कहता है कि—**त्वा**=तुझे **आहार्षम्**=प्रजा के मध्य से इस स्थान पर लाता हूँ। **अन्तः एधि**=तू इन प्रजाओं के अन्दर होनेवाला ही हो। गर्व के कारण प्रजाओं के लिये तू अगम्य न हो जा। अपने कार्य को उत्तमता से करता हुआ तू **ध्रुवः तिष्ठ**=स्थिर रूप से इस आसन पर विराज। **अविचाचलिः**=अपने कर्त्तव्य से कभी विचलित होनेवाला न हो। (२) अपने इस शासनकार्य को न्यायपूर्वक करता हुआ तू इस प्रकार व्यवहारवाला हो कि **सर्वाः विशः**=सब प्रजाएं **त्वा वाञ्छन्तु**=तुझे चाहें। न तो तीक्ष्ण दण्डवाला और ना ही मृदुदण्डवाला तू हो, सदा यथोचित दण्डवाला तूने बनना। विचारपूर्वक दिया गया उचित दण्ड सब प्रजाओं को रञ्जित करनेवाला होता है। (३) तीक्ष्ण दण्डवाला होकर तू प्रजाओं के उद्वेग का कारण मत बनना, मृदुदण्डवाला होकर तिरस्कृत आज्ञाओंवाला भी न होना। यथार्थ दण्ड होकर तूने प्रजाओं का पूज्य बनना। तूने उचित ही व्यवहार करना। **त्वत्**=तेरे से **राष्ट्रम्**=राष्ट्र **मा अधिभ्रशत्**=भ्रष्ट न हो। कहीं अयोग्य प्रमाणित होने से तुझे इस आसन से उतारना न पड़ जाये।

भावार्थ—राजा प्रजाओं से चुना जाये। उचित शासन करता हुआ वह सब प्रजाओं का प्रिय हो। अचानक अयोग्य प्रमाणित होने पर उसे सिंहासन से उतार दिया जाए।

ऋषिः—**ध्रुवः** ॥ देवता—**राज्ञःस्तुति** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'मर्यादा-पालक' राजा

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतइवाविचाचलिः। इन्द्रइवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥ २॥

(१) हे राजन्! **इह एव एधि**=तू यहाँ राज्यसिंहासन पर ही हो। **मा अपच्योष्ठाः**=इस आसन से तू च्युत न हो। अन्याय्य दण्ड आदि के कारण प्रजा के असन्तोष से तुझे इस सिंहासन को छोड़ना न पड़े। इसीलिए तूने **पर्वतः इव**=पर्वत की तरह **अविचाचलिः**=अपने राजधर्म में स्थिर रहनेवाला होना। (२) **इन्द्रः इव**=जैसे प्रभु संसार के शासक हैं, उसी प्रकार तूने भी (इन्द्रः) जितेन्द्रिय बनकर **इह**=इस शासन कार्य में **ध्रुवः तिष्ठ**=ध्रुव होकर स्थित होना, मर्यादा का कभी उल्लंघन करनेवाला न बनना। इस प्रकार मर्यादा में सब को स्थापित करनेवाला होकर **इह**=यहाँ **उ**=निश्चय से **राष्ट्रं धारय**=राष्ट्र का धारण करनेवाला हो। 'राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्'=राजा चारों वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करनेवाला हो। वस्तुतः राष्ट्र के समुचित धारण का प्रकार यही है कि सब वर्ण अपना-अपना कार्य समुचितरूपेण कर रहे हों।

भावार्थ—राजा स्वयं जितेन्द्रिय बनकर (इन्द्र इव) मर्यादा में चलता हुआ सभी को मर्यादा में स्थापित करे और इस प्रकार राष्ट्र का समुचित धारण करे।

ऋषिः—**ध्रुवः** ॥ देवता—**राज्ञःस्तुति** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'शान्त ज्ञानी ब्राह्मणों से प्रेरित' राजा

इममिन्द्रो अदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा। तस्मै सोमो अधि ब्रवत्तस्मा उ ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय राजा **ध्रुवम्**=मर्यादा में चलनेवाले **इमम्**=इस प्रजाजन को **ध्रुवेण हविषा**=मर्यादा में ग्रहण किये गये कर के द्वारा **अदीधरत्**=धारण करता है। राजा के लिये आवश्यक है कि—(क) उचित शासन व्यवस्था के द्वारा प्रजा को मर्यादित जीवनवाला बनाये (ध्रुवं)। (ख) स्वयं जितेन्द्रिय वृत्तिवाला हो (इन्द्रः)। (ग) कर का ग्रहण पूर्ण मर्यादा के अनुसार हो। भ्रमर जैसे फूल से रस को लेता है, फूल को विकृत नहीं होने देता, इसी प्रकार राजा अल्पाल्प कर ही ग्रहण करना (ध्रुवेण हविषा)। (२) **तस्मै**=इस राजा के लिये **सोमः**=शान्त वृत्ति का ब्राह्मण (सोमो वै ब्राह्मणः तां० २३।१६।५) **अधिब्रवत्**=आधिक्येन उपदेश देनेवाला हो। **उ**=और **तस्मा**=उस राजा के लिये **ब्रह्मणस्पतिः**=वेदज्ञान का स्वामी उपदेश देनेवाला हो। सोम और ब्रह्मणस्पतिः=शान्त व ज्ञानी ब्राह्मण, राजा को सदा उचित परामर्श देनेवाले हों।

भावार्थ—राजा सदा उचित कर लेनेवाला हो। शान्त ज्ञानी ब्राह्मण इसके परामर्शदाता हों।

ऋषिः—**ध्रुवः** ॥ देवता—**राज्ञःस्तुति** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ध्रुव राजा

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे। ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ ४ ॥

(१) **द्यौः ध्रुवा**=द्युलोक ध्रुव हो, मर्यादा से विचलित होनेवाला नहीं। इसी प्रकार **पृथिवी ध्रुवा**=यह पृथिवी भी अपनी मर्यादा में गति कर रही है। **इमे पर्वताः ध्रुवासः**=ये पर्वत भी ध्रुव हैं, अपने स्थान से डिगनेवाले नहीं हैं। (२) **इदं विश्वं जगत्**=यह सम्पूर्ण जगत् भी **ध्रुवम्**=अपने-अपने मार्ग से विचलित होनेवाला नहीं। प्रत्येक पिण्ड अपने मार्ग में स्थिर है। इसी प्रकार **अयम्**=यह **विशाम्**=प्रजाओं का **राजा**=रञ्जन करनेवाला शासक भी **ध्रुवः**=न डिगनेवाला हो। स्वयं मर्यादित जीवनवाला व सबको मर्यादा में चलानेवाला होता हुआ यह राज्य के आसन पर ध्रुवता से आसीन हो।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवी, पर्वत और सम्पूर्ण संसार ध्रुव हैं। यह राजा भी ध्रुव हो।

ऋषिः—ध्रुवः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

राज-कर्त्तव्य

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः। ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥ ५॥

(१) पुरोहित उपस्थित प्रजा को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **ते राष्ट्रम्**=आपके इस राष्ट्र को **राजा**=चारों वर्णों को अपने-अपने कार्यों में व्यवस्थापित करनेवाला यह राजा **वरुणः**=पाप का निवारण करनेवाला होता हुआ **ध्रुवं धारयताम्**=ध्रुवता से धारण करे। (२) यह राजा **देवः**=ज्ञान प्रसार से राष्ट्र को दीप्त करनेवाला होता हुआ तथा **बृहस्पतिः**=स्वयं ऊँचे से ऊँचे ज्ञान का पति बनता हुआ **ध्रुवम्**=ध्रुवता से धारण करे। (३) **ते**=आपके इस राष्ट्र को **इन्द्रः च अग्निः च**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला तथा राष्ट्र के अन्दर भी बुराइयों को भस्म करनेवाला यह राजा **ध्रुवम्**=ध्रुवता से राष्ट्र का धारण करे।

भावार्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि—(क) सब वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करे, (ख) पाप का निवारण करे, (ग) शिक्षा का प्रसार करे, (घ) शत्रुओं से राष्ट्र का रक्षण करे, (ङ) बुराइयों को भस्म करने के लिये यत्नशील हो। राष्ट्र धारण के लिये ये सब बातें आवश्यक हैं।

ऋषिः—ध्रुवः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

राजा व प्रजा का सम्पर्क

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि। अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्॥ ६॥

(१) पुरोहित प्रजा से ही कहता है कि **ध्रुवम्**=इस मर्यादा में चलनेवाले **अभिसोमम्**=(उमया ब्रह्मविद्यया सहितः सोमः) ब्रह्मज्ञानी की ओर जानेवाले, अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के परामर्श से कार्य करनेवाले इस राजा के **ध्रुवेण हविषाः**=मर्यादित-स्थिर रूप से दिये जानेवाले कर से **मृशामसि**=सम्पर्क में आते हैं। कर को लेकर इस राजा के समीप उपस्थित होते हैं। (२) अब अन्त में राजा से पुरोहित कहता है कि **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **विशः**=इन प्रजाओं को **केवलीः ते**=सिर्फ तेरा **करत्**=करे। ये प्रजाएँ शुद्ध तेरे ही शासन में हों। **अथ उ**=और अब निश्चय से इन्हें तेरे लिये **बलिहृतः करत्**=कर का देनेवाला करे। ये प्रजाएँ स्वयं प्रसन्नता से तुझे कर देनेवाली हों।

सम्पूर्ण सूक्त आदर्श राजा का चित्रण करता है। यह राजा आक्रान्ता शत्रुओं पर आक्रमण करके देश का रक्षण करता है, सो 'अभीवर्त' कहलाता है। इस 'अभीवर्त' ऋषि का ही अगला सूक्त है—

[१७४] चतुःसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—अभीवर्तः ॥ देवता—राज्ञःस्तुति ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

अभीवर्त हवि

अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते। तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय॥ १॥

(१) प्रजा राजा के लिये आय के पञ्चदशांश को सामान्यतः कर के रूप में देती है। इस कर प्राप्त धन से राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं से देश के रक्षण का सम्भव होता है। इसलिए इस हवि (कर) को भी 'अभीवर्त' नाम दिया गया है। इस **अभीवर्तेन हविषा**=शत्रु पर आक्रमण के सामर्थ्य को देनेवाली हवि से **येन**=जिससे **इन्द्रः**=यह शत्रु विद्रावक राजा **अभिवावृते**=शत्रुओं के प्रति आक्रमण के लिये जाता है, **तेन**=उस हवि से हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्!

अस्मान्=हमें **राष्ट्राय**=अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये **अभिवर्तय**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला बना। (२) राष्ट्र का मुख्य प्रेरणा देनेवाला वेदज्ञ विद्वान् राष्ट्र के सब प्रजावर्ग को शत्रु के मुकाबिले के लिये प्रेरित करे। सब प्रजावर्ग स्वयं उत्साह से राष्ट्रकोश को भरनेवाले हैं, जिससे धनाभाव के कारण आक्रमण में शिथिलता न आ जाये।

भावार्थ—प्रजा राजा को कर ठीक प्रकार से दे जिससे राजा 'प्रजा रक्षण व शत्रु से युद्ध' आदि अपने सब कर्त्तव्यों का पालन कर सके।

ऋषिः—**अभीवर्तः** ॥ देवता—**राज्ञःस्तुति** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शत्रुओं (सपत्नों, अरातियों, पृतन्यन् व इरस्यन् व्यक्तियों) से राज्य का रक्षण

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः। अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो न इरस्यति ॥ २ ॥

(१) राष्ट्र के अन्दर जो राजा को हटाकर स्वयं आसन सम्भालना चाहते हैं वे 'सपत्न' कहलाते हैं। प्रजावर्ग में जो अदानवृत्तिवाले हैं, जो कर आदि को बचाने का प्रयत्न करते हैं, वे 'अराति' हैं। राजा को चाहिये कि इन दोनों को पहले समाप्त करे। इनको समाप्त करके ही वह बाह्य शत्रुओं पर आक्रमण में सफल होगा। (२) **सपत्नान्**=गद्दी के दावेदार अन्य शत्रुभूत व्यक्तियों को **अभिवृत्य**=घेरकर अथवा उनपर आक्रमण करके और **याः**=जो **नः**=हमारे में से **अरातयः**=कर आदि को ठीक रूप से न देने की वृत्तिवाले हैं इनको घेरकर, कैद करके **पृतन्यन्तम्**=फौज के द्वारा आक्रमण करनेवाले का **अभितिष्ठ**=मुकाबिला कर, उनके आक्रमण से देश की रक्षा कर। २) वस्तुतः राष्ट्र के अन्दर की स्थिति ठीक होने पर ही बाह्य शत्रुओं से युद्ध किया जा सकता है। उसका भी तो **अभि** (तिष्ठ)=मुकाबिला कर **यः**=जो **नः इरस्यति**=हमारे साथ ईर्ष्या करता है। ईर्ष्या के कारण राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाला भी तेरे लिये आक्रमणीय है।

भावार्थ—सपत्नों व अरातियों को कैद में डालकर ही बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध प्रारम्भ करना चाहिये।

ऋषिः—**अभीवर्तः** ॥ देवता—**राज्ञःस्तुति** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अभीवर्त राजा

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृतत्। अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

(१) **सविता देवः**=सबका प्रेरक विजेता प्रभु **त्वा**=तुझे **अभि अवीवृतत्**=(अभिगमयतु) शत्रु के प्रति आक्रमण करनेवाला बनाये। **सोमः**=राष्ट्र का प्रमुख ब्रह्मज्ञानी पुरुष (उमया सहितः) **अभि (अवीवृतत्)**=तुझे शत्रु के प्रति आक्रमण करने के लिये प्रेरित करे। (२) **विश्वाभूतानि**=राष्ट्र के सब प्रजावर्ग **त्वा**=तुझे **अभि**=शत्रु के अभिमुख जानेवाला करें। **यथा**=जिससे **अभीवर्तः असति**=तू अभीवर्त बने, शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला बने।

भावार्थ—प्रभु से, प्रमुख पुरोहित से, प्रजा से प्रेरित होकर पृथिवीपाल पृतन्यन् पुरुषों को पराजित करे।

ऋषिः—**अभीवर्तः** ॥ देवता—**राज्ञःस्तुति** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कल्वी हासी

येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः। इदं तदक्रि देवा असपत्नः किलाभुवम् ॥ ४ ॥

(१) **येन हविषा**=जिस कर रूप में दिये गये धन से **इन्द्रः**=शत्रु विद्रावक राजा **कृत्वी अभवत्**=शत्रु-वध रूप कर्म को करनेवाला होता है तथा **उत्तमः द्युम्नी**=उत्तम यशवाला होता है, हे **देवाः**=देवो! **तद् अक्रि**=वह कर तुम्हारे से किया जाए, हे व्यवहारी पुरुषो! (दिव् व्यवहारे) तुम उस कर के देनेवाले होवो। (२) इस कर से प्राप्त धन से ही सब व्यवस्था करके मैं **किल**=निश्चय से **असपत्नः**=शत्रुरहित **अभुवम्**=होता हूँ। प्रजा यदि कर को ठीक से नहीं देती तो राष्ट्र की रक्षा व उन्नति का सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—प्रजा कर को ठीक प्रकार से दे जिससे राजा ठीक व्यवस्था करके शत्रुवधादि कर्मों को करनेवाला हो और यशस्वी बन सके।

ऋषिः—**अभीवर्तः** ॥ देवता—**राज्ञःस्तुति** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

उत्तम प्रबन्ध

असपत्नः सपत्नहाभिराष्ट्रो विषासहिः। यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च॥ ५॥

(१) राजा कहता है कि प्रजा इस प्रकार कर आदि के देने में अनुकूलता रखे कि **अहम्**=मैं **असपत्नः**=सपत्नों से रहित, **सपत्नहा**=राष्ट्र के अन्य पति बनने के दावेदारों को नष्ट करनेवाला, **अभिराष्ट्रः**=प्राप्त राज्यवाला तथा **विषासहिः**=शत्रुओं को कुचलनेवाला होऊँ। (२) **यथा**=जिससे **अहम्**=मैं **एषां भूतानाम्**=इन सब प्राणियों के **विराजानि**=विशिष्टरूप से जीवन को व्यवस्थित करनेवाला बनूँ। **जनस्य च**=और राष्ट्र व्यवस्था के अंगभूत इन अपने लोगों के जीवन को भी नियमित व दीप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—राजा असपत्न हो, विषासहि हो। सब राष्ट्रवासियों व प्रबन्धकों के जीवनों को व्यवस्थित करनेवाला हो।

सम्पूर्ण सूक्त का भाव यह है कि राजा राष्ट्र को अन्तः व बाह्य शत्रुओं से सुरक्षित करके सुव्यवस्थित करे। ऐसे ही राष्ट्र में सब प्रकार की उन्नतियों का सम्भव हो सकता है। ऐसे ही राष्ट्र में 'ऊर्ध्वग्रावा सर्व आर्बुदि' पुरुष बना करते हैं। 'ऊर्ध्वश्चासौ ग्रावा च' गुणों की दृष्टि से उन्नत, शरीर की दृष्टि से वज्रतुल्य। 'सर्पः' सदा क्रियाशील और इस क्रियाशीलता से उन्नति के शिखर पर पहुँचनेवाला 'आर्बुदि'। इनके लिये कहते हैं—

[१७५] पञ्चसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**ऊर्ध्वग्रावार्बुदः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उपासना से प्रेरणा की प्राप्ति

प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा। धूर्षु युज्यध्वं सुनुत॥ १॥

(१) हे **ग्रावाणः**=स्तोता लोगो! **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाश का पुञ्ज प्रभु **वः**=आपको **धर्मणा**=धारणात्मक कर्मों के हेतु से **प्र सुवतु**=प्रकृष्ट प्रेरणा दे। उस प्रभु की प्रेरणा से तुम धारणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होवो। (२) उस प्रभु की प्रेरणा के अनुसार **धूर्षु युज्यध्वम्**=धुरों में जुत जाओ, अपने-अपने कार्य को करने में प्रवृत्त हो जाओ। इन कार्यों को करने के लिये शक्ति को प्राप्त करने के लिये ही **सुनुत**=सोम का सम्पादन करो, अपने अन्दर इस सोम शक्ति का (वीर्य का) रक्षण करो।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करके धारणात्मक कर्मों में जुट जायें, इन कार्यों को कर सकने के लिये सोम का (वीर्य का) सम्पादन व रक्षण करें।

ऋषिः—**ऊर्ध्वग्रावार्बुदः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'दुरित व दुर्यति' का दूरीकरण

ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत दुर्मतिम्। उस्त्राः कर्तन भेषजम्॥ २ ॥

(१) **ग्रावाणः**=हे स्तोता लोगो! इस स्तवन की वृत्ति के द्वारा **दुच्छुनाम्**=दुर्गति दुरित को **अपसेधन**=दूर करो। इस दुरित की कारणभूत **दुर्मतिम्**=दुर्मति को भी अप (सेधत) दूर करो। दुर्विचार ही दुराचार का कारण बना करता है। दुर्विचार न होगा तो अशुभ आचरण भी न होगा। (२) इस प्रकार सुविचार व सदाचार से तुम **उस्त्राः**=उषाकालों को, प्रकाश की किरणों को व इस पृथिवी को **भेषजं कर्तन**=अपने लिये औषध रूप करो। उषाकाल प्रभु की उपासना द्वारा मानस शान्ति को प्राप्त कराये। प्रकाश की किरणें मस्तिष्क को उज्ज्वल करनेवाली हों। यह पृथिवी शरीर के लिये सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करानेवाली हो। इस प्रकार ये उषायें दुर्मति व दुरितों को दूर करने के लिये औषध हो जाएँ।

भावार्थ—उपासना के द्वारा हम दुराचरण व दुर्विचार से दूर हों। उषा, प्रकाश व पृथिवी हमारे 'दुच्छुता' व 'दुर्मति' के लिये औषधरूप हों।

ऋषिः—**ऊर्ध्वग्रावार्बुदः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्य करना

ग्रावाण उपरेष्वा महीयन्ते सजोषसः। वृष्णे दधतो वृष्ण्यम्॥ ३ ॥

(१) **ग्रावाणः**=स्तोता लोग **सजोषसः**=मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्यों को करनेवाले होते हुए **उपरेषु**=अपने क्षेत्रों में **आमहीयन्ते**=सब प्रकार से महिमावाले होते हैं। इनके कार्य पवित्र तो होते ही हैं। परस्पर मिलकर प्रेम से किये जाने के कारण अधिक से अधिक हित के साधक होते हैं। (२) **वृष्णे**=उस सुखों के वर्षक प्रभु की प्राप्ति के लिये **वृष्ण्यम्**=शक्ति के देनेवाले इस सोम का **दधतः**=धारण करनेवाले होते हैं। यह सोम का धारण इन्हें शक्तिशाली कार्यों को करने में भी समर्थ करता है।

भावार्थ—स्तोता लोग मिलकर प्रीतिपूर्वक कार्य करते हैं—परिणामतः अपने क्षेत्रों में महिमा को प्राप्त करते हैं। ये प्रभु प्राप्ति के लिये सोम का धारण करते हैं।

ऋषिः—**ऊर्ध्वग्रावार्बुदः** ॥ देवता—**ग्रावाणः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यजमान व सुन्वन्

ग्रावाणः सविता नु वो देवः सुवतु धर्मणा। यजमानाय सुन्वते॥ ४ ॥

(१) हे **ग्रावाणः**=स्तोता लोगो! **नु**=अब **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाश का पुञ्ज प्रभु **वः**=तुम्हें **धर्मणा सुवतु**=धारणात्मक कर्मों के हेतु से प्रेरणा दे। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार होनेवाले सब कार्य धारणात्मक ही होंगे। (४) प्रभु हमें इसलिए प्रेरणा प्राप्त करायें कि हम **यजमानाय**=यज्ञशील बन सकें तथा **सुन्वते**=सोम का सम्पादन कर सकें। वस्तुतः यज्ञ की प्रवृत्तिवाले, सोम का सम्पादन करनेवाले लोगों को ही प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है।

भावार्थ—हम 'यजमान व सुन्वन्' बनें, जिससे प्रभु प्रेरणा को प्राप्त करने के लिये पात्र हों।

सूक्त का मुख्य विषय ही है कि स्तोता को प्रभु पवित्र कर्मों की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। इस प्रेरणा के अनुसार चलनेवाला ही शिखर पर पहुँचता है। यह प्रभु को प्राप्त करनेवाला 'सूनु' है, यह प्रभु का सच्चा पुत्र है, इसीलिए 'आर्भव'=ऋभुओं का सन्तान, अर्थात् खूब ही चमकनेवाला

बनता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। इनके जीवन का चित्रण इस प्रकार है—

[१७६] षट्सत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सूनुरार्भवः** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अ-मांस भोजन

प्र सूनवं ऋभूणां बृहन्नवन्त वृजना। क्षामा ये विश्वधायसोऽश्नन्धेनुं न मातरम्॥ १ ॥

(१) **ऋभूणां सूनवः**=(उरु भान्ति इति ऋभवः) ऋभुओं के सूनु, अर्थात् खूब ही चमकनेवाले ये लोग **बृहत्**=खूब **वृजना**=बलों को **प्र नवन्त**=प्रकर्षेण प्राप्त होते हैं। प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करके ये ज्ञान के मार्ग पर चलते हैं और इस प्रकार जीवन में व्यसनों से बचकर खूब शक्तिशाली बनते हैं। (२) ये ऋभु वे हैं **ये**=जो **विश्वधायसः**=सब के धारक होते हुए **मातरं क्षां आ अश्नन्**=इस मातृ तुल्य पृथिवी से ही अपने भोजन को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार **न**=जैसे कि बछड़े **मातरं धेनुम्**=अपनी मातृभूत गौ से गोदुग्धरूप भोजन को प्राप्त करते हैं। वस्तुतः ऋभुओं का भोजन पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थ ही हैं।

भावार्थ—ऋभु वासनाओं से बचकर बड़ी शक्ति का संग्रह करते हैं और वानस्पतिक भोजन को करते हुए सबका धारण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**सूनुरार्भवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दिव्य बुद्धि से प्रभु-दर्शन

प्र देवं देव्या धिया भरता जातवेदसम्। हव्या नो वक्षदानुषक्॥ २ ॥

(१) **देवम्**=उस प्रकाशमय **जातवेदसम्**=सर्वव्यापक (जाते जाते विद्यते) व सर्वज्ञ (जातं जातं वेति) प्रभु को **देव्या धिया**=प्रकाशमय बुद्धि से **प्र भरत**=अपने हृदय में प्रकर्षेण धारण करो। गत मन्त्र में वर्णित सात्त्विक भोजन से बुद्धि सात्त्विक बनती ही है। यह सात्त्विक बुद्धि प्रभु-दर्शन के अनुकूल होती है। बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर ही प्रभु का दर्शन हुआ करता है। (२) वह प्रभु **नः**=हमारे लिये **आनुषक्**=निरन्तर **हव्या**=हव्यपदार्थों को **वक्षत्**=प्राप्त कराते हैं। जो प्रभु के निर्देश के अनुसार कर्मों में लगे रहते हैं, उनके योगक्षेम का ध्यान प्रभु करते हैं।

भावार्थ—हम बुद्धि को प्रकाशमय बनाकर प्रभु का दर्शन करें। प्रभु हमें सब आवश्यक व पवित्र पदार्थों को प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**सूनुरार्भवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'देवयु होता' को प्रभु की प्राप्ति

अयमु ष्य प्र देवयुर्होता यज्ञाय नीयते। रथो न योरभीवृतो घृणीवाञ्चेतति त्मना॥ ३ ॥

(१) **अयम्**=यह **उ**=निश्चय से **स्यः**=वह **देवयुः**=देव की ओर जाने की कामनावाला **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **यज्ञाय**=उस पूज्य प्रभु के लिये **प्र नीयते**=ले जाया जाता है। प्रभु के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति वह है जो (क) देव की कामनावाला है, प्रभु प्राप्ति की इच्छावाला है और (ख) **होता**=दानपूर्वक अदनवाला, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला है। (२) यह व्यक्ति उस प्रभु को प्राप्त करता है जो कि **रथः न**=रथ के समान है, इस प्रभु के द्वारा ये ऋभु अपनी जीवनयात्रा को पूर्ण करते हैं। **योः**=वे प्रभु भयों का हनन करनेवाले हैं, प्रभु-भक्त अभय

होकर जीवनयात्रा पूर्ण करता है। ये प्रभु **अभीवृतः**=(अभितो वर्तते) सर्वत्र विद्यमान हैं। **घृणीवान्**=ज्ञान की रश्मियोंवाले हैं और **त्मना चेतति**=स्वयं ज्ञानवाले होते हैं, प्रभु का ज्ञान नैमित्तिक नहीं। प्रभु किसी और से ज्ञान नहीं प्राप्त करते। इन प्रभु को 'देवयु होता' प्राप्त करता है।

ऋषिः—**सूनुरार्भवः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रभु का रक्षण

अयमग्निरुरुष्यत्यमृतादिव जन्मनः। सहसश्चित्सहीयान्देवो जीवातवे कृतः॥ ४॥

(१) **अयम्**=यह **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **अमृतात् इव**=जैसे अमृतत्व की प्राप्ति के हेतु से उसी प्रकार **जन्मनः**=शक्तियों के विकास के हेतु से **उरुष्यति**=रक्षण करते हैं। प्रभु के रक्षण के प्राप्त होने पर मनुष्य अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ अन्ततः अमृतत्व को, मोक्ष को प्राप्त करता है। यहाँ सायणाचार्य के अनुसार 'अमृतात्' का अर्थ 'देवों से' तथा 'जन्मनः' का अर्थ 'प्राणियों से' है। उसका भाव यह है कि प्रभु का रक्षण हमें आधिदैविक व आधिभौतिक आपत्तियों से बचाता है। (२) वे **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **सहसः चित्**=बलवान् से भी **सहीयान्**=बलवत्तर हैं। वे प्रभु **जीवातवे**=जीवनौषध के लिये **कृतः**=किये जाते हैं। अर्थात् जो प्रभु का धारण करता है, वह अपने जीवन को नीरोग बना पाता है। प्रभु-भक्त का जीवन शरीर के दृष्टिकोण से नीरोग होता है और मन के दृष्टिकोण से वासनाशून्य व निर्मल।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हैं। प्रभु के हृदय में धारण करने से जीवन नीरोग व निर्मल बनता है।

यह सूक्त प्रभु-दर्शन के साधनों व लाभों का वर्णन करता है। इन साधनों का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति उस प्रजापति परमात्मा को प्राप्त करने से 'प्राजापत्य' होता है, यह नाना योनियों में गति करता हुआ प्रभु को प्राप्त करने से 'पतङ्ग' है (पतन् गच्छति)। यह 'पतङ्ग प्राजापत्य' अगले सूक्त का ऋषि है। चित्रण करते हुए कहते हैं कि—

[१७७] सप्तसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**पतङ्ग प्राजापत्यः** ॥ देवता—**मायाभेदः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

माया से अक्त पतङ्ग

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥ १॥

(१) **असुरस्य**=(असून् राति) प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु की **मायया**=इस प्राकृतिक माया से, सांसारिक विषयों के जाल से **अक्तम्**=लिप्त **पतङ्गम्**=इस गति करते हुए और गति के द्वारा विविध योनियों में जाते हुए जीव को **विपश्चितः**=विशेषरूप से देखकर चिन्तन करनेवाले ज्ञानी लोग **हृदा**=हृदय से तथा **मनसा**=मन से चिन्तन-मनन के द्वारा **पश्यन्ति**=देखते हैं। आत्मा को देखने के लिये श्रद्धा व विद्या का, हृदय व मन का समन्वय आवश्यक है। (२) **समुद्रे अन्तः**=आनन्दमयकोश के अन्दर अथवा आनन्दयुक्त हृदय में **कवयः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी **विचक्षते**=आत्मा का दर्शन करते हैं। ये **वेधसः**=ज्ञानी लोग **मरीचीनां पदम्**=ज्ञानरश्मियों के स्थान को **इच्छन्ति**=चाहते हैं। ये ज्ञानी लोग ऊपर उठते हुए सूर्य द्वार से उस अव्ययात्मा अमृत पुरुष को प्राप्त करते हैं। द्युलोक ही मरीचि-पद है। इस द्युलोक में सूर्य उन पुरुषों का द्वार बनता है जो उस परम पुरुष की ओर

गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—जीव सामान्यतः माया से लिप्त रहता है। श्रद्धा व विद्या का समन्वय होने पर आत्मदर्शन होता है। ये ज्ञानी पुरुष सूर्य द्वार से जाकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**पतङ्ग प्राजापत्यः** ॥ देवता—**मायाभेदः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋत का पालन व वेदज्ञान की प्राप्ति

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद्गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति ॥ २ ॥

(१) **पतङ्गः**=कर्मों को करता हुआ और अतएव विविध योनियों में जानेवाला यह जीव जब **मनसा**=मनन शक्ति के द्वारा **वाचम्**=ज्ञान की वाणी को **बिभर्ति**=धारण करता है तो **ताम्**=उस ज्ञान की वाणी को **गर्भे अन्तः**=अन्दर ही हृदय में स्थित हुआ-हुआ **गन्धर्वः**=(गां धारयति) ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला प्रभु **अवदत्**=उच्चारित करता है। (२) **ताम्**=उस **द्योतमानाम्**=देदीप्यमान **स्वर्यम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाली **मनीषाम्**=(मनसः ईशिनीम्) मन का शासन करनेवाली वेदवाणी को **कवयः**=ज्ञानी लोग **ऋतस्य पदे**=सत्य के मार्ग में **निपान्ति**=नितरां रक्षित करते हैं। ऋत के मार्ग पर चलते हुए इस ज्ञान की वाणी को अपने में धारण करते हैं। ऋत का पालन उस उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्ति का साधन है।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु ज्ञान की वाणी का उच्चारण करते हैं। ऋत का पालन करनेवाले इस वाणी को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**पतङ्ग प्राजापत्यः** ॥ देवता—**मायाभेदः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'गोप' प्रभु

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ऋत के पालन के द्वारा वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला प्रभु का दर्शन करते हुए कहता है कि मैं उस **गोपम्**=जीवरूप गौओं के रक्षक ग्वाले के रूप में उस प्रभु को **अपश्यम्**=देखता हूँ। ये प्रभु **अनिपद्यमानम्**=कभी नीचे नहीं जाते अथवा विनष्ट नहीं होते। **आ च परा च**=चारों ओर दूर-दूर तक **पथिभिः चरन्तम्**=ये प्रभु मार्गों से चल रहे हैं। प्रभु की क्रिया सर्वत्र है। (२) **सः**=वे प्रभु **सध्रीचीः**=मिलकर चलनेवाली तथा **विषूचीः**=अलग-अलग गति करनेवाली सब प्रजाओं को **वसानः**=आच्छादित कर रहे हैं। सामान्यतः मांसाहारी प्राणी अलग-अलग रहते हैं और शाकाहारी संघ में। इन सबको प्रभु अपने अन्दर लिये हुए हैं। ये प्रभु **भुवनेषु अन्तः**=सब भुवनों में व सब प्राणियों के अन्दर **आवरीवर्ति**=समन्तात् वर्तमान हैं। प्रभु की सत्ता सर्वत्र है, कोई भी प्राणी प्रभु की सत्ता के बिना नहीं है।

भावार्थ—ज्ञान के मार्ग पर चलनेवाला सर्वत्र प्रभु की सत्ता को देखता है।

प्रभु की सत्ता को देखता हुआ यह गतिशील बनता है, गतिशीलता के कारण 'तार्क्ष्य' नामवाला होता है। इस गति में यह नेमि-परिधि का हिंसन नहीं करता, सो 'अरिष्टनेमि' होता है, मर्यादित जीवनवाला। अगले सूक्त का ऋषि यह 'अरिष्टनेमि तार्क्ष्य' ही है। यह प्रभु का स्मरण इस प्रकार करता है—

[१७८] अष्टसप्तत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः** ॥ देवता—**तार्क्ष्यः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अरिष्टनेमि-तार्क्ष्य

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ १॥

(१) **इह**=इस जीवन में **स्वस्तये**=कल्याण के लिये, उत्तम स्थिति के लिये **तार्क्ष्यम्**=उस गतिशील प्रभु को **आहुवेम**=पुकारें। **त्यम्**=उस प्रभु को जो **वाजिनम्**=शक्तिशाली हैं, **देवजूतम्**=(देवेषु जूतं प्रेरणं यस्य) सब देवों में देवत्व को प्रेरित करते हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'। **उ**=और **सु**=अच्छी प्रकार **सहावानम्**=सहस्वाले हैं, **रथानां तरुतारम्**=हमारे इन शरीर-रथों को यात्रा की पूर्ति के करानेवाले हैं। (२) वे प्रभु **अरिष्टनेमिम्**=अहिंसित परिधिवाले हैं, प्रभु के नियम अटल हैं। **पृतनाजम्**=शत्रुसैन्यों को परे फेंकनेवाले हैं तथा **आशुम्**=सर्वव्याप्त (अशू व्याप्तौ) व शीघ्रता से कार्य करनेवाले हैं (आशु=शीघ्र)। इन प्रभु को हम कल्याण के लिये पुकारते हैं। प्रभु को इन नामों से पुकारने का भाव यही है कि हम भी ऐसे ही बनें। शक्तिशाली बनें, सूर्य, वायु आदि देवों से प्रकाश व गति आदि की प्रेरणा लेनेवाले हों। 'सहस्' वाले बनें, शरीररस्थ को लक्ष्य की ओर ले चलें। जीवन की मर्यादाओं को तोड़ें नहीं, काम-क्रोध आदि की सेना को दूर भगानेवाले हों, शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हों। सदा गतिशील बनें। यही कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ—गतिशील व अहिंसित मर्यादावाला बनना ही कल्याण प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः** ॥ देवता—**तार्क्ष्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दान की वृत्ति

इन्द्रस्येव रातिमाजोहुवानाः स्वस्तये नावमिवा रुहेम।
उर्वी न पृथ्वी बहुले गभीरे मा वामेतौ मा परेतौ रिषाम॥ २॥

(१) **इन्द्रस्य इव**=इन्द्र की तरह **रातिम्**=दान को **आजोहुवानाः**=निरन्तर करते हुए, लोकहित के लिये अपने धन की आहुति देते हुए, **स्वस्तये**=कल्याण के लिये **नावं इव**=भवसागर को तैरने के लिये नाव के समान इस शरीर में **आरुहेम**=अधिष्ठित हों। शरीर को हम भवसागर को पार करने के लिये साधनभूत नाव समझें। इस पर आरूढ़ होकर हम सदा दान देनेवाले बनें। (२) हमारे लिये द्यावापृथिवी **उर्वी न**=अत्यन्त विशाल होने की तरह **पृथ्वी**=विस्तृत शक्तिवाले हों, **बहुले गभीरे**=अत्यन्त गम्भीर हों। हे द्यावापृथिवी! **वाम्**=आपके **एतौ**=आने पर **मा रिषाम**=हम मत हिंसित हों, और **परेतौ**=जाने पर भी **मा**=मत हिंसित हों। हमारा शरीर विस्तृत शक्तिवाला हो (पृथ्वी) तो हमारा ज्ञान गम्भीर हो (गभीरे)। ऐसे द्यावापृथिवी के होने पर ये द्यावापृथिवी हमें प्राप्त हों, या हमारे से पृथक् हों तो हम सुखी व दुःखी नहीं होते। ऐसे द्यावापृथिवी के होने पर न तो हम ऐहलौकिक गति में (एतौ) और ना ही पारलौकिक गति में (परेतौ) हिंसित हों। हम अभ्युदय को भी प्राप्त हों और निःश्रेयस को भी प्राप्त होनेवाले हों।

भावार्थ—हम दान की वृत्तिवाले हों। शरीर को विस्तृत शक्तिवाला व मस्तिष्क को गम्भीर ज्ञानवाला बनायें। ऐसे बनकर हम इनकी प्राप्ति व अप्राप्ति में समवृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः ॥ देवता—तार्क्ष्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान व कर्म की प्रेरणा

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्यइव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम्॥ ३ ॥

(१) **यः**=जो **सद्य चित्**=शीघ्र ही **शवसा**=शक्ति के द्वारा **पञ्च कृष्टीः**=(पचि विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले मनुष्यों के प्रति **सूर्य इव**=सूर्य की तरह **ज्योतिषा**=ज्योति के साथ **अपः**=कर्मों को **ततान**=विस्तृत करता है। प्रभु श्रमशील मनुष्य को ज्ञान व कर्म की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। जैसे सूर्य प्रकाश को फैलाता है और अपने उदाहरण से निरन्तर गति की प्रेरणा देता है, इसी प्रकार प्रभु इन कृष्टियों को ज्ञान व कर्म की प्रेरणा देते हैं। (२) वे प्रभु **सहस्रसाः**=हजारों ही दान देनेवाले हैं, **शतसाः**=सैंकड़ों उस प्रभु के दान हैं। प्रभु के इन दानों को **न वरन्ते स्म**=कोई भी रोक नहीं सकते। उसी प्रकार नहीं रोक सकते **न**=जैसे कि **युवतिम्**=लक्ष्य के साथ अपना मिश्रण करनेवाले **शर्याम्**=बाण को। धनुष से लक्ष्य की ओर चल पड़े हुए बाण को कोई भी रोक नहीं सकता। वह तो अब लक्ष्य की ओर जायेगा ही। इसी प्रकार प्रभु से दिये जानेवाले दानों को कोई रोक नहीं सकता।

भावार्थ—प्रभु से हमें ज्ञान व कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रभु से दिये जानेवाले दानों को कोई रोक नहीं सकता।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'अरिष्टनेमि तार्क्ष्य' बनता है। यह अपने जीवन को निम्न प्रकार से बिताता है—

[१७९] एकोनाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—शिविरौशीनरः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शिवि औशीनर

उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्। यदि श्रातो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन॥ १ ॥

(१) 'श्यति पापं इति शिविः'=पाप को नष्ट करनेवाला शिवि है। 'औशीनर' वह है जो कि कान्त मनोवृत्तिवालों में अगुआ बनता है (वश कान्तौ) पाप को नष्ट करके सुन्दर मनोवृत्तिवाला पुरुष प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है, ऐसा बन सकने के लिये प्रभु कहते हैं कि **उत्तिष्ठत**=उठो, आलस्य को छोड़ो, लेटे ही न रहो। **अवपश्यत**=अपने अन्दर देखनेवाले बनो। अपनी कमियों को देखकर उन्हें दूर करनेवाले बनो। और **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **ऋत्वियम्**=समय पर प्राप्त समयानुकूल **भागम्**=कर्त्तव्यभाग को देखनेवाले बनो। जो तुम्हारा प्रस्तुत कर्त्तव्य है, उसे देखकर उसके पालन में तत्पर होवो। वस्तुतः जीवन के प्रथमाश्रम में 'ज्ञान प्राप्ति' ही मुख्य कर्त्तव्य है। जितेन्द्रिय बनकर ज्ञान प्राप्ति में लगे रहना ही ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। (२) **यदि श्रातः**=अगर आचार्य अनुभव करे कि उसका ब्रह्मचारी ज्ञान-परिपक्व हो गया है, तो आचार्य **जुहोतन**=उनकी आहुति दे दें, उन्हें गृहस्थ-यज्ञ में प्रवेश की स्वीकृति दे दें। पर **यदि**=अगर **अश्रातः**=वह ज्ञान-परिपक्व नहीं हुआ तो **ममत्तन**=प्रसन्नतापूर्वक रुके रहें। गृहस्थ में तभी जाना ठीक है कि यदि अपने ज्ञान की कुछ परिपक्वता का अनुभव हो। जितेन्द्रिय बनकर शक्ति व ज्ञान का सञ्चय करनेवाला ही गृहस्थ में प्रवेश करे।

भावार्थ—उठो, अपनी कमियों को दूर करो। इस ब्रह्मचर्याश्रम में अपने को ज्ञान-परिपक्व करके गृहस्थ होने की तैयारी करो।

ऋषिः—**प्रतर्दनः काशिराजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रतर्दनः काशिराजः

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो विमध्यम्।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्॥ २॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम के संयम व ज्ञान-परिपक्वता से वासनाओं को कुचलनेवाला 'प्रतर्दन' है। वासना-विनाश से इसका ज्ञान सूर्य चमक उठता है, चमकते हुए ज्ञानसूर्यवाला यह 'काशिराज' है, चमकनेवालों का राजा। यह गृहस्थ को संयमजन्य शक्ति व ज्ञान के परिपाक से बड़ी सुन्दरता से निभाता है। इसके गृहस्थ-यज्ञ में **हविः श्रातम्**=हवि का ठीक परिपाक होता है। यह गृहस्थ में सदा देकर खानेवाला बनता है (हु दानादनयोः)। अब गृहस्थ की समाप्ति पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **उ**=निश्चय से **सु आप्रयाहि**=अच्छी प्रकार सर्वथा घर से जानेवाला बन, वानप्रस्थ होने की तैयारी कर। **सूरः**=तेरा जीवन सूर्य **अध्वनः**=मार्ग के **मध्यम्**=मध्य को **विजगाम**=विशेषरूप से प्राप्त हो गया है। अर्थात् आयुष्य के प्रथम ५० वर्ष बीत गये हैं, सो वनस्थ होने का समय हो गया है। (२) **त्वा परि**=तेरे चारों ओर **निधिभिः**=ज्ञाननिधियों की प्राप्ति के हेतु से **सखायः आसते**=समान रूप से ज्ञान प्राप्त करनेवाले ये विद्यार्थी आसीन होते हैं। ये विद्यार्थी **चरन्तम्**=गतिशील **व्राजपतिम्**=विद्यार्थि समूह के रक्षक तेरे चारों ओर **कुलपाः न**=कुल के रक्षकों के समान हैं। इन योग्य विद्यार्थियों से ही तो कुल का पालन होता है। विद्यार्थियों के अभाव में वह कुल नहीं रह जाता। उपनिषद् में आचार्य प्रार्थना करता है कि—

'दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'
'शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'
'आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'
'विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'
'प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा'

भावार्थ—गृहस्थ में दानपूर्वक अदन करते हुए हम पचास वर्ष बीत जाने पर वानप्रस्थ बनें। वहाँ हमें ज्ञान प्राप्ति के हेतु से ब्रह्मचारी प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसुमना रौहिदश्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वसुमना रौहिदश्वः

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुश्रातं मन्ये तदृतं नवीयः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः॥ ३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वानप्रस्थाश्रम में अपनी पूरी तैयारी करके अब यह पुरुष संन्यस्त होता है। इसका मन सबको उत्तम निवासवाला बनाने की भावनावाला है (वसु मनो यस्य)। यह प्रवृद्ध शक्तियोंवाले इन्द्रियाश्वोंवाला बना है। सो इसका नाम 'वसुमना रौहिदश्व' हो गया है। इसे प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि—(क) तुझे **ऊधनि**=वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार में **श्रातं मन्ये**=परिपक्व मानता हूँ। तूने अपने को ज्ञान विदग्ध बनाया है। (ख) **अग्नौ श्रातम्**=अग्नि

में भी तू परिपक्व हुआ है। शक्ति सम्पन्नता के कारण तेरे में उत्साह (अग्नि) की भी न्यूनता नहीं है। सो मैं तुझे **सुश्रातं मन्ये**=ठीक परिपक्व हुआ-हुआ समझता हूँ। **तद्**=सो तेरा जीवन **ऋतम्**=ठीक है, नियमित है (सत्य है) **नवीयः**=स्तुत्व व गतिशील है (नु स्तुतौ, नव गतौ) (२) हे **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **वज्रिन्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथ में लिये हुए **पुरुकृत्**=खूब ही कर्म करनेवाले अथवा पालनात्मक व पूरणात्मक कर्म करनेवाले! तू **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करता हुआ **माध्यन्दिनस्य सवनस्य**=जीवन का माध्यन्दिन सवन 'गृहस्थाश्रम' ही है। जीवन के तीन कवन हैं—'प्रातः सवन' ब्रह्मचर्याश्रम है। 'मध्यन्दिन सवन' गृहस्थ है और 'तृतीय सवन' वानप्रस्थ व संन्यास हैं। उस गृहस्थाश्रम के **दध्नः**=धारणात्मक कर्म को (धत्ते इति दधि) **पिब**=अपने में व्याप्त करनेवाला बन। तू अपने ज्ञानोपदेशों से गृहस्थ का धारण करनेवाला बन। संन्यासी का मूल कर्त्तव्य यही है कि गृहस्थों को सदुपदेश देता हुआ उनको ठीक मार्ग पर चलानेवाला बने और इस प्रकार उनका धारण करे।

भावार्थ—हम ज्ञान व शक्ति में परिपक्व होकर संन्यस्त हों। ज्ञान प्रचार के द्वारा संसार का धारण करनेवाले बनें।

यह सूक्त जीवन को सफलता के साथ बिताने का उल्लेख करता है। यह व्यक्ति 'जयः'=विजयी बनता है। सब शत्रुओं का पराभव करके सफल जीवनवाला होता है। इसी 'जय' का अगला सूक्त है—

[१८०] अशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**जयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शत्रु-शोषक शक्ति और दान

प्र संसाहिषे पुरुहूत शत्रूञ्ज्येष्ठस्ते शुष्म इह रातिरस्तु।
इन्द्रा भर दक्षिणेना वसूनि पतिः सिन्धूनामसि रेवतीनाम्॥ १ ॥

(१) हे **पुरुहूत**=अपने यज्ञात्मक कर्मों के कारण बहुतों से पुकारे जानेवाले जीव! **शत्रून् प्रससाहिषे**=तू शत्रुओं का पराभव करता है, काम, क्रोध, लोभ आदि को अपने पर प्रबल नहीं होने देता। **ते शुष्मः**=तेरा शत्रु-शोषक बल **ज्येष्ठ**=अत्यन्त बढ़ा हुआ होता है। **इह**=इस जीवन में **रातिः अस्तु**=तेरी दान की वृत्ति बनी रहे। सुन्दर जीवन यही है कि हम काम आदि शत्रुओं को पराभूत करें और दान की वृत्तिवाले हों। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **दक्षिणेन**=दक्षिण मार्ग से, नकि वाम (=उलटे) मार्ग से **वसूनि आभर**=धनों को प्राप्त करनेवाला बन। सदा सुपथ से धन को कमानेवाला हो। और इस प्रकार **रेवतीनां सिन्धूनाम्**=धन से बनी हुई नदियों का **पतिः असि**=तू स्वामी होता है। 'रेवतीनां सिन्धूनां' इन शब्दों में दान-धाराओं का भी संकेत प्रतीत होता है, अर्थात् तू खूब दान देनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम काम आदि शत्रुओं का पराभव करें, दान की वृत्तिवाले हों, सुपथ से धन कमाएँ और खूब ही देनेवाले बनें।

ऋषिः—**जयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मनिरीक्षण व वासना विनाश

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगन्था परस्याः।

सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताळ्हि वि मृधो नुदस्व॥ २ ॥

(१) **मृगः**=(मृग अन्वेषणे) तू आत्मनिरीक्षण करनेवाला हो। **न भीमः**=भयंकर न हो 'यस्मान्नोद्विजते लोकः'। **कुचरः**=भूमि पर विचरनेवाला हो, आकाश में न उड़, हवाई किले न बना। **गिरिष्ठाः**=सदा ज्ञान की वाणियों में स्थित हो, वेदवाणी के अनुसार अपना जीवन बना। **परस्याः परावतः**=दूर से दूर देश से **आजगन्थ**=तू लौटनेवाला बन। दूर-दूर भटकनेवाले इस मन को तू वशीभूत कर। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सृकम्**=वज्र को **संशाय**=तेज करके **शत्रून्**=शत्रुओं पर **विताढि**=विशेषरूप से प्रकट कर। 'सृ गतौ' से 'सृकं' शब्द बनता है, उसी प्रकार जैसे कि 'वज गतौ' से 'वज्रं'। गतिशीलता रूप वज्र से ही काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करना होता है। **'पविम्'**=इस पवित्र करनेवाले गतिशीलता रूप वज्र को **तिग्मम्**=खूब तेज **संशाय**=बनाकर **मृधः**=(murder) मृत्यु की कारणभूत वासनाओं को **विनुदस्व**=परे धकेल दे।

भावार्थ—हम आत्मनिरीक्षण करनेवाले हों, मन को विषयों से व्यावृत्त करें। क्रियाशीलता द्वारा वासनाओं को विनष्ट करें।

ऋषिः—**जयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति-प्रकाश (ओज-लोक)

इन्द्र॑ क्ष॒त्रम॒भि वा॒ममोजोऽजा॑यथा वृषभ चर्षणी॒नाम्।
अपा॑नुदो॒ जन॑ममित्र॒यन्त॑मु॒रुं दे॒वेभ्यो॑ अकृणोरु लो॒कम्॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **क्षत्रम्**=क्षतों से, घावों से त्राण करनेवाले **वामम्**=सुन्दर **ओजः**=ओज को (बल को) **अभि**=लक्ष्य बनाकर **अजायथाः**=तू विकसित शक्तियोंवाला होता है। जितेन्द्रियता हमारे अन्दर क्षत्र व ओज का विकास करती है। (२) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् व सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले! तू **चर्षणीनाम्**=मनुष्यों में **अमित्रयन्तं जनम्**=अमित्र की तरह आचरण करनेवाले मनुष्य को **अपानुदः**=दूर कर। अहितकारी लोगों से भी घृणा न करते हुए उनकी उपेक्षा करनेवाला हो, उन्हें अपने से दूर ही रख। **उ**=और **देवेभ्यः**=दिव्य वृत्तियों के लिये, उत्तम वृत्तियों के विकास के लिये **उरुं लोकम्**=विशाल प्रकाश को **अकृणोः**=सम्पादित कर। जितना-जितना ज्ञान का प्रकाश बढ़ेगा, उतना ही दिव्यगुणों का विकास होगा। देवों के विकास का क्षेत्र 'प्रकाश' है, असुरों के विकास का 'अन्धकार'।

भावार्थ—हम बल को बढ़ायें। प्रकाश वृद्धि के द्वारा सद्गुणों का वर्धन करें।

इस प्रकार शक्ति व प्रकाश के वर्धन से हम 'प्रथ वासिष्ठ' बनेंगे, अपना विस्तार करनेवाले, उत्तम निवासवाले। विस्तार के सहित 'सप्रथ' होंगे और अपने में शक्तियों का भरण करनेवाले 'भारद्वाज' होंगे। शक्ति के पुञ्ज 'घर्मः' बनेंगे और सूर्य के समान तेजस्वी 'सौर्य' होंगे। इन्हीं का अगला सूक्त है—

[१८१] एकाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रथो वासिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रथ वासिष्ठ

प्रथ॑श्च॒ यस्य॑ स॒प्रथ॑श्च॒ नामानु॑ष्टुभस्य ह॒विषो॑ ह॒विर्यत्।
धा॒तुर्द्युता॑नात्सवि॒तुश्च॒ विष्णो॑ रथन्त॒रमा ज॑भारा॒ वसि॑ष्ठः॥ १ ॥

(१) **वसिष्ठः**=अतिशयेन **वसुमान्**=सब वसुओं को धारण करके अपने जीवन को उत्तम बनानेवाला यह वसिष्ठ, **यस्य नाम**=जिसका नाम **प्रथः च**=प्रथ है, शक्तियों का विस्तार करनेवाला है, **च**=और **सप्रथः**=जो सप्रथ है, परमात्मा के समान विस्तारवाला बना है, यह **धातुः**=सबको धारण करनेवाले प्रभु से **द्युतानात्**=ज्ञान-ज्योति का विस्तार करनेवाले से **सवितुः**=सबके प्रेरक **विष्णोः**=व्यापक, अत्यन्त उदार प्रभु से **रथन्तरं आजभार**='रथन्तरं साम्नां प्रतिष्ठा' (ताण्ड्य ९।३।४) साम मन्त्रों द्वारा उपासना को प्राप्त करता है। 'सामवेद' उपासना वेद है, प्रभु ने इस सामवेद के द्वारा इस वसिष्ठ को उपासना का मार्ग दिखाया है। वसिष्ठ 'रथन्तर' साम द्वारा प्रभु का उपासन करता है, यह उपासना उसके शरीर-रथ को भवसागर को पार करने का साधन बनाती है। (२) यह वसिष्ठ उस प्रभु से **आनुष्टुभस्य**='अनुष्टुप् सोमस्य छन्दः' (कौ० १५।२) सोम के छन्द अनुष्टुप् का ग्रहण करता है। अनुष्टुप् छन्द से प्रभु का स्तवन करता हुआ यह वासना को दूर करके सोम का रक्षण कर पाता है (अनुष्टौति अनेन इति अनुष्टुप्) इसीलिए अनुष्टुप् को सोम का छन्द कहा है। (३) यह वसिष्ठ **यत्**=जो **हविषः हविः**=हवि की भी हवि है उसका ग्रहण करता है, अर्थात् अत्यन्त त्यागशील होता है, सदा दान देकर बचे हुए को खानेवाला होता है। एवं यह वसिष्ठ प्रभु से उपासना, सोम के रक्षण व त्यागवृत्ति को ग्रहण करता है और वसिष्ठ बनकर खूब ही अपनी शक्तियों को विस्तृत करता है, 'प्रथ' होता है। यह प्रथ (क) धारण करनेवाला होता है, (ख) ज्ञान का विस्तार करता है, (ग) सन्मार्ग की औरों को प्रेरणा देनेवाला बनता है, (घ) उदार होता है।

भावार्थ—हम उपासना, सोमरक्षण व दानवृत्ति को अपनाते हुए अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले 'प्रथ' बनें।

ऋषिः—**सप्रथो भारद्वाजः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स-प्रथ भारद्वाज

अविन्दते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदा चक्रे अग्नेः ॥ २ ॥

(१) **भरद्वाजः**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाला भरद्वाज **धातुः**=धारण करनेवाले से, **द्युतानात्**=ज्ञान का विस्तार करनेवाले से, **सवितु**=प्रेरणा देनेवाले प्रभु से **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक **अग्नेः**=अग्रेणी प्रभु से **बृहत्**=इस बृहत् साम को **आचक्रे**=प्राप्त करता है। 'ज्यैष्ठ्य वै बृहत्, श्रैष्ठ्यं वै बृहत्' (ऐ० ८।२) 'भारद्वाजं वै बृहत्' (ऐ० ८।३)। बृहत् साम के द्वारा प्रभु का उपासन करता हुआ यह ज्येष्ठ व श्रेष्ठ बनता है, अपने अन्दर शक्ति का भरण करनेवाला होता है। (२) बृहत् साम के द्वारा उपासना करनेवाले **ते**=वे भारद्वाज **यज्ञस्य**=उस उपास्य प्रभु के **धाम**=तेज को **अविन्दते**=प्राप्त करते हैं। उस तेज को, **यत्**=जो कि **अतिहितं आसीत्**=सबको लाँघकर स्थापित हुआ है, 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय' कोश को लाँघकर आनन्दमयकोश में वह तेज स्थापित है। उस तेज को वे प्राप्त करते हैं **यत्**=जो कि **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट होता हुआ **गुहा**=हृदयरूप गुहा में दिखता है। जब तक हृदय पर वासना का आचरण रहता है, तब तक यह तेज उसी प्रकार अदृश्य-सा होता है जैसे कि घने बादल से आवृत सूर्य का तेज। बादल हटा, सूर्य चमका। इसी प्रकार वासना विनष्ट हुई और प्रभु का परम तेज दृष्टिगोचर हुआ।

भावार्थ—हम बृहत् साम से प्रभु का उपासन करते हुए 'बृहत्' बनें। अपनी शक्तियों का वर्धन करनेवाले 'भारद्वाज' हों।

ऋषिः—**घर्मः सौर्यः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घर्म सौर्य

तेऽविन्दुन्मनसा दीध्याना यजुः ष्कन्नं प्रथमं देवयानम्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरा सूर्यादभरन्घर्ममेते ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार अपने में शक्ति को भरनेवाले **एते**=ये पुरुष **धातुः**=उस धारण करनेवाले, **द्युतानात्**=ज्योति का विस्तार करनेवाले, **सवितुः**=प्रेरक, **विष्णोः**=व्यापक प्रभु से **च**=और **सूर्यात्**=प्रभु की सर्वमहान् विभूति इस सूर्य से **घर्मम्**=शक्ति की उष्णता व दीप्ति को (घृ=to shine) **आभरन्**=अपने में भरते हैं। प्रभु का स्मरण तो वासनाओं से बचाकर हमें शक्ति-सम्पन्न बनाता है और सूर्य हमारे में प्राणशक्ति का सञ्चार करता ही है 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। (२) **ते**=वे शक्ति से चमकनेवाले 'घर्म' और सूर्य से प्राणशक्ति को प्राप्त करनेवाले 'सौर्य' **मनसा**=मन से **दीध्यानाः**=दीप्त होते हुए **यजुः**=यजु को **अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं। 'यज देव-पूजासंगतिकरणदानेषु' से बना हुआ यजु शब्द 'बड़ों के आदर, परस्पर मेल तथा दान' के भाव का प्रतिपादन कर रहा है। यह सब यजु **स्कन्नम्**=गति है (स्कन्द् गतौ, भावे क्तः) सब यज्ञ कर्म से ही साध्य होते हैं। यह यज्ञ ही **प्रथमं देवयानम्**=सर्वमुख्य देवयान मार्ग है। देवता यज्ञों को अपनाते हैं, असुर उनमें विघ्न करते हैं। इन यज्ञों से ही तो देव उस यज्ञ (रूप) परमात्मा की उपासना करते हैं।

भावार्थ—सूर्य के सम्पर्क में रहते हुए हम अपने को सशक्त बनाकर यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों। यही देवों का मार्ग है।

इस प्रकार वसिष्ठ, भरद्वाज व सौर्य बनकर हम जीवन में उन्नत होते हैं। तपस्वियों के मूर्धन्य 'तपुर्मूर्धा' बनते हैं और खूब ज्ञानी होकर 'बार्हस्पत्य' कहलाने लगते हैं। इस 'तपूर्मूर्धा बार्हस्पत्य' का ही अगला सूक्त है—

[१८२] द्व्यशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**तपुर्मूर्धा बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शं-योः

बृहस्पतिर्नयतु दुर्गहा तिरः पुनर्नेषदघशंसाय मन्म।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः ॥ १ ॥

(१) **दुर्गहा**=सब दुर्गमनों का विनाश करनेवाला **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु (ब्रह्मणस्पति) मेरे सब दोषों (दुर्गों) को **तिरः नयतु**=दूर करे, तिरस्कर्त्तव्य पापों को विनष्ट करे। **पुनः**=फिर **अघशंसाय**=बुराई का शंसन करनेवाले के लिये **मन्म**=ज्ञान को **नेषत्**=प्राप्त करायें। ज्ञान के द्वारा उनके विचारों में परिवर्तन हो और वे बुरे को बुरा ही देखने लगें। सद्बुद्धि को प्राप्त करके ये भविष्य में आपका शंसन न करें। (२) वे प्रभु **अशस्तिं क्षिपत्**=अप्रशस्त बात को हमारे से दूर करें। **दुर्मतिम्**=बुरी बुद्धि को **अप हन्**=नष्ट करें। **अथा**=और अब **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिये **शम्**=अग्नि को तथा **योः**=भयों के यावन को **करत्**=करें। पूर्वार्ध में 'दुर्गहा तिरः नमतु' से जो प्रार्थना थी, वही उत्तरार्ध में 'क्षिपत् अशस्तिं' इन शब्दों से हुई है। 'अघशंसाय मन्म नेषत्'

यह प्रार्थना 'दुर्मतिं अप अहन्' इन शब्दों में की गई है। अशान्ति के दूर होने से 'शं' (शान्ति) की प्राप्ति होती है तथा दुर्मति के दूर होने से और सुबुद्धि की प्राप्ति से (योः) भयों का यावन (दूरीकरण) होता है।

भावार्थ—बुराइयों का तिरस्करण करके व अशान्ति को परे फेंककर हम शान्त जीवनवाले हों। दुर्मति को दूर करके और सुबुद्धि को प्राप्त करके हम निर्भयता को प्राप्त हों।

ऋषिः—**तपुर्मूर्धा बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

(शक्ति प्राप्ति व अहंकार शून्यता) 'प्रयाज व अनुयाज में प्रभु-स्मरण'

नराशंसो नोऽवतु प्रयाजे शं नो अस्त्वनुयाजो हवेषु।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः ॥ २ ॥

(१) **प्रयाजे**=यज्ञों के प्रारम्भ में **नराशंसः**=मनुष्यों से शंसन के योग्य वह प्रभु **नः अवतु**=हमारा रक्षण करे तथा **हवेषु**=संग्रामों में **अनुयाजः**=(अनु=पश्चात्) यज्ञों की समाप्ति पर पूजित होनेवाले वे प्रभु **नः**=हमारे लिये **शं अस्तु**=शान्ति को प्राप्त करायें। (२) प्रत्येक उत्तम कार्य के प्रारम्भ में प्रभु का स्मरण हमें शक्ति प्राप्त कराये तथा समाप्ति पर प्रभु-स्मरण हमारे अहंकार को दूर करनेवाला हो। यह शक्ति को देनेवाला व अहंकार को दूर करनेवाला प्रभु **अशस्तिं क्षिपत्**=बुराइयों को हमारे से परे फेंके, **दुर्मतिम्**=दुष्ट बुद्धि को **अप अहन्**=सुदूर विनष्ट करे **अथा**=और **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिये **शं योः करत्**=शान्ति को करे तथा भयों के यावन (पार्थक्य) को करे।

भावार्थ—हम यज्ञों के प्रारम्भ व अन्त में प्रभु का स्मरण करें, जिससे हमें शक्ति प्राप्त हो और अहंकार हमारे से दूर हो।

ऋषिः—**तपुर्मूर्धा बार्हस्पत्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानविरोधी राक्षसीभावों का विनाश

तपुर्मूर्धा तपतु रक्षसो ये ब्रह्मद्विषः शरवे हन्तवा उ।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथा करद्यजमानाय शं योः ॥ ३ ॥

(१) **तपुर्मूर्धा**=तपस्वियों का शिरोमणि वह प्रभु **रक्षसः**=राक्षसीभावों को **तपतु**=संतप्त करे, **ये**=जो राक्षसीभाव **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान के विरोधी हैं। जिन राक्षसीभावों को ज्ञान से किसी प्रकार की प्रीति नहीं, उन्हें प्रभु दूर करें। **उ**=और इस प्रकार वे प्रभु **शरवे**=(शरुः सा०) इस हिंसक काम (=वृत्र) के **हन्तवा**=हनन के लिये हों। राक्षसी भावों को दूर करते हुए अन्ततः हम इनके मुखिया **वृत्र**=काम को भी विनष्ट कर सकें। यह प्रार्थना 'तपुर्मूर्धा' से की गई है। स्पष्ट है कि तपस्वी बनकर ही हम इन अशुभ भावों को दूर कर सकते हैं। (२) काम को विनष्ट करके वे प्रभु **अशस्तिं क्षिपत्**=अप्रशस्त कार्यों को हमारे से दूर करें। **दुर्मतिं अप अहन्**=दुर्बुद्धि को सुदूर विनष्ट करें **अथा**=और अब **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिये **शं योः करत्**=शान्ति को करें तथा भयों को पृथक् करें।

भावार्थ—तपस्या के द्वारा हमारे राक्षसी भाव दूर हों तथा काम (वृत्र) का विनाश हो।

सूक्त का भाव यह है कि 'बृहस्पति' का आराधन हमारी बुराइयों को दूर करे। 'नराशंस' का

शंसन हमें शक्ति दे व निरभिमान करे तथा 'तपुर्मूर्धा' का आराधन हमें तपस्वी बनाये और राक्षसीभावों से दूर करे। ऐसा होने पर हम प्रशस्त प्रजाओंवाले 'प्रजावान्' होंगे तथा प्रजाओं का रक्षण करते हुए 'प्राजापत्य' कहलायेंगे। 'प्रजावान् प्राजापत्य' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

[१८३] त्र्यशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**प्रजावान्प्राजापत्यः** ॥ देवता—**अन्वृचं यजमानायजमानपत्नीहोत्रशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

यजमान पत्नी का कथन

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥ १ ॥

(१) **त्वा**=तुझे **मनसा**=मनन शक्ति के द्वारा **चेकितानम्**=सब कर्त्तव्यों के ज्ञानवाले को **अपश्यम्**=देखती हूँ। मैं देखती हूँ कि आप मनन के द्वारा अपने कर्त्तव्यों को खूब समझते हैं। **तपसः जातम्**=तप के द्वारा आपकी शक्तियों का विकास हुआ है। **तपसः**=तप से आप **विभूतम्**=विशिष्ट ऐश्वर्यवाले हैं अथवा तप से आप व्याप्त हुए हैं। (२) **इह**=इस गृहस्थाश्रम में **प्रजाम्**=प्रजा को, **इह**=यहाँ **रयिम्**=धन को **रराणः**=देते हुए आप, हे **पुत्रकाम**=पुत्र की कामनावाले! **प्रजया प्रजायस्व**=प्रजा से प्रकृष्ट प्रादुर्भाववाले हों। उत्तम प्रजा को प्राप्त करके आप उस प्रजा के द्वारा यशस्वी बनें। प्रजा के उत्तम निर्माण के लिये आवश्यक है कि आप गृहस्थ में जहाँ उत्तम प्रजा की इच्छावाले हों, वहाँ पालन-पोषण के लिये आवश्यक धन का अर्जन करनेवाले हों।

भावार्थ—पति (क) मनन के द्वारा कर्त्तव्यों को समझनेवाले हों, (ख) तप से उनकी शक्तियों का ठीक विकास हुआ हो, (ग) तप से उनका जीवन व्याप्त हो, (घ) सन्तान की कामनावाले होते हुए वे धनार्जनशील हों।

ऋषिः—**प्रजावान्प्राजापत्यः** ॥ देवता—**अन्वृचं यजमानायजमानपत्नीहोत्रशिषः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

यजमान का पत्नी के प्रति कथन

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥ २ ॥

(१) **त्वा**=तुझे **मनसा**=मनन के द्वारा **दीध्यानाम्**=दीप्त ज्ञानवाली को **अपश्यम्**=देखता हूँ। **स्वायां तनू**=अपने शरीर में **ऋत्व्ये**=ऋतुकाल में गर्भधारणरूप कर्म के निमित्त **नाधमानाम्**=याचना करती हुई को देखता हूँ। (२) तू **मां उप**=मेरे समीप **उच्चा युवतिः**=एक आदृत युवति **बभूयाः**=हो। अर्थात् तुझे पति से सदा आदर प्राप्त हो। वह तुझे अपना (better haly) उत्कृष्ट अर्धभाग समझे। अन्यथा पत्नी में हीनता की भावना आ जाती है और वह फिर सन्तानों में भी संक्रान्त होती है। (३) इस प्रकार आदृत होती हुई हे **युक्तकामे**=पुत्र की कामनावाली तू! **प्रजया प्रजायस्व**=प्रजा से प्रकृष्ट प्रादुर्भाववाली हो। प्रजा से तेरा नाम सदा बना रहे।

भावार्थ—पत्नी (क) मननपूर्वक ज्ञानदीप्त बने, (ख) ऋतुकाल में गर्भधारण की कामनावाली हो। (ग) पति से उचित आदर को प्राप्त करे, (घ) उत्तम प्रजा से यशस्विनी बने।

ऋषिः—**प्रजावान्प्राजापत्यः** ॥ देवता—**अन्वृचं यजमानायजमानपत्नीहोत्रशिषः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

होता की इच्छायें

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अंजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्॥ ३॥

(१) **अहम्**=मैं **ओषधीषु**=ओषधियों में **गर्भं अदधाम्**=गर्भ को स्थापित करता हूँ। अर्थात् ओषधियाँ का सेवन करता हुआ, उनसे उत्पन्न शक्ति के द्वारा सन्तान को जन्म देता हूँ। इस प्रकार ये सन्तानें सात्त्विकि वृत्तिवाली होती हुई परस्पर प्रेम से चलनेवाली होती हैं। (२) **अहम्**=मैं **विश्वेषु भुवनेषु अन्तः**=मैं सब भुवनों में इन सन्तानों को जन्म देता हूँ। अर्थात् सब लोकों का हित करनेवाली सन्तानों को जन्म देता हूँ। उन सन्तानों को, जो कि अपने को विश्व का नागरिक अनुभव करती हैं। देशभक्ति उन्हें अन्य देशों से घृणा करनेवाला नहीं बनाती। (३) **अहम्**=मैं **पृथिव्याम्**=पृथिवी में **प्रजाः**=प्रजाओं को **अजनयम्**=उत्पन्न करता हूँ। ऐसी सन्तानों को जन्म देता हूँ जो कि पृथिवी पर चलती हैं। आकाश में नहीं उड़ती-फिरती, हवाई किले नहीं बनाती रहतीं। (४) **अहम्**=मैं **अपरीषु**=न परायी स्त्रियों में **जनिभ्यः**=माताओं के लिये **पुत्रान्**=पुत्रों को जन्म देता हूँ। अपनी पत्नी में ही सन्तान को जन्म देना है और उस सन्तान को माता के लिये ही सौंपना है। वस्तुतः माता ने ही तो सन्तान के चरित्र का निर्माण करना होता है। 'बच्चा कुछ भी माँगे', उसे यही कहना कि 'माता जी से कहो'। बस ऐसा होने पर बच्चा माता के पूरे शासन में होगा और सुन्दर जीवनवाला बनेगा।

भावार्थ—उत्तम सन्तान के लिये वानस्पतिक भोजन आवश्यक है सन्तान ऐसे हों जो कि (क) अपने को विश्व का नागरिक समझें, (ख) हवाई किले न बनायें, (ग) माता के शासन में चलें यह उत्तम सन्तान का निर्माण करनेवाला 'त्वष्टा' है, यही 'गर्भकर्ता' है। इस के लिये कहते हैं कि—

[१८४] चतुरशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**त्वष्टा गर्भकर्ता विष्णुर्वा प्राजापत्यः** ॥ देवताः—**लिङ्गोक्ताः (गर्भार्थाशीः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पति

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥ १॥

(१) हे **विष्णुः**=व्यापक व उदार वृत्तिवाले पति **योनिम्**=अपने सन्तानों की उत्पत्ति की कारणभूत पत्नी को **कल्पयतु**=शक्तिशाली बनाओ। संकुचित हृदयवाला पति उदारतापूर्वक नहीं बरतता, परिणामतः पत्नी के स्वास्थ्य पर उसका समुचित प्रभाव नहीं पड़ता। (२) **त्वष्टा**=(त्वक्षतेः, त्विषेर्वा दीप्तिकर्मणः) निर्माण के कार्यों में रुचिवाला अथवा ज्ञानदीप्त पति **रूपाणि पिंशतु**=रूपों का निर्माण करे (पिंशति shepe, farslion) तोड़-फोड़ की वृत्तिवाले व्यक्तियों के सन्तानों की आकृतियों में पूरी समता न आकर कुछ विकृति आ ही जाती है। पिता की मानस वक्रताओं का सन्तान की आकृति पर सुन्दर प्रभाव नहीं पड़ता। (३) **प्रजापतिः**=प्रजा के पतित्व की कामनावाला पति **आसिञ्चतु**=पत्नी में शक्ति का सेचन करे और उससे स्थापित **ते गर्भम्**=हे पत्नि! तेरे गर्भस्थ

सन्तान को **धाता**=धारणात्मक कर्मों में तत्पर यह पति **दधातु**=धारण करे। गर्भस्थ बालक के रक्षण का पूरा ध्यान करना ही है। जिस भी व्यवहार से गर्भस्थ सन्तान को हानि पहुँचाने की सम्भावना हो, उस सब से बचना आवश्यक है।

भावार्थ—पति 'विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति व धाता' बनने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**त्वष्टा गर्भकर्ता विष्णुर्वा प्राजापत्यः** ॥ देवताः—**लिङ्गोक्ताः (गर्भार्थाशीः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

पत्नी

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा॥ २॥

(१) हे **सिनीवालि**=प्रशस्त अन्नवाली (सिनम् अन्नं) तू **गर्भं धेहि**=गर्भ को धारण कर। माता के भोजन का सन्तान के शरीर पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है, गर्भस्थ बालक माता के द्वारा ही रस-रुधिरादि को प्राप्त करता है। माता का भोजन न केवल उस गर्भस्थ बालक के शरीर पर, अपितु उसकी मन व बुद्धि पर भी प्रभाव डालता है। (२) हे **सरस्वति**=सरस्वती की आराधना करनेवाली, ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता को उपासित करनेवाली, ज्ञान की रुचिवाली तू **गर्भं धेहि**=गर्भ को धारण कर। ज्ञान की रुचि विषय-वासनाओं से बचाती है और इस प्रकार गर्भस्थ बालक में भी उत्तम प्रवृत्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं, वह भी ज्ञान की रुचिवाला बनता है। (३) हे पत्नि! **अश्विनौ देवौ**=शरीरस्थ प्राण और अपान **ते गर्भं आधत्ताम्**=तेरे गर्भ का धारण करें। पत्नी की प्राणापान शक्ति ठीक होगी तो गर्भस्थ सन्तान सब प्रकार से नीरोग होगा। ये अश्विनी देव **पुष्करस्रजौ**=पुष्टिकारक रज व वीर्य को उत्पन्न करनेवाले हैं (पुष्+कर+सृज्) इस प्रकार ये सब रोगों के चिकित्सक हो जाते हैं।

भावार्थ—पत्नी प्रशस्त अन्नों का सेवन करे, ज्ञान की रुचिवाली हो, प्राणापान की शक्ति के वर्धन के लिये प्राणायाम को अपनाये।

ऋषिः—**त्वष्टा गर्भकर्ता विष्णुर्वा प्राजापत्यः** ॥ देवताः—**लिङ्गोक्ताः (गर्भार्थाशीः)** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

हिरण्ययी अरणी

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥ ३॥

(१) **अश्विना**=पति-पत्नी **हिरण्ययी**=(हिरण्यं वै वीर्यम्) वीर्यवान् **अरणी**=दो अरणियों के समान हैं। अरणियाँ जिस प्रकार अग्नि का निर्मन्थन करती हैं, उसी प्रकार ये पति-पत्नी सन्तान का निर्मन्थन करते हैं। **यम्**=जिस गर्भ का ये **निर्मन्थतः**=मन्थन करते हैं, हे पत्नि! **ते**=तेरे **तं गर्भं हवामहे**=उस गर्भ की प्रार्थना करते हैं कि वह **दशमे मासि सूतवे**=दशम मास में उत्पन्न होने के लिये हो। गर्भ में ठीक रूप से विकसित होकर वह गर्भ से बाहर संसार में प्रवेश करे। (२) जैसे अग्नि की उत्पत्ति के लिये दोनों अरणियों का ठीक होना आवश्यक है, उसी प्रकार सन्तान के लिये माता-पिता दोनों का पूर्ण स्वस्थ होना आवश्यक है। ये जितने तेजस्वी व ज्योतिर्मय होंगे, उतने ही सन्तान उत्तम होंगे।

भावार्थ—पति-पत्नी ज्योतिर्मयी अरणियों के समान होंगे तो सन्तानें भी अग्नि तुल्य तेजस्विता

को लिये हुए होंगी।

सूक्त में पति-पत्नी का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन उत्तम पति-पत्नी से उत्पन्न सन्तानें 'सत्यधृति'=सत्य का धारण करनेवाली व 'वारुणि'=पाप से अपना निवारण करनेवाली होंगी। इनके जीवन में 'मित्र, अर्यमा व वरुण' देवों का स्थान होगा—

[१८५] पञ्चाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सत्यधृतिर्वारुणिः** ॥ देवता—**अदितिः (स्वस्त्ययनम्)** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'मित्र-अर्यमा-वरुण'

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य ॥ १ ॥

(१) 'मित्र' शब्द का अर्थ है (त्रिमिदा स्नेहने) सबके साथ स्नेह करनेवाला। 'अर्यमा' के अन्दर देने की भावना है 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' (तै० १।१।२।४)। 'वरुण'=पाप से निवारण करता है। इन **त्रीणाम्**=तीनों का **अवः अस्तु**=रक्षण हमारे लिये हो। इनमें **मित्रस्य**=मित्र का रक्षण **महि**=हमें महान् बनानेवाला हो। मित्रता की भावना को धारण करनेवाला मन महान् (=उदार) बनता ही है। संकुचितता व अनुदारता में स्नेह नहीं। (२) **अर्यम्णः**=अर्यमा का रक्षण हमारे लिये **द्युक्षम्**=(द्यु+क्षि निवासे) ज्योति में निवास करानेवाला हो। अर्यमा दाता है। दान की वृत्ति लोभ वृत्ति की विरोधिनी है। लोभ ही बुद्धि पर परदा डालता है। लोभ गया और बुद्धि दीप्त हुई। इस स्थिति में हमारा ज्ञान में निवास होता है। (३) **वरुणस्य**=वरुण का रक्षण हमारे लिये **दुराधर्षम्**=सब बुराइयों व शत्रुओं का धर्षण करनेवाला हो। वरुण हमें पाप से बचाता है, इस प्रकार हम अशुभवृत्तियों का शिकार होने से बचे रहते हैं।

भावार्थ—'मित्र' बनकर हम महान् बनें। 'अर्यमा' बनकर ज्योतिर्मय जीवनवाले हों। 'वरुण' बनकर पापों से धर्षणीय न हों।

ऋषिः—**सत्यधृतिर्वारुणिः** ॥ देवता—**अदितिः (स्वस्त्ययनम्)** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वर—**षड्जः** ॥

अघशंस से बचना

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः ॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जिनको 'मित्र, अर्यमा व वरुण' का रक्षण प्राप्त होता है **तेषाम्**=उनका **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला, बुराई को अच्छे रूप में चित्रित करनेवाला, जुए को उदारता व शिकार को एकाग्रता को अभ्यास के रूप में प्रतिपादित करनेवाला **रिपुः**=शत्रु **अमाचन**=घर में भी **नहि ईशे**=ईश नहीं बन पाता। घर में रहता हुआ भी, अत्यन्त अन्तरङ्ग बना हुआ व्यक्ति भी उनको बुराइयों के लिये प्रेरित नहीं कर पाता। (२) **अध्वसु**=मार्गों में अचानक मिल जानेवाला अत्यन्त चतुर भी साथी यात्री **न**=इनको अपने प्रभाव में नहीं ला पाता। (३) **वा**=अथवा **अरणेषु**=(रण शब्दे) अत्यन्त नीरव व निर्जन स्थानों में ले जानेवाला दुष्ट मित्ररूपधारी व्यक्ति भी इसको बहका नहीं पाता।

भावार्थ—'मित्र, अर्यमा व वरुण' वे रक्षण को प्राप्त करके हम अघशंस व्यक्तियों के बहकावे में आने से बचे रहें।

ऋषिः—**सत्यधृतिर्वारुणिः** ॥ देवता—**अदितिः (स्वस्त्ययनम्)** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान प्राप्ति व उत्कृष्ट जीवन

यस्मै पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्त्रम् ॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार अघशंस रिपुओं के बहकावे में न आनेवाला व्यक्ति वह होता है **यस्मै**=जिस **मर्त्याय**=मनुष्य के लिये **अदितेः पुत्रासः**=अदिति के पुत्र, अर्थात् आदित्य 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों का ज्ञान प्राप्त करनेवाले विद्वान् **अजस्त्रम्**=निरन्तर **ज्योतिः**=ज्ञान को **यच्छन्ति**=देते हैं। (२) इन आदित्यों से ज्ञान को प्राप्त करता हुआ यह व्यक्ति कभी पापों में नहीं फँसता। यह **प्र जीवसे**=प्रकृष्ट जीवन के लिये होता है। उन ज्ञानियों से निरन्तर ज्ञान को प्राप्त करता हुआ वह उत्तम ही जीवन बिताता है।

भावार्थ—हम आदित्य विद्वानों से ज्ञान को प्राप्त करें और उत्कृष्ट जीवन बितायें।

सूक्त का भाव यही है कि हमारा जीवन 'स्नेह, दानवृत्ति व निष्पापता' वाला हो। इस उत्कृष्ट जीवन को बिताने के लिये आवश्यक है कि हम पूर्ण स्वस्थ हों। स्वास्थ्य के लिये 'उल' (उल् to go) निरन्तर गतिशील हों तथा वातायन=वात को अपना अयन बनायें, सदा शुद्ध वायु के सम्पर्क में रहें। यह 'उल वातायन' प्रार्थना करता है कि—

[१८६] षडशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**उलो वातायनः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शुद्ध वायु से दीर्घजीवन

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे। प्र ण आयूँषि तारिषत्॥ १॥

(१) **वातः**=वायु **भेषजम्**=औषध को **आवातु**=समन्तात् हमारे लिये प्राप्त कराये, उस औषध को जो **शम्भु**=हमारे लिये शान्ति को देनेवाली हो और **नः**=हमारे **हृदे**=हृदय के लिये **मयोभु**=कल्याण को उत्पन्न करे। शुद्ध वायु में निवास हमें शरीर में नीरोग (शान्त हो गये रोगोंवाला) बनाये तथा मन में सुख व प्रसन्नता को देनेवाला हो। (२) इस प्रकार यह वायु हमारे शरीरों व हृदयों को स्वस्थ करता हुआ **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को **प्र तारिषत्**=खूब बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—वायु तो वह औषध है जो कि शान्ति व कल्याण को प्राप्त कराती है, यह हमारे दीर्घजीवन का कारण बनती है।

ऋषिः—**उलो वातायनः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'पिता-भ्राता-सखा' वायु

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि॥ २॥

(१) **उत**=और हे **वात**=वायो! तू **नः**=हमारा **पिता असि**=पिता है, 'पा रक्षणे' रक्षण करनेवाला है, हमें सब रोगों से बचाकर हमारा रक्षण करता है। (२) **उत**=और **नः**=हमारा **भ्राता**=भ्राता है, 'भृ धारणपोषणयोः'=धारण व पोषण करनेवाला है। अंग-प्रत्यंग में जीवन का संचार करनेवाला तू ही है। (३) **उत**=और हे वायो! तू **नः**=हमारा **सखा**=मित्र है। मित्र की तरह तू हमारा हित करनेवाला है। **सः**=वह तू **नः**=हमें **जीवातवे**=खूब दीर्घजीवन के लिये **कृधि**=कर।

भावार्थ—वायु हमारा पिता, भ्राता व सखा है। यह हमें दीर्घजीवन देता है।

ऋषिः—**उलो वातायनः** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अमृत का निधि

यददो वात ते गृहे३ऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे॥ ३॥

(१) हे **वात**=वायो! ते **गृहे**=तेरे घर में **यत्**=जो **अदः**=वह **अमृतस्य**=अमृत का **निधिः**=कोष **हितः**=रखा है, **ततः**=उसमें से **नः**=हमें भी **देहि**=कुछ दे जिससे **जीवसे**=हम उत्कृष्ट व दीर्घजीवन बिता पायें। (२) वायु में अमृत का कोष रखा है। शुद्ध वायु में भ्रमण व निवास से वह अमृत हमें भी प्राप्त होता है। इस प्रकार यह वायु हमारे दीर्घजीवन का कारण बनती है। वस्तुतः वायु ही आयु है। वायु के अभाव में तो गति का अभाव व मृत्यु ही है।

भावार्थ—शुद्ध वायु का सेवन अमृत का पान है। वायु के महत्त्व को यह सूक्त अत्यन्त सुन्दरता से चित्रित कर रहा है। वायु सेवन से स्वस्थ शरीर, स्वस्थ हृदयवाला यह प्रभु का प्रिय बनता है, 'वत्स' होता है, निरन्तर उन्नति करता हुआ 'आग्नेय' (अग्नि पुत्र) कहलाता है, आगे बढ़नेवाला। यह अग्नि ही उपासना करता हुआ कहता है कि—

[१८७] सप्ताशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**वत्स आग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु-स्मरण से निर्द्वेषता

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

(१) **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु के लिये **वाचम्**=स्तुति वचनों को **प्र ईरय**=प्रकर्षेण उच्चरित कर, उस प्रभु का खूब ही स्तवन कर। जो प्रभु **क्षितीनाम्**=(क्षि निवासगत्योः) गतिशील बनकर अपने निवास को उत्तम बनानेवाले मनुष्यों के लिये **वृषभाय**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। वस्तुतः प्रभु-स्तवन ही उनके जीवन को उत्तम बनाता है। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अतिपर्षत्**=पार पहुँचानेवाले हों। प्रभु का स्मरण मनुष्य को द्वेष से ऊपर उठाता है। प्रभु को सर्वत्र देखनेवाला किसी से द्वेष कर ही कैसे सकता है?

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमें द्वेष से दूर करे।

ऋषिः—**वत्स आग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सर्वत्र रोचमान प्रभु

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते। स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **परस्याः परावतः**=दूर से दूर स्थान में स्थित हुए-हुए भी **धन्व**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को **तिरः**=(cross wise) एक सिरे से दूसरे सिरे तक **अतिरोचते**=अतिशयेन प्रकाशित कर रहे हैं, **स**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः**=सब द्वेषवृत्तियों से **अतिपर्षत्**=पार ले जायें। (२) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उस एक प्रभु का ही शासन है, हम सब उस प्रभु की ही प्रजा हैं। यह चिन्तन हमें परस्पर प्रेमवाला बनाता है, इस प्रेम में हम सर्वत्र प्रभु का प्रकाश देखते हैं।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु के प्रकाश को देखते हुए हम द्वेष से ऊपर उठें।

ऋषिः—**वत्स आग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दीप्त ज्ञान-ज्योतिवाले प्रभु

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **वृषा**=अत्यन्त शक्तिशाली हैं और **शुक्रेण शोचिषा**=अपनी निर्मल दीप्त ज्ञानज्योति से **रक्षांसि**=सब राक्षसी भावों को **निजूर्वति**=हिंसित करते हैं। **सः**=वे **नः**=हमें **द्विषः**=सब द्वेषभावों से **अतिपर्षत्**=पार ले जायें। (२) प्रभु हमें उस तीव्र ज्ञान-ज्योति को प्राप्त

कराते हैं जो कि हमारे सब राक्षसी भावों को दग्ध कर देती है। इस ज्ञान-ज्योति के होने पर द्वेष रह ही कैसे सकता है?

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हमें वह ज्ञान-ज्योति प्राप्त हो जो कि हमारे द्वेष आदि को दग्ध कर दे।

ऋषिः—**वत्स आग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सर्वप्रकाशक व पालक' प्रभु

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४॥

(१) **यः**=जो प्रभु **विश्वा भुवना**=सब प्राणियों को **अभि विपश्यति**=आभिमुख्येन प्रकाशित कर रहे हैं, **च**=और **संपश्यति**=सम्यक् देख रहे हैं, अर्थात् सब का ध्यान कर रहे हैं, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः**=सब द्वेष भावनाओं से **अतिपर्षत्**=पार करें। (२) 'प्रभु ही सब को प्रकाश प्राप्त कराते हैं और सबका रक्षण करते हैं' इस भाव के उदित होने पर द्वेष का सम्भव ही नहीं रहता।

भावार्थ—'प्रभु ही हम सब के पालक हैं' यह भाव हमें द्वेष से ऊपर उठाकर परस्पर एकता का अनुभव कराये।

ऋषिः—**वत्स आग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रजोगुण से परे

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५॥

(१) **यः**=जो प्रभु **अस्य रजसः**=इस रजोगुणात्मक संसार से **पारे**=पार हैं, इसमें असक्त हैं, **शुक्रः**=अत्यन्त दीप्त हैं, **अग्निः अजायत**=सब के अग्रेणी हुए हैं, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः**=सब द्वेष की भावनाओं से **अतिपर्षत्**=पार करें। (२) प्रभु कृपा से जब हम रजोगुण से ऊपर उठ पायेंगे तब हमारे हृदय ज्ञान की ज्योति से दीप्त होंगे। उस समय हम निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़ रहे होंगे। द्वेष की भावनाएं उस समय समाप्त हो जायेंगी।

भावार्थ—प्रभु स्मरण हमें रजोगुण से ऊपर उठाकर निर्द्वेष बनाता है।

सम्पूर्ण सूक्त द्वेष से ऊपर उठने की बात कह रहा है। पाँच बार इस भाव को कहने का प्रयोजन यह है कि हम 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' किसी से भी द्वेष न करें। द्वेष से ऊपर उठने के लिये आवश्यक है कि हम 'श्येन'=गतिशील बने रहें, 'आग्नेय' अग्नि पुत्र 'अगि गतौ'=खूब गतिशील। इसी श्येन आग्नेय का अगला सूक्त है—

[१८८] अष्टाशीत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**श्येन आग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निर्जातवेदाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान-कर्म-शक्ति

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्। इदं नो बर्हिरासदे ॥ १॥

(१) **नूनम्**=निश्चय से उस प्रभु को **प्र हिनोत**=प्रकर्षेण प्रेरित करो, उस प्रभु से प्रार्थना करो, जो कि **जातवेदसम्**=(जाते जाते विद्यते) सर्वव्यापक हैं, (जातं जातं वेत्ति) सर्वज्ञ हैं अथवा (जातं वेदो अस्मात्) सम्पूर्ण धनों को देनेवाले हैं। **अश्वम्**=सर्वत्र व्याप्त हैं (अशू व्याप्तौ)। **वाजिनम्**=शक्तिशाली हैं। (२) **इदम्**=यह **नः**=हमारा **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय, जिसमें से सब

वासनाओं को उखाड़ दिया गया है, वह हृदय **आसदे**=प्रभु के आसीन होने के लिये है। सर्वत्र व्यापकता के नाते सर्वत्र हैं, मेरे हृदय में भी है। उनको आसीन करने का भाव इतना ही है कि हम हृदय में प्रभु का दर्शन करें।

भावार्थ—हम हृदय को प्रभु का आसन बनायें। प्रभु हमें ज्ञान देंगे, कर्मसामर्थ्य देंगे और शक्ति प्राप्त करायेंगे।

ऋषिः—**श्येन आग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निर्जातवेदाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

स्तवन से लक्ष्यदृष्टि की उत्पत्ति

अस्य प्र जातवेदसो विप्रवीरस्य मीळ्हुषः। महीमियर्मि सुष्टुतिम्॥ २॥

(१) **अस्य**=इस **जातवेदसः**=सर्वव्यापक-सर्वज्ञ-जातधन, **विप्रवीरस्य**=विप्रों में वीर, ज्ञानियों में श्रेष्ठ, **मीढुषः**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु के **महीं सुष्टुतिम्**=महान् स्तवन को **प्र इयर्मि**=प्रकर्षेण अपने में प्रेरित करता हूँ। (२) यह प्रभु का स्तवन हमारे सामने भी जीवन के लक्ष्य को उपस्थित करता है। हमें भी उस प्रभु की तरह ज्ञानी, विप्रवीर व सुखों का वर्षण करनेवाला बनना है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हमारे में भी प्रभु जैसा बनने का भाव उत्पन्न होगा।

ऋषिः—**श्येन आग्नेयः** ॥ देवता—**अग्निर्जातवेदाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

जीवन-यज्ञ में प्रभु की दीप्ति

या रुचो जातवेदसो देवत्रा हव्यवाहनीः। ताभिर्नो यज्ञमिन्वतु॥ ३॥

(१) **जातवेदसः**=उस सर्वव्यापक-सर्वज्ञ-जातधन प्रभु की **याः**=जो **रुचः**=दीप्तियाँ **देवत्रा**=देवों में **हव्यवाहनीः**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाली हैं, **ताभिः**=उन रुचियों से **नः**=हमारे **यज्ञम्**=जीवन-यज्ञ को **इन्वतु**=प्राप्त करें। (२) प्रभु की दीप्तियाँ सब देवों में उस-उस उत्तम पदार्थ को स्थापित करती हैं, उन सब हव्यपदार्थों के साथ प्रभु हमें भी प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु अपनी दीप्तियों के साथ हमारे जीवन-यज्ञ में प्राप्त हों।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु का स्तवन हमें प्रभु जैसा ही बनायेगा। प्रभु जैसा बनने के लिये योगमार्ग पर चलने की अपेक्षा है। इस मार्ग पर चलने से कुण्डलिनी का जागरण होता है और उसमें गति आती है। मेरुदण्ड के मूल में मूलाधार चक्र है, वहीं यह कुण्डलिनी शक्ति प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान है। सर्प की तरह कुण्डल में स्थित होने से यह 'सार्पराज्ञी' कहलाती है। इसका जागरण प्राणायाम की उष्णता द्वारा होता है। इस जागरण को करनेवाला ऋषि भी 'सार्पराज्ञी' कहा गया है। वह कहता है—

[१८९] एकोननवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**सार्पराज्ञी** ॥ देवता—**सार्पराज्ञी सूर्यो वा** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कुण्डलिनी का जागरण व ऊर्ध्व गति

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ १॥

(१) **अयम्**=यह **गौः**=जागरित होने पर मेरुदण्ड में ऊपर और ऊपर गति करनेवाली कुण्डलिनी, **पृश्निः**=(संस्प्रष्टोभासा नि० २।१४) ज्योति के साथ सम्पर्कवाली होती है। यह

प्राणायाम की उष्णता से **अक्रमीत्**=कुण्डल को तोड़कर आगे गति करती है। (२) यह **पुरः**=आगे और आगे बढ़ती हुई **मातरम्**=वेदमाता को 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' **असदत्**=प्राप्त करती है, इसके जागरण व ऊर्ध्व गति के होने पर 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'=ऋत का पोषण करनेवाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। यह प्रज्ञा वेदज्ञान का प्रकाश करती हैं। (३) **च**=और इस वेदज्ञान के प्रकाश के होने पर यह **स्वः**=उस देदीप्यमान **पितरम्**=प्रभु रूप पिता की ओर **प्रयन्**=जानेवाली होती है। अर्थात् यह योगी अन्ततः प्रभु का दर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—कुण्डलिनी के जागरण से बुद्धि का प्रकाश होता है। उससे वेदार्थ का स्पष्टीकरण होता है और प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**सार्पराज्ञी** ॥ देवता—**सार्पराज्ञी सूर्यो वा** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु की रोचना

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒नास्य प्रा॒णाद॑पान॒ती। व्य॑ख्यन्महि॒षो दिव॑म्॥ २ ॥

(१) जिस समय एक मनुष्य साधना को करता हुआ इस कुण्डलिनी का जागरण करता है तो **अस्य अन्तः**=इसके अन्दर **रोचना**=प्रभु की दीप्ति **चरति**=गतिवाली होती है, इसके हृदयदेश में प्रभु की दीप्ति का प्रकाश होता है। यह रोचना **प्राणात्**=इसके अन्दर प्राण शक्ति का संचार करती है और **अपानती**=अपान के द्वारा शोधन रूप कार्य को करती है। (२) इस प्रकार प्राण व अपान के कार्यों के ठीक प्रकार से होने पर यह **महिषः**=प्रभु का पुजारी (मह पूजायाम्) **दिव्यम्**=प्रकाश को **व्यख्यत्**=विशेषरूप से देखता है। इसका हृदय दिव्य प्रकाश से दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—योगसाधना से साधक का हृदय प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो उठता है। उसकी प्राणापान शक्ति ठीक प्रकार से विकसित होती है।

ऋषिः—**सार्पराज्ञी** ॥ देवता—**सार्पराज्ञी सूर्यो वा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु का जप

त्रिं॒शद्धाम॒ वि रा॑जति॒ वाक्प॑त॒ङ्गाय॑ धीयते। प्रति॒ वस्तो॒रह॒ द्युभिः॑ ॥ ३ ॥

(१) यह साधक **त्रिंशत् धाम**=तीसों धाम, तीसों स्थानों में (ज्योतित्व पर दिन-रात्रि में तप होनेवाले क्रान्तिवृत्त पर ६० अंश चिह्नित हैं जो दिन की ३० घड़ी व मास की ३० तिथियों का निर्देश करते हैं ज०) **विराजति**=चमकता है, यह सदा दीप्ति को देखनेवाला बनता है। (२) **वाक्**=इस की वाणी **पतंगाय**=उस सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म के लिये **धीयते**=धारण की जाती है 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'। (२) यह साधक **प्रति वस्तोः**=प्रतिदिन **अह**=(एव) निश्चय से **द्युभिः**=ज्ञान-ज्योतियों से उपलक्षित होता है, इसका ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के नाम का जप करें व ज्ञान-ज्योति से दीप्त हों।

सूक्त की भावना यही है कि हम साधनामय जीवन बिताते हुए ज्ञान से दीप्त होने का प्रयत्न करें। इस प्रयत्न के करने से हम 'अघमर्षण'=पापों को कुचलनेवाले होंगे तथा माधुच्छन्दस=अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाले होंगे। यही अगले सूक्त का ऋषि है। वह प्रभु से बारम्बार किये जानेवाले इस सृष्टि प्रलय रूप कार्य का स्मरण करता हुआ ईश्वरता का चिन्तन करता है। यह चिन्तन उसके लिये 'अघमर्षण' बनने में सहायक होता है—

[१९०] नवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**अघमर्षणो माधुच्छन्दसः** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

तपसे ऋत व सत्य की उत्पत्ति

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥

(१) प्रलय की समाप्ति पर प्रभु सृष्टि के निर्माण का ईक्षण, विचार व कामना करते हैं 'तदैक्षत०, सोऽकामयत्'। प्रभु का यह ईक्षण=ज्ञान ही तप कहलाता है 'यस्य ज्ञानमयं तपः'। प्रभु के इस **अभि इद्धात्**=सर्वतः देदीप्यमान **तपसः**=तप से **ऋतं च**=ऋत **च**=व **सत्यं च**=सत्य **अध्यजायत**=प्रकट हुए। प्रकृति विषयक सब नियम 'ऋत' कहलाते हैं और जीव विषयक सब नियम 'सत्य' कहलाते हैं। (२) इन नियमों के प्रादुर्भूत हो जाने पर **ततः**=तब इन नियमों के अनुसार **रात्री**=शक्ति की तरह अन्धकारमयी 'तम' नामवाली यह प्रकृति (तम आसीत् तमसा गूढमग्रे) **अजायत**=सृष्टि के रूप में हो गई। 'तमः' वाग्री प्रकृति ने इस विकृतिरूप संसार को जन्म दिया। (३) **ततः**=उस समय **समुद्रः**=प्रकृति का यह अणुसागर **अर्णवः**=खूब गतिवाला हो उठा (अर्णस्=wave) इसमें लहरें उठने लगीं। अणु समुद्र में गति आने पर ही द्व्यणुक आदि क्रम से सृष्टि के पदार्थों के निर्माण का प्रारम्भ होता है।

भावार्थ—प्रभु के तप से ऋत व सत्य उत्पन्न हुए।

ऋषिः—**अघमर्षणो माधुच्छन्दसः** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वशी प्रभु द्वारा काल की उत्पत्ति

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥

(१) क्रिया के साथ ही काल का आविर्भाव होता है, वस्तुतः काल में ही प्रत्येक क्रिया हुआ करती है 'जन्यानां जनकः कालः'। सो कहते हैं कि **समुद्राद् अर्णवात् अधि**=प्रकृति के अणु समुद्र के गतिवाले होने के साथ ही (अधि=at) **संवत्सरः**=काल **अजायत**=प्रादुर्भूत हुआ। (२) अब वह प्रभु इस काल की मापक इकाई के रूप में **अहोरात्राणि विदधत्**=दिन व रात्रि को बनाता है। वह **मिषतः**=गति करते हुए **विश्वस्य**=सम्पूर्ण अणु समुद्र का **वशी**=वश में करनेवाला होता है। इस वशीभूत अणु समुद्र से ही वह सब पदार्थों को बनायेगा।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति के अणु समुद्र को गति देते हैं और दिन व रात्रि का भी निर्माण करते हैं।

ऋषिः—**अघमर्षणो माधुच्छन्दसः** ॥ देवता—**भाववृत्तम्** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

यथा पूर्व सृष्टि का निर्माण

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

(१) वह **धाता**=सब सृष्टि का निर्माण करनेवाला प्रभु **सूर्याचन्द्रमसौ**=सूर्य व चाँद को **यथापूर्वम्**=जैसा इससे पूर्व की सृष्टि में बनाया था वैसा ही **अकल्पयत्**=बनाता है। इन सूर्य व चन्द्र से ही दिन व रात्रि के विभाग की कल्पना स्पष्ट होती है। (२) **च**=और वे प्रभु **दिवम्**=द्युलोक को **च**=और **पृथिवीम्**=पृथिवी को, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष लोक को **अथ उ**=और निश्चय से **स्वः**=प्रकाशमय स्वर्गलोक को यथापूर्व ही बनाते हैं। यथापूर्व बनाने की भावना

यही है कि उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु से बनाई गयी सृष्टि में कोई न्यूनता नहीं होती, जिसको कि दूर किया जाए। पूर्ण होने से इसमें परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं होती 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'।

भावार्थ—उस प्रभु द्वारा प्रलयानन्तर यथापूर्व सृष्टि का फिर से निर्माण होता है।

यह सूक्त नश्वरता के स्मरण से जीवन को निष्पाप बनानेवाला है। यह पवित्र जीवनवाला व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता है और मेल-मिलाप से, अविरोध से चलता है। इसका नाम 'संवनन' हो जाता है, उत्तम उपासक (वन संभक्तौ) व उत्तम विजेता (वन्=win)। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि—

[१९१] एकनवत्युत्तरशततमं सूक्तम्

ऋषिः—**संवननः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सब के पिता प्रभु

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १॥

(१) हे **वृषन्**=हम सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले, **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **विश्वानि संसं युवसे**=सब प्राणियों को सम्यक् मिलाते हैं। सबके आप पिता हैं। यह एक पितृत्व सबको परस्पर समीप लानेवाला होता है। आपको पिता के रूप में स्मरण करने पर सब परस्पर बन्धुत्व का स्मरण करते हैं। (२) **अर्यः**=आप ही सब के स्वामी हैं। **इडस्पदे**= (इडा=वाणी=वेदवाणी) वेदवाणी के शब्दों में आप **आसमिध्यसे**=सर्वथा दीप्त होते हैं 'सर्वेवेदाः यत्पदमामनन्ति' 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'। (२) **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिये **वसूनि**=निवास के लिये आवश्यक सब पदार्थों को **आभर**=प्राप्त कराइये। आप ही सब के स्वामी हैं, आप ही सबको वसु प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु सबके पिता हैं। यह एक पितृत्व सब प्राणियों को परस्पर समीप लानेवाला होता है।

ऋषिः—**संवननः** ॥ देवता—**संज्ञानम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अविरोध का उपदेश

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ २॥

(१) प्रभु अपने पुत्रों को कहते हैं कि **संगच्छध्वम्**=परस्पर मिलकर के चलो। तुम्हारी गतियाँ परस्पर विरुद्ध न हों 'येन देवा न वियन्ति'=देव परस्पर विरुद्ध गतिवाले नहीं होते। (२) **संवदध्वम्**=तुम परस्पर संवादवाले बनो। विवाद तो मूर्ख ही किया करते हैं, 'विद्या विवादाय'=मूर्खों की ही विद्या विवाद के लिये होती है। (३) **वः मनांसि**=तुम्हारे मन **संजानताम्**=संज्ञानवाले हों। तुम्हारे मनों में एक दूसरे के विरोधी विचार न उत्पन्न होते रहें। एक दूसरे के हित की भावनाएँ ही तुम्हारे मनों में स्थान पायें। 'नो च विद्विषते मिथः'=ज्ञानी लोग परस्पर द्वेष नहीं करते। (४) **पूर्वे देवाः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले देव **संजानानाः**=परस्पर संज्ञान व ऐकमत्यवाले होते हुए **यथा भागम्**=अपने-अपने भाग के अनुसार **उपासते**=कर्त्तव्य का उपासन करते हैं। इस प्रकार अपने-अपने कर्त्तव्यभाग को पूर्ण करते हुए वे समूचे कार्य को पूर्ण सफलता के साथ कर पाते हैं।

भावार्थ—हम अविरुद्ध संज्ञानवाले देवों की तरह अपने-अपने कर्त्तव्यभाग को परस्पर अविरोध के साथ पूर्ण करनेवाले हों।

ऋषिः—**संवननः** ॥ देवता—**संज्ञानम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

राष्ट्र में सब के साथ समान बर्ताव

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ३॥

(१) राष्ट्र में **मन्त्रः**=विचारपूर्वक बनाया गया नियम **समानः**=सब के लिये एक-सा हो। **समितिः**=सभा **समानी**=समान हो। न्यायालय अलग-अलग लोगों के लिये अलग-अलग न हों। **एषाम्**=इन सब प्रजाओं का **मनः**=मन **समानम्**=समान हो। **चित्तम्**=इनका चित्त भी **सह**=साथ-साथ हो, अर्थात् राष्ट्रोन्नति रूप एक ही कार्य की इच्छा से ये सब पूरे दिल से उसमें प्रवृत्त हों। (२) राजा प्रजा से कहता है कि मैं **वः**=तुम्हारे लिये **समानं मन्त्रं अभिमन्त्रये**=एक ही नियम का विचारपूर्वक स्थापन करता हूँ। और **वः**=तुम्हें **समानेन हविषा**=समान ही कर के द्वारा **जुहोमि**=खाता हूँ। जैसे बछड़ा माता से थोड़ा-थोड़ा दूध लेता है, इसी प्रकार राजा भी सब प्रजाओं से थोड़ा-थोड़ा कर लेता है (हु अदने)।

भावार्थ—राष्ट्र में सब प्रजाओं से समान बर्ताव हो। कर पद्धति सब के लिये समान हो।

ऋषिः—**संवननः** ॥ देवता—**संज्ञानम्** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परस्पर एकता

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ४॥

(१) **वः**=तुम्हारा **आकूतिः**=संकल्प व अध्यवसाय **समानी**=समान हो। **वः**=आपके **हृदयानिः**=हृदय **समाना**=समान हों। (२) **वः**=तुम्हारा **मनः**=मन (=इच्छायें) **समानम्**=समान हों। सब को इस प्रकार हो कि **यथा**=जिससे **वः**=तुम्हारा **सुसह**=शोभन साहित्य=उत्तम मेल **असति**=किसी भी प्रकार का तुम्हारा विरोध न हो। यह अविरोध ही तुम्हें देव बनायेगा, यही तुम्हें विजयी करेगा।

भावार्थ—हमारे संकल्प हृदय मन सब परस्पर समान हों। हमारा परस्पर मेल अत्यन्त दृढ़ हो। यह सम्पूर्ण सूक्त मेल का उपदेश दे रहा है। ऋग्वेद विज्ञान वेद है। परस्पर मेल होने पर यह विज्ञान कल्याण ही कल्याण करेगा। विरोध के होने पर यह विज्ञान ही विनाश का कारण बन जायेगा। इसी दृष्टि से ऋग्वेद की समाप्ति इस संज्ञान सूक्त पर हुई है। हम नश्वरता का स्मरण करते हुए परस्पर मेल से ही चलने का प्रयत्न करें।

॥ इति दशमं मण्डलम् ॥